

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ-माला-प्रथम पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण

की

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित संस्कृत टीका

श्री सुबोधिनी हिन्दी अनुवाद

(सहित)

दशमस्कन्ध - पूर्वार्ध

अध्याय १-४ जन्म प्रकरण



अनुवादक

प.भ. श्रीफतहचन्दजी शास्त्री

प.भ. श्री सबलकिशोरजी व्याकरणाचार्य

प.भ. श्री आनन्दीलालजी शास्त्री

प्रकाशक

जगद् गुरु श्रीमद्वल्लभाचार्य मार्ग-सिद्धान्त संस्कार-सिंचन केन्द्र

श्री विठ्ठलेश भवन, जूनागढ़

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

श्रीमद्भागवत—महापुराण

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित—सुबोधिनी—टीका के हिन्दी अनुवादसहित

दशम — स्कन्ध (पूर्वार्ध)

जन्म—प्रकरण

प्रथम अध्याय

श्रीमद्वल्लभाचार्य, दशम—स्कन्ध के विवरण (व्याख्यान) को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम कारिका १, में उस स्कन्ध के अर्थरूप, निरोधस्वरूप प्रभु को नमन करते हैं।

मङ्गलाचरण

कारिका—१ नमामि हृदयेऽशेषे लीलाक्षीराब्धिशायिनम्।

लक्ष्मीसहस्रलीलाभिः सेव्यमानं कलानिधिम् ॥१॥

कारिका शब्दार्थ — सर्वात्मभाव से दासभाव को प्राप्त मेरे हृदय—रूप—शेष पर स्थित, लीलारूपक्षीर सागर में जूँ (दशम स्कन्ध के अर्थरूप निरोधस्वरूप) प्रभु शयन (स्थिति) करते हैं, (बिराज रहे हैं) तब जिन प्रभु की अनन्त लक्ष्मी स्वरूप तथा अनेक प्रकार के कटाक्षादि लीलाओं से स्तब्ध कर रही हैं उन कलानिधि (पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु) को मैं नमस्कार करता हूँ।

कारिका १ व्याख्या — श्री वाक्पति निजजनों की शिक्षा के लिये, शिष्टपुरुषों के नियमानुसार, ग्रन्थ प्रारम्भ करते हुए स्वयं श्री मङ्गलाचरण करते हैं।

श्री नियम (वेद) रूप कल्पवृक्ष के रसात्मक फलस्वरूप श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में 'निरोध—स्वरूप' श्री प्रभु निरोधात्मक लीलाओं द्वारा, निःसाधन जीवों को 'निरोध' का दान करते हैं। अतः श्रीमदाचार्यचरण मङ्गलाचरण में, उस स्कन्ध के अर्थस्वरूप निरोध लीला कर्ता, लीला (पूर्ण) पुरुषोत्तम को नमस्कार करते हैं।

श्री महाप्रभुजी ने इस कारिका में व्यतिरेक^१ अलङ्कार द्वारा शेषशायी "नारायण" से "निरोध-स्वरूप" प्रभु की विशेष (खास) विलक्षणता (अद्भुतता) बताई है, जैसे कि शेषशायी नारायण, क्षीर सागर में शेष शय्या पर शयन करते हैं वैसे ही "निरोध स्वरूप प्रभु" भक्तों के हृदय रूप शेष पर लीला रूपी दूध के समुद्र में शयन करते हैं। क्षीर सागर में एक लक्ष्मी है जो विधि अनुसार नारायण भगवान् की सेवा करती है, परन्तु यहाँ तो अनन्त, नित्यसिद्ध, पुष्टपुष्टिभक्त (गोपिकाएँ) अनेक लीलाओं से "निरोध स्वरूप प्रभु" की सेवा करते हैं। शेषशायी नारायण केवल धर्मनिधि हैं किन्तु निरोधस्वरूप प्रभु सम्पूर्णकलाओं के भण्डार हैं। अतः पूर्ण धर्मी स्वरूप हैं। इस भाँति इस कारिका में शेषशायी 'नारायण' से निरोध लीला में स्थित 'निरोध स्वरूप प्रभु' की विशेष विलक्षणता बताई है।

यहाँ प्रमाण मार्ग (मर्यादा मार्ग) और प्रमेय मार्ग (फलरूप-पुष्टि मार्ग) को विलक्षणता (अद्भुतपन) का भी स्पष्टीकरण (खुलासा) इस प्रकार होता है। जैसे कि प्रमाणश्रेष्ठ प्रभु के श्वास रूप वेद में, दास्य धर्म की उत्तमता बताई गई है, अतः उस (दास्यधर्म) को सिद्ध कर बताने के लिए स्वयं वेद, शेष रूप धारण कर, धर्मनिधि नारायण भगवान्, की शय्या होकर सेवा करता है, तथा श्री लक्ष्मीजी भी दास्य धर्म की उत्तमता बताने के लिये अपने रहने के स्थान प्रभु के वक्षःस्थल (छाती) को छोड़ कर प्रभु के चरणारविन्द की सेवा करती हुई चरणों के पास निवास करती हैं। यह प्रमाण मार्ग का सर्वोत्तम दास्य धर्म है।

उपनिषद् में कहे हुए सर्वात्मभाव होने के अनन्तर, उससे पुष्टिमार्गीय फलात्मक दास्य भाव की प्राप्ति होती है। सर्वात्मभाव जिस भक्त का सिद्ध हो जाता है उस भक्त के हृदय में अगाधलोलासागर का उद्भव (प्राकट्य) होता है। भक्त के हृदय में स्थित, इस लीला महोदधि में निरोधस्वरूप प्रभु शयन (स्थिति) करते हैं, अर्थात् रसदानार्थ सदैव विराजते हैं वे भक्त, रस को प्राप्त कर, आनन्द^२मग्न, हो जाते हैं। इस १ कारिका

^१ अलङ्कार शास्त्र में - उपमान से उपमेय की विशेषता बताने वाले अलङ्कार को व्यतिरेक अलङ्कार कहते हैं। यहाँ उपमान 'शेषशायी' नारायण से, उपमेय 'निरोध स्वरूप प्रभु' की विशेषता बताई गई है।

^२ - 'रसलब्ध्वा आनन्दी भवति' श्रुति को चरित्रार्थ करते हैं।

मे 'लीला' शब्द दो बार आया है जिससे पुनरुक्तिदोष^१ का आभास होता है, किन्तु इसका आशय समझने से यह शङ्का स्वतः मिट जायगी। दूसरे पाद में लीला शब्द सामान्य लीला बताने के लिये दिया है और तीसरे पाद में लीला शब्द, विशेष (मुख्य) लीलायें जो ब्रजभक्तों (गोपियों) ने स्वरूप तथा कटाक्षादि भावों द्वारा प्रभु से की है उनको स्पष्ट समझाने के लिए दिया है। अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है।

'शयन' शब्द का अर्थ निद्रा भी होता है किन्तु यहाँ 'शयन' शब्द का अर्थ 'स्थिति करना' है, अर्थात् प्रभु दूसरे स्थान पर न जाकर वहाँ पर ही (लीलार्थ) निवास करते हैं। जिसका तात्पर्य यह है कि प्रभु को जिस समय और जहाँ जहाँ जैसी जैसी लीला करनी होती है वहाँ आप उस समय पर उसी प्रकार बिराजते हैं इसको प्रभु का शयन^२ कहते हैं जैसे साधारण रीति से कहा जाता है कि नारायण भगवान् शेषशायी हैं अर्थात् शेष पर शयन कर रहे हैं परन्तु वास्तव में तो नारायण नाभि से कमल उत्पन्न कर, उससे ब्रह्मा का प्राकट्य करते हैं और उसके द्वारा जगत् की रचना कराते हैं। इससे शयन से स्थिति ही मानी जाती है। वैसे ही हृदयाकाश में पुरुष शयन करता है, जिसका भी तात्पर्य यह है कि पुरुष हृदय में स्थिति करता है।

इस प्रकार शास्त्रों में जैसे 'शयन' शब्द 'स्थिति' के अर्थ में दिया है वैसे ही आचार्यश्री ने 'श्री सुबोधिनी जी' में 'शयन' शब्द का अर्थ स्थिति लिया है।

जैसे शेषशायी नारायण इस दृश्य जगत् को प्रकट करते हैं। वैसे ही 'निरोधात्मक प्रभु' भक्त के हृदय में स्थित होकर लीलाक्षीराब्धि में 'शयन' करते हुए अपने स्वरूप में स्थित विचित्र (अजीब व नवीन) प्रचुर (परमोत्तम, बहुत) भावों द्वारा, भक्ति रसस्वरूप जगत् को प्रकट करते हैं।

यदि शयन शब्द का अर्थ निद्रा लेने में आवे तो प्रभु कोई भी लीला का कार्य नहीं कर सके। इसलिये शयन का अर्थ स्थिति योग्य है।

^१ - एक ही बात को दुबारा कहने को पुनरुक्ति दोष कहते हैं।

^२ - सारांश यह है कि उन लीलाओं का ज्ञान और आनन्द भक्त ही लेवे (पा सके) अन्य समझे कि भगवान् सो गये हैं। इसलिए स्थिति न कह कर शयन दिया है।

इस प्रकार प्रथम कारिका में मंगलाचरण से स्कन्धार्थरूप प्रभु को नमस्कार कर आचार्यचरण द्वितीय कारिका में बताते हैं कि प्रकरणार्थ रूप प्रभु मेरे हृदय में बिराजते हैं।

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च त्रिभिस्तथा।

षड्भिर्विराजते योऽसौ पञ्चधा हृदये मम॥२॥

अर्थ — जो यह प्रकरणार्थ रूप प्रभु, पाँच प्रकार से मेरे हृदय में विराजते हैं उनको मैं नमस्कार करता हूँ॥२॥

व्याख्या — प्रकरणार्थ प्रभु के पाँच प्रकार बताते हैं।

ऊपर श्लोक में दिये पहले 'चतुर्भिः' शब्द का तात्पर्य जन्म प्रकरण के चार अध्यायों से है। जिनमें क्रमानुसार हेतु, उद्यम, अन्य रूप धारना और कापट्य विषयों का वर्णन है।^१ दूसरे 'चतुर्भिः' शब्द से तात्पर्य 'तामस' प्रकरण के चार अवान्तर प्रकरणों से है, जो प्रत्येक सात सात अध्यायों का हैं और जिन अवान्तर प्रकरणों का क्रमानुसार नाम 'तामस' प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल है। तीसरे 'चतुर्भिः' शब्द से मतलब राजस प्रकरण के चार अवान्तर प्रकरणों से है, जो प्रत्येक सात अध्यायों का हैं और क्रमानुसार उनके नाम 'राजस' प्रमाण प्रमेय साधन और फल हैं।

'त्रिभिः' शब्द से तात्पर्य सात्विक प्रकरण के तीन अवान्तर प्रकरणों से है जो प्रत्येक सात सात अध्यायों का हैं और इनके नाम क्रमानुसार प्रमेय, साधन और फल है। इस प्रकरण में प्रमाण अवान्तर प्रकरण नहीं है क्योंकि सात्विक जीव शुद्ध अन्तःकरण वाले होते हैं और उनके हृदय में श्रद्धा होती है इससे उनकी शङ्काएँ नहीं होती हैं इसलिये उनको प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती है।

षड्भिः का अर्थ गुण प्रकरण से है जिसमें ६ अध्याय हैं और क्रमानुसार उनमें ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य का वर्णन है।

इस प्रकार कुल ८७ अध्याय हैं।

^१ प्रथम अध्याय में जन्म लेने का हेतु, द्वितीय अध्याय में शीघ्र प्रकट होने के लिये उद्यम, तीसरे अध्याय में चतुर्भुज स्वरूप को बालरूप में तिरोहित कर बालस्वरूप से प्रकट दर्शन देना, चतुर्थ अध्याय में 'कापट्य' (माया के कार्य) का वर्णन है।

जन्म प्रकरण — ४ अध्याय, तामस प्रकरण २८ अध्याय, राजस प्रकरण २८ अध्याय, सात्त्विक प्रकरण २९ अध्याय और गुण प्रकरण ६ अध्याय हैं।

तीन अध्याय प्रक्षिप्त हैं इस प्रकार दशम स्कन्ध के कुल ६० अध्याय हैं।

कारिका — दशमार्थः प्रकरणाध्यायार्थश्च विचार्यते ॥२॥

कारिका शब्दार्थ — इस कारिका में, दशम स्कन्ध का अर्थ और उसके प्रकरण तथा अध्यायों के अर्थ का विचार किया जाता है।

व्याख्या — मङ्गलचरण और प्रकरण विभाग करने के अनन्तर आचार्यश्री स्कन्धार्थ का विचार करते हैं, स्कन्ध का अर्थ सुदृढ़ (पक्का) अर्थात् पूरी तरह समझ में आ जावे इसलिये प्रकरणों तथा अध्यायों के अर्थ का भी विचार करते हैं। यद्यपि (हालांकि) आचार्य चरणों को यहां सुबोधिनी में केवल वाक्यों के, पदों के, और अक्षरों के अर्थ ही करने थे किन्तु कतिपय टीकाकारों को स्कन्धार्थ के विषय में जो संशय है उसको मिटाने के लिये यहां स्कन्ध, प्रकरण, एवं अध्यायों के अर्थ का भी दिग्दर्शन आवश्यक समझ कर कराया है ॥२॥

कारिका — नवलक्षणलक्ष्यो हि कृष्णस्तस्य निरूपणात् ॥३॥

आश्रयः क्रमभावित्वात् निरोधो वेति संशयः ॥३½॥

कारिकार्थ — दशम स्कन्ध का अर्थ आश्रय है ? वा 'निरोध' है ? यह संशय है। कितने टीकाकारों का मत है कि दशम स्कन्ध का अर्थ 'आश्रय' है क्योंकि उस स्कन्ध में सर्ग आदि नव लीलाओं से लक्ष्य (समझने के योग्य) श्रीकृष्णचन्द्र की लीलाएँ हैं। इन लीलाओं से श्रीकृष्ण का स्वरूप माना जाता है, इसमें दशम का अर्थ 'आश्रय' है। अन्यो की राय है कि द्वितीय स्कन्ध के दशमाध्याय के प्रथम श्लोक में जो लीलाओं का क्रम दिया है उसके अनुसार दशम का अर्थ 'निरोध' होना चाहिए ॥३½॥

इस प्रकार दो मत होने से सन्देह है कि दशम का अर्थ "आश्रय" है या "निरोध" है।

"आश्रय" मानने वालों का पक्ष इन कारिकाओं में बताते हैं :-

पूर्व पक्ष की कारिकाएँ —

लीलानिर्धारको ह्यर्थः क्रममात्रं तु दुर्बलम् ॥४॥

यथा कथञ्चिच्छ्रवणं सफलत्वाय कल्पते ।

निरोधः प्रलयो लोके प्रसिद्धः प्रकृते न सः ॥५॥

प्रतीतो द्वादशेऽन्यत्र महत्वाच्छुद्धलीलया ।

सहितो ह्याश्रयः स्कन्धे प्रतिपाद्य इहेतिचेत् ॥६॥

कारिकार्थ — पूर्व पक्ष वाले अर्थात् दशमस्कन्ध का अर्थ आश्रय मानने वाले कहते हैं कि प्रत्येक स्कन्ध में जिस लीला का वर्णन हो उससे ही स्कन्ध के अर्थ का निर्णय करना चाहिये। 'क्रमः' से निर्णय करना ठीक नहीं क्योंकि "लीलाओं" से "क्रम" निर्बल है। वेद में भी "अर्थ" का निर्णय करने की विधि दी है। जैसे पूर्व मीमांसा के अनुसार क्रम को छोड़कर विषय सामग्री पर निर्णय करने की परिपाटी है। उदाहरण 'अग्निहोत्र जुहोति' (अर्थ— 'अग्निहोत्र में होम करता है') यह वाक्य प्रथम आया है 'यवागूं पचति' (दूध में चावल पकाता है) यह वाक्य पीछे आया है तो भी यज्ञ में पहले चावल पकाये जाते हैं पश्चात् (पीछे) होम किये जाते हैं — क्योंकि यज्ञ पर क्रम मानने से अर्थ ठीक नहीं होता है इसलिए 'क्रम' निर्बल है और अर्थ रुद्ध है; अतः भागवत में भी पूर्वमीमांसा के अनुसार पाठक्रम दुर्बल है उसको छोड़कर लीलाओं के अनुसार 'आश्रय' ही स्कन्ध का अर्थ लेना चाहिए। श्रीमद्भागवत के शास्त्र का श्रवण जिससे सफल हो, उसको स्कन्धार्थ समझना चाहिए। यद्यपि क्रम से दशम का अर्थ 'निरोध' हो सकता है। निरोध का अर्थ 'प्रलय' है ऐसा लोक प्रसिद्ध है इसलिये निर्बल 'क्रमः' से प्राप्त निरोध (प्रलय) स्कन्ध का अर्थ ग्रहण न कर फल देने वाला 'आश्रय' ही ग्रहण करना ठीक है ॥४॥

यह (दशम) स्कन्ध अन्य स्कन्धों से उत्तम है कारण कि इसमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण लीला पुरुषोत्तम की शुद्ध लीलाएँ ही हैं। निरोध^१ (प्रलय) लीला (नैमित्तिक

^१ आचार्यश्री दशम स्कन्ध का अर्थ 'निरोध' स्वीकार करते हैं किन्तु 'निरोध' का अर्थ 'प्रलय' नहीं करते हैं निरोध को तीन अर्थों से समझाते हैं कि 'निरोध' क्या है ?

(१) जगत् में स्वशक्तियों के साथ खेलना।

(२) ससार रूप प्रपञ्च को भूलकर भगवान् में भक्त की आसक्ति।

(३) भक्त के लौकिक देहेन्द्रियादिको का अलौकिक हो जाना।

प्राकृत आदि) द्वादश स्कन्ध में है। इससे उस द्वादश स्कन्ध का अर्थ 'निरोध' है और दशम स्कन्ध का अर्थ आश्रय है ॥६॥

सन्देह मिटाकर जो सिद्धान्त स्थिर किया जाता है उसको 'उत्तर पक्ष' कहते हैं:—
उत्तर पक्ष की —

कारिकाएं — नहि सापेक्षरूपस्य प्रथमं सुनिरूपणम् ।

नवलक्षणलक्ष्यस्तु ह्याश्रयो रूप्यते कथम् ॥७॥

अग्रे लीलाद्वयकथा (फलसिद्धौ) वृथा भवेत् ।

पूर्वोत्तरस्कन्धयोश्च नश्येत् कारणकार्यता ॥८॥

कृष्णस्त्वेकादशोऽप्यस्ति क्रमश्च स्वीकृतो भवेत् ॥८½॥

कारिकार्थ — सर्ग, विसर्ग, आदि नव लक्षण की अपेक्षा वाले 'आश्रय' का प्रथम निरूपण नहीं हो सकता है, क्योंकि नवलक्षणलक्ष्य तो आश्रय है उसका दशम स्कन्ध में शुकदेवजी ने कैसे निरूपण (वर्णन) किया होगा ? क्योंकि जबकि दशम में आश्रय से फल—सिद्धि हो गई तो इसके पश्चात् दो लीलाओं का कहना किसी भी काम का नहीं रहता है वह तो वृथा ही हो जाता है इसके सिवाय आश्रय के पश्चात् मुक्ति और निरोध के वर्णन करने से स्कन्धों की आपस में कारण—कार्य सङ्गति भी नष्ट हो जाती है ॥७—८॥

यदि कहो कि दशम स्कन्ध में श्रीकृष्ण की लीलाएँ हैं अतः इसका अर्थ 'आश्रय' ही है तो श्रीकृष्ण की लीलाएँ तो एकादश स्कन्ध में भी हैं। इन सब का पूर्वापर (आगा पीछा) विचारने से यही सिद्धान्त निःसंशय (बिना संशय वाला) सिद्ध होता है कि श्रीमद्भागवत में क्रमानुसार ही 'स्कन्धार्थ' निर्णय करना चाहिये ॥८½॥

उत्तर पक्षीय कारिका की व्याख्या :—

दशम स्कन्ध में 'आश्रय' नहीं है किन्तु निरोध लीला है इस पक्ष को सिद्ध करने के लिये एवं वादी के पक्ष को अपूर्ण बताते हुए श्रीमहाप्रभुजी आज्ञा करते हैं कि, यदि दशमस्कन्ध में आश्रयलीला स्वीकार की जायगी तो श्रीशुकदेवजी के द्वितीय स्कन्ध में कहे हुए आश्रय को सर्ग आदि नवलीला की अपेक्षा (आवश्यकता) है। श्री शुक का वह कहना निरर्थक (बिना मतलब का) होगा। वास्तव में श्री शुकदेवजी ने तृतीय स्कन्ध से

सर्ग आदि लीलाएँ प्रारम्भ कर दशम में निरोध एकादश में मुक्ति एवं द्वादश में आश्रय का वर्णन किया है। श्री शुकदेवजी के इस क्रम का प्रबल प्रमाण यह है कि यदि परीक्षित का दशम में ही आश्रय सिद्ध हुआ होता तो न तो श्री शुकदेवजी को एकादश और द्वादश दो स्कन्धों के कहने की जरूरत होती और न परीक्षित को सुनने की ही चाह रहती। फिर तो यों मानना पड़ेगा कि दो स्कन्धों का कहना ही वृथा था। दशम में आश्रय मानना श्री शुकदेवजी की उक्तियों का अपमान करना है। इसके सिवाय दशम में आश्रय मानने से लीलाओं के परस्पर कार्य कारण की सङ्गति भी नष्ट होती है। जैसे —

- | | |
|--------------------|---|
| प्रथम स्कन्ध में | — अधिकारियों के साधन लक्षण हैं। |
| द्वितीय स्कन्ध में | — साधन युक्तों का श्रवण है। |
| तृतीय स्कन्ध में | — १. पहली सर्ग लीला—निराकार का पुरुष शरीर धारण करना है। |
| चतुर्थ स्कन्ध | — २. विसर्ग लीला—पुरुष रूप से ब्रह्मादिकों की उत्पत्ति होना है। |
| पञ्चम स्कन्ध | — ३. उत्पन्न किये हुए सर्ग की मर्यादा से स्थापना के लिये धर्मादि पुरुषार्थों का साधन है। |
| षष्ठ स्कन्ध में | — ४. पुष्टिलीला—किन जीवों पर अनुग्रह है। |
| सप्तम स्कन्ध में | — ५. उतिलीला—वैषम्य दोष के निवारण के लिये वासना है। |
| अष्टम स्कन्ध में | — ६. मन्वन्तरलीला—वासना के मिटाने के लिए सद्धर्म का वर्णन है। |
| नवम स्कन्ध में | — ७. ईशानुकथा—निवृत्त दोष वालों के लिए भक्ति चरित्र |
| दशम स्कन्ध में | — ८. निरोधलीला, भक्तों की प्रपञ्च विस्मृति कराके भगवान् के स्वरूप में उनकी आसक्ति होना है। |
| एकादश स्कन्ध में | — ९. मुक्तिलीला, निष्प्रपञ्च अर्थात् जिनका प्रपञ्च (संसार) नाश हो गया है वैसे, तथा भगवान् में आसक्ति वाले जीवों को स्वरूपज्ञान के द्वारा मुक्तिदान। |

द्वादश स्कन्ध में — १०. आश्रयलीला, स्वरूपज्ञान द्वारा जीवन्मुक्त जीवों की ब्रह्मस्वरूप से स्थिति रूप 'आश्रय' है।

इस प्रकार स्कन्धों में जो कार्य कारण सम्बन्ध है वह दशम में आश्रय मानने से भङ्ग हो जायेगा अतः दशम का अर्थ 'निरोध' मानना ही प्रमाण तथा युक्ति से सङ्गत (योग्य) है। दशमस्कन्ध में 'निरोध' लीला स्वीकार करने से श्रीशुकदेवजी के कहे हुए क्रम का भी समादर होगा।

कारिका — निरोधोऽस्यानुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः ॥६॥

शक्तिभिर्दुर्विमाव्याभिः कृष्णस्येति हि लक्षणम् ॥६½॥

कारिकार्थ — इस (पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण) श्री हरि की, अपनी अचिन्त्य (जिसका विचार भी जीव नहीं कर सकता है) शक्तियों सहित जगत् में क्रीड़ा करना ही 'निरोध' है।

व्याख्या — श्रीमद्भागवत की टीकाओं को देखने से प्रतीत होता (जाना जाता) है कि उन्होंने भागवत में दिये हुए (निरोध) शब्द का वास्तविक (असली) अर्थ नहीं किया है। श्री शुकदेवजी के 'निरोध' शब्द का भाव न समझकर कहते हैं कि 'जीव का शक्तियों के साथ लय ही 'निरोध' है। यों अर्थ करना श्रीशुकदेवजी के कथन के विरुद्ध है। द्वितीय स्कन्ध के दशम अध्याय के ६ श्लोक में 'अस्य' शब्द दिया है, जिससे परमात्मा का बोध (ज्ञान) कराया है नहीं कि जीवात्मा के लिये 'अस्य' शब्द दिया है। अतः आचार्यश्री ने इस कारिका में 'अस्य' शब्द का अर्थ स्पष्ट समझाने के लिये 'हरेः' तथा 'श्रीकृष्णस्य' भगवान के दो नाम दिये हैं। इसके सिवाय जो अन्य (दूसरे) दुष्ट राजाओं का नष्ट रूप प्रलय को 'निरोध' मानते हैं, वह भी सत्य पूर्ण नहीं है, कारण कि मारना आदि कार्य श्रीकृष्ण स्वयं तो करते नहीं हैं किन्तु सङ्कर्षणादि व्यूहों से करवाते हैं। श्रीकृष्ण ने तो वे लीलाएँ की हैं और करते हैं, जिससे भक्त जनों की अविद्या नष्ट हो और उनकी 'प्रभु' में आसक्ति हो, भक्तों की प्रभु में आसक्ति हो तथा प्रपञ्च को भूल जाय यह ही प्रभु के प्राकट्य एवं लीला करने का हेतु है। दशम स्कन्ध में इस प्रकार की लीलाएँ की गई हैं, अतः दशम स्कन्ध में जो 'निरोध' लीला का वर्णन है उसका सत्य अर्थ इस कारिका में आचार्यश्री ने स्पष्ट समझाया है।

श्रीमद्गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी 'प्रकाश' में विशेष रूप से समझाते हैं कि दशमस्कन्ध में ८७ अध्याय का कारण भी यह है कि (निरोध) का अर्थ (शयन) है। और शयन की तीन अवस्थाएँ हैं, प्रथम जाग्रत द्वितीय स्वप्न और तृतीय सुषुप्ति हैं। इसके सिवाय देह की ७२ नाड़ियाँ तथा आत्मा की श्री, कान्ति आदि १२ शक्तियाँ हैं। इन सब का योग (जोड़) ८७ होता है अतः (निरोधार्थ) दशमस्कन्ध के ८७ अध्याय भी (निरोध) लीला इस स्कन्ध के अर्थ का समर्थन करते हैं ॥६॥

कारिका — नैमित्तिकनिरोधोऽन्यो धर्मग्लानिनिमित्ततः ॥१०॥

शब्दार्थ — धर्मग्लानि के निमित्त (कारण) से जो दुष्ट राजाओं का नाश रूप निरोध है वह सर्ग आदि दश लीलाओं से पृथक् (अलग) है।

व्याख्या — श्रीमदाचार्यचरण ने इस कारिका में आज्ञा की है कि दशम स्कन्ध में दुष्ट राजाओं के नाशरूप नैमित्तिक (कारण से होने वाले) प्रलय को मानना ही योग्य नहीं है, क्योंकि नैमित्तिक प्रलय रूप निरोध की सर्ग आदि दशललीलाओं में गणना नहीं की है। यहां इस स्कन्ध में तो श्रीशुकदेवजी के वचनानुसार, सर्ग आदि दशललीला द्वारा हुआ भगवदासक्ति रूप निरोध ही विवक्षित हैं।

कारिका — स चात्र नैव सदूग्राह्यो हरिणा दुष्टभूभुजाम्।

—आद्यन्तेयोरहामावान्मुक्तावप्यनुवृत्ततः ॥११॥

शब्दार्थ — हरि ने दुष्ट राजाओं का नाश रूप जो (निरोध) किया है वह निरोध सत्पुरुषों को यहां ग्रहण नहीं करना चाहिये। यहां 'आदि' और 'अन्त' के प्रकरण में प्रलयात्मक (प्रलयरूप) निरोध का अभाव है। एवं मुक्तिलीला (एकादश स्कन्ध) में दुष्ट राजाओं का नाशात्मक निरोध है। इस निरोध (नाशात्मक) में निरोध के लक्षण नहीं हैं तथा दशललीला से १ लीला भी विशेष होती है। अतः मारणरूप निरोध अलग होने से इस स्कन्ध में वह है यों कहना व्यर्थ है।

व्याख्या — भगवान् ने सङ्कर्षण व्यूह द्वारा जो दुष्ट नृपतियों (राजाओं) का नाश रूप निरोध किया है वह मुख्य निरोध का "अङ्ग" रूप निरोध है अतः वह दशम स्कन्ध का "अर्थ" रूप निरोध नहीं है। यदि कोई इस निरोध को ही दशम का अर्थ मानने का आग्रह (हठ) करे तो उसके उत्तर में आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि दशम स्कन्ध के

पहिले जन्म प्रकरण—में तथा अन्तिम—गुण प्रकरण—में दुष्ट नाश का नैमित्तिक प्रलय रूप निरोध का लक्षण नहीं है, इसलिये हठ करने वाले वादी के कहने में अव्याप्ति दोष आता है, उसके सिवाय एकादश स्कन्ध में भी प्रलय रूप निरोध की कथा है जिससे वादी के कहने में अतिव्याप्तिदोष भी आता है और दश लीलाओं के स्थान पर एकादश लीलाएँ होती हैं। इन दोषों के कारण प्रलयात्मक निरोध को दशम स्कन्ध का अर्थ सत्पुरुषों को नहीं मानना चाहिये ॥११½॥

कारिका — तदर्थं जन्मकथनं पृथास्तोत्रविरोधि हि ॥१२॥

शब्दार्थ — दुष्ट नृपतियों के नाश के लिये भगवान् ने अवतार लिया है यों मानना पृथा (कुन्ती) द्वारा की गई स्तुति के विरुद्ध है ॥१२॥

व्याख्या — श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि बोपदेव ने भागवत का अर्थ करते हुए लिखा है कि भगवान् श्रीकृष्ण ने दुष्ट राजाओं का नाशकर भूभार को उतारने के लिये अवतार लिया है, यह उनका कहना अपूर्ण है क्योंकि कुन्ती ने भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है कि —

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम् ।

स्क. अ. श्लो.

भक्तियोग विधा (ता) नार्थं कथं पश्येम हि स्त्रियः ।

१ ८ २०

अर्थ — हे प्रभो! यदि आपका प्राकट्य शुद्ध अन्तःकरण वाले परमहंस मुनियों में भक्ति योग के विधान अथवा विस्तार के लिये नहीं होता तो हम स्त्रियाँ आपके दर्शन कैसे कर सकती ? इस प्रकार कुन्ती ने श्रीकृष्ण के प्राकट्य का कारण भक्ति विस्तार कहा है अतः दुष्ट वध को मुख्य कारण मानना असंगत है ॥१२॥

कारिका — कार्यकारणहानिश्च प्रक्रान्तत्याग एव च

भक्तत्वाद्भुव उद्धारो भारहारान्निरूपितः ॥१३॥

शब्दार्थ — दशम स्कन्ध में 'आश्रय' लीला मानने से, कार्य कारण की तथा उपक्रम की हानि होती है। इस स्कन्ध से भक्त—श्रेष्ठ—भूमि, के उद्धार का भूभार हरण करने से वर्णन किया है।

व्याख्या — द्वितीय स्कन्ध में कहा है कि (दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानामिहसक्षणम्) दसवीं लीला आश्रय के विशेष शुद्धि के लिये यहाँ प्रथम सर्गादि प्रारम्भ कर द्वादशस्कन्ध

में आश्रय लीला कही है। इस प्रकार कारण कार्य सङ्गति तथा क्रम की रक्षा की गई है। उनका त्यागकर बीच में (दशम-स्कन्ध में) आश्रय मानने से कार्य कारण सङ्गति तथा क्रम का नाश होता है अतः बीच में आश्रय मानना असङ्गत (अयोग्य) है। सर्ग आदि नव लीलाओं के ज्ञान होने के अनन्तर (बाद) ही आश्रय का ज्ञान व प्राप्ति होती है। कारण कि पहली लीला कारण है दूसरी लीला कार्य है। इसी तरह सर्व लीलाओं का क्रमशः कारण कार्य सम्बन्ध होने से श्रीमद्भागवत में लीलाओं का वर्णन भी इसी क्रम से हुआ है।

अतः दशम में आश्रय अथवा दुष्ट मारण रूप प्रलय निरोध मानना सर्वथा असङ्गत है। दशम में तो प्रपञ्चविस्मृतिपूर्वक भगवदासक्ति रूप मुख्य (निरोध) मानना ही सुसङ्गत है, इसलिये सुज्ञों को शास्त्रीय सिद्धान्त ही स्वीकार करना चाहिये।

कारिका – प्रकटः परमानन्दो यदा भूमेस्तदैव हि।

मर्दनक्लेशहानिः स्यादिति तस्याः समुद्यमः ॥१४॥

शब्दार्थ – दुष्ट नृपतियों द्वारा किये हुए पापादि भार से पीड़ित पृथ्वी का क्लेश तब निवृत्त हो जब स्वयं परमानन्द प्रकट हो; इसलिये पृथ्वी ने ही सफल उद्यम किया ॥१४॥

व्याख्या – भूमि बोझ से अत्यन्त पीड़ित हुई तब उस (पीड़ा) को मिटाने के लिये उसने उद्यम किया जो सफल भी हुआ। भूमि का दुष्टतापूर्ण मनुष्यों की अधिक संख्या बढ़ने के बोझ से पीड़ा नहीं होती है, क्योंकि पृथ्वी पर्वतादिकों का भार भी वहन करने में समर्थ है, किन्तु पाप के बोझ को सहन करने में असमर्थ हैं। पाप के बोझ की पीड़ा प्रभु के प्राकट्य के सिवाय नहीं मिटती है। जैसे सूर्य के उदय होते ही रात्रि का अन्धकार स्वतः (आपही) नाश हो जाता है। वैसे ही प्रभु के प्राकट्य मात्र से भूमि की पीड़ा मिट जायेगी। अतः दशम के प्रथम अध्याय में भगवत्प्राकट्य के लिए पृथ्वी के किये हुए उद्यम का वर्णन है ॥१४॥

कारिका – ब्रह्मरुद्रादिदेवानामत एवान्यसंश्रयः।

भक्तानामेव निस्तारः कृतः कृष्णेन संसृतेः ॥१५॥

अतो निरोधो भक्तानां, प्रपञ्चस्येति निश्चयः ॥१५½॥

शब्दार्थ — प्रभु के प्राकट्य के लिए ब्रह्मा, रुद्र आदि देवों को दूसरों का आश्रय^१ लेना पड़ा। दूसरी गौ (भगवान् की भक्त) का आश्रय लेकर भगवान् को प्रार्थना करने के लिए शिव आदि देव क्षीर-सागर पर गये। श्रीकृष्ण ने भक्तों का ही “संसार” नाश किया है, अतः प्रपञ्च से विस्मृतिपूर्वक भगवान् में आसक्ति रूप निरोध भक्तों का ही हुआ है।

व्याख्या — जब भूमि पाप-बोझ से अति पीड़ित हुई और समझने लगी कि यह मेरा दुःख भगवान् के प्रकट होने के सिवाय नष्ट नहीं होगा। भगवान् का प्राकट्य देवताओं को अभीष्ट (प्रिय) था किन्तु उनमें पृथ्वी जितनी न आर्ति थी और न वैसा अधिकार था। भगवान् तो आर्त एवम् भक्तों के दुःख दूर करने के लिए ही प्रकट होते हैं। वैसी योग्यता देवताओं में नहीं थी केवल पृथ्वी में थी। अतः ब्रह्मादि देवों को पृथ्वी का सहारा लेकर भगवान् के पास प्रार्थना के लिए जाना पड़ा।

यदि यहां (दशम स्कन्ध में) दुष्ट भूपति-नाश-रूप निरोध माना भी जाय तो भी वह दशम का मुख्य अर्थ रूप ‘निर्णय’ नहीं माना जायेगा। कारण कि दशम में मुख्य ‘निरोध’ तो वह है जो भगवान् प्राकट्य आदि लीलाओं द्वारा भक्तों के प्रपञ्च का नाश तथा भक्तों के अन्तःकरण में अपनी आसक्ति एवं लीलाओं की स्फूर्ति (फुरती-उत्साह) कराते हैं। यही मुख्य ‘निरोध’ दशम स्कन्ध का अर्थ है —

नवम स्कन्ध में वर्णन की हुई ‘भक्ति’ का जिन भक्तों के हृदय में आविर्भाव (प्रकाश) हुआ है, उन भक्तों के ही प्रपञ्च का नाश दशम में वर्णन किया है। लीलाओं द्वारा पुष्ट भूपतियों के प्रपञ्च का नाश नहीं किया है। अतः दशमार्थ (दश स्कन्ध का अर्थ) भक्त प्रपञ्च नाशात्मक, भगवदासक्ति रूप (निरोध) ही है। भरताचार्य ने भी ‘निरोध’ का स्वरूप बताते हुए कहा है कि ‘यातुव्यसनसम्प्राप्तिर्निरोधः स तु कथ्यते’ व्यसन दशा की पूर्ण प्राप्ति को ‘निरोध’ कहा जाता है। १५½।।

^१ दूसरे का आश्रय — इसका भावार्थ बताते हुए भी प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि ब्रह्मा रुद्र आदि देव स्वयं प्रार्थना के लिये प्रभु के पास न जा सकें जो वे अधिकारी न थे कारण कि जैसी आर्ति भूमि में है वैसी इन्हो में नहीं है। अतः भक्तों का आश्रय लेकर प्रभु की सेवा करते हैं इसलिए गौ रूप पृथ्वी जो भक्त है, उसको साथ लेकर प्रभु के पास पधारे। तब भगवान् के प्रकट कराने के लिए प्रयत्न करने लगे।

कारिका - यावद्बहिः स्थितो वह्निः प्रकटो वा विशेषत्रहि ॥१६॥

तावदन्तः स्थितोऽप्येष, न दारुदहनक्षमः ।

एवम् सर्वगतो विष्णुः प्रकटश्चेन्न तद्विशोत् ॥१७॥

तावन्न लीयते सर्वमिति कृष्णसमुद्यमः ।

रूपान्तरम् तु नटवत्स्वीकृत्य त्रिविधात्रिजान् ॥१८॥

प्रपञ्चाभाव करणादुज्जहारेति निश्चयः ॥१८½॥

कारिकार्थ - जब तक बाहर की अग्नि प्रकट होकर काष्ठ में प्रवेश नहीं करती है तब तक काष्ठ के भीतर रही हुई अग्नि उसको (काष्ठ को) जला नहीं सकती है। इसी प्रकार परमात्मा जब तक बाहर प्रकट होकर भीतर प्रवेश नहीं करते है तब तक अन्तः स्थित ईश्वर कुछ नहीं कर सकते हैं अर्थात् परमात्मा सर्वत्र व्यापक है एवम् देह इन्द्रिय आदि में भी स्थित है तो भी इन लौकिक देहादि (संसार) का लय नहीं कर सकते हैं। अतः जैसे अग्नि काष्ठ में प्रवेश कर उसको जला सकती है वैसे परमात्मा भी बाहर प्रकट होकर भीतर प्रवेश करते हैं तब जीव की लौकिक देह इन्द्रियादि अलौकिक होती हैं। तात्पर्य है कि जीव का संसार नाश हो जाता है। इसलिए (जीव का संसार नाश कर अपने में आसक्ति कराने के लिए) ही श्रीकृष्ण का उद्यम है। श्रीकृष्ण में नटवत् रूपान्तर (मनुष्य रूप) स्वीकार कर तीन प्रकार के अपने भक्तों का प्रपञ्च नाश कर उद्धार किया है, यह निश्चय है ॥१८½॥

व्याख्या - आचार्यश्री ने उपरोक्त कारिकाओं में दो शङ्काओं का निवारण किया है।

शङ्का १ - दशम स्कन्ध में हरि ने भक्तों के प्रपञ्च का नाश किया है, यह स्पष्ट देखने में नहीं आता है।

शङ्का २ - अन्तर्यामी भगवान् सर्वत्र व्यापक होने से सब में विराजमान हैं, तो भीतर ही स्थित स्वरूप से, भक्तों के प्रपञ्च का नाश कर सकते थे, तो फिर प्रकट होने की क्या आवश्यकता थी ? प्रपञ्च का नाश करना तो भीतर का ही कार्य है अतः दुष्ट भूपतियों के नाश करने के लिये ही प्रभु का प्राकट्य हुआ है यों मानना ही सुसंज्ञित (योग्य) है और नृपतियों के नाशरूप प्रलय को ही 'निरोध' मानना चाहिये।

इन दोनों शङ्काओं का दृष्टान्त देकर निवारण करते हैं।

अग्नि सर्वव्यापक है अतः काष्ठ में भी स्थित है किन्तु वह अग्नि काष्ठादि को जला नहीं सकती है, क्योंकि वस्तु का स्वभाव प्रबल है, अथवा लीला में जो कार्य जिस प्रकार करना है तथा जिस स्वरूप से करना है और जब करना है, वह कार्य उस प्रकार, उस स्वरूप से तथा उस समय किया जाता है। अतः अग्नि काष्ठ में होते भी काष्ठ को नहीं जलाती है समय आने पर बाहर प्रकट होकर उस स्वरूप से काष्ठ में प्रवेश कर काष्ठ के काष्ठरूप को नष्ट कर उसको अग्निरूप प्रदान करती है, वैसे ही लीलात्मक जगत् में वस्तु के स्वभावानुसार प्रभु, सर्वव्यापक होते हुए भी, उस स्वरूप से भक्त के प्रपञ्च का नाश नहीं करते हैं किन्तु प्रकट होकर उस (प्रकट) स्वरूप से सत् (जड-देहादि) और चित् (जीव) में आनन्द प्रकट कर भक्त को अलौकिक सच्चिदानन्द स्वरूप प्रदान करते हैं। जिससे भक्त का लौकिक प्रपञ्च नाश होकर भगवदासक्ति रूप फल मिल जाता है।

साधन से साध्य की प्राप्ति होती है। यहाँ भगवान् का शक्तियों के साथ प्रपञ्च में खेलना साधन (कारण) रूप निरोध है। भक्तों का भगवान् में आसक्ति रूप निरोध “व्यापार” है और भक्तों के लिये प्रपञ्च का अभाव रूप ‘निरोध’ फल है। यह त्रिविध निरोध भक्तजनों को ही सिद्ध हुआ है न कि राजाओं को। अतः इस प्रकार का त्रिविध (तीन तरह का) ‘निरोध’ ही दशम स्कन्ध का अर्थ है।

श्री देवकीजी के गृह में चतुर्भुज स्वरूप से प्रकट होकर फिर बाल रूप से दर्शन देने लगे। इस का रहस्य भी कारिका में ‘नटवत्’ शब्द देकर बताते हैं कि जैसे नट कितने ही वेश बदलता है तो भी उसके मूल स्वरूप में थोड़ा सा भी विकार या भेद (फर्क) नहीं होता है, नट कोई भी वेश धारण करे तो भी नट का स्वरूप सब वेशों में वही रहता है, नट में उस समय भी वही सामर्थ्य मौजूद रहती है परन्तु नट खेल के कारण वेश के अनुकूल ही उस लीला का कार्य उस प्रकार करके दिखाता है, वैसे ही प्रभु भी त्रिविध भक्तों के उद्धारार्थ नटवत् रूप धारण करते हैं, जैसी भक्त की, भावना होती है, प्रभु भी तदनुसार (उसी तरह का) रूप स्वीकार करते हैं। किन्तु उन रूपों के

धारण करने से प्रभु स्वरूप में नटवत् कोई विकार का भेद (फर्क) नहीं होता है। यहाँ प्रभु की भक्ताधीनता लीला है।

प्रकरण ज्ञान —

कारिका — पञ्च प्रकरणान्यत्र चतुर्भिर्जन्म सत्पतेः ॥१९॥

अष्टाविंशतिभिः पूर्वं तामसत्वाद्व्रजोद्धतिः ।

तथैव राजसानां च यादवानां विशेषतः ॥२०॥

सात्त्विकानेकविंशत्या निःप्रपञ्चाँश्चकार ह ।

भगवानेव नान्योऽत्र तदर्थं षड्भगाभिधाः ॥२१॥

शब्दार्थ — आचार्य श्री ने पूर्व कारिकाओं में स्कन्धार्थ का निर्णय किया है अब इस (दशम) स्कन्ध के प्रकरण विभाग बताते हैं।

दशम स्कन्ध के पाँच प्रकरण हैं :—

- (१) प्रकरण, जन्म प्रमाण है जिनमें भगवान् के जन्म का वर्णन हुआ है। उसके ४ अध्याय हैं।
- (२) प्रकरण, राजस प्रकरण है, जिसमें प्रथम तामस व्रज के उद्धार का वर्णन है, उसका २८ अध्याय है।
- (३) प्रकरण, राजस प्रकरण है, जिसमें राजस भक्तों का तथा विशेष प्रकार से यादवों का वर्णन है, उसके भी २८ अध्याय हैं।
- (४) प्रकरण, सात्त्विक प्रकरण है, जिसमें सात्त्विक भक्तों की कथा है, उसके २९ अध्याय हैं।
- (५) प्रकरण, गुण प्रकरण है, जिसमें भगवान् के षड्गुणों की की हुई लीला का वर्णन है, उसके ६ अध्याय हैं। इस प्रकरण में भगवान् का ही गुण रूप से वर्णन है न कि दूसरे किसी का वर्णन है ॥२१॥

व्याख्या — श्री आचार्य चरणों ने 'चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च' कारिका में तो प्रकरण विभाग का केवल इङ्गित (संकेत) ही किया है, उस प्रकरण विभाग को स्पष्ट समझाने की कृपा इन कारिकाओं में की है।

यहाँ यह समझना आवश्यक (जरूरी) है कि आचार्यश्री ने प्रकरण विभाग में जो अध्यायों की नियमित संख्या दी है, उसका भावार्थ क्या है ?

(१) जन्म प्रकरण में ४ अध्याय इसलिये हैं कि भगवान् चतुर्भूति स्वरूप (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध व्यूह स्वरूपों) से प्रकटे हैं। आप पूर्ण स्वरूप है, आपको सर्ग के प्रकार से (भूभारहरण आदि) कार्य करने पड़ते हैं अतः आप अपने साथ अपने सर्व परिकर (परिवार) को भी उन कार्यों को कराने के लिये ले आये थे। प्रत्येक अध्याय में एक एक व्यूह स्वरूप से आप प्रकटे हैं। ४ व्यूह हैं अतः प्राकट्य के ४ अध्याय हैं।

(२) तामस प्रकरण में प्रमाण, प्रमेय साधन और फल के कारण ४ अवान्तर प्रकरण हैं। प्रत्येक (हर एक) अवान्तर प्रकरण में भगवान् ने ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य, इन छः धर्म स्वरूपों से तथा अपने धर्मी स्वरूप से लीला की है। इसलिये इनमें प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल के ७-७ अध्याय हैं जिससे चारों के मिलकर २८ अध्याय होते हैं। अतः तामस प्रकरण के २८ अध्याय हैं।

(३) राजस प्रकरण में, भी तामस के समान २८ अध्याय हैं। उसमें भी प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल के ४ अवान्तर प्रकरण हैं। प्रत्येक ७ अध्याय का है।

(४) सात्त्विक प्रकरण में २९ अध्याय हैं, कारण कि उसमें प्रमेय, साधन और फल के होने से अवान्तर प्रकरण तीन हैं। सात्त्विकों को प्रमाण की आवश्यकता नहीं है कारण कि सात्त्विक जीव शुद्धान्तःकरण वाले होने से श्रद्धालु तथा संशय रहित होते हैं जिससे उनको प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

(५) गुण प्रकरण में — ६ अध्याय इसीलिये हैं कि भगवान् ने इस प्रकरण में अपने ऐश्वर्यादि (६) छः धर्म स्वरूपों से लीला की है अर्थात् एक एक अध्याय में एक एक गुण द्वारा लीला की है।

पाठक समझ गये होंगे कि प्रत्येक प्रकरण में इसी भांति अध्यायों का विभाग क्यों किया है।

सात्त्विक राजस और तामस तीन प्रकार के भक्तों का लीला द्वारा जिसने प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक भगवदासक्ति रूप निरोध किया है, यह परात्पर भगवान् ही है। इसलिये पांचवें प्रकरण में भगवान् के षड्गुणों की स्वरूपात्मकता (षड्गुण भी भगवान् के ही

स्वरूप हैं) यह दिखाई गई है। २१ कारिका में 'अन्य' (दूसरा) शब्द से यह कहा है कि यहाँ माया शबल ईश्वर, वा निर्धर्मक आदि स्वरूप नहीं है किन्तु शुद्ध, परात्पर, निर्गुण (लौकिक तथा प्रकृति के गुणों से रहित) श्रीकृष्ण ही लीला कर्ता है। अन्यथा (दूसरी तरह मायिक आदि) समझना भ्रान्तों की भ्रान्ति मात्र है। ॥२१॥

प्रकरण विभाग से भी दशम स्कन्ध का अर्थ 'निरोध' ही निश्चित होता है। इसलिये दशम का अर्थ 'निरोध लीला' है। इसमें किञ्चन्मात्र (थोड़ासा) भी संशय नहीं करना चाहिये।

कारिका - - चतुर्मूर्तेर्जन्मतोत्र तथाध्याया निरूपिताः।

तत्तत्प्रकरणे तेषामुपयोगस्तु वक्ष्यते ॥२२॥

हेतूद्यमस्वीकरण—कापट्यैः प्रथमो महान्।

प्रद्युम्नश्चानिरुद्धश्च वासुदेवस्तथापरः ॥२३॥

हेतुश्च त्रिविधो ह्यत्र गुणा भक्ताहितप्रदा।

कंसादेःकालतोऽज्ञानात् त्रिधा दुःखं तु तदगतम् ॥२४॥

शब्दार्थ - इस जन्म प्रकरण में चतुर्मूर्ति भगवान् के प्राकट्य के कारण ४ अध्याय हैं। किस स्वरूप से कौनसी लीला की है वह उस प्रकरण में कहा जायेगा ॥२२॥

हेतु (कारण) उद्यम (प्रयत्न) स्वीकरण (दूसरा स्वरूप लेना) और कापट्य (छिपकर छल से कार्य करना) के कारण प्रथम प्रकरण (जन्म प्रकरण) महान् (बड़ा) है इसमें प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, वासुदेव और सङ्कर्षण रूप से लीलाओं का वर्णन है ॥२३॥

तीन गुणों के कारण दुःख भी तीन प्रकार के होते हैं। ये तीन गुण भक्तों को तीन प्रकार के दुःख देने वाले हैं। भक्तों को कंसादि से, काल से तथा अज्ञान के कारण दुःख होने से, तीन प्रकार के दुःख हुए थे। ये दुःख ही भगवान् के प्रकट होने में कारण हैं ॥२४॥

व्याख्या - जन्म प्रकरण के अध्यायों का अर्थ समझाते हुए, आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि पांचों प्रकरणों में जन्म प्रकरण उत्तम है क्योंकि इसमें परब्रह्म श्रीकृष्णचन्द्र

स्वयं निरोध तथा विविध प्रकार की लीलाओं के करने के लिये चतुर्मूर्ति^१ स्वरूप से प्रकट हुए हैं, इसलिये जन्म प्रकरण चार अध्यायों का है।

“प्रकरण” का अर्थ ‘अङ्ग.ी’ (शरीर) है और अध्यायों का अर्थ ‘अङ्ग.’ (भाग) है। अङ्ग.ी जन्म प्रकरण के ४ अध्याय, ४ अङ्ग. हैं। प्रथम अध्याय में हेतु, द्वितीय अध्याय में उद्यम, तीसरे में रूपान्तर ग्रहण (दूसरा रूप—ग्रहण) करना, चौथे अध्याय में माया का कार्य कापट्य (छिपा कर कार्य करना) का वर्णन है। इसके सिवाय प्रथम अध्याय में वासुदेव, द्वितीय में सङ्कर्षण, तृतीय में प्रद्युम्न और चतुर्थ में अनिरुद्ध रूप की लीलाओं का समावेश है।

प्रथम अध्याय में भगवान् से प्रादुर्भाव का कारण भक्तों का दुःख बताया गया है। भक्तों को गुणों द्वारा जो त्रिविध दुःख प्राप्त हुआ उसके निवारण (मिटाने) की शक्ति सिवाय भगवान् के और किसी भी दूसरे में नहीं है। प्रथमाध्याय में पृथ्वी, देवकीजी, यादव आदि भक्तों के दुःखों का वर्णन हुआ है।

कारिका — भूमिर्माता तथा चान्ये दुःखभाजो हरिप्रियाः।
 यथायोग्यं दुःखमेषामत्रैवेति निरूप्यते ॥२५॥
 त्रयं भगवता शक्यं दूरीकर्तुमितीर्यते।
 प्रश्नोऽप्यत्राधिकः प्रोक्तः स्कन्धद्वितयवर्तन ॥२६॥
 अनुवादः स्तुतिः प्रश्ने भक्तस्वज्ञापकावुभौ।
 अन्यथा ह्यतिगुप्तार्थं श्रीशुको वर्णयेत् कथम् ॥२७॥
 अज्ञानमन्यथाज्ञानं कृष्णं विनिवार्यते।
 प्राणनत्वं कथायाश्च दयासिद्धयै शुकस्य हि ॥२८॥
 एवं प्रश्नो द्वादशभिः समतो गुणदोषगः ॥२८½॥

शब्दार्थ — पृथ्वी, माता देवकी और दूसरो भक्तों के यथा योग्य (जैसा जैसा जिसको) दुःख था उसका वर्णन यहां ही निरूपण किया गया है ॥२५॥

^१ पूर्णवतार में केवल भक्तों के निरोध के वास्ते ही प्राकट्य नहीं है किन्तु अन्य कार्य भी (भू-भार हरन आदि कार्य भी) करने है। अतः उनके लिये, स्वरूपात्मक (अपने ही स्वरूप के रूप) वासुदेव आदि चतुर्व्यूह रूपों को भी साथ में प्रकट किया है। इसीलिये भगवान् को ‘चतुर्मूर्ति’ कहा है।

तीन प्रकार के भक्तों का तीनों दुःख भगवान् के सिवाय अन्य कोई मिटाने में समर्थ नहीं है।

दशम और एकादश स्कन्ध दोनों स्कन्धों को ध्यान में लाकर एक प्रश्न अधिक कहा गया है। अनुवाद और स्तुति ये दो ही परीक्षित का भक्त होना सिद्ध करते हैं। यदि परीक्षित भक्त नहीं होता तो श्रीशुकदेवजी अतिगुप्त अर्थ का वर्णन कैसे करते।

वह वर्णन श्रीकृष्ण के स्वरूप के अज्ञान तथा अन्यथा ज्ञान (दूसरी तरह का झूठा ज्ञान) का निवारण करता है। कथा ही प्राण देने वाली है यह श्रीशुकदेव के दयालुत्व की सिद्धि के लिये कहा है। अतः गुण तथा दोषों की समानता दिखाने के लिये १२ (द्वादश) श्लोकों से प्रश्न किये हैं। [२८½]।

व्याख्या — भगवान् के प्रकट होने का कारण भक्तों का दुःख है, भक्तों को दुःखी देखकर भक्तों के दुःखों को न सह सकने वाले भक्तवत्सल भगवान् भक्तों के दुःखों को मिटाने के लिए शीघ्र ही प्रकट होते हैं। इसलिए जन्म प्रकरण के चार अध्यायों में से प्रथम^१ अध्याय में भगवान् के प्रकट होने का कारण जो भक्त दुःख हैं उसका वर्णन किया गया है। जब से कंस ने नारदजी के मुख से यह सुना कि ब्रज में नन्द आदि गोप तथा उनकी स्त्रियां तथा यादव सब देवता हैं, तब से कंस ने यादव और नन्दादिकों को कष्ट देना प्रारम्भ किया।

भूमि को कंस आदि से दुःख हुआ था, माता देवकी को आकाशवाणी सुनने से दुःख उत्पन्न हो गया था और अन्य भक्तों (यादव नन्द आदि) को भगवान् के प्रकट होने के अज्ञान से दुःख था। यदि यादव और नन्दादि को भगवान् प्रकट होंगे, ऐसा ज्ञान होता तो वे दुःखी नहीं होते क्योंकि वे समझते कि ये दुःख ही भगवान् के शीघ्र प्राकट्य के कारण हैं किन्तु वैसा ज्ञान न होने से वे दुःखी थे। इन त्रिविध भक्तों को जो त्रिविध दुःख है वह भगवान् ही मिटा सकते हैं। अतः ये दुःख भी निरोध के अङ्ग हैं।

तीन प्रकार के भक्तों का दुःख भगवान् ने कैसे मिटाया, उसका प्रकार आचार्य ने निबन्ध में स्पष्ट रीति से समझाये हैं, जैसे कि —

^१ आचार्य श्री निबन्ध में लिखते हैं कि प्रथम अध्याय में चार प्रकरण हैं — (१) प्रश्न प्रकरण, (२) भूमि प्रकरण, (३) मातृ प्रकरण और (४) अन्य प्रकरण।

१. कंसादि-वध से भूमि का कष्ट मिटाया।
२. भगवान् ने प्रकट होकर माता देवकीजी का दुःख मिटाया। भगवान् मेरे हैं, इस सम्बन्ध के ज्ञान से देवकीजी का दुःख नाश हुआ।
३. वचनमृत द्वारा यादव तथा अन्य भक्तों के दुःख दूर किये।

:: कारिका समाप्त ::

अतिशय स्नेह के कारण प्रथम देवकीजी के दुःख का नाश किया। ब्रजस्थ भक्तों के आधिदैविक दुःख की निवृत्ति मूलस्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र ने अन्यत्र (दूसरी जगह) की है। दशम स्कन्ध का प्रारम्भ नवम् तथा दशम् स्कन्ध के विषय को लक्ष्य में रखकर किया है।

परीक्षित दशम स्कन्ध के प्रारम्भ के १½ श्लोक में नवम् स्कन्ध का सूक्ष्म अनुवाद और भगवान् के चरित्र को स्तुति कर, श्री शुकदेवजी को अपना भक्तपन बताता है। इसलिए कि श्री शुकदेवजी भक्त समझकर अति गुप्त विषय भी बतावें। परीक्षित ने यह भी बताया है कि मुझे श्रीकृष्ण के स्वरूप का ज्ञान है, अतः मेरा जीवन प्राण अन्न जल नहीं है किन्तु श्रीकृष्ण कथामृत ही है। इसी भाँति परीक्षित अपने को आर्त-भक्त बताकर श्री शुकदेवजी की दया सम्पादन (प्राप्त) करना चाहता है तथा भगवत्कथा सुनने का मैं अधिकारी हूँ, यह भी बताता है।

श्री शुकदेवजी ने प्रश्न द्वारा परीक्षित को अधिकारी समझ दयार्द्र (दया से गीले) हृदयवाले हों, परीक्षित की उत्कट (तेज) आकांक्षा (अभिलाषा) को पूर्ण करने के लिए श्रीमद्भागवत सुनायी है।

जैसे भगवान् में गुण उत्कट हैं, वैसे ही लोक में छः दोष भी उत्कट हैं। दोनों की समता के कारण ही प्रश्न के द्वादश (१२) श्लोक हैं।

प्रथम अध्याय

प्रश्न प्रकरण — नवम स्कन्ध में भक्तों के चरित्रों का वर्णन करके भक्ति का प्रतिपादन (समर्थन) किया गया है जिससे राजा परीक्षित को श्रीकृष्ण भगवान् के चरित्र श्रवण करने की उत्कण्ठा हुई। अतः पूर्व स्कन्ध नवम में कही हुई कथा का सार १½ श्लोक से वर्णन करते हैं।

राजोवास — कथितो वंशविस्तारो भवता सोमसूर्ययोः।

राज्ञां चोभयवंश्यानां चरितं परमाद्भुतम्॥१॥

यदोश्च धर्मशीलस्य नितरां मुनिसत्तम॥

श्लोकार्थ — राजा परीक्षित कहने लगा — हे मुनियों में परमश्रेष्ठ! आपने चन्द्र और सूर्य के वंश का विस्तार से वर्णन किया एवम् उन वंशों में पैदा हुए राजाओं के परम अद्भुत चरित्र भी कहे और स्वभाव से धर्मात्मा यदुराजा का सम्पूर्ण चरित्र कहा॥१½॥

श्री सुबोधिनी — भक्तत्वादेव तत्रत्यानां वंशयोर्विस्तार उक्तः। अभ्यर्हेतत्वात्सोमस्य पूर्वनिपातः। वंशविस्तारप्रश्नभ्रम वारयति—विस्तार इति। अन्यतमकथननिवारणायांभयग्रहणम्। रात्रिन्दिव सर्वेषां सर्वान्धकारनिवारकत्वाद्विश्वविस्तारकथन युक्तमिति पूर्वोक्ताभिप्रायं च वदन् स्वस्य श्रोतृत्वं च समर्थयति—उभयवंश्यानां राज्ञां चरित्रमपि कथितमिति। उत्पत्यैव भन्तः। चरित्रमपि तेषामन्येषां भक्तिजनकमित्यम्बरीषादेश्वरित्रस्य तथात्वात्पृथगनुवादः। अत्र षष्ठी जननसम्बन्ध— प्रतिपादिका। चकारात्तत्र भगवतोऽपि चरित्रं प्रतिपादितमित्युक्तम् विशेषतोऽभिप्रायेण कथने श्रवणे च हेतुः परमाद्भुतमिति। परमेण भगवता, परमया भक्त्या वा॥१॥ यदोः पितुरादेशोल्लङ्घ— नादधमपरत्वेन कथनायुक्तत्वमाशङ्क्य जराया भगवद्भजनप्रतिबन्धकत्वान्मुख्यपितुः सेवार्थं गौणपितुरा— ज्ञोल्लङ्घनं युक्तमित्याह—यदोश्चेति। धर्मशीलस्येति पृथगनुवादे हेतुः। जरया च धर्मनाशः। शीलपदेन पितुर्धर्माज्ञानमुक्तम्। पुत्रवयसा तन्मातृसम्बन्धस्यात्यन्तमयुक्तत्वात्। अतो भगवदवतारात्पूर्वमेव पुरोर्वंशो निवर्तितः। अन्यथा तैः सह भगवत्सम्बन्धोऽपि न युक्तः स्यात्।

अनुवाद — चन्द्र तथा सूर्य वंश के राजा भक्त थे। इसी कारण से उनके चरित्रों का वर्णन विस्तार से किया है। नवम स्कन्ध में सूर्यवंश का वर्णन पहले और चन्द्रवंश

का पीछे किया है। यहा वैसा न कहकर 'सोम' शब्द पहले और 'सूर्य' शब्द पीछे दिया है इसका कारण यह है कि यहाँ चन्द्रवंशीय श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र का प्रधान रूप से वर्णन कराना है और वह सर्व से विशेष पूजनीय है। उसके श्रवण की ही परीक्षित को उत्कट विशेष अभिलाषा थी। मैं उनके चरित्रों का पुनः विस्तार कराऊँगा। इस प्रकार के प्रश्न के भ्रम का निवारण 'विस्तार' शब्द देकर किया है। जैसा कि आपने चन्द्र तथा सूर्य दोनों के वंश का वर्णन विस्तारपूर्वक कर दिया है अतः पुनः उसके वर्णन के विस्तार की आवश्यकता नहीं है। आपने जो दोनों वंशों का विस्तार से वर्णन किया है, वह योग्य ही है। जैसे सूर्य दिन के अन्धकार का नाश करता है तथा चन्द्र रात्रि के अन्धकार का नाशक है। ये दोनों मिलकर सम्पूर्ण अन्धकार को मिटा देते हैं वैसे ही दोनों के चरित्र सब प्रकार के मनुष्यों के सकल अज्ञान अर्थात् अन्धकार को मिटाकर भक्ति का प्रकाश करेंगे तथा राजा परीक्षित ने यों कहकर अपने में श्रोता होने की योग्यता भी बता दी है। वे राजा उत्पत्ति से ही भक्त थे अर्थात् स्वाभाविक, सहज भक्तिमान् थे। केवल स्वयं भक्त नहीं थे, किन्तु उनके चरित्रों से अन्यो में भी भक्ति उत्पन्न होती है। राजा अम्बरीष आदि के चरित्र वैसे होने के कारण पृथक् कहे गये हैं। श्लोक में 'च' शब्द इसलिए दिया है कि नवम स्कन्ध में केवल चन्द्र और सूर्य वंश का वर्णन ही नहीं किया है किन्तु भगवान् का चरित्र भी कहा है। जब कहा भगवान् के चरित्र भी कहे हैं तो फिर अब उस विषय पर प्रश्न क्यों ? इसके लिए कहते हैं कि 'परमाद्भुतम्' भगवान् के चरित्रों के श्रवण से उन चरित्रों में जो अद्भुतता प्रकट होती है उससे हृदय में भगवदानन्द की स्फूर्ति होती है तथा उसके श्रवण से वह भक्ति उत्पन्न होती है जिससे परब्रह्म का स्वरूप एवम् लीला आदि समझ में आकर आनन्द मिलता है ॥१॥

जिसने पिता की आज्ञा नहीं मानी उस यदु को अधर्मी कहना चाहिए था, वह न कह उसको परीक्षित ने 'धर्मशील' कैसे कहा ? इस शङ्का का निवारण करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि यदु पिता की आज्ञा न मानने से अधर्मी नहीं हुआ है किन्तु उसने अपने धर्मात्मापने को दृढ़ सिद्ध कर बताया है जैसा कि यदु को यह ज्ञान था कि मुख्य पिता भगवान् है, यह पिता केवल देह सम्बन्धी है तथा इस जन्म के पिता होने से

गौण है। युवावस्था देने से एक तो मुख्य पिता की सेवा, बुढ़ापे के कारण छूट जायेगी। और मेरे मुख्य धर्म का नाश होगा तथा मेरी युवावस्था से मेरी माता से सम्भोग होगा वह पाप है। अतः यदु ने युवावस्था न देकर धर्म की रक्षा की। परीक्षित ने 'शील' पद देकर यह कहा है कि यदु ने स्वभाव से समझ लिया कि मेरे पिताजी को इस समय धर्म का अज्ञान हो गया है अर्थात् वे धर्म को भूल गये हैं इसलिए मुझसे युवावस्था माग रहे हैं।

जिस पुत्र 'पुरु' ने अपनी युवावस्था पिता को देकर अधर्म किया इसलिए भगवान् ने अपने प्राकट्य होने से पूर्व उसके वंश का इसीलिये नाश कर दिया कि उससे मेरा सम्बन्ध न हो क्योंकि उससे मेरा सम्बन्ध होना योग्य नहीं है।

भीष्म से सम्बन्ध इसीलिये अयोग्य नहीं है कि वह वसु का अवतार और भक्त हैं। भीष्म में केवल पुरुवंश का बीज होने से दोष है। इसलिये उसको (भीष्म को) आगे तिमिङ्गिल (अपने जातीय बान्धवों को निगलने वाला मत्स्य) कहेंगे। अतः यदु स्वभाव से ही धर्मरूप है, इसलिए उसके वंश का सम्पूर्ण वर्णन करना सर्वथा योग्य है। जो मनन करते रहते हैं वे 'मुनि' हैं। मुनि होकर जिन्होंने ज्ञान भी प्राप्त कर लिया है वे 'मुनिसत्' (मुनियों में उत्तम) हैं और 'मुनिसत्' होकर जिन्होंने भक्ति प्राप्त कर अपने को भगवद्भक्त बना लिया है वे 'मुनिसत्तम' हैं। श्री शुकदेवजी मननशील, ज्ञानी एवम् भक्त थे। इसलिये परीक्षित ने श्री शुकदेवजी को 'मुनिसत्तम' कहा है।

इस प्रकार पूर्व स्कन्ध का १ श्लोक में आशय कह कर अब निम्न १½ श्लोक से राजा परीक्षित भगवान् के पराक्रम तथा चरित्र पूछते हैं।

तत्रांशेनावतीर्णस्य विष्णोर्वीर्याणि शंस नः॥२॥

अवतीर्य यदोर्वशे भगवान् भूतभावनः।

कृतवान् यानि विश्वात्मा तानि नो वद विस्तरात्॥३॥

श्लोकार्थ - यदुवंश में अंश से प्रकट हुए विष्णु के पराक्रमों को हमें सुनाओ। भूतमात्र (सकल जगत) का पालनकर्ता विश्व की आत्मा भगवान् ने यदु के वंश में अवतार लेकर जो चरित्र किये वे विस्तार से कहिये।

श्री सुबोधिनी – त्वात् सम्बन्धोऽपि । दोषस्तु तत्कृत एव । अग्रे च तेषां तिमिङ्गिलत्वं वक्ष्यति । अतो यदुः स्वभावत एव धर्मरूपः । अत एव तद्वंशस्य च नितरां कथनमुक्तम् । मननशीला मुनयः तत्रापि प्राप्तज्ञानाः सन्तः । तादृशा अपि भक्ता अतिशयिताः । अनुवादप्रश्नयोर्मध्ये मुनिसत्तमेतिसम्बोधन-मुभयहेतुत्वार्थम् । एवमनूद्य, भगवतो वीर्याणि चरित्राणि च पृच्छति सार्द्धेन – तत्रांशेनेति । तत्रैव वंशे । विष्णोर्व्यापकस्य । सर्वत्रोद्गमने प्रयोजनाभावात्, प्रपञ्चविलयप्रसङ्गाच्च तत्रैव वंशे देवकीगृहदेशे मायोद्गमेन प्रकटितपरमानन्दस्य तावति देशे तेन प्रकारेण मायां दूरीकृतवानिति अंश एव स भवति । द्वितीयस्कन्धविवरणे चैतत् समर्थितम्, 'अदीनलीलाहसितेक्षणोल्लस' दित्यत्र शास्त्रार्थापरिज्ञाना-दंशभगवत्पदाभ्यां लोको भ्राम्यति । अंशावतारप्रसिद्ध्या वा प्रश्ने तथोक्तम् । प्रद्युम्नांशेनेति केचित्, वंशसम्बन्धस्तस्यैवेति । अवतरणं वैकुण्ठादत्रागमनम् । तच्च तत्त्वद्वारापि भवतीति तन्निवारणार्थं साक्षात्तत्कथनाय विष्णोरित्युक्तम् । माहात्म्यज्ञानार्थं वीर्याणां प्रश्नः । अचिन्त्यैश्वर्यबोधकानि चरित्राणि वीर्याणि । शंस कथय । सूक्तसाधारण्येनानुशासनरूपेण कथयेत्यर्थः । न इति विशेषतः स्वस्य तदाकाक्षित्वं निरूपितम् । ॥२॥ स्वतन्त्रपुरुषार्थत्वाच्चरित्रमात्रमेव पृच्छन् मत्स्याद्यवतारेष्वप्ययमेव भगवानवतीर्ण इति, तस्य च वीर्याणि चरित्रं चोक्तमिति व्यर्थः प्रश्न इति शङ्का निवारयति—अवतीर्येति ।

यदोर्वंशे भगवानवतीर्य यानि कृतवांस्तानि सर्वाण्येव कथयेतिसम्बन्धः । वीर्याधिक्या-स्तित्वकथनाय बहुकालावस्थानं सूचयति—वंश इति । तच्चरित्रं सर्वमेव धर्मात्मकमपीति वक्तुं यदुसम्बन्धः । असमासस्तु ततोऽप्याधिक्यसूचकः ।

व्यसनावेशतया अप्रयोजककरणं वारयति—भगवानिति । अवतारप्रयोजनं सामान्यतः स्वज्ञातमाह भूतभावन इति । भूतानि भावयत्यनुभावयतीति । भगवानेव संसारे स्थितो न बहदयते । अन्ये तु बहदयन्त इति निर्द्धारितत्वाद्भगवद्भावेनान्येऽपि चेद्भावितास्ते कृतार्था भवन्तीति भगवदवतारः । एवमवतीर्य यानि कृतवान्, इच्छयापि तत्रत्यानां मुक्तिदानसामर्थ्यं विद्यमानेऽपि यत्कार्याणि कृतवाँस्तदग्रिमप्रयोजनार्थमेवेत्यवसीयते । अत एव व्यासावतारः । ज्ञातानि तान्युपयुज्यन्त इति । एतज्ज्ञापयति विश्वात्मेति । भगवानेव स्वतन्त्रतया यदि हितं न कुर्यात्तदान्योन्याश्रयः प्रसज्येत । स्वतःकरणे विश्वात्मत्वं हेतुः । तानि सर्वाण्येव, पूर्ववन्नो वद । यद्यपि 'जातो गतः पितृगृहा' दित्यत्र, द्वितीयस्कन्धादिषु च चरित्रमुक्तं, तथापि विस्तरेण कथयेत्याह—विस्तरादिति । ॥३॥ एवं भगवद्वीर्याणां चरित्रस्य च प्रश्नमुक्त्वा चरित्रस्य भगवतश्च माहात्म्यमाह त्रिभिः । भगवतो माहात्म्यं द्विविधम् । अदृष्टदृष्टभेदेन । तत्र प्रथमं चरित्रमाहात्म्यमाह—निवृत्तेति ।

अनुवाद – श्लोक में 'विष्णु' (सर्व व्यापक परमात्मा) के पराक्रम को पूछते हुए 'अंश' कहा जिससे लोकों को यह भ्रम हो जाता है कि कृष्ण पूर्णावतार नहीं है किन्तु अंशावतार है । अतः आचार्यश्री इस भ्रम के निवारण के लिए 'अंश' शब्द देने का आशय

बताते हैं कि सर्वव्यापक भगवान् जिस स्थान (देवकी के गृह-काराग्रह) में प्रकट हुए उस स्थान में माया को दूर कर आपने अपना प्रकाश किया, इस आशय से 'अंश' शब्द दिया है, यदि सर्वव्यापक परमात्मा सर्वत्र माया को हटा देते तो जगत् का विलय (नाश) हो जाता जिससे लीला हो नहीं सकती थी एवम् सब जगह से माया को हटाने का कोई प्रयोजन भी नहीं था। अतः जितनी जगह से माया हटाने की आवश्यकता थी उतनी जगह से माया हटाकर वहाँ प्रकट हुए। यही कारण 'अंश' पद देने का है, शेषजी तो स्वयं सर्व व्यापक रूप से प्रकट हुए हैं। इस विषय का स्पष्टीकरण द्वितीय स्कन्ध में 'अदीनलीलाहसित' श्लोक में कर दिया है अथवा 'अंशावतार' प्रसिद्ध है इसलिए परीक्षित ने प्रश्न में यों कह दिया है। कितनेक 'अंश' शब्द से यह आशय प्रकट करते हैं कि प्रद्युम्न अंश से भगवान् प्रकट हुए हैं कारण कि यदुवंश से सम्बन्ध प्रद्युम्न अंश का ही है। श्लोक में कहे हुए 'अवतीर्णस्य' शब्द का भाव बताते हैं कि वैकुण्ठ से पृथ्वी पर पधारना अवतार है। वह तत्त्वों के द्वारा भी हो सकता है। इस शंका को दूर करने के लिए 'विष्णोः' पद देकर यह बता दिया है कि तत्त्वों द्वारा पधारना नहीं हुआ है किन्तु साक्षात् सर्वव्यापी विष्णु स्वयं पधारे हैं। परीक्षित ने वीर्यों का प्रश्न इसलिए किया है कि भगवान् के चरित्र अचिन्त्य ऐश्वर्य प्रकट करने से वे पराक्रम वाले हैं जिनसे भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान होता है। उन्हें सुन्दर ढंग से वा उपदेश रूप से कहो। यहाँ परीक्षित ने 'न' हमको कहा कहकर यह बताया है कि दूसरों को उन चरित्रों के सुनने की कितनी आकांक्षा है वह तो पता नहीं किन्तु मुझे तो विशेष रूप से सुनने की अभिलाषा है। अतः मुझे सुनाओ यद्यपि 'न' बहुवचन से सब सुनें वैसी उदारता भी बताई है।

स्वतन्त्र पुरुषार्थ रूप होने से भगवान् के केवल चरित्रों का ही जब प्रश्न किया है तो वह प्रश्न व्यर्थ है, कारण कि मत्स्य आदि अवतारों में भी ये ही भगवान् प्रकट हुए हैं। इस शङ्का का निवारण करने के लिए कहते हैं कि, मैं अन्य अवतारों के चरित्र नहीं पूछ रहा हूँ, मुझे तो केवल वे चरित्र सुनाओ जिन चरित्रों को भगवान् ने यदु के वंश में प्रकट होकर किये हैं। वे सब चरित्र कहो। 'वंश' शब्द कहकर यह बताया है कि वहाँ के किये हुए चरित्रों में पराक्रम की अधिकता है एवम् प्रभु उस वंश में विशेष समय तक

भी बिराजे हैं। यदु के वंश में होने से भगवान् के सब चरित्र धर्म रूप हैं। श्लोक में 'यदोः वंशेः' कहा है, समास करते तो 'यदुवंशेः' कहते। समास न करने का कारण यह है कि यदु के चरित्र धर्म रूप थे किन्तु श्रीकृष्णचन्द्र के चरित्र उनसे भी विशेष धर्म रूप हैं।

'भगवान्' शब्द कहने का आशय बताते हैं कि सात प्रकार के जो व्यसन^१ हैं वे सात ही यहाँ इस स्वरूप में निरर्थक हैं अर्थात् वे अपना प्रभाव इस पर नहीं चला सकते हैं। कारण कि भगवान् में ऐश्वर्यादि छः गुण हैं और सातवें आप धर्मी रूप है इसलिए सातों व्यसनो का भगवान् में अभाव है।

राजा परीक्षित ने अपनी बुद्धि से साधारणतः जो भगवान् के अवतार का प्रयोजन जाना वह 'भूतभावनः' पद से कहा है। इस पद का अर्थ है कि भगवान् भूतों को आनन्द देने वाले हैं अर्थात् भगवान् का अवतार जीवों के कल्याण के लिये हैं। भगवान् ही संसार में रहते हुए बन्धन में नहीं आते हैं दूसरे तो बन्धन में फँस जाते हैं। यदि वे भी भगवान् के चरित्रों को श्रवण कर उनके प्रेम से पूर्ण हो जावे तो संसार बन्धन से छूट जाते हैं, इसलिए भगवान् का अवतार है।

इस प्रकार अवतार लेकर आप इच्छा से भी वहाँ के निवासियों को मुक्तिदान कर सकते थे तो भी जो चरित्र आपने किये हैं वे आगे के प्रयोजन के लिए किये हैं, अर्थात् जब भगवान् प्रकट विराजमान् न हो तो उन चरित्रों को सुनकर संसार-बंधन से छूट जावे इसके लिए किये हैं। इसी कारण से व्यासजी^२ का अवतार है। भगवान् के चरित्र लाभदायक तब होते हैं जब उनको पूर्ण रूप से जाना जाता है। पूर्ण रूप से उनका ज्ञान क्या है ? उसको समझाने के लिए कहते हैं कि भगवान् 'विश्वात्मा' हैं। अतः प्रभु जीवों का हित स्वयं स्वतन्त्र रूप से करते हैं। इसलिए अनेक प्रकार की लीलाएँ कर जीवों की अविद्या आदि नाश करते हैं, जिससे उन जीवों में स्वतः बिना साधन भगवान् में प्रेम होने से उनका (जीवों का) हित हो जाता है। यदि भगवान् इस प्रकार स्वतन्त्र रूप से स्वतः जीवों का कल्याण न करें तो 'अन्योऽन्याश्रय' दोष हो जावे। जैसे कि यदि

^१ क्षुधा, प्यास, रोग, कर्म, जूआ, मदिरापान और स्त्री संग।

^२ व्यासजी ने उन लीलाओं को समाधि में अनुभव कर भागवत् में कहा है जिनको सुनकर जीव बन्धन से छूटते हैं।

भगवान् जीव का हित न करें तो जीव को अपने हित के लिये भक्ति का आश्रय लेना पड़े (साधन करना पड़े) और भगवान् को भक्त का आश्रय करना पड़े जिससे भगवान् का विश्वात्मा होना एवम् स्वातन्त्र्य अन्योन्याश्रय दोषयुक्त हो जायगा। अतः भगवान् में यह दोष न हो, इसलिये स्वयं स्वतन्त्र होने से जीवों का हितकर अपने विश्वात्मापन तथा स्वातन्त्र्य का परिचय देते हैं। यह ज्ञान जब जीव का दृढ़ होवे तब भगवल्लीला लाभदायक होती है।

यद्यपि 'जातो गतः पितृगृहात्' जन्म लेकर पिता के घर से चले गये और द्वितीय स्कन्ध में भी चरित्र कहे हैं तो भी अब यहाँ से सब पूर्व की तरह कहो किन्तु विस्तार से कहो।

इस प्रकार भगवान् के वीर्य और चरित्रों का प्रश्न कहकर अब भगवान् का और उनके चरित्रों का महात्म्य तीन श्लोकों से कहते हैं। माहात्म्य दो प्रकार का है। पहला अदृष्ट (जो देखने में नहीं आता है) दूसरा दृष्ट (जो देखने में आता है)

प्रथम 'निवृत्ततर्षे' श्लोक से चरित्र का माहात्म्य कहते हैं —

निवृत्ततर्षैरुपगीयमानाद्बौषधाच्छ्रोत्रमनोऽभिरामात् ।

क उत्तमश्लोकगुणानुवादात् पुमान् विरज्येत विना पशुघ्नात् ॥४॥

श्लोकार्थ — वह भगवान् की कथा जो तृष्णा रहित पुरुषों से गायी जाती है तथा जो संसार रोग की औषध रूप है और कानों तथा मन को आनन्द देने वाली है वैसी भगवान् के गुणानुवादरूप कथा से अपने जीव की हत्या करने वाले व्यक्तियों के सिवाय और कौन पुरुष है जो विरक्त (उदासीन) होगा ? अन्य कोई नहीं।

कारिका — स्वरूपतः फलतश्चापि महापुरुषयोगतः ।

विषयोत्तमतश्चापि चरित्रं परमं मतम् ॥९॥

मुक्तस्य कार्यमेतद्धि मुमुक्षोर्भवनाशकम् ।

अनिन्द्यविषयश्चायं विषयेऽस्मिन् यतेद्ध्रुवम् ॥

आत्मघाती कर्मजड़ो निन्दितार्थरतः सदा ।

पशुस्त्रीव्यतिरिक्तश्चेत्, विरक्तो न ततः पृथक् ॥३॥

कारिकार्थ — स्वरूप से, फल से, महापुरुष के सम्बन्ध से और विषय की उत्तमता से श्री भगवान् के चरित्र उत्कृष्ट (उत्तम) हैं।।१।।

मुमुक्षु, मोक्ष की इच्छा वाले का भव संसार नाश करना मुक्त जीवनमुक्त का कर्तव्य है। यह चरित्र अनिन्द्य, जिनकी निन्दा न हो सके बल्कि प्रशंसा की जाय वैसे हैं इसलिए विरक्त को गुणों के गान में निश्चयपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए।।२।।

जो कोई भी यदि भगवान् के चरित्रों के गुणगान से विरक्त (उदासीन) हो तो समझना चाहिए कि वह आत्मघाती, कर्मजड़, निन्दितार्थरत, पशु या स्त्रीजीव, इन पांच में से कोई भी एक है। वैसे जीवों के सिवाय अन्य भगवान् के गुणगान से प्रेम करते ही हैं।।३।।

व्याख्या — भगवान् के चरित्र 'निर्वर्ततर्षैरुपगीयमानात्'^१ इस विशेषण से बताया है कि ये चरित्र फल रूप होने के कारण ब्रह्मानन्द से भी अधिक रसरूप हैं अतः स्वरूप से उत्तम हैं।

'भवौषधात्'^२ इस विशेषण से यह बताया है कि भगवान् के चरित्र अविद्या से उत्पन्न होने वाले अहन्ता, ममता आदि संसार रूप दोष की औषध है जिसका उत्तम फल इन दोषों की निवृत्ति है।

'महापुरुषयोगतः' इस विशेषण से यह बताया है कि इन चरित्रों से महापुरुष (भगवान्) से सम्बन्ध होता है। अतः चरित्र का भी महत्त्व है। कारिका में 'चरित्र का विशेषण 'परम' दिया है उससे तो स्पष्ट चरित्र की विशेष उत्तमता बताई है। क्योंकि इन चरित्रों के श्रवण से व गुणगान से, पर पुरुषोत्तम स्वरूप का पूर्ण ज्ञान (अनुभव) हो जाता है।।१।।

द्वितीय कारिका में 'अनुवाद' का उत्कर्ष (बड़ाई) बनाते हैं। यह अनुवाद करना अर्थात् भगवान् के चरित्र स्वयं सुनकर व पढ़कर पुनः दूसरों को सुनाना एवं समझना जीवन्मुक्त अर्थात् जिसकी अहन्ता ममता नाश होकर भगवान् में आसक्ति हो गई है। उन

^१ ये चरित्र फल रूप होने से इनका गान भी वे कर सकते हैं जिनके तृष्णादि दोष अन्त करण से नष्ट हो गये हैं अर्थात् निर्दोष अन्त करण वाले ही इन चरित्रों का गान करते हैं।

^२ 'संसार की औषधि' है। इन चरित्रों के गान से प्रतिबन्धक (रूकावट करने वाले) दोष नाश हो जाते हैं। अतः गुणगान को औषध कहा है। दोष नाश करने वाले फल से भी उत्तम है।

पुरुषों का कर्तव्य है। इसलिए भागवत् के श्लोक में 'निवृत्ततर्षेः' कहा है। ऐसा कहने से यह शङ्का हो सकती है कि तब जितना संसार नाश नहीं हुआ हो क्या वे नहीं सुन सकते हैं ? इस शङ्का के निवारण के लिए दूसरा विशेषण 'मुमुक्षोः' दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि संसार नाश न भी हुआ तो परन्तु मन में यह चाहना हो कि मैं इस संसार से छूट जाऊँ मेरा मोक्ष हो, वैसी चाहना वाले भी श्रवण कर सकते हैं। कारण कि ये चरित्र संसार नाशक औषधि है। अतः संसार नाश के लिये उनको भी अवश्य सुनने चाहिये। चरित्रों का उत्कर्ष इसलिए है कि चरित्र का 'विषय' भगवान् में आसक्ति कराने में 'अनिन्द्य'^१ है।

स्वरूप और फल से उत्तम तथा अनिन्द्य विषय होने से संसार से विरक्त अर्थात् भगवान् के रस में आसक्त पुरुषों को इसमें भगवान् के चरित्रों के गुण गान में) निश्चय-प्रयत्न^२ करना चाहिए।

तृतीय कारिका में कहते हैं कि प्रभु के चरित्रों का गुणगान अन्तःकरण के दोषों का नाश करने वाला है। जो मनुष्य उस गुणगान से प्रेम नहीं करता है अर्थात् उदासीन रहता है वह 'आत्मघाती' (अपनी हत्या करने वाला) है।

गुणानुवाद, मोक्ष का साधन है, जो इस साधन रूप गुणानुवाद से दूर रहता है वह 'कर्मजड' (कर्तव्य का पालन नहीं करने वाला) है।

चरित्र, कर्ण तथा मन को आनन्द देने वाला अनिन्द्य विषय है। जो इस अनिन्द्य विषय में आसक्ति नहीं करता है वह 'निन्दितार्थ रत' है।

'आत्मघाती', 'कर्मजड' और 'निन्दितार्थ रत' अर्थात् निन्द्य लौकिक विषयों का स्नेही इन तीनों के सिवाय 'स्त्री-जीव' और 'पशु-जीव' गुणानुवाद से विरक्त रहते हैं। आत्मघाती, कर्मजड और निन्दितार्थरत ये तीन ही पशुघ्न^३ (जीव-हत्यारे) हैं। स्त्री-जीव^४

^१ दूसरे विषय संसार में आसक्ति कराने वाले हैं। अतः वे निन्द्य हैं यह विषय भगवान् में आसक्ति कराने से अनिन्द्य है।

^२ कारिका में 'यतेत्' की तरह 'पतेन्' पद भी है, जहाँ पतेत् हो उसका अर्थ इस प्रकार समझना चाहिए कि जो पुरुष भगवान् के चरित्रों के गुणगान से प्रेम नहीं करता है वह अवश्य ही गिरेगा अर्थात् उसकी बुरी गति होगी।

^३ पशु शब्द का अर्थ जीव है और 'घ्न' का अर्थ हत्यारा है। अर्थात् जीव की हत्या करने वाला।

^४ 'स्त्री-जीव' से स्त्री देह धारण करने वाला जीव नहीं समझना चाहिये। किन्तु जो जीव प्रकृति के वश में है वह पुरुष देह में हो तो भी वह स्त्रीजीव है। यदि स्त्री देहधारी जीव ही माना जाय तो स्त्रियाँ भक्त होनी ही नहीं चाहिए।

प्रकृति के अधीन होने से और पशु-जीव^१ विवेक-शून्य होने के कारण गुणानुवाद से विरक्त रहते हैं। इसलिए इन दोनों को पशुधन नहीं कहा है।

श्रीसुबोधिनी — प्रथमतः फलरूप चरित्रमेतदित्याह— निवृत्ता तर्षा तृड् येषाम्। तृष्णा अन्तःकरणदोषोपलक्षिका। निवृत्ता सर्व एव दोषा येषामिति। नह्यल्पदोषवतापि भगवद्गुणागातु शक्या। उप समीपे गीयमानाद्गमनप्रयासो निवारित। श्रवणानन्दत्वेन च विषयानुभवेऽपि प्रयासो निवारित। बहुवचनेनावृत्त्यानिवार्यदोषनिवृत्तिरपि सूचिता। अनिवार्यास्त्वग्रे फलिष्यन्ति। स्वतन्त्रफलत्वादेव सर्वत्रागत्य गानम्। अनेन रसाभिनिवेशो ज्ञापित। एव वक्तुः फलरूपत्व, श्रोतुर्दोषनिवारकत्व चोक्तम्। चरित्रस्य फलसाधकत्वमाह—भवौषधादिति। भवस्य ससारस्यौषधं निवर्तकम्। अत उपकारस्मरणाद्गानम्। श्रोतुस्तु कर्मज्ञानभक्तिभ्य इदं परमं साधन मोक्षस्य। औषध हि रोगनिवृत्तौ न पुरुषव्यापारमपेक्षतेऽन्तःप्रवेशनातिरिक्तम्। अत्र चान्तःप्रवेशः श्रवणद्वारा। अतः फलत्वसाधनत्वे एव यद्यपि वक्तव्ये, तथापि श्रवणस्य प्रविष्टग्राहकमनसश्च यदि सुखकर न भवेत्तदा पूर्वोक्त न सम्भवतीति जघन्यत्वेपि विषयत्वेन पश्चान्निरूपयति— श्रोत्रमनोभिरामादिति। श्रोत्रं मनश्चाभितो रमयतीति। प्रविष्टमेव तथा करोतीति ज्ञातव्यम्। अन्विदत्तदंष्ट्रं च प्रवेशः। उपेत्यप्राप्तिदोषो निवारित। तृष्णाभावेन धनार्पणदोषः। गानेन शब्दमधुर्दन्तः जन्ममरणदुःखस्य बहुधानुभूतत्वात्तन्निवारकमौषधमत्यादरेण सेव्यम्। कर्णाकटुत्व परिणामममनोहरत्वं चोक्तम्। परलोकमभिव्याप्य रमयतीत्यभिप्रायः। एव स्वरूपगुणकार्यैश्चरित्रस्योत्कृष्टत्वमुक्त्वा सम्बन्धतोऽपि तस्योत्कर्षमाह उत्तमश्लोकेति। उत्तमै श्लोक्यन्ते ये गुणाः, उत्तमश्लोकस्य वा माहात्म्यख्यापका— स्तेषामनुत्कर्षज्ञापका गुणाः। अनुवादस्तेषामप्युत्कर्षहेतुरिति समभिव्याहारादवगम्यते। पुमानिति। ये पश्ववतारास्त्र्यवतारास्तेऽत्र नाधिकारिणः। या अपि स्त्रिय श्रवणाद्यासक्तास्ता अपि निमित्तवशादेव स्त्रिय, स्वभावतः पुरुषा एव। अतः पुमान् कोपि न विरज्येत। इत उत्कृष्टरसस्य वैराग्यज— नकस्याभावात्। निवर्तमानाना दैत्यत्वमिति वक्तु दैत्यलक्षणपुरस्सरमाह—विना पशुघ्नादिति। ये हि पशुघातिनस्ते दैत्या। दित्युपाख्याने दैत्याना दयाभाव स्वभावतः प्रतिपादित। ते च नित्य भगवत्प्रत्यनीका एवेति न तद्दोषः परिहार्यः। दैत्यानां च मुक्तिर्दोषस्यात्यन्तनिवृत्तिख्यापनाय। आविष्टानामपि मुक्त्यभावे पुनरन्यत्राविश्य तथा कुर्युरित्याधारभूतारस्तु मुच्यन्त एव। अपुनरावृत्ति तम एव तेषा मुक्तिः। विरक्तं दृष्ट्वाऽन्यो विरक्तो मा भवत्वित्येतदर्थमुक्तम्॥४॥

किन्तु स्त्रिया भी भक्त होती है। अतः यहाँ स्त्री जीव कहने का तात्पर्य है कि जो जीव प्रकृति के आधीन है वह 'स्त्री-जीव' है।

पशु जीव कहने का भी तात्पर्य यह है कि जिस जीव को विवेक ही न हो। मनुष्य देह में होते हुए भी जो विवेक (ज्ञान) हीन है वह पशु है।

अनुवाद — भगवान् के चरित्र फलरूप हैं उनका वर्णन करते हैं, जिनकी तृष्णा (अन्तःकरण के सर्व प्रकार के दोष) पूर्णरूप से नाश हो गई है, जिनमें थोड़े भी दोष नहीं रहे हैं, वैसे ही निर्दोष व्यक्ति भगवान् के गुणों का गान उनके समीप में कर पाते हैं — समीप कहने से यह बताया है कि वैसे भक्तों को अन्यत्र जाने का परिश्रम भी नहीं करना पड़ता है, गुणगान से एवं श्रवण से ही आनन्द की प्राप्ति हो जाती है, इसलिये जैसे अन्य विषयों से आनन्द की प्राप्ति तब होती है जब विषय के अनुभव के लिए प्रयास व परिश्रम किया जाय, यहाँ वह प्रयास भी नहीं करना पड़ता है। श्लोक के 'निवृत्ततर्षे' बहुवचन कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् के गुणों को गाते हैं एवं बार बार गाते ही रहते हैं जिससे जो दोष नाश होने योग्य हैं वे नाश हो जाते हैं। शेष जो दोष आगे फल रूप होने वाले हैं, वे नाश नहीं होते हैं। भगवान् के चरित्र स्वतन्त्र फलरूप हैं, इसलिए भगवद्भक्त जहाँ भी कीर्तन होता है वहाँ आकर स्वयं गुणगान, बिना संकोच के करते हैं क्योंकि आकर, सब साथ में मिल कर जब गुणगान करते हैं तब रस का अन्तःकरण में (चारों तरफ) प्राकट्य होता है जिससे गुणगान करने वाले रसमहोदधि में मग्न हो जाते हैं। इससे यह बात समझाई है कि गुणगान करने वालों के लिए यह गुणगान फलरूप होता है और जो श्रवण करते हैं उनके दोषों का नाश करने वाला होता है।

चरित्र फल को सिद्ध कर देता है। इसको बताने के लिए 'भवौषधात्' विशेषण दिया है जिसका अर्थ है कि संसार को नाश करने वाली औषधि है। यह गुणगान हमारा उपकार करने वाला है। ऐसा समझ गुणों का गान करते हैं। श्रोता (श्रवण करने वाले) के लिए तो कर्म, ज्ञान और भक्ति से भी विशेष, मोक्ष के वास्ते उत्तम साधन है। औषधि, रोग के नाश के लिए केवल उसको उदर में भेजने का ही मनुष्य से प्रयत्न चाहती है, शेष रोग का नाश तो स्वयं औषधि स्वतः कर देती है। लौकिक औषधि मुख द्वारा भीतर उदर में जाती है किन्तु यह औषधि कर्ण सुनते ही अन्तःकरण में पहुँचती है। यद्यपि यहाँ केवल फलत्व (फलपन) और साधकत्व (साधकपन) कहने चाहिए। विशेष कहने की आवश्यकता नहीं है। फिर भी 'श्रोत्रमनोभिरामात्' कान और मन को आनन्द देने वाला है यह क्यों कहा ? इसका भावार्थ स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि

यह औषधि जघन्य (अन्तिम फल रूप होने से कठिन है) इसलिए जिन कानों द्वारा यह भीतर प्रवेश करेगी उनको तथा जिन मन में प्रवेश करेगी उनको यदि अरुचिकारक (दुःख देने वाली) होगी तो कोई भी इसको लेना पसन्द नहीं करेगा। इसलिए कहा है कि यद्यपि यह विषय जघन्य है तो भी कान और मन को आनन्द देने वाला है और आनन्द के साथ-साथ रोग का भी नाश करने वाली औषधि है और इस औषधि का श्रवण द्वारा मन में प्रवेश होते ही सर्व प्रकार के दोष जो कहीं भी हों, वे अन्तःकरण के सर्व दोष नष्ट हो जाते हैं। जिनके मन में इस औषधि का प्रवेश नहीं होता है उनके दोष आसुरी हैं जिससे औषधि का भीतर प्रवेश नहीं होता है।

‘उपगीयमानात्’ इस विशेषण में ‘उप’ शब्द देकर यह समझाया है कि श्रवण करने के लिए न कोई परिश्रम करना है और न कहीं जाना है अर्थात् किसी प्रकार से भी श्रवण अप्राप्य नहीं है क्योंकि वहाँ समीप में भी श्रवण हो रहा है। श्रवण के लिए धन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि गुणगान करने वाले वक्ता वे शुकदेवजी हैं, जिनका तृष्णा नष्ट हो गई है। ‘गीयमान्’ गान करना कहा है — इसका तात्पर्य यह है कि गान से शब्दों की मधुरता प्राप्त होती है। जन्म और मरण के समय जो दुःख होता है उसका जीव ने बहुत बार अनुभव किया है अतः उसको दूर करने के लिये यह औषधि, जो उस दुःख को निवारण करने वाली है, उसे विशेष आदर के साथ लेना चाहिये क्योंकि यह कर्णों को कड़वी नहीं लगती है और परिणाम में लाभ देने वाली है। श्लोक में ‘अभिरामात्’ पद में ‘अभि’ देने का तात्पर्य यह है कि परलोक में भी आनन्द कराने वाली है। वहाँ परलोक में भी भगवान् में आसक्ति होती है।

इस प्रकार, रूप, गुण तथा कर्म से भगवान् के चरित्रों की उत्कृष्टता कह कर अब सम्बन्ध से भी उसकी उत्तमता कहते हैं, ‘उत्तमश्लोकगुणानुवादात्’ इस पद से उसको समझाते हैं! वे गुण कैसे हैं ? उन गुणों का गान उत्तम पुरुष करते हैं। भगवान् के माहात्म्य को बताने वाले हैं जिनका वर्णन भागवतादि शास्त्रों में हैं। जिनके दोष पूर्णतया नाश हो गये हैं वैसे भक्तों का उत्कर्ष (बड़ाई) भी भगवान् के कारण है। भगवान् महान् हैं, यह भगवान् का उत्कर्ष करने वाले भी उनके गुण ही हैं। गुणों की

उत्तमता अनुवाद करने से होती है। इस प्रकार सबों का उत्कर्ष 'उत्तम श्लोक, गुण और अनुवाद' इन तीनों को एकत्र करने से सिद्ध होता है।

श्लोक में 'पुमान्' शब्द आया है उसके देने का जो रहस्य है वह बताते हैं कि जिन पुरुषों का पशु अवतार है या स्त्री अवतार है वे पुरुष आकार, में होते हुए भी श्रवण के अधिकारी नहीं हैं। जो स्त्रियाँ श्रवण में आसक्त हैं। चाहे वे किसी निमित्त से स्त्री देह में प्राप्त हुई हो वह वास्तव में वे पुरुष जीव ही हैं। अतः कोई भी पुरुष इस श्रवण से उदासीन नहीं होगा। कारण कि श्रवण के सिवाय कोई भी साधन ऐसा नहीं है जो इस प्रकार के उत्कृष्ट रस तथा वैराग्य को सिद्ध कर सके।

आत्मघाती आदि पाँचों प्रकार के दैत्यपन को बताने के लिये दैत्यो का लक्षण कह कर उनका दैत्यपन सिद्ध करते हैं। जैसे कि — 'पशुघ्न' उसे कहते हैं जो अपनी जिह्वा के रस के लिये पशुओं की हत्या करते हैं। वैसे मनुष्य, मनुष्य आकृति में होते हुए भी दैत्य हैं। दैत्य, स्वभाव से, दयाहीन होते हैं इस बात को दिति के चरित्र में सिद्ध किया गया है। दैत्य, सदैव, भगवान् के शत्रु होते हैं, इसी कारण से उनके दोषों की निवृत्ति नहीं होती है। दैत्यों की मुक्ति तब होती है जब उनके दोष पूर्णतः (पूरी तरह) नष्ट हो जाते हैं।

जो सहज (जन्म से ही स्वाभाविक) असुर हैं जैसे कालनेमि आदि। कंस (उस सहज असुर काल नेमी का आधार रूप) आवेश स्थान है। इसलिये आवेशी कंस की तो मुक्ति (आवेश नष्ट होने से दोष भी नाश हो जाते हैं) हो सकती है किन्तु सहज दैत्य की नहीं हो सकती क्योंकि उसकी मुक्ति तो अन्धःतम है जहाँ से वह लौट कर नहीं आते हैं। यदि अनिष्टों की इस प्रकार की मुक्ति नहीं की जाय तो वे सहज दैत्य लौटकर पुनः उनमें प्रवेशकर वैसे ही उपद्रव करने लग जायेंगे। अतः आविष्टों की मुक्ति की जाती है। इन पांच प्रकार के पुरुषों को श्रवण से विमुख देखकर दूसरे भी वैसे न हो जाय, इसलिए इस श्लोक में उनके स्वरूपों का वर्णन किया है ॥४॥

एवं चरित्रं स्तुत्वा पुण्यद्वारमात्रतां वारयितुं भगवन्तं स्तौति — पितामहा इन्द्रि
द्वाभ्यां, श्रुतदृष्टभेदेन।

इस प्रकार भगवान् के चरित्रों की स्तुति की। अब वे चरित्र स्वतः पुरुषार्थ सिद्ध करने वाले हैं, न कि पुण्यों के कारण पुरुषार्थ सिद्ध करने वाले हैं। इस बात को समझाने के लिए निम्न दो श्लोकों में भगवान् की स्तुति करते हैं। दो श्लोकों में इसलिये करते हैं कि दृष्ट (देखे हुए) और श्रुत (सुने हुए) भेद से दो प्रकार हैं।

पितामहा मे समरेऽमरञ्जयैर्देवव्रताद्यातिरथैस्तिमिङ्गिलैः।

दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं कृत्वाऽतरन् वत्सपदं स्म यत्प्लवाः॥५॥

श्लोकार्थ — युद्ध में देवताओं को भी जीतने वाले, भीष्म जी आदि अतिरथि रूप तिमिङ्गिलों (अपनी जातिवाले मत्स्यों को निगलने वालों) के होने से दुस्तर कौरवों के सैन्य रूप सागर को मेरे दादे (पाण्डव) भगवत् रूप नाव के आश्रय से बछड़े के खुर के समान खड़ा मानकर तर गये।

श्री सुबोधिनी — मे पितामहाः पाण्डवः समरे दुरत्ययं कौरवसैन्यसागरं वत्सपदं कृत्वा यत्प्लवाः अतरन्निति सम्बन्धः। एक एव यैत्र उच्यते। पञ्चापि पितामहाः, त्रयो वा। क्षेत्रजेषु क्षेत्रस्य स्वकीयत्वाभावात् बीजिनः। यत्र पुनः क्षेत्रं यथाकथञ्चित् स्वकीयं तत्फलं बीजिन एव। समर इति। मरो मरण, तत्सहिते। अवश्यं युद्धे मरणमिति। तथा सति कोपि न मृत इति भगवत्सन्निधिमाहात्म्यमुक्तम्। अमरञ्जया भीष्मादयः। तेषाममरञ्जयः संज्ञाहेतुरिव जात इति 'संज्ञायां भृतृवृजौ' त्यादिना खश्। देवानपि जयन्तीतीन्द्रपुत्रत्वादिनापि न निस्तारसम्भावना, देवदत्तशस्त्रैश्च न प्रतीकारः। न च तेषां कदाचिदपि अमरञ्जयत्वं गच्छतीत्याह—देवव्रतेति। देववत् सत्यसङ्कल्परूपं व्रतं यस्य। अनेन भीष्मस्य स्वधर्मत्याजनसामर्थ्यमपि तेषां जातमित्युक्तम्। देवव्रतो भीष्मस्तथात्वेन प्रसिद्धः। अन्येऽपि द्रोणादयस्तथा। देवव्रताद्या ये अतिरथाः। स चेदाद्यः, तद्रूपा एवान्ये। तथाभूता अप्यतिरथाः अलौकिकसर्वसामर्थ्यातिशययुक्ताः। 'अस्ति मत्स्यस्तिमिर्नाम शतयोजनविस्तृत' इतिवाक्यात्तद्भक्षकस्ततोऽप्यधिकः सहस्रांशेन। अनेन तत्समुद्रे पतितस्तत्रत्योपि न जीवति, विजातीयस्य का वार्तित्युक्तम्। तेषां दैत्यावेशेनातिक्रूरत्वाज्ज्ञातिघाताय तथोक्तम्। ततः सम्बन्धित्वेन पितामहत्वेन वा त्यक्ष्यतीति निवृत्तम्। अविचारश्चोक्तः। गिलनेनास्थ्यादीनामिव सर्ववंशनाशकत्वं च। बहिःस्थितमपि ते मारयन्ति, किं पुनः स्वसेनापतितमिति समुद्रत्वम्। अत एव दुरत्ययं, साधनघातकत्वान्मकरादेः। कुरुवंशोद्भवाश्च नार्वाङ् निवर्तन्ते। सैन्यसागरमिति। चेतनसागरत्वेन स्वरूपतो नाशकत्वमुक्तम्। महानौकादिसाधनानामपि दुःखेनातिक्रमोऽतिक्रमणं यस्य। यो भगवान् प्लवो येषामिति। भगवतोऽल्परूपेण सन्निधिमात्रेण रक्षकत्वम्, अयुद्धयमानत्वात्। मनःशङ्कानिवृत्त्यर्थं वत्सपदं कृत्वेति। नुच्छकरणतरणयोर्भगवदाश्रयत्वमेव हेतुः। गीतायां भीष्मादिमरणज्ञानात्तुच्छकरणम्। तथापि

सम्यगाश्रयणाभावात्पाण्डवाना पिपीलिकात्वमेव, स्वदृष्ट्या भगवान् गृह्यत इति। भगवद्भावे कथमेवं स्यात्। तेषामवस्थापनात्तुच्छकरणम्। उभयमलौकिकं सकृदेव जातमिति। अन्ततस्त्रयाणाममारणाद्वत्सपदम्। द्विधा विदीर्णो मुखस्थानीयोऽश्वत्थामा, वारद्वयमपकारकरणात्। प्लवमारुह्य तीर्णं तीर्णं समुद्रांशं शोषयन्तोऽन्ते किञ्चित्स्थापयित्वोत्तीर्णा इत्यर्थः। कीर्तेरपि प्राप्तत्वात्तत्कर्तृत्वम्। इदमत्यन्तमलौकिकं एवमेव पूर्वपूर्वसंसारमपि शोषयित्वा भगवत्सेवामात्रं संसारपदार्थपरिग्रहं स्थापयित्वा पारस्थितं भगवन्तं भगवदाश्रयाः प्राप्नुवन्तीत्युक्तम्॥५॥

अनुवाद — मेरे दादे, पाण्डव, भगवत् रूप नाव के आश्रय से युद्ध में दुस्तर, जिसको पार करना कठिन है ऐसे कौरवों के सैन्यरूप सागर को बछड़े के खुर के समान खड्डा बनाकर तिर गये। पाण्डवों के वंश में एक (परीक्षित) पौत्र ही बचा था। परीक्षित के दादे पांचों पाण्डव थे अथवा कुन्ती के सम्बन्ध से युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन तीन दादे थे। क्योंकि दूसरे के क्षेत्र में बीज डालने से उस बीज से उत्पन्न सन्तान, क्षेत्र के पति (मालिक) का होता है। कुन्ती का पति पाण्डु है उसमें बीज डालने वाले धर्म, वायु और इन्द्र थे किन्तु उनकी सन्तान पर इसलिए अधिकार नहीं है क्योंकि कुन्ती उनकी पत्नी (क्षेत्र) नहीं थी। अतः पाण्डु और कुन्ती दोनों के सम्बन्ध होने से युधिष्ठिर, भीम तथा अर्जुन तीनों पितामह (दादे) हैं। जहां फिर क्षेत्र जैसे तैसे जिसके अधिकार में आ गया हो तो, उस समय बीज डालने से, जो सन्तान पैदा हो तो वह संतान बीज डालने वाले की होती है जैसे बुध को चन्द्रमा का पुत्र माना जाता है। यद्यपि वह बृहस्पति की स्त्री से पैदा हुआ था।

श्लोक में, युद्ध के लिये (समर) शब्द दिया है उसका भावार्थ बताते हुए (आचार्यश्री) आज्ञा करते हैं कि (मर) शब्द का अर्थ मरना है (स) देकर कहा कि जिसमें मरना अवश्य होता है उसको समर कहते हैं वैसा होने पर भी कोई (पाण्डव) नहीं मरा। कारण कि उनके साथी भगवान् थे, यह भगवान् के सान्निध्य साथ में होने का माहात्म्य कहा।

इस समर (लड़ाई) में सामने लड़ने वाले कैसे हैं उनको बताते हैं कि वे (कौरव) देवताओं को भी जीतने वाले थे, इस विशेषण से यह समझाया कि यद्यपि पाण्डव देवताओं के पुत्र थे और उनके पास देवों के दिये हुए शस्त्र भी थे किन्तु वे उन कौरवों को जीत नहीं सकते थे कारण कि जो देवों को जीतने वाले हैं उनको देवों के पुत्र

कैसे जीत सकेंगे ? उनका अमरञ्जयपना कभी भी नाश नहीं होता है कारण कि वह उसका व्रत सत्यसङ्कल्पवाला है किन्तु उसमें अपने धर्म के त्याग करने की सामर्थ्य भी है। क्योंकि जो विचार आवे उसको पूर्ण करना वह भी एक प्रकार का सत्यव्रत है अतः भीष्म देवव्रत होते हुए भी कौरवों के संसर्ग से, भगवान् की इच्छा के विरुद्ध कार्य (कौरवों के पक्ष में जाना) करने से (दैत्यव्रत) कहलाये। भीष्म देवव्रत है यह प्रसिद्ध है। दूसरे द्रोणादिक भी भीष्म के मुख्य होने से देवव्रत हुए। समस्त योद्धा अतिरथ^१ होने से अलौकिक एवं अत्यन्त सामर्थ्य वाले थे। समुद्र में एक सौ योजन लंबा (तिमि) नाम वाला मत्स्य रहता है, ऐसे को भी जो निगल जाय वह (तिमिङ्गि.ल) कहलाता है। वह जिस समय समुद्र में पड़ता है तो वहां का कोई भी मत्स्य जीवित नहीं रहता है, जब वे ही नाश हो जाते हैं तो दूसरी जाति वालों का नाश हो इसमें कहना ही क्या है ? उस तिमिङ्गि.ल में इतना बल दैत्य आवेश के कारण है कि वह अपनी जाति का नाशक होता है और क्रूर भी इसलिये है। इसी प्रकार ये देवव्रत (भीष्मजी) भी तिमिङ्गि.ल है क्योंकि उनमें भी दैत्यांश है जिससे वे अतिक्रूर हैं, ऐसा होने से वे अपने सम्बन्धियों अथवा पौत्रों को जीवित छोड़ दें वह उनके स्वभाव से विपरीत है। क्योंकि दैत्य आवेश होने से उनमें विचार या विवेक रहा ही नहीं था। जैसे तिमिङ्गि.ल समुद्र में पड़े हुए अपनी जाति वालों का भी नाश करता है तो दूसरो को कैसे छोड़ेगा ? वैसे ये भी तिमिङ्गि.ल के समान दैत्यावेशी होने से जो भी इस समर रूप समुद्र में आवे वह चाहे कौरव पक्ष का ही क्यों न हो उसको भी नष्ट कर देवे जैसे थे, तो दूसरों को नाश करने में उनको कौन सी देरी लगेगी। अतः कहा है कि यह कौरव सैन्य सागर दुस्तर है। जिस प्रकार समुद्र को पार करने के साधनों को (नौका आदि को) समुद्र के जीव मकर आदि नष्ट कर देते हैं उसी प्रकार ये कुरुवंशी भी, लड़ाई में शत्रु को नाश करने के सिवाय कभी भी शान्त नहीं होता हैं। समुद्र अचेतन होने से स्वयं नौकादि साधनों को नाश नहीं कर सकता है किन्तु उसमें रहने वाले चेतन मकरादि जीव करते हैं यहाँ तो ये कौरव लोग स्वयं चेतन होने से साधनों को नाश करने में महा समर्थ हैं। ये चेतन हैं इसलिये

^१ एक ही योद्धा दशहजार सैनिकों के साथ लड़े वह (अतिरथ) होता है।

स्वरूप से भी नाशक हैं। इतना सब होते हुए भी जिसके रक्षक भगवान् हैं अर्थात् इस कौरव सैन्य सागर से पार उतारने वाली नौका भगवान् स्वयं हैं उस नौका को कौन नष्ट करने की सामर्थ्य रखता है ? कोई नहीं। यहां प्लव शब्द इसलिये दिया है कि भगवान् केवल उनके सन्निध्य में रहकर उनके रक्षक बने थे, आप लड़ते नहीं थे। ऐसे महान् सेनारूप सागर को गोवत्स के पद के समान छोटा बनाकर पार हो गये, उसमें कारण भगवदाश्रय ही है। गीता में भगवान् ने अर्जुन को कहा है कि हे अर्जुन! तू इनको मारने के लिये केवल नाम मात्र निमित्त बन, इनको तो मैंने प्रथम ही मार दिया है।

इस प्रकार भगवान् के वचनों को सुनने से पाण्डवों के लिये कौरव सैन्य— सागर गोवत्स के खुर के सदृश खड़े के जैसा बन गया, किन्तु तो भी पाण्डवों को पूरिपूर्ण आश्रय न होने से उनको वह खड़ा भी जैसे पिपीलिकाओं (चींटीओं) को महान् देखने में आता है वैसे दुस्तर देखने में आया। कारण कि वे (मेरे दादे) भगवान् को अपनी दृष्टि से देखते थे, जिससे उन्होंने श्रीकृष्ण को अपने समान समझलिया था। यही कारण था कि उनको दृढ़ विश्वास न हुआ। यदि कृष्ण में भगवद्भाव होता तो वत्स पद समान खड़े को पार करने में सशय क्यों रहे ? तथा शस्त्र ग्रहण करने की भी कौनसी जरूरत पड़ी थी ? किन्तु ये सब आश्रय के अभाव से हुए हैं। यदि श्रीकृष्ण को अपने समान न समझ भगवान् समझते तो उत्तरा के समान भगवान् के शरण जाते और शस्त्र ग्रहण कर हम शस्त्रों द्वारा शत्रुओं का वध करेंगे वैसा अहंकार मेरे दादों को न होता। इतना होने पर भी कृपानिधि श्रीकृष्ण ने अपने चक्र से उनको रक्षाकर अपनापन बताया। जो भगवान् इस प्रकार रक्षा नहीं करते तो, उनकी सामर्थ्य शत्रुनाश में किसी प्रकार प्रयोजक (काम कर सकने वाली) नहीं थी, उनका (मेरे दादों का) अवश्य नाश हो जाता। उस छोटे गड्ढे में डूबना ही यहाँ नाश था। भगवान् ने पहिले भी इनकी रक्षा की थी, वह उपकार भी भूल गये और भगवान् का माहात्म्य भी भूल गये, यहीं इन में (पाण्डवों में) क्षुद्रपन था अर्थात् चींटीपन था। युद्ध में अन्य सर्ववीर नाश हो गये शेष अश्वत्थामा, कृपाचार्य और कृतवर्मा ये तीन बचे इस कारण से कौरव सैन्य सागर तुच्छ जैसी हो गई, तो भी अश्वत्थामा ने पाण्डवों पर ब्रह्मास्त्र छोड़े उनसे भी सुदर्शन चक्र

द्वारा भगवान् ने रक्षा की तथा इस कौरव सैन्य सागर को पार किया ये दोनों कार्य अलौकिक साथ में हुए हैं। मेरे तीनो दादे मरे नहीं यही कौरव सैन्य सागर का वत्सपद के समान होना है।

अश्वत्थामा अग्रभाग के समान है, उसने दो बार अपकार (बुरा कार्य) किया एक बार पाण्डवों के पुत्रों का नाश किया, दूसरी बार उत्तरा तथा पाण्डवों पर ब्रह्मास्त्र फेंक कर अपकार किया था उनका दोनों ही बार निवारण भगवान् ने किया। पाण्डव भगवद्रूप नाव का आश्रय कर इस समुद्र को तरते-तरते पार कर गये, ज्यों-ज्यों आगे बढ़ते जाते थे त्यों-त्यों पार किये सागर को शुष्क करते (सुखाते) जाते थे। अन्त में पाण्डव कुछ शेष छोड़कर सैन्य सागर को पार कर गये और यश प्राप्त किया। यह अत्यन्त अलौकिक है। कारण कि कौरवों का नाश तो कालरूप से भगवान् ने कर ही रखा था किन्तु विजय की माला पाण्डव पहनकर यश के भागी बने यही भगवान् का अलौकिक प्रभाव तथा कृपा है।

भगवान् के आश्रित भक्त भी इसी प्रकार अपने अहन्ता ममता रूप संसार से प्राप्त धनादि पदार्थों का त्याग कर संसार शोषण करते हैं और केवल भगवत्सेवा के कार्य में आने वाली दैवी द्रव्य का ही कुछ संग्रह कर भगवत्सेवा द्वारा संसार के परलीपार स्थित भगवान् को प्राप्त करते हैं।

आभास — एवं श्रुतमाहात्म्यमुक्त्वा दृष्टमाहात्म्यमाह—द्रौण्यस्त्रेति ।

उपरोक्त श्लोक में श्रुत माहात्म्य का वर्णन कर अब स्वयं देखे हुए भगवान् के माहात्म्य का वर्णन करते हैं —

श्लोक — द्रौण्यस्त्रविप्लुष्टमिदं मदङ्गं. सन्तानबीजं कुरुपाण्डवानाम् ।

जुगोप कुक्षिं गत आत्तचक्रो मातुश्च मे यः शरणं गतायाः ॥६॥

श्लोकार्थ — कौरव तथा पाण्डवों की सन्तति का बीज रूप यह मेरा शरीर, जब अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र से जल गया था। तब शरण गई हुई मेरी माता के उदर में स्थित हो कर, जिस चक्रधारी भगवान् ने मेरी रक्षा की उनके चरित्र कहो।

श्री सुबोधिनी — सर्वथा पाण्डवाशक्तौ स्वयमपि कृतवानिति वदन् स्वस्मिन् कृपातिशयमप्याह । माहात्म्यमारणेपि पितृनाम्ना द्योतिते । द्रोणो ह्यस्त्रविद्याया मूलभूतः । पितृमारणं चाप्रतीकार्यं वैरम् । तस्य च नेवर्त्यब्रह्मास्त्रेण विप्लुष्टं विशेषेण दग्धमिदं मम शरीरम् । अर्जुनस्य वैष्णवत्वाद्द्वशात्मक

बीजभावावशिष्टमत एव सन्तानबीजम् कुरुणामपि मुक्तिदानाद्वंशाभावे न मुक्तिरिति कुरुपाण्डवानां ग्रहणम्। कुरुभिः सहिताः पाण्डवाः कुरुपाण्डवाः कौरवाः पाण्डवाश्चेतिपक्षे 'जनपदे लुबि' त्रियोगविभागाल्लुप्। अन्तर्बीजमात्ररूपेण स्थितं देहं दग्धैरप्यंशैरदग्धभावनयाऽन्यथाप्रतीतैः सह जुगोपेत्यर्थः। दाहानन्तरं रक्षणमशक्यम्। दाहो धर्मरक्षार्थः। मोक्षे प्रतिबन्धाभावार्थश्च। इदमित्यविकलत्वायाङ्गुल्या निर्देशः। मदङ्ग.मिति स्वानुभवो दर्शितः। सन्तानस्य वंशस्य बीजमिति तदानीं रक्षायामिदानीं चारक्षायां हेतुः। कुरुवंशोद्भवा ये पाण्डवा इति मूलतो भक्तत्वम्। कुक्षिगत इति प्रकारान्तरेणान्यतो रक्षाभावो दर्शितः। आत्तचक्र इति तत्त्वसहितं स्वस्वरूपं दर्शितवान्। उत्तरत्र ध्यानार्थं इत्युपकार उक्तः। न तु चक्रेण रक्षा, अस्त्रतेजोदूरीकरणं वा। अत एव 'वास्त्रतेजः स्वगदये' त्यनेनाविरोधः। कालनिग्रहार्थं वा चक्रग्रहणम्। अत एव भगवति सानुभावे निवृत्ते तच्चक्र परिभ्रान्तमितीदानीमियमवस्था। मातुर्मयो ज्ञेयः। चकारान्ममापि। शरणं गतत्वादर्शनं, कुक्षिप्रवेशोऽपि। महात्म्यस्यानुभूतत्वाद्भवदुक्ते विश्वासो भविष्यतीति भावः॥६॥

अनुवाद — जिस कार्य को पाण्डव नहीं कर सकते थे उन कार्यों को स्वयं भगवान् ने किया। यह भगवान् की मेरे ऊपर अतिशय (बहुत बड़ी) कृपा है। यह बताते हैं, पहली बात तो यह है कि अश्वत्थामा ने मुझ पर ब्रह्मास्त्र का प्रयोग क्यों किया? अश्वत्थामा के पिता द्रौणाचार्य को मेरे दादों ने मारा था, पिता के वैरी से बदला लेना पुत्र का कर्तव्य है अतः उसने मुझ पर ब्रह्मास्त्र चलाया था। इसलिये अश्वत्थामा न कहकर (द्रौणि) द्रोणाचार्य का पुत्र कहा है। (द्रौणि) कहने से इनका (द्रोणाचार्य का) मरण और महत्त्व दोनों (द्रोणाचार्य अस्त्र विद्या के अद्वितीय जानकार थे अतः सर्व योद्धाओं के शिक्षक—आचार्य थे बताये हैं। उसका (अश्वत्थामा का) ब्रह्मास्त्र कोई भी लौटा नहीं सके अथवा वह जिस पर फेंका हो उसको नाश करने में असफल न हो, वैसा था, जिससे मेरा शरीर तो जल गया किन्तु अर्जुन वैष्णव थे क्योंकि नर के अवतार थे उनके वंश का बीज रूप में (लिङ्ग. शरीर) नष्ट नहीं हुवा अतः कुरु (पाण्डवों) का सन्तान बीज मेरा वह शरीर बच गया। यद्यपि परीक्षित पाण्डवों का वंश है किन्तु कौरवों को भी पिण्डदानादि से मुक्ति दिलाने वाला परीक्षित ही है क्योंकि कौरवों के वंश में कोई नहीं बचा है इसलिये यह परीक्षित कुरु और पाण्डवों के वंश का शेष बीज कहा गया है।

देह के जल जाने के पश्चात् उसकी रक्षा करना अशक्य (मुश्किल) है। इस पर कहते हैं कि ऊपर से देह जल तो गई थी किन्तु भीतर से बीज रूप से नष्ट हुई थी

अतः जले हुवे हिस्से भी बिना जले हुए जैसे प्रतीत होते (देखने में आते) थे। ऐसे मेरे शरीर को भगवान् ने रक्षा की। भगवान् ने शरीर के जल जाने के पहिले ही ब्रह्मास्त्र को रोककर रक्षा क्यों नहीं की ? इस शङ्का के निवारण के लिये आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि (दाहो धर्मरक्षार्थः, स्थूल शरीर को जलाने जितना, ब्रह्मास्त्र का कार्य था वह धर्म रक्षार्थ, करने दिया कारण कि (ब्रह्मास्त्र) में वेद मन्त्रों से, ब्रह्मरूप देवता की स्थापना की जाती है, अतः यदि भगवान् ऐसे ब्रह्मास्त्र को रोक दें तो, वेद मार्ग की रक्षा करने वाले भगवान् हैं अतः उनका यह धर्म नष्ट हो जाता है, इसलिये भगवान् ने इस अपने धर्म को रक्षार्थ ब्रह्मास्त्र को बीच में न रोककर स्थूल शरीर को जलने दिया जिससे मोक्ष में भी प्रतिबन्ध न हो और केवल स्थूल शरीर ही जला। यह भी भगवान् का प्रताप है। इस प्रकार सूक्ष्म शरीर बचाकर उसको पुनः पूर्ववत् बनाकर इसीलिये भी रक्षा की, कि कुरु पाण्डव वंश के मोक्ष में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न होवे। परीक्षित ने (इदम्) शब्द कहकर अपने शरीर का अङ्गुली से निर्देश किया है, कि यह मेरा शरीर है जिसका ब्रह्मास्त्र ने जलाया था भगवान् ने उसकी कृपया बचाया है। श्रीकृष्ण द्वारा रक्षा से शरीर में किसी प्रकार की कमी नहीं रह गई हैं। (मदङ्ग.) मेरा अङ्ग. यों कहने से यह बताया कि यह मेरा प्रत्यक्ष अनुभव है।

भगवान् ने गर्भ में तो रक्षा की अब ब्राह्मण के शाप से आपकी रक्षा क्यों नहीं की? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि उस समय यदि रक्षा नहीं करते तो कुरु (पाण्डवों) के सन्तान का बीज नष्ट हो जाता है। भगवान् को इस वंश के सन्तान बीज की रक्षा करने की आवश्यकता इसीलिये थी कि कुरु भक्त थे उनके वंश में पाण्डव हुए थे वे भी भक्त थे। परम्परा से यह कुल भक्त हैं भक्तों की रक्षा करना भगवान् अपना प्रथम कर्तव्य समझते हैं इसीलिये रक्षा की है, अब मेरे सन्तान हो गई है, वंश चालू रहेगा अतः रक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। उस समय मेरी रक्षा का यही प्रकार था कि जो भगवान् ने मेरी माता के गर्भ में प्रकट हो, चक्र धारण कर, तेजस् तत्त्व सहित, अपने स्वरूप को दिखाने की कृपा की, यह कृपा इसलिये भी की है कि उस स्वरूप का पीछे ध्यान किया जा सके। उस समय न तो चक्र से रक्षा की और न उससे ब्रह्मास्त्र तेज को दूर किया था। अस्त्र के तेज को तो अपनी गदा से नष्ट किया था इसलिये

कोई विरोध नहीं है। भगवान् ने काल को रोकने के लिये कालरूप चक्र को हस्त में धारण किया था जिससे काल अपना कार्य (मारना) इस समय न कर सके। इस प्रकार भगवान् ने गदा से ब्रह्मास्त्र के तेज (शक्ति) को दूर किया और सुदर्शन चक्र को अपने हस्त में पकड़ कर काल की गति रोक ली, जिससे मेरी रक्षा पूर्ण रूप से हो गई। तदनन्तर उत्तरा के गर्भ में विराजमान होने की आवश्यकता न होने से आप तिरोहित हो गये।

भगवान् के तिरोहित हो जाने के अनन्तर काल चक्र सर्वत्र परिभ्रमण करने लगा है। अब मैं भी इस समय काल चक्र द्वारा बन्धा हुआ हूँ।

जो प्रभु मेरी माता के अनुभव में आये थे उन्होंने मुझे भी अनुभव कराया था। मेरी माता उनके शरण में गई थी अतः उसको प्रभु ने दर्शन दिये और उसकी कुक्षि (कोख) में प्रवेश किया।

भगवान् के माहात्म्य का मुझे प्रत्यक्ष अनुभव है अतः आप भगवान् के जिन चरित्रों को सुनाओगे उनमें मेरा विश्वास होगा। कारण कि आपकी उक्ति (कथन) में भी मेरी श्रद्धा है। ॥६॥

आभास — एव स्वस्य भगवच्छ्रवणाधिकार बोधयित्वा पूर्वपृष्ट भगवच्चरित्र पुन प्रकारान्तरेण फलसाधकमिति वदन्ननुवदति — वीर्याणीति।

इस प्रकार राजा परीक्षित भगवान् के चरित्रों के श्रवण में अपना अधिकार बताकर, प्रथम पूछे हुए भगवच्चरित्रों को, पुनः (फिर) दूसरे प्रकार से, अर्थात् जिस समय भगवान् का प्राकट्य नहीं है, उस समय के जीवों का भी, ये चरित्र साधन रूप से उद्धारक है। जिसका निम्न श्लोक में वर्णन करता है —

श्लोक — वीर्याणि तस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिः पूरुषकालरूपैः।

प्रयच्छतो मृत्युमुतामृतं च मायामनुष्यस्य वदस्व विद्वन्॥७॥

श्लोकार्थ — हे विद्वन्! समग्र देहधारियों के भीतर और बाहर पुरुष रूप तथा काल रूप से जो अमृत और मृत्यु देते हैं जिनको अज्ञान से, मनुष्य समझा जाता है, उन मनुष्याकृतिधारी पुरुषोत्तम के पराक्रमों का वर्णन करो।

श्रीसुबोधिनी — केचिदिमं प्रश्न पूर्वस्माद्विब्रमाहु — यच्चरित्र मानुषभावेन कृत सर्वजनीन, तत्पूर्व पृष्टम्। यत् पुनरवतारसम्बन्धरहितं वरुणलोके गत्वा नन्दादिविमोचनरूप वैकुण्ठप्रदर्शनादिरूप वा

तत्पुनः प्रश्नविषयमिति । तथासत्यस्य चरित्रस्यामृतत्वसम्पादकत्वं वक्ष्यमाणं फलं भवेन्नान्यस्येति चिन्त्यम् । तस्य कृष्णस्याखिलदेहभाजामन्तर्बहिर्भेदेन पुरुषरूपैः कालरूपैश्चामृतं मृत्युं च प्रयच्छतः पुरुषोत्तमस्यैव मायामनुष्यस्य वदस्वेति सम्बन्धः । अनेन भगवतात्रावतारे रूपद्वयं प्रदर्शितं मूलरूपमवताररूपं च । इदमेव मूलरूपमिति तन्माहात्म्यं वा । तस्येति रूपान्तरव्युदासाय । माहात्म्यज्ञानाय वीर्याणीति । अखिलेति प्रकारान्तरव्युदासाय । न हि केषामपि भगवद्व्यतिरेकेणान्यस्मान्मृत्युरमृतं वा भवति । देहभाजामिति आत्मत्वेऽपि निमित्तवशात्तेषां तथाकरणमिति सूचितम् । पुरुषरूपाणि मत्स्यादीनि, कालरूपाणि विषया इति केचित् । भगवदध्यानरूपाणि पुरुषरूपाणीत्यन्ये । कालरूपाण्याब्रह्मरूपतृणस्तम्बरूपाणि । यद्यपि संवाण्येव रूपाणि भगवतस्तथाप्यन्तर्बहिर्भेदकृतौ विशिष्टोऽयमित्याह—अन्तर्बहिरेति । अतः कथमपि साधनैर्बहिर्मुखा मृत्युमेव प्राप्नुवन्ति अन्तर्मुखास्त्वमृतमेव । तथात्वे तस्य किं सामर्थ्यं, किमन्तर्बहिष्ट्वकृतमेव, मर्यादार्थं तथेच्छा चान्तर्दृशस्य पराक्रमे ज्ञातेऽयं सन्देहो निवर्तत इति तदवश्यं श्रोतव्यम् । एतत्, गोकुलान्तेन वैकुण्ठगमने निर्णीतं भविष्यति । मानुषभावेनैतत्सम्भावितमिति शङ्का व्युदासायाह—मन्तर्मुखास्त्वमेव । बुद्ध्यावरिका सेति पुरुषोत्तमत्वबुद्धिमावृत्य मनुष्यत्वबुद्धिं करोतीति तस्य कृत्वा नन्वाङ्गान्दृष्टव्यस्येत्यर्थः । न केवलं भगवद्वीर्यकीर्तनमस्मदुपकारायैव, किन्तु कीर्तनफलं तवापि भविष्यतीत्यन्तर्मुखास्त्वमेव विद्वन्निति ज्ञानं सर्वत्र हेतुः ॥७॥

अनुवाद — कितनेक इस प्रश्न को प्रथम पूछे हुए प्रश्न से पृथक् (अलग) मानते हैं । वे कहते कि जो चरित्र मनुष्यरूप से किये जाते हैं वे चरित्र तो ऐसे हैं जो मनुष्यों की समझ में आ जाते हैं इस प्रकार के प्रश्न पूर्व ही पूछे गये हैं । अतः अब दूसरे प्रकार के प्रश्न पूछते हैं जिनका अवतार से सम्बन्ध नहीं है, जैसे कि वरुण लोक में जाकर नन्दादि को छुड़ाना, वैकुण्ठ आदि का दिखाना ये चरित्र मनुष्यों की समझ से ऊपर हैं अतः इस प्रकार के प्रश्न अब पूछते हैं । इसी भाँति विश्लेषण करने (हर एक भाग को भिन्न २ कर उसके भाव बताने) से इस चरित्र का जो फल कहा जाने वाला है उसका अमृत पान सिद्ध होगा दूसरों का नहीं होगा । इस अभिप्राय पर विचार करना चाहिये ।

किन्तु यहाँ तो समग्र देहधारियों को अन्दर पुरुषरूप से तथा बाहर काल रूप से विराजमान होकर अमृत और मृत्यु देने वाले उस पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के चरित्रो को कहो, इस प्रकार २ श्लोक का अन्वय (आपस में पदों का सम्बन्ध) है । श्लोक में 'तस्य' पद देकर यह बताया है कि यह वही मूल रूप है, जिसका वेदों में भूमा तथा रस स्वरूप से वर्णन किया गया है । यदि वही है तो मनुष्य जैसे क्यों दिखते हैं ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि 'माया—मनुष्यस्य' अर्थात् वही पूर्ण रस स्वरूप है किन्तु माया

से (अज्ञान से) हम उसको मनुष्य समझते हैं। आपने अपनी इच्छा से भक्तों को दर्शन देने के लिए यह रसमयी मनुष्याकृति धारण की है। अपने (भगवान् ने अपनी माया से मनुष्यों की बुद्धि पर माया का पर्दा डाल दिया है जिससे लोग उस परम तत्त्व को मायिक वा कल्पित मनुष्याकृति समझते हैं तथा भगवान् की इच्छानुकूल प्रत्येक जीव अपने अधिकार के अनुसार उसी स्वरूप में विविध प्रकाश से दर्शन करते हैं। इससे यह समझना चाहिए कि इस अवतार में भगवान् ने मूलरूप और अवतार रूप दोनों को प्रकट किया है। इस श्लोक में यही (श्रीकृष्ण) रूप मूलरूप कहा है और उसके ही माहात्म्य का वर्णन किया गया है।

भगवान् का अनन्त माहात्म्य है इसको प्रकट करने के लिये 'वीर्याणि' बहुवचन दिया है।

'अखिलदेहभाजां' पद में 'अखिल' पद से सब कहे हैं, इसका भाव यह है कि भगवान् के सिवाय कोई भी अन्य (देवादि) किसी को मृत्यु वा अमृत फलदान करने में समर्थ नहीं हैं। दोनों ही फल सबको भगवान् ही देते हैं, भिन्न-भिन्न दाता नहीं हैं। कारण कि आप ही प्रत्येक प्राणी के देह में अन्तर (अन्तर्यामि) रूप से वा व्यापक रूप से विराजमान हैं। समस्त देहधारी जीव भगवान् के ही आत्मरूप (अपने रूप) हैं उन्हीं को कारणवश (लीला) करने के लिये) अलग-अलग देह आदि दिये हैं। इसीलिए हर एक को पृथक-पृथक मृत्यु वा अमृत की प्राप्ति होती है।

¹ भगवान् अपने आत्मरूप जीवों को लीला के कारण मृत्यु भी देते हैं इसको स्पष्ट इस प्रकार समझना है (एकाकी न रमते स द्वितीय मैच्छत) अकेले रमण नहीं हो सकता है। अतः भगवान् ने दूसरे होने की इच्छा की। उस इच्छा से आप 'एकोऽहं बहुस्याम' मैं जो एक हूँ वह बहुत हो जाऊँ इस विचार से आप बहुत हुए— जिसका साक्षात् प्रत्यक्ष स्वरूप सृष्टि है। अग्नि से चिनगारियाँ भी भाति आपने अपने में से अश रूप जीव प्रकट किये परामिध्यानात् तु तिरोहित ततोह्यस्य बन्धविपर्ययो' इस व्यास सूत्र के अनुसार भगवान् की इच्छा से जीवरूप में से ऐश्वर्यादि छ गुण तिरोहित हो गये जिससे जीव का बन्ध तथा विपर्यय (उलट फेर—एकका दूसरा हो जाना) हुवा। उसका परिणाम यह हुआ कि १— ऐश्वर्य के छिप जाने से जीव अपने को पराधीन समझने लगा। २— वीर्य के छिप जाने से दुःख भोक्ता हुआ। ३—यश के छिपने से अपने को हीन समझने लगा। ४—श्री के छिप जाने से जन्मादि भोगने पड़े। ५—ज्ञान छिप जाने से, देहादि में अध्याय से अहं मम बुद्धि को विपरीत बुद्धि हो गई। ६—वैराग्य छिप जाने से विषयासक्ति हुई। इस प्रकार भगवान् ने जैसे स्वइच्छा से लीला कर अपने आत्मरूप जीव से षड् ऐश्वर्यादि धर्म तिरोहित किये वैसे मृत्यु आदि भी दिये। यह सर्व रमण के प्रकार (नमूने) है। इसमें सन्देह व शङ्का व्यर्थ है।

आचार्यश्री कहते हैं कि इस पुरुष रूप और कालरूप का स्वरूप कितनेक नीचे दिये हुए प्रकार से बताते हैं —

१. भगवान् ने जो मत्स्य आदि अवतार लिये हैं, वे भगवान् के पुरुषरूप हैं और शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये विषय भगवान् के 'काल-रूप' हैं।
२. भगवान् के जिन रूपों का ध्यान किया जाता है वे भगवान् के 'पुरुष-रूप' हैं और ब्रह्म से लेकर तृण पर्यन्त रूप भगवान् के 'काल-रूप' है। इस प्रकार अन्य मत (विचार) कहकर आप श्री कहते हैं कि सब रूप भगवान् के ही हैं तो भी अन्तर और बाहर इस प्रकार अन्य मत कहकर भी आप श्री कहते हैं कि भेद के कारण उनमें इस प्रकार (पुरुष रूप और काल रूप से) विशेषता रहती है। जैसे कि किसी प्रकार भी साधनों से जो बहिर्मुख होते हैं वे मृत्यु को पाते हैं तथा जो अन्तर्मुख होते हैं वे अमृत को ही प्राप्त करते हैं।

बहिर्मुख जीवों को मत्स्यादि रूप मृत्यु देते हैं अतः वे भी तब 'काल-रूप' बन जाते हैं और अन्तर्मुखों को विषय भी अमृत देते हैं, वे विषय भी पुरुष रूप होते हैं। श्लोक में 'उत' शब्द का भाव यह है कि भगवान् अन्तर्मुखों को पुरुष रूप तथा काल रूप दोनों रूपों से अमृत का ही दान करते हैं उनकी अन्तर्मुखों के लिये काल रूप भी पुरुष रूप हो जाते हैं यही भेद है। इससे मृत्यु और अमृत के तारन्म्य (भेद) को समझना चाहिये। यों करने का भगवान् में किस प्रकार की अपनी सामर्थ्य है। क्या इसी भांति भगवान् श्रीकृष्ण खेल खेलते हैं ? वह आपकी स्वाभाविक सामर्थ्य या अन्तर्भाव का बहिर्भाव का फल है ? अथवा मर्यादा की रक्षा के लिये वैसी भगवान् की इच्छा है। इन सब सन्देहों का निवारण तब होना जब हम उस श्रीकृष्ण के पराक्रमों का ज्ञान प्राप्त करेंगे। वह ज्ञान तब प्राप्त होगा जब उनके चरित्रों का श्रवण किया जायगा। अतः भगवान् के चरित्र अवश्य श्रवण करने चाहिये। इस सन्देह का निर्णय गोकुलवासियों के वैकुण्ठ गमन^१ प्रसङ्ग सुनने पर हो जायगा।

मनुष्य रूप से वैसा होना असम्भव है। इस शङ्का का निवारण करने के लिये भगवान् (माया मनुष्य) कहा है, अर्थात् वह पूर्ण पुरुषोत्तम प्रभु है हम अज्ञान से उनको मनुष्य समझते हैं, अतः वह मनुष्य न होने से किन्तु कर्तुं, अकर्तुं, अन्यथाकर्तुं प्रभु होने के कारण सर्व करण मे सामर्थ्यवान् हैं जिससे उसके किये हुए कार्य में असम्भवता समझनी हमारी अज्ञानता है।

हे विद्वन्! इस सम्बोधन से यह बताया कि आप जानकार ज्ञानी हो भगवान् के वीर्यों का कीर्तन जो आप करोगे उससे हमारा तो उपकार होगा ही किन्तु साथ में कीर्तन करने का फल आपका भी प्राप्त होगा और 'विद्वन्' विशेषण का यह भी आशय है कि आपको भगवान् के सर्व चरित्रों का ज्ञान है ॥७॥

आभास — एवं भगवच्चरित्राणि पृष्ट्वा सन्दिग्धान् युक्तिविरुद्धानर्थान् पृच्छति—
रोहिण्या इति पञ्चभिः

राजा परीक्षित इस प्रकार भगवान् के चरित्रों को पूछकर अब ५ श्लोकों से जिन चरित्रों का वर्णन युक्ति के विरुद्ध देखने में आता है तथा जिसमें संशय होता है वे पूछता है।

श्लोक — रोहिण्यास्तनयः प्रोक्तो रामः सङ्कर्षणस्त्वया।

देवक्या गर्भसम्बन्धः कुतो देहान्तरं विना ॥८॥

श्लोकार्थ — आपने रोहिणी के पुत्र सङ्कर्षण (राम को देवकी का पुत्र कहा किन्तु उनका, देवकी के गर्भ से सम्बन्ध, दूसरी देह के बिना कैसे हो सकता है ॥८॥

श्रीसुबोधिनी: — 'बल गदं सारणं चे'त्यत्र रोहिण्यास्तनयः प्रथमत उक्तः। 'वसुदेवस्तु देवक्यामि'त्यत्र 'कीर्तिमन्तमि' तिगणनायां सप्तमोऽहीश्वरो गणितः, 'सङ्कर्षणमहीश्वर' मिति। यद्यपि तत्र भगवत्प्रभाव एव कारणं, तथापि लौकिकप्रकारविषय प्रश्नः। देहान्तरं विनेति तस्मिन्नेव जन्मनि कथमुभयत्रोत्पत्तिः? ॥८॥

अनुवाद — नवम-स्कन्ध के २४ वे 'अध्याय के 'बलं गद' इस ४६ वें श्लोक में बलरामजी को रोहिणी का पुत्र कहा है और वहीं पर 'वसुदेवस्तु देवक्यां..... सङ्कर्षणमजीजनत्' ५६ वें श्लोक में सङ्कर्षण (बलराम) को वसुदेव ने देवकी से उत्पन्न किया ऐसा कहा है। यह परस्पर विरुद्ध वर्णन है। लोक में दूसरी देह के सिवाय दो स्थान पर

प्रकट होना बन नहीं सकता है। इसका राजा ने प्रश्न किया है अन्यथा इश्वर के प्रभाव से सर्व कुछ हो सकता है। अतः यों होने में भी भगवान् का प्रभाव ही कारण है ॥८॥

आभास — भगवतो मथुरापरित्यागे को हेतुरिति पृच्छति—कस्मादिति।

भगवान् का मथुरा छोड़ने का क्या कारण था ?

श्लोक — कस्मान्मुकुन्दो भगवान् पितुर्गेहात् व्रजं गतः।

क्व वासं ज्ञातिभिः साकं कृतवान् सात्वतां पतिः ॥९॥

श्लोकार्थ — मुकुन्द भगवान् अपने पिता (वसुदेवजी) के घर से व्रज में किस लिए पधारे ? शुद्ध सतोगुण वालों के पति उन भगवान् ने वहाँ बान्धवों के साथ कहाँ निवास किया ? ॥९॥

श्रीसुबोधिनी — कालादिभयनिवारकस्य शुद्धब्रह्मणो नन्ददेवो व्रजगमने को हेतुरिति मुकुन्दपदेन सूचितम्, सर्वेभ्यो मोक्षदाता मुकुन्द । बृहद्वनवृन्दावनादिषु मध्य नन्ददेवो ज्ञातिवत्त्वेन परिकल्प्य ज्ञातिभिः सह क्व वास कृतवान् ? अथवा असञ्ज्ञातिभिः सम्यग्ज्ञातिभावरहितैः च वा साकं सहभाव कृतवान् । भगवत्स्त्ववतार सतामेव संरक्षार्थः । यतः स सात्वता शुद्धसत्त्वे प्रतिष्ठितो नन्दो ज्ञेयः ॥९॥

अनुवाद — जो भगवान् अन्यो के (कालादि के) भय को दूर करने वाले हैं और सब को मुक्ति देने वाले हैं वे अभय स्वरूप स्वयं, वैसा कौन सा कारण था जिसके लिये पिता का घर त्यागकर व्रज में गये ? महावन तथा वृन्दावन में नन्ददिक गोपों को अपना कुटुम्बी बनाकर उनके साथ कहाँ निवास किया ? अथवा जैनर अन्य वर्ण के कारण कोई सम्बन्ध^१ नहीं, पहचान नहीं उनके साथ सहकार कर व्रज में कहाँ और कैसे निवास करने लगे ? जब आप शुद्ध सतोगुण में स्थित सत्पुरुषों के ही पति हैं और आपका अवतार भी वैसे सत्पुरुषों के लिये ही है तब आप भगवद्भाव रहित तथा अन्य ज्ञाति वाले, तामसों के वहाँ जाकर कैसे निवास करने लगे ? ॥ ९॥

श्रीसुबोधिनी — प्रश्नान्तरम् — व्रजे वसन् किमिति ।

श्रीकृष्ण ने व्रज में रहते हुए क्या किया ?

^१ परीक्षित ने जो इस प्रकार कहा कि नन्द के साथ कोई सम्बन्ध नहीं, यह इसलिये कहा कि उसने अभी तक दशमस्कन्धकी कथा नहीं सुनी थी, इसलिये अज्ञान के कारण यह प्रश्न किया भगवान् का तो नन्दादि के साथ वैसा ही सम्बन्ध है जैसा वसुदेव के साथ, इसीलिये श्रीकृष्ण ने कहा है कि (यय गोवृत्तयोनिशम्) हम सदैव गौ चराने वाले हैं और (श्रूयता मे पित) हे पिता मेरा कहना सुनो इस वचनो के न सुनने से राजा भगवान् को केवल यदुकुल में नन्द हुआ ही समझता था। इसलिये नन्दादिकों को अन्य समझ इस प्रकार कहा।

श्लोक - ब्रजे वसन् किमकरोन्मधुपुर्या च केशवः ।

भ्रातरं चावधीत्कंसं मातुरद्धाऽतदर्हणम् ॥१०॥

श्लोकार्थ - भगवान् ने ब्रज में और मथुरा में रहते हुए कौन २ से कार्य किये? मामा कंस को मारने जैसा निन्दित कार्य कैसे किया ? ॥१०॥

श्रीसुबोधिनी - तज्जात्यनुकरणतद्भावानुकरणलीलाप्रश्नः । पूर्वोक्तानुवाद एव वा । ब्रजे च वसन् किमकरोत् ? कंसवधादिकं स्पष्टमपि लोके विगर्हितमिति पृच्छति भ्रातरमिति । मातुर्भ्रातरमद्धा स्वहस्तेन । मातुलस्य मान्यत्वादतदर्हणं वधानर्हम् । कस्मादिति पूर्वस्यानुषङ्गोऽत्र ज्ञेयः । ब्रजे मथुरायां च के के उद्धृताः ? कंसस्यापि का व्यवस्थेति प्रश्नः ॥१०॥

अनुवाद - इस श्लोक में दो प्रश्न हैं, एक ब्रज में रहकर क्या किया और दूसरा मथुरा में रहकर क्या किया ? इनमें ब्रज में रहकर क्या किया यह प्रथम प्रश्न स्पष्ट नहीं है, अतः आचार्य श्री उसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि । क्या ब्रज में रहकर उन ब्रजवासियों के समान सब प्रकार के वस्त्र आदि धारण सम्भाषण और गौपालन आदि कार्य करते थे ? दूसरा प्रश्न तो स्पष्ट है जो उसने (कंस ने) वसुदेव देवकी को अनेक कष्ट दिये थे । किन्तु अपने हाथ से मातुल^१ को मारने का काम लोक में निन्दित गिना जाता है, क्योंकि मामा मानदेने योग्य अर्थात् पूजनीय है अतः वह मारने योग्य नहीं है । यों होते हुए भी वैसा निन्दित कार्य किसलिये किया ? यह पहले किये हुए प्रश्नों का अनुवाद ही है । श्लोक के उत्तरार्ध में कंस को क्यों मारा? ऐसा प्रश्न बताने वाला कोई शब्द नहीं है इसलिये आचार्यश्री कहते हैं कि ऊपर के श्लोक में दिये हुए (कस्मात्) शब्द से इनका सम्बन्ध अर्थ करें (कस्मात् अवधीत्) किस कारण से (क्यों) मारा । इन प्रश्नों का सार यह है कि ब्रज में और मथुरा में रहकर किन २ का उद्धार किया ? तथा कंस की भी क्या व्यवस्था की गई ॥१०॥

आभास — द्वारकायां कियत्कालं स्थितवानित्याह देहमिति ।

द्वारका में भगवान् ने कितना समय निवास किया ? यह प्रश्न निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक — देहं मानुषमाश्रित्य कति वर्षाणि वृष्णिभिः ।

यदुपुर्यां सहावात्सीत् पत्न्यः कत्यम्बवन् प्रभोः ॥११॥

श्लोकार्थ — मनुष्य आकृति स्वीकार कर यादवों के साथ द्वारका में कितने वर्ष पर्यन्त रहे ? और प्रभु की पत्नियां किनती थी ? ॥११॥

सुबोधिनी — अत्यन्तनटोपि प्रहरमात्र वेषं करोति, कपटमानुषवेषं कियत्कालमास्थाय स्थित इति कालप्रश्नः । तत्र स्थितस्य विशेषप्रयोजनाभावाद्देह मानुषमाश्रित्येति तत्रैवोक्तम् । वृष्णिभिर्यादवैः सहेति असमानसमानतापि बहुकालमयुक्तेति सूचितम् । यदुपुर्यामिति परस्थाने वासः । अवात्सीदिति वासे न सन्देहः । लक्ष्मीसमानभाग्यं कियतीनां जातमिति पत्न्यः कत्यम्बवन्निति प्रश्नः । प्रभोरित्यनेन सर्वसामर्थ्यं तस्य वर्तते इति सङ्गोप्य नान्यथा कथनीयमिति सूचितम् ॥११॥

अनुवाद — राजा ने प्रथम नन्द का प्रश्न किया है साधारण नट तो थोड़े समय के लिये ही रूप बदल सकता है । किन्तु विशेष कुशल नट एक प्रहर तक भी रूप बदल कर रह सकता है, तो बतलावे कि भगवान् ने जो नटवत्^१ मानुष देह धारण की वह कितने समय तक धारण कर रखी थी ? द्वारका में रहने का भगवान् का कोई विशेष प्रयोजन भी नहीं था तो भी मानुष देह धारण कर वहाँ कब तक रहे ? और जो व्यक्ति किसी प्रकार भी भगवान् के समान नहीं थे उनके साथ विशेष समय तक क्यों एवं किस प्रकार रहे, जो रहना योग्य भी नहीं था । भगवान् का वहाँ विशेष समय तक रहने का कारण यह है कि आप पृथ्वी पर जो दुष्ट राजाओं द्वारा किये हुए पापों का भार बढ़ गया था उसको यादवों द्वारा उतारना चाहते थे । अतः कोई भी लीला छिपाकर, अन्य प्रकार से न कहें । आप दुष्ट राजाओं को नाश करने के वास्ते सामर्थ्य का दान करने के लिये यादवों में प्रविष्ट होकर वहाँ उस समय तक रहे जब तक आपने दुष्ट राजाओं का नाश यादवों द्वारा नहीं कराया । यही (मानुषदेह^२ आश्रित्य) का भाव है ।

^१ दिखावे के लिये

^२ 'मानुष देहं आश्रित्य' यादवों के देह में सामर्थ्य रूप से प्रवेश कर, राजाओं का नाश किया । यही मनुष्य देह का आश्रय करना कहा है ।

इसीलिये ही भगवान् ने कहा है कि (नैवान्यतः परिभवो ऽस्यभवेत् कथञ्चित्) इस यादव वंश का कैसे भी किसी दूसरे से पराभव (तिरस्कार) नहीं हो सकेगा। इसका कारण यह है कि वे आपके आश्रित हुवे हैं आपने उनमें प्रविष्ट होकर उनको आश्रय^१ देदिया है। (अवात्सीत्) पद से वहाँ आप रहे यह तो निश्चय ही है और रहे भी दूसरो के स्थान में, यह (यदुपुरी) शब्द कहने से सिद्ध होता है। वहाँ जब तक रहे, तब तक कितनी पत्नियों को लक्ष्मी के समान भोग द्वारा भाग्यशाली बनाया गया ? यहाँ भगवान् का नाम (प्रभु) कहकर यह बतादिया कि वह सर्व सामर्थ्यवान् है अतः उनके लिये कोई छोटा मोटा, पराया अपना नहीं है सब समान है। आप तो यह सब लीलाएँ कर रहे हैं ॥११॥

आभास — अन्यदपि युक्तिविरुद्ध सोपपत्तिकं वक्तव्यमित्याह — एतदन्यच्चेति।

अनुवाद — दूसरा भी कोई चरित्र युक्ति से विरुद्ध देखने में आवे तो उपपत्ति^२ पूर्वक, उसका वर्णन करें। इस प्रकार का प्रश्न निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोक — एतदन्यच्च सर्वं मे मुने कृष्णविचेष्टितम्।

वक्तुमर्हसि सर्वज्ञ श्रद्धधानाय विस्तृतम् ॥१२॥

श्लोकार्थ — हे मुने! आप प्रभु की सर्व लीलाओं को जानने वाले हो अतः मुझे श्रद्धालु को, जो लीलाएँ मैंने पूछी हैं। तथा अन्य जो कोई भी हो वे सर्व भगवान् की लीलाएँ विस्तार से कहने के लिये आप योग्य (समर्थ) हो।

श्रीसुबोधिनी — अन्यदपृष्टं सर्वं भगवत्कृतम्। म इति तदीयत्वान्ममैतदेव कृत्यमिति। मुन—इति ज्ञानार्थ सम्बोधनम्। कृष्णविचेष्टितमिति स्वतन्त्रफलत्वम्। 'कृषिर्भूवाचक' शब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयत' इति सदानन्दः कृष्ण उक्तः। तच्चरित्रमपि सदानन्दरूपमेवेति फलत्वात् सर्वमेव वक्तव्यम्। एतन्मर्माभिज्ञस्त्वमेवेति वक्तुमर्हसि। वीर्याद्यरूपेऽपि केवलचरित्रेऽप्यह श्रद्धधानः। विस्तृतमिति तादृशोपि विस्तारो वक्तव्य सर्वत्रैव चरित्रे चतुर्विधेऽपि विस्तारः। वीर्याणि सर्वगेयचरित्राणि, अलौकिकवीर्याण्यगेयचरित्राणीति चातुर्विध्यम् ॥१२॥

अनुवाद — राजा परीक्षित ने शुकदेवजी को (मुने) यह सम्बोधन देकर यह बताया है कि आप ज्ञानवान् हो अर्थात् आपको भगवान् की लीलाओं का पूर्ण ज्ञान है, अतः मैंने जो लीलाएँ पूछी हैं वे, और जो न जानने से, नहीं पूछी हैं वे भी कहिये, कारण कि मैं

^१ रक्षण

^२ युक्ति से उस विरोध को मिटाकर।

भगवान् का हूँ इसलिये, भगवान् के चरित्र सुनने, यही मेरा कर्तव्य है। श्लोक में (कृष्ण विचेष्टितम्) पद का भावार्थ बताते हैं कि — कृष्ण सदानन्द स्वरूप होने से 'स्वतन्त्र' फलरूप है। वे स्वयं तथा उनकी लीलाएँ भी फलरूप हैं जैसा कि श्रुति भगवती कहती है कि 'कृषिर्भूवाचकः शब्देणश्च निर्वृत्ति वाचकः। तयौरेक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयतेः।' 'कृष्ण' शब्द में जो 'कृष्' है उसका अर्थ है सदा ही मौजूद रहना और 'ण' का अर्थ है 'आनन्द' दोनों के मिलाने से हो जाता है (सदानन्द) जिसका भाव यह है कि जो स्वरूप सदा ही आनन्द रूप है वही 'कृष्ण' पर ब्रह्म है यों वेदों में कहा गया है। इसी कारण से उनकी लीलाएँ भी सदानन्द रूप ही हैं जिससे वे भी फलरूप ही है, अतः सब चरित्र कहिये। आपसे इस प्रकार इसलिये पूछता हूँ कि आप ही चरित्रों के मर्म को जानने वाले हो। मैं तो भगवान् के चरित्रमान में श्रद्धा रखने वाला हूँ। वह चरित्र वीर्य (पराक्रम) आदि से रहित हो तो भी उसके सुनने में मेरी पूर्ण श्रद्धा है। अतः भगवान् कृष्ण का जो चरित्र वीर्य रहित हो वह भी विस्तार के साथ कहिये। वीर्य^२, सर्वगेय^३, अलौकिक वीर्य^४ और अगेय^५ ये श्रीकृष्ण के चार प्रकार के चरित्र हैं, वे सब विस्तार से कहिये। १२॥

आभास — एवं द्वादशभिः प्रश्नं निरूप्य सर्वथा कथनार्थमकथने वा बाधकमाह — नैषेति।

इस प्रकार १२ श्लोकों में भगवान् के चरित्र विषयक प्रश्न किये जिससे यह बताया कि आपको वे चरित्र मुझे सुनाने चाहिये, यदि नहीं सुनाएंगे तो प्राणों में बाधा पहुँचेगी। इसका वर्णन करते हैं।

श्लोक — नैषाऽतिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते।

पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम्। १३॥

^१ श्रीकृष्ण के सिवाय अन्य फल परतन्त्र है कारण कि वे साधनों द्वारा प्राप्त होते हैं, श्रीकृष्ण तो बिना साधन से स्व-कृपा से स्वयं अपनी प्राप्ति कराता है जैसे कि 'यमे वैष्ववृणु ते तेन लभ्य' इस श्रुति में कहा है यह परमात्मा जिस जीव को स्वीकार करता है वह जीव ही भगवान् को पा सकता है। अतः श्रीकृष्ण को स्वतन्त्र फलरूप कहा गया है। (अनुवादक)

^२ 'तत्राशेनावतीर्णस्य' इस श्लोक में श्रीकृष्ण के वीर्यों (पराक्रमों) का प्रश्न है।

^३ 'अततीर्य यदोर्वशे' इस श्लोक में श्रीकृष्ण के सर्वगेय चरित्रों का प्रश्न है।

^४ 'वीर्याणितस्य' इस श्लोक में श्रीकृष्ण के अलौकिक वीर्यों के चरित्रों का प्रश्न है।

^५ 'रोहिण्यास्तनय' प्रोक्त. इस श्लोक में श्रीकृष्ण के अगेय चरित्रों का प्रश्न है।

श्लोकार्थ — यद्यपि क्षुधा और तृष्णा सही नहीं जाती है, किन्तु जल का भी त्याग करने वाले मुझे वह क्षुधा कुछ दुःख नहीं दे सकती है कारण कि मैं आपके मुख रूप कमल से द्रवित (झरते) हुए कथा रूप अमृत का पान कर रहा हूँ।।१३।।

श्रीसुबोधिनी — आर्तिकथनायैषेति। अप्रयोजकत्वं वारयति—अतिदुःसहेति। क्षुन्मामिति प्रमाणकथनम्। उदकत्यागः प्रकारान्तरेण देहरक्षाभावार्थः। एषा परमोत्तमाधिकारस्थितिः। उदकस्योभयनाशकत्वात् तथोक्तम्। क्षुधो भ्रातृव्यत्वश्रवणदृश्यबाधकत्वात्तदेवोक्तम्। शीघ्रकथनाय वर्तमानप्रयोगः। अम्भोजत्वममृतस्रवात्। कथाकथने वक्तुः परवशत्वापादकं चरित्रमिति ज्ञापयितुं च्युतमिति। पानमन्तःप्रवेशनमविस्मरणाय। इदानीमपि पूर्वोक्तकथनानुसन्धानाद्वर्तमानप्रयोगः। सम्भाव—नयेत्यन्ये। आनन्दत्वचेतनत्वद्योतनायाह—हरीति। विशेषतो दुःखनाशकत्वं तत्र प्रसिद्धमिति। विशेषतो हरिकथा अमृतमिवेत्यमृतपदे यौगिकोऽर्थो गृहीतः। असङ्कोचान्मुक्तिरेव फलति। अतस्त्वमेव मोक्षदातेति वक्ता स्तुतः।।१३।।

अनुवाद — राजा परीक्षित ने इस श्लोक में यह जो कहा है कि मुझे जो सर्वथा सहन नहीं की जा सकती है, ऐसी क्षुधा भी नहीं सताती है, इस कहने का भावार्थ यह है कि राजा को भगवान के चरित्र सुनने की अन्तःकरण में अत्यन्त आर्ति^१ थी, जिससे यह बताया कि मुझे देह रक्षा का विचार नहीं है, इसलिये अन्न के अभाव में, जल, क्षुधा और प्यास दोनों को शान्त करता है, तथा देह की भी रक्षा कर सकता है। मैंने तो वह जल भी छोड़ दिया है। यह कहना सूचित करता है कि राजा परम उत्तम अधिकारी है।

प्यास न कहकर केवल क्षुधा कहने का यह आशय है, कि क्षुधा शत्रु है, क्योंकि शत्रु के समान अवश्य दुःख देने वाली है, अतः शीघ्र बाधा करती है। इसलिये 'बाधते' यह वर्तमान काल का प्रयोग किया है। शुकदेवजी के मुख को अम्भोज (कमल) कहने का आशय यह है कि उस (मुख) से अमृत बह रहा है। कथा सुनने वाले शुकदेवजी आप उस अमृत को समझकर नहीं बहाते हैं किन्तु भगवान् के चरित्र ही ऐसे हैं जो कहने वाले परवश कर देते हैं। जिससे कथा कहने के समय कथा रस में मग्न होने से क्या हो रहा है ? या क्या कर रहा हूँ ? यह ज्ञान उस (वक्ता) को नहीं रहता है अतः श्लोक में (च्युत) शब्द दिया है जिसका भाव है कि वह कथा रूप अमृत रस, मुख से

स्वयं बहा जा रहा है। जैसे परिपक्व फल पेड़ से स्वयं गिर पड़ता है। ऐसा रस मैं पान कर रहा हूँ, अर्थात् केवल श्रवण नहीं करता हूँ किन्तु पानकर अन्तःकरण में धारण कर रहा हूँ जिससे सदैव स्मरण रहे। यहां भी 'पिवन्तः' वर्तमान काल के प्रयोग करने का आश्रय यह है कि मैंने जो चरित्र पहिले सुने हैं वे भी मुझे पूर्ण रीति से अब स्मरण है। अन्य टीका करने वालों की यह सम्मति है कि यह वर्तमानकाल की क्रिया परीक्षित ने इस आशा से दी है कि शुकदेवजी शीघ्र भगवान् के चरित्र सुनाएँगे। यद्यपि बहुत करके भगवान् का 'हरि' नाम दुःख हर्ता अर्थ में प्रसिद्ध है तो भी यहां हरि शब्द आनन्द रूप और चेतनरूप के प्रकाशक है, इसलिये दिया है अर्थात् भगवान् एवं उनके चरित्रों में आनन्द और चेतन, दोनों गुण मौजूद हैं। विशेषता यह है कि हरिकथा अमृत ही है। किञ्च यहां अमृत से रूढि अर्थ वाला अमृत जे देव पीकर अमर बने हैं, वह अमृत नहीं समझना चाहिये किन्तु उसका यौगिक अर्थ समझना अर्थात् जिसके पान करने से मोक्ष प्राप्त होता है उस मोक्ष से जन्म मरण सदा के लिये नष्ट हो जाते हैं। अतः आप ही सच्चिदानन्दात्मक कथा सुनाने से हमारे मोक्ष दाता हो। इस प्रकार कथा के वक्ता (श्री शुकदेवजी) की स्तुति की है ॥१३॥

आभास — शौनकादीन् सावधानतयाभिमुखान् करोति सूतः — एतमिति ।

सूतजी शौनक आदि ऋषियों को कथा सुनाने के लिये निम्न श्लोक से सावधान करते हैं।

श्लोक —

एतं निशम्य भृगुनन्दन साधुवादं वैयासकिः सभगवानथ विष्णुरातम् ।

प्रत्यर्च्य कृष्णचरितं कलिकल्मषघ्नं व्याहर्तुमारभत भागवतप्रधानः ॥१४॥

श्लोकार्थ — हे भृगु को आनन्द देने वाले शौनकजी! इस सुन्दर, भगवान् के सम्बन्धवाले चरित्रों के प्रश्नों को सुनकर, भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ एवं प्रशंसित श्री शुकदेवजी ने, भगवान् से रक्षा पाये हुए परीक्षित का अभिनन्दन कर कलि के मल को नाश करने वाले श्रीकृष्ण के चरित्र कहने प्रारम्भ किये ॥१४॥

श्रीसुबोधिनी — परम्पराभिनन्दनेनायमर्थः स्फुरतीति तथा प्रतिपाद्यते । एतस्य प्रश्नस्य मूलत्वात् प्राधान्येन निर्देश एतमिति । पुनः पुनः प्रश्ने वक्तुरुद्वेगः सम्भवति । आक्षेपे क्रोधः । तदुभय निरस्यति निशम्येति । नितरा श्रुत्वा, अर्थतोऽभिप्रायतश्च समीचीनमिति, न तु दाक्षिण्येनेत्यर्थः । विश्वासार्थं

भृगुनन्दनेति सम्बोधनम्। हेतुभूतं विशेषणं साधुवादमिति। शब्दतो वदनं वादः साधूनां वादः साधुवादः, साधवः पदार्था भगवत्सम्बन्धिनोऽस्मिन्नुच्यन्ते इति। साधूनां वादो यस्मादिति वा। वीतरागा भगवत्कथामेव कुर्वन्तीति निरूपितप्रमेयस्य साधुवादत्वज्ञापनाय विशेषणम्। भगवद्भक्ताश्चेन्मिलन्ति तदैव वाक्यं प्रष्टव्यमिति महता कष्टेन व्यासो भगवद्गुणप्रतिपादकमिदं शास्त्रं चकार। तस्य प्रवर्तनार्थं च शुकः प्रवृत्तः। तादृशं प्रश्नरूपं साधुवादमेवापेक्षते। महता प्रयासेन भगवन्मतप्रवर्तकत्वात्। तदाह वैयासकिरिति। तथापि भगवच्चरित्रस्य दुर्ज्ञेयत्वात्कथमुत्तरमत आह सभगवानिति। भगवता सहितः। तदन्तस्थितो भगवानेवोत्तरं प्रयच्छतीत्यर्थः। नन्वेव भगवान् स्वयमुत्तरं प्रयच्छति कथमित्याशक्याह—विष्णुरातमिति। अथेति भिन्नोपक्रमे। एतावत्कालं शुकः स्वयमेवाह। इदं चरित्रं तु तत्र स्थितो भगवानेवाऽऽहेति भिन्नः प्रक्रमः। विष्णुना एतदर्थमेव रक्षितः। अन्यथा पुरुषार्थो न सिद्ध्यतीति किं रक्षणेन। श्रवणे निमग्नवित्तत्वात् प्रत्यर्चनम्। पूर्वं शुकः स्तुतः। तेन शुकोऽपि तमग्रं स्तौतीति प्रत्यर्चनम्। पूज्यो हि भगवान्, तद्गुणाश्च। ते चोभयत्र पूर्णा इति परस्परपूजा। एवमेव भगवत्कथायां परस्परार्चनं शास्त्रसिद्धम्, 'येऽन्योन्यतो भागवता' इति वाक्यात्। एतावदुद्योगस्य फलमाह कृष्णेति। अवतारचरित्रत्वेनालौकिकत्वमुक्तम्। पापस्य प्रतिबन्धकत्वानान्न श्रद्धा भविष्यतीत्याह—कलीति। षण्णां शोधकानां देशादीनां धर्महेतूनां चाभावाच्चरित्रमेव शोधकम्। अन्यथा युगे धर्मप्रवृत्तिर्मोक्षो वा न स्यात्। महता प्रक्रमेण समारम्भे हेतुः भागवतप्रधान इति। भागवता एव प्रधानं यस्येति। विशेषेणाहर्तुं वक्तुमारम्भं कृतवान्। अत एव मननपरित्यागेन कथामेव कथयति, सभाजयति च तामेव, न ज्ञानादिकमिति भावः॥१४॥

अनुवाद — श्रोता तथा वक्ता आपस में जो अभिनन्दन (प्रशंसा) करते हैं उससे हृदय में अर्थ की स्फूर्ति^१ होती है, कारण कि श्रोता को वक्ता की योग्यता मालूम होने से उसको निश्चय होता है कि यह जो कहेंगे वह सत्य ही कहेंगे। इस प्रकार वक्ता भी श्रोता की योग्यता देखकर समझता है कि मैं जो कुछ कहूँगा वह पूर्ण रूप से समझकर यह धारण करेगा। जिससे वक्ता गुह्य भी कहने में संकोच नहीं करता है और श्रोता ध्यान देकर श्रवण करता है। श्री शुकदेवजी जो चरित्र वर्णन करने लगे उनका मूल कारण परीक्षित का प्रश्न है इसलिए श्लोक में 'एतं' (इस प्रश्न को) शब्द कहा है। बार बार पूछने से वक्ता के चित्त में उद्वेग (व्याकुलता) होता है, यदि वह प्रश्न आक्षेप (दोष लगाने आदि) से किया जाय तो वक्ता को क्रोध भी आता है। 'निशम्य' शब्द देकर इन दोनों (व्याकुलता एवं क्रोध) को मिटाया है। 'निशम्य' पद में दो शब्द हैं एक 'नि' दूसरा

‘शम्य’ जिनके कहने का भावार्थ यह है कि श्री शुकदेवजी ने परीक्षित के प्रश्न को शान्ति से सुना और प्रश्नों के अर्थ तथा अभिप्राय को समीचीन¹ समझा। और यह भी जाना कि परीक्षित ये प्रश्न चालाकी² से नहीं करता है किन्तु चरित्र श्रवण की उत्कट इच्छा से भाव एव श्रद्धापूर्वक करता है। शौनक को भृगुनन्दन कहा उसका भाव यह है कि उससे शौनक को सूचित किया कि मैं जो कहता हूँ उसमें विश्वास रखना, क्योंकि गु विश्वास रखते थे आप भी उसके पुत्र हो अतः आपको भी विश्वास रखना चाहिये।

शुकदेवजी ने परीक्षित के प्रश्न—प्रेम से शान्तिपूर्वक सुनें। उसका कारण ‘साधुवाद’ विशेषण से बताते हैं कि परीक्षित के जो प्रश्न थे उनमें भगवच्चरित्ररूप सुन्दरवाद था। जिन महानुभावों के हृदय से संसार का प्रेम निकल गया है, वैसे लोग जब परस्पर मिलते हैं तो सिवाय भगवान् के चरित्र के कहने के अन्य किसी प्रकार की बातचीत नहीं करते हैं। परीक्षित ने जो प्रश्न किये हैं वे भी भगवच्चरित्र से सम्बन्ध रखने वाले होने से ‘साधुवाद’ हो। भगवद्भक्त जब भी मिलें तब उनको ऐसे ही प्रश्न पूछने चाहिए। व्यासजी ने महान् कष्ट से भगवान् के गुणों को प्रतिपादन³ करने वाला यह शास्त्र बनाया है और ऐसे शास्त्र के प्रचार करने के लिए श्री शुकदेवजी प्रवृत्त हुए हैं। इस प्रकार महान् कष्ट से जिन भगवान् के गुणों और चरित्रों का प्रतिपादन हुआ है और जिनके प्रचार के लिये शुकदेवजी जैसे वीतराग, निरपेक्ष मुनि सन्नद्ध⁴ हुए हैं, उन चरित्रों को ‘साधुवाद’ की अपेक्षा होती ही है अर्थात् उनका ‘साधुवाद’ करना ही चाहिये।

शुकदेवजी के लिए यहाँ दो विशेषण दिये हैं, एक ‘वैयासकिः’ दूसरा ‘सभगवान्’ उनके देने का भाव बताते हैं कि जब भगवान् के चरित्र सहज समझ में आ जावें वैसे नहीं हैं, तब उनका उत्तर किस प्रकार दिया जायेगा ? ऐसी शङ्का करना व्यर्थ है क्योंकि उनका उत्तर देने वाले व्यासजी, (जिन्होंने समाधि में अनुभव कर चरित्रों का प्रतिपादन किया है) उनके पुत्र हैं। इस कारण से श्री शुकदेवजी उत्तर दे सकते हैं और

¹ उत्तम सत्य

² कपट

³ समझाने वाला

⁴ तैयार

आपके साथ भगवान्^१ भी है वे ही अन्तःकरण में स्थित होकर उत्तर दे रहे हैं। स्वयं भगवान् शुकदेवजी के हृदय में विराजमान होकर उत्तर देते हैं, उसका क्या कारण है ? इस शङ्कA निवारण के लिए श्लोक में प्रश्नकर्त्ता परीक्षित के लिए 'विष्णुरात' विशेषण दिया है, जिसका भाव है कि जिसको भगवान् ने गर्भ में इसलिए रक्षा की थी कि इसको मैं अपने चरित्रों को सुनाकर अपना पूर्णज्ञानी भक्त बनाकर मुक्त करूँगा। तात्पर्य यह है कि गर्भ में शत्रु में जैसे रक्षा कर परीक्षित को बचाया वैसे ही अब भगवान् ने संसार रूप शत्रु से बचाकर सदा के लिए उसको अमर बनाते हुए अपना ब्रह्मानन्द दिया।

श्लोक में 'अर्थ' पद देकर यह बताया है कि अब तक तो श्री शुकदेवजी कह रहे थे। इसके बाद जो चरित्रों का वर्णन होगा वह भगवान् करेंगे। यदि भगवान् वैसे स्वयं चरित्र कहकर परीक्षित की रक्षा नहीं करते तो पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती जिससे रक्षा करनी व्यर्थ सी हो जाती। परीक्षित के प्रश्नों के भाव को विचारते हुए शुकदेवजी उसमें मग्न हो गये जिससे प्रश्नों की उत्कृष्टता समझ राजा की प्रशंसा करने से उसका अभ्यर्चन^२ किया, परीक्षित ने तो प्रथम ही शुकदेवजी का अभ्यर्चन^३ किया है इस प्रकार श्रोता तथा वक्ता का परस्पर अभ्यर्चन^३ शास्त्रों से सिद्ध है। भगवान् के गुण तथा भगवान् दोनों पूजा के योग्य हैं। वे भगवान् के गुण, दोनों, राजा तथा श्री शुकदेवजी में प्रविष्ट हुए हैं। अतः दोनों ने परस्पर पूजा^३ की। यों करने की 'योऽन्योऽन्यतो भागवता' इस वाक्य में आज्ञा है। इस उद्योग का फल 'कृष्ण' ही है। इसलिये फलरूप श्रीकृष्ण के चरित्र जो भी फलरूप होने से अलौकिक हैं उनको ही राजा ने पूछा है। राजा ने पूछा वह तो अच्छा किया, किन्तु उसके सुनने में यदि पाप प्रतिबन्धक होंगे जिससे

^१ श्रीलालू भट्टजी ने योजना में कहा है कि नवम स्कन्ध तक तो श्री शुक ने चरित्र कहे। अब जो चरित्र कहे जायेंगे वे भगवान् स्वयं कहेंगे। कारण कि लीला पुरुषोत्तम की लीलाओं को आप (पुरुषोत्तम) ही जान सकते हैं। जैसे कि गीता में कहा है, 'नमे विदुःसुरगणा प्रभव न महर्षय' मेरी महिमा को देवगण और महर्षि भी नहीं जान सकते हैं। दशम स्कन्ध में तो उस पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूप की लीलाओं का वर्णन है उसका वर्णन शुक भी नहीं कर सकेंगे। अतः भगवान् ने स्वयं शुक के अन्तःकरण में विराजमान होकर अपने चरित्र कहे। शुकदेव जी शङ्कर का रूप है। शङ्कर भगवद्भक्त वैष्णव है, इसलिए वैसे के हृदय में भगवान् बिराजे हैं। यह योग्य नहीं है।

^२ समादर

^३ आदर

श्रवण में श्रद्धा नहीं होगी। इस शङ्का के समाधान (मिटाने) के लिये 'कलिकल्मषघ्नं' पद श्लोक में दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि कलियुग के दोष जो भगवत् गुण के श्रवण में प्रतिबन्धक होते हैं उनको भगवान् के चरित्र नाश करने वाले हैं। अन्य उपाय तो इस युग में प्रतिबन्धों को नाश करने में असमर्थ है केवल भगवच्चरित्र उनको नाश कर सकते हैं। यदि वे भी असमर्थ होते तो इस युग में धर्म में प्रवृत्ति तथा मोक्ष की प्राप्ति सर्वथा न हो सकती। इस कहने का सारांश यह है कि भगवच्चरित्र, कलि के सर्व प्रकार के मल नष्ट करने वाले हैं जिससे भगवच्छ्रवण में पापादि प्रतिबन्धक नहीं होते हैं और श्रद्धा बनी रहती है। शुकदेवजी ने महान् उत्साह से एवं उत्तम ढंग से जो चरित्र वर्ण का प्रारम्भ किया उसका कारण यह है कि कथा के श्रोताओं में भगवद्भक्त ही प्रधान+ थे। शुकदेवजी ने भी उनसे विशेष रस पाने की इच्छा से उत्साह पूर्वक विशेष रूप से चरित्र वर्णन करने का प्रारम्भ किया। इस कथा रस में मग्न श्री शुकदेवजी मनन का त्याग कर केवल कथा (भगवान् के चरित्रों का वर्णन) ही करने लगे। कथा (भगवद्गुणानुवाद) को ही प्रधानता दी, ज्ञानादिक को प्रधानता नहीं दी। १४॥

आभास — समानशीलव्यसनं दृष्ट्वा राजानं प्रश्नं चाभिनन्दति द्वाभ्याम् — सम्यगिति।

श्री शुकदेवजी राजा को अपने समान शील तथा व्यसन वाला देखकर दो श्लोकों से राजा और उसके प्रश्नों का अभिनन्दन करते हैं।

श्लोक — सम्यग्व्यवसिता बुद्धिस्तव राजर्षिसत्तम।

वासुदेवकथायां ते यज्जाता नैष्ठिकी रतिः॥१५॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे राजर्षियों में भी अत्यन्त श्रेष्ठ। वासुदेव की कथा (श्रवण) में आपकी निश्चयात्मक प्रीति हुई है, आपकी बुद्धि ने यह अच्छा निश्चय किया है॥१५॥

श्रीसुबोधिनी — भगवति लयात्पूर्वं स्थिरप्रज्ञतैव सर्वोत्तमा। सम्यग् व्यवसायं भगवत्कथैव श्रोतव्या, नान्यत्किञ्चिदित्यध्यवसायं प्राप्ता। ब्रह्मर्षीणामप्येतदुर्लभं, तव तु जातमित्याश्चर्येण सम्बोधनं— राजर्षिसत्तमेति। राजा स्वधर्मनिष्ठः, स च लौकिकः। ऋषिर्वेदिकधर्मनिष्ठः। स चासौ सन् भगवद्धर्मनिष्ठः। तत्राप्युत्कर्षो भगवदङ्गीकारात्। अत एव तवैतादृशो व्यवसाय उचित इति भावः। द्विधा च निश्चयः सम्भवति, शास्त्रार्थनिश्चयात् स्वरुच्या वा। तत्राद्यो मध्यमः। त्वं तूत्तम इत्याह— वासुदेव

इति। यत् यस्मात् कथाया रतिर्जाता। सापि न चञ्चला, न केनाप्यन्यथकर्तुं शक्या। निश्चयस्य सम्यक्त्वपोषिका रति। यस्मान्निश्चयाद्वासुदेवकथायां रतिर्जातेति वा। अथवा हेतुद्वय राजाभिनन्दन एव। दुर्लभत्वं कथारस्तेर्वदन् कारणभूत निश्चयमाह। साध्यसाधनयोर्निष्पन्नत्वात्सभाजनम्। प्रश्नेन चैवम्भावस्तस्याभिज्ञातोऽतोर्थात्प्रश्न एव स्तुतः॥१५॥

अनुवाद — भगवान् में लय हो जाने से पहिले ही यदि बुद्धि स्थिर हो जाय उसकी चञ्चलता मिट जावे तो यह सब से उत्तम है। आपकी बुद्धि ने जो यह दृढ़ निश्चय कर लिया है कि, भगवान् की कथा के सिवाय दूसरा कुछ भी नहीं सुनना वह उत्तम है। आपको बुद्धि के दृढ़ निश्चय जैसा निश्चय ब्रह्मर्षियों को भी दुर्लभ है अतः आप राजर्षि सत्तम हो। अपनी प्रजा के पालन रूप धर्म में निष्ठा वाला लौकिक रीति से केवल राजा कहलाता है, प्रजापालन के साथ वैदिक धर्म में निष्ठावाले को (राजर्षि) कहते हैं, इन दोनों गुणों के साथ यदि वह भगवत्धर्म में निष्ठावाला होता है तो उसको (राजर्षिसत्तम) कहते हैं। आपका तो उससे भी उत्कर्ष है क्योंकि भगवान् ने आपका अङ्गीकार भी किया है। इस कारण से भगवान् में लय होने से प्रथम आपको ऐसी दृढ़ बुद्धि होनी योग्य ही है। बुद्धि के दृढ़ हुए बिना भगवान् की प्राप्ति नहीं होती है। स्थिर बुद्धि से भगवत्प्राप्ति होती है तब इस बुद्धि का लय भगवान् में हो जाता है और भगवद्भक्त को अलौकिक देह की प्राप्ति होती है इसलिये आचार्य श्री ने कहा है कि भगवान् में लय होने से पूर्व ही (स्थिर बुद्धि) होनी चाहिये। निश्चय दो प्रकार से होता है, एक शास्त्र में कहे हुए—जीव को भगवान् की भक्ति करनी चाहिये — ऐसे उपदेश को सुनकर, और दूसरा अपनी सहज (स्वभाव सिद्ध) रुचि से निश्चय करना इन दोनों में पहिला शास्त्र सुनने से निश्चय होना (दृढ़ बुद्धि होना) 'मध्यम' मर्यादा निश्चय है। और सहज रुचि से दृढ़ होना, (उत्तम) पुष्टिमार्गीय निश्चय है। आप तो उत्तम हो कारण कि आपकी भगवान् के कथा के श्रवण में दृढ़ बुद्धि वाली रति^१ स्वभाव सिद्ध है। जिसको कोई बदल नहीं सकता है क्योंकि प्रेम उस निश्चय को अच्छे प्रकार से स्थिर रहने वाला है। उस स्थिर निश्चय से कथा श्रवण में रति बढ़ती रहती है। श्लोक के पूर्वार्द्ध

में कहे हुए दोनों कारण राजा के अभिनन्दन' के लिये कहे गये हैं। भगवान् के चरित्रों के श्रवण में (रति) अर्थात् प्रेम का होना दुर्लभ है। दुर्लभ होते हुए भी आपका जो श्रवण में प्रेम हुआ है उसका कारण बुद्धि की स्थिरता है। सभा में यद्यपि देवर्षि, ब्रह्मर्षि, और राजर्षि ये सब उपस्थित हैं तो भी आपको ही वैसा प्रेम कथा श्रवण में हुआ है और साधन तथा फल भी आपको सिद्ध हो गये हैं अतः आप सत्कार करने योग्य हैं। आप (राजा परीक्षित) का स्वरूप क्या है ? इसका ज्ञान आपके किये हुए प्रश्न से हो जाता है। आपको धन्यवाद करने से प्रश्न की स्तुति होती है अर्थात् प्रश्न की प्रशंसा की है ॥१५॥

आभास — प्रकारान्तरेणापि साक्षात् प्रश्नं स्तोति — वासुदेवेति ।

श्री शुकदेवजी निम्न श्लोक से दूसरे प्रकार से प्रत्यक्ष प्रश्न की स्तुति करते हैं।

श्लोक — वासुदेवकथाप्रश्नः पुरुषाँस्त्रीन् पुनाति हि ।

वक्तारं पृच्छकं श्रोतृस्तत्पादसलिलं यथा ॥१६॥

श्लोकार्थ — वासुदेव की कथा का प्रश्न करने वाले, उत्तर देने वाले तथा सुनने वाले इन तीन प्रकार के पुरुषों को वैसे ही पवित्र करता है जैसे श्री गङ्गाजी, ब्रह्मा, महादेव और भागीरथ इन तीनों को पवित्र कर रही है ॥१६॥

श्रीसुबोधिनी — वासुदेवस्य मोक्षार्थत्वात् तत्सम्बन्धि यत्किञ्चिद्वस्तु तत् पवित्रयत्येव । तत्रापि कथा तत्सम्बन्धिगुणदोषाभिनिवेशजनिका । तत्रापि प्रश्नस्तज्जिज्ञासाया दाढ्यैहेतुः । त्रीन् पुरुषान् । प्रश्ननान्तरं कश्चिच्छ्रोता मध्यस्थः, प्रश्नकर्ता च त्रयो भवन्ति । स्तब्धचित्ततया पूर्वं वक्ता भगवद्गुणाभिज्ञोपि तूष्णीं स्थितः । तत्र भगवद्गुणेषु तूष्णीम्भावः पापादेवेत्यध्यवसीयते । प्रश्ने च यदुद्रता भवन्ति गुणास्तत्पापनाशादेव । श्रोतृऋणामपि विद्यमाने पापे भगवत्प्रवणं चित्तं न भवतीति, प्रश्ने च जायत इति तत्पापनाशकत्वमपि । प्रश्न करिष्यामीति यदा मनसि प्रश्न उद्गतस्तदा पापे विद्यमाने मुखात् निःसरति । यदा पुनर्निःसरति तदा तस्यापि पापं नाशयतीति ज्ञायते । अतस्त्रीन् पुरुषान् पुनातीति युक्तं तदाहहीति । प्रश्नकर्तुः पितृपितामहादयो भविष्यन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थं गणयति—वक्तारमिति । वक्तारमुत्तरस्य । पृच्छकः प्रश्नकर्ता । श्रोता मध्यस्थः । यद्यपि श्रोतृत्वं पूर्वयोरप्यस्ति, तथापि निमित्तं भिन्नमिति तदेव प्रयोजकत्वेनोक्तम् । पुरुषपदं पूर्ववत् । तत्र कार्यान्तरार्थान् वारयति—त्रीनिति । पावित्र्यमनेकविध सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं पावनत्वं विशिनष्टि दृष्टान्तेन—तत्पादसलिलं यथेति ! प्रश्नः

क्वचिदुद्रतः। कञ्चित् प्रेरितवान्। कञ्चिदभिमुखीचकार। नैतावता परमं पुरुषार्थं सिद्धं, यदा पुनस्त्रयाणां चित्तं भगवदेकनिष्ठं करोति तदा हि सफलता। गङ्गा च पुनः साक्षाद्भगवत्सेवौपयिकं शरीरमुत्पादयति पूर्वसम्बन्धि पाप तत्कार्यः। नाशयित्वा, तथा भगवत्कार्योपयोगिं चित्तं यावत्या भवति तावती शुद्धिं करोतीत्यर्थः। त्रीन् त्रिलोकस्थान् सात्त्विकादिभिन्नान् वा। कूलद्वयस्थितान्मध्यस्थान् वा। ब्रह्माणं महादेवं भगीरथं च वा॥१६॥

अनुवाद — वासुदेव शब्द का अर्थ मोक्ष है अतः उनसे सम्बन्ध वाले जो भी पदार्थ हैं वे सब, पवित्र करने वाले ही होते हैं। उसमें भी वासुदेव की कथा तो उससे सम्बन्ध रखने वाले गुण तथा दोषों वाली होते हुए भी, भगवान् में आग्रह पूर्वक विश्वास उत्पन्न करती है। जैसे कि लोक दृष्टि में पूतना वध आदि गुण है और मातुल^१ वध दोष है। इन चरित्रों की श्रवण जिज्ञासा^२ भी उस श्रद्धा को दृढ़ करने में कारण होती है। क्योंकि उन चरित्रों के श्रवण से, यथार्थ ज्ञान होता है, जिससे भगवान् में श्रद्धायुक्त और आग्रही मन होता है। जहाँ कथा का प्रसङ्ग होता है वहाँ एक प्रश्नकर्त्ता, कोई श्रोता और कोई वक्ता (उत्तरदाता) इस प्रकार तीन पुरुष होते ही हैं। यदि वक्ता भगवान् के गुणों का ज्ञाता होकर भी जब तक मौन धारण करता है, समझना चाहिये कि यह मौन पापों के कारण है, पाप उसको बोलने नहीं देते है। भगवान् की कथा से सम्बन्ध वाला प्रश्न पापो का नाश करता है तथा गुणों का उद्भव^३ करता है किन्तु यह प्रश्न वह कर सकता है जिसके पाप नाश हो गये हैं। श्रोताओं में जब तक पाप विद्यमान^४ हैं तब तक उनके मन की भगवान् में आसक्ति नहीं होती है। जब कथा संबन्धी प्रश्न होते हैं तब उनके सुनने से श्रोताओं के पाप नाश हो जाते हैं और कथा में मन लगता है। मन में प्रश्न करने की इच्छा हो किन्तु जब तक मुख से वह प्रश्न नहीं निकलता है समझना चाहिये कि तब तक पाप विद्यमान^४ हैं। जब प्रश्न मुख से बाहिर निकलता है तब उसके पापों को भी नष्ट करता है। अतः तीन पुरुषों को पवित्र करता है। यह कहना योग्य है। तीन

^१ मामा को मारना।

^२ सुनने की इच्छा।

^३ प्राकट्य।

^४ मौजूद।

पुरुष कहने का तात्पर्य (१) प्रश्नकर्त्ता (२) वक्ता और (३) श्रोता से है, न कि पिता, पितामह^१ और प्रपितामह^२ इन तीन पुरुषों से हैं।

वक्ता एवं प्रश्नकर्त्ता भी श्रवण करने से श्रोता ही हैं, किन्तु निमित्त कारण सब के भिन्न भिन्न हैं। निमित्त ही प्रयोजक कहा गया है। कथा तीन पुरुषों का पवित्र करती है, पुरुष शब्द का अर्थ यहाँ भी वह लेना चाहिये जो (निवृत्ततर्षः) श्लोक में कहा है। उस श्लोक में पुरुष उसको कहा है कि जो पशु तथा स्त्री जीव नहीं होवे, शेष सर्व पुरुष हैं। इस प्रकार के पुरुष ही श्रवण करने से पवित्र होते हैं असुर पवित्र नहीं होते। अन्य किसी कार्य करने के लिए आते हैं, वे भी पवित्र नहीं होते हैं। पवित्रता अनेक प्रकार की होती है, यहाँ कथा श्रवण से जिस प्रकार की पवित्रता होती है। वह गङ्गाजी या दृष्टान्त देकर समझाते हैं। १— जैसे गङ्गाजी पवित्र करता है वैसे ही प्रश्न भी पवित्र करना है। किस स्थल पर, प्रश्न उत्पन्न हुआ हो (कुछ पूछा गया हो) किसी वक्ता की प्रेरणा हुई हो, अथवा कोई सुनने की इच्छा से सन्मुख आया हो, केवल इतना ही करने से फल की सिद्धि नहीं हाती है। किन्तु फल की सिद्धि तब होती है, जब वह कथा सबों के चित्त को एकनिष्ठ करती है तब ही सफलता मिलती है। गङ्गाजी पहिले के सम्बन्धी पापों को तथा उनके कार्यों का नाशकर साक्षात् भगवान् की सेवा के योग्य शरीर को बनाती है। अर्थात् जिस शुद्धि से भगवान् की सेवा के लिये उपयोगी चित्त बने, वैसी उतनी शुद्धि करती है। कथा की भांति गङ्गाजी भी तीन पुरुषों को पवित्र करती है अर्थात् १—तीन लोकों में स्थित जीवों को पवित्र करती है, अथवा सात्त्विक आदि भेद करके भिन्न-भिन्न पुरुषों को पवित्र करती है, २—दोनों तीरों पर स्थित, तथा ३—जलमध्य में स्नानार्थ एवं पानार्थ स्थित, तीन को पवित्र करती है, एवं ब्रह्मा महादेव और भागीरथ तीनों को पवित्र करती है। इसी प्रकार कथा भी त्रिविध दैवी जीवों को शुद्ध कर उनकी देह को भगवान् की सेवा में उपयोगी बनाती है। १६॥

आभास — एवं भगवत्सम्बन्धित्वेन प्रश्नमभिनन्द्य भगवदवतारप्रयोजनज्ञानार्थ कथामारभते — भूमिरिति

^१ दादा

^२ परदादा।

भगवान् से इस सम्बन्ध होने के कारण प्रश्न की प्रशंसा कर भगवान् के अवतार धारण के प्रयोजन का ज्ञान हो इसलिये कथा का प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक — भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः।

आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ ॥१७॥

श्लोकार्थ — छल से, अभिमानी राजाओं के रूप में उत्पन्न असंख्य दैत्यों की सेना के दश सहस्र सेनाओं के विशेष बोझ से आक्रान्त^१ भूमि ब्रह्मा के शरण में गई ॥१७॥

कारिका — १ भक्तानां दुःख नाशाय कृष्णावतरणं मतम्।

भूमिर्माता तथा चान्ये भक्ता वै त्रिविधा मताः ॥१॥

कारिकार्थ — सकल शास्त्रों की सम्मति है कि परब्रह्म का, श्रीकृष्ण स्वरूप से प्राकट्य भक्तों के दुःख का नाश करने के लिये होता है। वे भक्त तीन प्रकार के माने गये हैं।

भूमि, माता और अन्य ये तीन प्रकार के भक्त हैं।

कारिका — २ सर्वेषां महद्दुःखं नान्येन विनिवार्यते।

यदा तदा हरिः कृष्णः प्रादुरासीदिति स्थितिः ॥२॥

कारिकार्थ — सनस्त भक्तों को जो महान् दुःख था वह दूसरे साधनादि नहीं मिटा सके तब दुःख हरण करने वाले हरि, श्रीकृष्णस्वरूप से प्रकट हुए। यही प्रादुर्भाव की मर्यादा है।

व्याख्या १-२ श्रीकृष्ण के सिवाय किसी भी साधनादि से भक्तों के सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति नहीं होना ही श्रीकृष्ण के प्राकट्य का कारण है। अर्थात् जब सर्व साधनादि भक्तों के दुःख का निवारण करने में असमर्थ हो जाते हैं तब आप (श्रीकृष्णचन्द्र) को भक्त दुःख निवारण के लिये प्रकट होना पड़ता है। आप ही लीलाओं द्वारा भक्तों के दोषों की निवृत्ति कर उनके सर्व दुःख मिटाते हैं। तृतीय स्कन्ध में भगवान् के प्राकट्य का कारण इस "स्वशान्तरूपेष्ठितरैः स्वरूपैरभ्यर्द्यमानेष्वनुकम्पितात्मा। परावरेशोमहदंशयुक्तो ह्यजोऽपि जातो भगवान् यथाऽग्निः ॥ श्लोक में कहा है कि पर

^१ जोर से दबी हुई, दुःखी

तथा अवर के ईश भगवान् अशान्त रूपों से जब अपने शान्त रूपों को पीडित देखते हैं, तब दयायुक्त अन्तःकरण वाले प्रभु अजन्मा होते हुए भी महदंशो से युक्त होकर जिस भांति काष्ठ से अग्नि प्रकट होती है, वैसे ही आप प्रकट होते हैं। इस प्रकार भक्त के दुःख निवारण के लिए भगवान् प्रकट होते हैं। परीक्षित ने इसको सुनकर भी यहाँ पुनः प्रश्न क्यों किया ? यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यहाँ उद्धार के विषय का निर्द्धार कराना है। इसलिए पुनः प्रश्न किया है।

भगवान् के प्राकट्य के कारण अनेक होते हुए भी दो कारण मुख्य कहे जाते हैं— (१) मर्यादा और (२) पुष्टि। जब भक्त दुःखी होते हैं और उनके दुःख साधनों से अथवा अन्य देवों से नहीं मिट सकते हैं, तब स्वयं श्रीकृष्ण प्रकट होते हैं। यह प्राकट्य शास्त्रीय प्रमाणानुसार है। अतः यह मर्यादा प्राकट्य है और जहाँ अन्य प्रकार से भक्त दर्शनार्थ प्राकट्य होता है वह पुष्टि है। जैसे कि जब भक्त, दर्शनार्थ प्रार्थना करते हैं, तब शीघ्र वहाँ प्रकट हो भक्तों को दर्शन देकर उनको आनन्दित करते हैं, जैसे प्रह्लादजी तथा नारदजी को। इसलिये नारदजी ने कहा है कि 'आहूत इव मे शीघ्रं दर्शनं याति चेत्स्ति' अर्थ — मैं जब भगवान् को बुलाता हूँ तब मुझे चित्त में दर्शन हो जाते हैं और प्रह्लाद को सर्वदा ही दर्शन होते हैं। यह तृतीय स्कन्ध में कहा है ॥१९-२॥

कारिका — ये भक्ताः शास्त्ररहिताः स्त्रीशूद्रद्विजबन्धवः।

तेषामुद्धारकः कृष्णः स्त्रीणामत्र विशेषतः ॥३॥

कारिकार्थ — जो भक्त शास्त्रों में लिखे हुए साधनों को नहीं कर सकते हैं। उनका तथा स्त्री, शूद्र और द्विज बन्धुओं का उद्धार करने वाले तो श्रीकृष्ण ही हैं और इस श्रीकृष्ण अवतार में स्त्रियों का उद्धार विशेषता से किया है।

व्याख्या — प्रथम कारिका में 'अन्ये' शब्द से भूमि और माता के सिवाय जो तीसरे प्रकार के भक्त कहे हैं। उनका स्पष्टीकरण यहां करते हैं। जैसे कि आरम्भ में भूमि ने गौ रूप धारण किया, अन्य जो शास्त्रीय साधनों से रहित हैं, मध्य में उनका कथन है तथा अन्त में 'माधव्योलोके' श्लोक में माधविआ परम गति को प्राप्त हुई का वर्णन है। इस वर्णन से सिद्ध होता है कि यह स्वरूप स्वयं भगवान् थे। अतः इस स्वरूप में सदैव

सर्व सम्पूर्ण शक्तियों का समावेश रहता है, जिससे आपने सर्व प्रकार के जीवों का अर्थात् स्त्री, शूद्र तथा द्विज बन्धु, आदि का उद्धार किया है, उसमें भी स्त्रियों का विशेषतः उद्धार किया है। स्त्रियों का विशेष करके उद्धार करने से, यह बताया है कि स्त्रियाँ सबसे विशेष साधन करने में असमर्थ होती हैं ऐसी स्त्रियों का भी उद्धार कर आपने अपने निःसाधनोद्धारकपन की पराकाष्ठा^१ सिद्ध की है। अन्य अवतारों में जो शबर, किरात् आदि का उद्धार हुआ है वह भी कृष्ण स्वरूप से ही हुआ है। क्योंकि जो उद्धार के योग्य नहीं तथा साधनहीन हैं, उनका उद्धार प्रमेय बल से ही होता है। वह प्रमेय बल पुरुषोत्तम स्वरूप श्रीकृष्ण में ही विद्यमान है।

कारिका — येषां निरोधकं शास्त्रं योगादिविनिरूपितम्।

शेषभावस्तत्र हरेर्न कदाचिद् गमिष्यति ॥४॥

कारिकार्थ — जिन जीवों का निरोध करने वाले योगादि साधन हैं, उन साधनों में भी हरि साधन रूप होते हैं उनसे यह साधनपन कभी भी नष्ट नहीं होगा ॥४॥

व्याख्या — साधन करने वाले जीवों के आप उद्धारक किसलिए नहीं होते हैं? इस शङ्का का समाधान इस कारिका में किया गया है।

जो जीव, योग आदि शास्त्रीय साधनों से 'निरोध' सिद्ध करना चाहते हैं, उनसे साधन करने वालों का केवल चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है, उस साधन में ध्यान करने के समय भगवान् के स्वरूप का ध्यान करना पड़ता है अर्थात् वे साधन करने वाले चित्त की वृत्तियों का निरोध करने के लिए भगवान् को साधन बनाते हैं और चित्त की वृत्तियों के निरोध को साध्य (फलरूप) समझते हैं। अतः ऐसे संसाधन जीवों का भगवान् अनुपम, पुष्टिमार्गीय निरोध का दान, निःसाधन जीवों के समाप्त नहीं देते हैं। यह फल तो जो जीव सर्व साधनों का बल त्यागकर, भगवदाश्रय लेते हैं, उनको ही कृपानिधि, अपने प्रमेय बल से दान करते हैं। संसाधन तो अपने साधन बल से चित्तवृत्ति 'निरोधरूप' फल को जैसे तैसे प्राप्त करते हैं। इस निरोध से, संसार विस्मृतिपूर्वक, भगवदासक्तिरूप निरोध विशेष है। वह निरोध योगियों को प्राप्त नहीं होता है। योग

आदि साधन करने वाले पुरुषों में हरि को साधन बनाने के कारण उनकी गौणता बनी रहती है।

कारिका — संसारदुःखव्यावृत्त्यै निरोधोऽत्र निरूप्यते।

अतो निरोधो ज्ञानात्मा दुःखरूपा च संसृतिः॥५॥

कारिकार्थ — साधन द्वारा निरोध चाहने वालों के मत में, संसार के दुःखों के नाश के लिए, निरोध कहा गया है। अहन्ता ममतात्मक संसार अविद्या के कारण उत्पन्न होता है। अतः उस अविद्या के नाशार्थ ज्ञान की आवश्यकता है, क्योंकि अज्ञान का नाश ज्ञान से ही होता है। इसलिए इस मत में 'निरोध' ज्ञान रूप है। किञ्च भक्ति मार्ग में संसार भी लीला रूप होने से सुखरूप है। इस कारण से भी इसमें वैलक्षण्य है। इस प्रकार भिन्नता के कारण निःसाधन ही भगवान् के लिए उद्धार के विषय हैं। निःसाधन फलात्मा पुरुषोत्तम का प्राकट्य निःसाधन भक्तों के लिए ही है।

कारिका — एवमेकं फलं प्रोक्तं द्वयं वा न विरुद्ध्यते।

साङ्गस्य प्रक्रिया युक्ता ततः स्कन्धोऽपि युज्यते॥६॥

कारिकार्थ — इस प्रकार एक फल कहा अथवा दो फल हो तो भी विरोध नहीं है। अङ्ग सहित जो क्रिया कही गई है वह योग्य ही है। इससे दशम स्कन्ध की योजना पूर्ण हो सकती है।

व्याख्या — निःसाधन भक्तों का एक ही फल अहन्ता ममतात्मक संसार की विस्मृतिपूर्वक भगवान् की प्राप्ति (आसक्ति) रूप जो कि भगवान् का प्राकट्य खास निःसाधनों के लिए ही हुआ है तो भी सर्वोद्धारक^१ होने से ससाधनों को भी संसार के दुःखों की निवृत्ति रूप फल आप ही देते हैं। इसलिए कारिका में 'द्वय वा न विरुद्ध्यते' कहा है। कारण कि भगवान् ने ससाधनों का केवल दुःखरूप संसार ही नाश कराकर निरोध किया है और किसी को (निःसाधनों को) जगत् में लीला रूप दृष्टि देकर संसार को सुखरूप बनाते हुए अपने में आसक्ति कराई है। यह निरोध निःसाधनों का विलक्षण^२ है। इस भांति अधिकारी भेद से, पृथक् फल देने से, कोई विरोध नहीं है। आपका

^१ सर्वोद्धार प्रयत्नात्मा — श्रीकृष्ण सबके उद्धार करने में प्रयत्न करने वाले हैं। — श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणा

^२ विचित्र, अजीब।

प्राकट्य 'निरोध' कराने के लिए ही हुआ है। अतः यहाँ (दशम स्कन्ध में) साङ्ग-लीला (समग्र अङ्ग-सहित लीला अर्थात् पूर्ण निरोध लीला) का वर्णन हुआ है, यह योग्य ही है इसलिए दशम स्कन्ध का अर्थ 'निरोध लीला' है ॥६॥

कारिका — अवतारो निरोधाङ्गं तदङ्गं दुःखमेव च ।

धैर्यार्थं सान्त्वनं प्रोक्तं भूमिमात्रोर्न चान्यथा ॥७॥

कारिकार्थ — अवतार होना निरोध का अङ्ग है और उसका अङ्ग दुःख ही है। पृथ्वी तथा माता को धीरज देने के लिए ही सान्त्वना^१ दी गई है अन्यथा नहीं ॥७॥

व्याख्या — हस्त पाद आदि के शरीर बनता है, मृत्तिका से घड़ा बनता है। हस्त पादादि शरीर के अङ्ग है, मृत्तिका घड़े का अङ्ग है। इसी भाँति 'निरोध' का अङ्ग भगवदवतार है, क्योंकि यदि भगवान् प्रकट न होते तो 'निरोध' हो नहीं सकता। इस प्रकार भगवान् के प्रकट होने में अङ्गरूप भक्त का दुःख कारण है। यदि भक्त दुःखी न होते तो भगवान् का प्राकट्य नहीं होता, माता और भूमि को यदि धैर्य के लिए सान्त्वना^२ न दी जाती तो दुःख से उनका जीवन नष्ट हो जाता तो भगवान् ने प्रकट होकर जो लीलाएं कर 'निरोध' सिद्ध किया है वह बन नहीं सकता था अतः धैर्य के लिये सान्त्वना देनी आवश्यक समझी गई है।

कारिका — अन्ते दुःखं भक्तकृतं प्रादुर्भावाय वै हरेः ।

आकाशवाणी वाग्देवः सर्वमुक्त्यर्थमुद्गतः ॥८॥

अशक्तः संस्तथा चक्रे तथा नारद एव हि ॥८½॥

कारिकार्थ — भगवान् के शीघ्र प्राकट्य के लिये भक्त नारदजी ने कंस को कहा कि ब्रज में 'नन्दादिक', सब देव प्रकट हुवे हैं जिन वचनों को सुनकर कंस भुलावे में पड़ गया और पुनः दुःख देने लगा तथा आकाशवाणी भी इसलिये ही हुई, उसने (वाणी ने) समझा कि मैं तो भगवान् के प्राकट्य कराने में अशक्त हूँ और सर्व की मुक्ति के

^१ आश्वासन

^२ तसल्ली

लिये भगवत्प्राकट्य की आवश्यकता है। अतः मैं जब इस प्रकार कंस को कहूँगी तब वह भक्तों को दुःख देगा, जिससे भगवान् शीघ्र प्रकट होंगे।

व्याख्या — आकाशवाणी से भगवत्प्राकट्य का निश्चय हो गया। और नारदजी के इन वचनों से पता नहीं पड़ा कि देवकी का कौनसा बालक हरि होगा जो मुझे मारेगा, इससे कंस सबको दुःख देने लगा। दुःख प्रतिदिन बढ़ते ही गये। भक्त गण उन दुःखों को मिटाने के लिये सर्वथा असमर्थ थे, जहां दुःख मिटाने में देव भी अशक्त हो गये और जब निःसाधन भक्तों का दुःख मिटाने वाले प्रभु के सिवाय कोई नहीं रहा, तब निःसाधन जनोद्धारक प्रभु, निःसाधनों के उद्धारार्थ स्वयं प्रकट होकर उनके उद्धार का साधन स्वयं बन गये ॥८½॥

कारिका — दशभिः सान्त्वनं भूमेः पञ्चत्रिंशत्तमैस्तथा ॥६॥

अष्टभिर्नारदोक्त्यैव सर्वेषां दुःखमञ्जसा ॥६½॥

कारिकार्थ — दश श्लोकों से भूमि को और (३५) पैंतीस श्लोकों से माता को आश्वासन^१ दिया है तथा आठ श्लोकों में नारदजी के कहने से प्राप्त दुःख का वर्णन है।

* कारिका सम्पूर्ण *

सुबोधिनी — तत्र दशभिर्भूमिसान्त्वनं वाचा। उपायेन देवक्याः पञ्चत्रिंशद्भिः। ततोऽष्टभिः सर्वेषां

दुःखं भगवदवतारार्थं हेतुभूतमुच्यते। उद्यमः स्वदुःखनिवेदनेन दैन्यम्। ततो भक्तानां भगवत्समीपगमनम्। निवेदनार्थं स्तोत्रम्। ततो भगवद्वाक्यनिवेदनम्। शब्दतस्तदर्थश्चतुर्भिर्विवृतः क्रियाजन्मसङ्कर्षणमायाभिः। तत उपसंहार इति। तत्र प्रथमं भूमेरुद्योग उच्यते। व्यापिवैकुण्ठ एव हरिः प्रकटः। अन्यत्र सर्वत्र गुप्त इति। भगवत्स्थाने न गताभूः। ब्रह्मणा च जनिता। अत उपायकरणार्थमेव भूम्युद्धरणवदधुनापि करिष्यतीति तत्र गमनम्। भूमिर्वस्तुतो दैत्यानाम्। 'यावदासीनः परापश्यति तावद्देवानां' मतस्तावद्रूपेण देवोपयोगिना गमनम्। शीघ्रं बाधाभावाय। कार्यावश्यकत्वाय च शरणगमनम्। दैत्या सर्वे मायादेवताः कापट्येनैव भूमिं रसातलं नेतुं राजारूपेणावतीर्णाः। राज्ञा दैत्यत्वज्ञापकं लक्षणं दृप्तत्वमुच्छास्त्रवर्तित्वम्।

एतदेव सर्वत्र लक्षणम्। हता अमुक्तास्ते देवेष्वपि प्रविष्टा इति देवा अपि तथा। अतस्तेष्वन्ते निराकृताः। अवतारे तद्धर्मा भविष्यन्तीति तद्ध्यावृत्त्यर्थमाह — व्याजेति। ते च दैत्या नोपभोगार्थमागताः। किन्तु घातार्थमिति ज्ञापयितुमाह — अनीकेति। दैत्यानामनीकानि तेषां शतान्यसख्यातानि तानि चायुतान्यमिलितानि तत्र तत्र पुञ्जीभूय स्थितानि। अत एवासमन्तात् क्रान्ता, यथा सर्वतश्च शीघ्रं निमग्ना भवति। भूरिभारेणाक्रान्ता। दैत्यत्वं भारजनकत्वम्। यथा उन्मत्त एकोऽपि नौकारूढो नौका मज्जयति। बलाक्रमणे च भारः। पूर्व ब्रह्मणा उद्दारे उपायः कृत ब्रह्माणं शरणं ययौ॥१७॥

अनुवाद — इस प्रकरण में दश श्लोकों से भूमि को आश्वासन, वाणी द्वारा दिया गया है, पैंतीस श्लोकों से देवकीजी की सान्त्वना उपाय द्वारा दी गई है, पश्चात् आठ श्लोकों से भगवान् के प्राकट्य का कारण, जो सर्व का दुःख है वह कहा जायगा। प्रथम १० श्लोकों में (गौ का) उद्यम, १८ श्लोकों में अपने दुःख का वर्णन करते हुए गौ ने दीनता दिखाई है। (१६) श्लोकों में भक्त भगवान् के पास गये थे उसका वर्णन है। तथा २० श्लोकों में निवेदन पूर्वक उन्होंने भगवत्स्तुति की है। २१ श्लोकों में भगवान् ने जो आज्ञा की थी वह (आज्ञा) ब्रह्माजी ने देवताओं तथा अन्य भक्तों को सुनाई। २२ से २५ तक इन ४ श्लोकों में उन (भगवान्) के शब्दों का भावार्थ कहा है जैसे कि उनमें (१) क्रिया (देवता, यादवों में प्रकट होवे वैसी क्रिया) (२) जन्म (भगवान् का प्राकट्य) (३) संकर्षण तथा (४) माया इन चारों के विषय का विवरण^१ है। इसके अनन्तर^२ उपसंहार^३ है।

उपरोक्त वर्णन से ज्ञात होता है कि पहिले भूमि ने उद्यम—ब्रह्मा के पास जाने का प्रयत्न किया। प्रभु सर्वत्र^४ गुप्त हैं। केवल व्यापि वैकुण्ठ में साक्षात्^५ विराजते हैं। भूमि ने सोचा कि वराहावतार में भी मेरे उद्धार के लिए ब्रह्माजी ने उपाय किया था। अब भी उनके द्वारा ही मेरे दुःख की निवृत्ति होगी। अतः मुझे ब्रह्माजी के पास ही चलना चाहिए। इस विचार से वह ब्रह्माजी के पास गई। भूमि, वास्तविक दैत्यों की है,

^१ बयान^२ बाद में^३ समाप्ति^४ सब जगह^५ प्रकट रूप में

देवताओं की भूमि तो केवल इतनी ही है कि मनुष्य बैठकर पीछे देखे तो उसके देखने में जितनी आवे, उतनी भूमि देवताओं की है, शेष असुरों की है। अतः भूमि देवताओं के उपयोग में आने वाला छोटा रूप (गौ का) धारण कर ब्रह्माजी के पास गई। जो गौ रूप धारण न कर यदि अपने ही विशाल रूप से जाती तो दैत्य बाधा करते। इसलिए उस बाधा के न होने के लिए गौ रूप से शीघ्र गई। अपने और दूसरों के दुःख मिटाने की तुलना में अन्य कोई कार्य आवश्यक नहीं है। अतः इस आवश्यक कार्य को पूर्ण कराने के लिए पृथ्वी ब्रह्माजी की शरण में गई। माया के उपासक सर्व दैत्य, पृथ्वी को रसातल में ले जाने के वास्ते राजाओं के रूप में जन्में हैं। ये राजा दैत्य हैं इसका प्रमाण यह है कि ये अभिमानी तथा शास्त्र विरुद्ध आचरण करने वाले हैं। इसलिए शुकदेवजी ने इनको 'दृप्त' विशेष दिया है। असुरों को यह शास्त्र विरुद्ध आचरण एवम् अभिमान ही सर्वत्र कहा गया है।

जिन दैत्यों का वध तो हुआ किन्तु मुक्ति नहीं हुई, वे दैत्य देवताओं में घुस गये हैं। इस प्रकार देव भी वैसे बन गये हैं। अतः उन देवों में मिले हुए दैत्यों का निराकरण किया गया है। मूल श्लोक में 'व्याज' शब्द देकर यह बताया है कि ये दैत्य यद्यपि राजाओं के रूप में उत्पन्न हुए हैं तो भी उनमें प्रजा पालन रूप राजधर्म तो नहीं है किन्तु प्रजा का घात करना, यह दैत्य धर्म है। अतः यह राजाओं का रूप उन दैत्यों ने छल से धारण किया है।

ये दैत्य, राजा का रूप धारण कर प्रजा को सुख देने और स्वयं सुख भोगने के लिए नहीं जन्मे हैं किन्तु प्रजा का हानि करने के लिए आये हैं। इसलिए कहा गया है

प्रकाशकार श्री पुरुषोत्तमजी इस विषय को स्पष्ट समझाने के लिए श्रुति का प्रमाण देते हैं। असुराणा वा अयमग्रआसीद्यावदासीनः पराश्रयति तावद्देवानाम् इति, देवानं भूवाचनोत्तरं कियद्वोदास्यामीति प्रश्ने, ततः सालावृकीत्रि प्ररिक्रान्तिमिता याचित्वाघृतसालावृकोरूपेणन्द्रेण सर्वस्या परिक्रमणे। भूमेः प्रास्था वेदित्वमुक्तमिति श्रुतिः।

भावार्थ — यह पृथ्वी पहिले असुरों की थी, केवल उतना भाग देवों का था जितने को बैठकर मनुष्य पीछे देख सके। किसी समय इस पृथ्वी को देवताओं की करने के लिए इन्द्र ने कुत्ती का रूप धारण कर दैत्यों से पृथ्वी को मांगा। तब दैत्यों ने कहा कि कितनी पृथ्वी तुझे चाहिये ? कुत्ती रूपधारी इन्द्र ने कहा कि मैं जितनी पृथ्वी को तीन बार मैं परिक्रमा कर आऊँ, उतनी पृथ्वी दीजिये। दैत्यों ने उस कुत्ती का कहना मान लिया। कुत्ती का रूप धारण करने वाला इन्द्र समग्र भूमि की प्रदक्षिणा कर आया। तब से पृथ्वी देवताओं की हुई।

भीष्मदिकों को

कि असंख्य सेना रूप में इकट्ठे हो गये हैं, जिसके भार से भूमि इतनी आक्रान्त^१ होकर दब गई है कि चारों तरफ से शीघ्र निमग्न^२ हुई दिखती है। अत्यन्त भार से इसलिए दुःखी हुई है कि जो दैत्यपन भार को पैदा करता है, वह पाप भार डुबाने वाला है। जैसे एक ही उन्मत्त, नौका को डुबा देता है। यहाँ तो असंख्य उच्छृङ्खल सेनानियों की सेना के आक्रमण का भार पृथ्वी पर थी। वह क्या नहीं कर सकता है ? अतः पृथ्वी यह सोचकर ब्रह्माजी के पास गई क्योंकि पहले भी ब्रह्माजी ने उद्धार का उपाय किया था और अब भी वे ही करेंगे ॥१७॥

आभास — रूपान्तरेण गमनं देवानां हितकारि न भवतीति हविर्द्वानीरूपेण गतेत्याह — गौर्भूत्वेति ।

अनुवाद — भूमि, हविर्द्वागी (गौ)^३ का रूप धारण कर ब्रह्माजी के पास गई। इसका आशय यह है कि सब जीवों (पशु आदि) में गौ रूप ही दीनता वाला है। जिसको देखकर सबको दया आ जाती है। अतः इस रूप से ही देवताओं का हित होगा। दूसरे रूप (भूमि रूप) से जाने में देवताओं के हित में बाधा होने की आशङ्का रहती है। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना रुदन्ती करुणं विभोः ।

उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं समवोचत ॥१८॥

श्लोकार्थ — खेदयुक्त, दया उत्पन्न हो, इस प्रकार अश्रुपूर्णमुखवाली, रुदन करती हुई गौरूपधारी भूमि ब्रह्माजी के समीप उपस्थित होकर उन अपने दुःखों का वर्णन करने लगी ।

सुबोधिनी — गौर्भूत्वा अन्तिके उपस्थिता तस्मै व्यसनं समवोचतेति सम्बन्ध । अश्रूणि अप्रोञ्छितानि निरन्तरं प्रवृत्तानि मुखे समायान्ति । अन्तःखेदात्मके तापे स्वेद एवाश्रूणि भवन्ति । खेदोपि ज्ञानजनितश्चतुर्दश । ज्ञानद्वारा नेत्रयोर्निर्गतः स्वेदोऽश्रुशब्देनोच्यते । दैत्यानामभिप्रायज्ञानेन शोकः । अन्तःस्थितधर्मविसंवादि वाक्यमप्रमाणमिति धर्मप्राकट्यपूर्वक धर्मकथनम् । बहूना तादृशानां सम्भवान्निर्द्धारार्थं कथनम् । अधिकारित्वादविचारदशायां न सर्वज्ञतेति युक्तं कथनम् । खिन्नेति

^१ दुःखी, पीड़ित

^२ डूबती हुई

^३ हवि के पदार्थ दूध, दही, घृत देवे वाली

दुःखसन्ततिरत्यन्त निरूपिता। दौर्बल्यं कान्त्यभावश्च तस्य ज्ञापकौ। तस्यास्ततोऽन्योपा-
यबोधननिवृत्त्यर्थं तथोक्तम्। रोदनं शब्दात्मकं करुण यथा भवतीति पितृवियोगजनितखेदाभावाय
अधिकारित्वात् कार्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं रोदनम्। विभोरिति ब्रह्मणः सामर्थ्यं प्रतीकारे द्योतितम्। उप समीपे
भगवत्येवाऽन्तर्यामिणि स्थिता बहिरन्तिके स्थिता ब्रह्मणः। व्यसनमप्रतीकारदुःखम्। स्वं
सम्यगवोचतेत्यर्थः ॥१८॥

अनुवाद – भूमि, गौ का रूप धारण कर ब्रह्माजी के समीप स्थित होकर अपना
दुःख उनको बताने लगी। जिस समय भूमि, गौ रूप से ब्रह्माजी के पास उपस्थित हुई।
उस वक्त गौ के अन्तःकरण में जो दुःख था उस दुःख के ताप से उत्पन्न पसीना
अश्रुरूप से आँखों में से निरन्तर बहता हुआ मुख में आ रहा था।

ज्ञान से (किसी बात के जानने से) जो अन्तःकरण में खेद होता है उस दुःख से
उत्पन्न पसीना आँखों से निकल आता है। उस पसीने को 'अश्रु' कहते हैं। भूमि को भी
दैत्यों के अभिप्राय का ज्ञान होने से खेद हुआ था। वाक्य वह प्रमाण माना जाता है कि
जिसके भाव का अन्तःकरण के धर्म के साथ मिलन होवे, यदि वाक्य के भाव का
अन्तःकरण के धर्म के साथ मिलाप न हुआ तो वह वाक्य प्रमाण नहीं है।

भूमि के अन्तःकरण में दैत्यों के अभिप्राय जानने से जो दुःख हुआ था वह दुःख
अन्तःकरण के धर्म से मिल गया था अतः भूमि ने उस धर्म का अश्रु द्वारा प्रकट करके
दिखाया। किन्तु एक धर्म को तो केवल अश्रु द्वारा भी समझाया जा सकता है किन्तु
जहाँ बहुत से दुःख हों वहाँ अश्रुओं से ही न समझाने में आने के कारण मुख से कहने
की भी आवश्यकता होती है। इसलिये गौ रूपधारी पृथ्वी अपने दुःख मुख से कहने
लगी। ब्रह्माजी, सर्वज्ञ होने से बिना कहे हुए भी दुःख को जान सकते हैं, तो फिर
कहने की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं कि यों तो ब्रह्माजी ब्रह्म रूप होने से
सर्वज्ञ हैं किन्तु अब यहाँ ब्रह्माजी की अधिकारी दशा है अर्थात् अधिकारी हैं इस कारण
से इस समय वे सर्वज्ञ नहीं हैं इसीलिये भूमि को अपने दुःख का मुख से वर्णन करना
पड़ा जो योग्य ही है। 'खिन्ना' शब्द से यह बताया कि भूमि को एक ढंग से दुःख नहीं
था किन्तु अनेक प्रकार से दुःख थे अर्थात् खेद पूर्ण अन्तःकरण वाली थी। खेद पूर्ण थी
इसका प्रमाण क्या है ? वहाँ कहते हैं कि खेद के कारण शरीर में एक तरफ दुर्बलता
आ गई है और दूसरी तरफ उसका तेज नष्ट हो गया है। यह दोनों प्रकट चिन्ह उसके

दुःख के साक्षी हैं। पुत्री का दुःख जैसे पिता शीघ्र दूर कर सकता है वैसे अन्य नहीं कर सकता है, अतः भूमि ने अपने दुःख की निवृत्ति के लिये पिता के पास जाना ही उचित समझा। भूमि उस समय करुणा युक्त रोदन करती हुई ब्रह्माजी के समीप गई, इस प्रकार के रोदन का कारण यह था कि भूमि ब्रह्माजी को बताना चाहती थी कि मुझे आपके वियोग का वैसा कष्ट नहीं है जैसा दैत्यों के दुःख का है। आपके वियोग में इस प्रकार करुण रोदन हो नहीं सकता है यह रोदन तो दैत्यों के दुःखों के कारण मुझे आ रहा है, अतः आप पिता हो शीघ्र मेरे दुःख निवृत्ति का उपाय करो। इस प्रकार के रोदन का गौण कारण यह भी था कि पिताजी अधिकारी हैं। उनको अनेक अन्य कार्य करने पड़ते हैं इसलिये कहीं मेरे दुःख निवृत्ति के उपाय में विलम्ब न कर दें यह सोचकर कि दूसरों काम का पहले कर लूं पुत्री का काम है पीछे ही कर लूंगा, कहीं यों न हो जाय इसलिये भी करुण क्रंदन किया गया था।

भूमि ने सोचा कि पिताजी कदाचित् कह न दें कि मुझसे यह तेरे दुःख की निवृत्ति नहीं होगी, इसलिये पिता को 'विभो' विशेषण देकर सावधान करती है कि मुझे मालूम है कि आप सब कुछ करने में समर्थ हो अतः मैं आपकी शरण में आई हूँ।

मूल श्लोक में 'उपस्थिता' इस पद में 'उप' उपसर्ग देने का आशय बताते हैं कि 'उप' कहने से समझना चाहिये कि 'भूमि' ब्रह्माजी के अन्तःकरण में अन्तर्यामि रूप से विराजमान प्रभु (भगवान्) के पास आकर अपने दुःख सुनाती है। कारण कि भूमि भक्त है वह अपने दुःख भगवान् को ही सुनाना चाहती है। समीप होने के सिवाय तो अपने दुःख सुनाये नहीं जा सकते हैं अतः भूमि भक्तिमार्गीय ध्यान द्वारा भगवान् की समीपता प्राप्त कर अपने क्लेश भगवान् को ही सुनाती है। श्लोक में 'उप' शब्द देकर उपरोक्त आशय को सिद्ध किया है कि भीतर तो भगवान् के पास प्रार्थना है और बाहिर केवल ब्रह्माजी के समीप खड़ी रही इसलिये 'अन्तिके' शब्द दिया है दुःख शब्द न देकर मूल में 'व्यसन' शब्द दिया है। उसका आशय यह है कि यह दुःख ऐसा है जिसको आपके (प्रभु के) सिवाय कोई नहीं मिटा सकता है। अतः अपने दुःख प्रभु के पास स्पष्ट प्रकार से वर्णन करने लगी ॥१८॥

ततो ब्रह्मा दैत्यसम्बन्धित्वाद्भूमेः सहायार्थमाकारणशङ्काव्यावृत्त्यर्थमालोचनज्ञानेन तदुक्तार्थं निश्चित्य प्रतीकारं कृतवानित्याह — ब्रह्मेति ।

अनुवाद — जब गौ रूपवाली पृथ्वी ब्रह्माजी के सामने खड़ी होकर अपने दुःख प्रकट करने लगी तब ब्रह्माजी के हृदय में शङ्का^१ हुई कि क्या यह अपने दुःखों को मिटाने के लिये मुझे बुला रही है ? इस शङ्का को ब्रह्माजी ने विचार पूर्वक ज्ञान से मिटाया और उस ज्ञान से गौ के वचनों का भाव समझकर उपाय करने लगे । उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक — ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह ।

जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः ॥१६॥

श्लोकार्थ — गौ रूपधारी भूमि के वचनों के भावार्थ का निश्चय कर ब्रह्माजी अपने साथ महादेव, अन्य देव तथा भूमि को साथ लेकर क्षीर सागर के तीर पर गये ॥१६॥

श्रीसुबोधिनी — ब्रह्मत्वात्तथासामर्थ्यं ज्ञानात्मकत्वात् । अथेति स्वनिश्चयानन्तर, न तु भूमिवाक्यमात्रेण । देवानां नयनमाज्ञापनार्थं, आलोचने प्रतीकारं ससाधनं ज्ञातवानिति । महादेवस्य नयनं दैत्यानामुपायान्तरोपदेशाभावाय । भूमेर्नयनं निमित्तज्ञापनाय । अत एव त्रिनयनपदम् । त्रिष्वपि देवदैत्यमनुष्येषु नयनं यस्येति । श्वेतद्वीपं भगवतः प्रिय धामेति व्यापिवैकुण्ठद्वारस्य तत्र नैकट्याद्वा क्षीरपयोनिधेस्तीरं जगाम, भूमावासक्त एव भूम्युपकारं करिष्यतीति ज्ञापनार्थं च ॥१६॥

योजनाकार लालू भट्ट इस शङ्का को स्पष्ट करने के लिये कहते हैं कि, भूमि के वचन सुनकर ब्रह्माजी के मन में दो प्रकार की शङ्काएँ पैदा हुई — (१) तो भूमि भगवद्भक्त है अतः यह केवल अपने दुःख का निवारण ही नहीं किन्तु दुष्ट राजाओं को भार उतारने के लिये भगवान्, प्रकट हो, यह चाहती होगी । (२) शङ्का यह भी हुई होगी कि, भूमि की दैत्यो के सम्बन्ध होने के कारण स्वार्थ बुद्धि हो गई होगी जिससे वह अपना दुःख ही मिटाना चाहती होगी । भगवान् के प्राकट्य की आवश्यकता नहीं चाहती होगी । इस दोनों शङ्काओं पर ब्रह्माजी ने पूर्ण रीति से विचार किया, जिससे ब्रह्माजी को निश्चय हुआ कि भूमि परम भक्त है, अतः दैत्य संघ होने पर भी इनमें स्वार्थ नहीं आया है इससे यह भगवान् का ही प्राकट्य चाहती है जिस प्रादुर्भाव से दो कार्य सिद्ध होंगे इस प्रकार ब्रह्माजी निश्चय कर सबको साथे ले के भगवान् के पास पहुँचने के लिये क्षीर सागर के तीर पर गये ।

अनुवाद — ब्रह्माजी ब्रह्म हैं, इसलिए ज्ञान स्वरूप भी हैं, भूमि के वचन सुनकर जो शङ्काएँ उत्पन्न हुई थी, उनको भूमि के वचनों से नहीं किन्तु अपने ज्ञान से मिटाकर भूमि के अन्तःकरण के भाव का निश्चय किया, तदनन्तर सबों को (देव, गौ आदि को) साथ में लेकर क्षीर सागर के तीर पर गये। देवताओं को साथ में इसलिए ले गये थे कि जो कुछ भगवान् आज्ञा करेंगे वह इनको वहाँ ही बता देंगे। ब्रह्माजी ने जब मन में शङ्काओं के समाधान के लिए आलोचनाओं को तो उन आलोचना से उपाय तथा उसके साधनों को भी जान लिया। महादेवजी को साथ ले जाने का कारण यह था कि यदि महादेवजी साथ में नहीं होंगे तो दैत्यों को दूसरा उपाय नहीं बता सकेंगे। पृथ्वी को साथ में ले जाने का कारण यह था कि भगवान् को प्राकट्य के लिए निमित्त कारण चाहिए तो उस निमित्त कारण को प्रत्यक्ष दिखाने के वास्ते भूमि को भी ले गये। यहाँ मूल श्लोक में महादेवजी का नाम 'त्रिनयन' दिया है। उसका भाव बताते हैं कि देव, दैत्य और मनुष्य इन तीनों पर महादेवजी की दयादृष्टि रहती है। इस कारण से भी महादेवजी को साथ में ले जाना आवश्यक था। श्वेत द्वीप भगवान् का प्रिय धाम है एवम् व्यापि वैकुण्ठ का द्वार इस द्वीप के क्षीर सागर के समीप ही है। इसलिए क्षीर सागर के तीर पर गये। भूमि भगवान् की भक्त है। अतः भक्तों में आसक्त चित्त वाले भगवान् भूमि में भी आसक्त होकर ही उसका उपकार करेंगे, इसको जताने के लिए तीर पर ठहर गये ॥१९६॥

आभास — तत्रापि भगवतस्तिरोभावात् स्तोत्रं कृतवानित्याह — तत्र गत्वेति ।

वहाँ जाकर स्तुति करने की क्या आवश्यकता थी ? इस पर कहते हैं कि जब ब्रह्माजी वहाँ गये तब भगवान् वहाँ भी तिरोहित थे, उनका आविर्भाव कर प्रार्थना करने के लिए स्तुति की है। उसका वर्णन 'तत्र गत्वा' इस निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम् ।

पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः ॥२०॥

श्लोकार्थ — वहाँ जाकर समाधि में स्थित ब्रह्माजी ने देवों के देव जगत् के नाथ, सर्व यज्ञों के फल के भोक्ता पुरुष की पुरुषसूक्त से स्तुति की ॥२०॥

श्रीसुबोधिनी — गमनमात्रेणैव स्तोत्रम् कृतवानिति ज्ञापनार्थं गत्वेत्यनुवादः । तत्र गत्वा समाहितो योगारूढ पुरुषसूक्तेन उपतस्थ इति सम्बन्धः । स्वयं कथं न प्रतीकारं कृतवानिति

शङ्काभावायाह — जगन्नाथमिति । जगतां स एव नाथस्ततः स्वस्याकरणम् । ननु जगन्नाथत्वे दैत्यानामपि नाथ इति प्रतीकार न कुर्यादित्याशंक्याह — देवदेवमिति । देवानामपि स एव देवः । देवैर्दीव्यतीति वा । 'प्रजापतेः प्रजापतिरग्नेरग्निः सूर्यस्य सूर्य' इति । अतो देवानां भगवानाधिदैविकरूप इति न दैत्यहितं करिष्यतीति भावः । जगन्नाथो मर्यादया । सांप्रतं दैत्यानामतिक्रमात्र पक्षपातः । ननु भूमे रसातलगमनेपि स्वर्गे देवैः सह क्रीडा देवहिताचरणं च सम्भविष्यतीत्याशंक्याह — वृषाकपिमिति । वृषो धर्मो यज्ञादिरूपः, तस्यासमन्तात् कं सुखं फलं स्वर्गादि तत् पिबतीति । सर्वयज्ञफलभोक्ता । भूम्यभावे ततो यज्ञाभावः । देवानां च देवत्वं यज्ञफलभोगादेव । नन्वदृष्टोऽसंनिहितश्च कथं स्तूयत इत्याशंक्याह — पुरुषमिति । स हि स्वहृदय एव वर्तते । 'पुरुषो वा नारायणः स्वपिते'ति । ततः कार्यावश्यम्भाव इति ज्ञापनार्थम् । पुरुषसूक्तेनेति वैदिकेन भगवत्प्रेरणया प्राप्तेन भगवतोऽतिप्रियेण । पुरुषसूक्तं च तेजोमयम् । उपस्थानविद्यया तेजोमयः परितुष्यतीत्यन्तर्यामिपुरः सरं स्तोत्रकरणात् तत्सूक्तेनैव स्तोत्रमुचितम् ॥२०॥

अनुवाद — उपरोक्त १६वें श्लोक में 'जगाम' (गये) यह क्रिया दी है । पुनः इस श्लोक में 'गत्वा' कहने का भाव यह है कि जाते ही बिना विलम्ब के ब्रह्माजी स्तुति करने लगे । इसलिए यहाँ 'गत्वा' पद दिया है । ब्रह्माजी ने वहाँ जाते ही समाधि लगाकर पुरुष सूक्त से भगवान् की स्तुति की । इस प्रकार श्लोक के पदों का सम्बन्ध लगाना चाहिए अर्थात् अन्वय (पदों का आपस में योग्य मिलन कराना) करना चाहिए । ब्रह्माजी ने स्वयं दुःख का प्रतीकार (उपाय) नहीं किया । इसका कारण बताते हुए श्लोक में कहा है कि 'जगन्नाथं' भगवान् जगत् के स्वामी हैं । उनको ही यह अधिकार है, ब्रह्माजी को नहीं है । यदि ऐसा है कि भगवान् जगत् के नाथ हैं । इसलिए उनको यह अधिकार है तो जगत् के नाथ होने से दैत्यों के भी तो नाथ हुए तो फिर केवल देवों का ही हित क्यों करते हैं ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि भगवान् स्वतन्त्र रूप से खिलाड़ी हैं । अतः आपका नाम 'देवदेव' हुआ है ? (वह क्रीड़ा देवों से ही करते हैं न कि दैत्यों से) दैत्यों के भी स्वामी हैं किन्तु वह स्वामित्व मर्यादानुरूप है । इस समय दैत्य मर्यादा का भी उल्लंघन कर चुके हैं । अतः वे मर्यादा से भी हित करने योग्य नहीं रहे हैं इसके सिवाय भगवान् देवों के आधिदैविक^१ स्वरूप हैं । इसलिए भी भगवान् को देवों का हित करना आवश्यक है ।

^१ प्रजापतेः प्रजापतिः, अग्नेरग्निः, सूर्यस्य सूर्य इति भगवान् प्रजापति के प्रजापति हैं, अग्नि के अग्नि हैं, सूर्य के सूर्य हैं । इस प्रमाणानुसार भगवान् देवों के आधिदैविक स्वरूप हैं ।

यदि दैत्य भूमि को रसातल में ले जावे तो कोई चिन्ता नहीं है क्योंकि भगवान् स्वर्ग में देवों से क्रीडा कर सकते हैं और देवों का हित भी कर सकते हैं। इसलिये दैत्यों के अपकार और देवों के उपकार के लिये स्तुति कर बुलाना योग्य नहीं है। इस शङ्खा को मिटाने के लिये श्लोक में (वृषाकपि) भगवान् का विशेषण दिया है। यदि भगवान् प्रकट होकर देवताओं की रक्षा न करें और दैत्यों का नाश न करें तो यह नाम निरर्थक हो जाय। (वृषाकपि) पद का अर्थ है यज्ञादिरूप धर्म के सम्पूर्ण फल का भोक्ता भगवान् है। यदि भूमि रसातल में चली जावे तो यज्ञ कैसे होंगे। यज्ञ न होने से देवों का देवत्व चला जायगा क्योंकि देवों का देवत्व यज्ञ के फल के भोग से ही है। जो देखने में नहीं आता है एवं जो समीप में नहीं है। उसकी स्तुति कैसे की जाती है ? इस शङ्खा के उत्तर में कहते हैं कि वह (पुरुष) है अतः वह सदैव ब्रह्माजी के हृदय में भी विराजते हैं, और भगवान् नारायण ब्रह्माजी के पिता भी हैं। पिता के नाम से ब्रह्माजी का कार्य अवश्य करेंगे। पुरुष सूक्त से स्तुति इसलिये की है कि वह एक तो वैदिक स्तोत्र है। दूसरे भगवान् के प्रेरणा से प्राप्त हुवा है, जिससे भगवान् का अतिप्रिय है। और (पुरुषसूक्त) तेजोमय है भगवान् भी तेजोमय हैं जो सूर्य के भीतर नारायण रूप से स्थित हैं वह इस उपस्थान विद्या के द्वारा स्तोत्र होने से प्रसन्न होंगे अतः अन्तर्यामिपने के धर्म को धारण करने वाले भगवान् पुरुषोत्तम की इस पुरुष सूक्त से ही स्तुति करना योग्य है ॥२०॥

आभास — ननु पुरुष एव तथा सत्यवतरिष्यतीत्याशङ्क्य नन्त्रिकरणपूर्वकं भगवत उत्तरं जातं स्वान्तःकरणे उपलभ्यातिसूक्ष्मत्वादेवानामगम्यं नान्न ज्ञापितवानित्याह— गिरमिति ।

पुरुषसूक्त से पुरुष रूप की स्तुति की है अतः पुरुष ने ही अवतार लिया होगा। न कि पुरुषोत्तम प्रकट हुवे होंगे। इस शङ्खा का उत्तर जो भगवान् ने सूक्ष्म में कहा उसको अन्तःकरण में ब्रह्माजी जान लिया, वह बहुत सूक्ष्म होने से देवों की समझ में नहीं आया, इसीलिये ब्रह्मा निम्न श्लोक में देवों को कहने लगे।

श्लोकः — गिरं समाधौ गगने समीरितां निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह ।

गां पौरुषीं में शृणुतामराः पुनर्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम् ॥२१॥

श्लोकार्थ — आकाश में कहे हुए भगवान् के वाक्य को समाधि में सुनकर ब्रह्माजी कहने लगे कि हे देवो! भगवान् के कहे हुए वाक्यों को सुनो और उसके अनुसार शीघ्र बर्ताव करो, देरी मत करो ॥२९॥

सुबोधिनी — समाधौ यो भावितो भगवान् सलोक । तत्राकाशे भगवद्वाक्यं भगवतोक्तं श्रुतवान् । तत्र प्रमाणमाह — वेधा इति । अन्यथा कथं विदधाति भगवदाज्ञाव्यतिरेकेण । ननु देवा अपि ब्रह्मतुल्याः कथं न श्रुतवन्तस्तत्राह— त्रिदशानिति । तिस्रो दशा येषां, बाल्य कौमारं यौवनमिति । अनेन तेषामुत्पत्त्याज्ञापि युक्ता भवतीति ज्ञापितम् । अकस्मात् क्षणं स्थित्वा किञ्चिद् विचार्य उक्तवानिति सर्वेषामाश्चर्यं हेत्याह स्वतः कथनं वारयति — पौरुषीमिति । गामित्यखण्डनाय । तस्या वाचो दोग्धृत्वाय च । म इति प्रमाणार्थम् । न हि ब्रह्मवाक्यमन्यथा भवति । पुरुषसम्बन्धिन्येव मत्तो वा श्रोतव्येति । आदौ भगवत आज्ञापनमाह — अमरा इति । प्रथमतः श्रुत्वा पुनः पश्चाद्विधीयताम् । चिरं मा विलम्बो न कर्तव्यः । सामग्रीमेव सम्पादयितुमादौ बोधयति पश्चाद्वक्ष्यत्याज्ञाम् । अग्रे च वक्तव्यमशावतरणम् । तद् देवानां मरणानन्तरं भवतीति शङ्कः । युदासाय अमरा इति सम्बोधयति । शृणुतेति सावधानार्थं वचनम् । पुनः पदं च पूर्वं रामावतारे रावणभीतेन ब्रह्मणा पूर्वमपि देवा आज्ञप्ता अशावतारणार्थमिदानीमपि तथैवाज्ञेतिज्ञापनार्थम् । पूर्वं विलम्बेन कृतं तद्व्युदासायाश्विति । पुनस्तथैवांशावतरणं विधीयतामित्यर्थः । तथैवेति । यो देवो यावत्तत्र जन्तुः जैर्वापर्येण वा । पूर्वं दशरथो नावतीर्ण इत्याज्ञया तमवतारार्थं षष्टिसहस्रवर्षानन्तरं स्वयन्मन्त्रेणैव विलम्बः । तां शङ्कः । प्रकृते वारयति चिरं मेति ॥२९॥

अनुवाद — ब्रह्माजी ने समाधि में लोक सहित भगवान् के स्वरूप की भावना की थी । उस वक्त समाधि में ही उस स्थान में जो भगवान् ने वाक्य कहे वे ब्रह्माजी ने सुने, कारण कि ब्रह्माजी (वेधाः) हैं अर्थात् जगत् के रचने वाले तथा धारण करने वाले भी हैं इसलिये उनकी भावना सत्य स्वरूप है जिससे वह भगवद्वाणी सुनकर समझ सके, यदि वैसे नहीं होते तो भगवान् की आज्ञा के बिना देवों की आज्ञा कैसे करते ? इससे जाना जाता है कि वे गुण ब्रह्माजी में हैं जिनसे भगवान् की वाणी सुन सके । देवगण भी ब्रह्माजी के समान ही हैं उन्होंने क्यों नहीं सुनी ? इसके उत्तर में श्लोक में देवताओं का स्वरूप प्रकट करते हुए कहा गया है कि वे (त्रिदश) हैं अर्थात् उनकी मनुष्यों के समान तीन दशाएँ (बाल, यौवन तथा वृद्ध) होती हैं ब्रह्माजी की नहीं होती हैं अतः देव ब्रह्माजी के समान नहीं हैं । जब देवों की ये तीन दशाएँ होती हैं तब ही तो उनको जन्म लेने की आज्ञा करनी योग्य हुई है ।

ब्रह्माजी अचानक क्षणमात्र के लिये चुप हो गए। फिर कुछ विचार करने लगे, विचार करने के अनन्तर कहने लगे। उस समय सब देवता अचम्भे में पड़ गये कि ब्रह्माजी अचानक चुप क्यों हुए यह आशय श्लोक में जो (च) अक्षर दिया है, उसका है। ब्रह्माजी ने अपनी तरफ से कुछ नहीं कहा, इसलिये ब्रह्माजी ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि हे देवो! भगवान् ने जो वाणी कही है वह सुनो। वह वाणी सत्य है तथा खण्डन करने योग्य नहीं है जैसे गौ दोहन कर, सार रूप दूध निकाला जाता है वैसे यह वाणी भी साररूप फलरूप सब का हित करने वाली है, और यह वाणी आपको सुनाने वाला मैं ब्रह्मा हूँ। मेरी वाणी अन्यथा^१ कभी नहीं होती है। अथवा यह वाणी भगवान् के सम्बन्धवाली है मैं तो केवल सुनाने वाला हूँ, अतः यह वाणी सर्वथा सत्य है यों समझो।

भगवान् ने जिस प्रकार आज्ञा की उस प्रकार ब्रह्माजी अब देवों को कहते हैं। हे अमर! (देवो) पहिले सुनकर फिर जल्दी तदनुसार आचरण करो उसमें देरी नहीं करनी चाहिये। पहले सामग्री तैयार करने के लिये कहकर पश्चात् तदनुकूल कार्य करो। अंश से आप जन्म लो उसके करने में देरी नहीं करें यह सब समझाकर पश्चात् जो करना है वह बताएँगे।

दूसरी देह धारण तो मरने के अनन्तर होती है तो क्या हम इस देवयोनि को छोड़कर मनुष्य योनि में जावें। इस देवताओं की शङ्का को मिटाने के लिये, हे देवा! न कहकर (अमरा) कहा कि आप अमर ही इसलिये आपकी यह देव योनि नष्ट न होगी आपको अंशरूप से मनुष्य में प्रकट होना है। श्लोक में (शृणुत) सुनो। इस क्रिया सावधान होकर सुनने के लिये दी गई है। मूल श्लोक में (पुनः) पद इसीलिये दिया है कि पहिले भी रामावतार में भी रावण से डरे हुए देवों को अंश रूप से अवतार लेने की आज्ञा की थी, वैसे ही फिर इस अवतार में आपकी आज्ञा दी जाती है। किन्तु उस आज्ञा पालने में तब देरी की थी उसी तरह अब भी कहीं देरी न कर दो तो इसलिये श्लोक में (आशु) पद देकर सावचेत (सावधान) किया है कि अब देरी नहीं करना जल्दी ही आज्ञा का पालन करना। जिस प्रकार जो देव जितने अंश से आगे पीछे उत्पन्न हुवे

थे उसी प्रकार अब भी हों, यह "तथैव" शब्द कहने का आशय है। पहिले दशरथजी ने अवतार नहीं लिया था जिससे पुनः आज्ञा देकर दशरथजी को अवतार धारण करवाया था जिस कारण से साठ हजार वर्ष का विलम्ब हो गया था। अब भी वैसा न हो जाय इसीलिये श्लोक में (आशु) (जल्दी) कहा है फिर भी उसको दृढ़ करने के लिये एव आगे की भांति देरी न होवे अतः (मा चिरम्) देरी मत करना, यह स्पष्ट आज्ञा देदी है।

आभास — ननु त्वया किमुक्तं किं वा भगवतोक्तमिति शंकां दूरीकृत्वा पूर्वं वानरेष्ववतारं प्राप्य खेदो भूयान् प्राप्त इति देवाशंकां च परिहरन् भगवदुक्तमाज्ञापनमाह पुरैवेति।

देवताओं ने रामावतार में प्रकट होकर महान् खेद पाया था। इसलिए वे देव ब्रह्माजी को कहते हैं कि हमको बताओ कि आपने भगवान् को कौनसी प्रार्थना की है और उसके उत्तर में भगवान् ने क्या कहा ? इस प्रकार की देवताओं की शङ्का के परिहार (मिटाने) के लिए ब्रह्माजी इस श्लोक को कहते हैं —

श्लोक — पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो भवद्विरंशैर्यदुषूपजन्यताम्।

स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि ॥२२॥

श्लोकार्थ — पृथ्वी का दुःख भगवान् ने हमारे कहने से पहले ही जान लिया है और उसने स्वयं आज्ञा की है कि आप देवों यादवों में अंश द्वारा प्रकट होकर पृथ्वी पर तब तक रहो, जब तक ईश्वरों के ईश्वर अपनी काल शक्ति से पृथ्वी का भार नाश करते हुए विराजमान रहें ॥२२॥

सुबोधिनी — भूमे पीडाकथनात् पूर्वमेव भगवता धराज्वरोवधृतो निश्चितः। तत्र हेतुः पुंसेति। पुरुषो हि भार्या स्पृशति। ज्वरस्तु स्पर्शमात्रेणैव ज्ञायते। अतोऽस्मत्कृत ज्ञापनं नापेक्षितम्। अतो भगवान् मद्वाक्यात् पूर्वमेव स्वयमेवोक्तवान्। आज्ञामाह भवद्विरिति। भगवानप्यवतरिष्यति ततः पूर्वमेव भवद्विरुपजन्यतां भगवज्जननसमीपे जन्यताम्। आवश्यकत्वायां शैरिति। भवन्तो हि भगवदंशा हस्तपादादय इव सेवकाः। प्रभुः ससेवक एव सर्वत्र गच्छति। पूर्वस्माद्वैलक्षण्यं यदुष्विति। भगवानपि यदुष्ववतरिष्यति। अतो लोके प्राकट्याभावाय समीपे जन्यतामित्याज्ञा। इदं जननं सेवार्थत्वात् स्थितिपूर्वकम्। तत्र कियत्कालं स्थातव्यमित्याकाङ्क्षायामाह यावदिति। यावत् स भगवान् यदुषु चरेत् तावदुपजन्यताम्। समीपे स्थातव्यम्। जननं पुत्रपौत्रादिरूपेणाऽऽन्तमुत्पत्त्यर्थमुक्तम्। स्थितिस्त्वर्थादेव

भविष्यतीति तन्नोक्तम्। भगवानपि कियत्कालं स्थास्यतीत्याशकायामाह उर्व्या भरं स्वकालशक्त्या यावत् क्षपयंश्चरेदिति। तदपि कियत्कालमित्याशंकायामाह ईश्वरेश्वर इति। ईश्वर एव स्वच्छन्दचारी। तेषां सर्वेषां कालादीनामपि य ईश्वरः स कथं नियन्तुम् ज्ञातुम् वा शक्यत एतावत्कालं स्थास्यतीति ? अनेनैव नियतभोगयुक्तानां देवानामकरणशंकापि व्यावर्तिता। दैत्या अस्मान् मारयिष्यन्तीति न शङ्कनीयं यतः स्वकालशक्त्यैव भारं दूरीकरिष्यति। चरेदिति। भारभूता दैत्या नैकत्र तिष्ठन्तीति तदर्थं चरणम्। कालनियमस्य चाज्ञानम्। अज्ञातस्तु न भविष्यतीत्याह भुवीति। न हि भूमौ जातोलौकिकं करोति॥२२॥

अनुवाद — भूमि के पीड़ा की कथा कहकर सुनाने से पहिले ही भगवान् ने पृथ्वी का कष्ट निश्चय रूप से जान लिया था, कारण कि आप पृथ्वी के पति हैं। पुरुष^१ ही स्त्री को स्पर्श करता है। स्पर्श करने से (छूने मात्र से) ज्वर^२ का पता पड जाता है। अतः हम लोगों के द्वारा उसके क्लेश को बताने की कोई आवश्यकता नहीं थी जिससे मैंने केवल पुरुष सूक्त से भगवान् की स्तुति ही की है। इसलिए मेरे, पृथ्वी के दुःख को कहने से पूर्व ही भगवान् ने स्वयं ही आज्ञा की है। ब्रह्माजी वह आज्ञा देवताओं को कहते हैं, भगवान् की प्रकट होंगे, उससे पूर्व भगवान् के प्रकट होने के समय के लगभग आप भी यादवों में प्रकट हो जाओ। आपकी भी आवश्यकता है, कारण कि आप देवता लोग भगवान् का अंश होने से वैसे ही सेवक हो, जैसे हाथ पैर आदि शरीर के होते हैं। स्वामी सदा ही सब जगह सेवकों के साथ ही जाते हैं। रामावतार से विलक्षणता^३ दिखाने के लिए यही कहा है कि 'यादवों में' जन्म लेना। उस अवतार में भगवान् ने मनुष्य योनि में और आप लोगों ने वानर योनि में जन्म लिया था परन्तु अब भगवान् और आप लोग यादवों में ही प्रकट होंगे। यह ही रामवतार और इस अवतार में आपके प्राकट्य की विलक्षणता है। अङ्ग, तथा सेवक पास में ही रक्खे जाते हैं। वैसे तो आप लोक^४ में कहीं अन्य स्थान में भी प्रकट हो तो, इसलिये पास में ही प्रकट होने के लिए स्पष्ट आज्ञा की है कि जहाँ मैं प्रकट होऊँगा, वहाँ ही यादवों में आप भी प्रकट

^१ पति^२ बुखार^३ विचित्रता^४ जगत

होवें। कारण कि आपसे इस प्रकार की सेवा लेनी है। इसलिए उसमें थोड़ी भी रुकावट न पड़े देवता रामावतार में बहुत समय तक रहने से दुःखी हुए थे। इसलिये उनकी इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि जब तक भगवान् यादवों में विचरण करें तब तक आप भी भगवान् के समीप ही रहना। आप प्रभु के साथ स्थिति करोगे तब यदुकुल में पुत्र पुत्रादि रूप से भी स्थिति होगी। इसलिए मूल में 'उप जन्यताम्' पद दिया है। यों करने से स्थिति तो स्वतः होगी ही, अतः 'स्थिति' न कहकर 'जनन' शब्द कहा है। भगवान् स्वयं कितने समय तक बिराजेंगे, इस शङ्का के निवारण के लिए कहते हैं कि वे ईश्वरों के भी ईश्वर हैं। जब ईश्वर ही स्वतन्त्र होते हैं तो ईश्वरों के (कालादिक सबों के) ईश्वर कितने समय तक रहेंगे वह कौन जान सकता है और उसका नियमन^१ कौन कर सकता है ?

भगवान् ईश्वरों के ईश्वर होने से जो जो कार्य जब तक करेंगे तब तक ये देव कार्य कर सकेंगे वा नहीं यह शङ्का भी इससे ही मिटादी। यद्यपि देवता लोग ईश्वर द्वारा नियमित स्वर्गीय सुख भोगने वाले हैं तो भी हस्त पादादि के समान सेवक होने से ईश्वर के आज्ञानुसार सर्व कार्य कर सकेंगे।

हे देवो! दैत्य हमको मारेंगे, इस प्रकार की शङ्का भी आपको मन में नहीं लानी चाहिए; क्योंकि भगवान् अपनी काल शक्ति से ही भूमि का भार दूर करेंगे। भगवान् एक जगह न रहकर तब तक घूमते ही रहेंगे जब तक सब दैत्यों का नाश नहीं करेंगे। दैत्य एक स्थान पर नहीं हैं इसलिये भगवान् घूमकर जहाँ भी दैत्य वहाँ जाकर उनका नाश करेंगे। प्रभु पृथ्वी पर कब प्रकट होंगे और कब तक विचरण करेंगे, यह तो मैं भी नहीं जान सकता हूँ। तो भी भगवान् का प्राकट्य तथा उनकी लीला अलौकिक होने से छिपी नहीं रहेगी। पृथ्वी पर जन्मा हुआ साधारण जीव तो लौकिक कार्य ही कर सकता है। अलौकिक कार्य तो सर्वेश्वर प्रभु ही कर सकते हैं। ॥२२॥

आभास — तथापि क्वावतरिष्यतीत्याकाङ्क्षायामाह वसुदेवगृह इति।

यद्यपि ब्रह्माजी ने भगवान् के प्राकट्य काल अपने लिये अज्ञान प्रकट किया, तो भी कहाँ प्रकट होंगे ? वैसी देवों की आकाङ्क्षा देखकर भगवान् जहाँ प्रकट होंगे उस स्थान का वर्णन नीचे के श्लोक में किया है —

श्लोक — वसुदेवगृहे साक्षाद्भगवान् पुरुषः परः ।

जनिष्यते तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः ॥२३॥

श्लोकार्थ — वसुदेवजी के घर में साक्षात् भगवान् पुरुषोत्तम प्रकट होंगे । देवताओं की स्त्रियाँ उनकी सेवा के लिये प्रकट होंगी ।

सुबोधिनी — तस्याप्यंशावतरणव्युदासायाह साक्षाद्भगवानिति । न तु चक्रादिरूपेण सत्त्वव्यवधानेन वावतारः । भगवच्छब्दो गौणेष्वपि वर्तत इति तद्व्युदासार्थं पुरुषः पर इति । पुरुषोत्तम इत्यर्थः । ब्रह्माण्डात् परस्य कथनादर्थदेव प्रकृतिप्रवर्तकः समागतः ततः परस्तु पुरुषोत्तम एव । स च जनिष्यते । अतस्तत्प्रियार्थं तत्सेवार्थं सुरस्त्रियः सम्यक् सर्वसौन्दर्यपुरः सरं तस्य योग्यस्थानेषु सम्भवन्तु । सुरस्त्रियोप्सरसो लक्ष्म्या सहिताः समुद्रादुत्पन्नास्तासां भोगो भगवता न कृत इति स्वजन्मसाफल्यार्थमेव तासामवतरणम् । तत्प्रियार्थमिति वचनाद्देवानां स्त्रीत्वेनावतरणं निवारितम् ॥२३॥

अनुवाद — मूल श्लोक में साक्षात् तथा भगवान् इन दो पदों के कहने का भाव यह है कि भगवान् वसुदेवजी के घर में अंश से, चक्रादि रूप से अथवा सत्य गुण के व्यवधान से (अर्थात् सत्त्वगुण में अपने को छिपाकर) प्रकट नहीं होंगे, किन्तु प्रत्यक्ष रूप से प्रकटेंगे । यदि यह शङ्का हो कि भगवान् तो नारदादि ऋषियों को भी कहते हैं इसलिये यहां भी वह शब्द गौण है ऐसे क्यों न समझा जाय ? इस शङ्का को मिटाने के लिये मूल में “पुरुष” “परः” ये दो विशेषण दिये हैं । जिनका भावार्थ है कि यहाँ भगवान् शब्द गौण अर्थ में नहीं है किन्तु पुरुषोत्तम समझना चाहिये न कि ‘अक्षर’ ब्रह्मा समझें । कारण कि “पर” पुरुष ये दोनों ही “भगवान्” के विशेषण हैं । ‘नारायणे तुरीयाख्ये भगवच्छब्द शब्दितः’ इस प्रमाणानुसार भगवान् शब्द चतुर्थ (तुरीयस्वरूप) नारायण के लिये ही प्रसिद्ध है । और उसकी पुष्टि परः, पुरुषः विशेषणों से की गई है । गीता में जो व्यक्त (ब्रह्माण्ड) से परे अक्षर ब्रह्म को कहा गया है वह भाव रूप से कहा गया है पुरुष रूप से तो, ब्रह्माण्ड से परे पुरुषोत्तम ही हैं जिनको ब्रह्माजी भी नहीं देख सकते हैं । वे ही प्रकृति प्रवर्तक रूप हैं । उनका ही यहाँ वर्णन है । समग्र कहने का भावार्थ यह है कि वसुदेवजी के गृह में प्रकट स्वरूप, अक्षरातीत पूर्ण पुरुषोत्तम ही है अतः उनकी सेवा के

लिये सुर स्त्रियां जो कि लक्ष्मी के साथ समुद्र से उत्पन्न हुई थी, जिनका भोग भगवान् ने नहीं किया था, वे अपना जन्म सफल करने के लिये प्रकट होवें, किस प्रकार और कहाँ प्रकट होवें? वह बताते हुए कहते हैं कि सर्व प्रकार की मनोहर सुन्दरता से अपने को विभूषित कर अपने योग्य स्थान में प्रकट होवें। श्लोक में जो (तत् प्रियार्थ) कहा है। उसका भीतरी भाव यह है कि देवता लोग स्त्री रूप धारण न करें॥२३॥

आभास — भगवदवतरणात् पूर्वमेव सेवासावधानार्थं भगवच्छय्यारूपस्य शेषस्य सङ्कर्षणसहितस्यावतारमाह वासुदेवेति ।

अब इस श्लोक में, भगवान् के प्राकट्य से प्रथम ही, सेवा में पूर्ण प्रबन्ध (बन्दोबस्त) करने के लिए, सङ्कर्षण के साथ भगवान् के शय्या रूप शेषजी के प्रकट होने का वर्णन करते हैं।

श्लोक — वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट् ।

अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ॥२४॥

श्लोकार्थ — प्रभु को प्रिय हो इस प्रकार की सेवा करने की इच्छा से, वासुदेव की कला के रूप, सहस्रवदन^१ स्वयं प्रकाशमान अनन्त^२, भगवान् से प्रथम प्रकट होंगे ॥२४॥

भगवान् के प्रकट होने से पहिले, लीला के सम्पादन कार्य में यथा योग्य सावधानी हो। इसलिए, सङ्कर्षण के साथ शय्या रूप शेषजी का प्राकट्य होगा, उनके स्वरूप का स्पष्ट एवं पूर्ण परिचय आचार्य श्री ने नीचे की इन कारिकाओं में कराया है।

कारिका — सात्त्विकेषु तु कल्पेषु यः शेते सलिले हरिः ।

वासुदेवः स विज्ञेयस्तस्यांशोऽनन्त उच्यते ॥१॥

कारिकार्थ — जो हरि सात्त्विक कल्पों में, जल में शयन^३ करते हैं, वह वासुदेव कहलाते हैं, उनका अंश 'अनन्त' में है ॥१॥

^१ हजार मुख वाले

^२ बलरामजी

^३ स्थिति

व्याख्या — २३वें मूल श्लोक में पुरुषोत्तम स्वरूप का वर्णन करने के अनन्तर इस २४वें श्लोक में 'तत्कला' उसकी कला प्रकट होगी। इतना कहने से विषय समझ में आ जाता था। यों न कहकर 'वासुदेवकला' कहने का क्या आशय है? वह इस कारिका में समझाते हैं। 'यः' जो शब्द को कहकर बताया है कि व्यूहों में मुख्य जो अवताराधिकारी है, वह वासुदेव है। उस वासुदेव हरि का अंश 'अनन्त' में है। इससे समझना चाहिए कि जिस अंशी रूप हरि का अंश अनन्त में है। वह पुरुषोत्तम का दूसरा रूप है अर्थात् वह मूल रूप पुरुषोत्तम नहीं है। इसको समझाने के लिए मूल श्लोक में 'तत्कला' उसकी कला न कहकर 'वासुदेवकला' वासुदेव की कला (अंश) अनन्त में यों कहा है अर्थात् बलदाऊजी में उस पुरुषोत्तम के रूपान्तर वासुदेव का अंश है। न कि 'कृष्णस्तुभगवान् स्वयं' इस मूल स्वरूप का अंश है ॥१॥

कारिका — कालात्मा स विज्ञेयो भूभारहणे प्रभुः।

तत्र सुप्तो हरिश्चापि तदाविष्टो भविष्यति ॥२॥

कारिकार्थ — वह कालात्मा है, एवं भूमि के भार हरण में भी समर्थ है। शेष पर सोया हुआ हरि भी उस अनन्त में आविष्ट^१ है।

व्याख्या — मूल में 'वासुदेवकला' और 'अनन्त' दोनों पद साथ में क्यों कहे हैं? उसके उत्तर में कहते हैं दोनों का रूप एक है तथा कार्य भी एक है इसीलिये साथ में कहे हैं तथा कालात्मा भी होने से, उनका साथ में कहना आवश्यक था। जब अनन्त में स्वतः सामर्थ्य है तो वासुदेव के आवेश के बताने की क्या आवश्यकता थी। इस पर कहते हैं कि उस समय वासुदेव की कला अनन्त में प्रवेश होती है। इसके ज्ञात कराने के लिये यह उक्ति है। अनन्त रूप शेष में सङ्कर्षण का आवेश है, सङ्कर्षण में वासुदेव की कला का आवेश है यह ही बलरामजी का स्वरूप सर्वदा है। बलरामजी में तो पूर्ण मूल पुरुषोत्तम का आवेश तो कभी कभी विशेष लीला समय में होता है। उस स्वरूप से की हुई लीला भी मूल रूप से की हुई लीला समझनी चाहिये कारण कि अंश और अंशी का परस्पर भेद नहीं है वे एक ही हैं।

कारिका — अतोऽनुशयनं विष्णोर्बलभद्रेण नात्मनः ।

एकवत् प्रोच्यते कृष्णो द्विवल्लोकैः प्रतीयते ॥३॥

कारिकार्थ — इस कारण से बलराम में वासुदेव कला का ही आवेश है न कि श्री पुरुषोत्तम प्रभु का आवेश है। कृष्ण और बलराम एक ही कहे जाते हैं किन्तु लोक में दो की प्रतीति होती है।

व्याख्या — जब संकर्षणाविष्ट* अनन्त (शेष) अवतार होते हैं तब उस स्वरूप में सात्त्विक कल्प में जल में स्थिति करने वाले वासुदेव ही अपनी कला में उनमें प्रविष्ट होते हैं। अतः इससे यह नहीं समझना चाहिये कि दशम् स्कन्ध का अर्थ बलदेवजी में आविष्ट वासुदेव कला की ही लीला है। ऐसी शङ्का के निवारण के लिये ही आचार्य श्री ने इस कारिका में 'न आत्मनः' कह कर बताया है कि अनन्त में पुरुषोत्तम का आवेश न होने से वह (वासुदेव की लीला) दशम स्कन्ध का अर्थ (निरोध लीला) नहीं है। तब बलरामजी को लीला, निरोध लीला, कैसे कही जाती है? इस शङ्का को कारिका के उत्तरार्ध से मिटाया गया है। जैसे कि उसमें कहा है कि बलरामजी में वासुदेव का अंश सदैव रहता है और कृष्ण अंशी है, अंश अंशी का सदा ही अभेद है। अतः दोनों एक ही रूप हैं इसलिये वहां भी एकत्व का ही निरूपण है जिससे जैसे रूप एक है वैसे सर्व चरित्र भी उसी मूल स्वरूप के ही किये हुए समझने, इस प्रकार समझने से दशम स्कन्ध का अर्थ पुरुषोत्तम की निरोध लीला ही सिद्ध है। लोक में तो इस प्रकार देखने में नहीं आता है — इसको समझाकर कहते हैं कि एक रूप होते हुए भी लोक में कृष्ण-बलराम जैसे दो प्रतीत होते हैं वैसे ही चरित्र भी पृथक् प्रतीत होते हैं, किन्तु हैं एक ही। जिस भाँति आनन्द मय विद्या, सद्बिद्या तथा शाण्डिल्य विद्याओं में ब्रह्म के रूप भिन्न भिन्न वर्णन किये गये हैं किन्तु शास्त्र दृष्टि से वे सब एक ही ब्रह्म के रूप हैं वैसे ही यहां भी जुदे २ होते हुए भी वास्तव में अंशांशी भेद से उनका चरित्र एवं रूप एक ही है ॥३॥

कारिका — देवक्यां शयनस्यैव सम्भवो न हरेः स्मृतः ।

* संकर्षण शेष का आधिदैविक स्वरूप है और वह व्यूह रूप है। — योजना

रोहिण्यामपरस्येति कर्षणान्नैव हीनता ॥४॥

कारिकार्थ — देवकीजी के गर्भ में से शय्या रूप संकर्षण का प्राकट्य हुआ है न कि वासुदेव का। वासुदेवांश का रोहिणी में से प्राकट्य है अतः माया के कर्षण (खींच ले जाने) से उसकी कोई हीनता नहीं हुई है ॥४॥

व्याख्या — इस कारिका में देवकीजी के गर्भ को माया ने खींचकर रोहिणीजी में स्थापन किया है जिससे वासुदेव, जो मोक्षदाता हैं, उनकी हीनता प्रकट होती है। इस शंका का निवारण करते हुए कहते हैं कि देवकीजी के गर्भ में वासुदेवांश नहीं था। केवल संकर्षणाविष्ट शेषजी थे। वासुदेवांश तो रोहिणीजी के गर्भ में पहिले ही था। रोहिणीजी इस गर्भ की स्थिति के अनन्तर नन्दरायजी के घर में रही थी, जिससे रोहिणीजी में अचानक गर्भ होने की शंका को भी मिटा दी है। और माया ने देवकीजी के गर्भ से शेषजी को ही लेके रोहिणीजी के गर्भ में स्थित वासुदेवांश में स्थापित किया था। इससे वासुदेवजी की हीनता की शंका का प्रश्न ही निरर्थक है।

सुबोधिनी — तं सङ्कर्षणमन्यस्माद्विन्नतया ज्ञातुं विशिनष्टि वासुदेव इति। वासुदेवस्य प्रथमतः कला धर्मरूपः। सोपि शयनरूप इत्यनन्तः कालात्मा। स हि स्वाश्रय एव शेते। तत्राधिदैविकरूपमपि स्थितिमात्रं ज्ञापयतुमाह स्वस्रवदन इति। सङ्कर्षेण हि सहस्रवदेना वदात्मा। शेषाप केवलस्तथा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह स्वराडिति। यः स्वर्गेऽपि राजते। सङ्कर्षणरूपो यः 'सितकृष्णकेशः' सोऽग्रतो भविता। ननु तेनैव चरितार्थत्वे किं भगवदवतारेणेत्याशङ्क्याह देव इति। स हि देवरूपेणैवावतीर्णो नाधिकं कार्यं करिष्यति। तर्हि किं तदवतारेणेत्याशङ्क्याह हरेः प्रियचिकीर्षयेति। स हि भगवान् सर्वेषां दुःखहर्ता। दैत्यानां सुखार्थं भूभारहणार्थं च साहाय्यकरणाद्भगवतः प्रियं करिष्यतीति ॥२४॥

अनुवाद — उस संकर्षण को अन्य (वासुदेव) से पृथक् बताने के लिये मूल श्लोक में 'वासुदेव' शब्द दिया है। संकर्षण, वासुदेव की कला का रूप तथा धर्म रूप है, न कि स्वयं वासुदेव है वह (सङ्कर्षण) का रूप भी शय्या रूप अनन्त (शेष) होने के कारण कालात्मक है। वह (वासुदेव भगवान्) अपने आश्रय रूप शय्या पर ही शयन (स्थिति) करते हैं। अतः वह शय्या उनकी कला रूप है। वहाँ उसका (कला रूप शेष का) आधिदैविक सङ्कर्षण स्वरूप भी विराजमान है। इसलिए मूल में उसको 'सहस्रवदन'^१

कहा है। सहस्रवदन सङ्कर्षण वेदात्मा (वेद रूप) भी है। सङ्कर्षण श्रेष्ठ है। कारण कि स्वर्ग में भी वे प्रकाश करते हैं। सङ्कर्षण का जो 'सितकृष्ण केशरूप' है वह प्रथम ब्रज में प्रकट होगा। यदि वह प्रथम प्रकट होगा तो अनन्तर भगवान् के अवतार की क्या आवश्यकता है ? इस शंका को मिटाने के लिए मूल में संकर्षण का विशेषण 'देव' शब्द दिया है, जिसका भाव यह है कि वह (संकर्षण) साक्षी रूप से वहाँ कार्य करेंगे। विशेष कार्य नहीं करेंगे। अतः प्रभु के प्राकट्य की आवश्यकता है। यदि केवल साक्षी रूप से प्रकट होते हैं तो उनसे कौनसा लाभ होगा ? वा क्या कार्य सिद्ध होगा ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् का प्रिय करने की (सेवा करने की) इच्छा से प्रकट हुआ है। सर्व प्रकार के कार्य का प्रबन्ध करेंगे। समय पर युद्धादि में भी सहायता करेंगे। संकर्षण भगवान् सबों का दुःख हरने वाले हैं। दैत्यों^१ के सुख के लिए तथा भूमि के भार के हरण के वास्ते जो कार्य श्रीकृष्णचन्द्र करेंगे, उसमें सहायता देकर उनकी (प्रिय) सेवा करेंगे ॥२४॥

आभास — एवं ससामग्रीकस्य गमने सर्वमुक्तिर्भविष्यतीत्याशङ्कयामाह विष्णोरिति।

यदि सर्वसामग्रीसहित^२ प्रभु प्रकट होंगे तो सबकी मुक्ति हो जायगी। सबकी मुक्ति होने से सृष्टि क्रम बन्द हो जायगा ? इस शंका का नीचे के श्लोक से निवारण करते हैं।

श्लोक — विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्।

आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सा भविष्यति ॥२५॥

श्लोकार्थ — विष्णु की माया, कि जिससे सर्व जगत् मोहित है, वह भगवती भी प्रभु से आज्ञा पाकर, उनके कार्य सिद्ध करने के लिए अंश से प्रकट होगी ॥२५॥

सुबोधिनी — यो हि विष्णुर्मायोद्घाटनेनावतरिष्यति सा तदंशभूता माया कार्यार्थे भविष्यति। सापि भगवती षड्गुणैश्वर्ययुक्ता भगवत्प्रसादात्। अतस्तस्याः स्वस्थानत्यागेन गमनेपि न दोषः। अत्रापि स्थास्यति कार्यमपि करिष्यतीति सर्वमुक्त्यभावश्च तत एव भविष्यतीत्याह यया सम्मोहितं जगदिति।

^१ दैत्यों के सुख के लिए का आशय है कि भगवान् ने दैत्यों को भी मोक्ष दिया है।

^२ सर्व सामग्री सहित का भावार्थ है कि यदि प्रभु सम्पूर्ण माया को तिरोहित कर आप सर्वत्र प्रकट दर्शन देने लग जायं तो सब की मुक्ति हो जायगी।

कदाचित् तस्या अनागमनशङ्कां व्यावर्तयति आदिष्टा प्रभुणेति। अनेन यत्र सर्वव्यामोहिका भगवदाज्ञयावतीर्णा तत्र के भवन्त इति गर्वाभावोपि ज्ञापितः। कार्यं यशोदाया स्तन्यं सङ्कर्षणं कंसादिव्यामोहो वसुदेवादिमोचनमिति ॥२५॥

अनुवाद — विष्णु, जो सर्व व्यापक हैं तो भी जहां प्रकट होंगे वहां की ही माया का अपसरण करेंगे। और जो माया कार्य सिद्ध के लिये प्रकट होगी, वह इसी माया का अंश है जिसको आपने अपने प्राकट्य स्थान से हटाया है। यह माया अंश रूप होते हुए भी भगवान् की कृपा से भगवती, ऐश्वर्य आदि छः गुणों वाली है। अतः वह अपने स्थान को छोड़ने से दोष वाली नहीं होती है। वह (माया) व्यापि वैकुण्ठ में रहते हुए भी यहां का कार्य सिद्ध करेगी। उस माया ने सम्पूर्ण जगत् को मोह में डाल दिया है जिससे सबों की मुक्ति नहीं होगी। यह भी शङ्का मन में नहीं लानी कि कदाचित् वह माया प्रकट न होवे तो ? वह अवश्य प्रकट होगी, कारण कि प्रभु ने उसको आज्ञा दे दी है। जब सारे जगत् का मोहित करने वाली माया भी आज्ञा मानती है, तो आपको (देवों को) गर्व नहीं करना चाहिये। माया से आप बड़े नहीं हो। माया जो कार्य करेगी उसका वर्णन आचार्य श्री करते हैं—१ यशोदा में दूध उत्पन्न करना, २—सप्तम गर्भ को देवकीजी से खींचकर, रोहिणीजी में स्थापना करना, कंस को भुलावे में डालना, वसुदेवजी तथा देवकीजी को कारागृह से छुटकारा कराना ॥२५॥

आभास — एवं सर्वान् ज्ञापयित्वा ब्रह्मा ततो निर्गत इत्याह इत्यादिश्येति।

ब्रह्माजी इस प्रकार देवों को समझाकर वहाँ से चले गये। उसका वर्णन करते हैं— श्री शुकदेवजी कहने लगे

श्लोक — इत्यादिश्यामरगणान् प्रजापतिपतिर्विभुः।

आश्वास्य च महीं गीर्भिः स्वधाम परमं ययौ ॥२६॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी कहने लगे — ब्रह्माजी (प्रजापतियों के पति) जैसे भगवान् ने कहा था वैसे ही देवताओं को आज्ञा देकर तथा भूमि को वचनों से आश्वासन देकर अपने परम धाम को चले गये ॥२६॥

सुबोधिनी — अनेकविधा देवाः। ते च स्वस्वमुख्याज्ञाकारिणः। अत एव सर्वानेव गणपतीनां ज्ञापितवानित्याह अमरगणानिति। तर्हि ब्रह्मणः कथं नावतार इत्याशङ्क्याह प्रजापतिपतिरिति। प्रजापतीनां स नियन्ता। अन्यथा सृष्टिर्न स्यादित्यर्थः। ननु साक्षाद्भगवता नोक्तमिति देवा न

करिष्यन्तीत्याशङ्क्याह विभुरिति। ब्रह्मा स्वत एव समर्थो देवानाज्ञापयितुम्। अनेनैव वृत्तान्तेन भूमिः कृतार्था जाता तथापि गीर्भिरपि महीमाश्वारस्य स्वधाम सत्यलोकाख्यं ययौ। गीर्भिरिति भूमेः प्रशंसावाक्यानि बहून्युक्तानीति ज्ञायते। भूमौ भगवदागमनं पूर्वं न सम्भावितमधुना जातमिति तद्भाग्याभिनन्दनं युक्तमिति॥२६॥

अनुवाद — देव अनेक प्रकार के हैं अतः उनके पृथक् पृथक् गण थे, हर एक गण अपने नेता की आज्ञा मानता था। अतः ब्रह्माजी को प्रत्येक गण के सरपंच को सर्व विषय समझाना पड़ता था। श्लोक में 'अमरगणान्' पद में गण शब्द दिया है और बहुवचन भी दिया है। अतः ब्रह्माजी ने सब आगेवानों को सर्व विषय पृथक् २ समझाये। ब्रह्माजी भी देव हैं तो उनसे क्यों नहीं अवतार लेने की आज्ञा मानी ? इस शङ्का को निवारण करने के लिये शुकदेवजी ने ब्रह्माजी को 'प्रजापति पति' कहा है कि ब्रह्माजी साधारण देवता नहीं हैं किन्तु सृष्टि करने वालों के भी स्वामी हैं। अतः भगवान् ने ब्रह्माजी को अवतार लेने की आज्ञा नहीं दी, यदि देते तो सृष्टि कार्य में विघ्न पड़ जाता।

देवताओं को भगवान् ने साक्षात् आज्ञा नहीं की है किन्तु ब्रह्माजी ने आज्ञा की है ब्रह्माजी की आज्ञा देव लोग नहीं मानेंगे यह भी शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि ब्रह्माजी 'विभुः' हैं अर्थात् देवताओं को कार्य करने की आज्ञा देने का अधिकार ब्रह्माजी को है। यद्यपि देवताओं को दी हुई आज्ञा को सुनकर भूमि सन्तुष्ट हो गई थी, तो भी ब्रह्माजी ने पृथ्वी को विशेष प्रसन्न करने के लिये अनेक प्रशंसावचन कहकर आश्वासन दिया। भूमि को यह निश्चय नहीं हुआ था कि भगवान् स्वयं प्रकट होंगे। किन्तु अब ब्रह्माजी के आश्वासन के वचनों से निश्चय हो गया अतः भूमि के भाग्य का अभिनन्दन^१ करना युक्त था॥२६॥

आभास — एवं भूमेः सान्त्वनमुक्त्वा देवक्याः सान्त्वनं वक्तुं, तस्या प्रथमं दुःखप्रापणोपायमाह शूरसेन इति दशभिः।

इस प्रकार भूमि की सान्त्वना हुई, अनन्तर देवकीजी की सान्त्वना करती है किन्तु प्रथम देवकीजी को दुःख हुआ, उसके उपाय का प्रकार बताते हैं। अर्थात्

देवकीजी को किस कारण के और कैसा दुःख हुआ उसका दश श्लोकों से वर्णन करते हैं —

श्लोकः — शूरसेनो यदुपतिर्मथुरामावसन् पुरीम् ।

माथुरान् शूरसेनांश्च विषयान् बुभुजे पुरा ॥२७॥

श्लोकार्थ — पूर्व समय में यादवों का अधिपति राजा शूरसेन मथुरापुरी में रहता हुआ, माथुर तथा शूरसेन देशों को भोगता था अर्थात् राज्य करता था ॥२७॥

अनुवाद — सहस्रार्जुन से उत्पन्न हुए पुत्रों में से पांच पुत्र बचे थे उनमें से शूरसेन द्वितीय थे। यादवों का राज्य ययाति ने शाप द्वारा निवृत्त कर दिया था तदनन्तर वह राजा राज्य कर सके तो भगवदंश हो। इससे भगवान् के अनुग्रह से ही राज्य चलता था अर्थात् जिस व्यक्ति वा वश पर भगवान् की कृपा होती वह राज्य करता था। सहस्रार्जुन में भगवान् का अंश था अतः भगवान् के अनुग्रह से वह राजा हुआ। उसने जीते ही अपने द्वितीय पुत्र शूरसेन को माथुर और शूरसेन देश ये दो मण्डल राज्य करने के लिये दे दिये, बड़ा पुत्र तो माहिष्यमती में ही राज्य करता था।

कारिका — सर्वोत्कर्षे तु यददुःखं तददुःखं स्वल्पके स्मृतम् ।

देशतः कालतश्चैव अवस्थातः स्वतोऽन्यतः ॥१॥

द्रव्यतो मानतश्चेति सप्तैव सुखदाः स्मृताः ।

तथाभूता शब्दवशात् प्राप्ता दुःखं तदा पतिः ॥२॥

प्रतिक्रियां समारेभे नवमिश्च प्रतिक्रिया ॥२½॥

कारिकार्थ — देवकीजी को सर्व प्रकार से उत्कर्ष होने पर जो दुःख जरासे कारण होने से हुआ वह स्वल्प था। देवकीजी को देश, काल अवस्था, अपने, दूसरे, द्रव्य और मान, इन सातों से उत्कर्ष हो रहा था किन्तु जब शब्द सुनने से दुःख को प्राप्त हुई, तब उनके पति वसुदेवजी दुःख के निवारण का उपाय करने लगे ॥२½॥

व्याख्या — भगवद्भक्तिमार्ग में भगवत्प्राकट्य तब होता है, जब भक्त दुःखी होता है। देवकीजी का सातों प्रकार से उत्कर्ष सिद्ध हो गया था। जिसमें उन देवकीजी को

अल्प दुःख भी बहुत देखने में आया है। पूर्ण प्रसन्न तथा सुख सम्पन्न देवकीजी आकाशवाणी सुनते ही घबरा गई थी — स्वल्प कारण से प्राप्त दुःख को भी भगवान् शीघ्र तथा अनायास ही नाश करेंगे। क्योंकि भगवन्मार्गीय शास्त्रों में इस प्रकार का वर्णन है। अतः इस विषय की किसी प्रकार से भी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। यहाँ तो माताजी के दुःख प्राप्ति के उपाय का ही केवल वर्णन करना चाहिए। वह विवाह कर ससुराल जाते समय आकाशवाणी होने से हो गया। शेष दोषादि से उत्कर्ष का वर्णन करना व्यर्थ है ? इस शंका का निवारण (सर्वोत्कर्षेतु) ये कारिकाये कहकर किया गया है। देवकीजी से उत्कर्ष का वर्णन करते हैं। प्रथम तो जैसे वसुदेव का जन्म समय आनक तथा दुदुभि घोष होने से उत्कर्ष हुआ। वैसे देवकीजी विवाह कर जब श्वसुर गृह जाती थी, उस समय जो सम्मान हुआ उससे उसका भी उत्कर्ष प्रकट देखने में आया था। अब सात प्रकार के उत्कर्ष का वर्णन करते हैं। १— 'शूरसेनो यदुपतिः' इस श्लोक से उत्तम देश में निवास करने के कारण 'देश' से उत्कर्ष बताया। २— राजधानी 'ततः' इस श्लोक से वह नगर उस समय राजधानी था। इसलिए 'काल से' भी उत्कर्ष बताया। ३— 'तस्यां तु' इस आधे श्लोक द्वारा विवाह होने से अवस्था का उत्कर्ष बताया। ४— 'देवक्या सूर्यया' इस पीछे के आधे श्लोक से स्वतः (अपने आप) ही अपना उत्कर्ष बताया। ५— 'उग्रसेन सुतः कसः' इस श्लोक में कस रथ का सारथी बनकर पहुँचाने चला। जिससे देवकीजी का अन्य से उत्कर्ष हुआ है। ६— 'चतुः शत' तथा 'दासीनां' इन दो श्लोक से द्रव्य का उत्कर्ष देखने में आया है। ७— 'शख्ङ्तूर्य' इस श्लोक से मान का उत्कर्ष दिखाया है। इसी भांति सात प्रकार के सुखों से सम्पन्न को आकाशवाणी से प्राप्त थोड़ा भी दुःख असह्य होने लगा। इसको बताने के लिए ही सात प्रकार के उत्कर्ष का वर्णन करना आवश्यक था।

वसुदेवजी इस प्रकार आकाशवाणी से घबराई हुई दुःखित देवकीजी के दुःख का प्रतिकार करने लगे। जिसका वर्णन नव श्लोकों से किया गया है।

❀ कारिका व्याख्या सम्पूर्ण ❀

सुबोधिनी — ~~उत्कर्षं देवकीजीः कसः चतुःशतं दासीनां शख्ङ्तूर्यं~~ त्रिनोय शूरसेन । यादवाना राज्ञ उग्रसेन मिहारेणम् । ननु दुःखं नान्यथा न महान् भगवदश भवति स राजेति । तत्र

सहस्रार्जुनो भगवदशः पुष्ट्या राजा बभूव। स जीवन्नेव शूरसेनाय मण्डलद्वयं दत्तवान्
मथुराशूरसेनात्मकम्। ज्येष्ठस्तु माहिष्मत्यामेव।

तत्र प्रथमं देशस्योत्कर्षं उच्यते। पूर्वं शूरसेनं शत्रुघ्ननिर्मिताया मथुरायां तत्रत्यमानन्दमनुभूय
निवासं कृतवान्। स च यदुपतिः। यादवानां प्रभुः। तन्नाम्ना जातानपि शूरसेनान् विसृज्य मथुरामेवावसन्
उभयान् देशान् बुभुजे। अनेन यादवानां मथुरा स्वदेश इत्युक्तम्॥२७॥

अनुवाद — सातों उत्कर्षों में से इस श्लोक में प्रथम देश के उत्कर्ष का वर्णन करते हैं। शत्रुघ्न की बनाई गई मथुरा नगरी में शूरसेन रहकर सर्व प्रकार के सुख भोगने लगे। वह शूरसेन यादवों के स्वामी (राजा) थे और यद्यपि शूरसेन के नाम से वह देश 'शूरसेन देश' कहलाता था तो भी उसको त्याग कर अपना निवास स्थान उन्होंने मथुरा को बनाया। वहां रहकर शूरसेन तथा माथुर दोनों मण्डलों के राज्य को भोगते थे। इससे यादवों का स्वदेश मथुरा नगर हुआ॥२७॥

कालभेदेनापि सा महती जातेत्याह राजधानीति।

काल भेद से भी वह (मथुरा) बड़ी नगरी बन गई।

श्लोक — राजधानी ततः साभूत् सर्वयादवभूभुजाम्।

मथुरा भगवान् यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः॥२८॥

श्लोकार्थ — तदनन्तर वह समस्त यादव वंशज राजाओं की राजधानी बन गई, जिसमें सदैव भगवान् हरि विराजमान हैं॥२८॥

सुबोधिनी — ततः प्रभृति यावन्तो राजानः कंसपर्यन्तं स्वबलज्जगता खण्डमण्डलाधिपतयस्तेषां तत्रात्यन्तं सुखानुभवान्मथुरैव राजधान्यभूत्। सर्वे च ते यादवभूभुजश्च। ततः शूरसेनप्रभृतिः। राजा धीयते प्रीयते यस्यामिति सा राजधानी। निधीयते ऽष्टाभिषिक्तः क्रियत इति वा। अनेन तत्र राज्यलक्ष्म्या नित्यं स्थानमित्युक्तम्। तत्र स्थितानामानन्दे हेतुर्भगवान्। यत्र नित्यं सन्निहित इति।

अनुवाद — उससे (शूरसेन से) लेकर कंस पर्यन्त जितने भी राजा हुए, वे अपनी शक्ति से ही राजा बने थे। किन्तु वे अपनी वीरता से खण्ड मण्डल के अधिपति बने थे, समग्र मण्डल के नहीं बन सके थे उनको वहां ही अत्यन्त सुख की प्राप्ति हुई थी। जिससे उनकी मथुरा ही राजधानी हो गई। वे सब राजा यादव ही थे! जहां राजा आनन्द से रहते हैं वह नगरी राजधानी कही जाती है। अथवा जिस नगरी में राजा का राज्याभिषेक होता है वह नगरी राजधानी मानी जाती है। इससे उस नगरी में राज्य

लक्ष्मी नित्य बिराजती है। जिससे वहां रहने वाले आनन्द में रहते हैं! उस आनन्द में रहने का कारण भगवान् हैं। क्योंकि भगवान् नित्य 'मथुरा' में विराजते हैं।।२८।।

मथुरा, भगवान् यत्र :-

कारिका — सर्वतत्त्वेषु यो विष्टः स भूमावपि सङ्गतः।

स नित्यं क्वचिदेवास्ति तत्स्थानं मथुरा स्मृता।।१।।

तत्रस्थित्वा द्वयं चक्रे सर्वेषां सकलं हितम्।

सर्वदुःखनिवृत्तिं च तत्र चेद्दुःखसम्भवः।।२।।

प्रतीकाराः सर्व एव मर्यादामार्गसम्भवाः।

व्यर्था जाताः सर्वथेति ज्ञापनार्थं निरूपितम्।।३।।

देशकालादिमध्यस्थः षडङ्गत्वं य आगतः।

सोन्यत्र सर्वदेशेषु शालग्रामादिषु स्थितः।।४।।२८।।

कारिकाओं का स्पष्ट अर्थ — यहां पर विचार किया गया है कि भगवान् हरि, नित्य मथुरा में किस प्रकार बिराजते हैं। जब कि सृष्टि के आरम्भ से 'तदेवानुप्राविशत्' त्रयो विशति तत्त्वानां युगयद् आविशत्' इन श्रुति तथा पुराण के वाक्यों से निर्विवाद सिद्ध है कि परमात्मा सर्व तत्त्वों में प्रविष्ट हुए जिससे उनकी मध्यपाती पृथ्वी में भी प्रविष्ट हुए। वह स्वरूप अन्तर्यामि स्वरूप है अर्थात् सबसे व्याप्त होकर विराजते हैं। तो भी (गुहा प्रविष्टौ) इस श्रुति के अनुसार देह के एक देश 'अन्तःकरण' में ही विशेष रूप से व्यक्त (प्रकट) हैं। वैसे सर्वत्र भूमि में व्याप्त होते हुए भी भूमि के देश मथुरा में नित्य विशेष रूप से अभिव्यक्त होकर विराजते हैं। मथुरा में विराजमान होकर उन्होंने दो कार्य किये। सबका सम्पूर्ण हित तथा सर्व दुःखों की निवृत्ति।

जब भगवान् ने वहाँ विशेष रूप से विराजमान होकर ये दो कार्य किये तब देवकीजी को दुःख क्यों हुआ ? इस शङ्का का समाधान यह है कि भगवान् को शीघ्र अवतार लेकर प्रकट होना था तथा यह भी दिखाना था कि मर्यादा मार्ग के सर्व साधन

व्यर्थ हो जाते हैं जबकि मेरी इच्छा वा कृपा न हो अथवा मेरी सन्निधि न हो। इसलिए भगवान् ने उस समय अपना नित्य सन्निहित स्वरूप भी तिरोहित^१ कर दिया था।

आभास - श्रीरङ्ग.दिष्वपि नारायणस्य ब्रह्माण्डविग्रहस्य सान्निध्यम्।

श्रीरङ्ग. आदि धामों में भी भगवान् का सान्निध्य^२ है किन्तु वहाँ नारायण का सान्निध्य है। तात्पर्य यह है कि वहाँ रङ्ग.दि धामों में अङ्ग. रूप से अनुप्रविष्ट है और मथुरा में अङ्गी रूप से अनुप्रविष्ट है। अङ्ग. से अङ्गी अधिक है। उन अङ्गी से ही जब सुख प्राप्ति नहीं है तो अङ्ग.भूत से कैसे होगी ? इससे यह भी बता दिया है कि तापनीय में जो द्वादश स्वरूप कहे हैं उनसे भी सुख प्राप्त नहीं हो सकता है।

मथुरादि के सिवाय अन्यत्र दूसरे स्थान पर भगवत्पूजादि नहीं करनी चाहिए? इसका समाधान ४ कारिका में करते हैं।

देश, काल, द्रव्य, कर्ता, मन्त्र और कर्म इन धर्म के ६ अङ्गों में भी भगवान् विराजमान हैं। वह भगवान् तीर्थ से अन्य देश, शालग्राम, तुलसी, एकादशी व्रतों में भी अङ्ग. रूप से विराजते हैं। अतः समयानुसार वहाँ पूजादि की जा सकती है किन्तु मथुरा में नित्य अङ्गी रूप से विराजते हैं।

आभास - तस्या अवस्थोत्कर्षमाह तस्यामिति।

इस प्रकार देश तथा काल से उत्कर्ष सिद्ध कर अब इस श्लोक से उन देवकीजी की अवस्था 'उत्कर्ष' बताते हैं।

श्लोक - तस्यां तु कर्हिचिच्छौरिर्वसुदेवः कृतोद्वहः।

देवक्या सूर्यया सार्धं प्रयाणे रथमारुहत्॥२६॥

श्लोकार्थ - शूरसेन के पुत्र वसुदेवजी किसी दिन इस मथुरा नगरी में विवाह कर नवविवाहिता देवकीजी के साथ अपने घर जाने के लिए रथ में बैठे॥२६॥

सुबोधिनी - तुशब्दो दुःखपर्यवसानेन भगवत्कृतसुखव्यावृत्त्यर्थः। सर्वानंशान् सर्वतो भगवान् स्वावतारार्थमाचकर्षेतिज्ञापनार्थं वा तुशब्दः। कर्हिचित् कस्मिंश्चित्काले। पूर्वोक्ते वा। सुमुहूर्तादिक न भवतीति कर्हिचिदित्युक्तम्। शौरिर्वसुदेवः शूरस्य पुत्रः। अन्येपि वसुदेवाः सन्तीति पितृनाम्ना तन्निवृत्तिः।

^१ छिपा लिया

^२ समीपता

वसुदेवभ्रातरौपि बहव इति वसुदेवपदम्। कृत उद्वह उद्वहो येन। देवक्या सूर्यया नवोदया सार्धं स्वगृहप्रयाणार्थं श्वशुरदत्त रथमारुहत्। विवाहोत्सवसमयो भर्तृसान्निध्यं चोत्तमावस्था स्त्रिया। देवक्या सूर्ययेति स्वत उत्कर्ष उक्तः। भर्तृप्राधान्यमपि पतिव्रतायामुत्कर्षहेतुः। यद्यपि देवको ज्येष्ठस्तथापि मर्यादाराज्यं न भवतीति उग्रसेन एव राजा कसो वा॥२६॥

अनुवाद – मूल श्लोक में कहे हुए 'तु' शब्द का भाव यह है कि अब तक देवकीजी को सुख था पर अब वह सुख, दुःख में पलटता है, जिससे सिद्ध होता है कि यह 'सुख' भगवान् ने नहीं दिया है। 'तु' शब्द का भाव दूसरे प्रकार से बताते हैं कि 'तु' कहने का यह भी आशय है कि भगवान् जो सुखरूप हैं उनके अश भी जहाँ प्रकट विराजते हैं, वहा सुख ही होता है। किन्तु अब स्वयं भगवान् को अवतार लेकर पूर्ण आनन्द दान करना है और भगवान् का प्राकट्य तब होता है, जब भक्त आदि सब दुःखी होते हैं। अतः अपने अशो को उन्होंने खेंच लिया। जिससे सुख तिरोहित हो गया और दुःख का आविर्भाव हुआ। मूल में 'कहिंचित्' शब्द देने का आशय यह है कि जिस समय जा रहे थे, उस समय कोई सुन्दर मुहूर्त देखकर तैयारी नहीं की थी। अचानक विवाह हुआ और जाने की तैयारी कर ली। वसुदेव नाम वाले बहुत हैं और वसुदेव के भाई अन्य भी हैं इसलिये वसुदेव के साथ 'शौरि' विशेषण दिया है जिससे किसी प्रकार भ्रान्ति न होवे। केवल 'वसुदेव' नाम देने से, यह शङ्का रह जाती कि कौनसा वसुदेव हैं? और यदि केवल 'शौरि' कहते तो शूर का कौनसा पुत्र विवाह करके जा रहा है 'दोनो' (शौरि, वसुदेव) पद देने से भ्रान्ति को अवकाश नहीं रहा है। नवविवाहिता भार्या देवकीजी के साथ अपने गृह जाने के श्वशुर के दिये हुए रथ में बैठे। स्त्री की उत्तम अवस्था वह है जब विवाह का समय हो और अपने पति का साथ हो। इसलिये इस समय देवकीजी को ये दोनों प्राप्त थे अतः देवकीजी का अवस्था से भी उत्कर्ष है। तथा 'सूर्यया' (नवविवाहिता) थी इसलिये 'स्वतः'² भी उत्कर्ष हुआ। पति की प्रधानता भी पतिव्रता स्त्रियों के उत्कर्ष होने में कारण है। यद्यपि देवकीजी का पिता देवक बड़ा था तो भी वह ऐसा समय था जिसमें मर्यादा के अनुकूल राज्य प्राप्ति नहीं होती थी जो

¹ स्थान,

² अपने आपका खुदका,

बलिष्ठ होता था वह राजा बन बैठता था निर्बल शांति से रहकर व्यवहार चलाता था। इसी कारण से इस विवाह प्रसंग में देवक का नाम नहीं आता है उस समय उग्रसेन अथवा कंस राज्य की कार्यवाही करते थे ॥२६॥

आभास — मुख्य एव व्यवहारे सम्बन्धहेतुर्लोकप्रसिद्धः। अत उग्रसेनपुत्रोपि कंसो देवकपुत्र्या देवक्या भ्रातृकार्यं कृतवानित्याह उग्रसेनसुत इति।

लोक में यह प्रथा प्रसिद्ध है कि कोई भी व्यवहार का कार्य होता है तो वह बड़ा व्यक्ति ही करता है। अतः उग्रसेन का पुत्र कंस इस समय मुख्य होने से देवकी के भ्रातापन का सर्व कार्य करने लगा। जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोक — उग्रसेनसुतः कंसः स्वसुः प्रियचिकीर्षया।

रश्मीन् हयानां जग्राह रौक्मै रथशतैर्वृतः ॥३०॥

श्लोकार्थ — भगिनी^१ के सम्मान करने की इच्छा से, उग्रसेन के पुत्र कंस ने, सोने से मण्डित सैकड़ों रथों के बीच में स्थित रथ के घोड़ों को बागडोरों का अपने हाथ में ले ली ॥३०॥

सुबोधिनी — स्वसुर्भगिन्या देवक्या सम्माननस्तुप्रियचिकीर्षया स्वयं हयानां रश्मीन् प्रजग्राह जगृहे सूतो जात इत्यर्थः। कंवल्लेन वृष्टिः = भवतीति विशेषणम्। रौक्मैः सुवर्णपरिकरै रथशतैरनेकशतरथैर्वृतो वेष्टितः। अनेन वसुदेव उग्रसेनसुतः कृतः। स्वयमपि दासभाव प्राप्त इति महत् सम्माननम्। अन्यत उत्कर्ष उक्तः ॥३०॥

अनुवाद — बहिन देवकीजी के सम्मान करने की इच्छा से कंस, राजा होते हुए भी स्वयं घोड़ों की लगामों को लेकर सूत बन गया यदि कंस अकेला ही घोड़ों की लगाम ले उसको (रथ को) चलाकर वसुदेव के अपने घर पहुँचाने जाते तो न शोभा होती और न उनका, वसुदेव—देवकी का मन् होता जिससे वे प्रसन्न न होते, तथा कंस राजा होकर इस साधारण रीति से बहिन को अकेला छोड़ने गया। यह कंस के लिये भी शोभास्पद नहीं था। अतः कहते हैं कि 'रौक्मैः रथ शतैः वृतः' सुवर्ण मण्डित सैकड़ों रथ चारों तरफ थे जिनके मध्य में वसुदेव जी जिस रथ में बैठे थे वह 'रथ' था। कंस ने उसी रथ का सूत बनकर घोड़ों की बागडोरें पकड़ रखी थीं। इस

दृश्य से सिद्ध होता था कि "वसुदेव" ही मुख्य राजा बन गये हैं, और कंस जो राजा थे वे दास होके बैठे थे। इस प्रकार यह अधिक सम्मान है। इस श्लोक से देवकीजी का दूसरों से अधिक उत्कर्ष बताया गया है।।३०।।

आभास — पितृकृतं द्रव्यकृतमुत्कर्षमाह चतुःशतमिति द्वाभ्याम्।

नीचे के दो श्लोकों से पिता और द्रव्य से देवकी का उत्कर्ष वर्णन करते हैं।

श्लोक — चतुःशतं पारिबर्हं गजानां हेममालिनाम्।

अश्वानामयुतं सार्धं रथानां च त्रिषट्शतम्।।३१।।

दासीनां सुकुमारीणां द्वे शते समलङ्कृते।

दुहित्रे देवकः प्रादात् यानैर्दुहितृवत्सलः।।३२।।

श्लोकार्थ — पुत्री पर प्यार करने वाले देवकजी ने अपनी पुत्री देवकी को विदा के समय दहेज में सुवर्ण मालाओं से सजे हुए चार सौ हाथी, पन्द्रह हजार घोड़े, अठारह सौ रथ शृङ्गार सहित सुन्दर सुकुमार दो सौ दासियां पालकियों समेत दी।।३१-३२।।

सुबोधिनी — क्षत्रिया हि चतुरङ्गिणी सेनां विवाहे पारिबर्हं प्रयच्छन्ति वधूवरयोः सन्तोषार्थम्। तत्र पदातीनां स्थाने कन्याप्रीत्यर्थं दास्यो दत्ताः। हेम्नो माला येषां गजानाम्। अश्वानां पञ्चदश सहस्राणि। रथानां त्रिषट्शतनष्टादशशतम्।।३१।।

दासीनां सखित्वज्ञापनाय सुकुमारत्वमलङ्करणं चोक्तम्। दास्यः कन्यायै केवलं दत्ता न तदत्रैव। अतो न यथेष्टं तेन विनियोगः कर्तुं शक्यः। ननु देवक्या एव विवाहे कथमेतावद्वत्तवानित्याशङ्क्या देवक इति। अत्यन्तमयं देवो भगवानत्रावतरिष्यतीतिज्ञानयुक्तः। ता अपि दास्यो यानैर्दोलाभिः सहिताः। तासां तथाकरणे हेतुर्दुहितृवत्सल इति। स हि दुहितृषु वात्सल्ययुक्तः। तासामपि कन्यात्वाद्देवकीवाक्याद्वा तथा कृतवानित्यर्थः।।३२।।

अनुवाद — क्षत्रीय लोग विवाह में वर तथा वधू के सन्तोष के लिये चतुरङ्गिणी^१ सेना दहेज में देते हैं। किन्तु देवक ने पैदल सिपाहियों के स्थान में कन्या की प्रसन्नता

^१ पैदल सिपाही, घोड़े, रथ और हाथी इनकी सेना को चतुरङ्गिणी कहते हैं।

के लिये दासियां दी थी। सुवर्ण माला से सुशोभित चार सौ हाथी, पन्द्रह हजार घोड़े, अठारह सौ रथ दिये।।३१।।

दासियां जो देवक ने दी थी उसका कारण यह था कि ससुराल में देवकी को मन बहलाव के लिये सखियां अवश्य चाहिये, नहीं तो वहाँ उदास रहेगी अतः उसके समान सुकुमार एवं अलंकृत दासियां भी दी। वे दासियां कन्या, देवकी को दी थी उनमें वसुदेव का कोई अधिकार नहीं था जिससे वसुदेव उन दासियों से कोई भी सेवा न ले सके। देवक ने देवकी के विवाह में ही इतना दहेज क्यों दिया ? इस शङ्का का निवारण उनका 'देवक' नाम से हो जाता है। देवक का अर्थ है 'ज्ञानवान्' ज्ञानवान् होने से इसको पता था कि देवकी के गर्भ से भगवान् का प्राकट्य होगा, इसलिये विशेष दहेज दिया था। कन्या को जो दासियाँ दी थी उनके आने जाने के चढ़ने के वास्ते पालकिया भी दी थी। उनके लिये भी पालकियाँ क्यों दी ? इस शङ्का निवारण के लिये कहते हैं देवक 'दुहितृवत्सलः' कन्याओं में प्रेमवाले थे, वे दासिया भी कन्या ही थीं। अथवा देवकी के कहने से उनको पालकियां दी थी।।३२।।

आभास — सम्माननामाह शङ्खेति।

इस निम्न श्लोक में प्रयाण समय में जो सम्मान से विदा किया उसका वर्णन करते हैं।

श्लोक : — शङ्खतूर्यमृदङ्गानि नेदुर्दुन्दुभयः समम्।

प्रयाणप्रक्रमे तावद्वरवध्वोः सुमङ्गलम्।।३३।।

श्लोकार्थ — वर बहु के प्रयाण के समय, मङ्गल होने के लिये, शङ्ख, सूर्य मृदङ्ग और दुन्दुभि ये चारों साथ में बजने लगे।।३३।।

सुबोधिनी — शङ्खो हि मुखवाद्यम्। तूरी हस्तवाद्यं मृदङ्गानि च। दुन्दुभयो दण्डवाद्यम्। सममेकदा। नैमित्तिकं तदित्याह प्रयाणप्रक्रम इति। वरवध्वोः सुमङ्गलं यथा भवति तथा नेदु। अनेन शकुनमप्युक्त पर्यवसानस्योत्तमत्वात्।।३३।।

अनुवाद — शङ्ख मुख से बजाया जाता है तुरही और मृदङ्ग हाथ के बाजे हैं, दुन्दुभि डण्डों से बजाई जाती है। ये सब साथ में ही बजने लगे। ये क्यों और कब साथ में बजने लगे ? जब वर और वधू के जाने का प्रारम्भ हुआ तब बजने प्रारम्भ हुए

और मङ्गल सूचना देने के लिये बजने लगे। इनके बजने से यह मालूम हुआ कि शकुन अच्छे हैं, इसका फल उत्तम होगा।।३३।।

आभास — कालो ह्यत्र प्रतिबन्धको जात इति वक्तु तस्याधिभौतिकः कालनेमिः कंसे निविष्टः शेत इति तत्प्रादुर्भावार्थं तदनुगुणदेवतायास्तदुत्कर्षमसहमानाया अकस्माद् वाक्यं जातमित्याह पथीति।

आनन्द युक्त प्रयाण के समय काल ने आनन्द में रुकावट डाली। कैसे रुकावट डाली ? वहाँ कहते हैं कि काल के आधिभौतिक स्वरूप कालनेमि ने कंस में आकर निवास किया। वह काल, देवकी के उत्कर्ष को सहन नहीं कर सका अतः काल के अनुरूप देवता काल को प्रकट करने के लिये, अचानक रास्ते में आकाशवाणी हुई। जिससे कालनेमि के आवेश के प्रकट होने से कंस की बुद्धि विकार वाली होने लगी। उसका वर्णन निम्न श्लोको में करते हैं।

श्लोक — पथि प्रग्रहिणं कंसमाभाष्याहाशरीरवाक्।

अस्यास्त्वामष्टमो गर्भो हन्ता यां नयसेबुध।।३४।।

श्लोकार्थ — घोड़ों की लगाम को पकड़कर जाने वाले कंस को रास्ते में आकाशवाणी ने कहा कि, हे मूर्ख। जिसको तू पहुंचाने जा रहा है उसका आठवा गर्भ तुझे नष्ट करेगा।।३४।।

सुबोधिनी — शोभातिशयो मध्येमार्गं प्रादुर्भूत इति पथ्येवोक्तवती न तु गृहे नापि गमनानन्तरम्। अनेनाधिभौतिकः कालोस्मिन्मार्गे बाधकः स प्रतिविधेय इति ज्ञापितम्। सर्वप्रकारेण प्रग्रहिण रश्मिग्राहिणमाभाष्य रे रे कंसेति सावधानपर्यन्तमुक्त्वा। अशरीरवागाकाशवाणी। शरीरात् ताल्वोष्ठपुटाघातेन न निर्गता। तस्या वाक्यमाह अस्या इति। अष्टमो गर्भ इति। सङ्ख्या निस्सन्दिग्धा। कन्या पुत्रो वेति न विशेष उक्तः। मध्ये भगवता तथा प्रेरिता। स बालक एव त्वां हन्ता हनिष्यति। दासीषु प्रेक्षिकासु वेतिसन्देहव्युदासायाह यां नयस इति। न चेयं मम भगिनी न तथा कर्तुं दास्यतीति वक्तव्यं यतस्त्वमबुधः। कस्यापि तत्त्वं न जानासीत्यर्थः हे अबुधेतिसम्बोधनं वक्तुर्हितत्वज्ञापनाय।।३४।।

अनुवाद — मार्ग में अतिशय शोभा हो रही थी जिससे देवकी का भी उत्कर्ष प्रकट देखने में आ रहा था, घर में वा पहुँच जाने के बाद होता तो ये दो तो उस समय नहीं होते। परन्तु आकाशवाणी को तो रंग में भङ्ग और हर्ष में दुःख पैदा करना

था अतः वह आकाशवाणी मार्ग में ही हुई। इससे यह बताया कि आधिभौतिक काल इस मार्ग^१ में बाधक होता है। आकाशवाणी बागडोर पकड़े हुए — कंस को, सावधान करने के लिये प्रथम, रे मूर्ख! कंस! संबोधन करती है, जब वह सावधान हो जाता है तब आवाज आती है वह आवाज तालु, होठ आदि के मिलाप से नहीं निकल रही थी, योंही वायु में मिश्रित होकर आ रही थी इसलिये श्लोक में 'अशरीर वाक्' पद दिया है जिसका अर्थ है वह वाणी जो शरीर से न निकली हो। उस वाणी से सुनने में आया कि जिसको तूँ प्यार से पहुँचाने ले जा रहा है उस देवकी का आठवां गर्भ^२ तुझे नष्ट करेगा। इस प्रकार स्पष्ट कहने से वह बता दिया कि दासी आदि का गर्भ तुझे नष्ट नहीं करेगा। संख्या तो निश्चय बतादी किन्तु पुत्र व पुत्री यह स्पष्ट नहीं कहा। यों भी न समझना, कि यह मेरी बहिन है और इसकी सन्तान भानेज मुझे कैसे मारेगा, यदि यों समझ लिया तो तूँ मूर्ख है। मैं ऐसा स्पष्ट तुझे मूर्ख इसलिये कहती हूँ कि मैं तेरा हित चाहती हूँ॥३४॥

आभास — ततो यज्जातं तदाह इत्युक्त इति।

आकाशवाणी होने से अनन्तर जो कुछ हुआ उसका वर्णन करते हैं —

श्लोक — इत्युक्तः सखलः पापो भोजानां कुलपांसनः।

भगिनीं हन्तुमारब्धः खड्गपाणिः कचेग्रहीत्॥३५॥

श्लोकार्थ — आकाशवाणी का इतना कहना सुनते ही भोज कुल के कलङ्क, रूप पापी कंस ने बहिन को मारने के लिये एक हाथ में तलवार ली, और दूसरे हाथ में देवकी के केशों को पकड़ लिया॥३५॥

सुबोधिनी — आकाशवाण्यास्त्वभिप्रायः सा स्वगृह एव स्थापनीयान्यदा वा किञ्चित् कर्तव्यमिति। कसस्तु इत्युक्त एव सखलः कालनेमिसहितः। स प्रसिद्धो दिग्विजयी खलः प्रकृत्या। भगिनीं हन्तुं खड्गपाणिर्भूत्वा कचे केशपाशे तामग्रहीत्। ननु महत् पापं कथं करिष्यतीत्याशङ्क्याह पाप इति। निरन्तरपकरणेन स पापात्मैव जातः। तस्मात् तस्य शास्त्रं न बाधकम्। खलत्वात्लोकोपि न बाधकः। वशजा अपि न तस्य बाधका जाता इत्याह भोजानां कुलपासन इति। भोजवशोद्वया ये तेषा

^१ भक्ति मार्ग तथा विवाहोत्सव दोनों के मार्ग में आधिभौतिक काल प्रतिबन्धक होता है।

^२ गर्भ से उत्पन्न बाधक

कुले पांसुनः मलरूप कलङ्करूप इतियावत्। कुले कलङ्कजनन तस्य स्वरूपम्। अतः कुलविचारेणापि न निवर्तन् इतिभावः। कचेषु किञ्चित् कर्तव्यं नास्तीति सप्तमी। स तु भगिनीमेव हन्तुं कालेन समारब्धः। अरब्धवान् वा। अपलायनार्थं तस्या ग्रहणम्॥३५॥

अनुवाद — आकाशवाणी का इस प्रकार कहने का तो आशय यह था कि देवकीजी को घर में रखलेंगे अथवा और कोई समुचित^१ उपाय करेगा किन्तु यह कंस दिग्दिज्यो, तथा स्वभाव से खल तो पूर्व था ही, और विशेष में उसके साथ आधिभौतिक कालस्वरूप कालनेमि शामिल हो गया, इससे वाणी सुनते ही हाथ में तलवार लेकर भगिनी को मारने के लिये उसके बालों को पकड़ लिया। केवल वाणी सुनने से इतना बड़ा भारी पाप करने के लिये कैसे उद्यत हुआ ? वहाँ कहते हैं कि वह निरन्तर पाप कर्म करता ही रहता था, जिससे पापात्मा^२ बन गया था। इसी से शास्त्रवचनों की भी उसने परवाह नहीं की है और उसको लोक भी नहीं रोक सके क्योंकि वे खल हैं। इसी प्रकार बान्धव भी रोकने में असमर्थ थे कारण कि वह कुल कलङ्क था। अतः उसको अपने कुल की मानमर्यादा भी इस घृणित कार्य से नहीं हटा सकी। पालों को कुछ भी करना नहीं था इसलिये कच शब्द सप्तमी विभक्ति में दिया है यदि बालों को कुछ करना होता तो सप्तमी विभक्ति न देकर दूसरी देते। उस कंस को तो बहिन को ही मारने के लिये काल ने तैयार किया था। देवकीजी भाग न जावे केवल इसलिये बाल पकड़ रखे थे।

आभास — वसुदेवस्तु शूरोप्यसहायः कंसबलं च जानातीति स्वतो दोषस्तस्य च न भवतीति निश्चित्य सान्त्वनार्थं प्रवृत्त इत्याह तमिति।

यद्यपि वसुदेव शूरवीर थे और साथ में कंस का पराक्रम भी जानते थे, इसके सिवाय स्वयं उस समय शस्त्र तथा सेना आदि नहीं होने से, असहाय थे। एवं यह भी समझते थे कि कंस का स्वतः^३ दोष नहीं है। यह निश्चय कर कंस को शान्त करने का उपाय करने लगे। इस श्लोक में उसका वर्णन करते हैं —

^१ योग्य, उचित

^२ पापरूप

^३ अपने आपका

श्लोक: — तं जगुप्सितकर्माणं नृशंसं निरपत्रपम् ।

वसुदेवो महाभाग उवाच परिसान्त्वयन् ॥३६॥

श्लोकार्थ — निन्दा के योग्य कर्म करने वाले, निर्दयी और निर्लज्ज कंस को, महाभाग्यवान् वसुदेवजी शान्ति कराते हुए कहने लगे ॥३६॥

सुबोधिनी — नाय स्त्रीलोभेन तथा करोति किन्त्वनुचितमिति दयाविष्टस्त परिसान्त्वयन्नुवाचेतिसम्बन्धः । लोकलज्जया स्वयमेव न करिष्यतीति ज्ञात्वा कथं न तूष्णीं स्थितस्तत्राह जुगुप्सितमेव सर्वदा करोतीति तथा । स्वस्य दयया त्यक्ष्यतीत्यपि न यतः नृशंसः क्रूरात्मा । दैत्येष्वपि हीनत्वादपत्रपयापि न करिष्यतीत्यपि न । यतो निर्गता अपत्रप्य यस्य । लज्जा सापत्रपायन्तः । वसुदेव इति । उपेक्षायामयुक्तः सर्वप्रकारेण मोचयितुं शक्तः । किञ्च महाभाग नस्य जन्मन्यानका दुन्दुभयश्च नेदुरतो महाभाग्यवान् ॥३६॥

अनुवाद — वसुदेवजी, कंस की सान्त्वना इस लोभ से नहीं करते हैं कि मेरी स्त्री मर जायगी तो मैं दुःखी हो जाऊंगा वा मेरी हानि होगी, किन्तु यह कंस का कर्तव्य अयोग्य है इससे वसुदेवजी के हृदय में दया उत्पन्न हुई कि कंस ऐसा पाप कर्म करेगा तो उसका अनिष्ट^१ होगा और देवकी भी बिना दोष मारी जाती है । इसी दया के कारण वसुदेवजी कंस को शान्त कराने के लिये निश्चय किया । भगिनी की हत्या से मेरी लोक में अपकीर्ति होगी तो मैं समाज में मुख ऊपर कर कैसे चलूंगा, इस प्रकार लज्जा आने से स्वयं यह कार्य न करेगा, यों समझ कर वसुदेवजी को चुप रहना चाहिये था । इस पर कहते हैं कि लज्जा उसको आती है जिसने कभी भी निन्दित कार्य न किया हो, यह कंस तो सदैव निन्दित कर्म करने वाला है । उसको कैसे लज्जा आवेगी? यदि लज्जा में नहीं तो 'भगिनी दयामूर्ति' बहिन दया पात्र है यों समझकर छोड़ देगा । इस पर कहा गया है कि वह कंस नृशंस^२ है अतः उसको कभी दया आती नहीं है इसलिये यह छोड़ेगा नहीं । इसके सिवाय वसुदेवजी यह भी जानते थे कि कंस, दैत्यों में भी अधम दैत्य होने से निर्लज्ज है, इन सब विषयों का विचार कर वसुदेवजी ने सोचा कि इसकी उपेक्षा^३ करनी अयोग्य है अतः किसी भी प्रकार सान्त्वना कराके देवकी को छुड़ाना

^१ बुरा

^२ निर्दयी

^३ उदासीनता, वेपरवाह

चाहिये, यों करने की वसुदेवजी में शक्ति थी क्योंकि उनके जन्म के समय देवों ने बड़े नगाड़े इसलिये बजाये थे कि यह महाभाग्यवान् है ।।३६।।

आभास — आकाशवाणीं च श्रुत्वेयं च न मरिष्यतीति निश्चित्य कथञ्चित् प्रतीकारं कर्तव्यं इति प्रतियुद्धादिकमकृत्वा कंस परितः सान्त्वयन् तिष्ठ तिष्ठ मद्विज्ञापना शृण्वति वदन्नाकाशवाण्याः समाधानार्थं वक्ष्यमाणमुवाच । आकाशवाण्युक्तं न मिथ्या । अयं च प्रतीकारार्थं यतते । तत्र क्रियया प्रतीकारो न भवति ज्ञानेनैव प्रतीकारो भवतीति नवभिः प्राणश्लोकैस्तस्य सर्वं तत्त्वमुपदिशति श्लाघनीयेति ।

वसुदेव ने आकाशवाणी सुनकर मन निश्चय पूर्वक समझ लिया कि यह देवकी तो मरेगी नहीं । तो भी व्यवहारानुसार इसका प्रतीकार^१ करना चाहिये । सामासामी^२ शस्त्रों से लड़ाई न करके कंस को पूरी तरह शान्त करने तथा आकाशवाणी के वचनों के समाधान करने के वास्ते कहने लगे कि, ठहरो! ठहरो! मेरी प्रार्थना को पहले सुनलो । वसुदेवजी ने समझ लिया था कि कंस को निश्चय हो गया है कि आकाशवाणी ने जो कहा है वह मिथ्या नहीं है अतः उसका प्रतिकार करने का वह प्रयत्न कर रहा है । अब शस्त्र क्रिया^३ से मेरा कार्य सिद्ध नहीं होगा अतः इस कार्य की सिद्धि ज्ञान रूप प्रतिकार से ही होगी यों निश्चय कर नौ श्लोकों से कंस को सर्वज्ञान का तत्त्व समझाकर शान्त करते हैं । नौ श्लोकों से उपदेश करने का भाव यह है कि 'प्राण' नौ है जिनकी रक्षा करनी है ।

वसुदेव उवाच — श्लोक — श्लाघनीयगुणः शूरैर्भवान् भोजयशस्करः ।

स कथं भगिनीं हन्यात् स्त्रियमुद्राहपर्वणि ।।३७।।

श्लोकार्थ — वसुदेवजी कहने लगे, कि — आपके गुण शूरवीर भी गा रहे हैं, तथा आप भोज भूपति के वंश का यश बढ़ा रहे हो । वैसे आप, इस विवाहोत्सव जैसे शुभ कार्य में स्त्री को वह भी बहिन को कैसे मारते हो ? ।।३७।।

सुबोधिनी — यद्ययं मृत्यौ निरभिमानस्तिष्ठेदविलष्टकर्मा भगवान् तं न हन्यात् । अत इदमुपदिश्यमानं देवगुः । त्वात् प्रतिबन्धकत्वेन फलितम् । वसुदेवोपि भगवता प्रेरित इत्यनधिका—

^१ उपाय

^२ सामान खड़े होकर

^३ लड़ाई करने

रिणमनवसरे बोधयति। आकाशवाणीप्रमाण्येन हि स मारयितुमुद्यतः। सा चेन्मारिता स्यादाकाश-
वाण्यप्रमाणैव स्यादतो न्य एवोपायश्चिन्तनीयस्तेनापि। अतो नवसरेपि दयया तद्धितमेवोक्तवान्। नवधा
एतदकर्तव्यम्। महतो निन्दितकरणमनुचितम्। नाय च प्रतीकारः। नापि प्रतीकारः कर्तव्यः पूर्वदेहस्य
मलत्वात्। नापि देहान्तर दुर्लभम्। नापि पूर्वदेहस्य त्यागे कश्चन प्रयासः। नापि वस्तुतो देहाध्या
सव्यतिरेकेण देहिना स्वतो जन्मास्ति। देहाध्यासश्चाज्ञानादिति ज्ञानेन निवर्तते। किञ्च यावदन्यस्मै न
द्रुह्यति तावन्न तस्य भयं भवति। द्रोहे मया वा मन्त्रिष्ठेन वा भगवता तव हनन निश्चयमाकाशवाण्या
अभिध्यात्वात्। लोकस्वभावविरुद्धश्चायमिति। तत्राद्यमन्त्यौ च लौकिकौ। मध्ये षट् पारमार्थिका। तत्र
प्रथमं तव विगर्हितमनुचितमित्याह। शूरैर्जरासन्धादिभिः। श्लाघनीया गुणा यस्य। शूरा हि
युद्धमभिमन्यन्ते कातरा एव मृत्यु विचारयन्ति। अतोऽस्या पुत्रो मारयिष्यतीति श्रवणे शूराणामुत्साह एव
युक्तो न तु स्वशौर्यनाशक तन्मारणमुचित 'द्वौ सम्मताविह मृत्यू दुरापा' वितिवाक्यात्। भवाश्च
क्षत्रियधर्मे निष्णात इति सर्वे श्लाघ्यते। किञ्च भोजयशस्करो भवान् भोजवंशे नैतादृशः शूर इति। अतः
स्वधर्मकीर्तिजनकत्वादाकाशवाणीवाक्यश्रवणेन वधो नोचितः। किञ्चैतादृशयशोधर्मयुक्तो दयापात्रं भगिनी
कथं हन्याद् यदर्थं लोका स्वयं प्रियन्ते ? किञ्च स्त्रियम्। स्त्रीवधो नुचितः शूराणाम्। भगिन्यपि
कदाचित् क्षत्रियवशोऽवत्वाच्छौर्यमवलम्बते तादृश्यपीय न भवति। सा तु पुम्प्रकृतिका भवति। इयं तु
स्त्र्येवेति न पुनरुक्तिः। किञ्च वधे कर्तव्येपि कालान्तरे कर्तव्यो न तु विवाहोत्सवे। लौकिका राजानो
मारणीय विषादिनापि मारयन्ति। तस्माच्छौर्यादि- धर्मवतस्ते नेदमुचितम्॥३७॥

अनुवाद - आकाशवाणी सुनकर कंस को निश्चय हो गया कि इसके आठवें गर्भ
से मेरी मृत्यु होगी। अतः देवकी का ही नाश कर दूंगा तो मेरी मौत नहीं होगी। इस
प्रकार के मृत्यु का निश्चय कंस के हृदय से निकालने के लिये वसुदेवजी प्रयत्न करने
लगे। जो, वसुदेवजी के उपदेश से कंस के हृदय से मृत्यु का अभिमान^१ जिसका मूल
कारण देहाध्यास है वह निकल जाता तो अविलष्टकर्मा भगवान् कंस को मारते नहीं।
किन्तु यह वसुदेवजी का उपदेश, देवगुह्य, श्रीकृष्ण करके गुह्य है, जिससे कंस समझ न
सका। न समझने के कारण उसका मृत्यु में वही अभिमान रहा, अतः उपदेश भी
प्रतिबन्धक हो गया। वसुदेवजी का उपदेश देवगुह्य था उसका आशय यह भी था कि
यदि देवकी मारी जायगी तो आकाशवाणी का कहना मिथ्या हो जायगा अतः देवकी की
मृत्यु भी न हो और आकाशवाणी भी सत्य हो इसके लिये कोई दूसरा उपाय का विचार

करना चाहिये। वसुदेवजी भी भगवान् की प्रेरणा से, उपदेश का समय तथा अपने अधिकारी न होने पर भी उपदेश देने लगे। कंस के कृत्यों को देखते हुए उस पर दया करने का अवसर नहीं था तो भी उसके हित के लिये वसुदेवजी दया के कारण उसको उपदेश देने लगे।

हे कंस! यह जो आप भगिनी-वध का कार्य कर रहे हो वह नौ प्रकार के विचार से सिद्ध होता है कि नहीं करना चाहिये।

१- भगिनी वध जैसा निन्दित कर्म महापुरुषों के योग्य नहीं है, और यह दुष्कर्म मृत्यु से बचने का उपाय भी नहीं है।

२- यदि वह (भगिनी का वध) मृत्यु से बच जाने का उपाय भी हो तो भी नहीं करना चाहिये, कारण कि, मृत्यु के अनन्तर, देह से जीव के चले जाने के पश्चात् यह देह मलरूप गिनी जाती है। जिसका कोई भी स्पर्श करना नहीं चाहता।

३- दूसरी देह की प्राप्ति में किसी प्रकार की दुर्लभता नहीं है।

४- पूर्व देह के त्या में किसी प्रकार का प्रयास^१ नहीं है।

५- वास्तविक^२ रीति से विचारा जाय तो जीव का जन्म^३ ही नहीं होता है। केवल देह के अभ्यास से जीव समझता है कि मेरा जन्म हुआ है।

६- देह में जो अभ्यास हुआ है वह अज्ञान से हुआ है। वह अज्ञान, ज्ञान से मिटाया जा सकता है।

७- कोई भी जब तक दूसरे से द्रोह नहीं करता है तब तब उसको कोई भय नहीं है।

८- यदि आकाशवाणी सत्य ही समझते हो तो इस प्रकार के द्रोह करने पर भी मुझसे वा मेरे भीतर विराजमान प्रभु के द्वार तेरी मृत्यु निश्चय होगी ही।

९- आपने अपने आपको बचाने के लिए जो उपाय सोचा है वह लोक तथा स्वभाव के विरुद्ध है।

इन उपदेश वाक्यों में पहला और अन्त में एवं व एवं लौकिक दृष्टि से दिये गये हैं। शेष बीच वाले ६ उपदेश पारमार्थिक हैं।

अब उस प्रथम प्रारम्भ किये निन्दित कर्म (भगिनी-वध) को छोड़ने के लिए कंस को उपदेश देते हैं —

हे कंस! आप थोड़ा विचार करो कि जरासन्ध जैसे शूरवीर भी आपका यश गाते हैं कि आप महाशूर हैं। शूर तो युद्ध ही चाहते हैं। वे मृत्यु से नहीं डरते हैं। कायर ही मृत्यु का विचार करते हैं। अतः शूरवीर होने से आपको तो इसका पुत्र मुझे मारेगा। यह सुनकर शूरवीरता आनी चाहिए। शूरवीर तो लड़ाई सुनकर उत्साहित होते हैं पर आप तो डरपोक बन गये हो। यह आपको उचित नहीं है और बहिन का वध कर अपनी वीरता को नाश करना भी योग्य नहीं है। युद्ध में 'मरने वाले तथा मारने वाले' की मृत्यु दोनों के इच्छानुकूल है किन्तु वैसी मृत्यु क्षत्रियों के लिए दुराप अर्थात् कष्ट से कभी मिलती है। आप तो क्षात्र धर्म को अच्छी तरह जानने वाले हो इस प्रकार आपकी प्रशंसा करते हैं और कहते हैं कि आप भोज के यश को फैलाने वाले हो तथा भोज वंश में आप जैसा शूर दूसरा कोई नहीं हुआ है। अतः आकाशवाणी सुनने मात्र से बहिन का वध उचित नहीं है। इसको छोड़ने से आपका धर्म तथा यश बढेगा। ऐसा धर्म तथा यश वाले आप, दया पात्र भगिनी को कैसे मारोगे ? जिस बहिन के लिए मनुष्य अपना शरीर भी देते हैं। बहिन का विचार छोड़ा जाय तो भी 'स्त्री' जाति तो है। शूरवीरों को स्त्री का वध करना अनुचित है। यदि आप समझो कि यह मेरी बहिन भी क्षत्रिय होने के कारण शूरता आने से मुझसे लड़े वा मुझे मार डाले ? इस शंका को मिटाने के लिए कहते हैं कि यह वैसी नहीं है, जो वैसी होती है वे पुरुष प्रकृति की होती है यह स्त्री प्रकृति वाली है। यदि आपको इसको मारना ही है तो भी अब विवाहोत्सव के समय में तो मत मारो पीछे मार देना। लौकिक राजा लोग जिसको मारना चाहते हैं उसको विषादि से मरवा देते हैं। इन कारणों से शौर्य आदि धर्म वाले आपको इसका वध करना योग्य नहीं है। [३७]।

आभास — किञ्च यदियं हन्यते तन् मृत्युप्रतीकारार्थं नतु वैरभावेन न च मृत्युरस्यां हतायां प्रतिकृतो भवति सहजत्वादित्याह मृत्युरिति ।

आप जब इस भगिनी को इसलिये मारते हो, कि मैं मरने से बच जाऊँ परन्तु बहिन से तो किसी प्रकार का वैर है नहीं जिसके लिये उसको मारते हो। तब आपको सोचना चाहिये कि इसको मारने से क्या मेरी मृत्यु टल जायँगी ? यह तो कदापि नहीं होगा, कारण कि मौत तो जन्म के साथ जन्म लेती है।

वसुदेवजी इस नीचे के श्लोक में इसी प्रकार कंस को समझाते हैं —

श्लोक — मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।

अथ वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥३८॥

श्लोकार्थ — हे वीर! जन्म लेने वालों की मृत्यु उनकी देह के साथ ही उत्पन्न होती है, अतः प्राणी मात्र की मृत्यु होनी निश्चित है। वह मृत्यु कब होगी उसका किसी को पता नहीं है। आज ही अथवा सौ वर्ष के बाद हो, जब आवेगी उसको कोई रोक नहीं सकता है॥३८॥

सुबोधिनी — नापि विलम्बार्थम्। वाणीवचनादेव नेयं हन्ति नापि हनिष्यति। अस्या अप्यष्टमो गर्भः शीघ्रमेव हनिष्यतीतिवाक्यमस्ति। अथ कदाचिद्धनिष्यतीतिशङ्का। तन्नित्यमृत्योरनेनान्येन वा हनन सिद्धमिति नाय प्रतीकारः। तदाह जन्मवतामुत्पन्नानां मृत्युर्देहेन सहैव जायते। 'मृत्युर्नैवेदमावृतमासी' दित्युपाख्याने भगवान् मृत्युं सकाशात् प्राणिनो बहिः कृत्वा तेशामन्तर्मृत्युं पातितवान्। 'अशनाया मृत्युरेवे' ति श्रुतेः। अशनायारूपो मृत्युर्देहेन सहैव जायते। तस्मात् प्रत्यहमनुभूयमानो मृत्युर्नित्य इति। अथ वाब्दशतान्ते वा प्राणिना मृत्युः सिद्ध एव, वीरेतिसम्बोधनमेवङ्कथनेपि भयाभावाय। अब्दशतान्ते मृत्युः सर्वेषामभिमत इति तदैव वाकाशवाणी सत्या भविष्यतीति न मारणमुचितमितिभावः॥३८॥

अनुवाद — हे कंस! इसको मारने से तेरी मृत्यु जो अवश्य होने वाली है, वह टलेगी नहीं। इसका गर्भ या किसी दूसरे का गर्भ तुझे मारेगा तो अवश्य ही। यदि कहो कि मृत्यु टलेगी नहीं, किन्तु कुछ समय रुकने से उसमें विलम्ब तो होगी। इस पर कहते हैं कि विलम्ब तो यों भी है ही। यह देवकी तो तुझे नहीं मारती है तथा न मारेगी और मारने वाला इसका आठवां गर्भ भी अब जन्म नहीं लेता है। इसलिये विलम्ब के कारण मारना भी व्यर्थ है। अतः इसका वध करना तो तेरे बच जाने का उपाय नहीं।

मृत्यु तो प्राणियों के जन्म के साथ जन्म लेती है, (मृत्युना एव इदं आवृतं) वृहदारण्यक के प्र. अ. श्री इस श्रुति में कहा गया है कि यह सब मृत्यु से घिरा हुआ

था। भगवान् ने प्राणियों को उस मृत्यु से बाहिर निकाला और मृत्यु को प्राणियों के भीतर स्थापन किया, वह भीतर स्थित मृत्यु का रूप अशना भूख है। यह भूख रूप मृत्यु देह के साथ पैदा होती है इसलिये। (अशना या मृत्युरेव) इस श्रुति में कहा है कि मृत्यु का रूप भूख है। अतः प्राणियों की वह मृत्यु नित्य होती है। इसका प्रत्येक प्राणी को अनुभव है। जब भोजन नहीं मिलता है, भूख सताती है तो प्राणी के मुख से ये शब्द निकलते हैं कि मैं भूखों मरता हूँ जल्दी भोजन दो नहीं तो मेरे प्राण निकलते हैं। इससे निश्चय है कि आज वा सौ वर्ष के अनन्तर मृत्यु तो होने वाली ही है। वसुदेवजी ने कंस को हे वीर! संबोधन देकर यह बताया कि तू शूरवीर है तुझे भय नहीं करना चाहिये। सौ वर्ष के बाद भी तो मृत्यु सब मानते ही हैं। तब ही आकाशवाणी सत्य होगी। अतः इस प्रकार विचार पूर्वक समझ लेने से आपको इसका वध करना उचित नहीं है॥३८॥

आभास— न च देहत्यागे क्लेशो भविष्यतीति क्लेशनिवृत्त्यर्थमौषधपानवदस्या मारणमुचितमित्याह देह इति।

हे कंस! आप यों भी नहीं समझना कि देह के त्याग करने में जो दुःख होगा वह इसके वध से निवृत्त^१ हो जायगा। इसके लिये इसका वध मेरे दुःख निवृत्ति की औषधि जानकर यह कर्म करता हूँ। निम्न श्लोक से कंस को समझाते हैं कि देह त्याग में कोई क्लेश नहीं होता है।

श्लोकः — देहे पञ्चत्वमापन्ने देही कर्मानुगोवशः।

देहांतरामनुप्राप्य प्राक्तनं त्यजते वपुः॥३९॥

श्लोकार्थ — जब परवश जीव को कर्म के अनुसार इस देह को छोड़ना पड़ता है तब दूसरी देह को प्राप्त करने के पश्चात् पहिली देह का त्याग करता है॥३९॥

सुबोधिनी — देहे पञ्चत्वमापन्ने पञ्चमहाभूतेष्वशतो लीने सत्ययं देहाभिमानी जीवो देहान्तरं नवीनं कल्याणतर प्राप्य प्राक्तनं मलप्रायं वपुस्त्यजते। ग्रहणे त्यागे वा नास्य प्रयासोस्ति यतः कर्मानुगः कर्मणैव तथोपस्थाप्यते। नाप्यस्य प्रयत्नापेक्षा यतोवशः। अनुप्राप्येति कालविलम्बो निराकृतः। अतः प्रयासाभावादौषधवदप्यस्या मारणमयुक्तम्॥३९॥

अनुवाद — जब जीव इस देह के त्याग की तैयारी करता है तब देह के पांचों तत्त्व पृथ्वी आदि पञ्चमहाभूतों में क्रमशः लीन होने लगते हैं। उसके पश्चात् देहाभिमानी जीव, कल्याणकारी नवीन दूसरी देह को पाकर पहिली मलरूप बनी हुई देह को छोड़ देता है। जूनी देह के त्याग तथा नयी देह के ग्रहण करने में जीव को परिश्रम नहीं करना पड़ता है। कारण कि जीव कर्म के आधीन है। कर्म जहां जीव को ले जाते हैं वहां उसको जाना ही पड़ता है। कर्म को उसको पहिली देह छोड़ाता है और नवीन देह दिलाता है। जीव को परिश्रम करने की भी अपेक्षा नहीं है क्योंकि वह कर्म के आधीन है। 'अनुप्राप्य' शब्द से यह बताया है कि इस एक देह को छोड़कर दूसरी लेने में काल को कुछ भी विलम्ब नहीं होता है। देह के त्याग तथा ग्रहण करने में परिश्रम न होने से औषध लेने की तरह भी इसका वध करना अयोग्य है ॥३६॥

आमास—किञ्चदेहान्तरप्राप्तौ विलम्बो भविष्यतीत्यपि न शङ्कनीयमित्याह व्रजन्निति।

पहिली देह छोड़कर दूसरी देह की प्राप्ति में विलम्ब होगा, यह भी शङ्का मन में नहीं लानी चाहिये। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोकः — व्रजंस्तिष्ठन् पदैकेन यथैवैकेन गच्छति।

यथा तृणजलौकैवं देही कर्मगतिं गतः ॥४०॥

श्लोकार्थ — जैसे चलता हुआ मनुष्य पृथ्वी पर आगे के एक पैर से देह को टिकाकर पीछे दूसरा पांव उठाता है तथा जैसे तृणकीट अन्य तृण को पकड़कर प्रथम तृण का त्याग करता है वैसे जीव भी कर्म के अनुसार नवीन देह को प्राप्त करने के पश्चात् पहिली देह को छोड़ता है ॥४०॥

सुबोधिनी — यथा गच्छन् पुरुष एकेन पदा तिष्ठन्नेकेन गच्छति। प्रथमतः स्थितिः पश्चाद्गतिस्तथा प्रथमतो देहान्तरग्रहणं पश्चादस्य परित्यागः। गमने देशभेदस्य दुर्ज्ञेयत्वाद् दृष्टान्तान्तरमाह यथा तृणजलौकेति। तृणान्तरे स्थित्वा पूर्वतृणं त्यजतीति प्रत्यक्षसिद्धम्। यथात्र बुद्धिप्रयत्नौ तथा देहान्तरे कर्मगतयः। तदाह कर्मगतिं गत इति। कर्मगतिं देवतिर्यगादिदेहम् ॥४०॥

अनुवाद — जैसे पैदल जाने वाला मनुष्य प्रथम एक पैर से अगली भूमि पर स्थित होने के बाद, पीछे की भूमि से दूसरा पैर उठाता है, इससे यह सिद्ध हुआ कि पहले ठहरने का स्थान स्थिर कर पीछे आगे वाला स्थान छोड़ा जा सकता है, यों करने से हो चलने वाला मनुष्य चलने में सफल हो सकता है अन्यथा नहीं। विशेष समझाने

के लिये दूसरा दृष्टान्त देते हैं जैसे तृण कीट (तिनके का कीड़ा) दूसरे तिनके पर ठहरने के पश्चात् पहिले तृण का त्याग करता है यह प्रत्यक्ष सिद्ध है।

जिस प्रकार इस लौकिक कार्य में प्रयत्न तथा बुद्धि की आवश्यकता है वैसे ही देह धारण करने में कर्म की गति की आवश्यकता है। अर्थात् जीव कुछ नहीं कर सकता है वह कर्म के वश है। कर्म अनुसार देह का त्याग तथा देव तिर्यग् आदि देह की प्राप्ति होती है ॥४०॥

आभास— नन्वधिकप्रयासाभावेपि दृष्टान्तानुरोधेनाल्पप्रयासो भविष्यसि सोपि शीघ्रं मा भवत्विति मारणमिति चेत्तत्राह स्वप्ने यथेति।

यदि कंस कहे, कि अधिक प्रयास नहीं होगा किन्तु दृष्टान्त के अनुसार थोड़ा प्रयास तो होगा, वह भी जल्दी न हो इसलिये इसका वध करता हूँ। तो इसका उत्तर निम्न श्लोक से देते हैं।

श्लोकः— स्वप्ने यथा पश्यति देहमीदृशं मनोरथेनाभिनिविष्टचेतनः।

दृष्टश्रुताभ्यां मनसानुचिन्तयन् प्रपद्यते तत् किमपि ह्यपस्मृतिः ॥४१॥

श्लोकार्थ — जीव को कुछ देखता है अथवा शास्त्रों से सुनता है उन विषयों का मन से चिन्तन करता रहता है, और उसी प्रकार के पदार्थों अथवा देहों की प्राप्ति की इच्छा करता है जिससे उसके मन में वे संस्कार दृढ़ हो जाते हैं। इसी कारण से जीव स्वप्न में वैसी देह मुझे मिली है ऐसा देखता है यहां तक कि अपनी देह को भूल जाता है। जैसे स्वप्न में होता है वैसे ही जाग्रत में भी यों ही होता है इसमें किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ता है ॥४१॥

सुबोधिनी — न हि स्वप्नदेहग्रहणे परित्यागे वाणुमात्रमपि प्रयास उपलभ्यते। वैलक्षण्यमपि कदाचिदेव प्रतीयते न सर्वदेत्याहेदृशमिति। ननु स्वप्नदेहः कर्मसाध्यो न भवतीति न प्रयास इति चेत्तत्राह मनोरथेनाभिनिविष्टचेतन इति। मनोरथेन तत्तद्वस्तुभावनया मनोगत्या कर्मणा तादृशे देहे तदुपभोग्ये विषये वाभिनिविष्टा चेतना बुद्धिर्यस्य। मनोरथेनापि स्वप्नो दृश्यते। ज्ञानकर्मणी च तत्र भवतः। यथा लोकान्तरगतौ “तं विद्याकर्मणी समारभेते पूर्वप्रज्ञा चे” ति। ततः स्वप्नदेहलोकान्त-रदेहयोस्तुल्यत्वान्न ग्रहणपरित्यागयोः प्रयासः। न च वक्तव्यं मनोरथस्य तत्र कारणता नास्तीति यतो दृष्टश्रुताभ्यां प्रत्यक्षशास्त्राभ्यां प्रमाणाभ्यां मनसा राजादिदेहमिन्द्रादिदेहं वानुचिन्तयस्तत्र प्रतिपद्यते स्वप्ने राजाहमस्मीन्द्रोहमस्मीति। पूर्वदेहस्य तु स्मरणमपि नास्ति कुत्र ग्रहण परित्यागप्रयास सम्भावना?

तदाहापगता स्मृति पूर्वदेहस्मरणं यस्य। तत् पूर्वानुभूतमेव किमप्यनिर्वचनीयम्। स्वापिकस्य मायिकत्वात्। 'तदुदितः स हि यो यदनन्तर' इतिन्यायेन स्वप्नो मनोरथहेतुक इति॥४१॥

अनुवाद — स्वप्न के समय देह के ग्रहण तथा परित्याग में थोड़ा सा भी परिश्रम नहीं होता है और विलक्षणता^१ भी कभी-कभी ही प्रतीत होती है, सदा नहीं होती है। स्वप्न की देह में इसलिए प्रयास नहीं होता है क्योंकि वह कर्म द्वारा प्राप्त नहीं की जाती है, बिना कर्म के ही मिलती है। इस पर कहते हैं कि वह भी यों ही नहीं देखने में आती है किन्तु उसके लिए एक प्रकार का कर्म करना पड़ता है। वह कर्म है 'मनोरथ'। जीव मनोरथ से जब जिस-जिस देह वा वस्तु की भावना करता है तब उस जीव की बुद्धि उस देह अथवा उससे भोग्य विषय का रूप बन जाती है। उस ज्ञान और कर्म से ही 'स्वप्न' आते हैं। जैसे दूसरे लोक देह की गति में विद्या, ज्ञान तथा कर्म सहायक होते हैं। उनके द्वारा ही उसका प्रारम्भ होता है। वैसे ही स्वप्न में देहादि का आरम्भ भी ज्ञान एवम् कर्म से युक्त मनोरथ से ही होता है। इस प्रकार दोनों देहों की समानता है और इसलिए दोनों के ग्रहण तथा परित्याग में कोई प्रयास या परिश्रम नहीं है। यों भी आप नहीं कह सकते हो कि स्वप्न की देह में मनोरथ कारण नहीं है क्योंकि प्रत्यक्ष अथवा शास्त्र श्रवण द्वारा जो कुछ विषय मन में स्थित होते हैं उनका चिन्तन होता रहता है। जो दिन का चिन्तन किया जाता है वही प्रायः स्वप्न में देखने में आता है यह प्रत्येक का अनुभव है ही। कभी-कभी पूर्व जन्मों के संस्कारों का भी मन में स्मरण ही आता है कि मैं राजा था वा इन्द्र था अथवा युद्ध में सिर कट गया वा किसी कर्म से फाँसी हुई वे संस्कार भी जागृत हो जाते हैं और उनका अनुभव भी स्वप्न में होता है। अतः स्वप्न में मनोरथ रूप कर्म ही कारण है। यदि आप कहो कि पूर्व देह (जन्म) की स्मृति ही नहीं है तो ग्रहण और त्याग की सम्भावना (कल्पना) कैसी होगी ? इस पर कहते हैं 'अपगत स्मृतिः' जीव को देह सम्बन्धी स्मृति नहीं रहती है। 'स्वप्न' तो वह है जो पूर्व काल में कभी भी अनुभव किया गया है। अतः इसको अनिर्वचनीय (जिसका पूरा वर्णन नहीं किया जा सकता है) कहा जाता है। मन में पहिले मनोरथ पैदा होता है, उससे स्वप्न उत्पन्न होता है, इससे स्वप्न का कारण मनोरथ है। उस

मनोरथ का कारण केवल दृष्ट^१ या श्रुत^२ है और वह स्वप्न निद्रा के समय आने से, मनोरथ किये हुए विषय पूरी तरह से दिखने में नहीं आते हैं, कारण कि निद्रा भी माया का रूप है, उसमें आने से स्वप्न को भी मायिक कहते हैं ॥४१॥

आभास— किञ्च देहस्योत्पत्तिमरणे न त्वात्मनः । आत्मा तु तदध्यासाज्जायते म्रियते वा । तदाह यतो यत इति ।

‘यतोयतः’ इस निम्न श्लोक में कुछ और भी समझाते हैं । जैसा कि जीव न उत्पन्न होता है और न नाश होता है, उत्पत्ति तथा नाश देह का होता है, जीव को देह में अध्यास (देह ही मैं हूँ) समझने से अपना जन्म और मरण होना मान लेता है ।

श्लोकः — यतो यतो धावति दैवनोदितं मनो विकारात्मकमाप पञ्चरुः ।

गुणेषु मायारचितेषु देह्यसौ प्रपद्यमानः सह तेन जायते ॥४२॥

श्लोकार्थ — दैव के द्वारा प्रेरित, अनेक विकारों से भरा हुआ मन माया से उत्पन्न जिन २ पञ्चभूतात्मक देहादिकों में से दौड़कर आता है अर्थात् जिन को छोड़कर आता है और जिन देहों को प्राप्त करता है अर्थात् ग्रहण करना चाहता है, उनमें अभिनिवेश^३ होने से जीव भी मन के साथ उसमें जन्म लेता है ॥४२॥

सुबोधिनी — अस्मिन्निद्धान्ते मन एव देहग्रहणपरित्यागयोर्हेतुस्तच्च मनो विकारात्मकं नानाविकाराः सङ्कल्पविकल्पात्मका आत्मा यस्य । तस्य प्रेरकं कालकर्मभगवदिच्छानामन्यतरदैवशब्दवाच्यम् । तेन दैवेन प्रेरितं मनो मायारचितेषु विषयेषु मोहेनोत्तमत्वं प्रापितेषु मध्ये यस्माद्यस्माद्यं यमर्थं विहाय यत्र यत्र लग्नं भवति तत्र तत्रैवासौ देही तदेव प्रपद्यमानोहमिति मन्यमानस्तेन सह जायते न तु स्वतः । मनश्च यदा यद्भावयिष्यति तादृशो देहो भविष्यति यच्च त्यक्ष्यति तद्रमिष्यति । विषयास्तु समा एव । एवमपि सति यमेवार्थं मन उत्कृष्टत्वेन मन्यते तदस्मादुत्कृष्टं भवतीति नोत्कृष्टदेहरक्षार्थं इयं मारणीयेत्यर्थः ॥४२॥

^१ देखा हुआ

^२ सुना हुआ

^३ आग्रह बुद्धि

अनुवाद — इस सिद्धान्त^१ में (असुरों के मत में) मन ही देह के ग्रहण तथा त्याग का कारण है। सङ्कल्प तथा विकल्प रूप, अनेक प्रकार के विकार रूप आत्मावाला मन है। उस मन को प्रेरणा करने वाला दैव है। काल कर्म और भगवदिच्छा प्रत्येक को दैव कहा जाता है। तीनों में से अधिकारानुसार किसी एक से प्रेरित होकर मन, माया से रचित विषयों में, मोह से जिन जिन विषयों के उत्तम समझता है उन २ विषयों में से किसी का त्यागकर, जिनको ग्रहण करना चाहता है उनमें आसक्त हो जाने से उनमें ही मन के साथ जीव जन्म लेता है अपने आप जन्म नहीं लेता है। मन जैसी भावना करता है वैसी देह बनती है और जिस भाव को छोड़ देता है वह देह नष्ट हो जाती है अर्थात् छूट जाती है। यद्यपि सब विषय समान हैं तो भी मन जिसको उत्तम समझता है वह उसके लिये उत्तम है वही विषय उस (मन) को प्राप्त होता है वा वह (मन) उस विषय को ग्रहण करता है। आपके मन को यह देह उत्तम जची इसलिये उसने यह ग्रहण की है। अतः इस उत्तम देह की रक्षा के लिये इस देवकी का वध नहीं करना चाहिये ॥४२॥

आभास— एवं मनोऽनुसरणेन देहानुसरणमपि मोहादेव प्रतिबिम्बन्यायेन न त्वात्मनस्तथात्वमस्तीत्याह ज्योतिरिति ।

जीव जैसे मन के पीछे चलता है वैसे ही देह का भी अनुसरण मोह से करता है। वह अनुसरण आत्मा का नहीं है किन्तु वह प्रतिबिम्ब या परछाई के समान है। अर्थात् जैसे बिम्ब के चलने से ही प्रतिबिम्ब चलता है अपने आप नहीं चलता है वैसे ही जीव अपने आप जन्म आदि ग्रहण नहीं करता है मन के पीछे घसीटता जाता है। जीव का वास्तविक रीति से देहादि में कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार उसका जन्म आदि होता है उसका प्रतिपादन निम्न श्लोक से करते हैं।

श्लोक: — ज्योतिर्यथैवोदकपार्थिवेष्वदः समीरवेगानुगतं विभाव्यते ।

एवं स्वमायारचितेष्वसौ पुमान् गुणेषु रागानुगतो विमुह्यति ॥४३॥

^१ कस असुर प्रकृति का है अतः वसुदेवजी उसको असुर सिद्धान्त से समझाना योग्य समझ कर इस श्लोक में असुरों का सिद्धान्त कहते हैं।

श्लोकार्थ – जैसे जल से भरे हुए मिट्टी के पात्रों में प्रतिबिम्ब रूप से रहे हुए सूर्य तथा चन्द्र, वायु के वेग से कम्पायमान दीखते हैं इसी प्रकार माया से रचित अन्तःकरण युक्त देहों में राग के कारण आत्मा अर्थात् जीव अपने को कृश और स्थूल समझकर मोहित होता है ॥४३॥

सुबोधिनी – उदकयुक्तेषु पार्थिवेषु शरावादिषु तथोदकस्थानीयमन्तःकरणं पार्थिवस्थानीयो देहः । उदकेषु उदकयुक्तेषु पार्थिवेषु काचादशादिषु वा समीरवेगाश्चाञ्चल्यमालिन्यादयस्तैरनुगतं सूर्यादिज्योतिर्विभाव्यते । प्रतिबिम्बितस्यैव सूर्यादेस्तत्सम्बन्धो नाकाशादिस्थितस्य । अद इति । सम्बन्धाभावायाकाशादिस्थितः प्रदर्शितः । एवमेव स्वमोहेन रचितेषु सम्यक्तयाभिमतेषु देहेन्द्रियादिष्वसौ जीवः पुमान् भगवानेव रागेणानुगतस्तेन सहैकत्वं प्राप्तः प्रतिबिम्बन्यायेन प्रविष्टो विशेषेण मुह्यति । यस्मादेहसम्बन्धो भ्रमादतो न तद्वशादात्मनोपकारः कर्तव्यः ॥४३॥

अनुवाद – जैसे आकाश में स्थित सूर्य वा चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब^१ नदी के जल में अथवा जल से भरे हुए मिट्टी के बर्तनों में पड़ता है, तब वायु से जल को हिलते देखकर अज्ञान^२ समझते हैं कि सूर्य वा चन्द्र हिलता है और न कि प्रतिबिम्ब हिलता है यों समझना अज्ञानों की अज्ञता^३ है । केवल जल हिल रहा है पर उसके द्वारा भ्रम से समझा जाता है कि वे हिलते हैं । वैसे ही यहां अन्तःकरण, जल है और मृत्तिका का बर्तन, देह है मोह, वायु है उस मोह रूप वायु से अन्तःकरण चलायमान होकर देहादि द्वारा अनेक कार्यों में मन को आसक्त कराता है । यों तो जीव भगवद्रूप है किन्तु मोह के कारण मन का अनुगामी^४ होने से देहादिकों में एकत्व को प्राप्त होता है अर्थात् मोह के तथा अज्ञान अथवा अध्यास के कारण अपने को देह इन्द्रियादि समझकर भ्रम में पड़ जाता है । अतः इससे समझना चाहिये कि देह का सम्बन्ध भ्रम से है अतः उस भ्रम के वश होकर आत्मा की हानि नहीं करनी चाहिये ॥४३॥

आभास— एवं तत्त्वं निरूप्य देहरागान्नात्मनोऽपकारः कर्तव्य इति यदुक्तं तल्लोकेपि तुल्यमिति वदन् मारणे भेदात्मकं भयं प्रदर्शयति तस्मादिति ।

^१ परछाई ।

^२ नासमझ ।

^३ मूर्खता ।

^४ पीछे चलने वाला ।

वसुदेवजी कंस को इस प्रकार तत्त्व समझाकर निम्न श्लोक में कहते हैं कि देह में प्रेम होने से आत्मा की बुराई नहीं करनी चाहिये। लोक में भी, इस देह के कारण आत्मा (जीव) की बुराई करने को अच्छा नहीं करते हैं। यों कहते हुए वसुदेवजी अब देवकी के वध से भेदात्मक भय होना दिखाते हैं। अर्थात् वध तब किया जाता है जब जिसका वध किया जाता हो उसको अपने से पृथक् दूसरा समझा जावे। यह भेद दृष्टि भयावह^१ है तथा अपकार करने वाली है।

श्लोक: — तस्मान्न कस्यचिद् द्रोहमाचरेत् स तथाविधः ।

आत्मनः क्षेममन्विच्छन् द्रोधुर्वै परतो भयम् ॥४४॥

श्लोकार्थ — जिसकी आत्मा के कल्याण की इच्छा हो वह किसी से द्रोह न करे। क्योंकि द्रोह करने वाले को जिसका वह द्रोह करता है उससे सदैव भय बना रहता है। और उसको यह भी समझना चाहिये कि देह नाशवान् है वह तो नाश होगी ही, फिर उसकी रक्षा के भ्रम में दूसरे का द्रोह क्यों करूं ? ॥४४॥

सुबोधिनी—यस्माद्देहो नात्मा तस्माद्देहार्थं कस्यचिदपि द्रोह नाचरेत्। यतः स तथाविधः। यादृशो हन्यते तादृशः। अनेन स्वसाम्येन दया निरूपिता। यथा स्वरक्षा विचार्यते तथा पररक्षापि विचारणी— येत्युपदेशफलम्। अविचारे बाधकमाहात्मनः क्षेममन्विच्छन्निति। यदि विचारयति तदात्मनोपि क्षेमो भवति सोपि विचारयतीति। यदि न विचारयति तदा द्रोधुर्घातकस्य परतो मार्यात् मत्त एव तव भयं भविष्यतीत्यर्थः ॥४४॥

अनुवाद — जब यह देह आत्मा नहीं है तब उस देह की रक्षा के लिये किसी का भी द्रोह नहीं करना चाहिये। अपनी देह भी वैसी ही है जैसी अन्य की नाश की जाने वाली देह है अतः उस देह को अपनी देह के समान समझकर उस पर दया ही करनी चाहिये। यों उपदेश करने का फल यह है कि जैसे अपनी रक्षा का विचार किया जाता है कि मेरा कोई भी वध न करे किसी प्रकार भी मैं वध से बच जाऊं तो अच्छा है, इसी प्रकार दूसरों की रक्षा के लिये भी विचार करना चाहिये। जो मनुष्य दूसरे की रक्षा का विचार नहीं करता है तो उसमें जो बाधक (रुकावटें) आते हैं वे बताते हैं। जब मनुष्य

अपने क्षेम (कल्याण-सुख) को चाहता हुआ दूसरे की रक्षा का विचार करता है तो वह अपना भी क्षेम होगा यों विचार करता है अर्थात् दूसरे की रक्षा से (हित से) मेरी भी रक्षा (हित) होगी। नहीं तो द्रोह करने वाले को दूसरे से (जिसको वह मारता है उससे) भय होगा। अर्थात् वह भी इसका (घातक का) द्रोह करेगा अर्थात् इसको मारेगा। इसलिये यदि तुम इसका वध करोगे तो वह मेरा ही वध है कारण कि यह मेरी पत्नी होने से मेरा आधा भाग है अतः मुझसे तुझे भय होगा अर्थात् कभी भी मैं तुझे मार दूँ॥४४॥

आभास-लौकिकव्यवहारेणापि मारणं नोचितमित्याहैषा तवानुजेति।

लोक के व्यवहार से इसका वध करना योग्य नहीं है। इसका वर्णन निम्न श्लोक से कहते हैं।

श्लोक: — एषा तवानुजा बाला कृपणा पुत्रिकोपमा।

हन्तुं नार्हसि कल्याणीमिमां त्वं दीनवत्सलः॥४५॥

श्लोकार्थ — यह आपकी छोटी बहिन अभी ८ वर्ष की ही है और दुःखी तथा उदास है एवं आपकी तो यह पुत्री के समान है। आपको, जो दीनों पर प्रेम करने वाले हो, इस कल्याण रूप वाली जिसके शरीर पर अभी विवाह के आभूषण हैं दया तथा स्नेह करने योग्य बहिन का वध करना योग्य नहीं है॥४५॥

सुबोधिनी — लोके कनिष्ठभगिनी स्नेहपात्रं भवति तत्रापि बालाष्टवार्षिकी लालनयोग्या तत्रापीयं दीना भयविह्वला चातुर्यानभिज्ञा च। पुत्रिकोपमा प्रतिमोपमा। तस्मादेषैव परं नेया न तु मारणमुचितमित्याह हन्तुं नार्हसीति। कल्याणीं विवाहालङ्कारयुक्ताम्। इमामिति। प्रदर्शनेन दयामुत्पादयति। त्वं च दीनवत्सलः। अनाविष्टस्वरूपस्य तथात्वात्। स हि तमनाविष्टमेव मन्यते॥४५॥

अनुवाद — लोक में छोटी बहन तो स्नेह करने के योग्य है, उसमें भी वह आठ वर्ष की होने के कारण दुलार करने योग्य है तथा यह भय से व्याकुल है और इसमें चतुराई भी अभी तक नहीं आई है। अतः काष्ठ की पुतली जैसी अबोध है। अतः अपने को वध को छुड़ाने के लिये कुछ प्रार्थना भी नहीं कर सकती है। इसके सिवाय आप से छुड़ा के भाग जाय वह भी शक्ति वा युक्ति इसमें नहीं है और अभी तक विवाह के आभूषण शरीर पर होने से मङ्गल (कल्याण) स्वरूपा है इसीलिए ऐसी का वध करना योग्य नहीं है। इसको तो अब श्वशुरगृह ही लेजाकर छोड़ आना योग्य है कारण कि

~~~~~  
 आप दीनों पर दया करने वाले हो। वसुदेवजी इस समय कालनेमी का आवेश कंस में न समझकर कहते हैं क आप दीनों पर दया करने वाले हो ॥४५॥

आभास—(एवं) शास्त्रार्थनिरूपणेन दयाभयादिजननेपि न मारणान्निवृत्त इत्याहैवमिति ।

वसुदेवजी ने कंस को शास्त्रों का तत्त्व बताया और दया भय आदि भी उस कंस में पैदा किया, किन्तु कंस ने मारने का निश्चय छोड़ा नहीं। उसका वर्णन निम्न श्लोक से करते हैं।

श्री शुक उवाच

श्लोक — एवं स सामभिर्भेदैर्बोध्यमानोपि दारुणः ।

न न्यवर्तत कौरव्य पुरुषादाननुव्रतः ॥४६॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी कहने लगे कि — हे परीक्षित, इस प्रकार वसुदेवजी ने साम और भेद से समझाया तो भी राक्षसों का अनुसरण करने वाला वह क्रूर कंस देवकी के वध से निवृत्त नहीं हुआ ॥४६॥

सुबोधिनी — भेदा आत्मानात्मविवेकपरमार्थलौकिकभयरूपाः । साम ज्ञानं साम्यं दया च । एवमनेकप्रकारेणापि बोध्यमानो दारुणो दैत्यात्मा न न्यवर्तत । तस्माद्वधान्निवृत्तो न जातः । तत्र हेतुः पुरुषादान् राक्षसाननुव्रतोनुसृतः । पुरुषादाननु मारणलक्षणं व्रतं यस्येति वा । आविष्टो हि तथैव ॥४६॥

अनुवाद — वसुदेवजी नीति के ज्ञाता थे इसलिये उन्होंने साम और भेद से कंस को समझाया । प्रथम भेद नीति समझाई जिसमें उसको कहा कि आत्मा (जीव) का स्वरूप यह है और अनात्मा, (देहादि) का स्वरूप यह है और पाप कर्म से परलोक नरकादि की प्राप्ति तथा लोक में अपकीर्ति होती है इत्यादि भय बताये । उसके पश्चात् साम नीति से समझाया जिसमें ज्ञान, समानता तथा दया का उपदेश दिया । ऐसे अनेक प्रकार से भेद और साम नीति द्वारा समझाने पर भी वह कठोर चित्त दैत्यात्मा इस वध के कार्य करने से रुका नहीं । कारण कि उससे राक्षसों के समान वध का व्रत धारण कर रखा था । कंस में कालनेमि आविष्ट<sup>१</sup> थे अतः उसके तुल्य<sup>२</sup> यह भी करेंगे ही ॥४६॥

आभास—एवं पूर्वप्रयास उपदेशात्मके विफले जाते पुनर्भगवदिच्छया प्रकारान्तरेण समाधानार्थं यत्नं कृतं वानित्याह निर्बन्धमित्यष्टभिः ।

अयं लौकिको नालौकिकेन परमार्थेन निवर्ततेतोस्य लौकिक्येव युक्तिर्वक्तव्या । तस्माद्युक्तेः स्फूर्तिः प्रथममुच्यते । सा च । पुत्रदानात्मिका । तस्याश्चायुक्तत्वमाशङ्क्य युक्त्या युक्तत्वसमर्थनम् । ततः स्फुरितस्योपायस्यानुवादः सोपपत्तिकः । तस्यैव प्रतिकूलतर्कपराहत्या समर्थनम् ।

<sup>१</sup> घुसा हुआ, प्रवेश हुआ

<sup>२</sup> बराबर

अशक्तावदृष्टशरणागतिः । तस्याप्युपायस्य ग्रहणार्थं साधनानुष्ठानम् । तत उद्योगः कथनञ्चेति ।  
अलौकिकस्फुरणात् तस्याङ्गीकारः । तेनायमुपाय आपाततः सफलः ।

इस प्रकार उपदेशरूप प्रथम प्रयास जब सफल न हुआ तब भगवान् की इच्छा से वसुदेवजी फिर अन्य प्रकार के समाधान करने के लिये प्रयत्न करने लगे । उसका वर्णन (निबंधं तस्य) श्लोक से आठ श्लोकों में करते हैं :-

यह कार्य लौकिक है इसलिये पारमार्थिक एवं अलौकिक युक्तियों से इस कार्य को कंस छोड़ेगा नहीं अतः अब लौकिक युक्ति ही करनी चाहिये । वह युक्ति जिसकी मन में स्वतः स्फूर्ति हो आई प्रथम वह कहते हैं । वह युक्ति यह थी कि, जो पुत्र उत्पन्न होगा वह तुझे उसी समय मैं दूंगा । पुत्र दे देना अयोग्य देखने में आता है, किन्तु उनका समर्थन युक्ति से करते हैं कि पुत्र देना योग्य है फिर जो उपाय ध्यान में आया उसका उपपत्ति<sup>१</sup> पूर्वक अनुवाद करेंगे । उसके बाद में श्लोक में प्रतिकूल तर्क देकर उसका खण्डन करते हुए प्रथम दी हुई युक्ति का समर्थन करेंगे । पांचवें श्लोक में अशक्त होने पर अदृष्ट<sup>२</sup> बलवान है उसके ऊपर भरोसा रखना चाहिये यों कहकर समझाया है । उस प्रारब्ध के उपाय को ग्रहण करने के लिये साधन छठे श्लोक में बताये गए हैं । सातवें श्लोक में उद्योग कहे हैं । आठवें श्लोक में वसुदेवजी के मन में अलौकिक शक्ति की स्फुरणा से आये हुए वचनों की अङ्गीकृति का वर्णन है । तात्पर्य यह है कि वसुदेवजी का यह प्रयत्न भगवान की प्रेरणा से होने के कारण सफल हो गया ।

आभास—पूर्वोपायवैयर्थ्यमनुवदति निर्बन्ध तस्येति ।

इस श्लोक में प्रथम किये हुए उपाय की विफलता बताते हैं —

श्लोकः — निर्बन्धं तस्य तं ज्ञात्वा विचिन्त्यानकदुन्दुभिः ।

प्राप्तं कालं प्रतिव्योदुमिदं तत्रान्वपद्यत ॥४७॥

<sup>१</sup> हेतु देकर उसका समर्थन

<sup>२</sup> प्रारब्ध

**श्लोकार्थ** — वसुदेवजी उस<sup>१</sup> का इस देवकी के वध करने का आग्रह देखकर विचार करने लगे कि इस अवसर को युक्ति से टालना चाहिये, इसके टालने के लिये वसुदेवजी के मन में निम्न विचार उत्पन्न हुए ॥४७॥

**सुबोधिनी** — तस्य कंसस्य वधरूपं तं निर्बन्धमवश्यक्रियासाधनयत्नं तच्चेष्टया ज्ञात्वातः परं किं कर्तव्यमिति विचिन्त्येदमग्रे वक्ष्यमाणमन्वपद्यतेतिसम्बन्धः। विरोधस्त्वेनाशक्यो दृष्टप्रकारेणा—लौकिकप्रकारेण च। अन्ये उपाया निवर्तिताः। अतः परं द्वयमवशिष्यते। इयं वा देया। अस्या पुत्रा वा। एतस्या दान एतां मारयिष्यत्येव। मत्सम्बन्धिपुत्राणामाकाशवाण्यामश्रुतत्वाद् देवद्वारापि तथात्वशङ्कया मारणमावश्यकम्। इदानीं स्वतो मारयति पश्चान्मारणे तु ममापि दोषः स्यादिति। पुत्रदानं चायुक्तं यतः स पुत्रो भगवद्रूपो भविष्यतीत्यानकदुन्दुभिपदेन ज्ञापितम्। तस्य जन्मन्यानका दुन्दुभयश्च नेदुरिति तत्र भगवदुत्पत्तिरावश्यकी। सापि न भार्यान्तरे। आकाशवाणीप्रामाण्यात्। एवं सङ्कटे पतित आनकदुन्दुभिः स्वस्मिन् भगवदुत्पत्तिं निश्चित्यास्यामेवेत्यपि पुत्रदानमेव कर्तव्यत्वेन ज्ञातवान्। तदपि न सर्वथा। भगवद्वैमुख्यप्रसङ्गे सति भगवदवतार एव न स्यादिति। तदाह प्राप्तं कालं प्रतिव्योदुमिति। इदानीं मृत्युः प्राप्तस्तस्याः स दूरीकर्तव्योयुक्तमप्युक्त्वेतीदं पुत्रदानलक्षणं तत्र तस्मिन् समयेन्वपद्यत। अकस्माद्दृष्टे समागतमित्यर्थः ॥४७॥

**अनुवाद** — वसुदेवजी ने, कंस की आवश्यक क्रिया, साधन और प्रयत्न रूप चेष्टा से जान लिया कि वह देवकी का वध अवश्य करेगा ऐसा इसका आग्रह<sup>२</sup> है, अब मुझे इसको बचाने के लिये क्या उपाय करना चाहिये। यह जो आगे कहा जायगा उसकी मन की स्फूर्ति हुई। इस कंस के साथ लौकिक व अलौकिक प्रकार से विरोध करना मेरी शक्ति से बाहर है। दूसरे उपाय कर चुका हूँ जो विफल हुए हैं। अब शेष<sup>३</sup> दो उपाय हैं — (१) एक तो देवकी इसे देदूँ अथवा (२) इसको जो पुत्र होंगे वे इसे दे दूँगा। इस देवकी को देदूँगा तो कंस अवश्य इसका वध करेगा। क्योंकि आकाशवाणी के जो शब्द सुने गये हैं उनमें यों तो नहीं कहा गया है कि वसुदेव से उत्पन्न हुआ, आठवां गर्भ तुझे मारेगा। किन्तु देवकी का वह गर्भ, देव द्वारा होने वाला समझकर, कंस इसको अवश्य मारेगा। अब तो वह स्वतः मारता है पीछे मारने में मैं भी दोषी ठहरूँगा।

<sup>१</sup> कंस<sup>२</sup> हठ<sup>३</sup> बाकी



पुत्र देना भी योग्य नहीं, कारण कि वह आठवां पुत्र तो भगवद्रूप होगा। यह ज्ञान इन वसुदेवजी को इसलिये हुआ कि इनके जन्म के समय इसीलिये आनक और दुन्दभि बजने लगे थे कि इनके यहां भगवान् का प्राकट्य अवश्य होगा और वह भी देवकीजी से, न कि दूसरी स्त्री से, देवकीजी से ही होगा उसमें आकाशवाणी प्रमाण है। इस प्रकार विचार करते हुए वसुदेवजी संकट में थे कि क्या करना चाहिये ? वसुदेवजी को यह निश्चय हो गया कि, मेरे द्वारा इस देवकी से ही आठवां गर्भ भगवान् होगा। वह दूंगा ऐसा कहने से मैं भगवद्विमुख होता हूँ जिससे भगवान् अवतार ही न लेवे तो विशेष आपदा होगी, यों विचार करते हुए अचानक मन में यह युक्ति, जो पीछे कही जायगी स्फुरित हुई कि अभी तो इस अवसर को टालने के लिये कह दूं कि पुत्र होंगे वे आपको दे दूंगा। जब उनसे ही आपको भय है तो देवकी का वध क्यों करते हो। यद्यपि पुत्र दे दूंगा यह कहना ही योग्य नहीं है तो भी इस समय अयोग्य भी बोलकर मृत्यु को तो टाल ही देना चाहिये ॥४७॥

**आभास—**ननु 'प्रक्षालनाद्धि पङ्क्त्ये' त्यादिन्यायेनेदानीमेव कथं न तूष्णीम्भावस्तत्राह मृत्युर्बुद्धिमतापोह्य इति।

'कीचड में पैर डालकर पीछे उसको धोना' यों करने से पहले ही शान्ति क्यों नहीं की, इस पर कहते हैं कि बुद्धिमान को मृत्यु किसी भी प्रकार टालनी चाहिये, यह वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

**श्लोक: —** मृत्युर्बुद्धिमतापोह्यो यावद्बुद्धिबलोदयम्।

यद्यसौ न निर्वर्तेत नापराधोस्ति देहिनः ॥४८॥

**श्लोकार्थ —** बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि जहां तक अपनी बुद्धि पहुँचे वहां तक तो मृत्यु को टाल ही देने का प्रयत्न करें। इस प्रकार यत्न करते हुए भी मृत्यु नहीं टली तो यत्न करने वाले को कोई भी अपराधी नहीं कहेगा ॥४८॥

**सुबोधिनी —** अन्यथा भगवान् पश्वादिभ्यो विशिष्टानस्मान् किमित्युत्पादितवान्? अतो बुद्धिमता मृत्युरपोह्य स्वस्य परस्य वा। ननु कृत एवैकवारमुद्यम इति चेत्तत्राह यावद्बुद्धिबलोदयमिति। 'बलस्य च यावदभ्युदय उत्तरोत्तरोद्गतिः। न तु समता ह्रासो वा। तावद्विवेकवता यत्नं कर्तव्यं बुद्ध्या क्रियते' वा। ननु यथा पूर्वमुद्यमो विफलो जात एवमग्रेपि चेद्विष्यति तदा किमुद्यमेनेति चेत्तत्राह यद्यसौ मृत्युः निर्वर्तेत तदोपेक्षालक्षणोपराधो देहाभिमानिनो नास्ति। देहाभिमानी कालादिदण्डमर्हति। अतो

नापराधः कर्तव्यः । शास्त्रञ्च यच्छक्नुयात् तत् कुर्यादिति । फलं तु दैवाधीनमतोयमुपायः कर्तव्य इति निर्धारः ॥४८॥

**अनुवाद** — यदि मनुष्य होकर भी मृत्यु को टालने का प्रयत्न हम नहीं करते हैं तो भगवान् ने हम मनुष्यों को पशु आदिकों से जो विशेष बुद्धिमान् बनाया है वह किसलिये बनाया है । अतः बुद्धिमान् को अर्थात्, मनुष्य<sup>१</sup>, को चाहिये कि अपनी अथवा दूसरे की मृत्यु को टाल दे । एक बार यत्न करने पर मृत्यु नहीं टली, तो फिर हम क्या करें ? इस पर कहते हैं कि नहीं, एक बार प्रयत्न कर रुक न जाओ, किन्तु जहाँ तक बुद्धि का बल चले वहाँ तक प्रयत्न करते रहो । बुद्धिमान् को क्रिया से तथा बुद्धि से प्रयत्न करते रहना ही योग्य है । जैसे पहला प्रयत्न विफल हुआ वैसे आगे के प्रयत्न भी विफल होंगे तो बार बार उद्यम करने से क्या लाभ ? इस पर कहते हैं कि यदि बार बार उद्यम करने पर भी मृत्यु नहीं टली तो लोग उस मनुष्य के लिये यों नहीं कहेंगे कि उससे उपेक्षा<sup>२</sup> कर इसकी मृत्यु से नहीं बचाया, परन्तु यही कहेंगे कि इसने तो भरसक प्रयत्न किया इसका कोई दोष नहीं है । शास्त्र तो कहते हैं कि जितना बन सके उतना प्रयत्न करो । फल तो दैव के आधीन है । देहाभिमानी तो काल के दण्ड के योग्य होता ही है । वसुदेवजी ने इस प्रकार विचार कर, यह उपाय करना चाहिये ऐसा निर्णय किया ॥४८॥

**आभास—तमुपायमाह प्रत्यर्प्येति ।**

इस श्लोक में यह उपाय बताते हैं —

**श्लोकः — प्रत्यर्प्य मृत्यवे पुत्रान् मोचये कृपणामिमाम् ।**

**सुता मे यदि जायेरन् मृत्युर्वा न ग्रियेत चेत् ॥४९॥**

**श्लोकार्थ** — अभी तो पुत्रों को कंस के अर्पण का कहकर इस दीन देवकी को छुड़ा दूँ यदि मुझे बालक हो तो वे जीवित रहेंगे या मर जायेंगे अथवा देवकी की मृत्यु मर जाय अर्थात् मृत्यु टल जाय, क्या होगा ? उसका पता नहीं, इसको तो अब छुड़ा लूँ ॥४९॥

<sup>१</sup> बुद्धिहीन मनुष्य पशु के समान है ।

<sup>२</sup> लापरवाही

सुबोधिनी – मृत्युरयं कंसे निविष्टः प्रतीयते। तस्य हि सर्वे भक्ष्याः। अप्रतीकार्यश्च। स तु पुत्रान् कदाचिद्भक्षयिष्यत्येव। स चेदिदानीं मह्यं दास्यत्येतां तदा पुत्रानपि स एव दत्तवानतो दत्तस्य प्रतिदाने न कोपि दोषः। तथाकरणे विशेषमाह मोचये कृपणामिमामिति। इयमिदानीं मोचिता स्यात्। अधिकोरस्मिन् पक्षे लाभः। अरक्षायां तु नापि पुत्रा नापीयम्। नन्वेतदप्यनुचितम्। इयमेका पुत्राश्च बहवस्ते च बालका स्वस्यान्तरङ्गः। दोषाधिक्यञ्च। अर्पणञ्च न सम्भवति। इदानीं पुत्राणामभावात्। विद्यमानाविद्यमानयोः सिद्धवत्कारेण विषयविभागोप्यसङ्गतः। अतो धर्महानिप्रसङ्गाल्लोकापकीर्तेश्च नायमुपाय इति चेत्तत्राह सुता मे यदि जायेरन्निति। तेषां नरकत्राणाभावान्न पुत्रत्वम्। प्रसवाज्जायन्त इति सुतत्वमस्त्येव। पुत्रोत्पादनं स्वाधीनम्। तस्मादियं भिन्नतयैव स्थापनीया। तथा सति न कोपि दोषो भवेत्। प्राणरक्षाया ऋतुकालगमनापेक्षयाधिकफलत्वात्। नन्वेतदप्यशक्यं 'कामाच्चोदनयापि वे' तिचेत्तर्ह्येकः पुत्रो भवतु। नैकः पुत्र पुत्र इतिचेत्तर्हि द्वौ भविष्यतः। पुत्रयोर्यातयोर्नगमनेपि न दोषः। एतावती लौकिक्युपपत्तिः। अथालौकिकी। भगवदिच्छयाकाशवाणीप्रामाण्याच्च यदि मे बहव एव सुता जायेरस्तेपि बहुकालेनोत्पादनीयाः। कालेपि भगवदिच्छा चेत्तदा पुत्ररक्षार्थं मृत्युरेव म्रियेत। प्राणिमात्रे शतं मृत्युवस्तत्रतत्रस्थाने निरन्तरमुत्पद्यन्ते 'अत्रात्र वै मृत्युर्जायत' इतिश्रुतेः। तत्रतत्रैव प्रतीकारः कर्तव्यः। 'यत्रयत्रैव मृत्युर्जायते तत एवैनमवयजत' इतिश्रुतेः। तस्माद्य उत्पद्यते स म्रियत एव। अत इदानीमुत्पन्नो मृत्युः प्रतीकारे कृते म्रियेत। अन्यस्यान्य उपायः कर्तव्यः एको मृत्युरित्यपि पक्षः। तस्मिन्नपि पक्षे स नियतकालः। स चेदिदानीं निवृत्तः पुनस्तस्य कालाभावात् तं प्रति म्रियेतैव। अतः शब्दनित्यत्ववदस्या मृत्युरेव गच्छेत्। नन्वेकमृत्युमरणपक्षे मृत्योर्मरणं न श्रूयते 'लोकाल्लोकादेव मृत्युमवयजते नैनं लोके लोके मृत्युर्विन्दती' तिश्रुतेः। तत्राह मृत्युर्वा न म्रियेत चेदिति। तदा नियतत्वात् पुत्रान् समर्पयिष्ये। कंसो मृत्युरित्यप्यव्याख्यानम्। 'अत्रात्र वै मृत्युर्जायत' इतिश्रुति विरोधात्। मृत्योरधिकरणमेव सः। लक्षणया तत्परः शब्द इतिचेन्मृत्युत्वादेवामरणे सिद्धे व्यर्थोऽनुवादः प्रसज्येत। अस्तु वा तथा। सोप्याकाशवाणीप्रामाण्यान्न मरिष्यत्येव तथापि दास्यामीतिसम्बन्धः॥४६॥

अनुवाद – विश्वास किया जाता है कि मृत्यु कंस में प्रवेश हो गयी है, मृत्यु तो सबको खा जायगी, और वह मृत्यु टाली नहीं जा सकती है वह तो कभी न कभी पुत्रों को खायगी ही। इसने मुझे अब देवकी दी, तो मैं समझूंगा कि पुत्र भी दे दिये। अतः जो देता है उसको फिर लौटा देने में कोई दोष नहीं है। यों करने से पुत्र दूंगा ऐसा कहने मात्र से इस दीन देवकी को अब छुड़ा लूं। इस तरह का कार्य करने में ही विशेष लाभ है। यदि इसको नहीं छुड़ाता हूँ तो, न यह रहेगी और न पुत्र होंगे। इस प्रकार करना भी अनुचित है, क्योंकि यदि इसको छुड़ाऊंगा तो यह एक बचेगी और पुत्र बहुत देने पड़ेंगे तथा वे मेरे अपने अन्तरङ्ग अंग हैं, उनको देना (मरवाना) विशेष दोष है।

और पुत्रों का अर्पण करना भी कठिन है तथा अब तो पुत्र नहीं है। विद्यमान<sup>१</sup> और अविद्यमान<sup>२</sup> दोनों को समान समझ कर विषय का निर्णय कर लेना भी असङ्गत है, अर्थात् जो पदार्थ मौजूद नहीं है उसका अस्तित्व मानकर वह दूंगा वह कहना भी योग्य नहीं है। ऐसा करने से धर्म की हानि का प्रसङ्ग उपस्थित होगा तथा लोक में अपकीर्ति भी होगी। कारण की यदि पुत्र हुए उस समय मोह के कारण न दे सका तो प्रतिज्ञा लोप होने से अधर्म लगेगा अथवा पुत्र नहीं हुए तो देने की प्रतिज्ञा की पूर्ति न होने से भी अधर्म होगा जिससे लोक में अपकीर्ति<sup>३</sup> होगी। अतः यह भी उपाय ठीक नहीं है। इसके उत्तर में दो प्रकार की युक्ति '१—लौकिकी, २—अलौकिकी' देकर कहते हैं कि १—लौकिकी — जो मुझे बहुत 'सुत' पैदा होवें तो अर्पण करदूँ कारण कि वे सुत तो केवल पैदा होते हैं और पिता के जीवित होते ही मर जाते हैं अतः वे पिंडादिदान न देने से नरक से नहीं बचाते हैं जिससे वे पुत्र नहीं कह जाते हैं केवल उत्पन्न होने से 'सुत' कहे जाते हैं उनको देने में मन भी निषेध नहीं करेगा। अन्यथा पुत्र पैदा करना तो अपने अधीन है कैसे कि इस देवकी को अपने से अलग रख लूंगा। यों करने से कोई दोष नहीं लगेगा। दोष तो लगेगा क्योंकि शास्त्र कहता है कि ऋतु के समय पति को स्त्री के पास जाना चाहिये यह शास्त्राज्ञा का न मानना भी दोष है इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि ऋतु काल में जाने से प्राण रक्षा करना विशेष धर्म है। कह तो देते हो किन्तु यह भी करना कठिन है कारण कि एक तो शास्त्र की आज्ञा न मानना और दूसरा काम को रोकना दोनों को मनुष्य कर नहीं सकता है। एक पुत्र हो तो वह पिता पुत्रवान् नहीं अतः जब दो पुत्र हो जावें तब पिता पुत्रवान् माना जाता है उसके पश्चात् यदि स्त्री के पास न जावे तो दोष नहीं है। इस प्रकार लौकिक युक्ति कही, अब अलौकिक युक्ति देते हैं —

भगवान् की इच्छा से और आकाशवाणी की प्रमाणिकता से, जो मेरे यहां बहुत सुत होंगे तो भी उसमें विशेष समय लगेगा। इतने समय में यदि भगवान् की इच्छा

<sup>१</sup> जो मौजूद है।

<sup>२</sup> जो मौजूद नहीं।

<sup>३</sup> अपजस, निन्दा

होगी तो मृत्युरूप कंस ही मर जावे। श्रुति<sup>१</sup> में कहा है कि प्राणिमात्र को नित्य मृत्यु लेने आती है उसको टालना प्राणी मात्र का कर्तव्य है। जहां २ से भी मृत्यु आवे वहाँ २ से उसको रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। प्रकृति का नियम है कि जो उत्पन्न होता है वह नाश भी होता है। प्रकृति के इस नियमानुसार उत्पन्न होने वाली मृत्यु भी उपाय करने से नाश होती है। अब आयी हुई मृत्यु का प्रतीकार<sup>२</sup> से नाश किया जाय। फिर दूसरी बार आयगी तो दूसरा उपाय किया जायगा। एक पक्ष है कि मृत्यु एक है वह मृत्यु एक बार आती है और नियत समय पर आती है कारण कि वह अपने आने के काल के सिवाय दूसरे काल में नहीं आती है, अतः फिर काल के अभाव में नहीं आवेगी। तात्पर्य यह है कि जिस काल में मृत्यु होने वाली हो उस समय में वह न मरे, मृत्यु से छूट जाय तो समझना चाहिये कि उसके लिये मृत्यु की मृत्यु हो गई अर्थात् मृत्यु टल गई। इस कारण से जैसे शब्द नित्य है तो भी वह अभिव्यक्ति<sup>३</sup> करने वाले वायु के समय निकल जाने से सुनाई नहीं देता है वैसे ही देवकी की मृत्यु भी समय निकल जाने पर अपना कार्य नहीं कर सकेगी अर्थात् देवकी को नहीं मार सकेगी।

(मृत्यु एक है) उसकी मृत्यु होती है ऐसा कहीं भी सुनने में नहीं आया है। श्रुति कहती है कि, मनुष्य जहां से भी मृत्यु<sup>४</sup> आती है वहां से वह उसको हटा देता है, अतः मृत्यु मनुष्य के पास सब स्थानों में पहुँच नहीं सकती है। इस श्लोक में कहा है कि (मृत्युर्वान म्रियेत चेत) जो मृत्यु न मरे तो, अर्थात् देवकी की मृत्यु न टल सके तो पुत्र देने ही योग्य है क्योंकि मृत्यु तो निश्चित ही है। (कंस) मृत्यु है वह मर जाय, ऐसा अर्थ करना (अत्रात्र वै मृत्युर्जायत<sup>५</sup>) इस श्रुति के विरुद्ध है। आचार्य श्री कहते हैं कि कंस को मृत्यु का अधिकरण<sup>६</sup> यदि लक्षणा से कंस की मृत्यु माना जाय तो भी मृत्यु मरती नहीं है इसलिये वैसा अनुवाद करना व्यर्थ है। वैसा अनुवाद कंस मृत्यु है वह मर

<sup>१</sup> अत्रात्र वै मृत्यु जायत इति श्रुते।

<sup>२</sup> उपाय

<sup>३</sup> प्रकट

<sup>४</sup> लोकाल्लोका देव मृत्यु भव यजते नैनं लोके लोके मृत्युर्विन्दतीति श्रुतिः।

<sup>५</sup> देवकी के वध से विपरीत कंस की मृत्यु क्यों न हो।

<sup>६</sup> रहने का स्थान

जाय मान भी लिया जाय तो भी आकाशवाणी के वचन प्रमाण होने से कंस मरेगा नहीं क्योंकि उसको देवकी का आठवां गर्भ मारेगा। अतः मृत्यु का अर्थ (कंस) करना सर्व प्रकार विरुद्ध है। जब यों है तो मैं (पुत्र) दूंगा ॥४६॥

**आभास**—ननु कथमेवमयुक्तं कर्तुं शक्यते तत्राह विपर्ययो वा किं न स्यादिति।

पुत्रदान, पुत्र को मारने के लिये कंस को देने जैसा अयोग्य कार्य वसुदेवजी कैसे करते हैं ? इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं कि —

**श्लोकः** — विपर्ययो वा किं न स्याद्गतिर्धातुर्दुरत्यया।

उपस्थितो निवर्तत निवृत्तः पुनरापतेत् ॥५०॥

**श्लोकार्थ** — अथवा जिस प्रकार हम सोच रहे हैं उसके विपरीत<sup>१</sup> क्यों न हो जावे ? कारण कि भगवान् की गति को कोई नहीं जान सकता है। उपस्थित<sup>२</sup> मौत टल जाती है। टली हुई फिर आ जाती है ॥५०॥

**सुबोधिनी** — वाणीप्रामाण्याच्चेत्तस्यामरणं तदा तत एव विपर्यय एव किं न भवेत् मत्पुत्रादेवास्य मरणमिति ? नन्वेतद्युक्तिबाधित बालस्तव पुत्र इति चेत्तत्राह गतिर्धातुर्दुरत्यया। धातुर्भगवतो गतिरुत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपा दुरत्यया दुःखेनाप्यतिक्रमितुं ज्ञातुमशक्यत्वात्। न हि लौकिकयुक्त्या भगवतो वध्यघातकभावो निर्णेतु शक्यः। “अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजये” दितिवाक्यात्। तस्मात् पुत्रदानकथनेन साम्प्रतमियं रक्ष्या पश्चादेतत्पुत्रैरयञ्च वध्यस्तस्मादेतत्कर्तुमुचितम्। तदाहोपस्थितोस्या मृत्युरेवं कृते निवर्ततेति। एतन्मारणेन निवृत्तोप्याकाशवाण्योक्तो मृत्युरेतत्संरक्षायां पुनरापतेत्। तस्मात् कंस वधार्थमेवैवम्नन्त्रणेन संरक्ष्येत्यर्थः। धातुर्गतिरेव निवृत्तेति केचित्। एतस्याप्यनङ्गीकारे क्षणविलम्बेनेदानीं निवृत्तः पश्चादापतेच्चेत् तदा ‘नापराधोस्ति देहिन’ इतिपूर्वगैव सम्बध्यत इति वा ॥५०॥

**अनुवाद** — आकाशवाणी के कहने के अनुसार कंस का तो जब तक इसका मारने वाला आठवां गर्भ उत्पन्न न हो तब तक मरण होगा नहीं अतः इससे विपरीत कार्य ही क्यों न हो जाय ? अर्थात् मेरे पुत्र से कंस का वध क्यों न हो जाय। यह वसुदेवजी का कहना युक्ति विरुद्ध है कारण कि कंस जैसे शूर को उनका पुत्र बालक होने से कैसे मार सकेगा ? इस पर कहते हैं भगवान् की गति को कोई नहीं जान

<sup>१</sup> उल्टा, विरुद्ध

<sup>२</sup> आयी हुई।

सकता है। किस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति, और प्रलय करता है उसका ज्ञान किसी को नहीं है, कितने भी प्रयत्न करने पर उसका पता लगाना कठिन है। किसी भी लौकिक युक्ति से यह नहीं जाना जा सकता है कि भगवान् किसको मरवाना चाहता है और किसको उसका मारने वाला बनाना चाहता है। अतः शास्त्रों में कहा है कि (अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्) अलौकिक भावों को तर्कों की सहायता से समझने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये। क्योंकि वे तर्क से नहीं समझे जा सकते हैं। इस कारण से (पुत्र) दूंगा यों कह कर अब इस देवकी की रक्षा की जाय। पीछे इसके पुत्रों द्वारा यह मारा जायगा। इसलिये यों करना योग्य है। इससे आयी हुई इसको मृत्यु टल जायगी। इसके मारने से छूटी हुई मृत्यु फिर इसकी रक्षा करने वाली हो जाय और कंस की घातक बन जाय। इस विचार से भी यह देवकी रक्षा के योग्य है।

श्रीधर स्वामी का कहना है कि श्लोक के पूर्वार्द्ध में (गतिर्धातुर्दुरत्यया) जो कहा है उस वाक्य का विवरण उत्तरार्द्ध में किया गया है। आचार्य श्री इस विचार से सम्मत नहीं हैं।

आचार्य श्री इस उत्तरार्द्ध को सम्बन्ध (नापराधोऽस्ति देहिन) इस ४८ वें श्लोक से बताते हुए कहते हैं कि — जो पुत्र देने का विचार छोड़ा जाय तो जो देवकी की मृत्यु थोड़े समय के लिये भी टाली जाती है वह नहीं टलेगी अतः पुत्र देने का कहकर इसकी मृत्यु अब टाली जाय यदि पुनः आ जायगी तो — ४८वें श्लोक में कहे हुए के अनुसार देही का कोई अपराध नहीं है अर्थात् फिर मैं अपराधी नहीं बनूंगा ॥५०॥

आभास—ननु यद्यपि परमार्थोयं तथापि लोकविरुद्धं न कर्तव्यं पुत्रदानमनुचितमिति चेत्तत्राहाग्नेरिति।

जो कि यह विचार (पुत्र देने का कह कर देवकी को बचा लेना) उत्तम है, तो भी लोक के विरुद्ध है और पुत्र देना भी उचित नहीं है अतः यह नहीं करना चाहिये। इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं कि —

श्लोकः — अग्नेर्यथा दारुवियोगयोगयोरदृष्टतो न्यत्र निमित्तमस्ति।

एवं हि जन्तोरपि दुर्विभाव्यः शरीरसंयोगवियोगहेतुः ॥५१॥

**श्लोकार्थ** — वन के अग्नि दावाग्नि से जैसे समीप वाले वृक्ष नहीं जलते हैं दूरवाले जल जाते हैं इसमें अदृष्ट के सिवाय कोई अन्य कारण नहीं है, वैसे ही मनुष्य के शरीर का जन्म तथा मरण कब होगा, किससे होगा और कैसे होगा यह भी समझ में नहीं आता है क्योंकि जिसका जैसा भाग्य होगा वैसा ही होगा ॥५१॥

**सुबोधिनी** — न हि मया समर्पित इत्येव म्रियते किन्तु यदि तथादृष्टं भविष्यति तदैव मरणम् । तत्रोपपत्तिररण्ये दावानलेन दह्यमाने निकटस्थितः कश्चिन्न दह्यते दूरस्थितश्च दह्यते । तस्मादत्र निमित्तमदृष्टमिति । पुत्रादीना देहवियोगयोगयोरप्यदृष्टमेव निमित्तम् । हि युक्तश्चायमर्थो भरतादिषु दृष्टः । स हि हरिक्षेत्रे हरिणदर्शने मृतः कालञ्जरे हरिणो जात इति । किमत्र हरिणशरीरग्रहणे तत्रापि कालञ्जरे निमित्तं दृष्ट सम्भवति ? जन्तुश्च जीवः सर्वत्र जायमानस्तत्र दृष्टस्य बाधितत्वाच्छरीरसयोगवियोगहेतुर्दुर्विभाव्यः । तस्माददृष्टवशात् पश्चात् किमप्यस्तु । इयं तु साम्प्रतं मोचनीयेति ॥५१॥

**अनुवाद** — मैं कंस को पुत्र दूंगा इससे ही वह मरेगा, यों नहीं है क्योंकि यदि पुत्र के भाग्य में कंस के हाथ से मरना लिखा होगा तो मरेगा नहीं लिखा होगा तो वह इसको मार नहीं सकेगा । इस कथन का दृष्टान्त देकर समर्थन करते हैं कि, जैसे दावाग्नि (जंगल में स्वतः लगी हुई अग्नि) पास के पेड़ों को तो नहीं जलाती है किन्तु दूर खड़े हुए वृक्षों को भस्म कर देती है, कारण कि जिनके भाग्य में जलना लिखा था वे जल गये जिनके भाग्य में जलना नहीं लिखा था वे बच गये । यह सब अदृष्ट का खेल है जिसका जैसा अदृष्ट हो उसको वैसा ही फल मिलता है । इसी प्रकार का पुत्र आदि के जन्म तथा मरण में अदृष्ट ही कारण है । श्लोक में (हि) शब्द से बताया है कि (अदृष्ट ही कारण) ऐसा कहना योग्य ही है । अदृष्ट ही कारण है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव भरतादिकों के चरित्र से किया हुआ है जैसा कि भरत ने हरिक्षेत्र में मरण समय में पाले हुए हरिण को देख (उसका ही ध्यान रहने से) शरीर त्यागा था जिससे वह कालिञ्जर में हरिण हुआ । कालिञ्जर में जन्म और हरिण देह प्राप्ति ये दोनों क्या दृष्ट कारण से प्राप्त हुए ? नहीं इन दोनों का कारण पूर्व जन्म में किया हुआ कर्म, जिसको भाग्य, अदृष्ट वा प्रारब्ध कहते हैं वह है । जीव का जन्म सर्वत्र होता है । वहाँ जन्म क्यों हुआ ? इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण दिखने में नहीं आता है । अतः उसके जन्म तथा मरण का



क्या कारण है उसका पता लगाना कठिन है। इसलिये प्रारब्ध के वश पीछे, जो होने वाला होगा, वह भले ही, अब तो इसको छुड़ाना ही योग्य है।।५१।।

**आभास—निर्धारितमित्याहैवं विमृश्येति।**

वसुदेवजी ने यह विचार कर जो कुछ करने का निर्णय किया उसको श्री शुकदेवजी निम्न श्लोक में कहते हैं कि —

**श्लोक: — एवं विमृश्य तं पापं यावदात्मनिदर्शनम्।**

**पूजयामास वै शौरिर्बहुमानपुरस्सरम्।।५२।।**

**श्लोकार्थ —** शुकदेवजी ने कहा कि वसुदेवजी इस प्रकार विचार कर उस प्रसिद्ध तथा पापी कंस की बहुत आदर से जितनी बुद्धि थी उतनी बुद्धि के अनुसार पूजा करने लगे।।५२।।

**सुबोधिनी —** स्वकर्तव्येयं विमर्शः। कंसश्चेत्तदङ्गीकुर्यात्तदा सिध्येत्। तस्य सिद्धिर्दुर्घटा तस्य दूषणानि वदन् प्रयत्नाधिक्यं कृतवानित्याह। तं प्रसिद्धं दिग्विजयिनं पापमेतादृशकर्मकर्तारं पूजयामास। पूजायां हि स्वस्मिन् स्थितो भावादिः पूज्ये समारोप्यते। ततः कार्यं सेत्स्यतीति। अयमलौकिक उपायः। ननु किमर्थमेतावत् कृतवानित्याह यावदात्मनिदर्शनमिति। आत्मनो निदर्शनं ज्ञानं यावद्भवति दृष्टादृष्टभेदेन तावदुपायकरणं युक्तमिति। प्रथममदृष्टोपायं कृतवानित्याह पूजयामासेति। वै निश्चयेनेति। पूजने कार्यसिद्धिं निश्चितां मत्वा। तत्र स्वदेवता समारोपितेति बहुमानपुरस्सर पूजा। इयं पूजा स्तोत्रनमस्कारप्रह्वीभावात्मिका। एवङ्करणे ज्ञानप्राप्तेर्हेतुमाह शौरिरिति। शूरो वसुदेवस्य पिता।।५२।।

**अनुवाद —** वसुदेवजी ने यही विचार स्थिर किया कि इसको (देवकी को) बचाना मेरा कर्तव्य है। किन्तु यह तब सफल होगा जब कंस मेरी प्रार्थना स्वीकार करे। इसकी सफलता होनी तो कठिन दिखने में आती है। क्योंकि एक तो यह प्रसिद्ध दिग्विजयी है जिससे इसमें अहङ्कार भी है और दूसरा पापी भी है जो बहिन को मारने से नहीं डरता है। अतः इसको शान्त कर अपनी प्रार्थना स्वीकार कराने के लिये वसुदेवजी विशेष प्रयत्न करने लगे। वह प्रयत्न कहते हैं कि — उसकी पूजा करने लगे। पूजा करना यह अलौकिक उपाय है कारण कि पूजा में अपने हृदय में स्थित भाव को जिसका पूजन किया जाता है उसमें स्थापित करना पड़ता है तब उस पूजा से कार्य सफल होता है। इतना बड़ा प्रयत्न क्यों किया? इस पर कहते हैं। कि कार्य की सिद्धि कराने के लिये,

मनुष्य को चाहिये कि जहाँ तक अपनी बुद्धि से उपाय हो सके वहाँ तक उपाय करते रहना चाहिये। वह उपाय दृष्ट तथा अदृष्ट कारण को जानने में समर्थ हो तब तक करना ही चाहिये। प्रथम अदृष्ट का अलौकिक उपाय पूजन किया। पूजन से कार्य सिद्धि अवश्य होगी ऐसा समझ कर पूजन किया इसलिये श्लोक में "वै" शब्द दिया है जिसका अर्थ है 'निश्चय से'। वह पूजा भी साधारण रीति से नहीं की थी किन्तु अत्यन्त मान के साथ पूजन किया जैसे कि अपने देवता को कंस में स्थापित करने के पश्चात् देववत् उसका पूजन किया। यह पूजा स्तोत्र तथा नमस्कार एवं नम्रता<sup>१</sup> से भाव<sup>२</sup> पूर्वक की गई थी। इसी प्रकार की पूजा का ज्ञान वसुदेवजी ने कहाँ से प्राप्त किया था ? इसे उत्तर में कहते हैं कि "शौरि" वसुदेवजी शूरसेन के पुत्र हैं अतः यह ज्ञान उनको पिता से प्राप्त हुआ ॥५२॥

**आभास**—पूजयित्वा विज्ञापनां कृतवानित्याह प्रसार्येति।

पूजा करने के अनन्तर प्रार्थना करने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

**श्लोकः** — प्रसार्य वदनाम्भोजं नृशंसं निरपत्रपम्।

मनसा दूयमानेन प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥५३॥

**श्लोकार्थ** — वसुदेवजी अपने मुख रूप कमल को विकसित कर, मन में अप्रसन्न थे तो भी हँसते, निर्लज्ज तथा निर्दयी कंस को यों कहने लगे ॥५३॥

**सुबोधिनी** — स्वस्य वदनाम्भोजं प्रसार्य विकसितं कृत्वात्मानमप्रतारकं हि ज्ञापयित्वाधिष्ठानस्य दुष्टत्वादरोपिता देवता तत्र स्थास्यति न वेतिसन्देहाद् दूयमानेन दुःखाविष्टेनान्तःकरणेनोपलक्षितोपि तदाकारसङ्गोपनार्थं प्रहसन्नेतावत्यर्थं किमेतावत् क्रियत वदन्नेवेदं वक्ष्यमाणमब्रवीत्। अधिष्ठाने दूषणद्वयं येन देवता न सन्निहिता भवति। ०क्रौर्यलज्जाभावौ भवन्ति। तावाह नृशंसं निरपत्रपमिति। कामसेवका एव निरपत्रपा 'पृष्ठस्वकृतह्रीभया' इतिवाक्यात्। नृशंसः क्रूरात्मा तामसक्रोधयुक्तः ॥५३॥

**अनुवाद** — वसुदेवजी ने अपने मुख कमल को इसलिये प्रफुल्लित किया कि जिससे कंस समझ जावे कि वसुदेवजी मुझे धोखा नहीं देते हैं और मेरा हित ही

हैं। वसुदेवजी ने अपने इष्ट देवता को कंस में स्थापित तो कर दिया परन्तु मन में सन्देह रह गया था कि इस दुष्ट में मेरे देवता विराजेंगे वा निकल आवेंगे। इस कारण से वे वसुदेवजी दुःखित मन वाले थे, तो भी उस दुःख को छिपाने के लिये अच्छे प्रकार से हँसते हुवे यह वक्ष्यमाण<sup>१</sup> वचन कहने लगे। वसुदेवजी ने अपने देवता को जिस अधिष्ठान (कंस) में स्थापित किया था। उसमें मुख्य दो दोष थे जिससे उसमें देवता का विराजना जचता नहीं। वे दो दोष क्रोध तथा काम के कारण रूप 'निर्दयता' और 'निर्लज्जता' हैं। जो काम के सेवक अर्थात् कामी होते हैं वे निर्लज्ज होते हैं और निर्भय भी होते हैं। तथा जो निर्दयी होते हैं वे क्रूर एवं तामस (क्रोध वाले) भी होते हैं। ॥५३॥

आभास—आत्मीयतया तं गृहीत्वा हितमिवाह न चास्यास्त इति।

कंस को अपनापन दिखाते हुए मानो उसका हित की बात कह रहे हो, इस प्रकार वसुदेवजी निम्न श्लोक में कहते हैं —

श्लोकः — न चास्यास्ते भयं सौम्य यद्वि त्वाहाशरीरवाक्।

पुत्रान् समर्पयिष्येस्या यतस्ते भयमुत्थितम् ॥५४॥

श्लोकार्थ — वसुदेवजी कहने लगे कि हे सौम्य ? जो कुछ आकाशवाणी ने कहा है तदनुसार देवकी से तो आपको भय है ही नहीं।

तो इसको क्यों मारते हो ? यदि कहो कि इसके पुत्र होंगे वे मुझे मारेंगे इसलिये इसको मारता हूँ तो जिनसे आपको भय है वे पुत्र आपको ला दूंगा। अतः इसको छोड़ दो।

सुबोधिनी — अस्याः सकाशात् ते भयं न चास्ति चकारान्मत्तो भविष्यति वा। वाणीप्रामाण्यादेव। अतो निरपराधवधो न कर्तव्यः। सौम्येतिसम्बोधन सौम्यो भव विज्ञापितं कुर्वितिबोधनार्थम्। अत्रार्थे प्रमाणमाह यद्वि त्वाहेति। एतदुभयत्रापि प्रमाणम्। अतोस्याः पुत्रान् तुभ्यं समर्पयिष्ये। यतः पुत्राद्वाक्यतस्ते भयं सम्यगुत्थितम्। निवेदिते त्वीदयस्त्वां न मारयिष्यति। कापट्यशङ्काभावाय बहुवचनम् ॥५४॥

अनुवाद — इससे अथवा मुझसे भी आपको भय नहीं है। क्योंकि आकाशवाणी ने स्पष्ट कहा है कि इसका आठवां गर्भ तुझे मारेगा। जब वाणी ने यों कहा है तब इस

<sup>१</sup> जो पीछे कहते हैं।

बिना अपराध वाली का वध क्यों करते हो, ऐसा नहीं करना चाहिये। आप सौम्य बनें और मेरी प्रार्थना स्वीकार करो जिनसे आप को भय है, मैं वे पुत्र आपको समर्पण करूंगा। वे आपके पुत्र हो जायेंगे आपके होने पर आपको नहीं मारेंगे। मैं कपट से नहीं कहता हूँ किन्तु आपके हित के लिये कह रहा हूँ और वाणी ने तो आपकी मृत्यु केवल आठवें गर्भ से कही है मैं तो इतना निष्कपट होकर आपका भला चाहता हूँ जो भी पुत्र होंगे वे आपको दूंगा। क्योंकि आप मेरे सम्बन्धी हो, सम्बन्धी का हित करना सम्बन्धी का कर्तव्य है ॥५४॥

**आभास**—एवं दृष्टादृष्टोपायस्य कृतत्वादङ्गीकृतवानित्याह सुहृद्वधादिति।

इस प्रकार दृष्ट एवं अदृष्ट उपाय करने से कंस ने वसुदेवजी का कहना स्वीकार किया, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं —

**श्लोकः** — सुहृद्वधान्निवृत्ते कंसस्तद्वाक्यसारवित्।

वसुदेवोपि तं प्रीतः प्रशस्य प्राविशद्गृहम् ॥५५॥

**श्लोकार्थ** — श्री शुकदेवजी कहते हैं कि — वसुदेवजी के वचनों के सार को समझ कंस बहिन के वध को निवृत्त हुआ। वसुदेवजी भी प्रसन्न हुए, कंस की प्रशंसा कर घर हो गये ॥५५॥

**सुबोधिनी** — विवेक उत्पन्ने विचारप्रवणं चित्तं जातमतः सुहृदियं भगिनी किमिति हन्तव्येति सुहृद्वधान्निवृत्ते। वसुदेवः प्रतारयतीति तु शङ्का नास्ति यतस्तद्वाक्यस्य सारं सत्यमयं जानाति वसुदेवो न कदाचिदप्यनृतवादीति। अत एव भगवदवतारः। निवृत्तः। रथं प्रेरयित्वा गृहे नीतावित्यध्यवसीयते। अत एव वसुदेवोपि तन्मनोगतकालुष्यस्य गतत्वात् प्रीतः सन् प्रशस्य पुनः स्तुत्वा मार्गस्थातीतत्वाद् गृहं प्राविशत्। एवमनर्थसमाधानं कथञ्चित् कृतम् ॥५५॥

**अनुवाद** — वसुदेवजी के उपदेशों को सुनकर कंस के मन में विवेक (विचार शक्ति, जिससे क्या करना और क्या नहीं करना इसके तत्त्व को जान लेना) उत्पन्न हुआ जिससे उस कंस को यह ज्ञान हुआ कि यह बहिन है इसका वध कैसे किया जाय। यों समझकर बहिन के वध से हट गया।

कंस के मन में इस प्रकार की शङ्का ही उत्पन्न न हुई कि वसुदेवजी मुझे धोखा देते हैं, क्योंकि उसने वसुदेवजी के वचनों का सार समझ लिया जिससे उसने जाना कि यह जो कहते हैं वह सत्य है और उसको यह भी पता था कि वसुदेवजी सत्यवक्ता

है। सत्यवक्ता होने के कारण ही वसुदेवजी के यहां भगवान् प्रकट हुए। तदनन्तर कंस ने दोनों बहिन तथा बहिनोई को घर पहुँचाने के लिये रथ को चलाया। रथ को चलाते देखकर वसुदेवजी ने भी समझ लिया कि कंस के मन से अब कालास निकल गया है जिससे प्रसन्न होकर मार्ग में तब तक कंस की प्रशंसा करने लगे जब तक घर में प्रवेश किया। इस प्रकार वसुदेवजी ने अनर्थ को कैसे भी शान्त करा दिया।।५५।।

आभास—एतद्भगवतैव कृतमिति वक्तुमग्रिमं कार्यं समीचीनमेव जातमित्याह षडभिरथेति।

यह कार्य वसुदेवजी के कहने से कंस का देवकी के वध से हट जाना भगवान् ने ही किया। यों कहने के लिये कहते हैं कि आगे का कार्य बिना विघ्न के श्रेष्ठ प्रकार से होगा। इसका वर्णन छः श्लोकों से करते हैं।

श्लोक: — अथ काल उपावृत्ते देवकी सर्वदेवता।

पुत्रान् प्रसुषुवे चाष्टौ कन्यां चैवानुवत्सरम्।।५६।।

श्लोकार्थ — अनन्तर गर्भधारण के योग्य काल के आने पर सर्व देवरूप देवकी ने प्रतिवर्ष में एक एक बालक को निर्विघ्न प्रकट किया इस प्रकार आठ वर्षों में आठ पुत्र और एक कन्या उत्पन्न हुई।

सुबोधिनी — अथ तदनन्तरमेव शीघ्रमेव। काल ऋतुसमये। उपावृत्ते जातेष्टवर्षमध्ये सर्वानेव पुत्रान् सुषुवे। कन्यायामासक्तिर्जातेति कन्याञ्च। अनुवत्सरमिति। प्रतिवत्सरमेकैकं पुत्रो जातः। पूर्णगर्भाश्च ते। एव निरुपद्रवतया प्रसवे हेतुः सर्वदेवतेति। सर्वा देवता रक्षणार्थं यत्र। कन्या नवमी। चकारस्तज्ज्ञापकः। प्रसवे न कोपि संवत्सरो व्यवहित इत्युपसर्गः।।५६।।

अनुवाद — इसके अनन्तर शीघ्र ही ऋतुकाल आया जिससे देवकीजी गर्भ को धारण करने के योग्य हो गई। ऐसे समय होने पर उनने आठ ही वर्षों में आठ पुत्र उत्पन्न किये तथा उनको कन्या होने की आसक्ति (पूर्ण चाह) थी। अतः एक कन्या को भी जन्म दिया। प्रति वर्ष एक-एक पुत्र हुए। वे सब पूर्ण गर्भ थे अर्थात् पूरे दिन होने पर जन्मे थे। किसी बालक के उत्पन्न होने में किसी प्रकार का विघ्न नहीं हुआ। कारण कि देवकीजी में सर्व देवता विराजमान थे। वे जहाँ रक्षक होवें वहाँ विघ्न कैसे आवेंगे।

आठ पुत्र हो गये अनन्तर आसक्ति के कारण नवमी कन्या भी हुई। श्लोक में आये 'च' शब्द का यह आशय है और प्रसव में (बालक के उत्पन्न होने में) कोई वर्ष खाली नहीं रहा। यह 'अनु' उपसर्ग से जाना जाता है।

आभास—यथैतया पुत्राः प्रसूतास्तथा वसुदेवोपि स्वोक्तं कृतवानित्याह कीर्तिमन्तमिति।

श्लोकः — कीर्तिमन्तं प्रथमजं कंसायानकदुन्दुभिः।

अर्पयामास कृच्छ्रेण सोनृतादतिविह्वलः॥५७॥

श्लोकार्थ — असत्य के भय से अत्यन्त व्याकुल वसुदेवजी ने, प्रथम ही उत्पन्न हुआ कीर्तिमान पुत्र कष्ट से कंस को समर्पित किया॥५७॥

सुबोधिनी — ज्येष्ठो हि पुत्रः सर्वेषामदेयस्तत्रापि महान्। तादृशमपि दत्तवानिति स्वस्य धर्मनिष्ठतां ज्ञापयितुं कीर्तिमन्तं प्रथमजमित्युक्तम्। कंस इतिनाम्ना क्रौर्यज्ञापितम्। आनकदुन्दुभिरिति सत्यवाक्यत्वे हेतुः। स्वयं गृहीत्वार्पयामास। कृच्छ्रेण कष्टेन शोकं संस्तभ्य। नन्वनृतकथनमप्यधर्मः पुत्रसमर्पणमपि तत्र प्राणसङ्कटेनृतं न जुगुप्सितमिति पुत्रमेव कथं न स्थापितवानित्याशक्याह सोनृतादतिविह्वलः। यतोयमानकदुन्दुभिः। अस्य पुत्रापेक्षयापि सत्यमेव संरक्ष्यं भगवत्प्रापकम्। पुत्रास्तु देहसम्बन्धिनः। सत्यं तु भगवत्सम्बन्धि। तथा सत्यनृते कृते न भगवत्सान्निध्यं भविष्यतीत्यतिविह्वलः॥५७॥

अनुवाद — वसुदेवजी ने अपने धर्म में श्रद्धा तथा स्थिरता बताते हुए पहला उत्पन्न हुआ कीर्तिमान पुत्र, जो ज्येष्ठ और महान् होने के कारण, कोई भी नहीं दे सकता है उसको भी दे दिया। श्लोक में कंस नाम देने का आशय यह है कि वह क्रूर स्वभाव वाला है और आनक दुन्दुभि नाम देकर यह बताया गया है कि यह नाम प्रतिज्ञापालन रूप सत्यधर्म का कारण है। पुत्र को दूसरे के द्वारा कंस के पास न भेजकर स्वयं वसुदेवजी ने ले जाकर अर्पण किया। उस समय वसुदेवजी के मन में स्वाभाविक कष्ट तो हुआ किन्तु कष्ट से उस शोक को मन में ही दबा दिया। यह श्लोक में आये हुए 'कृच्छ्रेण' पद का भाव है।

१ गोपु. प्रकाश में कहते हैं कि श्लोक में आये हुए पहले 'च' का आशय है कि देवकी को कन्या उत्पन्न हो, ऐसी चाह हुई। दूसरे 'च' का आशय है नवमी कन्या हुई और 'तज्ज्ञापकत्वं' का आशय है कि वह कन्या सुभद्रा थी।

जैसे असत्य बोलना अधर्म है। अतः वैसे ही मृत्यु के लिये पुत्र का देना भी अधर्म है। ऐसी अवस्था में प्राणों पर जब सङ्कट आता हो तो झूठ बोल देना निन्दित नहीं है, इस विचार से पुत्र को न देना ही ठीक था। इसके उत्तर में कहा गया है कि 'अनृतात् अतिविह्वलः' मैं असत्यवादी न बन जाऊँ, इस भय से वसुदेवजी बहुत व्याकुल थे। कारण कि उन वसुदेवजी के जन्म के समय देवों ने इसलिए बड़े नगारे और नौबत बजाई थी कि वे सत्यवादी हैं। अतः इनके यहाँ भगवान् होंगे। वसुदेवजी को तो पुत्र से भी सत्य की ही रक्षा विशेष अच्छी लगी क्योंकि वह सत्य भगवान् प्राकट्य कराने वाला है। पुत्रों का तो केवल देह से सम्बन्ध<sup>१</sup> है और सत्य का भगवान् से सम्बन्ध है। जब वैसा है तो सम्य की ही रक्षा करनी योग्य है। यदि अनृत<sup>२</sup> करूँगा तो भगवान् प्राकट्य हमारे यहाँ नहीं होगा। इससे विह्वल<sup>३</sup> थे ॥५७॥

आभास—ननु पुत्रसमर्पणं दृष्टं सत्यमदृष्टं कथं दृष्टादृष्टयोर्वाध्यबाधकभाव इति चेत्तत्राह किं दुस्सहमिति।

पुत्र का समर्पण<sup>४</sup> दृष्ट है अर्थात् इस समर्पण से जो फल (पुत्र की मृत्यु) होने वाला है वह तो प्रत्यक्ष देखने में आता है और सत्य अदृष्ट है अर्थात् सत्य की रक्षा के लिए पुत्र दे देने से जो उस सत्य का फल होगा वह अदृष्ट अर्थात् देखने में नहीं आता है कि क्या होगा ? इस शङ्का निवारण के लिए निम्न श्लोक कहते हैं—

श्लोकः — किं दुस्सहं तु साधूनां ? विदुषां किमपेक्षितम् ?।

किमकार्यं कदर्याणां ? दुस्त्यजं किं धृतात्मनाम् ? ॥५७॥

श्लोकार्थ — साधु पुरुष, सबको सहन कर सकते हैं, ऐसी कोई क्रिया नहीं है जिस को वे सहन न कर सकें। जो ज्ञानी हैं उनको किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रहती है। जो कदर्य<sup>५</sup> है वह किसी भी कुकृत्य करने से नहीं हिचकता है। जिनने अपने

<sup>१</sup> देह सम्बन्ध अनित्य है और भगवत्सम्बन्ध नित्य है। अतः वसुदेवजी ने नित्य भगवत्सम्बन्ध को मुख्य मानकर सत्य की ही रक्षा की है। — अनुवादक

<sup>२</sup> असत्य, झूठ

<sup>३</sup> घबराये हुए

<sup>४</sup> देना

<sup>५</sup> सबको सब प्रकार की पीडा देने वाला

मन को वश कर लिया है और भगवान् को हृदय में धारण कर लिया है, वे सब कुछ त्याग कर सकते हैं ॥५८॥

सुबोधिनी - पुत्रस्यादाने किं मोहो हेतुर्लौकिकः शास्त्रं वा ? आद्यं दूषयति साधूना शत्रुमित्रोदासीनेषु तुल्यस्वभावानां किं दुस्सहम् ? मोहवशादेव पुत्रादिवियोगो दुस्सहस्तदभावे यथा पुत्रस्तथा कसः । ततश्च कंसघातकः पुत्रो न रक्ष्य इति युक्तं दानम् । अथ 'पुत्रेण जयते लोकान् पुत्रेण वसुतामेति पुत्राम्नो नरकात् त्रायत' इति 'त्वं यज्ञ' इत्यादिवाक्यैः पुत्रकृतोपकारोपेक्षित इति चेत्तत्राह विदुषां ज्ञानयुक्तानां किं बहिःस्थितमपेक्षितमिति ? न साधनं नापि फलम् । ननु तथापि वधार्थं स्वतो बालकमज्ञं समर्पयतीत्ययुक्तमिति चेत्तत्राह किमकार्यं कदर्याणामिति । असमर्पिते वसुदेवमनृतवादिनं ज्ञात्वा कृतसमयबन्धस्य निवृत्तत्वात् सर्वानेव पुत्रान् सर्वा भार्या मां च मारयेदत्तस्त्यजेदेकं कुलस्यार्थ इतिन्यायेनार्पणमेवोचितम् ; न चैतन्न करिष्यतीत्याशङ्कनीयम् । यतः कदर्याणां कसादीनां किमकार्यम् ? सर्वोल्लङ्घनेन लुब्धाः कदर्याः । कुत्सितायां दर्यां हृदयरूपायां सम्भवो येषां स्थितिर्वा । ननु तथापि पलायनमेवोचितं न तु निरपराधबालकस्याज्ञस्य मारणमिति । चेत्तत्राह दुस्त्यजं किं धृतात्मनामिति । धृता आत्मा वासुदेवो यैः सर्वं गच्छतु हरिस्तिष्ठत्विति येषां बुद्धिस्तेषामन्यत्सर्वं त्यक्तव्यं भगवद्वाधकम् । असमर्पणं च सर्वनाशकत्वाद्भगवद्वाधकमिति भगवदीयानां त्याज्यवस्तुषु कोपि गुणदोषविचारो नास्तीति पूर्वं प्रतिज्ञातस्य समर्पणं युक्तमेव ॥५८॥

अनुवाद - पुत्र कंस को न दिया जाय । इस विचार के करने में लौकिक मोह कारण है अथवा शास्त्र कारण है । पहला कारण जो मोह है उसमें जो दूषण आते हैं उनका वर्णन करते हैं । साधु पुरुषों के लिए शत्रु, मित्र तथा उदासीन सब समान हैं । अतः उनको सब कुछ सहन करने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है । वे जैसे लौकिक मनुष्य शत्रु का त्याग कर सकते हैं, उसके लिये उनको कोई कष्ट नहीं होता है । वैसे ही सत्पुरुषों को पुत्र आदि के त्याग में भी कोई कष्ट नहीं होता है । कारण कि वे समदृष्टि वाले होते हैं, उनमें मोह का अभाव हो जाता है । इसलिए सत्पुरुष होने के कारण वसुदेवजी ने पुत्र का त्याग कर लिया । वसुदेवजी के लिए जैसा पुत्र है वैसा ही कंस है । अतः कंस का घात करने वाला पुत्र नहीं बचाना चाहिए । इसलिए पुत्र दे देना योग्य है ।

यदि पुत्र दोगे तो जो शास्त्रानुसार पिता को पुत्र की अपेक्षा होती है वह रह जायगी । जैसा कि कहा है "पिता पुत्र के द्वारा लोगों को जीतता है, पुत्र से धन की प्राप्ति की जाती है, पुत्र पुंनाम नरक से बचाता है और पुत्र यज्ञ है" । पुत्र के अभाव में



उस अपेक्षा की पूर्ति न होगी अपेक्षा रह जायगी। इसका उत्तर देते हैं कि ज्ञानी पुरुषों को वैसे बाह्य पदार्थों की अपेक्षा<sup>१</sup> नहीं रहती है। वे न तो साधन की तथा न ही फल की अपेक्षा वाले होते हैं। यदि अपेक्षा नहीं भी हो तो भी मरवाने के लिए अपने आप अज्ञ<sup>२</sup> बालक को देना तो योग्य नहीं है। इस तर्क के उपस्थित करने पर उत्तर देते हैं कि मैं यदि बालक<sup>३</sup> को न देकर मिथ्यावादी भी बन जाऊँ, तो भी यह निश्चय नहीं है कि बालक आदि को वह नहीं मारेगा, क्योंकि वह मुझे मिथ्यावादी समझ न केवल बालकों को किन्तु स्त्री देवकी को तथा मुझे भी मार डालेगा। कारण कि कंस कदर्य है। कदर्य का स्वभाव ही है सबको सर्व प्रकार से पीड़ा देना और लोभ के कारण वे लोग सर्व प्रकार की धार्मिक तथा नैतिक मर्यादा का उल्लंघन कर सकते हैं। क्योंकि उनकी (कदर्यों की) हृदय रूप गुफा में ऐसे ही विचार भरे रहते हैं तथा कंस की उत्पत्ति ही वैसे दुष्ट हृदय से हुई है। अतः 'त्यजेत् एकं कुलस्यार्थं' कुल का नाश होने वाला हो तो उसकी रक्षा के लिए यदि एक की बलि देनी पड़े तो दे देनी चाहिए। इस शास्त्राज्ञा के अनुसार पुत्र का दे देना ही योग्य है। यदि आप कंस को ऐसा समझते हो तो आपको (वसुदेवजी को भाग जाना ही उचित है) न कि निरपराध अज्ञ बालक को मरवाना योग्य है। इसका उत्तर देते हैं कि जिन्होंने हृदय में भगवान् को पधरा रखा है, उनको भगवान् के सिवाय सब कुछ त्याग देना सरल है। कारण कि दूसरे पदार्थ पुत्र आदि उनके लिए बाधक हैं। पुत्र न देना, यह सर्व का नाश करने वाला होने से भगवद् बाधक (भगवान् के प्राकट्य में रुकावट करने वाला) है। अतः जो भगवदीय (भगवान् के भक्त) हैं। उनको किसी भी वस्तु के त्याग करने में गुण अथवा दोष के विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं है। इससे प्रथम की हुई प्रतिज्ञा के अनुसार प्रतिज्ञात पुत्र को देना ही उचित है। ॥५८॥

आभास—भगवत्कृतत्वान्नानिष्टं जातमित्याह दृष्ट्वेति ।

<sup>१</sup> थोड़ी भी इच्छा

<sup>२</sup> बेसमझ

<sup>३</sup> देने के लिए जिनकी प्रतिज्ञा की है वैसे पुत्र

वसुदेवजी ने यह सर्व कार्य भगवदिच्छा से ही किया। अतः आगे होने वाले कार्य में कोई विघ्न न आया। यह निम्न श्लोक में कहते हैं —

**श्लोकः —** दृष्ट्वा समत्वं तच्छौरेः सत्ये चैव व्यवस्थितिम् ।  
कंसस्तुष्टमना राजन् प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥५६॥

**श्लोकार्थ —** हे राजन्! कंस वसुदेवजी को समता तथा सत्य पर स्थित देखकर प्रसन्न हुआ, अतः हँसते हुए यों नीचे के श्लोक में कहने लगा ॥५६॥

**सुबोधिनी —** शौरेर्वसुदेवस्य पुत्रे स्वस्मिंश्च तुल्यतां दृष्ट्वान्योन्यघातकत्वमुभयोर्ज्ञात्वा स्वस्यौदासीन्येन स्थितिरेव समता सत्ये वाक्ये चैव व्यवस्थितिमचान्वल्यमेवमुभयेनापि सन्तुष्टः । राजन्नितिसम्बोधनं - राजधर्मस्तथैवेतिज्ञापनार्थम् । प्रकर्षेण हास्यं मुग्धोयमितिज्ञापनार्थम् । इदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥५६॥

**अनुवाद —** कंस ने विचार पूर्वक देखा कि वसुदेव की दृष्टि समान है जैसा पुत्र को वैसा ही मुझे समझता है, वसुदेव यह भी जानता है कि मैं इसके पुत्र का घातक हूँ और इसका पुत्र मेरा घातक होगा ऐसा जानते हुए भी समता तथा सत्य पर इनकी दृढ़ स्थिति है, अर्थात् वसुदेव का मन डिब्बा नहीं जिससे मेरे पास पुत्र को ले आया है। इनको देख कर प्रसन्न हुआ उपरोक्त श्लोक में परीक्षित को 'राजन्' सम्बोधन कर के यह बताया कि राजा का धर्म ऐसा ही है। कंस अपना भोलापन दिखाने के लिये जोर से अच्छे प्रकार से हँसने लगा और निम्न वाक्य कहे ॥५६॥

**श्लोकः —** प्रतियातु कुमारोयं न ह्यस्मादस्ति मे भयम् ।  
अष्टमाद्युवयोर्गर्भान्मृत्युर्मे विहितः किल ॥६०॥

**श्लोकार्थ —** यह कुमार घर लौट जावे, कारण कि इससे मुझे कोई भय नहीं है। आप दोनों के आठवें गर्भ से निश्चय मेरी मृत्यु विहित<sup>१</sup> है ॥६०॥

**सुबोधिनी —** अनेन पञ्चवार्षिको नीत इति ज्ञायते । षष्ठश्चोदरस्थः । प्रतियात्विति—वाक्यादन्यथा 'नये' त्येव वदेत् । पुत्रानितिबहुवचनानुरोधेन तावत्कालं स्थापनम् । प्रतियातु व्याघुल्य गृहे यातु । अय ते कुमारो न तु मन्मारकः । अमारणे हेतुर्न ह्यस्मादस्ति मे भयमिति । तर्हि समयबन्धो गत इति नाशङ्कनीयं यस्माद्युवयोरष्टमगर्भान्मे मृत्युर्विहित इति । स समानीय देय इत्यभिप्रायः । अत एव

नारदादीनामेतदसम्मतम्। न हि भगवद्भक्तानामन्यनिष्ठाप्युचिता। अतोऽन्यथाकरणमप्युचितम्।  
किलेत्याकाशवाणीप्रतिसन्धानम्॥६०॥

अनुवाद — श्लोक के 'प्रतियातु'<sup>१</sup> शब्द का आशय स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि यह कीर्तिमान पुत्र जब वसुदेवजी ले आये थे तब पांच वर्ष का था, पांच पुत्र हो चुके थे छठा गर्भ में था, यदि वसुदेवजी छोटा ही बालक ले आते तो कंस कहता 'नय' इसको लेजा किन्तु छोटा न होने से कंस ने 'प्रतियातुः' लौट जावे कहा। वसुदेवजी ने (५४वें श्लोक में) कहा था कि 'पुत्रान् समर्पयिष्ये' यहां इस बहुवचन के कारण जब पांच पुत्र हुए तब ले आये, तब तक नहीं लाये थे अपने पास ही रखे। इस प्रथम बार एक ही पुत्र इसलिये लाये कि कंस क्या करता है? पश्चात् दूसरे लाऊंगा। इसके लाने पर कंस प्रसन्न होकर कहने लगा कि यह बालक लौट कर घर चला जावे यह तेरा कुमार मेरा घातक नहीं है। इसको नहीं मारा उसका कारण बताया कि इससे मुझे भय नहीं है। यों कहने से यही भी शङ्का नहीं करनी कि आपने जो प्रतिज्ञा की है उसके बन्धन से आप छूट गये हैं। नहीं, वह तो ज्यों की त्यों ही है कारण कि आप दोनों का आठवां बालक मेरा घातक कहा गया है उससे मुझे भय है, अतः कंस का इस प्रकार कहने का अभिप्राय है कि उसको लाकर देना। कंस ने जो इस प्रकार कहा वह नारदजी आदि को सम्मत नहीं था अर्थात् अच्छा नहीं लगा। कारण कि भगवान् के भक्तों को भगवान् के सिवाय दूसरे में (सत्य में) निष्ठा (विश्वास) करना योग्य नहीं है। अतः नारदजी ने कंस के विचार को बदलने के लिये जो कुछ किया वह योग्य ही था। श्लोक में आया हुआ 'किल' शब्द आकाशवाणी के अभिप्राय को सोचना चाहिये यह जताता है॥६०॥

आभास—तत्प्रियार्थमेव नयनमिति प्रकारान्तरेणापि तस्मिन् प्रीते पुत्रत्यागो न युक्त इति तद्वाक्यमङ्गीकृत्य पुनरानीतवानित्याह तथेति।

यदि कंस किसी अन्य प्रकार से (पुत्र देने के सिवाय) प्रसन्न हो सकता तो पुत्र देना उचित नहीं था किन्तु ऐसा होना असम्भव समझ कर ही वसुदेवजी कंस को प्रसन्न

<sup>१</sup> लौट जावे

करने के लिये पुत्र को कंस से पास ले गये। पुनः कंस का वाक्य मान कर घर ले गये। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं —

**श्लोकः — तथेति सुतमादाय ययावानकदुन्दुभिः।**

**नाभ्यनन्दत तद्वाक्यमसतोविजितात्मनः॥६१॥**

**श्लोकार्थ —** वसुदेवजी, जो आपकी आज्ञा, यों कहकर पुत्र को लेकर घर आये, किन्तु झूठे और अनिश्चित विचार वाले कंस के इन वचनों को बखाना नहीं अर्थात् विश्वास नहीं किया॥६१॥

**सुबोधिनी —** स्वयमेव गृहीत्वा ययौ। अविश्वासे हेतुरानकदुन्दुभिरिति। अतिक्लेश एव भगवदागमनं न स्वास्थ्ये। आनके दुन्दुभयश्च नेदुर्भगवदागमनार्थम्। तदुभयं विरुध्यते। अतो देवकृतस्य सत्यत्वात् कंसकृतमेवासत्यमिति मत्वा नाभ्यनन्दत तस्य कंसस्य वाक्यमेनं न मारयिष्यामीत्यभिप्रायपूर्वकम्। तत्र हेतुद्वयमाहासतोविजितात्मन इति। असन् सर्वदा नैकविधः। अस्थिरवाक्य घातकश्च स्वतोयुक्तिदाढ्यरहितश्च। अतः केनचित् प्रथम एवाष्टम इति ज्ञापिते मारयिष्यत्येव। तस्मादसतो न विश्वासः कर्तव्यः। किञ्च नान्यवाक्यमपि तस्यापेक्ष्यते। यदैव राक्षसैर्भस्यार्थे पुरुषाः प्रार्थयिष्यन्ते तदैवैतान् घातयिष्यति। क्रोधोद्भूतहेतूनां बहुनां सम्भवादजितान्तः—करणत्वादुत्पन्ने क्रोधे न विलम्बः॥६१॥

**अनुवाद —** वसुदेवजी आप ही पुत्र को अपने साथ घर ले गये। कंस के वचनों पर विश्वास क्यों नहीं आया ? इसके समाधान के लिये वसुदेवजी को यहां आनक दुन्दुभि कहा है। जिससे वह जान गये कि भगवान् का प्राकट्य तो तब होता है जब बहुत क्लेश (दुःख) प्राप्त होता है, सुख की अवस्था में भगवान् का प्रादुर्भाव नहीं होता है, मेरे जन्म के समय बड़े नगारे इसीलिये बजे थे कि मेरे यहां भगवान् प्रकटेंगे। देवताओं और कंस दोनों का कहना परस्पर विरुद्ध है। देवताओं के वचन सत्य हैं। कंस ने जो अब कहा है वह असत्य है। यों समझकर कंस के वाक्यों का अभिनन्दन नहीं किया। कारण कि कंस असत्यवादी है तथा स्थिर बुद्धि वाला नहीं हैं इसलिये जो कह कि इसको मैं नहीं मारुंगा इस पर मुझे विश्वास नहीं है। झूठा मनुष्य सदा एक जैसा नहीं होता है और जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है वह घातक एवं अपनी युक्ति अथवा कह पर पक्का नहीं रहता है। अतः किसी ने कह दिया कि यह पहला ही आठवा है र इसको मार देगा। इसी कारण से झूठे पर विश्वास नहीं करना चाहिये। जिस सम

इससे राक्षस खाने के लिये पुरुष मागेंगे, उस वक्त किसी दूसरे के वचन की अपेक्षा न कर इनका घात करेंगे। ऐसे लोगों में क्रोध की उत्पत्ति अनेक प्रकार से हो सकती है क्योंकि उन्होंने अन्तःकरण को अपने वश में नहीं किया है अतः क्रोध आते ही मारने में क्षणमात्र भी विलम्ब नहीं करेगा ॥६१॥

आभास—‘महतामन्तःकरणमेव प्रमाण’मिति तथैव जातमित्याह नन्दाद्या इत्यष्टभिः।

महान् पुरुषों का अन्तःकरण ही प्रमाण है। जैसे वसुदेवजी ने समझा वैसा ही हुआ, उसका वर्णन निम्न आठ श्लोकों से करते हैं।

उन आठों में से प्रथम के तीन श्लोक में नारदजी ने आकर कंस को समझाया है कि तू ने बालक को छोड़कर भूल की है, ब्रज में सर्वत्र देव, दैत्य वधार्थ उत्पन्न हुवे हैं। वसुदेवादि सब देव हैं इत्यादि।

श्लोकः — नन्दाद्या ये ब्रजे गोपा याश्चामीषां च योषितः।

वृष्णयो वसुदेवाद्या देवक्याद्या युदस्त्रियः ॥६२॥

सर्वे वै देवताप्राया उभयोरपि भारत।

ज्ञातयो बन्धुसुहृदो ये च कंसमनुव्रताः ॥६३॥

एतत् कंसाय भगवान् शशंसाभ्येत्य नारदः।

भूमेर्भारायमाणानां दैत्यानां च वधोद्यमम् ॥६४॥

श्लोकार्थ — ब्रज में नन्दादिक जो ग्वाल और उनकी स्त्रियां, तथा यदुकुल में वसुदेवजी आदि यादव और उनकी देवकी आदि स्त्रियां एवं इन दोनों के ज्ञाति, बान्धव तथा स्नेही जो कि तेरा अनुसरण करते रहते हैं, वे सब ही प्रायः देवता रूप हैं। इन देवों ने पृथ्वी के भार रूप दैत्यों के नाश का उद्यम प्रारम्भ किया है ॥६२, ६३, ६४॥

सुबोधिनी — वसुदेवे कंसकृतं देवानां हितकारि न भवतीति देवगुह्यकर्ता नारदः पर्यवसानानिष्टकर्तारं वसुदेवं पीडयितुं दैत्यरूपं कंसं चोद्वेजयितुं शीघ्रं भगवदागमनार्थं साधारणान् पीडयितुं वाक्यत्रयमुक्तवांस्तदाह। ये यमुनापारे ब्रजे गोपा नन्दादयोमीषां च स्त्रियः यशोदाप्रभृतयश्चकारादन्या अपि कुमारिका अस्मिन्नपि कूले वृष्णिवंशोद्भवा वसुदेवादयो देवक्याद्याश्च यदुवंशोद्भवानां स्त्रियः ॥६२॥

सुबोधिनी — स्त्रियः पुरुषाः सर्वे एव देवताप्राया ईषदसमाप्तदेवाः। मानुषभावस्यापि विद्यमानत्वात्। अतो देवेषु यत् कर्तव्यं तदेतेष्वेव कर्तव्यमिति ज्ञापितम्। उभयोरिति। रोधसोर्ये केचित्

तिष्ठन्ति पश्वादयोपि तेषि देवांशाः । भारतेतिसम्बोधनमेतदाहेत्यनेन सम्बध्यते । नारदस्य तथाकथनममन्वानस्य विश्वासजनकं देवगुह्यमेतादृशमेवेति । किञ्च न केवलमुदासीना एव देवाः किन्तु कंसनिकटवर्तिनोप्यक्रूरादयो ये ज्ञातयो गोत्रिणः कंसस्य ये बन्धवः सम्बन्धिनो ये वा सुहृदो मित्राणि ये च कंसस्य सेवकाश्चकारात् पित्रादयोपि ॥६३॥

**सुबोधिनी** — नारदस्य दुष्टत्वं व्यावर्तयति भगवानिति । शंसनमेकान्ते कथन युक्तिपूर्वकमुपाख्यानपूर्वकम् । तत्रैवोपाख्याने फलितानि वाक्यान्यत्रोपनिबध्यन्ते । अत आनुपूर्व्यभावो न दोषाय । एतावतैव कार्यसिद्धेः । ननु देवानामागमने किं स्यादित्याशङ्क्याह भूमेरिति । नाकपृष्ठे देवानां मन्त्रणं जातं भूमेर्भारायमाणाः कंसादयो दैत्या जातास्ते हन्तव्या इति । तद्धननार्थमेव देवागमनं वधोद्यमरूप जातम् । वधोद्यमं यथा भवति तथैते देवताप्राया इतिवाक्यम् ॥६४॥

**अनुवाद** — कंस ने वसुदेव से जो शिष्टाचार किया अर्थात् उसको कहा कि, इन तेरे पुत्र से मुझे भय नहीं है यह घर जावे । उसके कंस के कहने पर वसुदेवजी पुत्र को मन में अप्रसन्न होते हुए ले गये । किन्तु नारदजी को यह कंस का कृत्य अच्छा न लगा । कारण कि नारदजी ने जानना कि यह कार्य देवताओं के लिये हितकर नहीं हुवा क्योंकि देवता चाहते हैं कि भगवान् शीघ्र प्रकट होवें । भगवान् शीघ्र तब प्रकट होंगे जब वसुदेव देवकी आदि भक्तों पर विशेष संकट होगा । अतः देवताओं के गुह्य<sup>१</sup> मनोरथ की पूर्ति के लिये नारदजी कंस के पास आये । वसुदेवजी का प्रसन्न रहना अनिष्ट कारक (भगवान् के प्राकट्य में विलम्ब करने वाला) है, अतः मैं ऐसी युक्ति करूँ जिससे वसुदेवादि सर्व साधारण भी पीडित होंवे जिससे भगवान् शीघ्र प्रकट हों यह विचार कर नारदजी ने कंस को बहकाने के लिये तीन वाक्य कहे ।

यमुनाजी के परले पार जो व्रज में नन्दादि गोप हैं, और यशोदा प्रभृति स्त्रियां हैं, तथा और भी कुमारिकाएँ हैं, तथा इस किनारे पर यादव वंश में उत्पन्न वसुदेवादि तथा यदुवंश में जन्मी हुई देवकी आदि स्त्रियां हैं । यों प्रथम श्लोक में सब की पहचान कराके अब दूसरे श्लोक में उनका देवपना बताते हैं । ये सब स्त्रियां तथा पुरुष आदि सर्व बहुत करके सब देवता तुल्य अर्थात् देव जैसे हैं । देखने में मनुष्य हैं किन्तु इनमें देवपना छिपा हुआ है, अतः जो बर्ताव आप देवताओं से करते हो वैसा ही इनसे भी

करो। अर्थात् आप देवताओं को सदैव पीड़ा देते हो वैसा ही व्यवहार इनसे करो। आप असावधान मत रहो न केवल मनुष्य देवांश है किन्तु दोनों तीरों पर रहने वाले पशु आदि भी देवांश है। यह आशय श्लोक में आये हुए (च) से निकलता है। इस श्लोक में जो परीक्षित को भारत। यह सम्बोधन दिया है उसका सम्बन्ध (६४) श्लोक के (एतत्..... शशंस) से है। नारदजी ने विचारा कि मेरा यह कहना, कंस न माने तो उसका विश्वास कराने के लिये देवों की गुह्य बात एकान्त में ही युक्ति पूर्वक कही जाती है, इसलिये एकान्त में कंस को समझाया गया है। नारदजी ने कंस को कहा कि आप यों भी मत समझो कि जो मुझ में उदासीन<sup>१</sup> है वे केवल देव हैं। नहीं, आपके निकट रहने वाले अक्रूर आदि, जो ज्ञातिवाले तथा गोत्रवाले हैं, एवं जो आपके बान्धव सम्बन्धी तथा मित्र हैं और सेवक हैं विशेष क्या कहें (च) से यह भी बताया है कि आपके पितादि भी देवांश हैं। इस तीसरे श्लोक में नारदजी ने कंस को आदर पूर्वक उपाख्यान के समान यह बात समझा दी है।

कंस को मन में यह शङ्का हो कि नारदजी दुष्ट हैं इसलिये मुझे बहकाकर दुष्कर्म कराते हैं तो इस शङ्का को दूर करने के लिये श्लोक में नारदजी को (भगवान्) विशेषण दिया है जिसका भाव यह है कि नारदजी दुष्ट तो नहीं है किन्तु ऐश्वर्य आदि छ गुणों वाले हैं अतः वह जो कुछ कहते हैं वह हितकर ही है। अतः कंस ने जो कुछ एकान्त में नारदजी से सुना उसका सार यह हुआ कि कंस को मालूम हो गया कि स्वर्ग में देवों ने मन्त्रणा कर हम दैत्यों को नाश करने के लिये पृथ्वी पर जन्म लिया है और हमारे वध के लिये उद्यम कर रहे हैं। और निश्चय से मनुष्य रूप में देवांश ही है॥ ६२, ६३, ६४॥

आभास—एवं श्लोकत्रयमुत्त्वर्षो गते कंसो यत् कृतवांस्तदाह पञ्चभिर्ऋषेर्विनिर्गम इति।

इस प्रकार तीन श्लोक कहकर नारदजी पधार गये अनन्तर जो कुछ कंस ने मन्त्रणा कर कार्य प्रारम्भ किया उसका वर्णन पाँच श्लोकों से कहते हैं —

<sup>१</sup> दूर रहने वाले

श्लोकः — ऋषेर्विनिर्गमे कंसो यदून् मत्वा सुरानिति ।  
 देवक्या गर्भसम्भूतिं विष्णुं च स्ववधं प्रति ॥६५॥  
 देवकीं वसुदेवं च निगृह्य निगडैर्गृहे ।  
 जातञ्जातमहन् पुत्रं तयोरजनशङ्कया ॥६६॥

श्लोकार्थ — नारदजी के चले जाने के अनन्तर, कंस ने यादवों को देवता समझा और अपने वध के लिये देवकी के गर्भ से विष्णु के प्राकट्य का निश्चय कर लिया, अतः वसुदेव तथा देवकी के पैरों में बेड़ी डाल घर में ही बंद कर दिया । और ज्यों ज्यों बालक उत्पन्न हुवे उनको विष्णु समझ कर मार डाला ॥६५, ६६॥

सुबोधिनी — अनुवादेऽपि येषांस्ते पूर्वं नारदेनोक्ता इति ज्ञातव्यम् । ऋषिणैव निवारितमिति नर्षवग्रे किञ्चित् कृतवान् । द्वयं ज्ञातवान् । चतुष्टयं कृतवान् । ज्ञातं द्वयमाह यदून् सुरान् देवान् मत्वा देवक्या गर्भेष्टमे सम्भूतिर्यस्य तादृशं च विष्णुं स्वस्य कंसस्य वधं प्रत्येव देवकीगर्भसम्भूतिं विदित्वा ॥६५॥

सुबोधिनी — प्रथमतो देवकीं वसुदेवं चकारादन्यांश्च तदन्तर्गतान् स्वगृह एव निगडैर्निगृह्य जातञ्जातमानुपूर्व्येण जातमष्टमसङ्ख्याया अपेक्षाबुद्धिजन्यत्वाद्गणनायामनियमसम्भवादजनशङ्कया विष्णुसन्देहात् षट् पुत्रानहन् । जातञ्जातमिति न कालभेदज्ञापकं किन्तु मारणे देवक्यां जननमेव निमित्तमितिज्ञापयितुमन्यथा . क्षत्रियाणां त्रयोदश एवाहि नामकरणसम्भवादुत्पन्नमात्राणामेव मारणे 'कीर्तिमन्तं सुषेणञ्चे' त्यादिनामोक्तिराद्य — स्कन्धेऽनुपपन्ना स्यात् ॥६६॥

अनुवाद — अनुवाद<sup>१</sup> में भी जो अर्थ कहे गये हैं वे प्रथम नारदजी के कहे हुए हैं यों समझना चाहिये । ऋषि की उपस्थिति में कंस ने कुछ नहीं किया उनके जाने के अनन्तर किया, उसका कारण आचार्य श्री कहते हैं कि नारदजी ने कंस को अपने सामने कुछ भी करने का निषेध कर दिया था । अतः उस समय कुछ न कर ऋषि के जाने के अनन्तर कार्य करना प्रारम्भ किया । ऋषि के समझाने से कंस ने जो सार निकाला, उससे दो बात जानने की थी और चार करने की थी ।

२—जानी वे ये है । १— यादवादि सर्व देव हैं । २— देवकी के आठवें गर्भ से मेरी मृत्यु होगी । शेष चार जो करनी हैं वे ६६ श्लोक में कही है —

<sup>१</sup> (नदाद्या ये) श्लोकों में जो विषय शुकदेवजी ने कहा है वे नारदजी के कहे हुए शब्दों का अनुवाद (फिर कथना) है ।  
 — अनुवादक



१- प्रथम तो देवकीजी और वसुदेवजी को तथा उनके सम्बन्धी यादवों को अपने घर में ही बेड़ी डाल कर कैद में रक्खा। जिस क्रम से उनके बालक जन्मे थे उस क्रम से उन ६ को इसीलिए मार डाला कि इनमें कौन विष्णु है इसका निश्चय नहीं है कारण कि गणना का कोई नियम नहीं है। 'जात' 'जात' कहने का भाव मारने के काल का ज्ञान कराना नहीं था किन्तु देवकी से उत्पन्न होना ही मारने का कारण था। यह बताना था अतः जन्म होते ही नहीं मारे गये थे किन्तु पीछे कुछ बड़े हो जाने पर ५ वर्ष के बाद में वे मारे गये थे। जन्मते ही न मारे गये उसका प्रमाण यह है कि क्षत्रियों का नामकरण संस्कार १३ वें दिन होता है। अतः जन्मे हुवे बालकों के 'कीर्तिमान्' और 'सुषेण' आदि जो प्रथम स्कन्ध में लिखे कहे गये हैं वे युक्ति युक्त न होते।।६६।।

**आभास**—नन्वेवं कथमतिदुष्कृतं कृतवानित्याशङ्क्याह मातरमिति।

कंस ने वैसा दुष्कर्म कैसे किया ? इस शङ्का निवृत्ति के लिये (मातरं) यह श्लोक कहते हैं —

**श्लोकः** — मातरं पितरं भ्रातृन् सर्वांश्च सुहृदः सखीन्।

घ्नन्ति ह्यसुतृपो लुब्धा राजानः प्रायशो भुवि।।६७।।

**श्लोकार्थ** — पृथ्वी पर अपने प्राणों का ही पोषण करने वाले लोभी भूपति माता, पिता, भ्राता सर्व प्रकार के मित्र तथा स्नेहिओं को भी मार डालते हैं।।६७।।

**सुबोधिनी** — अयं तु दैत्य एव। येप्यन्ये राजानस्तेप्यसुतृपः केवलं प्राणपोषकास्त्रापि लुब्धाः। लोभः सर्वगुणनाशकोतस्तेषां गुणा न सन्तीतिज्ञापनार्थमुक्तम्। प्रायश इतिलुब्धा इति च पदद्वयेन केचन धर्मात्मानो व्यावर्तिता अम्बरीषादयः। भुव्येषैव व्यवस्था। अतो युधिष्ठिरादयोपि पितामहादीन् मारितवन्तः। स्वस्य यत्रैव मरणसन्देहस्तानतिमान्यानपि मात्रादीन् पञ्चविधान् धन्येव।।६७।।

**अनुवाद** — यह कंस तो दैत्य ही है, किन्तु जो भूपति दैत्य नहीं है वे भी लोभ से अपने प्राणों के पोषण कर्त्ता होते हैं। लोभ सर्व प्रकार के गुणों को नाश करने वाला है। अतः प्राण पोषक लोभी राजा ही जब, माता पिता, भ्राता, सर्व प्रकार के बान्धव तथा मित्रों का घात करते हैं तो कंस तो दैत्य और प्राण पोषक लोभी होकर बहिन के पुत्रों का वध करे तो उसमें क्या आश्चर्य है ? श्लोक में प्रायशः पद देने का आशय यह है कि कोई २ अम्बरीष आदि धर्मात्मा राजा लोग वैसे नहीं होते हैं। किञ्च पृथ्वी पर यह ही व्यवस्था देखने में आती है अतः युधिष्ठिर आदि ने भी पितामह आदि को मार डाला।

राजाओं की जहां कहीं भी किसी के मारे जाने की शङ्का होती है तो चाहे वे माता और भ्राता आदि ही क्यों न हो उन सब को मारने में नहीं हिचकते हैं ॥६७॥

आभास—नन्वस्य स्वस्यापि देवत्वसम्भावनाया तद्धिताचरणमेव कथं न जातमित्याशङ्क्याहा त्मानमिति ।

इस कंस को अपने देवत्व होने की सम्भावना थी तो क्यों नहीं अच्छे कर्म किये? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि —

श्लोक — आत्मानमिह सञ्जातं जानन् प्राग् विष्णुना हतम् ।

महासुरं कालनेमिं यदुभिः स व्यरुध्यत ॥६८॥

श्लोकार्थ — कंस को यह ज्ञान था कि जिस महान् असुर कालनेमि को विष्णु ने आगे मारा था, वह कालनेमि मैं हूँ, यों जानकर भी कंस ने यादवों से विरोध किया ॥६८॥

सुबोधिनी — पूर्वममृतमथने भगवता महासुर कालनेमिर्हतो देवपार्ष्णिग्राहेण स एवायं कंस इत्यात्मानं जानन् पुनर्देवप्रेरणयैव मारणार्थमायातीति यदूनां देवत्वात् तैः सर्वैरेव सह विरोधं कृतवान् ॥६८॥

अनुवाद — पूर्वकाल में अमृत मन्थन के समय, देवताओं की सेना के पृष्ठ भाग के रक्षक भगवान् ने महान् असुर कालनेमि को मारा था, वह ही यह कंस है, यों अपने को कंस जानता हुआ भी तथा भगवान् देवताओं की प्रेरणा से ही दैत्यों के वध के लिये आते हैं और ये सब यादव देव हैं इसलिये इन सर्व यादवों से वैर करने लगा ॥६८॥

आभास—अन्यदप्यत्यन्तायुक्तं कृतवानित्याहोग्रसेनमिति ।

इसके सिवाय दूसरा कार्य जो किया वह भी अत्यन्त अयोग्य है — यह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोकः — उग्रसेनं च पितरं यदुभोजान्धकाधिपम् ।

स्वयं निगृह्य बुभुजे शूरसेनान् महाबलः ॥६९॥

श्लोकार्थ — यदु, भोज और अन्धक के अधिपति पिता उग्रसेन को, महाबली कंस ने बान्धकर घर में बन्द कर दिया और शूरसेन देश का राज्य स्वयं भोगने लगा ॥६९॥

सुबोधिनी — नाम्नैव महत्त्वं निरूपितम् । स्वस्य पितरं सर्वसहाययुक्तम् । यदुभोजान्धकाधिपं यदवो भोजो अन्धकाश्च । उपलक्षणमेतत् षड्विधानामपि यादवानाम् । तदाज्ञया ते सर्वे विपरीतं

करिष्यन्तीति विशेषतस्तस्य बन्धनम्। बन्धकः स्वयमेव जात इत्याह स्वयं निगृह्येति। शूरसेनदेशस्तस्य भोगार्थं स्थितः। अतस्तस्य पुनर्वचनं शूरसेनान् बुभुज इति। एतत्सर्वकरणे सामर्थ्यं महाबल इति। एवं सर्वेषां देवांशानां भक्तानां महानुपद्रवो निरूपितो भगवदवतारहेतुभूतः॥६६॥ इति श्रीमद् भागवतसुबोधिण्यां श्री वल्लभदीक्षित विरचितायां दशमस्कन्धविवरणे प्रथमोऽध्यायः॥

अनुवाद — (उग्रसेन) नाम ही से महत्त्व प्रकट हो रहा है विशेष महत्त्व उसके विशेषण (यदुभोजान्धकाधिपम्) कहने से जाना गया है। विशेषण में यदु, भोज और अन्धक ये तीन नाम उपलक्षण रूप में दिये गए हैं वास्तव में वह छ प्रकार के यादवों का अधिपति हैं। इसकी आज्ञा से ये सब मेरे विपरीत कार्य करेंगे अतः वैसा होने से पहले ही इनको बन्धन में डालना चाहिये, यह विचार कर स्वयं कंस ने अपने हाथ से पिता को बन्धन में डाल दिया। अनन्तर शूरसेन देश का राज्य करने लगा और सर्व प्रकार से राज्य के सुख भोगने लगा। इतना बड़ा भारी साहस का कार्य अकेले ने कैसे किया ? वैसी शङ्का नहीं करनी चाहिये ? क्योंकि वह कंस 'महाबल' महान् बलवान् है प्रत्येक बड़ा कार्य अपनी शक्ति से कर सकता है।

इस प्रकार सब उत्पन्न देवांश भक्तों का महान् उपद्रव का निरूपण (वर्णन) हुआ, जो उपद्रव भगवान् के प्राकट्य का हेतुभूत है॥६६॥

इति श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कन्ध, (पूर्वार्ध) प्रथम अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचित सुबोधिनी टीका का हिन्दी अनुवाद समाप्त।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

## दशम स्कन्धः

श्री सुबोधिनी का सरल — सुबोध — हिन्दी अनुवाद

### द्वितीयोऽध्यायः

कारिका — एवं हेतुं निरूप्याथ कृष्णोद्यम उदीर्यते ।  
महत्त्वज्ञापनार्थाय द्वितीये सविशेषणः ॥१॥  
दुःखं हेतुरिहागन्तुमिति बोधाय तत्कथा ।  
पुनर्निरूप्यते स्पष्टा शीघ्रागमनहेतुका ॥२॥  
सर्वेषां ज्ञापनार्थाय कंसवाक्यं तथा स्तुतिः ।  
अन्यथा भगवानेव प्रादुर्भूतः कथं भवेत् ॥३॥

**कारिकाकार्थ —** श्रीमदाचार्यचरण इन कारिकाओं में द्वितीयाध्याय का अर्थ, उद्यम बताते हैं। प्रथमाध्याय में यह सूचित किया है कि पृथ्वी पर भगवान् के प्राकट्य का कारण भक्तों को दुःख है अर्थात् पृथ्वी पर भगवान् तब प्रकट होते हैं, जब देखते हैं कि मेरे भक्त दुःखी हैं। इस प्रकार प्रथमाध्याय में प्राकट्य हेतु “भक्त का दुःख” है। यह निरूपण कर अब द्वितीय अध्याय में प्रभु के महत्त्व प्रकट करने के लिए भगवान् का असाधारण<sup>१</sup> धर्म रूप उद्यम कहते हैं ॥१॥

भगवान् के प्रकट होने का कारण भक्त का दुःख ही है इसको स्पष्ट समझाने के लिए वह कथा जो भगवान् को शीघ्र प्रकट करने का हेतु है। उसका प्रलम्ब चाणूर आदि (३½) श्लोकों में वर्णन करते हैं ॥२॥

इस अध्याय में कंस के वाक्य और ब्रह्माजी की स्तुति भी है। जिससे ही सबको यह ज्ञान हुआ कि भगवान् प्रकट हुए हैं, यदि ये दोनों (कंस के वाक्य और ब्रह्माकृत

---

<sup>१</sup> जिस धर्म को दूसरा धर्म हटा न सके उसको असाधारण धर्म कहते हैं।

स्तुति) नहीं होती तो भगवान् के प्राकट्य का ज्ञान कैसे होता ? अर्थात् नहीं होता ॥३॥

व्याख्या — श्री गुसाईंजी प्रभुचरण कारिकाओं के आशय को प्रकट करते हुए आज्ञा करते हैं कि भगवान् भक्तों के दुःख निवृत्ति में इतना भी विलम्ब, जो सप्तम बालक के पूरे समय में प्राकट्य होने से होने वाला था सहन नहीं कर सके। अतः अपने शीघ्र प्रकट होने के लिए माया को देवकीजी के उदर से सप्तम गर्भ को लेजाकर रोहिणीजी में स्थापन करने की आज्ञा दी। माया को इस प्रकार की आज्ञा किसी अवतार में नहीं हुई है। जो माया ब्रह्मादिकों को मोह में डाल सकती है। उस माया को कोई दूसरा आज्ञा नहीं दे सकता है तथा वह माया अन्य के आधीन ही नहीं हो सकती है। वैसी माया को आज्ञा देकर भगवान् ने अपना अन्य अवतारों से एक महत्त्व बताया है। भगवान् ने अपना दूसरा महत्त्व वसुदेवजी के मन द्वारा देवकी के हृदय में विराजमान होकर बताया है, जैसे कि मामा कंस देवकी के प्रफुल्लित मुखारविन्द को देखकर जान गया कि इसके भीतर मेरे प्राणों को हरने वाला हरि आ गया है। इतना जानकर भी अपने आसुर भाव को त्याग, देवकी को मारा नहीं। तीसरा महत्त्व ब्रह्मादि स्तुति से अपना पुरुषोत्तमत्व प्रकट जताया है। इस प्रकार प्रभुचरण श्री गुसाईंजी ने तीन प्रकार से प्रभु के प्राकट्य का महत्त्व बताया है।

आभास — पूर्व सामान्यतो विरोधमुक्त्वा शीघ्रं भगवदागमनार्थं लोके कंसकृतमत्युपद्रवमाह सार्धैस्त्रिभिः प्रलम्बेति।

प्रथम अध्याय में यादवों के साथ सामान्य विरोध कहा है; तदनन्तर भगवान् के शीघ्र प्राकट्य के लिए कंस ने लोक में जो अत्यन्त उपद्रव किये वे साढ़े तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं।

श्लोकः — प्रलम्बबकचाणूरतृणावर्तमहाशनैः।

मुष्टिकारिष्टद्विविदपूतनाकेशिधेनुकैः ॥१॥

अन्यैश्चासुरभूपाणैर्बाणभौमादिभिर्युतः।

यदूनां कदनं चक्रे बली मागधसंश्रयः ॥२॥

**श्लोकार्थ** — बहुत भोजन करने वाले, प्रलम्बासुर, बकासुर, चाणूरमल्ल और तृणावर्त दैत्य मुष्टिक मल्ल, अरिष्टासुर, द्विविद वानर, पूतना, केशीदैत्य, धेनुकासुर और अन्य भी बाणासुर तथा नरकासुर प्रभृति दैत्य रूप राजाओं की सहायता से बलवान कंस यादवों का नाश करने लगा। इस कंस को जरासन्ध का बड़ा आश्रय था।।१-२।।

**सुबोधिनी** — प्रलम्बो दैत्यो दैत्यरूपेणैव वर्तते। बको दैत्यः पक्षिरूपेण। चाणूरो दैत्यो मनुष्यरूपेण। तृणावर्तो राक्षसो वात्यारूपेण। एत एव महाशना बहुभक्षकाः। अनेन 'यदूना कदनं चक्र' इत्यत्र यादवा भक्षिता इत्यपि ज्ञापितम्। महाशनोघ इति केचित्। तत्र नामसु यौगिकप्रवेशश्चिन्त्यः। मुष्टिकश्चाणूरवत्। यथा प्रलम्बो बलभद्रेण हतः प्रथमनिर्दिष्टस्तथा। अरिष्टो वृषरूपो बकवत्। द्विविदो वानरः। पूतना राक्षसी। केश्यश्चात्मकः। धेनुको गर्दभात्मकः।।१।।

अन्ये चैवविधाः शतशः सन्त्यसुरा भूत्वा ये भूपालाः। बाणो बलिसुतः नरको भौमः। आदिशब्देन जरासन्धादयः। गुप्तान् यदून् प्रलम्बादयो बाधन्ते। प्रकटान् बाणादयः। एवमेतैर्यदूनां कदनमन्यायनाशं चक्रे। एतेषामाज्ञाकारित्वे हेतुर्बलीति। मागधो जरासन्धः श्वशुरः सहायभूतः। तेनापि दिग्विजये पराजितेन सुते दत्ते। एतेषामन्यतरेणाप्याज्ञोल्लङ्घने कृते जरासन्धः साधयतीत्याश्रयः।।२।।

**अनुवाद** — प्रलम्ब आदि दैत्यों के रूप का वर्णन करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि प्रलम्ब दैत्य रूप में, बक पक्षिरूप में, चाणूर मनुष्यरूप में, तृणावर्त वायुरूप में था। ये बहुभोजी थे इसलिये श्लोक में इनको 'महाशन' कहा है। बहुभक्षी होने से इन्होंने बहुत यादवों का भक्षण किया था। कितनेक टीकाकार 'महाशन' का अर्थ 'अघासुर' करते हैं। नामों का यौगिक अर्थ करना विचारणीय है। मुष्टिक दैत्य चाणूर के समान था। जैसे प्रथम बताये हुए प्रलम्ब को बलरामजी ने मारा वैसे ही मुष्टिक को भी बलरामजी ने ही मारा है। अरिष्ट वृक्षरूप था, बक पक्षीरूप था। द्विविध नामक दैत्य वानर रूप था। पूतना राक्षसी थी। केशी दैत्य का रूप घोड़े का सा था। धेनुक का रूप गर्दभ का था। और दूसरे भी इसी प्रकार के सैकड़ों असुर थे जो राजाओं के रूप में भी थे। जैसे कि बलि का पुत्र बाणासुर था और भौमासुर था जिसको नरकासुर भी कहते हैं। श्लोक में दिये हुए आदि शब्द के जरासन्ध इत्यादि असुर भूप भी समझ लेने चाहिये। जो यादव गुप्त होकर रहते थे उनको प्रलम्ब आदि असुर तथा जो यादव प्रकट रहते थे उनको बाणासुरादि राजा दुःख देते थे। इसी प्रकार कंस इन राक्षसों द्वारा यादवों का अन्याय से नाश करता था। ये राक्षस, राजा थे तो भी कंस की आज्ञा को

इसलिए मानते थे कि कंस बलवान् था और उसका श्वसुर जरासन्ध भी उसकी सहायता करने वाला था। जरासन्ध ने अपनी दो कन्याएँ कंस को तब दी थी जब दिग्विजय में कंस से पराजित<sup>१</sup> हुआ था। इन असुर राजाओं में से कोई भी यदि कंस की आज्ञा का उल्लङ्घन करता था तो जरासन्ध उस समय कंस की सहायता करता था जिससे वे राजादि दब जाते थे। इस प्रकार कंस को जरासन्ध का आश्रय तथा सहायता थी ॥१-२॥

आभास—पीडितानां कृत्यमाह ते पीडिता इति।

इस प्रकार जो यादव दुःखी हुए उन्होंने क्या किया ? उसका वर्णन निम्न १½ श्लोक में करते हैं कि —

श्लोकः — ते पीडितानिविविशुः कुरुपाञ्चालकैकयान्।

शाल्वान् विदर्भान् निषधान् विदेहान् कोशलानपि ॥३॥

एके तमनुरुन्धाना ज्ञातयः पर्युपासते ॥३॥

श्लोकार्थ — कंस से पीडित वे यादव कुरु पाञ्चाल, कैकय शाल्व, विदर्भ, निषेध, विदेह, काशी और कोशल देशों में चले गये और कितने ही कंस के आज्ञाकारी होकर उसकी सेवा करने लगे ॥३½॥

सुबोधिनी — पूर्वोक्तैः पीडिताः कुरुदेशान् हस्तिनापुरदेशान् विविशुः। तथान्ये पाञ्चालदेशान् कम्पिलादिदेशान् कैकयान् चित्रकूटादिदेशान् शाल्वान् पश्चिमदेशान् निषधानुत्तरदेशान् विदर्भान् दक्षिणदेशान् विदेहांस्तैरभुक्तदेशान् कोशलानयोध्यादेशान् नितरां विविशुर्गुप्ततया स्थिताः। एते धर्मात्मानो राजानः। अतः स्वदेशं परित्यज्य सकुटुम्बास्तत्रैव स्थिता इत्यर्थः ॥३॥

ये पुनर्निर्गन्तुं न शक्तास्ते कंससेवका एव भूत्वा स्थिता इत्याह एक इति। एकेकूरादयस्तमनुरुन्धानास्त संवेष्ट्य तत्सेवकत्वेन स्थिता ज्ञातयो गोत्रिणः परित उपासते। एवं सर्वेषां महदुःखमुद्यमार्थं हेतुत्वेन निरूपितम् ॥३॥

अनुवाद — कंस के अनुचरों से पीडित हुए यादवों ने जो किया उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि ये राजा धर्मात्मा थे अतः स्वदेश छोड़कर सकुटुम्ब पृथक् पृथक् प्रदेशों में चले गये। जैसे कि कितने ही कुरु देश में अन्य पाञ्चाल, कैकय, शल्व,

कोशल आदि देशों में जाकर अत्यन्त गुप्त रीति से वहां पर ही रहने लगे। जो राजा मथुरा से निकल न सके, वे कंस के अनुयायी होकर वहां ही रहने लगे, तथा कितने ही अक्रूरादि एवं ज्ञातिवाले और सगोत्री भी उसके चारों तरफ सेवक के समान रहते हुए उसकी आज्ञा का पालन करते थे। इस प्रकार प्रभु के प्राकट्य के लिये सबों को उद्यम करना पड़ा। इन्होंने दुःख सहन रूप उद्यम किया ॥३॥

**आभास—**भगवत उद्यमं वक्तुं देवक्या बन्धनावधि चरित्रमाह हतेष्वितिसार्धेन।

भगवान् के उद्यम का वर्णन करने के लिये देवकी के बन्धन तक, जो चरित्र हुवे उनका वर्णन करते हैं।

**श्लोक: —** हतेषु षट्सु बालेषु देवक्या औग्रसेनिना ॥४॥

सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते।

गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्धनः ॥५॥

**श्लोकार्थ —** कंस ने देवकी के छः पुत्र मार डाले, तब विष्णु के धामरूप, कि जिनको अनन्त कहते हैं, वे देवकी के हर्ष और शोक को बढ़ाने वाले होकर उसके गर्भ में पधारे ॥४-५॥

**सुबोधिनी —** देवक्याः षट्सु बालेष्वौग्रसेनिना हतेषु सत्सु। भागिनेयान् हन्तीति पितृनाम्ना निर्देशः। अन्येषां हननमर्थसिद्धमेव। लोके हि भागिनेयोतिमान्यः ॥४॥

षड् गुणास्तेन बुद्ध्या हता इति धर्मस्थानभूतोक्षरात्मा समागतस्तस्यापि मारणमाशङ्क्य परिहरति वैष्णवमिति। विष्णोर्व्यापकस्य सर्वरक्षकस्य स्वरक्षाया सन्देहो नास्तीति ज्ञापितम्। सप्तम एव परमावधिः। षड्गुणाः। सप्तमो धर्मी च तदाधारभूतः। पुरुषोत्तमस्तु ततो महान्। अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं धामेति। यतो लोका यमनन्तं कालात्मकमाचक्षते सोनन्तः सप्तमे पर्याये गर्भः प्रकटो बभूव। स चार्धप्रकटितानन्द इति देवक्या हर्षशोकविवर्धनो जातः। महानिति हर्षः। तादृशोपि मारणीय इति शोकः। प्रभावस्यादर्शनात् ॥५॥

**अनुवाद —** श्लोक में कंस का नाम न देकर, उग्रसेन के पुत्र ने देवकी के छः<sup>१</sup> पुत्रों को मारा। यों कहने का भावार्थ यह है कि देवकी, कंस की भगिनी है, तो भी

<sup>१</sup> — प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि — देवकी को सप्तम गर्भ हुआ तब नारदजी ने कंस को कहा कि व्रज में नन्दादि और उनकी स्त्रिया, तथा वसुदेवादि यादव, स्त्री समेत सब देवता हैं। इस प्रकार नारदजी के कहने के अनन्तर कंस ने देवकी के छ पुत्र मारे और वसुदेव और देवकी को बन्धन में डाला यह गर्भ देवकी को हर्ष और



उसने उसके पुत्रों को मार डाला। लोक में भगिनी पुत्र भानजे अतीव मान देने योग्य होते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि कंस दुष्ट है, जो बहिन के पुत्रों को भी मार डालता है, तो उसको दूसरों को मारने में तो कुछ भी संकोच नहीं होता होगा। वह अर्थ सिद्ध ही है॥४॥

कंस ने देवकी के जो छ पुत्र मारे थे, वे भगवान् के ऐश्वर्य, वीर्यादि छ गुण रूप थे। किन्तु कंस ने उनको भगवद्रूप समझकर मारे थे। देवकी के गर्भ में सातवें बालक धर्मी, अर्थात् गुणों के स्थानभूत आश्रय अक्षर स्वरूप पधारे थे। उनको भी कंस मारेगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए श्लोक में कहा है कि 'वैष्णव' यह सातवां गर्भ व्यापक विष्णु का स्वरूप है। वह सबकी रक्षा करता है, जो सबकी रक्षा कर सकता है वह अपनी रक्षा करे इसमें किसी प्रकार की शङ्का नहीं है। यह सप्तम गर्भ अक्षरात्मा होने से यहाँ तक ही आनन्द की गणना की सीमा हुई है। तैत्तिरीय उपनिषद् में आनन्द की गणना की गई है, वहाँ मनुष्य के आनन्द से लेकर गन्धर्वादि देवों तक का आनन्द बताते हुए अन्त में कहा है कि प्रजापति के शत आनन्द के समान अक्षर ब्रह्म का आनन्द है। यहाँ तक ही आनन्द की गणना हो सकी है। छ बालक गुण रूप धर्म है। उन छ धर्मों का आश्रय स्थान सातवां बालक अक्षर स्वरूप होने से धर्मी है। पुरुषोत्तम स्वरूप तो उससे महान् हैं। अतः यह सातवां गर्भ पुरुषोत्तम स्वरूप नहीं है। इसका ज्ञान कराने के लिए श्लोक में सातवें गर्भ के लिए 'धाम' शब्द लिया है। जिसका अर्थ है पुरुषोत्तम का 'निवास स्थान' वा 'चरण रूप' है। जिसको लोक अनन्त, कालात्मा भी कहते हैं। वह अनन्त सातवें गर्भ में प्रकट हुआ। उस अनन्त स्वरूप में आनन्द के पूर्ण रूप से प्रकट न करके उसमें आधा ही आनन्द प्रकट किया है। अतः देवकी को हर्ष भी हुआ और शोक भी हुआ। हर्ष इसलिए हुआ कि वह धर्मी स्वरूप अनन्त महान् है और शोक इसलिए हुआ कि छ बालकों के मरने से यह मन में भ्रम हुआ कि कदाचित् कंस दुष्ट है इसको भी न मार डाले। यह भ्रम इसलिए हुआ कि देवकी ने इस स्वरूप का प्रभाव अब तक देखा नहीं था॥५॥

शोक देने वाले हुए। इस आधे श्लोक में यह हेतु इसलिये बताया है कि भगवान् प्रकट होने का शीघ्र उद्यम करे। षट् बाल, असुर वध और गर्भ विषयक दुःख भगवान् का चरित्र ही है।

## ४-५ श्लोकों का साहित्य का सारांश

(१) देवकी को शोक होने के साथ आनन्दवृद्धि कहना उपयुक्त<sup>१</sup> नहीं। इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहा है कि सातवें गर्भ में पूर्ण आनन्द का प्राकट्य न होने से शोक हुआ, किन्तु सातवां गर्भ गणित आनन्दमय है, इसलिए आनन्द भी हुआ।

(२) देवकी के छ पुत्र कौन थे ? जिनको कंस ने मारा। देवकी के छः पुत्र भगवान् के ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य थे। क्योंकि कृष्णोपनिषद् में कहा है कि जब श्रीकृष्ण का भूतल पर प्राकट्य हुआ, तब श्रीकृष्ण का सर्व परिकर भी प्रकट हुआ है। अतः प्रथम श्रीकृष्ण के छः गुण देवकी के यहाँ पुत्र रूप से प्रकट हुए। अनन्तर श्रीकृष्ण का धाम-अक्षर, बलराम के स्वरूप से देवकी के सप्तम गर्भ में आया। अन्त में श्रीकृष्ण स्वयं प्रकट हुए।

अब शङ्का होती है कि कंस ने भगवान् के ऐश्वर्यादि छः गुणों को नाश किया? इसके उत्तर में कहा जाता है कि नहीं। कारण कि भगवान् के छ गुण भी भगवद्रूप है। अतः उनको कंस मारता तो क्या, स्पर्श भी नहीं कर सकता है। यदि यों है तो कंस ने किनको मारा ? इसका समाधान यह है कि देवकी के गर्भ में साधारण जीवों का प्रवेश नहीं हो सकता है, कारण कि देवकी सर्व देवता रूप है। अतः देवकी के गर्भ में गुणों के साथ मरीचि ऋषि के पुत्र जो वैकुण्ठस्थ दैवी जीव थे उनका प्राकट्य हुआ था। किन्तु इन मरीचि ऋषि के पुत्रों को पूर्व जन्म में ब्रह्माजी ने शाप दिया था कि तुम असुर होवोगे, क्योंकि जब ब्रह्माजी अपनी पुत्री के पीछे कामातुर होकर दौड़े थे उस समय यह क्रिया देखकर ये मरीचि के पुत्र हँसे थे। उस शाप से इनका जन्म, हिरण्यकशिप, के यहाँ हुआ था। अनन्तर वे अब गुणों के साथ देवकीजी के यहाँ प्रकट हुए।

कंस ने, उन मरीचि ऋषि के पुत्रों में, जो शाप से आसुर भाव उत्पन्न हुआ था, उस आसुर भाव को नाश किया। वे देव रूप दैवी जीव तो भगवत्प्रसादी, दुग्धपान करने

से मुक्त हुए और गुण तो धर्म रूप होने से अपने धर्मी रूप सप्तम गर्भ अक्षर में स्थित रहे।

आभास—एवं सति भक्तेषु दया स्थापितेति दयापरीतो भगवान् शीघ्रमुपायं कृतवानित्याह भगवानिति।

इस प्रकार देवकीजी को हर्ष तथा शोक एवं यादवों को दुःख का होना देखकर, भगवान् को भक्तों पर दया उत्पन्न हुई, अतः दया से पूर्ण भगवान् ने अपने शीघ्र प्राकट्य होने के लिये उपाय किया उसका वर्णन करते हैं।

श्लोकः — भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम्।

यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत् ॥६॥

श्लोकार्थ — विश्वात्मा भगवान्, जिन यादवों के आप नाथ हैं उन का कंस जन्य भय देखकर, योगमाया को आज्ञा देने लगे ॥६॥

सुबोधिनी — षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नः पूर्वापराधे प्रतीकारं कर्तुं सप्तमे स्पृष्टे तेनैव हननसम्भवात् प्रतीकारो न भविष्यतीति शीघ्रं च स्वयमागन्तुं तं गर्भमन्यत्र नेतुं योगमायां समादिशत्। या जगत्कारणभूता भगवच्छक्तिः सा योगमाया। लोकानां दुःखपरिज्ञानार्थं विश्वात्मेति। यदूनां कंसजं भयं विदित्वा। सर्वस्यैव स्वरूपं जानाति किं पुनर्यादवानाम् ? तेषामेव दुःखे सति प्रतीकारे हेतुर्निजनाथानामिति। निजः स्वयमेव नाथो येषाम्। केवलमिच्छयैव सर्वं न भवतीति दृष्टकारणार्थं योगमायादेशः ॥६॥

अनुवाद — षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न भगवान् की यह इच्छा थी कि कंस ने जो पहले अपराध किये हैं, उनका प्रतिकार<sup>१</sup> कंस से मैं स्वयं लूँ, इसलिए अपने शीघ्र प्राकट्यार्थ, उस सप्तम गर्भ को अन्यत्र स्थापनार्थ ले जाने के लिए योग माया को आज्ञा दी। यदि भगवान् योगमाया को वैसी आज्ञा नहीं देते तो 'सप्तम गर्भ का प्राकट्य कारागृह'<sup>२</sup> में देवकी के यहाँ ही होता और कंस अवश्य उनको भी अन्य पुत्रवत् मारने के लिए हाथ से स्पर्श करता, तो स्पर्शमात्र से ही कंस का नाश हो जाता। वैसा होगा तो मैं प्रतिकार ले न सकूँगा और शीघ्र प्रकट भी नहीं हो सकूँगा। अतः योगमाया को आपने आज्ञा दी।

<sup>१</sup> बदला

<sup>२</sup> जेलखाने

जो कि भगवान् की शक्ति जगत् के उत्पन्न करने में कारण हैं और उस शक्ति का ही नाम 'योगमाया' है। आप भगवान् 'विश्वात्मा' समग्र विश्व की आत्मा हैं। अतः सकल लोकों के दुःखों को जानते हैं। जब सर्व के दुःखों को तथा स्वरूपों को जानते हैं तो कस से प्राप्त यादवों के दुःखों को जाने, इसमें कोई संशय नहीं है। उनके दुःखों का प्रतीकार आप करने लगे। उसका कारण यह है कि आप यादवों के नाथ हैं। यद्यपि भगवान् सर्व समर्थ होने से केवल इच्छा से भी सभी कार्य कर सकते हैं। सप्तम गर्भ को भी इच्छा मात्र से अन्यत्र पहुँचा सकते हैं, किन्तु कार्य करने में प्रत्यक्ष कारण, अन्य होना चाहिए, अतः 'योगमाया' को आज्ञा देकर प्रत्यक्ष कारण दिखाया। ॥६॥

### श्लोक ६ पर प्रकाश तथा लेख का सारांश

प्रभु शरणागत भक्तों पर ही विशेष दया करते हैं, यह तृतीय स्कन्ध में २९वें अध्याय के ३८ वें श्लोक से सिद्ध है। यादव शरणागत अनन्य हैं, आप ही उनके नाथ हैं। अतः आप उन पर दया करके उनके दुःखों को दूर करें। इसमें किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं है। दुःखों की पूर्ण निवृत्ति परमानन्द स्वरूप पुरुषोत्तम के प्राकट्य के सिवाय नहीं हो सकती है। इसलिए भगवान् दया वश होकर अपने शीघ्र प्राकट्य के लिए उद्यम करने लगे। भगवान् को जब रमण की इच्छा हुई, तब भी सृष्टि को आपने इच्छा मात्र से स्वयं प्रकट नहीं किया। उसके लिए प्रत्यक्ष में अन्य कारण अर्थात् तपस्या को दिखाया। ब्रह्मा रूप से तपस्या कर सृष्टि उत्पन्न की। वैसे ही यहाँ पर सप्तम गर्भ को अन्यत्र स्थापन करने के लिए जगत् की कारणभूत योगमाया को आज्ञा दी।

कंस ने देवकी के छः पुत्रों को मारा और यादवों को दुःख दिया, उसका प्रतीकार<sup>१</sup> यही है कि कंस का तथा उसको इस कार्य में सहायता करने वाले असुर राजाओं का वध करना। दुःखों का मूल कारण कंस था। अतः भगवान् ने प्रथम कंस का वध किया।

भगवान् की दस प्रकार की शक्तियाँ हैं, उनमें से एक का नाम 'माया' है। वह माया तीन प्रकार की है — (१) जगत् की कारण रूपा—जिसको योगमाया कहते हैं, (२) व्यामोहिका — वह चित्‌रूपा है। (३) क्रिया रूपा — वह सत् रूपा है। अभी यहाँ पर योगमाया का प्राकट्य हुआ है। जिसकी आज्ञा हुई है। अन्य दोनों शक्तियों से दूसरे समय में कार्य लिया है।

**श्लोक —** गच्छ देवि ब्रजं भद्रे गोपगोभिरलंकृतम् ॥६½॥

**श्लोकार्थ —** हे कल्याणी देवी। गोप (गोपी) और गौओं से अलंकृत ब्रज में जा ॥६½॥

**सुबोधिनी —** आज्ञामेवाह गच्छ देवीति नवभिः। प्रथमतो ब्रजं गच्छ। तत्र गता स्वास्थ्यं प्राप्स्यतीति। मथुरायां दैत्यावेशात्। तेषां च भगवान् मायारूप इतीयमपि तत्र प्रविष्टा तेषामेव कार्यं साधयेत्। अतः केवलं देवाश्रितं गोकुलमेव गच्छेत्याज्ञा। यतस्त्वं देवतारूपा न दैत्यहितकारिणी। अतस्तथा सम्बोधयति। ब्रजपदेन जङ्गमत्वमुक्तम्। अतः स्थावरान्नगरादुत्कर्षः। ननु तत्र स्थितानां देवानां मायागमने व्यामोहसम्भवाद् वैपरीत्यं स्यादिति शङ्कां वारयति। भद्र इति। त्वं कल्याणरूपा। देवानां या देवता कल्याणरूपा। ऐहिकसुखदा। सा मुधैरत्यन्तं सम्मान्यत इति तदर्थमाह गोपगोभिरलंकृतमिति। गोपाश्च गोप्यश्च गोपाः। गोपाश्च गावश्च। ते उभये तस्य स्थानस्यालङ्करणभूतारतैरेव तत्रत्या शोभा। योन्यस्तिष्ठति स तु तदनुगुण एवेति तेषामप्रतिबन्धो निरूपितः। अतो दर्शनादेव तत्र सुखं निरूपितम्॥

**अनुवाद —** भगवान् ने योगमाया को आज्ञा दी कि मथुरा में दैत्य का आवेश है। इसलिए प्रथम तू ब्रज में जा। वहाँ तू सुख प्राप्त करेगी। दैत्यों का भगवान् माया रूप है। जो माया वहाँ (मथुरा में) रहेगी तो दैत्यों का कार्य सिद्ध कर दे। इसलिए माया को कहा कि तू देवाश्रित गोकुल में जा। कारण कि तू देवता रूप होने से दैत्यों को हितकारिणी नहीं है। इसलिए श्लोक में योगमाया को हे देवि! कहा है। 'गोकुल' को ब्रज कहकर यह बताया है कि गोकुल जड़ नहीं है किन्तु चेतन रूप है। इसलिए स्थावर नगर<sup>१</sup> से इसकी उत्तमता दिखलाई है। यदि 'माया' ब्रज में आयगी तो वहाँ के रहने वाले देवों को मोहित करेगी इस शङ्का की निवृत्ति के लिये श्लोक में 'माया' को 'भद्रे' विशेषण दिया है। जिसका भाव है कि वह माया देवों की भी देवता होने से

<sup>१</sup> टिप्पणी में प्रभु चरण आज्ञा करते हैं कि 'नगर' अभिमानी होने से 'स्तब्ध' होते हैं अतः वे 'स्थावर' (जड़) हैं।

कल्याण रूपा है। इस लोक के सुखों को देने वाली है। इस माया का सीधे सादे जीव बहुत सम्मान करते हैं। ब्रज में गोप, गोपी और गौ रहते हैं वे सीधे सादे हैं इसलिये माया का वहां सन्मान विशेष होगा। अतः भगवान् ने माया को ब्रज में जाने की आज्ञा दी। ये गोपादि ब्रज के अलङ्कार हैं इन्हीं से ब्रज सुशोभित<sup>१</sup> हो रहा है। इनके सिवाय जो अन्य रहते हैं उन पर भी इनका प्रभाव पड़ता है जिससे उन अन्यो से शोभा में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है अतः ब्रज के दर्शन मात्र से ही वहां सुख प्राप्ति होती है यह निरूपण किया है ॥६½॥

श्लोकः — रोहिणी वसुदेवस्य भार्यास्ते नन्दगोकुले ।

अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि ॥७॥

श्लोकार्थ — वसुदेवजी की स्त्री रोहिणी नन्दजी के गोकुल में है और कंस के उद्वेग<sup>२</sup> से पीडित दूसरी वसुदेवजी की स्त्रियां तथा अन्य स्त्रियाँ भी गुप्त स्थानों में रहती हैं ॥७॥

सुबोधिनी — तत्र गतायाः किं प्रयोजनमित्याकाङ्क्षायामाह रोहिणीति । वसुदेवस्य भार्या रोहिणी तत्रास्ते । स्थितौ कः सम्बन्ध इत्यत आह नन्दगोकुल इति । नन्दसम्बन्धिगोकुले । अनेन नन्दवसुदेवयोर्भ्रातृत्वं द्योतितम् । अत्र पादद्वयमधिकं किमिति तिष्ठतीत्याकाङ्क्षायां निरूपितम् । अन्याश्च स्त्रियो वसुदेवस्यान्येषां वा । याः कंससंविग्नाः सत्यो विवरेषु गुप्तस्थानेषु वसन्ति । भयदशाया तथैव स्थितिर्युक्तेति हिशब्दार्थः ॥७॥

अनुवाद — माया का ब्रज में जाने का क्या प्रयोजन था ? उसका कारण इस श्लोक में बताते हैं। वसुदेवजी की स्त्री रोहिणी ब्रज में (गोकुल में) रहती है कारण कि

<sup>१</sup> योजनाकार लालू भट्ट जी कहते हैं कि भगवान् ने माया को ब्रज में जाने की आज्ञा की जिसका गूढाशय यह है कि जैसे गोप और गौ तो ब्रज को प्रकट रूप से सुशोभित कर रहे हैं किन्तु गोपिया जो साक्षात् श्रुतिरूपा हैं वे प्रभु से रासोत्सव में सङ्गम कर रस प्राप्ति की आशा से ब्रज में स्थिति करती हैं और परस्पर प्रभु का गुण गान करती हुई ब्रज की शोभा बढ़ाती हैं अतः वे ही मुख्यतः ब्रज की शोभा रूप हैं। प्रभु अपने लिये उनको प्रकट कर आप आविर्भूत हुवे हैं। गोपी ब्रज की गुप्त रूप से भूषण हैं, कारण कि, शृङ्गार रस की पद्धति के अनुसार उनके साथ गुप्त रीति, से ही रमण प्रभु को इष्ट है। अतः श्री शुकदेवजी ने श्लोक में 'गोप गोभिः अलङ्कृतम्' कहा है इसमें गोपी शब्द व्याकरण के नियमानुसार गुप्त रखा है। अतः जिस प्रकार गोपिणं गुप्त प्रकार से शृङ्गारादि कर तथा गुण गान कर ब्रज की शोभा बढ़ाती हैं वैसे तू भी वैसी ही होकर ब्रज की शोभा की वृद्धि में सहयोग दे। मुग्ध गोपाल तुम्हारा सन्मान भी करेगा।

वह (गोकुल) नन्द का है इससे यह बताया कि वसुदेव और नन्द का परस्पर भ्रातृत्व सम्बन्ध है इस सम्बन्ध से ही रोहिणी वहां रहती<sup>१</sup> है। अन्य स्त्रियां वसुदेव की तथा अन्य यादवों की जो कंस से पीडित हुई थी वे भी गुप्त स्थानों में रहती हैं। भय की दशा से गुप्त स्थानों में रहना ही योग्य है यह भाव 'हि' शब्द सूचित करता है ॥७॥

**श्लोक: —** देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम्।

तत् सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय ॥८॥

**श्लोकार्थ —** देवकी के जठर में मेरे 'शेष' संज्ञा (नाम) वाले धाम आये हैं उनको वहां से खींच के रोहिणी के उदर में स्थापित कर ॥८॥

**सुबोधिनी —** ततः किमत आह देवक्या इति। जठर इति। इतरगर्भवैलक्षण्यार्थम्। तदिति प्रसिद्धम्। ततः सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सम्यङ् निवेशय। किं तद्गर्भरक्षायामित्याकाङ्क्षायामाह शेषाख्यमिति। शेष इत्याख्या यस्य। तस्मिन् नष्टे भूमिरेव निमग्ना भविष्यतीति। ननु तस्याकर्षणे नाशशङ्का स्यादित्यत आह मामकं धामेति। भगवत्तेजोरूप भगवतोपि स्थानभूतं वा न नश्यतीति ॥८॥

**अनुवाद —** तदनन्तर क्या हुआ उसका वर्णन करते हैं। सब गर्भ माता के गर्भाशय में स्थिति करते हैं किन्तु यह सातवां गर्भ माता के अन्दर रहे हुए आकाश में अर्थात् जठर में स्थित हुआ है कारण कि अन्य गर्भ (बालकों) से यह विलक्षण विशेष लक्षण वाला अद्भुत, भगवान् का (धाम स्वरूप) गर्भ है। श्लोक में 'तत्' शब्द से सूचित किया है कि यह गर्भ मेरा धाम होने से प्रसिद्ध ही है। देवकी के जठर से इनको खींच कर रोहिणी के उदर में स्थापित कर। यहां से रोहिणी के उदर में स्थापन करने का कारण कंस से इनकी रक्षा करना है। यदि कंस इनको नाश<sup>२</sup> कर दे तो भूमि किसके आधार पर ठहरेगी ? इसीलिये यों करना आवश्यक है। यह मेरा तेज स्वरूप तथा धाम रूप है अतः खींचने से इनका नाश न होगा। इसलिये नाश की शङ्का करना व्यर्थ है ॥८॥

**श्लोक: —** अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे।

प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि ॥९॥

<sup>१</sup> नव श्लोको मे दो पाद अधिक इसी दिखाने के लिये दिये हैं कि रोहिणी यहा रहती है। — सु०

<sup>२</sup> यह कहना केवल लौकिक दृष्टि से है, वास्तव में तो इसके स्पर्श मात्र से कंस स्वयं नष्ट हो सकता है।

**श्लोकार्थ** — हे शुभ स्वरूपे! अनन्तर में अंशों के भाग से (परिपूर्ण रूप से) देवकी के पुत्रत्व को प्राप्त करूंगा। और तू नन्द की स्त्री यशोदा में उत्पन्न होगी।।६।।

**सुबोधिनी** — तर्हि स्थितावेव कंसभयाभावात् को दोष इति चेत्तत्राहाथाहमिति। अयं पुरुषोत्तमो योगमायामाज्ञापयति। भक्तिमार्गे तस्यैव सेव्यत्वात्। आरम्भे 'यदूनां निजनाथानां' मिति वचनात्। स चतुर्धात्र समायास्यति। तदर्थमाहाथ शीघ्रं तदनन्तरमेव। अहं पुरुषोत्तमः। अंशानां वासुदेवसङ्कर्षणप्रद्युम्नानिरुद्धानां भागेन विभागेन चतुर्धा कार्यकरणाद् देवक्याः पुत्रतां प्राप्स्यामि। भागेनेत्येकवचनप्रद्युम्नाशेनैव पुत्रत्वमिति ज्ञापनार्थम्। अथाहमिति सन्दर्भेण यथा त्वं गमिष्यस्यन्यत्रोत्पन्नान्यत्र तथाहमपीति ज्ञापितम्। पुत्रतामिति लोकप्रतीत्या तद्धर्मवत्त्वं ज्ञापितं नत्वहं पुत्रो भविष्यामि। शुभ इतिसम्बोधनेन त्वद्गमनेन मद्रमणस्थानं शोभायुक्तं भविष्यतीत्यग्निमाज्ञापने हेतुकथनार्थं तस्या भगवदेकशरणाया वैकुण्ठे केवलं स्थातुमयुक्तमिति। तामपि जननार्थमाज्ञापयति त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसीति स्तन्योत्पादनार्थं मोहजननार्थं मारणार्थं च।।६।।

**अनुवाद** — यदि वह (सातवां गर्भ) आपका तेज रूप है इनको वास्तव में कंस नाश नहीं कर सकता है, यहां ही स्थित हो तो क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि इस श्लोक में जो माया को आज्ञा देते हैं वे ये पुरुषोत्तम हैं, कारण भक्ति मार्ग में वे ही सेव्य हैं। आरम्भ से ही कहा है कि 'यदूनां निजनाथानाम्'। वे पुरुषोत्तम यहां चार प्रकार से (चार व्यूहात्मक स्वरूपों सहित) पधारेंगे। इसलिये कहते हैं कि 'अथ' शीघ्र वा आप इस सप्तम गर्भ को ले जाओगी इसके अनन्तर ही, मैं पुरुषोत्तम, चार प्रकार के कार्यों को पूर्ण करने के लिये, अंशों (वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध) के विभाग से, देवकीजी के पुत्रत्व को प्राप्त करूंगा अर्थात् पुत्र रूप से प्रकट होऊंगा। यहां श्लोक में 'अश भागेन' एक वचन का आशय यह है कि भगवान् ने देवकीजी के यहां 'प्रद्युम्न' व्यूह रूप से पुत्रत्व अङ्गीकार किया है। श्लोक में 'अथ अहम्' कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् माया को कहते हैं कि जैसे तू एक स्थान पर, यशोदा के यहां प्रकट होकर अन्य स्थान पर देवकी के यहां जायगी। उसी प्रकार मैं भी एक स्थान पर देवकीजी के यहां प्रद्युम्नांश से प्रकट होकर अन्य स्थान पर यशोदाजी के पास जाऊंगा। श्लोक में 'पुत्रतां' पद कहने का तात्पर्य यह है कि मैं लोकदृष्टि से अपने में पुत्रपने को दिखाता हूँ वास्तव में तो मैं किसी का पुत्र नहीं हूँ और नहीं होऊंगा। माया का विशेषण 'शुभे' शब्द श्लोक में दिया है उसका आशय यह है कि तेरे गोकुल में जाने से मेरा रमण



स्थान गोकुल शोभा युक्त होगा। पहले जाने का यही हेतु है कि गोकुल को शोभा युक्त करना और यह माया वह है जिसका केवल भगवान् ही एक शरण है वैसी माया को वैकुण्ठ में अकेली छोड़ना भी अयोग्य है। इसलिये माया को कहा तू नन्दपत्नी यशोदा में उत्पन्न होगी। यशोदा के यहा क्यों उत्पन्न होगी, उसका कारण बताते हैं कि माया को वहां (१) स्तन्य उत्पन्न करना है, (२) मोह को प्रकट करना है मोहित करना है और मारने का कार्य करना है ॥६॥\*

श्लोक: — अर्चिष्यन्ति मनुष्यास्त्वां सर्वकामवरेश्वरीम्।

धूपोपहारबलिभिः सर्वकामवरप्रदाम् ॥१०॥

श्लोकार्थ — तू सकाम पुरुषों को वर देने में समर्थ है और सर्व प्रकार के कामनाओं की पूर्ति का वर देने वाली है, अतः मनुष्य धूप, उपहार और बलि से तेरी पूजा करेंगे।

सुबोधिनी — स्तन्योत्पादनार्थं मोहजननार्थं मारणार्थं च यद्यप्युत्पाद्यते तथापि तस्यास्त-  
दनिष्टमिति तदनुक्त्वा फलान्तरमाहर्चिष्यन्तीति। मनुष्या इति। देवांशा दैत्यांशाश्च निवारिताः।  
देवांशास्तु भगवत्सेवका एव। दैत्यांशास्तु न भजन्त एव। अर्चनायां फलं हेतुः। सर्वासां कामनाना  
वराणामीश्वरीमिति। काम्याः सोपाया विषयाः। वरा अनुपायाः। स्त्रियाः साक्षात्सेवा तस्या अपि बाधिकेति  
तन्निवृत्त्यर्थं धूपोपहारबलिनेति। पूजायां साधनत्रयं निर्दिष्टम्। धूपोदूरादेव सम्भवति। उपहारश्च।  
दीपस्तु स्वतः प्रकाशमानाया उपयोगी न भवतीति नोक्तः। बलिः पशूनां दानम्। पूर्व काम्यादीना प्रभुत्वं  
उक्तेष्वदातृत्वेभजनीया स्यादिति तद्दातृत्वमपि तस्यां भगवान् स्थापयति सर्वकामवरान् प्रकर्षेण ददातीति  
सर्वकामवरप्रदा ॥१०॥

\* इस ६ वे श्लोक पर प्रकाशकार गो पुरुषोत्तमजी के प्रकाश का संश्लेष।

माया का प्राकट्य केवल कस के भय निवारण के लिये नहीं है किन्तु भगवान् की सेवा के लिये भी है। माया, अनेक प्रकार की एव अश सम्बन्धिनी है अतः सर्वफल दत्री नहीं है। इसलिये स्वयं भगवान् का प्राकट्य आवश्यक है। भगवान् चतुर्विध कार्य करने के लिए चतुर्व्यूह स्वरूप सहित प्रकटे हैं। प्रत्येक व्यूह का कार्य भिन्न है और प्रकट होने का कारण भी भिन्न है। जैसे कि 'प्रद्युम्न' पुत्र रूप से प्रकट हुए और उसका कारण पृथिवी और सुतपा को दिया हुआ वरदान था। 'सङ्कर्षण' धर्म रक्षण कार्य के लिये प्रकटे और उसका कारण भूमि और देवताओं की प्रार्थना है, 'अनिरुद्ध' सर्व प्रकार के भक्तों के मोक्षदान रूप कार्य के लिये प्रकटे जिसका कारण भक्तों को मुक्ति देने की भगवान् की इच्छा है। 'वासुदेव' ज्ञानोपदेश कार्य तथा देवकी की रक्षा के लिये प्रकटे, यहा भगवदिच्छा ही कारण है। भगवान् और चार व्यूह स्वरूपों के एक ही स्वरूप में दर्शन होने से लोक भगवान् को ही पुत्र समझते हैं किन्तु भगवान् किसी के पुत्र नहीं है। 'पुत्रत्व' तो प्रद्युम्न व्यूह में है अतः प्रद्युम्न व्यूह ही पुत्र रूप से देवकी के यहा प्रकटे है। जैसे परशुराम में ब्राह्मणत्व और क्षत्रियत्व दोनों धर्म थे किन्तु ब्राह्मणत्व के कारण ही भार्गवत्व और पुत्रत्व है। न कि क्षत्रियत्व में पुत्रत्व का भार्गवत्व है क्षत्रियत्व तो युद्ध में प्रकट होता है क्योंकि वह युद्ध के लिये है ॥६॥

अनुवाद — स्तन्योत्पादन, मोह उत्पन्न करना और मारना ये कार्य माया को करने हैं किन्तु ये कार्य माया को इष्ट<sup>१</sup> न होवे और इससे वह उत्पन्न होना नहीं भी चाहे तो इसलिये भगवान् माया को कहते हैं कि तू जाकर ये कार्य करेगी तो सर्व मनुष्य तेरी पूजा करेंगे। जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं, जगत् में जो देवांश हैं वे तो भगवान् के सेवक हैं और जो दैत्यांश हैं वे तो भजन करते ही नहीं हैं, शेष जो मनुष्य हैं वे तेरी पूजा करेंगे कारण कि तू सब कामनाओं की तथा वरों की ईश्वरी है। कामनाओं की पूर्ति, उपाय करने से होती है और वरदान बिना उपाय के होते हैं। माया की पूजा का प्रकार धूप, उपहार और बलि<sup>२</sup> देना ये तीनों, कार्य दूर से ही किये जाते हैं इसलिये बताया है (माया) स्त्री है उसकी भगवान् के समान साक्षात् श्री अङ्ग.. की सेवा नहीं हो सकती है। करने वाले की तथा स्वयं माया को भी बाधक है। पूजा में (दीप)<sup>३</sup> नहीं कहा इसका कारण यह है कि योगमाया स्वयं प्रकाश रूप है। ऊपर कहा कि सर्व कामनाओं तथा वरों की तू ईश्वरी है। किन्तु ईश्वरी होते हुए भी यदि फलदातृत्व न हो तो वह पूजनीया नहीं हो सकती है अतः भगवान् ने उसमें फलदातृत्व भी स्थापन किया है जिसमें कहा है कि (सर्व काम वर प्रदाम्) सर्व प्रकार के कामनाओं तथा वरों को देने वाली है। १०॥

श्लोक: — नामधेयानि कुर्वन्ति स्थानानि च नरा भुवि।

दुर्गेति भद्रकालीति विजया वैष्णवीति च॥११॥

श्लोक — कुमुदा चण्डिका कृष्णा माधवी कन्यकेति च।

माया नारायणीशानी शारदेत्यम्बिकेति च॥१२॥

श्लोकार्थ — पृथ्वी पर मनुष्य आपके मन्दिर बनावेंगे और दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा और अम्बिका ऐसे नाम धरेंगे॥११-१२॥

<sup>१</sup> पसन्द न आवे।

<sup>२</sup> पशुदान।

<sup>३</sup> लेख सारांश — यदि स्वरूप सेवा कहते तो वाम मार्गवत् विकार उत्पन्न होता अतः वह न कहकर दूर से ही धूपादि से अर्चनादि कहा। दीप की अपेक्षा प्रतिमा में होती है यह तो स्वयं प्रकाश स्वरूप है अतः दीप की आवश्यकता नहीं है।

सुबोधिनी — तस्याः सान्निध्यार्थं मन्त्ररूपाणि नामानि स्थानान्याह नामधेयानीति । कुर्वन्तीति वर्तमानसामीप्ये । नामस्वेव स्थानान्यपि प्रसिद्धानि भवन्ति । चकारादधिष्ठानानि । नरा इति पूर्ववत् । भुवीति स्थापनार्थम् । नामान्याह दुर्गेति । सर्वत्रेतिशब्दो मन्त्रदेशभेदेन प्रसिद्धिप्रतिपादनार्थः । दुर्गा काश्यां प्रसिद्धा । भद्रकाल्यवन्त्याम् । विजयोत्कले । वैष्णवी महालक्ष्मीः कुल्हापुरे । चण्डिका कामरूपदेशे । मायाशारदे उत्तरदेशे । अम्बिका अम्बिकावने । कन्यका कन्याकुमारी । अन्यान्यपि प्रसिद्धानि स्थानानि तथैव मन्त्रा ज्ञेयाः ॥१११—१२॥

अनुवाद — योगमाया के सान्निध्य<sup>१</sup> बनाने के लिये उसके मन्त्र, रूपनाम तथा स्थान का वर्णन दो श्लोकों में करते हैं । श्लोक में (कुर्वन्ति) यह क्रिया वर्तमान काल की है किन्तु संस्कृत के व्याकरण के अनुसार यह क्रिया, जो कार्य जल्दी होने वाला हो उसके लिये भी दी जाती है अतः यहां इस क्रिया का अर्थ किया जायगा (करेंगे) आपके नामों के साथ स्नान (मन्दिर) भी प्रसिद्ध होंगे । श्लोक में दिये हुए (च) शब्द से (अधिष्ठान) (प्रतिमा) का भी निर्देश किया है । इसके साथ (भुवि) (पृथ्वी पर) शब्द देने का भाव यह है कि मनुष्य<sup>२</sup> आपकी प्रतिमाओं को पृथ्वी पर स्थापन करेंगे । नाम मन्त्र का वर्णन करते हैं — दुर्गा, भद्रकाली, विजया, वैष्णवी, कुमुदा, चण्डिका, कृष्णा, माधवी, कन्यका, माया, नारायणी, ईशानी, शारदा और अम्बिका । नामों के साथ श्लोक में (इति) शब्द दिया है जिसका तात्पर्य है कि वे, सर्वत्र मन्त्र तथा देश भेद से प्रसिद्ध हैं । जैसे कि (दुर्गा) काशी में, भद्रकाली अवन्ती (उज्जैन) में, विजया उत्कल (उड़ीसा) में, वैष्णवी (महालक्ष्मी) कोल्हापुर में, चण्डिका कामरूप (आसाम) में, माया और शारदा उत्तर प्रदेश में, अम्बिका अम्बिका वन में, तथा कन्यका कन्या कुमारी में प्रसिद्ध हैं । इसी प्रकार जैसे अन्य स्थान प्रसिद्ध हैं वैसे ही अन्य नाम मन्त्र भी प्रसिद्ध समझने चाहिये ॥११—१२॥

श्लोकः — गर्भसङ्कर्षणात् तं वै प्राहुः सङ्कर्षणं भुवि ।

रामेति लोकरमणाद् बलभद्रं बलोच्छ्रयात् ॥१३॥

<sup>१</sup> समीपता ।

<sup>२</sup> इस श्लोक में दिये हुए नर (मनुष्य) शब्द का भाव भी नहीं समझता जो १० श्लोक में दिया है । अर्थात् आपके मन्त्र रूप नाम तथा जिनमें आपकी प्रतिमा स्थापन होगी उन मन्दिरों की सेवा केवल मनुष्य करेंगे, देव एवं असुर नहीं करेंगे ।

गो वल्लभलालजी लेख में कहते हैं कि सुबोधिनी में (अपि) (भी) शब्द देने का भाव है कि शेष में सङ्कर्षण व्यूह के साथ वसुदेव व्यूह भी है । किन्तु वह गर्भ के स्थिति के समय में नहीं है व्यवहार के समय में है ।

**श्लोकार्थ** — गर्भ के खींचने से उनको पृथ्वी पर सङ्कर्षण कहेंगे। जगत् को रमण कराते आनन्द देते हैं इसलिये उनको राम कहेंगे है। विशेष बलवान् होने से बलभद्र कहेंगे।

**सुबोधिनी** — एव तस्या नामान्युक्त्वा शेषस्यापि नामान्याह गर्भसङ्कर्षणादिति। गर्भरूपस्य तस्य सङ्कर्षणात् सङ्कर्षणः सम्यक् कर्षणं यस्येति। प्राहुरितिप्रमाणम्। भुवीत्यवतारदशायामेव। वस्तुतस्तु सङ्कर्षणश्चतुर्भुवर्तर्भगवतो द्वितीयः। सोप्यत्राविष्टस्तथापि लोका गर्भसङ्कर्षणादेवसङ्कर्षणं वदन्ति। नामान्तरमाह रामेति। लोकस्य रमणं यस्मात्। रमयतीति रामः। राम इति वक्तव्येविभक्ति कनिर्देशोसम्मत्यर्थः। सम्बुद्धिरूपो वा व्यवहारार्थः। बलभद्रमपि प्राहुर्बलेन भद्र इति। बालोच्छ्रयात्। न तु बलकार्यात्॥१३॥

**अनुवाद** — योग माया के नाम कहकर इस श्लोक में शेष के नाम भी कहते हैं। शेषजी को अवतार दशा में पृथ्वी पर सङ्कर्षण कहेंगे, कारण कि इनके (गर्भ) काल में योगमाया ने इनको खींचकर रोहिणी के उदर में स्थापित किया था। वास्तव में तो भगवान् के चतुर्व्यूह रूप चार स्वरूपों में से द्वितीय व्यूह स्वरूप सङ्कर्षण भी इनमें प्रविष्ट हैं अतः यह शेषजी सङ्कर्षण हैं किन्तु लोक में गर्भ खींचने से इनको सङ्कर्षण कहेंगे। लोक जिनसे आनन्द पाते हैं और जो लोग को रमण कराते हैं अतः उनका दूसरा नाम राम है। श्लोक में (राम) शब्द विभक्ति कि-बिना दिया गया है इसका तात्पर्य यह है कि यह नाम भगवान् को रुचिकर नहीं है अथवा (राम) शब्द संबोधन रूप होने से यह नाम व्यवहारिक है। शेषजी ने बल के कार्य किये इसलिये इनका नाम बलभद्र नहीं है किन्तु विशेष बलवान् होने से बलभद्र कहे जाते हैं॥१३॥

**श्लोकः** — सन्दिष्टैवं भगवता तथेत्योमिति तद्वचः।

**प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत् तथाकरोत्॥१४॥**

**श्लोकार्थ** — इसी प्रकार भगवान् ने योगमाया को आज्ञा दी, आज्ञा के वचनों को सादर स्वीकार कर, प्रभु की प्रदक्षिणा करके वह पृथ्वी पर गई और वहाँ जाकर उसने आज्ञानुसार कार्य किया॥१४॥

**सुबोधिनी** — ईश्वरवाक्यादादेशानन्तरमेव तथा कृतवतीत्याह सन्दिष्टैवमिति। भगवतेत्यनुल्लङ्घनार्थम्। तथेति करणार्थं जननार्थं च। ओमिति पूजाद्यर्थम्। तस्य भगवतो वचः परिगृह्य परिक्रमण कृत्वा गा भूमि गता सती तथैवाकरोत्॥१४॥

अनुवाद — भगवान् की आज्ञा के अनन्तर माया आज्ञा अनुसार कार्य करने लगी जिसका वर्णन करते हैं। मूल श्लोक में माया को आज्ञा देने वाले के लिये 'भगवान्' शब्द दिया है वह इसीलिये है कि उनकी आज्ञा का उल्लङ्घन कोई भी नहीं कर सकता है। और 'तथा' शब्द जैसी भगवान् की आज्ञा गर्भ सङ्कर्षण तथा अपने (माया के) जन्म लेने के लिये हुई वैसा ही करने के वास्ते दिया है एवं 'ओम्' शब्द पूजा के लिये दिया है। इसी से आज्ञा स्वीकार कर भगवान् की प्रदक्षिणा कर, योगमाया पृथ्वी पर गई और आज्ञा को पालने लगी ॥१४॥

श्लोक — गर्भे प्रणीते देवक्या रोहिणीं योगनिद्रया ।

अहो विस्त्रंसितो गर्भ इति पौरा विचूक्रुशुः ॥१५॥

श्लोकार्थ — योगमाया ने देवकीजी का गर्भ रोहिणीजी में स्थापित किया तब लोक चिल्लाने लगे कि अहो देवकीजी का गर्भ विस्त्रंसित<sup>१</sup> हो गया ॥१५॥

सुबोधिनी — तत् सर्वं भगवन्निर्दिष्ट तत्कार्यं लोके प्रसिद्धं जातमित्याह गर्भे प्रणीत इति । गर्भे प्रकर्षण नीते रोहिण्युदर प्रापिते । योगनिद्रयेति कर्षणप्रापणयोः सर्वाज्ञानं निरूपितम् । अहो इत्याश्चर्यं । विस्त्रंसित इति 'स्रसु' ध्वंस्वध-पतनेः । तेन पञ्चमो मासः षष्ठो वेति ज्ञापितम् । पौराः पुरवासिनः । अनेन सर्वप्रतीतिर्जातेत्युक्तम् । राक्षसैः कंसप्रेरितैः विस्त्रंसित इति विचूक्रुशुरत्याक्रोशं कृतवन्तः ॥१५॥

अनुवाद — भगवान् ने योगमाया को जिस कार्य करने की आज्ञा दी थी वह सब कार्य लोक में प्रसिद्ध हुआ, जिसका वर्णन करते हैं। योगनिद्रा ने सुष्ठु प्रकार से गर्भ को लेजाकर रोहिणीजी के उदर में स्थापित किया। यह कार्य योगनिद्रा ने किया अतः सबको ऐसी निद्रा आ गई जो किसी को भी इस कार्य को (यहां से ले जाने और वहाँ पहुंचने की) सुधि न रही जिससे सबको आश्चर्य हुआ। मूल में 'अहो' शब्द आश्चर्य प्रकट करने के लिये दिया है। श्लोक में विस्त्रंसित<sup>२</sup> पद संस्कृत के 'स्रसु' धातु से बना है जिसका अर्थ 'गिरना' होता है। इस शब्द को देने का भाव यह है कि जिस समय योगमाया गर्भ को ले गई उस समय, 'गर्भ' पाचवें या छठे मास का था। "पौराः" शब्द

<sup>१</sup> गिर गया

<sup>२</sup> निद्रा भी माया का रूप है, यहा सबको नीद लानी थी इसलिये 'योगनिद्रा' कहा। — अनुवादक

से पुरवासी चिल्लाने लगे यों कहने से यह बताया कि सबको यह खबर पड गई कि कंस के भेजे हुए राक्षसों ने देवकी जी का गर्भ गिरा दिया है ॥१५॥

**श्लोक** — भगवानपि विश्वात्मा भक्तानामभयङ्करः ।

आविवेशांशभागेन मन आनकदुन्दुभेः ॥१६॥

**श्लोकार्थ** — भक्तों को निर्भय बनाने वाले, विश्वात्मा, भगवान् भी वसुदेवजी के मन में अंशों के भाग से प्रविष्ट हुए ॥१६॥

**सुबोधिनी** — अथाक्रोशानन्तरं विस्त्रंसनज्ञानानन्तरमेव भगवान् वसुदेवद्वारा देवक्यामागत इत्याहाविवेशेति सार्धाभ्याम् । निषेकाभावेपि पूर्व वसुदेवे ततस्तद्द्वारा देवक्यामागमनस्याय भावः । अत्र हि नृसिंहहंसादिवन् न प्राकट्यं किन्तु यदुवंशसम्बन्धित्वेन शूरपौत्रत्वेन वसुदेवपुत्रत्वेन । जीवे शरीरस्यैव वंशसम्बन्धित्वेन तस्य च निषेकजन्यत्वेन तथोत्पत्तिरुच्यते । ईश्वरे प्राकट्यस्यैवोत्पत्तिपदार्थत्वाद् वक्ष्यमाणप्रकारेण वसुदेवद्वारा देवक्यामाविर्भाव उच्यते । अन्यथा देवक्यामेव तथोच्येतेत्यानकदुन्दुभेर्मनो भगवानाविवेशायोगोलके वह्निरिव । अन्यथानकदुन्दुभित्व व्यर्थ स्यात् । अंशाना भागेन विभागेन । केचित्तुअंशेन नारायणरूपेण भागेन केशरूपेण सह स्वयं प्रद्युम्न आविवेशेत्याहुः । पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृह एव मायया सह जातः । अन्यथा 'देवकीजठरभू'—रिति वत् 'तव सुत' इति कथं वदेयुः ? 'तन्मातरा वितिशुकवाक्यं च विरुध्येत । माययैव रूपान्तरमिति मायानिरूपणेनैव चतुर्थाध्याये तस्योत्पत्तिर्निरूपिता । उत्पत्तेरनन्तरमेव नन्दस्त्वात्मज उत्पन्न' इतिसम्भ्रमः । एवं सति सर्वेषां चरित्राणामभिनिवेशो भवति ।

जननं मनस इति मन उक्तम् ॥१६॥

**अनुवाद** — लोगों के कोलाहल तथा गर्भ गिरने का ज्ञान सबको हुआ तदनन्तर भगवान् वसुदेवजी के द्वारा देवकीजी में पधारे, जिसका वर्णन २॥ श्लोकों में करते हैं । लौकिक प्रकार से, गर्भ धारण की क्रिया न होते हुए भी, भगवान् प्रथम वसुदेवजी के मन में प्रविष्ट हुए अनन्तर वहाँ से देवकीजी में आये । जब लौकिकवत् गर्भ धारण न हुआ तो वसुदेवजी के मन से देवकीजी के जठर में आने की क्या आवश्यकता थी ? इस शङ्का को मिटाने के लिये आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यहाँ भगवान् को नृसिंह तथा हंस के समान केवल अवताररत्न प्रकट नहीं करना था किन्तु अपना यदुवश से सम्बन्ध, शूरसेनजी का पौत्र बना तथा वसुदेवजी का पुत्रत्व भी प्रकट करना था अतः इस प्रकार देवकीजी के जठर में प्रविष्ट होना आवश्यक था । जीव का वशादि सम्बन्ध देह से ही होता है अतः वहाँ स्त्री पुरुष संयोग से वीर्य द्वारा जो प्रवेश होता है उसको उत्पत्ति कहते हैं । ईश्वर के प्राकट्य को ही उत्पत्ति कहते हैं । इसलिये ऊपर कहे हुए

प्रकार से ही वसुदेवजी द्वारा देवकीजी में भगवान् का आविर्भाव कहा गया है। यदि वह प्राकट्य भगवान् का न होता तो वसुदेवजी के मन में भगवान् का प्रवेश न होकर लौकिकवत् सीधा देवकीजी में होता वसुदेवजी के मन में भगवान् का प्रवेश है जैसे लोहे के गोले में अग्नि प्रवेश करती है वैसे हुवा है। जब वसुदेवजी का जन्म हुआ था तब देवों ने हर्ष में दुंदुभी बजाई थी कारण कि उनको मालूम था कि इनके यहा भगवान् प्रकट होंगे, तब हमारे संकट नाश होंगे अतः वसुदेवजी का नाम 'आनक दुंदुभी' पड़ा है। उस नाम को सार्थक करने के लिये भी भगवान् प्रथम वसुदेवजी के मन में पधारे। अंशों (व्यूहों) के विभाग से भगवान् ने प्रवेश किया। ऐसा कहने का तात्पर्य यह है कि चतुर्व्यूह रूप भगवान् ने इस समय एक ही प्रद्युम्न व्यूहरूप से वंश सम्बन्ध कार्य सिद्ध करने के लिये प्रवेश किया है। किसी किसी का मत है कि 'अंशेन-भागेन' यों पदच्छेद करके उनका अर्थ 'अंशेन' नारायण रूप और 'भागेन' केश रूप के साथ स्वयं प्रद्युम्न ने प्रवेश किया यों करना चाहिये।

पुरुषोत्तम तो नन्दगृह में माया के साथ ही प्रकट हुए हैं। यदि वहां प्रकट न हुवे होते तो, जैसे भगवान् के लिये 'देवकी जठर भूः' देवकी के जठर से प्रकट हुए हैं ऐसा श्रुतियों ने कहा है वैसे ही यशोदाजी को 'तव सुतः' तेरा पुत्र है इस प्रकार प्रमाण मूर्धन्य श्रुति रूप गोपिकाएँ कदापि नहीं कहती। जो भगवान् का प्राकट्य यशोदा के घर में न हुवा होता तो शुकदेवजी का 'तन्मातरौ' (उनकी दो माताएँ) यह कहना विरुद्ध हो जाता। चतुर्थाध्याय में माया के जन्म निरूपण से ही नन्दालय में 'भगवान्' की उत्पत्ति कही गई है। माया के कारण ही भगवान् की 'मनुष्य' रूप से प्रतीति हो रही है। उत्पत्ति<sup>१</sup> होने के अनन्तर ही पंचमाध्याय में 'नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने' श्लोक से भगवान् के प्राकट्य का महान् उत्सव मनाया गया है। इस प्रकार अर्थ करने से ही सर्व चरित्रों का

<sup>१</sup> गर्भ को ले जाने के बाद लोगों के कोलाहल (चिल्लाने) के अनन्तर।

समन्वय हो सकेगा। जनन<sup>१</sup> मन से हुवा है इस लिये मूल में 'मन' शब्द दिया है। १६।।\*

श्रीप्रभुचरण टिप्पणीजी में आज्ञा करते हैं कि — आचार्य श्री में १६वें श्लोक के आभास में जो (अथा क्रोशानन्तरं) कहा है वह उपयुक्त ही है कारण कि प्रभु के हृदय में जो यह विचार था कि माया सप्तम गर्भ को ले जायगी, तदनन्तर शीघ्र ही मैं वसुदेवजी के मन द्वारा देवकी में प्रविष्ट होऊँगा उसकी श्री शुकदेवजी ने (गर्भेप्रणीते<sup>२</sup>) इस श्लोक में स्पष्टता करदी है इस श्लोक में चिल्लाने का भी वर्णन किया हुआ है।

(टि०) आचार्य श्री ने सुबोधिनीजी में पुरुषोत्तम तो नन्दगृह में माया के साथ ही प्रकट हुए हैं, यह फक्किका<sup>३</sup> कही है। पुरुषोत्तम का प्राकट्य नन्दगृह में अवश्य मानना चाहिये। किन्तु वैसा मानने से उलझन यह आती है कि भगवान् वसुदेवजी के यहां भी प्रकटे हैं जब वसुदेवजी भगवान् को नन्दजी के यहाँ ले गये होंगे तब वहां दो स्वरूपों के दर्शन हुवे होंगे ? यदि पधराये हुए स्वरूप का नन्दजी के यहां प्रकट हुए स्वरूप में लीन होना माना जाय तो ले जाना ही व्यर्थ हो जाता। प्रभुचरण इस प्रकार की शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि जिस समय देवकी ने प्रभु की उस चतुर्भुज स्वरूप को छिपा लेने की प्रार्थना की थी उस समय नन्दगृह में प्रकट हुए स्वरूप ने बाल स्वरूप (प्राकृतवत् द्विभुज स्वरूप) से देवकी को दर्शन देते हुए उस अपने चतुर्भुज स्वरूप को अपने बाल स्वरूप में अन्तर्हित कर दिया। जिससे नन्दगृह में पधारने पद दो स्वरूपों के दर्शन की शङ्का व उलझन नहीं रही। उस चतुर्भुज स्वरूप को अपने में अन्तर्हित इसलिये किया कि वहाँ व्रज में भी इस स्वरूप द्वारा अनेक कार्य पूनता वध आदि करने थे।

\* प्राकट्य।

इस श्लोक पर जो टिप्पणी, प्रकाश, लेख और योजनाकार ने श्री सुबोधिनीजी की पक्तियों का आशय विशद किया है उसका साराश यहां दिया जाता है।

<sup>२</sup> गर्भे प्रणीते— १५ वें श्लोक में माया गर्भ को ले गई और लोग चिल्लाने लगे इस श्लोक को श्री शुकदेवजी ने इसीलिये कहा है कि इसके अनन्तर भगवान् पधारेंगे। इस आशय से आचार्य श्री ने आभास में 'अथा क्रोशान्तरं' युक्त ही कहा है। — अनुवादक

<sup>३</sup> किसी विषय को साबित करने के लिये जो उक्ति कही जाय उसको 'फक्किका' कहते हैं।



पुरुषोत्तमजी प्रकाश कहते हैं कि — 'अंशभागेन' इस तृतीया विभक्ति के, कारण कारक होने से किनको यह शङ्का होती है, कि भूमि पर भगवान्, केवल चतुर्व्यूह स्वरूप से ही प्रकट हुए हैं। मूल पुरुषोत्तम स्वरूप से नहीं हुए हैं। इस शङ्का को आचार्य श्री सुबोधिनीजी में (पुरुषोत्तमस्तु नन्द गृह एवं मायया सह जातः<sup>१</sup>) पुरुषोत्तम तो नन्दजी के घर में माया के साथ ही प्रकटे हैं, इस फक्किका द्वारा मिटाते हैं। इसके लिये प्रमाण भी दिये हैं कि यदि पुरुषोत्तम नन्दगृह में प्रकट न हुवे होते तो जैसे गोपीजनों ने 'देवकी जठरः भूः' कह कर भगवान् को देवकी का पुत्र माना है वैसे ही 'तव सुतः' कह कर यशोदाजी का पुत्र भी होना स्वीकार नहीं करती, किन्तु स्वीकार करने से सिद्ध है कि यशोदाजी के यहाँ प्रकट होने से ही उनको यशोदाजी का पुत्र कहा है। इसके सिवाय यदि भगवान् केवल देवकीजी के पुत्र होते तो श्री शुकदेवजी 'तन्मातरौ'<sup>१</sup> कहने की भूल कैसे करते ? अतः श्री शुकदेवजी ने 'तन्मातरौ' कह कर सिद्ध किया है कि उनका देवकी तथा यशोदा दोनों के यहाँ प्राकट्य हुआ है अतः उनकी दो माताएँ हैं। इस प्रकार आचार्य श्री ने पृथ्वी पर मूल स्वरूप का प्राकट्य दोनों स्थानों पर होना सिद्ध कर के इस शङ्का को मिटाया है कि मूल रूप से पुरुषोत्तम प्रकट नहीं हुए हैं। श्री सुबोधिनीजी में आचार्य श्री ने 'माययैव रूपान्तर' कहा है, जिसका आशय प्रकट करते हुए प्रकाशकार कहते हैं कि माया से कोई भगवान् का स्वरूप मायिक (झूठा—कल्पित) नहीं बन गया है किन्तु मूल में जो 'प्राकृतः शिशुः' कहा है उसका भाव आचार्य श्री ने इस पंक्ति से बताया है कि भगवान् जो आनन्द स्वरूप हैं उनको माया ने मनुष्यों की दृष्टि में प्राकृत जैसा दिखला दिया जैसे सीप में चांदी को भ्रान्ति रूपान्तर है। वैसे ही रस रूप परमात्मा में प्राकृतत्व की भ्रान्ति ही रूपान्तर है।

गो० वल्लभलालजी लेख में कहते हैं कि — श्री सुबोधिनीजी में 'जननं मनस इति मन उक्तम्' इस पंक्ति का अर्थ यह है कि 'उत्पन्न' करना मन का धर्म है इसलिये मूल श्लोक में 'मन' शब्द दिया है। जिसका आशय स्पष्ट करते हुए लेखकार कहते हैं कि भगवान् वसुदेवजी के मन द्वारा ही देवकीजी में प्रकटे हैं अन्यत्र जीव के जन्म—प्राकट्य

<sup>१</sup> उनकी दो माताएँ हैं।

में वैसा नहीं होता है वहां तो मन में प्रथम काम उत्पन्न होता है जिससे स्त्री पुरुष से संसर्ग होकर वीर्य द्वारा जरायु में गर्भ स्थिति हो, देहादि बनते हैं तदनन्तर जीव उस देह में प्रवेश करता है इत्यादि, यहाँ इस प्रकार से न होकर भगवान् सीधे मन द्वारा देवकीजी के जठर में प्रविष्ट हो गये, इतना भेद है। और भगवान् आत्मभूत होने से स्वयं मन द्वारा पधारे हैं स्वयं देवकीजी ने भगवान् को धारण नहीं किया है। मूल में देवकीजी ने धारण किया है यह जो लिखा है वह केवल अल्पज्ञ लोगों की प्रतीति के लिये कहा है।

लालूभट्ट योजना में कहते हैं कि — जिस प्रकार वसुदेव के यहाँ भगवान् के प्राकट्य का वर्णन 'आविवेशांशभागेन' 'ततो जगन्मङ्गलमच्युतांश' 'अथ सर्व गुणोपेत' 'आविरासीत् यथा प्राच्यां' भागवत के इन उपरोक्त श्लोकों में किया हुआ है इस प्रकार मूल में नन्दरायजी के यहाँ प्राकट्य का वर्णन कहीं भी नहीं किया गया है, तो फिर, वैष्णव, नन्दरायजी के यहाँ पुरुषोत्तम का प्राकट्य क्यों वा कैसे कहते हैं! इस प्रकार पूर्व पक्ष (शङ्का) कर अनन्तर उसका उत्तर पक्ष कहते हैं। भागवत में इस प्रकार वसुदेवजी के यहाँ प्राकट्य का वर्णन इसीलिये किया हुआ है कि वहां वंश सम्बन्धी लीला करने के लिये प्रद्युम्न रूप से वसुदेवजी के मन द्वारा देवकीजी में प्रविष्ट हुए हैं, तदनन्तर व्यूह विशिष्ट पुरुषोत्तम अकस्मात् स्वयं वसुदेव देवकी के आगे प्रादुर्भूत हुए हैं। नन्दजी के यहाँ वंश सम्बन्धी लीला न करने के कारण वहां व्यूह रूप से प्रवेश की आवश्यकता नहीं थी। अतः वहाँ केवल रसात्मा पुरुषोत्तम माया के साथ अपने अधिष्ठान वासुदेव व्यूह में स्थित हो रस स्वरूप होने से गुप्त रूप से प्रकटे हैं। जिसको आचार्य श्री सुबोधिनीजी में 'पुरुषोत्तमस्तु नन्दगृहे एव मायया सह जातः<sup>१</sup>' फक्किका से प्रकट करते हैं उसकी सिद्धि में वहां सुबोधिनीजी में प्रमाण भी दिये हैं तथा माया ने कस के हाथ से अपने को छुड़ा आकाश में जाते हुए कहा कि 'जातः<sup>२</sup>' खलु तवान्तकृत् यत्र क्वचित् पूर्व शत्रुः, यदि गोकुल में जन्म न हुवा होता और केवल मथुरा में ही हुआ होता तो माया 'जातः' शब्द न कह कर 'गतः' शब्द कहती। क्योंकि 'जातः' का अर्थ है

<sup>१</sup> पुरुषोत्तम तो नन्दगृह में माया के साथ ही जन्मे है।

<sup>२</sup> हे कस! तेरे पूर्व शत्रु जो तेरा अन्त करेगे वे कही प्रकट हो गये हैं।

‘जन्मा’, प्रकट हुआ’ और गतः का अर्थ है ‘गया’। मथुरा में केवल जन्म होने से माया कहती है कि यहां से अन्यत्र कहीं गया है। ऐसा न कह कर उसने कहा कि कहीं प्रकट हुवा है इससे सिद्ध होता है कि भगवान् गोकुल में भी जन्मे हैं अतः माया ने यों कहा है।

इस प्रकार योजनाकार ने अन्य प्रमाण देकर ‘पुरुषोत्तम प्राकट्य’ मथुरा तथा गोकुल दोनों स्थानों पर सिद्ध किया है। माया के साथ प्राकट्य के कारण यशोदा माता को भी उस समय ज्ञान न हुआ। भगवान् के प्राकट्य का ज्ञान दो प्रकार से कहा गया है, एक अलौकिक रूप से अवतार, जो नन्दगृह में निशीथ<sup>१</sup> में हुआ, दूसरा व्यवहार विषयक प्राकट्य का ज्ञान नवमी को हुआ जिससे नन्दमहोत्सव नवमी में हुआ है।

श्लोकः — स बिभ्रत् पौरुषं धाम भ्राजमानो यथा रविः।

दुरासदोतिदुर्धर्षो भूतानां सम्बभूव ह ॥१७॥

श्लोकार्थ — भगवान् के तेज स्वरूप को धारण करने से वसुदेवजी सूर्य के समान देदीप्यमान हो गये, जिससे उनके पास कोई भी न आ सकता था अतः वह दुर्धर्ष<sup>२</sup> हो गये।

सुबोधिनी — आविष्टे भगवति यादृशो जातस्तं वर्णयति स बिभ्रदिति। पुरुषस्य भगवतो धाम तेज आत्मनि बिभ्रदिति स्वतोपि स्वकान्तिसामर्थ्यादधिकानुभावो निरूपितस्तदा राजमानो जातः। यथा रविरिति सर्वेषां प्रतीत्यर्थमेवाक्तम्। अथवा द्वादशबिम्बान्येव तिष्ठन्ति येषु पुनर्यदा प्रविशति तदा स प्रकाशते तद्वत्। तदा तस्य कंसादीनां भयं निवृत्तमिति ज्ञापयितुमाह दुरासद इति। कोपि निकटे गन्तुं न शक्नोति न वाधिक्षेपं कर्तुम्। अतः क्लेशो दूरे ज्ञापितः। भूतानां सर्वेषामेव। दुष्टानां वा राक्षसादीनाम्। सम्यग् बभूवेति न कोपि परीक्षार्थमपि बलादप्यागन्तुं शक्त इत्युक्तम्। हेत्याश्चर्यं। सर्वेषु भगवान् यद्यपि वर्तते तथापि नैव तेजोऽन्यत्रेति ॥१७॥

अनुवाद — जैसे देखने में आया वैसा वर्णन इस श्लोक में कहते हैं। वसुदेवजी स्वतः स्वयं अपनी क्रान्ति से तेजवान थे पुनः भगवान् के तेज के प्रवेश से उनमें तेज ग विशेष प्रभाव देखने में आया जैसे सूर्य के द्वादश (१२) बिम्ब हैं उन्हीं में जब भगवान् आधिदैविक रवि प्रवेश करते हैं तब वह १२ बिम्ब प्रकाशित होते हैं, वैसे ही वसुदेवजी

भी भगवान् के प्रवेश से विशेष प्रकाशित होने लगे किन्तु प्रियव्रत राजा के समान तेज नहीं हुवा तो रात्रि को दिन कर दे। इसलिये ही आचार्य श्री ने 'प्रतीत्यर्थ' एव कहा जिसका आशय है कि यह सूर्य का दृष्टान्त प्रतीति के लिये ही दिया गया है। जिससे वे वसुदेवजी दुरासद हो गये। इससे कंसादि का भय ही निवृत्त हो गया। कोई भी उनके पास आने की हिम्मत नहीं करता था अतः सब भूतों की तरफ से वा राक्षसों से जो क्लेश होने थे वे सब दूर चले गये। कोई परीक्षा के लिये बली से भी आ नहीं सकता था। जैसा तेज उस समय वसुदेवजी में था वैसा किसी में भी नहीं था, यों तो भगवान् का तेज सर्वत्र है क्योंकि भगवान् सर्व व्यापक है किन्तु वसुदेवजी जैसा तेज कट किया अन्यत्र नहीं है वैसा दिखाने के लिये मूल में 'ह' शब्द देकर आश्चर्य प्रकट किया है ॥१७॥

एव। अतः आभास—षट्पुत्रवधात् पूर्वमेव सङ्कर्षणगर्भस्ततः प्रभृति निगडगृहीत प्रकारान्तरेण स्वस्मिन् विद्यमानं भगवन्तं देवक्यामानीतवानित्याह तत इति।  
समय से छः पुत्रों के वध से पूर्व ही सङ्कर्षण गर्भ की स्थिति हुई थी। उस मान (१७वें वसुदेवजी व देवकीजी कारागृह में ही थे। अतः वसुदेवजी ने अपने में विद्यमान (१७वें वसुदेवजी व देवकीजी कारागृह में ही थे। अतः वसुदेवजी ने अपने में विद्यमान) श्लोक में कहे हुए) भगवान् को अन्य प्रकार से देवकीजी में स्थापित<sup>१</sup> किया। वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं समाहितं शूरसुतेन देवी।

॥१८॥  
तद्धार सर्वात्मकलात्मभूतं काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः ॥१८॥  
श्लोकार्थ — अनन्तर, जगत् के मङ्गलकारी, सबके आत्मरूप जिसको पुत्र वसुदेवजी ने श्रेष्ठ प्रकार से स्थापित किया है उस अच्युतांश को देवकीजी ने जिस प्रकार पूर्व दिशा चन्द्रमाजी को धारण करती है उसी प्रकार धारण किया ॥१८॥

स्थापितवानिति यद्यपि स्वस्मिन्नेव स्थापनमुचितं तथापि सर्वलोकरक्षार्थं देवक्या स्थापयितुमाह जगन्मङ्गलमिति। जगतामेव कल्याणभूतम्। नन्वेवमागमनावेशप्रवेशनिर्गमने

न्यूनाधिक्यं वा भविष्यतीत्याशङ्क्याहाच्युताशमिति । अच्युतश्चासावंशश्च । षष्ठ्यर्थेऽपि तदर्थमेव विशेषणम् । सम्यगाहितमिति । वैधदीक्षाप्रकारेण । वस्तुतस्तु समाधौ देवकीं भावयित्वा मनसैव तत्र साक्षात् तेजः स्थापितवान् । शूरसुतेनेति । विवेकार्थं पितृनाम्ना निर्देशः । देवीति । तस्या अन्तःप्रवेशेन समाधावपि तत्तेजोग्रहणसामर्थ्यं द्योतितम् । इयं हि देवतारूपा । देवतायाश्च तथासामर्थ्यं सिद्धमेव । अत एव दधार । नन्वेवं परधृतत्वे ब्रह्मत्वं भज्येतेत्याशङ्क्याह सर्वात्मकमिति । स हि सर्वेषामात्मभूतः । सर्वैरेव धियत इति धारणं न दोषाय । तथापि प्रकृते चैतन्यं बीजं वा मानसं प्राप्य तिष्ठतीति दूषणमेवेति चेत् तत्राहात्मभूतमिति । देवक्यामात्मरूपेणैव प्रविष्टो न तु बीजे चैतन्ये वा प्रविश्य तत्र प्रविष्टः । यथा ज्ञानेन स्वात्मानं बिभर्त्ययमहमात्माधार इति तथैव भगवन्तमात्मभूतं धृतवतीत्यर्थः । अनेन शुद्धमेव स्वरूपं वसुदेवाद् देवक्यामागतमित्युक्तम् । चैतन्यबीजमन्त्रपक्षा अल्पज्ञानां प्रतीत्यर्थमुक्ताः । वृद्धिराकाशस्येव । क्रमेण मायोद्धाटनात् । तदा मायाया भगवत्तश्चोभयोरविकृता बुद्धिरुपपन्ना भवति । तदपि न स्वप्रयत्नाद् धारणलक्षणाद् भगवन्तमानीय धृतवती किन्तु यथा स्वत एवागतमुद्यन्तमानन्दकरं चन्द्रं काष्ठा पूर्वा दिग् बिभर्ति । धारणं च मनस्त एव । अविकृतमनसेतिज्ञापयितुं तसिल्प्रत्ययः । समाधाने धारणे च मन एव हेतुः ॥१८॥

**अनुवाद** — यद्यपि आविष्ट हुवा भगवत्तेज वसुदेवजी को अपने में ही स्थापित करना चाहिये था, तो भी वसुदेवजी ने सर्वलोक की रक्षा के लिये देवकीजी में स्थापित किया । कारण कि वह भगवत्तेज लोगों का कल्याणकारी रूप है । वह तेज पहले वसुदेवजी में प्रविष्ट हुआ अनन्तर देवकीजी में आकर स्थापित हुआ । इस प्रकार वैकुण्ठ से यहाँ आने तथा वसुदेवजी के मन में देवकीजी में जाने आदि से उसमें अन्यथा भाव न्यूनता वा वृद्धि आदि विकार हुवे होंगे ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये मूल में उसका 'अच्युतांश' विशेषण दिया है जिसका आशय है कि आने जाने आदि करने से उसके किसी भी अंश में च्युति नहीं होती है । अर्थात् उसमें कुछ भी करने से विकृति नहीं होती है, वह सदैव अच्युत च्युति<sup>१</sup> रहित है ।

वैध दीक्षा के प्रकार से देवकीजी ने सम्यक् प्रकार से उस तेज को धारण किया । वास्तविक तो वसुदेवजी ने समाधि में देवकीजी की भावना कर मन से ही उन देवकीजी में साक्षात् तेज स्थापित किया । यहाँ मूल में वसुदेव नाम न देकर शूरसेन पुत्र कह कर विवेक दिखाया है । देवकीजी को भी 'देवी' इसलिये कहा है कि वह देवता रूप होने से

अन्तःप्रवेश कर, समाधि में भी उस तेज को ग्रहण करने के लिये सामर्थ्य वाली है। देवता में इस प्रकार का सामर्थ्य स्वतः सिद्ध ही है। अतः समाधि के समय में तेज को धारण कर लिया।

इस प्रकार दूसरों के धारण करने से ब्रह्मपने में कमी हुई होगी ? इस शङ्का के मिटाने के लिये श्लोक में 'सर्वात्मक' विशेषण दिया है जिसका आशय है कि वह तेज सबों की आत्मा है अतः सब उसको धारण करते हैं इसलिये धारण करने में कोई दोष नहीं, इससे ब्रह्मत्व में किसी प्रकार की कमी नहीं होती है। वैसा होने पर भी प्रकृत विषय में चैतन्य, बीज वा मन में प्राप्त होकर रहना दूषण ही है, यदि इस प्रकार का दूषण कोई देवे तो उसको मिटाने के लिये दूसरा विशेषण 'आत्मभूत' श्लोक में दिया है। जिसका भाव है कि वह तेज देवकीजी में आत्मरूप से ही सीधा प्रविष्ट होकर पीछे देवकीजी में उसने प्रवेश किया है। जैसे ज्ञानी ज्ञान से अपनी आत्मा को अपने में धारण करता है वैसे ही देवकीजी ने भी आत्म-रूप भगवान् को धारण किया है। इससे शुद्ध स्वरूप ही वसुदेवजी से देवकीजी में पधारे हैं। चैतन्य, बीज वा मन्त्र द्वारा पधारना अल्पज्ञों को समझाने के लिये कहा गया है। उसकी वृद्धि आकाश की भांति हुई है जैसे घटाकाश, घट टूटने से मठाकाश हो जाता है, मठ टूटने से महाकाश हो जाता है वैसे ही जैसे गुरु प्रथम मन्त्र देवता को स्थापन कर, अनन्तर 'मन्त्रोपदेश' समय में उस देवता को शिष्य में स्थापित करते हैं। ज्यों- ज्यों माया का अपसरण<sup>१</sup> होता है वैसे ही तेज भी स्वयं बढ़ता हुआ दिखता है। वैसा ज्ञान होने से भगवान् और उसकी माया दोनों को अविकृत समझा जाता है।

इतना होने पर भी देवकीजी ने अपने प्रयत्न से भगवान् को धारण नहीं किया है किन्तु जैसे पूर्व दिशा में चन्द्रमा स्वतः आकर प्रकट होता है उसको वह दिशा धारण कर लेती है वैसे ही देवकीजी ने पधारे हुए अपनी आत्मारूप भगवान् को धारण किया

<sup>१</sup> हटना या दूर जाना।

है। वह धारण अधिकारी मन से किया है इसलिये श्लोक में 'मनसः' पञ्चमी<sup>१</sup> विभक्ति न देकर उसके बदले में 'मनस्तः' प्रत्ययान्त अव्यय पद देकर मन का अविकारीपन बताया है। लाने और धारण करने में मन ही हेतु है। ॥१८॥

**श्लोकः—** सा देवकी सर्वजगन्निवासनिवासभूता नितरां न रेजे।

**भोजेन्द्रगेहेग्निशिखेव रुद्धा सरस्वती ज्ञानखले यथा सती ॥१९॥**

**श्लोकार्थ —** वह देवकी, सर्वजगत् के निवासरूप भगवान् का निवास रूप हुई, तो भी, कंस के घर में रुकने से अर्थात् बन्धन में पड़ने से वैसी पूर्वतया आनन्द देने वाली प्रसन्न मन वाली नहीं हुई, जैसे घड़े में बन्द दीपक की लौ और अपनी विद्या न बताने वाले खल पुरुष का ज्ञान किसी को प्रकाशित नहीं करते हैं। ॥१९॥

**सुबोधिनी —** यथा वसुदेवो भगवदावेशे स्फुरद्रूपो जातो न तथा देवकी जातेत्याह सा देवकीति। पुरुषस्य हि तेजः स्वतन्त्रमिति विवेकादिसहभावाच्चिन्तया नाभिभूयते स्त्रियास्तु परतन्त्र विवेकादिरहितमिति चिन्ताभिभवान् न शोभते। यद्यपि सा देवकी देवतारूपा सर्वजगतां निवासभूतस्य भगवतो निवासभूताधिकरणभूता। न हि स्वस्मिन् विद्यमानेभ्यो लोमभ्याः स्वस्य भयं भवति। तथा भगवति सर्वमस्तीति न सर्वस्माद् भगवतो भयम्। स्वस्य तु सुतरामेव जगतो भगवतश्च भगवन्निमित्तं च न भयम्। एतादृश्यपि सती नितरां न रेजे। भगवच्चिन्तया स्वस्य सर्वेषां च शोकहेतुर्जातेति। बहिरन्तः—करणेपि चिन्तादिना मालिन्यात्। हेत्वन्तरमप्याह भोजेन्द्रगेहे कंसगृहे रुद्धा निगडैर्गृहीता। बहिरागत्य सर्वसुखदायिनी न जाता। यथा कुण्डे ज्वलन्नप्याग्निर्भस्मना रुद्धोन्तर्ज्वाल एव भवत्येवमियमपि चिन्तादिना व्यापृता सम्यङ् न प्रकाशयुक्ता जाता। स्वधर्मैरेवास्फुरणे दृष्टान्तः। अन्यनिरोधेनास्फुरणे दृष्टान्तान्तरमाह सरस्वती ज्ञानखले यथा सतीति। सती सन्मार्गप्रवर्तिनी सरस्वती भागवतादिरूपा ज्ञानखले ज्ञानवञ्चकेन्तः स्वस्यैव तोषं जनयति न बहिःप्रकाशेन सर्वेषां तथा कंसेन रुद्धा गृह एव प्रकाशमाना जाता न बहिः। असती तु स्वतोपि न प्रकाशते। यस्तु स्वयं जानाति सद्भिद्यां परोपकारजननीमधिकारिणेपि परस्मै न प्रयच्छति स ज्ञानखलः। तेन स्वान्तरङ्गेष्वपि स्वस्मिन् भगवदाविर्भावस्य सङ्गोपनं सूच्यते। ॥१९॥

**अनुवाद —** भगवान् के प्रवेश से जिस प्रकार वसुदेवजी प्रफुल्लित प्रसन्न रूप वाले देखने में आये वैसी देवकीजी नहीं हुई। इसका वर्णन करते हैं, पुरुष का तेज

<sup>१</sup> शब्द, जब, विभक्तियों में दिया जाता है तब उसके रूप बदलते रहते हैं, अतः विभक्ति में शब्द विकारी कहा जाता है किन्तु जब शब्द प्रत्ययान्त होने से 'अव्यय' होता है, तब वह अधिकारी हो जाता है कारण कि वह बदलता नहीं है। अतः यहाँ 'मनसः' पञ्चमी विभक्ति न देकर 'मनस्तः' अव्यय दिया है। — अनुवादक

स्वतन्त्र है कारण कि पुरुष में विवेक<sup>१</sup> आदि होने से चिन्ता कम होती है जिससे उसके तेज को स्वल्प चिन्ता दबा नहीं सकती है, किन्तु स्त्री का तेज परतन्त्र है क्योंकि स्त्रियों में विवेकादि अपूर्ण हैं जिससे उनमें चिन्ताएँ विशेष होती हैं जिनसे उनका तेज दब जाने से परतन्त्र है अतः देवकीजी वसुदेवजी के समान प्रफुल्लित प्रसन्न चित्त वाली न हुई। यद्यपि वह देवकी रूप है और सकल जगत् के निवासभूत भगवान् का अधिष्ठान<sup>२</sup> हुई है। अपने शरीर में उत्पन्न हुई रोमावली से अपने को भय नहीं होता है वैसे ही यह सर्व भगवान् में है अतः भगवान् को भी किसी से भय नहीं है।

अपने को तो भगवन्निमित्त जगत् से अथवा भगवान् से निपट भय नहीं है। वैसी देवकी होकर भी पूर्णतया शोभायमान न हुई। भगवान् की चिन्ता से अपने लिये और सबों के लिये चिन्ता का कारण बनी। देवकी में बाहिर और भीतर की दोनों चिन्ताओं से मालिन्य रहा। सुशोभित अथवा अप्रसन्न होने का दूसरा कारण बताते हैं कि, देवकीजी कंस के गृह में बन्धन में होने से बाहिर आकर सबको आनन्द नहीं दे सकती थी। जिस प्रकार कुण्ड के भीतर अग्नि जलती भी रहती है तो भी ऊपर राख आ जाने से प्रकाश नहीं दे सकती है। वैसे ही यह भीतर प्रकाशवती होते हुए भी चिन्ता से व्यग्र<sup>३</sup> होने से सम्यक् प्रकार से बाहिर प्रकाशयुक्त नहीं हुई। यह दृष्टान्त अपने धर्मों से ही प्रकाशमान न होने में दिया हुआ है। अब अन्य धर्मों के कारण अप्रकाश होने से दूसरा दृष्टान्त देते हैं। जिस प्रकार सन्मार्ग का प्रकाश करने वाली भागवतादि शास्त्र रूप सरस्वती ज्ञानखल<sup>४</sup>, पुरुष के अन्तःकरण को ही आनन्द देती है बाहिर प्रकाश कर दूसरों को आनन्द नहीं देती है वैसे ही देवकीजी भी कंस के गृह में बन्धन में होने से घर के भीतर ही प्रकाश करने लगी, बाहिर नहीं। इससे अपने में प्रकट हुए भगवान् के आविर्भाव को अपने अन्तरङ्गों से भी छिपाने की सूचना प्राप्त होती है। १९६।।

<sup>१</sup> मले बुरे का ज्ञान

<sup>२</sup> रहने का स्थान

<sup>३</sup> घबराई हुई

<sup>४</sup> ज्ञानखल, उरो कहते हैं जो, परोपकार करने वाली सत् विद्या आप जानता है किन्तु दूसरे अधिकारी को भी नहीं देता है। — सुबोधिनी — १०२-१६।



श्लोक — तां वीक्ष्य कंसः प्रभयाजितान्तरां विरोचयन्तीं भवनं शुचिस्मिताम् ।

प्राहै षमे प्राणहरो हरिर्गुहां ध्रुवं श्रितो यन् न पुरेयमीदृशी ॥२०॥

श्लोकार्थ — भगवान् के अन्दर विराजमान होने के कारण उत्पन्न हुए प्रभा (प्रकाश) से भवन को प्रकाशित करती हुई और पवित्र स्मित वाली देवकी को देखकर कंस कहने लगा कि निश्चय से मेरे प्राणों को हरण करने वाले हरि ने इसकी गुहा में आश्रय किया है कारण कि यह (देवकी) पहले ऐसी शोभायमान नहीं थी ॥२०॥

सुबोधिनी — येन सर्वेषां सुखदा न जाता सा तस्यापि न सुखदा जातेत्याह तां वीक्ष्येति । प्रभयोपलक्षिता ता वीक्ष्य कंसः प्राह । प्रभयैव ज्ञापिकयाजितोन्तरा यस्याः । भगवानस्या मध्ये वर्तत इति दृष्ट्वा प्रभयैव भवनं विरोचयन्तीम् । अजितत्वमपि दर्शने ज्ञातम् । अधृष्यत्वावगमात् । परमानन्दे हृदि प्रविष्टे प्राणी सर्वदुःखनिवृत्तो भवतीति निश्चयात् । अस्याः प्रसन्नवदनत्वमपि दृष्ट्वा भगवानस्तीति निश्चितवानित्याह शुचिस्मितामिति । शुचि विशुद्धं बाह्यविकाराजनकमन्तरानन्दोद्भूतं - स्मितं यस्याः भगवत्कान्तिर्बहिर्निःसृता तामन्तर्बहिर्गृहं च प्रकाशितवतीत्यतो भगवानस्तीति निश्चित्य तस्य प्रयोजनान्तराभावं प्रकरणेन ज्ञात्वा वदति में प्राणहरो हरिरेष एवास्या उदरे प्रकाशते । ध्रुवं निश्चितम् । यत इयं पुरेव न रूपेण सन्तोषादिना च । नन्वत्र भगवांश्चेत् सर्वैः कथं न दृश्यते तत्राह गुहां श्रित इति । उदरे विद्यमानत्वं तस्य न घटते । तस्याजीवत्वात् । तस्मादिदमुदरं गुहैव । 'गुहां प्रविष्टावात्माना' वितिन्यायात् । अतो हरिरेव । हरित्वादेव मे प्राणहरः ॥२०॥

अनुवाद — देवकीजी जिस प्रकार दूसरों को सुख देने वाली नहीं है वैसे ही कंस को भी सुखदा न हुई । इसका वर्णन करते हैं । प्रभा से युक्त देवकीजी को देखकर कंस कहने लगा कि इसकी प्रभा से ज्ञान होता है कि इसके अन्दर अजित<sup>१</sup> भगवान् विराजमान है अतः कान्ति से घर को प्रकाशमान कर रही है तथा वह अजित होने से अधृष्य भी (उसका पराभव कोई नहीं कर सकता है) है अतः निश्चिन्त है । ऐसे परमानन्द प्रभु के हृदय में प्रविष्ट हो जाने से प्राणी के सर्व दुःख निवृत्त हो जाते हैं, यह निश्चय ही है । इसका (देवकीजी का) प्रसन्न मुख देखकर भी कंस ने यह निश्चय किया कि इसमें भगवान् हैं । मुख के दो विशेषण (शुचि) और (स्मित) दिये हुवे हैं इनका आशय यह है कि (शुचि) विशेषण से बताया है कि देवकी के भीतर आनन्द उत्पन्न हुवा है । भगवान् की कान्ति (प्रकाश) जो बाहिर निकली उसने बाहिर भीतर घर को प्रकाशित

<sup>१</sup> जिसको कोई न जीत सके ।

कर दिया है अतः भगवान् है ऐसा निश्चय कर भगवान् के आने का अन्य कोई कारण नहीं है ऐसा प्रकरण से समझकर कंस कहने लगा कि निश्चय से मेरे प्राणों को हरण करने वाले हरि इस देवकी के उदर में प्रकाशते हैं। कारण कि यह (देवकी) आगे, इस प्रकार रूप से अथवा सन्तोषादि से प्रकाशित नहीं थी। यदि वहां भगवान् है तो सब को उनके दर्शन क्यों नहीं होते हैं — इस शङ्का को मिटाने के लिये कहा है कि (गुहां श्रितः) गुफा में विराजमान हैं। उनका उदर में होना नहीं बन सकता है कारण कि वह जीव नहीं है इस कारण से यह उदर गुहा ही है। उदर को गुहा कहना इसलिये संगत है कि शास्त्र में (गुहां प्रविष्टावात्मानौ) कहा है अतः मेरे प्राणों के हरण करने वाले होने से यह हरि ही है ॥२०॥

श्लोकः — किमद्य तस्मिन् करणीयमाशु मे यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रमम्।

स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोयं यशः श्रियं हन्त्यनुकालमायुः ॥२१॥

श्लोकार्थ — कंस ने विचार किया कि अब मैं शीघ्र इसके लिये क्या उपाय करूँ, यद्यपि मैं सब कुछ करने में स्वतन्त्र हूँ तो भी मेरे जैसा पुरुष ऐसा कार्य तो नहीं करे जिससे पराक्रम का नाश हो जाय। यदि इसको (देवकी को) अब मार डालूँ तो, स्त्री जाति, बहिन और गर्भवती का यह वध, यश, श्री और आयु को नाश करेगा ॥२१॥

सुबोधिनी — ततः किमत आह किमद्येति। तस्मिन्निति। तस्मिन् भगवति प्राणहरणकार्ये वोपस्थिते पूर्वप्रतीकाराणां वैयर्थ्यादद्य किं कर्तव्यमिति विचारः। तूष्णीं स्थितौ प्राणान् हरिष्यत्येवात आशु मे किं कर्तव्यम्। इयं मारणीयेति चेत् तत्राह यदर्थतन्त्रो न विहन्ति विक्रममिति। यद् यद्यपि मल्लक्षणो जनोर्थतन्त्रः स्वकार्यतन्त्रः कार्यवशस्तथाविक्रमं न विहन्ति। स्त्रीवधे स्वस्य पराक्रमस्य हानिरेव। अथवायमुदरस्थो भगवान् यद् यस्मादर्थतन्त्रः कार्यार्थमेव समागतोतः स्वस्य विक्रमं न हन्ति न नाशयति। तूष्णीं न स्थास्यतीत्यर्थः। ननु तव जीवनादृष्टे विद्यमानेयं न मारयिष्यतीति तदभावे त्वन्यतोपि त्वया मर्तव्यमित्येतद्द्रोहोनुचितो यद्यपि तथापि जीवनहेतौ सत्येवागन्तुकेन नाशहेतुना तत्सम्भवात् तत्प्रतीकारे प्रदीपस्येव जीवनसम्भवादस्या मारणमुचितमिति चेत् तत्राह स्त्रिया इति। विद्यमानेप्यदृष्टेत्युक्तदुःकर्मकरणादायुः क्षीयेतैव। अतो विद्यमानेप्यायुषि मरणसम्भवान् नैतादृशं कर्म कर्तव्यम्। स्त्रिया वधो यशो हन्ति। स्त्रीरक्षार्थं शूराणां स्वप्राणपरित्यागो यशोहेतुः स्वसुर्वधः श्रियं हन्ति। सर्वो हि पुरुषः सोमात्मकः। लक्ष्मीश्च भगिनी। अतो भगिनीवधो धनादिसर्वसम्पत्तिनाशकः। गुरुमती गुर्विणी। सा हि प्राणिनामायुःपोषिका। तस्या वध आयुर्नश्यति। अतःक्रमेण तस्यां वधे स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या यशः श्रियमनुकालं तत्क्षणमेवायुश्च हन्ति ॥२१॥

अनुवाद — उस भगवान् के पधारने पर तथा अब मेरे प्राणों के जाने का समय आने पर और आगे के उपाय बेकार होने पर मैं क्या करूँ इस प्रकार कंस विचार करने लगा। शान्त होकर बैठ जाऊँगा तो यह मेरे प्राणों को हर ही लेगा, इसलिये मैं शीघ्र क्या उपाय करूँ। यदि देवकी को मारना चाहिये यह निश्चय कर इसको मारूँ तो इस कार्य करने में भी मैं स्वतन्त्र हूँ किन्तु स्वतन्त्र होकर भी मेरे जैसा पुरुष ऐसा कार्य तो न करे जिससे सामर्थ्य नष्ट हो जावे वा पराक्रम को कलङ्क लगे। स्त्री के मारने में अपने पराक्रम की हानि ही होती है। अथवा यह देवकीजी के गुहा रूप उदर में स्थित भगवान् स्वतन्त्र हैं व मेरे नाश के लिये आये हैं। अतः अपने पराक्रम को नाश नहीं होने देंगे अर्थात् चुपचाप नहीं बैठेंगे अवश्य मेरे प्राण ले लेंगे। फिर शङ्का रूप में विचार करता है कि यदि मेरे अदृष्ट<sup>१</sup> में मेरी अभी आयु होगी तो यह नहीं मार सकेंगे अन्यथा दूसरा भी मार डालेगा इसलिये यद्यपि देवकी का वधरूप द्रोह करना उचित नहीं है तो भी इसका मारना यदि जीवन का हेतु हो तो, इसको मार डालना उचित है। और यदि दूसरा कोई आगामी नाश का हेतु होगा, तो उसका भी प्रतीकार<sup>२</sup> करने से, वायु से बचा कर दीपक के समान, जीवन की रक्षा संभव होने से, भी इस देवकी का वध करना उचित है यदि कोई ऐसा कहे तो उसको उत्तर कंस स्वयं देता है कि प्रारब्धानुसार आयु हो तो भी अति दुष्कर्म करने से आयु नाश हो जाती है अतः आयु होने पर भी मरण की संभावना से वैसा दुष्कर्म नहीं करना चाहिये। स्त्री जाति का वध यश का नाश करता है। स्त्री जाति की रक्षा करने से शूरवीरों का अपने प्राणों का त्याग यश का हेतु होता है। बहिन का वध, श्री लक्ष्मी का नाशक है। सर्वपुरुष सोमात्मक होने से श्री लक्ष्मी उनकी बहिन है। श्रीरूप बहिन का वध करने से धनादि सर्व प्रकार की सम्पत्ति का नाश होता है। फिर यह बहिन तो गर्भवती है। गर्भवती स्त्री प्राणियों के प्राणों की रक्षा कर रही है, उसका वध, तो वध करने वाले की आयु को नष्ट करने वाला है अतः देवकी के स्त्री, बहिन और गर्भवती होने से मारने से यश, श्री और आयु का क्रम से नाश होता है।

<sup>१</sup> प्रारब्ध<sup>२</sup> उपाय

आभास — अस्तु वा प्रबलजीवनादृष्टं तथापि न हन्तव्येत्याह स एष इति ।

अनुवाद — भले प्रारब्ध की प्रबलता से आयु हो वा न हो तो भी इसका वध करना चाहिये ऐसा कोई कहे तो इसका उत्तर कंस इस श्लोक में देता है ।

श्लोक: — स एष जीवन् खलु सम्परेतो वर्तेत योत्यन्तनृशंसितेन ।

देहेमृते तं मनुजाः शपन्ति गन्ता तमोन्धं तनुमानिनो ध्रुवम् ॥२२॥

श्लोकार्थ — जो पुरुष अत्यन्त क्रूर कर्म करता है वह जीने पर भी मृतक है । वह जीवित है तो भी मनुष्य उसका धिक्कारते रहते हैं । यह देहाभिमानी मरने के अनन्तर अवश्य अन्धतम नरक में जाता है ॥२२॥

सुबोधिनी — स प्रसिद्धोपि एष मल्लक्षणोपि जनः शौर्येण राज्यलक्ष्म्या च युक्तोपि जीवन्नेव सम्परेतोमृतं दृष्ट्वा श्रीगमने केवलं जीवनं मरणतुल्यमेवेति जीवन्नेव सम्परेतः । खल्विति निश्चये । योत्यन्तनृशंसितेन क्रूरकर्मणा वर्तेत जीवेत् स जीवच्छव इति सत्यम् । यतोमृत एव देहे त मनुजाः शपन्ति 'प्रियतामस्य दुरात्मे'ति । मृते वा 'सम्यगय दुरात्मा मृत इति' । एवमयं लोकधिक्कारसन्दग्धयः परलोके चान्धन्तमो गन्ता । तनुमानिनः सम्बन्धिदेहाभिमानीनो ये नरका अन्धन्तमोन्तास्तानवश्य गच्छतीत्यर्थः । भगवत्सान्निध्याद् भगवदिच्छया तस्य तथाज्ञानमुत्पन्नम् । अतो भगवदिच्छया सर्वेषां ज्ञानप्रकारविशेषश्च ज्ञाने भासते । देवक्याः पुत्रा मारणीया इति प्रथममुपदेशेन ज्ञानोदयः । वसुदेवस्यापि तथाबुद्धिः । अतः सर्वस्यपि सर्वज्ञानजनको भगवानेवेति कृष्णो भगवानेवैवाक्यैर्निश्चितः । तदर्थमेवैतानि वाक्यानि ॥२२॥

अनुवाद — कंस मन में विचार करता है कि वह भी प्रसिद्ध हो, मेरे जैसे लक्षणों वाला मनुष्य, राज्य की लक्ष्मी से युक्त होते हुवे भी यदि जीता है, तो भी मरे हुवे के समान है । कारण कि यश और श्री के चले जाने पर निश्चय से वह जीवन, मरण के समान ही है । यह कहना निपट सत्य है कि जो अत्यन्त दयाहीन, दुष्कर्म करते हुए, जीवन धारण कर रहा है वह जीता शव है । उस जीते शव (मुर्दे) को भी मनुष्य अपशब्द<sup>१</sup> कहते हैं, कि यह दुष्ट मर जावे तो अच्छा हो इत्यादि । जब वह मर जाता है तब कहते हैं कि अच्छा हुवा जो वह मर गया । इस प्रकार लोगों की इस धिक्कार से वह जीते रहने पर भी जलता रहता है और मरने के अनन्तर परलोक में अन्धतम नरक में

जायेगा। देहाभिमानीयों को जो निकृष्ट<sup>१</sup> अन्धतम नरक प्राप्त होता है उसको भी निश्चय से वही मिलता है। कंस को इस प्रकार का ज्ञान भगवान् के सान्निध्य<sup>२</sup> होने से तथा उनकी इच्छा से प्राप्त हुआ है। अतः भगवदिच्छा से सबों को समय पर विशेष प्रकार का ज्ञान बुद्धि में आता है। जैसे देवकी के पुत्रों को मारना ही चाहिये वैसा ज्ञान कंस को प्रथम आया और वसुदेवजी की भी बुद्धि वैसी ही हो गई। अतः सब के, सर्व प्रकार के ज्ञान का जनक<sup>३</sup> भगवान् ही है इससे 'कृष्ण' भगवान् ही हैं, इस प्रकार के वाक्यों से ऐसा निश्चय हो जाता है। इसलिये कंस के मुख से अब इस प्रकार के वाक्य निकले हैं॥२२॥

**श्लोक** — इति घोरतमाद् भावात् सन्निवृत्तः स्वयम्प्रभुः।

आस्ते प्रतीक्षन्तज्जन्म हरेर्वैरानुबन्धकृत्॥२३॥

**श्लोकार्थ** — भगवान् के साथ वैर करने वाला कंस यद्यपि देवकी का वध करने में समर्थ था, तो भी, यह वध कर्म अत्यन्त घोर है ऐसा समझ कर इस कर्म से निवृत्त हुआ और भगवान् के जन्म की प्रतीक्षा करने लगा अर्थात् बाट देखने लगा॥२३॥

**सुबोधिनी** — एवं विमर्शं यज् जातं तदाह इति घोरतमाद् भावादिति अयुक्तवध एव घोरः। तत्रापि भगिन्या घोरतरः। गुरुमत्या घोरतम इति सम्यङ् निवृत्तः नन्वन्यप्रेरणया कथं न मारितवानित्याशङ्क्याह स्वयम्प्रभुरिति। स्वयमेव प्रभुर्नान्योस्य प्रवर्तक इत्यर्थः। जननानन्तरं युद्धं कर्तव्यमिति तज्जन्म प्रतीक्षन्नास्ते। तर्हि भक्तो भविष्यतीत्याशङ्क्याह हरेर्वैरानुबन्धकृदिति। हरेः सर्वदुःखहर्तुरपि पूर्वजन्ममारणलक्षणवैरस्यानुबन्धं निमित्तं तत्सम्बन्धिनां वधादिरूपं करोतीति तथा॥२३॥

**अनुवाद** — इस प्रकार कंस के विचार करने के अनन्तर जो कुछ हुआ उसका इस श्लोक में वर्णन करते हैं — देवकी का वध करना अयोग्य है क्योंकि यह घोर कर्म है, उसमें भी बहिन का वध, विशेष घोर कर्म है पुनः गर्भवती का वध तो अत्यन्तमेव घोर कर्म है। इस प्रकार के विचार विमर्श<sup>४</sup> से कंस ने यह कर्म करना त्याग दिया। अपने विचार से तो छोड़ दिया किन्तु अन्य दुर्मन्त्री आदि की प्रेरणा से क्यों न मारा ? इसके

<sup>१</sup> सबसे नीचा

<sup>२</sup> बहुत पास

<sup>३</sup> पैदा करने वाला

<sup>४</sup> सोच विचार से

उत्तर में, श्लोक के अन्दर कंस को 'प्रभु' अर्थात् सब करने में स्वतन्त्र कहा है जिससे कंस ने किसी की भी प्रेरणा को नहीं माना। खुद स्वामी है इसका कोई दूसरा प्रवर्तक आज्ञा देकर काम कराने वाल नहीं है। वध से निवृत्त होकर भगवान् के जन्म होने की प्रतीक्षा करने लगा। क्या कंस भगवान् की भक्ति करेगा ? जो भगवान् के जन्म की प्रतीक्षा करता था ? इस पर कहते हैं कि भक्त तो उसको नहीं बनता था किन्तु कंस को हरि सर्व दुःखहर्ता से पूर्व जन्म के अपने वध का बदला लेना था इसीलिये प्रतीक्षा कर रहा था कि भगवान् पैदा होवे तो मैं उनका वध करूँ, तब तक उनके सम्बन्धियों का वध अपने नौकर, असुरों द्वारा कराने लगा ॥२३॥

आभास — एवं वैशानुबन्धनेनापि भगवच्चिन्तने प्रमाणबलाभावेपि प्रमेयबलेनैव तस्य ज्ञानं जातमित्याहासीन इति ।

अनुवाद — इस प्रकार कंस ने अपने असुरों द्वारा भगवान् के सम्बन्धियों का वध कराना प्रारम्भ किया, जिससे वैर दृढ़ होने लगा। वैर दृढ़ होने से अहर्निश कंस को सर्वत्र भगवान् का ही दर्शन होने लगा और भगवान् का ही स्मरण होने लगा। इस प्रकार का ज्ञान जो ज्ञानियों को प्रमाण बल से साधन द्वारा होता है वह इसको प्रमेय बल भगवान् की इच्छा से हो गया। उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — आसीनः संविशंस्तिष्ठन् भु जानः पर्यटन् पिबन् ।

चिन्तयानो हृषीकेशमपश्यत् तन्मयं जगत् ॥२४॥

श्लोकार्थ — बैठते, सोते, उठते, भोजन करते और पृथ्वी पर फिरते, जल पीते भगवान् का ही चिन्तन करता था जिससे कंस सर्व जगत् को ब्रह्मरूप देखने लगा ॥२४॥

सुबोधिनी — आसीन उपविष्टः संविशन् शयनं कुर्वंस्तिष्ठन्नुत्थित इत्यवस्था उक्ताः । क्रिया आह भुञ्जानः पर्यटन् पिबन्निति । एवं सर्वावस्थासु सर्वक्रियासु हृषीकेशं चिन्तयानः । स्वदर्शनार्थमेव सर्वेन्द्रियस्वामी तथा प्रेरितवान् । अतः कृष्णमयमेव जगदपश्यत् ॥२४॥

अनुवाद — बैठते, सोते, उठते आदि अवस्थाओं में कंस को भगवान् का दर्शन और स्मरण होता था। भोजन, घूमने और पानी पीने आदि क्रियाओं में भी इसी प्रकार हरि का दर्शन एवं स्मरण होता था। जिससे सर्व अवस्थाओं तथा सर्व क्रियाओं में भगवचिन्तन ही करता था। वैसा क्यों हुआ इस पर कहते हैं कि सर्व इन्द्रियों के स्वामी

भगवान् ने अपने दर्शनार्थ इस प्रकार की अन्तःकरण में प्रेरणा की है। अतः यह जगत् कृष्णमय (कृष्ण रूप) देखने लगा ॥२४॥

श्लोकः — ब्रह्मा भवश्च तत्रैत्य मुनिभिर्नारदादिभिः ।

देवैः सानुचरैः साकं गीर्भिर्वृषणमीडतुः ॥२५॥

श्लोकार्थ — ब्रह्मा, महादेव, नारदादि मुनिगण तथा अनुचरों सहित देवता लोग वहाँ आकर, सुन्दर वाणियों से भगवान् की स्तुति करने लगे ।

सुबोधिनी — एवं पूर्वाध्याये मददुःखेन भगवच्चिन्तनमर्थादुक्तम् । कंसादीनामत्र । ब्रह्मादीना वक्तु स्तुतिलक्षणमाख्यानमाह ब्रह्मेति । अनेन सामान्यतः सर्वेषां निरोधोप्युक्तः । भगवदागमनं सर्वेषामेव ज्ञातमभूदिति वक्तु कंसादिगणनाभावाय च देवकीगृहे समागमनमुच्यते । ब्रह्मा । भवो महादेव । चकारादन्येपि गुणाभिमोनिनो देवाः । अवताराश्च वामनादय इत्येके । मुनयः सनकादयः । नारदादयो भक्ताः । देवा इन्द्रादयः । अनुचरा गन्धर्वादयः । सर्वैः सह । गीर्भिः स्वानुकूलवाणीभिः । वृषणं कामवर्षिण वृषं धर्मं वा नयतीति । ईडतुर्ब्रह्मभवयोरेव मुख्यत्वात् । ऐडयन्निति पाठे सहोक्तानामपि कर्तृत्वेन ग्रहणम् ॥२५॥

अनुवाद — पूर्वाध्याय में महत् दुख के मिष से भगवान् के चिन्तन का वर्णन किया है । इस अध्याय में कंसादिक के भगवच्चिन्तन का वर्णन, तथा ब्रह्मादिकों ने भगवान् की स्तुति द्वारा जो भगवान् का चिन्तन किया उसका वर्णन इसी अध्याय में हुआ है । इस प्रकार सबने जो भगवच्चिन्तन किया जिससे यह दिखा कि भगवान् ने सब का सामान्य निरोध किया है । ब्रह्मा आदि देवगण देवकी के गृह में इसीलिये पधारे कि सब को यह ज्ञान हो जावे कि देवकी के गर्भ में भगवान् पधारे हैं अतः ब्रह्मादि देवों ने कंसादिक की कोई परवाह नहीं की है । भगवान् गर्भ में पधारे तब जो देवगण स्तुति करने पधारे हैं उनके मुख्य नाम कहते हैं १. ब्रह्मा, २. महादेव और दूसरे भी गुणाभिमानी देव, सनकादिक मुनि, नारदादिक भक्त, इन्द्रादिक देवगण उनके अनुचर गन्धर्वादिक देव ये सब मिल कर आये थे ।

(कोई कहते हैं कि वामन आदि अवतार भी आये थे) आकर अपनी-अपनी अनुकूल वाणियों से भगवान् की स्तुति करने लगे । यहाँ मूल श्लोक में 'ईडतुः' द्विवचन क्रिया दी गई है उसका आशय यह है कि स्तुति करने वालों में मुख्य ब्रह्मा और महादेव दो हैं । अतः द्विवचन दिया है । किन्तु किसी पुस्तक में 'ऐडयन्' बहुवचनान्त

क्रिया भी है जहाँ बहुवचन हों वहाँ समझना चाहिये कि सबों को स्तुतिकर्ता मान कर बहुवचन दिया है। भगवान् के लिये यहाँ श्लोक में 'वृषण' शब्द दिया है इसका अर्थ आचार्य श्री ने दो प्रकार से किया है। एक अर्थ कामनाओं की पूर्ति करने वाले भगवान् हैं और दूसरा अर्थ, धर्म को नियम से चलाने वाले भगवान् हैं।

**श्लोकः—** सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये।

सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः॥२६॥

**श्लोकार्थ** — देवता कहने लगे कि आप सत्यव्रत<sup>१</sup>, सत्यपर<sup>२</sup>, त्रिसत्य<sup>३</sup>, सत्य के<sup>४</sup> कारण, सत्य में<sup>५</sup> निहित, सत्य के<sup>६</sup> भी सत्य, ऋतु<sup>७</sup> और सत्यरूप नेत्र वाले और सत्य<sup>८</sup> स्वरूप हो वैसे आपके हम शरण आये हैं॥२६॥

**कारिका** — कालात्मा भगवान्जात इति ज्ञापयितुं तथा।

कलामिः पञ्चदशभिः स्वपक्षख्यापकैः स्तुतिः॥१॥

पक्षपातस्तुतिर्ह्येषा देवानां हितकारिणी।

ध्रुवा तु षोडशी प्रोक्ता वृद्धौ वा तादृशो भवेत्॥२॥

**कारिकार्थ** — कालात्मा भगवान् प्रकट हुये हैं, इसका ज्ञान कराने के लिये और अपने शुक्ल १५ दिन के पक्ष की प्रसिद्धि के लिये १५ श्लोकों से देवों ने स्तुति की है। यह देवताओं की कही हुई पक्षपात वाली स्तुति देवताओं का हित करने वाली है। १५ श्लोक में भगवान् की स्तुति की गई है और १६वें श्लोक में देवकीजी को सान्त्वना दी है अतः १६वीं कला ध्रुव है अथवा तिथि वृद्धि से १६ दिन भी होते हैं॥२५॥

**कारिका व्याख्या** — प्रश्नोपनिषद् में भगवान् को १६ कला वाला कहा है अतः यहाँ भी वही भगवान् १६ कला वाले पधारे हैं यह बताने के लिये उनकी १६ श्लोकों से

<sup>१</sup> आपका सङ्कल्प सत्य है।

<sup>२</sup> आपका द्वादश (१२) प्रकार का सत्य उत्कृष्ट (श्रेष्ठ) है।

<sup>३</sup> आपके तीन लोक और काया भी सत्य है।

<sup>४</sup> आप भी सत्य के कारण (उत्पन्न कर्ता) हो।

<sup>५</sup> आपकी सत्य में स्थिति है।

<sup>६</sup> आप सत्य के आधिदैविक स्वरूप हो।

<sup>७</sup> ऋतु और सत्य नेत्रों से आप दृश्य होते हो।

<sup>८</sup> आपका स्वरूप भी सत्य है।



स्तुति की गई है। जिसमें १५ श्लोकों से देवताओं ने पक्षपात से अपने हित करने वाली स्तुति की है और १६वें श्लोक में जो स्तुति की है वह भक्तों के हित करने वाली होने से ध्रुवा (स्थिर) है। इस अध्याय में भगवान् अपने कालरूप सङ्कर्षण को लेकर देवकीजी में पधारे हैं उसका वर्णन है। कारण कि भगवान् को इस अवतार में पृथ्वी पर जो दैत्य नृपतिओं का भार बढ़ गया था वह उतारना था इसलिये कालरूप सङ्कर्षण स्वरूप को अपने साथ लाना आवश्यक था। स्वयं भगवान् ने गीता में (कालोऽस्मि लोक क्षयकृत्) श्लोक से बताया है कि मैं कालरूप (सङ्कर्षण स्वरूप) से भी प्रकट हुवा हूँ कारण कि स्वयं भगवान् तो सबकी आत्मा है अतः वे सर्व के हितकारी हैं उस स्वरूप से दैत्यों का भी नाश नहीं करते हैं। इस तत्त्व को देवताओं ने समझा था अतः यह गूढोक्ति कही कि हमारे हित के लिये पधारे हैं। काल दो प्रकार का है एक शुक्लपक्ष एक कृष्णपक्ष। शुक्लपक्ष देवताओं का हितकारी है औश्र कृष्णपक्ष दैत्यों का हितकारी है। प्रत्येक पक्ष में १५ दिन होते हैं अतः देवों ने १५ श्लोकों से स्तुति कर यह बताया है कि भगवान् हमारे हित के लिये पधारे हैं अब हमारे शत्रुओं का नाश अवश्य होगा इसलिये भगवान् काल स्वरूप सङ्कर्षण को लेकर आप स्वयं भी पधारे हैं अतः भक्तों का भी हित होगा ॥१-२॥

**सुबोधिनी** — अत्र पञ्चदशभिर्भगवत्स्तोत्रमेकेन देवक्याः सान्त्वनम्। कालः पञ्चदशात्मा भवति। स एवावतीर्ण इति तैर्ज्ञातः। स द्विविधो भवति। दैत्यानां हितकार्यपि पञ्चदशः। देवानामपि। साधारणस्तु त्रिंशदात्मको भवतीति स्वपक्षपात्येव भगवानर्धेन निरूप्यते। स च पक्षपातः कालकृतश्चतुर्धा भवति। लोककृतः स्मृतिकृतः। स्मृतिर्हि लोकवेदात्मिका भवति। वेदकृतस्तृतीयः। भगवन्मार्गकृतश्चतुर्थः। चतुर्विधोपि प्रमाणप्रमेयसाधनफलैश्चतुर्धा। दैत्यकृतात् तस्य विशेषं वक्तुं तथोच्यते।

तत्र प्रथमं चतुर्भिः श्लोकैः प्रमाणप्रमेयसाधनफलान्युच्यन्ते। तत्र लोकसिद्धानि देवपक्षपातरूपाणि निरूप्यन्ते। लोके सत्यमेव प्रमाणम्। परिदृश्यमानं जगदेव प्रमेयम्। गुणाभिमानिनो देवा एव साधनानि। क्षेम एव फलम्। तत्रापि दैत्यपक्षव्यतिरेकश्च साधनीयः।

तत्र प्रथमं देवानां सत्यं दैत्यानामनृतं प्रमाणम्। अतः सत्यरूपो भगवानवतीर्ण इति निरूप्यते। सत्यमपि देवानां हितकार्यष्टविधं भवति। अंशतः षोडशविधम्। वेदे सत्यं पञ्चविधं निरूपितं 'सत्यं पर' मित्यत्र 'प्राजापत्यो हारुणि' रित्यत्रापि। यत् सत्यं तत् परं सर्वेभ्य उत्कृष्टम्। यद्वा सर्वोत्कृष्टं तत् सत्यम्। एवं सत्यत्वसर्वोत्कृष्टत्वयोरैक्यं प्रतिपादनीयम्।

अत एव सत्येन स्वर्गलोकाच्च्युतिः कदापि न भवतीत्यामुष्मिकफलोत्कर्ष उक्तः। ऐहिकेपि सतां सत्यमेव मूलं फलम्। अतः सत्यं प्रमाणप्रमेयसाधनफलरूपमिति ये देवपक्षपातिनस्ते सत्य एव रमन्ते। तथा च श्रुतिः 'सत्यं परं परं सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन सता हि सत्यं तस्मात् सत्ये रमन्त' इति। तदत्रापि निरूप्यते।

लोके हि व्रतमुत्कृष्टम्। यस्तु यत् किञ्चन व्रतमातिष्ठति स पर इत्युच्यते। सत्यमपि। भगवतस्तूभयं सत्यम्। सत्यमेव व्रतं यस्य। तादृशं त्वां शरणं प्रपन्ना इतिसम्बन्धः। एवं व्रतसत्ययोरैक्यमुक्तम्। उभयोः परत्वात्।

अतः परं यत् परं लोके वेदे च द्वादशविधं निरूपितं 'सत्यं तपो दमः शमो दानं धर्मः प्रजननमग्नयोऽग्निहोत्रं यज्ञो मौनं संन्यासः' इति तत् सर्वं भगवतः सत्यमेव। यथार्थमेव। न तु दैत्यानामिव तद् द्वादशविधमयथार्थम्। अत्र श्रुतिरनुसन्धेया पूर्वनिर्दिष्टा भगवतो व्रतानि 'कौन्तेय प्रतिजानीहि' 'द्विःशर नाभिसन्धते' 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' 'साधवे हृदयं मह्य' मित्यादिवाक्यैः प्रतिपादितानि। लोकानुसारेण देवहितकारिणो नियामकं सत्यमेव अन्यथा ईश्वरः केन नियमितः स्यात्? यथा प्रकृते स्वसत्यवाक्यादेव समागतः।

लोके हि त्रयो लोकास्त्रय आत्मन् नूरादयः कायादयश्च। त उभयेपि त्रिशब्देनोच्यन्ते त्रयोपि सत्या यस्य। अनेन साधनफले एकीकृत्य निरूपिते। एवं चतुर्धाष्टविधो निरूपित उपपत्तिरूपः।

उत्पत्तिरूपमष्टविधं निरूपयति सत्यस्य योनिमित्यादि। यत् पूर्वमष्टविधं सत्यमुक्तं तस्य सर्वस्यापि योनिः कारणं भगवानेव कालात्मा। 'श्वो दास्यामी' त्युक्ते यदि श्वो न भवेद् वागसत्यैव स्यात्। एवं सर्वत्र।

न केवलं सत्यस्योत्पादकं किन्तु सत्यस्य रक्षकमपि। तदाह निहितं च सत्य इति। सत्ये नितरां हितः रक्षकः। स्वयं तत्र स्थित एव रक्षां करोतीति निहितपदसमुदायार्थोपि। एव सत्ये स्थित्वा सत्यं पालयतीत्यर्थः अनेन सत्यस्योत्पत्तिविचारे प्रमेय साधनं चोक्तम्। इतरावाद्यन्तयोः। चकार इममेवार्थमाह।

सत्यस्य प्रलयोप्यत्रैवेत्याह सत्यस्य सत्यमिति यथा 'पूर्णस्य पूर्णमादाये'ति। सत्य सत्य एव स्वाधिदैविके लीयते। सत्य एव प्रतिष्ठितम् सत्यं फलम्। तच्चाधिदैविकं सत्यं भगवानेव। अनेन यो भगवति प्रतिष्ठितः स सत्यः। यः सत्ये स सत्यद्वारा भगवति प्रतिष्ठितो भविष्यतीत्युक्तम्। एवमुत्पत्तिरिथितिप्रलयप्रसङ्गे पञ्चविधं सत्यमुक्तम्। एतावता त्रयोदशधा क्रियाशक्तिः सत्यत्वेन निरूपिता।

ज्ञानशक्तिं सत्यत्वेन निरूपयति ऋतसत्ये नेत्रे यस्येति। ज्ञानशक्तिर्द्विविधा प्रमाणबलेन प्रमेयबलेन च। प्रमाण वेद। प्रमेयं भगवद्धर्मा। ऋतं सूनृता वाणी। वेदः सत्यप्रतिपादकः। अतः सत्यनिरूपणप्रस्तावेप्यृतनिरूपणम्। ऋतसत्ये नेत्रे प्रापके यस्येति भगवत्प्राप्तिर्द्विधा भवतीत्युक्तम्।

एव शक्तिद्वयं सत्यत्वेन निरूप्य धर्मिणं सत्यत्वेन निरूपयन्ति सत्यात्मकमिति । सत्यमेवात्मा स्वरूपं यस्य । यः सर्वानेव धर्मान् व्याप्य तिष्ठति स आत्मा । स सत्यमबाधितं भगवतः सद्रूपम् । स्वार्थे कः कं फलं वा । सत्यमात्मा कं सुखं च यस्य । सच्चिदानन्दरूपो भगवान् । चिदानन्दयोरपि सत्यरूपतेति तथोक्तम् । तादृशे च जीवैः कर्तव्यं शरणगमनमेव । प्रपन्ना इतिबहुवचनं सर्वेषामेव देवानां सत्यतया संरक्षार्थम् ॥२६॥

अनुवाद — यद्यपि १६ वें श्लोक में भी (परः पुमान्) कहने से भगवान् की स्तुति है किन्तु मुख्य रूप से देवकीजी को सान्त्वना ही दी गई है और (परः पुमान्) भी देवकीजी को पूर्ण विश्वास हो इसलिये दिया है अतः आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यहाँ देवों ने १५ श्लोको से भगवान् की स्तुति की है और एक श्लोक से देवकी को सान्त्वना<sup>१</sup> दी है । काल पञ्चदशात्मा है, वे काल ही अवतीर्ण हुए हैं यों देवों ने जाना है । वह दो प्रकार का है; दैत्यों का हितकारी भी पञ्चदशात्मा (१५—दिन का) है और देवताओं का हितकरने वाला भी पञ्चदशात्मा (१५—दिन का) है । साधारण रीति से तो काल त्रिशंदात्मक (३० दिन का) है । अतः देवों ने अपने पक्षपाती ही प्रकटे हैं यों समझ भगवान् की अर्धकाल रूप (१५ दिन रूप) श्लोकों से स्तुति की है ।

वह काल कृत पक्षपात चार प्रकार का है ।

१—लोककृत २—स्मृतिकृत\*, ३—वेदकृत और ४—भगवन्मार्ग (भक्ति मार्ग) कृत है । इस प्रकार के होते हुए भी पुनः प्रत्येक प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल से चार प्रकार का है । जिससे काल षोडशात्मा<sup>†</sup> हो गया, दैत्यों का काल केवल पञ्चदशात्मक (कृष्णपक्ष) है । उसने (दैत्यों के काल से) देवताओं के काल की विशेषता षोडशात्मकता बताई ।

<sup>१</sup> आश्वासन ।

स्मृतिकृत भी दो प्रकार का है, १—लौकिक और २—वैदिक । कारण कि स्मृति लोक और वेदात्मक होने से दो प्रकार की है ।

१ लोककृत । ४ प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल ।

२ स्मृतिकृत । ४ प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल ।

३ वेदकृत । ४ प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल ।

४ भगवन्मार्गकृत । ४ प्रमाण, प्रमेय साधन और फल ।

\* देवताओं का काल इस प्रकार षोडशात्मा है ।

उसमें से (षोडश प्रकार में से) प्रथम चार श्लोकों से प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल वर्णन करते हैं। उसमें लोक सिद्ध, जो देवों के पक्षपात वाले हैं उनका निरूपण करते हैं।

लोक में (सत्य हो) प्रमाण है। परिदृश्यमान (जो जगत् देखने में आ रहा है) वह ही प्रमेय है। गुणों के अभिमानी देव ही साधन है। क्षेम ही फल है। इसमें और दैत्य पक्ष में भेद समझना चाहिए।

अब बताते हैं कि देवता सत्य को प्रमाण मानते हैं और दैत्य झूठ को प्रमाण मानते हैं। अतः देवता यह निरूपण करते हैं कि सत्यरूप भगवान् प्रकट हुए हैं। देवताओं का सत्य भी आठ प्रकार का है। वह सत्य पुनः अंशतः १६ प्रकार का है।

वेद में 'सत्य' पांच प्रकार का कहा है। 'सत्यं परं' इस श्रुति में और 'प्राजापत्यो हारुणिः' इस श्रुति में भी सत्य पांच प्रकार का कहा है। जो सत्य है वह पर है, सबसे श्रेष्ठ है अथवा जो सबसे श्रेष्ठ है वह सत्य है। इस प्रकार सत्यत्व और सर्वोत्कृष्टत्व का ऐक्य प्रतिपादन करना चाहिए। जो मनुष्य इस प्रकार का सत्य का स्वरूप समझकर उस पर चलता है वह स्वर्ग<sup>१</sup> लोक को प्राप्त कर वहाँ से पुनः कदापि नहीं लौटता है। सत्य पर चलने वाले को यह आमुष्मिक उत्कृष्ट फल मिलता है। इस आमुष्मिक का फल की उत्कृष्टता<sup>२</sup> यह है कि जो वहाँ जाता है वह लौटकर नहीं आता है। इस लोक में भी सत्पुरुष सत्य को ही उत्तम फल समझते हैं। अतः सत्य ही प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल हैं। यों समझकर देव पक्षपाती अर्थात् जो दैवी जीव हैं वे सत्य में ही रमण करते हैं सत्य पर चलने को ही आनन्द समझते हैं और उससे ही प्रसन्न होते हैं। भगवती श्रुति भी यों कहती है जैसे कि — 'सत्यं परं परं सत्यं सत्येन न सुवर्गाल्लोकाच्च्यवन्ते कदाचन सत्तां, हि सत्यं तस्मात् सत्ये रमन्ते' यह सत्य यहाँ निरूपण किया जाता है।

लोक में व्रत (दृढ संकल्प) को उत्कृष्ट कहते हैं जो कोई जो कुछ व्रत करता है वह पर (श्रेष्ठ) कहा जाता है। सत्य को भी पर (श्रेष्ठ) कहते हैं। भगवान् के तो दोनों

<sup>१</sup> यहाँ स्वर्ग लोक का अर्थ मुक्ति समझना चाहिए — अनुवादक

<sup>२</sup> विशेषता, उत्तमता।

(व्रत तथा सत्य) सत्य हैं जिनका सत्य ही व्रत है वैसे आपके हम शरण आये हैं। इस प्रकार दोनों पर (सबसे श्रेष्ठ) होने से सत्य और व्रत की एकता कही गई है।

अब जो 'पर' है वह लोक तथा वेद में १२ प्रकार का कहा है। जैसे सत्य तप, दम, शम, दान, धर्म, उत्पन्न करना, अग्नि अग्निहोत्र, यज्ञ, मौन और संन्यास। ये सब १२ ही भगवान् के सत्य हैं। न कि दैत्यों के समान असत्य है। इसकी सत्यता प्रथम कही हुई 'सत्यं परं' श्रुति को विचार में लाना। भगवान् के व्रत (दृढ़ संकल्प) से है। जैसे भगवान् आज्ञा करते हैं कि कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति हे कौन्तेय! मेरी तरफ से तू जाके प्रतिज्ञा कर, कि मेरे<sup>१</sup> भक्त का नाश नहीं होता है। इसी प्रकार 'द्विशरं नाभिसन्धते' श्री रामावतार ने भी प्रतिज्ञा की है कि किसी भी लक्ष्य वेध करने के लिए एक ही दफा शर चढाऊँगा तथा 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' भगवान् कर्म फल को नहीं भोगते हैं एवम् सत्य से प्रकाशते हैं। 'साधवो हृदयं मह्यं' साधुजन मेरे हृदय हैं। इत्यादि वचनों से भगवान् के व्रत और सत्य उत्कृष्ट (सर्वोत्तम) कहे हुए हैं। लोक के अनुसार भी देवों के हितकारी भगवान् का नियामक सत्य ही है। यदि सत्य नियामक न होवे तो ईश्वर का नियामक कौन होगा ? जैसे कि इस सत्य के नियामकत्व के कारण ही भगवान् ने जो आने का सङ्कल्प किया था उसको पूर्ण करने के लिए आप पधारे हैं।

भगवान् के तीन लोक (भूः, भुवः और स्वर्लोक) तथा तीन आत्मा (शरीर, जीव और परमात्मा भी सत्य है। जिससे साधन और फल की एकता करके निरूपण किया। जिसमें यह उत्पत्ति रूप प्रभु) प्रमाण रूप एवं युक्तियुक्त (उपपत्ति) रूप से रूप सिद्ध कर दिखाये हैं।

अष्ट प्रकार की उत्पत्ति का निरूपण 'सत्यस्य योनि' शब्द (विशेषण) से करते हैं। जो प्रथम अष्टविध (आठ प्रकार के) सत्य कहे हैं। उन सब आठों प्रकारों के सत्य का कारण भी कालात्मा भगवान् की है। 'श्वोदास्यामि' कल दूँगा—ऐसा कहा जाता है। यदि कल ही न हो तो वाणी असत्य हो जावे। किन्तु कल होता है जिससे वाणी सत्य हो जाती है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिए।

भगवान् केवल सत्य के उत्पादक<sup>१</sup> ही नहीं है किन्तु उसके रक्षक भी आप ही हैं। इसीलिए कहा है कि 'निहित च सत्ये' आप सत्य में स्थिति कर उसकी रक्षा<sup>२</sup> करते हैं। इससे सत्य की उत्पत्ति का विचार करते हुए प्रमेय और साधन दोनों कहे हैं। 'निहितं च सत्ये' इस पंक्ति के मध्य में जो 'च' शब्द दिया है उसका यह तात्पर्य है कि शेष, प्रमाण और फल 'ऋत सत्य नेत्रे' तथा 'सत्यात्मकं त्वां' इन दो विशेषणों से कहा है।

जैसे सत्य की उत्पत्ति और रक्षा का कारण भगवान् है, वैसे ही सत्य के लय का स्थान भी आप ही है। इसको 'सत्यस्य सत्यं' पद विशेषण से कहा है। जिस प्रकार 'पूर्णस्यपूर्णमादाय' श्रुति में सबका लय उसमें होता है वैसे ही सत्य भी आधिदैविक सत्य में लीन होता है। सत्य में ही प्रतिष्ठित है और सत्य ही फल है। यह आधिदैविक सत्य भगवान् ही है। इससे जो भगवान् में प्रतिष्ठित है वह सत्य है। जो सत्य में है वह सत्य द्वारा भगवान् में प्रतिष्ठित होगा। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के प्रसंग में 'पञ्चविध' सत्य कहा गया है। इससे १३ प्रकार की क्रियाशक्ति का सत्यपने से वर्णन किया है।

जो भगवान् की शक्ति, ज्ञान उत्पन्न करती है, वह भी सत्य है। इसका निरूपण करते हैं। जिस परमात्मा के ऋत और सत्य रूप नेत्र ही उसकी प्राप्ति कराने वाले या दिखाने वाले हैं अतः भगवान् को 'ऋत सत्य नेत्र' कहा गया है जिससे भगवत्प्राप्ति दो प्रकार से होती है। ज्ञान उत्पन्न कराने वाली शक्ति, प्रमाण तथा प्रमेय बल के कारण दो प्रकार की है। प्रमाण बल वेद है, जैसे कि जगत् में कोई भी कार्य किया जावे वह कार्य युक्त<sup>३</sup> है वा नहीं ? ऐसी शङ्का होने पर उसको सत्य सिद्ध करने के लिए वेद को ही प्रमाण में लाया जाता है। तथा प्रमेय बल भगवद्धर्म है, जैसे कि जहां प्रमाण बल की गति<sup>४</sup> नहीं है अर्थात् जो कार्य प्रमाण बल से नहीं हो सकता है वह कार्य भगवद्धर्म से होता है। अतः इस भगवद्धर्म को प्रमेय बल कहते हैं।

<sup>१</sup> पैदा करने वाले

<sup>२</sup> पालन

<sup>३</sup> योग्य, ठीक

<sup>४</sup> पहुँच

सूनृता, सत्य को प्रतिपादन करने वाली वाणी को 'ऋत' कहते हैं। वेद सत्य का प्रतिपादन करने वाला है। अतः सत्य के निरूपण करने के समय ऋत का भी निरूपण किया गया है।

इस प्रकार क्रिया शक्ति और ज्ञान शक्ति दोनों सत्य रूप हैं। इनका निरूपण कर अब धर्मस्वरूप भी सत्य रूप है उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'सत्यात्मकं' आप भगवान् की आत्मा स्वरूप सत्य ही है। जो सब धर्मों (पदार्थ मात्र) में व्याप्त होकर<sup>१</sup> रहती है उसको आत्मा कहते हैं। वह (आत्मा) अबाधित<sup>२</sup> सत्य है और वह भगवान् का सत्स्वरूप है। 'सत्यात्मक' पद में जो अन्तिम अक्षर 'क' है वह प्रत्यय है। 'क' प्रत्यय स्वार्थ में आता है अथवा 'क' अक्षर का आशय 'फल' भी है। यहाँ 'क' फल बताने वाला है। सत्यात्मा का फल सुख आनन्द है अर्थात् जिसका आत्मा सुखरूप है वह भगवान् सच्चिदानन्द रूप है। भगवान् का जैसे 'सद्रूप' सत्य है वैसे चिद् और आनन्दरूप भी सत्य है। जीवों को वैसे सत्यात्मक सच्चिदानन्द रूप भगवान् के ही शरण जाना चाहिये।

देवों ने श्लोक में 'प्रपन्ना' बहुवचन कह कर यह बताया है कि हम सब आपके शरण इसलिये आये हैं कि आप सत्यव्रत सत्यरूप हो अतः सत्यता से ही हमारी रक्षा करोगे ॥२६॥

व्याख्याओं का सार — पुरुषोत्तम भगवान् पूर्ण रूप से प्रकट हुए हैं। प्रश्नोपनिषद् में 'षोडशकलः' पद से १६ कलाओं से पूर्ण स्वरूप को परब्रह्म कहा है।

ब्रह्मादि देव भी कृष्ण को १६ कलाओं से पूर्ण स्वरूप समझ कर ही स्तुति करने के लिये पधारे हैं। 'सत्यव्रत' इस प्रथम श्लोक में ही परमात्मा का षोडशविध प्रतिपादन किया गया है।

भगवान् के षोडशविध स्वरूप, इस प्रकार हैं। भगवान् में मुख्य दो शक्तियाँ हैं। एक का नाम क्रिया शक्ति है, दूसरी का नाम ज्ञानशक्ति है। क्रियाशक्ति १३ प्रकार की

<sup>१</sup> फैल कर

<sup>२</sup> जिसको कोई भी बाध न कर सके।

है और ज्ञानशक्ति दो प्रकार की है तथा एक स्वयं आप धर्मी स्वरूप है। इन सबको मिल कर भगवान् को 'षोडशविध' १६ प्रकार का कहा है।

क्रिया जनक और क्रियात्मक जो भगवान् की सामर्थ्य है उसको भगवान् की क्रियाशक्ति कहते हैं। वह २६वें श्लोक 'सत्यव्रत' श्लोक में इस प्रकार त्रयोदश विध कही गई है। 'सत्यव्रत' पद से (१—सत्य और २—व्रत) दो भेद हैं —

आभास — एवं प्रमाणरूपतामुक्त्वा प्रमेयरूपतामाह एकायन इति।

उपरोक्त श्लोक में सत्यात्मक परमात्मा प्रमाण रूप है वह वर्णन कर अब इस 'एकायनौऽसौ' श्लोक में उसकी 'प्रमेय' रूपता का वर्णन करते हैं।

'सत्यपंर'<sup>१</sup> पद से नीचे टिप्पणी में दिये हुए चार भेद हैं —

४

त्रिसत्यम् — भूः, भुवः स्वः तीन लोक, काया, जीव और परमात्मा तीन रूप से दो भेद —

२

सत्यस्ययोनिम् — सत्य का उत्पन्न करने वाली (सत्य का कारण) एक भेद —

१

निहितं च सत्ये — सत्य में स्थित हो सत्य का रक्षक होने से प्रमेय तथा साधन भेद से दो प्रकार की —

सत्यस्य सत्यम् — प्रभु सत्य का भी सत्य होने से 'लय' भी उस सत्य स्वरूप में क्रियाशक्ति कराती है उसके भी प्रमाण और फल से दो भेद हैं —

२

१३

इस श्लोक में 'सत्यस्य सत्यम्' पद तक के पदों द्वारा क्रियाशक्ति के १३ भेद बताये हैं अब शेष 'ऋत सत्यनेत्र' और 'सत्यात्मक' दो पदों से ज्ञानशक्ति के ३ भेद बताते हैं।

ऋतसत्यनेत्र— ऋत और सत्य नेत्र वाले प्रभु हैं अतः उस प्रभु की जो शक्ति ज्ञान उत्पन्न करती है उसको ज्ञान शक्ति कहते हैं। वह शक्ति दो प्रकार की है

<sup>१</sup> सत्य सबसे 'पर' उत्तम है। कारण कि सर्व कार्य सत्य के बल से होते हैं, जैसे कि (१) सत्य से वायु चलती है, (२) सत्य से सूर्य प्रकाश करता है, (३) वाणी सत्य में रहती है (४) सर्व सत्य में रहते हैं। इस प्रकार ये चार भेद हैं।



‘प्रमाण’<sup>१</sup> तथा प्रमेय<sup>२</sup> जिनसे ज्ञान को प्रकट करती है इसलिये यह दो प्रकार की है।

२

सत्यात्मक — आप सत्यस्वरूप ‘धर्मी’ एक हैं।

९

३

उपरोक्त प्रकार से भगवान् की दोनों शक्तियों के भेद मिलाने से १६ होते हैं अतः परमात्मा जो प्रकट हुवे हैं कि वैदिक रीति से तथा भागवतानुसार षोडश कलायुक्त होने से पूर्ण है उस पूर्ण स्वरूप के पधारने पर ब्रह्मादि देवों ने १६ श्लोकों से स्तुति की है। और अन्त में कहा है कि हे प्रभु! वैसे हम आपकी शरण में आये हैं।

**श्लोक: —** एकायनोसौ द्विफलस्त्रिमूलश्चतूरसः पञ्चविधः षडात्मा।

सप्तत्वगष्टविटपो नवाक्षो दशच्छदी द्विखगो ह्यादिवृक्षः॥२७॥

**श्लोकार्थ —** यह ब्रह्माण्ड वृक्षरूप है जिसका आश्रय एक भगवान् ही है। उसके सुख और दुःख दो फल हैं, तीन गुण जड़ें हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये रस हैं, पांच कर्म ही प्रकार हैं, छ इन्द्रियाँ ही आत्माएँ हैं, सात प्रकार के वल्कल हैं, आठ प्रकार की प्रकृतियाँ शाखाएँ हैं, देह के नव छिद्र नेत्र हैं, दश प्राणच्छद हैं, वैसा यह ब्रह्माण्ड वृक्ष है॥२७॥

**सुबोधिनी —** इदं जगत् ब्रह्माण्डात्मक वृक्षत्वेन निरूप्यते। “वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वं” मिति श्रुतेर्भगवान् वृक्षरूपः। तस्माज् जायमानं जगदपि वृक्षात्मकमेव भवति। अनेन भगवतो महत्त्वं निरूपितम्। यथाश्वत्थादिवृक्ष एकस्मिन् कोटिशः फलानि भवन्ति। सोपि तादृश एव। एवमनादिनिधनो वृक्षो भगवान्। अत एव क्वचिद् ब्रह्माण्डनिर्माणं भगवत एव भवति। क्वचित् तत्त्वद्वारा। अक्षरमत्र फलम्। तस्य तत्त्वान्यंशाः। बीजं ब्रह्माण्डमिति। शकुनिभक्षितमेव ततो निर्गतं फलतीति तत्त्वानां चेतनरूपता निरूपिता। तत्र दैत्यादिकल्पे बहुबीजयुक्तादपि फलादेको वृक्ष उत्पद्यते। अत एव बाह्यादिशास्त्रेषु परमाणुभ्यो बहुभ्य एककार्योत्पत्तिर्निरूपिता। पिप्पलादयोपि काकविष्टातो जाता बहुभ्य एकं भवतीत्यध्यवसीयते तद्व्यावृथ्यर्थमाहैकमेवायनं यस्येति। अण्डं

<sup>१</sup> प्रमाण ‘वेद’ हैं प्रमेय ‘भगवद्धर्म’ हैं।

<sup>२</sup> यह विषय जटिल है। अतः जहाँ तक बन सका है वहाँ तक सुबोध करने के लिए साहित्य का आवश्यक सार देकर समझाया है। विशेष जिज्ञासु टिप्पणी प्रकाश, लेख और योजना स्वयं पढ़कर आनन्द रस पान करें अनुवादक

प्रकृतिरक्षरं वा। काल इत्यन्ये। अनेनायमादिरूपः सद्वृक्ष उक्तः। अतोसाविति। परिदृश्यमानः प्रपञ्चः। द्विफलः। द्वे फले यस्य। सुखदुःखस्य फले। दैत्यानां तु दुःखमेव फलम्। ते फले नरकस्वर्गवाच्ये। नराणां कं सुखं विषयात्मकम्। स्वस्वरूपं गच्छतीति स्वर्गः। सृष्ट्यन्तरे सर्वे विषयिण इत्यत्र तु द्विविधा अपि। त्रयो गुणाः सत्त्वादयो मूलान्यधःप्ररोहा यस्य। अत्र त्रिविधान्यपि कर्माणि भवन्ति। अन्यत्र तामसान्येव। क्वचिद् वा राजसानि। सात्त्विकानि तु न भवन्त्येव। चत्वारो धर्मार्थकाममोक्षा रसा यस्य। अन्यत्रार्थकामामेव। पञ्च कर्माणि विधाः प्रकारा यस्य। तानि पञ्चेन्द्रियजन्यान्यप्युत्क्षेपणापक्षेपण प्रसारणाकुञ्चनगमनात्मकानि भवन्ति। अन्यत्रोत्क्षेपणाभावः। अथवात्रमयादयः पञ्च। “स वा ए पुरुषः पञ्चधा पञ्चात्मे” ति श्रुतेः। ब्रह्माण्डविग्रहोपि तथा। अन्यत्र नानन्दः। षडात्मानो यस्य। षडिन्द्रियाण्यात्मत्वेन निरूपितानि। “अयमात्मा विज्ञानमयः”। ज्ञानं च षड्विधमुत्पत्त्या भिन्नम्। सप्त त्वगादयस्त्वचो वल्कलादीनि यस्य। अष्ट प्रकृतयो विटपाः शाखा यस्य। “भूमिरापोनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधे”ति। नव देहच्छिद्राणि नवाक्षा यस्य। दश प्राणाश्छदानि यत्र। द्वौ जीवान्तर्यामिणौ खगौ यत्र। एतस्माद् वैलक्षण्यमन्यत्र ज्ञातव्यम्। हीति सर्वत्र युक्तयः सन्तीति ज्ञापितम्। आदिवृक्ष इति समष्टिरूपः। एवं प्रमेयं निरूपितं भगवदात्मकम्। ॥२७॥

**अनुवाद** — इस श्लोक में यह ब्रह्माण्डात्मक जगत् वृक्षरूप से वर्णन किया जाता है। जगत् की वृक्षरूपता सिद्ध करने के लिये आचार्य श्री कहते हैं कि यह जगत् आदि वृक्ष रूप भगवान् से उत्पन्न हुआ है, वृक्ष से उत्पन्न हुआ पदार्थ वृक्ष ही होता है। भगवान् वृक्षरूप हैं इसलिये श्रुति प्रमाण रूप में देते हैं कि ‘वृक्ष इवस्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्’ अर्थ — जो एक आकाश में वृक्षवत् स्थित है उस पुरुष से वह सर्व (जगत्) पूर्ण है, जगत् को वृक्षरूप कहने से भगवान् का महत्त्व निरूपण किया है। जैसे एक ही अश्वत्थ (पीपल) आदि वृक्षों में से करोड़ों फल उत्पन्न होते हैं। वैसे ही भगवद्रूप वृक्ष से असंख्य ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं अथवा प्रपञ्च रूप भी वैसा है जिससे अनेक उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार भगवद्रूप वृक्ष का न आदि है और न अन्त है। वह सर्वदा ही है। अतएव इस कथन से ही इस ब्रह्माण्ड का निर्माण कभी भगवान् से होता है, और कभी भगवान्, तत्त्वों द्वारा ब्रह्माण्ड का निर्माण करते हैं, इसमें ‘अक्षर’ फल है, उस (फल) के अंश तत्त्व हैं, बीज ब्रह्माण्ड हैं। उस वृक्ष से उत्पन्न फल जब शकुनी<sup>१</sup> खाता है तब वह फल फलता है इससे यह बताया कि ये तत्त्व चेतन हैं। दैत्यों के आदि कल्प में

बहुत बीज वाले फल से भी एक वृक्ष उत्पन्न होता है इस कारण से ही वेद से बाह्यशास्त्रों में बहुत परमाणुओं के संयोग से एक कार्य की उत्पत्ति कही है। पीपल आदि भी काकों<sup>१</sup> के विष्टा से उत्पन्न हुवे थे। बहुतों से एक होता है यों समझा जाता है। इस प्रकार के सिद्धान्त के निवारण के लिये मूल श्लोक में कहते हैं कि 'एकायनोऽसौ' इस प्रपञ्च का एक अयन<sup>२</sup> है। 'ब्रह्माण्ड' पद में दो शब्द हैं, एक ब्रह्म और दूसरा अण्ड, अण्ड कहते हैं प्रकृति वा अक्षर को जिसका तात्पर्य है कि ब्रह्म के साथ जब अक्षर वा प्रकृति<sup>३</sup> सम्मिलित होती है तब उसको ब्रह्माण्ड कहते हैं। कितनेक 'अण्ड' का अर्थ 'काल' भी करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि यह परिदृश्यमान जगत् एकायन (एक ही ब्रह्मरूप बीज वाला) होने से आदि रूप सत्वृक्ष है। जिसके सुख और दुःख दो फल हैं। वे, दो फल, 'नरक और स्वर्ग' कहे जाते हैं। दैत्यों को तो दुःख रूप फल ही प्राप्त होता है। 'नरक' का अर्थ यहाँ है 'विषयात्मक' सुख क्योंकि मनुष्य विषयों को ही सुख समझते हैं किन्तु वह सुख परिणाम में विषोपम होने से दुःख है अतः वह 'नरक' कहा जाता है। 'स्वर्ग' का अर्थ है अपने स्वरूप (आत्मरूप) की तरफ जाना अतः जो अपने को अपनी आत्मा में ले जाते हैं वे सुख भोगते हैं वह स्वर्ग है। यहाँ तो ये दो प्रकार भी हैं, अन्य सृष्टि में सर्व विषयी होते हैं, अर्थात् सर्व आसुरी होते होंगे। इस सृष्टि में तो दो प्रकार के दैवी और आसुरी हैं अतः सर्व विषयी नहीं होते हैं 'आसुरी' विषयी और दैवी निर्विषयी होते हैं। सत्त्वादि तीन गुण इस जगत की जड़ें हैं। अतः यहाँ तीन प्रकार के कर्म भी होते हैं। दूसरी सृष्टि में कहीं तामस कर्म और कहीं राजस कर्म होते हैं सात्त्विक कर्म तो वहाँ निपट नहीं होते हैं। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये चार प्रकार के रस भी इस सृष्टि— वृक्ष में है, अन्यत्र अर्थ और काम दो रस हैं। पञ्च इन्द्रियों से जो पाँच कर्म, (१) उत्प्रेक्षण<sup>३</sup>, (२) अपेक्षण<sup>४</sup>, (३) प्रसारण<sup>१</sup>, (४) आकुञ्चन<sup>२</sup>, (५) गमन। ये पाँच

<sup>१</sup> कौओं

<sup>२</sup> बीज

<sup>३</sup> प्रकृति से भगवान् की गीता में कही हुई अष्टविधा प्रकृति समझनी चाहिए न कि 'माया' जो अन्यथा प्रतीति कराती है। — अनुवादक

<sup>४</sup> ऊपर फेंकना

<sup>५</sup> नीचे फेंकना

कर्म के प्रकार भी यहाँ इस सृष्टि में है। अन्यत्र 'उत्क्षेपण' कर्म नहीं होता है अथवा 'अन्नमयादि पांच कोशों को कर्म के पांच प्रकार समझने जैसा कि भगवती श्रुति कहती है कि 'स वा एषः पुरुषः पञ्चधा पंचात्मा, वह यह पुरुष निश्चय पांच प्रकार के हैं और पंचात्मा है। ब्रह्माण्ड विग्रह भी उसी प्रकार का है। अन्य सृष्टियों में आनन्दमय आत्मा नहीं है। जिस दृश्य जगत् रूप वृक्ष की षड् इन्द्रियाँ आत्मरूप हैं। यह आत्मा 'विज्ञानमय' है। 'ज्ञान' छ प्रकार का है वह उत्पत्ति<sup>१</sup> से भिन्न २ हैं। इस जगत् वृक्ष के सात प्रकार के वल्कल (त्वक्, मांस, रुधिर, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य) हैं। आठ प्रकृति (भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार) शाखाएँ हैं। देह के नवछिद्र अक्ष (कोटर) हैं। दश प्राण — प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कूर्म, कूकल, देवदत्त और धनंजय ये दश प्राण हैं, ये पत्र हैं। जीव और अन्तर्यामी ये दो पक्षी हैं। अन्य सृष्टियों में इस सृष्टि से विलक्षणता समझनी। श्लोक में जो 'हि' शब्द है उसका आशय यह है कि सर्वत्र युक्तियाँ हैं। 'आदि वृक्ष, शब्द समष्टि रूप से दिया है। इस प्रकार इस प्रमेय स्वरूप का निरूपण किया गया है।।२७।।

इस श्लोक पर गो. पुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि ब्रह्मादि देवों ने स्तुति करते हुए प्रथम श्लोक में भगवान् की प्रमाणरूपता बताई है और तृतीय श्लोक में त्वमेक में साधन रूप भी भगवान् को बताया है। अतः इस मध्य के द्वितीय श्लोक में प्रमेयता बताना आवश्यक होने से भगवान् की प्रमेयरूपता बताई गई है।

यहाँ भगवान् ब्रह्माण्डात्मक वृक्षरूप हैं। उनको प्रमेयरूप कैसे कहा ? इस शङ्का के निवारण के लिए ही आचार्य श्री ने सुबोधिनीजी में 'वृक्ष इवस्तब्ध' श्रुति से भगवान् को 'आदि वृक्ष' सिद्ध किया है वह आदि वृक्ष भगवान् इस दृश्यमान जगत् का कारण रूप है। यह जगत् रूप वृक्ष उससे उत्पन्न होने से कार्य रूप है। कारण कार्य एक होने से ब्रह्माण्डात्मक वृक्ष भगवद्रूप है। अतः उनको प्रमेय कहने में किसी प्रकार की हानि

<sup>१</sup> खोलना

<sup>२</sup> लपेटना

<sup>३</sup> श्रोत, चक्षु, वाक्, जिह्वा, प्राण और मन इन छ इन्द्रियों से ज्ञान की उत्पत्ति पृथक् २ प्रकार की होती है। अतः ज्ञान छ प्रकार का है।

नहीं है। तथा श्री पुरुषोत्तमजी ने दूसरी श्रुति 'उर्ध्वमूल ..... मृत्युर्मामारयात्' देकर वृक्ष को भगवान् का रूप सिद्ध किया है।

अन्य शङ्का — सद्रूप भगवान् तो 'प्रमेय' रूप हो सकते हैं किन्तु कालात्मक भगवान् प्रमेयरूप कैसे होंगे ? इस शङ्का का निवारण तृतीय स्कन्ध में 'गुणव्यतिकराकारो' श्लोक की सुबोधिनी में किया है। आचार्य श्री ने समझाया है कि गुणों के परस्पर संश्लेषण<sup>१</sup> से काल प्रकट होता है। काल का भी उपादन प्रभु हैं अतः उपादेय उपादानात्मक है। अतः काल भी जगत् का उपादान होने से प्रमेयरूप हो सकता है विशेष विषय इस सम्बन्ध में संस्कृत में देखिये यहाँ सार मात्र दिया गया है ॥२७॥

**आभास—अत्रोपपत्तिं वदन् साधनरूपमाह त्वमेक एवास्येति।**

इस श्लोक में उपपत्ति<sup>२</sup> पूर्वक साधनरूप भी यह है इसका वर्णन त्वमेक एवास्य श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः— त्वमेक एवास्य सतः प्रसूतिस्त्वं सन्निधानं त्वमनुग्रहश्च।**

**त्वन्मायया संवृतचेतसस्त्वां पश्यन्ति नाना न विपश्चितो ये ॥२८॥**

**श्लोकार्थ —** इस सद्रूप जगत् के उत्पत्ति स्थान आप एक ही हो, लयस्थान भी आप हो और इसकी स्थिति भी आप में ही है। आपकी माया से जिनका ज्ञान आच्छादित<sup>३</sup> हो गया है वे आपसे भिन्न, जगत् को नाना रूप में देखते हैं जिनकी बुद्धि माया से आच्छादित नहीं हुई है वे विपश्चित<sup>४</sup> नाना रूप में पृथक् न देखकर सब में एक आपको ही देखते हैं ॥२८॥

**सुबोधिनी —** अस्य जगतः सतः सद्रूपस्य। अनेन मायावादादिपक्षा निराकृताः। ते हि वैनाशिकाः 'असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वर' मितिवाक्यात् तेषामेव मतेस्य जगतोसत्यत्वम्। अन्यथासतोज्ञानकार्यस्य कर्ता भगवान् को वा स्यात्? तस्य सर्वस्यापि सद्रूपस्य त्वमेव प्रसूतिरुत्पत्तिस्थानम्। प्रकर्षेण सूतिर्यस्मादिति। प्रसूतिपदेन पितराविवोत्पादकत्वं सूचितम्। त्वमेव

<sup>१</sup> मिलाप

<sup>२</sup> हेतु देकर विषय को सिद्ध करना, उपपत्ति है

<sup>३</sup> ढकी हुई

<sup>४</sup> समझदार, बुद्धिमान

सम्यग् निधीयतेस्मिन्निति सन्निधानं लयस्थानम्। त्वमेवानुगृह्यतेनेनेति पालकः। अत उत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्ता त्वमेव। अन्यथाक्रमेणैवं सूचयति भगवद्रक्षितो न नश्यतीति। नन्वेते गुणाभिमानिन एव ब्रह्मादय उत्पत्त्यादावधिकारिणो नाहमित्याशङ्क्याहुस्त्वन्माययेति। ये त्वन्मायया संवृतं सङ्कुचितं चेतो मतिर्येषा ते त्वा नाना पश्यन्ति न तु विपश्चितः। त एव भगवन्तं परच्छिन्नं जानन्ति ये तस्यैव मायासङ्कुचिता भवन्ति। अल्पेन हि ग्राहकेणाल्पमेव गृह्यते सर्ववस्तुग्रहणार्थं चित्तं पुष्कलमेव भगवत्सृष्टम्। मायया सङ्कोचाभावे कथं परिच्छिन्नं गृहणीयात् ? अत एव त्वां नाना पश्यन्ति। परिच्छिन्नया दृष्ट्या गृहीतो देशो भिन्नतया स्वीक्रियत इति मायामोहः। अत एव ये विपश्चितस्ते ब्रह्मादीन् परस्परविलक्षणान् पश्यन्तोपि तत्तत्कार्यानुरोधेन तथाविधं त्वामेव मन्यन्ते न तु भिन्नं पश्यन्ति। य इत्यन्ते तेषां माहात्म्यनिरूपणार्थं निर्देशः। अनेन सृष्टिस्थानां गुणैर्भिन्नानां स्वकार्यसिद्धयर्थमेत एव यथारुचि भगवद्रूपाः सेव्या इतिसाधनमुक्तम्॥२८॥

**अनुवाद —** इस सद्रूप जगत् का उत्पत्ति स्थान, माता पिता के समान आप एक ही हो इसलिये मूल श्लोक में (प्रसूति) पद दिया है जिसका अर्थ है भली भांति जिससे उत्पत्ति हुई है। जगत् को सत्यरूप और भगवान् से उत्पन्न हुआ है यह कहकर सिद्ध किया गया है कि मायावाद आदि मत वाले जो जगत् को विनाशशाली मानते हैं वे (असत्यं अप्रतिष्ठं ते जगत् आहुः अनीश्वरं) इस गीताजी के वचनानुसार असुर हैं। उन असुरों के मत में ही जगत् असत्य कहा जाता है। यदि यह सिद्धान्त असुरों का न हो, शास्त्रीय हो तो उस असत् और अज्ञान का कार्य (जगत्) का भगवान् (ब्रह्म) कर्त्ता कैसे हो ? अर्थात् असत् तथा अज्ञान रूप कार्य का कर्त्ता भगवान् नहीं होता है यह जगत् सदरूप है। अतः भगवान् इसका कारण (उत्पत्तिस्थान) कहा गया है। न केवल उत्पत्ति स्थान आप (ब्रह्म) हैं किन्तु अन्त में इस जगत् का लय स्थान भी आप (ब्रह्म) हैं एवं मध्य में उसका पालक स्थिति कर्त्ता भी आप ही हो। जिसका उत्पत्ति लय और पालक भी आप हो इस कहने का आशय यह है कि भगवान् जिसका रक्षक है वह कदापि नाश नहीं होता है।

इस जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय करने वाले ब्रह्मा, विष्णु और महेश गुणाभिमानी देव हैं, मैं तो नहीं हूँ यदि भगवान् यों कहें तो इसके उत्तर में ब्रह्मादि देव कहते हैं कि आपकी माया से जिनका चित्तसङ्कुचित (सिकुड़ा हुआ, छोटा अल्प तथा अनुदार एवं ज्ञान रहित) हो गया है वे आपको पृथक् पृथक् (नाना) देखते हैं जो विपश्चित (जिनका चित्त माया से सुङ्कुचित नहीं हुवा है) है वे नाना न देखकर सब

को आपका ही रूप समझते हैं। छोटे चित्त वाले वस्तु की छोटी (अल्प) ग्रहण करते हैं। उदार हृदय वाले पुष्कल वस्तु ग्रहण करते हैं। माया से जिनका चित्त अल्प न हुआ है वे कैसे भगवान् को परिच्छिन्न समझेंगे ? वे विपश्चित तो ब्रह्मादि देवों को परस्पर विलक्षण देखते हुए भी उस कार्य के अनुरोध से वैसे बने हुए आपको ही देखते हैं अर्थात् वे भी आप ही हो नहीं कि वे दूसरे हैं, आप उनसे पृथक् अन्य हो। अतः गुणों करके भिन्न सृष्टि के मनुष्यों को अपने अपने कार्य की सिद्धि के लिये ये<sup>१</sup> ही भगवद्रूप देव यथारुचि (जिसका प्रेम जिसमें हो) सेव्य है। इस प्रकार इस श्लोक में (साधन) कहे हैं॥२८॥

**आभास—फलमाह बिभर्षीति।**

प्रमाण, प्रमेय और साधन कहकर अब इस श्लोक में फल का वर्णन करते हैं।

**श्लोकः — बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मन् क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य।**

**सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम्॥२८॥**

**श्लोकार्थ —** हे ज्ञान स्वरूप आत्मन्! आप ही स्थावर तथा जंगम लोगों के कल्याणार्थ, सत्त्वगुणावाले स्वरूपों को बार बार धारण करते हो। जो स्वरूप सत्पुरुषों को सुखदायी और खलों को दुःखदायी है॥२८॥

**सुबोधिनी —** त्वमवबोध आत्मनि रूपाणि बिभर्षि। ये त्वां सेवन्ते पूर्वोक्तप्रकारेण तेषां रूपाणि ज्ञानरूप आत्मनि बिभर्षि। सायुज्यं तेभ्यः प्रयच्छंति। अथवावबोध आत्मनि शुद्धात्मसिद्धयर्थं रूपाण्यवतार रूपाणि बिभर्षि येषु भक्ताश्चिद्रूपमात्मानं लभन्ते। रूपाणां ग्रहणस्यान्यदपि निमित्तमित्याह क्षेमाय लोकस्य चराचरस्येति। चराचरशब्देन ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चेति न्यायविदः। चराः प्राणिनः। अचरा भूरादयः। उभयेषामपि क्षेमाय। अनेनैहिकफलदानार्थमपि भगवदवतार इति। गुणैर्ब्रह्मादीनामपि भगवत्त्वाद् रजसा तमसाप्यवतारः सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह सत्त्वोपपन्नानीति। लोकानुसारीणि मस्यादीनि। ब्रह्ममहादेवयोरव्याधिदैविकयोरप्यवताराः सत्त्वरूपा एव। तत्र निदर्शनं सुखावहानीति। ये सर्वप्राणिषु सुखमावहन्ति। पक्षपातस्तोत्रत्वाद् दैत्यानामपि सुखदानि भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह सतामेव सुखदानि। खलानां त्वभद्राणि। लक्षणपूर्वकं दैत्यानां निर्देशः खलानामिति। सर्वदोषनिधानं खला ये परेभ्यो दुःखदातारः। मुहुरिति। सर्वेषां खलानां बारवारम्॥२८॥

<sup>१</sup> गोस्वामी वल्लभलालजी आज्ञा करते हैं कि आचार्य श्री ने सुबोधिनीजी में (एतेएव) ये ही भगवद्रूप मनुष्यों को सेव्य है। इस पद में (एव) (ही) कहकर दुर्गा, भैरव आदि देवों का भजन दैवी जीवों को नहीं करना चाहिये इस आशय को व्यक्त (प्रकट) किया है।

अनुवाद — हे प्रभु! आप अपनी ज्ञान स्वरूप आत्मा में रूपों को धारण करते हो। पर्व में कहे हुए प्रकार से जो आपकी सेवा करते हैं, उन्हीं के रूपों को अपनी ज्ञान रूप आत्मा में धारण करते हो। अर्थात् उनको सायुज्य मुक्ति देते हो। अथवा, ज्ञानरूप आत्मा में शुद्ध आत्मा की सिद्धि के लिये अवतारों को लेते हो। जिससे, उन अवतार स्वरूपों में अपनी चिद्रूप आत्मा को प्राप्त करते हैं। इसके सिवाय आपके अवतारों को धारण करने का दूसरा भी कारण है। वह कारण बताते हैं। चर और अचर प्राणियों के कल्याण के लिये भी आप अवतार लेते हो। चर शब्द से ब्राह्मण और अचर शब्द से क्षत्रिय, यह अर्थ न्यायवेत्ता<sup>१</sup> करते हैं। चर<sup>१</sup> अचर<sup>२</sup> समझने चाहिये। इससे समझा जाता है कि भगवान् ऐहिकफल<sup>३</sup> देने के लिये भी अवतार लेते हैं।

ब्रह्मादि देवता भी ईश्वर कोटि में गिने जाते हैं अतः उनका भी रजोगुण वा तमोगुण से अवतार धारण करना सम्भव है। इसलिये उनके अवतारों की व्यावृत्ति<sup>४</sup> के लिये देव कहते हैं कि आपके अवतार सत्त्वोपपन्न<sup>५</sup> अवतार होते हैं। जैसे लोकानुसारी मत्स्य आदि आपके अवतार भी सत्त्वोपपन्न हैं आधिदैविक ब्रह्मा तथा महादेव के अवतार भी सत्त्वोपपन्न होते हैं कारण कि ब्रह्मा और महादेव के आधिदैविक रूप आप ही हो अतः सत्त्वोपपन्न जो भी अवतार हैं वे आपके ही हैं। क्योंकि सत्य अवतार ही सुखदायी होते हैं। मूलश्लोक में 'सतां' पद देने का आशय यह है कि भगवान् के अवतार सत्पुरुषों को सुख देने के लिये हैं। कारण कि दैत्य खल है इसलिये उनके लिये तो आपके सब अवतार दुःखदायी हैं यह जताने के लिए मूल में 'मुहुः' शब्द दिया है। अतः यह शङ्का नहीं करनी कि भगवान् अवतार लेकर दैत्यों का भी कल्याण तो नहीं करेंगे।

आभास—एवं लौकिकप्रकारेण चतुर्णां निरूपणमुक्त्वा स्मृतिप्रकारेण पुनश्चतुर्णां निरूपणमाह त्वयीति चतुर्भिः।

<sup>१</sup> अत्ता चराचर (गृहणात्) व्यास सूत्र में इस प्रकार का अर्थ किया गया है।

<sup>२</sup> चलने वाले प्राणी मात्र।

<sup>३</sup> एक स्थान पर स्थित पृथ्वी आदि पदार्थ।

<sup>४</sup> इस लोक में सुख रूप फल

<sup>५</sup> निवारण

<sup>६</sup> सत्त्वगुण से युक्त।



लौकिक प्रकार से प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल चारों का वर्णन कर अब स्मृति प्रकार से उन चारों का चार श्लोकों में वर्णन करते हैं।

**श्लोक: —** त्वय्यम्बुजाक्षखिलसत्त्वधाम्नि समाधिनावेशितचेतसैके ॥

त्वत्पादपोतेन महत्कृतेन कुर्वन्ति गोवत्सपदं भवाब्धिम् ॥३०॥

**श्लोकार्थ —** हे कमल नयन! सर्व जीवों के निवास आप ही हो अतः आप में समाधि द्वारा अपने चित्त को स्थिर कर, महान् पुरुषों की सिद्धि की हुई, आपके चरणारविन्द रूप नौका के आश्रय से वे, संसार रूप समुद्र को, गौ के बछड़े के खुर के समान जल के गड्ढे जैसा बना देते हैं ॥३०॥

**सुबोधिनी —** स्मृतिषु योगो धर्मः। स च योगो बहुविध इति यो देवहितो धर्मरूपस्तं निरूपयति। हे अम्बुजाक्ष! अखिल सत्त्वधाम्नि त्वयि समाधिनावेशितचेतसा करणेन त्वत्पादपोतेन भवाब्धिं गोवत्सपदं कुर्वन्ति। योगे प्रत्यक्षो भगवान् संसारात् तारयतीति सिद्धम्। अम्बुजाक्षेति। दर्शनेनैव पापनाशकत्वमुक्तम्। यो योगस्तृतीयस्कन्धे निरूपितः स सर्वात्मको भगवद्विषयकः। तदाहाखिलसत्त्वधाम्नीति। अखिलानां सत्त्वानां प्राणिनां धाम स्थानम्। सर्वसत्त्वगुणनिधाने वा तादृशे भगवति। आसमन्ताद् वेशितं चित्तं यस्मिस्तादृशेन समाधिना करणेन कृत्वा त्वत्पादः पोतो भवति। समुद्रतरणसाधनं पोतः। चरणस्य पृथ्वीरूपस्याकाशरूपस्य वाक्षरूपस्य वा पोतत्वम्। भूमिश्चेत् सर्वजनीना। आकाशं च। भगवद्भावकसमाधौ भगवति विद्यमाने पादस्य पोतत्वाभावात् समाधिकल्पितस्यैव च संसारमध्यपातात् कथं पोतत्वमित्याशङ्क्याह महत्कृतेनेति। महद्भिः कृतेन। महान्तो हि सर्वस्यापि पदार्थस्य साध्यसाधनतामवगच्छन्ति। अतः समाधावेव भगवत्स्फूर्तो स पादः संसारतारकौ भवतीत्यलौकिकसामर्थ्येन न युक्तिविरोधः शङ्कनीयः। "अयं तु परमो धर्मो यद् योगनात्मदर्शनं" मितिस्मृतेः। यथा यागादि स्वर्गसाधनं तथेदमप्यदृष्टद्वारा भविष्यतीत्याशङ्क्य तन्निराकरणार्थमपि महत्कृतेनेत्युक्तम्। पादपोतो महान् कृतः। हृदयं संसारपारं चाभिव्याप्य यथा तिष्ठति तावान् कृत इत्यर्थः। करणं समाधिरेव। गोवत्सपदमिति। तीर्णसंसारस्यास्थापितत्वाद् वत्सपदकरणम्। अनेन संसारे स्थिता एव संसार तुच्छं मन्यन्ते। अनतिगम्भीरत्वाय वत्सपदम्। समाधौ स्थितः समाधिनिर्वाहकं संसारमतितुच्छत्वेन मन्यते। सिद्धो योगः स्वयमेव सर्वमेव संसारं शोषयित्वा स्वनिर्वाहकमेव स्थापितवान्। न च ते महापुरुषा अन्येषामुद्धारमकृत्वा वत्सपदत्वमात्रे जातेपि स्वयमेव तरन्ति। अतो वत्सपदमेव कृत्वा यावदन्येषामुद्धारो भवति तावत् तूष्णीं तिष्ठन्ति। अत उक्त वत्सपदं कुर्वन्तीति प्रमाणसमाप्तिः ॥३०॥

**अनुवाद —** स्मृतिओं में जो योग कहा है वह अनेक प्रकार का है उनमें से जो योग देवों का हितकारी धर्मरूप है उसका निरूपण करते हैं। हे कमल नयन! भगवान्

के इस नाम से यह बताया है कि आपके दर्शन से ही पाप नष्ट हो जाते हैं। समग्र जीवों के धाम<sup>१</sup> रूप आप में मनुष्य समाधि द्वारा चित्त स्थिर कर, आपके चरण रूप नौका को साधन बना कर, संसार रूप सागर को गौ के बछड़े के खुर के समान जल के गड्ढे जैसा बना देते हैं जिससे यह सिद्ध हुआ कि योग द्वारा प्रत्यक्ष भगवान् संसार से तारते हैं। जिस योग का तृतीय स्कन्ध में वर्णन किया गया है, वह सर्वात्मक तथा भगवत्संबन्धी है : उसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आप समग्र जीवों के धाम हो और समस्त सत्त्वगुणों के आश्रम हो वैसे आप में, जिन्होंने समाधि द्वारा पूर्ण रीति से अपना चित्त लगा दिया है एवं आपके चरण रूप नौका को साधन बनाया है उन्होंने संसार रूप सागर को गौ के बछड़े के खुर के समान जल के गड्ढे जैसा कर दिया है। जिससे यह सिद्ध हुआ कि योग द्वारा प्रत्यक्ष भगवान् संसार सागर से तारते<sup>२</sup> हैं। समुद्र से पार जाने का साधन नौका<sup>३</sup> है। भगवान् के पृथ्वी, आकाश और अक्षर रूप चरण भी संसार सागर से पार जाने के लिये पोत<sup>३</sup> है। सब जानते हैं कि यह भूमि सभी के लिये नाव रूप है कारण कि नाव उसको कहते हैं जो अपने ऊपर बिठाकर जल में डूबने न दे और आप जल के ऊपर तैरती रहे इस प्रकार भूमि जल के ऊपर स्वयं स्थिर हो। जनता को जल में डूबने नहीं देती है अतः जनता के लिए वह पृथ्वी भगवान् का चरण रूप पोत<sup>४</sup> मानी जाती है। इसी प्रकार आकाश भी भगवान् का चरण रूप पोत<sup>४</sup> है जो वह तारों को जल में डूबने से बचाकर तारता है। अक्षर भी तब चरण रूप होता है जब भगवान् पुरुष रूप से प्रकट होते हैं। समाधि में भगवान् पुरुष रूप से प्रकट होकर प्रत्यक्ष होते हैं अतः उस समय भी अक्षर रूप चरण पोत<sup>४</sup> होता है। इस प्रकार पृथ्वी, आकाश और अक्षर ये तीनों ही भगवच्चरण संसार से तारने वाले होने से 'पोत<sup>४</sup>' हैं।

समाधि में कल्पित पुरुष संसार के मध्यपाती होने से उसके चरण कैसे 'पोत<sup>४</sup>' तारक बनेंगे ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'महत्कृतेन' भगवान् के चरण को

<sup>१</sup> निवास स्थान

<sup>२</sup> पार कर देते हैं

<sup>३</sup> जहाज

<sup>४</sup> नाव

महत्पुरुषों ने बनाया है। महान् पुरुष प्रत्येक पदार्थ के साध्य<sup>१</sup> साधक<sup>२</sup> भाव को जानते हैं। समाधि में भगवत्स्फूर्ति होने से वह चरण उस समय भी तारते हैं यह अलौकिक सामर्थ्य है, जिसके आगे युक्ति का विरोध टिक नहीं सकता है। जैसे कि स्मृति में कहा है कि “अयंतु परमोधर्मो यत् योगेन आत्मदर्शनम्” योगद्वारा आत्मा का दर्शन ही परम धर्म है। जिस प्रकार यज्ञादि<sup>३</sup> अदृष्ट द्वारा स्वर्ग के साधन है वैसे ही यह भी होगा? इस शङ्का का निवारण ‘महत्कृतय’ पद से किया है जिसका आशय यह है कि भगवान का चरण अदृष्ट बनाकर फल नहीं देता है किन्तु सीधा स्वयं पार उतारता है यह महान् पुरुषों ने सिद्ध कर बताया है कि यह पाद पोत<sup>४</sup> महान् है अतः यह हृदय तथा संसार में व्याप्त<sup>४</sup> है। समाधि असाधारण साधन है। समाधि में पाद पोत<sup>४</sup> का आश्रय कर संसार सागर को गोवत्स पद जैसा बना देते हैं। इसका आशय यह है कि जिन्होंने भगवच्चरण का आश्रय लिया है उनके लिये यह संसार तुच्छ है वे संसार में रहते हुवे भी संसार से लिप्त नहीं होते हैं क्यों कि उनकी दृष्टि में संसार बछड़े के खुर के समान जल का छोटा गड्ढा है। योग सिद्ध हो जाने से उनका संसार को स्वयं शुष्क<sup>५</sup> हो गया है। किन्तु योग आदि के निर्वाह के लिये नाम मात्र संसार को रखा है। वे महापुरुष हैं अतः संसार को गोवत्स पद पर केवल आप ही संसार से पार होकर नहीं जाते हैं किन्तु अन्यो के उद्धार के लिये आप तूष्णी होकर बैठते हैं इसलिये ही कहा है कि उन महापुरुषों ने संसार को ‘गोवत्सपद’ बना दिया है। इस श्लोक से प्रमाण का वर्णन किया ॥३०॥

**आभास—तादृशेन प्रमाणेन यत् सिध्यति तत् प्रमेयमाह स्वयं समुत्तीर्येति।**

उपरोक्त श्लोक में वर्णित प्रमाण से जिस प्रमेय की सिद्धि होती है उस प्रमेय का वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः — स्वयं समुत्तीर्य सुदुस्तरं द्युमन् भवार्णवं भीममदभ्रसौहृदाः ॥**

<sup>१</sup> जिसको सिद्ध करना हो

<sup>२</sup> सिद्ध करने वाला

<sup>३</sup> यज्ञादि

<sup>४</sup> फैला हुआ है।

भवत्पदाम्भोरुहनावमत्र ते निधाय याताः सद्नुग्रहो भवान् ॥३१॥

**श्लोकार्थ** — हे स्वयं प्रकाश स्वरूप! सफल सौहृद वाले महापुरुष, अत्यन्त दुस्तर तथा भयानक भवसागर को स्वयं भली भाँति तैर कर, आपकी चरण रूपी नौका को यहाँ ही छोड़ गये हैं। आप सत्पुरुषों पर अनुग्रह करने वाले हो अतः आप कृपा दृष्टि से उनको तारो ॥३१॥

**सुबोधिनी:**— तीर्णस्यास्थापनेनैव वत्सपदकरणात् सम्पूर्णानुवादे सुदुस्तरं भवार्णवं भीममित्युक्तम्। मोक्षप्रतिपादकत्वात् सर्वशास्त्राणां मोक्षः सम्प्रदायश्च प्रमेयं भवति। स्वयं समुत्तीर्य भवत्पदाम्भोरुहनावमत्रैव निधाय ते याताः। सम्यगुत्तरणं दुर्घटत्वे सति वक्तव्यमिति दुर्घटत्वमाह। समुद्रो हि दुस्तरः स्वतः। तत्रापि नक्रादिभिः कृत्वा सुदुस्तरः। व्यसनमृत्युजरादिभिरलौकिककरण—सामर्थ्यघातकः। स्वतोपि भीमो भयानकः। द्युमन्नितिसम्बोधनं चरणस्त्रिविधदोषनिवारणसमर्थ इति ज्ञापयति। यथा सूर्योन्धकारं सर्वजगत्पूर्णं जाड्यं भयं च स्वत एव निवारयति तथा त्वच्चरणप्रसादात् तेपि संसारमुत्तीर्णा। तर्हि कथमन्येषामुद्धारः ? का वान्येषामुद्दारे तेषामपेक्षा ? तत्परिहारार्थमाहादभ्रसौहृदा इति। अदभ्रमच्छिद्रं सफलं सौहृदं येषामिति। अनेन पूर्वमेव कृतं सौहृदं सार्थकमेवेति तेषामवश्यमुपायकरणम्। तमुपायमाह भवत्पदाम्भोरुहनावमिति। तेषूत्तीर्णेषु तदनुसरणेनैव भूयान् संसारो गत इति पोतरूपोपि पादः सुखदः सर्वप्रदर्शकः। तत्कृपयानतिगम्भीरोम्भोरुहनौकारूपो जातः समुद्रश्च नदीरूपो जातस्तदाह भवत्पदाम्भोरुहनावमित्यत्रैव निधाय याताः। ननु ते महता प्रयासेन भगवन्तमाराध्य वशीकृत्य चरणमारुह्य सर्वं चरणे निवेश्य यातास्तदुपदेशिनस्तु न तद्विधा इति कथं तरणं भविष्यतीत्याशङ्कन्त्याह सद्नुग्रहो भवानिति। सत्स्वन्नुग्रहो यस्य। भवानिति। अस्मिन्नर्थे सम्मतिरुक्ता ॥३१॥

**अनुवाद** — जो चरणों का आश्रय कर संसार से पार हो गये हैं उनको तीर्ण कहा गया है। वे तो संसार सागर को वत्स पद कर स्वयं पार हो गये, जिससे पार हुए उस पाद रूप नौका को यहाँ धर गये हैं। अन्यथा इस संसार सागर का रूप तो 'सुदुस्तर' है किन्तु पुनः उसमें रहे हुए व्यसन, मृत्यु, जरा आदि अलौकिक साधन के सामर्थ्य के घातक होने से महा कठिन तथा भीम<sup>२</sup> है जैसे समुद्र यों ही पार करना कठिन है किन्तु मगरमच्छ आदि से महा कठिन तथा भयानक है। सर्व सच्छास्त्र मोक्ष का प्रतिपादन करते हैं अतः मोक्ष (फलरूप होने से) प्रमेय है ओर भगवान् का चरण रूप

<sup>१</sup> जिसको पार करना यों ही कठिन है।

<sup>२</sup> भयानक

भक्ति मार्ग सम्प्रदाय, मोक्ष (भगवत्प्राप्ति) का साधन होने से प्रमेय है। भगवान् को 'द्युमन्' संबोधन दिया है जिसका भावार्थ है कि जैसे सूर्य स्वतः अन्धकार पूर्ण जगत् के अन्धेरे और भय को मिटाता है वैसे आप प्रकाश रूप हैं, अतः आपके चरण तीनों प्रकार के दोषों को निवारण करने में समर्थ हैं जिससे आपके आश्रित भी आपके चरणों के प्रसाद से संसार को पार कर गये हैं। जब वे पार हो गये तो अब अन्यो का उद्धार कैसे होगा वा कौन करेगा ? जो स्वयं पार पहुँच गये उनको दूसरों के उद्धार की क्या चिन्ता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वे दूसरों के पार उतारने का भी विचार करते हैं कारण कि उनका हृदय सुन्दर है और वे हृदय से सब से सौहार्द करते हैं अतः उनका सौहार्द सफल इसीलिये हुआ है जब वे दूसरों के लिये भगवच्चरण रूप पोत, भक्तिमार्ग सम्प्रदाय की स्थापना कर गये है, जिससे सभी के लिये, यह दुस्तर संसार, सागर गोवत्स पद जैसा स्वल्प जल का गड्ढा बन गया है।

वे स्वयं इस भक्ति मार्ग सम्प्रदाय द्वारा पार जा कर सिखा गये हैं कि आप भी इसका अनुसरण करोगे अर्थात् भगवान् के चरण, भक्ति सम्प्रदाय को नाव बनाओगे तो सहज और सरल रीति से पार हो जाओगे। इसलिये श्लोक में भगवान् के चरण को अम्भोरुह<sup>१</sup> कहा है। कमल कोमल ताप निवारक होता है वैसे ही चरण रूप भक्ति-सम्प्रदाय भी है। वे तो इस प्रकार का भक्ति मार्ग स्थापना कर गये, किन्तु अब उस भक्ति मार्ग का उपदेश करने वाले तो वैसे नहीं है तो कैसे आजकल के जीव उस भक्ति मार्ग से पार पहुँचेंगे। इसके उत्तर में श्लोक में कहा है कि 'सदनुग्रहो भवान्' हे प्रभु! आप सत्पुरुषों, जिन्होंने भक्तिमार्ग स्थापन किया है, उन पर सदैव अनुग्रह करते हो अर्थात् उनकी कानि से जो भक्तिमार्गानुयायी होंगे उनको अपनी कृपा बल से अवश्य तारोगे ॥३१॥

सुबोधनी:— साधनं महतामुपदेशप्रकारः। स च अर्थादुक्त इति साधननिरूपणे तदतिरिक्तसाधनान्येव निराकरोति येन्येर्विन्दाक्षेति।

इस 'येन्येरविन्दाक्ष' श्लोक में महान् पुरुषों ने जिस प्रकार उपदेश किया है वह प्रकार ही साधन है। उसका वर्णन करते हुए इससे भिन्न प्रकार के साधनों का निराकरण करते हैं।

श्लोकः — येन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ॥

आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधो नार्हतयुष्मदङ्घ्रयः ॥३२॥

श्लोकार्थ — हे कमलनेत्र! जो दूसरे लोग, अपने को ब्रह्म समझ आपकी भक्ति करने से विमुख होते हैं जिससे उनकी बुद्धि भ्रष्ट (मलीन) हो जाती है वे बहुत कष्ट पूर्वक सत्कर्मों के करने से उत्तम स्थान को प्राप्त हुवे हैं तो भी आपके चरणाश्रय रूप भक्ति का अनादर करने से उस स्थान से भी नीचे गिरते हैं ॥३२॥

सुबोधिनी — अन्ये निरीश्वरसाख्द्व्यानुवर्तिनः। ते हि पूर्वज्ञानानुसारेण भगवन्तमुपासते। एवं बहुजन्मभिः प्रवृद्धं ज्ञानं विकर्मसहितं भगवदशमात्मत्वेन स्फुरितं त्याजयित्वा निरीश्वरसाख्द्व्य मायावादं वावलम्बन्ते। ते चेत् पूर्ववदपि तिष्ठेयुस्तथा सति कृतार्था भवेयुः। तथाबुद्धिर्विकर्मफला। ते च पूर्वज्ञानेन देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणाध्यासरहिता जाताः। महता कष्टेन सर्वस्वदक्षिणया सर्वबन्धुपरित्यागेन सर्वसुखवैमुख्येन तपसा श्रद्धया ब्रह्मात्मभावनां प्राप्तवन्तः। तदेव तेषां परं पदम्। य इति प्रसिद्धाः। अन्ये भगवद्रहिता भगवद्विचारेण यान् भगवानन्यान् मन्यते नत्वात्मीयान्। अरविन्दाक्ष। कमलनयनेतिसम्बोधनेनासुरपक्षपातात् तेष्वदर्शनं सूचितम्। न हि रात्रौ कमले विकासोस्ति येन रात्रिस्थैरामोदोनुभूयेत। अतस्तेन्य एव। पूर्ववासनयात्मानं विमुक्तमेव मन्यन्त इति विमुक्तमानिनो न तु विमुक्ताः। ज्ञान शास्त्रोत्थं विषयत्वेनात्मानं गृह्णाति। अतस्तस्मात्त्र फलम्। विषयान्तरवत् तस्याप्यभिमानजनकत्वात्। अत एव त्वयि पूर्वस्थितो भावः साधनत्वेन परिग्रहादस्तोस्तं गतो यो भावस्तस्माद्धेतोर्न विशुद्धा बुद्धिर्येषाम्। अन्यथाहङ्कारादिसर्वदोषसम्बन्धे स्वान्तःकरणे दुष्टे जाते महान्तस्ते कथं न जानीयुर्वयं दुष्टा इति। तदा तं मार्गं परित्यज्य यत्नमपि कुर्युः। अतोविशुद्धबुद्धय एव जाताः। परमशुद्धया च स्वदोषाः स्फुरन्ति। ज्ञानस्य पूर्वावस्थैषा यत् स्वदोषस्फुरणम्। अतः कृच्छ्रेणापि परं पदं ब्रह्मभावमारुह्या नार्हतयुष्मदङ्घ्रयः पतन्त्येव। जीवस्य प्रकृतेरपि परस्य प्राप्तावुच्चगतौ निरालम्बने मार्गे भगवच्चरणातिरिक्तमवलम्बनं न सम्भवति। यतो वियद् विष्णुपदमेव। भगवच्चरणावलम्बनेनैव पुरुषस्योर्ध्वगमनं शृङ्खलद्वीपे श्रीपादारोहणे शृङ्खलापरित्यागवत् अस्य चरणस्य ग्रहणादिक्लेशपरित्यागाभावायाहानार्हतेति। आदरण मात्रेणापि न पतन्ति। आदर एव वा चरणस्थितौ हेतुः ॥३२॥

अनुवाद — जो अन्य पुरुष निरीश्वर सांख्य तथा मायावाद के अनुयायी होते हुए भी भगवान की उपासना करते हैं उसका कारण यह है कि उन्होंने पूर्व जन्म में जो ज्ञान प्राप्त किया था उस ज्ञान के फल स्वरूप अब भी उनमें सद्बुद्धि रही है। किन्तु वह ज्ञान विकर्म<sup>१</sup> सहित था, अतः उस ज्ञान द्वारा उनको जीव, आत्मस्वरूप से जो स्फुरित होने लगा था, उस ज्ञान को वे निरीश्वर सांख्य और मायावाद के संसर्ग से छोड़ देते हैं। यदि वे पूर्व की भाँति, जीव का आत्मस्वरूप से अनुसन्धान करते रहते तो भी कृतार्थ हो जाते। किन्तु इस प्रकार न रहना विकर्मों का फल है अर्थात् जो विकर्म किये हैं उनसे इनकी बुद्धि मलीन हो गई है इससे उस ज्ञान को छोड़ दिया है। श्लोक में कहे हुए 'कृच्छेण परं पदं' का आशय स्पष्ट करते हैं कि, पूर्व ज्ञान से उनके चार अध्याय (प्राण, देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण को ही अपना रूप समझना) नाश हो गये और महान् कष्ट से इकट्ठे किये हुए धन का दान कर, सर्व बान्धवों को छोड़ के, सर्व सांसारिक सुखों से मुँह मोड़ कर, तपस्या तथा श्रद्धा से ब्रह्मात्मभावना को प्राप्त हुवे, यही उनका परम पद था। अन्ये और 'अरविन्दाक्ष' दो पदों का आशय प्रकट करते हुए आचार्य श्री, आज्ञा करते हैं, कि दूसरे वे हैं जो कभी भी भगवत्सम्बन्धी विचार मात्र नहीं करते हैं ऐसे मनुष्यों को भगवान् अपना न समझ कर पराया समझते हैं। और आप कमल नयन हैं अतः जो अन्य हैं, वे असुरों के पक्षपाती हैं, इसलिये उनको दर्शन नहीं देते हैं। छ्ष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे कमल रात्रि को विकसित नहीं होता है, यदि रात्रि को विकसित हो, तो रात्रिस्थ भी कमल की गन्ध का अनुभव करेंगे किन्तु वे आमोद ग्रहण करने के योग्य नहीं हैं, अतः रात्रि को कमल विकसित नहीं होता है। इसी प्रकार जो असुर या असुर पक्षपाती हैं वे दर्शन के योग्य नहीं हैं।

वे अन्य, पूर्व वासना के कारण अपने को विमुक्त मानते हैं, किन्तु वास्तविक विमुक्त नहीं हैं। केवल शास्त्र से उत्पन्न ज्ञान से अपने को आत्मरूप मानते हैं इस प्रकार मानने से कोई लाभ (फल) नहीं है। अन्य विषयों के समान इस प्रकार से अपने को विमुक्त आत्मा मान लेने से अभिमान ही उत्पन्न होता है। अतएव, इस प्रकार अभिमान हो

<sup>१</sup> शास्त्रों में जिन कर्मों के करने का निषेध है। — अनुवादक

जाने से आप में जो पहले भाव (प्रेम) था जो साधन रूप से किया जाता था वह भी अस्त होकर बुद्धि मलीन हो जाती है। यदि बुद्धि मलीन न होवे तो अहङ्कारादि दोषों से अपना अन्तःकरण दूषित हो गया है इसको वे विद्वान् होते हुए भी क्यों न समझ जावे कि हम कुमार्ग पर जा रहे हैं। उस कुमार्ग को छोड़ कर सुमार्ग पर आने का प्रयत्न भी करें किन्तु वैसा नहीं करते हैं इससे निश्चय से जाना जाता है कि उनकी बुद्धि मलीन हो गई है। जब बुद्धि शुद्ध होती है तब अपने दोष स्फुरित होते हैं। ज्ञान की पूर्वावस्था तब समझनी चाहिये जब अपने दोष स्फुरायमान होने लगे। अतः परिश्रम से भी ब्रह्मभाव तक पहुँच कर आपके चरणारविन्द का अनादर करने से उस पद से अवश्य गिरते हैं। जीव अथवा प्रकृति को उच्च गति पर की प्राप्ति, के लिये बिना आश्रय वाले मार्ग में भी भगवान् के चरणों के आश्रय के सिवाय अन्य कोई आश्रय नहीं है। कारण कि वियत् (आकाश—जहाँ कोई आश्रय नहीं है) वहाँ भी आश्रय विष्णु पद है। भगवान् के चरणारविन्द के आश्रय से ही जीव का उर्ध्वगमन होता है।

शृङ्खलद्वीप में जो श्रीपाद पर आरोहण करता है वह शृङ्खला का आश्रय लेता है यदि उसको छोड़कर अपने बल से चढ़ता है तो उसका अधःपतन होता है। इसी प्रकार यहाँ भगवान् के चरणों का आश्रय आवश्यक है। विशेष न कर सके, तो केवल चरणों में आदर रखे तो भी उसका पात नहीं होता है। चरण में जीव का विश्वास तथा प्रेम आदर से ही होता है अतः चरण में स्थिति का कारण आदर ही है ॥३२॥

**सुबोधिनी** — नन्वेवं सति भक्तिमार्गानुसारेणापि भगवद्भजने विकर्मादिना कालान्तरे पुनर्बुद्धिनाशप्रसङ्गः। साधनत्वेनैव भक्तिमार्गस्यापि स्वीकारात्। अतस्तुल्यत्वात् किं मार्गान्तरदूषणेनेत्याशङ्क्य स्मार्तस्यापि भगवन्मार्गस्य फलमाह तथेति।

**अनुवाद** — भक्ति मार्ग भी साधन है, अतः उसमें भी विकर्म करने से जब कालान्तर में बुद्धि का नाश हो सकता है तब अन्य मार्गों को दूषित करने से क्या ? इस शङ्का के निवारणार्थ स्मार्त भगवन्मार्ग में स्थित मनुष्यों को जो फल मिलता है। उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः—** तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद् भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयि बद्धसौहृदाः ॥

त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्धसु प्रभो ॥३३॥



**श्लोकार्थ** — हे माधव! जो लोग आप ही में स्नेह वाले होने से आपके हो गये हैं वे उनकी भांति जो अपने आपको ब्रह्म मान कर समझते हैं कि हम मुक्त हैं मार्ग से कभी भ्रष्ट नहीं होते हैं किन्तु आपसे रक्षित होने से निर्भय होकर बड़े बड़े अनेक विघ्नों के शिर पर पैर धरके फिरते रहते हैं ॥३३॥

**सुबोधिनी** — हे माधव ते पूर्वं तद्वत् प्रवृत्ता अपि तावकाः सन्तः क्वचिदप्यारोहणावस्थायां भ्रश्यन्त्यपि न। पादोप्यधः प्रमादादपि न पतति। आरुह्यमाणमार्गात् स्वमार्गादपि न पतन्ति। मार्गस्यैव तथात्वात्। यथा वस्तुरक्षकाणां मध्ये सुगन्धरक्षकः सौरभ्यं प्राप्नोत्येव। लशुनादिरक्षकस्तद्विपरीतम्। यद्यपि स्वतन्त्रतया भगवान्न सेवितस्तथापि भगवानिति तस्य पातो न भवत्येव। माधवेतिसम्बोधनं रात्रावपि विलासेन तत्रत्यानां दर्शनार्थम्। तेन विकर्मतुल्यत्वेपि सेवापरत्वाद् भगवद्दर्शनं नान्येषामिति निरूपितमत एव तावकाः। अभ्रंशे हेतुस्त्वयि बद्धसौहृदा इति। सौहृदं स्नेहो रज्जुस्थानीयः। स स्वात्मानं जीवं भगवच्चरणे बध्नाति। अतो युक्त एव तेषामभ्रंशः। नन्वन्ये कालादयः कथं तात्र भ्रंशयन्ति भक्तिं वा न नाशयन्तीत्याशङ्क्याह त्वयाभिगुप्ता विचरन्तीति। त्वयाभितो बाह्याभ्यन्तरसर्वभावेन रक्ष्यमाणाः। बुद्ध्यादीनामपि नाशासम्भवादन्त्यप्रवेशासम्भवाच्च न भ्रश्यन्तीति युक्तम्। अत एव विचरन्ति। सर्वत्र विशेषेणानिन्दया सर्वेषु लोकेषु भ्रमन्ति। कालादिभयरहिता निर्भया। यदन्येषां त्यागस्थानं भयस्थानं वा तदेव तेषां परिभ्रमणस्थानमित्याह विनायकानीकपमूर्धस्विति। विनायका विघ्नकर्तारः। विशब्देन विघ्ना उच्यन्ते। तेषां नायका जन्का एव भवन्ति। तेषामनीकं सेना। एकस्मिन् विघ्नार्थं प्रवृत्ते तदशक्तौ तत्सहायार्थं बहवः समायान्ति। ते सर्वे स्वतन्त्रा नियामकाभावात् कार्यं न करिष्यन्तीत्याशङ्क्य तद्रक्षका अपि समायान्ति तेनीकपाः। तेषां बहवो भ्रंशयितुं समागता भगवदीयसुदर्शनादिभयादस्पृश्यैव निकटे तिष्ठन्ति। यथा प्रह्लादे। तेष्वारोहणार्थं भगवद्भक्ताः पादं प्रयच्छन्ति। तेषामधः पातनसामर्थ्याभावात् प्रतिष्ठाहेतव एव भवन्ति। यथा जडभरते मारणार्थमुद्यताः प्रतिष्ठाहेतव एव जाताः। तेषां मूर्धानः सर्वसामर्थ्यस्थानानि परमकाष्ठापन्नानि। एवं तेषां विचरणे हेतुः प्रभो इति। एतत्सामर्थ्यं त्वदीयमेव। अतस्ते समर्था अपि न द्विषन्ति। अतो भक्तिमार्गान्मार्गान्तरं साधनतः फलतश्च न समीचीनमित्युक्तम् ॥३३॥

**अनुवाद** — हे माधव! वे आपके भक्त जिन्होंने पूर्वकाल में ज्ञानियों की भांति अनेक सत्कर्म आदि किये हैं, जिनसे आपने उनको अपने बना लिये हैं अतः वे भक्त आरोहण अवस्था (ऊपर चढ़ने की साधनावस्था) में भी गिरते नहीं हैं। प्रमाद होने पर भी एक पांव भी नहीं नहीं गिरते हैं अपने ही मार्ग पर स्थिर रहते हैं कारण कि यह भक्ति मार्ग ही ऐसी विशेषता वाला है। जो मनुष्य जैसी वस्तु अपने पास रखता है उसको वैसा ही लाभ होता है जैसे उत्तर फुलेल बेचने वाले को अनायास सुगन्धि मिल ही

जाती है। तथा जो लहसुन बेचने वाला है उसको निरुपाय दुर्गन्धि लेनी ही पड़ती है। उससे वह अपने को बचा नहीं सकता है। यद्यपि जिसको आपने अपना लिया है उसने स्वतन्त्र आपकी सेवा नहीं की है तो भी उसका पता नहीं होता है कारण कि उसको अपनाने वाला ऐश्वर्यादि षड्गुणयुक्त आप भगवान् है। श्लोक में भगवान् का माधव नाम देने का भाव बताते हैं कि भगवान् रात्रि में उन तत्रत्य भक्तों को विलासपूर्वक दर्शन देते हैं। इससे यह दिखाया कि दोनों विकर्म की तुल्यता होने पर भी इन भक्तों को भगदर्शन होता है अन्यो को नहीं, कारण कि वे भगवान् की सेवा करने वाले सेवक होने से भगवान् के हैं। वे भ्रष्ट नहीं होते हैं जिसका कारण यह है कि आप भगवान् मे उनका सौहार्द<sup>1</sup> है। स्नेह रज्जू के समान होता है। जैसे रज्जू दूसरे को बान्धते हुए आप भी बद्ध हो जाती है वैसे ही स्नेह भी जीव को तथा अपने को भगवान् के चरणों में बद्ध कर देता है। अतः उन स्नेही सेवकों का न गिरना, योग्य ही है। शङ्का करते हैं कि कालादिक उनको भ्रष्ट क्यों नहीं करते अथवा उनकी भक्ति को क्यों नहीं नाश कर देते हैं ? इस शङ्का निवारण के लिये कहते हैं कि उनको रक्षा आप कर रहे हैं, अतः वे निर्भय फिरते हैं। साधारण प्रकार से उनकी रक्षा नहीं करते हैं किन्तु पूर्ण रीति से करते हैं जिससे बाहिर भीतर सर्वत्र रक्षा होने से उनकी बुद्धि का नाश नहीं होता है और न उनमें कोई दोष भीतर जा सकता है जिससे वे भ्रष्ट हो सकें। अतः कालादिकों का भय न होने से तथा कहीं भी निन्दा न होने से वे सर्वत्र निर्भय फिरते रहते हैं। इतना ही नहीं, किन्तु आपसे रक्षित होने के कारण, जहाँ दूसरों को विघ्नों के कारण भय होता है और दूसरे विघ्नों के भय से, जिस स्थान को छोड़ देना चाहते हैं वहाँ ये उन विघ्न करने वाली सेनापतियों के शिर पर पैर धर कर निर्भय होकर घूमते हैं क्योंकि विघ्नकर्ताओं की सारी सेना विघ्न करने के लिये आकर भी कुछ कर नहीं सकती है। कारण कि आपके सुदर्शनचक्र आदि के भय से उनका स्पर्श तक न कर के दूर ही खड़ी करती है। प्रल्हाद के चरित्र से इसका प्रमाण मिलता है। भगवद्भक्त ऊपर चढ़ने के लिये विघ्नों के शिर को सीढ़ी बनाते हैं। वे विघ्नकर्ता तो इन भक्तों को नीचे गिरा नहीं

सकते हैं अतः वे विघ्नकर्ता, भक्तों की प्रतिष्ठा के लिये कारण बन जाते हैं। जैसे जड़ भरत को मारने लगे किन्तु उनको मार न सके जिससे जड़ भरत की प्रतिष्ठा हो बढ़ी।

विघ्नकर्ताओं के मस्तक परम काष्ठापन्न<sup>१</sup> तथा सर्व सामर्थ्य वाले होने से वे आपके बल पर ही सबके पास जा सकते हैं किन्तु समर्थ होते हुए भी भक्तों से द्वेष नहीं करते हैं क्योंकि वहाँ उनका सामर्थ्य स्तब्ध हो जाता है, इससे सिद्ध होता है कि भक्ति मार्ग के साधन और फल से कोई भी अन्य मार्ग उत्तम नहीं है ॥३३॥

सुबोधिनी — एवं स्मृतिमार्गेण भगवत्पक्षपातमुक्त्वा वैदिकमार्गेण पूर्ववदाह सत्त्वमित्यादि चतुर्भिः ।

उपरोक्त श्लोकों में स्मृति मार्ग से भगवत्पक्षपात कह कर अब वैदिक मार्ग से भगवत्पक्षपात का ४ श्लोकों में प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल के भेद से वर्णन करते हैं।

श्लोकः— सत्त्व विशुद्धं श्रयते भवान् स्थितौ शरीरिणां श्रेय उपायनं वपुः ।

वेदक्रियायोगतपः समाधिभिस्तुवार्हणं येन जनः समीहते ॥३४॥

श्लोकार्थ — आप, जगत के पालन समय में जीवों को शुभ कर्मों का फलरूप उपहार<sup>२</sup> देने के लिये सत्त्वगुणमय शरीर धारण करते हो जिससे मनुष्य वेद में कही हुई क्रिया, योग, तप और समाधि से आपकी सेवा कर सकते हैं ॥३४॥

सुबोधनीः — वेदो हि द्विविधः प्रवृत्तिनिवृत्तिमार्गप्रतिपादकः । तार्शोपी पुनः प्रत्येकं द्वेधा भिन्नैरधिकारिभिर्द्विविधः । तत्र प्रवृत्तावर्थावबोधोध्ययनमनुष्ठानं चेति ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्य चाधिकारेण सिद्धम् । तप आत्मनि च स्थितिरुत्तमाश्रमस्थयोर्निवृत्तौ क्रमेणैव सिद्धम् । एतद् वेदानुसारेणाश्रमचतुष्टये धर्मानुष्ठानं दैत्यांशानामपि तुल्यमिति भगवान् सत्त्वमूर्तिः स्वसत्त्वं प्रकटीकृत्य सात्त्विकानेव तत्तद्धर्मेषु प्रेरयति विपरीतांश्च निवर्तयति । अन्यथाश्रमस्थेष्वेव केचिदध्ययनादिकं यथाशास्त्रार्थं कुर्वन्ति केचिन्नेतिव्यवस्था न स्यात् । वैदिकाश्च सर्वे धर्माः परिपाल्यमाना एव जगति प्रवर्तन्ते । अतः स्थितौ स्थित्यर्थं यदा भवान् विशुद्ध सत्त्वं सत्त्वगुणं श्रयते तदैव तेन सत्त्वगुणेन लोके प्रसृतेन व्याप्ता आश्रमस्थाः क्रमेण वेदाध्ययनं क्रियायोगः कर्मानुष्ठानं तपो वनवासादिः समाधिरात्मस्थितिश्चेति चतुर्विधान् धर्मान् सम्यगनुतिष्ठन्ति । ततोपि तेन धर्मेण शुद्धान्तःकरणास्तुवार्हणं समीहन्ते । शुद्धैरेव हि

<sup>१</sup> Āṣṭhāpoh inoh ij igvāps gqosA

<sup>२</sup> भेंट, पारितोषिक ।

भगवत्सेवा कर्तुं शक्यत इति। ननु वेदनैव कार्यसिद्धौ किं सत्त्वगुणेनेत्याशङ्क्याह शरीरिणामित्यादि। यदि फलदाता कोपि न स्यात् प्रथमप्रवृत्तं विसंवादिनं ऽष्टवा कोपि न प्रवर्तेत। नन्वऽष्टादिद्वारा भूतसंस्कारद्वारा वा कार्यसिद्धौ किं सत्त्वमूर्त्येत्याशङ्क्याह शरीरिणामिति। ते हि शरीराभिमानिनो विद्यमानशरीराश्च। यदि प्रथमं शरीरभिन्नतयात्मानं जानीयुस्तदा कर्तृसमानाधिकरणमऽष्टमुत्पद्येतैव। देहान्तरे वा फले प्राप्ये भूतसंस्कारो भवेत्। उभयोश्चाभावात् फलदाता भगवानेवापेक्ष्यते। तदाह श्रेय उपायनम्। उप समीप आनीय समर्पणम्। यस्माद् वपुरिति। दैवगत्या फलसिद्धिज्ञानाभावाय। अस्तु वा फलसिद्धिः। तस्य धर्मस्य भगवद्भजने करणत्वं सहायत्वं वा चेन्न स्यात् तदा क्षयिष्ण्वेव फलमिति पूर्वदोषानिवृत्तिः। अतो वैदिके मार्गे सर्वधर्मप्रवर्तको भगवानिति देवानां पक्षपोषकः। जन इत्येकवचनं जात्यभिप्रायः दुर्लभत्वज्ञापनाय॥३४॥

**अनुवाद—** प्रवृत्ति तथा निवृत्ति मार्ग के प्रतिपादन के कारण वेद दो प्रकार का कहा जाता है। पुनः प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के दो-दो भेद हैं। जिनके अधिकारी भी भिन्न-भिन्न होते हैं। अतः वे, दो भी पुनः दो-दो प्रकार के हो जाते हैं। उनमें से प्रथम प्रवृत्ति मार्ग के धर्म ब्रह्मचारी तथा गृहस्थों के अधिकारानुसार अर्थविबोध<sup>१</sup>, अध्ययन<sup>२</sup> और अनुष्ठान<sup>३</sup> सिद्ध है। द्वितीय, निवृत्ति मार्ग के धर्म, वानप्रस्थी तथा संन्यासी के अधिकारानुसार तपस्या और आत्मा का अनुसन्धान निवृत्ति के समय क्रम से करने के लिये कहे गये हैं।

इस प्रकार चारों आश्रमों के मनुष्यों के लिये वेदानुसार इन धर्मों का आचरण करने के लिये कहा है अतः जिनमें दैत्यांश है वे भी इन धर्मों को करने लगेंगे। इसलिए सत्त्वमूर्ति भगवान् अपना सत्त्व प्रकट कर सात्त्विक (दैवी) जीवों को ही उन धर्मों के करने के लिए प्रेरणा करते हैं तथा अन्यो (आसुरी दैत्यांश वालों) को वहाँ से हटा लेते हैं। जो इस प्रकार भगवान् की प्रेरणा नहीं होवे तो आश्रम स्थितों में भी, कोई शास्त्रार्थानुसार वेदाध्ययन करते हैं तथा कोई नहीं करते हैं, इस भांति की व्यवस्था नहीं होती। वैदिक धर्मों का प्रचार उनके पालन करने से ही जगत् में होता है। अतः जगत् की स्थिति समय में जगत् की स्थिति के लिए जब आप विशेषेण शुद्ध सत्त्व रूप धारण

<sup>१</sup> अर्थ का ज्ञान

<sup>२</sup> वेदादि शास्त्रों का पढ़ना

<sup>३</sup> वेद में कहे हुए धर्मों का पालन

करते हो तब लोक में फैले हुए आश्रम धर्म क्रम पूर्वक वेदाध्ययन, क्रिया योग कर्मानुष्ठान, तपस्या, वनवास और समाधि (आत्मा में स्थिति) इन चार प्रकार के धर्मों का जीव सम्यक्<sup>१</sup> प्रकार से सेवन करते हैं। अनन्तर इन धर्मों के पालन से शुद्ध अन्तःकरण होने पर आपकी सेवा कर सकते हैं। शुद्ध जीव ही भगवत्सेवा करने के योग्य है।

वेद से ही जब कार्य की सिद्धि हो सकती है तब सत्त्वगुण की क्या आवश्यकता है ? इस शङ्का के निराकरण के लिये श्लोक में 'जीवा' न कहकर शरीरिणः कहा है जिसका आशय यह है कि जीव जब तक 'शरीराभिमानी' है तब तक वेदाज्ञा का पालन नहीं कर सकता है क्योंकि अभिमान रजो एवं तमो गुण से होता है जिससे बुद्धि भी अन्यथा होती है। अतः उन शरीराभिमानी जीवों के रजो तथा तमो गुण को दबाकर उनमें सत्त्वगुण का आविर्भाव भगवान् आप अवतार द्वारा नहीं करते हो, तब तक आश्रम धर्मों का पालन नहीं हो सकता है, जिससे जगत् की स्थिति भी डावाँडोल हो जाती है, इसलिए वेदों के विद्यमान होते हुए भी, सत्त्वगुण की आवश्यकता है। अथवा यदि कोई वेद से अतिरिक्त<sup>२</sup> चेतन फलदाता न होवे, तो प्रथम प्रवृत्त विसंवादी<sup>३</sup> को देखकर, प्रायः जनता वेदिक कर्मों में प्रवृत्त नहीं होगी। अतः वेद से कार्य की सिद्धि नहीं होने से, श्रेय करने वाले सत्त्वगुणावतार की वैदिक पदार्थ तथा क्रिया के ज्ञान उत्पन्न करने के लिये आवश्यकता है।

वेद से सिद्धि न हो तो भी अर्धष्ट द्वारा वा भूत संस्कार द्वारा कार्य की सिद्धि हो जायगी तदपि सत्त्वमूर्ति की आवश्यकता नहीं है। इस प्रकार की शङ्का को इस भांति मिटाते हैं कि अर्धष्ट और भूत संस्कार तब बनते हैं जब जीव को देह से भिन्न समझा जाय वे तो शरीर को ही अपना रूप समझते हैं इसलिये उनका प्रारब्ध नहीं बनता है और प्रारब्ध के न होने से भूत संस्कार भी नहीं बनते हैं, दोनों के अभाव में फलदाता भगवान् की अपेक्षा रहती ही है। भगवान् ही फलदाता है इसको सिद्ध करने के लिये श्लोक में 'श्रेयः उपायनं और वपुः' शब्द दिये हैं। जिनका भावार्थ है कि भगवान् स्वयं

<sup>१</sup> मली, ठीक

<sup>२</sup> पृथक् या भिन्न

<sup>३</sup> अवेदिक

सत्त्वमूर्तिधारण कर कल्याणकारी उपहार आकर भेंट करते हैं। दैवगति<sup>१</sup> से फल की सिद्धि नहीं होती है किन्तु भगवान ने कृपा कर प्रकट हो के यह सत्त्वबुद्धि उपहार में दी है।

दुर्जन-संतोष<sup>२</sup> से मानी जाय कि, दैवगति से फल की सिद्धि हो भी जाय तो भी वह सिद्धि भगवद्भजन में साधनभूत सहायक न हुई तो उस सिद्धि का फल नाशवान होगा और पूर्व दोषों की निवृत्ति भी नहीं होगी। अतः वैदिक मार्ग में सर्वधर्म प्रवर्तक भगवान् ही है। इससे देवों के पक्ष का पोषक है। श्लोक में 'जन' शब्द एक वचन जाति के अभिप्राय से दिया गया है और वह दुर्लभत्व बताने के लिये है।।३४।।

ननु ब्रह्मचारिणो गृहस्थस्यापि श्रेयोदानार्थमात्मविवेकस्याजातत्वात् सत्त्वाश्रयणं भवतु नाम ज्ञानस्य तु सिद्धफलदातृत्वादसिद्धफलेपि साक्षादेव फलजननसम्भवात् तज्ज्ञाने तत्साधने तपसि वा भगवतः सत्त्ववपुर्नापेक्ष्यत इत्याशंक्याह सत्त्वं न चेदिति।

जिन ब्रह्मचारियों और गृहस्थियों को आत्मविवेक (आत्मा के स्वरूप का ज्ञान) नहीं है उन्होंने को श्रेयदानार्थ (सत्त्व प्रकट कर आत्म स्वरूप का ज्ञान देने के लिये अथवा मोक्ष देने के लिये) सत्त्वगुण रूप अवतार लेने की चाहे आवश्यकता हो किन्तु ज्ञान तो सिद्ध फल का दाता है, यदि फल की सिद्धि न भी हुई हो तो भी ज्ञान साक्षात् फल जनक होने से उस ज्ञान के वा उसके साधन अथवा तपस्या के लिए भगवान् के सत्त्वशरीर धारण करने की आवश्यकता नहीं है। यदि कोई इस प्रकार पूर्व पक्ष शङ्का करे तो उसके उत्तर में यह श्लोक कहते हैं।

श्लोकः — सत्त्वं न चेद् धातरिदं निजं भवेद् विज्ञानमज्ञानभिदापमार्जनम् ।।

गुणप्रकाशैरनुमीयते भवान् प्रकाशते यस्य च येन वा गुणः।।३५।।

श्लोकार्थ — हे धातः यदि आप सत्त्वगुणमय वपु को धारण नहीं करो तो अज्ञान को नाश करने वाले विज्ञान की भी स्थिति न हो। गुणों के प्रकाश से ही हम आपका अनुमान कर सकते हैं कि जिसका और जिससे गुणों का प्रकाश होता है।।३५।।

<sup>१</sup> प्रारब्धादि

<sup>२</sup> दुर्जन अर्थात् आग्रही को प्रसन्न करने के लिये उसकी बात थोड़े समय के लिये मान लेने को 'दुर्जन संतोष' कहते हैं।

सुबोधिनी: — इदं शुद्धसत्त्वं सर्वरक्षकं सर्वकर्मफलदातृ चेन्न भवेद् विज्ञानमपि न भवेत्। “सत्त्वात् संजायते ज्ञानं” मिति सत्त्वाभावे ज्ञानं न स्यात्। न च शास्त्रसिद्धेन सत्त्वगुणेन ज्ञानमुपस्थापयितुं शक्यते। परीकयत्वात्। यस्मिन् क्षणे शास्त्रानुसन्धानं तदर्थानुष्ठानं वा तदैव तत्सत्त्वमाविर्भवति। तद्धर्मत्वान्तं। इदं तु निजम्। न च तैरपि स्वमूलकारणभूतं सत्त्वगुणमुत्पादयितुं शक्यते तेषां कर्तृत्वाभावादिति ज्ञापयति हे धातरिति। विज्ञानमनुभवः। स च सत्त्वैकरूपेण करणे भवति। यथा यथा च विशुध्यते तथा तथाकामहतो भवतीति शुद्धसत्त्वाविर्भाव एव विज्ञानं युक्तं यथोत्पन्ने जगत्पन्ने सत्यां क्षुध्यन्नसम्पादनं सुकरं न तु क्षुदनन्तरं तत्सम्पादनं शक्यम्। अतो भगवता सत्त्व आविर्भाविते तत्कृपया भगवता सह सत्त्वमपि हृदये समागच्छेन्न त्वन्यथा। निषिध्यमानं शास्त्रीयं भविष्यतीत्याशङ्क्य विशिनष्ट्यज्ञानभिदापमार्जनमिति। अज्ञाननाशकं विज्ञानमात्मानुभवः। भेदनाशकं तु भगवद्विज्ञानम्। उभयोः साक्षात्कारे देहाद्यध्यासनिवृत्तिः शुद्धाद्वैतं च स्फुरति। तच्च ज्ञानं न विषयविषयिभावेन। तार्थशस्य पुरुषार्थासाधकत्वं पूर्वमुक्तम्। आविर्भावस्तु भगवतः स्वरूपस्य वा शुद्धसत्त्वव्यतिरेकेण न सम्भवति। यदि ज्ञाने सत्त्वापेक्षा सुतरां तपसि तदपेक्षेति न तत् पृथङ् निरूपितम्। न चेद् भवेदिति। इत्पदव्यतिरिक्तं सर्वमावर्तते। “अर्थवशात् पदानां व्यवस्था”। “अज्ञानमिदं विज्ञानं मार्जनमापेति न व्याख्यानम्। नन्वस्य सत्त्वस्य स्वतो ज्ञानरूपत्वाभावात् साधन उपयोगः। यद्यन्यथैव भगवदाविर्भावो भवेदात्मनो वा तदा किं सत्त्वेन ? तत्रेन्द्रियाणां प्रकाशो लोकैष्टः स्वकारणप्रकाशमाक्षिपति। तत्र प्रवर्तकस्य भगवतोभिमानिनो जीवस्य न प्रकाशोवश्यम्भावी। अतस्तदनुसन्धानेनैव तद्वयवधायकमलनिवृत्तौ तदुभयोः प्रकाशो भविष्यतीति व्यर्थं सत्त्वमिति चेत् तत्राह। गुणप्रकाशैरनुमीयते भवानिति। गुणानामिन्द्रियविषयादीनां प्रकाशैर्ज्ञानैः प्रेरकोभिमानी चानुमीयतेस्तीति। स ह्यनाविर्भूत एव तथा करोति। आविर्भावस्तु केन कर्तव्यो भवेत् ? — च स्वरूपसत्त्वं कार्यकारणं वा प्रकृते प्रयोजकम्। आविर्भावस्तु सत्त्वाधीन इति पूर्वमवोचाम। न च प्रकाशोपि कार्यव्यतिरेकेण न सम्भवति। अन्यथा गुणप्रकाशो न भवेदिति वक्तव्यम्। यस्य सम्बन्धी वा गुणः प्रकाशते येन वा गुणः प्रकाशते। न तु सम्बन्धिनः करणस्य वा प्रकाशमपेक्षते। अतः प्रकाशार्थमवश्यं सत्त्वगुणोपेक्षितः॥३५॥

अनुवाद — यदि सर्व रक्षक और सर्व कर्म फल दाता आपका यह शुद्ध स्वरूप न हो तो विज्ञान भी न होवे। कारण कि शास्त्र कहते हैं कि ‘सत्त्वात् संजायते ज्ञानं’ सत्त्वगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है यदि सत्त्वगुण नहीं हो तो ज्ञान की उत्पत्ति भी नहीं हो। यदि कहो कि शास्त्रों से ज्ञान प्राप्त कर लेंगे तो वह भी नहीं हो सकता है। कारण कि शास्त्र पढ़ने से वा उनके अर्थ के मनन करने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है वह शास्त्र का धर्म होने से उस वक्त तक ही रहता है क्योंकि वह ज्ञान पराया होने से टिकता नहीं है। यह ज्ञान जो सत्त्वगुण वपुधारी से दान रूप में प्राप्त होता है वह

अपना होने से स्थिर रहता है अतः इस ज्ञान से सिद्धि होती है। शास्त्र, मूलभूत सतोगुण को प्रकट नहीं कर सकते हैं। कारण कि शास्त्र, कर्ता नहीं है इसको सिद्ध करने के लिये भगवान् को 'हे धात' नाम से संबोधन किया है आप रक्षक हो जिससे आपका स्थापित किया हुआ सतोगुण सदैव रहकर ज्ञान को प्रकट करता है जिससे क्रमशः विज्ञान<sup>१</sup> भी होता है। 'विज्ञान सत्त्वगुणयुक्त अन्तःकरण में होता है। ज्यों—ज्यों ज्ञान द्वारा जीव निष्काम बनता जाता है त्यों—त्यों उसको विज्ञान की प्राप्ति होती है। जैसे जगत् में अन्न उत्पन्न हो गया हो तो क्षुधा होते ही अन्न लाना सरल होता है। न कि भूख लगने के बाद अन्न उत्पन्न करने का प्रयत्न किया जाय। जो यत्न व्यर्थ है। अतः भगवान् द्वारा सत्त्व का आविर्भाव होने से उनकी कृपा से उनके साथ सत्त्व भी हृदय में प्रवेश करता है, अन्य प्रकार से सत्त्व, हृदय में सदैव के लिए नहीं आता है।

यदि इस प्रकार सत्त्व प्राप्त न हो तो शास्त्र से प्राप्त करेंगे। इस शङ्का को 'अज्ञानभिदायमार्जन' विशेषण देकर निवारण करते हैं। विज्ञान के दो प्रकार हैं — एक प्रकार जो अज्ञान का नाश कर आत्मा का अनुभव कराता है वह आत्म—विज्ञान है। दूसरा प्रकार जो आत्मा<sup>२</sup> और परमात्मा के भेद को मिटाता है उसको भगवद्विज्ञान कहते हैं। जब इस प्रकार जीव और परमात्मा के स्वरूप का साक्षात्कार होता है तब देहादिकों में जो अध्यास<sup>३</sup> है वह नष्ट हो जाता है और सर्वत्र शुद्ध अद्वैत स्फुरित होता है। वह ज्ञान, विषय तथा विषयी भाव से नहीं होता है कारण कि विषय और विषयी भाव द्वैत तक रहता है, अद्वैत में वह भाव नहीं होता है। विषय विषयी भाव पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं करता है यह पूर्व में कह दिया है। भगवान् वा आत्मस्वरूप का आविर्भाव शुद्ध सत्त्वगुण के सिवाय नहीं होता है। यदि ज्ञान में सत्त्वगुण की अपेक्षा<sup>४</sup> है तो तपस्या में भी सत्त्वगुण की अपेक्षा<sup>३</sup> होनी चाहिए। अतः उसका पृथक् निरूपण नहीं किया गया है।

<sup>१</sup> अनुभव

<sup>२</sup> जीव स्वरूप

<sup>३</sup> जीव अपने को ब्रह्म का अंशस्वरूप न समझ देह प्राणादि को अपना रूप समझता है।

<sup>४</sup> आवश्यकता



श्लोकों में जो पदों की व्यवस्था अर्थात् अन्वय किया जाता है वह अर्थ के अनुकूल किया जाता है। अतः यहाँ अर्थानुकूल अन्वय इस प्रकार करना चाहिए। अन्यो ने जिस प्रकार अन्वय किया है, वह प्रसंगानुकूल युक्त नहीं है।

**श्लोक के प्रथम आधे का अन्वय —**

हे धातः इदं निजं सत्त्वं यदि न भवेत्, अज्ञानभिदापमार्जनं विज्ञानं (अपि) न भवेत्।

**अर्थ —** हे धातः! यह अपना सत्त्व न हो तो अज्ञान के भेद को नष्ट करने वाला विज्ञान भी उत्पन्न न होवे। इस प्रकार अन्वय करने से अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

यह सत्त्वगुण स्वयं तो ज्ञान रूप नहीं है। अतः इसका उपयोग ज्ञान के साधन के रूप में किया जाता है। तब अन्य प्रकार से ही भगवान् का और आत्मा (जीव) का आविर्भाव हो जाय तो सत्त्व की क्या आवश्यकता है ? इन्द्रियों का प्रकाश लोकर्षष्टि से भी देखा जाय तो अपने कारण रूप भगवान् के प्रकाश का ही आक्षेप<sup>१</sup> करता है। वहाँ ज्ञान मार्ग में प्रवृत्ति कराने वाले भगवान् और भगवत् रूप होने का अभिमान करने वाले जीव दोनों का प्रकाश अवश्यम्भावी है। अतः अपने कारणरूप, भगवान् के अनुसन्धान करने से विक्षेप करने वाले मल की निवृत्ति हो जायेगी, जिससे आत्मा (जीव) और परमात्मा दोनों का प्रकाश हो जायेगा। अतः सत्त्व की कोई आवश्यकता नहीं है। यदि इस प्रकार शङ्का की जाय तो उसका उत्तर देते हैं कि 'गुणप्रकाशैः अनुमीयते भवान्' गुण के प्रकाश से अर्थात् इन्द्रियों के विषय ज्ञान से केवल अनुमान किया जाता है कि आप प्रेरक और जीव गुणाभिमानी है। इस अनुमति<sup>२</sup> से उन दोनों की सत्ता का ज्ञान होता है, न कि उनके स्वरूपों का प्रकाश होता है। यदि स्वरूप का प्रकाश हो तो उस समय यह मालूम हो जाय कि यह तो भगवान् है और यह मैं हूँ वह तो होता नहीं है। यह क्यों नहीं होता है वहाँ कहते हैं कि वह (परमात्मा) आविर्भूत न होकर ही कार्य करते हैं। आविर्भाव तो कौन कर सकता है ? यदि कहा जाय कि स्वरूप, सत्ता से ही आविर्भाव हो जायेगा। इस पर कहते हैं कि प्रकृत में (पूर्व में कहे हुए प्रकार से परोक्ष

<sup>१</sup> अनुसरण

<sup>२</sup> अनुमानज्ञान

के अनुभव में) स्वरूप की सत्ता अथवा कार्यकारण प्रयोजक (प्रेरक—काम में लगाने वाले) नहीं है। आविर्भाव तो सत्त्व गुण के आधीन (आश्रित) है। भगवान् का प्रकाश तो कार्य (गुणों के) प्रकाश के सिवाय भी होता है। यदि इस प्रकार न हो तो यों कहो कि गुणों का प्रकाश भी नहीं होगा। कारण कि जिसके सम्बन्ध वाला गुण, प्रकाश में आता है और जिससे गुण का प्रकाश होता है। इस प्रकार अर्थ करने से सर्व स्पष्ट हो जायगा। यहाँ सम्बन्धी वा करण (साधन) के प्रकाश की अपेक्षा नहीं है। अतः प्रकाश के लिये सत्त्वगुण की आवश्यकता है ही। जैसे सूर्य की सत्ता हो तो भी, वह सत्ता वाला सूर्य, वस्तु का प्रकाश नहीं कर सकता है। इसका प्रत्यक्ष ज्ञान, ग्रहण के समय में होता है, उस समय सूर्य की सत्ता है किन्तु वह, केवल सत्ता वस्तु को दिखा नहीं सकती है, ग्रहण के अभाव में जब प्रकाश युक्त सूर्य होता है तब वह वस्तु को दिखा सकता है। इसी भांति यहां भी प्रकाश विशिष्ट सत्ता से ही कार्य सिद्धि होती है, अतः प्रकाशार्थ भगवद्वपुरुष सत्त्व गुण की आवश्यकता है क्योंकि उसके बिना उत्तमाश्रयी के हृदय में भी स्वरूप का प्रकाश नहीं होता है। इस प्रकार इस वैदिक मार्ग में, जीवस्वरूप, प्रकाश तथा शुद्धाद्वैत प्रकाश प्रमेय कहा गया है ॥३५॥

सुबोधिनी— एव प्रमाणप्रमेये वैदिकप्रकारेण भगवद्रूपेण भगवद्रूपे विचारिते। साधनं विचारयति न नामरूपे इति।

उपरोक्त श्लोक में वैदिक प्रमाण तथा प्रमेय का भगवद्रूप से विचार कर अब इस श्लोक में साधन का विचार करते हैं।

श्लोकः— न नामरूपे गुणकर्मजन्मभिर्निरूपितव्ये तव तस्य साक्षिणः।

मनोवचोभ्यामनुमेयवर्त्मनो देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हि ॥३६॥

श्लोकार्थ — उन साक्षी स्वरूप आपके मार्ग का केवल अनुमान होता है कारण कि आपके नाम और रूप, मन तथा वचन के अगोचर है। अतः गुण, कर्म और जन्म निरूपण नहीं किये जा सकते हैं तो भी क्रिया में आपको प्रतीति उपासकों को होती है ॥३६॥

सुबोधिनी — वैदिकमार्गानुसारेण साधनं भगवान् सर्वपुरुषार्थेषु। स च गुणातीत एव। वेदे गुणाभावात्। फलदानार्थं परं भगवान् देवपक्षपातार्थं तथा कृतवान्। अतः सगुण साधनमितिपक्षं निराकरोति न नामरूपे इति। तेनामिरूपे गुणकर्मजन्मभिर्न निरूपितव्ये। साक्षी भगवान्

सर्वकर्मफलदाता कर्माध्यक्षः। स एव साधनम्। गुणैः कृत्वा यानि कर्माणि जन्मानि च तानि तव न सन्त्येव किन्तु क्रियाशक्त्यैव सद्रूपया धर्मरूपेण प्रकटस्य तवाविर्भावः कर्माणि। आनन्द रूपेण प्रकटस्य च जन्मानि। तैरेव च नामरूपे। अन्यथा प्राकृतत्वे सति न कोपि पुरुषार्थः सिध्येत्। भवतु वा भगवतः कल्पान्तरे तथाभूते अपि न तु शास्त्रे साधनत्वेन निरूपितव्ये। तदा तस्य फलदातृत्वं न स्यात्। कर्माध्यक्षत्वाभावात्। किञ्च सगुण चेन् मनसा वचसा च व्याप्य भवति। ततो मानसिकं वाचनिकमेव फलं प्रयच्छेद् न त्वात्मरूपं भगवद्रूपं वा। भगवांश्च मनोवचोभ्यामनुमेयमेव तर्क्यमेव वर्त्म यस्य तांशः। न तु प्रत्यक्षविषयः। “यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह” “पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू” रित्यादिश्रुतिवाक्यैः। तर्हि नामरूपाण्येव न सन्तीति चेत् तत्राहुर्देव क्रियायां प्रतियन्त्यथापि हीति। हे देव सर्वपूज्य। क्रियायां श्रौत्यां तान्त्रिक्यां च नामरूपे प्रतियन्ति। “विष्णोर्नुकं” “तदस्य प्रियम्” “इदं विष्णुः” “प्रतद् विष्णुः” षडक्षरादिरामादिमन्त्राश्च। “यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्याद् तां मनसा ध्यायेद् वषट्करिष्य” “त्रितिश्रुतेर्ध्यानादिविधानाच्च। नामरूपाभावे ध्यानं मन्त्रश्च न भवेताम्। इमामेवोपपत्तिमाह हिशब्दः। अत एव तदन्यथानुपपत्त्या प्रतियन्ति। यतः प्रतियन्त्यतः प्राकृतत्वाभावाद् दिव्यान्येव तान्यायन्दमयानीत्यध्यवसीयन्ते। एवं सर्वाण्येव रूपाणि नामान्यानन्दमयानीति तानि सर्वपुरुषार्थसाधकानि निरूपितानि॥३६॥

**अनुवाद** – वैदिक मार्ग के अनुसार समस्त पुरुषार्थों के लिये भगवान् ही साधन है। वह (साधन रूप भगवान्) गुणातीत है कारण कि वेद में गुणातीत भगवान् का वर्णन है। किन्तु उस निर्गुण भगवान् ने देव पक्षपात के लिये तथा फलदान करने लिये गुणविशिष्ट स्वरूप धारण किया है जिससे वह सगुण भगवान् यहां साधन रूप है इस प्रकार यदि कहा जाय कि सगुण भगवान् साधन रूप है तो उस सिद्धांत (पक्ष) का निराकरण करते हुए कहते हैं कि आपके नाम तथा रूप गुण कर्म और जन्म के कारण नहीं बनते हैं। कारण कि आप भगवान् तो साक्षी, सर्व कर्मों के फलदाता तथा कर्माध्यक्ष, हो वह ही साधन रूप हो। गुणों से जो कर्म वा जन्म होते हैं वे आपके नहीं होते हैं किन्तु सद्रूप क्रिया शक्ति द्वारा धर्म रूप से जो आपका प्राकट्य है वे ही नाम हैं तथा आनन्द रूप से जो प्राकट्य है वे ही आप के जन्म हैं। इन्हीं से ही आपके नाम तथा जन्म है। यदि वैसे आपके नाम तथा जन्म न होवे तो प्राकृत होने पर कोई भी पुरुषार्थ उन प्राकृत नाम रूपों से सिद्ध न होगा।

इस प्रकार भगवान् के नाम और रूप कल्पान्तर में भले माने जायें, किन्तु शास्त्र में साधन रूप से, निरूपण नहीं करने चाहिये। जो इसी तरह मान लिया जाय, तो

भगवान् में जो फलदातृत्व है वह भी रहेगा नहीं। कारण कि प्राकृत नाम रूप वाले, फलदाता नहीं हो सकते हैं। पुनः जो सगुण माना जाय, तो वह मन एवं वाणी से व्याप्य (मन और वाणी का विषय) होने से, मानसिक और वाचनिक फल ही दे सकेंगे। भगवान् तो मन और वाणी से तथा जिनके मार्ग का केवल अनुमान ही कर सकते हैं वैसे हैं, न कि प्रत्यक्ष विषय है। क्योंकि (यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसासह) (पराञ्चिखानि व्यतृणोत् स्वयम्भूः) इत्यादि श्रुतियों में कहा है, कि मन सहित इन्द्रियां वहां न पहुँचकर, लौट आती है, उस स्वयम्भू को इन्द्रियां प्राप्त नहीं कर सकती हैं। तो उसके नामरूप नहीं है यदि यों कहो तो उसके उत्तर में श्लोक में कहा है कि (देव क्रियायां प्रतिय मन्थापि हीति) हे देव! यद्यपि आपके नामरूप इन्द्रियों से नहीं जाने जाते हैं तो भी क्रिया से इनकी प्रतीति होती है जिसका प्रमाण भी शास्त्र ही है। जैसे कि कहा है — (विष्णोर्नुक) विष्णु के वीर्य (पराक्रम) कहते हैं। (तदस्य प्रिय) वह (इसका प्रिय)। (इदं विष्णुविचक्रमे) विष्णु ने यह विश्व तीन पादों में नाप लिया। षडक्षरादि राम आदि मंत्र तथा जिस देवता के लिये हवि अर्पण करने के लिये ग्रहण की है उसका ध्यान करो। इत्यादि क्रियाएँ तब हो सकती हैं जब आपके नाम और रूप हो यदि नाम व रूप न हो तो ध्यान तथा मंत्र भी न होवे। (हि) शब्द से निश्चय पूर्वक यह उत्पत्ति होती है कि, ये आपके नाम और रूप प्राकृत नहीं हैं किन्तु आनन्दमय (अलौकिक) हैं। अतः वे (आनन्दमय नाम तथा रूप) सर्व पुरुषार्थों के साधक (सिद्ध करने वाले) हैं। ऐसा निरूपण किया गया है।।३६।।

आभास—तैः फलमाह शृण्वन् गृणन्निति। साङ्गानि कर्माणि वैदिकान्यवश्यं फलदातृणि

उपरोक्त श्लोक में भगवान् के नामों व रूपों के स्वरूप का वर्णन किया है कि वे नाम और रूप नित्य तथा आनन्दमय हैं, अब इस श्लोक में उनके लेने और ध्यान करने से जो फल मिलता है उसका वर्णन करते हैं।

श्लोकः—शृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् नामानि रूपाणि च मङ्गलानि ते।

क्रियासु युष्मच्चणारविन्दयोराविष्टचित्तो न भवाय कल्पते।।३७।।

**श्लोकार्थ** — आपके मङ्गलरूप नाम और रूपों को स्मरण करते हुए, सुनते हुए, कहते हुए और चिन्तन करते हुए पुरुष देवार्चनादि क्रियाओं के करने के समय आपके चरणारविन्द में ही चित्त स्थिर रखते हैं। उनका कभी भी पुनर्जन्म नहीं होता है ॥३७॥

**सुबोधिनी** — “यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु न्यूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युत” मितिस्मृतेः। सम्पूर्णं चेज्जातं फलं जनयेदेव। तच्च फलम् मोक्ष एवेति स्वर्गपदविचारे निबन्धे निरूपितम्। तदेवात्राप्याह। ते नामानि शृण्वन्। परैरुच्चारितानि रूपाणि च कीर्त्यमानानि ये शृण्वन्ति तदनु गृणन्ति। उभयविधान्यपि श्रोतरि सति। अन्यदा स्मरन्ति। तदपि स्मरणं ध्यानरूपमिति सस्मरणमुक्तम्। चकारात् स्मारयन्नुपदेशादिदानेन श्रावयन् वादयन्नपि। चिन्तयन् योगाङ्गध्यानत्वेन। तथैव चित्तनिरोधेन नामावृत्तिर्नाम ध्यानम्। अप्रयत्नश्चित्तव्यापारः स्मरणं सप्रयत्नश्चित्तव्यापारश्चिन्तनमिति विशेषः। तदेव रूपपरिकल्पने ध्यानमित्युच्यते। चकाराद् भगवत्सम्बन्धिनामप्यन्येषां श्रवणादिकं फलसाधकमित्युक्तम्। मङ्गलानीति तत्र प्रतिबन्धाभावो निरूपितः। अन्यथा तस्याप्यसिद्धाविच्छायामपि सत्यां कार्यं न स्यात् तदर्थमन्यच्च कर्तव्यमापद्येत। त इति मङ्गलरूपस्य तव। उत्तरत्र वा सम्बन्धः। क्रियासु यज्ञादिषु भगवत्सेवारूपासु वा लौकिकक्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयोराष्टिचितः स सर्वथा भवाय ससाराय न कल्पते न समर्थो भवति।

**कारिका** — स्मरणेन क्रियाः पूर्णाश्चित्तावेशश्च तत्र हि।

ज्ञानक्रिये यदा विष्णुस्तदा मोक्षो न संशयः ॥१॥

सदोष एव हि संसारे कल्पते। एवं कृते सर्वदोषनिवृत्तौ संसारासामर्थ्यं युक्तमेव ॥३७॥

**अनुवाद** — स्मृति शास्त्र इस श्लोक द्वारा कहता है कि ‘यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपो यज्ञ क्रियादिषु’ न्यूनं सम्पूर्णतां यातिसद्यो वन्दे तमच्युतम्’ वैदिक कर्म जब अङ्गों सहित पूर्ण किये जाते हैं, तब वे फल देते हैं। यदि उनमें कुछ त्रुटि रह जाय तो फल नहीं देते हैं। अतः उस त्रुटि की उसी क्षण में ही पूर्ति करने के लिए स्मृतिकार ने कहा है कि तपस्या, यज्ञादि क्रियाओं में रही हुई त्रुटि की पूर्ति, जि अच्युत भगवान् की स्मृति<sup>१</sup> से और नाम लेने से हो जाती है। उस अच्युत भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ। इस श्लोक से यह बताया गया है कि किसी भी वैदिक आदि क्रियाओं की त्रुटि की

पूर्ति के लिए कर्म करने वाले को कर्म करने के अन्त में भगवत्स्मरण और नाम लेना चाहिए जिससे वह कर्म साङ्ग-पूर्ण होकर फलदाता हो जाय। वह फल मोक्ष ही है। आचार्य श्री कहते हैं कि हमने निबन्ध में स्वर्गपद का विश्लेषण करते हुए यह समझा दिया है कि 'स्वर्ग' शब्द का भावार्थ सुख अर्थात् मोक्ष है। उसे ही यहाँ भी कहा है।

जब दूसरे भक्त भगवान् के नामों का उच्चारण करते हैं तथा उनके गुण व रूपों का कीर्तन करते हैं तो उनको (दोनों प्रकारों को) सुनकर जो आप भी उसी भाँति बोलते हैं और स्मरण करते हैं तो वह स्मरण भी ध्यान रूप से करना चाहिए। इसीलिए श्लोक में 'स्मरण' न कहकर "संस्मरण" कहा है। श्लोक में कहे हुए 'च' का आशय है कि केवल स्वयं न लेकर अन्यो को भी स्मरण करावे तथा उपदेशादि दान से अर्थात् उसका भाव बताते हुए दूसरों को सुनावे और हो सके तो उन्हीं से नामध्वनि करावे।

'स्मरण' तथा 'चिन्तन' में क्या भेद है ? उसको समझाते हैं कि सांसारिक विषयों से रोके हुए चित्त से नाम का जप<sup>१</sup> करना ध्यान है, जिस ढंग से चित्त को किसी प्रकार का प्रयत्न न करना पड़े उस प्रकार से अर्थात् बिना प्रयत्न के नाम लेने को 'स्मरण' कहते हैं। प्रयत्न से नाम स्मरण में चित्त लगाने को चिन्तन कहते हैं। उसी चिन्तन के समय में स्मरण करते हुए यदि भगवद्रूप की भी कल्पना की जावे तो वह 'ध्यान' है। श्लोक के दूसरे 'च' का यह आशय है कि यदि भगवान् से सम्बन्ध रखने वाले अन्य विषयों का श्रवण किया जाय तो उनसे भी फल सिद्धि होती है। यदि फल सिद्धि की इच्छा होते हुए भी फल सिद्धि न हो तो क्या उसके लिए कोई दूसरा उपाय करना चाहिये ? ऐसी शंका ही किसी को मन में नहीं लानी चाहिए क्योंकि भगवान् के नाम, रूप और गुण तथा उनसे सम्बन्ध रखने वाले सब पदार्थ आपके (भगवान् के) मंगलरूप हैं। अतः उनसे सिद्धि को प्राप्ति में प्रतिबन्ध हो ही नहीं सकता है। क्योंकि आपकी क्रियाएँ (यज्ञादि भगवत्सेवा अथवा लौकिकवत् क्रियाएँ सब) मंगलरूप होने से बिना प्रतिबन्ध के सिद्धि देने वाली हैं।

<sup>१</sup> बार-बार नाम लेते रहना

जिसके चित्त आपके चरणारविन्द में पूर्ण रीति से प्रवेश कर गया है वह कदापि संसार में नहीं आता है अर्थात् वह भक्त मुक्त हो जाता है। संसार में वह आता है जिसमें दोष रहे हों। उपरोक्त क्रिया करने से सर्व दोष की निवृत्ति हो जाती है, तब अहंताममतात्मक संसार निर्बल होना युक्त है। जिससे निर्दोष को मुक्ति हो जाती है।।३७।।

**कारिकार्थ** — भगवान् के स्मरण से क्रियाओं में पूर्णता आती है और भगवान् में चित्त प्रविष्ट हो जाता है। ज्ञान और क्रिया दोनों जब विष्णु रूप हो जाती है तब मोक्ष होता है इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है।।११।।

**व्याख्या** — कारिका में केवल स्मरण कहा गया है किन्तु इस स्मरण शब्द से 'श्रवण, स्मरण, चिन्तन और कहना' ये चार ही समझने अर्थात् इन चारों प्रकार से भगवच्चिन्तनादि करने से भक्त के हृदय में क्रिया रूप भगवान् का अविर्भाव होता है। जब क्रियारूप भगवान् का हृदय में अविर्भाव होता है तब उस आविर्भाव से भक्त का चित्त उनके चरणारविन्द में प्रविष्ट होता है जिससे ज्ञान शक्ति रूप भगवान् का ही हृदय में आविर्भाव होता है। इस प्रकार जब साधक की क्रिया तथा ज्ञान शक्ति विष्णु रूप हो जाती है तब मोक्ष होता है। इसमें संशय नहीं करना चाहिये।।११।।

एवं वैदिकप्रकारेण चतुष्टयमुक्त्वा स्वसिद्धान्तानुसारेण चतुष्टयमाह दिष्ट्येतिचतुर्भिः।

यों वैदिक प्रकार से चारों (प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल) का निरूपण कर अब अपने (देवताओं के) सिद्धान्तानुसारी (प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल) चारों का चार श्लोकों में वर्णन करते हैं।

**श्लोकः** — दिष्ट्या हरेस्या भवतः पदो भुवो भारोपनीतस्तव जन्मनेशितुः।

दिष्ट्याङ्घ्रिः तैस्त्वत्पदकैः सुशोभनैर्द्रक्ष्याम गां द्यां च तवानुकम्पिताम्।।३८।।

**श्लोकार्थ** — हे हरे! प्रसन्नता का विषय है कि आपके चरण रूप भूमि का भार, आप (ईश्वर) के जन्म (प्राकट्य) से दूर हुआ। आपके सुन्दर चरणारविन्दों से चिह्नित तथा कृपावाली पृथ्वी और स्वर्ग को हम देखेंगे यह भी हर्ष का विषय है।।३८।।

**सुबोधिनी** — भगवच्छास्त्रे भगवानेव प्रमाणादिचतुष्टयम्। भगवत्साक्षात्कारः साक्षात्कृतो वा भगवान् प्रमाणम्। भूमिप्रसङ्गाद् वयं कृतार्था जाता इति वदन्तः सर्वमेव जगद् भगवता कृतार्थमासीदित्याहुः। हरे ते पदो भुवः पादरूपाया भूमेस्ते जन्मना भारोपनीतः। मर्दनक्लेशस्तु

परमानन्दप्राकट्येनैव गच्छतीति। भारहानौ जन्मन एव करणत्वं न तु किञ्चित् तत्र कर्तव्यमस्ति। तत्र हेतुरीशितुरिति। ईशप्राकट्यमेव सर्वानर्थनिवर्तकम्। भूमिभारनिराकरणं च तवावश्यकम्। अस्माकं च हितकारि। यतस्तव चरणरूपा भूः। सर्वोपि स्वचरणभारं दूरीकरोति। उपास्ये च दोषाभावः सर्वेषां हितकारी। एतत्करणं चावश्यकं यतो हरिस्त्वम्। भगवज्जन्मनोलौकिकत्वात् क्लृप्तसाधनाभावात् सर्वात्मकत्वाच्च भगवतोसम्भावितमिति दिष्ट्येत्युक्तम्। केचित् त्विदमुदरे समागमनं भूमेर्भारहरणमेव न तु तव जन्मे' त्याहुः। अतो भूमावानन्द एव केवलं प्रकट इति। अन्यदपि जातमित्याह दिष्ट्याङ्कितैरिति। देवा अपि भुवं न स्पृशन्ति किं पुनर्भगवान् स्प्रक्ष्यति? अतोसम्भावितमपि यद् भविष्यति तद् दिष्ट्येति। सर्वरूपत्वाद् भगवतो मनुष्यादिरूपेण भुवं स्पृशत्येव किमाश्चर्यमित्याशङ्क्याहाङ्कितैरिति। ध्वजवज्राङ्कुशादिचिह्नैरङ्कितैः। अङ्कितमिति पाठे शङ्कापरिहारार्थम्। सुशोभनैः सर्वलक्षणसम्पन्नेः पादैरङ्कितां चिन्हिता गां द्रक्ष्याम इति महद्भाग्यमस्माकम्। भूमिः पदं गृह्णातीत्यपि भाग्यम्। पदं छायामपि जनयतीत्यपि। पुरुषपदमुद्धृता च भूर्ब्रह्मणो दुहितेति सानुरागाया भगवति दर्शनं दिष्ट्या। अत्र तामित्यनुक्त्वा गामिति यदुक्तवांस्तेन पदाङ्किता सती सर्वेषा सकलकामदोग्धी भविष्यतीति सूच्यते। अपरं च पूर्वमियमेव या गोरूपाश्रुमुखीत्वादियुक्ता ऽष्टा सा परमानन्दरूपपदाङ्किता द्रक्ष्यत इत्यपि महद् भाग्यं न इत्यपि गोपदेन ज्ञाप्यते। किञ्च पादैरेवानुकम्पितां त्वया वा द्यां च द्रक्ष्यामः। देवाना सर्वोपकार-करणादित्याः कुण्डल दानादिना च द्यौरनुकम्पिता। अतोस्माकमेव भाग्यं यदुभयं द्रक्ष्यामः। दर्शनं प्रमाणमाविर्भावः प्रमेयमिति।।३८।।

**अनुवाद —** भगवत् शास्त्र में भगवान् ही प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल हैं। भगवान् का साक्षात्कार अथवा साक्षात्कारकृत भगवान् ही प्रमाण है। भूमि के प्रसङ्ग के कारण हम (देवता लोग) कृतार्थ हुवे हैं यों कहते हुए यह सिद्ध करते हैं कि, केवल, हम ही नहीं किन्तु समग्र जगत् भगवान् के प्राकट्य से कृतार्थ हुआ है। हे हरे! आपकी पाद रूप भूमि का भार आपके प्राकट्य से उतर गया है। पृथ्वी का मर्दन क्लेश<sup>१</sup> तो परमानन्द के प्राकट्य मात्र से दूर हो गया है। पृथ्वी के भार उतरने का साधन आपका जन्म ही है जिसके लिये अन्य प्रयत्न (कर्तव्य) करने की आवश्यकता नहीं है। कारण कि जिसका जन्म हुआ है वह सर्वथा समर्थ होने से सर्व अनर्थों को स्वयं निवृत्त करने वाले हैं। हे हरे! भूमि के भार का निराकरण करना आपके लिये आवश्यक है। और वह हमारे लिये हितकर है। कारण कि पृथ्वी आपकी चरण रूपा है। प्रत्येक व्यक्ति अपने

<sup>१</sup> कुचले जाने का कष्ट



चरणों का भार दूर करता है। अपने उपास्य में दोष न रहे वह समस्तों के लिए हितकर है। इस प्रकार कर्तव्य करना आपके लिये आवश्यक है क्योंकि आप हरि (दुःखों को हरण करने वाले) हो।

आपका जन्म (प्राकट्य) अलौकिक है। आपके प्राकट्य के लिये पूर्ण साधनों का भी अभाव है और आप सर्वात्मक हो, यों होते हुए भी जो आप (भूभारहरणाय दैत्यों के नाश के लिये) कृपाकर प्रकट हो, यह हर्ष है। कितनों की राय है कि देवकी के उदर में आना यह पृथ्वी के भार का हरण करना ही है, नहीं कि आपका जन्म है। अतः पृथ्वी पर केवल आनन्द ही प्रकटे हैं। आपके समागमन से और भी जो कुछ हुआ है उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि देव भी पृथ्वी का स्पर्श नहीं करते हैं तो क्या भगवान् उसका स्पर्श करेंगे ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि जो न होने वाला है वह भी यदि आपके जन्म से होगा वह भी प्रसन्नता का चिन्ह है।

भगवान् सर्व रूप हैं अतः मनुष्य रूप से पृथ्वी को स्पर्श करते ही हैं, इसमें क्या आश्चर्य है ? यह शङ्का कर देवता उसके उत्तर में कहते हैं कि सर्व लक्षण (ध्वज, वज्र और अंकुशादि चिह्नों वाले) वाले आपके सुन्दर चरण चिह्नित भूमि का हम दर्शन करेंगे। यह हम लोगों का महत् भाग्य है। पृथ्वी पद को, ग्रहण करती है यह इस भूमिका भी भाग्य है। विशेषता यह है कि चरणों की छाया भी पृथ्वी पर पड़ती है। धरा, भगवान् का पद है, भगवान् ने उसका उद्धार भी किया है तथा वह ब्रह्मा की पुत्री है जिससे उसका भगवान् में प्रेम है, प्रेम के कारण भगवान् ने इस प्रकार दर्शन दिये हैं। यह भी प्रसन्नता है। श्लोक में व्याकरणानुसार (तां न देकर (गाँ) शब्द दिया है उसका भाव आचार्य श्री बताते हैं कि भगवान् के पदों से चिह्नित होने से यह भूमि सकल कामनाओं को कामधेनु के समान पूर्ण करने वाली होगी। और पहले यह भूमि ही आंखों से आंसू बहाती हुई, (गौ) रूप धारण करती हुई, हमने देखी थी अब वह ही परमानन्द स्वरूप चरणों से अङ्कित होने के कारण आनन्द में प्रफुल्लित हुई हम देखेंगे, यह भी हमारा महद्भाग्य है। (गो) पद देने से ये दो भाव बताये गये हैं। तथा चरणों द्वारा आपसे अनुकम्पित स्वर्ग को भी देखेंगे। देवों के ऊपर सर्व प्रकार के आपने उपकार किये और अदिति के कुण्डल का दान किया उससे स्वर्ग भी अनुगृहीत है। अतः हमारे भाग्य हैं

जो इन दोनों को (भूमि तथा स्वर्ग को) इस प्रकार देखेंगे। दर्शन प्रमाण रूप हैं और आविर्भाव प्रमेय रूप है।।३८।।

आभास—आविर्भावं समर्थयति नतेभवस्येति।

अब प्रभु के प्राकट्य का समर्थन करते हैं।

श्लोकः—नतेभवस्येशभवस्य कारणं विनाविनोदं बत तर्कयामहे।

भवो निरोधः स्थितिरप्यविद्यया कृता यतस्त्वय्यभवाश्रयात्मनि।।३९।।

श्लोकार्थ — हे ईश! आप, जो कि अजन्मा हो, उनके जन्म लेने का कारण केवल क्रीड़ा बिना दूसरा कोई हमारे विचार में नहीं आता है। जन्म रहित, आपके विषे<sup>१</sup>, जन्म, निरोध तथा स्थिति, अज्ञान के कारण, हम देखते हैं।।३९।।

सुबोधिनी—तेभवस्य जन्मरहितस्य भवस्य जन्मनः कारणं विनोदं विना न तर्कयामहे। विनोदो लीला। वेः कालस्य वा नोदः प्रेरणम्। कालो हि स्थिरः सर्वानेव मर्यादया यथासुखं करोति। स जन्मना नोद्यते। अन्यथाक्रियते। विनावि संसारनौकायां वा। अन्यथा संसारनौः पारं न गच्छेत्। अस्मिन्नर्थे नते नम्रे शरणागते पुरुषे भवनिवारकस्य यो भवो जन्म तस्य कारणं विनाविनोदं तर्कयामह इतिसम्बन्धो ज्ञेयः यद्वा नतो न इभो गजेन्द्रस्तस्य वममृत मोक्षो यस्माद् तांशस्येत्यग्रे पूर्ववत्। तथा च पशुजातीयस्यापि नतिमात्रेण भवनिवारकस्य भवोसम्भावित इति तस्य हेतुं तं तर्कयामह इतिभावः। नौकारहिता वा संसृतिस्तस्यां सत्यां सर्वप्रेरणं तव भवस्य कारणम्। यद्यप्यत्र प्रमाणं नास्ति यथार्थद्रष्टुराप्तस्याभावादद्यापि त्वयाप्यनुक्तत्वादतः स्वयमेव तर्कयामहे। वस्तुतस्तु लीलापि भवति न वेतिसन्देह एव। ननु सर्वस्यापि जीवस्य मदंशस्य यथा भवस्तथा ममापीति कथमभवस्येत्युच्यते? तत्राह भवो निरोध इति। सर्वस्यापि प्राणिन उत्पत्तिस्थितिप्रलया अविद्यया देहाद्यध्यासेन भवन्ति। स्वतो जीवानां जन्माभावात्। तदपि त्वपि सति भवति। अन्यथा निराधारे जगत्युत्पत्तिर्न स्यात् तत्रापि त्वय्युदासीने नभवति। अनित्य न भवति। असमवायित्वे न भवति। आधारसमवाययोरवश्यापेक्षणात्। तव चोत्पत्तौ जगतोनादित्वं भज्येत। अलीकत्वं च स्यात्। यथा तव भव आकस्मिक एवमेव जगतोपि भवेत्। अतोभव आश्रयरूपे आत्मरूपे सत्येव जीवानामुत्पत्त्यादिर्भवेत्। एवं भगवतो लीलया प्रादुर्भावः। स्वरूपनिमित्ताज्ञानं वा। अन्यथा सर्वमेव जगन्न स्यादित्यानन्दाविर्भावो भगवान् निरूपितः।।३९।।

अनुवाद — जन्म रहित आपके जन्म का कारण विनोद (लीला) के सिवाय, अन्य प्रकार का तर्क हम नहीं कर सकते हैं। अथवा विनोद पद में दो शब्द हैं एक (वि)

<sup>१</sup> आपके विषय में अर्थात् आप में

जिसका अर्थ है काल, दूसरा (नोद) जिसका अर्थ है प्रेरणा करना। काल स्वयं स्थिर है सकलों को ही मर्यादानुसार सुखी करता है उस काल को आप जन्म से प्रेरणा करते हो अर्थात् अन्यथा करते हो। अथवा (बिना विनोद) इन दो पदों को मिलाकर उससे (विनावि) और (नोद) इस प्रकार पदच्छेद करते हैं जिसका अर्थ होता है (विनावि) (संसार नौका में) और (नोद) प्रेरणा अर्थात् यदि आप संसार नौका को प्रेरणा नहीं दें तो संसार रूप नौका कभी भी पार न जा सके। यों कहने का आशय यह है कि भाव विकारों से रहित यह संसार ब्रह्मात्मक है। संसार एक प्रकार की नौका है जैसा कि एकादश स्कन्ध में (नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं) श्लोक में मनुष्य देह को नौका कहा गया है। इसीसे उस नौका को संसार से पार जाने के लिये प्रेरणा की आवश्यकता देखकर आप प्रेरणा देने के लिये ही अपना आविर्भाव करते हो। यदि आप (भगवान्) भक्तों के यहां पति पुत्रादि के आभिमानिक सम्बन्ध रूप से प्रकट न होवे तो संसार नाव पार न पहुँचे। पुनः अन्य प्रकार से अन्वय करते हैं कि (न) और (ते) ये पद जुड़े हैं उनको मिलाकर एक पद (नते) सप्तमी विभक्ति कर उसका अर्थ करते हैं (न ते) शरणागत पुरुष पर कृपाकर अजन्मा आप जो प्रकट होते ही वह भी संसार नौका को पार करने की प्रेरणा के लिये ही है यों हम तर्क करते हैं। पुनः अन्य प्रकार बताते हैं (न ते भवस्य) इस पद का विच्छेद (न त भ (नत+इभ) और 'वस्य'<sup>१</sup> कर के अर्थ करते हैं कि (नतेभ) नत का अर्थ शरणागत और इभ का अर्थ गजेन्द्र शरण आया है उसको (व) मोक्ष जिससे प्राप्त हुआ उसका जन्म विनाविनोद के अन्य कुछ नहीं हैं ऐसा हम तक करते हैं। यद्यपि वैसे पशु जाति के केवल शरण आने से संसार निवर्त्तक का (अजन्मा का) जन्म असंभावित है तो भी इस प्रकार की आविर्भाव होने का कारण लीला ही है यों हम तर्क करते हैं। यह संसार नौका रहित है उसको पार पहुँचने की प्रेरणा करने के लिये ही आपका प्राकट्य है। यद्यपि हमारे इस कथन की पुष्टि के लिये कोई प्रमाण नहीं है, तथा यथार्थ द्रष्टा आप्त पुरुष भी कोई नहीं है जो इसकी प्रत्यक्ष सबूत दे और

<sup>१</sup> 'वस्य' यह 'व' शब्द षष्ठी विभक्ति का एकवचन है। सारा पद समासान्त है। वह समास इस प्रकार बहुव्रीहि किया गया है 'नतेभवस्य व यस्मात्' सः नतेभवः तस्य नतेभवस्य। जिसका अर्थ होता है शरणागत गज को (व) मोक्ष जिससे प्राप्त हुआ उसका जन्म बिना विनोद अन्य कोई कारण है, ऐसा तर्क नहीं कर सकते हैं।

न ही आपने भी आज तक इस विषय में कहा है, अतः हम स्वयं वैसा तर्क करते हैं। वस्तुतः यह लीला भी है, या नहीं, इसमें भी सन्देह है, तात्पर्य यह है कि आपके प्राकट्य का कारण आप ही जानते हो अन्य सर्व तर्क ही है।

हे देवो! आप मुझे अभव क्यों कह रहे हो, जैसे मेरे अंश रूप जीव का जन्म होता है वैसे मेरा भी मानलो। देवता कहते हैं कि यदि भगवान् यों कहदे तो उसका उत्तर देते हैं कि प्राणी मात्र की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय देहादिकों के अध्यास<sup>१</sup> के कारण होते हैं। स्वतः तो जीवों का भी जन्म नहीं होता है। वह भी तब होता है जब आप हो। यदि आप नहीं होवो तो निराधार जगत् में उत्पत्ति ही नहीं होवे। यदि आप उदासीन होवो तो भी न होवे। अनित्य में भी उत्पत्ति नहीं होती है। कोई समवायी-कारण<sup>२</sup> न हो तो भी उत्पत्ति नहीं होती है। उत्पत्ति के लिए आधार और समवायी की आवश्यकता रहती है। यदि आपको भी उत्पत्ति मानी जाय तो जगत् का अनादिपन न रहेगा तथा जगत् अलीक<sup>३</sup> हो जाएगा।

जैसे आपके जन्म अचानक होते हैं वैसे ही जगत् का भी होगा। अतः आत्मा के आश्रयरूप होने से ही जीवों की उत्पत्ति आदि होते हैं और आपका तो लीला से ही प्राकट्य होता है। भगवान् जीववत्<sup>४</sup> जन्मे हैं। यह कहना भगवान् के स्वरूप का एवम् उनके कारण का अज्ञान ही है। भगवान् का जन्म नहीं है किन्तु आनन्दरूप का प्राकट्य है यह निरूपण किया गया है। भगवान् के जन्म मानने से समस्त जगत् अनादि न रहेगा ॥३६॥

स एव साधनमित्याह मत्स्याश्वेति।

वही आनन्दरूप भगवान् साधन है। इसका वर्णन करते हैं।

श्लोकः— मत्स्याश्वकच्छपनृसिंहवराहहंसराजन्यविप्रविबुधेषु कृतावतारः ॥

<sup>१</sup> और को और समझ लेना अध्यास है अर्थात् देह को जीव समझ लेना अध्यास है जैसे जीव जब देह को अपना रूप समझ लेता है तब देह के लिए कहता है कि मैं हूँ इसको 'अध्यास' कहते हैं वैसे ही अन्यत्र भी समझ ले।

<sup>२</sup> 'समवायीकारण' उसको कहा जाता है जिससे वस्तु बने जैसे कि मिट्टी से घड़ा बनता है तो मिट्टी घड़े का समवायीकारण है वैसे परमात्मा से जगत् बना है तो परमात्मा जगत् का समवायीकरण है।

<sup>३</sup> झूठा

<sup>४</sup> जीव की तरह

त्वं पासि नस्त्रिभुवनं च तथाधुनेश भारं भुवो हर यदूत्तम वन्दनंते ॥४०॥

**श्लोकार्थ** — हे यदूत्तम! मत्स्य, कच्छप, नृसिंह, वराह, हंस, राजा, ब्राह्मण और देवों में अवतार धारण करके आपने दूसरे समय में जैसे हमारी तथा त्रिलोकी की रक्षा की है वैसे अब भी करो और पृथ्वी का भार उतारो। हे ईश! हम आपको प्रणाम करते हैं ॥४०॥

**सुबोधिनी** — यथा पूर्वं नवावतारा जाता एवमयमपि दशमः। त्रयो जलजाः। त्रयो वनजाः। त्रयो लोकजाः। मत्स्याश्वकच्छपा नृसिंहवराहहंसा राजन्यविप्रविबुधाश्च तमोरजःसत्त्वसमानाकृतयः। अश्वो हयग्रीवः अश्वोपि जलजो हयग्रीवोपिजलजः। नृसिंहः। काष्ठजत्वाद् वनजः। वराह आरण्यप्रकृतिक इति। अक्षजोपि बहिर्वायुस्थानत्वादारण्यः। राजन्यो रघुनाथः। विप्रः परशुरामः। विबुधो वामनः। तरतमभावात् त्रित्वम्। मत्स्यादश्व उत्तमः। अश्वादपिकूर्मः। वास्तव्यत्वात्। नृसिंहाद् वराहः। भूम्युद्धारकहिरण्याक्षमारकत्वात्। ततोपि ज्ञानप्रदो हंसो महान्। क्षत्रियब्राह्मणदेवेषुतरतमभावः स्पष्टः। एभिर्नवविधैर्नवविधा अपि रक्षिताः। इदानीमेकेनैव नवविधा रक्षणीयाः। अयमेव भगवान् तत्तज्जात्यनुकूलाकाररूपेष्ववतारं कृत्वा पाति। अधुना ततोप्यधिकं विज्ञापयन्ति। त्वमेतेषु पूर्वं कृतावतारो नोस्मान् त्रिभुवनं चकाराद् धर्मादिकमपि पासि। तथाधुना हे ईश। सर्वसामर्थ्यरूपेणावतीर्णस्तथा। पूर्वोक्तं त्रयं देवत्रैलोक्यधर्मरक्षा भूमेर्भारनिराकरणं चाधिकम्। अस्यापि लोके व्यवहारो यदूत्तमेति। प्रत्युपकारस्ते वन्दनम्। नमस्कार एव प्रत्युपकार इत्यर्थः।

एतान्येव भगवतो दश रूपाणि सर्वपुरुषार्थसाधकानि। अत्र धृष्टान्तत्वेन मत्स्याद्युक्तेरयं भावः। भूभारभूतासुरराजन्यहननार्थं ह्यवतारः। एवं सति तैः सह युद्धं सम्भाव्यते। तच्च स्नेहातिशयेन भक्तैः सोढुमशक्यम्। अतो “रूपं चेदं पौरुषं जन्म ते मय्यसा” वित्यादिना देवकीवद् ब्रह्मादयो माहात्म्यज्ञानवन्तोपि भक्तत्वेन भूभारहरणे प्रकारविशेष प्रार्थयन्ति। यावत् स्वस्थैश्वर्याद्यप्राकट्येन निगूढत्वेनान्यतो वा शत्रुहननं भवति तावन् न स्वयं युद्धं कार्यमिति। तत्र प्रलयाब्धौ सत्यव्रतादिभक्ता रक्षणीयाः। एवं सति पुरुषादिरूपेण रक्षणे क्रियमाणे लोकरीत्या मकरादिभयसम्भावनया स्नेहेन भक्तानां क्लेशः स्यादिति तदभावाय येन रूपेण जलसञ्चारः सुखावहस्तद्रूपं जगति हीनजातीयमपि मात्स्यमङ्गीकृत्य रक्षितवास्तथाधुनोक्तरीत्येति प्रार्थना। अत एव स्वैश्वर्यादिविरुद्धमपि याचकत्वमङ्गीकृत्य भीमेन जरासन्धं मारितवान् न तु स्वयम्। हयग्रीवो ब्रह्मणः सत्रे प्रादूर्भूतः सन्नसुरहननवेदरक्षादिकं कृतवान्। इहापि राजसूये प्रकटो ब्राह्मणसम्माननेन मर्यादां स्थापयित्वा वेदविरुद्धवादिनं चैद्यमनायासेन मारितवान्। कच्छपस्तु “मेनेङ्ग.कण्डूयन” मित्यादिवाक्यैः सुखसाधनत्वेनैव मन्दरं दधार। तद्वदिहापि वीर्यबलाधिवयजबाहुकण्डूशान्त्यर्थमेव युद्धं कार्यं न तु प्रतिभटोपरिस्थितिमात्रतः। तदा त्वन्य एव प्रेरणीय

इतिप्रार्थना। अत एव यत्र युद्धं कृतं तत्र तथैव कृतमिति ज्ञेयम्। क्रीडार्थं मृगयावत्। अत एव “विक्रीडितं तज्जगदीशयो पर” मिति वचनम्। यथामृतदानार्थमेव मन्दरधारणं तथेहापि स्वस्वरूपामृतदानार्थमेव गोवर्धनोद्धरणं तेन रक्षां च कृतवान्। नृसिंहस्तु भक्तपितरमपि पूर्वभक्तमपि भक्तरक्षार्थमकस्मात् प्रादुर्भूय मारितवान्। लक्ष्म्यादीनामप्यगम्यो दैत्यत्वेपि भक्तमात्रगम्य इत्यपि ज्ञापितवान्। इहापि पाण्डवरक्षार्थं तत्पितामहादीन् भक्तानप्यासुरावेशिनो मारितवान्। तथैव कंसादीनपि। वनवासे पार्थरक्षार्थमकस्मादाविर्भूय शिष्टशाकात्रं भक्षयित्वा सर्वं समाहितवान्। वराहस्तु यदुद्धारार्थं प्रवृत्तस्तत्रैतां कपक्षपातवान् येन तन्मात्रविशेषगुणग्राहकेन्द्रियस्यैवाधिष्ठाने प्रकटोभवन्न तु नृसिंहादिवत्। इहापि पाण्डवरक्षार्थमागच्छंस्तन्मात्रगुणग्राहि विदुरगेह एव स्थितोभवन्न त्वन्यत्र। तथा व्रजस्थानुद्धर्तुं तन्मात्रसम्बन्धिनि स्थले स्वयमाविर्भूय तथा कृतवान् न त्वन्यत्र स्थितः। एवमेव वैदर्भ्युद्धारं कुर्वन् हिरण्याक्षवन्मध्येमार्गप्रतिबन्धकर्तारं रुक्मिणमुपेत्यैव स्वकार्यं कृतवान् न तु तदैव हतवान्। अग्रे च तथा कृतवान्। हंसस्तु तत्त्वमुपदिश्य ब्रह्मादिविषादहन्ता इहापि वेदमर्यादाविरोधिगुरुवधादेर्विमुखस्य तच्चिन्ताविषादं तत्त्वोपदेशेन हतवान्। अन्यथा भूभारहरणं न स्यात्। राजन्यस्तु मज्जनसाधनं तारकं कृत्यैकभक्तार्थमनेकान् दैत्यानवधीत्। तथेहापि भूमिनि त्तमनेके मारणीयाः। एतेनैकस्या भुवो निमित्तमनेकान् कथं वधिष्य इति शङ्कापास्ता। द्वेषादिभावस्यापि तारकत्वं स्पष्टम्। विप्रस्तु ब्रह्मवृत्तिरपि घोरं क्षात्रमूरीकृत्यासुरराजन्यानवधीत्। इहापि ब्रह्मत्वेन समत्वेपि दैत्यवधः कार्य एव। विबुधस्तु मातृप्रार्थनया विर्भूय ब्रह्माद्यशक्यं त्रिभुवनहरणं वाङ्मात्रेण कृतवान्। एवमत्र वृकासुरवधे स्पष्टम्। देवकीप्रार्थनया विर्भूय ब्रह्मादिदुरापं स्वानन्दं यदुभ्यो दत्तवान् राज्यलिप्सु कंसं मारयित्वोग्रसेनाय राज्यं दत्तवान् न तु स्वयं गृहीतवानिति एवं नमस्कारान्तं भगवान् स्तुतः। कंसादिवधस्त्वप्रयोजकः। तस्मात्र विशेषेण गणितः॥४०॥

अनुवाद — जैसे प्रथम आपके नव अवतार हुए वैसे ही यह दशवां है। तीन अवतार जल से हुए, तीन वन से हुए और तीन लोक में हुए। मत्स्य, हयग्रीव तथा कच्छप तमोगुण जैसी आकृति वाले हैं। नृसिंह, वराह और हंस राजस गुण समान आकार वाले हैं। और रामचन्द्रजी, परशुराम और वामन ये सत्त्वगुण सहज रूप वाले हैं। मूल में अश्वपद हयग्रीव का वाचक है। अश्व भी जलज (जल से उत्पन्न) और हयग्रीव भी जलज है। नृसिंह स्तम्भ से प्रकट होने के कारण वनज कहे जाते हैं। वराह की आरण्यक, (जंगली) प्रकृति है अतः वनज है। हंस बाहिर वायु (आकाश) वाले स्थान में रहने की प्रकृति<sup>१</sup> के कारण वनज है। जो (हंस) प्रकट होकर उपदेश द्वारा अन्यो को वनवासी बनाता है।

<sup>१</sup> आकाश वाले (खुले) स्थान में रहने का कारण यह है कि वहाँ उड़ने का स्थान मिल सकेगा।

अतः उसको वनज कहना यह योग्य ही है। रघुनाथजी (क्षत्रिय), परशुराम (विप्र), वामन (देव) इन तीनों का तरतम<sup>१</sup> भाव बताने के लिए पृथक वर्णन किया है। मत्स्य से अश्व उत्तम है। अश्व से कूर्म उत्तम है। यह उत्तमता कार्य करने से सिद्ध होती है अतः प्रतीति की है अर्थात् अन्य अवतारों में उत्तमता कार्य समय में देखने में आती है। कूर्म को उत्तमता वास्तविकी है कारण कि कूर्म सदैव जल में रहकर पृथ्वी की रक्षा करते हैं। नृसिंह से वराह इसलिए उत्तम है कि नृसिंहजी ने यथास्थिति प्रह्लाद की रक्षा की थी किन्तु वराह ने जल में डूबी हुई पृथ्वी का जल से उद्धार किया तथा हिरण्याक्ष को मारा था। वराह से हंस ज्ञानप्रद होने के कारण उत्तम है। क्षत्रिय, ब्राह्मण और देव अवतारों में तरतमग भाव स्पष्ट ही है। इन नवविध अवतारों ने नवविधों की रक्षा की है। इस समय आपको एक ही अवतार से नवविधों की रक्षा करनी है। ये ही भगवान् जिस जाति की रक्षा करनी होती है उस जाति के अवतार लेकर उनकी रक्षा करते हैं। अब देवता उससे भी विशेष प्रार्थना करते हैं कि आपने पहले उन्हीं में अवतार धारण करके हम लोगों को, तीनों भुवनों को तथा धर्मादिक की भी रक्षा की है। वैसे ही इस समय भी हे ईश! सर्व प्रकार सामर्थ्य से अवतीर्ण हुए हो। अतः उसी प्रकार देवता, तीन लोक और धर्म की रक्षा करने के साथ विशेष में भूमि का भार भी उतारो। आप ईश होते हुए भी लोक में आपका 'यदूत्तम' नाम से व्यवहार होता है। आपके इन उपकारों का प्रतीकार<sup>२</sup> केवल वन्दन ही हो सकता है।

नव अवतारों के कार्य से अधिक, भूभारहरण कार्य की प्रार्थना की, अवतारों के कार्यों से विशेष अन्य कार्यों की प्रार्थना क्यों नहीं की ? इस शङ्का के उत्तर में आचार्य श्री कहते हैं कि भगवान् के ये मत्स्यादि अवतार ही सर्व कार्य साधक हैं। यहाँ मत्स्यादि अवतारों का वर्णन जो छंष्टान्त रूप से किया है उसका यह भाव है कि पृथ्वी पर जो भार रूप असुर नृपति हुए थे उनके नाश के लिए ही भगवान् अवतार लेते हैं। इसलिए जो अवतार लिये जाते हैं तो उन असुर राजाओं से युद्ध होने की सम्भावना होती है। वह युद्ध भगवान् में अतिशय स्नेह के कारण भक्त लोग नहीं चाहते हैं कारण कि युद्ध

<sup>१</sup> एक से बड़ा

<sup>२</sup> बदला

में भगवान् को विशेष परिश्रम करना पड़ेगा। वह भक्तों से सहन नहीं किया जा सकता है। 'रूपंचेद पौरुषं जन्मते मय्यसौ' इस श्लोक में देवता कहते हैं कि यह आपका पौरुष जन्म हमारे लिये है। अतः देवकीजी के समान भगवान् का माहात्म्य जानते हुए भी भक्त होने के कारण भूभार का हरण युद्ध बिना अन्य प्रकार से करने की प्रार्थना करते हैं।

जब तक आपने अपने ऐश्वर्य आदि को प्रकट नहीं किया है तब तक गुप्त रीति से अन्य द्वारा शत्रुओं का नाश हो सके तब तक युद्ध नहीं करना। प्रलयाब्धि के समय में सत्यव्रत आदि भक्त रक्षणीय है।

यदि आपके पुरुष रूप धारण किया है, अतः आप युद्ध द्वारा रक्षा करना चाहोगे तो युद्ध रूप समुद्र में क्लेशादि रूप मकरों से भय की सम्भावना है जिससे स्नेह के कारण भक्तों को दुःख होगा। वह दुःख भक्तों को नही होवे तदर्थ जैसे हीन जाति मत्स्य का रूप धारण कर सुखपूर्वक जल संचार करते हुए रक्षण किया था वैसे अब भी करो वह प्रार्थना है। इसी कारण से अपने ऐश्वर्य के विरुद्ध होते हुए भी भीमसेन ने याचक बनकर जरासन्ध को मारा न कि भीम ने क्षात्र रूप से मारा।

हयग्रीव रूप से ब्रह्मा के सत्र में प्रकट होकर असुर नाश तथा वेद की रक्षा की। यहाँ भी राजसूय यज्ञ के समय प्रकट होकर ब्राह्मणों का सम्मान कर धर्म मर्यादा की स्थापना की। वेद विरुद्ध बोलने वाले शिशुपाल को अनायास<sup>१</sup> मारा। कच्छपावतार में 'मेनेऽङ्ग.कण्डूयनं' इस वाक्यानुसार खुजली मानकर सुखपूर्वक 'मन्दराचल' को धारण किया। वैसे ही यहाँ भी विशेष वीर्य शक्ति के कारण भुजाओं में उत्पन्न हुई खुजली की शान्ति करने के लिए युद्ध करना, न कि सामने आये हुए प्रतिपक्षी योद्धाओं को मारने के लिए। जब ऐसा अवसर हो तो, उनको मारने के लिए दूसरों को प्रेरणा कर दें। यही हमारी प्रार्थना है। अतः जहाँ २ युद्ध हुवा है वहाँ २ यों ही किया है, अर्थात् अन्यो (व्यूहों) को प्रेरणा की है। जैसे राजा लोग क्रीड़ा के वास्ते शिकार खेलते हैं वैसे ही भगवान् युद्ध करते हैं। इसलिये कहा गया है (विक्रीडितं तज्जगदीशयोः परम्) यह जगत् के दोनों ईशों की क्रीड़ा है। जिस प्रकार अमृतदानार्थ कच्छपजी ने मन्दराचल को धारण

<sup>१</sup> सहज में, बिना परिश्रम



किया वैसे ही यहां पर अपने स्वरूप अमृतदानार्थ ही गोवर्धन को धारण किया है और उससे ब्रज की रक्षा भी की है। नृसिंह अवतार में पूर्व जन्म के भक्त और इस जन्म में भक्त के पिता को भक्त प्रह्लाद की रक्षा के लिए अचानक प्रकट होकर मारा। यह भी जताया कि उस सम दैत्यत्व के तथा क्रूर होने के कारण लक्ष्मी भी आपके पास नहीं जा सकती थी तो भी आपके पास भक्त जा सकते थे कारण कि भक्तों को आनन्द रूप से ही दर्शन देते थे। यहां भी पाण्डवों की रक्षा के लिये आसुरावेशी उनके पितामहादि को मारा। वैसे ही कंसादिकों को मारा। वनमास में पार्थ रक्षार्थ अचानक आविर्भूत होकर शेष बचे हुए शाकान्न को खाकर सबका समाधान किया। वराहजी नृसिंह के समान प्रकट न होकर जिस (पृथ्वी) के उद्धार के लिये आविर्भूत हुए थे उस पृथ्वी के गुण (गन्ध) को ग्रहण करने वाली नासिका इन्द्रिय को अधिष्ठान बनाकर उससे प्रकट हुए जिससे आपने पृथ्वी से अपना पक्षपात प्रकट दिखा दिया। इस कृष्णावतार में भी पाण्डवों के रक्षणार्थ विदुरजी के घर में बिराजे। अन्यत्र नहीं बिराजे। कारण कि विदुरजी पाण्डवों के गुणों के ग्राहक थे। इसी प्रकार ब्रज भक्तों के उद्धारार्थ उनके सम्बन्धवाली (श्री गोकुल) में स्वयं प्रकट होकर उनकी रक्षा की। अन्यत्र स्थिति नहीं की। इसी भांति वैदर्भी का (शिशुपाल से) उद्धार करते हुए, हिरण्याक्ष की तरह मार्ग के मध्य में प्रतिबन्धक रुक्मी को रोक कर ही स्वकार्य सिद्ध किया और उस वक्त उसको मारा नहीं। आगे उसको समय आने पर मारा। जैसे हंस ने तत्त्व ज्ञान का उपदेश देकर ब्रह्मादिकों का विषाद नष्ट किया वैसे ही यहां भी यदि वैदिक मर्यादा के विरुद्ध गुरु वध करना पाप समझ कर स्वधर्म युद्ध से विमुख, अर्जुन की चिन्ता तथा विषाद को मिटाने के लिये गीता द्वारा तत्त्व ज्ञान का उपदेश दिया न होता तो पृथ्वी पर हुआ असुर राजाओं का भार नहीं उतरता।

रामावतार में डूबने के साधन पत्थरों को तारने का साधन बनाकर एक भक्त (विभीषण) के लिये अनेक दैत्यों का नाश किया वैसे ही यहां इस कृष्णावतार में एक पृथ्वी के लिये अनेकों को मारे। एक पृथ्वी के लिये अनेकों को कैसे मारा ? इस शङ्का के निवारण के लिये कहते हैं कि असुरावेशी राजाओं में जिनको मारा था उनमें द्वेषादिभाव था। जिससे वे मारे तो नाम मात्र के लिये ही गये थे किन्तु उनका उद्धार

हो गया। परशुरामवतार ब्राह्मण वृत्ति होते हुए भी उसमें घोर क्षात्र धर्म स्वीकार कर असुर क्षत्रियों का वध किया है। इस अवतार में ब्रह्मत्व समान होते हुए भी दैत्य वध करना ही है। देवावतार (वामनावतार) ने तो माता की प्रार्थना से आविर्भूत होकर जिस त्रैलोक्य को लेने के कार्य को ब्रह्मादिक भी नहीं कर सके, उस कार्य को केवल वाणी से कर दिखाया। इस प्रकार यहां वृत्रासुर वध में यह स्पष्ट है। देवकी की प्रार्थना से आविर्भूत होकर ब्रह्मादिकों को कठिनाई से मिलने वाला अपना आनन्द यादवों को दान दिया। राज्य के लोभी कंस को मारकर राज्य उग्रसेन को दिया आपने नहीं लिया था। इस प्रकार नमस्कार पर्यन्त भगवान् की स्तुति की गई है। कंसादिवध तो अप्रयोजक है इस कारण से इसकी पृथक् विशेष रूप से गणना नहीं की है ॥४०॥

**आभास—**प्रसङ्गात् तच्चरित्रं फलरूपं निरूपयन् देवकीसान्त्वनमप्याह दिष्ट्याम्बेति।

प्रसङ्ग. से श्रीकृष्ण का चरित्र फलरूप है उसका और देवकी के सान्त्वना का भी वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः—** दिष्ट्याम्ब ते कुक्षिगतः परः पुमानंशेन साक्षाद् भगवान् भवाय नः।

**मामूद् भयं भोजपतेर्मुमूर्षोर्गोप्ता यदूनां भविता तवात्मजः ॥४१॥**

हे माता! आपकी कूख में प्रद्युम्नांश (व्यूहरूप) से पूर्ण पुरुषोत्तम पधार गये हैं, वे साक्षात् भगवान् हैं। वे हमारे कल्याण करने के लिये आये हैं। अब आप मरने वाले कंस से मत डरो। ये आपके पुत्र यादवों की रक्षा करेंगे। अतः बधाई है ॥४१॥

**सुबोधिनी** — हे अम्बमातः। सर्वात्मकस्य भगवतो माता मातैव। नृसिंहादिवदकस्मादेवाविर्भावोयुक्तः। यत् ते कुक्षिगत एतद् दिष्ट्या। उक्तमर्थमुपपादयितुमाह परः पुमानिति। पुरुषोत्तम इत्यर्थः। अंशेन तव कुक्ष्येकदेशेन प्रद्युम्नांशेन पुत्रो वा। साक्षाद् भगवानिति ज्ञानक्रियांशव्यावृत्त्यर्थम्। तवोदरे त्वदर्थं नागतः किन्तु भवाय नोस्माकमेवोद्भवाय तव कुक्षिगतः। तर्हि मम का गतिरिति चेत् तत्राह तव भयं मा भून्न भविष्यति। आशंसायां प्रथमार्थं “छन्दसि लुङ्लङ्लिट” इति लङर्थं लुङ्। “माङि लुङि” तिसूत्रादपि तथा। भोजपतेः कंसात्। स हि वचनेनैव भीषयति। न तु क्रिया कर्तुं शक्तः। वचनं च तस्योपेक्ष्यम्। यतोयं मुमूर्षुः। मुमूर्षूणां विकलवा गिरो भवन्ति। ननु वचनमात्रणैव कथं भयनिवृत्तिस्तत्राह गोप्ता यदूनां भविता तवात्मज इति। तव रक्षायां कः सन्देहः? यदूनां सर्वेषामेव तवात्मजो गोप्ता भविष्यति। अनेन स्वरूपकार्यमानुषङ्गिकं च कार्यमुक्तम् ॥४१॥

अनुवाद — सबों की आत्मा भगवान् हैं। अतः उनकी माता सबकी माता है। इसलिए देवों ने देवकीजी को कहा है कि हे अम्बे! हे माता! आपके यहाँ नृसिंहादि की भांति अकस्मात् प्राकट्य होना योग्य नहीं होने से ही आपकी कूँख में बिराजे हैं यह बधाई है। उनकी कूँख में बिराजने की योग्यता का समर्थन करते हैं कि वे पूर्ण पुरुषोत्तम हैं। 'अंशेन' शब्द का भाव है कि कूँख के एक देश से अथवा प्रद्युम्नांश से पुत्र रूप होकर विराजते हैं। 'साक्षात्' भगवान् कहने का आशय यह है कि केवल क्रिया शक्ति से आकर नहीं बिराजे हैं। किन्तु साक्षात् ज्ञान क्रिया विशिष्ट आप पधारे हैं। आपके उदर में कहते हैं कि आप अब किसी प्रकार का डर मत करो। क्योंकि कंस को केवल वचन से डरा रहा है वह कुछ नहीं कर सकता है। उसके वचनों पर ध्यान नहीं देना चाहिये, कारण कि वह मरने वाला है। जिसकी मृत्यु समीप होती है उनके वचन घबराहट वाले असम्बद्ध होते हैं। यदि देवकीजी कहे कि आपके कहने से मैं निडर कैसे बनूंगी ? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि हम केवल आपके वचनों से नहीं कहते हैं किन्तु हम देव हैं। इसलिये हम जानते हैं कि यह आपके पुत्र कंस को मारकर यादवों के रक्षक होंगे। अतः आप निर्भय रहो। क्योंकि जब सब यादवों की रक्षा करेंगे तो आपकी रक्षा में कौनसा संशय है ? कोई नहीं हो यह आपके पुत्र की ही स्वल्प<sup>१</sup> यादवों की रक्षा करेंगे यों न समझना किन्तु समस्त यादव मात्र की रक्षा करेंगे। इस प्रकार कहने से स्वरूप कार्य और आनुषंगिक दोनों कार्य कहे ॥४१॥

आभास—उपसंहरतीतीति ।

उपसंहार करते हैं ।

श्रीशुक उवाच —

श्लोकः — इत्यभिष्टूय पुरुषं यद्रूपमनिदं यथा ।

ब्रह्मेशानौ पुरोधाय देवाः प्रतिययुर्दिवम् ॥४२॥

**श्लोकार्थ** — श्री शुकदेवजी कहते हैं कि देवताओं ने इस प्रकार पूर्ण पुरुषोत्तम की स्तुति करी कि, वह स्वरूप था इस भांति है भी और नहीं भी है किन्तु सर्व रूप है। तदनन्तर ब्रह्माजी तथा महादेवजी को आगे कर सब देव स्वर्ग को गये ॥४२॥

**सुबोधिनी** — पुरुषमिति। स्वतन्त्रतया सर्वकार्यकर्तृत्वमुक्तम्। यद् रूपं पूर्वं स्तोत्रे यादृशं रूपं निरूपितम्। अनिदं यथैतदुक्तं तथा च न भवति। दैत्यानामपि मुक्तिदानेन हितकर्तृत्वात्। इदमेवं भवदपि तथा न भवति। प्रकार भेदेन सर्वमेव सत्यं सर्वमसत्यमित्यर्थः। ब्रह्मेशानौ कथञ्चिदत्रैव स्थास्यत इति शङ्कया तौ पुरोधायाग्रे कृत्वा देवा दिवं प्रति ययुः। प्रतिदिवमिति। एकविंशतिः स्वर्गाः शतं स्वर्गाश्चेतिमतभेदेन स्वस्वस्वर्गं स स देवो गत इत्यर्थः। ययुरिति। मध्ये दैत्यकृतो विघ्नः कोपि न जात इति “या प्रापण” इतिधातुना सूचितम् ॥४२॥

**अनुवाद** — (पुरुष) शब्द से यह बताया है कि परमात्मा सर्व कर्ता है। जिस स्वरूप का वर्णन प्रथम स्तुति में जैसा किया है वैसे (उतने ही) वे हैं यों नहीं है अर्थात् देवताओं के ही पक्षपाती है सो नहीं है। किन्तु दैत्यों के ही हितकारी हैं कारण कि उनको भी मुक्तिदान दिया है। यह इस प्रकार का होता भा है, नहीं भी होता है, तात्पर्य यह है कि प्रकार भेद से प्रभु आप सर्व रूप होने से सत्य भी हैं। और असत्य भी है। देवताओं को यह शङ्का हुई कि हम तो जा रहे हैं कदाचित् ब्रह्मा तथा शिवजी यहां ही रुक न जाय, इसलिये इनको आगे करके उनके पीछे सब अपने अपने स्वर्ग में गये। देव अपने अपने स्वर्ग में गये इससे समझा जाता है स्वर्ग एक नहीं है किन्तु बहुत हैं। नृसिंह पुराण में इक्कीस स्वर्ग कहे हैं। अन्य पुराणों में शत स्वर्ग भी कहे हैं। यहां क्रिया पद में (या) धातु देने का आशय यह है कि देवताओं को मार्ग में किसी प्रकार का विघ्न नहीं हुआ सुख पूर्वक पहुँच गये (या) धातु का अर्थ है पहुँचना ॥४२॥

दशम स्कन्ध के द्वितीय अध्याय की श्री मद्बल्सभाचार्य कृत श्री सुबोधिनी का सरल भाव बोधक हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण हुआ।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

श्री मद्बल्लभाचार्यचरणेभ्यो नमो नमः परमदयालवै श्री मद्रोस्वामि विद्वलेशाय नमो नमः

श्री मद्भागवतमहापुराणम्

दशमस्कन्धः (पूर्वार्धः)

श्री मद्बल्लभाचार्य—विरचित—सुबोधिनी (संस्कृत) टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

तृतीयोऽध्याय

कारिका — जननं वर्णनं स्तोत्रे सान्त्वनं गमनं तथा ।

षड्विधो भगवानत्र तृतीये विनिरूप्यते ॥१॥

रूपान्तरस्वीकरणमध्यायार्थ इहोदितः ।

प्रतीयमानो भगवानिति षड्विध उच्यते ॥२॥

कारिकार्थ — इस तृतीय अध्याय में १. 'जनन' (भगवान् का प्रकट होना), २. 'वर्णन' (प्रकट हुए भगवत्स्वरूप का वर्णन करना), ३. 'स्तोत्र' श्री वसुदेव कृत एवं ४. श्रीदेवकी कृत स्तुति (पृथक् २ स्तुति), ५. 'सान्त्वन' (देवकी वसुदेव के प्रति भगवान् के पूर्व जन्म—वृत्तान्त, वर्णनादि धैर्यप्रद वचन) तथा ६. 'गमन' ( श्री भगवान् का गोकुल को पधारना) इन षट् (६) भगवच्चरित्रों का निरूपण हुआ है भगवच्चरित्र भगवत्स्वरूपात्मक हैं। इस श्रुति प्रसिद्ध सिद्धान्त के अनुसार यहाँ पर षट् प्रकार से भगवान् का निरूपण हुआ है। ऐसा कहा गया है। १—ऐश्वर्य, २—वीर्य, ३—यश, ४—श्री, ५—ज्ञान, ६—वैराग्य ये भगवान् के षड् गुण हैं, जिनकी सूचना इधर वर्णित हुए चरित्रों की षट् संख्या से हो रही है ॥१॥

इस अध्याय का मुख्यतया प्रतिपाद्य अर्थ रूपान्तर स्वीकार कहा है। माता पिता के देखते २ भगवान् का प्राकृत<sup>१</sup> शिशु रूप ग्रहण करना ही रूपान्तर का स्वीकार करना है। इस रूपान्तर के स्वीकार करने वाला षड् ऐश्वर्यादि गुणपूर्ण भगवान् ही है जिस रूप में उसकी प्रतीति हो रही है वह रूप देह देही के भेद से रहित है। ऐसी सूचना

टिप्पणी — <sup>१</sup> नन्दालय में भगवत्प्राकट्य के समय ही मथुरा में उसी द्विभुज नन्दनन्दन का दर्शन देवकी वसुदेव को हुआ है जिसे प्राकृत शिशु रूप में कहा गया है। इस मर्म को सूचित करने के लिये भी रूपान्तर स्वीकार को ही प्रधानतया अध्यायार्थ माना है।

देने को जननादि षट्चरित्रों से अध्यायार्थ को समन्वित कर उसकी भगवद्रूपता बतलाई गई है ॥२॥

कारिका — अष्टभिश्च चतुर्भिर्वै दशभिश्चाष्टभिस्तथा ।

चतुर्दशभिरष्टभिः षडर्थाः क्रमतोत्र हि ॥३॥

ऐश्वर्यमष्टधा यस्मादर्थमात्रा हरौ परा ।

सार्धाष्टभिरतः प्रोक्तमैश्वर्यं सर्वमङ्गलम् ॥४॥

अधिकारिणि काले वै अनन्ता भगवद्गुणाः ।

खण्डशस्तेवयवशः सर्वेषां फलबोधकाः ॥५॥

कारिकार्थ — यहाँ क्रम से ही 'जनन आदि' ६ अर्थों को कहा है। प्रथम आठ श्लोकों से जनन चरित्र कहा है, चार श्लोकों से वर्णन चरित्र कहा है, दश श्लोकों से वसुदेवकृत स्तुति एवम् आठ श्लोकों से देवकीकृत स्तुति कही गई है, चौदह श्लोकों से सान्तवन चरित्र और आठ श्लोकों से गमन चरित्र कहा है ॥३॥

प्रथम जनन चरित्र में भगवान् के प्रथम गुण अष्टविध ऐश्वर्य की सूचना जिन आठ श्लोकों से की है उनका अन्तिम श्लोक 'सार्ध' है, उसमें आधा श्लोक अधिक है साढ़े आठ श्लोक हैं जिससे अष्टविध ऐश्वर्य की सूचना के साथ-साथ ही भगवान् की परमतत्त्वरूपता भी सूचित हो रही है, ओङ्कार की अन्तिम अर्धमात्रा परमतत्त्व प्रतिपादिका है। तापनीय श्रुति में 'अर्धमात्रात्मकः कृष्ण' यह स्पष्ट उल्लेख है। 'अर्धचक्षुर्थ मात्रेण 'ओं'— इत्येके नैवा क्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत', इस प्रश्न श्रुति में भी परम पुरुष के ध्यान में ओंकार की आधी चतुर्थमात्रा को प्रधानता दी है। अतः साढ़े आठ (८॥) श्लोकों से सूचित होता है कि जो सर्व मङ्गल निधान व अष्ट ऐश्वर्यपूर्ण एवं ओंकार गत अर्धमात्रा प्रतिपाद्य परमतत्त्व है उसी के जन्म का यहाँ पर वर्णन हो रहा है, तभी तो श्री देवकीजी के गर्भ का बढ़ना आदि सर्व धर्म स्त्री साधारण थे तो भी भगवान् के प्रकट होने का प्रकार 'प्रादुरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव' पुष्कलः लोक विलक्षण था एवम् 'तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणम्' स्वरूप भी लोकोत्तर था।

भगवान् का प्राकट्य जिस समय में हुआ है वह समय यद्यपि माङ्गलिक कार्यों में प्रशस्त नहीं किन्तु निन्दित ही है उत्तरायण न होकर दक्षिणायन का होना, शुक्ल पक्ष न

होकर कृष्ण पक्ष का होना, दिन न होकर रात्रि का भी निशीथ होना इत्यादि दोषों के होते हुए भी उस समय को सर्वगुणपूर्ण बतलाकर श्री शुकदेवजी ने यह सूचित कर दिया है कि काल भगवान् का एक अधिकार प्राप्त सेवक है। कार्य सचिव है, उसमें उत्तरायण आदि अनन्त शुभ फल सूचक गुण भगवान् के ही हैं उनकी कृपा से ही उसे प्राप्त हुए हैं। ॥५॥

कारिका — मूले समागते कालः स्वकीयान् सकलान् गुणान्।

हरौ प्रदर्शनार्थाय प्रकटीकृतवान् यथा ॥६॥

देशोऽपि त्रिविधश्चैव भूतान्यपि तथैव च।

तत्रत्या ये विदुस्तेऽपि ज्ञापनार्थं गुणान् स्वकान् ॥७॥

प्रकटीकृतवन्तो वै दोषनाशपुरस्सरम् ॥७½॥

कारिकार्थ — वह उत्तरायणादि काल गुण भी किसी अंश से सब लोगों को प्राप्त होने वाले अपूर्ण फल का बोध मात्र कराते हैं। फल का दान तो भगवान् के ही हाथ है ॥५॥

परन्तु जब काल के स्वामी मूलतत्त्व भगवान् स्वयं पधारते हैं तब तो वह काल अपने आराध्य प्रभु की सेवा में अपने समस्त उत्तरायणादि सदगुणों को उनके ईष्टिगोचर कराने के लिए आपकी वस्तु इस प्रकार संभाल कर रखी है इस आशय से प्रकट करता है ॥६॥<sup>१</sup>

उच्च देश आकाश, मध्य देश दिशा और अधो देश भूमि ने तथा इन देशों में रहने वाले देव मुनि, सिद्ध, गन्धर्व, किन्नर, चारण आदि ने भी एवम् जल, अग्नि, वायु

<sup>१</sup> 'गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथजी ने 'अधिकं तत्रानु प्रविष्ट न तु तद् हानि' इस न्याय को उपस्थित कर सका की है कि भगवान् के प्राकट्य का काल यदि उत्तरायण शुक्ल पक्ष एवम् दिन आदि होता तब तो और भी अच्छा ही था। भगवत्सेवक काल तो उन गुणों को प्रकट करता ही उत्तरायण आदि और अधिक रूप से गुणों की वृद्धि में उपयुक्त हो जाते, कोई हानि तो थी नहीं। उक्त शंका का समाधान करते हुए आप आज्ञा करते हैं कि भगवत्प्राकट्य की देश कालादि सर्व सामग्री आधिदैविक है, आधिभौतिक देश कालादि में भगवत्प्राकट्य सम्भव नहीं। यह लीलाकाल भगवत्स्वरूप है। भगवल्लीला का प्रारम्भ होने वाला है। अतः यह स्वरूपात्मक लीलाकाल प्रकट हुआ है। इसकी सूचना मूल में 'अर्थ' शब्द से की है कि अब सब ही प्रकार भिन्न है। जिस प्रकार रास लीला की षड् मास की रात्रियो में दिन का प्रवेश नहीं हुआ। यह उन रात्रियो की विलक्षणता थी, आधिदैविकता थी उसी प्रकार इस प्राकट्य काल में भी आधिभौतिक दक्षिणायनादि का प्रवेश नहीं। यह पुष्टिमार्ग की मर्यादा मार्ग से विलक्षणता और बलिष्ठता है। 'सर्वगुणेपेत' इस विशेषण से इस प्राकट्य गुणपूर्ण भगवद्रूपता स्पष्ट होती है।'

आदि भूतों ने भी अपने २ गुणों को प्रकट किया, इन सबके दोषों को नाश तो पूर्व में ही हो चुका था।

**श्री सु० आभास** — एवं पूर्वाध्याये भगवत उद्यममुक्त्वा सर्वेषां त्रिविधदुःखदूरीकरणाय, रूपान्तरस्वीकरणमुच्यते, अत आदौ रूपं वक्तव्यं, अन्यथा रूपान्तरत्वं न स्यात्, तस्य च प्राकट्ये यद्यधिकारिणां नैमित्तिकगुणप्राकट्यं सर्वं नोच्येत तदा प्राकट्यमपि जननापरपर्यायं स्यात्, न ह्येकस्य जनने सर्वे गुणा प्रकटीभवन्ति महतामन्येषाञ्च, जनकयोर्वा यदि स्तोत्रं नोच्येत तार्थमेव जनितमिति तयोर्बुद्धिः स्यात्, रूपस्य प्रदर्शनमात्रप्रयोजनव्यावृत्त्यर्थं स्वरूपकथनमपि वक्तव्यं, अन्याथाश्चर्यमात्रत्वेन निदानाज्ञानात् सन्देह एव तिष्ठेत्, रूपान्तरेण कार्यं न भवतीति गमनमावश्यकं, रूपान्तराभावे सर्वमुक्तिरेव स्यात्, लीलाया रसालता च न स्यात्, अलौकिकं लोकाद् दुर्बलमिति ज्ञापयितुं ऽष्टेऽप्यलौकिके जनकयोर्भयदर्शनम्।

**व्याख्यार्थ** — इस प्रकार पूर्ववर्ती द्वितीयाध्याय में भगवान् के अवतारार्थ उद्यम का वर्णन कर (इस तृतीयाध्याय में भूमि, माता—पिता तथा अन्यान्य भक्त) इन सबके सात्त्विक, राजस, तामस तीनों प्रकार के दुःख दूर करने के लिए अथवा कंसकृत, कालकृत, अज्ञानकृत इन तीनों प्रकार के दुःख करने के लिए रूपान्तर का स्वीकार कहा जाता है। अतः प्रथम रूप का वर्णन आवश्यक हैं क्योंकि किसी एक रूप का अन्य रूप में परिवर्तित होना ही तो रूपान्तर है। यदि भगवान् के रूप का वर्णन नहीं किया जावे तो उनके रूपान्तर का स्वीकार करना जो कि अध्यायार्थ है वह सङ्गत न हो सकेगा और यदि भगवत्प्राकट्य में काल आदि अधिकारियों के नैमित्तिक (भगवत्प्राकट्यमूलक) शुभसूचक गुणों के प्रकट होने का सर्वांश में वर्णन न किया जाय तब तो भगवत्प्राकट्य को प्राकट्य<sup>१</sup> शब्द से नहीं कहा जा सकेगा। तब तो वह “जनन” शब्द से ही व्यवहृत होगा क्योंकि सर्व गुणों का सर्वांश में प्रादुर्भाव किसी एक के भी जन्म काल में नहीं होता अन्यान्य बड़े २ महानुभाव ‘पृथु’ महाराज जैसों के भी जन्मकाल में सर्वगुणों का प्राकट्य नहीं हुआ, यदि वसुदेव एवम् देवकीकृत स्तुति का वर्णन न किया जाय तब तो उनके विषय में सर्व साधारण की यही बुद्धि (धारणा) हो सकती है कि इन

<sup>१</sup> परमतत्त्व श्रीकृष्ण के ही जन्म में ‘प्राकट्य’ शब्द उपयुक्त है, उन्हीं के आविर्भाव काल में सर्व तत्त्वों में आनन्द का आविर्भाव होता है। यही उनकी परमतत्त्वरूपता का साक्षात् हृदय-स्पर्शी प्रमाण है।



माता—पिताओं को इतना ही ज्ञान होगा कि हमारे चतुर्भुज पुत्र उत्पन्न हुआ है यह साक्षात् भगवान् है, इस प्रकार का ज्ञान तो उनकी की हुई स्तुति से ही स्पष्ट होता है। उक्त चतुर्भुज रूप केवल माता—पिता के दिखाने को ही प्रकट किया हो, ऐसी बात नहीं है किन्तु पूर्व जन्मों के प्रसङ्गों का स्मरण करा देना आवश्यक है। अतः शुकदेवजी ने 'सान्त्वन' प्रकरण में भगवत्कृत स्वरूप वर्णन का आवश्यक समझकर उल्लेख किया है, यदि ऐसा नहीं किया जाता तो वह अद्भुत स्वरूप दर्शन आश्चर्य ही बना रहता और उसके कारण का ज्ञान न होने के सन्देह ही रह जाना कि यह हमारे पुत्र कैसे हो सकते हैं, रूपान्तर के स्वीकार मात्र से भक्त दुःख निवृत्ति का कार्य बिना गोकुल पधारे नहीं हो पाता, अतः 'गमन' भी अध्याय के अन्तर्गत आवश्यक है।

**श्लोक: — अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः ॥**

**यर्होवाजनजन्मर्क्ष शान्तर्क्षग्रहतारकम् ॥१॥**

**मूलार्थ —** स्तुति कर देवताओं के चले जाने के अनन्तर परम सुन्दर एवं सर्व गुण सम्पन्न काल प्रकट हुआ जब ही रोहिणी नक्षत्र (आया) एवं उसके सहवर्ती अन्य नक्षत्र ग्रहतारा भी शान्त रूप से शुभ फल की सूचना देने को उपस्थित हुए ॥१॥

**व्याख्यानार्थ —** यदि प्राकृत शिशु रूप ग्रहण न किया जाता तो सर्व साधारण की मुक्ति हो जाने का सम्भव था तथा लीला की वह वात्सल्य माधुर्य आदि रसमयता<sup>१</sup> भी सम्पन्न न हो पाती। श्री वसुदेव एवं देवकी के भयभीत होने का वर्णन उनके ही स्तोत्रों में हुआ है, जबकि अलौकिक स्वरूप का दर्शन हो रहा है, ऐसी दशा में भी भय का होना स्पष्टतया सूचित करता है कि लौकिक की अपेक्षा अलौकिक<sup>२</sup> दुर्बल होता है। भगवान् की महिमा का ज्ञान अलौकिक है। उसके होते हुए भी इस बालक का क्रूर कंस

**टिप्पणी —** प्रकाशकार ने "आविरासीत्" इस अष्टम श्लोक गत क्रिया पद से सुदूर अन्वय को स्वीकार किया है। उनका कहना है कि अध्याहार की अपेक्षा दूर अन्वय में लाघव है अतः प्रथम श्लोक गत "अर्थ" का वहीं सम्बन्ध है। लेखकार ने इस पंक्ति को प्रकारान्तर से लगाया है उनका कहना है कि "इति" अर्थात् भगवान् प्रकट हुए हैं, इस कारण से (सम्बन्ध) गुणों का काल से सम्बन्ध हुआ।

<sup>१</sup> निज अन्तरङ्ग भक्तों को जिस रस का दान करता है जिस रस की प्राप्ति के बिना उनका ताप क्लेश निवृत्त नहीं हो सकता उस रसदान में रूपान्तर स्वीकार अत्यन्त आवश्यक है तभी तो यह ही मुख्यतया तृतीयाध्यायार्थ माना है।

<sup>२</sup> लीला की रसालता में यह भी उपयुक्त है, लोकवत् लीला कैवल्यभू—व्यास सूत्र भी लीला की—लोक तुल्यता का निर्देश करता है परन्तु आचार्य श्री की यह पंक्ति हम लोगों (वैष्णवों) को सावधान करने के लिये भी है कि अलौकिक भगवद्भाव की रक्षा सावधानता से करते रहें, लौकिक महान् प्रबल शत्रु है उससे बचते रहें।

से कोई अनिष्ट न हो जावे, इस प्रकार की स्नेहमय लौकिक बुद्धि का बना रहना स्पष्ट कर देता है कि लोक की प्रबलता है, अलौकिक की नहीं।

श्री सु० — प्रथममष्टैश्वर्ययुक्तमाविर्भावमाह, यदैव ते स्तुत्वा गता अथ तदनन्तरमेव भगवानाविर्भूत इतिसम्बन्धः, तदैव सर्वगुणोपेतः कालो जातः, यावन्तो गुणाः काले स्थापितास्ते सर्वे प्रकटीभूता जगवज्ज्ञापनार्थमित्यर्थः, अत एव परमशोभनो जातः, परमस्यापि भगवतः पूर्णगुणस्य शोभाजनकः, कालावयवरूपाणि यानि नक्षत्राणि तेष्वपि केवलगुणाधारभूता रोहिण्येव, भगवता हि स्वगुणप्राकट्यार्थमेव ब्रह्मोत्पादितः।

अनुवाद — शुक मुनि सर्व प्रथम भगवान् के अष्टैश्वर्य सहित प्रादुर्भाव का वर्णन करते हैं कि जब देवगण स्तुति करके चले गये, उसके अनन्तर ही भगवान् प्रकट हुए, उसी समय काल सर्वगुण सम्पन्न हो गया, जितने गुण काल में स्थापित किये थे वे सब प्रकट हो गये, भगवान् को अपनी सेवारत लाने को काल ने गुण प्रकट किये, इसी से काल परम शोभापूर्ण हो गया परम तत्त्व सर्व गुणपूर्ण भगवान् की भी शोभा का हेतु बन गया। काल के अवयव जो नक्षत्र हैं उनमें भी केवल गुणों का आश्रय 'रोहिणी' नक्षत्र ही है, भगवान् ने अपने गुणों को प्रकट करने के लिए ही ब्रह्मा उत्पन्न किया।

श्री सु० — स तु विकारान् दूरीकृत्य गुणानेव प्रकटयितुं तन्नक्षत्रं गृहीतवान् अत एवाजनस्य जन्मरहितस्य पुत्रोपि जन्मरहित एवेति ज्ञापयितुमजनाज् जन्म यस्य तस्य नक्षत्रमित्युक्तं "ततो वै ते सर्वान् रोहनरोहंस्तद्रोहिण्यै रोहिणीत्व" मिति श्रुतेः, यद्वाजनजन्मर्क्षं जातं, तदैव सर्वगुणोपेतः, कालो जात इतिसम्बन्धः, अनेन नक्षत्रारम्भे जन्मेति सूचितं, तस्य नक्षत्रस्य सर्वेषां सहायवर्तिनामानुगुण्यमाह शान्तर्क्षग्रहतारकमिति, शान्तान्यन्यान्पृक्षाणि ग्रहास्ताराश्च यस्य, अश्विन्यादीनि नक्षत्राणि, आदित्यादयो ग्रहाः, अन्यानि न नक्षत्राणि ताराः, यद्यपि तेषां ज्योतिः, शास्त्रे फलं नोक्तं तथाप्यस्तीति शान्तत्वमुक्तं, अनेन स्वाभाविका आनुषङ्गिकाश्च गुणा निर्दोषाः कालगता निरुपिताः॥१॥

अनुवाद — उस ब्रह्मा ने तो विकारों को दूर कर गुणों को ही प्रकट करने के लिए उस रोहिणी नक्षत्र का ग्रहण किया। (यहाँ दोषाभावपूर्वक सर्व गुणों के प्राकट्य द्वारा जन्म काल की आधिदैविकता का प्रतिपादन करना अभिष्ट है) इसीलिए रोहिणी नक्षत्र की "अजनजन्मा" ब्रह्मा) का नक्षत्र कहा है, जिससे उक्त नक्षत्र के देवता ब्रह्म की निर्विकारता सिद्ध होती है बात ऐसी है कि भगवान् तो जन्मादि विकारों से रहित होने के कारण 'अजन' कहलाते ही हैं। ब्रह्मा उन्हीं भगवान् का पुत्र है अतः वह भी जन्म रहित ही है। इसी से ब्रह्मा को "अज" शब्द से कहा गया है। अतः अजन्मा भगवान् से

जन्म प्राप्त करने के कारण “स्वयंभूः” “अजः” आदि शब्दों से संकेतित हुए ब्रह्मा के नक्षत्र को निर्दोष गुणपूर्ण होना सर्वथा समुचित ही है। श्रुति से ‘रोहिणी’ शब्द का जो निर्वचन प्राप्त हुआ है वही इस नक्षत्र की महिमा का पर्याप्त प्रमाण है भगवती श्रुति कहती है कि “उस<sup>१</sup> नक्षत्र से ही वे लोग सर्व उच्च स्थानों को चढ़ गये” वे अपने सम्पर्कियों को उच्च स्थान पर चढ़ा देना रोहिणी का रोहिणी नाम से व्यवहृत होने का कारण है, जब रोहिणी नक्षत्र हुआ तब ही सर्वगुणपूर्ण काल हुआ, इस प्रकार की योजना से सूचित होता है कि भगवान् का जन्म रोहिणी नक्षत्र के प्रारम्भ में ही हुआ। उक्त नक्षत्र के सब ही सहायवर्ती अन्यान्य नक्षत्रादि भी अनुकूल थे। ऐसा सूचित करने को ‘शान्तर्क्ष’ इत्यादि विशेषण का प्रयोग किया है कि इस नक्षत्र के सहचारी अन्य नक्षत्र, ग्रह और तारा भी शान्त थे, अश्विनी आदि नक्षत्र, सूर्य आदि ग्रह एवं उपनक्षत्र तारा सब ही शान्त थे शुभ थे। यद्यपि ज्योतिष शास्त्र में इन का फल नहीं कहा तो भी उनका भी फल होता है। इसीलिए उनकी शान्त अवस्था का निर्देश किया है। इस श्लोक से काल के सब ही स्वाभाविक एवम् सहयोग से प्राप्त होने वाले आनुषङ्गिक गुणों का निरूपण किया है। ॥१॥

**श्री सु०** — देशस्त्रिविधः, अधः उपरि परितश्चेति, तत्र परितो दिशः उपरि द्यौरधो भूमिः, त्रयाणां दोषाभावपूर्वक गुणा उच्यन्ते, तत्र दिशो देवतात्मिका भूतात्मिकाश्च भवन्ति, तत्र मेघादीनां<sup>२</sup> दूरदर्शनलक्षणप्रसादो दिशां भवति, देवताप्रसादस्तु सर्वसाधकः, अतो ज्ञानं सर्वमेव च फलं सिद्ध्यत्वित्युभयविधदिशां प्रसाद उच्यते दिशः प्रसेदुरिति।

**व्याख्या** — देश तीन प्रकार का है — नीचा, ऊँचा और सब ओर चारों तरफ, उसमें चारों ओर दिशा ऊपर आकाश और नीचे भूमि इन तीनों की निर्दोषता के साथ गुणों का वर्णन किया जाता है उनमें दिशा देवता रूप भी होता है और भूतात्मक भी होती है। उनमें भूतात्मक पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओं का प्रसाद (निर्मल होना) वह है, जिससे दूर देशस्थ वस्तु का भी दर्शन हो सके। मेघ आदि के न होने के कारण वैसी निर्मलता होती है और श्रवण इन्द्रिय की अधिष्ठात्री दिग्देवता का प्रसाद तो सर्व सिद्धि

**टिप्पणी** <sup>१</sup> यह श्रुति तैत्तरीय शाखाध्यायियों के ब्राह्मण भाग में रोहिणी की स्तुति रूप से उपलब्ध है, ऐसा योजनाकार लिखते हैं।

<sup>२</sup> मेघादीनां, ऐसा पाठ भी सङ्गत है, मेघादीना ऐसा पाठ तब सङ्गत होता है जब “दिशा” के आगे “न” शब्द और ह

का कारण है। अतः<sup>१</sup> ज्ञान भी सिद्ध हो और सर्व फल भी सिद्ध हो, इसलिए भूतात्मक और देवात्मक दोनों प्रकार की दिशाओं की प्रसन्नता 'दिशः प्रसेदुः' इन शब्दों से कही है—

**श्लोकः — दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम् ।।**

**मही मङ्गलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा ।।२।।**

**मूलार्थ —** जिस समय दिशाएँ निर्मल हो गई थीं आकाश भी निर्मल तारागणों के उदय से शोभित था। पृथ्वी में भी प्रत्येक नगर और ग्रामों में एवम् गौओं के रहने के स्थान तथा रत्नादिकों के भी उत्पत्ति स्थानों में सर्वत्र ही प्रचुर मङ्गल-लाचार हो रहे थे ।।२।।

**श्री सु० —** दिशः प्रसेदुरिति, निर्मला उडुगणा यत्र, वर्षाकाले मेघाः सहजास्तैः, कृत्वोडुगणानां प्रकाशो न ऽश्यत इति नैर्मल्यमुच्यते, उदयेति, उदयकालेपि मेघानामभावः, उदयो दर्शनमेव वा, मही भूमिर्मङ्गलभूयिष्ठा, सर्वत्रैव विवाहपुत्रजन्माद्युत्सवास्तस्मिन् समये जायन्त इति, पुरं नगरं, ग्रामाः साधारणाः, व्रजो गवां स्थानं, आकरा रत्नाद्युत्पत्तिस्थानानि, सर्वाण्येव मङ्गलभूयिष्ठानि यस्याम् ।।२।।

**व्याख्यानार्थ —** आकाश निर्मल तारागणों से उनके उदयकाल में भी शोभित था। वर्षाकाल में मेघों का होना स्वाभाविक है। उनके कारण ताराओं का प्रकाश नहीं दिख पाता। इस कारण ताराओं की निर्मलता बतलाई है कि उदयकाल में भी मेघादिकों का अभाव था उदय शब्द से "दर्शन" अर्थ यहाँ पर अधिक उपयुक्त है। आकाश में निर्मल तारागणों का दर्शन हो रहा था पृथ्वी में विवाह, पुत्र-जन्म आदि माङ्गलिक उत्सव होने लगे। बड़े से बड़े नगर, छोटे से छोटे ग्राम, गौओं के निवास तथा रत्न आदि के उत्पत्ति स्थान सब ही बहुविध एवम् अत्यधिक मङ्गलमय ऽश्यों से पृथ्वी से सज उठे ।।२।।

**श्लोकः — नद्यः प्रसन्नसलिला हृदा जलरुहश्रियः ।।**

**द्विजालिकुलसन्नादस्तबका वनराजयः ।।३।।**

<sup>१</sup> दूरदर्शिता एवं सर्व इन्द्रियों की सत्प्रवृत्ति के द्वारा जीवन की सफलता इन दो महान् लाभों की सूचना "दिशः प्रसेदुः" की व्याख्या में निगूढाशय आचार्य ने की है।

**मूलार्थ** — (जिस समय) नदियों का जल निर्मल था, सरोवर भी कमलों से शोभा सम्पन्न हो रहे थे, वन पंक्तियां भी पक्षीवृन्द एवम् भ्रमर पुञ्ज की गुञ्जार से पुष्प गुच्छों को मुखरित कर रही थीं ॥३॥

**श्री सु०** — एवं देशकालयोर्गुणानुक्त्वा भौतिकानां तत्तद्भूतप्रधानानां गुणानाह, तत्र प्रथममपामाह ।

नद्यः प्रसन्नसलिला इति, यद्यप्यापो बहुविधा एकोनविंशतिभेदास्तथाप्युभयविधा एव, स्थावरा वहन्त्यो वा, अत उभयानां गुणा उच्यन्ते, नदीषु कालवशात् पङ्क्तिं जलं भवति, आधिदैविककालवशात् कालनियन्तृभगवद्वशाद् वा स निवर्तते, अतः कालनियन्तरि भगवति समागते नद्यः प्रसन्नं सलिलं यासां तादृश्यो जाताः, दोषनिवृत्तिपूर्वकः, स्वाभाविक गुण उक्तः, हृदाः स्थावराः, जलरुहाणां कमलानां श्रियेषु, जलस्य योयं सारांशः स कमलादिः, अतोसाधारणा गुणा अनेनोक्ताः, भूमेर्गुणान् वक्तुं गन्धस्तस्या मुख्यो गुण इति स च पुष्पादिषु प्रसिद्ध इति गन्धरसकार्यकथनपूर्वकं पुष्पादिसम्पत्तियुक्तां वनरूपां भूमिमाह द्विजालीति, द्विजाः पक्षिणः, अलयो भ्रमराः, उभयेषां कुलानि, तेषां सन्नादयुक्ताः स्तम्बकाः पुष्पगुच्छा यासां तादृश्यो वनराजयो वनपङ्क्तयो जाताः ॥३॥

**व्याख्यार्थ** — इस प्रकार देश और काल के गुणों का वर्णन कर उन-उन भूतों की प्रधानता रखने वाले भौतिक पदार्थों के गुणों को कहते हैं उनमें प्रथम जलों के गुणों को कहते हैं कि नदी प्रसन्न सलिला हो गई। उनका जल निर्मल हो गया यद्यपि जल अनेक प्रकार के हैं फिर भी मुख्य दो ही प्रकार हैं। एक तो स्थिर रहने वाले और दूसरे बहने वाले। अतः उन दोनों के गुण कहे जाते हैं। नदियों में कालवश जल गंदला हो जाता है। आधिदैविक काल के प्रकट होने से या काल के नियामक भगवान् के सामर्थ्य से वह गंदले होने का दोष दूर होता है अतः काल के नियामक भगवान् के पधारने के समय नदियों का नीर निर्मल हो गया एवम् प्रसाद गुण पूर्ण हो गया। इस प्रसन्न सलिला पद के द्वारा मलांश दोष की निवृत्ति के साथ साथ स्वाभाविक नेत्र सुखकारी सौन्दर्य गुण का निर्देश किया है। सरोवर स्थिर जलाशय होते हैं। जल में प्रकट होने वाले कमलों की शोभा उन जलाशयों में व्याप्त हो रही थी। जल का जो यह सारांश है या उनके हृदय का जो रत्न है वह कमलादि ही है। अतः जल के असाधारण गुणों का वर्णन इस विशेषण से हुआ है। भूमि के गुणों का वर्णन करना है, इसलिए गन्ध की

भूमि का प्रधान गुण है, इस दृष्टि से गन्ध और रस के कार्यों<sup>१</sup> का कथन करते पुष्पादि सम्पत्तिपूर्ण वनरूपिणी भूमिका वर्णन करते हैं कि पक्षियों एवम् भ्रमरों के समूहों की मधुर ध्वनि से शब्दायमान पुष्प गुच्छों द्वारा वन रात्रियाँ भी आनन्दोल्लास से परिपूर्ण हो गईं ॥३॥

श्लोक: — ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः ॥

अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत ॥४॥

मूलार्थ — (उस समय) पवित्र एवम् शुभसूचक सुगन्धपूर्ण तथा सुस्पर्श वायु बह रहा था और द्विजातियों के शुभ अग्नि देव भी प्रदीप्त हो उठे थे ॥४॥

श्री सु० — ववौ वायुरिति, सुखस्पर्शो वायोर्गुणः, गन्धं च भूमेर्वहतीति शुभकार्यं, पुण्यं गन्धं वहतीति पुण्यगन्धवहः, शुचिर्गङ्गादिजलसम्बन्धी दोषरहितो वा, योवा वायुः शुभसूचकः स शुचिः, अग्नयो लौकिका वैदिकाश्च, द्विजातीनामिति निषिद्धेतराः, तत्राप्यशुभकार्यस्यव्यावृत्त्यर्थं शान्तास्तस्मिन् समये समिन्धत सम्यग् दीप्ता जाताः, तस्मिन् समये शुभा अग्नयः पिहिता अपि प्रज्वलिता जाता इत्यर्थः ॥४॥

व्याख्यार्थ — सुखमय स्पर्श वायु का गुण है और वह वायु पृथ्वी के प्रधान गुण गन्ध का वहन करता ही है परन्तु भगवत्प्राकट्य के सुअवसर पर तो उस वायु ने शुभसूचक पवित्र सुगन्ध को बहा दिया दिशा विदिशाओं को सुगन्ध से सुवासित कर दिया, इस वायु में गंगादि पवित्र नदियों के जल कण व्याप्त थे अतः इसे 'शुचि' कहा है अथवा दोष रहित होने के कारण इसे 'शुचि' कहा गया है या शुभसूचक होने से 'शुचि' है, उक्त सब ही अभिप्रायों को लेकर शुचि पद का प्रयोग हुआ है, वायु के दोषाभाव और गुणों में उसके तीनों विशेषणों का उपयोग है, और स्मृति प्रतिपादित कर्मों के उपयोगी लौकिक अग्नि तथा श्रुति प्रतिपादित अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मों के उपयोगी वैदिक अग्नि दोनों प्रकार के शुभ अग्नि प्रज्वलित हो उठे "द्विजातीयनाम्" इस पद से अग्नि के ब्राह्मण आदि उच्च श्रेणी के सत्कर्माधिकारियों के सम्बन्धी होने का निर्देश किया है और उसके द्वारा म्लेच्छ आदि से सम्बन्धित निषिद्ध कर्मगत अग्नि का अग्रहण

<sup>१</sup> आम्र आदि के पुष्प गुच्छों पर केवल रसना द्वारा रस ग्रहण करने वाले कोकिलादि पक्षियों का और मालती आदि के पुष्प गुच्छों पर गन्ध तथा रस दोनों के ग्राहक भ्रमरो का वर्णन यथा योग्य ज्ञातव्य है।

सूचित किया है अर्थात् म्लेच्छों की अग्नि बुझ गई, यह सूचित किया है “शान्ता” इस विशेषण से अशुभ कार्यगत अग्नि का व्यावर्तन किया है, आशय यह है कि भगवत्प्राकट्य के सुअवसर पर शुभ अग्नि दबी हुई भी जाग उठीं और अशुभ मांसपाकादि क्रियागत अग्नि जगाने से भी नहीं जगी ॥४॥

**श्लोक: —** मनास्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम् ॥

जायमानेऽजने तस्मिन् नेदुर्दुन्दुभयो दिवि ॥५॥

**मूलार्थ —** (उस समय) असुरों के विरोधी सब ही सन्मार्गवर्ती साधुओं के मन उत्साहपूर्ण होकर खिल उठे थे, अजन्मा के जन्म काल के अधिक निकट आने पर आकाश में नगाडे बजने लग गये ॥५॥

**श्री सुबोधिनी —** सात्त्विकाहङ्कारकार्यं मन इति भौतिकगुणसमये मनसोऽपि गुणा उच्यन्ते ।

यदा सत्त्वमारुढं भवति तदा मनांसि प्रसन्नानि भवन्ति, मनसो दैत्यसम्बन्धित्वमपि वर्तत इति तन्निवृत्त्यर्थं साधूनामित्युक्तं इदं साधुपदं दैत्यव्यतिरिक्तमात्रपरमिति ज्ञापयितुमसुरद्रुहामित्युक्तं, साधुपदं च व्यवहारे सन्मार्गवर्तित्वाय, इयमवस्था स्थूलकालेपीति निकटकाले विशेषमाह जायमानेजन इति, अजने जायमाने दिवि दुन्दुभयो नेदुः, तस्मिन्निति तन्निकटे, यथा वसुदेवादयः, शृण्वन्ति, आकाशस्य गुणा नृत्यवादित्राणि, दुन्दुभिर्मङ्गलवाद्यं, स्वयमेव नेदुर्न तु कैश्चिद् वादिताः ॥५॥

**अनुवाद —** मन सात्त्विक अहंकार का कार्य है। इस कारण से (तामस अहङ्कार के कार्य) पृथिवी आदि भौतिक पदार्थों के गुण वर्णन के अवसर पर मन<sup>१</sup> के भी गुणों को कहा जाता है, जब सत्त्वगुण<sup>२</sup> मन से आरुढ होता है अर्थात् मन सत्त्व गुण पर स्थित होता है, तब मन प्रसन्न होते हैं, मन दैत्यसम्बन्धी भी होता है, उस दैत्य सम्बन्धी मन को प्रसन्नता प्राप्त नहीं हुई ऐसा बतलाने की ‘साधूनाम्’ इस पद का प्रयोग किया है, यह ‘साधू’ पद दैत्यों के अतिरिक्त सब ही का बोधक है ऐसा सूचित करने को ‘असुरद्रुहाम्’ इस पद का प्रयोग किया है, व्यवहार में सन्मार्ग पर बर्तने वाला सदाचारी ही साधु है ऐसा बतलाने को ‘साधु’ पद उपयुक्त है, यह अवस्था स्थूल काल में भी रही अर्थात् भगवान् के जन्म काल से कुछ पूर्व में इस अवस्था का प्रारम्भ हुआ और माया

टिप्पणी — <sup>१</sup> मन सब ही इन्द्रियों का उपलक्षण है समस्त इन्द्रियों की प्रसन्नता में तात्पर्य है।

<sup>२</sup> यदा रजः स्तमोभावाः कामलोभदयश्च ये चेत एतैरनाविद्धम् स्थित सत्त्वे प्रसीदति” भा. प्र. स्क. द्वि. अ. १६वां श्लोक ३३-

के जन्म पर्यन्त यह देश काल आदि की प्रसन्नता वाली अवस्था वर्तमान रही परन्तु जन्म के निकट समय में तो यह विशेषता हुई कि आकाश में दुन्दुभि बज उठीं, अजन्मा भगवान् के प्राकट्यकाल के निकट आते ही आकाश में निगाड़े खड़कने लगे, यह शब्द इतना निकट था जिससे वसुदेवजी आदि सुन सकें आकाश' के गुण नृत्य और वाद्य हैं, दुन्दुभि मंगलवाद्य है, आप ही आप दुन्दुभि बजी थीं किन्हीं लोगों ने इन्हें बजाया नहीं था ॥५॥

**श्लोक: —** जगुः किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः ॥

विद्याधराश्च ननृतुरप्सरोभिः समं मुदा ॥६॥

**मूलार्थ —** (उस समय) किन्नर और गन्धर्व गान करते थे, सिद्ध एवम् चारण लोग स्तुति पढ़ रहे थे और विद्याधर गण अप्सराओं के साथ हर्ष से नाच रहे थे ॥६॥

**श्री सु० —** किन्नरगन्धर्वा अपि स्वत एवोल्लसितहृदया जगुः, अज्ञात्वैवेति ज्ञातव्य, अन्यथा माहात्म्यप्रतिपादकं न स्यात्, सिद्धाश्चारणाश्च तुष्टुवुः, अकस्मादेव स्तोत्रं तत्काले कृतवन्तः, ते हि वैतालिकप्रायाः, विद्याधरा नर्तकाः, चकाराद् विद्याधर्यश्च ननृतुः, अप्सरोभिः सममित्यानन्दावेशेनैव नृत्य, न तु शास्त्रीयं, मुदाऽऽनन्देन, न केनचित् प्रेरिताः, स्वत एवानन्दाविर्भूता<sup>१</sup> अकस्मात् तस्मिन् समये स्त्रियः पुरुषाश्च ननृतुः, अनेन ये केचन यस्यां विद्यायां रतास्तेकस्मान् मुदा तत्तत् कार्यं कृतवन्त इत्यर्थः ॥६॥

**व्याख्यार्थ —** किन्नर और गन्धर्व भी गान करने लगे। उनका हृदय स्वतः ही उल्लासपूर्ण हो गया, भगवान् प्रकट हो रहे हैं — इस ज्ञातव्य विषय के ज्ञान के बिना ही उनकी यह रसमत्त दशा हो गई, यदि भगवत्प्राकट्य को जानकर उन्होंने गान किया ऐसा माना जाय तब तो भगवत्प्राकट्य की महिमा का प्रतिपादन न हो सकेगा, उसकी स्वाभाविक चमत्कृति का दिग्दर्शन न हो सकेगा, सिद्ध और चारण स्तुति करने लगे, उस समय अकस्मात् ही माङ्गलिक स्तुति पाठ में प्रवृत्त हो गये, क्योंकि वह लोग इस

**टिप्पणी —** <sup>१</sup> आकाश प्रधान अन्तरिक्ष लोक के यह नृत्य आदि गुण कहे हैं। इस श्लोक में दुन्दुभि वाद्य कहा है आगे श्लोक में गान और स्तुति कही है। गान और स्तुति तो शब्द रूप से आकाश के गुण स्पष्ट है ही।

<sup>२</sup> आनन्दाभिभूता ऐसा पाठ होना अत्यधिक सम्भव है। लेखकार ने तो स्वत एव जातो य आनन्दस्तेनाविर्भूतास्तेषा गानादि क्रियाइति शेषः, इस प्रकार पक्ति के लगाने की सफल चेष्टा की है परन्तु उस प्रयास की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती पूर्वा पर ही वाङ्मारा से 'आनन्दाविर्भूता', ऐसा ही प्रयोग अधिक सङ्गत प्रतीत होता है।



माङ्गलिक समय के राय भाट जैसे थे, विद्याधर लोक नर्तक (नाचने वाले) थे। विद्याधराश्च इस च शब्द से यह भी सूचित होता है कि विद्याधरों की स्त्रियाँ भी नाचने लगीं, अप्सराओं के साथ सम्पन्न हुआ यह नृत्य आनन्द के आवेश से ही है नाट्य<sup>१</sup> शास्त्र की पद्धति से नहीं अतएव 'मुदा' पद के द्वारा आनन्द की सूचना की है, किन्नर आदि किसी के प्रेरणा से गानादि में प्रवृत्त नहीं हुए किन्तु स्वतः ही आनन्द से व्याप्त होकर अकस्मात् स्त्री और पुरुष उस समय नाचने लगे, इससे यह अर्थ निकलता है कि जो भी कोई जिस विद्या में तल्लीन थे वह सहसा हर्ष के साथ उस कार्य को करने लगे ॥६॥

श्लोकः — मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः ॥

मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम् ॥७॥

श्लोकार्थ — (उस समय) मुनि एवम् देवताओं ने प्रसन्नता के साथ सुमन वृष्टि की एवं मेघों ने सागर के निकट मन्द मन्द गर्जना की ॥७॥

श्री सु० — देवा ज्ञात्वैव पुष्पवृष्टिं मुमुचुर्मुनयश्च, शब्दबला मुनयः, अर्थबला देवाः, उभये प्रामाणिकाः, स्वसेवामभिज्ञतां च ज्ञापयितुं शुभसूचनार्थं सुमनांसि पुष्पाणि हर्षेणान्विता मुमुचुः, सर्वथा मेघानामभावे विपरीतः कालधर्मोऽशुभकर इति तेषामपि कार्यमाह जलधरा मन्द मन्दं सागरनिकटे जगर्जुः ॥७॥

व्याख्यार्थ — देवगण और मुनिगणों ने भगवत्प्राकट्य को जान<sup>२</sup> कर ही धारा रूप से पुष्पों की वृष्टि की थी मुनियों<sup>३</sup> को शब्द रूप श्रुति का बल है और देवताओं को अर्थ रूप भगवान् का ही बल है, यह दोनों प्रामाणिक है, इन्होंने अपनी सेवा (प्रभु के प्रति सेवक का कर्तव्य) और भगवान् पधारते हैं, इस विषय में अपनी जानकारी प्रकट करने की मङ्गल की सूचना के लिए हर्षपूर्वक पुष्प-वृष्टि की, भगवत्प्राकट्य काल में यदि

<sup>१</sup> शास्त्रीय नृत्य में तो उसके नियमानुसन्धान से व्यग्रता का रहना स्वाभाविक है और व्यग्रता की दशा में आनन्द की स्थिति समुचित साङ्गोपाङ्ग बनी रहे यह सम्भव नहीं।

<sup>२</sup> क्योंकि पुष्प वृष्टि एक ऐसा कार्य है जिसमें गान आदि की भांति अज्ञान पूर्वकता का सम्भव नहीं, गान आदि आनन्द की उमङ्ग में स्वतः भी होते हैं परन्तु पुष्प वृष्टि उनके कारण का ज्ञान होने पर ही हो सकती है।

<sup>३</sup> प्रकाशकार के अनुसार यह व्याख्या है, लेखकार ने तो मुनि और देव दोनों को क्रम से शब्द और अर्थ के द्वारा वेद के उपजीवी बतलाया है। मुनिगण वेद का स्वाध्याय कर सामर्थ्य-सम्पन्न होते हैं और देवगण अपने प्रतिपादक मन्त्रों द्वारा प्राप्त हुए हवि का भोग का सामर्थ्य सम्पन्न होते हैं। लेखकार का कहना है कि कालादि के गुण जो पूर्व में कहे गये हैं वह सब रूप लीला सम्बन्धी पदार्थों के ही कहे गये हैं नाम लीला सम्बन्धी पदार्थों के गुण यहाँ देव और मुनियों के पुष्प वृष्टि द्वारा कहे हैं।

सर्वथा ही मेघ न होवे तब तो वर्षा-ऋतु मे मेघों के न होने से काल-धर्म विपरीत होने से अशुभकारी समझा जावे, अतः मेघों का भी कार्य वर्णन किया है कि समुद्र के तट पर मेघों, जे, गर्जना, की ५॥१०॥१८॥

श्री सु० — अथ च मुनयः सुष्ठु निर्दुष्टानि मनांसि पुरुषोत्तमसम्बन्धाभावात् समाधितो निष्कारस्य तदाविर्भावस्थले मुमुचुर्ववृष्टिरित्यर्थः, देवास्तु पुष्पाणीत्यर्थः, अतएव पुष्पादिपदानि विहायोभयार्थकत्वात् सुमनःपदमुक्तं, सुमनसः इतिस्त्रीलिङ्गप्रयोगाभावश्च, पुष्पवाचकस्यैव स्त्रीलिङ्गनिर्देशाद्, अन्यथा भुवि स्थितानां मुनीनां नभसि स्थितैर्देवैः सह वृष्टिकर्तृत्वं कथमुपपद्येत ? मनसः पुष्पतय कथनमुज्ज्वलत्वसङ्कोचविकासादिधर्मतत्त्वादविरुद्धम्, मुदान्विता इति, तत्रानन्दावेश-लक्षणमकरन्दसम्पत्तिः सूचिता, तदा सुमनोवृष्ट्यपेक्षया जलवृष्टिरल्पा नाद्भुता चेति मत्वा मेघा नववृष्टि-किन्तु तत्र गर्जित नास्तीति तावत् कार्यं कृतवन्त इत्याह मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरिति मेघानामुच्चैर्गर्जनं पूर्वोक्तवाद्यगीतादिश्रवणप्रतिबन्धकतां भवतीति तदभावाय मन्दं मन्द-मित्युक्तं, अन्यथा तद्वैयर्थ्यापत्तेः ।

अनुवाद — मुनियों ने अपने निर्दोष मानसों को पुरुषोत्तम से सम्बन्ध के न होने के कारण समाधि से निकालकर भगवान् के प्राकट्य स्थल पर छोड़ दिये व रख दिये धारावाहिक रूप से उनकी मनोवृत्ति वहीं पर लग गई, देवताओं ने तो वहाँ पर पुष्पों की वृष्टि की, ऐसा अर्थ है इसीलिए पुष्प आदि पद को छोड़ कर "सुमनस्" पद का प्रयोग किया है, क्योंकि ये पद सुन्दर मन और पुष्प दोनों अर्थों का वाचक है, पुष्पवाचक "सुमनस्" शब्द स्त्रीलिङ्ग का "सुमनसः" ऐसा प्रयोग न करना सूचित करता है कि द्वितीय अर्थ 'सुन्दर मन' भी यहाँ अभीष्ट है, अन्यथा भूमि में स्थित रहने वाले मुनियों का आकाश में स्थित हुए देवताओं के साथ पुष्प-वृष्टि करना कैसे सिद्ध हो सकेगा मन का पुष्प रूप से कथन पुष्पों के "उज्ज्वल एवं सङ्कोचविकास आदि धर्मों से युक्त होने के कारण विरुद्ध नहीं (किन्तु अनुकूल है उचित है) 'मुदान्विताः' इस विशेषण से मुनियों और देवताओं में आनन्दावेश की सूचना है जिससे पुष्प रूप मुनि मानसों की मकरन्दभरपूर्णता व्यञ्जित होती है, उस समय मेघों ने विचार किया कि इस सुमन वृष्टि की अपेक्षा हमारी की हुई जल-वृष्टि न्यून रहेगी और ऐसी अद्भुत न होगी। अतः उन्होंने जल-वृष्टि नहीं की, किन्तु वहाँ गर्जना नहीं है अतः गर्जना मात्र ही मेघों ने आवश्यक कर्त्तव्य समझकर की, गर्जना भी मन्द-मन्द सुहावने ढङ्ग से की जिससे वह

किन्नर गन्धर्वों के गान तान सुनने में आ सके, क्योंकि गम्भीर पूर्वोक्त वाद्य गीत आदि के श्रवण में प्रतिबन्ध करने वाली होती है अतः उसमें प्रतिबन्ध न होने पावे इसलिए मन्द गर्जना की ऐसा कहा है, अन्यथा वाद्य गीतों की व्यर्थता हो जाने की आपत्ति थी, इससे यह अभिप्राय सिद्ध होता है कि एक ही साथ वाद्य, गीत और गर्जना हो रहे थे और उनका आपस में मेल मिल रहा था एक दूसरे के उतराव चढ़ाव में सहायक हो रहे थे ऐसी सुव्यवस्था के साथ सब लोगों के सुनने में आ रहे थे।

श्री सु० - तथा च युगपज्जायमानान्यपि वाद्यगीतगर्जितान्यन्योन्यमिश्रितानि सर्वैर-  
श्रूयन्तेतिभावः, किञ्च जगर्जुरेव न तु ववृषुः, यतो जलधरा न जलमुचः, अत्रायमाशयः, मेघास्तु भगवत्प्राकट्यात् पूर्व लोके नीलरूपमश्लाघ्यं मत्वा स्वस्य ताडशत्वेन तदभावाय जलमुचो जाताः, इदानीं स्वसारूप्यमङ्गीकृत्य भगवान् प्रकट इति कवयोऽग्रे स्वस्योपमां दास्यन्ति तेन स्वजन्मसाफल्यं भविष्यतीति हर्षवशादात्मनो नीलरूपस्यैवाभीष्टत्वेन तद्धेतुभूतं च जलधारणं, अन्यथा शुभ्रता स्यात्, अतो जलधरा जाताः, यद्यपि मरकतेन्दीवरादीनामपि सारूप्यमस्ति तथापि स्वस्य विद्युत्सहभावात् कामिनीतनुकनकलतालङ्कारणदशायां द्वैरूप्येपि सादृश्यमधिकमिति च जलधरपदेन सूचितं, सजलमेघानामेव तडित्सहभावदर्शनाद्, अपि च समुद्रः स्वगाम्भीर्यगुणं प्रभुरङ्गीकृतवानितिगर्वेण गर्जति तस्य तं गर्वमपहन्तुं धर्मापेक्षया स्वरूपसादृश्यं स्वस्याधिकमिति ज्ञापयितुमनुसागरमित्युक्तं।

व्याख्यार्थ - वह मेघ जल का धारण करने वाले ही थे वर्षा करने वाले नहीं थे अतः गर्जना ही की वृष्टि नहीं की मेघों का 'जलचर' शब्द के व्यवहार करने में शुकदेवजी का यह आशय है कि भगवत्प्राकट्य से पूर्व में नील वर्ण की प्रशंसा लोक में नहीं थी इस कारण वह अपने नीलरूप को अप्रशस्त समझ कर उसके दूर करने के लिए जल का त्याग करते रहते थे, और शुभ्र हो जाते थे, परन्तु अब तो परम मनोहर श्याम स्वरूप प्रभु प्रकट हो रहे हैं अतः कविगण आगे हमारी उपमा उन्हें देवेंगे, उससे हमारा जन्म सफल होगा इस हर्ष के कारण अपने नील रूप को अभीष्ट होने से उसे बचाये रखने को उस नीलरूपता का कारण जल धारण है, इस विचार से जलधर ही रहे आये, 'जलद' या जलभुक्' नहीं हुए, यदि जल धारण नहीं करते उसकी वृष्टि कर देते तो शुभ्रता हो जाती नीलिमा न रह पाती, यद्यपि मरकत मणि, नील कमल आदि की भी समान रूपता है परन्तु अपना (मेघ) का साथ विद्युत (बिजली) से होता है मरकतादि का नहीं, अतः स्वामीनिओं की सुनहरी तनुलता से जब श्याम तमाल प्रभु

वेष्टित होंगे तब उस दशा में युगलच्छवि के दोनों रूपों में अधिक साम्य अपना ही ठहरेगा, इत्यादि 'जलधर' पद का स्वारस्य है, क्योंकि जल वाले मेघों में ही विद्युत् का साथ देखने में आता है, और भी बात यह है कि समुद्र इस गर्व से गर्जना करता है कि मेरे गाम्भीर्य गुण को प्रभु ने अङ्गीकार किया है, उसके उस गर्व को दूर करने के लिए मेघ गर्जता है कि तेरा तो केवल गाम्भीर्य मात्र धर्म से ही साम्य है और मेरा साम्य तो स्वरूप से है अतः मेरा साम्य अधिक है तू क्या गर्व करता है ऐसा सूचित करने के लिए 'अनुसारगम' यह पद कहा है ॥७॥

आभास - एवं देश कालयोस्तत्रत्यानामृतोश्च गुणानुक्त्वा रात्र्यास्तन्मुहूर्तस्य च गुणानाह निशीथे इति ।

श्लोकः— निशीथे तमउद्भूते जायमाने जनार्दने ।  
देवक्यां विष्णुरुपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ॥८॥  
आविरासीद् यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥८½॥

मूलार्थ - (जिस समय) अविद्या नाशक भगवान् जनार्दन प्रकट हो रहे थे अंधकार ऊँचा जा चुका था उस अर्धरात्र के समय विष्णु रूप धारिणी श्री देवकी में सर्वान्तर्यामी पुरुषोत्तम भगवान् विष्णु का पूर्व दिशा में पूर्ण चन्द्र की भांति जन्म हुआ ॥८½॥

श्री सुबोधिनी - अर्धरात्रं निशीथं पञ्चचत्वारिंशत्षट्चत्वारिंशदघटिकाद्वयं, तस्य दोषाभावः तमउद्भूत इति, तम उद्भूतं, ऊर्ध्वं भूतं निवृत्तं यस्मिन्, योहि निर्गच्छति स ऊर्ध्वो भवति, जायमाने जनार्दने सतीति गुणा उक्ताः, यावता गुणेन जना नामविद्यामर्दयतीति सर्वाविद्यानाशकः प्रादुर्भवति तांशगुणवान् निशीथ इत्यर्थः, भगवज्जननस्य मूलभूतगुणानां प्राकट्ये भौतिकानां च प्राकट्ये निमित्तत्वं वक्तुं 'जायमानेऽजन' इति मध्ये निरूपितं, अजनत्वान्न कालनिमित्तत्वं किन्तु कालस्य तांशगुणवत्त्वेऽजन एव निमित्तं, अन्ते च पुनर्जायमाने जनार्दन इति सर्वाविद्यानाशनार्थं प्रादुर्भावे सर्वगता गुणाः प्रकटीभवन्तीति प्रकटीभावे हेतुरुक्तः, एवं सन्दर्भे भगवतोऽवतारत्रयमप्युक्तं, सर्वधर्मसंरक्षकोऽनिरुद्धः सर्वमुक्तिदाताऽज्ञाननिवृत्तिद्वारा सङ्कर्षणो देवक्यां प्रद्युम्नो नन्दगृहे वासुदेव इति सर्वरूपेणाप्याविर्भूतो भगवानित्युक्तं ॥८½॥

**व्याख्यानार्थ** — इस प्रकार देश कालों के तथा देश कालस्थ जलवायु आदि तत्त्वों के और वर्षा ऋतु के गुणों का निरूपण करने के अनन्तर 'निशीथे' आदि श्लोकार्थ से रात्रि के और उसके मुहूर्त के गुणों का वर्णन करते हैं रात्रि का मध्य भाग जहाँ उसके पूर्वार्ध और उत्तरार्ध मिलते हैं वह अर्धरात्र या निशीथ कहलाता है, जो कि ४५ पैतालीस<sup>१</sup> और ४६ छयालीसवीं घड़ियों का जोड़ा है, उस समय की निर्दोषता का सूचक 'तम उद्भूते' यह विशेषण है क्योंकि उस निशीथ में तम (अन्धकार) उद्भूत हो चुका था ऊँचा हो चुका था अर्थात् निवृत्त हो चुका था; रात्रि का दोष अन्धकार है उसकी निवृत्ति से निर्दोषता सिद्ध होती है, ऊँचा होना ही निवृत्त होना है क्योंकि देखा जाता है कि जो निकल जाता है वह ऊँचा होता है (और<sup>२</sup> जो फंसा रह जाता है वह नीचा पड़ा रहता है) जनार्दन के जन्म का वर्तमान काल होने से (जायमाने जनार्दने) के द्वारा उस काल के गुणों का निर्देश किया है जितने गुण से सर्व प्राणियों के अविद्या नाशक जनार्दन प्रभु प्रकट होते हैं वैसे गुणों का आधार वह निशीथ काल था, ऐसा अर्थ है।

**श्री सुबोधिनी** — निमित्तत्वं च भगवत एव दोषाभावे गुणप्राकट्ये च, ननु तार्थशोपि कालः सहजः कश्चिदस्तीत्येकमेव चेन् निमित्तमुच्येत तस्मिन् समयेन्योप्युत्पन्नो भगवत्सर्गः स्याद्, अतो भगवत्प्रादुर्भाव एव गुणप्राकट्ये निमित्तं भगवत्प्रादुर्भावार्थमेव गुणप्राकट्यं चेति निरूपितं, एवं सर्वांशो भगवान् प्रादुर्भूत इत्याह 'देवक्यामिति'! देवक्यां विष्णुः प्रादुरासीत्, देवानां समूहो देवकी, सम्पूर्ण

**टिप्पणी** — <sup>१</sup> यद्यपि मेष या तुला राशि पर सूर्य के संक्रमण काल में ही दिन मान और रात्रि मान ३० तीत— तीस घड़ियों का होता है उसी दिन अर्ध रात्र ४५—४६ घड़ियों का होता है सिंह राशिस्थ सूर्य के काल में ४६—४७ घड़ियों का अर्ध रात्र होता है तो भी ४५—४६ घड़ियों का निर्देश किस प्रकार हुआ ? इस विषय पर प्रकाश डालते हुए प्रकाशकार ने भगवान् के जन्मकाल का गणित कर इस प्रकार निर्णय दिया है कि कलयुग आने से १२५ वर्ष पूर्व भगवान् का जन्म हुआ था, तथा उस वर्ष में 'आषाढ' मास अधिक था उस दिन का मान घड़ी ४ पल था एवं रात्रि का मान २८ घड़ी ५६ पल था रात्रि का पूर्वार्ध १४ घड़ी २८ पल का था तथा रात्रि का उत्तरार्ध भी १४ घड़ी २८ पल का ही था तदनुसार अर्धरात्र का काल ४५ घड़ी के अनन्तर ३२ पल व्यतीत होने पर आता है भगवान् का जन्म उसी समय हुआ था उसी समय चन्द्रमा का भी उदय हुआ था परन्तु अन्धकार की निवृत्ति ४५ वीं घड़ी के आरम्भ होते ही हो गई थी ३२ पलों से पूर्व ही चन्द्र प्रकाश का क्षितिज से संयोग होने पर अन्धकार हट गया था इस अन्धकार के हटने के काल का उल्लेख ४५वीं घड़ी पर किया है जिससे अन्धकार की निवृत्ति के द्वारा सर्व दोषों की निवृत्ति का बोध कराना अभीष्ट है कि उस समय किसी प्रकार का कोई दोष अवशिष्ट नहीं रहा था — सर्व दोषों की निवृत्ति होने पर ही 'प्रादुरासीद् तथा प्राच्यादिशी— न्दुरिव पुष्कलः' पूर्ण चन्द्र कृष्ण चन्द्र का प्राकट्य हुआ।

<sup>२</sup> यह आशय है निगूढाशय वाक्पति का जीवों की संसारासक्ति के अभाव सम्पादन में।

देवसमूहे पूर्णसत्त्वं भवति, तच्च सत्त्वं भगवदाविर्भाव आधारत्वेन निमित्तं भवति यथाग्नावरणिः, न केवलमव्यापाराविष्टा निमित्तमरणिरपि भवतीति मथनस्थानीयं किञ्चिन् निरूपणीयं।

**व्याख्यार्थ** — कालगत मूलं रूप भगवद्गुणों के और भौतिक नदी आदि के गुणों के प्रकट होने में भगवान् का प्राकट्य ही निमित्त है, इस तत्त्व को लक्षित कराने के लिए बीच में (जायमानेऽजने) ऐसा पंचम श्लोक में कहा जा चुका है, 'अजन' शब्द के भगवान् का जन्मादि विकारों से रहित होना सूचित कर उसके ऐच्छिक प्राकट्य में विकार हेतु काल निमित्त नहीं हो सकता किन्तु प्राकट्यकाल के सर्व गुण युक्त होने में वह प्रकट होने वाले 'अजन' भगवान् ही निमित्त हैं और फिर अन्त में 'जायमाने जनार्दने' के द्वारा यह सूचित करना अभीष्ट है कि सर्व तत्त्वों के गुणों का प्रकट होना इसलिए अनिवार्य है कि भगवान् सबकी अविद्या का नाश करने को प्रकट हो रहे हैं अतः भगवत्प्राकट्य ही सबके गुणों के प्रकट होने में हेतु है ऐसा बतलाया है। इस प्रकार इस सन्दर्भ में गूढार्थ प्रकाशक पद्धति से विचारित तृतीयाध्याय ग्रन्थ में भगवान् के अवतार त्रय भी कहे हैं सर्व धर्म के संरक्षक श्री 'अनिरुद्धजी'<sup>१</sup> एवं अज्ञान निवृत्ति के द्वारा मोक्षदाता 'सङ्कर्षण'<sup>२</sup> और देवकी में जो विष्णु रूप है वह 'प्रद्युम्नजी'<sup>३</sup> तथा नन्दालय में 'वासुदेव' (जिनका दर्शन रूपान्तर स्वीकार स्थल पर माता-पिता को हुआ है) इस प्रकार सर्वरूप से प्रकट हुए यही भगवान् हैं, ऐसा कहा गया है।

**श्री सुबोधिनी** — तदाह विष्णुरुपिण्यामिति, विष्णो रूपमस्यामस्तीति विष्णुरुपिणी, भगवद्रूपमेव तत्र विद्यमानं भगवन्तं प्रकटीकृतवान् न तु प्रयत्नः प्रसूतिवातादिर्वा तत्र निमित्तमिति तन्निराकर्णार्थमुक्तमिदमेव रूपमिति सिद्धान्तः, देवक्यां विद्यमान आधिदैविक इति केचित्, तदा विष्णुरुपायामित्यर्थो भवति, पाठान्तरेऽपि देवो विष्णुरेव, विष्णुर्व्यापकः पुरुषोत्तमो यो वेदान्ते 'ब्रह्मशब्देनोच्यते, तस्य सर्वत्रैव विद्यमानत्वात् प्रादुर्भावो भाक्त इत्याशङ्क्य सर्वव्यापकत्वेपि यः सर्वान्तरः

<sup>१</sup> अनिरुद्धव्यूह के प्राकट्य की सूचना 'जायमानेऽजने' इस स्थल पर मिलती है क्योंकि 'अथसर्वगुणोपेत' से लेकर 'जगर्जुरनुसागरम्' पर्यन्त कालादि गुणरूप धर्मों का वर्णन है उसी के मध्य में अजन के जन्म का उल्लेख धर्म संरक्षक स्वरूप का ही परामर्श करता है।

<sup>२</sup> सङ्कर्षण व्यूह की सूचना 'जायमाने जनार्दने' इस स्थल पर हुई है यहाँ जनार्दन का प्राकट्य उस स्वरूप का प्राकट्य है जो जना नामक अविद्या का 'अर्दन' (विनाश) करता है, विनाश का प्रलय करना सङ्कर्षण का कार्य है, अविद्या का विनाश करने पर मोक्ष दान भी करते हैं।

<sup>३</sup> देवकी में प्रकट होकर वंश वृद्धि करने वाला स्वरूप प्रद्युम्न व्यूह है।

सर्वान्तरयामी सोन्तः स्थितो बहिरागत इति वक्तुं सर्वेषां गुहा हृदयाकाशं तस्मिन्नासमन्ताच्छेतेऽधितिष्ठतीति गुहाशय इत्युक्तं।

**व्याख्यार्थ** — दोषों के अभाव सम्पादन में एवं गुणों के प्रकट होने में भगवान् ही कारण हैं, यदि दोषाभाव का सम्पादक एवं गुणों को प्रकट करने वाला कोई स्वाभाविक काल ही है ऐसा मान लिया जावे। तब तो उस समय में उत्पन्न होने वाला कोई अन्य पुरुष भी भगवान् के समान ही होना था क्योंकि उस पुरुष की उत्पत्ति का काल और भगवत्प्राकट्य का काल एक ही है जो कि दोनों स्थलों पर निमित्त रूप से उपस्थित है, अतः यह भी मानना पड़ेगा कि भगवान् का प्राकट्य ही गुण प्राकट्य में निमित्त है और उन गुणों का प्राकट्य भगवान् के प्रकट होने के लिए ही हुआ है, ऐसा निरूपण दो बार 'जायमाने' के कथन से अभीष्ट है। इस प्रकार सर्वांश पूर्ण भगवान् प्रकट हुए ऐसा कहते हैं कि देवकी में विष्णु प्रकट हुए, देवकी सर्व देवता है सर्व देवताओं की समूहात्मक प्रतिमा है, सम्पूर्ण देव समूह में पूर्ण सत्त्व होता है और वह पूर्ण सत्त्व भगवान् के आविर्भाव में आधार रूप से निमित्त होता है, जैसे अग्नि के विषय में अरणि काष्ठ को आधार रूप से निमित्त देखा गया है यहाँ पर अरणि के छिष्टान्त को लेकर यह विचार उपस्थित होता है कि अरणि भी किसी मंथन व्यापार के आवेश को पाकर ही अग्नि के प्रकट होने में निमित्त होती है इसलिए देवकी में भी मंथन के स्थान पर किसी का निरूपण करना आवश्यक है, उक्त विचार को लक्ष्य कर 'विष्णुरुपिण्याम्' यह देवकी का विशेषण प्रयुक्त हुआ है, देवकी में विष्णु का रूप विद्यमान है अतः उसे विष्णुरुपिणी कहा गया है, आशय यह है कि देवकी के अन्तः स्थित भगवत्स्वरूप ने ही बाहर भगवान् को प्रकट कर दिया है, देवकी का कोई प्रयत्न अथवा प्रसव का वायु आदि कुछ भी भगवत्प्राकट्य में निमित्त नहीं उन प्रयत्न आदि अन्य निमित्तों के निवारण करने के लिए बतलाया गया यह देवकी हृदयगत रूप ही स्वयमेव मंथन स्थानीय होकर अपने आविर्भाव में कारण है, ऐसा सिद्धान्त है।

**श्री सुबोधिनी** — अनेन सर्वेषां भजनार्थं स्वयं हृदि स्थित्वा तत्पराः कृतार्था भविष्यन्तीति ज्ञापयितुं वेदांश्चकार स इदानीमत्रैव प्रकटीभूत इति च पूर्वप्रक्रियाऽतः परमुपयुज्यते किन्त्वयमेव बहिः सेव्य इति निरूपितं, प्रादुरासीत् प्रादुर्भूतो जातः, अकस्मात् प्रकटः, अन्तरनुभूयमानो बहिर्दृश्यः, न तु कश्चन व्यापारो देवक्यास्तत्र जातो निमित्तभूतोपि ज्ञानं सावधानता वा, स सम्पूर्ण एवानन्दमय इति

निरूपयितुमाधारप्रकटीभूतयोर्धृष्टान्तमाह यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिवेति, सर्वोपास्या प्राची दिक् सर्वदेवतामयी साप्यागमने मार्गमात्रं न तु जनने, इन्दुरमृतमयः, 'इदि परमैश्वर्य' इति परमैश्वर्ययुक्त आनन्दमयः, स प्राच्या दिशि प्रथम पूर्ण एव धृश्यते खण्डास्तु मध्ये प्रान्ते, च उच्चैश्च खण्डोऽपि प्राच्यां धृश्यत इति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह पुष्कल इति पूर्णः, पुष्कलशब्देन पुष्टोप्युक्तः, तेन निष्कलङ्को निरूपितः, कलङ्कस्यैव क्षयहेतुत्वात्, तथोक्तरीत्या प्राच्यां दिशि पुष्कल इन्दुरित्ये को धृष्टान्तः, नन्वानकदुन्दुभेः पत्निषु बहिषु सतीषु देवक्यामेवा ।

**व्याख्यार्थ** — कुछ विद्वानों का कहना है कि देवकी में जो आधिदैविक स्वरूप विद्यमान है उसका विष्णु शब्द से निर्देश है, परन्तु उस दशा में विष्णुरूपा देवकी ऐसा अर्थ होता है, विष्णु रूप को धारण करने वाली विष्णु रूपवती देवकी इस प्रकार विष्णु रूप से अतिरिक्त उसकी आधार रूप देवकी ऐसा अर्थ यहाँ पर अभीष्ट है कहीं 'देवरूपिण्याम्' ऐसा पाठ है वहाँ भी देव शब्द से विष्णु का ही ग्रहण अभीष्ट है विष्णु का अर्थ व्यापक पुरुषोत्तम है जिसे वेदान्त में ब्रह्म कहा जाता है, जब उस व्यापक की सर्वत्र ही सत्ता है तो उसका प्रादुर्भाव वास्तविक नहीं औपचारिक किसी धर्म को लेकर कथन मात्र ही है ऐसी शङ्का के निवारणार्थ 'सर्वगुहाशयः' इस पद का प्रयोग किया है, भगवान् प्राणीमात्र की हृदयरूप कन्दरा में शयन करते हैं विराजते हैं वह सर्व व्यापक होते हुए भी सर्वान्तर हैं सबके अन्तर्ग्रामी हैं अन्तर्देश में स्थित हैं वह बाहर पधारे हैं बाहर पधारना ही उनका प्रादुर्भाव है, अतः पूर्वोक्त शङ्का को स्थान नहीं आपकी व्यापकता और सर्वान्तरता श्रुति सिद्ध हैं अतः उनका अविरोध है, अतः पूर्वोक्त शङ्का को स्थान नहीं आपकी व्यापकता और सर्वान्तरता श्रुति सिद्ध हैं अतः उनका अविरोध है, उक्त गुहाशय स्वरूप के प्राकट्य प्रतिपादन से यह निरूपण किया है कि भगवान् ने अपने भजन के लिए सर्व साधारण लोगों के हृदय में विराजमान होकर इस तत्त्व के समझाने के लिए वेदों की रचना की वेदोक्तं कर्तव्यपरायण लोग कृतार्थ हो जावेंगे, इस समय वह अन्तरस्वरूप बाहर प्रकट हुआ है इसलिए अब इससे आगे भविष्य में वेदोक्त अन्तः स्वरूप चिन्तन आदि की प्रक्रिया का उपयोग नहीं किन्तु इस बाहर प्रकट हुए स्वरूप की ही सेवा करनी चाहिए ।



श्री सुबोधिनी - आविर्भावे को हेतुरिति शङ्कानिरासाय यथा प्राच्यां दिशि पुष्कल इन्दुरिति द्वितीयो ऽष्टान्तः अत्र प्राच्यादिपदानामावृत्तिर्ज्ञेया, एवं सति पूर्णेन्दुप्राकट्यस्थानं प्राच्येव तथा पूर्णशक्तेः पुरुषोत्तमस्य प्राकट्यस्थानं देवक्येव तथेत्यर्थः, अतः सर्वकलापूर्णो भगवान् सच्चिदानन्दविग्रहो कस्मादग्रे प्रादुर्भूत उपविष्टयोस्तयोर्देवकीवसुदेवयोः सतोः, अतएव तयोराश्चर्यवर्णनं च सङ्गच्छते। दासीना सर्वरक्षार्थं निमित्तीकृत्य तांशम्। प्रादुर्भूतो मम स्वामी नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्ववत्। ॥९८॥

अनुवाद - भगवान् अकस्मात् प्रकट हो गये देवकी जिस स्वरूप का हृदय में अनुभव कर रही थी वह स्वरूप बाहर दृष्टिगोचर हो गया; देवकी का कोई भी व्यापार उनके प्रकट होने में निमित्त नहीं हुआ, न कुछ ज्ञान ही हुआ कि प्रसव होने वाला है और न उसके लिए सावधानता ही की गई, वह प्रकट हुआ स्वरूप सम्पूर्ण ही आनन्दमय है ऐसा निरूपण करने की आधाररूप देवकी का प्राची दिशा और प्रकट हुए भगवान् का पूर्ण चन्द्र ऽष्टान्त कहा है 'यथा प्राच्यां दिशि इन्दुरिव' प्राची पूर्व दिशा सबकी उपासना करने योग्य है सर्व देवतामयी है, वह भी चन्द्रमा के आगमन में मार्ग मात्र है, चन्द्रमा का उत्पन्न करने में निमित्त नहीं, चन्द्रमा अमृतमय है परम ऐश्वर्यशाली होने से इसे 'इन्दु' भी कहते हैं, यह आनन्दमय हैं; पूर्व दिशा में प्रथम इसका पूर्ण रूप से ही दर्शन होता है, इसके खण्ड को मध्य आकाश में और प्रान्त भाग पश्चिम दिशा में दिखते हैं, और इसका ऊँचा विशाल खण्ड भी पूर्व दिशा में दिखता है, कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा द्वितीया तिथियों के काल में पूर्व दिशा में दीखने वाले अपूर्ण चन्द्र के निवारण करने को 'पुष्कल' शब्द का प्रयोग किया है, इस पूर्ण चन्द्र के ऽष्टान्त से भगवान् की पूर्णता सिद्ध की है, पुष्कल शब्द से परिपुष्टता भी सूचित होती है, जिसके द्वारा निष्कलङ्कता का बोध होता है क्योंकि कलङ्क ही तो क्षय का कारण है, तथा उक्त रीति से पूर्व दिशा में पूर्ण चन्द्र की भांति देवकी में विष्णु का प्राकट्य हुआ, यह एक ऽष्टान्त निकलता है, और इस शङ्का के निवारण करने के लिए कि वसुदेवजी की अनेक पत्नियों के होते देवकी में ही भगवान् का प्राकट्य क्यों हुआ ? दूसरा ऽष्टान्त है कि, जैसे अनेक दिशाओं के होते हुए भी पूर्ण चन्द्र प्राची दिशा में ही उदित होता है उसी प्रकार देवकी में ही भगवान् प्रकट हुए, 'इव' और 'यथा' इन दो ऽष्टान्तवाचक शब्दों की आकांक्षा शान्त करने को 'प्राची-दिशा' और 'पुष्कल-चन्द्र' इन शब्दों का दो बार

उच्चारण जानना आवश्यक है, इस प्रकार व्याख्या करने पर यह अर्थ सिद्ध होता है कि जैसे पूर्ण चन्द्र का प्राकट्य स्थान पूर्व दिशा ही है, उसी भांति सर्व शक्ति परिपूर्ण पुरुषोत्तम का प्राकट्य स्थान देवकी ही है, अतः सच्चिदानन्द स्वरूप, एवं सकलकला परिपूर्ण भगवान् अकस्माद् ही देवकी वसुदेव के सम्मुख प्रकट हो गये वह दोनों तो बैठे थे उनके बैठे-बैठे ही आकस्मिक प्रादुर्भाव हुआ तभी आश्चर्य भी उन दोनों 'को हुआ और उन्होंने वर्णन भी किया। यह भी सङ्गत होता है, भगवान् के प्रकट होने में कुछ श्रुति वाक्यों का विरोध प्रतीत होता है उसके निवारणार्थ आचार्यों ने कारिका में आज्ञा की है कि मेरे स्वामी दासीजनों की सर्व प्रकार से रक्षा करने के हेतु वैसा निमित्त बना कर प्रकट हुए हैं, 'अर्शयम् अग्राह्यम्' आदि उपनिषद् वाणी में किसी प्रकार की चिन्ता की आवश्यकता नहीं क्योंकि इन्द्रिय सामर्थ्य से उनकी अग्राह्यता एवं अर्शयता में उसका तात्पर्य है स्वेच्छा से तो वह र्शय एवं ग्राह्य होते ही हैं अतः प्राकट्य से पूर्व जैसे कोई विरोध नहीं था प्रकट होने पर भी कोई विरोध नहीं है ॥८½॥

कारिका — दासीनां<sup>१</sup> सर्वरक्षार्थ निमित्तीकृत्य तार्शम् ।

प्रादुर्भूतो मम स्वामी नैश्चिन्त्यं वाचि पूर्ववत् ॥९॥८½॥

॥श्री शुक उवाच॥

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं चतुर्भुजं शङ्खादाद्युदायुधम् ॥

श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् ॥६॥

टिप्पणी — <sup>१</sup> इस कारिका के शब्दों से निश्चय होता है कि वल्लभाचार्य ने अपने सर्वस्व प्रभु का जिन्हें गोपजन वल्लभ कहते हैं यहां प्राकट्य माना है मम स्वामी और दासीनाम् इन शब्दों का स्वारस्य इस ओर आकृष्ट करता है, मथुरा में व्यूह सहित पुरुषोत्तम का प्राकट्य है, यह तो सर्व सम्मत है ही, अनिरुद्ध, सकर्षण, और प्रद्युम्न इन तीनों व्यूहों का तो श्री सुबोधिनी में स्पष्ट उल्लेख हुआ ही है, प्रकाशकार पुरुषोत्तम जी महाराज ने श्री सुबोधिनी के ही अक्षरों के आधार पर वासुदेव व्यूह का प्राकट्य भी मथुरा में हुआ है, ऐसा सिद्ध कर दिया है, लेखकार वासुदेव के प्राकट्य को यहां नहीं मानते हैं उनका मत है कि वासुदेव व्यूह के अतिरिक्त तीनों व्यूहों के साथ पुरुषोत्तम का प्राकट्य मथुरा में हुआ है, वासुदेव का प्राकट्य तो नन्दालय में नवमी के दिन हुआ है, पुरुषोत्तम प्राकट्य में तो कोई मतभेद नहीं है, पुरुषोत्तम प्राकट्य व्यूहों के सहित मथुरा में हुआ और व्यूह रहित द्विभुज पुरुषोत्तम प्राकट्य गोकुल में हुआ।

मूलार्थ — प्रकट हुआ वह बालक अद्भुत था कमल जैसे नेत्र थे चार भुजायें थीं उनमें भुजाओं शङ्ख गदा आदि आयुध उठे हुवे थे श्रीवत्स का चिन्ह वक्षःस्थल में था, गले में शोभा सम्पन्न कौस्तुभ मणि थी पीताम्बर धारण किये था नीले सिन्ध मेघ के समान सुन्दरता थी ॥६॥

आभास — एवं भगवतः प्रादुर्भावमैश्वर्येण निरूप्य वीर्यनिरूपणार्थं भगवन्तमनुवर्णयति तमद्भुतमिति द्वाभ्याम् ।

अत्र निर्वृताः सर्वे श्रोतारो बहिःसंवेदनरहिता जाता इति ज्ञापयितुं पुनः शुकोक्तकथनम् ।

व्याख्यार्थ — इस प्रकार भगवान् के प्रादुर्भाव का निरूपण उनके ऐश्वर्य के साथ साथ साढ़े आठ (८½) श्लोकों से करने से अनन्तर उनके वीर्य का निरूपण करने के लिए 'तमद्भुतम्' आदि दो श्लोकों से भगवान् का अनुरूप वर्णन करते हैं, इस वर्णन के पूर्व में 'श्री शुक उवाच' ऐसा कहा गया है, जबकि अध्याय के आरम्भ में ही 'श्री शुक उवाच' ऐसा कहा जा चुका है, साढ़े आठ श्लोकों में प्रादुर्भाव का वर्णन शुकदेवजी ने ही किया है बीच में कोई अन्य संवाद आया नहीं अब वर्णन भी शुकदेव ही कर रहे हैं ऐसी दशा में फिर 'श्रीशुक उवाच' इस प्रकार का उल्लेख अनुपयुक्त प्रतीत होता है परन्तु वह उल्लेख किसी विशेष दशा की दिशा को दिखला रहा है कि इस भगवत्प्राकट्य प्रसङ्ग में आनन्दमग्न हुए श्रोतागण बाह्यानुसन्धान रहित परीक्षित आदि सबकी लीला तन्मयता हो गई उन्हें सावधान करते हुए शुकदेवजी वर्णन करने लगे इस अभिप्राय से यहाँ 'शुक उवाच' कहा गया है ।

|                                                |      |
|------------------------------------------------|------|
| कारिका — दशलीलानिरूप्योऽयं पुरुषो द्वादशात्मकः | ।    |
| द्विगुणो भगवानत्र प्रादुर्भूत इतीर्यते         | ॥१॥  |
| सर्वेषां प्राणरूपश्च ऐहिकः पारलौकिकः           | ।    |
| ज्ञानक्रियोभययुतो दशलीलाप्रवर्तकः              | ॥२॥  |
| सगुणां नवधाभक्तिं निर्गुणां च प्रवर्तयन्       | ।    |
| काण्डद्वयार्थं तनुते सोत्रं द्वादशधामतः        | ॥३॥  |
| सर्वप्रकाशकश्चैव कालात्मेन्द्रियनायकः          | ।    |
| आत्मा कार्यं च भूतानि अहन्तत्त्वमुभौ त्रयः     | ॥४॥  |
| अक्षरं भगवांश्चेति द्वादशात्मा हरिः स्वयम्     | ॥४½॥ |

कारिकार्थ — सर्ग, विसर्ग, आदि दश विध लीलाओं से जिसका स्वरूप निरूपण होता है वह ही यह प्रकट हुआ अद्भुत बालक द्वादशात्मक पूर्ण पुरुषोत्तम है, यहां पर प्रकट हुए भगवान् द्विगुण हैं अर्थात् षड् ऐश्वर्यादि गुणयुक्त जो भगवान् कहलाता है उसकी अपेक्षा यह द्विगुण है इस प्रकट हुए स्वरूप में मर्यादा मार्गीय षड्ऐश्वर्यादि और पुष्टिमार्गीय षड् ऐश्वर्यादि मिलकर एक काल में विराजमान हैं अतः इस स्वरूप को द्विगुण भगवान् जानना यह कहा गया है ॥१॥

यह प्रकट हुआ स्वरूप सब का दशविध प्राण है और इस लोक एवं परलोक दोनों ओर का परम फल है, एवं ज्ञान शक्ति तथा क्रियाशक्ति दोनों शक्तियों से पूर्ण है और सर्ग आदि दशललीलाओं को प्रवृत्त करने वाला है ॥२॥

श्रवण, कीर्तन आदि नवधा सगुण भक्ति और निर्गुण प्रेम लक्षण भक्ति को प्रवृत्त करता हुआ वेद के पूर्व और उत्तर दोनों काण्डों के प्रतिपाद्य कर्म, और ज्ञान का विस्तार करता है वह स्वरूप यहां पर द्वादश प्रकार से माना है ॥३॥

द्वादश राशियों के द्वादश सूर्यों की भांति सर्व प्रकाशक हैं, एवं द्वादश भासात्मक काल रूप हैं, तथा एकादश इन्द्रिय और उनका नायक मन यह सब मिलकर द्वादश रूप यही ही है, आत्मा (जीवात्मा<sup>१</sup>) और परमात्मा<sup>२</sup>) कार्य (महत्तत्त्व<sup>३</sup>) भूत (पृथ्वी आदि पञ्च महाभूत<sup>४</sup>) अहन्तत्त्व (अहङ्क.र<sup>५</sup>) दोनों प्रकृति<sup>६</sup> और पुरुष<sup>७</sup> तीनों गुण सत्त्व<sup>८</sup>, रज<sup>९</sup>, तम<sup>१०</sup>, अक्षरब्रह्म<sup>११</sup> और भगवान् (परब्रह्म<sup>१२</sup>) इस प्रकार द्वादशात्मा स्वयं हरि ही सब कुछ है ॥४½॥ (क)(ख)

श्री सुबोधिनी — तत्र प्रथमं दशधा स्वरूपलक्षणानि वर्णयति तमिति, तं प्रसिद्धं लोकवेदयोः, “अतोस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम” इति, आश्रयभूतः सर्वमूलभूतत्वात्, सृष्टिरूप इति केचिद्, अद्भुतमिति, अलौकिकमेव ह्यद्भुतं, न तु लोकवेदसिद्धं, इदं हि प्रमेयबलं प्रमाणादतिरिक्तं, तदेव हि वीर्यं भवति यत्लौकिकैर्वैदिकैश्चानुल्लङ्घ्यं, आश्चर्यं तदैव भवति, अनेन तद् रूपं ऽष्टुमेवोपपद्यते न तु स्मर्तुं वर्णयितुं वा शक्यत इत्युक्तं, एव सर्वैर्वर्णयितुं शक्यमशक्यं चोक्तं पदद्वयेन।

व्याख्यार्थ — उन द्वादश विशेषणों में प्रथम दश प्रकार के स्वरूप लक्षण विशेषणों का वर्णन करते हैं, ‘तम्’ इस विशेषण से लोक वेद प्रसिद्ध जिसका भगवद्गीता अध्याय

१५ श्लोक १८ में निरूपण किया है जो मूलरूप होने के कारण आश्रय<sup>१</sup> भूत सर्वाधार है उसी का निरूपण हुआ है, कुछ विवेचकों ने 'तम्' इस प्रथम विशेषण से, 'सृष्टि' सर्ग नामक प्रथम लीला का ग्रहण कर भगवान् की सृष्टि रूपता स्वीकार<sup>२</sup> की है, अद्भुत शब्द भगवान् की अलौकिकता का सूचक है क्योंकि पदार्थ लोक अथवा वेद में प्रसिद्ध होता है वह तो ईष्टिगत या श्रवणगत होकर सर्वसाधारण को आश्चर्यजनक नहीं हो सकता, अलौकिक पदार्थ ही आश्चर्यजनक होता है, यही प्रमेयबल<sup>३</sup> कहलाता है, यह प्रमाण से सर्वथा भिन्न है, दूरस्थ है, वीर्य वह ही होता है जिसका उल्लङ्घन लौकिक और वैदिकों से न हो सके, तब ही आश्चर्य होता है, 'अद्भुत' विशेषण से सूचित होता है कि भगवत्स्वरूप ऐसा है कि जिसे देखे ही बने उसका स्मरण, या वर्णन नहीं हो सकता, इस प्रकार 'तम्' और 'अद्भुतम्' इन दो पदों से भगवत्स्वरूप के सर्व साधारण लोगों से वर्णित हो सकने की और न हो सकने की सूचना की है।

श्री सुबोधिनी — बालकमिति, बाले बाले को ब्रह्मा ब्रह्माण्डविग्रहो यस्य, अद्भुतश्च बालको न स्वरूपतो वस्तुं शक्यः, बालानामपि कं सुखं यस्मादिति, बालः को ब्रह्मा यस्य, बलसम्बन्धिनो ये बालास्तेषां कं शिरोभूतं, एवमद्भुतपराक्रमत्वेन यशो निरूपितं, अलौकिकशोभां निरूपयत्यम्बुजेक्षणमिति, अम्बुजतुल्ये कमलतुल्ये ईक्षणे यस्य अम्बुजः वा लक्ष्मीरीक्षणे यस्य, अम्बुजौ वा सूर्यचन्द्रमसावीक्षणे यस्य, अम्बुजे वा पञ्चाग्निविद्यया साधितरूपवती क्षणं ज्ञान यस्य, अम्बुजाया इ कामस्तदेव क्षणं सुखं यस्य, अम्बुजे ब्रह्माण्डेवापालनार्थमीक्षणं यस्य, अम्बुजाया लक्ष्म्यामीक्षणं सुखं यस्य वा भोगायतनत्वात्।

टिप्पणी — (क) उक्त साडे चार कारिकाओं में 'तमद्भुतम्' इत्यादि श्लोक द्वय में प्रयुक्त हुए। भगवत्स्वरूप के परिचायक विशेषणों की सख्या का प्रयोजन ८ आठ प्रकार से सूचित किया है, प्रथम श्लोक में १० और द्वितीय श्लोक में २ दो विशेषण हैं, उनका पृथक् और मिलाकर दोनों प्रकार से तात्पर्य वर्णन किया है, एव उसके द्वारा यह प्रतिपादन किया है कि भगवल्लीलास्थ सर्व सामग्री भगवद्रूप ही है,

(ख) दो श्लोकों से वीर्यगुण का निरूपण भी भगवान् की द्विगुणता का सूचक है।

<sup>१</sup> भगवत गीता अ. ८ श्लोक २२ जिसे भक्ति द्वारा लभ्य कहा है।

<sup>२</sup> क्योंकि तमद्भुतं श्लोक के अन्तर्गत दश विशेषणों से सर्ग, विसर्ग आदि दश लीलाओं का ग्रहण उन्हें अभीष्ट है, परन्तु कोई बलिष्ठ प्रक्रिया का निर्देशन मिलने से उनका मन्तव्य चिन्त्य ही है,

<sup>३</sup> जो लोक वेद प्रसिद्ध है वह ही अद्भुत भी है अर्थात् लोक वेद प्रसिद्ध नहीं भी है, यह तत्त्व प्रमाणयुक्ति द्वारा बुद्धिगम्य नहीं हो पाता क्योंकि उस अद्भुत तत्त्व की अद्भुतता तो यह ही है कि सब प्रमाण उसका अनुसरण करते हैं परन्तु 'इदमित्य' रूप से नहीं बतला पाते उस प्रमेय स्वरूप परम तत्त्व का यह बल है यह ही उसका वीर्य है कि लोक और वेद दोनों मिलकर या पृथक् २ भी उसका पार नहीं पा सकते वह अपार है, दो श्लोकों द्वारा भगवत्स्वरूप का वर्णन उनके वीर्य का प्रमेय बल की लोक और वेद दोनों से अगम्यता का सूचक है।

**व्याख्यार्थ** — बालकम्, इस विशेषण के द्वारा भगवान् के यश का निरूपण अभीष्ट है, जिसके बाल बाल में (रोम रोम में) ब्रह्माण्ड शरीर धारी ब्रह्मा है, ऐसे अद्भुत बालक का स्वरूपत यथावत् वर्णन शक्य नहीं, जिससे बालों को (अत्यन्त मुग्धगोप बालकों को) 'क' सुख ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द प्राप्त होता है या होने वाला है ऐसा यह अद्भुत बालक है, तथा 'क' ब्रह्मा भी जिसका बाल (पुत्र) है, एवं बलसम्बन्धी (बलदेव जी के साथ क्रीड़ा करने वाले) बाल सखाओं के 'क' शिर रूप उनमें सर्व श्रेष्ठ सबके शिरोमणि यह बालक है, इत्यादि निर्वचन से आपके पराक्रम को अद्भुतता के द्वारा "यश" का निरूपण हुआ है, "अम्बुजेक्षणम्" इस विशेषण से अलौकिक शोभा का निरूपण करते हैं, कि कमल जैसे आपके नयन हैं, एवं अम्बुजा (समुद्र से उत्पन्न हुई लक्ष्मी) आपके ईक्षण (दर्शन) में है (जो इन्हें देख पाता है अथवा जिस पर आपका ईष्टि पात हो जाता है वह सर्व समृद्धि परिपूर्ण हो जाता है) तथा सूर्य चन्द्र को उपनिषद् में जिसका नेत्र बतलाया है, और श्रुति सिद्ध पञ्चाग्नि विद्या के द्वारा जिस रूप की साधना उच्च कोटि के साधक करते हैं उस रूप वाले पुरुष को "अम्बुज" शब्द से कहा है क्योंकि "पञ्चभ्यामा हुता वापः पुरुष वचसो भवन्ति" इस श्रुति में पञ्चम आहुति के होने पर जलों की पुरुष शब्द से व्यवहार्यता का उल्लेख मिलता है, उस अम्बुज नामक पुरुष में जिसका ईक्षण है जिसका ज्ञान उस पुरुष में प्रकट होता है, ऐसा वह अद्भुत बालक है, एवं लक्ष्मी का काम जिसका सुख है, तथा ब्रह्माण्ड में उसकी रक्षा के निमित्त जिनका ईष्टिपात होता है, और लक्ष्मी में जिसका ईग्विलास या सुख है क्योंकि लक्ष्मी आपकी भोग मन्दिर है।

**श्री सुबोधिनी** — अम्बुजायां<sup>१</sup> पृथिव्यामेवेक्षणं यस्य नान्यत्र, एवमनेकधा भगवतः श्रीर्निरूपयितव्या ज्ञानात्मिका, मध्येनिविष्टभ्रमरमेवाम्बुजं नेत्रतुल्यं भवति, निश्चलश्च भ्रमरः, तेन मकरन्दपूरस्तत्र निरूपितः, दयामृतादयोऽत्र मकरन्दाः, तत्सम्बन्धे सर्वापि मधुपो भवतीति निरूपयितुं, प्राकृतैरप्युपमीयते, यथा वा दलेऽद्भुतरूपं भवति कमलमेवं सम्पूर्णोऽपि रूपेद्भुतरूपे नेत्रे भवतः, अनेनाद्भुता ज्ञानशक्तिर्निरूपिता, क्रियाशक्ति निरूपयंश्चतुर्विधमपि ज्ञान।

**व्याख्यार्थ** — जल से प्रकट हुई पृथिवी में जिसका दर्शन है अन्यत्र नहीं, (ऐसा सुन्दर सुयोग है कि जिसके दर्शन को अलभ्य या दुर्लभ कहते हैं वह अब यहाँ पृथिवी पर ही दर्शन दे रहा है कहीं अन्यत्र ढूँढने की आवश्यकता नहीं) ऐसे अनेक प्रकार से भगवान् की ज्ञानात्मक<sup>१</sup> श्री का निरूपण किया है कमल के मध्य में भ्रमर के प्रवेश करने पर ही उसे नेत्र की तुलना प्राप्त होती है और वह भ्रमर भी निश्चल हो गया हो, तब ही नेत्र तारा की सँशता को प्राप्त कर सकता है, कमल में भ्रमर मकरन्द पान मग्न होकर ही निश्चल होता है अतः कमल की समानता नेत्रों में किसी विलक्षण मकरन्द रसपूर को बतलाती है, दया, अमृत आदि ही नेत्रों में मकरन्द स्थानीय हैं, उन दयामृतादि रूप भगवत्कृपाकटाक्ष के सम्बन्ध होने पर ही सब को भगवद्रस के आस्वाद की योग्यता एवं अधिकारिका प्राप्त होती है जैसे बिना मकरन्द सम्बन्ध के भ्रमर को मधुप नहीं कर सकते वह मकरन्द (मधु) पान से ही मधुप कहलाता है इस तथ्य का निरूपण करने के लिये प्राकृत कमलों से भी नेत्रों को समानता दी है, अथवा जल में कमल एक अद्भुत सौन्दर्यशाली पदार्थ होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण रूप में नेत्रों को प्रधानता होती है वह अद्भुत शोभा सम्पन्न होते हैं, इस विशेषण से अद्भुत ज्ञान शक्ति का निरूपण किया है।

**श्री सुबोधिनी** — क्रियाशक्तिं निरूपयं श्रुतुर्विधमपि ज्ञानमहि 'चतुर्भुजमिति' चत्वारो भुजाः क्रियाशक्तयो यस्य, चतुर्विधकार्यार्थं हि भगवदवतारः, तान्येव कार्याणि चतुर्भुजरूपेणोच्यन्ते, चत्वारो वा पुरुषार्थाः भूतानि वा धर्मादयो दिक्पाला वा भुजा भुजेषु वा यस्य, अनेन द्विगुणः पुरुष उक्तः, लौकिकोलौकिकश्च।

**कारिका** — घातकौ रक्षकौ चोक्तौ विरोधेप्यतिसङ्कटे।

वेदोक्तं द्विविधं ज्ञानं भक्तिर्भगवतस्तथा ॥१॥

मधुसूदनो माधवश्च त्रिवृन्नारायणस्तथा ॥१½॥

<sup>१</sup> नेत्र ज्ञानशक्ति प्रधान है और कमल श्री (शोभा) प्रधान है इन दोनों का साम्य भी अभेद प्रत्यवसायी ही है अतः ज्ञानमयी श्री का निरूपण होता है षड् ऐश्वर्यादि गुणों की भी पारमार्थिक विभिन्नता ही हो ऐसा नियम नहीं है, ज्ञान गुण, श्री गुण का एव श्री गुण, ज्ञान गुण का कार्य कर सकते हैं अप्राकृत गुणों में ऐसा ही सहज चमत्कार है।

शङ्खगदाद्युदायुधमिति वैराग्यं, शङ्खस्तदादिश्च गदा तदादिश्च, 'अपां तत्त्वं दस्वरं,' भुवनात्मकं कमलं, प्राणात्मको वायुर्गदा, "तेजस्तत्त्वं सुदर्शन, एवं शङ्खपद्मगदाचक्राणि क्रमेण निरूपितानि । मधुसूदनो माधवश्च त्रिवृन्नारायणस्तथा ॥११/२॥

**व्याख्यार्थ** — चतुर्भुजम्, इस विशेषण से भगवान् की क्रिया शक्ति का निरूपण करते हुए उसके मूलभूत ज्ञान<sup>१</sup> की चतुर्विधता<sup>२</sup> का निरूपण करते हैं भगवान् की भुजा चार हैं, भुजाओं से आदान प्रदान आदि क्रिया होती है अतः भुजा क्रिया शक्ति स्वरूप है, भगवान् का अवतार चार प्रकार के कार्य करने को हुआ है, उन्हीं कार्यों को चतुर्भुज रूप से कहा है, अथवा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, यह चारों पुरुषार्थ या पृथ्वी, जल, तेज, वायु यह चारों भूत या धर्म, वरुण, इन्द्र, कुबेर, यह चार दिक्पाल भगवान् की भुजा हैं या भुजाओं में यह सब हैं, इस विशेषण से भगवान् की पुरुष रूपता को द्विगुण रूप से कहा है वह लौकिक भी हैं और अलौकिक भी हैं ।

**श्री सुबोधिनी** — शङ्खगदादीन्येवोद्यतान्यायुधानि यस्य, इन्द्रियदेहप्राणान्तःकरणैरेव सर्वभरणमित्याकाशलक्षण शरीरं, अन्यानि महाभूतान्यायुधानि, उदायुधानि वा, तत्रैव सर्वान् मज्जयन्ति न तु छित्त्वाऽपि त्यजन्ति, एवं षड्गुणो भगवान् निरूपितः, पुनरैश्वर्यादयो वैदिका उच्यन्ते श्रीवत्सलक्ष्ममित्यादि, श्रीवत्सो लक्ष्म यस्य, श्रीवत्सा यस्य, यल्लक्ष्म्या जनकं तद् भगवतश्चिन्हं व्यावर्तकं, सा हि ब्रह्मानन्दो भवति, तस्या मूलं ब्रह्मैव, यत् सर्ववेदप्रतिपाद्यं स भगवतोऽसाधारणो धर्मः, सर्वात्मकस्य भगवतो जगद्वह्निकालादिलक्षणधर्मवतो ब्रह्म हि मुख्यं लक्षण भवति, अतएव हि सर्वब्रह्माधारवतो भृगोः पदं तत्र प्रतिष्ठितं भवति स्वाश्रयत्वाल्लक्ष्म्याश्च स जनको भवति, "भृगोः" ख्यात्यां समुत्पन्ना श्रीः पूर्व मितिवाक्याद्, ब्रह्मलक्षणत्वेनैवैश्वर्यं निरूपितं ।

**टिप्पणी** — <sup>१</sup> क्रिया शक्ति के निरूपण में ज्ञान शक्ति का उल्लेख सूचित करता है कि भगवान् की भुजा आदि कर्मेन्द्रिय जीवों की भांति ज्ञान शून्य नहीं किन्तु ज्ञानपूर्ण ही है ।

<sup>२</sup> प्रमाण, प्रमेय, साधन, फल यह चार प्रकार ज्ञान में अपेक्षित होते हैं, किसी वस्तु का ज्ञान प्रमाण के बिना नहीं हो पाता, काले पीले का ज्ञान आख से और खाटे खारे का ज्ञान रसना से ही होता है अतः ज्ञान प्रमाणाधीन है, प्रमाण की अपेक्षा रखता है ज्ञातव्य पदार्थ भी ज्ञान में अपेक्षित है जिस पदार्थ को जानना अभीष्ट है उसकी भी अपेक्षा ज्ञान रखता है उस ज्ञातव्य पदार्थ को ही प्रमेय कहते हैं ज्ञान होने पर भी तब तब उस ज्ञान की पूर्णता नहीं जब तक उसका ज्ञातव्य किस साधन से प्राप्त होता है ऐसा न जान लिया जावे अतः ज्ञान में साधन की भी अपेक्षा रहती है, एवं ज्ञातव्य के ज्ञान से और उसकी प्राप्ति के साधन ज्ञान से उपस्थित होने वाला उनका फल तो उस ज्ञान की परिपूर्णता में मुख्य है ही अतः प्रमाणादि चतुष्टय को ज्ञान का प्रकार का अङ्ग जानना चाहिए । वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न अनिरुद्ध, इन व्यूहों के क्रमशः मुक्तिदान, असुर वध, वश वृद्धि, धर्म रक्षा कार्य हैं, उन्हीं का भुजाओं से संकट है । युद्ध आदि के द्वारा शत्रुवध लौकिक चरित्र है, और शकट भङ्ग आदि अलौकिक चरित्र है ।



**कारिकार्थ** — भगवान् की चार भुजाओं में दो २ भुजा घातक हैं और दो २ भुजा रक्षक हैं, एक समय में एक ही स्थान पर घात भी करना और रक्षा भी करना अत्यन्त विरुद्ध है, महाराज परीक्षित को उत्तरा माता के उदर में अश्वत्थामा के अमोघ ब्रह्मास्त्र से आहति कराकर उसके लौकिक बीजांश का घात भी किया और वैष्णवांश गर्भ की रक्षा भी की और उसकी माता को बचाया, महान् सङ्कट की अवस्था में भी इस प्रकार भक्तों के दोष विधातपूर्वक रक्षा करने की सूचना चतुर्भुज शब्द से हुई है, अथवा वेदोक्त ज्ञान दो प्रकार का होता है कर्म ज्ञान, और ब्रह्म ज्ञान, या आत्म ज्ञान और परमात्म ज्ञान, तथा भगवद्भक्ति भी द्विविध होती है, साधन भक्ति, और फल भक्ति, या सगुण भक्ति और निर्गुण भक्ति इत्यादि सर्व फल का दान भगवान् के ही हाथ है ऐसी सूचना चतुर्भुज शब्द से होती है।

**व्याख्यार्थ** — शङ्ख गदाद्युधायुधम्, इस विशेषण से भगवान् के वैराग्य गुण की सूचना है क्योंकि वैराग्य होने पर ही सर्व दुःख निवृत्त होते हैं और भक्तों को दुःख निवृत्ति के लिये ही आयुधों की भगवान् ने उठाया है, शङ्ख जलतत्त्व है, जल से पृथिवी उत्पन्न हुई अतः पृथिवी तत्त्व का जलतत्त्व आदि कारण है, अतः भुवनात्मक कमल पृथिवीतत्त्व का ग्रहण आदि शब्द की योजना से यहां अभीष्ट है, गदा प्राणात्मक वायुतत्त्व है, वायु से अग्नि उत्पन्न हुआ है अतः अग्नि तत्त्व सुदर्शन का ग्रहण 'गदादि' गत आदि शब्द से अभीष्ट है, इस प्रकार शङ्ख, पद्म, गदा चक्र, इन चारों आयुधों का क्रम से निरूपण किया है, इन आयुधों को ऊंचा उठाये हुए भगवान् प्रकट हुए हैं।

**कारिकार्थ** — वैष्णव शास्त्र में चतुर्भुज स्वरूप के आयुधों के धारण क्रम में भेद होने से 'मधुसूदन', माधव, नारायण इत्यादि भेद बतलाये हैं, यहां पर प्रकट हुये स्वरूप को दक्षिण हस्तों में ऊपर शङ्ख और नीचे पद्म तथा वामहस्तों में ऊपर गदा और नीचे चक्र इस प्रकार से मधुसूदन माना है, और कुछ समानता को लेकर माधव और नारायण रूप भी कहा है, तथा संकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, रूपता भी है।

**श्री सुबोधिनी** — वीर्य निरूपयन् कयाचिदवरस्थाऽवस्थितं ब्रह्म जीवाख्य लक्षणान्तरत्वेनाह गलशोभिकौस्तुभमिति, गले शोभायुक्त कौस्तुभो यस्य, सहि सर्वजीवानां स्वरूपभूतः, "चैत्यस्य तत्त्व" नितिवाक्यात्, क्रियाशक्तेर्ज्ञानशक्तिरुत्तमेति मुक्तजीवानां सरस्वतीस्थानप्रापणार्थं कण्ठे कौस्तुभस्थापन, ज्जिज्ञानामुभयविधत्वज्ञापनाय मध्ये स्थापन, केचन क्रियानिष्ठाः केचन ज्ञाननिष्ठा इति, अतएव सर्वाङ्ग.

वर्णनायां कौस्तुभो मणिरुभयत्र निरूपितः, 'कण्ठं च कौस्तुभमणेरधिभूषणार्थं' "चैत्यस्य तत्त्वममलं मणिमस्य कण्ठ" इति च, अतएव शोभा द्विविधा, क्रियाकृता ज्ञानकृता च, जीवस्तूभयधर्मयुत इति शोभायुक्त उक्तः, एवं ब्रह्मद्वयसम्बन्धं भगवति निरूप्य जीवानां तथात्वहेतु।

**व्याख्यार्थ** — उक्त आयुधों के विषय में यह शंका हो सकती है कि शङ्ख, और कमल को किस प्रकार शस्त्ररूप माना जावे उनसे तो शत्रुवध संभव नहीं, उक्त शंका के निवारणार्थ आयुध शब्द के प्रयोग का तात्पर्य समझाते हैं कि यह शङ्ख, पद्म, गदा, चक्र भगवान् के क्रमशः इन्द्रिय, देह, प्राण, अन्तःकरण हैं, इन से ही भगवान् दैत्य वध करते रहते हैं शङ्ख, प्राणात्मक वायु से भरा जाता है उसकी ध्वनि से दैत्यों का दर्प नष्ट होता है अतः शीघ्र ही वे मारे जाते हैं, इन्द्रियों का भी पोषण शङ्ख, की भांति प्राण से ही होता है अतः शङ्ख, इन्द्रिय रूप है, और कमल ब्रह्माण्ड रूप होने से भगवान् का स्थूल शरीर ही है, उसको धारण कर सूचित करते हैं कि जैसे अधिक भार युक्त पदार्थ ऊपर गिर पड़ने से साधारण जन्तुओं को पींच कर मार देता है उसी प्रकार ब्रह्माण्डात्मक कमल के फिराने से इन साधारण कीट पतंग जैसे दैत्यों को चाहूँ जहाँ वहीं पीस देता हूँ अतः शङ्ख कमल की आयुध सत्ता उपयुक्त है, गदा वायु तत्त्व होने से आधिदैविक प्राण रूप है ही, और सुदर्शन चक्र तो तेजः स्वरूप होने के कारण आपका अन्तःकरण है मोक्ष देने की इच्छा से जिसका वध करते हैं तेजःस्वरूप चक्र के द्वारा उसे तेज में ही लय प्राप्त करा देते हैं, अथवा पञ्च महाभूतों में आकाश को छोड़ कर अन्य पृथिवी आदि भूतचतुष्टय ही आपके आयुध हैं, आकाश को निर्लेप होने के कारण आपके शरीर रूप में उपयोग पाता है, पृथिवी, कमल हैं, जल, शङ्ख है, तेज, सुदर्शन चक्र है, वायु गदा है आप तो आकाश की भांति निर्लेप रहते हैं, भूतों से भूतों का वध होता रहता है यह अभिप्राय है, उक्त विशेषण में 'उदायुध' पद का 'उद+आयुध' इस प्रकार पदच्छेद करने से 'उदक जल' इस अर्थ की भी प्रतीति होती है उसके अनुसार भी व्याख्या करते हैं कि जिस प्रकार जल अपने में गिरे हुए भारी पदार्थ को अपने में ही डुबा लेता है उसी प्रकार अभिमान के भार से लदे हुए अविनीत पाषाण तुल्य दैत्यों को भगवान् के आयुध अपने में ही मिला लेते हैं निकाल कर अलग नहीं फेंकते अतः आसुर लोग भूतों में ही लीन होते हैं मुक्ति को प्राप्त नहीं कर पाते हैं।

इस प्रकार उक्त श्लोक के पूर्वाध में षड्गुण सहित भगवान् का निरूपण किया है, अब फिर उत्तरार्ध में वैदिक ऐश्वर्य आदि कहे जाते हैं, श्रीवत्सलक्ष्मम्, इस विशेषण से श्रीवत्स को भगवान् का चिन्ह बतला कर उनकी अक्षर ब्रह्म से प्रधानता सूचित की है, जिसके उनके वैदिक ऐश्वर्य का बोध होता है, क्योंकि उक्त विशेषण में श्री-वत्स-लक्ष्म यह तीन शब्द है, 'श्री' शब्द का अर्थ 'लक्ष्मी' है वह ही ब्रह्मानन्द कहलाती है, वह ब्रह्मानन्द स्वरूप श्री 'लक्ष्मी' जिसकी 'वत्सा' पुत्री है वह (श्री वत्स) सर्व वेद प्रतिपाद्य अक्षर ब्रह्म ही है, वह अक्षर ब्रह्म स्वरूप श्रीवत्स जिसका लक्ष्म 'चिन्ह' है परिचय कराने वाला असाधारण धर्म है, वह परब्रह्म स्वरूप यह अद्भुत बालक है, सर्वात्मा भगवान् के 'जगत्' अक्षर ब्रह्म-काल आदि अनेक लक्षण रूप धर्मों में 'अक्षर ब्रह्म' की, मुख्यता है, अतएव आपके वक्षः स्थल में 'भृगुपद' का चिन्ह है, भृगु ऋषि सर्व प्रकार से ब्रह्म का धारण करने वाले थे, जाति से भी ब्राह्मण थे, वेदाध्ययनपरायण थे, अक्षर ब्रह्म के तादात्म्य का अनुभव करने वाले थे, उन्होंने जाति रूप से भी ब्रह्म का धारण किया था, वेद रूप से भी ब्रह्म का धारण किया था, और अभेद चिन्तन की प्रक्रिया से भी ब्रह्म का धारण किया था, सर्व प्रकार से ब्रह्म के धारण करने वाले महात्मा भृगु का पद जहाँ अंकित है वह सर्वथा ही ब्रह्म का आश्रय है क्योंकि आश्रय में ही पद स्थिर हो कर ठहरता है अन्यत्र मार्गादि में तो वह पद गतिशील ही बना रहता है, जब कोई किसी गन्तव्य देश का लक्ष्य कर चलता है जब तक वहाँ पहुँच नहीं पाता तब तक उसके पद व्यापारशील बने रहते हैं ठहरते नहीं, ठहरते तो वहीं पर हैं जहाँ उसे पहुँचना है जो उसका आश्रय है, सर्वथा ब्रह्म मय भृगु ऋषि के भगवान् ही आश्रय हैं अतः उनकी गति को पर्यवसान भगवान् में ही है वहीं पर उनका पद प्रतिष्ठित हुआ है, "कितना गम्भीर विश्लेषण है पुनः पुनः पढ़ने की आवश्यकता है" इन भृगु ऋषि की ख्याति नामक स्त्री में "श्री" नामक कन्या उत्पन्न हुई थी अतः इनको "श्री वत्स" कहते हैं क्योंकि श्री जिसकी वत्सा (बेटी) हो उसे श्रीवत्सा कहा जाता है, ब्रह्म का लक्षण रूप से अपने परिचायक धर्म रूप से ग्रहण करना भगवान् के ऐश्वर्य का है वेद सिद्ध होने से यह वैदिक ऐश्वर्य का निरूपण हुआ है, "गल शोभिकौस्तुभम्" इस विशेषण से भगवान् के वैदिक "वीर्य" गुण का निरूपण करते हुए बतलाते हैं कि ब्रह्म ही किसी

अवस्था से सम्पर्क प्राप्त कर जीवपदवी को धारण करता है वह भी भगवान् का एक प्रकार का लक्षण विशेष है -

एवं ब्रह्मद्वयसम्बन्धं भगवति निरूप्य जीवानां तथात्वहेतुभूतां मायां भगवतः प्रदेशविशेषावरिकां पीताम्बरं निरूपयति, पीताम्बरं यस्येति, आकाशतनोरविकारसम्बन्ध एव शोभाहेतुर्भवति, पीतत्वं तामसराजससम्बन्धाद्, अन्यथा त्रिविधमेव रूपमिति पीतत्वं नोपपद्यते, “यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं यच्च छुक्लं तदपां यत् कृष्णं तदन्नस्येति” श्रुतेः, व्यामोहिका तु माया तथैव भवति लयविक्षेपात्मिका।

**व्याख्यार्थ** - भगवान् ने अपने गले में शोभा युक्त कौस्तुभमणि को धारण किया है वह सर्व जीवों को स्वरूप भूत प्रतिमा है, “चेत्यस्यतत्त्वममलमणिमस्यकण्ठे” इस भा. स्कं. ३ अ. २८ श्लोक २८ में कौस्तुभमणि को जीवतत्त्व बतलाया है, उस मणि को श्रीहस्तादि में स्थान न देकर गले में स्थान देने का अभिप्राय यह है कि क्रिया शक्ति की अपेक्षा ज्ञान शक्ति उत्तम होती है, अतः मुक्त जीवों को सरस्वती का स्थान ही उपयुक्त है भगवान् का कण्ठ प्रदेश ज्ञान शक्ति स्वरूप सरस्वती का आश्रय है अतः वहां मुक्तात्माओं का स्थान है मुक्तीपसृप्य भगवान् मुक्त जीवों को कण्ठाभरण रूप से धारण करते हैं, कौस्तुभमणि का बीच में धारण करना सूचित करता है कि जीव दोनों प्रकार के होते हैं। कोई क्रियानिष्ठ होते हैं जिनका कर्मकाण्ड की पद्धति से ब्रह्म प्राप्ति के लिये उद्यम होता है और कुछ ज्ञाननिष्ठ होते हैं जिनका ज्ञानकाण्ड की पद्धति से ब्रह्म प्राप्ति का उद्यम होता है भगवान् की सर्वाङ्ग. वर्णना श्री भा. स्कं. ३ अ. २८ में हुई है वहां कौस्तुभ का वर्णन दो बार किया है इससे भी द्विविधता स्पष्ट होती है, श्लोः सं २६ कण्ठञ्चकौस्तुभमणेरधि- भूषणार्थम् श्लो. सं २८ चेत्यस्यतत्त्वममलमणिमस्यकण्ठे, यह वह दोनों श्लोकों के अंश हैं, शोभा दो प्रकार की होती है ज्ञानकृत शोभा और कर्मकृत शोभा सत्कर्माचरण से हुई शोभा कर्मकृत शोभा है, और तत्त्वचिन्तनादि से सम्पन्न हुई शोभा ज्ञानकृत शोभा है, जीव के यह दोनों ही, क्रिया और ज्ञान, धर्म हैं अतः जीवतत्त्वात्मक कौस्तुभमणि को “शोभि” शोभा सम्पन्न बतलाया है, उक्त प्रकार से भगवान् में अक्षर ब्रह्म एवं जीव ब्रह्म इन दोनों के सम्बन्ध को श्रीवत्स और कौस्तुभ रूप से निरूपण कर जीवों के जीव भाव में करणीभूत माया का भगवान् के अमुक अंश को आच्छन्न करने वाली होने के कारण पीताम्बर रूप से निरूपण करते हैं, “पीताम्बरम्

भगवान् का वस्त्र पीतवर्ण है, अतः शोभा का हेतु है क्योंकि नीलवर्ण आपका श्री विग्रह है आकाश का वर्ण भी नील है इसलिए आपको आकाशतनु कहा है कि भगवान् का शरीर आकाश है, नील वर्ण पर पीतवर्ण अधिक शोभादायक होता ही है साथ ही में एक मर्म और भी शोभा में उपयोगी है कि भगवान् का शरीर आकाश है ऐसा “आकाश शरीरं ब्रह्म” आदि श्रुतियों से सिद्ध होता है।

व्याख्यार्थ — आकाश विकार रहित है तो उसकी शोभा भी विकार रहित वस्तु सम्बन्ध होने पर रह पावेगी विकारिवस्तु के सम्बन्ध होने पर निर्विकार की भी शोभा न रह पाती पीताम्बर सर्वांश में विकार रहित है इसमें पीत+और अम्बर दो अंश है, अम्बर शब्द आकाश वाचक होने से निर्विकारिता का सूचक है और पीतवर्ण के सम्बन्ध में इस दिशा से विचार करने पर निर्विकारिता सूचित होती है कि तामस और राजस सम्बन्ध में पीत वर्ण सम्पन्न होता है, इसमें सात्त्विक का सम्बन्ध नहीं है, सात्त्विक अहंकार को “वैकारिको राजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा, आदि स्थल पर वैकारिक कहा एवं रोमांच आदि सात्त्विक भावों को भी विकार माना है अतः पीत वर्ण में सात्त्विक सम्बन्ध न होने से निर्विकारता है यदि कहें कि पीत वर्ण स्वतन्त्र है राजस तामस सम्बन्ध से क्यों गना जाय तो इस विषय में तो श्रुति ही प्रमाण है कि रूप तो तीन प्रकार का होता है लाल शुक्ल और कृष्ण, पीतवर्ण आया कहां से श्रुति से स्पष्ट उल्लेख है कि “यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद् रूपं यच् छुक्रंतदपायत्कृष्णांतदन्नस्त्वं लालवर्ण तेज का है, शुक्ल वर्ण जलों का है, कृष्ण वर्ण अन्न (पृथ्वी) का है, अतः पीत वर्ण भी विकार रहित ‘सात्त्विक सम्बन्ध रहित’ होने से निर्विकार है तो पीताम्बर नीलवपु की निर्विकार से निर्विकार की शोभा होना सर्वथा सुसंगत है, “सान्द्र पयोः सौभगम्” इस विशेषण से भगवान् की ‘श्री’ प्रभा का वर्णन करते हैं, गाढ़ नील वर्ण वा मेघ के समान आपकी सुन्दरता है, परमानन्द स्वरूप भगवान् की नीलवर्णता का निरूपण चार प्रकार से पूर्व में “निबन्ध” में किया जा चुका है, प्रथम प्रकार यह है कि जैसे नेत्र रूप वाले पदार्थ को देखते देखते आकाश में किसी वस्तु के न होने पर मे शून्य प्रदेश में दूर जाकर कुछ नीला सा देखते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म भी अत्यन्त गम्भीर होने के कारण नीला जैसा ही दीखता है, द्वितीय प्रकार यह है कि सत्ययुग आदि यु

के अधिष्ठाता देवताओं के शुक्ल, रक्त, पीत, नील, वर्ण है उनके प्रतिबिम्बों की प्रतीति ब्रह्म में होती है, तृतीय प्रकार यह है कि भगवान् भूमि में प्रकट हुए हैं अतः भूमि का नीला वर्ण उन में प्रतिफलित होता है, चतुर्थ प्रकार यह है कि शुद्ध सत्य का वर्ण नील है शुद्ध सत्त्वात्मक वैकुण्ठ में प्रकट हुए ब्रह्म में उस शुद्ध सत्त्व की नीलता झलकती है।

**श्री सुबोधिनी** — प्रभां वर्णयति सान्द्रपयोदसौभगमिति, सान्द्रो हि सिन्धो नीलः, पयोदो मेघः, परमानन्दस्य नीलरूपत्वे प्रकारचतुष्टयं पूर्वं निरूपितं, आकाशकालभूमिवैकुण्ठैः। तस्य धर्मा इदानीं निरूप्यन्ते, यस्तु स्वकाले सर्वानन्ददाय्यन्नोत्पादकस्तापनाशकञ्च स सान्द्रः पयोदः, एवमेव भगवानपि पृथिव्याः स्वर्गस्य धर्मस्य भक्तानां च सर्वानिष्टनिवृत्तिपूर्वकसर्वेष्टकर्ता, “सर्वत्र पूर्णगुणकोपि बहूपमोभू” दिति प्राकृतोपमा न दोषः, अन्यथा न सङ्गच्छेत, ‘सिन्धुप्रावृद्धनश्याम’ इत्यर्थः, अनेन कान्तिलक्षणा श्रीनिरूपिता ॥६॥

**व्याख्यार्थ** — इस प्रकार आकाश, काल, भूमि, और वैकुण्ठ इनके चार प्रकार से नील रूपता का प्रतिपादन किया है, इस समय तो नील मेघ की उपमा के द्वारा उनके धर्मों का निरूपण करना अभीष्ट है, जो मेघ अपने समय पर सर्व साधारण को आनन्द का प्रदान करता है, एवं अन्न का उत्पादन करता है, तथा ताप का नाश होता है वह मेघ गम्भीर और नीलवर्ण होता है, इसी प्रकार ही भगवान भी पृथिवी, एवं स्वर्गलोक, धर्म तथा भक्तों के सर्व अनिष्टों को नष्ट कर सर्व अभीष्टों को सिद्ध करने वाले हैं, भगवान् के विषय में कहा है कि “सर्वत्रपूर्णगुणकोऽपिबहूपमोऽभूत” वह भगवान् सर्वत्र पूर्ण गुणों से सम्पन्न होते हुए भी बहुत उपमाओं को अंगीकार करते हैं, अतः प्राकृत मेघों की उपमा कोई अनुचित नहीं, अन्यथा सर्वथा अप्राकृत ब्रह्म को प्राकृत मेघों की उपमा कैसे संगत हो सकेगी, इस विशेषण से मनोहर वर्षा कालीन मेघ के समान श्याम सुन्दर स्वरूप का वर्णन कर भगवान् की कान्तिस्वरूप श्री का निरूपण किया है ॥६॥

**श्लोकः** — महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डलत्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् ॥

उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभिर्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत ॥१०॥

**मूलार्थ** — बहुमूल्य वैदूर्यमणि से जटिल मुकुट और कुण्डलों की कान्ति आपके हजारों केशों से आलिङ्गन कर रही थी तथा बन्धन रहित काञ्ची (करधनी) एवं अङ्गद (बाजूबन्द) कङ्कण आदि आभूषणों से आपकी छवि अधिक छहरा रही थी ऐसे स्वरूप का दर्शन वसुदेव ने किया ॥१०॥

श्री सुबोधिनी — एवं मूलभूते ब्रह्मणि स्वयं स्थित्वा स्वांशाञ् जीवान् कृतार्थान् कृत्वा भूमिष्ठाञ् जीवान् व्यामोहेन स्वरूपज्ञानरहितान् विधाय तेभ्यश्चतुर्विधपुरुषार्थान् प्रयच्छतीत्युक्तं, तत्र ज्ञानक्रिययोः प्रकारभेदाः सन्तीति ज्ञापयितुं सर्वशास्त्ररूपाणि भगवदाभरणान्यनुवर्ण्यन्ते ज्ञानवैराग्य-रूपेण महार्हति ।

व्याख्यार्थ — इस प्रकार पूर्वोक्त श्लोक के 'श्री वत्सलक्ष्यम्' आदि चार विशेषणों के द्वारा यह वर्णन किया कि भगवान् मूल भूत अक्षर ब्रह्म में विराजमान होकर, अपने अंश रूप जीवों को कृतार्थ करके, भूमि स्थित जीवों को महामोह से स्वरूप ज्ञान रहित बनाकर उनको चतुर्विध पुरुषार्थ का दान करते हैं, इस श्लोक के द्वारा ज्ञान और वैराग्य के रूप में भगवान् के सर्व शास्त्र रूपी आभूषणों का अनुरूप वर्णन किया जाता है जिससे यह सूचित करना अभीष्ट है कि भगवत्स्वरूप गत ज्ञान, एवं क्रिया यह दोनों शक्ति विविध भाति की हैं, उनके अनेक प्रकार हैं ।

श्री सुबोधिनी — महानर्हो मूल्यं यस्य तार्धशवैदूर्ययुक्तं किरीटं कुण्डले च तेषां त्विषा कान्त्या परिष्वक्तान्यालिङ्गितानि सहस्रं कुन्तलानि यस्य, भगवन्मुखनिरीक्षकाः शास्त्राभिज्ञा जीवा भगवन्मुखामोदपानरताः षट्पदा इव भक्तौ परितश्चकासते ।

व्याख्यार्थ — बहुमूल्य वैदूर्यमणि से जटिल किरीट एवं कुण्डलों की कान्ति से भगवान् के सहस्रशः केश आलिङ्गित हो रहे हैं, इस विशेषण से यह सूचित होता है कि भगवान् के श्री मुख का निरीक्षण करने वाले शास्त्र के मर्मज्ञ जीवगण भगवान् के श्री मुख कमल के मकरन्द रस पान में निरत हुए भ्रमरों की भांति भक्ति के हो जाने<sup>1</sup> पर सब ओर से शोभित हो रहे हैं ।

श्री सुबोधिनी — तेषां वेदः सांख्ययोगौ च शोभाजनका भवन्ति, वेदसांख्ययोगानां प्राप्तिश्च सर्वलोकप्रसिद्धाद्गुरोरेव भवतीति महार्हवैदूर्यरूपेण निरूपिताः, वेदे काण्डद्वितयं, योगोऽपि साधनफलरूपो द्विविधः, सांख्यमपि न्यासज्ञानभेदेन द्विविधं, एवं षड्शास्त्राणि निरूपितानि भवन्ति, तान्येव पदानि, त्रयाणामपि भेदाः, सहस्रं सन्तीति ज्ञापयितुं कुन्तलानां संख्या निरूपिता, लौकिकज्ञानविस्मरणार्थं परिष्वङ्गो निरूपितः, एवं लोके ज्ञान निरूप्य क्रियां निरूपयत्युद्दामेति,

टिप्पण — <sup>1</sup> इस स्थल पर भक्ति के होने पर ही शास्त्र श्रम की सफलता है, यह सूचित करना अभीष्ट है किसी पुराणादिगत यह भगवद्वचन यहां पर लिखना आवश्यक है, 'यथा खरश्चन्दन भारवाही भारस्य वेत्रा न तु चन्दनस्य, तथैव विप्रा षट् शास्त्र युक्ता मद्भुक्ति हीनाः खरवद्वहन्ति ।

कर्माण्यनन्तान्येव तथापि त्रिविधानि निरूप्यन्ते काञ्च्यङ्ग.दकङ्कणरूपाणि तमःसत्त्वरजोरूपाणि, एतानि त्रीणि वेदादिभूतानि स्वसजातीयानि बहुन्येव जनयिष्यन्ति, लोके काञ्ची सदामा भवति, इयं तूदामा—

**व्याख्यार्थ** — उन जीवों की शोभा के सम्पादन में वेद, और सांख्य योगों का उपयोग है तथा वेद सांख्य योगों की प्राप्ति सर्व लोक प्रसिद्ध गुरु से ही होती है इसलिये वैदूर्यमणि को बहुमूल्य<sup>७</sup> कहा है, वेद में कर्म और ज्ञान, के प्रतिपादक दो काण्ड हैं, योग भी साधन, फल, भेद से दो प्रकार का है, और सांख्य भी न्यास तथा ज्ञान के भेद से दो प्रकार का है, इस प्रकार षट् शास्त्रों का निरूपण होता है, यह षट् शास्त्र ही षट् पद भ्रमर रूप जीवों के पद हैं, कुन्तलों को संख्या सहस्र शब्द से इसलिये प्रकट की है कि वेद, सांख्य, योग, इन तीनों के भी हजारों भेद हैं शास्त्रज्ञ भक्तों का लौकिक ज्ञान विस्मृत हो जाता है इस आशय को व्यक्त करने के लिए कुन्तलों का किरीट और कुण्डलों की आभा से परिषाङ्ग. (आलिङ्ग.न) बतलाया है, अर्थात् कुन्तल रूप जीव षट् शास्त्र ज्ञान जनित भक्ति भाव से सर्वाङ्ग. परिपूर्ण हो जाते हैं अतः उन्हें लौकिक का अनुसन्धान नहीं रहता है, इस प्रकार लोक में नाना प्रकारों को प्राप्त हुए ज्ञान के निरूपण करने के अनन्तर 'उदाम' इत्यादि विशेषण के द्वारा क्रिया का निरूपण करते हैं, यद्यपि कर्म अनन्त ही हैं तो भी तीन प्रकार के ही बतलाये गये हैं, क्योंकि वह सर्व कर्मों का सात्त्विक, राजस, तामस रूप से ही विभाग होता है, अतः यहां पर उनका काञ्ची, अङ्ग.द, कङ्कण के रूप में निरूपण हुआ है, काञ्ची तमोमय कर्मरूप है, अङ्ग.द सत्त्वमय कर्म रूप है और कङ्कण रजोमय कर्म स्थानीय है।

**श्री सुबोधिनी** — दामरहिता, हिंसाप्रचुराऽपि वैदिकी कृतिर्न लोकानुसारिणी, भूमौ मायाव्याप्तानामेव तत्राधिकार इति पीताम्बरोपरि काञ्ची तिष्ठति, लौकिकानि तानि व्यावर्तयितुं लौकिकसूत्राभाव उक्तः, उत्कृष्टानि वाऽलौकिकानि तत्र साधनानि निरूपितानि, अङ्ग.दानि बाहुमध्ये तिष्ठन्ति अङ्ग. ध्रुति खण्डयतीति राजसं तद् भवति, सात्त्विकराजसयोर्विभागहेतुत्वात्, आदिशब्देन मुद्रिका अङ्गदरस्थानीयान्यन्याभरणानि क्षुद्रघण्टिकानूपुरादीनि च निरूप्यन्ते, तैः सर्वैरेव

<sup>७</sup> अगूल्य न कहकर बहुमूल्य कहना वस्तु की प्राप्ति के साधन की सत्ता का सूचक है और उसकी महत्ता का भी सूचक है अतः किरीट आदि से सूचित वेदादि शास्त्र भी बहुमूल्य सहस्रकृपा से प्राप्त होते हैं।



धर्ममार्गवर्तिभिर्भगव- त्सम्बन्धिभिर्विरोचमानो भगवान् भवति, “वेदे रामयणे चैव पुराणे भारते तथा आदावन्ते तथा मध्ये हरिः सर्वत्र गीयत” इति, नन्वेतांशो भगवानिति किमर्थमुच्यते ? तत्राह

**व्याख्यार्थ** — यह भगवान् के आभरण रूप त्रिविध कर्म वेदादि शास्त्रों से प्रतिपाद्य हैं, और यावत् कर्म मात्र के आदि भूत (पूर्ववर्ती कारण) हैं, अपने समान जातीय अनन्त सात्त्विक आदि कर्मों को भविष्य में प्रकट करते रहते हैं, क्योंकि कर्मों का स्वभाव है कि उत्तरोत्तर अपने जैसे कर्मों को उत्पन्न करते रहना, (कङ्कणादिभिः), का आदि शब्द, काञ्ची, अङ्गद और कङ्कण तीनों से सम्बन्धित है अतः तामस कर्म, तामस कर्मों को सात्त्विक कर्म, सात्त्विक कर्मों को और राजस कर्म, राजस कर्मों को जन्म देते रहते हैं यह सूचना अभीष्ट है। लोक में काञ्ची दाम सहित होती है (किसी बन्धन सूत्रादि के आधार पर अवलम्बित होती है) परन्तु यह भगवदासरण काञ्ची तो उद्दाम है बन्धन रहित है, वैदिक क्रिया यद्यपि हिंसात्मक होती हैं क्योंकि पशु का बलिदान वहां पर प्रधानतया किया जाता है फिर भी वह लौकिक हिंसा की तरह निन्द्य या पाप जनक नहीं बन्धन हेतु नहीं इस अभिप्राय को ‘उद्दाम’ विशेषण से व्यक्त किया है, साथ ही वैदिक कृति के हिंसात्मक होने की सूचना से काञ्ची की वैराग्य रूपता<sup>x</sup> भी स्पष्ट हो जाती है क्योंकि राग प्रयुक्त हिंसा ही पाप है एवं बन्धन कारण है वैदिक हिंसा पाप नहीं क्योंकि वह शुद्ध विधि प्रयुक्त ही है अतः राग के अभाव की या वैराग्य की स्पष्टता हो ही जाती है, पीताम्बर के ऊपर काञ्ची (करधनी) स्थित है, वह यह सूचित कर रही है कि जो लोग भूमि में माया से व्याप्त हैं उनका ही वैसे हिंसात्मक कर्मों में अधिकार है क्योंकि भगवान् के चरण रूप भूलोक पर पीताम्बर रूपिणी माया है और उसका काञ्ची रूप वैसे कर्मों से निकट सम्बन्ध है, भगवान् में लौकिक कर्मों का सर्वथा अभाव है अतः उन लौकिक कर्मों की व्यावृत्ति करने के लिये उनके अभाव बतलाने के लिये लौकिक सूत्र

**श्री सुबोधिनी** — वसुदेव ऐक्षतेति, तत्पूर्वोक्तानां धर्माणां लौकिकत्वमलौकिकत्वं च सम्भवति, यदि वसुदेवो न ज्ञास्यति तदा लौकिकान्येवैतानीति मंस्यते, अथ ज्ञास्यति तदोक्तं व्याख्यानमुभयार्थं तादृशधर्मयुक्तं ऽष्टवानिति शुक आह, एतज् ज्ञानं स्तोत्रे स्पष्टं भविष्यति ॥१०॥

**टिप्पण** — वैदिक कृति लौकिक दुःख को निवृत्त करती है अतः वैराग्य रूप है ऐसा प्रकाशकार लिखते हैं।

(डोरे) का अभाव 'उद्दाम' शब्द से कहा है, अथवा 'उद्दाम' शब्द के अन्तर्गत 'उद्' शब्द का उत्कृष्ट अर्थ होने के कारण उस काञ्ची रूप वैदिक कर्म में अलौलिक<sup>१</sup> साधनों का निरूपण 'उद्दाम' शब्द से किया है, अङ्ग.द बाहुओं के मध्य में रहते हैं, यह सात्त्विक कर्मों के मूल भूत है क्योंकि 'अङ्ग.द्यति खण्डति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार अङ्ग. का खण्डन करने वाला ही अङ्ग.द शब्द का वाच्यार्थ है, देहाध्यास की निवृत्ति या विदेह कैवल्य की प्राप्ति में अङ्ग. का खण्डन (देह का अनुसन्धान न रहना) स्वाभाविक है यह देह स्मृति की अवस्था सात्त्विक है अतः इस अवस्था का प्रयोजन कर्म की सात्त्विक ही है, चंचल होने के कङ्क.ण राजस कर्म स्थानीय है, यद्यपि<sup>२</sup> शास्त्र विहित कर्म रूप अङ्ग.द और कङ्क.णों की क्रिया शक्ति रूप भगवद्भुक्ताओं में स्थिति होने से उनके सात्त्विक या राजस होने में कोई स्थूल कारण नहीं दीखता परन्तु एक ही कर्म की सकाम निष्काम कर्त्ताओं के आधार पर सात्त्विकता और राजसत्ता गीता अध्याय १८ श्लोक २३-२४ में कही है उस दिशा से सात्त्विक और राजस (निष्काम और सकाम) कर्त्ता ही कर्म के सात्त्विक और राजस इस विभाग के कारण है अतः उक्त विषय में कोई शङ्का नहीं,

**श्री सुबोधिनी** - एवं भगवन्तं ईष्ट्वा शुद्धसत्त्वात्मको वसुदेवः क्रिया ज्ञानं च प्रकटीकृतवानित्याह द्वाभ्या, दानं क्रिया, स्वरूपज्ञानबोधक स्तोत्रं, कर्मण्याधिकारचतुष्टयं, श्रद्धा चाङ्ग.म्, 'अर्थी विद्वान् समर्थः' शास्त्रेणापर्युदस्तश्च, इदं च कर्म नैमित्तिकं, तस्यापेक्षाज्ञापको हर्षः, स चासाधारण एव भगवन्निष्ठो भवति, तदाह स विस्मयोत्फुल्लविलोचन इति ।

**व्याख्यार्थ** - आदि शब्द से मुद्रिका (अंगूठी) एवं अङ्ग.द (बाजूबन्द) के स्थान पर धारण करने योग्य अन्य आभरण तथा क्षुद्र घण्टिका नूपुर आदिका निरूपण किया है, उन सब ही धर्म मार्गीय भगवत्सम्बन्धी कर्म रूप आभूषणों से भगवान् शोभा सम्पन्न होते हैं, 'वेदे रामायणे चैव'<sup>३</sup>, इस हरिवंशोक्त पद्य का उद्धरण इस ईष्टि से किया गया है कि

<sup>१</sup> लेखकार ने साधनों की अलौकिकता पर प्रकाश डालते हुए वैदिक साधनों की भगवद्रूपता (तत्साधनञ्च स हरि प्रयाजादि स्त्रुगादियत्) इस निबन्ध के अनुसार बतलाई है।

<sup>२</sup> टिप्पण के लिये पृष्ठ ३२ पर टिप्पण १ पढ़ें।

<sup>३</sup> यह प्रकाशकार का अभिप्राय है, लेखकार तो (तमद्भुतम्) आदि श्लोक द्वय द्वादश विशेषणों के अभिप्राय का सिहावलोकन इस पद्य से किया है ऐसा बतलाते हैं, वेद में आदि<sup>१</sup>, मध्य<sup>२</sup>, और अन्त<sup>३</sup>, में तथा रामायण में आदि<sup>४</sup>,

सर्व शास्त्रों में आमूल चूल भगवान् की महिमा का ही गान हुआ है अतः शास्त्रोक्त कर्म रूप आभरणों से भगवान् का शोभित होना सर्वथा सङ्गत ही है, उक्त श्लोक में 'वसुदेव ऐक्षत' वसुदेवजी ने उक्त स्वरूप भगवान् को देखा, ऐसा कहा गया है, शुक मुनि का ऐसा कथन एक शङ्का के निवारणार्थ हुआ है, कि प्रकट हुए भगवान् का दर्शन को अनुक्त सिद्ध है उसके कथन की क्या आवश्यकता जो स्वरूप प्रकट हुआ उसका दर्शन होना तो स्वाभाविक ही है एवं 'सविस्मयोत्फुल्ल' श्लोक में 'विलोक्य' पद से दर्शन का अनुवाद आगे किया ही है ऐसी स्थिति में भगवान् ऐसे हैं देखकर वसुदेव ने दान, स्तोत्र आदि किये इतना कथन ही पर्याप्त था, परन्तु बात ऐसी है कि वसुदेवजी को भगवत्स्वरूप का सर्वांश में यथार्थ ज्ञान हो चुका है, इस रहस्य की सूचना के लिये वह कथन किया है, बात ऐसी है कि पूर्वोक्त ऐश्वर्यादि भगवद्धर्मों की लौकिकता का भी सम्भव है और अलौकिकता का भी सम्भव है, इस समय वसुदेवजी को यदि यथार्थ ज्ञान न होगा तो वह उन ऐश्वर्यादिकों को लौकिक ही मानेंगे, और यदि यथार्थ ज्ञान होवेगा तो<sup>x</sup> हमने लौकिक वैदिक दोनों प्रकार के ऐश्वर्यादिकों का प्रतिपादक जो व्याख्यान पूर्व में कहा है उसी प्रकार का आगे भी उनको भगवल्लीलाओं में अनुभव होता रहेगा, अतः शुकदेव कहते हैं कि वसुदेवजी ने वैसे धर्मों के सहित भगवान् को देखा उनका लौकिक वैदिक उभय विध ऐश्वर्यादि परिपूर्ण स्वरूप उसी समय पहिचाना, वसुदेवजी का वह ज्ञान उनके किये हुए स्तोत्र में स्पष्ट हो जावेगा ॥१०॥

**व्याख्यार्थ** — इस प्रकार भगवान् का दर्शन कर शुद्ध सत्त्व गुण के प्रतीक श्री वसुदेवजी ने क्रिया और ज्ञान को प्रकट किया, यह दो श्लोकों से कहते हैं, गोदान रूप क्रिया है, और स्तोत्र भगवत् स्वरूप के ज्ञान का बोधक है, कर्म में चार प्रकार का अधिकार और श्रद्धा अंग है, कर्ता अर्थी होना चाहिये जिस निमित्त से वह कर्म करता है उस निमित्त की उसे अभिलाषा होनी चाहिये, तथा वह विद्वान भी हो उसे निमित्त का

मध्य<sup>१</sup>, अन्त<sup>२</sup> मे एव पुराण मे आदि<sup>३</sup>, मध्य<sup>४</sup> और अन्त<sup>५</sup> मे और भारत मे भी आदि<sup>६</sup>, मध्य<sup>७</sup> और अन्त<sup>८</sup> मे हरि भान क्रिय<sup>९</sup> है अतः यहां प्रकट हुए भगवान् वह ही हैं जिनका निरूपण वेदादि सर्व शास्त्रो मे हुआ है।

<sup>x</sup> द्वागर्धश श्री वल्लभाचार्य ने उक्त श्लोकों के व्याख्यान द्वारा जैसा भगवत्स्वरूप कहा है वसुदेवजी को उस स्वरूप का स्मृत्कार इसी समय हुआ और आगे भी होता रहेगा।

और नैमित्तिक कर्म का ज्ञान भी हो, अन्यथा कर्म नहीं कर सकेगा, एवं ऐसे सामर्थ्यशाली भी होना आवश्यक है, क्योंकि सामर्थ्य के बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता है, और शास्त्र से उसे कर्म करने में वर्जन या निषेध प्राप्त न होना चाहिये, इस प्रकार यह चार कर्त्ता के विशेषण कर्म में अधिकार रूप हैं, और यह दान रूप कर्म नैमित्तिक है। पुत्र जन्म आदि के निमित्त से किया जाने वाला है, वसुदेवजी को भगवान् के जन्म की अपेक्षा है, इसकी सूचना उनका हर्ष ही कर रहा है, वह हर्ष भगवद् विषयक होने से असाधारण ही होता है, उसे (सविस्मयोत्फुल्ल) आदि दो श्लोकों से कहते हैं,

**श्लोक: —**स विस्मयोत्फुल्लविलोचनो हरिं सुतं विलोक्यानकदुन्दुभिस्तदा।

कृष्णावतारोत्सवसम्भ्रमोस्पृशन् मुदा द्विजेभ्योयुतमाप्लुतो गवाम्॥१॥

**मूलार्थ —** उस समय हरि रूप पुत्र को देखकर वसुदेवजी के नयन विस्मय से खिल उठे, कृष्ण के अवतार होने के कारण आनन्दातिरेक से संभ्रान्त होकर प्रसन्नता से स्नान कर ब्राह्मणों को दश सहस्र गौओं के दान का मानस संकल्प किया।

**श्री सुबोधिनी —** एतत्सर्वपरिज्ञाने स इति पूर्वोक्तो वसुदेवो हेतुः, अलभ्यलाभाद् विस्मयः, स विस्मयोन्तःप्रविष्ट उत्फुल्ले विलोचने करोति, पूर्व हरिः सुतो भविष्यतीति श्रुतं, इदानीं हरिं सुतं विलोक्य, अनेन विद्वत्तोक्ता, निमित्तज्ञानेनैव नैमित्तिकमपि ज्ञातमपि ज्ञानं करणात् स्पष्टं भविष्यति, आनकदुन्दुभिरिति, असामर्थ्ये आनका दुन्दुभयश्च कथं नेदुः ? कृष्णास्यावतारे य उत्सवो मनसो विलासस्तस्मिन् जाते सम्यग् भ्रमो यस्य तार्धशश्च भगवच्छास्त्रे स्मृतिशास्त्रे चोत्सवाविष्टः, तार्धशे कर्मणि शास्त्रेणापर्युदस्तः, पुत्रस्य सर्वलक्षणसम्पत्तावेव तथाधिकार इति कृष्णपदं।

**व्याख्यार्थ —** उक्त श्लोक में 'स' शब्द से पूर्वोक्त वसुदेवजी का परामर्श कर उनके दान, स्तोत्र, और स्वाधिकार सम्बन्धी परिज्ञान में हेतु का निर्देश किया है कि यह वह वसुदेव है जिनने भगवत्साक्षात्कार किया है एवं जो विशुद्ध सत्त्वात्मक है, अतः इनके सर्व विध ज्ञान सम्पन्न होने में किसी प्रकार की शङ्का का अवकाश नहीं, उनको अलभ्य लाभ<sup>x</sup> होने के कारण विस्मय हुआ, वह विस्मय अन्तः प्रदेश हृदय में प्रवेश कर

<sup>x</sup> अलभ्य वस्तु का लाभ विस्मय जनक ता होता ही है साथ ही में उस वस्तु की तीव्र प्राप्ति की इच्छा का भी द्योतक है जिसके प्राप्त करने की पूर्ण अभिलाषा हो पर अपने साधन बल को देखकर प्राप्त होने की आशा न हो, लाभ होने

नेत्रों को खिला देता है यह उसका स्वभाव है, वसुदेवजी के नेत्र विस्मय से खिल उठे, उन्होंने पूर्व में यह सुना था कि भगवान् हरि पुत्र रूप से प्रकट होंगे, इस समय तो पुत्र रूप से प्रकट होंगे, इस समय तो पुत्र रूप से प्रकट हुए हरि को देख रहे हैं, इस प्रकार के दर्शन से उनकी विद्वत्ता स्पष्ट होती है जो कि कर्माचरण के अधिकारों में एक है, प्रस्तुत गोदान कर्म में भगवत्प्रादुर्भाव निमित्त है, इस निमित्त के ज्ञान से वसुदेवजी का नैमित्तिक (गोदान कर्म) विषयक ज्ञान भी सिद्ध होता है, उनका वह ज्ञान आगे गोदान करने से स्पष्ट होगा, (आनक दुन्दुभिः) वसुदेवजी को इसलिये कहते हैं कि इनके जन्म समय में आनक और दुन्दुभि बजे थे, इस कारण इनकी गोदानादि सत्कर्माचरण में समर्थता<sup>+</sup> व्यक्त होती है कि यदि दश सहस्र गोदान का सामर्थ्य नहीं होता तो जन्म काल में आनक दुन्दुभियों का नाद भी कैसे सम्भव था।

**श्री सुबोधिनी** — मुदेति, हर्षः स्नेहात्मक इति भक्तिसूचकः, गवामयुतं द्विजेभ्योऽस्पृशद् ब्राह्मणानुद्दिश्य दशसहस्रं गावो दत्ताः, ननु स्नात्वा गावो देयाः कथमेवमेव सङ्कल्पं कृतवानित्याशङ्क्याह मुदाप्लुत इति, हर्षजलेनैव स्नातवानित्यर्थः ॥११॥

**व्याख्यानार्थ** — भगवान् कृष्ण के अवतार होने पर वसुदेवजी के मन का विलास रूप जो उत्सव हुआ उसके होने पर उनको परम सुन्दर भ्रम या व्यग्रता हुई कि ऐसे शुभावसर पर क्या क्या न्यौछावर न की जाय, भगवत् सम्बन्धि शास्त्र में एवं स्मृति शास्त्र में वैसे पुरुष का ही उस प्रकार के गोसहस्र दानादि कर्म में वर्जन<sup>⊗</sup> नहीं किया जिसका मन उल्लासपूर्ण हो और सम्भ्रान्त हो, पुत्र यदि सर्व शुभ लक्षणों से सम्पन्न हो तब ही उल्लासपूर्ण हृदय होकर वैसे शुभ कर्म का अधिकार प्राप्त हो सकता है अतः यहां कृष्ण पद का प्रयोग कर पुत्र की सर्व लक्षण सम्पत्ति सूचित की है, 'मुदा' हर्ष के साथ गोदान किया, हर्ष स्नेहात्मक है, उसके स्वरूप में स्नेह अन्तःप्रविष्ट है, अतःभक्ति की सूचना करता है, कि भक्तिमान् वसुदेवजी ने भक्तिपूर्वक गोदान का मानस संकल्प

पर वह अलभ्य लाभ कहलाता है, इस कथन के द्वारा (आर्निता) भगवत्प्रादुर्भाव की अपेक्षा की सूचना है जो कि कर्माचरण में एक अधिकार रूप है।

<sup>+</sup> कर्माचरण में समर्थता भी अधिकार रूप से अङ्ग है।

शास्त्र में वर्जित न होना भी कर्ता का अधिकार रूप अङ्ग है।

किया, दश सहस्र गौओं को दान ब्राह्मणों का उद्देश्य कर वसुदेवजी ने किया, यद्यपि गोदानादि सत्कर्म में प्रथम स्नान आवश्यक है, स्नान करने के अनन्तर ही वैसे सत्कर्मों का विधान है, वसुदेवजी ने ऐसे ही संकल्प कैसे किया इस प्रकार की आशङ्का के समाधान करने के लिये 'मुदाऽऽप्लुत', इस प्रकार की पद योजना की है, जिससे वसुदेवजी ने हर्ष के जल से स्नान किया ऐसा अर्थ निकलता है ॥११॥

श्लोक: — अथैनमस्तौदवधार्य पूरुषं परं नताङ्गः कृतधीः कृताञ्जलिः ॥

स्वरोचिषा भारत! सूतिकागृहं विरोचयन्तं गतभीः प्रभाववित् ॥१२॥

मूलार्थ — हे भारत! गोदान कर्म के अनन्तर वसुदेवजी का अद्भुत बालक को यह ही पूर्ण पुरुषोत्तम है ऐसा निश्चय पूर्वक जानकर सर्वाङ्ग. को झुकाये हुए बुद्धि को अभिमुख किये हुए हाथों को जोड़े हुए स्तुति करने लगे, वह बालक अपनी दिव्य ज्योति से जन्म स्थान को विशेष रूप से प्रकाशित कर रहा था, और वसुदेवजी का भय नष्ट हो चुका था वह भगवत् भाव को जान चुके थे।

श्री सुबोधिनी आभास — ननु पुत्रः संस्कर्तव्यो जातकाख्येन कर्मणा तत् कथं न कृतवानित्याशङ्क्य प्राकृत एव तस्य संस्कार इति नास्मिस्तदपेक्षेति तज् ज्ञानं स्वस्य वर्तत इति ज्ञापयन् भगवन्त स्तौतीत्याहाथैनमिति ।

अथ कर्मसमाप्तिं विधाय तदनन्तरमेनं पुत्रत्वेनाविर्भूतं भगवन्तमस्तौत्, स्तोत्रमुत्कृष्टे कर्तव्यमिति कथं पुत्रे स्तोत्रमित्याशङ्क्याहावधार्य पूरुषमिति, पूर्वोक्तवर्णनप्रकारेण परः पुरुषः पुरुषोत्तम एवायमित्यवधार्य, अभिनन्दनात्मकमपि स्तोत्रं भवतीति तद्व्युदासार्थ —

व्याख्यार्थ — ऐसी शङ्का हो सकती है कि पुत्र का संस्कार 'जातक' नाम वाले कर्म से करना आवश्यक था, वसुदेवजी ने वैसा क्यों नहीं किया, परन्तु इस शङ्का को यहां अवकाश नहीं, क्योंकि प्राकृत पुत्र के जन्म होने पर उनकी शुद्धि के लिये संस्कार का विधान है इस अप्राकृत बालक में संस्कार की अपेक्षा नहीं, वसुदेवजी को इस बालक को अलौकिकता का ज्ञान हो चुका है, ऐसा बतलाते हुए स्तुति करते हैं, मानसिक गोदान रूप कर्म की समाप्ति के अनन्तर वसुदेवजी ने पुत्र की स्तुति कैसे की

\* 'मुदा' इस शब्द की आवृत्ति अभीष्ट है, 'मुदा' हर्ष के साथ दस सहस्र गौओं का मानस स्पर्श किया, तथा 'मुदा' हर्ष रूपी जल से स्नान किया, इस प्रकार दो वाक्यों में बिना आवृत्ति के अन्वय नहीं हो सकता।

गई इस आशङ्क। को हटाने के लिये शुकदेवजी कहते हैं कि वसुदेवजी ने पूर्वोक्त प्रकार से इस बालक को परतत्त्व रूप पुरुष जान कर यह ही पूर्ण पुरुषोत्तम हैं ऐसा निश्चय करने के अनन्तर स्तुति की है, स्तुति केवल प्रशंसा करने मात्र से भी हो सकती है परन्तु यह स्तुति वैसी नहीं है, यह तो नम्रता पूर्ण स्तुति है वसुदेवजी 'नताङ्ग.' होकर स्तुति करते हैं, भगवान् को नमस्कार करके स्तुति कर रहे हैं उनका अङ्ग झुक गया है।

**श्री सुबोधिनी** — नताङ्गः, नतमङ्गः यस्य, नमस्कारं कृत्वेत्यर्थः, यो भगवान् जातो यादृशस्त तथैव ज्ञात्वा स्तोत्रमुचितं, "अन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा" चेत् "प्रतिपद्यते" तदाऽयुक्तमिति तदव्युदासार्थमाहकृतधीरिति, यद्यपि पूर्वं पुरुषोत्तम आविर्भवविष्यतीतिज्ञानं न स्थितं तथापि प्रदर्शितैर्भगवताऽवयवादिभिः कृता धीर्यस्य, समानयोरपि तथात्वं सम्भवतीति तदव्युदासार्थं कृताञ्जलिरिति, अञ्जलिर्महत एव क्रियते, स्तोत्रं कायवाङ्मनोभिः, कर्तव्यं, तत्र कृताञ्जलिरिति स्तोत्रे कायस्थितिः, कृतधीरिति मनसः, स्तोत्रं वाचनिकं, ननु स्तोत्रमुच्चैः कर्तव्यं तथा सति प्राहरिकाणां जागरणं भवेद्।

**व्याख्यार्थ** — जो भगवान् जैसे प्रकट हुए हैं उनको वैसा ही जानकर स्तुति करना उचित है, अन्यथा उचित नहीं, शास्त्र में कहा है कि आत्मा का स्वरूप हो कुछ अन्य प्रकार से और यदि कोई असावधान व्यक्ति उसे अतिरिक्त प्रकार से समझने लग जावे तो वह पापी है चोर है आत्मा का अपहरण करने वाला है वैसी स्थिति के हटाने को कहते हैं कि वसुदेवजी तो 'कृतधी' हैं, भगवत्स्वरूप के यथावद् ज्ञाता हैं, यद्यपि इनको पूर्व में यह ज्ञात नहीं था कि पुरुषोत्तम का प्राकट्य होगा परन्तु भगवान् ने अपने श्री हस्तादि अवयवों का दर्शन कराकर उनकी उस प्रकार की बुद्धि बनादी जिससे वह समझ गये कि यह पूर्णपुरुषोत्तम हैं। नम्रतापूर्वक स्तुति भी समान स्तर के लोग आपस में एक दूसरे की किया करते हैं परन्तु यहां वैसी बात नहीं है इसलिये ये कृताञ्जलिः, वसुदेवजी को कहा है कि वह हाथ जोड़े हुए हैं, महान् पुरुष की ही हाथ बांध कर स्तुति को जाती है, समान कक्षा वाले की नहीं, स्तुति शरीर, वाणी और मन से होनी चाहिए, हाथों का जोड़ना शरीर की स्थिति का सूचक है कि स्तुति करने में शरीर का उपभोग हुआ है, और 'कृतधी' शब्द से मन की अवस्था सूचित हो ही रही है, और वाणी का उपयोग तो स्तुति में स्पष्ट ही है क्योंकि स्तोत्र वचन द्वारा ही तो होता है, स्तुति

उच्च स्वर से की जाती है वैसा करने पर पहरे वाले जाग जावेंगे यह शङ्का हो सकती है।

श्री सुबोधिनी — इत्याशंक्य कंसभयं तस्य नास्तीत्याह गतभीरिति, तत्र हेतुः प्रभावविदिति, भगवतः कालादिनियमनं जानातीति प्रभाववित्, ननु विद्यमानमपि सामर्थ्यं न प्रकटयेच्चेत् प्रमाणसिद्धं वा शालग्रामादिवत् सामर्थ्यं स्यात् तदा विपरीतं भवेदित्याशंक्य प्रकटतेजःपुञ्जेन प्रकटमेव सामर्थ्यं तस्येत्याह स्वरोचिषा स्वरूपकान्त्या कोटिमणितेजसा यथा गृहं प्रकाशितं भवति तथा प्रकाशयन्तं, भारतेतिसम्बोधनं विश्वासार्थम् ॥१२॥

व्याख्यार्थ — उस शङ्का के निवारणार्थ 'गतभीः' विशेषण का प्रयोग किया है कि वसुदेवजी को कंस का भय नहीं था, क्योंकि वह 'प्रभावविद्' थे, भगवत्प्रभाव को उन्होंने जान लिया था कि यह काल आदि के भी नियामक हैं, यदि सामर्थ्य होते हुए भी उसे प्रकट न करें अथवा शालग्राम शिला आदि की तरह वह सामर्थ्य प्रमाण सिद्ध ही हो (अतिक्रम करने वाले को परोक्ष रूप से ही दण्ड देने वाला हो) प्रत्यक्ष कोई चमत्कार न हो शिलावत् मूक ही रहा आवे तब तो विपरीत हो जाने का सम्भव है, इस शङ्का को निवृत्त करते हैं कि उनका सामर्थ्य तो प्रकट तेजःपुञ्ज से प्रत्यक्ष ही प्रतीत हो रहा है अपनी दिव्य कान्ति से जन्म स्थान को इस प्रकार प्रकाशित कर रहे हैं जैसे करोड़ों मणियों से गृह प्रकाशित होता है, भारत ! यह सम्बोधन परीक्षित के विश्वास के लिये प्रयुक्त हुवा है कि हे राजन् तुम भगवद्भक्त राजर्षि भरत के वंश में प्रकट हुए हो अतः तुम्हारा इस प्रकार के भगवत्प्रभाव पर पूर्ण विश्वास होना तो अनिवार्य ॥१२॥

कारिका — द्वादशात्मा हरिर्ज्ञेयस्त्रिधा च नवधा तथा ।

नवधा वैदिकः प्रोक्तस्त्रिधा लौकिक उच्यते ॥१॥

यज्ञस्तु पञ्चधा प्रोक्तश्चतुर्धा भगवानिति ।

पञ्चात्मकश्चतुर्मूर्तिस्तन्त्रं वेदेन सम्मितम् ॥२॥

लौकिकस्त्रिगुणः प्रोक्तः स्मृतिश्चैव हि लौकिकी ।

नवधा वसुदेवोऽस्तौत् त्रिधा चैव हि देवकी ॥३॥

कारिकार्थ — भगवान् श्री हरि द्वादशात्मा है, ऐसा (तमद्भुतम्) श्लोक के ऊपर कारिकाओं से अनेक भाति प्रतिपादन किया जा चुका है, वसुदेव, तथा देवकी के द्वारा



की हुई स्तुतियों के श्लोकों की संख्या भी उसी तत्त्व की परिचायक है इस आशय से आचार्य निरूपण करते हैं कि, हरि को द्वादशात्मा जानना चाहिये, वसुदेवजी ने ६ (नव) <sup>†</sup>श्लोकों द्वारा स्तुति कर उनकी नव विधता बतलाई है और देवकीजी ने ३ (तीन) <sup>⊕</sup>श्लोकों द्वारा स्तुति कर उनकी त्रिविधता बतलाई है। दोनों स्तुतियों के द्वारा मिलित रूप से द्वादश विधता स्पष्ट हो जाती है, वेदोक्त प्रक्रिया से ६ (नव) श्लोकों द्वारा स्तुति के विषय हुए भगवान् नवधा वैदिक रूप से बतलाये गए हैं, और स्मृति प्रोक्त प्रक्रिया से ३ (तीन) श्लोकों द्वारा स्तुति के विषय हुए भगवान् त्रिधा स्मार्त या लौकिक रूप से कहे जाते हैं।।१।। अग्निहोत्र १ दर्शपूर्णमास २ पशु ३ चातुर्मास्य ४ सोय ५ इन भेदों से यज्ञ रूपी भगवान् पांच प्रकार के कहे हैं, तथा वासुदेव १ सङ्कर्षण २ प्रद्युम्न ३ अनिरुद्ध ४ इन व्यूहों के भेद से भगवान् चार प्रकार के हैं, अतः भगवान् पञ्चयज्ञात्मक है और चतुर्व्यूह मूर्ति रूप भी हैं, यद्यपि व्यूह मूर्ति का निरूपण तन्त्र ने किया है तथापि तन्त्र भी वेद के समान ही आदरणीय हैं।।२।। (अतः पञ्चयज्ञात्मक और व्यूह चतुष्टयात्मक नवधा स्वरूप को वैदिक कहा गया है।) ।।२।। लौकिक स्वरूप सत्त्व, रज, तम इन गुणों के भेद से त्रिविध कहा है, देवकीजी ने स्मृति को प्रक्रिया से स्तुति की है स्मृति प्रणेता ऋषियों ने लोक रीति से वर्णन किया है अतः स्मृति लौकिक ही कही गई है वसुदेवजी ने नवधा ६ प्रकार से स्तुति की है, और देवकी ने त्रिधा (३) तीन प्रकार से स्तुति की है।

कारिका — एकेन प्रार्थनं पूर्वं द्वाभ्यां चैव तथापरम्।  
दशभिः पञ्चभिश्चैव निरूप्येते स्तुती उभे।।४।।  
शास्त्रतो भगवानेव प्रतीत्यापि ऽढीकृतः।  
बाधकं त्वन्यथाज्ञानमज्ञानं चापि हेतुतः।।५।।

कारिकार्थ — एक श्लोक में पूर्ववर्ती वसुदेव स्तुति गत प्रार्थना की है और दो श्लोकों से परवर्ती देवकी स्तुति गत प्रार्थना की है; अतः दोनों स्तुति क्रमशः प्रार्थना

<sup>†</sup> वसुदेव कृत स्तुति में यद्यपि १० (दश) श्लोक हैं तथापि अन्तिम श्लोक की गणना स्तुति में नहीं है।

<sup>⊕</sup> देवकी कृत स्तुति में यद्यपि ८ आठ श्लोक हैं तथापि पिछले ५ (पञ्च) श्लोकों की गणना स्तुति में नहीं है।

श्लोकों को लेकर १० दश एवं पञ्च ५ श्लोकों द्वारा निरूपित हुई है वसुदेव कृत स्तुति प्रार्थना के साथ १० दश श्लोकों में हुई है और देवकी कृत स्तुति प्रार्थना के दो श्लोकों को लेकर ५ पञ्च श्लोकों में हुई है (यद्यपि देवकी कृत स्तुति ८ आठ श्लोकों में सम्पन्न हुई है तथापि प्रारम्भ के ३ तीन श्लोकों में ही मुख्यतया स्तुति की है अतः उसको 'त्रिधा', कहा है, चतुर्थ श्लोक में तो तृतीय श्लोकोक्त शरणागति के कारण का निर्देश किया है अतः उसका पूर्व में ही अन्तर्भाव है प्रथक् सत्ता नहीं, पञ्चम एवं षष्ठ श्लोकों में कृमशः अपनी रक्षा, एवं कंस को आपके जन्म का ज्ञान न हो पावे यह दो प्रार्थनायें की हैं, उक्त दोनों प्रार्थनाओं के साथ पूर्व कथित श्लोक त्रय गत स्तुति 'पञ्चधा' कही गई है, सप्तम श्लोक में रूप के उस संहार की प्रार्थना है उसका पूर्व प्रार्थनाओं के समान स्तुति में उपयोग नहीं अतः प्रार्थना २ दो ही बतलाई है ३ नहीं, अष्टम श्लोक में तो भगवान् के गर्भगत होने में विरोध का परिहार मात्र किया है अतः उसका भी स्तुति में मुख्यतया उपयोग नहीं, इस दृष्टि से विचार करने पर विदित होता है कि देवकी स्तुति मुख्यतया 'त्रिधा' ही है, उपयोगी दो प्रार्थनाओं को मिलाकर ५ 'पञ्चधा' भी है, और अवशिष्ट अङ्गों को लेकर 'अष्टधा' भी है ॥४॥ 'विषिमोऽसि' इस वाक्य में वसुदेवजी ने भगवत्स्वरूप को शास्त्र सिद्ध कहा है और प्रतीति के द्वारा भी उस शास्त्रैकसमधिगम्य स्वरूप की छिन्ता को है चक्षु आदि इन्द्रियों के विषय हो जाने के कारण लोगों को भगवत्स्वरूप के ब्रह्म रूप होने में बाधा डालने वाला अन्यथा ज्ञान एवं अज्ञान हो सकता था वसुदेवजी स्तुति के द्वारा 'विदितोऽसि' वाक्य में उस अर्थात् अग्राह्य ब्रह्म की स्वेच्छा से अर्थात् ग्राह्य होने की सूचना देकर उस अज्ञान एवं अन्यथा ज्ञान का निवारण करते हैं ॥५॥

श्लोकः — विदितोऽसि<sup>+</sup>भवान् साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः ॥

केवलानुभवानन्दस्वरूपः सर्वबुद्धिर्धक् ॥१३॥

मूलार्थ — वसुदेवजी ने कहा है कि मैंने तुमको जान लिया है आप साक्षात् प्रकृति से पर उसके नियामक पुरुष हो आप पुरुषोत्तम हो, आपका स्वरूप केवल अनुभव एवं आनन्द रूप है, आप सर्व चेतनों की बुद्धि के द्रष्टा हैं ॥१३॥

श्री सुबोधिनी — तत्र प्रथमं बाधकधर्मैश्चाक्षुषत्वादिभिर्ब्रह्मत्वं नोपपद्यते इति चाक्षुषत्वे निमित्ताज्ञानाद् भगवद्विषयकमज्ञानं सम्भवति तदादौ निराकरोति विदितोऽसीति ।

ज्ञातस्वरूपस्तोत्रे एते, भवान् विदितो मया सम्यग् ज्ञातः आर्षेण ज्ञानेन, “तत्त्वमस्या” — दिवाक्योत्थेन बहव एव जीवमपि भगवत्त्वेन जानन्तीति चेत् तत्राहासीती, यस्तु युष्मच्छब्देनापि व्यवहियते चतुर्भुजः सोऽपि त्वं विदितोऽसीत्यर्थः, अप्रयुज्यमानेऽपि युष्मच्छब्दे मध्यमपुरुषप्रयोगः, अतः शास्त्रतो लोकतश्च यः प्रतीयसे स मया विदित इत्यर्थः ।

व्याख्यार्थ — उक्त स्तुति में सर्व प्रथम वसुदेवजी ने ‘विदितोऽसि’ इस वाक्य से मुझको तुम्हारा ज्ञान हो चुका है ऐसा कह कर भगवान् के विषय में अपने अज्ञान का निराकरण किया है, अज्ञान की सम्भावना इस प्रकार हो सकती है कि ब्रह्म तो अतीन्द्रिय है, उसका चक्षु आदि इन्द्रिय से ग्रहण सम्भव नहीं, जो स्वरूप सम्मुख प्रत्यक्ष दीख रहा है वह ब्रह्म नहीं हो सकता, चाक्षुष होना (नेत्रों से गृहीत होना) आदि उस स्वरूप की ब्रह्मता के बाधक धर्म हैं, यदि ब्रह्म के चाक्षुष प्रत्यक्ष होने में कारण उस ब्रह्म की एकमात्र इच्छा ही है ऐसा ज्ञान न हो पावे तो उक्त प्रकार से अज्ञान का सम्भव है, अतः आरम्भ में ही वसुदेवजी ने वैसे अज्ञान का अपने में अभाव बतलाया है कि ‘विदितोऽसि’ तुम जान लिये हो, वसुदेव और देवकी इन दोनों की की हुई स्तुति उनके भगवद्विषयक ज्ञान की सूचक हैं कि पिता और माता दोनों को भगवत्स्वरूप का ज्ञान हो चुका है ।

टिप्पणी — \* विदितोऽसित्भवान्, ऐसा पाठ न होकर उक्त पाठ का होना और वह भी भगवान् के जन्म प्रसङ्ग में उनके पिता श्री वसुदेवजी के शब्दों में वैयाकरणों का जो कि अर्धमात्रा के लाघव से पुत्रोत्सव मानते हैं अपनी ओर आकृष्ट करता है क्योंकि ‘अस्मि’ पद की अपेक्षा ‘असि’ पद में अर्धमात्रा का लाघव है वसुदेवजी का पुत्रोत्सव ही स्तुति रूप में व्यक्त हो रहा है ।

श्री सुबोधिनी — अनेन परम्परया यः प्रतीयतेचेतनश्च यो वा साक्षात् प्रतीयते तदुभयरूपो भवानित्युक्तम् ।

व्याख्यार्थ — वसुदेवजी का कहना है कि मैंने आपकी अच्छी तरह जान लिया है, आर्ष ज्ञान से (ऋषियों जैसे दिव्य ज्ञान से) आपको मैंने भली भाँति पहिचान लिया है, कदाचिद् भगवान् ऐसा प्रश्न कर बैठें कि 'तत्त्वमसि' इत्यादि वैदिक वाक्य जन्य ज्ञान से तो बहुत लोग जीव को भी भगवद्रूप से जान लेते हैं क्या उसी तरह आपका भी ज्ञान है ? इसके समाधान में वसुदेवजी ने 'असि' इस मध्यम पुरुष का प्रयोग किया है, उक्त श्लोक में 'त्वम्' इस प्रकार युष्मद् शब्द का प्रयोग नहीं भी हुआ है तो भी 'असि' यह मध्यम पुरुष का प्रयोग सम्मुखस्थ चतुर्भुज स्वरूप के प्रति किया गया है कि 'युष्मद्' शब्द से जो सम्मुखस्थ चतुर्भुज रूप व्यवहृत होता है वह भी तुम जान लिये गये हो, अतः शास्त्र से और लोक से जो तुम ज्ञात होते हो वह मैंने जान लिया है, इस व्याख्यान से यह निरूपण किया है कि जिस अंतर्गत स्वरूप की परम्परा से प्रतीति होती है जिसके लिये 'भवान्' शब्द का प्रयोग अपेक्षित है एवं जिस देह इन्द्रियादि रूप जड़ वर्ग की बाह्य प्रतीति होती है जिसके लिये 'त्वम्' शब्द का प्रयोग अपेक्षित है वह दोनों रूप आप एक ही हैं, आपके स्वरूप में देह का विभाग नहीं, आप सर्वांश में आनन्दमय हैं 'आनन्द मात्र करपाद मुखोदरादि, श्रुति सिद्ध आपके स्वरूप का ज्ञान मुझे हुआ है ।

श्री सुबोधिनी — अथवा, "विदितोऽसी" ति प्रतिज्ञाय भगवतो ब्रह्मत्वमुपसंहरिष्यन् सर्वत्वं प्राप्तस्य ब्रह्मत्वं भवतीति "भवान्" "पुरुष" इतिपदद्वयेन बाह्याभ्यन्तररूपस्त्वमेवेत्याह, प्रत्यक्षोऽप्यप्रत्यक्ष इति ज्ञापयितुं वा सम्मुखोऽप्यसम्मुख इति वा ।

व्याख्यार्थ — पूर्व व्याख्यान में 'भवान्' शब्द की आवश्यकता सिद्ध नहीं हो पाती हैं क्योंकि 'असि' इस मध्यम पुरुष के प्रयोग से 'त्वम्' का या उसके अर्थ का लाभ होना अनिवार्य है ऐसी दशा में 'भवान्' शब्द से जो कार्य सिद्ध करना है वह 'त्वम्' शब्द से ही सिद्ध हो जाता है, अतः दूसरे प्रकार से व्याख्यान करते हैं कि अथवा 'विदितोऽसि' तुमको मैंने जान लिया ऐसी प्रतिज्ञा करके भगवान् की ब्रह्म रूपता का ही आगे उपसंहार में निरूपण करना है इस दृष्टि से 'भवान्' और पुरुष, इन दो पदों के द्वारा बाह्य, एवं आभ्यन्तर दोनों रूपों में एक रूप तुम ही हो क्योंकि सर्वभाव को प्राप्त होने वाला ही तो ब्रह्म है —

श्री सुबोधिनी — पुरुषत्रयरूपो भगवानिति वा वक्तु “असि” “भवान्” “साक्षात्पुरुष” इतिपदत्रयं, अन्नमयादेरपि पुरुषविधत्वात् पुरुषो भवतीति तद्व्युदासार्थं साक्षादित्युक्तं, पुरुषप्रवेशात् परम्परया ते पुरुषाः, नन्वात्मस्फूर्तो ब्रह्मविदामपि साक्षात्पुरुषत्वं भवतीति ततोऽप्याधिक्यमाह प्रकृतेः परः इति, न हि ते जीवाः प्रकृतिनियन्तारः, प्रकृतिनियमनं च गुप्तानामर्थानां मायाजीवादीनां प्राकट्यकरणात्—

व्याख्यार्थ — अथवा ‘भवान् पुरुषः’ इन पदों से ब्रह्म की विरुद्ध धर्माश्रयता का ज्ञान दिखलाना अभीष्ट है कि वह प्रत्यक्ष होते हुए भी अप्रत्यक्ष है सम्मुख होते हुए भी असम्मुख है, इस व्याख्यान में भी यह अरुचि रह जाती है कि ‘असि’ इस मध्यम पुरुष के प्रयोग के बिना भी ‘विदितो भवान्’ इत्यादि प्रकार से भी प्रत्यक्ष आदि अभीष्ट अर्थ सिद्ध हो सकता था ‘भवान्’ शब्द ही ‘त्वम्’ के अर्थ को बोधित कर सकता था ‘असि’ पद की सार्थकता प्रतीत नहीं होती अतः प्रकारान्तर से व्याख्यान करते हैं कि — अथवा भगवान् पुरुष त्रय<sup>+</sup> रूप है — क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम या आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक रूप से त्रिविध रूप आप ही है ऐसा प्रति पादन करने को ‘असि’ ‘भवान्’ ‘साक्षात्पुरुष’ इन तीन पदों का उपयोग है, “साक्षात्पुरुषः” पद के अन्तर्गत ‘साक्षात्’ पद का प्रयोग इसलिये है कि आनन्दमय पुरुष का ही बोध हो अन्नमयादि पुरुषों का नहीं, क्योंकि वह आनन्दमय पुरुष के प्रवेश से पुरुष रूप होते हैं अतः साक्षात् पुरुष नहीं हो सकते वह तो परम्परा से पुरुष हैं, आत्म स्वरूप की स्फूर्ति होने पर ब्रह्मवेत्ताओं की भी साक्षात्पुरुषरूपता हो जाती है अतः उनसे भी अधिकता बतलाते हैं कि आप तो प्रकृति से पर हैं उसके नियन्त्रण करते वाले हैं। वह ब्रह्मवेत्ता लोग तो जीव हैं अतः प्रकृति के नियामक नहीं, भगवान् ने कौस्तुभमणि और पीताम्बर के द्वारा गुप्त जीव, माया, आदि तत्त्वों को प्रकट कर अपनी प्रकृति नियामकता स्पष्ट की है।

श्री सुबोधिनी — प्रत्यक्षदोषस्तु ‘असि’ ‘भवान्’ इति पदाभ्यां परिहृतः, ज्ञातत्वदोषश्च सर्वभावेन प्राकट्यात्, विरुद्धा धर्मा एकैकांशेन चरितार्था भवन्ति, तर्ह्यहमात्मा चतुर्भुजदेहे विद्यमानस्तथा

टिप्पण \* ‘असि’ पद से देह रूप ‘भवान्’ पद से देहाभिमानी, ‘साक्षात्पुरुष’ पद से परमात्मा इन तीनों का बोध होता है, भगवत्स्वरूप में जो देह है वही देही आत्मा है और वही परमात्मा भी है, भगवत्स्वरूप को खांड के पुरुष के भांति एक रस सर्वांश में आनन्दमय वसुदेवजी ने जाना है, व्याकरण में प्रथम, मध्यम, उत्तम, इस प्रकार निडान्त पदों में व्यवहार किया गया है वहां भी उन्हें ‘पुरुष’ पदवी मिली है जो कि भगवान् की त्रिविधता की सूचक है।

भविष्याभीतिचेत् तत्राह केवलानुभवानन्दस्वरूप इति, केवलो देहेन्द्रियप्राणान्तः करणरहितः, नापि जीववत् केवल चिद्रूपः किन्त्वनुभवानन्दः, अयोगोलके वह्निरिव भगवानस्मिन् देहे चिदानन्दः संक्रान्तो भविष्यती—

**व्याख्यार्थ** — प्रत्यक्ष दोष का परिहार तो 'असि' 'भवान्' इन पदों द्वारा कर ही लिया है, कि जिस तत्त्व को श्रुति अतीन्द्रिय बतलायी है वही तत्त्व अपनी इच्छा से साकार आनन्द रूप में वसुदेवजी के सम्मुख उपस्थित होता है और वसुदेवजी उनकी इच्छा से उन्हें जानकर कहते हैं कि आपको मैंने शुद्ध ब्रह्म पुरुषोत्तम रूप से जान लिया है, ऐसी अवस्था में यह मानना ही पड़ेगा कि अतीन्द्रिय होने के कारण ब्रह्म की प्रत्यक्षता जो दोष रूप मानी जाती थी वही उनकी निजेच्छा से गुण रूप हो जाती है, यद्यपि ब्रह्म को जान लेना प्रमाण सिद्ध नहीं क्योंकि उस अनन्त एवं अग्राह्य तत्त्व का ज्ञान सम्भव नहीं अतः उसके विषय में 'ज्ञातत्त्व' भी एक दोष ही है परन्तु उस दोष का भी परिहार भगवान् के सर्वभाव से प्रकट होने के कारण हो जाता है, बात ऐसी है कि 'सर्वं भवति' भगवान् सब कुछ हो जाते हैं, 'इदं सर्वं यदयमात्मा' यह सब कुछ जो है यह आत्मा ही है, इत्यादि श्रुति भगवान् की सर्वरूपता का प्रतिपादन करती है, वसुदेवजी भी 'भवान् पुरुष, पदों से उनकी बाह्य एवं आभ्यन्तर रूप का वर्णन कर सर्व रूपता ही सूचित करते हैं, ऐसी स्थिति में यह मानना अनिवार्य है कि भगवान् को देखने वाले नेत्र या नेत्रों का सामर्थ्य भी भगवान् ही है, तब स्वयं भगवान् का अपने आपको जान लेना जिस प्रकार दोषावह नहीं उसी प्रकार वसुदेवजी का भी उन्हें जान लेना अविरुद्ध ही है वसुदेवजी या उनकी शक्ति आदि सर्वरूप भगवान् ही तो हुए हैं अतः सर्व भाव से प्रकट होने के कारण (ज्ञातव्य) दोष को अवकाश नहीं, प्रत्यक्षत्व, अप्रत्यक्षत्व, आदि विरुद्ध धर्म एक २ अंश<sup>†</sup> से चरितार्थ हो जाते हैं, उनका विरोध नहीं करता, अपनी इच्छा से भगवान् जिस समय दर्शन देते हैं उसी समय दर्शन करने वाले की इन्द्रिय के सामर्थ्य से अर्थात् भी बने रहते हैं।

**टिप्पण** <sup>†</sup> प्राकृत इन्द्रियों से तो ब्रह्म सर्वथा अग्राह्य ही है परन्तु अप्राकृत इन्द्रिय भगवद्रूप ही है अतः अप्राकृत इन्द्रिय से ग्राह्य होने पर भी भगवान् की अधोक्षजता निर्विरोध सिद्ध है।

श्री सुबोधिनी — त्याह स्वरूपः इति, यत् स्वरूपं ईश्यते तदेव चिदानन्दरूपं, न तु चिदानन्दौ स्वरूपे यस्मिन्, अतश्चिदानन्दस्वरूपः सच्चिदानन्दविग्रह इत्यर्थः, एवं परोक्षापरोक्षान्तर्यामिरूपः परिईश्यमानो भवानित्युक्तं, आत्मा नोक्त इत्यात्मत्वेनापि भगवन्तं निरूपयति सर्वबुद्धिईगिति, सर्वेषां बुद्धीः पश्यतीति सर्वेषां बुद्धिषु ईग् ज्ञान यस्येति वा, एवं षड्विधोऽपि भगवानयमेवेत्युक्तं प्रत्यक्षव्यवहारादयश्च धर्मा अंशेन समर्थिताः ॥१३॥

व्याख्यार्थ — 'केवलानुभवानन्द स्वरूपः, इस विशेषण से वसुदेवजी ने भगवान् के एक प्रश्न का उत्तर देकर उनके स्वरूप के विषय में अपनी अभिज्ञता प्रकट की है भगवान् ने प्रश्न किया कि तो क्या इस चतुर्भुज देह के अन्तर्गत जो आत्मा है वही मैं उस प्रकार का परुषोत्तम आदि रूप होऊँगा। वसुदेवजी उत्तर में कहते हैं कि आप तो केवल हैं, देह, इन्द्रिय, अन्तःकरण रहित हैं, आपके स्वरूप में जड़ देह एवं इन्द्रियादि का सम्भव ही नहीं, और न आप जीव की भांति केवल ज्ञान रूप ही हैं, आप तो अनुभवानन्द रूप हैं, चिन्मय एवं आनन्दमय हैं, लोहे के गोले में जिस प्रकार अग्नि का संक्रमण होता है कि प्रथम तो लोहा अग्नि से भिन्न ही प्रतीत होता है पश्चात् मुद्गर प्रहार आदि की प्रक्रिया से शनैः २ अग्नि उस लोह में प्रकट होकर सर्वांश में उसे अपने रूप में मिला लेता है। क्या उसी प्रकार चिदानन्द का सङ्क्रमण इस चतुर्भुज देह में है ? नहीं २ जो स्वरूप ईष्टिगत हो रहा है यह ही चिदानन्द रूप है, इस में चिद् और आनन्द हों और यह उनसे प्रथक् हों ऐसी बात नहीं, आप चिदानन्द स्वरूप हैं, सच्चिदानन्द ही आपका विभूह है मूर्तिमान् सच्चिदानन्द आप हैं, इस प्रकार परोक्ष (अईश्य) अपरोक्ष (ईश्य) और अन्तर्यामी इन तीनों रूपोंवाला जो स्वरूप सामने दीख रहा है वह आप हैं यह निरूपण किया है, आप ही सर्वात्मा है ऐसा कहना अवशिष्ट रह गया, अतः (सर्व बुद्धि ईग्) इस विशेषण से सब के आत्मा हैं इस प्रकार निरूपण करते हैं कि आप सब की बुद्धियों को देखते हैं, अथवा सब की बुद्धियों में जिनका दर्शन है, ज्ञान है, प्रकाश है, जिनके प्रकाश से सब की बुद्धि प्रकाशित होती है इस प्रकार क्षर, अक्षर, पुरुषोत्तम, अन्तर्यामी, देह, जीव, अथवा आधिभौतिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक,

अन्तर्यामी, देह जीव इन रूपों से छहों प्रकार का भी भगवान् यह ही है ऐसा कहा है, और प्रत्यक्ष व्यवहार आदि धर्मों का अंशतः समर्थन<sup>७</sup> किया है ॥१३॥

श्लोकः — स एव स्वप्रकृत्येदं सृष्ट्वाग्रे त्रिगुणात्मकम् ॥

तदनु त्वं ह्यप्रविष्टः प्रविष्ट इव भाव्यसे ॥१४॥

मूलार्थ — वह तो आप अपनी प्रकृति से इस गुणत्रयात्मक जगत् को रचकर उसके अनन्तर प्रविष्ट न होते हुए भी प्रविष्ट जैसे प्रतीत होते हो ।

श्री सुबोधिनी — दूषणान्तरमाशङ्क्य परिहरति स एवेति, यद्यहं सर्वरूपो भगवानेव कथं देवक्या उदरे प्रविष्ट इति चेत् तत्राहाप्रविष्ट एव तत्र विद्यमान एव प्रविष्ट इव भाव्यसे, न हि दर्शनमात्रेण प्रविष्टत्वनिर्धारः कर्तुं शक्यो यावच्छास्त्रेण दर्शनं संवादि न भवति, “स एष इह” प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधाने विश्वम्भरो वा विश्वम्भरकुलाये “तत् सृष्ट्वा” तदेवानुप्राविशद्, “गुहां प्रविष्टौ” परमे परार्धे” एवं वेदे स्थित्यर्थं कार्यार्थमनेकरूपभवनार्थमन्यप्रवेशनार्थञ्च प्रवेशः श्रूयते ।

व्याख्यान — उक्त श्लोक में अन्य दोष की आशङ्का कर समाधान करते हैं, भगवान् ऐसा प्रश्न कर सकते हैं कि यदि मैं सर्व रूप भगवान् ही हूँ तो देवकी के उदर में मेरा किस प्रकार से प्रवेश हुआ, उक्त प्रश्न पर वसुदेवजी बोलते हैं कि आप तो अप्रविष्ट ही हैं कहीं अन्यत्र से आकर आपने देवकी के उदर में प्रवेश किया हो ऐसी बात नहीं है आप तो वहां विद्यमान ही हैं उपस्थित ही हैं प्रवेश तो उसका होता है जो

<sup>७</sup> प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष आदि के विरोध को हटाया है ।

टिप्पण — ‘वृहदारण्यक उपनिषत् प्रथमाध्याय चतुर्थ ब्राह्मण सप्तम मन्त्र का वाक्य है। ‘स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यो यथा क्षुरः क्षुरधाने अवहितः स्याद् विश्वम्भरो वा विश्वम्भर कुलाये’ इस वाक्य में स्थिति के निमित्त आत्मा का प्रवेश इस शरीर में होता है यह निरूपण किया है छुरे का उसके कोष में प्रवेश स्थिति के निमित्त से ही होता है अतः छुरे के छिष्टान्त से यहां स्थित्यर्थ प्रवेश ही अभिमत है जैसा कि ‘अवहितः स्यात्’ इस वाक्य शेष से स्पष्ट होता है द्वितीय छिष्टान्त विश्वम्भर के कुलाय प्रवेश का है, इसके द्वारा कार्यार्थ प्रवेश सिद्ध होता है, यदि विश्वम्भर शब्द से भगवान् विष्णु का ग्रहण किया जावे तब तो भू भार हरणादि कार्य के लिये उनका प्रवेश जिस प्रकार देव मनुष्य पशु पक्षि आदि शरीरों में होता है उस प्रकार आत्मा का प्रवेश भी कार्यार्थ ही है, विश्वम्भर शब्द ‘अग्नि’ के अर्थ में यदि प्रयुक्त हुआ है तो भी ‘अह वैश्वानरो भूत्वा प्राणिना देहमाश्रितः प्राणापान समायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्’ के अनुसार अन्न परिपाक कार्य के लिये प्राणियों के देह में अग्नि रूप से भगवत्प्रवेश की भांति आत्मा का प्रवेश कार्यार्थ सिद्ध होता है ।

<sup>२</sup> द्वितीय वाक्य तैत्तिरीय उपनिषत् ब्रह्मानन्दवल्ली षष्ठ अनुवाक के अन्तर्गत है। तत् सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत् इस प्रवेश को अनेक रूप भवनार्थ मानना आवश्यक है जैसा कि ‘सच्चत्यच्चाभवत्’ इत्यादि अग्रिम वाक्यों से स्पष्ट है ।

<sup>३</sup> उक्त श्रुति काष्ठकोपनिषत् प्र. अध्याय तृतीय वल्ली के प्रथम मन्त्र गत है, इसमें जीवात्मा परमात्मा दोनों का हृदय में प्रवेश कहा है ।



वहां पर न हो, परन्तु आप प्रविष्ट की भांति प्रतीत होते हो, केवल दर्शन या प्रतीति से प्रवेश का निर्णय नहीं हो सकता है जब तक कि वह दर्शन या प्रतीति शास्त्र भी वैसा ही प्रतिपादन करता हो, प्रवेश के विषय में कतिपय श्रुति उपलब्ध होती है, उनके अनुसार स्थिति के अर्थ तथा कार्यार्थ एवं अनेक रूप होने के लिये, और अन्य प्रवेश के अर्थ (जीवात्मा के प्रविष्ट कराने के लिये) ब्रह्म का प्रवेश होता है, ऐसा सुना जाता है।

**श्री सुबोधिनी** – तथा देवक्यामपि कश्चन प्रवेशप्रकारो भविष्यति, ननु तथापि सोपाधिक एव कार्याभिनिविष्ट एव प्रविशतीति मुख्यः कृष्णः कथं स्यात् तत्राह—प्रविष्ट एव प्रविष्ट इवेति, योगबलादपीन्द्र इव प्रवेशः सम्भवति दक्षिणायां वा जननार्थं प्रवेशः सम्भवति, 'यो वा इतो जनिष्यते स इन्द्रो भविष्यतीति तां प्राविशत् तस्या इन्द्र एवाजायते' ति श्रुतेर्दितेर्जठरे च मरुतां छेदनार्थमिन्द्रः प्रविष्टस्थता भगवानत्र न प्रविष्ट इति वक्तुमप्रविष्ट इत्युक्तं, प्रवेश धर्मो भगवति वर्तत इति तज्ज्ञापनार्थं प्रविष्ट इवेति विभाव्यते, तर्हि कः प्रकारः प्रवेश इत्याकाङ्क्षायामाह।

**व्याख्यार्थ** – उस प्रकार देवकी में भी प्रवेश का कोई प्रकार होगा, श्री देवकी के उदर में प्रकार विशेष से प्रवेश मानने में भगवान् की मुख्य कृष्णरूपता में उनकी प्रधानपरमतत्त्वरूपता में विचिकित्सा उत्पन्न हो सकती है कि प्रवेश करने वाला तो सोपाधिक होता है किसी कामना की उपाधि को लेकर ही प्रवेश करता है और उसका किसी कार्य में अभिनिवेश भी होता है वह किसी कार्य के सम्पादन करने को उसके अनुकूल उपायों का आग्रह पूर्वक संग्रह भी करता है जैसा कि जगत् के निर्माण आदि कार्य के लिये 'सोऽका मयत बहुस्यां प्रजायेय' (रूपं रूप प्रति रूपो बभूव) आदि श्रुतियों से सिद्ध है, सोपाधिक एवं कार्यार्थी स्वरूप मुख्य तत्त्व सदानन्दं कृष्ण नहीं हो सकता वह तो सर्वोपाधि रहित लोक और वेद में अप्रसिद्ध पूर्णानन्द है उसका प्रवेश सम्भव नहीं, इस सदेह की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि 'अप्रविष्ट एव प्रविष्ट इव' आप तो अप्रविष्ट ही हैं प्रविष्ट जैसे प्रतीत हो रहे हैं, योग बल से भी प्रवेश हो सकता है (इन्द्र योगबल से परमात्मा में प्रविष्ट हुआ था) एवं दक्षिणा नामक स्त्री में जन्म ग्रहण करने के निमित्त प्रवेश हो सकता है जैसा कि 'यो वा' इत्यादि श्रुति से सिद्ध है कि जो इससे जन्म ग्रहण करेगा वह इन्द्र होगा इस कारण से उस दक्षिणा में प्रवेश किया उस दक्षिणा से इन्द्र ही उत्पन्न हुवा, और दिति के उदर में मरुत नाम वाले उसके गर्भस्थ बालकों के नष्ट करने को भी इन्द्र ने प्रवेश किया था, भगवान् का प्रवेश उस प्रकार का

नहीं है, ऐसा सूचित करने को 'अप्रविष्टः' इस शब्द से भगवान् को अप्रविष्ट कहा है, परन्तु प्रवेश धर्म तो भगवान् में है ऐसा बतलाने को "प्रविष्ट इव" प्रविष्ट जैसे प्रतीत हो रहे हो ऐसा कहा गया है, तो प्रवेश में क्या प्रकार है —

**श्री सुबोधिनी** — यः पूर्व सच्चिदानन्दरूप उक्तः स एवाग्रे पूर्वमेव स्व। प्रकृत्याऽऽधिदैविकस्वभावेनेदं भगवदर्थमेव जगत् त्रिगुणात्मकं सृष्ट्वा, अन्यार्थं जगत्सृष्टौ प्रवेशोऽपेक्ष्यते न स्वार्थसृष्टावित्यप्रविष्ट एव भोगार्थं कारणत्वेनैवाविर्भूतः सृष्ट्यन्तरन्यायेन प्रविष्ट इव विभाव्यसे, अयमत्र प्रवेश दर्शने प्रकार उक्तः, भगवान् स्वार्थं सृष्टानस्मानुपभोक्तुमस्मासु स्थित एवाविर्भूत इत्यप्रविष्ट एव प्रविष्टो विभाव्यस इत्यर्थः, यथा सृष्ट्यन्तरन्यायेन प्रवेशभावना तथा स्नेहद्वेषसाधारणभावानामपि प्रभुविषयकाणां लीलास्थजनेषु दर्शनात् सृष्ट्यन्तरन्यायेन तेषामेवात्र सत्त्वादिरूपत्वमित्याशयेन त्रिगुणात्मकत्वोक्तिर्ज्ञेया।

**व्याख्यार्थ** — ऐसी आशङ्क्या होने पर कहते हैं कि जो पूर्व में सच्चिदानन्द रूप कहा गया है वह ही आप अपनी निज प्रकृति या आधिदैविक स्वभाव से इस भगवल्लीलोपयोगी त्रिगुणात्मक जगत् की रचना करने के अनन्तर यद्यपि आप उसमें प्रविष्ट नहीं हुए हो क्योंकि अन्य के लिये की गई जगत् की सृष्टि में साक्षी होने के लिये या प्रकाश एवं नियन्त्रण आदि करने के लिये प्रवेश अपेक्षित है अपने लिये की गई लीला सृष्टि में तो कारण रूप से विद्यमान स्वरूप के द्वारा ही अन्तर्यामी का एवं जीव का भी कार्य हो जाता है अतः वहां प्रवेश की अपेक्षा नहीं, वहां पर तो भोग्य पदार्थों का भोग करने को कारण रूप से जो आप प्रकट होते हैं उन्हें ही जीवार्थ सृष्टि की भांति प्रविष्ट जैसा मान लिया गया है, यह यहां पर प्रवेश के दर्शन में प्रकार बतलाया है कि वास्तव में परमतत्त्व कृष्ण का प्रवेश सम्भव नहीं प्रवेश की प्रतीति मात्र है, वसुदेवजी कहते हैं कि आप भगवान् हैं आपने अपने लीला विलास के लिये हम लोगों को रचा है हमारा उपभोग करने के लिये हमारे अन्तः स्थित ही आप बाहर प्रकट हुए हो अतः अप्रविष्ट हो तो भी प्रविष्ट जैसे प्रतीत होते हो यह अर्थ होता है, वसुदेवजी ने इस लीला सृष्टि की त्रिगुणात्मक इस सृष्टि से कहा है कि जिस प्रकार जीवार्थ सृष्टि में होने वाले आपके प्रवेश की भावना इस निज सृष्टि में भी होती है मुख्यतया प्रवेश तो अन्यार्थ सृष्टि में ही है यहां तो केवल उसकी भावना (प्रतीति) मात्र है, उसी प्रकार त्रिगुणात्मक भी साधारण जगत् ही है यह असाधारण लीलात्मक जगत् त्रिगुणात्मक नहीं

फिर भी लीलास्थजनों में भगव- द्विषयक स्नेह, द्वेष एवं साधारण (उदासीन) आदि भावों की प्रतीति होती है उन्हीं भावों को परार्थ सृष्टि प्रक्रिया से यहां सत्त्व आदि गुण रूप मान लिया गया है और लीला सृष्टि को त्रिगुणात्मक कह दिया है।

श्री सुबोधिनी - अत्रिगुणात्मकमिति वा, यद्वाग्रे पूर्व त्रिगुणात्मकं जगत् सृष्ट्वा तदनु तदनन्तरमुक्तरूपया स्वप्रकृत्येदं लीलात्मकं जगत् सृष्ट्वेत्यग्रे पूर्ववत्, अन्यथा क्त्वाप्रत्ययेनैव पूर्वभावित्वप्राप्त्यर्थादेवाप्रवेशानन्तर्यमपि लभ्यत एवेति तदन्वितिपदं व्यर्थं स्यात्, यद्वा सृष्ट्यनन्तरं यस्तत्र प्रवेशस्तस्यानुप्रवेश इति रूढनाम ज्ञेयं, तथा सति नोक्तदोषः, अत एव श्रुतिरपि "तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविश" दित्युक्तवती अन्यथान्वित्युपसर्गवैयर्थ्यं स्यात् ॥१४॥

**व्याख्यार्थ** - वास्तव में तो यह सृष्टि गुणातीत ही है, अथवा (अत्रिगुणात्मकम्) ऐसा पदच्छेद यहां पर अभीष्ट है, तब तो लीला सृष्टि की गुणातीतता स्पष्ट ही है, अथवा "अग्रेत्रिगुणात्मकं सृष्ट्वात्तदनु स्व प्रकृत्या-इदं सृष्ट्वां" इस प्रकार पद योजना अभीष्ट है, 'तदनु' पद का योग 'प्रविष्ट' पद से नहीं क्योंकि 'तदनु' का अर्थ 'तदनन्तर' होता है और उस अनन्तर अर्थ की प्रतीति 'सृष्ट्वा' पद के अन्तर्गत 'क्त्वा' प्रत्यय से ही हो जाती है, क्योंकि वह "क्त्वा" प्रत्यय पूर्व काल की क्रिया का बोधक है, अब अनन्तर या उत्तर काल को प्रतीति स्वभावतः हो जाती है अतः उक्त योजना के अनुसार इस प्रकार अर्थ समझना चाहिये कि पूर्व में त्रिगुणात्मक जगत् को रचकर तदनन्तर आधिदैविक प्रकृति से इस लीलात्मक जगत् को रचकर आप अप्रविष्ट ही प्रविष्ट जैसे होते हैं, अथवा 'तत्सृष्ट्वातदेवानुप्राविशता' इस श्रुति में 'अनु' इस उपसर्ग का प्रयोग हुआ है इससे यह स्वीकार करना आवश्यक है कि के अनन्तर जो प्रवेश होता है उसका 'अनुप्रवेश' यह रूढ नाम है, उसके अन्तर्गत 'अनु' पद का 'अनन्तर' अर्थ नहीं है, ऐसा मान लेने से पूर्वोक्त रीति से जो 'अनु' पद की व्यर्थता का दोष सम्भावित था वह नहीं रहता है।<sup>+</sup>

**श्लोकः** - यथेमेऽविकृता भावास्तथा ते (तथैव) विकृतैः सह ।

नानावीर्याः पृथग्भूता विराजं जनयन्ति हि ॥१५॥

**टिप्पण** - \* इस श्लोक के व्याख्यान में सिद्धान्त पक्ष सर्वप्रथम ही कह दिया है, 'वा यद्वा' शब्दों द्वारा जिन पक्षान्तरो को दिखलाया है वह महा भाष्यकार की व्याख्यान प्रक्रिया का स्मरण दिलाते हैं, कि यह पक्षान्तरोपन्यास केवल किसी शा व्याख्यान की दिशा बतलाने मात्र को ही है इसमें आचार्य का तात्पर्य नहीं।

**मूलार्थ** — जिस प्रकार यह अविकृत (आधिदैविक भाव) है उसी प्रकार वह प्राकृत भाव भी है, इन दोनों का सांश्रय नाना प्रकार के सामर्थ्य और पृथक् होने से है यह अविकृत भाव विकृत भावों से मिलकर ब्रह्माण्ड को उत्पन्न करते हैं यह ठीक ही है ॥१५॥

**श्री सुबोधिनी** — उक्तरीत्या दूषणान्तरमप्याशङ्क्य पुनः परिहरति द्वाभ्यां यथेमेऽविकृता भावाः इति। नन्वरिम्भन् रूपे प्राकृतेष्विव पृथिव्यादीनि भूतानि प्रतीयन्ते, ततः कथमानन्दमय इति चेत् तत्राह यथेमेऽस्मिन् रूपे विद्यमाना अविकृता भावा आधिदैविकानि चतुर्विंशतितत्त्वानि "चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः" इत्यादिश्रुतिप्रतिपादितानि तत्तत्कार्यार्थं तत्र तत्र स्थितानि, विकृतैस्तथैव चतुर्विंशतितत्त्वैः प्राकृतैः सह नानावीर्या रूपरसादिज्ञापनादिसमर्थाः —

**व्याख्यार्थ** — अन्य दोष की आशङ्का कर फिर उसका परिहार 'यथेमे' आदि दो श्लोकों से करते हैं, यह शङ्का हो सकती है कि इस भगवत्स्वरूप में उसी प्रकार पृथ्वी आदि भूतों की प्रतीति होती है जिस प्रकार प्राकृत पदार्थों में उनकी प्रतीति होती रहती है, तो इस भगवत्स्वरूप को आनन्द मय कैसे माना जाय, शरीररूप से पृथिवी की, मुखारविन्द में प्रधानतया जल की, सर्वाङ्ग में कान्ति रूप से तेज की नासिका में प्राण रूप वायु की, एवं अन्यान्य छिद्रों में अवकाश रूप से आकाश की प्रतीति होती है, उक्त आशङ्का के समाधान करने की दृष्टान्त के द्वारा भगवत्स्वरूप में प्रतीत होने वाले पृथिवी आदि तत्त्वों की नित्यता एवं अविकारिता सूचित करते हैं कि इस भगवत्स्वरूप में विद्यमान देह इन्द्रियादि सब अधिकारी भाव हैं चौबीसों तत्त्व आधिदैविक ही हैं, आधिभौतिक नहीं, इनकी आधिदैविकता का प्रतिपादन केन निषत् की 'श्रोत्रस्य श्रोत्रम्\*' आदि श्रुति ने उपलक्षणरूप से किया है, कि वह श्रवण आदि ज्ञानेन्द्रियों का श्रवण आदि रूप हैं, मनः प्रभूति अन्तःकरणों का मन आदि रूप है, वागादि कर्मेन्द्रियों का वाक् आदि रूप है एवं पृथिवी का पृथिवी जल का जल आदि भी है, यह ही आधिदैविक तत्त्व है, आधिभौतिक पृथिवी आदि में यह आधिदैविक तत्त्व उन २ कार्यों के लिये स्थित रहते हैं,

इनके बिना केवल आधिभौतिक चक्षु आदि से रूपादि ग्रहण का कार्य नहीं हो सकता है।

**श्री सुबोधिनी** – अन्योन्यममिलिता भिन्नान्येव कार्याणि कर्तुमेकस्मिन्नेव कार्ये सर्वे सहस्य विराजं ब्रह्माण्डविग्रहं स्वराड्देहं जनयन्ति, युक्तश्चायमर्थः आधिदैविकव्यतिरेकेणाधिभौतिकात् केवलात् कार्यं न सम्भवतीति, तथा प्रकृतेऽपि सर्वांशो भगवानिति तान्याधिदैविकानीह प्रतीयन्त इति न कोऽपि दोषः ॥१५॥

**व्याख्यार्थ** – जिस प्रकार आधिदैविक २४ प्रकृति आदि तत्त्व (नाना वीर्य) है जैसे आधिदैविक चक्षु रूप का ज्ञान करा देने का सामर्थ्य रखता है, रसना रस के ज्ञान करा देने का सामर्थ्य रखता है एवं आधिदैविक हस्त पादादि भी आदान प्रदान गमन आगमन आदि का सामर्थ्य रखते हैं तथा पृथक् पृथक् अवस्थित हैं परस्पर में मिलित नहीं हैं, भिन्न भिन्न कार्यों के करने को पृथक् ही रहते हैं, उसी प्रकार आधिभौतिक प्रकृति आदि तत्त्व भी (नाना वीर्य) है और पृथग्भूत भी है, परन्तु ब्रह्माण्ड रचना के एक ही कार्य में यह सब आधिदैविक तत्त्व आधिभौतिकों से मिलकर ब्रह्माण्ड शरीर विराट् को जन्म देते हैं जो कि स्वराट् पुरुष का देह कहलाता है, ऐसा होना ठीक भी है क्योंकि आधिदैविक मूल या प्राणप्रद स्थल में भी अप्राकृत तत्त्वों का रहना शास्त्र सम्मत है तब अप्राकृत भगवत्स्वरूप में जो तत्त्व दृष्टिगत हो रहे हैं वह तो अप्राकृत ही हैं आधिदैविक ही हैं अतः उनको लेकर भगवत्स्वरूप की विकारिता या अनित्यता का सन्देह नहीं रह पाता, किसी दोष को अवकाश नहीं रह जाता क्योंकि जो स्वरूप प्रकट दर्शन दे रहा है वह सर्वांश<sup>†</sup>युक्त भगवान् है किसी भी अंश में प्राकृतता का स्पर्श नहीं ॥१५॥

**श्लोकः** – सन्निपत्य समुत्पाद्य ईश्यन्तेऽनुगता इव ॥

प्रागेव विद्यमानत्वान्न तेषामिह सम्भवः ॥१६॥

**टिप्पण** – <sup>†</sup> यहा इतना और भी ज्ञातव्य है कि यद्यपि भगवान् पुरुषोत्तम श्री कृष्ण केवल आनन्दमय है उनमें आधिदैविक तत्त्वों का भी प्रवेश सम्भावित नहीं परन्तु इनके अंशों की विशुद्ध सत्त्व शरीरता है अतः उन अंशों में आधिदैविक तत्त्वों की सत्ता प्रमाण सिद्ध है, अवतारी स्वयं भगवान् कृष्ण में अंश गत आधिदैविक तत्त्वों की प्रतीति अंशी होने के कारण होती है वास्तव में तो वह आनन्द मात्र करपादमुखोदरादि रूप ही है, इसी दृष्टि से सुबोधिनीकार ने (सर्वांशी भगवान्) ऐसा कहा है इस प्रकार योजनाकार ने योजना की है।

**मूलार्थ** – (वह प्राकृत और अप्राकृत भाव) मिलकर भले प्रकार (भौतिक जगत्) को उत्पन्न कर उसमें अनुगत जैसे पीछे से प्रविष्ट हुए से दीखते हैं, परन्तु पहले से ही विद्यमान होने के कारण उनका यहां प्रवेश सम्भव नहीं ॥१९६॥

**श्री सुबोधिनी** – ननु त्वक्चर्मादियोऽपि प्रतीयन्ते लोमदन्तनखानि च ततः कथमानन्दमय इति चेत् तत्राह सन्निपत्येति । सन्निपत्य मिलित्वा सम्यगुत्पाद्येति पूर्वानुवादः कार्येऽपि कारणेष्विवाधिदैविक रूपं वर्तत इतिज्ञापनार्थः, अनुगता इव ईश्यन्ते पुनः कार्ये त्वक्चर्मादिरूपेण पृथिवीसमष्टौ तत्तद्रूपा वा, सर्वत्र रुधिरादिरूपं जलमवमन्यदपि, तर्हिदर्शनप्रामाण्यादनुगता इव भवन्त्वितिचेत् तत्राह प्रागेव कारणत्वेनेह विद्यमानत्वात् पुनस्तेषामिहोत्पत्तिर्न सम्भवति, कारणानां विलक्षणत्वात् साक्षात्प्रवेशस्तु प्रतीत्यैव बाधितः, यथाऽऽधिदैविकानि कारणरूपाण्येवं दन्तादीन्यप्याधिदैविकानीतिपूर्ववत् तेषामप्यत्र प्रतीतौ न कोऽपि विरोधः ॥१९६॥

**व्याख्यार्थ** – पूर्व श्लोक में यह निरूपण किया गया है कि भगवत्स्वरूप में जो कारण रूप से पृथिवी आदि तत्त्व प्रतीत होते हैं वह आधिदैविक तत्त्व हैं प्राकृत नहीं, अतः सर्वांश पूर्ण भगवान् श्रीकृष्ण में उनके अंशगत आधिदैविक तत्त्वों की प्रतीति होने पर भी उनकी आनन्दमयता अक्षुण्ण बनी रहती है, परन्तु यह एक सन्देह उपस्थित हो सकता है कि भगवत्स्वरूप में जो त्वचा, चर्म, रोग, दन्त, नख आदि प्रतीत होते हैं वह तो कार्यरूप हैं पृथिवी आदि तत्त्वों के विकार हैं, इनको आधिदैविक कैसे माना जा सकता है अतः भगवान् की आनन्दमयता विचारणीय ही है, उक्त सन्देह के निवारणार्थ इस श्लोक से दृष्टान्त के द्वारा त्वचा, चर्म आदि को भी आधिदैविक होने से नित्यता एवं अविकारिता बतलाते हैं, इस श्लोक में आधिदैविक तत्त्व आधिभौतिक तत्त्वों से जल से दुग्ध की तरह मिलकर विराट् जगत् को भलीभांति उत्पन्न करके उसमें पट में तन्तुओं की भांति अनुगत जैसे प्रतीत होते हैं, परन्तु पूर्व से ही विद्यमान होने के कारण उनकी यहां उत्पत्ति का सम्भव नहीं ऐसा कहा है, ध्यान देने की बात है कि जब पूर्वश्लोक में 'विराज जनयन्ति हि' ब्रह्माण्ड के निर्माण की चर्चा हो चुकी है तो प्रकृत श्लोक में 'समुत्पाद्य' पद के द्वारा उस चर्चा को फिर दुहराना इसी मर्म को रखता है कि आधिदैविक तत्त्वों की सत्ता कारणों तक ही सीमित नहीं है अपितु उनके साथ २ कार्य में भी व्याप्त है, इस मर्म की सूचना 'सन्निपत्य' 'समुत्पाद्य' इन पदों द्वारा हुए अनुवाद से ही होती है अन्यथा पूर्व श्लोक में 'सह' 'जनयन्ति' इन पदों से मिलकर

उत्पन्न करने का प्रसङ्ग. कथित ही है प्रकृत श्लोक में उसका अनुवाद करना निष्प्रयोजन सिद्ध होगा, आशय यह है कि अनुवाद के द्वारा आधिदैविक तत्त्वों का स्मरण कराना अभीष्ट है अन्यथा 'ऽश्यन्तेऽनुगता इव'।

श्लोक: — एवं भवान् बुद्ध्यनुमेयलक्षणैर्ग्राह्यैर्गुणैः सन्नपि तद्गुणाग्रहः ॥

अनावृतत्वाद् बहिरन्तरं न ते सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुनः ॥१७॥

मूलार्थ — इसी प्रकार आप बुद्धि के द्वारा ही जिनका स्वरूप अनुमानतः सिद्ध होता है उन इन्द्रियों से गृहीत होने वाले गुणों के साथ रहते हुए भी उन इन्द्रियों के सामर्थ्य से गृहीत नहीं हो पाते, आपके आवरण होने के कारण बाहर भीतर का भेद नहीं क्योंकि आप सर्वरूप हैं सब के आत्मा हैं और आत्मामात्र के वस्तु रूप (फलरूप) हैं ॥१७॥

श्री सुबोधिनी — एवं 'ऽष्टान्तद्वयमुपपाद्य तेषामाधिदैविकानां भगवतो भेदो भविष्यतीति तन्निराकरणार्थं दार्ष्टान्तिकेऽतिदिशत्येवं भवानिति।

एवंरूपो भवानेवेत्यर्थः, अन्यथा मूलस्याताऽशत्वे कार्यं ताऽशं न कदापि भवेदिति पुनर्दूषणान्तरमाशङ्क्य परिहरति बुद्ध्यनुमेयेति, ननु भगवान् 'ऽश्यः' कथमन्यथा सर्वमुक्तिश्च स्यात्? बाह्यत्वेन भिन्नत्वेन च कथं प्रतीयते? न हि भगवान् बाह्य एव भिन्न एव तस्माद् भिन्नत्वेन बाह्यत्वेन प्रतीयमानत्वान्न भगवतो भेदो भविष्यतीति।

तत्त्वों के ही अनुगत होने की प्रतीति में अनुगत जैसे प्रतीत हो रहे हैं, वेक पृथिवी तत्त्व, अनुगत है अतः यह आधिदैविक ही हैं एवं समष्टि रूप आदि कारण तत्त्व उन रूपों में प्रतीत रूप से प्रतीति होता है, इसी प्रकार आदि रूप से प्रतीति होते हैं, जबकि धार पर उस दर्शन (प्रतीति) के प्रमाण तत्त्व अनुगत ही हैं, अर्थात् वह कारण तत्त्व कहते हैं कि पहले से ही कारण

ऽश्यत्वेन च प्रतीयमानत्वाद् दोषत्रयसद्भावात्तानन्दमयो भगव

व्याख्यार्थ — इतने कथन मात्र से आधिभौतिक की सम्भावना थी, वह ही आधिदैविक तत्त्व का कारण आधिदैविक त्वचा चर्म, आदि रूप से आधिदैविक भगवत्स्वरूप में जो त्वचा आदि प्रतीत होते हैं वह भौतिक देह में या ब्रह्माण्ड में पृथिवी, जल, तेज आदि होते हैं, देह में कारण रूप जल तत्त्व ही रुधिरादि अन्य आकाश आदि तत्त्व भी छिद्र के अवकाश में कारण तत्त्व कार्य में 'ऽष्टिगत' होते हैं तो उसी आत्मबल से यह क्यों न मान लिया जाय कि कारण तत्त्व ही कार्य रूप से उत्पन्न हुए हैं, ऐसी शङ्का में उ

रूप से इस विराट रूप में और ब्रह्माण्ड के ऊपर भी विद्यमान रहने के कारण फिर उन कारण तत्त्वों की यहां कार्य में उत्पत्ति सम्भावित नहीं, प्रकृत के उपयोगी आशय को इस प्रकार जानना आवश्यक है कि भगवत्स्वरूप में आधिदैविक तत्त्वों की प्रकट सच्चिदानन्द रूप अलौकिक भावात्मक कारण रूप से सत्ता है अतः उनकी त्वचा चर्म, आदि रूप से उत्पत्ति नहीं है किंतु वह आधिदैविक तत्त्व ही त्वचा चर्म आदि के रूप को अवतार की तरह ग्रहण करके वहां पर उपस्थित हैं, अतः भगवत्स्वरूपगत त्वक् चर्मादि आधिदैविक तत्त्वों के कार्य नहीं किंतु रूपांतर ही है, उनकी उत्पत्ति का सम्भव नहीं क्योंकि आधिदैविक तत्त्वरूप कारणों की आधिभौतिकों से विलक्षणता होती है, भौतिक तत्त्व लौकिक कार्यों में उस रूप से उत्पन्न होते हैं आधिदैविक तत्त्व तो आधिदैविक कार्यों का अवतार की भांति रूपान्तर ग्रहण करते हैं।

श्री सुबोधिनी — चेत् तत्राह बुद्ध्याऽनुमेयं लक्षणं येषां तादृशैरिन्द्रियैर्ग्राह्यैर्गुणै रूपादिभिः सह तत्र विद्यमानो भवान् गृह्यमाणोपीन्द्रियसम्बन्धयुक्तोऽपि सन्नपि तदुणैरिन्द्रियसामर्थ्येन ग्रहो यस्य।

**व्याख्यानार्थ** — जिस प्रकार बीज अङ्कुर रूप में प्रकट होता है तब बीज की पृथक् सत्ता प्रतीत नहीं होती क्योंकि वहां बीज का साक्षात् प्रवेश है उसी प्रकार कारण तत्त्व कार्य रूप में प्रकट हो जाता है ऐसा भी स्वीकार नहीं कर सकते, क्योंकि माता पिताओं के शरीरों में त्वचा आदि की सत्ता पृथक् ही प्रतीत होती है अतः पुत्र के शरीर में उन त्वचा आदि का साक्षात् प्रवेश सिद्ध नहीं हो सकता बीज का अंकुर में जैसे साक्षात् प्रवेश है वैसा प्रवेश तो उक्त प्रतीति से बाधित होने के कारण नहीं माना जा सकता है उक्त प्रक्रिया से यह सिद्ध होता है कि जैसे आधिदैविक कारणरूप पृथिवी आदि तत्त्व भगवत्स्वरूप में प्रतीत होते हैं इसी प्रकार दन्त आदि भी आधिदैविक ही हैं अतः पृथिवी रूप शरीर आदि की भांति दन्त आदि की प्रतीति में कोई विरोध नहीं ॥१६॥\*

\* टिप्पण — इस श्लोक के व्याख्यान में (तर्हि दर्शनप्रमाण्यादनुगता इव भवन्त्विति) इस पंक्ति में (इव) शब्द के स्थान पर (एव) शब्द का होना सम्भावित है, लेखकार ने तो इस पंक्ति को इसी प्रकार सङ्गत करने का सफल प्रयास किया है, परन्तु प्रकाश एवं योजनाकार ने पाठ सम्बन्ध में यद्यपि कोई स्पष्ट उल्लेखन नहीं किया तो भी उनकी व्याख्या की विश्लेषणात्मक पद्धति को दृष्टिगत करते मेरा इन शब्दों को लिखना अनधिकार नहीं क्योंकि (दृष्यन्तेऽनुगता इव) यह तो मूल पाठ है ही उसमें (इव) शब्द की आवश्यकता सिद्ध करने के लिये पूर्व पक्ष में (एव) शब्द का प्रयोग दिखलाया है (प्रागेव) इत्यादि ग्रन्थ से पूर्व पक्ष का खण्डन कर (इव) शब्द की आवश्यकता सिद्ध की है। लेखकार



श्री सुबोधिनी — यद्यपि भगवानिन्द्रियेषु विषयेष्वपि वर्तते तथापि तेषामिन्द्रियाणां न भगवद्ग्रहणसामर्थ्यं, न वाऽऽधिदैविकानामन्यार्थं, निविष्टानां, ग्राह्यस्वरूपत्वाच्च न ग्राहकत्वं, न वा विषयाणां स्वाधिदैविकैः सह ग्राहकसम्बन्धः, अतः सर्वत्र विद्यमानोऽपि रूपभूतोऽपि रूपे गृह्यमाणे न गृह्यसे, इन्द्रियाणां प्रत्यक्षता तु नास्ति, आत्माग्राहकत्वात्, अतो 'रूपोपलब्धिःकरणसाध्या क्रियात्वाच्चिदिक्रियाव' दित्यनुमानेन सामान्यतः करणे सिद्धे नेत्रगोलकान्वयव्यतिरेकानुविधानाच्चक्षुरेव करणमित्यध्यवसीयते, एवं रसोपलब्धिर्गन्धोपलब्धिरित्यादि, अनेक 'प्रत्यक्षत्व एव प्राकृतत्वमप्रत्यक्षत्वेऽप्राकृतत्व' मिति निरस्तं, न ह्यप्रत्यक्षाणीन्द्रियाण्यप्राकृतानि भवन्ति, अतो भगवतः प्रत्यक्षत्वेऽपि।

व्याख्यार्थ — इस प्रकार दो श्लोकों से दो ऽष्टान्तों का विचार करने के अनन्तर उन ऽष्टान्तोक्त आधिदैविक भावों का भगवान् से भेद होगा ऐसी शङ्का के निवारण करने के लिये दृष्टान्तों द्वारा जिसे लक्षित करना है उस दार्ष्टान्तिक भगवत्स्वरूप में आदेश करते हैं कि एवं भवान् ऐसे स्वरूप वाले आप ही हैं, अर्थात् पूर्व दो श्लोकों में आधिदैविक तत्त्वों के विषय में जो चर्चा की है वह आपकी ही है, क्योंकि सब के मूल रूप तो आप ही हैं, यदि मूल तत्त्व नित्य, अविकृत नहीं हो तो उसका कार्य कदापि नित्य, आविकृत नहीं हो सकता, आधिदैविक तत्त्वों की नित्यता और अविकारिता के प्रयोजक उनके मूल रूप होने के कारण आप ही हैं, पुनः अन्य दोष की आशङ्का कर (बुद्ध्यनुमेय) इत्यादि के द्वारा उस आशङ्का का निवारण करते हैं, आशङ्का यह है कि भगवान् को ऽष्टा है वह ऽश्य कैसे हो सकता है और यदि वह ऽश्य है तो सर्व मुक्ति की सम्भावना है क्योंकि बिना ही साधन के जब भगवत्स्वरूप ऽष्टिगत हो सकता है तो मुक्ति होने में क्या साधन अवशेष रह जाते हैं जो वह नहीं होती, अतः उक्त स्वरूप का ऽष्टिगत होना उनके भगवद्रूप होने में बाधक हैं, ब्रह्म हो तो 'अऽश्यमग्राह्यम्' आदि कहा है, एवं जो 'अनन्तरमब्राह्मम्' बाह्य आभ्यन्तर आदि भेदों से रहित है वह बाह्य रूप से तथा भिन्न रूप से कैसे प्रतीत होता है, न तो भगवान् बाह्य ही हैं, अतः भिन्न, तथा बाह्य,

कहते हैं कि कारण के असाधारण धर्म कार्य में नहीं पहुँचते साधारण धर्म ही पहुँच पाते हैं अतः (इव) पद का प्रयोग है, कार्यो में साधारण धर्म भी कार्य रूप से उत्पन्न होते हैं अतः वहा पर अनुगत कहे जा सकते हैं परन्तु कारण में तो उत्पत्ति का सम्भव नहीं अतः कार्य धर्म कारण में अनुगत जैसे नहीं कहे जा सकते यद्यपि कार्य धर्मों की परम्परा से कारण में प्रवेश हो सकता है कि वह धर्म कार्य में प्रविष्ट होते हैं और कार्य अपने समष्टि रूप विराट् में प्रविष्ट होता है विराट् अपने कारण रूप तत्त्वों में और तत्त्व भगवान् में इस परम्परा से कह सकते हैं परन्तु साक्षात् प्रवेश तो बाधित है क्योंकि कार्य धर्मों का उतना सामर्थ्य नहीं ॥१६॥

और ईश्वर रूप से प्रतीत होने के कारण त्रिदोष के उपस्थित होने से प्रस्तुत स्वरूप को आनन्दमय भगवान् नहीं माना जा सकता, ऐसी आशङ्क। में कहते हैं कि जब इन्द्रियों के सामर्थ्य से आपका ग्रहण नहीं होता तो श्रुति सिद्ध आपकी अईश्वरता व अग्राह्यता से तो कोई विरोध ही नहीं है, बुद्धि से जिनके लक्षण या स्वरूप को अनुमानतः जाना जाता है उन इन्द्रियों से ग्रहीत होने वाले रूप आदि गुणों के साथ —

**श्री सुबोधिनी** — प्राकृतत्त्वमप्राकृतत्त्वं वा न सेत्स्यतीति युक्तिरप्रयोजिका, ननु व्यापकव्यभिचारो न दोषायेति चेद् यत् प्रत्यक्षं तत् प्राकृतमेवेति भगवतः प्रत्यक्षत्वात् प्राकृतत्त्वमेवेति चेत् तत्राह ग्राह्यैर्गुणैरिति, सर्वत्रैव भगवान् वर्तते न सर्वत्रैव प्रत्यक्षः, रूपादिषु विद्यमानस्यास्यैव चक्षुषाऽग्रहणात् क्वचिदपि प्रत्यक्षत्वमपि बाधकमिति चेत् तत्राह तद्गुणाग्रह इति, न हि चक्षुषः सामर्थ्येनेदानीमत्रापि भगवान् ईश्वरते, किन्तु 'स्वेच्छयैव, अतः स्वेच्छया प्रतीतमिन्द्रिय ग्रहणदोषेण न दुष्टं भवति, 'पराञ्चि' खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पारङ् पश्यति नान्तरात्मन् कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छ'त्रिति श्रुतेः परावृत्तचक्षुषो ग्राहकत्वं श्रूयते स्वभावतश्च निषेधः, न ह्युभयं विरुद्धं, तथा प्रकृतेपीन्द्रियसामर्थ्यादईश्वरः स्वेच्छया तु ईश्वर इत्यविरुद्धं, तस्माद् ईश्वरत्वेनाब्रह्मत्वशङ्क। ।

**व्याख्यार्थ** — वहां आप विद्यमान हैं, अतः इन्द्रियों से आपका ग्रहण होता भी है, रूपादि की भांति इन्द्रियों से आपका संयुक्त समवाय आदि सम्बन्ध भी है, होते हुए भी आप उन इन्द्रियों के गुणों से उनके सामर्थ्यों से ग्रहीत नहीं होते बात ऐसी है कि भगवान् इन्द्रियों में भी विराजते हैं और उनसे ग्रहीत होने वाले घट पटादि वस्तु में तथा रूप, रसादि गुणों में भी विराजमान हैं, तो भी उन इन्द्रियों की सामर्थ्य नहीं जो भगवान् को ग्रहण कर सके, तथा आधिदैविक इन्द्रिय तो सामान्य इन्द्रियों में लौकिक विषय के ग्रहण करने के सामर्थ्य सम्पादन को उन भौतिक इन्द्रियों में प्रविष्ट होते हैं अतः उनका भी सामर्थ्य नहीं, तथा (श्रोतमयुष्य शब्दः) (घ्राणोऽस्यगन्धः) भा. द्वि. प्र. अध्याय के अनुसार आधिदैविक इन्द्रिय तो स्वयं ग्राह्य विषय स्वरूप है वह विषय के ग्राहक नहीं हो सकते, एवं अपने आधिदैविक इन्द्रियों के साथ विषयों का वह सम्बन्ध भी नहीं जो विषय ग्राहक इन्द्रियों से विषयों का होता है, अतः आप सर्वत्र विद्यमान भी हैं सब के स्वरूप हैं, रूप,

रस आदि भी आप हैं तो भी रूपादि के ग्रहीत होते हुए भी आप ग्रहीत नहीं होते यदि इन्द्रियों की प्रत्यक्षता का संभव हो तब तो इन्द्रियों के सहवर्ती आपका उनके आधिदैविक रूप में प्रत्यक्ष सम्भावित है परन्तु इन्द्रिय तो अपने स्वरूप का ग्रहण नहीं

कर सकते अतः वह स्वयं ही अप्रत्यक्ष है, उनकी सत्ता में अनुमान ही प्रमाण है, प्रत्यक्ष नहीं, अनुमान का आकार इस प्रकार है कि (पक्ष) रूप, रस, गन्ध आदि विषयों की उपलब्धि (ज्ञान), (साध्य) किसी कारण (व्यापार वाले असाधारण कारण) से साध्य है, (हेतु) क्रिया रूप होने से, (घंष्टांत) छेदन (विदारण) क्रिया की भांति, सारांश यह है कि जैसे काटना फाड़ना आदि क्रिया किसी खड्ग, कुठार आदि साधन से ही साध्य होती है उसी प्रकार रूप आदि का जान लेना भी एक क्रिया है वह भी किसी साधन से ही साध्य हो सकती है अतः सामान्यतया करण की सिद्धि होने पर नेत्र गोलक के साथ रूप ग्रहण का अन्वय और व्यतिरेक देखा जाता है कि नेत्र गोलकों के सद्भाव में रूप।

श्री सुबोधिनी – परिहृता भिन्नत्वेन बाह्यत्वेन प्रतीतौ समाधानमाहानावृतत्वाद् बहिरन्तरं न त इति, बाह्याभ्यन्तरव्यवस्थाऽऽकाशकृतेति पूर्वमेवावोचाम, तदपि भूतादीनामेव, भगवतो व्यवधायकं न किञ्चित्, न हि गृहमध्यस्थितैर्गृहमन्यस्माद् व्यवहितं भवति, न वा स्वस्य स्वयं व्यवधायक, व्यापको भगवानिति, ततः स्थूलकार्यस्याभावाद् भगवतोऽनावृतत्वं, एतदग्रे स्पष्टीभविष्यत्युलूखलबन्धने, अनावृतत्वादेव तव बाह्याभ्यन्तरव्यवहारो नास्ति, सम्पूर्णे तडागे तदुद्भवैश्छन्ने क्वचित् प्राकट्ये तावन्मात्रत्वं तदुद्भवानां वावच्छेदकत्वं न सम्भवति तथा प्रकृतेऽपि व्यापकस्यैव तवैकदेशे प्रकटस्य न बाह्यान्तरभेदः सम्भवति, प्रतीतिस्तूपपादितैव, परिच्छिन्नत्वमप्यनेनैव, परिहृतं।

व्याख्यार्थ – ग्रहण हुआ है, एवं उनके अभाव में नहीं इस प्रकार अनुसंधान से नेत्र गोलकवर्तीचक्षु इन्द्रिय ही रूप ग्रहण का कारण है ऐसे ही रसना इन्द्रिय रस ग्रहण का व घ्राण इन्द्रिय गन्ध ग्रहण का करण है यह सिद्ध होता है, इस प्रकार इन्द्रियों की अप्रत्यक्षता के प्रतिपादन से यह मान्यता खण्डित हो जाती है कि जो प्रत्यक्ष होगा वह ही प्राकृत होगा, और जो अप्रत्यक्ष होगा वह ही अप्राकृत होगा, क्योंकि इन्द्रिय अप्रत्यक्ष होते हुए भी अप्राकृत नहीं प्राकृत ही है, अतः भगवान् का प्रत्यक्ष हो रहा है तो भी इतने मात्र से उनकी प्राकृतता या अप्राकृतता सिद्ध न हो पावेगी, क्योंकि ईश्वर वस्तु को प्राकृत ठहराने में अईश्वर वस्तु का अप्राकृत स्वीकार करना तर्क भी कसौटी पर साफ नहीं उतरता, वादी की युक्ति को सहायता देने वाला उसे सफल या सप्रयोजन सिद्ध

करने वाला कोई विचार उपस्थित नहीं होता वह युक्ति अप्रयोजक ही रह जाती है निर्बल पड़ जाती है, यदि ऐसा कहा जाय कि जो प्रत्यक्ष होता है वह प्राकृत ही होता है वह अप्राकृत नहीं होता, और जो प्राकृत होता है, वह अप्रत्यक्ष नहीं होता ऐसा नियम नहीं, वह अप्रत्यक्ष भी देखा जाता है जैसे इन्द्रिय अप्रत्यक्ष होते भी प्राकृत ही हैं, अतः प्राकृतत्व, और प्रत्यक्षत्व समव्याप्त नहीं प्राकृतत्व व्यापक है प्रत्यक्षत्व की अपेक्षा अधिक देशवृत्ति है ओर प्रत्यक्षत्व व्याप्य है प्राकृतत्व की अपेक्षा अल्प देख वृत्ति है, सारांश यह है कि जहां भी प्रत्यक्षत्व होगा वहां प्राकृतत्व अवश्य होगा, परन्तु जहां प्राकृतत्व होगा वहाँ प्रत्यक्षत्व होगा ही ऐसा नियम नहीं है वहां अप्रत्यक्षत्व भी हो सकता है, ऐसी स्थिति में इन्द्रियों की प्राकृतता होते हुए अप्रत्यक्षता अनुचित नहीं परन्तु प्रत्यक्षता होने पर भगवत्स्वरूप को अप्राकृतता तो कैसे स्वीकृत की जाय, व्यापक का व्यभिचार (अधिक देश में रहना) तो दोष जनक नहीं वह तो उचित है परन्तु व्याप्य का व्यभिचार दोषजनक है, व्याप्य कदापि व्यापक के अभावाधिकरण में नहीं मिलता उनका व्याप्य व्यापक भाव ही नष्ट हो जाता है अतः प्राकृतत्वा भाव स्थल -

श्री सुबोधिनी - अस्मिन्नर्थे शास्त्रीयं हेतुत्रयमाह सर्वस्य सर्वात्मन आत्मवस्तुन इति, सच्चिदानन्दरूपो भगवान्, जगद्रूपो भगवान्, सद्रूपः, चिद्रूपा जीवात्मानः, आनन्दरूपः स्वयं तेषां फलरूपः अत्र व्यावर्तकत्वं जगतो जीवानां फलस्य च न सम्भवति, त्रयाणामपि स्वरूप भगवानेव, तदाह सर्वस्य सर्वरूपस्य सर्वेषामात्मरूपस्य सर्वात्मनां च वस्तुरूपस्य फलरूपस्य चात्मना न परिच्छेदः, नाप्यात्मनो महतः, अतो भगवदंशानामंशान्तरैर्भगवता वा परिच्छेदः सम्भवति न तु भगवतः केनापि प्रकारेण, तद्व्यतिरिक्तस्यान्यस्या भावात्, आत्मनैवात्मपरिच्छेदपक्षोऽग्रे विवेचनीयः।

एवं वैदिकप्रकारेण पञ्चात्मको भगवान् निर्दोषपूर्णगुणविग्रह एवायमिति निरूपितः।

व्याख्यार्थ - स्थल में प्रत्यक्षत्व नहीं रह सकता अतः प्रत्यक्ष हुए भगवत्स्वरूप को अप्राकृत स्वीकार करना कहाँ तक सम्भव है उसका प्राकृत होना ही सम्भावित है ऐसी आशङ्का के निवारण करने को उस विषय में कहते हैं कि इन्द्रिय ग्राह्य गुणों के साथ भगवान् सर्वत्र ही विद्यमान हैं तो भी सर्वत्र उनका प्रत्यक्ष तो नहीं होता रूप, रस आदि में रहने वाले भगवत्तत्त्व का चक्षु रसना आदि इन्द्रिय से ग्रहण नहीं होता रूप, रस, आदि मात्र का ही ग्रहण होता है, अतः भगवान् में प्रत्यक्षता नहीं है तो प्राकृतता भी नहीं है, अप्राकृतता ही है, यदि कहें कि कहीं भी प्रत्यक्ष होना अप्राकृतता का बाधक है तो भी

इन्द्रियों के सामर्थ्य से होने वाले प्रत्यक्ष को ही अप्राकृतता का बाधक कह सकते हैं, भगवान् तो 'तदुणाग्रह' हैं, इन्द्रियों के गुणों (सामर्थ्यों) से ग्रहीत नहीं होते, इस समय भी जो भगवान् का दर्शन हो रहा है, वह नेत्र के सामर्थ्य से नहीं किन्तु उनकी निजेच्छा से ही हो रहा है, अतः स्वेच्छा से प्रतीत होने वाला स्वरूप इन्द्रिय द्वारा गृहीत होने के दोष से दूषित नहीं हो सकता, श्रुति में कहा है कि स्वयम्भू<sup>१</sup> ने इन्द्रियों को पराङ्मुख बनाकर उनकी हिंसा की है अतः बाहर दीखता है अन्तरात्मा में नहीं, कोई धीर पुरुष अमृतत्वरूप परमानन्द की इच्छा करने वाला अपने चक्षु को अन्तर्मुख कर लेता है और अन्तरात्मा का दर्शन करता है, इस प्रकार श्रुति में परावृत्त हुए चक्षु की ग्राहकता भी बतलाई है और स्वभावतः ग्राहकता का निषेध भी किया है, इन दोनों श्रौत सिद्धान्तों का विरोध नहीं है, उसी प्रकार प्रकृत में भी इन्द्रिय सामर्थ्य से आप अर्शय ही हैं, और निजेच्छा से अर्शय हैं इस रीति से कोई विरोध नहीं रह जाता है, उक्त कारण से भगवान् के अर्शय होने से उनकी अब्रह्मता या प्राकृतता की शङ्का नहीं रह जाती, अब भिन्नता एवं बाह्यता से जो प्रतीति हो रही है उस विषय में समाधान करते हैं कि अनावृत होने के कारण आपका बाहर एवं भीतर कुछ भी नहीं है, आपको न बाहर कहाँ जा सकता है न भीतर ही कहा जा सकता है, अमुक वस्तु

श्लोकः— य<sup>२</sup> आत्मनो अर्शयगुणेषु सन्निति व्यवस्यति (ते) स्वव्यतिरेकतोबुधः।

विनानुवादं न च तन्मनीषितं सम्यग् यतस्त्यक्तमुपाददत् पुमान्॥१८॥

मूलार्थ — जो पुरुष आत्मा के अर्शय देह इन्द्रियादि गुणों में किसी पदार्थ को आत्मा से भिन्न है इस प्रकार समझता है वह मूर्ख है, क्योंकि विचार करने पर वह देह इन्द्रियादि केवल अनुवाद मात्र ही है; विचार दशा में जिस पक्ष का अच्छी तरह से त्याग किया जा चुका है उसी पक्ष का स्वीकार करना मूर्खता नहीं तो क्या है॥१८॥

<sup>१</sup> कठोपनिषत् द्वि अ. प्र वल्ली के प्रारम्भ में है।

टिप्पण — <sup>२</sup> (य आत्मनो अर्शय गुणेषु) इस श्लोक द्वारा भगवान् की सद्वृत्तता का या प्रपञ्च की असद्वृत्तता का प्रतिपादन हुआ है, दोनों प्रकारों में कुछ अरुचि बनी रह सकती है क्योंकि भगवान् की सद्वृत्तता तो (सर्वस्य सर्वात्मनः) के द्वारा कह चुके हैं उसी का पुनः कथन पुनरुक्ति दोष होगा, और प्रपञ्च की असद्वृत्तता मानने में भगवान् की सर्वात्मकता से विरोध होगा, अतः आचार्यों ने उक्त श्लोक चतुष्टय को (तन्त्र) मत कहकर अविरोध स्थापन किया है।

श्री सुबोधिनी — तन्त्रप्रकारेण चतूरूपो निरूप्यते य आत्मन इत्यादि चतुर्भिः । तत्र तन्त्रे प्रथमो वासुदेवः ।

व्याख्यार्थ— बाह्य है या आभ्यन्तर है, इस प्रकार व्यवहार व्यवस्था आकाशकृत है यह बात हम पूर्व में तृतीय स्कन्ध २६ अध्याय श्लोक ३४ के 'बहिरन्तर' में वच, की व्याख्या में कह चुके हैं, वह भी पृथ्वी आदि भूतों का ही बाह्य अथवा आभ्यन्तर व्यवहार होता है, भगवान् का तो व्यवधायक कोई वस्तु मात्र नहीं उन्हें अपनी आड़ से रोकदे या सीमित करदे ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं जिस प्रकार घर के भीतर रहने वाले पदार्थों से घर दूसरे किसी देखने वाले से व्यवहित नहीं होता आड़ में नहीं आ सकता एवं स्वयं भी वह घर अपना ही आप व्यवधान नहीं करता । अपना आड़ आप ही कर लेता हो यह बात भी नहीं है, उसी प्रकार भगवान् भी सर्व व्यापक हैं सर्वत्र विद्यमान हैं उनसे स्थूल या महान् कोई भी कार्य नहीं जो उनका व्यवधान या आवरण कर सके अतः भगवान् अनावृत्त है किसी आवरण या व्यवधान से सीमित नहीं है इसका स्पष्टीकरण आगे उलूखल बन्धन प्रसङ्ग में होगा, आवरण रहित होने के कारण आपके सम्बन्ध में बाह्य, या आभ्यन्तर व्यवहार नहीं होता, यदि सम्पूर्ण तालाब उसी से उत्पन्न हुए कमल शैवाल आदि से ढका हुआ हो किसी अमुक भाग में खुला भी हो तो वह जितने भाग में खुला है उतना ही तालाब है ऐसा नहीं माना जाता और न उन कमल शैवाल आदि को तालाब का अवच्छेदक ही माना जाता है कि यह तालाब इतना ही है इस तालाब की इयत्ता या सीमा कमल शैवाल आदि के आधीन हो ऐसी भी बात नहीं है, तालाब से प्रकट हुए पदार्थ तालाब को सीमित नहीं कर सकते, उसी प्रकार प्रकृत हुए पदार्थ तालाब को सीमित नहीं कर सकते, उसी प्रकार प्रकृत विषय में आप व्यापक हैं एक देश में प्रकट हुए हैं, अतः आपका बाहर भीतर वाला भेद नहीं हो सकता है, प्रतीति जो हो रही है वह तो आपकी इच्छा से उत्पन्न ही है, आप अपना इच्छा से बाह्य आदि रूप से प्रतीति होते हैं जैसे इन्द्रिय सामर्थ्य से अर्शय होते हुए भी स्वेच्छा से र्शय होते हैं उसी प्रकार सर्व व्यापक होते हुए भी स्वेच्छा से एकदेशस्थ, बाह्य, भिन्न आदि प्रतीति के विषय होते हैं, परिच्छिन्नता (एकदेशीयता) या भिन्नता का परिहार भी आपके अनावृत्त या व्यापक होने के कारण हो ही जाता है, इस विषय में शास्त्रोक्त तीन हेतुओं का निर्देश

करते हैं कि आप सब कुछ हैं, और सब के आत्मा हैं, एवं सब आत्माओं के वस्तु स्वरूप भी हैं, भगवान् सच्चिदानन्द रूप हैं।

**श्री सुबोधिनी** — तत्र श्रीर्माया “यत् प्रवदन्ति माया” मितिवाक्यात्, मोक्षप्रतिबन्धार्थं तया केवलया जगत् सृज्यते।

**व्याख्यार्थ** — उस सच्चिदानन्द का ‘सद्’ रूप तो जगत् रूपी भगवान् हैं, और ‘चिद्’ रूप तो जीवात्मा हैं ही और उन जीवात्माओं का फल रूप स्वयं आप आनन्दरूप हैं, इसमें जगत् या जीव, या फल रूप आनन्द एक दूसरे से अपनी व्यावृत्ति (भेद) नहीं कर सकते हैं क्योंकि तीनों का स्वरूप भगवान् ही है, तब कौन किसका व्यावर्तक (भेदक) होगा, उक्त तथ्य को ‘सर्वस्य सर्वात्मन आत्म वस्तुनः’ इन शब्दों में कहते हैं, कि भगवान् सर्वरूप हैं (जगद्रूप हैं) सबके आत्मस्वरूप हैं (जीवात्मा) हैं, एवं सर्व जीवात्माओं के भी वस्तुस्वरूप फलात्मक आनन्दरूप हैं, उनका अपने आप से परिच्छेद (व्यावृत्ति या भेद) नहीं हो सकता है, ‘अतति व्याप्नोति’ इस व्युत्पत्ति से आत्मा पदार्थ सर्वव्यापक महान् सिद्ध होता है उस महान् का परच्छेद कहाँ सम्भावित है, अतः भगवान् के अंशों का उनके अन्य अंशों से या भगवान् से परिच्छेद हो सकता है परन्तु भगवान् का किसी भी प्रकार परिच्छेद नहीं हो सकता क्योंकि उनसे अन्य कोई दूसरा तत्त्व ही नहीं तो परिच्छेद किससे होगा, स्वयमेव आप ही अपना परिच्छेद करते हैं इस पक्ष का विवेचन आगे उलूखल बन्धन प्रसङ्ग में करना आवश्यक है, इस प्रकार श्लोकों द्वारा निर्दोषपूर्ण गुणसम्पन्न शरीरधारी साकार यह अद्भुत बालक ही (१) अग्निहोत्र, (२) दर्शपूर्णभास, (३) पशु, (४) चातुर्मास्य, (५) सोम नामक पञ्च<sup>१</sup> यज्ञात्मक है ऐसा वैदिक प्रकार से निरूपण किया है ॥१७॥

**व्याख्यार्थ** — ‘य आत्मन’ आदि चार श्लोकों से तन्त्र में कही हुई प्रक्रिया के अनुसार वासुदेव आदि चतुर्भूति भगवान् का निरूपण किया जाता है, वहाँ तन्त्र शास्त्र में प्रथम परब्रह्मरूप वसुदेव हैं ऐसा माना है, वहाँ पर ‘श्री’ नामक भगवच्छक्तिया ‘श्रीश्च ते

टिप्पण — <sup>१</sup> वसुदेव स्तुति के प्रारम्भिक पञ्च ५ श्लोकों का प्रतिपाद्य अर्थ सख्या के अभिप्राय को लेकर कहा है पृथिवि<sup>१</sup>, जल<sup>२</sup>, अग्नि<sup>३</sup>, वायु<sup>४</sup>, आकाश<sup>५</sup> यह पञ्च तत्त्वात्मक भगवान् ही हैं यह अभिप्राय भी पञ्च सख्या से अभिव्यक्त होता है।

लक्ष्मीश्च पत्न्यौ' के अनुसार भगवत्पत्नी को माया कहा है क्योंकि पञ्चरात्र में ऐसा वाक्य है 'इत्थां विचिन्त्य परमः सतु वासुदेव नामा बभूव निज कारण मुक्ति दाता, तस्याज्ञयैव नियता परमाऽपि रूपं ववेद्वितीयमिव यत्प्रवदन्तिमायाम्' प्राणियों के मोक्ष में प्रतिबन्ध करने को वह केवल माया ही जगत् को रचती है, वासुदेव तो प्रेरणामात्र करते हैं -

**श्री सुबोधिनी** - तत्र चेत् सदबुद्धिस्तदा प्राणी न मुच्यते इति तन्मत वदन्नेव चतुर्मुर्तिर्भगवानतीर्ण इति वासुदेवोऽयमन्तरेव बहिर्वा द्रष्टव्यः, उभयथापि न तत्त्वसहितो द्रष्टव्यः केवलचिदानन्दरूपो द्रष्टव्य इति प्रथममाह, य आत्मन आत्मभूतस्य भगवतो ऽंशेषु सङ्घातरूपेष्व-  
त्मनैवानुभूयमानेष्वनुभवातिरेकेण तेषां सत्त्वाभावाच्च चतुर्विंशतितत्त्वेष्वप्यात्मनो बन्धकेषु गुणेषु यः सन्निति कमपि पदार्थं व्यवस्यति, अस्ति च तत्र सर्वत्रैव तद्रूपेण निविष्टः स सन्नेव भवति तत्सत्तयैव च तत्त्वान्यपि सत्त्वेन प्रतीयन्त इतिपरमार्थः, यदि स्वव्यतिरेकेणात्मव्यति- रेकेणाप्यात्मसम्बन्धाभाव आत्मव्यतिरिक्तस्य वा सत्त्वं यद्यङ्गीक्रियते तदाऽबुद्धः, न तस्यज्ञानमस्ति, मायामोहित एव स इत्यर्थः।

**व्याख्यार्थ** - उस जगत् में यदि प्राणी सत्यबुद्धि करता है उसे सत्य समझता है तो वह मुक्त नहीं होता है, इस प्रकार तान्त्रिक मत कहते हुए ही श्रीवासुदेवजी पूर्व में यह कहते हैं कि यह चतुर्मुर्ति भगवान् अवतीर्ण हुए हैं, अतः इस वासुदेव का दर्शन अन्तर्देश हृदय में अथवा बहिर्देश में जहाँ कहीं भी करना चाहिए परन्तु दोनों प्रकारों में केवल चिदानन्द का ही दर्शन अभीष्ट है। पृथ्वी आदि तत्त्वों के सहित उनका दर्शन अपेक्षित नहीं, वासुदेवजी का कहना है कि जो प्राणी आत्मस्वरूप भगवान् के ऽंश्य गुणों में देह, इन्द्रिय आदि समुदायों में किसी भी पदार्थ को 'सत्' यह सत्य है ऐसा निश्चित कर लेता है वह मूर्ख है, क्योंकि यह देह, इन्द्रिय आदि समुदाय आत्मा के द्वारा ही अनुभव के विषय होते हैं अनुभव के अतिरिक्त उनकी कोई सत्ता नहीं प्रतीतिमात्र ही है, प्रकृति आदि चौबीस तत्त्व गुण हैं रस्सी की भांति बन्धन करने वाले हैं जीवात्मा को प्रपंच में फंसा देने वाले हैं, इनमें से किसी एक को भी जो कोई सत्य मानता है वह मूर्ख है, क्योंकि असली बात तो यह है कि वहाँ सर्व वर्गों में उन उन रूपों से भगवान् ने ही प्रवेश किया है, भगवान् सत्य ही है, उनकी सत्ता से ही तत्त्व भी सत्य रूप से प्रतीत होते हैं, यदि आत्मा के सम्बन्ध के बिना ही किसी पदार्थ को सत्य मानता है अथवा आत्मा से अतिरिक्त किसी पदार्थ को सत्य रूप से स्वीकार करता है तो वह मूर्ख ही है, उसकी बुद्धि कार्य नहीं करती वह माया से मोहित ही चुका है, यहाँ पर यह पक्ष



उठाया जा सकता है कि आत्मा के सम्बन्ध से अनात्म पदार्थ देहादि में भी सत्यता उत्पन्न हो जाती है ऐसा मान लिया जाय तो उसकी प्रतीति में तो कोई आपत्ति या दोष नहीं इसका खण्डन कर वे उक्त विषय पर कहते हैं कि विचारशील मनीषियों के मन ने जगत् को सत्य रूप से नहीं विचारा है, केवल उसका अनुवाद ही किया है, अनुवाद के बिना उसकी अन्य कोई सत्ता नहीं, जगत् की असत्यता के प्रतिपादन —

श्री सुबोधिनी — नन्वात्मसम्बन्धात् तस्य सत्त्वमुत्पद्यतामतः सत्प्रतीतौ न दोष इति चेत् तत्राह विनानुवादं न च तन्मनीषितमिति, वैराग्यार्थमिदं मतं, त्यागार्थमेवास्यानुवादः, सत्त्वसिद्धिव्यतिरेकेण त्यागो नोपपद्यतेति तदर्थमात्मसम्बन्धात् सत्त्वमित्यनुवादेनोक्तं, न त्वात्मना सह सम्बन्धोऽप्यस्ति प्रतीत्यतिरिक्तस्तदाहानुवादं बिना तज्जगत् मनीषितं मनसा सत्त्वनाकलितं न भवति, नन्वेवमप्यबुधत्वं कथमारोपार्थमपि तथाज्ञानं युक्तमेवेति येत् तत्राह सम्यग् ततस्त्यक्तमुपाददत् पुमानिति सङ्घात आत्मान्वेषणदुशायामात्मव्यतिरिक्तं सर्वमेव त्यक्तं तच्चेत् पुनर्गृह्णाति तर्ह्यबुध एव, तदाह पुमान् स्व्यं पुरुषोऽपि भूत्वा सम्यक् त्यक्तमुपाददबुध एवेति पूर्वणैव सम्बन्धः, त्यक्तमपि दूराद् ईश्यते न तूपसमीपे, अन्योपदेशार्थम् —

व्याख्यार्थ — किये बिना विषयासक्ति निवृत्ति नहीं हो सकती इस ईष्टि से विषयों से वैराग्य करा देने को यह मत उपयुक्त है, आत्मा से अतिरिक्त वस्तु मात्र का त्याग अपेक्षित है अतः इसका अनुवाद आवश्यक है, त्याग उसी वस्तु का हो सकेगा जिसकी सत्ता सिद्ध होगी, जिसकी सत्ता ही नहीं, जो कुछ है ही नहीं उसका त्याग कैसा, अतः आत्मा के सम्बन्ध से देह इन्द्रिय आदि जगत् की सत्ता है ऐसा अनुवाद रूप से कहा गया है। परन्तु आत्मा के साथ जगत् का कोई सम्बन्ध नहीं केवल प्रतीति मात्र ही है, अतः कहते हैं कि अनुवाद के बिना वह जगत् मनीषित नहीं, मन के द्वारा सत्य रूप से विचारित नहीं, आशय यह है कि अनुवाद किसी वस्तु के यथार्थ या अयथार्थ होने की अपेक्षा नहीं रखता वह तो केवल प्रतीति मात्र की अपेक्षा रखता है, चाहे वह प्रतीति ठीक हो वा न हो जिसे आंख के दोष से आकाश में दो चन्द्रों की प्रतीति होती है वह कहता है कि दो चन्द्र हैं, उसकी उक्ति का अनुवाद तटस्थ व्यक्ति करता है कि (दो चन्द्र हैं) ऐसा यह भ्रम वश कह रहा है वास्तव में दो चन्द्र नहीं हैं, जिस प्रकार ऐसे अनुवाद से दो चन्द्रों को सत्ता सिद्ध नहीं होती, उसी प्रकार त्यागार्थ अनुवाद मात्र से जगत् की सत्ता सिद्ध नहीं होती, आत्मा के अतिरिक्त देह इन्द्रिय आदि ईश्यवर्ग की

वास्तविकता नहीं, यद्यपि किसी वस्तु के निषेध करने के लिये भी उसका स्वरूपतः उल्लेख आवश्यक होता है, वस्तु के उल्लेख किये बिना उसका निषेध सम्भव नहीं रस्सी के यथार्थ ज्ञान होने पर यह सर्प नहीं ऐसा कथन की सर्प का उल्लेख चाहता है जिसे कभी सर्प मान लिया था वह सर्प नहीं रस्सी है, इसी प्रकार जगत् को असत्य ठहराने में उसके पूर्व जो जगत् में सत्यता का आरोप आवश्यक है उसके लिये जगत् को सत्यरूप से जानने में कोई बुराई नहीं वह तो ठीक ही है तो वैसे जानने वालों को (अबुध) क्यों कहा जाय ऐसी आशङ्का में कहते हैं।

श्री सुबोधिनी — अनुवादेनापि ग्रहण सम्भवति तद्व्यतिरेकार्थमाह सम्यक् त्यक्तमादददिति, येनैव प्रकारेण सम्यक् त्यक्तं तेनैव तद् गृह्णातीति ॥१८॥

श्री गो. विठ्ठलनाथकृत व्याख्यानम् —

अथवात्मनो भगवतो ईश्वरेषु गुणेषु केशलोमनखरूपस्पर्शादिष्वेकोऽपि गुणः स्वस्मात् सच्चिदानन्दात्मकभगवत्स्वरूपाद् व्यतिरेकतः, त्यक्तोपे पञ्चमी, तथा च व्यतिरेकं प्राप्यैव सन् अन्यथैकरसे ब्रह्मणि विविधरूपत्वभानं न स्यात्, इति यो व्यवस्यते सोऽबुधः, धर्मिग्राहकमानेन शुद्धस्यैव ब्रह्मणस्तथैव सिद्धेः, एतदेवाह विनेति, वस्तुन एव तथात्वादाकारदर्शनानन्तरं यो भक्तकृतः कराम्बुजं पदाम्बुजं नयनाम्बुजमित्यादिरूपो वादः सोऽनुवादस्तं विना तत् कराम्बुजादिकं स्वरूपव्यतिरिक्तत्वेन मनीषित मनसा सत्त्वेनाकलितं न हि भवति,

व्याख्यार्थ — कि जब विचार पूर्वक अग्राह्य समझकर जिस वस्तु का त्याग कर दिया है उस वस्तु का ग्रहण करने वाला पुरुष मूर्ख ही है, आत्मा और देह इन्द्रियादि के समुदायात्मक इस सङ्घात में आत्मा के अन्वेषण की दशा में आत्मा से अतिरिक्त देह इन्द्रिय आदि सब को अग्राह्य समझा था उनका त्याग किया था उन त्यागे हुए देहादिकों को पुनः ग्राह्य रूप से स्वीकार करना मूर्खता ही है, (पुमान्) शब्द से ऐसे व्यक्ति का उपहार व्यङ्ग्य है कि स्वयं पुरुष होकर भली भाँति से विचार कर त्याग कर चुका है उसी का पुनः ग्रहण करना क्या पुरुषार्थ सिद्धि के अनुकूल है ! नहीं नहीं अत्यन्त मूर्खता ही है, छोड़ी हुई वस्तु दूर से देखी जा सकती है, समीप में उनका ग्रहण नहीं किया जाता पास में वह वस्तु नहीं रखी जाती, किसी अन्य व्यक्ति को तत्त्व का उपदेश करने के लिये यद्यपि अनुवाद रूप से उस ईश्वर वर्ग का ग्रहण सम्भावित है

परन्तु जहाँ पर उपदेशादि की सम्भावना के बिना ही ईश्वर वर्ग में सद्बुद्धि होती है वहाँ तो वह मूर्खता ही है क्योंकि जिस प्रकार से त्याग किया है अनित्य समझकर अग्राह्य कक्षा में समझा है, उसी प्रकार से नित्य समझकर ग्राह्य कक्षा में रखता है अतः मूर्ख ही है क्योंकि उसका विचार यथार्थ नहीं पूर्व में भली भाँति त्याग किया अब भली भाँति ही ग्रहण करता है ॥१८॥

प्रकृत श्लोक का ब्रह्मवाद की रीति से यह व्याख्यान गो. श्री विट्ठलनाथ प्रभु चरणों ने किया है, (आपने स्वव्यतिरेकतः) इस पद का (स्वव्यतिरेकं प्राप्य) ऐसा विवरण किया है, (तथा सर्वं वाक्यं सावधारणं भवति) (प्रत्येक वाक्य निश्चय के साथ होता है) इस मीमांसकसंमत विचार शैली के अनुसार (एव) पद का (प्राप्य) पद के साथ प्रयोग किया है, एवं (प्राप्य) इस पूर्वकालिक क्रिया का (सन्) पदार्थक देश सत्ता क्रिया से अन्वय किया है, (स्वव्यतिरेकतः) यह पद पञ्चमी विभक्ति के अर्थ का प्रतिपादन करने वाले (त) (तसित्) प्रत्यय के योग से —

श्री सुबोधिनी — ननु प्राकृतेष्वपि भगवत्सम्बन्धात् सत्त्वोत्पत्त्या तथाप्रतीतौ न दोष इत्यत आह सम्यगिति, “स यथा सैन्धवघनोनन्तरोबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरे अयमात्मानन्तरोबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघनः” “असङ्गो ह्ययं पुरुषः” “अथात आदेशो नेति नेती” त्यादिश्रुतिविचारदशायां त्यक्त प्राकृतधर्ममुपाददद् भवतीत्यर्थः, तैः सह सम्बन्धे सति हि तेषु सत्त्वोत्पत्तिसम्भावना तस्यैवाभावात् तदसम्भव इतिभावः, अथवा यः पुमानात्मनो द्रष्टुः स्वस्य ईश्वरेषु गुणेषु करपादादिषु भगवान् सन् वर्तमान इति व्यवस्यते सोऽबुधः, तत्र हेतुरस्वव्यतिरेकत इति, तेष्व्वात्मत्वेनाभिमततादभिन्नत्वादित्यर्थः, अव्ययान्तप्रयोगेणाविकृतत्वं सूच्यते करादिषु, शेषं पूर्ववत्, अतोऽस्मिन्नपि पक्षे कोऽपित्वयि प्राकृतो धर्मो नास्तीति वासुदेवो भवान् ॥१८॥

व्याख्यार्थ — सिद्ध हुआ है, (ल्यब्लोपेकर्मण्यधिकरणे च) इस व्याकरण के नियमानुसार (प्रसादमारुह्य प्रेक्षते) के स्थान पर (प्रासादात्प्रेक्षते) इस वाक्य की भाँति (स्वव्यतिरेकं प्राप्येव सन्) के स्थान पर (स्वव्यतिरेकतः सन्) यह वाक्य प्रयुक्त हुआ है, इस प्रक्रिया से यह वाक्यार्थ सिद्ध होता है कि आत्म स्वरूप भगवान् के ईश्वर गुणों में (भगवदिच्छा से ईष्टिगत होने वाले) केश रोम नख एवं रूप रस स्पर्श आदिकों में किसी एक भी गुण को जो ऐसा मानता है कि सच्चिदानन्द स्वरूप स्वयं भगवान् से व्यतिरेक (भेद) को प्राप्त करके ही यह सत्तावान् है, भगवान् से भिन्न होकर ही इसकी सत्ता है,

उस प्रकार का निश्चय करने वाला मूर्ख है, आशय यह है कि भगवान् के गुण धर्म आदि सब कुछ भगवत्स्वरूप ही है भिन्न नहीं, भिन्न मानने वाला मूढ़ सोचता है कि ब्रह्म तो एक रस है यदि उसके रूप आदिकों को सत्य माने तो किसी एक रूप के सत्य मानने पर विविध रूपता सिद्ध नहीं होगी, (समी नागेन समो मशकेन) यह श्रुति हाथी और मच्छर के समान आकार वाला ब्रह्म है ऐसा प्रतिपादन करती है, यदि हाथी के समान है तो मच्छर के समान नहीं हो सकता है, और यदि मच्छर के समान है तो हाथी के समान नहीं हो सकता है, अतः रूपादि की प्रतीति यथार्थ नहीं रूपादि गुण को ब्रह्म से भिन्न ही स्वीकार करना उचित है ऐसा जो निश्चय कर बैठता है वह मूर्ख है, वह यह नहीं समझ पाता कि धर्मों ब्रह्म ही यथाऽवसर उन उन धर्मों को प्रकट करता रहता है, उसके स्वरूपात्मक सब धर्मों नित्य सिद्ध है, सर्प कुण्डलाकार भी हो जाता है और सरलाकार भी हो जाता है उसके वह आकार न तो उससे भिन्न हैं और न मिथ्या ही है, यथावसर उन आकारों को प्रकट करता है उसी प्रकार ब्रह्म भी धर्मिग्राहक भान, से उसके स्वरूप का ज्ञान कराने वाले (उभय व्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्) ब्रह्म सूत्र तृ. अ. द्वि. पा. २७ सूत्र, इस न्याय से विविध रूपों को प्रकट करता रहता है, यह सिद्ध हो जाता है, शुद्ध ब्रह्म।

**श्लोकः—** त्वत्तोऽस्यजन्मस्थितिसंयमान् विभो वदन्त्यनीहादगुणादविक्रियात् ॥

त्वयीश्वरे ब्रह्मणि नो विरुध्यते त्वदाश्रयत्वादुपचर्यते गुणैः ॥१६॥

**मूलार्थ —** हे विभो! आप से इस जगत् के उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय होते हैं ऐसा प्रामाणिक लोग कहते हैं, आप तो कोई चेष्टा नहीं करते एवं गुण और विकारों से रहित हैं परन्तु समर्थ ब्रह्म में यह कुछ विरोध नहीं आता, गुण भी तो आपके ही आश्रित हैं, रज आदि गुण से उत्पत्ति आदि का होना उपचार मात्र है ॥१६॥

**श्री सुबोधिनी —** प्रद्युम्नरूपं भगवन्तं निरूपयति त्वत्तोस्येति, स हि जगत्कर्ता निरूपितः, स्मृतिर्हि तस्य श्रीः, स तस्यां प्रकृतिमुत्पादितवान्, न ततः काचित् पुरुषोत्पत्तिः, प्रकृतौ स्त्र्येव प्रधानभूता,

**व्याख्यार्थ —** उन उन रूपों को अभिव्यक्त करता है, इसी बात को कहते हैं कि 'विनानुवादम्' भगवत्स्वरूप वस्तु ही वैसा है, उसके आकार विशेष के दर्शन करने के अनन्तर भक्तों के द्वारा किया गया यह कथन ही अनुवाद है, कि यह श्री हस्त कमल है

और यह श्री चरण कमल है एवं यह श्री नयन कमल है, इस अनुवाद के बिना वह श्री हस्तकमलादि भगवत्स्वरूप के पृथक् सत्तात्मक रूप में मन के द्वारा भी विचारित नहीं होते, यहां पर यह शङ्का हो सकती है कि भगवत्सम्बन्धी पदार्थों को भी प्राकृत ही मान लिया जावे, केवल भगवत्सम्बन्ध होने के कारण उनको 'सत्' कहा जाता है क्योंकि उनमें सत्त्व की उत्पत्ति भगवत्सम्बन्ध से हुई है अतः प्राकृत पदार्थ ही सदरूप से प्रतीत होने लगते हैं ऐसा स्वीकार करने में कोई दोष नहीं होता उक्त शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि भगवत्तत्त्व श्रुति पाद्य है श्रुति विरुद्ध तर्क से उसके विषय में विचार करना मूर्खता है, भगवती श्रुति आज्ञा करती है कि— जैसे सैन्धवधन (जमा हुआ लवण) शीतर बाहर के भेद से रहित सर्वांश में लवण रस का एक पिण्ड है उसी प्रकार अरे जिज्ञासुगण यह आत्म स्वरूप भगवान् भीतर बाहर के भेद से रहित प्रज्ञान का सर्वांश में प्रकृष्ट<sup>+</sup> ज्ञान का मूर्तिमान् स्वरूप है, तथा 'यह पुरुष असङ्ग ही है' इसका किसी प्राकृत वस्तु से स्पर्श या सम्बन्ध नहीं, पुष्कर पलाश की भांति निर्लेप है, एवं ब्रह्म तत्त्व के विषय में 'अब इस कारण यह आदेश है कि इसको निषेध मुख से समझो कि वह तत्त्व प्रकृति के साम्राज्य में जो पदार्थ हैं उन सब से भिन्न है, इस प्रकार प्रतिपादन करने वाली श्रुतियों के विचार काल में प्राकृत धर्मों का सर्वथा त्याग किया गया है कि ब्रह्म में प्राकृत पदार्थ का गन्ध भी नहीं है उसी त्यागे हुए प्राकृत धर्म का स्वीकार करना कि ब्रह्म के सम्बन्ध से उसके प्राकृत गुणों में सद्वृत्ता आ जाती है सर्वथा अनुचित है, क्योंकि प्राकृत पदार्थों से सम्बन्ध होने पर ही उनमें सत्ता की उत्पत्ति का सम्भव है जब सम्बन्ध ही नहीं तब कैसे सत्ता प्रकट हो सकेंगे —

श्री सुबोधिनी — पुरुषस्तु गुणभूतः, तथा प्रकृत्या सृष्टिरिति प्रलया भवन्ति, सङ्कर्षणादुत्पन्नेनैव "सूत्र" नाम्ना तस्यामुत्पाद्यत इति जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलये परम्परया सन्निधिमात्रेण प्रद्युम्नस्योपयोगः, तन्मात्रेणैव लोकः प्रद्युम्नात् सृष्टिमाह न तु वासुदेववदपि ततः सृष्टिरस्ति, तदत्रानूद्यते, त्वत्तः प्रद्युम्नरूपाद् ।

व्याख्यार्थ — उक्त श्लोक में व्यवस्यति के स्थान पर 'व्यवस्यते' ऐसा पाठ भी सम्भव है, तदनुसार 'अस्वव्यतिरेकतः' ऐसा पदच्छेद भी अभीष्ट है, तब अथवा इस प्रकार भी व्याख्या हो सकती है कि जो पुरुष आत्मा देखने वाले स्वयं अपने इन्द्रिय सामर्थ्य से धृष्टिगत होने वाले भगवान् के कर चरणादि अंगों में भगवान् विद्यमान हैं उन अंगों को व्याप्त कर अभिमानों जीव की तरह स्थित हैं ऐसा निश्चय करता है वह मूर्ख है, क्योंकि 'अस्वव्यतिरेकतः' उन कर चरणादिकों में उसका व्यतिरेक (भेद) नहीं है जिसे आत्मा रूप से मान रखा है, जीव की भाँति वहां देह देही का भेद ही नहीं तो आभिमानिक सम्बन्ध भी असम्भावित है, वहां तो कर चरणादि उनके आत्मरूप ही हैं, जैसे आत्मा शुद्ध निर्विकार है उसी प्रकार आत्मा के (भगवान् के) कर चरणादि भी निर्विकार शुद्ध चिन्मय आनन्दघन हैं इस प्रकार को सूचना हमको अव्ययान्त प्रयोग से मिल रही है, (व्याकरण में तसिल् प्रत्यय की 'तद्धितश्चासर्व विभक्तिः' सूत्र से अव्यय संज्ञा हुई है, अव्यय में कोई भी परिवर्तन या विकार नहीं होता उसके प्रयोग से प्रकृत में भगवत्स्वरूप की शुद्ध एकरसता का बोध कराना अभीष्ट है, इस व्याख्यान में अन्य विवरण पूर्व व्याख्यान की भाँति ही जान लेना विशेष मात्र का निर्देश किया है अतः इस पक्ष में जो आप में (भगवान् में) कोई प्राकृत धर्म नहीं है इस कारण आप वासुदेव हैं ॥१८॥

व्याख्यार्थ — प्रत्यक्ष हुए जिस अद्भुत बालक का तांत्रिक प्रक्रिया से परब्रह्म होने के कारण वासुदेव रूप से निरूपण किया उसका इस श्लोक से ईश्वर और ब्रह्म होने के कारण प्रद्युम्न रूप से निरूपण करते हैं कि आप ही भगवान् प्रद्युम्न रूप भी हैं, पञ्चरात्र में प्रद्युम्न ने स्मृति को पैदा किया है, जो कि रजः सत्त्वतमोमयी है, उससे कोई पुरुष की उत्पत्ति नहीं होती प्रकृति में स्त्री की ही प्रधानता है पुरुष तो अप्रधान ही है, उस प्रकृति से सृष्टि, स्थिति और प्रलय होते हैं, सङ्कर्षण से उत्पन्न हुए 'सूत्र' नामक तत्त्व से उस प्रकृति में जगत्<sup>†</sup> उत्पन्न किया जाता है, इस प्रकार जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय में प्रद्युम्न का उपयोग परम्परा से समीप होने मात्र से ही है, इतने मात्र से ही लोग प्रद्युम्न से सृष्टि बतलाते हैं, किन्तु वासुदेव की भाँति प्रद्युम्न से सृष्टि

नहीं उस मत का यहां अनुवाद किया जाता है कि हे विभो! प्रद्युम्न रूप—आप से इस जगत् के उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय होते हैं ऐसा लोग कहते हैं —

**श्री सुबोधिनी:** — भगवतोऽस्य जगतो जन्मस्थितिसंयमानुत्पत्तिस्थितिप्रलयाल्लोका वदन्ति, तथा कथने हेतुर्विभो इति, समर्थत्वाद्, वदन्तीत्यर्थः नन्वस्तु तथैव को दोष इति चेत् तत्राहानीहादगुणादविक्रियादिति, यो हि चेष्टां करोति स एवोत्पादयति यस्तु महदैश्वर्यादि—गुणानवलम्बते स पालयति, पालनं ह्याज्ञायैवाविकृतादपि सम्भवति, यस्तु क्रोधादिविक्रिया प्राप्नोति स संहारको भवति, अयं च सत्त्वरजस्तमोगुणातीतः, अत एव नास्य कापि विक्रिया, अतः कूटस्थोऽयं निरीहः, तस्मादघटमानमेवालौकिकसामर्थ्यस्य विद्यमानत्वाल्लोको वदति, यद्ययं कर्तुमिच्छेत् तदा गुणानप्युत्पादयेदविकृतश्च भवेदुत्पत्त्यादिकमपि कुर्यात्, चिन्तामणिरिव वा स्वतः एव कुर्यात्, तर्हि विरोधेन्यतरपरित्यागस्योचितत्वात् ।

**व्याख्यानार्थ —** उनके इस प्रकार कहने का कारण आपकी विभुता है, सर्व समर्थता है, हे विभो! यह सम्बोधन पूर्वोक्त लोकोक्ति के कारण की सूचना करता है कि आप समर्थ हैं अतः लोग आपसे जगत् की उत्पत्ति आदि बतलाते हैं, शङ्का हो सकती है तो प्रद्युम्न से उत्पत्ति आदि क्यों न मानली जावे, उक्त विषय में उत्तर रूप में कहते हैं कि 'आप तो अनीह (चेष्टा रहित) गुण रहित एवं विकार रहित हैं' जो ही चेष्टा करता है वह ही उत्पादन करता है, जो महान् ऐश्वर्य आदि गुणों का अवलम्ब करता है वह पालन करता है, पालन तो आज्ञा मात्र से भी सम्पन्न हो सकता है उसके लिये विकार की आवश्यकता नहीं, देखा जाता है कि राजवर्ग आज्ञा मात्र से सर्व पालन सम्बन्धी शासन व्यवस्था करता रहता है परन्तु संहार तो क्रोध आदि विकार के बिना नहीं होता जो क्रोध आदि विकार को प्राप्त करता है वही संसार करता है, यह भगवान् प्रद्युम्न तो सत्त्व, रजः, तमः, इन तीनों गुणों का अतिक्रम कर गए हैं, इन गुणों से परवर्ती है इनके सर्वथा आधीन नहीं है, अतः इनको किसी भी विकार का सम्भव नहीं यह कूटस्थ है सर्वथा निष्क्रिय एवं अविचल स्थिर है, उक्त कारण से इनका जगत्कर्ता आदि होना सर्वथा नहीं घटता, परन्तु अलौकिक सामर्थ्य के होने से लोग कहते हैं, यदि यह जगत् की उत्पत्ति आदि करना चाहें तो गुणों को भी उत्पन्न कर दें और स्वयं विकारों से रहित भी रह जावे और उत्पत्ति आदि भी कर दें, अथवा जिस प्रकार चिन्तामणि किसी अन्य साधन के सहयोग के बिना ही अनेक पदार्थों की सृष्टि कर देता है उसी प्रकार यह

प्रद्युम्न भगवान् भी गुणादिकों की अपेक्षा न कर स्वतः सब कुछ कर सकते हैं, जब सामर्थ्य होते भी जगत् का निर्माण नहीं करते तो इनको अकर्ता ही क्यों न मान लिया जावे कर्ता मानने की क्या आवश्यकता है, विरोध होने पर किसी एक धर्म का परित्याग करना उचित ही है, यदि कर्ता मानना हो तो अकर्तृत्व का त्याग करना आवश्यक है, अकर्ता मानना हो तो कर्तृत्व का त्याग अपेक्षित है, क्योंकि विरोध होने पर किसी एक धर्म का त्याग करना ही पड़ता है।

**श्री सुबोधनीः** — 'दन्तरङ्ग.बहिरङ्ग.योरन्तरङ्ग. बलीय' इतिन्यायेनान्तरङ्ग.। एव स्वरूप धर्मा बलिष्ठा न तु लोकप्रतीतिर्बहिरङ्गे.ति भगवतो जगत्कर्तृत्वाभाव एवास्मिन् पक्षे मुख्यः सिद्धान्त इति युक्तमतो वासुदेवान्नकोपि विशेष इति चेत् तत्राह त्वयीश्वरे ब्रह्माणि नो विरुध्यत इति, विरोधे ह्येकतरपरित्याग उचित सर्वभवनसमर्थे ब्रह्माणि विरोधाभावान्नैवङ्क.ल्पनोचिता, किञ्च न केवलं भगवान् ब्रह्मरूप एव किन्त्वीश्वरोऽपि, ईश्वरत्वेन जगत्कर्तृत्वं ब्रह्मत्वेनाविकृतत्वं च द्वयमुपपद्यते, देशकालस्वरूपावस्थाभेदा अपि नापेक्ष्यन्ते ईश्वरत्वाद् ब्रह्मत्वाच्च, आज्ञाशक्तिरीश्वरेप्रतिहता सर्वभवनसामर्थ्यं च ब्रह्माणि, तस्माद् विरोधाभावान्नैकतरपरित्याग उचितः, किञ्च प्रतीत्यनुरोधेन हि विरोधः प्रतीतिस्त्वन्यथाऽपि व्याख्यातुं शक्या, न हीयं प्रतीतिः प्रत्यक्षा किन्तु शास्त्रीया, शब्दप्रयोगस्तु, गौण्यापि सम्भवति यथा 'सिंहो माणवक' इति, तथाधारभूतो भगवानेवेति निराश्रयस्य जगतोऽसम्भवादाधारत्वे सिद्धे तद्द्वारा कर्तृत्वमप्युपचर्यते,

**व्याख्यार्थ** — यदि लोक प्रतीति से कर्ता मानते हो और स्वरूपतः अकर्ता स्वीकार करते हों तो ऐसी दशा में स्वरूपगत अकर्तृत्व धर्म को ही बलिष्ठ मानना होगा क्योंकि यह अन्तरङ्ग. है भगवत्स्वरूप के अन्तर्गत है और कर्तृत्व तो लोक प्रतीति के आधार पर माना गया है अतः दुर्बल है क्योंकि लोक प्रतीति बहिरङ्ग. है, अन्तरङ्ग. और बहिरङ्ग. में अन्तरङ्ग. अधिक बलवान होता है इस लोकसिद्ध न्याय से अन्तरङ्ग. स्वरूप धर्मों की ही बलिष्ठता सिद्ध होती है बहिरङ्ग. लोक प्रतीति दुर्बल पड जाती हैं, अतः इस पक्ष में यह ही सिद्धान्त होना उचित है कि भगवान् कर्ता नहीं है, अतः वासुदेव की अपेक्षा प्रद्युम्न की कोई विलक्षणता सिद्ध नहीं होती ऐसी शङ्का में वासुदेव से प्रद्युम्न की विलक्षणता बतलाने की उक्त विषय में कर्तृत्व और अकर्तृत्व इन दोनों धर्मों के परस्पर में अविरोध होने के कारण कहते हैं कि (त्वयीश्वरे) इत्यादि, यदि विरोध हो तब तो दोनों में से किसी एक का परित्याग उचित है परन्तु जब ब्रह्म की यह स्वाभाविकता है कि



वह सब कुछ हो सकता है उसमें किसी भी विरोध को अवकाश ही नहीं तो किसी एक धर्म के परित्याग करने की कल्पना उचित नहीं, अकर्तृत्व और कर्तृत्व यह दोनों धर्म ब्रह्म के स्वरूप में अविरुद्ध हैं, अन्य कारण यह भी है कि भगवान् ब्रह्म ही नहीं ईश्वर भी है, ईश्वर होने के कारण जगत्कर्त्ता है ब्रह्म होने से सर्व विकार रहित है, अतः जगत्कर्तृता और निर्विकारता दोनों ही युक्त हैं, भगवान् को लौकिक कर्त्ता की भांति किसी देश या काल की अपेक्षा नहीं, और न उन्हें स्वरूप की अवस्थाओं का भेद ही अपेक्षित है, अतः सर्वथा निर्विकार ही रहते हैं, और जगत् का सर्जन भी करते रहते हैं, जगद्रूप भी होते हैं, क्योंकि वह ईश्वर हैं, और ब्रह्म हैं, ईश्वर में आज्ञा शक्ति अकुण्ठित रहती है, उनको स्वयं कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती उनके आदेश मात्र से सर्व व्यवस्था सम्पन्न होती रहती है, तथा ब्रह्म में सब कुछ हो जाने की शक्ति है, अतः किसी प्रकार के विरोध की सम्भावना ही नहीं है तब कर्तृत्व और अकर्तृत्व धर्मों में किसी एक के त्याग की चर्चा अनुचित है, ब्रह्म के विषय में अविरोध प्रतिपादन करने की एक प्रक्रिया यह भी है कि —

**श्री सुबोधिनी** — वस्तुतस्तु गुणा एव कर्तारोऽत एव साङ्ख्यादयः प्रकृतेरेव कर्तृत्वं वदन्ति, गुणानामप्ययमाश्रय इति कार्यकारणाधारभूतत्वादभिमानभावेऽपि लोकदृष्ट्या कर्तृत्वकथनमुपपद्यते, एव जगतोमायिकत्वं भगवतोऽकर्तृत्वं कर्तृत्वमुभय चेति वासुदेवाद् वैलक्षण्येन प्रद्युम्नो निरूपितः, इदमाध्यात्मिकत्वेनोत्पत्तिस्थितिप्रलयात्मकत्वमुक्तम् ॥१६॥

**व्याख्यार्थ** — विरोध तो प्रतीति के अनुरोध तो प्रतीति के अनुरोध से होता है, कि प्रतीति की व्याख्या अन्य प्रकार से हो सके तो विरोध नहीं रह पाता, ब्रह्म कर्त्ता है या अकर्त्ता है वह अनीह, अगुण, अविकार है या नहीं इत्यादि प्रतीति प्रत्यक्षप्रमाणजन्य तो है नहीं, शास्त्रों में ब्रह्म की कर्त्ता भी कहा है अकर्त्ता भी कहा है, अनीह आदि भी कहा है, शास्त्र शब्दात्मक है और शब्द का प्रयोग मुख्य अर्थ को लेकर ही होता हो ऐसी बात नहीं है वह किसी गुण कृत साम्य से भी होता है, जैसे (सिंहोमाणवकः) इस वाक्य में बालक को सिंह कहा है परन्तु सिंह शब्द के मुख अर्थ पशु विशेष को लेकर नहीं, उसके पराक्रम आदि गुण कृत साम्य को लेकर उस बालक को सिंह कह दिया है उसी प्रकार ब्रह्म की कर्तृता भी औपचारिक है मुख्य नहीं मुख्य तो अकर्तृताही है अतः विरोध नहीं, यदि कर्तृत्व, और अकर्तृत्व दोनों वास्तविक हो तब तो विरोध की आशङ्का हो

सकती है किसी एक को अवास्तविक मानने पर विरोध नहीं रह पाता, भगवान् सर्वाधार है बिना आधार के जगत् का सम्भव नहीं, अतः भगवान् की जगदाधारता सिद्ध हो जाती है, उसी आधारता को लेकर उन्हें कर्ता कह दिया है वास्तव में तो गुण ही कर्ता हैं अतएव सांख्य वालों ने प्रकृति को ही कर्तृत्व स्वीकार किया है, गुणों के भी भगवान् ही आश्रय हैं, जगत् रूपी कार्य और उसके कारण रूप गुणों के भी आश्रय होने से ब्रह्म को जगत् का कर्ता कह देना सङ्गत हैं, यद्यपि कर्ता पने का अभिमान ब्रह्म में सम्भव नहीं तो भी लोक दृष्टि से उसकी कर्तृता युक्त ही है, इस श्लोक में जगत् की अमायिकता है तथा भगवान् की अकर्तृता और कर्तृता दोनों ही हैं ऐसा निर्देश कर वासुदेव की अपेक्षा विलक्षणता से प्रद्युम्न का निरूपण किया है क्योंकि वासुदेव के निरूपण में जगत् की मायिकता और भगवान् की सर्वथा साक्षिरूपता या केवल प्रेरकता का ही निरूपण किया है, प्रद्युम्न में जो प्रकृति के उत्पादन द्वारा उत्पत्ति स्थिति प्रलय रूपता का जो निरूपण किया है वह आध्यात्मिक (उपादान) रूप से किया है ॥१९॥<sup>+</sup>

श्लोक: — स त्वं त्रिलोकस्थितये स्वमायया बिभिर्षि शुक्लं खलु वर्णमात्मनः ॥

सर्गाय रक्तं रजसोपबृंहितं कृष्णं च वर्णं तमसा जनात्यये ॥२०॥

मूलार्थ — त्रिलोकी की स्थिति के लिये आप अपनी माया से अपने शुक्ल वर्ण रूप सत्वरूप को धारण करते हैं, सृष्टि के लिये रजोगुण के पुष्ट हुए रक्त वर्ण को धारण करते हैं एवं तमोगुण से पुष्ट हुए, कृष्ण वर्ण को लोक प्रलय के निमित्त धारण करते हैं ॥२०॥

श्री सुबोधिनी — आधिदैविकत्वेनानिरुद्धं तथा<sup>१</sup> भूतमुपपादयति सत्त्वमिति, तथा पिता कृषीवलादिर्वा पुत्रान्नादेरुत्पादको यथा वा ब्रह्मादयो वृष्टिद्वारेन्द्रादेस्ते गुणावतारा उच्यन्ते,

टिप्पण — <sup>+</sup> उक्त श्लोक में ब्रह्म के अनीह अगुण आदि होते हुए भी कर्ता होने में विरोध न होने का कारण उसकी ईश्वरता और ब्रह्मता बतलाई है, तथा ब्रह्म के प्रति कर्तृ शब्द का प्रयोग औपचारिक है अतः उसकी कर्तृता प्रमाणिक नहीं ऐसा भी सिद्ध किया है, वास्तव में तो 'कर्ताकारयिता हरि' यह ही सिद्धान्त है, श्री हरि का कर्तृत्व ही गुणों में उपचरित है क्योंकि गुणों के भी आश्रय श्री हरि ही है, ऐसा प्रतिपादन टिप्पणीकार ने किया है। तन्त्र मतानुसारी होने सिद्धान्त में कोई विरोध नहीं।

टिप्पण — <sup>१</sup> वासुदेव तटस्थ है केवल प्रेरणा मात्र के कारण है, प्रद्युम्न उपादान रूप से कारण है, और अनिरुद्ध तो पिता की भांति अश विशेष से उत्पादन भी हैं और किसान तथा इन्द्र एवं ब्रह्मादि की भांति अनेक प्रकार के व्यापार से उस कार्य में सहायक भी हैं, यह इनकी विलक्षणता है,

ताऽशस्त्वनिरुद्धः, तत्र ब्रह्मविष्णुशिवानामेव प्रत्येकगुणैरुत्पत्त्यादिनियामकत्वं न त्वनिरुद्धस्ये-  
त्याशङ्क्य तस्यैव त्रितयमाह, त्रिलोकस्थितये स्वमायया शान्त्या सत्त्वं विभर्षि, तस्य सत्त्वस्य  
स्वरूपमाहात्मनः शुक्ल वर्णमिति, खल्विति, प्रसिद्धः “कृते शुक्लं चतुर्बाहु” रित्यादिवाक्यादुपाधि-  
कालरूपाण्येवास्मिन् पक्षे भगवद्रूपाणि, तदर्थं गुणान् वदन् रूपाणि वदति, सर्गाय रक्तरूप  
विभर्षीतिसम्बन्धः,

**व्याख्यार्थ** — उक्त श्लोक में आधी दैविक रूप से भगवान् अनिरुद्ध का जगत्कर्त्ता होना सिद्ध किया है, जिस प्रकार पिता पुत्रादि का उत्पादक होता है या कृषीवल खेती करने वाला किसान अन्नआदि का उत्पादक होता है, एवं वर्षा के द्वारा इन्द्र आदि देवता सम्यादि सृष्टि के प्रयोजक होते हैं, अथवा गुणावतार रूप ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, जगत् के उत्पत्ति, स्थिति संहार के प्रयोजक होते हैं, उस प्रकार का स्वरूप भगवान् अनिरुद्ध का है, उक्त विषय में आशङ्का हो सकती है कि ब्रह्मा विष्णु और शिव को ही रज आदि का एक एक गुण के द्वारा उत्पत्ति आदि का नियामक माना गया है अनिरुद्ध को तो उस प्रकार नहीं कहा गया है ऐसी आशङ्का कर समाधान करते हैं कि अनिरुद्ध की ही उत्पत्ति, स्थिति, संहार इन तीनों में नियामकता है अर्थात् ब्रह्मा विष्णु शिव यह तीनों प्रकारान्तर से अनिरुद्ध के ही रूपान्तर हैं ऐसा कहते हैं, त्रिलोकी की रक्षा के लिये आप अपनी शान्ति नामक माया से सत्त्वगुण को धारण करते हो उसे पोषण देते हो उस सत्त्वगुण का स्वरूप आपका अपना शुक्ल वर्ण है, ऐसी प्रसिद्धि है, सत्य युग में शुक्लवर्ण एवं चतुर्भुज रूप कहा है, तदनुसार सत्त्व आदि गुणों को लेकर जो भगवान् के शुक्ल आदि वर्ण बतलाये हैं वह उन गुणों के उपाधिभूत काल के रूप हैं, उन्हें ही इस पक्ष में भगवद्रूप कहा है, उसी के लिये गुणों को कहते हुए रूपों का निरूपण करते हैं कि सृष्टि के लिये रक्त वर्ण को धारण करते हैं, वह रूप आपका स्वाभाविक नहीं है किन्तु रजोगुण से अभिवृद्ध हुआ आगन्तुक है, उसी प्रकार कृष्ण वर्ण को लोकों के नाश के निमित्त धारण करते हो, इस प्रकार पूर्वार्ध के (विभर्षि) इस क्रिया पद से सम्बन्ध कर वाक्यार्थ सिद्ध होता है ॥२०॥

श्लोकः— त्वमस्य लोकस्य विभो रिरक्षिषुगृहेवतीर्णोऽसि ममाखिलेश्वर ।।

राजन्यसंज्ञासुरकोटियूथपैर्निर्व्यूह्यमाना निहनिष्यसे चमूः ।।२१।।

मूलार्थ — हे विभो! आप इस लोक की रक्षा करने के इच्छुक हैं, हे अखिलेश्वर मेरे गृह में प्रकट हुए हो, राजनामधारी असुरों की कोटियों के यूथपतिओं द्वारा प्रेरित हुई सेनाओं का आप वध करेंगे ।।२१।।

श्री सुबोधिनी — तस्य रूपस्य सहजत्वाभावायाह रजसोपबृंहितमिति, तथैव कृष्णं वर्ण जनानामत्यये नाशार्थं बिभर्षीतिसम्बन्धः ।।२०।।

सङ्कर्षणात्मकमाह त्वमस्येति, अस्य लोकस्य रिरक्षिषू रक्षितुमिच्छुः सन् मे गृहेऽवतीर्णोऽसि, अवश्यरक्षायां हेतुरखिलेश्वरेति, विभुरिति, सामर्थ्यं, इदं सङ्कर्षणकार्यं देवान् प्रति तद्वे षिदैत्यवधादेव न तु सर्वनाशकत्वेन, अतो देवांशो जगतो रक्षक एक दैत्यानामेव निवारकः, तदाह राजन्यसंज्ञेति, राजन्या राजान इतिसंज्ञामात्रं वस्तुतस्त्वसुरा एव, तेषां कोटयः सेनारूपास्तासा यूथपा महान्तः कंसादयस्तैर्नितरां व्यूह्यमाना परिपाल्यमाना प्रेर्यमाणा वा चमूर्निहनिष्यसे नितरां मारयिष्यसे, अतो रक्षार्थमेव दैत्यवधः, भगवत्सान्निध्यात् सर्वज्ञता तस्य, “यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती” तयार्थज्ञान वा ।।२१।।

व्याख्यार्थ — इस श्लोक में भगवान् का सङ्कर्षण रूप कहा है, कि हे विभो! आप इस लोक की रक्षा की इच्छा रखते हुए मेरे गृह में प्रकट हुए हो, रक्षा करना आपका आवश्यक कर्तव्य है क्योंकि आप अखिलेश्वर हैं, समस्त जगत् के स्वामी हैं, एवं विभु सर्वथा समर्थ भी हैं, यह लोक रक्षात्मक सङ्कर्षण कार्य देवताओं के प्रति उनके द्वेषि दैत्यो के नाश करने से हो सिद्ध होता है, सर्व नाश करने से नहीं, अतः देवांश सङ्कर्षण सर्वथा सहायक ही हो यह बात नहीं वह तो जगत् के रक्षक ही हैं केवल दैत्यों का निवारण करते रहते हैं, उक्त तथ्य को कहते हैं कि आप राजा कहलाने वाले असुरों की सेनाओं के यूथपति कंस आदिकों से अत्यन्त सुरक्षित एवं उत्तेजित सेनाओं का निःशेष रूप से वध करेंगे, अतः आपके द्वारा सम्पन्न हुआ दैत्य वध लोक रक्षा के लिये ही सिद्ध होता है, इस प्रकार भविष्य का निर्देश वसुदेवजी की सर्वज्ञता का सूचक है जो कि

टिप्पण — उक्त शब्द नाम धातु प्रक्रिया से कर्म में प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है सेनापति अपनी सेना की रक्षा एवं उसकी युद्धार्थ प्रेरणा के अनुकूल ही व्यूह रचना करता है अतः ‘व्यूह’ शब्द मूलक ‘नि’ उपसर्ग पूर्वक इस नाम धातु के प्रयोग का पालन या प्रेरण रूप से व्याख्यान सर्वथा उत्पन्न है।

उन्हें भगवान् के सन्निधान से प्राप्त हुई है, अथवा श्रुति कहती है कि ब्रह्म के विदित हो जाने पर सब कुछ विदित हो जाता है, इस कारण इनका यह ज्ञान ऋषियों की भांति भगवत्तत्त्व के ज्ञान से भी हो सकता है ॥२१॥

**श्लोकः — अयं त्वसभ्यस्तव जन्म नो गृहे श्रुत्वाग्रजास्ते न्यवधीत् सुरेश्वर ॥**

**स तेऽवतारं पुरुषैः समर्पितं श्रुत्वाधुनैवाभिसरत्युदायुधः ॥२२॥**

**मूलार्थ —** हे सुरेश्वर! इस असभ्य कंस ने तो हमारे गृह में आपका जन्म होगा ऐसा सुनकर आपके ज्येष्ठ भ्राताओं का वध किया है, वह दुष्ट अपने प्रहरी पुरुषों द्वारा विदित किये गये आपके अवतार को सुनकर शस्त्रों को उठाये हुए अभी आता ही है ॥२२॥

**श्री सुबोधिनी —** एवमपि ज्ञाते भयं न निवृत्तमिति लौकिकस्य बलिष्ठत्वज्ञापनाय भयाद् भगवन्तं विज्ञापयत्ययं त्वसभ्य इति, तुशब्दः पूर्वार्थं स्तुतिलक्षणं व्यावर्तयति, भगवानवतीर्ण इति सतामेव सुखं भवति न त्वसतां, अयं त्वसभ्य इममर्थमज्ञाप्यः, अत एव तव जन्म नो गृहे श्रुत्वा तेऽग्रजान् मम षट् पुत्रान् न्यवधीत्, सुराणामीश्वरेतिसम्बोधनं पक्षपातार्थं, तर्हि किमधुना कर्तव्यमिति चेत् तत्राह स एव क्रूरात्मा कंसो रक्षकैः पुरुषैस्तेऽवतारं निवेदितं श्रुत्वोदायुधः सन्नधुनैव निकट एवाभिसरत्यागच्छति, 'वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद् वेति वर्तमान प्रयोगः, ईश्वरे निवेदनमात्रं सेवककार्यं कर्तव्यं तु प्रभुरेव जानातीत्यस्य तूष्णीम्भावः, अभिप्रायस्तु यदीदानीं मारणीयस्तदा स्थातव्यं नो चेदन्यत्र गन्तव्यमिति, इदानीं मारणे गुप्ततया गोकुलवासिभिः सह क्रीडोद्धारादिकं न भविष्यतीति तत् कृत्वा पश्चान्मारण, अतः पितुरभिप्रायादन्यत्र गतवानिति लक्ष्यते ॥२२॥

**व्याख्यार्थ —** ऐसा ज्ञान होने पर भी वसुदेवजी का भय निवृत्त नहीं हुआ इसलिये लौकिक की प्रबलता के सूचनार्थ 'अयन्तु आदि श्लोक द्वारा भय से भगवान् के प्रति विज्ञापना करते हैं, उक्त श्लोक में (तु) शब्द स्तुति की व्यावृत्ति का द्योतक है कि अब स्तुति समाप्त हुई पूर्व में जो कहा गया है वह स्तुति पदार्थ है उसकी समाप्ति कर अब एक श्लोक से प्रार्थना करते हैं, वसुदेवजी कहते हैं कि यह कस तो असभ्य है, भगवान् प्रकट हुए हैं ऐसा जानकर साधु पुरुषों को ही सुख होता है दुष्टों को नहीं, अतः इससे इस प्रसङ्ग को कहना सर्वथा अयोग्य है, असभ्य होने के कारण ही इसने आपके जन्म को हमारे गृह में सुनकर आपके ज्येष्ठ भ्राता मेरे षट् (६) पुत्रों को मारा है, उक्त श्लोक में (सुरेश्वर) यह सम्बोधन अमृत मन्थन आदि प्रसङ्गों पर देवताओं के पक्षपात को स्मृति

दिलाता हुए भक्त पक्षपात का सङ्केत करता है, इस समय क्या करना चाहिये इस प्रश्न के विषय में वसुदेवजी कहते हैं कि वह हत्या प्रिय कंस प्रहरी लोगों से सूचित हुए आपके अवतार को सुनकर शस्त्रों को उठाये हुए अब ही निकट भविष्य में आ ही रहा है, वर्तमान के समीप होने पर भी वर्तमान जैसा व्यवहार होता है अतः अभिसरति यह वर्तमान का प्रयोग सङ्गत है, ईश्वर के प्रति प्रार्थना मात्र ही सेवका का कार्य है, कर्त्तव्य विषय का ज्ञान तो प्रभु को ही है, अतः वसुदेवजी मौन हो गये, वसुदेवजी का अभिप्राय तो यह है कि यदि इसी समय मारना हो तो यहां विराजे अन्यथा अन्यत्र पधारें, भगवान् ने विचार किया कि अभी मारने में तो गुप्त रूप से जो ब्रजवासियों के साथ लीला अपेक्षित है वह नहीं होगी एवं और भी लोगों का उद्धार आदि न हो पावेगा अतः उस कार्य को करने के अनन्तर ही कंस का वध उचित है अतः पिता श्री वसुदेवजी के अभिप्राय से अन्यत्र पधारे ऐसा तात्पर्यतः विदित होता है ॥२२॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — अथैनमात्मजं वीक्ष्य महापुरुषलक्षणम् ॥

देवकी तमुपाधावत् कंसाद् भीता सुविस्मिता ॥२३॥

मूलार्थ — श्री शुकदेवजी ने कहा इसके अनन्तर इस पुत्र को महापुरुष के लक्षणों से सम्पन्न देखकर कंस से भीत हुई देवकी उस पुत्र रूप भगवान् की शरणागत हो गई, उस दशा में वह आश्चर्य रसान्वित थी अथवा पवित्र मृदुहास से सुशोभित थी ॥२३॥

श्री सुबोधिनी — तूष्णीं स्थिते वसुदेवे देवकी रूपोपसहार कंसस्य भगवज्जन्माज्ञानं च प्रार्थयितुं प्रथमतः स्तौतीत्याहाथैनमिति, स्वस्यैवायं पुत्र इति ज्ञातवती, तथा बुद्धेरुत्पादितत्वात्, परं स पुत्रश्चतुर्भुजादिलक्षणैर्लोकप्रसिद्धैर्भगवत्तुल्योऽयमिति ज्ञात्वा स्वबुद्ध्या स्मृतिपुराणेषु प्रसिद्ध भगवत्स्वरूपं प्रकृतेऽनुवर्णनीयमिति तदर्थमाह, महापुरुषस्य पुरुषोत्तमस्य लक्षणानि यत्र तं भगवन्तमुपाधावच्छरणं गता, स्तुत्वैव शरणं गमिष्यति, भगवन्निमित्तमेव कंसाद् भीता, तर्हि भगवत्स्वरूपज्ञानाद् भयमेव कथं न निवर्तयतीत्याशङ्कयाह सुविष्मितेति, आश्चर्यरस एव तस्या उत्पन्नो न तु निर्धारितं ज्ञानं जातं येन भयं निवर्ततेत्यर्थः, शुचिष्मितेतिपाठे भगवत्स्तोत्रज्ञानार्थं तस्याः पातिव्रत्यादिधर्मो निरूपितः, अथेति भिन्न प्रक्रमे न तु वेदादिप्रकारेण, अन्यथा पौनरुक्त्यं स्यात् ॥२३॥

व्याख्यानार्थ — वसुदेवजी के मौन हो जाने पर श्री देवकी भगवान् से उनके रूप के छुपा लेने की एवं कंस को उनके जन्म के ज्ञान न होने की प्रार्थना करने के लिये प्रथम स्तुति करती है, ऐसा (अथैनम्) इस श्लोक द्वारा शुकदेवजी कहते हैं, श्रीदेवकी ने उस अद्भुत बालक को 'यह मेरा अपना ही पुत्र है, ऐसा समझा क्योंकि भगवान् ने उस प्रकार ही उनकी बुद्धि उत्पन्न कर दी थी, परन्तु वह पुत्र लोक<sup>१</sup> प्रसिद्ध चतुर्भुज आदि लक्षणों से समान है ऐसा जानकर अपनी बुद्धि से स्मृति और पुराणों में भगवान् का स्वरूप जैसा प्रसिद्ध है वैसा इस अवसर पर वर्णन करना आवश्यक है अतः देवकी द्वारा वैसे वर्णन करने के लिए 'महापुरुष लक्षणम्' इस विशेषण का प्रयोग शुकदेवजी ने किया है, महापुरुष श्री पुरुषोत्तम के लक्षण जिस बालक में हैं, उस अद्भुत बालक भगवान् के निमित्त से ही कंस से भीत (डरी हुई) हैं, शङ्का हो सकती है कि तब महापुरुष लक्षणों से भगवत्स्वरूप के ज्ञान द्वारा देवकी ने भय को क्यों नहीं निकाल दिया उसके विषय में कहते हैं कि देवकी 'सुविस्मिता' थी उनको आश्चर्य रस ही उत्पन्न हुआ, निश्चयात्मक ज्ञान नहीं हुआ, जिससे भय निवृत्त होना 'शुचिस्मिता' ऐसा पाठ भी सम्मत है, तदनुसार भगवान् की स्तुति के उपयोगी ज्ञान प्राप्त करने की योग्यता के प्रयोजक देवकी के पातिव्रत्य आदि धर्म का निरूपण हुआ है 'ऐसा जानना', उक्त श्लोक के प्रारम्भ में ही 'अथ' शब्द इस प्रसङ्ग की पूर्व प्रसङ्ग से विभिन्न शैली की सूचना देता है कि वसुदेवजी ने वेद और तन्त्र के प्रकार से स्तुति की थी, और देवकीजी उससे भिन्न पुराणोक्त दिशा से स्तुति करेंगी, अन्यथा वसुदेवजी के प्रकार से स्तुति करने में तो पुनरुक्ति दोष का संभव है ॥२३॥

### ॥ श्री देवक्युवाच ॥

श्लोक: — रूपं यत् तत् प्राहुरव्यक्तमाद्यं ब्रह्म ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारम् ॥

सत्तामात्रं निर्विशेषं निरीहं स त्वं साक्षाद् विष्णुरध्यात्मदीपः ॥२४॥

टिप्पण — <sup>१</sup> लेखकार ने 'निर्वर्तयति' इस क्रिया का कर्ता भगवान् को जतलाया है।

<sup>२</sup> लोक में भगवान् का स्वरूप 'चतुर्भुज' आदि रूप से प्रसिद्ध है।

**मूलार्थ** — श्री देवकी ने कहा कि जिसे अव्यक्त, आद्य, ब्रह्म, ज्योति, निर्गुण, निर्विकार एव सत्ता मात्र, निर्विशेष, निरीह कहा है (वह आधिदैविक रूप से यह ही है जिसे मैं देख रही हूँ) जो अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाला है वह सर्वोपास्य विष्णु आपही हैं ॥२४॥

**श्री सुबोधिनी** — शरणं गता देवक्यष्टभिः स्तोत्रमाह, आधिदैविकमाध्यात्मिकमाधिभौतिकमिति भगवतो रूपत्रयमादौ निरूप्य शरणागमने हेतुं चोक्त्वा प्रकृते रक्षां भगवत्स्वरूपाज्ञानं द्वयं प्रार्थयते, इदानीं मारणे युद्धार्थं प्रवृत्तावेव पूर्वज्ञानसंश्लेषात् प्राणा न स्थास्यन्ति, अतस्तेन प्रकारेण रक्षा न कर्तव्या, प्रकारान्तरेण रक्षा प्रार्थयन्त्यज्ञानमपि प्रार्थयते, अन्यथा प्रथम पक्ष एव न स्यात्, (न सिद्धयेत्) रूपोपसंहारं च प्रार्थयते, सर्वाधिक्ये सर्वद्वेषसम्भवात्, सर्वमारणं चाशक्यं, अलौकिके च शीघ्रमुपसंहारश्च स्यात्, अतः केवल स्थार्थमुपसंहारः, प्रार्थनाद्वयं तु प्रकृतोपयोगि, एवं प्रार्थनात्रयं स्वस्य गर्वाभावार्थं, इदं न जननरूप किन्तु नटवदनुकरणरूपमिति भगवदवतारं निरूपयति ।

**व्याख्यार्थ** — शरणागत देवकी आठ श्लोकों से स्तुति कह रही हैं, प्रारम्भ में भगवान् के आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, इन तीनों रूपों का तीन श्लोकों द्वारा निरूपण कर चतुर्थ श्लोक से शरणागति में कारण का उल्लेख कर पञ्चम श्लोक से उपस्थित परिस्थिति में रक्षा, एवं सर्व साधारण को भगवत्स्वरूप का ज्ञान न हो, यह दो प्रार्थना करती है, षष्ठ श्लोक में इस अभिप्राय से की अभी कंस के मारने में तो उसके साथ आपके युद्ध के लिये प्रवृत्त होते ही मेरे प्राण नहीं रहेंगे क्योंकि पूर्व में मैं जिस भयङ्कर ईश्वर को देख चुकी हूँ वैसा ही ईश्वर (शस्त्रों का उठाये कंस का आना) देखने में आयेगा, यद्यपि युद्ध में आप ही उसे मारेंगे फिर भी मेरे षट् (६) पुत्रों का हत्यारा शस्त्र धारी क्रूर कंस मेरे सम्मुख उपस्थित होगा इतने मात्र से ही मेरे प्राण नहीं ठहर सकते हृदय इतना दुर्बल पड़ गया है, अतः उस प्रकार से रक्षा न कीजिये, आपका अभी युद्ध मैं उसे मारकर हम लोगों की रक्षा करना मुझे अभीष्ट नहीं, किसी अन्य प्रकार से रक्षा अभीष्ट है, अभी तो आपके जन्म का ज्ञान भी उसे नहीं होना चाहिये, ऐसी प्रार्थना करती है, क्योंकि यदि आपके जन्म का ज्ञान उसे हो जावेगा तो भी हम लोगों के प्रथम पक्ष की ही संभावना है अर्थात् प्राणों की स्थिति नहीं रहेगी, (रक्षा सिद्ध नहीं होगी) सप्तम श्लोक से चतुर्भुज रूप के छुपा लेने को प्रार्थना करती है, सम्भव है सर्व साधारण लोग आपसे द्वेष करने लगें क्योंकि ऐसा अद्भुत रूप किसी का भी नहीं है अतः



सब से अधिकता होने पर द्वेष ईर्ष्या आदि का सर्व साधारण में उद्गम होना सम्भावित है, और सब का ही संहार कर देना भी अशक्य है क्योंकि तब तो कोई भी न रहेगा तो आदान प्रदानादि व्यवहार शून्य जीवन भी व्यर्थ ही सिद्ध होगा, अतः सब को मार देना भी नहीं बनेगा, अतः इस रूप को ही तिरोहित कर लेना उचित है, दूसरी बात यह भी है कि इस अलौकिक रूप में शीघ्र ही उपसंहार की संभावना है।

**कारिका —** रूपत्रयं तथा हेतुः प्रार्थनात्रितयं तथा ।

नटत्वमिति विज्ञानं स्वस्य याँक् तथोदितम् ॥१॥

**सुबोधिनी —** अदौ भगवानाधिदैविक इति वदन्ती स्वाभिज्ञानप्रमाणे प्रसिद्ध्या निरूपयति, इदं रूपं तदेव यत् सर्वैराधिदैविकत्वेनोच्यते, द्वयमन्यल्लोकसिद्धं, अलौकिकं त्वाधिदैविकमेव, अन्यथा प्रमाणानामनुवादकत्वं स्यात्, अत इदं रूपं तदेव, किं तदित्याकाङ्क्षायामाह तत् यत् प्राहुरिति, यत्तदोरानुपूर्व्येण निरूपणमाकाङ्क्षावैपरीत्येपि स्वानुभवदार्ढ्यार्थं, नन्वाधिदैविकमेतद् भवितुं नार्हति वैलक्षण्यादित्याशङ्क्य वैलक्षण्यहेतुभूतान् धर्मानत्रैव साधयत्यव्यक्तमित्यादिनवभिः पदैः, नवधा हि जगत्, तद्विलक्षणं ब्रह्म नवधा निरूप्यते,

**व्याख्यार्थ —** अधिक समय तक इस अद्भुत रूप से सर्व साधारण जनता में विराजना सम्भावित नहीं, अतः चिरकाल तक आपके विराजमान रहने के केवल अपने स्वार्थ को लेकर रूप के उपसंहार की प्रार्थना है, अवशिष्ट दो प्रार्थनायें तो प्रस्तुत में उपयोगी हैं हीं, इस प्रकार तीन प्रार्थना को हैं, अष्टम श्लोक से श्री देवकी अपने गर्व के न होने की सूचना करती हुई यह निरूपण करती है कि आपका अवतार तो नट की भांति अनुकरण मात्र की है, माता के आधीन होकर गर्भ में रहना और सर्व साधारण की भांति जन्म ग्रहण करना नहीं है।

**कारिकार्थ —** आधिदैविक आदि तीन रूप और शरणगति का कारण, तथा रक्षा, भगवत्स्वरूप का तथा उनके जन्म का ज्ञान न होना, और रूप का उपसंहार (तिरोभाव) करना, यह तीन प्रार्थना एवं नट की भांति भगवान् का जन्म अनुकरण मात्र है, ऐसा श्री देवकी ने अपने अनुभव के अनुसार कहा है।

**व्याख्यार्थ —** श्रीदेवकी स्तुति के प्रारम्भ में भगवान् को आधिदैविक बतलाती हुई अपने भगवद्विषयक ज्ञान और उस में प्रमाण इन दोनों का प्रसिद्धि के साथ निरूपण करती है, कि यह प्रत्यक्ष सम्मुख दृष्टिगत होने वाला रूप वह ही है जिसे सब लोग

आधिदैविक कहते हैं, आधिभौतिक व आध्यात्मिक यह अन्य दो रूप तो लोक सिद्ध हैं, अलौकिक रूप तो आधिदैविक ही है, यदि आधिदैविक रूप भी लोकसिद्ध हो तब तो उसका ज्ञान लोकतः प्राप्त है अतः उसके ज्ञापक वचनों को अनुवाद ही मानना होगा प्रमाण नहीं, अतः श्री देवकी का कहना है यह रूप वह ही है, वह क्या है ऐसी आकाङ्क्षा (जिज्ञासा) होने पर कहती है कि यह वह है जिसे कहते हैं, अर्थात् सर्व शास्त्रों में जिसे परम तत्त्व मूलरूप कहा है वह ही यह साकार आधिदैविक तत्त्व है, श्री देवकी ने अपनी इस उक्ति में अपने अनुभव की ठंडता बतलाने के लिये (यत्) शब्द के अनन्तर ही (तद्) शब्द का प्रयोग कर दिया है यद्यपि (यत् प्राहुस्तद् रूपम्) इस प्रकार का शब्द विन्यास अपेक्षित था, अपने ज्ञान की प्रामाणिकता के निरूपण करने के लिये (यत्) और (तद्) इन दोनों शब्दों के मध्य में (प्राहुः) शब्द का प्रयोग करना आवश्यक था और (तद्) शब्द के साथ ही 'रूप' शब्द का प्रयोग भी उचित था, परन्तु देवकीजी ने वैसा प्रयोग नहीं किया।

श्री सुबोधिनी — जगद्धर्माश्च तस्मिन् रूपे प्रतीयन्ते, तत्रा — “व्यक्तादीनि भूतानी” तिवाक्यादव्यक्त मूलरूप व्यक्तं तु जगत्, इदं तु व्यक्तमितिलोकप्रतीतिः, मूलभूत त्वाद्य भवति, इदं त्वाधुनिक, जगच्च स्वरूपकृत कालकृतं च वैलक्षण्यमुक्तं पदद्वयेन, देशकृत वैलक्षण्यं वदन्ती परिमाणेन तदाह ब्रह्मेति, “बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच्च ब्रह्म” मूलभूत, जगत्तु परिच्छिन्नमबृंहितं च तथैव रूप, एव सदंशेन वैलक्षण्यत्रय निरूपित, चिदंशेनापि त्रयमाह ज्योतिर्निर्गुणं निर्विकारमिति, “प्रकाशक तच्चैतन्यं” जगत् प्रकाशयति, अन्यथा जगदभिव्यक्तिन स्यात् त्रिगुणात्मकं च जगत् त्रिगुणातीतमेव हि कारण भवति, गुणानामपि कारणत्वं भगवत्कारणता न स्यात् स्वातन्त्र्याभावत्, सदंशा एव गुणा न चिति सम्भवन्ति, यत्रैव भूतेन्द्रियान्त करणानि तदेव सगुणं, तदेव कारण भवति यत् प्रपञ्चविलक्षणं, प्रपञ्चस्तूतपत्त्यादिभाव विकारयुक्तः, अतो निर्विकारमङ्गीकर्तव्य,

व्याख्यार्थ — क्योंकि उनके अनुभव में अंशतः भी शिक्षिलता नहीं थी सर्वांश में ठंड था अतः उनको उस प्रकार के शब्द विन्यास की आवश्यकता नहीं, उनको अपने अनुभव पर विश्वास था अतः उनकी प्रामाणिकता के विषय में प्रयास करना अनावश्यक समझकर (यत् प्राहुस्तद्रूपम्) इस प्रकार आकाङ्क्षा के विपरीत होने पर भी (रूपं यत् तत् प्राहुः) ऐसा ही प्रयोग किया, यह स्वरूप आधिदैविक नहीं होना चाहिये क्योंकि आधिदैविक स्वरूप तो विलक्षण होता है ऐसी शङ्का के समाधान करने के लिये

विलक्षणता के कारण रूप धर्मों को (अव्यक्त) आदि नव (६) पदों के द्वारा इसी स्वरूप में सिद्ध करती है, जगत् नव (६) प्रकार का ही है, उससे विलक्षण ब्रह्म नव (६) प्रकार से ही निरूपित होता है, जगत् के धर्म उक्त प्रकट हुए भगवत्स्वरूप में प्रतीत होते हैं, वहां (अव्यक्तादीनि भूतानि) भगवद्गीता द्वि अ.श्लो. २८ में सर्व जगत् का मूल रूप अव्यक्त है ऐसा कहा है जगत् तो व्यक्त है ही, परन्तु यह भगवत्स्वरूप व्यक्त है इस प्रकार की लोकों को प्रतीती होती है (वास्तव में तो यह अव्यक्त ही है) एवं मूल तत्त्व तो आद्य सब से पूर्ववर्ती है, और यह स्वरूप अभी देखने में आया है अतः आधुनिक है (ऐसी लोक प्रतीति है) जगत् की आधुनिक है, (अव्यक्त) (आद्यम्), इन दो पदों से स्वरूपकृत और कालकृत विलक्षणता उक्त भगवत्स्वरूप की बतलाई गई है, श्री देवकी उक्त स्वरूप की विलक्षणता को देशकृत भी बतलाती हुई परिमाण के द्वारा (ब्रह्म) कहा है, मूल भूत पर तत्त्व बृहत् (व्यापक) होने से एव वृहण (वर्धनशील, बढ़ता ही रहे) होने से (ब्रह्म) कहलाता है, जगत् तो व्यापक नहीं परिच्छिन्न (सीमित) है एवं वर्धनशील भी नहीं ह्रासशील है, उसी प्रकार से लोगों को प्रकट हुआ यह रूप भी प्रतीत होता है, (परन्तु वास्तव में तो यह रूप (ब्रह्म) ही है, इस प्रकार सच्चिदानन्दगत सदंश से तीन विलक्षणताओं को निरूपण किया, चिदंश के द्वारा भी तीन विलक्षणताओं को बतलाती हैं कि यह स्वरूप (ज्योति) (निर्गुण) एवं निर्विकार है।

श्री सुबोधिनी — लौकिकानि च ज्ञानानि विकारयुक्तानि चेन्द्रियादिभिश्च प्रकाश्यन्ते, विषयकृतं वैलक्षण्यमानन्दांशे निराकरणीयमित्येतदर्थमाह सत्तामात्रमिति, सत्ता विद्यमानता कालत्रयाबाधितसत्ता वा सर्वमेव हि जगत् सद्रूपमपि विशेषनामरूपधर्मवद् भवति, यावद्विशेषनिर्मुक्तं सामान्यं न भविष्यतीत्याशङ्क्य लौकिक एव विषय इयं व्याप्तिर्न त्वलौकिक इति सत्तामात्रमपि निर्विशेषमित्याह, अन्यथा पौनरुक्त्य स्यात्, विशेषा हि व्यावर्तकाः, मूलसत्तायां व्यावर्त्याभावात् किं विशेषण ? कार्यं तु सा सर्वत्रानुस्यूतेति कार्यं न व्यावर्तनीयं, अन्यथा तस्य कारणतैव न स्याद् घटपटयोरिव, “पूर्णमदः पूर्णमिदं” मित्यादिश्रुतौ सर्वचेष्टारहितमेव कारणं भवति, कार्यं सर्वमेव चेष्टमानं आकाशदेरपि शब्दजननलक्षणा चेष्टा वर्तत एव, आवरणापगमे कार्यापगमवदाका— शापगमस्यापि दृष्टत्वादन्धकारवदीहा तत्रापि, ब्रह्माणि त्वावरकासम्भवादव्यवहार्यत्वाच्च निरीहत्वं सिद्धमेव,

व्याख्यार्थ — (प्रकाशकतच्चेतन्यम्) आदि वचनों से चैतन्य (चित्) को प्रकाशक कहा है, वह जगत् को प्रकाशित करता है अन्यथा उसके प्रकाश के बिना जगत् की

प्रतीति ही न हो पावेगी, एवं जगत् त्रिगुणात्मक है, सत्य आदि गुणत्रयों का रूपान्तर है, कारण भूत मूल तत्त्व तो गुणत्रय से अतीत है निर्गुण है, यदि जगत् के प्रति गुणों को भी कारण मानलिया जावे तो भगवान् की जगत्कर्तृता सिद्ध न हो सकेगी क्योंकि कर्ता स्वतन्त्र होना चाहिये गुणों के कारण उसकी स्वतन्त्रता नहीं रह पाती, गुण सदंश है अतः उनका (चित्) में सम्भव नहीं, पृथिवी आदि भूत एवं इन्द्रिय अन्तःकरण जहां भी होते हैं वह सगुण होता है, कारण वह ही होता है जो प्रपञ्च (कार्य) से विलक्षण हो, प्रपञ्च तो उत्पत्ति आदि षट् ६<sup>+</sup> भावविकारों से युक्त है अतः कारण तत्त्व को निर्विकार मानना आवश्यक है, लौकिक वस्तु मात्र जो ज्ञान के विषय हैं वह सब सविकार हैं और रूपादि गुणों से समन्वित हैं, तथा चक्षु आदि इन्द्रिय एवं उनके सूर्य आदि देवताओं से प्रकाशित होते हैं, अतः चिदंश से उक्त विलक्षणता भगवान् की सिद्ध होती है, क्योंकि लौकिक चित् की भांति आपका प्रकाश इन्द्रियादि के आधीन नहीं आप तो स्वयं प्रकाश ज्योति रूप हैं, और न आप लौकिक गुण एवं विकारों से ही युक्त हैं आप तो निर्गुण एवं निर्विकार हैं, सत्ता मात्र निर्विशेष, निरीह, इन पदों द्वारा आनन्दांश से विलक्षणता बतलाती है, आनन्दांश में विषय के द्वारा कोई विलक्षणता नहीं आती यह बतलाना आवश्यक है अतः भगवान् को सत्तामात्र कहा है, आपका स्वरूप सर्वत्र विद्यमान है किसी भी काल में आपकी सत्ता बाधित नहीं होती, भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालों में वह अक्षुण्ण बनी रहती है, सत्ता शब्द किसी 'सद्' वस्तु के भाव को ही कहता है सतो भावः सत्ता सदैव सत्तामात्रम्, बात ऐसी है कि लौकिक आनन्द में भी लौकिक ज्ञान की भांति विषय कृत विलक्षणता देखी जाती है; जिस प्रकार घट, एवं पट, की विलक्षणता से घट ज्ञान एवं पट ज्ञान विलक्षण प्रतीत होते हैं, उसी प्रकार कामिनी स्पर्शज सुख एवं पुत्र स्पर्शज सुख भी कामिनी 'एवं पुत्र' की विलक्षणता से विलक्षण ही प्रतीत होते हैं,

**श्री सुबोधिनी** — यद्यप्येकस्मिन्नपि विशेषणे सर्वे धर्माः क्रोडीकर्तुं शक्यन्ते तथापि नवधा वैलक्षण्यस्य वक्तव्यत्वान्नव विशेषणान्युक्तानि, तादृशमिदमेव रूपं, नवविधानां प्राणिनां स्वदोषेणैव नवविधत्वप्रतीतिः, यथा भ्रमरिकांष्ट्या गृहीता भूमिरपि भ्रान्तेव ऽंश्यते तदपि तस्यैव ऽंष्ट्यैवमत्रापि

ब्रह्मविदां ऽष्ट्या भगवान् वर्णितगुण एव, अन्यथा तदभिव्यक्त्यर्थं प्रयत्नं न कुर्युर्ब्रह्मादयोऽपि पश्चादुत्पन्नं न नमस्कुर्युः सायुज्यं चात्र न प्राप्नुयुरेतज्ज्ञानेन च सर्वज्ञा न भवेयुरेतन्निष्ठाश्च निर्गुणा न भवेयुरेतद्गजनेन च सर्वविकाररहिता न भवेयुः, सर्वेषु पदार्थेष्वेतं च न पश्येयुरेतज्ज्ञानेन च प्रपञ्चो न निवर्ततैतत्कृपया च ब्रह्मनिष्ठा न भवेयुः, अतोऽयमेताऽंश एव,

**व्याख्यार्थ** — अलौकिक सूख में वैसी विलक्षणताओं का सम्भव नहीं क्योंकि वह सुख स्वरूपतः सुख है, कामिनी, एवं पुत्र आदि के स्पर्श के विषय को लेकर नहीं वह तो सत्ता मात्र है किसी देश या काल में उसके अभाव का सम्भव नहीं वह व्यापक है अतः वह ही यथार्थ सुख है 'यो वै भूमावत्सुखम्—नात्मे सुख मस्ति' आदि श्रुति भी इसी तत्त्व का प्रतिपादन करती है अस्तु। जब 'सत्तामात्र' शब्द से व्यापक आनन्द का प्रतिपादन हो जाता है तब 'निर्विशेष' शब्द के प्रयोग की क्या आवश्यकता रह जाती है क्योंकि जो पदार्थ सविशेष होता है वह उस विशेष को लेकर अन्य पदार्थ से भिन्न सिद्ध होता है, वैशेषिकों ने परमाणुओं के पारम्परिक विभेद का कारण विशेष पदार्थ माना है, सर्वव्यापक सत्तामात्र आनन्दमय ब्रह्म का भेद सम्भव ही नहीं उसकी निर्विशेषताओ अनुक्त सिद्ध है। ऐसी अवस्था में 'निर्विशेष' शब्द का प्रयोग एक लौकिक नियम का अलौकिक विषय में अनादर बतलाने को उसकी अमान्यता सूचित करने की किया है, कि यद्यपि सम्पूर्ण जगत् ही सद् रूप है, 'घटः सन् पटः सन्' घट है, पट है, इत्यादि प्रतीति के आधार पर सत्ता सर्वत्र व्याप्त है एवं सर्वत्र ही नाम 'रूप' विशेष भी धर्म रूप से उपलब्ध होते हैं, जो है उसका कोई नाम विशेष 'घट' आदि भी है एवं उसका रूप विशेष भी रक्त, कृष्ण, गोलाकार, लम्बाकार आदि भी है ऐसा कोई भी सामान्य पदार्थ नहीं जो नाम रूप विशेष से सर्वथा रहित हो तथापि जगत् के पदार्थों की भांति ब्रह्म के भी सविशेष होने की शङ्का के निवारणार्थ 'निर्विशेष' शब्द का प्रयोग किया है, कि लौकिक विषय में ही यह व्याप्ति या नियम है कि सामान्य पदार्थ सविशेष ही होता है निर्विशेष नहीं, अलौकिक ब्रह्म के विषय में यह नियम नहीं वह तो सर्व विशेष, विनिर्मुक्त, निर्विशेष ही है, आशय यह है कि केवल उक्त नियम का ब्रह्म के विषय में अपवाद बतलाने को 'निर्विशेष' शब्द प्रयुक्त हुआ है अन्यथा उसकी आवश्यकता नहीं किन्तु पुनरुक्ति दोष का ही सम्भव था, उक्त नियम को अलौकिक विषय में इसलिये नहीं माना

जाता कि विशेष पदार्थ भेद करने वाले होते हैं, मूल सत्ता स्वरूप ब्रह्म में किसी से भेद अभीष्ट ही नहीं, उससे किसी को व्यावृत्त या पृथक् सिद्ध करना अपेक्षित ही नहीं एवं सम्भावित भी नहीं तो वहां विशेष से क्या प्रयोजन है, कार्य में तो सत्ता सर्वत्र ही व्याप्त है। अतः सत्तात्मक कारण रूप ब्रह्म से कार्य की तो व्यावृत्ति या भेद का सम्भव नहीं, यदि कार्य से उसका उपदान भिन्न हो तब तो उसमें उपादान कारणता ही नहीं मानी जा सकेगी— उपादान कारण तो पट में

श्रीसुबोधिनी: — नन्वेतत् सर्वं सर्वज्ञान्युपास्यत्वे भगवतः सम्भवति न त्विदानीमेवाविर्भूतस्य तथात्वं वक्तुं शक्यत इत्याशङ्क्याह स त्वमिति, यदेतादृशं तत् त्वमेव, तत्र हेतुर्विष्णुरिति, विष्णुर्हि पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वोपास्यः, स एव सर्वेषामधिदेवः, स एवाविर्भूत इति ब्रह्मवाक्यादवसीयते, नन्वेवमप्यंशावतारः स्यात् ततश्च मूलत्वाभावादुक्तं सर्वं बाधितमित्यत आह साक्षादिति, ननु वाक्यं गौणमपि भवति स्तुतिपरमपि भवति तस्मात् कथं निर्णय इति चेत् तत्राहाध्यात्मदीप इति, अध्यात्मं मदन्तःकरणं वस्तुतो जडं मुग्धं सर्वशास्त्रविहीनं तच्चेदेवम्प्रकाशयुक्तं त्वत्सान्निध्यात् तदेवास्य कारणमित्यवसीयते, आधिदैविकस्यैवाध्यात्मप्रकाशजनकत्वात्, अतो मदनुभवेनापि भवानुक्तरूप एव, कार्यं चाव्यभिचारि लिङ्गम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ — तन्तुओं की भांति कार्य में अनुस्यूत ही रहते हैं, 'घट' एवं 'पट' यह दोनों एक दूसरे से व्यावृत्त हैं तो एक दूसरे के कारण भी नहीं हैं, ब्रह्म सब का कारण है सदरूप से सर्वानुगत है उसकी व्यावृत्ति नहीं अतः वह निर्विशेष ही है, 'निरीहम्' पद से ब्रह्म की चेष्टा का अभाव प्रतिपादन अभीष्ट है ब्रह्म सर्व चेष्टाओं से रहित है, क्योंकि चेष्टा करने वाला अपनी किसी अपूर्णता को पूर्ण करने के लिये चेष्टा करता है, ब्रह्म में अपूर्णता का संभव नहीं, भगवति श्रुति उसके विषय में प्रतिपादन करती है कि 'पूर्णं मिदम्' परोक्ष और प्रत्यक्ष दोनों अवस्थाओं में ब्रह्म पूर्ण ही है, उक्त श्रुति में कारण सर्व चेष्टाओं से रहित है ऐसा सूचित किया है, सर्व जगत् का कारण ब्रह्म किसी भी प्रकार की चेष्टा नहीं करता उस कारण का लक्षण ही चेष्टा रहित होना है, और कार्य मात्र चेष्टा शील है, किसी भी प्रकार की चेष्टा होना कार्य में अनिवार्य है, आकाश आदि भी चेष्टा रहित नहीं शब्द को जन्म देने का चेष्टा आकाश आदि को भी प्रसिद्ध ही है, इतना ही नहीं किन्तु जिस प्रकार आवरण के हट जाने पर कार्य की स्थिति नहीं रहती वह भी हट जाता है, जिन कपाल आदिकों ने जितने अंश में आकाश को आवृत करके

घट रूप कार्य को उपस्थित किया था उन आवरण रूप कपाल आदि के हट जाने पर घट आदि कार्य भी हट जाता है उस घट आदि कार्य की नष्ट या चलित हो जाने की चेष्टा प्रतीत होती है उसी प्रकार वह आकाश भी जिसके आवृत होने से घट आदि कार्य ऽष्टिगत हुए थे नष्ट या चलित प्रतीत होता है, एवं दीपक के चलने पर अंधकार का चलना प्रतीत होता है उसी प्रकार आकाश भी आवरण के हटने पर हटता हुआ प्रतीत होता है अतः आकाश में चेष्टा ही है, ब्रह्म में तो किसी प्रकार चेष्टा का सम्भव नहीं क्योंकि न तो उसका कोई आवरण करने वाला है और न वह किसी प्रकार के व्यवहार का विषय ही है, अतः उसकी निरीहता सिद्ध ही है, यद्यपि किसी एक ही विशेषण से सर्व धर्मों का संग्रह संभावित है तो भी नव (६) प्रकार से विलक्षणता का बतलाना आवश्यक है अतः नव (६) विशेषण कहे हैं, पूर्वोक्त नव (६) विशेषणों के द्वारा जैसा मूल कारण ब्रह्म का स्वरूप कहा है वैसा ही प्रत्यक्ष ऽष्टिगत यह स्वरूप है, व्यक्त आदि (६) नव प्रकार के लोगों को अपने दोष से ही उनमें व्यक्तत्व आदि नव (६) दोषों की प्रतीति होती है, प्राणी स्वयं व्यक्त, आधुनिक, परिच्छिन्न पर प्रकाश्य, सगुण, सविकार, त्रैकालिक, सत्ताहीन, सविशेष, सचेष्ट होते हैं उनको भगवत्स्वरूप में भी व्यक्तत्व आदि नव धर्मों की प्रतीति होती है, जैसे घूमती हुई ऽष्टि से देखी गई पृथ्वी घूमती सी प्रतीत होती है उसी प्रकार भगवत्स्वरूप भी व्यक्त आदि रूप से प्रतीत होता है, भ्रान्त ऽष्टि वाले की ऽष्टि से ही पृथ्वी भ्रमित —

**श्लोक: —** नष्टे लोके द्विपरार्धावसाने महाभूतेष्वादिभूतं गतेषु ॥

व्यक्तेऽव्यक्तं कालवेगेन याते भवानेकः शिष्यतेऽशेषसंज्ञः ॥२५॥

**मूलार्थ —** द्विपरार्ध (ब्रह्मा की पूर्ण आयु) के समाप्ति काल में भुवनों के नाश हो जाने पर एवं प्रकाश के विलीन हो जाने पर पृथ्वी आदि महाभूतों के आदिभूत अहंकार में लीन हो जाने पर काल वेग से सब ही व्यक्त हुए महत्त्व आदि पदार्थों के अव्यक्त (प्रकृति अथवा अक्षर ब्रह्म) में प्राप्त हो जाने पर अपनी अशेष संज्ञाओं को धारण किये हुए सर्व शब्दों के वाच्यार्थ आपही एक अवशिष्ट रहते हैं ॥२५॥

श्री सुबोधिनी: - एवमाधिदैविकरूपं निरूप्याध्यात्मिकं रूपं निरूपयति 'नष्टे लोक इति', आधिभौतिकस्य सर्वस्याध्यात्मन्येव लयः, तस्यैवात्मत्वप्रतिपादनात्, दृश्यते च स्वप्नादौ बाह्याप्रकाशेष्यान्तरः प्रकाशः,

**व्याख्यार्थ** - प्रतीत होती है, स्थिर ऽष्टि वाले की ऽष्टि से नहीं, भगवत्स्वरूप भी संसारी लोगों की ऽष्टि से ही व्यक्त आदि रूप से प्रतीत होता है ब्रह्मवेत्ताओं की ऽष्टि से तो अव्यक्त, आद्य आदि वर्णन किये गये गुणों से परिपूर्ण ही दिखता है, यदि भगवान् अव्यक्त नहीं होते व्यक्त ही होते तो उनकी अभिव्यक्ति (प्राकट्य) के लिए भक्त जन प्रयत्न नहीं करते क्योंकि व्यक्त तो प्रकट ही है उसकी अभिव्यक्ति तो स्वतः सिद्ध है, उसके अर्थ प्रयत्न प्रकाश में दीपक जलाने की भाँति व्यर्थ ही है अतः अभिव्यक्ति के प्रयत्न से सिद्ध होता है कि आप अव्यक्त हैं, एवं यदि आप आद्य नहीं आधुनिक होते तो इस अर्वाचीन स्वरूप को ब्रह्मादिक सर्व प्राचीन देवता नमस्कार नहीं करते, यदि आप ब्रह्म नहीं होते तो मुक्तात्मा इस स्वरूप में सायुज्य को प्राप्त नहीं कर पाते, यदि स्वयं प्रकाश ज्योति रूप नहीं होते तो इनके ज्ञान से साधक गण सर्वज्ञ नहीं हो पाते, यदि निर्गुण नहीं होते तो इसमें निष्ठा रखने वाले लोग निर्गुण नहीं हो पाते, यदि निर्विकार नहीं होते तो इनके भजन से भक्तजन सर्व विकार रहित नहीं हो पाते, यदि सर्व देश-काल में सत्तात्मक रूप से नहीं विराजते तो सर्व पदार्थों में इनका दर्शन न हो पाता, यदि नाम रूप आदि विशेषों से विरहित न होते तो इनके ज्ञान से नाम रूपात्मक प्रपञ्च की निवृत्ति नहीं हो पाती, यदि स्वयं पूर्ण होने के कारण चेष्टा रहित न होते तो इनकी कृपा से लोगे ब्रह्मनिष्ठ परम शान्त भी नहीं हो पाते, अतः यह प्रत्यक्ष ऽश्यमान स्वरूप ऐसा ही है, एक शङ्का हो सकती है कि यह सब कुछ उस दशा में सम्भावित है जब भगवान् सर्व ज्ञानी जनों के उपास्य रूप में माने गये हों, इस समय प्रकट हुए स्वरूप को 'अव्यक्त' आदि कहना शक्य नहीं, सामर्थ्य से साध्य नहीं, उक्त आशङ्का के निवारणार्थ कहती हैं कि 'सत्त्वम्' वह आप ही हैं, जो ऐसा अव्यक्त आदि स्वरूप है वह आप ही हैं, उसमें कारण आपका विष्णु रूप होना है, क्योंकि कि विष्णु ही अव्यक्त आदि पूर्ण वर्णित प्रकार से सर्व साधारण के उपास्य हैं, वह ही सबके अधिदेव हैं, वह ही आप प्रकट हुए हैं, ऐसा ब्रह्माजी के वचन से निश्चित होता है, 'दिष्ट्याम्ब! ते



कुक्षिगतः परः पुमान्' ऐसा ब्रह्मा का स्पष्ट वचन है, यद्यपि ब्रह्मा के उक्त वचन में 'अंशेन जातः' अंश शब्द का प्रयोग किया है अतः अंशावतार की सम्भावना हो सकती है, तब मूल रूप होने के कारण पूर्व में कहा हुआ सब ही बाधा ग्रस्त है, युक्ति सङ्गत नहीं, ऐसी शङ्का के निवारणार्थ 'साक्षात्' पद का प्रयोग कर श्री देवकी ब्रह्माजी के पूर्वोक्त वचन गत 'अंशेन' के साथ प्रयुक्त हुए 'साक्षात् भगवान् भवायनः' साक्षात् पद का स्मरण दिलाती है कि आप साक्षात् मूल रूप ही है —

श्री सुबोधिनी — तस्मादयं भगवानात्मा, अन्यस्य लयावधित्वं नास्तीति तस्य लयावधित्वमाह लोके प्रकाशे चतुर्दशलोकेषु च नष्टेषु सर्वनाशो नियतकाल इति 'ज्ञापयितुमाह द्विपरार्धावसान इति, ब्रह्मण आयुः परशब्देनोच्यते, तस्यार्धं परार्धं, परार्धद्वये ब्रह्मसमाप्ति, बन्धमोक्षव्यवस्थां लोके वक्तुं ब्रह्मण आयुषोऽर्धव्यवहारो ब्रह्मण उत्तरायुष्येव ब्रह्माण्डस्थानां मुक्तिरिति ज्ञापनार्थः, द्विपरार्धस्याप्यवसाने समाप्तौ,

व्याख्यार्थ — किसी ज्ञान का क्रिया के अंश से प्रकट हुए हों ऐसी बात नहीं है, श्री देवकी ने ब्रह्मा के कथन से ही भगवान् की परमतत्त्व रूपता समझी हो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि ब्रह्मा का उक्त वाक्य 'सिंहोमाणवकः' की भांति गौण भी हो सकता है, जिस प्रकार बालक में शूरता आदि गुणों को देखकर उसे सिंह कह देते हैं उसी प्रकार मूल तत्त्व के किसी अंश को लेकर भी अंशावतार को साक्षात् भगवान् कहा जा सकता है, तथा प्रशंसात्मक स्तुति में भी ब्रह्मा का तात्पर्य हो सकता है प्रशंसा सर्वांश में यथार्थ ही हो ऐसा नियम नहीं है, श्री देवकी ने अपने अन्तःकरण के संवाद से निर्णय किया है आप कहती हैं कि 'अध्यात्मदीपः' मेरा अध्यात्म यह अन्तःकरण जो कि जड़ता एवं मोह से व्याप्त है सर्व शास्त्र विहीन है जिसे किसी प्रकार से प्रकाश प्राप्त नहीं हुआ, उस अन्तःकरण का आपके रुन्निधान से इस प्रकार प्रकाश पूर्ण हो उठना ही सूचित करता है कि आप परम तत्त्व हैं, इस जड़ मुग्ध अन्तःकरण की प्रकाश पूर्णता का कारण आपका मूल रूपत्व ही है ऐसा निश्चय होता है, क्योंकि अध्यात्म को प्रकाशित करने वाला आधिदैविक ही होता है, अतः मेरे अनुभव से ही आप उक्त रूप ही हैं, अव्यक्तादि विशेषण विशिष्ट परम कारण मूल तत्त्व आधिदैविक स्वरूप ही हैं, क्योंकि कार्य तो बिना कारण के होता नहीं धूम अग्नि के बिना नहीं हो सकता वह अग्नि का कार्य है, अग्नि से प्रकट होता है, उसे देखकर अग्नि नहीं भी दीखता तो भी निर्णय कर लिया जाता है कि अग्नि है, क्योंकि धूम अग्नि से व्यभिचरित नहीं होता वह उसका अव्यभिचारी लिङ्ग.

है (चिन्ह है) उसको छोड़कर अन्यत्र कहीं नहीं रहता अतः धूम अग्नि का अनुभाषक या निश्चायक है उसी भांति अध्यात्म (अन्तःकरण का प्रकाश भी) भगवान् के आधिदैविक होने का निश्चायक है ॥२४॥

**व्याख्यार्थ** — इस प्रकार आधिदैविक स्वरूप का निरूपण कर 'नष्टे लोके' आदि श्लोक से आध्यात्मिक स्वरूप का निरूपण करती हैं, समस्त आधिभौतिक पदार्थ का लय अध्यात्म में ही है क्योंकि 'अधिक आत्मा' :अध्यात्मा', इस व्युत्पत्ति से सर्वाधिक आत्मा ही सर्व तत्त्वों का लय स्थान होने से आत्मारूप से प्रतिपादित हुआ है, स्वप्न आदि में देखा जाता है कि बाह्य वस्तु के सर्वथा प्रकाश न रहने पर भी आन्तरिक प्रकाश होता है, उक्त कारण से यह स्वीकार करना पड़ता है कि यह भगवान् आत्मा है, प्रलय काल में अन्य कोई स्वप्न का दृष्टा जीव लय का अवधि नहीं होता, वह तो स्वप्नावस्था में ही उस प्रकार का हो सकता है, इस —

**श्री सुबोधिनी** — ब्रह्माण्डस्य तु प्रलयस्तदैव भवति, तदा तत्त्वानि तिष्ठन्ति, तेषामपि प्रलयमाह महाभूतेष्वादिभूत गतेष्विति, आदिभूतशब्देनाहङ्कार उच्यते, अग्रे महत्तत्त्वस्यापि प्रकृतौ लयस्य वक्ष्यमाणत्वात्, अहङ्कारोऽपि महति लीयत इति ज्ञापितं, भूतानामादिभूत इतिव्युत्पत्त्याऽऽदि-भूतशब्दवाच्योऽहङ्कारो भवति, आदौ भूतो जातश्चेन्, महत्तत्त्वमेव, व्यक्ते, महत्तत्त्वव्यक्तं प्रकृति गते सति, व्यक्ताव्यक्तपदाभ्यामेतत् सूचयति, अक्षरात् प्रकृतिपुरुषविभागपक्षे प्रकृतिपुरुषयोरप्यक्षरे लयः, कालादीनामव्यक्ततैव, किं बहुना ? सर्वमेव व्यक्तमव्यक्ते प्रविष्टं, तत्र प्रवेशे कालवेग एव हेतुः, भगवतः सर्वोपसंहारेच्छायां सर्वोपसंहारार्थमधिकारी कालो वेगवत्तरो भवति, एव स्वयमप्यक्षरे, अक्षरं पुरुषोत्तमे, पुरुषोत्तमाभिन्ने वाऽक्षरे, तदा भवानेवैकः शिष्यते, तस्य भगवतः स्वरूपाणि यानि स्थितान्याधिदैविकानि तेषामपि लयमाशङ्क्य

**व्याख्यार्थ** — कारण भगवान् को ही लय का अवधि बतलाती है कि लोक के नष्ट हो जाने पर आप ही शेष रहते हैं 'लोक' शब्द से 'प्रकाश' तथा 'चतुर्दशभुवन' दोनों ही का ग्रहण अभीष्ट है, सर्व नाश एक किसी निश्चित काल में होता है ऐसा बतलाने को 'द्विपरार्धावसाने' कहा है, ब्रह्मा के आयु को 'पर' शब्द से कहते हैं, उस आयु के अर्द्ध भाग को परार्ध कहते हैं, दो परार्धों के समाप्त होने पर ब्रह्मा की समाप्ति हो जाती है, ब्रह्मा के आयु का अर्द्ध व्यवहार अर्थात् पूर्वार्ध और परार्ध इस प्रकार का विभाग लोक में बन्ध और मोक्ष की व्यवस्था के सूचनार्थ ही प्रचलित हुआ है, कि

जिससे लोगों को ज्ञात हो जावे कि ब्रह्मा के आयु के उत्तरार्ध में ही<sup>†</sup> ब्रह्माण्डवर्ती जीवों की मुक्ति होती है, द्विपरार्ध के भी अवसान अर्थात् समाप्ति होने पर ही ब्रह्माण्ड का प्रलय होता है, ब्रह्माण्ड का प्रलय तो तब ही होता है परन्तु उस समय तत्त्व रह जाते हैं, उनके प्रलय को भी कहती है कि पृथ्वी आदि महाभूत अहङ्कार को जो कि सर्व भूतों का आदि भूत है उसे प्राप्त कर लेते हैं अर्थात् उसमें लीन हो जाते हैं, आदि भूत शब्द से अहङ्कार कहा जाता है, आगे महत्तत्त्व का लय प्रकृति में होता है ऐसा कहेंगे अतः अहङ्कार भी महत्तत्त्व में लीन हो जाता है यह सूचना मिलती है, आदि भूत शब्द से अहङ्कार का ग्रहण "भूतानामादिभूतः" इस व्युत्पत्ति के अनुसार पृथ्वी आदि भूतों के प्रथमवर्ती होकर उनको उत्पन्न करने से उचित ही है, यदि आदौ भूतो जातः इस प्रकार व्युत्पत्ति अभीष्ट है तो 'महत्तत्त्व' का ग्रहण 'आदिभूत' शब्द से सम्भावित है, 'व्यक्त' महत्तत्त्व के 'अव्यक्त' प्रकृति को प्राप्त कर लेने पर भगवान् ही शेष रहते हैं, यहाँ 'व्यक्त' 'अव्यक्त' इन पदों द्वारा श्री देवकी यह सूचना देती हैं कि जब यह मान्यता है कि अक्षर ब्रह्म से प्रकृति और पुरुष का विभाग हुआ है तो उस पक्ष में प्रकृति और पुरुष का भी अक्षर ब्रह्म में लय होता है,

**श्री सुबोधिनी** — तन्निवृत्त्यर्थमाहाशेषसंज्ञ इति, अशेषाः सर्वाः संज्ञा यस्य, सर्वशब्दवाच्यो भगवानेक एवेति, एक एव शिष्यत इत्यर्थः, एवमाधिभौतिकानां सर्वेषां लयस्थानभूतोऽध्यात्मा उक्तः ॥२५॥

**व्याख्यार्थ** — 'व्यक्त' शब्द से प्रकृति और पुरुष भी संगृहीत होते हैं, और 'अव्यक्त' शब्द से अक्षर ब्रह्म का संग्रह अभीष्ट है, काल आदि तो अव्यक्त ही है, अधिक कहने से क्या प्रयोजन है सब ही 'व्यक्त' प्रकट हुए पदार्थ 'अव्यक्त' अक्षर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं, प्रवेश कर जाते हैं, उस प्रवेश में कारण काल का वेग ही है, जब भगवान् सर्व जगत् को समाप्त करना चाहते हैं तो उस कार्य के लिये उनका अधिकारी काल तीव्र वेग धारण करता है, और वह स्वयं काल भी अक्षर ब्रह्म में ही लीन हो जाता है, अक्षर ब्रह्म का लय परब्रह्मपुरुषोत्तम में होता है अथवा उनके चरण रूप होने से उनके स्वरूप से

**टिप्पण** — 'यहा जिनकी मुक्ति की चर्चा की है वह ज्ञानी एवं भक्तों से अतिरिक्त अधिकार प्राप्त जीवों की समझनी, ज्ञानी और भक्तों को किसी काल विशेष का बन्धन नहीं है —

पृथक् न रहकर उनके चरण में ही प्रवेश कर जाता है, उस समय केवल भगवान् ही आप शेष रहते हैं, उक्त अवस्था में भगवान् जो आधिदैविक स्वरूप हैं उनका लय भी हो जाता होगा इस आशङ्का के निवारणार्थ 'अशेष संज्ञः' पद का प्रयोग किया है कि आपकी तो सब ही संज्ञा यथावत् रहती हैं, आप तो अपने वाचक अशेष शब्दों से वाच्य बने रहते हैं, अनन्त शब्दों के द्वारा जिन जिन अनन्त रूपों का बोध होता है उन सर्व रूपों को लेकर आप एक मात्र अवशिष्ट रहते हैं, इस प्रकार सब ही आधिभौतिकों के लय स्थान आध्यात्मा का प्रतिपादन किया है ॥२५॥

**श्लोकः—** योऽयं कालस्तस्य तेऽव्यक्त बन्धो! चेष्टामाहुश्चेष्टते येन विश्वम् ॥

निमेषादिर्वत्सरान्तो महीयाँस्तं त्वेशानं क्षेमधाम प्रपद्ये ॥२६॥

**मूलार्थ —** हे अव्यक्त बन्धो! प्रकृति के सहायक! यह सम्पूर्ण विश्व जिससे चेष्टा प्राप्त कर रहा है वह जो यह काल है उसे आपकी चेष्टा बतलाते हैं, वह निमेष से लेकर वर्ष पर्यन्त का है वर्षों से भी उसका अन्त नहीं वह अत्यन्त महान् है उस काल के स्वामी मङ्गलमय धाम विशुद्ध सत्त्व में विराजनेवाले सर्व समर्थ आपकी मैं शरणागत हूँ ॥२६॥

**श्री सुबोधिनी —** आधिभौतिकं रूपमाह योऽयं काल इति, आधिभौतिकानामाधिभौतिकभूतो भगवान् न त्वाधिभौतिक एव, तथात्वज्ञापकमाह कालो यस्य चेष्टेति, कालप्रेरितानि सर्वाण्येवाधिभौतिकानि, योऽयं कालः सर्वेषां निमित्तभूतः, तस्य सर्वेषां मूलभूतस्य —

**व्याख्यार्थ —** श्री देवकी उक्त श्लोक में भगवान् के आधिभौतिक रूप को कहती है, उनके आधिभौतिक होने का प्रकार यह है कि आधिभौतिक वर्ग में प्रवेश कर आधिभौतिक कहलाते हैं, जैसे वह चक्षु के चक्षु है, श्रोत्र के श्रोत्र हैं, वैसे ही आधिभौतिकों के आधिभौतिक हैं, न कि आधिभौतिक ही हैं, उक्त प्रकार से उनके आधिभौतिक हो जाने का ज्ञान कराने के लिये काल को उनकी चेष्टा बतलाया है कि यह जो काल है जिसके द्वारा सब ही आधिभौतिक वर्ग प्रेरणा प्राप्त करते हैं वह आपकी चेष्टा है, श्री देवकी का कहना है कि सब का निमित्त कारण जो यह काल है वह आप ही हैं क्योंकि सबके मूल कारण तो आप ही ठहरे अतः काल में प्रवेश कर उसे प्रेरणा शक्ति का लाभ कराने के काल भी आपका अन्यतम रूप है जैसा कि श्री कपिल देवजी ने देवहूति के प्रति कहा है कि 'प्रकृतेर्गुण साम्यस्य निर्विशेषस्य मानवि! चेष्टा यतः स

भगवान् काल इत्युपलक्षितः' भा. तृ. स्कं २६ अध्याय श्लो. १० हे मनुपुत्रि! आप महात्मा मनु की पुत्री होने के कारण अलौकिक प्रकार को समझती है जब तक काल के द्वारा प्रकृति के गुणों में क्षोभ का उदय नहीं होता तब तक किसी भी प्रकार का विशेष (भेद) न होने से उन गुणों की साम्यावस्था निर्विशेष कहलाती है काल के द्वारा चेष्टा प्राप्त होने पर ही उन गुणों में क्षोभ होता है उनकी निष्क्रियता दूर होती है वह सक्रिय होकर परस्पर में एक दूसरे का अभिभव करते हैं एवं उत्तरोत्तर प्राकृत तत्वों का सर्जन करते हैं वह चेष्टा का हेतुकाल उपलक्षण रूप से भगवान् ही समझा जाता है वास्तव में तो वह काल आपकी चेष्टा ही है, उक्त श्लोक में "आहुः" इस क्रिया पद से भगवान् की चेष्टा के काल रूप होने में प्रमाण को आकाङ्क्षा को शान्त करती हैं कि अलौकिक तत्त्व के यथार्थ दर्शी महानुभावों ने भगवान् की चेष्टा को काल कहा है, भगवान् की चेष्टा के अस्तित्व में प्रमाण की आकाङ्क्षा को शान्त करने के लिये अनुमान प्रमाण —

श्री सुबोधिनी — स एव भवानिति ते तव चेष्टामाहुः, ननु भगवत्चेष्टासत्त्वे कि प्रमाण चेष्टाया वा कालत्वे ? तत्राहुरिति चेष्टायाः कालत्वे मानमुक्तं, चेष्टासत्त्वे मानमाह चेष्टते येन विश्वमिति, येन कालेन विश्वमेव चेष्टते, न हि कारणस्य चेष्टाभावे कार्ये चेष्टा भवति, कालवशाच्च चेष्टा, चेष्टायाः कर्मरूपत्वात्, कर्म च कालजनितं, काले कर्मविधानात् अतो भगवच्चेष्टारूपः कालः, ननु प्रकृतिकारणपक्षे तद्द्वारा कार्यपक्षे वा न चेष्टारूपः कालः सिध्येदित्याशङ्क्याहाव्यक्तबन्धो इति, अव्यक्तस्य प्रकृतेर्बन्धुः सर्वकार्यकर्ता, अतः प्राकृतकार्यपक्षेऽपि चेष्टारूपः कालः, आधिदैविककालस्य भगवद्रूपत्वात् तद्व्यावृत्त्यर्थमाह निमेषादिर्वत्सरान्त इति, यद्यपि परमाणुकाल आदि भूतस्तथापि परमाण्वादिलावान्तानामतिसूक्ष्मत्वाद् व्यवहारानौपयिकत्वमाशङ्क्य निमेषादिरेव गृहीत, 'द्विपरार्धावसान' त्वाच्चेष्टारूपकालस्य संवत्सरो मध्यम इति

व्याख्यार्थ — का उपन्यास करती कहती हैं कि 'चेष्टते येन विश्वम्' जिस काल में समस्त विश्व चेष्टा युक्त हुआ है, विश्व का सचेष्ट होना ही भगवान् की सचेष्टता का साधक है क्योंकि विश्व कार्य है भगवान् कारण है, कारण के धर्म ही कार्य में उपस्थित होते हैं, विश्व में चेष्टा प्रत्यक्ष उपलब्ध होती है तो उसके कारण भगवान् में भी चेष्टा की सत्ता है भगवान् भी चेष्टावान है, यह सिद्ध हो जाता है, अनुभावियों ने चेष्टा को काल इसलिये कहा है कि समस्त चेष्टा काल ही के आधीन है और काल वश से ही चेष्टा होती है, चेष्टा का स्वरूप कर्म ही है, कर्म ही उत्पत्ति काल से है क्योंकि उन उन

कर्मों के लिये शास्त्र ने नियत काल का निर्देश किया, कि अमुक काल में अमुक कर्म कर्तव्य है अतः काल को कर्मों का कारण मानना आवश्यक है, जो जिसका कारण होता है वह उसका प्रकारान्तर से एक रूपान्तर है अतः कर्म या चेष्टा को काल बतलाना युक्ति युक्त ही है, काल भगवान् को चेष्टा का ही स्वरूप है, जिस पक्ष में प्रकृति को विश्व का कारण माना है अथवा प्रकृति के द्वारा विश्व की कार्य रचना होती है ऐसा स्वीकार किया है, उस पक्ष में काल की चेष्टा रूपता सिद्ध न हो पावेगी ऐसी आशङ्का कर 'अव्यक्तबन्धो! इस सम्बोधन से समाधान करती हैं कि हे अव्यक्तबन्धो! आप तो अव्यक्त (प्रकृति) के बन्धु (सहायक) हैं, बन्धु बन्धु की सहायता करता है आप प्रकृति के सर्व कार्यों को सिद्ध करते हैं, अतः प्रकृति सम्बन्ध से प्राकृत कार्य जगत् होता है इस पक्ष में भी प्रकृति के बन्धु भगवान् चेष्टा करते ही हैं, तो उस पक्ष में भी भगवान् का चेष्टा रूप काल सिद्ध होता है, आधिदैविक काल तो भगवद्रूप होता है अतः उसे चेष्टात्मक न समझ लिया जावे इसलिये आधिभौतिक काल के आकार को भी बतला देती हैं कि निमेष से लेकर वर्ष पर्यन्त का जिसका विभाग है वह काल आपकी चेष्टा है, यद्यपि काल के अवयवों में सर्व प्रथम आदि अवयव परमाणु काल माना है परन्तु —

श्री सुबोधिनी: — ततोऽप्याह महीयानिति, एवं यस्य चेष्टा कालो य "श्चावशिष्यते" यश्चाधिदैविकः सर्वकारणभूतरतं त्वां प्रपद्ये शरणं गच्छामि, अनेन 'बालकः पुत्रं कथं शरणार्हं इति निरस्तं, तं त्वामित्यत्र प्रमाणं पूर्वमुक्तमे 'बाहु' रित्य 'ध्यात्मदीप' इति च 'विष्णु' रिति च, एवं सर्वरूपोऽपि यदि रक्षादिकं नाविष्कुर्यात् तदा शरणागतिरप्रयोजिकेति तद्व्यावृत्त्यर्थमाहेशानमिति, यत्र भगवत एतावन्तो धर्माः स ईश एव भवति, ऐश्वर्य विलम्बं न सहते न चोपेक्षते, नन्वीश्वरो दैत्यपक्षपाती चेत् तदापि कार्यं न सिध्यतीति तदर्थमाह क्षेमधामेति, क्षेमाख्यं शुद्धसत्त्वं धाम यस्य, अतः शिष्टानामेव पक्षपातं करिष्यतीति न काचिच्चिन्ता, आधाररूपधर्मस्यैव प्राधान्यख्यापनार्थं लिङ्गव्यत्ययः ॥२६॥

व्याख्यार्थ — परमाणुकाल से लेकर लव पर्यन्त का काल अत्यन्त सूक्ष्म होने से व्यवहार में उपयुक्त नहीं अतः निमेष से ही प्रारम्भ मान कर उसका ही आदि रूप से ग्रहण किया है, वर्ष पर्यन्त का काल भी पूर्ण तो नहीं है चेष्टात्मक काल को समाप्ति तो वहाँ पर नहीं होती उसके एक अंश की समाप्ति ही वहाँ पर होती है, चेष्टात्मक काल तो उससे कहीं अधिक विशाल है, ब्रह्मा की आयु का अन्तिम भाग द्वितीय परार्ध जब समाप्त होता है तब उस काल का अन्त कहा जाता है, संवत्सर तो उसके मध्य में होता

रहता है अतः वह तो मध्यम काल ही है इस मध्यम काल से उसकी महत्ता का बोध कराने को (महीयान्) शब्द प्रयुक्त किया है कि आपका चेष्टा रूप काल तो अत्यन्त महान् है वत्सर पर्यन्त का कथन तो उसके अवान्तर भेद को लक्ष्य में रखकर कर दिया है, क्योंकि वत्सरों के द्वारा हो तो उसका परिणाम होता है, इस प्रकार काल जिसकी चेष्टा है, एवं सब के लय हो जाने पर जे अवशिष्ट रहता है, तथा जो आधिदैविक परतत्त्व है सर्व कारणों का कारण है वह आप ही हैं, मैं उन्हीं आपकी शरणागत हूँ, इस प्रकार आधिदैविक आदि रूप त्रय का प्रतिपादन करने से एक आक्षेप का समाधान किया है कि, जो बालक एवं पुत्र है उसे शरण कैसे किया जावे, इस आक्षेप को अवकाश नहीं क्योंकि आप तो वह ही है जो पूर्व में बतलाये गये हैं, इस विषय में प्रमाण तो 'आहुः' 'अध्यात्मदीपः' 'विष्णु' इन पदों द्वारा सूचित हो चुका है, इस प्रकार सर्व रूप होते हुए भी यदि रक्षा आदि धर्म को प्रकट नहीं करें तो शरणागति निष्प्रयोजन ही ठहरेगी अतः उसके निवारणार्थ कहती हैं कि ऐसा नहीं हो सकता आप 'ईशान' हैं, समर्थ हैं जिसमें भगवान् के इतने धर्म प्रकट हैं वह ईश ही होता है, ऐश्वर्य विलम्ब का सहन नहीं करता शीघ्र ही शरणागत का त्राण करता है और अपेक्षा भी नहीं करता शरणागत की रक्षा ही करता है, ईश्वर यदि दैत्यों का पक्षपाती होवै तो भी कार्य सिद्धि नहीं हो सकती इस शङ्का के निवारणार्थ 'क्षेमधाम' पद का प्रयोग है, क्षेम नामक विशुद्ध सत्त्व हो आपका धाम है अतः विशुद्ध सत्त्व में विराजने वाले आप भद्र पुरुषों का ही पक्षपात करेंगे दैत्यों का नहीं अतः कोई चिन्ता नहीं है, 'क्षेमधाम' की उक्त व्याख्या के अनुसार 'क्षेमधामानम्' ऐसा पुलिङ्ग. का निर्देश उचित था परन्तु आधार भूत विशुद्ध सत्त्व रूप धर्म की प्रधानता को बतलाने के लिये यह लिङ्ग. व्यत्यय हुआ है अर्थात् इस लिङ्ग. परिवर्तन से विशुद्ध सत्त्व की प्रधानता के साथ सत्पुरुषों को रक्षा सूचित होती है।

श्लोकः — मर्त्यो मृत्युव्यालभीतः पलायन् सर्वाल्लोकान् निर्भयं नाध्यगच्छत्॥

त्वत्पादाब्जं प्राप्य यर्धच्छयाद्य स्वस्थः शेते मृत्युरस्मादपैति॥२७॥

मूलार्थ — मरण धर्मा मनुष्य मृत्यु रूपी सर्प से डर रहा है, डर से भाग रहा है, ऊँचे नीचे लोकों में भटक रहा है कहीं भी निर्भयता या शान्ति इसे नहीं मिल पाती।

अकस्मात् आज आपके चरणारविन्द को प्राप्त कर स्वस्थ होकर शान्ति से सोता है, और इससे मृत्यु भाग जाता है ॥२६॥

**श्री सुबोधिनी** — एवं भगवतो रूपत्रयं प्रपत्तिं च निरूप्य तस्याः प्रपत्तेः प्रकृतोपयोगित्वाय हेतुं निरूपयति मर्त्य इति, अतीन्द्रियः कालो लोके स्वज्ञापनार्थं स्वप्रतिकृतिं सर्पमुत्पादितवान्, लौकिकास्त्वलौकिक तद्द्वारैव प्रतिपद्यन्ते, यथा सिंहप्रतिकृतिर्ग्रामसिंहः, एवं बिडालगवादयश्च व्याघ्रगवयादीनां प्रतिकृतिरूपाः ।

**व्याख्यार्थ** — इस प्रकार भगवान् के आधिदैविक आदि तीनों रूपों का तीन श्लोकों से निरूपण किया है और तृतीय श्लोक में शरणागति का भी निरूपण किया है, तदनन्तर उस शरणागति के प्रकृति में उपयोगी होने की सिद्धि करने के लिये श्री देवकी मर्त्य आदि श्लोक से शरणागति के हेतु भय का निरूपण करती है, काल अतीन्द्रिय है इन्द्रियों द्वारा वह नहीं जाना जाता अतः उसने अपने स्वरूप को लोगों के बुद्धिगम्य बनाने को सर्प प्रकट किया सर्प काल की प्रतिकृति है उसके समान आकार प्रकार वाला है, लौकिक प्राणी उस अलौकिक या अतीन्द्रिय काल को सर्प के द्वारा ही समझ पाते हैं, जैसे सिंह जैसे आकार का श्वान होता है, व्याघ्र एवं गवय जैसे आकार के बिडाल एवं गौ होते हैं, वह काल जिसे प्रकट करता है वह उसका भक्ष्य ही होता है अतः काल से रचे गये प्राणी 'मृत्यु' कहलाते हैं, उस काल की भार्या कुण्डलिनी शक्ति है वह अपने भर्ता काल से परिचय करा देती है सब पुरुषों के देहों में उसका निवास है उस कुण्डलिनी शक्ति को प्रबोधित करने वाला योग ही है, योगी उस कुण्डलिनी के ही शरणागत होता है, तब उस काल भार्या कुण्डलिनी की प्रार्थना के कारण योगों को काल शीघ्र भक्षण नहीं करता, और उस काल का आध्यात्मिक रूप वेद है अतः वेदोक्त कर्म से भी विलम्ब होता है, जो कर्म मार्गी वैदिक कर्म का सविधि आचरण करते हैं, उनका भी भक्षण करने में काल विलम्ब करता है, शीघ्र भक्षण नहीं करता है, अन्य सर्व पूराणोक्त देवता उस काल के आधिभौतिक रूप हैं वह भी विलम्ब के कारण हो जाते हैं, पूराणोक्त देवताओं के उपासक भी काल के शीघ्र भक्ष्य नहीं होते, यह तीनों प्राणी योगी, कर्मी, और उपासक निरन्तर एक ही साधन में निष्ठापूर्वक तत्परता से लगे रहते हैं अतः इनके भक्षण में विलम्ब होता है, और जो साधारण प्राणी है जिनको काल ने अपने भक्षण के लिये ही रखा है जो रन्धित ओदन (भात) की भांति सरलता से उसके गले में उत्तर



जाने वाले हैं वह लोग यदि काल के उल्लङ्घन के लिये प्रयत्न करते हैं तब काल के कार्य रोग आदि का अनुभव कर उस काल के निवारक रूप से सुने गये—

**श्री सुबोधिनी** — कालः स्वभक्ष्यमेव सृजति, अतः कालःसृष्टा मर्त्या इत्युच्यन्ते, तस्य च भार्या कुण्डलिनी शक्तिः स्वभर्तृज्ञापिका सर्वेषु पुरुषदेहेषु तिष्ठति, योगो हि तदुद्बोधकः, तच्छरणं गत एव योगी, तदा तथा प्रार्थित कालः शीघ्रं न भक्षयति, तस्य चाध्यात्मा वेद तदुक्तकर्मणापि विलम्बो भवति, अन्ये च सर्वे देवाः पुराणोक्तास्तस्याधिभौतिकरूपाणि, तेपि विलम्बहेतवो भवन्ति, इमे त्रिविधा अपि धर्ममार्गवर्तिनो निरन्तरमेकनिष्ठास्तत्प्रवणाः, ये पुनर्लौकिकाः साधारणाः शीघ्रं भक्षणार्थमेव स्थापिता ओदनभूतास्ते चेत् कालातिक्रमार्थं यतन्ते तदा कालकार्यं स्वस्मिन् रोगादिकमनुभूय कालनिवर्तकत्वेन श्रुतान् बहूनेव धर्मान् कर्तुं यतन्ते तद्व्यालभीतस्य पलायनं मूषकस्येवाग्रे पतितस्य, मृत्युः कालस्य मुखं, सोऽपि व्यालः, भयहेतुवाचको व्यालशब्दो मुखहेतुक एव

**व्याख्या** — बहुत से धर्मों का आचरण करने का प्रयास करते हैं, वह उनका प्रयास सर्प से डरे हुए एवं उसके आगे पड़े हुए मूषक के भागने के समान व्यर्थ है, मृत्यु काल का मुख है वह भी व्याल है यद्यपि कोष में सर्प, दुष्ट, हस्ती, शठपुरुष, एवं व्याघ्र सिंह आदि हिंसक पशुओं को ही व्याल शब्द से बोधित होने वाले कहा है तो भी वह सब मुख के द्वारा ही भय के कारण है अतः काल के मुख रूप मृत्यु को व्याल कह देना समुचित ही है, उस मृत्यु के डर कर भागना मूषक की भांति ही सिद्ध होता है, जहाँ कहीं भी जाता है वहाँ भूख, प्यास, वृद्धता, शरीर की त्वचा का सिकुड़ना, बालों को श्वेत हो जाना आदि ऊँचे नीचे विविध प्रकार के काल धर्मों का अनुभव करता है, काल के कार्यों के देखने से भय बना ही रहता है उसकी निवृत्ति नहीं होती, बहुत काल तक स्थित रहने वाले देवत्व, मनुष्यत्व, वृक्षत्व आदि धर्मों के प्राप्त होने पर भय की निवृत्ति होती होगी इस आशंका के निवारणार्थ कहा है कि 'सर्वाल्लोकान्' सब लोकों को दौड़ता हुआ भी निर्भयता को प्राप्त नहीं करता 'निभयम्' पद से भय का अभाव बोधित होता है अतः किसी भी उपाय से मृत्यु की निवृत्ति नहीं होती यह अर्थ सिद्ध हुआ, अथवा 'निर्भयम्' पद का अर्थ है 'भय का निवर्तक स्थान' ऐसा कोई स्थान विशेष नहीं मिल पाता जहाँ मृत्यु का भय न हो, सब लोकों को दौड़ता २ भय के निवारण करने वाले स्थान को नहीं पहुँच पाता, क्योंकि भय की निवृत्ति तो शास्त्र एवं निजानुभव इन दोनों के परस्पर में मेल मिलने पर ही हो सकती है, शास्त्र में जिसे निर्भय बतलाया

हो और अपने अनुभव से ही वह निर्भय ही सिद्ध होता है, जहाँ पहुँचकर किसी प्रकार के भय के उदय की हृदय में सम्भावना भी न हो, ऐसा स्थान शास्त्र एवं अनुभव के द्वारा अवगत नहीं होता, पूर्व में जिसकी चर्चा कर चुके हैं वह तीनों योग, कर्म और उपासना तो काल के आधीन ही हैं, अतः योगादि के साधन करने वालों को भी काल अवश्य भक्ष्य करता है, कुछ विलम्ब से भक्षण करे यह बात दूसरी है, परन्तु सर्वथा उनको छोड़ नहीं देता, अतः वह भय निवारण में समर्थ नहीं है —

श्री सुबोधिनी—यत्र क्वापि गच्छन् क्षुत्पिपासे जरावलीपलिताद्युच्चनीचधर्माननुभवति, अतः कालकार्यदर्शनाद् भयं न निवर्तते, देवत्वे मानुषत्वे वृक्षत्वे वा बहुकालस्थितधर्मेषु भयं निवर्तत इत्याशङ्क्य लोकान् सर्वानित्युक्तं, निर्भयं भयाभावं, अतः केनाप्युपायेन मृत्युर्न निवर्तत इति निर्भयं नाध्यगच्छन् भयनिवर्तकस्थानं वा, शास्त्रानुभवयोः संवादे हि तन् निवर्तते, येऽपि पूर्वमुक्तास्त्रिविधास्ते कालाधीना इत्यवश्यभक्ष्यत्वे न समर्था भवन्ति, प्रार्थना हि दुर्बला, एवं शरणान्वेषणार्थं परिभ्रमणे क्रियमाणे सर्वत्र प्रवर्तको भगवान् कदाचित् परितुष्यति तदा भगवच्चरणप्राप्तिः, सत्सङ्गो भागवत चेति भगवच्चरणद्वयमाधिभौतिकं, ज्ञानं भक्तिश्चाध्यात्मिकं,

व्याख्यार्थ — पूर्वोक्त कुण्डलिनी की प्रार्थना इतना बल नहीं रखती जिससे वह काल सर्वथा भक्षण न करे, इस प्रकार अपने रक्षक के ढूँढने को परिभ्रमण किया जा रहा है ऐसी देशा में सर्वत्र प्रवृत्ति कराने वाले भगवान् कदाचित् सन्तुष्ट हो जावें तब उनके चरण को प्राप्ति होती है, 'सत्सङ्गः' एवं 'श्रीमद्भागवत' यह दोनों भगवान् के आधिभौतिक चरण युगल हैं, ज्ञान एवं भक्त, यह दोनों आध्यात्मिक चरण युगल हैं एवं उन प्रसन्न हुये भगवान् के साक्षात् चरण युगल आधिदैविक तो है हीं, उनमें से किसी एक को भी प्राप्ति हो जाने पर पुरुषार्थ सिद्ध हो जाता है ऐसा सूचित करने को 'त्वत्पादाब्जम्' यह एक वचन प्रयुक्त किया है, उक्त पद में भगवान् के साथ उनके चरण कमल को प्राप्ति को सूचना है क्योंकि समास के द्वारा उनकी मिलित रूप से उपस्थिति होती है, 'ते पादाब्जम्' इस प्रकार पृथक् पदों का उपन्यास न कर समास युक्त पद का प्रयोग भगवान् को लक्षित कर सत्सङ्ग, भागवतादि का सेवन कर्तव्य है, ऐसा सूचित करता है, भगवान् के साथ उनके किसी भी अन्यतम चरण कमल का लाभ होने से कृतार्थता हो जाती है, यह चरण कमल का लाभ किसी काल से सम्बन्धित नहीं है कि अमुक समय उसको प्राप्ति के लिए नियत हो वह सर्वथा काल के आधीन नहीं

वह तो भगवदिच्छा पर ही निर्भर है अतः भगवदिच्छा के बोधक 'यथच्छया' पद प्रयोग किया है, नियत हुए काल की यदृच्छा नहीं कह सकते आकस्मिक स्थल में ही यदृच्छा शब्द का प्रयोग होता है अतः भगवच्चरणारविन्द की प्राप्ति भगवदाधीन ही है कालाधीन नहीं यह सिद्ध होता है, 'पादाब्जम्' शब्द से चरण को कमल बतलाया है, कमल जल में होता हुआ भी उससे अस्पृष्ट एवं अन्यान्य पुष्पों से अधिक शोभाशाली होता है प्रभु का चरण भी लोक में होते हुए अलौकिक तथा अपने स्वरूप का चमत्कार बतलाने वाला अतिशय शोभाशाली है ऐसा प्रतिपादन यहाँ अभीष्ट है, भगवच्चरण की शोभा कुण्डलिनी, वेद, देव इन तीनों से कहीं अधिक यह तीनों काल के आधीन हैं —

**श्री सुबोधिनी** — चरणावेव प्रसन्नस्याधिदैविकौ तन्मध्येऽन्यतरप्राप्तावपि कृतार्थतेति ज्ञापयितुं त्वत्पादाब्जमित्युक्तं, भगवत्सहितं भगवच्चरणारविन्दं प्राप्य, यथच्छया भगवदिच्छया, कालसम्बन्धाभावाय यथच्छयेत्युक्तं, नियतकालस्य यथच्छात्वाभावात्, अब्जपदेन चालौकिको लोक एव ज्ञापकः शोभातिशयो निरूपितः, त्रितयापेक्षयाप्यतिशयः, अनेनैव विश्वासेन, अद्यैव यदैव चरणप्राप्तिस्तदैव, स्वस्थः शेते, मृत्युनिवारणार्थं यत्नं च न करोति, मृत्युः पुनः स्वतः एव निवर्तते भगवच्चरणारविन्दमत्र वर्तते इत्यास्मादसाध्यादपगमनं युक्तमेव, शास्त्रं तु प्रमाणं, सवादस्त्वलौकिकभावसिद्धिः, कालनियन्ता च भगवान्, अतोनुभवप्रमाणयुक्तयोऽत्रैव सन्तीति न पूर्ववदस्मिन् मार्गे शङ्का, निःकपटतया प्रवृत्तौ तु नात्र व्यभिचारः ।।२७।।

**व्याख्यार्थ** — भगवच्चरण काल के आधीन नहीं, काल से अतीत है काल भी उसके अधीन है, जो भगवच्चरण का आश्रय करता है वह काल कलवित नहीं होता ऐसा विश्वास अपेक्षित है, इस विश्वास के साथ जब ही जीव प्रभु चरण का आश्रय करता है उसी समय निश्चिन्त हो जाता है इस आशय 'अद्य' पद का प्रयोग है, आज अभी चरण कमल को आकस्मिक प्राप्ति होते ही तत्काल ही वह जीव स्वस्थ होकर शयन करता है, अब मृत्यु के निवारण का प्रयत्न नहीं करता, मृत्यु तो फिर अपने आप ही निवृत्त हो जाता है, क्योंकि वह मृत्यु सोचता है कि इसके हृदय में भगवच्चरणारविन्द विराजमान हैं अतः मेरा प्रभाव यहां न चलेगा, यह मेरे लिये असाध्य है इससे हट जाना ही उचित है, उक्त विषय में प्रमाणे शास्त्र हैं, ही परन्तु अलौकिक भाव की सिद्धि ही अपने अनुभव के साथ उन शास्त्रों का संवाद होना है, अर्थात् स्वानुभवैकवेध अलौकिक भाव के उदय होने पर ही शास्त्र प्रतिपादित भगवच्चरण की काल भय निवारकता का

प्रत्यक्ष हो जाता है, जब हृदय में भगवान् के चरणों के प्रति अलौकिक भाव सिद्ध होता है तब स्वयं ही भावुक का हृदय निर्भयता का अनुभव करता है, भगवान् काल के नियामक हैं उसे अपनी इच्छानुसार प्रेरणा देते हैं, उसका नियन्त्रण करते हैं अतः अनुभव, प्रमाण एवं युक्ति इसी पक्ष में हैं कि भगवच्चरण शरण जीव ही निश्चिन्त होता है अतः योगादि मार्गों की भांति शरण मार्ग में कोई भी शङ्का का अवसर नहीं उसके लेश का भी अवकाश नहीं, निष्कपट भाव में शरण मार्ग में प्रवृत्ति हो जाने पर सर्वथा निर्भयता हो जाती है ऐसा ठंड सिद्धान्त है अकाट्य नियम है, इस नियम का व्यभिचार या भग नहीं हो सकता, भक्त प्रह्लाद आदि उक्त सैद्धान्तिक नियम के उज्ज्वल उदाहरण उपस्थित हैं ॥२७॥

**श्लोकः —** स त्वं घोरादुग्रसेनात्मजान्नस्त्राहि त्रस्तान् भृत्यवित्रासहासि ॥

**रूपं चेदं पौरुषं ध्यानधिष्णयं मा प्रत्यक्षं मांसर्षशां कृषीष्ठाः ॥२८॥**

**मूलार्थ —** वह आप हमारी उस भयङ्कर उग्रसेन के पुत्र कंस से रक्षा करें हम उससे भयभीत हो रहे हैं, आप सेवकों के भय का निवारण करने वाले हैं, इस पुरुषोत्तम सम्बन्धी चतुर्भुज रूप को चक्षुओं के प्रत्यक्ष न करें यह तो ध्यान का ही विषय है ॥२८॥

**श्री सुबोधिनी —** एवं शरणागतौ हेतुमुपपाद्य त्रयं प्रार्थयति स त्वमित्यादित्रिभिः, अत्रावसरे त्रयं सम्भवति, भगवानिदानीमेवान्तर्हितो भवेत् पश्चात् स्वेच्छयान्यत्र स्थितः कंसं मारयेत्, तदिमां कथां कंसः श्रुत्वा मारयेदस्मान् ज्ञानदापनयोर्नियोगात्, अतो रक्षा प्रार्थनीया, इदानीं वा कंसं मारयेत् ततो गच्छेत् ततः कंसपक्षपातिनः पश्चादस्मान् मारयेयुः, तदर्थमिदं रूपं लौकिके न रव्यापनीयमिति प्रार्थनीयं, एवम्रूपेणात्रैव च स्थितिरपि सम्भवति तदाऽलौकिकं ईष्ट्वा प्राकृतो लोको द्वेष कुर्यादस्मदादयश्च ।

**व्याख्यार्थ —** इस प्रकार शरणागति में कारण का उपपादन कर श्री देवकी 'सत्त्वम्' इत्यादि तीन श्लोकों द्वारा तीन प्रार्थनायें करती हैं, इस अवसर पर तीन सम्भावनायें हैं, एक तो यह कि भगवान् अभी तो छुप जावें पीछे अपनी इच्छा से अन्य स्थान में विराजमान हो कंस को मारे तो इस आपके प्रकट होने की कथा को सुनकर कंस हम लोगों को मार सकता है, कि इनको उस अष्टम बालक का ज्ञान था और इन्होंने ही उसको अन्यत्र दिला भेजा है, इस प्रकार आपके विषय में हमारे ज्ञान और

दापन (प्रेषण) के अपराध का निर्धार करने से वह हमें मारे बिना नहीं रहेगा, अतः ऐसी सम्भावना में अपनी रक्षा की प्रार्थना करना आवश्यक है, दूसरी सम्भावना यह है कि यदि आप अब ही कंस को मार देवें तत्पश्चात् पधार जावें तो कंस के पक्षपाती जरासन्ध आदि पीछे हम लोगों को मार सकते हैं, इसलिए इस रूप को जनसाधारण में प्रख्यात न करें ऐसी भी प्रार्थना आवश्यक है, तीसरी सम्भावना यह है कि कंस को अब ही मारकर यदि आप इस रूप से यहाँ पर ही विराजें तो अलौकिक स्वरूप को देखकर साधारण लोग द्वेष भी कर सकते हैं, (क्योंकि लोगों का स्वभाव दुष्ट है वह अन्य की प्रधानतया पार्श्ववर्ती की समृद्धि या उत्कर्ष को देख नहीं सकते) तथा इस रूप से विराजने पर हम लोगों की मुक्ति के शीघ्र ही हो जाने का सम्भव है, अतः भक्ति रस का अनुभव न हो सकेगा, एवं पुत्र भाव की मर्यादा भी न रह पावैगी, इसलिये रूप के अप्रदर्शन की प्रार्थना उचित ही है, इस सब दोषों के परिहार के लिये इस समय कंस को आपके जन्म का ज्ञान न हों यह प्रार्थना की है, अथवा श्री देवकी इस आशय से —

**श्री सुबोधिनी** — शीघ्रं मुच्येरन् भक्तिरसानुभवश्च न स्यान् मर्यादा च भज्येतेत्यतो रूपाप्रदर्शनं प्रार्थना युक्तैव, एतत्सर्वदोषपरिहारार्थं साम्प्रतं कंसस्याज्ञानं भवत्वितिप्रार्थना, इदानीं मारणे वा युद्धसमये स्वजीवनार्थमनुपसंहारे पूर्वोक्तपक्षसम्भवादपसंहारोऽपि प्रार्थ्यः, भगिनीपतिश्चेति कदाचिन्न मारयेदित्याशङ्काव्युदासार्थमाह घोरादिति, प्रार्थनीयसर्वदानसामर्थ्यार्थं स त्वमिति, स पूर्वोक्तधर्म एव त्वं, घोरो निर्दयो भयानकः, क्रूर इतियावत् उपायेन विषादिनाऽमारणार्थमुग्रसेनात्मजादित्युक्तं, उग्रसेनस्य शरीरजः कथं वध्यो भवेत्? घोरत्वात् स मारयेदेव, त्रस्तानिति, पूर्वपुत्रमारणेन, त्राहि पालय, उभयपदी धातुरय प्रचुरप्रयोगान्निश्चीयते,

**व्याख्यार्थ** — रक्षा की प्रार्थना करती है कि यदि अभी आप कंस को मारें तो उसके साथ आप के युद्ध होने के काल में मेरा जीवन नहीं रहेगा उस आपके अग्रजों के हत्यारे का वह भयङ्कर ईश्वर उपस्थित होते ही प्राण निकल जावेंगे अतः रक्षा की प्रार्थना आवश्यक है, एवं रूप के उपसंहार या परिवर्तन की प्रार्थना इस ईष्टि से आवश्यक है कि यदि इस अद्भुत रूप को ही धारण किये रहेंगे तो पूर्वोक्त पक्षों का संभव है कंस को मारकर अन्यत्र पधारने में उसके पक्षपातियों से हमको आशङ्का रहेगी और यहां विराजने पर लोक प्रद्वेष की आपत्ति बनी रहेगी, अतः इस लौकिक रूप का उपसंहार भी प्रार्थनीय ही हैं, बहन बहनोई का सम्बन्ध विचार कर कदाचित् कंस नहीं

मारे ऐसी सम्भावना नहीं की जा सकती है, उक्त सम्भावना या आशङ्का के निवारणार्थ

(घोरात्)<sup>+</sup> यह विशेषण कंस के प्रति प्रयुक्त किया है, 'सत्त्वम्' इन शब्दों द्वारा भगवान् के उस सामर्थ्य की सूचना है जिस सामर्थ्य से आप अपने भक्तों के सर्वविध प्रार्थनीय अभीष्ट पदार्थों को देते रहते हैं, पूर्व में जिन शरणागत वत्सलता आदि गुणों को कहा है आप उन समस्त गुण या धर्मों के आश्रय हैं 'घोर' शब्द से कंस को निर्दय एवं भयानक हत्यारा कहा है, एवं उग्रसेन का आत्मज (शरीर से उत्पन्न हुआ पुत्र) बतलाकर उसकी अन्य उपायो से अवध्यता सूचित की है कि वह विष आदि के द्वारा नहीं मारा जा सकेगा क्योंकि वह जिस शरीर से उत्पन्न हुआ है उसकी तो सेना ही 'उग्र' विष रूप है अतः विष का प्रभाव उस पर नहीं पड़ सकता, वह तो स्वयं ही घोर हालाहल विष है, 'त्रस्तान्' पद के द्वारा अपनी भयभीत परिस्थिति का चित्रण करती हैं क हम लोग अत्यन्त उद्विग्न हैं हमारे पूर्व पुत्रों को मार कर कंस ने हमको अत्यन्त व्यथित कर दिया है उस कंस से हमारी रक्षा करो, 'त्राहि' यह पालनार्थक 'त्रैङ्' धातु का प्रयोग पारिनीय व्याकरण की रीति से यद्यपि सङ्गत नहीं

श्री सुबोधीनी — ननु पर्यवसाने बाधाभावाद् इदानीं मारणपक्षे किमिति रक्षा प्रार्थ्यत इति चेत् तत्राह भृत्यवित्तासहासीति, भृत्यानामस्मदादीना वित्तासं भयं हन्तीति तथा, असीति तव सङ्कल्पः, यथा गन्धः पृथिव्या एवैव भगवतो भक्तदुःखनिवर्तकत्वमेव यथाऽऽस्मद्रक्षेदानीममारणेनान्यत्र गमनेन च कर्तव्या तथा स्थितौ रूपोपसहारश्च कर्तव्य इत्याह रूपं चेदमिति, सर्वदाऽनेन रूपेण स्थातुमयुक्तमिति, इदं रूपं मांसंशां चर्मचक्षुषां प्रत्यक्ष मा कृषीष्टाः, तर्हि कस्यापि मुक्तिर्न स्यादित्याशङ्क्याह ध्यानधिष्यमिति, ध्यानमेव धिष्यं स्थानं यस्य, ध्यान एव प्रकाशो भवतु न बहिः, अतः सर्वं सुस्थं भविष्यतीतिभावः, मा कृषीष्टा इत्यनेन चैतज् ज्ञापितं, अयं स्वेच्छयैव प्रकटीकरोति, वस्तुतस्त्विन्द्रियावेद्यमेव, मांसंशामित्यनेन दैत्या एते मांसभक्षका मांसमेव पश्यन्ति सर्वत्र न तु विहितं निषिद्धं वा विचारयन्तीत्युक्तं, चकारस्तूक्तसमुच्चयार्थः ॥२८॥

व्याख्यार्थ — वहा इसे आत्मने पदी ही माना है, परन्तु स्तोत्रों में इसका प्रयोग अधिक मात्रा में मिलता है अतः इसे उभयपदी मानना आवश्यक है, ऐसा निश्चय किया जाता है, यह शङ्का की जा सकती है कि कंस का अभी वध करने में परिणाम तो बाधा

रहित ही रहेगा उसमें तो कोई आपत्ति नहीं आने की तो रक्षा की प्रार्थना की क्या आवश्यकता इसके समाधान के विषय में श्री देवजी कहती है कि आप तो अपने भृत्यगण हम सेवक लोगों के विविध प्रकार के त्रासों का विनाश करने वाले हैं, (अतः परिणाम में बाधा न होने पर भी आरम्भ की पूर्वोक्त बाधा निवृत्ति के लिए रक्षा प्रार्थनीय है) 'असि' पद के द्वारा भगवान् के संकल्प की सूचना है कि आपका तो यह सङ्कल्प है 'परित्राणाय साधुनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्' भक्तों का दुःख निवारण करना आपका स्वभाव है जिस प्रकार 'गन्ध' पृथिवी का स्वाभाविक गुण है उसी प्रकार भक्तों के दुःखों की निवृत्ति करना आपका सहज धर्म है, जिस प्रकार हम लोगों की रक्षा इस समय कंस के न मारने से एवं अन्यत्र पधारने से करनी आवश्यक है, उसी प्रकार यहाँ स्थिति रखने में इस रूप का उपसंहार करना भी आवश्यक है, इस बात को 'रूपञ्चेदम्' उस उत्तरार्ध से कहती हैं कि सर्वदा इस अलौकिक रूप से विराजना उचित नहीं इस रूप को लौकिक बाह्य दर्शी चर्म चक्षु लोगों के प्रत्यक्ष न कीजिये इस स्वरूप के दर्शन के बिना किसी की मुक्ति न हो सकेगी इस आशङ्का के समाधान में कहती हैं कि यह रूप तो 'ध्यानाधिष्ठय' है ध्यान ही इसका स्थान है अतः ध्यान में हो इसका प्रकाश होना चाहिए बाहर नहीं, इससे सर्व व्यवस्था सुन्दर रहेगा, ध्यान से मुक्ति हो सकेगी, 'मा कृणीष्टाः' साधारण लोगों के प्रत्यक्ष न करिये ऐसा कहने से सूचित होता है कि यह स्वरूप स्वभावतः तो इन्द्रिय वेध नहीं अप्रत्यक्ष ही है परन्तु भगवदिच्छा से ही प्रत्यक्ष होता है, 'मांसंशाम्' पद से सूचित किया है कि यह मांसाहारी दैत्य सर्वत्र मांस को ही देखते हैं कर्तव्य, अकर्तव्य का विचार —

श्लोकः — जन्म ते मय्यसौ पापो मा विद्यान् मधुसूदन ।।

समुद्विजे भवद्वेतोः कंसादहमधीरधीः ।।२६।।

मूलार्थ — हे मधुसूदन! वह पापी कंस मुझ में आप के जन्म को न जान पावै, मैं आपके कारण कंस से डरती हूँ मेरी बुद्धि अधीर हो रही है धैर्य धारण नहीं कर पाती ।।२६।।

श्री सुबोधिनी — अन्यतरकरणाभावाय मध्यमपक्षे स्वतो निवृत्तावपि कसश्चेज् जानीयात् स्वयमागत्य युद्धं कुर्यात् अत एव स दोषस्तदवस्थ इति तस्य जन्माज्ञानं प्रार्थयति जन्म त इति, असौ

कंसस्ते जन्म मा विधात्, यतोऽयं पापः, तर्हि मत्स्वरूपं न जानासीति चेत् तत्राह मधुसूदन इति, यद्यप्येतज् जानीमस्तथापि मध्यमपक्षशङ्कया प्रार्थ्यते, ननु मध्यमपक्षे को दोषो विश्वासस्तु न कर्तव्य इति चेत् तत्राह भवद्धेतोः कंसादहं सम्यगुद्विजे, विश्वासः कर्तव्य इति चेत् तत्राहाधीरधीरिति, न हि भगवत्युत्पन्ने परमानन्दे कोऽपि क्लेशहेतुर्भवितुमुचितः, भवद्धेतोरित्यनेनैतज् ज्ञापयति यद्ययं जानीयादस्मादुत्पन्नो भगवानन्यत्र तिष्ठतीति तदा निर्बन्धेन समानयनं वा प्रार्थयेत् पूर्वं प्रतिज्ञातत्वात्, अतोऽस्य ज्ञानाभाव एवोचितः ॥२६॥

व्याख्यार्थ — नहीं करते, 'रूपञ्च' यहां पर 'च' शब्द पूर्वोक्त रक्षा का समुच्चायक है अर्थात् देवकी को 'रक्षा' और रूप का 'अदर्शन' दोनों ही अपेक्षित है ॥२६॥ कंस को अभी इसी समय मारा जावै और अलौकिक रूप को सर्व साधारण देखे इन दोनों घटनाओं में से एक भी घटना उपस्थित न हो न तो कंस अभी मारा जाय और न सर्व साधारण को भगवत्स्वरूप का दर्शन ही हो इसलिये श्री देवकी कंस को भगवान् क जन्म का अज्ञान चाहती है कि कंस को आपके जन्म का ज्ञान न हो, अभी कंस को न मारकर अन्यत्र पधारें यह प्रथम पक्ष है, उसके विषय में अपने प्राणों की आशंका थी देवकी ने पूर्व में प्रस्तुत की है, एवं कंस को अभी न मारकर यहां पर ही विराजमान रहें यह तृतीय पक्ष है उसके विषय में भी साधारण लोगों का प्रद्वेष एवं हम लोगों की शीघ्र मुक्ति का प्रसङ्ग. आपत्ति रूप से निर्दिष्ट किया गया है, कंस को अभी मारकर अन्यत्र पधार जावें यह मध्यम पक्ष है, इस मध्यम पक्ष में भी स्वयं कंस के पास जाकर उसे मारें तो आपके अन्यत्र पधारने पर उसके पक्षपातियों का भय हमको रहेगा अतः आप स्वतः अपनी और से कंस के मारने से निवृत्त भी हो जावें स्वयं उसे मारने को नहीं भी पधारें तो भी यदि कंस को आपके जन्म का ज्ञान हो जायगा तो स्वयं आकर युद्ध करेगा, अतः हमारे प्राणों की स्थिति न रहने की संभावना का दोष तो इस मध्यम पक्ष में भी बना ही रहेगा हमारे प्राण उस भयङ्कर ईश्वर को देखकर नहीं रह पावेंगे, अतः आपके जन्म का ज्ञान कंस को नहीं होना चाहिये ऐसी प्रार्थना करती हैं कि यह कंस आपके जन्म को नहीं जाने, क्योंकि यह पापात्मा है, अत्यन्त भयङ्कर हत्यारा है, आप ऐसा न कहें कि तू मेरे स्वरूप को नहीं जानती, मैं जानती हूँ आप मधु दैत्य के विनाशक हैं, यद्यपि हम लोग जानते हैं कि आप ही उसे मारेंगे तो भी मध्यम पक्ष की सम्भावना से



प्रार्थना की जाती है, आप कह सकते हैं कि मध्यम पक्ष में क्या दोष है अविश्वास करना तो उचित नहीं, मैं इस विषय —

**श्लोक: —** उपसंहर विश्वात्मन्नदो रूपमलौकिकम् ॥

**शङ्खचक्रगदापद्मश्रिया जुष्टं चतुर्भुजम् ॥३०॥**

**मूलार्थ —** हे विश्वात्मन्! शङ्ख, चक्र गदा पद्म और अलौकिक शोभा से सम्पन्न इस अलौकिक रूप को छुपा लीजिये ॥३०॥

**श्री सुबोधिनी —** रूपान्तरस्वीकारे त्वन्यत्रापि स्थापयितुं शक्यते न त्वनेन रूपेणेत्युपसंहारं प्रार्थयत्युपसंहरेति अदो वेदवेद्यमलौकिकं रूपं लोक उचितं न भवतीत्युपसंहर, विश्वात्मन्निति रूपग्रहण उपसंहारे च सामर्थ्यं द्योतितं, स हि विश्वस्मिन् सर्वाण्येव रूपाणि गृह्णात्युपसंहरति च, अद इतिपदेन चैतज् ज्ञापयति, अवतारो नोपसंहर्तव्योऽलौकिकत्वमात्रं मुपसंहर्तव्यमिति, सर्वमेवालौकिकमिति सर्वस्यैवोपसंहारे प्राप्ते यत्लौकिकसमानं तत् स्थापनीयमन्यदुपसंहर्तव्यमिति

**व्याख्यार्थ —** मैं कहती हूँ सुनिये आपके कारण से मैं कंस से अत्यन्त उद्विग्न हूँ भय से कांप रही हूँ, विश्वास करना आवश्यक है पर विश्वास धीरता की अपेक्षा रखता है मैं तो 'अधीर धीः' हूँ, मेरी बुद्धि तो धैर्य को खो बैठी है, परमानन्द मय भगवान् के प्रकट हो जाने पर किसी भी प्रकार के क्लेश का कारण उपस्थित होना उचित नहीं, 'भवद्भेतोः' पद से यह सूचित करती हैं कि यदि कंस को विदित हो जावे कि हम लोगों से उत्पन्न हुए भगवान् कहीं अन्यत्र बिराजते हैं तो हठ पूर्वक आपको मंगालेने के लिये हमें बाध्य करेगा क्योंकि पूर्व में वैसी प्रतिज्ञा उससे की गई है कि अपने पुत्रों को तुम्हें देंगे, अतः कंस को आपके जन्म का ज्ञान ही न होना चाहिये ॥२६॥

**व्याख्यार्थ —** अन्य रूप के स्वीकार करने पर तो आपको कहीं अन्यत्र भी पधराया जा सकता है, इस अद्भुत रूप से तो नहीं पधराया जा सकता, अतः इस रूप के उपसंहार की प्रार्थना करती हैं, कि वह वेद के द्वारा जानने योग्य अलौकिक रूप लोक में उचित नहीं, अतः इसे छुपा लीजिये, 'विश्वात्मन्' इस सम्बोधन के रूप के ग्रहण एवं उपसंहार के विषय में सामर्थ्य की सूचना है कि विश्वात्मा भगवान् विश्व में सब ही रूपों

का ग्रहण और त्याग भी करते रहते हैं,<sup>+</sup> (अदः) पद से भगवत्स्वरूप की अलौकिकता व्यक्त की है जिसके द्वारा यह सूचित किया है कि अवतार को तिरोहित न किया जावे अलौकिकता मात्र का ही तिरोभाव कर्तव्य है, भगवत्स्वरूप में सब ही अलौकिक सामग्री है तो सब का ही उपसंहार करना होगा ऐसी दशा में जो लोक के समान है उसको रखना चाहिये अन्य जो लोकवत् नहीं है उसका उपसंहार करना चाहिये ऐसा बतलाती हुई श्री देवकी अलौकिक अंश को कहती हैं, कि शंख, चक्र, गदा, पद्म —

श्री सुबोधिनी — वदन्त्यलौकिकमंशमाह शङ्खचक्रेति, शङ्खचक्रगदा—पद्मान्यायुधान्युपसंहर्तव्यानि, अलौकिकी श्रीश्चोपसंहर्तव्या भुजानां चतुष्टयं चोपसंहर्तव्यं द्वयं स्थापनीयं, उपलक्षणमेतत्, प्राकृतभावाद्यदतिरिक्तं तदुपसंहर्तव्यं, अविद्यामानोऽपि प्राकृतो भावः स्थापनीयः, यद्यपि चतुर्भुजं रूपं देवादीन् प्रति प्राकृतमेव तथापि साधारणान् प्रति तार्द्ध्यमपि न प्रकटनीयमितिप्रार्थना ॥३०॥

व्याख्यार्थ — इन आयुधों को छुपा लीजिये और अलौकिक श्री 'शोभा' को भी छुपा लीजिये, एवं चार भुजाओं को छुपा लीजिये, दो ही भुजा रखिये, यह कथन एक उपलक्षण है लौकिकता से जो भिन्न प्रतीत होता है वह सब छुपा लीजिये, अलौकिक स्वरूप में यद्यपि लौकिकता की सत्ता अंशतः भी नहीं है तो भी लोगों के दिखाने भर के लिये उसको रखना आवश्यक है, यद्यपि चतुर्भुज रूप देवताओं के प्रति साधारण जैसी बात है क्योंकि देवताओं के तो चार मुख, तीन नयन एवं विभिन्न संख्या वाले बाहु आदि प्रसिद्ध है परन्तु सर्व साधारणों के प्रति वैसा चतुर्भुज रूप भी प्रकट करने योग्य नहीं यह प्रार्थना है ॥३०॥

॥ श्री भगवानुवाच ॥

श्लोकः— विश्वं यदेतत् स्वतनौ निशान्ते यथाऽवकाशं पुरुषः परो भवान् ॥

बिभर्षि सोऽयं मम गर्भगोऽभूदहो नृलोकस्य विडम्बनं महत् ॥३१॥

मूलार्थ — प्रलय काल के समाप्त हो जाने पर सृष्टि काल में इस सम्पूर्ण विश्व को आप अपने ब्रह्माण्ड शरीर में धारण करते हैं, (इस विश्व के वित्तान में कोई प्रकार

टिप्पण — <sup>+</sup> 'अदस्' शब्द का प्रयोग दूरवर्ती पदार्थ के प्रति होता है समीपवर्ती के प्रति इदम्, एतद्, शब्दों का प्रयोग होता है भगवत्स्वरूप रूप लोक से अत्यन्त दूरवर्ती अलौकिक है अतः यहाँ प्रयुक्त हुआ है।

का सङ्कोच न कर ज्यों का त्यों अपने देह में इसे आप रखते हैं) आप ही परम पुरुष हैं पुरुषोत्तम हैं, वह ही यह ब्रह्माण्ड विग्रह पुरुष मेरे गर्भ गत हुआ यह आश्चर्य है, मनुष्य लोक का महान् नाट्य है, अनुकरण है ॥३१॥

**सुबोधिनी** — एवं स्तुत्वा प्रार्थयित्वा च विरोधं परिहरति विश्वमिति, अथवाऽर्धोपसंहारेणार्धस्थापने सामर्थ्यार्थं विरोधिगुणमनूद्यान्धतरस्य प्रदर्शनपरत्वेनोपपादयन्ती समर्थयते विश्वमिति, स्वतनौ स्वशरीरे विराजि ब्रह्माण्डाख्ये निशान्ते सृष्टिसमये यथाऽवकाशं चतुर्दशलोकात्मकं भुवनं बिभर्षि, प्रलये सूक्ष्मतया निवेशनं भवतीति निशान्त इत्युक्तं,

**व्याख्यार्थ** — इस प्रकार स्तुति एवं प्रार्थना करने के अनन्तर 'विश्वम्' इत्यादि श्लोक से निरोध का परिहार करती हैं, अथवा अर्ध (अलौकिक अंश) का उपसंहार करके अर्ध (लौकिक समान अंश) के रखने में समर्थता के प्रतिपादन करने के लिये 'विश्व को स्वकुक्षिस्थ रखना और स्वयं मेरे कुक्षिस्थ होना इस विरोधी गुण का अनुवाद कर उन दोनों में से एक गुण मेरे कुक्षिस्थ होना तो दिखलाने भर को है इस प्रकार विरोध के अभाव का उपपादन करती अविरोध का समर्थन करती हैं कि ब्रह्माण्ड नाम वाले अपने विराट् शरीर में सृष्टि के समय आप यथावकाश उसे सङ्कुचित किये बिना ही चतुर्दश लोकात्मक विश्व को धारण करते हैं, 'निशान्त' शब्द से प्रलय रूप निशा का अन्त हो —

**श्री सुबोधिनी** — किर्मीरतया स्थितिर्निषिद्धा, नन्वत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह पुरुषः पर इति, पुरुषो व्यष्टिः परः समष्टिः, भवानिति सम्मत्यर्थं, तेन स्वस्य एतादृजमाहात्म्यज्ञानवत्त्वसम्बोधनं, एवं विश्वाधारभूतोऽपि भवान् मम गर्भगोऽभूत्, यद्यपि विरुद्धसर्वधर्माश्रयस्य भगवतो नेदमाश्चर्यं तथापि स्वप्रतीत्याश्चर्यं मत्वा परिहरत्यहो नृलोकस्य विडम्बनं महदिति, अहो इत्याश्चर्यं, नृलोकस्य मनुष्यमात्रस्य महदेतदनुकरणमितिसमाधानं, महानप्यल्पमनुकरोति यथा पुरुषो बिडालं तथापि ब्रह्माण्डविग्रहस्य परमसूक्ष्मतः,ऽऽश्चर्यरूपेत्याशङ्क्याह महदिति, अनुकरणं महदिति, अनुकरणं सत्यमेव, परमलौकिकमनुकरणं, अनेन गर्वाभावोप्युक्तः ॥३१॥

**व्याख्यार्थ** — जाने पर आने वाला सृष्टि का काल सूचित होता है, प्रलय काल में तो सूक्ष्म रूप से विश्व का ब्रह्म में निवास रहता है, स्थूल रूप से नहीं अतः प्रलय की समाप्ति होने पर उपस्थित होने वाले सृष्टि काल निर्देश निशान्त शब्द से किया है, 'यथाऽवकाश' शब्द के द्वारा 'किर्मीरतया' सङ्कुचित रूप से स्थिति का निषेध किया है, कि अवकाश बना रहे अपेक्षित विकास में कोई बाधा न आवै उस प्रकार विश्व का धारण

आप सृष्टि काल में करते हैं, इसमें प्रमाण क्या है इस आशङ्क्या के समाधान करने के लिये 'पुरुषः' 'परः' इन दो शब्दों का प्रयोग हुआ है, श्री देवकी कहती हैं कि आप ही पुरुष हैं और आप ही पर हैं, वृक्ष आदि भांति व्यष्टि एक देशी भी आप हैं और वन आदि की भांति समूहात्मक समष्टि सर्व देशी भी आप हैं अतः आप से विश्व का सविकास धारण वन और वृक्ष के दृष्टान्त से सर्वथा उपपन्न है, प्रमाणान्तर की कोई अपेक्षा नहीं रह जाती, इस विषय में भगवान् की सम्मति के सूचनार्थ 'भवान्' शब्द प्रतियुक्त हुआ है, कि आप से आप का स्वरूप तो छुपा नहीं आप तो जानते ही हैं कि आप ऐसे सी हैं, उक्त सम्मति के प्रदर्शन से श्री देवकी को अपना भगवद्विषयक ऐसे माहात्म्य के ज्ञान सम्पन्न होने पर भगवान् को भली भांति बोध कराना अभीष्ट है, इस प्रकार विश्व के आधार भूत होकर भी आप मेरे गर्व गव हुए यह आश्चर्य है, यद्यपि सर्व विरोधी धर्मों के आश्रय रूप भगवान् के विषय में यह आश्चर्य नहीं तो भी श्री देवकी अपनी प्रतीति से आश्चर्य मान कर विरोध का परिहार करती हैं कि यह तो मनुष्य मात्र का महान् अनुकरण हैं, 'अहो' शब्द आश्चर्य सूचक है, मनुष्य मात्र का अनुकरण हैं उक्त शंका का समाधान है, बड़े लोग भी छोटों का अनुभव करते हैं जैसे मनुष्य विडाल का अनुकरण करता है फिर भी ब्रह्माण्ड शरीर धारी पुरुषोत्तम की परम सूक्ष्मता आश्चर्य रूप है इस शङ्क्या की निवृत्ति को 'महद्' शब्द का प्रयोग किया है कि यह अनुकरण भी महान् है अन्य साधारण नहीं, अनुकरण है यह तो सत्य है परन्तु अलौकिक अनुकरण लोक साधारण अनुकरण नहीं, इस कथन से श्री देवकी ने अपने गर्व का अभाव सूचित किया है कि मेरा क्या सामर्थ्य है जो आपको धारण कर सकूँ यह तो सब आप ही का खेल है ॥३१॥

श्री सुबोधिनी आभास — एवमुभयोः स्तोत्रे सप्रार्थने कृते भगवान् स्वस्य पुत्रत्वे तादृशरूपेण प्राकट्ये च हेतुं वदन्तयोः पूर्ववृत्तान्तमाह परिज्ञानार्थं, त्वमेवेति चतुर्दशभिश्चतुर्दशविद्यानां प्रामाण्यार्थम् ।

व्याख्यार्थ — इस प्रकार वसुदेवजी और देवकी दोनों की की हुई प्रार्थना से सहित स्तुतियों के वर्णन करने पर भगवान् अपने पुत्र होने में एवं उस प्रकार से अलौकिक रूप से प्रकट होने के कारण को बतलाते हुए उन दोनों के पूर्व वृत्तान्त की उन्हें सर्वथा ज्ञात कराने के लिये (त्वमेव) इत्यादि चतुर्दश (१४) श्लोकों द्वारा सूचित

करते हैं, इस श्लोकों की १४ चतुर्दश-संख्या इस मर्म में रखी गई है कि पूर्ण ब्रह्म पर तत्त्व ही श्री देवकी नन्दन रूप में प्रकट होते हैं इसमें कोई सन्देह या असम्भावना आदि करने का अवकाश नहीं इसकी प्रमाणिकता में<sup>+</sup> चतुर्दश विद्यायें अपने सम संख्याक श्लोकों के मिश्र से उपस्थित है।

कारिका — पूर्वस्थितिस्तथा कार्यं प्रकारो भजनं हरेः ।  
 कालस्तोषश्च प्राकट्यं वरप्रार्थनया सह ॥१॥  
 अल्पबुद्धित्वभोगौ च जन्मत्रितयमेव च ।  
 त्रिगुणं भगवत्सत्यं लौकिकाद् वैदिकान् महत् ॥२॥  
 रूपदर्शनकार्यं च साधनं प्रोच्यते महत् ॥२½॥

व्याख्यानार्थ — श्री देवकी वसुदेवों की पूर्व जन्म की स्थिति प्रथम श्लोक में कही है द्वितीय श्लोक में उनका कार्य तप कहा है, तृतीय श्लोक में तपश्चर्या का प्रकार कहा है, चतुर्थ श्लोक में उसका भगवदाराधन हरिभजन कहा है, पञ्चम श्लोक में तपस्या का काल है, षष्ठ श्लोक में भगवान् का सन्तुष्ट होना कहा है, सप्तम श्लोक में वरदानार्थ भगवान् का प्रकट होना कहा है साथ में वरके लिये प्रार्थना भी कही है ॥१॥ अष्टम श्लोक में उनकी बुद्धि की अल्पता बतलाई है कि मोक्ष नहीं मांग सके नवम श्लोक में उनका ग्राम्य सुख भोग कहा है, दशम, एकादश, द्वादश, इन तीन श्लोकों में भगवान् के तीन वार जन्म ग्रहण करने का निर्देश किया है भगवान् का कहा हुआ सत्य वचन लौकिक और वैदिक इन दोनों से अधिक महत्त्व रखता है, इस मर्म की सूचना तीन बार जन्म लेने से होती है, लौकिक<sup>+</sup> सत्य एक गुण है वैदिक सत्य द्विगुण है लौकिक वैदिक दोनों से अधिक बलवान है और भगवत्सत्य त्रिगुण है लौकिक वैदिक दोनों से अधिक बलवान है ॥२॥ त्रयोदश श्लोक में भगवत्स्वरूप के दर्शन का कार्य पूर्ण जन्मों का स्मरण कहा है, चतुर्दश श्लोक में स्नेह रूप महान् साधन का निर्देश किया है ॥२½॥

टिप्पण — \* ऋग्<sup>१</sup>, यजु<sup>२</sup>, साम<sup>३</sup>, अथर्व<sup>४</sup> यह चार वेद, शिक्षा<sup>१</sup>, कल्प<sup>२</sup>, व्याकरण<sup>३</sup>, निरुक्त<sup>४</sup>, छन्द<sup>५</sup>, ज्योतिष<sup>६</sup> यह है, अङ्ग<sup>७</sup>, स्मृति<sup>८</sup>, पुराण<sup>९</sup>, मीमांसा<sup>१०</sup>, तर्क<sup>११</sup> यह चार शास्त्र मिलकर १४ विद्या हैं —

टिप्पण — + लौकिक सत्य वह है कि इस जन्म में कहा हुआ इसी जन्म में फलित हो, वैदिक सत्य जन्मान्तर में भी फलित होता है भगवत्सत्य तो मोक्ष पर्यन्त जितने भी जन्म हों सर्वत्र फलित होता है।

॥ श्री भगवानुवाच ॥

श्लोकः — त्वमेव पूर्वसर्गेऽभूः पृश्निः स्वायम्भुवे सति ॥

तदायं सुतपा नाम प्रजापतिरकल्मषः ॥३२॥

मूलार्थ — श्री भगवान् ने कहा कि हे सती! पूर्व सृष्टिगत स्वायम्भुव मन्वन्तर में तुम ही प्रश्नि नाम वाली हुई थी, उस समय यह वसुदेवजी सुतपा नाम वाले प्रजापति हुए थे इनमें काम क्रोध आदि कल्मष (दोष) नहीं थे ॥३२॥

श्री सुबोधिनी — प्रथमं स्थितिमाह, पूर्वसर्गे प्रथमब्रह्माण्डे प्रथमकल्प इतः पूर्वकल्पे वा, साक्षाद् देवकी प्रत्येवाह भगवान्, तस्या दीनत्वेन स्नेहातिशयात्, पृश्निरितिनाम, त्वमेव पृश्निरभूः स्वायम्भुवे मन्वन्तरे, सतीतिसम्बोधन अनेनास्या अधिककृपायां धर्मातिशयो हेतुरुक्तः, तदा तस्मिन्नेव समये, अयमपि सुतपा इति नाम प्रसिद्धः, अयं च प्रजापतिर्ब्रह्मणः सुतो मरीच्यादिवत् कर्दमवत् स्वभावत एवायमकल्मषः कामक्रोधलोभादिरहितः ॥३२॥

व्याख्यार्थ — पूर्व में स्थिति को कहते हैं कि पूर्व सृष्टि काल में जब सर्व प्रथम ब्रह्माण्ड रचना हुई उस प्रथम कल्प में अथवा इस वर्तमान कल्प से पूर्व कल्प में हे सती! तु प्रश्नि हुई थी, श्री भगवान् ने श्री देवकी को ही सम्बोधित कर साक्षात् उनके प्रति ही वचन कहे हैं, क्योंकि उनकी दीनता के कारण उनमें स्नेह अधिक था, (प्रश्नि) यह श्री देवकी का उस समय नाम था, उनके प्रति आप कहते हैं कि तुम ही प्रश्नि हुई थी, उस समय स्वायम्भुव मन्वन्तर था, (सति) शब्द से सम्बोधित कर श्री देवकी के प्रति अधिक कृपा होने का कारण निर्दिष्ट किया है कि 'पातिवृत्य धर्म की महत्ता ही वैसी कृपा का कारण है, उस समय यह श्री वसुदेवजी की सुतपा इस नाम से प्रसिद्ध प्रजापति हुए थे, यह (मरीचि) आदि की भांति ब्रह्मा के पुत्र होने से प्रजापति कहे गये, कर्दम प्रजापति की भांति स्वभाव से ही यह अकल्मष थे काम, क्रोध, और लोभ आदि दोषों से रहित थे ॥३२॥

श्लोकः — युवां वै ब्रह्मणादिष्टौ प्रजासर्गे यदा ततः ॥

सन्नियम्येन्द्रियग्रामं तेपाथे परमं तपः ॥३३॥

मूलार्थ — जब ब्रह्मा ने तुम लोगों को प्रजा सृष्टि के निमित्त आदेश दिया, उसी समय आदेश पाते ही तुम दोनों ने इन्द्रिय वर्ग को वश कर परम तपस्या का आरम्भ कर दिया ॥३३॥

श्री सुबोधिनी - एताऽर्थाँशौ पूर्व स्थितौ ताऽर्थाँशौ प्रति ब्रह्मण आज्ञामाह युवामिति, प्रजासर्गे ब्रह्मणाऽऽदिष्टौ तदा ततस्तदनन्तरमेव क्वचिद् देशविशेषे सन्नियम्येन्द्रि ग्रामं ततः प्रभृति सम्बन्धमकृत्वा परमं तपस्तेपाथे, सर्वेन्द्रियनिरोधेन सर्वाहारपरिवर्जनेन वाय्वादिनिरोधे विहिते शरीरे सन्तापजननात् तपो भवति, परममुत्कृष्टं भगवद्विषयकत्वात्, एव तस्मि जन्मनि कार्यमुक्तम् ॥३३॥

व्याख्यार्थ - ऐसे पूर्व में स्थित थे श्री देवकी परम पतिव्रता श्री श्री वसुदेव भी कामादि दोष रहित थे उस प्रकार योग्यता पूर्व उन दोनों के प्रति ब्रह्माजी की आज्ञा हुई ऐसा युवाम् इसा श्लोक से कहते हैं कि प्रजा की सृष्टि के निमित्त जब ब्रह्मा ने तुम लोगों को आदेश दिया उसके अनन्तर आदेश पाते ही तुम दोनों किसी विशेष स्थान पर इन्द्रिय समूह को व । में कर उस समय से लौकिक दम्पती के सम्बन्ध को न कर परम तप को करने लगे, सर्व इन्द्रियों के नियन्त्रण से सर्व प्रकार के आहार का त्याग कर देने के कारण वायु अदि के निरोध होने पर शरीर में सन्ताप के जन्म होने से तप हो जाता है, इनका यह तप भगवान् को उद्देश्य रूप में रखकर था अतः भगवद्विषयक होने से इस तप को (पर) अत्यन्त श्रेष्ठ या उत्कृष्ट कहा है, इस प्रकार उस जन्म में जो उन्होंने कार्य किया था उस कार्य का (तप का) निर्देश किया है ॥३३॥

श्लोकः - वर्षवातातपहिमधर्मकालगुणाननु ॥

सहमानौ श्वासरोधविनिर्धूतमनोमलौ ॥३४॥

मूलार्थ - तुम दोनों वर्षा, वायु, पञ्चाग्नि का ताप, शीत, एवं धाम आदि काल के गुणों को सहते रहते थे तथा प्राणायाम के द्वारा मन के मलों को निकाल चुके थे ॥३४॥

श्री सुबोधिनी - तस्य तपसः प्रकारमाह वर्षवातेति, वर्षवातयोः सहनं प्रावृट्कालेऽना-  
वृतदेशेन्तरिक्षे स्थित्वा, आतपसहनं पञ्चाग्निप्रकारेण, हिमसहनं जलवासादिना, धर्मः कालान्तरीयोऽपि,  
कालगुणा अन्येऽपि शीतादयः साधारणाः तेषामप्रतीकारेण स्थितिरेव सहनं, उभावपि सहमानौ न  
त्वेकस्तपः करोत्यपरस्तत्सेवामिति ॥३४॥

व्याख्यार्थ - 'वर्षवात' इत्यादि श्लोक से उस तप के प्रकार को कहते हैं, वर्षा ऋतु के समय पर खुले स्थान पर किसी वृक्ष आदि के ऊपर अन्तरिक्ष में बैठकर वर्षा और पवन का सहन करना, एवं पञ्चाग्नि प्रकार से सब ओर से ताप का सहन करना (चारों दिशाओं में अग्नि पुज्ज स्थापित कर ऊपर से सूर्य का ताप सहना) जल में

निवास आदि के द्वारा हिमशीत का सहन करना, पञ्चाग्नि ताप के काल से विभिन्न काल वाले धाम का भी सहन करना, एवं अन्यान्य तत्समय के शीत आदि काल गुणों का सहन करना उन शीत आदि से बचने का उपाय न कर उनमें ठहरे रहना ही उनका सहन है, दोनों ही सहन करते रहे यह बात नहीं थी कि एक तप करता हो और दूसरा उसकी सेवा करता हो ॥३४॥

**श्लोक: — शीर्णपर्णानिलाहारावुपशान्तेन चेतसा ॥**

**मत्तः कामानभीप्सन्तौ मदाराधनमीहतुः ॥३५॥**

**मूलार्थ —** वृक्षों के झरे हुए पत्तों का और कभी वायु का ही आहार कर लेते थे, शान्त चित्त से मेरे आराधन को करते थे (सकाय आराधना थी) मुझ से पुत्र आदि कामनाओं की सिद्धि प्राप्त करना चाहते थे ॥३४॥

**श्री सुबोधिनी —** तार्द्धशयोर्भगवत्सेवामाह शीर्णेति, कियत्कालतपसा चित्ते शुद्धे भगवत्सेवैव कार्या नान्यथेति ज्ञात्वा तपः कुर्वाणावेव परिचर्या कृतवन्तौ सर्वथाहाराभावे बहिस्संवेदनाभावे चोभयोः परिचर्या न भवतीति तार्द्धशेन तपसा परिचर्या कृतवन्तौ स विशेष उच्यते, शीर्णानि पर्णान्यनिलो वायुश्चाहारो ययोः, परमोपशान्तिः शुद्धसात्त्विकगुणाविर्भावः, स एवोपशमः, सोऽपि चित्तस्य स्वभावत एव चेज्जातस्तदोपशान्तं चित्तं भवति एवं यमा नियमाश्चोक्ताः, मत्तो हरेरेव कामान् पुत्रादीनभीप्सन्तौ सकामौ मदाराधन मत्परिचर्यामीहतुः कृतवन्तौ ॥३५॥

**व्याख्यार्थ —** उस प्रकार तपस्या में निरत हुए उन दोनों के द्वारा सम्पन्न हुई भगवत्सेवा का 'शीर्ण पर्णों' इत्यादि श्लोक से वर्णन करते हैं। कुछ समय तपश्चर्या से चित्त की शुद्धि हो जाने पर भगवत्सेवा करनी चाहिये अन्यथा चित्त शुद्धि के बिना नहीं, ऐसा जानकर आय दोनों तपश्चर्या करते करते सेवा करने लगे, सर्वथा आहार न करने पर और बाह्य अनुसन्धान के न रहने पर दोनों की सेवा नहीं हो पाती, अतः जिस प्रकार के तप के साथ सेवा की वह प्रकार विशेष कहा जाता है, कि झरे हुए पत्ते और पवन यह तो आप दोनों का आहार था, चित्त उपशान्त था, राजस, तामस, भावों से रहित शुद्ध सात्त्विक गुण भाव का चित्त में उदय होना ही परम उपशान्ति है, इसे ही उपशम कहते हैं, वह उपशम भी यदि चित्त का स्वभावतः सिद्ध हो जावै तब चित्त का स्वभावतः सिद्ध हो जावै तब चित्त उपशान्त होता है, इस प्रकार इनके यम नियमों का



निरूपण किया, भक्त दुःख हारी मुझ हरि से ही पुत्र आदि अभीष्ट पदार्थों की कामना करते हुए सकाम भाव से तुम लोगों ने मेरा आराधन का परिचर्या की ॥३५॥

श्लोक: — एवं वां तप्यतोर्भद्रे ! तपः परमदुष्करम् ॥

दिव्यवर्षसहस्राणि द्वादशेयुर्मदात्मनोः ॥३६॥

मूलार्थ — हे भद्रे ! इस प्रकार परम कठिन तप को करते हुए आप दोनों का देवताओं के बारह हजार वर्ष का दीर्घ काल व्यतीत हो गया क्योंकि मैं तुम दोनों के आत्मा में स्थित था ॥३६॥

श्री सुबोधिनी — एवं तिष्ठतोर्भावान् कालो जातस्तमाहैवमिति, भद्रे इतिसम्बोधन स्त्रीपुम्भावेन स्थितयोः सौभाग्यबोधनार्थ, उत्तरोत्तरतपोवृद्धौ परमदुष्करता,

व्याख्यार्थ — इस प्रकार रहने दोनों का जितना काल हुआ उसे उक्त श्लोक से कहते हैं, भद्रे<sup>+</sup> यह सम्बोधन स्त्री पुरुष भाव से रहते हुए दोनों के सौभाग्य की सूचना देता है, आगे आगे क्रम से तप की वृद्धि होने पर उस —

सुबोधनी — द्वादश दिव्यवर्षसहस्राणि चतुर्युगं, युगधर्मा अपि तयोर्बाधका न जाता इतिज्ञापनार्थ, तावत्काल देहस्थितौ हेतुर्मदात्मनोरिति, अहमेवात्मनि ययोः ॥३६॥

व्याख्यार्थ — की परम दुष्करता अधिक (कष्ट साध्यता) हो जाती है, देवताओं के द्वादश सहस्र (१२०००) वर्ष ही सत्य युग, त्रैता युग, द्वापर युग, कलियुग, इन चारों का काल मान है, कलिकाल आदि के युगधर्मों ने भी उन्हें बाधा नहीं पहुँचाई ऐसा बतलाने को वैसा काल का निर्देश है, उतने समय तक देह की स्थिति रहने में कारण का निर्देश (यदात्मनोः) इस पद से किया है कि मैं ही तुम दोनों के आत्मा या शरीर में उपस्थित था ॥३६॥

टिप्पण — 'उक्त श्लोक की व्याख्या में 'असकृत् एवं चिन्तयन्तौ' इन दोनों पदों का उल्लेख नहीं मिलता है, कारण चिन्तय है,

प्रथम कल्प — श्री सुबोधिनी के प्रमाणिक आदर्श पुस्तक की अप्राप्ति,

द्वितीय कल्प — आगे कारिकाओं में चिन्तन का आकार प्रकार कहना है अतः यहाँ पर उसके व्याख्यान को अनावश्यक समझा हो।

यद्यपि (भद्रे) यह सम्बोधन श्री देवकी के प्रति ही प्रयुक्त हुआ है अतः (देवक्या सौभाग्य बोधनार्थम्) इतना कहना ही पर्याप्त था परन्तु श्रीमदाचार्य चरणों की उक्त पंक्ति इस आशय को व्यक्त कर रही है कि स्त्री पुरुष दोनों ही यदि स्वकर्तव्य परायण हो तब ही प्रत्येक का सौभाग्य सम्पन्न होता है, अन्यथा उस सौभाग्य में अपूर्णता रहती है, पूर्ण सौभाग्य सूचक (भद्रे) यह सम्बोधन देवकी के सौभाग्य को बोध कराता हुआ दम्पती के सौभाग्य का बोधक है।

श्लोकः — तदा वां परितुष्टोऽहममुना वपुषाऽनघे ॥

तपसा श्रद्धया नित्यं भक्त्या च हृदि भाषितः ॥३७॥

मूलार्थ — हे पाप रहिते ! उस सत्य तुम दोनों के ऊपर मैं इसी अलौकिक शरीर से प्रसन्न हुआ था क्योंकि तुम लोगों ने तपश्चर्या, श्रद्धा एवं भक्ति नित्य परिचर्या (सेवा) के द्वारा मानसी भावना से हृदय में मेरा चिन्तन किया था ॥३७॥

श्री सुबोधिनी — एवं कृतेऽहं प्रसन्नो जात इत्याह तदेति, वां युवयोः परितस्तुष्टः सर्वभावेन, अहमिति, न मंदशो नाप्यह तस्यांशः, परं वपुरिदं प्रदर्शितं, आकारोऽय, वपुः पदेन पुत्रत्व स्थापयति, अन्यथा तयोः परमस्नेहो न स्यात्, अनघे इतिसम्बोधनं तार्थशेषोऽपि रूप इच्छाभावार्थ, तदपि च बालरूप, रूपस्य बलिष्ठत्वात् स्थानात् प्रच्युतिर्भवेदिति, तोषे त्रय हेतुस्तपः श्रद्धा नित्य परिचर्या च, एवमपि बहिर्मुखानां न परितुष्यतीति हृदि भाषित इत्युक्त, हृदये सर्वदा मानसपूजादिना भाषितश्चिन्तितइत्यर्थः ॥३७॥

व्याख्यार्थ — ऐसा करने पर मैं प्रसन्न हो गया यह बात (तदा) इत्यादि श्लोक से कहते हैं, तुम दोनों पर मैं सर्वथा सन्तुष्ट हो गया, (अहं) शब्द से यह कहना अभीष्ट है कि जो मैं हूँ वही मैं तब भी था वह मेरा कोई अंश हो या मैं उसका अंश होऊँ यह बात नहीं, और तो क्या शरीर भी यह ही था जो तुम्हें दिखाया है, यही आकार था, (वपुः) इस पद के द्वारा भगवान् (वं सुखं पुष्पाति) इस व्युत्पत्ति के आधार पर पुत्र भाव की स्थापना करते हैं, क्योंकि पुत्र भाव सुख का पोषक है, यदि पुत्र भाव की स्थापना न की जावै तो उन दोनों का परम स्नेह होना सम्भावित नहीं, (अनघे) यह सम्बोधन कन्दर्प कोटि लावण्य पूर्ण उस प्रकार के सुन्दर स्वरूप में काम भाव के उदय न होने का सूचक है, परम पतिव्रता होने से उनकी सर्वथा पापाचार से शून्यता का बोधक है, इस समय जैसा बाल रूप है उस समय भी जो रूप था वह भी बाल रूप था, यद्यपि बाल रूप से काम का उदय सम्भावित नहीं तो भी परम सुन्दर स्वरूप को देखकर अन्य स्त्रियों का अपने धैर्य आदि स्थान से च्युत हो जाना स्वाभाविक है, क्योंकि रूप मोहित करने में अतिशय बलवान् है, भगवान् के सन्तोष में तीन कारण हुए, तप, श्रद्धा और नित्य सेवा, तप आदि के होते हुए भी —

श्लोकः — प्रादुरासं वरदराड् युवयोः कामदित्सया ॥

त्रियतां वर इत्युक्ते मार्षशो वां वृतः सुतः ॥३८॥

**मूलार्थ** – तुम दोनों को अभीष्ट वर देने की इच्छा से वरदायकों का राजा स्वयं मैं प्रकट हुआ, 'वर माँगो' इस प्रकार मेरे कहने पर तुम दोनों ने मुझ जैसा पुत्र मांग लिया ॥३८॥

**श्री सुबोधिनी** – तदाहमाविर्भूतो जात इति वदन्नाविर्भावस्य बलनैकट्यनियमार्थं वरप्रार्थनामप्याह प्रादुरासमिति, वरान् ददत इति वरदा अन्ये ब्रह्मादयः, यावत्प्रार्थितमेव हि ते प्रयच्छन्ति, तेषां राजा वरदराष्ट्र, स तु ततो बहुगुणमलौकिकं च प्रयच्छति, अत एव माँशसुतवरणेऽहमेव वारत्रय सुतो जात इति वरदराजः, आविर्भावे हेतुमाह युवयोः कामदित्सयेति, युवयोरिति बहुकालतपस्तप्तौ निरूपितौ, ताभ्यां चाल्पमेव प्रार्थनीयं तपश्च बहु, यतो मन्निष्ठयोस्तपः स्वाभाविकादपि तपसोधिकफलमिति तद्वानार्थं वरदराजोक्तं, साधारण्येनैव ब्रियतां वर इत्युक्तं, तावपि मां साधारणं ज्ञात्वा बालकसौन्दर्येण च सम्मुग्धौ त्वामँशः पुत्रो भूयादिति वृत्तवन्तावित्याह माँश इति वां युवाभ्यां, सुतः, भूयादित्यर्थात् ॥३८॥

**व्याख्यार्थ** – बहिर्मुखों के ऊपर भगवान् प्रसन्न नहीं होते इस कारण इनकी अन्तर्मुखता के निरूपण करने की (हृदि भावितः) इस विशेषण का उपन्यास किया है, मानस पूजा आदि के द्वारा हृदय में मेरी भावना की गई, अन्तर्देश में मेरे स्वरूप का चिन्तन सदैव चलता रहा, अतः सन्तुष्ट होना आवश्यक था ॥३०॥

**व्याख्यार्थ** – (उस समय मैं प्रकट हुआ) इस प्रकार कहते हुए भगवान् (अपने प्रकट होने का फल निकट ही रहना है, शीघ्र ही मिलता है) ऐसा बतलाने का (प्रादुरासं) आदि श्लोक से वरयाचना को भी कहते हैं, अन्य ब्रह्मा आदि देवता वर देते हैं अतः (वरद) कहलाते हैं, साधना करने वाले की प्रार्थना के परिमाण से ही वह वर का दान देते हैं। उन वरदायक ब्रह्मादिकों का मैं सम्राट हूँ तो प्रार्थना से कहीं अधिक बहुत कुछ देता है और अलौकिक लोकोत्तर वस्तु को देता है, इसी कारण मुझ जैसे पुत्र का वर माँगने पर स्वयं मैं तीन वार पुत्र हुआ, इस कारण मैं वरदराज हूँ, प्रकट होने में कारण का निर्देश करते हैं कि (तुम दोनों के अभीष्ट प्रदान करने की इच्छा से मैं प्रकट हुआ) चार युगों के सुदीर्घ काल तक तपश्चर्या से तप्त हुए तापसों का (युवयोः) पद से उल्लेख किया है, उन तपोनिष्ठ व्यक्तियों के द्वारा जो भी मांगा जाता थोड़ा ही था, उनका तप अधिक था मेरे स्वरूप में पूर्ण निष्ठा वाले उन दोनों का तप स्वाभाविक तप से कहीं अधिक फल सम्पन्न होने के योग्य है इसलिये उसके फल देने की योग्यता के

सूचनार्थं वरदराट् शब्द कहा है, हमने (वर मांगिये) ऐसा साधारणतया ही कहा था, उन दोनों ने भी मुझे साधारण समझकर बाल सौन्दर्य से सम्मुग्ध होने के कारण (तुम जैसा पुत्र हो) ऐसा वर मांगा, इस बात को (यावँशः) आदि शब्दों से कहते हैं, (वां) शब्द (युवाम्) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, (वृतःसुतः) इन दो शब्दों के अर्थ से (भूयात्) इस क्रिया पद के इस प्रार्थना बोधक क्रिया पद का अर्थ स्वतः प्राप्त है, सुत वरण किया अर्थात् सुत होवे ऐसा वर मांगा ॥३८॥

श्लोकः — अजुष्टग्राम्यविषयावनपत्यौ च दम्पती ॥

न वव्राथेऽपवर्गं मे मोहितौ मम मायया ॥३९॥

मूलार्थ — तुम दोनों लौकिक विषय सुख का सेवन नहीं कर पाये थे और सन्तान भी नहीं हुई थी, मेरी माया से मोहित होने के कारण दोनों स्त्री पुरुष मुझ से मोक्ष नहीं मांग सके ॥३९॥

श्री सुबोधिनी — मोक्षावरणं हेतुमाहाजुष्टेति, ग्राम्यविषय — स्त्रीसम्भोगो लौकिकः, प्रीतिः स्थितैव सेवा न वृत्तेति, न जुष्टो ग्राम्य विषयो याभ्यां, वैदिकेनापि लौकिक फलसिद्धिर्भवतीति तत्सम्भवेऽपि लौकिकसिद्धिरिति तन्निषेधार्थमाहानपत्याविति, न विद्यतेऽपत्यं ययोः, चकारादन्येऽपि स्त्रगादयो नानुभूता इति सूचितं, दम्पतीपदेनोभयोः सहभावो नियत उक्तः अतोऽपि मोक्षस्यावरणं, रागस्यानिवृत्तत्वाऽणानामनिवर्तितत्वाद् विरुद्धाश्रमनिष्ठत्वाच्च मोक्षस्यावरणं सर्वतः शास्त्रार्थपरिज्ञानेऽपि यदेतत् त्रितयं तत्र हेतुर्मोहितौ मम माययेति, इयं विशेषमाया भगवल्लीलासाधिका साधारणी तु शास्त्रान् निवर्तत एव, अपवर्गं न च वव्राथे, जन्ममरणानां समाप्तिरपवर्गः, यदि साक्षादपवर्गमप्यप्रार्थयित्वा भक्तिं प्रार्थयेत्तं तथाप्यपवर्गो भवेत् सापि न प्रार्थितेति वै निश्चयेनापवर्गो न प्रार्थितः, मे इतिपाठे मत्तो मत्सम्बन्धि वा, प्रमेयबलेनापवर्गं न प्रार्थितवन्तावित्यर्थः ॥३९॥

व्याख्यार्थ — मोक्ष के वर न मांगने में हेतु का वर्णन करते हैं कि प्रश्निन और सुतपाओं ने ग्राम्य विषय का सेवन नहीं किया था, ग्राम्य विषय स्त्री सम्भोग को कहते हैं, यह लौकिक सुख है, उस सुख में उन दोनों की प्रीति तो थी ही सेवन नहीं किया था, इस कारण मोक्ष नहीं मांगा, कोई सन्तान भी नहीं थी, यद्यपि स्त्री सम्भोग के सेवन न करने से सन्तान का न होना अनुक्त सिद्ध है परन्तु वैदिक यज्ञादि के द्वारा भी लौकिक पुत्रादि फल की सिद्धि होती है अतः वैदिक धर्म के सम्भव होने पर भी लौकिक सन्तान रूप फल की सिद्धि हो सकती थी उसके निषेध करने को 'अनपत्यौ' विशेषण

कहा है, उन दोनों के किसी प्रकार कोई सन्तान नहीं हुई थी, 'च' शब्द अन्य लौकिक सुख सेवन के भी अभाव का सूचक है, उन्होंने अन्य लौकिक स्रक् चन्दन आदि सुखों का भी अनुभव नहीं किया था, 'दम्पती' शब्द से दोनों स्त्री पुरुषों का नियमतः साथ रहना कहा है, इस कारण से भी मोक्ष को नहीं मांग सके, लौकिक सुख भोग में राग की निवृत्ति न होने से, पुत्र के उत्पन्न होने के कारण पितृ आदि के ऋणों के भी निवृत्त न होने से एव मोक्ष के विरुद्ध ग्रहस्थ आश्रम में निष्ठा होने से मोक्ष नहीं माग सके, सर्व प्रकार से शास्त्र के अर्थ का परिमार्जित ज्ञान होते हुए भी पूर्वोक्त लौकिक सुख रागादि तीन कारण मोक्ष के वर रूप से स्वीकार करने में कैसे सफल हो सके, शास्त्रार्थ ज्ञान ने उन लौकिक रागादि को निवृत्त क्यों नहीं कर दिया, उसमें कारण बतलाते हैं कि "मौहितो मम मायया" मेरी माया से वह दोनों मोहित थे, यह विशेष माया भगवान् की लीला के साधने में अनुकूल है, साधारण माया तो शास्त्र से निवृत्त हो जाती है, अपवर्ग को उन्होंने नहीं मांगा, जन्म और मरण की समाप्ति को अपवर्ग कहते हैं, यदि साक्षात् मोक्ष को न मांग कर भक्ति को ही मांग लेते तो भी मोक्ष हो जाता उन्होंने भक्ति भी नहीं मांगी अतः निश्चयार्थक 'वै' शब्द का प्रयोग उपयुक्त है कि उन्होंने किसी भी प्रकार मोक्ष मांगा ही नहीं, न तो सीधा मोक्ष ही मांगा और न भक्ति के द्वारा ही उसकी इच्छा की, 'वै' के स्थान पर 'ये' ऐसा पाठ माने

**श्लोक: —** गते मयि युवां लब्ध्वा वरं मत्सर्धं सुतम् ।

ग्राम्यान् भोगानभुञ्जाथां युवां प्राप्तमनोरथौ ॥४०॥

**मूलार्थ —** मेरे चले जाने पर तुम दोनों मुझ जैसा पुत्र वरदान रूप में प्राप्त कर विषय भोग में रत हो गये क्योंकि तुम दोनों को मनोरथ तो प्राप्त हो ही चुका था निश्चिन्त थे ॥४०॥

**श्री सुबोधिनी —** वरदानमर्थसिद्धमिति तदनुक्त्वा भगवन्निर्गमे जाते प्रथमतो रागनिवृत्त्यर्थं ग्राम्यभोगा भुक्ता इत्याह गते मयीति, मत्सर्धं सुतं वरत्वेन प्राप्य तन्निर्धारं कृत्वा ग्राम्यभोगेन च तत्र विघ्नो भविष्यतीति शङ्कामकृत्वा ग्राम्यान् भोगानभुञ्जाथां यतो युवां प्राप्तमनोरथाविति भिन्नं वाक्यं नैश्चिन्त्ये हेतुत्वार्थमुक्तं, पुनर्युवामिति ग्रहणं संस्कारोद्बोधे सम्मत्यर्थम् ॥४०॥

व्याख्यार्थ — तो मुझ से मोक्ष नहीं मांगा अथवा मेरे सम्बन्ध का अवगाहन करने वाला मोक्ष सुख नहीं मांगा यह अर्थ निकलता है 'प्रमेय बल (भगवदिच्छा)' से मोक्ष नहीं मांगा यह अर्थ सिद्ध हुआ<sup>†</sup> ॥३६॥

व्याख्यार्थ — वर का दान तो अर्थ सिद्ध है, बिना ही कथन किये आगे पीछे के वचनों से बुद्धि गम्य हो जाता है, इस कारण वरदान के प्रसङ्ग को शब्दों से न कहकर भगवान् के पधारने पर उन दोनों ने प्रथम तो लौकिक विषयों से राग की निवृत्ति करने के लिये वैषयिक सुख भोगों को भोगा, इस बात को (गते मयि) इस श्लोक से कहते हैं, कि मेरे चले जाने पर तुम दोनों मेरे समान पुत्र को वर ग्रहण रूप से प्राप्त कर अवश्य ही ऐसा पुत्र होगा ऐसा निश्चयकर ग्राम्य सुख के भोग करने से उस वर प्राप्ति में विघ्न हो सकता है ऐसी शङ्का न कर ग्राम्य भोगों को भोगने लगे क्योंकि तुम दोनों अपने मनोरथ को तो प्राप्त कर ही चुके थे, यहां (युवां प्राप्तं मनोरथौ) यह वाक्य पृथक् है जो कि दोनों स्त्री पुरुषों की निश्चिन्तता प्रतिपादन करने को उसमें कारणता के उल्लेख के लिये कह दिया है, (युवाम्) शब्द की पुनरुक्ति थी देवकी वसुदेवों के जन्मान्तरीय संस्कारों के जागरित हो जाने में उसकी सम्मति की सूचना के लिये आवश्यक है अतः दोषा वह नहीं ॥४०॥

श्री सुबोधिनी आभाष — यद्यपि युवाभ्यां भ्रमादेव याचितो वरस्तथाव्यविद्यमानं न देयं कृत्रिमं तु न सम्भवति सर्वभावेन स्वस्य द्वैरूप्ये श्रुतिविरोधो मर्यादाभङ्ग इत्यस्यात्, अदानेऽपि तथा, साधुश्रुत्यस्य भेदसहिष्णुत्वेऽपि तयोराकार एव तात्पर्यमिति तात्पर्यविरोधाभावात् तात्पर्यज्ञापकं वचनमिति जीवावयवत्वाद् यथाश्रुतं वचनं बाधित्वाऽहमेव पुत्रो जात इत्याहाऽष्टवेति ।

श्लोकः — अष्ट्वान्यतमं लोके शीलौदार्यगुणैः समम् ॥

अहं सुतो वामभवं पृश्निगर्भ इति स्मृतः ॥४१॥

टिप्पण — † मोक्ष के स्वीकार न करसे में माया मोह के कारण बतलाना भक्ति मार्ग के अनुकूल नहीं क्योंकि (दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः, के अनुसार भक्ति मार्ग में तो भगवत्सेवा ही परम पुरुषार्थ है मोक्ष का अधिक महत्त्व नहीं इस प्रकार की शङ्का का समाधान (मे + अपवर्ग न वत्राथे) इस योजना से होता है कि भगवत्सम्बन्धि भक्ति मार्गीय मोक्ष का तो स्वीकार करना उचित था उसको स्वीकार नहीं किया इसमें चिकोर्षित लीला के रसानुभाव कराने की भगवदिच्छा ही कारण है, उसी को (मम मायया, इन शब्दों से कहा है ॥३६॥

**मूलार्थ** – शील उदारता आदि सद्गुणों से अपने समान किसी अन्य को लोक में न देखकर मैं ही तुम दोनों का पुत्र हुआ था, जो कि प्रश्नि गर्भ इस नाम से प्रसिद्ध था ॥४९॥

**श्री सुबोधिनी** – यद्यपि मत्तो न्ये केचन सम्भवन्ति मायया सृष्टाः, तेषामपि मत्सत्तयैव सत्तेति सर्वात्मनान्यतमत्व नास्ति, असतः सत्ता नाङ्गीक्रियत इति लोकेऽर्हवेत्युक्तं, यद्यपि कृत्रिमेऽपि रूपसाम्यं शक्यते कर्तुं तथापि शीलौदार्यगुणा आत्मान्तःकरणनिष्ठा अलौकिका नोत्पादनीया इति विशिष्टस्य मिलितस्य वाऽदर्शनमेव, अतोऽहं सुतो वामभवं, उभयोरपि क्रमेण प्रादुर्भूत इत्यर्थः, 'स एकधा भवति दशधा भवती' त्यादिश्रुत्या तथा तस्य भवने न कोऽपि विरोधः, जन्मैव मुख्यमिति पृश्निगर्भ इति तन्नाम्नैव लोकप्रसिद्धिरुक्ता, स्मृत इतिप्रमाणम् ॥४९॥

**व्याख्यार्थ** – यद्यदि तुम दोनों ने (मेरे समान कोई अन्य होगा) इस प्रकार के भ्रम से मेरे सँश पुत्र होने का वर मांगा था तो भी जो वस्तु उपस्थित ही नहीं उसका दान तो सर्वथा अशक्य है और मेरे सँश किसी रूप को बनाया जा सकता नहीं, सर्वथा अपने दो स्वरूपों के होने पर श्रुति का विरोध और मर्यादा का भङ्ग. संभावित था (एकमेवाद्वितीयम्) यह श्रोत सिद्धान्त एवं ईश्वर के एक होने की मर्यादा इन दोनों पर आपत्ति थी, वरके नहीं देने में भी मर्यादा भग्न हो जाती, क्योंकि मेरे शरणागत जन को किसी प्रकार की चिन्ता करना योग्य नहीं इस मर्यादा की रक्षा न हो पाती, ऐसी परिस्थिति में साँश्य यद्यपि भेद की अपेक्षा करता है तो भी प्रश्नि सुतपाओं का मेरे इस परम मनोहर आकार में ही तात्पर्य है कि ऐसे सुन्दर आकार वाला पुत्र हो उनका तात्पर्य यह नहीं है कि वह पुत्र स्वयं यह न होकर इससे कोई अन्य हो, ऐसे विचार से मेरे स्वयं पुत्र होने में उनके तात्पर्य का कोई विरोध न होने से मैं ही पुत्र हुआ, उनका मुझ जैसे पुत्र की प्रार्थना का वचन जीव की उक्ति है केवल अपने तात्पर्य बतलाने को शब्दों का प्रयोग मात्र है, इस दृष्टि से यथा श्रुत वचन का बाधकर अक्षरशः उस वचन के पालन को आवश्यकता न समझकर स्वयं मैं ही उनका पुत्र हुआ, इस बात को (अर्हत्वा) इस श्लोक से कहते हैं कि – लोक में स्व सँश किसी भिन्न को नहीं देख मैं ही तुम्हारा पुत्र हुआ, यद्यपि मुझसे भिन्न कोई हो भी सकते हैं माया से जिनको उत्पन्न किया जावे तो भी उनकी सत्ता के आधीन होने से उनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं –

श्लोक — तयोर्वा पुनरेवाहमदित्यामास कश्यपात् ॥

उपेन्द्र इति विख्यातो वामनत्वाच्च वामनः ॥४२॥

मूलार्थ — फिर भी उनही तुम दोनों के मैं कश्यप से अदिति में उत्पन्न हुआ (दूसरे जन्म में तुम अदिति थी और वसुदेव कश्यप थे) उस समय (उपेन्द्र) इस नाम से मैं विख्यात था और शरीर ठिगना होने के कारण मुझे वामन भी कहते थे ॥४२॥

श्री सुबोधिनी — अपवर्गस्याप्रार्थितत्वात् पुनर्जन्मान्तरं जातं तस्मिन्नपि जन्मनि तयोस्तुल्यत्वात् पुनरहं पुत्रो जात इत्याह तयोर्वामिति, तयोरेव युवयोः पुनरेवाह स्वसंशमष्ट्वा पुनरेवाहं जात, तयोरजन्मान्तरेऽदितिकश्यपत्वं तदाहादित्यामास कश्यपादिति, यद्यप्यत्रादितिगर्भ इति वक्तव्यं तथाप्युपेन्द्र इत्येव लोके विख्यातः, नामान्तरप्रसिद्धौ हेतुमाह वामनत्वादिति, द्वितीये जन्मनि नामद्वयमुपेन्द्रो वामन इति ॥४२॥

व्याख्यार्थ — अतः सर्वथा सर्वांश में भिन्न नहीं, असत् की सत्ता मानी नहीं जाती, इस कारण लोक में अपने समान अन्य को न देखकर मैं ही स्वयं तुम्हारा सुत हुआ, यद्यपि रूप की समानता कृत्रिम<sup>+</sup> वस्तु में की जा सकती है परन्तु शील, उदारता, आदि गुण तो उसमें उत्पन्न नहीं किये जा सकते, वह तो आत्मा (भगवान्) के अन्तःकरण में रहने वाले हैं, उन अलौकिक उदारतादि गुणों का उत्पादन नहीं हो सकता, अतः निजगुणों से सर्वथा विशिष्ट<sup>\*</sup> अथवा अंशतः मिलित किसी अन्य दर्शन ही नहीं हुआ,

श्लोकः — तृतीयेऽस्मिन् भवेऽहं वै तेनैव वपुषा युवाम् ॥

जातो भूयस्तयोरेव सत्यं मे व्याहृतं सति ॥४३॥

मूलार्थ — हे सति उसके अनन्तर तुम्हारे इस तीसरे जन्म में जन पूर्वदर्शित शरीर से ही मैं तुम दोनों से प्रकट हुआ हूँ, मेरा कहा वचन सत्य ही होता है ॥४३॥

टिप्पण — <sup>+</sup> लेखकार ने (कृत्रिम) शब्द का (अंश) अर्थ माना है, अर्थात् भगवान् के अशावतारों में चतुर्भुज आदि आकार एवं श्यामलत्वादि रूप का साम्य सम्भावित है।

टिप्पण — <sup>\*</sup> विशिष्ट और मिलित के विवेचन को श्री लेखकार इस प्रकार किया है कि भगवान् के अलौकिक शील उदारतादि गुणों के समान लौकिक शील उदारता आदि गुणों से युक्त होना 'विशिष्ट' होना है, एवं भगवन्निष्ठ अलौकिक गुणों से भी युक्त होना 'मिलित होना' है।

इनके व्याख्यान का आशय यह है कि इस श्लोक में 'अन्यतमम्' 'अष्ट्वा' यह पृथक् वाक्य है, और 'शीलौदार्यगुणै समम्' अष्ट्वा, यह भिन्न वाक्य है क्योंकि जब अन्यतम 'भिन्न' कोई है ही नहीं तो उसमें शील उदारतादि से समानता का आपदान करना अशक्य है,



इस कारण मैं ही तुम दोनों का पुत्र हुआ, दोनों में क्रम से प्रकट हुआ, प्रथम सुतपा के मन में तत्पश्चात् प्रशिन के हृदय में उदित हुआ, श्रुति ने परमात्मा के पुत्रादि भाव से प्रकट होने का प्रतिपादन किया है कि वह एक प्रकार से होता है, दश प्रकार से होता है, इन प्रकारों में पुत्र रूप से होना भी एक प्रकार है, अतः भगवान् के पुत्र रूप से प्रकट होने में कोई विरोध नहीं, जन्म की मुख्यता को लेकर ही (प्रशिन गर्भ) इस जन्म सूचक नाम से ही लोक में प्रसिद्धि बतलाई है, (स्मृतः) इस पद से यह प्रसङ्ग की प्रामाणिकता सूचित की है ॥४१॥

श्री सुबोधिनी — पुनस्तृतीय जन्म तयोर्जातं, तत्राप्यहमेव पुत्रो जात इत्याह तृतीयेऽस्मिन्निति, अयं परिर्णश्यमानो भवस्तृतीयो भवति, अत्रापि नामद्वयं मुख्यं, तृतीयस्थाने बहूनि, देवकीनन्दन इति च मुख्यं, तदग्रे वक्ष्यामः, पूर्वयोर्भवयो रूपभेदोऽस्ति तृतीये तु जन्मनि तेनैव प्रसन्नेनैव वपुषा तयोरेव भूयो जातः, एवं वारत्रयभवने हेतुमाह सत्यं मे व्याहृतमिति, यदि कस्मिन्नपि जन्मनि वरानन्तरभाव्ये भगवान् पुत्रो न भवेत् तदा वाक्यमसत्यं स्यात्, पूर्वदेहस्य त्यक्तत्वात् तत्पुत्रो न पुत्रो भवति,

व्याख्यार्थ — मोक्ष के न मांगने के कारण उनका पुनः जन्मान्तर हुआ, उस जन्म में भी वह दोनो पूर्व समान ही थे इसलिये मैं ही उनका पुत्र हुआ इस बात को (तयोर्वाम्) इस श्लोक से कहते हैं, उन्हीं तुम दोनो के फिर भी मैं ही हुआ, अपने सँश को न देखकर फिर भी मैं ही हुआ, उन प्रशिन, सुतपा, ओं को जन्मान्तर में (अदिति) (कश्यप) इस नाम से कहा गया इस बात को कहते हैं कि अदिति में कश्यप से मैं उत्पन्न हुआ, यद्यपि इस जन्म में (प्रशिन गर्भ) की भाँति (अदिति गर्भ) ऐसा नाम आवश्यक है तो भी लोक में (उपेन्द्र) नाम से विख्यात हुआ, (वामन) इस दूसरे नाम की प्रसिद्धि का कारण मेरा वामन (ठिगना) होना था दूसरे जन्म में दो ही नाम थे (उपेन्द्र) और (वामन) ॥४२॥

व्याख्यार्थ — फिर तृतीय जन्म उनका हुआ, उस जन्म में भी मैं ही पुत्र हुआ इस बात को इस श्लोक से कहते हैं, यह दीखने वाला जन्म तृतीय जन्म है, इनमें दो नाम मुख्य हैं (कृष्ण) और (वासुदेव) तृतीय जन्म में तीन नाम तो होने ही चाहिये अतः तृतीय नाम के स्थान पर मुख्य (देवकीनन्दन) यह नाम है उसे आगे बतलायेंगे, और भी बहुतेरे नाम तृतीय नाम के स्थान पर हैं, प्रथम दो जन्मों में रूप का भेद था इस तृतीय जन्म में तो उसी प्रसन्न शरीर से उन्हीं माता पिताओं के पुनः प्रकट हुए, इस प्रकार तीन बार

जन्म ग्रहण करने का कारण बतलाते हैं कि मेरा कथन सत्य होता है यदि वरदान के अनन्तर होने वाले किसी भी जन्म में भगवान् पुत्र नहीं होते तो उनका कथन मिथ्या हो जाता क्योंकि पूर्व जन्म का शरीर तो छोड़ दिया था अतः पूर्व जन्म का पुत्र पुत्र नहीं कहा जा सकता क्योंकि उस प्रकार का व्यवहार भी नहीं है और उसमें प्रमाण भी नहीं है, पूर्व जन्म के पुत्र से पुत्रवान् कोई नहीं होता, अतः जन्मान्तर होने पर पुत्र रूप से प्रकट होना आवश्यक है. इसके पश्चात् तो अब तुम लोगों का जन्म नहीं होगा तो मेरा पुत्र रूप से प्राकट्य भी नहीं होगा, (सति)! यह सम्बोधन सम्मान का सूचक है पतिव्रता वह ही होती है जो कल्प के प्रारम्भ में जिस पति को प्राप्त करे कल्पान्त तक यदि प्रत्येक जन्म में उसी पति को पति रूप से प्राप्त करे कल्पान्त तक यदि प्रत्येक जन्म में उसी पति को पति रूप से प्राप्त करती रहे, उस पतिव्रता के धर्मों को शास्त्र मे—

श्री सुबोधिनी — व्यवहाराभावत् प्रमाणाभावाच्च, अतः पुनर्जन्मान्तरे पुत्रत्वेन भाव्यं, अग्रे तु जन्माभावात् पुत्रत्वाभावः, सतीतिसम्बोधन सम्माननार्थं, सैव पतिव्रता भवति या, कल्पादौ यं पतिं प्राप्नोति कल्पान्तपर्यन्तं सर्वजन्मसु तमेव चेत् प्राप्नोति, तस्याश्च पुनर्धर्मा अभिज्ञानं च शास्त्रे निरूपितं, “या प्रथमं न म्रियते मृते म्रियेत तार्द्धशी त्वमिति ज्ञापयति मोक्षार्थं, व्यभिचारिण्याः, स्त्रियास्तु न मुक्तिः, अतः सर्वदोषपरिहारार्थं सतीतिसम्बोधनमन्ते निरूपितम् ॥४३॥

व्याख्यार्थ — बतलाया है और उसकी पहचान भी नहीं है, कि जो पति से पूर्व मृत्यु को प्राप्त न करे उसके मरण होने पर ही मृत्यु को प्राप्त हो, वैसी पतिव्रता तुम हो ऐसा श्री देवकी को बतलाते हैं जिससे उनके मोक्ष की सूचना देते हैं, व्याभिचारिणि स्त्री को मुक्ति नहीं होती, अतः सर्व दोषों के परिहार करने को (सति)! यह सम्बोधन अन्त में कहा ॥४३॥

श्लोकः — एतद् वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे॥

नान्यथा<sup>†</sup> मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जन्यते ॥४४॥

टिप्पण — उक्त श्लोक (४४) में (नान्यथा) के स्थान पर (नान्यथा) ऐसा पाठ प्रायः सर्वत्र उपलब्ध होता है, आचार्यों ने (मर्त्यलिङ्गे) यह सप्तम्यन्त पाठ माना है, और (न) यह पृथक् पद माना है, (अन्यथामर्त्यलिङ्गे न जायते) इस प्रकार योजना की है (नान्यथा) ऐसा पाठ मानने पर (मर्त्यलिङ्गेन) यह तृतीयान्त पाठ मानना पड़ता है, यद्यपि विवक्षा के अनुसार (करण) और अधिकरण दोनों ही कारको का (जायते) क्रिया में अन्वित होना सम्भावित है परन्तु

मूलार्थ — पूर्व जन्मों का स्मरण कराने को मैंने यह रूप तुम दोनों को दिखाया है, यदि ऐसा नहीं करता तो मनुष्य शरीर में मेरा ज्ञान न हो पाता ॥४४॥

श्री सुबोधिनी — एवं पुत्रत्वे हेतुमुक्त्वा तादृग्गुणैर्विर्भावे हेतुमाहैतदिति, वां युवरोरर्थ एतत् पूर्वानुभूतं रूपं दर्शितं, सम्बन्धिदर्शने सम्बन्धिनः संस्कार उद्बुद्धो भवति, एतद्विषयको लुप्तोऽपि संस्कारश्चोद्बुद्धो भवति, सन्निध्यात् सर्वज्ञतायां तु वैराग्यं स्यात्, तदाविहितभक्तिरसो नानुभूयेत, रूपेण तदुद्बोधने तु तत्कालमात्रस्यैव स्मरणं वाक्याज् ज्ञानं तु प्रत्यक्षाद् दुर्बलमिति न काप्यनुपपत्तिः, प्राग् जन्मनो प्रथमजन्मन एव वा स्मरणाय, एतावता क्लेशेनायं भगवान् पुत्रो जात इति, केवलवाक्ये तु भगवतो माहात्म्यमुच्यमानं शास्त्रार्थं परं स्यात्

व्याख्यार्थ — इस प्रकार पुत्र होने के कारण का निर्देश कर चतुर्भुज आदि रूप से प्रकट होने में कारण को बतलाते हैं, कि यह पूर्व में जिसका अनुभव आप लोगों को हो चुका है वह चतुर्भुज स्वरूप तुम दोनों के लिये दिखलाया है, क्योंकि ऐसा स्वाभाविक नियम है कि किसी एक सम्बन्धी पदार्थ के देखने से उसके सम्बन्धी अन्य पदार्थ के विषय में संस्कार जाग उठता है, और इस दिखने वाले पदार्थ के विषय में लुप्त हुआ भी संस्कार पुनः जागरित हो जाता है यद्यपि मेरे समीप होने मात्र से सर्वज्ञता होने पर भी पूर्व जन्म का प्रत्यक्ष सम्भव था परन्तु उस सर्वज्ञता में तो वैराग्य की सम्भावना थी, वैराग्य होने पर अविहित पुष्टि भक्ति रस का अनुभव नहीं होता, और इस रूप के दर्शन से पूर्व संस्कार के जागरित करने पर तो पूर्व काल में जैसा अनुभव हुआ है वैसा स्मरण आप लोगों को हो गया इसमें भक्तिरस प्रतिबन्धक वैराग्य की कोई सम्भावना ही नहीं, वाक्य से (यह भगवान् है) ऐसा ज्ञान तों प्रत्यक्ष की अपेक्षा दुर्बल है अतः कोई भी किसी प्रकार की आशङ्का नहीं —

श्री सुबोधिनी — तदाह, अन्यथा रूपप्रदर्शनव्यतिरेके केवलमुच्यमाने मर्त्यलिङ्गे, रूपे मानुषशरीरे मद्भवं ज्ञानं न जायते साक्षाद्भगवानयमिति, प्रदर्शिते तु रूप उच्यमानं ज्ञानमनुभवारूढं भवति ॥४४॥

व्याख्यार्थ — रह जाती, (बात ऐसी है कि भगवान् को इस स्वरूप के दर्शन से श्री देवकी वसुदेवों को मोहित करना भी अभीष्ट है जिससे लीला रस का अनुभव इन्हें होता रहे, सान्निध्य से सर्वज्ञता होने के कारण भगवत्स्वरूप के मार्मिक परिचय पूर्ण

मुख्यतया विषय की आधार रूपता ही स्वीकार की है, कारणता भी संभावित है परन्तु कारणता तो विवक्षा के आधीन ही है,

स्तोत्र इन दोनों ने किये फिर भी भय इन लोगों का निवृत्त नहीं हुआ भय की निवृत्ति के लिये प्रार्थना अन्त में दोनों ने की ऐसी दशा में स्वीकार करना पड़ता है कि भगवान् अपनी इच्छानुसार मोह भी उत्पन्न करते हैं और ज्ञान का भी प्रकाश करते रहते हैं, जिससे उनकी विचारित लीला यथोचित रूप से सम्पन्न होती रहती है) उक्त रूप का दर्शन प्रथम के दोनों जन्मों के अथवा प्रथम के एक ही जन्म के स्मरण दिलाने का भगवान् ने इन्हें कराया है, जिससे इन्हे यह विदित हो जावे कि इतने परिश्रम से यह भगवान् पुत्र रूप से प्रकट हुए हैं, केवल वाक्य मात्र कहने पर तो भगवान् का माहात्म्य कहा हुआ भी अनुभव बिना शास्त्र वेध ही रहता (अतः शास्त्र और अनुभव दोनों के परस्पर में संवाद कराने को उनका मेल मिलाने को स्वरूप दर्शन कराया है) इसी बात को (अन्यथा) इत्यादि उत्तरार्ध से कहते हैं कि अन्यथा रूप दर्शन के अभाव में केवल कहने पर कि मैं भगवान् हूँ मर्त्यलिङ्ग. रूप में सर्व साधारण मनुष्य शरीर में (यह साक्षाद् भगवान् है, ऐसा करा देने पर तो कहा हुआ ज्ञान अनुभवारूढ हो जाता है हृदय र. मिलान मिल जाती है ॥४४॥

**श्लोक: —** युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् ॥

चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मदगतिं पराम् ॥४५॥

**श्लोकार्थ —** तुम दोनों पुत्र भाव से अथवा ब्रह्म भाव से बार बार मेरा चिन्तन करते स्नेह करने से मेरी परागति (व्यापि वैकुण्ठ) को प्राप्त करोगे ॥४५॥

**श्री सुबोधिनी —** अधुना तु अप्रार्थितेऽप्यपवर्गे मुक्तिर्भविष्यतीत्याह युवामिति, प्रमेयबलस्य प्रकटीकृतत्वाच्छास्त्रस्य गौणत्वादविहितस्नेहेन पुत्रभावेन विहितस्नेहेन ब्रह्मभावेन वा विषयस्य तुल्यत्वात् प्रकारस्याप्रयोजकत्वाद् यथाकथञ्चिन्मयि कृतस्नेहौ परां मतिं व्यापिवैकुण्ठाख्यां यास्येथे 'माहात्म्यज्ञानपूर्वकसृष्टिसर्वतोऽधिकस्नेह'स्य तुल्यत्वात् अत एव भगवान् गोपिकादीनामपि माहात्म्यज्ञानमुत्पादयिष्यति, अन्यथा बोधांशोऽधिकः स्यात्, भक्तानां प्रपञ्चाभावस्य निरोधत्वात्, अत एव पूर्वस्कन्धे उत्पत्तिनिरूपणेन स्वरूपत एव भक्ता निरूपिताः,

**व्याख्यार्थ —** इस समय तो मोक्ष के न मांगने पर भी मोक्ष होगा ऐसा कहते हैं कि तुम दोनों स्नेह के द्वारा परम गति को प्राप्त हो जावोगे, क्योंकि इस समय प्रमेय बल प्रकट किया है वस्तुशक्ति को ही प्रधानता दी गई है, शास्त्र की इस समय प्रधानता नहीं गौणता है अप्रधानता है, इस कारण शास्त्र में जिसका कर्त्तव्य रूप से वर्णन नहीं

उस अविहित भक्ति स्नेह के द्वारा पुत्र भाव से अथवा शास्त्र में जिसका कर्तव्य रूप से वर्णन है उस विहित भक्ति स्नेह के द्वारा ब्रह्म भाव से किसी भी प्रकार से मुझ में स्नेह करने पर व्यापि वैकुण्ठ नाम वाली मेरी परागति को प्राप्त हो जावोगे, बात यह है कि स्नेह का विषय तो समान ही रहेगा पुत्र भाव से स्नेह का विषय भी मैं ही रहूँगा और ब्रह्म भाव से भी स्नेह का विषय मैं ही रहूँगा, स्नेह के प्रकारों में अवश्य भेद है, (पुत्र भाव प्रयुक्त स्नेह), या (ब्रह्म भाव प्रयुक्त स्नेह) परन्तु परम गति रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये अमुक भेद ही उपयुक्त है ऐसी बात नहीं है, यथा कथञ्चित् मुझ में स्नेह करना ही आवश्यक है उसके द्वारा परमगति प्राप्त हो ही जावेगी, बिना मांगे ही मुक्ति हो ही जावेगी, नित्य लीला प्रवेश ही यहां पर मुक्ति पदार्थ है प्रकार भेद होते हुए भी स्नेह मात्र से समान फल या एक ही फल की सिद्धि इसलिये असम्भावित नहीं कि उक्त फल के प्रति जिस स्नेह को कारण बतलाया है वह माहात्म्य ज्ञान पूर्वक (सुष्ठु) एवं सब से अधिक होना चाहिये उसमें ब्रह्म रूप से या पुत्र रूप से होने के प्रकार विशेष का निर्देश नहीं है, माहात्म्य ज्ञान आप लोगों को ही चुका है, अब तो स्नेह मात्र से ही कार्य सिद्धि है, वह स्नेह पुत्र भाव से ही या ब्रह्म भाव से हो, दोनों प्रकारों में माहात्म्य ज्ञान पूर्वक सुष्ठु सर्वतोऽधिक स्नेह तो तुल्य ही है, स्नेह में माहात्म्य ज्ञान की आवश्यकता है तभी तो श्री गोपी जनों को भी माहात्म्य ज्ञान का उदय आगे कराया जावेगा, यदि स्नेह में माहात्म्य ज्ञान अपेक्षित नहीं रहता तो इस दशम स्कन्ध में ज्ञान की चर्चा अनावश्यक समझी जाती क्योंकि इसमें तो निरोध प्रतिपाद्य है, और भक्तों के प्रपञ्च की निवृत्ति या अभाव ही निरोध कहलाता है, उक्त निरोध की सिद्धि भगवान् की मधुर लीलाओं से सम्पन्न हो सकती है फिर उद्धवजी के द्वारा ज्ञान का प्रसङ्ग. दशम स्कन्ध प्रतिपाद्य निरोध में समावेश पाने के योग्य न होकर —

श्री सुबोधिनी — प्रेमज्ञानं निरोधश्च यथैव भवति तदत्रैव वक्ष्यते, आर्थिकमत्र नोच्यत इति 'मां गोकुले नय तत्र स्थापयित्वा तत्रत्यां कन्यामत्रानये'ति मुखतो नोक्तं, एतदुक्तं वैव पश्चात् तूष्णीं जात इति ज्ञातव्यं.

व्याख्यार्थ — अपनी अधिकता को या अनुपयुक्तता को झलकायेगा, या स्पष्ट बतलायेगा, भक्ति में (बोध) अंश भी अपेक्षित है इसलिये दशम निरोध स्कन्ध से पूर्व नवम

स्कन्ध में उत्पत्ति के निरूपण से भक्तों के स्वरूप का ही निरूपण किया है उन भक्तों को प्रेम, ज्ञान, निरोध जिस प्रक्रिया से होते हैं वह इस दशम स्कन्ध में ही कहेंगे, जो बात बिना कहे ही प्रतीत होती है उसके लिये शब्द प्रयोग की आवश्यकता नहीं, अतः हमको गोकुल ले चलिये वहां पधारकर वहां से कन्या को ले आईये, इस बात को मुख से नहीं कहा (प्रेरणा मात्र की) ऐसा कहकर ही चुप हो गये ऐसा समझना चाहिये —

श्री सुबोधिनी — एभिर्वचनैर्भगवता वसुदेवदेवक्योः स्वावतारात् पूर्वं तदनन्तरं च दुःखप्राप्तौ हेतुरपि निरूपित इति ज्ञेय, तथा हि 'मत्तः कामानभीप्सन्ता' वितिवाक्यात् तदर्थमेव भगवदाराधनं पूर्वं कृतं न तु भगवदर्थ, तस्य चानिष्फलत्वाद्धर्याविर्भावे सौन्दर्यं ऽष्ट्वा तांशः सुतो वृतो न तु स्नेहेनार्त्या प्रभुप्राकट्यं वृतं, अत एव 'वरं मत्संश' मित्यादिना स्वप्राप्त्यनन्तरमपि 'ग्राम्यभोग' भोजनमेवोक्तं, एवं सति स्वसाम्यमन्यत्रांष्ट्वा स्वस्यैव तथाविर्भावने प्रभोर्निर्बन्धोऽभूत्, मुक्तानामि दुरापस्य स्वरूपस्याल्पार्थे प्रकटीकरणमापतितं यतः, 'अंष्ट्वाऽन्यतम' मितिवाक्येनायमेवार्थो ज्ञापितः प्रभुणा, अतोऽधुना प्रभुप्राकट्यानेमित्तकः कंसकृतो निर्बन्धोऽभूत्, पुत्रत्वे निर्बन्धात् कीर्तिमदादिपुत्रनाशोऽपि, साम्ये निर्बन्धाद् गुणैस्तत्सम्भवाद् गुणसमसङ्ख्याना तेषां तथा, मर्यादारक्षायै तदण्ड इवायं प्रभुणा सम्पादितः, अद्भुतकर्मत्वाद् भगवत एतयोः स क्लेशः स्नेहातिशयहेतुरभूत्, क्लेशेन प्राप्तेर्था तस्यावश्यकत्वात् ॥४५॥

व्याख्यार्थ — भगवान् ने इन वचनों के द्वारा अपने प्रकट होने के पूर्व और उसके पश्चात् भी देवकी वसुदेवों को दुख की प्राप्ति में हेतु का निरूपण किया है, ऐसा जानना आवश्यक है, देखिये (मत्तः कामानभीप्सन्तौ) इस वाक्य से स्पष्ट होता है कि प्रश्नि सुतपाओं ने काम प्राप्ति के लिये भगवान् का आराधन किया था, भगवत्प्राप्ति के लिये नहीं, भगवान् का आराधन निष्फल नहीं होता अतः भगवान् श्री हरि का आविर्भाव हुआ, अविर्भाव होने पर उनकी सुन्दरता को देखकर उन जैसा पुत्र वरदान रूप से मांगा, स्नेह से आर्त होकर प्रभु का प्राकट्य नहीं मांगा (स्नेह जनित आर्ति के अभाव में प्रभु प्राकट्य की इच्छा कैसे हो सकती थी) इसलिये (वरं मत्संशं सुतम्) इत्यादि वाक्य से अपनी अभीष्ट में प्राप्ति होने के अनन्तर भी ग्राम्य विषयों का सेवन ही उन्होंने किया ऐसा कहा है, ऐसी स्थिति में अपनी समानता को अन्यत्र नहीं देखकर अपने को ही पुत्र रूप से प्रकट करने को भगवान् का आग्रह हुआ, जिसके कारण मुक्तात्माओं को भी दुर्लभ (प्राप्त न होने वाले या कठिनता से प्राप्त होने वाले) अपने स्वरूप को थोड़े से कार्य के लिये प्रकट करना पड़ा, प्रभु ने (अंष्ट्वाऽन्यतमम्) इस वाक्य से यह भी

आशय सूचित किया है, अतः इस समय प्रभु के प्राकट्य के निमित्त से देवकी वसुदेवों को कंस के द्वारा किये गये बन्धन प्रयुक्त कष्ट का अनुभव उपस्थित हुआ, प्रश्नि सुतपाओं का पुत्र रूप में आग्रह था अतः इनके कीर्तिमान्, आदि पुत्रों का नाश भी हुआ, वह दुःख भी इन्हें भोगना पड़ा, एवं समानता में आग्रह था कि आप जैसा पुत्र हो और वह समानता (ऐश्वर्यादि) षड्गुणों से ही सम्भावित है अतः षड्गुणों के समान संख्या वाले (६) पुत्रों का ही नाश हुआ, भगवान् अद्भुतकर्मा हैं अतः उन्होंने ही मर्यादा की रक्षा के लिये इनको यह दण्ड जैसा विधान किया है, अद्भुतकर्मा भगवान् के एक कार्य में अनेक कार्य होते हैं अतः इनका वह क्लेश अधिक स्नेह का कारण बन गया क्योंकि क्लेश से प्राप्त हुई वस्तु में अधिक स्नेह आवश्यक है ॥४५॥

कारिका : —

आविर्भावे पुत्रतया साधनं तु तपोऽभवत् । अग्रे लीलारसप्राप्तौ साधनं मृग्यमेव हि ॥१॥

भक्तिमार्गीयमित्यात्मवियोगमकरोद्धरिः । तदा तु स्वत एवासीद् भगवद्भावसन्ततिः ॥२॥

एतावन्ति दिनान्यासन्नेवं कुर्वन् भविष्यति । एतावन्मासिकश्चासीदेवमेवं करिष्यति ॥३॥

एतावद्वार्षिकश्चासीत् तेन चैवंविधाः शुभाः । लीलाः कुर्वन् साग्रजः श्रीप्रभुस्तत्र भविष्यति ॥४॥

कुशल्यास्ते साग्रजो नु कदा द्रक्ष्यामि तार्ढशम् । एवंविधानन्तभावैरत्यार्त्या दर्शने तयोः ॥५॥

मिथस्तथालापतश्च सर्वथेन्द्रियवृत्तयः । सर्वा हरिपरा आसन् स एव सततं हृदि ॥६॥

वियोगतापतप्तेऽभूत् तेनासां जीवनं तयोः । तेनैकादश वर्षाणि तथा कुर्वन् हरिर्बभौ ॥७॥

‘युवां मा’ मितिवाक्येन चेममेव वरं ददौ । अन्यथैतार्ढशो भावो न भवत्येव कुत्रचित् ॥८॥

अतो माहात्म्यधीयुक्तस्नेहोऽभवदिति प्रभुम् । चिरात् प्राप्य पितरौ सस्वजाते न शङ्कितौ ॥९॥

कारिकार्थः — उक्त श्लोक पर श्री आचार्य चरणों ने इन कारिकाओं का उपन्यास कर श्रीमद्गोकुल में भगवान् के एकादश (११) वर्षों तक स्थित रहने का प्रयोजन बतलाया है<sup>+</sup> कि — भगवान् के पुत्र रूप से प्रकट होने में श्री देवकी वसुदेवों का जन्मान्तरीय साधन तो तप हुआ, परन्तु आगे लीला रस की प्राप्ति में भक्ति मार्गीय साधन तो विचारणीय है ॥१॥ इस कारण श्री हरि ने अपने वियोग रूप साधन को

टिप्पण —<sup>+</sup> असकृत चिन्तन का आकार प्रकार इन कारिकाओं में निर्दिष्ट किया है, अतः श्लोक के व्याख्यान में ‘असकत्’ ‘चिन्तयन्तौ’ इन पदों का उल्लेख नहीं है ?

उपस्थित किया तब तो श्री देवकी वसुदेवों की स्वतः ही भगवद्भाव वृद्धि होने लगी ॥२॥ कि — इतने दिन हो गये ऐसा करते होंगे, इतने मास के हो गये ऐसा २ करते होंगे। इतने वर्ष के हो गये, उस कारण से इस प्रकार को शुभ लीलाओं को करते हुए ज्येष्ठ भ्राता श्री रोहिणी नन्दन के साथ श्री प्रभु वहाँ पर विराजते होंगे ॥४॥ श्री बलभद्र के साथ आप प्रसन्न तो है कब मैं उनको सकुशल देखूंगा, इस प्रकार के अनन्त भावों से अत्यन्त विरह जन्य वेदना के कारण उन देवकी वसुदेवों को भगवान् का दर्शन (विप्रयोग दशा में) होता रहता था ॥५॥ ऐसी दशा में वह दोनों परस्पर में पूर्वोक्त प्रकार से बाचतीत करते रहते थे इस कारण उनकी इन्द्रियों की वृत्तियां सर्वथा भगवत्परायण हो गई, वह भगवान् ही निरन्तर उनके हृदय में विराजमान रहते थे ॥६॥ भगवद्वियोग के ताप से सन्तप्त हृदय में भगवान् का विराजना ही उन दोनों के जीवन का कारण था, इन्द्रियों की एकादश (११) सख्या होने के कारण एकादश वर्ष पर्यन्त भगवान् की हरि उनकी इन्द्रिय वृत्तियों को अपने स्वरूप परायण करते हुए ब्रज में विराजे ॥७॥ 'युवामाम्' इस वाक्य से भगवान् ने श्री देवकी वसुदेवों को यह ही वर दिया था कि आप दोनों पुत्र भाव से या ब्रह्मा भाव से बार बार मेरा चिन्तन करते स्नेह द्वारा परम गति को प्राप्त करोगे यदि भगवान् ऐसा वर नहीं देते तो इस प्रकार के भाव को कहीं भी संभावना नहीं थी ॥८॥ अतः देवकी वसुदेवों का माहात्म्य ज्ञान सहित स्नेह हुआ तभी तो कंस वध के अनन्तर एकादश वर्ष व्यतीत होने पर प्रभु को प्राप्त करके भी माहात्म्य ज्ञान से शङ्कित हुए माता पिताओं ने पुत्र वात्सल्य प्रयुक्त आलिङ्गन नहीं किया ऐसा आगे स्पष्ट उल्लेख है ॥९॥

श्री शुक उवाच

श्लोक: — इत्युक्त्वाऽऽसीद्वरिस्तूष्णीं भगवानात्ममायया ।

पित्रोः सम्पश्यतोः सद्यो बभूव प्राकृतः शिशुः ॥४६॥



**मूलार्थ** — श्री शुकदेवजी ने कहा कि इस प्रकार कहकर भगवान् श्री हरि चुप हो गये और माया<sup>+</sup> से माता पिताओं के देखते देखते तत्काल ही साधारण शिशु रूप हो गये ॥४६॥

**श्री सुबोधिनी** — एवमुक्त्वा रूपान्तरस्वीकरणं कृतत्वानित्याहेत्युक्त्वासीदिति, तुष्णीभावोऽनुक्तसिद्धोऽपि रूपवज् ज्ञानस्यापि तिरोभावप्रतिपादनार्थः, यथा रूपं प्राकृत स्वीकृतवानेवं प्राकृतमेव ज्ञान स्वीकृतवानिति, तथा सति रूपान्तरस्वीकरणं सम्यगुत्पद्येत, नन्वेवं स्वविरुद्धधर्मं कथं स्वीकृतवानित्याह हरिरिति, यतः स सर्वदुःखहर्ता, स्वरूपमप्यन्यथा करिष्यतीत्याशङ्क्याह भगवानिति, रूपज्ञानकार्ययोरपि तदा प्राकट्यं न स्यादित्याशङ्क्याहात्ममाययेति, स्वस्यैव सर्वभवनसामर्थ्येन तथा कृतवान्, ततः स्वेच्छया यदा तत्कार्यमायास्यतीति गीतोपदेशने भीष्ममुक्तौ स तथैव तदा प्रकटीभविष्यति, अन्यदा तु मातृप्रार्थनया रूपान्तर मेव प्रदर्शयिष्यतीतिभावः,

**व्याख्यार्थ** — इस प्रकार कहकर भगवान् ने अन्य रूप का अङ्गीकार किया यह उक्त श्लोक से कहते हैं, यद्यपि भगवान् का चुप होना नहीं भी कहा जावै तो भी वह तो सिद्ध ही है उसके बतलाने को किसी शब्द प्रयोग की आवश्यकता नहीं, परन्तु इस मर्म की सूचना देने को आप के चुप होने का शब्दतः उल्लेख किया है कि जिस प्रकार अलौकिक रूप को छुपाया उसी प्रकार आपने अपने अलौकिक दिव्य ज्ञान को भी छुपा

**टिप्पण** — <sup>+</sup> प्रभुचरण श्रीमद्गोस्वामी श्री विठ्ठलनाथजी ने 'आत्ममाया' शब्द पर जो प्रकाश डाला है वह अत्यन्त ही आरदणीय एव माननीय है, आपका कहना है कि यहां आत्म शब्द के प्रयोग के बिना 'भगवान्' शब्द के सान्निध्य से ही भगवच्छक्ति रूप माया की प्रतीति होते हुए भी 'आत्म' शब्द का प्रयोग इस माया की विलक्षणता सूचित करता है कि यह माया आत्म स्वरूप है जिस प्रकार आत्मा निर्विकार हैं शुद्ध हैं सत्य हैं यह माया भी वैसी ही है इसका उपयोग केवल भगवान् की निर्विकार शुद्ध सत्य लीलाओं के अनुभव कराने में ही है, असत्य पदार्थ का अनुभव कराने वाली संसार की बीज रूप माया से यह सर्वथा विपरीत है ऐसा होने पर भी इसकी 'माया' इसलिये कहा जाता है कि यह भक्तों को अपने स्वरूप का विस्मरण करा देती है और भगवान् में आसक्ति करा देती है जैसे साधारण माया जीव के स्वरूप का विस्मरण कराकर लौकिक विषयों में आसक्ति कराती है, यह आत्ममाया भगवान् का ही एक अन्यतम स्वरूप है सूर्य का प्रकाश सूर्य से भिन्न नहीं उसी भाँति यह आत्ममाया की आत्म रूप ही है आत्मा से भगवान् से पृथक् नहीं है, इस आत्ममाया से ही श्री देवकी वसुदेव माता पिता हुए हैं अन्यथा गर्भाधान, प्रसव आदि के न होने पर भी इन्हें माता पिता कैसे कहा जा सकता है, इस आत्ममाया से ही देवकी वसुदेवों को इनका भली भाँति दर्शन भी हो रहा है अन्यथा मानुष रूप में ईश्वर का भली भाँति ज्ञान असम्भव ही था इस स्वरूप का दर्शन नयनों के सामर्थ्य से नहीं किन्तु 'आत्ममाया' से ही हुवा है, 'प्राकृत' शब्द का भी स्वारस्य यह है कि शिशु का स्वरूप अपनी २ प्रकृति के अनुसार लोगों को प्रतीत होता है जैसे रङ्गभूमि में मल्लों का ब्रज स्त्रियों को काम आदि रूप से प्रतीत होगा, लौकिक प्रकृति के जीव लौकिक समझते हैं और अलौकिक प्रकृतिवालों को अलौकिक रूप से प्रतीत होते हैं, प्रकृत्याग्राह्यम् 'प्राकृतम्' इस व्युत्पत्ति से ऐसा मर्म स्पष्ट किया है, इसी प्रकार के निगूढ़ आशयों से 'रूपान्तर स्वीकार को अध्यायार्थ माना है' इसी रूपान्तर स्वीकार के समय की श्रीमद्गोकुल में पुरुषोत्तम का प्राकट्य है उसी का यहां पर दर्शन देवकी वसुदेव को हुआ है —

लिया, जिस प्रकार प्राकृत रूप का स्वीकार किया उसी प्रकार ज्ञान की प्राकृत स्वीकार किया, क्योंकि वैसा करने पर रूपान्तर का स्वीकार भली भांति सङ्गत होगा, सर्वांश में संघटित होगा, इस प्रकार अपने स्वरूप से विरुद्ध धर्म का स्वीकार क्यों किया? इस शङ्का की निवृत्ति 'हरि' शब्द से होती है, आप हरि हैं सर्व दुःखों का हरण करने वाले हैं, रूपान्तर के स्वीकार किये बिना भक्तों को दुःख निवृत्त नहीं होता अतः आपने वैसा किया, 'कहीं' अपने मूल स्वरूप को भी आकार, और ज्ञान की भांति अन्यथा न करलें, इस शङ्का के निवारणार्थ 'भगवान्' शब्द कहा है, कि प्राकृत रूप में भी वह मूल स्वरूप भगवान् ही है, यदि भगवान् की है तो प्राकृत रूप और प्राकृत ज्ञान के कार्य प्रकट नहीं हो सकते वात्सल्य, माधुर्य आदि रस का अनुभव एवं आसुर व्यामोह, आदि क्रमशः प्राकृत रूप, एवं प्राकृत ज्ञान के कार्य हैं, उनका नहीं हो सकेगा, इस शङ्का के समाधान करने को 'आत्ममायया' इस पद का प्रयोग किया है भगवान् ने अपनी सर्व भवन सामर्थ्य (सब कुछ होने की शक्ति) से प्राकृत रूप एवं ज्ञान का अङ्गीकार किया है, इस कारण अपनी इच्छा से जब निज मूल रूप का कार्य आयेगा तब अर्जुन के प्रति गीता के उपदेश के अवसर पर एवं भीष्मपितामह के मुक्ति प्रसङ्ग पर वैसे ही दिव्य रूप एवं ज्ञान को प्रकट करेंगे, अन्य काल में तो माता श्री देवकी की प्रार्थना से प्राकृत रूप से ही दर्शन देवेंगे, जब ही चुप हुए उसी समय तत्काल ही प्राकृत बालक हो गये, नाभि के नालच्छेद की अवस्था से पूर्ववर्ती अवस्था में दर्शन देने लगे, नटों को रूप परिवर्तन करने में दर्शनार्थियों की परोक्षता अपेक्षित है परन्तु भगवान् नटवर प्रभु के सम्बन्ध में यह आवश्यक नहीं इस कारण कहते हैं कि माता पिताओं के देखते देखते प्राकृत शिशु रूप हो गये—

**श्री सुबोधनी** — यदैव तूष्णीं स्थितस्तदैव सद्यस्तत्क्षणमेवप्राकृतः शिशुर्बभूवाच्छिन्ननालोऽवस्थितः, नटानां रूपान्तरस्वीकारे दिदृक्षूणां परोक्षताऽपेक्ष्यतेऽत्र तु तत्रापेक्ष्यत इत्याह पित्रोः सम्पश्यतोरिति, लौकिकज्ञाननैपुण्यं पितुः, उभयमपि विद्यमानमेव न भगवत्सामर्थ्यस्य प्रतिबन्धकम् ॥४६॥

**व्याख्यार्थ** — माता लौकिक ज्ञान में निपुण हैं, और पिता पारमार्थिक अलौकिक ज्ञान में निपुण है, दोनों प्रकार की निपुणता उपस्थित होते हुए भी भगवान् के सामर्थ्य

का प्रतिबन्ध नहीं कर सकीं, वह तो उनके सामने ही अद्भुत बालक प्राकृत शिशु रूप में प्रद्युत हो गये ॥४६॥

श्लोक: — ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः सुतं समादाय स सूतिकागृहात् ॥

यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्यजा या योगमायाऽजनि नन्दजायया ॥४७॥

मूलार्थ — और उसके पश्चात् भगवान् से प्रेरित होकर श्री वसुदेवजी जब प्रसव मन्दिर से पुत्र को लेकर बाहर जाने लगे उसी समय नन्दपत्नी श्री यशोदा ने योगमाया को जन्म दिया जो 'अजा' भी कहलाती है ॥४७॥

श्री सुबोधिनी — एवं स्वीकृत्य रूपान्तरं तत्र स्थितौ प्रयोजनाभावात् स्वयं गमने रूपान्तरस्वीकारवैयर्थ्यात् तस्य चाज्ञानान् सर्वसमाधानार्थं तं बोधयित्वा तद्द्वारा स्वयं गोकुले गतवानित्याह ततश्चेति, प्राकृतभावानन्तरं शौरिश्चकारादाज्ञापनानन्तरं च सुतं भगवन्तं समादाय सम्यग् गृहीत्वोत्तमपात्र वस्त्र च प्रसार्य तदुपरि स्थापयित्वा स सूतिकागृहाद् यदा बहिर्गन्तुमियेष तर्हि तस्मिन् समये नन्दजायया योगमायाऽजनि जनिता, शौरिरिति गमने भयाभावः, स इति भगवद्वाक्ये विश्वासः, सुतमिति, तस्यापि पुत्रत्वबुद्धिः प्राकृतेव जातेति ज्ञापितं,

व्याख्यार्थ — इस प्रकार रूपान्तर के स्वीकार करने पर वहां स्थित रहने में कोई प्रयोजन नहीं था, एवं स्वयं पधारने में रूपान्तर के स्वीकार की सार्थकता नहीं होती, तथा वसुदेवजी को यह कुछ ज्ञान नहीं था कि अब इनको कहां पधराया जावै इन सब कारणों से सर्वत्र त्रुटियों के समाधान करने को वसुदेवजी को मानसिक प्रेरणा देकर उनके द्वारा स्वयं श्रीमद्गोकुल पधारे यह कहते हैं, 'ततश्च' प्राकृत भाव होने के अनन्तर 'च' शब्द से यह भी सूचित होता है कि भगवान् की आज्ञा के भी अनन्तर 'शौरि' शूरनन्दन श्री वसुदेवजी ने सुत रूप में भगवान् को अच्छी तरह लेकर उत्तम पात्र को लेकर उस पर वस्त्र को बिछा कर और उसके ऊपर बालक को स्थापित करके सूतिका सदन से जब बाहर जाने की इच्छा की उसी समय नन्द पत्नी यशोदा ने योग माया को जन्म दिया, "शोरि" शब्द से वसुदेवजी को ऐसी विकट परिस्थिति में रात्रि के समय महावन के प्रति प्रस्थान करने में किसी प्रकार का भय नहीं था, यह सूचित होता है, 'स' शब्द पूर्व परामर्शक होने से भगवान् के वाक्य में विश्वास का सूचक है कि यह वह वसुदेवजी है जिनका भगवान् के प्रति वार्तालाप करके उसके वाक्य में ठंड विश्वास हो चुका है, 'सुतम्' शब्द से यह विदित किया जाता है कि वसुदेवजी को भगवान् के प्रति

पुत्र बुद्धि प्राकृत जैसी हो गई थी, 'सूतिका गृहात्' शब्द से स्पष्ट होता है कि प्रसव के धर्म उस गृह में भी प्रकट हुए थे श्री देवकी के भी प्रसव वतीत्व (बालक को जन्म देने वाली माता के धर्म) प्रकट हुए, साधारण\* मोह की निवृत्ति साधारण ज्ञान से हो सकती है, इसलिये गोकुल जाने में स्वच्छन्दता का होना और कपाटों का खुल जाना उचित है—

**श्री सुबोधनी** — सूतिकागृहादिति, प्रसवधर्माः तत्रापि गृहे आविर्भूताः, देवक्या अपि सूतिकात्वं जात, साधारणमोहस्य निवर्तकं साधारणं ज्ञानमिति गमनस्वाच्छन्दं कपाटोद्घाटनं च, आत्मन इव देहस्यापि विस्मरणं यथा भवति तदर्थं तस्मिन्नेव समये योगमाया जाता, भगवत्समानकाले चेज् जाता भवेत् तदा देवकीवसुदेवयोरपि प्रस्वापः स्यात्, अनेन मुहूर्तानन्तरं सा जातेति ज्ञायते, नवम्यां च सा जाता, रोहिणी तु तुल्या, अतो रोहिण्याः कृत्तिकावेधो न दोषाय, सप्तमीवेधस्तु दोषायैव, पुत्रोत्सवादिकं शुद्धनवम्यामेव जातमिति शुद्धाष्टनवम्यप्युपोष्या, अन्तः स्थिते भगवति मायोमो न भवतीति यदैव बहिर्गन्तुमियेष तर्ह्येव जातेत्युक्त, सा ही योगार्थमेव माया, भगवतः कार्योपायार्थमेव लोकान् व्यामोहयतीति, मायायाः स्वतन्त्रज्ञानपक्षं व्यावर्तयितुं नन्दजायया जनितेत्युक्तं, न तु भगवानिव सा स्वत आविर्भूतेति ।।४७।।

**व्याख्यार्थ** — गोकुलवासी जिस प्रकार अपने आपको भूल सकें उसी प्रकार देह को भी भूल जावें, लड़का हुवा या लड़की ऐसा न समझ पावें इसलिये उसी समय योगमाया प्रकट हुई, भगवान् के समान काल में यदि प्रकट होती तो देवकी वसुदेव भी सो जाते, उनको भी निद्रा आजाती, इससे विदित होता है कि भगवान् के प्रकट होने से एक मुहूर्त पीछे वह प्रकट हुई है और उसने नवमी तिथि के आने पर जन्म ग्रहण किया है, रोहिणी नक्षत्र तो दोनों के जन्म के समय समान ही था, अतः उपवास करने में रोहिणी नक्षत्र का कृत्तिका नक्षत्र से बेध होना दोष जनक नहीं, सप्तमी तिथि का बेध तो दोषावह है ही, पुत्रोत्सव आदि तो नवमी में ही हुआ था अतः शुद्ध अष्टमी के न

**टिप्पण** — \* भगवान् ने वसुदेवजी को अपने गोकुल पहुँचाने और वहा से कन्या के ले आने को प्रेरणा दी है, केवल इतने ही कार्य में वसुदेवजी भगवान् की ज्ञान शक्ति से व्याप्त थे अतः उन्हें योगमाया से उत्पन्न होने वाला सर्व लोक साधारण मोह बाधक नहीं हुआ, उस साधारण मोह की निवृत्ति उस साधारण ज्ञान से हो गई, वसुदेवजी का वह भगवत्प्रेरणालभ्य ज्ञान साधारण ही था अतः उनको जाने में स्वच्छन्दता का भान होने से धीरे धीरे पैरों की रखते हुए जाना पड़ा क्योंकि उन्हें असाधारण ज्ञान तो था नहीं कि यह भगवत्कार्य अवश्यमेव सिद्ध होगा अतः अपनी चतुरता करनी पड़ी ।

मिलने पर केवल नवमी के दिन ही उपवास करना आवश्यक है, भगवान् के अन्तःस्थित<sup>†</sup> रहने पर माया का उदय नहीं हो सकता अतः जब ही बाहर जाने की इच्छा की उसी समय माया ने जन्म लिया ऐसा कहा है, वह माया योग के लिये ही उपयुक्त है, भगवान् के कार्यों में उपायों की सिद्धि के लिये लोगों को व्यामोहित करती है, प्रस्तुत में भगवान् का गोकुल पधारना ही कार्य है उसमें विघ्न उपस्थित न होने के उपाय को सिद्ध करने के लिये नागरिक लोगों को शयन करा देना ही मोहित कर देना है, माया को स्वतन्त्र न समझा जावै इसलिये (नन्दजायया) पद से सूचित किया है कि यशोदा ने उसे जन्म दिया है, भगवान् की तरह वह स्वयं ही प्रकट नहीं हुई ॥४७॥

श्लोकः — तया हृतप्रत्ययसर्ववृत्तिषु द्वाःस्थेषु पौरेष्वनुशायितेष्वथ ॥

द्वारस्तु सर्वाः पिहिता दुरत्यया बृहत्कपाटायसकीलशृङ्खलैः ॥४८॥

मूलार्थ — योग माया के द्वार रक्षक पुरुषों की एवं नगर निवासियों को भी समस्त बुद्धि वृत्तियों का हरण कर लिया और उनको निद्रा के आधीन भी कर दिया, द्वार तो सब ही पूर्व में ही उन द्वार रक्षकों ने बड़े बड़े किवाड और लोह की जञ्जीरों से बन्द कर दिये थे उनसे निकलना बड़ा कठिन था ॥४८॥

श्री सुबोधिनी — तस्याः कार्यमाह तयेति, तया मायया हृताः प्रत्ययानां सर्ववृत्तयो येषु जाग्रत्स्वापयोः प्रत्ययानां ज्ञानानां वृत्तयः संशयादय उत्पद्यन्ते, मायामोहितास्तु मूर्च्छिता एव जाताः, जगति तस्यामुत्पन्नाया तत्प्रभावः, यशोदादयस्तु मुग्धा एव गोकुलवासिनश्च, ततः क्रमेण मथुरायां द्वास्थास्ततः पौराः, न केवलं पूर्ववद् बुद्धिरेव गृहीता किन्तु निद्रयातिरिक्तबुद्धिरपि सम्पादिताः, यथा भूयान् कालो लोकान्तरं गतानामिव मुग्धतया गच्छति तथा

व्याख्यार्थ — उस योगमाया का कार्य बतलाते हैं कि उस योगमाया ने द्वारस्थ पुरुषों में विद्यमान उनकी प्रत्यय (ज्ञान) वृत्तियों का हरण कर लिया, उनके सर्व विध ज्ञानों को व्यापारात्मक वृत्तियाँ विलुप्त हो गई, उन्हें किसी प्रकार का भान नहीं रहा, जागरण, एवं स्वप्न इन दो अवस्थाओं में सर्व प्रत्यय या ज्ञानों की संशय आदि वृत्तियों उत्पन्न होती रहती हैं, माया से मोहित हुए द्वारपाल लोग तो मूर्च्छित हो गये, जगत् में

टिप्पण —<sup>†</sup> इन पङ्क्तियों से श्रीमदाचार्यचरण स्पष्ट सङ्केत करते हैं कि जिस हृदय में भगवान् विराजते हैं वहा माया को अवकाश नहीं एवं माया छल कपट आदि को आश्रय देने पर हृदय में भगवान् विराज नहीं सकते पधार जाते हैं —

माया के उत्पन्न होने पर उसका प्रभाव पड़ा, श्री गोकुलवासी श्री यशोदा आदि तो मुग्ध हो गये, उनकी सावधानता जाती रही तत्पश्चात् क्रम में मथुरा में द्वारपाल, तदनन्तर मथुरा के नागरिक लोग भी असावधान हो गये, माया ने केवल पूर्ववत् बुद्धि का हरण मात्र ही किया हो इतनी ही बात नहीं किन्तु निद्रा के द्वारा अतिरिक्त बुद्धि भी सम्पन्न करदी, जिस प्रकार अन्यन्त दीर्घ काल अन्य लोक के प्रति चले जाने वालों की भांति असावधानी से चला जाता है, उस प्रकार माया ने लोगों को सूला दिया, सुषुप्ति (गाढ निद्रा) को प्राप्त करा दिया, ऐसा होने पर द्वारा स्वयं खुल गये, इस माया ने इतना ही कार्य किया कि लोगों की बुद्धि वृत्तियों का हरण और निद्रा से उनका अत्यन्त अचेनती भाव सम्पादन, बस इतना तो माया का कार्य हुआ, अन्य कार्य तो अन्य प्रकार से सम्पन्न हुआ यह बतलाने को अर्थ शब्द का प्रयोग किया है, (अथ) शब्द भिन्न प्रकार से क्रम में परिवर्तन का बोधक है, कपाटों के स्वयं खुलजाने में माया का प्रभाव कारण नहीं भगवत्प्रभाव हो कारण है, वह सब ही द्वारा जिन्हें पूर्व में उन्हीं द्वारा पुरुषों ने बड़े २ कपाटों से लोहे की कील व जंजीरों से बन्द कर रखे थे, जो स्वभाव से भी दुर्गम थे जिन्हें प्राप्त करना या उल्लंघन करना कठिन था

श्री सुबोधिनी – अनुशायितेषु सुषुप्तिं प्रापितेषु सत्सु, इयं हि मायैतावत्कार्यमेव कृतवती, अन्यत् त्वन्यथा जातमिति वदन् प्रक्रमान्तरमाहाथेति, पूर्व तैरेव द्वारपालकैः सर्वा एव द्वारो बृहत्कपाटायसकीलशृङ्खलैः पिहिताः स्वभावतोऽपि दुरत्यया

कारिका – गजा व्याघ्राः क्वचित् सिंहा विषमाश्चैव भूमयः दिवसेऽपि गतो नित्यं सर्वथा भयहेतवः ॥१॥

श्री सुबोधिनी – येषु द्वारेषु, गमनमात्रेऽपि साधारणानां बन्धो भवति, तत्रापि पिहिताः, वृहन्ति कपाटानि यत्र, आयसा, कीला, शृङ्खलाश्च यासु, कीलसहिता वा शृङ्खला यासु, कुञ्चिकयैवोद्धाटयितुं शक्याः, कुञ्चिकाऽपि विषमा ॥४८॥

कारिकार्थ – जहां हाथी, व्याघ्र, कहीं कहीं सिंह तथा ऊँची नीची भूमि यह सब दिन में भी जाने में भय के कारण सर्वदा एवं सर्वथा उपस्थित रहते थे, जिन द्वारों पर साधारण लोग तो जाते ही कैद कर लिये जाते थे, उन पर भी उस समय तो वह द्वार बद्ध थे जिनमें बड़े बड़े किवाड़ लगे थे, लोह की कील व जंजीरें थीं, अथवा कील सहित जंजीरें थी, वह ताली से ही खोले जा सकते थे, उनके खोलने को ताली भी

विषम थी, उसको जानने वाला ही काम में लासकता था, सर्व साधारण के लिये उससे कपाटों का उद्घाटन नहीं हो सकता था ॥४८॥

**आभास** — एतांशा अपि कृष्णवाहे वसुदेवे समागते स्वयमेव व्यवर्यन्त (इत्याह) विशीर्णा जाताः,

**श्लोकः** — ताः कृष्णवाहे वसुदेव आगते स्वयं व्यवर्यन्त यथा तमो रवेः ॥

ववर्ष पर्जन्य उपांशुगर्जितः शेषोन्वगाद् वारि निवारयन् फणैः ॥४९॥

**मूलार्थ** — वह बड़े बड़े द्वार श्रीकृष्ण के वाहक वसुदेवजी के आते ही सूर्य से अन्धकार की भांति स्वयं ही हट गये, मन्द मन्द गर्जना के साथ मेघ वर्षा करने लगा, (वर्षा से भीग जाने की स्थिति नहीं आसकी) भगवान् शेषजी फणों के द्वारा जल का निवारण करते पीछे से चल रहे थे ॥४९॥

**श्री सुबोधिनी** — स्वयमेवोद्घाटितकपाटा जाताः, भगवतः सर्वमोक्षदातृत्वात् कपाटानामप्य चेतनानामतितामसैर्बद्धानां मुक्तिः प्रदर्शिता, अनेनान्येषां मुक्तिर्व्याख्याता, यदि शुद्धसत्त्वं भगवद्वाहकं चेद् भवति, एतत्प्रदर्शनार्थमेव कृष्णवाहे वसुदेव इत्युक्तं, अयमेवोपाय इति ज्ञापयितुं ऽष्टान्तमाह यथा तमो रवेरिति, उपायसहस्रेणापि सर्वं तमो न गच्छति, उदिते तु सूर्ये स्वत एव गच्छति तथा शुद्धसत्त्वे भगवत्सहिते सत्येव सर्वाविद्यानाशः,

**व्याख्यार्थ** — इस प्रकार के भी द्वार भगवान् कृष्ण को पधराकर वसुदेवजी के आने पर स्वयं ही खुल गये (ऐसा कहते हैं) कि वह द्वारा विशीर्ण हो गये, उनकी ठंडता शीथिल हो गई उनके कपाट स्वयं ही पृथक् २ हो गये, इस वर्णन से यह बतलाना अभीष्ट है कि भगवान् मोक्ष के दाता हैं अतः जड़ जातीय कपाट जिन्हें अत्यन्त तमोमय लोह कील श्रृङ्खलाओं ने बन्धन में डाल रखा था उनको भी मुक्त कर दिया, इस प्रकार तामस कर्मबद्ध मूढ़ों को भी मुक्ति का प्रदर्शन कराया गया है, इससे अन्य ज्ञान शून्य व्यक्तियों की मुक्ति का भी स्पष्टीकरण कर दिया है, यदि शुद्ध सत्त्व भगवान् को धारण करता हो तो मुक्ति होना अनिवार्य है ऐसी सूचना के लिये (कृष्णवाहे) (वसुदेवे) इन पदों का उल्लेख किया है (सत्त्वं विशुद्धं वसुदेव शब्दितम्) के अनुसार, रजोगुण, तमोगुणों से अस्पृष्ट शुद्ध सत्त्वात्मक अन्तःकरण में यदि कृष्ण की धारणा सिद्ध हो जाय तो मोक्ष सहज सिद्ध है, मोक्ष प्राप्ति का यह ही उपाय है यह बतलाने को ऽष्टान्त कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्य के उदय होने पर अन्धकार विलीन हो जाता है,

संश्रयः उपाय करने पर भी सम्पूर्ण अन्धकार निवृत्त नहीं होता, सूर्य के उदय होते ही स्वतः चला जाता है, उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरण के भगवद्भाव पूर्ण होने पर सम्पूर्ण अविद्या का (बन्धन करने वाली माया का) नाश हो जाता है।

**श्री सुबोधिनी** — सर्वासाध्यानां स्वत एव सिद्धिर्नान्यथेति निरूपितं, अन्तद्वारेषु निर्गतेषु मायायाः प्रवेश उभयोः साम्मुख्ये यदासीत् तदाह ववर्षति, वृष्टिरपि सर्वेषामनुत्थाने हेतुः, उपांशुगर्जितं चानुत्थाने शब्दान्तरप्रतिबन्धे च, अधिकगर्जने तेनैव प्रबोधः, एतावन्मायाकार्यं साधारण्येन प्रवृत्तं वसुदेवस्यापि खेदहेतुर्भवति, अतस्तन्निवारणार्थं शेषोऽन्वगात्, पातालात् समागत्य फणैः, पर्जन्यवारि निवारयन्नन्वगात्, पश्चाद्भागेन गतवान्, भगवत्सम्बन्धात् तत्कृतं तु भयं न भवति, अन्तरिक्षे निवारयन् गच्छतीत्येके, फणैरितिपदादन्वगादिति च पश्चादेव छत्रधारीव गच्छतीति शायते ॥४६॥

**व्याख्यानार्थ** — समस्त असाध्य कार्यों की सिद्धि स्वतः हो जाती है जो कि अन्य प्रकार से नहीं हो पाती, ऐसा यहां निरूपण किया है, अन्तर्द्वारों के निकल जाने पर, नगरी के भीतरी दरवाजों के पारकर जाने पर, माया का प्रवेश हुआ है, भगवान् और माया इन दोनों के सम्मुख होने पर जो संशय उपस्थित हुआ उसे कहते हैं कि वृष्टि होने लगी, वृष्टि भी सब लोगों के न उठने में कारण हुई, वर्षा के कारण सब लोग पड़े ही रहे, मेघों का उपाशु गर्जित (मन्द २ गर्जना) भी लोगों के न उठने का कारण हुई तथा अन्य शब्दों के कर्णगत न होने में भी कारण हुई, मेघ की मन्द गर्जन से अन्य कोई किसी के आने जाने का शब्द नहीं सुनाई पड़ता था, अधिक गर्जना होने पर तो लोग उस गर्जना से ही जाग उठते अतः मन्द गर्जना लोगों के न उठने में कारण सिद्ध हुई, यह इतना ही केवल वर्षा मात्र माया का कार्य सर्व साधारण रूप से प्रवृत्त हुआ वसुदेवजी को भी खेद जनक है अतः उस खेद के निवारणार्थं शेषजी वसुदेवजी के पीछे की ओर से चल रहे थे, भगवान् के सम्बन्ध के कारण से शेष के सर्प रूप से होने वाले भय का सम्भव नहीं, कुछ विद्वानों का कहना है कि शेषजी अन्तरिक्ष आकाश में चल रहे थे, तब तो शरीर के द्वारा भी वृष्टि का रोकना सम्भव था, यहां तो फणों से वारि (जल) का निवारण कहा है, एव ऊपर चलना न कहकर (अनु-आगत) पीछे से चलना कहा है। अतः स्पष्ट होता है कि शेषजी वसुदेवजी के पीछे से ही छत्रधारी कर्मचारी की भांति चल रहे थे ॥४६॥

**श्लोकः** — मघोनि वर्षत्यसकृद् यमानुजा गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला ॥



भयानकावर्तशताकुला नदी मार्गं ददौ सिन्धुरिव श्रियः पतेः॥५०॥

मूलार्थ — इन्द्र के बराबर वर्षा बरसाने के कारण यमुनाजी गम्भीर प्रवाह से बह रही थी, लहरियों से लहरा रही थी झागों से झागड़ रही थी, भयानक भंवर पड़ रहे थे उन भवरो से व्यग्र हो रही थी (ऐसी दशा में) यमुना नदी ने वसुदेवजी के उस प्रकार मार्ग दे दिया जिस प्रकार सीतापति श्री राचन्द्ररजी को लङ्का जाने के अवसर पर समुद्र ने मार्ग दिया था॥५०॥

श्री सुबोधिनी — यथा यथा गोकुलनिकटे गमनं तथा तथा मायासान्निध्याद् गमने क्लेशाधिक्यं भगवत्सान्निध्याच्च तदभाव इति ज्ञापयितुं यमुनोत्तरणे प्रकारमाह मघोनि वर्षतीति, भगवज्जन्मसमये सर्वतो निवृत्ता अपि मेघा मायाजन्मनि सर्वे समागताः, इन्द्रोऽपि माया मोहितो मेघप्रेरको जातः, केवलाश्चेद् भगवति गच्छति निवृत्ता अपि भवेयुः, अल्पानां मोहितानामल्पधैर्यवत्त्वेन महति विरोधासम्भवात्, अत आह मघोनीन्द्रेऽसकृद् वर्षति सति, स्वभावतोऽपि यमुना क्रुरेत्याह यमानुजेति, अत एव गम्भीरतोयौघजवोर्मिफेनिला, गम्भीरो भयानकोऽगाधो यस्तोयौघस्तस्य जवेन वायुवशाच्च य ऊर्मयस्तत्सहिता फेनिला च, त्रिविधोऽपि दोषस्तस्या निरूपितः, अतिवेगो राजसः, फेनादिस्तामसः एव कालकृत दोषमुक्त्वा स्वाभाविकं दोषमाह भयानकावर्तशताकुलेति, भयानका भयजनकाः

व्याख्यार्थ — जैसे जैसे गोकुल के निकट पहुँचना तैसे तैसे माया के समीप होने के कारण पहुँचने में क्लेश का अधिक होना, एवं भगवान् के सन्निधान से उन क्लेशों का अभाव हो जाना यह बतलाने को यमुना के उस पार जाने में प्रकार को कहते हैं कि इन्द्र के वृष्टि करने रहने पर यमुना का प्रवाह भयावह था परन्तु भगवान् के कारण कोई क्लेश उपस्थित नहीं हुआ, भगवान् के जन्म समय में मेघ सब ओर हट गये थे तो भी माया के जन्म के समय में सब आगये, इन्द्र भी माया से मोहित होने के कारण मेघों को प्रेरणा देने लगा, यदि इन्द्र की प्रेरणा न होती, केवल मेघ ही होते तब तो भगवान् के गोकुल पधारने के समय हट भी जाते क्योंकि अल्प योग्यता वाले साधारण माया मोहित लोगों का धैर्य अल्प ही होता है अतः वह महान् पुरुषों के प्रति विरोध नहीं करते यहां क्षुद्र जातीय मेघों का भगवान् से विरोध करना असम्भव है यह बतलाना है, परन्तु इन मेघों को तो देवराज इन्द्र से प्रेरणा मिल रही थी अतः वह वर्षा बरसाते रहे रुके नहीं इससे कहा है कि 'मघोति वर्षति' देवराज इन्द्र के बार बार वर्षा करने पर वैसी परिस्थिति हो गई, माया मोहित देवराज इन्द्र की प्रेरणा का बल पाकर मेघ वर्षते ही रहे जिससे यमुना प्रवाह भयावह हो गया, 'यमुनाजी' शब्द से यमराज की भगिनी होने के कारण स्वाभाविक क्रूरता बतलाई है (जो कि भयङ्कर परिस्थिति के वर्णन में अनूकूल है)

अतः एवं गम्भीर जल प्रवाह के वेग से एवं उमंग की तरंगों से तथा फेन (झागो) से युक्त बतलाया गया है, श्री यमुना का प्रवाह गम्भीर था उसकी अगाधता गहराई भयानक थी, प्रवाह वेग से तथा वायु से —

**श्री सुबोधिनी** — ये आर्वर्ताः भ्रमरास्येषां शतैराकुला, समप्रवाहरहिता व्यग्रा वा, आवर्तास्तामसा, वैयग्र्य राजस, एव स्वाभाविका अपि त्रयो दोषाः, एव दुष्टाऽपि भयान मार्गं ददौ, सर्वा नद्यः समुद्रपत्न्यः, रामावतारे समुद्रोऽपि मार्गमप्रयच्छन् शोषितः किं पुनस्तस्याल्पसत्त्वा भार्गा ? अतः स्वरूपादेव प्रच्युता भविष्यामीति सिन्धुरिव मार्गं ददौ, किञ्च यमुनाजलेऽग्रे लक्ष्मीभिः सह क्रीडां करिष्यति, अतः सन्तोषादपि ददौ, यथा लक्ष्मीपतेर्जामातुः श्वसुरः समुद्रः कदाचित् स्वगृहे नयन् मार्गं प्रयच्छति, अथवा श्रीः सीतैव तस्या एकस्याः कामुकश्चेत् समुद्रशोषं कृतवान् बहूना गोपिकानां कामुकः कथं न कुर्यात् ? ॥५०॥

**व्याख्यार्थ** — कारण उठती हुई लहरों से युक्त थी तथा फेन (झागों) से पूर्ण थी, यमुना के तीन प्रकार के दोष का निरूपण इस विशेषण से हुआ है, अत्यन्त वेग से राजस दोष है, और झाग बबूला आदि तामस दोष है, (गाम्भीर्य सात्विक दोष है) इस प्रकार वर्षा काल जनित दोषों को कहकर स्वाभाविक दोष बतलाते हैं कि सैकड़ों भयङ्कर आवर्त (भमरो) से आकुल थी, उनका प्रवाह सम नहीं था ऊँचा नीचा विषम रूप से बहता था, अन्यथा उन भंवरो से व्यग्र थीं, अपनी घबडाहट प्रकट कर रही थी, आवर्त (भंवर) तामस है, व्यग्रता राजस है (समान प्रवाह का न होना सात्विक दोष है) इस प्रकार स्वाभाविक तीनों दोषों का भी निरूपण किया, इस प्रकार स्वाभाविक एवं आगन्तुक दोषों से युक्त होते हुए भी — भय के कारण मार्ग देने में अनुकूल हो गई मार्ग दे दिया, विघ्न नहीं किया, सब ही नदी समुद्र की पत्नी होती है रामावतार में समुद्र भी भगवान् को मार्ग न देने के कारण शुष्क कर दिया था, तब उस समुद्र की अल्प सामर्थ्य वाली एक पत्नी की तो बात ही क्या है, अतः स्वरूप से ही भ्रष्ट हो जाऊँगी इस भय से समुद्र की भाँति मार्ग दे दिया, अथवा आगे लक्ष्मी (श्री गोपीयो) से जल क्रीड़ा करेंगे इस सन्तोष से कि मेरा भी सौभाग्य सिद्ध होगा श्री यमुना ने मार्ग दे दिया, जिस प्रकार लक्ष्मीपति को अपने जामाता भगवान् को उनका श्वसुर समुद्र कभी उन्हें अपने घर में ले जाने को मार्ग देता है, अथवा श्री शब्द से सीताजी का ही ग्रहण अभीष्ट है

एक सोता के कामुक रघुनाथ जी यदि समुद्र को सुखा चुके तो बहुत सी गोपिकाओं के कामुक होकर मुझे क्यों न सुखा देंगे इस भय से यमुना ने मार्ग दे दिया ॥५०॥

श्लोक: —नन्दव्रजं शौरिरुपेत्य तत्र तान् गोपान् प्रसुप्तानुपलभ्य निद्रया ॥

शिशुं यशोदाशयने निधाय तत्सुतामुपादाय पुनर्गृहानगात् ॥५१॥

मूलार्थ — वसुदेवजी नन्दराय के व्रज में पहुँचकर वहाँ उन गोपों को निद्रा के कारण सोता हुआ पाकर श्री यशोदा की शय्या पर नवजात शिशु को स्थापित कर उनको सुता को उठाकर फिर अपने घर लौट आये ॥५१॥

श्री सुबोधिनी — एवं मार्गवन्नदीमुत्तीर्य गोकुले गतस्य कृत्यमाह नन्दव्रजमिति, शौरिरित्यभये नन्दस्य च मित्रत्वात्, व्रजे च गवामपि कदाचिच्छब्दो भवत्यतः पुरुषगमनशब्देनापि न तत्रत्याना जागरण, उपेत्य समीपे गत्वा, अनेन शनैः शनैर्गमन सूचित, तत्र च तान् सर्वदा जागरणयुक्तानपि तदा प्रसुप्तानुपलभ्य, केवलमपि शयन सम्भवतीति निद्रयेत्युक्त, शिशु बालक भगवन्त, भगवत्त्वज्ञानेन पुत्रत्वस्य वक्तुमशक्यत्वात्त्रामान्तराणामकृत्वाद् भगवत्त्वे स्थापनस्यायुक्तत्वाच्छिशुमित्युक्तं, शयने शय्यायां, अयुक्तमित्याशङ्क्य शयनपदं दत्तं, यशोदायाः शयने सति यशोदायाः शयन यत्रेति निधाय नितरां स्थापयित्वा तत्सुतां मायामुपादाय पुनस्तेनैव मार्गेण स्वगृहानगात् ॥५१॥

व्याख्यार्थ — इस प्रकार मार्ग की तरह नदी को पारकर गोकुल में पहुँचे हुए वसुदेवजी का कार्य बतलाते हैं कि शूरनन्दन वसुदेव वहाँ जाकर गोपों को सोया हुआ पाकर नवजान शिशु को वहाँ श्री यशोदा की शय्या पर पधारकार गृह के प्रति लौट आये, “शौरि” शब्द वसुदेवजी के अभय का सूचक है, और नन्दराय के व्रज में जाना है वहाँ उनको जाने में हर्ष प्रकर्ष का होना आवश्यक है क्योंकि नन्दराय वसुदेवजी के मित्र हैं अतः निर्भयता पूर्वक प्रसन्नता से पहुँचे, ‘व्रज’ गौओं के निवास स्थान को कहते हैं वहाँ कभी कभी गौओं का शब्द होता ही रहता है अतः मनुष्य के चलने के शब्द (पैछट) से भी वहाँ वालों का जाग जाना सम्भव नहीं, ‘उपेत्य’<sup>+</sup> शब्द ‘समीप में जाकर’ इस अर्थ का वाचक है, इससे धीरे २ जाने की सूचना होती है (वसुदेवजी चुपके से पैर रखते हुए गये जिससे कोई जाग न जावे) और वहाँ पर उन सदा जागने वाले गोपों को भी उस समय सोता हुआ पाया, शयन निद्रा के बिना केवल पड़े रहने को भी कह

देते हैं, अतः 'निद्रया' शब्द का प्रयोग किया कि वह लोग निद्रा से सो रहे थे, बालक रूप भगवान् के प्रति इस अवसर पर 'शिशु' शब्द का प्रयोग अत्यन्त उपयुक्त है, क्योंकि वसुदेवजी को उनके भगवान् होने का ज्ञान है इस दृष्टि से 'पुत्र' शब्द का प्रयोग उचित नहीं, अन्य नामों का अभी आविर्भाव हुआ नहीं है, "भगवान्" शब्द का प्रयोग भी स्थानान्तर पर छोड़ने के अवसर पर उचित नहीं क्योंकि भगवान् होने पर उनका स्थापन अन्यत्र विसर्जन) युक्त नहीं, अतः 'शिशु' शब्द ही उपयुक्त होने से प्रयुक्त किया है,

**श्लोकः —** देवक्याः शयने न्यस्य वसुदेवोऽथ दारिकाम् ।।

प्रतिमुच्य पदोर्लोहमास्ते पूर्ववदावृतः ।।५२।।

**मूलार्थ —** इसके अनन्तर वसुदेवजी श्री देवकी की शय्या पर लड़की को रखकर अपने पैरो में लोहे की बेडियों को डाल कर पहले की तरह बद्ध हो गये ।।५२।।

**श्री सुबोधिनी —** ततो देवक्या शयने तस्या अपि शय्यास्थानं कृत्वा तां स्थापयित्वा, अथेति भिन्नप्रक्रमे, यशोदाशयने तूष्णीं शनैरज्ञापयन्, अत्र तु तदभावः, दारिकां कन्यां, अनादरे दारिका, स्वयमेव पदो पादयोर्लोह प्रतिमुच्य पूर्वदेव यदा भगवज्जन्म न जातं तदा यथा ।।५२।।

**व्याख्यार्थ —** (शयन) यद्यपि शय्या को कहते हैं परन्तु (शय्यापद) का प्रयोग अयुक्त<sup>+</sup> हैं ऐसी आशङ्का कर (शयन) पद का प्रयोग किया है अथवा श्री यशोदा के शयन करने पर उनके सोजाने पर, या श्री यशोदा जिस स्थान पर शयन करती थी उस स्थान पर शिशु को स्थापन कर भली भांति पधराकर श्री यशोदा की सुता माता को लेकर पुनः उसी मार्ग से अपने गृह आपहुँचे ।।५१।।

**व्याख्यार्थ —** इसके पश्चात् देवकी की शय्या पर उस लड़की को शयन करने का स्थान सिद्ध कर उसे वहां स्थापित कर वसुदेवजी पूर्व की भांति निगडित हो गये, यहां पर (अथ) शब्द प्रक्रम की भिन्नता का सूचक है, श्री यशोदा की शय्या पर चुप चाप धीरे २ शिशु का स्थापन किया था क्योंकि वहां किसी को विदित न हो, यह आशङ्का थी, यहां उस प्रक्रम को बदल दिया है क्योंकि यहां उस प्रकार की कोई शङ्का नहीं है,

<sup>+</sup> टिप्पण — पर स्त्री की शय्या का स्पर्श निषिद्ध है अतः (शय्या) पद का प्रयोग नहीं किया, और इसी अरुचि से शयन पद का भी प्रकारान्तर से व्याख्यान किया है ।।५१।।

(दारिका) शब्द से उनके अनादर को सूचना है, कि उस परम मनोहर पुत्र की स्मृति क्या इससे शान्त होगी, वसुदेवजी स्वयं अपने पैरों में लोहे की बेड़ियों को डालकर भगवान् के जन्म से पूर्वकाल की भांति आबद्ध हो गये ॥५२॥

श्लोक: — यशोदा नन्दपत्नी च जातं परमबुध्यत ॥

न तल्लिङ्गं. परिश्रान्ता निद्रयाऽपगतस्मृतिः ॥५३॥

॥ इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे श्रीकृष्णजन्मनामतृतीयोऽध्यायः ॥३॥

मूलार्थ — नन्द पत्नी यशोदा ने इतना ही जान पाया कि कुछ हुआ है, लड़के या लड़की का कोई चिन्ह नहीं पहिचान सकी क्योंकि प्रसव वेदना से अत्यन्त थक चुकी थी निद्रा ने उनकी स्मृति का अपहरण कर लिया था ॥५॥

इति श्री भा. म. द. स्क. जन्म प्र. तृ. अध्याय श्लोकार्थः

श्री सुबोधिनी — अत्र यशोदायाः शयनं न सम्भवति, प्रसवे लोकेज्ञानासम्भवादित्याशङ्क्याह यशोदेति, यशोददातीति प्रसवे ज्ञाते भर्तुः सुखं भवतीति, नन्दस्य पत्नीति, तार्द्धशे समयेऽन्यदापि जागरणं जातकर्माद्यावश्यकत्वात् पत्नी भूत्वापि सावधानाऽपि, जातमेव परमबुध्यत न तु जातस्य लिङ्गं. पुत्रः पुत्री वेति, यतः परिश्रान्ता प्रसवार्थं वेदना महती जाता, पश्चाच्छ्रान्ता यदा तदैव प्रसवो जात इति प्रसवेन सह निद्राऽपि जाता, तथा कृत्वापगता स्मृतिर्यस्याः, मम प्रसवो जात इति पूर्वानुसन्धानं स्मृतिः, अतः पूर्वं वसुदेवकृत सुस्थम् ॥५३॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिण्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे  
तृतीयाध्यायविवरणम् ॥३॥

व्याख्यार्थ — यहां इस प्रकार आशङ्क्या करके उसके निवारणार्थ उक्त श्लोक को कहा है कि — यशोदा का शयन तो असम्भावित है क्योंकि लोक में प्रसव (अवस्था के होने पर अज्ञान का सम्भव नहीं) उक्त शङ्का की निवृत्ति करते हुए शुकदेवजी कहते हैं, कि नन्द पत्नी यशोदा इतना ही समझ सकी कि कुछ उत्पन्न हुआ परन्तु वह उत्पन्न हुआ स्वरूप पुत्र है या पुत्री है ऐसा नहीं जाना, उक्त श्लोक में यशोदा शब्द के द्वारा एवं उसके विशेषण (नन्द पत्नी) शब्द के द्वारा नन्द यशोदाओं के नाम की सार्थकता बतलाई है, यशोदा, प्रसव के ज्ञात होते ही पति को यश देती है कि तुम बड़भागी हो

तुम्हारी साधना आज सिद्ध हुई, मेरा आपके द्वारा पाणिग्रहण सार्थक हुआ, चिरकाल तक लोक में नाम चलेगा आदि २, नन्दराय को भी प्रसव के ज्ञात होते ही सुख होता है अपार आनन्द होता है कि मेरा भर्ता होना आज सार्थक हुआ, अब इस भार्या के भरण करने में मुझे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है, इत्यादि भावनाओं से सुख होने के कारण उन्हें 'नन्द' पदवी प्राप्त होती है, अन्य अवसरों पर भी वैसे समय में बालक के जात कर्म आदि संस्कार आवश्यक कर्म होते हैं अतः जागना ही होता है, शयन का सम्भव नहीं, 'नन्द-पत्नी' शब्द के अन्तर्गत 'पत्नी' शब्द का प्रयोग स्त्री की एक विशिष्ट योग्यता का सूचक है उस योग्यता के आधार पर उसे पति के साथ पारलौकिक यज्ञादि कर्म में अधिकार प्राप्त होता है, अतः उसकी प्रसव कालीन जात कर्मादि संस्कारों के लिये सावधान रहना आवश्यक है, श्री यशोदा की नन्द की पत्नी होकर भी सावधान होते हुए भी केवल इतना ही जान सकी कि जन्म<sup>+</sup> हुआ, कोई बालक प्रकट हुआ, प्रकट हुए बालक का चिन्ह विशेष कि यह लड़का है या लड़की है ऐसा नहीं जान सकी, क्योंकि 'परिश्रान्त थी' प्रसव के निमित्त वेदना अधिक हो चुकी थी, पीछे जिस समय श्रान्त हुई (थक गई) उसी समय प्रसव हुआ कि उसके साथ ही निद्रा भी आगई, उस निद्रा से उसकी समृति लुप्त हो गई, मेरे प्रसव हुआ है इस प्रकार के पूर्व वृत्तान्त के अनुसन्धानात्मक स्मरण का अभाव हो गया, अतः पूर्व में वसुदेवजी का किया हुआ सब कुछ शिशु का स्थापन कन्या का उत्थापन आदि सुन्दर प्रक्रिया से सम्पन्न हुआ ॥५३॥

इति श्री भाः निरोध स्कं. जन्म प्रकरण रूपान्तर स्वीकार तृतीय अध्याय श्री सुबोधिनी व्याख्या का अनुवाद ।

टिप्पण — \* भगवान् श्री कृष्ण की जयन्ती तिथि को जन्माष्टमी कहते हैं इस तिथि का यह नाम श्री कृष्ण की परब्रह्मता का परिचय देता है, 'रामनवमी' 'नृसिंहचतुर्दशी' आदि जयन्तीयो को 'जन्म नवमी' या 'जन्म चतुर्दशी' नहीं कहा जाता, इस आकस्मिक शब्द प्रवृत्ति से यदि इस प्रकार स्वीकार किया जावै कि जन्म प्रयुक्त विशेषता को लेकर उक्त (जन्माष्टमी) सज्ञा प्रचलित हुई है तो वह विशेषता अजन्मा परब्रह्म भगवान् श्री कृष्ण के जन्म से ही तो सम्बन्धित है, श्री यशोदा भी 'जातं परम बुध्यत, न तल्लिङ्गम्', धन्य श्री यशोदे! उस परब्रह्म की कोई पहिचान नहीं आपने उसके जन्म को जान लिया था उसकी जन्म तिथि का नाम करण कर दिया ॥ श्री यशोदा स्ननन्ध्याय नमः ॥

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

## दशमः स्कन्धः

श्री सुबोधिनी का सरल — सुबोध — हिन्दी अनुवाद

### चतुर्थोऽध्याय

इस अध्याय के पूर्व के तीन अध्यायों में क्रमशः हेतु, उद्यम तथा दूसरे रूप को स्वीकार करने का निरूपण है अर्थात् भगवान् किस हेतु से भूतल पर पधारे उस हेतु का निरूपण प्रथमाध्याय में हैं, भगवान् के भूतल पर पधारने के उद्यम का वर्णन द्वितीयाध्याय में है और चतुर्भुज से द्विभुजरूप को स्वीकार करना रूपान्तर स्वीकरण है इस का तृतीयाध्याय में निरूपण है। इस चतुर्थाध्याय में माया के कार्य का निरूपण होने से कापट्य का निरूपण किया जा रहा है और धर्म रक्षार्थ अनिरुद्ध— व्यूह का प्राकट्य भी इस में कहा गया है। जो किसी से रोका नहीं जावे वहीं अनिरुद्ध है और जो किसी से नहीं रुकता वही धर्म की रक्षा कर सकता है परन्तु धर्म रक्षण की तब ही आवश्यकता पड़ती है जब माया अधर्म का प्रसार करे। इसी अन्तिम बात का निरूपण नीचे की कारिका से किया जा रहा है।

मायायाः कार्यमधुना चतुर्थे विनिरूप्यते ।

अन्यथा भगवत्कार्यं न भवेदनिमित्ततः ॥१॥

ज्ञापने दुःखसुखदे ततोऽपि ज्ञापने तथा ।

कंसस्य सह भृत्यस्य धर्मबाधो न चान्यथा ॥२॥

तामसप्रभुक्ते राज्ये कृतो धर्मस्तु तदगतः ।

अतः पूर्वस्य नाशौ वै कर्तव्यस्तामसाश्च ते ॥३॥

ब्राह्मणा अपि तद्देशे स्वभावात् तामसा मताः ।

कालस्तथा विधो यस्मात् पश्चाज्जातस्तु सात्त्विकः ॥४॥

इस चतुर्थ अध्याय में सब को दुःख देना, धर्म को नष्ट करना आदि जो माया के कार्य हैं उनका निरूपण करते हैं। यदि माया ऐसा कार्य नहीं करती तो देवकी को

बन्धन से छुड़ाना, सबको सुख देना, तथा धर्मरक्षा आदि कार्यों के करने के लिये भगवान् के पधारने की आवश्यकता नहीं होती। अतः भगवान् के कार्यों में भक्तों को दुःख देना आदि माया के कार्य ही कारण हैं अर्थात् माया यदि कंस द्वारा भक्तों को दुःख दिलाना आदि कार्य न करती तो भगवान् का उपर्युक्त कार्य भी नहीं होता ॥१॥

माया ने रोदन कर के द्वारपालों को यह बताया कि मैं उत्पन्न हो गई हूं। इस के पश्चात् गृह रक्षकों ने भी कंस को बालक का जन्म होना बताया। ये दोनों बातें दूसरी कारिका के प्रारम्भ में आये प्रथमा द्विवचनान्त "ज्ञापने" पद से बताई गई है अर्थात्, "ज्ञापने" यह पद प्रथम द्विवचनान्त है। अत एव माया का अपने आप को बताना और कंस को रक्षकों द्वारा सूचित कराना, ये दो कार्य माया के कहे गये हैं। माया के ये कार्य वसुदेवादि को दुःख देने वाले और कंस को सुख देने वाले हुए। बाद में माया ने "तेरा मारने वाला कहीं पैदा हो गया है" ऐसा कहा और इसी बात को कंस ने अपने मन्त्रियों को बताया। यह बात कारिका में आये दूसरे "ज्ञापने" पद से कही है। ये दोनों कार्य भी भक्तों को दुःख देने वाले और कंसादि को सुख देने वाले हुए। यदि माया यह कार्य नहीं करती तो कंस और उसके सेवक धर्मनाश के लिये उद्यत नहीं होते ॥२॥

शंका होती है कि भगवान् का अवतार तो धर्मरक्षा के लिये होता है तो यह अवतार धर्मनाश में कारण कैसे बना ? क्योंकि भगवान् के प्राकट्य के भय से ही कंस ने ये सब पाप किये इस लिये भगवान् का प्राकट्य ही इस अधर्म में कारण हुआ किन्तु यह होना उचित नहीं था। ऐसी आशंका पर कहते हैं कि कंस तामस वृत्ति का था अतः उस के राज्य में पशु आदि तथा उनसे होने वाले यज्ञादि धर्म सब ही तामस थे। इस कारण उनका नाश कराना आवश्यक था ॥३॥

यज्ञादि धर्म संपादन में अंग भूत जो ब्राह्मण थे वे भी उस प्रदेश में स्वभावतः तामसवृत्ति के थे तथा वह समय भी तामस था। अतः कंस के द्वारा निवृत्ति कराने के अनन्तर जो धर्म स्थापित किया गया वह सात्त्विक धर्म हुआ ॥४॥

श्री सुबोधिनी :- भगवत्कार्यवैपरीत्यं मायाकार्य इति ज्ञापयितुमुद्धाटितकपाटानां द्वाराणां पुनः पिधानमाह।

हिन्दी अनुवाद — भगवान् का कार्य आवरणों को दूर करना एवं बन्धन से मुक्त करना है इस लिये सब द्वार खुल गये और वसुदेवजी बन्धन मुक्त हो गये। माया का कार्य



भगवान् से विपरीत होता है अर्थात् माया धर्म का नाश करती है और बन्धन में डालती हैं तथा आवरण को उत्पन्न करती है, इसीलिये माया के आने से आवरणरूप बाहर भीतर के द्वारों के किवाड़ बन्ध हो गये और वसुदेवजी पहिले की भांति बन्धन में पड़ गये। इस बात को नीचे के श्लोक में कहते हैं।

॥ श्री शुक उवाच ॥

श्लोक: — बहिरन्तः पुरद्वारः सर्वाः पूर्ववदावृताः।

ततो बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः समुत्थिताः॥१॥

अर्थ — श्री शुकदेवजी कहते हैं कि जब वसुदेवजी लौट आये तब मथुरा नगर के बाहिर तथा भीतर के सभी दरवाजे पहिले की तरह बन्द हो गये। बालक के रोने को सुन कर उसमें प्रसूतिगृह के रक्षक ठीकरूप से जाग गये॥१॥

श्री सुबोधिनी — बहिरन्तरिति। पुरो बहिर्द्वाराण्यवान्तर्द्वाराणि च सर्वा पूर्ववदेववृता विलक्षण्ये रक्षकाणां ज्ञानसंभवाज् ज्ञानं भवेदिति पुनर्बन्धनं मायाकार्यमुक्त्वा पूर्वं वसुदेवदेवक्यं निवृत्तिं न्यूनं जननार्थं रोदनमपि कृतवती, तेन रोदनेन सर्वेषां जागरणं जातमित्याह तत इति, बालध्वनिं श्रुत्वा गृहपालाः सूतीगृहरक्षकाः सम्यगुत्थिताः॥१॥

हिन्दी व्याख्यार्थ — माया के आने पर मथुरा नगरी के बाहिर एवं भीतर के सभी दरवाजे पूर्ववत् बन्द हो गये। यदि गृहपालों के जागने तक किवाड़ खुले ही रहते और वसुदेवजी बन्धनमुक्त पाये जाते तो द्वारपालों को विलक्षणता मालूम पड़ती और वे यह समझ जाते कि वसुदेवजी ने ही गुप्त-रूप से कुछ गड़बड़ी की है इसलिये माया ने पुनः पहिले की स्थिति उत्पन्न करदी। भगवान् के प्राकट्य से, पूर्व में निवृत्त हुए वसुदेवजी देवकीजी के भय की पुनः उत्पन्न करने के लिये ही माया ने रोदन किया। उसके रोदन से सब प्रसूतिगृह के रक्षक द्वारपाल जाग गये, यह श्लोक में आये “ततः” पद से कहा है। यहां “ततः” पद का “इस के अनन्तर” यह अर्थ नहीं है किन्तु “उस रोदन से” ऐसा अर्थ है अर्थात् उत्पन्न हुए बालक के रोदन से प्रसूति — गृह के रक्षक ठीक रूप से जाग गये॥१॥

श्लोक: — ते तु तूर्णमुपव्रज्य देवक्या गर्भजन्म तत्।

आचख्युर्भोजराजाय यदुद्विग्नः प्रतीक्षते॥२॥

अर्थ — वे द्वारपाल शीघ्र कंस के पास गये और आठवें गर्भ ने जन्म ले लिया यह कहा। कंस यही प्रतीक्षा कर रहा था कि बालक का जन्म कब होगा प्रतीक्षा के कारण यह था कि वह उससे उद्विग्न (व्याकुल और घबड़ाया हुआ) था ॥२॥

श्री सुबोधिनी — तेषां कृत्यमाह ते त्विति, देवक्यादिभिः प्रार्थिता अपि तत्प्रार्थनां न कृतवन्त इति ज्ञापनार्थस्तु शब्दः, तूर्णमिति मध्ये कृत्यान्तरव्यावृत्त्यर्थ, दूरात् कथने निलायनादिकं संभविष्यतीति तन्निवृत्त्यर्थ उपप्रज्य इति उक्तम्, देवक्या गर्भस्य जन्म, न तु पुत्रः कन्यका वेतिभेदः, तदिति, सिद्धमष्टमं, अकथनेऽनिष्टं करिष्यतीति ज्ञापनार्थं भोजराजायेत्युक्तम्, यज् जन्म प्रतीक्षत एव कदा भविष्यतीति, अर्थादेताऽशाय, प्रतीक्षायां हेतुमाहोद्विग्न इति ॥२॥

व्याख्यार्थ — “ते तु” श्लोक से द्वारपालों के कार्य को कहते हैं। उस समय उन रक्षकों को देवकी आदि ने प्रार्थना की कि तुम जाकर कंस को न कहो परन्तु उनने उनकी प्रार्थना को न माना और कंस को कह ही दिया; यह आशय श्लोक में आये “तु शब्द” से कहा गया है अर्थात् उन द्वारपालों ने तो कह ही दिया। श्लोकस्थ “तूर्ण” पद का यह अभिप्राय है कि रक्षकों के बीच में दूसरा कोई कार्य नहीं किया और शीघ्रता से जाकर कहा कि देवकी के गर्भ का जन्म हो गया है। रक्षकों ने विचार किया कि यदि हम दूर से ही कहेंगे तो वसुदेवजी व देवकी अपने बालक को संभव है छिपा दें, इसलिये कंस के समीप में जाकर उन्होंने कहा। रक्षकों ने कन्या या बालक का विशेष निर्देश नहीं करते हुए यही कहा कि देवकी के सन्तान हो गया। श्लोक में आया “तत्” पद प्रसिद्धार्थक है अर्थात् “प्रसिद्ध आठवें सन्तान ने जन्म ले लिया” यह बात कंस को कही। श्लोक में आये “भोजराजाय” पद का अभिप्राय यह है कि वह कंस भोजवंशियों का राजा है। राजा की आज्ञा का पूरा पालन नहीं होता है तो वह दण्ड देता है। इसलिये रक्षकों ने सोचा कि यदि हम ने राजा को सूचना नहीं दी तो कंस, राजा होने से हमें दण्ड देगा। इसी भय के कारण बालक के जन्म की सूचना कंस को, जो इस संवाद की प्रतीक्षा ही में था, दी। प्रतीक्षा का कारण यह था कि वह उस गर्भ से उद्विग्न था ॥२॥

श्लोकः — स तत्पात्तूर्णमुत्थाय कालोऽयमिति विह्वलः ॥

सूतीगृहमगाच्छीघ्रं प्रस्खलन् मुक्तमूर्धजः ॥३॥

अर्थ — द्वारपालों की बात सुनते ही शीघ्रता से कंस शय्या से उठ खड़ा हुआ और “मेरा काल पैदा हो गया” इस विचार से विह्वल हो कर लड़खड़ाता हुआ केश बिखरे हुए ही प्रसूतिगृह की ओर शीघ्रता से गया।।३।।

श्री सुबोधिनी — ततः कंसस्य कृत्यमाह, सोऽपि शय्यायां पतित एव स्थितः स महानपि तत्पाच् छय्यातस्तूर्णमविचरेण प्रथमतः उत्थितः, पश्चात् कालोऽयमिति विह्वलः, अतः परं जीवसंभावना नास्तीति निश्चयात् अयं भगवानेव कालो मृत्युदः, विह्वलः सर्वावयवविकलः, सूतिगृहं प्रसूतिस्थानं, शीघ्रमिति सर्वकार्यपरित्यागे सर्वसाधनाननुसंधाने हेतुः, प्रस्खलन्निति मार्गाज्ञानं, मुक्तमूर्धज इति देहाज्ञानम्।।३।।

हिन्दी व्याख्यार्थ — अब कंस ने क्या किया सो कहते हैं कि कंस निद्रा न आने से वैसे ही शय्या पर पड़ा हुआ था। महान् होता हुआ भी वह बिना विचार किये ही पहिले खड़ा हुआ और पीछे यह मेरा काल है ऐसा समझ विह्वल हो गया। उसे निश्चय हो गया कि अब मेरे जीवित रहने की संभावना नहीं है। यह भगवान् ही मेरा काल है ऐसा समझ कर सर्वाङ्ग में विकल हो गया और प्रसूतिगृह की ओर दौड़ा। श्लोक में आये “शीघ्रं” पद का आशय यह है कि शीघ्रता से जाने के कारण कंस ने सब कार्यों का परित्याग किया और उसे किसी उपाय का भी अनुसन्धान नहीं रहा। लड़खड़ाता हुआ गया ऐसा कहने से मालूम हुआ कि उसे मार्ग का ज्ञान नहीं रहा। केश बिखरे हुये थे ऐसा कहने से मालूम हुआ कि उसे देह का भान नहीं था।।३।।

श्री सुबोधिनी — ऽष्ट्वा, लिङ्गमज्ञात्वा पुत्रबुद्ध्यैव मारणार्थं प्रवृत्तौ यशोदायाः कन्याया मारणं स्वपुत्रमारणादप्यधिक दुःखदं जातमिति ज्ञापयितुं तस्या वाक्यमाह तमाहेति त्रिभिः।

हिन्दी व्याख्यार्थ — कंस वहां गया और यह बालक है या कन्या है इसका विशेष ज्ञान न करता हुआ पुत्र समझ कर मारने के लिये प्रवृत्त हुआ तो देवकी जी को अपने पुत्रों के मारने का जितना दुःख नहीं हुआ उतना, श्री यशोदाजी की कन्या होने से उसे मारने का दुःख हुआ इस बात को बताने के लिये देवकी के वाक्यों को तीन श्लोकों से कहते हैं —

श्लोक — तमाह भ्रातरं देवी कृपणा करुणं सती ।

स्नुषेयं तव कल्याण स्त्रियं मा हन्तुमर्हसि ॥४॥

व्याख्यार्थ — उस कंस से बिना विचार किये ही मांगने वाली वह देवकी देवी करुण की तरह अपने भाई से बोली कि हे भाई! यह कन्या तेरी पुत्र वधू होगी इसलिये, और स्त्री जाति की होने से तुझे इसे मारना ठीक नहीं है ॥४॥

कारिका — त्वदीया कन्यका चेतमतो मह्यं प्रदीयताम् ।

भगिनी दानपात्रं हि हेतुकार्यफलैस्त्रिभिः ॥९॥

श्री सुबोधिनी — तं कंसं भ्रातरमाह, यतो देवी सात्त्विक्यपि स्त्री, ज्ञात्वा वा दैन्यप्रदर्शनार्थं तथा कृतवतीति, असत्यमपि प्राणसंकटे परार्थं वक्तव्यमिति ज्ञापनार्थं वा, कृपणानालोचितयाचिका । 'कृपणः स तु विज्ञेयो योऽनालोचित याचक' इति वाक्यात्, करुणं यथा भवति तथा तमाहेति सम्बन्धः, सतीति कालज्ञानाद् याचन, सर्वात्मकत्वाद् भगवतस्तथा करिष्यति, भर्तुर्दोषनिवृत्त्यर्थं वा सतीति, अन्यथा स्वपुत्र स्थापयित्वा परकन्यामारणे दोषः स्यात्, स्नुषेति, मातुलकन्या परिणयनपक्षे पितृष्वसुरपि कन्या परिणया यथा मित्रविन्दा, यदा कंसस्य पुत्रो देवकी कन्या मुद्वहेत् तदेव स्नुषा भवति, अनेन तस्याः स्वकन्यात्वं सहजमित्युक्तम्, ननु पुत्र एव नास्ति कथमियं स्नुषेति चेत् तत्राह कल्याणेति, त्वं पुत्रजननसमर्थ, मदपत्यरक्षणेन तवापि पुत्रो भविष्यतीति, अथवा मास्तु स्नुषा, स्त्रियं हन्तुं माहसि, अन्यथाहमेव कथं न हता ? 'स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या बधोय' मिति यतस्त्वयैव निरूपितम् ॥४॥

हिन्दी व्याख्यार्थ — देवकी पहिले श्लोक में यह कहती है कि तेरी यह कन्या है अर्थात् भविष्य में तेरे लड़के की स्त्री होने से तेरी यह कन्या के समान है इसलिये इसे तू मुझे दे दे क्योंकि बहिन दान का पात्र है अतः उसे देना ही चाहिये । यह बात यहां तीन श्लोकों में कही है अर्थात् "तमाह भ्रातरं देवी" से तुझे पुत्रवधू रूप फल प्राप्त होगा; "पुत्रिकैका प्रदीयतां" इस दूसरे श्लोक के अंश से दान रूप कार्य का निरूपण "नन्वहं ते ह्यवरजा" से हेतु का निरूपण किया है । शंका होती है कि पहिले के श्लोक में फल का निरूपण किया है, दूसरे श्लोक में दान रूप कार्य का और तीसरे श्लोक में हेतु का निरूपण है तो कारिका में भी उसी रूप में फल, कार्य और हेतु का निर्देश होना चाहिये, फिर ऐसा क्यों नहीं किया गया ? इसका समाधान यह किया है कि लोक में देखा गया है कि पहिले कारण होता है फिर कार्य और तत्पश्चात् फल । बस इसी प्रसिद्धि को लेकर कारिका में "हेतुकार्यफलैः" ऐसा कहा है । उस प्रसिद्ध, क्रूर अपने भाई कंस को देवकी जी ने कहा । देवकी यद्यपि देवी रूप है अर्थात् देवता रूप है,

देवता सात्त्विक<sup>१</sup> होते हैं, सत्त्वगुण से "सत्त्वात् संजायते ज्ञानै" के अनुसार ज्ञान होता है इसलिये देवकी ज्ञानवती भी है परन्तु स्त्री स्वभाव वश, उसने कन्या को कंस से मांगा। शङ्का होती है कि ज्ञान जिसमें होता है उसमें वैराग्य भी होता है तो फिर देवकी जी का उस कन्या में इतना मोह क्यों है ? तो कहते हैं कि स्त्री स्वभाव होने से देवकी जी ने ऐसा किया क्योंकि "स्वभावो मूर्ध्नि वर्तते" अर्थात् स्वभाव सबके ऊपर रहता है अतः स्त्री स्वभाव के अधीन होकर ऐसा किया। स्त्री में स्वभावतः अधिक मोह होता है। देवकी देवी (देवता) है इसलिये उसे सब उपायों का ज्ञान है। वह यह समझती है कि कंस अत्यन्त उग्र है इसलिये "उग्रं स्तुतिभिः" उग्र व्यक्ति को प्रशंसा से प्रसन्न करना चाहिये इस न्याय के अनुसार दीनता दिखाते हुए इसे प्रशंसा से प्रसन्न करना चाहिये इस विचार से जानबूझ कर भी उस देवकी ने कन्या को छुड़ाने के लिये अपनी दीनता दिखाई। यहां यह शंका होती है कि देवकी देवी होने से देवता थी उसे तो मिथ्या नहीं बोलना चाहिये था क्योंकि "सत्यं देवेषु" देवताओं में सत्य की स्थिति है ऐसा कहा है। ऐसा दशा में देवकी ने "यह मेरी अन्तिम सन्तान है" यह मिथ्या कैसे कहा तो कहते हैं कि किसी के प्राणों पर संकट हो तो परार्थ मिथ्या बोलना निन्दित नहीं है। इसलिये देवकी जी ने मिथ्या कहा सो ठीक किया। श्लोक में आये "कृपणा" पद का अर्थ बिना विचारे मांगने वाली है, जैसा कि कहा है "कृपणः स तु निज्ञेयो योऽनालोचित याचकः" कृपण वह होता है जो यह नहीं समझता कि किससे याचना करनी चाहिये और किससे नहीं। देवकी ने कंस के स्वरूप को न समझ याचना की इसलिये वह कृपणा हुई। इस प्रकार कंस के स्वरूप को न जानने वाली वह देवकी करुण हो जैसे कंस से बोली। देवकी सती थी इसलिये उसे यह ज्ञान था कि मैं क्षत्रिया हूँ, क्षत्रिय को याचना नहीं करनी चाहिये तो भी यह याचना का समय है इसलिये मुझे याचना करनी ही चाहिये; यदि मेरी याचना पर भगवान् के सर्वात्मक होने से कदाचित् भगवान् कंस को कन्या देने के लिये प्रेरित करदे तो कंस का अनिष्ट कभी भी नहीं होगा अथवा सती पद का

<sup>१</sup> यहां लल्लू भट्ट जी ने कहा है कि देवता सात्त्विक होते हैं अतः उनमें स्वभावतः दया होती है। दयावश ही श्री यशोदाजी की कन्या को छुड़ाने के लिये देवकी जी ने कहा "सात्त्विक्यपि स्त्री" इसमें जो "अपि" शब्द है उसका तात्पर्य यह है कि स्त्री होने से तामस भी थी अतः देवकी ने यह मेरी अन्तिम सन्तान है ऐसा मिथ्या कहा।

यह भी अभिप्राय है कि देवकी सत् स्त्री है। जैसे सत्पुरुष अनिष्ट करने वाले का भी हित चाहते हैं वैसे ही देवकी सत्स्त्री होने से सोचती हैं कि यदि कंस को भगवान् कन्या देने के लिये प्रेरित कर दें तो कंस का भी अनिष्ट न हो। यहां "सती" पद का यह भी अभिप्राय है कि सती स्त्री पति का इष्ट ही चिन्तन करती है इसलिये उस ने विचार किया कि यदि मैं कंस से कन्या को छुड़ाने का आग्रह नहीं करूंगी तो लोग मेरे पति वसुदेवजी को यह दोष लगायेंगे कि वसुदेवजी कैसे व्यक्ति है जो अपने पुत्र को तो रख आये और मारने के लिये दूसरे की कन्या को ले आये। देवकी ने आग्रह पूर्वक जब कन्या को छुड़ाने का प्रयत्न किया तो वसुदेवजी को उक्त दोष नहीं लगा क्योंकि ऐसी स्थिति में विवशता मालूत पड़ी। यहाँ "स्नुषा" पद का तात्पर्य यह है कि मामा की लड़की के साथ जैसे विवाह करने का पक्ष है वैसे ही भूआ की लड़की के साथ। जैसे भगवान् ने मित्र विन्दा के साथ विवाह किया परन्तु यह सब कुछ तब ही तो सकता है जब कंस का पुत्र देवकी की कन्या से साथ विवाह करे। कंस के पुत्र नहीं है तो ऐसा सम्बन्ध न बनने से देवकी की कन्या कंसकी स्नुषा (पुत्रवधु) कैसे होगी तो देवकी कहती है कि हे भाई! तू कल्याण रूप है अतः पुत्र पैदा करने में समर्थ है क्योंकि कल्याण रूप होने से तेरे पुत्र अवश्य होगा और एक बात यह भी है कि मेरी सन्तान की यदि तू रक्षा करेगा तो तेरे भी पुत्र अवश्य होगा। यदि तू समझे कि यह मेरी पुत्रवधू नहीं होगी तब भी यह स्त्री जाति की होने से मारने योग्य नहीं है। ऐसा तुझे विचार है भी; यदि ऐसा विचार न होता तो मुझे ही तू ने क्यों न मार दिया। तू ने स्वयं कहा है कि "स्त्रियाः स्वसुर्गुरुमत्या वधोऽयम्" अर्थात् प्रथम स्त्री जाति को ही मारना उचित नहीं है आदि॥४॥

श्री सुबोधिनी – अष्टमो मारणीय इति चेत्तत्राह

व्याख्यार्थ – यदि तू कहे कि आठवां बालक मुझे मारने वाला है तो देवकी कहती है कि –

श्लोकः – बहवो हिंसिता भ्रातः शिशवः पावकोपमाः।

त्वया दैवविसृष्टेन पुत्रिकैका प्रदीयताम्॥५॥

अर्थ — हे भाई! मेरे अग्नि के समान बहुत पुत्रों को तू ने भगवदिच्छा से प्रेरित हो कर मार दिया परन्तु यह एक कन्या जिस के कोई भाई नहीं, शेष रही है इसे मुझे दे अर्थात् इसे न मार।।५।।

श्री सुबोधिनी — बहवो हिंसिता भ्रातरिति, स्त्रिया मारकत्वं शास्त्रे न सिद्धं, पुत्रास्तु हता एव, यद्यप्येक एव मारणीयस्तत्स्थाने बहवो हताः, भ्रातरिति संबोधनं दयार्थं, आकृत्या पराक्रमोऽपि तेषु संभाव्यते इति तदर्थमाह पावकोपमा इति, स्नेहे त्यक्ष्यतीति तस्य दोषाभावमाह त्वया दैवनिसृष्टेन इति, “अनुरक्तो गुणान् ब्रूत” इति वाक्यात्, दैवेन भगवदिच्छया प्रेरितेन भवता पुत्रा हताः, एषा तु अवध्येति दैवेन न प्रेर्यत इति भावः, एकैयं पुत्रिकाभ्रातृमतीतीमामप्यन्ततो गत्वा पुत्रिकाधर्मेण दत्त्वा ससन्ताना भविष्यामीति ज्ञापयत्येकेति, यद्यपरोत्पत्स्यते, तदा मारणीयेति ज्ञापितं, प्रकर्षेण दीयतामिति कालान्तरेप्यमारणीया।।५।।

हिन्दी व्याख्यानार्थ — देवकी कहती है कि हे भाई। तू ने मेरे बहुत लड़के मार दिये, यह सन्तान स्त्री जाति है, स्त्री, पुरुष को मार सकती है ऐसा शास्त्र में नहीं बताया है अथवा शास्त्र में स्त्री को मारना नहीं कहा है, पुत्रों को तो तू ने मार ही दिया। एक आठवें पुत्र को मारना चाहिये था उस जगह बहुत लड़के मार दिये। देवकी ने हे भाई। ऐसा इसलिये कहा है कि मैं तेरी बहिन हूँ इसलिये मेरे पर दया करनी चाहिये। जिन सन्तानों को तू ने मारा था वे साधारण नहीं थे किन्तु आकृति से संभावना थी कि वे पराक्रमी भी होते इस आशय से कहा कि “पावकोपमाः” वे पुत्र अग्नि के समान थे। देवकी ने विचार किया कि स्नेह दिखाने पर इस कन्या को छोड़ देगा इसलिये कंस को निर्दोष बताती हुई कहती है कि “त्वया दैवनिसृष्टेन”। शास्त्र में कहा है कि “अनुरक्तो गुणान् ब्रूते” जो अनुरागवाला होता है वह सामने वाले व्यक्ति के गुण ही कहता है। इस के अनुसार प्रेम दिखाने के लिये देवकी ने कहा कि तू ने अपनी इच्छा से मेरी सन्तान को नहीं मारा है किन्तु भगवदिच्छा से प्रेरित हो कर मारा है परन्तु यह कन्या को मारने योग्य नहीं है इसलिये भगवान् की इच्छा भी तुझे मारने के लिये प्रेरित नहीं कर रही है। मेरी एक ही यह कन्या है। “पुत्रिकैका” पद से यह सूचित किया कि इस के कोई भाई नहीं है इसलिये इस का विवाह इस प्रतिज्ञा पर करूंगी कि जो इसका लड़का होगा वह मेरा होगा, ऐसा करने से मैं भी सन्तानवाली हो जाऊँगी, यदि मेरी दूसरी सन्तान हो जावेगी तो तू इसे मार देना। वास्तव =

“प्रदीयताम्” पद से देवकी का यह कहना है कि मुझे सदा के लिये यह लड़की दे दे अर्थात् यह लड़की सदा के लिये मारने योग्य नहीं है ॥५॥

श्री सुबोधिनी — अवश्यदाने हेतुमाह ।

व्याख्यान — तुझे इसे अवश्य देना चाहिये इसमें कारण बताती हैं कि —

श्लोकः — नन्वहं ते ह्यवरजा दीना हतसुता प्रभो ।

दातुमर्हसि मन्दाया अङ्गेमां चरमां प्रजाम् ॥६॥

अर्थ — हे प्यारे समर्थ भाई । युक्ति के साथ कहती हूँ कि मैं तेरी छोटी बहिन हूँ मेरे लड़के मर गये हैं इस लिये दुःखित हूँ अतः इस अन्तिम सन्तान को दे दें ॥६॥

श्री सुबोधिनी — नन्वहमिति, अवश्यं दानमेव फलं नन्विति संबोधन युक्तिग्रहणार्थं अहं ते ह्यवरजा इति, अवरजत्वं उभयानुभवः प्रमाणं, अवरजा दयापात्रं, दीना दुःखिता शोकादिना, तत्र हेतुर्हतसुतेति, प्रभो इति संबोधनं दानसामर्थ्यद्योतनार्थं, अत एव दातुमर्हसि, मन्दाया इत्यतः परं रजोऽभावः सूचितः, अतश्चरमां प्रजामिमामिति, अन्या कन्यात्वेन न देयेयमेव देया इति ॥६॥

व्याख्यार्थ — इसे दे देने पर तुझे अवश्य दानरूप फल होगा । यहां “ननु” यह सम्बोधनार्थक है । इस से देवकी यह बता रही है कि तू मेरी युक्ति को समझ । “ननु” पद वहां आता है जहां युक्ति दिखानी होती है इसलिये यहां “ननु” सम्बोधनार्थक होता हुआ भी युक्ति को सूचित करता है । निश्चय ही मैं तेरी छोटी बहिन हूँ, इस में तेरा और मेरा अनुभव ही प्रमाण है अर्थात् तू और मैं यह जानते हैं कि तू बड़ा भाई है और मैं छोटी बहिन हूँ । छोटी बहिन होती है वह दया योग्य होती है, मैं शोक आदि से दुःखित हूँ, कारण यह है कि मेरे पुत्र मार दिये गये हैं, तू प्रभु (समर्थ) होने से दान देने में समर्थ है, अतः एव तू देने योग्य है । “मन्दायाः” पद से सूचित किया कि मैं मन्दभाग्या हूँ इसलिये अब मैं रजस्वला भी नहीं हूंगी जिससे सन्तान की संभावना हो । अतः इस अन्तिम सन्तान को तू मुझे दे, दूसरी कन्या न दे कर यही कन्या दे ॥६॥

श्री सुबोधिनी — तथापि न त्यक्तवानित्याह ।

व्याख्यान — इतना कहने पर भी कंस ने कन्या को नहीं छोड़ा इस बात को अब कहते हैं ।

श्लोकः — उपगूह्यात्मजामेवं रुदन्त्या दीनदीनवत् ।

याचितस्ता विनिर्भर्त्स्य हस्तादाचिच्छिदेखलः ॥७॥



अर्थ — इस प्रकार लड़की को छिपा कर अत्यन्त दीन की तरह विलाप करती हुई देवकी को झिड़का कर कंस ने उस के हाथ से कन्या को छीन लिया, झिड़का इस लिये कि उस ने याचना की थी ॥७॥

श्री सुबोधिनी — उपगूह्येति । एवमात्मजामुपगूह्य विलापनपूर्वक रुदन्या हस्तात् ता बालामाचिच्छिदे देवकीं निर्भर्त्स्य, विनिर्भर्त्सने हेतुस्तां याचित सन्, आत्मजामिति, आत्मनो भगवतः सकाशाज्जातां, “व्यवहारे शब्दाः परमार्था एव” इति न्यायाद्, देहादावत्मशब्दवदात्मजशब्दोऽपि पुत्रत्वेन परिग्रहमात्रत्वेऽपि वक्तुं शक्यते, दीनादपि दीना यथा दैवहता पुत्रभर्त्रादिरहिता व्याधिग्रस्तापि भवति सा दीनदीना तथेय स्वपुत्र नाश ईष्टवती परापत्यनाशमपि पश्यतीति, हस्तादिति, एकेन हस्तेन तस्या एक हस्तं धृत्वा द्वितीयेन तस्या द्वितीयहस्तादाचिच्छिदे, एवङ्करणे हेतुः खल इति ॥७॥

हिन्दी व्याख्यार्थ — इस प्रकार लड़की को छिपा कर विलाप करती हुई देवकी को झिड़क कर कंस ने उस के हाथ से कन्या को छीन लिया। झिड़का इस लिये कि उस ने मांगा था। श्लोक में आये “आत्मजां” पद का अर्थ अपने से पैदा हुई लड़की है परन्तु यहां शंका होती है कि देवकी यह नहीं समझती थी कि यह मेरी लड़की है और श्री शुकदेवजी सर्वज्ञ थे इसलिये वे भी इसे देवकी की कन्या नहीं समझते थे तो फिर श्लोक में “आत्मजां” यह कैसे कहा। इस आशङ्का की निवृत्ति के लिये आत्मजा शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्यचरण आज्ञा करते हैं कि भगवान् से उत्पन्न हुई इस कन्या को ऐसा यहां “आत्मजा” पद का अर्थ है अर्थात् आत्मन् शब्द से यहां भगवान् अर्थ समझा जाता है जैसा कि कहा है “व्यवहारे शब्दाः परमार्था एव” व्यवहार में आने वाले शब्द अपने मुख्य अर्थ का परित्याग नहीं करते। “आत्मा” शब्द का मुख्य अर्थ भगवान् है इसलिये यहां आत्मजा शब्द का अर्थ “भगवान् से उत्पन्न हुई कन्या” है। यहां कहते हैं कि श्री शुक्राचार्य का ऐसा अर्थ करने में कोई प्रयोजन नहीं था इस लिये ऐसा अर्थ मानना ठीक नहीं है तो दूसरे पक्ष को ले कर कहते हैं कि जैसे देह इन्द्रिय आदि में आत्मा शब्द का प्रयोग लोग करते हैं ऐसे ही पुत्र मान लेने पर तथा दत्तक लेने पर आत्मजत्व न होने पर भी आत्मज शब्द का प्रयोग होता है, वैसे ही यहां आत्मजा शब्द का प्रयोग हुआ है। श्लोक में आये “एव” पद से यह सूचित किया कि देवकी ने इस प्रकार के वाक्य अनेक बार कहे। रोदन इसलिये किया कि यह यशोदाजी की कन्या मेरे कारण मारी जा रही है। कंस को कहने के समय देवकी दीनातिदीन थी। जैसे को

भाग्यहीन होने से पुत्रादि मर जाये तो दीन होती है और वही रोगग्रस्त हो जाने पर अतिदीन बन जाती है इसी प्रकार अपने पुत्रों के मर जाने से देवकी दीन तो थी ही उस पर भी जब दूसरे की सन्तान को मारता देखा तो वह अत्यन्त दीन हो गई। कंस ने एक हाथ से देवकी के एक हाथ को पकड़ा और दूसरे हाथ कन्या को देवकी के हाथ से छीना। कंस ने ऐसा क्यों किया तो कहते हैं की वह दुर्जन था। खल को बुरे कार्य का कोई ख्याल नहीं होता ॥७॥

श्री सुबोधिनी – गृहीत्वा यत्कृतवांस्तदाह।

अर्थ – कंस ने कन्या को छीन कर जो कुछ किया सो कहते हैं।

श्लोकः – तां गृहीत्वा चरणयोजातमात्रां स्वसुः सुताम्।

अपोथयच्छिलापृष्ठे स्वार्थोन्मूलितसौहृदः ॥८॥

व्याख्यार्थ – नाल आदि से युक्त अर्थात् नवजात अपनी भानजी के पैर पकड़ कर कंस ने उसे शिला पर पटक दिया क्योंकि उस ने स्वार्थ वश सौहार्द का बिल्कुल परित्याग कर दिया था ॥८॥

श्री सुबोधिनी – तां गृहीत्वेति, चरणयोरिति, मारणार्थमेव, विपरीततया ग्रहणमात्रेणैव तस्या नाशः सूचितः, जातमात्रामिति, नालादिसहितां, अतिकोमलत्वप्रदर्शनेन तस्य “खल” त्वं समर्थितं, स्वसुः सुतामिति सर्वथा विरुद्धकर्तृत्वमुक्तं, अपोथयत् प्रक्षाल्यमानवस्त्रमिव प्रक्षिप्तवान्, शिलाऽङ्गनस्था यथा स्नानार्था भवति, ननु सौहार्दमुभयविषयकं कथं त्यक्तवानित्याह स्वार्थोन्मूलितसौहृद इति, स्वार्थमुन्मूलितं सौहृदं येन ॥८॥

हिन्दी व्याख्यार्थ – कंस ने कन्या के पैर पकड़े। मारने के लिये ही उसने पैरों की तरफ से पकड़ा कंस ने इस रूप में पकड़ने से स्पष्ट सूचित हुआ कि मारने के लिये ही उसे पकड़ा है। उस के नाल आदि भी नहीं काटे गये थे इससे उस लड़की को अत्यन्त कोमलता बताई गई। अत्यन्त कोमल बालिका के मारने से यह सिद्ध होता है कि कंस कितना दुष्ट था। कन्या भी बहिन की थी इस से उसे मारना सर्वथा अनुचित था। इस से स्पष्ट हुआ कि कंस कितना बुरा कार्य करने वाला था। धोने के कपड़े को जैसे पत्थर पर पछाटा जाता है वैसे ही कन्या को शिला पर पछाटा। आंगन में रखी हुई शिला स्नान के लिये होती है, उस पर पछाटा। यदि कहें कि कंस बहिन

एवं कन्या में सौहार्दयुक्त था तो फिर ऐसा अयुक्त काम कैसे किया तो कहते हैं कि स्वार्थवश उसने सौहार्द को बिल्कुल तिलाञ्जलि दे दी थी ॥८॥

श्री सुबोधिनी — ततो यज्जात तदाह ।

व्याख्यार्थ — तत्पश्चात् जो हुआ सो कहते हैं ।

श्लोक — सा तद्धस्तात् समुत्पत्य सद्यो देव्यम्बरं गता ।

अर्धश्यतानुजा विष्णोः सायुधाष्टमहाभुजा ॥९॥

अर्थ — वह कन्या उस कंस के हाथ से उछल कर सद्यः देवतारूप बन गई और आकाश में स्थित हो गई । ऐसी बात वह कन्या इस लिये कर सकी कि व्यापक श्रीकृष्ण की छोटी बहिन थी । अत एव आयुध धारण किये हुए आठ भुजाओं सहित आकाश में स्थित हुई, कंस आदि को दिखी ॥९॥

श्री सुबोधिनी — सा तद्धस्तादिति, यदैव पाषाणं प्रति प्रक्षिप्तवांस्तदैव हस्तात् सम्यगुत्पत्योत्पन्न कृत्वा सद्य एव सा देवतारूपा जाता, ततोऽम्बरं गता, आकाशे श्येनवत् स्थिता कंसादिभिः सर्वैरेव तथार्धश्यत, तस्यास्तथात्वे सामर्थ्य<sup>१</sup> विष्णोरनुजेति, यशोदा देवकी परस्परविचारेणैकैव, पश्चाच्च जाता, यदि वा भगवान् यशोदासुतो यदि वा देवक्या उभयथापि सानुजा लोकप्रसिद्धेः, विष्णोरनुजात्वेन तथा सामर्थ्यं ज्ञापितं, द्विगुणरूपमाह सायुधाष्टमहाभुजेति, भगवत्कार्य स्वकार्यं च करिष्यतीत्यष्टभुजत्वं, भगवत्कार्यं देवक्यादीनां बन्धनिवृत्तिः, स्वकार्यं सर्वेषां दुःखदानं धर्मनाशश्च, भगवत्कृतिसिद्ध्यर्थमायुधसहिता अष्टौ महाभुजा यस्याः, यथा भगवानाविर्भावे विपरीतं रूपं प्रदर्शितवानेवमियमपि ॥९॥

हिन्दी व्याख्यार्थ — ज्यों कि कन्या को शिला पर पछाडा त्यों ही हाथ से छूट कर शीघ्र ही देवता रूप बन गई और बाद में आकाश में चली गई । उस समय आकाश में बाज की तरह स्थित हुई । उस कन्या को कंस आदि सभी ने देखा । उस में देवता रूप होकर आकाश में स्थित होने का सामर्थ्य इसलिये है कि वह व्यापक परब्रह्म की छोटी बहिन है । शंका होती है कि माया देवकीजी से उत्पन्न नहीं हुई तो वह भगवान् की अनुजा (छोटी बहिन) कैसे हो सकती है । यदि कहें कि भगवान् के प्राकट्य के अनन्तर माया ने जन्म लिया है इसलिये वह यौगिक अर्थ को लेकर अनुजा कहला

<sup>१</sup> जहा भगवान् कृष्ण के अभिप्राय से विष्णु शब्द आये वहा व्यापक अर्थ करना ।

सकती है तो कहते हैं कि भगवान् के पीछे जहां कहीं उत्पन्न होने वाले सभी बालक भगवान् के अनुज कहलायेंगे, इसलिये यहां पर यह शङ्का रह जाता है कि भगवान् एवं माया के माता पिता एक न होने से माया अनुजा (छोटी बहिन) कैसे कहला सकती है। इस पर (श्री पुरुषोत्तमजी महाराज) आज्ञा करते हैं कि कृष्णोपनिषद् में कहा कि नन्द परमानन्द रूप है, श्री यशोदा मुक्तिरूपा है देवकी ब्रह्मविद्या एवं वसुदेव वेदरूप है। लोक में स्पष्ट है कि जानने योग्य वस्तु ज्ञानप्राप्ति में कारण होती है। तात्पर्य यह है कि जब ज्ञेय होता है तब ही उस का ज्ञान किया जाता है। कुछ न कुछ अर्थ होता है तब ही शब्द का प्रयोग होता है। ऐसा जब विचार है तो मुक्तिरूपा श्री यशोदा देवकी रूपा ब्रह्मविद्या से प्राप्त होती है। इसलिये श्री यशोदा आधिदैविक है और देवकी आध्यात्मिक है। विचार किया जाय तो यह स्पष्ट है कि आध्यात्मिक और आधिदैविक एक ही है। इसलिये श्रीयशोदा और देवकी एक ही है। माया, भगवान् के पीछे हुई है अतः भगवान् देवकी के यहां अथवा श्री यशोदाजी के यहां प्रकट हुए हों और माया भी इन दोनों में किसी के यहां प्रकट हुई हो तब भी वह श्रीकृष्ण की अनुजा कहला सकती है।\* यहां यह प्रश्न हो सकता है कि भगवान् एवं माया यदि यशोदाजी के यहां ही प्रकट हुए हैं तो माया भगवान् के पीछे हुई। साथ में होने वालों में जो पीछे होता है वह बड़ा समझा जाता है इसलिये नियम से माया ही ज्येष्ठा कहलायेगी, वह छोटी बहिन कैसे कहलाई? इसका उत्तर देते हैं कि "पश्चाच्च जाता" यह पीछे हुई इस लिये "अनु पश्चात् जाता अनुजा" ऐसा योगिक अर्थ मान कर अनुजा शब्द का प्रयोग यहां होता है। भगवान् श्री यशोदाजी अथवा देवकीजी के पुत्र हो माया छोटी बहिन है ऐसी लोक में प्रसिद्धि है। "श्रुतिप्रत्यक्षमैतिह्यम्" इस वाक्य के अनुसार ऐतिह्यरूप जो लोक प्रसिद्धि है उसे भी प्रमाण माना है। अतः लोक प्रसिद्धि के अनुसार माया छोटी बहिन कहला सकती है। व्यापक भगवान् की छोटी बहिन होने से उस का आकाश में उस रूप में स्थित होने

टिप्पणी — \* यहां लेखकार का यह आशय है कि श्रीवसुदेवजी एवं नन्दरायजी धर्म के भाई थे अतः इन दोनों भाईयो के होने वाली सन्तान भाई बहिन हो सकती है, जैसे नन्दरायजी एवं वसुदेवजी धर्म के भाई होने से एक समझे जाते हैं वैसे ही उनकी दोनों पत्निया भी एक ही समझी जायगी, अतः एव अलग २ माता से उत्पन्न हुए सभी पाण्डव परीक्षित के पितामह कहलाये क्योंकि पाण्डु के एक होने से कुन्ती एवं माद्री एक ही समझी गई।

का सामर्थ्य है। माया के भगवान् से द्विगुण हाथ थे जिन में वह आयुध धारण किये हुए थी। माया भगवान् का और अपना कार्य करने आई है इसलिये भगवान् की भुजाओं से उसकी द्विगुण अर्थात् आठ भुजाएँ हैं। अपने वाक्यों द्वारा देवकी एवं वसुदेवजी को बन्धन से छुड़ाया इसलिये माया ने यह भगवान्<sup>१</sup> का कार्य किया और कंस को कह कर सब को दुःख दिलाया तथा धर्म का नाश कराया, यह कार्य उस ने अपना किया। इस प्रकार वह दोनों का कार्य करने आई। भगवान् के कार्य को भी करने आई इसलिये आयुध सहित आठ भुजावाली बताई गई। जैसे भगवान् ने अपने प्राकट्य के समय आयुध चतुर्भुजरूप दिखाया वैसे ही इस ने भी सायुध अष्टभुज स्वरूप दिखाया ॥६॥

श्री सुबोधिनी — आविर्भावादिदानीं रूपान्तरं गृहीतवती इति तस्याः सामग्रीमाह ।

व्याख्यार्थ — माया ने प्रकट होने के बाद इस समय दूसरा रूप धारण कर लिया। इसलिये उस की सामग्री का वर्णन करते हैं।

श्लोकः — दिव्यस्रगंबरालेप — रत्नाभरणभूषिता ।

धनुः शूलेषुचर्मासि — शंखचक्रगदाधरा ॥१०॥

व्याख्यार्थ — वह देवी दिव्य माला दिव्य वस्त्र दिव्य चन्दन एवं रत्नजडित आभरणों से विभूषित तथा धनुष, त्रिशूल, बाण, ढाल, तलवार, शस्त्र, चक्र, गदायुक्त हाथों वाली दिखी ॥१०॥

श्री सुबोधिनी — दिव्येति, दिव्याः स्रजो मालाः, अम्बराणि वस्त्राणि दिव्यान्वेव, आलेपश्चन्दनादिः, रत्नयुक्तान्याभरणानि च, एवमलङ्करणचतुष्टयसहिता, दर्शनकृतोयं क्रमः, प्रथमतो गन्धादष्टाया अपि स्रजः प्रतीतिः, ततो वस्त्राणां, ततश्चन्दनाभरणानामिति, आयुधानि गणयति धनुरिति, धनुर्वामभागहस्ते शूलमिषुश्च दक्षिणयोः, चर्म वामे, असिर्दक्षिणे, शंखो वामे, चक्रं दक्षिणे, गदा वामे, इति गदान्तानि विभर्तीति गदाधरा ॥१०॥

व्याख्यार्थ — दिव्या मालाएँ, दिव्य वस्त्र, दिव्य चन्दन और रत्नजडित आभूषण— इस प्रकार चार प्रकार की सामग्री से वह देवी विभूषित है। यहां माला आदि का जो क्रम कहा गया है वह दर्शन के क्रम से हैं अर्थात् जो वस्तु पहिले दिखी अथवा जानी

टिप्पणी —<sup>१</sup> यहा श्री बल्लभजी महाराज कहते हैं कि निबन्ध की रीति से यह माया "अनिरुद्ध" का कार्य करने आई है।

गई उस का पहिले निर्देश किया गया है और जो पीछे दिखी उस का पीछे। गन्ध की वजह से पहिले नहीं देखी गई, माला की प्रतीति (ज्ञान) हुई इसलिये पहिले माला का उल्लेख किया फिर वस्त्र तदनन्तर चन्दन और तत्पश्चात् आभूषण। इसलिये इसी क्रम से श्लोक में निर्देश किया गया है। अब माया के हाथों में धारण किये गये आयुधों की गणना की जाती है। माया के वामभाग के एक हस्त में धनुष है। दक्षिण भाग के दो हाथों में से एक हाथ में त्रिशूल है और दूसरे हाथ में बाण है। एक वाम हस्त में ढाल और एक दक्षिण हस्त में तलवार, अन्य वाम हस्त में शंख एवं एक दक्षिण हस्त में चक्र और शेष रहे वाम हस्त में गदा — इस प्रकार वह माया अपनी आठों भुजाओं में गदा पर्यन्त आठों आयुधों को धारण किये हुए थी ॥१०॥

**श्री सुबोधिनी** — तस्याः स्वरूपं भगवत इव सर्वजनीनमिति ज्ञापयितुमाह ।

**व्याख्यार्थ** — उसका स्वरूप भगवान् की तरह सर्वजनवेद्य हुआ, इसको बताने के लिये कहते हैं कि :—

**श्लोकः** — सिद्धचारणगन्धर्वैरप्सरः किन्नरोरगैः ।

उपाहतोरुबलिभिः स्तूयमानेदमब्रवीत् ॥११॥

**अर्थ** — जिस की सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सरा, किन्नर और नागगणों ने बहुत सामग्री अर्पित कर स्तुति की वह देवी कंस से इस प्रकार बोली —

**श्री सुबोधिनी** — सिद्धचारणेति, सिद्धचारणगन्धर्वास्त्रिगुणाः, अन्ये च, अप्सरैरिति “बहुलं छन्दसी” त्यनेन, ऐकपद्यं तु सुगमं, अस्याः षड्गुणोपजीवका एते, कंसदर्शन एव, उपाहृता उरुबलयः पूजासाधनानि यैः, बलिशब्दो जयजयादिशब्दानां अपि उपलक्षकः, अतस्तैः स्तूयमाना कंसवधं कर्तुं शक्ताऽहमिति ज्ञापयन्तीदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥११॥

**व्याख्यार्थ** — श्लोक में कहे गये सिद्ध चारण और गन्धर्व त्रिगुणात्मक हैं अर्थात् सात्त्विक, राजस, तामस हैं, और भी कहे गये इसी प्रकार के हैं। श्लोक में “अप्सरैः” ऐसा पाठ मानते हैं तो व्याकरण से वह नहीं बन सकता इसलिये छान्दस मान कर “बहुलं छन्दसि” से उस को सिद्धि होगी। यदि अप्सरः से ले कर आधा चरण पूरा ही समस्त मान लेते हैं तो “अप्सरस्” शब्द रहने पर भी कोई गड़बड़ी नहीं होती। “सिद्ध” से ले कर “सर्प” तक प्रत्येक इस देवी के ऐश्वर्यादि छः गुणों में से एक एक गुण से निर्वाह करने वाले हैं। कंस से देखते २ ही सिद्ध आदि ने उस देवी को बहुत पूजा

सामग्री भेंट की। श्लोक में आया “बलि” शब्द जय जय आदि शब्दों का भी उपलक्षक है अर्थात् बलि शब्द से जय जय आदि शब्द भी लिये गये हैं। इस प्रकार सिद्ध आदि से जिस की स्तुति की गई ऐसी वह देवी “मैं कंस को मारने में समर्थ हूँ” ऐसा बताती हुई आगे कही जाने वाली बात बोली।।११।।

श्री सुबोधिनी — द्वयमत्र वक्तव्यं कथं न हन्यते कथं वा रक्षार्थं न स्थीयत इत्युभयसमाधानं तदाह —

व्याख्यार्थ — दो बात यहां कहनी है कि तू ही कंस को क्यों नहीं मार देता और देवकी आदि की रक्षा के लिये क्यों नहीं रहती तो देवी कहती है कि :—

। देव्युवाच ।

श्लोकः — किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत् ।

यत्र चित् पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणां वृथा ।।१२।।

व्याख्यार्थ — देवी कहती है कि हे मूर्ख, मेरे मारने से तुझे क्या लाभ है, तेरा मारने वाला, जो तेरा पूर्वजन्म का शत्रु है वह जहां कहीं पैदा हो गया है अतः इस दीन देवकी को व्यर्थ न मार।।१२।।

श्री सुबोधिनी — किं मयेति, मया हतया किम् ? अहं तु हननेष्यपकार न करोमि, किं पुनरहता ? अत एतद्वृत्तान्ताज्ञानात् त्वं मन्दः, अवधे हेतुर्जातः खलु तवान्तकृदिति, यस्तु तवान्तं नाशं करिष्यति स तु जात एव क्वचित्, यत्र क्वचिदितिविशेषाकथनं देवगुह्यं, ननु शत्रुत्वाविशेषेऽपि सामर्थ्यं विद्यमानेऽपि यद् भगवतैव हन्यते न त्वयेति को विशेष इति चेत् तत्राह पूर्वशत्रुरिति, मम त्विदानीं भवाञ्छत्रुः, तदप्यन्यबुद्ध्या, भगवांस्तु भवतः पूर्वशत्रुरतस्तेनैव हन्तव्यः, आकाशवाण्यापि तथैवोक्तं, अतः कृपणां देवकी मा हिंसीः, तस्या वधे न कोऽपि पुरुषार्थः सिध्येत्, अतो वृथैव मा हिंसी ।।१२।।

हिन्दी व्याख्यार्थ — मेरे मारने से तुझे क्या लाभ है ? तू यदि मुझे मार भी देता तो भी मैं तेरा अनिष्ट नहीं करती तो फिर बिना मारे कैसे अनिष्ट कर सकती हूँ। तू इस गुप्त वृत्तान्त को नहीं जानता इसलिये मूर्ख है। मैं तुझे इसलिये नहीं मारती कि तेरा मारने वाला कहीं पैदा हो गया है। जहां कहीं पैदा हो गया ऐसा सामान्य रूप से देवी ने कहा। विशेष स्थान का निर्देश नहीं किया। इसका कारण यह है कि छिपा कर कहने से देवता प्रसन्न होते हैं। यदि तू यह कहे कि मैं जैसा भगवान् का शत्रु हूँ वैसा तेरा भी शत्रु हूँ और तुझ में मुझे मारने का सामर्थ्य भी है तो भगवान् मुझे मारेंगे, तू

नहीं मारती, इसमें क्या कारण है। देवी कहती है कि भगवान् तेरा पूर्वजन्म का शत्रु है। मेरा तो तू इस समय शत्रु बना है और वह भी देवकी के अष्टम बालक की बुद्धि से अतः तुझे भगवान् ही मारेंगे, आकाशवाणी ने भी यही बात कही है। अतः इस दीन देवकी को न मार। इसके मारने से तुझे कोई फल मिलने वाला नहीं है। ॥१२॥

श्री सुबोधिनी — एवमुक्त्वागतेत्याद्यं

अर्थ — इस प्रकार कह कर देवी चली गई, यह कहते हैं।

। श्री शुक उवाच ।

श्लोकः — इति प्रभाष्य तं देवी माया भगवती भुवि।

बहुनामनिकेतेषु बहुनामा बभूव ह ॥१३॥

अर्थ — श्री शुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार स्पष्टतया अनेक बातें कह कर वह माया भगवती देवी पृथिवी के अनेक स्थानों में स्थित होती हुई बहुत नामवाली हुई ॥१३॥

श्री सुबोधिनी — इतीति, प्रकर्षेण भाषित्वा स्पष्टतया निरूप्य, अनेन संवादान्तरमपि कंसेन सह कृतवतीति लक्ष्यते, अन्यथा ब्राह्मणैः सह विरोधं न कुर्यात्, तेन सह संवादेनैव कार्यं सर्वं सिद्धमिति ज्ञातवतीत्यत्र हेतुमाह देवीति, यद्यन्याप्यागत्य स्पष्टमन्यथा वदेत् तथापि तया मोहितः कंसो नान्यदङ्गीकुर्यादित्यत्र हेतुमाह भगवतीति, सा हि भगवद्भावप्राकट्यं कृत्वा लोके पूजां प्राप्स्यतीति भगवद्वाक्यानुसारेण बहुनामनिकेतेषु भूमौ यावन्ति स्थानानि यन्नामानि तत्र सर्वत्रैव स्थिता बहूनि रूपाणि कृत्वा बहुनामा बभूव, दुर्गादिमूर्तिषु रूपभेदस्य स्पष्टत्वाद्, देवकीवसुदेवयोर्निर्बन्धो व्यर्थः ॥१३॥

हिन्दी व्याख्यार्थ — देवी ने इस प्रकार स्पष्ट कहा। यहां “प्रभाष्य” पद में जो “प्र” उपसर्ग है उससे सूचित किया कि इस के अतिरिक्त भी देवी ने कुछ कहा। यदि पूर्वोक्त बात ही कहती तो उसके वाक्यों में ब्रह्मण आदि का निर्देश न होने से ब्राह्मणों के साथ वह द्वेष नहीं करता परन्तु देवी ने ब्राह्मण आदि के विषय में भी कुछ कहा इसलिये ब्राह्मणों से भी उसने द्वेष करना आरंभ किया। कंस के साथ बातचीत करने से ही सब कार्य सिद्ध हो गया। यह बात देवता होने से देवी ने समझली। इसी आशय से श्लोक में “देवी” पद किया है। उस देवी में भगवान् के ऐश्वर्यादि धर्म हैं अतः उससे मोहित हुआ कंस यदि दूसरी किसी भी शक्ति द्वारा समझाया जाय तब भी न समझे, इस आशय से श्लोक में “भगवती” पद दिया है। वह भगवती है इसलिये सर्वत्र भगवद्भाव



को प्रगट कर पूजा को प्राप्त करेगी। अतः वह भगवान् के कहे अनुसार पृथ्वी पर जितने भी स्थान हैं उनमें अनेकरूप धारण कर अनेक नामों से प्रसिद्ध हुई। दुर्गादि मूर्तियों में उसके अनेक रूप स्पष्ट हैं अर्थात् दुर्गा आदि के जो भी रूप हैं वे उसी के हैं। वह माया भगवद्भाव को प्रकट कर अनेक स्थानों में अनेक रूपों से पूजी जायगी तो उसे अपने पास रखने के लिये वसुदेवजी देवकीजी का आग्रह व्यर्थ है ॥१३॥

**श्री सुबोधिनी—** “शत्रुस्तु जात” इति मायावचनं श्रुत्वा कंसः किं कृतवानित्याकांक्षायामाह

**अर्थ —** तेरा शत्रु कहीं उत्पन्न हो गया ऐसे माया के वचन सुनकर कंस ने क्या किया सो कहते हैं :—

**श्लोकः —** तया कथितमाकर्ण्य कंसः परमविस्मितः ।

देवकीं वसुदेवञ्च विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत् ॥१४॥

**अर्थ —** देवी द्वारा कहे गये वाक्यों को सुन कर कंस बहुत विस्मित हुआ और उसके वाक्य में विश्वास कर देवकी और वसुदेवजी की बेड़ी को तोड़कर विनम्र होता हुआ बोला ॥१४॥

**श्री सुबोधिनी —** तयेति, वाक्यं तु भगवत्संबन्धि तया तु परं केवलमभिहितं, तदाकर्ण्य परमं विस्मयं प्राप्तवान्, यदीय देवता ज्ञातेय धृतैव स्थाप्येत, तद्वाक्यविश्वासाद् देवकीं वसुदेवं च विमुच्य शृङ्खलां दूरीकृत्य देवीवाक्यादुत्पन्नशुद्धभावः प्रश्रितो विनीतोऽब्रवीत्, कायिकं मानसं च शुद्धभावं प्रदर्श्य वाचिकं प्रदर्शितवान् इत्यर्थः ॥१४॥

**व्याख्यार्थ —** माया ने जो वाक्य कहे वे भगवान् के ही वाक्य थे क्योंकि माया भगवान् का भी कार्य करने आई हैं इसलिये उसने तो भगवद्वाक्यों का अनुवाद ही किया है। देवी के उन वाक्यों को सुनकर कंस को बड़ा ही आश्चर्य हुआ। यदि कंस उसे देवता समझ लेता तो पकड़कर अपने पास रखता परन्तु उसे यह ज्ञान नहीं हुआ। इसके पश्चात् देवी के वाक्य में विश्वास कर वह कंस देवकी और वसुदेवजी की बेड़ियां तुड़वा कर देवी के कथन से शुद्ध भाव वाला और नम्र होकर बोला अर्थात् कंस ने देह और मन से शुद्ध भाव दिखाकर, वाणी से भी शुद्ध भाव दिखाया। यह बात “विमुच्य प्रश्रितोऽब्रवीत्” से कही है। छोड़ने से कायिक शुद्ध भाव दिखाया और नम्र होने से मन से और बोलने से वाचिक शुद्ध भाव दिखाया ॥१४॥

**श्री सुबोधिनी —** तस्य वाक्यान्याहाहो इत्यष्टभिः ।

व्याख्यार्थ — उस कंस के वाक्यों को “अहो भगिन्यहो” इत्यादि आठ श्लोकों से कहते हैं। प्रथम “अहो भगिन्यहो” इत्यादि श्लोकों के वाक्यार्थ को निम्न निर्दिष्ट कारिकाओं से बता रहे हैं :—

कारिकाएँ — स्वापराधस्य कथनं फलस्यापि च कीर्तनम् ।

भ्रमाच्चैवापराधोऽयं शोकदूरीकृतिस्तथा ॥१॥

एवं चतुर्भिर्लोकोक्त्या शोकाभावो निरूपितः ।

तत्त्वावबोधनेनापि चतुर्भिः शोकनाशनम् ॥२॥

आत्मनो न हि शोकोस्ति ज्ञानघृष्टेश्च नश्यति ।

अतः शोको न कर्तव्यः कर्माज्ञानवशो यतः ॥३॥

कारिकार्थ — “अहो भगिन्यहो भाम” इत्यादि से कंस ने अपने अपराध को कहा। “स त्वहं” इत्यादि श्लोक से उसने अपने अपराध का फल बताया। “दैवमप्यनृतं वक्ति” इत्यादि से भ्रम से मैं ने यह अपराध किया ऐसा कहा। “मा शोचतं” इत्यादि से आपको शोक नहीं करना चाहिये यह कहा ॥१॥ इस प्रकार चार श्लोकों से आप शोक न करें ऐसा लौकिक रीति से समझाया अर्थात् लोक में जैसे समझाया जाता है वैसे समझाया। इनसे आगे के चार श्लोकों में तत्त्वज्ञान समझा कर कंस ने वसुदेवजी एवं देवकीजी का शोक दूर किया ॥२॥ इस में “भुवि भौमानि” श्लोक से कहा कि आत्मा न जन्म लेता है और न मरता ही हैं इसलिये शोक नहीं करना चाहिये। “यथा नैव विदो भेदः” इस आगे के श्लोक से आत्मज्ञान से शोक निवृत्त हो जाता है। ऐसा कहा। “तस्माद् भद्रे” इस श्लोक से तथा “यावद्धतोऽस्मि” से कहा कि जीव कर्म और अज्ञान से विवश हो अपना अशुभ फलभोगता है<sup>१</sup> अतएव उनके लिये तुम को शोक न करना चाहिये।

श्री सुबोधिनी — प्रथमतः स्वापराधकीर्तनेन क्षमापयति :—

अर्थ — पहिले अपने अपराध को कह कर कंस क्षमा चाहता है।

। कंस उवाच ।

<sup>१</sup> यहा यह समझना चाहिये कि “तस्माद् भद्रे” श्लोक से कर्मवश हो कर जीव फल भोगता है यह कहा और “यावद्धतोऽस्मि” से यह कहा कि जीव अज्ञानवश हो कर फल भोगता है।

श्लोक: — अहो भगिन्यहो भाम मया वां बत पाप्मना ।

पुरुषाद इवाभ्येत्य नहवो हिंसिताः सुताः ॥१५॥

अर्थ — कंस पश्चात्ताप करता हुआ आश्चर्य के साथ बोला कि हे बहिन! अजी बहिनोईजी! मुझ पापी ने मनुष्यभक्षी राक्षस के समान जबरदस्ती आप दोनों के अनेक पुत्रों का वध किया, मुझे इसका बड़ा दुःख है ॥१५॥

श्री सुबोधिनीजी — अहो इत्याश्चर्येण संबोधन, आश्चर्याविष्टस्तथैवागत्य देवकी वसुदेवं च पृथक् प्रार्थयते, अहो इति पृथग्वचनं, 'भामस्तु भगिनीपतिः' सम्बन्धेन संबोधन स्नेहार्थ, वा युवयोः, पापस्य स्वस्य च भेदाभावं वदन्नाह पाप्मनेति, बतेति खेदे, पश्चात्तापेन वदामीति ज्ञापयति, न त्विद प्रतारणार्थ, पुरुषादो राक्षसः, सहि भक्षणार्थ बालकान् नयति, तथा मया स्वदेहरक्षाभ्रमाद् युवयोर्बहवः सुता विहिंसिताः, राक्षसानां सम्बन्धाद्यपेक्षा शास्त्रापेक्षा च नास्ति किन्तु प्राणरक्षार्थमेव सर्वेषां सर्वपुरुषार्थसाधकान्यपत्यानि भक्षयन्ति तथा मया मारिता इति तुल्यता, ततोऽपि विशेषस्तु बहव इत्यनेन ज्ञापितः ॥१५॥

व्याख्यार्थ — अहो यह आश्चर्यबोधक सम्बोधन है। कंस आश्चर्ययुक्त होकर देवकी वसुदेवजी के पास आया और उन्हें पृथक् २ प्रार्थना करने लगा। अहो यह आश्चर्य बोधक संबोधन होने से भिन्न पद है। कंस कहता है कि हे बहिन! हे बहनोईजी! श्लोक में "भाम" पद देने से कंस ने यह सूचित किया कि तुम मेरी बहिन के पति हो, तुम्हारा मेरा सम्बन्ध है और सम्बन्धी के साथ स्नेह होता ही है इसलिये तुमसे मेरा स्नेह है। तुम्हारे पुत्रों को पापरूप मैंने मारा। यहां "पाप्मना" कह कर यह बताया कि मेरे में और पाप में कोई भिन्नता नहीं है अर्थात् मैं पापरूप ही बन गया हूँ। श्लोक में आये "बत" पद का अर्थ खेद है। अभिप्राय यह है कि कंस कहता है कि मैं इस कर्म से हार्दिक पश्चात्ताप करता हूँ, तुम्हारी प्रतारणा के लिये दिखावा नहीं करता। जैसे खाने के लिये राक्षस बालकों को ले जाता है वैसे ही मैंने यह समझ कर कि बालकों को मारने से मेरे देह की रक्षा हो जायगी तुम्हारे बहुत पुत्रों को मार दिया। राक्षस किसी से न सम्बन्ध पालते हैं और न शास्त्र की ही अपेक्षा रखते हैं अर्थात् राक्षसों का न कोई सम्बन्धी होता है और न वे "बालकों को नहीं मारना चाहिये" इस शास्त्र मर्यादा का ही पालन करते हैं। वे तो अपने प्राणों की रक्षा के लिये, जिन के द्वारा सब पुरुषार्थ मिल सकते हैं, ऐसे सभी के सन्तानों को खा जाते हैं, उन राक्षसों की भांति मैं ने भी तुम्हारे पुत्र

मारे। मैं तो उन राक्षसों से भी बढ़ गया क्यों कि वे तो एक हो सन्तान ही खाते हैं और मैं ने तो तुम्हारे बहुत पुत्रों को मार डाला। यह बात यहां "बहवः" पद से कही है ॥१५॥

श्री सुबोधिनी — एवमपराधस्य फलमपि संभावयति ।

अर्थ — कंस इस प्रकार के अपराध से होने वाले फल की भी संभावना करता है ।

श्लोकः — स त्वहं त्यक्तकारुण्यस्त्यक्तज्ञातिसुहृत् खलः ।

काँल्लोकान् सङ्गमिष्यामि ब्रह्महेव मृतः श्वसन् ॥१६॥

अर्थ — जिस ने दया छोड़ दी है और ज्ञाति एवं मित्रों को भी छोड़ दिया है ऐसा दुष्ट मैं ब्रह्महत्या करने वाले की भाँति किन लोकों को प्राप्त करूँगा; मैं तो जीवित ही मृत हूँ ॥१६॥

श्री सुबोधिनी — स त्वहमिति, दैत्यावेशात् कृतं स्वतस्त्वं समीचीन इति न तव नरकसंभावनेत्याशङ्क्य तुशब्दस्तं पक्षं व्यावर्तयति, मया कृतमिति य एव मन्यते स एव तत्फल प्राप्नोतीति यतः सोऽह, "जिघांसन्तं जिघांसीया" दिति वाक्यात् तव को दोष इति चेत् तत्राह त्यक्तकारुण्य इति, प्रथमतो ये हतारस्ते तु न जिघांसवो भवन्ति तथा त्वं वा, यदा ते मारयितुमायान्ति समर्था वा तदैव वध्या न तु बालका दीनाः, अतो येषु कारुण्यं कर्तव्यं बालकेषु भागिनेयेषु तेषु न कृतमिति त्यक्तकारुण्यः, ननु संभावनयापि शत्रवो मार्यन्ते शत्रुपुत्राश्चातो राज्ञां संभावनयापि वधो न दोषायेति चेत् तत्राह त्यक्तज्ञातिसुहृदिति, त्यक्ता ज्ञातयः सुहृदो मित्राणि च येन, नन्वात्मघातकाः सर्व एव वध्या "भ्रातापि भ्रातारं हन्या" दिति तत्राह खल इति, मयैव परं ते मारिता न तु तैरहं, अतोहमेव खलो वृथैव परघातकः, अतो दुष्टकर्मणः कृतत्वात् कान् लोकान् सङ्गमिष्यामि ? ननु सिद्धा एव तामिस्रादयो घातकानां ये तत्राह ब्रह्महेवेति, ननु 'ब्रह्महा पच्यते घोरे पुनरावृत्तिवर्जित' इति वाक्यात् कः सन्देह इति चेन्न, प्रायश्चित्तस्य करिष्यमाणत्वाद् वधजनितो दोषो न भविष्यति परं महतामपचारात् प्रायश्चित्तं दुर्बलं न वा इति संदेहादेवं वचनं, ननु प्रायश्चित्ते नास्त्येव नरकः कथं सन्देह इति चेत् तत्राह मृतः श्वशत्रिति, अयं पुरुषः श्वशन्नेव मृतः, अपकीर्तेर्जातत्वात्, अतो ज्ञायते यदि पापं गच्छेत् तदा तदभावः सर्वजनीनः स्यात् सर्वात्मकत्वाद् भगवतः, अतोमृतः श्वशन् यतो वर्ते, प्रायश्चित्तशास्त्रस्य च प्रामाण्यात् सन्देहकथनम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ — यदि आप कहें कि तुझ में कालनेमि का आवेश हो गया था इसलिये तुझ से यह दुष्कर्म बना है, स्वयं तो तू अच्छा ही है अतः तेरे नरक में जाने

की संभावना नहीं है तो कंस श्लोक में आये “तु” शब्द से इस पक्ष का निराकरण करता हुआ कहता है कि यह अपराध मैंने किया है। ऐसा जो मानता है वही “कर्त्तास्मीति निबद्धयते” इस शास्त्रीय नियम के अनुसार फल भोगता है। मैं भी यही मानता हूँ कि मैं ने यह पाप किया है इसलिये मुझे इसका फल मिलेगा ही। यदि कहें कि “क्षिधांसन्त जिघांसीयात्” इस वाक्य के अनुसार जो मारने की इच्छा रखता हो उसे मारना ही चाहिये तो तेरा इसमें क्या दोष है। इस पर कंस कहता है कि प्रथम तो बात यह है कि जिन बच्चों को मेने मारा है वे मारने की इच्छा नहीं रखते थे और तुम भी मारने की इच्छा नहीं रखते हो, जब वे बालक मारने आते अथवा समर्थ होते तब ही उन्हें मारना उचित होता, पहिले उन दीन बालकों को मारना उचित नहीं था। जिन भानेज बालकों पर मुझे दया करनी चाहिये थी उन पर मैं ने दया नहीं की इसलिये मैं निर्दय हूँ। यदि कहें कि यह मेरा शत्रु होगा इस संभावना पर भी शत्रु एवं शत्रुपुत्र मारे जाते हैं तो संभावना से तू ने इन्हें मारा है इसलिये मारने का दोष तुझे नहीं लगेगा। कंस कहता है कि मैंने ज्ञाति मित्रों के सम्बन्ध को तोड़ दिया है। ये मेरे सुहृद् के पुत्र हैं अतः उन्हें नहीं मारना चाहिये यह विचार नहीं रखा है। यदि कहें कि जो अपने को मारने वाले हों, वे सब मारने योग्य हैं जैसा कि कहा है “भ्रातापि भ्रातरं हन्यात्” मारने वाले भाई को भी भाई मारदे। तो कंस कहता है कि मैं दुष्ट हूँ क्योंकि मैं ने ही उन्हें मारा है, उन्होंने ने मुझे नहीं मारा है अतः मैं व्यर्थ दूसरों को मारने वाला हूँ इसलिये दुष्कर्म करने से मैं किन लोकों को प्राप्त करूँगा। यदि कहें कि मारने वालों को तामिस्र आदि नरक मिलते ही हैं तो फिर तुझे यह सन्देह करना ही नहीं चाहिये कि मैं किन लोकों को जाऊँगा। इस पर कंस कहता है कि ब्रह्महत्या करने वाले का जो नरक मिलता है वह मुझे मिलेगा। यदि आप कहें कि “ब्रह्महा पच्यते घोरे पुनरावृत्तिवर्जिते” इस वाक्य के अनुसार जहां से पीछा नहीं लौटता है ऐसे घोर नरक में ब्रह्म हत्या करने वाला दुःख पाता है, तुझे भी वही नरक मिलेगा फिर क्यों सन्देह करता है कि मैं किस नरक में पड़ूँगा। इस पर कंस कहता है कि मैं प्रायश्चित करूँगा। उससे मुझे मारने का दोष तो नहीं लगेगा परन्तु महान् व्यक्तियों के अपराध से प्रायश्चित न्यून है या नहीं इस सन्देह के होने से मैं ऐसा कहता हूँ। यदि कहें कि प्रायश्चित कर लेने पर नरक

मिलेगा ही नहीं तो कहता है कि इस प्रकार का व्यक्ति जीवित ही मृत है क्योंकि उसकी अपकीर्ति हो गई है। कंस कहता है कि मुझ में पाप नहीं रहता तो मेरी अपकीर्ति मिट पाती, पाप नहीं रहने के कारण भगवान् के सर्वात्मक होने से कोई भी मेरी अपकीर्ति नहीं करता परन्तु ऐसा नहीं हुआ है इसलिये मैं जीवन्मृत हूँ। मैं किस नरक में जाऊँगा यह सन्देह तो इसलिये हो रहा है कि प्रायश्चित्त बताने वाला शास्त्र कहता है कि प्रायश्चित्त से पाप दूर हो जाते हैं ॥१६॥

श्री सुबोधिनी — एवं सभावनाया फलं निरूप्यायं मम सहजदोषो न भवतीति स्वदोषपरिहारं वदन्निवाह ।

अर्थ — इस प्रकार संभावना से अपने को मिलने वाले फल का निरूपण कर इस में मेरा सहज दोष नहीं है इस बात को सिद्ध करने के लिये अपने आपको निर्दोष बताते हुए की तरह कंस कहता है :—

श्लोकः — दैवमप्यनृतं वक्ति न मर्त्या एव केवलम् ।

यद्विश्रंभादहं पापः स्वसुनिहतवाञ्छिशून् ॥१७॥

अर्थ — केवल मनुष्य ही झूठ नहीं बोलते, देवता भी झूठ बोलते हैं। देवता के विश्वास पर ही मुझ पापी ने अपनी बहिन के बहुत बालकों को मार दिया ।

श्री सुबोधिनी — दैवमप्यनृतं वक्तीति, आकाशवाणी दैव “मस्यास्त्वामष्टमो गर्भः” इति वाक्यं, दुर्गापि देवता, एकं तु प्रत्यक्षसंवादि, आकाशवाण्यास्तु वाक्यं विसवादि, देवगुह्याज्ञनादेव वचनं “मर्त्येष्वनृतं प्रतिष्ठितं” मिति वाक्यान्मनुष्याणामनृतं दैवेषु सत्यं, तदत्र विपरीतं, न केवलं मर्त्या एवानृतवादिनः, किन्तु दैवमप्यनृतं वक्ति, अतो यद्विश्रंभाद् यद्वाक्यविश्वासात् स्वसुः सुतान् वृथैव निहतवान्, ननु “सन्देहे प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः” इति तदहदये कथं भातमिति चेत् तत्राहाहं पाप इति, महतां हि हृदयं प्रमाणं न तु पापनिष्ठानां, शिशूनिवति वयः सख्ये विरुद्धे निरूपिते, अष्टम एक एव हन्तेति सामर्थ्यप्रतिपादकवाक्यात् ॥१७॥

व्याख्यार्थ — आकाशवाणी रूप देवता ने तो यह कहा था कि इस देवकी का आठवां गर्भ तुझे मारेगा। आकाशवाणी जैसे देवता है वैसे ही दुर्गा भी देवता है। जो दुर्गा ने बात कही वह तो प्रत्यक्ष के विरुद्ध नहीं हुई किन्तु आकाशवाणी ने जो कहा वह प्रत्यक्ष के विरुद्ध हुई। कंस देवताओं की गुप्त बात को नहीं जानता है इसलिये ऐसा कहता है। कंस कहता है कि “मर्त्येष्वनृतं प्रतिष्ठितं” इस वाक्य के अनुसार झूठ

मनुष्यों में रहती है और देवताओं में सत्य की स्थिति है परन्तु यहां विपरीत देखने में आया। मैं तो समझता था कि मनुष्य ही झूठ बोलते हैं परन्तु अब मालूम हुआ कि देवता भी झूठ बोलते हैं। देवता के वाक्य पर विश्वास करके ही मैं ने बहिन के पुत्रों को व्यर्थ ही मारा। यदि कहें कि तुझे इस बता में सन्देह था तो “प्रमाणमन्तः करणप्रवृत्तयः” के अनुसार अन्तःकरण ही यह ठीक है या नहीं इसकी साक्षी दे देता है तो तू ने अन्तःकरण से यह क्यों नहीं समझा। तेरे हृदय में आकाशवाणी की बात ही क्यों आई तो कहता है कि मैं अत्यधिक पाप करने से पापरूप बन गया हूँ। जो महान् होते हैं उनका अन्तःकरण साक्षी दे देता है कि यह ठीक है या नहीं और जो पापी हैं उनका हृदय किसी बात को ठीक नहीं कर सकता श्लोक में आये “स्वसुःशिशून्” का भाव यह है कि बहिन के साथ प्रेम था उस प्रेम का भी मैं ने पालन नहीं किया और बच्चे बिल्कुल छोटे हैं इसका भी विचार मैं ने नहीं रखा। मुझे आकाशवाणी ने यह कहा कि आठवां गर्भ तुझे मारेगा इसरो तो स्पष्ट था कि वह सामर्थ्यशाली होगा परन्तु ये बच्चे तो इस प्रकार के नहीं निकलें, इन्हें तो मैंने व्यर्थ ही मारा।।१७।।

श्री सुबोधिनी — नन्वतः पर किं कर्तव्यमित्याशङ्क्याह —

अर्थ — अब इस के आगे क्या करना चाहिये तो कहते हैं कि : —

श्लोकः — मा शोचतं महाभागावात्मजान् स्वकृतम्भुजः।

जन्तवो न सदैकत्र दैवाधीनाः सदासते।।१८।।

अर्थ — हे महाभाग्यशाली देवकी वसुदेवजी! अपने पुत्रों का शोक न करो क्योंकि उन्होंने अपने किये हुए कर्मों का फल भोगा है, भगवदिच्छा से जो जन्म एवं मरण के भाग में हैं वे सदा एक साथ नहीं रहते।।१८।।

श्री सुबोधिनी — मा शोचतमिति, महतां शोके हेतुभूतः प्रायश्चित्तेष्वनधिकारी भवति इति मत्कृपया शोको न कर्तव्यः, नन्वपकारिणि कथं कृपेतिचेत् तत्राह महाभागाविति संबोधन, महता शत्रुमित्रोदासीनभावो नास्ति, ननु महत्त्वादेव शोकाभावे सिद्धे कथं शोकाभावो बोध्यत इति चेत् तत्राह स्वात्मजानिति, न हि स्वाकृतार्थत्वेन शोकः किन्तु बाला अकृतार्था गता इति, तेषां शोकाविषयत्वे हेतुमाह स्वकृतम्भुज इति, यद्यपि मरीचिपुत्रा एवं जाता इति न जानाति तथापि कार्यादनुमिनोति, अतस्तैरपि तांश कर्म कृतमस्ति येन बाला एव हता, ननु न वयं ताञ्छोचामो नात्मानं किन्त्वेकत्रोभयेषां स्थितिर्नाभूदिति शोचाम इति चेत् तत्राह जन्तव इति, ये हि निरन्तर जायन्ते

“जायस्वम्रियस्व” तिमार्गवर्तिनस्ते सदैवैकत्र नासते यतो भगवदिच्छा तथैव तेषु, तदाह दैवाधीना इति, यद्यपि तिष्ठन्ति तदापि पूर्ववासनया शत्रुमित्रोदासीनत्वस्य नित्यत्वान्न सम्यगासते, सहासते इति वा पाठः ॥१८॥

**व्याख्यार्थ** — जो महान् पुरुषों के शोक का कारण बनता है, वह प्रायश्चित्त करने का भी अधिकारी नहीं होता। ऐसी दशा में उसकी प्रायश्चित्त से शुद्धि न होने ने उसे नरक भोगना पड़ता है इसलिये मुझ पर कृपा कर आप शोक न करें। यदि कहें कि बुरा करने वाले पर कृपा कैसे की जा सकती है तो कंस कहता है कि आप महाभाग हो, जो महाभाग्यवान् होते हैं वे महान् होते हैं, उन में शत्रु, मित्र एवं उदासीन भाव नहीं होते। आप यदि यह कहें कि हम जब महान् हैं तो अपने आप शोक नहीं करेंगे तू हमें क्या समझा रहा है कि शोक नहीं करना चाहिये। इस पर कंस कहता है कि ये आप के पुत्र थे, आपको आपकी अकृतार्थता का शोक नहीं है किन्तु बालकों ने जन्म लिया और उनसे कुछ भी सुकृत न बना, वे अकृतार्थ ही गये, इस बात का शोक है परन्तु यह शोक नहीं करना चाहिये क्योंकि जैसा उनका कर्म था वैसा उन्होंने फल भोगा। कंस को यद्यपि यह ज्ञात नहीं था कि ये बच्चे मरीचि के पुत्र थे और इस प्रकार यहां उत्पन्न हुए तो भी कार्य से अनुमान लगा लिया कि इन्हीं ने ऐसा कर्म किया था जिससे ये बाल्यवस्था में ही मारे गये। कंस कहता है कि यदि आप यह कहें कि न हम बालकों का शोक करते हैं और न अपना ही, हम तो इस बात का शोक करते हैं कि पुत्र और हम साथ न रहे। इस पर कंस कहता है कि जो “जायस्वम्रियस्व” के मार्ग में हैं वे सदा ही एक जगह नहीं रहते क्यों कि उन के लिये भगवान् की इच्छा ऐसी ही है। इस बात को “दैवाधीनाः” पद से कहा है। यदि इस प्रकार के प्राणी रह भी जाते हैं तो भी उनमें पूर्ववासना से शत्रु, मित्र एवं उदासीनता के भावों के नित्य रहने से वे अच्छे रूप में नहीं रह सकते। श्लोक के अन्त में “सदासते” “समासते” और “सहासते” ये तीनों पाठ हो सकते हैं। इसलिये उपर्युक्त तीनों अर्थ किये गये हैं ॥१८॥

**श्री सुबोधिनी** — एव लौकिकन्यायेन स्वापराधाभावं प्रार्थयञ्छोकापनोदनं कृतवान् पुनः शास्त्रानुसारेणापि शोकापनोदनमाह चतुर्भिः।

**अर्थ** — मेरा इस में कोई अपराध नहीं है ऐसा लौकिक न्याय से बताकर कंस अब शास्त्र के अनुसार भी चार श्लोकों से शोक दूर करता है।



श्लोक: — भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति च ।

नायमात्मा तथैतेषु विपर्येति यथैव भूः ॥१६॥

अर्थ — जैसे मिट्टी से घट आदि पैदा होते हैं और नष्ट हो जाते हैं परन्तु मिट्टी में विकार नहीं होता वैसे ही शरीर बनते बिगड़ते रहते हैं परन्तु आत्मा में कोई विकार नहीं होता अथवा यों कहिये कि जैसे घट तृण भित्ति आदि पैदा होते हैं और नष्ट होते हैं परन्तु पृथिवी में स्थित अन्तर्यामी रूप परमात्मा में कोई विकार नहीं होता वैसे ही देह के उत्पन्न एवं नष्ट होने पर आत्मा में कोई विकार नहीं होता ॥१६॥

श्री सुबोधिनी — भूवीति, पूर्व ते म्रियन्त इत्यङ्गीकृत्य शोकापनोद उक्त इदानीं ते न म्रियन्त एवेत्युच्यते, आत्मा 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' इति वाक्याद् व्यापको गमनागमनादि शून्यः कूटस्थः, सांख्यानामेवमेव मतं दैत्यानां हृदये समायातीति तदेवोच्यते, देहास्त्वाकाशेऽभ्रतमः प्रकाशा इवोच्चावचा समायान्ति गच्छन्ति च न त्वाकाशे कश्चन विकार उत्पद्यते तथा पुत्राणामप्यात्मत्वात् तेषां देहे गते न काचित् क्षतिः, स्पष्टतया व्यवहार्यत्वाद् भूमिर्ऽष्टान्तो बुध्यत इत तमाह यथा भौमानि भूविकाराणि भूतानि कृमिकीटादीनि वृक्षादीनि वा यथा यान्ति भूमेः सकाशादुत्पद्यन्ते पृथग् भवन्त्यपयान्ति च भूमावेव लयं प्राप्नुवन्ति तेषूद्गतेषु लीनेषु वा भूमिस्तु न विक्रियते तथात्मन्यपि देहा यान्त्यपयान्ति चात्मोपार्जितकर्मवशादेवोत्पद्यन्ते लीयन्ते च तथाप्यात्मा न वोत्पद्यते न वालीयत इत्यर्थः, यथा भूस्तथा देहानामपि भौतिकत्वात् पृथङ् निरूपणं, भुवि भौमानि भित्त्यादीनीत्येव सम्बध्यते भूतानीति त्वात्मनीति वा, भूतानि जातानि वा, तेष्वेव भूतेषु विद्यमान आत्मा न तथेति वक्तुं ऽष्टान्त एव प्रवेश उक्तः यथा बहिः स्थिता पृथिवी न विक्रियत एवमन्तः स्थितः आत्मापि, नथैतेष्विति भिन्नं वाक्यं, एतेषु मनुष्यदेहेष्वप्यात्मा न विक्रियत इति, उक्तेषु मनुष्यादिर्दहेषु भूम्यविकारः प्रत्यक्षसिद्धः, वर्षाकालोद्भवेषु तृणादिषु चात्माविकारश्च प्रत्यक्षसिद्धः, अन्यथात्मानन्त्यकल्पना प्रसज्जयत्, यथा देहे लोमानि न पृथगात्माधिष्ठितानि तथा भूमावप्येक एवात्मा तत्सम्बन्धात् कोटिशस्तृणादीन्युत्पद्यन्ते विलीयन्ते च, अधिष्ठात्र्यो देवतास्तु भिन्नाः ॥१६॥

व्याख्यार्थ — प्राणी जन्म लेते हैं और मरते हैं, वे भगवदिच्छा के अधीन होकर एक जगह नहीं रह पाते, यह पहिले कहकर कंस ने शोक दूर किया। अब कहता है कि वे मरते ही नहीं क्योंकि "नित्यः सर्वगतः स्थाणुः" के अनुसार आत्मा (जीव) व्यापक (सर्वत्र रहने वाला) एक शरीर को छोड़ कर दूसरे शरीर में नहीं जाने आदि धर्मों से युक्त एवं कूटस्थ (सदा एक रस वाला) है, इस प्रकार के सांख्यमत को ही दैत्य मानते हैं इसलिये कंस ने इस प्रकार के मत को कहा। अर्थात् जीव को व्यापक आदि बताया।

कंस कहता है कि जैसे आकाश में बादल, अन्धकार एवं प्रकाश होते रहते हैं परन्तु आकाश में कोई विकार नहीं होता वैसे ही ऊँच नीच देह उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं परन्तु आत्मा में कोई विकार नहीं होता। तुम्हारे पुत्रों में भी उस आत्मा का रूप था इसलिये उनके देह के चले जाने पर भी कोई क्षति नहीं हुई। यहां आकाश का छिष्टान्त तो दिया है परन्तु स्पष्ट रूप में वह व्यवहार में नहीं आता। इसलिये कंस दूसरा प्रत्यक्ष व्यवहार में आने वाला छिष्टान्त देता है कि जिस प्रकार पृथ्वी के विकारभूत कृमि कीट आदि एवं वृक्षादि हैं वे भूमि से पैदा होते हैं अर्थात् पृथ्वी से भिन्न होते हैं और पृथ्वी में ही लीन हो जाते हैं, उनके निकलने व लीन होने पर जैसे भूमि में कोई विकार नहीं होता, वैसे ही आत्मा में समझना चाहिये। अपने से किये गये कर्मों के अधीन होकर ही देह उत्पन्न होती है और लीन हो जाती है परन्तु आत्मा न पैदा होता है और न लीन होता है। श्लोक में “यथा भूः” ऐसा कहा है। यहां श्लोक में जैसे यह कहा कि पृथ्वी से पैदा हुई चीजों में विकार होता है और पृथ्वी में विकार नहीं होता वैसे ही श्लोक में यह भी कहना चाहिये था कि आत्मा में विकार नहीं होता किन्तु देह आदि में विकार होता है, परन्तु ऐसा इसलिये नहीं कहा कि देह भी श्लोक में कहे गये “भौमानि भूतानि” इन पदों से ले लिया गया इसलिये पृथक् देह पद श्लोक में नहीं दिया गया। श्री प्रभु चरण आज्ञा करते हैं कि “भुवि भौमानि भूतानि यथा यान्त्यपयान्ति तथात्मा न याति नापयाति” इतना ही श्लोक का शक्य (मुख्य) अर्थ होना चाहिये और पद भी ये ही होने चाहिये, शेष रहे श्लोक के पद व्यर्थ हैं। और दूसरी बात यह भी है कि पृथ्वी में विकार होकर ही वस्तु पैदा होती है इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि पृथ्वी से वस्तु पैदा होती है और पृथ्वी में कोई विकार नहीं होता। इस अरुचि से श्री सुबोधिनी में दूसरे पक्ष का उल्लेख करते हैं कि “भुवि भौमानि मित्यादीनि” अर्थात् पृथ्वी में भित्ति आदि पैदा होते हैं और नष्ट हो जाते हैं परन्तु पृथ्वी उस रूप में न बनती है और न बिगड़ती है। शरीरस्थ पंच महाभूत जो जल आदि हैं वे उत्पन्न और नष्ट होते हैं,”

इस प्रकार अर्थ करने पर भी “भूत” पद एव “एतेषु” इत्यादि पद सार्थक नहीं होते हैं क्योंकि “नायमात्मा तथा” ऐसा कहने से भी काम चल जाता है परन्तु यहा यह कहना है कि जल आदि में वही भगवान् अन्तर्यामी रूप से रहता है परन्तु पञ्चमहाभूतों के उत्पत्ति-नाश-रूप-धर्म से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यहां “भूतानि” “एतेषु” आदि पद न देते तो यह अर्थ नहीं होता। श्री पुरुषोत्तमजी महाराज कहते हैं कि जैसे “भौमानि” पद के अर्थ का अन्वय “भुवि” पद के अर्थ में होता है, उसी रूप में श्लोकस्थ “भूतानि” पद का सम्बन्ध अध्याहार किये गये “आत्मनि” पद के अर्थ के साथ होता है और बाकी अपेक्षित पदों की आवृत्ति करनी चाहिये, परन्तु यह पक्ष मान लेने पर “आत्मनि” का अध्याहार करना ही दोष है इसलिये श्री सुबोधिनी में “भूतानि जातानि वा” यह पक्ष दिया, इसका अर्थ यह हुआ कि पृथ्वी में ही जल आदि पैदा होते हैं परन्तु पृथ्वी तो अधिकरण रूप में ही रहती है और नित्य आकाश में अतिरिक्त जल आदि भूत ही उसमें पैदा होते हैं। इस पक्ष के मान लेने पर श्लोक में आये चकार से यह छिष्टान्त लिया जा सकता है और इस पक्ष में पदों की आवृत्ति भी नहीं करनी पड़ती। शङ्का करते हैं कि “भौमानि” का भित्ति आदि अर्थ का दूसरा पक्ष क्यों उठाया गया। इस का स्पष्टीकरण श्री प्रभु चरण ने “ननु भुवि” इत्यादि शका करके किया है। श्री सुबोधिनीजी में आये “भूतानि जातानि” में जो “जातानि” पद है उसका अर्थ यह है कि जल आदि पृथ्वी में पैदा होते हैं। इसमें जो दार्ष्टान्तिक अपेक्षित है उसका उल्लेख श्री प्रभुचरण ने “तथैतेष्वन्तः” स्थित आत्मापि तथा” आदि से किया है।

श्री सुबोधिनीजी में जो “छिष्टान्त एव प्रवेश उक्त” यह कहा है। यहा श्री प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि “यथैव भू” यह जो छिष्टान्त-निरूपक वाक्य है उसमें “भूतानि” पद का सम्बन्ध है और यह भी समझते हैं कि श्लोक में आये “यथा भू” पद का विवेचन श्री सुबोधिनी में इस प्रकार किया है कि जैसे पृथ्वी से पैदा होने वाले पदार्थ विकार को प्राप्त होते हैं किन्तु उनसे बाहिर रहने वाली पृथ्वी में विकार नहीं होता वैसे ही जलादि के अन्त स्थित आत्मा में भी विकार नहीं होता। ऐसा अर्थ करने पर “न तथा एतेषु” इन पदों की आवृत्ति करनी चाहिये। यही बात “तथैतेष्विति भिन्न वाक्य” से कही है। इसी पक्ष में “एतेषु” इत्यादि पदों की श्री सुबोधिनी में प्रकारान्तर से व्याख्या करते हैं कि “एतेषु मनुष्यदेहेष्वप्यात्मा न विक्रियते” इसका अर्थ यह है कि जैसे मनुष्य आदि देहों के उत्पन्न होने पर भी उनके पृथक् रहने वाली पृथ्वी विकृत नहीं होती उसी रूप में आत्मा में भी विकार नहीं होता यह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। श्री प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि श्रीमदाचार्यचरण अब दूसरे प्रकार से अर्थ करते हैं कि “वर्षाकालोद्भवेषु” इन तृण आदि से उत्पन्न होने पर पृथ्वी में विकार होता है परन्तु पृथ्वी के भीतर रहने वाले अन्तर्यामी में विकार नहीं होता। इस प्रकार यहां व्यतिरेक छिष्टान्त मानना चाहिये। पृथ्वी के भीतर अन्तर्यामी आत्मा रहता है, इसमें “य. पृथिव्या तिष्ठन्” इत्यादि श्रुति प्रमाण है। इस श्रुति का तात्पर्य यह है कि पृथ्वी के भीतर रहने वाला उस पृथ्वी का अभिमानी आत्मा है परन्तु उसमें कोई विकार नहीं होता। यदि आत्मा के भी उत्पत्ति आदि मान लिये जाते हैं तो एक तृण रूप से आत्मा में विकृति हो गई तो फिर आत्मा के अवयव में होने से अंश का भेद तो कह नहीं सकते, तो दूसरे तीसरे तृण आदि में भिन्न २ आत्मा माननी होगी। ऐसी स्थिति में एक पृथ्वी रूप शरीर में अनन्त आत्माओं की कल्पना करनी होगी जैसे देह में रोमावली के भेद से आत्मा में कोई भेद नहीं है, उसी रूप में भूमि में भी एक ही आत्मा है उसके सबंध से करोड़ों तृण आदि उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं। त्वचा आदि गोलकों में लोभ आदि इन्द्रिया है और अधिष्ठात्री जो औषधि आदि देवता है वह शरीराभिमानी आत्मा से भिन्न है इसलिये उन देवताओं के भेद से आत्मा भिन्न नहीं हो सकती।

इस श्लोक की व्याख्या करते हुवे श्री वल्लभजी महाराज कहते हैं कि पृथ्वी से कृमि कीट आदि उत्पन्न होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। यह अर्थ “यान्ति” इत्यादि पदों से लिया गया है। देह और आत्मा के पक्ष में “यान्ति अपयान्ति” का अर्थ यह है देह आते जाते रहते हैं परन्तु आत्मा में यह बात नहीं है। यहा विकार से अन्यथाभाव अर्थ लेना। श्री वल्लभजी महाराज श्लोक का अन्वय इस प्रकार करते हैं कि जिस प्रकार पृथ्वी में भित्ति आदि बनते हैं और बिगड़ते हैं, उसी प्रकार जल आदि महाभूत जो पैदा हुए हैं वे आते हैं और जाते हैं परन्तु इनमें विद्यमान आत्मा न जाता है और न आता है। इस छिष्टान्त से आत्मा के आने जाने का निषेध किया है। दूसरे छिष्टान्त से आत्मा में विकार नहीं होता यह “न” तथा “एतेषु” इन तीन पदों की आवृत्ति कर यह अर्थ किया कि जैसे बाहिर रही हुई पृथ्वी विकृत नहीं होती वैसे ही इन पञ्च महाभूतों में रहने वाला आत्मा भी विकृत नहीं होता। परन्तु

श्री सुबोधिनी — नन्वेवमैकात्म्ये कथं लोके भेदव्यवहार इति चेत् तत्राह

अर्थ — शकां होती है कि जब एक ही आत्मा है तो लोक में देवदत्त की आत्मा भिन्न है और यज्ञदत्त की आत्मा भिन्न है ऐसा व्यवहार कैसे होता है अथवा “देवोऽहं” “मनुष्योऽहं” आदि भेद व्यवहार कैसे होता है तो कहते हैं कि :—

श्लोकः — यथानेवं विदो भेदो यत आत्मविपर्ययः ।

देहयोगवियोगौ च संसृतिर्न निवर्तते ॥२०॥

अर्थ — जिसे ठीक रूप से यह ज्ञात नहीं कि आत्मा एक है उसे भेद प्रतीति होती है और उसी भेद प्रतीति से आत्मा की अनित्यता, भिन्नता तथा देह के संयोग वियोग मालूम पड़ते हैं, और संसार भी उसी के कारण निवृत्त नहीं होता ॥२०॥

श्री सुबोधिनी — यथेति, यथायथावदनेव विदो भेदो न त्वेवंविदः, आपातत एवं वित्त्वेपि भेदप्रतीतिर्न गच्छति इति यथेत्युक्त, यथानेवविद इति एक पदं, समासान्तस्त्वनित्यः, भेदस्तु द्वित्वसाध्यः, न ह्येकरिम्भन् भेदबुद्धिर्भवति, द्वित्वं त्वपेक्षाबुद्धिजन्यं, अतो द्वित्वं न वस्तुनिष्ठं किन्तु बुद्धिस्थविषयकमेव, बुद्ध्या बहिर्विषयोत्पादनासंभवात्, अतोऽज्ञानकृत एव भेदो भवति, अपेक्षाविषयाणामभावात्, निरपेक्षेष्वपेक्षाबुद्धिरज्ञानकृतैव, ननु “भेदः पारमार्थिकः श्रुतिस्मृतिव्यवहारोपयोगित्वादात्मव” दित्यनुमानाद् भेद पारमार्थिक एवेति चेत् तत्राह यत आत्मविपर्यय इति, यदि भेदः पारमार्थिकः स्यात् तत्कृतेन व्यवहारेणात्मविपर्ययो न स्यात्, अज्ञानस्य भेदोत्पादकत्वेनैवान्यथाबुद्धिहेतुत्वात् अन्यथा सुषुप्तावज्ञानस्य विद्यमानत्वादप्यन्यथाबुद्धिर्भवेत्, किञ्च न केवलं विपर्ययमात्रैर्जनकत्वं किन्तु देहयोगवियोगावपि भेदकृतावेव, यथा देवदत्तस्य यज्ञदत्तदेहे जाते गते वा स्वस्य न कापि विक्रियोत्पद्यत एवं स्वस्याप्यात्मन एकत्वे ज्ञाते नोत्पद्येत, चकारस्तु सर्वव्यवहारसमुच्चयार्थः, किञ्च भेदस्त्वपारमार्थिकः इति कार्यान्तरादप्यवसीयते, तदाह संसृतिर्न निवर्तत इति, भेदज्ञाने विद्यमाने जन्ममरणयोर्विद्यमानत्वात् संसारो न निवर्ततेऽत आत्मनोऽविकृतत्वं ज्ञातव्यं

पृथ्वी में तो विकार देखा गया है इसलिये उक्त कथन में अरुचि आई तो श्री वल्लभजी कहते हैं कि “यथा भू” के साथ “न” कार का सम्बन्ध न कर व्यक्तिरेक ईष्टान्त से यह कहा कि जैसे पृथ्वी में विकार होता है वैसे आत्मा में विकार नहीं होता ॥१९॥

तदविकृतत्वमपरिच्छेदकूटस्थत्वव्यतिरेकेण न सिध्यतीति कूटस्थो व्यापकोऽविकृत आत्मा ज्ञातो भवति, तस्मिन् ज्ञाते शोको न संभवति।

**व्याख्यार्थ** — जिसे ठीक रूप से आत्मा की एकता का ज्ञान नहीं है वह भेद समझता है और जो आत्मा एक है ऐसा ठीक रूप से समझता है उसको भेदज्ञान नहीं होता। ऊपर २ से यदि कोई ऐसा समझता है तो भी उस की भेद प्रतीति नहीं जाती इसलिये “यथानेवंविदः” में यथा पद लगाया है अर्थात् वास्तव में जिस को एक ही आत्मा है ऐसा ज्ञान है उसे भेद प्रतीति नहीं होती। श्लोक में “यथानेवंविदः” ऐसा समस्त का एक पद है। यहां समासान्त कप्रत्यय इसलिये नहीं हुआ कि “शेषाद्विभाषा” में विभाषा पद है इसलिये उससे विकल्प से ‘क’ प्रत्यय होता है। जहां द्वित्व होता है वहां ही भेद होता है अर्थात् द्वित्व से ही भेद-प्रतीति होती है इसलिये यह नहीं मानना चाहिये कि भेद से द्वित्व प्रतीति होती है। इस में कारण यह है कि जब एक व्यक्ति को देखते हैं तो “अधं एकः” यह एक है ऐसा ही व्यवहार होता है किन्तु “अयं अभिन्नः” यह व्यवहार नहीं होता। द्वित्व अपेक्षा बुद्धि से होता है जैसे यज्ञदत्त से देवदत्त दूसरा है। यहां जो देवदत्त को द्वितीय बताया वह यज्ञदत्त की अपेक्षा से बताया है। इसलिये मानना चाहिये कि ‘द्वित्व’ वस्तु में रहने वाला नहीं है किन्तु बुद्धिगत ही है। बुद्धि पदार्थ को बाहिर पैदा नहीं कर सकती अतः यह मानना चाहिये कि अज्ञानकृत ही भेद हैं क्योंकि एक आत्मा होने से आत्मा अपेक्षा बुद्धि का विषय नहीं है क्योंकि अपेक्षा बुद्धि अनेक होने पर होती है अथवा यों कहिये कि आत्मा “अहं” इस ज्ञान का ही विषय है, अपेक्षा बुद्धि का विषय नहीं है। अतः वहां अपेक्षा बुद्धि अज्ञान से ही होती है। यहां पूर्वपक्ष करते हैं कि भेद वास्तविक है क्योंकि भेद न मानने से श्रुति एवं स्मृति का व्यवहार नहीं चल सकता। इस पर कहते हैं कि “यत आत्मविषयः” आत्मा नाश और उत्पत्तिवाला तथा प्रत्येक शरीर में भिन्न २ है ऐसा जो ज्ञान है वह अन्यथा ज्ञान है। इस अन्यथा ज्ञान को मान लेते हैं तो उत्पन्न होते ही बालक माता के स्तन पीने में कैसे प्रवृत्त होता है। इससे मानना चाहिये कि वह पूर्वजन्म के संस्कार से ही स्तनपानादि में प्रवृत्त होता है। इससे सिद्ध हुआ कि आत्मा नित्य हैं और संपूर्ण शरीर में चैतन्य की उपलब्धि होने से व्यापक भी है परन्तु ऐसा अनुमान करने पर भी पूर्वोक्त विपरीतज्ञान भेद से किये गये व्यवहार से ही होता है। अतः यह उत्पन्न होता है ऐसा कहा जाता है।

यदि उत्पन्न एवं नाश होना नहीं मानते हैं तो व्यवहार में अपने को अथवा दूसरे को किसी के उत्पन्न होने पर हर्ष नहीं होना चाहिये और नष्ट होने पर शोक नहीं होना चाहिये। इससे सिद्ध हुआ कि भेद व्यावहारिक ही है पारमार्थिक नहीं है। यह नियम है कि जो पारमार्थिक नहीं होता वह संसार का कारण होता है। भेद संसार का कारण है इसलिये वह पारमार्थिक नहीं है। इस अनुमान से न आत्मा का भेद सिद्ध होता है और न आत्मा उत्पन्न एवं नष्ट हो जाती है। यदि कहें कि आत्मा को उत्पत्ति-विनाश-शाली एवं प्रति शरीर में भिन्न २ मानना इस में अज्ञान ही कारण है, भेद कारण नहीं है इसका उत्तर देते हैं कि "आज्ञानत्वेन अज्ञान" अन्यथा बुद्धि का कारण नहीं है किन्तु अज्ञान से भेद होता है और भेदज्ञान से अन्यथा बुद्धि होती है। यदि अज्ञान से ही अन्यथा बुद्धि होती है ऐसा मान लेते हैं तो सुषुप्ति अवस्था में अज्ञान होने से अन्यथा बुद्धि होनी चाहिये परन्तु वहां अन्यथा बुद्धि नहीं होती। इससे समझते हैं कि भेद ही अन्यथा बुद्धि में कारण है। सुषुप्ति दशा में भेद नहीं है इस लिये वहां अन्यथा बुद्धि नहीं होती। भेद केवल विपरीत ज्ञान को ही पैदा नहीं करता किन्तु किसी देह का सम्बन्ध एवं वियोग भी भेदज्ञान से ही होता है जैसे यज्ञदत्त के देह के उत्पन्न होने पर एवं नष्ट होने पर देवदत्त में कोई विकार नहीं होता इसी प्रकार आत्मा के नित्य होने से पूर्व देह में और दूसरे देह में एक ही आत्मा है ऐसा जान लेने पर विकार नहीं होता व्यावहारिक भेद मान कर ही "श्यामोऽहं" "गौरोऽहं" मैं श्याम हूं मैं गौर हूँ इत्यादि व्यवहार होते हैं। और एक बात यह भी है कि भेद पारमार्थिक नहीं है यह बात दूसरे कार्य से भी सिद्ध होती है। यदि भेद वास्तविक हो तो जन्म मरण के होते रहने से संसार सदा रहना चाहिये परन्तु वह सदा नहीं रहता। इससे मानना चाहिये कि भेद वास्तविक नहीं है। अतः समझना चाहिये कि आत्मा अविकृत है परन्तु उसका वह अविकृतत्व तब ही सिद्ध होगा जब उसे अविकारी एवं कूटस्थ (सदा एक रस वाला) मानें। इन सब युक्तियों से आत्मा कूटस्थ, व्यापक एवं अविकृत ज्ञात होता है और ऐसे आत्मा के जानने पर शोक नहीं होता ॥२०॥

अर्थ — अब कंस कहता है कि आप दोनों आत्मा—व्यापक, कूठस्थ और अविकारी है यह जानते ही हैं इसलिये आप को शोक नहीं करना चाहिये।

श्लोक: — तस्माद् भद्रे स्वतनयान् मया व्यापादितानपि।

मानुशोच यतः सर्वः स्वकृतं भुञ्जतेऽवशः॥२१॥

अर्थ — हे कल्याणरूपिणी देवकी! मेरे द्वारा मारे गये अपने पुत्रों का तथा स्वयं का शोक न कर क्योंकि अपने २ कर्मों के अनुसार विवश हो कर सब ही फल भोगते हैं॥२१॥

श्री सुबोधिनी — तस्मादिति, वसुदेवस्तु शोकं न करिष्यतीति देवकीसंबोधनं भद्र इति, अतः परं तव कल्याणमपत्यं च भविष्यतीति ज्ञापित, स्वतनयान् देवकीतनयान् मानुशोच, प्रथमत आत्मानं शोचति ततः पुत्रमित्यनुपद, यद्यपि ते स्वकर्मवशादेव मृता न तु मया व्यापादितास्तत्कर्मैव मा च प्रेरितवदथापि बहिर्मुष्ट्या मयैव व्यापादिता इत्यङ्गीक्रियते तथापि मा शोचेत्याह मया व्यापादितानपीति, अननुशोके बहिर्मुखानामप्येकास्त्युपपत्तिस्तामाह यतः सर्वः स्वकृतं भुञ्जतेऽवश इति, अनिच्छन्नपि परवश एव कर्माधीनो भूत्वा सर्वोपि स्वकृतं भुङ्क्ते, अस्य मते न सृष्टेश्चातुर्विध्य, भुञ्जत इति बहुवचनप्रयोग एकवचने देहभेदेनभोगेन नानात्वप्रतीतिः सिद्धत्वज्ञापनाय, अनेन मयापि बहिर्मुखत्वेन कृतं कर्म भोक्तव्यमित्यविचारितोऽपि दण्डो भविष्यति इति दण्डाभावेनापि चिन्ता न कर्तव्या॥२१॥

व्याख्यार्थ — कंस का यह विचार है कि वसुदेवजी ज्ञानी होने से शोक नहीं करेंगे अतः देवकी को ही समझाना चाहिये। इसलिये देवकी से कहता है कि हे भद्रे अर्थात् हे कल्याण रूपिणी देवकी, तू कल्याणरूपा है अतः आगे भी तेरा कल्याण ही होगा और सन्तान् भी होगी इसलिये तू पुत्रों का शोक न कर। पहिले तू अपना शोक करती है बाद में पुत्रों का इस बात को सूचित करने के लिये श्लोक में आये “अनुशोचः” पद में अनु उपसर्ग लगाया है। यद्यपि तेरे लड़के अपने कर्मों के अधीन होकर ही मरे हैं, मैंने उन्हें नहीं मारा है क्योंकि उनके कर्मों ने ही मुझे प्रेरित किया था ऐसी दशा में भी यदि तू यह समझती है कि तू ने ही मेरे पुत्रों को मारा है तो भी तुझे शोक नहीं करना चाहिये। शोक न करने में बहिर्मुखों के लिये एक युक्ति है कि नही चाहते हुए भी पराधीन होकर सभी अपने किये हुए कर्मों के अनुसार ही फल भोगते हैं। कंस यह नहीं समझता है कि “पुष्टि, प्रवाह, मर्यादा एवं सदा अस्थिर रहने वाले” चार प्रकार के जीव हैं कारण यह है कि दैत्यों के मत में ऊपर कही गई चार प्रकार की

सृष्टि नहीं मानी गई है। तात्पर्य यह है कि कंस यदि यह समझता कि पुष्टि जीव भी हैं और वे कर्म के अधीन नहीं होते तो साधारणरूप से यह नहीं कहता कि कर्म के अधीन होकर सबको फल भोगना पड़ता है अतः यह समझना चाहिये कि दैत्य उक्त प्रकार की सृष्टि नहीं मानते।<sup>१</sup> श्लोक में एकवचन के स्थान पर “भुञ्जते” यह बहुवचन दिया है इससे सूचित किया गया कि सब ही के देह भिन्न २ होने से अनेक प्रतीति सिद्ध है क्योंकि अनेक देहों से भोग होते हैं। इस सब कथन के कंस यह भी सूचित करता है कि भगवत्प्रेरणा से यह कार्य हुआ है। ऐसा वास्तविक रूप से नहीं समझने से, और मेरे में कर्तृत्व का अभिमान होने से तुम मेरे लिये दण्ड का विचार नहीं भी करोगे तो भी मुझे दण्ड मिलेगा ही अतः आपको यह भी चिन्ता नहीं करनी चाहिये कि कंस को इस दुष्कर्म का दण्ड नहीं मिलेगा ॥२१॥

श्री सुबोधिनी – ननु त्वया ज्ञानमुपदिष्टं, उपदेष्टुं ज्ञानं भवतीति न तव दण्डसंभावनेति चेत्तत्राहः—

अर्थ – आप यदि यह कहें कि तू ज्ञान का उपदेश देने वाला है इसलिये तेरे में ठंड ज्ञान होने से तू दण्ड भागी नहीं होगा तो कंस कहता है किः—

श्लोकः – यावद्धतोऽस्मि हन्तास्मीत्यात्मानं मन्यते स्वर्धक्।

तावत् तदभिमान्यज्ञो बाध्यबाधकतामियात् ॥२२॥

अर्थ – शास्त्रीय ज्ञान होने पर भी जब तक देहाध्यास वश यह मानता है कि मैं इस से मारा गया और मैं इसे मारने वाला हूँ तब तक वह मरने वाला और मारनेवाला होता ही है क्योंकि उसने ज्ञान को अपने में क्रियान्वित नहीं किया है ॥२२॥

श्री सुबोधिनी – यावदिति, यावदयं जीवः शास्त्रोत्पन्नज्ञानोपि हतोस्मि हन्तास्मीत्यात्मनः कर्मत्वं कर्तृत्वं वा मन्यते तावद् बाध्यबाधकतामियादेव, कर्मत्वे बाधकत्वमिति,<sup>\*</sup> अक्रिय आत्मनि यथैव क्रिया मन्यते तथैव क्रिया प्राप्नोतीत्यर्थः, नन्वदिमानधर्मप्रतीतौ को हेतुस्तत्राहास्वर्धगिति, न स्वस्मिन् ऽष्टिर्यस्य, शास्त्रज्ञानं शास्त्रीयत्वेनैव जानाति न तु स्वविषयत्वेन, ततोपि किमत आह तावत्

<sup>१</sup> यहा श्री वल्लभजी महाराज कहते हैं कि काल, कर्म, स्वभाव एव भगवदिच्छा से सृष्टि होती है यह बात कंस नहीं मानता।

<sup>\*</sup> टिप्पणी – बाध्यत्वमिति पाठः प्रतिभाति।



तदभिमानी भवतीति, स्वरूपे ज्ञाते देहाद्यध्यासो न भवति, अध्यासे पुनः स्वरूपाज्ञानमिति तदभिमान्यज्ञ एव भवति, अतो बाध्यबाधकभावः ॥२२॥

**व्याख्यार्थ** — शास्त्र का ज्ञान होने पर भी जीव जब तक यह मानता रहता है कि मैं मारा गया और मैं मारने वाला हूँ तब तक स्वयं दुःख भोगता है और दूसरों को दुःख देता है। 'हतोऽस्मि' से व्यापार जन्य जो प्राणवियोगरूप फल का आश्रय कहने से बाध्य (मरने वाला) होता है और 'हन्तास्मि' से व्यापाराश्रय कहने के बाधक (दूसरों को मारने वाला) माना जाता है। निष्क्रिय आत्मा में जैसी ही वह क्रिया मानता है, वैसी ही क्रिया को प्राप्त करता है। शङ्का करते हैं कि मिथ्या बाध्य बाधकत्व धर्म की प्रतीति में क्या कारण है तो कहते हैं कि उसे आत्मज्ञान नहीं है। यद्यपि शास्त्रीय ज्ञान उसे है तो भी वह उस ज्ञान का विषय नहीं बनता अर्थात् वह अपने में उस ज्ञान को क्रियान्वित नहीं करता इसलिये अपने को फलाश्रय और व्यापाराश्रय मानता है। ऐसा मानने से क्या होता है तो कहते हैं कि देहाभिमानी होने से वह अपने को मरनेवाला एवं मारनेवाला मानता है। यह सब कुछ आत्मज्ञान न होने से होता है। आत्मज्ञान होने पर तो देह आदि में अध्यास नहीं रहता और आध्यास के रहने पर मैं कौन हूँ यह ज्ञान नहीं रहता अर्थात् स्वरूपाज्ञान हो जाता है। शरीर का अभिमानी होने से ही वह अज्ञ है और उसे ही मैं ने मारा और मैं इससे मारा गया यह अज्ञान रहता है ॥२२॥

**श्री सुबोधिनी** — एवं भवद्बालकानामस्माकं च कर्मवशात् सर्वं जातं भविष्यति च अतः शोको दण्डो वा न चिन्तनीयः परमतिक्रमदोषो मदीयः सोढव्य इति वदन् क्षमापनार्थं नमस्कारकरोति ।

**अर्थ** — इस प्रकार आपके बालकों को कर्मवश फल मिला है और मुझे भी फल मिलेगा ही अतः आप पुत्रों का शोक न करें और मेरे लिये दण्ड का विचार न करें क्योंकि मुझे भी कर्मवश+स्वतः दण्ड मिल ही जायगा परन्तु मैं ने जो आप का अतिक्रमण किया है उसे सहन करें। इस प्रकार कहता हुआ वह कंस क्षमा चाहने के लिये देवकीजी वसुदेवजी को नमस्कार करता है।

**श्लोकः** — क्षमध्वं मम दौरात्म्यं साधवो दीनवत्सलाः ।

। श्रीशुक उवाच ।

इत्युक्त्वाश्रुमुखः पादौ श्यालः स्वस्रोरथाग्रहीत् ॥२३॥

अर्थ — मैं ने जो बिना विचारे अन्याय किया है उसे क्षमा करें क्योंकि आप साधु होने से दीनों से प्रेम करने वाले हैं। श्री शुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार कह कर वह कंस, जिसके मुख तक आंसू आ रहे हैं, अपनी बहिन और बहनोई के पैरों में पड़ गया ॥२३॥

**श्री सुबोधिनी** — क्षमध्वमिति, मम दौरात्म्यं क्षमध्वं, अविचारेणान्यायकर्ता दुरात्मा, अत आञ्जोल्लङ्घनं पुत्रमारणादिकं च यत् कृतं तत् सर्वं क्षमध्वं, महतां हृदयेऽनुशये स्थिते शोको भूयान् भवति, क्षमापनार्थं न किञ्चित् दातव्यं, यतः साधवो दीनेषु वत्सलाः, मम च दीनत्वमपकीर्तिनरकभाक्त्वेन, स्वस्य दैन्यं न केवलं वचनेन निरूपितं किन्तु रूपेणापि तदभिव्यक्ति कृतवानित्याहेत्युक्त्वाश्रुमुखो जात इति, आश्रूणि मुखे यस्य, विकलत्वात् प्रोञ्छनमपि न करोति, यद्ययमकर्तव्यमपि कनिष्ठभगिन्याः पादग्रहणं करोति तदान्यत् किं न कुर्याद् गृहीतधनादिदानं वातिरिक्तदानं वा ? स्वसृशब्दे नैव स्वसृतत्पती अभिधीयते इति तदसम्बन्धादेव वसुदेवस्य मान्यत्वात् साक्षात् तं प्रति नमस्कारेपि दोषाभावादेकस्या एव पादौ द्विवद्गृहीतवानिति ज्ञापयितुमेकशेषः एकशेषशास्त्रे “पुमान् स्त्रिये” त्यादिसूत्रेषु चतुर्षु तृतीया ज्ञापयति ‘अप्रधानं न शिष्यते’ इति, अन्यथा “स्त्रीपुरुषाभ्या” मितिप्रयोगो न स्यात् ‘स्त्रीपुंभ्या’ मित च, अत्रापि तद्वर्त्रा सहिता स्वसैवावशिष्यते, अथेति भिन्नप्रक्रमो दैत्यावेशस्य राजसभावस्य च त्यागार्थः ॥२३॥

**व्याख्यार्थ** — मेरी दुरात्मता को क्षमा करें। जो बिना विचारे अन्याय करने वाला है वह दुरात्मा है। मैंने बिना विचारे अन्याय किया है इसलिये मैं दुरात्मा हूँ। इसीलिये मैंने आपकी आज्ञा का उल्लङ्घन किया है और पुत्रों को मारने आदि कुकृत्य किये हैं। आप उन सबको क्षमा करें। महापुरुषों के हृदय में पश्चात्ताप रहने पर महान् शोक होता है अतः क्षमा करें। इसके लिये आपको कुछ देने की भी आवश्यकता नहीं है क्योंकि आप साधु होने से दीनों से स्वतः प्रेम करने वाले हैं। मैं अपकीर्ति होने से नरकभागी हूँ अथवा यों कहिये कि मेरी अपकीर्ति है और मैं नरक भागी हूँ अतः दीन हूँ। इस प्रकार कंस ने वचन से ही दीनता नहीं दिखाई किन्तु स्वरूप से भी दीनता दिखाई। इस बात को बताने के लिये कहा कि “अश्रुमुखः” आंसू जिसके मुँह तक आ रहे हैं। यहां “अश्रुमुखः” पद से यह भी सूचित होता है कि अधिक विफल होने से आंसूओं को भी नहीं पूँछ सकने से मुँह पर आँसू ज्यों के त्यों दीख रहे हैं। कंस इस समय छोटी बहिन के भी पैरों को पकड़ कर अकर्तव्य अर्थात् छोटी बहिन के पैरों में बड़े भाई को नहीं झुकना चाहिये सो भी कर रहा है तो उनके छीने हुए धन को देना अथवा उससे भी

अधिक धन देना उसके लिये कोई आश्चर्य की बात नहीं है। श्लोक में आये “स्वस्रोः” पद के विचार में कहते हैं कि स्वसृ शब्द से अभिधावृत्ति के द्वारा बहिन देवकी और वसुदेवजी नहीं कहे जा सकते क्योंकि पाणिनि का ऐसा सूत्र नहीं है कि स्वसृ और पति शब्द के समस्त होने पर एक शेष हो। यहाँ “स्वस्रोः” कहने का यह अभिप्राय है कि देवकीजी के सम्बन्ध से ही वसुदेवजी मान्य हुए हैं क्योंकि कन्या पक्ष वाले कन्या को ही मुख्यता देते हैं अतः उसकी मुख्यता बताने के लिये स्वसृ शब्द का ही निर्देश किया गया है। यद्यपि वसुदेवजी के मान्य होने से उनको भी साक्षात् प्रणाम करने में कोई दोष नहीं है तो भी कंस ने देवकी के पैरों को ही मानो दोनों के पैर समझ कर पकड़ा। इस बात को बताने के लिये यहां स्वसृ और पति शब्द का एक शेष किया है।<sup>१</sup> यद्यपि पाणिनि का कोई ऐसा सूत्र नहीं है जिससे यहां एक शेष हो परन्तु “पुमान् स्त्रिया” आदि चार सूत्रों में तृतीयान्त का ही निर्देश है। इससे सामान्यरूप से यह ज्ञापन करेंगे कि जो अप्रधान होता है वह विरूप होने पर भी नहीं रहता। यहां स्वसृ शब्द का अर्थ प्रधान है इसलिये अप्रधानार्थक पति शब्द नहीं रहा। यदि कहें कि तृतीया से यही कैसे समझ लिया तो कहते हैं कि यदि ऐसा नियम मान लेते हैं कि विरूप के एकशेष में स्त्रीवाचक शब्द के साथ कहा गया पुरुषवाचक शब्द ही शेष रहता है तो “स्त्रीपुरुषाभ्यां” और

<sup>१</sup> श्रीधर स्वामी ने यहां कहा है कि मिश्रित लक्षणा से स्वसृ शब्द के पति का भी अभिधान है अर्थात् अभिधा वृत्ति से स्वसृ शब्द से पति भी लिया गया है परन्तु पुरुषोत्तमजी महाराज इस का खण्डन करते हैं कि स्वसृ शब्द से अभिधा वृत्ति से पति का बोध नहीं हो सकता क्योंकि “स्वसृ” शब्द का पति अर्थ अभिधेय नहीं है किन्तु बहिन अर्थ ही अभिधेय (वाच्य) है। यदि कहे कि द्वित्व विवक्षा में स्वसृ-स्वसृ-औ ऐसे मानने पर एक स्वसृशब्द अभिधा से बहिन को कहेगा और दूसरा स्वसृ शब्द लक्षणा से पति अर्थ को कहेगा तो कहते हैं कि ऐसी स्थिति में एकशेष हो ही नहीं सकता क्योंकि वाचक और लक्षक का कहीं भी एक शेष नहीं देखा गया है। उपर्युक्त सब भाव को लेकर श्री सुबोधिनीजी में “नैव अभिधीयेते” ऐसा कहा है।

शङ्का होती है कि “श्यालःस्वस्रो” के स्थान पर “माम स्वस्रो” ऐसा पाठ मानने से माम पदसे बहिनोई लिये जाने से श्याला अर्थ अपने आप से लिया जायेगा तो न एकशेष का झगडा रहेगा और न श्याला अर्थ लेने में ही अडचन आयेगी तो फिर उपर्युक्त पाठ न मान कर “श्यालः स्वस्रो” पाठ मानने में व्यासजी का क्या आशय है तो कहते हैं कि यहां स्वसृ शब्द से ली गई बहिन प्रधान है, उससे बहिनोई भी ले लिये जायेगे। इसी आशय से व्यासजी ने ऐसा कहा है।

शंका होती है कि समानरूप हो तो “सरूपाणां” सूत्र से एकशेष हो सकता है परन्तु स्वसृ और पति शब्द का सारूप्य न होने से एकशेष कैसे होगा तो कहते हैं कि यहां “स्वसा च पतिश्च स्वसारौ” ऐसा विग्रह मानना चाहिये। और पुमान् स्त्रिया आदि चार सूत्रों में आदि तृतीया से ज्ञापन करना चाहिये कि विरूप के एक शेष में जो अप्रधान विवक्षित हो वह नहीं रहता। ऐसा मानने पर उपर्युक्त विग्रह करने पर दोष नहीं आता।

“स्त्रीपुंभ्यां” की जगह “पुरुषाभ्यां” “पुंभ्यां” ये ही प्रयोग होंगे परन्तु ऐसी जगह पर ये ही प्रयोग नहीं देखे गये हैं किन्तु स्त्री पुरुषाभ्यां, स्त्री पुरुषाभ्याम्, ऐसे भी प्रयोग देखे हैं (इसलिये सामान्यरूप से यह ज्ञापन करना कि अप्रधान नहीं रहता परन्तु ऐसा मानने पर “स्त्रीपुंसौ” आदि प्रयोग नहीं होंगे। इससे यहां यह ज्ञापन होना चाहिये कि जहां दोनों की प्रधानता विवक्षित हो वहां विरूप में एक शेष नहीं होता जैसे स्त्री पुरुषाभ्यां स्त्रीपुंभ्याम् को एक शेष नहीं हुआ क्योंकि यहां दोनों ही प्रधान हैं और जहां एक अप्रधान रहे वहां एकशेष होता है। “जैसे स्वस्रोः” यहां एक का अप्राधान्य विवक्षित है इसलिये “स्वसृ” शब्द ही बाकी रहा। वैयाकरण जैसा लक्ष्य देखते हैं वैसा ही नियम बना लेते हैं क्योंकि ‘लक्ष्यैकचक्षुष्कत्व’ पक्ष को ही उन्होंने माना है अर्थात् वे जैसा लक्ष्य देखते हैं वैसा ही नियम बनाते हैं)

श्लोक में आये “अथ” शब्द का भाव यह है कि कंस अब कुछ और हो गया है क्योंकि अब उसमें कालनेभि का आवेश नहीं रहा और राजस भाव भी उसका निवृत्त हो गया ॥२३॥

श्री सुबोधिनी – निरोधं च दूरीकृतवानित्याह

अर्थ – कंस ने देवकी वसुदेवजी को बन्धन से छुड़ा दिया यह बात अब कहते हैं।

श्लोकः – मोचयामास निगडान् विस्रब्धः कन्यकागिरा।

देवकीं वसुदेवं च दर्शयन्नात्मसौहृदम् ॥२४॥

अर्थ – अपना सौहार्द दिखाते हुए उस कंस ने योगमाया के वाक्य पर विश्वास कर अर्थात् देवकी वसुदेवजी निर्दुष्ट हैं ऐसा समझकर देवकी वसुदेवजी को लोह की श्रृङ्खला से छुड़ा दिया ॥२४॥

श्री सुबोधिनी – मोचयामासेति, निगडौ स्तम्भबद्धावतो निगडान् मोचयामासेत्युक्तं, अर्थादुभावपि, तत् तु बन्धनागारं भवतीति न निगडदूरीकरणं, नन्वेतावक्षुब्धावाकाशवाणी च प्रमाणमत एताभ्यामेव किञ्चित् कापट्यं कृतमस्ति इति कथं न विचारितवांस्तत्राह विस्रब्धः कन्यकागिरेति, कन्यका या माया तस्या वचनं असत्यमपि संभाव्यते तथापि तत्रैव विश्वासं कृतवान्, “यत्र क्वचि” दिति। “कृपणा” मिति लिङ्गवचने देवक्या दोषाभावसूचके, वसुदेवेनैव तथा कृतत्वात्, अन्यथास्फूर्तिकर्तृत्वं तु मायायाः

सिद्धमेव, प्रथमतो देवकीं पश्चाद् वसुदेवं चकरात् तत्सम्बन्धिनश्च स्वयं परिचर्यां कुर्वन्नात्मनः सौहृदं च दर्शयञ् जातः ॥२४॥

**व्याख्यार्थ** — वह बन्धन करने का स्थान था अतः दूसरों को बांधने के लिये शांकल की आवश्यकता होने से स्तंभ से बन्धी हुई शांकल को नहीं तोड़ा किन्तु उन्हीं को उससे छुड़ा दिया। शङ्का करते हैं कि इतना दण्ड देने पर भी देवकी वसुदेवजी के क्षुब्ध ने होने से तथा मारने वाले बालक के होने में आकाशवाणी प्रमाण होने से कंस ने यह क्यों नहीं समझ लिया कि वसुदेव देवकी ने ही कुछ कापट्य किया होगा तो कहते हैं कि “विश्रब्धः कन्यकागिरेति” उस कन्या की वाणी पर विश्वास करके ही उन्हें छोड़ दिया। यद्यपि वह कन्या माया है इसलिये उसके वचन असत्य भी हो सकते हैं तथापि उससे कन्या के वाक्य में ही विश्वास किया। पूर्व में जो “यत्र क्वचित् पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणां वृथा” यह पद्यार्द्ध है उसमें आये “कृपणां” पद में स्त्रीलिङ्ग, और एक वचन है इसलिये आकाशवाणी ने यह बता दिया कि देवकी का इस में कोई दोष नहीं है क्योंकि जो भी कुछ किया वसुदेवजी ने ही किया है यही माया का आशय था। माया का स्वभाव है कि वह अन्यथा स्फूर्ति करा देती है। कंस ने पहले देवकी को छोड़ा और पीछे वसुदेवजी को। साथ में उन्हें भी छोड़ दिया जो वसुदेवजी के सम्बन्धी थे। उस समय कंस स्वयं उनकी सेवा कर रहा है और अपना सौहार्द भी दिखा रहा है ॥२४॥

**श्री सुबोधिनी** — प्रसादे प्रार्थिते ताभ्या प्रसादः कृत इत्याह

**अर्थ** — जब कंस ने उनकी प्रसन्नता चाही तो देवकी वसुदेवजी उस पर प्रसन्न हो गये अब इस बात को कहते हैं।

**श्लोकः** — भ्रातुः समनुतप्तस्य क्षान्त्वा रोषं च देवकी।

व्यसृजद् वसुदेवश्च प्रहस्य तमुवाच ह ॥२५॥

**अर्थ** — भाई अधिक पश्चात्ताप युक्त देखकर देवकी ने उनके रोष को क्षमा कर दिया और अपने रोष को छोड़ दिया, वैसे ही वसुदेवजी एवं अन्य लोगों ने भी किया। आश्चर्य की बात तो यह है कि वसुदेवजी उससे हँसकर बोले ॥२५॥

**श्री सुबोधिनी** — भ्रातुरिति, सम्यगनुतप्तस्य पश्चात्तापेन तप्तस्य तत्रापि भ्रातुः, सम्बन्धिरोषं क्षान्त्वा क्षमित्वा, क्षान्तरोषा वा, तत्कृतं पूर्वापराधं व्यसृजद् रोषं वा, पाठभेदात्, तदीयो रोषः सोढः स्वकीयं तु त्यक्तवती, कृतकार्यस्य तद्रोषस्य सहनं, अकृतकार्यस्य स्वकीयस्य परित्यागः, एवं वसुदेवश्च,

चकरादन्येऽपि, रोषमपराधं च क्षान्त्वा, यतो देवकी देवतारूपा, वसुदेवोऽपि तथा, तस्यास्तु शोकाभावो मुखप्रसादेनैवज्ञातः, वसुदेवस्तु गूढहृदय इति कदाचिदप्रसन्नोभवेत् इति आशंक्य हास्य वचन चाह प्रहस्य तमुवाचेति, हेत्याश्चर्यं पुत्रमारकस्त्वसंभाष्य इति ॥२५॥

**व्याख्यार्थ** — भाई पश्चाताप से सन्तप्त हुआ, भाई होने से सम्बन्धी है। सम्बन्धी के रोष को क्षमा करना चाहिये इस विचार से उस के रोष को क्षमा कर अथवा श्लोक में “क्षान्त्वा रोषं” की जगह ‘क्षान्तरोषा’ भी पाठ मान लेते हैं तो यह अर्थ होगा कि जिस ने रोष को सहन कर लिया है (दबा दिया है)। श्लोक में “क्षान्त्वा दोषं” भी पाठ हो सकता है। इस पाठ के मानने पर यह अर्थ होगा कि कंस के अपराध को क्षमा कर उस से किये गये पूर्व अपराध को मन में नहीं रखा। श्लोक में “रोषं” भी पाठ है इसलिये यह भी अर्थ होगा कि उस के किये हुए रोष को मन में नहीं रखा। देवकी ने कंस के रोष को सहन किया और अपने रोष को छोड़ा। जिस रोषने पुत्र मरवा दिये ऐसे कंस के रोष को सहन किया अर्थात् कंस का रोष ऐसा है जिस ने अपना कार्य कर दिखाया है, ऐसे कंस के रोष को सहन किया और जिससे कुछ भी कार्य नहीं किया ऐसे अपने रोष को छोड़ दिया। इसी प्रकार वसुदेवजी ने भी किया। श्लोक में आये “च” कार का भाव यह है कि जिन २ को उस ने छोड़ा उन सब ने ऐसा ही किया। देवकी के रोष अथवा अपराध को क्षमा किया क्यों कि देवकी है अर्थात् देवतारूप है। वसुदेवजी भी ऐसे ही हैं। देवकी का शोक नहीं रहा यह उस के मुख की प्रसन्नता से जान लिया परन्तु वसुदेवजी पुरुष होने से गूढ़ हृदय है इसलिये कदाचित् ये अप्रसन्न हो ऐसे कंस के विचार को हटाने के लिये वसुदेवजी हँस कर बोले। इसी बात को “प्रहस्य तमुवाच” से कहा है। श्लोक में आया “ह” पद आश्चर्य अर्थ में है अर्थात् पुत्र मारने वाले से बात भी करना उचित नहीं है इसलिये वसुदेवजी को कंस से बोलना ही नहीं चाहिये था परन्तु आश्चर्य इस बात का है कि ऐसे कुकृत्य करने वाले से भी बात की ॥२५॥

**श्री सुबोधिनी** — तदुक्तं ज्ञानं तस्यैव हृदयारूढं भवत्विति तस्यानुमोदनं करोति।

**अर्थ** — कंस से कहा गया ज्ञान उसी के हृदय में जमे (स्थिर हो) इसलिये उसका अनुमोदन करते हैं।

। वसुदेव उवाच ।

श्लोक — एवमेतन्महाराज यथा वदसि देहिनाम् ।

अज्ञानप्रभवाहन्धीः स्वपरेति भिदा यतः ॥२६॥

अर्थ — वसुदेवजी! कहते हैं कि हे महाराज कंस जैसा तुम कहते हो वैसा ही है क्योंकि प्राणियों को देह आदि में अहं बुद्धि अज्ञान से ही होती है और उसीसे यह अपना है यह दूसरे का है ऐसी भेद छिष्टि होती है ॥२६॥

श्री सुबोधिनी — एवमेतदिति, महाराजेति सम्बोधनं मारणस्यादोषज्ञापनार्थं यत् त्वमात्थैवमेतत् तन्निष्पिण्डितमनुवदति देहिनामज्ञानप्रभवाहन्धीरिति, देहादावहम्बुद्धिरज्ञानादेव जायते, तस्मात् स्वपरेतिभिदा स्व पर इति, एतन्मूलक एव सर्वोपि व्यवहारः, देहिनामिति देहाध्यासवतां, अहङ्कारस्याज्ञानजनितत्वे देहाध्यासः प्रयोजक इत्यधिकारत्वेन निरूपितः अन्यथाज्ञानमहंबुद्धिः, तदज्ञानकृत, अन्यथा स्वरूपे भासमाने अन्यत्र भायात् ॥२६॥

व्याख्यार्थ — वसुदेवजी ने कंस को हे महाराज इसलिये कहा है कि राजा दण्ड देता है परन्तु उसे मारने का दोष नहीं लगता इसलिये तुम्हें मेरे पुत्रों को मारने का दोष नहीं लगेगा। हे महाराज जैसा तुम कहते हो वही ठीक है। कंस के वाक्यों का सार वसुदेवजी कहते हैं कि देहाध्यासवालों को देह आदि में अहं बुद्धि अज्ञान से ही होती है और उसी से यह अपना है यह पराया है आदि सभी व्यवहार होते हैं। श्लोक में आये “देहिनां” का यह अर्थ है कि जिनको देहाध्यास है तात्पर्य यह है कि जिनको देहाध्यास है उनको अहंबुद्धि होती है। अहङ्कार अज्ञान से होता है इसमें देहाध्यास ही कारण है। इससे यह कहा गया कि जिसको देहाध्यास है वही अहंबुद्धि करने का अधिकारी होता है। देह में जो आत्मबुद्धि है वह अन्यथाज्ञान है और वही अहं बुद्धि है। अन्यथा ज्ञान अज्ञान से होता है। यदि ऐसा नहीं होता तो आत्मा के भान में उससे भिन्न शरीर का भान कैसे होता। इसलिये यह समझना चाहिये कि अज्ञान से ही यह सब कुछ होता है ॥२६॥

श्री सुबोधिनी — एवं तदुक्तं ज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेकोपयोगित्वेन निरूप्य स्वसिद्धान्तसिद्ध ज्ञान कृपयोपदिशति ।

अर्थ — कंस ने बताया गया ज्ञान, यह वस्तु नित्य है और यह अनित्य है इस ज्ञान का उपयोगी है। ऐसा निरूपण कर वसुदेवजी अब कंस पर कृपा करते हुए अपने सिद्धान्त सिद्ध ज्ञान का उपदेश देते हैं।

श्लोकः — शोकहर्षभयद्वेषलोभमोहमदान्विताः ।

मिथो घ्नन्तं न पश्यन्ति भावैर्भावं पृथग्धृशः ॥२७॥

व्याख्यार्थ — वसुदेवजी कहते हैं कि जो लोग शोक, हर्ष, भय, द्वेष, लोभ, मोह एवं मद से युक्त हैं वे परस्पर में अर्थात् एक धर्म में प्रविष्ट होकर दूसरे धर्म को नष्ट कराते हुए भगवान् को नहीं देखते। कारण यह है कि वे लोग भगवान् में इन्द्रियों का सम्बन्ध नहीं मानते। वे मानते हैं कि इन्द्रियवाला जीव ही कर्त्ता हो सकता है निरिन्द्रिय भगवान् कर्त्ता नहीं हो सकता ॥२७॥

श्री सुबोधिनी — शोकेति, अत्र वस्तुतः स्वयं न मारयतीति सत्यं, अस्वतन्त्रत्वात्, किन्तु केनचित् प्रेरितो मारयति, इतोपि मुख्यः सिद्धान्तो भगवानेव सर्वत्र प्रविष्टो मारयतीति शास्त्र, तस्य ज्ञाने जीवानां षड्धर्मा बाधकाः भगवत्प्रतिपक्षाः, शोक ऐश्वर्यस्य, स हि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः तत्कृतेऽर्थे कथं शोकः ? अन्यथा, अपेक्षितं स्वांशानामन्यो न नाशयेत्, हर्षश्च प्राप्तौ भवति, तद् भगवतो वीर्यं कालरूपे ज्ञाते न भवेत्, भयं च न भवेत् यदि भगवतो यशो जानीयात्, स ह्ययुक्तं न करिष्यति, अन्यथा यशो न स्यात्, द्वेषश्च च भवेत्लोभश्च यदि भगवदीयांश्रियं जानीयात्, द्वेषश्च स्त्रीकृतो भवति लोभश्च धनकृतः, तदुभयं भगवत एवेति न स्वस्य तथा कर्तुमुचितं, ज्ञाने भगवदीये ज्ञाते मोहाभावः प्रसिद्धः, मदस्तु वैराग्याभावात्, सर्वथैवाविरक्तो मत्तो भवति, अतोऽन्योन्यं मारयन्तमपि जना न पश्यन्ति, अन्यथैक एव घातकः स्यात् नन्वैकात्म्ये कथं वध्यघातकभावो भगवच्छास्त्रे उपपद्यते इति चेत् तत्राह भावैर्भावमिति, भवन्तीति भावा धर्माः, बाधकैर्धर्मैः बाध्या धर्मा एवापोह्यन्ते न तु धर्मी, ये हि भवन्ति ते नश्यन्तीति यथैकस्मिन् वस्त्रे शुक्लादयो धर्मा रञ्जकद्रव्यसम्बन्धादुत्पद्यन्ते विलीयन्ते च, परं बलीयस्त्वं नियामकं, यद्बाधार्थमेव यस्मिन् भावे भगवान् निविशति स तं भावं दूरीकरोतीति भवदादीनां करणत्वमेव न तु कर्तृत्व, न हि करणं क्वचिदुपालभ्यते स्तूयते वा, अदर्शने हेतुः, पृथग्धृशः इति, करणे संबद्ध एव कर्त्ता करणाच्चेत् पृथग् ज्ञायते करणं वा ततस्तदैवम्बुद्धिर्भवति न तु सर्वत्राविष्टं भगवन्तं ज्ञातवत्, अतो मत्पुत्रा अपि भगवतैव मारितास्त्वमपि मारणीय इति त्वयापि शोको न कर्त्तव्य इति भावः ॥२७॥

व्याख्यार्थ — यहां यह बात तो वास्तविक है कि स्वयं देहधारी किसी को नहीं मारता क्योंकि वह स्वतन्त्र नहीं है। वह तो किसी दूसरे से प्रेरित होकर ही मारता है।



इस से भी मुख्य सिद्धान्त यह है कि भगवान् ही अन्तर्यामी रूप से सर्वत्र प्रविष्ट हो कर मारता है यह शास्त्र सिद्ध है। इस प्रकार के सिद्धान्त-प्रतिपादक शास्त्र के ज्ञान में भगवान् के छः धर्मों के बाधक जीव में छः धर्म विद्यमान हैं। जैसे भगवान् में ऐश्वर्य है उसका बाधक (उस से विपरीत) शोकरूप धर्म जीव में है। भगवान् करने, न करने और अन्यथा करने में समर्थ हैं। ऐश्वर्य होने से आप जो कुछ करते हैं समझ कर ही करते हैं। यह ज्ञान जीव को नहीं है इसलिये शोक करता है। यहां यह भी अभिप्राय हो सकता है कि जीव को यह भी समझना चाहिये कि भगवान् करने, न करने और अन्यथा करने में समर्थ है इसलिये मनुष्य के बुरा करने पर भी वह भला कर सकता है। ऐसा समझने पर जीव को शोक नहीं हो सकता। भगवान् ही सब कुछ करते हैं ऐसा नहीं मानते हैं तो यह कैसे हो सकता है कि भगवान् के स्वांशभूत जीवों की अपेक्षित वस्तु को दूसरा कोई नाश करे। यदि कोई स्वतन्त्ररूप से ऐसा करना चाहे तो उसका इस प्रकार का सामर्थ्य नहीं है और भगवान् की इच्छा के विरुद्ध काम करने वाले को दण्ड भी मिल सकता है। भगवान् ही नष्ट करते हैं ऐसे ऐश्वर्य के ज्ञान न होने से जीव को शोक होता है। जीव में जो हर्ष है वह भगवान् के वीर्य के विरुद्ध है। हर्ष किसी अत्यन्त अपेक्षित वस्तु के प्राप्त होने पर होता है। यह हर्ष जीव को तब न हो जब वह भगवान् के वीर्यरूप काल को जान ले। वह यह नहीं जानता कि जिस वस्तु की प्राप्ति पर मुझे हर्ष हो रहा है वह वस्तु भगवान् अपने वीर्यरूप काल से नष्ट कर सकते हैं। ऐसा समझता रहे तो जीव को हर्ष नहीं हो।<sup>1</sup> यदि जीव भगवान् के यश को जान ले तो उसे भय कभी नहीं हो क्योंकि ऐसी दशा में उसे यह ज्ञान रहेगा कि वह भगवान् यश वाला है इसलिये अयुक्त कभी नहीं करेगा क्योंकि अयुक्त करने पर उनका यश नष्ट होता है इसलिये वे ऐसा कोई कार्य नहीं करेंगे जिस से उन का यश नष्ट हो। अतः उसे भय नहीं करना चाहिये। जीव में द्वेष और लोभ तब नहीं हो जब जीव भगवान् की श्री को जानले। द्वेष स्त्रीकृत होता है और लोभ धन से होता है। यदि जीव

<sup>1</sup> भगवान् में वीर्य है, वे सभी विपत्तियों को मिटा सकते हैं, यदि ऐसा समझलें तो किसी से भय नहीं हो परन्तु जीव में भगवान् के वीर्य के विरुद्ध भय है इसलिये समझा जाता है कि वह भगवान् के वीर्य को नहीं जानता। (इस प्रकार) श्री पुरुषोत्तमजी महाराज ने भय को वीर्य के विरुद्ध बताया है और द्वेष को यश के विरुद्ध कहा है।

यह समझले कि सभी स्त्रियें श्री लक्ष्मी का अंश है तो भगवान् से उत्तम स्त्री प्राप्त हो सकती है, मुझे उस के लिये किसी से द्वेष नहीं करना चाहिये। भगवान् में लक्ष्मी के होने से धन भी उनकी कृपा से स्वतः प्राप्त हो जायगा तो फिर मुझे लोभ क्यों करना चाहिये। (अथवा यहा यह भी भाव हो सकता है कि सब कुछ वस्तु भगवान् की ही है, मुझे इसके लिये किसी से द्वेष एवं लोभ नहीं करना चाहिये ) भगवान् के ज्ञान को समझले तो जीव को कभी मोह नहीं हो। जीव में वैराग्य के विरुद्ध मद है। मद तो वही करता है जिस में वैराग्य लेश भी नहीं होता। इस प्रकार भगवान् के धर्मों के विरुद्ध जीव मे ये धर्म हैं। अतः वह हर्ष शोक आदि करता है और उसके रहते हुए उसे भगवान् का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः भगवान् ही परस्पर में नष्ट कराते हैं यह बात मनुष्य नहीं विचारते हैं। यदि जीव यह जान जाय कि मरने वाला मारने वाला वही है तो एक ही मरने वाला और मारने वाला होने से किसी से वह द्वेष आदि नहीं करें। यदि कहे कि मारने वाला मरने वाला एक ही है तो यह मारता है यह मरता है इस प्रकार का व्यवहार भगवच्छास्त्र मे कैसे उत्पन्न होगा तो कहते हैं कि धर्मों से धर्मों का ही नाश होता है, धर्मों का नाश नहीं क्योंकि यह नियम है कि जो पैदा होते हैं वे ही नष्ट होते हैं। श्लोक में भाव शब्द का यही अभिप्राय है कि जो पैदा होते हैं वे भाव कहलाते हैं और वे हैं धर्म। जैसे एक वस्त्र में श्वेत आदि धर्म रंगने वाले द्रव्य के सम्बन्ध से उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। नष्ट वह करता है जो बलवान् होता है। भगवान् जब अमुक धर्म को दबाने के लिये अमुक धर्म में प्रविष्ट होते हैं तो जिस धर्म में वे प्रविष्ट होते हैं वह धर्म बलिष्ठ होने से अन्य धर्म को तिरोहित कर देता है। इसलिये वसुदेवजी कहते हैं कि हे कंस! तू तो मेरे बच्चों को मारने में घटनिर्माण में दण्ड की तरह करण ही है कर्ता नहीं है। क्रिया करने में जो करण होता है उसे कोई उपालंभ नहीं देता और न उस की कोई स्तुति करता है। यदि वह कर्ता होता तो उपालंभ एवं स्तुति के योग्य होता परन्तु यह सब कुछ ज्ञान इसलिये नहीं होता कि वह यह समझता है कि इन्द्रिय आदि से सम्बन्ध रखने वाला जीव ही कर्ता होता है, भगवान् तो इन्द्रिय सम्बन्ध वाला नहीं है इसलिये भगवान् कर्ता नहीं है जीव ही कर्ता है यह बुद्धि होती है। इन्द्रिय वाला कर्ता करण के पृथक् है और करण कर्ता से भिन्न हैं ऐसा समझने वाला

इस प्रकार की बुद्धि करता है। जो भगवान् को सर्वत्र आविष्ट मानता हैं उसकी बुद्धि दूसरा मारता है ऐसा नहीं होकर यही बुद्धि होती है कि भगवान् ही सब कुछ करते हैं तो ऐसी दशा में वह किसी को दोष नहीं देता। वसुदेवजी कहते हैं कि मैं तो यह समझता हूँ कि भगवान् ने ही मेरे पुत्रों को मारा हैं और तुझे भी वे ही मारेगे अतः तुझे भी अपने मरने का शोक नहीं करना चाहिये ॥२७॥

श्री सुबोधिनी — एव मायाकृतं ज्ञापन सकार्य निरूप्योपसंहरति ।

अर्थ — इस प्रकार माया ने जो कहा था कि तेरा मारने वाला कहीं पैदा हो गया तू इस दीन देवकी को व्यर्थ न मार, इस कथन का कार्य देवकी वसुदेवजी को छुड़ाना था। उस का निरूपण कर अब इस प्रसङ्ग को समाप्त करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — कंस एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं परिभाषितः ।

देवकीवसुदेवाभ्यामनुज्ञातोविशद् गृहम् ॥२८॥

अर्थ — श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे परीक्षित! इस प्रकार अपने सिद्धान्त के कहने से प्रसन्न दिखाई देने वाले वसुदेवजी ने जब विशुद्ध भाव से कंस को कहा तो कंस उन की अनुमति लेकर अपने महल में चला गया।

श्री सुबोधिनी — कंस इति, एव प्रसन्नाभ्यां स्वसिद्धान्तकथनेन सम्यक् प्रसादो लक्षित, विशुद्ध परिभाषित इति, राजन्निति सम्बोधनेन तदुक्तानुवादेन च निरूपितौ, एकस्यैव वचन निरूपितमिति देवक्या अप्रसादशङ्का, वारयितुमुभयोर्ग्रहणं, अतस्ताभ्यामनुज्ञातः प्रतीकारमकृत्वा गृहमेवाविशत् ॥२८॥

व्याख्यार्थ — इस प्रकार प्रसन्न होते हुए देवकी — वसुदेवजी ने अपना सिद्धान्त कहा तो कंस ने यही समझा कि मुझे ये कर्त्ता न मानकर करण हो मान रहे हैं इसलिये मेरे पर प्रसन्न ही हैं। यह बात “एवं प्रसन्नाभ्यां विशुद्धं परिभाषितः” से कही है। पूर्व के २६ वें श्लोक में हे महाराज ऐसा कहने से और कंस की बात का अनुवाद कर उसका समर्थन करने से कंस ने यही समझा कि देवकी वसुदेवजी प्रसन्न हैं परन्तु ये वचन वसुदेवजी ने ही कहे हैं, शायद देवकी अप्रसन्न होगी इस शङ्का को मिटाने के लिये श्लोक में “देवकी वसुदेवाभ्यां” ऐसा कहा। देवकी वसुदेवजी की आज्ञा लेकर उस समय उत्पन्न हुए बच्चे के मारने के लिये कुछ भी प्रतीकार न कर वह कंस अपने महल में चला गया ॥२८॥

श्री सुबोधिनी — एवं मायाकार्यं भगवत्प्रेरणया कृतं निरूप्य स्वतन्त्रतया तत्कृतं निरूपयितुमाह तस्यामिति यावदध्यायपरिसमाप्तिः ।

अर्थ — इस प्रकार भगवान् की प्रेरणा से वसुदेवजी एवं देवकी को छुड़ाना रूप जो माया का कार्य है उसका निरूपण कर माया ने स्वतन्त्रतया जो कुछ किया उसका निरूपण करने के लिये “तस्यां रात्र्यां” से इस अध्याय की समाप्ति तक कहते हैं ।

श्लोकः — तस्यां रात्र्यां व्यतीतायां कंस आहूय मन्त्रिणः ।

तेभ्य आचष्ट तत्सर्वं यदुक्तं योगनिद्रया ॥२६॥

अर्थ — उस रात्रि के बीत जाने पर कंस ने मन्त्रियों को बुलाया और जो योगमाया ने कहा था वह सब वृत्तान्त कंस ने उसको सुनाया ॥२६॥

श्री सुबोधिनी — यदीदं न कुर्यादवध्य एव स्यात्, तच्च देवानामनिष्टमिति देवतामाया तत्कार्यं कृतवती, असुराणां वा भगवद्रूपा तेषां मुक्त्यर्थं तान् स्वधर्मनिष्ठान् कृत्वा सर्वशास्त्रविरोधिभोक्षं सम्पादयतीति तथाकथा, राजधर्मा हि अनुल्लङ्घनीया यथा पूर्वमविचारेण कृतं तदन्यथा जातमतः परं विचारेण कर्तव्यमिति विचार्य मन्त्रिण आहूय विचारार्थं पूर्ववृत्तान्तमुक्तवानित्याह तस्यामिति, ज्ञानस्य जातत्वात् कार्यस्य विलबसहिष्णुत्वाच्च तस्यां रात्र्यां व्यतीतायामित्युक्तं, मन्त्रिणोऽपि तामसस्य तामसा एवेति तन्नाम्ना ज्ञापितं, देवक्यादौ विनयो यः कृतः स तु नोक्तः, योगनिद्रया यदुक्तं तत्सर्वमाचष्ट यथा कंसो विवेकरहितस्तथा तन्मन्त्रिणोऽपि ॥२६॥

व्याख्यार्थ — यदि माया स्वतन्त्रता से अर्थात् भगवान् की प्रेरणा के बिना आगे कहे गये कार्य को कंस से न कराती तो वह मरता ही नहीं । उसका न मरना देवताओं को इष्ट नहीं था, वे तो यही चाहते थे कि किसी भी रूप में यह कंस उग्र पाप में निरत हो जाय तो जल्दी मरे, इसलिये देवमाया ने ऐसा कार्य कराया अर्थात् उसे आगे कहे जाने वाले पाप में प्रवृत्त किया अथवा यों कहिये कि “मायेत्यसुराः” इस श्रुति के अनुसार दैत्यों का उपास्य भगवान् माया ही है । इसलिये उनके मायारूप भगवान् ने उन्हें मुक्ति देने के लिये राक्षसों का जो बच्चे आदि मारना स्वधर्म है उसमें लगाया अर्थात् ऐसा कार्य कराने में माया का यही आशय रहा कि यदि ये दैत्य क्रूर कार्य करेंगे तो भगवान् के हाथ से मरने से मुक्त हो जायेंगे । जो स्वधर्म का पालन करता है वह मुक्त हो जाता है इसलिये मायारूप भगवान् ने उनसे स्वधर्म जो क्रूर धर्म है उन्हें कराया और सब शास्त्रों के विरोधी भोक्ष को दिलाया इसलिये ऐसा कहा है । शङ्का करते हैं कि दैत्य बहुत से थे, वे एकमत होकर स्वधर्म में निरत कैसे हुए तो कहते हैं कि राजा जिन

धर्मों को अपनाता है वे सब के लिये पालनीय हो जाते हैं। अतः वे सब ऐसे क्रूर कर्म में प्रवृत्त हुए। क्योंकि जैसा कंस है वैसे उसके मंत्री भी दुरात्मा हैं। कंस ने विचार किया कि मैं ने पहले बिना विचारे बच्चों को मारा यह ठीक नहीं किया अब आगे विचार कर ही काम करना चाहिये। इस विचार से उसने मन्त्रियों को बुलाया और उनसे विचार लेने के लिये पहले जो कुछ भी हुआ कहा। कंस ने देवकी वसुदेवजी से अलग होते ही उसी क्षण में प्रतिकार का विचार क्यों नहीं किया तो कहते हैं कि उसे योगमाया से यह ज्ञात हो गया कि मेरा मारने वाला पैदा हो गया और उसके समर्थ होने में अभी विलंब है इसलिये उसने एक रात्रि को बीतने दी, कंस के मन्त्री भी तामस थे क्योंकि तामस राजा के तामस मंत्री होते हैं। यह बात श्लोक में दिये गये कंस पद से बताई गई। कंस ने उनके सामने यह नहीं कहा कि मैं ने देवकी वसुदेवजी से विनय किया था, उसने तो वही बात कही जो योगमाया ने कही थी। कंस जैसे विवेक रहित था वैसे ही उसके मन्त्री भी विवेक रहित थे ॥२६॥

श्री सुबोधिनी — तेषां दौरात्म्यमाह ।

अर्थ — अब मन्त्रियों की दुष्टता को कहते हैं।

श्लोकः — आकर्ण्य भर्तृगदितं तमूचुर्देवशत्रवः ।

देवान् प्रति कृतामर्षा दैतेया नातिकोविदाः ॥३०॥

अर्थ — अपने स्वामी के वचनों को सुनकर देवताओं के शत्रु तथा देवताओं पर क्रोध करने वाले वे दैत्य जो पूर्णतया नीति में कुशल नहीं थे कंस से बोले ॥३०॥

श्री सुबोधिनी — आकर्ण्येति, भर्तुः कंसस्य गदितमाकर्ण्य श्रुत्वा विचार्य च तं प्रत्यूचुः एतेषां कंसरक्षाया न कापि बुद्धिः किन्तु देवद्वेष करणेऽवसरो जात इति हृष्टा इत्याह देवशत्रव इति ॥३०॥

व्याख्यार्थ — अपने स्वामी कंस से कही गई बात को सुन कर और विचार कर कंस से मन्त्री बोले। दैत्यों की यह बुद्धि नहीं थी कि कंस की रक्षा हो किन्तु देवताओं से द्वेष करने का मौका मिल गया इससे वे प्रसन्न हुए यही बात “देवशत्रवः” से श्लोक में कही है ॥३०॥

श्री सुबोधिनी — प्रथमर्तः स्वबुद्ध्या निश्चितं प्रतीकारमाह ।

अर्थ — पहले वे दैत्य अपनी बुद्धि से निश्चित किये गये प्रतीकार को कहते हैं।

। दैत्या ऊचुः ।

श्लोक — एवञ्चेत् तर्हि राजेन्द्र पुरग्रामव्रजादिषु ।

अनिर्दशान्निर्दशाँश्च हनिष्यामोद्य वै शिशून् ॥३१॥

अर्थ — दैत्यों ने कहा कि हे राजाओं के स्वामी कंस। आज ही हम शहरों में, छोटे गांवों में, व्रज आदि में हुए बालकों को जो दश दिन के भीतर के हैं अथवा जो दश दिन के ऊपर के हैं मारेंगे ॥३१॥

श्री सुबोधिनी — एवञ्चेदिति, यदि क्वचिद् बालक एव जातः स तु मासमध्ये जातो भविष्यतीत्यनिश्चयेऽपि सर्वानेव बालकान् मारयिष्यामः, ते बालकाः पुरस्था ग्रामस्था व्रजस्था वा भवन्तु, तरतमभावनिरूपणार्थं त्रयाणां ग्रहणं, अस्माकं तु न विलम्बः, तदाहाद्येति राजेन्द्रेति सबोधनमाज्ञापनार्थं, न निर्गतानि दशाहानि येषां ते निर्दशः अतिबालका निर्दशास्त्वतिक्रान्तदशाहाः, उभयानपि विशेषाकारेण सर्व एव वयं हनिष्यामः, अत्र सन्देहो नस्तीति दैत्यैः दैत्यगृहेष्वपि स्वसम्बन्धिष्वपि जाता हन्तव्या इति, राजा चेद् भगिनीपुत्रा मारितः अन्तरेति नृजनेन अपि मारणीया इति तैर्ज्ञानं अन्यथा प्रभुर्न वदेदिति ॥३१॥

व्याख्यार्थ — कंस के मन्त्री कहते हैं कि यदि ऐसा ही है तो आप के मारनेवाला कहीं पैदा हुआ होगा तो एक मास के भीतर ही पैदा हुआ होगा ऐसा निश्चय न होने पर भी हम सभी बालकों को मारेंगे। ये बालक सुर के हों ग्राम के हों अथवा व्रज के हों, हम मारे बिना नहीं छोड़ेंगे। शहर में बालक ज्यादा मिलते हैं उससे न्यून ग्राम में और उससे कम व्रज में। इसीलिये श्लोक में क्रम से पुर ग्राम एवं व्रज का निर्देश किया है। श्लोक में आये "अद्य" पद का स्वारस्य यह है कि हमें इसमें कोई विलंब नहीं होगा। राजेन्द्र इस सम्बोधन का यह आशय है कि तुम राजाओं में प्रधान हो इसलिये हमें आज्ञा दे सकते हो। हम उन सब बच्चों को जो दश दिन के भीतर के हैं अथवा दश दिन से ज्यादा उम्र के हैं उन सबको विशेषरूप से मारेंगे। श्लोक में आया "हि" शब्द निश्चयार्थक है अर्थात् यह आप निश्चयरूप में समझें, इसमें सन्देह की कोई बात नहीं है। हम उन बालकों को भी मारेगे जो हमारे सम्बन्धी दैत्यों के घर में पैदा हुए हैं। दैत्यों ने यह समझा कि राजा कंस ने जब बहिन के पुत्र भी मार दिये तो दूसरों को भी अपने सम्बन्धियों के पुत्र भी मारने चाहिये। यदि कंस अपनी बहिन के पुत्रों को नहीं मारता तो वह यह समझता कि जब मैं बहिन के पुत्रों को नहीं मारता हूं तो ये दैत्य भी

मेरी बात को नहीं मानेंगे। जब उसने स्वयं ऐसा किया तो यथा राजा तथा प्रजा के अनुसार प्रजा होने से दैत्यों को भी यह गृहित कार्य करना उचित हो गया। स्वयं कंस ने ऐसा कार्य किया है इसलिये आज्ञा देने में वह निःशङ्क था अन्यथा आज्ञा ही नहीं देता ॥३१॥

श्री सुबोधिनी — एवं स्वकृत्यमुक्त्वा तस्य भयाभावार्थं तं प्रोत्साहयन्ति किमुद्यमैरितिषड्भिः, यथा भगवतः षड्गुणास्तथा तव षड्गुणाः

कारिका — सामर्थ्यं च जयश्चैव दीनत्वं च दया यथा।

शत्रूणामल्पता चैव राजनीतिस्तथैव च ॥१॥

आभास — यदि बालका हन्यन्तेऽन्यमुपायं करिष्यन्ति देवा इत्याशङ्क्याहुः

अर्थ — इस प्रकार दैत्य अपना कर्तव्य कह कर कंस को भय न हो इस के लिये “किमुद्यमैः” आदि छः श्लोकों से उसे प्रोत्साहित करते हैं। वे कहते हैं कि जैसे भगवान् में छः गुण हैं वैसे ही आप में भी छः गुण हैं। यहाँ “किमुद्यमैः करिष्यन्ति” इस श्लोक से कंस के सामर्थ्य का प्रतिपादन किया गया है अथवा यह भी कह सकते हैं कि इस श्लोक से देवताओं में कितना सामर्थ्य है इसका निरूपण है। “अस्यतस्ते शरव्रातै” में कंस के जय का निरूपण है। और “केचित्प्रांजलयो भीताः” से देवताओं की दीनता कहीं गई है, “न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान्” से कंस की दया बताई; “किं क्षेमशूरैः” से देवताओं को तुच्छ बताया और “किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण” से राजनीति का वर्णन किया गया। इस प्रकार “किमुद्यमैः” से लेकर छः श्लोकों से क्रमशः सामर्थ्य, जय, दीनता, दया, शत्रुओं की अकिञ्चत् करता तथा राजनीति का वर्णन किया गया है। दैत्य कहते हैं कि यदि आप यह कहें कि तुम यदि बालकों को मारोगे तो देवता अन्य उपाय कर लेंगे तो कहते हैं कि :-

श्लोकः — किमुद्यमैः करिष्यन्ति देवाः समरभीरवः।

नित्यमुद्विग्नमनसो ज्याघोषैर्धनुषस्तव ॥३२॥

अर्थ — देवताओं के उद्योगमात्र से क्या हो सकता है। युद्ध में डरने से वे क्रिया तो कर ही नहीं सकते। उन्हें भय होने के कारण यह है कि तुम्हारे धनुष के टङ्कार से वे उद्विग्न रहते हैं ॥३२॥

श्री सुबोधिनी — किमुद्यमैरिति, उद्यममात्र तेषां न तु क्रियासामर्थ्यं, यतः समरे भीरव संग्रामं ऽष्ट्वै बिभ्यति, तथा भये तेषां निमित्तमाह नित्यमुद्विग्नमनस इति, अयं हि दिग्विजये सर्वानेव मारितवान्, इन्द्रोऽपि भीतः पलायितः, ब्रह्मादयोऽपि लीनाः, धृत्वा च देवान् यातनां प्रापयति, अतो यद्यन्यार्थमपि धनुष्टङ्कारं कुर्यात् तथापि देवा उद्विग्नमनसो भवन्तीति नित्यमुद्विग्नमनसः, तवेति सम्मत्यर्थं निरूपितम् ॥३२॥

व्याख्यार्थ — देवता उद्योगमात्र करेंगे, उनमें क्रिया करने का सामर्थ्य नहीं हैं क्योंकि वे संग्राम को देखकर ही डरने वाले हैं। उनको ऐसे भय होने के कारण यह है कि नित्य ही उद्विग्न मनवाले रहते हैं। पहले कंस ने दिग्विजय करने के समय सबको मार दिया था, इन्द्र भी डर कर भाग गया था, ब्रह्मा आदि देवता भी भय के कारण छिप गये थे, बाकी रहे सभी देवताओं को पकड़ कर आप यातना दे रहे हैं इस कारण से दूसरे के लिये भी जब आप धनुष का टङ्कार करते हैं तो देवता उद्विग्न मनवाले हो जाते हैं। श्लोक में आये “तव” पद का अभिप्राय यह है कि तुम्हें इस का अनुभव है इसलिये हमारा कहना ठीक है न ॥३२॥

श्री सुबोधिनी — धनुष्टङ्कारमात्रेणैवोद्वेगे पूर्ववृत्तान्तं हेतुत्वेनाह ।

अर्थ — तुम्हारे धनुष के टङ्कार से ही देवताओं को उद्वेग हो जाता है इसमें पूर्ववृत्तान्त को हेतु बताते हुए कहते हैं कि :—

श्लोकः — अस्यतस्ते शारव्रातैर्हन्यमानाः समन्ततः ।

जिजीविषव उत्सृज्य पलायनपरा ययुः ॥३३॥

अर्थ — जब आप बाणवर्षा करते हैं तब बाणों के समूह से चारों ओर से मारे जाते हुए जीवन की इच्छा रखने वाले वे देवता धर्म और युद्ध को छोड़ कर भगने लगते हैं ॥३३॥

श्री सुबोधिनी — अस्यत इति, अस्यतः शरान् क्षिपतस्ते सतः सम्मुखमनागता अपि तैः क्षिप्तैरेव शरव्रातैः सर्वतो हन्यमानः सञ्छिन्नभिन्नसर्वाङ्गः । जिजीविषवो भूत्वा धर्म संग्रामं चोत्सृज्य पलायनपरा सन्तो ययुः, देशस्याविवक्षितत्वाद् यत्र क्वापि, ये तु दूरस्थास्ते पलायिता ॥३३॥

व्याख्यार्थ — बाण चलाते हुए तुम्हारे सामने नहीं आये भी देवता उन चलाये हुए बाणों से जिन के सब अङ्ग, छिन्न भिन्न हो गये हैं वे जीवन की इच्छा रख धर्म और संग्राम को छोड़कर भागने लगते हैं। श्लोक में अमुक देश विवक्षित न होने से जहां



कहीं भागने लगते हैं ऐसा ही हम कह सकते हैं अर्थात् अमुक देश में ही गये यह निश्चित रूप से हम नहीं कह सकते। और जो देवता आप से दूर थे वे भय के मारे ही भाग गये।।३३।।

**श्री सुबोधिनी** — येऽपि निकटस्थास्तेऽपि जिजीविषवो भूत्वा पलायनासंभवादुपायान्तरं कृतवन्त इत्याहुः।

**अर्थ** — जो देवता पास ही थे वे भाग नहीं सके, उन ने जीने की इच्छा से दूसरा उपाय किया, इस बात को कहते हैं —

**श्लोकः** — केचित् प्राञ्जलयो भीता न्यस्तशस्त्रा दिवौकसः।

**मुक्तकच्छशिखाः केचिद् भीताः स्म इति वादिनः।।३४।।**

**अर्थ** — कुछ देवता जिन ने शस्त्र डाल दिये हैं, जो डरे हुए हैं और जिन की चोटी एवं कच्छ खुल गये हैं हाथ जोड़ कर आप के सामने खड़े हैं और कुछ यह कह रहे हैं कि हम भयभीत हैं हमारी रक्षा करो।।३४।।

**श्री सुबोधिनी** — केचिदिति, प्राञ्जलयः, स्तोतुमिव प्रवृत्तानां कायिकवस्था प्रदर्शिता, भीता इत्यन्तः करणस्य, त्यागे न हन्यत इति शास्त्रार्थपरिपालनाय न्यस्तशस्त्राः, तर्हि तेषां कथं स्वधर्मत्यागे स्वर्गो भविष्यतीत्याशङ्क्याहुर्मुक्तकच्छशिखा इति, मुक्ताः कच्छाः शिखाश्च येषां परमापदा वैकल्य तेषामुक्तं, आपदि स्वधर्मास्त्यक्तुं शक्यन्ते, येषां पुनर्देवगत्या मुक्तकच्छशिखात्वं न जात तेषां का गतिरिति चेत् तत्राह केचिद् भीताः स्म इति वादिन इति, शरीरे भीतकार्यस्यादर्शनान्मुखत एव भीता वयमित्याहुः।।३४।।

**व्याख्यार्थ** — कोई देवता नम्रता से हाथ जोड़कर मानो स्तुति करने की तरह खड़े हैं। श्लोक में आये “प्राञ्जलयः” से उनके देह की अवस्था कही। भय अन्तःकरण में होता है इसलिये “भीताः” पद से अन्तःकरण की अवस्था कही। शस्त्र छोड़ देने पर शत्रु को नहीं मारना चाहिये इस शास्त्र की आज्ञा से कंस हमें नहीं मारेगा इसलिये देवताओं ने शस्त्र अस्त्र छोड़ दिये। यहां शङ्का होती है कि यदि देवताओं ने शस्त्र अस्त्र छोड़ दिये तो वे स्वधर्म त्याग से स्वर्ग में कैसे रहेंगे तो कहते हैं कि “दिवौकसः” देवता इस समय ऐसे हैं कि स्वर्ग में उनका केवल स्थान है वे वहां के भोग नहीं कर पाते। शङ्का होती है कि देवताओं ने अपने धर्म का त्याग कर अयुक्त कार्य कैसे किया तो कहते हैं कि “मुक्तकच्छशिखाः” कच्छ एवं शिखा खुलने से वे परम आपत्ति से विकल

हो गये। आपत्काल में अपने धर्म छोड़े जा सकते हैं अर्थात् आपत्ति के समय यदि अपने धर्म का त्याग हो जाता है तो कोई दोष नहीं है। उन में कुछ ऐसे हैं जिनकी दैवगति से कच्छ शिखाएँ नहीं खुली वे कह रहे हैं कि हम भयभीत हैं। शरीर में डरे हुए का कार्य नहीं दीखने से मुख से ही वे कह रहे हैं कि हम डरे हुए हैं ॥३४॥

**श्री सुबोधिनी** — ननु ये वध्यास्ते सर्वथैव वध्या इति वचनेऽपि किं स्यात् तत्राहुः

**अर्थ** — यदि कहें कि जो मारने योग्य हैं वे किसी भी रूप में उपस्थित हों मारने योग्य ही होते हैं तो हम डरे हुए हैं ऐसा कहने पर भी क्या होगा तो कहते हैं कि :—

**श्लोकः** — न त्वं विस्मृतशस्त्रास्त्रान् विस्थान् भयसन्नतान्।

हंस्यन्यासक्तविमुखान् भग्नचापानयुध्यतः ॥३५॥

**अर्थ** — जो भय के मारे शस्त्र अस्त्र भूल गये हैं, रथ हीन हैं, भय से शरणागत हैं, अन्य कार्य में आसक्त होकर युद्ध से विमुख हैं अथवा जो अन्यासक्त हैं और युद्ध से विमुख हैं, जिनके धनुष टूट गये हैं और जो युद्ध न कर दर्शक के रूप में उपस्थित हुए हैं उन्हें तुम नहीं मारते ॥३५॥

**श्री सुबोधिनी** — न त्वमिति, सङ्ग्रामधर्मस्त्वया न त्यज्यतेऽतो ये देवा विस्मृतशस्त्रास्त्रा भयात्, शस्त्राणि धृत्वा यैर्मार्यते अस्त्राणि दूरात्, मन्त्रयुक्तानि वा, भयादुभयविधान्यपि विस्मृतानि, विगतो रथो येषां, सारथ्यादीनां वधात् “प्रपन्न विस्थं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवि” दितिवाक्याद् विस्थोप्यवध्यः, भयेन सम्यङ्नताः शरणागताः, प्रसंगादन्यानप्याहान्यासक्तविमुखान्, अन्यासक्ताश्च ते विमुखाश्चोभयविधा वा भग्नचापानयुध्यतः, निरीक्षकान् न हंसीति सम्बन्धः, एते षड्विधाः सप्तविधा वा न हन्तव्याः, अतस्त्वया स्वधर्मे परिपाल्यमाने पूर्वन्यागेन देवा जीविता इति भावः ॥३५॥

**व्याख्यार्थ** — संग्राम के धर्म को आप नहीं छोड़ते अतः जो देवता भय से शस्त्र एवं अस्त्रों को भूल गये हैं उन्हें आप नहीं मारते। शस्त्र वे होते हैं जो हाथों से पकड़ कर चलाये जाते हैं और अस्त्र वे हैं जो दूर से चलाये जाते हैं। अथवा यों कहिये कि जो मन्त्र से चलाये जाते हैं वे अस्त्र हैं। जो देवता इन दोनों को भय से भूल गये हैं उनको तथा जो सारथि छोड़े आदि मरने से रथ रहित हो गये हैं उन्हें “प्रपन्न विस्थं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्” वाक्य के अनुसार आप नहीं मारते। उपर्युक्त वाक्य का अर्थ यह है कि जो शत्रु शरणागत रथ रहित और डरा हुआ हो उसे धर्म जानने वाले नहीं मारते। इससे यह बताया कि रथ रहित शत्रु को भी नहीं मारना चाहिये। और जो भय

से शरणागत है उन्हें भी नहीं मारना चाहिये। यहां प्रसंग से दूसरों को भी कहते हैं कि जो अन्यासक्त होकर युद्ध से विमुख हो गये हैं अथवा यहां यह भी कहा जा सकता है कि जो अन्यासक्त हैं और युद्ध से विमुख हैं, जिनके धनुष टूट गये हैं और जो युद्ध न कर दर्शक के रूप में उपस्थित हुए हैं उन्हें तुम नहीं मारते। ऊपर कहे गये छः प्रकार के अथवा अन्यासक्त एवं विमुख को भिन्न २ मानते हैं तो सात प्रकार के होते हैं इन्हें नहीं मारना चाहिये। अतः “प्रपन्नं विरथं भीतं इस न्याय के अनुसार स्वधर्म के पालन से देवता जीवित रहे हैं। ॥३५॥

**श्री सुबोधिनी** — एव साधारणानामप्रयोजकत्वमुक्त्वा महतामप्याह।

**अर्थ** — इस प्रकार साधारण देवता आपका कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते ऐसा कह कर महान् भी आपका कुछ नहीं बिगाड़ सकते यह कहते हैं।

**श्लोकः** — किं क्षेमसूरैर्विबुधैरसंयुगविकत्थनैः।

रहोजुषा किं हरिणा शंभुना वा वनौकसा ॥३६॥

**अर्थ** — देवता वहीं वीर बनते हैं जहां अपने अकल्याण की संभावना न हो। वे रण के बाहिर बड़ी २ डींग मारने वाले हैं। उनसे तथा एकान्त में रहने वाले हरि भगवान् से वनवासी शंकर से अपना क्या बिगाड़ हो सकता है ॥३६॥

**श्री सुबोधिनी** — कि क्षेमशूरैरिति, येपि वाय्वग्निवरुणादयः शूराः प्रसिद्धास्तेपि क्षेमसूरा एव, क्षेमे सति गृहे भार्यायां वा शूरा यत्राक्षेमशङ्कैव नास्ति, न हि भार्या पतिं मारयिष्यतीति संभावना, यत्र पुनः संभावना मारयिष्यतीति तत्र पलायनमेव, एतदर्थपरिज्ञानादेव विबुधाः एतच्छरीरशौर्यं तेषां निरूप्य वाचनिकं शौर्यं निरूपयन्त्यसंयुगविकत्थनैरिति, विकत्थनं स्वशौर्याविष्करणवाक्यं, तदपि न संयुगे, केनापि सह यदा न युद्धसंयोगस्तदैव विकत्थनं, एवं देवान् दूषयित्वा मुख्यांश्चतुर आहुः, अस्ति हरिः शूरः, पर कस्यापि स सम्मुखो न भवति, यस्त्वेकान्ते तदेकपरस्तिष्ठति हरिरपि तस्य संमुखो भवतीति स्तुतिपक्षे यथाश्रुतमेव, पक्षान्तरे स्त्री तुल्यता निरूपिता, हरिणेति, सर्वदुःखनिवारकत्वं निरूपितं, यतो दुःखितेष्वेव शौर्यादिरहितेषु तस्याविर्भावो निरूपितः अस्ति च त्रिपुरान्तकः शूरः, सोपि सर्वदा वनवासी तपस्वी, न हि वनस्थस्तपस्वी कस्यचिद् द्विष्टो भवति, असमत्वात् ॥३६॥

**व्याख्यार्थ** — जो भी वायु, अग्नि, वरुण आदि प्रसिद्ध शूर हैं वे जब तक कल्याण रहे तभी तक शूर हैं, अथवा यों कहिये कि घर में एवं भार्या के सम्मुख ही शूर बनते हैं, जहां उन्हें अकल्याण की आशंका नहीं है जैसे स्त्री अपने पति को नहीं मार सकती यह संभावना है। जहां यह संभावना हो कि मारेगा ही तो वे वहां से भाग ही जाते हैं। इस

अर्थ का उन्हें परिज्ञान हैं इसलिये वे विबुध हैं, अर्थात् कहां विपत्ति आ सकती है और कहां नहीं इस बात को देवता समझते हैं इसलिये विबुध हैं अर्थात् विशेष रूप से समझने वाले हैं। इस प्रकार देवताओं के शरीर का शौर्य कह कर अब उनकी वाणी के शौर्य को कहते हैं कि "असंयुगविकत्थनैः" अपने पराक्रम से प्रकट करने वाले वाक्यों को कहना विकत्थन कहलाता है, यह डींग भी युद्ध के बाहिर ही मारते हैं। अर्थात् जब किसी के साथ युद्ध न होता हो तब हम ऐसे हैं हम ऐसे हैं ऐसी डींग मारते हैं। इस प्रकार देवताओं को दूषण लगा कर मुख्य चार देवताओं के विषय में कहते हैं कि हरि शूर अवश्य है परन्तु वह किसी के सामने आता ही नहीं, वह तो उसी के सम्मुख प्रकट होता है जो एकान्त में उसी की भक्ति करता है। स्तुतिपक्ष में जैसा पद है वैसा ही अर्थ करना जिस से भगवान की स्तुति हो जाय। निन्दा पक्ष में यह भाव होगा कि स्त्री जैसे एकान्त में किसी के सम्मुख नहीं आती और अपने में अनुरक्ति रखने वाले को ही से दैत्यों ने मिलती है वैसे ही हरि भी किसी अनुरक्त व्यक्ति के सम्मुख नहीं आता। इससे दूर करने भगवान् को स्त्री तुल्य बताया। और एक बात यह भी है कि सब दुःखों को से रहित हैं वाला है इस लिये हरि है। यहां दैत्यों का भाव यह है कि जो शौर्य आदि र और दुःखित हैं उनके सामने ही प्रकट होता है। महादेव यद्यपि शूर है परन्तु वन में रहने वाला तपस्वी है। वन में रहने वाला तपस्वी किसी का शत्रु क्योंकि वह किसी के समान नहीं होता, जहां समानता होती है वहां ही है ॥३६॥

**श्लोकः —** किमिन्द्रेणाल्पवीर्येण ब्रह्मणा वा तपस्यता ।

तथापि देवाः सापत्न्यान्नोपेक्ष्या इति मन्महे ॥३७॥

नहीं बिगड़  
७॥

**अर्थ —** यद्यपि अल्पवीर्य वाले इन्द्र से तथा तप करने वाले ब्रह्मा से कुछ भी सकता तथापि शत्रुता होने से देवता उपेक्षणीय नहीं हैं ऐसा हम मानते हैं ॥३७॥

थं कुर्यात् ?  
जकारस्तथापि  
दायादाः सर्वे  
थ्यन्ति तदैव

**श्री सुबोधिनी —** देवेन्द्रस्तु यद्यपि वृत्रहा तथाप्यल्पवीर्यः, अन्यथा वज्रादिप्रार्थना क ब्रह्मा यद्यपि महान् भवति तथापि ब्राह्मण एव तपस्वी, एव यद्यपि सर्वे देवा अप्रयो राजनीतिविचारेण ते नोपेक्ष्या, इत्याहुस्तथापीति, देवानां दैत्यानां च सापत्न्यमस्ति कश्यप भिन्नमातृजास्ते शत्रव एव परस्परं भवन्ति, अतः सहजद्वेषित्वात् यदैव ते पुष्टा भवि

मारयिष्यन्तीति नोपेक्ष्या. क्षीणदशायामेव मारणीयाः, अयमर्थो भवति न वेति विचारका जानन्ति वयं त्वेव मन्महे ।।३७।।

**व्याख्यार्थ** — देवताओं का इन्द्र यद्यपि वृत्रासुर को मारने वाला है तथापि अल्प पराक्रमी है। यदि अधिक पराक्रमी होता तो वज्र आदि लेने के लिये वह प्रार्थना क्यों करता। ब्रह्मा यद्यपि महान् हैं तथापि ब्राह्मण ही है और तपस्वी है। ब्राह्मण एवं तपस्वी का कोई शत्रु नहीं होता। दैत्य कहते हैं कि इस प्रकार यदि विचार किया जाय तो सभी देवता कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते तो भी राजनीति के विचार से वे उपेक्षा के योग्य नहीं हैं क्योंकि देवताओं के और दैत्यों के परस्पर सापत्न्य है। यद्यपि देवता और दैत्य सब ही कश्यपजी का हिस्सा लेने वाले हैं अर्थात् उनकी सन्तान है परन्तु भिन्न २ माता से पैदा हुए हैं इसलिये वे परस्पर से सहज शत्रु हैं। जब ही वे देवता पुष्ट हो जायेंगे तब ही हमें मारेंगे इसलिये देवता उपेक्षणीय नहीं हैं, उन्हें क्षीणदशा में ही मारना चाहिये। यह बात हो सकती है या नहीं यह विचारक जानें, हम तो ऐसा मानते हैं ।।३७।।

**श्री सुबोधिनी** — एवं माहात्म्यं नीतिं चोक्त्वा किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः—

**अर्थ** — इस प्रकार कंस के माहात्म्य को और नीति को कहकर अब क्या करना चाहिये इस पर दैत्य कहते हैं कि —

**श्लोकः** — ततस्तन्मूलखनने नियुङ्क्वास्माननुव्रतान् ।।३८।।

**अर्थ** — इसलिये उन के मूल को उखाड़ने के लिये हमें आज्ञा दीजिये क्योंकि हम सर्वथा आपका अनुसरण करने वाले हैं ।।३८।।

**श्री सुबोधिनी** — तत इति, यदेव देवानां मूल भविष्यति तस्यैव खनने नियुङ्क्वाज्ञापय, अनुव्रतानिति, योगेन रुद्ध्या च सर्वथा भवन्तमनुसृता वयं, मूलमग्रे वक्तव्यं खननं च मध्ये ।।३८।।

**व्याख्यार्थ** — जो भी देवताओं का मूल हो उसे ही उखाड़ फेंकने के लिये आज्ञा दीजिये, हम आपके अनुव्रत हैं अर्थात् आपका अनुसरण करने वाले हैं। यहां “अनुव्रत” शब्द को यौगिक मान लेते हैं तो “अनु पश्चात् गमनस्य व्रतं नियमो येषां” ऐसा अर्थ होता है अर्थात् आप के पीछे चलने का है नियम जिनका ऐसे हम को आज्ञा दीजिये। यदि अनुव्रत शब्द को रुद्ध मानते हैं तो सेवक अर्थ होता है। इस अर्थ के मानने पर भी

यही तात्पर्य होगा कि हम आप का अनुसरण करने वाले सेवक हैं। मूल कौन है इसे आगे बतायेंगे और खनन को पहले कर रहे हैं ॥३८॥

श्री सुबोधिनी – उपेक्षाया को दोष इति चेत्तत्राहुः।

अर्थ – यदि देवताओं की उपेक्षा करें तो क्या दोष होगा तो कहते हैं कि।

श्लोकः – यथामयोङ्गे समुपेक्षितो नृभिर्न शक्यते रुढपदश्चिकित्सितुम्।

यथेन्द्रियग्राम उपेक्षितस्तथा रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यते ॥३९॥

अर्थ – जैसे शरीर में होने वाले ज्वर आदि रोग की उपेक्षा की जाय तो वह अपनी जड़ जमा लेता है और फिर असाध्य हो जाता है, जैसे इन्द्रियों की उपेक्षा करने वाले योगी का उनके द्वारा सर्वनाश हो जाता है वैसे ही शत्रु की उपेक्षा की जाय तो उसके प्रबल होने पर उसका दबाना कठिन हो जाता है और उस से अपना सर्वनाश हो जाता है ॥३९॥

श्री सुबोधिनी – यथेति, आमयो रोगो ज्वरादिरङ्ग. आविर्भूतस्तमनाऽत्य यदि स्नानभोजनादिकं कुर्यात् तदा रुढपदः संश्लिप्तश्चिकित्सितुं न शक्यते, अङ्गमेव नाशयति, सदैवेनापि तन्जनिते सन्निपाते चिकित्साऽशक्या, अनेन सम्बन्धे विद्यमाने कथं मारणीया इति शङ्का निवारिता तेषां सर्वनाशकत्वादिति लौकिकबाधकत्वेन निरूपितं, वैदिकबाधकत्वेन ऽष्टान्तान्तरमाह यथेन्द्रियग्राम उपेक्षित इति, योगिना परमपुरुषार्थे साध्य इन्द्रियसमूहो नोपेक्षणीयः, तेषामुपेक्षाया “मिन्द्रियैर्विषयाकृष्टै” रितिन्यायेन सर्वनाशो भवति, प्रबलं चेदिन्द्रियं पश्चान्निवारयितुमशक्यं यथैहिकामुष्मिकनाश एताभ्यां तथा सर्वनाशो देवैर्देव्यानां, तदाह रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यत इति, महान् स्वापेक्षयापि स्वरूपतः, ते चेत् सम्बद्धबला भवन्ति तदा चालयितुमप्यशक्या अतो नोपेक्षणीयाः ॥३९॥

व्याख्यार्थ – ज्वर आदि रोग शरीर में उत्पन्न हो जाय और उसकी परवाह न कर स्नान भोजन आदि करता रहे तो उस रोग के ठंडमूल हो जाने पर उस की चिकित्सा नहीं हो सकती और वह अपने शरीर को ही नष्ट कर देता है। यदि ज्वर में सन्निपात हो गया तो अच्छे वैद्य से भी उसकी चिकित्सा नहीं हो सकती। इससे यह शङ्का निवृत्त हुई कि सम्बन्ध रहते कैसे मारें। जैसे शरीर से पैदा होने से रोग अपना सम्बन्धी है परन्तु उपेक्षा होने पर वह अपना सर्वनाश करने वाला है इसलिये उसके मिटाने का उपाय करना ही चाहिये वैसे ही यदि कोई अपना सम्बन्धी है और अपना सर्वनाश करने वाला है तो उसे भी नष्ट करना ही चाहिये। यह बात लौकिक बाधक

रूप में कही। अब वैदिक बाधा बताते हुए दूसरा ऽष्टान्त देते हैं कि जैसे योगी को परम पुरुषार्थ साधन करता हो तो अपने इन्द्रिय समूह की उपेक्षा नहीं करनी चाहिये। यदि उनकी उपेक्षा की जाती है तो “इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्त” के अनुसार उसका सर्वनाश हो जाता है। यदि इन्द्रियें प्रबल हो गईं तो फिर वे विषयों से हटाई नहीं जा सकती। और रोग बढेन पर शरीर को नष्ट करेगा इसलिये वह व्यक्ति ऐहिक फल से वञ्चित रहेगा। जैसे योगी की इन्द्रियों के प्रबल होने पर उसे परलोक का सत्फल नहीं मिला और रोग की उपेक्षा से जैसे ऐहिकफल नष्ट हो जाता है उसी प्रकार देवताओं की उपेक्षा करने पर देवताओं द्वारा दैत्यों का सर्वनाश हो जायेगा। इसी बात को कहने के लिये “रिपुर्महान् बद्धबलो न चाल्यते” से कहा है। जो स्वरूप से पहिले ही अपने से महान् हैं फिर यदि वे बलवान् बन जाते हैं तो उन्हें विचलित भी नहीं किया जा सकता। इसलिये देवताओं की उपेक्षा करना उचित नहीं है ॥३६॥

**श्री सुबोधिनी — मूलमाहः**

**अर्थ —** अब दैत्य देवताओं के मूल हो बताते हैं।

**श्लोकः —** मूलं विष्णुर्हि देवानां यत्र धर्मः सनातनः।

तस्य च ब्रह्मगोविप्रास्तपोयज्ञाः सदक्षिणाः ॥४०॥

**व्याख्यार्थ —** देवताओं का मूल विष्णु है जिसमें यज्ञादिरूप सनातन धर्म रहता है, उस विष्णु के तथा देवताओं के मूल — वेद, गायें, ब्राह्मण, तप तथा दक्षिणा सहित यज्ञ हैं ॥४०॥

**श्री सुबोधिनी —** मूलं विष्णुरिति, देवानां मूलं विष्णुः, विष्णुप्रभवा देवाः, सत्त्वगुणा देवाः, तस्याधिष्ठाता तु विष्णुः, इमां युक्तिं हिशब्द आह, प्रकारान्तरेणापि देवानां मूलं विष्णुरित्याह यत्र धर्मः सनातन इति, धर्मो यागादिः, स तु देवतोद्देशेन द्रव्यत्यागात्मकः, स केवलं वेदोक्तः सनातनः, “तानि धर्माणि प्रथमान्यास” त्रिति श्रुतेः, यज्ञाभावे देवानां भक्ष्याभावाद् यज्ञो देवानां मूल, स च स्वदेवतानियम्यः, तस्य च देवता विष्णुः, “यज्ञो वै विष्णु” रिति श्रुतेः, न केवलं तस्य नियामकत्वं किन्त्वाधारत्वमपि, तदाह यत्रेति, यत्र विष्णौ सनातनो धर्मः, “धर्मस्य प्रभुरच्युत” इति वाक्यात्, तस्माल्लौकिकवैदिकदेवानां मूलं विष्णुः, तस्यापि मूलमाह तस्येति, चकारादेवानामपि, ब्रह्म वेदः, गावो विप्राश्च तपो यज्ञाः सदक्षिणाः, प्रमाणं वेदः, हविरेकत्र मन्त्राश्चैकत्र, द्विविधो हि धर्मः, प्रवृत्तिनिवृत्त्यात्मकः, प्रवृत्त्यात्मको यज्ञो निवृत्त्यात्मकस्तपः, सदक्षिणाः दक्षिणा यज्ञस्य भार्या, अनेन

प्रवृत्तिधर्मत्वं तस्योक्तं, पञ्चात्मको वा मूलत्वेन निरूपितः, अनने द्वयं मूलत्वेनोक्तं ब्राह्मणा गावश्च, तत्रदुहन्त्यो गावो, यज्ञकर्तारस्तपस्विनो वेदविदो ब्राह्मणाः ॥४०॥

**व्याख्यार्थ** — देवताओं का मूल विष्णु है। सब देवता विष्णु से पैदा हुए हैं। देवता सत्त्वगुणवाले हैं और सत्त्व अथवा यज्ञ के अधिष्ठाता विष्णु हैं। देवताओं का मूल विष्णु है, इसमें बताई गई युक्ति को श्लोक में आया “हि” शब्द कहता है। देवताओं का मूल विष्णु है। इस बात को प्रकारान्तर से भी कहते हैं कि “यत्र धर्मः सनातनः”। योग आदि जो धर्म हैं वह देवताओं के उद्देश्य से द्रव्य अर्पण करना रूप हैं और वेद में कहा गया धर्म ही सनातन (सदा से रहने वाला) है जैसा कि श्रुति में कहा है “तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्” यागादि धर्म आरंभ से ही थे अथवा यों कहिये कि वे धर्म सब से प्रथम थे। यदि यज्ञ नहीं होते हैं तो देवताओं को भक्ष्य नहीं मिलता इसलिये यज्ञ देवताओं का मूल है और वह यज्ञ अपने देवता से नियम्य है। यज्ञ का देवता विष्णु है जैसा कि “यज्ञो वै विष्णुः” से कहा गया है। यज्ञ विष्णुरूप हैं इसलिये यज्ञ का नियामक विष्णु है। वह विष्णु यज्ञ का नियामक ही नहीं हैं किन्तु यज्ञ का आधार भी है इसलिये “यत्र धर्मः सनातनः” में यत्र पद दिया है अर्थात् जिस विष्णु में सदा में रहने वाले योग आदि धर्म हैं। यहां “यत्र” इस अधिकरण निर्देश से धर्म का आधार भगवान् है यह कहा, इसलिये “धर्मस्य प्रभुरच्युतः” ऐसा कहा है अर्थात् धर्म का स्वामी विष्णु है, इससे सिद्ध हुआ कि लौकिक वैदिक देवताओं का मूल विष्णु है और उस विष्णु का तथा देवताओं के मूल—वेद, गायें, ब्राह्मण, तप और दक्षिणा सहित यज्ञ है। यज्ञ में वेद प्रमाण माना जाता है। गायों में वृत्ति (मूल) रहता है और ब्राह्मण में धर्म रहते हैं। धर्म तो मूल का



ही देवताओं का मूल है। प्रकारान्तर से दो ही मूल हैं। मूल बताने वाले वाक्य से यह सिद्ध होता है कि ब्राह्मण और गायें ये दो मुख्य रूप से मूल हैं, अर्थात् दुहाती हुई गायें और यज्ञ करने वाले तपस्वी वेद वेत्ता ब्राह्मण। यज्ञ के लिये घृत एवं दुग्ध गायों से मिलता है और यज्ञ कराने वाले ब्राह्मण मन्त्र बोलने वाले होते हैं, इन दोनों से यज्ञ सम्पन्न होता है। तपस्वी वेदवेत्ता ब्राह्मण निवृत्तिमार्गीय धर्म के चलाने वाले हैं।।४०।।

श्रीसुबोधिनी — तेषा खननमाह।

व्याख्यार्थ — ब्राह्मण एवं गायों के उन्मूलन के लिये कहते हैं —

श्लोक: — तस्मात् सर्वात्मना राजन् ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः।

तपस्विनो यज्ञशीलान् गाश्च हन्मो हविर्दुघाः।।४१।।

व्याख्यार्थ — इसलिये अपने से दूसरों से साक्षात् एवं परम्परया जैसे भी लौकिक वैदिक साधन न कर सकें वैसे हम वेद एवं वेदार्थ जाननेवाले, तपस्वी तथा जिनका यज्ञ करने का स्वभाव है ऐसे ब्राह्मणों को और हविष्य देनेवाली गायों को मारेंगे।।४१।।

श्री सुबोधिनी — तस्मादिति, सर्वात्मना लौकिकवैदिकसाधनैः स्वतः परतः साक्षात् परंपरया च यथैव ते निवृत्ता भवन्ति, ब्राह्मणानां विशेषण ब्रह्मवादिनो वेदवेदार्थविदः, उभयविध च कुर्वन्तीति, तपस्विनो यज्ञशीलाश्च, हविर्दुघाः पयोदोग्धयो गाः, हन्धातोर्लटि बहुवचनं हन्म इति।।४१।।

व्याख्यार्थ — जिस प्रकार लौकिक एवं वैदिक साधनों से वे स्वयं हटे अथवा दूसरों के द्वारा हटाये जाय ऐसा उपाय साक्षात् हम करें अथवा दूसरों से करावें और ऐसे ब्राह्मणों को मारें जो वेद तथा कर्म एवं ज्ञान रूप जो वेद के अर्थ हैं उनको जानने वाले हों अर्थात् जो कर्म एवं ज्ञान में निरत, तपस्वी, यज्ञ करने के स्वभाव वाले ब्राह्मण हों और गायें भी वैसी हो जो हवि के लिये दुही जाती हो उन सबको हम मारेंगे। श्लोक में “हन्मः” पद में जो वर्तमान काल में लट् है वह “वर्तमान समीप्ये वर्तमानवद्वा” से किया है। यदि ऐसा यहां नहीं मानते हैं तो “हन्मः” यह प्रयोग हो ही नहीं सकता क्यों कि इस समय मन्त्रणा ही हो रही है, मारना आरंभ नहीं किया गया है अतः “वर्तमाने लट्” सूत्र से यहां लट् नहीं हो सकता। शीघ्रातिशीघ्र मारना बताना है इसलिये भविष्यत् अर्थ में भी वर्तमान समीप्ये वर्तमानवद्वा इस सूत्र से लट् हो गया।।४१।।

श्री सुबोधिनी — एवं विष्णुमूलत्वेन ब्राह्मणगवां निराकरणं निरूप्य भगवच्छरीरत्वेनापि एतान्, निरूपयन्ति साक्षान्निराकरणाय।

अर्थ — इस प्रकार विष्णु के मूलभूत ब्राह्मण एवं गायों को मारना चाहिये ऐसा निरूपण कर अब साक्षात् निराकरण करने के लिये ये भगवान् के शरीर हैं ऐसा निरूपण करते हैं।

श्लोक: — विप्रा गावश्च वेदाश्च तपः सत्यं दमः शमः।

श्रद्धा दया तितिक्षा च क्रतवश्च हरेस्तनूः॥४२॥

अर्थ — ब्राह्मण गायें, हविष्य के उपयोगी सभी अन्न, वेद एवं उनके अंग अथवा व्रत, सत्य, इन्द्रियों का दमन, अन्तःकरण का शमन, श्रद्धा, दया, तितिक्षा (अतिक्रमण को सहन करना) तथा ज्योतिष्टोमादि याग के सब हरि भगवान् के शरीर हैं॥४२॥

श्री सुबोधिनी — विप्रा इति, विप्रा गावश्चकारादन्यान्यप्यन्नानि, वेदा, चकारादङ्गानि व्रतानि वा, तपः सत्यं दमः शम इति ब्रह्मचर्याद्याश्रमधर्माः, तपः शरीरो धर्मः, सत्यं वाचः, दम इन्द्रियाणां, शमोन्तःकरणस्य, श्रद्धा सर्वत्र, दया च सर्वेषु, तितिक्षातिक्रमसहनं, एवं दशविधो दशावतारः, क्रतवोऽसङ्ख्याता ज्योतिष्टोमादयः, एते सर्वे सर्वदुःखहर्तुर्भगवतरस्तनूस्तन्वः, तस्माद्विष्णौ प्रयत्नः प्रतिष्ठितः॥४२॥

व्याख्यार्थ — ब्राह्मण, गायें, श्लोक में आये चकार से दूसरे २ हविष्य के साधन सभी अन्न, वेद तथा श्लोक में आये चकार से लिये गये वेदों के अंग अथवा व्रत, यहां श्लोक में आये “तपः सत्यं दमः शमः” पदों से क्रम से ब्रह्मचर्यादि आश्रमधर्म लिये गये हैं। तप शरीर का धर्म है, सत्य वाणी का, दम इन्द्रियों का, शम अन्तःकरण का धर्म है, सब में श्रद्धा, सब प्राणियों में दया, अतिक्रमण सहन करना ये श्लोक में शब्दतः कहे गये दश धर्म भगवान् के दश अवताररूप हैं, ज्योतिष्टोमादि याग अनन्त हैं। ये सब संपूर्ण दुःख हरण करने वाले हरि भगवान् के शरीर हैं। अतः इन सब का आत्मा विष्णु है। इससे उसके प्रयत्न से ही ये काम करते हैं। जैसे शरीर में जीव के रहते चेष्टा होती है वैसे ही ब्राह्मण आदि का संचालन विष्णु से ही होता है क्योंकि ये सब उस के शरीर हैं॥४२॥

श्री सुबोधिनी — उपसहरंस्तस्य मूलत्वमाह —

अर्थ — इस बात का उपसंहार करते हुए दैत्य भगवान् को ही इन का मूल बताते हैं।

श्लोक: — स हि सर्वसुराध्यक्षो ह्यसुरद्विड् गुहाशयः।

तन्मूला देवताः सर्वाःसेश्वराः सचतुर्मुखाः॥

अयं हि तद्वधोपायो यर्धषीणां विहिंसनम्॥४३॥

अर्थ — वह विष्णु सब देवताओं का अध्यक्ष, दैत्यों का शत्रु, अन्तःकरण में गुप्तरूप से रहने वाला तथा ब्रह्मा महादेव सहित सब देवताओं का मूल है, अतः उस के मारने का उपाय यही है कि ऋषियों को मारना॥४३॥

श्री सुबोधिनी — स हीति “मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय” इति न्यायाद् गौणानां देवानां निराकरण व्यर्थ पूर्वोक्त न्यायेन सर्वसुराणां विष्णुरेवाध्यक्षः प्रभुः, किञ्चान्ये देवास्तथासुरान् न द्विषन्ति, कदाचित् सहभावोऽपि लक्ष्यते, हरिस्त्वसुरद्विडेव, मारयितुमपि न शक्यते साक्षाद् यतो गुहाशयः, गुप्तेन्तःकरणे वा तिष्ठतीति, अध्यक्षत्वं च न लौकिकप्रभुवत् किन्तु मूलभूतोपीत्याह तन्मूला इति, स्त्रीलिङ्गप्रयोगोवगणनार्थः, महादेवस्य ब्रह्मणश्च स्वतन्त्रतामाशङ्क्याहुः, सेश्वरा सचतुर्मुखा इति, अतो विष्णोः प्रतीकारः कर्तव्यः प्रतीकारश्चर्षीणां निराकरणमेवेत्याहायमिति, ऋषिपदेनैव सर्वे धर्मा उक्ताः॥४३॥

**व्याख्यार्थ** — जहां प्रधान और अप्रधान बताये जाय वहां प्रधान में कार्य होता है, यही “गौणमुख्ययोर्मुख्ये कार्यसंप्रत्ययः” का आशय है। अतः इस न्याय से गौण (अमुख्य) देवताओं को मारना व्यर्थ है किन्तु इनका अध्यक्ष विष्णु ही हैं अतः उसे ही मारना चाहिये। एक बात यह भी है कि अन्य देवता विष्णु की तरह द्वेष नहीं करते, वे कभी समुद्र मन्थन आदि कार्यों में हमारे साथ भी रहते हैं परन्तु विष्णु तो हम से द्वेष ही करता रहता है, उसे साक्षात् मार भी नहीं सकते क्योंकि वह गुप्त स्थान में अथवा “गुहा प्रविष्टौ” के अनुसार गुप्त अन्तःकरण में रहता है।<sup>१</sup> भगवान् लौकिक स्वामी (राजा) की तरह देवताओं का अध्यक्ष ही नहीं है किन्तु उनका मूलभूत भी है। श्लोक में ‘देवताः’ यह स्त्रीलिङ्ग का निर्देश है इससे दैत्य सूचित करते हैं कि देवता स्त्री की तरह नगण्य हैं। महादेव और ब्रह्मा भी स्वतन्त्र नहीं हैं इस बात को “सेश्वराःसचतुर्मुखाः” से कहा है अर्थात् महादेव एव ब्रह्मा सहित सभी देवों का मूल भगवान् ही है अतः विष्णु का प्रतिकार करना चाहिये। उसके प्रतीकार के लिये ऋषियों का तथा उनसे प्रवर्तित धर्म का निराकरण करना आवश्यक है। यहां ऋषि पद से उनसे उपदिष्ट धर्म भी लिया गया है ॥४३॥

**श्रीसुबोधिनी** — एवं तेषां वचनं श्रुत्वा किं कृतवानिति आशङ्क्याह।

**अर्थ** — इस प्रकार दैत्यों के वचन को सुनकर कंस ने क्या किया सो कहते हैं ॥

**श्लोकः** — एवं दुर्मन्त्रिभिः कंसः सह सम्मन्त्र्य दुर्मतिः।

ब्रह्महिंसां हितं मेने कालपाशावृतोसुरः ॥४४॥

**अर्थ** — इस प्रकार वह कंस दुष्ट मन्त्रियों से मन्त्रणाकर खराब बुद्धिवाला हो गया और उसने ब्राह्मणों की हिंसा को अपना हित माना क्योंकि वह असुर होने से स्वभाव से दुष्ट था और कालपाश से आवृत भी था ॥४४॥

**श्री सुबोधिनी** — एवमिति, नन्वयं क्षत्रियो ब्राह्मणरक्षकः कथं ब्रह्महिंसां हितत्वेन मेने ? तत्राह दुर्मन्त्रिभिरिति, एते दुष्टा मन्त्रिणः, पर्यवसानदोषदर्शनाभावात्, तैः सह सम्यङ् मन्त्रणं कृत्वा दुर्मतिर्जातः बुद्ध्या हि सर्वनिर्णयः, बुद्धिनाशकस्तु दुःसङ्गस्तत्रापि मन्त्रित्वेन गृहीतः, अत एव ब्रह्महिंसा स्वस्य हितत्वेन मेने, ननु दुःसङ्गेऽपि कथं स्वाभाविको भावोन्यथा जात इति चेत् तत्राहासुरः कालपाशेनावृतश्च, असुरत्वात् स्वभावदुष्टः कालपाशावृत आपादग्रस्तः आपदि सर्वबुद्धिनाशो भवति, तत्रापि कालपाशपदाभ्यां महत्यापदा निरूपिता ॥४४॥

**व्याख्यार्थ** — इस प्रकार कुमन्त्रियों से मन्त्रणा कर ब्राह्मणों को मारना उसने अपना हितकर समझा। शङ्का होती है कि वह कंस क्षत्रिय है और क्षत्रिय ब्राह्मणों का

<sup>१</sup> श्रीपुरुषोत्तमजी अपनी प्रकाशाख्य टीका में लिखते हैं — श्री सुबोधिनी में जो “गुप्त” पद आया है इसका अर्थ यह है कि वह सुरक्षित स्थान में रहता है अथवा यो कहिये कि अन्तःकरण में रहने वाला है इसलिये अत्यन्त समीप है परन्तु जब अन्तःकरण ही अणु है तो उसमें रहनेवाला भगवान् तो अत्यन्त सूक्ष्म है और वह नित्य भी है अतः उसको मारना कठिन है। एक बात यह भी है वह अन्तःकरण में रहता है इसलिये हमारे विचारों को समझ कर अन्तर्हित हो सकता है। अन्तःकरण में रहने वाला तब ही मारा जा सकता है जब अन्तःकरण वाला स्वयं मरे। यदि स्वयं ही मर जाता है तो फिर दूसरे को कैसे मार सकता है इसलिये वह विष्णु मारा नहीं जा सकता।

रक्षक होता है तो फिर इसने ब्राह्मणों की हिंसा को हित कैसे माना तो कहते हैं कि जिनके साथ कंस ने मन्त्रण की वे दुष्ट मन्त्री थे क्योंकि उन्हें ऐसा करने पर परिणाम में क्या होगा इसका ज्ञान नहीं था। कंस ने उनके साथ मन्त्रणा की इसलिये वह भी दुर्बुद्धिवाला हो गया। बुद्धि से ही सब निर्णय होता है। बुद्धि का नाश करने वाला दुःसङ्ग है ऐसी स्थिति में यदि दुष्टों को ही मन्त्री बनाले तो फिर कहना ही क्या है। अत एव ब्राह्मणों की हिंसा को अपना हितकर माना। यदि कहें कि दुःसङ्ग होने पर भी उसका स्वाभाविक भाव कैसे बदल गया तो कहते हैं कि वह असुर होने से स्वतः स्वभावदुष्ट था और कालपाश से आवृत होने से आपदग्रस्त था। आपत्ति में भी जब सम्पूर्ण बुद्धि का नाश हो जाता है तो कालपाश से वेष्टित होने पर तो महाविपत्ति आती ही है। ऐसी दशा में उसकी बुद्धि के नष्ट होने में क्या आश्चर्य है। यह बात काल एवं पाश इन दोनों पदों से कही गई है ॥४४॥

श्री सुबोधिनी — एव बुद्धिभ्रंशे जाते यत्कृतवांस्तदाह ।

व्याख्यार्थ — इस प्रकार बुद्धि के नष्ट हो जाने पर कंस ने जो कुछ किया उसे कहते हैं।

श्लोकः — सन्दिश्य साधुलोकस्य कदने कदनप्रियान् ।

कामरूपधरान् दिक्षु दानवान् गृहमाविशत् ॥४५॥

व्याख्यार्थ — स्वयं पीड़ा देने की इच्छा वाले एवं इच्छानुसार रूप धारण करने वाले उन राक्षसों को सत्पुरुषों को पीड़ा देने के लिये दशों दिशाओं में जाने का आदेश देकर वह कंस अपने महल में चला गया ॥४५॥

श्री सुबोधिनी — सन्दिश्येति, साधुलोकस्य कदने पीडायां कदनप्रियान् स्वतोपि कदनेच्छून् कदनकरणार्थं तत्तत्साध कनानारूपधारकान् दशदिक्ष्वप्यादिश्य स्वविषयेन्यविषये च कामरूपधराणां सर्वत्रैव सामर्थ्यसंभवात्, दानवानिति, क्रूरान्, राक्षसमात्रे दानव प्रयोगः, स्वगृहमाविशत्, यथोपद्रवे कश्चित् प्रभोः स्थाने गतो दर्शनमेव न प्राप्नुयात्, एतदर्थं गृहे प्रवेशनम् ॥४५॥

व्याख्यार्थ — जो स्वयं ही पीड़ा देना चाहते थे और पीड़ा देने के लिये जो नानारूप धारण कर सकते थे उन्हें सत्पुरुषों को पीड़ा देने के लिये दशदिशाओं में अर्थात् अपने देश में और दूसरे देशों में कंस ने भेजा। जो इच्छानुसार रूप धारण कर सकते हैं उनका सर्वत्र जाने का सामर्थ्य होता है इसलिये उन्हें सर्वत्र भेजा। श्लोक में आये "दानव" शब्द का अर्थ क्रूर है। राक्षस मात्र में दानव शब्द का प्रयोग होता है। अर्थात् वह कंस उन क्रूर राक्षसों को जाने का आदेश देकर अपने महल में चला गया। उसने अपने महल में इस लिये प्रवेश किया कि यदि कोई इन राक्षसों के उपद्रव से दुःखी हो कर मेरे पास शिकायत करने आवे तो मैं न मिलूँ ॥४६॥

श्री सुबोधिनी — ते च ततोप्यधिकं कृतवन्त इत्याह ।

अर्थ — उन दैत्यों ने कंस की आज्ञा से भी अधिक कार्य किया, यह कहते हैं।

श्लोकः — ते वै रजः प्रकृतयस्तमसारूढचेतसः ।

सतां विद्वेषमाचेरुरारादागतमृत्यवः ॥४६॥

अर्थ — निश्चय कर के रजोगुण के स्वभाव वाले और आगन्तुक तमोगुण से व्याप्तचित्त वाले उन दैत्यों ने सत्पुरुषों के साथ द्वेष किया क्योंकि उन की मृत्यु पास ही आ गई। जो आसन्नमृत्यु होते हैं उन्हें कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान नहीं रहता ॥४६॥

श्री सुबोधिनी — वै निश्चयेन, ते स्वभावत एव रजः प्रकृतयः राजसाः क्रूरा भवन्ति, आगन्तुकेन च पुनस्तमसारूढं चित्तं येषां, पूर्वसिद्धविवेकनाशार्थं तमः, रजस्तमोभ्यां व्याप्ताः सात्त्विकान् द्विषन्त्येव, अतः सतां विद्वेष विशेषेण द्वेषो यस्मात् तां शमुपद्रवं धर्मधनादिनाशनमासमन्ताच्चेरुः कृतवन्तः, अनेन तेषां स्वरूपतोन्तःकरणनाशाद् धर्मतश्चोपद्रवं कृतवन्त इत्युक्तं भवति, ननु स्वाम्याज्ञातोधिकं किमर्थं कृतवन्तस्तत्राहारादागतमृत्यव इति मृत्युग्रस्तास्तथा कृतवन्तः, विकलो ह्यन्यथा करोत्येव ॥४६॥

व्याख्यानार्थ — निश्चय कर के स्वभाव से ही दैत्य रजोगुण की प्रकृतिवाले होते हैं, जो राजस होते हैं क्रूर होते हैं ॥ इस पर भी उन के चित्त में आगन्तुक तमोगुण व्याप्त हो गया। उन में पूर्व में रहे विवेक को नष्ट करने के लिये तमोगुण प्रविष्ट हो गया। ऐसी स्थिति में जो रजोगुण तमोगुण से व्याप्त हो जाते हैं वे सात्त्विक पुरुषों से द्वेष करते ही हैं। इस कारण से विशेषरूप से जिससे द्वेष हो जाय ऐसे उपद्रव की चारों ओर से करने लगे। इस श्लोक में यह सिद्ध हुआ कि उन दैत्यों के अन्तःकरण के स्वरूप का नाश हो गया। अन्तःकरण वैकारिक अहङ्कार से पैदा होता है और वह अन्तःकरण ज्ञान को पैदा करता है इसलिये अन्तःकरण स्वरूपतः सात्त्विक है, उस के उस स्वरूप का नाश रजो गुण से होता है और जब सत्त्वरूप अन्तःकरण रहता है तब उस में ज्ञान रहता है। उन के उस ज्ञान को तमोगुण ने नष्ट कर दिया इसलिये ज्ञान रूप धर्म के नहीं रहने से धर्मतः उसका नाश हो गया। तात्पर्य यह है कि अन्तःकरण का स्वरूप जो सात्त्विक था उसे रजोगुण ने नष्ट कर दिया और उस में होने वाले ज्ञान को तमोगुण ने नष्ट कर दिया अतः अन्तःकरण के स्वरूप का और उस के धर्म का नाश हो गया अतः दैत्यों ने उपद्रव किया। शङ्का करते हैं कि दैत्यों ने कंस की आज्ञा से भी अधिक कार्य किस लिये किया तो कहते हैं कि उन की मृत्यु पास ही आ गई अर्थात् वे मरणासन्न थे इसलिये ऐसा अनुचित कार्य किया। जो विकल होता है वह उलटा कार्य करता ही है ॥४६॥

श्री सुबोधिनी — माययैवैतत् कारितं सर्वनाशार्थमिति ज्ञापयितुं महदतिक्रमणस्य फलमाह।

अर्थ — दैत्यों के सर्वनाश के लिये माया ने ही महान् पुरुषों का अतिक्रमण कराया। इस बात को बताने के लिये महापुरुषों के अतिक्रम से क्या २ फल मिलते हैं यह कहते हैं।

श्लोकः — आयुः श्रियं यशो धर्मं लोकानाशिष एव च।

हन्ति श्रेयांसि सर्वाणि पुंसो महदतिक्रमः ॥४७॥

अर्थ — (शुकदेवजी कहते हैं कि) जो लोग महापुरुषों का अनादर करते हैं उन का वह कुकृत्य आयु, लक्ष्मी, यश, धर्म एवं उस से प्राप्त होने वाले स्वर्गादिलोक, पुत्र आदि जो भी अभीष्ट हैं उन को और अन्य सब कल्याणों को नष्ट कर देता है ॥४७॥

श्री सुबोधिनी — आयुश्रियमिति, जीवानां षड् उत्तमा गुणाः, तदभावे प्राण्यकृतार्थः स्यात्, तत्र प्रथममायुः, जीवतो हि सर्वं भवति, ततः श्रीः, स्पष्टस्तस्या उपकारः, ततो यशः कीर्तिः, ततोऽन्तरङ्गो धर्मः, तैः साध्या लोकाः स्वर्गादयः, तत्र लोके सर्वा एवाशिषः, चकारादैहिका अपि पुत्रादयः, एवकारेण

सर्वेषामेवाशीष्ट्वं प्रदर्शितं, अतो यस्य यदभीष्टं तदेव नाशयतीत्युक्तं भवति, अन्यथा गणिताश्चेत् तस्याभीष्टा न भवयुस्तदेष्टमेव चेष्टितमिति महदतिक्रमः किं कुर्यात् ? अतो यत्किञ्चिदेवाभीष्टं तदेव हन्ति, लोकसिद्धास्तु गणिताः, अनुक्तसर्वसङ्ग्रहार्थं सर्वाणीति पुंस इति, स्वतन्त्रस्यापि, महतो भगवदीयस्यातिक्रमः उल्लङ्घनं, महत्त्वं भगवत्सम्बन्धादेव, अन्यथाराग्रमात्रस्य कथं महत्त्वं स्यात्, एवं भगवच्चरितसिद्ध्यर्थं मायाकार्यं निरूपितम् ॥४७॥

इति श्री मद्भागवतसुबोधिण्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविर चितायां

दशमस्कन्धविवरणे चतुर्थाध्यायविवरणम् ॥४८॥

व्याख्यार्थ — श्लोक में बताये गये छः गुण जीवों में उत्तम हैं। उन के नहीं रहने पर प्राणी अकृतार्थ करता है। छः गुणों में पहली आयु है क्योंकि जीवित रहेगा तब ही तो सब कुछ करेगा। वह आयु महान् पुरुषों के अनादर से नष्ट हो जाती है। उस के बाद महान् पुरुषों का अतिक्रमण लक्ष्मी को नष्ट करता है। लक्ष्मी से जो उपकार होता है वह स्पष्ट ही है। तदनन्तर यश, तत्पश्चात् अन्तरङ्ग, धर्म और उस से होने वाले स्वर्गादिफल, लोक के सभी वाञ्छनीय और श्लोक में आये चकार से लिये गये पुत्रादि जो ऐहिक फलरूप माने जाते हैं, वे और एवकार से जितने भी जीव को अभीष्ट हैं वे सब लिये गये हैं अर्थात् जिसको जो भी अभीष्ट है उन सब को महापुरुषों का अतिक्रमण नष्ट कर देता है। यदि ऐसा नहीं कहा जाय तो श्लोक में गिनाये गये यदि किसी को अभीष्ट न हो तो महापुरुषों के अतिक्रमण से उन का कुछ नहीं बिगड़ेगा। इसलिये यह कहना आवश्यक है कि जिसको जो भी कुछ अभीष्ट है वह सब नष्ट हो जाता है। लोकसिद्ध आयु आदि को तो गिना दिया अब जिन को नहीं गिनाया गया उन के संग्रह के लिये कहते हैं कि "सर्वाणि" अर्थात् सब कुछ कल्याण नष्ट हो जाते हैं। श्लोक में जो "पुंसः" यह आया है उस का तात्पर्य यह है कि पुरुष स्वतन्त्र होता है, उस के भी उपर्युक्त सभी नष्ट हो जाते हैं। श्लोक में आये "महान्" का अर्थ भगवदीय है अर्थात् जो भगवद्भक्त होता है वह महान् होता है उस का उल्लङ्घन यह सब कुछ करता है। जीव भगवान् के सम्बन्ध से ही महान् बनता है। यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो ब्रीहि के अग्रभाग के समान जीव महान् कैसे बन सकता है अतः यह समझना चाहिये कि जीव में महत्ता भगवत्सम्बन्ध से ही आती है। क्योंकि भगवान् महान् हैं इसलिये उस से सम्बन्ध करने वाला जीव महान् बन जाता है। जैसे अग्नि के सम्बन्ध से जल में उष्णता आती है वैसे ही भगवान् के सम्बन्ध से भगवान् की महत्ता जीव में आती है। इस प्रकार सब को दुःख देना रूप जो माया का कार्य हुआ वह अनिरुद्ध द्वारा धर्म रक्षा कराने में कारण हुआ। यदि माया कंस से इतना उपद्रव नहीं कराती तो अनिरुद्ध व्यूह का चरित्र जो धर्मरक्षणरूप है वह नहीं होता। इति शम्

चतुर्थाध्याय का अनुवाद समाप्त हुआ।

अनुवादक — आनन्दीलाल शास्त्री नाथद्वारा

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ❖ श्रीमद्भागवत महापुराण ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित - सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

### तामस प्रकरण

‘प्रमाण’ अवलम्बित प्रकरण



प्रथम अध्याय

श्रीमद्भागवतानुसार : पञ्चम अध्याय



जन्म प्रकरण संगतिकारिका

तामस प्रकरणान्तर्गत प्रमाण-प्रकरण की कारिकाओं का हिन्दी अनुवाद

कारिका — एवं चतुर्धिरध्यायैर्जन्म विष्णोर्निरूपितम् ।

हेतूद्यमोत्तराङ्गैश्च राजसादि गुणैर्युतम् ॥ १ ॥

कारिकार्थ — इस प्रकार दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध के प्रथम चार अध्यायों में हेतु, उद्यम और उत्तरांग से, राजसादि गुणों से युक्त, श्री विष्णु के जन्म का निरूपण<sup>१</sup> हुआ ।

व्याख्यानार्थ — जन्म प्रकरण के चार अध्यायों को सम्पूर्ण करने के बाद दूसरा तामस प्रकरण प्रारम्भ करते हैं । इस तामस प्रकरण के साथ जन्म प्रकरण की संगति<sup>२</sup> बतलाने के लिये यह ‘एवं चतुर्भिः’ कारिका कही गई है ।

कारिका — सप्त सप्ततिभिः कृत्यं हरेस्त्र निरूप्यते ।  
 भगवान् स्वेन धर्मैश्च सप्तधैका दशेन्द्रियैः ॥ २ ॥  
 कृत्यं चकार यस्माद्धि ततस्तावद्धिरुच्यते ।  
 त्रिविधानि च कर्माणि त्रिविधानां हिताय च ॥ ३ ॥

कारिकार्थ — यहाँ जन्म प्रकरण कह कर अब भगवान् की लीला सतहत्तर अध्यायों में वर्णन की जाती है ।

प्रकाश—

शङ्का — जब भगवान् का जन्म तीसरे अध्याय में हुआ है तो अब तीन अध्यायों में जन्म निरूपण कहना सङ्गत नहीं है ।

समाधान — इस शङ्का के समाधानार्थ कहते हैं कि यद्यपि भगवान् के प्राकट्य का तीसरे अध्याय में वर्णन है, तो भी शेष (पहला, दूसरा और चौथा) अध्याय भी जन्म प्रकरण के हैं । क्योंकि पहले और दूसरे अध्यायों में जन्म के कारण 'हेतु' एवं 'उद्यम' का वर्णन है और चौथे अध्याय में माया का कार्य भगवत्प्राकट्य में सहायक है; अतः 'हेतु' और 'उद्यम' ये दोनों जन्म के पूर्वाङ्ग हैं और माया का कार्य उत्तराङ्ग है । इसलिये पूर्वाङ्ग एवं उत्तराङ्ग सहित प्राकट्य का वर्णन एक ही प्रकरण का विषय होने से चार अध्याय जन्म प्रकरण के मानने में कोई असङ्गति नहीं है ।

प्रकाशकार 'अथवा' कहकर दूसरे प्रकार से शङ्का का समाधान करते हैं -

'रजसादि गुणैः युतं जन्मः' इस पंक्ति से रजस, तामस और सात्त्विक भक्तों से लीला कारणार्थ स्वरूप भूत व्यूहों की आवश्यकता होगी और वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध का एक एक अध्याय में पृथक् पृथक् वर्णन होने से चार अध्याय जन्म प्रकरण के हैं । इस प्रकार से भी असंगति मिट जाती है ।

शङ्का — यदि यह कहा जाय कि चारों अध्यायों में वासुदेवादि चार स्वरूपों का प्राकट्य है इसलिये चार अध्याय जन्म प्रकरण के हैं तो इसका अर्थ यह हुआ कि पूर्ण पुरुषोत्तम का जन्म हुआ ही नहीं ?

समाधान—पुरुषोत्तम स्वरूप तो अजन्मा है किन्तु 'अजायमानो बहुधा विजायते' 'अजन्मा ब्रह्म अनेक प्रकार से प्रकट होता है' इस श्रुति के अनुसार वासुदेवादि व्यूहात्मक स्वरूपों के जन्म से ही 'पुरुषोत्तम' का जन्म माना जाता है । इसलिये कारिका में 'विष्णोः जन्मः' (जिस व्यापक सर्वात्म स्वरूप में व्यूहादि स्वरूप भी स्थित है उस पूर्ण पुरुषोत्तम स्वरूप का प्राकट्य हुआ है) पद दिया है ।

लेख—

पूर्वाङ्ग — १. भगवान् के जन्म का हेतु भक्त-दुःख है । यह पहले अध्याय का अर्थ है ।

२. भगवान् के जन्म का हेतु उद्यम (माया को आज्ञा देना आदि है) यह दूसरे अध्याय का अर्थ है ।



भगवान् ने अपने स्वरूप एवं धर्मों से सात प्रकार से भक्तों की एकादश इन्द्रियों से लीलाएँ कीं, इससे सतहत्तर अध्यायों से लीला का वर्णन किया जाता है।

तामस, राजस और सात्त्विक तीन प्रकार के भक्त हैं उनके हित के लिये भगवान् ने तीन प्रकार से लीलाएँ की हैं।

व्याख्यानार्थ — इन कारिकाओं में श्री महाप्रभुजी ने सतहत्तर अध्यायों का कारण व भावार्थ बताया है कि भगवान् ने भक्तों की प्रत्येक इन्द्रिय<sup>१</sup> से सात प्रकार<sup>२</sup> से लीला की है इसलिये सतहत्तर<sup>३</sup> अध्याय हैं : —

३. रूपान्तर स्वीकरण (द्विभुज बाल रूप होना) तीसरे अध्याय का अर्थ है। कारिका में 'च' दिया है, इसका आशय है कि द्विभुज रूप में यह चतुर्भुज स्वरूप भी विराजमान है।

उत्तराङ्ग — ४. 'हेतूद्यमोत्तराङ्गैः' यह समासान्त पद इसलिये दिया है कि ये दोनों साक्षात् भगवान् ने किये हैं। माया द्वारा किये हुए कार्यों का वर्णन चतुर्थ अध्याय में है।

५. 'रजसादि गुणैः युतं जन्म' राजसादि गुणों के साथ जन्म हुआ। इसका आशय बताते हैं कि चतुर्थ अध्याय में माया के कार्य 'व्यामोह' को सिद्ध करने के लिये यह पंक्ति दी है क्योंकि 'व्यामोह' करना रजोगुण का कार्य है जो माया के द्वारा हुआ है। इसलिये 'माया का कार्य व्यामोह' चौथे अध्याय का अर्थ है।

यद्यपि पहले तामस प्रकरणीय लीलाओं से प्रारम्भ होने से यहाँ (कारिका में) 'तामसादि गुणैः' कहना चाहिए था वह न कहकर आपने 'रजसादि गुणैः' कहा है। उसका आशय लेखकार बताते हैं कि सृष्टि उत्पत्ति आदि लीला में, प्रथम रजोगुण का कार्य — उत्पत्ति होता है। उस क्रम को लेकर 'रजसादि गुणैः' कहा है और प्रथम कारिका के चतुर्थ पद का द्वितीय कारिका के पहले आधे भाग के साथ अन्वय करते हैं जैसे कि 'अत्र रजसादि गुणैः युतं हरेः कृत्यं सप्त सप्ततिभिः निरूप्यते'। यहाँ सतहत्तर अध्यायों में राजसादि गुणों से युक्त हरि की लीलाओं का वर्णन किया जाता है।

दशम स्कन्ध में ९० अध्याय हैं उनमें तीन प्रक्षिप्त निकालने से शेष सत्तासी बचते हैं। छः अध्यायों में भगवान् ने केवल ऐश्वर्यादि छः गुणों से लीलाएँ की हैं, उन छः को एवं चार 'जन्म प्रकरण' के अध्यायों को पृथक् करने से शेष सतहत्तर रहते हैं। उनमें भगवान् ने उपर्युक्त प्रकार से लीलाएँ की हैं।

योजनाशय — जैसे कि जब निरोध्य (भगवान्) भक्त के नेत्रों का विषय स्वयं बन जाते हैं तब भक्त के नेत्रों में भगवान् का आनन्दमय स्वरूप एवं आनन्दमय लीलाओं का ही दर्शन होता रहता है जिससे वह भक्त पपञ्च भूल जाता है और उस आनन्द में लीन होकर आनन्दी हो जाता है। "स्संलब्ध्वा आनन्दी भवति" श्रुति के अनुसार जीव अपने भूल रस स्वरूप को पाकर स्वयं भी आनन्द रूप हो जाता है।

१ - भक्तों की ग्यारह इन्द्रियों से

२ - एक भगवान् का स्वरूप और छ भगवान् के धर्म इस प्रकार सात प्रकार से।

३ - ग्यारह को सात से गुणा करने पर गुणनफल सतहत्तर होते हैं।

कारिका — तत्त्वातिक्रमणे रोधः तामसे राजसे भवेत् ।

कालातिक्रमणे शिष्टे कालस्तत्रैकविंशतिः ॥ ४ ॥

कारिकार्थ — अट्ठाईस तत्त्वों का अतिक्रमण कर, तामस एवं राजस प्रकरण में, तामस तथा राजस भक्तों का निरोध किया है । इक्कीस प्रकार के काल का अतिक्रमण<sup>१</sup> कर, सात्त्विक प्रकरण में, सात्त्विक भक्तों का निरोध किया है ।

व्याख्यानार्थ — तामस प्रकरण में निरोध करने योग्य तामस भक्तों का अट्ठाईस अध्यायों में की हुई लीलाओं द्वारा निरोध<sup>२</sup> हुआ है । एक एक अध्याय की लीला से एक एक तत्त्व का अतिक्रमण<sup>३</sup> भगवान् ने किया है, इसलिये अट्ठाईस तत्त्वों का अतिक्रमण<sup>३</sup> अट्ठाईस अध्यायों में हो जाने से तामस भक्तों का निरोध सिद्ध किया है । ऐसे ही राजस प्रकरण के अट्ठाईस अध्यायों से राजस भक्तों का निरोध सिद्ध किया । सात्त्विक भक्तों का निरोध इक्कीस अध्यायों की लीला द्वारा हुआ । कारण कि वहाँ भगवान् ने एक विंशति (इक्कीस) प्रकार के काल<sup>४</sup> का इक्कीस अध्यायों में की हुई लीलाओं द्वारा अतिक्रमण<sup>३</sup> किया है । कालातिक्रमण से सात्त्विक भक्तों का निरोध सिद्ध किया है ।

सात्त्विक भक्तों को प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है । इसलिये इस सात्त्विक प्रकरण में प्रमेय के सात साधन के सात और फल के सात अध्याय हैं । तीनों मिलाकर समग्र सात्त्विक प्रकरण में इक्कीस अध्याय है ।

कारिका — “द्वादशमासाः पञ्चतवस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश” इति श्रुतेः  
लौकिकेषु तु धर्मेषु यत्रैव हरिवेशनम् ।

निवर्तते तदेवात्र बहेर्दारुमये यथा ॥ ५ ॥

इसी प्रकार भगवान् अपने ऐश्वर्यादि छः धर्म एवं सातवें धर्मों स्वरूप से (सात प्रकार के स्वरूपों से) भक्तों की ग्यारह इन्द्रियों द्वारा भक्तों को आनन्द दान (रसदान) करते हैं । इसका अनुभव (पान) कर ब्रजभक्तों ने कहा है कि ‘अक्षण्वतां फलमिदं’ इन्द्रिय धारियों का यही फल है । इस प्रकार सतहत्तर प्रकार की लीलाओं के कारण सतहत्तर अध्याय है ।

१ - लोप ।

२ - प्रपञ्च विस्मृति और भगवान् में आसक्ति ।

३ - तत्त्वों एवं काल के धर्मों का लोप ।

४ - काल इक्कीस प्रकार का है - जैसा कि श्रुति कहती है कि ‘द्वादशइमे मासाः पञ्चऋतवः त्रय इमे लोकाः असौ आदित्यः ।’ बारह मास, पांच ऋतु, तीन लोक और एक सूर्य यों काल २१ प्रकार का है । ऋतु छः हैं, यहाँ जो पाँच लिखी है सो हेमन्त और शिशिर को एक करके लिखा है ।

**कारिकार्थ** — श्रुति कहती है कि बारह मास, पाँच ऋतुएँ, तीन लोक, एक आदित्य ऐसे काल इक्कीस प्रकार का है। जहाँ भी लौकिक धर्मों (देह इन्द्रियादि रूप तत्त्वों) में भगवान् विराजमान (प्रविष्ट) होते हैं वहाँ उन तत्त्वों के प्राकृत (लौकिक) धर्मत्व नष्ट हो जाते हैं और वे भगवद्रूप हो जाते हैं; जैसे कि लकड़ी में आग प्रविष्ट होती है तो लकड़ी का लकड़ीपन लुप्त हो जाता है और वह अग्निरूप हो जाती है।

**व्याख्यार्थ** — अट्ठाईस तत्त्वों एवं इक्कीस प्रकार के काल के अतिक्रमण का प्रकार बताते हैं : अतिक्रमण का तात्पर्य है उन तत्त्वों तथा काल के धर्म उनमें से लुप्त हो जावें और उनमें भगवद्धर्म प्रविष्ट हो जाय, जिससे भक्तों पर "तत्त्वों" एवं "काल" के लौकिक धर्मों का प्रभाव न हो, किन्तु भगवद्धर्म का प्रभाव हो जिससे उनकी प्रपञ्च की आसक्ति छूट जावे और भगवदासक्ति हो जावे। इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि काष्ठ में जब अग्नि का प्रवेश होता है तब काष्ठ से काष्ठ के धर्म लुप्त होकर, अग्नि के धर्म काष्ठ में आ जाते हैं उस समय उस पर हाथ रखने से हाथ में उष्णता प्रवेश करती है। तत्त्व एवं काल में भगवद्धर्म प्रविष्ट होने से वे (तत्त्व एवं काल) भी भगवद्रूप हो कर भक्तों के निरोध में सहायक होते हैं। अर्थात् भक्तों के तत्त्वरूप देहेन्द्रियादि में भगवान् के प्रविष्ट होने से उनकी लौकिकता नष्ट हो कर, उनमें अलौकिकत्व आ जाता है। जिससे प्रपञ्च विस्मृति हो कर अलौकिक भगवद्रूप में आसक्ति होती है। इसी प्रकार सात्त्विक प्रकरण में काल का प्रभाव नष्ट हो जाता है। जिससे उन भक्तों का भी निरोध सिद्ध होता है।

**कारिका** — स्वभावस्यान्यथा भावो न वै शक्यः कथञ्चन।

अतस्त्रिविधजीवेषु त्रिविधा भगवत्कृतिः ॥ ६ ॥

**कारिकार्थ** — स्वभाव किसी भी प्रकार बदल नहीं सकता है, इसलिये तीन प्रकार के जीवों के साथ भगवान् ने तीन प्रकार से लीला की है।

**व्याख्यार्थ** — जीव (स्वयं) तो अपने स्वभाव बदल नहीं सकते हैं, यदि वे स्वभाव को बदल कर लीला करते तो लीला तो हो सकती थी; किन्तु उसमें एक ओर तो भगवान् को परिश्रम होता व दूसरी ओर लीला में रसालता न आती एवं विविधता भी न होती। अतः भगवान् ने सर्वकरण समर्थ एवं निर्गुण स्वरूप होते हुए भी, भक्त के स्वभावानुकूल लीलाएँ कीं। जिससे इस कार्य में भगवान् की भक्तवत्सलता, परम दयालुता तथा भक्ति मार्ग की उत्तमता सिद्ध होती है।

प्रपञ्च में गुणानुसार तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं — कोई सात्त्विक, कोई रजस तो कोई तामस। इससे उनके स्वभाव भी एक प्रकार के नहीं होते हैं। भगवान् परमोत्तम शिक्षक, दयालु एवं उद्धारक हैं, इसलिये 'स्थितस्य गतिः चिन्तनीया' इस न्यायानुसार भक्त का मानदण्ड विचार

स्वयं भक्त स्वभावानुकूल बन, उस प्रकार की लीलाएँ कर, सब का उद्धार करते हैं ।<sup>१</sup>

**कारिका — लौकिकं तामसे मुख्यं कामान्ताच कृतिः स्फुट्य ।**

**कामोद्भूते तथा प्रीतिस्तेनादौतत्रिरूप्यते ॥ ७ ॥**

**कारिकार्थ —** तामस में लौकिक मुख्य है । इसलिये इस तामस प्रकरण में काम लीला का स्पष्ट वर्णन है । तामस में जब काम उत्पन्न होता है तब ही प्रीति होती है । इसलिये तामस प्रकरण का पहले वर्णन किया है ।

**व्याख्यार्थ —** भक्ति मार्ग में पुरुषोत्तम स्वरूप ही परमोत्तम मुख्य फल है, अन्य मोक्षादि फल तो पुरुषोत्तम के सम्बन्ध से ही फल माने जाते हैं । भगवान् को पूर्ण निरोध करना है, वह उन भक्तों में हो सकता है, जो स्थिरमति गूढ़ आग्रही हों । जिन जीवों की बुद्धि ऐसी होती है कि जिसको वे एक बार अपना लेते हैं, उसका वे कदापि त्याग नहीं करते; वे होते हैं तामसी बुद्धि वाले । सात्विक बुद्धि वाले शास्त्रीय सिद्धान्त में रुचि वाले होते हैं; उनको जैसा कोई मार्ग बताता है, उसमें उनकी प्रवृत्ति हो जाती है, वे लोग प्रायः अस्थिर (चंचल) विचार वाले होते हैं । राजस गुण वाले विक्षिप्त चित्त वाले होते हैं, जिससे लौकिक तथा अलौकिक में आसक्त होने से उनको स्वरूप विस्मृति हो जाती है । अतः इन दोनों का पूर्ण निरोध उस प्रकार से नहीं हो सकता है जैसा कि तमोगुण वालों का होता है । तमोगुण वालों में लौकिक मुख्य है । ब्रज भक्तों में तमोगुण के कारण मूढ़ता थी, इसलिये जिसमें भी उनका आग्रह हो गया उसे उन्होंने कभी छोड़ा नहीं । लौकिक में भी यही सर्वत्र देखा जाता है । ब्रजवासियों का प्रकट पूर्णानन्द श्रीकृष्ण स्वरूप में ऐसा दृढ़ स्नेह हो गया था, जो वे उस स्वरूप के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहते थे । उन्होंने भगवान् के उपदिष्ट धर्म एवं उद्धव के द्वारा लिये हुए ब्रह्मज्ञान को भी तिलांजलि दे दी ।<sup>२</sup> इन कारणों से सर्वात्मभाव से पूर्ण निरोध इन ब्रजभक्तों को ही सिद्ध हुआ है । इसलिये पुष्टिमार्ग की गति, मर्यादा मार्ग से विपरीत है । इसको समझाने के लिये ही इस प्रकरण को तामस प्रकरण कहते हैं । वास्तव में तो

१ — आजकल के हमारे माई 'मनोविज्ञान' के अनुकूल शिक्षार्थी को शिक्षा देने की परिपाटी को नवीन पश्चिम से आई हुई समझते हैं; किन्तु यह परिपाटी प्राचीन भारतीय है । इस कारिका एवं भगवत् लीला से यह सिद्ध होता है ।

२ — इस भाव का प्रदर्शन निम्नलिखित सवैये में स्वयं एक ब्रजभक्त करती है :

ऊधो योग सिखावत हो, हम एक ही रंग रंगी रंग डोरो ।  
ओर को नाम कदापि कदे तो हलाहल में रसना गह बोरो ।  
कवि ठाकुर एक ही टेक को, जानते हैं ब्रजवासी सुभाव है मोरो ।  
ऊधो ये अंखियां जर जाँय, जो सांवरो छाँड तके रंग गोरो ।

यह प्रकरण निर्गुण ही है। 'न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह' इति भगवद्वाक्यात्। इस भक्ति मार्ग में ज्ञान एवं वैराग्य भी श्रेय देने वालों नहीं है क्योंकि ऐसे भक्त तो भगवत्स्वरूपानन्द के अतिरिक्त नरक, स्वर्ग एवं मोक्ष को भी एक समान समझते हैं। इसलिये यह भक्ति, ज्ञानादि सर्व मार्गों से उच्च कोटि की मानी जाती है। भगवान् में ही एकनिष्ठ विशुद्ध भाव वाले भक्त ही सब से उत्तम हैं, यह शास्त्रसिद्ध सिद्धान्त है। प्रेमस्वरूप परमात्मा में प्रेम भाव ही लौकिक है; यह तामस प्रकरण में मुख्य, जैसा कि कहा है कि 'प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यागमन् प्रथाम्' गोपियों का प्रेम ही लोक में काम नाम से प्रसिद्ध हुआ।

व्रज भक्तों ने ब्रह्म को सर्व व्यापक, सर्व का अन्तरात्मा जान कर भी, उसके उस स्वरूप से बाहर प्रकट स्वरूप व्रजविहारी श्याम को ही अपना विशेष प्रेमास्पद बनाया और वे उस निश्चय से रज्ज्व मात्र भी न हटे।

मर्यादा मार्ग से इस पुष्टि भक्ति मार्ग की विशेषता यह है कि जो "काम" मर्यादा मार्ग में मुक्ति का प्रतिबन्धक<sup>१</sup> है, वही "काम" यहाँ गणित ब्रह्मानन्द से विशेष, अगणित आनन्द रूप, अन्तिम फल का दाता है। इस विषय में असम्भावना नहीं समझनी चाहिये क्योंकि आगे लीला से यह स्पष्ट सिद्ध होगा।

मर्यादा मार्ग में, मर्यादा, भक्ति अथवा ज्ञान से, भगवान् का प्राकट्य होता है। पुष्टि भक्ति में, 'काम' से, अर्थात् प्रभु प्राप्ति की आन्तरिक अनवच्छिन्न<sup>२</sup> चाह से भक्त में दीनता आती है, जिस दीनता से प्रभु प्रकट होते हैं। उस स्वयं प्रकट आनन्द स्वरूप में, भक्त का गाढ़ स्नेह होता है न कि मर्यादानुसारी स्नेह होता है। इस प्रकरण में भगवान् ने निःसाधन दीन भक्तों को, वह भजनानन्द दिया, जो साधनों से अप्राप्य एवं ब्रह्मादिकों को भी दुर्लभ है। भगवान् ने व्रज-भक्तों की अधीनता स्वीकार की किन्तु स्वयं भगवान् में भी भक्तों के लिये काम या चाहना होती है। इसी प्रकार भक्त एवं भगवान् दोनों में परस्पर मिलने की चाह से दोनों में गाढ़ स्नेह उत्पन्न होता है। उस उत्पन्न अलौकिक स्नेह से ही लीलाएँ हुई हैं।

कारिका — बाललीला मध्यलीला प्रौढलीला तथैव च ।

कामलीलेति लोके वै चतस्रः सुखदाः स्मृताः ॥ ८ ॥

कारिकार्थ — लोक में निश्चय से चार प्रकार की लीलाएँ (बाल लीला, मध्य लीला, प्रौढ लीला और काम लीला) सुख देने वाली होती हैं।

१—रुकावट डालने वाला । २—लगातार ।

**व्याख्यानार्थ** — तामस प्रकरण में चार अवान्तर प्रकरण हैं, जिनके नाम 'प्रमाण', 'प्रमेय', 'साधन' और 'फल' हैं। इस श्लोक में जिस प्रकरण में जो जो लीला की है, वह बतलाते हैं। पहले प्रमाण प्रकरण में बाललीला की है। दूसरे प्रमेय प्रकरण में मध्य लीला (पौगण्ड्र<sup>१</sup>), तीसरे साधन प्रकरण में प्रौढ़ लीला और चौथे प्रकरण में कामलीला (कलात्मक लीला) की है। ये भगवान् की चारों लीलाएँ भक्तों को सुख देने वाली हैं।

**कारिका** — एकं भगवतः कार्यं बह्वर्थानां च साधकम् ।

प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा तदासक्तिश्च वर्ण्यते ॥ ९ ॥

**कारिकार्थ** — भगवान् की एक लीला बहुत अर्थों (कार्यों) को सिद्ध करती है। समग्र प्रपञ्च की विस्मृति<sup>२</sup> और भगवान् में पूर्ण आसक्ति का वर्णन है।

**व्याख्यानार्थ** — उपर्युक्त बाल, मध्य, प्रौढ़ एवं कामलीला चारों लीलाएँ भगवान् ने मनुष्य रूप तथा लौकिक रीति से दिखाई हैं। तब भगवान् को मनुष्य समझने से उनका निरोध कैसे सिद्ध हुआ होगा ? इस शंका की निवृत्ति इस कारिका से करते हैं कि भगवान् की एक लीला बहुत कार्य सिद्ध करती है। जैसे कि पूतना के दूध को पीते हुए उसके प्राण लेने की एक ही लीला से अनेक कार्य सिद्ध किये :—

(१) अपना वीर्य प्रकट किया, (२) पूतना की मुक्ति, (३) लोक और वेद में अपने प्रमेय बल की विशेषता, (४) पूतना ने जिन बालकों का भक्षण किया था उनका उद्धार, (५) दूसरों (बचे हुए बालकों) की रक्षा, (६) माहात्म्य ज्ञान से ब्रजवासियों का श्रीकृष्ण में स्नेह होना, (७) लीला सुनने से विस्मय आदि अनेक कार्य हुए। वैसे ही अन्य लीलाओं से भी अनेक कार्य हुए।

**कारिका** — येनैव त्रिविधा भक्ता न स्मरन्ति जगत् क्वचित् ।

कृष्णे च सन्नतात्मानस्तत्कार्यं भगवत्कृतम् ॥ १० ॥

**कारिकार्थ** — प्रपञ्च की विस्मृति और भगवदासक्ति के कारण ही तीनों प्रकार के भक्त कभी भी जगत् का स्मरण नहीं करते हैं और सर्वदा कृष्ण में ही मन वाले (यह समझ कर) होते हैं कि यह कार्य भगवान् ने किया है।

१—पाँच वर्ष से ग्यारह वर्ष की आयु में की हुई लीला।

२—भूल जाना।

**व्याख्यार्थ** — बलदेवजी ने भी लीलाएँ की हैं तो इससे सब चरित्र श्रीकृष्ण चरित्र कैसे माना जाय ? इसके उत्तर में कहते हैं कि फलितार्थ से जाना जाता है कि सम्पूर्ण लीलाएँ भगवान् की ही हुई हैं । इसलिये सब भक्त श्रीकृष्ण स्वरूप में ही नतात्मा (आसक्त) हैं । बलदेव चरित्र भी पुरुषोत्तम का ही चरित्र है । क्योंकि वे लीलाएँ श्रीकृष्ण स्वरूपाविष्ट बलदेवजी ने की हैं । अर्थात् वे लीलाएँ, उन बलदेवजी ने की हैं, जिनमें भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप प्रवेश कर चुका था, न कि केवल बलरामजी ने की हैं । इसलिये, मुख्य स्वरूप लीलाकर्ता, श्रीकृष्ण ही थे; अतः सबों का निरोधादि श्रीकृष्ण में ही हुआ है । इसीलिये ब्रह्माजी ने कहा है कि 'बल, पार्थ, भीष्म व्याजाहूयेन' अर्थात् बलराम, अर्जुन, भीष्मादिक के तो केवल नाम मात्र हैं वास्तव में सब कुछ आपने ही किया है ।

**कारिका** — बाललीला सप्तविधा प्रथमं सा निरूप्यते ।

बालभावरता ये हि तेषां रोधस्ततो भवेत् ॥ ११ ॥

**कारिकार्थ** — सात प्रकार की बाललीला है । बाल भाव के प्रेमी भक्तों का बाललीला से निरोध होता है । इसलिये प्रथम उसका निरूपण है ।

**व्याख्यार्थ** — तामस प्रकरण में बाल लीला का वर्णन प्रमाण उप-प्रकरण के सात अध्यायों में किया गया है । सात अध्याय इसलिये हैं कि भगवान् ने बाललीला सात प्रकार से करके, जो जो भक्त जिस जिस बाल भाव का प्रेमी था उसका उस उस लीला द्वारा निरोध सिद्ध किया है ।

**कारिकाएँ** — उत्सवाविष्टचित्ता ये ह्याश्चर्याभिनिवेशिनः ।

अलौकिकरता ये च ये चोपद्रवणोत्सुकाः ॥ १२ ॥

स्त्रीस्वभावरता ये वै ये च तत्त्वे च लौकिके ।

सर्वोद्योगपरा ये च तेषां रोधो निरूप्यते ॥ १३ ॥

जन्मोत्सवो हरेरत्र पञ्चमे विनिरूप्यते ।

आवश्यकं परित्यज्य कृतं तदिति चोच्यते ॥ १४ ॥

अन्यथा ज्ञानशङ्का च तेनैव विनिवार्यते ।

उत्सवस्त्वन्यथा न स्यात् द्रव्यानयनमेव च ॥ १५ ॥

आसक्ति बोधनार्थाय तस्यान्ते भयवर्णनम् ॥ १५½ ॥

**कारिकार्थ** — (१) उत्सव में आविष्ट चित्तवाले, (२) आश्चर्ययुक्त मन वाले, (३) अलौकिक के प्रेमी, (४) उपद्रव देखने की इच्छा रखने वाले, (५) स्त्री स्वभाव वाले, (६) लौकिकत्व के चाहने वाले, (७) सर्व प्रकार के उद्यमशील । इन सात प्रकार के भक्तों के निरोध का वर्णन किया है ।

पाँचवे अध्याय में भगवान् के प्रकट होने के उत्सव का वर्णन किया गया है वह उत्सव नन्दरायजी ने आवश्यक कार्य छोड़ कर किया है ।

इससे अर्थात् आवश्यक कार्य जन्मोत्सव करने से ही अन्यथा ज्ञान की शङ्का (यह बालक दूसरे का पुत्र है) को मिटया गया है । यदि यह शंका न मिटी होती तो उत्सव होता ही नहीं और न भगवान् के उत्सव के लिये इतने उत्तम सामान मंगाये जाते ।

नन्दरायजी की आसक्ति को जताने के लिये राजा कंस को कर<sup>१</sup> देने के बाद भय का वर्णन है ।

व्याख्यानार्थ — तामस प्रकरण के प्रथम 'प्रमाण अवान्तर प्रकरण' में सात अध्याय इसीलिये हैं कि इसमें की हुई बाल लीला के अधिकारी सात प्रकार के हैं । उन सात प्रकार के अधिकारियों के स्वभाव का वर्णन बारहवें तथा तेरहवें श्लोक में करते हैं ।

भगवान् में आसक्त चित्त वाले भक्तों के हृदय में भगवान् के सम्बन्ध मात्र से सकल लीलाएँ स्फुरित हो जाती हैं ।

पाँचवे अध्याय में नन्दरायजी द्वारा किये हुए भगवान् के प्रकट होने के उत्सव से 'उत्सव' में आविष्ट<sup>२</sup> चित्त वाले भक्तों का निरोध सिद्ध हुआ ।

छठे अध्याय में हरि के शरण जाने से ही भय-निवृत्ति हो सकती है, ऐसा बताने वाली लीला ही तत्त्व है तथा अनधिकारी जीव की मुक्ति से 'प्रेमय बल' का तत्त्वपना बताया गया है । नारदोक्ति के द्वारा लोक तत्त्व जताया है इत्यादि । लौकिक एवं परमार्थ तत्त्वों की लीला से शरणागत हीन तत्त्व से प्रेमी भक्तों का निरोध सिद्ध किया गया है ।

सातवें अध्याय के 'शकटभञ्जनादि' लीला से भगवान् ने आश्चर्ययुक्त मन वाले, भक्तों का निरोध सिद्ध किया है ।

आठवें अध्याय में, भगवान् पुरुषोत्तम के, गर्गजी से कहे गए, कृष्ण वासुदेव आदि नामों को, अलौकिक ही समझने वाले प्रेमी भक्त का, रिंगण लीला भी, दैत्यनाशपूर्वक भक्तों का, इष्ट साधन वाली अलौकिक है । यों समझने वाले, आश्चर्ययुक्त प्रेमी भक्तों का, लोक में निन्दित,

१—मालगुजारी । २—लगे हुए ।



चौर्य<sup>१</sup>, मृत्स्ना भक्षण<sup>२</sup>, मुखारविन्द में विश्वदर्शन आदि लीलाओं के अलौकिकत्व से आश्चर्य-चकित भक्तों का निरोध सिद्ध किया है ।

नवम् अध्याय में दधिभाण्डादि<sup>३</sup> तोड़ने के उपद्रवों<sup>४</sup> को भी अलौकिक समझने वाले उपद्रव-प्रिय भक्तों का निरोध सिद्ध किया है । दशवें अध्याय में नलकूबर, मणिग्रीव की लीला से, स्त्रीभाव (राजस और तामस भाव) में, प्रेम वाले (स्त्री स्वभाव-रत) भक्तों का निरोध सिद्ध किया गया है ।

सात प्रकार की लीलाओं से इस तरह सात अध्यायों में सात प्रकार के अधिकारियों का निरोध सिद्ध किया गया है ।

## तामस-प्रकरणांतरगत

प्रमाण — प्रकरण



प्रथम अध्याय



श्री शुक उवाच

श्लोक : — नन्दस्त्वात्मज उत्पन्ने जाताल्हादो महामनाः ।

आहूय विप्रान् वेदज्ञान् स्नातः शुचिरलङ्कृतः ॥ १ ॥

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं जातकर्मात्मजस्य वै ।

कारयामास विधिवत् पितृदेवार्चनं तथा ॥ २ ॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी कहने लगे कि नन्दरायजी पुत्र जन्म होने पर, अत्यन्त प्रसन्न हुए और पुत्र का जातकर्म संस्कार कराने लगे । पहले स्वयं स्नान से पवित्र होकर

एवं अनेक प्रकार के आभूषण पहन कर तैयार हुए । तत्पश्चात् उदारमन से निमन्त्रण देकर, बुलाये गए वेद जानने वाले ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन पढ़वा कर, पुत्र का जात कर्म संस्कार तथा पितर और देवताओं का विधिवत् पूजन कराया ।

सुबोधिनी — पूर्व “यशोदाशयने सुतं निधाय तत्सुतामादाय गृहानगा” दित्युक्तं, “जातं परमबुध्यत” इति च, ततो मायायां निर्गतायां यशोदा प्रबुद्धा पुत्रं ज्ञातवती, ततः सर्वेषु यदासीत् तदाह नन्दस्त्वात्मज इति, पितुः पुत्रः, अतो नन्दो जातकर्म कारयामासेतिसम्बन्धः, तुशब्दः पूर्वकथां व्यावर्तयति शङ्कां च व्यावर्तयति, तदाह आत्मज उत्पन्न इति, यस्य यथा प्रतीतिस्तथैव शुकेनानूद्यते, भगवता तथैव तेषां बुद्धेः सम्पादनात्, अन्यथा तद् भगवच्चरित्रं न स्यात्, अत आत्मनः सकाशाज्जातः पुत्र एवायमिति नन्दस्य बुद्धिः, तदाह आत्मज उत्पन्न इति, वासुदेवोत्रैवाविर्भूत इतिसिद्धान्तः, अन्यथा केवलमायाजनितं स्तन्यं भगवान् न पिबेत् सिद्धवत्कारेण च शुको न वदेत्, अन्तःकरणप्रतीत्यापि पुत्रोयमिति निश्चयार्थमाह जाताल्हाद इति, यद्यपि पुत्रजन्मज्ञान एवाह्लादस्तथाप्यन्यथाज्ञानमपि भवेदिति तद्व्यावृत्त्यर्थं जन्मैव निमित्तत्वेनोक्तं, रूपान्तरेपि स्वीकृतेनुभावोवर्जनीयो भवत्येव, अतः प्राकृतोपि नन्दो महामना जातः प्राकृतानामल्पमेव मनो भवत्यल्पकार्यकारि, महत् महत्कार्यकारि मनो यस्य

महान्तमुत्सवं करिष्यामीति, सोपि विधिपूर्वकं कर्तव्य इति ब्राह्मणाकारणं कृतवानित्याहाहूयेति, विशेषेण प्रान्तीति तेषां पूरकत्वमुक्तं, अन्यथार्थनाशकत्वेन ते निन्दिताः स्युः, उत्सवे तेषामाकारणे हेतुमाह वेदज्ञानिति, “यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ती” ति श्रुतेः, सर्वदेवतासान्निध्ये हि महान्तसवः, तत्र विहितानि कर्माण्याह स्नात इत्यादि, स्नानं नैमित्तिकं, सूतकसम्भावनायामाह शुचिरिति, अन्यामपि शुद्धिं सम्पादितवान्, अलंकृत इति, अलंकरणं शुभसूचकं, विशिष्टालंकार उत्सवः सर्वजनीनो भवति ॥ १ ॥ सर्वकर्मस्वादौ स्वस्तिवाचनं, जातकर्मैति कर्मनामधेयं, क्षत्रियवैश्ययोरन्यद्वार कारणं, विधिः पुरोहितशाखानुसारेण, आत्मजस्येति पुत्रे यो विधिः, भगवान् स्वस्मिन् पुत्रत्वं प्रकटितवानिति वैदिककर्मणां सार्थकत्वं गार्भिकबैजिकदोषाभावकीर्तनं च तथैव, नैमित्तिको वात्मसंस्कारपक्षः, भगवच्चरित्रमेवेदमिति सिद्धान्तः, पितृदेवार्चनं नान्दीश्राद्धं, तथा विधानपूर्वकं युगलेन संस्कार-निरूपणं प्रवृत्तिमार्गनिष्ठत्वाय ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ — वसुदेवजी यशोदाजी की शय्या पर अपने पुत्र को विराजमान कर उनकी कन्या को लेकर घर गए । पहले यशोदाजी ने जाना कि मेरे कुछ उत्पन्न हुआ है । इसके अनन्तर माया के जाने पर यशोदा जागी और उनको पता चला कि मेरे पुत्र उत्पन्न हुआ है । ऐसा जानने पर जो कुछ हुआ वह ‘नन्दस्त्वात्मज’ से शुकदेवजी वर्णन करते हैं ।

पुत्र वह है जो पिता से उत्पन्न होकर उसको ‘पुन्नाम’ नरक से बचावे । यह पुत्र नन्दजी से उत्पन्न हुआ है इसीसे पुत्र होने के कारण नन्दजी उसका जात-कर्म संस्कार कराने लगे । मूल श्लोक में जो ‘तु’ शब्द दिया है वह पूर्व कथा अर्थात् वसुदेवजी के गृह की कथा से उसका भेद दिखलाता है । इसीलिये यह कहा गया है कि ‘नन्दस्त्वात्मज’ इति । यह बालक मेरी आत्मा से उत्पन्न होने से मेरा पुत्र है । जिसको जैसी प्रतीति होती है शुकदेवजी वैसा ही कहते हैं; क्योंकि भगवान् ने उनकी बुद्धि वैसी ही बना दी है । यदि भगवान् ऐसी बुद्धि न बनाते, तो न भगवान् की लीला ही हो सकती थी और न भगवान् को, जो जो चरित्र करने थे, वे ही हो

पाते, इसलिये यह पुत्र मुझसे ही उत्पन्न हुआ है, ऐसी नन्दजी की बुद्धि हो गई। इसलिये कहा है, कि 'आत्मज उत्पन्न इति' (पुत्र प्रकट हुआ)। वासुदेव (व्यूह) का प्राकट्य यहाँ ही हुआ है, यह सिद्धांत है। यदि ऐसा न होता और केवल माया ही प्रकट होती तो, माया के लिये उत्पन्न हुए दूध को, भगवान् कैसे पीते? अर्थात् नहीं पीते और न निश्चयात्मक रूप से, शुकदेवजी ही ऐसा कहते। अन्तःकरण की प्रतीति से भी, यह मेरा पुत्र है — इस निश्चय को बताने के लिये, नन्दरायजी को अपूर्व आह्लाद (आनन्द) हुआ, जिससे शुकदेवजी ने कहा है कि 'जाताह्लाद इति'। श्रीनन्दरायजी के आह्लाद का कारण, पुत्र जन्म ही था। क्योंकि यह कहा गया है कि, नन्दरायजी को अन्यथा ज्ञान नहीं था कि यह पुत्र कहीं से आया है या किसी से सुना है कि तुम्हारे पुत्र हुआ है; किन्तु उनको सच्चा और पक्का ज्ञान था कि मेरी आत्मा से ही यह पुत्र उत्पन्न हुआ है। इस दृढ़ सत्य (निश्चयात्मक बुद्धि) के कारण, आह्लाद होते ही, प्राकृत (सामान्य गांव वाले) नन्दजी भी महामना, अर्थात् बड़े उदार मन वाले हो गये। ग्रामवासियों का मन अल्प<sup>१</sup> होता है, इसलिये वे सब कार्य अल्प<sup>१</sup> ही करते हैं, किन्तु श्री नन्दरायजी ने बड़े मन से महोत्सव की तैयारी की। वह महोत्सव केवल लौकिक रीति से ही नहीं मनाया; किन्तु शास्त्र विधि के अनुसार कार्य करने के लिये वेदों को जानने वाले विप्रों (ब्रह्मर्षियों) को बुलाया, जिससे कार्य व्यर्थ और निन्दित न हो। वेद जानने वालों को इसीलिये बुलाया गया कि उन ब्राह्मणों में सब देवता रहते हैं। सर्व देवताओं के सान्निध्य में ही महान् उत्सव होते हैं। उत्सव में वेद और लोक के अनुसार सब कर्तव्य किये। 'स्वतः' स्नान कर देह की शुद्धि की। जनना-शौच में वैदिक कर्म कैसे किया, इस शङ्का के निवारण के लिये कहते हैं कि वे 'शुचिः' (पवित्र) हुए। आप तो शुद्ध हुए ही किन्तु दूसरी भी शुद्ध करने लगे। उत्सवादि शुभ कार्यों में अलङ्कार अवश्य पहनने चाहिये, इसलिये 'अलंकृत' कहा है। यदि उत्सवकर्ता अलङ्कार न पहने तो उत्सव की शोभा ही न हो। इसलिये कहा है कि 'विशिष्टालङ्कार उत्सवः' जब वस्त्र आभूषणादिकों से सब सुसज्जित होते हैं तब वह उत्सव कहा जाता है या समझा जाता है ॥ १ ॥

प्रकाश — १०-५-१ — 'पितुः पुत्रः'

श्री पुरुषोत्तमजी "प्रकाश" ग्रन्थ में श्री सुबोधिनी में दिये हुए 'पितुः पुत्रः' शब्द पर प्रकाश डालते हुए आज्ञा करते हैं कि श्री नन्दरायजी अपने पितादि को, 'पुत्रात्' नरक से बचाने के कारण, अपने पिता के पुत्र हैं, अर्थात् पुत्र इसीलिये उत्पन्न किया जाता है कि पितरों का ऋण उस व्यक्ति के सिर से उतरे, तो अब श्री नन्दरायजी भी आत्मज (पुत्र) उत्पन्न करने से, उस पितृ ऋण से उन्मुक्त हुए और समझने लगे कि मेरा भी उद्धार होगा।

शङ्का — शुकदेवजी ने सर्वज्ञ होते हुए भी, अजन्मा भगवान् के लिये 'आत्मज' शब्द कैसे कहा? इस

सर्व वैदिक कर्मों में पहले 'स्वस्तिवाचन' पढ़ा जाता है। अतः नन्दरायजी ने भी स्वस्तिवाचन पढ़वाया। जन्म के समय किये जाने वाले, वैदिक संस्कार का नाम — 'जात कर्म'

शङ्का को मिटाने के लिये सुबोधिनी में कहा है, कि श्री शुकदेवजी आत्मविद् भक्तों में श्रेष्ठ होने से, सर्वज्ञ थे; इसलिये यह जानते थे कि भगवान् की यह लीला है कि उन्होंने अपने में नन्दजी की पुत्र बुद्धि कर दी है, अतः वे भगवान् को निश्चित रूप से पुत्र ही जानते हैं, इनको ऐसी ही प्रतीति हो रही है। इस कारण से श्री शुकदेवजी ने 'आत्मज' शब्द दिया है।

शंका — अजन्मा भगवान् के लिये, 'उत्पन्न' शब्द, जिसका अर्थ है 'जन्म लिया' क्यों कहा? इस शंका के निवारण के लिये, सुबोधिनी में उत्पन्न शब्द का भावार्थ कहा है कि यह शब्द 'वासुदेवोऽत्रैवाविर्भूतः' वासुदेव (व्यूह) यहाँ (नन्दरायजी के गृह में) हुआ अर्थात् शुकदेवजी ने जो 'उत्पन्न' शब्द श्लोक में कहा है वह अजन्मा पुरुषोत्तम के लिये नहीं दिया है, किन्तु वासुदेव व्यूह जो नन्दरायजी के घर में प्रकट हुआ है उसके लिये दिया है।

शंका — "निबन्ध" में, वासुदेव का प्रादुर्भाव वसुदेवजी के हृदय में कहा है, फिर यहाँ (सुबोधिनी में) नन्दरायजी के घर उसका प्राकट्य कैसे कहा गया?

समाधान — इस शंका को मिटाने के लिये, सुबोधिनी में कहते हैं कि यहाँ तो बाहर प्रकट हुए और यदि बाहर प्रकट न होते तो, माया के लिये उत्पन्न दूध को भगवान् कैसे आरोगते? तथा वासुदेव के कार्य-मोक्ष, भक्ति, पद, चरित्र जो ब्रज में करने थे, वे कार्य कौन करता? इसलिये वासुदेव यहाँ ही प्रादुर्भूत हुए, यह सिद्धान्त है।

श्लोक में दिये हुए 'शुचिः' का भावार्थ बताते हैं कि नालच्छेदन के अनन्तर 'जनना' शौच होता है। जात-कर्म, नालच्छेदन से पहिले किया जाता है, इसलिये जात-कर्म करने के समय, 'जनना' शौच न होने से नन्दरायजी पवित्र थे अर्थात् उनको 'जनना' शौच नहीं था।

योजना — १०-५-१ 'पितुः पुत्रः' का आशय देते हुए सालूभट्टजी लिखते हैं कि मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह के समान यहाँ भगवान् का प्राकट्य नहीं हुआ किन्तु नन्द के पुत्र बनकर हुआ है। नन्दजी को भगवान् के पिता होने के नाते से उनका जात-कर्म करना योग्य ही था इसलिये कहा है कि 'पितुः पुत्रः'।

शंका — भगवान् में नन्दजी की पुत्रत्व बुद्धि वास्तविक नहीं थी तो की हुई लीलाएँ भी वास्तविक नहीं होंगी?

समाधान — इसके उत्तर में नन्दजी की पुत्रत्व बुद्धि का आशय बताते हैं कि उनकी पुत्रत्व बुद्धि, मायिकी (झूठी) नहीं थी और न लीलाएँ ही मायिकी थीं, किन्तु नन्दजी का यह समझना कि यह मेरा पुत्र मेरी देह से लौकिक पुत्रवत् उत्पन्न हुआ है, ऐसी जो नन्दजी की बुद्धि थी वह भ्रान्त (झूठी) थी। शेष पुत्रत्व बुद्धि सत्य थी, क्योंकि भगवान् वहाँ अलौकिक रीति से प्रकट तो हुए ही थे और पुत्र भाव से, रमण के लिये उन्होंने श्री नन्दरायजी के हृदय में, अपने में पुत्र भाव की बुद्धि उत्पन्न कर दी थी।

लेख — १०-५-१ — लेखकार श्री वल्लभलालजी महाराज।

'तु' शब्दः पूर्व कथां व्यवर्तयति शङ्कां च व्यावर्तयति' इस सुबोधिनीजी की पंक्ति का भावार्थ स्पष्ट करते हैं।

शंका — जैसे वसुदेवजी ने जात-कर्म न करके स्तुति ही की थी, वैसे ही यहाँ नन्दरायजी को भी स्तुति

संस्कार' है तथा क्षत्रिय व वैश्यों का यह वैदिक कर्म अन्य (ब्राह्मण) द्वारा होता है। कर्म (संस्कार) की विधि उनके पुरोहित की शाखानुसार होती है। उत्पन्न हुए पुत्र का विध्यनुसार संस्कार हुआ क्योंकि भगवान् ने अपने में पुत्र भाव प्रकट किया था, इसलिये वैदिक कर्म की सार्थकता एवं गार्भिक बैजिक दोषों का भी, अभाव हुआ। यह जात कर्म संस्कार, नैमित्तिक था। वास्तव में यह सब भगवान् की लीला ही थी। यह सिद्धान्त है कि पितृदेवार्चन का तात्पर्य "नान्दी" श्राद्ध है। नन्दरायजी एवं यशोदाजी ने मिलकर शास्त्रानुसार यह जात कर्म, प्रवृत्ति मार्ग (वैदिक मार्ग) में अपनी निष्ठा दिखाने के लिये किया ॥ २ ॥

ही करनी चाहिये थी न कि जात-कर्म और यह अलौकिक बालक है, वसुदेवजी के आने की सम्भावना से, यह मेरा पुत्र है या नहीं, ऐसी शंका होती तो, जात-कर्म में नन्दजी की प्रवृत्ति नहीं होती।

समाधान — इन दोनों विचारों के निवारण के लिये 'तु' शब्द की व्याख्या 'पूर्वकथा' — 'वसुदेववत् स्तुति कथां कीदृशोऽयं बाल इति शंकां व्यावर्तयति' — वसुदेवजी के समान स्तुति, कथा और यह कैसा अद्भुत रूप बालक है, इसका निवारण करते हैं। वसुदेवजी के वहाँ तो भगवान् ने पूर्व जन्म स्मरणार्थ, चतुर्भुज रूप से दर्शन दिये थे इसलिये वहाँ पर वसुदेवजी ने स्तुति की; परन्तु यहाँ (नन्दजी के गृह में) तो लौकिक बालवत् दर्शन देने से पूर्व कथा से इसकी पृथक्ता दिखा दी और नाल सहित बालक रूप में दर्शन देने से अलौकिकता की शंका भी मिट दी।

लेख — १०-५-१ — श्री सुबोधिनीजी का 'केवल माया जनितं स्तन्यं भगवान् न पिबेत्' इस पंक्ति का भावार्थ बताते हैं कि —

यशोदाजी के स्तन्य पान का कारण अन्तःस्थित बालकों का पोषण है। यदि मात्र, माया जनित स्तन्य होता तो, ये बालक मुग्ध होने से, लीला रस पान नहीं कर सकते थे इसलिये माया के दोष की निवृत्ति के लिये, 'वासुदेव' का सम्बन्ध यहाँ आवश्यक था। यदि मात्र 'वासुदेव' जनित स्तन्य होता तो, बालक मुक्त हो जाते, तो भी लीला रस ले नहीं सकते थे। इसलिये 'केवल' शब्द देकर समझाया है कि, 'माया' और 'वासुदेव' दोनों साथ थे, दोनों का प्राकट्य नन्दरायजी के यहाँ हुआ है। ऐसे स्तन्य पान से, बालक न मुग्ध हुए और न मुक्त हुए परन्तु स्तन्य से पुष्ट होकर लीला-रस पान करने लगे।

प्रकाश — १०-५-२ — गो. श्री पुरुषोत्तमजी महाराज सुबोधिनीजी में दिये हुए 'सार्थकत्वं' का आशय बताते हैं कि —

यदि भगवत्प्राकट्य पर, जात-कर्म वेद विधि-पूर्वक न होता तो 'सर्वेवेदाः यत्पदम्' यह श्रुति सार्थक न होती, अर्थात् कुपित होती इसलिये नन्दजी ने कर्म द्वारा श्रुति की सार्थकता सिद्ध की। यों तो अजन्मा भगवान् किसी के आत्मज नहीं होते हैं किन्तु लीला के कारण ही, भगवान् ने नन्दरायजी के मन में, अपने में, पुत्र की भावना को उत्पन्न की है।

शंका — यदि भगवान् में, गर्भ और बीजादि, दोष मिटाने के लिये, संस्कार किया यों मानेंगे तो, पहले, जो उनका अलौकिक स्वरूप और प्राकट्य माना गया है, उसका विरोध होगा और भगवान् में गर्भादि दोष मानना, ये शब्द कानों को कड़ुए लगते हैं। इस शंका को मिटाने के लिये 'नैमित्तिकः' शब्द सुबोधिनीजी में दिया है, जिसका भावार्थ, श्री पुरुषोत्तमजी खोलकर बताते हैं कि यह जात-कर्म संस्कार गर्भादि दोषों के मिटाने के लिये नहीं किया गया था, किन्तु प्राकट्य के निमित्त किया गया था। भगवान् में तो गर्भादि दोष लेश मात्र भी नहीं है। केवल नन्दरायजी को पुत्र भाव स्थिर करने के लिये ऐसी प्रतीति हुई है।

श्लोकः — धेनूनां नियुते प्रादाद् विप्रेभ्यः समलंकृते ।

तिलाद्रीन् सप्त रत्नौघान् शातकौम्भाम्बरवृतान् ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ — ब्राह्मणों को अलंकृत दो लाख गौ और रत्न समूह सहित जरी के वस्त्रों से वेष्टित सात तिलों के पर्वत दिये ।

सुबोधिनी — 'महामना' इतिविशेषणस्य कृत्यमाह धेनूनामिति, नियुतं लक्षं, लक्षद्वयमपि प्रत्येकमलङ्कृतं, भगवत्सान्निध्याद् द्रव्यक्रियाणां न परिक्षयः, विप्रेभ्य इति समुदायेन दानं, सङ्कल्पमात्रव्यावृत्त्यर्थमाह प्रादादिति, विशेषेण पूरकत्वान्नास्यापि परिक्षयः, तिलाद्रीनिति तिलपर्वतान्,

रत्नौघानिति पृथक्, रत्नानामोघः समूहो येष्विति वा, शातकौम्भेन सुवर्णेनाम्बरैश्चावृतान्, अग्रेषु तिला मुख्याः "गावौ हिरण्यं वासांसि तिला रत्नानि चेति" पञ्चानां दानं, सर्वाण्येव सर्वदैवत्यानि ॥ ३ ॥

व्याख्यानार्थ — नन्दरायजी के महामना होने से उनमें जो कुछ उदारता से किया वह बताते हैं। अलंकृत दो लाख गौ देने का केवल सङ्कल्प नहीं किया, किन्तु दे दी। इसे बताने के लिये श्लोक में 'प्रादात्' शब्द दिया है। भगवत् सान्निध्य होने के कारण द्रव्य एवं क्रियाओं में कमी नहीं हुई। विप्रों (विशेष रीति से पूरक होने से) के कारण गोधन की भी कमी न हुई। गौ के अतिरिक्त रत्नों के समूह, सोने और वस्त्रों से आवृत तिल के पर्वतों का दान किया। अग्रे में तिल मुख्य है। 'गौ, हिरण्य, वस्त्र, तिल, रत्न' इन पाँचों का दान किया। ये सब देव सम्बन्धी हैं ॥ ३ ॥

श्लोकः — कालेन स्नानशौचाभ्यां संस्कारैस्तपसेज्यया ।

शुध्यन्ति दानैः सन्तुष्ट्या द्रव्याण्यात्मात्मविद्यया ॥ ४ ॥

शंका — यदि ऐसा माना जायगा तो कर्मों की सार्थकता हुई माननी पड़ेगी ।

समाधान — यह सब भगवच्चरित्र है। यह सब भगवान् ने अपनी माया अर्थात् इच्छा से किया है। नहीं तो परमार्थ स्वरूप भगवान् में वैदिक मर्यादादि की कौनसी आवश्यकता है ?

लेख — १०-५-२

लेखकार श्री सुबोधिनीजी के 'भगवच्चरित्र' में 'वेद मिति सिद्धान्तः' इसका भाव बताते हैं कि यद्यपि भगवान् में गर्भिकादि (गर्भ और बीज से होने वाले) कोई दोष नहीं, जन्म निमित्त है जात-कर्म संस्कार हुआ, किन्तु उन दोषों के न होते हुए भी उन गर्भिकादि दोषों के अभाव के लिये किया हुआ संस्कार भी, एक प्रकार से भगवत्सेवा ही है। ऐसा करने से बाल रूपी भगवान् को प्रसन्नता होगी। जैसे पुष्पादि समर्पण के उपचारों से भगवान् को आनन्द आता है वैसे ही इससे भी आनन्द प्राप्त हुआ। इस विषय की विशेष जानकारी पूतना प्रसंग की टिप्पणी में देखिये ॥ २ ॥

लेख — १०-५-३ — 'द्रव्य क्रियाणां' इसका आशय बताते हुए लिखते हैं कि 'द्रव्य' सुवर्णादि पदार्थ और गौओं के सजाने की क्रिया में कमी आई नहीं। एक ही गौ को सजाने में सब गौ सज गई। एक एक को सजाने में समय बहुत लगता ।

**श्लोकार्थ** — काल, स्नान, शौच, संस्कार, तप और यज्ञ से प्राणी शुद्ध होते हैं। दान से द्रव्य और संतोष से अन्तःकरण तथा आत्म (ब्रह्म) विद्या से आत्मा (जीव) की शुद्धि होती है।

**सुबोधिनी** — बहु दत्तमितिशङ्कां वारयितुं तस्य ततोपि बह्वस्तीति वदञ्छुद्ध्यर्थमपि तेनैतावद् दातव्यं भवतीति वदन् समानैरन्यैः कालादिभिः सह द्रव्यं निरूपयति कालेनेति, कालादिना प्राणिनः सर्वे शुध्यन्ति, नव शोधकानि, तत्र कालो मुख्यः सर्व कालोद्भवमिति, उत्पन्नः पुनः शतं वर्षाणि जीवति, तत्र दश दिनानि षट्त्रिंशच्छतानामेको भागो भवति, सम्पूर्ण काले तावान् कालस्त्वशुद्धः, एवं द्रव्याण्यपि ज्ञातव्यानि, जननादौ कालेनैव शुद्धिर्न स्नानादिना, वंशशुद्धिजनकः कालः, स्नानं सम्पूर्णदेहशोधकं, शौचमेकदेशस्य, लौकिकव्यवहारार्थं त्रिधेयं शुद्धिः, अदृष्टशुद्धत्यर्थं त्रिधा शुद्धिमाह, संस्कारैर्जातकर्मादिभिर्देहो

वैदिककर्मार्थं संस्कृतो भवति, एतेषां भूतसंस्कारकत्वमेव, तपस्त्वन्तःकरणशोधकं, अदृष्टोत्पत्तिद्वारेति केचित्, इज्या यागः, तेन भगवान् सन्तुष्यति, एवमाधिभौतिकस्याध्यात्मिक-स्याधिदैविकस्य संस्कारकाणि त्रीणि निरूपितानि, एवं षड्विधैरपि सर्वे शुध्यन्ति, बहिर्शुद्धिमाह दानैरिति, दानैर्द्रव्याणि शुध्यन्ति, दानव्यतिरेकेण द्रव्याणां न शुद्धिः, वित्तानुसारेण च दानं, अतो लक्षद्वयदानं गवां शुद्ध्यर्थमेव, अल्पानि प्राप्तानि सन्तुष्यैव शुध्यन्ति, अतो द्रव्यशुद्धौ द्वयमुक्तं, आत्मा तु जीवः, आत्मविद्ययैव शुध्यति "सोहमस्मी" त्यादिरूपया ॥ ४ ॥

**व्याख्यार्थ** — नन्दरायजी ने बहुत दान दिया। इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि इनके इतना दान देने के अनन्तर भी अभी बहुत है। यह बताने के लिये कहते हैं कि शुद्धि के लिये भी इनको (नन्दजी को) इतना देना चाहिये। यह बताते हुए दूसरों के समान कालादि के साथ द्रव्य (पदार्थ) निरूपण करते हैं। 'कालेनेति' कालादि से प्राणी और सब शुद्ध होते हैं। नौ पदार्थ शुद्ध करने वाले हैं। उनमें काल मुख्य है, क्योंकि सब काल द्वारा उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न हुआ पुनः सौ वर्ष तक जीता है, अर्थात् शास्त्र मनुष्य की आयु सौ वर्ष बताते हैं। सौ वर्ष के प्रत्येक छत्तीस सौ दिनों पर एक भाग अर्थात् एक दिन अशुद्ध माना गया है। इस प्रकार सारी आयु में दस दिन का काल अशुद्ध गिना जाता है, इसी प्रकार द्रव्यों का भी भाग अशुद्ध होता है। इन सब की अशुद्धि कैसे मिटाई जा सकती है उसको बताते हैं। जनना-शौच की शुद्धि स्नान मात्र से नहीं, किन्तु काल से होती है। वंश की शुद्धि काल करता है। सम्पूर्ण देह की शुद्धि स्नान से होती है और शौच से एक अंग की शुद्धि होती है। लौकिक व्यवहार के लिये, यह तीन प्रकार की शुद्धि कही। अब अदृष्ट आदिक से हुई अशुद्धि भी तीन प्रकार से मिटाई जाती है — (१) जातकर्मादि संस्कारों से गर्भादि दोष युक्त देह शुद्ध हो, वैदिक कर्म के योग्य बनता है। इनको भूत संस्कारत्व कहते हैं। (२) तपस्या से अन्तःकरण की शुद्धि होती है। कितने ही अदृष्टोत्पत्ति द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि कहते हैं। (३) यज्ञ से भगवान् प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक के तीन संस्कार (शुद्धि) बताये। इसी प्रकार छः प्रकार से सब अन्तःशुद्धि कही। अब बाहिर की शुद्धि बताते हैं। दान से द्रव्य शुद्ध होता है (दान के बिना दूसरी प्रकार से द्रव्य की शुद्धि नहीं होती है), अपने वित्त के अनुसार ही दान होता है, इसीलिये गौ की शुद्धि के लिये ही नन्दजी ने दो लाख गौ दान कीं। जो

कुछ थोड़ा सा प्राप्त हो, तो उसकी शुद्धि सन्तोष से होती है। द्रव्य की शुद्धि के लिये दान और सन्तोष दो बताये हैं। 'आत्मा' (जीव) तो ब्रह्म विद्या से 'सौऽहमस्मि' 'मैं ब्रह्म हूँ' इस प्रकार के ज्ञान से जीव शुद्ध होता है, अर्थात् अविद्या मिटाने से स्वरूप को समझ अपने कर्तव्य के योग्य होता है।

महामना नन्दरायजी, आनन्द पूर्वक उत्साह से पुत्र जन्म महोत्सव मना कर, अन्य आवश्यक सर्व कार्य छोड़ कर, शीघ्र ही कंस को कर<sup>१</sup> देने के लिये मथुरा गये। इससे सिद्ध है कि नन्दजी के मन में दृढ़ निश्चय था कि यह बालक मुझ से उत्पन्न हुआ है और मेरा ही पुत्र है। यदि उनके मन में कुछ भी शंका होती, तो इस प्रकार उदार होकर, पुत्र के लिये बहुमूल्य वस्तुएँ न मंगाते और न पुत्र को प्यार से उठाकर गोदी में लेते। ये सब बातें सिद्ध करती हैं कि नन्दजी की निश्चित बुद्धि थी कि यह मेरा पुत्र है। महान् पुरुषों का ऐसा पवित्र अन्तःकरण होता है जो वह पराई वस्तु को अपनी कभी नहीं समझते हैं। इसलिये 'प्रमाणमन्तःकरण प्रवृत्तयः' यह प्रसिद्ध है ॥ ४ ॥

प्रकाश १०-५-४

"समानैः" का आशय बताते हैं कि यह दान श्री नन्दरायजी के माहात्म्य का ख्यापक और शोधक होने से उचित है और वैसे ही अन्य शोधकों के सामान्याधिकरण (समान भाव) बताता है कि, यह इस द्रव्य का शोधक है, किन्तु आने वाले द्रव्य की शुद्धि के लिये दान का चिह्न है।

सौ वर्ष की आयु में दस दिन अशुद्ध है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि शत वर्ष का एक दसवां भाग दस वर्ष होता है। प्रत्येक दस वर्ष का पहला एक दिन अशुद्ध है, इसी से एक साथ तो दस दिन अशुद्ध नहीं होते हैं तो आप जन्म के समय एक साथ दस दिन अशुद्ध क्यों मानते हो? इस शंका का निवारण करते हैं कि दस दस वर्ष में पहला एक दिन, साधारण मनुष्य नहीं गिन सकेगा क्योंकि वैसे अव्यवस्था हो जायगी और कोई वह अशौच पालन नहीं कर सकेगा, अतः सब की सुविधा के लिये ऋषियों ने जन्म समय के साथ में ही दस दिन के अशौच की व्यवस्था की, जिससे सबको सुविधा हो गई। इसी प्रकार द्रव्य की भी व्यवस्था समझनी, अर्थात् छत्तीस सौ रुपये पर एक रुपया अशुद्ध समझना चाहिये, उसकी शुद्धि स्नान से नहीं किन्तु दान से होती है।

नन्दरायजी ने गौरव और द्रव्य का इतना महादान किया, जिससे नन्दरायजी के पास की महती (बड़ी) समृद्धि का पता लगता है।

लेख १-५-४ - 'एतेषां भूतसंस्कारत्वमेव' का स्पष्टीकरण करते हैं। जातकर्मादि संस्कार से देह की शुद्धि होती है, न कि अन्तःकरण और अन्तर्यामी की शुद्धि होती है। (तपस्या से अन्तःकरण की शुद्धि और यज्ञ से अन्तर्यामी की शुद्धि होती है)। अन्तर्यामी की शुद्धि का तात्पर्य है कि, यज्ञ करने से, अन्तर्यामी प्रसन्न होता है।

'परमात्मा में शुद्ध्यन्ताम्' (१) इससे जाना जाता है कि श्रुति (वेद) में भी, यही शुद्धि का स्वरूप है। इसका विस्तार तृतीय स्कन्ध के पाँचवें अध्याय में 'हृदिस्थितोयच्छति भक्तिपूते' इस श्लोक की टीका में किया गया है।



श्लोकः - सौमङ्गल्यगिरो विप्राः सूतमागधबन्दिनः ।

गायकाश्च जगुर्नैदुर्भेयो दुन्दुभयो मुहुः ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ - विप्र, सूत<sup>१</sup>, मागध<sup>२</sup>, बन्दी<sup>३</sup>, ये सब मांगलिक वचन कहने लगे और भेरिया<sup>४</sup> तथा दुन्दुभि<sup>५</sup> भी बारंबार मांगलिक ध्वनि करने लगी ।

सुबोधिनी - एवं प्रसङ्गानन्दस्य माहात्म्यमुक्त्वाये वक्ष्यमाणमुत्सवमुपपत्त्या निरूप्योत्सवमनेकप्रकारमाह सौमङ्गल्येतिदशभिः, विद्याकृतो यावानुत्सवः स प्रथमं निरूप्यते, सौमङ्गल्यं सुमङ्गलता, यैर्वेदैः पौराणैर्वावयैर्मङ्गलं भवति तच्च निरन्तरं पठन्तीति सौमङ्गल्यप्रतिपादिका गिरे येषामित्युक्तं, गिरं वैयर्थ्याभावो विप्रपदेनोक्तः, सूताः पौराणिकाः, मागधाः वंशशंसकाः, बन्दिनो वैतालिकाः,

तेपि सौमङ्गल्यगिरो जाताः, गायका अन्ये केवला नृत्यादिसहिताश्च स्त्रियश्च वाद्यवादकाश्च, नेदुः, भेर्यः उत्सवसूचिकाः, दुन्दुभयो मङ्गलवाद्यानि शुभकर्मपात्रे प्रवृत्तानि, मुहुः श्रमपर्यन्तं वादयित्वा पुनर्निवृत्ताः वादयन्तीति, एतद् बाद्यमपि संगीतशास्त्रप्रसिद्धं, अतो विद्याकार्यं सर्वमुक्तम् ॥ ५ ॥

व्याख्यानार्थ - इस प्रसंग में नन्दरायजी का माहात्म्य (महत्त्व) कहकर कहे जाने वाले उत्सव को 'उपपत्ति' से निरूपण करके उत्सव के अनेक प्रकार बताते हैं । 'सौमङ्गल्य' आदि दस श्लोकों में विद्या से हुए उत्सव का वर्णन किया जाता है । सौमङ्गल्यं - सुमङ्गलकारक वेद, पुराण और काव्य की वाणी को निरन्तर उच्चारण करने वाले विप्र (ब्राह्मण) सूत<sup>१</sup>, मागध<sup>२</sup>, बन्दीगण<sup>३</sup> ये मङ्गलमय वाक्य बोलने लगे । इनकी वाणी सफल हुई क्योंकि मङ्गल पाठ में 'विप्र' थे एवं सूत मागध बन्दीगण की भी वाणी विप्र संसर्ग से मङ्गलमय हुई । मागध बन्दीगण से पृथक् दो प्रकार के गायक थे : १-केवल गान करने वाले, २-नाच आदि के साथ गानकर्ता । गाने वालों में स्त्री गायिकाएँ थीं । वाद्य (मृदंगादि) बजाने वाले भी थे । भेरिया<sup>४</sup> उत्सव की सूचक थीं और दुन्दुभि<sup>५</sup> मङ्गल वाद्य शुभ कर्म में ही बजाये जाते हैं । भेरी और दुन्दुभि बजाते २ थक जाते तो कुछ विश्राम कर फिर बजाते । यह वाद्य भी संगीत शास्त्र में प्रसिद्ध है । इससे विद्या का सब कार्य बताया ।

प्रकाश १-५-५ - 'उपपत्ति' का भाव बताते हैं कि जहाँ उपर्युक्त रीति से दान की बहुलता बताई गई है, वहाँ अवश्य विशेष उत्सव हुआ होगा ।

लेख १-५-५ - 'माहात्म्य' का भावार्थ बताते हैं कि नन्दरायजी का 'धेनूनाम्' इस गौ आदि पदार्थों के दान बाहुल्य से बताया हुआ महामनस्त्व (मान की उदारता) ही उनका माहात्म्य सूचक है ।

१ - पुराणों की कथा कहने वाले । २ - भाट - जो वंश चरित्र सुनाते हैं । ३ - चारण ।

४ - बड़ी ढक्काई । ५ - नगाड़े व नोबतें ।

श्लोकः — व्रजः सम्मृष्टसंसिक्तद्वाराजिरगृहान्तरः ।

चित्रध्वजपताकासक्चैलपल्लवतोरणैः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ — व्रज में द्वार, आंगन, घरों के भीतर के भाग और रास्ते आदि सब झाड़े और छिड़के गए । विचित्र ध्वजाओं एवं पताकाओं की मालाएँ लगाई गईं । वस्त्र और पत्रों की बन्दनवारों से द्वार सुशोभित किये गए ।

सुबोधिनी - भूसंस्कारानेकविधानाह व्रज इति, पद्मं रजोदूरीकरणेनोड्ज्ज्वलीकृतास्ततः सम्यक् सिका गन्धोदैर्द्वाग्दयो यस्मिन्, द्वाराणि बाह्यानि, अन्तराणि च, अजिरमंगणं, गृहान्तरं गृहमध्यं, गृहा अन्तराणि च, तदुपरिभागानामपि मार्जनं भवति, एतादृशो व्रजो जातः, चित्रध्वजादिभिरपि युक्तो जातः, एते बहिःशोभाजनकाः गरुडादिचिह्निता ध्वजाः, जयपत्राङ्किताः पताकाः, उभये विचित्राः, स्रजो मालाः पुष्पनिर्मिताः, चैलैः पल्लवैश्च कृतास्तोरणा इति वस्त्रादिभिर्यावानलङ्कारो भवति स सर्वोपि तत्र कृत इत्यर्थः ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ — अनेक प्रकार से किये हुए पृथ्वी के संस्कारों का वर्णन करते हैं । 'व्रजइति' व्रज में पहले रास्तों के एवं गृह के ऊपर के भाग आदि, बाहर के और भीतर के द्वार, आंगन इनके भीतरी भाग की धूलि को दूर कर स्वच्छ किया, बाद में सुगन्धित जल से सिञ्चन<sup>१</sup> किया । गरुडादि चिह्नों वाली ध्वजाओं से, जय पत्रों से अंकित पताकाओं से, ध्वजा पताकाएँ विचित्र बनी हुई थीं । पुष्पों की मालाओं से एवं वस्त्र और पत्तों के तोरणों से, सारी भूमि सुसज्जित की थी । वस्त्रों से, जितनी भी नाना प्रकार की सजाने वाली वस्तुएँ बन सकती हैं, वे सब वहाँ बनाई गई थीं जिससे अभूतपूर्व शोभा वाला व्रज हो गया था ॥ ६ ॥

श्लोकः — गावो वृषाश्च वत्साश्च हरिद्रातैलरूषिताः ।

विचित्रधातुबर्हस्रग्वस्त्रकाञ्चनमालिनः ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ — गाय, बैल और बछड़ों को हल्दीयुत तैल से रंगे, विचित्र धातु गेरू, खडिया आदि) लगाये, मोरपंख लगाई, झूलें ओढ़ाई और सुवर्ण की मालाएँ पहनाई । इससे इनकी अपूर्व शोभा हुई ।

सुबोधिनी — गावां शोभामाह गाव इति, गावो बलीवर्दा धेनवश्च, वृषाश्च स्थूलककुदो महान्तः, चकारादवान्तरभावापन्ना वृद्धाश्च, वत्सा वत्सतर्यश्च, सर्वे हरिद्रायुक्ततैलेन रूषिताः, विचित्रा गैरिकादिधातवः, बर्हाणि मयूरपिच्छ्रानि, वस्त्राणि काञ्चनमालाश्च वर्तन्ते येषां, हरिद्रातैलं मङ्गलार्थं, धात्वादयः शोभार्थाः ॥ ७ ॥

**व्याख्यार्थ** — गौओं की शोभा का, वर्णन करते हैं । 'गाव इति' गौ और बैल<sup>१</sup> 'वत्सा' से बछड़े और 'च' से बहुत छोटी बछड़ियाँ भी थीं । ये सब हल्दी मिश्रित तैल से रंगे गये थे, रंग बिरंगे गेरू आदि धातुएँ उन पर लगाई थीं एवं मयूर पिच्छ (मोर पंख), झूलें और सुवर्ण की मालाएँ पहनाई गई थीं । हल्दी से मिलाया तैल मंगलसूचक<sup>२</sup> है । गेरू आदि धातुएँ शोभा के लिये लगाई गई थीं ॥ ७ ॥

**श्लोकः** — महार्हवस्त्राभरणकञ्चुकोष्णीषभूषिताः ।

गोपाः समाययू राजन् नानोपायनपाणयः ॥ ८ ॥

**श्लोकार्थ** — हे राजन् ! बड़े बड़े मूल्यवान् ऊँचे वस्त्र एवं आभूषण पहन, अंगरखे, पगड़ी, आदि से भूषित होकर सब गोप अनेक प्रकार की भेटें हाथों में लेकर आए ।

**सुबोधिनी** — गोपानां शोभामाह महार्हेति, अमूल्यानि वस्त्राणि यानि स्थापितानि तान्यपि तस्मिन् दिवसे परिहितानीति ज्ञापयितुमाह महार्हेति, अमूल्यानि वस्त्राणि परिधेयान्याभरणान्यपि तथा, बहिः कञ्चुकोष्णीषभूषिता कटिबन्धनैरपि, तेषामकथनमुत्सवासक्तिरुपपन्नार्थ, गोपा

व्रजान्तरस्थिता अपि यावन्तो नन्दपरिचिताः सर्वे सम्यगाययुः, राजनितिसम्बोधनमुत्सववर्णनायां सम्प्रत्यर्थ, नानाविधान्युपायनानि वस्त्राभरणदूधदध्यादीनि, रिक्तहस्तगमनाभावार्थमेतदुक्तं न तु नन्दस्य तैः काचित् समृद्धिः ॥ ८ ॥

**व्याख्यार्थ** — गोपों की शोभा वर्णन करते हैं - 'महार्हेति' ऊँचे मूल्य वाले सुन्दर वस्त्र जो गोपों ने अपने यहाँ रखे थे, वे उसी दिन पहने क्योंकि आज ऐसे आनन्दप्रद महोत्सव में तो ऐसे ही उत्तम कपड़े और आभूषण पहनने चाहिये । ऊपर से पगड़ी तथा अंगरखे पहने और कटिबन्ध कमर में बांधे । (उत्सव के आनन्दरस में आसक्ति के कारण कमर में बांधे हुए कटिबन्ध का वर्णन करना भूल गये) इसी प्रकार व्रज के तथा व्रज से बाहर रहने वाले भी गोप अनेक प्रकार की भेटें (वस्त्र) आभरण दूध दही आदि लेकर आए । इन भेटों के लाने का कारण यह था कि किसी के यहाँ उत्सव में खाली हाथ नहीं जाना चाहिये । इसलिये नहीं की नन्दजी के यहाँ कोई कमी थी । इन भेटों से नन्दजी की कोई समृद्धि नहीं हुई ॥ ८ ॥

**श्लोकः** — गोप्यश्चाकर्ण्य मुदिता यशोदायाः सुतोद्भवम् ।

आत्मानं भूषयाञ्चक्रुर्वस्त्राकल्पाज्जनादिभिः ॥ ९ ॥

१—'वृषः' से जिनका कंघा और शरीर बहुत बड़ा था ऐसे बैल और 'च' से बूढ़े बैल भी थे ।

२—ये मङ्गल सूचक एवं शोभाजनक कार्य उत्सव के चिह्न हैं ।

**श्लोकार्थ —** यशोदा के पुत्र का जन्म सुनकर, प्रसन्न मन गोपियों ने वस्त्र आभूषण और अंजन आदि से अपने आप को अलंकृत किया ।

**सुबोधिनी —** गोपीनामप्युत्सवमाह चतुर्भिः, गोप्यश्चतुर्विधाः सम्बद्धा असम्बद्धाश्चोभयविधा अपि सङ्गता असङ्गताश्च, गोप्य इति, चकारादन्या अपि तत्र तत्र निलीनास्तथाविधा भूत्वा गता इति निरूप्यते, ब्राह्मणस्त्रियोन्याश्च, तासां नन्दप्राधान्याभावात्, यशोदाया अपत्योत्पत्तिसम्भावनारहितायाः सुतस्याकस्मादुद्भवं श्रुत्वा श्रवणेनैवान्तःसन्तोषस्तासां जातः, चतुर्विधपुरुषार्थस्तासां विशेषाकारेण सेत्स्यतीत्याकर्ण्यैव मुदिता न तु निश्चयमप्यपेक्षन्ते, तासां निवेदनीय आत्मैवेत्यात्मानमेव भूषयाञ्चक्रुः, आत्मपदप्रयोगश्च शरीरदीनामप्यविकृतत्वाय, सशरीरणामेव ब्रह्मानन्दानुभवात्, उत्तमानि वस्त्राणि परिधाय तथाकल्पान्याभरणान्यपि, अञ्जनं कञ्जलं, आदिशब्देन तिलकमात्यादीनि ॥ ९ ॥

**व्याख्यार्थ —** गोपियों के उत्सव (आनन्द) का वर्णन भी चौदह श्लोकों से करते हैं । सम्बद्ध<sup>१</sup> गोपियाँ चार प्रकार की थीं और असम्बद्ध<sup>२</sup> भी चार प्रकार की थीं । दोनों प्रकार की सम्बद्ध एवं असम्बद्ध गोपियाँ संगत<sup>३</sup> और असंगत<sup>४</sup> होने से दो प्रकार की थीं । 'च' का आशय बताते हुए कहते हैं कि जहाँ तहाँ छिपी हुई गोपियों के अतिरिक्त ब्राह्मणों की स्त्रियाँ तथा दूसरों की स्त्रियाँ भी आई, जिनके ऊपर नन्दजी का कोई अधिकार नहीं था । जिससे सन्तान उत्पत्ति की आशा नहीं थी, ऐसी यशोदा को अचानक पुत्र उत्पन्न हुआ सुनकर गोपियों के अन्तःकरण में भी सन्तोष हुआ । क्योंकि अब गोपियों का चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्ध होगा; इससे सुनते ही उनके मन में मोद (आनन्द) हुआ । जिससे गोपियों ने पुत्र प्राकट्य के निश्चय की भी अपेक्षा नहीं

लेख १०-५-९ — संगत असंगत आदि संख्या के तात्पर्य बताने के लिये कहा गया है । प्रत्येक श्लोक में यह विभाग नहीं समझना चाहिये ।

पहले, जन्म प्रकरण में श्रीकृष्ण भगवान् को वसुदेव-पुत्र कहा, यहाँ यशोदा पुत्र कहा, उसका भाव बताने के लिये लिखते हैं कि, 'तासां चतुर्विध पुरुषार्थः विशेषाकारेण सेत्स्यति । गोपियों के चतुर्विध पुरुषार्थ सिद्ध, विशेष रूप से, यहाँ ही होगी । इसलिये यशोदा पुत्र कहकर जताया कि यह सिद्धि इस स्वरूप से ही होगी । पुष्टिमार्गीय चतुर्विध पुरुषार्थ, 'पुष्टिमार्गे हरेर्दास्यं धर्मोऽर्थो हरिरिव च । कामो हरिर्दिदृक्षैव मोक्षः कृष्णस्थलेद्भुवं । पुष्टिमार्ग में १ - धर्म भगवान् का दास्य है, २ - 'अर्थ' हरि ही है । ३ - कामना हरि के दर्शनों की अपिलाषा और ४ - कृष्ण की प्राप्ति ही मोक्ष है । ये ४ पुरुषार्थ यशोदा पुत्र स्वरूप से ही होंगे ।

'आकर्ण्य' पद में 'आ' उपसर्ग अल्प अर्थ में है, न कि, निश्चयार्थ में ।

१ — टिप्पणी : नन्दरायजी के कुल और देह से सम्बन्ध वाली - सम्बद्ध

२ — योजना : नन्दरायजी के कुल और देह से बिना सम्बन्ध वाली - असम्बद्ध

३ — लेख : सङ्गताः भगवद्भोग्याः । भगवत्सेवा में अङ्गीकृत ।

४ — योजना : (क) भगवान् की परिचर्या में विशेष प्रकार से नियुक्त - संगताः

(ख) समान कक्षा वाली अनाश्रित - असंगताः ।

की और आत्मा को सुभूषित करने लगीं । आत्मा को इसीलिये भूषित करने लगीं कि उन्हें आत्मा ही भगवान् को अर्पण करनी थी । 'आत्मा' शब्द का प्रयोग वहाँ भी किया जाता है जहाँ शरीर अविकारी होता है । ऐसे अविकारी शरीरों से ब्रह्मानन्द का अनुभव किया जाता है न कि पुरुषोत्तम के भजनानन्द का । उन्होंने उत्तम वस्त्र पहन कर तथा आभूषणों से सुसज्जित हो, कज्जल लगा के, पुष्प मालाएँ गले में डाल, और भाल में सुन्दर तिलक की बिन्दी लगाकर अपने आपको अलंकृत किया ॥ ९ ॥

श्लोक: — नवकुङ्कुमकिञ्जल्कमुखपंकजभूतयः ।

बलिभिस्त्वरितं जग्मुः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः ॥ १० ॥

श्लोकार्थ — पिसी हुई नवीन केसर के तिलक एवं बिंदियों से जिनके मुखकमल सुशोभित हो रहे हैं, ऐसी पुष्ट नितम्ब वाली एवं चलने से जिनके स्तन चलायमान हो रहे हैं ऐसी गोपियाँ भेटें लेकर शीघ्र ही भगवान् के दर्शन के लिये नन्दरायजी के घर जाने लगी ।

सुबोधिनी — श्रवणादि गमनपर्यन्तमात्मालंकारो यावत् भवति तावत् कृत्वा गता इत्याह, नवेति, ताः सर्वा देवतारूपा भगवत्सम्मुखे गच्छन्त्यो विकसितवदना जाताः सोलौकिको विकास इति तं वर्णयति, चर्वितताम्बूलाः सुलक्षणवशाद् वाक्तराखायुक्ता मुखभागास्तासां, नूतनं कुङ्कुम काश्मीरं तस्य ये किञ्जल्का उत्तमा आरक्तास्त एव योजितास्तिलकादौ पिष्टा वा रेखाकराः कृतास्तत्सदृशा वा किञ्जल्काः, एतादृशानि

मुखपंकजानि तैर्भूतिर्यासां, बलिः पूजासाधनानि स्त्रगादीनि, यद्यपि सर्वस्वमेव नेयं तथापि त्वरितं जग्मुः, त्वरगमनं तासामत्यशक्यं, यतः पृथुश्रोण्यश्चलत्कुचाः, अत्युच्चतया कुचयोश्चलनं गमनप्रतिबन्धकं भवति, यत्राशक्यं ताः सम्पादयन्ति तत्र शक्ये कः सन्देह इतिभावः, अत एव माल्यानां बन्धनं शिथिलं, त्वरया यथाकथञ्चिद्वन्धनात्, तेन मार्गे च्युतिरग्रिमवाक्ये कथयिष्यते ॥ १० ॥

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

श्लोक ९ से १८ में दिये हुए नन्द महोत्सव का वर्णन भक्त शिरोमणि सूरदासजी ने अपने निम्नलिखित दो पदों में किया है ।

ब्रज देव गंधार

ब्रज भयो महारि के पूत जब यह बात सुनी ।  
सुनि आनंद सब लोक गोकुल गणित मुनी ॥  
ब्रज पूरव पूरे पुन्य रूपो कुल सुधिर धुनी ।  
ग्रह लग्न नक्षत्र बलि सोधि कीनी बेद ध्वनी ॥ १ ॥

**व्याख्यानार्थ —** गोपियां कानों से लेकर पैरों तक जितनी हो सकीं उतनी आत्मा की शोभा कर नन्दजी के घर गई। इसका वर्णन 'नव कुङ्कुम' श्लोक से करते हैं।

वे सब देवता रूप थीं इसलिये भगवान् के सम्मुख जाते हुए प्रफुल्लित मुख वाली हो गईं। उनके इस अलौकिक विकास का वर्णन करते हैं। जैसे कि तांबूल चबाने से लाल मुखवाली अथवा पद्मिनी आदि सुलक्षण होने के कारण, आरक्त रेखायुक्त मुखवाली, नवीन केसर की उत्तम लाल केसराओं को तिलक आदि से मिला दिया है अथवा केसर की केसराओं को पीस कर उनसे मुख पर रेखा कर ली है या नवीन केसर की केसराएँ ओष्ठ पर स्वाभाविक लाल रेखाओं के सदृश शोभित हो रही हैं। उनसे सुशोभित मुखारविन्द से विभूति वाली गोपियों को सर्वस्व ले जाना था, किन्तु शीघ्रता के कारण केवल पूजा की सामग्री, पुष्पादि लेकर गई। यद्यपि शीघ्र जाने में गोपियों के स्थूल<sup>१</sup> नितम्ब एवं अति उन्नत चलायमान स्तन प्रतिबन्धक होते थे तो भी शीघ्र गई। वे जहाँ अशक्य को शक्य कर सकती हैं वहाँ शक्य को शक्य करने में कौनसा संदेह

**प्रकाश —** सुबोधिनी में दिये हुए 'यावता' का भावार्थ दो प्रकार से है। यावता 'नाटक हंस नूपुरदिना' नूपुर आदि से जितना बन सका उतना आत्मा को सजाया। २-यावता कालेनजन्म सुनते ही आनन्दित हुई तो जाने में विलम्ब क्यों? इस पर कहा है कि आत्मा सुशोभित करने में जितना समय लगा उतना आवश्यक विलम्ब हुआ। 'ता सर्व देवताः' कहा। शुकदेवजी ने गोपियों का इस तरह वर्णन क्यों किया? इसलिये सुबोधिनी में आचार्य श्री ने कहा कि गोपियां साधारण स्त्रियां नहीं थीं किन्तु 'ता सर्व देवताः' ये देवताओं की स्त्रियां थीं, इसलिये श्री शुकदेवजी ने इस प्रकार वर्णन किया।

**लेख १०-५-१० —** 'ता सर्वा देवता रूपाः' का भावार्थ बताते हैं कि गोपियों के देह को आत्मा शब्द से कहा गया है, इससे यह देह अविकृत होने से अलौकिक थीं, इसलिये गोपियों को देवता रूप कहा है। नवकिङ्कलक आदि से उनकी शोभा या उत्तमता का वर्णन गौण है। मुख्य तो उनकी शोभा मुखारविन्द का

१ - भारी।

१० १० १० १० १० १० १० १० १० १० १० १०

(पृष्ठ २३ से आगे) सुनि धाई सब ब्रज नारि सहज सिंगार किये ।  
तन पहरे नौतन चीर काजर नेन दिये ॥  
कसि कंचुकि तिलक लिलाट शोभित हार हिये ।  
कर कंकण कंचन धार मंगल साज लिये ॥ २ ॥  
वे अपने अपने मेल निकसी भांति भली ।  
मानो लाल<sup>२</sup> गुनिन की पांति पिंजरन चूर चली ॥  
वे गावें मंगल गीत मिलि दश पांच अली ।  
मानो भोर भयो रवि देखि फूली कमल कली ॥ ३ ॥

३ - लाल पक्षियों की पंक्ति।

हैं। शीघ्रता से जाने के कारण जैसे तैसे बांधी हुई मालाओं के बन्धन शिथिल होने से रस्ते में गिरने लगे इसका वर्णन आगे के वाक्य में होगा ॥ १० ॥

कारिका — गन्धो रूपं तथा स्पर्शः कटाक्षभ्रमरोक्तयः ।

ताभिश्चतुष्टयं ज्ञेयं रसं ज्ञास्यति माधवः ॥ ११ ॥

कारिकार्थ — गन्ध, रूप, स्पर्श, शब्द और रस इन पांचों में से गन्ध, रूप, स्पर्श

विकास आदि अलौकिक था। इसलिये अलौकिक विकासादि को भगवान् ही जानते थे। अलौकिकता के कारण उसका ज्ञान ध्वनि से ही मालूम होता है। 'आरक्त रेखा युक्ता' का आशय कहते हैं कि 'अधरस्थित रेखाएँ ही किञ्जल्क हैं अथवा किञ्जल्क अधर के समान हैं, और इसी प्रकार नवीन केसर के समान किञ्जल्क जिनमें नवीन केसर की किञ्जल्क जिनमें ऐसे सुन्दर विकसित मुखकमलों से शोभावाली गोपिकाएँ।

योजना १०-५-१०

योजनाकार का आशय - 'नवकिञ्जल्क' श्लोक से शुकदेवजी ने यह बताया है कि गोपियों में गन्ध, रूप, स्पर्श, शब्द एवं रस ये सब से उत्तम पांचों विषय भगवद् भोग्य हैं। इसका वर्णन आचार्यश्री ने कारिका में किया है। उसका स्पष्टीकरण योजनाकार करते हैं कि - मूल श्लोक के 'नवकुङ्कुम पद से सुगन्ध 'किञ्जल्क पद से' रूप (सौन्दर्य युक्त) 'मुखपंकज' पद से स्पर्श शब्द एवं रस बताये हैं। पंकज (कमल) का स्पर्श सुखकारक है। इससे इनके स्पर्श की आनन्दप्रदता सूचित की। कमल पर भ्रमर गुंजार करते ही हैं इससे गोपियों में 'सु' शब्द बताया। कमल में मकरन्द रहता है इससे गोपियों को रसवती कही। यों कहने का भाव यह है कि भगवान् के नासिका नयनानि से भोग्य पांचो विषय गोपियों के अलौकिक अंगों में बिराजते हैं।

उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ०

(पृष्ठ २४ से आगे)    ठर अंचल<sup>४</sup> उडत न जान्यो सारी सुरंग सुही ।  
 मुख मांड्य<sup>५</sup> शरी<sup>६</sup> रंग सैदूर<sup>७</sup> मांग<sup>८</sup> वुही ॥  
 श्रम श्रवनन तरुल<sup>९</sup> तरेना<sup>१०</sup> वेनी सिथल गुही ।  
 शिर वरषत कुसुम सुदेश<sup>११</sup> मानो मेघ फुही<sup>१२</sup> ॥ ४ ॥  
 पीय पहले पोंहोची जाय अति आनंद भरी ।  
 लई भीतर भवन बुलाय सब<sup>१३</sup> पाय परी ॥  
 एक बदन उधारि निहारत देत असीस खरी ।  
 चिरजोयो जसोदा नन्द पर न काम करी ॥ ५ ॥

४ - कपड़े का पल्ला, ५ - लगाए, ६ - कूंकें, ७ - हींगलू,  
 ८ - श्रीमंत, ९ - चंचल, १० - कान का आभूषण, ११ - सुंदर,  
 १२ - बूंदें, १३ - बालक ।

और शब्द - ये चार उन गोपी जनों के द्वारा जाने जाएँगे, रस तो माधव प्रभु आप ही जानेंगे ।

श्लोकः—गोप्यः सुमृष्टमणिकुण्डलनिष्ककण्ठश्चित्राम्बराः पथि शिखाच्युतमाल्यवर्षाः ।  
नन्दालयं सवलया व्रजतीर्विरेजुर्व्यालोलकुण्डलपयोधरहारशोभाः ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ — गोपियां कानों में उज्ज्वल मणियों की जड़ाऊ कुण्डल पहिने हैं, गले में पदकों के हार धारण किये हैं । हाथों की कलाइयों में कंकण पहिने हैं एवं विविध, विचित्र वस्त्र पहिने हैं, जिनकी वेणियों में से, मार्ग में फूलों की वृष्टि हो रही है । स्तन, कुण्डल और हार हिल रहे हैं, ऐसी गोपियों की नन्दजी के घर में प्रवेश करते समय विशेष शोभा हुई ।

सुबोधिनी — एवं गच्छन्तीनां स्वरूपमुक्त्वा नन्दगृहे प्रविशन्तीनां स्वरूपमाह गोप्य इति, दूरदागत्य यथाकथञ्चिद् यदा ता निकटे समागतास्तदा सर्वशोभानां प्राकट्याद् विरेजुरिति ता वर्णयति, गोप्य इतिपुनर्ग्रहणमग्रपश्चाद्भावेन समागतानां सम्भूयगमनार्थं, नन्दालयं व्रजतीर्विरेजुर्विशेषेण रेजुः, पूर्वं पिहिताभरणा अपि प्रकटभरणा जाताः, तथा प्रकटवस्त्राः, माल्यानां पुष्पाणां शिखातश्च्युतानां वृष्टिरिव मार्गे जाता, वलयानामपि शब्दतो रूपतश्च प्राकट्यं, व्यालोलाः कुण्डले पयोधरौ हाणश्च, तैः शोभा यासां, तदगता रजसास्तामसाः सात्त्विकाश्च लोला जाताः, अनेन तासामुत्सवासक्तिरुक्ता, सुष्ठु मृष्टे उज्ज्वले मणियुक्ते कुण्डले यासां, निष्कयुक्तः कण्ठो यासामस्ति ता निष्ककण्ठयः, पूर्वोक्ताश्च ता निष्ककण्ठयश्च विचित्राण्यम्बराणि यासां, पथि शिखातश्च्युतानां माल्यानां वर्षा यासां ताः, नन्दालयं नन्दगृहं, सवलया वलयसहिताः, व्यालोलकुण्डलपयोधरहारणां शोभा याभिः ॥ ११ ॥

व्याख्यानार्थ — इस प्रकार उपर्युक्त नवमें एवं दसवें श्लोक में जाती हुई गोपियों के स्वरूप का वर्णन कर, अब नन्दगृह में प्रवेश करती हुई गोपियों के स्वरूप का वर्णन करते हैं । 'गोप्य

७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५

(पृष्ठ २५ से आगे) धन्य धन्य दिवस धन्य वह पहर घरी ।  
धनि धन्य महारिजु की कूखि भागि सुहाग भरी ॥  
जिन जायो ऐसो पूत सब सुख फलन फरी ।  
धिर थाप्यो सब परिवार मन की शूल हरी ॥ ६ ॥  
सुनि ग्वालन गाय बहोरि<sup>१५</sup> बालक बोलि लिये ।  
गुहि गुंजाधसि वन<sup>१६</sup> घातु अंग अंग चित्रठये<sup>१७</sup> ॥  
सिर दधि भाखन माट गावत गीत नये ।  
संग झांझ मृदंग बजावत सब नंद भवन गये ॥ ७ ॥



इति' दूर दूर से आई हुई गोपियां जैसे तैसे किसी प्रकार वे समीप आकर आपस में मिलीं । तब उन सब के साथ मिलने से शोभा विशेष बढ़ी । दुबारा 'गोप्य' इसलिये कहा है कि गोपियां सब एक स्थान से नहीं आई थीं, किन्तु कोई कहीं से, और कोई कहीं से आकर सब नन्दरायजी के घर के निकट मिलके इकट्ठी हुई और नन्दजी के घर में, साथ ही प्रविष्ट हुई ।

आभूषणादि तो, वे लोग पहले ही पहने हुए थीं, किन्तु वे वस्त्रों के भीतर ढके हुए थे, इसलिये उनकी शोभा घर में आने पर, खुले होने से दिखाई देने लगी, जिससे सबों ने जाना कि ऐसे ऐसे इतने इतने और ये ये आभूषण, इन्होंने धारण किये हैं । ऐसे ही वस्त्रों की शोभा भी घर में आने पर ज्ञात हुई । रास्ते में शिखा<sup>१</sup> से गिरते हुए पुष्पों की वर्षा गोपियों की शीघ्र गति एवं जाने के मार्ग की सूचना दे रही थी । कंकणों ने भी रूप और शब्द से अपना प्राकट्य अर्थात् दूसरे आभूषणों के समान हम भी है, ऐसा बताया गोपियां हिलते हुए कुण्डल, पयोधर और हारों से सुशोभित देखने में आई । 'तद्गताः ?' इन आभूषणों में कुण्डल रजस, पयोधर तामस, और हार सात्त्विकता के प्रतीक<sup>२</sup> थे । उनमें चंचलता आ जाने से सब प्रकार की गोपियों की उत्सव में आसक्ति बताई । जिनके कानों में उज्ज्वल मणियुक्त कुण्डल, कण्ठ में पदकों के हार और विचित्र वस्त्र हैं तथा जिनकी मालाओं के फूलों ने रास्ते में वर्षा की है ऐसी गोपियों ने नन्दरायजी के घर में प्रवेश किया । जिस प्रकार गोपियां आभूषणों से सुशोभित थीं उसी प्रकार कंकण सहित चलायमान कुण्डल, स्तन और हार भी गोपियों के कारण सुशोभित हो रहे थे ॥ ११ ॥

श्लोकः — ता आशिषः प्रयुज्जानाश्चिरं पाहीति बालके ।

हरिद्राचूर्णतैलाद्भिः सिञ्चन्त्योजनमुज्जगुः ॥ १२ ॥

लेख १०-५-११ — दशम-श्लोक में 'गमन' का मुख्य रूप से वर्णन है इसलिये इस ग्यारहवें श्लोक में 'प्रवेश' का मुख्य रूप वर्णन करना चाहिये, वह न करके शोभा की मुख्यता का वर्णन क्यों किया ? इस शंका का निवारण करने के लिये कहा गया है कि 'दूरदागत्य' दूर दूर से आकर एक स्थान पर सब मिलीं । तब दोनों (गोपियों एवं आभूषणों) की परस्पर अत्यन्त शोभा हुई, अर्थात् गोपियों की आभूषणों से और आभूषणों की गोपियों से । इसलिये 'व्यालोल कुण्डल पयोधर हार शोभा' इस संस्कृत पद के दो प्रकार के विग्रह करके दो भाव बताये हैं । इसलिये प्रवेश की मुख्यता न बताकर शोभा की मुख्यता बताई गई है ।

१-केशपाश या वेणी । २-चिह्न ।

उद उद उद उद उद उद उद उद उद उद उद

(पृष्ठ २६ से आगे)

एक नाचत करत कुलाहल छिरकत हरद दही ।

मानो वरखत भादो मास नदी घृत दूध वही ॥

जाको जही जही चित जाय कौतिक तहीं तहीं ।

रस आनंद मगन गुबाल काहु घदत नहीं ॥ ८ ॥

**श्लोकार्थ** — गोपियां बालक को आशीर्वाद देती हुई तथा यों कहती हुई कि आप हमारी बहुत समय तक रक्षा करो, हल्दी, चूना, तैल और पानी मिला के परस्पर एक दूसरे पर डालती हुई उस बालक (भगवान्) का जोर से यश गाने लगीं ।

**सुबोधिनी** — तत्रागतानां कृत्यमाह ता आशिष इति, ता गोप्य एवमुत्कण्ठतया समागता आशिषः प्रयुज्जाना जाताः, तासां भगवदावेशात् सत्या एवाशिषो निर्गता इत्याह चिरं पाहीति बालके, आशिषो न परोक्षतया निरूपयन्ति किन्तु प्रत्यक्षतयेति पाहीतिमध्यमपुरुषप्रयोगः, तासां सर्वभावेन पालनमल्पकाल एवेति ज्ञात्वा बहुकालरक्षार्थं प्रार्थना, एतदपि प्रत्येकं वचनं, तासां प्रत्येकं भगवत्स्फुरणात्, एवमाशिषः प्रयुज्जाना भगवद्भावेनात्यन्तं मत्ता

हरिद्राचूर्णतैलजलान्येकीकृत्य परस्परं सिञ्चन्त्यो जनं भगवन्तमुज्जगुः, हरिद्राचूर्णयोर्मेलने आरक्तो भवति, तैलेन च सम्पृक्तं न कदापि त्यजति बहुकालमिममर्थं ज्ञापयति, जले योजितं प्रसृतं भवति । ननु कुलस्त्रीणां कथमेवम्भावस्तत्राहाजनमुज्जगुरिति, भगवद्भावस्य ज्ञापकमजनपदं, स हि भगवांस्तत्र जात इति ताभिर्ज्ञातं, अतो भगवति प्राप्ते सर्वापेक्षाभावात् तथा सिञ्चन्त्य उच्चैर्जगुः ॥ १२ ॥

**व्याख्यानार्थ** — नन्दगृह में आई हुई गोपियों के कार्य का वर्णन करते हैं कि वे गोपियां इस प्रकार बहुत स्नेह से आशीर्वाद देने लगीं । उनके आशीर्वाद सत्य थे क्योंकि गोपियों में भगवदावेश था । इसलिये उन्होंने कहा कि 'बहुत समय तक हमारी रक्षा करो' आशीर्वाद भगवान् को परोक्ष समझ कर नहीं दिया किन्तु प्रत्यक्ष आँखों के सामने दृष्टिगोचर हो रहा है, ऐसा समझ कर 'पाहि' यह मध्यम पुरुष का रूप दिया । गोपियों का सर्वभाव से भगवान् पालन थोड़े समय तक ही करेंगे ।\* यह समझ कर ही बहुत काल तक रक्षा के लिये उन्होंने प्रार्थना की । यह प्रार्थना किसी

★ प्रकाश १-५-१२ - गोपियों को आशीर्वाद में तो 'चिरंजीव' बहुत समय तक आप रहो, इतना कहना था इसके साथ (पाहि) हमारी रक्षा करो ऐसा क्यों कहा ? इसका भाव बताते हुए सुबोधिनी में 'तासां भगवदावेशात् सत्या एवाशिषः' कहा है कि गोपियों का यह कहना सत्य है क्योंकि उनमें भगवदावेश होने से वे जानती थीं कि भगवान् मथुरा पधारेंगे और हमारी रक्षा थोड़े समय तक ही करेंगे । इसलिये पाहि (रक्षा करो) ये शब्द साथ में कहे ! अथवा भगवान् मथुराजी भी जायें तो भी रात्रि के समय हमारा रक्षण करेंगे, दिन को नहीं करेंगे, इसलिये दिन के समय भी रक्षण करें । इसलिये 'चिरं पाहि' बहुत समय तक रक्षण करो अर्थात् 'दिन रात्रि' में हमारी रक्षा करो इस प्रकार कहा यह आशिष सत्य हुई क्योंकि 'स्त्रीपुरमेवार्हर्निशं' कहा है । यदि ऐसी ही इच्छा थी तो 'चिरं' (बहुत समय तक) न कहकर 'सदा' रक्षा करो कहना था ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२ ॥

(पृष्ठ २७ से आगे) एक धाई नंद जू पे जाय पुनि<sup>१</sup> पुनि पाय परें ।  
एक आप आपुही मांझ हसि हसि अंक<sup>२</sup> भरें ॥  
एक अंबर सबही उतारि देत निसंक खरे ।  
एक दधिरोचन<sup>३</sup> और दूब<sup>४</sup> सबन के शीस धरें ॥ ९ ॥

१ - फिरफिर, १ - छाती से लगाके घेंटना, २ - गोरोचन,  
३ - हरी घास,

एक गोपी ने नहीं की किन्तु प्रत्येक गोपी पृथक् २ अपने मुख से अपने २ लिये प्रार्थना करते 'चिरं पाहि' का उच्चारण किया, क्योंकि प्रत्येक गोपी में भगवत्स्फूर्ति थी। इस प्रकार आशीर्वाद देती हुई भगवद्भाव से अत्यन्त मत्त हो गई। प्रेमावेश में मग्न हो गई। इससे हल्दी, चूना, तैल और पानी मिलाकर आपस में छिड़कती हुई भगवान् के गीत गाने लगीं। हल्दी और चूना मिलने से उनका रंग लाल हो जाता है, उसमें तैल मिला कर किसी के लगाने से वह रंग मिटता नहीं, बहुत समय तक लगा रहता है और जल में मिलने से वह रंग फैल जाता है। यों करने का आशय यह है कि भगवान् के प्रति हमारा प्रेम बहुत समय तक अधिकाधिक होता रहे मिटे नहीं। कुलीन स्त्रियों में ऐसा भाव (पर) पुरुष में कैसे हुआ ? इस शंका को मिटाने के लिये 'अजन' पद से बताया। अजन पद भगवद् भाव का ज्ञापक है। गोपियों ने यह जान लिया था कि नन्दजी के यहाँ साधारण मानव का जन्म नहीं हुआ है, किन्तु उस अजन्मा का यहाँ प्राकट्य हुआ है। इसलिये भगवान् के मिलने पर अन्य सब की अपेक्षा जाती रहती है अर्थात् उनके मन में भगवत्प्रेम के अतिरिक्त लौकिक आदि का उद्भव ही नहीं होता है। इससे प्रेममत्त हो सिञ्चन करती हुई वे गोपियां भगवान् का जोर जोर से यश गान करने लगीं ॥ १२ ॥

'सदा' इसलिये गोपियों ने नहीं कहा कि वे जानती थीं कि यदि हम सदा रक्षण की प्रार्थना करेंगी तो प्राप्त रस का अनुभव न कर सकेंगी। इससे 'सदा' न कह कर 'चिरं' कहा।

२ - इस प्रकार वाणी से प्रार्थना कर क्रिया से भी उस आशय को बताती है। हल्दी व चूना आदि मिलाकर सिञ्चन करने से यह कहा कि जैसे लाल रंग व्यापक होकर मिटता नहीं है वैसे ही आपका और हमारा प्रेम ऐसा पक्का और व्यापक हो कि कदापि कम न हो।

३ - गोपियों ने ऐसे भाव जो प्रकट किये उसका कारण यह था कि गोपियों में भगवान् कृष्ण के लिए मनुष्य भाव नहीं था किन्तु ब्रह्मभाव था अर्थात् यह प्रकट बाल स्वरूप भगवान् (ब्रह्म) है इसलिये शुकदेवजी ने 'अजन' शब्द देकर बताया कि यह बालक अजन्मा भगवान् है।

१- यहाँ भगवान् शब्द से पुरुषोत्तम समझना चाहिये। 'पुरुषोत्तम' जिनको मिले हैं उनको लोकवेद की अपेक्षा नहीं रहती है क्योंकि श्रुति कहती है कि 'न विभेति' ब्रह्मज्ञा किसी से डरता नहीं। - लेख

४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४

(पृष्ठ २८ से आगे) तब नन्द न्याय भये ठाडे अरु कुसँ हाथ धरें ।  
 यसि चंदन चारु मंगाय विप्रन तिलक करें ॥  
 नांदी मुख पितर पुजाय अंतर सोच हरें ।  
 वर गुरजन<sup>४</sup> द्विजन पहराय सबन के पाय परें ॥ १० ॥

कृष्णे विश्वेश्वरेऽनन्ते नन्दस्य ब्रजमागते ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ — नन्दजी के व्रज में जगत् के नाथ अनन्त श्रीकृष्ण के प्रकट होने के कारण जन्म महोत्सव में विचित्र बाजे बजने लगे ।

सुबोधिनी — एवं विद्यावतां भूमेर्गवां गोपानां गोपीनां चालंकार निरूपिताः, लौकिकवाद्यकृतमुत्सवमाहावाद्यन्तेति, स्वभावतो दशविधानि वाद्यानि विचित्राणि ततोऽप्यन्यतराणि महोत्सवे भगवतो जन्मोत्सवे वादका वादयामासुः, महोत्सवे निमित्तमाह कृष्णे विश्वेश्वर इति, कृष्ण इति, संज्ञा नामकरणानन्तरमेव भवतीति भगवति नियमाभावात् पूर्वसंज्ञानामेव गर्णेणोक्तत्वात् “कृषिर्भूवाचकः शब्दोऽयं च निर्वृतिवाचकः” इतिवाक्यात् कृष्णः सदानन्दः आनन्दे चावश्यं वादित्राणि, किंच विश्वेश्वरे विश्वस्यैव नियन्तरि, महति

समागतेन्ततो गत्वा वादिप्राण्यपि वादनीयानि, बालके बालकान्तरवच्छंका नास्तीति सर्वथा महोत्सवः कर्तव्य इत्याह्वनन्त इति, न विद्यतेन्तो यस्य, अनन्तः कालो वा, अन्यथा स भार्येदिति, तत्रापि नन्दस्याल्पस्य तत्रापि ब्रजेल्यगृहे महति समागते महोत्सवः कर्तव्य एव, अन्यथा महानपकुर्यात्, किञ्च "द्रोणो बसूना" मित्यारभ्य "ततो भक्तिर्भगवति" "कृष्णो ब्राह्मण आदेश" मित्यनौर्वाक्यैः परमभक्तत्वेन नन्दस्य तदा वादित्रवादनमुचिततम् ॥ १३ ॥

**व्याख्यानार्थ** — उपर्युक्त पांच से बारह श्लोकों में सूत मागध आदि विद्योपजीवियों के, व्रज भूमि के गाय और गोपियों के अलङ्कारों का वर्णन हुआ । इस श्लोक में लौकिक बाजों के बजने से हुए उत्सव का वर्णन करते हैं ।

४ — 'सहि' शब्द से सुबोधिनी में बताया गया है कि गोपियों ने जान लिया है कि ये वे ही भगवान् हैं जिनने हमको वरदान दिया था । वे भगवान् षड्गुणैश्वर्य संयुक्त अक्षर में ही विराजमान हैं । अन्य बालक की तरह पृथ्वी पर इनका जन्म नहीं हुआ है किन्तु अक्षर को प्रकट कर उसमें आपका प्रादुर्भाव हुआ है । यह गोपियों ने (भगवदावेश होने से) समझा था ।

१. प्रकाश - सुबोधिनी में कहे हुए अलंकार शब्द से, सुन्दर सत्य वाणी, जात-कर्म संस्कार, वेश और गुणगान समझने चाहिये ।

(पृष्ठ २९ से आगे) मन मैया गिनी न जाय तरुन सुवच्छ बढ़ी ।  
नित चरै जगुन जु के काछ दूने दूध चढी ॥  
खुर रूपे तांजे पौठ सोने सौंग मढी ।  
ते दीनी द्विजन अनेक हरखि असोस पढी ॥ ११ ॥

६ - किनास.

स्वभाव से बाद्य दश<sup>१</sup> प्रकार के होते हैं, बाजे वालों ने उनसे भी विशेष बाद्य, भगवान् के जन्म महोत्सव में बजाये । महोत्सव करने का निमित्त कारण, विश्व के नियामक कृष्ण का प्राकट्य है । अभी तो बालक का जन्म हुआ है; नामकरण तो हुआ ही नहीं, तो कृष्ण नाम शुकदेवजी ने कैसे कहा ? इस शंका को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'भगवति नियमाभावात्' नामकरण संस्कार में नाम तो लौकिक बालकों का धरा जाता है इसलिये लौकिक बालक के नाम का ज्ञान, नामकरण होने पर होता है । भगवान् के साथ, यह नियम लागू नहीं होता है क्योंकि उनका नाम धरा नहीं जाता है । जैसे वे नित्य हैं वैसे ही उनका नाम सदैव नित्य है । शंका-तो गर्गजी ने नामकरण संस्कार में नाम क्यों धरे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'पूर्व संज्ञानामेव गर्गेणोक्तत्वात्' गर्गजी ने नये नाम नहीं धरे थे किन्तु पहले के ही नाम कह सुनाये थे । जैसे 'कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्च निर्वृतिवाचकः' 'तयो रैक्यं परंब्रह्मकृष्ण इत्यभिधीयते' - गोपाल-तापिनीयोपनिषद् 'कृष्' शब्द सत्तावाचक है 'ण' शब्द आनन्दवाचक है । दोनों शब्दों के ऐक्य से 'कृष्ण' बना है, उन कृष्ण<sup>२</sup> को परंब्रह्म कहते हैं । अर्थात् "कृष्ण" सदानन्द स्वरूप है यह नाम कोई जन्म (प्राकट्य) के कारण नहीं है । आनन्द होने पर सामान्यतया बाजे अवश्य बजने चाहियें जिस पर यहाँ तो विश्व के नियामक का प्राकट्य हुआ है इसलिये महान् के पधारने पर स्वयं उसके पास जाकर बाजे भी अधिक बजाने चाहिये । यह तो दूसरे बालकों जैसा ही बालक है, ऐसी शंका मन में नहीं लानी चाहिये क्योंकि शुकदेवजी ने इनको 'अनन्त' कहा है इसलिये

१ - दश प्रकार के बाद्य - (१) मृदङ्ग, (२) शङ्ख, (३) भेरी, (४) वीणा, (५) पणव, (६) गोमुख, (७) धुन्धुरी, (८) आनक, (९) घण्टा, (१०) दुन्दुभि ।

प्रथम स्कन्ध, दशवें अध्याय के श्लोक पन्द्रह में कहे हुए के अनुसार ये बाजे स्वयं आप ही नहीं बजेंगे, इसलिये सुबोधिनी में कहा है 'वादका वादयामासुः' अर्थात् बजाने वालों ने बजाये ।

२ - टिप्पणी - तेरहवें श्लोक में 'कृष्ण' शब्द 'विश्वेश्वर' और 'अनन्त' शब्द के समान भगवान् का सदानन्द स्वरूप बताने के लिये कहा गया है न कि कृष्ण का नाम है । ऐसी अवस्था में यह शंका करनी ही व्यर्थ है कि नामकरण से पहले शुकदेवजी ने 'कृष्ण' नाम कैसे दिया । टिप्पणीकार इसका उत्तर देते हैं कि 'विश्वेश्वर' और 'अनन्त' आदि शब्द पहले धर्म बता कर, धर्मों का ज्ञान कराते हैं, किन्तु 'कृष्ण' शब्द धर्म कहकर धर्मों का ज्ञान नहीं कराता है वह तो स्वयं आनन्द की सत्ता रूप है, इसलिये यह 'कृष्ण'

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥

(पृष्ठ ३० से आगे) तब अपने मित्र सुबन्धु हास हसि बोलि लिये ।  
मधि मृगमद<sup>३</sup> मलय<sup>४</sup> कपूर माथे तिलक किये ॥  
उर मणि माला पहराय वसन<sup>५</sup> विचित्र दिये ।  
मानों वरखत मास असाढ़ दादुर मोर जिये ॥ १२ ॥

३-कस्तुरी, ४-चंदन, ५-वस्त्र,

यह लौकिक बालक जैसा बालक नहीं है किन्तु जिनका कोई अन्त नहीं है ऐसे महान् हैं, या अनन्त काल<sup>२</sup> रूप हैं इसलिये यदि अन्यथा किया जायगा अर्थात् महोत्सव नहीं मनाया जाएगा तो कालरूप होने से वे नष्ट कर देंगे। इसके अतिरिक्त नन्दजी छोटे हैं और उनका घर ब्रज भी छोटा है, वहाँ विश्व के 'ईश्वर' 'सदानन्द' 'अनन्त'<sup>३</sup> पधारे हैं। छोटे के छोटे घर में यदि महान् आ जाए तो उनके आगमन पर अवश्य महोत्सव करना चाहिये। इससे आने वाले का स्वागत समादर होता है, नहीं तो उसका अपमान<sup>४</sup> होता है। जिससे अप्रसन्न होकर वह कुछ हानि भी करे। इन सब विचारों के साथ साथ नन्दजी द्रोण हैं और भगवद्भक्त हैं। तथा भगवान् कृष्ण, ब्रह्माजी के वचन सत्य करने के लिये, ब्रज में पधारे हैं। इसलिये महामना नन्दरायजी ने आह्लाद में जो बाजे बजाने का महोत्सव किया सो बहुत उचित था।

श्लोक: — गोपाः परस्परं हृष्टा दधिक्षीरघृताम्बुभिः ।

आसिञ्चन्तो विलिम्पन्तो नवनीतैश्च चिक्षिपुः ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ — आनन्दमग्न गोपगण दही, दूध, घृत और जल आपस में (एक दूसरे

नाम हैं न कि किसी का धर्म बताने वाला शब्द है। अतः यह शंका वास्तविक होने से उसका समाधान इस प्रकार किया गया है कि पुरुषोत्तम स्वरूप सदानन्दात्मक है, 'कृष्ण' पद केवल सदानन्दात्मक स्वरूप का वाचक होने से 'मुख्य नाम' है। इसलिये शुकदेवजी ने यहाँ 'कृष्ण' पद नामवाचक ही दिया है।

- २ — लेख — 'काल' यह काल भी भगवद्रूप है जैसा कि 'अथ सर्वगुणोपेतः' श्लोक में कहा है और 'तमद्भुतं' श्लोक में उसका विशेष विवरण है। इसलिये यह 'काल' साधारण काल नहीं, किन्तु भगवद्रूप है। भगवान् के लीला काल के प्रादुर्भाव होते हुए यदि सेवक पूर्णतया सेवा न करे, तो सेवकों का अहित ही होता है इसलिये भगवद्रूप काल के आगमन के कारण, सब सेवक सेवा करने लगे। अन्यथा दण्डपात्र होते।
- ३ — अनन्त — 'काल' लीला काल भगवद्रूप है, इसलिये लीला काल के समय, यदि सेवक सेवा न करे, तो वह काल रूप भगवान्, उन सेवकों को दण्ड देंगे।
- ४ — 'अपमान' — सेव्य की सेवा न करे, तो दोष है।

४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४

(पृष्ठ ३१ से आगे) वर बंदी मागध सूत आंगन भवन धरे ।

ते बोले ले ले नाम हित कोठ ना विसरे ॥

जिन जो जाच्यो सो दोनो रस नंदराय धरे ।

अति दान मान परधान<sup>१०</sup> पूरन काम करे ॥ १३ ॥

पर) सिंचन करने (उडेलने) लगे और दही आदि से मुख लेपन करते हुए माखन फेंकने लगे ।

सुबोधिनी — गोपिकानां भगवत्स्मरणेनैव भगवदा-  
वेशो जातो गोपानां तु भगवत्सन्निधाने भगवद्धर्मप्राकट्य  
आवेश इति भगवदाविष्टानां गोपानामुत्सवप्राकट्यमाह गोपा  
इति, दधिक्षीरघृताम्बुभिर्मिलितैः परस्परमासिञ्चन्तो दध्यादि  
मुखेषु विलिम्पन्तो नवनीतैः पिण्डैश्चक्षिपुरन्योन्यस्योपरि

प्रक्षिप्तवन्तः, अथवा यस्य यत्प्राप्तिः केचिद् दध्ना केचित्  
क्षीरेण केचिद् घृतेनाम्बुभिश्च, आसिञ्चनं तुल्यतया,  
लिम्पनमाधिक्ये, अतिरसाविष्टे नवनीतैः क्षेपोतिमत्ततया, एवं  
सर्वेषां महानुत्सव उक्तः ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ — गोपिकाओं में भगवान् का आवेश भगवत्स्मरण से हुआ और गोपों में तो भगवान् के सन्निधान से, भगवद्धर्म प्राकट्य के कारण, भगवान् का आवेश हुआ । भगवदावेश होने पर, हर्ष से प्रफुल्लित गोपों के, मनाये हुए उत्सव का वर्णन करते हैं ।

दधि, दूध, घी एवं जल को मिला कर आपस में सिंचन करने लगे; दही आदि एक दूसरे के मुखों पर लेपन करते हुए परस्पर माखन के गोले फेंकने लगे । अथवा जिसको जो वस्तु हाथ लगी जैसे किसी को दही हाथ लगा तो वह दही से दूसरे के मुख पर लेप करने लगा, यदि किसी को दूध या जल हाथ लगा तो वह दूध या जल उडेलने लगा । इसी प्रकार घृत एवं जल से सिञ्चनादि किये । सिञ्चन समान आनन्द वाले और अधिक आनन्द वाले करते थे । विशेष रस में मत्त होने पर नवनीत के गोलों की चर्चा करते थे । इसी प्रकार सबों के उत्सव का वर्णन किया है ॥ १४ ॥

श्लोकः — नन्दो महामनास्तेभ्यो वासोऽलङ्कारगोधनम् ।

सूतमागधबन्दिभ्यो येऽन्ये विद्योपजीविनः ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ — उदार हृदय वाले नन्दरायजी ने उन सूत,<sup>१</sup> मागध<sup>२</sup> और बन्दीजनों को<sup>३</sup>

१—सूत = पौरणिक । २—मागध = वंश की स्तुति करने वाले भाट । ३—बन्दी = चारण ।

उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ० उ०

(पृष्ठ ३२ से आगे)

तब रोहिनी अंबर मगाय सारी सुरंग घनी ।  
ते दीनी बधुन बुलाय जैसी जाय बनी ॥  
वे अति आनंदित महोरि निज ग्रह गोप घनी ।

मिलि निकसी देत असीस रुचि अपुनी अपुनी ॥ १४ ॥  
तब घर घर भेरी मृदंग पटह निसान बजें ।  
वर बांधी बंदन माल अरु ध्वज कलश सजें ॥  
तब ता दिन ते वे लोग सुख संपति न तजें ।  
सुनि सूर सबन की यह गति जे हरि चरण भजें ॥ १५ ॥





श्लोकः — तैस्तैः कामैरदीनात्मा यथोचितमपूजयत् ।

विष्णोराराधनार्थाय स्वपुत्रस्योदयाय च ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ — अदीन, निर्लोभी (महान्) आत्मा (मन) वाले नन्दरायजी ने आये हुआ का कामनानुसार विष्णु की प्रसन्नता के लिये और अपने पुत्र के उदय के लिए यथायोग्य पूजन किया ।

सुबोधिनी — अन्येभ्यो दानमाह तैस्तैरिति, येषां येषां ये ये कामा अभिलषितास्तैस्तैः कामैर्विष्णुबुद्ध्या तानपूजयत्, अदीनात्मेति, न दीनोलुब्ध आत्मान्तःकरणं यस्य, ननु यद्यदेयं प्रार्थयेत् कश्चिद्वैत्यो वा तदा किं कुर्यात्तत्राह यथोचितमिति, उचितमनतिक्रम्य, देये सम्प्रदाने चोचितत्वं, एवं सर्वेषां पूजनप्रयोजनमाह विष्णोराराधनार्थयेति, विष्णुप्रीत्यर्थं, स्वपुत्रस्याभ्युदयार्थं च तस्य ज्ञानानुरोधाद् भिन्नतया कथनं, चकारद् ग्रहादिप्रार्थनार्थम् ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ — दूसरों को भी दान दिया उसका वर्णन करते हैं । नन्दरायजी का अन्तःकरण निर्लोभी था अर्थात् उदार था । इसलिये जिनके मन में जो जो पाने की इच्छा थी उस इच्छा के अनुसार उनका भी विष्णुबुद्धि<sup>१</sup> से आदर सत्कार किया ॥ १६ ॥

शंका — यदि किसी ने अदेय मांगा हो व मांगने वाला असुर था, तब वहाँ नन्दरायजी ने क्या किया ? वहाँ कहते हैं कि योग्यता अनुसार पूजन किया, अर्थात् जिसकी जैसी योग्यता थी उसको उतना दिया और जो कुछ देना योग्य था वही दिया क्योंकि देने और दान में, योग्यता आवश्यक है । इस प्रकार सबों के पूजा करने का प्रयोजन बताते हैं कि विष्णु<sup>२</sup> की प्रसन्नता के लिये, अपने पुत्र<sup>३</sup> की उन्नति के लिये सबों का पूजन किया । श्लोक में 'च'<sup>४</sup> दिया है इसका आशय बताते हैं कि ग्रहादि की प्रार्थना के लिये भी पूजन किया ।

१ — विष्णु प्रसन्न हों इस बुद्धि से पूजन (आदर सत्कार) किया - लेख

२ — योजनाकार सुबोधिनी के 'तस्य नन्दस्य ज्ञानानुरोधात् भिन्नतया कथनं' के आशय को स्पष्ट करते हैं । विष्णु की प्रसन्नता और अपने पुत्र की उन्नति के लिये अलग २ लिखने का भाव यह है कि नन्दरायजी ने अपने पुत्र को विष्णु से पृथक् लौकिक बालकवत् समझा था । अर्थात् अपने पुत्र को विष्णु रूप नहीं समझा था । तात्पर्य यह है कि शुकदेवजी ने नन्दजी की बुद्धि के अनुसार पृथक् २ कहा है ।

३४ ३४ ३४ ३४ ३४ ३४ ३४ ३४ ३४ ३४ ३४ ३४

(पृष्ठ ३४ से आगे) घर घर होत आनन्द वधाई जहां तहां मागय सूत ।  
मनि मानिक पाटंबर अंबर दीने नंद बहुत ॥ ३ ॥  
हय गज हेम भण्डार दिये सब फेरि भरे सों भात ।  
जब ही देत तब ही फिरि देखें सम्पति घर न समात ॥ ४ ॥  
ते मोहि मिले जात घर अपने मैं बूझी तब बात ।  
हैंसि हैंसि दोरि मिले अंक भरि हम तुम एक जाति ॥ ५ ॥

व्यचरद् दिव्यवासःसक्कण्ठाभरणभूषिता ॥ १७ ॥

सुबोधिनी — स्त्रीभ्यो दाने रोहिण्यै दत्तं भयादप्रकटं च, अत एव दिव्यानि वासांसि स्रजः कण्ठाभरणानि भवेदिति भगवद्वेशाद् दातुः प्रतिग्रहीतुश्च भयाभावं ज्ञापयितुं रोहिणीचरित्रं निरूपयति रोहिणी चेति, भगवदागमनव्यतिरेकेणापि बलभद्रोत्पत्त्यैव सा कृतार्थेत्याह महाभागेति, यद्यपि देवकीव्यतिरेकता अन्या अपि वसुदेव- त्रियो भाग्यवत्यस्तथापीयं बालत्नीलादि द्रक्ष्यतीति महा- भागेति वा, चकारात् सर्वा एव स्त्रियः, स्त्रीष्वेव गुप्ततया प्रचारं वारयति नन्दग्नौपाग्निनन्दतेति, प्रचारार्थं निर्भयस्थित्यर्थं

- (सुबो० स्क० १० अ० ८७ श्लोक-१७)

32 32 32 32 32 32 32 32 32 32 32 32

(पृष्ठ ३५ से आगे) संपत्ति देहु लेंहु नहीं एको, अत्र वस्त्र के काज ।  
जो तुमपे हों मांगन आयो सोई लेहों ब्रजराज ॥ ६ ॥  
अपने सुत को वदन दिखावो बड़े महर शिरताज ।  
तुम साहिब हों ढाढी तेरो प्रभु मेरो ब्रजराज ॥ ७ ॥

**व्याख्यानार्थ** — स्त्री वर्ग के दान में, रोहिणीजी को दिया हुआ दान तो कंस के भय के कारण छिपाकर दिया होगा। इस शंका को मिटाने के लिये कहते हैं कि भगवान् के आवेश होने से दान करने वाले एवं लेने वाले को कोई भय नहीं होता है। इसलिये नन्दरायजी ने, जो रोहिणीजी को दिया, वह छिपकर नहीं दिया और न रोहिणीजी ने डर कर छिप छिप कर लिया। इस श्लोक में रोहिणीजी की निर्भयता दिखाने के लिये रोहिणीजी के चरित्र का वर्णन करते हैं।

रोहिणीजी को 'महाभागा' (बड़े भाग्यवाली) इसलिये कहा गया है कि भगवान् के आने से पहले ही रोहिणीजी से बलरामजी प्रकट हो गये थे। यद्यपि देवकी के अतिरिक्त वसुदेवजी की सब पत्नियाँ भी भाग्यशालिनी थीं, किन्तु बाललीला आदि सब लीलाएँ रोहिणीजी देखेंगी, दूसरी पत्नियाँ बाललीला नहीं देखेंगी, इस कारण से यह विशेष भाग्यवती है। रोहिणीजी नन्दरायजी से अभिनन्दित (सम्मानित) होने के कारण केवल स्त्री-वर्ग में ही नहीं फिरती थीं, किन्तु सब जगह घूमती हुई सारा गृह-कार्य करती थीं और गृहिणी के सम्मान देख रेख करती थीं। रोहिणीजी प्रचार करने और निर्भयता दिखाने के लिये सुन्दर वस्त्र, मालाएँ तथा कण्ठाभरणों से अलंकृत हुई थीं। 'च' अक्षर से बताते हैं कि अन्य स्त्रियाँ भी दिव्य वस्त्र मालाएँ, कण्ठाभरण पहनकर सुशोभित हुई थीं। स्त्रियों के तीन प्रकार के आभूषण होते हैं - (१) वस्त्रों के, (२) पुष्पों के और (३) सुवर्ण के। इसलिये उन्होंने तीन प्रकार के आभूषण धारण किये थे। पैर और हाथों के आभूषण तो यों ही स्त्रियों के सदैव रहते हैं, परन्तु कण्ठाभरण पदकहार आदि विशेष उत्सवों पर पहने जाते हैं। इसलिये उनका यहाँ वर्णन किया गया है। इससे रोहिणीजी के सम्बन्ध के कारण यह कृष्ण (वसुदेवजी के पुत्र) यहाँ आये हैं। यह भय भी मिटा दिया ॥ १७ ॥

**श्लोकः** — तत आरभ्य नन्दस्य व्रजः सर्वसमृद्धिमान् ।

हरेर्निवासात्मगुणै रमाक्रीडमभून्नृप ॥ १८ ॥

**श्लोकार्थ** — हे राजन् ! उस दिन से नन्दजी का सारा व्रज सम्पूर्ण समृद्धिवाला हुआ। भगवान् के घर होने से एवं उनकी आत्मा तथा ऐश्वर्यादि छः गुणों के निवास से वह व्रज लक्ष्मी का क्रीडा भवन हो गया।

**सुबोधिनी** — एवं सर्वैः प्रकारैः सर्वस्वे व्ययिते नन्दस्य समृद्धिर्जातेत्याह तत आरभ्येति, यदा पूर्वोक्तदानानि सर्वसमृद्ध्यभावमाशङ्क्य भगवन्निवासात् तस्य महती दत्तवांस्ततः प्रभृति विष्णुबुद्ध्या पूजितत्वात् तस्याप्या-

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

(पृष्ठ ३६ से आगे) चंद वदन दरसन संपति दे, सोई ले घर जाऊँ ।

जो संपति सनकादिक दुर्लभ सो सब तुमारे ठाऊँ ॥ ८ ॥

नुषङ्गिकमेव तत् फलं, सर्वा धनपशुज्ञानादिसमृद्धयो न केवलं नन्दस्य किन्तु सर्वेषामित्याह ब्रज इति, न केवलं समृद्धिमात्रं किन्तु वैकुण्ठवत् कान्तिविशेषोऽपि जात इत्याह हरेरिति, गोकुले गवां सम्पदं त्त्वनं कुश्लिष्टमेव भवत्य- तस्तदभावाद्यर्थमेतद् वक्तव्यं, कान्तिश्चाधिदैविकी सर्वोत्तमा, सा लक्ष्मीनिवासादेव भवतीति तदाह रमाक्रीडमभूदिति, रमाया आसमन्तात् क्रीड्य चस्मिस्तद् रमाक्रीडं वैकुण्ठस्थानं तदभूत्, हरेर्निवासात्मगुणैरिति, स हि सर्वदुःखहर्ता भक्तानां वैकुण्ठपर्यन्तं गमनमप्यसहमान इहैव वैकुण्ठं

समानोतवानित्यर्थः, आनीतेपि वैकुण्ठे यदि भगवान् न तिष्ठेत् तत्रापि त्रिभुवनसुन्दररूपेण तत्राप्यैश्वर्यादिस्व- सर्वगुणप्राकट्येन तदा वैकुण्ठेऽपि शोभा न स्यात् तदाह पदत्रयेण निवासात्मगुणैरिति, निवासः स्थानं गृहं स्थितिर्वा, आत्मा देहः परमानन्दरूपः, गुणा ऐश्वर्यादयः, तैः कृत्वा रमायाः क्रीडनं, स्थितौ स्थितिः परमानन्दविग्रहेण रमणं गुणैरसमन्ताद् रमणमिति नृपेति सम्बोधनं यत्रैव राजा तिष्ठति सैव राजधानी भवतीति ज्ञापनं सम्प्रत्यर्थम् ॥ १८ ॥

**व्याख्यार्थ** — महोत्सव में, इस प्रकार, सर्वस्व देने से नन्दरायजी के पास कुछ नहीं रहा होगा । इस शंका को मिटाने के लिये कहते हैं कि, स्वयं भगवान् के निवास स्थल होने से उन (नन्दजी) के पास पहले से भी अधिक समृद्धि हुई — इसका वर्णन 'तत आरभ्य' श्लोक से करते हैं ।

नन्दरायजी के पहले कहे हुए दान देने और विष्णुबुद्धि से पूजन करने के कारण उस दिन से धन, पशु, ज्ञान आदि सर्वप्रकार की समृद्धियां केवल नन्दजी के पास ही नहीं, किन्तु समग्र ब्रज में हो गई, पर यह उसका गौण<sup>१</sup> फल है । न केवल समृद्धियां ही हुई किन्तु ब्रज की वैकुण्ठ जैसी विशेष शोभा हुई, क्योंकि ब्रज भगवान् का निवास बन गया, उसमें अपनी आत्मा (स्वरूप) और षड्गुणों सहित आप विराजमान हुए । यों तो ब्रज में गौण अधिक रहने से वह स्थान गोमयादि के कारण असुन्दर होता है, किन्तु वहाँ तो आधिदैविकी कान्ति (शोभा) सब से उत्तम हुई, वह तो लक्ष्मीजी के निवास से ही होती है, इसलिये कहते हैं कि, वह ब्रज रमा के खेलने का स्थान (वैकुण्ठ) बन गया । गोमयादि से असुन्दरता मिट गई और उनमें आधिदैविकता आने से सर्वत्र अलौकिक सुन्दरता आ गई ।

१ - विष्णुबुद्धि से किये हुए पूजन का गौण फल है - लेख ।

**टिप्पणी** — प्रथम दान करने से नन्दरायजी को समृद्धि की प्राप्ति हुई, मुख्य फल विष्णु का आराधन मिला, जिससे नन्दजी ने सबका विष्णुबुद्धि से पूजन किया । दान का गौण फल है ।

विष्णुबुद्धि से पूजन करने से वेद के दोनों काण्डों के फल नन्दजी को मिले—१—पूर्व काण्ड का फल धन, पशु और उत्तर काण्ड का फल ज्ञान ।

'यत्र गावो भूरि शृङ्गा' इस श्रुति में आधिदैविक नित्यसिद्ध, लोक में प्रसिद्ध ब्रज को वैकुण्ठ कहा गया है । आधिभौतिक ब्रज में वैकुण्ठ को लाए । — लेख

३८ ३८ ३८ ३८ ३८ ३८ ३८ ३८ ३८ ३८ ३८ ३८

(पृष्ठ ३७ से आगे) ब्रज में रहें आन नहीं जावों, प्रसाद तिहारो पाऊं ।

हैं तो जन्म जन्म को जाचक, सूरदास मेरो नाऊं ॥ ९ ॥

वैकुण्ठ में जाने का परिश्रम भी भक्तों को न हो, इसलिये सर्वदुःखहारी भगवान् यहाँ पर ही वैकुण्ठ को लाए, यदि लाए हुए वैकुण्ठ में भी भगवान् न हों, तो वह वैकुण्ठ भी भक्तों को आनन्ददाता नहीं होता है। इसलिये भक्तेच्छापूर्वक भगवान् ने भक्तों की अभिलाषित कामनाओं की पूर्ति के लिये, अपनी आत्मा (स्वरूप) तथा षड्गुणसहित ब्रज को अपना निवास बनाया। भगवान् उनकी आनन्दमय आत्मा तथा षड्गुण के वहाँ विराजने से स्वयं रमा की झीडास्थल अर्थात् वैकुण्ठ हो गया अर्थात् परमानन्द स्वरूप का लीला स्थान होने से ब्रज अत्युत्कृष्ट (सब से उत्तम) स्थान हुआ। हे राजन् ! यह सम्बोधन देने से, यह भाव बताया है कि, जहाँ राजा रहता है, वह 'राजधानी' होती है। आप राजा हो, आपको तो यह अनुभव है ही। जब भगवान् स्वयं ब्रज में रहे तो, वह ब्रज भगवान् का धाम, वैकुण्ठ बन ही गया, इसमें कोई शंका का अवकाश नहीं है ॥ १८ ॥

**आभास —** एवमुत्सवं निरूप्य तस्य स्थानस्य वैकुण्ठत्वं चाकृत्रिमोत्सवार्थं निरूप्योसत्त्वसिद्धिपर्यन्तमत्यावश्यकमपि न कृतवानिति ज्ञापयितुं जात उत्सवेन्तरासक्तिज्ञापनार्थः भगवदर्थमुत्तमवस्तूनामानयनार्थं च मथुरां प्रति गतवानित्याह गोपानिति अथवा देवकीवसुदेवयोरपि स्नेहातिशयाद् गोकुले भगवन्नयनं कोऽपि जानाति न वेतिसंशये मनसि खेदो भवतीति श्रीनन्दसंवादेन तन्निशकरणपूर्वकं तयोरप्युत्सवः सम्पत्स्यत इत्युत्सवानन्तरमव्यवधानेनैव ब्रजेन्द्रस्य मथुरागमनमुच्यते, एवं सत्युत्सवलक्षणोऽध्यायार्थोऽप्यान्तः संगच्छत इति तमाह गोपानीति।

**आभास का अनुवाद —** श्री शुकदेवजी ने इस प्रकार जन्मोत्सव का वर्णन किया, जिसमें यह दिखाया कि यह उत्सव 'बनावटी' \* नहीं था, क्योंकि भगवान् के प्राकट्य के कारण उत्सव मनाया गया था, चाहे नन्दजी की बुद्धि ऐसी नहीं थी तो भी वास्तव में तो, आनन्दरूप भगवान्

१०-५-१८ योजना — 'हरेर्निवासात्मगुणैः' पदों से शुकदेवजी ने देह और षड्गुणों सहित भगवान् का ब्रज में निवास कहा है। यहाँ देह शब्द से किसी को शंका हो कि भगवान् की भी मनुष्यवत् देह है क्या ? इस शंका को मिटाने हुए योजनाकार कहते हैं कि भगवान् और भगवान् की देह पृथक् नहीं हैं वह भगवद्रूप ही है, इसलिये 'आत्म' शब्द दिया है और शास्त्रों में भी, भगवान् के देह को आनन्द रूप कहा है—जैसा कि 'कृषिपूर्वाचक' श्रुति में कृष्ण को सदानन्द स्वरूप कहा गया है। 'सच्चिदानन्द रूपाय' गोपालतापिनी उपनिषद् में, सच्चिदानन्द रूप कहा है। 'आनन्दरूपममृतं यद् विभाति' श्वेताश्वतर उपनिषद् में 'आनन्द रूप अमृत' कहा गया है। 'सच्चिदानन्द विग्रह' नन्दब्रज जनानन्दी ब्रह्माण्ड पुराण में नन्द के ब्रज को आनन्ददाता सच्चिदानन्द शरीर घाटी कहा है। इत्यादि प्रमाणों से कृष्ण आनन्दस्वरूप है, उनकी देह उनसे पृथक् नहीं है वह देह भी आनन्दात्मक ही है।

\* लेख १०-५-१८ — उत्सव बनावटी नहीं था। भगवान् की अकृत्रिम उत्सव की लीला तो नित्य वैकुण्ठ में ही होती है। भूतल पर तो, जो लीला होती है वह (भूतल पर कौ हुई लीला) कृत्रिम (बनावटी) ही होगी, आप कैसे कहते हो कि लीला अकृत्रिम थी। इस शङ्का को मिटाने के लिये ही भगवान् ने गोकुल को वैकुण्ठ बना दिया था। इससे सिद्ध होता है कि उत्सव अलौकिक था।

के प्राकट्य के कारण सब के मन में उत्साह प्रकट हुआ, जिससे इतना महामहोत्सव मनाया गया और वह स्थान वैकुण्ठ बन गया। ऐसे महोत्सव में लगने के कारण, नन्दजी दूसरे आवश्यक कार्य भी न कर सके, तो भी, उत्सव पूरा होते ही, अन्तरासक्ति होने पर भी, भगवान् (पुत्र) के लिये सुन्दर वस्तु लाने को मथुरा गए। यह 'गोपान्' इस श्लोक से वर्णन करते हैं (अथवा वसुदेवजी और देवकीजी का भी भगवान् में अतिशय स्नेह है) भगवान् को हम गोकुल में छोड़ आए हैं इसका ज्ञान किसी को हुआ भी है या नहीं, इस संशय से उन के मन में खेद होता था। नन्दरायजी से बातचीत होने पर उन का वह खेद मिटेगा और उनको भी प्रसन्नता होगी। इस कारण से भी नन्दरायजी उत्सव पूर्ति होते ही बिना कुछ दिन ठहरे, मथुरा चले गए, जिसका वर्णन करते हैं। ऐसा करने से इस अध्याय का अर्थ उत्सव है, इसकी भी सिद्धि हो जाती है। मथुरागमन का वर्णन 'गोपानिति' इस श्लोक से करते हैं।

श्लोक: — गोपान् गोकुलरक्षायां निरूप्य मथुरां गतः ।

नन्दः कंसस्य वार्षिक्यं करं दातुं कुरुद्वह ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ — हे कुरुनन्दन ! नन्दरायजी गोकुल की रक्षा के लिये गोपों को नियुक्त कर, आप कंस को वार्षिक 'कर' देने के लिए मथुरा गए।

सुबोधिनी — एतेन वसुदेवकृतस्थितिनिषेधानन्तरं ब्रजेन्द्रस्य पुनर्मथुरायामनागमनाद् ब्रज एव कंसनैरेक्ष्येण यथासुखं स्थित्या भगवदैश्वर्यमपि निरूपितं भविष्यति, पूर्वं रक्षायामनादरः स्थितः, इदानीमादरेण गोकुलरक्षार्थं गोपानन्तरांगानादिष्व स्वयं मथुरां गतः, करो हि सर्वाभिः

प्रजाभिर्दीयते, इदानीमपि तस्मिन् देशे श्रावण्यनन्तरमेव कर्त्तव्यं, वर्षपर्यन्तं यद् देयं तदेकदा दीयते महद्भिः, नन्दस्तु महान् भवतीति तन्नामग्रहणं, कुरुद्वहेतिसम्बोधनं राजधर्मज्ञापनार्थं ॥ १९ ॥

व्याख्यानार्थ — वसुदेवजी नन्दरायजी को मथुरा में रहने का निषेध करेंगे, इससे नन्दजी ब्रज में लौट कर आने के अनन्तर मथुरा नहीं जाएँगे। कंस की चिन्ता न कर, ब्रज में ही निश्चिन्त रूप से निवास कर, सुखपूर्वक दिन व्यतीत करेंगे। इससे भगवान् के ऐश्वर्य गुण का दिग्दर्शन हुआ। पहले गोकुल की रक्षा में नन्दजी का इतना आदर न था। अब अत्यन्त आदर से गोकुल की रक्षा के लिये, अन्तरंग गोपों को आदेश देकर मथुरा गए। कारण कि सारी प्रजा 'कर' देती है। अभी भी इस देश में श्रावणी (श्रावण शुक्ल १५) के अनन्तर कर देने का नियम है। सारे वर्ष में जो कर देना हो वह एक ही दिन बड़े पुरुष (साहूकार) दे देते हैं। नन्दजी महान् हैं

प्रकाश १०-५-१९—'गोपान्' इस श्लोक से सिद्ध करते हैं कि यह अध्याय—ऐश्वर्याध्याय—है। क्योंकि नन्दरायजी वसुदेवजी के निषेध करने के बाद फिर मथुरा में नहीं आवेंगे, ब्रज में ही रहेंगे। कंस की थोड़ी सी भी चिन्ता न कर, निश्चिन्त वहाँ सुखपूर्वक समय बिताएँगे।

इसलिये उनका नाम करदाताओं में गिनाया गया है। कुरुद्वह ! यह सम्बोधन राजधर्मज्ञापन के लिये दिया गया है ॥ १९ ॥

**आभास —** यद्यप्यासक्ति ज्ञापनार्थं पश्चात् करदानं निरूपितं तथापीश्वरे भगवति विद्यमानेत्येभ्यः करदानमनुचितमिति ततः प्रभृति तन्निवृत्त्यर्थम् ।

**आभास का अनुवाद —** यद्यपि नन्दरायजी की उत्सव में आसक्ति बता कर, यह जताया है कि अब 'कर' नहीं देना चाहिये ऐसा निरूपण किया है, किन्तु वास्तव में ईश्वर (भगवान्) के विद्यमान होते हुए, अन्य को 'कर' देना उचित नहीं है। अब 'कर' नहीं देना चाहिये। यह समझाने के लिये वसुदेवजी का नन्दजी से मिलना आवश्यक है, जिसका वर्णन 'वसुदेव उपश्रुत्य' श्लोक से करते हैं —

**श्लोकः —** वसुदेव उपश्रुत्य भ्रातरं नन्दमागतम् ।

ज्ञात्वा दत्तकरं राज्ञे ययौ तदवमोचनम् ॥ २० ॥

**श्लोकार्थ —** अपने भाई नन्दरायजी का आगमन सुन और राजा कंस को कर दिया, यह जानकर वसुदेवजी उनके डेरे पर गए ।

**सुबोधिनी —** वसुदेवपुत्रो भविष्यतीति सङ्क्रान्तिवृत्त्यर्थ-  
मुत्सवाधिक्यस्य ज्ञातत्वात् कंसकृतोपद्रवाभावार्थं कंस-  
मन्त्रणस्य श्रुतत्वाद् विशेषरक्षार्थं च शीघ्रं नन्दं ततः प्रेषयितुं  
वसुदेवसमागमनवार्ता निरूप्यते, चतुर्णां मध्य एकस्याप्यभावे  
नोत्सवः सिध्येदिति, तत्र प्रथमं वसुदेवसमागमनमाह वसुदेव  
इति, मायाकृतस्य ज्ञापनं भगवत्कार्यमिति भगवच्चरित्रता,  
वसुदेवस्य नन्दस्य च धर्मभ्रातृत्वं, यस्मिन् कल्पे वस्तादिदेवा  
ब्रह्मण एव जाताः कश्यपोपि भवन्ति ब्रह्मण एव तदा भ्रातृत्वं  
सिद्धमेव, ततः पूर्वजन्मनि तथैवेति जन्मान्तरेपि धर्मभ्रातृत्वं,  
तदाह भ्रातरमिति, आगमनात्पूर्वं चेच्छृणुयान्निवारयेदेव, कस्तानात्  
पूर्वमपि चेज्जानीयात् तदा न दापयेत्, दानपर्यन्तं च  
राजकीयास्तदवमोचने समायाति, तेषामज्ञानार्थं ज्ञात्वा दत्तकरं  
राज्ञे इति चोक्तं, अवमोचनमुत्तरणस्थानं, शकटादिकमवमुच्य  
यत्र स्थीयते ॥ २० ॥

**व्याख्यानार्थ —** (१) जिसके जन्म का हमने ऐसा महान् उत्सव मनाया है, वह वसुदेवजी का पुत्र होगा। इस शंका को मिटाने के लिये, वसुदेवजी का नन्दजी से मिलना आवश्यक था।

(२) कंस को महान् उत्सव का ज्ञान पूर्ण न हो जाय नहीं तो वह उपद्रव करेगा। यह जताने के वास्ते वसुदेवजी का नन्दजी से मिलना आवश्यक था।

(३) कंस ने मंत्रणा कर दूतों को गोकुल आदि स्थानों में बालकों का नाश करने को भेजा है, इसका ज्ञान वसुदेवजी को था जिसकी सूचना नन्दजी को देनी थी सो उन दोनों का मिलना आवश्यक था।

(४) नंदजी को मथुरा से गोकुल शीघ्र भेज कर, वहाँ पर ही रहने एवं बालकों की रक्षा के लिये कहना था, जिसके लिये वसुदेवजी को उनसे मिलना आवश्यक था ।

उपर्युक्त चारों<sup>१</sup> में से एक का भी यदि अभाव हो, तो उत्सव की सिद्धि नहीं होगी । पहले वसुदेवजी के मिलने का वर्णन करते हैं । माया के कार्य को बताना यह भगवत्कार्य होने से भगवत् चरित्र ही है । वसुदेवजी और नंदरायजी आपस में धर्मभ्राता थे । जिस कल्प में वसु<sup>१</sup> आदि देव, ब्रह्मा के पुत्र थे; उस ही कल्प में कश्यप भी उनके पुत्र थे । इस प्रकार पूर्व जन्म में ये दोनों भाई भाई थे । इस दूसरे जन्म में भी पूर्व संस्कार से धर्म भाई हुए हैं, इसलिये शुकदेवजी ने नंदजी का विशेषण 'भ्रातरं' शब्द देकर सिद्ध किया है कि ये दोनों भाई हैं । यदि वसुदेवजी को यह सूचना पहले होती कि नंदजी मथुरा आते हैं तो वे नंदजी को यहाँ आने से ही रोक देते तथा यहाँ आने पर भी, कर देने से पहले ज्ञात हो जाता कि, यह कर देने आये हैं तो कर देना बंद करवा देते । नंदजी कर जब तक नहीं देंगे तब तक राज कर्मचारी डेरे पर आते रहेंगे, अतः वसुदेवजी ने जब जाना कि नंदजी ने कर दे दिया है और अब कोई भी राज-कर्मचारी उनके पास नहीं आएगा तथा इनसे मेरे मिलने का ज्ञान उनको नहीं होगा, इसलिये अब नंदजी से मिलें । यह सोच कर नंदरायजी से वे मिलने के लिये, उनके डेरे पर गए ॥ २० ॥

१ - प्रकाश १०-५-२० - चारों में से एक के भी अभाव से नन्दजी एवं वसुदेवजी तथा अन्यो का उत्सव भी अपूर्ण रहता । जिससे अध्याय का अर्थ 'उत्सव' भी सिद्ध न होगा ।

शंका - नन्दजी के डेरे पर मिले हुए वसुदेवजी और नन्दजी का संवाद भगवत्चरित्र न होने के कारण दशम स्कन्ध में यह प्रसंग नहीं देना चाहिये ।

समाधान - इस शंका निवृत्ति के लिये सुबोधिनिजी में (मायाकृतस्यज्ञापनं भगवत्कार्यं, भगवच्चरित्रता तक) कहा है कि माया वेशधारी कंस ने जो मंत्रणा की, वह वसुदेवजी ने नन्दजी को सुनाई । अतः यह भी भगवत्कार्य था, इसलिये यह भगवत्चरित्र होने से दशम स्कन्ध में आ सकता है ।

१०-५-२०-'मायाकृतस्यज्ञापनं' का विशेष भाव बताते हुए कहते हैं कि कंस ने गोकुल में (व्रज में) उपद्रव करने के लिये जो जो दैत्य भेजे वे सब माया के कहे हुए वचनों से, जैसा कि नन्द की कन्या रूप धारी माया को, जिस समय कंस ने मारने की तैयारी की, उस समय उसके हाथ से छिटक कर, आकाश में जा, माया ने कंस को कहा था कि 'जातः खलु तवान्तकृत् । यत्र क्वचित् पूर्वशत्रुर्माहिंसीः कृपणान्वृथा ।' हे कंस ! तेरा अन्त करने वाला पूर्व शत्रु, जहाँ कहीं प्रकट हो चुका है, अब अन्य दीन बालकों को वृथा मत मार । इसका भाव यह है कि तुम्हारा शत्रु मथुरा में नहीं दूसरे स्थान में उत्पन्न हो गया है, वहाँ उपद्रव करो, मथुरा में नहीं । इस माया के ज्ञापनानुसार कंस ने मन्त्रणा कर, गोकुल में उपद्रव कराए, जिनकी सूचना वसुदेवजी 'सन्त्युत्पाताश्च गोकुले' श्लोक द्वारा नन्दजी को देंगे और भगवत् रक्षा के लिये उद्यत करेंगे । इस कारण से यह भगवत्चरित्र है । इस योजनानुसार भी 'प्रकाश' में उठाई शङ्का को मिटाया गया है ।

१-नन्दजी 'द्रोण' नामक वसु थे, इसलिये उस जन्म में ब्रह्मा के पुत्र थे ।



श्लोकः — तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय देहः प्राणमिवागतम् ।

प्रीतः प्रियतमं दोर्भ्यां सस्वजे प्रेमविह्वलः ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ — जैसे देह में प्राण आने पर, देह उठ खड़ी हो जाती है वैसे ही नन्दजी भी वसुदेवजी को देखकर सहसा उठ खड़े हो गये और प्रसन्न हुए तथा प्रेम से व्याकुल हो दोनों भुजाओं से आलिङ्गन करते हुए प्रियतम से मिले ।

सुबोधिनी — भ्रातृत्वज्ञापनार्थं नन्दस्य सम्मानमाह तं दृष्ट्वेति, सहसोत्थानमत्यादरज्ञापकं, लोकव्यवहारदपि भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह देहः प्राणमिवागतमिति, मूर्च्छितो देहः प्राणे समागते शीघ्रमुत्तिष्ठति तेजोविशेषं च प्राप्नोति यथायःपिण्डोऽग्निसम्बन्धे तथा सर्वदेवतामये वसुदेवे निकटे समागते तेजो ज्ञानं सर्वं च सद्गुणा वसुदेवनिष्ठा अत्र समागता वसुदेवाधिदैविक रूपं च, तदाह प्राणे समागते देह इवेति, इदं तु भगवच्चरित्रमेव, अत एवात्यन्तं प्रीतः,

आगमनेन सर्वस्वप्राप्त्या चात्यन्तं प्रीतः प्रियतमस्तु व्यवहारे स्निग्धो भवति, परमार्थश्च मायां दूरीकृत्य भगवन्तं दत्तवानिति, नद्धेतादृशादधिकः प्रियो भवति, इदानीं च सर्वस्वं दत्तवान्, क्षेमालिङ्गनमाह दोर्भ्यां सस्वज इति, अन्यत् तु कृत्यमालिङ्गनत्यागं च न कृतवानित्यत्र हेतुमाह प्रेमविह्वल इति प्रेम्णोद्गतेन विवशो जातः, एतादृशोऽपि पुनः स्थानस्थितोग्रिमकार्यं कृतवानिति भगवच्चरित्रम् ॥ २१ ॥

व्याख्यानार्थ — 'तदृष्ट्वा' इस श्लोक से वसुदेवजी के साथ 'भ्रातृपन' बताने के लिये नन्दरायजी द्वारा किये सम्मान का वर्णन करते हैं । 'अकस्मात् उठना' विशेष आदर का सूचक है, लौकिक व्यवहार में भी कोई घर आता है, तो उसका उठकर आदर किया जाता है, किन्तु यहाँ तो वह लौकिकता नहीं थी, इसलिये शुकदेवजी ने 'देहः प्राणमिवागतम्' कहा है, इसका भाव यह है कि जैसे मूर्च्छित देह में प्राण आते ही, वह शीघ्र उठ कर खड़ी हो जाती है तथा उसमें तेजस्विता आ जाती है जैसे लोहे का गोला अग्नि के सम्बन्ध से विशेष तेज से चमकने लगता है । वैसे ही सर्व देवता रूप, वसुदेवजी के समीप आने से उनके तेज (वसुदेवजी के) ज्ञान और सब सद्गुण, जितने भी उनमें थे, वे सब तथा वसुदेवजी का आधिदैविक स्वरूप<sup>१</sup>

१ — प्रकाश : वसुदेवजी का 'नन्दः परमानन्दः' इस श्रुति में जो आधिदैविक स्वरूप वर्णन किया है वह नन्दजी में प्रविष्ट हुआ । आधिदैविक वसुदेवजी को नमस्कारादि कार्य न किये । - लेख

२ — योजना : वसुदेवजी के आधिदैविक रूप का नन्दजी में प्रविष्ट होने का भाव बताते हैं कि भगवान् का व्रज से मथुरा में पधारने के अनन्तर नन्दजी को ज्ञात होगा कि वे वसुदेवजी के पुत्र हैं तो भी नन्दजी का, जो उनमें उत्कट वात्सल्य भाव था, वह कम न हुआ अर्थात् श्रीकृष्ण को वे अपना पुत्र ही समझते रहे । यदि आधिदैविक स्वरूप का प्रवेश नन्दजी में न होता तो भगवान् को वसुदेवजी के घर में पुत्र की तरह स्थिति और रुक्मिणी से विवाहादि का ज्ञान होने पर 'मेरा पुत्र है' यह बुद्धि मिट जाती और पुत्र स्नेह भी नष्ट हो जाता एवं नन्दजी का निरोध भी न रहता । ऐसा न होकर नन्दजी की वही बुद्धि बनी रहे, इसलिये भगवान् ने वसुदेवजी के आधिदैविक स्वरूप का नन्दजी में प्रवेश करवाया । जिससे वसुदेवजी के पुत्र का ज्ञान होने पर भी 'स्वपुत्र बुद्धि' मेरा पुत्र है वह बुद्धि स्थिर ही रही ।

भी नन्दजी में प्रवेश कर गया<sup>१</sup> इसलिये कहा है कि प्राण आने पर, देह की तरह नन्दजी भी इन गुणों से युक्त होने से स्फूर्तिमान् हो गए। यह सब भगवान् की लीला है इस कारण से नन्दजी अत्यन्त प्रसन्न हुए। अत्यन्त प्रसन्नता के दो कारण हुए—

१-वसुदेवजी का आगमन, २-प्राणों की तरह सर्वस्व देना। विशेष प्रियतम तो व्यवहार से दयालु एवं मनोहर होता है। वसुदेवजी ने भी नन्दजी से माया लेकर भगवान् को दिया। ऐसे दयालु भ्राता से विशेष प्रिय कौन होगा? अर्थात् कोई नहीं होगा। इस समय तो अपना सर्वस्व (तेज, ज्ञान एवं आधिदैविक रूप आदि) भी दे दिया। इन कारणों से नन्दजी ऐसे प्रेम विवश हुए कि प्रेम से वसुदेवजी का दोनों भुजाओं से गाढ़ आर्त्तिगन किया और छोड़ नहीं सके अर्थात् नन्दजी और वसुदेवजी एक रूप हो गये। ऐसे प्रेममग्न एक रूप होते हुए भी स्थान पर ही आगे के कार्य करने लगे। यह भी भगवत्चरित्र (लीला) है ॥ २१ ॥

**श्लोकः — पूजितः सुखमासीनः पृष्ट्वाऽनामयमादृतः ।**

**प्रसक्तधीः स्वात्मजयोरिदमाह विशाम्पते ॥ २२ ॥**

**श्लोकार्थ —** नन्दरायजी से पूजा और आदर पाकर अपने पुत्रों में आसक्त बुद्धि वाले वसुदेवजी सुखपूर्वक बैठे और आरोग्य पूछकर, यह कहने लगे कि हे वैश्यों के स्वामी !

**सुबोधिनी —** लौकिकमाह पूजित इति, अन्यथा देवगुह्यमुच्यमानमस्मिन् न स्थिरीभवत्, आदौ पूजितस्ततः सङ्कोचाभावेन सुखमुपविष्टः स्वयमप्यनामयमारोग्यं पृष्ट्वा 'वैश्यं पृच्छेदनामय' मितिवाक्यादादृतो नन्देन परमादरेण गृहीतः, देवगुह्यकथनार्थं हेतुमाह प्रसक्तधीः, स्वात्मजयो-रिति, एकः पुत्रो नन्देनापि ज्ञायते परस्तु न ज्ञायत इति साक्षादुभयोः कुशलं प्रष्टुमशक्यमतः साधारणं प्रष्टव्यमिति तस्य प्रकृतानुपयोगित्वमाशङ्क्य हेत्वर्थमाह प्रकर्षेण सक्ता घोर्यस्येति, इदं वक्ष्यमाणं, साधारणं रूपमाह विशाम्पत इति, देशानां राजेति सम्बोधनं गूढवचनज्ञानार्थम् ॥ २२ ॥

**व्याख्यानार्थ —** इस श्लोक में लौकिक प्रकार कहते हैं (पूजितः) पूजे हुए। यदि वसुदेवजी नन्दजी द्वारा पूजादि<sup>१</sup> से आदर न पाते तो वसुदेवजी, जो देव गुह्य (जिसको देवता ही जानते हैं)

१ — प्रकाश — शास्त्र में कहा है कि 'पूज्य पूजा च्यतिक्रम' पूजनीय की पूजा न करने से 'दोष' लगता है इसलिये यदि नन्दजी वसुदेवजी का पूजन न करते तो दोष के भागी होते। इस दोष से बचने के लिये शास्त्रवचनानुसार नन्दजी ने वसुदेवजी का पूजन किया। इससे देवगुह्य भी नन्दजी के चित्त में स्थिर हुआ।

**योजना —** गुरु की पूजा से ही ज्ञान स्थिर होता है। वसुदेवजी उपदेश देने के कारण नन्दजी के गुरु हैं। इसलिये गुरु पूजा आवश्यक होने से नन्दजी ने वसुदेवजी का पूजन किया; यों गुरुपूजन करने से वसुदेवजी का उपदेश नन्दजी के चित्त में स्थिर हुआ। तदनुसार शीघ्र गोकुल गये।

कथा नन्दजी को बताते, वह नन्दरायजी के हृदय में स्थिर न होती । इसलिये नन्दजी ने पहले वसुदेवजी का पूजन किया । पूजन होने से वसुदेवजी के हृदय से बैठने आदि का संकोच निकल गया । जिससे सुखपूर्वक बैठे और वसुदेवजी ने भी 'वैश्यं पृच्छेत् अनाभयम्' वैश्य से मिले तब आरोग्य पूछे । इस शास्त्र वचनानुसार नन्दजी से पहले आरोग्य पूछ कर नन्दजी का आदर किया । वसुदेवजी ने नन्दजी से देवगुह्य वार्ता क्यों की, तो कहते हैं कि, 'प्रसक्तधीः' अर्थात् वसुदेवजी अपने पुत्रों में अत्यन्त आसक्त बुद्धि वाले थे, इस कारण से वसुदेवजी देवगुह्य बातें भी नन्दरायजी से छिपा नहीं सके । यद्यपि नन्दजी को एक पुत्र (बलराम) का तो ज्ञान था कि, यह वसुदेवजी का पुत्र है किन्तु दूसरे का ज्ञान नहीं था कि यह मेरा पुत्र भी वसुदेवजी का ही पुत्र है । उसको तो वे अपना ही पुत्र समझते थे, इसलिये दोनों की कुशलता स्पष्ट पूछना कठिन था, इसलिये साधारण रीति से पूछना चाहिये । यह अवसर इसके पूछने का नहीं है तो भी 'आसक्तधी' होने से साधारण रूप से पूछेंगे इसलिये कहा 'विशाम्पते' हे देशों के राजा ! यह सम्बोधन गूढ़ वचनों का (जो वसुदेवजी सूक्ष्म रीति से कहेंगे) ज्ञान नन्दजी को कराने के लिए है ॥ २२ ॥

वसुदेव उवाच

श्लोक : — दिष्ट्या भ्रातः प्रवयस इदानीमप्रजस्य ते ।

प्रजाशाया निवृत्तस्य प्रजा यत् समपद्यत ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ — हे भाई ! तुम अत्यन्त वृद्ध हो गये । तुम्हारे कोई सन्तान न थी । तुम संतान की आशा भी छोड़ चुके थे । यह बड़े आनन्द की बात है कि अब तुम्हें संतान प्राप्त हुई ।

सुबोधिनी — आदी तं पुत्रवत्त्वेन प्रोत्साहयति दिष्ट्येति, हे भ्रातः प्रवयसो वृद्धस्य ते प्रजाशायां निवृत्तायां प्रजाशायाः स्वयमपि निवृत्तस्य प्रजा समपद्यतेति यद् दिष्ट्या परमभागेन, इदानीमप्यप्रजस्येति, यद्यपि स्पष्टतया निरूपितः प्रजाभावस्तथाप्यन्वये भ्रमो भगवत्कृतो निरूपितः, अप्रजस्येति, कृत्रिमप्रजापि न सम्पादितेति ज्ञापितं, वृद्धत्वात् स्वरूपायोग्यता निरूपिता, आशाया निवृत्तत्वात् प्रयत्नो निवारितः, इच्छया

अपि निवृत्तत्वात् पुरोहितादिद्वारापि प्रयत्नो निवारितः, प्रजाशब्दोपत्यमात्रवाचो, अतो नानृतं, समपद्यतेत्यकस्मादागमनं, मायायामपि रेतोजनितत्वाभावाय वृद्धत्वादिकीर्तनं, तं प्रति भगवत्पि तथात्वज्ञापनायोभयं भगवदिच्छयातो दिष्ट्यत्युक्तं, अनेन सामान्यतस्तस्य स्वरूपमप्युक्तं अन्यथा भ्रातृवञ्चने दोषः स्यात् ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ — पहले पुत्र वाला बता कर नन्दजी को 'दिष्ट्या' इस श्लोक से प्रोत्साहित करते हैं ।

हे भाई ! वृद्ध होने से प्रजा होने की आशा छुट गई थी एवं आपने भी प्रजा की आशा त्याग दी थी, किन्तु बड़े भाग्य से बिना प्रजा वाले भी आपको प्रजा प्राप्त हुई, इसकी आपको बधाई है। अभी भी बिना प्रजावाले आपको प्रजा हुई। यह वसुदेवजी ने स्पष्ट कह दिया। श्लोक में 'अप्रजस्य' शब्द के साथ में 'इदानीं' शब्द दिया है<sup>१</sup>। इससे इदानीं शब्द को 'अप्रजस्य' के साथ लाने पर अर्थ होता है कि अभी भी आप प्रजा (सन्तान वाले) नहीं हो अर्थात् इस संकेत से वसुदेवजी ने बता दिया कि यह कृष्ण मेरा पुत्र है। यदि 'इदानीं' शब्द इसके साथ न लिया जाय तो अर्थ होगा कि आप पहले बिना प्रजावान् थे 'इदानीं' अभी आपको प्रजा हो गई है। इस तरह अन्वय में<sup>२</sup> भ्रम भगवत् इच्छा से हुआ। जिससे वसुदेवजी का झूठापन भी मिट जाता है और कंस को भी यह ज्ञान न हो कि वह वसुदेवजी का पुत्र है। 'अप्रजस्य' बिना प्रजावाले आपको इस शब्द से यह भी संकेत कर दिया कि आपके दत्तक आदि सन्तान भी नहीं है। बूढ़ा कहने से सन्तान उत्पन्न करनेवाले स्वरूप की अयोग्यता दिखाई। आशा न रही, इससे प्रयत्न की भी आवश्यकता न रही, इच्छा ही न रही, तो पुरोहितों द्वारा भी प्रयत्न न कराये। प्रजा शब्द अपत्यवाचक<sup>३</sup> (पुत्र वा पुत्री कोई भी संतान है, इसलिये प्रजा शब्द कहने से वसुदेवजी झूठ भी नहीं कहा। श्लोक में 'समपद्यत' शब्द का भावार्थ बताते हैं कि अचानक को आ जावे यह अर्थ है, इसलिये आपके यहाँ किसी का जन्म नहीं मात्र अचानक आना हुआ है 'माया' भी वीर्य से उत्पन्न हुई थी इसी तरह भगवान् भी फिर बूढ़े तो हो ही, तो यह सब

१ - टिप्पणी - 'इदानीं अप्रजस्य' का भावार्थ बताते हैं कि एक कन्या (माया) हुई थी वह भी आपके पास रही नहीं, इसलिये आप अब प्रजा (सन्तान) रहित हो। 'प्रजा समपद्यत' का भाव बताते हैं जो कि पहली कन्या नहीं अब तो पुत्र सन्तति आ गई। यह भगवान् के यहाँ आने के कारण वसुदेवजी ने कहा। यह सब वसुदेवजी की बुद्धि के अनुसार कहा गया है। यदि इस तरह अभिप्राय न हो तो 'बिना प्रजावाले' आपको प्रजा हुई इन दोनों में परस्पर विरुद्ध वाक्य की संगति नहीं होती।

२ - प्रकाश - 'अन्वय' शब्द का आशय बताते हैं कि लौकिक रीति से उत्पन्न प्रजा को अन्वय (वंश) कहा जाता है। यहाँ लौकिक रीति से प्रजा नहीं हुई है इसलिये 'अप्रजस्य' कहना सत्य है। अर्थात् इस समय आपके प्रजा नहीं है। टिप्पणीकार प्रभुचरण ने पहिले नन्द गृह में भगवान् का प्रकट्य कहकर, अब 'अप्रजस्य' का भाव बिना प्रजावाला कैसे बताया। इसका समाधान करते हैं, कि यह कहना वसुदेवजी की बुद्धि के अनुसार है। नन्द के गृह में प्रकट स्वरूप का ज्ञान वसुदेवजी को नहीं है, वसुदेवजी को तो अपने यहाँ प्रकट भगवान् एवं नन्दजी के यहाँ प्रकट हुई माया रूप कन्या का ज्ञान था। कन्या को आप ले गए और भगवान् को वहाँ विराजमान कर गए। इस ज्ञान के कारण वसुदेवजी ने जो कहा उसका अनुवाद मात्र यहाँ किया गया है, अर्थात् वसुदेवजी की बुद्धि के अनुसार वर्णन किया गया है। सुबोधिनीजी में दो प्रकार बताये हैं - (१) माया और भगवान् - दोनों लौकिक रीति, वीर्यादि से उत्पन्न नहीं हुए, इसलिये प्रजा का अभाव। (२) भगवान् प्रकट हुए इसलिये प्रजा सम्पत्ति वाले नन्दजी हैं।

३ - योजना - प्रजा शब्द अपत्य पुत्र वा पुत्री हो उसको कहा जाता है। इसलिये माया रूप कन्या का जन्म हुआ। इसलिये वसुदेवजी का कहना असत्य नहीं।

जो कुछ हुआ है वह भगवद् इच्छा से ही हुआ है । इससे प्रसन्नता है । यों कहने से सामान्य रीति से सारी बात का सच्चा स्वरूप, एक भगवान् का स्वरूप भी कह दिया । यदि यों नहीं कहते तो भाई से वञ्चना (धोखेबाजी) करने का वसुदेव को दोष लगता ॥ २३ ॥

**श्लोकः — दिष्ट्या संसारचक्रेऽस्मिन् वर्तमानः पुनर्भवः ।**

**उपलब्धो भवानद्य दुर्लभं प्रियदर्शनम् ॥ २४ ॥**

**श्लोकार्थ —** इस संसार चक्र में चक्कर काटते हुए आपने नया जन्म पाया है फिर आज मुझे मिले हो । यह भाग्य से हुआ है क्योंकि प्रियतम के दर्शन दुर्लभ होते हैं ।

सुबोधिनी — आगमने जातं दर्शनं चाभिनन्दति दिष्ट्येति, अस्मिन् संसारचक्रे वर्तमानः पुनर्भवः पुनरुत्पन्नो मयोपलब्ध इति यदेतदपि दिष्ट्या, संसारो हि चक्रभ्रमात्मकः, भ्रमणे पतितोत एवाधो गच्छेत्, दूरे स्थितस्तु परिभ्रमेत्, चक्रे वर्तमानस्तु पुनर्न दृश्यत एव, चक्र एव वर्तमाने उभयोरन्यतरस्य वा मज्जनसम्भवात् मग्नश्चेत् पुनरुत्तिष्ठति तस्य पुनर्भव एव, तथा सर्वमारकस्य कालस्य संवत्सरगणकस्य वशं गताः पुनर्वत्सरान्ते चेत् तिष्ठन्ति तदा पुनर्भूता एव, संवत्सरः प्रजापतिर्जातो जनकत्वात्, अन्यथा

कालो भवेत्, तत्रापि पुत्रादिसौख्यं चेत् प्राप्नुयात् तदा पुनरुत्पन्नः पुत्ररूपेणालौकिकः स्यात्, एतद् भाग्यव्यतिरेकेण न भवतीति दिष्ट्या, अतः संसारचक्रे स्थितिरपि दिष्ट्या, पुनर्भवोपि दिष्ट्या, मयोपलब्धोपि दिष्ट्या, मृत्युरस्मन्निकटे सदा वर्तत इति, भवानिति स्नेहः, अद्येत्यलभ्यलाभः, एतस्य केवलमदृष्टसाध्यत्वे हेतुमाहुर्दुर्लभं प्रियदर्शनमिति, संसारे सर्वमप्रियं दुःखदत्त्वात् तत्र प्रियदर्शनं दुर्लभमेव, प्रियस्य प्रीतिजनकस्य ॥ २४ ॥

**व्याख्यार्थ —** और<sup>१</sup> वसुदेवजी नन्दजी के यहाँ आने पर उनके दर्शन का अभिनन्दन (प्रशंसा) करते हैं । संसार रूप भंवर में परिभ्रमण द्वारा इधर से उधर प्राप्त हुए । आपको आज मैंने पाया है यह भी हमारा आपका नया जन्म है इसलिये हर्ष की बात है । संसार फिरते हुए चक्र (भंवर) के समान है, उसमें पड़ा हुआ नीचे चला जाता है, दूर रहने वाला चक्कर काटता है और चक्र में पड़ जाने पर तो अदृश्य ही हो जाता है । वसुदेवजी नन्दजी से कहने लगे कि इस संसार चक्र में हम दोनों ही डूब जाते अथवा कोई एक डूब जाता तो जो डूब कर निकलता, उसका पुनर्जन्म ही कहा जाता है । सर्वनाशकारी संवत्सर रूपी काल के आधीन होने पर भी यदि कोई व्यक्ति संवत्सर पूर्ण होने के अनन्तर जीवित रहता है तो उसका जन्म नया ही समझना चाहिये । संवत्सर काल रूप होते हुए भी प्रजापति इसलिये कहलाता है कि वह किसी किसी को अपने (संवत्सर के) पश्चात् नया जन्म देता है । यदि ऐसा न करे तो प्रजापति नाम की सार्थकता न हो, मात्र काल रूप ही रह जावे । इसमें भी जो कदाचित् संवत्सर पूर्ण होने के अनन्तर

१ — लेख — 'और' शब्द पहले श्लोक २३ व २४ का सम्बन्ध बताता है । पहले श्लोक में नन्दजी का उत्साह बढ़ाया इसमें दर्शन का अभिनन्दन किया ।

सन्तानादि सुख की भी प्राप्ति हो गई हो, तो पुत्र रूप से फिर उत्पन्न होना तो अलौकिक<sup>१</sup> ही है। यह भाग्य के अतिरिक्त नहीं होता है, इसलिये बधाई है।

आपका संसार रूप भंवर में रहना भी महान् हर्ष का विषय है। नया जन्म भी महाभाग्य है। मुझे मिले यह भी महान् उत्सव है। मृत्यु तो अपने पास ही सदा रहती है। 'भवान्' (आप) यह शब्द स्नेह का चिह्न है अर्थात् इस शब्द से निश्चित रूप से अपना स्नेह सिद्ध होता है। अद्य (आज) इस शब्द से यह भाव निकलता है कि मुझे एवं आपको (अलभ्य) नहीं मिलने वाला लाभ मिला है। इसका मिलना केवल प्रारब्ध से ही है कारण कि 'दुर्लभं प्रियदर्शनम्' प्रिय का दर्शन कठिनाई से होता है। संसार में बहुत करके पदार्थ दुःख देने वाले होते हैं, आनंद देने वाला एक प्रियतम (प्यार) भाई (मित्र) ही है, जिसका मिलना दुर्लभ है, सो आज मिला है ॥ २४ ॥

श्लोकः — नैकत्र प्रियसंवासः सुहृदां चित्रकर्मणाम् ।

ओघेन व्युह्यमानानां प्लवानां स्रोतसो यथा ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ — जल के प्रवाह से बहती हुई नौका, तृण और काष्ठ आदि की स्थिति जैसे एक स्थान पर नहीं रहती है, वैसे ही विचित्र प्रारब्ध वाले सम्बन्धियों का सुख देनेवाला निवास एक स्थान पर नहीं रहता।

सुबोधिनी — एवं खेदेऽत्रैव स्थातव्यमिति शंकां परिहरन्नागमनदोषं च परिहरन् दर्शनस्य दुर्लभत्वमुपपादयति नैकत्रेति, प्रिययोरेकत्र संवासो न सम्भवति, तत्रापि सुहृदां बन्धूनां मध्ये प्रिययोः, तत्र हेतुश्चित्रकर्मणामिति, यद्येकं कर्म भवेदेकत्रोत्पन्ना भवेयुः प्रपायामेकदा सह समागता इव, तत्राप्यनियमः, तदैव मिलितानां चित्रं कर्म येषां, कर्माधीनाः कर्मणैवोत्क्रान्तिगत्यागतिमन्तो भवन्ति, न केवलं कर्माधीनाः

एव, तत्रापि कालो महान् बाधक इति दृष्टान्तेन कालस्य बाधकत्वमाहौघेनेति, प्रवाहेण यथा विशेषत उह्यमानाः क्षणं मिलिताः पुनर्वियुक्ता भवन्ति, तत्रापि प्लवा नौकारूपाः, तत्रोभयोः प्रवर्तकत्वं जलस्य कर्णधारस्य च, प्रवाहस्य सहजत्वख्यापनाय स्रोतस इत्युक्तं, अनेन प्लवानां गमनागमनमध्ये सङ्घटितिः क्षणमात्रमेव भवतीति निरूपितं पारेगतस्यापि दर्शनाभावश्च ॥ २५ ॥

व्याख्यानार्थ — नन्दजी से मिलकर यों कहने के अनन्तर वसुदेवजी के मन में दो विचार आये। १—कदाचित नन्दरायजी के मन में यह शंका हुई हो कि मैं लौटकर शीघ्र ही गोकुल जाऊँगा तो वसुदेवजी को खेद होगा इसलिये यहाँ ही रह जाऊँ। २—मैं इतने दिन नहीं आया इससे वसुदेवजी अप्रसन्न हुए होंगे। नन्दरायजी के खेद की शंका और देरी से आने के दोष

१ — अलौकिक — 'आत्मा वै पुत्र नामासि' पिता ही पुत्र नाम धरता है। इसलिये यह अलौकिक है अर्थात् इसका प्रतिपादन (श्रुति) वेद करता है, न कि लोक।

को मिटाने के लिये 'नैकत्र' यह श्लोक कहकर बताया है कि आपका दोष नहीं है और आपको यहाँ रहने की शंका भी नहीं करनी चाहिये । प्रेमियों का एक स्थान पर निवास नहीं होता है । उनमें भी सुहृद् और सम्बन्धियों में जो प्रिय होते हैं उनका तो एक साथ में निवास महान् दुर्लभ है । कारण कि सबके किये हुए कर्म पृथक् २ होते हैं । एक ही कर्म यदि हो तो प्रपा (प्याऊ) में एक बार मिले हुए पुरुषों के समान एक ही स्थान पर सब का जन्म होता । इसमें भी निश्चित (स्थिर) नियम नहीं है कि प्रपा (प्याऊ) में मिले हुए भी जैसे जल के प्रवाह से इधर उधर हो जाते हैं वैसे ही एक कुटुम्ब में उत्पन्न होते हुए भी किन्हीं कारणों से बिछुड़ जाते हैं । इसलिये सब कर्म के आधीन है — कर्म से ही परलोक गमन तथा इहलोक में आगमन आदि होता है । न मात्र कर्म के अधीन है किन्तु वहाँ भी काल<sup>१</sup> महान् बाधक है । दृष्टान्त देकर काल की बाधकता दिखाते हैं । 'ओघेन' (प्रवाह से) जैसे नदी में थोड़ी देर मिले हुए पदार्थ फिर प्रवाह से अलग हो जाते हैं । जैसे नावें भी नदी में आपस में आकर मिलती हैं इनको मिलाने वाले मुख्य जल और नाविक होते हैं । प्रवाह को, सहज कारण होने से 'नदी' कहा है, इससे समझ में आता है कि नावों का आने जाने के समय मिलाप जैसे क्षणिक है वैसे ही जीवमात्र का भी मिलाप क्षण मात्र ही होता है । पार पहुँचने पर जैसे नाव देखने में नहीं आती है वैसे ही बिछुड़ने के बाद प्रिय सम्बन्धियों मित्रों आदि के भी दर्शन नहीं होते हैं ॥ २५ ॥

श्लोकः — कच्चित् पशव्यं विरुजं भूर्यम्बुतृणवीरु धम् ।

बृहद्वनं तदधुना यत्रास्से त्वं सुहृद्वृतः ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ — जिस महावन में आप अपने बन्धु बान्धवों के साथ रहते हो वह तुम्हारे पशुओं के लिए रोग आदि रहित तो है न, और वहाँ जल, घास और लता आदि की बहुलता तो है न ?

सुबोधिनी — एवं दर्शनं नन्दं चाभिनन्द्य देवगुह्य-  
प्रकारेणाह कच्चिदिति, कच्चित् सम्भावनाप्रशने, बृहद्वनं  
पशव्यं कच्चित् ? पशूनां हितं पशव्यं, यत्र पशवो रमन्ते  
परम्परया पशुस्थान आधिदैविकपशुसद्भावे वा पशूनां रमणं,  
तत्रापि विरुजं, क्वचिद् देशविशेषे पशूनां रोगा भवन्ति  
यत्रैवाकाले पशुनाशः, सर्वथा रोगाभावस्तु भगवत्सान्निध्यादिति  
सामान्याभावेन भगवत्त्वं ज्ञापितं, पशूनां भक्ष्यादिसम्पत्तिं च  
पृच्छति, भूरीण्यम्बूनि तृणादीनि वीरु धो लताश्च यस्मिन्,

जलानां बहुत्वं सरसताख्यापकं, तेन दुग्धसम्पत्तिरपि निरूपिता,  
तृणानां बहुत्वं पशूनामभिवृद्धिहेतुः, वीरु घामाधिक्यं  
घृताधिक्यजनकं सौगन्ध्यजनकं च, सम्भावनायां हेतुमाह  
बृहद्वनमिति, अर्थतः शब्दतश्च बृहद्वनं, शब्दतो  
धर्महेतुश्चोक्तः, तदिति प्रसिद्धं, अधुना यत्रास्स इति  
सर्वदास्थितिस्थानं तु प्रष्टव्यं न स्यात्, कदाचित् तस्य  
स्थितिर्गोष्ठिष्वपि भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह सुहृद्वृत इति,  
बन्धुभिः कुटुम्बेनापि सहितो यत्र वर्तस इत्यर्थः ॥ २६ ॥

**व्याख्यानार्थ** — इस प्रकार नन्दजी और उनके दर्शन का अभिनन्दन कर, देवगुह्य नीति से कहते हैं — 'कच्चित्' यह अव्यय सम्भावना (कल्पना) अर्थ में प्रश्न करने पर दिया जाता है जैसे कहा जाता है कि ऐसा है न ? तो यहाँ वसुदेवजी भी महावन के विषय में इसी तरह सम्भावना (कल्पना) से पूछते हैं कि महावन पशुओं का हितकारी है न ? इस वन में पशु आनन्द से रमण करते हैं न ? यहाँ परम्परा से (पीढ़ियों से) पशुस्थान है, यहाँ के पशुओं में आधिदैविकत्व<sup>१</sup> है इसलिये पशुओं का रमण होता है न ? यह स्थान दूसरे स्थानों के समान नहीं है इसलिये 'विरुजं' रोग रहित है न ? कोई देश ऐसे भी है जहाँ पशु रोगी होते हैं और अकाल में ही मर जाते हैं। कुछ भी रोग न हो यह तो भगवान् के निकट बिरजने पर होता है। सामान्य रीति से रोग का अभाव दिखा कर यह बता दिया है कि यहाँ भगवान् बिरजते हैं।

पीने के लिये पानी का बाहुल्य है न ? तृण लताएँ आदि से भी तो वन हराभरा है न ? जल की बहुलता से वन सरस हरा होता है तो दूध भी वहाँ विशेष उत्पन्न होता है अर्थात् दूध की सम्पत्ति का भी इससे पता पड़ जाता है। घास की विशेषता पशुओं के वृद्धि का कारण है। वीरुध अधिक हो तो घृत विशेष उत्पन्न होता है और वन सुगन्धित रहता है। वसुदेवजी ऐसी सम्भावना इसलिये करते हैं कि इसको 'बृहत् वनं' कहा है अर्थात् यह वन ही महावन है इसके अर्थ से इन पदार्थों का इसमें अधिक होना स्वाभाविक है। और 'बृहद्वनं' इस शब्द से भी जाना जाता है कि यह 'वन' धर्म का भी हेतु (कारण) है। 'तद्' शब्द से इस महावन की प्रसिद्धि सूचित की गई है। 'अधुना यत्र आस्से' (अभी जहाँ रहते हो) सर्वदा रहने का तो पूछना ही नहीं था। कभी तो आप गोष्ठ में भी रहते हैं। इस गोष्ठ में रहना भी सर्वदा नहीं, इसलिये पूछते हैं कि सुहृद् और सम्बन्धियों के साथ जहाँ रहते हो वहाँ तो सब प्रकार से कुशल है न ? ॥ २६ ॥

**श्लोक : —** भ्रातर्मम सुतः कच्चिन्मात्रा सह भवद्ब्रजे ।

**तातं भवन्तं मन्वानो भवद्भयामुपलालितः ॥ २७ ॥**

१ — लेख : भगवान् जैसे 'गोकुल' में वैकुण्ठ लाये वैसे ही वहाँ के गौ आदि पशु भी आये। इसलिये श्रुति में 'यत्रगावो भूरिशृङ्गा' लिखा है। जिस वैकुण्ठ रूप गोकुल में बड़े २ शृङ्ग वाली गौएँ हैं अतः आधिदैविक हैं। इनमें रोगादि भी नहीं।

**योजना** — कृष्णोपनिषद् में 'गोप्योगाव ऋचस्तस्ययष्टिका कमलासतः'। इसमें गौओं और गोपियों को श्रुतिरूपा कहा है ऐसी ये गौएँ आधिदैविक हैं।

२ — प्रकाश : 'बृहद्वनं' बृहत् शब्द से वन को धर्म का हेतु और अक्षर रूप बताया गया है।

**लेख** — 'बृहद्वनं' गोचारण रूप धर्म की सिद्धि होगी।



**श्लोकार्थ** — हे भाई ! मेरा पुत्र जो आपको पिता करके मानता है और माता के साथ आपके व्रज में रहता है, एवं आप दोनों (नन्द यशोदा) प्रेम के साथ जिसका लालन पालन करते हो, वह कुशल से है न ?

**सुबोधिनी** — एवं देशकुशलतां पृष्ट्वा बालकयोः कुशलं पृच्छति भ्रातरिति, अन्यत्र भार्यापुत्रयोः स्थापनमनुचितमिति भ्रातरित्युक्तं मम सुत इति स्वानुभवः, मात्रा सह भवद्ब्रजे कुशली कच्चित् ? रक्षामात्रमेव तव कर्तव्यं, बालकशुश्रूषा त्वन्यत एव सिद्धा, भार्याधिक्यं वा, तातं भवन्तं मन्वान इतिदीनत्वं, पालनादिकं लौकिकं न प्रष्टव्यमेव यतो भवद्भ्यां नन्दयशोदाभ्यामुपलालितः, पालनप्रीणनान्तरमुपलालनमतस्ते च निरूपिते, भगवांस्तु न प्रष्टव्य एव, प्रकारान्तरेण तु पृष्ट एव ॥ २७ ॥

**व्याख्यार्थ** — देश का कुशल<sup>१</sup> पूछकर अब बालकों का कुशल पूछते हैं । 'भ्रातः इति' 'भ्रातः' कहने का भाव बताते हैं कि स्त्री व पुत्र दूसरे के पास छोड़ना अयोग्य है, तो वसुदेवजी कहते हैं कि नहीं, मैंने दूसरे के पास नहीं छोड़े हैं, ये तो मेरे भाई हैं । मैंने भाई के पास भेजे हैं । इसलिये 'भ्रातः' कहा । 'मम सुतः' मेरा पुत्र क्यों कहा ? कि वसुदेवजी को अपना स्पष्ट अनुभव था कि मेरा पुत्र है । माता के साथ कुशल से तो हैं न ? इस माता शब्द कहने का तात्पर्य यह है कि हे भाई ! आपको तो केवल उसकी रक्षा ही करनी है, शेष अन्य शुश्रूषा तो दूसरे अर्थात् माता आदि करेंगे । आपको पिता मानकर बालक (मेरा पुत्र) दीनता प्रकट करता है । पालनादि तो लौकिक है, उसके पूछने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि आप (नन्द, यशोदा) पालन, प्रीणन (प्रसन्नता) के अनन्तर उपलालन — ये सब प्रेम से करते ही होंगे । भगवान् के लिये तो पूछना ही नहीं किन्तु दूसरी रीति से तो पूछ ही लिया है ॥ २७ ॥

**श्लोकः** — पुंसस्त्रिवर्गोऽभिहितः सुहृदो ह्यनुभावितः ।

न तेषु क्लिश्यमानेषु त्रिवर्गोऽर्थाय कल्पते ॥ २८ ॥

**श्लोकार्थ** — पुरुष के लिए वही त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ, काम) शास्त्र विहित है जिससे बन्धु बान्धवों का भी अभ्युदय हो । जिस त्रिवर्ग से बन्धु बान्धवों को क्लेश हो वह श्रेयस्कर नहीं है ।

१ — लेख : २६वें श्लोक में देशकुशलता का पूछने का आन्तरिक उद्देश्य (तात्पर्य) भगवान् (अथवा दोनों पुत्रों) को कुशलता पूछने का था । अर्थात् देश में धृत, धान्य, निरोगता आदि हैं तो हमारा पुत्र भी सुख पूर्वक आनन्द में होगा ।

इस श्लोक में स्पष्ट रूप से बलभद्रजी की कुशलता पूछते हैं किन्तु सामान्य प्रश्न से दोनों बालकों की कुशलता पूछ ली है ।

सुबोधिनी — नन्विदानीं तवापि सर्वा समृद्धिरस्त्यतः कथं दैन्यं भाषस इत्याशंक्याह पुंस इति, पुंसस्त्रिवर्गो धर्मार्थकामाख्यः शास्त्रोभिहितः कर्तव्यत्वेन समीचीनत्वेन च परं सुहृदः सम्बन्धी चेत्, एकाकिना तु मोक्षः किल सम्पादनीयो न धर्मादित्रयं, हि युक्तश्चायमर्थः, एकाकिन-स्त्रिवर्गविध्यभावात् प्रयोजनाभावाच्च, सुहृत्पदेन चेतन-विषयमात्रत्वमुक्तं, तेन यत्र क्वापि त्रिवर्गफले सुहृदो भवन्त्येव,

किञ्च न सुहृत्सम्बन्धमात्रेण त्रिवर्गस्योपयोगः किन्तु सुहृदैवानुभावितः पुष्टः सह संवर्धित इत्यर्थः, ततः किमत आह न तेष्विति, तेषु विलश्यमानेषु सुहृत्सु सत्सु त्रिवर्गः पुरुषार्थाय न कल्पते पुरुषार्थरूपो न भवति, तेषां तत्र मुख्यत्वात्, यथात्मनः कंसस्य पुत्रमारकत्वान्नाकारणं देवकीपुत्रत्वं सम्भाव्येतेति, अतो दीनत्वमुचितमेव ॥ २८ ॥

**व्याख्यार्थ —** नन्दजी के मन में यह शङ्का हो कि तुम्हारे पास भी सर्व समृद्धि है फिर तुम दीनता क्यों दिखा रहे हो ? इस शङ्का को मिटाने के लिये 'पुंसः' यह श्लोक कहा है ।

शास्त्रों में पुरुष के लिये त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) सिद्ध करने की आज्ञा है; किन्तु वह त्रिवर्ग, जब सुहृदों के सम्बन्ध वाला हो तब अर्थात् उस त्रिवर्ग से सुहृदों को भी लाभ हो, न कि उस अकेले को ही लाभ हो । अकेले के लिये तो, त्रिवर्ग सिद्ध करने की शास्त्राज्ञा नहीं है । वह तो चौथे पुरुषार्थ मोक्ष को ही सिद्ध करे । श्लोक में 'हि' शब्द इस वास्ते दिया है कि निश्चयपूर्वक अकेले को मोक्ष ही सिद्ध करना चाहिये । अकेले के लिये त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) सिद्ध करने की आज्ञा नहीं है । सुहृद् पद से चेतन<sup>१</sup> मात्र समझने चाहिये । इससे कहीं न कहीं त्रिवर्ग

१ — लेख : सुहृद् शब्द से मात्र सम्बन्धी नहीं समझने चाहिये किन्तु चेतन मात्र समझने चाहिये । कारण कि तीन पुरुषार्थों में से काम पुरुषार्थ में तो सम्बन्धियों का स्पष्ट उपयोग होता है किन्तु धर्म और अर्थ में दूसरों का भी उपयोग होता है जैसे धर्म-कार्य (यज्ञादिक) में ऋत्विक् एवं अर्थ कार्य (व्यापारादि) में काम करने वाले मुनीम आदि का उपयोग होता है । अतः 'सुहृद्' शब्द का अर्थ चेतनमात्र समझना चाहिये ।

**योजना —** योजनाकार 'आत्मनः कंसस्य पुत्र मारकत्वात्त्राकारणं देवकी पुत्रत्वं संभाव्येत' के सम्बन्ध में अपनी सम्पत्ति देते हैं कि नन्दजी ने वसुदेवजी को पुत्र जन्मोत्सव में नहीं बुलाया कारण कि कंस वसुदेवजी के पुत्रों का नाशक है एवं उनके बुलाने से कंस समझेगा कि यह देवकीजी के पुत्र हैं तो अनर्थ होगा इसलिये नन्दजी ने मुझे बुलाया नहीं किन्तु सुहृदों के न होने से उत्सव में आनन्द नहीं हुआ । अर्थात् मेरे न जाने से नन्दरायजी का चित्त प्रसन्न नहीं रहा । अतः नन्दजी के त्रिवर्ग की भी मेरी तरह सार्थकता नहीं हुई । इस पंक्ति के कहने से वसुदेवजी का यह आशय प्रकट होता है ।

१०-५-२८ टिप्पणी — 'आत्मनः कंसस्य' वसुदेवजी के नन्दजी अतिप्रिय थे इसलिये नन्दजी को प्रसन्न करने के लिए उन्हें अपने घर पर बुलाना उचित था । तो भी वसुदेवजी ने इसलिए नहीं बुलाया कि इससे कंस समझेगा कि यह देवकी का पुत्र है तो नन्दजी का अनिष्ट (बुरा) करेगा । जिससे मेरे प्रिय नन्दजी दुःखी होंगे इसलिये नहीं बुलाया । इस उक्ति से कहा - यह भी एक दुःख ही है । वसुदेवजी ने भी इस कारण से नन्दजी को नहीं बुलाया । इस तरह दोनों का सम्बन्ध बताया ।

साधन बल त्याग जिन्होंने भगवदाश्रय ही लिया है उनका फलरूप भगवान् गोकुल में प्रकट हुआ है इसलिये हम सब तरह से निश्चिन्त हुए हैं ।

के फल में सुहृद मिल ही जाते हैं। सुहृदों के सम्बन्ध मात्र से, त्रिवर्ग का उपयोग नहीं है, किन्तु सुहृदों द्वारा पुष्ट (बढ़ाया) हुआ त्रिवर्ग लाभदायी सार्थक होता है; ऐसा हो तो क्या? इसका उत्तर देते हैं कि उस त्रिवर्ग से सुहृदों को यदि लाभ न होवे और सुहृदों को कष्ट हो, तो त्रिवर्ग सिद्धि पुरुषार्थ रूप और सार्थक नहीं है। त्रिवर्ग में सुहृद ही मुख्य हैं, जैसे वसुदेवजी के पास त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) सिद्ध भी थे किन्तु वसुदेवजी नन्दजी को अपने घर बुला नहीं सकते हैं क्योंकि नन्दजी को बुलाने से वसुदेवजी के पुत्रों का नाश करने वाले कंस को यह निश्चय होगा कि नन्दजी के यहाँ जो बालक (भगवान्) है वह वसुदेवजी का पुत्र है इसलिये वसुदेवजी नन्दजी को अपने पास नहीं बुलाते हैं। जिससे वसुदेवजी का त्रिवर्ग सुहृदों के काम न आने से व्यर्थ ही है। इस कारण से वसुदेव को दीनता दिखाना योग्य ही है ॥ २८ ॥

श्लोकः — अहो ते देवकीपुत्राः कंसेन बहवो हताः ।

एकावशिष्टावरजा कन्या साऽपि दिवं गता ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ — अहो ! खेद व आश्चर्य है कि देवकी से उत्पन्न तुम्हारे बहुत से पुत्र कंस ने मार डाले। अन्त में उत्पन्न हुई एक कन्या ही शेष थी वह भी स्वयमेव स्वर्गलोक को चली गई।

सुबोधिनी — द्रव्यादिदानं तु भेदजनकं, एतत् पृष्ठम-  
वचनेनैवाङ्गीकृत्य वसुदेवस्य सम्भावनामाह नन्दः अहो  
इति, लोकरीत्या तस्य दुःखे निरुक्ते दुःखाभावो भवति,  
परमार्थज्ञाने च वसुदेवस्य सुखं भवति, वृत्तान्तकथनेन  
स्वस्यैतदन्वेषणं सर्वदेति ज्ञापितं, यद्यपि वसुदेवस्य बह्वः  
स्त्रियस्तासां पुत्राश्च कुशलिनोपि देवकीपुत्राः कंसेन  
बहव एव (षड्) हताः, सर्वैरेव भगवद्गुणैः सह तस्य  
द्रोहः सिद्धः, अत एव अहो इत्याश्चर्यं, एको हि

मारणीयः, एका त्ववशिष्टावरजा, सर्वान्ते जाता, एतद्  
भगवच्चरित्रं अन्यथान्यवचनानां निरूपणमत्र नोपयुज्येत, सापि  
चेदपत्यादिकमुत्पाद्य विवाहनन्तरं गच्छेत् तथापि देवक्याः  
कृते वंशस्तिष्ठेत् तदव्यावृत्त्यर्थमाह कन्येति, सापि  
सिद्धापि देवतारूपापि पुत्राभावखेदनिवर्तिकापि दिवं गतां  
स्वयमेवोद्धीय सशरीरं गता, अनेन न केवलं कंसस्यैव दोषो  
भाग्यमेव तादृशमिति ज्ञापिते, अन्यथा पश्चात् सा  
समागच्छेत् ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ — वसुदेवजी नन्दजी को कंस के डर से घर नहीं बुला सकते थे तो धन देकर इनका आदर करते। वहाँ कहते हैं कि 'द्रव्यादि दानं तु भेद जनकं' सुहृद् संबंधियों को द्रव्य देना भेद का द्योतक है। अर्थात् द्रव्य देने से बन्धुत्व न रह कर पृथक्ता देखने में आती है। लौकिक रीति से, दुःखी वसुदेवजी के दुःख की स्पष्ट व्याख्या करने से उनका दुःख कम होता है और वास्तविक स्थिति का ज्ञान होने से वसुदेवजी को सुख की प्राप्ति होगी। सब वृत्तान्त (जो कुछ घटना घटी) कहने से वसुदेवजी को निश्चय होगा कि सचमुच नन्दजी मेरे सच्चे सुहृद हैं, जो मेरी सब बातों का ध्यान सदा रखते हैं। वसुदेवजी के तो बहुत स्त्रियाँ हैं, उनके पुत्र

भी हैं और कुशल भी हैं। कंस ने देवकी के बहुत (छः) पुत्र मारे। वे छः भगवान् के छः गुण रूप थे इससे कंस ने इनको मार कर भगवद्गुणों के साथ द्रोह किया। नन्दजी इसलिये अहो कह कर बताते हैं कि यह आश्चर्य है कि मारना तो एक को था तो भी छः पुत्र मार दिये। अन्त में जन्मी एक कन्या शेष थी, यह सब भगवान् की चरित्र लीला है, नहीं तो दूसरे (भगवान् के चरित्रों के अतिरिक्त) वचनों का यहाँ कहना योग्य नहीं था। श्लोक में दिये हुए 'कन्या' पद का आशय बताते हैं कि, वह बची हुई कन्या भी, यदि विवाह कर पुत्रादि उत्पन्न होने के बाद में जाती तो भी देवकी का वंश तो रहता, वह भी न हुआ इसलिये 'कन्या' कहा। वह कन्या भी साधारण कन्या नहीं थी, किन्तु सिद्धा, देवता रूपा होते हुए भी तथा पुत्र न होने के दुःख की निवारिका होकर भी स्वयं ही उड़ कर शरीर सहित आकाश में चली गई। इससे ज्ञात होता है कि मात्र कंस का ही दोष नहीं, किन्तु वसुदेवजी के भाग्य का भी दोष है। वसुदेवजी का प्रारब्ध मन्द न होता तो वह कन्या ऐसी थी जो लौट कर आ सकती थी, किन्तु आई नहीं। कंस का भय तो उसे था ही नहीं। इससे समझा जाता है कि इसमें प्रारब्ध ही मूल कारण (प्रयोजक) है, यह (नून) इस श्लोक से बताते हैं ॥ २९ ॥

श्लोकः — नूनं ह्यदृष्टनिष्ठोऽयमदृष्टपरमो जनः ।

अदृष्टमात्मनस्तत्त्वं यो वेद न स मुह्यति ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ — निश्चय ही मनुष्यों की निष्ठा<sup>१</sup> अदृष्ट<sup>२</sup> में ही है। अदृष्ट ही सब जीवों का परम नियामक है। आत्मा का तत्त्व अदृष्ट ही है। जो इस कर्मरूप आत्मतत्त्व को जानता है वह मोह में नहीं फँसता अर्थात् उसका मोह नष्ट हो जाता है।

सुबोधिनी — कंसकृतं तु भयं तस्या नास्तीति तस्मादेतादृशेऽदृष्टमेव प्रयोजकमित्याह नूनमिति, सर्वस्यापि पुरुषस्यादृष्टे निष्ठा, अयं तु कर्मप्रधानः, यत् किञ्चित् करोतु पर्यवसानमदृष्टाधीनमित्यर्थः, प्रारब्धोऽप्यदृष्टाधीन एवेत्याह्यदृष्टपरम इति, अदृष्टमेव परमं नियामकं प्रवर्तकं यस्य, अदृष्टदेव प्रवर्तते, अदृष्टनुसारेणैव फलं च प्राप्नोतीत्युक्तं, अत्र हेतुर्जन इति, यस्तु जायते स कर्मवशादेव कर्मवादिनां

तथैव सिद्धान्तः, अतः कर्माधीनं सर्वं ज्ञात्वा यस्तिष्ठति तस्य शोको न भवतीत्याह अदृष्टमिति, आत्मनस्तत्त्वं यथार्थरूपं प्रवर्तकनिवर्तकं यथा ब्रह्मवादिनां ब्रह्म यथा भगवांस्तथा कर्मात्मतत्त्वमिति यो मन्यते स न मुह्यति, पक्षान्तरेष्वात्मोपि किञ्चित् स्यात्, कर्मपक्षे स्वकृतत्वात् कोऽप्युपात्तः न प्रार्थनीयः, पक्षान्तरे तु प्रकारान्तरेण मोहः स्यात्, एवं शोकापनोदनार्थं कर्मतत्त्वमुपदिष्टम् ॥ ३० ॥

व्याख्यानार्थ — प्रत्येक पुरुष की अदृष्ट<sup>२</sup> में निष्ठा<sup>१</sup> होती है। यह सिद्धान्त कर्म को ही आत्मा और प्रवर्तक मानने वालों का है। जो कुछ प्रवृत्ति होती है अर्थात् कर्म किया जाता है उसकी

प्रारम्भ एवं पूर्ति प्रारब्ध के आधीन है। इसलिये श्लोक में कहा है 'अदृष्टपरमः'<sup>१</sup>। अदृष्ट ही प्रवृत्ति करता है तथा उसके अनुसार ही फल मिलता है। शास्त्रों में मनुष्य के लिये 'जन' शब्द आया है, वह भी इसलिये कि वह कर्म के अनुसार जन्म लेता है। यह सिद्धान्त कर्मवादियों का है। जो मनुष्य सब कुछ कर्माधीन है यह समझ लेते हैं उनको शोक नहीं होता है। अर्थात् ऐसे मनुष्यों को जब कुछ भी सुख-दुःख होता है तो वे कहते हैं कि यह हमारा अदृष्ट है तदनुसार उनका सिद्धान्त दिखाते हुए महाप्रभुजी कहते हैं कि इस आशय को लेकर श्लोक में भी 'अदृष्ट' पद दिया है। आत्मतत्त्व का सच्चा स्वरूप प्रवर्तक (कर्म में प्रवृत्ति करने वाला) और निवर्तन करने वाला है। ब्रह्मवादियों का आत्मतत्त्व जैसे ब्रह्म है और भक्तों का भगवान् है, वैसे ही कर्मवादियों का आत्मतत्त्व कर्म है। इस प्रकार जो समझ लेता है वह मोहित नहीं होता है। दूसरे पक्षों में (सिद्धान्तों में) किसी को उलहना भी दिया जा सकता है किन्तु कर्म सिद्धान्त में स्वयं कर्म करने वाला है, इससे किसी को न तो उलहना दे सकता है न किसी की प्रार्थना करनी पड़ती है। दूसरे पक्षों में दूसरे प्रकार से मोह भी होता है। इस प्रकार नन्दरायजी ने शोक मिटाने के लिये वसुदेवजी को कर्मतत्त्व का उपदेश दिया ॥ ३० ॥

आभास — एवं सम्भाषणेन कियत्कालं स्थित्वा ततो नन्दं प्रेषयितुं वसुदेवस्तस्य भयमुत्पादयति 'कर' इति ।

आभास अनुवाद — इस प्रकार नन्दजी और वसुदेवजी ने कुछ समय वार्तालाप किया तदनन्तर वसुदेवजी नन्दजी को शीघ्र ही गोकुल भेजने के लिये 'करो वै' इस श्लोक से उनके मन में भय उत्पन्न करते हैं ।

वसुदेव उवाच

श्लोकः — करो वै वार्षिको दत्तो, राज्ञे दृष्टावयं च वः ।

नेह स्थेयं बहुतिथं सन्त्युत्पाताश्च गोकुले ॥ ३१ ॥

प्रकाश-१ — भक्तों का 'भगवान्' है। वेद के पूर्व काण्ड में 'कर्म' नाम द्वारा ब्रह्म की क्रियाशक्ति का वर्णन है, उत्तर काण्ड में 'ज्ञान' नाम द्वारा ब्रह्म की ज्ञानशक्ति का वर्णन है और मागवत् में ज्ञान और क्रियाशक्ति युक्त ब्रह्म का भगवान् नाम से वर्णन है, वह भक्तों का शेष है अर्थात् ब्रह्मवादी ज्ञानी एक ज्ञानशक्ति को ही आत्मतत्त्व मानते हैं, कर्मवादी क्रियाशक्ति को ही आत्मतत्त्व मानते हैं किन्तु भक्त, भगवान् (ज्ञान और क्रियाशक्ति रूप पूर्ण ब्रह्म) को आत्मतत्त्व मानते हैं ।

**श्लोकार्थ** - वसुदेवजी ने नन्दजी को कहा, भाई ! आपने राजा को कर तो दे दिया । हम एक दूसरे से मिल भी लिये । अब आपको मथुरा में बहुत समय ठहरना नहीं चाहिये, कारण कि गोकुल में उपद्रव हो रहे हैं ।

**सुबोधिनी** - तत्कृतमनूद्यते कृतकार्यत्वज्ञापनाय, नेह बहुतिथं, स्वेयं, तत्र हेतुर्गोकुले चकरादन्यत्राप्युत्पाताः  
**वार्त्तिकः** करो रज्ञे दत्तो वयं च सुहृदो दृष्ट्वा अतः कौतुकार्थं सन्ति, तथामन्त्रणस्य श्रुतत्वात् ॥ ३१ ॥

**व्याख्यानार्थ** - नन्दजी ने मथुरा में अपने सब कार्य पूरे किये थे । अब वसुदेवजी नन्दजी को सूचित करने के लिये उनके लिये हुए कार्यों की पुनरावृत्ति करते अर्थात् दोहराते हैं । आपने राजा को वार्षिक कर दे दिया, तथा हम सुहृदों से मिले । अब कुतूहल के कारण विशेष समय यहाँ (मथुरा में) न ठहरें कारण कि गोकुल में उपद्रव हो रहे हैं । श्लोक में 'च' का आशय कहते हैं कि केवल गोकुल में ही नहीं किन्तु व्रज में अन्यत्र भी उपद्रव हो रहे हैं । मैंने सुना है कि कंस ने अपने मंत्रियों से परामर्श करके उपद्रव करने का निश्चय किया है, इसलिए अब आप यहाँ न ठहरें ॥ ३१ ॥

**आभास** - एतावच्छ्रवणमात्रेणैव नन्दादयस्ततः शीघ्रं निर्गता इत्याहेतीति ।

**आ० अनुवाद** - इतना सुनते ही नन्दजी आदि वहाँ से शीघ्र जाने के लिये तैयार हुए ।

**श्लोकः** - इति नन्दादयो गोपाः प्रोक्तास्तेशौरिणा ययुः ।

अनोभिरनडुद्युक्तैस्तमनुज्ञाप्य गोकुलम् ॥ ३२ ॥

**श्लोकार्थ** - वसुदेवजी के वचन सुनकर नन्दजी आदि गोपों ने बैलों के गाड़े जोड़े और वसुदेवजी से आज्ञा लेकर गोकुल गये ।

**सुबोधिनी** - निर्गमने प्रधानगुणभावस्य विस्मृतत्वान् नन्दादय इति, निर्गमने सर्व एवोक्ताः, इत्येवं शौरिणोक्ताः, न त्वधिका काचित् सम्भावना जाता, स्वतस्तेषां गमनेपि सामर्थ्यं न जातमिति साधनानां पुरस्कारमाहानोभिरिति, अनडुद्युक्तैर्योजितबलीवदैः, तमनुज्ञाप्य तमपि ततः स्वगृहं प्रेषयित्वा लोके यथा स्नेहोभिव्यक्तो न भवति तथा कृत्वा गोकुलं ययुः, मध्ये 'कंसाद्युपद्रवमप्राप्य सुखेन गोकुलं प्रविष्टा इत्यर्थः ॥ ३२ ॥

**व्याख्यानार्थ** - जाने की शीघ्रता में छोटे बड़े के क्रम का ध्यान न रख कर 'नन्दादयः' नन्दादिक एक साथ कह दिया । सब साथ में ही मथुरा से खाना हुए, कारण कि वसुदेवजी ने इसी प्रकार से जाने के लिये शीघ्रता की थी, इससे अधिक और कोई सम्भावना नहीं थी । पैदल जाने का भी साहस नहीं था । इसलिये जाने के साधन बैल गाड़ों की तैयारी की । उसी समय वसुदेवजी से आज्ञा लेकर उनको अपने घर इसलिये भेज दिया कि हम लोगों के

प्रेम का लोक में प्रकाश न हो । इस प्रकार सब कार्य करके, वे गोकुल गये । श्लोक में दिये 'ययुः' पद का भाव बताते हैं कि मार्ग में कंसादिक का कोई उपद्रव न हुआ तथा वे सब सुखपूर्वक गोकुल पहुँच गये ॥ ३२ ॥

**कारिका — गोकुलोत्सवमीशानं गोपगोपीगवां हितम् ।**

**ज्ञानतः कर्मतश्चैव तामसानां नमाम्यहम् ॥ १ ॥ १७½॥**

**कारिकार्थ —** तामस भक्त गोप, गोपी और गौओं के ज्ञान तथा कर्म द्वारा कल्याण करने वाले गोकुलोत्सव प्रभु को प्रणाम करता हूँ ।

**लेख —** "ज्ञान" शब्द का भाव बताते हुए कहा है कि जैसे वेद के उत्तरकाण्ड में निरूपित "ज्ञान" द्वारा ज्ञानियों को अनुभवानन्द होता है वैसे ही तामस भक्तों को गुणगान द्वारा अनुभवानन्द करा कर "ज्ञान" से उनका हित किया और जैसे वेद के पूर्व काण्ड में कहा हुई क्रियाशक्ति द्वारा कर्मात्मा का भजन कर, कर्मिष्ठ आनन्दानुभव करते हैं वैसे ही गोपीजनों को अच्युत भगवान्, कान्त रूप से, रमण क्रिया में लीन कर, आपने उनका कर्म द्वारा हित किया । इसी प्रकार दोनों दलों द्वारा अनुभव करा कर निरोध को स्थिर किया ।

**योजना —** 'गोकुलोत्सव' पद द्वारा 'उत्सव' पञ्चमाध्याय का अर्थ कहा । 'ईशान' पद द्वारा भगवान् के ईश्वरत्व को कहा । वियोगावस्था में जो भगवान् की अन्तःस्थिति का अनुभव किया जाता है वह अनुभव यहाँ ज्ञान नाम से कहा गया है (अर्थात् भगवान् ने ब्रज भक्तों को जो विरहावस्था में, अन्तःकरण में प्रकट (स्थित) हो आनन्दानुभव कराया वह उत्तरकाण्डस्थ ज्ञानवत् होने से यहाँ 'ज्ञान' नाम से कहा गया है । संयोगावस्था में जो लीलाओं द्वारा अनेक प्रकार का विहार होता है वह यहाँ 'कर्म' नाम से कहा गया है । (अर्थात् भगवान् स्वयं प्रकट हो, भक्तों के साथ जो संयोग (प्रत्यक्ष) में लीलाएँ करते हैं जिसमें तामस भक्तों को क्रियाओं द्वारा आनन्द प्राप्ति होती है वह पूर्वकाण्डस्थ यज्ञात्मक कर्मात्मक की क्रियाशक्ति होने से इसको 'कर्म' संज्ञा दी गई है) । इसी प्रकार ज्ञान और कर्म से तामस भक्तों के हितकारी हुए । भगवान् तामस भक्तों को संयोग-वियोग दोनों अवस्थाओं द्वारा आनन्दानुभव कराकर, सदा ब्रज भक्तों को परमानन्द संयुक्त करते हैं । यह तामस प्रकरण का अर्थ है ।

वियोगावस्था को ज्ञानरूपता और संयोगावस्था को कर्मरूपता दी । ज्ञानमार्ग में अन्तर में ही भगवत् स्मृति होती है तथा वियोगावस्था में भी अन्तर में भगवत्स्मृति होती है । इसलिये वियोगावस्था को ज्ञानरूपता कहा वह योग्य ही है । जैसे कर्म मार्ग में सारी क्रिया बाहर होती है वैसे ही संयोगावस्था में सब क्रियाएँ प्रत्यक्ष होती हैं इससे संयोगावस्था को 'कर्म' कहना उचित है । इस कारिका में गोकुलवासियों को सर्वदा सर्वथा भगवान् कैसे हितकारक हैं ऐसी जिज्ञासा (जानने की इच्छा) हो तो श्रीप्रभुचरण कृत श्री गोकुलाष्टक पढ़ कर अनुभव करना चाहिये । गोकुलाष्टक इस कारिका की टीका है ।

सूक्ष्म व्याख्या — इस कारिका द्वारा इस अध्याय के दो अर्थ 'गोकुलोत्सव' विशेषण से उत्सव और 'ईशान' विशेषण से ऐश्वर्य बताये हैं । निबन्ध में उत्सव को लक्षण और ऐश्वर्य को लक्ष्य कहा है । ज्ञान और कर्म द्वारा तामस गोप, गोपी तथा गौओं का जो हित किया है वह प्रकरणार्थ है ।

इति श्री भागवत सुबोधिण्यां श्री लक्ष्मणभट्टात्मज-

श्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धे पञ्चमाध्यायस्य विवरणं समाप्तम्

इति श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कंध (पूर्वार्ध) प्रथम अध्याय की श्री

महर्षिभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका का हिन्दी अनुवाद



॥ श्री कृष्णाय नमः ॥  
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥  
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ❖ श्रीमद्भागवत महापुराण ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित — सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

### तामस-प्रमाण-उप-प्रकरण

‘प्रमाण’ अद्यान्तर प्रकरण

❖ ❖ ❖ ❖ ❖ ❖

द्वितीय अध्याय

श्रीमद्भागवतानुसार : षष्ठम अध्याय

❖ ❖ ❖ ❖ ❖ ❖

तामस प्रकरणान्तर्गत प्रमाण-प्रकरण की कारिकाओं का हिन्दी अनुवाद

कारिका — चरित्रमद्भुतं शास्त्रे लोकेऽपि भगवत्कृतम् ।

पूतनासुपयःपानं षष्ठे रक्षा निरूप्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ — पूतना के स्तन्य पान के साथ प्राण खींच लेना और बालकों की भी रक्षा करना ये भगवान् के चरित्र लोक एवं शास्त्र में भी अद्भुत कहे और समझे जाते हैं । इनका छठे अध्याय में निरूपण किया जाता है ।

---

प्रकाश — छठे अध्याय के आशय का स्पष्टीकरण करते हैं कि जैसे पांचवें अध्याय की लीलाओं में निज स्वरूपमात्र प्रकट करके भगवान् ने भक्तों का निरोध किया है वैसे आगे की लीलाओं में केवल स्वरूप से ही निरोध नहीं होगा, किन्तु स्वरूप एवं लीलाओं द्वारा भक्तों का निरोध होगा । जैसे पांचवें अध्याय में भगवान्

कारिका — एकं कार्यं भगवतो बह्वर्थानां तु साधकम् ।

अतो दुष्टवधो रक्षा बालकानां ततः कृता ॥ २ ॥

कारिकार्थ — भगवान् का एक कार्य (लीला) बहुत अर्थों को सिद्ध करता है, जैसे पूतना-वध की लीला से दुष्टों का नाश, पूतना द्वारा प्रथम मारे हुए बालकों का हित, एवं दूसरे बालकों का मरने से निर्भय (रक्षा) होना आदि कार्य सिद्ध हुए ।

के प्रकट होने पर किया हुआ नन्दमहोत्सव निरोध सिद्ध करने वाला था । वैसे ही यहाँ पर बालकों की रक्षा लीला, निरोध बतलाने वाली है । इसे समझाने के लिये इस चरित्र और रक्षा प्रसंग की संगति बताई जाती है । इस चरित्र अर्थात् पूतना चरित्र को शास्त्र में (भागवत के द्वितीय स्कन्ध के सातवें अध्याय के २७वें श्लोक 'तोकेन जीवहरणं' में अद्भुत इसलिये कहा गया है कि दुष्ट स्वभाव वाली शास्त्रीय साधन रहित पूतना जिसने मुक्ति के लिये शास्त्रों में लिखे हुए साधन में से कोई भी साधन नहीं किया) ऐसी को भी मुक्ति दे दी । इससे विशेष अनूत्र चरित्र क्या होगा ? अथवा पूतना के प्राण रूपी स्तन्य (दूध) के पान द्वारा बालकों की रक्षा की इस कार्य को रूपक समझ लेवें तो इस अध्याय में एक ही लीला बताई गई है ।

प०भ० निर्भयराम भट्ट कारिकार्थ में कहते हैं कि - भगवान् ने पूतना के प्राणों के साथ दूध पीकर, जो बालकों की रक्षा की, उस रक्षा में पूतना द्वारा प्रथम मारे हुए बालक कृतार्थ<sup>१</sup> हुए और अन्य बालकों की पूतना के मर जाने के कारण रक्षा हुई ।

योजना — कारिका २ में 'रक्षा बालकानां ततः कृता' दुष्ट पूतना के वध द्वारा व्रजस्थों की रक्षा की । नहीं तो नन्दजी जब तक नहीं पहुँचे थे, तब तक जैसे बालकों को पूतना ने मारा था वैसे ही नन्दजी के पहुँचने पर भी मारती । इसलिये पूतना-वध से बालकों की रक्षा हुई और साथ ही नन्दजी का अन्तर्भय भी, जो वसुदेवजी के शब्द सुनने से हुआ था, वह कम हुआ ॥ २ ॥

लेख — पूतना के वध से, पूतना द्वारा मारे हुए जो बालक, पूतना के भीतर थे वे भी मारे गये होंगे; क्योंकि गर्भवती माता के मरने पर जो बालक उदर में होता है वह भी मर जाता है, वैसे ही वे भी मरे होंगे, इस शङ्का को इस कारिका द्वारा मिटाया गया है ।

टिप्पणी — छठे अध्याय में वीर्य का वर्णन करते हुए भक्तों के दुःखों का वर्णन करना ठीक नहीं है । इसका समाधान करते हैं कि 'मायया' भगवान् ने माया द्वारा भक्तों को दुःख दिया और उस माया रूपी पूतना को मार कर, भक्तों का दुःख मिट कर निरोध किया । यह सब भगवान् की वीर्य लीला होने के कारण, इस अध्याय में भक्तों के दुःख का वर्णन है, इस कारण से भक्ति मार्ग में यह अवगुण नहीं है । श्रुति में कहा गया है कि 'मायेत्यसुरः' असुर लोगों का भगवान् माया है—अर्थात् असुर लोग, माया रूपी भगवान् के सेवक हैं उसी की सेवा करते हैं । माया रूप पूतना का यह स्वरूप (माया रूप) भगवान् ने ही भक्तों को दुःख देने के लिये तैयार करवाया था । इसलिये भगवान् ने ही पूतना को साधन रूप बना कर भक्तों को दुःख दिया

१ — पूतना द्वारा मारे हुए बालकों को भगवान् ने पूतना से खींच कर, अपने श्रीअङ्ग में स्थापित किया इसलिये वे कृतार्थ (सन्तुष्ट) हुए ।

कारिका — वीर्यं भगवतो वर्ण्यं मायया भगवत्कृतम् ।

दुःखं तस्मात् तु मुक्तिर्हि निरोधोक्तेर्न दूषणम् ॥ ३ ॥

कारिकार्थ — इस अध्याय में भगवान् के वीर्य (वीरता) गुण का वर्णन करना है । भगवान् ने माया द्वारा दुःख दिलाकर, फिर उससे मुक्त किया, इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है; क्योंकि यह दुःख निरोध सिद्धि के लिये दिलाया था ।

कारिका — भयं निवर्त्य वीर्येण द्विविधं बाह्यमान्तरम् ।

आन्तरं शब्दजं<sup>१</sup> बाह्यं पूतनाजनितं तथा ॥ ४ ॥

कारिकार्थ — वीर्य द्वारा भीतरी और बाहरी दोनों प्रकार का भय मिटाना है । भीतरी भय शब्द द्वारा पैदा हुआ है और बाहरी भय पूतना द्वारा हुआ है ।

श्रीशुक उवाच

श्लोकः — नन्दः पथि वचः शौरिर्न मृषेति विचिन्तयन् ।

हरिं जगाम शरणमुत्पातागमशङ्कितः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ — शुकदेवजी ने कहा, वसुदेवजी के वचन झूठे नहीं होंगे, इस प्रकार मार्ग में विचार करते हुए, उपद्रव होने की शंका से युक्त नन्दरायजी भगवान् की शरण में आये ।

---

था । इसलिये उस पूतना में ब्रज-धक्तों का लक्ष्मी भाव हुआ था, नहीं तो वे ही उसको निकाल देते । दूसरे बालकों को अब कष्ट न हो, इसलिये पूतना को मुक्ति-दान दिया । यदि मुक्ति न देते तो फिर उसके दूसरे में प्रवेश होकर दुःख देने की सम्भावना थी । वह सम्भावना अब सदा के लिये मिट गई । इस कारण से निरोध-मार्ग मर्यादा भक्ति-मार्ग से विलक्षण है । ईश्वर की रक्षा करनी योग्य न थी, इसका समाधान भी यही है कि निरोध मार्ग (प्रेम मार्ग), मर्यादा मार्ग से अनूठा है; क्योंकि उसमें स्नेह ही मुख्य है ।

---

१ — 'शब्दज भय' (भीतरी भय) वसुदेवजी ने नन्दजी को मथुरा में कहा था कि गोकुल में उत्पात (उपद्रव) हो रहे हैं ये शब्द सुनते ही नन्दजी के हृदय में भय उत्पन्न हुआ था "मैं यहाँ हूँ, वहाँ न जाने कौनसे उपद्रव हो रहे होंगे", इस प्रकार के इस भय को कारिका में 'शब्दज' कहा है ।

सुबोधिनी — प्रथमं वाक्यादुत्पन्नमन्तर्भयं भगवत्स्मरणेन नश्यत इत्याह नन्द इति, श्रवणमात्रेणैव भयान्निर्गता मध्ये गन्तुमप्यशक्ता वाक्यं विचारितवन्तः किमस्माकं भयं कंसकृतं भविष्यतीति ततो निर्गमनार्थमुक्तमाहोस्विद् यथाश्रुतमेव गोकुले भयमस्तीति तद्वाक्यं विचार्यान्यार्थमपि बाधितार्थं वदन्नृतीभवतीति निश्चित्य निर्णयमाह शौरैर्वचो मृषा न भवतीतीमर्थं विशेषेण चिन्तयन् पथि कार्यान्तराभावान्निश्चिन्तयता तमेवार्थं विचारयन् हृदयेनापि

संवादं प्राप्य भयनिवृत्त्यर्थं हरिं शरणं जगाम, 'सन्ती' तिवचनं न विचारितं, अन्यथा जीवनमेव न स्यात्, किन्तु शङ्कामात्रं जातं, तदप्युत्पातागमनस्य, कदाचिदुत्पात आगच्छेदिति न त्वागत इति नापि निश्चयस्तदाहोत्पाता-गमशङ्कित इति, उत्पातागमार्थं शङ्कां प्राप्तः एष सन्देहकरणं भगवच्चरित्रं वस्तुतस्तु यदा वसुदेव आह तदैव पूतना गोकुले समागता ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ — वसुदेवजी के वचनों से पैदा हुआ भीतरी भय ईश्वर की शरण में जाने से नष्ट होगा, इसका वर्णन 'नन्दः-पथि' श्लोक से श्री शुकदेवजी कहते हैं। वसुदेवजी के वचनमात्र सुनते ही नन्दादि गोप भयभीत होकर मथुरा से निकले, बीच में (मार्ग में) भय के कारण चलने की भी शक्ति क्षीण हो गई, इससे चल नहीं सकते थे और वसुदेवजी के वाक्यों को विचारते थे, "क्या हमको कंस द्वारा भय होगा ? इसलिये मथुरा से जाने के लिये वसुदेवजी ने कहा, अथवा जैसे उनसे सुने गए शब्द हैं कि गोकुल में भय (उपद्रव) है इस कारण वसुदेवजी का विचार हमको मथुरा से निकालने का था, इसलिये ये शब्द कहे। नहीं-नहीं, ऐसा हो नहीं सकता। वसुदेवजी कभी झूठ नहीं बोलते हैं। यों कहें तो असत्यवादी हो जायें।" इससे यह निश्चय किया कि वसुदेवजी ने जो कुछ कहा वह कदाचित् सत्य भी हो जाय। इस प्रकार शङ्काशील होते हुए, भीतर भय वाले नन्दजी गोकुल जाने लगे।

ऐसा विचार करते हुए मार्ग में कोई भी कार्य न होने से निश्चिन्त हो भय मिटाने के लिये नन्दजी ने हरि की शरण ली। 'गोकुल में उत्पात (उपद्रव) है, नन्दजी ने वसुदेवजी के इस वाक्य पर ध्यान न दिया अर्थात् इस शब्द का विचार न किया। यदि करते (ध्यान देते) तो उनके प्राण भी निकल जाते। नन्दजी के मन में उपद्रवों की शङ्का मात्र हुई, वह भी उपद्रवों के आने की शङ्का हुई कि कदाचित् उपद्रव होंगे; अब हो रहे हैं, यह निश्चय नन्दजी को नहीं हुआ। इसलिये श्लोक में शुकदेवजी ने कहा है कि उत्पात आने की शङ्का वाले नन्दजी थे। नन्दजी के मन में इस प्रकार का संदेह ही रहा, यह भी भगवान् का चरित्र (लीला) है, सचमुच तो जिस समय

योजना १०-६-१ — जब कि नन्दराय को निश्चय था कि वसुदेवजी सत्यवक्ता हैं, उन्होंने जो कहा वह सत्य ही है। वसुदेवजी ने स्पष्टतया कह दिया था कि गोकुल में उत्पात (उपद्रव) हो रहे हैं, फिर भी नन्दजी के मन में जो सन्देह हो रहा था, उसका कारण भगवान् का चरित्र है अर्थात् भगवान् की इच्छा ऐसी थी कि नन्दजी को इस विषय में सन्देह ही हो, नहीं तो, भगवान् में विशेष वात्सल्य स्नेह होने से, नन्दजी के प्राण पक्षी उड़ जाते, इससे भगवान् ने ही नन्दजी के मन में सन्देह कराया, निश्चय होने नहीं दिया। श्रीशुकदेवजी ने भी मूल श्लोकों में 'उत्पातागमशङ्कितः (उपद्रव आने की शङ्का वाले नन्दजी), लिखा। इसलिये सुबोधिनी में यह सन्देह उत्पन्न कराना भगवच्चरित्र है, इस प्रकार व्याख्या की है।

वसुदेवजी ने नन्दरायजी को 'गोकुल में उपद्रव हैं' कहा था उस समय ही 'पूतना' गोकुल में पहुँच गई थी ।

इस प्रकार भीतरी भय मिटाकर, बाहरी भय श्री भगवान् मिटाते हैं । इसलिये पहिले बाहरी भय का वर्णन 'कंसेन' इस श्लोक से लेकर ८॥ श्लोकों में करते हैं ॥ १ ॥

श्लोक: — कंसेन प्रेषिता घोर पूतना बालघातिनी ।

शिशूश्चचार निघ्नन्ती पुरग्रामव्रजादिषु ॥ २ ॥

श्लोकार्थ — कंस की भेजी हुई बालकों को मारने वाली घोर पूतना नगर, गांव और व्रज (गोष्ठ) में बालकों को मारती हुई घूमती थी ।

सुबोधिनी — एवमान्तरं भयं निवर्त्य बाह्यं भगवान् निवर्तयतीति प्रथमतो भयप्राप्तिमाह कंसेनेति साधैरष्टभिः; प्रथमतः सामान्यतस्तस्याः सर्वोपद्रवकर्तृत्वमाह यतो मारणीयेति, कंसेन प्रेषिता शिशून् निघ्नन्ती चचारेति कार्यमावश्यकं, स्त्रियः बालेषु स्नेहो भवतीति कथं प्रेषणमिति चेत् तत्राह घोरेति, जन्मादिसंस्कारेण संस्कृतान् वैदिककर्मणा सम्बद्धांस्तत्तदधिष्ठातृदेवतादिरक्षितान् कथं मारयतीत्यत आह पूतनेति, पूतानपि नयतीति पूतना पुरुषानप्युत नयतीति वा, अतोतिबलिष्ठा, सर्वानेव मारयितुं

शक्ता, ननूक्तं देवादीनां रक्षकत्वं तत्राह बालघातिनीति, यथा देवानां रक्षणसामर्थ्यं तथा तस्या बालघातकत्वं, भगवता तथैव निष्पादिता, अत एव शिशूस्त्रिवर्षपूर्वान् निघ्नन्ती चचार, यदि भक्षयेत् तदाल्पेनापि निवृत्ता भवेत्, किन्तु बालकानां प्राणान् पीत्वा पीत्वा गच्छति, त्रिगुणेष्वपि स्थानेषु तस्या अप्रतिघात इति पुरेषु सात्त्विकेषु ग्रामेषु राजसेषु व्रजेषु तामसेषु च विद्यमानान् शिशून् मारयन्ती तदेकप्रयोजना चचार, आदिशब्देन खेटखर्ववाटिष्वपि ॥ २ ॥

व्याख्यानार्थ — पूतना सब जगह सब उपद्रव करने वाली है, इस कारण वह मारने योग्य है । इसको पहले सामान्य ढंग से वर्णन करते हैं ।

कंस की भेजी हुई घोर पूतना, बच्चों को मारती हुई, सब जगह फिर रही थी । स्वामीः

१-पूतना का शासक कंस था । —लेख

३४ ३४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४

राग बिहागावरी

रजा को काज आज करि आउ ।

बेग संधारे सकल घोष सिसु जो मुख आयसु पाउ ।

मोहन मूर्धन बसीठी पठ्यो मति सन्मुख है धायो ।

अंग सुभग साजेहै मधु मूरति नैननि मांह समायो ।

घसि चंदन कंकोल उरोजनि लै रुचि सो पैं प्यायो ।

सूर सोच मन करे अब ही तो पूतना नाम कहायो ॥

(शासक) ने जिस कार्य के लिये भेजा, वह कार्य सेविका को अवश्य करना चाहिये । स्त्री-जाति का बच्चों में स्वाभाविक स्नेह होता है इसलिये वे बच्चों को प्यार करती हैं उन्हें मारती नहीं; ऐसा जानते हुए भी कंस ने स्त्री को क्यों भेजा ?

इसलिये शुकदेवजी कहते हैं कि यह पूतना दूसरी स्त्रियों के समान कोमल हृदय वाली न थी, किन्तु घोर (भयंकर) थी । यह जानकर कंस ने बच्चों को मारने के लिये इसको भेजा । जात-कर्म आदि संस्कारों द्वारा पवित्र, वैदिक कर्मों से सम्बन्ध वाले उन कर्मों के अधिष्ठात्री (नियामक) देवताओं आदि द्वारा रक्षित हुए बालकों को किस प्रकार मारेगी ? इस पर शुकदेवजी कहते हैं कि वह 'पूतना' है; उसके ऐसे घोर कर्मों के करने के कारण उसका 'पूतना' नाम धरा गया है । जैसेकि 'पूतान् नयति इति पूतना' शुद्ध पवित्रों को भी जो ले जाती है उसको पूतना कहा जाता है । इतना ही नहीं यह केवल बच्चों को ही नहीं ले जाती है, अपितु पुरुषों को भी ले जाती है, इसलिये भी इसका नाम पूतना हुआ है । पुरुषान् अपि उन्नयति' इस व्युत्पत्ति से पुरुषों को भी ले जाने वाली को पूतना कहा जाता है । ऐसी घोर स्त्री समझ कंस ने इसको भेजा है । इन कारणों से यह बहुत बलवाली है, सबको मारने की शक्ति रखती है । संस्कारों के करने के कारण, जब देवता रक्षक हैं तब उन्हें यह कैसे मारती है ? वहाँ कहते हैं कि 'बालघातिनी' जैसे देवताओं में रक्षा करने की शक्ति है, वैसे इसमें बालकों के घात करने (मारने) की शक्ति है । भगवान् ने ऐसी ही शक्ति उसको दी है । इससे ही तीन वर्ष से छोटे बच्चों को मारती हुई फिरती रहती थी । जो बच्चों को खा जावे, तो थोड़ों से ही पेट भर जाने के कारण मारना छोड़ दे, लेकिन बालकों के प्राण मात्र चूस-चूस कर चली जाती है । तीनों गुणों वाले स्थानों में जाने की इसको रुकावट न थी, इससे सात्विक (सतोगुणी) नगरों में, रजस (रजोगुणी) गांवों में और तामस (तमोगुणी) ब्रज (गोष्ठों) में रहने वाले बालकों को मारती हुई, इस कार्यमात्र के लिये वहाँ घूमती थी । अर्थात् कभी यहाँ कभी वहाँ चक्कर काटती थी । श्लोक में 'आदि' शब्द है उसका भाव है कि वह केवल नगर, गांव और गोष्ठों में ही नहीं घूमती थी किन्तु 'खेट खर्वट वाटेषु अपि' खेड़ों, (छोटे गांवों) खिड़कों और वाड़ियों में भी घूम-घूम कर बच्चों के प्राण चूसती थी ॥ २ ॥

जो पहले भी इस प्रकार होता<sup>१</sup> तो उस समय भी कोई बालक जीता न रहता । इस शङ्का को 'न यत्र' श्लोक से मिटते हैं ॥ २ ॥

१—प्रकाश — पूतना का बालकों को मारना ही केवल प्रयोजन होता तो ।

उक्त उक्त उक्त उक्त उक्त उक्त उक्त उक्त उक्त उक्त उक्त उक्त

नमो आत्मावली

प्रथम कंस पूतना पठाई ।

नंद धरनि सूत लिए जहाँ बैठी चली चली निज धामहि आई ।







**व्याख्यानार्थ** — इस प्रकार पूतना सब प्रकार के उपद्रव करने वाली है। यह बात हेतुओं से सिद्ध कर अब उसका गोकुल में आने का 'सा खेचरी' श्लोक से वर्णन करते हैं। वह (पूतना) जिस समय देवादिकों का सम्बन्ध न था एवं आश्लेषा नक्षत्र, विष घटिका, मृत्यु योग था एवं भगवान् पृथ्वी पर विराजमान थे उस समय एक बार गोकुल में आ पहुँची। श्लोक में 'खेचरी' विशेषण देने का भावार्थ बताते हैं कि भूमि की सर्व देवता रक्षा करते हैं इसलिये वह भूमि पर से आ नहीं सकती थी, इस कारण से वह पक्षी की तरह आकाश में उड़ती हुई गोकुल में आई। यों तो गोकुल मर्यादा धर्म वाला है, किन्तु वैकुण्ठ से पधार कर आये हुए भगवान् जहाँ बिराजे वहाँ मर्यादा धर्म का नाश हो जाता है; इसलिये गोकुल न कह कर शुकदेवजी ने 'नन्द गोकुल' कहा है। नन्द गोकुल में वह (पूतना) आ नहीं सकती, किन्तु जिस समय नन्दजी एवं गौ दोनों गोकुल में नहीं थे, उस समय वह आ गई।

पूतना गोकुल के निकट तो पहुँच गई परन्तु उसमें भीतर आने की सामर्थ्य न थी, तब उसने अपने इष्ट, माया रूप भगवान् का ध्यान धरा, तब माया रूप भगवान् ने उसको यशोदा आदि स्त्रियों के समान, सुन्दर रूपवती स्त्री का रूप प्रदान किया। (जैसे श्रुति में कहा है कि 'मायेत्यसुर' 'तद्धैनान् भूत्वाऽवती' ति 'च' माया असुर है वे प्रकट हो इनकी रक्षा करते हैं।) इसलिये श्लोक में कहा है कि 'उपेत्यात्मान मायया योषित्वा' अपना रूप माया से स्त्री जैसा बनाकर, गोकुल में प्रवेश किया। श्लोक में दिये हुए कामचारिणी पद का भावार्थ बताते हुए कहते हैं कि अजान स्त्री होते हुए भी उसने प्रवेश किया क्योंकि वह स्व इच्छा से वहाँ भी प्रवेश कर सकने की शक्ति वाली थी, एवं उसने युक्ती स्त्री का रूप भी इस निश्चय से लिया था कि मैं गोकुल में प्रवेश करूँ तो मेरे रूप को देख कर कोई पुरुष भी मुझे रोके नहीं। जहाँ-जहाँ काम का प्रवेश था, वहाँ-वहाँ ही प्रवेश कर सकी। जैसे साक्षात् काम हो वा विशेष काम का वेग हो तो वहाँ प्राणी अन्धे हो जाते हैं अर्थात् वे कुछ भी देख व समझ नहीं पाते हैं।

**प्रकाश** — भगवान् का प्राकट्य रोहिणी नक्षत्र में हुआ और छठे दिन आश्लेषा नक्षत्र में पूतना आई। इससे जाना जाता है कि भगवान् ने पूतना को मारा तब भगवान् 'छः' दिन के ही थे। पद्मपुराण में लिखा है कि भाद्रपद कृष्ण चतुर्दशी को पूतना को मारा। इससे श्री भगवान् उस समय 'छः' दिन के ही थे हरिवंश में लिखा है कि छः मास के भगवान् ने पूतना को मारा, वह कथा दूसरे कल्प की है।

**लेख** — जहाँ सतोगुण और धर्म होता है, वहाँ राक्षसादि प्रवेश नहीं पा सकते हैं, इसलिये कहा कि पूतना उस समय आई जिस समय गोकुल में सतोगुण रूप नन्दजी नहीं थे एवं धर्म रूप गौ भी नहीं थी।

ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ ॐ

(पृष्ठ ६६ से आगे) मुख चुम्ब्यौगहि कंठ लगायो विष लपट्यो अस्तम मुख नाई।  
पय पै संग प्राण अचैहरि लीन्हो जोजन एक गिरी मुरुझाई।

आगन्तुक (अचानक आने वाले राक्षस आदि द्वारा) दुःखों का निवारण<sup>१</sup> मन्त्रों द्वारा ही हो सकता है; किन्तु सहज (स्वाभाविक व साथ में पैदा हुए) दोषों का निवारण मन्त्रों द्वारा नहीं हो सकता है। इस प्रकार प्रबल और दुर्बल भाव होने पर, बाधा बाधक भाव होना उचित ही है। अर्थात् जहाँ एक बलवान हो, दूसरा शक्ति-हीन या निर्बल हो, तो वहाँ यदि एक हटाने वाला और दूसरा हटने वाला हो जाय, तो वह योग्य ही है। इससे आगे श्रवण करने वाले की शङ्का भी मिट गई। वर्णाश्रम धर्म वाले जो कर्म करते हैं वे देह-मात्र से सम्बन्ध रखने वाले होते हैं तथा उन कर्मों का सम्बन्ध भगवान् से कुछ नहीं होता है। जहाँ भगवान् के नाम सुनने से ही राक्षस भाग जाते हैं, वहाँ स्वयं भगवान् की उपस्थिति में राक्षसों की चिन्ता कैसी? अर्थात् कोई चिन्ता नहीं। इसलिये ही 'कर्मसु' के पहले 'स्व' शब्द दिया है ॥ ३ ॥

श्लोकः — सा खेचर्येकदोपेत्य पूतना नन्दगोकुलम् ।

योषित्वा माययात्मानं प्राविशत् कामचारिणी ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ — आकाश में विचरण करने वाली, उस पूतना ने एक बार नन्दजी के गोकुल के निकट पहुँच कर और कपट से अपना सुन्दर स्त्री का रूप बना कर स्वच्छन्द घूमती हुई गोकुल में प्रविष्ट<sup>२</sup> हुई।

सुबोधिनी — एवं तस्याः सर्वोपद्रवकर्तृत्वं सोपपत्तिकमुपपाद्य गोकुलेऽपि तस्याः समागमनमाह सा खेचरीति, एकदेति यस्मिन् काले देवादीनां न सम्बन्धः, आश्लेषा, नक्षत्रे विषघटिकायां मृत्युयोगे भूमिष्ठे भगवति, भूमिः सर्वदेवरक्षितेति कथं तस्या आगमनमित्याशङ्क्याह खेचरीति, तद्धर्मवत्त्वेन प्रतिपादितं वैकुण्ठादेशगतस्य मर्यादानाशकत्वबोधनार्थं, नन्दस्य गोकुलमिति, नन्दे विद्यमाने गोषु वागन्तुं न शक्नुयात्, उभयोरपितत्राभावात् समागतेति, आदौ निकटे समागत्य यत्र स्थिता माया प्रवेशं कृतवती तत्र स्थित्वा ततोऽग्रे गमनासामर्थ्यात् स्वस्येष्टदेवतां मायारूपं भगवन्तं

ध्यातवती तदा भगवान् मायारूपस्तां स्त्रीरूपां यशोदादितुल्यां कृतवान् "मायेत्यसुरा" इति श्रुतेः "तद्धैनान् भूत्वावती" ति च, तदाहोपेत्यात्मानं मायया योषित्वेति, आत्मानं योषितं कृत्वेत्यर्थः, तदा प्राविशत् ननु तथाप्यज्ञाता स्त्री कथं प्रवेशं प्राप्तावतीति तत्राह कामचारिणीति, कामं यथेच्छं चरतीति तथा, प्रवेशे तरुणीरूपं कृतवतीति पुरुषा न निवारयिष्यन्तीति निश्चयः, यत्रयत्र कामप्रवेशस्तत्रतत्र प्रवेष्टुं शक्तेति, अतो यथा मूर्तिमति काम उद्विक्ते वा प्राणिनामन्धत्वमेवं तस्यामपीत्युक्तम् ॥ ४ ॥

१-मिटाना २-प्रवेश किया, घुसा।

उद उद उद उद उद उद उद उद उद उद उद उद

(पृष्ठ ६७ से आगे) अहो महारि पालागन मेरी मैं तुमरो सुत देखन आई ।  
यह कहि गोद लियो अपने तब त्रिभुवनपति मन मन मुसकाई ।

श्लोकः — तां केशबन्धव्यतिषक्तमल्लिकां बृहन्नितम्बस्तनकृच्छ्रमध्यमाम् ।

सुवाससं कम्पितकर्णभूषणत्विषोल्लसत्कुन्तलमण्डिताननाम् ॥ ५ ॥

श्लोकः — वल्गुस्मितापाङ्गविसर्गवीक्षितैर्मनो हरन्तीं वनितां व्रजौकसाम् ।

अमंसताम्भोजकरेण रूपिणीं गोप्यः श्रियं द्रष्टुमिवागतां पतिम् ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ — बालों के जूड़ों में गूँथे हुए मोगरों के फूलों वाली, बड़े नितम्ब, स्तन एवं पतली कटिवाली, सुन्दर वस्त्रों वाली, हिलते कुण्डलों की कान्ति से झलकते केशों से सुशोभित मुखवाली, मनोहर मुस्कानवाले कटाक्ष, चलायमान दृष्टि से व्रजवासियों के मन को हरण करने वाली उस सुन्दर स्त्री को गोपियों ने हाथ में कमल धारण करने के कारण समझा कि लक्ष्मी अपने स्वामी के दर्शन के लिये आ रही है ।

सुबोधिनी — सर्वव्यामोहनार्थं भगवत्कृतं तस्या रूपं वर्णयति तां केशेतिद्वाभ्यां स्वरूपचेष्टाभेदेन, मायाकृतमेव रूपमिति हिरण्याभरणाम्बरदिभिरेव तस्या मोहकत्वमुच्यते, केशबन्धे व्यतिषक्ता मल्लिका यस्यां, दूग्द दर्शनेन गन्धेन च व्यामोह उक्तः, बन्धे मल्लिकास्तु न पतन्ति, मल्लिका तत्कालपुष्पोपलक्षिका, सौन्दर्यं गन्धश्च तत्रैव प्रतिष्ठितौ, स्थूलनितम्बस्तनैरल्पमध्येन च सर्वबन्ध-सहितसम्भोगयोग्यता निरूपिता, वस्त्रं चोत्तमं रसजनकं, कम्पिते ये कर्णभूषणे कुण्डले तयोस्त्वषोल्लसन्ति यानि कुन्तलानि तैर्मण्डितमाननमिति, मुखे सौन्दर्यं मोहार्थं निरूपितं, कर्णभूषणमुपरिभागस्थं वा, तेन कुण्डलयोरपि कान्तिः, भूषणस्य सर्वोत्तमत्वं निरूपयति ॥ ५ ॥ तस्याश्चेष्टामाह वल्गुस्मितेति सहजस्मिताभावाय वल्गु-स्मितमित्युक्तं हन्सहिनं, चदपाङ्गनिरीक्षणं कटाक्षदर्शनं नट्यनेकविधमलत्त्वान्तिादिरूपं तदाह बहुवचनेन, अपाङ्गानां

विशेषेण सर्गा यत्र वीक्षितेषु, अतो व्रजौकसां मनो हरन्तीं, व्रजस्थिता विवेकरहिता भवन्ति, अनेनैव गोपैर्निवारणं प्रतिषिद्धं, मन इत्येकवचनं सर्वेषामेकरूपत्वबोधनाय, अत एव गोपैः सा सम्यग् दृष्टापि न गोपीभिरेव परं दृष्टा, तास्तु पूर्णज्ञानवत्योपि भगवत्कृतं तद्रूपं मत्वा भगवच्चरित्रत्वाद घातकत्वमबुद्ध्वा स्वभोगार्थं लक्ष्मीमेवाकारितवानिति ज्ञातव्यः, न हि लक्ष्म्यां दासीनां वैमनस्यं सम्भवति, तदाह गोप्यो द्रष्टुमागतां तां श्रियमेवामंसत, तथैव च भगवान् रूपं सम्पादितवानिति, लक्ष्म्या असाधारणं चिह्नमाहम्भोजकरेणोपलक्षितेति, लीलाकमलयुक्तेन करेण, अनेन रिक्तहस्ततापि निवारिता, रूपिणीमिति स्वस्मिन्नावेशातिरिक्तरूपां, तत्रापि पतिं द्रष्टुमागतां न केनापि निवार्या, अतो गोप्यः पुरस्कारमेव कृतवत्य इति न तासां बाधकत्वम् ॥ ६ ॥

व्याख्यानार्थ — सब को मोहित करने के लिये भगवान् द्वारा बनाये हुए पूतना के रूप का वर्णन करते हैं । ५वें श्लोक में रूप का एवं ६ठे में चेष्टाओं का वर्णन है ।

३४ ३४ ३४ ३४ ३४ ३४ ३४ ३४ ३४ ३४ ३४ ३४

(पृष्ठ ६८ से आगे) त्राहि त्राहि करि व्रज गन धाए अति बालक क्यों बचै कन्हारै ।

अति आनन्द सहित सुत पायो हृदय मांझ लपटाई ।

पूतना का यह रूप, माया रूप भगवान् ने किया है। उसकी मोहकता सोने के आभूषण एवं सुन्दर वस्त्रों के कारण थी एवं बालों के जूड़ों में गूँथे हुए मोगरों के फूल ऐसे लगे थे कि गिरते नहीं थे। श्लोक में 'मल्लिका' उपलक्षण<sup>१</sup> है, लेकिन जूड़े में उस ऋतु के विविध फूल गूँथे हुए थे। सौन्दर्य और सुगन्धि उन में थी। बड़े स्तन तथा नितम्ब एवं पतली कमर के कारण, सब प्रकार के आसनों द्वारा, भोग करने योग्य थी, उत्तम वस्त्र रसजनक थे, हिलते हुए कुण्डलों की कान्ति से झलकते केशों से सुशोभित मुख की सुन्दरता का मोह के लिये ही निरूपण है। अथवा कानों के ऊपर के भाग में पहने हुए आभूषणों से ही कुण्डलों जैसी कान्ति होती थी, अर्थात् कुण्डल धारण नहीं किये थे, तो भी, उन आभूषणों से कुण्डलों की कान्ति का भान होता था। इससे उन भूषणों की सर्वोत्तमता बताई गई ॥ ५ ॥

छठे श्लोक में पूतना की चेष्टा (हाव-भाव, अङ्ग-चालन आदि) का वर्णन करते हैं। पूतना में स्वाभाविक स्मित (मुस्कान) का अभाव था, इसलिये श्लोक में 'स्मित' न कहकर 'वल्गु' विशेषण दिया, जिसका आशय है कि पूतना की मुस्कान बनावटी थी। ऐसी बनावटी मुस्कान से जो अक्रियता (चेष्टा रहित) से लपेटे हुए कटाक्षों को (बहुवचन से कहा) विविध प्रकार से दिखाती, ब्रजवासियों के मन को हरण करती, बिना रोक-टोक के गोकुल में आ गई। ब्रजवासी विवेक रहित (भोले या सीधे-सादे) होते हैं, इससे पूतना के बनावटी मुस्कान एवं कटाक्षादि को पहचान न सकने के कारण मोहित हो उसको रोक नहीं सके। गोप बहुत थे, तो भी 'मन' एक वचन इसलिये दिया कि सब गोपों का मन एक जैसा ही था अर्थात् सब एक सरीखे विवेक रहित थे। इससे गोपों ने उसको (पूतना को) पूर्ण रीति से देखा (समझा) नहीं। गोपों ने अच्छी तरह से देखा भी, किन्तु गोपियों की तरह नहीं देखा। गोपियों ने तो पूरी तरह से देखा, वे तो पूर्ण ज्ञान वाली थीं, उसका रूप भगवान् का बनाया हुआ है, यह जान लिया। भगवान् की लीला से उसकी घातकता न समझ सकीं, किन्तु यों समझा कि अपने रमण (भोग) के लिये भगवान् ने लक्ष्मीजी को बुलाया है। लक्ष्मी भगवान् की पत्नी है। उससे दासियों का वैमनस्य या वैर नहीं होता है; इसलिये श्लोक में कहा है कि गोपियों ने दर्शन के लिये आई हुई उसको लक्ष्मी ही समझा। भगवान् ने वैसा ही रूप बनाया है इसलिये उसके हाथ में लीला कमल था। यही

१ - लेख - पूतना के आने के समय वर्षा ऋतु थी उस काल में मोगरे होते नहीं, लेकिन वर्षा ऋतु के पुष्पों में मोगरे जैसी शोभा एवं सुगन्ध होने से 'मल्लिका' (मोगरा) लिखा है।

३५ ३५ ३५ ३५ ३५ ३५ ३५ ३५ ३५ ३५ ३५ ३५

(पृष्ठ ६९ से आगे) कर बर बड़ी तरी मेरे को घर घर करत आनन्द बधाई ।  
सूर श्याम पूतना पछरी यह सुनि जिय डरप्यो नृप रई ॥

पहचान का असाधारण चिह्न है। इससे खाली हाथ का भी निषेध हुआ वह अपने में आवेश<sup>१</sup> से बड़े हुए स्वरूप के कारण सुन्दर रूपवती<sup>२</sup> हुई थी। पति-दर्शन के लिये आई हुई जानकर, किसी ने उसको रोका नहीं। गोपियों ने तो उसका समादर किया, इसलिये गोपियों का न रोकना गोपियों के लिये बाधक नहीं ॥ ६ ॥

**श्लोक: — बालग्रहस्तत्र विचिन्वती शिशून् यदृच्छया नन्दगृहेऽसदन्तकम् ।**

**बालं प्रतिच्छन्ननिजोरु तेजसं ददर्श तल्पेऽग्निमिवाहितं भसि ॥ ७ ॥**

**श्लोकार्थ —** बालकों के लिए ग्रह के समान वह पूतना बालकों को ढूँढती हुई नन्दजी के घर गई। वहाँ उसने शय्या पर सोये हुए बालक कृष्ण को देखा जो दुष्टों के काल समान थे लेकिन जिन्होंने भस्माच्छादित अग्नि के समान अपने प्रचण्ड तेज को छिपा रखा था।

**सुबोधिनी —** सा गोकुलेपि बालकान्वेषणार्थमेव प्रवृत्ता न तु साक्षाद्भगवन्निकटे स्वतो गतेत्याह बालग्रह इति, बालान् गृह्णीतीति बालग्रहः, भगवांस्तु न बाल इति तत्र तस्या नाग्रहः, तत्र गोकुले शिशून् विचिन्वती चचार, विचयन एव प्रवृत्ता जाता, न तु कञ्चिन्मारितवती भगवतो रक्षकत्वात्, तदा भगवान् स्वन्निकट एव तामानीतवानित्याह

यदृच्छया नन्दगृहे बालं ददर्शति, भगवदिच्छाव्यतिरेकेण सर्वैरवोपायैस्तत्र गमनमशक्यं, नन्वेषा कृत्रिमा दुष्टा कथं भगवन्तं दृष्टवतीत्याशङ्क्यासदन्तकमिति, असतामन्तको मारुतः, तांश्च दृष्ट्वैव मारयति, अतो मारणीयानामपि दर्शनं न बाधितं, नन्दगृहेऽप्यसन्तो भगवता निवारणीयाः, तस्या बालाविष्टचित्तायास्तत्र विचारो न जात इति सूचनार्थमाह

१ — टिप्पणी — पूतना स्वतन्त्रता से स्वयं गोकुल में आ नहीं सकती थी इसलिये आचार्य चरणों ने श्री सुबोधिनीजी में कहा है कि 'स्वस्मिन्नावेशातिरिक्त रूपां' गोपियों के सम्बन्ध की इच्छा से वहाँ प्रवेश किया।

२ — प्रकाश — श्रीपुरुषोत्तमजी कहते हैं कि जब बलुस्मित एवं श्रीयमंभसत से ही उसको शोभा चेष्टा और रूप का वर्णन हो गया फिर श्लोक में 'रूपिणा' क्यों कहा? इसका भावार्थ समझने के लिये श्रीसुबोधिनीजी में 'स्वस्मिन्नावेशातिरिक्त रूपां' कहा। इस सुबोधिनीजी के पंक्ति को श्री प्रभुचरण ने टिप्पणी में समझाया कि पूतना अपने आप गोकुल में नहीं आ सकती थी इसलिये गोपियों के सम्बन्ध की इच्छा से वहाँ (गोपियों जहाँ थी) प्रवेश किया। इस टिप्पणी एवं सुबोधिनी के संस्कृत (स्वस्मिन्नावेशातिरिक्त रूपां को विशेष स्पष्ट समझाते हैं कि "स्वस्मिन्"—गोपीजनों में जो आवेश था, उससे पूतना का भी रूप बढ गया अर्थात् विशेष सुन्दर हो गया, अथवा स्वस्मिन्—पूतना में जो लक्ष्मी का (भगवान् की पत्नी होने का) आवेश से अधिमान था; इससे भी सुन्दर रूपवती देखने में आई और गोपीदास्यात्मक आवेश से भी सुन्दर रूपिणी हुई। इन्होंने सब कारणों से श्लोक में 'रूपिणी' कहा गया है। जिसको—स्वस्मिन्नावेशित रूपां पंक्ति से श्रीआचार्य चरण ने स्पष्ट कर समझाया है।

टिप्पणीजी एवं प्रकाश से यह साफ समझ में आया कि पूतना गोकुल में स्वयं स्वतन्त्र न आ सकी, किन्तु गोपियों के सम्बन्ध (आवेश) से ही आ सकी।

बालमिति; तथाप्य-लौकिककान्त्या कथं न विचारो जात इत्यत आह प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसमिति, प्रतिच्छन्नं स्वेनैवाच्छन्नं प्रतिकूलार्थं वाच्छन्नं निजंय दुरु तेजः, वैष्णवतेजसि प्रकटसुरघातकं तदिति दन्दह्यमाना निवर्तेत, सर्वथा कान्तितिरोधाने यशोदादीनां भयं स्यादत आहोर्विति, यावता तस्या आगमनं सम्भवति तावत् तिरोधानं, भगवतः क्रियाज्ञानशक्ती अतिरोहिते सर्वदा प्रकृतेपि च तदुपयोगात्, ततः कथं ताभ्यां न निवास्तेत्याशङ्क्याह तल्प इति, तल्पे

शयानो बालकः क्रियारहितो भवति, अवस्थया क्रियाशक्तेस्तिरोभावः, तत उत्थाने चलनेन सह क्रिया-विर्भाविष्यति, ज्ञानशक्तेः प्रकाशः सहजो यतो ब्रह्मविदा-मपि ज्ञाने सति तद् भवति स कथं न बाधक इत्याशङ्क्या-हाग्निमिवाहितं भसीति, यथाग्निहोत्रिणा भस्मनाग्नि-स्तिरोहितः क्रियते काले प्रादुर्भावार्थं ततेजोन्यन् नाशयेन्न तु स्वजनितं, अतो ज्ञानशक्त्या जनिता येच्छ तया तिरोहितं प्रवृत्तिपर्यन्तं न बाधकं भवति ॥ ७ ॥

**व्याख्यार्थ —** वह (पूतना) गोकुल में भी बालकों के ढूँढ़ने में ही प्रवृत्त रही; न कि भगवान् के निकट आप ही गई। इसका वर्णन 'बालग्रह' श्लोक से किया जाता है।

बालकों को पकड़े, उसे 'बालग्रह' कहते हैं। पूतना बालकों को पकड़ ले जाती, इसलिये पूतना को 'बालग्रह' कहा गया है अर्थात् बालकों को पकड़ने वाली। बालकों के पकड़ने में, आग्रह होने के कारण, अपने आप ही, भगवान् के पास न गई, क्योंकि वह बालक नहीं था किन्तु भगवान् थे। इसलिये गोकुल में बालकों को ढूँढ़ती फिरने लगी। ढूँढ़ने में ही लगी रही, न कि, किसी को भी मार, कारण कि भगवान् उनके रक्षक थे। जब वह दूसरों को ही पकड़ती रही, भगवान् के पास न आई, तब भगवान् ने अपनी इच्छा से उसको अपने पास बुलाया। इसलिये श्लोक में 'यदृच्छ्या' शब्द दिया है। अर्थात् पूतना का इस घर में आने का विचार नहीं था, किन्तु भगवत्प्रेरणा से अचानक नन्द के घर में आई और बालक को देखा। भगवान् की इच्छा के अतिरिक्त सकल उपायों से भी नन्दगृह में आना अशक्य था। सुन्दर रूप वाली बनावटी दुष्टा स्त्री (पूतना) को भगवान् के दर्शन कैसे हुए? इस शङ्का को मिटाने के लिये श्लोक में 'असदन्तकं' कहा है, जिसका अर्थ है—भगवान् दुष्टों का काल है। इसलिये जिन दुष्टों को मारना है उनको देखकर ही मारते हैं इस कारण से मारने वालों को भी दर्शन होने में कोई बाधक नहीं। भगवान् को नन्दगृह में दुष्टों के आने को भी रोकना था। बालकों के हरण में ही चित्त वाली उसको यह विचार ही न आया कि यह भगवान् है, दुष्ट असुरों के नाशक हैं। उन (भगवान्) को साधारण बालक के रूप में देखा, इसलिये श्लोक में 'बालं' शब्द दिया है। यद्यपि बालक रूप था तो भी अलौकिक तेज से यह विचार क्यों नहीं आया कि यह 'भगवान्' है? यह शङ्का मिटाने के वास्ते ही श्लोक में कहा है कि 'प्रतिच्छन्ननिजोरुतेजसं' भगवान् ने अपना अधिक अलौकिक तेज छिपा लिया था। यदि यह न छिपाते तो उस भगवान् के तेज से असुर जलने के कारण दूर से ही भाग जाते तो मरते नहीं। बिल्कुल तेज छिपा लेते तो यशोदादि ब्रजवासियों को डर होता इसलिये 'उरु' शब्द से बताया कि अधिक तेज छिपा लिया। भगवान् की ज्ञान और क्रिया-शक्ति तो सर्वत्र सदैव रहती ही है; किन्तु लीलार्थ तिरोहित सी दिखती है। अतः

जब तक पूतना भगवान् के पास पहुँची, तब तक उस तेज को कुछ छिपाने जैसा कर लिया, कारण कि भगवान् उस वक्त पलंगड़ी पर पौढ़े थे । पौढ़ने के समय क्रिया-शक्ति कार्य नहीं करती है । अवस्था (आयु) वा निद्रादि काल से क्रिया-शक्ति का तिरोभाव होता है । निद्रा से उठकर चलने-फिरने से वह क्रिया-शक्ति आविर्भाव पाती है । ज्ञान-शक्ति का प्रकाश तो स्वाभाविक है, जिससे ब्रह्मज्ञानियों को भी ज्ञान होने पर उनमें प्रकाश आ जाता है । वह ज्ञान-शक्ति का प्रकाश पूतना के लिये क्यों न बाधक हुआ ? इस शङ्का को मिटाने के लिये श्लोक में कहा है कि 'अग्निमिवाहितं' जैसे अग्निहोत्री अग्नि को भस्म से ढांक देते हैं, फिर हवन के समय भस्म दूर होने पर, वह अग्नि अपना तेज दिखाती है, वह तेज (अग्नि) दूसरों को तो जलाती है किन्तु अपने में से पैदा हुई भस्म को नहीं जलाती है; वैसे ही ज्ञान-शक्ति से उत्पन्न इच्छा, उस इच्छा से तिरोहित प्रकाश रूप शक्ति प्रवृत्ति होने तक बाधक नहीं होती है । अर्थात् पूतना की प्रवृत्ति में वह ज्ञान-शक्ति का प्रकाश भगवद्इच्छा से बाधक नहीं हुआ ॥ ७ ॥

**श्लोकः — विबुध्य तां बालकमारिकाग्रहं चराचरात्मा स निमीलितेक्षणः ।**

**तमङ्कमारोपयदन्तकान्तकं यथोरगं सुप्तमबुद्धिरञ्जुधीः ॥ ८ ॥**

**श्लोकार्थ —** चल और अचल के आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने उस बाल-हत्यारिणी पूतना को जानकर नेत्र मूंद लिये । मूर्ख मनुष्य जैसे सोते साँप को रज्जु समझ लेवे, वैसे ही पूतना ने अनन्त कालरूप भगवान् को साधारण बालक समझ गोद में ले लिया ।

**सुबोधिनी —** स्वतो ज्ञानशक्तेर्बाधकत्वमाशङ्क्य तस्या अपि तिरोधानमाह विबुध्येति, ज्ञानशक्तेः स्वरूपमेतत् कीर्तितं, न तु बोध उत्कर्षार्थमुक्तः, पुरोवर्तीन्द्रियसन्निकर्षे संकेतितस्य स्मरणमिव तस्या दर्शनेन तदीया गुणा उद्भूता इत्येतदर्थमाह तां बालकमारिकाग्रहमिति, प्रसिद्धिप्रेरणादिकं तच्छब्देनोक्तं, मुख्यं दोषमनुवदति, बालकानां मारिका बालघातिनी, तथाभूता सती ग्रहरूपा च, गृह्णातीति ग्रहाः, मारयितुं चेन्न शक्नुवन्ति, शीघ्रं गृहीत्वापि तावत् तिष्ठन्ति तथा प्रतीकारेपि, ननु ह्युत्थाय कथं न मारितवांस्तत्राह चराचरात्मेति, स्थावरजङ्गमानामयमात्मा यदि मर्यादां त्यजेत् तदा जीवजडयोर्विलय एव स्यात्, अस्तु विलय इति चेत् तत्राह स इति, स मूलभूतो जगत्कर्ता, ज्ञानमतिरोहितमेव भवतीति तस्य तिरोधानार्थं यत्नं कृतवानित्याह निमी-लितेक्षणो जात इति, एवं सर्वाशेनाबाधे जाते सा समागत्य भगवन्तं गृहीतवतीत्याहानन्तमिति, ग्रहणे शङ्काभावार्थ-मनन्तपदं,

अनेनान्यदपि सूचितमक्लिष्टकर्मा भगवान् स्वतो न कञ्चिन्मारयति तथैव परं स्वतः कालो गृहीत इति निकट उपविश्य तमके समारोपयत्, कालो हि घातकानां हितकारेति शङ्काव्युदासार्थमाहान्तकमिति, स हि सर्वमारकः, नन्वारोपणे क्रियाशक्तिः प्रबुद्धा कथं न बाधिका जातेत्याह यथोरगं सुप्तमिति, सर्पाणामतितामसत्वात् तेषामत्यन्तं निद्रा, अतो मारणपर्यन्तं न क्रिया तेषु, तथा भगवतोपि क्रिया सर्वथा नाविर्भूता, ननु स्पर्शेण ज्ञानशक्तिस्तेजः कथं नाविर्भूतमिति चेत् तत्राहबुद्धिरञ्जुधीरिति, अबुद्ध्याज्ञानेन सर्पे रज्जुधीर्यस्य, रज्जुर्बन्धिका, सर्पो मारकः, स्नेहेन स्तने दत्ते मय्यनुरक्तो भविष्यतीत्यापतितो बुद्धिर्न तु मारकत्वं जानाति यथा रज्जुबुद्ध्या गृहीतः सर्पः स्वस्पर्शेपि न ज्ञानं जनयति, अतो भगवज्ज्ञानं तेजोऽपि स्पर्शेन नाविर्भूतमित्यर्थः ॥ ८ ॥

व्याख्यानार्थ — ज्ञान-शक्ति अपने आप उसके आने में रुकावट कर दे तो, इसके लिये 'विबुध्यतां' इस श्लोक में वह ज्ञान-शक्ति के तिरोहित होने का वर्णन करते हैं ।

श्रीशुकदेवजी ने श्लोक में 'विबुध्यतां बालक मारिका ग्रहं' उसको-पूतना को-बालकों को मारने वाला ग्रह समझ कर, यह पंक्ति कह कर, भगवान् के ज्ञान होने का उत्कर्ष (आधिक्य) नहीं बताया है, वरन् ज्ञान-शक्ति का स्वरूप बताया है । अर्थात् भगवान् की ज्ञान-शक्ति ऐसी है कि कोई किसी भी रूप में आवे, तो भी उसके निजी भीतरी स्वरूप को पहचान लेती है । और 'विबुध्यतां मारिका ग्रहं' यह पंक्ति इसलिये भी कही कि जैसे इन्द्रियों का सामने वाले पदार्थ से सामीप्य (सम्बन्ध) होते ही, संकेतित (ठहराव) के स्मरण की तरह, उसके गुण स्वयं प्रकट हो जाते हैं, वैसे ही उस पूतना के देखने से, उसके भी गुण प्रकट दिखाई देने लगे अर्थात् पूतना को देखने मात्र से उसके गुण भगवान् को भी प्रत्यक्ष दिखने लगे । 'तां' शब्द का आशय बताते हैं कि इस 'तां' से उसकी प्रसिद्धि और कंस की प्रेरणा आदि भी कह दी एवं उसका मुख्य दोष बालकों को मारना एवं पकड़ कर ले जाना भी बता दिया । ग्रह शब्द का भावार्थ बताते हैं कि जो पकड़ लेते हैं, उनको 'ग्रह' कहा जाता है । उनमें मारने की शक्ति नहीं हो, तो भी वे शीघ्र पकड़ कर, अपने पास तब तक रखते हैं, जब तक उनकी शक्ति चल सकती है । प्रतीकार<sup>१</sup> होने पर भी पकड़ रखते हैं । जब प्रतीकार से शक्ति नष्ट होती है, तब छोड़ते हैं । इसलिये पूतना को ग्रह कह कर यह बताया है कि जब तक प्रतीकार से इसकी शक्ति नष्ट न होगी, तब तक यह इस कार्य को छोड़ेगी नहीं । ऐसा है तो भगवान् ने उठकर क्यों नहीं उसका नाश किया ? इस शंका के निवारण के लिये कहते हैं कि भगवान् चराचरात्मा (चल और अचल दोनों की आत्मा) हैं । यदि दोनों की आत्मा स्वयं ही मर्यादा<sup>२</sup> छोड़ दे (कर्ता तो पालक चाहिये न कि मारक), तो जीव<sup>३</sup>, जड़<sup>४</sup> दोनों का नाश<sup>५</sup> हो जाय । यदि कोई कह दे कि भले प्रलय हो जाय, इस पर कहते हैं कि श्रीशुकदेवजी ने श्लोक में कहा है कि 'सः' यह बालक साधारण बालक नहीं है; किन्तु यह वह मूल रूप जगत्कर्ता है । इसलिये वह मर्यादा तोड़, अब प्रलय कैसे करे ? मूल भूत की ज्ञान-शक्ति, तो सदैव रहती है । उसके छिपाने के लिये यह प्रयत्न किया कि आंखें मूंद लीं ।

इस प्रकार सब तरह बाधा-निवृत्त होने पर उसने आकर अनन्त (भगवान्) को उठा लिया ।

उठाने में उसको किसी प्रकार की शंका न हुई, क्योंकि भगवान् अनन्त रूप थे । 'अनन्त' पद का दूसरा यह भी आशय है कि भगवान् (जगत्कर्ता) किसी को स्वतः<sup>६</sup> मारता नहीं, क्योंकि आप अक्लिष्ट कर्मा है । उसने (पूतना ने) अपने आप ही काल को पकड़ लिया । उसके समीप बैठ गोद में बैठाया । काल (अनन्त) तो हत्यारों का हितकारी है ? इस शंका को मिटाने के लिये 'अन्तक' विशेषण दिया है कि वह अनन्त सबों को मारने वाला है ।



श्लोक में 'यथोरगं सुप्तम्' (जैसे सोये हुए साँप को) देने का भावार्थ बताते हैं कि यदि किसी को यह शंका होवे कि बालरूप भगवान् को गोद में लेने पर, भगवान् की क्रिया-शक्ति तो जाग्रत हुई होगी तो उसको यों करने में क्यों न बाधा डाली ? इस पर कहा है कि जैसे सोये हुए साँप को—साँप अति तामस प्रकृति वाला होने के कारण बहुत गहरी नींद लेता है। इससे जब तक उसको पीटा नहीं जाता तब तक वह कोई क्रिया नहीं करता है अर्थात् वहीं पड़ा रहता है। उसमें किसी प्रकार की चलन क्रिया (कांपना हिलना आदि) नहीं होती है। तैसे ही भगवान् की भी क्रिया-शक्ति का कोई भी कार्य प्रकट न हुआ।

क्रिया-शक्ति का कोई कार्य न हुआ; किन्तु ज्ञान-शक्ति का तेज तो प्रकट होना चाहिये था, वह क्यों न प्रकट हुआ ? इसका उत्तर देते हैं कि 'अबुद्धिरज्जुधीः' जैसे साँप को रस्सी समझने वाला बेसमझी से साँप को पकड़ता है तो उस पकड़ने वाले को साँप अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं कराता है कि मैं तुझे मार डालूंगा। रस्सी तो बन्धन करने वाली है; लेकिन मारने वाला साँप है। पूतना ने भी बेसमझी से समझा था कि स्नेह से स्तन्य पान कराने के कारण मुझ पर प्रसन्न ही होंगे। पूतना ने यह न समझा कि यह मेरा अंत करने वाला है। जैसे रस्सी समझ साँप को पकड़ने वाला नहीं समझता है कि यह मुझे काटेगा, वैसे ही पूतना भी इसको साधारण बालक समझ, गोद में ले स्तन्य पान कराने लगी। इस कारण से भगवान् का ज्ञान, तेज, व प्रकाश भी स्पर्श से प्रकट न हुआ ॥ ८ ॥

**श्लोकः — तां तीक्ष्णचित्तामतिवामचेष्टितां वीक्ष्यान्तराकोशपरिच्छेदासिवत् ।**

**वरस्त्रियं तत्प्रभया च धर्षिते निरीक्षमाणे जननी ह्यतिष्ठताम् ॥ ९ ॥**

**लेख —** ७वें श्लोक में धर्म-रूप ज्ञान का तिरोधान होने के कारण ब्रह्मविद् का दृष्टान्त दिया था। इस ८वें श्लोक में ज्ञान-शक्ति के धर्म स्वरूप का तिरोधान हुआ है। इतना भेद है। यद्यपि भगवान् की कोई भी शक्ति तिरोहित होती ही नहीं है, सदैव उनका आविर्भाव ही रहता है; किन्तु लीलार्थ भगवान् स्वयं ऐसा दिखावा देते हैं, अतः यहाँ पूतना आ सके, इसलिये आँखें मूंद कर ज्ञान-शक्ति को स्वरूपतः तिरोहित सा कर दिया। ज्ञान-शक्ति प्रकट न हुई अर्थात् पूतना की बुद्धि को यह पालूम न हुआ कि यह भगवान् है।

**प्रकाश —** भगवान् ने अपनी इच्छा से ज्ञान-शक्ति का अत्यन्त तिरोधान कर लिया था। भगवान् का महान् उत्कर्ष 'चराचरात्मा' (जड़ और चेतन की आत्मा हैं) पद से बताया है इसलिये पूतना के दोषों के ज्ञान से, उत्कर्ष नहीं बताया है।

**योजना —** इस श्लोक में शुकदेवजी ने ज्ञान-शक्ति का स्वरूप ही बताया है, क्योंकि भगवान् तो अपरोक्ष ज्ञान वाले होने से सब छिपे हुए पदार्थों को भी जानते ही हैं, इससे पूतना के सर्वदोषों के ज्ञान से, भगवान् का कुछ भी उत्कर्ष प्रकट नहीं किया। इसलिये प्रथम ७वें श्लोक में तिरोधान में ब्रह्मविद् का दृष्टान्त दिया यहाँ भगवान् ने आँखें मूंदना रूप यत्न किया है।

**श्लोकार्थ —** म्यान में छिपी हुई तलवार के समान बहुत तेज (क्रूर) चित्तवाली और बुरे कार्य करने वाली घर में आई हुई उत्तम रूप वाली स्त्री (पूतना) की कान्ति से दबी हुई दोनों माताएँ (केवल खड़ी खड़ी) उसको देखती ही रहीं ।

**सुबोधिनी —** ननु यशोदारोहिणीभ्यां कथं सा न निवारितेत्याह तां तीक्ष्णचित्तामिति, तां निरीक्ष्य तत्प्रभया धर्षिते जननी जनन्यावतिष्ठतां निवारयितुं वाशक्ते जाते यशोदारोहिण्योर्मोहभावात्, भगवत्समीपे मायाया विलयात्, तद्गता धर्मा सर्वे भाता इत्याह तामित्यादिपदैः, तच्छब्देन तद्गताः पूर्वधर्माः सर्वे निरुक्ताः, पूर्वं प्रवेशार्थं व्यग्रचित्ता मोहनाभिनिविष्टा च, इदानीं तु तदुभयाभावात् चित्रक्रौर्यं प्रकटोभूतं ताभ्यां ज्ञातं निरूपयति तीक्ष्णचित्तामिति तस्या अन्तर्गतो दोषो निरूपितः, बहिर्गतान् निरूपयत्य-  
तिवामचेष्टितामिति, अत्यन्तं वामं वक्रं कठिनस्पर्शादिरूपं चेष्टितं यस्याः, एवमन्तर्बहिस्तस्या दोषं दृष्ट्वापि स्वतो निवारणेऽशक्तावपि रक्षकेभ्यो निवेदनाभावे हेतुमाहान्तराकोश-  
परिच्छेदासिवादिति, अन्तरा ग्रहमध्येन्तर्वा महतां, तत्रागमनमयुक्तं मध्यस्थितानां चाप्रयोजकत्वं ज्ञातं, किंच

कोश एव परिच्छेदो वेष्टनसाधनं यस्यैतादृशोसिः खङ्गः, आसमन्तात् कोश इति वा, अतिघनयुक्तः परिच्छेदो वा यस्य अनेन बहिर्मुखलोका अन्तर्गतं दूषणं तद्गतं येन केनचिदुच्यमानं न ग्रहन्त्येव, अत एव ज्ञात्वा ताभ्यां न कश्चिज्ज्ञापितः, तथाभूतं प्रकृते विशेषणमाह वरस्त्रियमिति, वरणीया स्त्री परमसुन्दरी, अतः पुरुषमात्रेणैव वरणीयेति न कोप्येनां मारयिष्यतीतिभावः, स्त्रीणां त्वसामर्थ्यमेव, तथापि भगवत्स्नेहात् प्रयत्न एव कर्तुमुचितो न त्वौदासीन्यमिति चेत् तत्राह तत्प्रभया च धर्षिते इति, तस्याः प्रभा भगवत्कृता, रक्षसो भावो मानुषभावोपमर्दकः, अतस्तस्याः प्रभयो मे अपि धर्षिते, चकाराद् भगवदिच्छया च, अत एव निरीक्षमाणे एवातिष्ठतां, अजननीत्यपि, जनने हि सहजो भावो भवति, जनन्यावपीति वा ॥ ९ ॥

**व्याख्यानार्थ —** पूतना को घर में आती देख कर भी यशोदा तथा रोहिणी ने उसको क्यों नहीं रोका ? इस शङ्का का उत्तर इस श्लोक में दिया है । वह (पूतना) बहुत तेज वाली थी । उसको देखकर उसके तेज से दबायी जाने के कारण दोनों माताएँ रोकने में असमर्थ हो गईं ! इसलिये देखती ही रह गईं और यशोदा रोहिणी को इतना मोह (वात्सल्य) भी न था, जो कि जननी<sup>१</sup> (जनने वाली माता) में होना चाहिए; क्योंकि वे दोनों अजननी थीं । 'तां' शब्द का भाव बताते हैं कि भगवान् जहाँ बिराजते हैं वहाँ माया (मोह कराने वाली) अपने कार्य करने में असमर्थ होती है इससे माया के कारण जो पूतना के चित्त की क्रूरता आदि धर्म छिप गये वे अब प्रकट हो गये । 'अति तीक्ष्ण चित्ता' बहुत तेज (क्रूर) चित्त वाली कह कर, उसके भीतर के दोष बताये और 'अति वाम चेष्टिता' (अत्यन्त कठिन स्पर्शादिवाली) कह कर उसके बाहर के दोष बताये । जब इस प्रकार दोनों माताएँ — ये दोष प्रत्यक्ष देख कर समझ गई थीं, तब उसको यदि स्वयं रोकने में असमर्थ थीं, तो दूसरों को (पुरुषों को) क्यों न कहा ? यदि पुरुषों को कहतीं, तो वे उसको रोकते । (इस शङ्का का निवारण 'अन्तराकोशपरिच्छेदासिवत्' पद से करते हैं ।) 'अन्तरा' शब्द

१ — 'सहजभाव' सन्तान के पैदा होने के साथ जो लौकिक भाव (वात्सल्य भाव) माता जनने वाली में होता है, वह लौकिक वात्सल्य यशोदा तथा रोहिणी में न था । यहाँ तो अलौकिक भाव था; वह भगवान् की इच्छानुसार ही होता है । भगवान् कि इच्छा थी कि पूतना को कोई रोके नहीं, भले ही वह आवे, मैं इसका उद्धार करूँगा, इसलिये वे दोनों उसके तेज से दब गईं और कुछ न किया ।

से यह बताया है कि वह घर के भीतर आ गई, जहाँ पुरुषों का आना योग्य नहीं । और 'कोशपरिच्छदासिवत्' पद से यह बताया है कि जैसे म्यान में छिपी तलवार अथवा कोश में छिपे हुए धन को बाहर का बेसमझ आदमी पहचान नहीं सकता है, वैसे ही इसके छिपे हुए दोष बहिर्मुख लोग समझ नहीं सकेंगे, इसलिये पुरुषों को कहना व्यर्थ है और 'वरस्त्रियं' (सुन्दर रूप वाली) से भी उन्होंने (यशोदा-रोहिणी ने) समझा कि यह रूपवती सब पुरुषों के वरण योग्य (मोहित करने वाली) है, इससे इसको कोई पुरुष भोगेगा नहीं । इस कारण से भी उन्होंने दूसरों को न बताया और न कहा । स्वयं मारने व भगाने में असमर्थ थीं, तो भी भगवान् के प्रेम के कारण प्रयत्न तो करना ही चाहिये था । इस प्रकार उदासीन होना अच्छा नहीं था । इस पर कहते हैं कि वे स्वयं उसके तेज से दब गई थीं । इतना तेज उसमें भगवान्<sup>१</sup> ने किया था ।

मनुष्य भाव रक्षस भाव के प्रभाव से दब जाता है इस कारण से उस रक्षसी की प्रभा से ये दोनों दब गईं । तथा श्लोक में दिए हुए 'च' का आशय है कि भगवान् की इच्छा ऐसी थी । इससे वे खड़ी-खड़ी देखती ही रहीं ॥ ९ ॥

श्लोकः — तस्मै स्तनं दुर्जस्वीर्यमुल्बणं घोराङ्गमादाय शिशोर्ददावथ ॥ ९<sup>१</sup> ॥

श्लोकार्थ — भीतर आने के बाद दुष्ट पूतना ने बालक को गोदी में लेकर, दुर्धर जहर से भरा हुआ गाढ़ (कठोर) स्तन उसको (उसके मुख में) दिया ॥ ९<sup>१</sup> ॥

सुबोधिनी — एवमप्रतिबन्धे यत् कृतवती तदाह तस्मा इति, तस्मै सम्भृतसर्वधर्माय भगवते स्तनं ददौ, अन्यथा दातुमेव न शक्नुयात्, स्तनमेकं, ननु दत्ते स्तने तस्याः कः पुरुषार्थ इति चेत् तत्राह दुर्जस्वीर्यमिति, दुर्जरं वीर्यं यस्य स्तन्यस्य, स्तने स्तन्यं तिष्ठतीति स्तन्य-दानमप्रत्यक्षमिति स्तनपदप्रयोगः, न केवलं परिणामा-हितकर्तृत्वं किन्तुल्बणं कूरं, ग्रहणदक्षायामप्यनिष्ठजनकं, नन्वेवं भगवति कथं कृतवती तत्राह घोरेति, कदाचित् स्तनं न पिबेदिति लालनार्थं शिशोरङ्गमादाय बालकस्याङ्गस्थानं स्पृशन्त्युत्तोलयन्ती ततो भगवतः पृष्ठभागं अरुणा परिगृहीतः, दक्षिणहस्तेन स्तनं निष्पीडयन्ती वामहस्तेन भगवतोङ्गक-स्थानमुत्तोलयन्ती स्तनं ददावित्यर्थः ॥ ९<sup>१</sup> ॥

१ — माया रूप भगवान् ने पूतना को जब किसी ने रोका नहीं तब जो उसने किया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

प्रकाश — गोपों के न रोकने का कारण था कि वह अत्यन्त रूपवती बनकर आई थी । उसको देख कर, कामोत्पत्ति के कारण वे मोहित हो गये थे । गोपियों ने इसलिये न रोका कि उसके स्वरूप में उनको लक्ष्मीजी का भाव हुआ, इन दोनों में - ये दोनों कारण न होने से उनमें मोह का अभाव था, किन्तु (भगवदिच्छा से) ये दोनों उसके तेज से दब गई इसलिये वे रोक न सकीं ।

**व्याख्यानार्थ** — उसने (पूतना ने) भीतर सब धर्म धारण करने वाले उस बाल रूप भगवान् को अपना स्तन दूध पिलाने के लिये मुख में दिया । यदि भगवान् ने अपने धर्म भीतर न छिपाये होते तो पूतना भगवान् के मुख से स्तन दे न सकती, एक स्तन दिया ।

स्तन देने में उसका कौनसा अर्थ था ? इसका उत्तर देते हैं कि उसके स्तन में दुर्जर<sup>१</sup> वीर्य<sup>२</sup> वाला स्तन्य<sup>३</sup> था अर्थात् जिसके पीने से शरीर अस्वस्थ रहे । स्तन्य शब्द न देकर स्तन शब्द इसलिये दिया कि दूध पिलाने का कार्य छिपा हुआ हो । किसी को मालूम न हो । यह स्तन्य ऐसे वीर्य<sup>४</sup> वाला था, जो केवल (एक मात्र) परिणाम में ही हानि नहीं करता है, किन्तु (उल्बणं) (क्रूर भी है अर्थात् लेने के समय में ही हानि करने वाला है ।) पूतना ने ऐसा अनर्थ का कार्य भगवान् के साथ क्यों किया ? तो कहते हैं कि वह 'घोर' थी अर्थात् भयानक थी । पूतना के मन में यह विचार आया कि कदाचित् वह दूध न पीवे तो इसलिये उसने लाड़ प्यार करने के लिये अपनी गोदी में ले, बाँये हाथ से भगवान् की पीठ को पकड़ कर झुलाती हिलाती थी और दाहिने हाथ से दूध निकालने के लिये स्तन को दबाती हुई भगवान् के मुख में देने लगी ॥ ९३ ॥

**श्लोकः** — गाढं कराभ्यां भगवान् प्रपीड्य तत् प्राणैः समं रोषसमन्वितोपिबत् ॥ १० ॥

**श्लोकार्थ** — 'पूतना के इस प्रकार स्तन देने पर' भगवान्, क्रोधपूर्वक दोनों हाथों के स्तन को जोर से दबाते हुए, प्राणों के साथ स्तन्य पीने लगे ।

**सुबोधिनी** — अथ तस्याः क्रियासमाप्त्यनन्तरं भिन्न-प्रक्रमेण भगवान् स्तन्यमपिबदित्याह गाढमिति, यथा निर्बन्धेन पाययिष्यामीति यत्नं कृतवती तथा भगवान् स्तन्यमप्यदत्त्वा पलायिष्यतीति निग्रहस्यावश्यकर्तव्यत्वात् कराभ्यां गाढं स्तनं प्रपीड्यापिबदितिसम्बन्धः, एवं निर्भयतया स्तनपानप्रवृत्तौ हेतुमाह भगवानिति, ईश्वरत्वात् स्त्रीमारणदोषः परिहृतः, "पुमान् योषिदुत क्लीब" इतिवाक्याद् वीर्यवत्त्वाज्जीरणादिसामर्थ्यं द्योतितं, यशोवत्त्वादलौकिकचरित्रकरणं, श्रीयुक्तत्वात् प्रकाशान्तरेण मारणं तादृशशोभानाशप्रसङ्गात्, ज्ञानित्वात् तस्या दोषपरिज्ञानेन मारणावश्यकत्वं, वैराग्ययुक्तत्वाद् दैत्यपक्षवधो न बाधकः, एवं तस्या मारणे हेतुषट्कं, गुणैर्धर्मिणा च मोक्षदानं, अन्यथा न पिबेत्, अत एव तस्याः सर्वप्रायश्चित्तार्थं प्राणैः सममपिबत्,

प्राणरक्षार्थं हि तया सर्वं कृतं, प्राणे तु भक्षिते सर्वं भगवदर्पणं भवति, शिशूनां प्राणा अप्यत्र सन्तीति तेषामपि मुक्तिः सूचिता, बहुवचनेन च प्राणपदेनेन्द्रियाण्यपि गृह्यन्ते, ततः सर्वैव सामग्री तदीया पीता भवति, ननु निन्दितपदार्थं भगवान् कथं गृहीतवानपहतपाप्मा हि स तत्राह रोषसमन्वित इति, रोषेण सम्यगन्वितः, यथा तदीयोऽंशो दुष्टो भगवति सम्बद्धो न भवति यथा वा स सर्वोऽप्यंशो दग्धो भवति, भगवान् सर्वसमन्वित इति क्रोधसमन्वितत्वेऽपि न दोषः, पूर्वं रोषसम्बन्धो नास्तीति वक्तुं प्राणैः समं रोषसमन्वित इत्युक्तं, सर्वात्मकत्वात् नासङ्गत्वक्षतिः, न तु तस्या मारणार्थं रोषोपेक्ष्यते, वीर्यस्योक्तत्वात् स्तनद्वारापि प्राणपानं न विरुध्यते, साधनफलरूपा तदीया क्रिया नाशितेति ज्ञापयितुं कराभ्यामित्युक्तम् ॥ १० ॥

**व्याख्यानार्थ —** उसकी क्रिया (दूध पिलाने) के लिये जो कुछ करना था वह पूरी होने के अनन्तर भगवान् दूसरे ढंग से उसके दूध पीने लगे इसका वर्णन 'गाढं' इस श्लोक में करते हैं ।

पूतना आग्रह पूर्वक दूध पिलाने का प्रयत्न करने लगी । भगवान् ने सोचा कि इसको मारना आवश्यक है ऐसा न हो कि दूध पिलाने के बाद भाग जाय, इसलिये दोनों अर्थों से दृढ़ता पूर्वक स्तन को दबा कर (कठोरता से पकड़ कर) दूध पीने लगे । बालक होकर भी, इस प्रकार निडर होकर स्तन पान में प्रवृत्ति का कारण यह है कि आप भगवान् हैं । ईश्वर होने से आपको स्त्री को मारने का दोष भी लगता नहीं है 'पुमान् स्त्री षंड' यह वाक्य ईश्वर होने से लागू नहीं ।

पूतना का दूध दुर्धर विष वाला और उल्बण (क्रूर) लेते ही हानिकारक एवं अपच था, उसको भी पीकर, आपने अपना वीर्य धर्म प्रकट दिखाया, अलौकिक चरित्र कर यश धर्म दिखाया, जिस प्रकार पूतना ने दूध पिलाकर भगवान् को मारना चाहा, उसी प्रकार आपने भी, दूध पीते ही पूतना के प्राण ले लिये । यदि दूसरे प्रकार से मारते तो शोभा नहीं होती । इस चरित्र से, आपने श्रीधर्म प्रकट कर दिखाया । उसमें छिपे हुए दोषों के जानने से, उसको मारना ही आवश्यक जाना, इससे अपना ज्ञानधर्म प्रकट किया । दैन्य पक्ष भी उसके (पूतना के) नाश करने में बाधक हुआ, इससे वैराग्य धर्म दिखलाया । इस प्रकार छः गुणों को प्रकट करने में छः हेतु दिखलाते हुए पूतना को मारा और धर्मी स्वरूप उसको मोक्ष दान दिया । जो भगवान् को यह लीला (पाप-प्रायश्चित्त-मोक्षदान) न करनी होती तो स्तन्य पान न करते । इसलिये ही उसके पापों का सर्व प्रायश्चित्त करने के लिये प्राणों के साथ दूध पिया ।

पूतना ने अब तक जो कुछ किया (बालहरणादि) वह सर्व अपने प्राणों की रक्षा के लिये किया, इसलिये उसके प्राण लेने से, पूतना का सब कुछ भगवान् के अर्पण हो गया (आत्म निवेदन कर दिया) । पूतना में हरण किये हुए बालकों के प्राण भी थे, इससे उनकी भी मुक्ति हो गई ।

श्लोक में 'प्राणैः' बहुवचन दिया है, उसका आशय है कि भगवान् ने न केवल प्राणों को पिया, किन्तु इन्द्रियों को भी, इस कारण से उसका जो कुछ था, सब भगवान् ने चूस लिया (स्वीकार किया) ।

भगवान् ने निन्दित पदार्थों को स्वीकार कैसे किया ? जब कि आप 'अपहतपाप्मा' अर्थात् पाप रहित हैं । इसलिये ही श्लोक में 'रोष समन्वितः' कहा है । भगवान् इस लीला के समय (क्रोध) वाले थे । जिससे उसके दुष्ट अंश का भगवान् से सम्बन्ध न हुआ अथवा वह दुष्ट भाग क्रोध स्पर्श से जल कर भस्म हो गया । भगवान् का तो सर्व सम्बन्ध है कोई वस्तु भगवान् के सम्बन्ध से रहित नहीं है । अतः भगवान् को क्रोध समन्वित होने का कोई दोष नहीं है । भगवान्

में पहले रोष सम्बन्ध नहीं था, इसलिये श्लोक में 'प्राणैः समं रोष समन्वितः' अर्थात् प्राण पान के समय रोष वाले हुए ।

'असंगोऽह्यं पुरुषः' इस श्रुति में भगवान् को असंग कहा गया है तो भी भगवान् सर्वात्मक (सबकी आत्मा) होने से रोष युक्त होने में कोई हानि नहीं है । उसके (पूतना के) मारने के लिये भी रोष की अपेक्षा न थी, किन्तु लीला के कारण रोष का दिखावा किया । क्योंकि आपने वीर्य गुण प्रकट किया था । अतः स्तन द्वारा प्राण पान करने में कोई विरोध नहीं ।

'कर' शब्द श्लोक में द्विवचन दिया है भगवान् ने पूतना के स्तन को दोनों हाथों से पकड़ा (दबाया) इसका आशय बताते हैं कि, भगवान् ने पूतना की साधन रूप एवं फल रूप दोनों क्रियाओं का नाश किया ॥ १० ॥

**श्लोकः —**सामुञ्जमुञ्जालमितिप्रभाषिणी निष्पीड्यमानाखिलजीवमर्मणि ।

विवृत्य नेत्रे चरणौ भुजौ मुहुः प्रस्विन्नगात्रा क्षिपती रुरोद ह ॥ ११ ॥

**श्लोकार्थ —** प्रत्येक मर्म स्थानों में पीड़ित हुई वह (पूतना) 'छोड़ दे छोड़ दे अब बस' ऐसा कहती हुई आँखें फाड़ कर, बार बार हाथ-पैर पछाड़ती पसीने से भरे शरीर वाली जोर से रोने लगी ।

**सुबोधिनी —** अतो भगवता पेपीयमाने स्तने तत्र स्थितो भगवान् मायारूपोपि भगवत्येव प्रविष्टः, तत्सङ्ग आधिदैविको पूतनापि भगवति प्रविष्टः, आध्यात्मिक्यास्तु कृत्यमाह सा मुञ्जमुञ्जेति, सा पूर्वमेवं निर्बन्धयुक्तापि भगवता निष्पीडिता तदानीमपि भगवत्स्वरूपमज्ञात्वा वचनत्रयमुक्तवती मुञ्जमुञ्जालमिति, यथा प्राकृते बालके पेपीयमाने च स्तनव्यथायां मुञ्जेत्युच्यते, अतिव्यथायां पुनः, पुनर्बालकस्य क्षुन्नवृत्तेति ज्ञात्वास्मिन्त्याह, बालो हि स्वबुद्ध्या पूर्णतां न जानात्यन्योक्तं च गृह्यत आह, अन्तःस्थितो दुष्टभावो गतः, तेन लौकिकभाषोक्ता, मात्रोश्च परिज्ञानार्थं गतेपि प्राणे भगवत्सम्बन्धस्य विद्यमानत्वात् प्राणवत्या एव तस्याश्लेषमाहे-तिप्रभाषिणीति, "भगवान् कराभ्यां प्रपीड्ये" ति यदुक्तं तद् बालकेन स्तने मर्दनं पीडाजनकं न भविष्यती-

त्याशङ्क्याहाखिलजीवमर्मणि निष्पीड्यमानेति, जीवस्य मर्मस्थानानि बहूनि यत्र प्रहारेण जीवो गच्छति, अखिल एव जीवमर्मणिमर्मस्थाने नितरां पीड्यमाने सति, निष्पीड्यमाना वा, वस्तुतस्त्यखिलेत्युक्त्वा मर्मणीत्येकवचनं यदुक्तं तेनाखिलपदं जीवविशेषणमेव, तथा च तया स्वस्मिन्नानीता ये बालकानां जीवास्ते स्वजीवमर्मस्थाने स्थापिताः सन्तीति तान् स्वस्मिन्नानेतुं भगवांस्तन्निष्पीडनमेव कृतवानित्यभिप्रेतोर्थः, बालकद्रोहाज्ञायां भगवानेव निमित्तमिति तादृशानां स्वस्मिन्नानयनमावश्यकमिति तथा, अत एव बाललीलारसं ताननुभावयन् मृत्स्नामप्यनुभावितवानत एव "नाहं भक्षितवानि" ति वचनं सत्यं, अत एव तस्या उसो भगवत्कीडायोग्यतापि भक्तानां तत्र स्थितिरसीद्यतः एत एव व्रतप्रसङ्गे च "वयस्यै" रितिपदेन वक्ष्यन्ते, तदातिव्यथया

प्रकाश १०-६-१० — पूतना अविद्या का आधिदैविक रूप श्रवणादि से नाश होने वाला न होने के कारण भगवान् ही उसको नाश करने में समर्थ थे इसलिये भगवान् ने उसको मारा, उसको अपने में समा लिय (मोक्ष) दिया ।

यह भगवान् है ऐसा जानकर भी उसकी रक्षा क्यों की ? इसका समाधान करते हैं कि श्लोक में 'बाल' शब्द देकर यह बतलाया है कि भगवान् होते हुए भी, लोक की तरह लीला करने के लिये, बाल भाव से प्रकट हुए हैं, इसलिये जैसे अन्य उपचार<sup>१</sup> किये जाते हैं वैसे ही यह रक्षा भी कर्त्तव्य है । श्लोक में दिये हुए 'सर्वतः' शब्द का आशय बताते हैं कि अन्दर, बाहर किसी भी तरह थोड़ासा भी अनिष्ट<sup>२</sup> न हो इस प्रकार मन्त्रों आदि द्वारा रक्षा करने लगीं । श्लोक में दिये 'सम्यक्' का भावार्थ बताते हैं कि आधिदैविक प्रकार से उस देवता को वहाँ स्थापित कर रक्षा की । पहले दैत्य सम्बन्ध से, चारों तरफ विद्यमान<sup>३</sup> आधिभौतिकादि तीन दोष<sup>४</sup> गौ पूँछ आदि फिरने से निवृत्त<sup>५</sup> किये । आधिभौतिक अनिष्ट, तीर्थ स्नान आदि से नष्ट होते हैं । अतः गोपुच्छ फिरये, क्योंकि शास्त्रों में कहा है कि 'गवां पुच्छेषु तीर्थानि सन्ति' गौओं की पुच्छों में तीर्थ रहते हैं । उनके फिरते हुए मन्त्र से, उसमें (पुच्छ में) स्थित तीर्थ, बालक के चारों तरफ अर्थात् शरीर में प्रविष्ट होते हैं जिससे आधिभौतिक अशुभ निवृत्त हो जाते हैं । आदि शब्द से, मन्त्र और ध्यान आध्यात्मिक और आधिदैविक को भी निवृत्त कर देते हैं ।

**श्लोकः — गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोरजसार्भकम् ।**

**रक्षां चक्रुः सशकृता द्वादशाङ्गेषु नामभिः ॥ २० ॥**

**श्लोकार्थ —** गोपियों ने बालक को गो-मूत्र से नहला कर, फिर गोरज से नहलाके गोबर और गौ के खुरों की रज से भगवान् के नाम लेते हुए द्वादश अंगों की रक्षा की ।

**सुबोधिनी —** एवमेकप्रकारेण बाह्यतो रक्षा कृता लोकसिद्धा परम्परया प्राप्ता, आर्षज्ञानेनापि सिद्धां रक्षामाह गोमूत्रेणेति, बालकं तथैव गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गवामागतानां सम्मुखं खुरेद्धतरजसा स्नापयित्वा, आर्दे शरीरं रजः सर्वत्र सम्बद्धं भवतीति पुनःस्नापनं, ननु कथं भगवति संस्कारः क्रियन्त इत्याशङ्क्याहार्भकमिति, पूर्व केवलमन्त्रेण कृता रक्षा, इदानीं सद्व्येणेति रक्षायां विशेषः,

सशकृता गोरजसेति गोमयेन सहिता गोखुरमृत्तिका पुनरङ्गेषु स्थापिता, द्वादशाङ्गानि भवन्ति पुरुषे "द्वे सक्था" वित्यादिश्रुतेः, स्मार्तानि वा, "ललाटं बाहुभूले च हृदयं नाभिपाशकं कण्ठः, स्कन्धौ कटिर्मूर्धा स्तनौ चेति विदुर्बुधाः" नामभिः के शवनारायणमाधवगोविन्दविष्णुमधुसूदनत्रिविक्रमवामन श्रीधरहृषीकेशपद्मनाभदामोदरेति ॥ २० ॥

**व्याख्यार्थ —** लौकिक परम्परा से चली आई रीति से बाहिरी रक्षा की । अब आर्ष (ऋषियों के) ज्ञान से सिद्ध (प्राप्त) रीति से की हुई रक्षा का वर्णन 'गोमूत्रेण' इस श्लोक से करते हैं ।

स्थित कर के उनको बाललीला रस (मिट्टी खाने) का अनुभव कराने के वास्ते ही आपने अपने मुख द्वारा उनको मिट्टी खिलाई। इसलिये अपनी माता को कहा कि 'मैया मैंने मिट्टी नाहि खाई' यह आपका कहना तभी तो सत्य है। इस प्रकार पूतना से मारे हुए भक्त बालक, पूतना के हृदय में थे, इसलिये ही पूतना की छाती भगवान् के क्रीड़ास्थल के योग्य थी। ये ही बालक, व्रतचर्या के प्रसंग में 'वयस्यैः' पद से वर्णन करेंगे। तब अत्यन्त पीड़ित होने से कुछ बोल न सकी। आंखें फाड़कर, हाथ-पैर उलटे-सुलटे, जहाँ-तहाँ फैलाकर, पसीने से भीगें हुए शरीर वाली रोने लगी। जोर से रोने का शब्द करने लगी। श्लोक में दिये हुए 'ह' अक्षर से भगवान् का माहात्म्य बताया है, जैसे कि छोटे बालक के खेल (स्पर्श) से उसके भीतर कठोर पीड़ा होना आश्चर्यजनक है, किन्तु यह भगवान् का पराक्रम एवं माहात्म्य है। आकर्षण शक्ति वाले, वायु में प्रवेश कर

लेख - १०-६-११ - भगवान् के श्रीअङ्ग के सङ्ग (स्पर्श) से पूतना का समग्र शरीर (देह इन्द्रियादि) आधिदैविक (अलौकिक) हो गया इसलिये उसने (आधिदैविक पूतना ने) भगवान् में प्रवेश पाया। श्रीकृष्णावतार होगा तब 'सम्पद्याविर्भाव स्वेन शब्दात्' इस सूत्र के अनुसार 'पूतना' भी जन्मेगी, क्योंकि लीला के उपयोगी अलौकिक देहेन्द्रियादि पदार्थ, नित्य भगवान् में निवास करते हैं। इसलिये भूतल पर लीला धारी लीलार्थ प्रकट होते हैं, और लीला कार्य सम्पूर्ण होने पर भगवान् में ही प्रवेश करते हैं। जिन की मुक्ति नहीं, वे प्रकृति में स्थित होते हैं।

आध्यात्मिक पूतना का स्वरूप - पूतना की लौकिक इन्द्रियाँ और प्राणों को आध्यात्मिक पूतना कहा जाता है।

आधिभौतिक पूतना का स्वरूप - पूतना के लौकिक देहमात्र को आधिभौतिक पूतना कहा जाता है।

प्रकाश - व्याख्या में 'अखिल' शब्द जीव शब्द का विशेषण क्यों कहा है। उसको स्पष्ट कर समझाते हैं कि भगवान् के जन्म के दूसरे दिन को हुई, कंस की मन्त्रणानुसार 'पूतना' भी गाँव आदि में बालकों को मारती छठे दिन गोकुल में आई। भगवान् को दूध पिलाने से पहले, जितने बालक मारे थे, उनके जीव सहित प्राण, पूतना के मर्म स्थानों में स्थित थे। उन बालकों के 'जीव' लिङ्ग देह सहित यम गति को प्राप्त क्यों न हुए? एवं साधनाध्याय व प्रथम पाद में जैसे उत्पत्ति क्रम है, तैसे इनकी उत्पत्ति हो जाती। इस शङ्का का निवारण (समाधान) करते हैं कि ये जीव भगवन्नीलोपयोगी थे, इसलिये भगवान् की इनके साथ ही लीलाएँ करने की मूल इच्छा थी, इस मूल भगवदिच्छा के कारण ही ये पूतना के मर्म स्थानों में प्रविष्ट हुए। इसलिये यहाँ 'अखिल' शब्द 'जीव' का विशेषण है। आधिदैविक पूतना ने उनको अपने मर्म स्थानों में रख लिया। मर्म स्थान स्थित उन बालकों को अपने में स्थित करने के लिये हि भगवान् ने यह लीला की अर्थात् खेल किया।

योजना - आधिदैविकी पूतना ने जो बालक अपने साथ लायी थी जिनको साथ ले भगवान् क्रीड़ा करेंगे वे बालक कौन थे? लीलोपयोगी कैसे हुए? इसका स्पष्टीकरण योजनाकार करते हैं कि रामावतार में दण्डकारण्यवासी ऋषियों को, श्रीरामचन्द्र के रूप लावण्य देख, स्त्री भाव उत्पन्न हुआ। इन ऋषियों के, पुम्भाव का तो बालक रूप से, व्रज में जन्म हुआ और स्त्री भाव का कन्या रूप से गौड़ देश में जन्म हुआ। उन बालकों को मार उनके प्राण पूतना ने अपने मर्म स्थान में छिपाकर रखे थे, उनको भगवान् ने पूतना के दूध पान करते हुए अपने में स्थित किया। जैसे चतुर वैद्य विषैली वस्तुओं को शोधकर, उनका विष निकाल, उन्हें



ही भगवान् ने यह लीला की, इससे वीर्य दिखलाया । नेत्र सात्विक थे, हाथ-पैर राजस थे और शरीर तामस था यों तीन गुणों से दी हुई पीड़ा का निरूपण किया है । रजोगुण दोनों (सात्विक-तामस) गुणों के बीच में आने के कारण दोनों से मिला हुआ है इससे उसका दो स्थानों से (हाथ-पैर) से सम्बन्ध बताया है । निकलने के समय प्राणों की कठोर आवाज (रोदन) हुआ उससे आकृष्ट (खींचे हुये) ही प्राण भगवान् ने खींच लिये यह जताया ॥ ११ ॥

**श्लोक: — तस्याः स्वनेनातिगभीरंहसा साद्रिर्मही द्यौश्च चचाल सग्रहा ।**

**रसा दिशश्च प्रतिनेदिरे जनाः पेतुः क्षितौ वज्रनिपातशंकया ॥ १२ ॥**

**श्लोकार्थ —** अति गंभीर वेग वाले उस पूतना के शब्द से पर्वतों सहित पृथ्वी और प्रहों सहित आकाश चलायमान हुआ । रसातल (पाताल) एवं दिशाओं में परछन्द उठने लगे, वज्रपात होने की शंका से मनुष्य पृथ्वी पर गिर पड़े ।

निर्विष कर, शुद्ध करता है वैसे ही उन ऋषियों का लीला में प्रतिबन्धक, पुष्पाव रूप दोष, आधिदैविक पूतना के सङ्ग से नष्ट हो गया । जो रमण योग्य स्वतन्त्रता प्रागल्भ्य (चतुर्गुण) आदि गुण, वे तो उनमें वैसे ही रक्खे गये । अनन्तर भगवान् ने अपने चरण स्पृष्ट मिट्टी एवं प्रसादी दूध मक्खन आदि खिलाकर उनको लीलाधिकारी बना दिया । चौरहरण लीला के समय में, वस्त्र दान के साथ, उन पुष्पाव रूप भक्त बालकों को कुमारिकाओं में प्रवेश कराएँगे\* । इससे प्रागल्भ्य स्वातन्त्र्यादि गुण रूप, पुष्पाववाली कुमारिकाएँ, उसोत्सव में भगवान् के साथ पुष्पाव से भी रमण करेंगी ।

पुष्पाव मन का धर्म है, वह बालक एवं शरीर वाला कैसे हुआ ? इस शङ्का का निवारण करते हैं कि क्रोध भी मनोधर्म है परन्तु उसका भी शरीर वाला होना तृतीय स्कन्ध में 'क्रोधै.....कुमारेनील लोहितः' इस श्लोक में लिखा है ऐसे अन्य भी । इसलिये यह शङ्का निर्मूल है । इस प्रकार यह भी समझना कि जैसे क्रोधादि आधिदैविक थे वैसे ही यहाँ पुष्पाव भी आधिदैविक था ।

इस श्लोक का वाक्यार्थ आध्यात्मिक पूतना का 'मरण' है ।

उसको 'निर्गमन.....महान् घोषः' (प्राणों के निकलने के काल में भयंकर आवाज हुई) से कहा है । घोर शब्द का कारण बताते हैं कि पूतना के अपने प्राण न निकले, इसलिये अपनी तरफ उनको खींचे और भगवान् ने अपनी तरफ उसे खींचा । इस प्रकार खींचा तानी के कारण पूतना से प्राणों के निकलने की भयानक आवाज हुई ।

लेख — 'आकर्षण शक्ति' भगवान् का आकर्षण ही, वायु की स्वरूप भूत आत्मा (शक्ति) होने से, भगवान् ने उस वायु में प्रविष्ट हो, पूतना के प्राण खींचे । खींचना क्रिया वायु द्वारा होती है ।

योजना — पूतना क्यों रोई ? इसका स्पष्टीकरण योजना में लालूभट्टजी करते हैं कि भगवान् एवं पूतना ने अपनी अपनी तरफ प्राणों के खींचने का जो कार्य किया उसमें पूतना हार गई इसलिये पूतना रोने लगी ।

\* इससे दण्डकारण्यवासो ऋषियों के दोनों भाव स्त्री भाव पुष्पाव मिलकर एकत्र स्थित हुए ।

सुबोधिनी — भगवतो माहात्म्यं शृङ्गग्राहिकया प्रदर्शयिष्यन् भगवदाकृष्यमाणप्राणकृतस्वनस्य माहात्म्यमाह तस्याः स्वनेनेति, शब्दस्त्वमूर्तो मूर्तकार्यं चेत् कुर्यात् तदालौकिकं भवति, चरणाघातेन हि कम्पो भवति, शब्देनैव तथा जातमित्याह मही द्यौश्च चचालेति, तत्तदधिष्ठतृदेवतानां भीतत्वात् कम्प इति केचित्, पुरुषोत्तमस्य वीर्यमवतारणामपि वीर्यादधिकमिति ज्ञापयितुं ब्रह्माण्डविग्रहस्य पुरुषस्यापि स्वनेन कम्पो जात इत्युच्यते, एकदैव सर्वत्र कम्पजनने हेतुरतिगंभीरं ह्येति, अत्यन्तगंभीरमधस्तदलविदारणसमर्थमु-परिस्थितमञ्जनसमर्थं च रहो वेगो यस्य तेन, पर्वतसहिता पृथिवी, ग्रहनक्षत्रादिसहिता द्यौः चकाशत् तदुपरितना लोकाः, पर्वतानां महत्त्वात् स्थिरत्वात् कम्पाभावमा-

शंक्यादिसहितेत्युक्तं, ग्रहाणां भ्रमके ध्रुवे प्रतिष्ठितानां चलनाभावमाशंक्य सग्रहेति उभयोरुभयं वरप्राप्तं च "नक्षत्रविहिताहं चित्रविहिताहं" मिति श्रुतेः, पाताल-दिशामसम्बन्धाद् दूरस्थितत्वाच्चलनाभावमाशंक्याह रसा दिशश्चेति, तासामपि चलनं प्रतिस्वनजननं चाधिकं, तत्रत्यानां तु न किञ्चिदवशिष्टमित्याह जनाः पेतुः क्षिताविति, ननु कम्प उपपत्तिरुक्ता देवताभयात् पुरुषभयादिति जनानां विवेकधैर्यादियुक्तानां पाते को हेतुरिति चेत् तत्राह वज्रनिपातशंकयेति, वज्र एव पतितः क्वचित् पतिष्यति वा तेन भयदेव पातः, विवेकेनापि पातः सम्भवति, उच्चैः स्थिते तस्य तेजोसहमानो वज्रस्तं मारयेदिति ॥ १२ ॥

व्याख्यानार्थ — सींग के समान ग्रहण करने वाली ध्वनि से, भगवान् का माहात्म्य दिखाते हुए, भगवान् द्वारा खींचे हुए पूतना के प्राणों से उठे हुए शब्दों का माहात्म्य, इस 'तस्यास्वने' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

निराकार शब्द, जब साकार जैसा कार्य करे, तब वह अलौकिक होता है चरण आदि के चोट से ही कम्पन होता है, वह कम्पन, यहाँ, शब्द से हुआ बताने के लिये, श्लोक में पर्वतों सहित पृथ्वी और ग्रहों सहित आकाश में, कम्पन होने का वर्णन किया है । कोई कहते हैं कि पर्वत आदिकों के अधिष्ठाता देवों के डर जाने के कारण इन्हीं में कम्पन हुआ है । ब्रह्माण्ड विग्रह पुरुष को भी, इस शब्द से कम्पन हुआ, इससे यह बताया कि पुरुषोत्तम का वीर्य (पराक्रम) अवतारों के वीर्य से विशेष है । एक ही समय में सब ठिकाने, कम्प का कारण बताने के लिये कहा कि पूतना का शब्द अति गंभीर वेग वाला था । ऐसा होने का कारण, उसमें इतनी शक्ति थी, जो अति गंभीर होने से, नीचे के भाग (पर्वत-पृथ्वी) के विदारण (चीरने, पृथक्, टुकड़े करने) में समर्थ था एवं वेग वाले होने से ऊपर के भाग (आकाश-तारागण) को डुबाने में समर्थ था । श्लोक में दिये हुए, 'च' शब्द से इसके ऊपर के लोक समझने, अर्थात् उनमें भी कम्पादि हुआ । पर्वत बड़े और स्थिर होने से, उनमें कम्प कैसे हुआ होगा, इसलिये श्लोक में पृथ्वी सहित पहाड़ों में कम्प हुआ लिखा है । इसी प्रकार ग्रहों का चक्र ध्रुव में स्थित होने से, उनमें भी कम्प कैसे हुआ होगा । इसलिये कहा कि, ग्रहों सहित आकाश चलायमान हुआ । पर्वतों सहित पृथ्वी, ग्रहों सहित आकाश का चलायमान क्यों हुआ उनका प्रमाण देकर स्पष्टीकरण करते हैं कि दोनों ने वर प्राप्त किये हैं जैसा कि 'नक्षत्रविहिताऽहं चित्रविहिताऽहं'। इस श्रुति में कहा है, कि आकाश ने यह वर प्राप्त किया है, कि मैं सदैव तारागणों से सुसम्पन्न (सुशोभित) रहूँ एवं

पृथ्वी ने भी वर लिया है कि मैं सदैव अनेक प्रकार के पदार्थों से सुसम्पन्न रहूँ । इस कारण इनका कम्प साथ में ही हुआ लिखा है । पाताल और दिशाओं का सम्बन्ध न होने से और दूर होने से उनमें कम्प तो हुआ होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि श्लोक में पाताल और दिशाओं का 'च' देकर भिन्नता बता कर, यह जताया है कि उनमें भिन्न कम्प हुआ एवं दूर होने के कारण उनमें कम्प शब्द की प्रतिध्वनि से हुआ । सब में कम्प हुआ कोई शेष बचा नहीं । शेष मनुष्यों के लिये कहा कि वे पृथ्वी पर गिर पड़े । यहाँ शङ्का करते हैं कि दूसरों में (पृथ्वी आकाशादि में) कम्प तो देवता भय से वा पुरुष भय से हुआ, किन्तु विवेक और धैर्य वाले मनुष्य पृथ्वी पर क्यों गिरे ? इस शङ्का के निवारण के लिये श्लोक में कहा है कि मनुष्य इसलिये गिरे, कि उनको वज्र के गिरने का भय हुआ, उस भय से मनुष्य गिरे । विचार से भी पात हुआ क्योंकि वे ऊँचे स्थित थे, उन्होंने विचार कि वज्र गिरेगा तो उसका तेज हम सहन न कर सकेंगे तो हमारी मृत्यु होगी, इससे भी वे गिरे ॥ १२ ॥

**श्लोकः — निशाचरीत्यं व्यथितस्तना व्यसुर्व्यादाय केशांश्चरणौ भुजावपि ।**

**प्रसार्य गोष्ठे निजरूपमास्थिता वज्राहतो वृत्र इवापतन्नृप ॥ १३ ॥**

**श्लोकार्थ —** इस प्रकार स्तनों की व्यथा से पीड़ित राक्षसी मरने के समय, अपना असली रूप पाकर, वज्र से मरे हुए वृत्रासुर के समान, गिर गई । (उस समय) उसका मुंह फट गया, केश बिखर गये, हाथ-पैर लंबे फैल गये ।

**सुबोधिनी —** एवं स्वनकृतकार्येण वीर्यमाहात्म्य-  
मुक्त्वा भगवदाकृष्टानां प्राणानां पुनरुत्तिमाशङ्क्य तत् परिहरन्  
पूतनायाः सर्वजनीनं मरणमाह निशाचरीति, इत्थं व्यथितस्तना  
व्यसुर्भूत्वापतत्, निशाचरीति कठिनप्राणत्वं निरूपितं,  
तादृश्याः शीघ्रं प्राणपरित्याग आश्चर्यहेतुर्भवति, राक्षसाः व्यथां  
महतोमपि सहन्ते, तादृश्यपीत्यं व्यथितस्तना जाता, येन  
साङ्गे सम्पूर्ण एव शरीरं महान् क्षोभो जातः, ततः प्राणानपि  
त्यक्तवती, प्राणत्यागोपि वैकल्यात्, तदाह व्यादाय मुखं  
केशांश्चरणौ भुजावपि प्रसार्य गोष्ठे वीरवदभूमावपि  
कृत्रिमरूपग्रहणकारणाभावाद् भगवत्सम्बन्धेन कृतार्थ-  
त्वान्निजरूपमास्थितापतत्, तस्याः स्वरूपमत्यन्तं स्थूलं

सर्वोपद्रवकारीति दृष्टान्तेनाह वृत्र इवेति, वृत्रः स्वेच्छयापि  
पतति ततः पुनरुत्थानं भवेदिति वज्राहत इत्युक्तं, नृपेति सम्बोधनं  
महत्त्वेन विश्वासार्थं, मुखव्यादानादिकं प्राणोत्क्रमणार्थं न  
भवति किन्तु नाडीनां वायुवशादाकर्षे तथा सर्ववैश्या,  
मुखव्यादानेनैव देहक्लेशो निरूपितः, आदिमध्यावसानेषु क्लेशो  
जात इति वक्तुं केशचरणभुजानां ग्रहणं, प्रसारणं  
सत्त्वपरित्यागेन मुक्तिसूचकं, निजरूपं राक्षसं रूपं, यथा वृत्रे  
हते त्रयो लोकाः स्वस्थास्तथापूतनावधे जाता इति,  
एवमाध्यात्मिकपूतनायाः मरणमुक्तं, आधिभौतिक्या भूमौ  
पातः ॥ १३ ॥

व्याख्यानार्थ — इस प्रकार पूतना की भारी आवाज से हुए कार्य से भगवान् के पराक्रम का माहात्म्य कहा, पूतना के प्राण पूतना में फिर आने की शंका मिटाने के लिये, सम्पूर्ण मरण का वर्णन, इस श्लोक में 'निशाचरी' से करते हैं ।

इस तरह, स्तनों की व्यथा से व्याकुल वह प्राण रहित हो गिर गई । रक्षसी शब्द से बताया कि रक्षसों के प्राण कठिन होने से शीघ्र नहीं निकलते हैं परन्तु रक्षसी होते हुए भी उसके प्राण शीघ्र निकलना आश्चर्यजनक है । रक्षस तो घोर पीड़ा भी सहन कर सकते हैं, किन्तु भगवान् द्वारा स्तन पकड़ने से, इतनी घोर पीड़ा हुई कि वह रक्षसी होते हुए भी स्तन पीड़ा से व्यथित (दुःखित) हुई, जिससे शरीर के प्रत्येक अंग में घबराहट हुई, ऐसी अवस्था में उसने प्राणों को भी छोड़ दिया । घबराहट के कारण, प्राण छोड़ने से मुख खुल गया, बाल बिखर गये और हाथ-पैर फैल गये । मायारूप भगवान् न होने से, बनावटी रूप न रहा; भगवान् के सम्बन्ध से कृतार्थ हो उसने असली रूप पाया । वीर की तरह अभूमि (बिना वीरों वाली पृथ्वी<sup>१</sup>) पर अर्थात् गोष्ठ<sup>२</sup> में गिर गई । इसका स्वरूप असीमित स्थूल सबको उपद्रव हानि करने वाला है, यहाँ वृत्रासुर का दृष्टान्त देकर यह समझाया है कि वृत्र अपनी इच्छा से गिरकर, फिर उठा था इसलिये वज्र से मारे हुए वृत्र का दृष्टान्त देकर यह बताया कि यह भी वैसे ही गिरी जैसे वज्र से मारा हुआ वृत्र गिर कर फिर न उठ सका, तैसे इसमें फिर प्राण न आये । 'नृप' शब्द का भावार्थ है कि आप महान् हो और श्रद्धालु हो इसलिये इस चरित्र को सदरूप से समझोगे ।

प्राणों के उत्क्रमण (निकलने) से मुख खुलना आदि क्रिया न हुई थी, किन्तु वायु द्वारा नाड़ियों के आकर्षण<sup>३</sup> (खींचने) से यह सब चेष्टा हुई थी । मुख खुल जाने से ही देह क्लेश होना बताया । केश, चरण और भुजाओं के स्वरूप के वर्णन से बताया कि उसको तीनों — प्रथम, मध्य और अन्त के कालों में क्लेश हुआ । प्रसारण (फैलाना) शब्द से सतोगुण से प्राण परित्याग बता कर, मुक्ति का सूचन किया अर्थात् पूतना की मुक्ति हुई । निज रूप अर्थात् रक्षस रूप (छोड़ा) जैसे वृत्र के मरने पर तीनों लोक सुखी हुए तैसे ही पूतना के मरने से भी सब प्रसन्न

प्रकाश —

- १ — जहाँ गौ बांधी जाती है, गौशालाएँ (बाड़े) अथवा जिस पृथ्वी पर, वीरों को नहीं गिरना चाहिये ।
- २ — गोष्ठ बिना वीरों वाली क्यों, उसका कारण प्रकाशकार बताते हैं कि छोटे बड़े सब गोप गौ और बछड़ों को चराने वन में गये थे इसलिये पुरुषादि (वीर) रहित, गोकुल में गिरी । — प्रकाश
- ३ — प्राण तो भगवान् ने स्तन्य पान के साथ खींच लिये थे, आधिदैविकी तो उसकी वही प्रभु में प्रविष्ट हुई, शेष आध्यात्मिक और आधिभौतिक के लिये आगे पढ़िये ।

हुए । इस प्रकार आध्यात्मिक पूतना<sup>१</sup> के मरण का (भगवान् में प्रविष्ट होने का) वर्णन किया । आधिभौतिक पूतना पृथ्वी पर गिरी ॥ १३ ॥

**कारिका — साधारणस्थितिलोके पूर्वाध्याये निवारिता ।**

**अविद्यापूतना नष्टा गन्धमात्रावशेषिता ॥ १ ॥**

**कारिकार्थ —** पूर्व (अगले पांचवे) अध्याय में यह बताया है कि लोक में गोकुल की स्थिति साधारण (मामूली) नहीं थी, कारण कि वहाँ नन्द-महोत्सव से हर्ष था और उत्पात से खेद था, अविद्या रूप पूतना का नाश हुआ किन्तु केवल उसकी गन्ध रही ।

व्रजवासियों, साधारण गोपियों एवं माताओं के भाव बताए । इससे ही आगे 'सन्तत्रसुः' श्लोक १७, १८ आदि में गोपियां डर गईं, तो भी श्रीकृष्ण को शीघ्र ले लिया और उसकी सर्व प्रकार से रक्षा की । श्रीकृष्ण में आसक्ति और प्रपञ्च का भूलना ही निरोध कहा जाता है ।

प्रकाश १०-६-१३ —

१ — भगवान् में आधिदैविक पूतना के प्रवेश का पहले वर्णन हो चुका है, यहाँ वर्णन है उस आध्यात्मिक पूतना के लिंग शरीर सहित प्राण एवं इन्द्रियादिक का — जो भगवान् में अब प्रविष्ट हुए और शेष, पूतना का आधिभौतिक शरीर पृथ्वी पर गिरा ।

टिप्पणी — भगवान् के पधारने पर तो गोकुल में सर्व प्रकार से उत्कृष्टता<sup>२</sup> का वर्णन करना चाहिये था न कि उपद्रवों का । इसका समाधान करते हैं कि उत्कर्ष दो प्रकार का होता है — एक लौकिक दूसरा अलौकिक । लौकिक उत्कर्ष पिछले (पांचवे) अध्याय में नन्दमहोत्सव से बताया है कि ऐसा उत्सवानन्द दूसरे स्थान में नहीं हुआ एवं वहाँ उत्पात होने के कारण ही गोकुल की साधारण स्थिति कही गई है । इससे लौकिक उत्कर्ष कहा गया । अब अविद्या पूतना से गोकुल का अलौकिक उत्कर्ष बताते हैं ।

यहाँ यह भाव है — वह (अविद्या) स्वरूपाज्ञान<sup>३</sup>, देहाध्यास<sup>४</sup>, इन्द्रियाध्यास<sup>५</sup>, प्राणाध्यास<sup>६</sup>, अन्तःकरणाध्यास<sup>७</sup> रूप होने से पञ्च पर्वी (पांच अंग वाली) कही जाती है । उसके एक एक अङ्ग के प्रभाव का वर्णन करते हैं ।

१ — स्वरूप विस्मृति — पूतना के प्रभा (तेज) से माताएँ देखती ही रह गईं, क्योंकि माताओं को पूतना (अविद्या) के तेज से अपने स्वरूप की विस्मृति हो गई अर्थात् उन्होंने अपने को माताएँ नहीं समझा । इससे पूतना को रोका नहीं । अब पूतना (अविद्या) के नाश होने पर, जब माताओं को अपने स्वरूप का ज्ञान हुआ तब उन्हें ज्ञात हुआ कि हमारे चुप रहने पर इस (पूतना राक्षसी) ने ऐसे ऐसे कार्य

कारिका — अतः परं निरोधस्तु गोकुले सुगमो भवेत् ।

प्रपञ्चविस्मृतिः सा हि कृष्णासक्तिसमन्विता ॥ २ ॥

कारिकार्थ — अब (पूतना के मरने के अनन्तर) गोकुल में ब्रजवासी (भक्तों) का ध सरल रीति से होगा । क्योंकि ब्रजवासियों को भगवान् कृष्ण में आसक्ति एवं प्रपञ्च मृति (निरोध रूप) होने लगी है ।

किये इसलिये अब हम इस (पुत्र) की रक्षा में सावधान रहेंगी, जिससे दूसरी कोई भी ऐसी स्त्री यहाँ आ न सके, माताओं के ऐसे दृढ़ विचार हुए । मातृत्व धर्म जैसा होता है वैसा धर्म हृदय में प्रगट हुआ । इससे यह बताया कि इस प्रकार भगवान् ने अविद्यारूप पूतना को मार कर माताओं को निरोध रूप 'सर्व स्वरूप स्मृति' कराई ।

२ — देहाध्यास — भगवान् की रक्षा के लिए स्थापित गोप भी, पूतना के श्रीरूप पर मोहित हो कर, देहाध्यास के कारण अपना स्वरूप भूल गये, जिससे उन्होंने भी पूतना को आने से रोका नहीं । पूतना (अविद्या) के नाश होने पर, वे भी अपनी भूल समझने लगे और भगवान् की रक्षा में तत्पर हुए । इस प्रकार गोपों की भी स्वरूप स्मृति रूप निरोध सिद्ध हुआ । गोपों में अविद्या (पूतना) के संयोग के कारण देहाध्यास (हम पुरुष हैं) प्रबल हुआ था, जिससे वे पूतना के स्त्री रूप पर मोहित हुए और उसको रोकने में असमर्थ हुए ।

३ — इन्द्रियाध्यास — पूतना की सुन्दरता (शोभा) तथा बेनी में गूँथे हुए मल्लिकादि पुष्पों से गोपों का मन मोहित हो गया यह इन्द्रियाध्यास गोपों को हुआ जिससे भी पूतना को रोकने की क्रिया न कर सके ।

४ — प्राणाध्यास — गोपों को जब वज्र के गिरने की आशङ्का हुई, तब उनका कर्तव्य था कि श्रीकृष्ण कहाँ है ? किस स्थिति में है ? यह विचार कर कृष्ण हो दौड़ना चाहिए था । ऐसा न कर अपने प्राणों को बचाने के लिये गिर पड़े, गोपों ने यह कार्य प्राणाध्यास के कारण किया अर्थात् पूतना के दृष्टि द्वारा अविद्या उनके भीतर घुस कर, उन में 'प्राणाध्यास' उत्पन्न किया, जिससे वे कृष्ण की चिन्ता न कर, अपने प्राणों की चिन्ता करने लगे ।

अन्तःकरणाध्यास — गोपिकाओं के अन्तःकरण में भगवत्सम्बन्ध होते हुए भी पूतना के रूप को लक्ष्मी रूप समझा, जो न रोका, उसका कारण अन्तःकरणाध्यास था ।

पूतना के जीते हुए उसके प्रभाव से, स्वरूप विस्मृति एवं देहाध्यासादि कारणों से सब शान्त रहे, अर्थात् रोका नहीं और अविद्या के कारण, इसके परिणाम का विचार ही न हुआ । पूतना के मरने के पश्चात् ज्ञान हुआ कि हमारे शान्त रहने से हमारा ही भगवत्सम्बन्धी अनिष्ट होता । जैसे जैसे, अपने प्यारे प्रीतम को पाकर पछताते हुए कहने लगे कि आगे के लिये हमको भगवद् रक्षा में सावधानी से रहना चाहिए । इसलिये ठीक ही कहा है 'अविद्या पूतना नष्टा' अविद्या रूप पूतना का नाश हुआ, अब 'निरोध' सरल रीति से होगा ।

इस प्रकार पूतना के वध का वर्णन कर, अब यदि किसी के हृदय में यह शंका उत्पन्न होवे कि भगवान् ने व्यर्थ में एक स्त्री को मार दिया, तो उस शंका को मिटाने के लिये नीचे के 'पतमानोऽपि' श्लोक से कहते हैं कि उस मरी हुई (पूतना) की देह भी कैसी महत्त्व वाली है।

श्लोक: — पतमानोपि तदेहस्त्रिगव्यूत्यन्तरद्भुमान् ।

चूर्णयामास राजेन्द्र महदासीत् तदद्भुतम् ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ — हे राजेन्द्र ! पूतना के शरीर ने गिरते गिरते छः कोस के घेरे में आये हुए वृक्षों को चूर्ण कर दिया, यह बड़ा आश्चर्यकारक कार्य हुआ ।

सुबोधिनी — एवं पूतनाया वधमुक्त्वा काचित् स्त्र्यप्रयोजिका मारितेतिशंकां दूरेकर्तुं तस्या देहस्य मृतस्यापि महत्त्वमाह पतमानोपीति । अपिशब्देन कृत्रिमसामर्थ्यं ततोपि महद् रूपं भवतीति सूचितं, त्रिगव्यूत्यन्तरद्भुमान् क्रोशषट्कमध्यस्थितवृक्षांश्चूर्णयामासेतिभारस्थौल्यमुक्तं लम्बताप्युक्ता, भगवद्दीर्यस्य स्पष्टत्वात्, लोके तदेव

महदद्भुतमासीत्, अलौकिकात्मनेपदप्रयोगेन तदेहदाह एव तानि काष्ठान्युपयोक्ष्यन्त इति ज्ञाप्यत एतच्च भगवदिच्छयेति च, गोकुलवासिनां गव्यूतिरेव प्रसिद्धा, त्रिगव्यूत्यधिको देशस्तैर्न दृष्ट इति तावदेवोक्तं, राजेन्द्रेति, इन्द्रेण वृत्रवधः कृत इति तन्नाम्ना सम्बोधनं विश्वासार्थम् ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ — श्लोक में 'अपि' शब्द देकर इस शङ्का का निवारण करते हैं कि वह (पूतना) साधारण स्त्री न थी, किन्तु महाशक्तिशाली एवं भयंकर तथा बालहत्यारिणी थी । वह इतनी तो शक्तिवाली थी जो प्रथम कृत्रिम<sup>१</sup> रूप बनाया और मरते समय इतना भारी वजन वाला रूप कर दिया, जिससे छः कोस के पेड़ चूर्ण हो गये । जिसने देखे वे अचम्भे में पड़ गये तथा जो कहने लगे कि यह जीती तो अन्य बालकों को दुःख देती । दम्पतिने इसका नाश व्यर्थ में नहीं किया गया है वरन् अन्य बालकों की रक्षण<sup>२</sup> किया है ।

छः कोस के घेरे के वृक्षों के चूर्ण हो जाने से, उसके देह की स्थूलता लम्बाई और बोझ का परिज्ञान हो जाता है । इस महान् अद्भुत लीलाकार्य से, भगवान् के वीर्य (परक्रम) गुण का गौरव स्पष्ट समझ में आ जाता है । 'चूर्णयामास' इस आत्मनेपद की क्रिया<sup>३</sup> के अलौकिक

१ — प्रकाश — पूतना अपनी शक्ति से जब कृत्रिम (बनावटी) रूप बना सकती थी इसलिये मरने के समय भी घटोत्कच के समान बड़ा रूप बना सकी । जैसे घटोत्कच ने मरते समय आकाश में जाकर एक अशौहिणी सेना को नाश करने की सामर्थ्य वाला महत् रूप बनाया था, वैसे ही पूतना ने मरते समय महद् रूप बना लिया ।

२ — प्रकाश 'अलौकिक आत्मनेपद' कहने का तात्पर्य यह है कि यों तो आत्मनेपद तब दिया जाता है जब क्रिया का (जो कार्य किया जाय उसका) फल करने वाले को मिले, लेकिन यहाँ क्रिया का फल करने वाले को और दूसरों को भी मिला है, जैसे कि गिरने की क्रिया हुई उसका फल वृक्षों को मिला वे चूर चूर हो गये और पूतना को भी मिला कि उन चूर्ण हुई लकड़ियों की आग से वह जलाई गई । इसलिये श्रीऋषयश्चरण ने कहा है कि यह आत्मनेपद अलौकिक है ।

प्रयोग से यों समझ में आता है कि इस देह के जलाने में ही ये लकड़ियाँ काम आएँगी । यह सब भगवान् की इच्छा से हुआ । गोकुलवासियों ने छः कोस से विशेष देश देखा ही नहीं है उनमें 'गव्यूति' शब्द ही प्रसिद्ध है इसलिये इतना ही कहा गया है । राजा को शुकदेवजी ने इस श्लोक में 'राजेन्द्र' यह सम्बोधन, विश्वास के लिये दिया है कि इन्द्र ने वृत्र का वध किया आप भी राजाओं में इन्द्र हो इससे आप भी विश्वास रखो ॥ १४ ॥

श्लोकः — ईषामात्रोग्रदंष्ट्रास्यं गिरिकन्दरनासिकम् ।  
 गण्डशैलस्तनं रौद्रं प्रकीर्णारुणमूर्धजम् ॥ १५ ॥  
 अन्धकूपगभीराक्षं पुलिनारोहभीषणम् ।  
 बद्धसेतुभुजोर्वङ्घ्रि शून्यतोयहृदोदरम् ॥ १६ ॥  
 सन्तत्रसुः स्म तद् वीक्ष्य गोपा गोप्यः कलेवरम् ।  
 पूर्वं तु तन्निस्वनितभिन्नहृत्कर्णमस्तकाः ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ — इस पूतना के मुंह में हल के समान लम्बी और भयानक दाढ़ें, पर्वत की गुफा के समान नाक, पर्वत से गिरी बड़ी बनी शिलाओं जैसे स्तन, बिखरे हुए लाल केश थे । अन्ध कूप जैसे गहरे नेत्र, नदी के करारों के समान भयंकर जंघाएं, (विस्तृत) पुल के समान बाहु, घुटने और पांव, जल रहित सूखे तालाब जैसा पेट था । ऐसे भयंकर पूतना के शरीर को देख कर गोप और गोपियाँ जिनके हृदय, कान और मस्तक प्रथम ही उसके शब्द से विदीर्ण हो गये थे वे अति भयभीत हुए अर्थात् डरे ॥ १५-१६-१७ ॥

१५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७

### भाग बिलावल

उबरयौ श्याम महर बड़ भागी ।  
 बहुत दूर ते पर्यौ आई घर देखो मैं कहूं चोट न लागी ।  
 रोग जाउं बलि जाउं कन्हैया यह कहि कंठ लगाई ।  
 तुमही हो ब्रज को जीवन धन देखत नैन सिराई ।  
 भली नहीं तेरी प्रकृति जसोदा छांडि अकेले जाति ।  
 गृह को काम इनहु ते प्यारो ने कहूं नहीं डराति ।  
 भलि भई अम्बके हरि बांचे अजहूँ सूरति सम्हारि ।  
 सूरदास झुकि कछो ग्वालनी मन मन बिचारि ॥



विशेषणानि प्राकृतगुणानां सर्वेषां समवायार्थानि, अविद्या हि नवधा भीषिका ॥ १६ ॥ अत एव तादृशावयवैर्बिभीषिका जातेत्याह सन्तत्रसुप्ति सम्यक् तत्रसुप्ताः, स्मेति प्रसिद्धे भगवत्सन्निध्याद् भयाभावमाशङ्क्य प्रमाणं कथयन्नाह संवीक्ष्येति, प्रथमतः अज्ञानात्र तथा भयं सम्यग्दर्शने तु भयं जातमिति, गोपा गोप्य इति, तेषां मुग्धभावेन सम्यग्दर्शनप्राप्तिर्निरूपिता, कलेवरं मृतशरीरं, नन्वेतावत्कालमदर्शनं कुतस्तत्राह पूर्वमिति, तस्या निस्वनितेन रोदनेन भिन्नानि हृदयकर्णमस्तकानि येषां, तामसभूयिष्ठत्वात् त्रिविधावयवाः सर्वत्र निरूप्यन्ते ॥ १७ ॥

इस कारण से यह पूतना भी नव अवयवों से डरने वाली हुई। इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं। श्लोक में 'स्म' अक्षर का भाव प्रसिद्ध है कि वे (गोप-गोपियां) भय को प्राप्त

२ - सत्व, रज, तम, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर्य इन सब नव दोषों का समावेश पुतना में था क्योंकि पुतना अविद्या थी - प्रकाश

32 32 32 32 32 32 32 32 32 32 32 32

व्याग आन्सावन्दी

देखह यह विपरीति भई ।

अद्भुत रूप नारि एक आई कपट हेत क्यों सहेँ दई ।

कान्हू हि लेन सुमति को रते रुचि करि कंठ लगाई ।

तब वहिं देह धरी जो जन लौं श्याम रहे लपटाई ।

बड़े भाग हैं नन्द महर के बड़ भागिनि नन्द रानी ।

सर श्याम उर ऊपर उबरे यह सब घर घर जानी ॥



दृष्ट्वेत्येव वा, त्रासस्य भिन्नविषयत्वापत्तेः, कलेवरदर्शने  
त्रासः स्वविषयकः, भगवद्दर्शने तु भगवद्विषयकः ॥ १७<sup>१</sup> ॥

इत्येवं दृष्ट्वा यत् कृतवत्यस्तदाह गोप्य इति,  
गोपापेक्षया गोपीनां स्नेहः साहसं वाधिकमिति ता एव

ग्रहीतुं प्रवृत्ताः, अत एवाविचारेण तूर्णमभ्येत्य जगद्गुरुः,  
भगवद्ग्रहणानन्तरं जातसम्भ्रमा जाताः पूतनादेहं दृष्ट्वा  
भगवत्सम्बन्धं च, महानयमुत्पात इति मनसि सज्जातभया  
जाताः ॥ १८ ॥

**व्याख्यानार्थ —** इस प्रकार उस पूतना का कार्य सहित रूप का निरूपण कर, अब वर्णन किया जाता है कि गोप-गोपियों ने भगवान् को अपने से भी निर्भय देखा । यह बताने के लिये पूतना के हृदय पर स्थित भगवान् के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'बालं' बालरूप से ही पूतना का वध किया, अपना रूप बड़ा न किया । इस कारण से कृष्णावतार के चरित्र अलौकिक हैं क्योंकि कृष्ण के कार्य, आयु एवं साधनों से विरुद्ध हैं; अर्थात् पूतना को मारने के लिये सुदृढ़ बड़ी देह जो बड़ी आयु (युवावस्था) में होती है और साधन शस्त्रादि होने चाहियें, वे भी नहीं, इन दोनों के अभाव में बालक रूप से, बिना साधन पूतना जैसी रक्षसी को मारना, यह चरित्र लौकिक हो नहीं सकता अतः कृष्णचरित्र अलौकिक है । 'च' शब्द बालक और पूतना दोनों को देखने के लिये दिया है अथवा 'च' का भाव यह है कि जैसा भय उनको देखकर गोपियों को हुआ, वैसा भय बालक को न था । वह तो उसके हृदय पर खेल रहा था । इससे यह बताया कि वह बालक है, बालक का स्वभाव खेलना ही होता है और यह बालक तो सदा सबों के हृदय में अन्दर-बाहिर खेलता ही है । इसकी सूचना देने के लिये ही पूतना के हृदय पर भी खेलते हुए दर्शन दिये । वह लौकिक दृष्टि से क्रीडास्थान तो हो नहीं सकता था और न मुग्ध भाव से क्रीड़ा थी । यदि मुग्ध भाव से होती तो, अपरिचित के दर्शन से भय होता परन्तु यहाँ भय तो कुछ नहीं था इसलिये 'अकुतोभयः' अर्थात् सर्वथा निर्भय होकर खेल रहा था । किन्तु गोप-गोपी डरे । इनको दो डर हुए एक तो पूतना को देखकर स्वयं को डर हुआ और दूसरे भगवान् को देखकर उनके लिये डर हुआ, न जाने अब भगवान् (बालक) का क्या होगा ? आदि । इस प्रकार डरते देखकर जो गोपियों ने किया उसका वर्णन इस १८वें श्लोक के उत्तरार्द्ध में (गोप्यः) से करते हैं । गोपों से भी गोपियों में स्नेह और साहस<sup>२</sup> अधिक है इसलिये वे ही कृष्ण को लाने के लिये प्रवृत्त हुईं, कुछ भी विचार न कर शीघ्रता से जाकर ले आईं । भगवान् के ले आने पर गोपियों के मन में विशेष विचार से कि पूतना की ऐसी भयानक भारी देह से इस छोटे बालक का सम्बन्ध भारी उत्पात<sup>३</sup> है इससे भय उत्पन्न हुआ ॥ १८ ॥

श्लोकः — यशोदारोहिणीभ्यां ताः समं बालस्य सर्वतः ।

रक्षां विदधिरे सम्यग् गोपुच्छभ्रामणादिभिः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ — उन्होंने (गोपियों ने) यशोदा रोहिणी के साथ मिलकर गौ की पूँछ फिराने आदि द्वारा सब प्रकार से अच्छी तरह बालक की रक्षा की ।

सुबोधिनी — ततः स्वातन्त्र्येण किञ्चित् कर्तुमशक्ता यशोदारोहिणीभ्यां सहिता जाताः, यशोदारोहिण्योः स्त्रीप्रकृतिकत्वाद् गोपीनामग्निकुमारत्वेनर्षित्वाद् गोपानां तत्तदभिमानिदेवत्वात्, तत्रापि केवलभगवदुपासकानां गोपसम्बन्धरहितत्वादुपायमन्त्रद्रष्टृत्वेन प्रसिद्धा इति ता इत्युक्तं, यशोदारोहिणीभ्यां समं बालस्येति वा सम्बन्धः, सहाय्ये समशब्दः, सममित्यव्ययं, ननु भगवानर्यामिति ज्ञात्वा कथं रक्षां चक्रुस्तत्राह बालस्येति, यतो भगवान् बालभावं प्राप्तः, अतो यथान्य उपचारस्तथैतदपि कर्तव्यमित्यर्थः, सर्वतः

इति, अन्तर्बहिः, केनाप्यंशेन यथानिष्टसम्बन्धो न भवति तथा, रक्षां कर्मविशेषं मन्त्राभिपन्नरूपं, विदधिरे कृतवत्यः, सम्यगित्यादिदैविकप्रकारेण तत्तद्दैवतं तत्र तत्र स्थापितवत्य इत्यर्थः, आदौ स्थितस्य दैत्यसम्बन्धस्य परितो वा विद्यमानस्याधिभौतिकादित्रितयस्य निवृत्तिं गोपुच्छ-भ्रामणादिभिः कृतवत्यः, आधिभौतिकमनिष्टं तीर्थस्नानादिना गच्छति, गवां पुच्छेषु तीर्थानि सन्ति, तेषां भ्रामणे मन्त्रेण तत्रत्यानि तीर्थानि परितः स्थापितानि भवन्ति, आदिशब्देन मन्त्रध्याने अपरयोर्निवर्तक ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ — वे (गोपियाँ) बालक को शीघ्रता से ले आईं किन्तु स्वतन्त्रता से अर्थात् अपने आप कुछ कर न सकीं । तब माता यशोदाजी एवं रोहिणीजी को साथ में लिया । यशोदा एवं रोहिणी दोनों स्त्री प्रकृति वाली थीं, अग्निकुमार गोपियाँ ऋषि रूपा थीं, गोप मन्त्रों के अभिमानी देव थे, इसलिये उस अवसर पर भी, जो गोप सम्बन्ध रहित होने से केवल भगवान् की उपासिकाएँ थीं एवं रक्षा के उपाय तथा मन्त्र द्रष्टा थीं, उनकी प्रसिद्धि के कारण इस श्लोक में 'ताः' शब्द दिया है ।

दूसरे प्रकरण से अर्थ करते हैं कि यशोदा, रोहिणी और गोपियों ने साथ में मिलकर, बालक की रक्षा की । श्लोक में दिये हुए 'समं' शब्द का अर्थ 'सह' अर्थात् साथ (मिलकर) है । 'समं' यह अव्यय है ।

- १ — गोप एवं माताओं के विद्यमान होते हुए भी गोपियों ने क्यों रक्षा की ? इस शंका की निवृत्ति करने के लिये 'ताः' शब्द देकर बताया है कि माताएँ स्त्री प्रकृति थीं, गोप मन्त्रों के अभिमानी देव होने से, केवल प्रेरक थे, गोपियाँ ऋषि रूप, मन्त्र रूप और देव रूप भी थीं एवं उनका भगवान् के साथ ही वास्तविक सम्बन्ध था । गोपियाँ विशेष सहज प्रेम के कारण प्रसिद्ध हैं इसलिये उन्होंने रक्षा की । 'गोपियाँ और गोप' दोनों देव रूप हैं — कृष्णोपनिषद् । 'गोपियाँ और गौरी' मन्त्र रूप हैं — कृष्णोपनिषद् । 'गोपियाँ ऋषिरूपा एवं श्रुति रूपा भी हैं' — बृहद्वायन पुराण ।

इत्यादि प्रमाणों से गोपियाँ एक प्रकार की नहीं हैं तो भी सब का वास्तविक सम्बन्ध भगवान् से ही होने से उन्होंने ही रक्षा की ।

हैं क्योंकि देवता सत्य में ही प्रतिष्ठित हैं । इस चरित्र के सुनने से मनुष्य में देवभाव आ जाता है तथा उसकी भी सत्य में प्रतिष्ठा होती है । अतः उस मनुष्य को इस चरित्र के सुनने से गोविन्द भगवान् में मोक्ष वा रति (प्रेम) होता है । कितने ही इस श्लोक को भी प्रक्षिप्त कहते हैं ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कंध (पूर्वार्ध) के तामस-प्रमाण अवान्तर प्रकरण के  
द्वितीय अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचित सुबोधिनी टीका का हिन्दी अनुवाद ।

बालक को पहले गोमूत्र से नहला कर आती हुई गौओं के खुरों से उड़ी हुई रज से नहलाया तो भीगे हुए शरीर पर वह रज चिपक गई, जिससे फिर जल से स्नान कराया। भगवान् के संस्कार क्यों किये जाते हैं ? इस शंका को मिटाने के लिये 'अर्भक' शब्द दिया है अर्थात् इस वक्त यह छोटा वा मुग्ध बच्चा है। इस रक्षा की विशेषता बताते हुए कहते हैं कि पहले केवल मन्त्रों से रक्षा की गई अब पदार्थों सहित रक्षा की जाती है। इस प्रकार गोमूत्र<sup>१</sup> एवं रज आदि से स्नान कराके अनन्तर गोबर के साथ गौ के खुरों की मृत्तिका अंगों पर चिपकाई। पुरुष (भगवान्) के बारह अंग होते हैं। ('द्वे सक्था' वितिश्रुतेः) 'दो जांघ' आदि यों श्रुति में कहा है। स्मृति में भी ललाट, दो बाहुमूल, हृदय, नाभि के पास का भाग, कण्ठ, दो कन्धे, कमर, मस्तक, दो स्तन इस प्रकार विद्वान् कहते हैं। इन द्वादश अंगों की रक्षा भगवान् के १ - केशव, २ - नारायण, ३ - माधव, ४ - गोविन्द, ५ - विष्णु, ६ - मधुसूदन, ७ - त्रिविक्रम, ८ - वामन, ९ - श्रीधर, १० - हृषीकेश, ११ - पद्मनाभ, १२ - दामोदर, इन बारह नामों से रक्षा की ॥ २० ॥

२०वें श्लोक में आध्यात्मिकी रक्षा का निरूपण कर अब २१वें श्लोक में आधिदैविकी रक्षा का वर्णन करते हैं।

**श्लोकः — गोप्यः संस्पृष्टसलिला अङ्गेषु करयोः पृथक् ।**

**न्यस्यात्मन्यथ बालस्य बीजैर्न्यासमकुर्वत ॥ २१ ॥**

**श्लोकार्थ —** गोपियों ने जल का स्पर्श कर, पहले अपने शरीर के पृथक् पृथक् अङ्गों में तथा करों में न्यास कर, पीछे बालक के अङ्गों एवं करों में न्यास किया।

**सुबोधिनी —** एवमियं द्वितीया रक्षा निरूपिताध्यात्मिकी, आधिदैविकीमाह गोप्य इति, पूर्व कर्तृकर्मणो-रसंस्कारः, कर्मण एव मध्यमे, कर्तुमपि तृतीये, प्रथम-मात्मसंस्कारे द्विविधो निरूप्यते सम्यक्स्पृष्टसलिला इति, बहिः स्नानमन्तराचमनं चोक्तं, ततो बीजमन्त्रानेकादशा-

त्मनिन्यासं कृतवत्यः, स्वस्मिन्नागतयां देवतायामन्यस्मिन् स्थापनमनुभवसाक्षिकं भवति, ततस्त्याजित आधिदैविको दोषः स्वात्मानं वा गृह्णीयाद् बलिद्वयोः त्याजकग्राहकत्वाद्, "अग्निं वै जात" मित्यत्र तथोक्तेः, आत्मन्यपि द्विगुणा रक्षा कृता करणकर्तृभेदेन, साक्षात्करणे कर्तरि च दोषसम्बन्ध-

१ — टिप्पणी — जिन गोपियों ने प्रिय के प्राकट्य का प्रवर्णन कर, आत्मा को भूषित किया उन गोपियों ने अपने प्रीतम को गोमूत्र से कैसे नहलाया ? इस शंका का समाधान करते हैं कि अपने प्रिय का दुष्ट रक्षसी के सम्बन्ध से कुछ भी अनिष्ट न हो जाय, इससे स्नान कराया। पहली सब बातें सहज स्नेह के कारण भूल गई, यही आशंका रही कि हमारे प्रिय बालक स्वरूप की, कैसे भी हम रक्षा करें। इसलिये मूत्र से नहलाने में भी संकोच न किया। भगवान् की रक्षा भी स्नेहवश होकर ही की है।

भगवान् के माहात्म्य ज्ञान की दशा में भी सहज स्नेह रहता है जिससे भक्त ज्ञान पर ध्यान न देकर, स्नेह से सब कुछ करता है। यही ज्ञान से स्नेह (भक्ति) में विशेषता है। इससे कहा जाता है कि ज्ञान से स्नेह (भक्ति) बलवान् है।

सम्भवात्, तदाहाङ्गेषु वक्ष्यमाणेषूक्तेषु वा तैरेव नामभिः, करयोरिति, करतलकरपृष्ठाभ्यां सह दशाङ्गुलीषु दक्षिणाङ्गुलमारभ्य वामाङ्गुलपर्यन्तासु, पृथगिति करयोरिव वा सम्बध्यते तेनाङ्गुलिचतुष्टये पर्वत्रये न्यासो भवति, “अङ्गुल्यङ्गुष्ठपर्वस्वि” तिवचनात्, पृथगिति दशन्यासा वा

निरूपिता मातृकान्यासादयः, एवमात्मनि न्यस्य सर्वदेवता-धारभूताः सत्योद्य भिन्नप्रकारेण देवताः सर्वाः बहिः स्थिता विधाय बालस्य भगवतोङ्गेषु बीजैरेकादशभिर्न्यासमकुर्वत कृतवत्यः ॥ २१ ॥

**व्याख्यार्थ —** १९वें श्लोक में आधिभौतिक रक्षा की गई थी, किन्तु उसमें ‘कर्ता’ एवं ‘कर्म’ का संस्कार<sup>१</sup> न हुआ तथा २०वें श्लोक में आध्यात्मिक रक्षा की, तब केवल कर्म का संस्कार किया। अब इस आधिदैविक रक्षा के समय में, कर्ता का भी संस्कार<sup>२</sup> किया गया है।

पहले अपना संस्कार दो प्रकार से किया - १ - बाहिर (देह) का स्नान कर संस्कार<sup>१</sup> किया, २ - भीतर (आत्मा) का आचमन लेकर संस्कार<sup>१</sup> किया। इसके अनन्तर ग्यारह बीज मन्त्र अपने में स्थापन<sup>२</sup> किए। अर्थात् बीज मन्त्रों द्वारा अपने में देवताओं को प्रविष्ट किया अथवा देवता प्रविष्ट हो गए जिससे निज अनुभव के आधार पर अपने में आए हुए देवता का दूसरे में भी स्थापना कर सकने का निश्चय होता है अर्थात् दूसरे में भी देवता स्थापित<sup>२</sup> हो गए।

गोपियों ने बीज मन्त्रों द्वारा अपने में देवता स्थापन क्यों किये? उसका भाव (आशय) बताते हैं कि ‘अग्निं वै जातं’ इस मन्त्र में कहा है कि बलवान्, दोष छुड़ानेवाले में जाकर बैठते हैं तो वहाँ भी गोपियों ने समझा कि हम भगवान् में स्थित दोषों को देवता स्थापित कर निकालती हैं, वे दोष हममें प्रवेश न करें इसलिये गोपियों ने पहले अपना संस्कार कर, अपने में देवता स्थापित किए। गोपियों ने अपनी दुगुनी रक्षा की, क्योंकि गोपियाँ कर्ता और\* करण दोनों थीं। इससे जो साक्षात् प्रकट करण (साधन) एवं कर्ता होता है, उससे ही दोष का सम्बन्ध होता है। रक्षा के प्रकार का वर्णन करते हैं कि कहे हुए बारह अंगों में, उन उन भगवान् के नामों से, दाहिने अंगूठे से बायें अंगूठे तक दस अंगुलियों सहित, हाथ के तल एवं पृष्ठ में न्यास किया, अथवा हाथ की चारों अंगुलियों के तीन तीन पर्वों में न्यास किया। जैसे कि कहा है कि “अङ्गुल्यङ्गुष्ठपर्वसु” “इति वचनात्” अंगूठे से अंगुलियों के पर्वों में न्यास करें। पृथक् वा दूसरा आशय बताते हैं कि मातृका के स्थापन में भिन्न-भिन्न दश प्रकार के न्यास कहे हैं। इस प्रकार गोपियाँ बीज न्यास द्वारा, सर्व देवता की आधारभूत हुई, अनन्तर देवताओं को बाहर स्थापित कर, बालक (भगवान्) के अङ्गों में ग्यारह बीजों से देवता स्थापित किए ॥ २१ ॥

अब अगले श्लोक ‘अव्यादजो’ में मन्त्रों के बीज और देवों के स्थान गुप्त रखने योग्य है इसलिये दूसरे प्रकार से होने के कारण रक्षा के लिये स्तोत्र से देवता की प्रार्थना करते हैं।

\* - टिप्पणी - गोपियाँ रक्षा करने के कारण कर्ता थीं और उनके अंग (जिनसे रक्षा की, हस्तादि) करण (साधन) थे।

श्लोकः — अव्यादजोऽघ्निमणिमांस्तव जान्वथोरु यज्ञोच्युतः कटितटं जठरं हयास्य ।

हत् केशवस्त्वदुर ईश इनस्तु कण्ठं विष्णुर्भुजं मुखमुरु क्रम ईश्वरः कम ॥ २२ ॥

**श्लोकार्थ —** अज भगवान् तेरे पैरों की, मणिमान घुटनों की, यज्ञ जङ्घाओं की अच्युत कमर की, हयग्रीव पेट की, केशव हृदय की, ईश छाती की, इन्द्र कण्ठ की विष्णु बाहु की, उरुक्रम मुख की, ईश्वर मस्तक की रक्षा करे ।

**सुबोधिनी —** बीजानि स्थानानि च गोप्यानीति भङ्ग्यन्तरेण देवताप्रार्थनारूपेण रक्षां स्तोत्ररूपां हृदनाहाव्यादिति, भगवत एकादश रूपाणि मूलतः प्रसिद्धानि वैष्णवतन्त्रे, अन्यानि तु न समर्थान्युपलक्षकनेनारोपितसामर्थ्यानि वा भवन्ति, तत्र प्रथममजो न जायत इत्यविकृतो मूलभूत इति यावत् सोक्षरात्मको भवति, सोक्षरात्मजो भगवतोऽङ्घ्रिभ्याम् अङ्घ्रियमाध्यात्मिकः, स त्वाधिदैविक इ 'त्यन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वमस्ये'ति निरूपणात्, ततः स एव सर्वोपास्यरूपो भवन् दुज्ञेयत्वादणिमान् भवति, बीजरूपाण्येतानि नामान्यविकृतानि भवन्ति, जानुद्वयं सोव्यात् स्थूलादग्रे सूक्ष्मभावात्, एतद् द्वयं प्रमेयबलेन रूपद्वयेन निरूपितं, प्रमाणबलेन पुनः पृथङ् निरूपयत्यथेति, अनेन भक्तिमार्गो ज्ञानमार्गश्च प्रमेयबलादेव सिध्यतीति ज्ञापितं, यज्ञ ऊरु अव्यात्, स हि प्रजननात्मकः, अच्युतो यज्ञस्यैवाधि-दैविकं रूपं कटितटमव्यात्, स हि रक्षको न केनापि प्रकारेण च्युत इति, वेदानां यज्ञानां च नित्यताप्युक्ता, हयास्यो जठरमव्यात्, नष्टेषु वेदेषु रक्षणार्थमवतीर्णः, उदरं सर्वमेव

जगत्, तच्च कर्मणा परिपाल्यत इति यज्ञे प्रादुर्भूत उक्तः, हृदयं केशवोव्यात् कक्षेशश्च केशौ तयोर्वै सुखं यस्मादिति ब्रह्मशिवयोर्बुद्ध्यहङ्कारनियामकयोरपि सुखदातान्तर्याम्य हृदयपरिपालको भूयात्, हृदयं स्तनयोर्मध्ये निम्नस्थाः उरस्तूच्चस्थानं, स्तनादुपरि कण्ठदधस्त्वदुर ईशोव्यात् यत्स्वाधिदैविककालरूपो येन प्रकृतेर्गुणाः क्षुब्धा भवन्ति त्वदुर इति, उरसि लक्ष्मीरपि वर्तते, अतस्तदव्यावृत्त्य त्वत्पदं, इनस्तु कण्ठं, तुशब्दो ब्रह्माण्डमध्यस्थितं व बहिःस्थिताद् व्यावृत्तिमाह, इनः सूर्यान्तःस्थितो नागयणः कण्ठमव्यात् सरस्वतीस्थानं तत्, त्रयीमयात्मकश्च सः, त जगद्रक्षायां स्थितः क्रियाशक्तिर्विष्णुर्भुजमव्यात् क्रि भुजयोरेव प्रतिष्ठितेति, ततो भक्तबाधकत्वेन दैत्येषु समागतत्रिवृत्यर्थं समागतो बलिबन्धनकर्तोरुक्रमो वामनो मुखमव्य ततः कं शिर ईश्वरोव्यात्, यस्तु सङ्कर्षणरूपो 'यस्य के सितकृष्णौ' स शिरः प्रधानभूत इति शिरःपालनं युक्तं ॥ २२ ॥

**व्याख्यार्थ —** वैष्णव तन्त्र में, भगवान् के ग्यारह रूप आरम्भ से (शक्तिशाली) प्रसिद्ध दूसरे (इन ग्यारह रूपों के अतिरिक्त) रूप शक्तिवान् नहीं है, उनमें शक्ति संचार करने से (से) आती है ।

१जो जन्म रहित, अविकारी, मूल रूप अज है, वह अक्षरात्मा होता है, वह अक्षर २ (आध्यात्मिक) अज चरणों की रक्षा करे । यह चरण जिसकी रक्षा की जाती है, आध्यात्मिक

- १ — लालूभट्टजी योजना में स्पष्ट समझाते हैं कि श्रीआचार्यचरणों ने जिस जिस नाम द्वारा जिस जिस अंग रक्षा की प्रार्थना की है, वह सब उत्पत्ति पूर्वक (युक्ति देकर) समझाई है । जैसे यहाँ अज भगवान् 'अ की' रक्षा करें । इसको स्पष्ट समझाने के लिये श्रीआचार्यचरण कहते हैं कि 'अज' के दो रूप हैं — आध्यात्मिक दूसरा आधिदैविक और चरण भी आध्यात्मिक है । इसलिये आध्यात्मिक चरण की रक्षा प्रार्थना आध्यात्मिक स्वरूप अक्षरात्मा अज की की गई है । श्रीकृष्ण (जिसके सामने प्रत्यक्ष दर्शन



है क्योंकि अन्तर्यामी आदि अवतार चरण रूप (आध्यात्मिक रूप) होते हैं। ऐसा शास्त्रों में निरूपण है। वह श्रीकृष्ण अज फलरूप तो आधिदैविक है।

(२) वह ही अज सबों का उपास्य रूप दुर्ज्ञेय\* होने से 'अणिमान्'<sup>१</sup> होता है। ये भगवान् के नाम बीजरूप होने से अविकारी है, स्थूल से सूक्ष्म भाव वाला 'अणिमान्' दो घुटनों की रक्षा करे। प्रमेय बल वाले इन दोनों रूपों से इन दोनों (चरण और घुटनों) की रक्षा का निरूपण हुआ।

श्लोक में दिये 'अथ' शब्द का आशय बताते हैं कि इस प्रकार प्रमेय बल वाले रूपों के पश्चात्, प्रमाण बल वाले रूपों के कार्य का पृथक् वर्णन करते हैं। इससे यह बताया कि भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग की सिद्धि (निर्णय) प्रमेय बल से ही होती है।

(३)<sup>२</sup> 'यज्ञ' जङ्घाओं की रक्षा करे। कारण कि वह यज्ञ प्रजनन, वीर्य रूप, उत्पन्न करने वाला रूप है।

(४)<sup>३</sup> यज्ञ का आधिदैविक रूप अच्युत 'कमर' की रक्षा करे। वह (अच्युत) रक्षक किसी प्रकार से भी च्युत नहीं होता है। इससे यज्ञ एवं वेद की नित्यता कही।

रहे हैं वह) तो मूलरूप अज है अतः आधिदैविक है। आधिदैविक स्वरूप (श्रीकृष्ण स्वरूप) में विराजमान आध्यात्मिक स्वरूप ही आध्यात्मिक चरणारविन्द की रक्षा करें।

श्रीआचार्यचरणों की उपपत्ति<sup>२</sup> व्यासजी को भी अभिप्रेत<sup>३</sup> है, जैसे कि व्यासजी ने भी 'जले रक्षतु (वराहः)' आदि में उपपत्ति पूर्वक रक्षा का वर्णन किया है। वराह जल के भीतर निर्भय निर्विघ्न जा सकता है इसलिये जल में वह रक्षा करे। इस प्रकार अन्य भी।

योजना — अक्षर के दो रूप हैं — एक 'अज' दूसरा 'अणिमान्'। अज रूप से चरण रक्षा बताई। इससे यह सिद्ध हुआ कि अक्षर अज रूप से आधिदैविक रूप का चरणारविन्द होने से भक्ति रूप है, इसलिये यह भक्ति मार्ग है। 'अणिमान्' (सूक्ष्म) रूप से दो घुटनों की रक्षा बताई। सूक्ष्म रूप दुर्ज्ञेय होने से ज्ञान मार्ग कह कर, उस दुर्ज्ञेयता का वर्णन किया जैसे कि 'कश्चिद्धाः प्रत्यगात्मानं भोक्षतु' कोई धीर पुरुष ही प्रत्यगात्मा को (ज्ञान द्वारा) देखता है।

\* — 'अणिमान्' शब्द का अर्थ बहुत सूक्ष्म जो कठिनाई से जानने में आवे करने पर 'अणिष्ठ' होना चाहिए। इस शंका का समाधान सुबोधिनीजी में महाप्रभुजी ने भगवान् के नाम, बीजरूप होने से अविकारी<sup>४</sup> है। दूसरे शब्द व्याकरणानुसार बनते और बदलते हैं। नाम तो बने हुए ही हैं।

† — योजना — यज्ञ उत्पत्ति करने वाला है, जैसा कि गीता में कहा है यज्ञ से मेघ, मेघों से वर्षा द्वारा अन्नादि उत्पन्न होते हैं। इसलिये यज्ञ प्रजनन (पैदा करने वाला रूप) है श्रुति में जंघाओं को भी पैदा करने में प्रयोजक कहा है अतः प्रजनन रूप यज्ञ भगवान् पैदा करने में प्रयोजक जंघाओं की भी रक्षा करें यह उपपत्ति कही।

‡ — योजना — अच्युत यज्ञ का आधिदैविक स्वरूप है। कमर पृथ्वी रूप है। पृथ्वी (कर्म क्षेत्र) अन्नादिकों के उत्पत्ति का स्थान पैदा करने वाली है। इसलिये आधिदैविक यज्ञ स्वरूप अच्युत पृथ्वी रूप कटि (कमर) की रक्षा करे। यह कहना भी उपपत्ति पूर्वक समझाया।

१—कठिनाई से जानने योग्य। २—युक्तिपूर्वक समझना। ३—वांछित, अभीष्ट। ४—जो सदैव एकसा रहे।

(५) 'हयग्रीव' पेट की रक्षा करे। सम्पूर्ण जगत् भगवान् का उदर है उसकी रक्षा कर्म (यज्ञ) से होती है। इसलिये भगवान् वेदों (वैदिक कर्म यज्ञादि) की रक्षा के वास्ते हयग्रीव रूप से यज्ञ में प्रकट हुए।

(६) 'केशव' हृदय की रक्षा करे। केशव शब्द का आशय बताते हैं कि 'केशव' शब्द में 'क' 'ईश' और 'व' ये तीन अक्षर हैं। 'क' का अर्थ ब्रह्मा, 'ईश' का अर्थ शिव और 'व' का अर्थ सुख है। इसलिये व्याकरणानुसार विग्रह करने से 'केशव' शब्द में द्वन्द्व और बहुव्रीही दो समास हैं जैसे कि कः च ईशः च केशौ द्वन्द्व समास हुआ। जिसका अर्थ हुआ, ब्रह्मा और महादेव। अब केशयोः व यस्मात् सः केशवः यह बहुव्रीही समास हुआ। जिसका अर्थ ब्रह्मा और महादेव को सुख (आनन्द) जिससे मिलता है वह केशव। बुद्धि एवं अहंकार के नियामक ब्रह्मा और शिव को सुख देनेवाला अन्तर्यामी केशव हृदय का परिपालन करे ऐसी आशा करती है। दोनों स्तनों के मध्य ढाल वाले स्थल को 'हृदय' कहा जाता।

(७) 'ईश' प्रकृति के गुण को उत्तेजित करने वाला (आधिदैविक काल रूप) तुम्हारी छाती (कंठ से नीचे का और स्तनों से ऊपर का भाग) की रक्षा करें। 'तुम्हारी' शब्द कहने का भावार्थ बताते हैं कि केवल छाती की ही रक्षा के लिये प्रार्थना करती हैं न कि छाती पर विराजमान लक्ष्मीजी की रक्षा के लिये भी प्रार्थना है।

(८) इन सूर्य के अन्दर विराजमान नारायण, कण्ठ की रक्षा करे। श्लोक में दिये हुए 'तु' शब्द का भावार्थ बताते हैं कि यहाँ ब्रह्माण्ड मध्य स्थित को प्रार्थना करती हैं न कि ब्रह्माण्ड से बाहर स्थित प्रार्थना करती हैं। इसलिये शुकदेवजी ने श्लोक में 'तु' शब्द दिया है। 'कण्ठ' सरस्वती का स्थान होने से तीन वेदों का रूप है।

(९) 'विष्णु' (जगत् की रक्षा करने वाले क्रियाशक्तिरूप विष्णु) भुजाओं की रक्षा करे, भुजाओं की रक्षा का कारण बताते हैं, कि 'क्रियाशक्ति' (काम करने की शक्ति) भुजाओं में ही रहती है।

(१०) 'उरुक्रम' (वामन) मुख की रक्षा करे। 'उरुक्रम' का भाव बताते हैं कि जब दैत्यों द्वारा भक्तों को दुःख की सम्भावना होती है अथवा दुःख मिलते हैं तब आप पधारकर भक्तों को किसी प्रकार से भी दुःखों से बचाते हैं। जैसे बलि के हित के लिये बलि का बन्धन, वामन रूप से किया, जिससे आप 'ऊरुक्रम' कहलाते हैं।

(११) ईश्वर (सफेद और काले बाल वाला सङ्कर्षण) मस्तक की रक्षा करे। वह मुख्य होने के कारण 'शिर' की रक्षा करे यह प्रार्थना योग्य ही है ॥ २२ ॥

इस प्रकार चरणों से मस्तक तक रक्षा के लिये की हुई प्रार्थना का निरूपण २२वें श्लोक में किया। अब पुरुष के जिस जिस बाहर के भागों के जो जो प्रेरक देव हैं, वे देव उस भाग की रक्षा करें। इस प्रकार की प्रार्थना इस २३वें श्लोक 'चब्रयग्रतः' में करती है।

**श्लोकः —** चक्रयग्रतः सहगदो हरिस्तु पश्चात् त्वत्पाश्वर्योर्धनुरसी मधुहाजनश्च ।

कोणेषु शङ्ख उरु गाय उपर्युपेन्द्रस्ताक्षर्यः क्षितौ हलधरः पुरुषः समन्तात् ॥ २३ ॥

**श्लोकार्थ —** चक्रधर भगवान् आगे, गदाधर भगवान् पीछे, धनुषधारी मधुसूदन भगवान् और खड्गधारी अजन् भगवान् दोनों पार्श्वों (पसलियों) में, शंखधर उरुगाव भगवान् कोनों में, उपेन्द्र गरुड़ भगवान् ऊपर, हलधर भगवान् पृथ्वी पर, पुरुष भगवान् चारों तरफ रक्षा करें ।

**सुबोधिनी —** एवं पादादिशिरोन्तानां रक्षा प्रार्थनया निरूपिता, बाह्यतः परितो रक्षामाह चक्रयग्रत इति, पुरुषस्य यावन्तो भागा बहिर्भवन्ति तेषु तत्र तत्र प्रयोजको रक्षत्विति प्रार्थयन्ति, चक्री चक्रपाणिश्चक्रं गृहीत्वाग्रे रक्षतु पूर्वभागं परिपालयतु, सहगदो गदाधरो गदासहितः पश्चादव्यात् पृष्ठभागं परिपालयतु, ननु महतः कथं पृष्ठभागपरिपालनमुच्यते तत्र प्रार्थनया हेतुमाह हरिस्त्विति, स हि सर्वदुःखहर्ता, यथा वा प्रार्थनया गजेन्द्रमागत्योद्धृतवान् न तु वैमनस्य विचारितवान्, अत इदानीमपि प्रार्थनया पश्चाद्धरिः स्वयमस्तु स्थितः सन् पालयत्वित्यर्थः, त्वत्पाश्वर्यो-र्दक्षिणवामयोर्धनुर्धरोसिधरश्च मधुसूदनोजनश्चाव्यात्, दक्षिणपार्श्वे धनुर्गृहीत्वा रक्षसांस्तत्रत्यान् दूरदेव (मधुहा) मारयतु, अजन् उत्तरपार्श्वे सर्वज्ञानिसेव्यः सर्वेषां

जन्मादिसर्वदुःखनाशकोऽसि गृहीत्वाविद्याछेदकोऽव्यात्, आयुधयोरपि स्वतःसामर्थ्यं द्योतयितुं भिन्नतया निरूपणं, चकारादुत्तरभागस्थिता हरिर्बर्षादिमूर्तयोपि पालयन्त्वित्युक्तं, कोणेषु चतुर्षु विदिक्षु शङ्खं गृहीत्वोरुगायश्चावतु, शब्दो हि स सर्वेषां दैत्यानां दर्पहन्ता "विष्णोर्मुखोत्थानिलपूरितस्ये" तिवाक्यात्, अत एव प्रत्येकं कोणेषु भिन्ना निरुक्ताः, सोऽप्युरुगाय उरुभिर्नारदादिभिर्गीयत इति, अत एकेनैव सर्वत्र रक्षा सम्भवति, उपर्युपेन्द्रस्ताक्षर्यो-व्यात्, गरुडारूढो मन्वन्तरावताररूपः, गरुडस्यापि रक्षकत्वं, उभावप्युपर्येव भवतः, क्षितौ हलधरो हलं गृहीत्वा सङ्कर्षणोद्योभागे पालयतु, एवं प्रत्येकं रक्षामुक्त्वा सामान्यत आहुः पुरुषः समन्तादिति, पुरुषो नारायणः समन्तात् पालयतु, यस्योदरे सर्वे वर्तन्त इति स हि सर्वत्र तिष्ठति ॥ २३ ॥

**व्याख्यार्थ —** पुरुष के जितने वा जो जो भाग बाहर हैं उनकी वे नियन्ता रक्षा करें इस प्रकार की प्रार्थना करती हैं ।

चक्रधारण करने वाले भगवान् (चक्र धारण कर) आगे के भाग का पालन करें, गदाधर हरि (गदा धारण कर) पीछे के भाग की रक्षा करें । पीछे के भाग की रक्षा के लिये महान् को कैसे कहती हैं ? इस शंका के समाधान के लिये ही शुकदेवजी ने गदाधर को पीछे की रक्षा की प्रार्थना की है, जैसे गजेन्द्र के प्रार्थना करने पर, वैमनस्य का विचार न कर, तुरन्त आकर उसकी रक्षा की; क्योंकि आप 'सर्व दुःख हर्ता' हैं वैसे ही अब भी, प्रार्थना से स्वयं हरि यहाँ, पीछे स्थित होकर पालन करें, तेरी दोनों (बायें और दाहिने) पसलियों की धनुर्धारी मधुसूदन और असिधारी अजन् रक्षा करें, अर्थात् दाहिनी तरफ धनुष लेकर वहाँ स्थित रक्षकों को दूर से ही मधुसूदन भगवान् मारें । बायें तरफ सब ज्ञानियों के सेव्य, सब के जन्मादि, सब प्रकार के दुःखों

के नाशक, अजन<sup>१</sup> भगवान् खड्ग लेकर अविद्या (अज्ञान) नाश करता हुआ रक्षा करे। प्रत्येक आयुध की सामर्थ्य दिखाने के लिये ही हर एक आयुध का भिन्न-भिन्न नाम दिया है। श्लोक में दिये हुए 'च' शब्द का भावार्थ बताते हैं कि 'च' शब्द से गोपियों ने उत्तर की ओर स्थित हरिवर्य आदि स्वरूपों की ही रक्षा के लिये प्रार्थना की है।

उरुगाय भगवान् शङ्ख धारण कर चारों कोनों में तेरी रक्षा करे, वह शब्द (शङ्ख<sup>२</sup> की ध्वनि) सब दैत्यों के दर्प (अभिमान) का हरण करने वाला है। (विष्णोर्मुखोत्थानिलपूरितस्येति वाक्यात्) क्योंकि शास्त्र में कहा है कि विष्णु भगवान् के मुख से निकले वायु से भरे हुए शङ्ख (एक एक कोने में जुड़े जुड़े शंख कहे हैं) का वायु प्रत्येक कोने में यह कार्य (दैत्य नाश) करता है, इसलिये इसी एक से ही सब जगह रक्षा होती है। ऊपर के भाग में गरुड़ पर बिराजमान मन्वन्तर का अवतार रूप उपेन्द्र और रक्षक होने से गरुड़ भी रक्षा करे। इस प्रकार हर एक को रक्षा की प्रार्थना कह कर अब मामूली तौर से कहती हैं कि पुरुष नारायण सब जगह रक्षा करे क्योंकि उसके उदर में सब निवास करते हैं और वह सब ठौर है ॥ २३ ॥

इस प्रकार बाहर की रक्षा कह कर अब २४वें श्लोक में आध्यात्मिक<sup>३</sup> के अंशरूप<sup>४</sup> प्राण<sup>५</sup> की रक्षा का निरूपण करते हैं।

**श्लोक: — इन्द्रियाणि हृषीकेशः प्राणान् नारायणोवतु ।**

**श्वेतद्वीपपतिश्चित्तं मनो योगेश्वरोवतु ॥ २४ ॥**

**श्लोकार्थ —** हृषीकेश इन्द्रियों की, नारायण प्राणों की, श्वेतद्वीप के पति चित्त की और योगेश्वर मन की रक्षा करें।

- १ — लेख — 'अजन' नाम का भाव बताते हैं कि जिसके विराजते ही अविद्या (अज्ञान) नाश हो जाता है इसलिये वह ही ज्ञानियों के सेव्य एवं सब के दुःखों का नाश करने वाले अर्थात् अज्ञान नाश कर, आनन्द देने वाले हैं।
- २ — लेख — शङ्ख स्पर्श से ध्रुव में वाक्शक्ति आई। निबन्ध में कहा है कि शङ्ख में 'आसन्य' वायु रहती है इसलिये उसमें सर्वशक्ति है। इससे वह दैत्य मद नाश में समर्थ है।
- ३ — प्रकाश — आध्यात्मिक के अंशरूप अक्षर ब्रह्म के अंशरूप।
- ४ — लेख — इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण का संघात (समूह) आध्यात्मिक है और इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण अलग अलग उसके अंश कहलाते हैं।
- ५ — लेख — प्राण शब्द से इन्द्रियां समझनी क्योंकि 'तथा प्राण' इस ब्रह्मसूत्र में और श्रुति में प्राण शब्द इन्द्रियों का उपलक्ष्यक माना गया है।

सुबोधिनी — एवं बाह्यरक्षामुक्त्वाध्यात्मिकांशभूतानां प्राणादीनां रक्षामाहुरिन्द्रियाणीति हृषीकाणामिन्द्रियाणामेव नियामकत्वेन स्थितः, 'अव्यादि' ति पूर्वेण सम्बन्धः, इन्द्रियाणि दश, चक्षुषश्चक्षुरूपत्वाद् भगवतः प्राणान् नारायणो वतु, प्राणापानादयो दश प्राणाः, नारं जीवसमूहस्तदयति प्रेरयति प्रविशतीति वा, प्राणमूलकं हि

सर्वमतो नारायणात् प्राणरक्षा, अन्तःकरणचतुष्टयस्य स्वच्छं श्वेतद्वीपपतिर्वासुदेवः श्वेतद्वीपस्य शुद्धसत्त्वरूपत्वाच्चित्तरक्षकश्च स भवत्येव, अनिरुद्धो योगिभिः संराध्यः, अतो योगीश्वरो मनोव्यात्, योगशास्त्रं च मनोमूलकमेव ॥ २४ ॥

व्याख्यार्थ — इन्द्रियों का ईश (इन्द्रियों को नियम में रखने वाला) भगवान् नेत्रों का भी नेत्र होने से (इस प्रकार दश इन्द्रियों की इन्द्रियाँ आप हैं) दश इन्द्रियों की रक्षा करे। बालकरूप भगवान् के प्राणापानादि दश प्राणों की जीव समूह को प्रेरणा करने वाला व उसमें प्रवेश करने वाला नारायण भगवान् रक्षा करे क्योंकि सब के प्राणों की जड़ आप हैं एवं सबके जीवन की जड़ भी प्राण हैं इसलिये नारायण से प्राण रक्षा होती है। श्वेत द्वीप शुद्ध सत्त्वरूप है इसलिए शुद्ध सत्त्व का स्वामी ही चित्त (अन्तःकरण चतुष्टय) अर्थात् मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त की रक्षा करे, वासुदेव<sup>१</sup> ही चित्त रक्षक है। योगियों के सेव्य योगीश्वर अनिरुद्ध भगवान् मन की रक्षा करे। योगशास्त्र का मुख्य विषय मन आदि की स्थिरता होने से योगशास्त्र को मनोमूलक कहा गया है ॥ २४ ॥

श्लोकः — पृश्निगर्भस्तु ते बुद्धिमात्मानं भगवान् परः ।

क्रीडन्तं पातु गोविन्दः शयानं पातु माधवः ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ — पृश्निगर्भ (प्रद्युम्न) तेरी बुद्धि की, पर संकर्षण भगवान् अहंकार की, खेलते समय गोविन्द और सोते समय माधव रक्षा करे।

सुबोधिनी — बुद्धि प्रद्युम्नः सर्ववंशकर्ता प्रथमं पृश्निगर्भो जात इति स एवावतु, आत्मानमहङ्कारं भगवान् संकर्षणोवतु, स चात्मात् परश्चतुर्मातृयुक्तः, आत्मानं जीवरूपं च परः पुरुषोत्तमोव्यात्, देहं च भगवान् सर्वनियामकोव्यादात्मानमेव वा भगवानव्यादिति, कृत्रिमभगवत्त्वव्यावृत्त्यर्थं

पर इति, सर्वावस्थासु रक्षां प्रार्थयन्ति क्रीडन्तं बालकलीलया शृङ्गयान्यादिष्वपि गच्छन्तं गोविन्दः पातु, यस्तु सदा गवामिन्दो गुप्ततया रक्षकः, शयानं माधवः पातु, लक्ष्म्यास्तत्र प्रयोजकत्वात् ॥ २५ ॥

व्याख्यार्थ — सब के वंश को बढ़ाने वाला, पहले पृश्नि के गर्भ से प्रकट हुवा प्रद्युम्न ही बुद्धि की रक्षा करे ! आत्मा<sup>२</sup> (अहंकार) की भगवान् संकर्षण रक्षा करे। यह संकर्षण उस

१ — लेख - 'यदाहुः वासुदेवाख्यं' श्लोक से सम्मति बताई है। अर्थात् शुद्ध सत्त्व (वासुदेव) ही अक्षर रूप का चित्त है इसलिये वह चित्त की रक्षा करे।

२ — श्री आचार्यवरणों ने 'आत्मा' शब्द के अहंकार, जीव और देह अर्थ किये हैं इसलिये 'आत्मानं भगवान् परः' पाद का भिन्न-भिन्न अर्थ समझाया है। (अनुवादक)

(१) प्रद्युम्न से पर<sup>१</sup> अर्थात् श्रेष्ठ है, (२) आत्मा (जीव रूप) की (पर पुरुषोत्तम) रक्षा करे, (३) आत्मा (देह) की, सब का नियमन करने वाला भगवान् रक्षा करे, अथवा भगवान् आत्मा की रक्षा करे। यह भगवान् कृत्रिम नहीं है, इसलिये इस (भगवान्) को पर (सब से श्रेष्ठ) कहा है। अब हर अवस्था में अर्थात् सब अवस्थाओं में रक्षा की प्रार्थना करती है कि बाललीला (खेल) करते समय जहाँ भी पर्वत, अग्नि आदि की ओर जावे, तो वहाँ भी गुप्त रीति से स्थिति कर रक्षा करने वाले गौओं का इन्द्र, गोविन्द रक्षा करे। सोते हुए की माधव (लक्ष्मीपति) रक्षा करे। माधव नाम का भाव बताते हैं उस समय लक्ष्मी प्रयोजक है ॥ २५ ॥

श्लोकः — व्रजन्तमव्याद् वैकुण्ठस्त्वासीनं त्वां श्रियः पतिः ।

मुञ्जानं यज्ञभुक् पातु सर्वग्रहभयंकरः ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ — चलते हुए की वैकुण्ठ भगवान्, बैठते हुए की लक्ष्मीपति और भोजन करते हुए की सब ग्रहों को भयकारक, यज्ञ भोक्ता तेरी रक्षा करे।

सुबोधिनी - व्रजन्तं शनैर्बाललीलया गच्छन्तं वैकुण्ठः पातुः स हि गतिदानार्थमेव वैकुण्ठं निर्माय स्थितः, अनेन सर्वत्र पदस्थापने कोमलत्वादिसुखदो भवत्विति प्रार्थितं, आसीनमुपविष्टं त्वां लक्ष्मीपतिरवतु, स हि लक्ष्मीविवाहसमय उपविष्टो लक्ष्म्या वृतः, तादृशभावापन्नः सर्वसौभाग्ययुक्तो लक्ष्मीपतिरसीनमवतु, सर्वमिव जगद् भगवत्युपविश्य तिष्ठतीति, तदर्थमाह त्वामिति, एवं देहावस्थाचतुष्टयमुक्त्वा क्रियावस्थामाह मुञ्जानमिति, स्तन्यं दुग्धादिकं वा स्वतश्चौर्यादिना वा,

यज्ञभोक्ता विष्णुः पातु, भोजने क्रियायां कालफलनियामका ग्राहाः सन्ति, तैस्त्वर्थं स्वकालोद्धवं फलं देयमित्याशङ्क्याह सर्वग्रहभयंकर इति, सर्वेषां ग्राहणां कालक्रियाद्रव्यादिनियामकानां नवग्रहाणां भयजनको भवति, अन्यथा यज्ञादीनां फलदातृत्वं न स्यात् ततत्कालफलमेव तेषां स्यात्, अतो यदा यज्ञभोक्ता फलं प्रयच्छति तदा ग्रहा निवृत्ता भवन्ति, निवृत्तिरपि न वचनादिना किन्तु रूपमेव दृष्ट्वा भीता निवृत्ता भवन्ति, तत उक्तं भयंकर इति ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ — बाललीला करते हुए धीरे-धीरे जाते हुए तेरी वैकुण्ठ रक्षा करे क्योंकि वह चलने में वेग (सुख) देने के लिये ही वैकुण्ठ बनाकर स्थित है। इस प्रकार वैकुण्ठ (भगवान्) को प्रार्थना करने का आशय यह है कि जहाँ भी बालक चरण धरे, वह पृथ्वी कोमल गुणवाली होकर, वैकुण्ठ के समान सुखदायी होवे। बैठे हुए तुझे लक्ष्मीपति रखे (तेरी रक्षा करे) वह (लक्ष्मीपति) लक्ष्मी के विवाह के समय, लक्ष्मी के साथ जिस भाव से बैठा था उस भाव को प्राप्त, सर्व सौभाग्य पूर्ण लक्ष्मीपति, बैठे हुए की रक्षा करे। सारा जगत् भगवान् में ही स्थित होकर रहता है इसलिये कहा 'तुझे'।

१ - प्रकाश - 'चतुर्भूति' (वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध) में संकर्षण नाम प्रद्युम्न से पहले आया है। इसलिये सुबोधिनीजी में संकर्षण को प्रद्युम्न 'पर' कहा है।

२ - लेख - सुबोधिनीजी में जहाँ संकर्षण को प्रद्युम्न से 'पर' कहा है वहाँ आचार्यश्री ने 'च' दिया है उसका आशय लिखते हैं कि 'च' देने का आचार्यश्री का अभिप्राय है, कि संकर्षण।

इस प्रकार देह की चारों अवस्थाओं को बताकर, अब क्रिया की अवस्था कहते हैं कि सहज रीति से वा चोरी आदि से प्राप्त स्तन्य अर्थात् दुग्ध आदि भोज्य<sup>१</sup> की यज्ञ भोक्ता विष्णु रक्षा करे। भोजन में और क्रिया में काल और फल के नियामक ग्रह हैं। अर्थात् ग्रह ही कालानुसार भोजनादि क्रिया में फल दाता हैं इसलिये वे ग्रह अवश्य फल देंगे। इस भय को मिटाने के लिये ही गोपियों ने भोजनादि में रक्षा करने को यज्ञभोक्ता विष्णु को प्रार्थना की है, क्योंकि काल, क्रिया, द्रव्य आदि के नियामक नव ग्रह उससे डरते हैं। यदि वे ग्रह, विष्णु से डरते न होते तो, यज्ञादि का फल ही न होता। ग्रहों के अनुसार फल होता, किन्तु ऐसा होता नहीं है। इससे जब यज्ञभोक्ता फल देता है तब ग्रह निवृत्त हो जाते हैं। ग्रहों की निवृत्ति वचनों से नहीं किन्तु विष्णु के केवल स्वरूप देखने से ही डरकर निवृत्त होते हैं (भाग जाते हैं)। इसलिये कहा है कि 'सर्वग्रहभयङ्करः' विष्णु यज्ञभोक्ता, सर्व ग्रहों के लिये भयङ्कर है। सांश यह है कि जिनकी वे रक्षा करते हैं वहाँ वे ग्रह कुछ नहीं कर सकते हैं ॥ २६ ॥

इस प्रकार सहज (स्वाभाविक) दोषों को निवृत्त करने वालों की प्रार्थना कर, अब आगन्तुक (आने वाले) दोषों की तीन श्लोकों से गणना करती हुई कहती हैं कि भगवान् का नाम उच्चारण करने से ही वे दोष स्वयं मिट जायेंगे।

श्लोकः — डाकिन्यो यातुधान्यश्च कूष्माण्डा येर्भकग्रहाः ।  
भूतप्रेतपिशाचाश्च यक्षरक्षोविनायकाः ॥ २७ ॥  
कोटरारेवतीज्येष्ठापूतनामातृकादयः ।  
उन्मादा ये ह्यपस्मारा देहप्राणेन्द्रियद्रुहः ॥ २८ ॥  
स्वप्नदृष्टा महोत्पाता वृद्धबालग्रहाश्च ये ।  
सर्वे नश्यन्तु ते विष्णोर्नामग्रहणभीरवः ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ — डाकिनी, राक्षसियाँ, कूष्माण्ड, बालग्रह, भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस, विनायक, कोटर, रेवती, ज्येष्ठा, पूतना मातृका प्रभृति, उन्माद, अपस्मार, अन्य जो देह, प्राण एवं इन्द्रियों के द्रोही हैं तथा स्वप्न में देखे हुए महान् उत्पात, वृद्ध और बालकों के ग्रह, वे सब विष्णु के नाम से डरने वाले होने के कारण, विष्णु के केवल नाम लेने से ही भाग जावें।

सुबोधिनी — एवं सहजदोषाणां निवर्तकैर्निवृत्ति प्रार्थयित्वा गन्तुकान् दोषान् गणयन्त्यः स्वत एव तेषां भगवन्नामोच्चारणेन निवृत्तिमाहुर्डाकिन्य इति त्रिभिः, एके महादेवसम्बन्धिनो दोषाः स्थूला अन्य आध्यात्मिका मध्यमास्ततोऽप्याधिभौतिका निकृष्टाः, स्वप्नादिष्वेव तेषां भयजनकत्वं, डाकिन्यः स्त्रिय एव दुष्टा दास्य इव पतिरहिताः सेनारूपाः, यातुधान्यो यक्षादिस्त्रियः चकारात् तद्वान्तरभेदाः, कूष्माण्डादयः पुरुषाः कुत्सितो य ऊष्मा तत्कृता अण्डा इव ये भवन्ति, कूष्माण्डशब्दो यौगिको दुष्टमहादेवगणवाचकः, प्रलये तेषां विनियोगः, रूढो लौकिकः, नैमित्तिको वैदिकः, अतो दोषगणनायां तदुभयव्यावृत्त्यर्थं य इत्युक्तः अर्भकग्रहा अर्भकरूपा ग्रहाः, तेषां पिशाचविशेषाः, बालका एव भूत्वा सर्वान् गृह्णन्ति, भूतप्रेतपिशाचाः प्रसिद्धा यक्षरक्षांसि च, विनायका विघ्नकर्तारः, ते सञ्छिन्नाभिन्ना भवन्तीति तेषामधिपतिविनायक उक्तः स तु न क्वापि स्वत आयातीति तन्निवृत्त्यर्थं य इत्यत्राप्यनुसन्धेयम् ॥ २७ ॥ ततो हीनाः स्वतन्त्रस्त्रीरूपाः, कोटय पूर्वदेशे "कुवरे" ति प्रसिद्धा, तथा रेवती, रेणुकेति केचित्, ज्येष्ठा दक्षिणदेशे प्रसिद्धा, पूतनेयमेव, अज्ञानात् कीर्तनं, वस्तुतस्त्वेते मन्त्रास्ते च यादृशास्तादृशा एव कीर्तनीयाः, अन्यथा "मन्त्रो हीनः स्वस्तो

वर्णतो वे"ति वाक्यान्मन्त्रस्यान्यथात्वेन रक्षोपयोगित्वं न स्यात्, तेन तथा कीर्तनं तज्ज्ञानेऽपि, अत एवाप्रस्तुतस्यापि वृद्धग्रहस्य कीर्तनं, मातृकाः षोडश प्रसिद्धाः, आदिशब्देन सर्वा एव ग्रामदेवताः, एतावत्यः स्त्रियः, उन्मादादयः पुरुषाः, उदगतो मादो यैः, यतः प्राणिन उन्मत्ता भवन्ति, य इति रोगव्यावृत्त्यर्थं, अपस्माराऽपि बुद्धिभ्रंशहेतवः, यतो रोगरूपा अपि भवन्तीति य इति तेष्वपि ग्रहणं, उभयेषामुभयत्वं लोकसिद्धमिति तद्व्यावृत्तिर्युक्तैव, त्रिविधानन्यानाह देहप्राणेन्द्रियद्वय इति, केचिद् देहद्रोहं कुर्वन्ति येन देहे निरन्तरं पीडा भवति तथा प्राणेषु येन क्षुधादिर्न भवतीन्द्रियाणां च स्त्रावबाधिर्यादि ॥ २८ ॥ भौतिकानाह, स्वप्नदृष्टाः स्वप्न एव भयपलायन-शिरश्छेदादिदर्शनहेतवो महोत्पाताश्च, तेषां लक्षणं स्वप्नाध्याये भवति, वृद्धबालग्रहाश्च भवन्ति, नियतास्ते भगवदीयं भ्रामयन्त्येव, अतः पिशाचवद् भ्रान्तवद् वृद्धो बालश्च तिष्ठति, अत्रापि कालरोगव्यावृत्त्यर्थं य इति, एवं सर्वाननूद्य विनियोगमाहुः सर्वेति, उक्ता अनुक्ताश्च ते सर्वेऽस्मद्वाक्यात् स्वत एव नश्यन्तु पलायन्तां, तेषां निवृत्तौ नाधिकः प्रयास इति विशेषणमाह नामग्रहणमात्रेणैव भीरव इति, विष्णोस्ते तवैव नामग्रहणेन न ते तिष्ठन्ति कुतः पुनस्त्वत्समीप इत्यतोऽस्माभिर्वचनादेव निराक्रियन्ते ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ — कितने ही महादेव सम्बन्धी स्थूल दोष हैं, दूसरे आध्यात्मिक मध्यम दोष हैं, तीसरे स्वप्न में डरनेवाले आधिभौतिक क्षुद्र (तुच्छ) दोष हैं। डाकिनी (चुडेल) दासियों की तरह पति रहित दुष्ट स्त्री जाति सेना सदृश है। (यातुधान्यः) रक्षसियाँ यक्षों की स्त्रियाँ हैं। श्लोक में दिये हुए 'च' का आशय है कि यातुधानियाँ अन्य प्रकार की भी होती हैं। 'कूष्माण्ड' महादेव के गणों में दुष्टगण पुरुष रूप हैं। कूष्माण्ड शब्द का यौगिक अर्थ कर, उनकी उत्पत्ति एवं आकृति बताते हैं कि बुरे, गरमी से पैदा हुए अंडों के समान आकृति वाले पुरुष रूप को कूष्माण्ड कहते हैं। प्रलय के समय इनसे काम लिया जाता है। 'कूष्माण्ड' यह लौकिक रूढ़ नाम है। 'कूष्माण्ड' यह नैमित्तिक नाम होने से, 'वैदिक' भी है। वैदिक से पृथक् दोष वाला 'कूष्माण्ड' अन्य है, यह बताने के लिये श्लोक में 'ये' शब्द दिया है, अर्थात् जो 'कूष्माण्ड' दोष वाले, दुष्टगण हैं उनका यहाँ निरूपण है, लौकिक और वैदिकों का नहीं। 'अर्भक ग्रहा' अर्भक रूप ग्रह, पिशाच

१ — प्रकाश — विवाहादि संस्कार के समय, अशौच की संभावना होती है, तो विवाहादि संस्कार में अशौच से रुकावट न पड़े, इसलिये वैदिक मन्त्रों से 'होम' किया जाता है, उस होम को 'कूष्माण्ड' कहते हैं इसलिये 'कूष्माण्ड' यह शब्द वैदिक भी है।



जाति के हैं वे बालरूप धारण कर सब को पकड़ते हैं। भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, राक्षस और विनायक विघ्न करने वाले प्रसिद्ध हैं। वे छेद वाले छिन्न भिन्न होते हैं। उनका अधिपति विनायक कहा है। वह तो स्वयं कहीं भी नहीं आता है। 'विनायक' नाम से कोई गणेश न समझें, इसलिये श्लोक में दिये 'ये' शब्द का यहाँ भी उपयोग करना अर्थात् 'ये' (जो) शब्द देकर यह बताया कि यहाँ दिये 'विनायक' शब्द से गणेश न समझना क्योंकि ये विनायक तो विघ्न करने वाले हैं और वह विनायक (गणेश) तो विघ्नविनाशक है ॥ २७ ॥

उनसे (२७वें श्लोक में कहे हुआ से) क्षुद्र<sup>१</sup> स्वतंत्र<sup>२</sup> स्त्री रूप कोटरा नामक है जिनको पूर्व दिशा में कुठारे नाम से जानते हैं। तैसे 'रेवती' कोई उनको रेणुका कहते हैं। 'ज्येष्ठा' दक्षिण देश में प्रसिद्ध है 'पूतना' तो यही है किन्तु गोपियों ने अनजान में इसका भी नाम कह दिया है (जो कहना न चाहिए था)।

यथार्थ<sup>३</sup> में तो ये मन्त्र हैं, इसलिये जैसे हैं वैसे ही पढ़ने चाहियें, नहीं तो उनका फल नहीं मिलेगा, क्योंकि शास्त्र में कहा है कि यदि स्वर का वर्ण आदि से न पढ़ा जाएगा तो वह मन्त्र व्यर्थ<sup>४</sup> होगा, अर्थात् इससे कोई लाभ न होगा। इसलिये मन्त्र का जो रूप हो उस प्रकार ही उसका कीर्तन ज्ञान सहित करना चाहिये।

पूतना की तरह, वृद्ध ग्रहों का कीर्तन भी सम्बन्ध बिना किया है। सोलह मातृकाएँ तो प्रसिद्ध हैं किन्तु श्लोक में दिये हुए आदि शब्द से सब ग्रामदेवियाँ समझनीं, ये सब स्त्रियाँ हैं। उन्मादि पुरुष हैं। ये पुरुषों को पागल बना देते हैं। 'अपस्मार' भी समझ नाशकर मिरगी आदि अचेतनता<sup>५</sup> के रोग करते हैं। वे दोनों ही, दोष और रोगरूप हैं इनको हटाना आवश्यक है। अन्य भी तीन तरह के — देह, प्राण और इन्द्रियों को दुःख देने वाले हैं। इनसे देह में सदैव पीड़ा रहती है, प्राणों में व्याकुलता<sup>६</sup> से भूख नहीं लगती है और इन्द्रियाँ निर्बल होती जाती हैं जिससे अधिरता आदि होती है ॥ २८ ॥

भौतिक दुःखों को कहते हैं — स्वप्न में देखे गए जैसे डर, भागना, शिरच्छेद और महान् उत्पात आदि दुःख। इनके लक्षण स्वप्नाध्याय में कहे गए हैं। वृद्धग्रह और बालग्रह अभक्तों को भ्रमित करते हैं वे पिशाच की नाई तथा भ्रान्त के समान वृद्ध और बालरूप होकर फिरते हैं। यहाँ भी जो श्लोक में 'ये' (जो) शब्द दिया है उसका आशय यह है कि ऊपर कहे हुए काल, रोग करने वाले नहीं हैं। इस प्रकार सब का वर्णन कर फिर सर्वे शब्द देने का तात्पर्य है कि जो कहे गये अथवा जो नहीं कहे गये हैं वे सब हमारे वचनों से आप ही निवृत्त हो जाओ, भाग जाओ। उन्हीं के लिये अधिक परिश्रम करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि केवल नाम

ग्रहण से ही वे डर जाते हैं। किसके नाम ग्रहण से डरते हैं ? इसके उत्तर में वे कहती हैं कि तेरे नाम ग्रहण से। कारण कि आप विष्णु (सर्वत्र व्यापक) हो। जब कि नाम लेने से ही डर कर भाग जाते हैं तो आपके बिराजते हुए आपके सामीप्य (निकट) में कैसे ठहरेंगे। इस कारण से हम उनका अपने वचनों से ही निराकरण करती हैं ॥ २९ ॥

इस तरह सब प्रकार से गोपियों ने तीन तरह की रक्षा की। इसके बाद जो कुछ हुआ उसका वर्णन इस श्लोक में शुकदेवजी करते हैं।

श्रीशुक उवाच

श्लोकः — इतिप्रणयबद्धाभिर्गोपीभिः कृतरक्षणम् ।

पाययित्वा स्तनं माता सन्न्यवेशयदात्मजम् ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ — इस प्रकार स्नेहबद्ध गोपियों द्वारा रक्षा किये हुए पुत्र को माता यशोदा ने स्तन पान कराके शयन कराया।

सुबोधिनी — एवं सर्वप्रकारेण त्रिविधामपि रक्षां कृतवत्यस्ततो यज्जातं तदाहेतीति, प्रणयेन स्नेहेन बद्धाभिर्न तु लौकिकन्यायेन बद्धपदात्र प्रेरणया नापि निवास्तास्तिष्ठन्तीति ज्ञापितं, गोपीभिरितिपुनर्वचन मध्ये ब्राह्मणादिशिक्षया कृतमितिव्यावृत्त्यर्थ, कृतं रक्षणं यस्य, रक्षाबन्धनादिकमपि कृतमिति ज्ञायते, पूतनास्त-नपानेनाजीर्णशङ्कां व्यावर्तयति पाययित्वा स्तनमिति, माता यशोदा, गोपिकादीनां भाव्यर्थज्ञानात् स्तनादानं, अनुपद्रवज्ञापकं च स्तनपानं, आत्मजं पुत्रं, सन्न्यवेशयत् सम्यक् पत्यङ्गे न्यवेशयच्छयितवती ॥ ३० ॥

व्याख्यानार्थ — गोपियों ने लौकिक न्याय से (सम्बन्ध आदि से अथवा किसी की प्रेरणा से रक्षा नहीं; किन्तु सहज स्वाभाविक स्नेह से बद्ध होकर) रक्षा की थी। इसलिये किन्हीं के हटाने से भी वे हटने वाली नहीं थीं। १८वें श्लोक में कहा गया है कि यह रक्षा, गोपियों ने ही की, फिर भी यहाँ श्लोक में, 'गोपीभिः' (गोपियों ने) शब्द देने का आशय यह है कि गोपियाँ तो स्वयं रक्षा कर रही थीं, किन्तु कोई यों न समझे कि बीच में ब्राह्मणों ने उनको शिक्षा दी होगी कि रक्षा करो, इस शङ्का को मिटाने के लिये, यहाँ फिर 'गोपीभिः' (गोपियों ने) पद दिया है। गोपियों ने न केवल वाणी से रक्षा की, किन्तु हाथों से रक्षा बन्धन आदि भी किया था, यों समझा जाता है। माता यशोदा ने स्तनपान कराके यह बताया कि पूतना के पयःपान से मेरे लाला को अजीर्ण आदि कुछ दुःख नहीं हुआ है। गोपिकाओं को भावी अर्थ (भविष्य) का ज्ञान था, इसलिये उन्होंने स्तनपान स्वयं न कराया क्योंकि माता का स्तनपान शान्ति को जताने वाला था। फिर आत्मजं अर्थात् पुत्र को पलङ्ग पर अच्छे प्रकार से सुला दिया ॥ ३० ॥

इस प्रकार की बुद्धि उत्पन्न करने वाला यह भगवान् का चरित्र स्पष्ट निरोध<sup>१</sup> है। ऐसे पूतना वध कर आगे की लीला की सिद्धि के लिये मन्त्रोच्चारण से भली भाँति बचे हुए अज्ञान शेष को स्थापन कर, पूतना के मोक्ष का ज्ञान कराने के लिये, इस श्लोक से अध्याय-समाप्ति तक आगे के चरित्र को कहते हैं।

श्लोकः — तावन् नन्दादयो गोपा मथुराया व्रजं गताः ।

विलोक्य पूतनादेहं बभूवुरतिविस्मिताः ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ — इतने में मथुरा से व्रज में गए (पहुँचे हुए) नन्दादिक गोप, पूतना की देह को देख के अति आश्चर्य में पड़े।

सुबोधिनी — एवं बुद्ध्युत्पादनादेतद् भगवच्चरित्रं निरोधरूपं च स्पष्टमेव, एवं पूतनावधं कृत्वाग्रिमलीला-सिद्ध्यर्थमज्ञानशेषं चाग्रिमन्त्रणादिना सम्यग् जातमिति स्थापयित्वा पूतनाया मोक्षो जात इति ज्ञापनार्थमग्रिम-चरित्रमारभते तावदिति यावदध्यायसमाप्तिः, देहसौरभ्येण हि मुक्तेति ज्ञातव्यं, रूपदर्शनाद् भयं जायत इति गन्धाग्रहश्च, तद् दाहे स्पष्टं भवति, तद्दाहश्च प्रभुसाध्यः, अतो नन्दागमनमाह तावदिति, यावद् गोप्य एतावत् कृतवत्यस्तावत्काले जाते

मथुरायां गता नन्दादयः पूर्वोक्तगोपिकानां पत्नयो गोपिकाप्राधान्यात् प्राधान्येनोक्ताः, मथुरायाः सकाशाद् व्रजं गताः, शुकस्तत्रैव भगवति स्थित्वा वदतीति गता इत्युक्तवान्, तादृशं पूतनादेहं विलोक्य-तिविस्मिता जाता लौकिकं न स्मृतवन्तः, अन्यथा तेषां निरोधो न स्यात्, बालक्रीडायां तेषामासक्तिर्न वक्तव्येति तदर्थं व्यापारान्तरं कर्तव्यमिति ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ — पूतना के रूप दर्शन से तो, भय उत्पन्न होता है अर्थात् इससे यों समझ में आता है कि पूतना का मोक्ष नहीं हुआ है, इस शङ्का को मिटाने के लिये, पूतना के देह के जलने से उत्पन्न हुए गन्ध से, उसके मोक्ष का ज्ञान होगा, इसलिये उसका आग्रह किया जाता है। उसके जलाने पर सब को स्पष्ट सुगन्ध मिलेगी। उसको (पूतना को) जलाना साधारण मनुष्य का काम नहीं था। ऐसी विशाल देह को जलाने वाला कोई बलवान होना चाहिये जिससे यह जलाई जाएगी। जब तक गोपियों ने यह सब कृत्य किया तब तक तो नन्दादिक मथुरा में रहे। यहाँ कार्य करने में गोपियाँ प्राधान्य (आगेवान) थीं, इसलिये मथुरा से लौटते समय गोपियों के पतियों के नाम प्रधानता में न देकर नन्द का ही दिया है। शुकदेवजी वहाँ (मथुरा में) ही भगवान् में स्थित होकर कह रहे थे, इसलिये 'व्रजं आगताः' 'व्रज में आये' न कहकर 'व्रजं गताः' 'व्रज को गये' कहा है। नन्दादिक, पूतना के ऐसे रूप को देखकर, अचम्भे में पड़ गये। उस समय सब लौकिक भूल गये। यदि लौकिक स्मृति रहती तो निरोध न होता ॥ ३१ ॥

१ — भक्तों का चित्त संसार से निकाल कर अपने में (भगवान् में) आसक्त करने को 'निरोध' कहते हैं।

भगवान् के इस चरित्र से अविद्यानाश द्वारा भक्तों की संसार विस्मृति पूर्वक भगवान् में आसक्ति हुई।

उन (गोपों) की बालक्रीड़ा<sup>१</sup> में आसक्ति, न कहनी चाहिये (वा न हो) उनके<sup>२</sup> लिये दूसरे प्रकार का व्यापार (लीला) कहना चाहिये । क्योंकि वे प्रमाण परायण हैं अर्थात् प्रमाण के अधिकारी हैं इसका निरूपण ३२वें श्लोक में करते हैं ।

श्लोक: — नूनं बतर्षिः सञ्जातो योगेशो वा समास सः ।

स एव दृष्टो ह्युत्पातो यथाहानकदुन्दुभिः ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ — आहा ! निश्चय रूप से वसुदेवजी तो ऋषि हो गए हैं अथवा वे (वसुदेवजी) योगेश्वर बन गए हैं क्योंकि जैसा उन्होंने कहा वैसा ही उत्पात देखा ।

सुबोधिनी — तेषामत्र प्रमाणपरतामाह नूनमिति, बतेति खेदे, वसुदेवो नूनं ऋषिरेव सञ्जातः, पूर्वं क्षत्रियः स्थित इदानीमृषिर्जातः, ऋषिवाक्यमेव हि प्रमाणं, ननु लौकिके ऋषिप्रयोजकोन्यथा मन्त्राणां लौकिकत्वं स्यादत आह योगेशो वा स सम्यगासेति, योगेश्वरः सर्वं जानन्ति योगचक्षुषा समिति सभायामपि ज्ञानात्, स वसुदेवः प्रसिद्धत्वात्, तस्य तदुचितमिति नासम्भावना, तस्य वाक्यस्य संवादमनुवदन्ति स्वज्ञानदाह्याय यमुत्पातमानकदुन्दुभिर्गृहं स एवास्माभिर्दृष्ट इति, हीति युक्तश्चायमर्थः, “तदुदितः स हि यो यदनन्तरं” इतिन्यायाद् यादृच्छिकसंवादित्वं परिहराहानकदुन्दुभिरिति, आनका दुन्दुभयश्च तस्य जन्मनि नेदुरतः प्रामाणिकमेव तस्य ज्ञानम् ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ — उन (नन्दादि गोपों) की प्रमाण परायणता वर्णन करते हैं । ‘बत’ शब्द से खेद दिखाया है । वसुदेवजी पहले (केवल) क्षत्रिय थे अब तो निश्चय रूप से वे ऋषि (भी) हो गए । ऋषियों का वचन ही प्रमाण माना जाता है । लौकिक में तो ऋषि अप्रयोजक (प्रमाण रूप नहीं) हैं क्योंकि इससे मन्त्र भी लौकिक हो जाएँगे (तो उनकी प्रामाणिकता में संशय रहेगा) । इस (संशय) को मिटाने के लिये कहते हैं कि न केवल ऋषि हुए किन्तु पूरे पूरे योगेश भी हुए हैं । योगेश्वर योग रूप नेत्र से सब देख लेते हैं । सभा आदि में जो कुछ होता है उसका ज्ञान उनको हो ही जाता है । वसुदेवजी के कहने में किसी प्रकार की असम्भावना नहीं करनी चाहिये क्योंकि वसुदेवजी साधारण मनुष्य नहीं हैं किन्तु प्रसिद्ध हैं । हमने जैसा वसुदेवजी का स्वरूप समझा है वह सत्य है इस (ज्ञान) की दृढ़ता के लिये वसुदेवजी के कहे हुए वाक्य को दुहराते हुए कहते हैं कि जिस उत्पात के लिये वसुदेवजी ने कहा था वह उत्पात हमने देखा । श्लोक में ‘हि’ शब्द का भी यह ही आशय है कि वसुदेवजी का कहना युक्त (सत्य) है । ‘तदुदितः स हि यो यदनन्तरं’ जो जिसके पीछे होता है वह उसमें होता ही है । इस न्याय के अनुसार भी यह कहना सत्य है । विशेष में कहते हैं कि उसका कहना प्रामाणिक इसलिये भी है

१ — गोपों की आसक्ति प्रमेय प्रकरण में मध्यलीला में कहनी चाहिये ।

२ — गोपों की आसक्ति सिद्ध करने के लिये आध्यात्मिक अविद्या की निवृत्ति हो जाने के पश्चात् प्रमेय प्रकरण में वर्णन करनी चाहिये । यहाँ केवल प्रमाण परायणता का वर्णन है । - लेख

कि वसुदेवजी के जन्म के समय आनक और दुन्दुभि बजे थे । जिससे उनकी आप्तता प्रकट है ॥ ३२ ॥

श्लोक: — कलेवरं परशुभिश्छित्त्वा ते तु व्रजौकसः ।

दूरे क्षिप्त्वावयवशो ददहः काष्ठवेष्टितम् ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ — (तदनन्तर) उन ग्वालों ने पूतना के शरीर को कुल्हाड़ों से काट के सब अवयव दूर दूर फेंक कर (अलग अलग ढेर बनाकर) उनको लकड़ियों से लपेट कर जला दिया ।

सुबोधिनी — ततः सर्व एव व्यवहारसिद्धयर्थं तस्याः कलेवरं परशुभिश्छित्त्वा छित्त्वावयवशो दूरे क्षिप्त्वा एषीकृत्य गन्धादिव्यावृत्त्यर्थं काष्ठवेष्टितं कृत्वा निर्दहनं (निरदहनं), जले क्षिप्ते राक्षसानां गतिर्दुर्ज्ञेयेति पुनर्जीवेत्, अदाहे वा खण्डशो नयेयुः पश्चाद् योजयेयुः, अतो दाह एवोचित इति तेषां बुद्धिस्तस्या मुक्तिज्ञापनाय भगवता तथा सम्पादितं, भस्मान्त एव मुक्तिरिति श्रुत्यभिप्रायः ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ — इसके पश्चात् सब ग्वालों ने व्यवहार की सिद्धि के लिये, उस पूतना के शरीर को कुल्हाड़ों से काट के अवयवों को दूर फेंक कर ढेर किया । उसकी गन्ध (दुर्गन्ध) न आवे, इसलिये उस ढेर को लकड़ियों से ढक कर जला दिया । पानी में इसलिये नहीं फेंका कि राक्षसों की दुष्टता समझ में नहीं आती है, कदाचित् पानी में फेंकने पर, वह फिर जीवित हो जाय, तो इसलिये जलाना ही अच्छा समझा । जलावे भी नहीं और पानी में भी न डालें, यों ही खंड खंड पड़े छोड़ दिये जायें (गीध आदि खावें) यों करने से कदाचित् राक्षस उन भागों को लेकर जोड़ देवें जिससे वह फिर जीवित हो जावे, इसलिये सब विचार कर उसको जलाना ही उचित समझा । उनकी ऐसी बुद्धि भगवान् ने इसलिये की, कि इसके जलाने से सुगन्धि निकलेगी, तो ये समझेंगे कि इसकी मुक्ति हो गई और श्रुति भी कहती है कि, इस शरीर को भस्म होने के बाद मुक्ति होती है ॥ ३३ ॥

श्लोक: — दह्यमानस्य देहस्य धूमश्चागरुसौरभः ।

उत्थितः कृष्णनिर्भुक्तसपद्याहतपाप्मनः ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ — भगवान् श्रीकृष्ण के उपभोग (स्तन्य पान) करने से, तुरन्त पाप नष्ट वाली पूतना की जलती देह से अगर के समान निकला हुआ धूम ऊपर (आकाश में) जाने लगा ।

सुबोधिनी — तस्या मुक्तिलक्षणमाह दह्यमानस्य देहस्य सम्बन्धी धूमः, काष्ठप्रमव्यावृत्त्यर्थं तथोक्तं, चकारदङ्गाय अपि सोज्ज्वला देहोपि घृतवज् ज्वलतीति ज्ञातव्यं, अगरुजनितधूमवत् सौरभ्यं यस्य सौगरु सौरभः सर्वजनोत्तमार्थमुत्थित ऊर्ध्वगतः, ऊर्ध्वगमनमप्युत्तमगति-ज्ञापकं, ननु दुष्टाया देहस्य कथं तथात्वमित्याशङ्क्य हेतुमाह

कृष्णनिर्धुक्तसपद्याहतपाप्मन इति, यदैव कृष्णेन नितरां भुक्तं तस्याः स्तन्यं प्राणश्च कृष्णभुक्त एव सपदि तस्मिन् कृष्णभुक्तक्षणे इत्यर्थः, सपदीत्यव्ययं, कृष्णभुक्तस्य सपद्यप्यवहितः क्षणस्तस्मिन्नेवासमन्ताद् हतं नष्टं पाप्म यस्य देहस्य, आहतपाप्मां देहः ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ — जलते समय जो धुआँ निकला, वह लकड़ियों का नहीं था, यह बताने के लिये मूल श्लोक में 'दह्यमानस्य देहस्यधूमः' शब्द दिये हैं जिसका अर्थ है कि जलती देह का धुआँ लकड़ियों का है। श्लोक में दिये 'च' अक्षर का आशय बताते हैं कि 'अंगार' भी उजले थे और देह भी घृत के समान जलती थी। अगर के जलने के धूम जैसी, उसके देह के जलने की धूम की सुगन्धि, धुएँ के साथ ऊपर (आकाश की तरफ) जाने लगी। धुएँ का ऊपर जाना, सारी जनता को बताता है कि इसकी ऊर्ध्व (उत्तम) गति हुई है। शंका होती है कि इस दुष्ट की उच्च गति क्यों हुई? इसके मिटने के लिये कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने स्तन्य पान कर, इसके सब पाप क्षणमात्र में नाश कर दिये थे, जिससे यह अब दुष्ट पापिनी नहीं रही, इसलिये इसकी ऊर्ध्व गति हुई, जिसका प्रमाण है कि उसकी पवित्र हुई देह से, अगर जैसी सुगन्धि निकल कर ऊंची जा रही थी ॥ ३४ ॥

३५ से ४० तक छः श्लोक प्रक्षिप्त हैं उन पर व्याख्या प्रक्षिप्त तीन अध्यायों की तरह करनी चाहिये; किन्तु स्पष्ट अर्थ होने से व्याख्या की आवश्यकता नहीं। ३६वें श्लोक में 'तन्मातरो' 'उसकी माताएँ' की व्याख्या अन्य टीकाकार करते हैं 'वसुदेवजी की स्त्रियाँ'।

श्लोकः — पूतनालोकबालघ्नी राक्षसी रु धिराशना ।

जिघांसयापि हरये स्तनं दत्त्वाप सदगतिम् ॥ ३५ ॥

किं पुनः श्रद्धया भक्त्या कृष्णाय परमात्मने ।

यच्छन् प्रियतमं लोके रक्तास्तन्मातरो यथा ॥ ३६ ॥

३५ ३५ ३५ ३५ ३५ ३५ ३५ ३५ ३५ ३५ ३५ ३५

### राग विहागव्ये

रूप मोहनी धरि ब्रज आई ।

अदभुत साजि सिंगार मनोहर असुर कंस दे पान पढ़ाई ।

कुच विष लाई पीस कपट करि बाल घातिनी परम सोहाई ।

बैठी हुती जसोदा मंदिर हुलरावति सूत श्याम कन्होई ।

प्रगट भई तह आनि पूतना प्रेरित काल अवधि निजराई ।

पद्भ्यां भक्तहृदिस्थाभ्यां वन्द्याभ्यां लोकवन्दितैः ।  
 अङ्गं यस्याः समाक्रम्य भगवानपिबत् स्तनम् ॥ ३७ ॥  
 यातुधान्यपि सा स्वर्गमवाप जननीगतिम् ।  
 कृष्णभुक्तस्तनक्षीराः किमु गावो नु मातरः ॥ ३८ ॥  
 पर्यासि यासामपिबत् पुत्रस्नेहस्तुतान्यलम् ।  
 भगवान् देवकीपुत्रः कैवल्याद्यखिलार्थदः ॥ ३९ ॥  
 तासामविरतं कृष्णे कुर्वतीनां सुतेक्षणम् ।  
 न पुनः कल्प्यते राजन् संसारोज्ञानसम्भवः ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ — लोगों के बालकों को मारने वाली और रुधिर पीने वाली पूतना, मारने की इच्छा से भी भगवान् को दूध पिलाने से मुक्त हो गई ॥ ३५ ॥ भला तब श्रद्धा तथा भक्ति से, श्रीकृष्ण को प्रिय वस्तु अर्पण करने वाली स्नेहवती माताओं के समान मोक्ष को प्राप्त हो, तो क्या आश्चर्य है ॥ ३६ ॥ भक्तों के हृदय में स्थित, लोकवन्दित<sup>१</sup> देवताओं से भी पूजनीय<sup>२</sup> चरणों से जिसके अंग को दबा के भगवान् ने जिसके स्तन का पान किया, वह रक्षसी भी माता जैसी गति<sup>३</sup> को प्राप्त हुई तो जिन गौ और माताओं का कृष्ण ने दूध पिया, उनकी गति होवे तो उसमें कहना ही क्या ? ॥ ३७-३८ ॥ कैवल्य<sup>४</sup> आदि सब पुरुषार्थों को देने वाले भगवान् देवकी पुत्र ने, जिन माताओं के सुत-स्नेह से टपकते हुए दूध को पिया और जो माताएँ निरन्तर<sup>५</sup> कृष्ण को पुत्र भावना से देखती हैं, हे राजन् ! उनको अज्ञान से उत्पन्न संसार फिर नहीं आता है, अर्थात् वे संसार से सदैव छूट जाती हैं ॥ ३९-४० ॥

इस प्रकार देह के धूम निकलते हुए जो कुछ हुआ उसका वर्णन इस ४१वें श्लोक से करते हैं ।

१-लोक जिनको नमन करते हैं ऐसे । २-वन्दन के योग्य । ३-स्वर्ग । ४-मोक्ष । ५-सगातार ।

४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४ ४४

(पृष्ठ ११२ से आगे) आवत पीठ बैठनो दीन्हो कुशल पूछि अति निकट बोलाई ।  
 पौदाये हरि सुभग पालने नंदरानी कछु काज सिधाय ।  
 बालक लयो उछंग दुष्ट मति हरषित अस्तन पान करई ।  
 बदन निहारी हरि प्रान हरि लीन्हो, परी देतनी जोजन ह्वाय ।  
 सूरज दई जननी गति ताको कृपा सिंधु सुख धाम पवई ।

श्लोकः — कटधूमस्य सौरभ्यमवघ्राय ब्रजौकसः ।

किमिदं कुत एवेति वदन्तो ब्रजमाययुः ॥ ४१ ॥

**श्लोकार्थ —** ब्रजवासी चिता के स्थान से आते धुएँ की सुगन्ध सूँघकर कहने लगे कि यह क्या है, कहाँ से आ रही है ? यों कहते हुए ब्रज में आ गये ।

**सुबोधिनी —** एवं देहधूमे निर्गते यदासीत् तदाह कटधूमस्येति, अत्र षट् श्लोका विगीताः सर्वत्र दृश्यन्ते तेष्वध्यायत्रयवद् व्याख्येयाः, स्पष्टत्वाद् बोधेक्ष्यन्ते, तन्मातरे (३६) 'वसुदेवस्त्रिय' इति व्याख्यातारः, कटस्य प्रेतदाहस्थानस्य चितायाः सम्बन्धिधूमस्य सौरभ्यमवघ्राय ब्रजौकसो गोरक्षणार्थं कार्यान्तरार्थं वा दूरे गताः

किमिदमाश्चर्यमिति व्याकुलाः समीचीनं गन्धमाग्रायागरुर्ध्वल-  
तीति ज्ञात्वा कुत एवेतिवदन्तस्तत्तत्कार्यं परित्यज्य  
ब्रजमेवाययुः, अनेन ब्रजस्थानां सर्वेषामेव प्रपञ्चविस्मृति-  
रुक्ता भगवदनुभावस्यान्तःप्रवेशश्च, येनान्तःस्थितः प्रपञ्चो  
निर्वर्तिष्यते, तामसः प्रपञ्चस्तामसी च पूतना, अतो युक्तं  
गन्धस्य प्रपञ्चनाशकत्वम् ॥ ४१ ॥

**व्याख्यार्थ —** चिता सम्बन्धी धुएँ की सुगन्ध को सूँघकर ब्रजवासी गौओं की रक्षा के लिए वा अन्य कार्य के वास्ते दूर चले गये थे । सुगन्ध से अचम्भे में पड़कर व्याकुल होकर कहने लगे कि यह अगर जल रहा है यों समझ, यह सुगन्ध कहाँ से आती है । ये शब्द कहते हुए उस कार्य को छोड़ कर ब्रज में आ गये । इससे सब ब्रजवासियों की प्रपञ्च विस्मृति बताई और भगवान् का प्रभाव उनके अन्तर (देहादि में) प्रविष्ट हुआ, जिससे भीतर का प्रपञ्च भी नाश होगा । प्रपञ्च तमोगुणी है, पूतना भी तमोगुणी है इससे तामस द्वारा तामस का नाश होना योग्य ही है ॥ ४१ ॥

उन (नन्दादि गोपों) को भी कारण जानने पर आश्चर्य हुआ । इसका वर्णन ४२वें श्लोक में किया जाता है ।

श्लोकः — ते तत्र वर्णितं गोपैः पूतनागमनादिकम् ।

श्रुत्वा तन्निधनं स्वस्ति शिशोरासन् सुविस्मिताः ॥ ४२ ॥

**श्लोकार्थ —** वे (नन्दादि गोप) ग्वालों द्वारा पूतना का ब्रज में आगमन आदि और उसकी मृत्यु एवं बालक की कुशलता सुनके अत्यन्त आश्चर्य युक्त हुए ।

**सुबोधिनी —** तेषामपि निदानपरिज्ञाने विस्मय एव जात इत्याह ते तत्रेति, तत्र गोकुले गौपैर्वर्णितं पूतना-  
गमनादिकं श्रुत्वा, आदिशब्देन स्तनदानादिप्रकारं तन्निधनं  
पूतनामरणं च शिशोः स्वस्ति कल्याणं त्रयं श्रुत्वा,

अत्यन्तविस्मिता जाताः, सर्वेषामग्र आगमनमेवाश्चर्यं,  
अकस्मान्मरणं, ततोपि तस्या महत्या भक्षको मृत्युर्बालं  
त्यक्तवानिति सुतरां विस्मयः ॥ ४२ ॥



**व्याख्यानार्थ —** वे (नन्दादि गोप) गोकुल में गोपों से (१) पूतना का आगमन, आदि शब्द से गोपों ने स्तन (दूध) पिलाने का ढंग भी बताया, (२) उसका मरण और (३) बालक का कल्याण, ये तीनों सुनकर बहुत अचम्बित हो गये; सब गोप-गोपियों के वहाँ होते हुए पूतना का आगमन (नन्द के घर में भीतर आ जाना) ही आश्चर्य में डालने वाला कार्य था, ऐसे उसका अचानक मरण भी आश्चर्य का कारण था, इससे भी विशेष विस्मय इसका हुआ कि इस बलवान् पूतना को मारने वाले काल ने बालक को छोड़ दिया ॥ ४२ ॥

वेद में कहा है कि विदेश से लौट हुआ पिता पुत्र के मस्तक को सूँघे विदेश से लौटे हुए नन्दजी को इस वृद्धावस्था तक दुर्लभ, यह आनन्द, अब मिला, उसका वर्णन ४३वें श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक: — नन्दः स्वपुत्रमादाय प्रोष्यागत उदारधीः ।**

**मूढ्यवधाय परमां मुदं लेभे कुरु द्वह ॥ ४३ ॥**

**श्लोकार्थ —** हे कुरु के वंश में उत्पन्न ! उदार बुद्धि वाले ! देशान्तर से आये हुए नन्दजी ने अपने पुत्र को पास में ले मस्तक सूँघ कर हर्ष को प्राप्त किया ।

**सुबोधिनी —** नन्दस्य प्रोषितस्य पुत्राद्यां विहितमित्याजन्मदुर्लभं तदिदानीं कृतवानित्याह नन्द इति, आश्चर्यं जिज्ञासोत्पद्यते नटविद्यायां तथादर्शनात्, स्वपुत्रं बलभद्रव्यावृत्त्यर्थं, विहितत्वादादाय हस्ते गृहीत्वा, तथाकरणे हेतुः प्रोष्यागत इति, नूतनमिदं कर्म कृत्वा बहु देयमिति मनसि कृतवान्, भगवते च नानाविधान्यामरणानि कृत्वा समानोत्तमांस्तदाहोदारधीरिति, उदार धीर्यस्य तदानीमुत्पन्ना, सर्वापि बुद्धिरुदार नन्दस्यापि मोक्षदात्री, तस्य तामवस्थां ये च भावयन्ति, मूढ्यवधाय विहितं वात्सप्रेण सूक्तेन "दिवस्मरी" त्यादिना, गन्धेन प्रपञ्चस्य नाशितत्वाद भगवदाग्राणे परमानन्दो हृदि जात इत्याह परमां मुदमिति, कुरुद्वहेतिसम्बोधनं समस्तोपाख्यानविश्वसार्थम् ॥ ४३ ॥

**व्याख्यानार्थ —** नट विद्या में दिखाया (लिखा) है कि जिस बात को सुनकर आश्चर्य होता है, उस बात को जानने की इच्छा पैदा होती है । श्लोक में 'पुत्रं' (पुत्र को) न कह कर जो 'स्वपुत्रं' (अपने पुत्र को) कहा उसका आशय, आचार्य चरण बताते हैं कि यदि केवल 'पुत्र' कहते तो, उससे कोई बलदेवजी को समझ ले, इस संशय को मिटाने के लिये 'स्वपुत्रं' (अपने पुत्र को) कहा है अर्थात् अपने पुत्र श्रीकृष्ण के मस्तक को सूँघा । वेद में ऐसी विधि (आज्ञा) होने से नन्दजी ने हाथ से श्रीकृष्ण को अपने निकट करके मस्तक सूँघा क्योंकि देशान्तर से आए थे । नन्दजी ने यह नवीन कार्य कर (बेटे को) बहुत दूंगा ऐसा मन में विचार किया ।

भगवान् के लिये, अनेक प्रकार के आभूषण बनवा के ले आए थे, क्योंकि नन्दजी उदार बुद्धि वाले थे । नन्दजी की सम्पूर्णतया ऐसी उदार बुद्धि थी, जो नन्दजी को भी मोक्ष देने वाली

तो थी ही, किन्तु उस अवस्था की, अर्थात् नन्दजी जैसी उदारता की भावना करने वालों को भी मोक्ष देने वाली है ।

'वात्सप्रसूक्त' में 'दिवस्परि' इत्यादि से मस्तक को सूंघने का विधान है । गन्ध से प्रपञ्च नाश हो जाने के कारण भगवान् के मस्तक को सूंघने से नन्दजी के हृदय में अत्यन्त आनन्द उत्पन्न हुआ । इसलिये मूल में 'परमां मुदं' पद दिया है जिसका अर्थ है परम आह्लाद । परीक्षित को इस श्लोक में 'कुरुद्वह' सम्बोधन देने का भाव यह है कि परीक्षित का इस सम्पूर्ण चरित्र में विश्वास हो अथवा परीक्षित को यह संकेत शुकदेवजी कर रहे हैं कि तू कुरु के कुल में उत्पन्न हुआ है । इसलिये तुझे इस चरित्र में विश्वास करना चाहिये ॥ ४३ ॥

पूतना के मोक्ष को 'कैमुतिक' न्याय से सिद्ध करने के लिये निम्न श्लोक में कहते हैं कि जो मनुष्य इस पूतना मोक्ष के चरित्र को सुनेगा, उनको मोक्ष से भी विशेष, भगवान् में भक्ति रूप फल की प्राप्ति होगी ।

श्लोकः — य एतत् पूतनामोक्षं कृष्णस्यार्थकमद्भुतम् ।

शृणुयाच्छ्रद्धया मर्त्यो गोविन्दे लभते गतिम् ॥ ४४ ॥

श्लोकार्थ — जो मनुष्य इस पूतना को मोक्ष देने वाले, श्रीकृष्ण के विचित्र बाल-चरित्र को विश्वास से, अर्थात् यह सत्य है, ऐसा समझ के सुनेगा, वह गोविन्द में मोक्ष प्राप्त करेगा ।

सुबोधिनी — पूतनाया मोक्षं स्थापयितुं कैमुतिकन्यायेन तच्चरित्रश्रोतुणामपि मोक्षादप्यधिकफलां भक्तिं फलत्वेनाह य एतदिति, एतत् पूतनामोक्षं कृष्णस्यार्थकं बाल्यसम्बन्धि चरित्रमद्भुतं लौकिकोपपत्तिरहितं, अनिष्टार्थं मारणमिष्टजनक-मिति वा निशम्य श्रद्धया युक्तो भवति, अमर्त्यो वा भवति, देवभावं प्राप्नोति, देवा हि सत्ये प्रतिष्ठिताः, सर्वथेदं सत्यमिति मन्यते, स गोविन्दे गतिं मोक्षं रतिं वा लभते, इदमपि 'विगीत' मिति केचित् ॥ ४४ ॥

व्याख्यानार्थ — यह पूतना को मोक्ष देने वाला, श्रीकृष्ण की बाललीला सम्बन्धी चरित्र, जो कि लौकिक उपपत्ति रहित है, अर्थात् ऐसा विलक्षण चरित्र है कि जो लौकिक युक्तियों से समझ में ही नहीं आ सकता है । अनिष्ट<sup>१</sup> अर्थ को जिससे संसार उत्पन्न होता है ऐसे अर्थ, अविद्या को नाश करने वाला है । इस अर्थ (मोक्ष) को देने वाले चरित्र को सुनकर श्रद्धावाला अमर्त्य, अर्थात् देवभाव को प्राप्त होता है । तात्पर्य यह है कि वह इस चरित्र को सर्वथा, सत्य मानता

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥  
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥  
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ❖ श्रीमद्भागवत महापुराण ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित — सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

### तामस-प्रमाण-अवान्तर-प्रकरण

‘यश निरूपक’



तृतीय अध्याय

श्रीमद्भागवतानुसार : सप्तमोऽध्यायः



तामस प्रकरणान्तर्गत प्रमाण-अवान्तर-प्रकरण की कारिकाओं का हिन्दी अनुवाद

कारिका — पूतना सुपयः पानं भगवत्त्वाय यत् कृतम् ।

अलौकिकत्वज्ञानाय तत् षष्ठे विनिरूपितम् ॥ १ ॥

कारिकार्थ — श्रीकृष्ण ने अपने भगवत्त्व तथा अलौकिकता जताने के लिये पूतना के स्तन्य पान के साथ उसके प्राणों का पान एवं उसके शव दाह से सुगन्धि का निकालना आदि जो चरित्र किये उनका निरूपण छठे अध्याय में किया गया है ।

---

व्याख्या: प्रकाश — यह कारिका सातवें अध्याय के साथ छठे अध्याय की संगति बताने के लिये कही गई है । छठे अध्याय में पूतना के प्राण एवं स्तन्य पान की लीला करके श्रीकृष्ण ने अपना भगवत्त्व बताया

कारिका — ततोप्यलौकिकं लोके विशेषासक्तिबोधकम् ।

सप्तमे त्रिविधं प्राह शकटोत्पाटनादिकम् ॥ २ ॥

कारिकार्थ — सातवें अध्याय में छठे अध्याय में वर्णन किये गए वध चरित्र से भी लोक में विशेष अलौकिकता वाले एवं विशेष आसक्ति-बोधक, शकट<sup>१</sup> उत्पादन<sup>२</sup> आदि तीन प्रकार के चरित्र निरूपण करते हैं ।

है जिससे उनका वीर्य<sup>३</sup> प्रकट हुआ है, इसी लीला से श्रीकृष्ण ने अपनी अलौकिकता भी दिखाई है कि पूतना राक्षसी के देहदाह से सुगन्धि निकली अन्यथा उस राक्षसी के शरीर के जलने से तो दुर्गन्ध ही निकलनी थी ॥ १ ॥

व्याख्या: प्रकाश — इस प्रकार, पहिले के अध्याय अर्थात् छठे अध्याय में प्रयोजन सहित बताये हुए अर्थ सहित चरित्र से भी, इस सातवें अध्याय का चरित्र अलौकिक है; क्योंकि उस अध्याय में पूतना का मर्म स्थलों की पीड़ा से प्राण जाना सम्भव था उसमें ऐसी कोई विशेष अलौकिकता नहीं भी मानी जा सकती है किन्तु बालक के चरण से इतने भारी शकट को ऊपर फेंका जाना जिससे गिरकर उसका टूट जाना तो लोक में सम्भव ही नहीं है कारण कि जहाँ इतना छोटा सामान्य बालक पैर से इतने भारी शकट को थोड़ा सा भी नहीं हिला सकता है वहाँ इतना बड़ा भारी शकट सुकोमल चरण से फेंककर तोड़ना तो (विशेष) अलौकिक होने से विशेष आसक्ति करने वाला है । यह प्रसंग पहले से भी अलौकिक होने से सङ्गतिकारक है । अलौकिक ज्ञान विशेषासक्ति का कारण है उससे किया हुआ प्रसङ्ग भी सङ्गतिकारक है । इस प्रकार सङ्गति बोध करने के लिए अध्याय का अर्थ कह कर विशेषता बतलाने के लिये आदि शब्द से तीन प्रकार के चरित्र प्रकट करते हैं ।

टिप्पणी — कारिका में दिये हुए संग्रह शब्द का तात्पर्य बताते हुए कहते हैं कि लोक में संग्रह शब्द अपने उपयोग में आने वाली ऊँची अथवा साधारण वस्तु को इकट्ठा कर रखने के अर्थ में दिया जाता है परन्तु यहाँ संग्रह का अर्थ 'निरोध' है क्योंकि भगवान् ने इस 'निरोध' के लिये ही ये तीन चरित्र<sup>४</sup> इकट्ठे कर रखे थे - इसलिये चरित्रों का निरोध के साथ सम्बन्ध है ।

योजना — १ — (शकटस्य उत्क्षेपः) गाढ़े को ऊपर फेंकना, २ — (तृणावर्तस्य अपक्षेपः) तृणावर्त को नीचे पटकना, ३ — (प्रसारणं-जुम्भाली-लावा मुखस्य) जम्पाई लेते हुए मुख को खोलना ।

निर्मयराम भट्ट कृत कारिकार्थ — १ - गाढ़े को ऊपर फेंकना, २ - तृणावर्त को नीचे पटकना, ३ - जम्पाई लेते हुए मुख को खोलना, इन तीनों लीलाओं के आशय को तीसरी कारिका के उत्तरार्ध में बताते हैं कि ये ३ लीलाएं राजस, तामस एवं सात्त्विक भक्तों के निरोध के लिये की गई हैं । इस कारिका में वह

१ - गाड़ा (बड़ी भारी गाड़ी) ।

२ - उठकर फेंकना ।

३ - पराक्रम ।

४ - शकट भंजन ।

४ - तृणावर्त वध ।

४ - जम्पाई (उबासी लेना) ।

कारिका — उत्क्षेपणमवक्षेपः प्रसारणमितीर्यते ।

राजसानां तामसानां सात्त्विकानां च संग्रहे ॥ ३ ॥

**कारिकार्थ —** राजस, तामस और सात्त्विक (भक्तों) के संग्रह (निरोध) के लिये ऊपर फेंकना, नीचे गिराना और जंभाई लेते हुए मुख को खोलना, इस प्रकार के तीन चरित्र वर्णन करते हैं ।

क्रम नहीं रक्खा है जो दशम स्कन्ध के "निबन्ध" में दिया है, जैसे कि गाढ़ा तामस है, तृणावर्त राजस है, पुत्र भाव से, दुल्हार और प्यार करना एवं मोह सात्त्विक है, इससे तीन चरित्रों से तामस, राजस एवं सात्त्विक का निरोध हुआ ऐसा समझना चाहिये ।

**व्याख्या —** प्रकाश के भावों का स्पष्टीकरण -

भगवान् ने देखा कि पूतना-वध लीला से भक्तजनों (यशोदादि) की जितनी आसक्ति मुझ में हुई थी अब तक वह उतनी ही है; केवल इतनी ही आसक्ति होने से ये भक्त आगे नहीं बढ़ सकेंगे । उस पूतना-वध लीला को तीन महीने बीत गये हैं इससे अब इनमें शिथिलता आने लग गई है अतः इनकी शिथिलता दूर करनी चाहिये और ऐसा खेल खेलना चाहिये जिससे इनकी मुझ में विशेष आसक्ति हो । यों विचार कर शिथिल चित्त वाले भक्तों के चित्त में चेतनता लाने अर्थात् उन भक्तों के चित्त को विशेष आसक्ति के योग्य बनाने, एवं उनको लौकिक विषयों से हटाने के लिये तथा अपने में विशेष आसक्ति पैदा करने के लिये बालकृष्ण ने तृणावर्त को नीचे पटकने की लीला की, जिससे भक्तों को दुःख भी हुआ । दुःख इसलिये हुआ कि इस लीला से भगवान् में विशेषासक्ति होने से उन्होंने सोचा कि तृणावर्त द्वारा कृष्ण को कुछ कष्ट हुआ होगा । यह गाढ़े को फेंकने वाली लीला से लौकिक रीति से विशेषासक्ति कराई, जम्भाई लेते हुए मुख खोला, इस लीला से भक्तों के हृदय से असम्भावना दोष निवृत्त करकर, श्री बालकृष्ण ने अपने में विशेषासक्ति कराई ।

आचार्यश्री ने 'निरोध लक्षण' ग्रन्थ में निरोध का लक्षण देते हुए कहा है कि 'यच्च दुःखं यशोदाया नन्दादीनां च गोकुले' उपरोक्त लीलाओं से हृदय में भय उत्पन्न होने से, हृदय दुःखित हुआ । यह दुःख भी निरोध का रूप है इसलिये ही भगवान् ने यह लीला की है ।

**लेख —** श्रीवत्सभजी महाराज लेख में (सुप्त) शब्द का भावार्थ बताते हुए कहते हैं कि 'सुप्त-सोया हुआ' वह है जो कही हुई बात को न समझ सके, अर्थात् 'मूढ़' । इस समय यह दशा यशोदा की थी, इसलिये यशोदा के हृदय में स्फूर्ति लाने के लिये निष्क्रमण (बालक को घर से बाहर ले जाने की) संस्कार कराने की प्रेरणा की । उस संस्कार को मनाने के लिये, आए हुए गोप गोपी आदि के आदर-सत्कार में लगा हुआ यशोदा का मन, वहाँ से (लौकिक से) हटे एवं सर्व प्रपञ्च को भूल जाय, इसलिये तृणावर्त को नीचे पटकने आदि की लीला श्रीकृष्ण ने की, जिससे यशोदा सर्व (लौकिक) कार्य को भूल गई और उसका मन कृष्ण में ऐसा आसक्त हो गया, जो कहने लगी कि हाय हाय ! तृणावर्त के पटकने से कृष्ण को कुछ हुआ तो नहीं ? इस प्रकार के दुःख द्वारा भगवान् ने यशोदा का निरोध किया ।

कारिका — सुप्तंचित्तमथोल्लास्य त्याजयित्वा च लौकिकान् ।

स्वासक्ति सिद्धये प्रीत्या दुःखं च कृतवान् क्वचित् ॥ ४ ॥

कारिकार्थ — पूतना-वध के अनन्तर भक्तों के सोये हुए (सुस्त हो गए हुए) चित्त को उल्लास (उत्साह) में लाकर और उनके लौकिक विषयों का त्याग करा कर श्रीकृष्ण ने अपने में आसक्ति कराने के लिये उनको प्रेम से कभी दुःख भी दिया ।

कारिका — यशो हि सर्वगं चेत् स्यात् स्वासक्त्यैव च तद् भवेत् ।

यशोदानन्दयोरत्र निःप्रपञ्चो विधीयते ॥ ५ ॥

कारिकार्थ — जिसके सुचरित्र का जब सारी जनता गान करती है तब उसका 'यश' होता है । भगवान् श्रीकृष्ण ने यशोदा एवं नन्दजी के प्रपञ्च का नाश करके अपने में आसक्ति रूप निरोध करवा है ।

टिप्पणी — भगवान् का यश (गुणगान) सर्वत्र तब हो, जब भगवान् की की हुई, यशोवर्द्धक लीलाओं का सर्व जनता को ज्ञान हो । भगवान् ने जिस लीला से, यशोदा एवं नन्द के प्रपञ्च का नाश कर, अपने में आसक्ति कराई, उस लीला का सर्वत्र फैलाव हो गया, जिससे सब भगवान् के गुणगान करने लगे ।

भक्तजनों को सब प्रकार से जो दुःख होने लगा, उसका नाश कर, भगवान् ने भक्तजनों को अपने में आसक्ति कराई, इससे भी आपकी (प्रभु की) महिमा सर्वत्र फैल गई । सब कहने लगे कि देखो श्रीकृष्ण ने भक्तजनों का दुःख मिटाकर अपने में कैसी आसक्ति करा दी है कि इत्यादि प्रकार से आपके यश का सर्वत्र ज्ञान होने लगा । भगवान् भक्तों को इसीलिये दुःख देते हैं कि मैं प्रकट होकर उन के दुःखों का नाश कर, अपने में आसक्ति कराऊँ ।

प्रकाश का भावार्थ — भगवान् ने अपने में आसक्ति कराने के लिये भक्तों को दुःख क्यों दिया ? इस का आशय प्रकट करते हुए श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि भक्तों को दुःख इसलिये दिया कि भगवान् आसुर व्यामोह लीला करेंगे, उसके पश्चात् भी पृथ्वी पर होने वाले भक्तों को भगवान् की लीलाओं का ज्ञान हो, जिससे उनकी भी भगवान् में आसक्ति हो जाए । वह ज्ञान उनको तब होगा, जब सब उस समय में भी, भगवान् के गुणगान (यश) होते रहेंगे । इनका विचार कर, भगवान् ने दुःख आदि देकर, फिर लीला द्वारा उन दुःखों का नाश कर, अपने में आसक्ति कराई जिससे अब तक आप का जगहिलार्थ यशोगान हो रहा है ।

लेख का भावार्थ — दुःख तब होता है जब आसक्ति होती है, आसक्ति के अतिरिक्त दुःख नहीं होता है । ब्रजभक्तों की भगवान् में आसक्ति थी इसलिये उनको दुःख होता था । भगवान् ने यशोदा और नन्दजी को प्रपञ्च विस्मृति कराके उनका भाव अपने में स्थिर करवा ।

कारिका — आनुषङ्गिकमन्येषां गोपानां सर्वदेहिनाम् ।

गोपीनामिति तत्राद्ये यशोदाया वितन्यते ॥ ६ ॥

कारिकार्थ — गोप, गोपी औप अन्य प्राणियों का प्रपञ्च भाव गौण रीति से किया है । मुख्य तो प्रथम यशोदाजी के प्रपञ्च भाव (आसक्ति) का विस्तार पूर्वक वर्णन करने में आता है ।

आभास — पूर्वाध्याय आश्चर्योत्पादनेन प्रपञ्चविस्मृतिं कारयित्वा विशेषाकारेण यशोदायाः स्वासक्तिं वक्तुं मतान्तरे प्रपञ्चविस्मृतिमात्रस्यैव पुरुषार्थत्वात् तदासक्तिं न वक्ष्यतीत्याशङ्क्य राजा पृच्छति येनयेनेतित्रयेण ।

आभासार्थ — राजा परीक्षित के मन में शंका हुई कि भगवान् द्वारा की हुई आश्चर्यकारक लीलाओं द्वारा यशोदा की प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक आसक्ति हो गई, जिसका वर्णन पांचवे अध्याय में शुकदेवजी ने किया है । अब भगवान् में उत्पन्न हुई यशोदा की आसक्ति का विशेष वर्णन शुकदेवजी करेंगे, क्योंकि किसी किसी ऋषि का मत है कि प्रपञ्च विस्मृति ही पुरुषार्थ है । इस शंका को मिटाने के लिये परीक्षित 'येनयेनावतारेण' श्लोक से प्रारम्भ कर तीन श्लोकों में पूछते हैं ।

लेखकार — शकट भञ्जन लीला से केवल यशोदाजी का प्रपञ्च नाश करवाया है । दूसरों का नहीं ॥ ६ ॥

॥ श्री राजोवाच ॥

श्लोकः — येन येनावतारेण भगवान् हरिरीश्वरः ।

करोति कर्णरस्यानि चरितानि च नः प्रभो ॥ १ ॥

शब्दार्थ — हे प्रभो ! हरि, ईश्वर, भगवान् जिन जिन अवतारों से जिन जिन चरित्रों को करते हैं वे चरित्र हमारे कर्णेन्द्रिय को रसान्वित करने वाले हैं ।

कारिका — सर्वं चरित्रं हितकृद् गुणकृच्च ततोधिकम् ।

तत्रापि स्नेहजनकं तद् वक्तव्यमितिस्थितिः ॥ ७ ॥

कारिकार्थ — भगवान् के सर्व चरित्र हितकारी हैं, एवं उनसे भी अधिक वे गुणकारी हैं; पर स्नेह उत्पन्न करने वाले चरित्र उन गुणकारी चरित्रों से भी विशेषतर हैं<sup>१</sup> । भगवान् के ऐसे (स्नेह बढ़ाने वाले) चरित्र कहने चाहिये इस प्रकार की स्थिति<sup>२</sup> है ।

सुबोधिनी — आदौ सर्वमेव चरित्रं भगवतः सर्वोत्तममित्याह, येन येन मत्स्यकूर्मादिमध्ये यानि यानि चरितानि करोति तानि नः कर्णरस्यानीतिसम्बन्धः, कृष्णावतारचरित्र एव कस्यचित् प्रीतिपक्षे तद्गतो भेदो द्वेषापरपर्यायः सिध्येदिति तन्निवृत्त्यर्थमेतद् वक्तव्यं येनैवावतारेण करोतीति, अवतारपरत्वे लौकिक बुद्धिर्भगवति भविष्यतीति तत्रानादश्च वक्तव्यः, तदाह वीप्सया, वस्तुतस्तु

भगवान् करोति, कृतौ प्रयोजनं हरिरिति, तथाविर्भाव उपपत्तिरीश्वर इति, इदानीन्तानामस्माकं तथाभाग्याभावाद दर्शनाभावेऽपि भवदादिप्रसादात् कर्णरस्यानि भवन्ति, लोक उपनिबन्धनाभावशङ्कापि नास्तीत्याह चरितानीति, उपनिबद्धं कृत्यं चरित्रं, चकारात् महतां मुखादकस्मादप्युक्तं, न इति श्रोतृणां सर्वेषां, प्रभो इतिसम्बोधनमन्तःकरणज्ञानार्थ-मन्यथाकथने दण्डकरणे सामर्थ्यार्थं च ॥ १ ॥

१ — निर्भयराग भट्ट कृत कारिकार्थ — सातवीं कारिका का भावार्थ समझाते हुए भट्टजी कहते हैं कि 'हितकृत्' शब्द का तात्पर्य है भगवान् के चरित्र श्रवण से कर्णेन्द्रिय को जो रस (आनन्द) प्राप्त होता है वह श्रवणरूप फलात्मक साधारण गुण है । ऐसा फलदाता हितकारी चरित्र पहले 'येनयेनावतारेण' श्लोक से पूछा है । 'गुणकृत्' शब्द का आशय व्यक्त करते हुए कहते हैं कि गुण शब्द से सर्व दोषों को नाश कर, सत्त्वशुद्धि आदि गुणों को प्रकट करना समझें । इस प्रकार के गुण को प्रकट करने वाला चरित्र उससे (हितकृत् चरित्र से) भी अधिक है । यह गुणकृत चरित्र (यच्छृण्वतः) दूसरे श्लोक द्वारा पूछा गया है । इससे (गुणकृत् से) भी विशेष भक्ति (स्नेह) उत्पन्न करने वाला (शकट भङ्ग) लीला वाला चरित्र (अथान्यदपि) इस तीसरे श्लोक से पूछा है । वह चरित्र विशेष रूप से कहना स्थिति (भर्यादा) है ।

२ — स्थिति — स्नेह उत्पन्न करने वाली भर्यादा ।



**व्याख्यानार्थ** — परीक्षित ने प्रारम्भ में कहा है कि भगवान् के सर्व चरित्र उत्तम हैं । भगवान् जिन जिन चरित्रों को करते हैं, वे सर्व चरित्र कर्णेन्द्रिय को रसप्रद हैं । इस प्रकार का सम्बन्ध है । यदि कोई व्यक्ति कृष्णावतार के चरित्रों को प्रेम से श्रवण नहीं करना चाहता है तो यह एक प्रकार की भेद-बुद्धि है, जिसको द्वेष भी कहा जा सकता है । इस प्रकार अवतारों में भेद-बुद्धि वा द्वेष नहीं है । इसलिये 'येनैवावतारेण' जिस भी अवतार के सम्बन्ध में यों कहना कि अवतार ही लीला करते हैं; भगवान् नहीं करते हैं । ऐसी लौकिक बुद्धि अवतारों में न हो इसके लिये आचार्यश्री कहते हैं कि 'वस्तु वस्तु भगवान् करोति' वास्तविक रीति से सर्व लीला भगवान् ही करते हैं अर्थात् वे अवतार भगवान् के ही हैं । भगवान् इस प्रकार के अवतार धारण कर ऐसी लीलाएँ क्यों करते हैं ? इस पर कहते हैं कि शुकदेवजी ने मूल में भगवान् का नाम 'हरि' इसलिये ही दिया है कि वे दुःखों को हरण करने वाले हैं । अतः दीन जनता के दुःखों को दूर करने के लिये अवतार धारण करते हैं । शुकदेवजी ने मूल में 'ईश्वर' (शब्द) जो दिया है, उसका भावार्थ आचार्यश्री कहते हैं कि वह सर्व समर्थ होने से सर्व प्रकार की आकृतियों से अपने को प्रकट कर सकते हैं । इस समय हम लोगों के ऐसे भाग्य नहीं हैं जो भगवान् के प्रकट रूप से दर्शन हों, फिर भी, आप जैसे महानुभावों की कृपा से, भगवच्चरित्र कर्णों को रसदायी हो रहे हैं । लोक में काव्यादि में लिखे हुए जो कृत्य (कथाएँ) हैं वे चरित्र नहीं हैं ऐसी शंका को भी स्थान नहीं है । क्योंकि श्लोक में 'चरितानि' शब्द देकर यह बताया है कि वे चरित्र काव्यादि ग्रन्थों में भी लिखे हुए हैं । श्लोक में दिये हुए 'च' शब्द का भाव कहते हैं महापुरुषों के मुख से अचानक कभी कहे हुए कृत्य (कथाएँ) भी चरित्र हैं, क्योंकि जिनको श्रवण कर, हम सब श्रोताओं की कर्णेन्द्रिय रसवती होती है । श्लोक में परीक्षित ने शुकदेवजी को 'हे प्रभो' शब्द कह कर यह जताया है कि आप समर्थ हो तथा मेरे एवं सबके अन्तःकरण को जानते हो । यदि मुझ में कोई दोष हो, अथवा मैं विपरीत कहता हूँ, तो आप दण्ड भी दे सकते हो ॥ १ ॥

**आभास** — यद्यपि साभिप्राये ज्ञाते सर्वमेव चरित्रमेतादृशगुणजनकं भवति तथाप्यापाततोपि यच्चरित्रं सर्वदोषनिवृत्तिपूर्वकं सर्वगुणदायकं भवति तद् वक्तव्यमित्याह यच्छृण्वत इति ।

**आभासार्थ** — भगवान् के चरित्र भाव जान कर, प्रेम से सुनने में आवें तो वे चरित्र, श्रोताओं के हृदय में सर्व गुण उत्पन्न करते हैं । यदि बिना भाव जाने भी ऊपर ऊपर से भगवत्-चरित्र सुने जायें तो भी श्रोता के सर्व दोष नाश हो जाते हैं और सब गुण भी हृदय में आ जाते हैं । ऐसे चरित्रों का प्रश्न निम्न श्लोक में किया है ।

**श्लोकः** — यच्छृण्वतोपैत्यरतिर्वितृष्णा सत्त्वं च शुध्यत्यचिरेण पुंसः ।

भक्तिर्हरौ तत्पुरुषे च सख्यं तदेव हारं वद मन्यसे चेत् ॥ २ ॥

**श्लोकार्थ —** भगवान् के चरित्रों में जो 'अरति' (प्रेम का न होना) एवं अहंता, ममता से उत्पन्न संसार की जो तृष्णा है, ये दोनों भगवच्चरित्र सुनने से नष्ट हो जाते हैं एवं अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। भगवान् में भक्ति और भगवान् के भक्तों में मैत्री पैदा होती है। जो आप चरित्रों को ऐसा मनोहर समझो तो कहो, अथवा ऐसे चरित्रों को आप योग्य समझो तो ऐसे प्रकार से वर्णन करो जैसे वे मनोहर हों।

**सुबोधिनी —** यच्चरित्रं शृण्वतः पुरुषस्य भगवच्चरित्रविषयिणी यरतिः सापैति माहात्म्ये स्वोपकारे च ज्ञाते, तथात्वं, विशेषेण संसारविषयिणी तृष्णा चापैति संसारस्य बाधकत्वे ज्ञाते, गुणदोषाभारूपावेतौ साधारणौ दोषाभावरूपौ वा, गुणानाह सत्त्वं च शुध्यति, अचिरेण शीघ्रमेव, पुंसः स्वतन्त्रस्य, सत्त्वमन्तःकरणं, शुध्यति कामक्रोधादिवासनारहितं भवति, ज्ञानात्मनः संसारातीतचरित्रे श्रुते यथा भगवतो मुखारविन्दे त्रैलोक्यवर्णनं, किञ्च भक्तिर्हरेर्यथोलूखलबन्धने, तत्पुरुषे भगवत्सेवके सख्यं यथा

यमलार्जुनभञ्जने, चकारत् तत्सेवकसेवकेपि, तदेव द्वारं मनोहारि यथा भवति तथा वदेतिप्रार्थना, यदि मन्यस इति, तादृशं फलमस्य सिध्यत्विति यदि तव कृपा, यथाधिकारेण बोधने मनोहारि भवति, एवं पञ्चविधं चरित्रं पृष्टं, तद सक्ष्यति क्रमेण तृणावर्तवधादि, आश्चर्यरूपस्तृणावर्तवध इत्यरतिर्गच्छति, तृष्णा च संसारेण गच्छति, भगवति सर्वसत्त्वात्, अन्तःकरणं देहेन्द्रियादिकमपि शुध्यति, भगवतो नामधौत्यादिश्रवणेन, उलूखलबन्धने भक्तिर्यमलार्जुनभङ्गे सख्यमिति ॥ २ ॥

**व्याख्यानार्थ —** जिस मनुष्य का भगवान् के चरित्र में प्रेम न हो, वह भी यदि भगवान् के चरित्रों को सुने, तो उसकी भी भगवच्चरित्र में प्रीति हो जाती है। भगवच्चरित्र श्रवण से, भगवान् के माहात्म्य का और अपने (जीव के) ऊपर भगवान् के किये उपकारों का जो ज्ञान होता है, उससे भी भगवच्चरित्र में प्रेम उत्पन्न होता है, अर्थात् अरति (प्रेम का अभाव) का नाश हो जाता है कि संसार दुःखदायी है और भगवान् के प्रेम की उत्पत्ति में सर्वथा बाधक है। इस ज्ञान से श्रोता की संसार विषयक तृष्णा भी, विशेष रूप से नष्ट हो जाती है। ये दोनों क्रमशः गुण और दोष के अभाव रूप हैं; अथवा साधारण रीति से दोनों दोष के अभाव रूप हैं। अर्थात् भगवान् के चरित्र श्रवण से भगवच्चरित्र में जो प्रेम का अभाव था वह मिट जाता है एवं उसमें प्रेम होता है। यह चरित्र श्रवण का गुण है और उससे (चरित्र श्रवण से) दोष रूप सांसारिक तृष्णा का नाश होना यह दोष का अभाव हुआ। अथवा साधारण रीति से, 'अरति' एवं सांसारिक तृष्णा दोनों दोष रूप थे। भगवच्चरित्र श्रवण से इन दोनों दोषों का अभाव हुआ। चरित्र श्रवण से उत्पन्न गुणों का वर्णन करते हैं कि स्वतंत्र श्रोता पुरुष का अन्तःकरण शीघ्र ही शुद्ध होता है अर्थात् काम क्रोधादि वासनाएँ इसके अन्तःकरण से नष्ट हो जाती हैं। ज्ञानात्मा (ज्ञान स्वरूप परमात्मा) के संसार से अतीत अर्थात् अलौकिक चरित्रश्रवण से जो फल होता है उसे कहते हैं। जैसे भगवान् के मुखारविन्द में तीनों लोकों का वर्णन श्रवण करने से अन्तःकरण, काम, क्रोध आदि वासना रहित होता है। ऊखल बन्धन लीला के सुनने से भगवान् में भक्ति होती है। यमलार्जुनभञ्जन लीला श्रवण से भगवद्भक्तों से मैत्री होती है। 'च' अक्षर का भाव स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री

कहते हैं कि शुकदेवजी ने 'च' अक्षर देकर कहा है कि इस लीला से श्रोता का भगवद्भक्तों के सेवकों में भी सखा भाव होता है। राजा परीक्षित् प्रार्थनापूर्वक कहते हैं कि आप उचित समझो तो यह भगवच्चरित्र जिस प्रकार मनोहर हो, उस प्रकार कहो। इस चरित्र श्रवण से इस प्रकार का फल होगा जो आपकी कृपा होगी तो अधिकारानुसार सुनने से भगवच्चरित्र मनोहर (आनन्ददायी) होगा। परीक्षित् ने इस प्रकार पांच प्रकार के चरित्र पूछे। शुकदेवजी उनका तृणावर्तवधादि के क्रम से वर्णन करते हैं।

- (१) आश्चर्यकारक तृणावर्त-वध चरित्र सुनने से भगवान् के चरित्र श्रवण में जो किसी में भगवच्चरित्र के लिये प्रेम का अभाव होगा तो वह नाश होकर उस चरित्र में प्रीति उत्पन्न होगी।
- (२) भगवान् की जुम्हा<sup>१</sup> लीला के श्रवण करने से सांसारिक तृष्णा नाश होती है क्योंकि भगवान् के पास सर्व पदार्थ हैं। अर्थात् भगवान् ही सकल अर्थ रूप हैं ऐसा ज्ञान श्रोता को होता है।
- (३) भगवान् के नाम और धूर्तता (माखनचौर्यादि) लीला श्रवण करने से अन्तःकरण, देह एवं इन्द्रियादि शुद्ध होते हैं।
- (४) भगवान् की उलूखल<sup>२</sup> बन्धन लीला श्रवण से भक्ति होती है।
- (५) भगवान् की यमलार्जुन भंग लीला सुनने से भगवद्भक्तों के साथ सख्य होता है ॥ २ ॥

**आभास —** एतत्पञ्चविद्यात् पूर्वमपरमेकं कृष्णासक्तिजनकं साधारण्येन वक्तव्य-मित्याहाथान्यदपीति ।

**आभासार्थ —** इन पांच प्रश्नों के उत्तर से पहले श्रीकृष्ण का कोई साधारणतया अद्भुत बाल-चरित्र कहो जिसके श्रवण से कृष्ण में आसक्ति हो यह निम्न श्लोक में पूछते हैं।

**श्लोकः —** अथान्यदपि कृष्णस्य तोकाचरितमद्भुतम् ।

मानुषं लोकमासाद्य तज्जातिमनुरुन्धतः ॥ ३ ॥

**श्लोकार्थ —** प्रारम्भ में (पांच प्रश्नों के उत्तर देने से पहिले) श्रीकृष्ण का कोई दूसरा अद्भुत बाल-चरित्र कहो, जो बाल-चरित्र मनुष्य लोक में आकर उन्होंने मनुष्य जाति के अनुकूल किया हो।

सुबोधिनी — अथेति भिन्नप्रक्रमे, आदावेव वक्तव्यं, अनन्तरं शीघ्रमेव वक्तव्यं, अन्यदपि यथा बाल्ये पूतनावधः, तथापि बाल्ये यच्चरित्रं, कृष्णस्येति, अवतारान्तरबाल्यचरित्रव्युदासः, बाल्ये चरित्रसम्भवार्थं वा भगवतो नाम, तोकाचरितं तोकेनाचरितं, तोक उत्थानासमर्थः, तदप्यद्भुतमलौकिकं, लोके हेतुकल्पनारहितं, तत्रापि

लौकिकभावेन कृतमित्याह मानुषं लोकमासाद्येति, मनुष्यलोकं भूमिं मानुषभावं चासाद्य स्वीकृत्य, तज्ज्ञाति शिशोर्जातिलीलामनुरुन्धतो जातिलीलामनतिक्रम्य यथा गोपालशिशोः, तादृशं पूतनावधतुल्यमेकं वक्तव्यमितिप्रार्थना ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ — 'अथ' शब्द का भावार्थ बताते हैं कि उन पांच प्रश्नों के उत्तर देने से पहिले अथवा यह भेग प्रश्न उनसे अलग है इसलिये इसका शीघ्र ही उत्तर देवें । उन पांच प्रश्नों का उत्तर पीछे देवें । 'अन्यत्' शब्द से उन प्रश्नों से इसकी भिन्नता बताते हैं । इसको स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि परीक्षित ने 'अन्यद्' शब्द से 'पूतनावध' जैसे बाल्य अवस्था में जो अन्य चरित्र किये हैं, वे पूछे हैं । इससे यह जताया कि दूसरे अवतारों के बाल-चरित्र, मैं नहीं पूछता हूँ । बाल अवस्था में अद्भुत चरित्र करने की सामर्थ्य प्रकट करने के लिये श्लोक में भगवान् का नाम श्रीकृष्ण दिया है । अलौकिक सामर्थ्य प्रकट करते हुए कहते हैं कि वे चरित्र, इसलिये अलौकिक (मन को आकर्षण करने वाले) हैं कि श्रीकृष्ण ने ये चरित्र, बाल आयु में, उस समय कर दिखाये, जब आप उठ भी नहीं सकते थे । (तोकाचरितमद्भुतम्) अलौकिक आश्चर्यकारक इसलिये हैं कि उनके होने के कारण की कल्पना हो नहीं सकती है उसमें भी विशेष आश्चर्य इसलिये होता है कि भगवान् ने मानुष भाव धारण कर, अपनी बाल जाति के समान, क्रीड़ा करते हुए वे चरित्र किए हैं । पूतनावध जैसा एक अन्य चरित्र कहें यह प्रार्थना है ॥ ३ ॥

आभास — शुकस्तादृशमेव शकटभंगलक्षणं चरित्रमाह कदाचिदितिचतुर्दशभिः सर्वेन्द्रियाणामन्तःकरणस्य च प्रीतिजनकं, आदावुत्सवमाह कदाचिदिति ।

आभासार्थ — श्री शुकदेवजी परीक्षित के प्रश्न के भाव को जान कर, वैसा ही शकट भंग लीला का वर्णन १४ श्लोकों से करते हैं । चौदह श्लोकों में वर्णन इसलिये किया है कि वह लीला दश इन्द्रियों और 'अन्तःकरण चतुष्टय'<sup>१</sup> को आनन्द देने वाली है अथवा दश इन्द्रियों और 'अन्तःकरण चतुष्टय' का भगवान् में प्रेम उत्पन्न कराने वाली है ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — कदाचिदौत्थानिककौतुकाप्लवे जन्मर्क्षयोगे समवेतयोषिताम् ।

वादित्रगीतद्विजमन्त्रवाचकैश्चकार सूनोरभिषेचनं सती ॥ ४ ॥

है, क्योंकि देवता सत्य में ही प्रतिष्ठित हैं । इस चरित्र के सुनने से मनुष्य में देवभाव आ जाता है तथा उसकी भी सत्य में प्रतिष्ठा होती है । अतः उस मनुष्य को इस चरित्र के सुनने से गोविन्द भगवान् में मोक्ष वा रति (प्रेम) होता है । कितने ही इस श्लोक को भी प्रक्षिप्त कहते हैं ॥ ४४ ॥

इति श्रीमद्भागवत पुराण, दशम स्कंध (पूर्वार्ध) के तामस-प्रमाण अवान्तर प्रकरण के  
द्वितीय अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणविरचित सुबोधिनी टीका का हिन्दी अनुवाद ।

**श्लोकार्थ** — किसी समय, जब भगवान् का जन्म नक्षत्र था, उसी दिन निष्क्रमण<sup>१</sup> संस्कार चौथा महीना होने से किया। तदर्थ किये हुए उत्सव में आई हुई स्त्रियों के मध्य में यशोदा ने बाजे गाजे के साथ स्त्रियों द्वारा गीत गाते हुवे एवं ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन आदि मन्त्रों के उच्चारण होते हुए अपने पुत्र का अभिषेक किया।

सुबोधिनी — औत्थानिकं कर्म निष्क्रमणात्मकं “चतुर्थे मासि निष्क्रम” इति, तस्मिन्नेव दिवसे रोहिणीनक्षत्रं, औत्थानिकं कर्म कृत्वा तत्र कौतुकाविष्टे चित्ते जात उत्सवेन तत् कर्म कर्तव्यमिति विचिन्त्य तस्मिन् दिवसे जन्मर्क्षस्यापि योगे सति समवेतानां योषितां सर्वस्त्रीणां मध्ये दूर्यादिवादित्रैर्नानाविधगीतैः स्त्रीकर्तृकैः पुरुषकर्तृकैश्च द्विजानां ब्राह्मणानां मन्त्रवाचकैः सह सूनोः पुत्रस्याभिषेचनं कलशस्थापनपूर्वकं ब्राह्मणैः क्रियमाणं मन्त्रवत्प्रोक्षणरूपं चकार, मङ्गलस्नानादिकं तु पूर्वमेव कृतमस्ति, प्रोक्षणसंस्कारेभ्युदयो भवति, यतः सा सती पतिव्रता पत्युस्तथेच्छेति, अन्यत्रोत्सवकारणभावार्थं वा ॥ ४ ॥

**व्याख्यानार्थ** — किसी समय, निष्क्रमण<sup>१</sup> संस्कार<sup>२</sup> कर्म करने का अवसर, चौथे मास में आया, उस दिन भगवान् के जन्म का रोहिणी नक्षत्र भी था। औत्थानिक कर्म करने से, चित्त में उत्साह एवं आनन्द का आविर्भाव हुआ जिससे यह विचार हुआ कि आज निष्क्रमण संस्कार एवं जन्म नक्षत्र का योग है इसलिये यह उत्सव धूमधाम से, प्रेमपूर्वक करना चाहिये। इस उत्सव को मनाने के लिये आई हुई स्त्रियों के बीच में, तुरी आदि वाद्य, स्त्री और पुरुषों द्वारा गाये हुए गीतों के साथ एवं ब्राह्मणों द्वारा उच्चारण किए हुए मन्त्रों के साथ यशोदाजी पुत्र का अभिषेक करने लगी अर्थात् ब्राह्मणों ने कलश स्थापन कर, जो जल अभिमंत्रित किया था, उससे पुत्र पर प्रोक्षण (सिञ्चन) किया, मंगल स्नान तो पहिले किया ही था। प्रोक्षण संस्कार पुत्र के अभ्युदय (वृद्धि) के लिये किया। श्लोक में यशोदाजी के लिये ‘सती’ विशेषण दिया है उसका भावार्थ बताते हैं कि वह पतिव्रता थी और क्योंकि नन्दरायजी की इस प्रकार से विधिपूर्वक और धूमधाम से उत्सव करने की इच्छा थी इसलिये यशोदा ने यह उत्सव घर में ही किया दूसरे स्थान\* पर यह उत्सव नहीं किया ॥ ४ ॥

† — श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश में ‘निष्क्रमण’ संस्कार के स्वरूप को बताते हैं कि उसमें क्या क्या किया जाता है। पहिले बालक को मंगल स्नान करके इष्ट देवता का पूजन किया जाता है (उद्घातेवा) इत्यादि मन्त्र पढ़कर बालक का शृङ्गार करने में आता है। अनन्तर बाजे गाजे के साथ देवालय, गङ्गा आदि नदी के किनारे पर, सुन्दर उद्यान अथवा बान्धवों के गृह आदि स्थानों में से किसी के स्थान पर ले जाते हैं। बान्धवादि मित्रों द्वारा मिली हुई थेंड लेके फिर घर आकर पुण्याह वाचनादि कर्म करके आरती की जाती है तथा दक्षिणादि देकर उत्सव पूर्ण किया जाता है ॥ ४ ॥

‡ — दूसरे स्थान का भाव लेखकार कहते हैं कि सती पतिव्रता थी इसलिये पिता के घर यह उत्सव नहीं किया ॥ ४ ॥

\* — दूसरे स्थान का आशय श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि जहाँ नन्दरायजी नहीं थे वहाँ नहीं किया ॥ ४ ॥

**आभास —** एवं महोत्सवमुक्त्वा बालक विस्मरणार्थं बालकस्य पल्यंके स्थापनमाह ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार चौथे श्लोक में महोत्सव का वर्णन कर, अब बालक (श्रीकृष्ण) की विस्मृति के लिये उन्हें पलंगड़ी पर पौढ़ाने का वर्णन नीचे के श्लोक में किया जाता है ।

**श्लोक: —** नन्दस्य पत्नी कृतमज्जनादिकं विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं सुपूजितैः ।

अत्राज्यवासःस्रगभीष्टधेनुभिः सञ्जातनिद्राक्षमशीशयच्छनैः ॥ ५ ॥

**श्लोकार्थ —** स्नानादि किये हुए एवं अन्न, घृत, वस्त्र, पुष्पमालाओं से मन चाहे इच्छित पदार्थों तथा गौओं के दान से पूजित ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन किये हुए निद्राशील अपने पुत्र (भगवान्) को नन्दजी की पत्नी (यशोदा) ने धीरे-धीरे पौढ़ाया ।

**सुबोधिनी —** नन्दस्य पत्नीति, नन्दस्य पत्नी नन्द-कार्यमवश्यं करोति, अन्यथा तदभावे ज्ञातीनां चैमनस्य स्यात्, अतः कृतमज्जनादिकं भगवन्तं सञ्जातनिद्राक्षं शयनं कारितवतीति सम्बन्धः, आदौ स्त्रीणां भाकारणं कृत्वा स्नानस्थानमलङ्कृत्य नानाविधगीतैस्त्रैलेन नाना-विधसुगन्धद्रव्यैः स्नानं कारयित्वा भरणानि परिधाप्य कस्तूरीगोरोचनादितिलकं दत्त्वा धूपादिना चार्द्रतां दूरीकृत्य सर्वाभरणभूषितं विधाय तदनन्तरं विप्रैः कृतस्वस्त्ययनं कृतं रक्षाबन्धनादिकं यस्य तादृशं, तेष्वो ब्राह्मणेभ्यो बहु दत्त्वा सन्तुष्टानामाशिशं गृहीत्वा श्रान्ताभिनयने कृते सञ्जातनिद्राक्षं मन्यमाना शयनं कारितवती, अन्नमोदनः, आज्यं घृतं, स्रद्ध

माला, वासो वस्त्राणि, अभीष्टं प्राथितं, धेनवश्च, तैः सर्वैरेव पूजिता ब्राह्मणाः, तेषां ब्राह्मणानां ज्ञानशक्तिसङ्कोचार्थं सञ्जातनिद्राक्षता, अन्यथा शिशो न प्रयुञ्जीरन्, शनैरिति, यथा निद्राभङ्गो न भवति तथा हस्तलाघवेन, ब्राह्मणानां प्रीतिश्चतुर्विधा भवति, आदौ साज्यभोजनेन, पश्चाद् वस्त्रैः, उभाभ्यां स्वयं पूर्णा भूत्वैहिके यावदपेक्षितं तत् प्रार्थयन्ति, ततो वैदिककर्मसिद्ध्यर्थं धेनवश्च, एवं चतुर्भिः पूजिताः, लौकिकख्यापनार्थं मालया च, पूजिता अन्तःकरणपूर्वकं स्वस्त्ययनं कुर्वन्ति, तेषां यथा परमार्थसर्वदृष्टिस्तरोहिता भवति तथा सम्यङ् निद्रा ॥ ५ ॥

**व्याख्यानार्थ —** नन्दजी की पत्नी थी अतः उसको नन्दजी के इच्छित वा यशोवर्द्धक कार्य अवश्य करने थे, यदि वे कार्य न करें तो ज्ञाति वाले अप्रसन्न होंगे । ज्ञाति-बान्धवों के आदरार्थ समय निकालने के लिये यशोदाजी ने मज्जनादिक करायें हुए, निद्राशील, भगवान् को इस तरह धीरे से पौढ़ाया, जैसे उनकी निद्रा का भंग न हो । इस प्रकार से निद्राशील भगवान् को पौढ़ाने से पूर्व जो जो कार्य किये उनका वर्णन करते हैं । पहिले स्त्रियों को गीतादि गाने के लिये बुलाकर, उनका भली प्रकार से आदर सत्कार किया । स्नान स्थान को सजाया, आई हुई स्त्रियां गीत गाने लगीं, गीतों के गाते हुए, यशोदाजी ने तेल फुलेल आदि सुगन्धित द्रव्यों से पुत्र को स्नान कराके, आभूषण पहनाये और कस्तूरी गोरोचनादि से तिलक किया, तथा स्नान से पैदा हुई आर्द्रता धूपादि से मिटाई । पश्चात् सर्व प्रकार के आभूषणों से सुसज्जित बालक (भगवान्) की ब्राह्मणों द्वारा स्वस्तिवाचन आदि से रक्षा-बन्धन आदि क्रिया कराई । कर्म कराने वाले उन ब्राह्मणों को घृत युक्त अन्नादि का भोजन करवाया और उनको वस्त्र दिये, जिससे उन ब्राह्मणों का लौकिक सिद्ध

हुआ, वैदिक कर्म की पूर्णता के लिये, गौ दान किया, ब्राह्मणों की मालाओं द्वारा पूजा की जिससे यश की वृद्धि हुई। ब्राह्मण लोग चार प्रकार से प्रसन्न होते हैं, प्रथम सात्विक भोजन, उसके पश्चात् वस्त्र इन दोनों से स्वयं पूर्ण होकर इच्छित पदार्थ अर्थात् धन के लिये प्रार्थना करते हैं, तत्पश्चात् वैदिक कर्म सिद्धि के लिये गाय के लिये, इन चारों से और माला आदि से पूजा होने पर अन्तःकरण से प्रसन्न होकर आशीर्वाद देते हैं। इस प्रकार चतुर्विध पूजन से ब्राह्मण प्रसन्न हुए। इस प्रकार अलंकृत भगवान् स्वस्तिवाचनादि कर्म पूर्ण होते ही, सोने (नींद लेने) की चेष्टा करने लगे।

आचार्यश्री भगवान् के निद्राशील<sup>१</sup> होने का रहस्य बताते हैं कि भगवान् ने निद्रा चेष्टा से आंखें मूंद कर ब्राह्मणों की ज्ञान-शक्ति हर ली। ज्ञान-शक्ति लुप्त होने से उन्होंने भगवान् को भगवान् न समझा किन्तु यशोदा का पुत्र समझा। जिससे वे भगवान् को आशीर्वाद देने लगे ॥ ५ ॥

आभास — एवं कृते प्रसंगात् सर्वेषामेव बहिर्मुखता जातेत्याहौत्थानिकौत्सुक्यमन इति।

आभासार्थ — इस प्रकार करने से अर्थात् आंखों में निद्रा लाने से, सब में बहिर्मुखता आ गई। इसका वर्णन इस निम्न श्लोक में किया जाता है।

श्लोकः — औत्थानिकौत्सुक्यमना मनस्विनी समागतान् पूजयती व्रजौकसः।

नैवाशृणोद् वै रुदितं सुतस्य सा रुदन् स्तनार्थी चरणावुदक्षिपत् ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ — औत्थानिक कर्म (निष्क्रमण-संस्कार) करने में, उत्साह एवं अभिमान युक्त मनवाली यशोदाजी, उत्सव में आए हुए व्रज-वासियों का पूजन कर रही थी, इसलिये उन्होंने पुत्र का रोना सुना ही नहीं, भगवान् ने स्तनपान की इच्छा से रोते रोते अपने दोनों चरण उछाले (ऊँचे किये) ॥ ६ ॥

सुबोधिनी — ब्राह्मणार्थे निर्मूलने कृते भगवतो ज्ञानशक्तेर्निर्मूलितत्वात्सौक्यप्रबल्यं, अथापि प्रपञ्चात् पूर्वाध्यायाभ्यां निरोधस्योक्तत्वात्त्रात्यन्तं लौकिके यशोदाया बुद्धिः किन्तु भगवत्सम्बन्धिलौकिके, तदाहौत्थानिके कर्मणि शोषार्थं यदौत्सुक्यमुत्सुकता लौकिकाभिनिवेशस्तत्रैव मनो यस्या इति, भगवत्सम्बन्धस्य गौणत्वात् प्रवाहस्य बलिष्ठत्वाद भगवदंशमपि परित्यज्य लौकिकसम्भावनार्थमभिमानवती च जातेत्याह मनस्विनीति, एवं बाह्याभ्यन्तरभेदेन तस्या

१ — लेखकार — श्लोक में (सञ्जातनिद्राक्षम्) पद में आये हुए (सम्) उपसर्ग का आशय स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि भगवान् ने आंख मीच कर ब्राह्मणों की ज्ञान-शक्ति खींच ली। जिससे यशोदाजी ने जो पूजा में दिया था वह ग्रहण किया। भगवान् को आशीर्वाद भी दिया। भगवान् आंख मीच कर ज्ञान-शक्ति का हरण न करते, तो ब्राह्मण उन्हें भगवान् समझ कर, न पूजा लेते और न आशीर्वाद ही देते।



बहिर्मुखत्वं जातं, स्वकार्यमपि कृतवतीत्याह समागतान् पूजयतीति, ये लौकिकव्यवहारेण सम्यगागतास्तान् पूजयती (पूजयन्ती), मालाकुङ्कुमोपहारैर्बालाः पुरुषाः स्त्रियश्च सर्वे पूजिता इति पूस्तिङ्गनिर्देशः, ते चेत् सन्तो भवेयुः सर्वथा भगवदीयास्तथापि न दोषः स्यादिति तदध्यावृत्त्यर्थमाह ब्रजौकस इति, ब्रज एव तामस ओकः स्थानं येषामिति तामसभूयिष्ठ एव स्थिता न तां पदवीमारोदुमर्हन्ति, भगवांस्तु निरोधार्थमेव समागत इति लौकिकप्रकारेणैव प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकं स्वासक्तिं करिष्यन् रोदनं कृतवान् मदीया अप्येवं बहिर्मुखा जायन्त इति च ज्ञापयितुं, कल्पान्तरे ज्ञानशक्तितिरोभावे तस्मिन् शकटे दैत्यः कश्चिदाविष्टः स नेतुं समागत इति तन्निवृत्त्यर्थं रोदनं शकटक्षेपश्चेत्याहुः, अत एव ब्रह्माण्डपुराणे "शकटसुरखण्डन" इति भगवन्नाम, अत्र तु शकटमात्रं तद्धर्माभिनिवेशो वा, साधारणधर्माणां परित्यागासम्भवात्, एवं सर्वभावेन बहिर्मुखत्वे भगवता प्रबोध्यमानापि प्रकारं न गृहीतवतीत्याह नैवाशृणोदिति, एवकारेण श्रवणसम्भावनापि निवारिता, ननु श्रुत्वैव कार्यव्यग्रेपेक्षां कृतवतीति कथं न कल्प्यते तत्राह वै निश्चयेन, अन्यथा चित्तमर्धमप्यत्रागतं भवेत् तदाधिकरोदनेनापि समागच्छेत्, अतस्तन्निषेध एव, सुतस्य रुदितं श्रुतं न विलम्बं सम्पादयति, तत्रापि सा महता कष्टेन प्राप्तपुत्रा, अश्रवणे वा

हेतुः पूर्वोक्तन्यायेन बहिर्मुखेति, तदा भगवान् रोद कार्यासिद्धिं ज्ञात्वा रुदन्नैव स्तनार्थी चरणावूर्ध्वमुदक्षिपत्, यथा बालकाश्चरणवूर्ध्वं प्रसारयन्ति, वाक्यापेक्षया कृतेः प्रबलत्वात् तथाकरणं, भगवान् मनसैव निरोधं कथं न कृतवानिति परिहृतं, वे क्रियायां क्रियाबुद्धिः स्यात्, शकटभङ्गेऽप्यक्लिष्टकारि स्यात्, एवं कृते त्वानुपङ्गिकं जातमिति न क्लिष्टं, पूवं यशोदाया बहिर्मुखत्वज्ञापनायान्यथा मनसैव कथं न कु अयं च निरोधः स्वार्थः, अन्यथा पञ्चानां परार्थी वक्ष्यमाणत्वात् पञ्चपर्वाविद्या तेनैव नाशयत इति व्य स्यात्, तच्च स्वप्रयोजनं स्तनार्थित्वं, स्वार्थमुत् स्वनियोगावश्यकत्वाज्ञापनाय स्तनमेवापेक्षते न तु पानं, वक्ष्यति स्वयमेव "नाहं भक्षितवा" निति मृत्प्रसङ्गे पूतनास्तनपानसमये यावन्तो बालास्तद्धक्षिता समागतास्तेषामत्रार्थमवश्यं स्तनापेक्षा, पूतनासम्बन्धिक्रोधेनैव नाशितं, तान् स्वसमानत्वेन सम्पा स्वभोग्यगोपिकादर्शनदोषाभावार्थं तानेव तासु समारो ज्ञानं चोपदेष्टुं प्रथमं स्वकीयमेव सर्वथा निर्दुष्टं तेभ्यो द ते च बहवः पीडिता भवन्ति, अतः स्तनार्थित्वं, भव तेषां निस्तारो जात इति ख्यापयितुं चरणयोर्व्यापारं २ अवतारविषयिणी भक्तिरतिपुष्टेति ज्ञापयितुं द्विवचनम् ॥

**व्याख्यार्थ —** भगवान् ने आँखों का निमीलन<sup>१</sup> ब्राह्मणों की ज्ञान-शक्ति तिरोहित करने लिये किया था - किन्तु इससे वहाँ स्थित सब को ज्ञान-शक्ति भी तिरोहित हो गई, जि भगवत्कार्य की तुलना में लौकिक कार्य की प्रबलता हो गई। अतः सब का मन लौकिक में आसक्त हो गया। यद्यपि पूर्व के दो अध्यायों में की हुई लीलाओं से यशोदा का भग में स्नेहरूप निरोध सिद्ध किया गया है, अतः यशोदा का लौकिक में मन आसक्त नहीं चाहिये था फिर भी, जो लौकिक कार्य में यशोदा का मन लगा है उसका कारण यह है कि लौकिक कार्य भगवान् से सम्बन्ध वाला है। इसलिये यशोदा की बुद्धि ऐसी हुई, जिससे संस्कार के लिये किए जाने वाले लौकिक कार्य करने में यशोदा का मन ऐसी उत्सुकता अधिमान वाला हो गया, जो भगवत्सम्बन्धी कार्य गौण हो गया और लौकिक कार्य मुख्य बलवान हो गये। इससे श्लोक में शुकदेवजी ने यशोदा जी को 'मनस्विनी' विशेषण देकर बत है कि इस समय यशोदा, लौकिक कार्य करने में अधिमान वाली है, जिससे भगवत्संबन्धी वि कार्य सब भूल गई है। केवल आये हुए बाल, स्त्री और पुरुषों का माला चन्दन उपहार अ

से पूजनादि करने में उत्साह पूर्वक भाग ले रही है। इस प्रकार लौकिक कार्य में आसक्त चित्त होने से, यशोदा बाहर और भीतर दोनों प्रकार से बहिर्मुख हुई। यशोदा जिनकी पूजा कर रही थी, यदि वे सन्त अथवा भगवदीय होते, तो भी कुछ दोष नहीं होता; किन्तु यशोदा जिनका पूजन कर रही थी, उनके रहने का स्थान तामस ब्रज था, जिससे वे तामस थे, अतः पूजा के योग्य भी नहीं थे। इस प्रकार के कार्य से, यशोदा की बहिर्मुखता एवं लौकिक आसक्ति देख कर, भगवान्, जिनका प्राकट्य निरोध करने के लिये ही हुआ है, उन्होंने लौकिक प्रकार से ही, यशोदा का निरोध करने के लिये रोना प्रारम्भ किया। आचार्यश्री रोने का भावार्थ बताते हुए कहते हैं कि एक तो भगवान् इसलिये रोने लगे कि अहह ! मेरे स्नेही भी इस प्रकार बहिर्मुख हो जाते हैं और दूसरा रोने का कारण यशोदादि की अपने में आसक्ति करना था। आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान् का नाम (शकटासुर खण्डन) भी किसी कल्प में था क्योंकि उस कल्प<sup>१</sup> में भगवान् ने जत्र आंखें बन्द कर, ज्ञानशक्ति का तिरोधान किया था, तब वहाँ घरे हुए शकट में, असुर ने प्रवेश किया। वह असुर भगवान् को लेने के लिये आया था। उस असुर का नाश करने से उस कल्प में भगवान् का शकटासुर खण्डन नाम प्रसिद्ध हुआ। यहाँ अब (सारस्वत कल्प में) शकट में असुर का प्रवेश नहीं हुआ, केवल शकट को ही तोड़ा है, उसके तोड़ने से भगवान् ने लौकिक पदार्थों में जो आसुर धर्म थे, उन पदार्थों में यशोदादिकों का जो अभिनिवेश (आसक्ति) हो गया था उस अभिनिवेश का नाश किया। क्योंकि मनुष्यों का जिनमें अभिनिवेश हो जाता है, उन साधारण धर्मों को मनुष्य छोड़ नहीं सकते। इस प्रकार, यशोदा सब तरह से बहिर्मुख होने से, भगवान् द्वारा सचेत करने पर भी सचेत न हुई और सचेत होने के प्रकार को भी न समझ सकी। अर्थात् भगवान् का रोना जो मेरा लौकिक में अभिनिवेश हुआ है उसके छुड़ाने के लिये है। इसको न समझ सकी इसलिये केवल सुना नहीं, सो नहीं, किन्तु आसक्ति के कारण, यशोदा में श्रवण की सम्भावना भी न थी। इसलिये आचार्यश्री ने (एवं) शब्द दिया है। आचार्यश्री श्लोक में दिये हुए 'वै' अक्षर का भावार्थ बताते हैं कि यशोदा ने रुदन सुनकर, कार्य की व्यग्रता के कारण, रोने पर ध्यान नहीं दिया होगा, ऐसी शंका नहीं करनी। इसलिये शुकदेवजी ने 'वै' शब्द देकर बताया है कि वह लौकिक में इतनी आसक्त हो गई थी कि रोना सुना ही नहीं। यदि रोना सुना होता तो यशोदा का आधा भी चित्त पुत्र की तरफ हो आता, अधिक रोदन से तो चित्त यहाँ अवश्य होता। किन्तु यशोदा ने रुदन सुना ही नहीं। पुत्र का रोना, यदि कैसी भी माता सुने तो पुत्र के पास आने में क्षणमात्र भी विलम्ब न करे। यशोदा ने तो बहुत कष्ट से, वृद्धावस्था में पुत्र पाया है, वह यदि रुदन सुनती तो अवश्य आकर पुत्र को ले लेती; इसलिये यह निश्चय से कहा जा सकता है कि यशोदा ने रुदन सुना ही नहीं। कारण कि आसुर

१ - श्रीधरजी के अतिरिक्त अन्य टीकाकार कल्पान्तर की कथा को लेकर ही इस कल्प में भी शकट में असुर प्रवेश एवं उसका नाश मानते हैं।

भाव वाली वस्तुओं में अभिनिवेश होने से यशोदा बहिर्मुख हो गई थी। भगवान् ने जब देखा कि रोने से भी यशोदा की आसक्ति वहाँ से न छूटी, तब अपने चरणों को जोर से उछलने लगे, कारण कि वाणी<sup>१</sup> की अपेक्षा कर्तव्य प्रबल है। इसलिये भगवान् ने भी वाणी से कार्य की सिद्धि हुई न देख कर, कर्तव्य करने के लिये चरणों को उछाला। इससे भगवान् ने मन से ही निरोध क्यों नहीं किया, यह शंका भी मिट दी। यदि भगवान् रोदन करने के अतिरिक्त केवल पादों को उछाल के शकट भंग करते तो बालक आदि यों समझते कि भगवान् को शकट तोड़ने में बहुत परिश्रम करना पड़ा। रोते रोते माता के आने से जैसे बालक स्वभाव से पैरों को ऊपर उछालते हैं वैसे ही श्रीकृष्ण ने भी रोकर माताओं को बुलाया। वह न आई तब पैरों को उछाला। पैरों के उछालने से शकट भंग का कार्य आनुषंगिक<sup>२</sup> हो गया। इससे गोपादिकों ने समझा कि भगवान् ने शकट भंग के लिये कोई परिश्रम नहीं किया है। पैरों के उछालने से शकट भंग स्वतः हो गया है। भगवान् का रोदन तो यशोदा की बहिर्मुखता जताने के लिये था, नहीं तो, मन से यशोदा का निरोध क्यों नहीं करते। यशोदाजी का निरोध तो भगवान् ने अपने कार्य सिद्धि के लिये किया है। यदि यह निरोध भगवान् अपने लिये न करते तो दूसरों की पञ्चपर्वा अविद्या को नाश करने के लिये जो लीला भगवान् आगे करेंगे, जिनसे उनका निरोध सिद्ध होगा वे ही यहाँ करते। वे न कर, केवल रोदन वा पैरों को उछालने से शकट भंग किया, इससे जाना जाता है कि यह यशोदा का निरोध भगवान् ने अपने स्वार्थ के लिये ही किया है। इसलिये शुकदेवजी ने कहा है कि (स्तनार्थी) भगवान् स्तन की ही इच्छा वाले थे, न कि दूध के पीने की इच्छा वाले थे। स्तन की इच्छा क्यों की? इसको समझाते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि यशोदा के स्तनों में उत्पन्न हुआ दूध मेरे लिये है अतः उसका विनियोग मुझ में ही होना चाहिये। इसलिये केवल स्तन की इच्छा की। जब भगवान् को दूधपान करना नहीं था तो स्तन की इच्छा क्यों की। इस सन्देह को मिटाने के लिये आचार्यश्री कहते हैं कि जैसे मृत्स्नाभक्षण लीला में प्रत्यक्ष तो यों दिखने में आया कि मृत्तिका भक्षण कृष्ण ने किया है किन्तु कृष्ण के द्वारा मृद्भक्षण अन्तःस्थित बालकों ने किया था वैसे ही यहाँ भी भगवान् को अन्तःस्थित बालकों की भूख मिटाने के लिये स्तन की आवश्यकता हुई। इसलिये स्तन की इच्छा की यह कहा गया है। भगवान् ने उन स्व अन्तः स्थापित गोप बालकों का दुष्टत्व तो पूतना पर क्रोध करने से ही नाश कर दिया था। अब उन गोप बालकों को अपने समान बनाने के लिये, स्वभोग्य गोपिकाओं के दर्शन में प्रतिबन्धक दोषों को मिटाने के लिये उन गोप बालकों को गोपिकाओं में स्थापित करने के योग्य बनाने के लिये और ज्ञानोपदेश देने के लिये पहले अपने लिये उत्पन्न निर्दोष दूध उनको पिलाते

१—कहने से कर बताने में बल विशेष होता है।

२—एक कार्य करते हुए बीच में दूसरा कार्य अपने आप हो जाय उसे आनुषंगिक कहते हैं।

हैं। वे गोप बालक क्षुधा से बहुत पीड़ित थे इसलिये भगवान् स्तनार्थी हुए हैं। भक्ति से ही उनका निस्तार (उद्धार) हुवा, इसको प्रकट करने के लिये ही दो चरणों के उछलने की क्रिया हुई। दो चरणों से लीला तो अवतार दशा में ही हो सकती है। आचार्यश्री कहते हैं कि अवतार विषयिणी भक्ति (अवतार समय की भक्ति) ही अतिपुष्टि (विशेष अनुग्रह वाली) है, इसीलिये मूल में चरण शब्द द्विवचन<sup>१</sup> में दिया है ॥ ६ ॥

आभास — एवं कृते यज् जातं तदाहाधःशयानस्येति ।

आभासार्थ — भगवान् के चरण उछलने से जो कुछ हुआ उसका वर्णन निम्न श्लोक में किया गया है ।

श्लोकः — अघःशयानस्य शिशोरनोऽल्पकः प्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं व्यवर्तत ।

विध्वस्तनानारसकुप्यभाजनं व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्नकूबरम् ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ — इसके पश्चात् शकट के नीचे पोढ़े हुए बाल रूप भगवान् के नवीन कोमल आम्रपत्र के समान कोमल एवं लाल चरण के लगने से, हिल कर शकट उलट हो गया। उसमें धरे हुए अनेक प्रकार के रसों से भरपूर चर्म पात्र टूट गए और पहिया, धुरी एवं जुवाड़ा सब छिन्न-भिन्न हो गए।

सुबोधिनी — अघस्तादवलम्बे शकटस्य पृष्ठभागाधः पत्यङ्गे शायितो भगवाञ् छायार्थ, यदि निरोधो नाङ्गी-क्रियते तर्हि भवत्कृता छयापि मास्तिवति ज्ञापयितुं शकटाक्षेप इति ज्ञापयत्यधःशयानस्येति, शिशोरित्युत्थानासमर्थस्य, तथाबुद्धिः सम्पादितेति नान्यथा करणं, भगवतो भिन्नतया सम्बन्धित्वेन निरूपणं चरणस्यैव माहात्म्यज्ञापनार्थं, अनः शकटं, अल्पकप्रवालमृद्वङ्घ्रिहतं सद् व्यवर्तत विपरीततया पतितं, तद्गतानां कार्याणां नाशस्त्वग्रे वक्ष्यते, सकार्यस्यानसो भङ्गो जातः, पूतनायां तु भगवत ओष्ठद्वयसम्बन्धो हस्तद्वयसम्बन्धश्च जात इति तदपेक्षयाधिकमाहात्म्यज्ञापनार्थमल्पसम्बन्धो वक्तव्यः, अत एव विचारक्रमेणैतानि चरित्राणि गृहीतानि, तदुक्तं द्वितीयस्कन्धविवरणे, अत्यन्तमल्पावल्पकौ प्रवालापेक्षयापि मृदु अल्पको वा प्रवालो नूतनाम्रपत्रमत्यारक्तं तदपेक्षयापि मृदु

भगवच्चरणारविन्दं तथैवारक्तमूर्ध्वरेखायुक्तं च, तादृशाङ्गिभ्यामङ्घ्रिणा वा हतमल्पं ताडितं स च चलनेष्ययोग्यं विपरीततया पतितं, मारणसमये चरणस्य महत्त्वं जातं भविष्यतीतिशंकाव्युदासाय प्रवालतुल्यतया वर्णितं, मृदुत्वमात्रे दृष्टान्तो मा भवत्वित्याकृतावपि समानमिति वक्तुमल्पकता निरूपिता, तदपेक्षयापि मृदुत्वकथनं शकटादेः प्रत्युत सुखजनकमिति ज्ञापयितुं "पदा शकटोपवृत्त" इतिविचार एकमेव पदं गृहीतमत्र तु चरणावित्युक्तं, समासे सन्दिग्धत्वात् कारणतैकस्यैव युक्तेत्यङ्घ्रिणा हतमितिसमासः, अतो-वस्थासाधनवैपरीत्यं कार्ये निरूपितं, भागक्रान्तमनो वारयितुं न शक्यमिति ख्यापयितुं विशेषणद्वयमाह बाह्याभ्यन्तरभेदेन विध्वस्तेति विशेषेण ध्वस्तान्यधः पतितानि नानाविधरसयुक्तानि घृतमधुगुडदधिनवनीतादियुक्तानि कुप्यभाजनानि चर्मणा निर्मितानि रसस्थापनार्थं, कुप्यानि

तस्मिन् देशे प्रसिद्धानि, अनेन तेषां स्थापनमपि भगवतो न सम्मतं सर्वनिधेर्भगवत एव विद्यमानत्वात्, भाजनपदेन तान्येव व्यवहारपात्राणीति ज्ञापितं, एवं शकटस्थितानां सर्वेषामधःपात उक्तः, न हि भगवदुपरि रसान्तरं स्थातुं शक्नोति, अतो भक्तेरुत्पांशेनापि ते सर्वे निरकृताः, भिन्नरसवान् भगवदुपरि स्थितः स्वरूपतोपि नष्ट इत्याह व्यत्यस्तचक्राक्षविभिन्न-कूबरमिति, व्यत्यस्ते इतस्ततः पतिते चक्रे तन्मध्ये स्थितोक्षोपि लोहमय इतस्ततः पतितो यस्य विशेषेण भिन्नं

कूबरमग्रिमभागो लम्बो यस्य, व्यत्यस्तचक्राक्षं च तद् विभिन्नकूबरं च, संसारकालचक्र उभयसंग्राहकश्चाहङ्कारो विशेषेणात्यन्तमस्तं गतो भवति, भक्त्येकदेशेनापि क्रियाशक्तेर्महत्त्वात् तथात्वमुचितमेव, कूबरमुच्चस्थान-मप्यस्तीति कूबरं तद् विशेषेण कालात्मकेन भिन्नं भवत्येव, स्वभावत उच्चा अपि भगवद्विरुद्धधर्मा भक्त्यंशेन नश्यन्तीति, अनेन भगवांस्तद्गृहमेव दूरीकृतवानित्युक्तम् ॥ ७ ॥

**व्याख्यार्थ** — अधःशयानस्य - पद का आशय बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि माता यशोदा, अपने पुत्र श्रीकृष्ण को धूप न लगे, इसलिये गाड़े की छाया में पोढ़ा कर चली गई थी। भगवान् माता के इस दुलार को तब अंगीकार करना चाहते थे जब कि माता श्रीकृष्ण में निरोध वाली होती अभी तो यशोदा बहिर्मुख है। इसलिये श्रीकृष्ण ने शकट को तोड़ कर माता को बता दिया कि बहिर्मुख हुई आपकी छाया भी मुझे नहीं चाहिये।

'शिशोः' शब्द का भावार्थ बताते हैं कि उठने की भी जिसमें शक्ति नहीं हो ऐसे बालक भगवान् तो सर्वकारण समर्थ हैं, उनमें उठने की भी शक्ति नहीं है, यह कहना असंगत सा प्रतीत होता है। इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् तो सर्वकारण समर्थ हैं, उठकर भी शकट को उलट कर सकते थे; किन्तु भगवान् ने सब की बुद्धि ऐसी बना दी थी, जो सब भगवान् को बालक ही समझते थे। इसलिये भगवान् ने उस बालपने के विरुद्ध उठकर गाड़ा उलटाना आदि कार्य न किया। उस गाड़े को चरण द्वारा उलट कर अपने से भिन्न एवं केवल सम्बन्ध ही चरणों से बताया। चरण द्वारा शकट को उलट करने से भगवान् ने अपने चरणों का माहात्म्य प्रकट किया। भगवान् के चरणों के भाव बताते हुए कहते हैं कि शुकदेवजी ने 'अल्पक' शब्द देकर यह कहा है कि भगवान् के चरण, आम्र के नवीन पत्ते तो लाल एवं कोमल होते हैं; किन्तु भगवान् के चरण उन पत्तों से भी कोमल एवं ऊर्ध्व रेखा वाले लाल थे। ऐसे दोनों चरणों से वा एक चरण से, ताड़ित वह भारी शकट, जो हिल भी नहीं सकता था, वह उलट होकर गिर इससे यह शंका भी मिट दी कि मारण समय में चरण महान् हुए होंगे। गाड़े में धरे पदार्थों का नाश तो आगे (श्लोक के उत्तरार्ध में) वर्णन करेंगे। पूतना-वध कार्य के माहात्म्य से भी, शकट भञ्जन का माहात्म्य विशेष है; क्योंकि पूतना के वध में पूतना को भगवान् के दो हाथ और दो ओष्ठों का स्पर्श हुआ था और यहाँ एक ही कोमल चरण का स्पर्श हुआ और वह चरण न केवल कोमल था; किन्तु उसकी आकृति भी वैसी छोटी ही थी। चरण कोमल एवं छोटे होने से, शकट को स्पर्श होते समय, किसी प्रकार का क्लेश तो न हुआ, किन्तु सुख ही हुआ। छठे श्लोक में 'चरणों' द्विवचन दिया है जिसका अर्थ दो पाद होते हैं, ७वें श्लोक में 'अङ्घ्रिहतं' समास है,

जिसका अर्थ 'दो चरणों से' अथवा 'एक चरण' से दोनों तरह हो सकता है। ९वें श्लोक में 'पादेन' एक वचन देकर बताया है कि एक पाद से शकट उलटा कर दिया। इन तीनों को ध्यान में रख कर आचार्यश्री निर्णय करते हुए आज्ञा करते हैं कि यद्यपि भगवान् ने दो पैर उछाले थे; किन्तु गाड़े को एक का ही स्पर्श हुआ, इस एक चरण से ही गाड़ा उलट गया। शकट भञ्जन कार्य होने में, भगवान् की अवस्था (आयु) तथा साधन (नवीन आम्र पत्र समान मृदु पाद) दोनों ही विपरीत (कार्य करने में असमर्थ) थे; क्योंकि शकट, भार से ऐसा लदा हुआ था, जो कोई हिला भी न सके। दो विशेषण देकर, शकट के भीतरी और बाहर के भारीपन को सिद्ध किया है। १-गाड़े के भीतर के भाग में धरे हुए अनेक प्रकार के रसों वाले, घृत, मधु, गुड़, दधि एवं नवनीत से भरे हुए चर्म निर्मित पात्र (जो उस देश में 'कुप्य' नाम से प्रसिद्ध हैं, 'भाजन' पद से जाना जाता है कि उस देश में व्यवहार में आते हैं) भी गाड़े के उलटे होने पर नीचे गिर पड़े। गाड़े में इन रसों से भरे हुए पात्र धरे थे यह कार्य भगवान् को अच्छा न लगा, क्योंकि जब मैं सर्वनिधि आपके पास विद्यमान हूँ तब दूसरे पदार्थों के (जो अनित्य नाशवान हैं उनको) इकट्ठे करने की कौनसी आवश्यकता है? दूसरे सब से उत्तम नित्य रस जो मैं हूँ उसको तो नीचे धरा है और अनित्य रसों को ऊपर धरा है। इसलिये भगवान् ने शकट स्थित सब रसों का अधःपात कर दिया। आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान् से ऊपर अन्य रस (पदार्थ) ठहर नहीं सकते। (इससे यह शिक्षा लेनी चाहिये कि जहाँ भगवान् विराजमान हों, वहाँ ऊपर कोई वस्तु नहीं धरनी चाहिये।) दूसरे विशेषण 'व्यत्यस्त...' का भाव बताते हुए कहते हैं कि शकट का बाहर का भाग तो बिना रस वाला था। और वह भी रसरूप भगवान् के ऊपर स्थित था, इसलिये वह स्वरूप से नष्ट हो गया, उसका एक एक अंग अलग हो गया। जैसे कि एक पहिया एक ओर दूसरा पहिया दूसरी ओर जा पड़े; धुरी टूट गयी; जुआ छिन्न-भिन्न हो गया। आचार्यश्री इस लीला के रहस्य को प्रकट करते हुए आज्ञा करते हैं कि जैसे शकट में दो चक्र थे, वैसे ही संसार के काल रूपी दो चक्र (जन्म-मरण) हैं जिनको अहङ्कार ने धारण कर रखा है। इस अहङ्कार का नाश हो तो संसार के चक्र (जन्म-मरण) नष्ट हो जावें। अहङ्कार का नाश भक्ति के एक अंग (श्रवण) से हो जाता है, जैसे यहाँ भक्ति के एक अंग चरण स्पर्श से शकट का नाश हुआ है। क्रिया-शक्ति भगवद्-भक्ति का एक देश भी अहङ्कारदि दोषों से बलवान् है यह उचित ही है। कूबर उच्च है; इसका आशय कहते हैं कि स्वभाव से उच्च होते हुए भी यदि वे भगवद्विरुद्ध धर्मवाले हैं, तो भक्ति के एक अंश से ही नष्ट हो जाते हैं। इससे भगवान् ने वह घर ही दूर अर्थात् नाश कर दिया ॥ ७ ॥

१ - इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि 'वह घर ही दूर कर दिया' इसका रहस्य यह है कि भगवान् ने शकट भञ्जन से अविद्याकृत संसार (अहन्ता ममता रूप) को उत्पन्न करने वाला घर ही दूर कर दिया, अर्थात् संसार ही नष्ट कर दिया। - प्रकाश

**आभास** — तदा लौकिकनाशात् तन्नाशद्वारा तत्कर्तारि भगवत्यभिनिविष्टा इति वक्तुं प्रथमतस्सर्वेषां तन्नाशचित्तत्वमाह ।

**आभासार्थ** — लौकिक<sup>१</sup> के नाश होने से सबका ध्यान नाश कर्ता भगवान् की ओर गया । परन्तु सबका ध्यान पहले टूटे हुए शकट की ओर गया जिसका वर्णन इस आठवें श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — दृष्ट्वा यशोदाप्रमुखा ब्रजस्त्रिय औत्थानिके कर्मणि याः समागताः ।

नन्दादयश्चाद्भुतदर्शनाकुलाः कथं स्वयं वै शकटं विपर्यगात् ॥ ८ ॥

**श्लोकार्थ** — औत्थानिक<sup>२</sup> कर्म के उत्सव में एकत्रित हुई यशोदा तथा प्रमुख ब्रज स्त्रियाँ और नन्दादिक गोप इस अद्भुत (शकट गिर जाने के) कार्य को देख के व्याकुल हुए और कहने लगे कि गाड़ा आप ही कैसे उलट गया ?

**सुबोधिनी** — दृष्ट्वेति, दूरे पतितमन एव दृष्ट्वा न तु भगवन्तं तत्सम्बन्धं वा । स्त्रीषु यशोदा मुख्या पुरुषेषु नन्दः, गोपिकानां ज्ञानं भविष्यतीति तदव्यावृत्त्यर्थमाह ब्रजस्त्रिय इति, तथापि "मुख्ये कार्यसम्प्रत्यय" इतिन्यायेन गोपिका एव ब्रजस्त्रियो भविष्यन्तीत्याशङ्क्याहौत्थानिके कर्मणि याः समागता इति, यशोदायाः साधारण्ये प्रवेशान्मुख्या अपि साधारण एवाभिनिविष्टा नन्दादयो-

प्यौत्थानिकं कर्मेति कृत्वा गृह एव स्थिताः, अन्यतोपि समागता अन्ये चकारेणोक्ताः, स्त्रीणामपेक्षयाद्भुतदर्शनेनाकुला जाताः, किं जातं किं भविष्यतीति शकटपाते सर्वे हेतुं विचारयन्तीत्याह कथमिति, स्वयमेव बलीवर्दा-द्याघातव्यतिरेकेणैव वै निश्चयेन स्वयमेव शकटं विपर्यगात् विपर्ययं प्राप्तवद् विपरीततया परितश्च भिन्नतया शकलतश्चागाद् कथं तावद्दूरे पतितमित्यर्थः ॥ ८ ॥

**व्याख्यार्थ** — 'दृष्ट्वेति' - यशोदा आदि ब्रज स्त्रियों और नन्दादि गोपों ने भगवान् को वा भगवान् का शकट के साथ जो सम्बन्ध था, उस ओर ध्यान न देकर, दूर गिरे हुए शकट को ही पहले देखा । स्त्रियों में मुख्य यशोदाजी थीं और गोपों में नन्दजी मुख्य थे । आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि 'ब्रजस्त्रियः' शब्द से गोपिकाएँ (प्रकाशकार कहते हैं 'गोपिकाएँ' अर्थात् स्वामिनि) होंगी ऐसा भ्रम किसी को हो, तो उस भ्रम निवारणार्थ श्रीशुकदेवजी ने 'औत्थानिके कर्मणि याः समागताः' पंक्ति देकर इस भ्रम का निवारण किया है । वे ब्रज स्त्रियाँ गोपिकाएँ न थीं; किन्तु

**लेख** — श्रीवल्लभलालजी कहते हैं कि १०-२७-१५ 'तोकायित्वारुदन्त्यन्ये' इस श्लोक में लिखा है कि गोपिकाएँ स्वयं शकट भंजन लीला करेंगी इससे उन्होंने इसका ज्ञान होगा । आचार्यश्री के इस कहने का तात्पर्य है कि इस समय यहाँ इस लीला को देखने वाली ब्रज स्त्रियाँ हैं न कि गोपिकाएँ हैं ।

**प्रकाश** — यशोदाजी का साधारण्य (लौकिक) में प्रवेश हुआ तो 'मुख्यों' का भाव बताते हैं कि 'रोहिणी आदि स्त्रियों' का भी उसमें प्रवेश हुआ । इसलिये नन्दादिक भी औत्थानिक कर्म है, ऐसा जानकर बाहर न जाकर गृह में ही रुके रहे ।

औत्थानिक कर्मोत्सव में जो भाग लेने के लिये आई थीं, वे स्त्रियाँ 'व्रजस्त्रिय' पद से समझनी। गोपिकाओं को तो इस लीला का ज्ञान होगा। 'च' अक्षर का भाव बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि बाहर से भी आए हुए गोप इस अद्भुत कार्य को देखकर स्त्रियों से भी विशेष व्याकुल हुए। और सब कहने लगे कि अरे क्या हुआ ? क्या होगा ? शकट गिरने पर सब विचार करने लगे कि यह 'कथं' कैसे स्वयं गिरा ? इसमें बली वर्द (बैल) आदि तो शकट में जुटे नहीं थे, जिन्होंने उसे गिराया हो, इसलिये निश्चय से यह शकट उलटा हो, इधर-उधर टुकड़े होकर दूर जा के पड़ा है ॥ ८ ॥

**आभास —** भगवत्यत्यन्तमसम्भावना तेनान्योक्तेपि निमित्ते तेषां विश्वासो न जातम् इत्याहद्वाभ्याम् 'ऊचुरिति' ।

**आभासार्थ —** भगवान् की कृति में असम्भावना समझने वालों को दूसरों के कहने पर भी विश्वास न हुआ। इसका वर्णन निम्न दो श्लोकों से करते हैं।

**श्लोकः —** ऊचुरव्यवसितमतीन् गोपान् गोपीश्च बालकाः ।

रुदतानेन पादेन क्षिप्तमेतन्न संशयः ॥ ९ ॥

**श्लोकार्थ —** वहाँ स्थित बालकों ने संदेहग्रस्त (शकट कैसे गिरा ? किसने गिराया ?) गोप एवं गोपियों को कहा कि यह शकट इस बालकृष्ण ने ही रोते-रोते अपने एक पैर से गिरा दिया है। इसमें किसी प्रकार के सन्देह करने की आवश्यकता नहीं।

**सुबोधिनी —** ननु विपरीतभावनायुक्तेभ्यो न वक्तव्य-मिति सिद्धान्तात् कथमुक्तवन्त इत्याशङ्क्याह बालका इति, ज्ञानवन्तोपि विवेकरहिताः परस्वभावाधिकारादिकं न विचारितवन्तः, तर्हि कथं ज्ञानवत्त्वमित्याशङ्क्य तेषां श्रोतॄणां विपरीतज्ञानं स्वभावदोषश्च नास्तीत्याहाव्यवसितमतीन् गोपान् गोपीश्चेति, न व्यवसिता निश्चयं प्राप्ता मतिर्येषां, उपायान्वेषणपरा एव न तु विपरीततया किञ्चिन्निश्चितवन्तस्तथा सति न वक्तव्याः स्युः, गोपा गोप्य इति स्वभावतो दोषाभावो गोरक्षणधर्मपातिव्रत्यधर्मश्चोक्तः, चकारात् तादृशा एव ब्राह्मणाः, अन्येपि, उपायान्वेषणेपृष्टेनापि वक्तव्यमित्यनेन बालकेन रुदतैतदनः पादेन क्षिप्तं नास्त्यत्र संशयः, न हि दृष्टेनुपपन्नं नाम व्याघातात्, दृष्टानुसारिण्येव कल्पना च कर्तव्या, अतः संशयाभाव इति बालाभिप्रायः, रोदनं निमित्तमिति नास्यापि दोषः, कर्तृकरणयोरसम्भावनया नाङ्गीकृतवन्तः ॥ ९ ॥

**लेख —** श्रीवल्लभलालजी कहते हैं कि १०-२७-१५ 'तोकायित्वारुदन्त्यन्ये' इस श्लोक में लिखा है कि गोपिकाएँ स्वयं शकट भंजन लीला करेंगी इससे उन्हें इसका ज्ञान होगा। आचार्यश्री के इस कहने का तात्पर्य है कि इस समय यहाँ इस लीला को देखने वाली व्रज स्त्रियाँ हैं न कि गोपिकाएँ हैं।

**प्रकाश —** यशोदाजी का साधारण (लौकिक) में प्रवेश हुआ तो 'मुख्यों' का भाव बताते हैं कि 'रोहिणी आदि स्त्रियों' का भी उसमें प्रवेश हुआ इसलिये नन्दादिक भी औत्थानिक कर्म है ऐसा जान कर, बाहर न जाकर, गृह में ही रुक रहे थे।



**व्याख्यानार्थ** — आचार्यश्री 'बालकाः' शब्द का भाव बताते हैं कि भगवान् के लिये जिनके अन्तःकरण में विपरीत भावना हो, उनको भगवान् द्वारा की हुई लीला नहीं सुनानी चाहिये यह शास्त्र का सिद्धान्त है। तब क्यों बताई गई। इसलिये श्रीशुकदेवजी ने 'बालका' पद दिया है; जिसका आशय कहते हैं कि वे (बालक) ज्ञान वाले थे; किन्तु उनमें विवेक (छानबीन करने की बुद्धि) नहीं थी, इसलिये गोप गोपियों के अधिकार और स्वभाव का विचार न कर सके। जब उन (बालकों) में विवेक नहीं था तो ज्ञान वाले कैसे कहते हो? इसके उत्तर में आज्ञा करते हैं कि बालकों को यह ज्ञान था कि जिनको हम सुना रहे हैं, उनमें विपरीत ज्ञान का स्वभाव दोष नहीं है, वे केवल इसका (शकट किसने गिराया) निर्णय अब तक नहीं कर सके हैं। अभी तक इसका उपाय (कारण) ढूँढने में ही लगे हुए हैं न कि कुछ भी विपरीत चिन्तन करते हैं। यदि विपरीत चिन्तन करते, तो कहने के योग्य न होते। ये गोप और गोपियाँ दोनों स्वभाव से निर्दोष हैं। गोपों का धर्म गौ-रक्षा करना है, गोपियों का धर्म पातिव्रत्य पालना है। 'च' अक्षर का आशय कहते हैं कि ब्राह्मण भी वैसे ही निर्दोष एवं धर्मपालक है, इस प्रकार दूसरे भी। इससे जाना जाता है कि वे बालक ज्ञानी थे, ज्ञानी होने के कारण ही उन्होंने समझा कि जो कारण ढूँढ रहे हो उसको बिना पूछे भी कहना चाहिये। इसलिये बालकों ने उनको कह दिया कि इस बालक ने रोते हुए एक पैर से यह शकट दूर फेंक दिया। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है क्योंकि हमने यह प्रत्यक्ष देखा है। प्रत्यक्ष में किसी प्रकार का विरोध नहीं करना चाहिये। प्रत्येक कल्पना प्रत्यक्ष के अनुसार अनुसरण करनी चाहिये। इसलिये बालकों की सम्मति है कि इसमें संशय का अभाव है। इसके फेंकने का कार्य बालक ने किया है, तो वह दोषी है। इसके उत्तर में ही बालकों ने कहा है कि इसका भी दोष नहीं है क्योंकि इसके गिरने का निमित्त कारण बालक का रोना ही है। कर्ता (भगवान्) और कारण (पाद) से यह कार्य होने जैसा नहीं है। भगवान् बालक और पैर कोमल, ये दोनों शकट को गिर नहीं सकते। यह असम्भावना बालकों ने तो अंगीकार न की, किन्तु गोप-गोपियों को फिर भी विश्वास न हुआ ॥ ९ ॥

**आभास** — प्रत्यक्षमेतत् प्रत्यक्षमूलकं च वाक्यं तर्कविरुद्धं नाङ्गीकर्तव्यमिति तदाह न ते श्रद्धधिरे गोपा इति।

**आभासार्थ** — इस निम्न श्लोक में कहते हैं कि गोपों ने बालकों के वचनों पर विश्वास न किया, क्योंकि प्रत्यक्ष भी तर्क विरुद्ध हो तो नहीं मानना चाहिये। इसलिये शुकदेवजी कहते हैं कि 'न ते श्रद्धधिरे गोपा'।

**श्लोकः** — न ते श्रद्धधिरे गोपा बालभाषितमप्युत।

अप्रमेयं बलं तस्य बालकस्य न ते विदुः ॥ १० ॥

**श्लोकार्थ** — उन गोपों ने बालकों के कहने पर भी विश्वास नहीं किया कारण कि वे गोप उस बालक (भगवान्) के अप्रमेय बल को नहीं जानते थे।

सुबोधिनी - गोप्यस्तु मध्यस्था जाताः, त इति बहिर्मुखाः, ज्ञानं तु जातं, अत्यन्तासक्त्यप्यर्थे शब्दाज्ज्ञानोत्पत्तिसम्भवत्, अतो ज्ञातवन्तो न तु श्रद्धधरे, यतो गोपा अलौकिकज्ञानरहिताः, हेत्वन्तरमप्याह बालभाषितमप्युतेति, बाला भ्रमाददृष्टमपि वदन्ति, भूतादिना तथा कृते क्षिप्तोपि पादन्यथासिद्धः करणत्वेन ज्ञात इति, बालास्तु भगवत्परा भगवत्सामर्थ्यं भूताद्यभावं च दृष्टवन्तः, अन्यैस्तु तद्दर्शनाभावात् स्वप्रतीतिसिद्धमेवाङ्गीक्रियत इति, अश्रद्धायां हेतुमाहाप्रमेयमिति, बालकस्य बलं न ते विदुः, यद्यपि बलं न प्रत्यक्षं तथापि कार्येणानुमीयते, स्वस्मिन्

कार्यकरणभावस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वात्, यद्यप्य बलिष्ठः स्यात् स्वयमप्यन्तत उत्तिष्ठेत् कार्यान्तरं वा कुर्याद् देदनं च कुर्यात्, अतो नैयायिकवदिदानीन्तनमीमांसकवद् वा भ्रान्ता बलं न विदुस्त्यर्थः, तत्र हेतुप्रमेयमिति, न तेषां दोषो नापि तर्कस्य, किन्तु तस्य बालकस्य बलमेवाप्रमेयं प्रमातुमयोग्यम् "अलौकिकास्तु ये भावा न तांस्तर्केण योजयेत्" इति तु न तेषां बुद्धिः, अलौकिकत्विनिश्चयाभावात् सन्देहस्त्वेन जातः, जिज्ञासोत्पादिका तु पूतना, वसुदेववाक्यपूतने च सन्देहोत्पादिके, यद्यपि बालका अलौकिकं जानन्तीत्यपि न जानन्ति तथापि मुख्येनैव चरितार्थत्वादेकमेवोक्तम् ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ - गोपों ने बालकों के वचनों पर विश्वास नहीं किया\* । श्लोक में दिये हुए 'ते' अक्षर का भावार्थ आचार्यश्री बताते हैं कि वे गोप, बहिर्मुख (लौकिक में आसक्ति वाले) थे । उनको बालकों के वचनों से यह ज्ञान तो हो गया कि यह शकट इस बालक ने अपने चरण से दूर फेंक दिया है इसलिये इस शकट की यह स्थिति हुई है । झूठी बात का भी शब्द से ज्ञान हो जाता है यह तो सत्य थी । इसको ज्ञान तो लिया; किन्तु विश्वास (यह छोटा बालक ऐसे शकट को कैसे फेंक सकेगा इस प्रकार के असम्भावना दोष ग्रस्त होने से) नहीं किया, क्योंकि गोप अलौकिक ज्ञान से हीन थे, अथवा यह जानकर कि ये तो बालक हैं; बालक भ्रम से, न देखा हुआ भी कह देते हैं; यह शकट, भूत, प्रेत आदि ने गिराया हो, यह न समझ कर बालक के चरण को ही कारण (फेंकने वाला) समझ लिया हो । आचार्यश्री कहते हैं कि इस प्रकार गोपों का सोचना इसलिये है कि वे बालक के स्वरूप को नहीं जानते हैं । बालक तो भगवत्पश्यण हैं और भगवान् के सामर्थ्य और भूतादिकों के अभाव को देख चुके हैं । दूसरों (बालकों के अतिरिक्त अन्य गोपादिकों) ने ये दोनों ही (भगवान् की सामर्थ्य और भूतादिकों का अभाव) देखे नहीं हैं । इसलिये जैसी उन्हें प्रतीति हुई है वैसा ही उन्होंने अंगीकार किया है । उनको (गोपादिकों को) अश्रद्धा क्यों हुई ? इसके उत्तर में श्री शुकदेवजी ने कह दिया है कि बालक (कृष्ण) का बल अप्रमेय<sup>१</sup> यद्यपि बल, आँखों से देखा नहीं जाता है तो भी कार्य से उसका अनुमान किया जा सकता है । अपने में कार्य एवं कारण भाव प्रत्यक्ष सिद्ध होते हैं । जो यह

\* श्री लालूभट्ट कहते हैं कि गोपों के विश्वास न होने का कारण यह था कि उनमें अभी तक असम्भावना दोष बलिष्ठ था । गोपियां तो मध्यस्थ हो गई, गोप और बालकों के संवाद को सुनती रहीं अपनी सम्मति कुछ भी नहीं दी - 'योजना ।'

बालक इतना बलवान होता तो स्वयं उठ खड़ा हो जावे और दूसरे कार्य भी करने लगे, रोदन न करे। इस प्रकार तर्क के करने से नैयायिक एवं मीमांसकों के समान वे गोप भी भ्रान्त हो गये जिससे भगवान् के बल को न जान सके; कारण कि भगवान् का बल अप्रमेय<sup>१</sup> है। इसलिये न उन गोपों का दोष है और न तर्क का दोष है; किन्तु उस बालक का बल ही अप्रमेय<sup>१</sup> है। इससे शास्त्र में कहा गया है कि 'अलौकिक भावों का निर्णय तर्कों से नहीं करना चाहिये' इस शास्त्र को समझने जैसी उन गोपों की बुद्धि नहीं थी। यह अलौकिक बालक है उसकी लीला भी अलौकिक है। ऐसा निश्चय न होने से ही गोप संदेहग्रस्त रह गये। पूतना के चरित्र से जिज्ञासा (क्या शकट भी बालक ने गिराया ? ऐसी जानने की इच्छा) तो पैदा हुई और वसुदेवजी के वचन हैं कि गोकुल (व्रज) में उत्पात हो रहे हैं। इन दोनों से दो प्रकार के विचार उत्पन्न हुए और ये लोग बालक को अलौकिक जानते हैं यह भी गोप समझ नहीं सके। तो भी मुख्य से (बालकों के अज्ञान से) कार्य सिद्ध होता है। इसलिये शुकदेवजी ने श्लोक में कहा है कि गोपों ने एक अविश्वास ही किया ॥ १० ॥

**आभास —** ततोत्यन्तमविचार्य लौकिक एव प्रवृत्त इत्याह रुदन्तमित्यादिसप्तभिः ।

**आभासार्थ —** इसके अनन्तर विशेष विचार विमर्श के बिना ही यशोदा लौकिक कार्य में ही प्रवृत्त हुई। इसका वर्णन निम्न सात श्लोकों से करते हैं।

**श्लोक: —** रुदन्तं सुतमादाय यशोदा ग्रहशङ्किता ।

कृतस्वस्त्ययनं विप्रैः सूक्तैः स्तनमपाययत् ॥ ११ ॥

**श्लोकार्थ —** यह कन्हैया किसी ग्रह के कारण रो रहा है, इस प्रकार शंकित हृदय वाली यशोदा ने रोते हुए पुत्र को लेकर विप्रों से रक्षार्थ स्वस्तिवाचन, शान्ति सूक्त आदि पढ़वा कर, बालक के दोष दूर करवाये, पश्चात् उसको स्तन पिलाया।

**सुबोधिनी—**चतुष्टयमत्र कर्तव्यमुत्पातोयमिति रोदनप्रतीकारो ग्रहकृतोपद्रवस्य बालकानिष्टस्य निवृत्तिः शकटस्थापनं शकटसम्बन्धुत्पातपरिहारश्च, वस्तुतस्तु द्वयमेव कर्तव्यं रोदनप्रतीकारः शकटस्थापनं च, तथा सति लौकिकबुद्धिर्दृढा भविष्यतीति तन्निवृत्त्यर्थं भगवदिच्छयोत्पन्नधर्मस्य वर्णनं भगवच्चरित्रत्वाय, तत्रादौ भगवद्विषयकं द्वयमाह, तेषामज्ञानस्थापनार्थं भगनेपि शकटे रोदनं, ग्रहसम्भावनायामपि सुतत्वाद् ग्रहणं यशोदेति लौकिकबुद्धिनिपुणेति ग्रहशङ्कासम्भावना, कश्चिद् बालग्रहादिस्तत्र प्रविष्टो रोदनं कारयतीतिसम्भावना, अतः शीघ्रं स्तनं न दत्तवती किन्त्वभिज्ञैर्ब्राह्मणैः कृतं स्वस्त्ययनं यस्य रक्षाबन्धनाभिमन्त्रादिकं स्वस्त्ययनं सुहृक्तं येषां वचनं प्रमाणमतस्ते रक्षां कृत्वा तद्गतदोषादर्शनात् सुहृक्तवन्तः, ततः स्तनमपाययत् ॥ ११ ॥

**व्याख्यार्थ** — यशोदा लौकिक में प्रवृत्त होकर चतुर्विध कार्य करने का प्रयत्न करने लगी।

(१) यह रोना भी एक प्रकार से उत्पात है इसलिये रोने का प्रतीकार करना (रोदन बंद करना चाहिये)।

(२) अनिष्ट ग्रह कृत उपद्रव से उत्पन्न बालक के अनिष्ट की निवृत्ति करना।

(३) शकट का पूर्ववत् स्थापन करना।

(४) शकट सम्बन्धी उत्पातों को हटाना।

**वास्तविक रीति से तो दो ही करने चाहियें —**

(१) रोदन का प्रतीकार, और

(२) शकट का पूर्ववत् स्थापना।

ये चारों कर्तव्य करने से लौकिक<sup>१</sup> बुद्धि दृढ़ होगी। इस लौकिक दृढ़ बुद्धि की निवृत्ति<sup>२</sup> के लिये चरित्र वर्णन करते हुए पहले भगवत्सम्बन्धी (भ्रम से स्वीकृत) दो चरित्रों का वर्णन करते हैं। उनमें अज्ञान स्थापन के लिये (इनको मेरे स्वरूप का अज्ञान ही रहे — जिससे ये समझने लगें कि यह शकट इस बालक के चरण से नहीं फेंका गया है।) शकट टूट जाने के बाद भी रोते रहे। अनिष्ट ग्रह के कारण भी रोना आता है, इसकी सम्भावना से बालक को अपना पुत्र ही समझ, यशोदा ने पुत्र को ले लिया। यशोदा नाम देने का आशय, आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि वह लौकिक बुद्धि में निपुण थी; इसलिये अनिष्ट ग्रह की शंका की सम्भावना थी। कोई अनिष्ट बाल ग्रह आदि का बालक में प्रवेश हुआ है। वह बालग्रह, इसको रुलाता है। ऐसी सम्भावना (कल्पना) है। इस कारण से बालक को शीघ्र स्तन भी नहीं दिया। पहले बाल ग्रहादि से उत्पन्न दोषों को दूर कराने के लिये अभिज्ञ (पूर्ण ज्ञानी) ब्राह्मणों द्वारा रक्षा-बन्धनादि के लिये स्वस्तिवाचन आदि पढ़वा कर दोषों को निवृत्त कराया। जब देखा कि अब दोष देखने में नहीं आते हैं तब स्तन पिलाए ॥ ११ ॥

**आभास** — एवं भगवति द्वयमुक्त्वा शकटे द्वयमाह षड्भिर्भगवद्गुणैरेवानिष्टनिवृत्तः।

**आभासार्थ** — ग्यारहवें श्लोकों में भगवत्सम्बन्धी कार्य कहे। अब छः श्लोकों से शकट सम्बन्धी दो कार्य कहेंगे भगवान् के छः गुणों से अनिष्ट निवृत्ति होगी।

१ — लौकिक बुद्धि का आशय यह है कि बालक को भगवान् न समझ कर, लौकिक बालक ही है ऐसी बुद्धि यशोदाजी की दृढ़ हुई। — प्रकाश

२ — इस दृढ़ लौकिक बुद्धि की निवृत्ति के लिये गो० श्रीवल्लभजी इसका आशय बताते हैं कि ग्रहों से उत्पन्न उपद्रव, तथा शकट के कारण पैदा हुए उत्पात की निवृत्ति के लिए भगवदिच्छा से पैदा हुए भ्रम अर्थात् ग्रह द्वारा उत्पन्न अनिष्ट रूप भ्रम का वर्णन इसलिए किया गया है कि वह भगवान् का चरित्र है। — लेख

**श्लोकः — पूर्ववत् स्थापितं गोपैर्बलिभिः सपरिच्छदम् ।**

**विप्रा हुत्वा र्चयाञ्चक्रुर्दध्यक्षतकुशाम्बुभिः ॥ १२ ॥**

**श्लोकार्थ —** बलवान् गोपों ने उपकरण सहित शकट को पहले की तरह स्थापित (खड़ा) किया । ब्राह्मणों ने होम करके दही, अक्षत, कुश और जल से (शकट का) पूजन किया ।

**सुबोधिनी —** पूर्ववदिति, यथा तस्यानसः संस्थानं पूर्वमासीद् यथा वा कुप्यस्थितिस्तदाह पूर्ववदेव गोपैः स्थापितमिति, बलिभिरिति तस्य महत्त्वमुक्तं, परिच्छदा-दिसहितं, तस्य परितो भागा एव परिच्छदाः, अथवा पूजार्थं परिच्छदं वा सम्पादितवन्तः, तादृशं शकटमेव शकटाधिष्ठात्री देवतां तत्रावाह्य विप्रास्तदभिज्ञा विशेषेण रिक्तपूरणसमर्थाः,

प्रथमतो निष्ठानिवृत्त्यर्थं सामान्यतो होमं कृत्वा ज्येन व्याहृतिभिः सर्वत्र निवृत्ते सामान्यहोमः पश्चात् तच्छकटमर्चयाञ्चक्रु-र्दधिमिश्रिता अक्षतास्तस्य परितः स्थापिताः कुङ्कुमाक्षता इव कुशसहितानि प्रोक्षणजलानि च, ब्राह्मणैः क्रियमाणं समन्त्रकमेव भवति ॥ १२ ॥

**व्याख्यार्थ —** 'पूर्ववत्' पद का भावार्थ बताते हैं कि जिस प्रकार यह गाड़ा पहले स्थित था और इसमें रस (धरे हुए) रखने के चर्म पात्र धरे हुए थे वैसे ही गोपों ने शकट को खड़ा कर दिया । साधारण गोपों ने खड़ा नहीं किया; किन्तु बलवान् गोपों ने खड़ा किया क्योंकि वह गाड़ा बड़ा वजनदार था । उसको साधारण गोप खड़ा नहीं कर सकते थे । इसलिये शुकदेवजी ने गोपों का विशेषण 'बलिभिः,' श्लोक में दिया है । गाड़े के एक भाग को ही खड़ा नहीं किया था; किन्तु उसके सब अवयव भी उसमें पूर्व की तरह जोड़े गये थे इसलिये वह भारी हो गया था । इसको बताने के लिये श्लोक में 'सपरिच्छदम्' पद श्री शुकदेवजी ने कहा है । आचार्यश्री 'सपरिच्छदम्' पद को दूसरा आशय भी बताते हैं कि 'सपरिच्छदम्' पद से शुकदेवजी का यह भी आशय है कि गोपगोपियाँ पूजा के लिये सर्व सामग्री लाई थीं । ऐसे महान् शकट में उसकी अधिष्ठात्री देवता का विप्रों द्वारा आह्वान किया गया । 'विप्र' शब्द का भावार्थ बताते हैं कि वे ब्राह्मण जो पूर्ण जानकार हों और त्रुटि की पूर्णता कर सकें । इसलिये इस कार्य के लिये विप्रों को बुलाया गया था । उन विप्रों ने पहले अनिष्ट निवृत्ति के लिये साधारण रीति से होम किया । घृत से व्याहृति पूर्वक होमकर, उससे निवृत्त होने के अनन्तर निम्न प्रकार से उस शकट की पूजा करने लगे । उस शकट के चारों तरफ दधि मिश्रित अक्षत धरे गए और कुंकुम से लाल किये हुए अक्षत एवं कुश सहित प्रोक्षण जल तैयार किए गए । ये सब विधि पूर्वक तैयार कर इनसे ब्राह्मणों ने मन्त्र द्वारा शकट का पूजन किया । ब्राह्मण जो कर्म करते हैं वह मन्त्रों से ही करते हैं ॥ १२ ॥

**आभास —** एवं सामान्यत उभयोः प्रतीकार उक्तः, यशोदाप्रेरणयैवैतदुभयं जातं । नन्दस्तु विशेषाकारणे द्वयमेकत्र स्थापयित्वा शान्तिं कृतवानित्याह येसूयानृतेतिचतुर्भिः ।

**आभासार्थ** — इस प्रकार दोनों (भगवान् में ग्रहादि की शंका और शकट के उत्पात) का उपाय कहा (किया) । यशोदाजी की प्रेरणा से ही ये दो हुए । नन्दजी ने तो दोनों (भगवान् एवं शकट को) एक स्थान पर स्थापित कर शान्ति कराई । इसका 'येऽसूया' आदि ४ श्लोकों में वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः** — येऽसूयानृतदम्भेर्ध्याहिंसामानविवर्जिताः ।

न तेषां सत्यशीलानामाशिषो विफलाः कृताः ॥ १३ ॥

**श्लोकार्थ** — असूया, अनृत, दम्भ, ईर्ष्या, हिंसा और अभिमान से रहित जो ब्राह्मण हैं, उन सत्यशील ब्राह्मणों के आशीर्वचन व्यर्थ नहीं होते हैं ।

**सुबोधिनी** — नन्दस्यादौ ब्राह्मणेषु वैशिष्ट्यबुद्धिस्ततः शकटे समारोप्याभिषेकस्ततः स्वस्तिवाचनादिपूर्वकं होमो दानं च, एवं कृतस्य वैयर्थ्याभावसाधनं च पञ्चमे वक्ष्यति, तत्रादौ ब्राह्मणेषु महत्त्वबुद्धिर्जातेत्याह य इति, ब्राह्मणे चेदलौकिकी बुद्धिस्तद्वाक्याद् भगवत्प्यग्रे भविष्यतीति सूचितं ब्राह्मणाः स्वभावत उत्तमा अविकृतब्रह्मस्वरूपा दोषषट्केन तु ते प्राकृता भवन्ति, भगवति तु षड् गुणा अधिकाः, निर्दुष्टे ब्राह्मणो धर्मी भगवांश्चैकस्तुल्यो वा, अतो यथा भगवद्विचारितं सत्यमेव भवति तथा ब्राह्मणोक्तमपि सत्यं भवति कृतं तु सर्वेषां पूर्वाविरोधि, तत्र ब्राह्मणेषु षड् दोषास्तत्सामर्थ्यप्रतिबन्धकास्तद्रहितास्तु निर्दुष्टास्तान् दोषान् वर्जनार्थं गणयति, कामक्रोधलोभा दोषा अप्यवस्थाविषयभेदेनैव दोषा भवन्तीति ते न गणिताः, तत्कार्यभूता एव सर्वावस्थासु सर्वविषया ये दोषास्ते दोषा इति षड् गण्यन्ते, असूया मुख्यो दोष, अदुष्टे दोषारोपणात्, अयं बाह्यविषयको दोषः

अनृतं वाचनिको मिथ्याभाषणरूपः, दम्भः परस्य स्वोत्कर्षलक्षणापकचेष्टादिः, 'निमित्ताभावे तु नैमित्तिकाभाव' इवेत् दम्भः ईर्ष्या परगुणानामसहनेन दोषचिन्तनं मानसं, ततो हिंसा मारणं, तस्मिन्नपि सम्पन्ने भानोभिमानः, एवमेकेनैव त्रिदोषेण प्राणी नष्टो भवति किम्पुनर्द्वयेन ? असूयानृते दम्भहिंसे ईर्ष्यामानौ वाक्कायमन-सामेत एव दोषाः, एतद्विवर्जिताश्चेत् तेषामाशिषो न विफलाः कृता भवन्ति, विफलकर्तारस्तु निवृत्ता इति, ननु प्रकृतिसम्बन्धो वर्तत इति कायवाङ्मनोदोषनिवृत्तावपि स्वभावदोषस्य विद्यमानत्वात् कथं निर्दुष्टेतेत्याशङ्क्याह सत्यशीलानामिति, सत्यमेव शीलं स्वाभाविको धर्मो येषां, यद् भगवतः सत्यरूपमुक्तं तदेव तेषां स्वभावः सत्यव्रतादिः, एतादृशा ब्राह्मणा ब्रह्मविदः, तेषामिति पुनरनुसन्धानं वाक्यसमये दोषाभाववत्त्वज्ञापनार्थम् ॥ १३ ॥

**व्याख्यार्थ** — नन्दजी की ब्राह्मणों में विशिष्ट बुद्धि है उसका वर्णन पहले (१३वें श्लोक में) करते हैं । उसके पीछे शकट में भगवान् को पधरा कर 'अभिषेक' कराने का १४वें श्लोक में, 'स्वस्तिवाचनादि' पढ़वा कर होम कराने का, १५वें श्लोक में और दान देने का वर्णन १६वें श्लोक में किया गया है । इस प्रकार की कृति विफल नहीं है । इसका कारण १७वें श्लोक में कहेंगे ।

इनमें से पहले ब्राह्मणों में उत्तमत्व बुद्धि हुई इसका वर्णन करते हैं 'ये' जो ब्राह्मणों में अलौकिक बुद्धि होगी तो उनके वचनों से भगवान् में भी अलौकिक बुद्धि हो सकेगी ऐसा सूचित

किया\* । ब्राह्मण स्वभाव से उत्तम हैं और उनके स्वरूप में भी किसी प्रकार का विकार नहीं है इसलिये वे ब्रह्म स्वरूप हैं किन्तु वे ब्राह्मण, असत्यादि छः दोषों के होने से प्राकृत हो जाते हैं । भगवान् में छः दोष तो नहीं हैं किञ्च विशेष ऐश्वर्यादि छः गुण हैं । दोष रहित ब्राह्मण<sup>१</sup> एवं धर्मी ब्राह्मण एक ही हैं अथवा निर्दोषी ब्राह्मण भगवान् के समान हैं । इस कारण से जैसे भगवान् का विचार हुआ कार्य, सत्य ही होता है वैसे ही निर्दोषी ब्राह्मण का वचन भी सत्य होता है । कर्म तो, सब का पूर्व से अविरोधी हो, तो सत्य होता है<sup>२</sup> । ब्राह्मणों के बल-शक्ति के प्रतिबन्धक असूयादि छः दोष हैं । यदि वे दोष ब्राह्मणों में न हों तो ब्राह्मण निर्दोष हैं, उनका बल कोई नहीं रोक सकता है । उन दोषों को छुड़ाने के लिये उनकी गणना करते हैं । काम, क्रोध और लोभ ये तीन दोष अवस्था और विषय भेद से दोष कहे जाते हैं । इसलिये इनकी दोषों में गणना नहीं की गई है । उनके कार्य रूप दोष, जो सब अवस्थाओं में और सब विषयों में सदैव रहते हैं, वे दोष हैं । वे दोष छः हैं । इन दोषों में मुख्य दोष—

- (१) 'असूया' गुणों में भी दोषों का आरोपण करना है, यह दोष बाह्य विषयक है ।
- (२) 'अनृत' झूठ बोलना वाचनिक, वाणी का दोष है ।
- (३) 'दम्भ' दूसरों को अपनी उत्तमता दिखाने के लिये चेष्टा करना निमित्त (कारण) जो न हो, तो 'नैमित्तिक' कार्य नहीं होता है, जैसे कि दूसरों को अपनी उत्तमता दिखानी हो तो उस प्रकार की चेष्टा की जाती है उसे दम्भ कहते हैं ।
- (४) 'ईर्ष्या' दूसरों के गुणोत्कर्ष का सहन न होने से उसके दोषों को ढूँढना यह मानस दोष है ।
- (५) 'हिंसा' दूसरों को मारना व सताना 'हिंसा' दोष है । उनके होने पर (दूसरों को मारने व सताने पर) जो गर्व होता है वह
- (६) 'मान' या अभिमान दोष है ।

---

\* इससे आचार्यश्री समझाते हैं कि भगवान् के स्वरूप को समझाने वाले ब्राह्मण हैं अतः पहले ब्राह्मणों की अलौकिकता का ज्ञान होगा तो उनके वचनों में श्रद्धा होगी जिससे भगवान् के अलौकिक स्वरूप का ज्ञान भी प्राप्त होगा । - अनुवादक

१ — भगवान् एवं ब्राह्मण सत्यरूप होने से एक हैं और ब्राह्मण भगवान् के अंश हैं इसलिये वे समान हैं । — 'प्रकाश'

२ — इसका आशय श्री प्रभुचरण, 'टिप्पणी' में बताते हैं कि भगवान् तथा ब्राह्मण की कृति सत्य होती है; किन्तु ब्राह्मणों की कृति तब सत्य होती है जब वह कृति (कार्य) उनके वचनानुकूल हों, यदि वचनों से कृति विपर्येत है, तो वह कृति सत्य नहीं है । इसलिये केवल वाणी की सत्यता का प्रतिपादन किया है । जैसे यहाँ ग्रहादि शान्ति की क्रिया जो ब्राह्मणों ने की, वह सत्य नहीं थी, कारण कि भगवान् में ग्रहादि का प्रवेश हुआ ही नहीं था ।

इस प्रकार एक ही त्रिदोष (ईर्ष्या, हिंसा और मान) से प्राणी का नाश होता है यदि दो त्रिदोष (छः ही) साथ में होवें तो प्राणी का क्या होगा ? 'असूया' और 'अनृत' वाणी के 'दम्भ' और 'हिंसा' काया के और 'ईर्ष्या' और 'मान' मन के दोष हैं। ये दोष यदि ब्राह्मणों में न हों तो ब्राह्मणों के आशीर्वचन कभी भी निष्फल नहीं होते हैं। स्वभाव में दोष की विद्यमानता होने पर निर्दोषता कैसे हो सकेगी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'सत्यशीलानां' ब्राह्मणों का स्वाभाविक धर्म सत्य है। भगवान् को जो सत्य रूप कहा है वही उन ब्राह्मणों का स्वभाव सत्यव्रतादि<sup>१</sup> है। ऐसे ब्राह्मण 'ब्रह्मवेत्ता' हैं। 'तेषां' का भावार्थ है कि उनमें स्वाभाविक दोषों का वास्तविक अभाव ही है ॥ १३ ॥

**आभास —** अतः उत्पातेषु सत्स्वपि तेषां वाक्यान्निवृत्ता भविष्यन्तीति ज्ञात्वा बालकं शकटे समारोप्याभिषेकं कारितवानित्याहेतीति ।

**आभासार्थ —** ऐसे ब्राह्मण हैं, इस कारण से यदि उत्पात होंगे तो भी उनके वचनों से उनकी निवृत्ति हो जायगी। यों समझ कर बालक को शकट में पधरकर<sup>२</sup> अभिषेकादि करने लगे इसका वर्णन निम्न श्लोकों में करते हैं।

**श्लोकः —** इति बालकमानीय सामर्ग्यजुरु पाकृतैः ।

जलैः पवित्रौषधिभिरभिषिच्य द्विजोत्तमैः ॥ १४ ॥

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं नन्दगोपः समाहितः ।

हुत्वा चार्गि द्विजातिभ्यः प्रादादन्नं महागुणम् ॥ १५ ॥

**श्लोकार्थ —** नन्दजी ने इस प्रकार यशोदाजी से बालक लाकर, सावधान हो उत्तम ब्राह्मणों द्वारा सामवेद, ऋग्वेद और यजुर्वेद के मन्त्रों से संस्कृत किये हुए और पवित्र औषधियों से सम्मिलित जलों से उस (बालक) का अभिषेक कराके एवं स्वस्तिवाचनादि पढ़वा के अग्नि में होम किया तदन्तर ब्राह्मणों को उत्तम अन्न दिया ॥ १४-१५ ॥

१ — ब्राह्मणों में असूयादि दोष स्वाभाविक नहीं हैं; किन्तु वे दोष संसर्ग से आगन्तुक हैं। — अनुवादक

२ — शकट में पधरना आचार्यश्री ने लिखा है मूल में ऐसे शब्द नहीं हैं। इस शंका का निवारण करते हुए प्रकाशकार गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज कहते हैं कि यदि नन्दरायजी बालक को लेकर अपने पास रखते, गाड़े में न पधरते, तो कर्म करते वक्त सावधान रह नहीं सकते थे इस आशय से आचार्यश्री ने शकट में पधरने के लिये लिखा है। — 'प्रकाश'



सुबोधिनी — स्वयं यशोदाहस्ताद् गृहीत्वा तत्र शकटनिकटे समानीय वेदत्रयविद्धिब्राह्मणैः सामग्यजु-  
स्त्रिविधैरपि मन्त्रैरुपाकृतैरुप समीप आसमन्तात् कृतै-  
र्मन्त्रैरलौकिकत्वेनोत्पादितजलैः पवित्रा औषधयो येषु  
शतावर्यादयस्तादृशैः, पवित्रैरनुपहतैर्जलैरभिषिच्य स्नानं  
कारयित्वा मार्जयित्वा च ॥ १४ ॥ ततो भगवन्तमलङ्कृत्य

स्वस्तिपुण्याहवाचनादिकं कारयित्वा स्वयं नन्दगोप उपविश्य  
स्वयमपि समाहितः सावधानो भूत्वा ब्राह्मणसन्निधाने होमं  
कृत्वा ब्राह्मणाग्नौ अपि होमं कृतवांस्तदाह द्विजातिभ्यः  
प्रादादन्नमिति, महागुणं बहुव्यञ्जनसहितं भोजितवानित्यर्थः  
॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ — नन्दरायजी यशोदा के हाथ से (बालक को) ग्रहण कर वहाँ शकट के निकट लाकर तीन वेदों को जानने वाले ब्राह्मणों से तीनों (ऋक्, यजु एवं सामवेद) तीनों वेदों के मन्त्रोच्चारण द्वारा अलौकिकता को प्राप्त जलों से एवं पवित्र शतावरी आदि औषधियों से सम्मिलित किये हुए पवित्र तथा फलदायक जलों से अभिषेक (स्नान) कराके और बालक के अंगों को पोंछ कर आभूषणादि से सुसज्जित किया । अनन्तर नन्दरायजी ने वहाँ सावधानता से बैठकर ब्राह्मणों के सन्निधान में, अग्नि में होम कराके (कराके) फिर ब्राह्मणों को अनेक प्रकार के व्यञ्जनों सहित अन्न दिया । इसको स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि नन्दरायजी ने जैसे इस भौतिक अग्नि में होम किया वैसे ही ब्राह्मणाग्नि में भी होम किया अर्थात् ब्राह्मणों को भोजन कराया ॥ १५ ॥

आभास — तदा दक्षिणा सुन्दर्यः गावः दत्ता ।

आभासार्थ — नन्दजी ने स्वस्तिवाचन, होम, ब्राह्मणभोजनादि कर्म कराके तत्पश्चात् ब्राह्मणों को सुन्दर गाएँ दक्षिणा में दीं और ब्राह्मणों ने सफल आशीर्वाद दी । इसका वर्णन निम्न दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोकः — गावः सर्वगुणोपेता वासःस्रक् रुक्ममालिनीः ।

आत्मजाभ्युदयार्थाय प्रादात् ते चान्वयुञ्जत ॥ १६ ॥

विप्रा मन्त्रविदो युक्तास्तैर्याः प्रोक्तास्तथाशिषः ।

ता निःफला भविष्यन्ति न कदाचिदपि स्फुटम् ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ — नन्दजी ने सर्व कर्म करने के पश्चात् ब्राह्मणों को सब प्रकार के गुणों वाली (निरोग) सुन्दर दूध वाली एवं पुष्ट शरीर वाली, वस्त्र, पुष्प तथा सुवर्ण मालाओं से विभूषित गाएँ अपने पुत्र की अभिवृद्धि के लिये दक्षिणा में दीं । (जिसे पाकर) ब्राह्मणों ने बालक में आशिषों का आयोजन किया । मन्त्रवेत्ता योग्य विप्रों ने आशीर्वाद इस प्रकार से नियुक्त की जैसे वे आशिषें कदापि निष्फल न होंगी । यह सत्य है ।

सुबोधिनी — सर्वगुणोपेता बहुदोग्ध्यः सुन्दर्यः साध्यश्च, गवामलंकारार्थं वासःस्रग् माला रु कम्मयाः सुवर्णमय्यो मालाश्च सर्वासंकरणयुक्ता गावो दत्ता इत्यर्थः, प्रयोजनमाहात्मजाभ्युदयार्थायेति, आत्मजस्य भगवतोभ्युदयोभिवृद्धिः स एव तस्यार्थः प्रयोजनं, अयमर्थशब्दोर्थान्तरव्युदासार्थः, ते चान्वयुञ्जत, अनु पश्चात् प्राप्त्यनन्तरमाशिशोयुञ्जत योजितवन्तः, न केवलमुक्तवन्तः

॥ १६ ॥ ननु कथमेवं ज्ञायते तत्राह विप्रा इति, प्रथमतो विप्रा विशेषेण पूरका निर्दुष्टास्तदैव तेषां विशेषपूरकत्वं भवति, तत्रापि मन्त्रविद् ऋषयस्तत्रापि युक्ताः सत्कर्मकर्तारः, एवं गुणत्रययुक्तैर्या आशिषः प्रोक्तास्ताः कदाचिदपि निष्फला न भविष्यन्ति, स्फुटं सत्यं, अतस्तैर्योजनं युक्तमेव ॥ १७ ॥

व्याख्यार्थ — तब (नन्दजी ने) बहुत दूधवाली, सुन्दर, साध्वी एवं वस्त्र, पुष्पमालाएँ और सुवर्ण के हारादि आभूषणों से सुसज्जित गौएँ ब्राह्मणों को दक्षिणा में दीं। किसलिये दीं? वहाँ कहते हैं कि अपने पुत्र की अभिवृद्धि (उन्नति) के लिये दीं। पुत्र की अभिवृद्धि के अतिरिक्त नन्दजी का और कोई प्रयोजन नहीं था। 'अन्वयुञ्जत' पद का भावार्थ आचार्यश्री कहते हैं कि विप्रों ने आशीर्वाद केवल मुख से नहीं कही, किन्तु वे आशिषें बालक में चरितार्थ कीं। बालक में वे आशिषें चरितार्थ हुईं, यह आप कैसे कहते हो? इसके उत्तर में कहते हैं कि आशिष देने वाले साधारण ब्राह्मण नहीं थे, किन्तु वे विप्र थे, जिसका भाव है विशेष प्रकार से कार्य को पूर्ण (सफल) करने की शक्ति वाले ब्राह्मण। वे केवल विप्र ही नहीं थे, किन्तु साथ में मन्त्रवेत्ता ऋषि भी थे। इससे भी अन्य विशेषता उनमें यह थी कि वे कर्मकर्ता भी थे। इस प्रकार के तीन गुण युक्त जो आशीर्वचन नियुक्त किये वे कदाचित् भी निष्फल न होंगे यह स्फुट (स्पष्ट सत्य) है। इससे उन्होंने आशिषें नियुक्त कीं, यह शुकदेवजी का कहना योग्य ही है ॥ १७ ॥

आभास — एवमेकं चरित्रं यशोदानन्दयोः भगवत्परतासाधकं निरूप्य पृष्ठानां पञ्चानां मध्ये प्रथमस्योत्तरत्वेनोपाख्यानमारभत एकदेत्यष्टादशभिः ।

आभासार्थ — यशोदाजी व नन्दजी की भगवत्परगुणता साधक, एक चरित्र का निरूपण कर, अब पूछे हुए पाँचों में से एक के उत्तरदानार्थ आख्यान प्रारम्भ करते हैं। 'एकदा' इस श्लोक से लेकर अष्टादश श्लोकों से वर्णन करेंगे।

श्लोकः — एकदा रोहमारूढं लालयन्ती सुतं सती ।

गरिमाणं शिशोर्वोढुं न सेहे गिरिकूटवत् ॥ १८ ॥

भूमौ निधाय तं गोपी विस्मिता भारपीडिता ।

महापुरुषमादध्यौ जगतामास कर्मसु ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ — यशोदा किसी दिन गोदी में विराजमान पुत्र का लालन करती थी तो भगवान् अनेक पर्वतों के समान गुरु (भारी) हो गए। उस गुरुत्व को यशोदा सहन न कर सकी।

विस्मय युक्त गोपी (यशोदा) भार से पीड़ित होने के कारण से पुत्र को गोदी से उतार, पृथ्वी पर पधरकर, जगत् के महापुरुष (भगवान्) का ध्यान करने लगी तथा अपने कार्य में संलग्न हो गई ।

कारिका — वाचिकं कायिकं चोक्तं मानसं तूच्यते धुना ।  
 अन्यथाज्ञानतः सर्वं करोतीति भविष्यति ॥ १ ॥  
 लौकिकेनापि भावेन यावत् कृष्णैकतानता ।  
 तावन्नूतनकृत्यानि न करोति हरिः स्वयम् ॥ २ ॥  
 वर्षेण तु परावृत्तिर्धर्माणां भवतीति हि ।  
 अतो वर्षान्तरे कृत्यं तृणावर्तगतं कृतम् ॥ ३ ॥  
 देहबुद्धिर्भगवति निवृत्ता चेन्नवर्तते ।  
 तत्पराणां देहमतिः सजातीयाविशेषतः ॥ ४ ॥

अष्टादशविद्यास्वपि भगवतो देहो नास्तीति ज्ञापयितुमेकदैव गुरु त्वं लघुत्वं चोच्यते,  
 पूतनावधमारभ्य कंसो जानाति गोकुले ।  
 हरिरस्ति जगद्वन्द्यो मम हन्तेति सर्वथा ॥ ५ ॥  
 तमानेतुं तृणावर्तं ततः प्रेषितवान् स्वयम् ।  
 त्रयो ह्यत्यन्तबलिनः सर्वकार्यविचक्षणाः ॥ ६ ॥  
 तृणावर्तो बकः केशी तत्राप्याद्यो महान् स्मृतः ।  
 तृणवत् सकलं विश्वमावर्तयति सर्वथा ॥ ७ ॥  
 तृणावर्तस्ततः प्रोक्तस्तमादौ प्राहिणोत् ततः ॥ ७½ ॥

कारिकार्थ — वाचिक निरोध - पूतना वध के समय भगवान् की गोपुच्छादि से रक्षा की, इस लीला से यशोदा की वाणी का निरोध किया । कायिक निरोध-शकट भङ्ग के समय स्वस्तिवाचनादि क्रिया कराने से नन्द यशोदा का कायिक निरोध किया । अब मानस निरोध कहते हैं—तृणावर्त के वध की लीला से मानस निरोध करेंगे, कारण कि इस लीला में भगवदर्थ जो दुःख होगा, उससे मानसिक वृत्ति भगवान् मे ही निरुद्ध

हो जायगी। ये सब लीलाएँ भगवान् ही स्वयं अन्यथा ज्ञान<sup>१</sup> कराके करते हैं।

इसलिये की है। भगवान् ने अन्यथा बुद्धि — अपने स्वरूप का अन्यथा भान कराके यशोदादि द्वारा आपने ये सब लीलाएँ की है। भगवान् की ये सब लीलाएँ शास्त्र अथवा लोक में अतीव अद्भुत दिखती हैं क्योंकि एक ही बालक में सब जनों का सहज प्रेम लोक में असम्भव है, अर्थात् हो नहीं सकता है। किन्तु यहाँ इस बालक में जो यह सहज प्रेम हुआ है, सो भगवान् ने ही किया है। अतः इस चरित्र में अत्यद्भुतता प्रकट होती है।

अथवा — यदि मानस निरोध न कहा जाय, तो सबों को यह ज्ञान हो जायगा कि नन्द यशोदादि अपने जीवस्थ (जीव में स्थिति) सहज अज्ञान से ही, यह सब करते हैं, ऐसा ज्ञान सब को न हो, इसलिये भगवान् की गुरुत्वरूप, स्वधर्म सूचित करने वाली, इस लीला का वर्णन करते हैं। भगवान् का माता की गोदी में चढ़ बैठने का निमित्त काल नहीं है।

श्रीकृष्ण ने शकट भंग लीला चतुर्थ मास की आयु में की है और तृणावर्त वध लीला दूसरे वर्ष की आयु में की है इतने समय तक आपने लीला बन्द क्यों रखी? इस शंका के निवारणार्थ यह 'लौकिकेन भावेन' कारिका कही है।<sup>२</sup>

इस कारिका में दूसरे वर्ष में लीला करने का कारण बताते हैं।

एक वर्ष से धर्म की परावृत्ति<sup>३</sup> (पुनरागमन या फिर लौट आना) होती है ॥ ३ ॥

भगवान् में देह बुद्धि की निवृत्ति के लिये 'गुरुत्व' को बताया है।

१ — 'टिप्पणी' — प्रभुचरण अन्यथा ज्ञान का भावार्थ बताते हैं कि भगवान् ने यशोदादिकों में अपने स्वरूप का सत्य ज्ञान तिरोहित कर, लौकिक बाल स्वरूप का ज्ञान का आविर्भाव किया था, जिससे यशोदादि ने भगवान् की पूतनावध के प्रसंग में, गोपुच्छदि से रक्षा की और शकट भंग के उत्पात समय में, स्वस्तिवाचनादि से शान्ति कराई। यदि ऐसा ज्ञान (अन्यथा ज्ञान) न कराते तो रक्षा, स्वस्तिवाचनादि होते ही नहीं।

२ — जब तक श्रीकृष्ण में लौकिक भाव से भी आसक्ति होती है तब तक श्रीकृष्ण किसी प्रकार की नवीन लीलाएँ (अपना गुरुत्व धर्मज्ञापन पूर्वक लीला) नहीं करते हैं। — लेख

भगवान् अपने में आसक्ति कराने के लिये ही लीला करते हैं तो जब तक यशोदादि की लौकिक भाव से भी श्रीकृष्ण में आसक्ति थी तब तक अन्य लीला नहीं की। — अनुवादक

३ — भगवान् ने लीला द्वारा प्रपञ्च विस्मृति कराई वह कदाचित् स्थिर न हो तो उसको पुनः स्थिर कराया जाय इसलिये दूसरे वर्ष में लीला की। यों तो समग्र वर्ष एक ही काल होने से एक आयु ही है। दूसरे वर्ष में क्या भाव है कि दूसरी आयु रूपकाल में लीला की। दूसरे स्कन्ध के 'आयुः हरति' श्लोक में कहा गया है कि भगवान् के गुणानुवाद में एक क्षण भी जाय तो उसकी आयु का हरण नहीं होता है। इसलिये एक ही आयु में सिद्ध हुआ धर्म समग्र आयु पर्यन्त उसकी अनुवृत्ति होती रहती है। कारिका में दिये हुए 'हि' अक्षर का यह आशय है ॥ ३ ॥

यदि भगवान् में देह बुद्धि की निवृत्ति हो गई तो भगवत्पश्यण भक्त जनों की भी देह में आत्म-बुद्धि निवृत्त हो जाएगी। वह बुद्धि भगवान् में देह बुद्धि की निवृत्ति सजातीयता के सम्बन्ध से भक्त की भी देहात्म बुद्धि को नष्ट कर देगी ॥ ४ ॥

भगवान् में निर्दोष बुद्धि हो तो सामान्य रूप से भक्त के भी सर्व दोष निवृत्त हो जाते हैं। देहात्म बुद्धि सजातीय होने से विशेष रूप से देहात्म बुद्धि को नाश करती है।

अठारह विद्याओं में (१ - पुराण, २ - न्याय, ३ - मीमांसा, ४ - धर्मशास्त्र, ५ - ऋग्वेद, ६ - सामवेद, ७ - यजुर्वेद, ८ - अथर्ववेद, ९ से १४ - वेदांग ६, १५ से १८ उपवेद ४ इस प्रकार ये अठारह विद्याएँ हैं।

जब से पूतनावध का ज्ञान कंस को हुआ तब से वह जान गया कि जगद्वन्द्व (जिसको समग्र जगत् वन्दन करता है) मेरे प्राण हरने वाले हरि गोकुल<sup>२</sup> में है ॥ ५ ॥

कंस के पास तीन असुर सर्व कार्य में कुशल और अत्यंत बलशाली थे — उन्हें स्वयं कंस ने कृष्ण को (मथुरा) ले आने के लिये (गोकुल) भेजा ॥ ६ ॥

उन तीनों के नाम एवं उनमें भी प्रथम (विशेष बलवान्) कौन है उसका ज्ञान इस कारिका से करते हैं।

१ - प्रकाशकार गोस्वामी श्री पुरुषोत्तमजी के अनुसार, भगवान् के देह नहीं है, इस विषय को समझने के लिए एक काल में ही गुरुत्व (भारीपन) और लघुत्व (हलकापन) कहा गया है।

योजनाकार प.भ. श्री लालूभट्टजी, भगवान् के (प्राकृत) देह नहीं है। इसमें प्रमाण देते हैं -

उपनिषद् - 'आनन्दरूपममृतं बिभर्ति' - भगवान् आनन्दरूप और अमृत रूप से प्रकाशते हैं।

'सच्चिदानन्द विग्रह' - भगवान् का विग्रह सत्, चित् आनन्द रूप है।

'कृष्णायाम्बु कर्मणे' सदानन्द रूप अक्लिष्ट कर्मवाले।

पुराण - 'आनन्दमूर्तिम्' - आनन्द स्वरूप।

पञ्चरात्र - 'आनन्दमात्र कर पाद मुखोदरदि' - सर्व श्रीअङ्ग आनन्द रूप जिसके हैं। इत्यादि प्रमाणों से भगवान् की देह प्राकृत नहीं है।

प्राकृत देह का ही 'देह' शब्द से व्यवहार होता है। देह शब्द 'दिह' धातु से बनने के कारण उसमें उपचयादि षड्भाव विकार नहीं रहते हैं। भगवान् के आनन्दमय श्रीअङ्ग में षड्भाव विकार नहीं है। इसलिये उसे 'देही' (देहवाला) नहीं कहा जा सकता है।

२ - पूतना नगरों व ग्रामों में घूमती हुई और बालहत्या करती हुई अन्त में गोकुल में आई थी; किन्तु तृणावर्त का गोकुल में सीधे\* आने का कारण इस कारिका में बताया है। - प्रकाश

२ - श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि 'पूतनावधमारभ्य' कारिका से एवं १८ श्लोक की सुबोधिनी में 'गुरुर्जात' तक जो कहा गया है वह समग्र चरित्र 'आदि' पुराण के, 'वृन्दावन माहात्म्य' के १२वें अध्याय में स्पष्ट कहा गया है।

\* कंस को पूतना वध से ज्ञान हो गया था। मेरा हन्ता गोकुल में है। इसलिये तृणावर्त को सीधे आने की आज्ञा थी। - अनुवादक

१ - तृणावर्त, २ - बक, ३ - केशी । ये तीन असुर थे, उनमें भी पहला (तृणावर्त) महान् (विशेष बलवान्) था । उसकी विशेषता वर्णन करते हुए कहते हैं कि वह सर्वथा सकल विश्व को तिनका समझ उसको पानी के भंवर में पड़े हुए तिनके की तरह भ्रमित करता है । इसलिये इसका नाम 'तृणावर्त' रखा गया है । इस कारण से ही पहले इसको (कंस ने) भेजा ॥ ७१ ॥

सुबोधिनी — भगवान् सर्वज्ञः, तृणावर्त मथुरातः प्रक्षलितं ज्ञात्वा गुरुपदार्थं जनयतीति स्वयमेव गुरुर्जातः, तत्र यशोदाया गुरुत्वज्ञानं भवत्विति तस्यास्ततो व्युदासार्थं च तस्या अङ्ग उपविष्टः स्तनं पिबन्नेव गुरुर्जातस्तद् भगवतः सहजं गुरुत्वं तदानीमाविर्भूतं, तद् गुरुत्वं यशोदा ज्ञातवतीत्याहैकदेति, कालविशेषस्तत्राज्ञातोनिमित्तश्च, रोहमङ्गमारूढमारुहोपविष्टं, स्वयमेव लालयन्ती कुन्तलानि प्रसारयन्ती मुखचुम्बनादिना भगवतो हासं जनयन्ती जाता, सुते हि तत् कर्तव्यं, सतीति तस्यास्तथाभागे हेतुभूतो धर्मउक्तः, लौकिकभावेनैव स्नेहादि करोतीति तत्रिवृत्यर्थं गुरौ जाते शिशोर्गर्भाभाषं वोढुं न सेहे न शक्ता, गिरिकूटवद् गिरिसमूहमिव यथा भूमिरप्येकत्र पर्वतकोटीनां समुदायं न सहते, इयमप्यदितिगुधिदैविकरूपापि न सेहे इति वक्तुं दृष्टान्तः, अन्यथायुक्तो दृष्टान्तो नोक्तः स्यात्, क्रमेण भगवान् गुरुर्जात इति न तस्या भङ्गः ॥ १८ ॥ अत एव यावच्छक्यं गृहीत्वाशक्ये भूमौ स्थापितवतीत्याह भूमौ निधायेति, तं भगवन्तं, भूमौ स्थापने हेतुभूतस्याविवेकस्य विधानमाह

गोपीति, यद्यपि महती तथापि गोपभार्या, स्थापनानन्तरं भारं स्मृत्वा विस्मिता, ननु पुत्रगुरुत्वं मातुः सुखदं भवतीति कथं विस्मय इति चेत् तत्राह भारपीडितेति, भारेण पीडिता, अलौकिकोयं भारः पीडाजनकत्वाद्, अतो विस्मिता, अग्रे भीतापि भविष्यतीति क्रमेण माहात्म्यज्ञानात्, तदा किं कर्तव्यमिति विचार्योत्पातशङ्कया महापुरुषं पुरुषोत्तमं दध्यौ ध्यातवती, सर्वानिष्टनिवृत्त्यर्थं महापुरुष एवायमिति वा ध्यातवती जगतां ब्रह्माण्डकोटीनामपि मध्ये स्वामिनं, अयं सर्वजगतां महापुरुष इति, सतीतिपदाद् गुरुत्वेन पुरुषान्तरं ज्ञात्वा व्रतक्षतिभयभीतेव परमपुरुषं सर्वेषामेव भर्तारं ज्ञातवती, आसमन्ताद् दध्यौविति भवत्ययं न चेति ध्यानं प्रतीत्यर्थं, ततो भगवन्तं ज्ञात्वा तस्य परिचयार्थं स्नानादिकर्मस्वाप्त, तत्तत्कार्याणि कर्तुमारब्धवतीत्यर्थः, अन्यथा क्षणवियोगे प्राणा एव गच्छेयुः, समागतस्तु मोहयिष्यतीति न काप्यनुपपत्तिः, लालनफलमानुषाङ्गिकं ज्ञानमिति च, अज्ञानाद् वा जगतो भर्तारं भगवन्तं ध्यात्वा गृहकर्मसु गतेति, उभयोपपत्तयः साधोयान् ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् (श्रीकृष्ण) सर्वज्ञ है, इसलिये गोकुल में बैठे बैठे ही जान लिया कि कंस की आज्ञा से मुझे लेने के लिए तृणावर्त मथुरा से गोकुल आने के लिये रवाना हो गया है । अब मैं गुरु बन जाऊँ (जिससे वह मुझे अधिक समय एवं दूर तक ले जा न सके) यह विचार कर आप स्वयं गुरुत्व प्रकट करते हुए गुरु (भारी बोझवाले) बन गए । आचार्यश्री भगवान् के माता यशोदा की गोदी में बैठने का आशय प्रकट करते हुए कहते हैं कि भगवान् की इच्छा हुई कि माता यहाँ से दूसरे स्थान पर जाय, इसलिये गोदी में बैठ स्तनपान करते हुए ही आप गुरु हुए । भगवान् का सहज गुरुत्व अब आविर्भूत (प्रकट) हुआ । यशोदा को भगवान् के गुरुत्व का ज्ञान हुआ; किन्तु किस समय हुआ और किस निमित्त से हुआ है इसको यशोदा जान न सकी इसलिये शुकदेवजी ने 'एकदा' शब्द दिया है जिसका अर्थ है किसी समय । कोई नियत समय शुकदेवजी ने नहीं बताया ।

गोदी में चढ़कर बैठे हुए, अपने लालन को स्वयं यशोदा लाड़ लड़ाने लगी, जैसे कि केशों की सुसज्जित करती, मुख चुम्बन आदि क्रिया से बालक को हँसाती थी । यह लालन क्रिया

पुत्र से ही की जाती है। यशोदाजी को श्री शुकदेवजीने 'सती' विशेषण दिया है, जिसका भाव आचार्यश्री प्रकट करते हुए कहते हैं कि यशोदा का ऐसा उत्तम भाग्य, जो परब्रह्म, ज्ञानियों के लिये भी अदृश्य व अगम्य है, उसको गोदी में बिठाकर, लाड़ लड़ाकर, हास्यादि का आनन्द प्राप्त कर रही है उसका कारण, यशोदा का सतीत्व धर्म है। मेरे इस अलौकिक स्वरूप में स्नेह तो करती है; किन्तु लौकिक भाव से करती है अर्थात् मुझे लौकिक बालक समझ कर करती है। इसका लौकिक भाव निवृत्त कराने के लिये भी आप गुरु बने। यशोदा भगवान् के गुरुत्व का भार, वैसे सहन न कर सकी, जैसे पृथ्वी कोटि पर्वतों का भार नहीं सहन कर सकती है। यह (यशोदा) अदिति\* है और आधिदैविक रूप होते हुए भी भार न सह सकी। इसलिए पृथ्वी का दृष्टान्त दिया है। यदि यों न होता, तो ऐसा अयोग्य दृष्टान्त कभी न देते। भगवान् ने अपने में गुरुत्व धीरे धीरे (क्रमपूर्वक) प्रकट किया इससे यशोदा के किसी भी अंग का भंग न हुआ ॥ १८ ॥

जहाँ तक सहन हो सका वहाँ तक भार को सहन किया, जब सहने से अधिक लगा तब भगवान् को गोदी से उतार कर पृथ्वी पर विराजमान किया। इसका वर्णन 'भूमौ निधाय' श्लोक में किया गया है।

भगवान् को पृथ्वी पर विराजमान करने जैसा, अविवेकी कार्य, यशोदा ने क्यों किया? उसका कारण शुकदेवजी ने 'गोपी' विशेषण देकर बताया है। आचार्यश्री कहते हैं कि यद्यपि यशोदा महती (महान् गुणों वाली सयानी) है तो भी शुकदेवजी ने कहा कि गोपभार्या है, अर्थात् गोप जाति अविवेकी होती है, उस जाति की होने से यह भी अविवेक की निधि है इसलिए भगवान् को पृथ्वी पर विराजमान किया। पृथ्वी पर स्थापित करने के पीछे भार के स्मरण से विस्मित (चकित) हुई। यदि पुत्र भारी होता है तो माता को उसके भारीपन से प्रसन्नता होती है। यशोदा चकित क्यों हुई। इस शंका के निवारणार्थ शुकदेवजी ने यशोदा का विशेषण 'भार पीड़िता' कहकर बताया है कि 'भार से पीड़ित' हुई। यह भार लौकिक पुत्र के भार के समान नहीं था; किन्तु अलौकिक भार था, इसलिये यशोदा चकित हो गई कि किस प्रकार का भार है। 'अलौकिक भार से' भयभीत<sup>१</sup> भी होगी। 'अग्रे' पद का भावार्थ कहते हैं, क्रम से माहात्म्यज्ञान होने से विचारने लगी कि क्या करना चाहिये? विचार में आया कि कोई उत्पात न हो इसलिये सर्व अनिष्ट की निवृत्ति के लिये महापुरुष (पुरुषोत्तम स्वरूप) का ध्यान करने लगी। अथवा यह ही महापुरुष है यों समझ ध्यान करने लगी। करोड़ों ब्रह्मांडों का भी यही

\* योजनाकार लाभूभट्टजी यहाँ यशोदा को अदिति कैसे कहा? इसको समझाते हैं कि (१-५-२१) के अनुसार जैसे आधिदैविक रूप वसुदेवजी ने नन्दजी में पधरया था वैसे ही देवकीजी का आधिदैविक रूप भी यशोदाजी में स्थापित हुआ था अतः यशोदा देवकी रूप होने से 'अदिति' मानी गई है क्योंकि देवकी पूर्व जन्म में 'अदिति' थी।

१ - 'जृम्भण लीला' (उबासी लेने की लीला) में भयभीत होगी - लेख

स्वामी हैं यह सकल जगत् में महापुरुष हैं। गुरुत्व से अन्य पुरुष समझा, किन्तु पातिव्रत्य व्रत क्षति होने के भय से, भीता के समान भीत हो, इसको हि परम पुरुष सबका भर्ता समझने लगी। क्योंकि ऊपर के १८वें श्लोक में यशोदा को शुकदेवजी ने 'सती' कहा है। यह महापुरुष है या नहीं है इस प्रतीति (जानने) के लिये, सब प्रकार से ध्यान करने लगी। इससे यह भगवान् है, यों जानकर उनकी परिचर्या (सेवा) के लिये, स्नानादि कर्मों को करने का प्रारम्भ किया। यदि सेवार्थ भगवत्सम्बन्धी स्नानादि कार्य न करती तो भगवान् से वियोग होता। निरुद्ध का क्षण वियोग भी प्राणों को हरण करने वाला होता है। भगवान् आएँगे, तो यशोदा को फिर मोह हो जाएगा। अर्थात् भगवान् के आने पर यशोदा का यह भाव (भगवद्भाव) मिट कर, पुत्र भाव हो जाएगा। आचार्यश्री कहते हैं कि ऐसा होवे तो भी कोई असंगति नहीं है। पुत्र को लाड़ लड़ाना यह फल और यह ज्ञान तो गौण है। अथवा अज्ञान के कारण जगत के भर्ता भगवान् का ध्यान कर, घर को चली गई अर्थात् घर के कार्यों में संलग्न हुई। इन दोनों अर्थों में से पहला अर्थ श्रेष्ठ है ॥ १६ ॥

**आभास —** एवं मातरि निर्गतायां तृणावर्तः समागत इत्याह ।

**आभासार्थ —** यहाँ से माता के चले जाने पर तृणावर्त आया। इसका वर्णन करते हैं।

**श्लोक : —** दैत्यो नाम्ना तृणावर्तः कंसभृत्यः प्रणोदितः ।

**चक्रवातस्वरूपेण जहारासीनमर्भकम् ॥ २० ॥**

**श्लाकार्थ —** कंस का सेवक, उसी का भेजा हुआ, तृणावर्त नाम वाला दैत्य, वायु के बवंडर स्वरूप से, आके पृथ्वी पर बैठे हुए बालक को उड़ा ले गया।

**सुबोधिनी —** दैत्य इति जात्येव क्रूर उ नाम्नेव तृणावर्त इतिमाहात्म्यमप्रतीकारे हेतुः, कंसभृत्य इत्यवश्यानिष्टकर्तृत्वज्ञापकं, प्रणोदित इति तेनैव कंसेन प्रकर्षेण प्रेरितः, चतुर्भिर्धर्मैस्तस्य महत्त्वमुक्तं तन्निराकरणे भगवन्माहात्म्यज्ञापनार्थं, दैत्यत्वेन देवविरोधित्वं नाम्ना महाबलत्वं भृत्यत्वेन स्वधर्मो वचनं ततोप्यावश्यकं, सत्त्वरजस्तमोगुणानां प्रत्येकसमुदायभेदेन विरोधित्वं चोक्तं तं तृणवद् भगवान् निराकरिष्यतीति चतुर्विधपुरुषार्थ-

बाधकत्वेनोक्तस्तादृशः सर्ववञ्जनार्थं कृत्रिमवेषं कृत्वा जहारेत्याह चक्रवातस्वरूपेणेति चक्रस्वरूपो वातश्चक्रवातः चक्रवाते स्वरूपं यस्य, परितश्चक्रवातं कृत्वा वायुरायातीति भ्रममुत्पाद्य तत्सङ्ग एव लघुदेह उपविष्टं भगवन्तं निधिमिव जहार, ननु महत्त्वात् कथं जहारेत्याशङ्क्याहार्भकमिति, वेगवशान्महाबलः स्वोपास्यभगवद्बलाद् भगवन्तं जहार, सहजबले उत्थातुमेव न शक्नुयात्, अत एव भगवान्क्लिष्टकर्मा ॥ २० ॥

१ — प्रभुचरण टिप्पणी में इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि भगवान् का गोकुल में प्राकट्य सर्व सुखदानार्थ हुआ है। इसलिये जैसे सबों को सुख की प्राप्ति हो, वैसी ही लीला भगवान् करेंगे। जैसे गोचारण लीला, रात्रि विहार लीला, माता को वात्सल्य रसनादि में, किसी प्रकार भी प्रतिबन्ध न होवे इसलिये भगवान् आकर यशोदा को मोहित करेंगे जो इसमें किसी प्रकार की अयोग्यता नहीं है।



व्याख्यानार्थ — इस श्लोक में तृणावर्त का माहात्म्य चार धर्मों से कहा गया है ।

- १ — दैत्य है — इसलिये जाति से क्रूर धर्म वाला है ।
- २ — नाम से ही तृणावर्त है — बवंडर के समान जगत् को तिनके की तरह घुमा सकता है । ऐसे धर्मवाला है इसलिये अप्रतीकार है ।
- ३ — कंस का भृत्य (सेवक) है — इससे अनिष्ट करना भी इसका धर्म है ।
- ४ — 'प्रणोदितः' कंस का भेजा हुआ है — दुष्ट बुद्धि का भेजा हुआ दुष्ट धर्मवाला ही होगा ।

इस प्रकार उसके चार धर्म बताकर, उसका माहात्म्य वर्णन इसलिये किया गया है कि भगवान् इसका नाश करेंगे, तो इसके माहात्म्य का ज्ञान भी देवता को हो जावे । उसकी विशेष स्पष्टता, आचार्यश्री करते हैं । दैत्य है, इससे ज्ञात होता है कि यह देवताओं का विरोधी है । नाम से, उसके विशेष बलिष्ठ होने का ज्ञान होता है । कंस का सेवक है, इसलिये वह स्वामी का (भगवान् को लेजाने का) कार्य करना यह अपना धर्म समझता है । कंस ने कहकर भेजा है इसलिये कंस के वचनों का पालन करना इस (तृणावर्त) का उससे भी आवश्यक धर्म है । सत्त्व, रज एवं तमोगुणादि के प्रत्येक समुदाय के भेद से, इसका (दैत्य तृणावर्त का) विरोधीपन बताया । भगवान् उसका (तृणावर्त का) तिनके के समान निराकरण (दमन) करेंगे, क्योंकि वह (तृणावर्त) चारों प्रकार के पुरुषार्थों का बाध करने वाला है । इस प्रकार का वह तृणावर्त सब को ठगन के लिये कृत्रिम (बनावटी) वेष धारण कर बालक को ले गया । बनावटी रूप धारण करने का प्रकार बताते हैं कि 'चक्रवात स्वरूपेण' इस पद का अर्थ आचार्यश्री तीन प्रकार से करते हैं —

- १ — गोल स्वरूप वाले वायु के रूप से ।
- २ — चक्कर के समान गोल वायु में छिपे हुए स्वरूप से ।
- ३ — बवंडर रूप वायु से ।

इस प्रकार पृथक् पृथक् प्रकार के रूपों से भ्रम पैदा कर, उसके साथ आकर पृथ्वी पर स्थित बाल स्वरूप भगवान् निधि को जैसे चोर ले जावे, वैसे उड़ाके ले गया । भगवान् महान् है उनको कैसे ले जा सका ? तो कहते हैं कि 'अर्धकं' भगवान् उस बालक रूप में विराजमान थे और वेग के कारण तृणावर्त महाबली था एवं दैत्यों के उपास्य (मायारूप) भगवान् के बल से भगवान् को ले जा सका । तृणावर्त अपने सहज बल से तो भगवान् को उठा भी न सकता था । अथवा यदि भगवान् अपने सहज (स्वाभाविक) बल को प्रकट करते तो भी तृणावर्त भगवान् को उठा नहीं सकता था इसलिये कहा जाता है कि भगवान् अक्लिष्ट कर्मा है ॥ २ ॥

**आभास —** तस्य तृणावर्तस्योपासितमायारूपस्य भगवन्माहात्म्यमाह पञ्चभिः, अविद्यारूपस्तेषामिति ।

**आभासार्थ —** माया रूप भगवान्<sup>१</sup> के उपासक तृणावर्त का माहात्म्य निम्न पांच श्लोकों में वर्णन करते हैं । क्योंकि माया (अविद्या<sup>२</sup>) पांच प्रकार की है । इस तृणावर्त का यह माहात्म्य मायारूप भगवान् ने किया है । यह तृणावर्त उस पांच प्रकार की माया का रूप है ।

**श्लोक: —** गोकुलं सर्वमावृण्वन् मुष्णंश्चक्षुषि रेणुभिः ।

पूरयन् सुमहाघोरं शब्देन प्रदिशो दिशः ॥ २१ ॥

**श्लोकार्थ —** वायु के बबूले से कुल गोकुल को घेरता हुआ रज से सब के नेत्रों की दृष्टि अपहृत करता हुआ, महाघोर शब्द से दिशाओं और कानों को शब्दायमान करता हुआ (तृणावर्त) उस बालक को उड़ाकर ले गया - श्लोक २० से सम्बन्ध ।

**कारिका —** अयोग्यतादर्शने हि हरेश्चादर्शनं ततः ।

सर्वाज्ञानं ततः स्वस्मिन् यशोदास्नेह एव च ॥ १ ॥

गोपिकानां तथा स्नेहः पञ्चपर्वाणि लौकिकात् ॥

**कारिकार्थ —** कारिका में २१वें श्लोक के भाव को प्रकट करते हुए कहते हैं कि भगवान् के दर्शन की अयोग्यता हुई, यह अविद्या का प्रथम पर्व, २२वें श्लोक से अविद्या का कार्य दूसरा पर्व प्रकट किया, जिससे भगवान् को दर्शन न हुए, २३वें श्लोक से अविद्या का कार्य तीसरा पर्व प्रकट किया, जिससे सर्व पदार्थों का अदर्शन (अज्ञान) हुआ अर्थात् अपने को भी न देख सके (न जान सके) २४वें श्लोक से अविद्या का कार्य चौथा पर्व प्रकट किया, जिससे यशोदा का भगवान् में स्नेह हुआ । २५वें श्लोक से अविद्या का पांचवा पर्व प्रकट किया जिससे गोपियों का भगवान् में स्नेह हुआ । इस प्रकार तृणावर्त ने कार्य द्वारा गोकुल में अविद्या स्थापित की ।

१ — अविद्या रूपस्तेषामिति - इस पंक्ति का भावार्थ यों करते हैं कि तृणावर्त का उपास्य मायारूप भगवान् गोकुलवासियों के अविद्या का निरूपक हुआ अर्थात् उस मायारूप भगवान् ने गोकुल में अविद्या कार्य को प्रकट किया - 'लेख'

२ — जो अपनी उपास्य माया को कार्य द्वारा प्रकाशित करता है वह (अविद्यारूप) है । वे कार्य उपर्युक्त कारिका द्वारा आचार्यश्री निरूपण करते हैं - 'योजना'

अविद्या कार्य तो भगवान से विमुख कराने वाला है। यहाँ अविद्या कार्य में दिखाया है कि यशोदा और गोपियों का भगवान् में स्नेह हुआ। यह असंगति<sup>१</sup> जचती है।

सुबोधिनी — प्रथमतो ज्ञानं तत्कृतं वक्तव्यं, ज्ञानेशत्रयं वेद्यांश इन्द्रियांशोन्तःकरणांशश्चेति त्रयाणामपि तत्कृतदोषसम्बन्धमाह, स हि न तूष्णीं जहार किन्तु गोकुलं सर्वमावृण्वन्नन्धकारेण खेष्टयन्, तमोगुणकार्यमेतत्, रजोगुणकार्यमाह मुष्णन् चक्षुषि रेणुभिरिति, सर्वेषां दृष्टिः पांसुभिः कृत्वा हृत्वा, देवतात्वात् सा दृष्टिस्तेन च गृहीता स पश्यति ते न पश्यन्तीति, न तु केवलं तिरोहिता, अन्तःकरणे

वैयग्यं चोत्पादयतीत्याह पूरयन्निति, सुमहाघोरं यथा भवति तथा शब्देन दश दिशः पूरयन् यथा कुसूले धान्यं निर्बन्धेनापि पूर्यत एवं यथा सर्वदिक्षु भयमुत्पद्येत तथा शब्दं पूरितवान्, आधिदैविकादित्रयस्यापि भयमुत्पादयितुं पदत्रयं सुमहाघोरमिति, प्रदिश इति प्रकृष्टा दिशो देवसम्बन्धिन्यः, अनेन देवपक्षपातिनामेव भयं न दैत्यपक्षपातिनामित्युक्तम् ॥ २१ ॥

व्याख्यानार्थ — प्रथम तृणावर्त ने आते ही जो अज्ञान का विस्तार किया उसका वर्णन करते हैं। ज्ञान में तीन अंश हैं —

१ — वेद्यांश, २ — इन्द्रियांश, ३ — करणांश।

इन तीनों को तृणावर्त कृत दोषों का सम्बन्ध हुआ, उसका वर्णन करते हैं। तृणावर्त भगवान् को चुपचाप नहीं ले गया किन्तु समग्र गोकुल को बगुले के रूप से घेर कर अर्थात् गोकुल में घोर अन्धकार करते हुए बालक को ले गया यह कार्य तमोगुण का है। अब रजोगुण के कार्य का वर्णन करते हैं। रज का अर्थ धूल है। धूल से सबकी दृष्टि हर ली। दृष्टि<sup>२</sup> देवता है, उसको तृणावर्त ने ले ली। जिससे यह भगवान् को देखकर उड़ा ले गया। तृणावर्त ने दृष्टि ले ली, इसलिये वह तो देख सकता था परन्तु वे (गोकुलवासी) देख नहीं सकते थे। केवल दृष्टि तिरोहित नहीं हुई किन्तु जैसे मड़ोले में आग्रह से धान भर जाता है वैसे तृणावर्त ने सब दिशाओं एवं कानों को महाघोर शब्द से गर्जना करते हुए भय उत्पन्न करने के साथ गोकुलवासियों के अन्तःकरण में भी व्यग्रता (घबराहट) पैदा कर दी। मूल श्लोक में 'सुमहाघोरं' पद वाक्य में तीन पद 'सु', 'महा' और 'घोरं' पद हैं। उनके भावार्थ को प्रकट करते हुए आचार्यश्री आज्ञा

१ — यशोदा और गोपियों का स्नेह अविद्या कार्य इसलिये कहा है कि इनका स्नेह लौकिक स्नेह था। लौकिक प्रकार का स्नेह अविद्या से ही होता है। इसलिये किसी प्रकार की असंगति नहीं है — 'टिप्पणी'

२ — अज्ञान शब्द का भावार्थ लेखकार गो. श्री वल्लभलालजी समझाते हैं कि 'जिससे जाना नहीं जाय' इस प्रकार अर्थ करने से यह तात्पर्य निकलता है कि अज्ञान शब्द का भावार्थ है कि देखने की अयोग्यता, इस अयोग्यता से सब गोकुलवासी भगवान् को देख नहीं सके — 'लेख'

३ — यदि दृष्टि देवता न होती तो तृणावर्त ले नहीं सकता था। जो दृष्टि न ली होती तो दर्शनाभाव से निराकार 'निर्दिश्य भगवान् का हरण नहीं कर सकता था — 'लेख'

करते हैं कि इससे शुकदेवजी का यह आशय है कि आधिदैविकादि तीनों भय उत्पन्न किए । 'प्रदिशः' शब्द का भाव बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि इसमें 'प्र' अक्षर देकर यह बताया कि ये दिशाएँ देवताओं की सम्बन्धिनी हैं, इसलिये इससे देव सम्बन्धियों को ही भय है न कि दैत्यों के पक्ष वालों को भय है ॥ २१ ॥

**आभास —** ततो भगवद्दर्शनमाह मुहूर्तमिति ।

**आभासार्थ —** इस निम्न श्लोक में यशोदा को भगवद्दर्शन न हुआ उसका वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः —** मुहूर्तमभवद् गोष्ठं रजसा तमसावृतम् ।

सुतं यशोदा नापश्यत् स्वयं न्यस्तवती यतः ॥ २२ ॥

**श्लोकार्थ —** एक मुहूर्त पर्यन्त गोकुल धूलि तथा तमोगुण रूप अन्धकार से घिर रहा था । यशोदा ने जहाँ पुत्र को बिराजमान कराया था वहाँ नहीं देखा ।

**सुबोधिनी —** बहिःस्थितानां गोकुलदर्शनमपि न जातं, बहिर्मुखानां भगवद्दर्शनं कथं भविष्यतीति वदन् दृष्टान्तं पूर्वकमाह, मुहूर्तं घटिकाद्वयं, गोष्ठं सर्वमेव गोकुलं रजसा पांसुना तमसा तमोरूपेण रजोजनिततमसा आवृतमासीत्, ततोन्तःस्थितं भगवन्तं यशोदापि नापश्यत्, सुतबुद्धिश्च जाता,

ननु भगवद्दर्शनं सर्वेषामेव दुर्लभं किमाश्चर्यं यशोदा नापश्यदिति तत्राह स्वयं न्यस्तवती यतः, यतः स्वयमेव तत्र न्यस्तवती स्थापितवती, स्वस्थापितं स्वयं द्रष्टुमुचितमेव तथाप्यदर्शनमाश्चर्यं, यत इति सप्तम्यर्थे वा, स्वयं न्यस्तवतीति प्रमाणावः ॥ २२ ॥

**व्याख्यानार्थ —** इस श्लोक में दृष्टान्त देकर समझाया गया है कि जब, जो मनुष्य गोकुल से बाहर थे उनको भी धूलि और अन्धकार से घिरे हुए गोकुल के दर्शन नहीं हुए, तो जो मनुष्य बहिर्मुख (जिनका मन आदि विषयों में आसक्त है भगवान् से विमुख है) उनको भगवान् के दर्शन कैसे होंगे ? उस समय की गोकुल की स्थिति का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'गोकुल' धूलि से और तमोगुण रूप अन्धकार से चिरा हुआ था, अथवा धूलि से हुए अन्धकार से घिरा हुआ था । इस कारण से यशोदा ने अन्तःस्थित भगवान् को नहीं देखा । भगवान् का दर्शन सब को दुर्लभ है तो यशोदा को न हुआ तो कौनसो आश्चर्य की बात है । इसके उत्तर में श्रीशुकदेवजी ने कहा है कि यशोदा को आश्चर्य इसीलिये हुआ कि मैं स्वयं अपने सुत को बिराजमान करके गई हूँ, वह कहाँ गया ? अपने हाथ से रखी हुई वस्तु रखने वाले को दिखनी ही चाहिए । वह यदि दृष्टिगोचर न हो तो आश्चर्य होगा ही । यशोदा ने पुत्र को वहाँ बिराजमान कराया था इसलिए भ्रम नहीं था ॥ २२ ॥

आभास — यथा भगवति विदिते सर्वं विदितं भवत्येवं भगवत्यविदिते सर्वमेवा विदितं जातमित्याह नापश्यदिति ।

आभासार्थ — वेद में कहा है कि भगवान् का ज्ञान होने से सब जाना जाता है। वैसे ही भगवान् के अज्ञान से सबका अज्ञान होता है। इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं। श्लोक में दिये 'यतः' पद का अर्थ सप्तमी की तरह किया गया है।

श्लोकः — नापश्यत् कश्चनात्मानं परं चापि विमोहितः ।

तृणावर्तविसृष्टाभिः शर्कराभिरुपद्रुतः ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ — तृणावर्त द्वारा प्रक्षिप्त कंकरो से घबराये हुए और भ्रान्त बने हुए मनुष्य अपने को अथवा दूसरे को नहीं देख सके ।

सुबोधिनी — कोप्यात्मानं स्वदेहं परं परदेहं च | किञ्चाज्ञानकार्यमपि प्राप्तवानित्याह, तृणावर्तेन विशेषेण नापश्यत्, चकाराद् घटपटादिकं च, शब्दादिनापि प्रतीतिर्न सृष्टाभिः शर्कराभिर्विशेषेणोपद्रुतः पीडितः, जातेत्याह विमोहित इति, विशेषेण मोहितः, तामसपीडैवाज्ञानकार्यम् ॥ २३ ॥

व्याख्यानार्थ — किसी ने भी अपने शरीर और दूसरों के शरीर को नहीं देखा। आचार्यश्री बताते हैं कि 'च' अक्षर देने का श्रीशुकदेवजी का यह भाव है कि केवल शरीरों को नहीं देखा सो नहीं, किन्तु घटपटादि पदार्थों को भी नहीं देखा। शब्द आदि से भी किसी की प्रतीति न हुई, क्योंकि वे तृणावर्त के प्रक्षिप्त कंकरो से पीड़ित एवं भ्रान्त हो गये थे जिससे उनमें अज्ञान का कार्य तामस, पीड़ा हुई थी। इसीलिये वे शरीर और वस्तु मात्र को न देख सके एवं सर्व प्रकार के शब्दादिकों को भी न सुन सके ॥ २३ ॥

आभास — एवमज्ञानं सकार्यं निरूप्य तदपगमार्थं यशोदाया गोपिकानां च भगवति प्रेमातिशयमाह भिन्नवृत्तेन द्वाभ्यां, तत्र गोपिकायां भगवति पुत्रत्वेन स्नेहातिशया माहेतीति ।

आभासार्थ — इस प्रकार कार्य रहित अज्ञान के स्वरूप का वर्णन कर। उस (अज्ञान) के निवृत्त्यर्थं यशोदा तथा गोपिकाओं के भगवान् में अतिशय स्नेह का वर्णन अन्य २४वें व २५वें श्लोक से करते हैं।

यशोदा का भगवान् में पुत्र भावना से अतिशय स्नेह हुआ है उसका वर्णन २४वें श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — इति खरपवनचक्रपांशुवर्षे सुतपदवीमबलाविलक्ष्य माता ।

अतिकरुणमनुस्मरन्त्यशोचद् भुवि पतितामृतवत्सका यथा गौः ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ — इस प्रकार तीक्ष्ण स्पर्शयुक्त पवन के बगुले का रूप धारण करने वाले तृणावर्त द्वारा उत्पन्न की हुई धूलि की वर्षा से माता यशोदा को पुत्र के मार्ग का पता नहीं लगा, अत्यन्त दया से पुत्र को स्मरण करती हुई शोकातुर हो गई और मृतवत्सा गौ के समान पृथ्वी पर गिर पड़ी ।

सुबोधिनी — एवं तृणावर्तकृत उपद्रवे जात इत्येतावति सति, खरः पवनो यस्य चक्रस्य स खरपवनचक्रस्तृणावर्तस्तस्य पांशुवृष्टिभिः कृत्वा वर्षासु मार्गानिव सुतपदवीं पुत्रमार्गमितस्ततः पर्यटन्त्यप्यविलक्ष्य ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजचिह्नैरपि चिह्नितां भूमिमदृष्ट्वा माता सर्वथा स्नेहाधिकरणं क्वचिद् भगवानात्मानं विहाय गत इति भगवतः कुपोत्पादनार्थप्रतिकरुणं यथा भवति तथा-

नुस्मरन्त्यशोचदात्मानं शोचितवत्यकृतार्थाहमिति, ततो भगवद्विरहाद् भुवि पतिता जाता, क्रियाशक्तिलुप्ता, ज्ञानशक्तिरपि लुप्तेति वदन् मूर्छिता जातेति दृष्टं तेनाह मृतवत्सका यथा गौरिति, गौरज्ञानजन्तुस्तत्रापि वत्से गतेतिविवेकाभावान्मूर्छिता भवत्येव, अमृतवत्सकेति मृतवत्सका तु मृतमाग्राय निवृत्तैव भवति, नष्टवत्सैव तथा भवति ॥ २४ ॥

व्याख्यानार्थ — ऊपर के श्लोकों में कथित तृणावर्त के उपद्रवों से जो कुछ हुआ उसके अनन्तर क्या हुआ सो इस श्लोक में वर्णन करते हैं । तीक्ष्ण स्पर्शयुक्त पवन के बगुले के रूप (तृणावर्त) की धूलि की वर्षा से गोकुल के मार्ग ऐसे हो गये जैसे वर्षा पड़ने से होते हैं । उस समय किसी वस्तु के चिह्न पृथ्वी पर दृष्टिगोचर नहीं होते थे । इस धूलि वृष्टि से भी मार्ग की इसी प्रकार की दशा हो गई । इसलिये माता यशोदा इधर उधर पुत्र के जाने का मार्ग मिले, तदर्थ पुत्र के पाद चिह्नों को पृथ्वी पर देखने लगी, किन्तु पुत्र का कोई भी वज्र, अंकुश, कमल चिह्न पृथ्वी पर न देखकर, माता जो स्नेह का अधिकरण (स्नेह का घर, स्नेह के ठहरने का स्थान) है वह विचारने लगी कि क्या कन्हैया (भगवान्) मुझे छोड़कर चला गया ? इस प्रकार जैसे भगवान् को मुझ पर दया उत्पन्न हो, वैसे अत्यन्त करुणा पूर्वक स्मरण करती हुई शोकाकुल हुई । अपने हृदय में शोक करने लगी कि मैं अभागिन हूँ जो मेरा कार्य (पुत्र के चिह्नों की प्राप्ति) न हुआ । इस कारण से भगवान् के लिये विरह बढ़ा, जिससे पृथ्वी पर गिर गई । पृथ्वी पर गिरने से यशोदा की क्रिया (कार्य करने) की शक्ति लोप हो गई । कारण कि गिरते ही मूर्छित हुई । गिरने से क्रिया शक्ति-लोप हुआ और मूर्छा से ज्ञान शक्ति का लोप हुआ । यशोदा के गिरने और मूर्छित होने को दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे मृतवत्सा गौ गिर पड़ती है । गौ अविवेकी पशु है, वह भी बछड़े के जाने पर गिरकर मूर्छित हो जाती है, तो यशोदा का विवेकवती होने से, गिरना स्वाभाविक ही था । आचार्यश्री कहते हैं कि यदि यहाँ 'अमृतवत्सा' पद रखा जाय तो उसका विशेष स्वारस्य होगा, क्योंकि गौ, मृत बछड़े को चाटते हुए अपने दुःख का शोषण करती है

किन्तु जिसका जीवित बछड़ा चला जाय, तो वह गौ अपने दुःख का शोषण नहीं कर सकती । इस प्रकार यशोदा भी पुत्र के न मिलने से दुःखित हुई जिस दुःख का निवारण पुत्र का मिलन हो, तब हो, इसलिये यशोदा की क्रिया-शक्ति तथा ज्ञान-शक्ति दोनों नष्ट हो गई थी ॥ २४ ॥

**आभास —** एवं यशोदायाः परमस्नेहेन मूर्छापर्यन्तमवस्था निरूपिता, गोपिकानामाह रुदितमिति अनुनिशम्येति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार ऊपर के २४वें श्लोक में परमस्नेह से मूर्छा पर्यन्त यशोदा की अवस्था का वर्णन करने अब २५वें श्लोक में गोपिकाओं के स्नेह का वर्णन किया जाता है ।

**श्लोकः —** रुदितमनुनिशम्य तत्र गोप्यो भृशमनुतप्तधियोऽश्रुपूर्णमुख्यः ।

रुरुदुर्नुपलभ्य नन्दसूनुं पवन उपारतपांशुवर्षवेगे ॥ २५ ॥

**श्लोकार्थ —** पवन प्रेरित धूलि का वेग जब कम हुआ तब (भी) गोपियां नन्दनन्दन को न देखकर रोने लगीं । वह परस्पर का रोदन सुनने से गोपीजन अतिशय तप्त बुद्धि वाली हुई जिससे उनके नेत्र आंसुओं की बूंदों से भरपूर हो गये ।

**सुबोधिनी —** गोप्य स्वयमेव ज्ञानसम्पन्ना भगवति नीयमाने रोदनं कुर्वन्त्यः स्वरोदनं शृण्वन्त्योन्यरोदनमपि श्रुतवत्य इत्यनुनिशम्येत्युक्तं, तत्र भगवद्गृहे, गोप्यो भगवदीयाः, भृशमत्यर्थमनुतप्ता धीर्यासामस्माभिस्तत्र भगवन्तं गृहीत्वा कथं न स्थितमित्यनुतापयुक्ताः स्वबुद्धिदोषं स्मरन्त्यो भृशं तप्ता अश्रुप्रोज्ज्वलेप्यशक्ता अश्रुपूर्णमुख्यो जाताः, अश्रुभिः

पूर्णं मुखं यासामिति, स्वयं तत्र गृहे गत्वा नन्दसूनुमनुपलभ्य रोदनेऽपि लौकिकदोषनिवृत्त्यर्थं प्रभुपुत्रमनुपलभ्य सर्वाः संहत्य रुरुदुः, एवं रोदने क्रियमाणे देवतान्तर्हिता, तस्यामन्तर्हितायां पवनोऽप्युपारतः पांशुवर्षस्य वेगो यस्य तादृशो जातस्तस्मिन् ॥ २५ ॥

**व्याख्यार्थ —** गोपियां स्वयं ज्ञानवान् थीं, भगवान् को ले जाने पर रोने लगीं । वे अपना रोना तो सुनती ही थीं साथ ही उन्होंने दूसरी गोपियों का भी रोना सुना । वहाँ भगवान् के गृह में जो गोपियाँ भी वे भगवदीया थीं । इसलिये अतिशय ताप से तप्त बुद्धि वाली हुई और कहने लगीं कि यह हमारी बुद्धि का दोष है । यदि हम भगवान् को लेकर अपने पास रखतीं, तो वह जाते नहीं, इस विचार से विशेष ताप तप्त होने लगीं, जिससे नेत्रों के आंसुओं का पौछना भी न कर सकीं, इससे नेत्र आंसुओं से पूर्ण हो गये (भर गये) । गृह में जब भगवान् को न देखा ओर जहाँ जहाँ टटोलने पर भी स्वामी के पुत्र को न पाया, तब सब मिल कर, लौकिक दोष निवृत्त्यर्थ रोने लगीं । इस प्रकार रोने से नेत्र के देवता अन्तर्हित हो गए । देवता के अन्तर्हित होने पर पवन भी शान्त हुआ और उसमें का धूलि वर्षा वाला वेग भी न रहा ॥ २५ ॥

आभास — तथा जाते तृणावर्तोपि शान्तवेगो जात इत्याह तृणावर्त इति ।

आभासार्थ — वायु के वेग के साथ धूलि वर्षा शान्त हो गई तो उसके साथ तृणावर्त भी शान्त हुआ, उसका वर्णन इस श्लोक 'तृणावर्तः शान्तरयो' में करते हैं ।

श्लोकः — तृणावर्तः शान्तरयो वात्यारूपधरो हरन् ।

कृष्णं नभोगतो गन्तुं नाशक्नोद् भूरिभारभृत् ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ — जब झक्खड़, आंधी का रूप धारण करने वाले तृणावर्त का वेग शान्त हुआ तब कृष्ण को हरण कर आकाश में गया (हुआ, बहुत) अर्थात् अपने उठाने की शक्ति से अधिक भार को धारण करने वाला वह (तृणावर्त) आगे नहीं जा सका ।

सुबोधिनी — तृणावर्त इति, प्राप्ते भगवति नयन एव सामर्थ्यस्य व्यापृतत्वात् पूर्वं वात्यायां रूपधरो भूत्वा हेतुर्भूरिभारभृदिति, स्वसामर्थ्यपेक्षयाप्यधिकं भारं विभ्रत् ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ — प्रचण्ड वायु रूप धारी तृणावर्त की शक्ति भगवान् को आकाश की तरफ ऊपर ले जाने में ही समाप्त हो गई । ऊपर ले जाने का बल भी तृणावर्त को उसके उपास्य देवता (माया रूप) से प्राप्त हुआ था । तिर्यक (टेढे) जाने की शक्ति उसमें नहीं थी । तृणावर्त जब शान्त हो गया तब उनको (श्रीकृष्ण को) आगे ले जाने की सामर्थ्य तृणावर्त में नहीं हुई क्योंकि तृणावर्त ने पहले ही अपनी शक्ति से अधिक भार उठा लिया था ॥ २६ ॥

आभास — ततोशक्तौ यत् कृतवांस्तदाह तमश्मानमिति ।

आभासार्थ — इस प्रकार उस (तृणावर्त) की शक्ति जब कम हो गई, तब भगवान् को ले जाने में असमर्थ हो गया, उसका वर्णन 'तमश्मानं' इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — तमश्मानं मन्यमान आत्मनो गुरुमत्तया ।

गले गृहीत उत्सृष्टुं नाशक्नोद्दद्भुतार्थकम् ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ — तृणावर्त ने उस (लोलक) को अपने से भारी बोझ वाला अर्थात् जो उठाया नहीं जा सकता है ऐसा पत्थर समझा । गले से पकड़ा हुआ तृणावर्त अद्भुत बालक से अपने आपको छुड़ा नहीं सका ।



सुबोधिनी — तं भगवन्तं बालकं गृहीतस्सन्नुत्सङ्गमपि नाशक्नोत्, ननु हस्तौ मोचयित्वा कथं न त्यक्तवानित्याहाद्भुतार्थकमिति, अद्भुतोऽलौकिकः, त्याजने क्रियमाणे सम्बन्धो भवति, विपरीता हि भगवल्लीला, प्राप्तव्य इत्युक्ते न प्राप्नोति त्यज्यत इत्युक्ते न त्यक्तो भवति ॥ २७ ॥

व्याख्यानार्थ — उस छोटे बाल रूप भगवान् को, तृणावर्त बहुत भार वाला हीरक वा नीलमणि पत्थर समझने लगा । ऐसा समझने का कारण यह था कि उस (तृणावर्त) ने अपने से भी भारी बोझवाला उनको देखा और उसकी गुरुमत्ता के गौरव को जानना तृणावर्त की बुद्धि से बाहर था । इसलिये उसको भारी पत्थर समझ उससे अपने को छुड़ाने का विचार करने लगा । किन्तु भगवान् ने उसे गले से पकड़ लिया था, इसलिये वह छुड़ा भी न सका । हाथों को दूर कर क्यों नहीं छुड़ा लिया ? इस शङ्का निवारण के लिये शुकदेवजी ने कहा है कि यह बालक साधारण बालक नहीं है किन्तु अद्भुत (अलौकिक) अर्थात् बालक है, इसकी लीला अलौकिक है । इसको जो छोड़ता है उससे यह सम्बन्ध जोड़ता है कारण कि भगवान् की लीला अलौकिक (लोक से विपरीत) है । जैसे कि जो कहता है कि भगवान् को मैं अपने साधन से प्राप्त करूँगा, उसको भगवान् प्राप्त नहीं होते हैं एवं जो कहता है कि भगवान् से दूर हो जाऊँगा अर्थात् भगवान् को अपने बल से छोड़ दूँगा तो वह भगवान् से अपने को नहीं छुड़ा सकता है ॥ २७ ॥

आभास — तदा भगवान् यत् कृतवांस्तदाह ।

आभासार्थ — इसके (ऊपर के श्लोक में कहे हुए चरित्र के) पश्चात् जो कुछ भगवान् ने किया उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — गलग्रहणनिश्चेष्टो दैत्यो निर्गतलोचनः ।

अव्यक्तरावो न्यपतत् सहबालो व्यसुर्ब्रजे ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ — कंठ पकड़ने से चेष्टा रहित, बाहर निकल आये नेत्र वाला, स्पष्टता रहित वाणी वाला तृणावर्त प्राण रहित होकर बालक सहित गोकुल में गिरा ।

सुबोधिनी — गलग्रहणेति, उच्चस्थाने बालकस्वभावख्यापक इव गलं गच्छति भगवान्, देहेन प्राणैः सह त्यक्तव्यः, तत्प्रियत्वस्यैव देहादौ समारोपणात्, तस्मिन् विद्यमाने भगवान् न त्यक्तो भवति, हस्ते गृहीत्वा त्यजन्निव तदा गलग्रहणेन निश्चेष्टो जात इति, तदा भगवान् दयया त्यक्ष्यतीत्याशङ्क्याह दैत्य इति, अत एवातिनिःपीडनेन

निर्गते लोचने यस्य, शब्देनापि भयं जनयिष्यामीति विचार्य ततोपि पीडितोव्यक्तरावो जातः, न व्यक्तो एवः शब्दो यस्य, तदा विवशः सन् हृदयस्थितबालक एव व्रजमध्ये न्यपतत्, न हि गोकुलसर्वस्वं कश्चिदन्यत्र नेतुं शक्तः, नितरामपतदिति सर्वाङ्गे भूमिसम्बन्ध उक्तः ॥ २८ ॥

व्याख्यानार्थ — जब तृणावर्त भगवान् को ऊपर ले गया, तब बालक स्वभाव (जब कोई बालक को ऊपर उठाते हैं तो बालक अपने हाथ उसके गले में डाल देता है) को प्रकाशित करने वाले भगवान् ने तृणावर्त के गले को पकड़ लिया। भगवान् ने तृणावर्त को गले से पकड़ लिया, उसका भाव प्रकट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि तृणावर्त को गले में बाहु डालकर पकड़ रखने का आशय यह था कि मेरा जो प्रियत्व धर्म है उसको इसने देह और प्राणों में स्थापित किया है इसलिये जब तक यह प्रियत्व धर्म<sup>१</sup> इनमें (देह-प्राण) में है तब तक मैं छूट नहीं सकता हूँ। भगवान् ने तृणावर्त को जब गले से पकड़ा तब वह चेष्टा रहित हो गया। भगवान् दयालु हैं, उसकी निश्चेष्टता देखकर उसको छोड़ देंगे ? किन्तु छोड़ नहीं - अपनी दयालुता क्यों प्रकट न की ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि तृणावर्त दैत्य<sup>२</sup> था। दैत्य होने के कारण भगवान् ने उस पर दया तो न की किन्तु उसके गले को विशेष जोर से दबाया जिससे उसकी आँखें बाहर निकल आईं। तृणावर्त ने मन में विचार किया कि घोर शब्द से इनको डराऊंगा इस आशय को अन्तर्यामी सर्वज्ञ भगवान् ने समझ लिया अतः उससे भी विशेष दबाने से उस (तृणावर्त) का चिल्लाना भी बन्द हो गया, साफ साफ बोल नहीं सका। तब विवश (प्राणरहित) हो, हृदय-स्थित बालक के साथ गोकुल के बीच में गिर पड़ा। श्रीकृष्ण गोकुल का सर्वस्व (सब कुछ धन) है कोई भी उसको दूसरे स्थान पर नहीं ले जा सकता है। श्लोक में 'न्यपतत्' क्रिया के सन्धि विच्छेद करने से नि + अपतत् होता है इसमें 'नि' उपसर्ग है, अपतत् क्रिया है। जिसका भावार्थ बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि 'नि' नितरां (विशेष रीति से) अपतत् (गिरा) अर्थात् इस प्रकार से गिरा जैसे तृणावर्त के शरीर के सकल अङ्गों का पृथ्वी (वज्र भूमि) से सम्बन्ध (स्पर्श) हुआ ॥ २८ ॥

१ — योजनाकार लालूभट्ट इसका विशेष स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि मैं (भगवान्) जीवों का प्रिय आत्मा हूँ, मेरे लिये ही देहादि प्रिय लगते हैं इसलिये मुझ में जीव की वास्तविक रति करनी चाहिए, किन्तु अज्ञान से देहादि को आत्मा समझकर उसे जीव प्रिय समझते हैं, उसमें रति करते हैं। यदि आत्मरूप प्रिय भगवान् को छोड़ते हो तो जिस देह और प्राणों को आत्मरूप समझते हो, उनको क्यों नहीं छोड़ते हो ? सारांश यह है कि भगवान् का प्रियत्व धर्म आरोपित किया गया है उन देह और प्राणों को भगवान् लेना चाहते हैं तदर्थ तृणावर्त को भगवान् ने गले से पकड़ रखा है — 'योजना'

२ — दैत्य पर दया करना जीवों के लिये विपत्ति की रक्षा करनी है। दैत्य तो दूसरों को दुःख देने वाले होते हैं इसलिये उनका नाश करना ही धर्म है — 'अनुवादक'

आभास — तदा मायायां गतायां पतन् सर्वजनीनो जात इत्याह ।

आभासार्थ — तब माया के (असुरों के देवता मायारूप भगवान् के) चले जाने पर, गिरे हुए तृणावर्त को सबने देखा । इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — तमन्तरिक्षात् पतितं शिलायां विशीर्णसर्वावयवं करालम् ।

पुरं यथा रुद्रशरेण विद्धं स्त्रियो रुदन्त्यो ददृशुः समेताः ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ — रुद्र के बाण से विद्ध (वेधागथा-ताडित) त्रिपुरासुर के समान शुष्क, सर्व अवयवों वाला वह विकराल (भयानक) अन्तरिक्ष (आकाश) से शिला पर गिरा । उसको रोती हुए स्त्रियों ने देखा । उसको देखते ही सब इकट्ठी हो गई ।

सुबोधिनी — तमन्तरिक्षात् पतितमिति, अन्तरिक्षाद् दूरदाकाशान् निरालम्बाच्छिलायां पतितं भगवदासक्ताः स्त्रियो ददृशुर्पितिसम्बन्धः, व्रजमध्ये महान् पाषाणो भवति यत्र स्थितो नन्दः सर्वमेव दोहमनुसन्धत्ते, सा शिला ब्रह्मपुत्रीव स्थिता दैन्यघातिनी, अत एव विशीर्णाः सर्वेवयवा यस्य, मृतोपि सर्वेषां भयानकः किं पुनर्जीवञ्जित्याह करालमिति, करालः क्रूरो भगवता मारणीयत्वे हेतुः, पुरं यथा रुद्रशरेण

विद्धमिति, सर्वोपद्रवकारीणि पुराणि तैल्लोका अतिपीडिता अतः सर्वदेवप्रार्थनया भगवांस्तं मारितवान् नो चेददृश्य एव भवेत्, न तु गच्छेत् विकलस्यापि मारणे हेतू रुद्रशरेण स्वेनैव नारायणेन विद्धमिति, न हि दुष्टेषु वधक्रियया व्याप्तोषु दयोचिता, त्रिपुरं यथा शरेण विद्धमेव परिभ्रमत् पतति तथा पतितं रुदन्त्यो रोदनं विस्मृत्याश्चर्याद् ददृशुः यथास्थानस्थिता अपि तदा समेताः जाताः ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ — निरालम्ब (आधार रहित) दूर आकाश से शिला पर गिरे हुए (तृणावर्त को) भगवान् में आसक्त स्त्रियों ने देखा । गोकुल में एक शिला रखी हुई है, जिस पर बैठकर नन्दरायजी गौओं के दोहने आदि कार्य की देख-रेख करते थे । वह शिला ब्रह्म-पुत्री<sup>१</sup> की<sup>२</sup> तरह<sup>३</sup> स्थित थी । उस शिला के कारण तृणावर्त के सर्व अवयव, निर्बल एवं चूर्ण के समान हो गये । मरने पर भी, सब के लिये भयानक है क्योंकि कराल है, इसलिये कदाचित् मरने का ढोंग किया

१ — 'ब्रह्मपुत्री' शब्द का भाव प्रकाशकार पुरुषोत्तमजी कहते हैं कि उल्लसों का नाश करने वाली सरस्वती रूप ऋक् है । यों भासता है — 'प्रकाश'

२ — 'ब्रह्मपुत्री इव' अहिल्या के सदृश अर्थ करते हैं कि जैसे अहिल्या शिला हो कर रही वैसे ही यह शिला है दृष्टांत का इतना ही तात्पर्य है — 'लेख'

३ — प. भ. श्री लालू भट्टजी 'ब्रह्मपुत्री' का अर्थ अहिल्या करते हैं और विशेष में कहते हैं कि जैसे भगवान् मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम ने शिलारूप अहिल्या का उद्धार किया (मनुष्यों ने उसको पहचाना नहीं था), वैसे ही इस शिला का, श्रीकृष्ण ने उद्धार किया, इसका भी कोई स्वरूप समझना चाहिये, यह केवल शिला नहीं थी किन्तु कोई दैवी जीव थी । शापादि के कारण यमलार्जुन की तरह (उद्धारार्थ) यहाँ स्थित थी । उस दैवी जीव का शिला भाव भगवान् ने छुड़ाया — 'योजना'

हो, पुनः जीवित हो जाय । अतः भगवान् ने कराल क्रूर को ऐसे मारा, जिस प्रकार सर्व लोक पीड़ा-कारक, त्रिपुरासुर को सर्व देवताओं की प्रार्थना से भगवान् ने स्वयं नारायण ने रुद्रशर द्वारा नाश किया था । यदि स्वयं भगवान् उसका नाश न करते तो वह अदृश्य हो जाता (छिप जाता); जिन्तु जाता नहीं और उसके द्वारा लोक सदैव पीड़ित होते । विकल होने पर भी मारने का कारण बताते हैं कि मारने के योग्य दुष्टों पर दया करनी अनुचित है । त्रिपुरासुर, जिस प्रकार शर से विद्ध होकर ही परिभ्रमण करता हुआ गिरा वैसे ही यह भी गले के पकड़ने से गिरा । गिरते हुए को रोती हुई स्त्रियों ने जो देखा, तो रोना भूल गईं और तुरन्त सब जहाँ जहाँ थीं, वहाँ वहाँ से आकर इकट्ठी हो, उसको देखने लगी ॥ २९ ॥

**आभास —** तथाभूता यत् कृतवतस्तदाहादायेति ।

**आभासार्थ —** एकत्र स्थित होकर रोदन बंद कर आश्चर्य से देखती हुई गोपीजनों ने जो कुछ किया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः —** आदाय मात्रे प्रतिहृत्य विस्मिताः कृष्णं च तस्योपरि लम्बमानम् ।

तं स्वस्तिमन्तं पुरुषादनीतं विहायसा मृत्युमुखात् प्रमुक्तम् ॥ ३० ॥

**श्लोकार्थ —** राक्षस द्वारा आकाश में पहुँचे हुए, उस राक्षस की छाती पर लिपटे हुए मृत्यु के मुख से मुक्त, सकुशल श्रीकृष्ण को लेकर, माता (यशोदा) को दे, सब गोपियाँ विस्मित हुई ।

**सुबोधिनी —** तस्योपरि लम्बमानं भगवन्तमादाय मात्रे प्रतिहृत्य समर्प्य स्तनपानादिना स्वस्थं ज्ञात्वा विस्मिता जाताः परमाश्चर्यं प्राप्तवत्यः, राक्षसस्पर्शं सहजदोषजनकेऽपि दोषस्पर्शाभावात्, अपहतपाप्मन एवैतत् सम्भवति, अपहतपाप्मत्वनिश्चयाभावाद्, विस्मयः, किञ्च विस्मयान्तरेऽपि हेतुनाहुः कृष्णं च तस्योपरि लम्बमानमिति, वायुर्लघुः कृष्णः पूर्वं गुरुभूतो लघुरयस्तात् पतितो विशोणो भगवांस्तु तस्योपरिभागे तमस्पृष्ट्वैव पत्रपाषाणाविव पाषाणे पतिते पत्रं तदुपरि लम्बमानं शनैः शनैरायाति तद्वद् मध्यत एवादायेतिसम्बन्धः, अत आदायैव च विस्मिताः, प्रतिहृत्य च विस्मिताः, चकारत् पतितं दैत्यमपि दृष्ट्वा विस्मिताः, भगवन्तमभीतं दृष्ट्वा वा, एवमान्तरालौकिकदोषाभावाद्

विस्मयत्रयमुक्तं, बाह्यलौकिकदोषाभावाद् विस्मयत्रयमाह पुरुषादनीतं विहायसा मृत्युमुखात् प्रमुक्तमिति पुरुषादा राक्षसाः पुरुषमेवादन्तीति, तेन शरीरोपघातोऽवयवोपघातो वावश्यम्भावी, प्रमादाद् विगलितस्यापि तथेत्याह विहायसेति आकाशमार्ग उच्चैस्त्यक्तोऽपि खेदं प्राप्नोति, न चानयोरन्यथापि सम्भवो यतो नियतमृत्युरूपावेतौ, तथापि सर्वथा सम्बन्धाभावे कदाचिदुर्वर्तितोऽपि भवेत् तदपि नास्तीत्याह मृत्युमुखात् प्रमुक्तं, त्यक्त्वलोपे पञ्चमो, मृत्युमुखं प्राप्य स्वेच्छया प्रकर्षेण मृत्युं मारयित्वा स्वयं मुक्तं मृत्युर्दैत्ये स्थितो मुखमाकाशे, एवं त्रिविधादपि मृत्योर्मुक्त इति लौकिकाश्चर्याणि, एतादृशोऽपि स्वस्तिमान् कल्याणवान् शोभा हर्षो वा केनाप्यंशेन न न्यून इति ॥ ३० ॥

व्याख्यानार्थ — उस तृणावर्त की छाती पर लिपटे हुए भगवान् को लेकर माता (यशोदा) को दे दिया । माता ने लेकर स्तन पान आदि करवाया । यह देख गोपियों ने समझा कि यह बालक (कृष्ण) तो स्वस्थ है । इससे विस्मित हुई अर्थात् अत्यन्त आश्चर्य में पड़ गई । राक्षस का स्पर्श ही स्वाभाविक दोषजनक है, किन्तु इस बालक को तनिक भी दोष का स्पर्श नहीं हुआ था । दोष के स्पर्श का अभाव तो निष्पापों में ही होता है । इस बालक को दोषों ने क्यों नहीं स्पर्श किया ? इससे भी विस्मित हुई, गोपीजनों को अब तक यह ज्ञान नहीं था कि यह बालक निष्पाप है, अतः विस्मय में पड़ गई थीं । श्रीकृष्ण को तृणावर्त के ऊपर (छाती पर) लिपटे देखकर भी, आश्चर्ययुक्त हुई, क्योंकि इनको ज्ञान था कि श्रीकृष्ण गुरु और वायु (तृणावर्त रूप होने) से लघु है । लघु वायु तो नीचे (मरा) पड़ा है और भारी यह बालकृष्ण है । जैसे पत्थर पर गिरे हुए पत्र, पत्थर को स्पर्श नहीं करते हैं, वैसे ही श्रीकृष्ण इस दैत्य पर, अस्पृष्ट ही लिपट रहे थे । आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान् की यह लीला थी कि नीचे आने के समय आप गुरु ऊपर होते हुए भी धीरे-धीरे आते थे, जिससे गोपियों ने कृष्ण को तृणावर्त के पृथ्वी पर गिरने से पहले (मध्य में) ही उठा लिया था । अतः लेकर विस्मित हुई, तथा माता को देखकर भी विस्मित हुई । 'च' अक्षर का भाव बताते हुए कहते हैं कि गिरे हुए दैत्य को देखकर भी विस्मित हुई अथवा भगवान् ऐसे दैत्य के साथ आकाश में गये तो भी डरे नहीं हैं, पूर्ववत् नीडर हैं । यह देखकर भी विस्मय को प्राप्त हुई । इस प्रकार आन्तर<sup>१</sup> अलौकिक दोषों के अभाव के कारण तीन प्रकार से गोपियाँ विस्मित हुई । अब बाह्य<sup>२</sup> लौकिक दोषों के अभाव के कारण भी तीन प्रकार से गोपियाँ विस्मय युक्त हुई । १ — राक्षस द्वारा आकाश में लिया जाना भी मृत्यु मुख<sup>३</sup> था, वहाँ से भी मुक्त हो आए । राक्षस का नाम ही 'पुरुषाद' है अर्थात् पुरुषों को भक्षण करनेवाला, मृत्यु रूप है जिससे शरीर नाश व अंगों का नाश अवश्यम्भावी<sup>४</sup> है तथा आकाश में ले जाने पर वहाँ से छोड़ने से भी खेद-कार्य<sup>५</sup> होता है । ये दोनों ही मृत्यु रूप अर्थात् मृत्यु के कारण थे और इन दोनों का दूसरे प्रकार से होना (मृत्यु से बच जाना) भी सम्भव नहीं था । यदि पूर्ण सम्बन्ध न हो, तो मृत्यु टल भी जावे, किन्तु यहाँ जो पूर्ण रीति से सम्बन्ध हुआ था । इसको बताने के लिये श्री शुकदेवजी ने कहा कि 'मृत्यु मुखात्-प्रमुक्तं' जिसका अर्थ है, मृत्यु मुख में जाकर निकल आए हैं । मृत्यु तो दैत्य था और मुख आकाश था, भगवान् ने अपनी इच्छा से मृत्यु को मारकर अपने को मुक्त किया । इस प्रकार त्रिविध मृत्यु से मुक्त हुए, ये तीन लौकिक प्रकार के आश्चर्य हैं । ऐसा (मृत्यु मुख प्राप्त हुआ) भी अब स्वस्तिमान् कुशल है । इससे भगवान् की शोभा व हर्ष में न्यूनता न आई ।

१—भीतर के, अन्दर के ।

२—बाहर के ।

३—मृत्यु स्थान या मृत्यु का कारण ।

४—अवश्य होने वाला ।

५—नाश ।

**आभास —** एवं तासामाश्चर्याभिनिवेशमुक्त्वा प्रपञ्चे विस्मृते भगवदासक्त्या परमानन्दं च प्राप्तवत्य इत्याह ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार ऊपर के श्लोकों में गोपियों का आश्चर्यान्वित होना बताया, जिससे उन्हें प्रपञ्च विस्मृत हो गया और भगवान् में आसक्ति होने से वे परमानन्द को प्राप्त हुईं । इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**\*श्लोक: — गोप्यश्च गोपाः किल नन्दमुख्या लब्ध्वार्थकं प्रापुरतीव मोदम् ॥ ३१ ॥**

**श्लोकार्थ —** गोपियां और नन्द प्रमुख सर्व गोप, बालक को पाकर अत्यन्त आनन्दित हुए ।

**सुबोधिनी —** गोप्यश्चेति, गोप्यश्चकारादन्यस्त्रियोपि गोपा अप्यर्थकं लब्ध्वा प्रमोदं प्रापुः, तेषां विस्मयस्यानुकृत्वात् प्रपञ्चविस्मरणाभावे प्रकृष्टे मोदो न सम्भवतीति युक्त्यभावेऽपि प्रमाणस्य बलिष्ठत्वाज्जात एवेति किलेत्याह, उपपत्तिं चाह । नन्द एव मुख्यो येषामिति, मुख्ये प्रपञ्चविस्मरणस्य सिद्धत्वात् परमानन्द उचितः, तदाहार्थकं बालकं लब्ध्वा, अवस्थापि परमानन्दजनिका, अतीव मोदं परमानन्दं प्रापुः ॥ ३१ ॥

**व्याख्यानार्थ —** गोपियां एवं अन्य स्त्रियां भी (आचार्यश्री श्लोक में दिए हुए 'च' अक्षर का आशय बताते हैं कि गोपियों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियां भी) आनन्द को प्राप्त हुईं । मूल में केवल 'गोप्यः' अर्थात् 'गोपियां' कहा गया है तथा गोप भी बालक को पाकर अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुए । गोपियों को विस्मय हुआ था इसलिये उन्हें आनन्द हुआ । गोप तो विस्मित हुए नहीं, तब इनको प्रपञ्च की तो विस्मृति हुई नहीं तो फिर उनको परम आनन्द कैसे हुआ ? इसके उत्तर में आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि उक्ति न होने पर भी प्रमाण बलिष्ठ होता है, इसलिये गोपों को भी परमानन्द की प्राप्ति हुई । इसलिये श्लोक में निश्चयवाचक 'किल' शब्द दिया गया है और गोपों के हर्षित होने को हेतु पूर्वक सिद्ध करते हुए कहते हैं कि शुकदेवजी ने श्लोक में गोपों को नन्द प्रमुख कहा है अर्थात् गोपों में नन्दजी मुख्य थे । इसलिये मुख्य नन्दजी के प्रपञ्च की विस्मृति से गोपों को भी प्रपञ्च विस्मृति होना सिद्ध है अतः गोपों को परमानन्द हुआ यह कहना उचित ही है । अवस्था भी परमानन्द को प्रकट करने वाली थी । क्योंकि मृत्यु मुख

\*अन्यत्र छपे हुये कितनेक भागवत के पुस्तकों में यह आधा श्लोक भागवत के ३०वें श्लोक के साथ दिया गया है । और निम्न 'समेत्य चैकत्रकृताशिषोमलाः' आधा श्लोक है ही नहीं । आचार्यश्री 'समेत्य चैकत्र' श्लोक का आधा भाग न मिलने से कहते हैं कि आधा श्लोक न होने से अर्थ स्पष्ट नहीं समझा जाता है ।

में प्रविष्ट बालक की सकुशल प्राप्ति, परमानन्द को स्वतः उत्पन्न करने वाली है अतः निःसीम<sup>१</sup> आनन्द को प्राप्त हुए ॥ ३१ ॥

**श्लोकः —** समेत्य चैकत्र कृताशिषोमलाः विचारयामासुरुपायमत्र ॥ ३२ ॥

**श्लोकार्थ —** आशीर्वाद देने वाले दोष रहित गोपादि यहाँ एक स्थान पर इकट्ठे होकर, उपाय का विचार करने लगे ।

**सुबोधिनी —** अर्धमात्रमत्र पतितं यत्र सम्बन्धो निरूपितो भवति, सर्वा गोप्यो गोपा यशोदानन्दमुख्या एकत्रोपविश्य विमर्षं कृतवन्तस्तं विमर्षं भाहाहो इतिद्वार्याः समेत्य चैकत्र कृताशिषोमला विचारयामासुरुपायमत्र, एवमर्थं सखण्डे भवति ॥ ३२ ॥

**व्याख्यानार्थ —** इस श्लोक का आधा भाग मिलता नहीं है । इसलिये इस आधे के सम्बन्ध की योजना पूर्ण नहीं हो सकती है । अतः आधे का ही शब्दार्थ दिया जाता है । नन्द यशोदा जिनके आगेवान हैं वैसे गोप तथा गोपियाँ, एक स्थान पर बैठकर विचार करने लगे । उस विचार का वर्णन निम्न दो श्लोकों से किया जाता है ॥ ३२ ॥

**श्लोकः —** अहो बतात्यद्भुतमेष रक्षसा बालो निवृत्तिं गमितोभ्यगात् पुनः ।

**हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितः खलः साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यते ॥ ३३ ॥**

**श्लोकार्थ —** यह बालक राक्षस द्वारा आकाश में गया और वहाँ से सकुशल स्वस्थ दशा में यहाँ पृथ्वी पर वा अपने स्थान में, सकुशल आ गया । अहो ! यह समग्र चरित्र अत्यन्त अद्भुत है, इसमें किसी तर्क से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है ।

**सुबोधिनी —** भगवतो नयनमारभ्य स्वस्त्यागमन-पर्यन्तं यत् किञ्चित् कृत्यं तत् सर्वमहो आश्चर्यं, नात्रोपपत्तिः काचित् सम्भवति आश्चर्यमपि लोके प्रसिद्धं भवति यथा नटविद्यायां मायायं स्वप्ने च, ततोप्येतदधिकमित्याहा-त्यद्भुतमिति, मायायां प्रदर्शनमात्रमिति, जातं त्वद्भुतं यत् पुनः क्षणान्तरेन्यथा न भवति, ततोपि यत् कदाचिदपि न जातं क्वचिदपि तदत्यन्तमद्भुतं तत् स्वस्यात्यन्तमनिष्टमिति तत् स्मृत्वा बतेत्याहुः, एष इत्यक्षताव्याहतत्वं प्रत्यक्षेण प्रदर्शितं, विपरीतहेतुः सुदृढो जात इत्याह रक्षसा क्रूरेण बालोति सूक्ष्म इतो निवृत्तिं गमितो दूरे नीतो न्येन नीतः स्वयमागत इत्याश्चर्यं बालत्वात्, तत्रापि रक्षसा, निवृत्तिपदेन क्रियानिष्पत्तिरपि सूचिता, एवं सति पुनरागमने कोपपत्तिरिति शङ्कायामाहुर्हिंस्र इति, हिंस्रो भारको राक्षसः स्वपापेनैव विहिंसितः, मृत्युस्तत्र तिष्ठत्येवान्यभारणार्थं स तु

पापपुरःसरमेव प्रवर्तते, अतः पूर्वं बहूनां वधानां कृतत्वात् स्वाधारे पापमस्ति, अपापे विषये चेत् प्रयुक्तस्तभगृहीत्वा व्यङ्ग्युत्पागच्छन् स्वाश्रयमेव गृह्णातीति हिंस्रः स्वपापेन विहिंसितो भवति, किञ्च मृत्युरत्यन्तं दुष्ट आश्रये न तिष्ठति, अतोपि हेतोस्तं भक्षितवानित्याह खल इति, खलः पिशुनः, न ततो दुष्टोऽस्ति जगति कश्चित्, विषये पापभावमाहुः साधुः समत्वेन भयाद् विमुच्यत इति, अपहतपाप्मरूपं

ब्रह्मैव, तस्यापि बहूनि रूपाणि सन्ति, तत्रापि यत् समं रूपं तत् सर्वदोषरहितं भवति, "निर्दोषं हि समं ब्रह्म" इतिवाक्यात्, यः सर्वत्र समदृष्टिः स दोषाभावात् हन्यते, यस्तु साधुः स समदृष्टिरेव भवति, अतोयं बालकोपि समदृष्टिः साधुर्भवितुमर्हति, अतः साधुरयं समत्वेन भयादुपस्थिताद् विशेषेण मुच्यते, एतावता कृत्रिमभगवत्त्वं ज्ञातमिति, एवं ज्ञाननिष्ठैर्निर्णयः कृतः ॥ ३३ ॥

**व्याख्यानार्थ —** जगत् में आश्चर्य उत्पन्न करने वाले कार्य अन्य भी देखे जाते हैं, जैसे कि नट-विद्या अथवा जादूगर का खेल, माया और स्वप्न में जो देखा जाता है वह सब आश्चर्य है; किन्तु यह आश्चर्य तो उनसे भी विशेष होने से 'अत्यन्त अद्भुत' है। माया में तो केवल दिखावा होता है, जैसा कि जो होता (बनता) है, वह अद्भुत होता है; फिर अन्य प्रकार से न होकर वैसा ही रह जाता है। जो कभी भी न हुआ है, कहीं भी नहीं हुआ है, वह हो जाय तो, इसको उससे भी विशेष अत्यन्त अद्भुत कहा जाता है। वह अत्यन्त अद्भुत कार्य, अपने लिये अति ही अनिष्टकारी है, इसका स्मरण कर कहते हैं 'बत' (खेद है)। यह बालक अपने आपको इस प्रकार बिना आघात और बिना घबरया हुआ प्रत्यक्ष दिखला रहा है, इससे हेतु की विपरीतता दृढ़ होती है। जैसे कि क्रूर स्वभाव रक्षस, तो इस अति सूक्ष्म बालक को बहुत दूर ले गया। दूसरा तो ले गया और यह स्वयं अपने आप ही आ गया यह आश्चर्य है क्योंकि यह बालक है। बालक यों कर नहीं सकता है कि कोई दूसरा दूर ले जावे और वहाँ से आप सकुशल लौट आवे। इसलिये कहा है कि यह आश्चर्य है। फल ले जाने वाला भी साधारण व्यक्ति नहीं था किन्तु रक्षस था, जिससे बालक की क्रिया भी बंद हो गई थी। ऐसी दशा होने पर भी, स्वतः स्वयं बालक आ गया, इसमें क्या उपपत्ति<sup>१</sup> है। युक्ति बताते हुए शुकदेवजी ने मूल में कहा है कि वह हिंसक<sup>२</sup> था इसलिये उस (हिंसक तृणावर्त) को उसके पापों ने ही नष्ट कर दिया। इसको आचार्यश्री स्पष्ट करके समझाते हैं कि तृणावर्त में 'मृत्यु'<sup>३</sup> तो दूसरों को मारने के लिये रहती ही थी और वह मारने की क्रिया वहाँ करता है, जहाँ पाप होता है। तृणावर्त ने इससे पहले बहुतों के बधरूप अनेक पाप किये ही थे अतः काल के आधार, तृणावर्त में पाप है। वह ऐसा पापी, जब निष्पाप में मृत्यु की प्रेरणा करता है, तब मृत्यु उस निष्पाप को न पकड़ किन्तु लौटकर अपने आश्रय को ही पकड़ती है। इसीलिये मूल श्लोक में कहा गया है कि घातक<sup>४</sup> अपने पापों से नष्ट होता है। मृत्यु भी अपना आश्रय, यदि अत्यन्त दुष्ट होता है तो उसमें नहीं ठहरती है। इस कारण से भी मृत्यु ने अपने आश्रय (तृणावर्त) का भक्षण किया। अतः



शुकदेवजी ने तृणावर्त के लिये 'खलः' विशेषण दिया । 'खल' विशेषण देकर शुकदेवजी ने यह बताया कि जगत् में सब से अधिक दुष्ट खल<sup>१</sup> ही है । खल से विशेष कोई दुष्ट नहीं होता है ।

विषय<sup>२</sup> में (तृणावर्त ने मारने के लिये मृत्यु की प्रेरणा की थी) इस प्रकरण में कहते हैं कि जिसको मारने के लिये मृत्यु को भेजा था वह निष्पाप था । उसके लिये शुकदेवजी ने 'साधु' विशेषण दिया है । साधु सब शत्रु मित्र आदि में समदृष्टि वाले होते हैं इससे वह भय से छूट जाता है अर्थात् उसको कोई भयभीत नहीं कर सकता है । निष्पाप तो ब्रह्म ही है । उस (ब्रह्म) के भी बहुत रूप हैं; उन रूपों में भी जो 'समरूप' है वह सर्व दोष विमुक्त है जैसा कि कहा है कि 'निर्दोषं हि समं ब्रह्म' सम ब्रह्म निर्दोष है जो सब में समदृष्टि रखता है । वह निर्दोष होने से किसी से भी नहीं मारा जाता है । जो साधु है वह समदृष्टि वाला ही होता है । अतः यह बालक भी समदृष्टि साधु है इससे यह साधु समान दृष्टि होने से उपस्थित (आए हुए) भय से विशेष रूप से छूट जाता है । वहाँ जो ज्ञान में निष्ठ वाले थे, उन्होंने यह निर्णय किया कि इस बालक में जो भगवत्पद दिखता है, वह साधनों से हुआ है न कि अकृत्रिम<sup>३</sup> है ॥ ३३ ॥

**आभास — कर्मनिष्ठानां निर्णयमाह ।**

आभासार्थ — ३३वें श्लोक में ज्ञाननिष्ठों का निर्णय बताकर इस ३४वें श्लोक में कर्मनिष्ठ वालों ने जो निर्णय किया उसका वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः — किं नस्तपश्चीर्णमधोक्षजार्चनं पूर्तेष्टदत्तमुत भूतसौहृदम् ।**

**यत् सम्परेतः पुनरेव बालको दिष्ट्या स्वबन्धून् प्रणयन्नुपस्थितः ॥ ३४ ॥**

**श्लोकार्थ —** हम लोगों ने तपस्या, भगवत्पूजा, पूर्त,<sup>४</sup> इष्ट,<sup>५</sup> दान<sup>६</sup> और जीवों पर दया ऐसा जो कुछ किया है, उसके प्रभाव से वह बालक मृत्यु-मुख में जाकर भी फिर अपने बान्धवों के नाम को सर्व लोक में अमर यशस्वी करने के लिए आ गया है, तदर्थ बधाई है ।

१—नीच निर्दयी ।

२—प्रसंग ।

३—स्वाभाविक, या बेवनावटी

४—कुआ वापी (बावड़ी) खुदवाना ।

५—पञ्चयज्ञ, अग्निहोत्रादि करना ।

६—तुलापुरुषादि दानादि ।

सुबोधिनी - किं नस्तपश्चीर्णमिति, पूर्वजन्मन्यस्माभिः सर्वैरेव किञ्चित् तपश्चीर्णं येन तपसैतादृशो बालको निधिरूपोऽस्माकं स्थाने तिष्ठति, एवं राजसानां सिद्धान्तः, सात्त्विकानामाहाधोक्षजार्चनमिति, न हि तपसालौकिकं प्राप्यते, अयं च बालको लोकोत्तरोऽयं विष्णुप्रसादादेव प्राप्यते, विष्णुश्च पूजितः प्रसन्नो भवति, तत्रापि साधारणरूपेण पूजितः साधारणमेव फलं प्रयच्छति, अस्माभिस्त्वलौकिकप्रकारेण पूजितस्तदाहाधोक्षजेति, अधोक्षजं ज्ञानं यस्मात् शास्त्रदृष्ट्या शोधितैरर्चनं नेन्द्रियबलकार्यं, तामसानां निर्णयमाह पूर्तेष्टदत्तमिति, पूर्तं खातादि, इष्टं यागादि, दत्तं तुलापुरुषदानादि, लौकिकप्रकार एते, अतिबहिर्मुखानामेष

निर्णयः, अन्तर्मुखानामाहोत भूतसौहृदमिति, सर्वेषु भूतेषु भगवानस्तीति तेषु दानमानादिभिः सौहृदं कर्तव्यं तत् केवलं ज्ञानमार्गे प्रविशति तद्व्यावृत्त्यर्थमुत्तेत्युक्तं, भूतसौहृदमपि पूर्वोक्तेन सह लोकवत् सर्वाप्येव कर्माणि कुर्वन् लोकसौहृदमपि करोति तस्येदं फलमित्यन्तर्मुखानां कर्मिणां सिद्धान्तः, एवं कल्पमायां हेतुमाह यदिति, कर्मिणां लौकिकत्वादमङ्गलवचनं लोकोक्त्या न निन्दितं, पुनरेव पूर्ववत्, बालकोऽपि दिष्ट्या स्वभागेनापि स्वगृहे स्वबन्धून् स्वस्य पित्रादीन् प्रकर्षेण नयन् सर्वलोकप्रसिद्धान् कुर्वन् उपस्थित इति यत् ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ - पहले, कर्म में निष्ठावाले राजसों का निर्णय बताते हैं। राजस कर्मों कहते हैं कि हम लोगों ने पूर्व जन्म में कुछ तपस्या की है। जिससे इस प्रकार का निधि-रूप बालक हमारे घर में रहता है। अब सात्त्विक कर्मनिष्ठों के विचार प्रकट करते हैं। सात्त्विक कहते हैं कि हमने अधोक्षज भगवान् का पूजन किया है जिससे यह अलौकिक बालक मिला है। ऐसा अलौकिक बालक तपस्या से नहीं मिलता है; किन्तु जब भगवान् प्रसन्न होकर कृपा करते हैं, तब प्राप्त होता है। विष्णु, पूजित होने पर प्रसन्न होते हैं। उसमें भी साधारण रूप से पूजित हुआ साधारण फल देता है। हम लोगों ने तो अलौकिक प्रकार से पूजन किया है। इसलिये शुकदेवजी ने मूल श्लोक में 'अधोक्षजार्चन' पद दिया है। जो इन्द्रियों के ज्ञान से नहीं जाना जाता है। उस अलौकिक परमात्मा का हम लोगों ने अर्चन किया है। शास्त्र-दृष्टि पवित्र होने पर, अलौकिक हुई इन्द्रियों से जो पूजन होता है, वह पूजन है। भगवान् का पूजन लौकिक इन्द्रियों के बल से होता है। वहाँ इन्द्रियों के बल का कार्य नहीं अर्थात् इन्द्रिय बल वहाँ काम नहीं देता है।

अब तामसी कर्मनिष्ठों के निर्णय को कहते हैं कि तामसी कर्मनिष्ठ दो प्रकार के हैं - एक बहिर्मुख (जो भगवत्पूजन वा भगवान् हैं, इन दो बातों को नहीं मानते हैं)। दूसरे अन्तर्मुख (जो प्रतिमा पूजन आदि नहीं मानते हैं, केवल पूर्त,<sup>१</sup> इष्ट,<sup>२</sup> दान<sup>३</sup> करना मानते हैं) हैं। किन्तु सर्वभूत स्थित भगवान् को समझकर भूतों पर दया करते हैं उनकी सेवा करते हैं। पूर्त<sup>१</sup> इष्ट<sup>२</sup> दान<sup>३</sup> ये लौकिक प्रकार हैं जो अत्यन्त बहिर्मुख हैं उनका यह निर्णय है। अब अन्तर्मुखों का निर्णय कहते हैं कि सकल प्राणिमात्र से सौहार्द करना, कारण कि सब भूतों में भगवान् हैं इसलिये दान मानादि से, उनसे सौहार्द प्रकट करना अर्थात् भूतमात्र पर दया करनी। वह (भूतदयादि) तो ज्ञान मार्गियों के सिद्धान्त में प्रवेश न हो, इसलिये श्लोक में 'उत' दिया है जिसका अर्थ है 'या तो' अर्थात्

यह कथन विकल्प से कहा है । अर्थात् कर्म-मार्गी, लोक के समान पूर्त<sup>१</sup> इष्ट<sup>२</sup> दानादि<sup>३</sup> सर्व कर्मों के साथ यह भूत सौहृद किये हैं उनका यह फल है ।

इस प्रकार की कल्पना में हेतु (कारण) कहते हैं कि कर्मों (कर्म के सिद्धांत मानने वाले) लौकिक होते हैं इसलिये अमंगल वचन (भगवान् के लिये कहे हुए असभ्य वचन) लोकोक्ति होने से लोक में निन्दित नहीं माने जाते हैं फिर भी पूर्व के समान, स्वभाग्य<sup>४</sup> से बालक अपने घर में पिता आदि अपने बान्धवों को सर्वलोक में प्रसिद्ध<sup>५</sup> करता हुआ आकर उपस्थित हुआ । यह भी बघाई है ॥ ३४ ॥

**आभास —** एवं सर्वेषां निर्णय उक्तः नन्दस्तूत्पातसम्भवे हेत्वन्तरं ज्ञातवान् नान्य इति विशेषमाह दृष्ट्वेति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार ज्ञाननिष्ठ तथा सात्त्विक, राजस और तामस (बहिर्मुख एवं अन्तर्मुख) कर्मनिष्ठों का निर्णय कहकर अब नन्दरायजी ने उत्पातों का कारण जिस अन्य प्रकार से\* समझा था वह दूसरों ने नहीं जाना था, जिसका वर्णन श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः —** दृष्ट्वाद्भुतानि बहुशो नन्दगोपो बृहद्वने ।

वसुदेववचो भूयो मानयामास विस्मितः ॥ ३५ ॥

**श्लोकार्थ —** बृहद्वन में नन्दगोप अनेक अद्भुत कर्म देख कर वसुदेवजी के वाक्यों की सत्यता मानने लगे एवं विस्मय में पड़ गये ।

**सुबोधिनी —** बहुशोद्भुतानि दृष्ट्वा वसुदेववचो | एवैतज्जायत इति भूयो वसुदेववचो मानयामास, स हि मानयामासेतिसम्बन्धः, पूतनाशकटतृणावर्तस्त्रयः प्रसिद्धाः, अन्येष्वेवंविधाः शतशः, सर्वाण्येवादभुतानि ज्ञान एव महत्त्वं मन्यते न तु क्रियायां, भावार्थस्यैव तादृशत्वात्, रसान्तर्विस्मारकाणि, नन्दगोप इति सम्पूर्णं नाम किमाश्चर्यं यद्यत्यलौकिकं स्यात् पूर्वं कैरपि न ज्ञायते ज्योतिःशालादौ न प्रसिद्धमिति तस्य ज्ञानमेव स्मृत्वा ज्ञानक्रियासमन्वितमनाश्चर्यं हेतुः परमैश्वर्यपरिज्ञानात्, बृहद्वन विस्मितश्च जातः ॥ ३५ ॥

**व्याख्यानार्थ —** अनेक अद्भुत घटनाएँ देखकर नन्दजी वसुदेवजी के वाक्य सत्य मानने लगे । इन अद्भुतकार्य करने वालों में, पूतना, शकट और तृणावर्त तीन मुख्य एवं प्रसिद्ध थे । दूसरे भी इस प्रकार के सैकड़ों थे । इन अद्भुत कार्यों से जो रस प्रकट हुआ, उसने अन्य रसों को

\* कंस की प्रेरणा से ये उत्पात होते हैं — लेख ।

१—कुआ वापी (बावड़ी) खुदवाना । २—पञ्चयज्ञ, अग्नि होत्रादि करना । ३—तृतापुरुषादि दानादि ।

४—अपने भाग्य ।

५—यशस्वी

भूला दिया था । शुकदेवजी ने नन्दरायजी का 'नन्दगोप' नाम देकर यह भाव बताये हैं कि नन्दरायजी में ज्ञान एवं क्रिया दोनों शक्तियाँ हैं । ज्ञान शक्ति होने से भगवान के परमेश्वर्य का ज्ञान था इसलिये नन्दरायजी को आश्चर्य न हुआ । यह सर्व बृहद्वन में ही होता है, इससे वसुदेवजी के वाक्यों को फिर सत्य प्रमाण रूप मानने लगे । नन्दरायजी ज्ञान को ही महत्व देते थे, न कि क्रिया को । भविष्य में होने वाले कार्य भी (जैसे वसुदेवजी ने कहे थे) वैसे होंगे इसमें क्या आश्चर्य है, क्योंकि वसुदेवजी का ज्ञान अलौकिक था । वसुदेवजी के कहने से पूर्व किसी को ज्ञान न था । ज्योतिः शास्त्र में भी प्रसिद्ध नहीं है । यों वसुदेवजी का ज्ञान अलौकिक है इसको स्मरण करते हुए विस्मित हुए ॥ ३५ ॥

कारिका — भक्तिज्ञानं तथा पूर्ण विस्मयश्च ततः परम् ।

जातो लौकिकभावस्य दृढत्वादिति रूप्यते ॥ १ ॥

करिकार्थ — भक्ति, ज्ञान, पूर्ण ज्ञान और उसके बाद लौकिक भाव दृढ होने से विस्मय हुआ । इसका वर्णन क्रम पूर्वक चार श्लोकों में करते हैं - जैसे कि ३६ वें श्लोक में भक्ति का ३७ वें श्लोक में ज्ञान का, ३८ वें श्लोक में पूर्णज्ञान का और ३९ वें श्लोक में विस्मय का वर्णन है ।

आभास — एवमेकमुपाख्यानं पञ्चानां मध्ये निरूपितं, द्वितीयमाहैकदेतिचतुर्भिः ।

आभासार्थ — पाँचों में से इस प्रकार एक उपाख्यान कहा । अब ३६, ३७, ३८, ३९ इन चार श्लोकों से दूसरा उपाख्यान कहते हैं ।

श्लोकः — एकदार्भकमादाय स्वांकमारोप्य भामिनी ।

प्रसूतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ — एक दिन स्नेह से भरपूर यशोदा बालक को ले अपनी गोदी में बिठा कर, दूध टपकने वाले स्तन से दूध पिलाने लगी ।

सुबोधिनी — आदौ स्वतन्त्रा पूतना निवर्तिता ततः पस्तन्त्रोपि शकटस्ततः सर्वमारकः, हेत्वन्तरं च न प्रदर्शितं, तथाप्यसम्भावनाया दृढत्वान्न दृढा भगवत्या-सक्तिर्भविष्यतीत्यसम्भावनानिवृत्त्यर्थं स्वस्मिन् भगवत्येव तादृशं रूपं प्रदर्शितवान् स्वधर्मनिष्ठधर्मपरिज्ञाने भक्तिरेव हेतुरिति

प्रथमतो भक्तिमाह, एकदा गृहकार्यादिवैयग्राभाव-दशायां भगवदेकप्रवर्णचित्तदशायां वा, अर्भकं बालकं कलवाक्यं वर्षाधिकं आदाय क्रीडन्तं बलात् स्वयं गृहीत्वा, स्वस्याह केसमारोप्यसर्वोत्तममासनं दत्त्वा भामिनी परमसौभाग्यवती, सखाभरणभूषितं च विधाय, भामिनी भामयुक्ता च, तेन

भगिन्या अपि सौभाग्यं द्योतितं, एवं परम्परासौभाग्यवती स्वतः कर्मवशाच्चोत्तमा, प्रकर्षेण स्नुतं स्नेहवशान्निर्गतं स्नेहेन च परिप्लुतान्तर्बहिर्व्याप्ता जातस्नेह कार्या च स्तनं पाययामास, 'प्रयतात्म्य' त्वं भामिनीपदेनोक्तं, प्रशब्देन 'भक्तयुपहृत' त्वमुक्त, स्नेहपरिप्लवाद् भक्तयादानमुक्तं, अन्तः स्थितबालानामल्पतृप्तत्वात् स्वतोपानं, अपेक्षाया अपि

विद्यमानत्वादन्यप्रेरणया पानं, अत एव भगवतो न सर्वपानं अधिकपाने बालानामुपद्रवो भवतीति प्रयोजककर्तुं व्यापारनिवृत्त्यर्थं भक्तिप्रवर्णां कृत्वा स्वधर्मं दर्शितवान् "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" इतिन्यायेन भक्तयुद्धतत्तद्धर्मं गृहीत्वा कृपया फलरूपं स्वधर्मज्ञानं सम्पादयति ॥ ३६ ॥

**व्याख्यार्थ —** पहले स्वतन्त्र पूतना का वध किया, तदन्तर परतन्त्र भी उस शक्ति को तोड़ डाला, उसके बाद सर्व नाशक तृणावर्त का नाश किया। इन तीनों का नाश करने में कोई दूसरा कारण नहीं दिखा है। इतनी अद्भूत लीलाओं को देखकर भी जो असम्भावना दोष नष्ट नहीं होगा, तब तक भगवान् में दृढ आसक्ति नहीं होगी। अतः असम्भावना दोष का निवारण करने के लिये भगवान् ने अपने में ही ऐसे रूप दिखाने की लीला की, जिससे उस दोष का नाश हो जाए। अपने धर्म अर्थात् भगवद्धर्म का ज्ञान भक्ति से ही होता है। इसलिये पहले इस श्लोक में भक्ति का वर्णन करते हैं। एक दिन यशोदा जब गृह-कार्य से निवृत्त हो गई थी और उसका भगवान् में ही चित्त लगा हुआ था तब मीठी बोली बोलने वाले एक वर्ष से कुछ अधिक उमर वाले खेलते हुए बालकृष्ण को उसने बल से स्वयं पकड़ के अपनी कोमल गोदी में जो सर्वोत्तम आसन था बिठा लिया। श्लोक में यशोदा नाम न देकर, 'भामिनी' कहा है, उसका भावार्थ आचार्यश्री बताते हैं कि यशोदा परम सौभाग्यवती थी इसलिये शुकदेवजी ने उसके परम सौभाग्य को प्रकट करने के लिये इस शब्द का प्रयोग किया है। वह स्त्री, परम सौभाग्यवती कहलाती है, जिसकी सब बातें पति माने। नन्दरायजी यशोदा की सब बातें मानते थे। अतः यशोदा को परम सौभाग्यवती कहा गया है। वह सब प्रकार के आभूषण पहने हुए थी और बहनोई वाली थी जिससे उसके बहिन होने का सौभाग्य भी दिखाया गया है। इस प्रकार परम्परा से (सब प्रकार से) भाग्यवती थी और कर्मों से भी उत्तम थी। स्नेह के कारण विशेष प्रकार से दूध टपकने लगा। इससे यशोदा प्रेम परिप्लुत<sup>१</sup> हो गई। स्नेह का कार्य पूर्ण होने से अर्थात् स्तन से दूध स्रवित होने से स्तन पिलाने लगी। 'भामिनी' पद देने का यह भी आशय है कि यशोदा में प्रयतात्मत्व<sup>२</sup> भी था अर्थात् यशोदा संयम वाली थी 'प्र' शब्द से 'भक्तिमती' कहा। स्नेह परिप्लु होने से भक्ति से भगवान् को स्तन दिया। यद्यपि भगवान् के अन्तःस्थित बालक पूर्ण तृप्त न हुए थे एवं भगवान् स्वतः पान करते न थे। बालकों को तृप्त कराने के लिये दूध की अपेक्षा भी थी तथापि अन्य की प्रेरणा से पान किया अतः भगवान् ने सब दूध का पान नहीं किया क्योंकि अधिक पान करने से अन्तःस्थित बालकों को कष्ट होता। प्रयोजकर्ता यशोदाने जो

व्यापार<sup>१</sup> प्रारम्भ किया था, उससे यशोदा की निवृत्ति करने के लिये और उसे भक्ति में मान करने के लिये\* भगवान् ने स्वधर्म<sup>२</sup> दिखाया। गीता में कहे हुए इस न्याय से कि जो जैसे मेरी शरण में आते हैं वा मुझे भजते हैं मैं भी उनसे वैसे ही प्रकार से वर्तता हूँ। भक्ति से प्रकट, यशोदा के धर्म<sup>३</sup> को ग्रहण कर, आप भी यशोदा की कृपा से फलरूप स्वधर्म<sup>२</sup> (स्व स्वरूप) का ज्ञान प्राप्त करते हैं। अर्थात् असंभावना दोष निवृत्त्यर्थ एवं अपने में दृढ आसक्ति करने के लिये अपने भगवत्त्व धर्म 'मैं भगवान् हूँ और मुझ में सब कुछ करने की सामर्थ्य है। इसलिये मैं जो लीलाएँ करता हूँ उसमें विस्मय या संशय नहीं करना चाहिये' का ज्ञान यशोदा माता को प्राप्त करते हैं ॥ ३६ ॥

**आभास —** अतो दानाभिनिवेशं परित्यज्य कौतुकाभिनिविष्टा भगवद्धर्मपरा प्रदर्शितं धर्मं दृष्टवतीत्याह पीतप्रायस्येति ।

**आभासार्थ —** स्तन-पानरूप दान का आग्रह छोड़, कौतुकाविष्ट (आश्चर्य में पड़ी हुई) यशोदा भगवान् के धर्म परायण हो, जो भगवान् ने जृम्भा<sup>३</sup> लेते हुए अपना धर्म प्रकट किया, उसको देखने लगी जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक: —** पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मितम् ।

मुखं लालयती राजन् जृम्भतो ददृशेत्विदम् ॥ ३७ ॥

**श्लोकार्थ —** थोड़ासा स्तन पान किये हुए उस (बालकृष्ण) के सुन्दर हास्य वाले मुख को यशोदा प्यार से लडाती थी, हे राजन् ! उस समय जो बालक ने जम्भाई ली तो यशोदा ने उसके मुख में यह जगत्, जो निम्न श्लोक में स्पष्ट करेंगे, देखा ।

**सुबोधिनी —** सर्वात्मना भगवता न पीतमेव, आपततः पीतं, तथाकरणे हेतुर्जननीति हेतुर्जननीति, जननबुद्धिः स्वेनैवोत्पादितेति भगवच्चरित्रं, सा पूर्वोक्तभक्तियुक्ता, कार्यार्थ भक्तेः पुनरनुसन्धानं कार्यदशायां सद्भावज्ञापनाय, तस्येति निरोधार्थमागतस्य, रुचिरं स्मितं यस्य मुखस्य, मोहसहितं स्नेहं जनयतीति परमसौन्दर्यं भावयन्ती तादृशं मुखं लालयन्ती जाता, राजन्नितिसम्बोधनं राजलीलायामस्यानुभवः सिद्ध इत्यग्रे

वक्ष्यमाणस्यापूर्वत्वात् सावधानतया स्थातव्यमिति ज्ञापनार्थं, अग्निवायु ज्ञानक्रियारूपे ते यशोदायां योजयितुं जृम्भा भगवतः, अन्यथा द्रष्टुं सा न शक्नुयात्, भिन्नं जगत् मायिकं वा तत्र दृष्टवतीति पक्षं व्यावर्तयितुं तु शब्दः, इदं जगज्जृम्भतो भगवतोऽयान्मुखद्वारा भगवति ददृशे, इदं ब्रह्माण्डमात्रस्यैव प्रदर्शनं, अग्रे साम्यगधिकारे सिद्धे सर्वस्यापि प्रदर्शनं वक्ष्यति ॥ ३७ ॥

\* लालूभट्टजी कहते हैं कि भक्ति परायण का भाव है कि यशोदा को शुद्ध पुष्टि भक्तिरूप मुखारविन्द के दर्शन में तत्पर किया ।

व्याख्यानार्थ — भगवान् ने पूर्णतया स्तन-पान नहीं किया, किन्तु थोड़ासा पिया, क्योंकि जननी है। यशोदा में जो यह भाव था कि इसको मैंने ही उत्पन्न किया है, इसलिये यह मेरा पुत्र है, इसलिये स्तन-पान से इसको तृप्त करूँ। यशोदा में यह भाव, भगवान् ने ही पैदा किया था इसलिये यह भी भगवच्चरित्र है। यशोदा में माता का भाव है। यशोदा के इस मातृ-भाव को स्थिर करने के लिये, थोड़ा सा स्तन पान किया था, नहीं तो, भगवान् तो न खाते हैं और न पीते हैं एवं अन्तःस्थित बालकों को भी भूख नहीं थी, अतः केवल माता की प्रसन्नता के लिये थोड़ासा स्तन पान किया। वह यशोदा पूर्व श्लोक में कही गयी भक्ति वाली थी। कार्य के लिये, कार्य दशा में, सद्भावना दिखाने के अर्थ, फिर अनुसन्धान<sup>१</sup> किया गया है। पुनः कार्य दशा में भक्ति का अनुसन्धान किस लिये किया जा रहा है। वहाँ कहते हैं कि उसके लिये (जो निरोध करने के लिये ही प्रकट हुआ है) निरोधार्थ प्रकटित का मुख मधुर मनोहर मुसकान वाला है और वह मुसकान मोह सहित, स्नेह पैदा करने वाली थी। जिससे यशोदा उस मुख में परम सौन्दर्य का अनुभव करती हुई, उसको लड़ाने<sup>२</sup> लगी। यहाँ परीक्षित को 'राजन्' संबोधन इसलिये किया है कि आप सावधान हो जाओ क्योंकि यद्यपि रागलीला में इसका (मुख के लाड लड़ाने का) अनुभव हुआ ही है। आगे जो कहा जाएगा, वह अपूर्व<sup>३</sup> होगा। भगवान् को अपने मुख में, यशोदा को 'जगत्' दिखाना था, इसे देखने के योग्य, यशोदा तब हो, जब उसमें ज्ञान और क्रिया शक्ति विद्यमान हो। इसलिये भगवान् ने पहले जंभाई ली, जिससे भगवान् के मुख में से, उत्पन्न उष्णता रूप अग्नि एवं, वायु का प्रवेश भगवान् ने यशोदा में कराया। भगवान् की उष्णता, अग्नि प्रकाश रूप होने से, ज्ञान शक्ति थी एवं वायु क्रिया रूप थी। इन दोनों ज्ञान एवं क्रिया रूप शक्ति का, यशोदा में प्रवेश होने से, वह भगवान् के मुखारविन्द में बगत् (किसका वर्णन निम्न श्लोक में होगा) देख सकी। यदि भगवान्, इस प्रकार जंभाई ले, ज्ञान और क्रिया शक्ति यशोदा में प्रविष्ट न करते तो यशोदा मुख में जगत् नहीं देख सकती थी। श्लोक में दिया हुआ 'तु' शब्द क्यों दिया है। उसका स्वारस्य<sup>४</sup> प्रकट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि शुकदेवजी ने 'तु' शब्द इसलिये दिया है कि किसी को यह भ्रम नहीं करना चाहिये कि यशोदा ने भगवान् के मुख में जो 'जगत्' देखा वह मायिक<sup>५</sup> अथवा दूसरा (भगवान् के बनाये हुए इस प्रत्यक्ष जगत् से कोई दूसरा) जगत् था। यह सामने दीखता हुआ जगत्, जम्भाई लेने वाले भगवान् से उसके मुख द्वारा भगवान् में देखा। इस समय तो केवल ब्रह्माण्ड का प्रदर्शन कराया क्योंकि यशोदा का अभी इतना ही अधिकार था। जब पूर्ण अधिकारिणी होगी तब सबके दर्शन का वर्णन करेंगे

— ३३ ॥

१—अनुसन्धान।

२—प्यार करने।

३—नवीन, नया।

४—स्वर का आश्रय।

५—माया से बनाया हुआ, बनावटी।

**आभास —** "द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दा" दित्यधिकरणे प्रपञ्चाधारत्वे ब्रह्मत्वं सिद्धं तदचिन्त्यानन्तशक्तिमति सर्व सम्भविष्यतीत्याश्चर्यं विहाय भगवत्परं चित्तं भवति, तत्र दृष्टं भ्रमव्यावृत्त्यर्थं गणयति खमिति ।

**आभासार्थ —** 'द्युभ्वाद्यायतनं स्व शब्दात्' इस ब्रह्मसूत्र से जगत् का आधार ब्रह्म है अतः जगत् भी ब्रह्मातिरिक्त कोई दूसरी वस्तु नहीं है । ब्रह्म अचिन्त्य शक्तिमान है । वह सब कुछ हो सकता है एवं कर सकता है । इसलिये भगवल्लीला में कोई आश्चर्य नहीं । यों समझ भगवत्परायण चित्त वाली होकर, यशोदा ने जो कुछ देखा वह भ्रम नहीं था, इससे एक-एक वस्तु का नाम लेकर इस श्लोक में वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः —** खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः सूर्येन्दुवह्निःश्वसनाम्बुधीश्च ।

द्वीपात्रगांस्तद्दुहितृर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि ॥ ३८ ॥

**श्लोकार्थ —** आकाश, स्वर्ग, पृथ्वी, तारामण्डल, दिशा, सूर्य, चन्द्रमा, अग्नि<sup>१</sup>, वायु, समुद्र, द्वीप, पर्वत इनकी पुत्रियाँ (नदियाँ) वन, स्थावर<sup>२</sup> जङ्गम<sup>३</sup> सब प्रकार के जीव देखे ।

**सुबोधिनी —** आदी खमाकाशं विस्तीर्णं, ततो रोदसी द्यावापृथिव्यौ तत् तु तदाधारं तथा ज्योतिरनीकं ज्योतिश्चक्रं द्यावापृथिव्याधारं, दश दिशस्तत एव विभक्ताः, सूर्येन्दुवह्नयस्त्रिविधं ज्योतिः, श्वसनो वायुः, अम्बुधयः समुद्राः, भूम्याकाशावुक्तावेव, एवं पञ्चभूतान्युक्तानि, भूमिभेदा द्वीपादयोर्लौकिकज्ञानार्थं सप्तद्वीपाः, नगाः

पर्वतास्तद्व्यावर्तकास्तदवान्तरज्ञानहेतवः, तद्दुहितरे नद्यः, वनानि तदावान्तरभेदो अल्पीयांसोपि, ततोपि सूक्ष्मा दृष्टा इत्याह भूतानीति, यानि प्रसिद्धान्यपि यथा कल्पवृक्षा यथा वा नारदादयो ब्रह्मादयो वा, आधाराधेयभावस्तु तस्या न प्रतीतोक्तस्माज्जृम्भानन्तरमेव सर्वं दृष्टम् ॥ ३८ ॥

**व्याख्यार्थ —** पहले विपुल<sup>४</sup> आकाश देखा । इसके अनन्तर, स्वर्ग और पृथ्वी देखीं । वह आकाश तो स्वर्ग एवं पृथ्वी का आधार<sup>\*</sup> है इस प्रकार स्वर्ग और पृथ्वी, तारामण्डल के आधार हैं । तारामण्डल के कारण दिशाएँ दश हुई हैं । सूर्य चन्द्रमा और अग्नि ये तीन प्रकार के प्रकाश हैं । वायु, समुद्र (जल) पृथ्वी आकाश ऊपर कहे हुए ही हैं इस प्रकार पांच भूत बताए । द्वीपादि<sup>५</sup>

\* गो. श्री पुरुषोत्तमजी कहते हैं कि आकाश, स्वर्ग पृथ्वी का आधार इसलिये कहा गया है कि जो आकाश में अवकाश खोखलापन (पोल, खाली स्थान) है अतः इस पोल में स्वर्ग- पृथ्वी रह सकते हैं, नहीं तो कहाँ रहते जिससे आकाश, स्वर्ग एवं पृथ्वी का आधार है । —'प्रकाश'



भूमि के ही भाग हैं। अलौकिकता जताने के लिये सात द्वीप कहे हैं। द्वीपों की सीमा करने वाले तथा उनके भीतरी पदार्थों का ज्ञान करने वाले 'पर्वत' और उनकी पुत्रियाँ (नदियाँ), बनों और पर्वतों के कारण छोटे-छोटे बन ही बन देखे और उससे भी छोटे-छोटे पदार्थ देखे। उनका वर्णन करते हुए कहते हैं कि भूतमात्र देखे और जो प्रसिद्ध पदार्थादि थे वे भी देखे जैसे कल्पवृक्ष, नारदादि तथा ब्रह्मादि देखे। यशोदा को इस समग्र दृश्य जगत् के आधारधेय की प्रतीति तो न हुई, अचानक भगवान् की जम्हाई के अनन्तर देखे ॥ ३८ ॥

**आभास —** अग्निषोमात्मकत्वाच्च जगतोद्यापि तस्यास्तथाधिकारो न जात इत्यधिकारार्थं प्रदर्श्य पुनर्नेत्रनिमीलने तत् तिरोहितं कृत्वा विस्मयाविष्टेव भगवता कृतेत्याह सा वीक्ष्येति।

**आभासार्थ —** जगत्, अग्नि एवं वायु रूप हैं। इस स्वरूप को समझने और देखने की अब तक यशोदा पूर्ण अधिकारिणी नहीं हुई है। भगवान् ने उस (यशोदा) को अधिकारिणी बनाने के लिये क्षणमात्र जगत् दिखाया। जगत् देखकर यशोदा ने ज्यों नेत्र बन्द किये, तो भगवान् ने जगत् को तिरोहित कर डाला, जिससे यशोदा विस्मित हो गई। इस प्रकार भगवान् ने यशोदा को विस्मित किया\* इसका वर्णन निम्न ३९ वें श्लोक में करते हैं।

**श्लोक: —** सा वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन् सञ्जातवेपथुः।

सम्मील्य मृगशावाक्षी नेत्रे आसीत् सुविस्मिता ॥ ३९ ॥

**श्लोकार्थ —** हे राजन्! मृग के बच्चे के समान नेत्र वाली, यशोदा ने अचानक विश्व को देख, कम्पायमान हो, आँखें बन्द कर लीं एवं यशोदा आश्चर्य मग्न हो गई।

**सुबोधिनी —** विश्वं तथा पूर्वं श्रुतिमिदानीं दृष्टं सहसा गमनादिकारणव्यतिरेकेणैव, न जानाति भगवता द्वयं सम्पादितमिति, "तस्माज्जङ्घ्यमानादग्निषोमौ निरक्रामता" मिति श्रुते; तिरोभावप्रस्तावात् सिद्धवत्कारेणोक्तं, सहसेत्यकस्मात्, तस्मिन् दृष्टे सम्यग् जातो वेपथूः कम्पो यस्यास्ततः समीचीनमेव विश्वमधिकाराभावाद् भयानकं जातं, ततो, नेत्रे सम्मील्य तत्र स्वभावो हेतुर्बलिष्ठ इति दृष्टान्तमिवाह

मृगशाववदक्षिणी यस्याः, मृग एव भीरुस्ततोपि शावो बालकः, सौन्दर्यं चाक्ष्णोर्निरूपितं भगवद्दर्शनयोग्यत्वाय, ततोन्तःकरणे विस्मय एवोत्पन्न इत्याह सुविस्मितासीदिति, सुतरां विस्मितासीत्, पूर्वं कार्यदर्शनापेक्षयापि कारणे दृष्टेधिको विस्मयो जात इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

\* प्रभुचरण यशोदा को विस्मित करने का आशय बताते हैं कि यद्यपि यशोदा का भाव पुत्र के कारण लौकिक था, फिर भी वह भगवान् में होने से अलौकिक हो था। उस अलौकिक भाव को दृढ़ करने के लिए, भगवान् को, यशोदा को अपने अलौकिकत्व धर्म दिखाने हैं - परन्तु एक साथ दिखाने से यशोदा स्नेह के कारण डर जावे, या उसके प्राण भी चले जाय, इसलिये धीरे-धीरे धर्म दिखाने हैं; जिससे यशोदा में धैर्य रहे। अब धैर्याभाव ही अनधिकार है, धैर्य आने से अधिकार होगा।

**व्याख्यानार्थ** — यशोदा ने विश्व है, यह केवल कानों से सुना था। आँखों से देखा नहीं था, वह विश्व जो सुना था, उस (विश्व) को आँखों से अब देखा। कैसे देखा? विश्व के सब स्थलों पर जाकर विश्व देखा वा अन्य प्रकार से देखा, इस शङ्का निवारण के लिये आचार्यश्री ने कहा है कि बिना गमन आदि क्रिया करने के (जाने फिरने आदि क्रिया करने के) वहाँ बैठे ही बैठे भगवान् के मुखारविन्द में समग्र विश्व देख लिया। किन्तु यशोदा यह न समझ सकी कि ये दोनों कार्य<sup>१</sup> भगवान् ने किये हैं। क्योंकि यशोदा (इस) अलौकिक (कार्य) को पूरी तरह समझने के योग्य नहीं हुई थी। भगवती श्रुति ने कहा है कि 'तस्माज्जञ्जुभ्यमानादग्नीषोमौ निरक्रामताम्' जम्भाई<sup>२</sup> खाते हुए अग्नि और सोम वृत्र के मुख से निकले<sup>३</sup>। इस विषय का स्पष्टीकरण विश्व को तिरोहित करने से भी यह बताया कि जगत् सिद्ध ही था। अचानक विश्व को देखने से यशोदा कम्पित हो गई। यद्यपि विश्व सुन्दर सत्य रूप था, तो भी अधिकार के अभाव के कारण यशोदा भयभीत होकर काँपने लगी। भय के कारण आँखें बन्द कर लीं। इतनी यशोदा क्यों भयभीत हुई, जबकि जो विश्व देखा, उसमें भयानक पदार्थ कोई नहीं था। वहाँ कहते हैं कि स्वभाव सब से बलवान् कारण है। यशोदा स्वभाव से डरपोक थी। उसकी सिद्धि करते हुए शुकदेवजी कहते हैं कि यशोदा के नेत्र मृग के बच्चे के समान थे अर्थात् जैसे मृग डरपोक होते हैं उनके बच्चे पिता से भी अधिक डरपोक होते हैं; वैसे ही यशोदा के नेत्रों से ज्ञात होता है कि यशोदा मृग के बच्चों के समान डरपोक स्वभाव वाली थी इसलिये वह डरकर काँपने लगी। आचार्यश्री (यशोदा की आँखें हरिण के बच्चे के समान थीं) शुकदेवजी के इस प्रकार नेत्रों की उपमा का दूसरा आशय कहते हैं कि इससे शुकदेवजी यह बताना चाहते हैं कि यशोदा के नेत्र भगवान् के दर्शन के योग्य हैं। उसके पश्चात् अन्तःकरण में अधिक विस्मय उत्पन्न हुआ। पहले कार्य (भगवान् को भारी) देखने से फिर कारण (भगवान् का भारीपन) तथा उनके भीतर विश्व का होना देखने से अधिक विस्मित हुई।

**कारिका —** पूतनासुपयःपाता बालःदुखनिवारकः ।

प्रपञ्चस्मृतिहन्ता च गोकुले रजते हरिः ॥ १ ॥

स्वासक्तयर्थं शकटभित् तृणावर्तविनाशकः ।

सामर्थ्यज्ञापनार्थाय विश्वाधारः प्रसीदतु ॥ २ ॥ ३९ ॥

१ — विश्व दर्शन, २—जम्भाई ये दो कार्य —'प्रकाश'

२ — अग्नि का और सोम (वायु)का प्रादुर्भाव ये दोनों कार्य —'लेख'

३ — इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि श्रुति में, जो जम्भाई लेते हुए वृत्र के मुख से 'अग्नि (प्राण वायु) और सोम (अपान वायु) निकले थे। ऐसा कहा है कि वे वृत्र की शक्ति से नहीं, किन्तु वृत्र में विराजमान भगवान् की शक्ति से उत्पन्न हुए थे। वहाँ तो स्वयं भगवान् ने जम्भाई ली, जिससे 'अग्नि-सोमात्मक' विश्व प्रकट हुआ है —'लेख'



॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

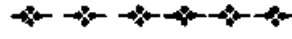
## ❖ श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य — विरचित — सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध)

### तामस-प्रकरण

प्रमाण अद्यान्तर प्रकरण



चतुर्थ अध्याय

दशमस्कन्धानुसार : अष्टमोऽध्याय



कारिका — येनैव तु चरित्रेण सत्त्वं शुध्यति सर्वथा ।

सर्वस्य मूलं यद्यस्मात् तदष्टम उदीर्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ — अन्तःकरण शोधक, सब साधनों से उत्तम (मूल) साधन, भगवान् के चरित्र हैं । अतः जिन चरित्रों से अन्तःकरण शुद्ध होता है, वे चरित्र इस अध्याय में कहे जाते हैं ।

व्याख्या — यद्यपि अगले कहे गए चरित्रों से अविद्या का नाश और भगवदासक्ति हुई है, तो भी, जब तक अन्तःकरण पूर्ण रूप से शुद्ध नहीं हुआ है । एवं अन्तःकरण में स्वल्प भी अविद्या का लेश रह गया हो, तो निरोध पूर्ण एवं परिपक्व नहीं होता है । इसलिये इस अध्याय में वे चरित्र वर्णित होंगे जिन से अन्तःकरण पूर्ण शुद्ध हो और अविद्या कार्य का रहा हुआ लेश भी नष्ट हो जाय ॥ १ ॥

कारिका — नामान्यग्रे शोधकानि ततो रू पाण्यनेकशः ।

ज्ञानं भक्तिश्च भाग्यं च पञ्चार्थाः सर्वशोधकाः ॥ २ ॥

कारिकार्थ — अन्तःकरण को शुद्ध करने वाले पांच पदार्थ हैं — १ - भगवान् के नाम, २ - तदनन्तर अनेक प्रकार के भगवान् के रूप, ३ - ज्ञान, ४ - भक्ति और ५ - भाग्य ।\*

कारिका — संस्कृतान्येव नामानि शोधकानीति संस्कृतिः ।

स्वेच्छालीलाविशिष्टं हि रू पमानन्दभावतः ॥ ३ ॥

कारिकार्थ — नामकरण संस्कार इसलिये किया जा रहा है कि नामों का जब संस्कार होता है, तब वे नाम शुद्ध करते हैं । भगवान् अपनी इच्छा से (न कि अन्य देवादिकों की इच्छा से, भूमिभारहरणादि कार्य के लिये जो रूप प्रकट करते हैं; क्यों

\*व्याख्या - देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और आत्मा इनकी पुष्टि करने से अविद्या के कार्य का नाश हो जाता है । इनके (देहादि के) शोधक पांच पदार्थ कहे गए हैं । १ - नाम, नाम स्मरण से (१०-७-२ के प्रमाणानुसार) अन्तःकरण शुद्ध होता है, २ - भगवान् के स्वरूप दर्शनादि से, इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं, शुद्ध हुई इन्द्रियाँ भगवत्स्वरूप एवं भगवल्लीलाओं में आसक्ति हो जाती हैं, ३ - ज्ञान - देहाध्यास<sup>१</sup> को नाश कर, देह को शुद्ध करता है और स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराता है, ४ - भक्ति - देह, प्राण और इन्द्रियों से प्रेम एवं आसक्ति को हटाकर वह प्रेम तथा आसक्ति भगवान् में करती है, ५ - भाग्य - पूर्व जन्म में किये हुए कर्म सब के मूल है अतः यदि पूर्व जन्म में सुकर्म किये गये हैं तो भाग्य श्रेष्ठ होने से आत्मा शुद्ध होती है, जिससे उसकी शुभ विचार एवं शुभ कार्य (भगवत्सेवा स्मरणादि) में रुचि होती है । यद्यपि पूर्व-जन्म कृत कर्म से भाग्य बनता है तो भी वह भाग्य फलीभूत तब होता है जब इस जन्म में गुरु की कृपा हो । गुरु की कृपा बिना ईश्वर की कृपा भी नहीं होती है — 'प्रकाश'

इस अध्याय में १ श्लोक से २१ श्लोक तक नाम प्रकरण है, २२ श्लोक से ३१ श्लोक तक भगवान् के रूपों का वर्णन है । भगवान् के नाम ग्रहण से जिनके हृदय शुद्ध होते हैं, उनको ही भगवत्दर्शन से हृदय शुद्धि का लाभ होता है । ३२ श्लोक से ४२ श्लोक तक 'मृत्प्रा भक्षण' लीला का वर्णन है, जिससे ज्ञान प्राप्ति होती है । इस ज्ञान प्राप्ति से अन्तःकरण शुद्ध होता है । ४३ श्लोक से ४५ श्लोक तक भक्ति का वर्णन है, ४६ से ५२ तक नन्दजी के भाग्य का निरूपण किया गया है । इस प्रकार इस अध्याय में पांच उपप्रकरण किये गए हैं । आध्यात्मिक रीति से भगवान् के नाम, रूप, ज्ञान, भक्ति तथा भाग्य ये पांच अन्तःकरण शोधक हैं ॥ २ ॥ — 'योजना'

१—देह को ही अपना स्वरूप समझना ।

कि वह रूप अंश कला वा व्यूहों का है) जो लीला करते हैं उस लीलार्थ जिस रूप को प्रकट करते हैं वह पूर्णानन्दरूप होने से, शुद्धि करने वाला होता है ।†

कारिका — अन्येच्छया कृतान्यत्र चरित्राणि ततोऽन्यथा ।

ज्ञानं प्रत्यक्षतो दृष्टं माहात्म्यज्ञानपूर्वकम् ॥ ४ ॥

कारिकार्थ — अन्य की इच्छा से किये हुए चरित्रों से इस अध्याय में किये हुए चरित्र अन्य प्रकार के हैं । भगवान् के माहात्म्य ज्ञान से, भगवत्स्वरूप का ज्ञान प्रत्यक्ष हो जाता है ।‡

कारिका — स्नेहश्चालौकिके तद्वद् हेतुश्च महतां कृपा ।

पूर्वस्मिन् हृदये सिद्धे स्वत एवाग्रिमं भवेत् ॥ ५ ॥

कारिकार्थ — भगवत्स्नेह भी उसी प्रकार, अन्तःकरण शोधक है । अन्तःकरण शोधक नाम, रूप, ज्ञान और भक्ति की प्राप्ति में महत्पुरुषों की कृपा का कारण है । चारों में से पहले (नाम) की हृदय में सिद्धि होने से, दूसरों की सिद्धि आप ही हो जाएगी ।§

†व्याख्या — अन्तःकरण को शुद्धि का कार्य मर्यादा मार्गीय है, इसलिये मर्यादा मार्ग में पुरोहित द्वारा उपदिष्ट संस्कृत (संस्कार किये हुए) नाम ही शोध कहलाते हैं ।\* और जब तक अन्तःकरण पूर्ण शुद्ध न हुआ हो तब तक भगवान् के रास सम्बन्धी लीलाओं वाले रूप की भावना नहीं करनी चाहिये, अन्तःकरण शोधक वह रूप है, जो अपनी इच्छा से को हुई लीला में प्रकट होता है, वह ही आनन्दमय होने से शोधक है ॥ ३ ॥ —टिप्पणी

‡व्याख्या — भगवान् आनन्द स्वरूप हैं, इसलिये भक्तों को भगवान् के सम्बन्ध से आनन्द ही प्राप्त होता है, इसलिये इस अध्याय में कहीं भी भक्तों को कुछ भी दुःख की प्राप्ति नहीं हुई है, क्यों कि, भगवान् जब स्वतन्त्र अपनी इच्छा से लीला करते हैं, तब भगवान् का रूप भक्तों को आनन्द देने वाला आनन्द रूप ही है; किन्तु जहाँ अन्य की इच्छा से (अधीन होकर) लीला करते हैं, उस समय भक्तों को कुछ दुःख भी होता है । इसलिये इस अध्याय में वर्णित चरित्र दूसरे प्रकार के हैं ॥ ४ ॥ —'टिप्पणी'

§व्याख्या — महापुरुषों की कृपा परम्परा से शुद्धि करती है । इसलिये महापुरुषों की कृपा भी ५वीं शोधक पदार्थ है । लेखकार ने यह आशय कारिका में दिये हुए (च) शब्द से बताया है । पहले नाम के श्रवण कीर्तनादि से भगवत्स्वरूप के दर्शन हो जाते हैं, स्वरूप दर्शन से माहात्म्य ज्ञान का प्रकाश हृदय में होता है, ज्ञान प्रकाश से भक्ति सिद्ध होती है । — 'लेख'

\* प्रभुचरण के कहने का स्वार्थ यह है कि पुष्टि मार्ग में भगवन्नामों के संस्कार की आवश्यकता नहीं है पुष्टि मार्ग में भगवन्नाम सहज संशोधक है । — अनुवादक

कारिका — तत्राङ्गं द्वितयं प्रोक्तं गुरुर्दुःसङ्गवर्जनम् ॥ ५३ ॥

कारिकार्थ — उसमें दो अङ्ग कहे हैं १—गुरु और २—दुःसंग त्याग ।

व्याख्यार्थ — नामकरण संस्कार उत्सव जो किया गया उसके दो अंग हैं (थे) । १ - पुरोहित गुरु गर्गाचार्यजी, जिन्होंने आकर संस्कार कराया और दूसरा दुःसंग त्याग अर्थात् संस्कार निर्विघ्न और शुद्धि पूर्वक सम्पूर्ण होकर आनन्ददायी हो, इसलिये दुष्टों (नास्तिक एवं शत्रु आदि) से छिपा के संस्कार करना चाहिये । जैसे गर्गाचार्यजी ने भगवान् का नामकरण संस्कार दुष्टबुद्धि कंस से छिपा कर किया था ॥ ५३ ॥

आभास — निरोधे भगवदासक्तिसिद्ध्यर्थमन्तःकरणशुद्ध्यर्थं च भगवतो नामकरणोत्सवमाह गर्ग इत्येकविंशत्या ।

आभासार्थ — निरोध में (दशम स्कन्ध में) भगवदासक्ति के सिद्ध्यर्थ और अन्तःकरण की शुद्धि के लिये २१ श्लोकों से भगवान् के नामकरणोत्सव का वर्णन करते हैं ।

श्रीशुकठवाच

श्लोकः —गर्गः पुरोहितो राजन् यदूनां सुमहातपाः ।

व्रजं जगाम नन्दस्य वसुदेवप्रचोदितः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! महातपस्वी और यदुवंशियों के पुरोहित गर्गाचार्यजी वसुदेवजी की प्रेरणा से नन्दजी के व्रज में गए ।

सुबोधिनी — चिरकालोत्पन्नोसंस्कृत एव तिष्ठत्विति स्वतो नामकरणं चिरकालातिक्रमश्च तथैवभगवत्प्रेरणात् कालस्य निमित्तत्वाभावात् कोपि दोषस्तज् ज्ञात्वा वसुदेवः स्वपुरोहितं प्रेषयामास क्षत्रियाणां पुरोधसैव संस्कारः क्रियन्त इति वसुदेवश्चात्मानमाधिदैविकवसुदेवं नन्दे स्थापितवान्, तेन बलभद्रभगवतोरविशेषेण पुत्रत्वज्ञानादिकं न दोषाय, भयनिवृत्त्यर्थं बोधनं चापेक्षितं प्रसङ्गात्, अन्यथा प्राकृतानामलौकिकबुद्धिरपि आधिकातो नाकरणहेतुभूतो गर्गः

समागत इत्याह गर्ग इति, राजत्रितिसम्बोधनं गुप्तचर्या राजपरिज्ञातेति ज्ञापनार्थं, यदूनां पुरोहितो वंशस्यैव स्वत एव हितकारी, तेनान्तःकरणशुद्धिरुक्ता, महानुभावत्वमाह सुमहातपा इति, सुमहत् तपो यस्य सः, अकस्मात् कार्यसिद्धिं मुहूर्तं ज्ञात्वा नन्दस्य व्रजं जगाम, अन्यत्र स्थितः शुको वदति, पितुराज्ञाव्यतिरेकेण पुत्रसंस्कारो न कर्तव्य इति तदर्थमाह वसुदेवेन प्रकर्षेण चोदितः प्रेरितः ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् की प्रेरणा से नन्दजी को यही विचार हुआ कि मुझे वृद्धावस्था में पुत्र हुआ है, इसलिये इसका संस्कार (नामकरण) न किया जाए । बिना नामकरण के ही रहें । यों

विचार कर नन्दरायजी ने बालक का नामकरण नहीं किया। बालक के नामकरण संस्कार का काल, अतिक्रमण<sup>१</sup> हो गया। वसुदेवजी ने जब यह जाना कि नन्दरायजी ने बालक का नामकरण संस्कार अब तक नहीं किया है, तब अपने पुरोहित गर्गाचार्यजी को, बालक के नाम संस्कार करने के लिये गोकुल में भेजा। यद्यपि संस्कार का काल बीत गया था, तो भी वसुदेवजी ने समझा कि भगवान् के नामकरण संस्कार में काल निमित्त नहीं है, इसलिये काल बीत जाने पर भी संस्कार करने में कोई दोष नहीं है। वसुदेवजी ने स्वयं न जाकर गर्गजी को इसलिये भेजा कि क्षत्रियों का संस्कार पुरोहित ही करते हैं। नन्दरायजी वसुदेवजी के पुत्रों (बलराम और कृष्ण) को अपने पुत्र समझते थे। यों समझ वह सर्व संस्कारादि कार्य पितृरूप से करावें तो उसमें नन्दरायजी को कोई दोष न लगे, इसलिये वसुदेवजी ने अपना आधिदैविक\* स्वरूप नन्दरायजी में स्थापित कर दिया। भय की निवृत्ति के लिये भी प्रसंगवश बोध<sup>२</sup> कराना अपेक्षित<sup>३</sup> था। कंस को यह ज्ञान था कि मेरा हन्ता<sup>४</sup> गोकुल में है। मैंने (वसुदेवने) कपट किया है कि बालक को गोकुल पहुंचा दिया है। इससे उत्पन्न भय को मिटाने के लिये गर्ग को नाम संस्कार करने के लिये भेजा। अर्थात् वहाँ नन्दरायजी के घर में 'नाम' करण संस्कार होगा तो कंस उस बालक को मेरा पुत्र नहीं समझेगा। इस प्रकार भयों की निवृत्ति हो जायगी और नन्दरायजी जो गांव के रहने वाले हैं उनको भी यह ज्ञान हो जाएगा कि मेरा पुत्र है। यदि नन्दजी उनको पुत्र न समझे और अलौकिक बालक समझे तो वह बुद्धि सुख (हर्ष) को बाधक करने वाली हो जाती अर्थात् दुःख देती। अतः भय निवृत्ति एवं पुत्रत्व बुद्धि स्थिर कराने के लिये वसुदेवजीने अपना आधिदैविक स्वरूप नन्दजी में स्थापित किया एवं गर्गाचार्यजी को भेजा। श्लोक में 'राजन्' कहने का भाव यह है कि राजाओं के सर्व कार्य गुप्त होते हैं, इसलिये यह संस्कार भी गुप्त रीति से किया। गर्गाचार्यजी यदुओं के समग्र वंश के पुरोहित हैं, अतः बिना कहे हुए वे यदुवंश का हित करने वाले हैं। इससे गर्गाचार्यजी के अन्तःकरण की शुद्धि भी कही गई है। गर्गजी की महानुभावता बताने के लिये कहा है कि गर्गजी महान् तपस्वी हैं। अचानक सुन्दर श्रेष्ठ मुहूर्त समझकर नन्दजी के व्रज में गए। 'गए' ऐसा क्यों कहा। व्रज में आए ऐसा कहना था। इस शंका परिहार<sup>५</sup> के लिये कहते हैं कि शुकदेवजी गोकुल से अन्यत्र बैठे कह रहे थे इसलिये 'गए' कहा। पुत्र का कोई भी संस्कार पिता की आज्ञा बिना नहीं होता है। इसलिये श्लोक में कहा है कि गर्गाचार्यजी वसुदेवजी की प्रेरणा से आए थे। यही पिता की आज्ञा थी ॥ १ ॥

**आभास —** आगतस्य पुरस्कारमाह तं दृष्ट्वेति ।

**आभासार्थ —** इस श्लोक में गर्गाचार्यजी के स्वागत सत्कार का वर्णन करते हैं ।

\* वसुदेवजी का आधिदैविक स्वरूप 'निगम' रूप है — 'प्रकाश'



श्लोक — तं दृष्ट्वा परमप्रीतः प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः ।

आनर्चाधोक्षजधिया प्रणिपातपुरःसरम् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ — उन (गर्गाचार्यजी) को देख कर अति प्रसन्न नन्दरायजी ने खड़े होकर, हाथ जोड़े और उनकी इन्द्रियातीत ब्रह्म की बुद्धि से (भगवान् समझ) साष्टांग दण्डवत् करते हुए पूजा की ।

सुबोधिनी — आकाङ्क्षितपदार्थदर्शनात् परमप्रीतिः, प्रत्युत्थानं धर्मनिष्ठताज्ञापनार्थं, कृताञ्जलिर्विनीतस्तेनान्तःकरणशुद्धिरूक्ता, अतिथिरयमित्यत्र भगवत्पूजां कृतवानित्याहानर्चेति, अतिथिबुद्ध्यादि पूज्येत हरिबुद्ध्याप्यतिथि “आतिथ्येन तु विप्राग्यं” इतिवाक्यात्,

तदाहाधोक्षजधियेति, चतुर्भुजं भगवन्तं ज्ञात्वानवर्चां कृतवान्, तत्रापि भक्तिमार्गानुसारेणेत्याह प्रणिपातपुरःसरमिति, प्रणिपातोपराधदूरीकरणं, तद् दासस्यैव नित्यसेवकस्य सम्भवति नान्यस्य ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ — मन में जिस वस्तु की चाह होती है, उसकी प्राप्ति पर अत्यन्त हर्ष होता है । गर्गाचार्यजी जैसे महान् तपस्वी के दर्शन होने से नन्दरायजी अत्यन्त प्रसन्न हुए । देखते ही उठकर खड़े हो गए, जिससे नन्दरायजी ने अपनी धर्म-निष्ठता बताई । 'हाथ जोड़े' इससे नम्रता बताई, जिससे नन्दरायजी का अन्तःकरण शुद्ध है यह भी जाना गया । यह अतिथि है इसलिये इनको भगवान् के समान समझ इनका पूजन किया । घर में आए हुए की अतिथिबुद्धि से एवं भगवदबुद्धि से पूजा करनी चाहिये । उत्तम विप्र की पूजा आतिथ्य से यह भी वाक्य है । किन्तु नन्दरायजी ने तो गर्गाचार्यजी का पूजन भगवान् समझ कर किया । 'अधोक्षज' शब्द का भावार्थ आचार्यश्री बताते हैं कि गर्गाचार्यजी को चतुर्भुज स्वरूप समझ पूजा । वह पूजा भक्तिमार्गानुसार की, पहले साष्टांग दण्डवत् की, जिससे सब अपराध दूर हो गए । नित्य सेवा करने वाले शरणागत दास के ही अपराध दूर (क्षमा) हो जाते हैं न कि दूसरों के अर्थात् जो सेवक नहीं है, उनके अपराध क्षमा नहीं होते हैं ॥ २ ॥

आभास — एतदेवपुरःसरमग्रे यथा भवति तथा प्रार्थनां वक्तुं किञ्चिदुक्तवानित्याह सूपविष्टमिति ।

आभासार्थ — यह अतिथि सत्कार जिस प्रकार आगे शेष रीति से पूर्ण हो वैसे नन्दजी ने प्रार्थना करने के लिये कुछ कहा जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — सूपविष्टं कृतातिथ्यं गिरा सूनृतया मुनिम् ।

नन्दयित्वाब्रवीद् ब्रह्मन् पूर्णस्य करवाम किम् ॥ ३ ॥

**श्लोकार्थ** — अतिथि सत्कार के अनन्तर, मार्ग की थकावट दूर होने से, सुख पूर्वक बैठे हुए, मुनि से अभिनन्दन पूर्वक मधुर वाणी से कहा कि हे ब्रह्मन् ! आप परिपूर्ण हो, आपके लिये हम क्या करें ?

**सुबोधिनी** — सुष्टु गमनक्लेशभावेन वैयग्रं परित्यज्योपविष्टं, स्वकृत्यमाह कृतमातिथ्यं यस्मै यस्मिन्निति वा, अतिथेर्हितं भोजनान्तं कर्म तद् गृहस्थकर्तव्यं, भक्तिमार्गानुसारेण पूजितत्वादस्मिन् स्नेहेधिके जाते गद्गदया वाण्याब्रवीत्, येन स सर्वमेव सामर्थ्यं विनियुज्ययात्, कापट्याभावायाह मुनिमिति, स हि सर्वज्ञस्तदैव सर्वं जानाति, अन्यत्र भगवद्बुद्ध्या स्तोत्रं क्रियमाणमारोपितविषयं भवतीति तन्निवृत्त्यर्थाह सूनृतयेति स्तोत्रेण, नन्दयित्वा सन्तुष्टं ज्ञात्वाब्रवीत्, ब्रह्मज्ञातिसम्बोधनं ब्राह्मणस्य तत्परमोत्कर्षख्यापनं, अयं ब्रह्मशब्दः परब्रह्मवाचक इति ख्यापयितुं पूर्णस्य करवाम किमित्याह, "बृहत्त्वाद बृंहणत्वाद् ब्रह्म" दश दिक्षु किर्मीरितमिह तादृशस्यान्यैः कर्तव्य उपकारे देशभावात् कृत्रिमस्य हीनत्वात् तत्रापि सदृशस्याज्ञानात् किं करवाम ? देहेन्द्रियान्तःकरणानां न्यूनत्वात् तत्रोपकारः कर्तुं शक्यते, ब्रह्मभूततदध्यासनिवृत्तेस्तत्र कृतं न प्रयोजनाय भवतीति ॥ ३ ॥

**व्याख्यार्थ** — मधुर से गोकुल जाने के क्लेश<sup>१</sup> मिट जाने पर अन्तःकरण की व्यग्रता<sup>२</sup> भी नष्ट हुई। तब आतिथ्य सत्कार किये हुए अर्थात् गृहस्थ का कर्तव्य - घर में आए हुए अतिथि की स्नानादि भोजन पर्यन्त सकल परिचर्या की गई थी। गर्गाचार्यजी को स्वस्थ होकर आनन्दपूर्वक विराजमान देख, नन्दजी के भक्तिमार्गानुसार पूजन करने से गर्गाचार्यजी में विशेष प्रेम बढ़ गया था; अतः नन्दरायजी गद्गद् वाणी से (प्रेम भरित वाणी एक साथ नहीं निकलती है, रुक-रुक कर कही जाती है, वह वाणी अस्पष्ट होती है) कहने लगे। जिससे (नन्दरायजी प्रार्थना में जो शब्द कहेंगे, उसको सुनकर) गर्गाचार्यजी अवश्य अपनी सामर्थ्य इस नामकरण संस्कार में लगाएँगे अर्थात् यह नामकरण संस्कार पूर्ण विधि से कराएँगे। अन्यो के समान कपट कर अधूरा संस्कार न कराएँगे क्योंकि 'मुनि है' मुनियों में कपट नहीं होता है। मुनि होने से वे सर्वज्ञ हैं तब ही सब जानते हैं। यदि ये (गर्ग) सर्वज्ञ (भगवद्रूप मुनि) न हों तो, भगवद्बुद्धि से किया हुआ स्तोत्र आरोपित विषय<sup>३</sup> समान होगा। वह आरोपित विषय नहीं है इसलिये सच्ची और प्रिय वाणी से गर्गाचार्यजी संतुष्ट हुए हैं। नन्दरायजी ऐसा समझ कर गर्गाचार्यजी को 'ब्रह्मन्' कहते हैं। यह 'ब्रह्मन्' शब्द ब्राह्मण का परमोत्कर्ष प्रथित करता है। इतना ही नहीं; किन्तु यह 'ब्रह्मन्' शब्द परब्रह्मवाचक भी है। इससे यह जताया कि गर्गाचार्यजी साधारण मनुष्य वा केवल उत्कृष्ट ब्राह्मण नहीं हैं; किन्तु ब्रह्मरूप हैं। इसलिये नन्दरायजी ने कहा है कि जो दशों दिशाओं में व्याप्त हैं और सब से बड़ा एवं सबों का पोषक है उसके लिये मैं क्या कर सकता हूँ ? ऐसे का उपकार दूसरा करे तो किसी प्रकार की सम्भावना नहीं है अर्थात् ब्रह्म की किसी प्रकार की अपेक्षा<sup>४</sup> नहीं।

अपेक्षा तो वहाँ होती है जहाँ न्यूनता<sup>१</sup> हो, यह तो पूर्ण है, तो उनका उपकार दूसरा क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं यदि कुछ कृत्रिम नाममात्र भी किया जाय तो वह हीन है । तथा उस (ब्रह्मरूप मुनि) को क्या चाहिये ? उसका भी ज्ञान नहीं है तो क्या करें । यदि जब ब्रह्म स्वरूप का उपकार नहीं कर सकते हो तो देह इन्द्रिय और अन्तःकरण न्यून है । उनको अपेक्षा<sup>२</sup> भी रहती है, उनका उपकार करो । ऐसी कोई शंका करे तो उसका निवारण करते हुए कहते हैं कि गर्गाचार्यजी ब्रह्मभूत हैं । अतः उनकी देहादिकों के अध्यास की निवृत्ति हो गई है; अतः देहादिकों में किया हुआ उपकार भी निष्प्रयोजन होगा ॥ ३ ॥

**आभास —** एतावतास्माभिः कोप्युपकारः कर्तुं न शक्यत इत्युक्तं, त्वया त्वनुक्तमेव क्रियत इत्याह ।

**आभासार्थ —** ऊपर के श्लोक में नन्दजी ने गर्गजी के स्वरूप का वर्णन करते हुए कह दिया कि हम तो आपका कुछ भी उपकार कर नहीं सकते । इस श्लोक में नन्दरायजी कहेंगे कि आप तो बिना याचना के सबों का उपकार करते हो ।

**श्लोकः —** महद्विचलनं नृणां गृहिणां दीनचेतसाम् ।

निःश्रेयसाय भगवन् कल्पते नान्यथा क्वचित् ॥ ४ ॥

**श्लोकार्थ —** हे भगवान् ! महात्माओं का विचरना, दीन चित्त वाले गृहस्थियों के कल्याण के लिये ही होता है, स्वार्थ के लिये कभी भी वे विचरण नहीं करते हैं ।

**सुबोधिनी —** महद्विचलनमिति, महान्तः स्वतः कार्याभावान्न कुत्रापि गच्छन्ति तादृशाश्चेद् गच्छन्ति परोपकारार्थमेव गच्छन्तीति ज्ञातव्यं, विशेषेण चलनं ग्रामान्तरगमनं न तु स्नानाद्यर्थं, तत्र परार्थं विचार्यमाणे, यस्यैव गृहे गच्छन्ति तस्यैव कार्यं साधयन्तीति निश्चीयते, अन्यथा गृहासक्तचित्तानां वृद्धानां तत्रापि परम दुःखेन ॥ ४ ॥

**व्याख्यानार्थ —** महापुरुषों का जगत् में कोई भी कार्य नहीं रहता है, जिसके लिये वे विचरण करें, इसलिये वे कहीं भी नहीं जाते हैं । यदि ऐसे महापुरुष कहीं जाते हैं तो परोपकार करने के लिये जाते हैं । श्लोक में 'चलनं' शब्द न देकर उसके साथ 'वि' भी दिया है । उसका आशय आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि स्नानादि के लिये नदी पर जाना तो होता है; किन्तु महात्मा लोग ग्रामान्तर

नहीं जाते हैं, वे बाहर दूसरे ग्राम में जाते हैं तो परोपकार के लिये जाते हैं अतः 'वि' उपसर्ग (अक्षर) 'चलन' के साथ जोड़ा है। बाहर जाते हैं तो वहाँ भी जिनके हित की इच्छा से जाते हैं उनके ही घर में पधारते हैं, पधार कर उनके कार्य सिद्ध करते हैं। यह निश्चय से समझा जाता है। यदि उनके हित करने की इच्छा न हो, तो गृहासक्त चित्त वाले वृद्ध एवं जो अत्यन्त दुःख से पीड़ित दीन चित्तवाले हैं उनके घर में जावे ही क्यों? अर्थात् न जावें। वहाँ जाने का मुख्य प्रयोजन उनके दुःख की निवृत्ति करना ही है। उससे परमानन्द की प्राप्ति होती है, इसलिये महात्माओं का गृहस्थी के घर जाना उनके निःश्रेयस<sup>१</sup> ही है। ऐसे फल देने की आप में (गर्गजी में) शक्ति है इसको प्रकट करने के लिये, गर्गजी को 'भगवान्' कहा है। यद्यपि वे गृहस्थ, महात्माओं को अपने हितार्थ, प्रार्थना नहीं करते हैं तो भी महात्माओं के स्वतः जाने से यह बात जानी जाती है कि ये हित के लिये पधारते हैं; क्योंकि उनको तो कोई अपना स्वार्थ है ही नहीं। स्वार्थ बिना कोई भी कहीं नहीं जाता है। महात्माओं का 'परोपकार' करना ही स्वार्थ है; अतः वे विदेश पधारकर दीन गृहस्थों का बिना प्रार्थना हित करते हैं। इस परोपकार रूप फल के उद्देश्य के अतिरिक्त महात्माओं के कहीं भी जाने की कल्पना<sup>२</sup> नहीं कर सकते हैं ॥ ४ ॥

**आभास —** एवं ब्रह्मवित्त्वेन परोपकारैककार्यत्वेन च स्तुत्वा सर्वज्ञतामुपपाद्य तत्सार्वज्ञ्यं यथान्येषामब्रह्मविदामपि भवति तथोपायं कृतवानिति स्तौति ।

**आभासार्थ —** आप (गर्गाचार्यजी) ब्रह्मवित् होने से सर्वज्ञ एवं परोपकारी हैं। इस प्रकार की स्तुति कर अब इस श्लोक में यह बताते हैं कि यह सर्वज्ञता जो कि ब्रह्मवेत्ताओं का लक्षण है, वह सर्वज्ञता गुण, अन्य ब्राह्मणों में चाहे वे ब्रह्मवेत्ता न भी हों तो भी उनमें भी रहे। जिससे ब्राह्मण ज्ञाति, पूजनीय एवं लोकहित कर्त्री हो। इसलिये आपने (गर्गाचार्यजी ने) वैसा उपाय भी किया है। नन्दजी उस प्रकार की स्तुति इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः —** ज्योतिषामयनं साक्षात् यत् तज् ज्ञानमतीन्द्रियम् ।

प्रणीतं भवता येन पुमान् वेद परावरम् ॥ ५ ॥

**श्लोकार्थ —** जो ज्योतिः शास्त्र, इन्द्रियों के अगोचर ज्ञान<sup>३</sup> का साधन है। उस शास्त्र के आप रचयिता हो। जिस (शास्त्र) से मनुष्य तीनों कालों में जो हो रहा है, उसको पूरी तरह जान सकता है।

१-दुःख से छुड़ाने, आनन्द देने और मोक्ष प्राप्ति करने के लिये।

२-अनुमान।

३-जिस वस्तु का इन्द्रियों से ज्ञान नहीं होता है उस वस्तु के ज्ञान।

सुबोधिनी — ज्योतिषामयनमिति, अनेनान्यस्यापि तत्तत्पदार्थरहितस्यापि तत्तत्पदार्थकरणसामर्थ्यं द्योतितं ग्रहादिबलाहितस्यापि तद्बलजनकत्वं, ज्योतिषां सूर्यादीनामयनं स्थानमिदमित्यतया यस्मिन् क्षणे यो ग्रहो यत्र वर्तते तस्य ज्ञानं यस्मात् तज् ज्योतिषामयनं ज्योतिः शास्त्रं, अलूक्समासः, ज्योतिषां सम्बन्धि वायनं ज्ञानं यस्मात् तत्रापि सामान्यतो ग्रन्थकर्तारः सुगमाः परोपजीवकाः, त्वं तु

ब्रह्मसूर्यवत् साक्षात्कर्ता, तत्रापि यत् प्रसिद्धं सर्ववाद्यप्रतिपन्नं तादृशमेव तत् त्वदुक्तं तच्छास्त्रं केवलं ज्ञानमेव ब्रह्मस्वरूपं "यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवतीति," तच्च ज्ञानरूपं शास्त्रमतीन्द्रियमिन्द्रियागोचरमन्यस्य बुद्धिगम्यमपि न भवति गुरुपदेशव्यतिरेकेणैतादृशं शास्त्रं भवता प्रणीतं येन शास्त्रेण कृत्वा पुमान् परोवरं वेद, भूतभविष्यद् वेद परं, स्वापेक्षया पुरुषोत्तमपर्यन्तं, अवरं परमाणुपर्यन्तम् ॥ ५ ॥

**व्याख्यानार्थ —** नन्दरायजी कहते हैं कि हे आचार्य ! आप उनके समान शास्त्र 'रचयिता' नहीं हैं, जो दूसरों के बनाये शास्त्रों के सहारे से शास्त्र रचकर 'रचयिता' कहलाते हैं । आप तो साक्षात् ब्रह्मा और सूर्य के समान साक्षात् ज्योतिष शास्त्र के स्वयं रचयिता हैं । जिस शास्त्र से यह ज्ञान हो जाता है कि यह ग्रह इस समय इस स्थान पर है । जिन (ब्राह्मणों) में इस प्रकार कहने का बल नहीं है (जो स्वतः नहीं बता सकते हैं कि यह ग्रह इस स्थान पर है) उनमें भी आपके रचे हुए शास्त्र के पढ़ने से वह बल अर्थात् ज्ञान शक्ति आ जाती है ।

आपका रचा हुआ ज्योतिष शास्त्र, सर्ववादी सम्मत है । कोई भी वादी इस शास्त्र की न्यूनता नहीं बता सकता है । वह आपका रचा हुआ शास्त्र केवल ज्ञान स्वरूप होने से ब्रह्मरूप है । अतः 'यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवति' इस श्रुति के अनुसार जिसके ज्ञान होने पर सबका ज्ञान हो जाता है, वह ब्रह्म है । तो इस शास्त्र के ज्ञान होने पर भी सबका ज्ञान होता है, इसलिये आपका बनाया हुआ शास्त्र ब्रह्मरूप है । अतः यह शास्त्र गुरुपदेश के बिना अपने इन्द्रियजन्य बुद्धि से समझ में नहीं आता है । आचार्यश्री श्लोक में कहे हुए 'परावर' शब्द का दूसरा भावार्थ प्रकट करते हुए कहते हैं कि इस शास्त्र से मनुष्य 'पर' अर्थात् पुरुषोत्तम भगवान् तक का ज्ञान प्राप्त कर सकता है और 'अवर' से छोटे में छोटे परमाणु तक सूक्ष्म पदार्थों को जान सकता है ॥ ५ ॥

**आभास —** अतः सर्वज्ञो भवान् ब्राह्मणोत्तमोत्तमः, अतः पुत्रयोः संस्कारान् कर्तुमर्हसीत्याह त्वं हीति ।

**आभासार्थ —** नन्दरायजी इस प्रकार गर्गाचार्यजी की स्वरूप एवं गुणों द्वारा स्तुति कर पुत्रों के नामकरण संस्कार कराने के लिये इस श्लोक में प्रार्थना करते हैं ।

हे आचार्य ! आप सर्वज्ञ ब्राह्मणोत्तमों से भी उत्तम हैं, अतः दोनों पुत्रों के संस्कार कराने के योग्य हैं । इसलिये कृपा कर संस्कार कराइए ।

श्लोकः — त्वं हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठः संस्कारान् कर्तुमर्हसि ।

बालयोरनयोन्मां जन्मना ब्राह्मणो गुरुः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ — आप ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ हो इसलिये इन दोनों बालकों के संस्कार करने के योग्य हो । ब्राह्मण जन्म से ही मनुष्यों के गुरु हैं ।

सुबोधिनी — ब्रह्मविदेव ब्राह्मणः स हि सर्वज्ञः, त्वं च प्रसिद्धानि, लोके साम्प्रतं लुप्तानि, उभावप्येतावसंस्कृतौ, तु ब्रह्मविदामपि श्रेष्ठेभ्यस्तथापि ज्ञानोत्पादने यत्नकरणात्, अतो ननु गुरुणा पुरोहितेन कर्तव्यं न तु येनकेनचिदिति चेत् तत्राह जन्मना ब्राह्मणो गुरुरिति, उत्पत्तिमात्रेण सर्वोपि ब्राह्मणो तथान्यान्यपि कर्माणि विद्याभाग्यफलकानि गुरु भवति, अतो भवानपि गुरुरित्यवश्यं कर्तव्यम् ॥ ६ ॥ संस्कारत्वेनाप्युक्तानि जातेष्ट्यादीन्येन्द्रबार्हस्पत्यादीनि चान्यानि ।

व्याख्यार्थ — ब्रह्मवेत्ता ही ब्राह्मण हैं और वह निश्चय से सर्वज्ञ होता है, आप तो अन्यो को भी ज्ञानी बनाने में प्रयत्नशील होने से, ब्रह्मवेत्ताओं में परमोत्तम हो । इस कारण इन दोनों बालकों के संस्कार करने के लिये आप योग्य हो । जिस प्रकार शास्त्रों में नामकरण, एक संस्कार है वैसे ही दूसरे भी कर्म (संस्कार) विद्या एवं भाग्य फल प्रद संस्कार रूप से कहे गये हैं । जैसे जातेष्टि\* आदि और 'ऐन्द्राबार्हस्पत्यादि' कर्म और अन्य भी प्रसिद्ध हैं; किन्तु वे अब लोक में लुप्त हो गये हैं अर्थात् नहीं होते हैं । ये दोनों बालक असंस्कृत हैं, अर्थात् इनके अब तक संस्कार नहीं हुए हैं । नन्दजी के मन में विचार आया कि गर्गजी यों न कह दें कि संस्कार तो पुरोहित से कराना चाहिये, मैं आपका पुरोहित नहीं । इसके उत्तर में नन्दजी ने कहा कि मनुष्यों का प्रत्येक ब्राह्मण जन्म से ही गुरु (पुरोहित) है अतः आप गुरु होने से संस्कार कर्म करो ।

आभास — तत्र गर्गो गुप्ततर्यत् कर्तव्यमिति साक्षात् तथोक्ते ग्रामीणत्वान्न मंस्यत इति वैदिके कर्मण्यसुराणां ज्ञानमयुक्तमिति “यद्वेदमुच्चैर्यज्ञेन चराम तन्नोसुराः पाप्मानुविदन्त्युपांशूपसदाचराम तथा नोसुराः पाप्मा नानुवेत्स्यन्ती” ति श्रुतेः, तथापि यावल्लौकिकभयं नोच्येत तावन्न निवर्तत इति भयमुत्पादयति त्रिभिर्भयदूनामिति ।

आभासार्थ — गर्गाचार्य की इच्छा थी कि संस्कार गुप्त होना चाहिए क्योंकि श्रुति में कहा है कि वैदिक कर्म का ज्ञान असुरों को नहीं होना चाहिए; किन्तु नन्दरायजी ग्रामीण हैं, यों कहने से मानेंगे नहीं, इसलिये उनको लौकिक भय बताना चाहिए । लौकिक भय बताये बिना वे (नन्दरायजी) संस्कार गुप्त करने की बात मानेंगे नहीं । निम्न श्लोकों से भय बताते हैं ।

\* गो. पुरुषोत्तमजी कहते हैं कि पुत्र जन्म समय द्वादश कपाल वाले वैश्वानर को आहुति देना 'श्रुति' में लिखा है । इसको जातेष्टि यज्ञ कहते हैं इसके करने से पवित्रता होती है । — 'प्रकाश'

॥ गर्ग उवाच ॥

श्लोकः — यदूनामहमाचार्यः ख्यातश्च भुवि सर्वतः ।

सुतं मया संस्कृतं ते मन्यते देवकीसुतम् ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ — गर्गजी कहते हैं कि मैं यादवों का आचार्य हूँ, यह बात सर्वत्र पृथ्वी पर फैली हुई है। यदि मैं तुम्हारे पुत्र (पुत्रों) का संस्कार करूंगा तो कंस तुम्हारे पुत्र को देवकी का पुत्र समझेगा।

सुबोधनी — सर्वज्ञानं वचनं सर्वतोमुखं भवति सर्वं स्पष्टं वदन्ति च न वदन्ति च, उच्यमानमप्यनुक्तमिव भवति, "द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीय" इतिन्यायेनोच्चैः क्रियमाणे द्रव्यविरोधो भवति, विरोधे कारणं कंसः, तस्यापि देवकीपुत्रः, मया कृतः संस्कारो देवकीपुत्रत्वं ख्यापयतीत्याहहं सर्वेषामेव यदूनां यदुवंशोद्भवानामाचार्यं संस्कारकर्ता नान्येषां, तत्रापि भुवि सर्वतः ख्यातो मदीयाः सर्व एव धर्माः सर्वेषां प्रसिद्धा भवन्ति, अतोत्रागमनमपि प्रसिद्धमेव, ततः किम् ? अत आह ते सुतं मया संस्कृतं कंसो देवकीसुतमेव मन्यते, निर्धारितोऽयमर्थः ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ — सर्वज्ञ जो कुछ कहते हैं, वह बहुत आशयों वाला होता है, सब स्पष्ट कहते हैं और न भी कहते, कहा हुआ भी, न कहे जैसा भासता है। 'द्रव्य संस्कार विरोधे द्रव्यं बलीय' (द्रव्य और संस्कार में जहाँ विरोध हो, वहाँ संस्कार से द्रव्य बलवान् समझना चाहिये। इस न्याय के अनुसार खुला संस्कार करने से द्रव्य (पुत्र) का विरोध होता है। द्रव्य (पुत्र) के विरोध में कारण कंस है। कंस के विरोधी होने में कारण देवकी पुत्र है अर्थात् यदि मैं संस्कारकर्ता होकर प्रत्यक्ष (खुला) संस्कार करूंगा तो कंस इस तुम्हारे पुत्र को निश्चय से देवकी का पुत्र समझेगा क्योंकि मैं यादवों का कुल पुरोहित हूँ यह सर्वत्र प्रख्यात है। कंस भी इस बात से अनभिज्ञ नहीं है और मैं मथुरा से यहाँ आया हुआ हूँ, यह बात भी छिपी हुई नहीं है। इससे इस तुम्हारे पुत्र को देवकी का पुत्र मानेगा यह निर्णय निश्चित समझो ॥ ७ ॥

श्लोकः — कंसः पापमतिः सख्यं तव चानकदुन्दुभेः ।

देवक्या अष्टमो गर्भो न स्त्री भवितुमर्हति ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ — कंस पाप बुद्धि वाला है आपकी और वसुदेवजी की परस्पर मित्रता है और देवकी का आठवां गर्भ स्त्री हो नहीं सकता।

सुबोधनी — यादवान्यस्य मया संस्कारो न क्रियत इति मन्यतां को दोष इति चेत् तत्राह कंसः पापमतिरिति, स हि मारकोतो देवकीपुत्रत्वज्ञानमनिष्टजनकं, नन्वत्र देवकीपुत्रस्य कः प्रसङ्गः ? तत्राह सख्यं तव चानकदुन्दुभेः, अतः सखिगृहेष्टमः पुत्रः स्थापितोऽयमिति मन्यते, चकारोर्थविशेषख्यापकः, सोऽपि दुष्टस्तव च सख्यामित्युभयोः सम्बन्धित्वज्ञापनाय षष्ठ्यौ, ननु देवकीगर्भः स्त्रीरूपस्तेन दृष्ट एव कथं सन्देह इति चेत् तत्राह देवक्या अष्टमो गर्भः स्वमारकत्वेन श्रुतः स्त्री भवितुं नार्हति ॥ ८ ॥

**व्याख्यानार्थ** — गर्गाचार्यजी ने फिर समझाते हुए नन्दरायजी को कहा कि मैं यादवों के अतिरिक्त किसी दूसरे का संस्कार नहीं करता हूँ। यदि आप कहो कि इसमें (दूसरों के संस्कार करने में) क्या दोष है ? इसके उत्तर में गर्गजी कहते हैं कि मेरे संस्कार करने से पापमति कंस समझ जाएगा कि नन्दराय का कन्हैया वसुदेव का पुत्र है। यों समझना अनिष्टकारक<sup>१</sup> है क्योंकि वह (कंस) मारक<sup>२</sup> है। मेरे संस्कार करने से यह अनिष्टकारक दोष है। यदि आप (नन्दरायजी) कहो कि देवकी के पुत्र का क्या सम्बन्ध है ? इसका समाधान करने के लिये गर्गाचार्यजी ने कहा है कि आपकी और वसुदेवजी की आपस में मित्रता है, यह ज्ञान कंस को है जिससे वह कंस समझेगा कि वसुदेवजी ने अपना आठवाँ बालक नन्दजी के घर स्थापित किया है। श्लोक में दिया हुआ 'च' अक्षर विशेष अर्थ\* प्रकट करने वाला है। श्लोक में आपके और वसुदेवजी के परस्पर (गाढ) सम्बन्ध बताने के लिये दोनों के पर्यायवाची शब्द सम्बन्ध बताने वाली षष्ठी विभक्ति में दिया है। यदि नन्दजी यों कह दें कि कंस ने देवकी का आठवाँ गर्भ प्रत्यक्ष कन्या देखा, फिर उसको यह संशय कैसे होगा कि आठवाँ गर्भ वसुदेवजी नन्दजी के यहाँ स्थापित कर आए हैं। गर्गाचार्यजी इस शंका का भी समाधान करते हुए कहते हैं कि कंस ने आकाशवाणी द्वारा सुना था कि देवकी का आठवाँ गर्भ तुझे मारने वाला होगा और देवी रूप कन्या ने तो यह कह दिया था कि तेरा नाशक प्रकट हो गया है एवं नारदजी ने भी बता दिया है इत्यादि। यह सब सुन लिया है कि देवकी के आठवें गर्भ से मेरी मृत्यु होगी। इसलिये कंस को यह निश्चय है कि देवकी का आठवाँ बालक, वास्तविक कन्या नहीं हुआ होगा ॥ ८ ॥

**श्लोकः** — इति सञ्चिन्तयन् भुत्वा देवकीदारिकावचः ।

यदि हन्तागताशङ्कस्तर्हि तन्नोनयो भवेत् ॥ ९ ॥

**श्लोकार्थ** — कंस इस बात का विचार करते हुए, यदि देवकी की कन्या के सुने वचन भी स्मरण करेगा तो उसको निश्चय होगा कि यह बालक ही आठवाँ गर्भ है यों समझ कर इसका घातक बनेगा तो अपनी हानि होगी ।

**सुबोधिनी** — कथमियं स्त्रीति सञ्चिन्तयन् कंसो मारयेदितिसम्बन्धः; शङ्कया कारणान्तरमप्यस्तीत्याह श्रुत्वा देवकीदारिकावच इति, देवक्या दारिका बालिका तस्या वचः "किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृ" इति, अतोभ्या आकाशवाण्याश्चैकार्थे विचार्यमाणे देवक्याः पुत्रो

यत्रावत्रानीय वसुदेवेन स्थापितस्तव च कन्यां तत्र नीतेति फलति तदापीतिसम्भावनायामागताशङ्कः सन् हन्ता हनिष्यति, तथा सति नोस्माकं भहाननयः स्यात्, अतस्तव पुत्रस्य संस्कारो मया प्रसिद्धतया न कर्तव्य इति फलितम् ॥ ९ ॥

\* प्रकाशकार विशेष अर्थ का भावार्थ बताते हुए कहते हैं कि रोहिणी के पुत्र की उत्पत्ति ।



**व्याख्यानार्थ** — जब कंस को ज्ञात होगा कि गर्गजी ने इस बालक का संस्कार किया है तब कंस सोचेगा कि आठवाँ गर्भ स्त्री कैसे ? यह विचार निःशङ्क हो, इसको आठवाँ गर्भ समझ कर मारेगा, यह सम्बन्ध है। कंस को देवकी के आठवें गर्भ से कन्या होने में, देवकी की कन्या के वचन सुनने से शंका है ही, जो कन्या ने हस्त से निकल कर आकाश में जा के कहा था कि 'हे मन्द ! मेरे मारने से तुझे क्या लाभ होगा ? तेरा नाश करने वाला तो प्रकट हो चुका है।' अतः इस कन्या के वचन एवं आकाशवाणी के वचनों का तात्पर्य एक ही है। ऐसा समझ कंस इस निर्णय पर पहुँचेगा कि वास्तव में देवकी के पुत्र ही हुवा था, जिसे वसुदेव ने रात्रि में ही नन्द के घर पहुँचा दिया है और उसकी कन्या यहाँ ले आया है। यह निश्चय कर निशंक हो, इसको यदि मार डालेगा तो अपने से भारी अन्याय होगा, अर्थात् अपनी महती हानि होगी। इस प्रकार गर्गाचार्यजी ने जो तीन श्लोकों में नन्दरायजी को समझाया, उसका फलितार्थ (परिणाम) यह है कि गर्गजी ने स्पष्ट कहा कि मैं इस तुम्हारे पुत्र का संस्कार गुप्त करना चाहता हूँ ॥ ९ ॥

**आभास** — नन्दस्तस्य प्रतीकारमाहालक्षित इति ।

**आभासार्थ** — इस निम्न (नीचे के) श्लोक में नन्दरायजी उसका उपाय बताते हैं ।

॥ श्री नन्दउवाच ॥

**श्लोकः** — अलक्षितोस्मिन् रहसि मामकैरपि गोव्रजे ।

कुरु द्विजातिसंस्कारं स्वस्तिवाचनपूर्वकम् ॥ १० ॥

**श्लोकार्थ** — नन्दरायजी ने कहा कि इस गो व्रज में मेरे सम्बन्धियों से भी गुप्त रह कर, एकान्त में स्वस्तिवाचनादि करके इस द्वि जाति के संस्कार करो ।

**कारिका** — ज्ञापितं च हरेस्तत्त्वं स्नेहाधिव्यात्र बुध्यते ।

अतो निरोधः कर्तव्यः शास्त्रं तत्राप्रयोजकम् ॥ १ ॥

**कारिकार्थ** — हरि का तत्त्व बताया गया, किन्तु अधिक स्नेह से समझ में नहीं आया । इसलिये निरोध करना चाहिये । यहाँ शास्त्र निरर्थक है ।

**व्याख्या** — इस कारिका में आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि गर्गाचार्यजी से "मैं यादवों का पुरोहित हूँ, संस्कार करने के लिये आया हूँ क्योंकि यह 'तुम्हारा पुत्र' वास्तविक में वसुदेव का पुत्र है, यदि आपका होता तो संस्कार के लिये मुझे वसुदेवजी नहीं भेजते ।" इतना सुनने पर

भी नन्दरायजी को यह ज्ञान नहीं हुआ कि यह मेरा पुत्र नहीं है किन्तु वसुदेवजी का है। ज्ञान न आने का कारण बताते हैं कि नन्दरायजी का इसमें अत्यन्त स्नेह (मोह) था। इसलिये गर्गाचार्यजी का कहा हुआ शास्त्र (ज्ञान) निरर्थक हुआ। नन्दरायजी का निरोध करना चाहिये।

सुबोधिनी - अस्मिन् गोष्ठे गुप्तस्थाने मामकैरप्यलक्षितोनुमानेनाप्यज्ञातः सन् द्विजातिसंस्कारं कुरु, अनेनेयं वार्ताप्येकान्त एव कृतेति ज्ञायते, गवां व्रजे न कश्चिदभिज्ञो नागरिकवद्, गवां बुद्ध्या तुल्या एव सम्भवन्ति, मामकानां स्वरूपं मया ज्ञायत इति तेषामज्ञानं साधनीयं, एतेनान्ये व्याख्याताः, द्विजातीनां मन्त्रवत्संस्कारो भवति,

अन्येषाममन्त्रकं, अतो मन्त्रप्राधान्येनैव कर्तव्यं नोत्सवप्राधान्येन तदाह द्विजातिसंस्कारमिति, मङ्गलमावश्यकमिति विचार्य मङ्गलमपि वैदिकमेव कर्तव्यमित्याह स्वस्तिवाचनपूर्वक-मिति, स्वस्तिवाचनं पुण्याहवाचनं, पुण्याहः स्वस्त्युद्धय-स्त्रित्स्त्रिरुक्ताः स्वस्तिवाचनं तत् सर्वकर्मस्वावश्यकम् ॥ १० ॥

व्याख्यानार्थ - नन्दरायजी ने गर्गाचार्यजी को कह दिया कि आप इस गोष्ठ<sup>१</sup> में इस प्रकार गुप्त रीति से संस्कार करो जो मेरे सम्बन्धी देख तो न सकें; किन्तु अनुमान भी उनको ज्ञात न हो। नन्दरायजी के इन वाक्यों से जाना जाता है कि गर्गजी और नन्दजी ने इस प्रकार संस्कार एकान्त में ही करने का निश्चय किया था। गौओं के व्रज में नागरिकों के समान कोई मनुष्य चतुर नहीं होता है, बैलों के सदृश बुद्धि वाले ही होते हैं। मेरे सम्बन्धियों का स्वरूप मैं जानता हूँ इसलिये इनके अज्ञान का लाभ उठाइये। इससे (अपने सम्बन्धियों से छिपकर संस्कार करने के लिये कहने से) दूसरों से भी गुप्त होकर संस्कार करने का कह दिया। द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों) के संस्कार वेद मन्त्रों से होते हैं। अन्यो (शूद्रादिकों) के संस्कार बिना मन्त्रों के होते हैं। इस कारण से आप जो यह संस्कार करा रहे हो, वह मन्त्र प्रधान करना न कि उत्सव प्रधान करना, क्योंकि यह संस्कार द्विजाति संस्कार है। मङ्गल आवश्यक है यह विचार कर वह भी करना; किन्तु वह मङ्गल वैदिक हो सो करना। यह बताने के लिये नन्दरायजी स्पष्ट कहते हैं कि स्वस्तिवाचनपूर्वक संस्कार करना। आज का दिन व आज के दिन का किया हुआ यह संस्कार मङ्गल रूप, पुण्य रूप एवं ऋद्धि (समृद्धि) रूप हो। इसलिये स्वस्तिवाचन, पुण्याहवाचन और ऋद्धि वाचन की तीन तीन आवृत्ति की जाती है। स्वस्तिवाचन सर्व शुभ कर्मों (संस्कारों) में आवश्यक कर्तव्य है ॥ १० ॥

आभास - एवमुक्ते स्वाभिलषितं सिद्धमिति कृतवानित्याहैवं ।

आभासार्थ - इस प्रकार नन्दजी के कहने से गर्गाचार्यजी का मनोरथ (संस्कार गुप्त किया जाय) सिद्ध हुआ, तब गर्गाचार्यजी ने संस्कार किया, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी निम्न श्लोक में करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — एवं सम्प्रार्थितो विप्रः स्वचिकीर्षितमेव तत् ।

चकार नामकरणं गूढो रहसि बालयोः ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ — इस प्रकार नन्दरायजी द्वारा प्रार्थना किये हुए गर्गाचार्यजी ने अपनी इच्छानुकूल एकान्त में गुप्त रीति से रह कर, दोनों बालकों का नामकरण संस्कार किया । जिसके करने की इच्छा से आप (गर्गजी) आये थे ।

सुबोधिनी — स प्रार्थित इति, ज्ञातेपि लोके प्रतीकारं करिष्यामीति तस्याभिप्राय इति ज्ञापयितुं विप्र इति शीघ्रं च तस्य कर्तव्यमिति पुरोहितत्वात् स्वस्य चिकीर्षितमेव तन् नामकरणं कर्म प्रसिद्धमिति वा सर्वत्र, गूढः स्वयमपि गुप्तः सन् देशान्तरेण यावत् तत्र तिष्ठति, रहस्येकान्ते, उभयोरपि नामकरणमुभयोरनुगुणमुहूर्तं, बालयोरिति केशाभिप्रायो वा ॥ ११ ॥

व्याख्यानार्थ — श्री नन्दरायजी को गुप्त संस्कार करने की प्रार्थना होते ही गर्गाचार्यजी ने जो यादवों के पुरोहित थे, जिनकी गुप्त नामकरण संस्कार करने की इच्छा थी, शीघ्र ही संस्कार कर्म प्रारम्भ कर दिया । कुछ समय ठहर कर विचार भी नहीं किया, क्योंकि ब्राह्मण पाछिल मति वाले और उतावले होते हैं । इसलिये श्री शुकदेवजी ने गर्गजी को 'विप्र'‡ कहा । उतावल से कार्य करने से लोक में यदि प्रसिद्धि हो जायगी तो मैं उसका प्रतीकार<sup>१</sup> करूंगा । शीघ्रता करने में उनका यह आशय था कि अपना अभीष्ट नामकरण संस्कार, सर्वत्र प्रसिद्ध है तो भी छिपा कर किया । छिपाने के लिये संस्कार करने का स्थान गुप्त रखा । सामग्री आदि भी गुप्त रीति से मंगवाई । इतना ही नहीं किन्तु जब तक आप वहाँ ठहरे तब तक अपना भी वेश बदल दिया था । दोनों बालकों\* का संस्कार उनके योग्य शुभ मुहूर्त में किया गया ॥ ११ ॥

आभास — ज्येष्ठानुक्रमेण नामकरणं कुर्वन्नादौ ज्येष्ठस्य नामत्रयमाहायमिति सार्धेन ।

आभासार्थ — ज्येष्ठ के क्रमानुसार नामकरण करते हुए पहले ज्येष्ठ पुत्र के तीन नाम डेढ श्लोक से कहते हैं ।

‡ लेखकार गो. वल्लभलालजी 'विप्र' शब्द का भाव बताते हैं कि 'पाछिल मतिवाले' को 'विप्र' कहा है ।

\* बालक शब्द इसलिये दिया है कि उनके मस्तकों पर बड़े बड़े बाल थे । प्रकाशकार श्रीपुरुषोत्तमजी बालक शब्द कहने का आशय बताते हैं कि केशान्त संस्कार तक 'बालक' कहा गया है । इन दोनों का केशान्त (मुण्डन) संस्कार नहीं हुवा था । इसलिये इनको बालक कहा गया है ।

१ — विशेष या निवारण । २ — बड़े ।

॥ गर्ग उवाच ॥

श्लोकः - अयं वै रोहिणीपुत्रो रमयन् सुहृदो गुणैः ।

आख्यास्यते राम इति बलाधिक्याद् बलं विदुः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ - यह निश्चय रोहिणी का पुत्र गुणों से सुहृदों<sup>१</sup> को रमण कराने के कारण (आनन्द देने के हेतु) 'राम' नाम से पुकारा जायगा, विशेष बलिष्ठ होने से इसे 'बल' नाम से जानेंगे ।

सुबोधिनी - वस्तुतो ब्रह्मण्यव्यवहार्ये स्वरूपतो नामाभावात् सङ्केताभावाद् गुणयोगादेव नामानि भवन्ति, उभावत्र पुत्रौ वसुदेवस्य, तत्रैको मातृनाम्नापरः पितृनाम्ना, प्रथमं गुप्ततया मातृनाम्ना नामाहार्यं वै निश्चयेन रोहिणीपुत्रोतो रोहिणेय इत्युक्तो भवति, रोहिण्यामाविर्भूतस्यावेश इति च, वै निश्चयेनेति यशोदायाः पुत्रत्वे सन्देह इति ज्ञापितं, यदि भगवान् प्राकृतः केनाप्यंशेन भवेत् तदा याशोदेयो दैवकेय

इतिनाम भवेद् यथा रोहिणेय इति, तस्मादयमेव वै निश्चयेन रोहिणीपुत्रः, किञ्च योनिकृतसम्बन्धाध्यासोप्यस्य दृढ इत्याह रमयन् सुहृदोः गुणैरिति, सुहृदोः सर्वानेव सम्बन्धिनो गुणैः स्वसामर्थ्यैः पालनपोषणप्रीणनादिभि रमयन् लोके राम इत्याख्यास्ते, गुणैः सुस्वभावादिभिर्वा, अयं च बलिष्ठो भविष्यति तथा ग्रहदर्शनादित्यन्यबुद्धिः, अतो बलाधिक्याद् बलरूपमेवैनं विदुः ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ - जगत् में जो मनुष्यादिकों के नाम रखे जाते हैं वे एक प्रकार के संकेत<sup>२</sup> हैं । उन संकेतों से वे व्यक्ति पहचाने जाते हैं इसलिये उनके नाम स्वरूपानुसारी व्यवहारिक होते हैं । किन्तु ब्रह्म तो अव्यवहार्य<sup>३</sup> है । अतः भगवान् में स्वरूप से नाम का अभाव है एवं सांकेतिक नाम न बनने से गुणों के योग से अर्थात् गुणानुकूल ही उनके नाम\* होते हैं । यहाँ दोनों ही (श्रीकृष्ण व बलराम) पुत्र वसुदेव के हैं । उनमें एक (बलराम) माता के नाम से और दूसरा

\* श्री प्रभुचरण टिप्पणी में आज्ञा करते हैं कि मनुष्यों के नाम जन्मते ही रखे जाते हैं, उस अवस्था में बालक के गुणों का ज्ञान न होने से नाम केवल सांकेतिक होते हैं अर्थात् जिस चिन्ह से वे पहचाने जायें । किन्तु भगवान् के नाम इस प्रकार से नहीं होते हैं । भगवान् के नाम तो उनके प्राकट्य गुणानुसारी ही होते हैं । १६ वें श्लोक की श्री सुबोधिनीजी में आचार्यश्री कहेंगे कि जैसे 'रूप' भगवान् से पृथक् नहीं है; किन्तु भगवत्स्वरूप ही है, इसी प्रकार 'नाम' भी भगवान् से पृथक् नहीं है । नामी और नाम एक ही है अतः भगवान् के नाम रूप दोनों नित्य एवं सत्य हैं । जिस प्रकार भगवान् की 'देह' को लौकिक पुरुष अपनी दोष दृष्टि से प्राकृत देह समझते हैं वैसे ही नाम को भी 'वर्ण वा अक्षर' मात्र समझते हैं, वास्तव में तो वे भगवान् के नाम अलौकिक और नित्य हैं । तात्पर्य यह है कि 'नाम और रूप' भी ब्रह्म ही हैं ।

(श्रीकृष्ण ‡) पिता के नाम से प्रख्यात है । इस प्रकार यदि कहीं कहीं श्रीकृष्णचन्द्र को 'देवकीसुत' कहा है तो उसका आशय यह है, समास विच्छेद करने से वे दोनों पद पृथक् हो जाते हैं । इसी प्रकार यह श्रीकृष्ण एवं देवकी दोनों अलग हैं अतः इनका ऐक्य नहीं है ।

अब पहले ज्येष्ठ पुत्र के तीन नाम कहते हैं । पहला नाम बताते हुए कहते हैं कि निश्चय से रोहिणी का पुत्र है इसलिये इसको सब 'रौहिणेय' कहेंगे । यह नाम माता के नाम से कहने का आशय यह है कि यदि 'वासुदेव' नाम कहें तो कंस को ज्ञात हो जाय तो उपद्रव हो, इस भय से पिता के नाम को गुप्त रखा । दूसरा आशय प्रकट करते हुए कहते हैं कि रोहिणी में आविर्भूत स्वरूप का यह आवेश होने से 'रौहिणेय' है । यहाँ निश्चय कहने से भगवान् (श्रीकृष्ण) के यशोदा पुत्र होने में सन्देह है यह बताया है । जो भगवान् श्रीकृष्ण किसी भी अंश से प्राकृत होते तो उनके नाम 'याशोदेय' (यशोदा से उत्पन्न पुत्र) वा दैवकेय (देवकी से उत्पन्न पुत्र) होते जैसे 'रौहिणेय' हुआ है, वैसे यहाँ नहीं है ।† इससे निश्चय है कि यह ज्येष्ठ पुत्र ही 'रोहिणी पुत्र\*' है और इन्हीं का योनिकृत (माता के) सम्बन्ध का अध्यास दृढ़ था, यह बताते हुए कहते हैं कि इस दृढ़ अध्यास के कारण सब सुहृदों (सम्बन्धियों) को अपने गुणों से अर्थात् स्वसामर्थ्यों से पालन-पोषण, प्रीणना (प्रसन्न करने) से आनन्दित करते हुए अर्थात् रमण कराते हुए लोक में 'राम' कहलाएँगे, अथवा 'गुणैः' का दूसरा आशय कहते हैं कि अपने सुन्दर स्वभावादि से रमण कराने से 'राम' कहलाएँगे और यह बलिष्ठ होगा । बल अधिक होने से इनको 'बल' (शक्ति) का रूप यह है यों कहकर 'बलदेव' कहेंगे । दूसरों की यह सम्मति है कि इसके ग्रह ऐसे हैं । इसलिये इनमें विशेष बल होगा जिससे ये 'बल' नाम से प्रख्यात होंगे ॥ १२ ॥

**आभास —** भगवदाज्ञया मायाकृतमपि कर्मास्मिँल्लोके प्रसिद्धं भवत्विति "गर्भ-संकर्षणात् संकर्षण" इति ।

‡ लेखकार — गो. श्रीवल्लभलालजी कहते हैं कि श्रीकृष्ण पिता के नाम से प्रख्यात है जैसा कि श्रीकृष्ण को "शौरि" कहा गया है न कि माता नाम से, 'दैवकेय' कहीं भी नहीं कहा गया है । बलराम को तो शौरि न कहकर "रौहिणेय" कहा गया है । इसलिये वह माता के नाम से प्रसिद्ध है यदि कहीं कहीं बलराम को शौरि कहा है तो उसका आशय यह है कि बलराम में वासुदेव का आवेश है ।

† भगवान् अजन्मा है इससे यशोदा या देवकी का पुत्र नहीं है किन्तु अंश (प्रधुम्नांश) से ही पुत्र हुआ है ।

\* लेखकार — गो. श्रीवल्लभलालजी कहते हैं कि 'वै' अर्थात् निश्चय से यह रौहिणेय है । निश्चय से कहने का तात्पर्य यह है कि यह देवकी के गर्भ में रहा था तो भी यह दैवकेय (देवकी का पुत्र) नहीं कहा जाइगा । कारण कि रोहिणी में वासुदेव का आवेश हुआ था इसलिये रोहिणी का पुत्र कहा जाएगा ।

आभासार्थ — भगवदाज्ञा से जो कर्म (देवकी के गर्भ से गर्भ को खेंच कर, रेहिणी के गर्भ में पधरना) माया ने किया । वह कर्म लोक में स्मरण रहे इसलिये इस लोक में इस प्रकार के नाम का प्रकाशन करते हैं ।

श्लोकः — यदूनामपृथग्भावात् सङ्कर्षणमुशान्त्युत ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ — इसमें यदुओं के पृथक्ता के भाव न होने से इसको संकर्षण भी कहते हैं ।

सुबोधिनी — भगवद्वचनाद् देवगुहात्वात् तल्लोके न वक्तव्यमिति प्रकारान्तरेण सङ्कर्षणव्युत्पत्तिमाह यदूनामिति, यदूनां मध्येस्य न पृथग्भावोस्ति सर्वत्रात्मबुद्धिरेव, अत एव भगवता मातृद्वयमस्य सम्पादितं भिन्नमातृसुतेषु वैरभावज्ञापनार्थं, अतो भगवत्कृतं संवदतीति नात्यन्तं दोषोपि, यदूनां वास्मिन् पृथग्भावो नास्तीति सम्यक् सर्वेषामाकर्षणमाकारणं यस्मिन्निति सङ्कर्षणमुशान्तिं वदन्ति, उतापि, अनेन सङ्कर्षणपदादर्थान्तरं मुख्यमस्तीति ज्ञापितम् ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ — यद्यपि, भगवान् के वाक्यों से 'गर्भ संकर्षण' (गर्भ खेंचने) से इसका नाम संकर्षण है । ये भगवान् के वचन, देव गुहा होने से लोक में नहीं कहने चाहिए । अतः श्लोक में दूसरे प्रकार से इसका भावार्थ कहते हैं । इसका यदुओं में पृथक्पने का भाव नहीं है, किन्तु सर्वत्र आत्मभाव (अपनेपन के भाव) हैं । इसलिये भगवान् ने इसकी दो माताएँ बनाई हैं । जिससे इसका सब में प्रेम हो और भिन्न माताओं के पुत्रों में बैर का अभाव जताने के लिये भी दो माताएँ की हैं । अतः गर्गजी जो भगवान् ने किया है उसका वर्णन करते हैं, जिससे कोई दोष भी नहीं है, अथवा यदुओं की बुद्धि भी इसमें पृथक्ता की नहीं थी । 'संकर्षण' शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए कहते हैं कि 'सम्यक् सर्वेषां आकर्षणं आकारणं यस्मिन् इति संकर्षण' जिसका अर्थ होता है कि जिसमें सबों के आकर्षण (अपनी तरफ मन को खींचने) की शक्ति है, उसको सङ्कर्षण कहते हैं । श्लोक में 'उत'अपि का भाव आचार्यश्री बताते हैं कि इसलिये सङ्कर्षण पद का दूसरा अर्थ मुख्य है । अर्थात् व्युत्पत्ति से किया हुआ अर्थ गौण है और श्रीकृष्ण का कहा हुआ अर्थ मुख्य है । सारांश कि गर्भ के कर्षण (खींचने) से ही यह 'संकर्षण' नाम पड़ा है ॥ १३ ॥

आभास — चतुर्मूर्तेर्भगवतश्चत्वारि नामानि वक्तव्यानि तत्र द्वयमाह द्वयं तु गुप्ततयानेकभेदभिन्नं वक्ष्यति चतुष्टयस्य च द्वये प्रवेशश्च, तत्रादौ कृष्णोयमिति नाम वक्तव्यं, तत्र भगवन्नाम कथमस्येतिशंकां वारयन् वर्णपरत्वेन सत्यं वदन्नाहासत्रिति ।

आभासार्थ — चतुर्मूर्ति (व्यूह चार हैं) भगवान् के चार नाम कहने चाहिये । उनमें से दो नाम कहते हैं — दो नाम अनेक भेद पूर्वक गुप्त रीति से कहेंगे । चारों नामों का दो नामों में

अन्तर्भाव है।\* प्रारम्भ में यह 'कृष्ण' है यों नाम कहना चाहिए।† इस बालक का नाम भगवान्नाम कैसे? इस शंका को मिटाने के लिये कहते हैं कि यह नाम वर्ण (रंग) परत्व है, सत्य है। यह निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक: — आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्यतोनुयुगं तनूः ।

शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ — प्रत्येक युग में आकृति प्रकट करते हुए इसके शुक्ल, रक्त और पीत ये तीन वर्ण हुए। अब इसका कृष्ण वर्णन हुआ है।

सुबोधिनी — अयमनुयुगं तनूगृह्यति, अन्यथा युगमेव न स्यात्, भगवान् जगच्चेतिद्वयं युगशब्देनोच्यते, तत्रैकश्चेन्नाविर्भवेदेकमेव स्यान् न तु युगलं, धात्वर्थोपयोगो द्वयोरेव, अतो भगवतावश्यमनुयुगमवतारः कर्तव्यस्तत्र युग-धर्मख्यापनार्थं रूपं च तथा कर्तव्यं, अन्यथा लोकानां प्रतीतिर्न स्यात्, तदाह शुक्लो रक्तस्थिता पीत इति त्रयो वर्णा अस्यासन्, अग्रे च कलिर्भविष्यति तत इदानीं कृष्णतां गतः कृष्णवर्णं प्राप्तवानित्यर्थः, एनं कृष्णत्वं न प्राप्तवत् किन्त्वयमेव कृष्णत्वं प्राप्तः सर्वगतत्वात् सर्वसमन्वयाच्च,

अनेन पञ्चहस्तोक्तैव "कृषिर्भूवाचकः शब्दोऽणश्च निर्वृत्तिवाचकः तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्याभिधीयत" इतिनिर्वचनात्, यद्यपि सदैव कृष्णस्तथापि प्राकृतसत्त्वस्या-प्यनाश्रयेषु स्वस्वरूपात्मकसत्त्वप्रकटनात् तादृशेष्वपि स्वरूपानन्दनादिदानीमेव कृष्णत्वं प्रकटितवानित्यर्थः, एतदगोपनाय शब्दच्छलेन वर्णक्रममुक्तवान्, तेनायं संकर्षण-रूपोऽप्युक्तः कालानुगुणत्वात्, पुरुषोत्तमरूपोऽप्युक्तः सर्वसमन्वयात् ॥ १४ ॥

व्याख्यानार्थ — यह (बालक) प्रत्येक युग में देह ग्रहण करता है। यदि देह धारण न करे तो 'युग'बने ही नहीं। क्योंकि युग शब्द का अर्थ है 'दो'। जगत् एक है तो उस एक को तो युग कह नहीं सकते अतः जब कोई अन्य प्रकट होगा, तब वह दूसरा होगा। तब जगत् एवं भगवान् दो होंगे ऐसा होने पर ही युग होता है। 'युग' शब्द 'युज्' धातु से बना है। उसका अर्थ है 'जोड़'। यदि भगवान् समयानुसार अवतार न लें तो 'युग' शब्द के अर्थ की व्यर्थता हो जाय, अतः भगवान् प्रत्येक युग में अवश्य अवतार लेकर 'युग' शब्द को सार्थक करते हैं। उस समय में युगधर्म प्रसिद्ध करने के लिये वैसा ही रूप धारण करना चाहिये नहीं तो लोकों को प्रतीति न हो सके। उसकी प्रतीति करने के लिये ही उनके शुक्ल, रक्त और पीत तीन वर्ण हुए थे। आगे कलियुग होगा। इसलिये अब उन्होंने कृष्ण वर्ण धारण किया है। इनको काले रंग ने वा कलि ने प्राप्त नहीं किया है; किन्तु वे स्वयं काले हुए हैं। इन रंगों के रूपों को प्रकट करते

\* बलदेव में वासुदेव और सङ्कर्षण व्यूह है एवं श्रीकृष्ण में चारों व्यूह प्रविष्ट है। —लेख  
चारों का दो में अन्तर भाव है। —प्रकाश

† कृष्ण ब्रह्म है, ऐसा कहना चाहिए। —प्रकाश

हुए भगवान् ने अपनी सर्वव्यापकता एवं सब कुछ मुझ में है, यह प्रमाणित किया है, जिससे इनकी परब्रह्मता कही गई है। उपनिषद् भी इनके इस नाम से ही परब्रह्मता कहते हैं जैसे कि 'कृषिर्भूवाचकः शब्दोणश्च निवृत्तिवाचकः तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते' अर्थात् 'कृष' शब्द सत्तावाचक है और 'ण' आनन्दवाचक है। इन दोनों 'कृष' और 'ण' को मिलाने से 'कृष्ण' बनता है। जिसका भावार्थ हुआ जिस स्वरूप में आनन्द की सत्ता सदा स्थित है वह स्वरूप 'कृष्ण' है। यद्यपि सदैव कृष्ण (आनन्द स्वरूप) है तो भी जिन जीवों में प्राकृत में प्राकृत सत्त्व भी नहीं है ऐसे\* जीवों में भी अपना स्वरूपात्मक सत्त्व प्रकट करने से और स्वरूपानन्द दान देने से अब ही अपना 'कृष्णत्व' (आनन्दत्व - आनन्दपन) प्रकट किया है। इस गुप्त रहस्य को न बताने के लिये शब्द 'च्छल' से वर्णक्रम गर्गजी ने कहा है (अथवा भगवान् ने गर्गजी से यों कहलाया है) इससे यह (श्रीकृष्ण) काल के अनुरूप गुणवाले होने के कारण संकर्षण रूप भी कहे गए हैं तथा सबसे कृष्ण का समन्वय है इससे इनको पुरुषोत्तम रूप भी कहा है ॥ १४ ॥

आभास — नामान्तरमाह प्राणयमिति ।

आभासार्थ — निम्न श्लोक में दूसरा नाम कहते हैं ।

श्लोकः — प्राणयं वसुदेवस्य क्वचिज् जातस्तवात्मजः ।

वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ — पहले किसी स्थल में (किसी समय) यह तुम्हारा श्रीमान् पुत्र वसुदेव के यहाँ उत्पन्न हुआ था जिससे ज्ञानी लोग इसको 'वासुदेव' कहते हैं ।

सुबोधिनी — क्वचिद् देशविशेषे प्राक् त्वद्गृहागमनात् पूर्वमेव वसुदेवस्य पुत्रो जातो वसुदेवस्येति तवेति च सामानाधिकरण्यादाधिदैविकस्य वसुदेवस्य तवात्मजो जात इत्युक्तं भवति, अनेन प्रद्युम्नताप्युक्ता, वसुदेवे शुद्धसत्त्व आविर्भावादतिरुद्धता च, वस्तुतस्तत्त्वं त्वात्मजः क्वचिद् वसुदेवस्य जात इति तस्य बुद्धिः, वसुदेवत्वे हेतुः श्रीमानिति, लक्ष्मीपतिरयमित्यर्थः, इमं गूढाभिप्रायमभिज्ञा एतज्ज्ञातारोभितोस्य स्वरूपं ये जानन्ति "यावान् यश्चास्मि यादृश" इति, अत एव सम्यक्त्वेन प्रकर्षेण च चक्षते ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ — किसी देश विशेष में, आपके घर आने से पहले ही वसुदेव के यहाँ पुत्ररूप से यह प्रकट हुआ। इस प्रकार कहने से समझा जायगा कि यह नन्दरायजी के गृह में केवल आया है। उसका वास्तविक रीति से, नन्दरायजी से प्राकट्य नहीं हुआ अर्थात् यह नन्दजी का



पुत्र नहीं है किन्तु वसुदेवजी का पुत्र है। इस शंका को निवारण करने के लिये श्लोक में कहे हुए 'वसुदेवस्य' और 'तव' दोनों शब्दों का सामान्याधिकरण करते हुए दोनों का एक ही रूप दिखाते हैं अर्थात् यह जो गर्गजी ने वसुदेवजी के वहाँ कृष्ण का प्राकट्य कहा है। वह नन्दजी ही है क्योंकि आधिदैविक वसुदेवजी तो नन्दजी<sup>x</sup> है। आधिदैविक कृष्ण स्वरूप का प्राकट्य आधिदैविक वसुदेवजी (अर्थात् नन्दजी) के यहाँ ही हुआ है इससे यह भी जता दिया कि पुत्रत्व के कारण प्रद्युम्न रूप से प्राकट्य भी यहाँ हुआ है। वसुदेवजी में शुद्ध सत्व के आविर्भाव से इसमें अनिरुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ। श्री नन्दरायजी की बुद्धि में इस प्रकार आया कि गर्गाचार्यजी ने कहा है कि सचमुच यह (कृष्ण) तुम्हारा पुत्र है। वसुदेवजी के यहाँ तो क्वचित् (कभी) हुआ था। 'वासुदेव' यह है इसका कारण बताते हैं कि यह लक्ष्मीपति<sup>\*</sup> है।

इस गूढाभिसन्धि (गुप्तं तात्पर्य) को वे कहते हैं जो इसके स्वरूप को जो है जितना है और जैसा है इस प्रकार जानते हैं ॥ १५ ॥

**आभास —** एवं नामद्वयमुक्त्वा गुणयोगादयमनन्तनामेति सर्वशास्त्रेषु तानि नामानि स्वत एव ज्ञातव्यानीत्यतिदिशति बहूनीति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार श्रीकृष्ण के दो नाम कहे। अब इस श्लोक में कहते हैं कि गुणों के योग से इनके अनन्त नाम हैं। उनका सर्व शास्त्रों में वर्णन है वहाँ से आप ही स्वयं जान लें।

**श्लोक: —** बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ।

**गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ॥ १६ ॥**

**श्लोकार्थ —** आपके पुत्र के गुणों तथा कर्मों के अनुसार बहुत नाम हैं। उन्हें मैं जानता हूँ अन्य मनुष्य नहीं जानते।

**सुबोधिनी —** बहून्यसङ्ख्यातानि नामानि रूपाणि च, अन्यथा क्रियायां निवृत्तायां तन्नाम न स्यात् पाचक-पाठकवत्, रूपं चेत् तादृशं भवति तदा क्वचिद् गुणयोगात् प्रवृत्तरूपे नामावश्यकत्वाद् गवादिवत् सर्वदा भगवति चकारान्नामरूपयोः क्रियायाश्च नित्यत्वं प्रतिपादयति सन्तीति, तेन भगवान् गोवर्धनमुद्धरन् सर्वदा वर्तत इति गोवर्धनोद्धरणधीरः क्रियानामभ्यां सहितो गोवर्धनोद्धरणरूपः सर्वदा वर्ततेऽपि प्रतिकृत्यनुभवो भक्तानामतो नन्तान्येव

<sup>x</sup> कृष्णोपनिषद् में नन्द को परमानन्द कहा है वहाँ आधिदैविक वसुदेव समझना — 'प्रकाश'

<sup>\*</sup> देवताओं की देवी लक्ष्मी वह जिसकी है वह वसुदेव वासुदेव है। यह सत्य अर्थ इसलिये कहा है कि नन्दजी का कृष्ण में विशेष स्नेह होये — 'प्रकाश'

रूपाणि नामानि चात्यैव कृष्णस्य भगवतः, तदाह सुतस्य त इति, अन्यथा तस्य भ्रमो भवेत्, वसुदेवस्य विद्यमानत्वात् न वाक्यं बाधितार्थं, स्तुत्यर्थमनुरूपाण्यपि कदाचिद् भवन्तीति तदव्यावृत्त्यर्थमाह गुणकर्मानुरूपाणीति, गुणानामौदार्यादीनां कर्मणां कालीयदमनादीनां चालौकिकानां, नामान्यप्यलौकिकानि भवन्तीति गुणकर्मानुरूपाणि तानि रूपाणि नामानि चालौकिकत्वेनाहमेव वेद नो जनाः, व्यवहरन्त्युच्चारयन्ति च तथापि विचारभावात् जानन्ति, यतो जना जननादिभावधर्मयुक्ताः क्लिष्टा इत्यर्थः, विचारस्तु क्रियायामनित्यतायां रूपे वा कालादिपरिणामेन प्रतिक्षणमन्यभावे तत्सम्बन्धेन प्राप्तं नामान्यदान्यस्मिन् वा सम्बन्धरहितत्वाद् वाचकमेव न भवेत्, ततो निरर्थकानि नामानि न फलन्ति, नाप्यन्तःकरणं शोधयन्ति, अतः स्वरूपाज्ञानेन केवलमुच्चारितानि रूपसम्बन्धाभावात् स्वतोप्यलौकिकत्वाज्ञानादग्न्युच्चारणे दाहाभाववद् भगवन्नामोच्चारणेपि न प्रपञ्चनिवृत्तिः नामानि च वर्णात्मकत्वेनैव ज्ञातानि पुरुषं जगच्च नामयन्त्युच्चारयितुरग्रे वस्थतथा स्थापयन्तीति नामानि रूपवन् नामरूपस्यापि भगवतो

रूपाणि, यथा भगवद्रूपं प्राकृततुल्यं प्रतीयते ग्राहकदोषादेवं नामान्यपि लौकिकानां ग्राहकदोषादेव लौकिकवर्णयुक्तानीव प्रतीयन्ते, वस्तुतस्त्वखण्डन्येव तथा ज्ञानपूर्वकं शुद्धभावेन वस्तुतत्त्वे ज्ञात एव तद्बुद्धयोच्चारितानि, न तु लोकसिद्धानुवादकरूपाणि, नामानि सर्वपुरुषार्थानि फलन्ति नान्यथेतिसिद्धान्तो लोकाध्यायेनोच्चारयितरि फलाभावे दोषसंबन्धे वा न काप्यनुपपत्तिः, एतस्यैव तारतम्येन चित्तशुद्धयतिशयो नाम्ना भवति, अन्यथा त्वावृत्तं स्वाधिदैविकसहितमेवेति कदाचित् फलति यद्याधिदैविकोद्बोधपर्यन्तमावर्तेत, कालादीनां तु नाममाहात्म्य-ज्ञानादुच्चारयितुः परित्यागः, अनुगुणात्वात् सारूप्येण साधकमिति लौकिकस्यापि प्रवर्तनापरत्वेन मोक्षदातृत्वमित्यजामिलोपाख्यानस्यापि न वैयर्थ्यं, अन्यथा तत एव वैकुण्ठे गमनं स्यात्, अत उपायपरत्वमेव लौकिकस्य, तस्मात् सूष्टूकं तान्यहं वेद नो जना इति, अनेनानन्तान्येव नामान्युक्तान्युपास्यरूपाणि चान्तःकरणशोधकानि, तदवस्थां भगवद्रूपस्य स्मृत्वा तत्राम ग्राह्यमिति, अन्यथा नामप्रसंगे रूपकथनं व्यर्थं स्यात् ॥ १६ ॥

**व्याख्यार्थ —** श्रीकृष्ण के नाम और रूप अगणित एवं नित्य हैं, जो यों न होवे तो पाचक तथा पाठक के समान क्रिया समाप्त होते ही नाम भी न रहे। जो वैसा रूप दूसरे प्रकार का क्रिया बंद होते हुए भी रहने वाला (क्रिया आदि के अनुकूल) होता है, तब व्रचित् गुणों के योग होने पर, उस प्रकार के भगवत् रूप का प्रार्दुभाव होते ही उसका नाम भी अवश्य होगा। जैसे गौ आदि के गुणानुसारी रूप होते हुए नाम भी सर्वदा होते ही हैं। आचार्यश्री कहते हैं कि शुकदेवजी ने श्लोक में 'च' अक्षर और 'सन्ति' सत्तावाचक क्रिया देकर भगवान् के 'नाम' 'रूप' और 'क्रिया' का नित्यत्व स्पष्ट प्रतिपादन किया है। जिससे भगवान् गोवर्धन को धारण करते हुए सर्वदा विराजते हैं। इसलिये आप (भगवान्) को गोवर्द्धनोद्धरण धीर क्रिया और नाम दोनों सहित गोवर्द्धनोद्धरण सर्वदा है। इसलिये अभी तक भी भक्तों को उस स्वरूप के दर्शन का अनुभवानन्द होता ही है अतः इस भगवान् कृष्ण के अनन्त नाम और रूप हैं। श्री नन्दरायजी में आधिदैविक वसुदेव स्वरूप होते हुए भी इस अर्थ का बोध नहीं होता है अर्थात् यह अर्थ असत्य नहीं हो सकता है और स्तुति के लिये गुण एवं कर्म के बिना भी, कल्पित नाम और रूप कहे जाते हैं। इन दोनों शंकाओं के मिटाने के लिये कहते हैं कि इस (श्रीकृष्ण) के जो

नाम और रूप हैं वे गुण और कर्मानुकूल ही हैं। जैसे कि अलौकिक औदार्यादि<sup>१</sup> गुण और कालीयदमन आदि अलौकिक कर्मों के कारण नाम भी अलौकिक है। इन गुण, कर्म और नामों की अलौकिकता को मैं जानता हूँ, सामान्य लोग नहीं जानते हैं। यद्यपि जनसमूह इन नामों का उच्चारण करते हैं, व्यवहार में लाते हैं तो भी उनमें इनकी अलौकिकता के समझने की शक्ति का अभाव है। इसलिये नहीं जान सकते हैं। क्योंकि 'जनाः' शब्द देकर श्री शुकदेवजी ने बताया है कि जन्म आदि भाव एवं धर्म वाले हैं इसलिये आचार्यश्री कहते हैं कि 'क्लिष्ट' है अर्थात् दुःखी है। जो दुःखी होते हैं उनमें अलौकिक वस्तु के विचार करने की शक्ति नहीं होती है। विचार के स्वरूप का वर्णन करते हैं कि जो क्रियाएँ अनित्य होती हैं और जो रूप कालादि के आधीन होते हैं वे प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। ऐसी क्रियाएँ अनित्य एवं कालाधीन रूपों से जिन नामों का सम्बन्ध होता है, वे नाम निश्चित सत्य से सम्बन्ध रहित होने से निरर्थक होते हैं। जिनका कोई अर्थ<sup>२</sup> नहीं। ऐसे नाम अन्तःकरण को भी शुद्ध नहीं कर सकते हैं किन्तु भगवान् के स्वरूप कालाधीन नहीं है और उनकी क्रियाएँ नित्य हैं अतः उनके नाम भी नित्य एवं सत्य है। यदि विचारपूर्वक भगवान् के नाम रूप एवं कर्म (क्रिया) स्वरूप को सत्य एवं नित्य समझ कर, जो मनुष्य नाम लेता है, उसको फल मिलता है; किन्तु जो यों न समझ कर, स्वरूप के सम्बन्ध बिना नामों को लौकिक अक्षरमात्र जानकर उनका केवल उच्चारण करते हैं, उनका इस प्रकार के नाम उच्चारण से प्रपञ्च<sup>३</sup> नष्ट नहीं होता है जैसे अग्नि कहने से कोई जलता नहीं है। नाम<sup>४</sup> रूप-भगवान् के रूप के समान नाम भी रूप है। जैसे दर्शक की दोष दृष्टि से दर्शकों को भगवदाकार प्राकृत तुल्य दीखते हैं वैसे ही कहने वाले की दूषित बुद्धि से, उनको भगवन्नाम भी लौकिक वर्ण युक्त प्रतीत होते हैं। निर्दोष बुद्धि से सोचा जाए तो भगवन्नाम वास्तविक अखण्ड<sup>५</sup> है। इस प्रकार ज्ञान पूर्वक शुद्ध भाव से वस्तुतत्त्व (नाम, रूप वस्तु का तत्त्व) समझ, उस बुद्धि से नाम का उच्चारण किया जाए तो सर्व पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। दूसरे

\* प्रकाशकार गो० श्री पुरुषोत्तमजी भगवान् से सम्बन्धित नाम में, इतनी शक्ति कैसे आई, इसको समझाते हुए कहते हैं कि एक तो शास्त्रों में अ, क, म आदि अक्षरों को शब्दब्रह्मरूप कहा है। इस प्रकार शास्त्रीय सिद्धांत से स्पष्ट होता है कि भगवान् से सम्बन्धित नाम के अक्षर ब्रह्मरूप हैं। इसलिये ब्रह्म के रूप में जो शक्ति सामर्थ्य है, वह नाम में भी सामर्थ्य है; क्योंकि नाम भी उसके ही रूप है अतः ऐसे भगवान् के नाम - पुरुष तथा जगत् को नमाते हैं अर्थात् पुरुष और जगत् नामोच्चारण करने वाले के अधीन हो जाते हैं। जिस प्रकार वृष आदि पशुओं के नधुने<sup>६</sup> से, वे डालनेवाले के चलाने से चलते हैं अर्थात् उनके आधीन रहते हैं। वैसे ही भगवान् भी नाम रूप रज्जु से नाथे हुए है। नामोच्चारण से, नामोच्चारण करने वाले के निकट, स्वतः बिना विलम्ब पधारते हैं।

१-उदारता आदि।

२-निष्फल, व्यर्थ।

३-फल।

४-संसार।

५-नित्य, सत्यरूप।

६-नाक में रस्सी आदि छलने से।

प्रकार से (लौकिक प्रकार से) उच्चारण करने से कोई फल नहीं होता अथवा दोष भी होता है। इसके सिद्ध करने में उपपत्ति<sup>१</sup> भी है। इस (नाम) के ही भेद<sup>\*</sup> से नाम लेते लेते चित्त की अतिशय शुद्धि होती है। जो नहीं तो जब तक आधिदैविक स्वरूप का उद्बोध हो, तब तक चार बार नाम लेता ही रहे, डिगे नहीं तो किसी समय में फलीभूत हो जाता है। काल को भगवान् के नाम का माहात्म्य ज्ञान है, इसलिये काल, नामोच्चारण करने वाले को पकड़ता नहीं, छोड़ देता है। भगवान् के नामके समान किसी का नाम हो वह नाम भी, सारूप्य<sup>†</sup> (उन्हीं अक्षरों से बन जाने) के कारण फलदाता हो जाता है। वह नाम भगवान् में प्रवृत्ति कराने से मोक्ष देता है, इसलिये अजामिल का चरित्र भी व्यर्थ<sup>२</sup> नहीं है। यदि लौकिक मनुष्य के कृष्णादि नाम भी लेने वाले को भगवान् के नाम की तरह फल दाता होते, तो अजामिल को उसी समय सीधा वैकुण्ठ मिल जाता ; किन्तु यों हुआ नहीं अतः लौकिक नाम एक प्रकार के उपाय रूप है। इस कारण से गर्गाचार्यजी ने प्रशस्त<sup>३</sup> कहा है कि उन (नामों) को मैं जानता हूँ, मनुष्य नहीं जानते हैं। इससे गर्गाचार्यजी ने यह समझाया है कि भगवान् (श्रीकृष्ण) से उपास्य रूप और अन्तःकरण शोधक अनन्त नाम है। भगवान् के जो जो नाम लिये जाएँ, वे नाम भगवान् की जिस अवस्था (लीला) के हों उस लीला एवं स्वरूप का ध्यान धरते हुए नाम लेना चाहिए। इसलिये नामकरण प्रसंग में रूप वर्णन किया गया है। यदि नाम स्मरण के समय रूप के ध्यान की आवश्यकता न होती तो यहाँ व्यर्थ रूप वर्णन न किया जाता ॥ १६ ॥

**आभास — ज्योतिःशास्त्राभिज्ञत्वाद् रूपनामज्ञानार्थं भगवतो गुणकर्माण्याह चतुर्भिस्तत्रादौ द्वयेन कर्माण्याहैष व इति ।**

\* नाम के स्वरूप का ज्ञान एवं भक्ति आदि के स्वरूप का ज्ञान इत्यादि भेद वा तारतम्य । —प्रकाश

† लौकिक मनुष्य का नाम भगवान् के नाम सदृश 'कृष्ण गोपाल' आदि हो तथापि उन नामों में भगवान् के सदानन्दादि धर्म नहीं होते हैं। इसलिये वे लौकिक शब्द हैं, उन के लेने से, किसी किसी का मोक्ष जो हुआ है वह भगवान् के नाम सारूप्य के कारण हुआ है; किन्तु वे उपाख्यान, नाम माहात्म्य प्रकट करने के लिये हुए हैं। उनका तात्पर्य यह है कि जो मनुष्य भगवान् का नाम नहीं लेते हैं, उनकी नाम लेने में प्रवृत्ति हो । —टिप्पणी

गुरु की कृपा से जिसको लौकिक नाम और भगवान् के नाम के तारतम्य का ज्ञान हो जाता है, वह मनुष्य स्वरूपज्ञान सम्बन्धित भगवान् का नाम लेता है, उसको शीघ्र ही फल मिलता है। जिसको ज्ञान नहीं, यों ही नाम लेता है, वह निरन्तर दृढ़ता से लेता रहेगा, तो आधिदैविक का उद्भव (प्रबोध) होकर, आधिदैविक फल की प्राप्ति होगी। वह आधिदैविक उद्बोध न हुआ और नाम लेने वाले की मृत्यु हो गई, तो यम के दूत उनसे दूर भाग जाते हैं अर्थात् वह नरक में नहीं आता है, उसको भगवान् स्वेच्छा से फल देते हैं। —प्रकाश

आभासार्थ — गंगाचार्यजी ज्योतिः शास्त्र के पूर्ण ज्ञाता है, इसलिये भविष्य में मनुष्यों को भगवान् के रूप और नाम ज्ञानार्थ, निम्न चार श्लोकों में उनका वर्णन करते हैं। पहले दो श्लोकों में भगवान् के कर्मों का वर्णन करते हैं।

श्लोकः — एष वः श्रेय आधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः ।

अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ — यह (श्रीकृष्ण) आपका कल्याण करते हुए गोप और गोकुल को आनन्ददाता होंगे इससे आप सब सर्व प्रकारों के संकटों से तर जाओगे।

सुबोधिनी — एष भगवान् परिदृश्यमानो वो युष्माञ्च श्रेय आधास्यद् धृतवान् पोषितवान् वा, पूतनासुषयः पानादिकं यद् भगवता कृतं तद् भवतां श्रेयोनिमित्तं, अविद्या हि पञ्चपर्वा सा नाशिता शकटः संसाररूपको भञ्जितो विद्याकार्यरूपो मोहात्मकश्च तृणावर्तो मारितः, एवं त्रिदोषदूरीकरणेन ज्ञानोत्पादनेन चासमन्ताच्छ्रेयोधास्यत्, स्वयं सर्वपुरुषार्थरूपोऽपि दोषवशाद् ग्रहीतुमन्यैर्न शक्यत इति दोषदूरीकरणद्वारा श्रेयोधारकत्वं, किञ्च न केवलं सकृद् दत्तवान् किन्तु धृत्वैव तिष्ठति, अतोऽप्रेषि दास्यति यावता च भवद्भिः परमश्रेयो गृहीतो (गृहीतं) भविष्यति तावत् करिष्यतीत्याकारः, भूते लुङ्, तेन सिद्धं भवतां श्रेय इत्युक्तं, अनेन भवद्भ्यस्तु बहूनि कर्माणि करिष्यतीती कर्माण्युक्तानि, एवं दोषाभावात् करिष्यमाणानि कृतानि कर्माणि चोक्त्वा परमानन्ददायकान्यपि कर्माणि करिष्यतीत्याह गोपगोकुल-नन्दन इति, गोपान् गोकुलं च नन्दयतीति, गोपशब्देन गोप्योऽपि गृहीताः गोकुलशब्देन तत्सम्बन्धिनश्च यावन्तस्तदुपजीवकाः, उभयविधानप्यानन्दयिष्यतीतिक्रीडा तत्प्रतिधातवधश्चोक्तः, ननु त्वया कंसो ज्ञात्वा मारयिष्यतीति भयं जनितं तत्र का गतिरिति चेत् तत्राहानेनेति, अनेन भगवता सर्वाण्येव दुर्गाणि सङ्कटस्थानानि कंसोपद्रवरूपाणि सर्वाणि यूयमञ्जसानायासेन सर्व एव तरिष्यथ, अतः कंसादिभयमपि न कर्तव्यं, इदं तु वसुदेवस्यास्माकं चोपद्रवो भविष्यतीत्युक्तं न तु भवतामिति भावः ॥ १७ ॥

व्याख्यानार्थ — यह भगवान् जो सामने दर्शन दे रहे हैं, वह आपके श्रेय<sup>१</sup> का धारण और पोषण करने वाले हैं। जैसा कि इन्होंने पूतना के प्राणरूपी दुध का पान आपके हित के लिये किया है। पञ्चपर्वा अविद्या का नाश किया, संसाररूपक शकट तोड़ा, अविद्या कार्य रूप और मोहात्मक तृणावर्त का वध किया। इस प्रकार तीन प्रकार के दोषों का नाश करने से एवं ज्ञानोत्पादन करने से चारों तरफ श्रेय किया। स्वयं भगवान् सर्व पुरुषार्थ<sup>२</sup> रूप हैं तो भी जीव दोष वश होने से उनको ग्रहण<sup>३</sup> नहीं कर सकते हैं। भगवान् कृपा कर दोष दूर कारण द्वारा श्रेय धारण करते हैं। न केवल सकृत्<sup>४</sup> श्रेय दान कर देते हैं; किन्तु उस श्रेय को धारण करते हुए स्थित रहते हैं। श्लोक में धास्यत् के आगे 'आ' उपसर्ग दिया है उसका आशय, आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि अतः आगे भी शुभ देंगे (करेंगे) जब तक आप उस (श्रेय) को ग्रहण करते रहोगे, तब तक देते रहेंगे।

इससे यह बताया कि आप (नन्दादि) का श्रेय सिद्ध हो गया है। अब आपके रक्षार्थ, भगवान् अनेक कर्म करेंगे। इस प्रकार कर्म कहे जिन कर्मों से दोषों का अभाव होगा। उन कर्मों का वर्णन कर अब कहते हैं कि न केवल दोष दूरीकरण कर्म कर शान्ति करेंगे, किन्तु आगे परमानन्द-प्रद कर्म भी करेंगे। इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि गोपों को और गोकुल को आनन्द देंगे। यहाँ गोप शब्द से गोपियों को भी समझना चाहिये। 'गोकुल' शब्द कहने से उससे सम्बन्ध रखने वाले और उससे आजीविका चलाने वाले भी आ गए ऐसा समझना। दोनों प्रकार वालों को आनन्दित करेंगे। यह भगवान् की क्रीड़ा कही और क्रीड़ा में विघ्नकर्ताओं का वध करना भी कहा। नन्दजी के मन में यह भय नहीं रहे कि आप (गर्गजी) ने कहा था कि कंस को ज्ञात होगा तो वह इसको मारेगा। इस नन्द के भय को मिटाने के लिये कहते हैं कि इस बालक के द्वारा तुम सर्व प्रकार के संकटों से, जो जो कंस द्वारा उपद्रव होंगे, वा अन्यो से होंगे, उन सब को बिना आयास<sup>१</sup> सब तर जाओगे। अतः कंसादिकों का भय नहीं करना चाहिये। मैंने जो पहले कहा था कि कंस को ज्ञात होगा तो हानि होगी वा उपद्रव होगा। मेरे उस कहने का तात्पर्य यह था कि वह हानि वा उपद्रव का भय मुझे (गर्गजी को) और वसुदेवजी को होने को कहा था न कि आपको। इसलिये आप किसी प्रकार के भय की शंका न करें ॥ १७ ॥

**आभास —** एवं सर्वदुःखनिवृत्तिपूर्वकसर्वपुरुषार्थसिद्धिरस्माद्भवतामित्युक्तं, अतोस्य चिन्ता नास्तीत्युक्तमेव, मोक्षोप्यस्माद् भविष्यतीति वक्तुं तदर्थमिन्द्रियजयमपि वक्तुं पूर्वोक्तेपि प्रमाणमाह पुरानेनेति ।

**आभासार्थ —** इस (कृष्ण) से ही आपके सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति तथा सर्व पुरुषार्थों की सिद्धि होगी अतः इस विषय की चिन्ता नहीं करनी चाहिए। ऐसा कहकर अब इस श्लोक में कहते हैं कि मोक्ष भी इससे ही होगा तथा मोक्ष के लिये इन्द्रियों को जीतने की जो आवश्यकता है उसकी पूर्ति भी आपकी ये ही करेंगे। पूर्वोक्त का प्रमाण भी इस श्लोक में कहते हैं।

**श्लोक: —** पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः ।

अराजकेरक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेषिताः ॥ १८ ॥

**श्लोकार्थ —** जब कोई राजा न था, तब चोरों से पीडित एवं किसी से भी अरक्षित नाधुओं की, इस तुम्हारे पुत्र ने रक्षा और वृद्धि की जिससे वे दस्युओं को जीत सके।

सुबोधिनी — हे ब्रजपते, अनेन भगवता कृत्वा दस्युपीडिता अपि साधवः समेधिताः सन्तो दस्यूज् जिग्युः क्षुद्रोपद्रवोपि चोखत् कंसादिभिः कर्तुं न शक्यो यतोस्य स्वभावकृतिरेव तादृशी, ब्रजपत इतिसम्बोधनं सर्वस्यापि ब्रजस्य यथासुखं विहरणयुक्तस्य सर्वतः कुशलं भविष्यतीति ज्ञापयति, तेन यत्र क्वापि स्थातव्यं न चिन्तेतिभावः, पुरेतिवचनात् सदातनोयं न तु त्वद्गृहेधुनावतीर्ण इति ज्ञापितं, अनेनेति न तस्यावतारः किन्त्वयमेव सम्बोधनं तु ज्ञानाभावज्ञापकं, दस्यवो रावणादयः 'ब्रसदस्यु'पदे तथा निर्वचनस्योक्तत्वात् "यस्यामिमे षण् नरदेवदस्यव" इति भवाटव्यामिन्द्रियाणि चोक्तानि कंसोपि तृणावर्तादिप्रेषणाद दस्युः नन्वेन दस्यवो मारिता इत्यत्र किं प्रमाणम् ? तत्राह

साधव इति, यद्यन्तःकरणस्थितचोराः बहिःस्थिताश्च न मारयेत् तदा साधव एव न भवेयुः, विशेषाकारेणापि मारयतोत्याह दस्युपीडिता इति, दस्युमिरूपहतधनाः, पुनः समेधितास्तथैव कृतास्ततोप्यधिकाश्च, ततो जिग्युः स्वयमेव ताज् जितधन्तः, अतो भवन्तोप्यनेन समेधिताः स्वयमेव दस्यूज्, जेष्यन्ति, एवं भगवत्स्त्रिविधानि कर्माणि निरूपितानि सर्वदोषनाशकानि सर्वसुखजनकानि सर्वसामर्थ्यजनकानीति, ननु कथं साधूनां दुष्टोपद्रवः पूर्वं राज्ञां विद्यमानत्वात् तत्राह्यराजक इति, न विद्यन्ते राजानो यस्मिन् देशे, परशुरामेण सर्वे हताः कालेन च विवेकादयोत् एवमरक्ष्यमाणा रक्षकापेक्षामपि न कृतधन्तः अतः कंसापेक्षां परित्यज्य स्वतन्त्रतया राजवत् स्थातव्यमित्युपदेशोप्युक्त ॥ १८ ॥

व्याख्यानार्थ — हे ब्रज के स्वामी ! चोरों से पीड़ित<sup>१</sup> भी, साधुओं ने इस तुम्हारे पुत्र भगवान् से सब प्रकार से वृद्धि को पाकर, बलिष्ठ हो, उन चोरों को जीता । इससे आप निश्चयपूर्वक निश्चिन्त रहो और समझो कि चोरों के समान कंसादिक थोड़ासा भी उपद्रव नहीं कर सकेंगे क्योंकि इस (श्रीकृष्ण) की स्वभाव कृति<sup>२</sup> ही वैसी है । श्लोक में श्री शुकदेवजी ने नन्दरायजी को 'ब्रजपते' कहा है उसका भाव स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि यह नाम देने का तात्पर्य यह है कि न केवल आपका कुशल करेगा, किन्तु जिसमें यह विहार करेगा और जिसके आप (नन्दराय) पति हो उस समग्र ब्रज का इससे कुशल होगा । इससे आप समग्र ब्रज मण्डल में कहीं भी अपना निवास स्थान बनाओ, किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है, यह भाव है । श्लोक में 'पुरा'शब्द का भाव आचार्यश्री बताते हैं कि आप (नन्दराय) यों न समझना कि यह मेरे यहाँ प्रकट हुआ है, इसलिये यह केवल अब है, नहीं, यह तो 'सनातन' सदैव है । श्लोक में दिये 'अनेन' शब्द का भाव स्पष्ट करते हैं कि यों ना जानना कि यह बालक उसका (अंशकलादि) अवतार है; किन्तु यह वही है अर्थात् जिसने दस्यु पीड़ित साधुओं को सब प्रकार से बलिष्ठ बनाकर उनसे दस्युओं को पराजित करवाया था । 'ब्रजपते' यह सम्बोधन (८वीं) विभक्ति देने का अशय आचार्यश्री बताते हैं कि (नन्दरायजी को) यह अंश कलादि अवतार नहीं है किन्तु पूर्वकाल में साधुओं से दस्युओं को पराजित करने वाला यही था इस प्रकार का ज्ञान न था । इसको बताने के लिये संबोधन देकर नन्दरायजी को प्रबुद्ध किया । दस्यु कौन थे कि रावणादि नृपति दस्यु थे । जैसा कि भागवत के पञ्चम स्कन्ध के १३ वें अध्याय के द्वितीय श्लोक में कहा है कि यह छः नरदेव (राजा) दस्यु हैं । इस प्रकार ये बाहर के दस्यु और संसार रूपी वन में इन्द्रियाँ भीतरी दस्यु<sup>३</sup> हैं एवं तृणावर्त आदि दैत्यों को भेजने वाला कंस भी दस्यु है । इसने

दस्युओं को मारा इसका प्रमाण क्या है ? इसके उत्तर में श्लोक में कहा है कि 'साधवः' पृथ्वी पर अब तक साधुजन हैं । यदि अन्तःकरण में स्थित इन्द्रियादि चोरों को एवं बाहर स्थित नरदेव दस्युओं (नृपति रूप) का नाश न किया होता तो पृथ्वी पर 'साधु' ही न होते । विशेष कारण से भी मारा है । जैसा कि दस्युओं ने साधुओं का सब प्रकार से धन लूट लिया, वे निर्धन निर्बल हो गए तब साधुओं को आगे से भी विशेष सुखी और समृद्धिकर, बलिष्ठ बनाया जिससे वे साधु स्वयं उन दस्युओं से जीत गये । अतः आप भी इसके द्वारा सुखी एवं समृद्धिशाली तथा बलवान् हो, स्वयं ही दस्युओं को जीतोगे । इस प्रकार भगवान् के १ - सर्व दोष नाशक, २ - सर्व सुख जनक एवं ३ - सर्व सामर्थ्यजनक - तीन प्रकार के कर्म कहे । राजाओं के होते हुए दुष्टों ने साधुओं को दुःखी कैसे किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि उस समय में 'अराजक' देश था । जैसे कि एक तो परशुरामजी ने राजाओं को समाप्त कर दिया और दूसरा काल के प्रभाव से राजाओं के विवेक आदि का नाश हो गया, जिससे राजा भी नाममात्र के थे; वास्तव में वे दस्यु ही थे । वे (साधु) अरक्षित थे, भगवत्कृपा होने के कारण साधुओं ने रक्षा करने वालों की अपेक्षा<sup>१</sup> भी न की । इससे यह उपदेश दिया कि आप भी कंस की अपेक्षा न कर स्वतन्त्र राजा के समान रहो ॥ १८ ॥

**आभास —** एवं कर्माण्युक्त्वा गुणानाह य एतस्मिन्निति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार कर्मों का वर्णन कर अब गुणों का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः —** य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः ।

नारयोभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥ १९ ॥

**श्लोकार्थ —** जिस प्रकार विष्णु भगवान् के पक्ष वालों का, असुर पराभव<sup>२</sup> नहीं कर सकते हैं वैसे ही जो मनुष्य (श्रीकृष्ण) से प्रेम करते हैं उनका उनके शत्रु पराभव<sup>२</sup> नहीं कर सकते ।

**सुबोधिनी —** गुणास्त्वनुभावरूपाः क्रिया नापेक्षन्ते, ये महाभागा एतस्मिन् भगवति प्रीतिं स्नेहं कुर्वन्ति तानस्यो नाभिभवन्ति, स्वत एव तर्हि सर्व एव कथं प्रीतिं न कुर्वन्तीत्याशङ्क्य भगवत्प्रीतौ स्वरूपयोग्यता सहकारियोग्यता चापेक्ष्यत इत्याह मानवा मनोजाताः सद्धर्मरूपा धर्माश्च

एवोत्पन्ना इति स्वरूपयोग्यानां "मन्वन्तराणि सद्धर्म" इतिवाक्यात्, महाभागा इति "जन्मान्तरसहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिः नराणां क्षीणपापानां कृष्णो भक्तिः प्रजायत" इतिवाक्यात् परमभाग्येनैव प्रीतिर्जायते प्रीतिमिति सर्वदैकविधप्रीतिकरणार्थमेकवचनं पटवद् वृद्ध्यर्थं वा



खण्डशःकरणाभावात् वा हेतुस्तूत एव, य इतिप्रसिद्धतया तेषां निर्देशः, भवन्तस्त इति प्रतिनिर्देशार्थः, एतान् परिदृश्यमानान् गोकुलस्थान्, नन्वन्तर्यामिप्रेरणेनैव ते न बाधन्ते, अवश्यं चैतद् वक्तव्यं, भक्तिस्त्वनन्तर्यामिप्रेरणार्थं ततो नानेन प्रकारेण भगवद्गुण उक्ता भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह विष्णुपक्षानिवासुर इति, विष्णुः पक्षे पक्षपाते येषां विष्णुरेषां रक्षक इति येषु ज्ञानमतः स्वकृतिवैयर्थ्यशङ्क्यासुरा न बाधन्ते,

अन्तर्यामी तेषां नान्यथाप्रेरक आसुराणामासुरभावेनैव प्रेरणनियमात्, अतो विशेषाकारेणैव पालयिष्यतीति सर्वजनीनत्वात्, अम्बरीषादिचरित्रे तथा प्रसिद्धेः, अस्य प्रीतेरेषोनुभावः, गुणास्त एव ये सानुभावाः परम्परयाप्यनुभावं सम्पादयन्ति, अनेन साक्षाद्गुणा अनन्ता एव वक्तुमशक्या इति सूचितम् ॥ १९ ॥

**व्याख्यानार्थ —** भगवान् के गुण तो स्वयं सामर्थ्य वाले हैं उनको क्रिया<sup>१</sup> की कोई अपेक्षा<sup>२</sup> नहीं है। इसलिये जो भाग्यशाली मनुष्य इन भगवान् से प्रेम करते हैं उनको शत्रु तिरस्कृत<sup>३</sup> नहीं कर सकते हैं। यदि भगवद्गुणों का ऐसा प्रभाव है तो सब मनुष्य स्वतः<sup>४</sup> क्यों नहीं भगवान् से प्रेम करते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि गुण सामर्थ्य वाले हैं तो भी स्वरूप योग्यता और सहकारी योग्यता की अपेक्षा रखते हैं। इसलिये शुकदेवजी ने 'जनाः' न कहकर 'मानवाः' कहा है। मनु से सद्धर्म रूप धर्म पालन के लिये ही वे लोग उत्पन्न हुए हैं। इससे इनमें 'मन्वन्तर सद्धर्म' है, इस प्रकार भागवत के २ - १ - ४ के अनुसार स्वरूप योग्यता है। ये लोग भगवान् से प्रीति करने वाले, महाभाग्यवाले हैं, जैसा कि (पाण्डव गीता में) कहा है। सहस्र वर्ष तपस्या, ध्यान तथा समाधि से जिनके पाप नष्ट हो गये हैं। उन मनुष्यों को भगवान् कृष्ण से प्रेम होता है। इससे जाना जाता है कि परम भाग्य से ही भगवान् में प्रेम उत्पन्न होता है। 'प्रीति' शब्द एक वचन देने का आशय आचार्यश्री बताते हैं कि सदैव एक जैसा प्रेम करना चाहिये और वस्त्र के समान बढ़ाते जाना चाहिए। अथवा वस्त्र के समान कहने से यह समझाते हैं कि एक देशीय प्रेम नहीं करना चाहिए। 'जो' मनुष्य शब्द से प्रेम करने वाले हैं वे प्रसिद्ध हैं। वे कौन हैं? तो आचार्यश्री कहते हैं कि वे आप हो। 'इनके' कहने से यह बताया कि ये जो गोकुलस्थ दीख रहे हैं, उनको वे (शत्रु) अन्तर्यामी की प्रेरणा से बाधा नहीं करते हैं यह अवश्य ही कहना चाहिये। भक्ति जो की जाती है वहा शत्रुओं के अन्तर्यामियों की प्रेरणा के लिये ही है। यह जो भगवान् के गुणों के वर्णन का प्रकार कहा, इससे भगवान् के गुण स्पष्ट समझ में नहीं आते हैं। भगवद्गुणों का प्रभाव स्पष्ट में आए, इसलिये दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि 'विष्णुपक्षानिवासुरः।' जैसे असुर जब जानते हैं कि विष्णु भगवान् इन सुरों के पक्षपाती अर्थात् इनका पक्ष लेकर इनकी रक्षा करते हैं तब वे असुर अपनी कृति<sup>५</sup> व्यर्थ जायगी, यों समझ उनको पीड़ा नहीं देते हैं। उनका (असुरों) अन्तर्यामी दूसरे प्रकार से प्रेरक नहीं बनता है। असुरों को आसुर भाव से ही प्रेरणा देने का नियम है। अतः विशेष प्रकार से (अपने मनके अभिप्रायानुसार) ही भगवान् अपने भक्तों का

१-सामर्थ्य उत्पन्न करने वाले कर्म।

२-आवश्यकता।

३-अपमानित।

४-अपने आप ही।

५-किया हुआ प्रयास (कोशिश)।

पालन करेंगे। यह सर्व जन प्रसिद्ध है। अम्बरीषादि भक्तों के चरित्र में यह प्रसिद्ध है कि भगवान् अपने भक्तों के पक्षपाती एवं रक्षक हैं। इस श्रीकृष्ण भगवान् की प्रीति का यह ही प्रभाव है। गुण वे ही हैं जो प्रभाव वाले हों, परम्परा से ही प्रभाव को सम्पादित करते हैं। इससे यह समझना चाहिये कि भगवान् के साक्षात् गुण अनन्त<sup>१</sup> हैं इसलिये उनका वर्णन हो नहीं सकता है। यह सूचित किया ॥ १९ ॥

**आभास —** एवं गुणे प्रदर्शनमात्रमुक्त्वा विशेषाकारेण वदन्नुपसंहारमिषेण रक्षामुपदिशति तस्मादिति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार गुणों को प्रदर्शनमात्र कह कर अब विशेष रीति से कहते हुए उपसंहार<sup>२</sup> के मिष के रक्षा का उपदेश देते हैं ।

**श्लोक: —** तस्मान् नन्दात्मजोयं ते नारायणसमो गुणैः ।

श्रिया कीर्त्यानुभावेन गोपायस्व समाहितः ॥ २० ॥

**श्लोकार्थ —** इससे हे नन्दजी ! आपका यह पुत्र गुणों से तथा श्री कीर्ति और प्रभाव से नारायण के समान है। आप सावधानता से इसका पालन करो ।

**सुबोधिनी —** यस्मादयं महानुभावः पूर्वोक्तकर्मातीतिकस्तस्मात्, हे नन्द सर्वानन्दकारिन्, त्वन्नामसार्थकत्वाय चैनं पालयेतिभावः, अयं ते कुमारो गुणैः कृत्वा नारायणसमो नारायणस्य समः, त्रिविधोपि नारायणोक्षरं पुरुषोत्तम्यमी च, गुणैरेव कृत्वा तत्समः, कर्माणि त्वधिकानि, अनुभावश्च, नराज्जातानीतिपक्षे यावन्तो जीवगणाः सृष्टवुत्पन्नास्ते सर्वे भगवद्गुणख्यापकास्तावद्-गुणप्रसिद्ध्यै तावद्रूपो जात इति, द्वितीयपुरुषस्य तु विशेषेण स्वसम्बन्धयोग्यजीवराशिपरिग्रहात् स्वतुल्यतामापादयितुं स्वभावनिवर्तकाः सानुभावा गुणा उक्ताः, तृतीयपुरुषे त्वन्तर्यामिणि जीववश्य इव तदधीनत्वेन तस्य सर्वकार्यप्रेरक इति भक्तिजनका असाधारणा गुणा उक्ताः, त्रिविधा अपि भगवति कृष्णे सन्तीति गुणैः कृत्वा नारायणसमानः, धर्मान्तैरपि

नारायणसमतामाह श्रिया कीर्त्यानुभावेनेति, ब्रह्माण्डमध्ये नारायणत्रयं यो वैकुण्ठे लक्ष्मीसहितो यः सूर्यमण्डले सर्ववेदसहितो यो भूमौ सर्वब्राह्मणेषु यन्नारायणस्तत्सदृशोपि, यथा सर्वजगज्जनन्या अक्षरनन्दरूपाया सर्वशोभानिधानरूपाया य एकतत्त्वत्रयकर्ता, लक्ष्म्या जगज्जनकत्वं तस्य अपि परमानन्दः सर्वशोभारूपाया अपि शोभा, यथा व्यापिवैकुण्ठस्थो भगवान् लक्ष्म्या एतावत् करोति एवं कृष्णोपि करोति, यथा सवितृमण्डलस्थः कीर्तिं स्थापयति सर्वलोकेषु "न ह्यस्मिन्नुदिते दिनकरे सकलं कमलायते भुवन"मितिवाक्यात् कीर्तिः सूर्ये प्रतिष्ठिता यतः सर्वेषां स्वत एव शीताज्ञानादिसर्वदुःखनिवृत्तिः सर्वसुखं च भवत्येवं कृष्णकीर्तिरपि यतः प्रभृत्युदितस्ततः प्रभृति सूर्यवदेव भागवतादिषु प्रकाशते यथा यज्ञा आधिदैविकाः सर्वेषां

× लेखकार कहते हैं कि असुर प्रेम का नाश नहीं कर सकते हैं। यह प्रेम का प्रभाव है एव प्रेम करने वाले का नाश नहीं कर सकते हैं यह परम्परा से प्रेम के प्रभाव का द्योतक है - 'लेख'

१-जिनका अन्त न हो, बेशुमार। २-समाप्ति।

सर्वकार्यकर्तारो दूरादेव महात्म्यज्ञापकास्तथा महानुभावो  
भगवान्, एवं षड्विधनारायणैस्तुल्यो भगवान् कृष्णो गुणैः  
षड्गुणैः, श्रिया कीर्त्यानुभावेन च तस्यैव विवरणं, एवं  
भगवद्गुणानुक्त्वा चकारेण "सत्यं शौचं" मित्यादिप्रथम-

स्कन्धोक्तगुणानपि सङ्गृह्य परमनिधानत्वेनोपपाद्य  
सावधानान्तःकरणो भूत्वा प्रपञ्चविस्मरणेन गोपाय-  
स्वेत्युपदिशति गोपायस्व समाहित इति, एतावता सर्वथावेक्षा  
कर्तव्या न क्वापि गन्तव्यं न नेय इत्युक्तम् ॥ २० ॥

**व्याख्यानार्थ —** यह बालक (श्रीकृष्ण) प्रभावशाली है इसके पहले कहे हुए कर्म भी अलौकिक हैं। इससे हे नन्द ! (सबको आनन्द देने वाले) आप अपने नामकी सार्थकता करने के लिये इसका लालन-पालन करो। अर्थात् जब आप इसका पालन करते हुए इसको भी आनन्द दोगे। तब आपका नन्द (आनन्द देने वाला) यह नाम सार्थक होगा।

यह तुम्हारा कुमार, गुणों से नारायण के समान है। नारायण के अक्षर पुरुष और अन्तर्यामी ये तीन रूप हैं। इन तीनों रूपों में जो गुण हैं वे गुण इसमें भी हैं इसलिये यह उस (नारायण) के समान है किन्तु कर्म और प्रभाव से तो उस (नारायण) से यह विशेष (बढ़कर) है।

१ - अक्षर रूप नारायण - नारायण के इस (अक्षर) रूप से जितने जीवगण सृष्टि में उत्पन्न हुए हैं, वे सब भगवान् के गुणों को प्रकट करने वाले हैं। उन गुणों को प्रसिद्ध करने के लिये भगवान् ने वैसा रूप धारण किया है।

२- पुरुष रूप नारायण - इस स्वरूप से अपने सम्बन्ध करने योग्य जीवों को ग्रहण करते हैं, इसलिये उसके (पुरुष रूप के) गुण ऐसे प्रभाव वाले हैं जो जीवों के स्वभाव का परिवर्तन कर (दोषों को मिटा कर) अपने तुल्य बना लेते हैं।

३ - अन्तर्यामी रूप नारायण - इस स्वरूप से जीवाधीनवत्<sup>१</sup> होकर जीव को सर्व कार्यों की प्रेरणा करते हैं, जिससे जीव भगवद्भक्ति आदि में प्रवृत्त होते हैं। इससे भक्तिजनक, असाधारण गुण कहे हैं। उपरोक्त तीनों स्वरूपों के सर्वगुण श्रीकृष्ण में हैं। इसलिये श्रीकृष्ण में नारायण के समान गुण भी हैं। नारायण के समान उपरोक्त धर्मों के अतिरिक्त श्री कीर्ति और प्रभाव गुण भी श्रीकृष्ण में हैं। नारायण के उपरोक्त तीन स्वरूपों के अतिरिक्त, ब्रह्माण्ड के भीतर अन्य तीन रूप हैं।

१-जो वैकुण्ठ में लक्ष्मी सहित विराजते हैं अर्थात् वैकुण्ठवासी लक्ष्मीनारायण हैं।

२-जो सूर्य मण्डल में सर्व वेदों के साथ विराजते हैं अर्थात् सर्वान्धकार निवारक सूर्यनारायण हैं।

३- पृथिवी पर सब ब्राह्मणों में सकल हितकारी यज्ञनारायण हैं।

इस प्रकार ये तीन रूप ब्रह्माण्ड में नारायण के हैं। इन तीन स्वरूपों के गुणों के समान गुण श्रीकृष्ण में हैं।

१ - जीव के आधीन जैसा होकर।

**वैकुण्ठवासी नारायण** - लक्ष्मीजी को, जगज्जननी,<sup>१</sup> अक्षरानन्द रूप<sup>२</sup> एवं सर्व सौन्दर्य से भी विशेष सौन्दर्य धारण करने वाली बनाते हैं। जैसे वैकुण्ठवासी नारायण लक्ष्मी में ये गुण प्रकट करते हैं, वैसे ही कृष्ण भी हैं।

**सूर्यमण्डलस्थ नारायण** - यदि यह सूर्यनारायण उदय (प्रकट) न हो तो जगत् से शीत, अन्धकार आदि अज्ञान का नाश न होता। उनके उदय से जगत् प्रकाशित होता है। सर्व कार्य सिद्ध होते हैं। इसलिये उस (सूर्यनारायण) की कीर्ति जगत् में फैली हुई है वैसे ही जिस दिन से श्रीकृष्णचन्द्र का प्राकट्य हुआ है उसी दिन से आपकी कीर्ति (भक्तों में) भागवतादि में प्रकाशित हो रही है।

**यज्ञनारायण** - जैसे यज्ञनारायण आधिदैविक रूप से सर्व जनता का कल्याण करने से अपना माहात्म्य जनाते हैं वैसे ही महाप्रभावशाली यह भगवान् श्रीकृष्ण भी सर्वोद्धार करने से अपना माहात्म्य प्रकट कर रहे हैं।

इस प्रकार श्रीकृष्ण में नारायण के छः स्वरूपों के षड् गुण भी हैं अतः ये उन (नारायण) के समान कहे जाते हैं।

नारायण स्वरूप के गुण भी, इस (श्रीकृष्ण) में हैं इसलिये श्रीकृष्ण की उस (नारायण) के साथ जो समानता दिखलाई गई है उसका स्पष्टीकरण श्री प्रभुचरण ने 'टिप्पणी' में एवं गो. श्री पुरुषोत्तमजी ने 'प्रकाश' में किया है जिसका सारांश पद टिप्पणी में नीचे दिया है।

**टिप्पणी** - नारायण के तीन स्वरूप अक्षर, पुरुष और अन्तर्यामी हैं जिनका भाव आचार्यश्री ने तृतीय स्कन्ध की सुबोधिनीजी के १९ अ के ३८ वें श्लोक में यों बताया है कि (१) अक्षर स्वरूप - जो स्वरूप<sup>३</sup> नर से उत्पन्न तत्त्वों में रहता है। (२) पुरुष स्वरूप - जो स्वरूप जल में रहता है। (३) अन्तर्यामी - जो स्वरूप मनुष्यमात्र में रहता है।

१ - नारायण के प्रथम अक्षर स्वरूप से उत्पन्न जीवों से ये जीव, जो गुणों की प्रसिद्धि करने वाले हैं भिन्न प्रकार के हैं अर्थात् वे लीला सृष्टि के जीव हैं। इसलिये उन में भगवान् ने दस रस सम्बन्धी सर्वभाव, स्थापन किये हैं। उन भावों के पोषण के लिये भगवान् भी, अपने में स्थित गुणों को प्रकट करते हैं, जिससे वे लीला सृष्टि के जीव, भगवद्गुण प्रकाशक होते हैं। पर इससे यों न समझना चाहिये कि लीला सृष्टि के जीवों में कोई जीव वैसा (गुण प्रकाश करने वाला) होगा, क्योंकि वास्तव में भगवान् ही लीला सृष्टि में, जीव रूप से प्रकट हुए हैं। अतः लीला सृष्टि के सकल जीव समान गुण प्रकाशक हैं। इससे यह समझाया कि प्राकृत सृष्टि को इस रस की प्रीति नहीं होती है।

२ - पुरुष ब्रह्माण्ड विग्रह अक्षर - जैसे जीवों के दोष भिद्यकर उनको ग्रहण करते हैं वैसे ही श्रीकृष्ण ब्रजसुन्दरियों में अधिक रस उत्पन्न करते हैं जिससे वे पुरुष के समान धर्म प्रकट कर, लीलार्ण करती हैं।

३ - अन्तर्यामी - इस स्वरूप से जैसे नारायण जीवाधीन होकर लीला करते हैं वैसे ही श्रीकृष्ण भी गोपीजनों के अधीन होते हैं और वैसी ही लीलार्ण करते और करते हैं।

१-जगत् उत्पन्न कर्ता। २-जिसका आनन्द, नाश नहीं हो। ३-यह ब्रह्माण्ड विग्रह 'अक्षर' स्वरूप है -प्रकाश

इस प्रकार भगवान् के गुणों का वर्णन कर 'च' अक्षर देकर यह बताया है कि सत्य और शौचादि गुण जो प्रथम स्कन्ध में कहे हैं वे भी इस (श्रीकृष्ण स्वरूप) में हैं जिससे यह गुणनिधि है। अतः अन्तःकरण को पूरी तरह सावधान करते हुए इसकी पालना करो। अन्य समग्र प्रपञ्च को भूल जाओ 'समाहितः' शब्द का भाव प्रकट करते हैं कि इसका अवेक्षण पूरी सावधानी से करना अर्थात् इसको अकेला न छोड़ना और न इसको कहीं भी ले जाना। इस प्रकार पूरे ध्यान से इसकी पालना करना ॥ २० ॥

**आभास —** एतावदुक्त्वा गते यज्जातं तदाहेतीति ।

**आभासार्थ —** श्रीगर्गाचार्यजी इतना कह कर चले गये उसके अनंतर जो कुछ हुआ उनका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

॥ श्रीशुकउवाच ॥

**श्लोकः —** इत्यात्मानं समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते ।

**नन्दः प्रमुदितो मेन आत्मानं पूर्णमाशिषाम् ॥ २१ ॥**

**श्लोकार्थ —** श्री शुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार नन्दजी को अच्छी तरह उपदेश देकर गर्गाचार्यजी के घर जाने पर नन्दजी अत्यंत प्रसन्न हुए और अपने को आशीर्वादों से पूर्ण समझने लगे ।

**सुबोधिनी —** आत्मानं नन्दं भगवन्तं वा सम्यगादिश्योपदिश्य, गर्गे स्वगृहं मथुरां गते नन्दस्तद्वाक्यात् प्रमुदितः सन्नाशिषामाशीभिः पूर्णमात्मानं मेन इति - सम्बन्धः, स्वस्यायोग्यत्वेन महतो ज्ञानात् भीतो जातो नाप्ययं पुत्रो न भवतीति ज्ञात्वा दुःखितो जातो येनकेनापि प्रकारेण प्राप्तत्वाद् गर्गोक्तं प्रमाणमिति ज्ञापयितुं कृष्णो भगवानात्मेति नन्दश्च कृतार्थ इति त्रयं ज्ञापयितुं मात्मपदं, सम्यगुपदेशो नास्मिन् शङ्का कर्तव्या नाप्यन्यस्माद् भयं सम्यग-  
रक्षणीयश्चत्वादेश आज्ञा, अन्यथा गर्गोपि कुध्येदिति,

एतावदुपदेशं कृत्वा नामकरणं च गर्गे गच्छति यदि कंसो मध्ये व्यसनं कुर्यात् तदापि चित्तस्वास्थ्यं न भवतीति गर्गे स्वगृहं गत इत्युक्तं, चकाराद् बालकयोः स्वस्मिन्नप्यन्येषु वा तत्र स्थितेष्वत्यन्तरङ्गेषु स्वगृहं गतेषु गोकुलेपि गर्गकर्मणोः प्राकट्याभावार्थं, तदा नन्दः सार्थकनामा भविष्यामीति प्रकर्षेण मुदितः प्राप्तमहानिधिः, आशिषां सर्वकामितपदार्थानामन्येषां च पूरणार्थं पूर्णपरमातिशयकाष्ठां प्राप्तं मेने, स्वमनस्येव तथा ज्ञातवान् ॥ २१ ॥

**व्याख्यानार्थ —** गर्गाचार्यजी के नन्दजी (अथवा भगवान्) को अच्छी तरह उपदेश देकर, घर (मथुरा) जाने पर नन्दरायजी गर्गाचार्यजी के कहे हुए वचनों से अत्यन्त प्रसन्न होते हुए अपने आपको आशिषों से पूर्ण समझने लगे, अर्थात् नन्दरायजी को निश्चय हो गया कि गर्गाचार्यजी ने जो कुछ कहा है वह सत्य है अब मेरे सर्व कार्य निर्विघ्न सिद्ध होंगे। कोई भी संकट आए तो स्वतः टल जाएगा।

यद्यपि नन्दरायजी भगवान् के स्वरूप ज्ञान के योग्य नहीं थे, तो भी गर्गाचार्यजी के वचनों से भगवत्स्वरूप (यह बालक पूर्णब्रह्म है) इस प्रकार स्वरूप के ज्ञान होने पर भी भयभीत न हुए और यह भगवान् मेरे पुत्र नहीं हैं इसका भी नन्दजी को दुःख नहीं हुआ। श्लोकमें दिए हुए 'आत्मा' शब्द का भाव बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि 'आत्मा' शब्द देकर श्री शुकदेवजी ने यह समझाया कि यह आपका बालक कृष्ण, भगवान् एवं आत्मरूप है, ऐसा बालक आपका पुत्र हुआ है। इससे नन्दजी आप भी कृतार्थ हैं। नन्दरायजी समझने लगे कि जैसे कै से भी पुत्र प्राप्त तो हुआ है, अतः गर्गाचार्यजी के वचनों को प्रमाण मानने लगे।

गर्गाचार्यजी ने जो सुन्दर सत्य उपदेश दिया है, उसमें किसी प्रकार की शंका नहीं करनी चाहिये, दूसरे से भय भी नहीं है। इसकी रक्षा अच्छे प्रकार से करनी, यह उपदेश आज्ञा है। यदि इस आज्ञा का पालन न किया जाएगा तो गर्गजी तो कोप करेंगे ही परन्तु भगवान् भी कुपित होंगे।

गर्गाचार्यजी अपने घर (मथुरा) पहुँच गए। इस प्रकार कहने का शुकदेवजी का आशय यह था कि गर्गाचार्यजी नामकरण संस्कार कराके एवं उपदेश देकर खाना हुए हैं। मार्ग में कंस द्वारा, किसी प्रकार का संकट गर्गजी को न हुआ, वह सुखपूर्वक घर पहुँच गए। इससे नन्दरायजी को इसकी चिन्ता भी न करनी पड़ी। श्लोक में दिये हुए 'च' (और) अक्षर का आशय प्रकट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि नन्दरायजी के मन में यह चिन्ता थी कि गर्गाचार्यजी (वसुदेवजी के पुरोहित) का यहाँ आना और बालकों का नामकरण संस्कार कराना, इन दोनों का पता कहीं गोकुल में लग तो नहीं गया? किन्तु गर्गजी के जाने पर, जब दोनों बालक, (राम, कृष्ण) नन्द एवं अन्य गोपादि जो जो अन्तरंग संस्कार के समय उपस्थित थे, वे सब कुशलपूर्वक (रह में किसी ने भी कुछ न कहा और न पूछा) घर पहुँच गए। तब नन्दरायजी अत्यन्त प्रसन्न हुए और मन में समझने लगे कि आज मेरा नाम (सबको आनन्द देने वाला) सार्थक एवं सफल हुआ। क्योंकि गर्गजी के आने और नामकरण संस्कार कराने का कहीं भी एवं किसी को भी पता न पड़ा है। यदि पता पड़ता तो कंस अवश्य उपद्रव करता, जिससे जनता दुःखी होती। ऐसा न हुआ, इससे मेरा नाम अब पूर्ण सार्थक हुआ। कि मुझे 'महानिधि' प्राप्त हुई है। सर्व इच्छित पदार्थों एवं दूसरों के वाञ्छित कामनाओं की पूर्ति करने के लिये मैं समर्थ हूँ, जिससे उच्च स्थिति को पहुँचा हुआ हूँ। यों अपने मन में समझ अत्यन्त मुदित (प्रसन्न) हुए ॥ २१ ॥

आभास — एवं नामचरित्रमुपपाद्य रूपचरित्रं वक्तुं भगवद्गतिः कालरूपेति तस्मिन्नेवाधिदैविके गच्छति सति भगवद्गतिरित्याह कालेनेतिदशभिः, दशधा भगवद्रूपमत्र वक्ष्यतेवान्तरानन्तभेदयुक्तं।

**आभासार्थ** — इस प्रकार भगवान् के नामों का चरित्र वर्णन कर अब रूप-चरित्र वर्णन करने के लिये कहते हैं कि भगवान् की गति\* (शरीर का व्यापार, इधर - उधर चलना) कालरूप है। उसी ही आधिदैविक काल के जातेहुए भगवान् की गति होने लगी। उस गति का वर्णन दश श्लोकों से करते हैं। भगवान् का अवान्तर अनन्त प्रकार के रूपों सहित दश प्रकार से रूप वर्णन करते हैं।

**श्लोकः** — कालेन ब्रजता तात गोकुले रामकेशवौ ।  
जानुभ्यां सहपाणिभ्यां रिङ्गमाणौ विजह्नुः ॥ २२ ॥

**श्लोकार्थ** — कुछ काल व्यतीत होने पर राम और केशव गोकुल में घुटनों से और हाथों से रेंगने की क्रीड़ा करने लगे।

**कारिका** — गतौ गतिविशेषे च भूमौ रूपद्वयं हरेः ।  
यशोदायां तथा रूपमुपविष्टं त्रिधा मतम् ॥ १ ॥

**कारिकार्थ** — साधारण गति और विशेष गति के कारण भगवान् के दो रूप पृथ्वी पर हैं। वैसे यशोदा की गोदी में बिरजमान भगवान् का तीसरा रूप समझा जाता है।

**व्याख्या** — २२ वें श्लोक में भगवान् की गति (रिङ्गणादि गति) का वर्णन है। २३ वें श्लोक में गति प्रकारों का वर्णन है और २४ वें श्लोक में यशोदा की गोदी में बिरजमान रूप का वर्णन है। इन तीनों श्लोकों का सारांश इस कारिका में आचार्यश्री ने प्रकट किया है कि भगवान् दो रूपों से भूमि पर बिरजे हैं और एक रूप से माता की गोदी में बिरजे हैं। इस प्रकार तीनों श्लोकों में बैठे हुए तीनों रूपों का स्पष्टीकरण कारिका में किया गया है।

**कारिका** — अन्याश्रितं स्वतश्चैव कथञ्चित् सर्वथा तथा ।  
उत्थितं तु त्रिधा रूपं युक्तं त्रिविधलीलया ॥ २ ॥

\* प्रकाश — 'योऽयंकालः तस्यतेऽव्यक्तबन्धोऽष्टोष्ठापाहुः' यह प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि भगवान् की 'गति' (चेष्टा) कालरूप है।

**टिप्पणी** — आच्छादन प्रकटन न्यायानुसार होने से बन्द करना (लीला छिपाना) और खोलना (लीला प्रकट दिखाना)। इस न्यायानुसार भगवान् की लीला नित्य है। जिस जिस काल में भगवान् लीला का प्राकट्य करते हैं वही काल उस समय प्रकट हो जाता है। अर्थात् यह रिङ्गणादि लीला पहले जिस काल में की गई थी, उसी काल का यह उत्तर दलकाल, अब प्रकट हुआ है। अतः भगवान् की गति ( रिङ्गणादि लीला) काल रूप होने से कालवत् नित्य है।

**कारिकार्थ** — १-दूसरों के आश्रित, २-कुछ स्वतः (अपने आप पर) आश्रित, ३-सब तरह से अपने ऊपर आश्रित हो, इन तीन प्रकार की खड़े होकर लीला करने से भगवान् के तीन प्रकार के खड़े रूप हुए ।

**व्याख्या** — भगवान् ने खड़े होने की लीलाएँ तीन प्रकार से की हैं -

(१) पराधीन होकर, जैसे बछड़ों की पूंछों को पकड़ कर खड़े होते थे । अथवा कभी माता के अथवा दूसरे किसी के हाथ की अंगुलियों को पकड़ कर खड़े होकर चलना सीखते थे । इस प्रकार की लीला २५ वें श्लोक में वर्णित है ।

(२) इस लीला में पूर्ण स्वतन्त्रता नहीं थी । यद्यपि दूसरों के आश्रय बिना स्वयं लीला करते थे तो भी पूर्ण स्वतन्त्र न थे । क्योंकि माता यशोदा कभी कभी खेलने से रोक देती थी । इस प्रकार की लीला का वर्णन २६ वें श्लोक में किया गया है ।

(३) ये लीलाएँ भगवान् ने पूर्ण स्वतन्त्रता से की हैं । न किसी का आश्रय लिया और न किसी ने रुकावट डाली । इस प्रकार की पूर्ण स्वतन्त्र लीलाओं का वर्णन २७ वें श्लोक में किया गया है ।

तीन प्रकार की लीलाओं के करने से इस कारिका में भगवान् के खड़े रूप भी तीन प्रकार से बताये गए हैं ।

**कारिका** — बालकैर्मुग्धलीलाद्या धार्षट्यधौर्त्यसमन्विते ।

निर्गुणावस्थरूपे च ज्ञापिते तु ततः परम् ॥ ३ ॥

**कारिकार्थ** — पहला, बालकों के साथ की हुई मुग्ध (सबको मोहित करने वाली) बाल लीला वाला (तामस-सात्विक लीला का) रूप, दूसरा घृष्टता (ढिठाई से की हुई) लीला वाला (रजस-तामस लीला का) रूप, तीसरा धूर्तता (चालबाजी) से की हुई लीला वाला (तामस-तामस लीला का) रूप, इस प्रकार लीलाओं द्वारा त्रिविध रूप दिखा कर उसके पश्चात् निर्गुण अवस्था के रूप का प्रदर्शन किया है ।

**व्याख्या** — भगवान् की लीलाएँ भक्तों के निरोधार्थ हैं अतः जैसा जैसा भक्त हो, भगवान् भी वैसे वैसे ही बनकर उस प्रकार की लीलाएँ कर, उन (भक्तों) का निरोध करते हैं । भक्त सात्विकादि भेद से भिन्न-भिन्न हैं अतः लीलाएँ भी भिन्न प्रकार की भगवान् ने तदर्थ की हैं । जैसे कि बालकों का निरोध करने के लिये 'मुग्ध लीला' तामस-सात्विक रूप से की है, क्योंकि बालक सात्विक एवं तामस थे । इस तरह घृष्टता लीला, रजस-तामस भक्तों के निरोधार्थ होने



से आपने भी राजस-तामस रूप से यह ढिठाई वाली लीला की है। तथा तामस-तामस भक्तों के निरोधार्थ धूर्ततापूर्ण लीलाएँ कर, आपने वैसे ही तामस-तामस रूपका प्रदर्शन कराया है। इन लीलाओं से जब सब प्रकार के भक्तों का निरोध हो गया तब अपने निर्गुण स्वरूप का उनके हृदय में प्राकट्य किया, जिससे वे कृतकृत्य हो गए।

२२, २३ व २४ वें श्लोकों में भगवान् की सात्त्विक लीला का; २५, २६ व २७ वें श्लोकों में भगवान् की राजस लीला का वर्णन किया गया है। २८ वें श्लोक में 'मुग्ध लीला' सात्त्विक मिश्रित तामसी लीला है। (दूसरे २८ वें श्लोकमें गोपियों की उक्ति है उसमें रूप वर्णन नहीं है) २९ वें श्लोक में 'घृष्टता - लीला' राजस मिश्रित तामसी लीला है। ३० वें श्लोकमें 'धौत्य लीला' तामस-तामसी लीला है। इस प्रकार सगुण लीलाएँ भगवान् ने नव प्रकार से की हैं जिनका २२ वें श्लोक में निर्गुण रूप का वर्णन किया गया है। इस प्रकार श्री शुकदेवजी ने रूप प्रकरणमें, दश प्रकार के रूपों का वर्णन दश श्लोकों में किया है।

**कारिका — सात्त्विकादिविभेदेन तत्तद्दृढयगामिनि ।**

**तांस्तांस्तु क्रमशोभावान्दूरीकृत्यान्तिमे स्थिरा ॥ ४ ॥**

**कारिकार्थ —** सात्त्विकादि गुणों से पृथक् पृथक् भावों वाले जीवों के हृदयों में भगवान् उसी प्रकार के रूप से प्रवेश कर क्रमशः उनके सात्त्विकादि भावों को दूर करते हैं, जिससे अन्त में उनकी भगवान् के निर्गुण रूप में स्थिर स्थिति हो जाती है।

**व्याख्या —** इस कारिका में समग्र प्रकरण का तात्पर्य<sup>१</sup> कहा गया है कि भगवान् ने ब्रजस्थों<sup>२</sup> के सात्त्विकादि भावों को लीलाओं द्वारा सगुण रूप से क्रमशः दूर कर, अन्त में निर्गुण स्वरूप में हृदय की स्थिति स्थिर कराई ॥ ४ ॥

**कारिका — यशोदार्थमियं लीला प्रसंगादन्यगामिनी ।**

**सदैव ता गृहे व्यग्रास्तदैवं दशधा हरिः ॥ ५ ॥**

**कारिकार्थ —** भगवान् ने यह लीला, यशोदा माता के लिये ही की है; किन्तु प्रसंग से दूसरों को भी इसका लाभ मिला है। जब ही वे ब्रजभक्त घर के कार्य में संलग्न होते हैं तब भगवान् (लीलाओं द्वारा) दश रूप धारण करते हैं।

**व्याख्या —** इस कारिका में यह बताया है कि यद्यपि भगवान् ने नाम लीला द्वारा, यशोदा आदि ब्रज भक्तों का निरोध किया था; किन्तु पूर्ण निरोध भाव से वे घर के कार्य में इतने लीन हो जाते

थे, जो भगवान् को उस समय भूल जाते थे। अतः भगवान् ने रूप लीला द्वारा उनका चित्त उस कार्य से हटाकर अपने में आसक्त कराने के लिये, दश प्रकार के रूप धारण किये हैं ॥ ५ ॥

सुबोधिनी — तत्रादायुषविष्टस्य हरेरल्पचलनात्मिकां गतिलीलायाह कालेनेति, स्वतो व्रजता कालेन कृत्वाल्पेनैव गोकुले तत्रापि यशोदाया अङ्गणे रामकेशवायुभावपि नामकरणेन भगवदावेशाद् भगवन्तौ योगिध्येयो ब्रह्मादिवन्द्यश्च रामकेशवौ, मत्वर्यो वप्रत्ययश्चात्र सौन्दर्यार्थं परिगृह्यते, वस्तुतस्तु लौकिक एव केशवशब्दस्तद्धितान्तः, न तु भगवद्वाचक, केशयोर्व

सुखं यस्मादित्यर्थे प्रत्ययापेक्षाभावात्, उभयोर्न्यूनाधिकभावेऽपि वयसि स्थितयोः समाना गतिः, भगवत्सन्निधाने नामद्वारा सम्बन्धानन्तरमेव भगवत्त्वमत उभौ जानुभ्यां सहपाणिभ्यां रिगमाणी जातौ शनैस्तदान्योन्यं विजङ्गतुर्विहारं कृतवन्तौ त्रीडां कृतवन्तावित्यर्थः ।

व्याख्यार्थ — उन लीलाओं में से पहले रिगण रूप गति<sup>१</sup> लीला का वर्णन करते हैं। अपने आप ही जाते हुए काल<sup>२</sup> के साथ स्वल्पकाल<sup>३</sup> में ही गोकुल के भीतर, यशोदा के आंगन में राम और केशव दोनों भाई नामकरण संस्कार से, भगवदावेश आने से, भगवद्रूप हुए। राम योगियों के ध्येय स्वरूप हैं और केशव ब्रह्मादि के वन्दनीय हैं। दोनों भगवद्रूप होते हुए भी लीला के कारण इनका भेद है। 'केशव' शब्द में जो 'व' प्रत्यय है वह सुन्दरता प्रकट करने के लिये है। वास्तव में यहाँ केशव\* शब्द लौकिक तद्धितान्त शब्द है न कि भगवद्वाचक है।

यद्यपि बलरामजी आयु से बड़े हैं और श्रीकृष्ण छोटे हैं तो भी रिगणलीला की गति दोनों की समान<sup>३</sup> है, दोनों की आयु में तात्पर्य होते हुए भी रिगण गति में समानता क्यों? इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि नामकरण संस्कार के समय भगवान् उपस्थित थे। उनके सान्निध्य में नाम द्वारा सम्बन्ध होने से बलरामजी में भगवत्त्व प्रकट हुआ अर्थात् बलरामजी के स्वरूप में भगवान् का आवेश हुआ, जिससे उनकी (बलरामजी की) गति भी भगवान् की ही गति होने से दोनों में समानता थी। अतः दोनों हस्तों सहित घुटनों से धीरे- धीरे रिगण करते हुए विहार करने लगे अर्थात् परस्पर खेलने लगे।

कारिका — जानुभ्यां गमनं विष्णोर्दैत्यानां मर्दनाय हि ।

बलिदैत्यपतिर्भूत्वा न निवारयति स्वतः ॥ १ ॥

† लेखकार गो श्रीवल्लभलालजी कहते हैं कि साधारण काल सूर्य की गति अनुसार जाता है, किन्तु यह काल वह नहीं है यह तो भगवद्रूप होने से भगवदिच्छा को जान उस प्रकार लीलानुसार जाता है।

\* प्रभुचरण टिप्पणी में कहते हैं कि 'केशव' शब्द का अर्थ श्री सुबोधिनीजी में आचार्यश्री ने भगवान् भी किया है। वहाँ प्रत्यय रूप से नहीं है, किन्तु इस लीला में आचार्यश्री के मन्तव्यानुसार शुकदेवजी ने केशव शब्द भगवद्वाचक नहीं दिया है। यहाँ रिगणलीला के समय केशों की सुन्दरता से श्रीकृष्ण की विशेष शोभा प्रकट होती है अतः 'केशव' वालों की सुन्दरता वाला केशव शब्द लौकिक भाव से दिया है।

**कारितार्थ** — भगवान् का घुटनों के गमन (रींगना) दैत्यों के मर्दन<sup>१</sup> के लिये था। बलि ने दैत्यपति होते हुए भी अपने आप उसका निवारण नहीं किया।

**व्याख्या** — इस कारिका से आचार्यश्री स्पष्ट करते हैं कि श्रीकृष्ण ही मूलस्वरूप हैं, जिससे इस स्वरूप में व्यूह एवं पुरुष स्वरूप भी अन्तर्हित हैं। अतः श्रीकृष्ण, रींगणलीला में घुटनों से चलकर जो दैत्यों का मर्दन करते हैं, वह मर्दन कार्य संकर्षण व्यूह का है; किन्तु संकर्षण व्यूह भी आपके स्वरूप में स्थित है और व्यूह आपकी ही स्वरूपात्मक क्रिया शक्तियाँ हैं। अतः आपने (श्रीकृष्णने) मर्दन कार्य किया, इस प्रकार कहने में कोई दोष नहीं है। किन्तु यह कार्य तो संकर्षण द्वारा ही किया गया है। एवं 'विश्वमूर्ति पुरुष के दो घुटने सुतल हैं' इस वाक्यानुसार श्रीकृष्ण घुटनों से रींगण कर दैत्यों का मर्दन करते हैं, वे घुटने सुतल इसीलिये समझे जाते हैं। जो विश्वरूप पुरुष भी इस (श्रीकृष्ण) स्वरूप में है। अन्यथा श्रीकृष्ण स्वरूप तो आधिदैविक आनन्दमय ही है, उस स्वरूप की लीलाएँ तो आनन्दमय ही हैं।

**आध्यात्मिक पक्ष से व्यूह लीला** - पुरुष लीला भगवान् की ही लीला कही जाती है। आधिदैविक पक्ष से भगवान् की रींगण लीला जिन घुटनों से की है वे घुटने भी आधिदैविक आनन्दमय हैं न कि सुतलरूप हैं। भगवान् अपने भक्तों को बाल-लीला आदि लीलाएँ आधिदैविक आनन्दमय स्वरूप से दिखाते हैं ॥ १ ॥

**सुबोधिनी** — उपविष्टोर्नग्रीभूतयोगमर्दनं पादाधीनमेवेति जानुभ्यामेव गमनमुच्यते, पाण्योस्तु सहभावः, तत्र प्रतिष्ठाभावात्, सम्पूर्णनापि शरीरेण रिङ्गमाणाविति जानुभ्यां सह रिङ्गमाणाविति सहपदप्रयोगः, अनेन मध्येत्यचलनेपि भूमौ शयानावेव भवतः, पुनरुत्थाने च तथा, एवं रूपाणि भगवतः सहस्राणि ध्येयानि हसदरूपाणि क्षणमुपविष्टानि क्षणं प्रचलितानि च ॥ २२ ॥

**व्याख्यार्थ** — बैठे हुए फिर नम्र होकर चलने लगे तो वह चलना पैरों के अधीन ही है, इसलिये घुटनों से ही चलना कहा गया है। हाथों का तो केवल साथ ही है, उनका पूर्ण आश्रय नहीं है। सम्पूर्ण शरीर से भी रींगते थे, घुटनों से भी रींगते थे, पृथ्वी पर सो जाते फिर उठकर घुटनों से रींगते थे। इस प्रकार भगवान् की अनेक लीलाओं के अनेक रूप हैं। उनका ध्यान करना चाहिए। कभी चलते-चलते हंसने लगते हैं, कभी पृथ्वी पर लेट जाते हैं फिर कुछ चलते हैं, इत्यादि रूप एवं लीलाओं का अनुसन्धान करना चाहिये ॥ २२ ॥

**आभास** — इयं प्रथमगतिरुत्तरश्लोकोक्तगतिपर्यन्तमनुसन्धयोत्तरोत्तरपुष्टा, उत्तरस्यादिना पूर्वावसानस्य न्यायसिद्धत्वात्, द्वितीयमाह तावद्धीति ।

**आभासार्थ —** पूर्व (२२ वें) श्लोकमें कही हुई भगवान् की गति (रिंगण) लीला का उत्तर (२३ वें) श्लोक में कही जानेवाली गति लीला पर्यन्त (तक) अनुसन्धान करते रहना चाहिये । क्योंकि यों करने से यह गति लीला धीरे - धीरे पुष्ट होती जायगी । यह न्याय सिद्ध है कि जहाँ से उत्तर (पीछे) का आदि होता है वहाँ पूर्व (पहले) का अन्त होता है । अब दूसरी गति लीला का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः —** तावद् ध्रियुग्ममनुकृष्य सरीसृपन्तौ घोषप्रघोषरु चिरं व्रजकर्दमेषु ।

तत्रादहृष्टमनसावनुसृत्य लोकं मुग्धप्रभीतवदुपेयतुरन्ति मात्रोः ॥ २३ ॥

**श्लोकार्थ —** ये दोनों भाई जिस समय वज्र के कीचों में घोष<sup>१</sup> प्रतिघोष<sup>२</sup> चरण युगलों को खींचकर सर्पवत् रींगते थे, उस समय उनके पैरों की पैजनी और कटि की किकिणीयों के नाद से हर्षयुक्त मन वाले होते थे और जाते हुए लोगों को देख दो चार कदम उनके पीछे जाकर लौट आते । फिर मुग्ध<sup>३</sup> और डरे हुए के समान माताओं के पास आ जाते थे ।

**सुबोधिनी —** गतिविलासा अत्र निरूप्यन्ते, प्रथम-  
तोलसवलितगतिः, तावुभावपि, एको भगवानिति न वैलक्षण्यं,  
जानुभ्यामेव गच्छन्तौ मध्येमध्ये जानुपीछामिव भावयन्तौ,  
अर्द्धध्रियुग्ममनुकृष्य पादाग्रमधोमुखं कृत्वा जानुपर्यन्तं भूमिं  
विधाय शनैरनुकृष्य पश्चाच्छीघ्रं सरीसृपन्तौ हतं गच्छन्तौ  
भवतः, तथा गमने हेतुमाह घोषप्रघोषरु चिरमिति, घोषः  
शब्दः प्रकृष्टो घोषस्ताभ्यां रुचिरं यथा भवति तथा प्रथमं  
गच्छन्तौ नूपुरध्वनिप्रकाशदीनां वादनमाकर्णयन्ताविव शब्दे  
दत्तकर्णौ शब्दगतिं विचारयन्तावद् ध्रियुग्ममनुकृष्य  
शनैश्चलितौ, स शब्दः किं स्वाभरणादेव जायतेन्यस्मादिति  
वेति विचारयितुं गतेः शैघ्र्यं कुरुतः, तदा प्रघोषो भवति,  
तस्यापि विचारार्थं पुनः स्थितौ भवतः, तदा प्रघोषेण रु चिरं  
यथा भवति तथा सरीसृपन्तौ भवतः, पुनरेव घोषप्रघोषाभ्यां  
बहुधा गतितरतमभावं प्राप्तौ व्रजकर्दमेषु गतौ भूमिदेह-  
सम्बन्धकं तशब्दवैलक्षण्यग्रहणाय, तत्रापि चेच्छब्द  
आभरणानामेव नान्यस्येति तत्रादहृष्टमनसौ जातौ, अस्मद्गत्या  
तदनुगामी शब्दोपि रुचिरो भवतीत्येव बहुधावृत्ति-  
र्मनःपरितोषार्थं, अनेन भगवान् चरित्रं कृत्वा तत्प्रतिपादकं च

वाक्यं विधायोपबोध्यतायां सन्माननं वक्तुः श्रोतुश्च करोतीति  
लक्ष्यते, एवं तयोरेव परस्परं गतिलीलामुक्त्वा-न्यानुशेधेनापि  
गतिलीलामाहानुसृत्य लोकमिति, यं कश्चित् स्त्रियं पुरुषं  
वा गच्छन्तमनुगच्छन्तौ गन्तव्यमेवेति कथमन्यथायं गच्छेदिति  
कियद्दूरं गमनानन्तरं तस्मिन् परित्यज्य दृष्टं दूरं गते वा  
मुग्धप्रभीतवत् स्वमातुरन्ति समीप उपेयतुरिति-सम्बन्धः,  
गमने ज्ञानद्वयं, अस्मदीयाः केचन गच्छन्तीत्यतो-स्माभिरपि  
गन्तव्यं गन्तव्यमेव वा, तथा सत्येकाकिना न गन्तव्यमिति  
तस्मिन् दूरं गते पश्चात् पुरस्ताच्चासहायमात्मानं मत्वा भीतौ  
भवतः, व्याधुदयं प्रदर्शने तु नामं भदीय इति मुख एव  
परिचयात् धर्मान्तरे तथा बुद्ध्यभावात् मुग्धवत् परवृत्तिर्भवति,  
मुग्धस्यासौ प्रभीतश्चेति प्रकर्षभये मुग्धभावोपि हेतुः, अन्यथा  
भये कारणाभावात् "तस्मादेकाकी बिभेती" ति  
भयमात्रकारणत्वेऽपि प्रकर्षभये नान्यो हेतुः, गमनागमनलीला  
शीघ्रं सिद्धैव तथापि मुग्धप्रभीतभावौ गमनागमनयोः क्रमेण  
सौन्दर्यसूचकौ, उभयत्र वा, तथैकाकिना नात्र स्थातव्यमिति  
गमनं, बालकयोः परिचयो मातर्येवावशिष्ट इति वदति, ज्ञात्वापि  
तथानुकरणेन पुनर्गमनागमने, तत्र हास्यादिना बहवः प्रकार

भावुकानां मनोहरा भवन्ति, कदाचिन्मध्ये कदाचिद्दूरविप्रकर्षणेति प्रकारभेदज्ञापकम् ॥ २३ ॥  
 लोकमित्यालोकयन्तमुज्ज्वलसन्नादियुक्तं, मात्रोरन्तीत्यनेनैव  
 सामीप्ये सिद्धे पुनरुपेतिग्रहणं कदाचिदागत्योपर्येव पततः

**व्याख्यानार्थ —** इस श्लोक में भगवान् की गति विलासों (सुन्दर एवं आनन्द देने वाली चलन (रमण) क्रियाओं) का वर्णन करते हैं। प्रथम अलस<sup>१</sup> और वलित<sup>२</sup> गति से चलन क्रिया हुई। इस गति में दो होते हुए भी विलक्षणता न होने का कारण यह है कि दोनों रूप एक ही भगवान् के हैं। दोनों स्वरूप घुटनों से चलते हुए बीच-बीच में घुटनों में दर्द होने का भाव प्रकट करने के लिये ठहर जाते और दोनों चरणों को खींच कर उनके अग्र<sup>३</sup> भाग को नीचे कर घुटनों तक पृथ्वी पर रख देते। अनन्तर फिर धीरे - धीरे उनको खींच कर सहसा<sup>४</sup> शीघ्रता से सर्प की चाल से चलने लगते हैं। इस प्रकार द्रुत गति से जाने का कारण बताते हुए कहते हैं कि पहले जब चलने लगे तब पादों में पहने हुए नूपुरों के और कमर की क्षुद्र घण्टिकादिकों की धीमी आवाज कानों में पड़ी तो धीमे-धीमे चलकर सोचने लगे कि यह ध्वनि हमारे अपने आभूषणों की है अथवा अन्य किसी की है। इसका निश्चय करने के लिये द्रुत गति से चलने लगे। तब जोर से ध्वनि सुनने में आने लगी। तो फिर उस ध्वनि का विचार करने के लिये ठहर गये। उस समय वह ध्वनि जैसे सुन्दर हो उसी प्रकार रेंगने लगे। फिर उस प्रकार घोष और प्रघोषों से भगवान् की गति विशेष एवं विशेषतम प्रकार के भावों वाली हुई अर्थात् व्रज की कर्दमों<sup>५</sup> में जाकर अनेक प्रकार की गति से रमण करने लगे जिनके द्वारा भूमि और देह के सम्बन्ध से हुए शब्दों की विलक्षणता जानने लगे। उस समय भी ध्वनि आभरणों की है न कि दूसरे किसी की है। यह निश्चय समझ उस ध्वनि से दोनों भाई प्रसन्न मन वाले होते हुए कहने लगे कि हमारी गति से वह ध्वनि भी जो हमारी गति की अनुगामी<sup>६</sup> है सुन्दर होती है। इस प्रकार गति एवं ध्वनि से अपने मनको प्रसन्न करने के लिये दोनों भ्राताओं के चित्त की अनेक प्रकार की वृत्तियाँ होने लगी। इस प्रकार उन दोनों भ्राताओं की परस्पर गति लीलाओं को कह कर अब दूसरों के अनुशेध<sup>७</sup> से भी जो लीलाएँ की उनका वर्णन करते हैं। जिस किसी पुरुष को वा स्त्री को जाते हुए देखते थे तो मन में यह इच्छा करते थे कि ये जा रहे हैं हम क्यों न जाएँ। इस इच्छा की पूर्ति के लिये उनके पीछे-पीछे आप भी उसी प्रकार की गति करते हुए जाते थे। थोड़ी दूर जाने पर देखते थे, देखने पर ज्ञात होता था कि हम इतने दूर अकेले चले आये हैं तो क्या करते कि आगे जाना बन्द कर मुग्ध<sup>८</sup> बालक और डरे हुए बालक की तरह डरते हुए शीघ्रता से माताओं के पास लौट आते थे।

१—पादों को खींचकर चलने को 'अलस' गति कहते हैं।

२—शीघ्रता से चलने को वलित गति कहते हैं।

५—कीचड़ों।

६—पीछे चलने वाली।

३—आगे का।

७—अभिलाषा।

४—एक दम।

८—भोले।

दोनों भाईयों को जाने वालों के पीछे जाने के लिये दो विचार स्फुरित हुए। एक विचार यह आया कि जाने वालों में कोई कोई हमारे परिचित हैं तो हम भी इनके पीछे-पीछे जाएँ अथवा हमको भी जाना चाहिये, दूसरा विचार यह करने लगे कि अकेले तो नहीं जाना चाहिये। इस प्रकार विचार कर जाने वालों में हमारे भी हैं, यों समझ कर उनके पीछे-पीछे जाने लगे, किन्तु कुछ आगे जाने पर ज्ञात हुआ कि इनमें तो हमारा परिचित कोई नहीं है, हम अकेले हैं हमारी यहाँ सहायता करने वाला तो कोई नहीं है। इस प्रकार के विचार आते ही डरने लगे तब जाने वालों के मुखों से पहचान करने लगे कि इनमें कोई हमारा है या नहीं। दूसरे प्रकार से पहचान करने की, भोलेपन के कारण बुद्धि नहीं थी, अतः मुख द्वारा ही पहचानने लगे। जब देखा कि इनमें अपना कोई नहीं है, तो विशेष भयभीत होने लगे क्योंकि बालक मुग्ध (भोले) होते हैं। भोले अधिक डरते हैं। नहीं तो इसके अतिरिक्त डर का कोई कारण नहीं था। 'अकेला डरता है' अकेले होने से भय तो हुआ किन्तु विशेष भय का कारण भोलापन था। गमनागमनलीला<sup>१</sup> तो शीघ्र सिद्ध हुई किन्तु उस लीला में सुन्दरता तो एक-एक में वा दोनों में मुग्ध भाव एवं भीत भाव से ही आई थी। यहाँ अब अकेले रहना नहीं चाहिए, ऐसा सोच कर वहाँ से गमन किया<sup>२</sup>। लौट आने में यद्यपि भय भी कारण है। तो भी सौन्दर्य प्रदर्शन विशेष भोलेपन के भाव से ही होता है। बालक भोले ही होते हैं और उनको विशेष परिचय माता का ही होता है, इसलिये माता के पास आने के लिये ही वहाँ से लौट आए।

ऊपर कहे हुए सर्व विषयों को जान कर भी लोकों का अनुकरण<sup>३</sup> करते हुए उनके पीछे गए और फिर लौट आए। इस प्रकार की जो लीला मुग्ध भाव एवं भीत भाव प्रदर्शित करने के लिये की है, इससे ये न समझना चाहिये कि भगवद्रूप श्रीकृष्ण एवं बलराम भोले थे व डरे हुए थे, किन्तु भक्तों को लीला का आनन्द देने के लिये उन्होंने ऐसे भाव प्रदर्शित किये थे। 'लोक' शब्द का अर्थ साधारणतया 'मनुष्य' होता है; किन्तु आचार्यश्री ने यहाँ 'लोक' शब्द का विशेष भाव बताते हुए अर्थ किया है कि जिनके स्वच्छ वस्त्र थे और तेज वाले मनुष्य थे, इस कारण से ही उनके पीछे मुग्ध भाव से गए और भीत भाव से लौट आए। श्लोक में 'अन्ति' शब्द का अर्थ निकट है तो शुकदेवजी ने 'उप' शब्द, जिसका अर्थ भी 'निकट ही है' क्यों दिया? उनके आशय को प्रकट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि माता के पास आए तो सही, परन्तु भिन्न-भिन्न प्रकार की लीला करते हुए माताओं से मिले। जैसे कि कभी माताओं के ऊपर गिरते थे फिर उठकर बीच में (गोदी में) बैठते तो कभी फिर दूर खड़े होते। पुनः हँसते हँसते माता से आकर मिलते। इस प्रकार नाना प्रकारों से लीलाएं करते हुए भावुक भक्तों को आनन्द प्रदान करते थे ॥ २३ ॥

१-जाने और लौट आनेवाली लीला। २-लौट आए। ३-देखादेखी करना, पीछे चलना।

**आभास —** एवं नानाविधगमनागमनाभ्यामुपविष्टलीला स्वतन्त्रतया बहुधा वर्णिता, मात्रा सह नानाविधक्रियाभिः सहितस्योपविष्टस्य लीलामाह तन्मातराविति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार स्वतन्त्रतापूर्वक, अनेक प्रकार की गमनागमन लीलाएं बैठे हुए रूपों से कीं, उनका वर्णन कर, अब इस निम्न श्लोक में माता के साथ भिन्न-भिन्न प्रकार की क्रियाओं से उपविष्ट होते हुए जो जो लीलाएं की हैं, उनका वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः —** तन्मातरै निजसुतौ घृणया स्तुवन्त्यौ पङ्कजगङ्गा चिरतुषगुह्य दोर्ध्याम् ।

दत्त्वा स्तनं प्रपिबतोः स्म मुखं निरीक्ष्य मुग्धस्मिताल्पदशनं ययतुः प्रमोदम् ॥ २४ ॥

**श्लोकार्थ —** उनकी माताएँ अपने पुत्रों की उत्कण्ठा से<sup>१</sup> स्तुतियाँ करने लगीं और कीच रूप अङ्ग राग से सुन्दर, उन दोनों को अपनी दोनों भुजाओं से आलिङ्गन करती हुई स्तन्यपान करने लगीं । स्तन्यपान करते समय उनकी भोली मुस्कान और छोटे छोटे दाँतों वाले मुखारविन्द को देख कर अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुई ।

**सुबोधिनी —** यशोदारोहिण्यौ निजसुतौ स्वं स्वं सुतं घृणयौत्कण्ठ्यस्नेहेनस्तुवन्त्यौ पङ्क एव योयमङ्गरागस्तेन रुचिरौ दोर्ध्यामुपगूढालिङ्ग्य स्तनं दत्त्वा पिबतोश्च मुखं निरीक्ष्य प्रकर्षेण मोदं ययुरितिसम्बन्धः, नृत्यन्ताविव समागच्छन्तौ धृत्वा वा नृत्यं कुर्वन्तौ मातृप्रेरणया वाग्यप्राथनया वा नृत्यन्तं पश्यन्तौ वा, स्तोत्रे पञ्चधा नृत्यं हेतुः, लीलाभावाश्वासङ्ख्याताः, रोषभावाश्च त्रिविधाः स्तोत्रविषयाः, तत्र स्तोत्रं द्वेधा सम्भवति परमार्थतो लोकतरश्च, लोकतो घृणा, घृणयास्तुवन्त्यावितिपदच्छेदे परमार्थतः स्तोत्रं, घृणयोपलक्षिते वा मातरौ, भगवद्व्यतिरिक्ते सर्वत्र घृणा सञ्जातेति, 'सघृण' इत्यादौ 'घृणा' स्नेहदयाप्युच्यते, भगवत्कृत् कोपगूहनदशा भिन्ना ताभ्यामुपगूहयोरन्या, अत्रापि बहवो भेदाः सम्भवन्ति, स्तनपानदशा तु स्वतन्त्रा, आलिङ्गितयोर्वा भयाभावात् स्तनपानं, निरीक्षणलीलापि बहुविधा, सर्वत्र प्रमोदः फलमुपयोर्मातृत्वमन्यथा शङ्कितं भविष्यतीति बुद्धिदाह्यार्थं निरूपितं, भगवतोपि मातरि वैलक्षण्यभावा-जननार्थं निजसुतावित्युक्तं, भगवत्सम्बन्धेपि सर्वपुरुषार्थानां भगवद्रूपेण भिन्नतया वा ज्ञानाभावात् घृणा निरूपिता,

भौमाः सर्व एवावयवास्सुगन्धा भवन्ति, विजातीयैश्चोपहता अन्यथा भवन्त्यलौकिकं तेजश्चेद् भवति तदोत्तमता भवति, तत उच्यन्ते कस्तूरीकुङ्कुमचन्दनादिष्वङ्गरागपदानि, वस्तुतस्तु मृदवयवा एव गन्धतेजोभ्यां सहितास्तथा व्यपदिश्यन्ते, भगवत्सम्बन्धाद् दोषनिवृत्तिपूर्वकगुणाधानमुचितमेव, अतः पङ्कस्याङ्गरागत्वं, पङ्कपदप्रयोगाच्चैवं ज्ञायते, अङ्गसम्बन्धा-नन्तरमेवाङ्गरागत्वमिति, रुचिराविति परमार्थपेक्षयाधिक्यं सूचयति, स्वेनैव अङ्गरागत्वं सम्पादितं स्वतेजसानुभावेन वा पुनस्तेनैव रुचिरत्वमङ्गरागस्य माहात्म्यख्यापनाय, ततोप्यधिकतेजस आविर्भावः प्रत्यक्षतः पङ्कदर्शनयुक्तयोरपि पङ्कगङ्गरुचिरत्वं निस्सन्दिग्धं भावितमिति दोर्ध्यापगूहनमुक्तं, निर्दुष्टभाव एव भगवत्सुचित इति न तु दोषत्वमङ्गीकृत्य, अविहितभावख्यापनार्थं दत्त्वा स्तनमित्युक्तं, अन्यथा मुक्तिलीलायां प्रवेशः स्यात्, गमनागमनाभ्यां बालकाः श्रुधिता इति प्रकर्षेण पानं, नन्वेवं स्त्रीणां बाललीला कथं भवद्भिरवगता योगे ध्याने वा कैवल्यस्यैव भाव्यत्वाद् गमनं तु नात्स्यवर्णितत्वादित्याशङ्क्याह स्मेति, सर्वलोकप्रसिद्धैश्च लीला, अतो नालौकिकप्रकारे ज्ञाने वक्तव्यः, मुखमित्येक-

वचनमेकस्यावेशितत्वेन प्रकटमेकमेव मुखमिति आपयितुं तदग्रे विस्तरेण वक्ष्यते, ननु मुखस्य भक्तिरूपत्वात् तत्र सम्यङ्-निरीक्षणे जाते कथं लौकिकभावः सिध्येदित्याशंक्याह मुखस्मिताल्पदशनमिति, स्मितस्य दन्तानां च मायास्नेह-

रूपत्वान्मोहकत्वं मुखं सुन्दरं स्मितमल्पता स्वासक्तिजनकता च निरूपिता, मोहकं त्वन्यत्रैवास्ति जनयति, अल्पदशनानि च, तथा क्षीरकणसहिता दन्तपंक्तिरुक्ता, अतो लौकिकालौकिकभावयोर्मिश्रणात् प्रकृष्टो मोदः ॥ २४ ॥

**व्याख्यानार्थ —** उनकी माताएं (यशोदा और रोहिणी) कीचरूप अंगरग से सुन्दर अपने अपने पुत्र को उत्कण्ठा\* से स्तुति करने लगी और दोनों भुजाओं से आर्लिगन कर उनके मुखों में स्तन दिये दूध पीते हुए, उनके मुख को देख कर, अत्यन्त हर्ष को प्राप्त हुई ॥ २४ ॥

अब माता के साथ भिन्न - भिन्न प्रकार की जो लीलाएं कीं उनका वर्णन करते हैं -

- (१) माता के पास इस प्रकार आने लगे जैसे कोई नाचते हुए आते हों ।
- (२) अथवा कभी कुछ हाथ में लेकर मानो नृत्य करते हुए आ रहे हों ।
- (३) अथवा माताओं की प्रेरणा से नाच करते हों ।
- (४) अथवा दूसरों की प्रेरणा से नृत्य कर दिखाते थे ।
- (५) वा कोई नाचते हैं उनको देख रहे हैं ।

माताएं जो स्तुति, कीर्तन करती थीं उसका कारण ये विविध प्रकार की नित्य लीलाएं थीं । और इन लीलाओं में असङ्ख्य<sup>१</sup> भाव थे एवं रोष भाव तीन प्रकार के थे ।

स्तोत्र<sup>२</sup> दो प्रकार के होते हैं - एक लौकिक रीति के दूसरे परमार्थ<sup>३</sup> रीति के । माताएं जो स्तोत्र करती थीं वे लौकिक रीति के नहीं थे, क्योंकि श्लोक में दिए हुए 'घृणा' शब्द का सामान्य लौकिक अर्थ, 'नफरत या निन्दा' भी होता है । अतः आचार्यश्री कहते हैं कि श्लोक में 'घृणयास्तुवन्त्यौ' इसके पदच्छेद करने से 'घृणया अस्तुवन्त्यौ' होगा, जिसका अर्थ होता है निन्दा वा नफरत से स्तुति नहीं करती थी । जिसका सारांश यह है कि माताएं अलौकिक रीति से स्तुति करती थीं । इस प्रकार अर्थ करने से घृणा शब्द का लौकिक अर्थ लेते हुए भी माताओं की, की हुई स्तुतियाँ अलौकिक सिद्ध हो जाती हैं । माताएं स्तुति लौकिक करती थीं वा अलौकिक करती थीं । इस शंका का मूल कारण है 'स्तुवन्त्यौ' शब्द से 'घृणा' शब्द का जोड़ना । आचार्यश्री को यह शंका ही न रहे, इसलिये इसका दूसरा ढंग बताते हैं कि 'घृणया' शब्द का जोड़ना । आचार्यश्री को यह शंका ही न रहे, इसलिये इसका दूसरा ढंग बताते हैं कि 'घृणया' पद का अन्वय मातरौ से करलो जिसका अर्थ होता है कि दोनों भाइयों ने माताओं को दयापूर्ण देख, पहचान लिया कि ये हमारी माताएं हैं । क्योंकि ये दयायुक्त हैं । माताओं का उस समय भगवान् को



सुन्दरता से जो उन दोनों में प्रेम उत्पन्न हुआ था, जिससे दूसरों को भगवान् से न्यून समझने लगीं । उन (दूसरों) की न्यूनता देख माताओं में उन (दूसरों) के प्रति दया उत्पन्न हुई, जिससे आचार्यश्री कहते हैं कि माताएं दयायुक्त हुई थीं ।

भगवान् स्वयं, जब माता का आलिंगन कर मिले, उस समय के आनन्द की दशा, एक प्रकार की थी और जब माताएं अपने पुत्रों का आलिंगन कर मिलीं, उस समय के आनन्द की दशा दूसरे प्रकार की थी । इस मिलन के भी अनेक भेद होते हैं, अर्थात् भगवान् और माताएं परस्पर विविध प्रकार से मिले थे जिससे उन्होंने विविध आनन्द रस का पान किया था । स्तनपान की दशा अन्य प्रकार की थी, स्वतन्त्र थी अथवा माताओं से आलिंगित हो, उनकी गोदी में बैठकर स्तनपान कर रहे थे, उस समय सर्व प्रकार से अपने को निर्भय समझते थे । इसलिये प्रेम से दूध पीने का आनन्द ले रहे थे और माताओं को दे रहे थे एवं भगवान् माताओं का निरीक्षण कर माता के सुख का अनुभव जता रहे थे और माताएं पुत्रों की चेष्टाओं का निरीक्षण, वात्सल्य रस का खूब पान कर रही थीं । इस प्रकार की लीलाओं से माताओं एवं बालकों को अत्यन्त हर्ष हुआ । अत्यन्त हर्ष से यह निश्चय हुआ कि माताओं की यह बुद्धि दृढ़ थी कि ये दोनों हमारे ही पुत्र हैं । इस प्रकार भगवान् की भी माताओं में भेद बुद्धि नहीं हुई थी । वे भी उनको अपनी माता ही समझते थे । इसलिये श्लोक में 'निजसुतौ' पद दिया है । दोनों अपने पुत्र हैं ।

इन लीलाओं के होते ही माताओं का भगवान् से सम्बन्ध हो गया तो भी उन (माताओं) को यह ज्ञान नहीं हुआ कि ये सर्व पुरुषार्थ, भगवद्रूप हैं अथवा भगवान् से भिन्न हैं । अतः घृणा का निरूपण किया है अर्थात् माताओं ने अन्य पदार्थों को न्यून समझ कर उन पर दया की ।

पृथ्वी से उत्पन्न सर्व पदार्थ, अथवा भूमि के सर्व अवयव गन्ध वाले होते हैं । विजातीय<sup>१</sup> पदार्थों से उपहत होने पर अन्यथा (दूसरे प्रकार के अर्थात् गन्धहीन) होते हैं । यदि अलौकिक तेज हो तो उनमें उत्तमता आ जाती है । उस कुङ्कुम् चन्दनादिकों को 'अंगरग' नाम दिया गया है । वास्तव में कस्तूरी आदि तो मिट्टी के ही अवयव<sup>२</sup> हैं, परन्तु गन्ध और तेज के कारण कस्तूरी आदि नाम से व्यवहृत होते हैं । भगवान् से सम्बन्ध होने पर दोषों की निवृत्ति और गुणों का प्राकट्य होना उचित ही है । अतः कीच को अंगरग कहा गया है । पहले तो कीच थी; किन्तु भगवान् के श्री अङ्ग से सम्बन्ध होने से उस कीच के दोष निवृत्त हो गए उसमें गुण प्रकट हुए । जिससे शुकदेवजी ने श्लोक में 'पङ्कागरग' पद देकर कीच को भगवत्संसर्ग सत्र से अंगरग कहा है ।

श्लोक में दिये हुए 'सुन्दर' शब्द का भाव बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि उत्तम पदार्थों से भी इस (कीच) की विशेष सुन्दरता प्रकट करने के लिये सुन्दर पद शुकदेवजी ने दिया है ।

यद्यपि मिट्टी में इतनी सुन्दरता नहीं थी, किन्तु भगवान् ने स्वयं स्वतः ही अपने तेज और प्रभाव से उसमें सुन्दरता प्रकट कर अंगराग की महत्ता प्रकट की। उससे भी अधिक तेज का प्रत्यक्ष आविर्भाव<sup>१</sup> हुआ, जब वह भगवान् के श्रीअंग में लपेटी हुई देखी गई। जिससे भगवान् के श्रीअंग की सुन्दरता निःसंदेह निखरने लगी। इस सुन्दरता से ही माताओं ने दो भुजाओं से श्रीअंग का आलिंगन कर सुन्दरता के अनुभव का रसास्वाद लिया।

भगवान् में सदैव निर्दोष भाव करना चाहिये, कभी भी भगवान् में किसी प्रकार भी दोष न देखना चाहिये। माताओं ने पुत्रों के अंग में लगी हुई मिट्टी से सौन्दर्य की झांकी की। अतः उसी दशा में पुत्रों को आलिंगन कर गोदी में ले स्तन दिया। यदि माताएं लौकिक भावयुक्त होकर स्तनपान न कराती तो अलौकिक भाव प्रकट होते ही मुक्त हो जातीं। माताओं ने समझा कि बालकों ने आने जाने की इतनी दौड़ - धूप की है, इससे यह भूखे होंगे, अतः इनको अच्छी तरह से स्तन्य पान कराना चाहिये।

'श्लोक' में शुकदेवजी ने 'स्म' क्यों कहा इसका आशय आचार्यश्री स्पष्ट करते हैं कि किसी को यह शङ्का होवे कि शुकदेवजी ने जो स्त्रियों के बाल - भाव की सर्व क्रियाओं का वर्णन किया है वह कैसे किया? शुकदेवजी स्वयं विरक्त थे। इसलिये उनको इस लौकिक विषय का ज्ञान नहीं था। तो क्या शुकदेवजी ने योग में वा ध्यान में वह लीला देखी? योग और ध्यान में तो मोक्ष के आनन्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं दीखता है। आना - जाना भी मोक्ष में नहीं, तो फिर शुकदेवजी ने इसका वर्णन कैसे किया? ऐसी शंकाओं के निवारण के लिये शुकदेवजी ने 'स्म' शब्द देकर बताया कि ये लीलाएँ सर्व लोक - प्रसिद्ध हैं, कारण के नित्य हैं। इसलिये उन लीलाओं को जानने के लिये योगध्यानादि अलौकिक प्रकारों की आवश्यकता नहीं है। श्लोक में 'मुखं' एक वचन क्यों कहा? उसका आशय आचार्यश्री बताते हैं कि दोनों ही रूप एक ही भगवान् के थे, इसलिये 'मुखं' शब्द एक वचन देकर दोनों का एकत्व प्रतिपादन किया है। बलरामजी में भी भगवान् का ही आवेश था। यह एकत्व आगे विस्तार से कहा जाएगा।

मुख भक्ति रूप है, उसके निरीक्षण से लौकिक भाव क्यों हुआ? उसको समझाते हुए कहते हैं कि मुख में जो हास्य एवं दूध कणों जैसे सुन्दर छोटे - छोटे दांत थे, वे माया एवं स्नेह रूप होने से मोहक थे। सुन्दर स्मित<sup>२</sup> अपने में आसक्ति कराती है और उनका गुण मोहक दूसरे में आसक्ति कराता है। इसलिये उनसे (मन्द मन्द मुस्कान तथा दूध वाले दाँतों से) दोनों भाव<sup>३</sup> प्रकट होने से अत्यन्त मोद प्रकट हुआ अर्थात् माताएँ इनसे अत्यन्त आनन्द में मग्न हुईं ॥ २४ ॥

१-प्राकट्य। २-मन्द हास्य = मुस्कान। ३-लौकिक तथा अलौकिक।

आभास — एवं लीलात्रयं फलान्तं निरूपितं; स्वतः स्थितयोर्लीला आह यद्वाङ्मनेतित्रिभिः ।

आभासार्थ — इस प्रकार ऊपर के श्लोकों में तीन लीलाएं (मुग्ध<sup>१</sup>, धार्ष्य<sup>२</sup> और धूर्तता<sup>३</sup> युक्त लीलाएं) फल सहित वर्णन की गई हैं जिनसे तीन प्रकार के सात्विक, राजस और तामस प्रकृति वालों के दोष दूर कर, अन्त में फलरूप निर्गुण स्वरूप हृदय में स्थित किया । अब जो लीलाएँ की हैं वे अपने आप ही स्थित हो, उनका वर्णन तीन श्लोकों से करते हैं ।

श्लोकः — यद्वाङ्मनादर्शनीयकुमारलीलावन्तर्ब्रजे तदबलाः प्रगृहीतपुच्छैः ।

वत्सैरितस्तत उभावनुकृष्यमाणौ प्रेक्षन्त्य उज्झितगृहा जगृहुर्हसन्त्यः ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ — जब स्त्रियों के देखने योग्य कुमार लीलावाले, वे दोनों भाई हुए, तब जब कभी ब्रज में वे दोनों भाई, गौओं के पुत्रों (बछड़ों) की पूंछों को पकड़ कर खेलते थे, उस समय वे बछड़े दोनों भाईयों को घसीट (खींच) कर इधर-उधर ले जाते थे, इस लीला को देखती हुई उन अबला ब्रजांगनाओं ने अपना अपना काम छोड़ दिया और उसमें लीन होकर हँसती हुई उनको पकड़ने लगी ।

सुबोधिनी — अत्र सर्वा एव स्त्रियोधिकारिण्यः, अन्यासां सामान्यतो निरोधाभावे तत्संगदोषेण जनन्यो - निरोध उच्यमानो न भवेत्, राजसभावास्तु कोटिशो भवन्ति तान् सर्वानेव संप्रहीतुं यद्वाङ्मनादर्शनीयकुमार - लीलावित्युक्तं, अंगनास्तु तरुण्यस्तासां दर्शनीया कुमारलीला ययोः, तस्त्रिविधा भवन्ति कौतुकाविष्टा रसाविष्टाः कामाविष्टाश्चेति, यदैव तौ तासां दर्शनीयलीला तदैवातिमुग्धत्वख्यापनार्थं वत्सपुच्छवलम्बनेन स्थितौ भवतः, लौकिकाभिनिवेशभयाच्छुकेन न विशेषत उक्तः, कुमारेण द्विवार्षिकः, कुत्सितो मारो यस्मादिति कन्दर्पकोटिलावण्याधिकसुन्दर उक्तस्तद्गतोत्कृष्टभावा अप्यस्मिन् निरूपिताः अंगनानां दर्शनीयभावनार्थं जातानुभावानां वा निर्भयेन दर्शनार्थं यहीति, तृणावर्तवधपर्यन्तमन्यदा वा यावदयं भावो न जात इति तावन्निरन्तरदर्शनं न जातमिति ज्ञापितं, दृष्टिस्पर्शसम्बन्धैस्त्रिविधाः सुखदा उक्ताः एतादृशावंगनादर्शनीयकुमारलीला, अन्तर्ब्रज इति, ब्रजमध्ये

सर्वासामेव दर्शनयोग्यस्थाने, तदबला वज्रबला अन्यत्र गमनयोग्यतारहिताः, वत्सैरितस्ततो नुकृष्यमाणौ जगृहुरितिसम्बन्धः, वत्सा गोपुत्राः, भगवाँल्लीलार्थं कर्माङ्गदेवताभावं तदवलम्बनं वा करोति, ते तु मूढा इतस्ततः प्राकृते वैकृते च संयोजयन्ति यथा गर्दभपादच्छेदनं कृत्वा "विष्णवे शिपिविष्टाय जुहोती" "त्यतिरिक्तस्य शान्त्या" इतिफलार्थं, एतेपि वत्सा भगवता प्रकर्षेण गृहीतं पुच्छं येषां द्वयोरेकस्य वा प्रकर्षेण ग्रहणात् तेषां धावनं, प्रदर्शनार्थमेव यतो मुग्धभावः, अतो न स्वलनमत्र, उभाविति भगवान् स्वत आवेशतश्च क्रीडतीति वक्तुं, अनुकर्षणं शनैःशनैः कर्षणं, भगवानपि वत्समाकर्षति वत्सतर्यश्च भगवन्तं, अतो वत्सस्यापि नेष्टमिति, अत इतस्तत आकर्षणं वत्सैरितिबहुवचनं धृतस्य पलायनेपि पुनरन्यग्रहणार्थं, एवं पशून्भगवदगतिं दृष्ट्वा प्रेक्षन्त्य एव स्थिताः, अत्रैव तात्पर्ययुक्ता उपनिषद इव स्थिताः, नत्वन्याधीनत्वेनान्यथा ज्ञातवत्यः, एवं कर्मभ्यस्त्याजयित्वा स्वार्थं ग्रहणमात्रमपरित्यागव्यतिरेकेण न सम्भवतीति गृहं बिडलादिभिरप्युपद्रुतं परित्यज्य तदवेषामकृत्वा

जगृहुः, हसन्त्य इति, अस्मत्परिगृहे नैषमितस्तत आकर्षणे नयनं सम्भवति, उज्झितगृह्या इतिवाचनादन्यत्रापि नयनं, हसन्त्य इत्यपि तथा, किं बहुना सर्वप्रकारेण जगृहुः, सर्वासामेव यथा ग्रहणं भवति तथा भगवान्, गोपुच्छधारणलीलेष्व पराधीना निरूपिता ॥ २५ ॥

**व्याख्यानार्थ —** इस लीला में सब स्त्रियां अधिकारिणियां हैं। यशोदा और रेहिणी से इतर स्त्रियों का सामान्य रीति से निरोध न होने से उनके संग दोष से, माताओं के निरोध का वर्णन नहीं कहा। राजस\* भाव तो करोड़ों होते हैं। उन सब राजस भावों का, स्त्रियों के देखने योग्य कुमार लीला वाले स्वरूपों में, समावेश किया गया है। उन लीलाओं के करने वाले, स्वरूपों के दर्शन से 'अंगना' तरुण स्त्रियों में रसों का उदीपन<sup>१</sup> होता है। भगवान् की कुमार लीलाएँ तीन प्रकार की हैं -

१-कौतुकाविष्टा - आश्चर्य उत्पन्न करने वाली।

२-रसाविष्टा - रस, आनन्द उत्पन्न करने वाली।

३-कामाविष्टा - पुनःपुनः दर्शन की इच्छा उत्पन्न करने वाली है।

इस प्रकार अधिकारानुसार इन त्रिविध लीलाओं के रस-पान करने वाली तरुणियाँ भी तीन प्रकार की थीं। जब भगवान् उन तरुणियों को लीला के दर्शन करने योग्य हुए तब ही अपनी अति मुग्धता<sup>२</sup> प्रकट करने के लिये बछड़ों की पूंछों को पकड़ के उठाकर खड़े हो जाते थे। आचार्यश्री कहते हैं कि इस लीला का विशेष वर्णन श्री शुकदेवजी ने लौकिकाभिनिवेश के भय से नहीं किया है। यों तो कुमार अवस्था पाँच वर्ष तक है, किन्तु इस लीला के करते समय भगवान् दो वर्ष के थे, आचार्यश्री की यह सम्मति है, कारण कि ढाई वर्ष की आयु में आप वृन्दावन पधारे हैं। इस प्रकार आचार्यश्री 'कुमार' शब्द से आयु का निर्णय कर 'कुमार' शब्द का दूसरा भाव भी बताते हैं। आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि शुकदेवजी ने 'कुमार'शब्द देकर यह बताया है कि लोक में प्रसिद्ध है कि सौन्दर्य की अवधि कामदेव है। इसलिये किसी पुरुष के रूप का सौन्दर्य बताया जाता है तो कहा जाता है कि भगवान् ने अपने सौन्दर्य से 'काम' को भी कम कर दिया है इसलिये इसका अर्थ है 'कुत्सितो भारो यस्मात्' जिससे भगवान् श्रीकृष्ण

+ प्रकाशकार कहते हैं कि जो निरोध की अधिकारिणियां थीं।

\* प्रकाशकार 'राजस'भाव का आशय समझते हुए कहते हैं कि जो भाव रसों का उदीपन करते हैं वे भाव राजस भाव हैं।

के स्वरूप से 'काम' का स्वरूप भी हीन है। इसलिये भगवान् को कोटिकन्दर्प लावण्य से भी सुन्दर कहा जाता है। काम के सौन्दर्य के सर्वोत्तम भाव भी इस (श्रीकृष्ण) में निरूपण किये गए हैं। अर्थात् कामदेव में जो सौन्दर्य की उत्कृष्टता है, वह तो भगवान् में है ही, किन्तु उससे भी भगवान् में सुन्दरता का विशेष भण्डार है। लोक में कहे हुए (यहिं) शब्द का भाव आचार्यश्री बताते हैं कि भगवान् जब तक यशोदाजी की गोद में रमण करते थे और स्वयं उठक बाहर खेलने नहीं आते थे, तब तक अंगनाओं<sup>१</sup> को भगवान् के दर्शन, अन्तराय बिना नहीं होते थे। तृणावर्त - वध और उसके पश्चात् भी, जब तक वह भाव प्रकट न हुआ, तब तक निरन्तर भगवान् के दर्शन नहीं होते थे। भगवान् जब कुमार लीला करने लगे, तब दोनों प्रकार की अंगनाओं, जिनको अधिकार था और जिनको अब कुमार अवस्था की लीला देखकर भाव उत्पन्न हुआ था, उनको बिना अन्तराय के निरन्तर भगवान् के दर्शन होने लगे। इस प्रकार की स्त्रियों के देखने योग्य कुमार लीलाएं, दृष्टि, स्पर्श और सम्बन्ध से त्रिविध थीं; एवं सुख देने वाली थीं। ये लीलाएँ भगवान् ने किस स्थान पर कीं? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् ने विचार कि मुझ में निष्ठा वाली व्रज बालाएँ निर्बल हैं, इसलिये दूसरे स्थान पर जाने के योग्य नहीं हैं अतः मैं ऐसे स्थान पर ये लीलाएँ करूँ, जहाँ से सब देख सकें। वह स्थान व्रज ही है। इसलिये 'व्रज के मध्य में' ये लीलाएँ भगवान् ने की हैं। भगवान् जब मुग्ध भाव बनाने के लिये बछड़ों की पूंछों को पकड़ कर खड़े होते थे, तब वे बछड़े मूढ़ होने से भगवान् एवं उनके साथी बलरामादिकों को भी घसीट कर ले जाते थे। यह देख कर अंगनाएँ उनको पकड़ती थीं। आचार्यश्री बछड़ों की पूंछों को पकड़ने का भाव बताते हैं कि भगवान् कर्मनिष्ठों को, कर्म फल देने के लिये, कर्म के अंगरूप देवता बन जाते हैं, वा उसका आश्रय करते हैं। किन्तु कर्म, जड़ (मूढ़) होते हैं वे समझते हैं कि हमको यह फल देवता देता है इसलिये वे भगवान् से साक्षात् सम्बन्ध जोड़ नहीं सकते हैं। अर्थात् भगवान् की सेवा नहीं करते हैं एवं के कर्मजड़ यह नहीं समझते की हमको फल देने के लिये भगवान् लीला से कर्मांग देव बने हैं। यों न समझने के कारण वे उस ही स्थिति में रहते हैं, आगे नहीं बढ़ सकते हैं। जैसे बछड़ों को भगवान् ने पकड़ा (स्वीकार कर वरण किया) अपने श्रीअंग के स्पर्श से आनन्द दिया, परन्तु मूढ़ होने से वे इस भाव को न समझ, भगवान् को प्राकृत, जान, उनसे अपने आपको छुड़ाने के लिये भागने लगे, वे कर्मजड़ अस्थिर<sup>२</sup> मति<sup>३</sup> मूढ़ ऐसे हैं, जो यहाँ वहाँ भटकते हैं तथा नित्य कर्म और काम्य कर्म में उसका सम्बन्ध करते हैं। दूसरों को शांति हो, इस फल की प्राप्ति के लिये, गर्दभ के पाद (कुछ भाग) का छेदन कर होम करते हैं। मूढ़ होने से भगवान् की लीला का रहस्य गोवत्सों की तरह नहीं समझते हैं। भगवान् ने बछड़ों की पूंछों को अच्छी, तरह से पकड़ा, जिससे वे दौड़ नहीं सकते थे, किन्तु भगवान् को तो लीला मात्र करनी थी जिससे इस प्रकार का प्रदर्शन कर भक्तों को

अपने मुग्ध भाव या आनन्द दान किया। इस प्रकार से बछड़ों के घसीटने पर भी, भगवान् स्खलित<sup>१</sup> न हुए। यह क्रीड़ा भगवान् ने दो रूपों से, मूल रूप स्वयं श्रीकृष्ण से और बलराम में आविष्ट स्वरूप से की है। बछड़े भगवान् को, अथवा भगवान् बछड़ों को धीरे - धीरे आकर्षण<sup>२</sup> करते थे इसलिये दोनों की इच्छा के अनुसार कार्य (लेजाने का कार्य) नहीं होता था अतः : इधर - उधर परस्पर खींचते रहते थे। श्लोक में 'वत्सैः' बहुवचन दिया हुआ है उसका आशय बताते हैं कि एक को पकड़ते समय यदि वह भाग जाता तो दूसरे को पकड़ते, यों कितने ही भाग जाते कितने ही पकड़े जाते थे, इसलिये बहुवचन दिया है। इस लीला में इस प्रकार से भगवान् की पराधीन गति को देखती हुई अंगनाएँ स्थिर स्थित हो गईं। जैसे भगवान् के स्वरूप एवं लीलाओं के रहस्य को जान कर उपनिषद् उनमें ही स्थित (भग्न) हैं वैसे ये तरुणियाँ लीला के रस को पान कर, आनन्दित हो, स्थिर हो गईं। भगवान् अन्याधीन (बछड़ों के आश्रित) हैं इसलिये वह प्राकृत हैं, ऐसा भाव उनके मन में न आया, वे तो इसको भगवान् ही समझ रही थीं उनको यह रहस्य ज्ञात हो गया कि यह हमारे प्रिय की मुग्ध लीला है।

इस प्रकार लीला के रहस्य को समझने से अन्तःकरण शुद्ध हो गया। तब कर्मनिष्ठा को अन्तःकरण से निकाल दिया। अपने आनन्द प्राप्ति के लिये भगवान् को हम तब ग्रहण (वश) कर सकेंगी जब आश्रम (गृहस्थ) का त्याग करेंगी इस निश्चय से बिडालादि से, व्याकुल भी घर को छोड़, उसको परवाह न कर भगवान् को ही पकड़ा, अर्थात् भगवान् में आसक्त हो गईं। श्लोक में दिये हुए 'प्रेक्षन्त्य उज्जितगृहा जगृहुर्हसन्त्यः।' इन तीनों का भाव प्रकट करते हैं कि हमने भगवान् को पकड़ लिया अब बछड़ों के समान स्खलन न होगा। इस कारण से भगवान् की इस मुग्धलीला को ज्ञानवाली देखती रही। इस प्रकार वे तीन प्रकार की स्त्रियाँ थीं जिन्होंने भगवान् को ग्रहण किया था। भगवान् को ग्रहण करने के पश्चात् जो भगवान् में विनियोग करना है वह तो इन्होंने पहले ही कर दिया था।

हम सब मिलकर भगवान् को पकड़ें तब भगवान् आप कहीं भी ले जाएँ, घर छोड़ दिया। इससे घर के अभाव में भगवान् दूसरे स्थान पर लेजा सकते हैं। हँसने का भी यही भाव है कि भगवान् फलदानार्थ कहीं भी चलें। विशेष कहने से क्या उन्होंने सर्व प्रकार से भगवान् को अपना लिया अब जिस प्रकार सब का अंगीकार हो, वैसे भगवान् करें, अर्थात् अंगनाओं के इच्छाधीन हों, लीला करें। गो पुच्छ, धारण लीला पराधीन लीला का यही भाव वर्णन किया गया है ॥ २५ ॥

**आसास —** स्वतो गतिलीलामनेकविधामाह श्रृंगीति ।

**आभासार्थ —** इस श्लोक में भगवान् की उन अनेक प्रकार की गति (पैरों से चलने की) लीलाओं का वर्णन करते हैं जो लीलाएँ भगवान् ने स्वच्छन्द होकर की हैं।

श्लोकः — शृङ्ग्यग्निदंष्ट्रयसिजलद्विजकण्टकेभ्यः क्रीडापरवतिचलौ स्वसुतौ निषेद्धम् ।  
गृहाणि कर्तुमपि यत्र न तज्जनन्यौ शेकात आपतुस्त्वं मनसोनवस्थाम् ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ — जब सींग वाले, अग्नि, दाढ़ों वाले, तलवार, जल, पक्षी और कांटों से करते हुए खेलों 'में' तन्मय<sup>१</sup>, अति चञ्चल अपने पुत्रों को माताएँ रोक न सकीं और अपने घर के काम भी न कर सकीं, तब दोनों माताओं के मन की अनवस्था हो गई ॥ २६ ॥

सुबोधिनी — गोपिकास्तु स्वत्वभावदोषरहिताः, विस्मृतप्रपञ्चा भगवदासक्ता निरूपिताः, यशोदारोहिण्यौ तु अलौकिकभावेनापि वशीकृताः, विचाराभावाद् रसेनापि तद्विपरीते इति तयोस्तदुभयसम्पादनार्थं षड्गुणैः स्वेन च तारुण्यात् कौतुकेनाप्यन्यार्थं च निरूपिताः शौचमेव सप्तधा लीलां कृतवान् ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ — गोपिकाएं निर्दोष थीं, क्योंकि उनको भगवान् में संसार सम्बन्धी लौकिक भाव नहीं था । वे अलौकिक भाव से वशीकृत थीं । भगवान् भक्तों में सूक्ष्म रूप से विश्वास उत्पन्न करते हैं जिससे उन भक्तों के विघ्न दूर होते ही भगवान् स्वकीय इष्ट रूप का उनमें आविर्भाव करते हैं इसको इष्ट वा अलौकिक भाव कहा जाता है । घर त्याग से उनको कोई विचार (सांसारिक विचार) न रहा, इसलिये रस से भी वश हुई थीं, तारुण्य के कारण, कौतुक से भी वश हुई थीं । हंसती हुई गोपियाँ अन्य फल (काम की इच्छा) से भी वश हुई थीं । इस प्रकार वे त्रिविध गोपियाँ भगवदासक्त होने से शीघ्र ही प्रपञ्च को भूल गई अर्थात् उनका तो निरोध हो गया, किन्तु माताओं का निरोध न हुआ, कारण कि माताओं में अब तक ये हमारे पुत्र हैं यह स्वत्व भाव (लौकिक भाव) था और उनकी गृह-कार्य में भी आसक्ति थी । अतः माताओं का निरोध करने के लिये (स्वत्वभाव एवं गृह कार्यासक्ति मिटाने के लिये) छः गुणों से एवं अपने स्वरूप से सात प्रकार की लीला करने लगे ॥ २६ ॥

कारिका — इष्टस्य दुष्टसम्बन्धे शिष्टः पुष्टिं विमुञ्चति ।

नान्यथेति हरिः प्रीतः सत्यः क्रूरगतो भवेत् ॥ १ ॥

कारिकार्थ — इष्ट का दुष्ट के साथ सम्बन्ध होता है, तब शिष्ट अपने पोषण को त्यागता है । यदि ऐसा नहीं हो (पोषणादि गृह - कार्य त्याग न हो) तो सत्य रूप हरि क्रूर के पास न जावे । किन्तु यहाँ शिष्ट ने अपना पोषण त्याग दिया है अतः सत्य

रूप हरि प्रसन्न होकर क्रूर के पास गए । क्योंकि भगवान् को शिष्ट का निरोध† करना था ॥ १ ॥

**व्याख्या** — इस कारिका में आचार्यश्री ने यह समझाया है कि भगवान् ने यह कुमार लीला करते हुए दुष्ट (सींग वाले अग्नि आदि) का संग इसलिये किया है कि माताओं की जो अब तक गृह - कार्य में आसक्ति है और मुझ में लौकिक भाव है वे दोनों ही छूट कर मुझ में इनका निरोध हो । अतः जब भगवान् ने दुष्ट संग किया, तो माताएँ गृह - कार्य छोड़कर भगवान् के पास गई जिससे गृहासक्ति छूटने लगी और भगवान् में अलौकिकत्व का ज्ञान भी होने लगा । इष्ट का अर्थ है अपने को जो प्रिय हो, तो यहाँ माताओं को प्रिय भगवान् हैं अतः इष्ट से भगवान् समझना चाहिये । शिष्ट का अर्थ है इष्ट (भगवान्) के अतिरिक्त जो शेष हो, वे माताएँ हैं अर्थात् शिष्ट से यहाँ माताएँ समझनी चाहियें । इसलिये इष्ट (भगवान्) का दुष्टों (सींग वाले, अग्नि आदि) से सम्बन्ध होते ही शिष्ट (माताओं) ने पोषणादि (गृह - कार्य) छोड़ दिया है ॥ १ ॥

**कारिका** — शृङ्गिणो दंष्ट्रिणश्चैव पक्षिणश्च विधातकाः ।

चेतनास्त्रिविधा एव ततोऽन्ये तु चतुर्विधा ॥ २ ॥

**कारिकार्थ** — सींगवाले, दाढ़ों वाले और पक्षी - ये तीन प्रकार के चेतन प्राणी विधातक (मारने वाले) होते हैं, और चार प्रकार के अचेतन विधातक होते हैं ॥ २ ॥

**कारिका** — कृत्रिमाः सहजास्तेऽपि खड्गाग्निजलकण्टकाः ॥ २½ ॥

**कारिकार्थ** — वे अचेतन, खड्ग (तलवार) अग्नि, जल और कांटे भी कृत्रिम और सहज होने से दो प्रकार के हैं ।

**व्याख्या** — २ व २½ कारिका में कहा गया है कि मारने वाले प्राणी चेतन और अचेतन दो प्रकार के हैं उनमें चेतन तीन प्रकार के हैं और अचेतन चार प्रकार के हैं । तीन प्रकार के चेतन सींग वाले, दाढ़ वाले और पक्षी हैं और चार प्रकार के अचेतनों में दो कृत्रिम<sup>१</sup> अग्नि और खड्ग और दो सहज<sup>२</sup> कांटे तथा जल हैं ॥ २ २½ ॥

† लेखकार कहते हैं कि भगवान् भक्तों के, निरोध करने के लिये अपने स्वरूप को भर्पादा भी छोड़ देते हैं । अतः दुष्टों से भी संग किया है ।

१ - बनावटी, जो बनाए जाते हैं । २ - प्राकृतिक, कुदस्ती ।



**सुबोधिनी** — शृङ्गिणो गावः अग्निर्धूमार्थं स्वेदार्थं वा कृतः, दंष्ट्रिणो मर्कटः असिः, खड्गादिसाधनानि, बर्तनं कूपगर्तादिस्थितं, कलशादिस्थितं वा पातनात्, द्विजाः पक्षिणः, शुकादयः कण्टकानि च्छित्त्वा स्थापितानि परितो वेष्टनरूपाणि, तेष्वपि निवारणं वचनात् भवति, आज्ञाकारित्वेपि चाञ्जल्यात्, वस्तुतस्त्वाज्ञां दातुमपि न प्रेरयति, उपद्रवज्ञाने निर्बन्धेन निवारणं, तत् तु कर्तुमयुक्तमित्याह क्रीडापरवितिः क्रीडैव परेकृष्टा नियामिका यथोक्तकलयोः तर्हि क्रीडासाधनानि सम्यक्स्थले कृत्वा देशनीति चेत् तत्राहतिचलाविति, अत्यन्तं चलौ, तद्वन्त्यः कश्चित् तदवेक्षकः स्थाप्य इति चेत् तत्राह स्वसुताविति, स्वैर्नैव सूताविति तदर्थं क्लेशसहनात्

स्नेहाधिक्याच्च नान्यविनियोगं कुरुतः, क्रिययैव च निषेधः कर्तव्यस्ततस्तत आदाय सम्यक् स्थाने स्थापनीयौ, तथा प्रतिक्षणं क्रियमाणे गृहकार्ये तयोरेपि भोजनस्नानादिनिमित्तकार्यं न सिध्येत् तदाह गृह्याणिकर्तुमपीति, गृहेष्वयत्नकर्तव्यानि गृह्याणि, लौकिकनिष्ठता भगवन्निष्ठता च परस्परं विरुद्धा, आसक्तिस्तुल्या मध्यलीलैवेति, पञ्चमलीलां तु वक्ष्यति, तदर्थं सर्वपरित्यागं, उभयोस्तुल्यत्वख्यापनायापिष्ठब्दः, यदा न शेकाते तदा मनसोनवस्था मत्पतुर्वैयग्र्यं विन्तां च प्राप्तवन्तौ, तयोर्जनन्याविति ताभ्यां सह क्रिया निषिध्यत इति ज्ञापितं, क्षणमपि मनसो नैकत्र स्थैर्यं तयोर्जातमित्यर्थः ॥ २६ ॥

**व्याख्यार्थ** — सींगवाले प्राणी गौरं, धूर्ण के लिये अथवा पसीना<sup>१</sup> लाने के लिये जलाई हुई अग्नि<sup>२</sup>, दाढ़ वाले प्राणी वानर, असि, (तलवार आदि प्राण हरण करने के साधन), कूप और खड्गे में पड़ा हुआ और कलश से गिराया हुआ जल, शुकादि पक्षी, काण्टों से बनाई हुई बाड़, इन सातों से रमण करने में रत भगवान् को रोकना, केवल वचन से नहीं होगा, आज्ञा दी जाय, तो भी वे रुकेंगे नहीं क्योंकि वे चञ्चल हैं। वास्तविक में तो मन आज्ञा देने की प्रेरणा ही नहीं करता है अथवा सर्व प्रेरक भगवान् मनको आज्ञा देने के लिये प्रेरित नहीं करते हैं। इसलिये आज्ञा देने में वे असमर्थ हुई जिससे आज्ञा देने का विचार ही न हुआ। कारण कि भगवान् ने माताओं को गृह कार्य से विरक्त करके अपने में आसक्त कराने के लिये ही ये लीलाएँ की हैं।

जब इस प्रकार की उपद्रव वाली क्रीड़ाओं के करने का माताओं को ज्ञान हुआ तो माताओं को आग्रह वा प्रार्थना से उनको रोकने चाहिए था। इस प्रकार रोकना भी योग्य नहीं था, कारण कि क्रीड़ा में भगवान् आसक्त थे। जल खिलाड़ी खेल में लीन होते हैं तब उन पर क्रीड़ा का ही नियामकत्व रहता है। क्रीड़ा के अतिरिक्त दूसरों की प्रार्थना आदि सुनते ही नहीं। अतः माताओं ने प्रार्थना वा क्रीड़ा छोड़ने का आग्रह करना योग्य न समझा। अच्छा यदि उनको क्रीड़ा करना ही श्रेष्ठ कार्य जँचता है, तो अन्य प्रकार के क्रीड़ा के साधन एकत्रित कर, अच्छे स्थान पर लाकर उन्हें देने थे। यों करने से भी कार्य सिद्धि अशक्य थी क्योंकि वे अत्यन्त चंचल

१ — दूध के बर्तनों को गंध निकालने के लिये अग्नि से तपाते हुए उन बर्तनों में पसीना आने से दूध की गन्ध निकल जाएगी - 'प्रकाश'

२ — अग्नि के धूम (धूर्ण) से मच्छरों का उपद्रव टल जाएगा, गौर प्रसन्न रहेंगी और दूध गरम करने के लिये भी अग्नि की आवश्यकता होती है। - 'लेख'

थे अर्थात् एक स्थान पर वे एक प्रकार का खेल खेलें वैसे नहीं हैं। भला, तो उनकी देख रेख के लिये कोई निरीक्षक<sup>१</sup> रखना था। इस पर कहते हैं कि 'स्व सुतौ'ये बालक अपने उत्पन्न किए हुए हैं। इनके सब प्रकार के क्लेश हमने सहन किए हैं, इनमें हमारा स्नेह विशेष है। इसलिये जैसा निरीक्षण हम करेंगी, वैसा दूसरा नहीं करेगा। इसलिये दूसरा निरीक्षक भी नहीं रखा जा सकता है।

भगवान् को इन उपद्रवकारी पदार्थों से होती हुई लीलाओं से रोकने के लिये, इस प्रकार की क्रिया करो, जैसा कि वहाँ से उनको स्वयं लाकर, अच्छे स्थान पर स्थापित करो वहाँ खेलते रहें। इस पर कहते हैं कि सदा यों करने से उनको घर के आवश्यक कर्तव्य, भोजन स्नानादि, भी सिद्ध न हो सकेंगे। क्योंकि लोक में निष्ठा<sup>२</sup> और भगवान् में निष्ठा<sup>३</sup> परस्पर विरुद्ध हैं। माताओं की दोनों में, लोक में एवं भगवान् में (घर के काम करने में और भगवान् की रक्षा करने में) समान आसक्ति थी कारण कि अब तक पूरा निरोध सिद्ध नहीं हुआ है। इसलिए इस लीला को मध्य लीला कहते हैं, पांचवी लीला तो कहेंगे, उसके लिये सर्व परित्याग है। दोनों में समान निष्ठा के लिये श्लोक में अपि 'भौ'शब्द दिया है। माताएँ बालकों की इस प्रकार की लीलाओं से, घर के काम पूरा नहीं कर सकती थीं, तब व्यग्रता को प्राप्त होती थी और बालकों को साथ में भी नहीं रख सकती थीं। भगवान् स्वेच्छानुकूल, काल में सर्व कार्य करते हैं। इस प्रकार माताओं का मन एक क्षण भी स्थिर नहीं रहता था ॥ २६

**आभास —** एवं मात्रोर्निरोधार्थं बहुविधां लीलामुक्त्वा स्वतन्त्रतया स्थितस्य भूमेर्मर्दनत्क्लेशनिवृत्त्यर्थं पद्भ्यां संवाहयन्ताविव गतिविलासं कृतवन्तावित्याह कालेनाल्पेनेति।

**आभासार्थ —** इस प्रकार माताओं के निरोध के लिए अनेक प्रकार की लीलाएँ कहकर, अब भूमि मर्दन क्लेश को मिटाने के लिए, स्वतन्त्र भगवान् ने जिस भाँति चरणों से गति विलास कर, भूमि को चाँपते हुए उसका क्लेश काट, यह वर्णन करते हैं।

**श्लोक:—** कालेनाल्पेन राजर्षे रामः कृष्णश्च गोब्रजे ।

अघृष्टजानुभिः पद्भिर्विचक्रमतुरञ्जसा ॥ २७ ॥

१—देख रेख करने वाला ।

२—श्रद्धा ।

**श्लोकार्थ** — हे राजर्षे ! थोड़े ही समय में राम<sup>१</sup> और श्रीकृष्ण<sup>२</sup> गोकुल में, घुटना घिसे बिना, अनायास ही पैरों से फिरने लगे ॥ २७ ॥

**सुबोधिनी** — यदर्थं तत् कर्तव्यं तत् प्रयोजनमल्पमित्यल्पेनैव कालेन गोव्रजे पद्मिर्विचक्रमतुः, अञ्जसानायासेनैव नान्यावलम्बनापेक्षा, कालो गत्यात्मक इतिक्रीडयामिवाश्रयि करणता, अल्पस्य कालस्य कोमलत्वात्, कोमलचरणस्पर्शे भूमेः खेदो गच्छतीत्यल्पत्वमुक्तं राजर्षे इत्युभयधर्मवत्त्वेन सम्बोधनम् ग्रिमचरित्रश्रवणाधिकारबोधकं निरोधानुसन्धानार्थं च, रामः कृष्णश्चेतिनामग्रहणं रत्युत्पादनसामर्थ्यजननायान्तःस्थितरूपेण बहिः

परमानन्दविषयरूपेण च भूमेः सुखदानार्थं, स्वतन्त्रतयोभयोस्तथात्वाय भिन्नतया निरूपणं, चकारस्तूभयसमुच्चयार्थः, विषयस्यान्तर्नयने मनसो बहिरुपनये च विनियोगात्, गवां व्रज इति खुराघातक्लेशः स्पष्टतया तत्र निरूपितः, जान्वाघर्षणेनैव दैत्यवधेऽपि कार्यं व्यर्थं स्यादिति पद्मिरिति, अनेकधा पादस्थापनैर्विशेषेण चक्रमतु, “छन्दसि लुङ् लङ् लिट्” इति स्मृतेः, भगवत्क्रियाया नातीतत्वं सर्वथा ज्ञातव्यम् ॥ २७ ॥

**व्याख्यानार्थ** — जिस प्रयोजनार्थ यह लीला करनी है, वह प्रयोजन अल्प ही है। अतः— अल्प<sup>१</sup> ही समय में गोकुल में अन्य की अपेक्षा<sup>२</sup> बिना, अनायास ही पैरों से फिरने लगे। जैसे काल, क्रीड़ा में करण<sup>३</sup> था, वैसे ही यहाँ चलने में भी कारण है। क्योंकि काल गति रूप है। अल्पकाल कोमल होता है। अतः चरण कोमल थे। कोमल चरणों के स्पर्श से भूमि का खेद मिटेगा। शुकदेवजी ने परीक्षित को राजर्षे कहा है। जिसका आशय आचार्य श्री कहते हैं कि परीक्षित, आगे आने वाले चरित्रों के श्रवण का अधिकारी है और निरोधलीला के अनुसन्धान का भी अधिकारी है। शुकदेवजी ने श्लोक में भगवान् एक वचन वाला नाम न देकर राम और कृष्ण पृथक् - पृथक् नाम दिए हैं। उसका आशय (भाव) यह है कि शुकदेवजी ने 'राम' नाम से यह बताया है कि जब भगवान् का, योगीजन ध्यान करते हैं, तब भगवान् उनके बाहिर के लौकिक विषय का त्याग कराके, भीतर, अलौकिक रमण करते हुए उनको आनन्द देते हैं, और भीतर के मन को बाहर लाते हैं, इसलिये भगवान् को 'राम' कहते हैं। इस आशय को बताने के लिए 'राम' नाम पृथक् दिया है। क्योंकि उस स्वरूप से यहाँ यह लीला भी हुई है। जैसा कि अन्तःस्थित रूप से रति के उत्पादन की सामर्थ्य एवं मन आदि को बाहर निकाल कर, परमानन्द रूप आनन्ददान - सामर्थ्य भी प्रकट की है। ये दोनों ही लीलाएँ भूमि के सुखदानार्थ की हैं। स्वतन्त्रता से भगवान् दोनों स्वरूपों से, यों लीला करते हैं। इसलिए पृथक् - पृथक् नाम दिए हैं श्लोक में (च) देकर यह भी बताया है कि दोनों ही एक हैं। विषयों को भीतर ले जाने

१ — लेखकार कहते हैं कि मूल में राम और कृष्ण पृथक् २ नाम दिए हैं इसलिये भगवान् से दोनों ही स्वरूप समझने।

में और मन को बाहर लाने में दोनों का विनियोग होता है ।

दैत्यों द्वारा भूमि को क्लेश होता था, उसको मिटाने के लिए पहले भगवान् ने घुटनों से चल के दैत्यों के नाश की लीला की । किंतु अब जो दैत्य - नाश शेष है, उनका नाश करने के लिए आप पादों से चलकर शेष कार्य सम्पूर्ण कर भूमि के मर्दन - क्लेश को मिटते हैं । हाँ घुटनों से न चलने का कारण बताया गया है कि यह लीला गोकुल में करनी है । पहले टनों से चलने की लीला भी गोकुल में की है । किन्तु गोकुल में भूमि पर गौओं के खुरों पड़ने के कारण उसके समतल न होने से घुटनों में कष्ट होने से भगवान् अब पैरों से चलकर, यह कार्य पूर्ण करते हैं, भगवान् अनेक प्रकार से पाद विन्यास<sup>१</sup> करते फिरते थे । यहाँ मूल में 'विचक्रमतुः' क्रिया भूतकाल की दी है । आचार्य श्री कहते हैं कि भगवान् की लीला नित्य होने से, उसका समाप्त हो जाना कभी भी नहीं समझना चाहिये । काव्यों में किसी भी काल की क्रिया है, तो भी उसका अर्थ, किसी भी काल में लिया जाता है, अर्थात् काव्यों में काल का प्रतिबन्ध नहीं है । यहाँ तो नित्य स्वरूप भगवान् की नित्य लीला में काल का कोई प्रतिबन्ध हो ही नहीं सकता है ॥ २७ ॥

आभास — एवं राजसी 'लीलां' कृत्वा 'लीलान्तरं' कृतवानित्याह ततस्त्वितित्रिभिः ।

आभासार्थ : इस प्रकार राजसी लीला<sup>२</sup> का वर्णन कर अन्य लीलाओं का वर्णन तीन श्लोकों से करते हैं ।

श्लोकः— ततस्तु भगवान् कृष्णो वयस्यैर्व्रजबालकैः ।

सहरामो व्रजस्त्रीणां चिक्रीडे जनयन् मुदम् ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ — इसके अनन्तर तो राम सहित भगवान् कृष्ण, व्रज स्त्रियों को आनन्दित करते हुए वयस्य<sup>३</sup> व्रज बालकों के साथ क्रीड़ा करने लगे ॥ २८ ॥

† बाहर शब्द का तात्पर्य योजनाकार बताते हैं कि श्रीकृष्ण स्वरूप परमानन्द रूप होने से अपने सौन्दर्य से दर्शकों के मनको बाहर लाते हैं अर्थात् अपने स्वरूप में सीन कर देते हैं ।

१ प्रकाशकार, राजसी लीला 'पाद विन्यास'लीला को कहते हैं ।

१—पैरों को धरते थे ।

२—समान उमर वाले ।

सुबोधिनी — एजसतामसी तामसरजसी च स्वतो वक्तुमनुचितां मत्वान्यमुखेन निरूपयितुं मध्ये वाक्यान्तरं ततश्चतुर्भिर्निरूपितं भवति, एवं भूमिक्लेशनिवृत्त्यनन्तरमक्लिष्टभूमौ स्वांशैर्बालकैः सह महाराजलीलां कृतवानित्याह ततस्त्विति, तु शब्दः पूर्वलीलाव्यावृत्त्यर्थ, नातः परं परतन्त्रलीला, स्वातन्त्र्ये सामर्थ्यार्थमाह भगवानिति, आवेशिनः स्वातन्त्र्ये दौर्बल्यात् कृष्ण एवोक्तो रामस्तु सहभावेन, एकेन कालेन भगवत्सेवकेन ते गृहीता इति तैः सह क्रीडेति ज्ञापयितुं वयस्यैतित्युक्ते, समानं वयो येषां ते वयस्या, देशोप्येक इत्याह व्रजबालकैरिति, क्रीडायां बाला मुख्याः, रामस्तु

स्वान्तनिविशतीति सहस्रम इत्युक्ते, अत्र लीलायां साक्षान्निरोधो भ्रजस्त्रीणामेव, तासामेव तथात्वात्, ज्ञानद्वारेण यशोदायास्तत्र सर्वथागृहीतपरित्याजनार्थं लीलां कुर्वन्नादी लौकिकप्रकारेण तासामनुग्रहं जनितवानित्याह भ्रजस्त्रीणां मुदं जनयन्निति, व्रजसम्बन्धान्निरोध आवश्यकः, ययैव क्रीडया यथा कृतया तासां सन्तोषो भवति, न तु स्वसामर्थ्येन, अन्यथा प्रयोजनमस्य कारणे तन्निर्देशो न स्यात्, निरोधजनकत्वं स्वस्यैवेति स्वधर्मः जो निर्दिष्टं, कार्यसाधनत्वेन बालकानामुपयोगो रामस्य रक्षक स्वतः- सन्तोषजननं, राजलीलायां च स्वयं राजा मन्त्री २ सेवका बालका इति यावत्यो गोप्यो यादृग्भावापन्नास्तत्तदनुगृहीतामनन्तामेव भगवान् कृतवानित्यर्थः ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ — शुकदेवजी ने राजस - तामसी और तामस - तामसी लीलाओं को अपने मुख से कहना उचित न समझ कर दूसरों (गोपियों) के मुख से कहलाने के लिये मध्य में वाक्यान्तर (दूसरे प्रकार का विशेष वाक्य) श्लोक २८ में कहा है ।<sup>x</sup> इसलिये चार श्लोकों से ये लीलाएँ निरूपित समझनी चाहियें ।

इस प्रकार भूमि के दुःख के निवारणानन्तर<sup>१</sup> सुखदायक समतल भूमि पर, अपने अंश रूप बालकों के साथ महाराज ने लीला की । इसका वर्णन 'ततस्तु' इस श्लोक में करते हैं । श्लोक में 'तु' (तो) शब्द देकर यह बताया है कि पूर्व लीला हो गई अब दूसरी लीला प्रारम्भ होती है । अब जो लीलाएं कृष्ण करेंगे, वे स्वतन्त्रता से ही करेंगे । इसलिये श्लोक में कृष्ण का विशेषण 'भगवान्' देकर स्वतन्त्रता से लीला करने की सामर्थ्य बताई है । बलराम में स्वतन्त्र सामर्थ्य दुर्बल<sup>२</sup> है । अतः श्लोक में राम के लिये विशेषण 'भगवान्' शब्द नहीं दिया । राम में कृष्ण का आवेश है । इसलिये सहभाव दिखाने के लिये 'सहरामः'<sup>३</sup> कहा । काल, भगवान् का सेवक है इसलिये भगवान् के साथ क्रीड़ा करने वाले बालकों को काल ने समवयस्क बताया है अतः 'वयस्यैः' समान वय वालों से शब्द दिया है । जैसे आयु समान थी वैसे देश भी एक है । इसको बताने के लिये केवल 'बालकैः' न कहकर शुकदेवजी ने श्लोक में 'व्रज बालकैः'<sup>४</sup> कहा है । इन भगवान् कृष्ण की क्रीड़ाओं में वयस्य व्रज बालक मुख्य हैं । बलरामजी की गणना तो भगवान्

<sup>x</sup> रूप प्रकरण, दश श्लोकों का आचार्यश्री ने कहा है । इसलिये निर्भयराम भट्टजी ने 'कृष्णस्य गोप्यो' २८ अ'श्लोक की गणना दश श्लोकों में नहीं की है । यह श्लोक आगे कही जाने वाली लीलाओं का केवल प्रसिद्धि बोधक है ।

के साथ हो जाती है, इसलिये 'सहस्रमः' कहा है। इस लीला करने का मुख्य तात्पर्य<sup>१</sup> ब्रज स्त्रियों का साक्षात् निरोध करना है। (वे गोपिकाएँ निरोध योग्य है। यशोदा सर्वथा प्रपञ्च में भग्न है। उसका प्रपञ्च छुड़ाकर निरोध करना है।) वह ज्ञान द्वारा होगा। इसलिये उस प्रकार की लीला करनी होगी। अब पहले गोपियों का अपने में लौकिक प्रकार से अनुगुण उत्पन्न करवाया। इसको 'ब्रज स्त्रियों में आनन्द उत्पन्न करते हुए ऐसा कहा कि ये स्त्रियाँ (गोपिकाएँ) ब्रज की हैं। अतः ब्रज के सम्बन्ध से इनका निरोध करना आवश्यक है। जिस भी क्रीड़ा से, वा जिस प्रकार से की हुई क्रीड़ा से उनका सन्तोष<sup>२</sup> होवे उस प्रकार से ही लीलाएं कर इनका निरोध करना है। इसलिये भगवान् ने इसी प्रकार की लीलाएं की हैं न कि अपने - अपने सामर्थ्य से इनका निरोध किया है। यदि इस प्रकार की लीलाएं, अन्य प्रयोजन के लिये, भगवान् करते, तो शुकदेवजी, ब्रज - स्त्रियों को आनन्द देने के लिये भगवान् खेलने लगे, इस प्रकार के शब्द नहीं कहते। निरोध करने वाला धर्म भगवान् का ही है, इसलिये श्री शुकदेवजी ने श्लोक में 'मुदं जनयत्' आनन्द उत्पन्न करता हुआ यह भगवान् का विशेषण दिया है। अतः निरोध करने में प्रधानत्व भगवान् का ही है न कि गोपीजनों का है। इस निरोध रूप कार्य में साधन के रूप में बालकों का उपयोग हुआ है और बलरामजी से रक्षक का काम लिया गया है, स्वयं भगवान् भक्तों में सन्तोष<sup>३</sup> उत्पन्न करते हैं। रजतलीला में भगवान् ने राजा का, राम ने मन्त्री का और बालकों ने सेवक के स्वांग किये थे। जितनी गोपियाँ थीं और जिस- जिस भाव वाली थीं उनके अनुरूप<sup>३</sup> उस - उस प्रकार के भावों को पूर्ण करने के लिये भगवान् ने अनेक प्रकार से अनेक लीलाएं की हैं ॥ २८ ॥

**आभास —** यास्तु सर्वथा प्राकृतस्वभावा लौकिकवाक्यपरिनिष्ठिता वा तासां प्रपञ्चविस्मरणं साधारणसात्त्विकलीलया न भवतीति यत्रैव ता आसक्तास्तदेव कार्यं नाशयन्तन्निरोधं कृतवान्, तच्चेत् सह्यं स्यात् सर्वथा निरोधो न सिध्येदिति तत्कार्यमसह्यमानमिति ज्ञापयन्तथाविधा गोप्य उपालम्भं कृतवत्य इत्याह कृष्णस्येति ।

**आभासार्थ —** किन्तु जो गोपियाँ सर्व प्रकार से प्राकृत स्वभावा वाली थीं और लौकिक वाक्यों में (सास आदि के वाक्यों में पति- सेवा और बाल - पालन में) श्रद्धावाली थीं, उन गोपियों की प्रपञ्च विस्मृति, साधारण सात्त्विक लीला से न होगी, अतः भगवान् ने उन गोपियों के दूध, दही, मक्खन आदि जिन पदार्थों के सम्हालने के कार्य में उनकी आसक्ति थी उन कार्यों

† लेखकार प्राकृत स्वभाव का भाव बताते हैं कि जिन गोपियों का स्वभाव भगवान् के कार्य के अनुकूल नहीं था वे प्राकृत गोपियाँ हैं ।

को नाश कर, उनका निरोध किया। वे गोपियाँ अपने कार्यनाश को, यदि सह सकतीं, तो सर्व प्रकार से उनकी निरोध सिद्धि नहीं होती। किन्तु वह कार्य-नाश उनको असह्य था, इसको जताने के लिये उस प्रकार (लौकिक आसक्ति और प्राकृतत्व का नाश कार्य) की गोपियाँ श्रीकृष्ण को उपालम्भ<sup>१</sup> देने लगीं। यह वर्णन इस श्लोक में है।

**श्लोकः —** कृष्णस्य गोप्यो रुचिरं वीक्ष्य कौमारचापलम् ।

शृण्वन्त्याः किल तन्मातुरिति प्रोचुः समागताः ॥ २८-अ ॥

**श्लोकार्थ —** श्रीकृष्ण के कुमार अवस्था की चञ्चलता को देख कर, मिलकर आई हुई गोपियाँ उनकी माताओं को सुना सुना कर स्पष्ट रीति से कहने लगीं।

सुबोधिनी — स्वतन्त्रकर्तृत्वं भगवत एवेति न बाला नापि राम उक्तः किन्तु कृष्ण एवोक्तः, रुचिरं मनोहरं भवत्येव, निरोधस्तु सिद्धः, तथापि न स्वतोस्माकं तथा मन इति स्वदोषपरिहाराय यशोदायै निवेदयन्ति, ननु सर्वतः पूर्णा भगवत्कृपया प्राप्तसम्पदः कथमेवमुपालम्भं कृतवत्य इत्याह गोप्य इति, गोपभार्यात्वादेवं, न भगवति दोषदृष्ट्या, तथावचने निरोधो न सिध्येदित्याशङ्क्याह कौमारचापलमिति,

कौमारवयस एव चापलं चपलता, वयस एवायं दोषो न तु भगवत इति तासां बुद्धिः, सम्यगागता लोकन्यायेन समागता न त्पालम्भनार्थमेव, तन्मातुर्यशोदायाः शृण्वन्त्याः सत्याः प्रोचुः, एतादृशं वचनमयुक्तमपि सर्वलोकप्रसिद्धत्वादुच्यत इति स्वस्य दोषाभावख्यापनायाह किलेति ॥ २८-अ ॥

**व्याख्यानार्थ —** श्लोक में बालकों का अथवा राम का नाम न कहकर केवल श्रीकृष्ण का नाम गोपियों ने इसलिये लिया है कि वास्तविक स्वतन्त्रकर्ता श्रीकृष्ण ही हैं, वे तो सहायक मात्र हैं। भगवान् की यह कुमार लीला की चपलता बहुत सुन्दर है। इससे निरोध सिद्ध तो हुआ किन्तु हमारा मन इस प्रकार (कार्य नाश करके) निरोध सिद्ध करने का नहीं था। अपने दोष को छिपाने के लिये यशोदाजी को यों कहने लगीं। आचार्यश्री श्लोक में दिये हुए 'गोप्यः' शब्द का भाव बताते हैं कि भगवान् की कृपा से सर्व प्रकार की सर्व सम्पदाएँ प्राप्त होने पर भी यशोदाजी को भगवान् श्रीकृष्ण के इस प्रकार की लीलाका उपालम्भ देती हुई कृष्ण की निन्दा करने लगीं; क्योंकि गोपों की स्त्रियाँ थीं। गोपियों ने भगवान् की यह निन्दा दोष दृष्टि से नहीं की थी, यदि दोष-दृष्टि से की होती तो निरोध सिद्ध ही न होता। दोष दृष्टि से नहीं कि तो किसलिये की? इस पर कहते हैं कि गोपियों ने माता को कृष्ण का दोष नहीं है, यह बताने के लिये ही कहा है कि यह दोष, इस कुमार अवस्था का है। ऐसी बुद्धि, गोपियों की थी 'समागताः' पद का भी यही भाव है कि उपालम्भ देने के लिये नहीं आई थीं, किन्तु लोक न्याय से सभी मिलकर यशोदाजी के पास आई थीं। माता के सुनते हुए ये भी आ गई तो

इस प्रकार के वचन अयोग्य थे, तो भी लोक में प्रसिद्ध होने से कहे गये हैं। शुकदेवजी ने इस कारण ही 'किल'शब्द कहा है कि अपने में (गोपियों में) दोषों का अभाव है यह सबों को ज्ञात हो जाय ॥ २८-अ ॥

॥ श्रीगोप्य ऋतुः ॥

श्लोकः — वत्सान् मुञ्चन् क्वचिदसमये क्रोशसज्जातहासः  
स्तेयं स्वाद्वत्यथ दधि पयः कल्पितैस्तेययोगैः ।  
मर्कान् भोक्ष्यन् विभजति स चेन्नास्ति भाण्डं धिनत्ति  
द्रव्यालाभे सगृहकुपितो यात्यनुक्रोश्य तोकान् ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ — किसी भी समय अब गायें दोहने का समय नहीं होता है, तब भी यह) (कन्हैया) बछड़ों को छोड़ देता है। जो हम क्रोधयुक्त होकर कुछ कहती हैं तो हँसने लगता है। चोरी के उपायों से चुराया हुआ स्वादिष्ट दूध - दधि खाता है, खाते हुए वानरों को बाँट देता है। यदि किसी समय कोई भी वस्तु न मिले तो घर वालों पर क्रोध कर, छोटे बच्चों को रुला के भाग जाता है।

सुबोधिनी — भगवतो निरोधलीलां तत्तदोषदूरीकरणार्थं कृतां तदभिनिवेशेन तावत् कृतस्वदोषरहिता भगवद्गुणान् गणयन्ति षड्विधाश्च जीवस्य दोषरूपान् भगवतो गुणान् ईश्वरो हि हीनं कर्म न करोति, वत्समोचन "मनीश्वरं कर्म"ति केचित् सर्वमोक्षदाता भगवानक्षयनिधिकर्ता यावद्दिनं क्षुधितान् वत्सान् मातृसमागमेपि दुःखिता मा भवन्ति मर्यादासंभयोत्तङ्गनं कृत्वा वत्सान् मुञ्चति, क्वचिदिति, यत्र वत्सविभोक्त आतृप्तेः पूर्वबन्धनमशक्यं, आक्रोशे कृते भगवानमानो मानदस्तासां दुर्बुद्धिं ज्ञात्वा सज्जातहासो भवति, मायोत्तरेतरं मोहिका प्रवृद्धा भवति, एवं बहिःस्थितानामान्तरं दुःखं क्षुत्कृतं मोहकृतं च नाशयति, मोहोपि सम्यक् मोहो जायते भगवद्विषयको येनकेनाप्युपायेन सर्वोपि मनोव्यापारे भगवद्विषयक इतिलक्षणाः, एवमुभयविधान् कृतार्थीकृत्य स्वकीयेषु स्वयं भोक्तव्यमिति स्वान्तःस्थितबालकान्नादिना संवर्धयितुं वीर्यविरुद्धमिव चौर्येण भुङ्क्ते इत्याहुः स्तेयमिति, यस्तु हरति स चोरः, हरिर्हि भगवान् स्मरणेनैव सर्वं हरति,

स्तेयेन प्राप्तं स्तेयं पक्वान्नाद्योदनव्यञ्जनात्मकं सूपदि पायसान्नं, तत्रापि यत् स्वादु भवति रस्यं, गोपिकागृहे स्वयमुपविश्य बालकानुपवेश्य तामन्यत्रैव प्रेषयित्वा यद्यत् स्वादिष्टं छण्डलदुहुकादिकं च भुङ्क्ते, अथ तृप्यनन्तरमत्रसमाप्त्यनन्तरं वा, दधि पयः प्रथमं दधि पश्चात् पयः, पयः पानान्तं शनैर्भोजनं करोतीत्यर्थः, चौर्ये भगवता उपाया बहव एव कल्पिताः, दूरे शिक्ये स्थाली पूर्णजलां स्थापयित्वाघश्चेच्छते तदापि नालेन जलं पीत्वा स्थालीमुत्तार्य वंशद्वारा समारुह्य नयति, एवमनेकप्रकारा अपरिज्ञाने, परिज्ञानेपि नधनीतभाण्डे भाण्डमग्रे स्थापयित्वा सावधानस्थितायामपि दुग्धादिना पूर्णमुखस्तदक्ष्णोः भूत्कारं कृत्वाक्षिणीमीलने नयति क्षणाददृष्ट्य भवति, न सोस्त्युपायो येन भगवतः सकाशाद् रक्षितुं शक्यते, इतोपि भगवतोवाङ्मनोगोचरा उपायास्ते सर्वे भगवतैव कल्पिताः न तु चोराश्रमे सिद्धाः, "बालकैः सह भुङ्क्ते" इत्येके, वस्तुतस्तत्त्वन्तःस्थितबालकप्रतीत्यर्थमेव तथा करोति, स्वयं भोक्ष्यन् बालकेषु तृप्तेषु मर्कान् विभजति,



मर्कटिकाः, मर्कट्यो विभजतीत्यर्थः, ते हि पूर्व  
गमावतारपक्षास्तेष्वपि तृतेषु स्वयमध्यात्मा स्वीकृतभावो  
भुंक्ते, जगदात्मा सोऽपि चेन्नास्ति योता "यस्य ब्रह्म च क्षत्रं  
च ऋषे भवत ओदनः मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्या वेद यत्र  
स" इति श्रुतेः, स प्रसिद्धः, तदेकं भगवद्रूपं भोक्तुं, स  
त्वत्पुनर्मेषु युद्धान् भुंक्ते, यत् पुनर्मोक्षसम्बन्धि न भवति  
दैत्याविष्टत्वात् स चेन्नास्ति न भक्षयति तदा माण्डं भिनत्ति  
दैत्यानां सम्बन्धन्यैर्न भक्षणीयमिति, द्रव्याणामभावे त्वलाभे  
वा अन्यत्र स्थापिते सगृहकुपितो भवति, सगृहे गृहसहिते

गृहस्थे कुपितो भवति, अयुक्ताकरणात्, गृहो हि धर्मार्थमेव  
प्रापति, धर्माभावे गृहवैयर्थ्यात्, धर्मश्च द्रव्यैर्भवति,  
द्रव्यसाधकाश्च पुरुषाः, ईश्वरस्य कोपभयाद् दिनान्तरे समुद्रि  
करोत्येव, अथवा गृहस्थं बहिर्गमयेत् ताडयेद् वा, एवमलौकिकः  
क्रोधः, लौकिकमाह यात्यनुक्रोश्य तोकानिति, तोकान्  
बालकान् स्तनन्ध्यान्, त्वदपेक्षयाप्यन्तःस्थिता वासकास्तेषु  
क्षुधितेषु तदीयेन भवता स्थातुमयुक्तं भवतीत्यनुक्रोश्य रोदनं  
वा कारयित्वा मयि विमुखे रुद्रः प्रवेक्ष्यतीति ॥ २९ ॥

**व्याख्यानार्थ —** जो दोष गोपियों में थे उनको दूर करने के लिये भगवान् ने जो निरोध लीला की उस निरोध लीला में चित्त की सम्पूर्ण आसक्ति होने से, अपने किए हुए दोषों\* का मिट जाना गोपियाँ जान गई थीं, अतः भगवान् की कार्य लीलाओं को गुण रूप समझती (गिनती) है। ये दोष भगवान् के हास्य में, चित्त के प्रवण<sup>१</sup> से मिट गए और गोपियों को भगवान् के स्वरूप का ज्ञान हो गया। अतः भगवान् के षड् गुणों<sup>२</sup> का वर्णन करती हैं। भगवान् के लिये तो ये छः कार्य गुण रूप हैं; किन्तु जीवों के लिये छः कार्य दोष रूप हैं। क्योंकि भगवान् हीन कर्म (दोषरूप कर्म) नहीं करते हैं। कितनेक कहते हैं कि बछड़ों को छोड़ देना ईश्वरीय कर्म<sup>३</sup> नहीं है। भगवान् सर्व प्रकार के दुःखों से जीवों को छुड़ाने वाले हैं और अक्षयनिधि<sup>४</sup> देने वाले हैं। अतः सारे दिनके भूखे बछड़ों को देख माता के मिलने पर भी दुःखी (भूखे) न रहें, यह विचार कर उनको ऐसे स्थान पर छोड़ दिया, जहाँ से भरपूर पेट भरने से पहले कोई बाँध के न ला सके। भगवान् ने जब इस प्रकार से (विचार कर) असमय में बछड़ों को कहीं भी छोड़ दिया, तब गोपियाँ अप्रसन्न होकर भगवान् पर क्रोधित हो उपालम्भ देने लगीं। स्वयं निरभिमान और अन्यो को मान देने वाले भगवान् गोपियों की दुर्बुद्धि (यह ईश्वर नहीं है ऐसी बुद्धि) देख, उसका नाश करने के लिये मुस्कान से उनको मोहित (अपने में आसक्त) तथा अपने स्वरूप

\* प्रकाशकार — वस्तुओं के लोभ को दोष कहते हैं।

लेखकार — भगवान् नहीं हैं ऐसी बुद्धि को दोष कहते हैं।

१ लेखकार — वे षड्गुण ये बताते हैं - (१) बछड़ों को छोड़ देना, (२) चुगई हुई वस्तु का भोजन, (३) खाद्य पदार्थ वानरों को बाँटना, (४) बर्तनों को तोड़ना, (५) क्रोधित होना, (६) छंदे बच्चों को रलाना।

२ गो ० श्रीवत्सभजी लेख में इसको समझाने के लिये कहते हैं कि ईश्वर के विरुद्ध धर्माश्रयी होने से लीलार्थ वे सर्व प्रकार के (हीन, मध्यम, उत्तम) कार्य करते हैं तो भी ईश्वर को ईश्वरता नष्ट नहीं होती है, वे तो सर्व अवस्था में ईश्वर ही हैं।

का ज्ञान करने लगे । भगवान् का हास्य मोहित करने वाली माया है । वह उत्तरेत्तर बढ़ती गई, जिससे भगवान् बाहर (घर से बाहर वा गौओं के गोष्ठ में) खड़े हुआ (वत्स और गोपीजनों) का दुःख (बछड़ों का क्षुधा से, उत्पन्न दुःख और गोपीजनों का अज्ञान रूप मोह से उद्धत दुःख) नाश करते हैं । भगवान् के हास्य से विशुद्ध मोह पैदा होता है जो मोह भगवत्सम्बन्धी होने से जिस किसी भी उपाय से मनका सारा व्यापार भगवत्स्वरूप वा भगवल्लीला परक हो जाता है । इसी भाँति दोनों तरह के भक्तों को कृतार्थ करके, अपने भक्तों को, अपने को ही भोजन कराना चाहिये । इससे अपने भीतर स्थित (जो पूतना के प्राणों को खींचते हुए अपने में स्थित किए थे) बालकों को अन्नादि से पोषण करने के लिये मानों वीर्य के विरुद्ध हो - वैसे भगवान् चोरी से भोजन करते हैं । इसलिये श्लोक में 'स्तेयं' शब्द कहा है । जो हरण करता है । वह चोर है । निश्चय से कहा जाता है कि स्मरण करने से ही भगवान् सब कुछ हरण कर लेते हैं इसलिये 'हरि' (चोर) हैं । चोरी से प्राप्त वस्तु को 'स्तेय', चुराई हुई कहते हैं । पकाया हुआ अन्नादि, ओदन, व्यञ्जन<sup>१</sup> आदि खीर की सामग्री तक सर्व पदार्थ उनसे भी जो रसीले और स्वादिष्ट थे, वे स्वयं गोपियों के घर में बैठकर और बालकों को भी बिठाकर गोपीजन को दूसरे स्थान पर भेज के जो जो स्वादिष्ट लड्डू और मोदक आदि थे वे खाने लगे । तृप्त होने पर वा भोज्य पदार्थों की समाप्ति होने पर, दधि उसके अनन्तर दूध आदि पान शनैः शनैः करने लगे । भगवान् ने चोरी करने के बहुत उपाय काम में लाए थे । यदि कोई गोपी, भगवान् ले न जाय, इसलिये ऊँचे छींके पर जल से भरी थाली रख अन्य सामान भी घर के उसके नीचे आप सो जाती तो भगवान् उसकी चतुराई को व्यर्थ करने के लिये नवीन उपाय निकालते थे । जैसे कि नाल (नली) से, जल - पान कर, वंश (बांस) से चढ़कर, छींके से थाली को नीचे उतारकर उसको ले जाते हैं । इस प्रकार चोरी के अनेक नये नये उपाय आप निकालते थे । कुछ तो गोपियों के परोक्ष<sup>२</sup> में और कुछ प्रत्यक्ष<sup>३</sup> में करते थे । जब प्रत्यक्ष (वहाँ) होती, तो ये चतुर चौर शिरोमणि जब देखते कि यह गोपी बड़ी सावधानी से नवनीत<sup>४</sup> के भाण्ड<sup>५</sup> एक साथ रखकर स्वयं उनके आगे खड़ी है तो आप अपने मुख में दूध भरकर धीरे - धीरे उस गोपी के पास आकर फूत्कार करते हुए उसकी आँखों में वह दूध डाल देते । जिससे उसकी आँखें बन्द हो जाती और आप झट मक्खन के भाण्डों को लेकर ऐसे भाग जाते जैसे आँखें खोलने पर गोपी देख न सके । गोपियों के पास कोई ऐसा उपाय न बचा, जिससे वे अपने पदार्थों को भगवान् से छिपा कर सुरक्षित रख सकें ।

१-शाक, भाजी इत्यादि सलाने (नमकीन) पदार्थ ।

२-सामने, उनके वहाँ होते हुए ।

४-मक्खन ।

२-पीठ पीछे, गैर हाजरी में ।

५-वर्तन ।

इससे भी विशेष उपाय जो वाणी और मन से भी कोई नहीं समझ सके, वैसे उपाय भगवान् ने इस लीला में किए हैं, वे उपाय भगवान् के ही निकाले हुए थे। चौर्य-शास्त्र में भी वे उपाय नहीं कहे गए हैं। कोई कहते हैं कि बालकों के साथ भगवान् भी आरोगते हैं। वास्तविक रूप में तो अन्तःस्थित बालकों के प्रीत्यर्थ वैसे करते हैं। देखने में तो आप भोजन कर रहे हैं; किन्तु भगवान् को उस भोजन से अन्तःस्थित बालक तृप्त करने थे, जब बालक उस भोजन से तृप्त हो जाते थे, तब बंदरों को बांटते हैं। क्योंकि वे पूर्वकाल में रामावतार के भक्त थे, उनकी तृप्ति के पश्चात् अध्यात्म भाव (सबकी आत्मा मैं हूँ, ऐसा भाव) स्वीकृत करने के कारण, आप भोजन करते हैं। यदि जगत् आत्मा वह भी भोजन करे तो इस श्रुति (जिसके ब्रह्म और क्षत्र दोनों ही ओदन<sup>१</sup> हैं। मृत्यु जिसका व्यञ्जन है वह कौन है और कहां है ? (इसको कौन पहचान सके ?) अनुसार वह (स्वरूप) प्रसिद्ध है। उस (अध्यास) स्वरूप से ही आप अत्यन्त शुद्ध (आसुरावेश रहित भोज्य) भोजन आरोगते हैं। श्लोक में दिये हुए 'भाण्डं भिनत्ति' बर्तनों को तोड़ते हैं इस पद का भावार्थ आचार्यश्री बताते हैं कि जब भगवान् देखते हैं कि अब शेष पदार्थ भोजन योग्य नहीं हैं; क्योंकि इस भोजन में आसुरावेश है तब भोजन न स्वयं करते हैं न अन्यो को कराते हैं और बर्तनों को तोड़ देते हैं। इससे यह भी शिक्षा देते हैं कि आसुर भोज्य को कोई भी न खावे भगवान् को तो भक्तों का किसी भी प्रकार से 'निरोध' होए तदर्थ विविध प्रकार की लीलाएं करनी थीं। इसलिये जब आप देखते थे कि कोई पदार्थ नहीं मिलता है, नित्य निश्चित स्थान पर न रखकर, अन्य स्थान पर छिपा के रख दिये हैं तब घर वालों पर क्रुद्ध होते हैं क्योंकि उन्होंने (घरवालों ने) यह कार्य (भोजन का अभाव व छिपा के रखना) अयोग्य किया है। अयोग्य कैसे किया है इसको आचार्यश्री समझाते हैं कि गृहस्थ का गृह, धर्म करने के लिये है। गृह में सदैव भोज्य रखा हो, कोई भी बिना भोजन किए भूखा न जाय। यदि गृहस्थ यों नहीं करता है तो वह घर व्यर्थ है (रहने योग्य नहीं है)। धर्म - कार्य, द्रव्य - साध्य (द्रव्य से सिद्ध) होता है द्रव्य लाने वाले पुरुष होते हैं। भगवान् ने कोप लीला इसलिये की कि भगवान् के कोप से डरकर दूसरे दिन पदार्थ लाकर घर में रखेंगे अथवा गृहस्थ को इस अयोग्यता के कारण बाहर मारे व ताड़ना कर दे, इस प्रकार अलौकिक प्रकार बताते हैं। भगवान् क्रोध करके छोटे - छोटे बच्चों को रुला के जाते हैं। छोटे बालक वे हैं जो अभी माता के दूध का ही भोजन करते हैं। उनसे भी छोटे वे थे जो भगवान् में स्थित थे जहाँ उनकी भूख नहीं मिटती है वैसे स्थान पर ठहरना भगवान् ने योग्य न समझा। इसलिये क्रुद्ध होकर बच्चों को रुदन कराया था। मेरे जाने पर रुद्र प्रवेश करेगा यों कह कर चले गये ॥ २९ ॥

**आभास —** एवं भगवतः षड्गुणा निरूपिताः, धौर्त्ये क्रियाप्रकारमुक्त्वा ज्ञान प्रकारमाह हस्ताग्राह्य इति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार भगवान् के छः गुणों\* का तथा धौर्त्य लीला की क्रिया के प्रकार का उपरोक्त श्लोक में वर्णन कर, अब भगवान् की पूर्ण विद्या का निरूपण किया जाता है ।

**श्लोकः —** हस्ताग्राह्ये रचयतिर्विधि पीठकोलूखलाद्यै

शिछद्रं ह्यन्तर्निहितवयुनः शिष्यभाण्डेषु तद्वित् ।

ध्वान्तागारे धृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थप्रदीपं

काले गोप्यो यर्हि गृहकृत्येषु सुव्यग्रचित्ताः ॥ ३० ॥

**श्लोकार्थ —** जो हाथ नहीं पहुंचे तो चौकी, ऊखल आदि धर कर चोरी की युक्ति लगाते हैं । बर्तन छीकों में रखे हों, तो उनमें रखी हुई वस्तुओं को अपने अन्तर्यामीपने के ज्ञान से पहचान कर, उनमें छेद करते हैं । यदि अंधियारे घर में धरा हो तो अपने अंग में पहने हुए अनेक प्रकार की मणियों से वा अपने अंग के प्रकाश से उन पदार्थों को प्रकाशित करते हैं । यह सर्व लीला कार्य भगवान् उस समय करते हैं जब गोपियों अपने कार्य में व्यग्र चित्तवाली होती हैं ।

**सुबोधिनी —** पञ्चविधं ज्ञानं सप्रकारं निःप्रकारं च काले वस्तुनि निःसाधनमल्पासाध्येत्यन्तासाध्ये चान्यकारस्थापित आलोकापेक्षायां सप्रकारं ज्ञानं, अनेन पूर्णं विद्या निरूपिता भवति, लौकिकबुद्ध्या तु सर्वं ज्ञानं परौपद्रवायेति तदीयांशानां ज्ञाने तज्ज्ञानमपि भवतीति वस्तुतस्तूपकार एव, यत्र भगवतः कुसूलादौ वस्तु हस्तेनाग्राह्यं भवति तत्र पीठकमुलूखलमधोमुखं प्रतिष्ठप्य तदुपरि बालकं वा निवेश्य गृहवंशान् वा धृत्वा वस्तु गृह्णाति रिक्तभाण्डेषु तु न प्रयत्नं करोति, तत्र हेतुरन्तर्निहितवयुन इति, अन्तर्भाण्डे मध्ये निहितं वयुनं ज्ञानं यस्य, शिष्यभाण्डेषु दुग्धादियुक्तेष्वन्तः कुन्तादिना शिछद्रं करोति, अधस्ताच्च भाण्डान्तरं स्थापयति, दध्यादौ तु

★ श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश में इन छः गुणों का विश्लेषण इस प्रकार करते हैं कि—

- (१) वस्त्रों को छोड़ देना (मोक्ष देना) - यह ऐश्वर्य गुण है ।
- (२) गोपियों को मोहित करना - यह 'श्री'गुण है ।
- (३) मक्खन को विविध प्रकार से चुशने का कार्य - यह वीर्य गुण है ।
- (४) बन्दरों को देकर उनका (राम भक्तों का) हित करना - यह 'वैराग्य'गुण है ।
- (५) बर्तनों को तोड़ना (यह कार्य सबों का हितकारी है) - यह 'यश' गुण है ।
- (६) कोष करना आदि कार्य से 'ज्ञान'गुण दिखाया, इसलिये कहा है कि रुद्र का प्रवेश करूंगा ।

न करोति, शर्करादौ तु पातयति, घनीभूते दध्यादौ च, तत् सर्वं वेति तद्विदुः, ध्वान्तागारे तु घृतमणिगणं स्वाङ्गमर्थतः प्रदीपभूतं रचयति यदिदानीमप्रकाशमानमपि तदानीमन्धकारगृहे सूर्यवत् प्रकाशते भर्णीश्च प्रकाशयति, अर्था एव वा प्रदीपा भवन्ति, स्वाङ्गमेव वार्थार्थप्रदीपा यस्य न त्वन्यस्मिन्नागरे,

एतदपि सर्वं काले, यदा गोप्यो न जानन्त्येव दूरे वा गता भवन्ति, किञ्च यर्हि गृहकृत्येषु पाकादिषु मन्दस्नानादौ बालकतर्पणे वात्पावश्यकं सुष्ठु व्यग्रं धितं यासां मथनादिसमये वा कालविलम्बे वा घृतमेव नोत्पद्येत ॥ ३० ॥

**व्याख्यानार्थ —** भगवान् को पूर्ण विद्या बताने के लिये कहते हैं कि पाँच प्रकार के ज्ञान हैं जिनका भगवान् को पूर्ण ज्ञान है। पंचविधः ज्ञान बताते हैं।

- (१) सप्रकारक (चौकी ऊखल आदि साधन वाला)।
- (२) निःप्रकारक (बिना साधन) - १. काल का ज्ञान, २. वस्तु का ज्ञान।
- (३) स्वल्प असाध्य ज्ञान।
- (४) अत्यन्त असाध्य ज्ञान।
- (५) अन्धकार में रखे हुए पदार्थ के प्रकाश का अपेक्षित ज्ञान।

लौकिक बुद्धि से जो ज्ञान होता है वह अन्यो को उपद्रवकारी होता है। उस ज्ञान के अंशों\* (विषयों) के ज्ञान से उसका भी ज्ञान हो जाता है, जिससे वास्तव में उपकार ही होता है। भगवान् जब देखते हैं कि इन्होंने अपनी वस्तु कोठे में रखी है, जहाँ से मैं हाथ से नहीं ले सकता हूँ, तब चौकी पर ऊखल उल्टा धरके, उस पर चढ़कर, वस्तु ले लेते थे; यदि तब भी नहीं पहुँच सकते तो उस पर किसी बालक को बिठा कर उस पर चढ़कर वस्तु ले लेते अथवा घर में रखे हुए बांसों को लेकर उनसे वस्तु निकाल लेते थे। आपको सब प्रकार का ज्ञान था। इसलिये

‡ योजनाकार लालूभट्टजी पाँच प्रकार के ज्ञान बताते हैं कि -

- (१) चोरी के समय का ज्ञान - (किस समय चोरी करनी चाहिये)।
- (२) वस्तु का ज्ञान - (कौनसी वस्तु कहाँ है, गृह में कोई नहीं है)।
- (३) सरस असाध्य - (श्रम से साध्य)।
- (४) अत्यन्त असाध्य ज्ञान।
- (५) अन्धकार में रखी हुई वस्तु को ग्रहण करने के साधनों का ज्ञान।

प्रकाश में श्री पुरुषोत्तमजी इसका आशय कहते हैं कि हृदय में विशेष अन्धकार होता है तो वहाँ ज्ञान रूप दीपक की आवश्यकता होती है। इससे वहाँ अंधकार है वहाँ भगवान् साधन सहित ज्ञान का उपयोग करते हैं।

\* श्री प्रभुचरण टिप्पणी में इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि ज्ञान तो स्वयं अंश (विभाग) रहित है। इससे उस (ज्ञान) के विषय को ही अंश कहते हैं। अतः घर में रखे हुए ऊखल आदि पदार्थ ज्ञान के अंश अर्थात् विषय हैं। ये पदार्थ घर में होते हैं इसलिये इनका ज्ञान सदैव रहता ही है। इस कारण से उनसे सम्बन्धित भगवान् का भी ज्ञान प्राप्त होता है। अतः यह उपकार ही है।

समझते थे कि इन बर्तनों में कुछ नहीं है तो उनसे वस्तु लेने के लिये व्यर्थ प्रयत्न नहीं करते थे । जहाँ समझते थे कि इन छीकों में रखे हुए इन भाण्डों में दूध आदि रसवाले पदार्थ हैं तो उनमें छेद कर नीचे कोई बर्तन रख देते थे । जो ऐसे रसवाले पदार्थ न होते दधि आदि पदार्थ, जो छिद्र से बह नहीं सकते थे वहाँ छेद न करते थे । इसी प्रकार शक्करादि से भरे हुए बर्तनों में छेद नहीं करते थे । इन पदार्थों को तो गिरा देते थे, वा ले लेते थे । यह सब उपाय जानने के कारण शुकदेवजी आपको 'तद्वित्' कहते हैं ।

जब भगवान् जानते थे कि पदार्थ अन्धकारवाले स्थान में पड़े हुए हैं, तब आप उन पदार्थों को प्रकाश में लाने के लिये अनेक मणियों से विभूषित अपने श्रीअंग को वास्तविक दीपक बनाते हैं । जो पदार्थ इस समय दृष्टिगोचर नहीं होते थे वे भी अन्धकारयुक्त - गृह में ही भगवान् के भीतर पधारने पर (न कि दूसरे के आने से) सूर्य के समान प्रकाशित होने लगे और मणियाँ भी प्रकाशित होने लगीं । अथवा भगवान् के प्रताप से पदार्थ, ऐसे प्रकाशित हुए मानो दीपक जल रहे हैं । यह सर्व लीला भगवान् समय जान कर लिया करते थे । इसलिये श्लोक में कहा है कि 'काले' समय पर इसके भाव को स्पष्ट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि जिस समय गोपियाँ दूर कहीं गई हों, अथवा भोजन बनाने आदि गृह-कार्य में लगी हुई हों, कभी अभ्यंग वा स्नानादि में रुकी हुई हों अथवा बालकों के रमण में वा अन्य अत्यावश्यक कार्य में फँसे हुए चित्त वाली हो, ऐसे समय को देखकर आप अपना कार्य साधते थे । जिससे आपके पधारने का उन्हें ज्ञान न हो सके । कभी तो जब वे दधि-मन्थन कार्य में व्यस्त होती थीं, उस समय आ जाते । जानते थे कि अब ये यह कार्य छोड़कर आयेगी नहीं, आयेगी तो उनका मक्खन पिथल जाएगा और वह निकलेगा नहीं । ऐसे समयज्ञ होने से समय पहचान कर कार्य करते थे ॥ ३० ॥

**आभास —** एवं ज्ञानप्रकारमुक्त्वा पर्यवसानमाहुरेवं धार्ष्ट्यानीति ।

**आभासार्थ —** इस भाँति ज्ञान का प्रकार कहकर अब इस श्लोक में उसका परिणाम क्या हुआ वह कहते हैं ।

**श्लोक: —** एवं धार्ष्ट्यान्युशति कुरुते मेहनादीनि वास्तौ  
स्तेयोपायैर्विरचितकृतिः सुप्रतीको यथास्ते ।  
इत्थं स्त्रीभिः सभयनयनश्रीमुखालोकिनीभिः  
व्याख्यातार्था प्रहसितमुखी न ह्युपालब्धुमैच्छत् ॥ ३१ ॥

**श्लोकार्थ** — हे कमनीयकान्ते ! सुन तो सही, आपका यह लाला कैसे उद्धताई<sup>१</sup> के कार्य कर रहा है, लीपे - पोते स्थान एवं सुन्दर पात्रों में, जहाँ वास्तु देवता स्थापित हैं, वहाँ मूत्रादि कर देता है और अनेक रूपों को धारण कर चोरी करके भी, साधुओं के समान खड़ा रहता है। यह उपालम्भ देते समय स्त्रियाँ भगवान् के भयभीत नेत्र वाले मुखारविन्द के रस का पान कर रही थीं। उनके द्वारा की हुई, सुत का उलाहना सुनकर, यशोदाजी ने पुत्र को उपालम्भ मात्र देने की भी इच्छा नहीं की, किन्तु बहुत हँसने लगी।

**सुबोधिनी** — हे उशति कमनीये, धार्यानि वल्लभियोचनादीनि कुरुते, उशति कमनीये भाण्डदौ च मेहनादीनि कुरुते, वास्तौ यत्र वास्तुदेवता पूजिता भवति, किञ्च स्तेयोपायैर्भ्रमजनकैर्विरचिता कृतिरुत्कृतिर्यस्य पतिवत् पुत्रवद् भ्रातृवच्च तिष्ठति तत्र कार्यार्थमेतादृशोऽपि सुप्रतीकः साधुवदास्ते धार्यादिकरणं पुरीषादिकरणं चौर्यकरणं रूपान्तरकरणं साधुवत् स्थितिरचेतिपञ्चधारूपसङ्ग्रहः, देहवादिन्द्रियवत् प्राणवदन्तःकरणवदात्मवच्चैतिपञ्चधाज्ञानस्य पञ्चविशेषभूतानि रूपाणि, एवं क्रियारूपान् ज्ञानरूपानाकृतिरूपान् निरूप्योपसंहरतोऽयमिति, एकस्मिन्कारेण स्त्रीभिर्व्याख्यातार्थापि प्रहसितमुखी सत्युपालम्भं नैच्छत्, उपालम्भे द्वयं कार्यं स्त्रीणां मनोरञ्जनं बालकस्य भयजननं च, तदुभयं प्रथमत एव जातं, भयसहितं नयनं यस्य

सभयनयनो भगवान् तस्य श्रोयुक्तं मुखं तदालोकिनीभिः, एवमुपालम्भनकर्त्र्योऽपि भगवन्मुखनिरीक्षिका एव, ज्ञानशक्तेरेव भयं न तु क्रियाशक्तेस्तदाह सभयं नयनं यस्येति, श्रीसंयुक्तं मुखं, आक्रोशवतीनां दृष्टिर्भगवद्विषयिणी भा भवत्विति श्रिया मूर्तिमत्स्यैव मध्ये व्याप्तं, अतः सभयनयनं यथा भवति तथा श्रीमुखस्यालोकिनीभिः, एवं व्याख्यातार्थः स्वगृहव्यापाररूपो यस्यां तथा सति लोकदृष्ट्या भगवतो धौर्त्यं स्मृत्वोभयोर्भयनयने दृष्ट्वा भगवान् स्त्रियश्च भीता भगवान् मतः स्त्रियो भगवतो मत्संश्रित्यनेकरसाभिनिविष्टा प्रकर्षेण हसितमुखी भगवन्तमुपालम्भं नैच्छत्, नामलीलया वसुदेवः कृतार्थ एव जातः, इयं तु लौकिकन्यायेन प्राप्तमनोरथा लौकिकभावाद्व्यादेव दोषान् न गृहीतवती न तु माहात्म्यज्ञानतः ॥ ३१ ॥

**व्याख्यानार्थ** — हे मनोहर नारी ! यह (कन्हैया) शरीर से वल्ल त्याग कर नग्न हो, निर्बल की तरह ढिठाई के कार्य करता है, जिस सुन्दर स्वच्छ पात्र में, वास्तु देवका का पूजन हम करती हैं, उसमें मूत्रादि करता है। इसके अतिरिक्त अन्य भी चोरी के अनेक उपाय करता है। जैसे कि किसी वस्तु दूध, दधि आदि की चोरी करने के लिये किसी भी गोपी के पति का रूप, कभी किसी के पुत्र का रूप, कभी किसी के भाई का रूप धारण कर चौर्य कार्य पूर्ण करता है। फिर अपने अन्य कार्य सिद्धयर्थ साधुवत् मुग्ध बालक के समान आँके पास में बैठ जाता है।

भगवान् ने (१) ढिठाई के कार्य।

(२) मूत्रादि करने के कार्य।

(३) चौर्य - कार्य ।

(४) दूसरों का रूप धारण करने का कार्य, और

(५) सत्पुरुष का कार्य ।

इस प्रकार की पांच प्रकार की क्रिया करते हुए पाँच प्रकार के रूप धारण किये थे । ये पाँच रूप भगवान् ने धारण किये, उसका कारण एवं किस प्रकार धारण किये, उसको समझाते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि अज्ञान (अविद्या) की देह, इन्द्रिय, प्राण अन्तःकरण और आत्मा - ये पांच विषय रूप आकृतियाँ हैं । इनको शुद्ध करने के लिये भगवान् ने धार्यादि पांच लीलाओं को करते हुए देहादिवत् पांच रूप धारण किये हैं । (जैसे श्रुति कहती है कि 'प्राणब्रैव प्राणो भवति' अर्थ-प्राण लेते हुए प्राण उत्पन्न होते हैं ।) तात्पर्य यह है कि एक कार्य करने से दूसरे कार्य की उत्पत्ति होती है । तदनुसार भगवान् ढिठाई के कार्य करते देहवत्, मूत्रादि कार्य करते इन्द्रियवत्, चौर्य भोजन करते प्राणवत् (प्राण - भोजनकर्ता है) अन्य रूप धारण करते अन्तःकरणवत् (अन्तःकरण की अनेक वृत्तियाँ हैं) साधुवत् रूप धारण करते हुए आत्मवत् होते हैं । यों लीला करते हुए देहादिकों की शुद्धिकर उनकी अपने में आसक्ति कराते हैं ।

इस प्रकार क्रिया, ज्ञान एवं आकृती रूपों का वर्णन कर शेष आधे श्लोक में इस विषय का उपसंहार करते हैं कि इस प्रकार स्त्रियों (गोपीजनों) ने यशोदाजी के आगे कन्हैया के कार्यों का वर्णन किया । वे सुनकर यशोदा मैया मुस्कराती रहीं; किन्तु उसने कृष्ण को कुछ भी उपालम्भ देना न चाहा । यदि कृष्ण की मैया, उपालम्भ देती तो दो कार्य होते - एक जो स्त्रियाँ उलाहना देने आई थी वे प्रसन्न होतीं और दूसरे बालक को भय होता । आगे के लिये डरता, जिससे पुनः ऐसे निर्लज्जता के कार्य नहीं करता, किन्तु यशोदा ने उपालम्भ न दिया तो भी उससे पहले ही ये दो कार्य स्वतः हो गए । स्त्रियों का माता के पास आकर अपने किए हुए कामों की कहानी कहते हुए देख एवं समझ कर भगवान् डर गए कि न जाने माता क्या दंड देगी ? इससे सभय नेत्र वाले मधुसूदन के श्रीयुक्त मुखारविन्द के मकरन्द को पान करती हुई गोपियाँ उनमें आसक्त एवं आनन्दित हो रही थीं । भगवान् का मुखकमल तो श्री शोभायुक्त हो प्रफुल्लित हो रहा था । किन्तु नेत्र भयभीत थे । कारण कि भय, ज्ञान शक्ति को होता है न कि क्रिया शक्ति को । इसलिये नेत्र ज्ञान शक्तिवान् होने से भयभीत थे । उलाहना देनेवालियों की दृष्टि को भगवत्स्वरूप का पूर्ण ज्ञान न हो जाये, इसलिये बीच में मूर्तिमती श्री स्थित थी । जिससे गोपियों को भगवत्स्वरूप का केवल आनन्द मिला; किन्तु स्वरूप ज्ञान न हुआ जिससे वे लोकदृष्टि से भगवान् की धार्यादि लीलाओं का स्मरण कर भय संयुक्त हुईं । माता यशोदा भगवान् एवं गोपियाँ दोनों को भयभीत देखकर, समझ गई कि कन्हैया को मुझ से डर हुआ है और गोपियों को भगवान् से डर हुआ है कि यदि उपालम्भ के कारण यशोदा भगवान् पर खींजेंगी तो भगवान् हमसे रुष्ट हो जायेंगे



हो पुत्र को कुछ भी उपालम्भ देने के अच्छा नहीं की। इस नाम लीला से वसुदेव कृतार्थ हो गए। यहाँ वसुदेव नाम नन्दवाचक है क्योंकि अष्ट वसुओं में श्रेष्ठ देव वह वसुदेव है, यों अर्थ कर यहाँ नन्द का नाम वसुदेव दिया है। नन्द पूर्व जन्म में द्रोण नामक वसु था। माता यशोदा ने तो भगवान् के माहात्म्य ज्ञान के कारण श्रीकृष्ण के दोषों पर ध्यान नहीं दिया था किन्तु यशोदा का लौकिक भाव दृढ़ था लौकिक न्यायवत् यशोदा के मनोरथ - कब मेरे नटखट नन्हासालाला होयगा, जो अन्न बालवत् मेरे व्रज में खेलेगा - पूर्ण हुए थे। इसलिये पुत्रवात्सल्य के कारण पुत्र को उपालम्भ देने की इच्छा नहीं की। सुबोधिनी में दिये हुए 'तु' (तो) शब्द का आशय<sup>१</sup> यह है कि नन्दजी को गर्गजी के वचनों पर विश्वास था इसलिये श्रीकृष्ण के माहात्म्य का उनको ज्ञान था, इसलिये वह लीलाओं को सुनकर कृतार्थ हो गए और समझ गए कि भगवान् ने लीलाएँ भक्त - हितार्थ ही की हैं। किन्तु यशोदा को माहात्म्य ज्ञान न होने और अलौकिक भाव दृढ़ होने से नन्दजी के समान कृतार्थता न हुई केवल लौकिक भाव दृढ़ हुआ ॥ ३१ ॥

**आभास —** अक्लिष्टकर्मा भगवांश्च यावन्नात्यन्तासक्त्या वैयग्रयं न प्राप्नोति तावन्न वदति नापि प्रदर्शयति, अनेन च प्रकरणेन तस्याः स्वविषयकोध्यासो निवर्तितः, यतो वाच्यतासहनं जातं, भगवद्विषयकगाढाध्यासेन सोप्युदगतः स्वसमानविषयकविरोधनैव निवर्तिष्यत इति तदर्थं प्रकरणान्तरमारभते ज्ञानरूपमन्तःकरणशोधकमेकदेत्येकादशभिर्मनसो ह्येकादश वृत्तयस्तासां निवृत्त्यर्थमेकादशधा ज्ञानं वक्तव्यं ।

**आभासार्थ —** जब तक अत्यन्त आसक्ति नहीं होती है, तब तक भगवान् न किसी बात का उत्तर देते हैं और न अपना स्वरूप दिखाते हैं। इस रूप प्रकरण से यशोदा को 'यह मेरा पुत्र है' इस प्रकार का जो अध्यास था, उससे यशोदा में यह भाव (अध्यास) उत्पन्न हुआ कि मैं इस (कृष्ण) की माता हूँ। इसलिये यशोदा ने उपालम्भ सहन किया, किन्तु पुत्र को कुछ भी न कहा। इस प्रकार यशोदा का पुत्र में अध्यास<sup>२</sup> तो बढ़ता गया किन्तु यशोदा माता होने के कारण प्रेम के विरुद्ध भगवान् को शिक्षा देगी तो प्रेम में न्यूनता आने से वह अध्यास भी दूर होगा। मनकी एकादश वृत्तियों के दोष दूर करने से अन्तःकरण की शुद्धि होगी। अतः ११ प्रकार से ज्ञानोपदेश करणार्थ ११ श्लोकों से ज्ञानरूप दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करते हैं।

**कारिका —** दोषनिवृत्तये यत्नो वाक्यं वाक्यं च तस्य नुत् ।

तत्साधिका कृतिर्विष्णोर्ज्ञानं पूर्वनिवारकम् ॥ १ ॥

ज्ञानस्योत्कर्षसिद्ध्यर्थं विषयाणां च वर्णनम् ।

ततो भयं तन्निवृत्तौ पूर्वपक्षस्य युक्तयः ॥ २ ॥

सिद्धान्तेन प्रतिष्ठानं भीतायाः शरणागतिः ॥ २½॥

- कारिकार्थ — (१) बालकों के अज्ञान से भगवान् में समझा गया मृत्नाभक्षण दोष ।  
 (२) उस दोष को दूर करने के लिये किया गया यत्न ।  
 (३) यशोदा के वाक्य ।  
 (४) यशोदा को उत्तर कि मैंने मिट्टी नहीं खाई, ऐसे भगवान् के वाक्य ।  
 (५) भगवान् ने अपने उत्तर को सत्य सिद्ध करने के लिये अपने मुखारविन्द में जगत् के दिखाने का किया हुआ कार्य ।  
 (६) भगवान् में प्रथम उत्पन्न दोष (भगवान् ने मिट्टी खाई है) के ज्ञान को मिटाने वाला (झूठा प्रमाणित करने वाला) ज्ञान ।  
 (७) ज्ञान के उत्कर्ष सिद्धि के लिये इन विषयों का वर्णन ।  
 (८) विषयों और उत्पन्न भय का वर्णन ।  
 (९) भय की निवृत्ति के लिये पूर्व पक्ष की युक्तियाँ ।  
 (१०) सिद्धान्त से निश्चय ।  
 (११) भयभीत यशोदा का भगवच्छरणागतिः ।

इस प्रकार ३२ वें श्लोक से ४२ वें श्लोक तक ११ श्लोकों में ज्ञान प्रकरण का निरूपण किया गया है जिनका सारांश आचार्यश्री ने कारिकाओं में समझाया है ।

आभास — भगवत्यध्यासस्य दृढत्वाद् भिन्नविषयको दोषो न बाधक इति समानाश्रयविषयकं दोषं बाला अनिरुद्धा आहुरित्याह ।

आभासार्थ — भगवान् में यशोदा का दृढ़ अध्यास होने से, यदि भगवान् किसी अन्य का दोष करते (जैसे बत्सों को छोड़ना, नवनीत उड़ाना आदि) तो यशोदा को उनका विचार भी न होता था । किन्तु जब भगवान् ने स्वयं मिट्टी खाने का अपराध किया जो अनिरुद्ध बालकों ने आकर कहा, उसको सुनकर चिन्तित होगी । बालकों ने जो कहा उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्या गोपदारकाः ।

कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन् ॥ ३२ ॥

**श्लोकार्थ** — किसी दिन रामादि गोप बालकों ने खेलते हुए देखा कि श्रीकृष्ण ने मिट्टी खाई। यह समाचार सब ने मिलकर आकर माता यशोदाजी को कहा।

**सुबोधिनी** — एकदा यदा भगवत्प्रवणमेव चित्तं स्थितं, आक्रीडमाना आसमन्तात् क्रीडां कुर्वाणाः, समानभावेन सर्वेषु क्रीडा रसजनिका भवति, अतो भगवति साम्ये स्फुरिते विवेकिनां स्वस्मिन् दोषदर्शनकद् भगवत्प्रति दोषं दृष्टवन्तः त इति ये स्त्रीणां सुखार्थं नोतास्तेषां स्त्रीसङ्गान्निरोधस्याकृतत्वाद् भगवति दोषदृष्टिर्युक्तेति, तत्तत् कार्यं प्रदर्शयितुं रामाद्या इत्युक्तं, न हि रमयति एव सर्वा स्त्रियोतो दोषदृष्टिः, गोपबालका इति, गोपा अनिरुद्धाः, गोपिः सह सङ्गात्

तत्तुस्यज्ञानास्तेषां बालका इति स्वरूपतोपि दोषसम्बन्धहेतुः, स्वसम्बन्धिस्तनादिपानेन पुष्टन स्वचरणसम्बन्धिभक्तिरसालोहितमृत्कां बालकेभ्योन्तःस्थितेभ्यो ददद् बहिर्मुखैर्दध्यादिभक्षणवन्मृदक्षणमपि कल्पितं ततस्तदनिष्टं मत्वा बालाः प्रोचुः कृष्णो मूर्धं भक्षितवानिति, पञ्चवर्षपर्यन्तं मात्रा शिक्षणीय इति भावे न्यवेदयन्, सम्भावितं तदिति ॥ ३२ ॥

**व्याख्यानार्थ** — किसी दिन जब यशोदा का चित्त भगवान् में एक तान हो गया, एवं गोप बालकों का आपस में समानभाव जागृत हुआ, छोटे-बड़े का ध्यान न रहा, तब चारों तरफ अथवा सब प्रकार से क्रीड़ा करते हुए गोप बालक आनन्द मग्न हो गए। समान भाव होने पर ही क्रीडकों को क्रीड़ा में रस उत्पन्न होता है। इस प्रकार खेलते हुए और रस लेते हुए भगवान् में समानता की स्फूर्ति बढ़ती गई, जिससे बालक समझने लगे कि जैसे हम हैं वैसे ही यह कृष्ण भी है। हम यदि मिट्टी खावें तो वह खाना दोष है। क्योंकि उससे उदर में रोगादि उपद्रव होंगे यों समझने से उन्होंने श्रीकृष्ण को जब चुपके - चुपके मिट्टी खाते देखा तो उनमें भी, अपनी जैसी दोष बुद्धि करने लगे। जिन गोप बालकों को, स्त्रियों के सुखार्थ, प्रथम ले जाकर वहाँ उन बालकों के साथ, व्रज - स्त्रियों को आनन्द दान करणार्थ क्रिया की थी उन बालकों का निरोध नहीं किया था (जिससे उनकी प्रपञ्च विस्मृति होकर भगवान् में भगवत्स्वरूप ज्ञानपूर्वक आसक्ति नहीं हुई थी) अतः भगवान् में दोष दृष्टि होना स्वाभाविक था। वह (प्रथम की हुई क्रीडा का) कार्य दिखाने के (समझाने के) लिये वे रामादि कहे। 'राम' शब्द का तात्पर्य बताते हैं कि वह (राम) सर्व स्त्रियों को रमण करता है अतः रस रीति अनुसार, रमण कर्ता को ताम्बूल खाना रुचता है न कि मिट्टी खाना। राम को भगवान् में स्नेह था, जिससे भगवान् का मिट्टी खाना उसको अच्छा न लगा। इस कारण से राम की भी भगवदर्थ दोष दृष्टि हुई थी। गोप बालकों में तो भगवान् में दोष दृष्टि होने के अन्य दो कारण थे। एक कारण यह था कि बालकों का निरोध नहीं हुआ था। दूसरा कारण यह था कि गोप बालक थे, गोपों का सदैव गौ आदि पशुओं के साथ सहवास होता है। अतः उनकी बुद्धि भी पशुओं के समान स्तब्ध दोषवती हो जाती है। इसलिये उनमें स्वरूप से भी दोष दृष्टि का सम्भव था। भगवान् ने जैसे गौओं का एवं माता का स्तन्य चूसकर अन्तःस्थ बालकों को पुष्ट किया था, वैसे ही अपने चरण सम्बन्धी, भक्ति-

रस संयुक्त मृत्तिका को खिलाकर, भक्ति - रस संलुप्त करने की इच्छा से मृत्तिका भक्षण की थी। इस आशय को न समझ, वहिर्मुख यों समझने लगे कि भगवान् ने दधि भक्षणवत् मृत्तिका का भी भक्षण किया है। इस कल्पना से मृत्तिका<sup>१</sup> भक्षण अनिष्टकारक जान, बालक कहने लगे कि 'कृष्ण' ने मृत्तिका<sup>१</sup> भक्षण किया। समानता में मित्रता होती है, मित्रों में स्नेह होता है। स्नेही, स्नेही के अनिष्ट को सहन नहीं कर सकते हैं अतः कृष्ण को इस कार्य को दुबारा न करने के लिये शिक्षा दिलानी चाहिये। रामादि सब ने इस प्रकार का विचार कर माता यशोदा के पास आकर कृष्ण के मिट्टी खाने के समाचार सुनाए, क्योंकि पाँच वर्ष तक माता पुत्र को शिक्षा देती है ॥ ३२ ॥

**आभास —** तेन देहापकारं ज्ञात्वा दोषनिवृत्त्यर्थं यत्नं कृतवतीत्याह सा गृहीत्वेति ।

**आभासार्थ —** 'श्रीकृष्ण ने मृत्तिका भक्षण किया' ये गोप बालकों के वचन सुन यशोदा को कृष्ण ने मृत्तिका भक्षण किया होगा, ऐसी सम्भावना प्रतीत होने लगी। इससे देह का अपकार होगा, यो समझ दोष निवृत्ति के लिये यशोदा यत्न करने लगी, इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक: —** सा गृहीत्वा करे पुत्रमुपालभ्य हितैषिणी ।

यशोदा भयसम्भ्रान्तप्रेक्षणाक्षमभाषत ॥ ३३ ॥

**श्लोकार्थ —** पुत्र की हितेच्छा वह माता यशोदा, सुत का कर पकड़ के उपालम्भ देती हुई, भय से घबड़ाये हुए लाल नेत्रों वाले श्रीकृष्ण को कहने लगी ।

**सुनोधिनी —** एकस्मिन् करे पुत्रं गृहीत्वाभाषतेतिसम्बन्धः, सेति निरोधमध्यस्थिता, भगवति क्रियाशक्तिरेव लौकिकी तस्या दृढेति करे गृहीत्वेति तावानेवांशस्तथा गृहीत इति, भगवांस्तु पुत्राग्नौ नरकात् त्रायते, येन पापेन मातापितरौ पुरुषशब्दवाच्यमुपलक्षणात् स्त्रीशब्दवाच्यं च शरीरमस्थिपुरोषादिव्याप्तं सर्वरोगादिगृहं तामिस्रादिसर्वनरकेभ्योधिकं प्राप्तवन्तौ स्वयं तत्र सन्तौ प्रविष्टस्तत् कार्यं स्वयं करिष्यंस्तदोषमङ्गीकृत्य तौ तस्माद् देहसम्बन्धात् त्रायत इति पुत्रो भवति, तादृशमुपालभ्यो-पालम्भनं कृत्वात्मनमिव कूरं वाक्यमुक्त्वा परमनिधानरूपः पुत्रः कुशली भवत्विति हितमेवान्वेषमाणा यशोदा

परमभागवती ज्ञानेयधिकारिणी मारणे कृतेनःस्थिता; क्लिष्टा भविष्यन्ति ततो महापुरुषद्रोहाश्रयाः कदापि ज्ञानं भविष्यतीति शयेन सम्भ्रान्तं प्रेक्षणं यस्याक्षस्य, प्रदर्शयिष्य-माणं ज्ञानमेव स्वाधिकरणस्याग्रे भविष्यमाणस्य विरोधिगुणप्रादुर्भावाद गमनप्रतिबन्धशङ्कया सम्यग् भ्रान्तं प्रेक्षणं गमनरूपं यस्य तथाविधं भवति, भगवत्प्रेरणया गन्तव्यमेव विरोधी च गुणो बलिष्ठो बाधो भा करोत्विति तादृशं भगवन्तं कायिकव्यापारेण योजयित्वा भागवत्प्रेरितामाषत वाक्यमेवेकैकवती, तद्वाक्यं च भगवता परिहर्तव्यं क्रिया चेदशक्या भवेद् भक्तद्रोहात् ॥ ३३ ॥

**व्याख्यानार्थ** — जिस यशोदा का अब तक पूर्ण निरोध सिद्ध नहीं हुआ है; निरोध सिद्ध होता रहता है, अर्थात् जो मध्यम निरोध में स्थिति वाली है, ऐसी यशोदा ने, भगवान् के एक ही हाथ को पकड़ लिया, हाथ को क्यों पकड़ा ? इसका भाव बताते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि भगवान् में यशोदा की अब तक केवल लौकिकी क्रिया शक्ति ही दृढ़ हुई थी, इसलिये क्रिया करने वाले कर्मेन्द्रिय 'कर' को ही पकड़ सकी। भगवान् तो इस समय यशोदा के, स्व-इच्छा से, भाव रूप पुत्र हुए थे, अतः भगवान् को तो पुत्र - धर्म पालनार्थ माता को 'पुं' नाम नरक से बचाने के लिए लीला करनी थी। यदि 'पुं' नाम नरक से माता को न निकाले तो पुत्रत्व की निरर्थकता हो जाय। यहाँ 'पुं' नाम नरक में 'पुं' पुरुषवाचक है सो केवल पुरुष के लिये नहीं है; किन्तु स्त्री वाची भी है अतः पिता और माता दोनों को नरक से बचावे वह पुत्र है। यहाँ पुत्र माता पिता को कौनसे नरक से बचाता है ? आचार्यश्री उसका भी स्पष्टीकरण करते हैं, कि तामिस्रादि अनेक नरक हैं किन्तु उनसे विशेष मूल नरक यह अस्थि पुरीष आदि से रचित शरीर है। क्योंकि इस शरीर के होने के कारण, जीव पापादि कर्म करने से, तामिस्रादि नरकों को भोगते हैं। यदि यह शरीर ही न हो, तो जीव पापादिक कर्म करे ही नहीं। अतः इस शरीर की जड़ ही काटी जाए तो माता-पिता सदैव नरक से मुक्ति पाकर आनन्द मग्न रहें। अतः पुत्र स्वयं माता पिता में प्रविष्ट हो, उनका ही रूप बनकर उनके दोषों (अस्थि चर्म आदि से बनी हुई देह) को ग्रहण कर, उन दोनों (माता - पिता) को उस देह सम्बन्ध से छुड़ाता है; इसलिये उसको पुत्र कहा जाता है। ऐसे (नरक से छुड़ाने वाले) पुत्र की उपालम्भ<sup>१</sup> जैसे केवल क्रूर<sup>२</sup> वचन माता-पिता कैसे कहें। मेरा सर्वस्व यह पुत्र है, अतः सर्व प्रकार से, सदैव आरोग्यवान् रहे। इस प्रकार हित की कामना वाली परम भाग्यवती यशोदा माता, ज्ञान की भी अधिकारिणी है। तदर्थ उसकी बुद्धि भगवान् ने ऐसी उत्पन्न कर दी, जिससे उस (यशोदा) को यह विचार हुआ कि कृष्ण को ताड़ना न करूँ। भगवान् की ऐसी इच्छा क्यों हुई ? भगवान् ने विचार कि यदि यशोदा मुझे ताड़ना करेगी तो अन्तःस्थित बालकों को कष्ट होगा और माता को महापुरुष द्रोह का दोष लगेगा तो माता को कदापि ज्ञान प्राप्ति न होगी।

भगवान् ने इस इच्छा से कि मुझे मारे नहीं, जो मारेगी तो महापुरुषों के द्रोह वाली होगी और मैं उस (माता) के पास जा न सकूँगा। यह कुछ भी न हो, इसलिये आपने अपनी दृष्टि को भयभीत हो। सम्प्रान्त इस प्रकार की कि जिसको देख, माता को पुत्र स्नेह से दयाभाव उत्पन्न हुआ, जिससे मारने का विचार ही माता के मन में उदय न हुआ। भगवत्प्रेरणा से केवल कायिक व्यापार किया। कर से कर पकड़ के वाणी से कहने लगी। जो कुछ माता ने वचन

कहे, उनका परिहार भगवान् करेंगे । यदि यशोदा भगवान् को ताड़ना करती तो, भक्त - द्रोह से उसका उपाय हो नहीं सकता था ॥ ३३ ॥

॥ यशोदोवाच ॥

श्लोकः — कस्मान् मृदमदान्तात्मन् भवान् भक्षितवान् रहः ।

वदन्ति तावका ह्येते कुमारस्तेग्रजोप्ययम् ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ — हे असंयमी अन्तःकरण वाले ! तुमने एकान्त में जाकर मृत्तिका भक्षण क्यों किया ? तेरे ये मित्र एवं तुम्हारा बड़ा भाई भी कहता है कि इसने मृद<sup>१</sup> भक्षण किया ।

सुबोधिनी — यशोदाया वाक्यमाह कस्मादिति, इच्छया भक्षितमिति चेत् सेच्छपकारिणीति तन्निवारणमुचितं तदकरणादुपालम्भ एवेतिसम्बोधनेनाहादान्तात्मनिति, न दान्त आत्मान्तःकरणं यस्य, अन्तःस्थितबालापरिज्ञानादाह भवान् भक्षितवानिति, रह एकान्ते, निष्कास्य बालकान् भक्तिं ग्राहयितुं देवगुह्यादेकान्त एव कृतवान्, तद् बालाबहिः स्थिता असमदृष्टनार्थमेकान्ते भक्षितवानित्याहुः, प्रमाणमाह वदन्ति तावका इति, त्वदीयास्त्वनृतं न वदन्तीति, हि

युक्तश्चायमर्थः, तेषां हितकारिण इति, अन्यथाकल्पने नाद्यापि समर्था इति वयो निर्दिशति कुमार इति, तेषां जीवत्वात् कल्पकत्वाभावेऽपि भ्रमः सम्भवति यथादृष्टं च वचनमतोऽपि न परमार्थदृष्टिरिति चेत् तत्राह तेग्रजोप्ययमिति, अग्रे जातत्वात् काचिद् बुद्धिरुत्कृष्टा, वदतीत्यत्र प्रमाणमाहायमिति, प्रत्यक्षमेव वदतीति नात्रासम्भावना ॥ ३४ ॥

व्याख्यानार्थ — यशोदा ने कहा कि यदि तू कहे, कि मेरी इच्छा हुई कि मैं मृत्तिका<sup>१</sup> का रस लूँ, तो वैसी हानिकारक इच्छा को रोकना योग्य था। ऐसा तुमने नहीं किया । इसलिये समझा जाता है कि तू असंयमी है; मन तेरे वश में नहीं है । अतः तू उपालम्भ के योग्य है । यशोदा ने कृष्ण को इसलिये यह कहा कि तूने मृत्तिका का भक्षण किया है क्योंकि यशोदा को यह ज्ञान नहीं था कि कृष्ण के अन्तःस्थित बालक हैं; तदर्थ भगवान् ने मृत्तिका खाई है । आचार्यश्री श्लोक में दिये गये 'रह' : शब्द से एकान्त में मृद भक्षण के भाव को स्पष्ट कर बताते हैं कि श्रीकृष्ण ने एकान्त में इसलिये मृद<sup>१</sup> भक्षण कार्य किया, जो अन्तःस्थ बालकों को बाहर प्रकट कर अपने चरणारविन्द रसयुक्त मृत्तिका द्वारा उनको भक्ति- रस का दान करना था । यह रसदान एकान्त में करना योग्य था । गोपकुमार इस भाव को न समझने के कारण वे भाताजी को कहने लगे कि कन्हैया ने हमको ठगने के लिए, (जैसे हमको पता न लगे कि कन्हैया ने मृदभक्षण किया

है), इस प्रकार छिप कर मृद् भक्षण किया है। यशोदा कहती है कि तूने बराबर मिट्टी खाई है क्योंकि कहने वाले दूसरे नहीं हैं, तेरे ही हैं; इसलिये वे तेरे हितकारी हैं, वे कभी झूठ नहीं बोलेंगे। झूठ बोलने का कार्य आज तक इन्होंने नहीं किया है। ऐसी सामर्थ्य इन में नहीं है। क्योंकि अब तक इनकी 'कुमार' अवस्था है। यदि कृष्ण कह दे कि वे जीव हैं तो कुमार अवस्था के कारण इनको झूठीबात बनानी नहीं आती है। भ्रम तो हो सकता है। भ्रम से उन्होंने ऐसा कहा है, इस पर माता उत्तर देती है कि वे कुमार हैं। उनको भ्रम हुआ ऐसा समझभी लें, किन्तु तुम्हारे बड़े भाई दाऊजी को तो भ्रम नहीं हुआ होगा। वह बड़ा है। इसलिये उसमें बुद्धि अधिक है वह भी तुम्हारे सामने कह रहा है कि कृष्ण ने मृत्तिका खाई है। इससे अधिक तुझे क्या प्रमाण चाहिये। इसलिये तेरे मृत्तिका खाने में किसी प्रकार की असम्भावना देखने में नहीं आती है ॥ ३४ ॥

**कारिका — भगवद्व्यतिरिक्तानामन्यधर्मः प्रवर्तते ।**

**यदा यत्र हरिः स्वामी नाविष्टः सोन्यथावदेत् ॥ १ ॥**

**कारिकार्थ —** कृष्ण ने मृद् भक्षण किया है, ऐसा बलरामजी ने क्यों कहा ? वे तो जानते थे कि कृष्ण ने अन्तःस्थ बालकों को इस लीला द्वारा भक्ति रसपान कराया है। इस शंका का निवारण आचार्यश्री इस कारिका से करते हैं। जिस समय भक्ति से विरुद्ध धर्म किसी में भी देखने में आवे, तो समझना चाहिये कि ये अब भगवान् से पृथक् है। इस समय बलराम में भी भगवत्स्वरूप का आवेश नहीं है इस कारण से इस लीला के भाव को उनको भी न समझने के कारण कहने लगे कि कृष्ण ने मिट्टी खाई है। इन (बलरामजी) का यह कहना दोष बुद्धि से नहीं था, किन्तु स्नेह के कारण था।

**आभास —** भगवांस्तु तद्वाक्यं विषयबाधात्र प्रमाणमाप्तानां भ्रान्तत्वादित्याह नाहमिति ।

**आभासार्थ —** आप्त (सत्यवक्ता) भी कभी भ्रान्त हो जाते हैं, अतः भगवान् बलरामजी के वाक्यों को भी विषय का बाधक समझ, प्रमाण रूप नहीं मानते हैं। और अपनी सत्यता को निम्न श्लोक से प्रमाणित करने के लिये कहते हैं कि प्रत्यक्ष मेरा मुख देखलो।

॥ श्रीकृष्ण उवाच ॥

श्लोकः — नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिर्शंसिनः ।

यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम् ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ — हे अम्ब ! मैंने मृद् भक्षण नहीं किया है ये सब झूठ बोल रहे हैं । जो वे सत्य वाक्य कहते हैं तो मेरा मुख सामने प्रत्यक्ष देख लो ।

सुबोधिनी — हे अम्बेति सम्बोधनप्रतारणाय, अनेन तस्यां महती कृपा प्रदर्शिता, अहं तु न भक्षितवान्, बालकैर्भक्षितमितिभावः, एवंसम्बोधनेन स्ववाक्यप्रामाण्य-मुक्त्वा विरोधवाक्यमाह सर्व इति, एते बालकाः सशमा गोप्यश्च ये केचिन्मया यत्किञ्चिद् भक्षितं यदाकदापीत्याहुस्ते सर्व एव मिथ्याभिर्शंसिनो मिथ्यानृतमेवाभिर्शंसन्ति, "अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीतो"तिश्रुतिविरोधात्, "यस्य ब्रह्म चक्षत्रं" "अत्ता चणचणहणाद्" "मुद्गक्ते विश्वमुनि" त्यादिवाक्यान्वाधिदैविकरूपधर्मप्रतिपादकानि, अतः पुण्यपुरुषपराणि न भवन्तीति ये केचिद् भगवन्तं भोक्तारं मन्यन्त उपदिशन्ति च ते सर्वे मिथ्याभिर्शंसिनः, नैवेद्यं च तुष्टिदं भवति निवेदनमात्रेण, आरण्यानां भक्षणं त्वन्तः स्थितभक्तानां शुद्धाश्रमसम्बन्धेन कृतार्थत्वायातः पवं पुण्यं

मितिवाक्यं न विरुध्यते, नन्वत्र किं युक्तं किं भगवान् भक्षयति न वेति ? भक्षयतीत्येव यहुवाक्यसंवादात् प्रत्यक्षतो दर्शनाद् "मुद्गक्ता" इत्यादिवाक्यानां यथाश्रुतार्थत्वसिद्धे "रनश्नन्नन्य" इतिवाक्यं जीवभोगजननार्थं समागतोन्तर्थापी जीवभोग्यं जीवभोग्यप्रकारेण न भुङ्क्ते इत्येतावन्मात्रपरं तस्मात् प्रत्यक्षसंवादाद् भक्षणमेव सत्यमिति चेत् तत्राह यदि सत्यगिर इति, लोके वाक्यं संवादि प्रमाणं, तदर्थमत्र संवादो नास्तौत्यनूद्य दूषयति, तर्हि समक्षं प्रत्यक्षं स्वचक्षुषा वाक्यसंवादार्थं मुखमध्यं पश्य, यदि भक्षितं भविष्यति तदंशास्तदगन्धश्च भविष्यति, सर्वं भक्षितमिति शङ्कया च कालान्तरभक्षणस्यापि निवारणार्थं च भक्षणप्रयोजनं मुखेऽस्ति न वेति तदपि द्रष्टव्यमितिभावः ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ — श्रीकृष्णने यशोदाजी को 'अम्ब' <sup>१</sup> सम्बोधन इसलिये दिया कि तू मेरी माता है, इसलिये तुझ से वञ्चना <sup>२</sup> नहीं करूँगा । यह सम्बोधन देकर यशोदा पर महती\* कृपाकी है । मैंने तो नहीं खाई है । इसे कहने का कृष्ण का भाव यह है कि वास्तव में मेरे अन्तःस्थित बालकों ने खाई है । इस प्रकार अपने पक्ष को प्रमाणित किया । अब श्लोक के दूसरे पाद में विरोधियों के कथन का असत्यपन सिद्ध करते हैं । राम सहित ये बालक एवं गोपियाँ जो कहती हैं कि मैंने खायी है न केवल मृत्तिका, किन्तु, दूध, दही और मक्खन आदि जब कभी कुछ भी खाया है, वह सब इनका कहना झूठ है । इनका यह कहना कि कृष्ण ने मृत्तिका खाई है किन्तु मैं

\* आचार्यश्री के यशोदा पर महती कृपा लिखने का यह आशय है कि श्रीकृष्ण यशोदा को माता कह कर बताना चाहते हैं कि मैं ईश्वर हूँ, मेरी कोई भी नारी माता नहीं बन सकती है न कोई पुरुष पिता हो सकता है क्यों कि मैं अजन्मा और अनन्दि हूँ । ऐसा होते हुए भी तुझे मैंने माता की पदवी दी है यह महती कृपा की है — अनुवादक ।



कहता हूँ कि मैंने नहीं खाई है तो भी यदि झूठा हूँ तो इनका ऐसा कहना श्रुति विरोधी है क्योंकि श्रुति तो स्पष्ट कहती है कि ('अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' श्रुतिः) ब्रह्म स्वयं खाता नहीं है किन्तु खाने वालों को देखता रहता है। इस कहने से कृष्ण ने अपना ब्रह्मत्व बताते हुए कह दिया कि जैसे जीव रूप खाता है ईश्वर रूप देखता है वैसे ही यहाँ मैं साक्षीरूप से देख रहा हूँ खाने वाले अन्तःस्थित भक्त बालक है।

यदि वे कहें कि उपरोक्त श्रुति 'ब्रह्म नहीं खाता है' यों कहती है किन्तु अन्य श्रुतियाँ 'यस्य ब्रह्म च क्षेत्रं' 'अत्ता चरचरग्रहणात्' भुङ्क्ते विश्वभुक् आदि तो ब्रह्म को भोक्ता कहती हैं। अतः यदि तू ब्रह्म है तो भी तूने मिट्टी तो खाई है क्योंकि हमने प्रत्यक्ष देखा है। ऐसा बालक कह दे तो आचार्यश्री उपरोक्त श्रुतियों का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि ये ब्रह्म को भोक्ता कहने वाली श्रुतियाँ आधिदैविक रूप के धर्मों को प्रतिपादन करने वाली है। जिनका तात्पर्य है कि देवरूपों से यज्ञ में यज्ञीय हव्यादि पदार्थों को जो भक्षण करते हैं, उस भक्षण को प्रतिपादन करती हैं। शेष ये श्रुतियाँ, पुराण पुरुष (जो पुराण - पुरुष अक्षर भी मैं हूँ) के लिये भोक्तृत्व का प्रतिपादन नहीं करती हैं। अतः जो कोई भगवान् (कृष्ण) को भोक्ता समझते हैं वा इसी प्रकार का उपदेश देते हैं, वे सब मिथ्यावादी हैं। भगवान् के आगे तो निवेदन किया जाता है, वह नैवेद्य भगवत्प्रसन्नतार्थ ही है। यदि निवेदन केवल तोषणार्थ है ? तो 'पत्रं पुष्पं फलं तोयं' श्रीमद्भगवद् गीता के श्लोक में भगवान् ने कहा है कि "मैं अशन करता हूँ" इसका विरोध होगा। आचार्यश्री समझाते हैं कि इसश्लोक का भी विरोध न होगा क्योंकि 'पत्रं पुष्पं' श्लोकानुसार ही अरण्योत्पन्न पत्र पुष्प फलादि शुद्ध पदार्थों से अन्तःस्थित भक्तों का सम्बन्ध करके उनको कृतार्थ करने के लिये है।

भगवान् भोजन करते हैं वा नहीं। इन दोनों में से कौनसा सत्य सिद्धान्त है ?

पूर्व पक्ष - भगवान् भोजन करते हैं यह सिद्धान्त सत्य है क्योंकि इस सिद्धान्त के लिये बहुत स्पष्ट प्रमाण है और प्रत्यक्ष भी देखने में आता है कि भगवान् आरोगते हैं। जैसे कि 'अत्ता चरचरग्रहणात्' अर्थ चर और अचर के भोक्ता है, 'भुङ्क्ते विश्वभुक्' अर्थ विश्व भोक्ता भोजन करते हैं इत्यादि। 'अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति' इस श्रुति का आशय है कि जीव जो भोजन करता है और जिस प्रकार करता है उस प्रकार जीव भोगोत्पत्त्यर्थ आए हुए अन्तर्यामी भगवान् भोजन सिद्धान्त नहीं करते हैं। केवल इस आशय को समझाने के लिये यह 'अनश्नत्' श्रुति है। अतः अनेक श्रुतियों के आधार और प्रत्यक्ष प्रमाण से यही सिद्धान्त सत्य है कि 'भगवान् भक्षण करते हैं।'

सिद्धान्त - आचार्यचरण इस पूर्व पक्ष का निरास करते हुए कहते हैं कि यदि कुमारों का कहना सत्य हो, तो उसके युक्तिपूर्वक वाक्य का आधार होना चाहिये। वह आधार कुमारों के कहने में नहीं है। इसलिये उनका कहना दोषयुक्त होने से असत्य है। सत्य परीक्षार्थ आप प्रत्यक्ष

अपने नेत्रों से मेरे खुले हुए मुख के अन्दर देख लो । यदि मैंने मिट्टी खाई होगी तो उसके कण वा उसकी गन्ध मुख में होगी । यदि मैंने कणमात्र भी इसी प्रकार खा लिये हों, जैसे उनकी गन्ध भी मुख से न आवे तो उस पर आचार्यश्री विशेष आज्ञा कहते हैं कि कृष्ण तो फिर कहते हैं कि केवल अबकी खाई हुई मिट्टी की शङ्का को न मिटाओ, किन्तु आगे जो कुछ मक्खन, दही खाया उस शङ्का को मिटा लो । हे माता ! मेरे मुख में यह भी देखलो कि भक्षण के प्रयोजन वाली वस्तु जिसके लिये भोजन किया जाता है (भोजन रस लेने के लिये किया जाता है रस लेनेवाली इन्द्रिय जिह्वा है) वह मेरे मुख में है ही नहीं अच्छी तरह देख लो । मैंने मिट्टी क्या ? कभी भी कुछ भी नहीं खाया है अतः मैं वास्तविक अभोक्ता हूँ । जैसे मेरे मुख में रस - ग्राहिका जिह्वा नहीं है, वैसे ही मुझे क्षुधा भी नहीं लगती है, जिसके मिटाने के लिये भोजन करूँ । क्षुधा जीव का धर्म है । मैं जीव नहीं हूँ, इसलिये मुझे न क्षुधा लगती है न मैं भोजन करता हूँ । इस प्रकार कृष्ण के कहने पर माता को शङ्का हुई कि हम प्रत्यक्ष देखती हैं कि कृष्ण खाता है और यह कहता है कि 'मैं नहीं खाता हूँ' इस प्रकार की माता की शंका को जानकर ही कृष्ण ने फिर कहा कि क्षुधावाले भोजन अपने लिये करते हैं । जिस भोजन से वे अपनी क्षुधा मिटाते हैं; किन्तु मुझे क्षुधा नहीं है, जिसको मिटाने के लिये मैं भोजन करूँ । मैं तो भोजन भक्तों के मनोरथ पूर्त्यर्थ<sup>१</sup> करता हूँ, जैसे उनको मेरे अधरमृत की प्राप्ति हो, जिससे वे कृतार्थ हो जावें । इसलिये मैं भोजन करते हुए भी अभोक्ता हूँ । तात्पर्य यह है कि ज्ञान-मार्ग की रीति से ब्रह्म, भोजन न करने के कारण अभोक्ता है । किन्तु पुष्टिमार्गरीत्यनुसार भोजन करते हुए भी भगवान् अभोक्ता है । यही ज्ञानमार्ग से भक्तिमार्ग की विशेषता है जो इस लीला द्वारा भगवान् ने बताई है । ॥ ३५ ॥

**आभास —** लौकिका युक्तिपुरःसरं पदार्थं गृह्णन्तीति यशोदा तद्वाक्यमङ्गीकृत्य तत्रापेक्षितं प्रार्थयित्वा द्रष्टुमुद्युक्ता ततो भगवान् प्रदर्शितवानित्याह यद्येवमिति ।

**आभासार्थ —** लौकिक मनुष्य, युक्ति सिद्ध सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं । यशोदा ने भी कृष्ण के युक्ति-युक्त वाक्य सुनकर, उनको मान लिया और समझने लगी कि यदि यों है तो प्रत्यक्ष कराने के लिये मुख का उद्घाटन<sup>२</sup> अपेक्षित<sup>३</sup> है । इसलिये भगवान् को कहने लगी कि 'मुख' खोल । भगवान् ने मुखारविन्द को विकसित<sup>४</sup> किया एवं यशोदा मैया देखने को उद्यत<sup>५</sup> हुई, भगवान् अपने मुखारविन्द को दिखाने लगे ।

**श्लोक: —** यद्येवं तर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान् हरिः ।

**व्यादत्ताव्याहतैश्वर्यः ऋीडामनुजबालकः ॥ ३६ ॥**

१-पूर्ण करने के लिये ।

२-खुलवाना ।

३-आवश्यक, जरूरी ।

४-खोला ।

५-तैयार ।

**श्लोकार्थ** — यशोदाजी ने कृष्ण को कहा कि जो यों है तो अपना मुख खोल । माता के वचन सुन, पूर्ण ऐश्वर्य वाले क्रीड़ा के लिये मनुष्य बालरूपधारी भगवान् हरि ने अपना मुख खोल दिया ।

**सुबोधिनी** — यदिप्रत्यक्षसंवादि तद्वाक्यं नान्येषां तदा व्यादेहि मुखव्यादानं कर्तव्यं, एवमुक्तो व्यादतेतिसम्बन्धः, स इति, स यतो निरोधार्थमेवागतः, अन्यथा लौकिकपरमार्थयोर्भिन्नविषयत्वाल्लौकिके परमार्थप्रदर्शनमयुक्तं स्यात्, निरोधसामर्थ्यं भगवानिति, करणावश्यकत्वे हेतुर्हरिरिति, अन्यथा प्राणिनः कृतार्था न भविष्यन्तीति, विशेषेणादत्तं मुखं प्रसारितवान्, ननु प्राकृतस्वीकारात् स्वधर्माणां तिरोभावसम्भवात् कथं सर्वसंवादे

भविष्यतीत्याशङ्क्याहव्याहतैश्वर्य इति, न केनापि प्रकारेण व्याहतमैश्वर्यं यस्य, ननु तर्हि कथं प्राकृतस्वीकारः? तत्राह क्रीडार्थमेव मनुजबालको न तु प्रदर्शनार्थमपि, अतः क्रियाशक्तावेव लौकिकस्यां तिरोभावः, तदपि विशेषप्रयोजनाभावे, अन्यथा तु क्रियाशक्तेरपि प्राकट्यं, ज्ञानशक्तिरुत्तरोहितैव सर्वदा, अतः प्रदर्शितवानित्यर्थः ॥ ३६ ॥

**व्याख्यानार्थ** — हे कृष्ण ! यदि तुम्हें वह वाक्य (कृष्ण ने मिट्टी खाई) प्रत्यक्ष प्रमाण से ही असत्य सिद्ध करना है और दूसरों के कहने से उसकी सत्यता नहीं माननी है तो मुख को खोलो । इस प्रकार माता के कहने पर मुरारि ने अपना मुखारविन्द विकसित कर दिया । श्लोक में 'स' शब्द देकर यह बताया है कि निरोध करने के लिये प्रकट हुआ है । यदि निरोधार्थ आप प्रकट न हुए होते तो लौकिक विषय और परमार्थ विषय भिन्न होते हुए भी लौकिक में परमार्थ दर्शन करते । यहाँ मिट्टी खाने की वार्ता सत्य है वा असत्य है, इसको सिद्ध करने के लिये मुख दिखाना लौकिक कार्य है । उसमें कृष्ण ने माता को सारा विश्व दिखाने का जो अलौकिक कार्य किया उसका आशय था, यशोदा का निरोध करना । इसलिये शुकदेवजी ने 'स' शब्द से यह जता दिया कि उसने (निरोधार्थ आए हुए ने) मुख खोला । उसमें निरोध करने की सामर्थ्य है इसलिये शुकदेवजी ने उसको 'भगवान्' कहा है अर्थात् उसमें षडैश्वर्यादि गुण प्रकट थे । न केवल षडगुण वाले हैं किन्तु वह हरि, दोषों को हरण करने वाले भी है । इन शब्दों से यह सिद्ध किया है कि पाप हर्ता, प्रपञ्च विस्मृति पूर्वक निरोधकर्ता वह है । मान लिया जाय कि वह (कृष्ण) ऐसे ही है, किन्तु अब तो आपने प्राकृतपना स्वीकार किया है, इसलिये स्व - ऐश्वर्यादि धर्मों का तो तिरोभाव आप में होगा ही इस शंका के निवारण के लिये श्लोक में शुकदेवजी ने 'अव्याहतैश्वर्यः' पद दिया है जिसका अर्थ है कि किसी प्रकार का भी आपका ऐश्वर्य इस समय भी कम नहीं हुआ है; वही आपका सम्पूर्ण ऐश्वर्य विद्यमान है । तब प्राकृत बालक रूप का स्वीकार किस लिये किया है ? इस शंका को मिटाने के लिये शुकदेवजी ने 'क्रीड़ा मनुज बालकः' कहा है । दिखाने के लिये प्राकृतवत् बालरूप धारण नहीं किया है, किन्तु इस स्वरूप से क्रीड़ा करने की इच्छा थी, इसलिये यह रूप स्वीकार किया है । भगवान् में ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति सदैव रहती है, किन्तु जब लोकवत् लीला करनी होती है, तब समय पर कभी-

कभी केवल क्रिया-शक्ति तिरोहित कर, लीला करते हैं। नहीं तो ज्ञान-शक्ति की तरह क्रिया-शक्ति भी प्रकट रहती है। ज्ञान-शक्ति तो सर्वदा प्रकट रहती है अतः कृष्ण ने अपने मुख में विश्वरूप का दर्शन कराया ॥ ३६ ॥

**आभास —** सापि भगवता प्रेरिता भगवदिच्छया प्राप्तज्ञानशक्तिस्तन्मध्यस्थितं जगद् दृष्टवतीत्याह सा तत्रेति ।

**आभासार्थ —** जिस (यशोदा) का निरोध हो रहा है (पूर्ण निरोध अब तक नहीं हुआ है, इसलिये निरोध के मध्य में स्थित है) जिसको भगवदिच्छा से ज्ञान-शक्ति प्राप्त हुई है वैसी माता यशोदाजी भगवान् की प्रेरणा से भगवान् के मुख के मध्य स्थित जगत् को देखने लगी। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

**श्लोक: —** सा तत्र ददृशे विश्वं जगत् स्थाणु चरिष्णु च ।

साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम् ॥ ३७ ॥

**श्लोकार्थ —** उस (यशोदा) ने मुख में विश्व स्थावर तथा जंगम जगत्, वायु, अग्नि, चन्द्र, तारों, पर्वत, द्वीप और समुद्रों समेत पृथ्वी के गोले को देखा ।

**सुबोधिनी —** सा निरोधमध्यस्थिता तत्र मुखविवरे विश्वं ददृशे, आपाततो दर्शनं ध्यावर्तयितुं विशेषाकारेण दृष्टं निर्दिशति जगदिदित्वाभ्यां, विश्वमिति समुदायेन भगवद्रूपमाधिदैविकं वा, जगदन्यत्लौकिकं विश्वरूपं प्रतिकृतिरूपमित्युपनिषदा आधिदैविकमिति ब्रह्मविदः कार्यकारणरूपमित्युभयोः समाधानमिति विचारकाः, जगति पेदानाह स्थाणु चरिष्णु चेति, स्थावरं जङ्गमं च, चकारत् तद्धर्मं सर्वं एव, साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलमित्यथः खण्डः

उपरिखण्डं वक्ष्यत्यग्रिमश्लोके, अयमपि भेदस्तथा ज्ञात इति, अद्रयो मेवादयो द्वीपा जम्बूवादयोऽभ्ययो लवणादय एतैः सहितं भूगोलं, सवाय्वग्नीन्दुतारकमिति भूगोलस्यैव विशेषणं, वायुस्तत्रोपलभ्यत एव, अग्निश्च इन्दुः प्रथमाहुतिफलरूपः, "सोमो राजा भवती" ति श्रुतेः, यद्वा यज्ञिर्य रूपं भूमिष्ठं तत्र वर्तत इति "यदस्यां यज्ञियमासौ तदमुष्माददधा" दिति श्रुतेः, तारका अपि भूमिष्ठा भोगार्थं तत्र गच्छन्तीति पुनरावयान्ति चेति तारका अपि भूमिष्ठा एव श्येना इव ॥ ३७ ॥

**व्याख्यानार्थ —** निरोध के मध्य में स्थित, उस (यशोदा) ने मुखरूप बिल में विश्व का दर्शन किया। श्लोक में 'विश्व' और 'जगत्' दो शब्द देने का भाव आचार्यश्री स्पष्ट समझाते हैं कि यशोदा ने केवल ऊपर-ऊपर से विश्व को नहीं देख लिया किन्तु विशेष प्रकार से ज्ञानपूर्वक समग्र पदार्थों को देखा। इसलिये श्लोक में 'विश्व' और 'जगत्' दो शब्द दिये हैं। 'विश्व' शब्द से यह बताया है कि यह समग्र विश्व भगवद्रूप है और वह भगवान् का आधिदैविक स्वरूप है। अर्थात् यशोदा ने प्रथम भगवान् के आधिदैविक स्वरूप जगत् का दर्शन किया पश्चात् लौकिक, अन्य जगद्रूप, जो रूप भगवान् का प्रतिकृति रूप है, उसको देखा। जगतरूप के वर्णन करने वाले तीन प्रकार के हैं -

- (१) औपनिषदाः — उपनिषदों को जानने वाले जगत् को भगवान् का प्रतिकृति रूप मानते हैं ।
- (२) 'ब्रह्मविदः' — ब्रह्मवादी जगत् को भगवान् का आधिदैविक स्वरूप समझते हैं ।
- (३) 'विचारिकाः' — विचारशील तत्त्व विचारक आचार्यचरण जगत् को 'कार्य कारण' रूप मानकर दोनों (औपनिषद और ब्रह्मविदों) का समाधान (एकता) करते हैं । (जगत् कार्य है, ब्रह्म उसका कारण है । कार्य कारण एक ही वस्तु होने से जगत् एवं ब्रह्म में भेद वा द्वैत नहीं है । अतः जगत् प्रतिकृति होते हुए भी ब्रह्मरूप है । लौकिक प्रतिकृति के समान जगत् ब्रह्म की प्रतिकृति नहीं है ।)

जगत् के भिन्न - भिन्न रूप भेदों को कहते हैं - (१) स्थावर (जड़), (२) जंगम (चेतन) श्लोक में दिये 'च' अक्षर से उनके सब प्रकार के धर्म भी कहै हैं । इस श्लोक में नीचे के खण्ड<sup>१</sup> पर्वत, द्वीप, समुद्र रूप भूगोल का वर्णन है । ऊपर के भाग का वर्णन आगे के श्लोक में करेंगे । जगत् का यह भीतरी भेद जान लिया । जैसे कि मेरु आदि पर्वत, जम्बू आदि द्वीप और लवणादि समुद्रों के साथ भूगोल का ज्ञान प्राप्त किया । न केवल इतना ही ज्ञान सम्पादन किया, किन्तु इससे विशेष वायु, अग्नि, चन्द्र और तारकों का भी ज्ञान पा लिया क्योंकि वे भी भूगोल के ही अंग हैं । वायु और अग्नि तो भूगोल पर प्राप्त होते ही हैं और चन्द्रमा यज्ञ में दी हुई पहली आहुति का रूप है । अतः श्रुति में कहा गया है कि 'सोमोऽस्माकं राजा' चन्द्रमा हमारा राजा<sup>२</sup> है अथवा यज्ञीयरूपं (यज्ञ सम्बन्धी रूप जो भूमि पर) था, वह अब उसमें (चन्द्रमा में) कलङ्क ((कालास के) रूप से बिरजता है । तारे भी पृथ्वी पर स्थितिवाले हैं किन्तु भोग के लिये वहाँ (ऊपर के भाग में) जाते हैं, भोगों का भोग लेकर बाज, पक्षियों की तरह पृथ्वी पर आ जाते हैं । इसलिये ये सब भूमिष्ठ ही हैं ॥ ३७ ॥

आभास — उपरितनं दलमाह ज्योतिश्चक्रमिति ।

आभासार्थ — निम्न श्लोक में ऊपर के भाग में ज्योतिश्चक्र है जिसका वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नभस्वान् वियदेव च ।

वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणास्त्रयः ॥ ३८ ॥

**श्लोकार्थ** — ज्योतिश्चक्र, जल, तेज, वायु और आकाश, वैकारिक, इन्द्रियां, मन, मात्राएँ और तीन गुण, ये ऊपर के भाग में यशोदा ने देखे ।

**सुबोधिनी** — जलं मध्यस्थितं "सलिलं वा इदमन्तरासी"दिति वृष्टिर्वियद्गङ्गा च, तेज इति सूर्यादिध्रुवान्तानां किरणाः, विद्युदादयो वा, नभस्वान् वायुरुपरितनः, वियदाकाशो वैकारिकाणि सात्त्विकानि सर्वाविकारसाध्यानि वेन्द्रियाधिष्ठितरूपाणीन्द्रियाणि ब्रह्माण्डाद बहिः स्थितानि, ब्रह्माण्डमपि गृहे घटवत् प्रतीयते, इन्द्रियाणि च ततो बहिः पदार्थान्तरावत्, सर्वदर्शनसामर्थ्यं भगवता दत्तमित्युक्तमेव, इन्द्रियाणि राजसानि मनश्च सात्त्विकं मात्रास्तामसास्तेषां निधानभूता गुणाश्च त्रय इति, अहङ्कारगुणाः प्रकृतिगुणाः मायागुणाश्च ॥ ३८ ॥

**व्याख्यानार्थ** — ऊपर के भाग में आकाश और भूमि के मध्य भाग में 'जल' है । यह जल वृष्टि और आकाशगंगा के नाम से प्रथित<sup>१</sup> है । सूर्य से लेकर ध्रुव तक के किरणों को अथवा विद्युत<sup>२</sup> आदि को तेज कहते हैं । ऊपर के भाग वाले वायु को 'नभस्वान्' कहते हैं । वियत्<sup>३</sup> वैकारिक अर्थात् सात्त्विक, सर्व प्रकार के विकारों से साध्य<sup>४</sup> सकल इन्द्रियों के अधिष्ठाता देवताओं और ब्रह्माण्ड से बाहर स्थित इन्द्रियाँ । इतना महान् ब्रह्माण्ड भी मुख में यों देखने में आया जैसे गृह में रखा हुआ घड़ा देखने में आवे । इन्द्रियाँ तो उससे बाहर किसी दूसरे पदार्थ के समान दृष्टिगोचर होती थीं । इतना साग ब्रह्माण्ड नीचे, ऊपर एवं बीच के भाग में स्थित सकल पदार्थों को यशोदा पूर्ण रीति से ज्ञान पूर्वक देख सकी । क्योंकि सर्व पदार्थ देख सकने की शक्ति प्रथम ही परमात्मा ने यशोदा को देदी थी। इन्द्रियाँ राजस, मन सात्त्विक, मात्राएँ तामस हैं, इनके अहंकार प्रकृति और माया के गुण आश्रयी भूत हैं । इनको भी यशोदाजी ने देखा ॥ ३८ ॥

**आभास** — एवं दृष्टमनूद्य तद्दर्शनेन तस्या अपूर्वत्वाद् भयं जातमित्याहैतदिति ।

**आभासार्थ** — यशोदा ने जो कुछ देखा उसका वर्णन कर, अब निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं कि ऐसे विचित्र दर्शन यशोदा ने कभी नहीं किए थे । इससे उसे भय हुआ कि यह क्या ?

**श्लोकः**— एतद् विचित्रं सहजीवकालस्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम् ।

सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम् ॥ ३९ ॥

**श्लोकार्थ** — पुत्र के शरीर एवं खोले हुए मुखारविन्द में, जीव, काल, स्वभाव, कर्म, आशय और लिङ्गों के भेद सहित इस विचित्र<sup>५</sup> जगत् को एवं समग्र व्रज तथा अपने को भी देखकर यशोदा को शङ्का हुई कि यह मैं क्या देख रही हूँ ! (इससे वह डर गई) ।

सुचोधिनी - विचित्रमिति, युक्त्यापि न निर्णेतुं शक्यं, करणान्यपि दृष्टवतीति तान्वनुब्रूयति, जीवकालस्वभावकर्मशयलिङ्गानां भेदस्तत्सहितं जगत्, जीवास्त्रिविधा देवमानुषदानवाः, कालोपि तथा भूतभविष्यद्वर्तमानरूपः स्वभावः प्रकृतिधर्मो भगवद्रूप इति निबन्धे विवृतं कर्म च, आशयो हृदयकोशो यस्मिन्नाशेते जीवाः, लिङ्गं लिङ्गशरीरं स्थूलकोशात्मकं, लिङ्गभेदा वा

स्त्रीपुंनपुंसकाः, एतत् सर्वं स्थानविशेषस्यापिज्ञानात् सूतोस्तनी वीक्ष्येत्युक्ते, विदारितास्यं यस्मिन्नन्तर्बहिः सर्वत्रैव जगद् व्याप्तमिति वदंस्तनी विदारितास्य इतिपदद्वयं, स्वप्नभ्रमव्युदासार्थं ब्रजमपि दृष्टवती, मायाव्युदासायात्मानं, आत्मना सहितं ब्रजमिति विशिष्टकथनं सर्वभ्रमव्युदासाय, एवमभ्रमेण सर्वं दृष्ट्वा शङ्कामवाप ॥ ३९ ॥

व्याख्यार्थ - यशोदा यह देखर इसलिये डर गई कि यह (जगत्) ऐसा विचित्र है कि जिसका युक्ति से भी निर्णय नहीं किया जा सकता है। न केवल जगत् को देखा, किन्तु उसके कारण भी देखे। उन कारणों के नाम कहते हैं, कि १ - जीव, २ - काल, ३ - स्वभाव, ४ - कर्म, ५ - आशय, ६ - लिङ्ग भेद - - ये जो छः कारण बताये हैं उनका आचार्यश्री स्पष्टीकरण करते हैं कि १ - जीव - देव, मनुष्य और दानव भेद से तीन प्रकार के हैं। २ - काल-भूत, वर्तमान और भविष्य भेद से तीन प्रकार के हैं। ३ - स्वभाव, यह प्रकृति का भगवद्रूप धर्म है। ४ - कर्म, इसका विवरण 'निबन्ध' ग्रंथ में किया गया है। ५ - आशय, जिस हृदय कोश में जीवों का निवास है। ६ - लिङ्ग - स्थूल शरीर जिसमें बीज रूप से स्थित है वह सूक्ष्म शरीर। अथवा जंगम शरीरों के स्त्री, पुरुष और नपुंसक भेद (चिन्ह)। यशोदा को पहले इन सब स्थानों का पूर्ण रीति से ज्ञान नहीं था। इसलिये श्लोक में कहा है कि अब यह सब पुत्र के शरीर में, उस (यशोदा) ने देखा। श्लोक में 'तनी' (शरीर में) विदारितास्ये (खोले हुए मुखारविन्द में) ये दो पद शुकदेवजी ने दिये हैं। उनका भाव आचार्यश्री बताते हैं कि यशोदा ने यह सब केवल मुख के भीतर ही नहीं देखा किन्तु बाहर (कृष्ण के शरीर में) भी देखा। श्लोक में शुकदेवजी ने कहा है कि 'यशोदा ने अपने को भी देखा'। इसका भाव आचार्यश्री बताते हैं कि भगवान् ने अपने मुख और शरीर में ब्रज और माता का स्वरूप, यशोदा मैया को दिखा कर यह ज्ञान दिया कि यह जो तू देख रही है, वह सत्य है, स्वप्न नहीं है, और न माया है। इस प्रकार यशोदा का सर्व भ्रम निवारण तो हुआ, किन्तु शंका हुई कि इतने छोटे बालक में इतना विश्व कैसे है, इस कारण भयवती हो गई ॥ ३९ ॥

आभास - अस्याः शंकाया व्युदासार्थं लौकिक प्रकारेण पक्षानाशंक्य परिहरति किं स्वप्नं इति ।

-जिन साधनों (पदार्थों) से वह बना हुआ है वे ।

२-व्याख्यान ।

**आभासार्थ** — इस प्रकार देखने में और उसको सत्य समझ, भययुक्ता होने से यशोदा के मन में लौकिक प्रकार की अनेक शंकाएं होने लगीं । उन अनुमानित शंकाओं का परिहार कर सत्य सिद्धान्त का निम्न श्लोक में प्रतिपादन करते हैं ।

**श्लोक: —** किं स्वप्नमेतदुत देवमाया किं वा मदीयो बत बुद्धिमोहः ।

अथो अमुष्यैव ममार्थकस्य यः कश्चनौत्पत्तिक आत्मयोगः ॥ ४० ॥

**श्लोकार्थ** — क्या ? यह स्वप्न है ? वा देवता की माया है ? अथवा मेरी बुद्धि का मोह है ? कि वा इस मेरे बालक (पुत्र) का ही कोई स्वाभाविक आत्मयोग है ।

**सुबोधिनी** — अन्यदा प्रतीतं यत् कदाचित् प्रतीयते तत् त्रिधा भवति स्वप्नेपि कदाचिदलौकिकं प्रतीयते तस्य स्थानस्य सन्ध्यत्वाच्छीघ्रगमनात् "कात्स्न्येनानभिष्यक्तस्वरूपत्वाच्च" प्रकृते तद्वैलक्षण्यान्नायं स्वप्नो भवितुमर्हति पूर्वापरानुसन्धानाच्च, अतः पक्षान्तरमाहोत देवमायेति, मायामात्रं नात्यन्तमोहकं देवानां तु माया मनुष्यव्यामोहिका भवति मोहवशाच्चातिरिक्तभानमपि सम्भवतीत्याशङ्क्य सा भगवति न सम्भवति भगवत्प्रयत्नानन्तरभावित्वादस्य भगवत्कृतापि माया न भवति तथा सति स्थिरता न स्यात् भ्रम च तत्र दर्शनं न स्यादुभयोश्चदर्शनं, तर्हि दर्शनमेव भ्रान्तिमितिपक्षं स्वीकरोति किं वा मदीयो बत बुद्धिमोह इति, बुद्धिमोहोपेत्येतादृशः कदापि न जात इति विशेषमाह मदीय इति, अन्यैर् न दृश्यत एव, तथा सति ते वदेयुः, न

हि दष्टेनुपपन्नं नापेतिन्यायात्, मदीय एवायं बुद्धिमोहः, एवं सति स्वस्य महत्त्वाद् बतेतिहर्षः, यद्येवं स्याद् बालकान्तरे स्थलान्तरेप्येवमुपलभ्येत, अस्मिन्नेव बालक उपलभ्यत इति न पूर्वोक्तपक्षाः किन्त्वस्यैव कश्चनानुभाव इत्याहायो इति पूर्वपक्षव्युदासार्थ, अमुष्येत्यग्रेपि परिदृश्यते सूक्ष्मस्तस्मिन् जगद् विशालं, ममार्थकस्येति, पूर्वं भावदाहर्ष, अन्यथा निरोधो न स्यान्मुक्तिश्च स्यादिति, कोयं तव बालकस्य गुण इति चेत् तत्राह यः कश्चनेति, भिन्नतयेदमित्यतया वा जातु न शक्यते, इदानीमेव देवतान्तरसम्बन्धाज्जातं भविष्यतीत्याशङ्क्याहौत्पत्तिक इति, स्वाभाविकोय-  
- "मुत्पत्तिशिष्टः" पूर्वमप्यनुभूतत्वात् पूतनादीनां भारणाच्च, केवलं प्रदर्शकत्वे पूतनादीनां वधो न स्यात्, अत आत्मयोगः, आत्मन एव भगवतो योगरूपेयं विधूतिरित्यर्थः ॥ ४० ॥

**व्याख्यानार्थ** — इस श्लोक में जो लौकिक प्रकार से अनुमानित शंकाएं की हैं उनके चार पक्ष कहे हैं : — १ स्वप्न, २ - देवमाया, ३ - अपनी बुद्धि का मोह और ४ - बालक का आत्मयोग । इनमें से पहले कहे हुए तीन पक्षों का निराकरण कर चौथा पक्ष सत्य सिद्ध किया गया है ।

१ - पक्ष - स्वप्न, जो दृश्य कभी - कभी दृष्टिगोचर होकर तीन प्रकार का हो वह स्वप्न है, १. प्रकार - कुछ, अलौकिक देखने में आवे, २. प्रकार - वह सन्ध्य<sup>१</sup> हो एवं शीघ्र नष्ट हो जाय, ३. प्रकार - वह पूर्ण रीति से सम्पूर्ण देखने में न आवे । जिसमें ये तीन नमूने हों वह स्वप्न होता है । यह जो दृश्य है वह उसके समान नहीं है इसमें पूर्वापर<sup>२</sup> का अनुसन्धान रहता है । अतः यह स्वप्न तो नहीं है ।

२ - पक्ष - देवमाया, माया मात्र मोह नहीं कराती है, किन्तु देवमाया तो मनुष्यों को विशेष

१-निवारण ।

२-जो पहले भी न हो पीछे भी न हो ।

३-आगे पीछे का ।



मोह करती है। मोह के वश होने से, अन्य पदार्थों का भान होना भी सम्भव है। यह देवमाया इतनी शक्तिमती है तो भी भगवान् पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता है। यह दृश्य (विश्व रूप का दर्शन) यह भगवान् के प्रयत्न से हुआ है, न कि देवमाया से, यह देखने में आया है। अतः यह देवमाया भी नहीं है। कदाचित् यह भगवान् की माया हो, भगवान् ने अपनी माया से दिखाया हो, तो वह भी जँचता नहीं। क्योंकि माया से जो मायिक पदार्थ देखने में आते हैं वे माया दृश्य होने पर देखने में नहीं आते हैं। यहाँ तो वैसा नहीं है और माया से जो पदार्थ देखे जाते हैं, वे बहुत समय तक नहीं रहते हैं। यहाँ तो जो कुछ देखा गया है, वह सब, अब भी विद्यमान है जैसे कि मैं और श्रीकृष्ण आदि। अतः श्रीकृष्ण की माया भी नहीं है।

३- मेरी बुद्धि का मोह - जो स्वप्न नहीं, देवमाया वा भगवान् की माया भी नहीं, तो जो देखा गया है, वह भ्रम होगा। बुद्धि के मोह से, हुआ होगा। यदि बुद्धि का मोह है, तो मुझे ही देखने में आता है, दूसरों को क्यों नहीं आता है। दूसरों को भी देखने में आता हो, तो वे भी मेरे समान कहने लगें। दूसरे नहीं कहते हैं। फिर विचार कर कहती है कि जो वस्तु प्रत्यक्ष, पूर्ण रीति से देखी जाती है, उसमें अनुपपन्न कुछ नहीं होता है। इस न्यायानुसार मेरी बुद्धि का ही मोह है। यदि यों है, तो मैं भाग्यवती हूँ। इसलिये यशोदा की प्रसन्नता प्रकट करने के लिये शुकदेवजी ने श्लोक में 'बत' हर्षवाचक पद दिया है।

४ - अर्भकस्य आत्मयोग - इस प्रकार तीनों पक्षों का निराकरण किया गया। अब चौथे पक्ष के समर्थन में कहती है कि यदि मेरी ही बुद्धि का व्यामोह हो, तो दूसरे बालकों में वा दूसरे स्थलों पर भी, इस प्रकार का दृश्य मुझे देखने में आवे, अतः मेरी बुद्धि का व्यामोह भी नहीं है। किन्तु यह सब मेरे इस बालक का ही कोई प्रभाव ऐश्वर्य है। यह प्रभाव सूक्ष्म रीति से पूर्व भी देखा है। अब विशाल जगद् रूप में देखा है। मेरा बालक कहकर अपने पुत्रभाव की दृढ़ता बताई। यदि पुत्र भाव अब तक दृढ़ न होता, तो यशोदा मुक्त हो जाती, वह न हुई उसका कारण यह है कि यशोदा में अब तक लौकिक पुत्र भाव कृष्ण में है। अतः वह निरोध योग्य है।

आचार्यश्री श्लोक में कहे हुए 'यः कश्चन' पदों का भाव स्पष्ट करते हैं। तेरे बालक का यह गुण कौनसा है? इस पर कहा गया है कि जो, कोई, है अर्थात् जिसकी व्याख्या कर नहीं सकते हैं कि 'वह है' वा इस प्रकार का है। यों भी न समझना कि अब किसी देवतान्तर के सम्बन्ध से इसका इतना प्रभाव हुआ है। इसका यह ऐश्वर्यादि प्रभाव तो स्वाभाविक जन्म से ही इसमें है। इसके प्रभाव का अनुभव इस जगत् के दिखाने के पश्चात् ही नहीं हुआ है किन्तु हम ब्रजवासियों को पहले भी हो गया है जैसा कि इसने पहले पूतना - वध आदि से अपने प्रभाव दिखाये हैं। यदि केवल मायावी के समान प्रदर्शक, जगत् दिखानेवाला होता तो यह पूतना आदि का वध नहीं कर सकता था। अतः यह इसकी अपनी ही आत्मयोग रूप विभूति<sup>१</sup> है ॥ ४० ॥

**आभास —** एवं भगवद्विभूतिरूपमेतदिति ज्ञात्वा यत् कर्तव्यं तत् कृतवतीत्याहाथो इति ।

**आभासार्थ —** जब यशोदाजी को यह निश्चय हो गया कि यह 'विश्वरूप दर्शन' स्वप्न, देवमाया, भगवत्माया वा मेरी बुद्धि का मोह नहीं है; किन्तु यह इस बालक का अपना ही विभूति योग है तब तो उसको जो करना योग्य था, वह कृत्य करने लगी । उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक:—** अथो यथावन्न वितर्कगोचरं चेतोमनःकर्मवचोभिरञ्जसा ।

यदाश्रयं येन यतः प्रतीयते सुदुर्विभाव्यं प्रणतास्मि तत्पदम् ॥ ४१ ॥

**श्लोकार्थ —** यह विश्वरूप (भगवान्) चित्त, मन, कर्म और वाणी से पूरी तरह तर्क में नहीं आ सकता है और जिसकी कल्पना करनी भी अशक्य है, वैसा यह (विश्व) जिसमें आश्रित है जिससे यह प्रतीत हो रहा है उसके चरण कमल में मैं प्रणत<sup>१</sup> हूँ ।

**सुबोधिनी —** अथो दर्शनान्तरं यस्माद् भगवत् सकाशादेतत् प्रतीयते यत् सुदुर्विभाव्यं, अतः सोलौकिको भवतीति तत्पदं प्रणतास्मीतिसम्बन्धः, एतद्दर्शनस्यालौकिकत्वं यक्तुं लौकिकबुद्ध्यविषयत्वमाह चेतोमनः कर्मवचोभिः, यथावद् वितर्कगोचरं न भवतीति, चित्तं योगादिभाषितं मनःकर्मवचांसि लौकिकानि, अलौकिकबुद्ध्यपि नैतावत् कल्पयितुं शक्यत इदमित्यमिति, अतोन्द्रियाणामपि दृष्टत्वान्नसो बहिरस्वातन्त्र्याल्लौकिकप्रवणत्वाच्च कायिकमत्रादृष्टं गृहीतमदृष्टशब्दप्येतन्निर्णयो वक्तुं न शक्य ते लौकिकत्वात्, परस्परव्याघाताच्च न वचसा, आपाततः कल्पनायामपि यथावद् वितर्कगोचरं न भवति,

तथैव भाषिकमित्यादिपक्षकल्पनायामप्यञ्जसा सामस्येन नोपाद्यते, न हि स्वस्यापि तत्र पूर्वापरानुसन्धानसहितस्य प्रतीतिः सम्भवति, तथैव पदार्थानां विचारेऽपि स्थैर्यं च, अवस्थादेशकालाश्च, किञ्चित्तत्, सर्वप्रदर्शकः स्वमाहात्म्यार्थं स्वभिन्ने स्थाने प्रदर्शयति स्वस्मिन् पदार्थानां भाररूपत्वान्न स्थापयेत्, स्वावस्थादेशकालानां प्रमासम्भवात्, येन च चक्षुषा प्रतीयते तच्चक्षुरपि नास्मदीयं, अन्यथा विद्यमानानां ज्योतिष्कस्थपदार्थानामन्यदापि दर्शनं स्यात्, अतः सामर्थ्यं दत्त्वा स्वत एव स्वस्मिन् विद्यमानं जगत् स्वमाहात्म्यज्ञापनार्थं प्रदर्शितवान्, अतो ज्ञातमाहात्म्या तत्पदं प्रणतास्मि "नमो नमः" इत्येतत् सुदुर्लभशिक्षितमिति शाल्भार्थत्वात् ॥ ४१ ॥

**व्याख्यानार्थ —** विश्वदर्शन करने के पश्चात् जो (विश्वरूप) कल्पना करने से समझ में नहीं आता है और जो केवल भगवान् के सामीप्य से कही प्रतीयमान हो रहा है । इससे निश्चयपूर्वक समझा जाता है कि वह (विश्वरूप) अलौकिक है । एवं भगवान् की योग्य विभूति से दृश्य हो रहा है । ऐसे (अलौकिक दृश्य दिखाने की शक्तिवाले एवं स्वयं भी अलौकिक) भगवान् के चरण कमल में मैं प्रणाम करती हूँ । 'विश्वरूप' की अलौकिकता प्रतिपादन करने के लिये तर्क देते हैं कि लौकिक बुद्धि से उसका ज्ञान नहीं हो सकता है । चित्त, मन, कर्म और वाणी द्वारा

१—शरणागत हूँ, नमन करती हूँ ।

पूर्ण रीति से समग्र प्रकार से जैसा कुछ है वैसा दृष्टि गोचर नहीं होता है। योग के प्रभाव से उत्तेजित चित्त भी इसको समझ (देख) नहीं सकता है तो लौकिक मन, कर्म और वचन इसको कैसे जान सकेंगे ? अलौकिक बुद्धि से भी यह ऐसा है वा वैसा है। इस प्रकार की कल्पना उसकी नहीं हो सकती है, क्योंकि इस विश्व में अलौकिक पदार्थ भी दृष्टिगोचर होते हैं, जिसको योगादि से उत्कृष्ट<sup>१</sup> चित्त भी जान नहीं सकता है और मन भीतर तो स्वतन्त्र है किन्तु बाहर परतन्त्र है। कारण कि बाहर होते ही लौकिक विषयों में आसक्त होने से अनेक आधीन हो जाता है; जिससे वह मन भी इस विश्व की कल्पना नहीं कर सकता है। 'कर्म' शब्द के प्रतिनिधित्व में यहाँ कायिक शब्द दिया है। जिसका आशय यह है कि कर्म काया से किया जाता है तो काया ही कर्म का कारण है। उस (काया) से कर्म करने पर जो फल होता है, उस फल शेष को, अदृष्ट<sup>२</sup>, प्रारब्ध<sup>३</sup> कहते हैं। उस अदृष्ट से भी इस विश्व के स्वरूप का निर्णय वा ज्ञान कहा नहीं जा सकता है। क्योंकि 'विश्व' अलौकिक है। वाणी से भी 'विश्व' का वर्णन नहीं हो सकता है क्योंकि वाणी द्वारा कहने से उसमें 'विरोध' देखने में आता है। जैसे कि एक ही विश्व को 'मुख' में और 'मुख' से बाहर कहने पर वाणी का परस्पर विरोध देखने में आता है। काम मात्र चलाने के लिये कल्पनाएँ करने से भी पूर्ण रीति से ध्यान गोचर नहीं होता है। इसी प्रकार मायिकादि पक्षों की कल्पना से भी पूर्णतया समझ में नहीं आता है। मायिक पक्ष में तो अपना भी पूर्वापर<sup>४</sup> सोचने का ज्ञान नहीं रहता है तथा पदार्थों के विचार करते समय उनमें स्थिरता नहीं रहती है एवं अवस्था देश और काल का भी पता नहीं पड़ता है।

जो अपना माहात्म्य प्रकट करने के लिये सर्व विश्व को दिखाता है वह तो अपने से भिन्न स्थान पर दिखाता है। इतने भार को अपने में नहीं रखता है क्योंकि देखने वालों को उसकी अवस्था, देश औ काल देखकर भ्रम न हो, जाय, इसलिये वह (प्रदर्शक) अपने में इतने सब पदार्थ नहीं रख सकता है।

यशोदा सब विचार कर अन्त में निर्णय करती है कि जिस नेत्र से यह (विश्वरूप) देख रही हूँ वह नेत्र भी मेरे नहीं है। क्योंकि यदि नेत्र मेरे होते तो ज्योतिष्क में स्थित पदार्थ जो अब मैंने देखे हैं वे मैं पहले भी देखती ? पहले तो कभी भी देखे नहीं। अतः मुझे (मेरे नेत्रों में) सामर्थ्य देकर आपने ही अपने में विद्यमान विश्वरूप का दर्शन अपने माहात्म्य ज्ञान कराने के लिये कराया है। इस लीला से मुझे इस बालक के माहात्म्य का पूर्ण ज्ञान हो गया है। अतः इसके चरणों में प्रणाम करती हूँ। प्रणाम करना ही सच्चा उपदेश एवं शिक्षा है। यही शास्त्रों का तत्त्व है ॥ ४१ ॥

१-उत्कृष्ट, बढ़िया।

२-जो देखा न जाय।

३-भाग्य।

४-आगे पीछे।

**आभास —** प्रणतायाः प्रार्थनामाहाहमिति ।

**आभासार्थ —** यशोदा ने भगवान् को प्रणाम करने के अनन्तर जो प्रार्थना की उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः—** अहं ममासौ पतिरेष मे सुतो ब्रजेश्वरस्याखिलवित्तपा सती ।

गोप्यश्च गोपाः सहगोधनाश्च मे यन्माययेत्थं कुमतिः स मे गतिः ॥ ४२ ॥

**श्लोकार्थ —** यह मैं हूँ, यह मेरा पति है, यह मेरा बेटा है, ब्रजेश्वर (नन्द) के धन की रक्षा करने वाली पतिव्रता मैं हूँ, गोपियाँ, गोप और गोधन ये सब मेरे हैं । इस प्रकार जिसकी माया से मेरी ऐसी कुबुद्धि हुई है, वह मेरी गति हो ।

**सुबोधिनी —** सर्वापि दुर्बुद्धिर्भगवत्प्रणताया गच्छतीति दुर्बुद्धीर्गणयति, आदावहं यशोदेति ममासौ नन्दः पतिरित्येष भगवान् विश्वाधारे मे सुत इत्यहं पुनर्ब्रजेश्वर-स्याखिलवित्तपा सती पतिव्रता चेति, नन्दस्य ब्रजेश्वरत्वं तत्पत्नीत्वं च स्वस्य ततस्तस्य धनसम्बन्धस्तद्वशकत्वं च स्वस्य तदपि सामस्त्येनोभयत्र, तत्रापि पातिव्रत्यं भगवानपि परुरुष इति तदभजनं च, अतः "स्त्रीणां पतिरेव विष्णु" रिति च, एता गोप्यो गोपपार्याः स्त्रियोस्मदीयाश्चेति, चकारणं तद्भक्तकास्तत्सम्बन्धश्च तथा गोपा सहगोधनाः स्वपरिकर-सहिता गोष्ठसहितैस्ते सर्वे मे यन्माययेत्थं कुमतिरहं स मे गतिरस्तु, अहमिति चतुर्विधोऽध्यासो जातिलिङ्गकुल-देहभेदेन, भवेतिशतप्रकारः पतिपुत्रधनगोपगोपीगवां षड्विधाना-मनेकप्रकारत्वात् इत्यहं कुबुद्धिर्यन्मायया म आत्मनो जीवरूपस्य ब्रह्मरूपस्य वा कुत्सिता चासौ भतिश्च, तदीया माया हि तेनैव निवर्त्या, बुद्धिप्रकारः सर्वे मायाया एवेति न तैः स्वकार्यसिद्धिः, मायातिरिक्तस्त्वहमेव मायानोह-विषयत्वात् पृथक्तया पुनर्म इतिवचनं मायासम्बन्धव्युदासार्थं सम्बद्धस्यैव गतित्वाभावात्, गतिरत्र प्राप्यस्वरूपं फलं, एवमुपालम्भार्थं प्रवृत्ता शरणं गता जाता ॥ ४२ ॥

**व्याख्यार्थ —** जो भगवान् को प्रणाम करता है उसकी दुर्बुद्धि नष्ट हो जाती है । (यशोदा) ने भगवान् का माहात्म्य देखा, जिससे उसको कृष्ण के स्वरूप का ज्ञान हो गया । ज्ञान उत्पन्न होते ही यशोदा ने प्रणाम किया । प्रणाम करने से यशोदा को अपनी दुर्बुद्धि के दोषों की स्फूर्ति हुई । उनकी गणना करती हुई प्रार्थना करती है कि वह मेरी गति हो ।

यशोदा दुर्बुद्धि की गणना करती है । जीव में अहन्ता और ममता ही दुर्बुद्धि है । पहले अहन्ता होती है पीछे ममता उद्भव<sup>१</sup> होने लगती है अतः यशोदा पहले अहन्ता रूप दुर्बुद्धि को कहती है कि पहली मेरी दुर्बुद्धि यह है कि मैं अपने को आत्मरूप भगवदंश न समझ कर, यह समझती हूँ कि 'मैं यशोदा हूँ' । इस प्रकार अपना अहंभाव प्रकट कर अब ममतास्पद पदार्थों को बताती है कि यह नन्द मेरा पति है, विश्व का आधार भगवान् मेरा पुत्र है और मैं ब्रजरज नन्दराय की

१—पैदा होना, प्रकट होना ।

सारी सम्पत्ति की रक्षा करने वाली सती (पतिव्रता) हूँ। इस वाक्य में तीन बात बताई है - (१) नन्द (मेरा पति) ब्रज का राजा है (२) मैं उसकी स्त्री (रानी) हूँ इसलिये उसके धनकी रक्षिका सम्पूर्ण रीति से मैं हूँ और मुझ में विशेष गुण यह है, कि पूर्ण पतिव्रता हूँ इसलिये मेरे लिये भगवान् भी पर पुरुष होने से अभजनीय है, क्योंकि शास्त्रों में कहा है कि 'स्त्रीणां पतिरेव विष्णुः' स्त्रियों का पति ही विष्णु है। ये गोप भार्याएँ, गोप और उनके बालक एवं गौधन आदि जो हैं वे सब हमारे हैं। इस प्रकार की कुमति जिसकी माया से भुझे हुई है वह मेरी गति हो, अर्थात् मेरा आसरा हो।

यशोदा ने पहले 'अहं' मैं कहने से चार प्रकार का 'जाति, लिंग, कुल और देह' भेद से अपना अहङ्कार रूप अध्यास प्रकट किया। पीछे 'मम' (मेरे) सैकड़ों प्रकार से ममता प्रकट की। पति, पुत्र, धन, गोप, गोपी, गौ आदि इन छः के भी उत्तम, अधम धर्मों से अनेक प्रकार हैं। ऐसी अहन्ता, ममता रूप कुबुद्धिवाली मैं जिस माया से अपनी आत्मा के (जीव वा ब्रह्मरूप) रूपको भूल गई हूँ। उस माया को वह (भगवान्) ही निवृत्त कर सकते हैं। यदि कोई कहे के अपनी बुद्धि से माया को निवृत्त करे, बुद्धि के भी अनेक प्रकार हैं। उसके उत्तर में यशोदा कहती है कि बुद्धि के जितने भी प्रकार हैं वे स्वयं माया के ही खेल हैं। इनसे माया मिटाई नहीं जा सकती है। इस प्रकार बुद्धि बल से मेरी बुद्धि की निवृत्ति नहीं होगी।

श्लोक के उत्तरार्ध (दूसरे अर्थ) में 'मे' शब्द दो स्थानों पर है। एक का सम्बन्ध कुमति के साथ है दूसरे का 'गति' शब्द से है। दोनों के आशय को आचार्यश्री बताते हैं कि जो 'मे' शब्द कुमति के सम्बन्ध रखता है, उसका भाव है कि माया भिन्न है, मैं (जीव) भिन्न हूँ, इसलिये माया के मोह का विषय 'मैं' बनती हूँ अर्थात् मायाधीन होने से संसारसक्त हो जाती हूँ। दूसरे 'मे' का सम्बन्ध गति पद से है। उसका तात्पर्य है कि जिस जीव का माया से सम्बन्ध नहीं है वह जीव ही 'गति' पा सकता है अर्थात् फल प्राप्त कर सकता है। यशोदा की नमन करने से दुर्बुद्धि गई इसलिये माया का सम्बन्ध ढीला हुआ जिससे फल के लिये प्रार्थना करने लगी। इस प्रकार जो यशोदा आई तो थी भगवान् को उपालम्भ देने के लिये परन्तु ले ली भगवान् की शरण ॥ ४२ ॥

**आभास —** एवं ज्ञाने जाते भक्तिसुखं न प्राप्स्यतीति भक्त्यानन्दस्य ब्रह्मानन्दापेक्षया महत्त्वाद् भक्तार्थं दैव्या मायया मोहितवानित्याहेत्यभितित्रिभिः ।

**आभासार्थ —** श्रीकृष्ण ने जब देख लिया कि यशोदा को मेरे ईश्वर एवं रूप का ज्ञान हो गया है, इससे अब यह भक्ति (वात्सल्य स्नेह का आनन्द) का रस न ले सकेगी। ब्रह्मानन्द से भक्ति में विशेष आनन्द है। तब भगवान् ने भक्तिहितार्थ उसमें अपनी वैष्णवी माया से ज्ञान

को तिरोहित कर, भक्ति उत्पन्न करने के लिये मोह (स्नेह) उत्पन्न किया। भगवान् ने मोह (स्नेह) उत्पन्न कर, यह बताया कि यशोदा अब भक्त है माता नहीं। अब भक्ति प्रकरण प्रारम्भ होता है, जिसका वर्णन तीन श्लोकों से करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — इत्थं विदिततत्त्वाया गोपिकायाः स ईश्वरः ।

वैष्णवी व्यतनोन्मायां प्रजास्नेहमयीं विभुः ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ — इस प्रकार सर्व समर्थ उस ईश्वर ने जब देखा कि इसको मेरे स्वरूप का ज्ञान हो गया है, तब उसने प्रजावात्सल्य उत्पन्न करने वाली, आधिदैविक माया फैलादी।

सुबोधिनी — एवं पूर्वोक्तप्रकारेण विदितं तत्त्वं यथा तत्त्वज्ञानानन्तरं तस्या मातृत्वाभावाद् गोपिकाया इत्युक्तं, ननु भगवान् ज्ञानं कुतो न नाशितवान् तत्राह स इति, स निरोधकर्ता, ननु नाशनीये ज्ञाने किमर्थमुत्पादितवान् वा किमर्थं नाशितवानित्युभयाभिप्राये ज्ञातव्य इति चेत् तत्राहेश्वर इति, स हि कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थोन्यथा च करोति, अतो नात्रोपपत्तिरन्वेष्टव्या, वैष्णवीमाधिदैविकी स्नेहसम्बन्धिनी निरोधोपयोगिनी विशेषेणातनोद्, विहितस्नेहभावव्युदासार्थमाह प्रजास्नेहमयीमिति, यावदात्मीयतया परमस्नेहे स उत्पद्यते न तावदीश्वरभावेन भयज्ञानस्य स्नेहप्रतिबन्धकत्वाद्वा च लौकिकत्वेऽपि प्रजारूपेण स्नेह उचितो नान्यथेत्यनन्तविधासु मायासु प्रजास्नेहमयीमेव व्यतनोत्, ननु विरोधिज्ञानस्य जातत्वात् कथं प्रजाबुद्धिर्भगवति भविष्यतीत्याशङ्क्या विभुरिति, स हि सर्वसमर्थः एकस्मिन्नेव वस्तुनि कोटिधा-बुद्ध्युत्पादनसमर्थः, अन्यथा पूर्वविरुद्धधर्मा उत्तरत्र न भवेयुः ॥ ४३ ॥

व्याख्यानार्थ — इस प्रकार यशोदा ने जब तत्त्व जान लिया और वह भगवान् के शरण में आ गई, तब वह माता यशोदा नहीं रही। इसलिये श्लोक में न यशोदा का नाम दिया है और न माता ही कही है किन्तु 'गोपिका' कहा गया है। भगवान् ने यशोदा पर अपनी निरोधोपयोगिनी प्रजास्नेहमयी वैष्णवी माया फैलाई, जिससे उसका ईश्वरीय ज्ञान जाता रहा और उसमें यह पूर्ववत्<sup>१</sup> श्रीकृष्ण में पुत्र स्नेह उत्पन्न हो गया। भगवान् ने यशोदा को जो तत्त्व ज्ञान हुआ था उसे नष्ट क्यों किया? इस शङ्का के निवृत्त्यर्थ<sup>२</sup> श्लोक में 'स' (वह) शब्द दिया है। जिसका तात्पर्य है कि भगवान् निरोधकर्ता हैं, अर्थात् निरोध करने के लिये प्रकट हुए हैं, यदि ज्ञान का तिरोभाव न करें, तो यशोदा का निरोध सिद्ध न होता। अच्छा, यदि ज्ञान होता तो निरोध सिद्ध नहीं होता, तो पहले ज्ञान उत्पन्न ही क्यों किया? ज्ञान देकर पुनः खेंच लेना, यह क्या? इन

१-पहले की तरह।

२-दूर करने के लिये।

दोनों का रहस्य जताने के लिए श्लोक में कृष्ण को 'ईश्वरः' कहा है, वह करने के लिये न करने के लिए और अन्यथा करने के लिए समर्थ है। तात्पर्य यह है कि चाहे जैसे वे कर सकते हैं, अतः इस विषय के लिये किसी प्रकार के उपपत्ति<sup>१</sup> की खोज नहीं करनी चाहिये।

यह माया, शास्त्र मर्यादा के बन्धन में बद्ध<sup>२</sup> स्नेह उत्पन्न करने वाला नहीं है। इसे बताने के लिये टीका में 'प्रजास्नेहमयी' पद दिया है। स्वत्व न होने विशेष निर्बन्ध स्नेह उत्पन्न होता है और उस स्नेह से, जो रस प्राप्त होता है वह रस 'ईश्वर' जानकर प्रेम करने से नहीं होता। कारण कि ईश्वर भाव के समय तो भय और ज्ञान रहते हैं वे दोनों ही उस निर्बाध<sup>३</sup> आनन्द के प्रतिबन्धक<sup>४</sup> हैं। लौकिक प्रेम में भी, जो प्रजा रूप स्नेह है, वही उत्कृष्ट<sup>५</sup> रस प्रद है। इसलिए भगवान् ने अपनी अनन्त प्रकार की स्नेह उत्पन्न करने वाली मायाओं के रहते हुए भी केवल 'प्रजास्नेहमयी' माया ही फैलाई।

अब यशोदा को, कृष्ण में जब ईश्वरत्व बुद्धि हो गई है, तब 'यह मेरा पुत्र है' ऐसी विपरीत बुद्धि कैसे होगी? एक ही पदार्थ में भिन्न भिन्न बुद्धि किसी की भी नहीं हो सकती है। इस शंका को मिटाने के लिये 'श्लोक' में कृष्ण का नाम 'विभुः' दिया है जिसका अर्थ है कि वह सर्वकरण समर्थ है अर्थात् एक ही वस्तु में कोटि - कोटि प्रकार की बुद्धि उत्पन्न कर सकता है, जिससे द्रष्टा एक ही वस्तु को भिन्न भिन्न प्रकार से देख सकता है। ऐसी अनेक सामर्थ्य वाले भगवान् न होवें तो किसी भी वस्तु में पहले कहे वा देखे हुए धर्म बदल कर दूसरे देखने में न आवे। यह सर्व भगवान् की अनन्त सामर्थ्य है जैसे कि घट पहले जब कच्चा होता है तब वह श्याम दीखता है, पक जाने पर लाल दिखाई देता है ॥ ४३ ॥

**कारिका — प्रक्षिप्ता जालवन् माया तया ज्ञानं विनाशितम् ।**

**प्रमाणानां बलं दग्ध्वा मोहयामास गोपिकाम् ॥ १ ॥**

**कारिकार्थ —** इस कारिका में आचार्यश्री ने प्रथम पाद में ४३ वें श्लोक में कहे हुए माया फैलाने के भाव बताए हैं कि भगवान् ने जाल की तरह माया फैलाई है। द्वितीय पाद में ४४ वें श्लोक में कहे हुए ज्ञान - नाश का आशय कहा है कि भगवान् की माया फैलने से यशोदा की स्मृति नष्ट हो गई। श्लोक के उत्तरार्द्ध में ४५ वें श्लोक में कहे हुए अर्थ का तात्पर्य बताया है कि जिस हरि के वेद आदि शास्त्र गुण-गान करते हैं उसको यशोदा ने अपना पुत्र समझकर उस में स्नेह कर लिया है।

१ - कारण सहित निर्णय।

२ - बंधा हुआ।

३ - बाधा रहित।

४ - रुकावट डालने वाले।

५ - बहुत अच्छा या बढ़िया।

**आभास —** मायामोह ज्ञानं नष्टमित्याह सद्य इति ।

**आभासार्थ —** भगवान् की माया से उत्पन्न मोह के कारण यशोदा का ज्ञान जाता रहा और कृष्ण में पुत्र - भाव युक्त हृदयवती हो गई । यह वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक:—** सद्यो नष्टस्मृतिर्गोपी सारोप्यारोहमात्मजम् ।

प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदयासीद् यथा पुरा ॥ ४४ ॥

**श्लोकार्थ —** भगवान की दैवी माया फैलते ही उसी क्षण में गोपी (यशोदा) उत्पन्न हुए, उस तत्त्व ज्ञान को भूल गई और पुत्र को गोद में पधराकर, अत्यन्त बड़े हुए गहन स्नेह युक्त हृदय वाली पहले के समान पुत्र भाव वाली हुई ।

**सुबोधिनी —** तदानीमेव नष्ट स्मृतिर्यस्याः, अत्र भगवन्मनुष्यभवंस्मरणयोर्मध्ये न संस्कारेभ्यः स्मृतिमेव जनयति, यथेन्द्रियसंयोग उत्तरोत्तरमनुभवोद्बोधकस्तथा स्मृतिरपि केनचिद् बोध्यते नाशयते च, निरन्तरनाशोत्पत्तौ अप्रामाणिके वेदविरुद्धे, विवेकेन ज्ञानोद्बोधनमाशङ्क्याह गोपीति, तत्रापि सारोहमङ्गस्थानं भगवन्तमारोप्य प्रवृद्धस्नेहकलिलहृदया सति पूर्ववदेवासीत्, बहिर्व्यापारोपि ज्ञानसाध्य आरोपणात् पूर्ववत्

कृतः स्नेहोप्यान्तरः, ज्ञानानन्तरमान्तरः स्नेहोन्यथा भविष्यतोत्पाशङ्क्य प्रवृद्धस्नेहेन कलिलं हृदयमित्युक्तं, न हि बिहितस्नेहे हृदये कलिलता भवति, कलिलमत्र पङ्क्तिमिव मोहसहितः स्नेहस्तादृशमेव हृदयं जातमिति कालान्तरेपि न कलिलनिवृत्तिः, पूर्वावस्थापरित्यागे मायया भक्तत्वमेव स्यात् न तु निरोध इति यथा पुरेत्युक्तम् ॥ ४४ ॥

**व्याख्यानार्थ —** उसी समय में यशोदा उस ज्ञान को भूल गई । जिस समय, हम पदार्थों को देखते हैं, उस समय हमारे मस्तिष्क में उनके संस्कार उत्पन्न होते हैं । जब हम पदार्थों का देखना बन्द करते हैं, तब वे उत्पन्न संस्कार मस्तिष्क में हि स्थिर हो जाते हैं । वे संस्कार किसी समय उद्धृत<sup>१</sup> होते हैं । उन उद्धृत संस्कारों को स्मृति<sup>२</sup> कहते हैं । वह स्मृति कुछ काल के पश्चात् नष्ट हो जाती है । इस प्रकार अनुभव से उत्पन्न संस्कारों द्वारा हुई स्मृति का थोड़े समय में नष्ट होना तो बन सकता है; किन्तु पदार्थों का देखना बन्द हुआ, साथ में स्मृति भी नष्ट हुई, यह युक्तियुक्त नहीं है ? आचार्यश्री इस शङ्का का निवारण भगवान् के मतानुसार करते हैं कि अनुभव ( पदार्थों के देखने) और स्मृति (देखे हुए पदार्थों के स्मरण) के मध्य में किसी प्रकार के मस्तिष्क में संस्कार उत्पन्न नहीं होते हैं । अनुभव ही स्मृति को उत्पन्न करता है । जिस प्रकार पदार्थ और इन्द्रियों का संयोग उत्तरोत्तर अनुभव का उद्बोधक<sup>३</sup> है वैसे ही स्मृति भी किससे उत्पन्न होती है और किससे नष्ट होती है । वेद विरुद्ध मत वालों का यह सिद्धान्त है कि पदार्थों के निरन्तर, नाश और उत्पत्ति होते रहते हैं, वह प्रामाणिक नहीं है । यशोदा को माया से स्मृति नष्ट हुई ।



तो तत्त्व ज्ञान स्वतः नष्ट हुआ, किन्तु यशोदा को विवेक से फिर तत्त्व ज्ञान जाग्रत हो गया हो, तो इस शंका के मिटाने के लिये ही शुकदेवजी ने यशोदा का जाति स्वभाव प्रकट करने के लिये उसको 'गोपी' (गोप की स्त्री) कहा है। गोप, पशु-पालक होने से विवेकहीन होते हैं, उनकी स्त्रियाँ भी वैसे ही होने से यशोदा को पुनः तत्त्वज्ञान जाग्रत नहीं हुआ, एक तो इस कारण से उसके हृदय में तत्त्वज्ञान जाग्रत नहीं हुआ, फिर दूसरा कारण यह भी था कि यशोदा ने पुत्र भाव से कृष्ण को गोद में पधराया, जिससे उसका हृदय बढे हुए गहन स्नेह से ऐसा भर गया जो उस हृदय में विवेक आदि को आने का स्थान ही नहीं था क्योंकि वह पहले की तरह लौकिक स्नेह संयुक्त हो गई थी।

भगवान् को गोद में लेकर भी बाहर का कार्य जो ज्ञान साध्य (समझ से सिद्ध होता है) है, वह पहले की तरह सावधानता से करने लगी। क्योंकि स्नेह तो आन्तरिक (भीतरी) था। अर्थात् दिखावटी (दूसरों को दिखाने के लिये) नहीं था, वह स्नेह प्रकट न हो, इसलिए बाहर का कार्य लौकिक ज्ञान पूर्वक करती थी। ज्ञान होने के कारण आन्तरिक स्नेह बदल जाएगा? (मिट जायगा वा कम हो जाएगा) इस शङ्का के मिटाने के लिए ही कहा गया है कि यशोदा का हृदय कीचड़ के समान मोह सहित, स्नेह से ऐसा भर गया था जो उस हृदय से बहुत समय के पीछे भी वह गहन चिकना स्नेह रसायन निकल नहीं सकता; कैसे भी मिट नहीं सकता है। ऐसा गहन पङ्क्ति स्नेह मर्यादा भक्ति में नहीं होता है।

यदि पूर्ववत् जो कृष्ण में अविहित<sup>१</sup> स्नेह था उसे यशोदा छोड़ देती तो माया से उसमें भक्ति तो आ जाती और वह साधारण भक्त हो जाती, किन्तु भगवान् यशोदा का जो निरोध करना चाहते हैं वह निरोध न होता, इसलिए 'यथा-पुरे' जैसे आगे लौकिक प्रेम था वैसे ही किया ऐसा श्लोक में लिखा है ॥ ४४ ॥

**आभास —** अतःपरं प्रमाणान्तरेणापि न स्मृत्युद्धोद इत्याह त्रय्येति ।

**आभासार्थ —** भगवान् की वैष्णवी माया से जो यशोदा के विश्वरूप दर्शन की स्मृति का नाश हुआ वह स्मृति दूसरे प्रमाणों से भी फिर उत्पन्न नहीं हुई। उसका इस श्लोक में प्रतिपादन करते हैं।

**श्लोक: —** त्रय्या चोपनिषद्भिश्च साङ्ख्ययोगैश्च सात्त्वतैः ।

उपगीयमानमाहात्म्यं हरिं सामन्यतात्मजम् ॥ ४५ ॥

<sup>१</sup>—लौकिक जैसा ।

**श्लोकार्थ —** तीनों वेद, उपनिषद्, साङ्ख्य, योग और सात्वत<sup>१</sup> शास्त्र, जिसके माहात्म्य का गान करते हैं उस हरि को वह अपना पुत्र मानने लगी ।

**सुबोधिनी —** त्रयी वेदत्रयी, तत्र क्रियाशक्तेः भगवन्माहात्म्यनिरूपणमेव, तथा सात्वतवैष्णवतन्त्रैरपि, वेदस्य प्रतिपादितत्वाद् भगवन्माहात्म्यप्रतिपादकत्वं, उपनिषत्स्वपि द्विरूपत्वात्, षड्दर्शनैरप्युपगीयमानमाहात्म्यो भगवांस्तद्दर्शनं ब्रह्मप्रतिपादनाद् भगवत्ज्ञानशक्तिप्रतिपादनं, साङ्ख्येयपि तावन्ति प्रमाणानि श्रुत्वापि हरिमात्मजमेव सामान्यतः, अतो भक्तौ प्रतिष्ठिताविहितायां पुत्रभावेन ॥ ४५ ॥  
नित्यानित्यवस्तुविशेषको भगवत्सम्बन्धतद्वाहित्वभेदेनैव, योगेपि भक्तौ प्रतिष्ठिताविहितायां पुत्रभावेन ॥ ४५ ॥  
निश्चिन्ततया भगवच्चिन्तनं, चकारात् पशुपतिमतेपि

**व्याख्यार्थ —** तीन वेद (यजुर्वेद, ऋग्वेद और सामवेद) भगवान् की क्रिया शक्ति का प्रतिपादन करते हुए भगवान् के माहात्म्य को समझाते हैं । उपनिषदों में ब्रह्मस्वरूप के प्रतिपादन से ज्ञान शक्ति को बताया गया है । साङ्ख्य शास्त्र में, नित्य पदार्थ और अनित्य पदार्थों के विवेक का वर्णन है । किन्तु साङ्ख्य शास्त्र के दो भेद हैं, १ - ईश्वर को मानने वाले, २ - ईश्वर को न मानने वाले । योग शास्त्र भी निश्चित बनकर भगवान् के चिन्तन का उपदेश देता है । श्लोक में 'च' अक्षर से आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि 'च' अक्षर से यह आशय है कि 'पशुपतिमत' में भी भगवान् के माहात्म्य का निरूपण ही है, वैसे वैष्णव तन्त्रों (नारद पञ्च रात्र आदि) से भी भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान वर्णित हुआ है । वेद के 'मन्त्र' और 'ब्राह्मण' दो भाग हैं और नित्य एवं काम्य दो प्रकार के कर्मों का प्रतिपादन करने से भी वेद के दो भाग कहे जाते हैं । षड्दर्शन शास्त्रों में भी भगवान् के माहात्म्य का वर्णन है । भगवान् ऐसे माहात्म्य वाले हैं । इस प्रकार के इतने प्रमाण सुनकर भी यशोदा को पुनः स्मृति न हुई और भगवान् को अपना पुत्र ही मानने लगी, अतः पुत्र भाव के कारण उसकी भक्ति केवल शुद्ध स्नेहमयी लौकिक मानी गई है न कि शास्त्रविहित भक्ति मानी गई ॥ ४५ ॥

**आभास —** एतस्या एतावत्त्वं कथं न त्वन्यासामिति शङ्कां परिहरन् महापुरुषकृपामाह सप्तभिः ।

**आभासार्थ —** यशोदा को इतना उत्तम फल किस कर्म से हुआ ? अन्य गोपियों को ऐसा उत्कृष्ट फल क्यों नहीं मिला है ? इस प्रकार की शंका मिटते हुए कहते हैं कि यशोदाजी पर महापुरुषों की कृपा हुई है । इसका वर्णन निम्न सात श्लोकों में करते हैं ।

॥ राजोवाच ॥

**श्लोकः —** नन्दः किमकरोद् ब्रह्मञ्छ्रेय एवम्महोदयम् ।

यशोदा च महाभागा पपौ यस्याः स्तनं हरिः ॥ ४६ ॥

**श्लोकार्थ —** इस श्लोक में राजा परीक्षित ने श्रीशुकदेवजी से दो प्रश्न किये । हे ब्रह्मन् ! (१) श्री नन्दजी ने ऐसा कौनसा उत्कृष्ट कर्म किया जिससे इस प्रकार का महाफल उनको मिला, और (२) महाभाग्यवती यशोदा ने वैसा कौनसा श्रेष्ठ साधन किया जिससे उसका स्तनपान हरि ने किया ।

**सुबोधिनी —** नन्दः किमकरोदितिप्रश्नद्वयेन प्रश्नो यशोदा चेति, नन्दपेक्षयापि निरन्तरसम्बन्धान्महाभागा, कर्मव्युदासस्य वक्तव्यत्वात्, ब्रह्मत्रितिसम्बोधनं ज्ञानार्थं, किञ्च यस्याः स्तनं सर्वदुःखहर्तापि पपौ, सा हि जानाति क्षुन्नितृप्त्यर्थं भगवान् पिबतीति, अतो "हरेरपि" सा "हरि" धर्मरूपं, लोकवेदयोःप्रसिद्धत्वात् प्रश्नः, प्रसिद्धार्थमेवा- रित्युक्तं भवति, बालकतोषपक्षेपि तदोपस्तन्वेनैव हैवम्होदयमिति, एवम्भगवानुदयोच्युदयो भगवान् पुत्र इति तथाकरणादुत्कर्षः ॥ ४६ ॥  
यस्य श्रेयसः भिन्नतया यशोदाया अपि निरूपणाद् भिन्नतया

**व्याख्यानार्थ —** राजा परीक्षित ने शुकदेवजी से दो श्लोकों में प्रश्न किए हैं और शुकदेवजी ने पाँच श्लोकों में उत्तर दिया है । उसका आशय (भाव) प्रकट करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि वह उत्तर पाँच श्लोकों में इसलिये है कि कर्म पाँच प्रकार के हैं -

१ - अग्निहोत्र, २ - दर्श पौर्णमास - ३ - चातुर्मास्य, ४ - पशु और ५ - सोम ।

इन पाँचों प्रकार के कर्मों का यह फल नहीं है । यह महापुरुष की कृपा का फल है । शुकदेवजी को ब्रह्मन् ! संबोधन देकर परीक्षित ने यह बताया कि आप ब्रह्मरूप होने से सब कुछ जानते हैं अतः इसका भी आपको अवश्य ज्ञान होगा । पहले नन्द विषयक प्रश्न इसलिये किया गया है कि नन्दजी का नाम प्रकरण में पहले ही निरोध कहा गया है (हो गया है) । नन्दजी ने कौनसा धर्मरूप 'श्रेय' कर्म किया है । मैं इसलिये पूछता हूँ कि लोक और वेद में नन्दजी के उस धर्म की प्रसिद्धि नहीं है । कर्म तो प्रसिद्ध नहीं है । किन्तु इतना महान् अभ्युदय (भगवान्) पुत्र हुए हैं । इससे अनुमान होता है कि नन्दजी ने कोई उत्कृष्ट कर्म अवश्य किया होगा । उसको मैं जानना चाहता हूँ । यशोदा का भी निरूपण होने से उसके लिये पृथक् प्रश्न किया है । और यशोदा ने कौनसा 'श्रेय' साधन किया ? विशेष में यशोदा को 'महाभागा' (बड़ भागिन) कहकर यह बताया है कि यशोदा का नन्द से भी अधिक निरन्तर सम्बन्ध रहता है एवं नन्द से अन्य विशेषता यशोदा की यह है कि भगवान् जो स्वयं सर्व दुःख हर्ता होने से 'हरि' कहलाते हैं उनका क्षुधारूप दुःख मिटाकर 'हरि' की भी यशोदा 'हरि' बनी है । भगवान् को तो क्षुधा लगती ही नहीं है । भगवान् ने यशोदा का स्तनपान बालकों के सन्तोषार्थ किया । यदि यह पक्ष लिया जाय, तो भी यशोदा का उत्कर्ष हुआ क्योंकि भगवान् ने यशोदा के स्तन पान कर बालकों का सन्तोष किया । (भूख मिटाई) ॥ ४६ ॥

आभास — ननु प्रसिद्धमेव तत्सुकृतं यथा वसुदेवेन कृतमिति चेत् तत्राह पितरविति ।

आभासार्थ — जिस प्रकार वसुदेवजी के किए हुए सुकृत प्रसिद्ध हैं वैसे ही उनके भी प्रसिद्ध हैं । यदि यों है तो भी निम्न श्लोक में वसुदेव और नन्द विषयक आनन्द का भेद बताकर नन्द के श्रेय का प्रश्न उपस्थित करते हैं ।

श्लोकः — पितरौ नान्वविन्देतां कृष्णोदारार्थके हितम् ।

गायन्त्यद्यापि कवयो यल्लोकस्य मलापहम् ॥ ४७ ॥

श्लोकार्थ — श्रीकृष्ण के उदार बाल चरित्र, लोक के मलों को, नष्ट करने वाले हैं, जिनको कविलोग आज भी गाते रहते हैं । उदार बाल - चरित्रों का आनन्द, मातापिता को पश्चात् भी न मिला ।

सुबोधिनी — यद्यपि पितरौ जातौ तथापि तादृश आनन्दो नानुभूतो यादृश एताभ्यामनुभूतस्तदाह नान्वविन्देतामिति, एतदनन्तरापि नान्विन्देतां, अग्रेन्यथैव करणात्, अयं महानानन्द इति, ज्ञापयति कृष्णोदारार्थके हितमिति, कृष्णस्यार्थके हितं बालचेष्टितं, अनधिकारिणोपि सर्वपुरुषार्थदानादुदारं साधनफलं हीनं तत्रापि लौकिकं साध्यफलादप्यधिकः परमानन्दः स चेत् साध्यस्वर्गादिसाधनं तदा पशुपुत्रादिजन्यमलौकिकं सुखं लौकिकं च तादृशमेव, तत्र साधनोत्कर्षे साध्योत्कर्षो दृष्टो लोके यथोत्तमैः सूत्रैरुत्तमः पटो यथोत्तमशर्करया भक्ष्यमिति, यत्र परमानन्द एव प्रथम

कक्षा तेन साध्यं लौकिकं लौकिकवत्ततोप्यधिकं ततोप्यलौकिकं दिव्यपुत्रपक्षादिरूपं ततोपि स्वर्गादिस्तदिदमुक्तं कृष्णः परमानन्दः स चार्थकस्तस्य च लीला साप्युदरेति साक्षाल्लीला परमदुर्लभेति किं वक्तव्यम् ? यतः शब्दतोपि श्रुता परमानन्दं जनयतीत्याह गायन्त इति, अद्यापि व्यासादयः शब्दरसभिज्ञा निर्दुष्टशब्दार्थवक्तारो रसवद्भक्तारो वा तेन रसेन मत्ता गायन्ति, अद्यापीति कालविलम्बेपि तद्रसानुवृत्तिः सूचिता, किञ्च यच्च चरित्रं लोकस्य मलं दूरीकरोति, अतो दोषनिवर्तकं गुणाधायकं च श्रुतमपि भवति तत्र साक्षात्तादृशभोक्तृणां किं भाग्यं वक्तव्यमित्यर्थः ॥ ४७ ॥

व्याख्यार्थ — यद्यपि वसुदेव और देवकी पिता एवं माता बने, किन्तु जैसा कृष्ण चरित्रों के आनन्द का अनुभव, नन्द और यशोदा ने किया वैसा आनन्द वसुदेव को प्राप्त न हुआ । इसके अनन्तर (मधुर में जाने पर) भी उस आनन्द को माता-पिता (वसुदेव, देवकी) न पा सके, कारण कि यहाँ भगवान् ने व्रज के समान रस-प्रद एवं उदार लीलाएँ नहीं की थीं । अन्य प्रकार की ही लीलाएँ की हैं । व्रज का यह आनन्द महान् आनन्द है । उसको बताने के लिये मूल श्लोक में 'कृष्णोदारार्थके हितम्' वाक्य दिया है । श्रीकृष्ण के बालचरित्र उदार हैं उतने अन्य चरित्र उदार नहीं हैं । अतः उनमें जो महान् आनन्द है वह और उन बाल - चरित्रों में उदारता भी सकल चरित्रों से विशिष्ट है क्योंकि उस उदारता से अनधिकारियों को भी, सर्व पुरुषार्थों का दान प्राप्त हुआ है । वेद प्रोक्त साधन रूप कर्मों से लौकिक फल मिलता है वह हीन फल है । साधनों से जो फल मिलता है उस फल से उत्तम फल 'परमानन्द' (कृष्ण) है । जैसे कि लोक में-

(१) धर्म-कर्मरूप है, (२) अर्थ-पशु आदि रूप है, (३) काम-स्वर्गरूप है और (४) मोक्ष - ब्रह्मभाव रूप है। परमानन्द इस अन्तिम ब्रह्मभाव रूप मोक्ष से भी उत्तम है। जब वह ब्रह्मभाव रूप, मोक्ष से भी उत्कृष्ट परमानन्द रूप (कृष्ण) साध्य<sup>१</sup> स्वर्गादिकों का स्वयं साधन बन जाता है, तब पशु-पुत्रादि से उत्पन्न अलौकिक और लौकिक सुख भी परमानन्द रूप ही हो जाता है। क्योंकि जैसा साधन वैसा फल होता है। यदि साधन उत्तम है, तो फल उत्तम होगा ही। जैसे उत्तम सूत से उत्तम वस्त्र बनते हैं एवं श्रेष्ठ शक्र से श्रेष्ठ मिष्टान बनता है। उस परमानन्द रूप साधन से प्राप्त लौकिक फल भी कर्मादि साधनों से मिले हुए लौकिक फल से अधिक होता है। क्योंकि परमानन्द साधन से प्राप्त लौकिक फल से आनन्द ही आनन्द रहता है। उसमें सांसारिक विषयों की गन्ध भी नहीं रहती है। जब परमानन्द साधन से प्राप्त लौकिक फल ही ऐसा होता है तो उससे मिलने वाले अलौकिक दिव्य पुत्र, पशु आदि उससे अधिक, स्वर्गादि फल में कितना रस का अनुभव होता होगा, वह अकथनीय ही है। भक्ति मार्ग में परमानन्द रूप कृष्ण स्वयं साधन रूप कर्म होने से धर्म है। उसका बालरूप ही 'अर्थ' है एवं उसकी लीला अर्थात् लीला में उपयोगी गौ पुत्र आदि सामग्री ही 'काम' है और कृष्ण के भजनानन्द का अनुभव ही मोक्ष है। कृष्ण जो स्वयं परमानन्द है और वह हि अर्धक बालरूप हुए हैं। एवं उसकी लीला वह भी उदार है। जब यही दुर्लभ है तो साक्षात् लीला के रस भरित व्याख्या का परम दुर्लभ होने में क्या कहना है ?

यह चरित्र केवल शब्द से सुनने पर भी आनन्द देता है। इसलिये अभी तक भी शब्द, रस को पूर्ण रीति से समझने वाले, दोष रहित शब्द के अर्थ के वक्ता व्यासादिक उस रस में मत्त होकर गान करते रहते हैं। इतना काल बीत जाने पर भी वही रस उन लीलाओं के गान करने से प्राप्त हो रहा है और जो चरित्र लोक के मल को दूर करता है, जो चरित्र सुनते ही दोष निवृत्त करने वाला और गुण देने वाला है जबकि उसके सुनने वाले भाग्यशाली हैं तो साक्षात् उस लीला रस के भोग करने वालों के भाग्य की क्या श्लाघा<sup>२</sup> कही जा सकती है ॥ ४७ ॥

**कारिका — अत्र महापुरुषकृपैव कारणमिति ।**

**वक्तुमुपाख्यानमारभते द्रोण इतिपञ्चभिः ॥**

**कारिकार्थ —** नन्द यशोदा के ऐसे महोदय होने के कारण, महत्पुरुषों की कृपा है। उसका वर्णन निम्नोक्त पाँच श्लोकों से उपाख्यान द्वारा करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — द्रोणो वसूनां प्रचरो धरया भार्यया सह ।  
करिष्यमाण आदेशं ब्रह्मणस्तमुवाच ह ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ — धरा नाम वाली, अपनी पत्नी के साथ, ब्रह्मा की आज्ञा का पालन करने वाला, वसु, श्रेष्ठ द्रोण, उसको (ब्रह्मा को) कहने लगा ।

कारिका — प्रार्थना प्रश्नदाने च भक्तिरागमनं हरेः ॥ १ ॥

कारिकार्थ — आचार्यश्री ने इस कारिका में, सातों श्लोको में जो कहा गया है उसका संक्षिप्त में सार बताया है ।

४६ वें ४७ वें श्लोकों में प्रश्न किया गया है, ४८ वें ४९ वें श्लोक में प्रार्थना की गई है, ५० वें श्लोक में वरदान वर्णन है, ५१ वें श्लोक में भक्ति, ५२ वें में हरि के आगमन का वर्णन है । इस प्रकार इस प्रकरण में सात श्लोक हैं ।

सुबोधिनी — पूर्वकल्पेष्टवसुषु द्रोणो नाम कश्चिद्, जाता इति सृष्ट्यर्थमाज्ञापितो भार्यया सह सुहृत्क्षणमादेशं यद्यप्यस्मिन् कल्पे न तस्य भार्या धरा तथापि कल्पान्तरे करिष्यमाणस्तं ब्रह्माणमुवाच, हेत्याश्चर्यं क्व सृष्टिकर्तृत्वं तथेति न विरोधः, तस्मिन् कल्पे वस्वादयो ब्रह्मण एव क्व भक्तिरिति ॥ ४८ ॥

व्याख्यानार्थ — पूर्वकाल में, आठ वसुओं में, एक कोई द्रोण नाम का वसु भी था, जिसकी पत्नी धरा नाम की थी । यद्यपि इस कल्प में उसकी पत्नी धरा नाम वाली न थी तो भी किसी अगले कल्प में धरा नाम वाली पत्नी इसकी हुई थी । इसलिये कोई विरोध नहीं है । उस कल्प में आठ वसु ब्रह्मा से पैदा हुए थे । उनको ब्रह्मा ने सृष्टि करने की आज्ञा दी थी । इस आज्ञानुसार द्रोण, स्त्री सहित सृष्टि करने के आदेश का पालन करने वाला था । उस समय ब्रह्मा को प्रार्थना करने लगा, द्रोण ने ब्रह्मा को जो प्रार्थना की उसका वर्णन नीचे के श्लोक में है, जिसमें द्रोण ने भक्ति मांगी है । इसलिये श्लोक में 'ह' अक्षर दिया है जिसका भाव बताते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि 'ह' देकर शुकदेवजी ने आश्चर्य प्रकट किया है कि द्रोण को आदेश सृष्टि करने का ब्रह्मा ने दिया और वह उस आज्ञा के पालनार्थ तैत्थर हो गया तो भी ब्रह्मा से भगवान् की भक्ति की याचना अचम्भे की बात है । कहाँ सृष्टि का कर्तापन और कहाँ भक्ति को याचना करना ॥ ४८ ॥

आभास — प्रार्थनामेवाह जातयोरिति ।

निम्न श्लोक में द्रोण ने ब्रह्मा से प्रार्थना की उसका वर्णन करते हैं ।

॥ द्रोण उवाच ॥

श्लोकः — जातयोर्नौ महादेवे भुवि विश्वेश्वरे हरौ ।

भक्तिः स्यात् परमा लोके ययाञ्चो दुर्गतिं तरेत् ॥ ४९ ॥

श्लोकार्थ — भूमि पर जन्मे हुए, हम दोनों की विश्व के ईश्वर, सब से उत्कृष्ट देव हरि में, परम — भक्ति होवे, जिससे हम जीव सरलतापूर्वक लोक में पाई हुई, इस दुर्गति से पार पहुँच जाँय ।

सुबोधिनी — भुवि जातयोर्नौवाक्ययोर्ह्ये भक्तिः ब्रह्मा च देवेषु श्रेष्ठस्ततोपि महान् महादेवो भवन् पुरुषोत्तम स्यात्, प्रार्थनायां लिङ् शास्त्रतः साधनैश्च आयमाना एव भवति, स्वतः उत्कर्ष उक्तः, कार्यतोऽप्युत्कर्षमाह विश्वेश्वरे ज्ञानकर्मणोरत्पत्त्वाञ् जीवेषु न परमा भवति, वरप्रसादाल हराविति, सर्वस्यापि सर्वफलदातरि सर्वस्यापि लौकिकानामुत्कर्ष इव भविष्यतीति परमा प्रार्थ्यते, लोकोपकारं सर्वदुःखनिवारके, ततः किं स्यात् ? अत आह ययाञ्चो दृष्टं यत्र कश्चिद् भक्तिर्भवति यथा धातरि तत्र पुरुषार्थरूपं, दुर्गतिं तरेदिति, देहसम्यन्धो दुर्गतिः, अनयासेनतरणं तद्व्यावृत्त्यर्थमाह महादेव इति, यतः परमधिको देवो नास्ति भक्त्यैव, अन्यकृत्तत्त्वाशौकारूढवद् ब्रह्मा पुनः यस्तु देवेषु परमां काष्ठां प्राप्तः स महादेवः, स्वयं वसुः, साधनोपदेशयोरसमर्थः ॥ ४९ ॥

व्याख्यानार्थ — द्रोण ब्रह्मा से प्रार्थना करता है कि धरणी पर जन्म धारण किये हुए, हम दोनों की हरि में भक्ति होवे\* । साधारण भक्ति की याचना न कर 'परमा' उत्तम भक्ति की याचना की । शास्त्र से प्राप्त ज्ञान, अल्प होता है तो उससे प्राप्त भक्ति भी परा<sup>१</sup> नहीं होती है । इस प्रकार कर्म भी अल्प है, उस कर्मरूप साधन से जो भक्ति मिलती है वह परा भक्ति नहीं है । जो भक्ति महापुरुषों के वरदान से, अथवा प्रसाद (कृपा) से प्राप्त होती है, वही भक्ति 'परमा' है । जब महापुरुषों के वरदान वा कृपा से लौकिक पदार्थ भी उत्कृष्ट ही होते हैं तो अवश्य ही भक्ति का भी उत्कर्ष होगा । अतः द्रोण ने ब्रह्मा से 'परमा' भक्ति के लिये प्रार्थना की है ।

लोक में देखा जाता है कि किसी भी देवता की भक्ति से भक्त का उपकार होता ही है । इसलिये किसी भी देव में भक्ति हो जाती है (मनुष्य करते ही हैं) जैसे ब्रह्मा में वह भक्ति पुरुषार्थ रूप नहीं है । द्रोण के मन में यह हुआ कि केवल परमा-भक्ति मांगने से कदाचित् प्रसन्न हुआ ब्रह्मा, किसी देवता की भक्ति प्राप्ति का वरदान दे देवे, तो मेरी मनः कामना निष्फल हो जाएगी । अतः स्पष्ट शब्दों से उस देव की परमा — भक्ति का वरदान मांग लूं जिससे हम संसार

\* यहाँ जो 'स्यात्' पर दिया गया है वह व्याकरणानुसार 'अस्' धातु का विधि (लिङ्) लकार है यह व्याकरण नियमानुसार प्रार्थना के लिये दिया जाता है ।

से पार हो जाय। यह विचार कर ही द्रोण ने सब से उत्कृष्ट देव की परमा-भक्ति मांगते हुए कहा कि 'महादेव' जिस देव से पर अर्थात् श्रेष्ठ देव कोई नहीं है। जो देवों में परम पदधारी है वही 'महादेव' है। द्रोण स्वयं 'वसु' है और ब्रह्मा देवों में श्रेष्ठ है। उससे भी महान् जो महादेव है वह भगवान् पुरुषोत्तम ही है। यह महादेव का उत्कर्ष<sup>१</sup> स्वतः<sup>२</sup> है। अब भगवान् पुरुषोत्तम स्वरूप महादेव का कार्य से उत्कर्ष बताने के लिये 'विश्वेश्वरे' और 'हरौ' दो नाम दिये हैं। 'विश्वेश्वर' नाम से बताया है कि वह विश्वमात्र का ईश्वर होने से सब को सब प्रकार के फल देते हैं और 'हरि' नाम से यह प्रकट किया है कि सब के सर्व प्रकार के दुःख हरण करने वाले हैं। इस प्रकार दो नामों से कार्य द्वारा भगवान् का उत्कर्ष सिद्ध किया गया है। इस कार्य के उत्कर्ष बताने से हम क्या समझें? उस पर कहते हैं कि ऐसे स्वरूप और कार्य से उत्कर्ष वाले की ही परभक्ति से मनुष्य शीघ्र सरलता से इस दुर्गति से छूटकर परमानन्द को प्राप्त करते हैं। आचार्यश्री 'दुर्गति' शब्द को समझाते हैं कि जीव का देह से सम्बन्ध ही जीव की दुर्गति है। कारण कि देह से संबंध होने से ही देहाध्यास होता है जिससे स्वरूप विस्मृति होती है और स्वरूप विस्मृति से अन्य अध्यास एवं अहन्ता ममतात्मक संसार उत्पन्न होता है। जिस कारण से जीव जन्म - मरण के चक्र काटता रहता है। अतः देह सम्बन्ध ही दुर्गति है। इस दुर्गति से तरने का अनायास<sup>३</sup> मार्ग 'भक्ति' ही है। भक्ति मार्ग, अनायास मार्ग कैसे है? इसको आचार्यश्री दृष्टान्त देकर समझाते हैं। जैसे कोई मनुष्य नौका में यदि बैठ जाय तो उसको पार पहुँचने के लिये कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता है क्योंकि नौका को चलाने वाला नाविक नौका को पार ले जाने का परिश्रम स्वयं करता है। उसी प्रकार जो भगवान् की भक्तिरूप नाव में बैठ जाता है, उसको उसका फिर अन्य कुछ भी नहीं करना पड़ता। उसका खेवट, स्वयं हरि उसको पार पहुँचाता है। द्रोण की प्रार्थना सुनकर ब्रह्मा के निम्न श्लोक में 'तथाऽस्तु' (वैसा ही हो) इतने ही वचनों का उल्लेख है। इस पर आचार्यश्री कहते हैं कि ब्रह्मा भक्ति के साधन बताने और उपदेश देने में असमर्थ थे, इसलिये ब्रह्मा ने केवल 'तथाऽस्तु' कहा जिसका आशय है कि आप जो भगवान् में 'परमाभक्ति' चाहते हो वह 'भगवत्कृपा' से आपको प्राप्त हो ॥ ४९ ॥

श्लोकः — अस्त्वित्युक्तः स एवेह ब्रजे द्रोणो महायशः ।

जज्ञे नन्द इति ख्यातो यशोदा सा घराभवत् ॥ ५० ॥

श्लोकार्थ — ब्रह्मा ने विशेष न कहकर केवल 'अस्तु' इतना ही कहा, वह ही महायशस्वी द्रोण ब्रज में उत्पन्न हुआ और नन्द नाम से प्रख्यात हुआ तथा वह धर यशोदा हुई।



सुबोधिनी — ब्रह्मावाक्यं न मृषा भवतीति भगवत्प्र- भगवानानन्दोयं नन्द इति फलग्रहणार्थं व्याप्तिं परित्यज्य सादादस्तिव्यत्येकाह, ततः स्वे स्वर्ग एव शिष्टंशेन प्रसिद्धः, नन्वस्य वरः कथं न क्षीणः सृष्टेरपि सृष्टिमुत्पादितवांस्ततोधिकारे समाप्ते प्रलये च जाते ब्रह्मलोके गतत्वादित्याशङ्क्याह महायशा इति, महद् यशो यस्य, स्थितो भाविभगवदवतारं ज्ञात्वा ब्रह्मणाप्रेरितः स एव द्रोण यावच्चशस्तावत्र क्षीयत इति, यशोदापि सैवाम्भवत्, अन्यथा इह व्रजे नन्द इत्याख्यातो जज्ञे, पूर्वनामाग्रे न प्रकाशनीयमिति व्यभिचारे धर्मक्षयाद् भक्तिर्न भवेत् ॥ ५० ॥

व्याख्यानार्थ — ब्रह्मा के वचन झूठे नहीं होते हैं। इस पर विश्वास कर, द्रोण अपने स्वर्ग लोक में, सृष्टि उत्पादन कार्य करने लगा। जब द्रोण के अधिकार की समाप्ति हुई और प्रलय हुई, तब द्रोण ब्रह्म लोक में रहने लगा। वहाँ द्रोण ने जाना कि भगवान् भूमि पर प्रकट होंगे। यह जानकर उस द्रोण ने ब्रह्मा की प्रेरणा से व्रज में जन्म लिया और नन्द नाम से प्रसिद्ध हुआ। क्योंकि पहले कल्प का नाम इस कल्प में प्रकाशित नहीं करना चाहिये। इसलिये द्रोण का नाम विशिष्ट प्रकार से प्रकट नहीं किया गया। भगवान् का नाम आनन्द है जिसमें 'आ' और 'नन्द' दो पद हैं। 'आ' का अर्थ है चारों तरफ और 'नन्द' का अर्थ है हर्ष कराने वाला; अर्थात् जो चारों तरफ प्रत्येक पदार्थ को हर्षित कराने वाला है वह 'आनन्द' (भगवान्) है। उस आनन्द नाम से 'आ' अक्षर का त्याग कर शेष अंश 'नन्द' से द्रोण व्रज में प्रसिद्ध हुआ है। शेष अंश 'नन्द' के ग्रहण का आशय यह है कि फल (आनन्द) ही ग्रहण करना है।

उस कल्प की सृष्टि नष्ट हुई तो भी द्रोण को मिला हुआ वर, क्यों नष्ट न हुआ ? इसके उत्तर में श्लोक में द्रोण को 'महायशा' कहा गया है। द्रोण का यश स्वल्प नहीं है किन्तु महत् है। इसलिये जब तक यश है तब तक वर भी रहेगा। न केवल द्रोण नन्द हुआ है, किन्तु 'द्रोण' की वही स्त्री, धरा भी आकर 'यशोदा' बनी है। यदि धरा, यशोदा न बनती और कोई अन्य स्त्री यशोदा होती, तो उसके साथ संसर्ग करने से, द्रोण (नन्द) के कर्म (धर्म) क्षय हो जाने से, भक्ति की पति न होती ॥ ५० ॥

आभास — ततो जातयोरेव भक्तिर्जातित्याह तत् इति ।

आभासार्थ — द्रोण और धरा ने व्रज में नन्द और यशोदा के रूप में जन्म लिया और किसी भी साधन (कर्म) किए बिना उनकी श्रीकृष्ण में भक्ति हो गई। जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः— ततो भक्तिर्भगवति पुत्रीभूते जनार्दने ।

दम्पत्योर्नितराभासीद् गोपगोपीषु भारत ॥ ५१ ॥

**श्लोकार्थ** — हे भारत ! ब्रह्मा के वर मिलने के कारण एवं उनके प्रसाद से नन्द यशोदा की पुत्र - रूप से स्वीकृत किए गए जनार्दन भगवान् में अतिशय भक्ति हुई। गोप गोपियों की भी भगवान् में अतिशय भक्ति हुई। गोप गोपियों की भगवान् में भक्ति तो हुई किन्तु नन्द यशोदा जैसी नहीं हुई।

**सुबोधिनी** — भगवति भक्तिर्जाता प्रसङ्गादिदमपि कृतवान् न तु प्रासङ्गिकमुत्पादयितुमर्हति भजनसहितप्रेमात्मिका, ननु साधनव्यतिरेकेण कथं सर्वार्थं च तथा जातेतो दम्पत्योः स्वधर्मनिष्ठयोर्नित्यं जातेत्याशङ्क्य प्रकारमाह पुत्रीभूत इति, अपुत्र एव पुत्रत्वं भक्तिरासीत्, गोपगोपीषु सत्सु तन्मध्ये वा ज्ञापितवानिति पुत्रीभूतः, जायत एव पुत्रे स्नेहो भक्तिश्च, सत्सङ्गव्यतिरेकेणापि, भारतेतिसम्बोधनं सर्वेष्वेव वंशीयेषु ननु भगवान् किमित्यवतीर्णः ? तत्राह जनार्दन इति, सत्सु यथा भारत एवालौकिको जात इति ज्ञापयितुम् ॥ ५१ ॥ जनामुत्पादिकापविद्यामर्दयतीति, अतो मोक्षदानार्थमागतः,

**व्याख्यार्थ** — नन्द यशोदा की श्रीकृष्ण में भजन सहित प्रेम लक्षणा भक्ति जन्म लेते ही हो गई। भजन दो प्रकार से होता है, १ - देवभाव से और २ - पुत्र भाव से। देव भाव से भजन करने में 'सेवा' मुख्य है और पुत्र भाव से भजन करने में प्रेम मुख्य है क्योंकि शास्त्र में पुत्र की सेवा करने के लिये नहीं कहा गया है, पुत्र से तो प्रेम करना है। अतः पुत्र - भाव में सेवा गौण है और प्रेम मुख्य है। अतः आचार्यश्री ने नन्द यशोदा को भजन सहित प्रेम लक्षणा भक्ति हुई, ऐसे कहा है। नन्द यशोदा ने कोई साधन नहीं किया, फिर भी ऐसी प्रेम लक्षणा भक्ति हो गई; उसका क्या कारण है ? इसके उत्तर में श्री शुकदेवजी ने श्लोक में 'पुत्री भूते' शब्द दिया है जिसका भाव आचार्यश्री बताते हैं कि भगवान् किसी के पुत्र हो नहीं सकते हैं, क्योंकि पुत्र के होने में, मुख्य कारण माता - पिता के रजो - वीर्य संयोग से गर्भाधान<sup>१</sup> होना है; इस प्रकार जो उत्पन्न होता है वह पुत्र कहा जाता है। भगवान् का प्राकट्य तो इस प्रकार से नहीं हुआ है, अतः भगवान्, पुत्र नहीं, किन्तु नन्द यशोदा के मन में ऐसा भाव उत्पन्न कर दिया कि मैं आपका पुत्र हूँ, जिससे वे उसको पुत्र समझने लगे। यह तो स्वभाव सिद्ध है कि पुत्र में उसके जन्मते ही स्नेह और भक्ति स्वतः ही हो जाती है।

भगवान् ने किस लिए अवतार लिया ? इसके उत्तर में शुकदेवजी ने भगवान् का 'जनार्दन' नाम दिया है जिसका भाव आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि जो अविद्या संसार (आवागमन) कराती है; उसको भगवान् नष्ट करने वालें हैं इसलिये वह जनार्दन कहलाते हैं। अतः अविद्या का नाश कर मोक्षदानार्थ ही आपने अवतार लिया है। प्रसंग से भक्तिदान कार्य भी आपने किये हैं। किन्तु प्रासङ्गिक कार्य भगवान् के प्राकट्य में कारण नहीं हो सकते हैं। भगवान् सबों को मोक्ष

देने के लिये प्रकट हुए हैं । यहाँ भक्ति - मार्ग में मोक्ष शब्द का भावार्थ भजनानन्द है; जो ब्रह्मानन्द से विशेष अगणित आनन्द है । नन्द और यशोदा गोप एवं गोपियों के मध्य में रहते थे । जिन गोप गोपियों का निरोध नहीं हुआ था उनका संग था एवं किसी प्रकार का अन्य सत्संग भी नहीं था । तो भी सर्वधर्मनिष्ठ होने से, भगवान् में अतिशय भक्ति हो गई । परीक्षित को शुकदेवजी ने 'भारत' स्मृबोधन देकर यह जताया है कि जैसे कुल में बहुतसों के उत्पन्न होते हुए भी 'भरत' ही एक 'अलौकिक' हुआ है, वैसे ही अनेक गोप - गोपिकाओं के होते हुए भी नन्द यशोदा को ही भगवान् में पुत्र - भाव से प्रेम लक्षणा अतिशय भक्ति उत्पन्न हुई ॥ ५१ ॥

**आभास —** नन्वेतज्जातं भगवद्वाक्याच्चेत् तदा निरोधो भगवत्क्रियमाणो न भविष्यतीत्याशङ्क्याह कृष्ण इति ।

**आभासार्थ —** यदि नन्द यशोदा की भगवान् में भक्ति ब्रह्मा के वाक्य से हुई थी, तो भी भगवान् जिस निरोध को करना चाहते हैं वह सिद्ध नहीं होगा । इस शंका को मिटाने के लिये निम्न श्लोक कहा गया है ।

**श्लोक: —** कृष्णो ब्रह्मण आदेशं सत्यं कर्तुं व्रजे विभुः ।

सहरामो वसंश्चक्रे तेषां प्रीतिं स्वलीलया ॥ ५२ ॥

**श्लोकार्थ —** ब्रह्मा के वाक्य को सत्य करने के लिये, विभु, श्रीकृष्ण ने बलरामजी के साथ व्रज में निवास कर, अपनी लीला से उनके हृदयों में, अपने लिये प्रेम उत्पन्न किया ।

**सुबोधिनी —** भगवान् हि सर्वमेव योजयितुं शक्नोति, अतो ब्रह्मण आदेशं वरं सत्यं कर्तुं व्रजे समागत्य बलभद्रसहितो वसंस्तत्रत्यानां तेषां सर्वेषामेष स्वलीलया प्रीतिं चक्रे, स्वस्याधिकारी ब्रह्मेति तद्वाक्यं सत्यं कर्तव्यं, यद्यन्यत्र साधनवति देशे तमुत्पादयेद् वरे सन्देहोपि भवेत् तदर्थं व्रजे समागतः, नन्वयुक्ते देशे कथमागत इति चेत् तत्राह विभुरिति, स हि सर्वसमर्थः, सर्वत्रैव स्थित्वा सर्वं कर्तुं शक्नोति, बलभद्रो वेदात्मा, साक्ष्यर्थं सह गृहीतः तेषां प्रीतिजननेन स्वेच्छस्थित्याधिको व्यापारेत आह वसंश्चक्रे इति, ब्रह्मवाक्यापेक्षयाधिकं च कृतवानित्याह तेषामिति येष्वेतौ स्थितौ तेषामपि स्वलीलया प्रीतिं कुर्वन्, लीलयेति मनोरञ्जिका क्रियोक्ता ॥ ५२ ॥

**व्याख्यानार्थ —** भगवान् सब के कार्य को पूर्ण रीति से सिद्ध करने की सामर्थ्यवाले हैं । अतः ब्रह्मा के लिये हुए वर को सत्य करने के लिये, व्रज में पधार कर बलभद्रजी के साथ निवास कर, व्रज में रहने वाले सब का ही अपनी लीला से अपने में प्रेम उत्पन्न किया । ब्रह्मा का

वाक्य भगवान् ने इसलिये सत्य किया कि वह भगवान् का अधिकारी है। अधिकारी का वाक्य सत्य करना ही चाहिये। दूसरे किसी साधन वाले देश में वर सत्य करवाते। तो वर फलीभूत होने में संशय रह जाता था कि ब्रह्मा के वरदान से भगवान् में भक्ति हुई कि किसी अन्य साधन से हुई। ऐसा संशय किसी को भी न हो एतदर्थ भगवान् ने व्रज में ही पधार कर ब्रह्मा का वर सत्य किया।

भगवान् ने इस अयोग्य देश में कैसे अवतार धारण किया? आचार्यश्री (व्रज को अयोग्य देश केवल इसीलिये कहते हैं कि वहाँ रहने वाले साधनहीन एवं अशिक्षित गोपादि रहते हैं)। इस शङ्का के मिटाने के लिये ही श्लोक में भगवान् का 'विभूः' नाम दिया है जिसका भावार्थ, आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि वह सर्व करण के लिये समर्थ है। सर्व प्रकार के स्थान पर स्थित होकर भी चाहे वह कर सकते हैं। तात्पर्य यह है कि अयोग्य स्थान को योग्य बना सकते हैं; एवं अयोग्यों को भी योग्य करने में आपको श्रम नहीं होता है। भगवान् अयोग्य स्थान में रहते हुए साधन रहित (अयोग्य) जीवों के अधीन होकर लीला करते हैं, जो श्रुति से विरुद्ध समझी जाती है किन्तु वास्तव में सूक्ष्म दृष्टि से विचार जाय तो वह आपकी लीला श्रुति विरुद्ध नहीं है, इसलिये आपने साक्षी के लिये अपने साथ वेदात्मा श्रीबलदेवजी को लिया है कि देखो! मैं जोजो लीला करता हूँ वह लीला 'यमेवैष वृणुते तेनैवलभ्यः' जिसका वरण परमात्मा स्वयं निज इच्छा से करते हैं उसको ही परमात्मा की प्राप्ति होती है। अतः मैं (परमात्मा) हूँ, किसी का भी वरण, निज इच्छा से करने में विभू होने से समर्थ हूँ। अतः मेरी यह लीला शास्त्र सम्मत है। इसका साक्षी, वेदात्मा बलरामजी हैं। श्लोक में 'वसन् चक्रे' कहा है इसका भाव आचार्यश्री बताते हैं कि व्रजवासियों का प्रेम अपने में करने के लिये भगवान् को वहाँ रहने के अतिरिक्त अन्य कोई परिश्रम नहीं करना पड़ा। ब्रह्मा ने जो वरदान दिया था उससे भी आपने यह विशेष किया है कि जिन गोप, गोपी आदि व्रजवासियों के मध्य में नन्द यशोदा का निवास था उन्हींकी प्रीति भी लीला द्वारा अपने में करवाई। लीला शब्द का तात्पर्य है कि सब का मनोरंजन करते हुए अपने में प्रेम करना। व्रज में भगवान् रहे और उन्होंने लीला की। इन दोनों का प्रयोजन भिन्न - भिन्न था। व्रज में रहने का प्रयोजन था व्रजवासियों का अपने में प्रेम उत्पन्न करना और लीला करने का तात्पर्य था स्वरूपानन्द का अनुभव करना ॥ ५२ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कंध (पूर्वार्ध) के आठवें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकृत  
श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के 'तामस' प्रकरण, 'प्रमाण' अवान्तर प्रकरण  
के 'श्री' निरूपक, चौथा अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ❖ श्रीमद्भागवत महापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य — विरचित — सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

### तामस-प्रकरण

प्रमाण अवलम्बित प्रकरण



पंचमोऽध्यायः

दशमस्कन्धानुसार : नवमोऽध्यायः



कारिका - शास्त्रार्थतो यथा भक्तिर्हरौ भवति निश्चला ।

तदर्थं नवमे प्राह चरित्रं पदमाद्भुतम् ॥ १ ॥

कारिकार्थ — जिस प्रकार शास्त्रार्थ से हरि में दृढ़ भक्ति हो तदर्थ (उसके लिये) इस नवम अध्याय में भगवान् का परम - अद्भुत चरित्र वर्णन करते हैं ।

व्याख्या — परीक्षित राजा ने दशमस्कन्ध के ७वें अध्याय के दूसरे श्लोक में शुकदेवजी से प्रश्न किया है कि भगवत्कथाश्रवण में प्रेम का अभाव और संसार के तृष्णादि सर्व दोष जिन चरित्रों के श्रवण से जीव के मिट जावें तथा अन्तःकरण शीघ्र शुद्ध होकर, भगवान् में दृढ़ भक्ति होवें वे कौन से चरित्र हैं ? वे मुझे सुनाओ । उस प्रश्न के उत्तर का इस नवमाध्याय में वर्णन किया गया है । यह बताने के लिये आचार्यश्री ने इस प्रथम में 'तदर्थ' (उसके लिये अर्थात् उस प्रश्न के उत्तर के लिये पद दिया है) आचार्यश्री ने इस कारिका से यह भी समझाया है कि

नवमाध्याय में जो भगवान् के परम अद्भुत चरित्र वर्णन किए हैं, उनसे चरित्र सुनने वालों के शास्त्रार्थ क्या है ? यह समझ में आ जाएगा, कि शास्त्र का अर्थ भगवान् है और शास्त्रों में भगवान् के स्वरूप का वर्णन है, यह ज्ञान होने से जीव की भगवान् में स्थिर दृढ़ भक्ति होगी ॥ १ ।

कारिका — स्वरूपं च कृपालुत्वं हरेर्ज्ञातव्यमञ्जसा ।

अतो दयासुसंमिश्रं ज्ञानमत्र निरूप्यते ॥ २ ॥

कारिकार्थ — भगवान् का स्वरूप और कृपालुपन पूर्णतया जानना चाहिये । इसका ज्ञान हो जावे, इसलिये नवम अध्याय में दया से पूर्णतया मिश्रित, ज्ञान का वर्णन किया जाता है ।

व्याख्या — राजा परीक्षित को ईशानुकथापर्यन्त भगवान् की सात लीलाओं के श्रवण से पूर्ण माहात्म्य का ज्ञान हो गया था, तो भी पुनः भक्ति सम्बन्धी स्कन्ध १०, अ० ७, श्लोक २ में प्रश्न किया है । जिसका तात्पर्य यह है कि राजा को स्पष्टता जानने की इच्छा थी कि भगवान् भक्तों के शीघ्र दुःखहर्ता है वा नहीं एवं सब के ऊपर प्रसन्न होते हैं वा नहीं । इस प्रकार यशोदा ने मुखारविन्द में जगत् देखा, तो उसके मन में भगवान् के स्वरूप एवं दयालुता जानने की इच्छा उत्पन्न हुई । इन दोनों (राजा एवं यशोदा) की इच्छा पूर्ण करने के लिये भगवान् ने जो चरित्र किए हैं उनका वर्णन इस नवमाध्याय में हुआ है जिससे भगवान् के स्वरूप एवं दयालुपन का ज्ञान हो जाता है अतः यह नवम अध्याय 'ज्ञान' का अध्याय है ॥ २ ॥

कारिका — निरोधो यदि भक्तानां स्वस्मिन् स्वस्य च तेषु च ।

तदोभयसुसम्बन्धाद् दृढो भवति नान्यथा ॥ ३ ॥

कारिकार्थ — जब भक्तों का भगवान् में और भगवान् का भक्तों में निरोध हो जावे, तब दोनों का परस्पर सुन्दर श्रेष्ठ सम्बन्ध हो जाने से 'निरोध' दृढ़ हो जाता है, यदि इस प्रकार का निरोध नहीं है तो निरोध 'दृढ़' न होगा ।

व्याख्या — कारिका में कहा गया है कि निरोध तब दृढ़ होता है, जब भगवान् का भक्तों में और भक्तों का भगवान् में निरोध होगा । 'इससे यह शङ्का होती है कि 'निरोध' होने पर प्रपञ्च की विस्मृति होती है । भक्तों की तो प्रपञ्च की विस्मृति हो सकती है क्योंकि वे अल्पज्ञ जीव हैं, किन्तु भगवान् जो सर्वज्ञ एवं पूर्णज्ञानी हैं उसकी प्रपञ्च - विस्मृति हो नहीं सकती है अतः भगवान् का भक्तों में 'निरोध' कैसे होगा ? इस शङ्का का समाधान यह है कि भगवान्

'विरुद्ध धर्माश्रयो' हैं अर्थात् भगवान् में परस्पर विरुद्ध धर्म रहते हैं जैसे अणुभी है, महान् भी है, इत्यादि से समझना चाहिये कि भगवान् लीलार्थ सर्वज्ञ होते हुए भी अज्ञवत्<sup>१</sup> क्रिया करते हैं। सर्वचतुरशिरोमणि होते हुए भी माता के सन्मुख मुग्धवत्<sup>२</sup> विराजते हैं। वैसे प्रपञ्च का पूर्ण ज्ञान होते हुए भी भक्त निरोध दृढ़ करणार्थ आप भी भक्त में निरुद्ध हो जाते हैं और प्रपञ्च विस्मृति का नाट्य करते हैं ॥ ३ ॥

कारिका — ज्ञानवैराग्यरूपैहि स्वाधीनो भगवान् भवेत् ।

अतोऽध्यायत्रये लीला जीवाधीना निरूप्यते ॥ ४ ॥

कारिकार्थ — भगवान् ज्ञान, वैराग्य और स्वरूप से भक्तों के अधीन होते हैं। इस कारण तीन अध्यायों में जीवों के अधीन होकर भगवान् ने लीलाएँ की हैं।

व्याख्या — यहाँ 'ज्ञान' शब्द मर्यादा शुद्धाद्वैतज्ञान के भाव बताने के लिये नहीं दिया है; किन्तु....दिया है। यह 'स्नेहीभक्त' का ज्ञान सर्वत्र स्वतन्त्र भगवान् को भक्त के वश करता है। इस ज्ञान से भगवान् पुष्टिमार्गीय<sup>३</sup> को अपना सम्बन्धी समझते हैं, स्व - सम्बन्ध के कारण भक्तों की इच्छित कामनाओं को पूर्ण करते हैं जैसे यशोदा मैया को माता समझते हैं। जिससे इस अध्याय में दामोदर लीला कर, अपनी भक्तवश्यता और कृपालुपन बताया है एवं माता का मनोरथपूर्ण किया। 'वैराग्य' विषयों की तृष्णा को मिटाने को 'वैराग्य' कहते हैं; किन्तु यहाँ आचार्यश्री ने 'वैराग्य' पद उस अर्थ में न देकर इस आशय से दिया है कि भगवान् का भक्तों के बिना किसी में भी रग (प्रेम) नहीं है अतः भगवान् का भक्तों में रग होने से भक्तों के वश होते हैं और भक्तों के कैसे भी वचन हों तो भी आप उनको सत्य करते हैं जैसे नारदजी भगवान् के भक्त हैं, उनके दिए हुए वचन को सत्य करने के लिये 'यमलार्जुन' का उद्धार किया।

'स्वरूप' भगवान् के अनेक रूपों में से एक 'लीला पुरुषोत्तम' स्वरूप ही है जिसका अन्यो में वैराग्य है केवल भक्तों में 'रग' है। जिस रग के कारण स्वरूप से भी भक्तों के वश हो जाते हैं।

इस प्रकार नवमाध्याय में ज्ञान, दशम में वैराग्य और एकादश में 'स्वरूप' द्वारा जो भक्तपारवश्य होना दिखाया है उन लीलाओं का वर्णन इन तीन अध्यायों में पृथक् पृथक् किया गया है ॥ ४ ॥

१ — अनजान की तरह।

२ — भोले-भाले।

३ — पुष्टिमार्गीय वह है जो भगवान् को ही अपना शरण्य, स्नेही, सम्बन्धी सब कुछ समझता है और सन्त्यज्य सर्व विषयात् - जिसने गोपीजनों के समान सब विषयों को छोड़ दिया है।

कारिका — अतिपौरुषमेतद्धि जीवानामिति निश्चितम् ।

द्वादशाङ्गमतिक्रम्य षड्भिर्वश्यो भवेद् गुणैः ॥ ५ ॥

कारिकार्थ — यह निश्चय से समझना चाहिये कि जो भगवान् स्वतन्त्र हैं उनको भी वश कर लेना यह जीवों का विशेष पौरुष (पराक्रम) है । भगवान् बारह अंगों का अतिक्रमण कर, अपने छः गुणों से वश हो जाते हैं ।

व्याख्या — इस कारिका में आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि पुरुषोत्तम नव\* प्रकार की सगुण भक्ति एवं दसवीं गुणातीत - भक्ति से तथा वेद के दो काण्ड - पूर्व काण्ड (कर्म) एवं उत्तर काण्ड (ज्ञान) से भी आधीन नहीं होते हैं, बारहों (दश प्रकार की भक्ति कर्म और ज्ञान) का अतिक्रमण करते हैं । अर्थात् इस मर्यादा का उल्लंघन करते हैं केवल गुणों से (अपनी इच्छा से) वश होते हैं ॥ ५ ॥

कारिका — पञ्चपर्वामविद्यां हि लोकानामपि नाशयेत् ।

अतः पञ्चभिरुक्तो हि विचारो भगवद्गतः ॥ ६ ॥

कारिकार्थ — भगवान् लोकों की पञ्चपर्वा अविद्या का नाश करते हैं । इस कारण से भगवत्सम्बन्धी विचार पाँच श्लोकों से कहे गए हैं ।

व्याख्या — इस कारिका में जो पञ्चपर्वा अविद्या कही गई है, वह स्वरूप विस्मृति एवं देहाध्यास आदि अविद्या नहीं समझनी । यहाँ तो भगवान् रस - स्वरूप (लीला पुरुषोत्तम) पुष्टि (स्नेहात्मक प्रेमलक्षणा) भक्ति के हैं, जो बिना अन्य साधनों से वश में होते हैं । यह लोकों की अविद्या है, इस प्रकार की अविद्या का नाश भगवान् ने इस लीला द्वारा किया है । जिसका वर्णन इस अध्याय के १९ से २२ श्लोक में किया गया है ।

तत्र प्रथमं यशोदाया अतिपौरुषं कार्यं सिद्धमिति वक्तुं क्रियया भगवत्प्राप्तिमाहैकदेतिदशभिः, भक्तिर्हि दशविधा गुणातीतया भगवान् प्राप्यते नवविधसहितस्नेहेन वा, ततो द्वाभ्यां वशीकरणोद्यमः काण्डद्वयसमावेशार्थस्ततो वशीकरणं षड्भिः पञ्चभिरविद्याबाधनमिति ।

\* १-तामस सात्त्विक, २-तामस राजस, ३-तामस तामस, ४-राजस सात्त्विक, ५-राजस - राजस, ६-राजस - तामस, ७-सात्त्विक सात्त्विक, ८-सात्त्विक राजस, ९-सात्त्विक तामस ।



नवम अध्याय में २३ श्लोक हैं, उनका विभाग बताते हैं। प्रथम यशोदा का विशेष पौरुष (क्रिया से भगवत्प्राप्ति) का तथा भक्ति दश प्रकार की है। नव प्रकार की साधन - भक्ति, एक गुणतीत भक्ति। गुणातीत भक्ति से भगवान् को प्राप्ति होती है। अथवा नव प्रकार की भक्ति युक्त स्नेह से भगवान् को प्राप्ति होती है। इसका वर्णन दस श्लोकों में किया गया है। दो श्लोकों से भगवान् को पकड़ने के उद्यम का वर्णन है क्योंकि कर्म एवं ज्ञान के दो काण्डों का उसमें समावेश है। छः श्लोकों से वशीकरण की लीला बताई गई है और पांच श्लोकों से अविद्या का बोध किया गया है। इस प्रकार श्लोकों का विषयपरत्व विभाग बताया गया है ॥ ६ ॥

कारिका — निवारितापि संसारे मोहिता सङ्गता पुनः ।

गुणगाने सकालोभूच्छ्रमो द्वाभ्यां ततोभवत् ॥ १ ॥

कारिकार्थ — भगवान् ने प्रथम यशोदा को ज्ञान देकर, उसकी माया से उत्पन्न संसारसक्ति नष्ट की और अपने ब्रह्मत्व का ज्ञान करवाया, फिर अपनी दैवी माया द्वारा वह ब्रह्मपने का (यह मेरा पुत्र नहीं किन्तु ब्रह्म है इस प्रकार का) ज्ञान खेंच लिया, जिससे यशोदा फिर मोह को प्राप्त होकर संसार के कार्य करने लगी। कार्य करने के समय भगवद् गुण गान करती थी। पीछे यशोदा के श्रम का दो श्लोकों में वर्णन है।

व्याख्या — भगवान् ने दैवी माया से ज्ञान खेंच लिया अर्थात् कृष्ण में जो यशोदा की ब्रह्म बुद्धि उत्पन्न हुई थी, उसको मिटाकर अपने में स्नेह की वृद्धि कर दी, जिससे यशोदा का पुनः भगवान् में पुत्र-भाव उत्पन्न हो गया। ज्ञान मिटने से, जो गृह-कार्य दधिमन्थनादि करने लगी थी, उसको छोड़ भगवान् को फिर गोद में लेकर स्तन्य पान करने लगी। स्तन्य पान करते हुए जब ..... भगवान् ने अपने माया रूप स्मित हास्य द्वारा यशोदा में पुनः संसारसक्ति उत्पन्न कर दी। अतः यशोदा को चूल्हे पर धरे हुए दूध का स्मरण आ गया कि दूध में उपान आया तो दूध बह जाएगा बस भगवान् को भी नीचे विरजमान कर चली गई ॥ १ ॥

कारिका — अतः क्रतो निषेधो हि भक्तिसारं हरिः पपौ ।

ततो रिक्ता पूर्वबुद्ध्या सङ्गतान्यच् चकार ह ॥ २ ॥

कारिकार्थ — अतः (इस कारण से) यशोदा को निषेध कर, हरि ने भक्तिसर का पान किया, इससे यशोदा की पहली बुद्धि (गुणगानवाली) चली जाने से संसारसक्त हो दूसरा गृह कार्य करने लगी।

व्याख्या — दधिमन्थन के समय यशोदा भगवद् गुणगान करती थी। भगवान् ने दधि की मथनी पकड़ कर बिलोना बन्द कर दिया। जिससे यशोदा का गुणगान करना भी बन्द हो गया। यह कार्य भगवान् ने योग्य नहीं किया। ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए। क्योंकि भगवान् भक्त के दुःख को सहन नहीं कर सकते हैं। भगवान् ने देखा की मेरी एक तरफ माता और उससे विशेष मेरी भक्त यह दधिमन्थन करते करते श्रमित हो गई है, जिससे मुख पर पसीने की बूंदें चमक रही हैं। इस यशोदा के श्रम (दुःख) को भगवान् सहन नहीं कर सके। इसलिये दधि की मथनी पकड़ कर बिलोना बन्द कर दिया और भगवान् को माता से भक्ति के सार का आस्वादन लेने की भी इच्छा थी, इससे भी बिलोना बन्द करवाया। मथानी पकड़ने से यशोदा माता ने समझ लिया कि मेरे कन्हैया को भूख लगी होगी। झट गोद में लेकर स्तन्य पान करने लगी। पुत्र स्नेह के कारण, माता के स्तनों में जो दूध आता है वह नाम का तो दूध है वास्तव में वह माता के भक्ति (स्नेह) का सार है। भगवान् ने अपनी इच्छानुसार उस माता के भक्ति-सार का प्रेम से खूब पान किया और भगवान् के स्मित हास्य रूप माया से मोहित होने के कारण यशोदा का सर्वस्नेह जाता रहा। जिससे फिर घर के अन्य कार्य करने लगी ॥ २ ॥

कारिका — एवं निरुद्धा चेद् भ्रान्ता कोपयुक्तो हरिर्भवेत् ।

धौत्यं दृष्ट्वा लोकदृष्ट्या प्रीता तस्मान्न पश्यति ॥ ३ ॥

कारिकार्थ — जिसका निरोध हुआ है, वह भी यदि भ्रान्त हो (भूल जाय), तो भगवान् को कोप आना चाहिए। लोक की दृष्टि से, भगवान् की धूर्तता देखकर, यशोदा प्रसन्न हुई, इससे उसने भगवान् को देखा नहीं।

व्याख्या — भगवान् को विचार हुआ कि माता का मैंने निरोध सिद्ध कर दिया है तो भी वह भ्रान्त हो गई है ? मुझे छोड़ कर दूध उतारने गई है। समझती है कि यह दूध कन्हैया के काम का है; यह नष्ट न हो जाय, इसलिये उसकी रक्षा के लिये चली गई। मुझे तो दूध की आवश्यकता नहीं है। यह केवल यशोदा का भ्रम है, भगवान् ने यशोदा का इस प्रकार का भ्रम जान तो लिया, जिससे उसके ऊपर क्रोध आया किन्तु किया नहीं।

जैसे लोक में पुत्र की चपलता देख कर लौकिक मनुष्य प्रसन्न होते हैं, वैसे ही यशोदा भी भगवान् की धूर्तता<sup>१</sup> देखकर प्रसन्न हुई, जिससे मन में कहने लगी कि मेरा कन्हैया भी अब चतुर हो गया है ॥ ३ ॥

१—चतुराई या चालाकी से काम करने के उपाय।

कारिका — जिज्ञासायां ततो दृष्ट्वा प्राप्त्यर्थं यत्नमाचरत् ।

विरुद्धांस्तान् हरिर्ज्ञात्वा तपसे निर्गतस्ततः ॥ ४ ॥

कारिकार्थ — उसके पीछे जिज्ञासा (भगवान् कहाँ है, इसको जानने की इच्छा) होते ही, भगवान् ने दर्शन दे दिये, देखकर उसको पकड़ने का यत्न करने लगी। उस (यशोदा) के यत्न (लकड़ी लेना आदि) को विरुद्ध (व्यर्थ अर्थात् इससे मैं इसके पकड़ में न आऊँगा) समझ, भगवान् यशोदा को तपस्या (अपनी प्राप्ति का यत्न) कराने के लिए वहाँ से भाग गए।

व्याख्या — इस कारिका में आचार्यश्री ने यह बताया है कि जब यशोदा दूध को सम्भाल कर लौटी, तो उसने कन्हैया को वहाँ नहीं देखा, तब उसको जानने की इच्छा का यशोदा के मन में प्रादुर्भाव हुआ अतः उसको पकड़ने के लिए एवं शिक्षा देने के लिये हाथ में लकड़ी लेकर यत्न प्रारम्भ किया। भगवान् ने उस समय दर्शन तो दिये, परन्तु माता के निकट न आए। कारण कि भगवान् ने समझा कि माता का अन्तःकरण दोष से भर हुआ है, तब उसको भ्रम हुआ है। यह दोष निवृत्त कराना चाहिये। दोष निवृत्ति का साधन तप है। जब दोष, पूर्ण निवृत्त होगा तब मेरी प्राप्ति होगी। भगवान् को प्राप्त करने के लिये किए हुए जिस कर्म में, शरीरादि को कष्ट हो, वह तपस्या है। उस तप को भगवान् का 'वीर्य' गुण (धर्म) कहा जाता है। इस प्रकार की तपस्या से मेरी प्राप्ति होती है। अतः माता को तप कराना चाहिए, बस यह विचार कर, माता को आते देख, दौड़ कर भागने लगे। यशोदा, भगवान् को पकड़ने के लिये पीछे, शीघ्रता से दौड़ी, परन्तु पकड़ न सकी। दौड़ते दौड़ते यशोदा माता बहुत श्रमित<sup>१</sup> हुई। इस तप करने में ज्यों - ज्यों शनैः शनैः<sup>२</sup> दोष निवृत्त होते गए, त्यों - त्यों यशोदा अपने यत्न को त्याग ने लगी, जैसे ली हुई लकड़ी छोड़ दी फिर दौड़ने लगी। इस प्रकार भगवान् ने यशोदा को अपने को प्राप्त कराने के लिये तपस्या कराई ॥ ४ ॥

कारिका — पूर्णे तपसि तत्प्राप्तिरेवं दशभिरुच्यते ।

परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च हरिप्रियम् ॥ ५ ॥

कारिकार्थ — जब यशोदा ने इस प्रकार की तपस्या पूर्ण की, तब यशोदा को भगवान् की प्राप्ति हुई। यह चरित्र दश श्लोकों में कहा है। ऋषि लोक (ग) परोक्षवादी हैं, हरि को भी परोक्षप्रिय है।

कारिका — आसक्तिं चेत् स्वतः कुर्याज् जीवः कृष्णः पलायते ।

तदा दृढो निरोधः स्यान् नान्यथेत्येष निर्णयः ॥ ६ ॥

कारिकार्थ — जब श्रीकृष्ण सान्निध्य<sup>१</sup> में न हों उस समय यदि जीव अपने आप श्रीकृष्ण में आसक्ति करे तब निरोध दृढ़ होता है दूसरे प्रकार से नहीं होता है ।

व्याख्या — जिसमें अपना प्रेम होता है वह यदि दूर हो तो दिन रात उसकी स्मृति होती रहती है और अन्य कार्य फीके लगते हैं मन में यह रट लगी रहती है कि वह कब मिलेगा इस प्रकार से जब उस प्रिय में आसक्ति बढ़ती जाती है तब दृढ़ निरोध की सिद्धि होती है इसलिये ही भगवान् ने पलायन<sup>२</sup> लीला कर यशोदा का निरोध दृढ़ किया है ॥ ६ ॥

आभास — पूर्वाध्याय आधिदैविकमोहस्य प्रतिपादितत्वात् तत्कार्यमाहैकदेति ।

आभासार्थ — इससे पूर्वाध्याय (८) में भगवान् ने यशोदा में जो आधिदैविक मोह उत्पन्न किया उस मोह के कार्य का वर्णन इस प्रथम श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — एकदा गृहदासीषु यशोदा नन्दगेहिनी ।

कर्मान्तरनियुक्तासु निर्ममन्थ स्वयं दधि ॥ १ ॥

श्लोकार्थ — किसी दिन जब नन्द की गृहिणी<sup>३</sup> यशोदा ने देखा कि सब गृह - दासियाँ अन्य कार्यों में लगी हुई हैं तब वह स्वयं दधिमन्थन करने लगी ।

सुबोधिनी — यदा भगवदिच्छया सर्वा एव गृहदास्यः नन्दभोग्या गृहकार्यकर्त्र्यश्च, तत्र गृहदासीषु कर्मान्तर-  
क्षेत्रादिसंस्कारार्थं तत्प्रसङ्गल्लतादिगृहनिर्माणार्थं वा गतास्तदा नियुक्तासत्सु प्रकरणाद् भगवदभ्युदयार्थमेव कर्मान्तरमिति  
यशोदा स्वयं दधि निर्ममन्थेतिसम्बन्धः दास्यश्चतुर्विधाः सक्षयते, स्वतःकरणे हेतुः नन्दगेहिनीति, गेहिन्याः  
प्रभुभ्यो देया गोष्ठक्षेत्रविचारिकाश्चान्या यशोदासख्यो कर्मतदावश्यकम् ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ — जब भगवान् की इच्छा से गृह की सब दासियाः खेतों का संस्कार<sup>४</sup> करने के लिये एवं खेतों में लतादिकों का गृह बनाने के लिये गई तब यशोदा आप ही दही का बिलोना करने लगी । यशोदा के घर में दासियाँ चार प्रकार की थीं -

(१) गौशाला और क्षेत्र की स्वच्छता रखने का कार्य करने वाली एवं प्रभु (कृष्ण) के कार्य करने वाली ।

(२) यशोदा की सखियाँ ।

(३) नन्द की दासियाँ ।

(४) घरका काम करने वाली, इन चार में से जो घर के काम करने वाली थीं वे घर के काम करने लगीं ।

समझा जाता है कि वे दूसरे घर के काम भी भगवान् के अघ्युदय के लिये ही थे । दधि का बिलोना यशोदा आप ही क्यों करने लगी । इसलिये शुकदेवजी ने श्लोक में यशोदा को 'नन्दगेहिनी' कहा है जिसका भावार्थ है कि गेहिनी (घरवाली) का दधि बिलोना यह आवश्यक कर्तव्य है ॥ १ ॥

आभास — एवं संसारव्यापृतिरपि भगवदोयानां भगवद्गुणगानार्थमेव जातेत्याह ।

आभासार्थ — भगवद् भक्तों की संसारसक्ति भी भगवद् गुणगान के लिये ही होती है । उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः— यानि यानीह गीतानि तद्बालचरितानि च ।

दधिनिर्मथने काले स्मरन्ती तान्यगायत ॥ २ ॥

श्लोकार्थ — यहाँ जो जो गीत एवं भगवान् के बाल - चरित्र प्रसिद्ध थे उनको स्मरण करती हुई यशोदा माता दही बिलाने के समय गाती थी ।

सुबोधिनी — यानियानोति उपनिबन्धनं स्वेनैव कर्तुं शक्यते स्त्रीणामद्यापि तथासामर्थ्याद्, यानि प्रसिद्धानि भगवच्चरित्राणि पूर्वमिह गोकुले वा शास्त्रतो लोकतश्च तन्मध्ये यानीह प्रसिद्धानि, वीप्सया सर्वाण्येव अनेन गानमेव मुख्यं न तु दधिमन्थनमिति ज्ञापितं, अन्यथा शीघ्रं दधिमन्थने सर्वाणि गीतानि गातुं न शक्यानि स्युः, तस्य बालचरितानि स्वदृष्टानि चकाराद् गोपिकादिभिरप्युक्तानि, तस्य भगवतो बालचरितानि येषु तानि वा गीतानि चकारादन्यानि च, दध्नी नितरां मथनं यस्मिन् काले, भगवतो गुणगानस्य स एव कालः, यस्मिन् काले क्रियाशक्तेरुधिदैविकस्यापीन्द्रियं मथितं भवति, तदाह दध्नी नितरां मथनं यस्मिन् काल इति ननु कथं तस्यैव कालस्य गाने हेतुत्वमिति चेत् तत्राह स्मरन्तीति, तानि गीतानि स्मरन्ती, तस्मिन्नैव काले गीतानां स्मरणं भवतीति ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ — स्त्रियाँ सुने हुए चरित्र को छन्दोबद्ध कर गीत रूप में लाने की शक्तिशाली होती हैं । आज तक भी उनमें यह शक्ति विद्यमान है । जो भगवत् चरित्र यहाँ (संसार में) वा गोकुल में शास्त्र से अथवा लोक से (शास्त्र में लिखे हुए वा लोक की आख्यायिकाओं द्वारा मालूम हुए) प्रसिद्ध थे, अत्यन्त इच्छा होने से सब ही चरित्र यशोदा ने गीतारूप में गाए थे, जिनको वह उस समय गा रही थी । इससे समझना चाहिये कि यशोदा का मुख्य कार्य, भगवद्गुणगान ही था और 'दधिमन्थन' गौण कार्य था । यदि दधिमन्थन मुख्य होता तो दधिमन्थन के समय

में, यशोदा सब गीत नहीं गा सकती थी। श्रीकृष्ण के बाल - चरित्र जो यशोदा ने प्रत्यक्ष देखे थे और जो गोपिका आदि ब्रजवासियों से सुने थे, वे सब गीत। 'च' शब्द श्लोकों में जो दिया गया है, उसका आशय आचार्यश्री बताते हैं कि इसके अतिरिक्त दूसरे भी भगवत् - चरित्र सम्बन्धी गीत थे, वे सब यशोदा गाती थी। जो समय दधि के बिलोने का था, वही समय भगवद्गुणगान का भी है। इसका भाव यह है कि क्रिया शक्ति (काम करने की, किसी वस्तु को उठाने वा चलाने की शक्ति) भुजाओं (भुजाओं के कहने से हस्त भी उसके साथ समझने) में रहती है। उनका (भुजाओं का) आधिदैविकरूप इन्द्र है 'इन्द्रियं वैदिधि' इस श्रुति के अनुसार, दही इन्द्र की इन्द्रिय है। अतः दही के मंथन से इन्द्र की इन्द्रिय का भी मंथन होता है। इसलिये आधिदैविक इन्द्रिय के मंथन होने के समय में गीतों का स्मरण होता है जिससे यशोदा दधिमन्थन समय (प्रातःकाल\*) में गीतों को गाती थी ॥ २ ॥

**आभास —** एवं गानपरतया मथने क्रियमाणे गानस्यामृतरूपत्वाद् दधिमन्थनं भवतीति गानस्य गौणभावं सम्पाद्य भगवद्भजनौपयकं देहमपि पीडयित्वा भगवदुपभोग्यं रसमपि निरुध्य तद्देवतामपि निवार्य भौतिकीं क्रियां श्रमजनिकां भक्तिमपि पीडयन्तीं मुक्तानामपि क्षोभजनिकां क्रियां कृतवतीत्याह ।

**आभासार्थ —** इस निम्न श्लोक तीन में श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि यशोदा ने जो दधिमन्थन समय में गुणगान प्रारम्भ किया था, वह गान अमृतरूप था, जिससे दधिमन्थन पूर्ण रीति से नहीं हो सकता था, इससे यशोदा गान को, गौण समझ कर दधिमन्थन की भौतिक एवं श्रम देनेवाली क्रिया विशेष प्रकार से करने लगी। उस क्रिया से भगवान् के भजन में उपयोगी<sup>१</sup> देह को भी कष्ट हुआ, भगवान् के उपभोग<sup>२</sup> में आने वाले रस भी रुक गए और इसे उत्पन्न करने वाले देवता भी हट गए स्नेहरूप भक्ति को भी पीड़ा हुई, मुक्तों को भी क्षोभ हुआ।

**श्लोक: —** क्षौमं वासः पृथुकटितटे बिभ्रती सूत्रनद्धं  
पुत्रस्नेहसूतकुचयुगं जातकम्पं च सुभ्रूः ।  
रज्ज्वाकर्षश्रमभुजचलत्कङ्कणौ कुण्डले च  
स्विन्नं वक्त्रं कबरविगलन्मालती निर्ममन्थ ॥ ३ ॥

\* भगवत्स्मरण के लिये प्रातःकाल शास्त्रसिद्ध और लोकसिद्ध एवं अनुभवसिद्ध है, अब भी सर्वत्र सब लोग इस काल में ही स्मरणादि करते हैं — अनुवादक

१ - काम में आने वाली। २ - भोजन में।

**श्लोकार्थ -** सुन्दर भी वाली यशोदाजी ने पुष्ट नितम्बों पर पहने हुए रेशमी वस्त्र को सूत्र (कटिमेखला) से बाँध लिया था, पुत्र स्नेह से जिसके स्तनों से दूध टपक रहा था और वे स्तन भी काँप रहे थे। रज्जु खींचने के परिश्रम से भुजाओं में पहने हुए कङ्कण और कानों में पहने हुए कुण्डल चलायमान हो रहे थे। मुख कमल पर पसीना आ रहा था और गुंथी हुई चोटी में से मालती के पुष्प निकल-निकल कर गिर रहे थे, ऐसी वह यशोदा दधिमन्थन करती थी।

**सुबोधिनी -** क्षीमं वास इति, क्षीमं पट्टवस्त्रं तदतिपिच्छलं भवतीति तद्वाक्यार्थं सूत्रेण दोरकेण नङ्गं क्रियते, उत्थिता सती मथनं करोति मथनावेशाद् वस्त्रस्याप्यननुसन्धानमिव वक्तुं स्थूले कटितटे बिभ्रतीत्युक्तं, कटिस्थौल्यात् मध्ये कृशभावेन बद्धं वासः परं न पतति, अयुक्तकरणं वा ज्ञापयितुं वस्त्रादिसौन्दर्यं वर्णयते, तदपदेन चास्या गतिरूपत्वं नष्टा इव प्रदर्शितं, अनेनावश्यक-शरीरापेक्षापि मथनार्थं परित्यजेति सूचितं पुत्रस्नेहेन सहजधर्मेणाधिक्यात् प्रेरितं दुग्धं बहिरपि निःसरन् न विचार्यतोत्याह पुत्रस्नेहेति, दुग्धं यद्यपि स्रवति तथापि पुत्रस्नेह एव सूतो यत्र तादृशं कुचयुगं बिभ्रती स्नेहे वृथा गच्छति सति तदधिमानिनीं देवता भीता सती कुचयुगमपि कम्पयति, तादृशमपि बिभ्रती, अनेनाधिभौतिका-ध्यात्मिकाधिदैविकापेक्षामपि त्यक्तवतीत्युक्तं भवति, चकारुदन्तर्यामिप्रेरणामपि, नन्वेवमतिक्रमे भगवता रक्षकत्वेन स्थापिता दण्डधरी मृत्युयमौ कथं न तां दण्डितवन्तावित्याह।

सुभृति, शोभने शुक्लं यस्याः, "शुक्लं यम" इतिवाक्याद् भाव्यर्थमङ्गीकृत्य पर्यवसानाच्छेदनमधूत्वं, रज्जो-नैत्रस्याकर्षेण यः श्रमस्तत्सहितं भुजद्वयं तावत्पर्यन्तं चलन्ति कङ्कणानि ययोरेतादृशौ हस्तौ बिभ्रती, अनेन भक्तिमार्गः कर्ममार्गश्च तद्देवास्तन्नियमाश्च सर्वे क्लिष्टा इत्युक्तं, कुण्डले सांख्ययोगं द्वयमपि क्लिष्टं, सर्वत्र बिभ्रतीतिसम्बन्धः, चकाराच्छिष्टं जातकम्पमित्यनुवर्तते, एतदर्थमेव पृथङ्निर्देशः, अन्यथा सूतसकम्पकुचयुगमित्येव वदेत्, वक्त्रमपि स्विन्नं, परमक्षोभात् स्वेदयुक्तं, निर्गतसारा भक्तिरप्युच्यते, कवरे केशपाशे सिद्धस्थानेषु विगलन्ती मालती यस्यां, कवयत् केशपाशात् सिद्धस्थानाद् विगलन्ती भासती यस्यामिति वा, मा लब्धोत्थं यस्मिन्तादृशं जगदतिक्रम्य वर्तते इति मालती ब्रह्मविद्या सापि गच्छति, एवं प्रपञ्चासक्ता निर्भ्रमन्त्य, आकृतिमात्रवर्णनायां वैयर्थ्यं शुकवाक्यविरोधश्च भवेत् ॥ ३ ॥

**व्याख्यार्थ -** पट वस्त्र खिसकने वाले होते हैं। पुनः पुनः अपने स्थान से सरक जाते हैं। यशोदा ने पट वस्त्र पहिने थे। वे खिसक जाते थे। इसलिए यशोदा ने उस वस्त्र को जो शरीर से खिसक जाता था, सूत्र<sup>१</sup> से बांध दिया था। यशोदा उठकर (खड़ी होकर) मन्थन करने लगी। जिससे मथने में इस प्रकार आवेशवाली हो गई थी जो यशोदा को वस्त्र का भी भान<sup>२</sup> न रहा, इसको बताने के लिए श्लोक में कहा है कि यशोदा के नितम्ब स्थूल थे, इसलिए कृश<sup>३</sup> कटि पर बांधा हुआ वस्त्र गिरता नहीं था। शुकदेवजीने वस्त्र की सुन्दरता का वर्णन इसलिए किया है कि यशोदा के पास अनेक दासियाँ हैं, उनमें से किसी को बुलाकर मन्थन का कार्य कराती, वैसा न कर, स्वयं करती है, वह योग्य नहीं है। श्लोक में 'तट' शब्द का भावार्थ आचार्यश्री बताते हैं कि जैसे तटों के मध्य में नदी का जल चंचल<sup>४</sup> है वैसे यशोदा भी चंचल है। जिससे

यशोदा को यह ध्यान नहीं आया कि मैं दधिमन्थन इस प्रकार करूँ जैसे मेरा सौन्दर्यदृष्टिगोचर न हो। ऐसा विचार न कर, दधिमन्थन करते हुए शरीर की भी अपेक्षा<sup>१</sup> न की। यशोदा दधिमन्थन में इतनी लीन हो गई कि माता के सहज धर्म, स्नेह के कारण, जो दूध स्तनों में विशेष आने से बाहिर बहने लगा, उसका भी उसने विचार न किया। स्तनों से जो दूध टपक कर बहने लगा, वह दूध नहीं था किन्तु माता का स्नेह था। इस स्नेह के व्यर्थ नष्ट होने से उनके अभिमानी देवता ने डरकर, दोनों स्तनों को कम्पित किया। स्तनों के अभिमानी देवता कहने का आशय कञ्चुकी<sup>२</sup> से है। वह स्तनों को नियम में रखती है, किन्तु जब स्नेह बढ़ने से स्तनों में दूध विशेष हो जाता है, तब वे फूलते हैं और दूध टपकने लगता है। जिससे वह चोली, भय से ढीली पड़ गई तो स्तन कम्पित होने लगे। इस भाव को बताने के लिए श्लोक में (पुत्र स्नेह-स्तुतकुचयुगं जातकम्पं) कहा है। कम्पित स्तनों को धारण करती हुई अर्थात् उनकी अपेक्षा<sup>३</sup> न कर दधिमन्थन करती रही। इसका रहस्य आचार्यश्री बताते हैं कि यशोदा ने इस प्रकार मन्थन करने से आधिभौतिक आध्यात्मिक और आधिदैविक को भी अपेक्षा नहीं की। श्लोक में दिये हुए 'च'(और) शब्द का भावार्थ आचार्यश्री बताते हैं कि 'अन्तर्यामी की प्रेरणा' की भी अपेक्षा<sup>४</sup> कर दी।

जब यशोदा ने इस प्रकार किसी की भी अपेक्षा<sup>५</sup> न कर स्वच्छन्द कार्य करने लगी, तब भगवान् ने रक्षार्थ, जो मृत्यु और यम को दण्ड के लिये स्थापित किया है, उन्होंने दण्ड क्यों नहीं दिया? इसका उत्तर श्लोक में 'सुभ्रूः' पद से यशोदा के गुण को बता कर दिया है। यशोदा की दो 'भौ' मृत्यु और यम रूप हैं। 'भौओं' के सिकुड़ने से दर्शकों को क्लेश होता है। यदि 'भौओं' का संकोचन कर 'भौ' द्वारा सुन्दर दिखावट हो तो क्लेश का अभाव हो जाता है। अतः दण्डधरों ने देखा कि यशोदाजी के सुष्ठु प्रकार से चलायमान सुन्दर 'भौओं' के दर्शन मात्र से, सब के क्लेश कट गये हैं, तो हम किसलिये दण्ड देवें और 'भौओं' सुशोभित नहीं रहें इससे यह भी आशय निकलता है कि यशोदा को भी दधिमन्थन से क्लेश नहीं हुआ था।

नेत के खेंचने से, उत्पन्न श्रम से भुजाओं में पहने हुए कङ्कण हस्त<sup>६</sup> पर्यन्त<sup>७</sup> आ जाते थे। जिससे यों समझा जाता था कि यशोदा ने कङ्कण हाथ में पहने हैं। वैसे (कङ्कण वाले) हस्तों को धारण करनेवाली यशोदा हुई। इससे भक्ति-मार्ग और कर्म-मार्ग एवं उनके देवता तथा नियम भी क्लेशयुक्त हुए इसका तात्पर्य यह है कि नेत को खेंचने वाली दो भुजाएँ हैं उनमें से दक्षिण भुजा भक्ति-मार्ग और वाम भुजा, कर्म मार्ग है। इस दधि मन्थन में दो क्रियाएँ हैं एक भगवान् से सम्बन्ध रखने वाली और दूसरी गृहस्थाश्रम से सम्बन्ध रखने वाली है। भगवान् से सम्बन्ध रखने वाली क्रिया मुख्य होने से दक्षिण भुजा (मुक्ति मार्ग) से की जाती है अर्थात् भगवत्सम्बन्धी

१ - चलता ही रहना।

२ - परवाह।

३ - चोली।

४ - अनादर, त्याग।

५ - परवाह।

६ - हाथ।

७ - तक।



कार्य, मुक्ति मार्ग से सिद्ध होता है। गृहस्थाश्रम से सम्बन्ध रखने वाली क्रिया, गौण होने से वाम भुजा (कर्म मार्ग) से की जाती है, अर्थात् गृहस्थाश्रम सम्बन्धी कार्य कर्म मार्ग से सिद्ध करते हैं। दक्षिण भुजा में पहने हुए कङ्कण, भक्ति मार्ग के नियम हैं। वाम भुजा में पहने हुए कङ्कण कर्म मार्ग के नियम हैं। इन कङ्कणों को पहनने का भाव यह है कि भक्ति मार्ग पर चलने वालों को भक्ति मार्ग के नियम धारण करने हैं और कर्म मार्ग के पथिकों को कर्म मार्ग के नियमों का अनुगामी होना आवश्यक है। यशोदा ने कानों में जो कुण्डल धारण किए थे, वे साङ्ख्य और योग के रूप थे। दोनों क्लेशयुक्त हुए थे, यशोदा ने जो भी आभूषण जहाँ भी धारण किए थे, वे क्लेश वाले हो गए थे। श्लोक में आए हुए दूसरे 'च' अक्षर का आशय कहते हैं कि सिर भी कम्पायमान हो रहा था। 'जातकम्पम्' शब्द पृथक् देने का यही भाव है कि सब क्लेशयुक्त बताने थे। यदि सबों को क्लेशयुक्त नहीं बताना होता, तो 'जातकम्पम्' पद पृथक् नहीं देकर 'स्नुतसकम्पकुचपङ्ग' एक ही पद कर देते थे। मस्तक सत्य लोक का आधिदैविक रूप है, इसलिए उनके ऊपर जो केश हैं, वे ज्ञानी और मुक्त जीवों के रूप हैं। अतः मस्तिष्क के कम्पित होने से वे ज्ञानी और भक्त भी क्लेशयुक्त थे। यशोदाजी का मुख भी क्लेशयुक्त होने से पसीने से भर गया था, इससे यह बताया कि यशोदा के इस प्रकार के मुख से यह सिद्ध हुआ कि यशोदा से भक्ति का सार अलग हो गया है। यशोदा ने अपनी चोटी में जो मालती के पुष्प गूँथे थे। उनका भाव आचार्यश्री बताते हैं कि केशपाश (चोटी) वाला स्थान सिद्धों का स्थान है। उस स्थान पर लगे हुए मालती के पुष्प, ब्रह्मविद्या के रूप थे, वे भी संसारसक्ति के कारण धीरे-धीरे गिरने लगे (ब्रह्म विद्या जाने लगी)। इतना सब होते हुए भी संसारसक्त यशोदा मन्थन कर रही थी। श्लोक में जो वर्णन किया गया है वह यदि केवल यशोदा की आकृति का (वस्त्रों से सुन्दर हुई आकृति का) वर्णन होता तो चौथे श्लोक में जो शुकदेवजी कहेंगे, उसका विरोध होता। द्वितीय श्लोक में यशोदा मन्थन करती हुई भगवद् गुणगान कर रही थी। तब किसी को भी क्लेश न हुआ और तीसरे श्लोक में केवल यशोदा के स्वरूप एवं आकृति का वर्णन है। इस प्रकार का अर्थ न कर 'मन्थन कार्य' को अयोग्य एवं सब को क्लेश हुआ, यह आशय आचार्यश्री ने जो बताया है, उसका कारण यह है कि चौथे श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं कि भगवान् ने दधि बिलोने की क्रिया करने से माता को रोक दिया, बिलोना करने नहीं दिया। इससे यह भाव तीसरे श्लोक से स्पष्ट होता है कि तीन श्लोक में कहे हुए बिलोने से सब को कष्ट हुआ और मुख्य भगवद् गुण-गान गौण हो गया, जिससे भगवान् ने माता को इस दधि मन्थन से रोका। इस रहस्य को आचार्यश्री ने ही समझा, इसलिए आचार्यश्री ने तीन श्लोक का भावार्थ इस प्रकार समझाया है कि भगवान् की लीला में जो भी रहते हैं वे भक्त अलौकिक हो जाते हैं, अर्थात् वे भी भगवदरूप हो जाते हैं। यशोदा भगवान् की लीला में स्थित है, अतः जैसे भगवान् के मस्तिष्क में ज्ञानी और मुक्त निवास करते हैं वैसे ही यशोदा के सिर में भी केश रूप में ज्ञानी और मुक्त निवास कर रहे हैं ॥ ३ ॥

**आभास -** पूर्ववद् भगवान् बालकानामर्थे स्तन्यकाम सञ्छमं वारितवानि त्याहतामिति ।

**आभासार्थ -** पूतना-वध कर जिन बालकों को अपने भीतर स्थापित किए थे, उनको स्तन्य पान कराने के लिए पहले की तरह भगवान् ने स्तन्य की चाहना करते हुए माता यशोदा को श्रम कार्य से रोका । इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः -** तां स्तन्यकाम आसाद्य मथ्यन्तीं जननीं हरिः ।

गृहीत्वा दधिमन्थानं न्यषेधत् प्रीतिमावहन् ॥ ४ ॥

**श्लोकार्थ -** दही बिलोती हुई माता के पास स्तन्य-पान करने की इच्छा से आकर प्रीति बढ़ाते हुए भगवान् ने मथानी को पकड़ माता को बिलोना करने से रोक लिया ।

**सुबोधिनी -** आसाद्य निकटे गत्वा नैकदृग्दर्शनाभ्यां क्रियाज्ञानाभ्यामुभयविधनिरोधसिद्धिः, मथ्यन्तीमिति दध्ने विकृतत्वं स्वस्यापि प्रयासः, जननीमिति निरोधावश्यकत्वं, तथाबुद्धिस्तेनैव कृतेति, हरिरिति सामान्यतोऽपि सर्वदुःखहर्ता साम्प्रतं कर्तुरित्यन्तान्याभिविवेशान् करणप्रतिबन्धमेव

कृतवानित्याह गृहीत्वा दधिमन्थानमिति, मन्थानं दण्डं हस्तेन धृत्वा प्रीतिमावहन् न्यषेधन्मथननिषेधं कृतवान्, निषेधेपकारणकरणाय प्रीतिमावहन्निति, यथा तस्याः स्वस्मिन् प्रीतिर्भवति तथा कुर्वन् ॥ ४ ॥

**व्याख्यानार्थ -** भगवान् ने माता यशोदा को दोनों प्रकार (क्रिया और ज्ञान) से निरोध सिद्धि करने के लिये उनके निकट जाकर दर्शन दिये । निकट जाने की क्रिया से यशोदा का क्रिया रूप निरोध सिद्ध हुआ । जिससे भगवान् को स्तन्य पान करने लगी और दर्शन से ज्ञानरूप निरोध की सिद्धि हुई, जिससे भगवान् में आसक्ति हुई । आसक्ति होने से भगवान् के मुखारविन्द के दर्शन में मग्न हो गई । (इनका वर्णन ५ वें श्लोक में होगा) । यशोदा उस समय दधिमन्थन कर रही थी । भगवान् ने सोचा कि दधि-मन्थन से एक तो दधि में विकार होगा और यशोदा को भी श्रम हो रहा है । यदि मैं मथानी को पकड़ कर रोक्कूंगा, तो मुझे भी परिश्रम होगा, किन्तु यशोदा के हृदय में मैंने अपने लिये पुत्रभाव उत्पन्न किया है जिससे वह मुझे पुत्र समझती है । इसलिये वह मेरी माता है । जबकि मैं हरि हूँ, सब का दुःख मिटता हूँ तो माता का दुःख तो मुझे अवश्य नष्ट करना चाहिये । इसलिये माता की संसारसक्ति छुड़ाकर निरोध कराना आवश्यक है । इस प्रकार का विचार कर श्रीकृष्ण ने दधि-बिलोने का जो साधन (मथानी) था । उसको पकड़ लिया । इस प्रकार से पकड़ा कि जिस क्रिया को देखकर माता कुपित न होकर प्रसन्न होने लगी । जिससे माता की भगवान् में प्रीति बढ़ने लगी ।

**कारिका — सर्वाङ्ग चालयन् हस्तौ पादौ चैव विचालयन् ।**

**मुखाब्जं मधुरारवं बिभ्रत् कृष्णः समागतः ॥१॥४॥**

**कारिकार्थ—**सब अङ्गों को चलाता (हिलाता) हुआ और हाथ तथा पैरों को विशेष हिलाता हुआ, मीठे अस्पष्ट<sup>१</sup> आवाज वाले मुख कमल को धारण करता हुआ श्रीकृष्ण आ गया ।

**व्याख्या—**भगवान् कृष्ण को दधि-मन्थन से रोकने के लिये, माता की मथानी को पकड़ना था । कृष्ण ने सोचा कि यों करने से माता कुपित होगी । इसलिये मैं माता के निकट इस प्रकार जाऊँ, जैसे मथानी पकड़ने की मेरी उद्धताई माता भूल जाय, मेरी चतुराई चपलता देख कर प्रसन्न हो जाय । जिससे मुझ में विशेष प्रेम करने लगे । आचार्यश्रीने कारिका में श्रीकृष्ण की उस धौर्त्यपूर्ण<sup>२</sup> चतुराई तथा चञ्चलता का वर्णन किया है । श्रीकृष्ण माता के पास जाते समय नर्तक<sup>३</sup> के समान, अपने सर्व अंगों को सामान्य प्रकार से हिलाने की चेष्टा करने लगे एवं ज्यों-ज्यों माता के पास पहुँचे, त्यों-त्यों हाथ और पैरों को विशेष प्रकार से हिलाने की क्रिया करते थे । जिससे माता को यह इंगित<sup>४</sup> करते थे कि मैं थक गया हूँ मुझे झट उठकर गोद में ले ले और मुखकमल से तोतले मीठे वचनों से माता को मोहित करते हुए आकर माता के पास पहुँचे ॥ १ ॥ ४ ॥

**आभास—**भगवता प्रीतिर्जनितेति भगवदर्थं प्रपञ्चासक्तिं परित्यज्य स्तनं पायितवतीत्याह तमंकमिति ।

**आभासार्थ—**भगवान् ने माता के हृदय में अपने लिये ऐसा प्रेम उत्पन्न किया कि जिससे माता प्रपञ्चासक्ति का त्याग कर, कृष्ण को स्तन्य-पान करने लगी । निम्न श्लोक में इसका वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः — तमङ्कमारूढमपाययत् स्तनं स्नेहस्रुतं सस्मितमीक्षती मुखम् ।**

**अतृप्तमुत्सृज्य जवेन सा ययावुत्सिच्यमाने पयसि त्वधिश्रिते ॥ ५ ॥**

**श्लोकार्थ—**गोद में चढ़े हुए उस (श्रीकृष्ण) को यशोदा स्नेह (दूध) वाले स्तन से बहते हुए दूध को पिलाने लगी । उस वक्त भगवान् के मुस्कराहट वाले मुखारविन्द को यशोदा देख रही थी । इतने में चूल्हे पर चढ़े हुए दूध में उफान आता देखकर वह भगवान् को अतृप्त ही छोड़कर वेग से वहाँ चली गई ।

सुबोधिनी - स्वयमेवाङ्गमरूढपीडित्थितं स्तनमपाययत्, यथा सा विमुच्य न गच्छति तदर्थमङ्गमरूढो दैत्यानाक्रमयितुं च, स्नेहसुतमिति नास्याः स्तनपानजनितोपि क्लेशः यद्यपि मोहिताया, प्रपञ्चासक्तिर्महतो गृहे च बहु कार्यं दास्यश्च न सन्ति तथापि मन्दहासयुक्तं मुखं पश्यन्त्य-पाययत्, इदानीं स्थित्यर्थं मोहनं पूर्वमोहनस्य सङ्कोचश्च, एवं निर्वन्धेन स्थापितापि दोषवशात् त्यक्त्वा निगतेत्याहातृप्त-मुत्सृज्येति, न तृप्ता यस्मिन् प्रतिबन्धं कुर्वाणमप्युत्सृज्येथ

त्यक्त्वा जवेनातिवेगेन सा पूर्वोक्ता प्रबलप्रपञ्चा ययौ, उद्देश्यपर्यन्तं गतवती, गमने लौकिकमावश्यकं कार्य-माहोत्सिच्यमाने पथसीति, अधिश्रितेर्गनां स्थापिते पयस्युत्सिच्यमाने विष्यन्दमाने सति विष्यन्दनं द्रव्यनाशकं दोषजनकं च, तुशब्दः प्रक्रमान्तरमाह, भगवदनुरोधेन यथा मन्थानं परित्यज्य भगवदनुरोधं कृतवती मथनाविरोधेनैवं भगवदनुरोधेन दुग्धोत्तारणं न कृतवती किन्तु भगवदनुरोधं परित्यज्यैव कृतवतीति ॥ ५ ॥

व्याख्यानार्थ - भगवान् माता का प्रेम बढ़ाते हुए स्वयं (आप) ही गोद में चढ़ बैठे। जिससे माता के स्तनों में स्नेह (दूध) आ गया। दूध से माता के स्तन ऊँचे हो गये जो, उसने कन्हैया के मुखारविन्द में दे दिये। भगवान् उनको चूसने लगे। भगवान् स्वयं गोद में क्यों चढ़े? पृथ्वी पर बैठकर ही स्तन चूसते। इसका आशय बताते हैं कि यद्यपि कृष्ण ने माता में ऐसा प्रेम उत्पन्न किया था, जो माता आते हुए कृष्ण को उठाकर गोद में बिठाने वाली थी परन्तु कन्हैया स्वयं गोद में इसलिये बैठ गया कि आपको भूमि पर स्थित दैत्यों का दमन करना था और माता की गोद आधिदैविक भूमि है। इससे यह जताया कि जीव जब अपने हृदय को आधिदैविक बनाता है तब उस हृदय में स्वयं आकर विराजमान होता हूँ। जब बच्चा माता के स्तन्य से दूध चूसता है, तब माता को कुछ क्लेश होता है; परन्तु यशोदा को वह क्लेश भी न हुआ कारण कि प्रेम से स्तनों में आया हुआ स्तन्य<sup>१</sup> स्वतः बह रहा था, इससे न माता को क्लेश हुआ और न कन्हैया को दूध खेंचने के लिये परिश्रम करना पड़ा। यद्यपि मोहग्रस्त यशोदा की प्रपञ्च में विशेष आसक्ति थी घर में कार्य भी बहुत थे घर की दासियाँ वहाँ नहीं थी जो वे कार्यों को निपटा लें, ऐसा होते हुए भी यशोदा जो भगवान् को स्तन्य-पान करा रही थी, उसका कारण यह था कि यशोदा भगवान् की मोहिनी मन्द मुस्कान से, मुखारविन्द के दर्शन में मग्न हो गई थी। भगवान् ने इसलिये मंद हास्य किया था कि यशोदा यहाँ स्थित रहकर मुझे स्तन्य-पान करावे। इस समय जो मोह उत्पन्न कराया, उससे आठ वें अध्याय में कराया हुआ मोह, संकोच को प्राप्त हुआ (सिकुड़ गया)। यद्यपि भगवान् ने हास्य द्वारा यशोदा को रोक तो रक्खा, किन्तु मोह का स्वरूप ही दोषरूप है; अतः मोहरूप (संसारसक्तिरूप) दोष प्रबल होने से प्रबल-संसारसक्त वह यशोदा, भगवान् के अन्तःस्थित बालक स्तन्यपान से तृप्त भी नहीं हुए थे, तो भी भगवान् को गोद से, नीचे पटक कर वहाँ शीघ्र चली जाने का कारण लौकिक आवश्यक कार्य था, वह बताते हैं कि दूध आग वाले चूल्हे पर घर था, उसमें आग के कारण से विशेष उफान आ जाएगी, तो दूध डुलता हुआ बह जाएगा, जिससे द्रव्य नाश होगा, अथवा लौकिक दोष (जलने से स्वाद-

१ - स्तन से निकला हुआ दूध।

नहेत हो जाएगा) । इस कारण से जहाँ दूध चूल्हे पर धरा था, वहाँ जल्दी पहुँच गई । श्लोक में दिये हुए 'तु' शब्द का आचार्यश्री भाव बताते हैं कि यशोदा ने जैसे पहले भगवान् के त्रिचामनुसार दधि का बिलोना छोड़, भगवान् के प्रसन्नतार्थ उनको स्तन्य-पान कराया था, उस प्रकार यहाँ यशोदा ने नहीं किया । यहाँ तो उससे विपरीत किया, अर्थात् भगवान् की इच्छा तो थी कि मुझे दूध चुसाती रहे, इसका अनुसरण<sup>१</sup> न कर स्वयं (भगवान् की इच्छा के विपरीत) दूध उतारने चली गई । इस भाव को स्पष्ट करने के लिये श्लोक में शुकदेवजी ने 'तु' शब्द दिया है ॥ ५ ॥

श्लोकः — स जातकोपः स्फुरितारुणाधरं सन्दश्य दद्भिर्दधिमण्डभाजनम् ।

भित्त्वा मृषाश्रुदृषदश्मना रहो जघास हैयंगवमन्तरंगतः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ — भगवान् को इससे क्रोध हुआ, लाल होंठ फरकने लगे, झूठे आंसू आ गए और दाँतों से होंठ डसकर, पत्थर से मट्टे की मथनी फोड़ डाली । घर के अन्दर जाकर एकान्त में भक्खन खाने लगे ।

सुबोधिनी — ततो बालकानामतृप्तत्वाद् भगवान् जातकोपो जातः, यतः स बालकरक्षकः बालकरक्षाप्रतिष्ठाते भक्तिमार्गविशेषेन वैषम्यादकस्मादेव क्रोधो जातः स्थित एव निमित्तवशादुदगतः, ततः कोपो यशोदां मारयिष्यतीति लोभं तदगतं भाण्डं च स्फोटितवानित्याहाधरं दद्भिस्सन्दश्य दृषदश्मना दधिमण्डभाजनं भित्त्वेति, अधस्त्य दंशे हेतुः स्फुरितारुणेति, स्फुरितोरुणवर्णश्च जात इति लोभाद् भगवत्स्फुरित्यागे लोभस्यैवापराधो भवति तदा लोभ आधिदैविको यशोदां मारयितुमाध्यात्मिकं वा स्वयं विज्ञापनार्थमागतः, तदा स्फुरणं जातं, तत् त्रयं निवारणीयं, रजोगुणश्च प्रादुर्भूतो जातस्त्रय-मुत्पादयितुं भिन्नं तदुभयमपि निवारयितुमोष्ठदंशः, दन्ता स्नेहकला यशोदानिष्ठाः, तैस्तेषां निवारणं कृतं, अनुकरणं तु स्पष्टमेव, दधिमण्डस्तक्रं, तदाधारभूतं भाण्डं नवनीतं तु भिन्नं जातमस्ति, ततो दृषदश्मना दृषत्सम्बन्धिकुट्टनपाषाणेन भित्त्वा दैत्याविष्टेव सा निर्गतः

तेषां दैत्यानामाधिदैविकानां यज्ञायुधेनैव जनितशब्देन निवारणं कर्तव्यं, तत्र महति शब्दे क्रियमाणे भाण्डमेव भिन्नं, एवमुपकारं कृत्वा मृषाश्रुर्जातः, दधिभाण्डभङ्गेऽपि दोषसम्भवात्, यद्यपि स्वतः कृतभङ्गे दोषो नास्ति रुदः समागत इति लोके ज्ञापयितुमश्रूण्यवर्तयत्, अन्यथा भाण्डदेवताया भङ्गो न स्यात् अश्रूणां कार्यं, च रजतादि नैमित्तिकं च तदुभयाभावात् मृषाश्रुत्वं, यशोदाया नाशशङ्कया वा, तथापि रक्षकः स्वयमित्यश्रूणां मृषात्वमेव, वस्तुतस्तु भाण्डे दैत्य आदिष्टः, तद्विघातमेव तत् कृतवान्, ततस्तस्याः श्रमः सार्थको भवत्विति हैयङ्गवं रह एकान्ते बालकार्थं जघास, जहोरेति वा, स्वस्यापि भक्षणं प्राप्त्यतीत्यन्तरङ्गतो भेदं प्राप्तवान्, ततः प्रभृति ते भिन्नाः कृताः, गृहमध्ये गतः, तत्राप्येकान्त आधिदैविकदैत्यानाम-गम्यस्थाने बालकार्थमेव जघास भक्षितवान् ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् ने अन्तःस्थित बालकों को तृप्त करने कि लिये स्तनपान किया था, वे बालक तृप्त हुए ही नहीं, तो यशोदा दूध में उफान आते देखकर उसको उतारने के लिये भगवान् को पृथ्वी पर पधरा कर त्वर<sup>१</sup> से वहाँ चली गई। बालकों के अतृप्त होने से भगवान् कुपित हुए कारण कि वे बालकों के रक्षक हैं। यशोदा के जाने से बालकों की रक्षा में विघ्न हुआ, जिससे विषमता प्रतीत होने लगी। उस समय भक्तिमार्ग के आवेश से (भक्तिमार्ग में शरण्य की रक्षा करना भगवान् का प्रथम कर्तव्य है और इस मार्ग में भगवान् भक्त के पक्षपाती ही बनते हैं) भगवान् में अकस्मात्<sup>२</sup> क्रोध उद्भूत<sup>३</sup> हो गया, भीतर स्थित\* क्रोध ही निमित्तवश<sup>४</sup> बाहर प्रकट हुआ। यह क्रोध यशोदा को मारेगा। यशोदा को मारना भगवान् को अभीष्ट नहीं था कारण कि भगवान् ने समझा था कि यह दोष<sup>५</sup> यशोदा का नहीं है किन्तु लोभ का है, अतः लोभ का ही नाश करना चाहिये। वह लोभ दधि भाण्ड में स्थित था, इसलिये भगवान् ने उसको पत्थर से फोड़ डाला। उस समय स्वयं आधिदैविक<sup>६</sup> लोभ, यशोदा को मारने के लिए आध्यात्मिक लोभ के नाशकरणार्थ, भगवान् को प्रार्थना करने के लिये आ गया। जिससे भगवान् के अधर (लोभात्मक ओठ) में स्फुरण हुआ। भगवान् ने उसको दाँतों से डस लिया उससे वह लालवर्ण हो गया। भगवान् को आधिदैविक लोभ की यह प्रार्थना स्वीकृत नहीं थी, अर्थात् यशोदा के अपराध के लिये उसे मारना और आध्यात्मिक लोभ को मूलतः नाश करने की इच्छा भी नहीं थी क्योंकि यों करने से आगे की जाने वाली लीलाएँ हो न सकेंगी। इसलिये इन तीनों का निवारण करना था और उस समय रजोगुण भी उत्पन्न हुआ जिसने दूसरे तीन कार्य पैदा किये (१-यशोदा दोष रहित है, २-उसका (यशोदा का) लोभ अपने लिये नहीं है किन्तु भगवत्सम्बन्धी है, ३-भगवान् के उपयोग में आने वाले दूध की रक्षा करने के लिये वह गई) इन तीनों को भी रोकना था। इन दोनों कार्यों को रोकने के लिये ही आपने अधर को डसा था। भगवान् के दाँत यशोदानिष्ठ स्नेह की कलाएँ हैं। उनसे (यशोदानिष्ठ स्नेहकलारूप दाँतों से) उन दोनों (आधिदैविक लोभ के कार्य एवं रजोगुण के कार्य) का निवारण किया। अनुकरण<sup>७</sup> स्पष्ट है। तक्र<sup>८</sup> का बर्तन जिसमें विलोई हुई छाछ थी और मक्खन पृथक् हो गया था, उसको पीसने की

\* भगवान् के धर्म भगवान् के सदृश नित्य है अतः उनका नाश कभी भी नहीं होता है वे सदैव भगवान् में तिरोहित<sup>९</sup> रहते हैं।

<sup>१</sup> निमित्तवश उनका आविर्भाव<sup>१०</sup> होता है जैसे यहाँ अकस्मात् क्रोध का आविर्भाव हुआ है।

<sup>२</sup> भगवान् के दाँत, यशोदा पर जो भगवान् का स्नेह है, उसकी कलाएँ हैं। यशोदा पर स्नेह के कारण भगवान् आधिदैविक लोभ से स्फुरित, रजोगुण से लाल अधर को दाँतों से दबा कर उन दोनों के कार्यों का निवारण किया।

१ - जल्दी, शीघ्रता। २ - अचानक। ३ - पैदा। ४ - छिपे। ५ - प्राकट्य।

६ - भगवान् को छोड़ जाना, यशोदा का चला जाना निमित्त था - 'लेख'

७ - अन्तः स्थित बालकों के लिए स्तनपान करने का लोभ आधिदैविक लोभ है - 'लेख'

उफानने वाले दूध की रक्षा का, यशोदा का लोभ आध्यात्मिक लोभ है - 'लेख' ८ - छाछ।

सिल से फोड़ डाला, जिससे जैसे मनुष्य से आविष्ट दैत्य निकल जाता है वैसे ही तक्र बह गई। आधिदैविक दैत्यों को, यज्ञ के<sup>१</sup> आयुध से उत्पन्न शब्द से ही निकालना चाहिये। पीसने की सिल से भाण्ड के फोड़ने से महान शब्द हुआ, जिससे प्रविष्ट दैत्य भाग गया। इस प्रकार यशोदा पर उपकार कर बाहरी दिखाव करते हुए, भगवान् झूठे आँसू बहाने लगे, कारण कि दधि-भाण्ड के टूट जाने पर भी दोष का सम्भव होता है। यदि स्वयं भाण्ड को तोड़ा जाय तो दोष नहीं, तो भी रुद्र आ गया, यह लोकों को जताने के लिये आँखों में आँसुओं को लाये नहीं तो (रुद्र वा क्रोध न आया होता तो) भाण्ड के देवता का भंग नहीं होता अर्थात् भगवान् तक्र के भाण्ड को फोड़ते नहीं। आँसू झूठे थे, इसकी पुष्टि<sup>२</sup> के लिये कहते हैं कि श्रुति में कहा है कि भगवान् के आँसुओं से रजत<sup>३</sup> और सुवर्ण<sup>४</sup> होते हैं ये दोनों अब न हुए। इससे जाना जाता है कि ये आँसू झूठे थे और दूसरे किसी निमित्त से आँसू होते हैं तो यहाँ वह भी नहीं था तथा यशोदा के नाश की शंका से आँसू आये हों तो भी आँसू न आने चाहिए क्योंकि सर्व रक्षक विभ, आप ही हैं तो उसका भय भी कारण न था। इसलिये यह निश्चित है कि आँसू झूठे (दिखावटी) ही थे। वास्तविक बात तो यह है कि तक्र भाण्ड में दैत्य आविष्ट था, उसको मारने के लिये ही भगवान् ने वर्तन को खण्डित किया।

इस प्रकार लीला करने के पश्चात् भगवान् ने सोचा कि यशोदा माता ने श्रम कर नवनीत निकाला है उसका श्रम सफल हो तदर्थ आपने (भगवान् ने) एकान्त में आकर बालकों को तृप्त करने के लिये मक्खन खाने लगे, अथवा बालकों के लिये मक्खन भीतर ले गए, भीतर ले जाईगा तो मुझे भी मक्खन<sup>५</sup> खाने के लिये मिलेगा। इससे यह समझा जाता है कि भगवान् ने बालकों से भेद किया, जिससे यह प्रकट है कि उस समय से बालकों को अपने से अलग किया, मध्य में<sup>६</sup> गए वहाँ भी एकान्त स्थान में आधिदैविक दैत्य यहाँ न आ सकेंगे,<sup>६</sup> यों निश्चय कर बालकों के लिये खाने लगे ॥ ६ ॥

१ यशोदा पुत्र का त्याग कर, दूध की रक्षार्थ जाने का, वास्तविक कारण दूध, स्नेहरूप कला में आविष्ट दैत्य ही था। उस आधिदैविक दैत्य को भगवान् ने यज्ञ के आयुध (पीसने की सिल-यज्ञ के दस आयुधों में यह भी आयुध है) से भगया। भाण्ड के फोड़ने के शब्द सुनने से दैत्य भाग गया और यशोदाजी को पुत्र स्मरण हुआ। सुबोधिनी में 'हव' शब्द देकर यह बताया है कि यशोदा में दैत्य आविष्ट हो नहीं सकता है, वैसी दिखने में आती थी। - 'टिप्पणी'

१ - सपर्यन्त।

२ - चाँदी।

३ - सोना।

४ - भक्ति से जो कुछ भगवान् को धर जाता है वह भगवान् खाते हैं, आगे होने वाली लीला में भगवान् भक्षण करेंगे - 'प्रकाश'

५ - गुणगान करती हुई यशोदा ने जो मक्खन निकाला उसको भगवान् ग्रहण करे यह योग्य ही है। भगवान् ने बालकों को पृथक् कर यह बताया कि मैं भी भक्षण करता हूँ। - 'लेख'

६ - माता क्रोध न करे इसलिए एकान्त स्थल (जहाँ माता देखे नहीं) में जाकर मक्खन भक्षण किया - टिप्पणी

आभास - ततो यज्जातं तदाह ।

आभासार्थ - उसके पश्चात् जो हुआ वह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोकः— उत्तार्य गोपी सुशृतं पयः पुनः प्रविश्य सन्दृश्य च दध्यमत्रकम् ।

विलोक्य भग्नं स्वसुतस्य कर्म तज् जहास तं चापि न तत्र पश्यती ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ — यशोदा दूध को उतार कर फिर उसको अच्छी तरह औटाने लगी, उसको (औटाने हुए को) उतार कर लौटकर मन्थन मंदिर में आई, वहाँ मट्टे की मथनी फूटी देखकर समझ गई कि यह मेरे बेटे का काम है और उसको वहाँ न देख हँसने लगी ।

सुनोधिनी-उत्तार्येति, पयस्तु सुशृतं सम्यक् पक्वं तदुत्तार्य भूमौ स्थापयित्वा पुनः सुशृतमिति प्रथममुत्सेक उत्तार्य पुनरधिश्रित्य ततः श्रुते पुनरुत्तारितवतीत्यर्थः, प्रविश्य मथनस्थानं, अनेनाङ्गणे पयोधिश्रितमिति ज्ञायते बहिर्गृहे मन्थनं तद्गृहं प्रविश्य सन्दृश्य च दध्यमत्रकं भग्नममत्रकं भाण्डं सम्यग् दृष्ट्वा कर्तृकरणकर्मणां याथार्थ्यं, चकारात् नवनीताभावं

च दधिभण्डप्रवाहं च, ततस्तत्कर्म स्वसुतस्येति च सन्दृश्य सम्यग् ज्ञात्वा लौकिकाविष्टचित्ता दैत्यानां निवारणाज् जहास हास्यं कृतवती न तु क्रोधं, भगवांश्चेत् तत्रैव तिष्ठेन् न किञ्चित् कुर्यात् तदा स्वस्यैवापराध इत्यतृप्तपरित्यागात् तूष्णीमेव तिष्ठेत् ॥ ७ ॥

व्याख्यानार्थ — श्लोक के 'पुनः' शब्द के गूढ़ आशय को प्रकट करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि यशोदा ने प्रथम तो दूध में एक ही उफान आया था तो उसको उतार कर पृथ्वी पर धर, फिर दूध को चूल्हे पर धरकर खूब औट के उतार । मन्थन स्थान में प्रविष्ट हुई (इससे समझा जाता है कि दूध को औटाने के लिये आंगन में रखा था और मन्थन घर के भीतर करती थी), वहाँ उसने टूटा हुआ छछ का बरतन देखा । श्लोक के 'च' शब्द का आशय आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि मक्खन का अभाव और तक्र का बह जाना भी देखा तथा यह भी जान लिया कि यह कर्म मेरे पुत्र का है । जिससे यशोदा को कर्ता, कर्म और करण का पूर्ण ज्ञान हो गया, इस प्रकार के ज्ञान से यशोदा लौकिक आवेश वाली हो गई । भगवान् ने दैत्यावेश को दूर कर दिया था इससे यशोदा ने क्रोध न किया किन्तु हँसने लगी ॥ ७ ॥

१ - तक्र में दैत्यावेश था, भगवान् ने दैत्य को हटाने के लिए तक्र पात्र को तोड़ डाला, जिससे तक्र बह गई, दैत्य हट गया । दैत्य के हट जाने से यशोदा के हृदय से वात्सल्य रस प्रकट हुआ जिससे उसके हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि मेरा लाला इतने सामर्थ्य वाला हुआ है, इससे प्रसन्नचित्त होकर हँसने लगी, क्रोध न किया ।



**आभास** — भगवांस्तु रूढं तस्या लौकिकज्ञानं दूरीकर्तुं दृढमिति ज्ञापयितुं वा तस्यास्तामसभावोत्पत्त्यर्थं ततो गतः, तत्र च गत्वा पूर्वमपि दैत्यावेशेन यत् सम्पादितं हैयङ्गवादिकं तदपि शिष्ये स्थितं कामं यथेच्छं मर्कटाय प्रयच्छति मर्कटोपि दंष्ट्रित्वात् क्रूरजन्तुहैयङ्गवमप्यनुपयुक्तं शिष्यं च निर्वृतिपाशः स्वयं चोलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितो भवति, उलूखलं विपरीतं कृत्वा तत्र स्थितः, तेषां दोषनिवृत्त्यर्थं यज्ञपुरुषो भूत्वा "सुपर्णचयन" इव स्थितः, अग्नेर्नाभिरूपत्वादुलूखलस्य तदुपरि स्थितः सन्न-  
- "तिरिक्तमतिरिक्ताय प्रयच्छति रिक्तस्य शान्त्यै" ।

**आभासार्थ** — भगवान् चले जाने से वहाँ देखने में नहीं आए । इसका भावार्थ बताते हैं कि यदि भगवान् ब्रिज (उहरे) होते तो यशोदा हँसती नहीं, क्योंकि वह समझती थी कि मैं भगवान् की तृप्ति होने से पहले ही उनको छोड़ गई हूँ, इसलिये वह अपने को दोषी समझ चुप्पी साध लेती । भगवान् तो उसके (यशोदा के) गाढ़ लौकिक ज्ञान को मिटाने के लिये अथवा यह जानने के लिये कि यशोदा को वह ज्ञान दृढ़ है या नहीं तथा उसमें तामस भाव उत्पन्न करने के लिये वहाँ से घर के भीतर चले गए थे । वहाँ दैत्य के आवेशवाली तक्र में से यशोदा ने पहले जो मक्खन निकाल कर छींके में धरा था, उसको ऊखल पर चढ़कर, निकालते हुए बंदरों को खिला रहे थे, क्योंकि वह मक्खन दैत्यावेश वाला था अतः भगवान् के भोज्य न था, इस कारण वानरों को दे रहे थे वे भी दाँत वाले क्रूर प्राणी थे । छींके पर रखी था वह भी मृत्यु का पाश<sup>१</sup> है । भगवान् ऊखल को उलट कर उसके दोष नाश करने के लिये, उस पर यज्ञपुरुष होकर अग्नि स्थापित करने वाले के समान खड़े थे । ऊखल अग्नि की नाभि\* है । जैसे अग्नि की नाभि\* में यज्ञपुरुष स्थित है वैसे यहाँ आप यज्ञपुरुष रूप होकर स्थित हुए थे । शेष रहे हुए की शान्ति के लिये बचा हुआ मक्खन अन्यो को देते हैं ।

**आभास-ततो यशोदान्तः प्रविश्य तथाभूतं पुत्रं दृष्टवतीत्याहोलूखलाङ्घ्रेरिति ।**

**आभासार्थ**—उस समय यशोदा ने आकर इस प्रकार की लीला करते हुए पुत्र को देखा उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः — उलूखलाङ्घ्रेरुपरि व्यवस्थितं मर्कटाय कामं ददतं शिचि स्थितम् ।  
हैयङ्गवं चौर्यविशङ्कितेक्षणं निरीक्ष्य पश्चात् सुतमागमच्छनैः ॥ ८ ॥**

<sup>१</sup> श्रुति में छींके को यम का पाश कहा है - प्रकाशकार श्री - पुरुषोत्तमजी वह श्रुति लिखते हैं - शिष्य मुपदधाति नैर्ऋ तो वैपाशः ॥ ७ ॥

\* उलूखलमुपदधाति एषावा अग्नेर्नाभिः इति श्रुतेः 'प्रकाश'

**श्लोकार्थ -** उलटे ऊखल पर खड़े छीके में धरे मक्खन को लेकर, बंदर को यथेच्छ दे रहे थे और चोरी करने से चकित (शंका शील-भय युक्त) नेत्र वाले पुत्र को देखकर धीरे-धीरे उसके पीछे से आई ॥ ८ ॥

**सुबोधिनी-पूर्व** तत्र भगवद्दर्शने मर्कटोपि न दृष्टेन शङ्कापि, अतोन्वेषणमपि कर्तव्यं, अन्वेषणे पुनश्चित्तं भगवत्परं जातमिति भगवन्तं दृष्टवतो दोषाणामप्रयोजकत्व-ज्ञापनायोलूखलं विपर्यतं कृतं तदा सुपर्ण एव विपर्यतः कृतो भवति, अतः सर्वदोषनाशकान्तेरपि यत्र वैपर्यत्यं तत्र दोषाणां किं वक्तव्यमिति ज्ञापितं, काममिति यथेच्छं सन्देहाभावाद् देयमेव तन्, इति गोः सम्बन्धि हेयङ्गत्वं पूर्वकालगोसम्बन्धि नवनातं, चौर्यं बाते विशङ्किते ईक्षणे

यस्य, भगवता चौर्यं कृतमस्ति तस्याश्चौर्यदोषनिवारणाय सर्वपतिरपि तथाभावोत्पादनाश्लोकानुसारेण नवनीतहरणं चौर्यमित्युच्यते, तत्र दोषदृष्टौ तस्या ज्ञानं कालेन नाशयति इति विशेषाकारेण वा शङ्कितभीक्षणं यस्य तथा भवति, चौर्यविशङ्कित्यां वेक्ष्यं यस्य, उपयथापि तस्य ज्ञानवत्सङ्गः, तादृशं स्वयं निरीक्ष्य सुतं पृष्ठत् पृष्ठ भागे पृष्ठे च पश्यन्तौ पापदृष्टिः शनैरुपगमत्, ईषन्मात्रमागतवती, न हि पापदृष्टिः शीघ्रमागन्तुमर्हति ॥ ८ ॥

**व्याख्यानार्थ-यशोदा** ने प्रथम भगवान् को जैसे नहीं देखा, वैसे बंदर भी नहीं देखे, इससे उसके (यशोदा के) मन में संशय भी होने लगा अतः भगवान् को ढूँढना चाहिए । इस विचार के आने से फिर चित्त भगवत्परायण हुआ । चित्त भगवत्परायण होते ही भगवान् के दर्शन हो गये । दर्शन में यशोदा के दोष प्रतिबन्धक नहीं हुए । दोष विफल हो गए इनकी विफलता बताने के लिये ही भगवान् ने ऊखल को उलट किया था, जिसका भावार्थ यह है कि जहाँ सर्व दोषदाहक अग्नि ही उलटी होने के कारण जहाँ कुछ भी करने में समर्थ नहीं वहाँ दोष क्या कर सकते हैं । 'कामम्' शब्द का भाव बताते हुए कहते हैं कि अपनी इच्छानुकूल दे रहे थे क्योंकि भगवान् को उनको देने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं था कि कोई मुझे रोकेगा, कारण कि मैं सर्व (सब पदार्थों का) पति (स्वामी) हूँ । यह मक्खन आगे का इकट्ठा किया हुआ है । ताजा नवनीत नहीं है यद्यपि भगवान् सर्व-पति होने से चोर नहीं हैं तो भी लौकिक दृष्टि में यह कार्य चोरी मानी जाएगी अतः आप ऐसा नाट्य करने लगे इसको मूलकार 'चौर्य विशङ्कितेक्षणं' पद से दिखाते हैं कि चोरी के कार्य करने से भगवान् अपनी आंखें शङ्काशील (शङ्का व भय वाली) दिखाने लगे, इस लौकिक दोष दृष्टि का कारण बाल्यकाल है । अतः इस दोष दृष्टि का निवारण भी काल ही करेगा । तात्पर्य यह है कि यशोदा अब भगवान् को बालक ही समझने के कारण अज्ञा समझती है । अज्ञता में ऐसे (चोरी के) कार्य होते हैं जिस समय यशोदा उसके (भगवान् के) स्वरूप को समझेगी उस समय यह दोष दृष्टि स्वयं नष्ट हो जायेगी । आचार्यश्री विशेष भाव बताते हैं कि 'चौर्यविशङ्कितेक्षणं' के दो अर्थ हैं : एक चोरी करने से भय-युक्त नेत्र वाले भगवान् हो गए हैं और दूसरा यह है कि जिसके मन में मेरे लिए 'मैं चोर हूँ' उसको भगवान् देख रहे हैं

इन \*प्रकार से कोई भी अर्थ लेने पर यशोदा का सत्य ज्ञान नाश होकर उसमें दोष-दृष्टि उत्पन्न हो गई है। पुत्र को चोर समझ और स्वयं ने (चोरी करते) देखकर भगवान् के पीछे धीरे-धीरे आने लगी। इसका भावार्थ आचार्यश्री बताते हैं कि यशोदा दोष-दृष्टि के कारण पापयुक्त हो गई थी। अतः भगवान् के सामने न आ सकी, पापी भगवान् के न सामने आ सकते हैं और न शीघ्र भगवान् के पास पहुँच सकते हैं ॥ ८ ॥

आभास-ततस्तां दृष्ट्वायोग्या स्पृष्टमिति ततो निर्गतवानित्याह तामात्तयष्टिमिति ।

आभासार्थ-भगवान् ने जान लिया कि यशोदा आ रही है, किन्तु यह अवसर (पाप-दृष्टि होने से) मेरा स्पर्श करने योग्य नहीं है यों विचार कर वहाँ से चले गये इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — तामात्तयष्टिं प्रसमीक्ष्य सत्त्वरस्ततोवरुद्धापससार भीतवत् ।

गोप्यन्वधावन् न यमाप योगिनां क्षमं प्रवेष्टुं तपसेरितं मनः ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ — उसके हाथ में लकड़ी देखकर वेग पूर्वक उस पर से (ऊखल से) उतर कर डरपोक के समान भगवान् वहाँ से भाग गए। तब गोष्ठी (यशोदा) योगियों की तपस्या से प्रेरित (शुद्ध) मन जिसके पास पहुँच नहीं सकता है, उसको पकड़ने के लिये उसके पीछे दौड़ी ॥ ९ ॥

सुबोधिनी-यष्टिरत्र गोवत्सनिवारिका, तस्या भगवत्यपि वत्सबुद्धिर्जाता, आत्ता गृहीता यष्टिर्यथा, दर्शनादेव न पलायितवान् किन्तु तस्या अन्तर्गतं बाह्यं च भावं प्रकर्षेण सम्यग् दृष्ट्वा नैकदृश्यमपि नार्हतीति ज्ञात्वा तद्दोषपरिहाराय त्वयसहितस्ततोवरुद्धापससार प्रतिमुखतयैव पलायनं कृतवान् तस्या दोषेण स्वस्मिन् स्थितबालकानामपि दोषो भविष्यतीति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह भीतवत्, यथा भीतस्तदपकारं स्वस्मिन्

जानाति तथा भगवानपि तद्दोषं स्वस्मिन् विचास्तिवान् अनेनैव न भीत इति ज्ञापितं, सापि गोपी, अतोन्वधावत्, अनु पश्चाद धावनं कृतवती, तस्या अविवेकं प्रकटयितुं भुक्तो भगवन्तं विशिनष्टि यं भगवन्तं योगिनां सिद्धयोगानां निवृत्तदोषं मनस्तत्रापि तपसेरितं प्रेरितं धर्मेण संस्कृतमपि प्रवेष्टुं नाप न प्राप्तवत्, अत इयमप्यथादेव न प्राप्तवतीत्यर्थः ॥ ९ ॥

\* यदि यशोदा यों समझती है कि भगवान् ने सत्य चोरी की है तो भी यशोदा को अज्ञान है, क्योंकि यशोदा, भगवान् ने चोरी किसलिए की है इसको न जान सकी। यदि यशोदा को भगवान् के चोरी करने की शंका है तो भी यशोदा को अज्ञान है क्योंकि उसको अब यह ज्ञान निश्चित नहीं हुआ है कि यह भगवान् है। अतः दोनों प्रकार के अज्ञान होने से दोष-दृष्टि उत्पन्न हुई।

व्याख्यानार्थ-यशोदा ने भगवान् को बछड़े जैसा समझ कर गौओं के बछड़ों को अपने वश में करने वाली लकड़ी हाथ में ली। ऐसी यशोदा को देखकर उसके बाहर और भीतर के भावों को अच्छी तरह जान गए कि यह दोषयुक्त होने से निकट भी आने योग्य नहीं है इसलिये भाग गए न कि लकड़ी के भय से भागे थे। भाग जाने का दूसरा कारण यह भी था कि माता है। इसके दोष अवश्य दूर करने चाहिये। भगवान् त्वर से ऊखल से उतर कर इसी प्रकार भागे जैसे पापिष्ठ-यशोदा भगवान् का मुखारविन्द भी नहीं देख सकी और न भगवान् ने उसका मुख देखा, क्योंकि भगवान् ने सोचा कि यशोदा के\* दोषों से अन्तःस्थ (अन्दर स्थापित किए हुए) बालकों को भी दोष (दुःख) होगा। डरपोकों के समान इस दृष्टान्त का भाव बताते हैं कि जिस प्रकार डरने वाला समझता है कि यह (डरने वाला) मेरा अनिष्ट करेगा, उसी प्रकार भगवान् ने उसका (यशोदा का) भीतर का दोष समझा था, जिससे आप डरे नहीं थे, केवल डरने जैसा नाट्य किया था यह समझाया है। वह यशोदा भी गोपी है (अल्पबुद्धि वाली है क्योंकि गांव में रहनेवाली है) इस कारण से (अल्पबुद्धि होने से) भगवान् के पीछे दौड़ी शुकदेवजी उसका अविवेक<sup>१</sup> बताने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि जो भगवान् को पहुँचने के लिये 'योग' सिद्ध कर योगी बने हैं और जिनका मन दोष-रहित होने से शुद्ध हो गया है तथा तपस्या से प्रेरित, धर्म से संस्कृत (पवित्र) भी हो गया है, उन योगियों का मन भी भगवान् को नहीं पा सकता है तो यशोदा कैसे पा सकेगी अतः उसके पीछे पकड़ने के लिये दौड़ना अविवेक ही है ॥ ९ ॥

आभास-एवं भगवति दोषदर्शने भगवदीयोपि भगवन्तं न प्राप्नोतीत्युक्तं, तादृशेपि भगवान् कृपां करोतीति भगवत्कृपया भगवन्तं स्पृष्टवतीत्याहान्वञ्चमानेति ।

आभासार्थ-निम्न श्लोक में यह बताते हैं कि भगवदीय भी यदि भगवान् में दोष दृष्टि करते हैं अर्थात् दोष देखते हैं तो वे भी भगवान् को प्राप्त नहीं कर सकते हैं। किन्तु (भक्तवत्सल) भगवान् उन पर भी कृपा करते हैं जिससे वे भगवान् को पा सकते हैं (जैसे यहाँ दोष-दृष्टि वाली यशोदा पर कृपा की है जिससे उसने भगवान् को स्पर्श कर लिया)।

श्लोकः — अन्वञ्चमाना जननी बृहच्चलच्छ्रोणीभराक्रान्तगतिः सुमध्यमा ।

जवेन विसंसितकेशबन्धनच्युतप्रसूनानुगतिः परामृशत् ॥ १० ॥

‡ यदि भगवान् भाग न जाते तो, यशोदा इससे भी विशेष दोष करती, अर्थात् भगवान् को पीटती - 'लेख'

\* यदि यशोदा भगवान् को पीटती तो अन्तःस्थ बालक दुःखी होते ।

**श्लोकार्थ-**सुन्दर कटिवाली माता पीछे जाते हुए मोटे तथा चञ्चल नितम्ब के भार के कारण रुक जाती थी, वेग के कारण शिथिल चोटी से गिरे हुए पुष्पों के पीछे जाने वाली उसने भगवान् को पकड़ लिया ।

**सुबोधिनी** — प्रतिकूलोपि भगवदर्थ श्रमः सार्थकः, श्रोणी अन्वञ्चमाना श्रोणयोरकर्षणं कुर्वन्ती रथाकर्षणे बलीवर्दवद् भारक्रान्तगतिर्जाता भरेण भारेणाक्रान्ता गतिर्यस्या, दुष्ट गतिपरिणैवाक्रान्ता, ततो बुद्धिरपि दोषादर्निवृत्ता गमनार्थमेव प्रवृत्ता, तदाह सुमध्यमेति, जननीतिवचनात् सदुग्धयोः स्तनयोरपि भारः, सूचितः, जननीत्वाच्च न वर्णितः, वस्तुतस्तुजननी, जननी न काचिदप्येवं करोति, सुमध्यमेत्यनेन मध्ये भक्ता बहिव्यामोहिता, परं दुष्टभावाद् भारेण गत्याक्रमणमुक्त्वा शोभनमध्यभावं वर्दस्तस्या दोषभावं गुणं चोक्तवान्, अभिमानाभावात् चाह जवेनेति, वेगेन विशेषेण संसितानि केशबन्धाच्च्युतानि प्रसूनानि तेषामनु पश्चाद् गतिर्यस्याः, पुष्पाण्यपि सङ्गे-चलन्ति, प्रकृष्टा सूना येषां तानि प्रसूनानि, उत्तरणमात्रेणैव ते नश्यन्तीति देवाद्यर्थं च तेषां सूना, तान्यपि बद्ध्वा स्थापितवती, तानि च पुनः केशबन्धाद् विगलितानि,

उत्पत्तिप्रलयौ तदधिष्ठात्र्यौ देवते च तत्रैव सम्बद्धे तद्रूपाणां च बन्धनं यत्र ततस्तु मुक्ता न पुनर्जन्मभाजः, ततो मोक्षश्च भगवदर्थक्रियया, अतः केशानामपि बन्धविमोचकस्तत एव विप्रसितः केशबन्धस्ततश्च्युतानि प्रसूनानि, एतस्या दोषभावो गुणो मुक्तानुगतिश्चैतिघर्मत्रयेण भगवन्तं परमृषत् परितो धृतवती, आलिङ्गितवतीत्यर्थः तस्या दोषभावं दृष्ट्वा भगवान् रोदिति तस्या विवैकश्रृंशलक्षणमपराधं च कृतवान्, यशोदाबुद्ध्या तु भाण्डमेदनमपराधः, अत्यन्तमोह्यदोष-निवृत्त्यर्थं च ज्ञानशक्तेर्घर्षणमपि करोति, ज्ञानशक्तिस्तु भगवत्कृत्यैव सोऽञ्जला भवति "यथायथात्मा परिमृष्यत" इतिवाक्यात्, यशोदाया निरोधः सर्वथा व्यर्थो मा भवत्विति स्वकार्यं तद्भावं च दृष्ट्वा भयेन विह्वले ईक्षणे यस्य, सोपाधिकं निरुपाधिकं च ज्ञानं तस्या गमिष्यत इति विह्वलता ॥ १० ॥

**व्याख्यानार्थ-**भगवत्प्राप्ति के लिये किया हुआ प्रतिकूल<sup>१</sup> परिश्रम भी सफल होता है (उससे भी भगवान् मिल जाते हैं) । जैसे बैल रथ को खेंचते हुए विशेष भार के कारण रुक जाते हैं, वैसे ही यशोदा अपने भारी नितम्बों को खींचती थी, किन्तु उनके भार से अटकने से धीरे-धीरे चलती थी । दुष्ट गति भार के कारण रुक गई इससे<sup>२</sup> बुद्धि के दोष भी निवृत्त हो गए भगवान् के पीछे चलने लगी । श्लोक के 'सुमध्यमा' (सुन्दर कटिवाली) शब्द से यह (चलने का) भाव बताया । श्लोक के 'जननी' शब्द का तात्पर्य स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि दूध वाले स्तन थे

<sup>१</sup>नितम्बों के भार से यशोदा का रुक जाना भी तपस्या हुई, जिससे दोष निवृत्त हुए और यशोदा पुनः भगवान् के पीछे चलने लगी - 'प्रकाश'

पुत्र तो 'वासुदेव' है यदि ऐसा भाव पुरुषोत्तम में होता तो गोपियों के समान इसका भी निरुपाधि स्नेह होता वह नहीं है - 'लेख'

उनका भार भी था, किन्तु माता थी इसलिये उनका वर्णन नहीं किया है। वास्तविक<sup>\*</sup> तो माता<sup>\*</sup> नहीं थी क्योंकि यदि वास्तविक माता होती तो यों न करती। कोई भी माता इस प्रकार (पुत्र को मारने का कार्य) नहीं करती है। 'सुमध्यमा' शब्द का दूसरा भी भाव बताते हैं कि यशोदा का मध्य (अन्तःकरण) सुन्दर (शुद्ध) था, इसलिये वह अन्दर भक्त थी केवल बाहिर से मोहित थी। शुकदेवजी ने नितम्बों के भार से रुकना यह दुःख भाव बताकर जो साथ में 'सुमध्यमा' विशेषण बता दिया वह इसलिये कि यशोदा में दोषों का अभाव है और गुणों का सद्भाव है, (क्योंकि उसका अन्तःकरण भक्तिमान है) यशोदा निरभिमान है इसको बताने के लिये कहा है कि जैसे उसकी चोटी से जल्दी जल्दी पुष्प गिरते थे, वैसे ही वह भी उनके पीछे चल रही थी इस प्रकार यशोदा के साथ फूल भी चल रहे थे। पुष्पों के लिये श्लोक में सूना शब्द है उसका भावार्थ बताते हैं कि पेड़ से उतारते ही उनका नाश होता है किन्तु वह नाश देवों के अर्थ होता है ऐसे (जो पुष्प देवों के लिये अपना नाश कराते हैं) पुष्पों को उसने (यशोदा ने) अपने केशों में बान्ध रखवा है। वे उनमें से गिर रहे हैं। आचार्यश्री के इस कहने का भीतरी-भाव स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि यशोदा ने अपने केशों में उत्पत्ति और प्रलय के देवताओं को बाँधा था, उनसे छूटने पर (अलग होते ही) वे मुक्त हो गई फिर उनका जन्म नहीं होगा। उनके मोक्ष का कारण बताते हैं कि भगवदर्थ क्रिया से मोक्ष होता है तो यहाँ यशोदा जो क्रिया कर रही थी वह भगवदर्थ ही थी। अतः उनका मोक्ष हो गया। इस प्रकार यशोदा ने तीन धर्म सम्पादन किए—(१) दोषाभाव, (२) गुणप्राप्ति और (३) मुक्ति के पीछे चलना जिनसे वह भगवान् को प्राप्त कर सकी अर्थात् भगवान् को आर्लिगन किया।

यशोदा की बुद्धि के अनुसार भगवान् ने तक्र-भाण्ड के तोड़ने से उसका (यशोदा का) विवेक नाशरूप अपराध किया है, जिससे भगवान् उसके सामने रोने लगे किन्तु भगवान् उसके (यशोदा के) इस अत्यन्त मूर्खता रूप दोष को मिटाने के लिये अपनी ज्ञान-शक्ति का घर्षण करने लगे। (अपनी आँखों को मसलने<sup>x</sup> लगे) कारण कि ज्ञान-शक्ति 'पथायथात्मापरिमृष्यते' (जैसे जैसे आत्मा को शुद्ध किया जाता है)। इस वाक्यानुसार भगवान् की अपनी कृति<sup>†</sup> से ही उज्ज्वल होती है। यशोदा में दोषभाव देखने से भगवान् को भय हुआ कि भेरा कार्य (निरोध) सर्वथा

\* पुरुषोत्तम अजन्मा है अतः यशोदा माता नहीं है - 'प्रकाश'

x भगवान् की ज्ञान-शक्ति भगवान् के नेत्रों में रहती है।

† भगवान् स्वयं जब कृपा कर अपनी ज्ञान-शक्ति से जीव के दोषों को नाश करते हैं तब ही जीव निर्दोष ज्ञानवान् हो भगवद्भक्ति का पात्र बनता है और भगवान् के रस स्वरूप लीलाओं का रस-पान कर सकता है - अनुवादक

यशोदा से चला न जाय, इस भय से भगवान् के नेत्रों में विह्वलता (भय की घबरहट) दोखने में आई। यशोदा का दोनों प्रकार का ज्ञान (सौपाधिक और निरुपाधिक) चला न जाय इससे विह्वलता हुई थी ॥ १० ॥

**आभास-एवं परमकृपालुं गृहीत्वा यत् कृतवती तदाह कृतागसमिति ।**

**आभासार्थ-**इस प्रकार परमदयानिधि को पकड़ने के बाद जो कुछ उसने किया उसका वर्णन नीचे के श्लोक से करते हैं ।

**श्लोक: -कृतागसं तं प्ररुदन्तमक्षिणी कषन्तमज्जनमक्षिणी स्वपाणिना ।**

**उद्धीक्षमाणा भयविह्वलेक्षणं हस्ते गृहीत्वा भिषयन्त्यवागुरत् ॥ ११ ॥**

**श्लोकार्थ -** अज्जन से भरी हुई आँखों को हाथों से मसलने वाले, भय से विह्वल नेत्र वाले, अपराध करने वाले और रोते हुए भगवान् का हाथ पकड़ कर, घूर कर देखती हुई यशोदा उन्हें डराने के लिए धमकाने लगी ।

**सुबोधिनी -** कृत आगोपराधो येन, कोयमपराध इत्याकांक्षायामाह तमिति व्यामोहकं, यशोदाबुद्धी तु भाण्डभेत्तारं, यद्यपि स्वयमीश्वरो न कोप्यपराधो भवति तथाप्येषा व्यामोहिका लीला, तामत्यन्तं व्यामोहितवाञ् यथाग्र उत्तरलीलासु प्रतिबन्धिका न भवति, अन्यथात्यन्त-मासक्ताग्रिमकार्ये प्रतिबन्धिकैव स्यात् "तच्चासुराणां मोहाय सतामपि च कुत्रचित्" "सा मां विमोहयति भीरपि यद विभेती" तिवाक्यान् निदानाज्ञानाच्च मोहः, लोकदृष्ट्या मारयिष्यतीति प्रकर्षेण रोदनं, इदमपि द्वितीयं व्यामोहकं, अक्षिणी कषन्तमिति बालभावदाढ्यकरणं, पूर्वं कृतमोहस्य दाढ्यार्थमज्जनं शोभार्थं तयैव कृतमज्जनसाधनीभूतमधीयुक्ते अक्षिणी, स्वपाणिनेति, पर्यायेणैकेनैव पाणिना भगवदीयाक्रिययैव भक्तिरूपया नयनमुज्ज्वलं न भवतीति कषन्तमिति, तत्रत्या कण्डूरुपि नाशिता, तेन रजोगुणोपि शामितो

मारणसाधनीभूतः, अत एव तिष्ठन्नपि भगवन्स्तादृशचेष्टया स्थितस्तां न दृष्ट्वान्, सैध पुनस्तमुद्धीक्षमाणोर्ध्वं विलोकयन्ती न तु पादौ, तथा सति भक्तिर्वा भवेत्, भगवांस्तु पतिः स्थिता गोपीः पश्यन्ति तासामपि दोषारोपभावार्थं भयं, अन्तःस्थितोप्ययं भावो मोहनार्थमेव प्रकटितः, एवं त्रिभिर्धर्मैः सा मोहिता नातः परमुत्थास्यति, अत एवाग्रेस्याः कापि स्नेहकला न निरूपिता, "शृण्वन्त्यश्रूण्यवाग्राक्षी" दिति तु गुणानां माहात्म्यं "जनन्युपकृतं प्राश्य" "तत्कथाश्रवणोत्सुके" त्यादि तु रेहिणीसहभावात् तस्या अपि भावोऽस्यां सङ्क्रान्त उक्तः, नन्दस्यैव मुख्यत्वात्, एतादृशी भगवतः सर्वाङ्गसम्बन्धं परित्यज्य हस्ते गृहीत्वा भिषयन्ती भिषयन्त्यवागुरत्, आगूरणसङ्कल्पं कृतवती यथा पापरा अनिष्टागूरणानि कुर्वन्ति, अनेन तस्या अनृतवादित्वमपि निरूपितम् ॥ ११ ॥

**व्याख्यानार्थ-**श्लोक के 'तं' शब्द का भाव बताते हैं कि कृष्ण व्यामोहरूप अपराध करने वाले थे । यशोदा की दृष्टि में भाण्ड तोड़ने से भी अपराधकर्ता थे । दोनों प्रकार से अपराधी हैं । आप ईश्वर हैं, इसलिए आप कोई अपराध नहीं करते हैं तो भी आपकी यह लीला 'व्यामोहिका लीला'

हैं अतः आपने यशोदा को अत्यन्त मोहवाली बना दी, जैसे आगे की जाने वाली लीला में (वह यशोदा) प्रतिबन्धक न हो। जो भगवान् व्यामोह लीला न करें तो अत्यन्त आसक्ति के कारण, वह लीलाओं में प्रतिबन्धक ही बनती थी।

**कारिका - तच्चासुराणां मोहाय सतामपि च कुत्रचित् ।**

**कारिकार्थ -** भगवान् रुदन<sup>१</sup> असुरों के लिए करते हैं किन्तु कभी सत्पुरुषों के लिए भी करते हैं।

**व्याख्यानार्थ -** 'सा मां विमोहयति भीरुपियदबिभेति' १-८-३० जिससे यम भी डरता है उनकी यह दशा मुझे मोहित करती है। इस वाक्य से और भगवान् इस प्रकार की लीलाएँ क्यों करते हैं इस कारण के अज्ञान से मोह होता है। भगवान् लोक तृष्टि से जताते हैं कि यह मुझे पीटेगी इसलिए खूब जोर से रोने लगे, यह रोना भी मोह करने वाला है। आंखों के मसलने का तात्पर्य यह है कि पहले बाल-भाव में किए हुए मोह की यशोदा को बाल-भाव से दृढ़ता हो। उसने ही आंखों में कज्जल शोभा के लिए डाला था, जिससे आंखें कज्जल वाली हो गई थीं उन आंखों को क्रमशः एक ही हस्त से मसलते थे। एक ही हाथ में मसलने का भाव बताते हैं कि भगवदीय की भक्तिरूप क्रिया से ही नेत्र उज्ज्वल होते हैं। मसलने का दूसरा भाव यह है कि मसलने से भगवान् ने नाशकर्ता रजोगुण को भी शान्त किया, साथ में नेत्रों की खाज भी मिटा दी। भगवान् वहाँ थे तो भी इन नेत्रों के मसलने के कारण यशोदा को देखा नहीं, वह उनके उपर के भाग को देख रही थी। चरणारविन्दों को नहीं। यदि चरणारविन्द में दृष्टि हो तो भक्ति उत्पन्न हो जाय। भगवान् चारों तरफ स्थित अन्य गोपियों को देख रहे थे, जिससे मन में आई कि ये भी मुझमें दोषों का आरोप भी करें, इसलिये भय प्रकट कर रहे थे। यह अन्तःस्थित भाव मोहनार्थ ही प्रकट किया। इस प्रकार तीन<sup>२</sup> धर्मों से मोहित<sup>३</sup> वह (यशोदा) इसके अनन्तर मोह से अपने को छुड़ा<sup>४</sup> न सकेगी। इसलिये ही आगे के चरित्र में इस (यशोदा) के स्नेह की किसी भी कला<sup>५</sup> का वर्णन नहीं है 'शृण्मन्तयश्रूण्यवास्त्राक्षीत' १०-४३-२८ ('सुनती हुई आंसूओं को बहाया')

१- जिससे मोह उत्पन्न हो वैसी लीला करना - (रोदन से यशोदा को मोह करया)। - 'प्रकाश'

२- १ - रुदन, २ - आंखों को मसलना, ३ - यशोदा को न देखना। - 'प्रकाश'

३- यह मेरा पुत्र ही है इस प्रकार के दृढ़ भाव वाली। - 'प्रकाश'

४- मोह के कारण यह भगवान् है इस प्रकार का ज्ञान होगा नहीं, अथवा घर के कार्यों में अत्यन्त आसक्त होने से, पुत्र पर पूर्ववत् विशेष प्रेम नहीं करेगी। - 'प्रकाश'

५- उपाधि रहित स्नेह की कला के किसी भी अंश का आगे वर्णन नहीं है। - 'लेख'



इसमें तो भगवान् के गुणों का माहात्म्य है न कि यशोदा के स्नेह की कला वर्णित है । 'जनन्युयहतंप्राश्य' १०-१२-४६ (माता का लाया हुआ [भोज्य] आरोग कर) 'तत्कथाश्रवणोत्सुके' १०-११-३४ (उसकी कथा के श्रवणार्थ उत्सुक) ऐसे स्थलों पर रोहिणी के साथ होने से उसका भाव भी इसमें (यशोदा में) आ गया यह बताया है । नन्दरायजी की ही मुख्यता है । इस प्रकार की यशोदा भगवान् के सर्वाङ्ग सम्बन्ध त्याग कर, हाथ से पकड़ कर डराती हुई धमकाने लगी । किस प्रकार धमकाने लगी इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे पामर मनुष्य अनिष्ट आगूरण<sup>१</sup> करते हैं वैसे यह (यशोदा) भी इस प्रकार के आगूरण के सङ्कल्प (विचार) करने लगी इससे यह असत्यवादिनी है इसका भी निरूपण (वर्णन) हो गया ॥ ११ ॥

**आभास —** ततः किं कृतवतीत्याकाङ्क्षायामाहत्यक्त्वा यश्चिन्तितम् ।

**आभासार्थ —** तदनन्तर यशोदा ने क्या किया ? इस आकांक्षा (अभिलाषा) की पूर्ति के लिए निम्न श्लोक कहते हैं ।

**श्लोकः —** त्यक्त्वा यष्टिं सुतं भीतं विज्ञायार्थकवत्सला ।

इयेष किल तं बद्धुं दाम्नातद्वीर्यकोविदा ॥ १२ ॥

**श्लोकार्थ —** पुत्र पर प्रेम करने वाली, भगवान् के वीर्य<sup>२</sup> को न जानने वाली यशोदा ने अपने पुत्र को भयभीत समझकर लकड़ी फेंक दी और उनको रज्जु से बांधने की इच्छा की ।

सुबोधिनी-अनेन पूर्वं यष्टिनीतेतिलक्ष्यते तेन मनोदुष्ट, मनःसङ्कल्पं च त्यक्तवती, तेन मनोदोषस्य गतत्वान् चिकित्स्यन्निदोषा जातेति निरूपयति, यष्टिं त्यक्त्वासुतं भीतं विज्ञाय भगवद्दर्शनपि ज्ञात्वार्थकवत्सला जाता, तथापि तस्या न सर्वात्मना दोषनिवृत्तिस्त्याहेयेषेति, निरूपकस्यापि दोषो भवतीति शुको भीतः सन्नाह किलेति, प्रसिद्धिरेषा । नास्माभिस्तदा दृष्टं नापि भवितुं कदाचिदपि, दाम्ना-बद्धमिवेषेत्यन्तःकरणशरीरपरिकारदोषा निरूपिताः, नन्वसाध्ये कथं प्रवृत्ता ? लोकेनिष्टेपि प्रवर्तमाना असाध्ये न प्रवर्तन्त इति तत्राहातद्वीर्यकोविदेति, तस्य भगवतो वीर्यं न जानातीति, पूतनातृणावर्तादयो मारिताः कोस्या मारणे प्रयास इति ॥ १२ ॥

**व्याख्यार्थ —** यशोदा ने लकड़ी छोड़ दी इससे जाना जाता है कि भगवान् को मारने के लिये पहले लकड़ी ले आई थी, अब उसको छोड़ दिया । लकड़ी ले आने से ऐसा प्रतीत होता है

१ - 'मारने का उद्यम प्रकाश कारः 'मारणा' इस प्रकार के अनिष्ट शब्द कहते' । - 'लेख'

२ - परक्रम, शक्ति ।

कि उसका मन दोष-पूर्ण था, जिससे वह मनोदुष्ट थी, इससे उसके मन में भगवान् को मारने का संकल्प उदय हुआ था। लकड़ी छोड़ देने से ज्ञात होता है, कि उसने उस मनःसंकल्प को छोड़ दिया है क्योंकि मनोदोष मिट गया है। अन्य तीन दोष जो मिटने जैसे हैं वे हैं -

- १ - लकड़ी का छोड़ना,
- २ - भगवान् के धर्म भय आदि को जानना, और
- ३ - पुत्र में प्रेम वाली हो जाना।

तो भी उसके सब प्रकार के दोषों की निवृत्ति न हुई। इसको प्रमाणित करने के लिए शुकदेवजी डरते हुए कहते हैं कि उसने भगवान् को रज्जु से बाँधने की इच्छा की। यह लीला प्रसिद्ध है। शुकदेवजी ने 'किल' प्रसिद्ध है यह शब्द कहकर अपना भयभीतपना दिखाया है कि यह मैंने आँखों से नहीं देखा और न उसका विचार भी किया है, केवल प्रसिद्ध होने से मैंने कहा है कि उसने रज्जु से बान्धने की इच्छा की है। बान्धने की इच्छा से उसके (यशोदा के) अन्तःकरण, शरीर और परिकर के दोषों को प्रकट किया है।

जब जगत् में मनुष्य अनिष्ट<sup>१</sup> करने में तो मस्त होते हैं किन्तु जो असाध्य<sup>२</sup> है ऐसे कार्यों में प्रवृत्त नहीं होते हैं, तब यशोदा असाध्य कार्य में कैसे प्रवृत्त हुई? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'अतद्वीर्यकोविदा' कहा है (उस भगवान् के वीर्य को वह नहीं जानती है)। यदि भगवान् के वीर्य<sup>३</sup> को जानती होती कि पूतना, तृणावर्त आदि को इसने मारा है तो मुझे मारने में इसे (भगवान् को) कौन सा प्रयास<sup>४</sup> करना पड़ेगा? इस प्रकार के अज्ञान से ही उसने भगवान् को बाँधने की इच्छा की ॥ १२ ॥

आभास-शुकोपि तां दूषयन्निव बन्धाभावे परमार्थतो युक्तिप्रदर्शयति न चान्तरिति।

आभासार्थ-शुकदेवजी भी उसे (यशोदा को) दूषित जैसी कहते हैं और सत्ययुक्ति देकर बताते हैं कि भगवान् यशोदा के बन्धन में क्यों नहीं आएँ? वह वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः - न चान्तर्न बहिर्यस्य न पूर्वं नापि चापरम्।

पूर्वापरं बहिश्चान्तर्जगतो यो जगच्च यः ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ - जिसके अन्दर बाहिर, आगे वा पीछे कुछ भी नहीं है जो जगत् के भीतर, बाहिर, आगे तथा पीछे है और जो जगतरूप है।

१ - घुर्छ, बुरा।

२ - अशक्य, न हो सकने जैसा।

३ - पराक्रम, शक्ति।

४ - प्रयत्न।

सुबोधिनी-भगवति बन्धाभावो द्वेधापि भवति, भगवत्स्वरूपविचारेण बन्धनसाधनस्वरूपविचारेण च, तत्रादौ स्वरूपं विचारयति, बन्धनं हि कार्यद्वयं सम्पादयति बहिर्निरोधमन्तरात्मां च, तत् तस्यैव भवति यस्यान्तर्बहिर्भावो भवति, भगवांस्तु पूर्णः सर्वं व्याप्य तिष्ठतीति न कस्मादपि भगवानन्तर्भवति, निरवयवत्वाच्च न कोपि तस्य परिच्छेदकः, अकारादन्तःशब्दव्यवहार्य आकाशोतः सशब्दोपि भगवति न प्रवर्तत इत्युक्तं, अन्तर्यामिग्राहणे सर्वान्तरे भगवानुक्तो न तु भगवतोन्तरं क्वचित्, सर्वान्तरे केनान्तर्भावमापद्येत ? आधारत्वे तु नान्तरभावना, रूपादिषु तथोपलब्धेः, न हि कसस्यान्तः स्वरूपं तिष्ठति बीजवत्, तथा सत्यदृश्यः स्यात्, अतो न केनाप्यंशेन भगवतोन्तरमस्ति, नापि बहिः, व्यापकत्वात्, बहिस्थित एवाकाशोन्तर्निष्ठतीति नाकाशाद् बहिरस्ति किञ्चित्, अनेनान्तःकरणे खेदो बहिरवर्णं वा नास्तीत्युक्तं, किञ्च बन्धनं हि बहिरात्मकं तद् दिग्विभागे सति भवति, निरवयवस्यानिरूप्यस्य त्वत् एव भासमानस्य ज्ञातृज्ञेयभावतिरोधायकस्य केनाप्यंशेन पूर्वभावोपरभावो वा न सम्भवति, अनेनैव दक्षिणोत्तरमावा अपि परिहृताः सर्वत्र

स्थितः पूर्वापरभावमेव मन्यते, अतः स्वरूपकृता वा दिक्कृता वान्तरादिधर्मा भगवति न सन्तीति न बन्धसम्भावना, साधनस्वरूपविचारेणापि न भवतीत्याह पूर्वापरमिति, रज्ज्वादीनां पूर्वभागे परभागे चायमेव वर्तते, तत्र यशोदैव प्रमाणं, भगवति सर्वं दृष्टवती यतः, सर्वस्यापि भगवान् बहिरपि भवति व्यापकत्वात्, अन्तरपि भवति सर्वान्तरत्वात् अकारात् स्वरूपमपि, किञ्च जगतो य एतावान्, यतो जायते गच्छति चेति जगत्, यदि भगवानेतावन्न स्यात् कथं जगद् भवेत् ? पूर्वभावाभावे न भवेत् परभावाभावे न गच्छेत्, जगतक्षेदं भगवान् बहिर्न भवेद् जगति गच्छती गच्छेद्, यदि सर्वान्तरे न भवेज् जगदितिविशिष्टं सर्वप्रतीतिसिद्धं न भवेत्, अन्तःस्थितभगवद्भूमिरेव जगतो विवक्षितधर्मवत्त्वात्, किञ्च यो जगत्, न हि स्वात्मना स्वयं बद्धो भवति, तथा सति बन्धकानां वैयर्थ्यापत्तेः, किञ्च जगन्मयोयं सर्वमेव जगद् व्याप्य तिष्ठति, एतदाज्ञयैव जगत् कार्यं करोति, ततः कथमयं स्वबन्धने जगत् प्रेरयेत् ? अतो न केनापि प्रकारेण भगवतो बन्धनमस्तीति निश्चिन्ता भक्ताः ॥ १३ ॥

व्याख्यानार्थ-यशोदा स्वयं भगवान् को क्यों न बान्ध सकी, शुकदेवजी उसके प्रथम दो कारण बताते हैं - १. भगवान् का स्वरूप क्या है ? इसके विचार करने से और यशोदा जिस (पदार्थ) से भगवान् को बान्धना चाहती है उसका स्वरूप क्या है - २. इन दो में से प्रथम भगवान् के स्वरूप का विचार किया जाता है। बन्धन दो काम करता है - १. बाहिर जाने से रोकना और भीतर दुःख उत्पन्न करना। रुकावट और भीतर दुःख उसको होगा, जिसमें अन्तर और बाहिर के भाव होंगे। भगवान् तो पूर्ण हैं, सब में व्याप्त होकर रहते हैं। इससे वे किसी के भी भीतर आ नहीं सकते हैं और निरवयव\* (अवयव रहित होने से कोई भी उनका परिच्छेदक [सीमा बान्धने वाला]) नहीं बन सकते हैं। श्लोक में 'च' अक्षर का आशय बताते हैं कि 'अन्तर' शब्द से 'आकाश' व्यवहार में आता है वह 'अन्तर' शब्द भगवान् में प्रवृत्त नहीं होता है क्योंकि

\* ब्रह्मसूत्र २-३-१ में आकाश को अवयव वाला कहा गया है इसलिये घट उसकी सीमा कर सकता है। यदि आकाश निरवयव हो तो भी घट पदार्थ आकाश से पृथक् अन्य है इसलिये वह आकाश की सीमा कर सकता है अतः 'घटाकाश' बन सकता है किन्तु भगवान् से तो कोई पदार्थ पृथक् वा अन्य नहीं है अतः वे किसी प्रकार भी सीमा में आ नहीं सकते : - 'प्रकाश'

अन्तर्यामी 'ब्राह्मण'<sup>१</sup> में कहा गया है कि भगवान् सबके भीतर बिराजते हैं भगवान् के अन्दर तो कोई नहीं है। जो सबके अन्दर है उसके अन्दर कोई भी नहीं रह सकता है और उससे कोई पृथक् पदार्थ है, ऐसा भी कहीं नहीं कहा गया है। किसी पदार्थ का कोई वस्तु आधार हो, तो उससे वह वस्तु उसके भीतर (समा गई) ऐसा सिद्ध नहीं होता है क्योंकि रूपादिकों<sup>२</sup> में इसकी प्रत्यक्ष उपलब्धि (ज्ञान) होती है। जैसे फल के अन्दर बीज है उसी प्रकार आप (भगवान् का स्वरूप) किसी भी पदार्थ में भीतर नहीं है वैसे होते तो अदृश्य हो जाते। अतः भगवान् व्यापक होने से अन्तर, बाहिर के भेद से रहित हैं। बाहिर रहा हुआ भी व्यापक आकाश जिससे बाहिर कोई भी नहीं है वह आकाश भगवान् के भीतर स्थित है। इससे यह समझाया कि भगवान् के अन्तःकरण में खेद नहीं है और न किसी प्रकार की रुकावट है।

बन्धन का कार्य घेर डालना है वह वहाँ हो सकता है जहाँ दिशाओं का विभाग हो। यहाँ तो जिसको बन्धन में लाये जाने का प्रयत्न किया जाता है वह तो निरवयव अतिरूप्य स्वयं प्रकाशमान, ज्ञाता और ज्ञेयभाव का तिरोधान करने वाले हैं उनका पूर्व और अपर भाव हो नहीं सकता है, इससे उसके लिये दक्षिण और उत्तर (दिशा भाग) भाव भी नहीं होते हैं। क्योंकि आप सर्वत्र स्थित हैं अतः आपके लिये पूर्व और अपर (सर्वत्र) ही है। अतः स्वरूप से अथवा दिशाओं से होनेवाले अन्तर आदि धर्म भगवान् में नहीं हैं इसलिये भगवान् बन्धन में आएगा यह सम्भावना ही नहीं है<sup>३</sup>।

जब जिससे भगवान् को बान्धने का प्रयत्न किया जाता है, उस वस्तु के स्वरूप का वर्णन श्लोक के उत्तरार्ध में करते हैं - बन्धन के साधन रज्जु के पूर्व भाग और पर भाग में अर्थात् आदि और अन्त में ये (भगवान्) ही हैं, इसमें प्रमाणभूत (साक्षी) यशोदा स्वयं है, क्योंकि उसने सर्व वस्तुमात्र, भगवान् में देखे हैं। तथा सर्वत्र व्यापक होने से भगवान् सर्व के बाहिर भी है एवं सर्वान्तर होने से अन्दर भी है। आचार्यश्री 'च' अक्षर का आशय प्रकट करते हैं कि इस (च) के कहने से शुकदेवजी ने यह बताया कि सर्व वस्तु स्वरूप भी भगवान् ही है और भगवान् जगत् के आगे-पीछे, अन्दर-बाहिर हैं और स्वरूप हैं। इस कारण से ही इस दृश्य को 'जगत्'

१- अन्दर, बाहिरपना आकाशाधीन होने से अन्तर शब्द से 'आकाश' कहा जा सकता है किन्तु भगवान् के लिए अन्दर शब्द नहीं कहा जा सकता है। - 'लेख'

२- रूप वर्ण (रंग) को कहा जाता है। रंग किसी पर चढ़ाया जाय तो वह पदार्थ उस (रंग) का आधार होता है किन्तु रंग उसमें भीतर नहीं चला जाता है बाहिर ही देखने में आता है जैसे लाल पीले आदि वस्त्र। - 'अनुवादक'

३- यहाँ तक भगवान् का स्वरूप कैसा है इसका विचार किया गया अर्थात् भगवान् का ऐसा स्वरूप है क्या जो बन्धन में आ सके ? निर्णय किया गया है कि भगवान् का स्वरूप ऐसा नहीं है जो बन्धन में आ सके।

कहा जाता है जिसका अर्थ है 'जायते' (जन्मता) है। इसलिये 'ज' और 'गच्छति' चलता ही जाता है इसलिये 'गत्' है - तात्पर्य यह है कि जो जन्मता और चलता ही रहता है उसको जगत् कहते हैं। यदि भगवान् इतना न होते तो 'जगत्' उत्पन्न कैसे होता? जो भगवान् जगत् से आदि में, प्रथम न होते तो जगत् की उत्पत्ति हो नहीं सकती थी और जो अन्त में न होवे तो जगत् का लय किस में होवे? अर्थात् लय हो नहीं सकता था इस प्रकार भगवान् यदि जगत् के बाहिर न होते और केवल जगत् में ही होते तो जगत् के लय होते ही भगवान् भी लय ह्वे जाते, किन्तु वैसा होता नहीं है क्योंकि आप सर्वान्तर हैं, सर्वान्तर होने से ही 'जगत्' की इस नाम से प्रसिद्धि हो नहीं सकती थी तथा जगत् सबके प्रतीति में नहीं आता। अब तो सर्व जगत् को प्रत्यक्ष देख रहे हैं, भगवान् के धर्म ही जगत् में स्थित हैं, जिससे जगत् में वे धर्म दृष्टिगोचर होते हैं। इसके अतिरिक्त फिर आप ही जगत् हैं इसलिये आप बन्धन में आ नहीं सकते हैं कारण कि कोई भी अपने आप से अपने आप को बन्ध नहीं सकता है, ऐसा होने से, बन्धन करने वाली वस्तु की व्यर्थता<sup>†</sup> होती है और यह भगवान् जगत्मय होने से सकल जगत् में व्याप्त होकर रहे हैं। इनकी आज्ञा से ही जगत् कार्य करता है। तो अपने को बन्धन में डालने के लिये जगत् को स्वयं वैसी प्रेरणा कैसे करेंगे। अतः किसी भी प्रकार से भगवान् का बन्धन बन नहीं सकता है उससे भक्त निश्चिन्त है ॥ १३ ॥

आभास-तादृशं योन्यथा विचारयति स निष्फल प्रयासो भवतीति तां दूषयन्निव तस्याप्यज्ञानमाह तमिति ।

आभासार्थ-वैसे भगवान् को, जो मनुष्य, लौकिक के समान समझता है उसका प्रयास<sup>२</sup> व्यर्थ होता है इस प्रकार शुकदेवजी उस (यशोदा) की मानों दोष देते हैं उसके अज्ञान का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — तं मत्वात्मजमव्यक्तं मर्त्यलिङ्गमधोक्षजम् ।

गोपिकोलूखले दाम्ना बबन्ध प्राकृतं यथा ॥ १४ ॥

१- 'जगत्' शब्द का अर्थ जन्म लेना और लय पाना है। यदि भगवान् इससे पूर्व न होते तो इसका जन्म न होता और अन्त में न होते तो इसका लय न होता जिससे 'जगत्' शब्द की व्युत्पत्ति ही व्यर्थ हो जाती।  
- 'लेख'

† जो आप ही अपने को बन्ध सकता है तब तो दूसरी बन्धन करने वाली वस्तु की आवश्यकता नहीं अतः वह लानी ही व्यर्थ है ।

**श्लोकार्थ-**उस अव्यक्त,<sup>१</sup> मनुष्य के चिह्न वाले अर्थात् मनुष्याकृतिवाले नेत्रादि इन्द्रियों से जिसको जाना वा देखा नहीं जाता है वैसे भगवान् को अपना पुत्र समझ कर, प्राकृत बालक के समान उसको यशोदा ने रज्जु से ऊखल के साथ बान्धा ।

**सुनोधिनी-**तं पुरणपुरुषोत्तममात्मजं स्वशरीरज्जातं भत्वा दाम्ना बबन्धेति सम्बन्धः, देहस्तु प्राकृतस्तस्या इति तज्जातः सुतरां प्राकृतो भवति, ननु क्वचिन् महान्तोपि पुत्र जायन्ते देवादयोपि ततो लोके कारणवैलक्षण्यस्यापि दृष्टत्वात् कथमात्मजत्वे तथा कर्तुं शक्यत इति चेत् तत्राहाध्यक्तमिति, न केनाप्यंशेन व्यक्तं, ये हि महान्तो भवन्ति ते स्वधर्मान् प्रकटीकुर्वन्ति यथा भरतादयः भगवांस्तु तथा न करोतीति प्राकृतबुद्धिस्तेषां दृढा, मध्यमावस्थानामेव तथा करणं न तु परमकाष्ठं गतस्य, किञ्च यदि गुप्त एव संस्तूषणी तिष्ठेत् तथापि सन्देहः स्यादन्यथाक्येन वा माहात्म्यं जानीयुः प्रत्युत भगवान् विपरीतधर्मान् बोधयत्यतः कथं प्रतीतिरित्याह भर्त्यलिङ्गमिति, भर्त्यस्यात्यन्तप्राकृतस्य लिङ्गानि यस्मिन्निति, तथैव स्वरूपं गुणांशेषां च प्रदर्शयतीत्यर्थः, ननु

तथाप्यत्यन्ताभिज्ञा यथा नटं परिचिन्वन्ति तथा सर्वविलक्षणानन्तगुणवत्त्वादानन्दभयत्वाच्च कथं न ज्ञायत इत्याशङ्क्याहोक्षजमिति, अघोक्षजं ज्ञानं यस्मादिति न हि भगवान् गुणा वा कस्यचिदपि चक्षुर्गोचरा भवन्ति, इच्छा तु नास्तीत्यवगम्यते विरुद्धप्रदर्शनात्, किञ्चेयं च यशोदा गोपिकातिप्राकृतरूपा, अतो नभिज्ञा कथं जानीयात् ? उलूखलोपरिपादं दत्त्वा भगवान् क्रीडति, अग्रेष्व नाभिर्भवति, अतो भगवान् गोकुलस्थितमुलूखलं स्वाश्रयत्वेन ज्ञापयितुमत्र बन्धनं कारितवान् गोपिकायस्तु बुद्धिर्यथान्यत्र न गच्छतीति, दाम पशूनां बन्धकं, ननूलूखलदामहस्ताधिष्ठितदेवानां कथं तूष्णीम्भावः ? तत्राह प्राकृतं यथेति, तेषामपि बुद्धिर्मग्नता तथा सम्पादितेति ॥ १४ ॥

**व्याख्यार्थ-**उसे पुरण पुरुषोत्तम का अपने शरीर से उत्पन्न पुत्र समझकर रज्जु से बान्ध दिया इस प्रकार सम्बन्ध है । यशोदा का देह तो प्राकृत है उस (प्राकृत देह) से उत्पन्न निश्चय से प्राकृत होता है ।

कभी यों भी देखा गया है कि महत्पुरुष तथा देवता भी प्राकृत माताओं से पुत्र होकर जन्म लेते हैं । इससे लोक में कारण से कार्य की विलक्षणता भी देखने में आती है । उत्पन्नकर्ता (कारणरूप) माता और पिता से उत्पन्न (कार्यरूप) पुत्र पृथक् प्रकार का होता है । तो यशोदा ने इसको अपनी देह से उत्पन्न समझा तो कौन सा दोष है ? इसके उत्तर में मूल-श्लोक में 'अव्यक्त' शब्द दिया है जिसका आशय है कि जिसको यशोदा पुत्र समझती है वह किसी भी अंश से उत्पन्न (प्रकट) नहीं होता है । जो महत्पुरुष होते हैं वे अपने धर्मों को प्रकट करते हैं जैसे भरतादिकों ने अपने धर्म प्रकट किये हैं । भगवान् तो अपने धर्म इस प्रकार जन्म लेकर प्रकट नहीं करते हैं । इस कारण से लोगों की बुद्धि दृढ़ आकृत होती है अर्थात् लोग समझते हैं कि यह प्राकृत बालक है । मध्यम कोटि के पुरुष ही अपने धर्म प्रकट कर दिखाते हैं न कि वे जो उच्च-कोटि वाले हैं ।

१ - जो प्रकट नहीं है ।

पुनः जो भगवान् गुप्त होकर चुप रहे, तो भी सन्देह (यह ईश्वर है वा कौन है) होता है इस अवस्था में लोक, अन्य पुरुषों के वचनों से, माहात्म्य ज्ञान प्राप्त करें। किन्तु यहाँ भगवान् विपरीत धर्मों को प्रकट करते हैं तो उस (भगवान्) की प्रतीति कैसे होगी ? यह 'मर्त्यलिंग' शब्द में कहा गया है कि अत्यन्त प्राकृत धर्म के चिह्न (स्वरूप गुण और क्रिया के) दिखाते हैं।

इस प्रकार होने पर भी जैसे अत्यन्त चतुर लोक, नट किसी भी भेष में हों, तो उसको पहचान लेते हैं, वैसे ही सब से विलक्षण, अनन्तगुणवान् और आनन्दमय होने से क्यों नहीं जाना जा सकता है ? इसके उत्तर में श्लोक में 'अधोक्षज' विशेषण दिया है, भगवान् वा उनके गुण किसी की भी इन्द्रियों द्वारा देखने में नहीं आते हैं। आप अपने में अपने से विरुद्ध धर्म (मर्त्यधर्म) का प्रदर्शन करते हैं इससे ज्ञात होता है कि अपने स्वरूप गुणों के जताने की भगवान् की इच्छा नहीं है और यह यशोदा अत्यन्त प्राकृत रूपवाली है। इस कारण से अनभिज्ञ<sup>१</sup> है वह कैसे जान सकेगी कि भगवान् ऊखल के ऊपर चरणारविन्द धरकर क्रीड़ा कर रहे हैं और यह ऊखल अग्नि की नाभि है ? किन्तु यह ऊखल गोकुल में है अतः मेरा आश्रय स्थान है इस तत्त्व को बताने के लिये अपने को ऊखल के साथ बन्धवाया और यशोदा की बुद्धि भी दूसरी वस्तु में न जाय इसलिये भी बन्धवाया। रज्जु<sup>२</sup> पशुओं को बान्धती है। ऊखल, रज्जु और हस्त में स्थित देवता चुप क्यों रहे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् ने उनकी बुद्धि प्राकृत जैसी बना दी थी अतः वे प्राकृत जैसे हो गए थे ॥ १४ ॥

आभास-अयं देहाकारेण भासमान एव भगवान् सच्चिदानन्दरूप इति गुणोपसंहारन्यायेन "न चान्तर्न बहिर्यस्ये" त्यादिधर्मा अस्यैवेति ज्ञापयितुं बन्धनेष्युपायं वदन् भगवान् सामिबद्धो जात इत्याह।

आभासार्थ-यह देह की आकृति वाले ही सच्चिदानन्दरूप भगवान् हैं यह 'गुणोपसंहारन्याय' (थोड़े में ही गुण बता देना) से न अन्दर न बाहिर आदि स्वल्प गुणों से उनके धर्म बताने के लिये तथा उनके बान्धने का उपाय भी कहकर भगवान् आधे ही बान्धे गए हैं इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः - तद् दाम बध्यमानस्य स्वार्थकस्य कृतागसः ।

द्वयङ्गुलोनमभूत् तेन सन्दधेन्यच्च गोपिका ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ-अपने अपराधी पुत्र को जब बान्धने लगी तब वह रज्जु दो अंगुल कम हो गई (यह देख) गोपिका (यशोदा) ने उसके साथ दूसरी रज्जु जोड़ दी।

सुबोधिनो-भगवता स्वस्मिन् दोषद्वयं प्रदर्शितं तत्पुत्रत्वमपराधश्च, तदा रज्जुरन्तर्बहिःस्थितं भगवन्तं तिरोहितं मत्वा वेष्टनं कृतवतो स्वयं बहिःस्थितं तान्तः स्थितस्य भगवतः, तदाह तदाम् बध्यमानस्येति, अन्यथा बहिरपि रज्जुनं भवेद् वेष्टकमपि न भवेत्, तथापि परितो वेष्टनरूपा न जाता, पूर्वापरयोर्भगवत एव सत्त्वात्, अतो द्वयङ्गुलं न्यूना जाता, लोकपरिमाणे प्रथमपरिमाणमङ्गुलिः, तत्र प्रथमातिक्रमे कारणाभावादल्पवैलक्षण्ये महतो योजनायामाश्चर्यमपि भवतीति

द्वयङ्गुलोनमेवाभूत्, रज्ज्वाद्यन्तयोर्वो भगवान् स एकार्यं क्रोडीकृतः, न तु ततः केनापि धर्मेण भिन्न इति ज्ञापयितुमेवमाह व्यापकत्वस्य दर्शनार्थमेव तिरोभावाद् रज्जुस्थूलतायामपि नोदरस्थौल्यं, प्रतिबिम्बादौ तथोपलब्धेः, अतो वैलक्षण्यज्ञानात् तेनान्यदपि दाम तावत्प्रमाणकं सन्देहे योजितवती, चकाराद् विसदृशमपि ततोपि स्थूलं, नन्वङ्गुलाद्वये न्यूने किमित्येतावद् योजितवतो ? तत्राह गोपिकेति, मौढ्यं तस्या अनुवर्तत इति ॥ १५ ॥

**व्याख्यानार्थ-**रज्जु भगवान् को कैसे बन्धन में लाई ? इसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि भगवान् ने अपने में दो दोष दिखाए-

(१) एक तो उस (यशोदा) का पुत्र-पना, और

(२) उस (माता) का अपराध (मटुकी फोड़ तक्र बहाना, मक्खन बंदरों को बाँटना) ।

जब भगवान् ने ये दो दोष प्रकट किए तब रज्जु को ज्ञान हुआ कि भगवान् के वे गुण (भगवत्त्व अन्दर बाहिर स्थित) तिरोहित हो गए हैं (वा भगवान् ने छिपा दिए हैं) अब भगवान् को मैं बान्ध सकुंगी यों समझ कर उसके ही स्थित और अन्तःस्थित भगवान् को बान्धा । यदि रज्जु को इस प्रकार का ज्ञान न होता तो रज्जु भगवान् के बाहिर भी अपने को न समझती<sup>१</sup> और न बान्ध सकती थी । यों करते हुए भी पूर्णतया बान्ध न सकी क्योंकि रज्जु के पूर्व (आदि) और अपर में (अन्त में) भगवान् ही हैं । अतः रज्जु दो अंगुल कम हो गई । लोक के परिमाण (नाप) में प्रथम नाप १ अंगुली है । प्रथम नाप (१ अंगुली) के अतिक्रमण का कुछ कारण न होते हुए भी स्वल्पविलक्षणता को भी महापुरुषों की योजना आश्चर्य उत्पन्न करती है जैसे कि

१ - प्रभुचरण टिप्पणीजी में कहते हैं कि रज्जु ने यह समझा कि भगवान् ने अपने वे धर्म तिरोहित कर दिये हैं अतः अब यहाँ भगवान् नहीं हैं इसलिये मैं इनको बान्ध लूंगी । यह रज्जु का ज्ञान अपूर्व था इस प्रकार के ज्ञान होते हुए भी वह भगवान् को बान्ध नहीं सकती थी फिर भी भगवान् को बान्ध सकी इसका कारण बताते हुए प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि भगवान् जो लीला यहाँ कर रहे हैं, वे भक्ताधीन होकर करते हैं; अतः जिस प्रकार मर्यादा मार्ग में भक्त होकर भी यदि भगवान् का अपराध करता है तो उसको भगवान् के अधिकारी कालादि दण्ड देते हैं । उसी प्रकार पुष्टिमार्ग में यह नियम है कि भगवान् भक्त का अपराध करें तो उन (भगवान्) को भक्ताधीन होकर, भक्तेच्छानुकूल लीला करनी पड़ती है । यहाँ भजन के विशेषी भावों को उत्पन्न करना ही अपराध है । ऐसा होने पर ही भगवान् ने पुत्रपना स्वीकार किया, तो साथ में उस (पुत्रपने) के धर्म भी आ गए, इससे माता का नियामकत्व भी आपने अंगीकार किया । रज्जु की स्वामिनी माता है अतः माता की वस्तु रज्जु को भी इस प्रकार के सामर्थ्य का सामर्थ्य प्रदान किया जिससे वह बान्ध सकी ।



दो अंगुल कम वाली रज्जु में बड़ी रज्जु जोड़ने पर भी रज्जु फिर भी दो अंगुल कम हो गई रज्जु के आदि एवं अन्त में जो भगवान् है उस भगवान् को ही लपेट लिया किन्तु इससे भगवान् से उनके (सर्व-व्यापकत्व आदि) धर्म पृथक् न हुए थे । इस अपनी नित्य सर्वव्यापकता के दिखाने के लिये ही तिरोभाव (का नाट्य) किया था । रज्जुस्थूल (बड़ी) हो रही थी । किन्तु भगवान् का उदर वैसा का वैसा था । जैसे चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब जल आदि में बिम्ब जितना ही दीखता है भगवान् की विलक्षणता का ज्ञान न होने से दूसरी भी उसमें जोड़ती गई । 'च' अक्षर का भाव बताते हैं कि और बड़ी-बड़ी रज्जु भी उसमें जोड़ी । जब दो ही अंगुल न्यून होता तो दूसरी बड़ी-बड़ी क्यों जोड़ने लगी ? इस पर आचार्यश्री कहते हैं कि शुक्रदेवजी ने इसलिये ही 'गोपिका' शब्द देकर इसकी भूर्खता को प्रकट किया है ॥ १५ ॥

**आभास-ततः किमभूदित्याशङ्क्यामाह यदासीदति ।**

आभासार्थ-इसके पश्चात् क्या हुआ ? उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः - यदासीत् तदपि न्यूनं तेनान्यदपि सन्दधे ।**

**तदपि द्व्यङ्गुलं न्यूनं यद्यदादत्त बन्धनम् ॥ १६ ॥**

श्लोकार्थ-अन्य रज्जुओं के जोड़ने से जो रज्जु बनी वह भी जब छोटी हो गई तब दूसरी तीसरी जोड़ी तब भी दो अंगुल छोटी हुई । तात्पर्य है कि जितनी उनसे भी वह रज्जु जोड़ी दो अंगुल ही छोटी रही ।

सुबोधिनी-उपयोः सम्बन्धे पुनःसैकैव रज्जुर्जाता, तदाह यदासीदिति, उपयोः सम्बन्धे यदेकमासीदित्यर्थः, तदपि पूर्वोक्तन्यायेनैव न्यूनमासीद्द्व्यङ्गुलं तेनापि विशिष्टेन पुनरन्यत् सन्दधेत्तीत्यं, तदपि द्व्यङ्गुलमेव न्यूनं, "त्रिसत्या हि देवा" इति, भगवतो जगदाद्यन्तः स्थितिर्वारित्र्य प्रदर्शिता, मानुषभावं ततोपि बहुवारं कृतवतीत्यनुवदति यद्यदादत्त बन्धनमिति, यद्यदेव योजनार्थं गृहीतवती तत्तदेव द्व्यङ्गुलोन्मभूत् ॥ १६ ॥

**व्याख्यार्थ-**दो रस्सियों के जुड़ने पर वह रस्सी एक हो गई तब भी पूर्ववत् दो अंगुल ही कम हुई । उस बड़ी हुई रस्सी के छोटी होने पर यशोदा ने दूसरी रज्जु उसमें जोड़ी किन्तु वह भी उसी प्रकार दो अंगुल ही कम हो गई तो पुनः तीसरी बार और रज्जु जोड़ी तो वह तब भी उतनी ही न्यून हुई त्रिसत्या 'हिदेवाः' इस श्रुति के अनुसार 'देवता त्रिसत्य है' । तीन बार रज्जु सम्मिलित होते हुए भी दोही अंगुलि न्यून हुई । इसका भावार्थ यह है कि भगवान् जगत् के आदि में है (जगत् प्रकट नहीं हुआ था तब भी भगवान् थे) तथा जगत् के अन्त में भी है (जगत् लीन हो जाएगा तब भी भगवान् रहेंगे) । अर्थात् भगवान् ने तीनों बार यह दिखा दिया कि साश जगत् मेरे भीतर है तो जगत् अन्तःपाती रस्सी मुझे कैसे बांध सकेगी । इतना प्रभाव देखती हुई भी

यशोदा ने मानुष स्वभाव के कारण पुनरपि<sup>१</sup> जितनी रस्सियां मिल सकीं वे मिलाती गई किन्तु फिर भी वही दो अंगुल कम ही रही ॥ १६ ॥

श्लोकः — एवं स्वगेहदामानि यशोदा सन्दधत्यपि ।

गोपीनां सुस्मयन्तीनां स्मयन्ती विस्मिताभवत् ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार यशोदा अपने घर की सब रस्सियों को स्वयं ला ला कर जोड़ने लगी, तो भी भगवान् को बांध न सकी, पहले तो रेष था, जब दो बार जोड़ने से तीन रस्सियां पूरी न हुई, तब कुछ गर्वित हो, बहुत रस्सियां मिलाने लगी, तब भी कार्य पूरा न हुआ, तो अचम्भे में पड़ गई, इसको देखने के लिये आई हुई गोपियां यह देखकर बहुत गर्विष्ठ हो गई, क्योंकि उनके मन में यह विचार आया कि भगवान् हमारी भुजाओं से तो बन्धन में आते हैं किन्तु इतनी रस्सियों में नहीं, इसलिये हम भाग्यशाली हैं, अतः गर्विष्ठ हुई ।

सुबोधिनी—सर्वा एव गोप्पोद्गममध्ये तथा करणाद् दृष्टभागताः अद्यापि तथा न निरुद्धा इति तदा स्मयन्त्यो जाता गर्विष्ठाः सन्मुखा वा स्वस्यापि भुजबन्धनादिकं भावयिष्यन्त्यः सुस्मयन्त्यो जाताः, गृहस्थसर्वदामव्ययकरणेपि न बन्धनं निवृत्तमित्याहैवमिति पूर्वोक्तन्यायेन सर्वाण्येव दामानि योजितवती, यतो यशोदा यशो ददाति द्यति वा, सन्दधत्यपि द्वयङ्गुलन्यूनभावाद् विस्मिताभवदिति-सम्बन्धः, यशोदागृह एव भगवता पुत्रत्वमपराधश्च दर्शित

इति तद्देहदामान्येवान्तर्बहिर्भगवत्तिरोभावाद् सम्बद्धानि न तु गैहान्तरस्थितानि, अन्यासां तु तदर्थप्रवृत्तिरेव नास्ति, अन्तर्बहिस्तिरोधानाभावात्, रज्जुनामानयनं यशोदाकर्तृकमेव, न हि तादृश्या अन्यः सहायं कर्तुमर्हति, पूर्वं तु वाद्ययं त्रययोजनायां गेहे गते स्मयन्ती जाता, ततोपि बहुवारयोजनायां विस्मिता चाभवत्, आश्चर्यं प्राप्तवती, ततो रज्जुनामन्वेवणार्थं निर्बन्धेन यत्नं कृतवती ॥ १७ ॥

व्याख्यानार्थ—रज्जु के परस्पर जोड़ने का कार्य यशोदा आंगन में कर रही थी, सब गोपी जन भी दर्शनार्थ आ गई, उनका भी अबतक पूर्ण निरोध नहीं हुआ था । अतः वे यशोदा का यह कार्य देखकर हैसने लगी अथवा गर्ववती भी हुई और उनके मन में उस समय यह भाव उत्पन्न हुए कि यशोदा रस्सी से बांधना चाहती है इतनी रस्सियों को जोड़ने पर भी बन्धन में नहीं आए । हम तो इनको भुजाओं से बाँध लेंगी, इसलिये विशेष गर्विष्ठ हुई । यशोदा ने अपने गृह के सर्वदाम (रस्सी) जोड़ दिये तो भी दो अंगुल ही न्यून होने से, विस्मित हुई (यशोदा का गर्व टूट गया) । यशोदा अपने घर की ही सब रस्सियां लाई, किन्तु अन्य घरों से न ला सकी इसका कारण आचार्य

श्री बताते हैं कि भगवान् यशोदा के घर की रस्सियों में से तिरोहित (छिप) हो गए थे अतः घर की रस्सियां यशोदा ला सकी अन्य घरों (गोपियों के) की रस्सियां नहीं ला सकी कारण की गोपियों के अन्तःकरण से भगवान् तिरोहित नहीं हुए थे इसलिये उन (गोपियों) की यशोदा जैसी वृत्ति नहीं हुई, जो वे घर की रस्सियां लाकर अब भी देवें। यशोदा के इस कार्य से यशोदा के नाम की सार्थकता प्रकट होती है 'यश ददाति वा द्यति' दूसरे (भगवान्) को यश देती है और अपना यश गवांती है। भगवान् ने दोनों ही अपराध यशोदाजी के घर में किये थे, १-'पुत्रत्व स्वीकार, और २-तत्र बहाना'। जब यशोदा ने देखा दूसरी कोई सहायता नहीं करती है तब विस्मित (गर्व रहित) यशोदा आग्रह पूर्वक रज्जुओं के ढूँढने का प्रयास करने लगी ॥ १७ ॥

आभास-ततः सामर्थ्याभावे गोपिकानां समक्षं परमलज्जां प्राप्य भग्नमानससङ्कल्पा मृतप्रायासीत् तदा भगवान् परमकृपालुस्तादृशदुष्टेष्वपि सदबुद्ध्या युक्तमपि कृतवानित्याह ।

आभासार्थ-जब यशोदा ने भगवान् को बान्धने में अपने को सामर्थ्य-हीन समझा, तब गोपियों के सामने लज्जित होने लगी। मनके संकल्प<sup>१</sup> नष्ट होने से मृत प्राया<sup>२</sup> हो गई। तब परमदयालु भगवान् ने ऐसे दोषयुक्त भक्तों पर भी सदबुद्धि से जो कार्य करना (भगवान् का बन्धन में आना) योग्य नहीं था, वह भी किया। जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः - स्वमातुः स्वित्रगात्राया विस्रस्तकबरस्रजः ।

दृष्ट्वा परिश्रमं कृष्णः कृपयासीत् स्वबन्धने ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ-परिश्रम से आए हुए पसीने से भरपूर शरीर वाली और चोटी से जिसके पुष्प गिर रहे हैं ऐसी अपनी माता को देखकर कृपा से श्रीकृष्ण भगवान् बन्धन में आ गए ।

सुबोधिनी-स्वमातुरिति, ततो भगवान् कृपया स्वबन्धन आसीदितिसम्बन्धः, तत्र कारणत्रयमाह स्वमातुः स्वित्रगात्राया विस्रस्तकबरस्रज इति, मातुर्हि परिश्रमः कर्तव्यः, "मातुदेवो भव" एष्यो माता गरीयसो" तिवाक्यात्, नापि तस्या अपत्यान्तरमस्ति यो ह्युपस्थितं दुःखं निवारयेद् यत इयं स्वस्यैव मातातो मातृत्वं ख्यापयित्वा तस्या दुःखमसहमानेन तथा कृतं, किञ्च गोकुलवासिनां खेददूरीकरणार्थमागतो भगवान् स कथं स्वित्रगात्रायाः सर्वाङ्गे जातस्वेदाया न परिश्रमं

दूरीकुर्यात् ? किञ्च गोकुलवासिनां खेददूरीकरणार्थमागतो भगवान् स कथं स्वित्रगात्रायाः सर्वाङ्गे जातस्वेदाया न परिश्रमं दूरी कुर्यात् ? किञ्च गोकुलवासिनां सर्वसौभाग्य-दानार्थमागतः स कथं विस्रस्ताः कबरात्केशपाशात्प्र-जोयस्यास्तादृशीपश्येत् ? अनेन सर्वाभरणानामेव तिरोभावः-सूचितः, एवमेतादृश्या, परिश्रमं दृष्ट्वेतस्ततः पर्यटनं खेदः प्रस्वेदो मुखशोषो महती च ग्लानित्यादिः परिशब्दार्थः, तत्रपि भगवान् कृष्णः सदानन्दोऽनुभूतदुःखदुःखितानामसमक्षः

परदुःखमपि न पश्यति तदपूर्वं यशोदादुःखं दृष्ट्वा कृपया० च बन्धनं जातं, तदा स्वस्यैवबन्धने जात आसीत् प्रकरणाद् व्याप्तो मात्रर्थे स्विन्नाग्राग्रार्थे स्रगभावार्थे च स्वस्यैव स्वयं गृहीत इत्यवक्तव्यत्वान्नोक्तम् ॥ १८ ॥  
बन्धकरूपगुणाङ्गुलत्रयभूतो जातः, द्वाभ्यां पूरितमङ्गुलमात्रं

व्याख्यार्थ-तदनन्तर भगवान् कृपा कर स्वयं अपने बन्धन में आ गए इस प्रकार वाक्यों का सम्बन्ध है। भगवान् का बन्धन में आना, इसके तीन कारण बताते हैं-

- (१) अपनी माता है।
- (२) पसीने से तर हो गई है।
- (३) चोटी से फूल गिर गए हैं।

माता को प्रसन्न करना पुत्र का प्रथम कर्तव्य है क्योंकि शास्त्र में 'मातृदेवो भव' माता को अपना देव समझ, न केवल इतना ही समझ किन्तु माता देवताओं से भी बढ़कर समझ जैसा कि कहा है 'एभ्यो माता गरीयसी'। भगवान् ने ऐसी माता की दशा देखकर सोचा, कि माता के दूसरा बेटा भी नहीं है जो दुःख निवारण करे इसलिये इसका यह दुःख मुझे ही निवारण करना चाहिये कारण कि यह अपनी ही माता है। अतः मातापन प्रकट कर उसके दुःख को सहन नहीं कर सके, जिससे वैसा किया (बन्धवाया) और जो गोकुलवासियों के दुःख दूर करने के लिये प्रकटे हैं वे सर्वांग में पसीनेवाली अपनी माता का परिश्रम कैसे न दूर करे ? (दूर करना ही चाहिये अतः दूर किया और जो गोकुलवासियों को सौभाग्यदान करने के लिये प्रकटे हैं वे चोटी से पुष्प गिरने से जिसके सर्व प्रकार के आभूषणों का तिरोभाव हो गया है इस प्रकार यहाँ वहाँ आना जाना, हृदय की घबराहट, पसीने का होना, मुख सूक जाना आदि से टूटे हुए हृदय वाली माता को आप कैसे सौभाग्यदान न करें। उस पर भी यह भगवान् श्रीकृष्ण सदानन्द<sup>१</sup> हैं। दुःख का कभी भी अनुभव नहीं किया है और दुःखियों के सामने उपस्थित नहीं होते हैं। दूसरों का दुःख भी नहीं देख सकते हैं। इस समय यशोदा का ऐसा दुःख जैसा कि आपने पूर्व देखा ही नहीं वह देख के कृपा से पूर्ण हो गए। पसीने वाली, माला के अभाववाली, माता की प्रसन्नता के लिये आप स्वयं ही अपने को बान्धने के लिये तीन अंगुल की रस्सी रूप हो गए। जिससे वह रस्सी जो दो अंगुल कम थी वह बान्धने के योग्य हो गई और एक अंगुल बढ़ी जिससे गाँठ बाँधी गई। तब आप इस प्रकार स्वयं ही अपने ही से बन्धन में आ गए। प्रकरण से आप बन्धन में आए। यह यों कहने योग्य न होने से नहीं कहा गया है ॥ १८ ॥

१- भगवान् कृष्ण में आनन्द, धर्मरूप से सदैव रहता है अतः आपको आनन्द का अभावरूप दुःख, कभी भी अनुभव में नहीं आता है। जैसे सूर्य जहाँ है वहाँ अन्धकार नहीं रहता है अतः सूर्य को कभी भी अन्धकार का अनुभव नहीं होता है तात्पर्य जहाँ श्रीकृष्ण विरजते हैं वहाँ दुःख रह नहीं सकता है- 'लेख'

आभास-ननु किमर्थं भगवानेतावत् कृत्वा बन्धनरूपो जात इति ।

आभासार्थ-भगवान् इतना कर फिर आप रस्सीरूप होके स्वयं बन्धन में क्यों आए ? इस शङ्का को निम्न श्लोक में निवारण करते हैं ।

श्लोकः— एवं प्रदर्शिताहङ्ग हरिणा भक्तवश्यता ।

स्ववशेनापि कृष्णेन यस्येदं सेश्वरं वशे ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ-हे राजन् ! जिनके ईश्वर (लोकपाल और देवता आदि) सहित यह सर्व जगत् वश में है उन्होंने स्वतन्त्र होते हुए भी इस प्रकार अपनी भक्तवश्यता प्रकट की है ।

सुबोधिनी-चेत् तत्राहैवमिति, एवमपकारिणि लोके स्वकीयत्वमात्राभिमानेनाप्येतावतीमभूतपूर्वा कृपां करोतीति स्वस्य भक्तवश्यता प्रदर्शिता, प्रदर्शनस्यापि प्रयोजनमाह हरिणेति, स हि सर्वदुःखहर्ता तत्त्वसिद्ध्यर्थमसम्बन्धेन दुःखहर्तृत्वेतिप्रसङ्गात् संसारविलयः स्यादिति सम्बन्धार्थं कृपालुतां प्रदर्शयति, कृपा च सर्वधर्मधर्मिण्यो बलिष्ठेति वक्तुं भक्तवश्यताशब्देनैवोक्ता, ननु भक्त्या चेद् धर्मधर्मिणामुपमर्दः क्रियते तदा स्वरूपस्य प्रच्युतत्वात् फला-

भावात् प्रदर्शनमपि व्यर्थं स्यादित्याशङ्क्याह स्ववशेनापीति, स हि स्ववश एव न केनाप्युपमर्दः, अनेन फलसाधकत्वमुक्तं, फलरूपत्वमाह कृष्णेनेति, नन्वेवं कृतेन्यो महान् ब्रह्मादिर्न मंस्यते ततो माहात्म्यस्य न्यूनभावात् तथा फलत्वमित्याशङ्क्याह यस्येदं सेश्वरं वश इति, तत्तदधिष्ठातृ-देवतासहितं सर्वं जगद् यस्य वशे, अतो नान्यथाभावेन केनचिदपि कर्तुं शक्यमितिभावः ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ-जो मनुष्य, भगवान् मेरा है वा मैं भगवान् का हूँ केवल इस प्रकार भगवान् के साथ स्वकीय भाव सम्बन्धवाला है वह भगवान् का अपकार भी कर देता है तो भी प्रभु उस स्वकीय भक्त के ऊपर कृपा ही करते हैं अतः यहाँ ऐसी अभूतपूर्व (आगे किसी पर भी न की हुई) कृपा कर अपनी भक्तवश्यता दिखाई है । भक्तवश्यता दिखाने का प्रयोजन बताने के लिये श्लोक में भगवान् का नाम 'हरि' है । वे सर्व दुःखहर्ता हैं किन्तु सम्बन्ध बिना यदि सर्व के दुःखों का हरण करें तो अतिप्रसंग हो जाय (यह नियम सर्व के साथ जोड़ा जाय) जिससे संसार लोप हो जाए अतः आप सम्बन्ध वालों पर (सम्बन्ध प्रदर्शन करते हुए) ही कृपा करते हैं । कृपा सर्व धर्म और धर्मियों से बलवाली है यह प्रमाणित करने के लिए श्लोकों से 'भक्तवश्यता' यह दिया है ।

शङ्का-यदि भक्ति से धर्म और धर्मों का उपमर्दन<sup>१</sup> होता है तो भगवान् के स्वरूप की हानि होने से फल भी प्राप्त नहीं होगा और कृपा दिखाई वह भी व्यर्थ होगी ?

समाधान-श्लोक में इस शंका के मिटाने के लिए ही 'स्ववशेन' यह कृष्ण का विशेषण दिया है जिसका तात्पर्य है कि वह किसी अन्य के वश नहीं है। अतः इनको कोई दबा नहीं सकता अर्थात् इनको स्वरूप से च्युत (गिरा) नहीं सकता है। इससे यह बताया कि फल देने वाले आप ही हैं। 'कृष्णेन' पद देकर बताया है कि फल रूप आप ही हैं।

शङ्का-यों करने को अन्य ब्रह्मादि नहीं मानेंगे तो उनका (श्रीकृष्ण का) माहात्म्य कम हो जाएगा तो फल रूपता भी न होगी।

समाधान-इस शङ्का के निवारण को मिटाने के लिए श्लोक में 'यस्येदंसेश्वरवंशे' पद दिया है। जिसका भावार्थ है पृथक्-पृथक् पदार्थों के जितने भी देवतागण हैं उन समेत सारा जगत् कृष्ण के वश में है अतः किसी में भी इतनी सामर्थ्य नहीं है जो अपने ईश्वर की सामर्थ्य को अन्यथा (कमती) कर सके। (सारांश यह है कि कृष्ण देवताओं सहित समग्र जगत् के ईश्वर स्वतन्त्र स्वामी हैं) इसलिए जो भी आपको अपना कहता है उसके दोषों पर ध्यान न देकर उस पर कृपा ही करते हैं ॥ १९ ॥

आभास-नन्वेतादृशो भावः पूर्वमपि सिद्धस्ततः शास्त्रप्रसिद्धत्वात् किं प्रदर्शने-नेत्याषड्व्याह नेमं विरञ्च्य इति।

आभासार्थ-इस प्रकार का भाव पहले भी सिद्ध हुआ है जो शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है फिर उसके प्रदर्शन<sup>१</sup> करने की क्या आवश्यकता थी इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं।

श्लोकः— नेमं विरञ्चयो न भवो न श्रीरप्यङ्गसंश्रया ।

प्रसादं लेभिरे गोपी यत् तत् प्राप विमुक्तिदात् ॥ २० ॥

श्लोकार्थ-मोक्षदाता (भगवान्) से जिस प्रकार का प्रसाद (कृपा) गोपी (यशोदा) ने प्राप्त किया वैसा भगवान् के अंग को आश्रय कर रही लक्ष्मीजी ने, ब्रह्मा और शंकर ने भी नहीं प्राप्त किया।

सुबोधिनी-इमं प्रसादं न कश्चित् पूर्वं प्राप्तवान् भक्ता । एव हि महान्तः प्राप्नुवन्ति, तत्र भक्तेषु भक्त्या स्वरूपतश्च महान्तस्त्वयः पुत्रो ब्रह्मा भक्तः प्रवृत्तिमार्गसर्वधर्मप्रवर्तकः सर्वेषां हेतुभूतस्तथा महादेवोपि पौत्रः सर्वनिवृत्तिधर्मप्रवर्तकः । प्रलयकर्ता गुणावतारश्च भगवदर्थमेव सर्वपतित्यागेन तपस्तपति ततोपि लक्ष्मीर्भार्या ब्रह्मानन्दभूतोऽस्यपि लब्धपदा जगज्जननी निरन्तरं पादसेवनपरा, एवमेतै त्रयोपि यदीमं प्रसादं न प्राप्तवन्तस्तदा कोन्यः प्राप्नुमहीति ? तदाहेमं प्रसादं न वा

विरञ्चयो न वा भवो न वा श्रीः, प्रत्येकसमुदायाभ्यां प्रसादं न लेभिरे, न च तेषां दोषोस्तीति शङ्कनीयं, यतस्त्रयोप्यङ्गमेव सम्यगाश्रयन्ति, एका वक्षोऽन्यो नाभिमन्यः पादाविति, तेषां त्रयाणामपि गुणावतारणां यद् दुर्लभं तदन्येषां दुर्लभमेव, स कः प्रसाद इत्याशङ्क्य तमनुवदति गोपी यत् तत् प्रापेति, जात्या स्वरूपतो हीना, प्रसादस्तत्रैव प्रसिद्धो न केनचित्रिरूपितः, न हि सर्वमोचकः कश्चिदत्मानं बध्नाति, खेदस्तु ज्ञानमपि दत्वा विदेहकैवल्यं वा दत्वा मोचयितुं शक्यते किं स्वयं बन्धनेन ? अतः प्रसिद्धः प्रसादोयमेव नान्य इत्यर्थः ॥ २० ॥

**व्याख्यार्थ-** इस प्रसाद को आगे किसी ने भी प्राप्त नहीं किया है इसको तो भक्त ही पा सकते हैं। क्योंकि वे सब से महान् हैं। भक्तों में भक्ति और स्वरूप से महान्-भक्त तीन ही हैं।

- (१) ब्रह्मा-भक्त है जो भगवान् का पुत्र भी है। और प्रवृत्ति मार्ग के सर्व धर्मों के प्रवर्तक हैं तथा सब कारण रूप (सबकी रचना करने वाला) है।
- (२) महादेव-पौत्र है सर्व निवृत्ति धर्म के प्रवर्तक, प्रलयकर्ता, गुणावतार और भगवदर्थ सर्व का त्याग कर तपस्या कर रहे हैं।
- (३) उससे भी विशेष लक्ष्मीजी हैं जो भार्या है एवं ब्रह्मानन्द रूप है और जिसने भगवान् के उरस्थल पर बिराजने का सौभाग्य प्राप्त किया है तथा जगत् जननी है एवं नित्य भगवच्चरणारविन्द की सेवा में परगण है।

वैसे इन तीनों ने भी जब इस प्रकार की कृपा प्राप्त नहीं की है तो दूसरा कौन है जो प्राप्त कर सकेगा ? (कोई नहीं है जो प्राप्त कर सके)

इन तीनों ने पृथक् पृथक् वा मिलकर भी इस प्रसाद को नहीं पाया। यह भी शङ्का नहीं करनी कि इनमें कोई दोष होगा ? ये तो निर्दोष होने से तीनों ही भगवान् के श्रीअंग का सदैव आश्रय करते हैं।

एक (लक्ष्मीजी) वक्षस्थल का, दूसरा ब्रह्मा नाभि-कमल का, तीसरा महादेव चरणों का आश्रय करते हैं इन तीनों\* गुणावतारों को जो दुर्लभ है वह दूसरों के लिये तो निश्चयपूर्वक दुर्लभ ही होगा। वह कौनसी कृपा है ? जो कृपा ऐसे इन तीनों पर भी नहीं हुई है उसका वर्णन 'गोपीयत् तत् प्रापेति' पद से किया है। जो गोपी जाति से और स्वरूप से भी हीन है उसको ही वह प्रसाद प्राप्त हुआ यह प्रसिद्ध है। किसी ने इसका निरूपण भी नहीं किया है यह निश्चय है कि जो कोई सबको छुड़ाता है वह अपने को बन्धन में नहीं डालता है। माता का दुःख ज्ञान देकर अथवा मोक्ष देकर भी मिटिया जा सकता है तो फिर अपने को बन्धन में डालने की क्या आवश्यकता

\* प्रकाशकार कहते हैं कि लक्ष्मी का गुणावतार 'माया' है जिसको भा० १०-२६-३९ में भगवान् को सात्त्विकी शक्ति कहा गया है लक्ष्मी ने भगवान् को आज्ञा से 'माया' का रूप धारण किया।

थी इससे समझा जा सकता है कि यह ही 'प्रसाद' (कृपा कर आप ही का बन्धन में आना) प्रसिद्ध है दूसरा कोई भी वैसा प्रसाद<sup>१</sup> नहीं है ॥ २० ॥

आभास-ननु ते महान्तो मूढा चेयमिति मूढानुरोधेन कृतोर्थः कथं प्रसादः स्यात् ? तत्राह नायं सुखाप इति ।

आभासार्थ-वे (ब्रह्मा, शंकर और लक्ष्मीजी) महान् हैं और यह (यशोदा) मूढ़ के अनुरोध<sup>२</sup> से किए हुए कार्य को कृपा कैसे कही जाय । इस शंका निवारणार्थ<sup>३</sup> निम्न श्लोक कहा है ।

श्लोकः— नायं सुखापो भगवान् देहिनां गोपिकासुतः ।

ज्ञानिनां चात्मपोतानां यथा भक्तिमतामिह ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ-यह यशोदा नन्दन भगवान् यहाँ जिस प्रकार से सरलतापूर्वक भक्ति करने वालों को प्राप्त होते हैं उस प्रकार देहधारियों को तथा आत्मा को नौका बना कर पार जाने वाले ज्ञानियों को सरलता से नहीं मिलते हैं ।

सुबोधिनी — न ह्यत्र बन्धनं निरूप्यते किन्तु वश्यता, सा न कस्यापि सिध्यति, यावन्तः कर्मिणो देहाभिमानिनो येषि ज्ञानिनो निरभिमाना मुक्ता उभयेषामप्ययं भगवान् न सुखापः सुखेन प्राप्तुं शक्यः, तत्र हेतुर्देहिनामिति, एकत्र देहाभिमानो दोषोन्यत्र निरपेक्ष्यं, तदाह ज्ञानिनां चात्मपोतानामिति, आत्मा स्वरूपं धेतः संसारसमुद्रतरणोपायो येषां, न हि समुद्रतरणमात्रेण पारस्थितो महाराजः प्राप्यते, भक्तिमतां त्विहैव सुलभः, तत्र हेतुर्गोपिकासुत इति, यतो गोपिकायाः सुतो जातः, अतः सर्वे भक्ता भवन्ति त्वेवं भगवता कृतमिति भावः, इहेत्यस्मिन्नवतारे भक्तिमतामिति भक्तेर्विशेषणत्वमुक्तं न तु भक्तानाम् ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ-यहाँ भगवान् ने अपने को आप ही बन्धन में डाला इस प्रकार का जो वर्णन है उसका तात्पर्य यह है कि भगवान् को अपनी वश्यता (मैं भक्ति करने वाले के, वश हो जाता हूँ) दिखलानी थी । वह वश्यता<sup>४</sup> भक्ति करने वालों के अतिरिक्त किसी को भी सिद्ध नहीं होती है । भक्ति करने वालों के अतिरिक्त अन्य हैं, (१) कर्म करने वाले और (२) ज्ञानी । वे दोनों दोष युक्त हैं कर्मिणों<sup>५</sup> में देहाभिमान का दोष रहता है इस दोष से उन पर इन जैसी भगवत् कृपा नहीं होती है । और ज्ञानी निरभिमान होने से निरपेक्ष<sup>६</sup> दोष वाले होते हैं । वे समझते हैं कि हम आप ही आत्मारूप नौका से पार पहुँचेंगे । हमको भगवद्भक्ति या आश्रय की आवश्यकता नहीं है । जैसे मनुष्य नाव से समुद्र के पार तो पहुँच जाते हैं किन्तु वहाँ उनको महाराजा के

१-कृपा ।

२-अपिलाषा पूर्ण करने की इच्छा ।

३-सन्देह दूर करने के लिए ।

४-आधीन होना ।

५-यज्ञादि कर्म करने वाले ।

६-किसी की भी आज्ञा या भरोसा ।



दर्शन प्राप्त नहीं होते हैं वैसे ही ज्ञानी भी केवल संसार के पार जा सकते हैं किन्तु उस रसेश के दर्शनादि का आनन्द नहीं पाते हैं। भक्तिवालों को तो वह रसेश यहाँ भी सुलभता से प्राप्त हो जाता है। यहाँ ही उनको क्यों सुलभतापूर्वक प्राप्त होता है इसकी पुष्टि<sup>१</sup> श्लोक में 'गोपिकासुतः' कह कर की है। भगवान् भक्ति के कारण ही, यशोदा के पुत्र बन उसके वश हुए हैं। इससे यह शिक्षा दी है कि आप सब भक्ति करो और सच्चे भक्त बनो। इस अवतार में जैसे मैंने भक्ति से वश्यता दिखलाई है। श्लोक में 'भक्ति मताम्' पद कहकर यह बताया है कि भगवान् भक्ति करने वालों के वश में होते हैं न कि भक्तों के वश में होते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि प्रेम बिना केवल क्रिया मात्र, सेवा करने वाले भक्त को नहीं मिलता हूँ ॥ २१ ॥

आभास-एवं स्वमनोरथे सिद्धे गोपिका बहिर्मुख्यो यथायथं गताः, भगवांस्तु तथा न गतः किन्तु तस्यामेवावस्थायां महत् कार्यं कृतवानित्याह कृष्णस्त्विति ।

आभासार्थ-इस प्रकार अपने मनोरथ पूर्ण होते ही बहिर्मुख गोपिकाएँ अपने-अपने घर गईं भगवान् गये नहीं किन्तु उसी अवस्था में (ऊखल से बन्धी हुई अवस्था में) जो बड़ा कार्य किया उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — कृष्णस्तु गृहकृत्येषु व्यग्रायां मातरि प्रभुः ।

अद्राक्षीदर्जुनौ पूर्वं गुह्यकौ धनदात्मजौ ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ-माता घर के काम में लग गई कृष्ण ने तो दो अर्जुन वृक्षों को देखा। वे (वृक्ष) पहले गुह्यक (देवयोनि) में कुबेर के पुत्र थे।

सुबोधिनी — तुशब्दः पूर्वसम्बन्धं व्यावर्तयति नायं बन्धनव्यग्रः कृष्णः, सा चेद् भगवन्तं वशीकृत्य तथैव तिष्ठेन् न किञ्चित् कुर्याद् भगवान् निषेधस्य सिद्धत्वात्, सा पुनर्गृहकृत्ये व्यग्रा जाता, तथा जातायां यमलार्जुनवृक्षावद्राक्षीत तत्पातनेन च तस्याः प्रपञ्चविस्मरणं करिष्यामीति, ननु कोयमत्याग्रहः ? तत्राह मातरीति, तस्यामप्यवस्थायां पातने सामर्थ्यमस्तीति ज्ञापयति प्रभुरिति अर्जुनौ जातिविशेषवृक्षौ 'सखि' शब्दवाच्यौ, ननु गोपिकार्थं कथं तयोः पतनमपराधा-भावादित्याशङ्क्याह पूर्वं गुह्यकाविति, देवयोनिभूतौ वृक्षौ जातौ, अतस्तयोर्वृक्षत्वमनभिप्रेतं तथापि प्रयोजनाभावात् सम्बन्धाभावात् किमिति मोचनीयावित्याशङ्क्याह धनदात्मजाविति, धनदः कुबेरे भक्तस्तस्य पुत्रौ ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ-श्लोक में आए हुए 'तु' शब्द से पूर्व कथा की पृथक्ता दिखलाते हैं। यह कृष्ण बन्धन में व्यग्र नहीं है क्योंकि आप सदानन्द रूप हैं। बन्धन तो नाम मात्र बन्धन है आप स्वेच्छा से अपनी लीला कर सकते हैं। वह (यशोदा) यदि भगवान् मेरे वशीभूत हो गए हैं यों समझकर

वहाँ ही ठहर जाती तो भगवान् दूसरा कार्य न करते, कारण कि समझ जाते, कि इसे निरोध सिद्ध हो गया है किन्तु देख लिया कि यह फिर गृह कार्य में लग गई है इससे उसका पूर्ण निरोध नहीं हुआ है। अतः इसकी (यशोदा की) प्रपञ्च में, जो अब तक आसक्ति है वह छुड़ानी चाहिये। इसलिए सामने स्थित, यमलार्जुन वृक्ष को देखा, देखते ही विचार आया कि इनको गिरा दूँ। इनके गिरने के शब्द से इसका प्रपञ्च विस्मरण करूँगा। इस प्रकार से निरोध करने की अति आग्रह की क्या आवश्यकता है? इस आवश्यकता को बताने के लिए श्लोक में माता कहा है यशोदाजी भगवान् की माता थी माता होने के नाते से भगवान् को अत्याग्रह करना पड़ा। इस अवस्था 'बाल्यकाल' में अथवा ऊखल में बन्धन की अवस्था में पेड़ों को कैसे गिरा सकेंगे? इस शङ्का को मिटाने के लिए श्लोक में 'प्रभु' विशेषण दिया है जिसका अर्थ है सदैव सामर्थ्यवान् है। अर्थात् बन्धे हुए हो, चाहे बालक हो, तो भी, पेड़ों को गिरने में समर्थ है। अर्जुन नाम वाले एक प्रकार के वृक्ष होते हैं जिनको 'सखा'<sup>१</sup> भी कहते हैं। इन वृक्षों ने कोई अपराध नहीं किया है। तब गोपी के (यशोदा के) लिये इनको बिना अपराध क्यों गिराया जाता है? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि ये वृक्ष नहीं हैं किन्तु पहले जन्म में ये देवयोनि में थे। अब वृक्ष हुए हैं यह वृक्षपने में प्रसन्न नहीं है। बिना प्रयोजन और बिना सम्बन्ध के क्यों वृक्षयोनि से छुड़ाए? इस शङ्का के उत्तर में कहा है कि 'घनदात्मजौ' भक्त कुबेर के ये पुत्र हैं ॥ २२ ॥

आभास-ननु तौ महान्तौ कथमेवं जातौ ? तत्राह पुरेति ।

आभासार्थ-ये भक्त कुबेर के पुत्र इतने महान् होकर पेड़ कैसे बने? इस शङ्का को मिटाने के लिये निम्न श्लोक कहा है।

श्लोकः - पुरा नारदशापेन वृक्षतां प्रापितौ मदात् ।

नलकूबरमणिग्रीवावितिख्यातौ श्रियान्वितौ ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ-ऐश्वर्यवान् नलकूबर और मणिग्रीव नाम से प्रख्यात इन्होंने मद के कारण नारदजी के शाप से वृक्षयोनि प्राप्त की है।

सुबोधिनी-पुरेति, पूर्वं नारदशापेन वृक्षत्वं प्राप्ता, ननु नारदः किमिति शापं दत्तवान् ? तत्राह मदादिति, श्रीमदेन मत्तौ, अतो मदाद्धेतोर्नारदशापः शापेन च वृक्षत्वमिति, ननु तथाभाषयोग्यावेव तौ किमिति मुच्येते इत्याशङ्क्याह नलकूबरमणिग्रीवावितिख्याताविति, नलःकूबरो यस्य

नलोतिसुन्दरः सोपि कुञ्जतुल्यो मणियुक्ता ग्रीवा यस्यैवन्नाम्ना ख्यातौ, तेषां नामख्यातिश्च न शान्तेति तदुद्धारे युक्तः, किञ्च श्रिया चान्वितौ, अद्यापि तौ परित्यज्य श्रीर्न गता, अतः कीर्तिश्रियोर्विद्यमानत्वादुद्धारमर्हतः ॥ २३ ॥

१-अर्जुन भगवान् के सखा का नाम है अतः इन अर्जुन नाम वाले वृक्षों को सखा नाम से पुकारते हैं।

व्याख्यार्थ-पूर्वकाल में नारदजी के शाप से ये वृक्ष हुए थे किन्तु नारदजी ने इनको शाप क्यों दिया ? इस शंका के मिटाने के लिये श्लोक में 'मदात्' शब्द से यह बताया है कि ये श्री के मद से मस्त हो गए थे । इस कारण से नारदजी ने इनको शाप दिया जिससे ये वृक्ष हुए हैं । इस प्रकार (वृक्ष) होने के योग्य थे तो इनको इस योनि से क्यों मुक्त किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि नल सुन्दर होते हुए भी वह आगे से कुबड़े जैसा था, इसलिये एक का नाम नलकूबर और दूसरा मणियुक्त ग्रीवा वाला था । इनके नामकी प्रशंसा अब तक प्रसिद्ध हो रही है इसलिये इनको वृक्ष योनि से मुक्त करना योग्य है और ये 'श्री' से भी युक्त हैं अब तक भी श्री ने इनको छोड़ा नहीं है । अतः कीर्ति और श्री वालों का उद्धार करना योग्य ही है ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशम-स्कन्ध, पूर्वार्ध के नवम अध्याय की श्रीमद्भगवाचार्यचरणकृत

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के 'तामस-प्रकरण, प्रमाण' अवान्तर प्रकरण, का 'ज्ञान निरूपक'

पञ्चम अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ❖ श्रीमद् भागवत महापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य — विरचित — सुबोधिनी-टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

### तामस-प्रकरण

‘प्रमाण’ अवलम्बित प्रकरण



षष्ठोऽध्यायः

स्कन्धानुसार : दशमो - अध्याय



कारिका — एवं तु नवमाध्याये भक्तिरुक्तातिदुर्लभा ।

कृष्णसेवकसख्यस्य हेतुर्दशम उच्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ—इस प्रकार नवम अध्याय में अति दुर्लभ भक्ति का वर्णन किया । दशम अध्याय में श्रीकृष्ण के भक्त की मैत्री का कारण कहते हैं ।

व्याख्या—प्रथम कारिका में नवम और दशम अध्याय की संगति बताने के लिये कहा है कि नवम अध्याय में राजा के १०-७-२ में किए हुए, जिस श्रवण करने से, भगवान् में भक्ति हो, उस प्रश्न का उत्तर दिया है और दशम अध्याय में कृष्ण के सेवक की मंत्री का हेतु (वैशग्य) बताकर दोनों की संगति दिखाई है । यमलार्जुन (नलकूबर और मणि ग्रीव) को भगवान् के दर्शन हुए जिससे उनका मोक्ष भी हुआ, यह भगवद्भक्त नारदजी के अनुग्रह रूप शाप से हुआ । अतः इस चरित्र के श्रवण से भगवद्भक्तों से कैसी भी मैत्री हो तो वह हितकर होती है । श्रीकृष्ण के

भक्तों का दर्शन ही मुक्ति देनेवाला है, उसमें उन (भगवद्भक्तों) की कृपा रूपी वाक्यों से तो भगवान् की भी कृपा होती है जिससे सब बन्धन छूट जाते हैं इस प्रकार का ज्ञान होते ही जीव उनसे मैत्री करने का यत्न करेगा ॥ १ ॥

**कारिका — वैराग्यं भगवद्धर्मः षड्गुणोत्र निरूप्यते ।**

**गुणानां भगवत्त्वाय स एव हि यतोभवत् ॥ २ ॥**

**कारिकार्थ—**इस दशम अध्याय में षड्गुणवाले 'वैराग्य' धर्म का निरूपण करते हैं गुण भी भगवान् ही है क्योंकि निश्चय से भगवान् ने ही गुणों के रूप धारण किए हैं ।

**व्याख्या—**नवम अध्याय में अविद्या को नाश करने वाले और भगवान् को वश में करने वाले ज्ञानरूपी भगवान् के धर्म का निरूपण किया है—इस दशम अध्याय में बताते हैं कि भगवान् के सर्वगुण भगवद्रूप हैं अर्थात् जो कुछ भगवान् करते हैं वे सब उनके गुण भी कर सकते हैं क्योंकि उनमें ही गुणों का रूप धारण किया है इसलिये षड्गुण वाले 'वैराग्य' धर्म का वर्णन इस अध्याय में किया गया है इससे इस कारिका से स्कन्ध के अर्थ (निरोध) से भी संगति बताई है और यह भी बताया है कि जैसे सर्प गोलाकार आदि कोई भी रूप धारण करता है तो भी प्रत्येक आकार (रूप) में वह एक ही सर्प होता है वैसे ही गुण भी भगवान् का ही रूप है ॥ २ ॥

**कारिका — वैराग्यमनिवर्त्य तु भगवद्वाक्यतो भवेत् ।**

**विशेषस्तु यद्वाक्यं न निवर्तेत केनचित् ॥ ३ ॥**

**कारिकार्थ—**अविनाशी वैराग्य तो भगवान् के वचनों से होता है जो वचन (वैराग्य) कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता है ऐसी इसमें विशेषता है ।

**व्याख्या—**वैराग्य दो प्रकार के होते हैं—एक नाशवान् और दूसरा अविनाशी । भगवान् के भगवद्भक्तों के वचनों से जो वैराग्य होता है वह अविनाशी होता है जो सदैव बना रहता है और दूसरे प्रकार का वैराग्य, जो गृहस्थ कुटुम्बियों द्वारा अथवा धन-नाश आदि द्वारा दुःख से जो वैराग्य उत्पन्न होता है वह सुख मिलने पर मिट जाता है तथा (वैसे) नित्य और अनित्य वस्तु के विवेक से जो वैराग्य उत्पन्न होता है वह भी स्थिर नहीं रहता है । नलकूबर और मणिग्रीव को नारदजी के शाप से अविनाशी वैराग्य हुआ था । भगवान् एवं भगवद्भक्त के वाक्य अन्यथा नहीं होते हैं अतः नारदजी का दिया हुआ शाप रूप वाक्य, वैराग्यजनक था जिससे वह वैराग्य अविनाशी हुआ । भक्त के शब्द भगवान् के ही शब्द होते हैं ॥ ३ ॥

कारिका — तादृशं शापरूपं स्याद् भक्तानामेव तादृशम् ।

अतो वैराग्यकथने शापो मोक्षावधिर्मतः ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—इस प्रकार का वैराग्य भक्तों के शाप से ही होता है । अतः यह शाप तो मोक्ष की अवधिवाला होता है और वैराग्य सदैव अविनाशी होता है ।

व्याख्या—भगवद्भक्त का शाप भी हितकारी होने से शापित का हित साधक ही होता है और वह शाप सदैव नहीं रहता है शापित का हित करके मिट जाता है जैसे नलकूबर और मणिग्रीव का मोक्ष करकर शाप मिट गया ॥ ४ ॥

कारिका — शापोद्यमस्तथा हेतुः शापश्चापि प्रसादभाक् ।

वाक्यस्यापि फलं शीघ्रं स्तुतिश्चानुग्रहस्तथा ॥ ५ ॥

षड्भिर्द्वादशभिश्चैव त्रिभिः षड्भिस्तथैव च ।

दशभिः पञ्चभिश्चेति षडर्थः क्रमतो मताः ॥ ६ ॥

कारिकार्थ—शाप का उद्यम, शाप का कारण, अनुग्रह रूप शाप, वाक्य का फल भी शीघ्र होना, स्तुति और प्रसाद<sup>१</sup> ये षट् अर्थ क्रमशः श्लोकों में इस प्रकार कहे गए हैं—

(१) शाप का उद्यम छः श्लोकों में, (२) शाप के कारण द्वादश श्लोकों में, (३) अनुग्रह रूप शाप तीन श्लोकों में, (४) फल की शीघ्रता छः श्लोकों में, (५) स्तुति दश श्लोकों में, (६) कृपा, पांच श्लोकों में ॥ ५-६ ॥

व्याख्या—इन दो कारिकाओं में कौन से और कितने श्लोकों में किस-किस चरित्र का वर्णन है उसका विश्लेषण किया गया है ॥ ५-६ ॥

कारिका — अपूर्वत्वाच्छ्रोतुमिच्छा तेन प्रश्रुः परीक्षितः ।

स्वस्यापि तादृशत्वेन तद्वन्मोक्षाशया पुनः ॥ ७ ॥

कारिकार्थ—यह अपूर्व होने से इस प्रसंग<sup>२</sup> के श्रवण की इच्छा हुई । अतः परी-

क्षित ने प्रश्न किया है क्योंकि आप भी वैसे ही थे अर्थात् इन (परीक्षित) को भी मोक्ष की इच्छा थी इसलिये भी प्रश्न किया है ।

**व्याख्या**—परीक्षित को इस चरित्र को सुनने की इच्छा इसलिये हुई कि यह एक नवीन एवं विचित्र बात है कि देव भी पाप करते हैं और ऋषि तथा भक्त भी क्रोध करते हैं । परीक्षित को इस कथा के पूछने का यह भी कारण था कि वह स्वयं भी ऋषि द्वारा शापित था । इस चरित्र श्रवण से भुझे (परीक्षित को) भी निश्चय हो जाय कि महान् पुरुषों का शाप भी आशीर्वाद है उससे कल्याण ही होता है ॥ ७ ॥

**आभास**—पूर्वाध्यायान्ते शापेन यमलार्जुनौ जाताविति श्रुत्वा कथं वा तेषां भगवानुद्धारको जात इति पृच्छति कथ्यतामिति ।

**आभासार्थ**—नवम अध्याय के अन्त में कुबेर के पुत्र नारदजी के शाप से यमलार्जुन (वृक्षरूप) हुए । यह सुनकर परीक्षित अब इस निम्नलोक में प्रश्न करता है कि भगवान् ने इनका उद्धार किस प्रकार किया ।

॥ श्रीरजोवाच ॥

**श्लोकः** — कथ्यतां भगवन्नेतत् तयोः शापस्य कारणम् ।

यत् तद् विगर्हितं कर्म येन देवऋषेस्तमः ॥ १ ॥

**श्लोकार्थ**—रजा ने कहा है भगवन् ! उनके शाप का वह कारण कहो कि इनने कौनसा निर्दित कर्म किया था जिससे ऋषि नारदजी को क्रोध आ गया ।

**सुबोधिनी**—भगवन्नितिसम्बोधनं कथनेन स्वदुःख-दूरीकरणसामर्थ्यार्थं, एतदिति, हृदये बाधकत्वेन स्थितं, तयोर्नलकूबरमणिग्रीवयोरेकरूपस्य शापस्य कारणं, चतुष्टयं तु तेनैव वक्तव्यं शापविस्तारो विमोक्षणं स्तुति-भगवत्प्रसादश्चेति अतोधिकं द्वयं पृच्छति यत् तद् विगर्हितं कर्मेति, यत् प्रसिद्धं तादृशशापहेतुभूतं जातं तदवश्यं विगर्हितं ।

निन्दितमेव भवति, देवानां तु पापं न सम्भवतीति प्रश्नः, किञ्च येन कृत्वा देवऋषेर्देवतानामपि मन्त्रद्रष्टुस्तमः क्रोधो भवति, अनेनशापे हेतुः स्पष्टः, विगर्हितेन शापोद्यमः सर्वो हि विगर्हिते कृते शापं दातुमुद्युक्तो भवति, देवर्षिस्तु साधारणे न भवतीति विशेषतो हेतुर्वक्तव्यः ॥ १ ॥

**व्याख्यानार्थ**—रजा परीक्षित शुकदेवजी को 'भगवन्' यह विशेषण इसलिये देता है कि भगवान् ने जैसे यमलार्जुन का दुःख दूर किया था वैसे ही आप भी मेरे दुःख दूर करने की सामर्थ्य वाले

के हृदय में शाप का कारण बाधक<sup>१</sup> हो रहा था अर्थात् शाप से क्या होगा ? इसलिये पूछता है कि इन दोनों (नलकूबर और मणिग्रीव) को एक ही प्रकार के शाप का कारण कहिये । इस एक ही शाप के प्रश्न से शेष इससे सम्बन्ध रखनेवाले चार विषयों का अभिप्राय अर्थात्-(१) शाप का विस्तार, (२) मोक्ष, (३) स्तुति और भगवत्प्रसाद निकल जाएगा । इसलिये इन चारों से अधिक दो ही प्रश्न पूछते हैं । इस प्रकार के शाप का हेतु जो कर्म है वह अवश्य निन्दित ही है । इसलिये प्रश्न करते हैं कि ऐसा निन्दित कर्म देवताओं ने कैसे किया । देवता तो पाप<sup>२</sup> कर्म करे यह सम्भव नहीं है और जिस कर्म के करने से देवताओं में भी जो ऋषि (मन्त्रद्रष्टा) हैं वैसे नारद ऋषि को क्रोध आ गया । इस प्रकार कहने से यह स्पष्ट कह दिया कि उन्होंने ऐसा पाप कर्म किया है जिससे ऋषि को इनके प्रति शाप देना आवश्यक हो गया था । निन्दित कर्म के कारण, नारदजी ने शाप का उद्यम किया । निन्दित कर्म करने पर सब शाप देने का उद्यम करते हैं । किन्तु ये देवों में भी ऋषि हैं, अतः साधारण पाप कर्म होता तो ये शाप नहीं देते इसलिये इनने जो शाप दिया उसमें कोई विशेष कारण होगा वह विशेष कारण कृपा कर कहिये ॥ १ ॥

आभास-तत्र प्रथमं विगर्हितेन शापोद्यममाह षड्भि रुद्रस्येति ।

आभासार्थ-निम्न श्लोक से लेकर छ श्लोकों में विशेष करके निन्दित कर्म करने से शाप के उद्यम का वर्णन करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — रुद्रस्यानुचरौ भूत्वा सुदृप्तौ धनदात्मजौ ।

कैलासोपवने रम्ये मन्दाकिन्यां मदोत्कटौ ॥ २ ॥

श्लोकार्थ-श्रीशुकदेवजी बोले, श्रीमहादेवजी के सेवक महान् अहंकारी जो कुबेर के पुत्र थे मदोन्मत्त होकर श्रीगङ्गाजी के समीप कैलास के सुन्दर उपवन में फिर रहे थे ।

कारिका — उन्मादश्च प्रमादश्च निन्दिताचरणं तथा ।

महत्स्वपि तथा धार्ष्ट्यसिद्ध्यर्थं महतां दृशिः ॥ १ ॥

धार्ष्ट्यं तयोर्न सङ्घस्य ततश्चोद्यम ईर्यते ॥ १ १/२ ॥

कारिकार्थ-छ श्लोकों में शाप के उद्यम का वर्णन है अब किस श्लोक में उनके

१-दुःख दे रहा था ।

२-निन्दित ।



(नलकूबर और मणिग्रीव के) किस कर्म का वर्णन है वह इस १<sup>१</sup> कारिका द्वारा बताते हैं। उन्माद (२ रे श्लोक में) प्रमाद (३ रे श्लोक में) निन्दिताचरण (४ थे श्लोक में) नारदादि महापुरुषों से भी धृष्टता की। महापुरुषों का दर्शन (नलकूबर के कर्मों को देखना) (५ वें श्लोक में) सब स्त्रियों ने धृष्टता नहीं को केवल इन दोनों की धृष्टता (अविनय) (६ ठे श्लोक में) इसके पश्चात् पाप के लिये उद्यम का वर्णन (७ वें श्लोक में) किया है।

सुबोधिनी-प्रथमतो महत्तयात्मनुचितमित्याह रुद्रस्य महादेवस्य रुद्र रोगाणि द्रावयतीति तादृशस्य सेवकयो रोगसम्बन्धोऽनुचितः, अनुचरपदेन पश्चादेव चलनस्योचितत्वाद्गुणावधिभेदोपि दोषायेति तादृशावपि भूत्वा सुदुष्प्री जातौ धनेनातिमत्तौ, तत्र हेतुर्धनदात्मजाविति, धनं सर्वेभ्यो ददातीति तदात्मजस्य धनित्वं सिद्धमेव, उभयोश्च सहक्रीडा निन्दिता, उभौ च दुष्टौ जातौ, तत्रापि महादेवस्य

गृहरूपो यः पर्वतः कैलासस्तस्योपवन आरोपितफलपुष्पप्रधाने वने, तत्रापि रम्ये सर्वदोषविबर्जिते वने, स्वभावतो विरक्तौ महादेवस्तस्य स्थाने विरक्ता एव तिष्ठन्ति, तत्राप्युपवने योगिनां भगवच्चिन्तनस्थाने, तत्रापि रम्ये भगवत्प्रसादस्थाने, ततोप्यधिकदोषमाह मन्दाकिन्यामिति, मन्दाकिनी भागीरथी प्रसिद्धा, मन्दाकिन्यां दोषाभावात्, तत्रापि मद उत्कटो ययोः, अयं मदो धनादिकृत एव, सुगदिकृतस्त्वग्रे वक्ष्यते ॥ २ ॥

व्याख्यानार्थ-पहले तो महान पुरुषों को इस प्रकार के कर्म करनेवाला होना योग्य नहीं है। इस प्रकार के निन्दित कर्म करने वालों की महत्ता दिखाते हैं कि ये रुद्र के अनुचर हैं। रुद्र का अर्थ है, जो रोगों (भवरोगों) का नाश करते हैं। ऐसों के सेवकों को रोग से सम्बन्ध करना अनुचित<sup>१</sup> है। अनुचर पद का भाव बताते हैं कि उसको अणुमात्र भी विपरीत कर्म करना दोष है। उसे पूर्ण रीति से स्वामी के अनुसार कर्तव्य करने चाहिये। महादेवजी के अनुचर होकर भी धन के कारण ये दोनों मदोन्मत्त थे कारण कि कुबेर\* के पुत्र थे। जो सबको धन देता है उसके पुत्र धनी होते ही हैं इसमें संशय ही नहीं है। इस प्रकार की क्रीड़ा, दो की साथ में नहीं होनी चाहिये क्योंकि साथ करना निन्दित है किन्तु दोनों दुष्ट हो गए थे इसलिये न केवल दोनों ने मिल कर क्रीड़ा ही की परन्तु जहाँ क्रीड़ा नहीं करनी चाहिये थी ऐसे स्थल जो महादेवजी का निवास स्थान कैलास है उसके रम्य<sup>२</sup> उपवन जिसमें पुष्प फल आदि लगे हुए हैं उसमें क्रीड़ा

\* कुबेर देवताओं के कौषाध्यक्ष (खज़ाजी) हैं।

१ - लालूभट्टजी योजना में लिखते हैं कि अनुचर का तात्पर्य है पीछे चलनेवाला अर्थात् जैसे स्वामी करे वैसे ही सेवक को भी शुद्ध आचरण रखने चाहिये 'शिव वेद है वेद शिव है' इस श्रुत्यानुसार शिव वेदरूप है इसलिये शिव के सेवकों को वेदानुसार अपना व्यवहार रखना चाहिये। इन्होंने वैसा नहीं किया अतः यह अनुचित है।

२ - सब दोष रहित।

करने लगे । महादेवजी स्वभाव से विरक्त हैं और उनके स्थान में विरक्त<sup>१</sup> ही रहते हैं । उसमें भी उपवन में जहां योगीजन भगवच्चिन्तन करते हैं । उससे भी विशेष रम्य-स्थान भगवान् की कृपा के होने का स्थान, इससे भी अधिक दोष बताते हैं कि मन्दाकिनी (श्री भागीरथी गंगाजी) जिसमें किसी प्रकार का भी दोष\* नहीं है उसके समीप के स्थानों पर इन्होंने जो क्रीड़ा की, उसका कारण धन के मद से दुष्ट हो गए थे । मदिश<sup>२</sup> पानादि दोषों के मद का आगे वर्णन करेंगे ॥ २ ॥

**आभास-महतः स्वरूपदोषा उक्ताः, आगन्तुकदोषैः सदुष्टक्रियामाह वारुणीमिति ।**

**आभासार्थ-**इससे पूर्व के श्लोक में महान्<sup>३</sup> पुरुष के स्वरूप के दोष कहे, अब निम्न श्लोक में आगन्तुक (दुष्ट कर्म करने से आने वाले) दोषों का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः - वारुणीं मदिशं पीत्वा मदाघूर्णितलोचनौ ।**

**स्त्रीजनैरनुगायद्भिश्चेतुः पुष्पिते वने ॥ ३ ॥**

**श्लोकार्थ-**वारुणी<sup>४</sup> पीने से उत्पन्न मद से घूर्णित<sup>५</sup> नेत्र वाले वे पुष्प-वाटिका में फिर रहे थे । जिनके पीछे गाती हुई स्त्रियाँ भी फिर रही थीं ।

सुबोधिनी-दृष्टजो हि दोषो दुर्निवार इति द्वयोः सम्बन्धः, वारुणी वरुणोद्भवा, अमृतसङ्ग उत्पन्ना दैत्यभावबोधिका, तत्रापि मदिश मादिकासुरभावादप्यधिकदोषजनिका, तां वारुणीं मदिशं पीत्वा मदेनाघूर्णिते लोचने ययोर्विरुद्धज्ञानवन्तौ, तत्राप्यनु पश्चाद् गायद्भिः स्त्रीभिः सहितौ, सङ्गदोषो मोहहेतुः सम्बन्धश्च, पुष्पिते वने रज्जुयुक्ते चेतुर्ध्रुममाणी जातौ, मन्दाकिन्यामिति सामीप्यसप्तमी, कैलासोपवने, सति, मन्दाकिन्यामपि सत्यां मदोत्कटविति वा अतः पुष्पिते वने इति न दोषवचनेन विरोधः ॥ ३ ॥

**व्याख्यानार्थ-**दो कारणों से उत्पन्न दोष को मियाना कठिन हो जाता है, यह बताकर दोनों श्लोकों (दूसरे-तीसरे) का सम्बन्ध बताया दूसरे श्लोक में धनमद बताया है यहाँ तीसरे में वारुणी मद बताते हैं । अतः इस प्रकार दो दोष हो गए जिन्हें वे स्वतः मिया नहीं सकते थे । वारुणी शब्द का अर्थ है जो वरुण<sup>६</sup> में से पैदा हुई है और अमृत के साथ उत्पन्न हुई है अतः दैत्य-भाव को बढ़ाने वाली है । उस पर भी फिर मदिश मादक<sup>६</sup> होने से आसुर भाव से भी अधिक दोष

\* श्री पुरुषोत्तमजी 'प्रकाश' में इसका स्पष्टीकरण (खुलासा) करते हैं कि महादेवजी के उपवन में जो गंगाजी हैं वे दोष-रहित इसलिये हैं कि वहाँ कोई भी मनुष्य स्नान नहीं करता है अतः वहाँ की गङ्गाजी पाप-रहित है अन्यत्र मनुष्य स्नान करते हैं उनका पाप गङ्गाजी ले लेती है तो वहाँ गङ्गाजी सर्व दोष-रहित नहीं कही जाती है ।

पैदा करने वाली है। ऐसी मदिरा को पीने से उत्पन्न मद करके वे घूर्णित नेत्रवाले हो गए अर्थात् विरुद्ध ज्ञानवाले (अज्ञानी) हो गए न केवल इतना ही था किन्तु पीछे गाती हुई स्त्रियाँ भी संग में थीं। संग का दोष, मोह का कारण है अर्थात् संग से ही मोह<sup>१</sup> होता है और स्त्रियों से सम्बन्ध भी बताया है। पुष्पवाटिका में फिरने लगे। जो रजोगुण युक्त होने से उसमें फिरने वालों में भी रजोगुण★ बढ़ता है। 'मन्दाकिन्या' का अर्थ है गंगाजी के समीप। जहाँ ऐसे दोषयुक्त वे घूम रहे थे वहाँ कैलाश का उपवन था एवं समीप में गंगाजी भी बह रही थी। इन दोनों पवित्र स्थानों के होते हुए भी मदान्धन<sup>२</sup> हो रहे थे। अतः रजोगुण युक्त पुष्पवाटिका के कारण भी इनमें दोष की विशेषता दिखाने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है ॥ ३ ॥

**आभास-दोषान्तरमाहान्तः प्रविश्येति ।**

**आभासार्थ-**इस चतुर्थ श्लोक में दूसरा दोष दिखाते हैं ।

**श्लोकः - अन्तः प्रविश्य गङ्गायामम्भोजवनराजिनि ।**

**चिक्रीडतुयुवतिभिर्गजाविव करेणुभिः ॥ ४ ॥**

**श्लोकार्थ-**कमल वन की पंक्ति युक्त गङ्गाजी के मध्य में प्रवेश कर हस्ती<sup>३</sup> जैसे हस्तिनियों<sup>४</sup> से क्रीड़ा करते हैं वैसे वे भी स्त्रियों से क्रीड़ा करने लगे ।

सुबोधिनी-“क्रीडा गङ्गायां निषिद्धा” “गङ्गां पुण्य-वनराजयो” वनपंक्तयो यत्र, अनेन भगवत्सान्निध्यमपि जलां प्राप्य त्रयोदश विवर्जयेदि” तत्र क्रीडया निषिद्धत्वात् गङ्गाकृतपूजार्थं लक्षितं “गजाविव करेणुभिरिति” तत्रापि नोद्धृत्य “किन्त्वन्तः प्रविश्य”, “अम्भोजानां क्रीडयामनवधानतोक्ता ॥ ४ ॥

**व्याख्यानार्थ-**श्री गङ्गाजी में इस प्रकार की क्रीड़ा करने का शास्त्रों ने निषेध किया है। जैसे कि कहा गया है ‘गंगा पुण्यजलां प्राप्य त्रयोदश विवर्जयेत्’ पुण्य जलवाली गंगा पर जाकर तेरह कार्य छोड़ें। जिन में गंगाजी के भीतर क्रीड़ा का भी निषेध है। इन्होंने गंगा का जल नदी से लाकर, बाहिर जल में क्रीड़ा नहीं की, किन्तु गंगा के भीतर जल के मध्य में क्रीड़ा की। वह

\* १. रजोगुण-विषयों में आसक्त करता है।-अनुवादक

२. मन्दाकिन्या-व्याकरणानुसार यह सप्तमी विभक्ति अधिकरण अर्थ में भी होती है यदि वह अर्थ किया जाता तो लक्षणा करनी पड़ती। लक्षण करना आचार्यश्री को अपीष्ट नहीं है। अतः यहां सप्तमी का अर्थ सामीप्य में किया गया है।-अनुवादक

१-अज्ञानता, बे समझी।

२-घमंड में अन्धे।

३-हाथी।

४-हथिनियों।

क्रीड़ा भी कहाँ की, कि जहाँ कमल के वन की पंक्तियाँ लग रही थीं, वहाँ सदैव भगवत्सान्निध्य रहता है अर्थात् भगवान् वहाँ विराजते हैं। उस स्थान पर इन कमलों से गंगाजी भगवान् की पूजा करती है। गंगाजी में भी ऐसे स्थल पर, जो क्रीड़ा की, वह क्रीड़ा भी हाथी, हथिनियों के समान लज्जा का त्याग कर करने लगे।

**आभास-विषयं निरूप्य शापहेतोः समागममाह यदृच्छयेति ।**

आभासार्थ-इस प्रकार दोनों (नल कूबर और माणिग्रीव) के विषय [ चरित्र ] का निरूपण कर, अब निम्न श्लोक में शाप के लिए देवर्षि नारदजी के पधारने का वर्णन करते हैं।

**श्लोकः — यदृच्छया च देवर्षिभगवांस्तत्र कौरव ।**

**अपश्यन्नारदो देवौ क्षीबाणौ समबुध्यत ॥ ५ ॥**

**श्लोकार्थ-**हे कौरव ! वहाँ देवर्षि भगवान् नारद ने उन दोनों देवों को अचानक देखा और समझ गए कि ये दोनों मत्त<sup>१</sup> हैं।

सुबोधिनी-देवर्षिरिति भाव्यर्थपरिज्ञानं देवयोनी-  
नामुपकारकर्तृत्वं च ज्ञापितं भगवानिति सर्वसामर्थ्यं, कार्य-  
भगवत्त्वानि भगवत्कृपासाध्यानि, तत्रैति तस्यां गङ्गायां,  
कौशेति सन्बोधनं महतोपि वंश उत्पन्नः प्रमाद्यतीति स्वदृष्टान्तेन

ज्ञानार्थं, आदौ देवावपश्यत् ततः क्षीबाणौ समबुध्यत,  
क्षीबश्चन्दोकारान्तो नकारान्तोपि, क्षीबा मत्तः, देवानां  
स्वर्षिसम्मानाभावयोगात् ॥ ५ ॥

**व्याख्यानार्थ-**आचार्यश्री कहते हैं कि श्लोक में नारदजी को देवर्षि इसलिये कहा है कि नारदजी को भविष्य<sup>२</sup> का ज्ञान है और उनमें देवताओं पर कृपा करने का गुण है। तथा भगवान् कहकर यह बताया है कि नारदजी में भगवान् के समान सर्व सामर्थ्य भी है। ऋषि वा पार्षदादि में भगवान् जैसी सर्वसामर्थ्य आदि की शक्ति\* भगवान् को कृपा से आती है। तत्र (गंगाजी के मध्य में) क्रीड़ा करने की भूल महान कुल (देव कुल) में उत्पन्न<sup>३</sup> होकर भी कर रहे हैं ?

\* श्रीपुरुषोत्तमजी प्रकाश में इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि ऐश्वर्यादि गुण भगवान् में नित्य हैं जो उनके ही रूप हैं दूसरों में नित्य नहीं हैं भगवान् की कृपा से कभी वे गुण उनमें उत्पन्न होते हैं सदैव नहीं। इसलिये श्री सुबोधिनीजी में उनको 'कार्य भगवन्निष्ठा' कहा गया है अथवा जितनी भगवान् की इच्छा हो उतने ही गुण उनको देते हैं।

राजा को कौरव विशेषण इसलिये दिया है कि राजा अपने दृष्टान्त<sup>‡</sup> से इसके तत्त्व (उपदेश) को समझ लो । नारदजी ने पधारते ही पहले ही देवों को देखा उसके पीछे उनको मदयुक्त<sup>१</sup> जाना क्योंकि उनको चाहिये था कि आए हुए ऋषि का वे प्रणामादि से सन्मान करते, जो उन्होंने नहीं किया अतः ऋषि ने समझ लिया कि ये मदयुक्त हैं ॥ ५ ॥

आभास-ततो यज्जातं तदाह तं दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ-नारदजी आए और इनको मदयुक्त अवस्था में क्रीड़ा करते हुए देखा उसके पीछे जो कुछ हुआ उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — तं दृष्ट्वा व्रीडिता देव्यो विवस्त्राः शापशङ्किताः ।

वासांसि पर्यधुः शीघ्रं विवस्त्रौ नैव गुह्यकौ ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ-नग्नदेवियों ने नारदजी को देख के लज्जित होकर, शाप के भय से शीघ्र वस्त्र धारण कर लिए परन्तु नंगे गुह्यकोंने वस्त्र नहीं पहने ।

सुबोधिनी-नारदं दृष्ट्वा देव्योऽप्यसौ विवस्त्राः सत्यः । पूर्वमेव पर्यधुः, गुह्यकावपिविवस्त्रौ, नग्न दर्शनमप्यमङ्गलं  
स्वस्मिन् नारदे चैकैकं धर्मं ज्ञातवत्यः, स्वस्मिन् लज्जा निषिद्धं स्त्रीसङ्गात् क्षोभकं च, तथापि गुह्यकौ, गुह्यं कं  
जाता कामोद्बोधेनानिष्टजनकत्वे शापशङ्का, वस्त्र-ययोः ॥ ६ ॥  
परिधानेनापयं भवतीति शीघ्रं यावदृषेः क्षोभो न भवति ततः

व्याख्यानार्थ-नग्न देवियों ने नारदजी को देख कर अपने में और नारदजी में एक, एक धर्म जान गई । देवियों को स्त्रीत्व के कारण लज्जा आई और काम जगने से अनिष्ट होगा, जिस से शाप की शङ्का मन में हुई और यह विचार भी आया कि लज्जा की रक्षा तथा पाप से अभय हो जाँय इसलिए जो विलम्ब करेंगीं तो नारदजी के मन में क्षोभ होगा और वे शाप दे देंगे । अतः शीघ्र कपड़े पहन लिए । गुह्यक भी नंगे थे नग्नदर्शन अमंगलकारी है तथा निषिद्ध है और

<sup>‡</sup> राजा परीक्षित भी महत्कुल में उत्पन्न हुआ है और उसने भी ऋषि के गले में सांप छलने की भूल की है । मदयुक्त के लिये श्लोक में 'क्षो बाणौ' शब्द दिया है यह शब्द अकारणतः 'क्षीब' भी है और नकारणतः 'क्षीबन्' भी है ।

स्त्री के संग से तो मन में क्षोभ<sup>१</sup> करने वाला है। गुहाक<sup>२</sup> पद का तात्पर्य बताते हैं कि जिनको अपना शरीर वस्त्रों से ढकलेना चाहिए था ऐसे नाम वाले होने पर भी कपड़े नहीं पहने ॥ ६ ॥

आभास-तथा सति तयोः शापोपक्रममाह तौ दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ-इस प्रकार की दशा देखकर नारदजी शाप देने का प्रारम्भ करने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोक से करते हैं ।

श्लोकः— तौ दृष्ट्वा मदिरामतौ श्रीमदान्धौ सुरात्मजौ ।

तयोरनुग्रहार्थाय शापं दास्यन्निदं जगौ ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ-मदिरा के मद से मतवाला और लक्ष्मी के मद से अन्धे उन देव के कुमारों को देखकर, उन पर अनुग्रह करने के लिये शाप देते हुए नारदजी ने ये वचन बोले ।

सुबोधिनी-सुरात्मजौ भूत्वा मदिरामतावसुरकार्यं कृतवन्तौ, श्रीमदेन चान्धौ मनुष्यदोषं च प्राप्तवन्तौ, अत उभयोः फलं महापुरुषसन्निध्ये भवती "अत्यन्तनिन्दितै-दोषैर्जन्तु स्थावरतां व्रजे" दित्येतयोः स्थावरत्वमेव युक्तमिति विचार्य कर्मणैवैतद् भविष्यतीति निश्चित्य कृपया परीतस्तयोरनुग्रहार्थं शापं दास्यन्निदं वक्ष्यमाणं हेतुभूतं जगौ, अन्यापराधे बालकेन कृते पित्रा शिक्षणं कर्मसाध्यमनिष्टमपि फलं नात्यन्तं दुःखदं भवतीति कर्माधिकारिफलभावनातः

पूर्वमेव स्वयं शापं दत्तवान्, महापुरुषदृष्ट्योदबुद्धं च जातं, अतो न वने वृक्षौ जातौ, वृक्षाणां मध्येर्जुनजातीयानां मुक्तिः प्रसिद्धा 'नर्मदातीर-सञ्जाताः सरलार्जुनपादपा नर्मदातोषसंस्पर्शाद् यान्ति ते परमां गतिं' मितिवाक्यात् तत्रापि गवां छायाजनकौ, महतो नन्दस्याभिज्ञापकौ च भविष्यतः, फलं तूत्कृष्टं भविष्यत्येवातः कर्मफलाच्छापः समीचीनः ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ-देवकुमार होकर असुरों जैसा कार्य मदिरा पानकर मदमत्त हो गये हैं और लक्ष्मी के मद से अन्धे बन गये हैं इससे मनुष्य दोष भी उनमें आ गए हैं। इस प्रकार असुर और मानुष दोष दोनों दोष आने का फल महापुरुषों की सन्निधि में ही मिलता है। 'अत्यन्त निन्दितै-दोषैर्जन्तु स्थावरतां व्रजेत' अर्थ-विशेषनिन्दित दोषों से जीव (मनुष्य) स्थावर योनि को प्राप्त होवे। शास्त्र के इस वचनानुसार इन दोनों को स्थावरत्व (जड़पना-वृक्षादि योनि) ही योग्य है यों विचारते हुए कि यह सब कर्म से ही प्राप्त होता है ऐसा निश्चय कर कृपायुक्त देवर्षि उन पर अनुग्रहार्थ शाप

१ श्री पुरुषोत्तमजी प्रकाश ने कहते हैं कि 'क' का अर्थ विषय भी होता है किन्तु विषयों का कपड़ों से आच्छादन हो नहीं सकता है शरीर का हो सकता है अतः यहां 'क' का अर्थ आचार्यजी ने शरीर किया है।

देते हुए ये वचन कहने लगे कि जैसे कोई बालक किसी अन्य का अपराध करता है तो उसका पिता अपने बालक को कर्मानुसार फल देता है वह फल अनिष्ट\* बालक को वा दूसरों को अच्छा न लगता हो तो भी विशेष दुःखदायी नहीं होता है कारण कि वह फल कर्मानुसारी है और बालक के शिक्षार्थ अनुग्रहरूप है। वैसे ही नारदजी ने भी कर्माधिकारी जब तक दंड देवे उससे पहले ही शाप दे दिया। महापुरुष की दृष्टि से कर्म ने फल दिया इस कारण से वे स्थावर† तो हुए किन्तु ऐसे वृक्ष हुए जिस वृक्षयोनि से मुक्ति मिलती है। जैसा कि शास्त्रों में कहा है कि नर्मदा के तीर पर उत्पन्न सरल और अर्जुन के पेड़ नर्मदा\* के जल के स्पर्श से परमगति (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं। उसमें भी ये जो गौओं की अपनी छया से सेवा करने वाले और नन्दरायजी को समाचार कहनेवाले होंगे जिससे इनको उत्कृष्ट‡ फल मिलेगा अतः कर्मफल से शाप श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥

आभास-ननु शापे दत्ते कदाचिदुत्कृष्टकर्मापि सम्भवति ततः पापक्षये मुक्तिरेव कदाचिद् भवेत् सत्संगे भक्तिर्वा ततः किमिति शापं दत्तवानित्याशङ्क्य तयोः सत्कर्म-सत्सङ्गौ दुर्लभाविति तदर्थं तयोर्विद्यमानदोषस्य तदुभयाजनकत्वं निरूपयति द्वादशभिर्न ह्यन्य इति ।

आभासार्थ-पूर्व श्लोक (७) में नारदजी के शाप का वर्णन किया गया इस पर यह शङ्का होती है कि जैसे इन्होंने अब ये दुष्कर्म किए वैसे ही कभी उत्तम कर्मों का होना भी सम्भव है जिनसे पाप क्षय कर मुक्ति की प्राप्ति कर लेते, अथवा सत्संग होने से भक्ति उत्पन्न हो जाती तो शाप की क्या आवश्यकता थी, जो नारदजी ने शाप दिया इस शंका को निम्न १२ श्लोकों से निवारण करते हुए कहते हैं कि इन दोनों लक्ष्मी मद वालों को 'सत्कर्म और सत्सङ्ग' दुर्लभ है।

॥ श्री नारद उवाच ॥

श्लोकः— न ह्यन्यो जुषतो जोष्यान् बुद्धिभ्रंशो रजोगुणः ।

श्रीमदादाभिजात्यादिर्यत्र स्त्रीद्यूतमासवः ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ-श्रीनारदजी बोले लक्ष्मी के मद से उत्पन्न स्त्री संग, द्यूत\* और मदिरा पान दोष जिस प्रकार विषयों का उपभोग करने वालों की बुद्धि का नाश करता है,

\* नर्मदा तीर संजातां सरलार्जुन पादपाः ।

नर्मदा तीरे स्पर्शात्, यान्ति ते परमांगतिम् ॥

उत्तम कुल में जन्म आदि से उद्धूत<sup>१</sup> अन्य दोष (मद वा रजोगुण) बुद्धि का नाश नहीं करते हैं ।

सुबोधिनी-सन्मार्ग : सत्सङ्गो वा सदबुद्ध्या भवति श्रीमदेन तु सदबुद्धिः कदापि नोत्पद्यते, तदाहान्यो जोष्यान् जुषतः, प्राणिनो बुद्धेर्भ्रंशहेतुर्न भवति, बुद्धिरत्र सात्त्विका "सत्त्वात् सङ्गायते ज्ञान" मिति, तस्य बाधकं त्रिविधं गुणा विरुद्धा आश्रयनाशकमाश्रयविरोध्यन्तरजनकं च, तदत्र श्रीमदात् त्रयं भवति, यद्यपि "न्द्रियैर्विषयाकृष्टैरक्षिप्तं ध्यायतां मनश्चेतनां हरते बुद्धेः स्तम्भस्तोयमिव ह्रदा" दिति विषयमात्रसेवनमेव बुद्धिभ्रंशहेतुस्तत्रापि यथा श्रीमदाद् बाह्याभ्यन्तरदोषसंसर्गरूप पादन्यः प्रकारान्तरेणोत्पन्नो विषयानुभवः, साधनस्य द्वन्द्वत्वाभावात् परिहार्यो भवति, अयं त्वपरिहार्यः, यतस्तेनान्तर्बहिदोषौ जन्येते इत्याहोभिजात्यादिरिति, "विद्यामदो धनमदस्सधैर्वाभिजनो मद एते मदा मदान्धानां त एव हि सतां दमा" इति, तत्र धनमदो

मध्यम उपयमदयोः साधको यथा मध्यमं गृहं दग्धं सत् पार्श्वस्थितयोरपि दाहं सम्पादयति, आभिजात्यास्यादिः श्रीमदस्ततोऽप्यनर्थसम्पादकः, तस्य मदान्तरापेक्षया दुष्टविषयजनकत्वं हेतुत्वनाह यत्र स्त्रीदूतमासद्य इति अन्यान्यपि दूषणानि वक्ष्यति, ततः प्रथमं दोषत्रयमाह यदपरिहार्यं, प्राणिनः सर्वहेतवः कायवाङ्मनांसि, तत्र स्त्री कायनाशिका द्यू तमनृतं वाङ्मनाशकं, आसवो बुद्धिनाशकः, आसवो मदिरा, "द्यूतं पानं स्त्रिय" इत्यधर्मपादा अप्येते, तत्रापि प्रथमं स्त्रीनिर्देशस्तेष्वप्याधिक्यव्यापकः, "न तथास्य भवेन मोहो बन्धस्यान्यप्रसङ्गतो योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तस्तङ्गिसङ्गत" इति, श्रीमदे त्वेते भवन्त्येव धनमदकृतस्त्रियोसत्या एव भवन्ति ॥ ८ ॥

व्याख्या - सन्मार्ग पर चलना और सत्संग करना ये दोनों कार्य सदबुद्धि<sup>२</sup> से होते हैं । जिनमें लक्ष्मी का मद होता है उनमें सदबुद्धि नहीं होती है । लक्ष्मी मद के अतिरिक्त दूसरे दोष, विषयों का उपभोग करने वालों की बुद्धि<sup>३</sup> का भ्रंश (नाश) नहीं करते हैं । सतोगुण से ज्ञान उत्पन्न होता है इस वचनानुसार यहाँ कही हुई बुद्धि सात्त्विकि है । उस सदबुद्धि<sup>४</sup> के तीन प्रकार बाधक<sup>५</sup> है -

(१) विरुद्ध गुण<sup>६</sup>

(२) आश्रय<sup>७</sup> को नाश करने वाले

१ - पैदा हुआ ।

२ - जिस बुद्धि से ज्ञान उत्पन्न हो उसे सदबुद्धि कहते हैं । - लेख

३ - असदबुद्धि की वृत्ति को 'मन' और सदबुद्धि की वृत्ति को 'चित्त' कहते हैं । जिसमें सदबुद्धि नहीं है उसका चित्त सुप्त (सोया हुआ) है और मन जागृत (जागा हुआ) है । जब तक चित्त-वृत्ति नहीं जागती है तब तक सदबुद्धि उत्पन्न नहीं होती है । मन असदबुद्धि उत्पन्न कर अधःपात करता है । - 'लेख'

४ - चित्त का आश्रय करने वालों सदबुद्धि का ज्ञान । - 'लेख'

५ - बाधा या रुकावट डालने वाले । - 'लेख'

६ - निषिद्ध विषय चित्त में रहकर ज्ञानवृद्धि में रुकावट डालते हैं विषय भोग में मुख्य स्त्री है अतः श्लोक में 'स्त्री' शब्द दिया है । - 'लेख'



(३) आश्रय के विरुद्ध ज्ञान<sup>७</sup> उत्पन्न करने वाले ।

ये तीनों बाधक लक्ष्मी के मद से उत्पन्न होते हैं विषयों का ध्यान करने वालों का मन विषयों से आकृष्ट (खिंची हुई) इन्द्रियों द्वारा विक्षिप्त होता है वह बुद्धि की चेतना (समझ) का हरण कर लेता है जैसे नाली बड़े जलाशय (तालाब) से जल खेंच लेती है ।

यद्यपि किसी भी विषय के सेवन से बुद्धि का नाश होता है तो भी बाह्य<sup>८</sup> और आन्तर<sup>९</sup> दोषों के भण्डार रूप लक्ष्मी के मद से जैसा बुद्धि का नाश होता है वैसा दूसरे किसी से नहीं होता है । अन्य प्रकार से उत्पन्न विषयों के अनुभव में द्वन्द्वपन (दो दोषों के होने) का अभाव है, इसलिये उन विषयों का त्याग किया जा सकता है । किन्तु लक्ष्मी मद से उत्पन्न विषयों का अनुभव नहीं छोड़ सकते हैं कारण कि इससे अन्दर के\* और बाहर के दोष उत्पन्न हो जाते हैं जिसका वर्णन श्लोक में 'आभिजात्यादि' पद से किया गया है ।

कारिका — विद्यामदो धनमदस्तथैवाभिजनोमद ।

एतेमदा मदन्धानां त एवहि सतादमा ॥

कारिकार्थ—विद्या का मद, धन का मद, उत्तम वंश में जन्म होने का मद तो मद से अन्धे हो गए पुरुषों के लिये है । सत्पुरुषों के लिये ये मद नहीं है, किन्तु उनके लिये दम<sup>११</sup> है ।

उपरोक्त कारिका में तीन प्रकार के मदों में, धन का मद मध्य में दिखाया है जिसका तात्पर्य यह है कि दूसरे मदों का जनक<sup>१२</sup> भी धन मद ही है । जैसे बीच के घर के जलने पर दोनों बाजू वाले घर भी उसके संसर्ग<sup>१३</sup> से जलने लगते हैं । उत्तम कुल में जन्म के कारण उत्पन्न मद की आदि भी मूल लक्ष्मी का मद है यह लक्ष्मी का मद उच्च-कुल में जन्म के मद से भी

\* विद्यामद को अन्दर का दोष कहते हैं ।

† उच्च-कुल में होने के मद को बाहर का दोष कहते हैं । - 'लेख' ।

७ - आश्रय - ज्ञान का आश्रय चित्त है अर्थात् ज्ञान चित्त में रहता है उस चित्त का नाश हुआ तो ज्ञान का नाश हुआ चित्त का नाश करने वाला द्यूत (जुआ खेलना) है तात्पर्य यह है कि जुआ ज्ञान का नाश करता है । - 'लेख'

८ - चित्त में ज्ञान विरुद्ध अन्य विचार (अज्ञान मोहादि) उत्पन्न करने वाला आसव (मदिर) है । - 'लेख'

९ - बाहर के । १० - अन्दर के । ११ - संयम अर्थात् इन्द्रियों को अपने वश में करना ।

१२ - पैदा करने वाला । १३ - संग ।

विशेष अनर्थकारक है; कारण कि दूसरे मद दुष्ट विषयों को उत्पन्न नहीं करते हैं किन्तु लक्ष्मी मद दुष्ट विषयों का जनक है वे दुष्ट विषय हैं - (१) स्त्री (संसर्ग<sup>१</sup>), (२) द्यूत,<sup>२</sup> (३) मदिरा<sup>३</sup> इनके अतिरिक्त शेष दूसरे भी कहेंगे। इससे पहले ये तीन दोष कहे हैं जो अपरिहार्य<sup>४</sup> हैं। प्राणियों को सर्व प्राप्ति के तीन कारण, - 'काया', 'वाणी' और 'मन' हैं। ये तीनों यदि स्वस्थ हैं तो प्राणी सब प्रकार से उन्नत हो सकता है। यदि ये अस्वस्थ हैं तो प्राणी की अवनति होती है इसको स्पष्ट समझाते हैं कि ये तीन किस प्रकार प्राणी का नाश करते हैं। प्रथम 'स्त्री' काया का नाश करती है, दूसरी द्यूत वाणी का नाश करता है क्योंकि द्यूत खेलने में पुनःपुनः असत्य बोला जाता है जिससे वाणी अपवित्र होकर नाश होती है और तीसरी 'मदिरा' इसके पीने से बुद्धि-ज्ञान नाश होता है। जूआ मदिरा-पान और स्त्रियाँ ये तीन अधर्म के चरण हैं अर्थात् अधर्म इनके द्वारा ही चलता और बढ़ता है। श्लोक में प्रथम 'स्त्री' कहने का तात्पर्य कहते हैं कि इन तीनों में भी 'स्त्री' विशेष अनर्थ कारिणी है जैसे कहा है कि 'न तथास्य भवेत्मोहो, बन्धश्चान्यप्रसंगतो। योषित्संगाद् यथापुंसो यथा तत्संगिसंगतः' क्योंकि पुरुषों को स्त्रियों के संसर्ग से अथवा स्त्री संगियों के संसर्ग से जिस प्रकार मोह और बन्धन होता है वैसा दूसरे किसी से नहीं होता है। इस वाक्य से बताते हैं कि स्त्रियों में विशेष दोष होता है। जिसको लक्ष्मी का मद होता है उसके पास जो स्त्रियाँ रहती हैं वे असली\* हो होती हैं ॥ ८ ॥

**आभास** - दोषान्तराण्याह हन्यन्ते पशवो यत्रेति ।

**आभासार्थ** - लक्ष्मी मद से होनेवाले दूसरे दोषों का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** - हन्यन्ते पशवो यत्र निर्दयैरजितात्मभिः ।

मन्यमानैरिदं देहमजरामृत्यु नश्वरम् ॥ ९ ॥

**श्लोकार्थ** - इस क्षणभंगुर<sup>५</sup> देह को (लक्ष्मी के मद से) अजर<sup>६</sup> और अमर मानने वाले अजितेन्द्रिय<sup>७</sup> और निर्दय होके पशुओं को मारते हैं ॥९॥

\* श्री पुरुषोत्तमजी "प्रकाश" में इसका परिज्ञान कराते हैं कि धर्म के आचरण करने के वास्ते 'स्त्री' से विवाह किया जाता है यदि स्त्री अनर्थकारी दुष्ट है तो उससे धर्म के आचरणार्थ विवाह कैसे किया जाता है। इसके समाधानार्थ ही आचार्यश्री ने आज्ञा की है कि पुरुष, धन के मद से, जिन स्त्रियों को रखते हैं वे स्त्रियाँ ही असली अनर्थकारिणीयाँ होती हैं अन्य स्त्रियाँ नहीं ।

- १ - जुआ खेलना । २ - शराब पीना । ३ - मिट नहीं सकते हैं । ४ - पल में टूट जानेवाले ।  
५ - बूढ़ न होनेवाला । ६ - इन्द्रियों को वश में न कर सकनेवाले । ७ - संग ।

**सुबोधिनी** - यत्र श्रीमदेन प्रत्यहं भक्षणार्थं पशवो हन्यन्ते, निर्दयैरिति, बाला आपा अपि हन्यन्त इति सूचितं कोमलमांसत्वात्, किञ्चाजितात्मभिः सर्वाण्येव पापानि क्रियन्ते, 'नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म यदिन्द्रियप्रीतय आधृणोति' तत्र निरूपणात्, तेषां स्वेष्टसाधनताज्ञानवतां कथं

स्वानिष्टे प्रवृत्तिरिति चेत् तत्राह मन्यमानैरिति, पूर्वोक्त प्रकारेण विषयभोगः स्वभावतः सुखहेतुर्भवति पर्यवसाने परलोके च दुःखहेतुर्भवति, स च परलोकोऽस्य देहस्य नाशे, ते हि धनपदेन वस्तुतत्त्वं न जानन्ति, अत इदं शरीरं नश्वरमप्यजरमृत्यु जानन्ति जरामृत्युरहितम् ॥ ६ ॥

**व्याख्यानार्थ** - जहाँ लक्ष्मी मद होता है वहाँ प्रतिदिन अपने उदरपूरणार्थ तथा जिह्वा के स्वाद के लिये पशु मारे जाते हैं, क्योंकि उनमें दया नहीं रहती है, जिससे वे निर्दयी हो जाते हैं। निर्दयी होने से बाल-पशु (छोटे-छोटे बच्चों) को भी मारते हैं कारण कि उनका मांस कोमल होता है और मद करके वे अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं रख सकते हैं जिससे इन्द्रियाधीन होकर अन्य पाप भी करते हैं। जैसा कि कहा है कि 'नूनं प्रमत्तः कुरुते विकर्म यदिन्द्रिय प्रीतय आधृणोति' मदमत्त, इन्द्रियों को प्रसन्न करने के लिये, दुष्कर्म निश्चय से करता है। अपने इष्ट (प्रिय) पदार्थ किस साधन से प्राप्त होते हैं इस प्रकार के ज्ञान वाले होकर भी अनिष्ट फलदायी साधन (कर्म) में प्रवृत्ति क्यों करते हैं? इस शंका का समाधान श्लोक के उत्तरार्ध द्वारा करते हैं कि विषय भोग, स्वभाव से सुख देनेवाला समझा जाता है किन्तु अन्त में परलोक में दुःखदाता होता है। वह परलोक तो इस देह छुटने के पीछे मिलता है। वे धन के मद से वस्तु के तत्त्व को नहीं जान सकते हैं। अतः वे इस क्षणभंगुर देह को भी जरामृत्यु रहित समझते हैं ॥ ९ ॥

**आभास** - ननु सत्यमेव देवा अजरमरा इति तत्राह देवसंज्ञितमपीति ।

**आभासार्थ** - देवों को तो शास्त्रों में 'अजर अमर' कहा गया फिर यहाँ उनको (उनकी देहों को) नश्वर<sup>१</sup> कैसे कहा जाता है इस शंका का समाधान निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** - देवसंज्ञितमप्यन्ते कृमिविद्भस्मसंज्ञितम् ।

भूतघृक् तत्कृते स्वार्थं किं वेद निरयो यतः ॥ १० ॥

**श्लोकार्थ** - यह देह, देवनाम धारण करनेवाली होने पर भी, जो अन्त में सड़े तो कृमिरूप<sup>२</sup> है, खाया जाय तो विष्टरूप और जलाया जाय तो भस्मरूप होनेवाला है ऐसी देह के लिये जीवों से द्रोह करनेवाला पुरुष क्या अपने स्वार्थ (हित) को जानता है? अर्थात् नहीं जानता है क्योंकि भूतों के द्रोह करने से नरक की प्राप्ति होती है ।

सुबोधिनी - यथाज्ञाशब्दो जायां न योगेन वर्तते किन्तु ब्रह्म कदाचित् तेन रूपेण सोमाहरणार्थं गतवदिति तथा "अमरा निर्जरा" इत्यपि, यथा मनुष्याणां यावता कालेन जरा मृत्युर्वा भवति तथा न भवतीति यथा न स्वपिति पश्चाच्छायी प्रथमबोधी च तमाहुर्न स्वपितृत्वधिकारिणस्तथात्वाद् वा वस्तुतस्तु देहत्वाद् देवसंज्ञितमप्यन्तवदेव भवति, अतोन्ते कृमिविद् भस्मसंज्ञितमेव भवति, देहस्य त्रिधातिपत्तिर्द्व्यते भक्ष्यते विशीयते वा, विशीर्णपक्षे कृमयो भवन्ति भक्षणेन ततो

विद् भवति दाहे भस्म, पूर्वं देवसंज्ञामपि प्राप्यान्ते कृमिविद्भस्मसंज्ञा : प्राप्नोति, एवं सति यस्तादृशदेहकृते भूतघृक् स किं स्वार्थं वेद ? अपि तु न वेद, यतो भूतद्रोहाभरकपातः, विशेषाकारेण हननमुक्तमिति श्रीमदस्य तदर्थमिच्छात् प्रकृतेऽपि तदस्तीति हिंसा निन्दा, अनेन दृष्टान्तेन स्त्रीसेवका अपि स्वार्थं न विदुस्त्युक्तं, अतः स्वार्थापरिज्ञानाद् धर्मसत्संगाभावाच्चक्षप उचित एवेति भावः, अनेन देहार्थं प्रयत्नो न कर्तव्य इत्यर्थादुक्तम् ॥ १० ॥

व्याख्यानार्थ - निश्चय से देवों को अजर-अमर कहा गया है, किन्तु वह कहना वास्तविक अजरत्व और अमरत्व का प्रतिपादन करनेवाला नहीं है; किन्तु जैसे बकरी को 'अजा' कहा जाता है, वास्तव में वह अजा नहीं है किन्तु जन्म लेती है इस प्रकार देव भी अजर-अमर कहे जाते हैं किन्तु है नहीं यह कहना रूढिमात्र है। इसको दो दृष्टान्तों से समझाते हैं १ - 'अजा' बकरी जन्म लेने पर भी जो 'अजा' कही जाती है उसका कारण यह है कि परमात्मा ने किसी समय सोम लाने के लिये 'अज' बकरे का रूप धारण किया था उसके साथ रूप की सादृश्यता होने से बकरे को अज और बकरी को अजा कहते हैं तथा २ - जैसे किसी से पूछ जाय कि अमुक पुरुष सोता है ? जवाब में वह कहदे कि नहीं सोता है उसका तात्पर्य यह नहीं है कि वह नींद लेता ही नहीं है। उसके कहने का तात्पर्य इतना ही है कि यह पुरुष सब के पीछे सोता है और सब से पहले जागता है इसलिये कहा जाता है कि यह नहीं सोता है। इस प्रकार मनुष्यों के जरा<sup>१</sup> वा मृत्यु<sup>२</sup> के समय से देवों का जरा और मृत्यु का काल विशेष देरी से आता है। अतः वे अजर और अमर कहे गये हैं। वास्तविक तो यह है कि जिसका नाम देह है वह देव कही जाय तो भी अन्तवाली ही है। देवों की भी देह होती है। देह का परिणाम तीन प्रकार से होता है १ - जलाई जाती है, २ - खाई जाती है और ३ - सड़ जाती है। सड़ने पर उसमें कीड़े पड़ जाते हैं। खाने से विष्ट का रूप धारण करती है और जलने पर भस्म बनती है। यह देह पहले 'देव' नाम धारण करके भी अन्त में कीड़े विष्ट औस भस्म नामवाली हो जाती है। जब देह ऐसी है तो उस देह के पोषणार्थ, जो भूतों (जीवों) की हिंसा करते हैं, क्या वे अपना स्वार्थ (हित) समझते हैं ? अर्थात् नहीं समझते हैं। यदि समझते होते तो भूतों का द्रोह<sup>३</sup> नहीं करते। क्यों ? वैसा (भूत द्रोह) करने से नरक की प्राप्ति होती है। विशेषता से यहाँ हिंसा कही गई है क्योंकि जहां धन मद होता है वहाँ हिंसा अवश्य होती है। इस दृष्टान्त से यह भी बताया है कि स्त्रियों के सेवक (विषयी पुरुष) भी अपने स्वार्थ (हित) को किस कर्म करने में है इसको नहीं समझते हैं। अतः स्वार्थ को न समझने से और धर्म तथा सत्संग के अभाव की अवस्था

में उन देवों को शाप देना उचित हो था । इससे यह भी जता दिया कि ऐसी देह के सुख के लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये ॥ १० ॥

**आभास** - तच्छास्त्रान्तरे विरुध्यति, “आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि” ति “तस्मादस्य वधो राजन् सर्वार्थवध उच्यते” इत्यादिवाक्यै रक्षाया अवश्यविधानात् । तत्र देहः किमन्नदातुः ।

**आभासार्थ** - देह के सुखार्थ प्रयत्न नहीं करना चाहिये इसका अन्य शास्त्र विरोध करते हैं । जैसे कि कहा है कि स्त्रियों से और धन से भी पहले, देह की रक्षा करनी चाहिये । इसी देह के वध से सर्व पुरुषार्थों का वध होता है । इन शास्त्रवचनों के अनुसार देह की रक्षा अवश्य करनी चाहिये । इस शंका के उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं -

**श्लोकः** - देहः किमन्नदातुः स्वं निषेकुर्मातुरेव वा ।

**मातुःपितुर्वा बलिनः क्रेतुर्गनेः शुनोपि वा ॥ ११ ॥**

**श्लोकार्थ** - यह देह किसकी है ? क्या अन्नदाता की है ? वा पिता की है ? अथवा माता की है ? या नाने की है ? वा बल से अपने पास ले जावे उसकी है ? वा खरीददार की है ? वा अग्नि की है ? अथवा कुत्तों की है ? ॥ ११ ॥

**सुबोधिनी** - स्वमिति, अविचारद् देहे रक्षार्थं प्रयत्नवचनानि, विचारे तु न रक्षणायं स्यादिति सन्देहजनकान् पक्षानाह, देहः केन सम्बन्धेन सम्बन्धी भवतीति, विचारणीयं, तत्रात्मा न भवति, अल्पविवेकेनापि तद्भेददर्शनात्, आत्मीयत्वं तु भवति, सा चात्मीयता किञ्चिद्विधना ? बहूनामेवैकस्मिन् चरीर आत्मीयत्वबुद्धिः, शरीरस्योत्पत्तिर्द्विविधा, आद्या प्रत्यहं च जायमाना, प्रत्यहं चेद् देहोन्नदातुर्भवत्यन्नमयत्वाच्च देहस्य,

आद्यश्चेन्निषेक्तः पितुः, लोकप्रतीत्या चेदुत्पत्तिर्मातुर्भवति, परलोकसाधकत्वे मातुःपितुर्भवति, पुत्रिकापुत्रपक्षे तथैवशास्त्रार्थत्वात्, एषा स्वरूपस्थितिः, वैषयिकस्थितिमप्याह क्रेतुर्वा बलिन इति, यो वा विक्रीणीते यो वा बद्ध्वा गृह्णाति ? अन्त्यविचारोदग्नेः शुनोपि वेति ? कृमिपक्षे न स्वत्वं कस्यचित् ॥ ११ ॥

**व्याख्यानार्थ** - देह के रक्षार्थ जो वचन कहे गये हैं वे पूर्ण विचार कर नहीं कहे गए हैं । विचार करके देखा जाय तो निश्चय-पूर्वक कह सकते हैं कि देह की रक्षा के प्रयत्न नहीं करने चाहिये । उन्होंने पहले यह निश्चय ही नहीं किया है कि देह किसकी है ? इस श्लोक में देह विषयक जो-जो सन्देह हैं कि देह किस की मानी जाय वे दिखाए गये हैं जैसे कि देह किस सम्बन्ध के कारण सम्बन्ध वाली होती है प्रथम इसका विचार करना चाहिये - (१) देह आत्मा नहीं है क्योंकि थोड़ा भी विचार किया जाय तो समझ में आ जाता है कि देह और आत्मा में

भेद पृथक्त्व<sup>१</sup> है। अपनापन तो होता है वह अपनापन किसका है और कैसा है ? यह देखना है कारण कि एक ही देह में बहुतों का अपनापन भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। शरीर की उत्पत्ति दो प्रकार की है - १. पहले जन्म समय की और २. नित्य की उत्पत्ति (नित्य शरीर का बढ़ना) नित्य की उत्पत्ति से जाना जाता है कि यह देह अन्नदाता की है क्योंकि देह अन्न से बनता और बढ़ता है इसलिये शास्त्रों में देह को अन्नमय कहा गया है। पहली जन्म समय की उत्पत्ति से, वीर्य दाता पिता की यह देह होती है। लोक में प्रत्यक्ष उत्पत्ति से देह माता की होती है। परलोक के साधक\* (हित करने वाला) होने से नाने की होती है कारण कि पुत्री का पुत्र दौहित्र परलोक सुधार सकता है यों शास्त्र कहते हैं। यह स्थिति स्वरूप से कही जाती है। दूसरे प्रकार से कहते हैं कि खरीददार की वा हत्य<sup>२</sup> उठके ले जाने वाले की होती है यह वैषयिक (सांसारिक सम्बन्ध की) स्थिति है। देह की अन्तिम अवस्था का विचार किया जाए तो देह अग्नि वा कुत्तों की होती है जो देह में कीड़े पड़ जावें तो किसी का भी स्वत्व<sup>३</sup> नहीं रहता है ॥ ११ ॥

आभास - ततः किमत आहैवमिति ।

आभासार्थ - देह के विषय में इतने पक्ष करने से क्या परिणाम निकला ? इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं ।

श्लोकः - एवं साधारणं देहमव्यक्तप्रभवाप्ययम् ।

को विद्वानात्मसात्कृत्वा हन्ति जन्तून् कृतेसतः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ - इस प्रकार साधारण देह जिसकी उत्पत्ति अव्यक्त से है और लय भी उसमें है उस देह को अपना (वा अपना रूप) समझ कर मूर्ख<sup>४</sup> के अतिरिक्त कौन विद्वान् है जो ऐसी देह के लिये भूतों<sup>५</sup> का वध करता है ।

सुबोधिनी - एवं सर्वेषां साधारणं देहमात्मसात्कृत्वा को वा जन्तून् हन्तीतिसम्बन्धः तत्रापि विद्वान्, यतोयं देहः साधारणः, वस्तुतस्त्ययं देहो न पूर्वोक्तानां मध्ये कस्यचिदपि भवितुमर्हति, यतोव्यक्तमेव प्रभव

उत्पत्तिस्थानमप्ययस्थानं च, नन्वेतद्दृशा घातका अपि बहवो दृश्यन्त इति चेत् तत्राहुरसत इति, ये सच्छब्दवाच्या देवाः, सन्तोपि ते नैर्वाविधा इत्यर्थः ॥ १२ ॥

\* प्रकाशकार पुरुषोत्तमजी कहते हैं कि पुत्र न होने पर पुत्री का पहला पुत्र नाने का पुत्र होकर पिण्डदान कर नाने का उद्धार करता है ।

**व्याख्यानार्थ -** इस प्रकार देह का सब के साथ साधारण सम्बन्ध है उस देह को अपना (रूप) समझकर कौन है जो जीवों की हत्या करे। इस प्रकार अन्वव<sup>१</sup> है। उस में भी विद्वान तो हत्या नहीं कर सकता है क्यों कि वह समझता है कि यह देह, साधारणतया सब से सम्बन्ध रखने वाली है, सचमुच तो यह देह ऊपर कहे हुए व्यक्तियों में से किसी की भी नहीं है। कारण कि यह देह प्रकृति से उत्पन्न होती है और उसमें ही लीन हो जाती है। यदि कहो, कि ऐसा व इतना होते हुए भी, लोक में बहुत हिंसक देखे जाते हैं, श्लोक में इसका उत्तर 'असतः' शब्द से दिया गया है कि हिंसक देखे जाते हैं वे असत्पुरुष हैं। लोक में जिस को देव वा सत्पुरुष कहते हैं वे इस प्रकार के (हिंसक) नहीं होते हैं ॥ १२ ॥

**आभास -** तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहासत इति ।

**आभासार्थ -** ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए ? ऐसी आकांक्षा के उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं ।

**श्लोकः -** असतः श्रीमदान्धस्य दारिद्र्यं परमाञ्जनम् ।

**आत्मौपम्येन भूतानि दरिद्रः परमीक्षते ॥ १३ ॥**

**श्लोकार्थ -** लक्ष्मी के मद से अन्धे बने असत्<sup>२</sup> पुरुष के लिये दारिद्र्य<sup>३</sup> उत्तम अंजन है। दरिद्री ही दूसरों को अपने समान देखता है जिससे वह किसी का द्रोह<sup>४</sup> नहीं करता है।

**सुबोधिनी -** असतो लक्षणं श्रीमदान्धस्येति, श्रीमदेनान्धस्य, यथा भगवान् "यस्यानुग्रहमिच्छामि हरिष्ये तद्धनं शनैः" इति तथा नारदोप्याह, यथा काचकामलादिनान्धस्याञ्जने दत्ते दृष्टिर्भवति न तु स्वभावत एवान्धस्य, अयं च श्रीमदेनान्धः, क्षिपा अभावो येनैव भवति तदेवाञ्जनं, भवति, तद् दारिद्र्यामेव, दारिद्र्यं नाम दुर्दृष्टसहितसम्पत्त्यभावः, संत्यञ्जनान्यन्यान्यपि व्याध्यादीनि, परं दारिद्र्यां परममञ्जनं, न केवलं दारिद्र्यस्य दोषनिवर्तकत्वं किन्तु गुणजनकत्वमपीत्याहात्मौपम्येनेति, आत्मोपमानं यत्र तज्ज्ञानमात्मौपम्यं, यथात्मनि सुखदुःखानुभवस्तथा सर्वस्येत्यनुसन्धानं यथात्मसुखार्थं यतते दुःखनिवृत्त्यर्थं च न तु दुःखार्थं तथा सर्वेषामपि सुखदुःखाभाकार्थं यतत इत्यर्थः ॥ १३ ॥

**व्याख्यानार्थ -** असत् का लक्षण बताते हैं कि यहाँ लक्ष्मी के मद से अन्धे को असत् कहा गया है। भगवान् जिस पर कृपा करते हैं उसीका का धन नाश करते हैं क्यों कि धन से मद<sup>५</sup>

होता है अहङ्कारी से भगवान् दूर रहते हैं अतः अहङ्कार न हो इस लिए धन का हरण कर उस पर अनुग्रह\* करते हैं तब वह भगवान् से प्रेम करने लगता है । तात्पर्य यह है कि लक्ष्मी के द्वारा उत्पन्न मद से मनुष्य अहङ्कारी व अन्धा बन जाता है । भगवान् ने उसकी औषधि<sup>१</sup> द्रिद्रिता-बनाई है । नारदजी ने भी यही औषधि योग्य समझ कर ऐसा शाप दिया है । जैसे मोतिया बिन्दु वा कामलादि<sup>२</sup> से अन्धे की औषधि अन्जन है अन्जन लगाने से फिर सब दिखने लगता है । स्वभाव<sup>३</sup> से अन्धे के लिये अन्जन कुछ नहीं कर सकता है । ये जन्म से सुर हैं असुर नहीं हैं, केवल लक्ष्मी के मद से असत् बन गए हैं । अतः इन के लिये लक्ष्मी का अभाव ही अन्जन है जो कि दारिद्रता है । दारिद्रता का तात्पर्य है खराब प्रारब्ध<sup>४</sup> के साथ दारिद्र्य । लक्ष्मी मद को नाश करने के लिए दूसरे भी अन्जन है किन्तु दारिद्रता उत्तम अन्जन है कारण कि दारिद्रता केवल दोषों को ही नाश नहीं करती है, किन्तु गुणों को भी प्रकट करती है । गुणों को बताते हैं कि सब को अपने समान समझकर उन से अपने जैसा वर्ताव करते हैं जैसे अपने सुख के लिए और दुःख की निवृत्ति के लिए प्रयत्न करता है वैसे ही दूसरों को सुख प्राप्त हो और उनका दुःख निवृत्त उन के लिए भी प्रयत्न करता है । ॥ १३ ॥

आभास - आत्मौपम्येन भूतानां दर्शनं दद्रिद्रस्यैव नान्यस्येत्यर्थे दृष्टान्तमाह यथेति ।

आभासार्थ - जिस प्रकार दीन दूसरों को अपने समान समझता है उसी तरह दूसरे (धन वाले) नहीं समझते हैं । इसको दृष्टान्त देकर निम्न श्लोक में समझाते हैं ।

श्लोकः - यथा कण्टकविद्धाङ्गो जन्तोर्नेच्छति तां व्यथाम् ।

जीवसाम्यं गतो लिङ्गैर्न तथाविद्धकण्टकः ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ - जिस पुरुष को कांट लगा हो वह दूसरे को कांट लगने की इच्छा नहीं करता है, वह मन में विचारता है कि कांटे लगने से मुझे जैसा दुःख हुआ है वैसा दुःख दूसरे को भी होगा और जिस को कांट न लगा हो उस को ऐसा अनुभव न होने से ऐसा विचार नहीं आता है

\* यस्यानुग्रह मिच्छामि हरिष्ये तद्धनं शनैः १०-८५-८ श्रीमद्भागवत ।



सुबोधिनी - दारिद्रं सर्वदुःखनिदानं, दारिद्रं गतः | वाञ्छति जातामपि दूरीकरोति, लिङ्गैः स्वानुभवैः परदुःखज्ञापकैः  
सर्वान्पेव दुःखान्यनुभवति, न त्वदारिद्र्यं प्रतिकारबाहुल्यात्, कृत्वा जीवसाम्यं गतः सर्वेषु जीवेषु समत्वं प्राप्तः, न  
स्वानुभवेनैव कण्टकेन विद्धाङ्गः कण्टकव्यथामन्यस्यै न | तथाविद्धकण्टकः समत्वं प्राप्नोति ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ - दरिद्रता सब दुःखों का कारण है, जो दरिद्री होता है वह सब प्रकार के दुःखों का अनुभव कर सकता है। घनाढ्य नहीं करता है क्योंकि धन के होने से वह दुःखों को मिटाने के सब उपाय कर सकता है। जिसको कांट लगता है, वह उस से हुए दुःख के अनुभव से चाहता है कि दूसरों के भी कांटे न लगे। यदि किसी दूसरे को कांटा लग भी जाय तो उसको झट निकालने का प्रयत्न करता है। क्योंकि इससे उसमें जीवों में समभाव आ गया है - जिसको काँटा नहीं लगा है उसमें समानता का भाव उत्पन्न नहीं होता है ॥ १४ ॥

आभास - ननु तदापि दारिद्र्यस्य दुःखरूपत्वात् फलोत्तमत्वेपि स्वरूपतो निष्ठरूपत्वात् कथं स्तूयत इत्याशङ्क्य व्याह ।

आभासार्थ - दरिद्रता से उत्तम फल की प्राप्ति होते हुए भी दारिद्र्य दुःख रूप होने से उसका स्वरूप अनिष्ठरूप है अतः उसकी प्रशंसा कैसे की जाती है ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं ।

श्लोकः— दरिद्रो निरहंस्तम्भो मुक्तः सर्वमदैरिह ।

कृच्छ्रं यदृच्छयाप्नोति तद्धि तस्य परं तपः ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ - सर्व प्रकार के मद से मुक्त और अहङ्कार रूप-स्तम्भ से रहित, दरिद्री पुरुष इस इच्छा से (अचानक) जो कष्ट पाता है तो वह कष्ट हो, उसके लिये बड़ा तप हो जाता है ।

सुबोधिनी - दारिद्र्येति, दारिद्रं मोक्षसाधकमतः | अहंकारस्तम्भेनैवाज्ञानगृहं सुस्थिरं भवति, किञ्च सर्वमदैरपि  
स्वरूपतो दुःखरूपमपि तपोषदाशास्यमेव तस्य मुक्तो भवति, यदृच्छयैवं च कृच्छ्रं क्लेशाधिक्यं प्राप्नोति,  
मोक्षसाधकत्वमाह दारिद्र्यं प्रथमतो निरहंस्तम्भः, अहंलक्षणः ततः किमत आह तद्धि तस्य परं तप इति, यत् कष्टेन तपः  
स्तम्भो निर्गतो यस्मात् मोक्षेहङ्कारभावः करणं, कर्तव्यं तत् तस्य स्वभावत एव सम्पद्यते, विहितत्वं  
अहमित्यस्यात्मपरत्वव्यावृत्त्यर्थं स्तम्भपदं, त्वप्रयोजकम् ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ - दारिद्र्यता मोक्ष देने वाली है। इसलिये स्वरूप से दुःख रूप होने पर भी, चाहने योग्य है। क्योंकि वह तप रूप है। दारिद्र्य मोक्ष साधक है इसको समझाते हैं कि दरिद्र<sup>१</sup> अहंकार<sup>२</sup>

रूप धम्मे वाला नहीं होता है अहंकार रूप धम्मा मोक्ष का प्रतिबन्धक<sup>२</sup> है। मोक्ष की प्राप्ति में अहंकार का अभाव ही साधन है। श्लोक में केवल 'अहं' पद न देकर 'अहं' के साथ 'स्तम्भ' देने का तात्पर्य बताते हैं कि 'अहं' शब्द का अर्थ 'ब्रह्म' भी होता है इसलिये साथ में 'स्तम्भ' देकर यह समझा दिया है कि यहां अहं का अर्थ ब्रह्म नहीं है किन्तु मोक्ष में रुकावट डालने वाला अहंकार समझना चाहिए कारण कि अज्ञान रूपी गृह की पूर्ण रीति से स्थिरता<sup>३</sup> अहंकार रूप धम्मे से होती है। दरिद्र में उसके न होने से उसमें अज्ञान नहीं रहता है जिससे उन दीन पुरुषों के दूसरे मद भी नष्ट हो जाते हैं। उसको अचानक जो विशेष कष्ट प्राप्त होते हैं वे ही उसके तप होते हैं। तपस्या करने में इन्द्रियों को रोकना आदि कष्ट साध्य है, वह इन्द्रियदमन तब इसका स्वतः स्वभाव से ही हो जाता है। तपस्या विधि अनुसार होनी चाहिए वह नियम यहां प्रयोजक (लागू)\* नहीं होता है ॥ १५ ॥

**आभास -** किञ्च मोक्ष इन्द्रियजयो योगशास्त्रसिद्ध साधनत्वेन यथा साङ्ख्येहंकारभावो दारिद्र्य इन्द्रियजयः स्वभावत एव भवति, तदाह नित्यमिति ।

**आभासार्थ -** योग शास्त्र में मोक्ष की प्राप्ति के लिए इन्द्रियों को जीतना कहा है और सांख्य शास्त्र में अहंकार का अभाव बताया है। दीनता में इन्द्रिय-जय स्वभाव से ही हो जाता है इसको नीचे के श्लोक में कहते हैं।

**श्लोकः -** नित्यं क्षुत्क्षामदेहस्य दरिद्रस्यान्नकांक्षिणः ।

इन्द्रियाण्याशु शुष्यन्ति हिंसापि विनिवर्तते ॥ १६ ॥

**श्लोकार्थ -** भूख से दुर्बल देह वाले और नित्य अन्न की चाहना वाले दरिद्री की इन्द्रियाँ निर्बल हो जाती हैं जिससे हिंसा भी निवृत्त हो जाती है।

---

\* श्री पुरुषोत्तमजी 'प्रकाश' में कहते हैं कि - भगवान् ने गीता में 'देवद्विजगुरुप्राज्ञ' श्लोक में इन्द्रियनिग्रहकर भगवच्चिन्तनादि करने की आज्ञा दी है। वह यहां स्वभाव से सिद्ध है। और यह तप विधिपूर्वक नहीं है उसके उत्तर में कहते हैं कि 'येन केन्याप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्' किसी प्रकार से भी मन कृष्ण में लगाए। इस न्यायानुसार पदार्थ की सिद्धि में ही तात्पर्य है विधि में नहीं है। विधि विहीन होती हुई भी अहंकार के अभाव से एवं इन्द्रियजय स्वतः होने से सत्फल की प्राप्ति होती है।

सुबोधिनो - सर्वदा क्षुत्क्षामदेहस्यान्नकार्ढाक्षिण | हिंसा निवर्तते ज्ञानेन्द्रिय प्रागल्भ्याभावाच्च तद्धेतुभूता तृष्णापि  
इन्द्रियाण्याशु शुष्यन्ति, "विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य | विषयाभावाच्च ॥ १६ ॥  
देहिनः" इतिवाक्याद्, दरिद्रस्येतिहेतुः, इन्द्रियप्रागल्भ्याभावादेव

व्याख्यार्थ - गीता के (विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः) आहार के अभाव से देहधारी का विषय निवृत्त<sup>१</sup> हो जाता है इस वचनानुसार यहाँ भी कहा जाता है कि भूख के कारण दुर्बल देह वाले और अन्न को चाहने वाले दरिद्री की इन्द्रियाँ शीघ्र ही शुष्क<sup>२</sup> हो जाती हैं कारण कि दरिद्री शरीर का पोषण करने में असमर्थ होता है। कर्म इन्द्रियाँ शिथिल हो जाने से हिंसा करनी भी छूट जाती है और ज्ञानेन्द्रियों में भी प्रतिभा<sup>३</sup> न रहने से और विषयों के अभाव से उनकी कारण भूत तृष्णा भी मिट जाती है ॥ १६ ॥

आभास - मनोरथरूपा तृष्णा त्ववशिष्यते, तस्या अपि निवृत्तिमाह दरिद्रस्यैवेति ।

आभासार्थ - इन्द्रियों की शिथिलता से विषय भोग का अभाव हो जाता है तो भी मनोरथ रूप तृष्णा तो अवशिष्ट<sup>४</sup> रहती है दरिद्री की वह भी निवृत्ति हो जाती है यह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोकः - दरिद्रस्यैव युज्यन्ते साधवः समदर्शिनः ।

सभिदःक्षिणोति सन्तर्षं तत आराद् विशुध्यति ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ - सम दष्टि वाले साधुओं का समागम भी दरिद्री को ही होता है और उन के संसर्ग<sup>५</sup> से उसकी तृष्णा क्षीण हो जाती है जिससे वह शीघ्र ही निर्मल<sup>६</sup> हो जाता है ।

सुबोधिनी - साधुसङ्गात् तृष्णापगमः, ते हि भगवत्प्रेरिता परिश्रमन्ति लोकानामुद्धारार्थं, तेनावृतत्वाद दरिद्रस्यैव गृहे गच्छन्ति, तेषां काण्डद्वयनिष्णातत्वमाह साधवः समदर्शिन इति, तत्रापि विश्वासार्थं सदाचार एव मुख्यः, तदाह सभिदः क्षिणोति सन्तर्षमिति, सन्तर्षस्तृष्णा समीचीनपि, धर्मार्थमपि यात्रार्थमपि वा धनकाङ्क्षां, ततः शीघ्रमेव सिध्यति ॥ १७ ॥

व्याख्या - दरिद्र की वह (मनोरथरूप) तृष्णा भी साधुओं के संग से मिट जाती है वे भगवान् की प्रेरणा से लोकों के उद्धार के लिये चारों तरफ भ्रमण करते रहते हैं। उन दरिद्रों के द्वार सदैव साधुओं के लिये खुले रहते हैं। इसलिये साधुजन दीन मनुष्य के ही घर में जाते हैं। वे साधुगण

१ - दूर । २ - सूख जाती है, निकम्मी हो जाती है । ३ - पूर्ण ज्ञान, पूरी समझ ।

४ - शेष, बाकी । ५ - संग । ६ - पवित्र ।

वेद के दोनों (पूर्व और उत्तर) काण्डों को यथार्थ समझ कर समदर्शी हो गए हैं तो भी दीन जन ही सदाचारी होते हैं इस विश्वास से, दीन के घर ही जाते हैं उन साधुओं के पधारने पर, वे दीनजन उनसे सतसंग कर तृष्णा को मिटाते हैं। अच्छे सत्कर्म करने के लिए (तीर्थ यात्रा आदि के लिए) जो तृष्णा हो तो वह भी मिट जाती है उसके मिट जाने से शीघ्र ही उसका फल (मोक्ष) सिद्ध हो जाता है।

**आभास -** ननु सन्तोपि भक्ष्यादिरहिते दरिद्रगृह कथं गच्छेयुः तत्राह साधूनामिति।

**आभासार्थ -** जहां भक्षणार्थ भोजनादि सामग्री का अभाव है वैसे दरिद्र के गृह में साधुगण क्यों जाते हैं ? इसके उत्तर में निम्न श्लोक है।

**श्लोकः -** साधूनां समचित्तानां मुकुन्दचरणैषिणाम् ।

**उपेक्ष्यैः किं धनस्तम्भैरसद्भिरसदाश्रयैः ॥ १८ ॥**

**श्लोकार्थ -** सब में सम चित्त वाले, मुकुन्द भगवान् के चरणों की चाहना वाले साधुजनों को नीचों के उपासक और स्वयं भी नीच तथा धन के कारण स्तम्भ जैसे बने हुए अहंकारी पुरुष उपेक्षा<sup>१</sup> करने योग्य हैं।

**सुबोधिनी -** सतां धर्माणां च परस्परविरुद्धा धर्माः, मोक्षदातुश्चरणान्वेषणपराः, अन्ये त्वसदाश्रयाः, असत्स्वेष हि ते हि साधवः सदाचाराः, ते ह्यसन्तोसदाचाराः, साधवस्तु धनं तिष्ठति, तदर्थं तच्चरणान्वेषिणो यतस्तमेवाश्रित्य तिष्ठन्ति, समचित्ताः, ते तूपेक्ष्या एव विषमचित्ताः, समचित्तानां अतो धनस्तम्भैर्धनेन स्तम्भप्राया जाता गृहभारवाहकास्तैर्न विषमचित्ता उपेक्ष्या एव भवन्ति, साधवस्तु मुकुन्दचरणैषिणो किञ्चित् कृत्यमित्यर्थः ॥ १८ ॥

**व्याख्यानार्थ -** साधुओं के और धनवालों के धर्म परस्पर विरुद्ध होते हैं अर्थात् दोनों के धर्म समान नहीं होते हैं जैसे कि साधुजन सदाचरण वाले, और वे (धनवान्) असत् आचरण वाले होते हैं। साधु पुरुष सब में समान दृष्टि वाले और धनी विषम<sup>२</sup> दृष्टिवाले होते हैं। अतः समदृष्टि वालों के लिए विषम दृष्टि वाले उपेक्षा<sup>१</sup> करने योग्य हैं। साधु पुरुष मोक्षदाता मुकुन्द भगवान् के चरणों के ढूँढने में ही तत्पर रहते हैं दूसरे वे (असत् पुरुष) नीचों के आश्रय करने वाले होते हैं कारण कि धन नीचों के पास ही रहता है उनको धन की ही चाह होती है जिसके लिए वे उनका (नीचों का) आश्रय ढूँढते रहते, हैं और उनका ही आश्रय करते हैं। अतः धन से मदान्ध

स्तम्भ जैसे बने हुए अनम्र<sup>१</sup> तथा घर के भार का वहन करने वाले असत् पुरुषों से साधुओं का कोई (किसी प्रकार का) सम्बन्ध नहीं है ।

**श्लोकः — तदहं मत्तयोर्माध्व्या वारुण्या श्रीमदान्धयोः ।**

**तमो मदं हरिष्यामि स्त्रैणयोरजितात्मनोः ॥ १९ ॥**

**श्लोकार्थ —** मैं माध्वी<sup>२</sup> वारुणी<sup>३</sup> से उत्पन्न हुए, धन के मद से अन्धे हुए, स्त्रियों के अधीन हुए, इन्द्रियों से जीते हुए इनका वह अज्ञान मद हरण करूँगा ।

**सुबोधिनी —** एकोप्यंशो नोभयोस्तुल्यः, अतः श्रीमदनिवृत्तिः कर्तव्या, दारिद्र्यं च सम्पादनीयं, निन्दितकर्मणा च स्थावरत्वं, मददूरीकरणं तु सतामावश्यकं, सतां दृष्टिर्हि ब्रह्मज्ञानवत् सर्वदोषनिवर्तिका, अन्यथा त्रिदोषयुक्ता नाशमेव यास्यन्तीति तयोर्दोषान् गणयति माध्व्या मत्तयोः, माध्वीपदेन रस्यत्वादनिवृत्तिः, फलं तु नाशकमेव, वारुणी दैत्यत्वसम्पादिका, श्रीमदेन चान्धौ स्त्रैणौ च, अतो दोषत्रयं दूरीकरिष्यामि तमोज्ञानं मदोजितेन्द्रियत्वं च ॥ १९ ॥

**व्याख्यानार्थ —** धनाढ्य और साधुओं में कोई भी अंश समान नहीं है । अतः श्रीमद से अन्धे बने हुए इन (नल कूबर और भणिग्रीव) दोनों का लक्ष्मी मद नाश करने के अर्थ इनको दरिद्र बनाना चाहिये । इनके निन्दित कर्म से इनको जड़ता प्राप्त होनी चाहिये । मद दूर करना सत्पुरुषों का आवश्यक धर्म है । साधु पुरुषों की दृष्टि ब्रह्म ज्ञान के समान दोषों को नष्ट करने वाली होती है यदि साधुजन दोषों को नाश करें तो त्रिदोष युक्त होने के कारण धनवान् नाश को प्राप्त हो जावेंगे अर्थात् अधोगति<sup>४</sup> पाएँगे । उन दोनों (नलकूबर और भणिग्रीव) के दोषों की गणना करते हैं । मधु से बनी हुई मदिरा से मत्त<sup>५</sup> हुए थे । यह मदिरा मधु से बनने के कारण, उसमें रस विशेष होने से वह छोड़ी नहीं जा सकती है । उसके पीने का फल तो नाश करने वाला होता ही है । वारुणी होने से दैत्य बना देती है । ये दोनों लक्ष्मी के मद से अन्धे और स्त्रियों में आसक्त<sup>६</sup> बन गए हैं । अतः इन के तीनों दोष (१ - अज्ञात, २ - मद और ३ - इन्द्रियों के वश में होना) दूर करूँगा ॥ १९ ॥

**आभास —** एवं हेतुं निरूप्य शापमाह प्रसादान्तं त्रिभिर्यदिति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार शाप के कारणों का निरूपण कर निम्न तीन श्लोकों से प्रसाद प्रर्यन्त शाप का वर्णन करते हैं ।

१ - उद्वेग, कठोर स्वभाव वाले ।      २ - शयन ।      ३ - मधु से बनी हुई शयन ।  
४ - नीच गति ।      ५ - मस्त ।      ६ - लिप्त, लम्पट ।

श्लोकः — यदिमौ लोकपालस्य पुत्रौ भूत्वा तमःप्लुतौ ।

न विवाससमात्मानं विजानीतः सुदुर्मदौ ॥ २० ॥

श्लोकार्थ - जो, ये दोनों लोकपाल के पुत्र होकर, अज्ञान से पूर्ण और अत्यन्त मद वाले हो गए हैं जिससे अपना नग्न होना भी नहीं जानते हैं ।

कारिका - दोषानुवादः शापश्च प्रसादश्चेत्यनुक्रमात् ॥ १ ॥

कारिकार्थ - पूर्व कहे हुए दोषों का अनुवाद (फिर कहना) शाप देना और प्रसाद (कृपा करना) ये तीनों विषय क्रम से २०-२१ और २२ श्लोक में कहे हैं ।

सुबोधिनी - अनुवादमाह यद् यस्मात् कारणादिमौ तत्पदाभिषेकयोग्यौ तमसा प्लुतौ किञ्च विवाससं नग्नमात्मानं लोकपालस्य कुबेरस्य रक्षायां प्रतिष्ठितस्य पुत्रौ भूत्वा च न विजानीतः, किञ्च सुदुर्मदौ ॥ २० ॥

व्याख्यार्थ - इस श्लोक में दोषों का अनुवाद करते हुए कहते हैं कि रक्षा कार्य के लिये प्रतिष्ठित लोक पाल, कुबेर के पुत्र और उसकी गद्दी पर बैठने के योग्य ये दोनों इतने अज्ञान से भरपूर हो गए हैं और अत्यन्त दुष्ट मद वाले हुए हैं जो अपने वस्त्र रहित (नग्न) होने को भी नहीं समझ सकते हैं ॥ २० ॥

आभास - अतो दोषत्रयेण स्थावरतां शुद्धतामसत्वमर्हतः, कर्मण एव तथाफलं भवतीति, ततः किमत आह यथा पुनरेव नैवं स्याताम् ।

आभासार्थ - इस कारण से (तीन दोष वाले होने से) ये शुद्ध तामसयोनि, सो स्थावर होती है उसके योग्य हैं । कारण कि कर्म का फल इस प्रकार का ही है इस योनि (वृक्षयोनि) को पाएंगे तो क्या होगा ? इसका उत्तर देते हैं कि स्थावर बनने से परिणाम<sup>१</sup> यह होगा कि ये पुनः ऐसे दुष्ट मद वाले अज्ञानी नहीं होंगे ।

श्लोकः — अतोऽर्हतः स्थावरतां स्यातां नैव यथा पुनः ।

स्मृतिः स्यान् मत्प्रसादेन तत्रापि मदनुग्रहात् ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ - इसलिये ये स्थावर<sup>२</sup> होने के योग्य हैं जिससे फिर ऐसे मदान्ध न हो जाँय, यह मेरे प्रसाद से इन्हें स्मरण रहेगा और इन पर मेरा अनुग्रह वहाँ भी होगा ।

कारिका - ज्ञाननाशः क्रियानाशो भोगनाशस्तथैव च ।

दुखं शीघ्रं चानिवृत्तिर्वृक्षत्वे हि भवन्ति वै ॥ १ ॥

**कारिकार्थ -** स्थावर होने पर क्या होता है उसका वर्णन इस कारिका में करते हैं ? १ - ज्ञान का नाश, २ - क्रिया का नाश और उसी प्रकार, ३ - भोग का नाश, ४ - दुःख, ५ - दुःख से छुटकारा शीघ्र न होना ये पांच वृक्ष योनि प्राप्त होने पर होते हैं ।

सुबोधिनी - ननु कर्मणैवेतद् भविष्यति तव कः प्रसाद इति चेत् तत्राह स्मृतिः स्यान् मत्प्रसादेनेति, पूर्वजन्मवृत्तान्तस्मरणं ज्ञापेन वृक्षभावस्मरणं च यद्यपि वृक्षयोनि न भवति सत्त्वांशाभावात् तथाप्यहं भगवत्कृपया सर्वभावं प्राप्त इति मदंशो गुप्त एव तत्रापि वर्ततेऽग्निरवदत्राहं चेत्

प्रसन्न उद्विक्तसत्त्वगुणस्तदा मदंशस्तत्रापि प्रकटो भविष्यतीति स्मृतिः स्यात्, तत्रापि तस्मिन्नपि जन्मनोदानीमपि, किञ्चाधिकोऽनुग्रहोऽपि क्रियते प्रसादस्तु स्वधर्माविर्भावः, अनुग्रहस्तु परदोषाणां स्वीकारः अतस्तदीयदोषोऽस्माभिर्गृहीत इति कर्मफलस्यापि भोगात् ॥ २१ ॥

**व्याख्यार्थ -** जब कर्म के फल से स्वतः वृक्षयोनि प्राप्त होती है तो नारदजी की कृपा कैसी ? वहाँ कहते हैं कि यद्यपि वृक्षयोनि जड़ है जड़योनि में सत्त्वगुण का अंश नहीं है अतः उस योनि में किसी प्रकार की स्मृति नहीं रहती है किन्तु मैं (नारद) भगवत् कृपा से सर्वभाव को प्राप्त होने से सर्वत्र हूँ, इसलिये उन गुह्यकों की इस वृक्षयोनि में मेरा अंश अग्नि के समान गुप्त रूप से रहेगा । जिससे वृक्षयोनि में भी इनको पूर्वजन्म के कृत्यों की और मेरे शाप से वृक्ष होने की स्मृति रहेगी । यह मेरे प्रसाद का फल है । नारदजी कहते हैं कि यदि मैं प्रसन्न हो जाऊँ अर्थात् विशेष सत्त्व गुण धारण करूँ तो मेरा अंश वहाँ भी प्रकट होगा जिससे इस जन्म और उस जन्म (दोनों जन्मों) में भी स्मृति रहेगी और विशेष अनुग्रह भी करता हूँ । श्लोक में 'प्रसाद' और 'अनुग्रह' दोनों शब्द एक ही अर्थ वाले हैं किन्तु दो बार कहने से उनके भाव पृथक् पृथक् हैं उसको आचार्यश्री समझाते हैं प्रसाद कहने का भाव है अपना धर्म उसमें प्रकट करना जैसे नारदजी ने अपना धर्म-सत्त्वगुण वृक्षों में गुप्तरूप से धरा है । अनुग्रह कहने का तात्पर्य है कि दूसरों के दोष स्वयं ग्रहण कर\* उन दोषों के कर्म का फल भोग कर लेना ॥ २१ ॥

श्लोकः - वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा दिव्यशरच्छते ।

वृत्ते स्वलोकतां लब्ध्वा लब्धभक्ती भविष्यथः ॥ २२ ॥

\* नारदजी ने इन गुह्यकों के शेष दोष ग्रहण किये हैं ।

**श्लोकार्थ -** दिव्य सौ वर्ष बीतने के अनन्तर भगवत्सान्निध्य प्राप्त कर (भगवान् के दर्शन पाकर) स्वलोक को प्राप्त करोगे उस योनि में भगवान् की भक्ति वाले होवो।

**सुबोधिनी -** वासुदेवस्य सान्निध्यं प्राप्स्यथः, पुरुषापराध इति पुरुषायुःपर्यन्तं भोगः, देवत्वाद् दिव्यं दिव्यशरच्छते वृत्तेतीते वासुदेवस्य सान्निध्यं लब्ध्वा ततः स्वलोकतां च लब्ध्वा नलकूबरत्वं च प्राप्य पूर्वावस्थातो विशिष्टो लब्धभक्ती यविष्यथो भक्तिस्तत्र प्राप्तव्या, अनेनाप्राप्तभक्तेरेव स्वसाधनरूपा भक्तिर्भवति गच्छति चानयोस्तु नैसर्गिकी रतिर्भविष्यतीतिभावः ॥ २२ ॥

**व्याख्यार्थ -** मनुष्य यदि वैसे कर्म करे जिनसे वृक्षयोनि को पावे तो वह मनुष्य मनुष्यों की सौ वर्ष आयु जितनी वृक्षयोनि भोग कर उससे छूट जाता है। ये देव हैं इसलिये इनको यह वृक्षयोनि देवताओं के सौ वर्ष तक भोगनी है। जब देवताओं के सौ वर्ष पूरे होंगे तब आपको भगवान् के दर्शन होंगे और देवयोनि की प्राप्ति होगी। और भगवान् की स्वाभाविकी रतिरूप पा स्थिर-भक्ति की प्राप्ति होगी जिनमें भक्ति नहीं है वे साधनों द्वारा भक्ति प्राप्त करते हैं, वह भक्ति स्थिर नहीं रहती है आपकी तो स्थिर रहेगी ॥ २२ ॥

**आभास -** एवमुक्त्वा ब्रह्मवाक्यमन्यथा न भविष्यतीति तादृशवाक्यमुच्चार्य ततो गत इत्याह स एव मिति।

**आभासार्थ -** ब्राह्मण का वचन टल नहीं सकता है इस प्रकार के वचनों का उच्चारण कर नारदजी वहां से खाने हो गए इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

**श्लोकः—** स एवमुक्तो देवर्षिर्गतो नारायणाश्रमम् ।

नलकूबरमणिग्रीवावासतुर्यमलार्जुनौ ॥ २३ ॥

**श्लोकार्थ -** श्री शुकदेवजी बोले कि ऐसे कहकर देवर्षि नारदजी नारायण के आश्रम को गए नलकूबर और मणिग्रीव यमलार्जुन हो गए।

**सुबोधिनी -** स नारदो देवगुह्यकर्ता, एवमुक्तः कर्तारिक्तः, पश्चान्नारायणाश्रमं गतस्तदोषपरिहारार्थं, तज्ज्ञानार्थं नलकूबरयोराह नलकूबरमणिग्रीवाविति, यमलावेकत्रोत्पन्नौ मूले मिलितौ, अर्जुनो जातिविशेषः ॥ २३ ॥

**व्याख्यार्थ—**नारदजी देवताओं के गुह्य कार्य करने वाले हैं, वे इस प्रकार कह कर गुह्यकों के जो दोष नारदजी ने लिये थे, उन दोषों को मिटाने के लिए नारायण के आश्रम में गए। वहां



दोष मिटेंगे यह उनसे कैसे जाना इसलिये श्लोक में नारद जी को देवर्षि कहा गया है। ऋषि त्रिकालज्ञ<sup>१</sup> होते हैं ये तो देव और साथ में ऋषि भी हैं इसलिये इनको यह ज्ञान पहले ही था। वहाँ जो देव स्त्रियाँ और नारद जी इकट्ठे हुए थे उन में से नारदजी चले गए। अब नल कूबर के सम्बन्ध में कहते हैं कि वे अर्जुन वृक्ष की योनि को प्राप्त हुए। उस का प्रकार बताते हैं कि जड़ तो एक थी और ऊपर दो पेड़ हो गये थे इसलिये साथ में उत्पन्न होने से 'यमलार्जुन' नाम से प्रसिद्ध हुए हैं ॥ २३ ॥

**आभास -** एवं शापदातुः प्रायश्चित्तं शापग्रहीतुः शापफलप्राप्तिश्चेति निरूप्य स्मृतिरपि तत एव भविष्यतीति तामनुक्त्वानुग्रहफलं भगवत्सान्निध्यं तयोर्जातमित्याहर्षेरिति ॥

**आभासार्थ -** इस प्रकार शाप देने वाले (नारदजी) ने प्रायश्चित्त किया (नारदजीश्रमतीर्थ पर गए) और जिन नलकूबर मणिग्रीव को शाप मिला उस का फल उन्होंने पाया यह वर्णन कर, स्मरण भी नारदजी के प्रसाद से होगा उस को न कहकर, उन को अनुग्रह का फल भगवान् का सान्निध्य<sup>२</sup> हुआ। इस का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः -** ऋषेर्भगवतस्तस्य सत्यं कर्तुं वचो हरिः ।

जगाम शनकैस्तत्र यत्रास्तां यमलार्जुनौ ॥ २४ ॥

**श्लोकार्थ -** वे भगवान् देवर्षि के वचन सत्य करने के लिये जहाँ यमलार्जुन थे वहाँ हरि (श्रीकृष्ण) धीरे-धीरे पधारे।

**सुबोधिन -** सहि भाव्यर्थं जानात्येव तज् ज्ञात्वैव तयोक्तवानिति, किञ्च भगवतापि स्वकृपया तस्मिन् भगवत्त्वं सम्पादितं, तदाह भगवत इति, तस्यर्षित्वं भगवत्त्वं वाक्यसत्यत्वं च कर्तुं, स्वयं च सर्वदुःखहर्ता, यत्र यमलार्जुनावास्तां तत्र शनकैर्जगामादावेव, आगच्छे पुनः स्त्रीणामनुसरणं भविष्यतीति भगवानेवम्प्रकारेण तत्र गतस्तौ ज्ञापयितुं यत्र स्त्रियो मामेवं कुर्वन्ति तत्र युवां कथं न करिष्यन्त्यतः स्त्रीसंगो न कर्तव्य इति तदानीमपि स्त्रीदर्शनाभावाय शनैर्गतः, तच्छ्रेयसमनं न सम्भावितमिति यत्र तावेवास्तां तत्र स्वयंगतः ॥ २४ ॥

**व्याख्यार्थ -** उन नारदजी ने इस प्रकार के वचन 'वृक्षयोनि में भी आपको भगवत्सान्निध्य होगा,' 'भगवानकी भक्ति सिद्ध होगी' 'स्मरण रहेगा' 'कैसे कहे ? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में ऋषि विशेषण देकर बताया है कि वे (नारदजी) भावी<sup>३</sup> अर्ध<sup>४</sup> को जानने वाले हैं इसलिए उन्होंने ऐसे वचन कहे और भगवान ने अपनी कृपाकर उन (नारदजी) में अपना भगवत्त्व

१ - भूत, वर्तमान और भविष्य का ज्ञान वाले।

२ - समीप, निकट या पास में

३ - आगे होने वाले।

४ - कार्य, काम।

स्थापित किया है इसलिये श्लोक में उनके लिए दूसरा विशेषण 'भगवतः' दिया है। उन (नारदजी) का भगवत्त्व<sup>१</sup> ऋषित्व<sup>२</sup> और वाणी सत्यकृत्व<sup>३</sup> सिद्ध करने के लिये एवं आप भी 'हरि' सर्व दुःख हर्ता<sup>४</sup> हैं इसलिये जहाँ वे (यमलार्जुन) थे वहाँ आप पधारे। कैसे पधारे? इस प्रकार धीरे-धीरे गए कि थोड़ासा शब्द<sup>५</sup> न हो, शब्द होगा तो वहाँ स्थित स्त्रियाँ चली आएँगी, उन (स्त्रियों) का आना भगवान् को अभीष्ट<sup>६</sup> न था कारण कि भगवान् ने सोचा कि जो स्त्रियाँ मुझे भी बन्धन में डालती हैं वे इनको बन्धन में कैसे नहीं डालेंगी। अतः भगवान् ने धीरे-धीरे जाने की क्रिया से उनको स्त्री-दर्शन नहीं कराए और इससे यह शिक्षा दी कि स्त्रियों का संग नहीं करना चाहिये। जहाँ वे (वृक्ष) थे वहाँ आप (हरि) गए क्योंकि वे जड़ थे आ नहीं सकते थे ॥ २४ ॥

**आभास -** एवं भगवत्सेवकेषु भगवत्कृपा, अतो भगवत्सेवकानुवृत्तिः कर्तव्येति गत्वा भगवान् यमलार्जुनयोर्भङ्गं करिष्यतीति तत् कुतः सान्निध्यं तु वरप्राप्तं तथैव च भक्तिरपि भविष्यति सान्निध्यादेवेदं शरीरं परित्यज्य नलकूबरस्त्वमेव प्राप्स्यतोतो भङ्गोऽनुचित इत्याशङ्क्य भगवतोभिप्रायमाह देवर्षिरिति।

**आभासार्थ -** भगवान् की भगवद्भक्तों पर ऐसी कृपा होती है जो भक्तों के वचन सत्य करने के लिए आप वहाँ गए और इससे यह शिक्षा दी कि सब को मेरे भक्तों की इच्छा के अनुसार कर्तव्य करने चाहिए। यहाँ शङ्का होती है कि नारदजी ने उनको भगवान् के समीप होने और भगवान् की भक्ति को पाने का अनुग्रह रूप वरदान दिया था जिससे सान्निध्यमात्र से इस (वृक्ष) शरीर को छोड़कर पुनः उस देवयोनि में नलकूबर बन जाते और भगवान् की भक्ति पालते। तब भगवान् ने जो वृक्ष को तोड़ देने का कर्म अनुचित किया? इसके उत्तर में भगवान् के अभिप्राय को निम्न श्लोक में कहते हैं।

**श्लोकः -** देवर्षिर्मे प्रियतमौ यदिमौ धनदात्मजौ ।

तत् तथा साधयिष्यामि यद् गीतं तन् महात्मना ॥ २५ ॥

**श्लोकार्थ -** देवर्षि नारद मेरे परम प्रिय हैं, और ये दोनों कुबेर के पुत्र हैं, वह उसी प्रकार सिद्ध करूँगा जिस प्रकार उस महात्मा ने कहा है।

**सुबोधिनी -** एकमत्र सन्दिग्ध, स्मृतिर्जाता न वेति, | सत्वगुणोद्रेकेपि दुर्लभं तदतितामसे भवत्विति, ननु तन् तदपि प्रकटीकर्तव्यममर्यादरूपं च, देवर्षिराह यत् | मिथ्यैव भवत्वविचारितवचनादित्याशाङ्क्याह मे देवर्षिः

१ - भगवान् पन। २ - ऋषिपन ३ - वाणी की सत्यता। ४ - सब दुःखों को मिटाने वाला।

५ - छटका। ६ - इच्छित, पसन्द।

प्रियतम इति, आर्षज्ञानमर्यादा भज्येत, नारदश्च मदीयः, यन् मत्सेवकैः कृतं तन् मयैव कृतिमिति, तत्राप्यत्यन्तं प्रियः प्रीतिविषयः, अतः स्नेहात् सर्वमेव कर्तव्यं, अन्यथा स्नेहमर्यादापि न स्यात्, यद् यस्मादिमौ च धनदात्मजौ, कुबेरोतिभक्तः, अतो मूलभावश्च शुद्धः, अतस्तावन्तमर्थं त्याजयित्वा धनदांशे भक्त्युपयोग्यं योजयित्वा तत्रैव स्वयं

प्रविश्य शुष्कौ कृत्वा स्वाधिदैविकभावेन तद् विदोर्णं विधाय तत् ढद्भृत्य दृढभक्तिं कर्तव्यौ तदा नारदवाक्यं सत्यं भवति, तथैवाहं साधयिष्यामि यत् तेन गीतं तत् दद्या, ननु किं परार्थं एतावानुद्यमः ? तत्राह महात्मनेति महानेव तस्य आत्मा, महत्त्वं भगवत्प्रवेशात् ॥ २५ ॥

व्याख्यानार्थ - यहां शेष<sup>१</sup> एक संशय रहता है वह यह है कि उनको स्मरण हुआ या नहीं ? इसको प्रकट करना चाहिये । नारदजी ने जो वृक्षयोनि में इनको स्मरण होने का कहा है वह मर्यादा रहित है क्योंकि स्मरण तो मनुष्य योनि में भी जब विशेष सतोगुण बढ़ता है तब होता है यह वृक्षयोनि तामस है उसमें स्मरण कैसे होगा ? इसलिये यह नारदजी का कहना झूठ होगा, कारण कि नारदजी ने विचार करके नहीं कहा है । इस प्रकार की शक्का मिटाने के लिए भगवान् ने कहा है कि नारदजी मेरे प्रिय नहीं, किन्तु प्रियतम (अत्यन्त प्यारे) हैं । यदि नारदजी के वचन मिथ्या होंगे तो आर्षज्ञान (ऋषि त्रिकालज्ञ होते हैं वे जो भी कहते हैं वह सत्य ही होता है) की मर्यादा नष्ट हो जायगी और नारदजी मेरे भक्त हैं, भक्तों ने जो कहा और किया वह मैंने ही किया । अत्यन्त प्रीतम के लिये स्नेह होता है, स्नेह के कारण भक्तों के सर्व कार्य, पूर्ण करने ही चाहिये यदि न किए जाएँगे तो स्नेह की मर्यादा न रहेगी । इसके अतिरिक्त ये कुबेर के पुत्र हैं । कुबेर पूर्ण भक्त है अतः इनकी (नलकूबर और मणिग्रीव की) जड़ शुद्ध है । इसलिए इन में जो धन मद का अंश है उसको नष्ट कराके उस स्थान पर भक्ति का अंश (भाव) प्रकट करके उसमें स्वयं प्रवेश कर दोनों को शुष्क करके अपने आधिदैविक भाव से उनको (वृक्षों को) गिराकर उस (वृक्षत्व) में से उन दोनों का उद्धार कर उनको दृढ़ भक्ति वाले बनाएंगे । तब नारदजी के वचन सत्य प्रमाणित होंगे । इसलिए मैं वैसा ही कर्म (लोला) करूंगा जैसा कि उन्होंने ने (नारदजी ने) कहा है । दूसरों के लिए इतना उद्यम क्यों ? इसके उत्तर में श्लोक में कहा है कि, 'महात्मना' । देवर्षि नारदजी महान् आत्मा है । महान् आत्मा वह है जिस आत्मा में भगवान् ने प्रवेश किया हो । अतः भगवान् के प्रवेश होने से ही नारदजी महान् आत्मा हैं ।

आभास-इति विचार्य भगवानुभयोरन्तः प्रविष्ट इत्याहेत्यन्तरेणेति ।

आभासार्थ-इस प्रकार विचार करके भगवान् ने दोनों वृक्षों के बीच में प्रवेश किया ।

श्लोकः - इत्यन्तरेणार्जुनयोः कृष्णस्तु यमयोर्ययौ ।

आत्मनिर्वेशमात्रेण तिर्यग् गतमुलूखलम् ॥ २६ ॥

**श्लोकार्थ** - इस प्रकार विचार करके श्रीकृष्ण यमलार्जुन वृक्ष के बीच में से निकलने लगे, आत्मा के प्रवेशमात्र से ऊखल टेढ़ा हो गया ।

**सुबोधिनी**-यमयोरर्जुनोरन्तरं कृष्णो ययौ, केवलं बहिरेव ययावितिपक्षं दूषयितुं तुशब्दः, सदानन्दरूपत्वाद् दोषो दुःखं च तयोस्तदानीमेवनिवृत्तं, भगवत्सम्पृक्तं तुलूखलं दारुमयं भवतीति स्वसजातीयोद्धारार्थमात्मनो भगवतो वृक्षयोर्निर्वेशमात्रेणोलूखलं तिर्यग्भूतं जातं, ऋजुत्वे तु तदपि मध्ये निर्गच्छेत् तदा तु पुनर्भगवत्सम्बद्धं यदि सजातीयं न मोचयेत् तदा स्वस्याधिदैविकत्वं जातं व्यर्थं स्यात् ॥ २६ ॥

**व्याख्यानार्थ** - यमलार्जुन के बीच में श्रीकृष्ण गए । श्लोक के 'तु' अक्षर का भाव बताते हैं कि भगवान् केवल बाहिर ही उपस्थित नहीं हुए किन्तु भीतर गए क्योंकि आप सदानन्दा रूप हैं उन (भगवान्) के प्रवेश से वृक्षों के दोष और दुःख उसी समय निवृत्त हो गए - भगवान् से बन्धा हुआ ऊखल\* लकड़ी का था । इसलिये अपनी जाति काष्ठ (वृक्ष)† के उद्धारार्थ भगवान् का वृक्षों के बीच में प्रवेश होते ही ऊखल टेढ़ा हो गया यदि टेढ़ा न होता और सीधा ही रहता तो वह ऊखल भी वृक्षों से निकल जाता जिससे वृक्षों का उद्धार न होता तो भगवान् से सम्बन्धवाला होकर भी अपनी जाति वाले को यदि न छुड़ावे तो उनका आधिदैविकत्व व्यर्थ हो जाता ॥ २६ ॥

**आभास** - एवमुलूखले तिर्यक्प्रकारेण पतिते भगवान् यत् कृतवांस्तदाह बाले नेति ।

**आभासार्थ**-इस प्रकार जब ऊखल टेढ़ा हो गया तब भगवान् ने जो कुछ किया उसका वर्णन इस निम्न २७ वें श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः - बालेन निष्कर्षयतान्वगुलूखलं तद् दामोदरेण तरसोत्कलताङ्घ्रिबन्धौ ।

निष्पेततुः परमविक्रमितातिवेपस्कन्धप्रवालविटपौ कृतचण्डशब्दौ ॥ २७ ॥

\* गो. पुरुषोत्तमजी 'प्रकाश' में कहते हैं कि पद्यपुराण के वचनानुसार श्रीकृष्ण को ऊखल में जब बान्धा तब वे २८ मास के थे और वह दिन मार्ग शीर्ष सुदि प्रतिपदा थी ।

† पुरुषोत्तमजी प्रकाश में कहते हैं कि भगवान् ने यह विचार किया कि यदि मैं कुछ न करूँगा तो नारदजी के वचन सिद्ध न होंगे ।

‡ लेखकार गो. वल्लभलालजी 'लेख' में कहते हैं कि श्रीकृष्ण सद्रूप है उन सद्रूप के प्रवेश से वृक्षों के दोष नष्ट हुए और श्रीकृष्ण आनन्दरूप भी हैं उस आनन्दरूप के प्रवेश से वृक्षों के दुःख दूर हो गए ।

**श्लोकार्थ** - टेढ़े ऊखल को बालरूप भगवान् दामोदर के खेंचते हुए उन वृक्षों की जड़ें उखड़ पड़ी और दोनों वृक्षों के तने, पत्ते और शाखाएँ परम पराक्रमवालों के समान अतिशय काँपने लगी और प्रचण्ड<sup>१</sup> शब्द करते हुए वे वृक्ष गिर पड़े ।

**सुबोधिनी**-उलूखलं निष्कर्षता बालेन तरसोत्कलिताद् ध्रुवन्धौ निषेत्तुः, भूमेर्भगवत्सम्बन्धादार्द्रता सात्त्विकभावात्, अतः शिथिलसर्वभागाकार्कषणोत्कलिताद् ध्रुवन्धौ जातौ, अन्वगनुकूलतयाकृष्टं यथा भवति तथोलूखलं नितरां कर्षति, उलूखलाकर्षणेन तावप्याकृष्टौ, अन्वगोषदिति वा, दाम्नादरेत्यन्वर्थनाम, बालस्योदरेणाकर्षणमल्पमेव भवति तत्राप्यूलूखलस्य स्थूलस्य, रज्जुरपि सूक्ष्मत्वाकर्षणं नश्येत् अनेनापि साक्षाद्भगवन्वित्युक्तं, रज्जूलूखलयोरभङ्गेऽप्यर्जुनयोर्मज्ञात्, उपपत्तिस्तु रज्जुर्भगवद्भूषेति पूर्वमुक्तं, उलूखलं त्वाधिदैविकं रूपं प्राप्तवत्, अतो युक्तमेव

मूलतः पतनं, क्रियाशक्तेरल्पीयस्या अप्युद्धतया महत् कार्य जातमित्याह परमविक्रमितातिवैपस्कन्धप्रवालविटपाविति, परमं विक्रमं प्रापितौ परमविक्रमिती यथा भीमेन हनुमता वा बलाच्चात्येत परमविक्रमितयोरिव योयमतिवैपः स्कन्धप्रवालविटपानां ययोः, स्कन्धस्य चलनमतिकठिनं ततोऽप्यल्पप्रवालानां पृथक्तया चलनमत्याश्रयं ताभ्यां युक्तानां विटपानां चलनमिति, किञ्च कृतक्षण्डः शब्दो याभ्यां, पाते महाञ्ज छन्दः, आसुरभावस्य वा नाशदशायां तदभिमानिनः शब्दः, एवमसुरनाशिकाया भगवत्क्रियाशक्तेर्महात्म्यमुक्तम् ॥ २७ ॥

**व्याख्यानार्थ**-भगवान् से सम्बन्ध होते हुए भी पृथ्वी में सात्त्विक भाव आने से उसकी शुष्कता<sup>२</sup> मिट गई और उसमें आद्रता<sup>३</sup> आ गई जिससे जड़ से लेकर सर्वभाग ढीले पड़ गये । अतः बालरूप दामोदर भगवान् के टेढ़े ऊखल को खेंचते ही वे (वृक्ष) भी पीछे-पीछे खिंच आए और बहुत शीघ्र ही उनकी जड़ें उखड़ पड़ी और स्वयं दोनों वृक्ष गिर पड़े । भगवान् का दामोदर नाम सार्थक था, क्योंकि, उस समय भगवान् का उदर<sup>४</sup> रज्जु<sup>५</sup> से बांधा हुआ था । इस लीला से यह बताया कि यह बालक साक्षात् भगवान् है कारण कि बालक के उदर से खेंचान छोटे पदार्थ की हो सकती है पर यहां तो स्थूल<sup>६</sup> ऊखल को खींचना था, रज्जु भी पतली थी जो कि जोर से खींचने से वह टूट जाती ये सब कारण बालक का साक्षात् भगवान् होना प्रमाणित करते हैं । इतने बड़े वृक्ष तो जड़ से उखड़ कर टूट गए किन्तु न रज्जु टूटी और न ऊखल फूटा (यह विशेष आश्चर्य कारक हुआ) उपपत्ति<sup>७</sup> बताते हैं कि रज्जु साधारण रज्जु नहीं थी किन्तु भगवान् स्वयं रज्जु रूप हो गए थे इसलिए रज्जु टूटी नहीं । ऊखल की भी भगवत्स्पर्श होने से आधिभौतिकता नष्ट हो गई थी और उसका आधिदैविक रूप हो गया था जिससे वह फूटा नहीं अतः इनके द्वारा वृक्षों का गिर पड़ना योग्य ही है । भगवान् ने अपनी अल्प<sup>८</sup> ही क्रिया शक्ति प्रकट की, जिससे इतना महत् कार्य सम्पन्न हुआ उसका वर्णन वृक्षों के इन दो विशेषणों से प्रकट करते हैं । अतिशय सामर्थ्य वाले भीम अथवा हनुमान के चलने जैसा कम्पन हो वैसा कम्पन, जिनके तनों पत्तों और शाखाओं में हो रहा था । पेड़ के तने का चलना अति कठिन है उससे भी पत्तों का उनसे पृथक् होकर चलना आश्चर्य कारक है और दोनों से इकट्ठी शाखाएँ भी हिल रही थीं । इस प्रकार कांपते हुए

१ - घोर शब्द ।

२ - सुखापन ।

३ - गोलापन ।

४ - पेट ।

५ - रस्सी ।

६ - भारी ।

७ - सिद्धान्त या प्रमाण ।

८ - थोड़ीसी ।

वृक्ष गिर पड़े जिनके गिरने का महान् शब्द हुआ अथवा भगवान् के सान्निध्य से उनका जो आसुर भाव नष्ट हुआ उस आसुर भाव के अभिमानी देवता का यह महान् शब्द था । इस प्रकार इस श्लोक में आसुर भाव को नाश करने वाली भगवान् की क्रिया शक्ति का माहात्म्य कहा है ।

**आभास-एवं तयोर्दोषपरिहारमुक्त्वा गुणमाह तत्रेति ।**

**आभासार्थ-**इस प्रकार उनके दोषों के नाश का वर्णन कर अब निम्न श्लोक में गुणों का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः—** तत्र श्रिया परमया ककुभः स्फुरन्तौ सिद्धावुपेत्य कुजयोरिव जातवेदाः ।

**कृष्णं प्रणम्य शिरसाखिललोकनाथं बद्धाञ्जली विरजसाविदमूचतुः स्म । २८।**

**श्लोकार्थ-**वहाँ इन दोनों वृक्षों में से मूर्त रूप अग्नि की तरह प्रकट होकर दिशा के प्रकाश से शोभित दोनों सिद्धों ने लोकों के नाथ श्रीकृष्ण के पास आकर मस्तक से प्रणाम किया और निर्दोष होने से हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगे ।

**सुबोधिनी-**परमया श्रिया दश दिशः स्फुरन्त्यो जातास्तावपि स्फुरन्तौ सन्तावुपेत्येतिसम्बन्धः, अत्यैव स्फुरच्छब्दस्य विभक्तिलिङ्गविपरिणामेन दिक् शब्देनापि सम्बन्धः, प्रकाशमानया तत्सम्बन्धिन्या वा कृत्वा तत्र देशे तयोर्वृक्षयोर्वा स्फुरन्तौ निर्गच्छन्तौ श्रिया विराजमानौ ततो निर्गता, ककुभः सम्बन्धि तेजो विद्युति दृष्टं, अत एव परमशोभात्वेन निर्दिष्टं, यथा दामोदरेण मोचनमेवं नग्नेनापि पीताम्बरतुल्यतेजःसम्पादनमित्यद्भुतचरित्रमुक्तं, निर्गमनात् पूर्वमेव यावदभीष्टं तावद् रूपं सम्पन्नमिति सिद्धौ, कुजयोर्वृक्षयोः सकाशादागत्य भगवन्निकटे, पूर्ववृक्षान्तज्ञानवतामपि भ्रममिवोत्पादयन्तौ तावितिदृष्टन्तेनाह जातवेदा इवेति, दृष्टान्तेपि द्वित्वमत्यन्तदुर्लभं,

कुजयोररणिद्वयरूपयोः सकाशाद् यथा श्रौतोऽग्निर्भवति, जातो वेदो यस्मात्, क्रियाकाण्डनिमित्तजन्मा वह्निरिवेत्यर्थः, ततो भगवन्तं प्रणम्य पूर्वज्ञानस्य दार्ढ्यच्छिरसेति, साष्टाङ्गनमस्कारं भूमौ कृत्वा देवानामितरनमस्काराशङ्कान् भूमिसम्बन्धी शङ्कान् च व्युदस्य बद्धाञ्जली भूत्वा भगवन्तं वक्ष्यमाणप्रकारेणोचतुः स्मेतिसम्बन्धः, शापविमोक्षे जातेपि भगवन्तमपृच्छवास्तुत्वा च न गन्तव्यं यतो भगवान् खिललोकनाथः सर्वलोकाधिपतिः स्वयमेकलोकाधिपतेः पुत्री तदाज्ञाव्यतिरेकेण गते तस्मिन्लोके स्थितिरपि न स्याद् भक्तिस्तु दूरे अञ्जलिबन्धो विज्ञापनार्थः, तादृशयोः कथं भगवत्स्तोत्रेधिकार इत्याशङ्क्याह विरजसाविति अत्रासम्भावनाव्युदासाय स्मेतिप्रसिद्धिरुक्ता ॥ २८ ॥

**व्याख्यार्थ-**विशेष श्री से (प्रकाश या तेज से) दश दिशाएँ प्रकाशित हो गई\* वे दोनों भी

\* श्लोक में 'स्फुरत' शब्द पुल्लिङ्ग और द्विवचन है इस के लिये आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि इस 'स्फुत' शब्द के लिङ्ग और विभक्ति का परिवर्तन करने से दिशा वाचक 'ककुभ्' शब्द से भी उसका सम्बन्ध हो सकता है । इसलिये उसके दो प्रकार से अर्थ होते हैं - जैसा कि १ - प्रकाशमान होती हुई दिशा, अथवा २-तेज से सम्बन्धित दिशाओं के कारण तेज से शोभित । एक जगह 'ककुभः' प्रथमा का बहुवचन और दूसरी जगह ककुभः षष्ठी का एक वचन होता है ।

यमलार्जुन वृक्ष में से तेज युक्त प्रकट होकर श्रीकृष्ण के पास गए और निम्न प्रकार से कहने लगे । दिशा के सम्बन्ध वाला तेज बिजली में दृष्टिगोचर होता है इस कारण ही उसको परम शोभा वाला कहा है । जैसे दामोदर मुक्त करते हैं, वैसे गुह्यक भी पीताम्बर के समान तेज सम्पादन करते हैं यह भगवान् का अद्भुत चरित्र कहा गया है ।

वृक्ष में से निकलने के पूर्व जैसा रूप चाहते थे वैसा ही रूप प्राप्त हुआ । इसलिये श्लोक में इनको 'सिद्धौ' विशेषण दिया है जिसका तात्पर्य यह है कि इन्होंने अपना कार्य सिद्ध कर लिया । दोनों वृक्षों से प्रकट होकर सीधे भगवान् के पास आए थे । पूर्व से पहचानने वालों को भी इनके इस प्रकार तेज युक्तरूप से भ्रम-सा हो गया कि ये वे नलकूबर-मणिग्रीव हैं या कोई दूसरे हैं ? क्योंकि इनका रूप वैसा प्रकाश स्वरूप देखने में आया, जैसे कि अरणी<sup>१</sup> के संघर्ष<sup>२</sup> से उत्पन्न यज्ञ की प्रकाश स्वरूप अग्नि हो । वहाँ भगवान् के समीप आने के पश्चात् प्रथम भगवान् को मस्तक से प्रणाम करने लगे । मस्तक से प्रणाम करने का आशय यह है कि उनको पूर्व ज्ञान दृढ़ था, वह नष्ट नहीं हुआ था । पृथ्वी पर स्थिति हो साष्टाङ्ग नमस्कार कर हाथ जोड़ के निम्न प्रकार से प्रार्थना करने लगे । देव दूसरों को नमस्कार नहीं करते हैं और न पृथ्वी पर पदार्पण<sup>३</sup> करते हैं । इन दोनों कार्यों का इन्होंने इसलिये तिरस्कार कर दिया कि भगवान् सर्वलोकों के अधिपति हैं और हम तो एक लोक के अधिपति के पुत्र हैं । शाप मुक्त हो गए हैं, तो भी भगवान् की स्तुति करने और आज्ञा लिए बिना कैसे चले जावें अर्थात् नहीं चलना चाहिये । इनकी आज्ञा के बिना चलने से उस लोक में भी स्थिति नहीं होगी । जब वहाँ ही स्थिति न होगी, तो भक्ति की प्राप्ति तो दूर रही । हाथ जोड़ने का भाव यह है कि हमारा कहना केवल कहना नहीं है किन्तु प्रार्थना है । ऐसे अहङ्कारियों को भगवान् की स्तुति का अधिकार कैसे प्राप्त हुआ ? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'विरजसौ' विशेषण दिया है जिसका तात्पर्य है कि इनमें से रजोगुण निकल गया है अतः ये अब निरहंकारी<sup>४</sup> हो गए हैं अतः इनको स्तुति करने का अधिकार है । विशेष में श्लोक में 'स्म' शब्द देकर यह भी बता दिया है कि इसमें किसी प्रकार की असम्भावना नहीं करनी चाहिये क्योंकि इनका अहंकार नष्ट हो गया है इनमें दीनता आ गई है यह बात प्रसिद्ध है गुप्त नहीं है ॥ २८ ॥

कारिक — दशभिः प्राणभृच्छलोकैश्चक्रतुः स्तोत्रमुत्तमम् ।

ज्ञानवैराग्ययोरत्र निर्णयः समुदीरितः ॥ १ ॥

कारिकार्थ—नल कूबर और मणिग्रीव अपने देव रूप को प्राप्त होकर भगवान् की दश श्लोकों से स्तुति करते हैं । आचार्यश्री उनका भावार्थ कारिकाओं द्वारा संक्षेप में बताते हैं ।

कारिकार्थ-प्राण दश हैं इसलिये इन्होंने दश श्लोकों से स्तुति की है कारण कि किसीका यह मत है कि वृक्षयोनि में प्राण (यहाँ प्राण शब्द - इन्द्रियों का वाचक समझना चाहिये) नहीं है अतः उनकी प्राप्त्यर्थ यह प्रार्थना होने से दश श्लोकों में स्तुति की गई है। यहां (नवम तथा दशम अध्याय की संगति बताने के लिये) ज्ञान और वैराग्य का निर्णय अच्छे प्रकार से किया गया है ॥ १ ॥

कारिका - मूलरूपो भवान् पूर्वं जगद्रूपस्तथैव च ।

मध्यरूप इति त्रेधा ज्ञानरूपो निरूपितः ॥ २ ॥

कारिकार्थ-स्तुति करने (प्रथम श्लोक अर्थात् २९ वें) में मूलरूप आप हो यह वर्णन किया गया है। वैसे ही आप जगतरूप (देह-इन्द्रियादि रूप भी) हो इसका वर्णन ३० वें श्लोक में किया है। इसी प्रकार मध्यरूप (महत्तत्त्व और प्रकृति आदि रूप) भी आप हो जिसका वर्णन ३१ वें श्लोक में करने में आया है। इसी प्रकार ज्ञानरूप भगवान् तीन तरह से वर्णित किये गये हैं। १ - मूल रूप, २ - जगदरूप और ३ - मध्यरूप से सद् रूप के वर्णन से चिद्रूप का भी निरूपण किया गया है ॥ २ ॥

कारिका - माहात्म्यज्ञापनार्थाय दुर्ज्ञेयत्वं च वर्णितम् ।

सर्वरूपोपि सर्वस्मिन् गृह्यमाणैर्न गृह्यते ॥ ३ ॥

कारिकार्थ-इस कारिका के पहले अर्थ में ३२वें श्लोक के उत्तरार्ध का अर्थ कहा गया है कि भगवान् दुर्ज्ञेय<sup>१</sup> है यह उनका दुर्ज्ञेयपन माहात्म्य जताने के लिए कहा है। कारिका के उत्तरार्ध में ३२ वें श्लोक में पूर्वार्ध में योगी भी भगवान् को ग्रहण नहीं कर सकते हैं इसका आशय बताते हुए कहा है कि भगवान् सर्वरूप हैं और सब में हैं तो भी सर्व पदार्थ ग्रहण होते हुए भी आपको कोई ग्रहण नहीं कर सकता है ॥ ३ ॥

कारिका - आध्यात्मिकस्ततो नायं भौतिकोपिततो न हि ।

दैविकत्वेन सर्वः स्यात् द्वयं तस्माच्च जायते ॥ ४ ॥

कारिकार्थ-सर्व पदार्थ तो ग्रहण किये जा सकते हैं किन्तु पुरुषोत्तम को ग्रहण नहीं कर

१ - जिसका समझना कठिन हो।



सकते हैं इस कारण से यह (श्रीकृष्ण पुरुषोत्तम) न, आध्यात्मिक हैं और न आधिभौतिक हैं ये दोनों आध्यात्मिक और आधिभौतिक उस आधिदैविक से प्रकट होते हैं । अतः आध्यात्मिक और आधिभौतिक भिन्न वस्तु नहीं है किन्तु आधिदैविक रूप से ही सब हैं । यह ३० वें श्लोक में कहा है, ३१ वें श्लोक में आध्यात्मिक रूप का कर्ता भी वही है और ३२ वें श्लोक में आधिभौतिक का कर्ता भी इसको ही कहा है ॥ ४ ॥

कारिका — अतः सर्वत्वकर्तृत्वे ज्ञानभक्ती फलिष्यतः ।

अतो ज्ञानं निरूप्यादौ भक्तिमाहतुरुत्तमाम् ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—पुरुषोत्तम, सर्व रूप और सर्व आधिभौतिक और आध्यात्मिक के कर्ता हैं, इनसे ज्ञान और भक्ति की प्राप्ति होगी । इसलिए पहले ज्ञान का निरूपण कर प्रश्नात् उत्तम भक्ति को कहते हैं । ३० वें श्लोक का यह तात्पर्य है कि एक ब्रह्म के ज्ञान से सब का (सब पदार्थों और रूपों का) ज्ञान हो जाता है । ३१ वें व ३२ वें श्लोकों में कहे गये अर्थ के ज्ञान से भक्ति की प्राप्ति होती है । इन श्लोकों से भगवान् के स्वरूप का निर्णय हुआ है । भगवान् का (आधिदैविक) स्वरूप सर्व (आधिभौतिक एवं आध्यात्मिक) रूपों से लिप्त होने के कारण प्रकाशित नहीं होता है क्योंकि आधिभौतिक और आध्यात्मिक रूप सद् रूप हैं तो भी ज्ञान को आच्छादन<sup>१</sup> करते हैं । ज्ञान के आच्छादित होने से आधिदैविक स्वरूप का दर्शन नहीं हो सकता है । भगवान् काल रूप से ईश्वर रूप से अथवा प्रकृति रूप से कर्ता हैं और अक्षर रूप से सर्व रूप हैं । कर्तृ रूप से भक्ति एवं अक्षर रूप से ज्ञान प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

कारिका — अनेनैव च वैराग्यं ज्ञानाजनकता यदि ।

तदा सर्वं परित्याज्यमन्यथा स्याद् विनाशनम् ॥ ६ ॥

कारिकार्थ—ज्ञान के वर्णन करने से वैराग्य का भी निरूपण किया गया है । भगवान् सर्व रूप हैं यदि इससे ज्ञान उत्पन्न न होवे तो सर्व का त्याग करना चाहिए, अर्थात् सबसे राग<sup>२</sup> निकाल लेना चाहिए । जो ज्ञान के अभाव में सब में से आसक्ति भी नहीं निकाली तो नाश (अधःपतन) होता है ॥ ६ ॥

कारिका — भक्तिसिद्ध्यै तु यज्ज्ञानं श्लोके षष्ठे निरूप्यते ।

अन्यथाभावशङ्काया व्यावृत्त्यर्थं भवान् परः ॥ ७ ॥

कारिकार्थ-भक्ति की सिद्धी हो उसके लिए, जिस ज्ञान की आवश्यकता है उसका वर्णन इस स्तोत्र के छठे श्लोक (१०वें अध्याय के ३४वें श्लोक) में किया गया है। श्लोक ३५वें में श्रीकृष्ण मनुष्य नहीं है किन्तु ब्रह्म ही है इसको 'पर' विशेषण से सिद्ध किया है। जिससे इस प्रकार की (कृष्ण के मनुष्यत्व की) शङ्का को निर्मूल बना दिया है ॥ ७ ॥

कारिका - भगवन्तं नमस्कृत्य गमनप्रार्थना कृता ।

तदयुक्तं भक्तिमतामिति भक्तिस्तु षड्गुणा ॥ ८ ॥

कारिकार्थ-इस कारिका में श्लोक ३६वें, ३७वें व ३८वें में वर्णित विषय का सार बताया है जैसा कि ३६वें श्लोक में भगवान् को नमस्कार किया है, ३७वें श्लोक में जाने के लिए प्रार्थना की है और ३८वें श्लोक में भक्ति के प्रकार (छ अंग) एवं उसकी प्राप्ति की प्रार्थना की है। (अर्थ) भगवान् को नमस्कार करने की प्रार्थना की है। भक्ति वालों को ऐसा करना योग्य नहीं है इस प्रकार की शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि भक्ति छ गुणवाली है इसलिए ऐसा करना भक्ति मार्ग में अयोग्य नहीं है ॥ ८ ॥

कारिका - भक्तैः सहैव सा कार्या परोक्षेणैव सिध्यति ।

गुप्तो रसस्तदोद्बुद्धो रसतां याति नान्यथा ॥ ९ ॥

कारिकार्थ-भक्ति की सिद्धि के लिए, वह छः गुणवाली भक्ति, भक्तों के साथ और भगवान् के परोक्ष में करनी चाहिए। जब इस प्रकार भक्ति की जाती है तब गुप्त रस जाग्रत हो कर रसिकता को प्राप्त होता है, अन्य प्रकार से (भगवान् के सान्निध्य में वा भक्तों के सङ्ग बिना अकेला भक्ति करने से) नहीं ॥ ९ ॥

कारिका - गुणप्रधानभावत्वमेकत्र हि विरूध्यते ।

अतोत्र भगवांस्त्रीलां स्वयं कर्तुं समुद्यतः ॥ १० ॥

कारिका - स्वस्यैव रसभोगार्थं परार्थं वेत्यनिर्णयः ।

ताभ्यां विमोचनं नैव शक्यं पक्षद्वयेपि हि ॥ ११ ॥

कारिकार्थ-इन दोनों कारिकाओं में बताते हैं कि भगवान् दो प्रकार से लीला करते हैं।

एक लीला में भक्तों की प्रधानता होती है। दूसरी लीला में भगवान् की प्रधानता होती है। भगवान् गोकुल में जो लीला करते हैं उन लीलाओं में भगवान् की गौणता और भक्तों की प्रधानता है। एक ही स्थल पर दो प्रकार की (गौण और प्रधान) लीला करने में विरोध होता है अतः नल कूबर गोकुल की लीला के अधिकारी न होने से ब्रज भक्तों के साथ भक्ति नहीं कर सकते थे इसलिए उन्होंने जाने की प्रार्थना की है। यहां (गोकुल में) भगवान् अपने लिए ही अपने रसभोगार्थ अथवा दूसरों को (ब्रज भक्तों को) रस दान करने के लिए लीला करने का स्वयं उद्यम करते हैं। इसका निर्णय वे (नल कूबर और मणिग्रीव) नहीं कर सकते थे। दोनों पक्ष ग्रहण करने से भी वे भगवान् को ऊखल से मुक्त नहीं कर सकते थे। इन कारणों से भगवान् को ऊखल में बन्धा हुआ ही छोड़ कर चले गए ॥ १०-११ ॥

आभास-पूर्वस्मृतिः सन्दिग्धेति तन्निर्णयार्थं भगवानागत इत्युक्तं, सा स्मृतिः सर्वलोकप्रसिद्धा भवत्विति कृष्णस्वरूपं ज्ञातं निरूपयतः, "ज्ञानी प्रियतमो तो म" इतिवाक्यात्, अन्यथा सर्वैव स्तुतिर्विरुध्यते ।

आभासार्थ-नलकूबर और मणिग्रीव को पूर्व की स्मृति है ? वा नहीं, इस प्रकार का संदेह था, उस संदेह के निर्णयार्थ भगवान् स्वयं वृक्षों के पास पधारे। उनकी वह स्मृति सर्व लोक में प्रसिद्ध रहे इसलिए ज्ञानी मुझे अत्यन्त प्यारे हैं। २५वें श्लोक में कहे हुए इस वाक्य के अनुसार वे दोनों निम्न श्लोक में बताते हैं। कृष्ण के स्वरूप का ज्ञान हमें है यह यदि नहीं बतावें तो सकल स्तुति का विरोध दिखने में आये।

॥ नलकूबरमणिग्रीवावचतुः ॥

श्लोकः — कृष्ण कृष्ण महायोगिस्त्वमाद्यः पुरुषः परः ।

व्यक्ताव्यक्तमिदं विश्वं रूपं ते ब्रह्मणो विदुः ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ-नलकूबर व मणिग्रीव ने कहा, हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगी ? आप आद्य तथा पुरुष एवं पर हो, ज्ञानीजन प्रकट तथा अप्रकट यह विश्व आपका रूप है, यों वेद से जानते हैं ।

सुबोधिनी-तत्र प्रथमं पुरुषोत्तमो भवानित्याहुः कृष्णकृष्णेति, आदरे बोधा, कृष्णः सदानन्दः, स एव कृष्णनामा च, उभयविधाज्ञाननिवृत्त्यर्थं वा तथोक्तं, आकृत्या चेष्टया च नावयोर्ध्रम इत्याहुर्मुहायोगिन्निति, लौकिका अपि नानायोगचर्यायां प्रवृत्ता हीनभावं न प्राप्नुवन्ति कुतः

पुनर्निर्दोषपूर्णगुणविग्रहः ? अतो नामरूपे वर्णनीयेष्वे न बाधके, आद्य इति, मूलभूतत्वमेव महत्त्वं, सर्वैर्हि स्वापेक्षया महत्त्वं ज्ञातव्यं, आद्यस्तु तथा आद्यत्वं भवान्तरेचेतनस्यापि सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह पुरुष इति, साङ्ख्यतुल्यतामाशङ्क्याहुः पर इति, पुरुषोत्तम इत्यर्थः, निराकारपक्षनिवृत्त्यर्थं पुरुषपदं

तस्मिन् पक्षेयं विकृतो भवेदेव, परः कालादीनामपि निन्यता, एवं भगवतो मूलरूपत्वं निरूप्य कार्यरूपाभावे मूलरूपत्वं नोपपद्यत इति कार्यस्य चान्यथात्वे तस्य गौणत्वमविकृतत्वमसङ्गित्वं च विरुध्यत इति कार्यरूपमपि त्वमेवेत्याहतुर्व्यक्ताव्यक्तमिदमिति, इदं सर्वमेव जगद द्विरूपमेव भवति कालेनापरिगृहीतमव्यक्तं भवति परिगृहीतं

व्यक्तं भवति, आकाशपरमाण्वादीनामपि व्यक्ततेति केचित्, तदा सर्वमेव जगत् कालादितृणस्तम्बान्तं व्यक्तमव्यक्तं च भवति, अवयुत्यानुवादो वा, उभयथापीदं जगत् तवैव रूपं, अत्र प्रमाणमाहतुर्ब्रह्मणो विदुरिति, ब्राह्मणो वेदात्, ब्राह्मणा इति वा, ते ब्रह्मण इति वा, तदा सर्वा एव श्रुतयः प्रमाणमित्युक्तं भवति, रूपमिति स्वरूपं निरूपकं वा ॥ २९ ॥

**व्याख्यार्थ-**प्रारम्भ में ही कहते हैं कि आप स्वरूप से सदानन्द हो, इसलिये कृष्ण हो और वही सदानन्द स्वरूप आप कृष्ण नामधारी बने हो । इस भाव को बताने के लिए श्लोक में कृष्ण ! कृष्ण ! दो बार कहा है और आदर भाव दिखाने के लिए भी कृष्ण दो बार कहा गया है । अथवा आपके नाम और स्वरूप का हमको ज्ञान है इसको बताने के लिए भी दो बार कृष्ण कहा है । श्लोक में कहे हुए 'महायोगिन्, का भाव प्रकट करते हैं कि आपकी आकृति की आकार और चेष्टा करनी मनुष्यों जैसी दीखती है तो भी हमको यह भ्रम नहीं होता है कि आप ब्रह्म नहीं हो और मनुष्य हो । क्योंकि आप योगी नहीं हो किन्तु महायोगी हो । जब लौकिक योगी भी अनेक प्रकार की क्रिया करते हुए हीन भाव को प्राप्त नहीं होते हैं तो आप फिर दोष-रहित पूर्ण गुणाकृति महायोगी कैसे हीन भाव को प्राप्त होंगे ? कदापि नहीं । अतः आपके स्वरूप और गुण वर्णन में नाम और रूप किसी प्रकार बाधक नहीं हो सकते हैं । आप सब से प्रथम हो अर्थात् आदि हो यह मूलभूतपता ही आपका महत्त्व है । प्रत्येक यह जानता है कि जो हमारा आदि मूल है वह हमसे महान् है इस प्रकार जानना ही चाहिये । किसी के सिद्धान्त में जीव भी आद्य है, किन्तु जीव आद्य(मूल) नहीं है इसलिये 'पुरुष' कह कर जीव के आद्य होने का निषेध किया है । पुरुष शब्द से कोई सांख्य सिद्धान्त में कहे हुए पुरुष के समान आप यह कृष्ण हैं इस शंका को मिटाने के लिये कहा है कि आप 'सांख्याप्रोक्त' पुरुष नहीं हो । किन्तु 'पर' हो अर्थात् पुरुषोत्तम हो । पुरुष पद का दूसरे प्रकार से भाव बताते हैं कि कोई कहते हैं कि भगवान् निराकार है किन्तु भगवान् निराकार नहीं है साकार है इसकी पुष्टि करने के लिये 'पुरुष' पद दिया है । यदि भगवान् साकार होंगे तो विकारी होंगे । इस भ्रम के निवारण के लिए 'पर' पद दिया है कि वे 'पर' होने से कालादिकों के भी नियामक हैं जिससे कालादिकृत विकार उनमें नहीं आ सकते हैं । इस प्रकार भगवान् के मूलरूप (आद्य-कारणरूप) का वर्णन किया । कोई भी तत्त्व कारण रूप तब हो सकता है जब उसका कार्यरूप भी हो और यदि कार्य कारण से अन्य प्रकार का (विकारी, झूठा वा पृथक्) हो तो कारण रूप (मूलरूप) भी वैसा ही होना चाहिये यों नहीं है । जैसा कारण वैसा ही कार्य है कारण आप हो और कार्य (विश्व) आप ही हो यह बताने के लिये श्लोक में कहा है कि यह प्रकट और अप्रकट विश्व (जगत्-कार्यरूप) आपका ही रूप है । इस समग्र जगत् के दो रूप हैं । १-व्यक्त (प्रकट) २-अव्यक्त (गुप्त) जिस रूप को काल ने घेर लिया है वह व्यक्त है और जिसको काल ने नहीं घेर है वह अव्यक्त

हैं। कोई कहते हैं कि आकाश और परमाणु आदि भी व्यक्त हैं। तब तो समग्र जगत् काल से लेकर तिनके पर्यन्त व्यक्त और अव्यक्त होगा। अथवा यहाँ भिन्न-भिन्न कहा है। दोनों प्रकार\* का होते हुए भी यह सारा जगत् आपका ही रूप है। नलकूबर व मणिग्रीव अपने कथन का प्रमाण देते हैं कि इस प्रकार वेद से सब जानते हैं अथवा ब्राह्मण जानते हैं कि यह जगत् ब्रह्म का रूप है। इससे यह कहा है कि सर्व श्रुतियाँ प्रमाण हैं। रूप का अर्थ है स्वरूप अथवा निरूपण किया जा सकने वाला है ॥ २९ ॥

**आभास-एवं सर्वरूपत्वं भगवतो निरूप्याधिदैविकप्रकारेणापि सर्वरूपत्वमाहुतुस्त्वमेक इति ।**

**आभासार्थ-**इस प्रकार के सब भगवान् के ही रूप हैं। यह निरूपण(वर्णन) कर अब आधिदैविक प्रकार से भी वे (परमात्मा श्रीकृष्ण) सर्व रूप हैं यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

**श्लोकः— त्वमेकः सर्वभूतानां देहास्वात्मेन्द्रियेश्वरः ।**

**त्वमेव कालो भगवान् विष्णुरव्यय ईश्वरः ॥ ३० ॥**

**श्लोकार्थ-**आप एक ही सर्व भूतों (प्राणिमात्र) का देह, प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ तथा जीव हो। भगवान् काल, विष्णु, अव्यय और ईश्वर भी आप हो।

सुबोधिनी-तत्तदाधिदैविकानां भेदोऽभविष्यतीत्याशङ्क्य-  
क्याहुतरेक इति, देवादीनामुक्तमत्वात् आधिदैविकत्वमस्तु  
कृमिकीटाधिदैविकत्वं तु न भविष्यतीत्याशङ्क्याहुतः  
सर्वभूतानामिति, आब्रह्मणस्तम्बान्तजातिभेदानां देहा अस्यः  
प्राणा आत्मान्तःकरणमिन्द्रियाणीश्वरो जीवः, स्वात्मा जीवो  
वा, इन्द्रियपदेन प्राणाः, इन्द्रियाण्यन्तःकरणं च,  
ईश्वरो न्तार्यामी, आधिभौतिकादीनामीश्वरो वा,  
देहद्वयसहितजीवस्य वा, नियामकत्वपक्षे भिन्नतया  
कालादीनामपि तथात्वमिति कालादिरूपतामाहुतुस्त्वमेव काल  
इति, कालो भगवन्वेष्टेति केचिद्, वस्तुतस्तु त्वमेव कालः,  
तत्र हेतुमाहुतुर्भगवानिति, ऐश्वर्यं सर्वस्यापि कालकृतमेवेति  
काल एवेश्वर, तथा बलमपि, तारुण्य एव बलं,  
तपोयोगादिभिरपि कालपुष्टैरेव बलं, सिध्यति, यशोपि काल

एव, न हि सर्वदा कस्यचिद् यशो भवति, एवमन्येपि गुणाः,  
कालान्वयव्यतिरेकात् काल एव षड्गुणहेतुरिति गम्यते, ननु  
कालस्तु विष्ण्वात्मकः, यो हि व्यापको भवति स कलयति  
न हि योयं व्याप्तुं न शक्नोति स कलयति, अतो विष्णुरेव  
कालो नान्य इत्याशङ्क्याहुतुर्विष्णुरिति, त्वमेव  
विष्णुराधिदैविकः कालो यज्ञरूपो वा पालको वा  
सत्त्वात्मकः, तस्य भिन्नत्वे भगवतस्तदधीनत्वं स्यात्,  
अव्ययोक्षरमपि त्वमेव, अन्यथा भगवतः समवायित्वं न  
स्यात्, अक्षरमेव हि समवायिकारणं प्रकृतिपुरुषोपादानत्वात्,  
"सर्वं समाप्नोषि ततोसि सर्वं" इति सर्वत्वमन्यथाप्युपपद्यते,  
वस्तुनः परिच्छेदकत्वं न सर्ववादिसम्प्रतिपन्नं अतोक्षरो  
भगवानेवेश्वररूपमप्यन्तर्यामिरूपं भिन्नरूपं आधिकारित्वेन  
निर्दिष्टं यस्यासाधारणो धर्म ऐश्वर्यं भवति ॥ ३० ॥

\* गो० श्रीवल्लभजी 'लेख' में कहते हैं कि दो मत हैं-पहिले मत में जगत् किसी समय व्यक्त और किसी समय अव्यक्त होता है, दूसरे मतमें कहा गया है कि जगत् के कितने ही पदार्थ तो व्यक्त हैं और कितने ही अव्यक्त हैं। दूसरे मत के अनुसार व्यक्त और अव्यक्त इकट्ठा करने के बिना भी ये सर्व व्यक्त और अव्यक्त आप के ही रूप हैं।

व्याख्यार्थ-पदार्थ पृथक् पृथक् हैं अतः उनके आधिदैविक रूप भी भिन्न-भिन्न होंगे। इस शंका को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'त्वमेकः' सबों का आधिदैविक रूप एक आप ही हैं। देवता उत्तम हैं। अतः उनके आधिदैविक भले आप भगवान् हो किन्तु कृमि कीटादिकों का तो आधिदैविक रूप भगवान् नहीं हो सकते हैं? इस पर श्लोक में कहते हैं कि ('सर्व भूतानां') सब भूतों का अर्थात् ब्रह्मा से लेकर तिनके पर्यन्त जितने भी जो कुछ हैं उनके देह, प्राण, अन्तःकरण, इन्द्रियाँ, ईश्वर जीव अथवा स्वात्मा 'इन्द्रिय' पद से प्राण व अन्तःकरण समझने चाहिये। ईश्वर पद से अन्तर्यामी समझना, आधिभौतिकादिकों के ईश्वर अथवा दोनों देहसहित\* जीव को ईश्वर समझना चाहिये (ये सब रूप आप ही हो)। जिस मत में ईश्वर को नियामक माना जाता है और काल आदि को आप से (भगवान् से) पृथक् समझकर ईश्वर कहा जाता है। वह मत अपूर्ण है क्योंकि कालरूप भी आप ही हो। कोई कहते हैं कि 'काल' भगवान् की चेष्टा रूप है (इच्छा का रूप है)। वास्तविक तो वह चेष्टा रूप काल भी आप ही हो क्योंकि आप भगवान् हो। सबों में जो कुछ ऐश्वर्य देखने में आता है वह काल ने ही किया (दिया) है। अतः काल ही ईश्वर है। सबों में जो बल है वह भी काल-दत्त है जैसाकि बल युवावस्था (जवानी) में ही होता है। तपस्या और योगादि से भी बल तब प्राप्त होता है जब काल भगवान् उसको सफलता देता है। यश की प्राप्ति भी काल-द्वारा होती है यदि काल द्वारा न होती हो तो यश सदैव रहना चाहिये। वह सदा किसी का भी नहीं रहता है। इसी प्रकार दूसरे गुण भी (श्रीज्ञानादिभी) काल-कृत हैं। काल अन्वय§ और व्यतिरेक† से ऐश्वर्यादि षड्गुणों का कारण है।

यदि यह शंका हो कि जो सबको अपना घास बनाता है वह काल है और वह सर्वव्यापक हो तब ही बन सकता है इसलिये 'विष्णु' जो सर्वव्यापक है वह काल है। यह 'श्रीकृष्ण' नहीं है क्योंकि यह (श्रीकृष्ण) सर्वव्यापक नहीं है। इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में श्रीकृष्ण के लिये तीन विशेषण-१-विष्णु, २-अव्यय और ३-ईश्वर दिये हैं। 'विष्णु' विशेषण देकर यह समझाया है कि वह व्यापक विष्णु यज्ञ रूप, पालक रूप तथा सतोगुणी आधिदैविक आप ही हो यदि वह (विष्णु) आप (श्रीकृष्ण) न हो तो वह आपसे पृथक् अन्य कोई होता तो उसका आपके ऊपर आधिपत्य होना चाहिये था। वह तो है नहीं आप स्वतंत्र हो अतः विष्णु भी आप ही हो इतना ही नहीं किन्तु आप इस मनुष्याकृति धारण करते हुए भी अव्यय<sup>१</sup> अक्षर रूप हो।

\* देह, स्थूल शरीर, इन्द्रियाँ सूक्ष्म शरीर 'स्वात्मा' यहाँ जीव को ईश्वर कहते हैं। 'लेख'

§ अन्वय-जिस के होने से वह वस्तु हो उसको अन्वय कहते हैं।

† व्यतिरेक-जिसके न होने से वह वस्तु न हो उसको व्यतिरेक कहते हैं। यहाँ काल के होने से ऐश्वर्य आदि गुण हो तो वह अन्वय है, काल के न होने से वे नहीं हों तो वह व्यतिरेक है।

जो आप अक्षर रूप न होते तो सबका समवायि कारण भी न हो सकते थे । प्रकृति और पुरुष अक्षर रूप आपसे ही प्रकट हैं । वे ही जगत् के समवायि कारण हैं । दूसरे प्रकार से सब में व्याप्त हो कर रहते हो इसलिये सर्व रूप भी आप हो (भगवद्गीता ११-४० सर्व समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः) पदार्थ परिच्छेद<sup>१</sup> वाले होते हैं इस को सब वादी नहीं मानते हैं अतः भगवान् ही अक्षर हैं । भगवान् के ही अन्तर्यामी रूप से तथा दूसरे रूप से ईश्वर रूप का भी अधिकारी रूप से वर्णन किया गया है और उस (ईश्वर रूप) का असाधारण धर्म ऐश्वर्य है ॥ ३० ॥

**आभास-एवमाधिदैविककालादिरूपत्वं निरूप्याध्यात्मिकत्वमाधिभौतिकत्वं च निरूपयितुं मध्यमभावं निरूपयति त्वं महानिति ।**

**आभासार्थ-**इसी प्रकार आप ही आधिदैविक काल आदि रूप हो । इसका वर्णन कर, आध्यात्मिक और आधिभौतिकत्व भी आप हो । इसको सिद्ध करने के लिये मध्यम भाव (आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक रूप धारण करने) के लिए आधि दैविकने कौन कौन से रूप धारण किए-यह भाव मध्यम भाव है उसका निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः — त्वं महान् प्रकृतिः सूक्ष्मा रजःसत्त्वतमोमयी ।**

**त्वमेव पुरुषोऽध्यक्षः सर्वक्षेत्रविकारवित् ॥ ३१ ॥**

**श्लोकार्थ-**आप ही महान्, प्रकृति, सूक्ष्म (प्रकृति) और रजोगुण, सतोगुण एवं तमोगुण वाली प्रकृति हो । आप ही पुरुष, अध्यक्ष और समस्त क्षेत्रों के विकारों को जाननेवाले हो ।

**सुबोधिनो-**सर्वस्यापि जगत्तेऽङ्कुरभूतो महान्, तस्यापि क्षेत्ररूपं प्रकृतिः, तस्या अपि कार्योत्पत्तिसाधारणरूपं योनिवद या प्रकृतिः सा सूक्ष्मा, तस्या अपि मूलभूता गुणाः, तन्मय्याधिदैविकी प्रकृतिर्गुणाश्च त्वमेव, एवं पञ्चरूपत्वमुक्तं, एवं योनिरूपत्वमुक्त्वा बीजरूपत्वमाह तुस्त्वमेव पुरुष इति, तस्याः प्रकृतेः पुरुषस्तस्यास्तावत्त्वसम्पादकः, अध्यक्षः

साक्षी, साक्षिरूपं भिन्नमितिसिद्धान्तः, क्षेत्रज्ञश्च तथा क्षेत्राभिमानि जीवः सोऽपि क्षेत्रज्ञो भवति, क्षेत्रं जानातीतिव्युत्पत्त्या यः क्षेत्रज्ञः स मुख्यो भवान्, एतावता यत्रैव प्रमाणप्रवृत्तिः केनापि प्रकारेण तदेव भवानित्युक्तं भवति ॥ ३१ ॥

**व्याख्यार्थ-**समस्त जगत् का अंकुर रूप महान् महत्त्व है । प्रकृति उस (महत्त्व) का क्षेत्ररूप है । सूक्ष्म प्रकृति योनि के समान कार्य के उत्पत्ति का साधारण रूप है, उस सूक्ष्म प्रकृति की मूल (जड़) सत्त्वादि तीन गुण हैं उन गुणोंवाली आधिदैविकी प्रकृति और गुण आप ही हैं । इस

प्रकार भगवान् (श्रीकृष्ण) के मध्यम भाव में पंचरूपपना दिखाया है। ये पांचो रूप योनिरूप (कारणरूप) कह कर अब बीजरूप (मूल कारण) कहते हैं। आप ही पुरुषरूप हैं, उस प्रकृति में इतनी शक्ति (उत्पत्ति आदि कार्य करने का सामर्थ्य) का सम्पादन आप ही हैं। जो अध्यक्ष (साक्षी) है वह भी आप ही हो। साक्षी\* रूप पृथक् है। यद्यपि देह (क्षेत्र) का अभिमानी होने के कारण से जीव को क्षेत्रज्ञ कहा जाता है किन्तु क्षेत्रज्ञ शब्द के अर्थ क्षेत्र के स्वरूप को जो जानता है वह मुख्य-क्षेत्रज्ञ आप हो। आप ही सर्व पदार्थों के आधिदैविक आध्यात्मिक आधिभौतिक रूप हो। इसलिये जहाँ किसी भी प्रकार से शास्त्र के प्रमाण की प्रवृत्ति है वह ही आप हैं। अर्थात् शास्त्र प्रमाणानुसार सब कुछ आप ही हैं ॥ ३१ ॥

आभास-तत् प्रमाणं श्रुतिरेव न तु प्रत्यक्षमित्यलौकिकत्वसम्पादनार्थं भगवतः प्रत्यक्षग्राह्यत्वं निराकरोति गृह्यमाणैरिति ।

आभासार्थ-सर्व महान् प्रकृति आदि भगवान् (आप) ही हैं। इसका प्रमाण श्रुति है न कि प्रत्यक्ष प्रमाण है, क्योंकि भगवान् अलौकिक हैं। अलौकिक का ज्ञान प्रत्यक्षादि से नहीं हो सकता है। यह निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोकः — गृह्यमाणैस्त्वमग्राह्यो विकारैः प्राकृतैर्गुणैः ।

कोन्विहार्हति विज्ञातुं प्राक् सिद्धं गुणसंवृतः ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ-इन्द्रियों से जो ग्रहण किये जा सकते हैं ऐसे प्राकृत विकारवाले गुणों से वा पदार्थों से आपका ग्रहण नहीं हो सकता है। क्योंकि गुणों के आवृत्त कौनसा मनुष्य है जो सबकी उत्पत्ति से प्रथम स्वतः सिद्ध (आपको) जान सके ? (कोई नहीं जान सकता है !)

सुबोधिनी-गृह्यमाणैर्घटपट्यादिभिः कृत्वा त्वमग्राह्यः, तद्वूपि तैर्गुणैर्न गृहीतो भवसि, न वा तैः सह, तेषां धर्माणां त्वदाश्रयाणां धर्म्याश्रयसहचाननियमात्, तत्रहेतुविकारैरिति, विकारे हि प्रकृतिर्न प्रतीयते यथा सन्निपाते, तत्र प्राकृतस्तिरेभवति, स्वप्रकाशमेव हि जडैः सह भासते यथा ज्ञानं विषयैः, तथा भगवानपि विषयान् प्रकाशयन् विषयैः सह कुतो न भासत इति चेत् तत्राहतुः प्राकृतैरिति,

प्रकृतिर्हि जडा पुरुषाच्छादिका, प्रकृतौ प्रविष्टं पुरुषं न प्रकाशयति तथा प्राकृतैरपि तत्र स्थितो भगवानाच्छाद्यत इति न भगवान् गृह्यते, ज्ञानं त्वन्मनिष्ठं, ननु पुरुषो भगवान् प्रकृतिं स्त्रियमुपमर्द्य कथं न प्रकाशत इत्याशङ्क- कथाहेतुर्गुणैरिति, गुणा हि बन्धका रज्जकाश्च, अतः प्रकृतौ प्रविष्टस्तदुणानुरक्तस्तदुणैर्वशीक्रियत इति तैः सह न प्रकाशते, ननु गुणाः साम्प्रतमेव जाता भगवांस्तु मूलभूत इति गुणक्षोभात्

\* शरीर में जो सात्त्विक रूप है वह अन्तर्यामी है। - 'प्रकाश'



पूर्वमेव ज्ञात्वोत्तरत्रापि तदनुवृत्तिः कथं न क्रियतइत्याशङ्क्य  
तत् परिहरन्तौ भगवांस्तथैव करोतीत्यत्र हेतुं वदन्तौ तादृशस्य  
भक्तिमार्गप्रवर्तकत्वमाहुतुः कोन्विहार्हतीति, इहास्मिन् संसारे,  
नितिविचलके, पश्चादुद्भूतः को वा प्राक्सिद्धं गुणक्षोभात्  
पूर्वस्थितं विज्ञातुमिदमित्यतया द्रष्टुमर्हति ? अपि तु न कोपि,

नन्वयमप्यात्मत्वान्नेदानीं सिद्धः कुतो नार्हतीती चेत्  
तत्राहतुर्गुणासंवृत इति, गुणैर्विहितः गुणा हि पूर्वबुद्धिं दूरीकृत्य  
स्वरूपमप्यावृतवन्तः, अतो ज्ञातृज्ञेययोरवगणत्र ज्ञानं सम्भवति  
॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ-घट पट आदि सर्व पदार्थ आपके ही रूप हैं। चक्षु से उनका तो ज्ञान हो जाता है किन्तु आपका ज्ञान उनके साथ नहीं होता है और न पृथक् भी होता है। नियम तो यह है कि जिन धर्मों का जो आश्रय होता है जैसे आप इन धर्मों का आश्रय हो, तो उन पदार्थों (धर्मों) का धर्मों और आश्रय के साथ ज्ञान हो जाता है। उस नियम के विरुद्ध भगवान् (आप) का ज्ञान नहीं होता है उसका कारण बताने के लिए श्लोक में 'विकारैः' पद दिया है। वे पदार्थ विकारी हो गए हैं अतः उनके साथ पृथक् आपका ज्ञान नहीं होता है। इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जिस प्रकार मनुष्य को जब सन्निपात का रोग होता है तब उसकी प्रकृति\* का ज्ञान नहीं होता है। वहाँ (विकार होने से) प्राकृत का तिरोभाव हो जाता है अर्थात् स्वभाव छिप जाता है।

जिस प्रकार ज्ञान, विषयों के साथ प्रकाशित होता है उसी प्रकार, जिससे अपने विषयों का प्रकाश होता है, वैसा ही ज्ञान जड़ पदार्थों के साथ भासता है। तथा भगवान् भी विषयों को प्रकाश करते हुए विषयों के साथ क्यों नहीं भासते हैं ? इस शंका को मिटाने के लिए श्लोक में 'प्राकृतैः' पद दिया है जिसका आशय है कि प्रकृति जड़ है। वह पुरुष का आच्छादन करती है। प्रकृति में प्रविष्ट (जड़ के भीतर गए) पुरुष को प्रकाशित नहीं करती है। वैसे ही प्राकृत पदार्थों में स्थित भगवान् को भी वे पदार्थ आच्छादित कर (ढक) देते हैं इससे भगवान् का ग्रहण नहीं हो सकता है। ज्ञान तो दूसरों में रहता है। प्रज्ञान का पदार्थों से संयोग अथवा समवायि सम्बन्ध न होने से पदार्थ उनको आच्छादित नहीं कर सकते हैं।

भगवान् पुरुष है, प्रकृति स्त्री है तो भगवान् उसको दबाकर क्यों नहीं प्रकाशित होते हैं इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'गुणैः' शब्द दिया है। गुण बन्धन-कर्ता और प्रेम करने वाले होते हैं। इस कारण से जो प्रकृति में प्रविष्ट होता है उसको प्रकृति के गुण प्रेम से वश कर लेते हैं जिससे उनके साथ प्रकाशित नहीं होते हैं।

गुण तो अब उत्पन्न हुए हैं और भगवान् तो सब से पहले ही होने से मूल भूत हैं। तब

\* प्रकृति का अर्थ स्वभाव है। जल स्वभाव से स्वच्छ होता है परन्तु जो उसमें मिट्टी आदि से विकार हो जाय तो नदी का तल (पैदा) देखने में नहीं आता है, स्वच्छ हो तो देखने में आ जाये। - 'लेख'

इसी प्रकार पदार्थ, घट पट, नेत्र आदि विकृत होने से नजर नहीं आते हैं, उसी प्रकार भगवान् का ज्ञान नहीं होता है - 'अनुवादक'

तो गुणों के क्षोभ<sup>१</sup> से पहले ही जीव को भगवान् का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये था और सदैव उसकी अनुवृत्ति<sup>२</sup> करना चाहिये था । इस शंका को मिटाने के लिये आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान् इसी प्रकार करते हैं । क्योंकि इसी प्रकार करने वाले (भगवान्) भक्ति मार्ग के प्रवर्तक हैं । जिसको उत्तरार्ध से समझाया गया है कि जगत् में पीछे उत्पन्न हुआ ऐसा कौन है जो गुणक्षोभ से पहले विद्यमान को पूर्ण रीति से जान सके ? कोई भी ऐसा नहीं है ।

दूसरे उनको नहीं जान सके, किन्तु जीव तो अनादि आत्मा है, अब उत्पन्न नहीं हुआ है, वह क्यों नहीं उसको जानने के योग्य है ? इस शंका के निवारणार्थ श्लोक में 'गुण संवृतः' 'गुणों से आवृत'<sup>३</sup> होने से वह भी नहीं जान सकता है । क्योंकि गुण पूर्वबुद्धि (पहले ज्ञान) को हटा कर स्वरूप को भी आच्छादन कर देते हैं । अतः ज्ञान (जीव) और ज्ञेय (भगवान्) में आवरण (बीच में अज्ञान का पड़ना) हो जाने से ज्ञान नहीं होता है ॥ ३२ ॥

**आभास-तर्हि कथं निस्तार इति चेत् तत्राहतुस्तस्मैतुभ्यमिति ।**

**आभासार्थ-**जो इस प्रकार है तो भगवान् का ज्ञान हो नहीं सकेगा यदि भगवान् का ज्ञान न हुआ तो जीव की मुक्ति कैसे होगी ? इस शंका के निवारणार्थ निम्न श्लोक में कहते हैं ।

**श्लोकः - तस्मै तुभ्यं भगवते वासुदेवाय वेधसे ।**

**आत्मद्यौतैर्गुणैश्छन्नमहिम्ने ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥**

**श्लोकार्थ-**स्वयं प्रकाशित गुणों से आच्छादित महिमा वाले वासुदेव जगत्कर्ता आप परब्रह्म को हम नमस्कार करते हैं ।

**सुबोधिनी-**केवलं तस्मै सर्वदुर्ज्ञेयाय तुभ्यं नानाविनोद-  
युक्ताय नमः, "ननु तमेव विदित्वा तिमृत्युमेतौ" तिश्रुतेः  
कथं भगवदज्ञाने निस्तार इति चेत् तत्राहतुर्भगवत इति,  
भगवज्ज्ञानगुणेन भगवज्ज्ञानं, अज्ञातोपि प्रमेयबलेन निस्ता-  
रयतीति "भक्तिस्तत्र प्रयोजिका" "यस्यामतं तस्य महं  
मतं यस्य न वेद सः अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानता"  
मिति श्रुत्यज्ञात एव ज्ञातो भवति, अतो भगवानीश्वरः केन  
ज्ञातुं शक्यः ? किञ्च प्रमाणबलेनाज्ञातोपि स्वतो ज्ञातुं

शक्यः, यतोयं वासुदेवः, वासुदेवे शुद्धे सत्त्वं आविर्भवतीति,  
आधिर्भूतस्तु सर्वैरेव ज्ञातुं शक्यः, नन्वेतदेव सर्वं कुतो  
भवेत् साधनपरता साधनोत्पत्तिः सत्त्वशुद्धेरविर्भाव इति ?  
तत्राहतुर्वेधस इति, स हि सर्वं विदधाति, अन्यथा तेन  
कृतस्तन्मागो व्यर्थः स्यात्, नमो धीमहीति वा, हृदये प्रत्यक्षे  
भगवति तत्पादयोः शिरः स्थापयित्वा मनसा यन्मनं तत्  
सोपस्करं धीमहीत्यर्थः, अतोन्तःकरणप्रत्यक्ष एव भगवान् न  
बहिः, प्रत्यक्षविषयः, तर्हि बहिर्नास्त्येव मन्तव्यं,

तत्राहतुस्तमद्योतैर्गुणैश्छन्नमहिम्न इति, आत्मना स्वेनैव द्योतो येषां, गुणा अपि भगवतैव प्रकाश्यन्ते यथा सूर्येण मेघाः, त एव तस्यावस्का भवन्ति, न हि गाढान्धकारे निशायां मेघा दृश्यन्ते, एवं सर्वैरेव विषयैस्तन्मनैव प्रकाशितैश्छन्नो महिमा यस्य, अतो न प्रकाशते, वस्तुतस्तु वर्तते, एव सर्वत्र अन्तर्बहिःस्थितौ हेतुमाहतुर्ब्रह्मण इति, "बृहत्त्वाद् बृहणत्वाद् ब्रह्म," अतः सर्वत्रैव वर्तसे परमन्तरेव प्रकाशसे न बहिरिति ॥ ३३ ॥

व्याख्यार्थ-मुक्ति का साधन केवल आपके उस\* सर्व दुर्ज्ञेयस्वरूप (जिस स्वरूप को कोई नहीं जान सकता है) और नाना प्रकार से विनोद† करनेवाले आप† को नमस्कार ही है ।

'त्वमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति' इस श्रुति में कहा है कि उस (परमात्मा) को जानकर ही जीव मुक्ति पा सकता है तो फिर उसके जाने बिना मुक्ति कैसे होगी ? इस शंका के निवारणार्थ श्लोक में 'भगवते' शब्द कहा है । जिसका आशय है कि भगवान् के गुणों के ज्ञान से भगवान् का ज्ञान हो जाता है । बिना ज्ञान हुए भी अपने प्रमेय बल से इस संसार से वे छुड़ाते हैं । इस छुड़ाने में भक्ति ही प्रेरक वा जुटानेवाली है । जिसने कहा है मैंने ब्रह्मा को नहीं जाना है उसने जान लिया है, जो कहता है मैंने ब्रह्म को जान लिया है उसने नहीं जाना है । इस श्रुति के अनुसार, अज्ञात ब्रह्म ही ज्ञात होता है अर्थात् न जाना हुआ ब्रह्म ही जाना जाता है । अतः भगवान् ईश्वर को कौन जान सकता है और प्रमाण बल से नहीं जाना गया भी स्वतः जाना जा सकता है । क्योंकि यह आप वासुदेव हैं । शुद्ध सतोगुण में आप प्रकट हो जाते हैं । प्रकट होने पर आपको सब ही जान सकते हैं । भगवान् साधनों से प्राप्त नहीं हो सकते हैं ऐसी समझ, साधनों की उत्पत्ति और शुद्ध सतोगुण का आविर्भाव ये सब ही कैसे होंगे ? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'वेधस्' शब्द दिया है । जिसका भावार्थ यह है कि वह (वेधस्) ही सब कुछ कर सकता है । अर्थात् पार भी पहुँचा सकता है । यदि वे वह (वेधस्) पार न पहुँचावे तो उनका प्रकट किया हुआ भक्ति मार्ग व्यर्थ हो जाएगा ।

'नमो धीमहि इतिवा' इस प्रकार का पाठ लिया जाए तो हृदय में भगवान् प्रत्यक्ष विराजते हैं । उस भगवान् के चरणारविन्दों में शिर धर कर मनःपूर्वक नमन करना और विभूषित स्वरूप का ध्यान धरना यह अर्थ होगा । इससे यह जाना जाता है कि भगवान् हृदय में प्रत्यक्ष हैं किन्तु बाहर प्रत्यक्ष नहीं हैं । यदि बाहर प्रत्यक्ष नहीं हैं तो मान लेना चाहिये कि भगवान् बाहर है ही नहीं । इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'आत्म द्योतैर्गुणैश्छन्नमहिम्ने' भगवान् का विशेषण

\* 'उस' शब्द परोक्ष जो देखने में नहीं आता है उसके लिए कहा जाता है जिसका तात्पर्य 'दुर्ज्ञेय' कठिनाई से जानने में आने योग्य है ।- 'लेख'

† 'आप' शब्द प्रत्यक्ष (आँखों से देखने में आये उस) के लिए कहा जाता है । अतः विनोद करने के लिए आप अपनी इच्छा से प्रत्यक्ष हुए हो ।- 'लेख'

दिया गया है। जिसके देने का तात्पर्य यह है कि जैसे मेघों को सूर्य प्रकट करता है वे ही मेघ सूर्य को छिपा लेते हैं वैसे ही भगवान् के द्वारा प्रकाशित (प्रकटित) गुणों ने भगवान् की महिमा को आच्छादित कर दिया है। जिससे भगवान् बाहर प्रत्यक्ष देखने में नहीं आते हैं। सचमुच तो सर्वत्र (सब जगह सब पदार्थों में) आप विद्यमान ही हैं। भगवान् अन्दर बाहर सर्वत्र है इसका कारण बताने के लिये श्लोक में (ब्रह्मणे) पद दिया है। जिसका भावार्थ यह है कि सब से बड़े होने से सब आप में समाये हुए हैं अतः आप बाहर भीतर सब जगह तथा सर्व पदार्थों में स्थित हो किन्तु भीतर प्रकाशित होते हो बाहिर नहीं होते हो ॥ ३३ ॥

**आभास-तर्हि कथमवताराद् बहिः प्रकाशरूपो भगवान् भवतीति ? तत्राहतुर्य-स्यावतार इति ।**

**आभासार्थ-**जो भगवान् बाहर प्रकाशित नहीं होते हैं तो अवतार लेकर बाहर कैसे प्रकाशित होते हैं ? इस शंका के उत्तर में यह निम्न श्लोक है ।

**श्लोकः— यस्यावतारा ज्ञायन्ते शरीरेष्वशरीरिणः ।**

**तैस्तैरतुल्यातिशयैर्वीर्यैर्देहिष्वसंगतैः ॥ ३४ ॥**

**श्लोकार्थ-**जिस बिना देह वाले के अवतार शरीरों में जाने जाते हैं उनका कारण यह है कि जो उनके पराक्रमों के आगे देहधारियों के पराक्रमों की समानता तो नहीं है किन्तु हीनता है ।

सुबोधिनी-मत्स्यादिषु शरीरेषु क्वचिदेव मत्स्य-विशेषलौकिकभावो दृश्यते स च न जीवधर्मो भवतीत्य-शरीरिणस्तव तेष्ववतारा इति ज्ञायन्ते, अशरीरिण इतिवचनाच्छरीरकृतिरेव तत्र प्रकाशते न तु तच्छरीरं, अन्यथा वृद्धिर्नोपपद्यते, सामर्थ्यं परमधिकं भवेत्, तस्माच्छरीरकारेण प्राप्तमानं भगवद्गुणमेवेति न तुल्यमतिशयो या यस्य यस्मादन्यत्र तदतुल्यातिशयं, कालापेक्षया नान्यस्य वीर्यमस्ति कालमर्यादां चेदुल्लङ्घयति तदा भगवद्वीर्यतुल्यातिशयमिति ज्ञायते, सोपि

नैकविधः पराक्रमः, क्षणेन विश्वरूपो भवति, क्षणेन वामनो दृश्यश्चादृश्यश्च बहिरन्तः परिच्छेदो व्यापकश्च, अतो ज्ञायते सर्वेष्वेव देहिष्वसङ्गतैः कदाप्यसम्बद्धैर्भगवानेवायमिति न तु प्रत्यक्षतया भगवानिति निश्चेतुं शक्यत इत्यर्थः, तत्रापि कदाचिच्चेदलौकिकं भवति कस्येतापिकथाञ्चिज्जातमिति, सर्वदा चेदवाङ्मनोगोचराः अनुभावास्तदा कथं न ज्ञायेत ? तदाहतुस्तैस्तैरिति, एवमवतारेषु भगवज्ज्ञानमानुमानिकं न प्रत्यक्षमित्युक्तम् ॥ ३४ ॥

**व्याख्यार्थ-**मत्स्य<sup>१</sup> आदि शरीरों में प्रायः अलौकिक भाव देखने में नहीं आते हैं क्योंकि अलौकिक भाव भगवद्धर्म है, जीव धर्म नहीं है, अतः जहाँ अलौकिक भाव देखने में आते हैं

वे शरीर भगवान् ने अवतारों में धारण किए हैं। जैसा कि भगवान् ने मत्स्यरूप से अवतार लिया तो उस मत्स्य में अलौकिक भाव प्रकट हुए। जैसे वह मत्स्य-शरीर बढ़ता ही गया इसी प्रकार अन्य मत्स्य नहीं कर सकते हैं। जिससे यह निश्चित होता है कि भगवान् उस मत्स्य आकृति में केवल दर्शन देते हैं किन्तु वह आकृति देह नहीं है। यदि देह होती तो बढ़ती नहीं उसको बढ़ने के लिये काल की आवश्यकता पड़ती है। भगवान् तो अपने वीर्य धर्म से काल का उल्लंघन कर सकते हैं। अतः काल का विचार न कर अपने वीर्य से बढ़ते ही गए। जाना जाता है कि यह भगवान् का अतुल्य और अतिशय वीर्य का प्रदर्शन<sup>१</sup> है। वह वीर्य प्रदर्शन आपने एक प्रकार से नहीं अनेक प्रकार से अपने अवतारों में प्रकट किया है। क्षण में विश्वरूप हो जाते हैं, क्षण में वामन बन जाते हैं। कभी दृश्य और कभी अदृश्य होते हैं। बाहर से और भीतर से परिच्छेद<sup>२</sup> वाले बन जाते हैं तथा कभी व्यापक<sup>३</sup> होते हैं। इससे समझ में आता है कि इस प्रकार के पराक्रम किसी देहधारियों में नहीं है और न ऐसे पराक्रमों से देहधारियों का सम्बन्ध है। अतः ऐसे अलौकिक वीर्य वाले भावों को प्रकट करने से निश्चय होता है कि यह भगवान् ही हैं। अपनी आँखों से केवल उन आकृतियों<sup>४</sup> को देखने से यह निश्चय नहीं किया जा सकता है कि यह भगवान् हैं। जो अलौकिक भाव कभी-कभी हो अथवा किसी न किसी प्रकार से उस (अलौकिक भाव) का ज्ञान हुआ हो, किन्तु यदि हमेशा जो वाणी तथा मन से जिनका ध्यान न हो सके ऐसे पराक्रम सदा देखने में आते हों तो कैसे न कहा जाय कि यह भगवान् हैं। यह तात्पर्य श्लोक के उत्तरार्द्ध 'तैस्तैः' से कहा है। इस प्रकार अवतारों में भगवान् का ज्ञान (ये अवताररूप भगवान् के हैं) अनुमान किया जाता है प्रत्यक्ष से नहीं होता ॥ ३४ ॥

आभास-प्रकृते तु शब्दादेव नारदकृपया वा भगवानेतदर्थमागत इति ज्ञायत इत्याह तुः स भवानिति ।

आभासार्थ-इस समय तो भगवान् (आप श्रीकृष्ण) इसके लिये (हमारे उद्धार के लिये और हमको दर्शन देने के लिये) प्रकट हुए हो इसका ज्ञान नारदजी के शब्द तथा कृपा से हुआ है। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — स भवान् सर्वलोकस्य भवाय विभवाय च ।

अवतीर्णोऽशभागेन साम्प्रतं पतिराशिषाम् ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ-सर्व लोक के कल्याण और मोक्ष देने के लिये सर्व सुखों के पति वह आप अंश और भग से अवतीर्ण हुए हो ।

१-दृश्य, नज़ार । २-सीमा, हद । ३-सर्वत्र स्थित, असीम, बेहद । ४-रूपों या शक्तियों ।

सुबोधिनी-यः पूर्वोक्तः सर्वप्रमाणवेद्यो लौकिकैरवे-  
द्योन्तः करणप्रत्यक्षोऽवतारी चतुरूपो भवान्, अत एव सर्वस्यैव  
लोकस्य भवायोद्भवैश्वर्याय च, अंशेन भागेन च  
साम्प्रतमवतीर्णः, यतो भवानाशिषां पतिः, स्वरूपतो  
भवोश्चतुरूपो विवृतः प्रकारेण, ततोऽप्यधिकास्त्यत्र गुणाः,  
सर्व एव लोका उत्पादनीयाः, ततस्तेभ्यः स्वसमानैश्वर्या-  
दिकं च देयं भगवत्पश्यतः समागते सर्वे भगवदीयाः  
शुद्धसत्त्वांशेनैवाविर्भवन्ति भगवत्सेवोपयिकदासरूपांशेन वा  
सर्वे लोकाः स्वदासभावेनाविर्भवन्ति चोच्छ्रया भगवाने-

कदेशभावं प्रकाशितवान्, समुदाये ग्रहणभजनाद्यनुपपत्तेः, न  
हि प्रलयाग्निः सेवितुं शक्यते, किञ्च भागाः कलाः,  
कलयावतीर्णः, सर्वेषां सर्वकलाकौशलाय सर्वाः कलास्त-  
दैव प्रादुर्भवन्ति यदि मूलभूतः कलारूपेणाविर्भवति तदैव  
च सर्वाः कलाः पूर्णा भवन्ति, इदं स्वोपयोगायोक्तं, स्वस्थापि  
वैष्णवरूपेणोद्भवो भक्तिकलाश्च पूर्णा भविष्यन्तीति, एता  
एवाशिषः, अग्रे प्रार्थमानत्वात्, मानुषभावेन नानाविधाः  
क्रीडा भक्तानुत्पाद्य तेषु भक्तिस्थापनार्था इत्यर्थः ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ-सर्व प्रमाणों से जानने योग्य लौकिक जिसको नहीं जान सकते हैं, अन्तःकरण  
में जो प्रत्यक्ष होते हैं और जो अवतारी हैं वह आप चतुरूप (चार रूपोंवाले) हो। इस कारण  
से ही आप अब सर्व लोगों के कल्याण तथा ऐश्वर्य के लिए अंश और भाग्य से अब अवतार  
धारण कर पधारें हो। क्योंकि आप आशिषों (धर्मादि चार पुरुषार्थ) के एति हैं। आप स्वरूप  
से चार रूपोंवाले हो यह वर्णन प्रकार (सादृश्य) से आगे किया है। उससे भी विशेष यहाँ (आप  
में) गुण हैं। सब लोकों को उत्पन्न\* करना है। उसके पीछे उनको अपने समान ऐश्वर्यादिक  
देने हैं। भगवदीय शुद्धसत्त्व गुण से ही आविर्भूत † होते हैं उसका कारण यह है कि भगवान्  
उनमें अंशरूप से प्रकट होते हैं। भगवान् उन (भगवदियों) में किस भावांश का प्रकाश करते  
हैं? आचार्यश्री उस पर प्रकाश डालते हैं कि भगवान् की इच्छा है कि सब दासभाव से प्रकट  
हो। इसलिए लोकों (भगवदियों) में दासभाव रूप अंश का प्रकाश करते हैं। यदि अन्य अंशों  
से भी उनमें विराजे तो सेवा भजन आदि नहीं हो सकते। क्योंकि प्रलय की अग्नि का सेवन  
कोई भी नहीं कर सकता है। 'भाग' शब्द का आशय कला है। भगवान् ने भाग से (कलारूप  
से) अवतार लिया है। कलारूप से अवतार लेने का कारण यह है कि जब कलाओं का मूल  
रूप (बीज) प्रकट हो तब ही सब कलाओं का विकास हो और सब में सर्व कलाकौशल्य<sup>१</sup> हो।  
तब ही सर्व कलाएं पूर्ण विकसित होती हैं। नलकूबर और मणिग्रीवने यह अपने उपयोग के  
लिये कहा है क्योंकि उनका भी वैष्णवरूप से जन्म हुआ है। उसमें ही भक्ति कलाएं पूर्ण होगी।  
ये ही आशीर्वचन हैं जो आगे प्रार्थना करेंगे। भगवान् लोगों में भक्ति की स्थापना के लिये भक्तों  
को उत्पन्न कर उनके साथ मनुष्य भाव से अनेक प्रकार की क्रीड़ा करते हैं ॥ ३५ ॥

\* उत्पन्न का तात्पर्य यह है कि जो लौकिक में आसक्त है उनको अलौकिक बनाना है।-अनुवादक

† श्रीकृष्ण अवतारी पूर्ण स्वरूप हैं। यहां अंश से और भाग से अवतार लिये। ऐसा कहने से परस्पर  
विरोध दृष्टि गोचर होता है इस शङ्का को मिटाने के लिये आचार्यश्री ने सुबोधिनी में यह कहा है कि श्रीकृष्ण  
भगवदियों में अपने अंश-भाग से पधारें हैं। आप तो पूर्णरूप से प्रकट हैं।- 'प्रकाश'

आभास-किञ्चित् प्रार्थयितुं नमस्कारं कुरुतो नम इति ।

आभासार्थ-कुछ प्रार्थना करने के लिये वे दोनों निम्न श्लोक में भगवान् को नमस्कार करते हैं ।

श्लोकः - नमः परमकल्याण नमस्ते विश्वमङ्गल ।

वासुदेवाय शान्ताय यदूनां पतये नमः ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ-\*हे परम कल्याण रूप ! आपको नमस्कार है । हे विश्वमङ्गल रूप ! आपको नमस्कार है । हे परम शान्त यदुवंश शिरोमणि आपको बार-बार हम प्रणाम करते हैं ।

कारिका - आदिमध्यावसानेषु नमनं मनआदिभिः ॥ १ ॥

कारिकार्थ-आदि, मध्य और अन्त में मन आदि\* से प्रणाम करते हैं ।

सुबोधिनी-आदौ कायिकं नमनं, तत्र फलं परम-कल्याणेति, कल्याणानां निधानरूपो भगवान्, कल्याणानि शुभफलानि पुत्रजन्मादीनि लोके प्रसिद्धानि, परमानन्दः परमकल्याणः, कायेन नमस्कृतः शरीरोपभोगाय परमकल्याणः प्रादुर्भवति, नमस्त इति वाचनिकं, ते तुभ्यमितिकीर्तनात्, तस्य फलं विश्वमङ्गल इति, वेदादिनिर्माणाद् विश्वस्मै तत्साध्यफलरूपो मङ्गलं भवति, अन्ते नमनं मानसं, तदर्थं मनस्याविर्भावाय वासुदेवायेति, शान्तायेति ज्ञानरूपाय, केवलमाविर्भूते नारदवदज्ञाते तथापुरुषार्थो न भवतीति शान्तं लयविक्षेपशून्यं रूपमाविर्भावो ज्ञानं चोक्तं फलमाह यदूनां पतये इति भगवान् स्वामी फलं यथा यदूनाम् ॥ ३६ ॥

व्याख्यार्थ-आदि (आरम्भ) में काया से नमन करते हैं जिसका फल यह है कि शरीर के उप-भोगों के लिये (शरीर से सेवा लेने के लिये अथवा उसको आनन्द देने के लिये) कल्याणों का भण्डाररूप भगवान् स्वयं प्रकट होते हैं । लोक में पुत्र जन्म आदि शुभ फल कल्याण नाम से प्रसिद्ध हैं और भगवान् ही परम कल्याण अर्थात् परमानन्द नाम से विख्यात हैं ।

मध्य में वाणी से नमस्कार करते हैं । यह श्लोक में आए हुए 'नमस्ते' पद का भाव है । वाणी से नमस्कार का फल (विश्वमङ्गल) रूप है । विश्व के कल्याण के लिये भगवान् ने वेद प्रकट किए हैं उन वेदों से प्राप्त स्वरूप (विश्वमङ्गल) है अर्थात् विश्व का मङ्गल करनेवाला स्वरूप वाणी द्वारा नमस्कार करने से फलरूप (प्रकट) होता है ।

अन्त में मन से नमस्कार करते हैं । मन से नमस्कार करने से भगवान् मन में प्रकट होते

\* आदि शब्द से काया और वाणी समझनी चाहिए-जिसको श्री सुबोधिनीजी में स्पष्ट कर दिया है ।

हैं यह बताने के लिये श्लोक में 'वासुदेवाय' पद दिया है। केवल मन में प्रकट होने से नारदजी के समान कोई लाभ नहीं है, जब तक कि उसका ज्ञान न हो, अतः 'शान्ताय' पद देकर बताया है कि आप लय और विक्षेप-रहित ज्ञान स्वरूप से भी (मन द्वारा नमस्कार करने से) प्रकट होते हैं। 'यदूनां पतये' यादवों के स्वामी शब्द से यह बताया है कि आप फलरूप तब होते हैं जब स्वामी रूप से प्रकट होते हैं जिस प्रकार यादवों के पति (स्वामी) होकर प्रकटे हैं ॥ ३६ ॥

**आभास-एवं नमस्कृत्य गमनार्थं प्रार्थयेते अनुजानीहीति ।**

**आभासार्थ-**इस प्रकार नमस्कार कर निम्न श्लोक में प्रार्थना कर वहाँ से आने की आज्ञा मांगते हैं ।

**श्लोक:- अनुजानीहि नौ भूमंस्तवानुचरकिङ्करौ ।**

**दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहात् ॥ ३७ ॥**

**श्लोकार्थ-**हे भूमन् ! आपके अनुचरों के किङ्कर<sup>१</sup> हम दोनों को जाने के लिये आज्ञा दीजिये । भगवान् ऋषि के अनुग्रह से आपके दर्शन हुए ।

**सुबोधिनी-**नावावामनुजानीहि, अनुज्ञां प्रयच्छ, भूमन्नितिसम्बोधनं स्वस्य तत्र स्थातुमयोग्यतार्थं, तदेवाहतुः स्वानुचरकिङ्करविति, तवानुचरस्य नारदस्य किङ्करौ दासौ, सेवकसेवकत्वमेवोचितं न तु त्वत्सेवकत्वमावयोः, यतस्त्वं भूमा महान्, न ह्यल्पेन महतः सेवा कर्तुं शक्यते, ननु दर्शनयोग्यता यदा तदा सेवायोग्यता सिद्धैव ततः

कथमयोग्यावितिचेत् तत्राहतुर्दर्शनं नौ भगवत ऋषेरासीदनुग्रहादिति, महाराजसेवकः स्वभूत्वं कदाचिन् महाराजस्थानं नयति नैतावता तस्य महाराजसेवायोग्यता भवति, अतो दर्शनान्यथानुपपत्त्या न सेवायोग्यता, भगवतो दर्शनमृषेरनुग्रहादिति, ऋषेर्भगवत इति गुरुदेवतयोरैक्यार्थं सहनिर्देशः ॥ ३७ ॥

**व्याख्यार्थ-**हम दोनों को आज्ञा दो । भगवान् के लिये 'भूमन्' विशेषण देकर यह प्रकट किया है कि हम यहां रहने के योग्य नहीं हैं । क्यों योग्य नहीं हैं तो उसके उत्तर में कहते हैं कि हम आपके सेवक नारदजी के सेवक हैं । हम आपके सेवक के सेवक बनने के ही योग्य हैं न कि आपके सेवक बनने के योग्य हैं । क्योंकि आप महान् हैं । महान् की सेवा छोटे नहीं कर सकते हैं । जब आप मेरे दर्शन करने के योग्य हुए हो तो सेवा के योग्य भी हो यह तो स्वतः सिद्ध है ही, तो आप कैसे अयोग्य हो ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि आपके दर्शन हमको हमारी योग्यता के कारण नहीं हुए हैं । किन्तु भगवान् ऋषि नारदजी के अनुग्रह (कृपा) से हुए हैं । महाराज का नौकर कभी अपने सेवक को महाराज के स्थान पर ले जाता है जिससे



वह सेवक महाराज की सेवा के योग्य नहीं बन जाता है। महाराज के दूसरे प्रकार से दर्शन हो नहीं सकते, इससे कोई सेवा की योग्यता नहीं आ जाती है। नारदजी के लिये भगवान् और ऋषि दोनों पद साथ देने से यह बताया है कि गुरु और देव एक ही हैं ॥ ३७ ॥

**आभास-एवं गमनं प्रार्थयित्वा तत्र गतयोर्भक्तिं प्रार्थयेते वाणीति ।**

**आभासार्थ-**इस प्रकार जाने के लिये आज्ञा प्रदान करने की प्रार्थना की अब निम्न श्लोक में वहाँ जाकर रहनेवाले हमको आपकी भक्ति स्थिर रहे यह प्रार्थना करते हैं ।

**श्लोकः -**वाणी गुणानुकथने श्रवणौ कथायां हस्तौ च कर्मसु मनस्तव पादयोर्नः ।  
स्मृत्यां शिरस्तव निवासजगत् प्रणामेदृष्टिः सतां दर्शनेस्तु भवत्तनूनाम् ॥३८॥

**श्लोकार्थ-**हे निवास जगत् ! (जिसका जगत् निवास-स्थान है) हमारी वाणी आपके गुणानुवाद में (गुणों के कीर्तन में), कर्ण आपकी कथा सुनने में, हाथ आपकी सेवा करने में, मन आपके चरणों के स्मरण में, मस्तक आपको प्रणाम करने में और दृष्टि आपके स्वरूप भूत भक्तों के दर्शन में तत्पर रहे ।

**कारिका -**वाक् श्रोत्रे च करौ चित्तं शिरश्चक्षुस्तथैव च ।

षडेते भगवत्कार्ये यदि सक्ताः कृतार्थता ॥ १ ॥

कीर्तने श्रवणे चैव गुणानां रूपदास्यके ।

स्वरूपस्मरणे नत्यामवतीर्णस्य दर्शने ॥ २ ॥

**कारिकार्थ-**मनुष्य के अङ्गों में ६ अङ्ग मुख्य है। वे ६-वाणी, कान, हाथ, चित्त, मस्तक और नेत्र हैं। ये ६ अंग यदि भगवान् के कार्य (सेवा) में लगे रहें तो उनकी सार्थकता है।

वाणी भगवान् के गुणों के कीर्तन में, कान गुणों के श्रवण में, हस्त स्वरूप की दासता में, चित्त स्वरूप के स्मरण में, शिर प्रणाम करने में, नेत्र अवतार स्वरूप के दर्शन करने में लगे रहें तो इन ६ की सार्थकता है।

पहली कारिका में मुख्य ६ अंग दूसरी में उनके कार्य (सेवा) को बताकर यह कहा है कि इस प्रकार यदि ये अंग सेवा में तत्पर रहते हैं तो उनका होना सफल है नहीं तो वे अंग निष्फल हैं।

**सुबोधिनी**-षडङ्गानि पुरुषे प्रधानानि, गुणाना-  
मुत्कर्षाधायकधर्माणां कीर्तने वाण्यस्तु, तत्रैव सा विनि-  
युक्ता भवतु, यथा वराय दत्ता कन्या नान्यगामिनी भवति  
नाप्यन्यः प्रार्थयते नापि पतिभयात् सान्यसम्बन्धिनी  
कथञ्चिदपि भवति तथा वाणी भवतु, एवमेव श्रवणौ  
कक्षायां, हस्तावुभावपि भगवतः सर्वकर्मस्वाचष्ट्यामिकेषु  
चकारत् पादावपि मन्दिरगमनादिषु, तद्व्यतिरेकेण हस्तसेवा  
नोपपद्यत इत्युभयमेकरूपं, तव पादयोः स्मृत्यां नो मनोस्तु

स्मरणे सर्वानिव भक्तानेकीकृत्याहत्, पादयोरिति द्विवचनं  
रूपान्तरे तथाभावाय, शिरस्तु प्रणामे, चतुरङ्गया भक्तया  
भगवतः सर्वस्थितिः सर्वान्तरत्वं च स्फुरिष्यति, अतः  
सम्बोधनं यतो हे निवासजगदिति, निवासभूतं जगद् यस्येति,  
दृष्टिस्तु सतां दर्शनेस्तु, भगवद्दर्शनं तु धार्यदयात्र प्रार्थितं, ननु  
तेषां दर्शने किं स्यात् ? तत्राहतुर्भगवत्तन्नामिति,  
भगवत्तन्तनूरूपास्ते, तत्र भवान् वर्तत इति तथा, अयो-  
गोलके वह्निर्यथा वा गङ्गायां जलम् ॥ ३६ ॥

**व्याख्यानार्थ**-विवाह संस्कार द्वारा दान को हुई कन्या घर के अतिरिक्त दूसरे के पास नहीं जाती है, उसके लिये दूसरा पुरुष मांग भी नहीं कर सकता है और वह पति के भय से दूसरे से किसी प्रकार का सम्बन्ध भी नहीं कर सकती है। वैसे ही हमारी वाणी भी भगवान् के गुणों (उत्कर्षता बताने वाले धर्मों) के कीर्तन करने में तत्पर रहे। दूसरी तरफ न जावे। इसी प्रकार कान भगवान् की कथा में, हाथ आठों पहर भगवान् के सब कार्यों में लगे रहें। श्लोक में आए हुए 'च' शब्द से यह भाव बताते हैं कि पैर भी मन्दिर में जाने आदि कार्यों में लगे रहें। इसके लिए विशेष हेतु देते हैं कि यदि पैरों से मन्दिर में जाने की सेवा न ली जाए तो हाथों से मन्दिर में जाकर सेवा बन नहीं सकेगी। अतः दोनों (हाथ और पैर) एक रूप समझने चाहिये। आपके चरणों के स्मरण में हम सब लोगों का मन लगा रहे इससे यह बताया कि स्मरण भक्तों के साथ मिलकर करना चाहिये। आपके इस (श्रीकृष्ण) स्वरूप से अन्य स्वरूप में हमारा मन न लगे इसलिये 'पादयोः' यह द्विवचन दिया है। दूसरे स्वरूप में इसका अभाव है। मस्तक आपको प्रणाम करने में लगा रहे। श्रवण, कीर्तन, स्मरण और पाद सेवन इस चार प्रकार से की हुई प्रणामरूप भक्ति से भगवान् की सर्व में स्थिति और सर्वान्तरत्व (सबके भीतर भगवान् हैं) की स्फूर्ति होती है। अतः निवास 'जगत्' यह संबोधन देकर बताया है कि आपका निवास-स्थान जगत् है जिससे आपके सर्व में स्थिति और सर्वान्तरत्व की सिद्धि हो जाती है भगवान् के दर्शन की प्रार्थना तो ढीठपन से नहीं दी है। भगवद्भक्त सत्पुरुषों के दर्शन की प्रार्थना इसलिए की है कि वे भगवान् के शरीर हैं अर्थात् भगवान् उनमें सदैव बिराजते हैं। उनके दर्शन से स्वतः भगवान् के भी दर्शन हो जाएंगे। जिस प्रकार लोहे के गोले में अग्नि और गंगा के खात (तह) में जल रहता है उसी प्रकार भगवान् उनमें रहते हैं जिससे वे (भक्त सन्त) वैसे (भगवान् के समान) ही हैं ॥ ३८ ॥

**आभास**-एवं गमनभक्त्योः प्रार्थनायां कृतायां सर्वथा भक्तौ शीघ्रमेव लयो भविष्यतीति किञ्चिन् मोहयित्वा किञ्चिद् दत्तवानित्याहेत्थमिति ।

**आभासार्थ**-उनकी जाने की आज्ञा और भक्ति की प्राप्ति की प्रार्थना पर भगवान् ने सोचा कि यदि इनको सर्वथा (पूर्ण) भक्ति दे दूंगा तो इनका शीघ्र ही लय हो जाएगा। यह मुझे इष्ट

नहीं है। अतः कुछ मोह उत्पन्न करने को कुछ दूँ-इसका वर्णन श्रीशुकदेवजी निम्न श्लोक में करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — इत्थं संकीर्तितस्ताभ्यां भगवान् गोकुलेश्वरः ।

दाम्ना चोलूखले बद्धः प्रहसन्नाह गुह्यकौ ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ-श्री शुकदेवजी कहते हैं कि रस्सी से ऊखल में बन्धे हुए गोकुलेश्वर भगवान् ऐसी उनकी स्तुति सुन, हँस कर उन दोनों यक्षों को कहने लगे।

सुबोधिनो-एवङ्कारेण सम्यक् कीर्तितस्तोषपर्यन्तं स्तुतः प्रहसन् गुह्यकावाह, सर्वकण्ठदानयोः समर्थ इति ज्ञापयति भगवानिति, शीघ्रं तयोर्मुक्तौ गोकुले स्वस्य क्रीडयाभ्यप्रवेशो भविष्यतीति ज्ञापयति गोकुलेश्वर इति, गोकुलवासिनामेव साम्प्रतं तद् युक्तं न त्वन्येषां, अतो गोकुलक्रोडसमाप्तिपर्यन्तं तथा मोहनमुचितमेव, किञ्च दाम्नेलूखले च बद्धः, यस्तु गोकुलरसभोगार्थं तत्र गौणभावं प्राप्तस्तेषु वा रसाधिक्यसिद्ध्यर्थं तदधीनो जातः, देवयोगोकुले स्थितयोः

पूजा कापि न जातेति शङ्कापि न कर्तव्या यतो गोकुलेश्वरो दाम्ना बद्धः, वस्तुतस्तु त्वेश्वर एव लोकदृष्ट्याभ्यपि नन्दस्यायमेव पुत्र इतीश्वर एव स चेद् दाम्ना यन्त्रितस्तदा कस्य गोकुले सन्मानं स्यात् ? उचितं चैतद्, देवयोरत्र वृक्षत्वं, एवं गोकुलवासिनां वृत्तान्तं स्मृत्वा प्रहसन् चक्ष्यमाणमब्रवीत् यद् युवाभ्यां प्रार्थयति तत् किमपि नावशिष्टं, मदधिकारिणैव तत्सम्पादनात्, द्वयं हि पुरुषार्थौ मुक्तिर्मयि प्रेम च, निरोधस्योभयरूपत्वात् ॥ ३९ ॥

व्याख्यानार्थ-यक्ष ने जब भगवान् के प्रसन्न होने तक स्तुति की तब भगवान् हँसकर उनको कहने लगे। आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि यह स्वरूप सब कुछ करने और सर्व प्रकार के दान देने में सामर्थ्यवान् है इसलिये श्लोक में 'भगवान्' नाम दिया है। भगवान् गोकुल में अब जो लीला जिनसे कर रहे हैं उस लीला में दूसरे का अथवा दूसरे प्रकार की लीला का प्रवेश होगा जो भगवान् को अभीष्ट नहीं है। इस भाव को प्रकट करने के लिये श्लोक में 'गोकुलेश्वर' नाम दिया है। वह लीला गोकुलवासियों के ही योग्य है न कि दूसरों के योग्य है। अतः इन (नलकूबर मणिग्रीव) को शीघ्र मुक्ति नहीं करनी चाहिये। इसलिये इनको अब पूर्ण भक्ति दान नहीं करना है। पूर्ण भक्ति दान से इनकी यहाँ ही मुक्ति हो जाएगी। इसलिए जब तक गोकुल में क्रीड़ा चल रही है तब तक इनको मोहित कर देना ही योग्य है। और भगवान् अब तक रस्सी से ऊखल में बन्धे हुए हैं इससे भगवान् बताते हैं कि अब मैं गोकुल में होती हुई लीला के रस भोगार्थ में गौण हूँ। और गोकुलवासी अथवा उनको विशेष रस की सिद्धि करने के लिये उनके आधीन हूँ। यह शंका भी नहीं करनी कि गोकुल में देव आए (नलकूबर मणिग्रीव देवरूप

से वहाँ प्रकट हुए) और उनका किसी प्रकार का सन्मान (पूजा) न हुआ। क्योंकि उस समय गोकुल का ईश्वर रस्सी से बन्धा हुआ था। वास्तविक रीति से ईश्वर ही है और यों लौकिक दृष्टि से भी तो नन्द के पुत्र होने से ईश्वर ही है। वह (ईश्वर) जहाँ बन्धा हुआ हो वहाँ तब किसका सन्मान होगा। गोकुल में देव, वृक्ष\* हुए हैं यह उचित है। इस प्रकार गोकुलवासियों का वृत्तान्त स्मरण कर भगवान् हँसते हुवे गुह्यकों को निम्न प्रकार से कहने लगे। आप दोनों जो मांगते हो वह मेरे अधिकारी ने आपको दे दिया है अब कुछ मांगना तो रहा ही नहीं है। दो पुरुषार्थ हैं-(१) मुझ में भक्ति और (२) प्रेम, ये दोनों निरोध के रूप हैं। प्रपञ्च की विस्मृति (मुक्ति) है वह आपको पहले ही प्राप्त हुई है। इसका वर्णन करते हैं ॥ ३९ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

श्लोकः— ज्ञातं मम पुरैवैतदृषिणा करुणात्मना ।

यच्छ्रीमदान्धयोर्वाग्भिर्विश्वं शोनुग्रहः कृतः ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ—भगवान् कहते हैं कि दयालु ऋषि ने, तुम जो लक्ष्मी के मद से अन्धे हो गए थे उन पर अपनी वाणी से (शाप देकर) पात (पदवी से गिराने) रूप अनुग्रह किया है यह मैंने पहले ही जाना है।

सुबोधिनी—प्रपञ्चविस्मृतिर्मुक्तिः सा पूर्वमेव जाते-  
त्पाह ज्ञातमिति, ममैतत् पूर्वमेव ज्ञातमासीद् यद् ऋषिणा  
करुणात्मना श्रीमदान्धयोर्विश्वं शोनुग्रहः कृतः सेवकाः कदाचित्  
स्वेच्छयापि कुर्वन्तीति मदव्यावृत्त्यर्थं ज्ञानमुच्यते, न केवलं  
ज्ञातं किन्त्वभिमतमित्युक्तिप्रशंसा, ततो मयैतावत् कृतमित्यर्थज  
ज्ञापितं, अतो न प्रार्थनीयं किञ्चिदवशिष्यत इतिभावः,  
शापो ह्यपकारे भवति स शापदातुः समानाधिकरणो भवति,

पादुःखमपि दृष्ट्वा कारुणिको दुःखितो भवति, तदाह  
करुणात्मनेति, करुणायुक्त आत्मानःकरणं यस्येति,  
भाष्यार्थावश्यम्भावावज्ञानाद् ऋषित्वं, युवयोस्त्वितिक्लिष्टत्वमाह  
श्रीमदान्धयोरिति, अन्धतमस उद्धारोवश्यं कर्तव्यः,  
वाग्भिरितिवचनमात्रं तेनोक्तं, ज्ञापनार्थं कृतिस्तु मयैव कृता,  
अत एव वाग्भिर्यो विश्वं शोनुग्रहः स त्वनुग्रह एव  
॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ—मैंने वह पहले ही जान लिया है कि लक्ष्मी के मद से अन्धे बने आप दोनों का दयालु ऋषि ने देव योनि से आपका पात किया है यह भी विचार नहीं करना कि सेवक अपनी इच्छा से जैसा चाहे वैसा कभी कभी करते हैं। वैसे ही नारदजी ने भी किया होगा, यदि आप को ऐसा विचार हो तो योग्य अथवा सत्य नहीं है क्योंकि इसका मुझे पहले से केवल ज्ञान न था, किन्तु मेरी ही यह इच्छा थी अथवा इस प्रकार करना मेरा अभीष्ट था। यों कहने से ऋषि

\* देवों का यहां वृक्ष होना इसीलिये उचित है कि यह गोकुल की भूमि भगवान् की कृपा से सर्व भूमियों से उत्तम है।—'प्रकाश'

की प्रशंसा की है। इस से यों समझना कि यह मैंने ही किया है इस लिए मांगने के लिए शेष कुछ बचा ही नहीं है।

किसी का जब अपकार<sup>१</sup> किया जाता है तब वह शाप देता है। नारदजी ने अपकार के कारण शाप नहीं दिया है किन्तु आप के ऊपर दया करके शाप दिया है, क्योंकि धन मद से जो आप मदिरापानादि असत्कर्म कर रहे थे जिस का फल आप को दुःख भोगना पड़ेगा यह जानकर वे दुःखी हुए जिससे उनके चित्त में दया आई, उस दया से इस प्रकार का शाप देकर महान् दुःख भोगने से आपको बचा लिया। नारदजीने ये होनेवाले दुःख रूप फल को पहले ही कैसे जान लिया ? इसके उत्तर में नारदजी के लिए 'ऋषि' विशेषण दिया है। ऋषि वह है जिसको आगामी का भी ज्ञान होता है। श्लोक में आप के लिए श्री मद से अन्धे बने हुए जो कहा है उससे आप को अन्धतम नरक की प्राप्ति होती यह जानकर इस नरक से इनका उद्धार अवश्य करना चाहिए। नारदजी ने तो केवल वाणी से ही कह दिया, उस वाणी को कार्य रूप में तो मैं लाया हूँ। अतः वाणी से जो नारदजी ने आप दोनों का पात<sup>२</sup> कर ज्ञान दिया वह उनका अनुग्रह ही समझना चाहिए ॥ ४० ॥

**आभास-नन्ववश्यम्भावि चेत् तथात्वं किमिति नारदेनोक्तं ? वचनात् तूष्णीम्भाव एवोचित इति चेत्तत्राह साधूनामिति ।**

**आभासार्थ-** इस प्रकार यदि अवश्य होनेवाला ही था, तो नारदजी ने वाणी से क्यों कहा ? इससे तो उनको मौन धारण करना ही योग्य था ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं।

**श्लोकः - साधूनां समचित्तानां सुतरां मत्कृतात्मनाम् ।**

**दर्शनात्रो भवेद् बन्धः पुंसोक्ष्णोः सवितुर्यथा ॥ ४१ ॥**

**श्लोकार्थ-**जैसे सूर्य के उदय होते ही नेत्रों की देखने की रुकावट नष्ट हो जाती है वैसे ही समान चित्तवाले ज्ञानी, भुझमें पूर्ण रूप से अर्पित आत्मा वाले साधुओं के दर्शन से पुरुष का बन्धन नहीं रहता है।

**सुबोधिनी-**ये हि साधवस्तेषां दर्शने पुनर्बन्धो न भवति, ते हि ज्ञानव्यासा वह्निनायःपिण्ड इव, यथा तत्सम्बन्धेनेरप्यधिको दाहो भवत्येवमेव ब्रह्मज्ञानापेक्षयापि सदर्शने बन्धनिवृत्तिर्भवति, साधवः सदाचारः समचित्त ज्ञानिनः, अतो ज्ञानकर्माणोः सद्भावादेते मुक्ता एतेमुक्ता इतिवैलक्षण्यज्ञानं न समदर्शित्वबाधकं, नापि तैस्तथा

सम्पाद्यते, किन्तु तेषां दर्शनमेव मुक्तिसाधकं, किञ्च नितरुग्मत्कृतात्मनामिति, मयि कृत आत्मा यैः समर्पितात्मनः, मत्कृते, आत्मा येषां, कर्मज्ञानभक्तीनां तेषु सिद्धत्वाद् बन्धः सर्वथा न भवति, तयो निर्वर्तितं कर्मणा रजो ज्ञानेन सत्त्वं भक्त्येत्यतो न केनाप्यंशेनावशिष्यते, अत एव पूर्णकर्माणो वस्वादिभावं प्राप्नुवन्ति ततोपि ज्ञानिनो ब्रह्मविदः सनकादय

इव भवन्ति, ततोपि भक्ता मद्भावं प्राप्नुवन्तीति तदाह दर्शनाग्नौ भवेद् बन्ध इति, पुंस इति, मर्यादाधिकारिणस्तु ततो बन्धो निवर्तते, अहं त्वनाधिकारिणोपि निवर्तक इतिविशेषः, तथाप्यप्रार्थितं कथं दत्तवन्त इत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन निराकरोत्यश्वोः सवितुर्यथेति, अश्वोर्बन्धनमन्धकारः, स सवितुर्दर्शने निवर्तते एव ॥ ४१ ॥

**व्याख्यार्थ-**वे (साधुजन) इसी प्रकार ज्ञान से भरे हुए हैं जैसे लोहे का गोला आग से पूर्ण होता है। जैसे उस गोले के स्पर्श से अग्नि से भी विशेष दाह होता है वैसा ही ब्रह्म ज्ञान से भी विशेष शीघ्र बन्धन की निवृत्ति साधुओं के दर्शन से होती है। सदाचरण वाले साधु हैं और समान चित्त वाले ज्ञानी हैं। ज्ञान और कर्म से सद्भाव होने के कारण ऐसे साधुओं में से भेद भाव निकल जाता है। इसलिए ये मुक्त हैं वा ये अमुक्त हैं। इस प्रकार का उनका वैलक्षण्य\* ज्ञान उनके समदर्शीपने में बाधक नहीं होता है। वे भी वैसा नहीं करते हैं अर्थात् स्वयं मुक्त नहीं करते हैं, किन्तु उनका दर्शन ही मुक्ति का साधक† है। और जिन साधुओं ने मुझ में आत्मा का समर्पण कर दिया है अथवा जिनकी आत्मा मेरे लिये ही है उन में कर्म, ज्ञान और भक्ति तीनों ही सिद्ध होने से सर्व प्रकारसे बन्धन नहीं होता है। उनमें बन्धकारक तीनों गुण नहीं रहते हैं। कर्म से तमोगुण की निवृत्ति हो जाती है, ज्ञान से रजोगुण‡ निवृत्त हो जाता है और भक्ति से सतोगुण\* जाता रहता है। इससे बन्ध का कोई अंश नहीं रहता है। अतः पूर्ण कर्म वाले वसुभाव को प्राप्त होते हैं उनसे विशेष ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी सनकादिकों के समान होते हैं। उनसे भी अधिक भक्त जन, मेरे भाव को प्राप्त करते हैं ऐसे साधुओं के दर्शन से 'पुरुष' मर्यादाधिकारी का बन्धन निवृत्त हो जाता है। अर्थात् जो मोक्ष के अधिकारी हैं उनके बन्धन दर्शन से कट जाते हैं। जो मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं उनके बन्धनों को काटने वाले हम हैं।

नलकूबर व मणिग्रीव ने मोक्ष मांगा नहीं तो भी मोक्ष कैसे दिया ? इस शंका का उत्तर देते हैं कि जैसे नेत्रों की प्रार्थना बिना सूर्य के उदय से आँखों का बन्धन (न देखना) वा अन्धकार स्वतः छूट जाता है और नेत्र देखने लगते हैं ॥ ४१ ॥

**आभास-**न हि वस्तुशक्तिः प्रार्थनादिकमपेक्षते तस्मान्मोक्षस्तु पूर्वमेव सिद्धो भक्तिरपि सिद्धेति वदन् प्रार्थितमाह तद् गच्छतमिति, भक्तेः कारणमाह महाभागाविति ।

‡ ज्ञान से रजोगुण के नाश होने से सतोगुण उदय होता है वह पुरुष सतोगुण से ज्ञानज्ञान बनता है। 'सत्त्वात्संजायते ज्ञानं' अतः सनकादिक ज्ञानी सतोगुणी हैं ।-'लेख'

\* भक्ति से सतोगुण के नाश होने से भक्त निर्गुण होते हैं ।

१-विविधता, अजीबपना । २-देने वाला ।

**आभासार्थ-**कारण कि वस्तु की शक्ति प्रार्थना की अपेक्षा<sup>१</sup> नहीं रखती है इससे मोक्ष तो पहले ही सिद्ध था शेष रही भक्ति जो भी सिद्ध हो गई है उन्होंने जो प्रार्थना की उसका उत्तर नीचे के श्लोक में देते हैं ।

**श्लोकः—** तद् गच्छतं महाभागो नलकूबरसादनम् ।

सञ्जातो मयि भावो वामीप्सितः परमोभवः ॥ ४२ ॥

**श्लोकार्थ-**हे नलकूबर ! इस कारण से महाभाग्य वाले तुम दोनों घर जाओ । आप दोनों का इच्छित अन्तिम जन्मरूप भाव मेरे में हुआ है ।

**सुबोधिनो-**अनन्तकोटिजन्मपुण्यपापयोरुपाजितयोर्मध्ये दिव्यशतवर्षपर्यन्तं मत्प्रतीक्षाभावनात् सर्वमेव पापं नष्टं, पुण्यं त्ववशिष्यते, तदुक्तं महाभागवदिति, नलकूबरेत्येकस्यैव प्रसादः, सादनं गृहं, यत्रावसादं प्राप्तौ, अनेन तत्रासक्तिर्न भविष्यतीति सूचितं, मयि तु महिष्यको भावः प्रेमलक्षणकः सञ्जात एव, तेनैव श्रवणादिकं स्वतः एव भविष्यति,

अप्राथितत्वादनभिमतमित्याशङ्क्याहेप्सित इति, तत्र हेतुः परमोभव इति, भाव एवान्तिमजन्मरूपो न तस्मादप्यन्यज्-जन्म भवतीति परमत्वं, अतो जन्मभिः क्लिष्टानां सर्वेषामेव मयि भावः प्रार्थनीयो भवति, अतो वा युवयोरपीप्सितत्वात् सम्यग् जातः ॥ ४२ ॥

**व्याख्यार्थ-**अनन्त करोड़ जन्मों में आपने पाप और पुण्य इकट्ठे किये थे । सौ दिव्य वर्ष मेरे दर्शन की प्रतिक्षा करने के भाव से आपके पाप तो नष्ट हो गए, अब शेष पुण्य रहे हैं जिनका फल भक्ति की प्राप्ति है, इसलिये आप बड़े भाग्यशाली हो । दोनों का मन मिलकर एक हो गया है । अतः भाव भी एक होने से यहाँ केवल एक नलकूबर संबोधन से दोनों पर ही अनुग्रह कहा है । गृह के लिये श्लोक में 'सादन' शब्द न देकर 'सादन' दिया है । आचार्यश्री उसका आशय बताते हैं कि आप अपने घर जाओ किन्तु आपकी वहाँ जाने पर घर में आसक्ति न होगी क्योंकि वहाँ आपने कष्ट पाया है अथवा वहाँ से आपका नाश हुआ है । मेरे में तो आपका मेरे सम्बन्धवाला प्रेमरूप भाव हो ही गया है इससे ही श्रवणादिक स्वतः हो जाएंगे । इस प्रकार के भाव की तो प्रार्थना नहीं की है इससे जाना जाता है कि हमको यह इष्ट नहीं है ? इसके उत्तर में श्लोक में "ईप्सितः" शब्द देकर यह बता दिया है कि आपको इष्ट है उसका कारण बताने के लिये 'परमत्वं' शब्द दिया है । यह भाव ही अन्तिम जन्मरूप है । इस भाव के होने के पीछे दूसरा जन्म नहीं होता है अनेक जन्मों से जो दुःखी है वे सब मेरे में यह भाव माँगने के योग्य हैं अर्थात् माँगते (चाहते) ही हैं । अतः आप दोनों को भी यह इष्ट होने से सम्यक्<sup>२</sup> प्रकार से यह भाव हुआ है ॥ ४२ ॥

आभास-एवमुक्तौ तत्रोचितं कृत्वा गतवन्तावित्पाहेत्युक्तौ ।

आभासार्थ-भगवान् ने उनको जो कुछ ऊपर कहा, वह सुनकर वे जाने लगे । जाने से पहले जो कुछ उनको करना योग्य था वह उन्होंने किया उसका वर्णन नीचे के श्लोक में शुकदेवजी करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — इत्युक्तौ तं परिक्रम्य प्रणम्य च पुनः पुनः ।

बद्धोलूखलमामन्त्र्य जग्मतुर्दिशमुत्तराम् ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ-श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि ऊखल में बन्धे हुए भगवान् से इस प्रकार कहे हुए वचन सुनकर उन दोनों ने उन(ऊखल में बन्धे हुए)की बार बार परिक्रमा की और नमस्कार कर और आज्ञा लेकर वें उत्तर दिशा में गये ।

सुबोधिनी-तमिति बालकव्युदासः, बहुवारं प्रदक्षिणां कृत्वा प्रतिप्रदक्षिणं नमस्कृत्य चकणत् स्वदीनतां चाविष्कृत्य लीला भावादिभिरण्य मोहितौ सन्तौ बद्धमुलूखलं यस्मिन्निति, आमनस्य 'गच्छाव' इत्युक्तवोत्तरं दिशं स्वस्थानं जग्मतुः, एवं गोकुलवासिनोर्वक्ष्योरपि निरोध उक्तः ॥ ४३ ॥

व्याख्यार्थ-श्लोक में (त) शब्द इसलिये दिया है कि वे बालक नहीं थे अर्थात् परब्रह्म थे इसलिये उनकी बार बार प्रदक्षिणा की । प्रत्येक प्रदक्षिणा के समय प्रणाम किये । श्लोक में (च) शब्द आया है उसका आशय बताते हैं कि प्रणाम अभिमान से नहीं किये किन्तु दीनता प्रकट कर प्रणाम किए । लीला भाव से भी मोहित नहीं हुए, अर्थात् उस समय श्रीकृष्ण मनुष्य के बालक के समान ऊखल में बन्धे हुए थे और डरने आदि की चेष्टा कर रहे थे । इसको देख कर भी भूले नहीं कि यह मनुष्य है इससे इनको प्रदक्षिणा और प्रणाम कैसे करें, मोहित न हुए इसीलिये प्रणाम के पीछे उसी ऊखल में बन्धे हुए से ही जाने की आज्ञा ली । आज्ञा लेकर अपने स्थान उत्तर दिशा में गये । इस लीला से यह स्पष्ट दिखाया कि मैंने केवल गोकुलवासी चेतन्यों का ही निरोध नहीं किया है किन्तु गोकुल के जड़-वृक्षों का भी निरोध किया ॥ ४३ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशम-स्कन्ध (पूर्वार्ध) के दशम अध्याय की श्रीमद्भगवत्पादचरणकृत श्रीसुबोधिनी (संस्कृत टीका) के द्वितीय 'तामस-प्रकरण, प्रमाण' अवान्तर प्रकरण, का 'वैराग्य निरूपक'

छद्म, स्कन्धानुसार दशम अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।



॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ❖ श्रीमद्भागवत महापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य — विरचित — सुबोधिनी — टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमस्कन्धः (पूर्वार्धः)

### तामस-प्रकरण

प्रमाण अष्टाक्षर प्रकरण



सप्तमोऽध्यायः

दशमस्कन्धानुसारः एकादश अध्यायः



कारिका — निरोधः सर्वभावेन वर्णनीयो हि गोकुले ।

स्त्रीणां स चोक्तः पुंसां च नन्दप्राधान्यभावतः ॥

कारिकार्थ — गोकुल में सर्वभाव से जो निरोध का वर्णन करने योग्य है, वह स्त्रियों का है और पुरुषों का भी मुख्य कर नन्दजी के भाव से कहा है ॥ १ ॥

व्याख्या — गोकुल में सर्वभाव से (सब प्रकार से अथवा सर्व करणों<sup>१</sup> से जिसके द्वारा भगवान् से सम्बन्ध हो जाए इसी प्रकार से) निरोध करना है। दशम स्कन्ध 'निरोध स्कन्ध' है अतः उसमें गोकुल का, 'फल' पर्यन्त पूर्ण निरोध प्रथम कहा है। इससे पहली और दूसरी कारिका से ग्यारहवें अध्याय का 'अर्थ' और प्रथम कहे हुए की संगति कही है। इस अध्याय में स्त्रियों का निरोध और नन्दरायजी की मुख्यता से पुरुषों के निरोध का भी वर्णन है ॥ १ ॥

कारिका — एकादशे ततोऽध्याये पूर्वावस्थामशेषतः ।

त्याजयित्वा तु नन्दस्य कृष्णभावो निरूप्यते ॥ २ ॥

कारिकार्थ — इससे ११ वें अध्याय में पूर्वावस्था (पहली अवस्था) का पूर्ण रीति से त्याग कराके, नन्दरायजी के कृष्ण के भाव का निरूपण करते हैं ।

व्याख्या — यद्यपि नन्दरायजी के निरोध का वर्णन पूर्व हुआ है, किन्तु वह सामान्य था । क्योंकि उस समय नन्दरायजी के प्रपञ्चकी आसक्ति नहीं छूटी थी । अब इस अध्याय में वर्णन की हुई लीला द्वारा नन्दरायजी की प्रपञ्च में रही हुई आसक्ति का पूर्ण त्याग कराके, कृष्ण में आसक्ति रूप भाव उत्पन्न कराया जाएगा । जिससे नन्दरायजी का पूर्ण निरोध सिद्ध होगा उसका वर्णन निरूपण इस अध्याय में किया गया है ॥ २ ॥

कारिका — मोचनं मुग्धलीला च स्थानान्तरपरिग्रहः ।

तत्र लीला वत्सबकौ ज्ञानं चेति निरूप्यते ॥ ३ ॥

षड्भिस्त्रिभिः षोडशभिश्चतुर्भिः षड्भिरेव च ॥ ४ ॥

नवभिः पञ्चभिश्चेति सप्तार्थाः सगुणो हरिः ॥ ४ ॥

कारिकार्थ — (१) छुड़ाना (ऊखल में बान्धे हुए भगवान् को छुड़ाना) (२) मुग्ध लीला (३) दूसरे स्थान पर जाकर रहना (४) वहाँ लीला करनी (५) वत्सासुर का वध, (६) बकासुर का वध और (७) ज्ञान लीला । इन सातों का वर्णन क्रमशः निरूपण किया है जैसा कि (१) छुड़ाने का छः श्लोको से, (२) मुग्ध लीला का तीन श्लोको से (३) दूसरे स्थान पर जाकर रहने का सोलह श्लोको से, (४) लीला करने का चार श्लोको से, (५) वत्सासुर का वध छ श्लोको से, (६) बकासुर के वध का नौ श्लोको से, (७) ज्ञानलीला का पांच श्लोको से वर्णन कर यह बताया है कि छ गुणों वाला 'ज्ञान रूप' धर्मी हरि इस ११ वे अध्याय का 'अर्थ' है ॥ ३-४ ॥

व्याख्या — इन दो कारिकाओं से यह बताया है कि इस अध्याय का अर्थ 'हरि' है । वह हरि ऐश्वर्यादि छ गुणों और ७ वां आप धर्मी रूप होने से 'सगुण' कहा गया है ॥ ३-४ ॥

कारिका — स्वार्थं तु भगवान् कार्यस्तथात्वं ज्ञाप्यते पुनः ।

सर्वस्वं हरिरेवेति तदर्थं त्याग ईर्यते ॥ ५ ॥

**कारिकार्थ —** भगवान् अपने रस भोगार्थ जो निरोध करते हैं वह निरोध भगवान् ही है अर्थात् वह निरोध भगवान् का ही रूप है। इस प्रकार फिर समझाते हैं कि सर्वस्व<sup>१</sup> हरि ही है उस (हरि) के लिये त्याग कहा जाता है।

**व्याख्या —** भगवान् दो प्रकार से निरोध करते हैं। एक अपने लिये और दूसरा अन्यो के लिये। अपने लिये जो निरोध करते हैं वह लीलारूप निरोध भगवद्रूप (धर्मरूप) है और अन्यो के लिये जो निरोध करते हैं वह निरोध धर्मरूप है। पहले ६ अध्यायो में जो निरोध किया है वह धर्मरूप (गुणरूप) है। सातवें अध्याय में जो दूसरों के लिये पांच प्रकार के निरोध का वर्णन किया है उनसे श्रोताओं की भगवद्गुणानुवाद में रुचि उत्पन्न होती है जिससे भगवान् में उनकी आसक्ति होती है। पांचवें अध्याय से दसवें अध्याय तक ६ अध्याय गुणाध्याय है और यह एकादश (११) अध्याय रूपाध्याय है इसलिये इसमें रूपलीला से निरोध करते हैं। इस रूपलीला से निरोधदृढ़<sup>२</sup> हो जाता है।

भगवान् जिस प्रकार भक्तों का निरोध अपने में करते हैं वैसे ही अपना निरोध भक्तों में करते हैं। इस प्रकार दोनों का परस्पर निरोध होने से निरोध परिपक्व होता है।

'स्वार्थ' का विशेष आशय यह भी है कि अपने मन में जिस प्रकार की भगवत्सेवा करने की इच्छा हो उसकी सिद्धि के लिये भगवान् को अपने वश में करना आवश्यक है। यह भगवान् को ऊखल से छुड़ाने की प्रथम लीला से बताया है। दूसरी मुग्ध लीला से भगवान् भक्तों के वश होते हैं यह बताया है जिसका आशय है कि यह देखकर अन्य भी उस फल की इच्छा से सेवा करेंगे ॥ ५ ॥

**कारिका —** वृन्दावने स्थितौ हेतुर्भगवत्तोषतः परम् ।

नास्तीतिज्ञापनायोक्ता प्रीतिर्लीलोपयोगिषु ॥ ६ ॥

**कारिकार्थ —** वृन्दावन में स्थिति का कारण भगवान् को प्रसन्न करने के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है क्योंकि वृन्दावन में लीलोपयोगी जो पदार्थ है उनमें भगवान् की प्रीति है।

**व्याख्या —** गोकुल छोड़कर वृन्दावन में जाकर क्यों रहे उसका कारण केवल भगवान् की प्रसन्नता है। भगवान् को वृन्दावन अति प्रिय है क्योंकि वहाँ लीलोपयोगी पदार्थ सुन्दर एवं विशेष है। अतः भगवान् की प्रसन्नता के अर्थ सब कुछ त्याग करना योग्य समझ अपना गोकुल गांव छोड़ा है। ज्ञान मार्ग में 'आत्मा' के लिये सर्व त्याग किया जाता है वैसे ही भक्ति मार्ग में 'सर्वस्व' हरि होने से गोकुल का त्याग किया है ॥ ६ ॥

कारिका — वत्सचारणदोषस्य निवृत्तिर्वत्समारणम् ।

गोपालदोषव्यावृत्तै बकस्यापि विनाशनम् ॥ ७ ॥

**कारिकार्थ —** वत्सासुर का वध, वत्सचारण के दोषों की निवृत्ति के लिये किया है और गोपालन के दोषों का निवारण करने के वास्ते बकासुर का वध किया है ।

**व्याख्या —** इस कारिका में वत्सासुर वध और बकासुर वध क्यों किया ? उसको बताया गया है । वत्सासुर वध का कारण भगवान् में वत्स चारण की लीला से, जो मनुष्यत्व बुद्धि रूप दोष, गोकुलवासियों में उत्पन्न हुआ था, उसका नाश किया । वह असुर, वत्स का रूप धारण कर, बछड़ों में मिल गया था, जिसको ईश्वर के अतिरिक्त कोई नहीं पहचान सकता था । कृष्ण ने अपना ईश्वरत्व प्रकट दिखाने के लिये उसको पहचान कर उसका नाश किया जिससे दोष निवृत्ति हुई । दूसरा वत्सों के चरने के कांटों वाले और कंकरवाले स्थानों पर वत्स जाते हैं जिससे उनको कष्ट होता है । उनसे उत्पन्न दोषों को भी, वत्सासुर वध से निवृत्त किया । वह दोषरूप असुर दुष्ट बुद्धि से भगवान् के वत्सों में (भगवदीयों में) प्रविष्ट हुआ था । उसका फल यह हुआ कि वह स्वरूप से नाश हो गया किन्तु भगवदीयों के सम्बन्ध से उसको उसकी भगवान् के कर कमल का संस्पर्श हुआ जिससे उसकी दुष्ट बुद्धि नष्ट हो गई ।

उस लीला से यह शिक्षा प्राप्त होती है भक्तों का संग, दोष रहित बुद्धि से करना चाहिये । यदि दुष्ट बुद्धि से किया जाएगा तो वत्सासुर की तरह नाश को प्राप्त होना पड़ेगा । भगवान् अपने भक्तों का जब अनिष्ट दूर करते हैं तब लोक अथवा वेद मर्यादा की अपेक्षा नहीं रखते हैं ॥ ७ ॥

कारिका — स्थानत्यागे हरीच्छैव कारणं न तु दुष्टता ।

तज् ज्ञापयितुमत्रापि बकत्वसौ विनाशितौ ॥ ८ ॥

**कारिकार्थ —** स्थान के त्याग का कारण की दुष्टता (दोषों का होना) नहीं था किन्तु भगवान् की इच्छा यह बताने के लिए वहाँ भी असुर और वत्सासुर का वध किया है ।

**व्याख्या —** इस कारिका में यह कहा है, कि किसी को यह भ्रम हुआ है, कि गोकुल इसलिये छोड़ा है कि वहाँ पूतना आदि दैत्य आए उनको भगवान् ने मारा इसलिये गोकुल दोषयुक्त होने से दुष्टता को प्राप्त हुआ है इसलिये इसे छोड़ा है । इस भ्रम<sup>१</sup> निवृत्त्यर्थ<sup>२</sup> वृन्दावन में भी बक

और चेतस को मार है । जिससे इस भ्रम की पूर्णतया निवृत्ति की है । जो भगवान् अन्तःकरण में सदैव विराजमान है, दम्भ<sup>१</sup> जो लोभ और असत्य को पैदा कर उनको (भगवान् को) तिरोहित<sup>२</sup> करता है उस (दम्भ) ने बक का रूप धारण कर अपना दम्भ रूप (दोष स्वरूप) प्रकट कर दिखाया था । दम्भ रूप असुर ने गोपालों के अन्तःकरण में प्रवेश किया था किन्तु यमुनाजल के पान से वह दम्भ उनके अन्तःकरणों में से बाहिर निकल गया । वहाँ से निकल कर उस असुर ने अपने जैसे दम्भी बक का रूप धारण किया है । भगवान् जो अन्तर्यामी है उनसे यह जानकर बकरूप असुर का नाश किया जिससे गोपाल दम्भ रूप दोष से निश्चिन्त हो गए ॥ ८ ॥

कारिका — अतो विमर्शो गोपानामानन्दश्च निरूपितः ।

तदर्थमेव च हरेर्बालभावो न चान्यथा ॥ ९ ॥

कारिकार्थ — अतः गोप के विचार करने का और आनन्द का निरूपण किया है । हरि का बाल भाव इसलिये ही है, न कि अन्य किसी भाव से है ।

व्याख्या — गोकुल दोष युक्त (दुष्ट) नहीं था इसलिये गोकुल का त्याग गोपो ने भगवान् की इच्छा जानकर किया है । अतः गोपों ने वृंदावन में निवास करने की मन्त्रणा<sup>३</sup> और आनन्द के अनुभव का वर्णन किया है । भगवान् की बाल लीला का मुग्ध<sup>४</sup> भाव आनन्द के लिए और नन्दादिकों के वर्णन का सर्व भाव से निरोध करने के लिए था ॥ ९ ॥

कारिका — सम्पन्ने तु ततस्तस्य परित्यागोपि वर्ण्यते ॥ ९½ ॥

कारिकार्थ — उसके पूर्ण हो जाने के पीछे बाल भाव के त्याग का भी वर्णन है ।

व्याख्या — नन्दादिकों का पूर्ण निरोध सम्पन्न होने के अनन्तर बाल-भाव लीला की आवश्यकता न रही । अतः भगवान् के बाल - भाव का त्याग करना युक्त था । जिसका वर्णन भी इस अध्याय में किया है ॥ ९½ ॥

आभास — तत्र प्रथमं प्रपञ्चविस्मरणपूर्वकभगवदासक्तिवक्तुं भयविमोकावाह गोपा नन्दादय इतिषड्भिर्नन्दार्थमेवैतदिति ज्ञापयितुं नन्दादय इति, गोपा इति ।

१ — कपट, पाखंड । २ — छिपाता है । ३ — सम्मति सलाह । ४ — भोला भाला स्वभाव ।

**आभासार्थ** — एकादश अध्याय में, प्रपञ्च के विस्मरण के साथ भगवान् में आसक्ति का वर्णन करने के लिये प्रथम गोपों के उत्पन्न भय का और भगवान् को ऊखल से नन्दजी ने छुड़ाया उसका वर्णन पहले से लेकर छः श्लोक तक करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

**श्लोकः** — गोपा नन्दादयः श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवम् ।

तत्राजग्मु कुरुश्रेष्ठ निर्धातभयशङ्किताः ॥ १ ॥

**श्लोकार्थ** — श्रीशुकदेवजी कहते हैं है बिजली गिरने की शंका से भयभीत हुए कुरु श्रेष्ठ ! वृक्षों के गिरने का शब्द सुनकर नन्दादिक गोप वहाँ आए ।

**सुबोधिनी** — स्वतः सामर्थ्याभावः, भगवतोद्भूतलीलामाह श्रुत्वा द्रुमयोः पततो रवमिति, पततोद्रुमयोरिदानीं रवः श्रुतो यदा तौ स्तुत्वा निर्गतौ, इदं नान्यशक्यं, ततस्तत्राजग्मुः, कुरुश्रेष्ठेतिविश्वासार्थं, सर्वेषां तत्रागमने हेतुर्निर्धातभयशङ्किता इति, निर्धातो निरप्रविद्युत्पातस्तत्कृतं भयं कस्यचिदुपद्रवो भाव्यनिष्ठसूचनम् ॥ १ ॥

**व्याख्यानार्थ** — पहले से छठे श्लोक तक की लीला नन्दजी के निरोध के लिये ही की है । वह बताने के लिये श्लोक में नन्दजी का नाम पहले दिया है । गोपों में वहाँ अकेले जाने की सामर्थ्य नहीं थी इसलिये नन्दजी को आगेवान कर उनके पीछे - पीछे गए यह बताने के लिये श्लोक में 'गोपोः' शब्द का विशेषण नन्दादय (नन्द है आदि में जिनके ऐसे गोप) दिया है । 'दोनों पेड़ों के गिरने का शब्द सुनकर' नन्दादिगोपों को आश्चर्य हुआ, क्योंकि भगवान् की अद्भुत लीला थी । वृक्षों के गिरने का शब्द उन्होंने तब सुना जब वे (नलकूबर और मणिग्रीव) स्तुति करके चले गए थे । इस प्रकार की यह लीला ईश्वर बिना दूसरा कोई नहीं कर सकता है । क्योंकि पेड़ गिरे वे देवरूप होकर प्रगटे और भगवान् की स्तुति की, तब तक गोपों ने न शब्द - ध्वनि सुनी और न कुछ जाना । उनके जाने के पीछे शब्द सुना यह ईश्वर की अद्भुत लीला है और ईश्वरत्व है । इस लीला पर आपको विश्वास होगा और होना चाहिये क्योंकि आप 'कुरुश्रेष्ठ' हो । नन्दजी के अतिरिक्त अन्य गोपादिकों के आने का कारण बताने के लिये 'निर्धातभयशङ्किता' पद श्लोक में दिया है जिसका आशय यह कि आकाश में बादल नहीं है तो भी बिजली गिरी है यह उपद्रव है वह भावी<sup>१</sup> अनिष्ट<sup>२</sup> की सूचना देता है इससे उत्पन्न भय के कारण शंकाशील होकर सब वहाँ आ गए थे ॥ १ ॥

**आभास** — आगतानां ज्ञानमाह भूम्यामिति ।

१-आगे आने वाले । २-सङ्कट या विपत्ति ।

आभासार्थ — आए हुए नन्दादिकों को जिस प्रकार का ज्ञान हुआ उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — भूम्यां निपतितौ तत्र ददृशुर्मलार्जुनौ ।

बध्रमुस्तदविज्ञाय लक्ष्यं पतनकारणम् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ — वहाँ पृथ्वी पर पड़े हुए यमलार्जुन को देखा, पड़ने के कारण प्रत्यक्ष होते हुए भी उसको न समझकर भ्रमित हो गए ।

सुबोधिनी — भूमौ निपतितावर्जुनौ दृष्टवन्तः ततोऽन्यत्र तौ चेत् पतितौ भवतस्तदा कालान्तरत्वं न दोषावेति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह तत्रेति, यत्रैव स्थितौ तत्रैव पतितौ, आद्रता च तेषां दृष्टिगम्या न भवति, बहिर्मुखत्वात्, जातायामपि तत्राप्याकर्षणस्यापेक्षितत्वात् तस्य पतनस्य कारणमविज्ञाय बध्रमुः ननु प्रत्यक्षस्याभावेऽप्यनुमानेन कथं न कल्प्यते ? तत्राह लक्ष्यमिति, लक्ष्यमप्यविज्ञाय, ते ह्यतिनैयायिका युक्तिव्याधितं प्रमाणं न किमपि मन्यन्ते, अतो व्याप्तस्याभावान्नानुमानेन पतनकारणज्ञानम् ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ — पृथ्वी पर पड़े हुए पेंडों को देखा । श्लोक में दिये हुए 'तत्र' का भावार्थ बताते हैं कि यदि वे पेड़ कहीं दूर जा के गिरे होते और हमको देरी से पता लगता तो देरी होना दोष नहीं था, किन्तु जहाँ खड़े थे वहाँ ही गिरे हैं और गिरे हुए को विशेष समय भी नहीं हुआ है । बहिर्मुख होने से उनको पेड़ों की आद्रता<sup>१</sup> भी देखने में नहीं आई । यदि उन्होंने गीलापन देखा भी हो तो भी उन (पेंडों) को खेंचने की आवश्यकता थी । वहाँ कोई खेंचने वाला नहीं देखकर, उनके गिरने का कारण न जानकर भ्रम में पड़ गए । यदि प्रत्यक्ष से, कारण को नहीं जान सके तो अनुमान से कारण की कल्पना कर लेते ? इसके उत्तर में श्लोक में 'तद् अविज्ञाय लक्ष्यं' पद दिये हैं जिसका आशय है कि देखने में आते हुए को भी न समझ सके । जब देखा कि वृक्ष गिरे पड़े हैं, अवश्य इनको किसी ने गिराया होगा, ऐसा अनुमान लगा के कारण का पता लगा लेते यों भी उन्होंने नहीं किया । कारण कि वे बड़े नैयायिक थे । बड़े नैयायिक जिसका युक्ति से बाध<sup>२</sup> हो जाता है वैसा कोई प्रमाण नहीं मानते हैं । इससे किसी ने गिराये हैं । इस प्रकार के ज्ञान का प्रमाण न होने से और उसके अनुमान करने की इच्छा न होने से एवं व्याप्ति\* वाले किसी भी कारण के होने से उन्होंने समझ लिया कि अनुमान से गिरने के कारण का ज्ञान नहीं होगा ॥ २ ॥

★ एक वस्तु के ज्ञान होने पर दूसरी वस्तु का ज्ञान व्याप्ति है । जैसे जहाँ धूम्र (धूँआ) होता है वहाँ अग्नि होनी चाहिए ।

१-गीलापन । २-झूठ सिद्ध होना ।

आभास — ननु भगवानस्त्येव प्रत्यक्षसिद्धः कोत्र सन्देह इति चेत् तत्राहोलूखलमिति ।

आभासार्थ — वृक्षो को गिरनेवाला भगवान् यहाँ है की यह प्रत्यक्ष दिखता है इसमें किसी प्रकार से संशय नहीं है तो भी उनको सत्य नहीं हुआ यह तीसरे श्लोक में कहते हैं ।

श्लोकः — उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं च बालकम् ।

कस्येदं कर्म आश्चर्यमुत्पात इति कातराः ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ — (नन्दादिगोपो ने) रज्जु से बंधे हुए बालक को, ऊखल खेंचते हुए देखा तो भी यह काम किसका है ? आश्चर्य है ! यह कोई उत्पात है ऐसा समझ भयभीत हो गए ।

सुबोधिनी — उलूखलाकर्षणं कुर्वन्तं तदानीमपि ततोऽप्येव गच्छन्तं वृक्षयोर्मध्ये स्थित, अन्यत्र गमनाभावे हेतुर्दाम्ना बद्धमिति, चकारमुलूखलेन सह वृक्षयोः पातं बालकं चेति वा बालकत्वादेव न स्वतो मोचनं भगवन्तं हेतुत्वेन प्रत्यक्षसिद्धमप्यन्यथासिद्धं कृत्वन्त इत्याह कस्येदमिति, इदं बन्धनलक्षणं कस्य कर्म ? कर्मेतिवचनं, व्याकुलत्वज्ञापकं, किञ्च कुतो वा हेतौरेतद् बन्धनमिति, आश्चर्यमिति, बालकस्य बन्धनं तेन पातनं त्वसम्भवितमेवात आश्चर्यमेवैतदुभयमपि, पातनं मेव वा, नन्वकारणकार्योत्पत्तिः कथम् ? तत्राह उत्पात

इति, अयमुत्पातो देवदैत्यादिकृतो भाव्यनिष्ठसूचको न तु सर्वथा युक्तिबाधितो भगवता कृत इति कार्यकारणभावे प्रत्यक्षसिद्धेऽपि न तत्रात्वमङ्गीकर्तुं शक्यते, अत एव भ्रान्तो नैयायिकस्तर्कविरुद्धं न मन्यते 'अलौकिकास्तु ये भावा न तान्स्तकेण योजयेदितिवाक्याच्च तर्हि किं जातं तादृशज्ञानस्य फलमित्याकांक्षायामाहोत्पात इति कातराः, पातस्तूत्पातरूपः अग्रे च भयं भविष्यतीति कातरा भयव्याकुला जाता इत्यर्थः ॥ ३ ॥

व्याख्यानार्थ — जिस समय नन्दादि गोप यहाँ गए उस समय भी भगवान् ऊखल को खेंच रहे थे । खेंचते हुए वहाँ वृक्षो के बीच में ही स्थित थे । आगे न जाने का कारण यह था कि आप ऊखल से बन्धे हुए श्लोक के 'च' अक्षर का आशय बताते हैं कि गोपो ने यह प्रत्यक्ष देखा कि ऊखल के कारण पेड़ पड़े हैं क्योंकि ऊखल पेड़ों के बीच में टेढ़ा हुआ वृक्षो के पास पड़ा है । और ऊखल से बन्धे हुए बालक को देखा । बालक होने से स्वयं ऊखल से अपने को नहीं छुड़ा सके ।

भगवान् वृक्षो के गिरने का कारण है यह प्रत्यक्ष सिद्ध देखकर भी इस हेतु को उन्होने नहीं माना । किसी दैत्य का यह उत्पात कार्य है ऐसा समझ उसको हेतु मान लिया । भगवान् के बन्धन का कर्म कार्य किसने ? यहाँ 'कर्म' शब्द से गोपो ने अपनी व्याकुलता प्रकट की और भगवान् के बान्धने का क्या कारण है ? अचम्भा है । बालक ऊखल में बन्धा हुआ है, वह पेड़ों



को गिरावे यह असम्भव है। अतः यह भी आश्चर्य है, और पेंडो का गिरना भी आश्चर्य है कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति कैसे हुई? अर्थात् कारण के बिना पेड़ों का पातरूप कार्य कैसे हुआ? इसके उत्तर में कहते हैं कि यह देव अथवा दैत्यों द्वारा किया हुआ उत्पात<sup>१</sup> है और आने वाले अनिष्ट<sup>२</sup> का सूचक है। सर्व प्रकार से जो युक्ति से बाधित<sup>३</sup> है वह तो भगवान ने नहीं किया है। कार्य (पेड़ों का गिरना) और कारण (भगवान का भाव) प्रत्यक्ष सिद्ध होने पर भी हम वह नहीं मान सकते हैं। इस से ही कहा जाता है कि तर्क विरुद्ध बात को न मानने से वे नैयायिक भ्रान्त<sup>४</sup> हैं। क्योंकि शास्त्र में कहा है कि 'अलौकिकास्तु ये भावा नतांस्तर्केण योजयेत्' जो अलौकिक भाव है उनको तर्क से सिद्ध नहीं करना चाहिये। इस प्रकार युक्तियों पर आधार रखने का फल क्या हुआ? वृक्षों के गिरने का उत्पात समझा और उससे भावी आपदा आने वाली है यो समझ भयभीत हुए ॥ ३ ॥

**आभास —** अत एव बालकैरुच्यमानमपि वाक्यं नांगीकृतवन्त इत्याह बालाः प्रोचुरितिद्वाभ्यां ।

**आभासार्थ —** महानैयायिक होने से ही बालकों की प्रत्यक्ष देखी हुई बात को भी नहीं माना। इसका वर्णन ४ थे - ५ वे दो श्लोको में करते हैं।

**श्लोकः —** बालाः प्रोचुरनेनेति तिर्यग्गततमुलूखलम् ।

विकर्षता मध्यगेन पुरुषावप्यचक्ष्महि ॥ ४ ॥

**श्लोकार्थ —** बालकों ने कहा कि पेंडो के बीच में आए हुए इस (बाल कृष्ण) ने टेढ़े पड़े हुए ऊखल को खेंचा जिससे ये पेड़ गिर गए हैं और उनमें से निकले हुए दो पुरुषों को भी हमने देखे हैं।

**सुबोधिनी —** सर्व एव बाला यथादृष्टार्थवादिनः कर्षणेपि प्रयोजनमाहुर्मध्यगेनेति, मध्ये स्थितः किं कुर्यात् ? कल्पनासमर्थाः कारणं प्रोचुः तेषां वाक्यमाहनेनेति, अनेन नचैतज् ज्ञानं भ्रान्तमित्याशङ्क्यामाहुः पुरुषावप्यचक्ष्महीति, वृक्षाद् द्वौ पुरुषौ निर्गतौ तावप्यस्माभिर्दृष्टाविति, अतः स्वदृष्टं विकर्षतेति, तिर्यक् पतितमुलूखलं तं विशेषेण कर्षता, लौकिकमलौकिकं चोक्तवन्तः ॥ ४ ॥

**व्याख्यार्थ** — जो बालक अब तक बात की बनावट करने में असमर्थ है उन्होंने जैसा देखा वैसा ही वे कहने लगे । उन्होंने कहा कि पेड़ इस बालक ने गिरा है । इसने कैसे गिरा ? तो कहने लगे कि इस टेढ़े ऊखल को खेंचते हुए गिरा दिए । यह ऊखल खेंचते हुए टेढ़ा हो गया था । उसको जोर से खेंचा तो पेड़ गिर गए । जोर से क्यों खेंचा ? तो कहने लगे कि बालक पेड़ों के बीच में स्थित था इसलिये क्या करे ? बाहिर निकलने के लिये उसको जोर से खेंचना आवश्यक था । जब ऊखल को जोर से खेंचा तो पेड़ गिर गए । यह ज्ञान संशययुक्त (भ्रमवाला) न समझना क्योंकि पेड़ों के गिरते हुए उनमें से दो पुरुष निकले वे भी हमने देखे हैं । बालकों ने जो कुछ लौकिक (ऊखल को खेंचना, टेढ़ा होना तथा पेड़ों का गिरना) और अलौकिक (पेड़ों से दो देवरूप पुरुषों का निकलना) देखा वह उनको कह दिया ॥ ४ ॥

**आभास** — तदुभयमपि तैर्नाङ्गीकृतमित्याह न ते तदुक्तं जगृहुरिति ।

**आभासार्थ** - बालकों के कही हुई दोनों बातें उन्होंने नहीं मानी ।

**श्लोकः** — न ते तदुक्तं जगृहूर्न घटेतेति तस्य तत् ।

**बालस्योत्पाटनं तर्वाः केचित् सन्दिग्धचेतसः ॥ ५ ॥**

**श्लोकार्थ** — वृक्षों को यह बालक जड़ से उखेड़ दें यह हो नहीं सकता है, ऐसा समझ कर बालकों का कहना नहीं माना । कुछ गोपों को संशय हुआ कि कदाचित् इसने इस प्रकार से गिरा भी दिया हो ।

**सुबोधिनी** — ते गोपा बालकोक्तं न सत्यमिति जातः शकटतृणावर्तयोर्भङ्गदर्शनात्, न तु तेषामपि कश्चन गृहीतघन्तस्तत्र हेतुर्न घटेतेति, तस्य बालकस्य तर्वाः उत्पाटनं निर्धारः ॥ ५ ॥  
सर्वथा युक्तिबाधितं, केचन पुनराद्वैतयायिकाः सन्दिग्धचेतसो

**व्याख्यार्थ** — ऊन्होंने ने जो कुछ बालकों का कहना था उसको सत्यरूप से ग्रहण नहीं किया क्योंकि बालकों का कहना युक्ति से बाधित था, अर्थात् युक्ति से सिद्ध नहीं होता है कारण के पेड़ इतने बड़े और बालक इतना छोटा, वह छोट्य बालक इतने युगल<sup>१</sup> पेड़ को कैसे गिरा सकेगा ? अतः यह बालकों का कहना युक्तियुक्त न होने से मानने योग्य नहीं है । बड़े नैयायिकों<sup>२</sup> ने तो इस प्रकार निश्चय कर लिया किन्तु उनमें कुछ आर्द्र-नैयायिक<sup>३</sup> भी थे । उनको बालकों के कहने से मन में संशय हुआ कि कदाचित् इस बालक ने इस प्रकार टेढ़े ऊखल को खेंचते

१-जुड़े हुए ।

२-तर्क (बहस) के आधार पर निर्णय करनेवाले ।

३-तर्क (बहस) पर ही पूरा विश्वास न करनेवाले ।

हुए गिर भी दिया हो क्योंकि हमने देखा है कि इसने शकट तोड़ा था तृणावर्त को मारा था, संशय होते हुए भी किसी प्रकार का निश्चित निर्णय नहीं किया ॥ ५ ॥

**आभास —** नन्दस्तु सन्दिग्धोपि तं विचारं दूरीकृत्य मोचितवानित्याहोलूखलमिति ।

**आभासार्थ —** नन्दरायजी संशयशील होते हुए थी इस विचार का परित्याग कर बालक को ऊखल से छुड़ाने लगे इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक: —** उलूखलं विकर्षन्तं दाम्ना बद्धं स्वमात्मजम् ।

विलोक्य नन्दः प्रहसद्बदनो विमुमोच ह ॥ ६ ॥

**श्लोकार्थ —** रस्सी से बन्धे हुए ऊखल को खेंचते हुए अपने पुत्र को देखकर हँसित मुख वाले नन्दजी ने उसकी रज्जु खोल दी (जिससे कृष्ण) बन्धन मुक्त हो गए ।

**सुबोधिनी —** तदानीमपि विकर्षन्तमिति शीघ्रमोचने हेतुः दाम्ना बद्धमिति मोचने निमित्तं, स्वमात्मजमिति स्वस्यैवावश्यकत्वं स्वमिति व्याकुलतापरिज्ञानार्थं स्वपदप्रयोगात्, भगवद्भावं प्राप्त इतियुक्तिरपि, तेषामज्ञानं न तेषां बुद्धिदोषेण किन्तु भगवत्तैव कार्यत इति, प्रहसद्बदन इति धैर्यस्मृणात्, तस्यपि ज्ञानाभावस्त्वेनेनेनोक्तः, विशेषेण मोचनं सर्वासामेव रज्जूनां पृथक्करणं हेत्याश्चर्यं, स्वबन्धनं तेन मोचितमिति भगवत्प्रेक्षणो बन्धो भगवत्तैव मोचयितुं शक्यते नान्येनेत्यत इदमाश्चर्यमेव ॥ ६ ॥

**व्याख्यार्थ —** नन्दरायजी ने रस्सी को खोलने की इतनी शीघ्रता क्यों की ? नन्दरायजी ने देखा कि अब भी कन्हैया ऊखल को खेंच रहा है इससे थक गया होगा इससे रस्सी खोलने की शीघ्रता की । रज्जु से बालकृष्ण बन्धा था यह छोड़ने का निमित्त कारण था । नन्दजी ने क्यों छोड़ा ? तो कहते हैं कि अपना पुत्र है इससे स्वयं छोड़ना आवश्यक था । केवल आत्मज (पुत्र) न कहकर 'स्व' शब्द से नन्दजी की व्याकुलता प्रकट की है अथवा 'स्व' पद देकर यह बताया है कि नन्दरायजी भगवद्भाव को प्राप्त हो गये हैं । गोपों को इस प्रकार का अज्ञान उनके बुद्धि दोष से नहीं हुआ था किन्तु भगवान् ने ही उनमें यह अज्ञान उत्पन्न किया था । यह भी नन्दजी ने भगवद्भाव को प्राप्त होने से जान लिया था । भगवान् की धैर्यलीला का स्मरण आते ही नन्दजी प्रसन्नवदन (हँसमुख) हो गए हैं । नन्दरायजी में भी ज्ञान का अभाव\* था । इससे कहा है । श्लोक में 'मुमोच' के पूर्व 'वि' उपसर्ग दिया है जिसका अर्थ होता है विशेष रीति से छुड़ाना । वह विशेषता से छुड़ाना क्या है ? उसको समजाते हैं कि समग्र<sup>१</sup> रज्जू<sup>२</sup> जो जहाँ कहीं

\* प्रकाशकार कहते हैं के नन्दजी को भी यशोदा ने जो भगवान् का अपराध किया उसका और भगवान् के स्वरूप का ज्ञान नहीं था ।

से लाकर गाँठ देकर इकट्ठी की थी उन प्रत्येक की गाँठ खोलकर पृथक् पृथक् करना विशेष छुड़ाना है। यह भी आश्चर्य है। भगवान् जो जीव को बन्धन में डालते हैं उसको भगवान् ही छुड़ा सकते हैं दूसरा कोई नहीं छुड़ा सकता है उन ही भगवान् के बन्धन को नन्दजी ने छुड़ा लिया यह भी आश्चर्य है । ॥ ६ ॥

**आभास —** गोपीनां वशभावं प्राप्तस्य भगवतो लीलामाह गोपीभिरिति त्रिभिः ।

**आभासार्थ —** गोपियों के आधीन भगवान् की लीला का तीन श्लोकों से वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः —** गोपीभिः स्तोभितो नृत्यद् भगवान् बालकः क्वचित् ।

उद्गायति क्वचिन्मुग्धस्तद्वशो दारुयन्त्रवत् ॥ ७ ॥

**श्लोकार्थ —** गोपियों के बद्धावा<sup>१</sup> देने से भगवान् किसी समय बालक के समान नृत्य करते, कभी मुग्ध होकर गाते और कभी तो काठ की पुतली के समान उन (गोपियों) के आधीन हो जाते ।

**कारिका —** विद्योपजीविनां सेवां येनैव च सुखं भवेत् ।

राजसीं तामसीं लीलां सात्त्विकीं च चकार ह ॥ १ ॥

**कारिकार्थ —** जिस चरित्र से विद्या के द्वारा आजीविका करने वालों की सेवा, और सुख हों वैसी राजसी, तामसी, और सात्त्विकी लीला भगवान् ने की ।

**सुबोधिनी —** तत्र प्रथमं राजसीं लीलामाह, गोपिकाः प्रत्येकं स्वस्वगृहं नीत्वा 'नृत्यं' कुरु भगवँल्लङ्घुकानि दास्यामीत्युक्तो नृत्यति, तत्रापि स्तोभितः, 'कृष्ण एव सम्यङ् नृत्यं जानाति कर्तुं न सम इत्युक्तः, स्तोभा शून्यप्रशंसा यथा स्तोभाक्षयणि भवति, तथा गोपीभिर्यथाकथञ्चित् स्तुतो नृत्यन् नृत्यं करोति, लङ्घ्ये लङ्घ्ये तत्रापि नृत्ये न प्राकृतवन् नृत्यति किन्तु यथा तण्डुर्यथा वा पार्वती, ततोपि सहस्रगुणमत्यन्तं नृत्यति, तदनुचितं, किं पामयणां स्थाने तथानृत्येनेति ? तदाह भगवानिति, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नो न हान्यथा नृत्यं कर्तुमर्हति, तर्हि तासामप्यग्रे नार्हत्येवेति चेत्

तत्राह बालकः, क्वचिदिति क्वचिद् वा गोकुले स्वस्थ बालभावं प्रदर्शितवानिति, बालवदिति पाठे क्वचिद् भगवान् शास्त्रानुसारेण नृत्यति क्वचिद् बालवत् केवलं देहपादचालनमात्रं करोति मुग्धभावख्यापनाय, ततोपि कदाचित् 'कृष्ण माधे' त्युक्त उद्गायति, उच्चैस्तूष्णीं गानं करोति यथा सर्वासां हास्यं भवति, अथवा क्वचिदूर्ध्वं गायति यथा शास्त्रं क्वचिन्मुग्धैः शास्त्रमपि बालवत्, किञ्च नृत्यगानयो 'रप्येवमुत्थायैव - मुत्थायैवमुपविष्ट एव सुप्तो गानं कुर्व' त्युक्तस्तथैव गायतोत्याह तद्वशो दारुयन्त्रवदिति, गोपिकावशो भूत्वा दारुपुत्रिकावन् नृत्यति गायति च ॥ ७ ॥

**व्याख्यार्थ** — प्रथम राजसी लीला का वर्णन करते हैं। गोपिकाएं भगवान् को अपने अपने घर में लेजा कर नचाने लगी उसका प्रकार बताते हैं कि घर में लेजा कर श्रीकृष्ण को कहती हैं कि हे कृष्ण ! आप नृत्य करो तो आपको लड्डू देंगी। गोपियों के वचन सुनकर भगवान् नृत्य करते हैं। जब भगवान् नाचते हैं तब विशेष नृत्य कराने के लिये झूठी प्रशंसा करती हैं कि 'कृष्ण तो बहुत सुन्दर नृत्य करते हैं राम को तो नृत्य करना आता ही नहीं है'। यह झूठी बड़ाई का निरर्थक शब्द 'स्तोभ' है जैसे सामवेद में 'भ भ भ' निरर्थक शब्द है। इस प्रकार गोपियों की झूठी प्रशंसा से भी नाचने लगे। किन्तु वह नृत्य प्राकृतों के समान प्राकृत नृत्य नहीं था किन्तु तण्डु\* और पार्वती के नृत्य से भी सहस्रगुणा विशेष नृत्य था। ऐसा उत्तम और इतना नृत्य पामरों (मुखों - गोपियों) के सामने करना योग्य नहीं है। इस शंका का समाधान करते हैं कि नृत्य करने वाला बालक भगवान् था भगवान् षडेश्वर्य गुणवाले हैं। अतः साधारण प्राकृत नृत्य तो कर नहीं सकते। भगवान् हैं और जब उनको ऐसा उत्तम नृत्य ही करना है तो इन गँवार गोपियों के आगे तो नहीं करना चाहियें ? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् होते हुए भी उन्होंने अब गोकुल में बाल - भाव धारण किया है इसलिये भगवान् कभी शास्त्र के अनुसार नृत्य करते हैं तो कभी बालक के समान केवल मुग्ध भाव प्रकट करने के लिये हाथ पैर ही चलाते हैं। यदि कोई गोपी कहती है कि हे कन्हैया ! गान करो तो इस प्रकार कभी धीरे - धीरे और कभी जोर से बालकृष्ण गाते हैं जिससे सबको हँसी आ जाती है। अथवा कभी शास्त्र के अनुसार जोर से गाते हैं तो कभी मुग्ध बालक के समान शास्त्र विरुद्ध वा मनमाने ढंग से गाने लगते हैं कभी गोपियां कृष्ण को कहती हैं कि खड़े रहकर गावो तो खड़े होकर गाते हैं कभी कहती कि बैठकर गाओ तो बैठकर गाते थे यदि कहती सोकर गान करो तो सोकर गान करते थे तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण गोपियों के ऐसे वश में हो गए थे कि जैसे गोपीयां कहती थी वैसे ही वैसे आप काठ की पुतली के समान सब कार्य गान नाच आदि करते थे ॥ ७ ॥

**आभास** — लीलान्तरमाह बिभर्तीनि,

**आभासार्थ** — दूसरी लीला का वर्णन श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः** — विभर्ति क्वचिदाज्ञप्तः पीठकोन्मानपादुकम् ।

बाहुक्षेपं च कुरुते स्वानां च प्रीतिमावहन् ॥ ८ ॥

\* प्रकाशकार कहते हैं कि शङ्कर भगवान् के तांडवनृत्य प्रारम्भ करने वाला 'तण्डु' है।

**श्लोकार्थ** — कभी गोपियों से शासन् प्राप्त, भगवान् चोकी, पायली<sup>१</sup> और खड्डाऊ पकड़ अपने सम्बन्धी (भक्त) जनो को प्रसन्न करने के लिये वा उनमें प्रेम उत्पन्न करने के लिये अपनी बांह ठोकते थे ।

**सुबोधिनी** — सर्वत्र क्वचिदितिपदेन क्वचित् करोति प्रशस्ते निर्दिष्टे तुल्यत्वज्ञापनार्थः किञ्च बाहुक्षेपं च करते, क्वचित् करोतीति ज्ञातव्यं, अन्यथा तथास्वभाव आश्चर्यं न 'मया सह मल्लयुद्धं' कुर्वित्युक्तो बाहुविस्फोटनं करोति, स्याद् बहुधा प्रार्थनं च, क्वचिदाज्ञप्तः 'पौठमानयोन्मानं चकारदुपर्यपि पतति, बलाविभावेन तं चालयतीव, ननु, तण्डुलादिमानपात्रमानय पादुके दारुमये आनये'त्युक्तः केवलं किमित्येवं करोति ? तत्राह स्वानामिति, येन कारणेन तेषु बिभर्ति न तूत्थापयितुं शक्नोति, अशक्तिभावनां च करोति स्वत्वं सम्पादितं तेनैव प्रीतिमुद्बुद्धं यावत्तैव तेषां प्रीतिर्भवति, यथा प्राकृता बालाः कुर्वन्ति, एकवद्भावः स्थूले सूक्ष्मे न त्वधिकं करोतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

**व्याख्यार्थ** — 'क्वचित्' पद बहुत स्थान पर आया है अतः उसका आशय है कि कभी भगवान् कार्य करते हैं और कभी नहीं भी करते हैं । यदि इस प्रकार न हो और भगवान् सदैव उनकी आज्ञा के अनुसार काम करते ही रहे तो लीला में आश्चर्य उत्पन्न न होवे । आश्चर्य उत्पन्न करना भगवान् का स्वभाव होने से अपनी इच्छा के अनुसार करते हैं । इस प्रकार आश्चर्य उत्पन्न न करे तो पुनः पुनः प्रार्थना भी नहीं हो । किसी समय गोपियाँ आज्ञा करती हैं कि 'चोकी ले आ, घान नापने की पायली उठाला और खड्डाऊ ले आ' । वह आज्ञा पाकर भगवान् उन वस्तुओं के पास जाकर उनको पकड़ लेते हैं किन्तु उनको जब उठा नहीं सकते हैं तब प्राकृत बालको जैसा दृश्य करते हैं कि मैं बालक होने से उठा नहीं सकता हूँ । वह वस्तु छोटी, बड़ी, उत्तम और निन्दित हो सब में समान भाव दिखाया है । भगवान् बाहुओं को इस प्रकार ठोकते हैं जैसे कुशती लड़ने वाले ठोकते हैं । जिससे यह भाव प्रकट करते हैं कि मुझ से मल्लयुद्ध करो (कुशती - लड़ो) मूल में दिये हुए 'च' शब्द का भाव बताते हैं कि उनके उपर गिरते (बैठते) हैं । उन पर बैठकर अपने बल को आविर्भूत (प्रकट) कर मानो उनको चलाते हैं । श्लोक में दिए हुए 'स्वानां' का भाव स्पष्ट करते हैं कि जिस कारण से उनमें अपनेपन को स्थापित किया है इसी कारण से ही उनमें प्रीति उत्पन्न करते हैं उतना ही करते हैं जितने से उनको प्रीति उत्पन्न हो अधिक नहीं करते हैं ॥ ८ ॥

**आभास** — लीलाद्वयं विशेषतो निर्दिश्य सामान्यतः सर्वमेव लीलां संक्षेपेणाह दर्शयन्निति ।

**आभासार्थ** — दो लीलाएं विशेष प्रकार से वर्णन कर अब साधारण प्रकार से सब लीलाएं संक्षेप से निम्न श्लोक में कहते हैं -

१—अनाज नापने का साधन या बर्तन ।

श्लोकः - दर्शयंस्तद्विदां लोक आत्मनो भृत्यवश्यताम् ।

व्रजस्योवाह वै हर्षं भगवान् बालचेष्टितैः ॥ ९ ॥

**श्लोकार्थ -** लोक में भगवान् के स्वरूप को जाननेवाले ज्ञानी - भक्तों को अपनी भक्तवश्यता दिखाते हुए भगवान् ने बाल चेष्टाओं (लीलाओं) से व्रज को आनन्दित किया ।

सुबोधिनी - बालचेष्टितैर्भगवान् व्रजं हर्षयामास, ब्रजे आवृद्धिं प्राणिनस्तेषामपि यथावथा हर्षो भवति, स च हर्षश्चेव तिष्ठति सोपि स्थितः पुष्टे भाररूपो भवति तदा तेषां वहनाशक्तौ तेषां हर्षं भगवानुवाह, तदपि न विषयत्वेन किन्तु कारणत्वेनेत्याह बालचेष्टितै रिति, ननु बालचेष्टा फलपर्यवसायिन्यो न भवन्ति स्वरूपत एव परं मोहे सुखजनिकास्तत् कथं तादृशे हर्षे करणता ? तत्राह भगवानिति, यावदानुपपत्तिः परिहृता भवति तावान् धर्मो भगवच्छब्दाद् ग्राह्यः, ननु किमेवं प्राकृतानामत्र स्थितानां

वैकुण्ठमनीत्वा स्वयमागत्य विपरीतभावेन तथाकरणे प्रयोजनमित्याशङ्क्याह तद्विदां भगवत्स्वरूपविदामात्मनो भृत्यवश्यतां दर्शयन्निति, यदस्ते भृत्या भरणोयाः स्वेनैव न केवलं प्रदर्शनमात्रपरत्वं, तथा सति कापट्येनापि स्यादित्याह वै निश्चयेनेति, आत्मन इत्यनेन वश्यतादोषः परिहृतः, ये त्वज्ञास्ते व्यामोहिता एव, ये जानन्ति तेषां ज्ञानस्य भक्त्युपयोगः, तत्तदनुसारिणोपि तत्त्वेनैव ग्राह्या इति न किञ्चिदनुपपन्नम् ॥ ६ ॥

**व्याख्यार्थ -** बाल चेष्टाओं (लीलाओं) से भगवान् ने व्रज को आनन्दित किया । व्रज\* में जितने प्रकार के प्राणी थे उनको भी जिस जिस प्रकार से हर्ष हो उस प्रकार से उन सबको भगवान् ने हर्ष प्रदान किया । वह हर्ष उनमें ही स्थित होकर पुष्ट होगा जिससे वह पुष्ट हर्ष, भाररूप हो जाएगा जिसे वे अशक्त होने से धारण नहीं कर सकेंगे । इसलिये उनका हर्ष स्वयं भगवान् धारण करते हैं । वह (हर्षभार) विषय के ढंग पर नहीं किन्तु करणरूप<sup>१</sup> से भगवान् ने ग्रहण किया । यह आशय श्लोक में आए हुए 'बालचेष्टितैः' पद से समझा जाता है जिस पद का अर्थ है बालको जैसी चेष्टाओं<sup>२</sup> से धारण किया । अर्थात् भगवान् स्वयं बाल चेष्टाओं से व्रजवासियों के साथ आलिंगनादि कर उनकी अपने में आसक्ति कराते थे जिससे वे

\* प्रत्येक व्रजवासी की यह इच्छा थी की भगवान् हमारे साथ मिलकर आलिंगनादि से हमको आनन्द प्रदान करें, किन्तु भगवान् व्रज में, व्रज के राजा नन्दजी के पुत्र थे इसलिये उनसे सर्व साधारण अपने अपने भाव के अनुसार इस प्रकार का स्वयं व्यवहार नहीं कर सकते थे यह जानकर भगवान् ने उन सबकी भावना के अनुसार बालक्रीड़ाओं द्वारा आपने कारण<sup>१</sup> बनकर उनको आनन्द दान दिया जिससे उनको प्राप्ता हर्ष (आनन्द) भाररूप न हुआ यदि भगवान् कारण (साधन) रूप होकर यों न करते तो व्रजवासियों में उत्पन्न उत्कट<sup>३</sup> भाव न जाने क्या कर देता । इसलिये भगवान् को करुणरूप होना आवश्यक था ।

आनन्दित हो जाते थे । बालक होने से इस प्रकार कर रहे हैं यों समझ लोकनिन्दा भी नहीं कर सकते थे ।

बालक की चेष्टाएं स्वरूप से फल नहीं देती हैं, किन्तु मोह करके सुख देती हैं । तब मोह से उत्पन्न आनन्द में भगवान् करण कैसे बन सकते हैं ? अर्थात् नहीं हो सकते हैं । इसी शंका के निवारण के किये 'भगवान्' शब्द दिया है जिसका आशय है कि भगवान् ने अपने करण - साधनरूप धर्म से इस अयोग्यता (चेष्टाओं से उत्पन्न मोहरूप अयोग्यता) को भीटा दिया था । जिससे बालक की चेष्टाएं भी स्वरूप फलदायिनी हैं यह बताया है यहाँ स्थित प्राकृत जनों (जिनकी आध्यात्मिक अविद्या नाश नहीं हुई है उन) को वैकुण्ठ में न ले जाकर स्वयं वहाँ आकर अपना ईश्वर भाव छोड़कर इस प्रकार आनन्द के दान करने का क्या प्रयोजन था ? इस शंका का परिहार करने के लिये श्लोक में 'तद्विदां' पद दिया है । जिसका तात्पर्य है कि भगवान् ने यहाँ आकर इसलिये आनन्ददान दिया कि भगवान् को भगवत् स्वरूप को जाननेवालों को अपनी भक्तवश्यता<sup>१</sup> दिखानी थी कि सेवक अपने स्वामी से ही भरण पोषण करने योग्य हैं । केवल यह दिखावा नहीं करना है क्योंकि दिखावा तो कापट्य से भी होता है । इसलिये श्लोक में 'वै' कहा है कि निश्चय से भरण योग्य है । जो भगवान् सर्व को वश और नियम में रखते हैं वे भगवान् वश में कैसे हुए ? इस शंका के मिटाने के लिये श्लोक में भगवान् के लिये 'आत्मनः' शब्द दिया है जिसका आशय है कि भगवान् भक्तों के वश में होते हुए भी सबकी आत्मा होने से स्वतंत्र है । जो इस तत्त्व को नहीं जानते हैं उन (असुरों) को भगवान् ने अपनी लीलाओं से मोह में डाल दिया है । जो इस तत्त्व 'भगवान् भक्तों के वश में हैं' को जानते हैं उनके ज्ञान का भक्ति में उपयोग होता है अर्थात् उनका प्रेम भगवान् में बढ़कर आसक्ति का रूप लेता है । पृथक् पृथक् मार्गानुयाईयो के अधिकार के अनुसार भगवान् उनको ग्रहण करते हैं और जो कोई ग्रहण योग्य नहीं है तो उनका त्याग करते हैं । इसलिये इसमें कुछ भी अयोग्य (युक्ति - रहित) नहीं है ॥ ६ ॥

**आभास —** एवं बृहद्वामुक्त्वा सर्वदेवाधिष्ठितवृन्दावने क्रीडां वक्तुं भगवत्प्रेस्तानां तेषां निर्गमनार्थं मन्त्रमाह ।

**आभासार्थ —** उपरोक्त श्लोको में बृहद् बन में की हुई भगवान् की क्रीडा वर्णन कर अब सब<sup>१</sup> देवताओं के स्थान वृन्दावन में जाकर क्रीडा करनी है इसलिये भगवान् की प्रेरणा से गोपगण

१ श्री प्रभुचरण टिप्पणी में आज्ञा करते हैं कि वृन्दावन में सर्व देवताओं ने आधिदैविकरूप से आकर भगवान् की लीलास्थलियों को तैयार किया । भगवान् के पधारने को वह देख रहे हैं कि कब पधारते हैं । इससे वहाँ स्थित हैं ।

१-मिटाने । २-अपने सेवकों के वश में होना ।



वहाँ जाने के लिये मन्त्रणा<sup>१</sup> करने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोको में करते हैं ।

कारिका — उद्यमो मुख्यसम्पत्तिर्मन्त्रो हेतुस्त्रिभिस्ततः ।

निर्धारितपरित्यागः स्थानान्तरगुणास्ततः ॥ १ ॥

कृष्णाज्ञयेति कालस्य नापेक्षातोनिवारणम् ।

पञ्चभिर्गमनं चैव रतिस्तत्र हरेः परा ॥ २ ॥

एवं कलाभिर्भगवान् पूर्णो वृन्दावने बभौ ॥ २३ ॥

कारिकार्थ — उद्यम, मुख्य सम्पत्ति की प्राप्ति, मन्त्रणा, इसके पीछे तीन श्लोकों से कारण, निर्धारित का त्याग, दूसरे स्थान के गुण कृष्ण की आज्ञा से गमन, काल की अपेक्षा नहीं होने से उसका निषेध, पांच श्लोकों से गमन, वहाँ का निवास भगवान् का उसमें विशेष प्रेम, इस प्रकार भगवान् वृन्दावन में कलाओं से पूर्ण सुशोभित हुए ।

व्याख्या — इन कारिकाओं में ११ अध्यायके श्लोक १० से श्लोक २५ तक जो लीलाएँ भगवान् ने की हैं उनका क्रमशः सूक्ष्म वर्णन कर समझाया है कि १० श्लोक में वृन्दावन में जाने के लिये किए हुए उद्यम का वर्णन है । ११ श्लोक में यह बताया कि किसी भी मन्त्रणा के समय सब बोलने लगे यह सम्भव नहीं इसीलिये मुख्य वक्ता को प्राप्ति होने से वह बोलने लगे । १२ वे श्लोक में उसने जो गोकुल छोड़ने की सम्मति दी उसका वर्णन है, १३ वे श्लोक में पूतना के उपद्रव १४ वे श्लोक में तृणावर्त के विविध साधनों द्वारा उपद्रव और १५ वे श्लोक में यमलार्जुन के मध्य में स्थिति भय, इन श्लोकों में गोकुल के उपद्रव और उनसे भगवान् ने रक्षा की यह वर्णन है । १६ वे श्लोक में इन कारणों से गोकुल छोड़ने का निश्चित किया । १७ वे श्लोक में जहाँ जाने का विचार है उस (वृन्दावन) के गुणों का वर्णन किया है । १८ वें श्लोक में श्रीकृष्ण की इच्छापूर्वक आज्ञा से सर्व गोपों की जाने के लिये सम्मति का वर्णन है । १९ वे श्लोक में सब गोपों ने एक होकर जाने की तैयारी की काल (शुभ मुहूर्त) की चिन्ता नहीं की । २४ वे श्लोक में वहाँ जाने का तथा निवास का एवं हरि का उससे विशेष प्रीति का वर्णन है इन सब का वर्णन १६ (१० से २५) श्लोकों में हुआ है जिसका भाव बताते हैं कि इससे वृन्दावन में भगवान् १६ कलाओं से पूर्ण शोभायमान दर्शन देने लगे ।

१ यदि सब बोलने लगे तो मन्त्रणा हो नहीं सकती है अतः एक सुत्र बोलकर समझावे तो मन्त्रणा योग्य होती है । — अनुवादक

आभास — प्रथमं मन्त्रार्थमुद्यममाह गोपवृद्धा इति ।

आभासार्थ — प्रथम मंत्रणा करने के लिये उद्यम करते हैं इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — गोपवृद्धा महोत्पाताननुभूय बृहद्वने ।

नन्दादयः समागम्य व्रजकार्यममन्त्रयन् ॥ १० ॥

श्लोकार्थ — गोपों में से वृद्ध नन्दादिक गोप, व्रज में बड़े-बड़े उत्पात होते देखकर इकट्ठे हुए और विचार करने लगे की अब व्रज का हित कार्य कैसे किया जाय ।

सुबोधिनी — गोपेषु ये वृद्धाः पूर्वापरानुसन्धानसहिताः, वृद्धप्रायः प्रधानव्यतिरेकेण विचारो न निर्वहतीति समागम्य बृहद्वनमन्वर्षनाम, पूर्वं कदाचिदपि तत्रोत्पत्त्यभाव सम्यगेकत्रोपविश्य, व्रजसम्बन्ध्यवश्यकर्तव्यममन्त्रयन् उत्पातानामिदानीं तु महोत्पाताः पूतनामरणादयः, नन्दोपि ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ — गोपों में वृद्ध जो (आगा पीछा विचार करने की बुद्धिवाले) थे वे व्रज से सम्बन्धित आवश्यक कर्तव्य की मंत्रणा करने लगे । हमारे इस वन का नाम बृहद्वन इसलिये पड़ा है कि इसमें कभी भी उत्पात नहीं हुए हैं । अब तो बड़े बड़े उत्पात होने लगे हैं जैसे पूतना मरण आदि उपद्रव हुए हैं । मन्त्रणा 'प्रधान' के बिना नहीं होती है इसलिये सब इकट्ठे हुए । नन्दजी भी वृद्धों के समान ही थे तो भी वहाँ प्रधान उपनन्द हुए ॥ १० ॥

आभास — सर्वेषां वक्तृत्वं न सम्भवतीति प्रधानं व्यपदिशति तत्रेति ।

आभासार्थ — मन्त्रणा करने के समय सब बोलने लगे तो निर्णय पूरी मन्त्रणा (विचार) से नहीं हो सकता है इसलिये प्रधान (मुख्य वक्ता) का नाम निर्देश निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — तत्रोपनन्दनामाह गोपो ज्ञानवयोधिकः ।

देशकालार्थतत्त्वज्ञः प्रियकृद् रामकृष्णयोः ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ — वहाँ (इकट्ठी हुई गोप सभा में) उपनन्द नाम वाला गोप, जो कि देश और काल के तत्त्व को जाननेवाला, ज्ञान में और अवस्था में बड़ा और बलराम तथा श्रीकृष्णचन्द्र का प्रिय करने वाला था वह कहने लगा ।

सुबोधिनी — उपनन्दनामा नन्दसम्बन्धी गोप इति तादृशोऽप्यभक्तश्चेत् सर्वं व्यर्थं स्यादिति रामकृष्णयोः धर्मप्रधानः, ज्ञानवयोऽप्यां च परिणतः, देशकालार्थानामपि प्रियकृदाहेतिसम्बन्धः नाम्ना नन्दस्य स एव मन्त्र इति कस्मिन् देशे कस्मिन् काले कोर्थः कर्तव्य इति तत्त्वज्ञः, ज्ञापितं, गोप इति तन्मध्यपाती तुल्येष्टानिष्ठ, तादृश एव

नन्दः ज्ञानं नृ वृद्धत्वं प्रसन्नं भवतान्मन्त्राधिक्यं इव विरुध्यत इति भगवत्प्रोक्तिरुक्ता, प्राधान्यप्रतिपत्त्यर्थं द्वयोर्निर्देशः  
नन्दः नृवृद्धः प्रसन्नः भवतः = प्रसन्नः भवतः नन्दः मन्त्री साधारणनिरोधत्वात्, असाधारणनिरोधो भगवत्तैव क्रियते  
प्रसन्नः भवतः नन्दः इव मन्त्राधिक्यं विरुध्यत साधारणस्तुभाभ्यामिति ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ — 'उपनन्द' नाम के गोप नन्दजी के सम्बन्धी थे, इससे उनमें 'धर्म' प्रधान था। और वे ज्ञान और आयु में वृद्ध होने से अनुभवी थे। जिस अनुभव के कारण से इस तत्त्व को जानते थे कि किस देश में वा किस काल में क्या करना चाहिये जिससे अर्थ सिद्ध हो किसी प्रकार की हानि न हो। ऐसा अनुभवी भी हो किन्तु यदि वह भगवान् का भक्त नहीं है तो उनका ज्ञान, वृद्धत्व और अनुभव सब व्यर्थ हैं अर्थात् किसी काम के नहीं हैं। उपनन्द भगवान् का भक्त भी था यह बताने के लिये श्लोक में 'प्रियकृद्' 'रमकृष्णयोः' पद दिये हैं जिनका अर्थ है राम और कृष्ण का प्रिय करने वाला था। इससे बताया कि वह भक्त भी था। 'उपनन्द' नाम से यह बताया है कि वह नन्दजी को मन्त्रणा देने वाला था इससे वह नन्दजी का मन्त्री था। गोप होने से उनका समावेश गोप जाती में था इसलिये गोपों का हित व अहित वह अपना ही समझता था। वैसा ही व्यक्ति मन्त्री होने के योग्य है। ज्ञान (अनुभव से होनेवाला समझ) आयु से प्राप्त होता है। यह तो आयु और ज्ञान दोनों से बड़े थे। मन्त्रणा का यह भी मुख्य अंग है केवल शास्त्रों के अर्थ को जानने वाला जिसको लौकिक ज्ञान (अनुभव) नहीं है वह मन्त्री होने के योग्य नहीं हो सकता है। इसलिए श्लोक में 'देशकालार्थं तत्त्वज्ञः' पद दिया है। जिसका तात्पर्य है देश और काल का जिसको अनुभव हो। यह अनुभव उपनन्द को था। वृन्दावन में जाना चाहिये यह उपनन्द का कहना यदि अपने स्वार्थ के लिए होता तो इसमें (वहां जाने से) निरोध की सिद्धि नहीं होती क्यों कि स्वार्थ निरोध का विरोधी है जहां स्वार्थ नहीं है वहां निरोध सिद्ध होता है। वृन्दावन में जाने की सम्मति उपनन्द ने अपने स्वार्थ के लिए नहीं दी थी किन्तु भगवान् राम और कृष्ण के प्रिय करने के लिये दी थी। राम और कृष्ण के दो नाम कहे उसका भाव यह है की यहां साधारण निरोध करना है। असाधारण निरोध तो श्रीकृष्ण ही करने हैं साधारण निरोध दोनों करते हैं ॥ ११ ॥

आभास — मन्त्रमाहोत्थातव्यमिति ।

आभासार्थ — क्या सम्मति दी वह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोकः — उत्थातव्यमितोस्माभिर्गोकुलस्य हितैषिभिः ।

आयान्त्यत्र महोत्पाता प्रजानां नाशहेतवः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ — गोकुल के हित की चाहना करनेवाले हमको यहाँ से दूसरे स्थान पर

चलना चाहिये क्योंकि यहां प्रजा को नाश करनेवाले बड़े बड़े उत्पात एक के पीछे दूसरे आ रहे हैं ।

**सुबोधिनी** — इदं स्थानं परित्यक्तव्यं, परितो यद्यपि ये हितचिन्तकास्तैरवश्यमेतत् कर्तव्यं, यत् साधनानि भगवता व्रजाः सन्ति ते तिष्ठन्तु भा वा, अस्माभिस्तुत्यातव्यं, ननु दत्तानि ज्ञानकरणादीनि तान्यन्यथा व्यर्थानि स्युः, अतो विरोध कर्माधीनत्वाज् जगतः सर्वत्रैव यद् भाष्यं तद् भविष्यतीति एव तयोर्भिन्नं प्रामाण्यं, यावन्न विरोधस्तावत् करणानामेव किं गमनेनेति चेत् तत्राह गोकुलस्य हितैर्धिनिधिति, गोकुलस्य मुख्यं प्रामाण्यं, उत्थाने हेतुमाहायान्यत्र महोत्पाता इति । ये हितं वाञ्छन्ति कालं कर्मपक्षौ परित्यज्य लौकिकन्यायेन

**व्याख्यानार्थ** — इस स्थान के चारों तरफ यद्यपि गोष्ठ (गौओं के ठहरने के अनेक स्थान) हैं वे रहे या न रहे तो भी यह स्थान (वृहद्वन - गोकुल) छोड़ना चाहिये । उपद्रवों के कारण हम इसे छोड़कर दूसरे स्थान पर चलें तो कोई विशेष लाभ नहीं है । कारण कि सब कुछ (सुख दुःख उत्पात आदि का आना) कर्मों के आधीन है सर्वत्र जो होनहार है वह होगी ही, उसको कोई टाल नहीं सकता है । इसका उत्तर देते हैं कि जो गोकुल का हित चाहते हैं वे काल और कर्म के पक्षों को (सब कुछ काल और कर्म करता है इस मन्तव्य को) छोड़ कर और जो लौकिक न्याय से गोकुल के हित का चिन्तन करने वाले हैं उनको तो अवश्य चलना चाहिये । भगवान् ने विचार कर कार्य करने के लिये जो ज्ञान और करण (साधन) दिये हैं उनसे विचार कर हम कार्य नहीं करेंगे तो वे (ज्ञान और करण) व्यर्थ हो जाएंगे अतः जहां दो × पक्षों में विरोध हो वहां दूसरे प्रमाण को मानने की आवश्यकता है । जहां विरोध न हो तो करणों को ही मुख्य प्रमाण मानकर उसके अनुसार कर्तव्य करने चाहिये । यहां से दूसरे स्थान पर चलने के कारण कहते हैं कि यहां महान् उत्पात् (उपद्रव) आ रहे हैं (हो रहे हैं) ।

**कारिका** — अलौकिकोनिष्टहेतुरुत्पातः सर्वनाशकः ।

महोत्पातो बुधैर्ज्ञेयो यत्र तत्यागमर्हति ॥ १ ॥

**कारिकार्थ** — उत्पात अलौकिक अनिष्ट का कारणरूप, सर्वनाशकर्ता है ज्ञानी जहाँ (जिस स्थान पर) महोत्पात देखे उस स्थान का तो त्याग करना ही योग्य है ।

**सुबोधिनी** — महोत्पत्ताः भूतनादयः, तेषां सोढव्यतां कारणीयस्यैः, 'प्रक्षालनादि पङ्क्तये' तिन्यायेन प्रतीकारणेष्वप्य निराकरोति प्रजानां नाशहेतव इति, हेतौ कार्यमावश्यकं, त्यागः श्रेष्ठः ॥ १२ ॥ महतां देवाणां पासकानामनिष्टाभावेऽपि प्रजोपद्रवोऽपि

× १-पक्ष, 'जो होना होगा वह होगा ही । २-पक्ष, वैसे उपाय किये जाय, जिनसे अनिष्ट नहीं होवे (हल जावे) ।

**व्याख्या** — कौन से महोत्पात हैं ? उनको बताते हैं कि पूतनादिकों का आना मरना आदि । इससे क्या ? ये प्रजाओं के नाश का कारण है । इन उपद्रवों का दैवादिकों की उपासना से प्रतीकार करना चाहिये । इसके उत्तर में कहते हैं कि 'प्रक्षालनाद्विपङ्कस्य दूग्दस्पर्शनःवरम्' कीचड में पैर डालकर फिर धोने से कीचड में पैर नहीं डालना अच्छा है । इस न्यायानुसार प्रतीकार <sup>१</sup> करने से उस स्थान का त्याग ही श्रेष्ठ उपाय है ॥ १२ ॥

**आभास** — उत्पातानेव गणयन्ति तामसराजससात्त्विकान् ।

**आभासार्थ** — निम्न श्लोक में राजस, तामस और सात्त्विक उत्पातों की गणना करते हैं ।

**श्लोकः** — मुक्तः कथञ्चिद् राक्षस्या बालघ्न्या बालको ह्यसौ ।

हरेरनुग्रहान्नूनमनश्चोपरि नापतत् ॥ १३ ॥

**श्लोकार्थ** — बालकों को मारने वाली राक्षसी ने यह बालक किसी प्रकार से छोड़ा है । ईश्वर के अनुग्रह से शकट ऊपर नहीं गिरा ।

**सुबोधिनी** — उत्पाताः प्रतीकारसहिता उच्यन्ते, अन्यथा राक्षस्या बालघ्न्येति जातिक्रियादोषो, मुक्तत्वं तन्निवृत्तिरेव न स्यादुत्पातत्वं वा, अत एव राक्षस्या निःसन्दिग्धमित्यसाविति प्रदर्शितः मलौकिकमुपायमाह पूतनयासावेव बालको मुक्तः, दृष्टहेतुपरिज्ञानाभावात् हरेरनुग्रहादिति, एतदेव हेतुद्वयं शकटभङ्गेऽप्याकर्षत्यनश्चोपरि कथञ्चिदित्यदृष्टं साधनं कल्पितं, कार्यस्य कारणावश्यकत्वात्, नापतदिति चकारेण, नूनमिति स्वदर्शनात् ॥ १३ ॥

**व्याख्यानार्थ** — उपाय सहित उत्पातों का वर्णन करते हैं । यदि उपाय सहित वर्णन न हो, वा न करे तो उत्पातों का नाश ही न हो अथवा उत्पात ही न हो इस कारण से ही राक्षसी पूतना ने इस ही बालक को छोड़ दिया । छोड़ देने का कोई कारण देखने में वा समझने में नहीं आया । अतः छोड़ने का कारण अदृष्ट <sup>१</sup> है ऐसी कल्पना की गई । क्योंकि कार्य का कारण होना आवश्यक है । राक्षसी और बालघ्नी <sup>२</sup> इन दो पदों से उनकी जाति और क्रिया के दोष कहे । श्लोक के 'असौ' शब्द से यह प्रत्यक्ष (भगवान् है) मुक्तपना निश्चित है यह सिद्ध किया है । शकट का भङ्ग और उसका ऊपर न पड़ना ये दोनों ही कार्य भगवान् के अनुग्रह से हुए हैं । श्लोक में 'नूनम्' पद से यह बताया है कि निश्चय से इसी प्रकार हुआ है क्योंकि मैंने प्रत्यक्ष देखा था ॥ १३ ॥

**आभास** — तृणावर्ते लौकिकानि बहूनि साधनान्याह चक्रवातेनेति ।

1. புகை சிமென்ட் - கிடை

व्याख्या — 'चक्रवर्त' प्रसिद्ध पृष्ठावर्त कर्म का नौकर था इससे उसको दैन्य कहा है । वह कृष्ण की बहुत उपर जहाँ प्रयोगित पक्षी भ्रमण करते हैं वहाँ आकाश में ले गया । आचार्यश्री 'विपद्' शब्द के दो अर्थ करते हैं एक अर्थ 'वि' पक्षी उनका पद स्थान अर्थात् जहाँ तक आकाश में प्रयोगित पक्षी उड़ते हैं वह स्थान । दूसरा अर्थ 'विपद्' आपदा अर्थ कर समझते हैं कि पृष्ठावर्त कृष्ण की नहीं ले गया किन्तु अपने नाश के लिये 'आपदा' को ले गया यहसंस्कारों आशय प्रकट करते हैं क्या कि संस्कारों जानती है कि भगवान् को तो पृष्ठावर्त आपदा में डाल नहीं सकता है । विपद् शब्द का धौनिक अर्थार्थ करते हैं कि प्रतिक्षण 'व्यय' प्राप्तवद् 'श्रीगता की प्राप्त होने वाला पृष्ठावर्त (कृष्ण को लेजा रहा था) । इस प्रकार दोनों आकाश में जा रहे थे उनमें से एक (पृष्ठावर्त) शिला के ऊपर आके पड़ा । वहाँ उसके उपर स्थित दूसरे (श्रीकृष्ण) की मुँह के इश्वरों ने रक्षा की । यह रक्षा का कार्य केवल देव नहीं कर सकते थे । फल तो यालक है उन घातकों का मर्दन तो उनके इश्वर ही कर सकते हैं । यहाँ का अधिपति सुरेश्वरों के अगुर्काल था । यहाँ वैसे बहुत रक्षक हैं 'बहुना अगुहो न्यायः' 'बहुते का अगुह न्याय है (उचित है) इससे किसी भी प्रकार से रक्षा करने में बाधा न हुई ॥ १४ ॥

[illegible]

बलिकाथ - चक्रवर्त नाम वाला दैत्य इस (कथा) को बहुत उपर आकाश में ले गया बहुतों से खिला पर गिराया बहुतों मारे बहुतों ने सर्व प्रकार से रक्षा की ।

॥ २४ ॥ ऋषयैः प्रकृत्य एवंप्रकृत्य विनिर्वा

ଆମର ସମସ୍ତ ସ୍ତମ୍ଭ ସମ୍ପର୍କରେ - ଆମର ସମସ୍ତ ସ୍ତମ୍ଭ ସମ୍ପର୍କରେ -

14

आपासाय - वेणुवर्त के पास लौकिक साधन बहुत थे इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं

**अभासार्थ —** जिस (यमलार्जुन) का प्रसंग चल रहा है उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक: —** यत्र म्रियेत द्रुमयोरन्तरं प्राप्य बालकः ।

असावन्यतमो वापि तच्चाप्यच्युतरक्षणम् ॥ १५ ॥

**श्लोकार्थ —** वृक्षों के बीच में आने पर भी यह (कृष्ण) अथवा दूसरा कोई बालक न मरा, यह भी अच्युत भगवान् ने रक्षा की ।

**सुबोधिनी —** अनयोद्गमयोरन्तरं प्राप्य बहवो बाला वाङ्मनसोरव्यवस्था तेत्यन्तं प्राकृता येषां मनसोपि नाव्यवस्था अत्र स्थिताः कोपि नोपद्रुतः, असौ भगवानन्यतमः अन्यो तेत्यन्तं सन्तः, अत्राच्युतो भगवानेव रक्षकः, स हि सर्वत्र वा कश्चिद् भगवान् देवैः सर्वदा रक्षित इत्यन्यस्य नामग्रहणं, च्युतिरहितोन्तर्यामी ततो बालकानुत्पादस्थानादन्यत्र नीतवान् तमप्राप्त्येन हीनोपि कश्चिन्नोपद्रुत इत्यमङ्गलशब्दोच्चारणं ॥ १५ ॥ स्नेहात्, प्राकृतानां सहजं प्राकृतत्वमन्यथा न परिज्ञायेत, येषां

**व्याख्यानार्थ —** इन गिरे हुए वृक्षों के बीच में बहुत बालक आ गये थे किन्तु किसी को भी कोई चोट न आई । उन बालकों में यह भगवान् भी एक था । अथवा भगवान् के तो सर्वदा देव रक्षक (शरीर रक्षक) है ही इसलिये किसी साधारण के लिये 'अन्यतम' शब्द श्लोक में दिया होगा । साधारण, नीच वा निर्बल, को भी कोई चोट नहीं आई । अमङ्गल शब्द का (चोट आना) उच्चारण स्नेह प्रदर्शन के लिये किया गया है । प्राकृत<sup>१</sup> पुरुषों के प्राकृतपने का ज्ञान दूसरे प्रकार से नहीं हो सकता है जिनकी वाणी और मनकी कोई स्थिरता नहीं है वे अत्यन्त प्राकृत हैं । जिनकी केवल वाणी ही नहीं, किन्तु मन भी स्थिर है, वे अत्यन्त सत्पुरुष हैं । इस समय (पेड़ों के बीच में आ जाने का समय) रक्षा करने वाला सर्व प्रकार से च्युतिरहित अन्तर्यामी अच्युत भगवान् ही रक्षक हुआ है । इसका आशय यह है कि उस समय बालकों को उत्पातवाले स्थान से दूसरे स्थान पर ले गए ॥ १५ ॥

**आभास —** अतो भगवतो वारत्रयं देवानां च रक्षणं जातमित्यतः परं य उत्पातः समायास्यति तस्य न प्रतीकार इति ततः पूर्वमेव गमनमुचितमित्याह यावदिति ।

**आभासार्थ —** भगवान् ने तीन बार और देवताओं ने तीनबार आपदा से रक्षण किए अब यदि कोई उत्पात हुआ तो उसका प्रतीकार<sup>२</sup> न हो सकेगा अतः उत्पात होने से पहले ही यहाँ से खाना होना योग्य है । यह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोकः — तावद् बालानुपादाय यास्यामोन्यत्र सानुगाः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ — जब तक उत्पात से उत्पन्न अशुभ फिर ब्रज का अभिभव<sup>१</sup> न करे तब तक (उससे पहले ही) बालक और नौकरों सहित यहां से दूसरे स्थान पर हम चलकर पहुँच जाय ।

सुबोधिनी — उत्पातेन जालोच्छि मरणादिरूप इति कर्मता, उत्पातास्तत्सम्बन्धिन एव दृष्टा इति, यावद्वर्जं नाभिभवेत् तावदितो बालानादाय सानुगाः स्थलान्तरमन्विष्यास्य परित्याग इति ॥ १६ ॥ सपरिकर अन्यत्रैव यास्यामः, निर्धारितमेतद् वचनं, बालानां

व्याख्यार्थ — उत्पास से उत्पन्न अरिष्ट<sup>२</sup> में ब्रज का अभिभव न हो उससे पहले ही अपने यहां से बालक, नौकर और समस्त परिवार को साथ लेकर दूसरे स्थान पर चलेगें । यह कहना निर्धारित<sup>३</sup> किया हुआ है । यहाँ जो उत्पात हुए है वे सब बालकों के सम्बन्ध वाले हैं अर्थात् बालकों को ही कष्ट हुआ है इसलिये यहाँ श्लोक में बालक शब्द दूसरी विभक्ति में दिया है ॥ १६ ॥

आभास — स्थलान्तरं सगुणं निर्दिशति वनं वृन्दावनमिति ।

आभासार्थ — दूसरे रहने योग्य स्थल को ढूँढ कर पीछे इस स्थान को छोड़ना योग्य है । इसलिये उस योग्य स्थल के गुणों का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — वनं वृन्दावनं नाम पशव्यं नवकाननम् ।

गोपगोपीगवां सेव्यं पुण्याद्रितृणवीरुधम् ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ — वृन्दावन नाम वाला वन, पशुओं के अनुकूल और नया वन है गोप गोपियां और धेनुओं के सेवन करने योग्य है । इससे पवित्र, पर्वत, तृण, और लताएँ सब अच्छे हैं ।

सुबोधिनी — वृन्दा मधोः पुत्री, तन्नाम्ना नूतनं वनं वृन्दावनं, लीलाधान्यात् तत्र न दैत्यसम्बन्धः, भगवता पुनर्जलन्यख्यार्थ सा परिगृहीता, अतो देवताधिष्ठानाद् देवदैत्यानामनुरोधं तत् स्थानं, अतस्तत्रोत्पातशङ्काभावः तदाह वृन्दावनं, नामेति प्रसिद्धं तथा तत् नवकाननमिति, न शीर्णवृक्षास्तत्र सन्ति नापि भृगालसर्पादीनां तत्र स्थितिः, अतः सर्वे गुणाः सर्वेदोषाभावश्चोक्ताः, किञ्चालौकिकोपि तत्रत्यो गुणः समीचीन इति ज्ञायते यत् पशव्यो भवति



पशूनां हितः, ते ह्यरण्योपजीविनोरण्यपात्रास्तेषां नन्दपुरोहितप्रामाणिकानां तत् सेव्यमित्याह यद्विमतलौकिकप्रकारेणापि समीचीनमिति, किञ्च तस्मिन् पुण्यादितृणवीरुधमिति, पुण्योद्दिगोवर्धनः, तृणानि बर्हिः, वने त्रिविधा भूमिरस्ति, अतिगुप्तातिप्रकट तृणादिगङ्गा च, वीरुधः सोमः करेयणि वा, अतस्तामसानां राजसानां तदाह गोपीनां गोपानां गवां च सेव्यमिति, अन्येषामपि सात्त्विकानां च हितकारि तत् स्थानमित्युक्तम् ॥ १७ ॥

**व्याख्यार्थ** — भगवान् ने जालन्धर के वध के लिये जिस मधु की पुत्री वृन्दा को स्वीकार किया था, उसके नाम से यह नूतन<sup>१</sup> वन वृन्दावन कहलाता है इस वन में स्त्री का प्राधान्य है इसलिये इस वन में दैत्य प्रवेश नहीं करते हैं क्यों कि दैत्य स्त्रियों के स्थान में नहीं आते हैं कारण कि दैत्य, स्त्रियों की रक्षा मुख्य कर्म समझते हैं। वह देवताओं के रहने का (भगवान् ने वृन्दा को स्वीकार किया इसलिये) स्थान हो गया है। अतः देव और दैत्य दोनों को यह स्थान बहुत प्रिय है। इससे उस में उत्पात होने की शङ्का करने का भी अभाव है। यह वृन्दावन नवीन वन है और (गुणों के कारण) प्रसिद्ध भी है। वहां कोई शुष्क<sup>२</sup> वृक्ष नहीं है तथा शृगाल<sup>३</sup> और सर्प आदि भी नहीं रहते हैं। इससे इस वन में सर्व गुण हैं दोष कुछ भी नहीं है। लौकिक गुण तो हैं ही किन्तु अलौकिक गुण भी सुन्दर हैं वे बताते हैं ? १-पशु जाति, अरण्यों<sup>४</sup> पर ही जाती है तो यह अरण्य पशुओं के योग्य पात्र है इसमें सर्व प्रकार से पशुओं का हित है। इस वन में तीन प्रकार की भूमि है १ - अतिगुप्त, २ - अतिप्रकट, ३ - तृणादि<sup>५</sup> से भरपूर। इसलिये गोप, गोपियों और धेनुओं<sup>६</sup> के सेवन<sup>७</sup> योग्य है। इनके अतिरिक्त अन्य नन्द, पुरोहित और प्रामाणिक पुरुष के लिए भी सेवन योग्य हैं, क्योंकि पवित्र पर्वत गोवर्द्धन पर घास, मयूर - बर्हि सोमलता करीर आदि पदार्थ पुष्कल<sup>८</sup> हैं। अतः यह स्थान, तामस, रजस और सात्त्विक तीनों के रहने योग्य है ॥ १७ ॥

**आभास** — एवं स्थान प्रशंसायां सर्वे गोपाला आहुस्तत्तत्राद्यैव यास्याम इति ।

**आभासार्थ** — इस प्रकार स्थान की प्रशंसा सुनते ही सब गोपाल कहने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — तत् तत्राद्यैव यास्यामः शकट्यञ् युक्त मारिचम् ।

गोधनान्यग्रतो यान्तु भवतां यदि रोचते ॥ १८ ॥

**श्लोकार्थ** — इससे वहाँ आज ही चले चलें, इसलिये तुम सब की रुचि हो तो गाड़े जोड़ो, देरी मत करो, गोधन को प्रथम से आगे चलने दो ।

१-नया ।

२-सुखा हुआ ।

३-गोदह ।

४-बगलों ।

५-घास आदि

६-गायों ।

७-रहने ।

८-भरपूर ।

९-विचार

सुबोधिनी — तस्मात् कारणाद् यदि वृन्दावनं तादृशं बलीवर्दैः सह योजनं साधनं, विलम्बनिषेध उत्पातभयशङ्कया ततोद्यैव तत्र वास्यामः, एवं सर्वेषां सङ्कल्पे प्रधानभूता ॥ १८ ॥  
उपनन्दादय आहुः शकटाञ्च, युक्तं मा चिरमिति, शकटानां

व्याख्यार्थ — आपके कहे हुए कारणों से यदि वृन्दावन ऐसा है तो आज ही हम वहां चलेंगे । इसी प्रकार सब का सङ्कल्प<sup>१</sup> देखकर मुख्य उपनन्दादिक कहने लगे कि गाड़े जोतो देरी मत करो । जाने का साधन बताते हैं कि गाड़ों के साथ बैलों को जोड़ो । देरी नहीं करने का कारण कहते हैं कि फिर कहीं कोई उत्पात न आ जाय ॥ १८ ॥

आभास — एवं भयसाधनयोर्निर्देशे यत् कृतवन्तस्तदाह श्रुत्वेति ।

आभासार्थ — इस प्रकार उपनन्दादि ने उठरने में शङ्का और जाने के साधन कहे, तब गोपों ने जो कुछ किया उसका वर्णन नीचे के श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोकः - तच्छ्रुत्वैकधियो गोपाः साधुसाध्वितिवादिनः ।

व्रजान् स्वान् स्वान् समायुज्य ययू रूढपरिच्छदाः ॥ १९ ॥

श्लोकार्थ — यह सुनकर सब गोप एक मत होकर वाह ! वाह ! बहुत अच्छा कहते अपने अपने गाड़े जोड़ उन पर सब सामान लाद के खाने हुए ।

सुबोधिनी — मध्ये तेषां न वैमत्यं यतो गोपास्तुल्याः, स्वस्य यत्र यत्र भिन्नतया गावः स्थितास्तान् समुदायेनैव तादृशोर्धः स्वस्यात्यन्तमभीष्ट इति मन्त्रवाक्यप्रशंसा, गच्छन्त वत्सगोविभागमकृत्वा सम्यगायुज्य योजयित्वाये प्रस्थाप्य एव वदन्तीतिवादिनः, ते सर्वेवान्तरभिन्नभिन्नव्रजाधिपतयः शकटेष्वापेक्षितोपकरणाः सर्व एव ततो ययुः ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ — उनमें किसी को भी सम्पत्ति भिन्न नहीं थी सब एक मत वाले थे क्योंकि गोप सब एक जैसे थे । वैसा उपनन्दजी का कहना उनको बहुत प्रिय था । जाते हुए 'साधु' 'साधु' कहते थे जिससे उस उपनन्द के मन्त्रणा और वचनों की प्रशंसा हुई । वे सब गोप पृथक् पृथक् व्रज (गोवाड़े) के अधिपति थे सबकी गौ अलग - अलग थी तो भी इस समयवत्स और गौओं का विभाग न कर साथ में ही मिलाकर और आगे खाना कर अपना सब सामान गाड़ों में भर कर सब गोप वहां से खाने हुए ॥ १९ ॥

**आभास —** गताश्चतुर्विधा इति ज्ञापयितुं तमोरजः सत्त्वनिर्गुणरूपान् पृथक् पृथक् चतुर्भिः श्लोकैरुह, तत्र प्रथमाह वृद्धान् बालान् स्त्रिय इति ।

**आभासार्थ —** जो वहाँ से खाने हुए वे तामस, रजस, सात्त्विक और निर्गुण होने से चार प्रकार के थे । उनका क्रमवार एक एक श्लोक में वर्णन करेंगे इस श्लोक में तमोगुणियों का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः —** वृद्धान् बालान् स्त्रियो राजन् सर्वोपकरणानि च ।

अनस्स्वारोप्य गोपाला यत्ता आत्तशरसनाः ॥ २० ॥

**श्लोकार्थ —** हे राजन् ! वृद्ध, बालक और स्त्रियों को गाड़ों में बिठाकर तथा सब सामान को गाड़ों में भर कर गोपालों ने कवच बान्ध एवं धनुष धारण किए ।

**सुबोधिनी —** अत्यन्त प्राकृता वृद्धा बालाः स्त्रियश्च, सर्वोपकरणानि च शकटेष्वारोप्य गोपाः सर्वे पदातय रजत्रितिसम्बोधनं कदाचित् तीर्थयात्रार्थं सकुटुम्बस्य प्रस्थाने आयत्ता बद्धकवचा आत्तशरसना गृहीदधनुषस्तामसत्वाद त्वदोयानामपि तथाप्रस्थितिस्तवानुभवसिद्धेतिज्ञापनाय, राजसेष्वेव सम्बन्धः ॥ २० ॥  
देशान्तरनिवासार्थमाज्ञप्तानां त्वदोयानां यथा तथेति वा,

**व्याख्यार्थ —** वृद्ध, बालक और स्त्रियाँ अत्यन्त प्राकृत हैं । आपको भी कभी सकुटुम्ब तीर्थ यात्रा पर जाने के समय आपके सम्बन्धियों की भी इस प्रकार खानगी हुई होगी । अथवा आपने अपने आश्रितों वा सम्बन्धियों को देशान्तर जाने की आज्ञा दी होगी तो उनकी भी इस प्रकार की खानगी हुई होगी । इनका आपको अनुभव है ही । इसको बताने के लिये श्लोक में 'हे राजन्' यह सम्बोधन दिया है । सब सारा सामान गाड़ों में लाद कर सब गोप पैदल कवच बाँध हाथों में धनुष लेकर (खाने हुए) तामस होने से रजस से (धनुष) सम्बन्ध हुआ\* ॥ २० ॥

**आभास —** गोधनानीति ।

\* श्रीप्रभुचरण टिप्पणीजी में कहते हैं कि २० वें श्लोक में अपने सरसामान की रक्षा करनेवाले तामस गोपों का वर्णन है । २१ वें श्लोक में अपने अपने गोष्ठ के अधिपति होने से और साथ में कर्मठ ब्राह्मणों के साथ होने से रजस गोपों का वर्णन है । २२ वें श्लोक में सात्त्विक गोपियों का वर्णन है ।

इस प्रमाण प्रकरण में यशोदा और नन्द के निरोध का मुख्य वर्णन होने से यह तात्पर्य बताकर गोपियों का सात्त्विक होना सिद्ध किया है ।

योजनाकार लालूभट्टजी कहते हैं कि जिस प्रकार सर्गलौला में ब्रह्मा समय समय पर भिन्न भिन्न गुणों को धारण करते हैं वैसे ही यहाँ भी चार प्रकार के गुणों का धारण करना काल भेद से कहा है ।

आभासार्थ — इस श्लोक में राजसों का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — गोधनानि पुरस्कृत्य शृङ्गाण्यापूर्य सर्वतः ।

तूर्यघोषेण महता ययुः सह पुरोहिता ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ — गोधन को आगे कर चारों और सींग बजाते और तुतारी का बड़ा शब्द करते पुरोहितों को साथ ले (वृन्दावन) गये ।

सुबोधिनी — गोधनानि गावः पुरस्कृत्याग्रे घावः वैश्ययाजकाः, प्रभूणां निर्गमनमाह तूर्यघोषेणेति, पुरोहिता नीत्वा निर्भया शृङ्गाण्यापूर्य, ते तु शृङ्गादिना एव, महान् ब्राह्मणा । २१ ॥

व्याख्यार्थ — गौओं को आगे कर निर्भय हो, सींग बजाने वालों ने सींग बजाकर चारों तरफ महान् शब्द किया, वैश्यों के कर्म करने वाले ब्राह्मण और गोष्ठों के प्रभू (राजा) तुरी के घोष करते हुए निकले ॥ २१ ॥

आभास — गोपिकास्तु भगवद् भोग्याः सात्त्विक्यो भिन्नतयैव निर्गता गोप्य इति ।

आभासार्थ — गोपियां सात्त्विक और भगवद् भोग्य (भगवान को रस देने वाली) थीं इसलिये वे गोपों के साथ न होकर भिन्न\* प्रकार से निकलीं ।

श्लोकः — गोप्यो रूढरथा नूत्नकुचकुङ्कुमकान्तयः ।

कृष्णलीलां जगुः प्रीता निष्ककण्ठ्यः सुवाससः ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ — स्तनों पर चर्चित नवीन केसरसे सुशोभित, सुन्दर वस्त्र पहने, गले में सोने की कण्ठियों को पहने रथ में बैठि हुई सब गोपियाँ प्रसन्न चित्त हो कृष्ण की लीला गाने लगीं ।

सुबोधिनी — रथास्तूतमा अश्वयोजिता वृषभयोजिता किन्त्वानन्दमयीति, प्रीता इति मनस्तोषः, निष्ककण्ठ्य इति साभरणाः, सुवाससश्चेति देहपरिष्कार उक्तः, गुणगानादेव वाक्परिष्कारेपि, एतासामेव रथो भगवांस्तु तास्येव प्रतिष्ठितो गच्छति ॥ २२ ॥  
नूतनाः कुचकुङ्कुमकान्तयो यासां, वयःसाधनशोभाभोग्या इति साभरणाः, सुवाससश्चेति देहपरिष्कार उक्तः, गुणगानादेव वाक्परिष्कारेपि, एतासामेव रथो भगवांस्तु तास्येव प्रतिष्ठितो गच्छति ॥ २२ ॥  
इत्याह कृष्णलीलामिति, एकवचनेन स्वोपयोगिन्येव लीला निरूपिता, कृष्णपदेन च न केवलं निरोधपरा

\* योजनाकार श्रीलालूभट्टजी कहते हैं कि गोप तो जैसे वस्त्रादि धारण किये हुए थे उन वस्त्रों से ही छकड़ों में बैठकर निकले, किन्तु गोपीजन आभूषण वस्त्र आदि से सुसज्जित होकर रथों पर बैठकर निकलीं इसलिये आभास में कहा है कि 'भिन्नतया एव' भिन्न प्रकार से गोपों से अलग होकर ही निकलीं ।

**व्याख्यार्थ** — गोपियां जिन रथों में बैठकर खाना हुई वे रथ उत्तम थे रथों में घोड़े अथवा बैल जोड़े थे । गोपियां स्तनों पर लगाई हुई नवीन केसर की कान्ति से सुशोभित हो रही थीं । स्तन शब्द देकर यह बताया है कि गोपियां वय<sup>१</sup> से, भगवान् को रस देने योग्य हैं 'नवीन केसर' शब्द से यह बताया है कि गोपियों के पास भगवान् को रस देने के साधन भी हैं; 'कान्ति' शब्द से गोपियां अपनी शोभा से यह बताती हैं कि हम भगवान् के भोग योग्य हैं । गोपियां भगवान् के ही भोग योग्य हैं । गोपियां की यह उत्कट अभिलाषा है कि भगवान् हमारा भोग करें इसलिये वे उन (श्रीकृष्ण) के ही गुणों को ही गाती हुई निकली । श्लोक में 'कृष्णलीला' यह पद एकवचन क्यों दिया ? श्रीकृष्ण की लीलाएं तो बहुत ही हैं । एकवचन का आशय कहते हैं कि गोपियों ने वह लीला गाई जो लीला गोपियों के उपयोग की थी । 'कृष्ण' नाम देने का तात्पर्य समझाते हैं कि वह लीला (जो लीला गा रही थी) केवल निरोध करने वाली नहीं थी किन्तु आनन्दमयी\* भी (आनन्द से भरपूर आनन्दरूप) थी गोपियां उस समय प्रसन्नचित्त थीं । गोपियों ने गले में सोने की कण्ठी आभूषणों से और सुन्दर वस्त्रों से देहों को परिष्कृत<sup>२</sup> किया था, तथा भगवद्गुण गान से वाणी को परिष्कृत किया था रथा<sup>३</sup> तो गोपियों के ही थे अतः भगवान् उनके (गोपियों के) हृदय में विराजमान थे उनके साथ रथ में बैठ जाते थे ॥ २२ ॥

**आभास** — यशोदारोहिण्योर्भगवत्सम्बन्धाद् गुणातीतयोः पृथग्गमनमाह तथेति ।

**आभासार्थ** — यशोदा और रोहिणी भगवान् से सम्बन्ध होने के कारण गुणातीत<sup>३</sup> हो गई थी इसलिये उनका जाना पृथक् हुआ । उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — तथा यशोदारोहिण्यावेकं शकटमास्थिते ।

**रेजतुः** कृष्णरामाभ्यां तत्कथाश्रवणोत्सुके ॥ २३ ॥

**श्लोकार्थ** — वैसे ही कृष्ण की कथा सुनने की इच्छा वाली यशोदा तथा रोहिणी एक छकड़े में श्रीकृष्ण तथा बलरामजी को साथ में लेकर बैठी हुई शोभित हो रही थी ।

\* योजनाकार — इसका भाव समझाते हुए कहते हैं कि 'कृष्ण' नाम से यह बताया है कि 'स्त्रीभावो गुडः पुष्टिमार्गं तत्त्वज्ञितिकृष्ण पदार्थ' गुड स्त्री भाव पुष्टिमार्ग में तत्त्व है स्त्री भाव से युक्त भगवान् को 'कृष्ण' कहा जाता है वह स्वरूप विशेष रसवाला (दाता) होने से आनन्दमय कहे जाते हैं अतः उनकी लीला भी आनन्दमयी है ।

† लेखकार — 'तो' अक्षर का भाव बताते हैं कि भगवान् गोपियों के हृदय में स्थिर स्थित रहते हैं - यशोदा की गोदी में सदैव स्थिर नहीं रहते हैं - थोड़ी देर बैठकर फिर चले जाते हैं पुनः आ जाते हैं ।

सुबोधिनी — शकटे मध्यस्थितः, अनौ निकृष्टं ताभ्यां कृत्वा वा रेजतुः गोपिकानां निकटे तयोर्गमनमाह रथस्तुतमः, तथेति सौन्दर्यं गुणगानं च, निर्दिष्टं स्थानं यशोदायाः, सत्कथाश्रवणोत्सुके इति नामलीलानुरक्तिस्त्वयोः सूचिता ॥ भगवांश्च प्रधानभूत इति सार्धद्वयवार्तिको भगवान् अतो २३ ॥ यशोदाक्रीडे स्थितस्तथा रामोपि, कृष्णरामाभ्यां सहिते

व्याख्यार्थ — तीन प्रकार की सवारी की गाड़ी होती है। उनमें 'शकट' (छकड़ा) मध्यम अतः छोटी गाड़ी निकृष्ट है और 'रथ' उत्तम है। श्लोक में 'तथा' शब्द से बताया है कि सौन्दर्य और भगवान् का गुणगान यहां भी है। जहां यश देने वाली यशोदा हो वहां सौन्दर्य और यश दोनों ही रहते हैं इसी प्रकार जहां भगवान् विराजते हैं वहां भी सौन्दर्य और यश होते ही हैं। इस रथ में स्थित यशोदा एवं गोदी में विराजमान भगवान् के कारण दोनों (सौन्दर्य और गुणयश) यहां भी हैं कारण कि यशोदा शकट में बैठी थी और भगवान् मुख्य थे उसकी गोदी में विराजमान थे क्योंकि उस समय भगवान् अढ़ाई वर्ष के थे। वैसे राम भी थे। राम और श्रीकृष्ण दोनों के साथ होने से वे (यशोदा-रोहिणी) सुशोभित हो रही थी। वे गोपियों के पास गईं, कारण कि उन दोनों (यशोदा-रोहिणी) को भगवद्गुण श्रवण करने की उत्सुकता थी। इससे यह बताया कि उनकी भगवान् की नाम लीला में विशेष प्रीति थी ॥ २३ ॥

आभास — न केवलं तत्र गताः किन्तु तत्र प्रतिष्ठिता इत्याह वृन्दावनमिति ।

आभासार्थ — निम्न श्लोक में कहते हैं कि वे केवल वृन्दावन में गये ही नहीं किन्तु उन्होंने वृन्दावन को अपना वासस्थान बना लिया ।

श्लोकः — वृन्दावनं सम्प्रविश्य सर्वकालसुखावहम् ।

तत्र चक्रुर्व्रजावासं शकटैरर्धचन्द्रवत् ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ — सब समय में सुख देने वाले वृन्दावन में प्रवेश कर, वहाँ शकटों से अर्धचन्द्र के समान व्रज<sup>२</sup> के आवास<sup>३</sup> बना दिये ।

सुबोधिनी — वृन्दावनभूमिस्तस्मिन् कल्पे उत्तरणपक्षेऽप्यल्पप्रवाहेति नोत्तरणं निरूपितं, वर्षाकाल एव यमुनोत्तरभागे गोवर्धनश्चाक्रूरस्थाने तदुत्तरणमल्पप्रवाहा यमुनाया महत्त्वमिति, एते बृहद्वनं परित्यज्य वृन्दावनं सम्यक् च यमुना हृदाः परं तत्रागाद्या नन्दस्थानं च तत्रैव, प्रविश्य शकटैरर्धचन्द्रवद् व्रजावासं चक्रुः, घेष्टनस्थानीया अस्मिन् कल्पे तु प्रदेशास्तत्तदधिष्ठातृदेवताधिष्ठिता गृहाः, मध्ये गवां स्थानं, प्रथममेवैतत्, पश्चाद् यथासुखमेव विशाकसिततया पतिता इति न काप्यनुपपत्तिः स्थितिः, अर्धचन्द्राकारे बहिर्द्वारं सर्वग्राह्यं भवति, गृहाणां

निर्माणं तत्र नापेक्ष्यते, यतो वनमेव सर्वकालं सुखमावहति, काष्ठानयनार्थानि, महादेवो हि पशुपतिस्तच्चिह्नमर्धचन्द्रः, शकटैरिति, स्थानां क्रीडार्थं स्थापनं, अनांसि अतः प्रतिष्ठितो भवतीति ॥ २४ ॥

**व्याख्यार्थ** — भागवत् में जिस कल्प की, श्रीकृष्ण की लीला कही गई है उस कल्प में वृन्दावन तथा गोवर्द्धन यमुनाजी के उत्तर भाग में थे, अकर के स्थान पर जाने के लिये जहाँ यमुनाजी पार करनी पड़ती थी वहाँ यमुना का प्रवाह स्वल्प<sup>१</sup> था परन्तु हृद<sup>२</sup> अगाध<sup>३</sup> थे। नन्दजी का स्थान भी वहाँ ही था। इस कल्प में तो अधिष्ठातृ देव अपने अपने अधिष्ठातृ<sup>४</sup> भिन्न २ बना कर रहते हैं अतः प्रदेश भी अलग अलग हो गए हैं। इसलिये इस प्रकार के वर्णन में किसी प्रकार अयोग्यता की शङ्का नहीं है। गोप यमुनाजी को पार करके वृन्दावन पहुँचे थे उसका वर्णन क्यों नहीं किया? इस शङ्का का निवारण यह है कि यदि उस कल्प में भी गोकुल से वृन्दावन जाते हुए बीच में यमुनाजी थी ऐसा मान लिया जाय और उसको पार कर गोप वृन्दावन में गए थे तो भी वहाँ यमुना का प्रवाह स्वल्प था जिसको मनुष्य पैदल ही पार कर सकते थे इसलिये उत्तरण<sup>५</sup> का वर्णन नहीं किया है कारण कि यमुना का प्रवाह<sup>६</sup> केवल वर्षाकाल में ही बढ़ता है। उस समय पार नहीं जा सकते, गोपादि गोकुल वासियों ने गोकुल छोड़कर वृन्दावन में समीचीन<sup>७</sup> प्रकार से प्रवेश कर उस (वृन्दावन) को शकटों से अर्धचन्द्र के समान व्रज का आवास बना दिया। किस प्रकार बनाया उसको समझाते हैं कि, बीच में गौओं के रहने के स्थान बनाए, उनके चारों तरफ वाड़ की जगह शकटों को रखवा जिनको अपने घर किए। इनमें मुख्य तो धेनुओं के रहने के स्थान थे। इस प्रकार सब सजाने के पश्चात् सुख पूर्वक निवास करने लगे। वास स्थान को अर्धचन्द्राकार इसलिये बनाया गया था कि बाहिर के दरवाजे से अपने स्थान पर आने में किसी को रुकावट न हो वहाँ शकटों से पृथक् अन्य घरों के बनाने की आवश्यकता नहीं थी कारण कि वृन्दावन सर्व समय में सुख देने वाला था। वासस्थान शकटों<sup>८</sup> से अर्धचन्द्र के समान बनाया था। छकड़ों से इसलिये बनाया था, कि रथ क्रीड़ा के काम में आएँगे और गाड़े काष्ठ आदि को लाने के काम में आएँगे। महादेव पशुपति है उनका चिह्न अर्धचन्द्र है उसमें आप (महादेव) विराजते हैं अतः यह वास स्थान अर्धचन्द्राकार होने से महादेव के विराजने का स्थान होने से वे यहां विराजेंगे जिससे पशुओं के सुख समृद्धि<sup>९</sup> की वृद्धि<sup>१०</sup> होगी ॥ २४ ॥

\* प्रकाशकार पद्यपुण्य का प्रमाण देकर कहते हैं कि गोप गोकुल से वृन्दावन मार्ग शीर्ष शुक्ल ५ को गए हैं। उस समय वर्षा नहीं थी।

१-कम, थोड़ा।

५-पार करने।

९-सम्पत्ति।

२-गहरे या खड़े।

६-अच्छे, उत्तम।

१०-बढ़ोतरी।

३-बहुत गहरे।

७-छकड़े।

४-स्थान।

८-सकड़ियाँ।

आभास — तत्र भगवतश्चरित्रमाह सामान्यतो वृन्दावनमिति ।

आभासार्थ — वहां (वृन्दावन में) भगवान् ने जो सामान्य चरित्र किए उनका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं कि -

श्लोकः — वृन्दावनं गोवर्धनं यमुनापुलिनानि च ।

वीक्ष्यासीदुत्तमा प्रीती राममाधवयोर्नृप ॥ २५ ॥

श्लोकार्थ — हे राजन ! वृन्दावन, गोवर्द्धन और श्री यमुनाजी के तटदेखकर, राम और कृष्ण को उत्कट<sup>१</sup> आनन्द हुआ ।

सुबोधिनी — वृन्दावनं राजसं गोवर्धनः सात्त्विको पूर्वोक्तप्रकारेण लीलां कृतवानित्युक्तं भवति, नृपतिसम्बोधनं यमुनापुलिनानि च दृष्ट्वोत्तमा प्रीतिरसीत्, अतः प्रीतः दर्शनेन प्रीती राजलीलेति ज्ञापयितुम् ॥ २५ ॥

व्याख्यानार्थ — राजस वृन्दावन, सात्त्विक गोवर्द्धन और यमुनाजी के तट देखकर (राम और श्रीकृष्ण को) बहुत हर्ष हुआ । अतः हर्ष युक्त होकर पूर्व में कहे हुए प्रकार से लीला करने लगे । हे नृप ! यह सम्बोधन परीक्षित को बताने के लिये दिया है कि देखने से हर्ष होना यह भगवान की राजलीला है ॥ २५ ॥

आभास — एवं सामान्यलीलामुक्त्वा स्त्रीनैरपेक्ष्येण विशेषतो बाललीलां वक्तुं वत्सचारणलीलामुपक्रमत एवमिति ।

आभासार्थ — सामान्य लीला के पीछे जिस लीला में स्त्रियों की आवश्यकता नहीं है ऐसी बाललीला का वर्णन इस श्लोक से लेकर अध्याय समाप्ति पर्यन्त करते हैं । उसमें पहले वत्स<sup>२</sup> चारणलीला से प्रारम्भ करते हैं ।

श्लोकः — एवं व्रजौकसां प्रीतिं यच्छन्तौ बालचेष्टितौ ।

कलवाक्यौ स्वकालेन वत्सपालौ बभूवतुः ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ — बालकों के समान चेष्टा वाले, मधुर और अव्यक्त<sup>३</sup> शब्द बोलने वाले वे दोनों (राम-कृष्ण) व्रजवासियों को हर्षित करते थे । जब वत्स चरणे की आयु वाले हुए तब वत्सपाल हुवे । (बछड़े चरणे लगे) ।

१-अधिक ।

२-बछड़े चरणे ।

३-तोतले जो पूरे समझ में न आवे ।



सुबोधिनी — यावदध्यायसमाप्ति, पूर्वप्रकारेण वाचा च भावयतीति बालयोरिव चेष्टितानि ययोः ब्रजौकसां ब्रजमध्यस्थितानां प्रीतिं यच्छन्तावेव कलमव्यक्तमधुरं वाक्यं ययोः, ब्रजौकसां प्रीतेरनुवृत्तिः स्वकालेनाधिदैविकेन सेवार्थमागतेन कृत्वा वत्सपालयोग्यौ पूर्वकृतनिरोधनिवृत्त्यभावाय भगवति योग्यताफलयोः, पृथङ् वर्णत्रयाधिकौ जातौ, देशकालाद्युपद्रवाभावाय बालचेष्टितौ निरूपणाभावाद् वत्सपालकावेव सङ्ख्यातावित्युक्तम् ॥ २६ ॥ कलवाक्याविति पदद्वयं, मनसा तु प्रीतिं भावयत्येव कायेन

व्याख्यार्थ — ब्रजवासियों को पूर्वोक्त<sup>१</sup> प्रकार से हर्ष देते हुए ही आधिदैविक काल सेवा के लिये आ गया । जिससे आप वत्सपाल (बछड़ों को पालने वाले गोप) होने के योग्य आयु वाले (तीन वर्ष से बड़े) हो गए । उस समय वहाँ (वृन्दावन में) देश अथवा कालादि के उपद्रवों का अभाव था कारण कि दोनों ने अपने बालचेष्टाओं<sup>२</sup> से और मधुर तथा धीमीवाणी से उपद्रवों का अभाव कर दिया था । । भगवान् मन से तो गोपों को हर्ष देते ही थे किन्तु बाल क्रीड़ाओं द्वारा काया से और मधुर तथा अव्यक्त शब्दों द्वारा वाणी से भी गोपादिकों में हर्ष उत्पन्न करते थे । ब्रजवासियों में जो हर्ष (निरोध) उत्पन्न किया था वह चालू रहे इसलिये ये (बाल चेष्टाएँ और कलस्व की) लीलाएँ करने लगे । भगवान् में योग्यता और फल का पृथक् निरूपण न कर 'वत्स पालकौ' पद से दोनों (योग्यता और फल) बता दिये जैसे कि भगवान् में बछड़ों को चराने की योग्यता है और उनका पालन करने की सामर्थ्य भी है ॥ २६ ॥

आभास — तयोर्वत्सपालने क्रीडामाह त्रिभिरविदूर इति ।

आभासार्थ — दोनों ने जो वत्सों को पालते हुए क्रीड़ाएँ की हैं उनका वर्णन २७ वें श्लोक से २१ वें श्लोक तक करते हैं ।

श्लोकः — अविदूरे ब्रजभुवः सह गोपालदारकैः ।

चारयामासतुर्वत्सान् नानाक्रीडापरिच्छदौ ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ — क्रीड़ा के अनेक साधन वाले दोनों भाई ग्वालबालों के साथ ब्रजभूमि के सान्निध्य<sup>३</sup> में बछड़े चराने लगे ।

सुबोधिनी — अत्रापि क्रीड़ा त्रिरूपा, तत्र प्रथमं ब्रजभूवोविदूरे यत्र स्थितैर्ब्रजो दृश्यते ब्रजस्थाश्च पश्यन्ति, ब्रजभूम्यपेक्षया सा तृणयुक्ता विलक्षणेति ज्ञापयितुं ब्रजभुव इत्युक्तं, गोपालानां दारकाः, समानवयसस्तान् कृतार्थीकतुं बहुभिः सह क्रीडोत्तमा भवतीति क्रीडासाधनसहितावेव

वत्सार्चारयामासतुः, प्रमरचक्रसूक्ष्मदण्डकाष्ठखण्ड- कृत्रिमरथवादित्राकर्षणादीनि क्रीडापरिच्छदाणि, तानि गृहीत्वैवायान्ति गच्छन्ति च, अनेन सामान्यतः क्रीडा निरूपिता, वत्सपालनं तु मुख्यं सूक्ष्मगोपालानां सहभावश्च ॥ २७ ॥

१—पहले कहे हुए ।

२—बच्चों की क्रियाओं ।

३—निकट, पास में ।

**व्याख्यार्थ** — यहाँ भी क्रीड़ा तीन प्रकार से की है । उन तीन प्रकार की लीलाओं में से प्रथम प्रकार की लीला का वर्णन करते हैं कि १ - साधारण लोला व्रज-भूमि के समीप की है सामीप्य<sup>१</sup> भी ऐसा की जहाँ खड़े हुए व्रज को देख सकते थे और व्रज में स्थित उन क्रीड़ाओं को और उनको भी देख सकते थे । जहाँ सामीप्य में खेलते थे वह भूमि व्रजभूमि से विशेष घास वाली होने से विलक्षण थी । गोपबालक समानवय वाले थे उनको कृतार्थ करने के लिये और बहुतों के साथ क्रीड़ा उत्तम (रसवाली) हो इसलिये साधन भी साथ ले गए थे । ऐसे सरस क्रीड़ा करते वे दोनों बछड़े चरते थे । क्रीड़ा<sup>२</sup> के साधन जो ले गए थे वे बताते हैं । फिरने के लिये चक्र, छोट दण्ड, काष्ठ का टुकड़ा, बनावट रथ, बाजे, आकर्षण (वृक्षों से फल गिराने के लिये लम्बे बांस के साथ बांधा हुआ लोहे का काँटा) आदि साधन थे उनको लेकर ही आते और जाते थे । इस श्लोक में इस प्रकार सामान्य<sup>३</sup> क्रीड़ा का वर्णन किया है इस क्रीड़ा में वत्सों का पालन और छोटे गोपों से मित्रता मुख्य है ॥ २७ ॥

**आभास** — उभयोस्त्र निरोधो वक्तव्यः, नन्दसहचरितानां निरोधनिरूपणाय साधनैश्च क्रीडां प्रथमत आह ।

**आभासार्थ** — यहाँ दोनों (वत्स और गोपों) के निरोध का वर्णन करना है । नन्द के साथ हिलमिल रहने वालों का निरोध करने के लिये, यहाँ दोनों (वत्स और गोपों) के निरोध का वर्णन करना है । अतः साधनों से होनेवाली क्रीड़ा का वर्णन पहले करते हैं ।

**श्लोकः** — क्वचिद् वादयतो वेणून् क्षेपणैः क्षिपतः क्वचित् ।

क्वचित् पादैः किङ्किणीभिः क्वचित् कृत्रिमगोवृषैः ॥ २८ ॥

**श्लोकार्थ** — कभी मुरली बजाते, कभी गोपन चलाते, कभी घुँघरू वाले चरणों से नृत्य करते और कभी बनावटी मृत्तिका के दोनों तरफ पहिये वाले खिलोने से क्रीड़ा करते थे ।

**सुबोधिनी** — प्रथमं क्वचिद् वेणून् वादयतोर्वेणुर्बहु- अनेनोपलक्षिताः, क्षेपणा रण्णादिनिर्मिता मध्ये लोह्यदि चिह्नवशस्तेषामवान्तरभेदा बहव इति बहुवचनं, शिरोव्यापार स्थापयित्वा भ्रामयित्वा लोह्यदिकं दूरे क्षिपन्ति तज्ज्ञातीया

§ 'प्रकाश' में गो. पुरुषोत्तमजी कहते हैं कि - १. साधारण क्रीड़ा, २. असाधारण क्रीड़ा और ३. निरोध में विघ्न करनेवाले दैत्यों का नाश । इस प्रकार की तीन लीलाएँ की ।

अपि बहुविधाः, एवमुभाषपि क्षिपतो लोष्टादीनि दूरे प्रक्षिपतो लोष्टादीनि, कदाचिन् मृदादिनिमित्ता ये गोवृषा मत्प्रक्षिप्तमेतावद्दूरे गच्छतीति ज्ञापनार्थं, क्वचिदिति उभयतश्चक्रयुक्ता तानारुह्य व्रजतः, गोपाला वा यत्रान्योपद्रवशङ्का न भवति, हस्तयोः क्रीडा निरूपिता, कृत्रिमवृषाभवन्ति, तैः सह युद्धादिकं वा कुरुतः, तैर्वान्यान क्वचित् पादैः किङ्किणीभिः सहितैर्नृत्यतः क्षिपतो वा क्षिपन्ति तमातेपयित्वा क्वचित् पातयन्ति ॥ २८ ॥

**व्याख्यार्थ —** (१) प्रथम दोनों कभी बंसरियों को बजाते थे बंसरियाँ बहुवचन में इसलिये कही गई है कि बंसरी के अवान्तर भेद बहुत हैं बहु छिद्रवाले वंश (बाँस) को बंसरी कहते हैं। अनेक प्रकार की बंसुरी बजाने से मस्तक की क्रिया बताई है। (२) हस्त की क्रिया बताने के लिए दोनों भाई गोफनों को (रस्सी आदि से बने हुए होते हैं जिनमें बीच में लोहे वा पाषाण के ढेले रखकर दूर दूर फेंके जाते हैं उनको गोफन कहते हैं वे भी अनेक प्रकार के होते हैं) घुमाते घुमाते लोष्टादि<sup>१</sup> ढेलों को दूर दूर फेंकते थे। फेंक कर राम कहते थे कि देखो मेरा ढेला कितना दूर गया है फिर श्रीकृष्णजी फेंक कर कहते थे कि दाऊ ! देखो तो सही मेरा ढेला आपसे भी कितना दूर गया है यह क्रीड़ा सावधानी से कभी इस प्रकार करते जैसे किसी को किसी प्रकार की चोट लगने की शङ्का न हो। कभी पैरों में किङ्किणी<sup>२</sup> बान्ध कर नाच करते थे अथवा लोष्टादि के ढेलों को उन पैरों से दूर फेंकते थे कभी मृत्तिका<sup>३</sup> से बनाये हुए गो वृषों<sup>४</sup> पर बैठकर घूमते थे अथवा गोप गो वृष बन जाते थे उन पर सवार होकर घूमते थे। अथवा उनसे युद्ध करते थे। अथवा परस्पर<sup>५</sup> एक दूसरे पर गिरा देते थे। कभी उन पर चढ़कर गिरा देते थे ॥२८॥

**आभास —** एवं शिरोबाहुपादयुद्धस्थानैश्चतुर्विधा लीला निरूपिता, सम्पूर्णं लीलामाह वृषायमाणाविति ।

**आभासार्थ —** ऊपर के श्लोक में शिर, बाहु, पाद और युद्ध के साधनों से चार प्रकार की लीला का वर्णन कर अब इस श्लोक में श्रीकृष्ण ने जो लीला की उसका वर्णन करते हैं।

**श्लोक: —** वृषायमाणौ नर्दन्तौ युयुधाते परस्परम् ।

अनुकृत्य रुतैर्जन्तूश्चेरतुः प्राकृतौ यथा ॥ २९ ॥

**श्लोकार्थ —** आप (श्रीकृष्ण) स्वयं वृष बनकर नाद<sup>६</sup> करते तो अन्य भी वैसे ही करते और परस्पर लड़ते थे। कभी मयूर<sup>७</sup> आदिकों की वाणी का अनुकरण करते प्राकृत बालकों के समान फिरते थे।

१—पत्थर इत्यादि ।

६—गरजते ।

२—घुंघरू ।

७—मोर ।

३—मिट्टी ।

४—बैलों ।

५—आपस में ।

+ "मन्त्राणां मंत्रोच्चारणस्य शक्तिः किं विधायां भवति?" इति प्रश्नः आचार्यजीकृतः।

5 लेखक कहते हैं कि एक प्रकार के जीव जो श्रीकृष्ण और ब्रह्मपुत्री दोनों के समान समझे जाते हैं। दूसरे प्रकार के जीव जो केवल श्रीकृष्ण में ही निहित होते हैं, वे प्रमाण में निहित होते हैं।

\* टिप्पणी में श्री गुरुदेव कहते हैं कि - गोपां में यह दौध था कि वे भावान को अलौकिक समझते थे लेकिन अं समय में समझना दौध है इस दौध को निवृत्त करने के लिए ही परमात्मा (भावान) ने आकाश

॥ श्रीगणेशाय नमः ॥

आभासाद्य - इस प्रकार भावान् ने जो लीलाएँ की उनका वर्णन कर अब शब्दों के द्वारा

मार्गदर्शनपूर्णता परामर्श कक्षा

अध्यास - १ एवं भागवत की लिखित कथा पाठ्यनाम वलयना वलयना वलयना

व्याख्या—स्वयं ही बनावटी वृक्षरूप बनते थे और उनके समान शब्द भी करते थे। परस्पर लड़ते भी थे। इससे काया, वाणी तथा मनकी लीला बताई है। युद्धकाया की और वाणी से बिजली जैसी शक्ति इस प्रकार करते में मनोवर्ष प्रबल होता है जिससे मन से भी लीला हुई। पूर्वार्ध में स्वतः की हुई तीन प्रकार की लीलाएँ कहकर उत्तरार्ध में अनुकरण से जो आपने लीलाएँ कीं उनका वर्णन करते हैं। मण्डूक्य तथा मयूख आदि जन्तुओं के रूप बनकर उनके साथ मिलके वैसे ही बोलते बोल कर उनकी भी धम में डालते थे वे भी समझ नहीं सकते थे कि ये बनावटी मूढ़क वा मयूख हैं। इस प्रकार की बहुत लीलाएँ करते थे। ये लीलाएँ अपना ऐश्वर्य प्रकट करने के लिए की थी ऐसी शङ्का हो तो उसको मिटाने के लिये श्लोक में “प्रार्कौ” शब्द दिया है जिसका भाव यह है कि ये लीलाएँ प्रार्कौ के समान प्रार्कत साधनों से ही करके उनका अनुकरण किया था। भावान ने ये लीलाएँ सब प्रकार के बालकों के दोष\* दूर करने, मनोस्त्रान करने तथा विशेष करने के लिए की है। जीव दोष प्रकार के थे इसलिये दोनों ने ऐसी लीलाएँ की ॥ २९ ॥

ममप्रादुरागतं त्वत्कृतं त्वत्कृतं त्वत्कृतं त्वत्कृतं ॥ २९ ॥

**सुश्रीमती -** स्वयंसेवक मण्डल: आत्मसमकाल  
 नई व नई-नी शब्द कुल: परम्परामयी व सुसुधाल,  
 काव्यश्रमणीनी प्रदर्शना: युद्ध कायिकमणि  
 मनीषामुपमा-पर मानस, एवं स्वनीनी निकट्योकरेणमि  
 स्वनीनीनामाशुक्तं पति, अर्द्ध मण्डकादीन  
 व तथा नीना कृतान्, नीनासु निविध

श्लोकः — कदाचिद् यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोः स्वकैः ।

वयस्यैः कृष्णबलयोजिघांसुदैत्य आगमत् ॥ ३० ॥

**श्लोकार्थ —** किसी समय यमुनाजी के तटपर अपने समानवय वाले साथियों के साथ बछड़े चराने वाले राम और कृष्ण को मारने की इच्छा वाला एक दैत्य अचानक आ गया ।

**सुबोधिनी —** यदा वत्सानां निषेधो भगवता विचारितः स एव कालः, यमुनातीरे वत्सांश्चारयतोऽस्तयोः सतोदैत्य आगमदितिसम्बन्धः, प्राकृता एव हि सदोषांश्चारयन्ति निषेधार्थं प्रवृत्तस्तु निर्दोषानेव पालयतीति ज्ञापनार्थं तेषां वत्सानां मिलितानां योयमासुरो भावः स एकोभूतो वत्सासुर इति तद्वधो निरूप्यते, यमुनातीरे इति, तेषां शुद्धत्वे जलं हेतुः, दैत्यागमने तु यमभगिनीत्वं हेतुरिति, स्वकैर्वयस्यैः सहैति, येनः स्थिता बालास्ते निष्कासिता अत एव भगवद्भावमापन्नास्ते हि सर्वथा समानवयसो भवन्ति, ततो भक्तकालजोडीकृताः सख्ययोग्या भवन्तीति कृष्णबलयोश्चारयतोः सतीरिति पूर्वप्रिव सम्बन्धः, जिघांसुर्धातकं क्रूरं दैत्यः पाल्यमानदोषरूपत्वादनानां, आगमत् क्रीडास्थाने समागतः ॥ ३० ॥

**व्याख्यानार्थ —** वह दैत्य उस वक्त आया जिस समय भगवान् ने बछड़ों के निरोध करने का विचार किया था । जब यमुनाजी के तट पर दोनों भ्राता बछड़ों को चरा रहे थे उस समय वह दैत्य आया इस प्रकार अन्वय है । प्राकृत पुरुष ही दोषवाले बछड़ों को चराते हैं जो भगवान् निरोध करने के लिए प्रकट हुए हैं वे सदोष<sup>१</sup> बछड़ों को कैसे चराएँ ? इस शङ्का को मिटाने के लिए ही कहते हैं कि सब बछड़ों का सम्मिलित जो आसुर भाव था वह वत्सासुर के रूप में वहाँ आया था इसलिए भगवान् ने उसका वधकर बछड़ों को प्रथम निर्दोष बनाने की लीला की है । बछड़े तो यमुनाजल पान करने के कारण शुद्ध थे । दैत्य वहाँ क्यों आया ? उसका कारण यमुनाजी यमकी बहिन है\* । भगवान् जिन समानवय वालों के साथ क्रीड़ा करते थे वे कौन थे ? आचार्यश्री उसका स्पष्टीकरण करते हैं कि समान वय वाले वयस्य वे थे जिनको बालक भगवान् ने पहले (पूतना का स्तन पान करते समय) अपने अन्दर स्थापित किए थे उनको बाहिर प्रकट कर खेलते थे अन्तः स्थित होने से वे भगवद्भाव को प्राप्त हुए थे । जिससे भगवान् के समवयस्क होने से मैत्री के योग्य भी थे । इसलिए श्लोक में केवल 'वयस्या' (मित्र) न कहकर 'स्वकैः' (अपने) कहा । क्योंकि 'अन्तःस्थ' (हृदय में रहने वाले) ही अपने कहे जाते हैं । 'जिघांसु' कहने से बताया है कि वह दैत्य, धातक और क्रूर था । उसका नाम इसलिए नहीं दिया है कि वह पालने योग्य बछड़ों के दोषों का रूप था । आया अर्थात् खेल के स्थान पर आया ॥ ३० ॥

\* यमुनाजी के तीरे पर क्रीड़ा हो रही थी वहाँ दैत्य आया यमुनाजी यम की बहिन है उसका आश्रय जो करता है उसको यमयातना योगनी नहीं पड़ती है उसके सर्वदोष दूर हो जाते हैं मुकुन्द भगवान् में रति होती है । यहाँ आने से इसकी भी ऐसी गति होनी है । इसलिए यहाँ आया । — अनुवादक

\* 'कृष्णार्पणम्' में लिखा है कि गोपार्पणम् अर्घ्य भन के आए है ? अतः यह अर्घ्य दोष रूप है । — 'गोबन्ना' ।

† बलदेवजी वेद रूप है इसलिए उनकी सम्पत्ति लेने के लिए उनको दिलाया । — 'गोबन्ना' ।

+ 'अन्यथा' अर्थात् 'आकलन एवं' । — 'प्रकाश' ।

**व्याख्या —** प्रथम दोष\* रूप वह अमर बछड़े का रूप धारण कर बछड़ों के गूँथ (दोले) में मिल गया था। यदि यह पृथक् खड़ा होता तो उसको कोई भी पहचान सकता था किन्तु बछड़ों के समूह में वस्त्र रूप होकर मिल जाने से पहचानना अशक्य\* था। भगवान् को तो उसके उद्धार के लिए उसको पारना था क्योंकि यह भगवान् सर्व के दुःखों का हटान करने वाला है। भगवान् ने बलदेवजी को दिखा दिया कि यह बछड़ा अमूर्त\* है। यदि इस प्रकार कहें तो नारा दिखाने की निन्दा होती कि कृष्ण भी इसको पहचान न सके और बछड़े को मार दिया इस निन्दा के निवारण के लिए बलराम जी को पहचान कर ही क्या बलदेवजी उसको न पहचान सके ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि उस समय बलदेवजीको अन्य धर्म से सम्बन्ध था अतः

[illegible]

॥ ३१ ॥

आपास — वस्य ग्रहणमाहे तं वस्यरूपिणमिति ।  
 आपासाय — उस (वस्यस्य) को पावाने से पहले ही कर पकड़ लिया उसका वर्ण निम्न  
 वस्यक से करते हैं ।  
 वस्यकः — तं वस्यरूपिणं वीक्ष्य वस्यस्यभावं हति ।

उन्होंने पहचाना नहीं । जिस समय भगवान् ने बलरामजी को कहा कि यह वत्स असुर है उस समय भगवान् के सत्त्व भाव उदय से असुर ने अपना असुरत्व प्रकट कर दिखाया । यदि भगवान् बलदेव को यों न दिखाते तो वह अदृश्य हो जाता । भगवान् के दिखाने से बलदेवजी ने उसके असुरत्व को जान लिया । भगवान् उसको पकड़ने के लिए धीरे धीरे इसलिये गए कि वह न जान सके कि मेरे पकड़ने के लिए आ रहे हैं यदि जान जाएगा तो वह अपना असुरपना बाहिर भी प्रकट कर देगा । अतः धीरे धीरे तथा मुग्ध भाव से जा रहे थे जिससे वह समझ जाय कि किसी दूसरे को पकड़ने को जा रहे हैं । भगवान् ने अपना मुग्धभाव प्रकट करते हुए पहले किसी दूसरे वत्स को क्रीड़ा के लिए पकड़ते हुए इसको भी पकड़ लिया । पकड़ते ही वह शक्ति हीन वा क्षीण हो गया । भगवान् ने जिस गति से दौड़कर दूसरे को पकड़ा था उसी प्रकार दौड़कर इसको भी पकड़ लिया पूर्ण रीति से पकड़ लेने तक इस (वत्सासुर) को अज्ञान में रखने के लिए भगवान् ने मुग्ध भाव प्रकट किया था ॥ ३१ ॥

**आभास —** ततो गृहीत्वा मारितवानित्याह गृहीत्वेति ।

**आभासार्थ —** पकड़ने के अनन्तर भगवान् ने उसको मार डाला यह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

**श्लोक: —** गृहीत्वापरपादाभ्यां सह लाङ्गूलमच्युतः ।

भ्रामयित्वा कपित्थाग्रे प्राहिणोद् गतजीवितम् ॥ ३२ ॥

**श्लोकार्थ —** भगवान् ने पूँछ के साथ पीछे के पादों को पकड़ कर इस प्रकार घुमाया जिससे उसके प्राण वहाँ ही निकल गए अनन्तर कैथ वृक्ष के पास फेंक दिया ।

**सुबोधिनी —** महाबलत्वेन पुच्छभ्रामणादिनापर- भगवतोनेकक्रियां सम्पादयतीति कपित्थपातनार्थं वृक्षोपरि धकरणाभावात् लाङ्गूलेन सहापरपादाभ्यामपरपादौ गृहीत्वा, पातनममुक्त्यर्थं च न प्राणापगमो भगवद्भुक्तसम्बन्धे नापि स्वस्य मारणादिशंका तु नास्त्येव, यतोच्युतः, कपित्थाग्रे भूमौ नापि वृक्षेन्तरिक्ष एव प्राणापगमः, अत एव भ्रामयित्वा कपित्थफलपातनार्थं प्राहिणोत्, एका क्रिया गतजीवितमन्तरिक्ष एव गतप्राणं प्राहिणोत् ॥ ३२ ॥

**व्याख्यानार्थ —** वह असुर महा बलवान् था भगवान् केवल पूँछ पकड़ कर फिरते थे तो कदाचित् पैरों से भगवान् का अपराध करता । यह अपराध इससे न हो, इसलिये भगवान् ने पूँछ सहित इसके पीछे के पांव भी पकड़ लिये । भगवान् के मन में यह तो शंका थी ही नहीं कि यह असुर मुझे मारेगा क्योंकि भगवान् 'अच्युत' हैं । घुमाकर कैथ वृक्ष पर इसलिये फेंका

कि पेड़ से फल गिरे । भगवान् की एक क्रिया अनेक कार्यों को सिद्ध करती है । कैथ के फल गिरने और उसको मुक्ति न हो तदर्थ उस पेड़ पर इसको फेंका था भगवान् के हाथ का सम्बन्ध होने से उसके प्राण पृथ्वी पर न गिरने पर न गए और न वृक्ष पर गिरने के समय गए किन्तु अन्तरिक्ष में ही प्राण चले गये थे । इसलिये श्लोक में 'गतजीवितम्' प्राहिणोत्' कहा है जिसका आशय है प्राण अन्तरिक्ष में जाने के अनन्तर उसको फेंक दिया ॥ ३२ ॥

**आभास —** बालकैस्तु भ्रामणे प्रहरणे च तच्छरीरं न दृष्टमेव, पश्चात् सफलं द्रष्टमित्याह सकपित्थैरिति ।

**आभासार्थ —** भगवान् ने वत्सासुर को जिस समय घुमाया और कैथ के पेड़ पर फेंका उस समय बालकों ने उसको देखा ही नहीं जब वह कैथ के फलों के साथ गिरा तब उसको देखा । इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक: —** स कपित्थैर्महाकायः पात्यमानैः पपात ह ।

तं वीक्ष्य विस्मिता बालाःशशंसुः साधुसाध्विति ॥ ३३ ॥

**श्लोकार्थ —** गिरते हुए कैथों के साथ वह महाकाय दैत्य भी गिरा उसको देख कर आश्चर्य में पड़े हुए बालक 'वाहा वाह' कह कर प्रशंसा करने लगे ।

**सुबोधिनी —** कपित्थैः फलैः सह तेनैव पात्यमानैः कथं पतित इति, भगवत्पातितं ज्ञात्वा साधुसाध्विति शशंसुः, स महाकायः पपात ह बालैर्ज्ञातं स्थूलं कपित्थफलं शाखा ज्ञानं धारणं प्रक्षेपो मारणं चेति प्रत्येकं प्रशंसेति ज्ञापयितुं वा पततीति तस्य पातः स्थूलता चात्याश्चर्यमिति हेत्वाह, वीप्साश्चर्यभावज्ञापकं वा, अनेन लोकेवाच्यता परिज्ञाता ॥ ३३ ॥ पतितं तं वीक्ष्य बालाश्च विस्मिता जाताः कुतोयं दैत्यः

**व्याख्यानार्थ —** कैथ के फलों को गिरता हुआ वह महाकाय (वत्सासुर) भी उनके (फलों के) साथ पृथ्वी पर गिरा । श्लोक में आए हुए 'ह' कहने का भावार्थ बताते हैं कि बालकों ने समझा कि स्थूल कैथ के फल वा बड़ी शाखा गिरती है किन्तु उनके साथ वत्सासुर का गिरना एवं उसकी स्थूलता देखकर अचम्भे में पड़ गये और कहने लगे कि अत्यन्त आश्चर्य है यह इतना बड़ा दैत्य कहाँ से आया और कैसे गिरा ? विचारान्तर जाने गए कि भगवान् ने गिराया है तब प्रशंसा करते हुए बहुत अच्छ, बहुत अच्छ शब्द की ध्वनि करने लगे । भगवान् ने इसको

‡ 'गतजीवितम्' यह क्रिया का विशेषण है । इसलिये इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है । — 'प्रकाश'



पहचाना, पकड़ा, फेंका और मारा प्रत्येक क्रिया की प्रशंसा करने लगे इसलिये 'बहुत अच्छा बहुत अच्छा' दो बार कहा अथवा बालकों को अपने आश्चर्य प्रकट करने की इच्छा हुई इसलिये 'बहुत अच्छा' दो बार कहा । इससे यह भी बता दिया कि वत्सासुर हनन<sup>१</sup> से लोक में निन्दा नहीं हुई है । किन्तु यश ही हुआ है ॥ ३३ ॥

**आभास —** लोकान्तरेष्यवाच्यपरिहारय देवानामभिनन्दनमाह देवाश्चेति ।

**आभासार्थ —** पर इस लोक में भी निन्दा न होकर यश हुआ है जिसकी साक्षी देते हैं कि देवताओं ने भी प्रसन्न होकर अभिनन्दन<sup>२</sup> प्रकट किया । उसका वर्णन नीचे के ३४वें श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक: —** देवाश्च परिसन्तुष्टा बभूवुः पुष्पवर्षिणः ।

वत्सासुरं हतं श्रुत्वा व्रजे गोप्यश्च विस्मिताः ॥ ३४ ॥

**श्लोकार्थ —** देव भी प्रसन्न हो कर फूल बरसाने लगे और व्रज में वत्सासुर का मरना सुनकर गोपियाँ विस्मित हो गई ।

**सुबोधिनी —** देवाश्च साधुसाध्विति परितस्त्रोषः, पुष्पवर्षिणश्च बभूवुः, तेषां शशंसुःपरिसन्तुष्टाः परितः सन्तुष्टाश्च जाताः दैत्यवधाद्, वाङ्मनःकायव्यापार निरूपिताः, अर्धमत्र पतितं, वत्सासुरं वत्सेषु देवानां दैत्यानां च भोगः, इदानीं देवानामेवेति हतं श्रुत्वा व्रजे गोप्यश्च विस्मिता इत्येवमर्थम् ॥ ३४ ॥

**व्याख्यार्थ —** दैत्यवध से देवगण भी 'बहुत अच्छा बहुत अच्छा' कहकर प्रशंसा करने लगे और सर्व प्रकार से संतुष्ट<sup>३</sup> हुए क्योंकि वत्सों में देव और दैत्यों को भोग करने का अधिकार है अर्थात् दोनों उनका भोग कर सकते हैं । अब दैत्य के मर जाने से केवल देवगण ही वत्सों का भोग<sup>४</sup> ले सकेंगे अतः देव सब प्रकार से प्रसन्न होकर पुष्प वर्षा करने लगे इस प्रकार की क्रिया (कार्य करने) से देवों ने वाणी से प्रशंसा की मन से संतोष प्रकट किया और काया से पुष्प वर्षा की है\* ॥ ३४ ॥

**आभास —** एवं वत्सासुरे हते पुनर्वत्सान्तरशङ्कया वत्सचारणं बाला भगवान् वा न कृतवन्त इत्याशंकापरिहारार्थमाह वत्सपालकौ भूत्वेति ।

\* इस ३४वें श्लोक के पूर्वार्द्ध पर आचार्यश्री ने टीका की है और उत्तरार्द्ध के लिये लिखा है कि यह आधा श्लोक मूल भागवत् में नहीं है । अतः केवल उसका शब्दार्थ दिया है वत्सासुर मारा गया यह सुनकर व्रज में गोपीजन आश्चर्य में पड़ गई । —अनुवादक

१—मारने से । २—हर्ष, आनन्द । ३—प्रसन्न । ४—सुख ।

आभासार्थ — यह वत्सासुर तो मरा किन्तु पुनः अचानक दूसरा कोई असुर आ जाएगा तो हम वत्स चरने के लिये कैसे जावे ? इसी प्रकार का भय गोपों को अथवा भगवान् को न हुवा इसलिये वे बछड़े चराने गये उसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — तौ वत्सपालकौ भूत्वा सर्वलोकैकपालकौ ।

सप्रातराशौ गोवत्सांश्चांरयन्तौ विचेरतुः ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ — सकल लोकों के, अकेले मुख्यपालक, वे दोनों भ्राता, वत्स पालक बनकर प्रातः काल में (जिस समय बछड़े माता के दूध को पीते थे उस समय) भोजन करके, बछड़ों को चराते फिरते थे ।

सुबोधिनी — सर्वलोकैकपालकावपि वत्सपालकौ उभयप्रसिद्धिख्यापकः, वेदाल्लोकप्रसिद्धिर्दुर्बलेति, भूत्वा विचेरतुर्द्विसम्बन्धः, कदाचित् वत्सचारणं किन्तु वत्सपालकत्वं नोक्तं भविष्यतीत्याशङ्क्य प्रथमं निर्दिष्टं, तद्वृत्तिमानिव निरन्तरं चारयति, अतो वत्सपालका इत्येव सन्ध्यापर्यन्तं वत्सचारणं कर्तव्यं, अतो वत्सानां स्तनपानसमय एव प्रातरशनं कृत्वा सप्रातराशौ गवां वत्सान् पदमप्राधान्यपालकव्यावृत्त्यर्थं, भूत्वेतिमध्ये निवेश धर्मोपयोगिश्चाख्यन्तौ स्वयमपि विचेरतुः ॥ ३५ ॥

व्याख्यानार्थ — यद्यपि वे दोनों भ्राता सकल लोकों के अकेले ही पालक हैं तो भी अब वत्सपाल बनकर फिरने लगे । कभी कभी बछड़े नहीं चराते थे किन्तु जैसे ग्वाले जो गौओं से वृत्ति<sup>१</sup> करने वाले हैं उनके समान सतत गौओं को चराने लगे । जिससे आप अब 'वत्सपाल' (गोप व ग्वाल) नाम से प्रसिद्ध हुए, सर्व लोकों के अकेले पालक की तो पूर्व से प्रसिद्धि थी । एक शब्द से यह बताया है कि आप प्रधान (मुख्य) पालक हैं । श्लोक में 'भूत्वा' पद 'वत्सपालकौ' और 'सर्वलोकैकपालकौ' दोनों पदों के बीच में देने से यह बताया है आप 'वत्सपाल' और 'लोकपाल' दोनों नामों से प्रसिद्ध ही हैं । वेद से लोक की प्रसिद्धि दुर्बल है । लोक में 'वत्सपाल' पद इसलिये पहले दिया है कि कदाचित् 'वत्सपाल' यह नाम प्रसिद्ध न हो तो पहले देकर इस नाम की प्रसिद्धि की जाय । प्रातःकाल बछड़ों के साथ (जिस समय वे गाय के धन से दूध पीते थे उस समय) भोजन इसलिये कर आते थे कि सन्ध्या तक बछड़ों के साथ उनको चराते हुए फिरना है । कारण कि गौओं के बछड़े धर्म के उपयोग में आते हैं । अतः बछड़ों को चराते हुए आप भी सन्ध्या तक फिरते रहते थे ॥ ३५ ॥

आभास — एवं वत्सानां दोषं परिहृत्य पालानामपि दोषं परिहर्तुं दम्भात्मकं बकं मारितवानित्युपाख्यानमारभते स्वं स्वमिति नवभिः ।

**आभासार्थ** — इस प्रकार बछड़ों का दोष निकालकर, अब गोपों के दोषों का परिहार करने के लिये दम्भरूप बक को भगवान् ने मारा । इसका वर्णन निम्न श्लोक से नौ श्लोकों में करते हैं ।

**श्लोकः** — स्वं स्वं वत्सकुलं सर्वे पाययिष्यन्त एकदा ।

गत्वा जलाशयाभ्यासं पाययित्वा पपुर्जलम् ॥ ३६ ॥

**श्लोकार्थ** — एक दिन सब गोप बालक अपने अपने बछड़ों के समूह को इकट्ठा कर, पानी पिलाने के लिए, जलाशय के पास ले गए बछड़ों को जल पिलाकर आपने भी पीया ।

**सुबोधिनी** — प्रथमं बकदर्शनार्थं यमुनायां चारितान् सर्वेषामिति सर्वेषां समानक्रिया, एकदेति यदा बालका वत्साञ्जलं पाययित्वा स्वयमपि जलं पीतवन्त इत्याह स्वं दोषान् मोचनीया इति भगवदिच्छा तदा, जलसमीपं गत्वा स्वमिति, वत्सकुलं वत्ससमूहं सर्वेषामेव बहवो वत्सा इति वत्सकुलं जलं पाययित्वा स्वयं जलं पपुः ॥ ३६ ॥ सर्वेषां गमनं, अन्यथा सर्वेषां दर्शनं न स्यात् तुल्योप्यं बकः

**कारिका** — यमुनाजलपानेन दोषः सर्वो विनिर्गतः ।

एकीभूतो बकः प्रोक्तो जलपानात् स दृश्यते ॥ १ ॥

**कारिकार्थ** — यमुना के जल पान से सम्पूर्ण दोष बाहिर निकल वह दोष बकरूप में इकट्ठा हो गया । जल के पान से वह देखने में आया ।

**कारिका** — अतः पानं दर्शनं च तेनोपद्रव एव च ।

ततः सर्वापराधश्च तद्वधोपाय एव च ॥ २ ॥

तद्वधश्च स्तुतिर्देवैर्गोपानां तोष एव च ।

तथैव गोकुलस्थानां नव प्राणा हि शोधिताः ॥ ३ ॥

**कारिकार्थ** — इससे पीना, दर्शन, उसका किया हुआ उपद्रव, सर्व का अपराध, उसके मारने का उपाय, उसका वध, स्तुति, संतोष, गोकुलवासियों का संतोष, इस प्रकार की लीला से नौ प्राण शुद्ध किये हैं ।

**व्याख्या** — प्रथम कारिका में गोपों ने बछड़ों को जल पिलाकर अनन्तर स्वयं ने भी यमुनाजी

का जल पीया उस यमुना जलपान से गोपों में जो दोष\* थे वे बाहिर निकल गए और वे निर्दोष बन गए । उन दोषों ने मिलकर बक का रूप धारण कर लिया । उसको गोपों ने देखा और पहचान लिया कि यह बक हमारे दोषों का रूप है । यमुना जल के पान करने से ही उनको पहचान सके थे ॥ १ ॥

द्वितीय-तृतीय कारिका में ३६ श्लोक से ४४ वे श्लोक तक के प्रत्येक श्लोक में वर्णन की हुई लीला को कहा है जैसे की ३६ वे श्लोक में यमुना जल पान, ३७ वें श्लोक में, अपने दोषों का रूप यह बक है इसका देखना (समझना) ३८ वें श्लोक में बक का किया हुआ उपद्रव, ३९ वें श्लोक में सब का बक ने जो अपराध किए, ४० वें श्लोक में बक के वध का उपाय, ४१ वें श्लोक में उसका वध, ४२ वें श्लोक में, देवताओं ने भगवान् की जो स्तुति की है, ४३ वें श्लोक में गोपों का सन्तोष, ४४ वें श्लोक में गोकुलवासियों का सन्तोष । इन नौ लीलाओं से गोकुल वासी गोपों के नौ प्राणों की शुद्धि की हुई है ॥ २-३ ॥

व्याख्यानार्थ — इस श्लोक में कहा है कि गोपों को बक देखने में आवे, इसलिये प्रथम, यमुना के पास चरते हुए बछड़ों को यमुना जल पिलाकर आपने भी पीया । 'वत्सकुलं' पद का भावार्थ कहते हैं कि प्रत्येक गोप के पास बहुत वत्स थे इसलिये सब गोप जल पिलाने के लिये गए । यदि सब न जाते तो सबों को बक देखने में न आता केवल जाने वालों को ही देखने में आता । यह बक सबों के लिए समान था, इसलिये सबकी क्रिया समान होनी चाहिये अतः सब ने जलपान किया । किसी समय अर्थात् जब भगवान् की इच्छा हुई कि बालकों के दोष निवृत्त करने चाहिये तब जल के पास जाकर बछड़ों के समूहों को जल पिलाकर आप सबने भी जल पीया ॥ ३६ ॥

आभास — ततो दोषात्मकं बकं दृष्ट्वन्त इत्याह ते तत्रेति ।

आभासार्थ — बछड़ों को जल पिलाया, आपने भी पिया तदन्तर दोषरूप बक को देखा । उसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — ते तत्र ददृशुर्बाला महासत्त्वमवस्थितम् ।

तत्रसुर्वज्रनिभिर्भ्रं गिरेः शृङ्गमिव च्युतम् ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ — वहाँ उन बालकों ने व्रज से टूट कर गिरे हुए पर्वत के शिखर के समान बैठा हुआ एक बड़ा जीव देखा और घबराए ।

\* दम्परूप दोष बाहिर निकला इससे वे गोप निर्दोष हो गए । ये गोप जो बाहर स्थित थे वे पहले सदोष थे अब निर्दोष हुए । शेष बालक जो भगवान् ने अपने में से बाहर निकाले थे वे पहले थे वे पहले ही निर्दोष थे ।

सुबोधिनी — ते सर्व एव तत्र जलनिकटे बाला कंसो हि जगदुपद्रवकर्ता भगवता वज्रेण हत एव, तस्यायं  
भीरवो महासत्त्वं भयानकमवस्थितं निकटे मारकत्वेन स्थितं शृङ्गस्थानीयः सोप्यत्र च्युतः, नास्य व्याघ्रद्वयगमनशङ्केत्यतः  
प्रथमतो ददृशुः पश्चात् तत्रसुः, तथापि भगवत्कृपया ते तं क्रोडार्थमेव विनियोगो न तु पीड्यर्थ, केवलं बालानां  
हतमेव ज्ञातवन्तः, अन्यथा महाभयेन प्राणवियोगो भवेत्, दर्शनमात्रेणैव भयमिति ॥ ३७ ॥  
तदाह वज्रेण निर्भिन्नस्य गिरेः शृङ्गं च्युतमिव तं ददृशुः,

व्याख्यार्थ — उन सब गोपों ने जल के निकट एक भयानक प्राणी को देखा जो मारने के  
लिये निकट खड़ा था, उसको देखने के अनन्तर डर गये। क्योंकि वे (गोप) बालक थे। डरे,  
किन्तु भगवान् की कृपा से उन्होंने उसको मरा हुआ समझा। यदि मरा हुआ न समझते तो इस  
महाभय से उनके प्राण-पक्षी उड़ जाते। इसलिये श्लोक में कहा है कि उन्होंने व्रज से दूट कर  
गिरे हुए पर्वत के शिखर के समान इसको देखा जिसका आशय बताया कि गोपों ने इसको मरा  
हुआ समझा। जगत् को पीड़ा करने वाले कंस को भगवान् ने व्रज से मारा ही है। उस (कंस)  
का यह (असुर) शृङ्गरूप है वह भी यहाँ आ पड़ा है। शृङ्ग शब्द का भाव प्रकट करते हैं कि  
वह यहाँ से भागकर जाएगा। ऐसी शंका ही नहीं करनी चाहिये अर्थात् वह जाएगा नहीं, कारण  
कि इसका यहाँ पड़ना, क्रोडा के लिये ही है, न कि पीड़ा देने के लिये हुआ है। गोप, बालक  
होने से उसको देख कर केवल भय को प्राप्त हुए हैं ॥ ३७ ॥

आभास — ते सर्वे बाला भगवता निष्प्रपञ्चीकृता इति तेषां दोषोऽयं भगवन्तम-  
पकृतवानित्याह स वै बक इति ।

आभासार्थ — उन सब बालकों का भगवान् ने प्रपञ्च छुड़ा दिया था अर्थात् उन को निर्दोष  
बना दिया था। उन (बालकों) का यह दोष बक बनकर भगवान् का अपकार करने लगा।  
इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — स वै बको नाम महानसुरे बकरूपधृत् ।

आगत्य तरसा कृष्णं तीक्ष्णतुण्डोग्रसद् बली ॥ ३८ ॥

श्लोकार्थ — वह बक रूप धारण करने वाला, महान् असुर, नाम से 'बकासुर' दैत्य  
था। तीखी चोंचवाला यह बलवान् असुर शीघ्र आकर श्रीकृष्ण को निगल गया।

---

‡ व्रज से कंस को मारा ही है का स्पष्टीकरण करते हैं कि भगवान् ने कंस को आकाशवाणी रूप व्रज  
से पहले ही मार दिया है। — 'प्रकाश'

---

१-अनिष्ट 'हानि' ।

सुबोधिनी — नामप्रसिद्ध्यैव तस्य दोषः स्पष्टः, क्रियाशक्तिप्रधानो प्राप्तं कृतवान्, आनन्दो हि लोभेन स च, महानसुर इति वत्सापेक्षयापि महान्, भगवदीयानां दोषत्वात्, चानृतेन ग्रस्यत एव, 'तं यथायथोपासत' इति श्रुतेः, भगवतैव बकरूपमेव च विभर्ति तस्योपास्या देवता खैवेति स्वरूपतः भगवान् वशीकृतः गोपानां भगवत्प्रेमज्ञापनार्थमेव तथा कृतं प्रसिद्धं च, देवानुग्रहाच्च महान्, अत एव तरसा शीघ्रमागत्य इति ॥ ३८ ॥  
कृष्णं सदानन्दं लोभानृतरूपौ तुण्डौ यस्य तादृशो बली

व्याख्यानार्थ — 'बक' नामकी प्रसिद्धि से ही उसका दोष (रूप) स्पष्ट समझने में आ जाता है। यह असुर महान् है महान् शब्द का आशय है कि यह वत्सासुर से भी बड़ा दैत्य है। क्योंकि वत्सासुर तो बछड़ों का दोषरूप था यह भगवदीय गोपों का दोषरूप है इस कारण से ही इसने बकरूप को ग्रहण किया है। इन (बकासुरों) की उपास्य देवता भी बकरूपा मायादेवी भगवान् का रूप प्रसिद्ध ही है। उस अपने देव (बकरूपिणी मायादेवी) के अनुग्रह से यह महान् है। इस कारण से ही लोभ और अनृत<sup>१</sup> रूप चोंचवाले और मुख्य क्रिया शक्तिवाले उस (दोषरूप महान् दैत्य बक ने शीघ्र आकर सदानन्द (श्रीकृष्ण) को निगल लिया। लोभ से\* आनन्द और अनृत से सत्य निगला जाता है। 'तं यथा यथोपासते' इस श्रुति के अनुसार उस (भगवान्) की जिस भाव से जीव उपासना करता है उस भाव के अनुसार भगवान् भी उस (भगवान्) के वश में होते हैं। तात्पर्य यह है कि भगवान् लीलार्थ — अपने ही स्वरूप के वश होते हैं भगवान् ने गोपों को प्रेम के स्वरूप का ज्ञान कराने के लिये यह लीला की है ॥ ३८ ॥

आभास — ततस्तेषां प्रेमाणमाह कृष्णमिति ।

आभासार्थ — इसके अनन्तर नीचे के श्लोक में गोपों का भगवान् में जो प्रेम है उसका वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — कृष्णं महाबकग्रस्तं दृष्ट्वा रामादयोर्भकाः ।

बभूवुरिन्द्रियाणीव विना प्राणैर्विचेतसः ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ — बलराम आदि सब बालक श्रीकृष्ण के बकासुर से निगले जाने को देख कर प्राणरहित इन्द्रियों के समान अचेत हो गए ।

सुबोधिनी — महाबक उपास्यस्तेन कवलोकृतं दृष्ट्वा विनाप्राणैरिन्द्रियाणीवेति, एकस्तु न लोके दृष्टान्त इति रामादयोपि विचेतसो जाताः, तत्प्राणत्यात्, तेषां क्रियायां ज्ञापयितुं प्राणैरिति बहुवचनम् ॥ ३९ ॥  
ज्ञाने वा सर्वदा सामर्थ्यं गतिमिति ज्ञापनार्थं दृष्टान्तमाह

\* लेखकार गो. श्रीवल्लभलालजी कहते हैं कि जहाँ लोभ है वहाँ दुःख उत्पन्न होता है दुःख होते ही सुख तिरोहित हो जाता है ।

**व्याख्यार्थ** — बकासुर के उपास्य महाबक से श्रीकृष्ण को निगलते देखकर राम आदि सब अचेत हो गये । क्योंकि श्रीकृष्ण ही इनके प्राण थे । उस (प्राणरूप श्रीकृष्ण) के जाने से इनकी क्रिया और ज्ञान की शक्ति चली गई । कैसे चली गई वह दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे प्राणों के जाने से इन्द्रियों की क्रिया और ज्ञान नष्ट हो जाता है । लोक में एक प्राण दृष्टान्त में नहीं कहा जाता है अतः प्राण शब्द बहुवचन में दिया है ॥ ३९ ॥

**आभास** — लोभानृताभ्यामेव सदानन्दतिरोभाव इति तुण्डदेशादधोगतः सरस्वतीस्थाने वेदानां प्रामाण्यार्थं तालुमूलं ज्वालितवान्, तीक्ष्णद्रव्याणामपि मरिचादीनां दाहकत्वमस्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमग्निज् ज्वालनमुक्तं, तथा दहन्तं त्यक्तवानित्याह तमिति ।

**आभासार्थ** — निगले जाने पर भगवान् उसके कण्ठ (सरस्वती के स्थान) में स्थित हो गए चोंचों के बीच में नहीं ठहरे, कारण कि उसकी चोंच लोभरूप है और दूसरी अनृतरूप है इससे भगवान् ने यह बताया कि जहाँ लोभ और अनृत है वहाँ से मैं तिरोहित हो जाता हूँ अर्थात् वहाँ नहीं ठहरता हूँ मैं तो वहाँ ठहरता हूँ जहाँ वेद प्रमाण का स्थान है अर्थात् वेदानुकूल आचरण है । इसलिये आपने सरस्वती के स्थान कण्ठ में स्थिति की है । उसको जलाने लगे जिसका तात्पर्य था कि बक आपको भीतर न निगल सके और बाहिर उगल दे । मिरच आदि से जलन होती है किन्तु वह जलन सहने जैसी होती है यह जलन असह्य था इसलिये अग्नि जैसी कहा है ऐसी असह्य जलन के कारण बक ने भगवान् को उगल कर बाहिर निकाल दिया । इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — तं तालुमूलं प्रदहन्तमग्निवद् गोपालसूनुं पितरं जगद्गुरोः ।

**चच्छर्द सद्योतिरुषाक्षतं बकस्तुण्डेन हन्तुं पुनरभ्यपद्यत ॥ ४० ॥**

**श्लोकार्थ** — अग्नि के समान तालु के मूल को जलाने वाले गोपाल (श्रीनन्दरायजी) के पुत्र और ब्रह्मा के पिता को बक ने उगल दिया । उसको बिना घात हुवे (देख) बहुत गुस्से में आकर चोंच से मारने के लिये एकदम पुनः उसके पास आया ।

**सुबोधिनी** — तालुमूलं कण्ठस्थानं प्रकर्षो गिलनासामर्थ्यसम्पादकः नन्वपहतपाप्मा कथं तालुमूलसम्बद्धो जात इत्याह गोपालसूनुमिति, तथा भावं सम्पादयन्नेतदपि कृतवानित्यर्थः, ननुभयमपि किमिति प्रदर्शितवानित्याह शङ्कयाह पितरं जगद्गुरोरिति, ब्रह्मणोपि पिता, स हि सर्वानुपदिशति 'तत्त्वमसी'ति तत्रासम्भावनाया न कोपि तथात्वं मन्यते तस्यैतन्निदर्शनार्थं भगवता 'कृतं, अनेनैव महत्त्वमपि सूचितं,

कथं मारयिष्यतीति शङ्का च परिहृता, किञ्च साधारणोपि ब्राह्मणो गरुडेन मक्ष्यमाणो गरुडस्यापि तालुं ददाह किं पुनर्ब्रह्मणोपि पिता परब्रह्म ? अतश्चच्छर्दं बहिर्निष्कसितवान् अन्यथा ज्वालित एव स्यात्, तर्हि तावदेव कृत्वा गच्छेत् तदा जीवेद् वा, पुनरिति रुषा केनाप्यशेनाक्षतं भागवन्तं तुण्डेन सम्पुटितेन पीडयितुमभ्यपद्यत, अतिरोषाद् देवता तिरोहिता ॥ ४० ॥

**व्याख्यानार्थ** — तालु का मूल अर्थात् कण्ठ-स्थान । श्लोक में 'दहन्तं' के साथ 'प्र' शब्द दिया है उस 'प्र' के देने का आशय यह है कि इस प्रकार जलाने लगे जिससे वह उस (कृष्ण) को निगल न सका भगवान् (कृष्ण) पापरहित है उनका तालु मूल से सम्बन्ध नहीं होना चाहिये वह कैसे हुआ ? इस शङ्का के निवारण के लिये 'गोपाल सून' नाम देकर बताया है कि नन्दजी के पुत्र का भाव प्रकट करने के लिए उससे (तालु मूल से) सम्बन्ध भी किया है ।

पापरहितपना और तालुमूल से सम्बन्ध ये दोनों एक समय में कैसे दिखाए ? इस शङ्का के मिटाने के लिये श्लोक में आप (कृष्ण) के लिए 'पितरं जगद्गुरोः' कहा है गोपाल (श्रीनन्दरायजी) का पुत्र साथ में उसी समय ब्रह्मा का पिता भी है वह सबको उपदेश देते हैं कि 'तत्त्वमसि' तु वह (अक्षर ब्रह्म) है किन्तु यह कहना बन नहीं सकता है इसलिये असम्भावना\* समझ कोई इस बात को मानता नहीं है । उसको यह सिखाने के लिये भगवान् ने ये दो ही कार्य साथ में कर दिखाए हैं इससे भगवान् का महत्त्व भी सूचित होता है और ऐसे महान असुर को कैसे मार सकेंगे यह शङ्का भी इससे मिट दी है और साधारण ब्राह्मण को गरुड़ ने खाया तो उसने भी गरुड़ के तालु को जला दिया तो ब्रह्मा के पिता परब्रह्म ने बक का कंठ जलाया तो इसमें क्या आश्चर्य है ? अतः जलने से बक ने भगवान् को बाहिर निकाल दिया । यदि न निकालता तो जल ही जाता था । बाहिर निकाल कर स्वयं खाना हो जाता तो बच भी जाता किन्तु क्रोध में आ गया क्योंकि देखा कि कृष्ण को कुछ भी घाव नहीं हुआ है इसलिये बिना घाववाले भगवान् को सम्मिलित (दोनों चोंचो को इकट्ठी) कर चोंच से पीछा देने के लिये फिर उन (भगवान्) के पास आ गया । विशेष क्रोध के कारण बक में से बक का देवता निकल के चला गया शेष अकेला बक रह गया ॥ ४० ॥

**आभास** — स्वसामर्थ्येन चेन्मारयितुं प्रवृत्तस्तदा दूरदेव भगवान् मारितवानित्याह तमापतन्तमिति ।

**आभासार्थ** — देवता के चले जाने पर अकेला स्वयं बक अपनी सामर्थ्य से भगवान् को मारने के लिये आया तब भगवान् ने दूर से ही उसको मार दिया । इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — तमापतन्तं स निगृह्य तुण्डयोर्दोभ्यां बकं कंससखं सतां गतिः ।

**पश्यत्सु बालेषु ददार लीलया मुदावहो वीरणवद् दिवौकसाम् ॥ ४१ ॥**

\* 'तत्त्वमसि' वाक्य में जीव और भगवान् का अभेद बताया है सर्वज्ञ भगवान् के साथ अल्पज्ञ जीव का अभेद में असम्भावना दोष प्रतीत होता है इसलिये इस उपदेश को लोक नहीं मानते हैं इस दोष को मिटाने के लिये भगवान् ने अपने में नन्दपुत्रत्व और ब्रह्मा का पितृत्व दोनों विरुद्ध धर्म दिखाकर जैसे मैं दोनों हूँ उसी प्रकार जीव भी जीव होते हुए ब्रह्म भी है । — 'योजना'

प्रभुवरण टिप्पणी में कहते हैं कि जैसे नन्दजी का पुत्र ब्रह्मा के पिता के कारण परब्रह्म ही है वैसे ही प्राकृत संघात होते हुए भी जीव अक्षररूप है, इसको सिखाने के लिये यों किया है ।



**श्लोकार्थ** —सत्पुरुषों के आश्रय और देवों को आनन्द देनेवाले उस (भगवान् श्रीकृष्ण) ने इस आते हुए कंस के मित्र बकासुर की चंचुओं को दोनों हाथों से पकड़ कर बालकों के देखते देखते तूली समान उसको चीर डाला ।

**सुबोधिनी** — तं बकमासमन्तात् पतन्तं स कृष्णो दुःखदूरीकर्ता निगृह्य धृत्वा निग्रहं कृत्वा तुण्डद्वयं पृथक् धृत्वा ददार विपाटितवान् ननु भारणे को हेतुः ? तत्राह कंससखमिति, अन्यथा कंसो न मारितः स्यादिति, कंसोपि किमिति भारणीय इति चेत् तत्राह सतां गतिरिति, सतां स एव रक्षकः, अन्यथा सद्रक्षा न स्यादिति बालानामेव दोष इति पश्यत्सु बालेषु ददार, केचित् पुनर्बकहन्ता बकादनिर्गतो न भवतीति महादेवादिवरसत्यकरणार्थं तुण्डं प्रविष्ट इत्याहुः, तत् सत्यं चेत् कल्पान्तप्राप्तं तस्य विदारणे हस्तयोः प्रयासमाशङ्क्याह लीलयेति, ननुपासकवध उपास्यदेवानां दुःखं स्यादित्यशङ्क्याह दिवौकसां मुदाबह इति देवानां तेन सन्तोष एवात एव समागतानां दिवौकसां स्वर्गोत्पत्तये स्थितियुक्तानां तच्छकलद्वयमधोमुखतया स्थापितप्रतिकोमलभासनमिव जातमित्याह धीरणवदिति, धीरणं तृणविशेषस्तेनासनं निर्भीयते, अतस्तद्वधे देवानां हितमेव लोभानृताभ्यां सह दम्पे गते भूमौ देवा हविर्भाजो भवन्तीति ॥ ४१ ॥

**व्याख्यार्थ** —चारों ओर से सरकते हुए आनेवाले उस बक को सबके दुःखों को दूर करने वाले भगवान् कृष्ण ने पकड़ लिया अनन्तर उसकी मिली हुई दोनों चंचुओं को पृथक् पृथक् पकड़ कर चीर डाला । उसको मारने का कारण क्या था ? इस शंका के निवारण के लिये श्लोक में 'कंससखं' बक का विशेषण दिया है । जिसका आशय यह है कि वह (बक) कंस का मित्र था इसको मारे बिना कंस भी नहीं मर सकता था इसलिये इसको मार । यदि कहो कि कंस को मारने की क्या आवश्यकता थी ? अथवा कौनसा प्रयोजन था ? इस शंका को मिटाने के लिये इस श्लोक में भगवान् कृष्ण का 'सतां गतिः' विशेषण दिया है । जिसका तात्पर्य है कि वह भगवान् कृष्ण ही सत्पुरुषों का रक्षक हैं । यदि श्रीकृष्ण कंस को नहीं मारे तो सत्पुरुषों की रक्षा ही न होवे । यह बकासुर बालकों के दोषों का रूप है । इसलिये बालकों के देखते हुए उस (बक को) चीर डाला ।

कितने ही कहते हैं कि बक को महादेवजी ने वरदान दिया था कि तुझे वह मार सकेगा, जो तैरे में से बाहर निकलेगा । इसलिये भगवान् ने इसके भीतर (मुख में) प्रवेश किया मुख में प्रवेश कर बाहर न निकलते और यों ही मार देते तो महादेवजी का दिया हुआ वर असत्य हो जाता । इस पर आचार्यश्री अपनी सम्मति देते हैं कि यदि यह कथा सत्य भी हो तो भी किसी कल्पान्तर की होगी ।

भगवान् ने हाथों से चोंचो को पकड़ कर उसको चीर था, इसमें भगवान् को श्रम हुवा होगा ?

† भागवत में जिस कल्प की कथा है, उस कल्प की यह कथा नहीं है । क्योंकि भगवान् ने केवल कंठक ही प्रवेश किया है । यदि महादेवजी के वर को सत्य करने के लिये प्रवेश किया होता तो उदर तक प्रवेश करते अतः कथा दूसरे किसी कल्प की होगी । —'लेख'

इस शंका को मिटाने के लिये कहा है कि 'लीलया' भगवान् ने खेल करते हुए चीर डाला, अतः भगवान् को कोई श्रम नहीं हुआ। उपासना करनेवालों की मृत्यु से उसके उपास्य को दुःख हुआ होगा ? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'दिवौकसां मुदावहः' कहा है जिसका आशय है कि बक के मरने से उसके उपास्य देव अप्रसन्न नहीं हुए किन्तु प्रसन्न हुए कारण कि बक के जो दो टुकड़े किए थे उनको नीचे मुख करके स्थापित कर दिया था जिससे उत्तम स्वर्ग में स्थित देवों का यहाँ (भगवान् के पास) आने पर सुन्दर कोमल आसन जैसा बन गया इसलिये श्लोक में 'वीरणवत्' पद देकर बताया कि जैसे 'वीरण' नामक घास से आसन बनते हैं वैसे ही यह भी देवों के लिये आसन जैसा बन गया था। इसकी मृत्यु से देवों का हित ही हुआ है क्योंकि लोभ, अनृत<sup>१</sup> के साथ दम्भ<sup>२</sup> के नाश हो जाने से देवगण पृथ्वी पर पधार कर प्रेम से यज्ञ की हवि को ग्रहण कर सकेंगे ॥ ४१ ॥

**आभास —** एवं तदधिष्ठतृदेवानां सन्तोषमुक्त्वा स्वर्गवासिनां सर्वेषामेव तद्वधे सन्तोषमाह तदेति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार उस (बक) के अधिष्ठता देवों के सन्तोष का वर्णन कर अब इस नीचे के श्लोक में सर्व स्वर्गवासी देवों को भी इससे सन्तोष हुआ, उसका वर्णन करते हैं।

**श्लोकः —** तदा बकारिं सुरलोकवासिनः समाकिरन् नन्दनमल्लिकादिभिः ।

समीडिरे चानकशङ्खसंस्तवैस्तद् वीक्ष्य गोपालसुता विसिस्मिरे ॥४२॥

**श्लोकार्थ —** उस समय स्वर्ग में रहने वाले देवों ने बक के शत्रु पर नन्दनवन के मल्लिका आदि पुष्पों की वृष्टि की और दुंदुभि (नगारे) तथा शंख नाद के साथ स्तोत्रों से स्तुति की। जिसको देख ग्वालबाल विस्मित<sup>३</sup> हुए।

**सुबोधिनी —** बकारिं बकहन्तारं सर्ववेदब्राह्मणपक्षपातिनां सन्तवैः सम्यगीडिरे सम्यक् स्तुतवन्तः, वाद्यद्वयं सुरलोकावासिनः सर्व एव नन्दनवनोद्भवमल्लिकादि पुष्पैः राजसतामसयोरेपि स्तोत्राशक्तयोः संग्रहार्थं, एतत् सर्वं दृष्ट्वा समाकिरन् पुष्पवृष्टिं कृतवन्तः, गोपानां महत्त्वज्ञापनार्थमेतद् गोपालसुता अतिमुग्धाः कृप्यं स्वसमानं ज्ञातयन्तो विसिस्मिरे वर्ण्यते, केवलपुष्पवृष्टिर्बासानां ज्ञापिका न भवतीति परमं विस्मयं प्राप्तवन्तः ॥ ४२ ॥  
स्तोत्रादित्राणि चाह समीडिरे इति, आनकशङ्खान्यां सहितैः

**व्याख्यानार्थ —** सकल वेद और ब्राह्मणों के पक्षपाती बक के अरि<sup>४</sup> (श्रीकृष्ण) के ऊपर सब स्वर्गवासी देवतागण नन्दनवन में उत्पन्न मल्लिका आदि पुष्प बरसाने लगे। इसका वर्णन इसीलिये

किया है कि गोपों को भगवान् के महत्त्व का ज्ञान हो जाए। गोप, भगवान् के महत्त्व को केवल पुष्पों की वर्षा से नहीं समझ सकेंगे अतः स्तुति की और साथ में बाजे बजाए। कौन से बाजे बजाए और किस प्रकार स्तुति की इसको बताने के लिए कहते हैं कि नगारे और शंखों के नाद-सहित स्तोत्रों से सम्यक् प्रकार से स्तुति की। स्तुति करने में अशक्त राजस और तामस भी साथ में थे इसे बताने के लिये दो वाद्यक\* है। यह सब देखकर अति मूढ़ गोप बालक श्रीकृष्ण को अपने समान ग्वाला समझते थे वे अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुए ॥ ४२ ॥

**आभास —** पूर्वं महत्वमात्रं ज्ञातमधुना त्वाश्चर्यं जातं ततो भगवता सह व्रजमागत्य तन्माहात्म्यमुक्तवन्त इत्याह मुक्तमिति ।

**आभासार्थ —** प्रथम तो केवल कृष्ण के माहात्म्य को जाना था अब तो देवताओंकी की हुई पुष्पवृष्टि देखकर आश्चर्ययुक्त भी हुए। तदनन्तर व्रज में आकर उसका माहात्म्य वर्णन करने लगे वह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

**श्लोक: —**मुक्तं बकास्यादुपलभ्य बालका रामादयः प्राणमिवैन्द्रियो गणः ।

प्रत्यागतं तं परिस्थ्य निर्वृताः प्रणीय वत्सान् व्रजमेत्य तज्जगुः ॥ ४३ ॥

**श्लोकार्थ —** जैसे इन्द्रियाँ प्राणों को पाकर सुखी होती हैं वैसे ही बकासुर के मुख से मुक्त होकर आए हुए भगवान् से मिलकर बलराम आदि सब बालक प्रसन्न हुए अनन्तर बछड़ों को इकट्ठा कर व्रज में आए वहाँ वे समग्रलीला की कथा सबको सुनाने लगे ।

**सुबोधिनी —** वचनं हि हृदये प्ररूढं भवति भगवत्प्राप्तिरूपीप्सतेति ज्ञापयितुं दुर्निमित्तापगमे तथा भवतीति बकास्यानुक्तमुपलभ्येत्युक्तं, स्नेह एव तेषां स्फुरितो न तु माहात्म्याद् भयमिति ज्ञापयितुमाह बालका इति, रामस्यापि तदा शौणभावाद् बालकतुल्यतेत्याह रामादय इति, भगवदागमनात् पूर्वं न ते रामादयः किन्तु नामान्तर-मेव प्राप्ताः, यथा प्राणं विनैन्द्रियो गणो गोलकमात्रपर्यवसितः, प्रत्यागतं पुनरागतं तं भगवन्तं परिस्थ्य निर्वृताः सुखिनो जाताः, बकमारणानन्तरमपि न बालका भगवत्-समीपं गता भूर्छिता इवातिखेदेन पतिताः पुनरुद्धताः, भगवानेव परं प्रत्यागतः स चेत् सदानन्द आलिङ्गितः सर्वतः सम्बन्धोभूत तदा निर्वृताः, तदा वत्सान् प्रणीयेतस्ततो गतान् समानीय व्रजमेत्य तद् बकवधादिकं जगुरुक्तवन्तः ॥ ४३ ॥

**व्याख्यार्थ —** जो वचन कहने होते हैं वे हृदय में ऊपर आकर स्थित हो जाते हैं जिससे उन वचनों को रोका नहीं जा सकता है। गोपों को भगवान् की प्राप्ति की अत्यन्त इच्छा थी, इसको

\* सात्विकों ने तो स्तोत्र द्वारा स्तुति करके अपना हर्ष प्रकट किया किन्तु जो स्तोत्र करने में राजस व तामस असमर्थ थे उन्होंने नगारे और शंखों की ध्वनि से स्तुति कर हर्ष प्रकट किया । — अनुवादक

जताने के लिये वह चरित्र कहे कि जब भगवान् की प्राप्ति में प्रतिबन्धक<sup>१</sup> वाले दुष्ट निमित्त नष्ट होते हैं तब भगवान् की प्राप्ति होती है। भगवान् स्वयं विघ्नों को दूर कर हमको प्राप्त हुए हैं यह 'बक के मुख से निकले हुए भगवान् को प्राप्त कर' 'शब्दों' का भाव प्रकट कर बताने लगे। जिसका आशय यह है कि भगवान् जीवकृत साधनों से प्राप्त नहीं होते हैं किन्तु आप कृपा कर विघ्नों को हटा कर मिलना चाहते हैं तब मिलते हैं। इन चरित्रों से गोपों में भगवान् के प्रति प्रेम ही जागृत हुआ, न कि माहात्म्य ज्ञान से भय उत्पन्न हुआ। क्योंकि गोप बालक थे। बलराम तो बालक नहीं थे ? कहते हैं कि वह भी इस समय बालक थे इसलिये श्लोक में 'रामादयः' राम से लेकर सब गोप बालक कहे गए हैं कारण कि राम में भी उस समय गौण-भाव होने से उसकी बालकों से समानता थी। भगवान् का बक के मुख में प्रवेश होते ही वे बालक अचेत से हो गए थे अतः कहा है कि भगवान् बक के मुख से मुक्त होकर नहीं पधारे तब तक रामादि बालक नहीं थे। जैसे प्राण के बिना इन्द्रियाँ केवल अपने गोलक में रहती हैं किञ्चित् भी प्रकट क्रिया नहीं कर सकती है इसी प्रकार कि दशा गोप बालकों की उस समय हो गई थी। किन्तु अचेत अवस्था में होते हुए भी भगवान् की लीला द्वारा इनका निरोध करना था इसलिए इनमें इतनी चेतनता भगवान् ने प्रकट कर रखी थी कि जिससे लीला देख उनको विस्मय हो सका। भगवान् ने बक को मार डाला, उसके अनन्तर भी भगवान् के पास न जा सके कारण कि मूर्छावस्था में अति खेद से वहाँ ही पड़े थे खड़े नहीं हुए। भगवान् ही उनके पास जब लौटकर आ गए तब उन्होंने सदानन्द का आलिंगन कर सर्व प्रकार से उनसे सम्बन्ध किया जिससे आनन्द को प्राप्त हुए। तब जहाँ तहाँ बिखरे हुए बछड़ों को इकट्ठा कर व्रज में आये। आकर बकवध आदि लीलाएँ सुनायीं ॥ ४३ ॥

**आभास —** ततो यज्जातं तदाह श्रुत्वेति ।

**आभासार्थ —** इसके पश्चात् जो कुछ हुआ वह नीचे के श्लोक में कहते हैं ।

**श्लोकः —** श्रुत्वा तद् विस्मिता गोपा गोप्यश्चातिप्रियादृताः ।

प्रेत्यागतमिवौत्सुक्यादैक्षन्त तृषितेक्षणाः ॥ ४४ ॥

**श्लोकार्थ —** यह चरित्र सुनकर गोप और गोपियाँ विस्मित हुए और गोपियों ने अतिप्रिय (भगवान्) से आदर पाया। परलोक से लौटकर आए हो, वैसे (समझ) अत्यन्त प्रेम के कारण वे अतृप्त नेत्रों से दर्शन करने लगी।

**सुबोधिनी —** तद्वकवधं श्रुत्वा गोपा गोप्यश्च भगवतादृताः प्राप्तादयश्च जाताः, ततः परमानन्देन दृष्टवत्य विस्मिताः, गोपीनां विशेषमाहातिप्रियादृता इति। अतिप्रियेण इत्याहौत्सुक्यात् प्रेमाधिक्यादवितृप्ते- क्षणा अतृप्तनयना

ऐक्षन्तेति पामर्याणां बुद्धिमनुसृत्या श्लोसमप्याह शुकः, सा इयं बुद्धिस्तेषां नासेपिता किन्तु सहजेति ज्ञापयितुं हि प्रीतौ परमा काष्ठ, औत्सुक्यं प्रेमातिभस्तयामर्षादं भवति, नेत्रयोस्तृप्तिमाह ॥ ४४ ॥  
तेन सर्वपरित्यागेन भर्त्रा-दिशङ्कामपि परित्यज्य दृष्टवत्यः,

**व्याख्यानार्थ** — वह बक के वध की लीला सुनकर गोप और गोपियाँ अचम्भे में पड़ गए। गोपों से गोपियों के लिये विशेष कहते हैं कि, भगवान् ने गोपियों का आदर सत्कार किया। इससे गोपियाँ भगवान् का परम प्रेमपूर्वक दर्शन करने लगीं गोपियाँ किस प्रकार अपने अतिप्यारे को देखने लगीं ? इसको बताने के लिये श्लोक में "औत्सुक्यात्" शब्द दिया है जिसका अर्थ उत्कण्ठा (प्रिय के मिलने के लिये अन्तःकरण में बेचैन रहे ऐसी चाहना) से देखने लगी जिससे नेत्र अतृप्त ही रहे। यह प्रेम की पराकाष्ठा<sup>१</sup> है जिसमें किसी प्रकार की मर्यादा उस समय नहीं रहती है। इस प्रकार का कहना अश्लील<sup>२</sup> होते हुए भी शुकदेवजी ने पामरों<sup>३</sup> की बुद्धि इस प्रकार की होती है इसको बताने के लिये कहा है। उस समय गोपियों के प्रेम की पराकाष्ठा हो गई थी, जिससे उन्होंने सबका त्याग कर दिया था अतः पति आदि क्या कहेंगे इस प्रकार की शंका को मन में न लाकर देखती गई। यह उनकी देखने की वृद्धि किसी कारण से नहीं हुई थी किन्तु स्वाभाविकी थी, इसलिये कहा है कि नेत्रों की तृप्ति नहीं हुई ॥ ४४ ॥

**आभास** — तच्छ्रुत्वा विमर्शकाणां नन्दादीनां यज्जातं तदग्रे वक्तुं तेषां विचारमाह त्रिभिरहो इति।

**आभासार्थ** — यह सुनकर विचार करनेवाले नन्दादिकों के जो विचार हुए उनका निम्न तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं:

**श्लोकः** — अहो बतास्य बालस्य बहवो मृत्यवोभवन् ।

अप्यासीद् विप्रियं तेषां कृतपूर्वं यतो भयम् ॥ ४५ ॥

**श्लोकार्थ** — अहो ! अरे ! खेद है कि इस बालक के ऊपर बड़ी बड़ी बहुत घातें आईं। परन्तु जो घात करने आए उनका ही अनिष्ट<sup>४</sup> हुआ क्योंकि पहले उन्होंने दूसरों को भय उत्पन्न किया।

**सुबोधिनी** — तामसा आहुरहो इति, अहो इत्याश्चर्ये, भयं तु कृतपूर्वं भवति, स्वयं चेदन्यस्मै करोति तदा एकस्यैव बहव उपद्रवा इति बनेतिखेदे, स्वस्य तादृशं प्राप्नोति भगवांस्तु न करोति ते तु कुर्वन्तीति तेषामेव दुरदृष्टिमिति, अस्यैव बालस्य, किमपि तत्र हेतुं कल्पयन्ति भयमुचितम् ॥ ४५ ॥  
कृतपूर्वं यतो भयमिति 'यो हन्ति स हन्यते' इतिन्यायाद्

**व्याख्यानार्थ** — इस श्लोक में तामसों के विचार कहे हैं। तामस कहते हैं कि आश्चर्य है कि एक ही बालक को इतने उपद्रव प्राप्त हुए हैं। यह दुःख की बात है। अपने पूर्वकृत कर्मों से बनी अदृष्ट ही इन दुःखों का कारण है। इस प्रकार पुनः पुनः दुःख होने के कारण की कल्पना करते हैं कि जिन पूतनादि दैत्यों ने इस बालक के अनिष्ट की पहले इच्छा की उनका ही अनिष्ट हुआ इस बालक का तो कुछ अनिष्ट नहीं हुआ ! 'यो हत्तिसहन्यते' जो पहले किसी को मारना चाहता है वही मारा जाता है ! इस न्यायानुसार, भय (बुराई) तो पूतनादिकों ने प्रथम किया इससे उस बुराई (भय) ने उनको ही नाश किया। स्वयं जो दूसरों के लिये करता है तो वह स्वयं ही भोगता है भगवान् तो किसी के लिए भय (बुराई) नहीं करते हैं वे जो करते हैं तो उनको ही भय (बुराई) होना योग्य है ॥ ४५ ॥

**आभास** — राजसास्तु तेषामपकारो न तत्कर्मणा केवलेन किन्तु भगवन्माहात्म्या-  
दित्याहु अथापीति ।

**आभासार्थ** — राजस अपनी सम्मति देने लगे, उनका अपकार<sup>१</sup> केवल उनके कर्मों से नहीं होता है किन्तु भगवान् के माहात्म्य से होता है। इसका वर्णन नीचे श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः** — अथाप्यभिभवन्त्येनं नैव ते घोरदर्शनाः ।

जिघांसयैनमासाद्य नश्यन्त्यग्नौ पतद्भवत् ॥ ४६ ॥

**श्लोकार्थ** — यद्यपि वे (दैत्य) घोर दर्शन (जिनके दर्शनमात्र से भय होता है) थे तो भी इस बालक को हरा नहीं सके। मारने की इच्छा से इसके पास आए किन्तु जैसे पतङ्ग दीपक को बुझाने आते हैं ? किन्तु स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं वैसी दशा इन दैत्यों की भी हुई अर्थात् स्वयं नष्ट हो गए।

**सुबोधिनी** — यद्यपि कृतपूर्व भयं भवति, तथाप्ययुक्ते कृते प्रयत्ना नश्यन्ति अन्यथा पूर्वमेव ते कथं न नष्टा भवेयुः ? तस्मादप्येनं भगवन्तं नैवाभिभवन्ति, अभिभवार्थमप्यागता नाभिभवं कर्तुं शक्नुवन्ति, न चाप्रयोजकाः, यतस्ते पूतनादयः प्रसिद्धाः, अस्तु तेषां क्लं दूरे, घोरमेव दर्शनं येषां, दृष्ट एव भयजनका भवन्तीत्यर्थः, तत्र दृष्टान्तमाह जिघांसयैनमासाद्य स्वयमेव नश्यन्ति, अभिप्रायप्रयत्नविरुद्धं

फलं प्राप्नुवन्ति, तदसम्भावितं मत्वा दृष्टान्त उच्यते पतद्भवदिति, ते हि पक्षवन्तः सूक्ष्माः कौट आत्मानं महान्तं मन्यमाना नरा मूढा अग्निं तेजस्विनं मत्वा किमित्युपासते वयं त्वर्गिन् दूरीकरिष्याम इति महतोवमननां कृत्वा निर्धारार्थं प्रवृत्ताः स्वयमेव नश्यन्ति, दग्धाभवन्ति, न त्वर्गनेः काचित् क्षतिः एवमयं भगवानतितेजस्वी तान् मारयतीति युक्तम् ॥ ४६ ॥

**व्याख्यार्थ** — यद्यपि प्रथम जो भय करते हैं उनको ही भय होता है। यों है तो भी यदि वह प्रयत्न अयोग्यो (जिसका हम नाश नहीं कर सकते हैं ऐसे तेजस्वीओं) के लिये किया जाता है तो उनका नाश न कर वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं। जो ऐसा न हो तो भगवान् के पास आने से पहले वे नाश क्यों न हो जाते ? इससे भी देखने में आता है कि भगवान् का पराभव<sup>१</sup> करने के लिये आए हुए वे उस (भगवान्) का पराभव नहीं कर सकते हैं वे कम शक्तिमान थे यों भी नहीं था, क्योंकि वे भयार्थ आये हुए पूतनादि प्रसिद्ध बलवान् थे। उनका बल तो दूर रहा किन्तु उनकी आकृति ऐसी घोर थी जिसके देखने से ही भय उत्पन्न हो जाता था यहाँ दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे पतंग<sup>२</sup> अपने को बड़ा बलशाली समझ कर कहते हैं कि मनुष्य मूर्ख है अग्नि को तेजवाला समझ उसकी क्यों पूजा करते हैं हम तो इसके प्रकाश का नाश कर देंगे इस प्रकार बड़े का तिरस्कार करते हुए उसको बुझाने के लिए उसके पास जाते हैं तो वे (पतंग) स्वयं नष्ट हो जाते हैं जल जाते हैं अग्नि का कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते हैं वैसे ही ये दैत्य भगवान् को मारने की इच्छा से उसके पास आकर स्वयं ही नष्ट हो जाते हैं इस प्रकार अति तेजस्वी यह भगवान् उनको मारते हैं यह योग्य है ॥ ४६ ॥

**आभास** — अन्ये पुनर्नन्दादयः प्रमाणबलसिद्धिमिममर्थं मन्यमाना नात्यद्भुतमिति प्रमाणमेव स्तुतवन्त इत्याहाहो इति ।

**आभासार्थ** — अन्य नन्दादिक, जो यों समझते थे कि यह बात तो प्रमाण सिद्ध है इसमें कोई अति आश्चर्य की बात नहीं है वे प्रमाण की ही स्तुति करने लगे उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — अहो ब्रह्मविदां वाचो नासत्याः सन्ति कर्हिचित् ।

गर्गो यदाह भगवानन्वभावि तथैव तत् ॥ ४७ ॥

**श्लोकार्थ** — अहो ! ब्रह्मवेत्ताओं की वाणी कभी भी असत्य नहीं होती है। भगवान् गर्गजी ने जो कहा था वैसा अनुभव में आ रहा है ।

**सुबोधिनी** — अहो इत्याश्चर्यं, कथं वा ब्रह्मविदो-  
ग्रिमवृत्तान्तं जानन्तीति, तत्रोपपत्तिर्ब्रह्मविदामिति, 'यस्मिन्  
विदिते सर्वमिदं विदितं भवती'ति, अत एव तेषां  
वाचः कदाचिदप्यसत्या न भवन्ति, तादृशी वाङ् नोत्पद्यत  
एवेति वक्तुं सन्तीत्युक्तं, ननु का ब्रह्मविदां वाच इत्या-  
कांक्षायामाह गर्गो यदाहेति, तत्र हेतुर्भगवानिति, ब्रह्म-

विदो हि ब्रह्मैव भवन्तीत्यतस्तेषां वाक्यप्रामाण्यात् तथैव  
तदन्वभावि, वेदवादिनो हि शब्दस्य नानुवादकत्वं मन्यन्ते  
किन्तु विधायकत्वमत ईश्वरो वेद एव तद्वाक्यादेव फलसिद्धिर्न  
तु फलसाधकत्वेनेश्वरापेक्षेति, 'अनेन सर्वदुर्गाणि  
यूयमङ्गस्तरिष्यथे' ति 'नारायणसमोगुणै'रिति, अतस्त-  
द्वाक्यादस्य बालस्य तादृगुणा जायन्त इतिभावः ॥ ४७ ॥

**व्याख्यानार्थ —** 'अहो' आश्चर्य वाचक यह शब्द इसलिये कहा गया है कि ब्रह्मवेत्ता भविष्य में होनेवाली बात को पहले ही जान लेते हैं। यह आश्चर्य है वे पहले ही कैसे जान लेते हैं उसको समझाते हैं कि श्रुति कहती है कि जिस (ब्रह्म) को जानने से यह सब जाना जाता है अर्थात् समग्र जगत् के भूत भविष्य का ज्ञान हो जाता है ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म को जानने से ब्रह्मरूप हो जाते हैं उनको सब प्रकार का ज्ञान पूर्व ही हो जाता है जिससे उनके वचन असत्य नहीं होते हैं। श्लोक में आए हुए 'सन्ति' पद का भावार्थ है कि उनके मुख से सत्य वचन ही निकलते हैं। झूठे कभी भी नहीं निकलते हैं ब्रह्म-वेत्ताओं के कौनसे वचन हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि गर्गजी ने जो कुछ कहे उसमें कारण देते हैं कि गर्ग साधारण नहीं थे किन्तु 'भगवान्' थे। क्योंकि शास्त्र में कहा है कि 'ब्रह्मविदो ब्रह्म एवं भवन्ति' ब्रह्म को जानने वाले ब्रह्म ही होते हैं ब्रह्म को जानने से गर्गजी ब्रह्म थे अतः श्लोक में गर्ग का विशेषण 'भगवान्' दिया है उनके वाक्य प्रमाणरूप होने के कारण जैसा उन्होंने कहा वैसा ही अनुभव हो रहा है।

वेद-वादिओं<sup>१</sup> का कहना है कि जो होनेवाला है उसका वेद नहीं कहता है किन्तु वेद आज्ञा करने वाला है। अतः वेद ही ईश्वर है। उसकी आज्ञानुसार ही फल होता है इस (वेद) के अति-रिक्त फलदाता कोई ईश्वर नहीं है। इस सिद्धान्त को ही नन्दजी प्रमाणमार्गी होने से प्रमाण मान कर कहते हैं कि गर्गजी ने कहा है कि यह बालक गुणों से 'नारयण' के समान है; इसके द्वारा ही आप सर्व अङ्गुणों को पार कर सकेंगे। अतः उनके बचन से ही इस बालक में ये गुण आए हैं। इस श्लोक का यह भाव है ॥ ४७ ॥

**आभास —** एवं नन्दादीनां त्रिविधं ज्ञानं निरूप्य फलितं वदन् भगवत्कृतं नन्दनिरोधमनूद्योपसंहरतीतीति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार नन्दकों के तीन प्रकार के ज्ञान का तीन श्लोक में निरूपण किया। इस श्लोक में उसके फल का वर्णन करते हुए भगवान् के किए हुए निरोध को पुनः कहकर इस प्रकरण का उपसंहार<sup>२</sup> करते हैं।

**श्लोकः —** इति नन्दादयो गोपाः कृष्णरामकथां मुदा ।

कुर्वन्तो रममाणाश्च नाविन्दन् भववेदनाम् ॥ ४८ ॥

**श्लोकार्थ —** इस प्रकार हर्ष पूर्वक श्रीकृष्ण और बलरामजी की कथा करते हुए



अर्थात् लीला का वर्णन करते हुए रमण का आनन्द लेते हुए नन्दादिक गोप संसार की वेदना को भूल गए ।

**सुबोधिनी** — इतिभावेन नन्दादयो गोपाः कृष्ण- जातब्रह्मात्मानुभवा वा भववेदनां संसारतापं नाविन्दन् न रमकथां स्वतन्त्रतया फलत्वेन कुर्वन्तस्तथैव कथया जातया ज्ञातवन्तः, प्रपञ्चविस्मृतिः सर्वा तदासक्तिश्च निरोध इति परमनिर्वृत्या रममाणाः, चकाराद् विस्मृतदेहा भगवत्कृतं कार्यं नन्दादिषु फलितम् ॥ ४८ ॥

**व्याख्यानार्थ** — नन्द आदि गोप, भाव से श्रीकृष्ण और राम की कथा फल समझ कर स्वतन्त्रता से करते थे । उस कथा से जो अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता था उस आनन्द में ही रमण (आनन्द-नुभव) करते थे । श्लोक में आए हुए 'च' (और) पद का भावार्थ बताते हैं कि उस आनन्द में रमण के कारण देह का भान भी उनको न रहता था । अथवा आत्मा और अक्षर ब्रह्म के स्वरूप की एकता का अनुभव करते थे जिससे सर्व प्रपञ्च भूलकर भगवान् में आसक्त हो गए यही उनका फलात्मक निरोध हुआ । 'सर्व प्रकार से प्रपञ्च भूल जाना और इसके साथ भगवान् में आसक्ति हो जावे' इसको निरोध कहते हैं । इससे भगवान् ने जो कार्य (लीला) किए उसका फल नन्दादिकों को मिला ॥ ४८ ॥

**आभास** — एवं बाल्यभावेन कृते नन्दनिरोधे प्रतिष्ठिते सति येन भक्तेन कालेन ऋडीकृतास्ते निरुद्धास्तं कालमपि सिद्धे प्रयोजने त्यक्तवानित्याहैवंविहारैरिति ।

**आभासार्थ** — इस प्रकार भगवान् ने बाल्य-भाव से जो निरोध किया यह नन्दराय में स्थित हुआ अर्थात् नन्दरायजी का निरोध सिद्ध हो गया । जिस अवस्था में आधिदैविक काल प्रकट होकर यह कुमार लीला सिद्ध करता था, उस काल में, जो थे, उनका भी निरोध सिद्ध हो गया । भगवान् ने विचार कि आधिदैविक काल का जो प्रयोजन<sup>१</sup> था वह पूर्ण हो गया है अतः अब इस काल (कुमार अवस्था) की आवश्यकता नहीं है । इसलिये इसको छोड़ देना चाहिये यों विचार कर उस काल का (कुमार अवस्था का) त्याग किया जिसका वर्णन निम्न श्लोक में है ।

**श्लोक** : — एवं विहारैः कौमारैः कौमारं जहतुर्व्रजे ।

निलायनैः सेतुबन्धैर्मर्कटोत्प्लवनादिभिः ॥ ४९ ॥

**श्लोकार्थ** — इस प्रकार छिप जाना, पुल बाँधना बानर की तरह कूदना इत्यादि कुमार अवस्था के खेलों से इन दोनों भ्राताओं ने उस कुमार अवस्था को व्रज में बिता (छोड़)

दिया\* है ।

सुनोधिनी — एवं पूर्वोक्तप्रकारैः कालस्य हारलीला-  
रूपैः करणैः सह वा कौमारं जहतुः, ननु विजातीयानां कथं  
कौमारनिवर्तकत्वं ? तत्राह कौमाररिति, कुमार-  
वस्थोद्भवैरणेरुत्पन्नैव वह्निरारणिः शाय्यतीति, तानि चरितानि  
त्रिविधानीति गणयति निलायनैरिति, सर्वैरेव विहारैर्ब्रज एव  
कौमारं जहतुः, अतो ब्रज एव कुमारे जातः कुमारी च,  
अतोप्रे वक्तव्यः 'कुमार्यः कृष्णचेतसः' इति करिष्यन्ति च  
लीलां सतागृहादिषु लीला भगवद्दर्शोत्तरप्रयत्ना  
गृहस्वमर्यादोत्सङ्घनकर्त्तव्यं, भगवान् कुमारवस्थायां  
निलायनक्रोडं करोति, स हि परमानन्दो भूत्वा स्वाज्ञानार्थं  
मायया ज्ञानशक्तिं रुणद्धि, तथात्रापि गोपादीनां चक्षुषि  
भिषते पश्चाज्जिलीय तिष्ठति तथान्ये गोपालाः, किञ्च जले

प्रवहति सेतुबन्धान् कुर्वन्ति, समावतारे ह्येक एव बन्धः  
कृतः, एकैव सौतेति, अत्र यमुनादिषु बहूनेव बन्धान् करोति  
यतः पुलिनादिषु गत्वा रमणं सिध्यति, किञ्च  
मर्कटोत्पलवनादिकमपि करोति, वृक्षाद् वृक्षान्तरे गच्छति  
सर्वशाखाफलभोगार्थं, एकस्यामप्यास्त्रः सर्वफलंभुक्ते न तु  
तस्य भिन्नः प्रक्रमोपेक्ष्यते, आदिशब्देन मण्डूकप्लुत्यादिकमपि,  
ब्राह्मणोपि भवति क्षत्रियोपि भवति सर्वमेव रसमेकत्र स्थित  
एव गृह्णाति, न तु तस्य मर्यादा प्रतिबन्धिकेति, एवं  
यावद्भिर्भावैर्यावन्तो गोकुलवासिनो ग्रहीतुं शक्यास्तान् सवनेव  
विहारान् कृतवान्, मूलरूपलीला जगद्रूपलीला वेदरूपलीलेति  
लीलात्रयं परिचायकत्वेनोक्तं, अतः परं कौमारकार्यं नास्तीति  
ताभिर्लीलाभिः सह कौमारवस्थां जहतुः ॥ ४९ ॥

व्याख्यार्थ — इसके पूर्वोक्त प्रकार से (पहले कहे हुए ढंग से) दोनों भ्राताओं ने काल  
लीलारूप साधनों से कुमार अवस्था का त्याग† किया । विजातीयलीला (दूसरे प्रकार की पौगण्ड  
लीला) से कुमारवस्था की निवृत्ति कैसे हुई ? इस शंका का निवारण दृष्टान्त देकर करते हैं कि  
कुमार अवस्था की निवृत्ति विजातीय (पौगण्ड) लीलाओं ने नहीं की है किन्तु जैसे अरणि से  
उत्पन्न अग्नि से अरणि शान्त हो जाती है वैसे ही कुमारवस्था से उत्पन्न लीलाओं से ही  
कुमारवस्था शान्त हो गई (छूट गई) इसलिये श्लोक में 'विहारैः' का विशेषण 'कौमारं' दिया  
है जिसका सीधा अर्थ होता है कुमार अवस्था में उत्पन्न काल की क्रीडाओं से कुमार अवस्था  
का त्याग किया ।

वे भगवान् के चरित्र तीन प्रकार के हैं, इन तीन प्रकार की लीलाओं से ही कुमारवस्था  
बिताई । अतः भगवान् ने ब्रज में ही कुमार और कुमारीरूप धारण किए हैं । अतः आगे‡  
'कुमारीएँ कृष्ण में संलग्न चित्तवाली हैं' कहने में आया और उस स्वरूप से लीलाएँ करेंगी ।

\* 'जहतुः' (बितादी छोड़दी) का भाव प्रकट करते हैं कि जैसे राजा सैन्य को बाहिर छोड़ के वन  
में गया । इस वाक्य में 'छोड़ के' शब्द का अर्थ 'स्थापित' करके होता है वैसे ही यहाँ भी कुमार अवस्था  
ब्रज में 'स्थापित' की यह अर्थ है ।

† दूसरे स्थान (मथुरा आदि में) भगवान् कुमार वा कुमारीरूप नहीं हैं वे रूप ब्रज में ही सदा विद्यमान  
हैं । अतः कहा गया है कि 'ब्रजपरित्यज्यपादमेकं न गच्छति' — अनुवादक ।

‡ श्रुति के अनुसार पति और स्त्रीरूप भगवान् बनते हैं तदनुसार ब्रज में कुमार और कुमारी रूप भगवान्  
हैं । २१ वें अध्याय में कृष्ण में चित्तवाली आधिदैविक कुमारियाँ भगवद्रूप हैं — 'योजना'

वे कुमारियाँ वेला के बने हुए गृहों में छिपकर भगवान् को वश करने में प्रयत्नशील होंगी और गृहस्थ धर्म की मर्यादाओं का उलंघन करने वाली होंगी, भगवान् कुमारवस्था में छिप जाने की क्रीड़ाएँ करते हैं। परमानन्द स्वरूप भगवान् अपने को छिपा कर रखने के लिए अर्थात् मुझे कोई (जीव) जान (पहचान) न सके इसलिए अपनी माया से जीवों की ज्ञान-शक्ति को तिरोहित कर देते हैं, जिससे जीव भगवान् को न देख कर उनको ढूँढते रहते हैं वैसे ही यहाँ भी उसी प्रकार की लीला कर दिखाते हैं। जैसे कि गोपादिकों के नेत्रों को हाथों से बन्द करते (वा बन्धों से बन्द करते हैं) फिर आप छिप जाते हैं वैसे ही अन्य गोपाल भी करते हैं।

जहाँ जहाँ जल बहता है वहाँ वहाँ पुलों को बाँधते हैं। रामावतार में एक ही पुल बाँधा था और एक ही सीता थी। यहाँ तो यमुनादि पर अनेक पुल बाँधते हैं कारण कि उन पुलों से यमुना पार कर पुलिनों पर जाकर रमण की सिद्धि करते और बन्दरों के समान एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष पर कूद कर एक शाखा पर बैठकर सब शाखाओं के फलों का उपभोग करते हैं। एक शाखा से दूसरी शाखा पर कूदने की उनको आवश्यकता नहीं पड़ती। श्लोक में 'आदि' शब्द का भाव बताते हैं कि इसी प्रकार आप कभी मण्डूक की तरह भी कूद कर फल भोग करते थे।

भगवान् ब्राह्मण भी बनते हैं क्षत्रिय भी होते हैं। सब रस को एक ही स्थान में स्थित होकर ग्रहण करते हैं। भगवान् को इस प्रकार स्वच्छन्द लीला करने में मर्यादा प्रतिबन्ध नहीं कर सकती है। इस प्रकार जिन जिन भावों से जो जो गोकुलवासी स्वीकार करने के योग्य थे उन सब विहारों (खेलों-लीलाओं) को भगवान् ने किया 'मूलरूप लीला' जगद्रूप लीला और वेदरूप लीला इन तीन लीलाओं को परिचयार्थ कहा है। इसके अनन्तर कुमारवस्था का कार्य नहीं रहा है, इस कारण से इन लीलाओं के साथ कुमार अवस्था का भी त्याग किया ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) के एकादश अध्याय की श्रीमद्वल्समाचार्य  
चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तामस प्रकरण, 'प्रमाण' अवान्तर प्रकरण  
का धर्मो निरूपक सातवाँ अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ❖ श्रीमद्भागवत महापुराण ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य — विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमस्कन्धः (पूर्वार्धः)

### कौतुक लीला निरूपक



प्रक्षिप्त प्रथम अध्याय

दशमस्कन्धानुसारः द्वादश अध्यायः



कारिका — कथामात्रं हरेर्वाच्यं सर्वत्रेत्यत्र केचन ।

कथां वक्तुं भागवतीं क्वचित् सिद्धाभलौकिकीम् ॥ १ ॥

योजयित्वा त्वाधुनिका अध्यायत्रितयं जगुः ।

शब्दार्थसङ्गतीनां हि स्पष्टा तत्र विरुद्धता ॥ २ ॥

लोकप्रसिद्धेस्तच्चापि कथञ्चिदरूप्यते स्फुटम् ॥ २½ ॥

कारिकार्थ — भगवान् के सर्व-चरित्र सर्वत्र कहने चाहिये, इस विचार से (वा कारण से)<sup>१</sup> कहीं भी कही गई भगवान् की अलौकिक कथा को कहने के लिये किसी आधुनिक विद्वानों ने ये तीन अध्याय बनाकर यहाँ कहे हैं । उनमें शब्द, अर्थ और संगति की विरुद्धता स्पष्ट प्रतीत होती है । यद्यपि उसमें विरुद्धता स्पष्ट है तो भी ये कथाएँ लोक में प्रसिद्ध हैं । अतः उनका स्पष्ट विवेचन किया जाता है ।

१—पद्मपुराण में प्रसिद्ध ।

पूर्वाध्यायान्ते "कौमारं जहतुर्व्रज" इत्युक्तं, "ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्पत्ता" वित्येव सन्दर्भस्तथापि भगवच्चरितमिव वत्सापहरणं पद्मपुराणे प्रसिद्धमिति तां कथामाश्रित्याघासुरवधं ब्रह्मस्तुतिं च पूर्वापरयोर्निवेश्य कौतुकलीला भगवतः प्रदर्शिता, लोका हि लौकिके कौतुकिनो भवन्ति ।

व्याख्यानार्थ — एकादश अध्याय के अन्त में 'व्रज में' कुमार अवस्था को छोड़ा (स्थापन किया) यों कहा, और द्वादश अध्याय के प्रारम्भ में कहा कि वे दोनों (श्रीकृष्ण व बलरामजी) पौगण्ड वय को धारण कर व्रज में पशुपाल बने । इस प्रकार से दोनों अध्यायों का परस्पर संदर्भ है । अतः तीन अध्यायों में कही हुई कथाओं के सम्बन्ध की संगति नहीं बैठती तो भी पद्म

× तीन अध्याय प्रक्षिप्त होने के कारण -

- (१) ११वें अध्याय के अन्त में कुमार अवस्था छोड़ी कहकर १२वें अध्याय के प्रारम्भ में लिखा है कि श्रीकृष्ण व बलराम ने पौगण्डवय धारण की । इसके बीच में कोई भी कथा नहीं कही है यदि वत्सहरण, अघासुरवध आदि कथाएँ कहनी होती तो अन्तिम श्लोक कुमार अवस्था के त्याग का ११वें अध्याय के अन्त में न कह कर इन तीनों अध्यायों के अन्त में कहते ।
- (२) प्रक्षिप्त अध्यायों के कर्ता को वही श्लोक पुनः तीसरे अध्याय के अन्त में देना पड़ा है । नहीं देते तो संदर्भ नहीं बैठता था । अतः इन अध्यायों की प्रक्षिप्तता इससे भी स्पष्ट प्रतीत होती है ।
- (३) भागवत में ३३२ अध्याय हैं इन तीन अध्यायों की गणना से ३३५ अध्याय होते हैं । प्रसिद्ध टीकाकार श्रीधरस्वामी आदि ने भी भागवत् के ३३२ अध्याय माने हैं । इससे भी ये अध्याय प्रक्षिप्त हैं ।
- (४) प्रक्षिप्त अध्यायत्रयी के अध्याय के २९वें श्लोक में कहा है कि भगवान् ने असुर को मारा तब कंस भी वहाँ था । अपने सामने अघासुर के मुख में श्रीकृष्ण का प्रवेश देखकर कंस और उसके साथी प्रसन्न हुए । अनन्तर भगवान् उनका नाश करते हैं वह भी कंस ने देखा होगा । इस प्रकार होते हुए भी अष्टि वध के अनन्तर नारदजी कंस को कहते हैं कि जिन दोनों ने तुम्हारे पुरुषों को मारा, आदि कहने से इसका विरोध होता है । कारण कि बकी और बक के छोटे बन्धु अघासुर का वध तो कंस ने स्वयं देखा था । इससे भी ये अध्याय प्रक्षिप्त सिद्ध होते हैं ।
- (५) भगवान् ने ब्रह्मा को वरदान दिया था कि तुझे कभी मोह (अज्ञान) नहीं होगा अतः ब्रह्मा को यह ज्ञान है कि श्रीकृष्ण ईश्वर हैं और इसलिये ब्रह्मा ने २-७-२७ में श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया है । ब्रह्मा जिनको ईश्वर समझते हैं उनके साथ इस प्रकार की घृष्टता कैसे करेगा अतः यह कथा प्रक्षिप्त है ।
- (६) तृतीय स्कन्ध में ठड्डवजी ने और द्वादशस्कन्ध में सूतजी ने भी इस कथा का वर्णन नहीं किया है । इसके अतिरिक्त गोपियों ने लीलानुकरण के समय इस लीला का अनुकरण नहीं किया है । इत्यादि से इसको प्रक्षिप्तता में किसी प्रकार का संशय नहीं है । इसकी प्रक्षिप्तता में रश्मिकार, श्रीप्रभुचरण, प्रकाशकार, योजना लेखक ने अनेक कारण दिये हैं जिनका संक्षिप्तसार उपरोक्त है विशेष तन ग्रंथों में देखिये । — 'अनुवादक'

पुराण में प्रसिद्ध वत्स हरण लीला की आड़ में अघासुर वध और ब्रह्मा द्वारा भगवान् की स्तुति आगे पीछे अध्यायों में कहकर हरि की कौतुक लीला कही है। लोग लौकिक में कौतुक वाले 'तमाशा देखने वाले' होते हैं।

कारिका — तत्र तु प्रथमेध्याये लीलामाह सुविस्तरम् ।

अघासुरस्य च वधं मुक्तिश्चापि स्वयुक्तितः ॥ ३ ॥

कारिकार्थ — इन तीन अध्यायों के पहले अध्याय में, विस्तार पूर्वक लीला कही है। अघासुर का वध और अपनी युक्ति से मुक्ति भी कही है।

आभास — प्रथमं भगवतो दशभिः श्लोकैर्लीलामाह ।

आभासार्थ — प्रथम अध्याय में प्रारम्भ के दश श्लोकों से भगवान् की लीला का वर्णन करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — क्वचिद् वनाशाय मनो दधद् व्रजात् प्रातः समुत्थाय वयस्यवत्सपान् ।

प्रबोधयञ् छृङ्गरवेण चारुणा विनिर्गतो वत्सपुरःसरो हरिः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ — श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि किसी दिन वन में भोजन करने के विचार से प्रभात काल होते ही उठकर, सुन्दर सिंगा के शब्द से अपने मित्र ग्वाल बालों को जगाके बछड़ों के यूँों को आगेकर भगवान् ब्रज से निकले।

सुबोधिनी — क्वचित् कदाचित्, वनाशायशनमाशो | खेणैव तेषामुत्थापनं, कृष्णस्यैवायं स्व इतिज्ञापनार्थं चारुणेति, वनेशनं कर्तुं मनो दधद् विप्रत् प्रातःकाले व्रजादुत्थाय | दोहनन्तरं वत्सान् गृहीत्वा निर्गतः ॥ १ ॥ विनिर्गत इतिसम्बन्धः, वयस्याश्च ते वत्सपाश्च, शृङ्ग-

व्याख्यार्थ — किसी दिन वन में भोजन करने का मन में विचार करके, प्रभात काल में ही उठकर जो ग्वाले थे और मित्र भी थे उन सब को सिंगा के शब्द से अर्थात् सिंगा की ध्वनि से जगाया। श्लोक में शृङ्गरवेण चारुणा का विशेषण देने का भाव यह है कि सिंगा की ध्वनि चारु सुन्दर थी जिसको सुनकर ग्वालों ने पहचान लिया कि श्रीकृष्ण की यह ध्वनि है क्योंकि ऐसी सुन्दर ध्वनि दूसरे की नहीं हो सकती है। यों समझ सुजाग होकर उठे और समझा कि कृष्ण बुला रहे हैं। गायेँ दुह लेने के पीछे बछड़ों को साथ में लेकर निकले ॥ १ ॥

**आभास —** तदा सर्वेऽपि निर्गता इत्याह तेनैवेति ।

**आभासार्थ —** उस समय (जब कृष्ण निकले) सब ग्वाल भी (बछड़ों को लेकर निकले) उसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक:—** तेनैव सार्धं पृथुकाः सहस्रशः स्निग्धाः सुशिखेत्रविषाणवेणवः ।

स्वान् स्वान् सहस्रोपरि सङ्ख्ययान्वितान् वत्सान् पुरस्कृत्य विनिर्ययुर्मुदा ॥ २ ॥

**श्लोकार्थ —** आप के साथ आपके प्रेमी ग्वाल बाल भी अच्छे अच्छे छोंके बैठ, सींग और बाँसुरी लिये सहस्रों से भी अधिक संख्या वाले, अपने बछड़ों को आगे कर आनन्द से निकले ।

**सुबोधिनी —** तेनैव भगवता सार्धं पृथुका बालाः सहस्रशो निर्गताः स्निग्धाः प्रेमला भगवति, होमना शिक् गृहेभ्य ययुः, एकैकस्य सहस्रसङ्ख्यात उपरि शिख्यपोदनसहितं क्षेत्रं वत्सचारणार्थं विषाणं वादनार्थं वेणुश्च सङ्ख्याऽयुतमित्यादि तथा सङ्ख्ययान्वितान् ॥ २ ॥

**व्याख्यानार्थ —** भगवान् के साथ सहस्रों बालक निकले, वे बालक भगवान् से प्रेम करने वाले थे जिससे उन्होंने ओदन सहित छोंके, बछड़ों को चराने के लिये बैठ, बजाने के लिये सिंगा और बाँसुरी ली थी, वे भी अपने बछड़ों को आगे कर प्रसन्नता पूर्वक घरों से निकले । प्रत्येक ग्वाले के पास दस दस हजार बछड़े थे ॥ २ ॥

**आभास —** तान् सर्वानेव स्ववत्सकान् कृष्णवत्सेषु योजितवन्त इत्याह कृष्ण वत्सैरिति ।

**आभासार्थ —** नीचे के श्लोक में कहते हैं कि उन सब ग्वाल बालों ने अपने २ बछड़ों को कृष्ण के बछड़ों में सम्मिलित कर दिया ।

**श्लोक: —** कृष्णवत्सैरसङ्ख्यातैर्यूथीकृत्य स्ववत्सकान् ।

चारयन्तोर्धलीलाभिर्विजहुस्तत्र तत्र ह ॥ ३ ॥

**श्लोकार्थ —** श्री कृष्ण के अगणित बछड़ों के साथ अपने बछड़ों के यूथों को मिलाकर उनको चराते हुए वे बालक जहाँ तहाँ बच्चों के खेल खेलने लगे ।

**सुबोधिनी —** भगवद्वत्सैः सह स्ववत्सान् यूथीकृत्य, कदाचिन्निर्गच्छन्तोर्धलीलाभिरेव तांश्चारयन्तो विजहुस्तत्रतत्र अन्यथा स्वच्छन्दलीला न भवति, ततोपि पृथग्पूतान् क्रीडितवन्तः ॥ ३ ॥

**व्याख्यार्थ** — ग्वाल बाल अपने अपने दस-दस सहस्र बछड़ों को लेकर निकले । जब व्रज से बाहर आए, तब विचार करने लगे कि, यदि हम अपने बछड़ों को श्रीकृष्ण के बछड़ों के साथ मिलाकर नहीं चरायेंगे तो हम, जो वन में खेल खेलने आए हैं, वे खेल स्वच्छन्दता<sup>१</sup> से खेल नहीं सकेंगे । इसलिए हमको अपने बछड़े श्रीकृष्ण के बछड़ों के साथ मिला देने चाहिए । ऐसा सोच कर अपने बछड़े श्रीकृष्ण के साथ में कर दिए । अतः आचार्यश्री कहते हैं कि भगवान् के बछड़ों के साथ अपने बछड़ों को मिला दिया जो नहीं मिलाते तो स्वच्छन्द लीला (क्रीडा) न हो सकती थी । ऐसा करने पर भी यदि कोई बछड़े अलग कहीं निकल जाते तो बालक्रीडा करते हुए उनको भी साथ में चरा लेते हुए भिन्न-भिन्न स्थानों में खेलते थे ॥ ३ ॥

**आभास** — फलादिभिश्च स्वशरीरं भूषितवन्त इत्याह फलेति ।

**आभासार्थ** — उन सब ने अपने अपने शरीर को फूल आदि से सजाया । इसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — फलप्रवालस्तबकसुमनःपिच्छधातुभिः ।

काचगुञ्जामणिस्वर्णभूषिता अप्यभूषयन् ॥ ४ ॥

**श्लोकार्थ** — यद्यपि ग्वाल बालों ने काच, गुञ्जा,<sup>२</sup> मणि और सुवर्ण का शृङ्गार पहले किया था तो भी वन में जाकर उन्होंने अपने को फल, कोंपल, गुच्छों, पुष्प, मोर पंख और धातुओं से सजाया ।

**सुबोधिनी** — पूर्व काचादिभिर्भूषिता अपि पुनर्ब- | पिच्छानि मयूरपिच्छानि, गैरिकादिधातवः, गुञ्जाफलानि  
न्यैरभूषयन्, स्तबकाः पुष्पगुच्छानि, सुमनसः केवलपुष्पाणि, | अन्यान्यपि नित्यं तिष्ठन्तीति काचादिषु गणितानि ॥ ४ ॥

**व्याख्यार्थ** — प्रथम काच आदि से विभूषित थे तो भी वन में उत्पन्न पुष्पों के गुच्छे केवल पुष्प, मोर पिच्छ, गेरूँ आदि धातुओं, गुञ्जाफल आदि पदार्थों से अपने को भूषित करने लगे ।

घूँघची वन में उत्पन्न होने से फल होते भी इसकी गणना काच में की जाती है । कारण कि फल सदा नहीं रहते हैं ये नित्य होती है ।

**आभास** — बालकानामन्योन्यं क्रीडामाह मुष्णन्त इति ।

**आभासार्थ** — निम्न श्लोक में बालकों का परस्पर स्मरण कहते हैं ।



श्लोकः — मुष्णन्तो न्योन्यशिक्षादीन् ज्ञातानां च चिक्षिपुः ।

तत्रत्याश्च ततो दूरद्वसन्तश्च पुनर्ददुः ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ — आपस में छींका आदि पदार्थ चुराते, जानने पर दूर से फेंक देते थे, और उस स्थान पर जो खड़े होते वे हंसते तो दूर से ही दे देते थे ।

सुबोधिनी — अन्योन्यस्य शिक्षादीन् मुष्णन्ति, ततो हसन्तश्च पुनर्ददुस्तेभ्य ततोनेन मदीयं नीतमिति ज्ञात आणद् दूरदेव चिक्षिपुः प्रक्षिप्तवन्तः, ततोपि येषु ते शिक्षादयः पतितास्तेपि ताञ् । छिन्वानन्यांश्च दूरच्चिक्षिपुः, ततो हसन्तश्च पुनर्ददुस्तेभ्य एव ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ — एक दूसरे के छींके आदि चुरा लेते । जब किसी को पता पड़ जाता कि इसने मेरा छींका आदि ले लिया है तो वहाँ से दूर फेंक देते थे । फेंके हुए छींके जिनके ऊपर गिरते थे भी उन छींकों को तथा दूसरों को भी फेंक देते थे, फिर हँसते हुए उनको ही लौटा देते थे ।

श्लोकः — यदि दूरं गतः कृष्णो वनशोभेक्षणाय तम् ।

अहम्पूर्वमहम्पूर्वमिति संस्पृश्य रेमिरे ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ — जब वन की शोभा देखने के लिये श्रीकृष्ण दूर चले जाये तो मैं पहले, मैं पहले, श्रीकृष्ण को छूँगा ऐसा कहके खेलते थे ।

सुबोधिनी — यदि दूरं गतः कृष्णो भवति तदा हभिकया भगवन्तं संस्पृश्य रेमिरे ॥ ६ ॥ तस्मिन् दूरं ते वनशोभाया दर्शनार्थमहं पूर्वं स्पृक्ष्यामीत्य-

व्याख्यार्थ — जब देखते कि श्रीकृष्ण दूर चले गये हैं और जान लेते कि वन की शोभा देखने के लिए दूर गए हैं तब मैं पहले कृष्ण को छू लूँगा इस प्रकार स्पर्धा पूर्वक कहते सब ग्वाले श्रीकृष्ण को छू कर खेलते थे ॥ ६ ॥

श्लोकः — केचिद् वेणून् वादयन्तो ध्वान्तः शृंगाणि केचन ।

केचिद् भृंगैः प्रगायन्तः कूजन्तः कोकिलैः परे ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ — कितने ही बंसी बजाते थे । कितने ही सिंगे की ध्वनि कर रहे थे । कोई कोई भ्रमरों के साथ उनके समान गुँजर करते थे । कोई कोई तो कोयलों के स्वर में स्वर मिला कर कुहु कुहु कर रहे थे ।

सुबोधिनी — तत्र केचिद् बाला वेणून् वादयन्तो पुनर्भृङ्गैः सह तथैव गायन्तस्तथैव कोकिलैः सह कूजन्तः जाताः केचन शृंगाणि ध्वान्तो वादयन्तो जाताः, केचित् ॥ ७ ॥

**व्याख्यार्थ** — वहाँ कितने ही बालक वेणुनाद करने वाले बने, कितने ही सिंगा बजाने वाले हुए, कितने ही भ्रमरों के साथ उनके सहगान करते थे, कितने ही कोयलों के साथ वैसा कूजन करते थे ॥ ७ ॥

**श्लोकः** — विच्छ्रयाभिः प्रधावन्तो गच्छन्तः साधु हंसकैः ।

बकैरु पविशन्तश्च नृत्यन्तश्च कलापिभिः ॥ ८ ॥

**श्लोकार्थ** — पक्षियों की छाया के साथ दौड़ते थे, हंसों के साथ अच्छी तरह चलते थे, बकों की पंक्ति के साथ बैठ जाते थे, मयूरों के साथ नृत्य करते थे ।

**सुबोधिनी** — केचित् पुनरुपरि गच्छन्तां वयसां साधु गच्छन्तश्च बकैः सह तथैवोपविशन्तः कलापिभिर्मण्डलाकृतिभिः प्रकर्षेण धावन्तो जाता हंसैः सह पिभिर्मयूरैः सह नृत्यन्तश्च जाताः ॥ ८ ॥

**व्याख्यार्थ** — कितने ही बालक आकाश में गोलाकार बनकर उड़ते हुए पक्षियों की जो परछाई पृथ्वी पर पड़ती हुई दौड़ती जाती थी उसके साथ उत्कर्ष पूर्वक दौड़ते थे । कितने ही हंसों के साथ अच्छी तरह चलते थे उसी प्रकार बकों के साथ उनकी तरह बैठ जाते थे कितने ही मयूरों के साथ नृत्य करते थे । ८ ॥

**श्लोकः** — विकर्षन्तः कीशबालानारोहन्तश्च तैर्दुमान् ।

विकूर्वन्तश्च तैः साकं प्लवन्तश्च पलाशिषु ॥ ९ ॥

**श्लोकार्थ** — बंदरों की पूछें खेंचते हुए उनके साथ पेड़ों पर चढ़ जाते थे । उनके साथ दाँत निकाल कर मुख मोड़ते और वृक्षों पर कूदते थे ।

**सुबोधिनी** — कीशालम्बपुच्छ वानस्पृष्टां बालान् दुमानारोहन्तो मुखविकारश्च कुर्वन्तो भर्कट्यदेव पलापुच्छानि विशेषेण कर्षन्तो बालानेव च धृत्वा तैः सह शिषु वृक्षेषु प्लवन्त उत्प्लुत्य गच्छन्तो भूमौ च ॥ ९ ॥

**व्याख्यार्थ** — बंदरों की अनेक प्रकार की जातियाँ होती हैं, उनमें एक जाति है जिसकी पूछें लम्बी होती हैं । उस जाति के बंदरों को संस्कृत में कीश कहते हैं । बाल शब्द के दो अर्थ होते हैं—पशु की पूछ, बच्चे । आचार्यश्री दोनों अर्थ करते हैं — १ लम्बी पूछ वाले बंदरों की पूछे जोर से खींचते थे । २ बंदरों के बच्चों को खींचकर उनके साथ पेड़ों पर चढ़ जाते थे । बंदरों की तरह दाँत निकालते थे और पृथ्वी पर चलते दौड़ते उनके समान वृक्षों पर कूदते जाते थे ॥ ९ ॥

श्लोकः - साकं शैकविलङ्घिताः सतिरसवसम्पत्ताः ।

विहसन्तः प्रतिच्छायाः शपन्तश्च प्रतिस्वनात् ॥ १० ॥

श्लोकाव - मंडको के समान उछलते हुए चलते थे । नदी और झरनों में डूब-कियाँ लगाते थे । परछाइयों को हँसते और प्रतिस्वनि (गूँज) को अपशब्द कहते थे ।

सुबोधनी - शैकमण्डकः सह, सती नद्यः, प्रवहा । प्रतिच्छाया दर्पणाद्विप्रतिबिम्बाणि प्रतिस्वनास्त्वद्यद्वि निमित्तम् । शपन्तः, शप्यन्तस्तैरेव, गता आ खोलिङ्गपाठविरच्यः, उच्यते स्वशब्दाज्जपन्तश्च भवन्ति ॥ १० ॥

व्याख्या - मंडक जिस प्रकार धूम पर उछलते हुए चलते हैं वैसे ही जाले भी उनके साथ उसी प्रकार पृथ्वी पर चलते थे । जिस तरह मंडक नदी और झरनों में डूबकियाँ मार कर नहाते हैं वैसे ही वे जालबाल भी उनके साथ नदी और झरनों में डूबकियाँ मारते हुए नहाते थे । 'संप्रति' शब्द जो श्लोक में दिया है उसका दूसरा अर्थ गड्ढे, गी होता है । अतः इसका अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है । वे जैसे कि जालबाल मंडकों के साथ नदी, झरणी और गड्ढों को कूद जाते थे, दर्पण आदि में पड़े हुए प्रतिबिम्बों का तथा किनारों पर जो प्रतिस्वनियाँ आती थीं उन सबका निरंतर (अपमान) करते थे ॥ १० ॥

आपास - तेषां पापमभिमानदतीत्यभिप्रायः ।

आपासाव - निम्न कहे हुए दो श्लोकों में उनके पाप की प्रशंसा करते हैं ।

श्लोकः - इत्थं सती ब्रह्मसुखानुभूत्या दास्य गतानां परदैवतेन ।

मायाश्रितानां नरबालकेन साधं विजड्डः कृतपुण्यपुञ्जाः ॥ ११ ॥

श्लोकाव - जो भगवान् श्रितियों को ब्रह्मरूप और आनन्दरूप से केवल अनुभव में आते हैं ऐसे भगवान् भक्तों का परम दैवत रूप है । माया से मोहित पुण्यों के लिये मनुष्य बालरूप है वैसे भगवान् से वे जालबाल कीड़ा कर रहे हैं इससे जाना जाता है कि इन्होंने कोई पुण्य पुञ्ज इकट्ठा कर रखा है जिससे ये भगवान् से रमण कर सके हैं ।

सुबोधनी - लोका विविधा श्रितयो भक्ताः आकामाश्च, तत्र भगवान् सर्वेषां तदाद्वैतानुसारेण स्फुटितं 'तं' यथायथापासते तथैव भवती' 'विजड्डः, तत्र सती श्रितिनः प्रकरोणापि विप्राब्धेन साधं कृतः पुण्यपुञ्जो दैवते विजड्डः इत्यर्थः सः सः सः सुखरूप आनन्दरूपो नृपतिरूपः ॥ ११ ॥

**व्याख्यार्थ** — जगत् में लोग तीन प्रकार के होते हैं - १-ज्ञानी, २-भक्त और ३-प्राकृत (प्रकृति के आधीन) । इसलिये जो जैसा है उसको बुद्धि में भगवान् वैसे ही दिखते हैं, क्योंकि श्रुति में कहा है कि 'तंयथा यथोपासते तथैव भवति' परमात्मा की जो जिस भाव से उपासना करता है । भगवान् उसको उसी प्रकार से दर्शन देते हैं । जैसे कि ज्ञानियों की बुद्धि में सद्रूप ब्रह्मस्वरूप से, आनन्दरूप से और अनुभूतिरूप-ज्ञान स्वरूप से स्थित होते हैं । वे ज्ञानी उस स्वरूप से रमण करते हैं अर्थात् आनन्द प्राप्त करते हैं ।

दास-भाव को प्राप्त भक्तों का नियन्ता (प्रेरक-सारथि) और स्वामी तथा आराध्य (सेव्य) है । वे (भक्त) इनमें ही खेलते हैं अर्थात् आनन्द मग्न हो जाते हैं ।

प्राकृतों (प्रकृति (माया) के आधीनों) को भगवान् केवल मनुष्य-बालक प्रतीत होते हैं । वे उसमें ही सन्तुष्ट रहते हैं । जिन्होंने पुण्य पुञ्ज इकट्ठे किए हैं वे सब ग्वाल-बाल अपने अपने भावानुसार उन (भगवान्) से क्रीड़ा करते थे जो सबों को उनकी भावना के अनुसार आनन्द प्रदान करते थे । इन ग्वालों के बड़े भाग्य हैं ॥ ११ ॥

**आभास** — महच्च तेषां भाग्यं यत् तेषां दृष्ट्यग्रे भगवांस्तिष्ठतीत्याह यत्पादपां-सुरिति ।

**आभासार्थ** — वे ग्वालबाल बड़े भाग्यशाली हैं जो उनकी दृष्टि के आगे (देखने में) भगवान् विराजमान हैं । इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — यत्पादपांसुर्बहुजन्मकृच्छतो षृतात्मभिर्योगिभिरप्यलभ्यः ।

स एव यद्दृग्विषयः स्वयं स्थितः किं वर्ण्यते दिष्टमतो व्रजौकसाम् ॥ १२ ॥

**श्लोकार्थ** — बहुत जन्म तक कष्ट सहकर मन को वश करने वाले योगीजनों को भी जिनके चरण की रज दुर्लभ है, वे ही आप भगवान् जिनकी दृष्टि के सामने प्रत्यक्ष विराज रहे हैं । उन व्रजवासियों के भाग्य का क्या, कहाँ तक वर्णन करूँ ?

**सुबोधिनी** — बहुजन्मतपसा जितेन्द्रियैर्योगिभिरपि शरीरेन्द्रियान्तःकरणशुद्धियुक्तैरपि यत्पादपांसुरलभ्यः स एवैष कृष्णो येषां बालकानां सर्वेषामेव व्रजस्थितानां वा स्वयमेव स्थितो न तु तैः प्रार्थितोपि अतो व्रजौकसां भाग्य-मवाङ्मनोगोचरं किं वर्ण्यते ? ॥ १२ ॥

**व्याख्यार्थ** — बहुत जन्म की तपस्या से जितेन्द्रिय और शरीर इन्द्रियाँ तथा अन्तःकरण से शुद्ध हुए योगीजन भी जिनकी चरण रज प्राप्त नहीं कर सकते हैं वे ही यह कृष्ण स्वयं बिना प्रार्थना के जिन बालकों के अथवा सकल व्रजवासियों के नेत्रों का विषय हो रहे हैं । उन व्रजवासियों के भाग्य का वर्णन वाणी और मन से नहीं हो सकता है तब उनके भाग्य का वर्णन कैसे किया जाए ॥ १२ ॥

आभास — एवं क्रीडायां मध्येघासुरः समागत इत्याहाथेत्येकविंशतिभिस्तस्य मुक्त्यन्ता कथा निरूप्यते ।

आभासार्थ — इस प्रकार वे खेल ही रहे थे तो वहाँ अघासुर नामक दैत्य आ गया । उसके मारने तक की समग्र कथा का वर्णन २१ श्लोकों से करते हैं ।

श्लोकः — अथाघनामाभ्यपतन्महासुरस्तेषां सुखक्रीडनवीक्षणाक्षमः ।

नित्यं यदन्तर्निजजीवितेषुभिः पीतामृतैरप्यमरैः प्रतीक्ष्यते ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ — तदनन्तर इन लोगों की सुखपूर्वक क्रीड़ा को सहन न करता हुआ अघासुर नामवाला बड़ा दैत्य वहाँ आया, अमृतपान कर अमर बने हुए देव भी अपने जीने की इच्छा से जिसके मरने के दिन की नित्य प्रतीक्षा<sup>१</sup> कर रहे हैं ।

सुबोधिनी — अघोन्वर्थनामा तेषां बालकानां सुख-  
क्रीडनस्य वीक्षणेप्यक्षमा यस्य, नित्यं सर्वदा यदन्तर-  
घासुनाशोमरैः प्रतीक्ष्यते, तत्रहेतुर्निजजीवितेषुभिर्निहित, यद्यपि | ते पीतामृताः, अतोयमत्यन्तं दुष्टेभूतादीनामपि वस्तुसामर्थ्य-  
नाशकः ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ — इस (अघासुर) का नाम भी सार्थक था । (अघ) कहते हैं पाप को । पाप में जितनी बुराईयाँ होती हैं उतनी ही इसमें थी । विशेष, असुर तो था ही अतः इन (ग्वालबालों) की आनन्दप्रद क्रीड़ा देखकर सहन नहीं कर सका । वह इतना तो पाप पुञ्ज था, जो अमृत पिये हुए अमरदेव भी अपने जीने के लिए इसके मरने की नित्य प्रतीक्षा कर रहे थे । क्योंकि उन (देवों) को यह ज्ञान था कि अमृत में जो अमर बनाने की शक्ति है उस शक्ति को भी यह मिटा सकता है ॥ १३ ॥

श्लोकः — दृष्ट्वार्भकान् कृष्णमुखानघासुरः कंसानुशिष्टः स बकीबकानुजः ।

अयं तु मे सोदरनाशकृत्तयोर्द्वयोरथैनं सबलं हनिष्ये ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ — कंस के भेजे हुए पूतना और बक का छोटा भ्राता अघासुर श्रीकृष्ण की प्रमुखतावाले सब ग्वालबालों को देखकर, सोच कर, कहने लगा कि यह (श्रीकृष्ण) जो मेरे भाई तथा बहिन को नाश करनेवाला है इसलिये उसके बदले में सेना सहित इसका नाश करूँगा ॥ १४ ॥

१—बाट देखना, इन्तजार करना ।

सुबोधिनी — अर्पकान् बालकान् कृष्ण एव प्रमुखो व्यावर्तयति अयं तु भगवान् मे सोदरयोर्भ्रात्रोर्नाशकर्ता न  
येषां कंसेन प्रेषितः स प्रसिद्धो बकी पूतना बकश्च तयो- कर्मकालादि, अतस्तयोर्द्वयोरर्थ उपद्रवं करिष्यामीति ॥ १४ ॥  
रनुजः, तस्य संकल्पमाहायं त्विति, त्विति पक्षान्तराणि

**व्याख्यार्थ** — श्रीकृष्ण जिनकी अगवानी कर रहे थे उन सब (ग्वालबालों) को देखकर, कंस के भेजे हुए, पूतना और बक के प्रसिद्ध छोटे भाईने जो विचार किया उसका वर्णन उत्तरार्द्ध में करते हैं। यह भगवान् ही मेरी बहिन पूतना और भाई बक को मारनेवाला है। श्लोक में (तु) शब्द इसलिये दिया है कि अघासुर का यही निश्चय था कि मेरी बहिन तथा भाई की काल ने मृत्यु नहीं की है और कर्मों के कारण भी उनकी आयु पूरी नहीं हुई थी। अतः इस(कृष्ण)ने ही मारा है अर्थात् दूसरे किसी काल और कर्म ने नहीं मारा है। इस कारण से मैं दोनों के नाश के बदले में उपद्रव करूंगा अर्थात् सैन्य सहित इस(कृष्ण) का नाश करूंगा ॥ १४ ॥

**आभास** — ततो बालकानामप्युपद्रवो भविष्यतीत्याहैत इति ।

**आभासार्थ** — इस प्रकार करने से बालकों के लिये भी उत्पात होगा जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — एते यदा मत्सुहृदोस्तिलापः कृतास्तदा नष्टसमा ब्रजौकसः ।

प्राणे गते वर्ष्मसु कानुचिन्ता प्रजासवः प्राणभृतो हि ये ते ॥ १५ ॥

**श्लोकार्थ** — जब ये सब, मेरे मित्रों के बक और बकी (पूतना) के तिल और जल होंगे तब ब्रजवासी मरे हुए के समान हो जायेंगे। प्राणों के जाने के पीछे देहकी चिन्ता कैसी ? देहधारियों के प्राण तो बालक ही हैं ।

सुबोधिनी — मत्सुहृदोर्मदभ्रात्रोस्तिलापः कृतास्ति- देहेषु गमनार्थं का चिन्ता ? बालकाश्च ब्रजवासिनां  
लोदकप्राया मृतानां तृप्तिहेतवः, तदा ब्रजौकसो गावः प्राणरूपाः यतः प्राणभृतः प्रजासवः प्रजैवासवः प्राणा  
स्त्रीपुरुषाश्च नष्टसमा नष्टप्रायाः, यथा प्राणे गते वर्ष्मसु येषाम् ॥ १५ ॥

**व्याख्यार्थ** — मृतकों की तृप्ति करनेवाले तिल और जल होते हैं। ये जब मेरे बन्धुओं की तृप्ति करने के लिये तिल जल रूप होंगे तब ब्रजवासी, गौ और पुरुष नाश हुआ के समान बन जाएंगे। जब प्राण ही चले गये तो देह के जाने की चिन्ता काहे की ? ब्रजवासियों के बालक ही प्राण हैं। बालकों के जाने पर वे भी नहीं रहेंगे ॥ १५ ॥

**श्लोकः** — इति व्यवस्थाजगरं बृहद्वपुः स योजनायाममहाद्रिपीवरम् ।

धृत्वाद्धृतं व्यात्तगुहाननं तदा पथि व्यशेत ग्रसनाशयः खलः ॥ १६ ॥

**श्लोकार्थ** — ऐसा निश्चय कर सब को निगल जाने की आशावाला वह खल एक योजन लम्बा बड़े पर्वत के समान स्थूल बड़े अजगर जैसा देह धारणकर गुफा के सदृश<sup>१</sup> मुँह फाड़कर मार्ग में सो गया ।

**सुबोधिनी** — इत्यध्यवसायं कृत्वाजगरमजगरवत् स्थूलं गुहावदानं यत्र ग्रसनार्थमेव सचनं कृतवान्, दया तु वपुर्धृत्वा पथि व्यरोत योजनमात्रमायामो विस्तारे यस्य नास्ति यतः खलः ॥ १६ ॥  
वपुषः, महाद्रिक् पर्वतवत् स्थूलं भ्रमार्थमत्यद्भुतं ध्यातं

**व्याख्यार्थ** — इस प्रकार अपनी बहिन और भाई को इनको मारकर तृप्त (प्रसन्न) करने का निश्चय कर एक योजन विस्तारवाला महापर्वत के समान स्थूल, भ्रम उत्पन्न करने के लिये अपना मुख गुफा जैसा बनाकर बड़े अजगर रूप से सबको निगलने के लिए मार्ग में सो गया । इसका कारण बताते हैं श्लोक में (खलः) विशेषण दिया है । जिसका भाव है कि वह खल होने से निर्दयी था ॥ १६ ॥

**आभास** — तस्य रूपमनुवर्णयति ।

**आभासार्थ** — इसके रूपका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — धराधरोष्ठो जलदोत्तरोष्ठो दर्यानिनान्तो गिरिशिङ्गदंष्ट्रः ।

ध्वान्तान्तरास्यो वितताध्वजिह्व-परुषानिलश्वासदवेक्षणोष्णः ॥ १७ ॥

**श्लोकार्थ** — नीचे का होठ पृथ्वी पर और ऊपर का बादलों को छूता था । मुख का मध्य भाग (जबड़े) गुफा के समान, दाढ़ें पर्वत के शिखर के सदृश, मुख के अन्दर का भाग अन्धकार के समान, जीभ इतनी लम्बी मानो कोई सड़क बनी हुई है, श्वास कठोर पवन के समान और आँखें दावानल के जैसी गर्म थीं ।

**सुबोधिनी** — धरेति, धरया भूमाधरोष्ठे यस्य, जलदेषु मेघेषूत्तरोष्ठे यस्य, दरीवत् कन्दरवदानान्तो मुखमध्यं यस्य, गिरेः शृङ्गवद् दंष्ट्र यस्य ध्वान्तयुक्तं मन्तरास्थं, वितताध्वजं किन्तु स्वेष्टत्वेनैव कल्पितवन्तः ॥ १७ ॥  
दववद् दवानलवदीक्षणयोरुष्णः स्पर्शो यस्य, श्वासेन सहित ईक्षण उष्णो वा, तादृशमपि दृष्ट्वा बालका न भीताः

**व्याख्यार्थ** — उसके (अजगर के) रूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिसका नीचे का होठ पृथ्वी पर है और ऊपर का होठ बादलों में है । मुख का मध्य भाग (जबड़े) कन्दरा के

समान है, जिसकी दाढ़ें गिरिशिखर के समान लम्बी थीं, मुख के अन्दर का भाग जिसका अन्धकार-युक्त है, जिसकी जीभ लम्बी सड़क जैसी है, जिसके श्वास असह्य पवन (लू) जैसे हैं जिसके आँखों का स्पर्श जंगल की अग्नि के समान उष्ण है अथवा श्वास सहित ईक्षण (आँखें) उष्ण स्पर्शवाली हैं। ऐसे भी अजगर को देखकर बालक घबराए नहीं किन्तु उस रूप को अपना इष्ट रूप समझा अर्थात् खेलने का खिलौना समझा ॥ १७ ॥

**आभास —** अत एव तेषां न भयं जातमसद्भावाभावादित्याशयेनाह तं दृष्ट्वेति ।

**आभासार्थ —** यह असुर है, हमको नाश करने के लिये इसने ऐसा रूप धारण किया है। इस प्रकार का उन बालकों में असत् भाव (दुष्ट भाव, दोषवाला भाव) नहीं था। इसलिये वे डरे नहीं। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

**श्लोक: —** तं दृष्ट्वा तादृशं सर्वे मत्वा वृन्दावनश्रियम् ।

व्यात्ताजगरतुण्डेन ह्युत्प्रेक्षन्ते स्म लीलया ॥ १८ ॥

**श्लोकार्थ —** इस प्रकार के इस अजगर को देखकर सब बालक उसको वृन्दावन की सम्पत्ति समझ खेलते खेलते फटे हुए अजगर के मुख की समानता करने लगे।

**सुबोधिनी —** तं तादृशं दृष्ट्वा वृन्दावनश्रीवैषेति स्मेतिप्रसिद्धिः, स्वस्य भयाभावाल्लीलया यत्किञ्चित् मत्वा क्षणं ध्यात्वा भवति न वेत्यजगरतुण्डतुल्यत्वेन कल्पयन्ति स्म ॥ १८ ॥  
श्रियमेवोत्प्रेक्षितवन्तः, श्रीरक्षा परमजगरतुण्डवद् दृश्यत इति,

**व्याख्यानार्थ —** उसको वैसा देखकर यह वृन्दावन की शोभा है यह मान लिया। यह वृन्दावन की शोभा है या नहीं इसका एक क्षण विचार कर कहने लगे कि यह है तो वृन्दावन की शोभा-सम्पत्ति अर्थात् खिलौना, किन्तु अजगर के मुख समान देखने में आता है। इस प्रकार के विचार से उन्होंने इसको वृन्दावन की श्री मान ली। अतः बालक निर्भय होकर जो चाहे उसकी कल्पना करने लगे। इसलिये श्लोकों में (स्म) शब्द प्रसिद्धि वाचक दिया है ॥ १९ ॥

**आभास —** कल्पनामेवाह पञ्चभिः ।

**आभासार्थ —** निम्न पांच श्लोकों से बालकों ने उस (अजगर) के विषय में कल्पनाएँ की उसका वर्णन करते हैं।

**श्लोक: —** अहो मित्राणि गदत सत्त्वकूटं पुरःस्थितम् ।

अस्मत्संग्रसनव्यात्तव्यालतुण्डायते न वा ॥ १९ ॥



**श्लोकार्थ —** अहो ! मित्रों ! यह जो सामने देखने में आ रहा है, वह किसी कपटी प्राणी के समान है या नहीं । उस पर भी अपने को निगलने के लिए अजगर के फटे हुए मुख के समान लगता है वा नहीं यह कहो ।

**सुबोधिनी —** अहो इत्याश्चर्यं, मित्राणि सर्वाणि । वर्तमानमस्मत्सङ्ग्रसनार्थमेव व्यातं प्रसारितं व्यालतुण्ड-  
गदत इति सम्बोधनं वा, सत्त्वकूटं कपटसत्त्वं पुरुःस्थितमग्रे । मित्राचरति न वेतिनिर्णयो वक्तव्य इत्यर्थः ॥ १९ ॥

**व्याख्यानार्थ —** बालकों ने यह देखकर आश्चर्य प्रकट किया इसलिये श्लोक में (अहो) शब्द दिया है । हे मित्रों ! आप सब निर्णय करके कहो कि यह सामने स्थित कपटी प्राणी अपने को निगलने के लिये ही अजगर के फटे हुए मुख के सदृश आचरण करता है वा नहीं ॥ १९ ॥

**आभास —** तत्र नवापक्षं दूरीकृत्योत्प्रेक्षार्थं व्यालतुण्डत्वमेव सम्पादयन्ति सत्यमिति ।

**आभार्थ —** ऊपर के श्लोक में किए हुए प्रश्न के उत्तर में कितने ही बालक कहने लगे कि यह कपटी प्राणी नहीं है किन्तु अनुमान से कहा कि यह अजगर का मुख ही है । उसका वर्णन नीचे श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः —** सत्यमर्ककरक्तमुत्तराहनुवद् घनम् ।

अधराहनुवद्रोधस्तत्प्रतिच्छाययारुणम् ॥ २० ॥

**श्लोकार्थ —** वास्तव में सूर्य की किरणों से थोड़ा सा लाल ऊपर के होंठ के समान बादल और उसकी छाया से लाल हुआ यह स्थल नीचे के होंठ के समान दिखाई देता है ।

**सुबोधिनी —** अर्ककरैरक्तमुत्तराहनुवद् घनं पश्यत । वर्णम् ॥ २० ॥  
अधराहनुवद् रोधश्च तस्यैवारक्तमेघस्य प्रतिच्छाययारुण-

**व्याख्यानार्थ —** सूर्य की किरणों से थोड़े से लाल हुए ऊपर के होंठ के समान बादल को देखो और उसकी परछाई से लाल नीचे भाग के होंठ के सदृश नदी तट को देखो ॥ २० ॥

**श्लोकः —** प्रतिस्पर्धेते सुक्लिभ्यां सव्यासव्ये नगोदरे ।

तुङ्गशृङ्गालयोप्येतास्तदंष्ट्राभिश्च पश्यत ॥ २१ ॥

**श्लोकार्थ —** बाँयी और दाहिनी पर्वत की दोनों गुफाएँ होठों के पासवाले हिस्सों से क्या होड नहीं करती है ? ऊँचे पर्वत के शिखर, उसकी दाढ़ों की होड करते हैं ।

सुबोधिनी — सुक्लिणीभ्यां कृत्वा सव्यासव्ये पर्वत- | तुंगानां शृंगाणामालयः पङ्क्तयोपि तद्विष्टाभिः प्रतिस्पर्धा-  
कन्दरे प्रतिस्पर्धन्ते, वस्तुतः कन्दरेव सुक्लिणीव दृश्यते, | धन्ते, नात्र सन्देहः, पश्यत ॥ २१ ॥

व्याख्यार्थ — ओष्ठों के पासवाले हिस्सों से, वाम और दक्षिण तरफ वाली पर्वत की कन्दराएँ प्रतिस्पर्धा कर रही हैं। वास्तविक देखा जाय तो कन्दरा ही ओष्ठों के प्रान्त भाग के समान दिखती है। ऊँचे शिखरों की पङ्क्तियाँ भी उसकी दाढ़ों से होड करती हैं। इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। देखो ॥ २१ ॥

श्लोकः — आस्तृतायाममार्गोयं रसनां प्रति गर्जति ।

येषामन्तर्गतं ध्वान्तमेतदप्यन्तराननम् ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ — यह योजन नापवाला लम्बा मार्ग जिह्वा जैसा भालूम होता है जिसके अन्दर का यह अन्धेरा भी मुख के मध्य-भाग के समान भासता है।

सुबोधिनी — आस्तृत आसमन्तादायाममार्गो | तुल्यत्वाय, येषां शृङ्गानां दृष्ट्यामन्तर्गतमपि ध्वान्तमन्तराननं  
योजनपरिमिते रसनां प्रति गर्जति रसनावद् भासते, गर्जनदिकं | प्रति गर्जति ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ — यह चारों ओर विस्तारवाला योजन पर्यन्त मार्ग जिह्वा के सदृश भास रहा है। गर्जना आदि तो समानता बताती है। शिखर पर्वतों को दाढ़ें हैं उनके भीतर का अन्धकार, मुख के भीतर के अन्धकार जैसा दिखता है ॥ २२ ॥

श्लोकः — दावोष्णखरवातोयं श्वासवद् भाति पश्यत ।

तद्गन्धसत्त्वदुर्गन्धोप्यन्तरामिषगन्धवत् ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ — दावाग्नि<sup>१</sup> से गर्म यह कठोर वायु श्वास के समान भासता है। देखो दावाग्नि से जले हुए प्राणियों की दुर्गन्ध भी भीतर रहे अपक्व मांस जैसी लगती है।

सुबोधिनी — वातोयं, दावानलेन कोष्णः, श्वास- | दुर्गन्धोन्तरोदरे यदामिषमपक्वमांसं यत् तेन भक्षितं तस्य  
वद् भाति पश्यत विचार्यत, तत्र दावानले दग्धानां सत्त्वानां | गन्धवद् भाति ॥ २३ ॥

व्याख्यार्थ — यह पवन दावाग्नि के समान उष्ण और कठोर है। अथवा दावाग्नि से जो यह पवन उष्ण और कठोर हुआ है। वह पवन जैसा भासमान होता है इसको देखो

१—वन में लगी हुई आग।

अर्थात् इसका विचार करो । दावानल में जले हुए जानवरों की दुर्गन्ध वैसी लगती है, जैसे पेट के भीतर खाए हुए कच्चे मांस की दुर्गन्ध हो ॥ २३ ॥

**आभास** — तर्ह्येवं सति किं कर्तव्यमित्याशङ्क्य गन्तव्यमेवेति निर्धार्य बाधकं दूरीकुर्वन्त्यस्मानिति ।

**आभासार्थ** — जो हमको निगलने के लिये यह आया हो तो क्या करना चाहिये इस प्रकार शंका कर निर्णय करते हैं कि कैसा भी हो हमको इसके भीतर घुसना ही चाहिये । इसमें आनेवाले प्रतिबन्धों को हटाते हैं जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — अस्मान् किमत्र ग्रसिता निविष्टानयं तथा चेद् बकवद् विनङ्क्ष्यति ।  
क्षणानेनेति बकार्युशन्मुखं वीक्ष्योद्धसन्तः करताडनैर्ययुः ॥ २४ ॥

**श्लोकार्थ** — इसमें घुसे हुए अपने को क्या यह निगलेगा ? यदि निगलेगा तो बक के समान श्रीकृष्ण के हाथ से यह भी शीघ्र नाश हो जाएगा । यों कहकर भगवान् के सुन्दर मुख का दर्शन करते हुए ये बालक तालियाँ बजाते हुए हँसते हँसते उसके मुख में घुसने लगे ।

**सुबोधिनी** — अत्र प्रविष्टानस्मान् किमयं ग्रसिष्यति ? इति निश्चित्य बकारेर्भगवत् उशत् कर्मण्यं मुखं विक्ष्योद्धं तथा चेद् बकवदेव क्षणादेव नाशं यास्यत्यनेनैव कृष्णेनैवैषोषः । हसन्तः करताडनैः सहिताः प्रवेष्टुं ययुः ॥ २४ ॥

**व्याख्यानार्थ** — इसमें प्रविष्ट हम लोगों को क्या यह ग्रसेगा ? यदि ग्रसेगा तो बक की तरह यह पापी भी क्षणमात्र में श्रीकृष्ण के हाथ से मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा । यह निश्चय कर बक के शत्रु भगवान् के सुन्दर मुखारविन्द को देखकर ऊँची आवाज़ से हँसते हुए तालियाँ बजाते हुए उसके मुख में प्रवेश करने लगे ॥ २४ ॥

**श्लोकः** — इत्थं मिथोतथ्यमतज्ज्ञभाषितं श्रुत्वा विचिन्त्येत्यमृषा मृषायते ।

रक्षो विदित्वाखिल भूतहृत्स्थितः स्वानां निषेद्धं भगवान् मनो दधे ॥ २५ ॥

तावत् प्रविष्टास्त्वसुरोदरान्तरं परं न जीर्णाः शिशवः सवत्साः ।

प्रतीक्षमाणेन बकारिवेशनं हतस्वकान्तस्मरणेन रक्षसा ॥ २६ ॥

**श्लोकार्थ** — सर्वभूतों के हृदय में (अन्तर्यामी रूप से) स्थित भगवान् जानते थे की यह राक्षस है । बालक अनजान होने से इसके (सत्यस्वरूप को) नहीं पहचानते हैं

इसलिए जो कहते हैं वह असत्य है। यों विचार कर भगवान् ने इनको रोकने के लिए मन (ध्यान) दिया अर्थात् रोकने का विचार किया। इतने में तो वे बालक बछड़ों सहित अघासुर के पेट में पहुँच गए। किन्तु उसने (अघासुरने) इनको निगला नहीं, क्योंकि वह श्रीकृष्ण के भीतर आने की राह देख रहा था कि कृष्ण आए तो पीछे निगलने का कार्य करूँगा।

**सुबोधिनी** — भगवान् पुनर्भा प्रविशन्तु सर्वोयं भक्षणार्थं स्थित इति यावदवदति तदर्थं चयावन् मनसि विचारयति तावदेव प्रविष्टा इति श्लोकद्वयसम्बन्धः, इत्थं पूर्वोक्तप्रकारेण मिथो बालकैस्तथ्यमेवातथ्यवद् भाषितं तेषां वाक्यं श्रुत्वा विचिन्त्य सत्यमयमजगर एवेति निश्चित्यामृषैव रक्षसो, मृषायतेजगरवत् तिष्ठति श्रीरिव या बुद्धिमुत्पादयति, अतोयं रक्षस एवेति विदित्वा स्वानां निषेधार्थं स्वान् निषेद्धुं सर्वज्ञो

भगवान् मनो दधे विचारितवांस्तावदेव बालका असुरेदन्तरं प्रविष्टाः सद्यत्सा गतप्राणा अपि तदुदरगिना न जीर्णाः, जरणे तेषामुपमर्दोपेक्ष्यते, स तु न ज्ञात इत्याह, बकादिप्रवेशं प्रतीक्षमाणेन हतयोर्बकोबकयोरन्तस्मरणं मृत्युस्मरणं यस्य तेन रक्षसा दृढवैरानुबन्धेन जातिदुष्टेनापि भगवत्प्रतीक्षया न जीर्णाः ॥ २५-२६ ॥

**व्याख्यानार्थ** — ये बालक इसके मुख में प्रवेश नहि करे क्योंकि यह सर्प निगलने के लिये यहाँ स्थित है। ऐसा विचार कर जब तक बालकों को कहे कि मत घुसो तब तक बालक उसके मुख में घुस गए। इस प्रकार दोनों श्लोकों का सम्बन्ध है इसलिये दोनों श्लोकों का अर्थ साथ में दिया है।

**व्याख्यानार्थ** — इस प्रकार बालकों ने आपस में 'सत्य ही' असत्यवत् कहा। उनको सुनकर, विचार कर समजा कि यह सच्चा ही अजगर है। इस प्रकार निश्चय कर भगवान् कहने लगे कि यह रक्षस होते हुए भी अजगर के रूप का झुठा ढोंग करता है अथवा बालकों की बुद्धि में वृन्दावन की श्री का भ्रम उत्पन्न करता है। अतः यह वास्तविक रक्षस ही है यह जानकर अपने मित्रों को रोकने के लिए सर्वज्ञ भगवान् ने मन किया अर्थात् इच्छा की। इतने में तो बालक बछड़ों सहित रक्षस के उदर के अन्दर प्रविष्ट हो गए। भीतर जाने पर प्राण रहित गही गए तो भी जठराग्नि ने उनको जलाया पकाया नहीं। पक जाते तो उनका उपमर्द (रूपान्तर) हो जाता वह नहीं हुआ था। उनको क्यों नहीं जलाया उसका कारण कहते हैं कि अपने भाई और बहन (बक और बकी) का मरना उसे याद था जिससे भगवान् से दृढ़ बैर भाववाला और जाति से भी दुष्ट होने से भगवान् की प्रतीक्षा\* कर रहा था अर्थात् आने की राह देख रहा था। इसलिये उनको अपनी जठराग्नि से पकाया नहीं ॥ २५-२६ ॥

\* अपने मन में यह निश्चय कर रक्खा था कि मेरे भाई बहिन को जिसने मारा है उसको मारूँगा ही।

(२) भगवान् आएँ तो उनके साथ इनको भी पका लूँगा - अनुवादक

१-वेपरवाही।

आभास — भगवतो विचारमाह तान्वीक्ष्येति ।

आभासार्थ — निम्न श्लोक में भगवान् के विचारों का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — तान् वीक्ष्य कृष्णः सकलाभयप्रदो ह्यनन्यनाथान् स्वकण्ठवच्युतान् ।

दीनांश्च मृत्योर्जठराग्निघासान् घृणार्दितो दिष्टकृतेन विस्मितः ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ — सबके अभयदाता जिनका नाथ दूसरा कोई नहीं है ऐसे भगवान् दीनों को अपने हाथ से निकल कर मृत्यु की जठराग्नि का ग्रास रूप बना हुआ देख के, दया से पीड़ित हुए और दैव के कृत्य से विस्मित हो विचार करने लगे ।

सुबोधनी — कृष्णः सर्वेभ्योऽभयदाता तेषां पतिताः, नाप्युपेक्षणीया दीनाः, मृत्योरघस्यैव जठराग्नेर्घासाः गोकुलवासिनां च, सर्व एवानन्यनाथाः, न विद्यतेन्यो कवलरूपः, दिष्टकृतेन तथाभूतांस्तान् दृष्ट्वा भगवान् विस्मितो नाथो येषां, इदानीं च स्वकण्ठवच्युता अकस्मात् तन्मुखे जातः ॥ २७ ॥

व्याख्यार्थ — श्रीकृष्ण, उन(बालकों)को गोकुलवासियों को और सबों को अभयदान देने वाले हैं । इन सर्व बालकों का मेरे बिना कोई दूसरा नाथ (रक्षक) नहीं है । अब इस समय मेरे हाथ से निकल गए हैं । और उसके मुख में पड़ गए हैं तो आप ही निकल आएँगे । आप क्यों विचार करते हो ? इस पर कहते हैं कि नहीं ये (बालक) दीन हैं इसलिये उपेक्षा<sup>१</sup> के योग्य नहीं हैं । क्योंकि अघासुर जो मृत्युरूप है उसकी जठराग्नि के ग्रासरूप हो गए हैं । मैं ही उनका नाथ हूँ मुझे इनको यहाँ से निकालना चाहिये । प्रारब्ध के कारण इस दशा को प्राप्त हुए इनको देखकर भगवान् विस्मित हुए ॥ २७ ॥

आभास — विचारयति कृत्यं किमत्रेति ।

आभासार्थ — यह देखकर भगवान् विचार करते हैं कि इस विषय में अब क्या करना चाहिए वह विचार निम्न श्लोक में बताते हैं ।

श्लोकः — कृत्यं किमत्रास्य खलस्य जीवितं न वा अमीषां च सतां विनाशनम् ।

द्वयं कथं स्यादिति संविचिन्त्य तज् ज्ञात्वाविशत् तुण्डमशेषदृग्धरिः ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ — अब यहाँ क्या करना चाहिए ? यह दुष्ट अघासुर भी न बचे और ये

सत्पुरुष भी न मरें, ये दोनों बात कैसे सिद्ध हो इसका अच्छे प्रकार से विचार कर उसके उपाय का निश्चय कर सर्व दृष्टा हरि उसके मुख में प्रविष्ट हुए।

सुबोधिनी — यद्यप्य मार्यते बालका अपि गमिष्यन्ति, अन्यान् कृत्वा गृहनयने कृतेष्वेते नष्टा एव, अतो बालका रक्षणीया अयं च मारणीयः, एतदुभयं मत्प्रवेशेनैव भवतीति तुण्डमविशत्, यतोयमशेषदृग्धरिश्च सर्वदुःखहर्ता, अस्य खलस्य जीवितं यथा न स्यादमीषां वा सतां विनाशनं यथा न स्यादेतद् द्वयं कथं स्यादितिफलद्वयमेकं साधनं च सञ्चिन्त्य तादृशमुपायं ज्ञात्वा प्रविष्टः ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ — जो इस (रक्षस) को मारेगा तो ये बालक भी मर जाएँगे। यदि बालक मर जाएँ और दूसरे ऐसे ही बालक बनाकर ले चलें तो भी वे बालक तो मर ही गए। अतः ऐसी युक्ति करें जिससे ये बालक तो बच जाएँ और केवल रक्षस का नाश हो। ये दोनों कार्य तब सिद्ध होंगे जब मैं इसके मुख में प्रवेश करूँगा। यों निश्चय कर श्रीकृष्ण ने उसके मुख में प्रवेश किया। कारण कि यह सर्वद्रष्टा एवं सर्व दुःखहर्ता है। इस (मुख में प्रवेशरूप) एक ही साधन से दोनों फलों (रक्षस को मारना व बालकों को बचाना) की प्राप्ति, भगवान् ये समझकर उसके मुख में प्रविष्ट हुए ॥ २८ ॥

श्लोक : — तदा घनच्छदा देवा भयाद्भाहेति चुक्रुशुः ।

जहषुर्ये च कंसाद्याः कौणपास्त्वधबान्धवाः ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ — इस समय बादलों की ओट में खड़े हुए देव हाहाकार करने लगे और अघासुर के सम्बन्धी कंसादिक रक्षस प्रसन्न हुए।

सुबोधिनी — तदा देवाः कंसादयश्चाकाशमार्गेण ब्रह्ममागताः, तत्र देवा घनच्छदा मेघान्तरिताः पश्यन्ति ते हाहेति चुक्रुशुः कंसाद्या जहषुर्हर्षं प्राप्तवन्तः कंसाद्याः सर्व एव ये केचनाधस्यः बान्धवाः कौणपा रक्षसाः ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ — जिस समय अघासुर के मुख में भगवान् प्रविष्ट हुए उस समय आकाश में देखने के लिये आए हुए देव बादलों की ओट में खड़े थे। वे भगवान् का प्रवेश देखकर हाहाकार कर दुःख प्रकट करने लगे और कंसादिक अघासुर से सम्बन्धी जो भी रक्षस वहाँ आकाश में देखने के लिये आए थे वे प्रवेश देखकर हर्ष को प्राप्त हुए ॥ २९ ॥

श्लोकः — तच्छ्रुत्वा भगवान् कृष्णस्त्वव्ययः सार्धवत्सकम् ।

चूर्णीचिकीर्षोरत्मानं तरसा ववृधे गले ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ — यह हाहाकार सुनकर अविकारी भगवान् श्रीकृष्ण बछड़ों के साथ आपको भी चूर्ण करने की इच्छावाले (अघासुर) के गले में बहुत शीघ्रता से बढ़ने लगे।

सुबोधिनी — उपवेशं हर्षविषादौ श्रुत्वा भगवान् बालकवत्ससहितमात्मानं चूर्णाचिकीर्षोरस्य गले यवुषे कृष्णोऽव्ययः स्वतो भयरहितः सार्धवत्सकं स्थूलो जातः ॥ ३० ॥

व्याख्यानार्थ — दोनों (देव और कंस आदि राक्षसों) के हर्ष तथा शोक की ध्वनि सुनकर भगवान् कृष्ण अव्यय होने के कारण स्वतः निर्भय थे । क्योंकि आपका तो यह राक्षस (अघासुर) लेशमात्र भी कुछ बिगाड़ नहीं सकता था । किन्तु बछड़ों सहित बालकों की तो हानि करने में यह राक्षस समर्थ था इस विचार से बछड़ों सहित बालकों को बचाने के लिये और राक्षस के नाशार्थ उसके गले में बढ़ने लगे, अर्थात् स्थूल होने लगे ॥ ३० ॥

श्लोकः — ततो तिकायस्य निरुद्धमार्गिणो ह्युद्गीर्णदृष्टेर्धर्मतत्त्वितस्ततः ।

पूर्णोन्तरङ्गे पवनो निरुद्धो मूर्धन् विनिष्पात्य विनिर्गतो बहिः ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ — उन (कृष्ण) के बढ़ने से स्थूल देहवाले सर्प अघासुर का गला घुट गया, आँखें बाहर निकल पड़ी, जिससे इधर उधर तड़फड़ाने लगा और पवन का मार्ग रुक जाने से उसके शरीर के भीतर भरा और रुका हुआ वायु उसके ब्रह्मरन्ध्र को भेद कर बाहिर निकल गया ।

सुबोधिनी — ततो तिकायस्य स्थूलस्य सर्पस्य पवनो निरुद्धः सन् मूर्धानं विनिष्पात्य बहिर्निर्गतो मुख्यप्राणो निरुद्धमुखमार्गवत् उद्गीर्णो निगति दृष्टी चक्षुषी यस्य, ब्रह्मरन्ध्रेण विनिर्गतः ॥ ३१ ॥  
इतस्ततश्च प्रमतो देहं विक्षिपतोन्तरङ्गे शरीरमध्ये पूर्णः

व्याख्यानार्थ — इसके अनन्तर बड़ी देहवाले सर्प का गला घुट जाने से आँखें बाहर निकल आई, इधर-उधर तड़फड़ाने लगा । शरीर के मध्य में पूर्ण रीति से वायु रुक गया था निकलने का स्थान न होने से मुख्य प्राण मस्तक को फोड़कर ब्रह्मरन्ध्र से बाहिर निकल गया ॥ ३१ ॥

श्लोकः — तेनैव सर्वेषु बहिर्गतेषु प्राणेषु वत्सान् सुहृदः परेतान् ।

दृष्ट्या स्वयोत्थाप्य तदन्वितः पुनर्वस्त्रान् मुकुन्दो भगवान् विनिर्ययौ ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ — उस मार्ग (ब्रह्मरन्ध्र) से सर्प के प्राण और इन्द्रियादि सब के बाहिर निकल जाने पर मुकुन्द भगवान् अपनी दृष्टि से मरे हुए बछड़ों और मित्रों को जिला कर उनके साथ मुख से बाहिर निकल आए ।

सुबोधिनी — तेनैव च मार्गेण सर्व एव प्राणा मुकुन्दो भगवान् वक्त्राद् विनिर्ययौ मुखमार्गेणैव निर्गतः, इन्द्रियाण्यात्मा च बहिर्निर्गतास्तदा परेतान् वत्सान् सुहृदो प्राणगमनानन्तरं सूक्ष्मो भूत्वा तथा कृतवान् ॥ ३२ ॥  
बालकान् स्वयामृतदृष्ट्योत्थाप्य सजीवान् कृत्वा तैः सह

**व्याख्यार्थ** — जब अघासुर के उसी मार्ग (ब्रह्मरन्ध्र) से, सर्व प्राण, इन्द्रियाँ और आत्मा बाहिर निकल गए तब मरे हुए बछड़ों तथा मित्र बालकों को अपनी अमृतमयी दृष्टि से जीवित कर उनके साथ मुकुन्द भगवान् मुख के रस्ते से निकल आए । सर्व के प्राणों के जाने के अनन्तर आप (कृष्ण) ने पूर्ववत् छोट स्वरूप कर, वैसा किया, अर्थात् निकल आए ।

**आभास** — भगवति बहिर्निर्गतेष्वस्य सायुज्यमाह ।

**आभासार्थ** — भगवान् के बाहिर निकलने पर निम्न श्लोक में अघ के सायुज्य का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः** — पीनाहिभोगोत्थितमद्भुतं महज्योतिः स्वधाम्नोज्ज्वलयद् दिशो दश ।

प्रतीक्ष्य खेवस्थितमीशनिर्गमं विवेश तस्मिन् मिषतां दिवौकसाम् ॥ ३३ ॥

**श्लोकार्थ** — अजगर के मोटे शरीर से निकली हुई ज्योति, अपने प्रकाश से दशों दिशाओं को प्रकाशित करती हुई आकाश में स्थित होकर भगवान् के बाहिर पधारने की राह देखती थी, जब भगवान् बाहिर पधारे तब वह ज्योति देवताओं के देखते देखते उन (श्रीकृष्ण स्वरूप) में प्रविष्ट हो गई ।

**सुबोधिनी** — पीनो योयमहिः सर्पस्तस्य भोगात् । प्रतीक्ष्य निगति तस्मिन् विवेश पश्यतां दिवौकसां सतां, छोरदुत्थितमद्भुतं महस्तेजोरूपं ज्योतिः प्रकाशमानं स्वधाम्ना । तेजोरूपं लिङ्गशरीरं प्रविष्टमिति मायावादिनः ॥ ३३ ॥ स्वतेजसा दश दिश उज्ज्वलयद् बहिः स्थितं सद् भगवन्निर्गमनं

**व्याख्यार्थ** — स्थूल इस सर्प के शरीर से निकला हुआ अद्भुत महत् तेजरूप ज्योति अपने तेज से दश दिशाओं को प्रकाशित करती हुई बाहर (आकाश में ) स्थित रहकर भगवान् के बाहिर आगमन की प्रतीक्षा कर रही थी, भगवान् के बाहिर पधारने पर देवताओं के देखते देखते उनमें प्रविष्ट हो गई । मायावादी कहते हैं कि तेजोरूप लिङ्ग शरीर प्रविष्ट हुआ ॥ ३३ ॥

**आभास** — ततो देवानां सुखं जातमित्याह ।

**आभासार्थ** — इससे देवता प्रसन्न हुए जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — ततोतिदृष्टाः स्वकृतोक्तार्हणं पुष्पैः सुरा अप्सरसश्च नर्तनैः ।

गीतैः सुगा वाद्यघनाश्च वाद्यकैः स्तवैस्तु विप्रा जयनिः स्वनैर्गणाः ॥ ३४ ॥



**श्लोकार्थ** — इसके अनन्तर अत्यन्त प्रसन्न हुए देवोंने अपने लिये कार्य करने वाले भगवान् की पुष्पों से, अप्सराओं ने नृत्य से, गायकों ने गाने से, बाजे बजानेवालों ने वाद्यों से विप्रों ने स्तोत्रों से वैष्णवोंने (जय जय) शब्द से पूजा की ।

**सुबोधिनी** — ततोतिष्ठति इति, स्वार्थं देवार्थमेव कयेतीति स्वकृत् तस्य भगवतोर्हणं पूजामकृतं कृतवन्तः पुष्पैः, अप्सरस्य च नर्तनैः, पूजामकृतेति सर्वत्रसम्बन्धः, सुष्ठु गायन्तीति सुगास्ते गीतैर्वाद्य धनो येषां ते वाद्यधना विप्रास्तु स्तवैर्वैष्णवगणा जयनिः स्वनैरर्हणमकृत ॥ ३४ ॥

**व्याख्यार्थ** — भगवान् ने हमारे (देवों के) लिये यह कार्य (अघासुर वध) किया है अतः देवगण अत्यन्त प्रसन्न होकर भगवान् की पूजा करने लगे । देवोंने पुष्पों से अप्सराओं ने नृत्यों से, सुन्दर गायकों ने गानों से, वाद्य बजानेवालों ने वाद्यों से, विप्रों ने स्तोत्रों से, वैष्णवगणों ने जय जय शब्दों से पूजा की ॥ ३४ ॥

**आभास** — तदा ब्रह्मणोऽप्याश्चर्यं जातमित्याह ।

**आभासार्थ** — तब (यह देख कर) ब्रह्मा को भी आश्चर्य हुआ जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — तदद्भुतस्तोत्रसुवाद्यगीतकजयादिनैकोत्सवमङ्गलस्वनान् ।

श्रुत्वा स्वधाम्नोन्त्यज आगतोचिराद् दृष्ट्वा महेशस्य जगाम विस्मयम् ॥ ३५ ॥

**श्लोकार्थ** — ब्रह्माजी, ये अद्भुत स्तोत्र, सुन्दर बाजे, गायन और जय घोष आदि अनेक उत्सव के मंगल शब्द, अपने धाम के पास ही सुनकर शीघ्र ही वहाँ आ गए । भगवान् की सामर्थ्य देखकर विस्मय को प्राप्त हुए ।

**सुबोधिनी** — तदद्भुतेति, तेषामद्भुतस्तोत्रादिकं श्रुत्वा स्वधाम्नोन्ति स्वगृहसमीपेजो ब्रह्मा तत आगतोचिरच्छीघ्रमेव दृष्ट्वा भगवन्तं महेशस्य भगवतः सामर्थ्यं च दृष्ट्वा विस्मयं जगाम, स्तोत्रं सुवाद्यं गीतं जयशब्दाश्च तैर्योग्यमनेकोत्सवस्तत्सहितान् मङ्गलस्वनान्, ते शब्दा ब्रह्मलोकपर्यन्तं गताः, तच्छ्रुत्वा ब्रह्मा समागतो विस्मयमाप ॥ ३५ ॥

**व्याख्यार्थ** — उनके अद्भुत स्तोत्रादिक ब्रह्माजी ने अपने घर पर ही सुने । सुनकर शीघ्र आ गए । वहाँ भगवान् को और उनके सामर्थ्य को देख कर विस्मय को प्राप्त हुए । क्योंकि जो स्तोत्र वाद्यादि यहाँ हुए उनकी ध्वनि भौरे घर तक सुनने में आई जिससे ब्रह्मा भगवान् के ऐश्वर्य को जानकर विस्मित हुए ॥ ३५ ॥

आभास — मुक्तस्य देहो भगवद्भक्तानां क्रीडार्थं जात इत्याह ।

आभासार्थ — मुक्त हुए (अघासुर) राक्षस का शरीर भी भगवद्भक्तों के रमण के काम आया । यह नीचे के श्लोक में बताते हैं ।

श्लोकः — राजन्नाजगरं चर्म शुष्कं वृन्दावनेद्भुतम् ।

व्रजौकसां बहुतिथं बभूवाक्रीडगह्वरम् ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ — हे महाराज ! वृन्दावन में शुष्क अजगर का अनूठा यह चर्म व्रजवासियों के, बहुत समय तक खेलने के समय छिप जाने के लिये गुफा का काम देने लगा ।

सुबोधिनी — राजन्निति, वृन्दावन शुष्कं गन्धरहितं व्रजौकसां बहुकालमाक्रीडार्थं गह्वरं गुप्तस्थानं बभूव ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ — हे राजन् ! वृन्दावन में शुष्क होने से यह अजगर का चर्म दुर्गन्ध रहित हो गया ।

अतः बहुत समय तक व्रजवासियों के खेलने के लिये गुप्त (छिपने का) स्थान हुआ ॥ ३६ ॥

आभास — आश्चर्यान्तरमाहैतदिति ।

आभासार्थ — दूसरे आश्चर्य का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — एतत् कौमारजं कर्म हरेरात्माहिमोक्षणम् ।

मृत्योः पौगण्डके बाला दृष्ट्वोचुर्विस्मिता व्रजे ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ — अपना अजगर रूप मृत्यु से छुड़ाना, कुमार अवस्था में किया हुआ यह भगवान् का कर्म (लीला) देख कर विस्मय को प्राप्त हुए बालकों ने पौगण्ड अवस्था में आने के पश्चात् व्रज में आकर सुनाया ।

सुबोधिनी — भगवतः कौमारवस्थायां जातमेतत् कर्मात्मनोहेः सकाशान् मोक्षणरूपं मृत्योरेव मोक्षणरूपं हरेः पौगण्डवस्थायां जातस्य शरीरं शुष्कं दृष्ट्वा विस्मिताः सन्तो व्रजे समागत्योचुः, "अद्यानेन महाव्याल" इति वक्ष्यति ॥ ३७ ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् की कुमार अवस्था में की हुई यह लीला अपने (बालक और वत्सों) को अजगर से छुड़ाना अर्थात् मृत्यु से बचाना और पौगण्डवस्था में शरीर को शुष्क होता देख बालक अचम्भे में पड़ गए । व्रज में आकर कहने लगे कि आज इस (कृष्ण) ने बड़े सर्प को मार डाला है । यह आगे के अध्याय (३, श्लोक ४८) में कहा जाएगा ॥ ३७ ॥

**आभास —** अघासुरस्य मुक्तिं युक्त्या समर्थयति नैतद् विचित्रमितिद्वाभ्यां ।

**आभासार्थ —** निम्न दो श्लोकों में अघासुर की मुक्ति का युक्ति से समर्थन करते हैं ।

**श्लोक: —** नैतद् विचित्रं मनुजार्थमायिनः परावराणां परमस्य वेधसः ।

अघोपि यत्स्पर्शनधूतपातकः प्रापात्मसाम्यं त्वसतां सुदुर्लभम् ॥ ३८ ॥

**श्लोकार्थ —** छोटे और बड़े सबके नियमन करनेवाले और कर्ता, मनुष्य-बाल रूप मायावी भगवान् के इस प्रकार कर्म करने में कोई आश्चर्य नहीं है । जिनके स्पर्शमात्र से पापी अघासुर भी निष्पाप, होकर दुष्टों को दुर्लभ ऐसी मुक्ति को प्राप्त हो गया ।

**सुबोधिनी —** मनुजार्थो मनुष्यबालः स एव नियन्ता कर्ता च, अघोपि पापरूपो यत्स्पर्शनेन धूतपातकः मायातद्धतो भगवत एतद् बालमोक्षणमघासुरमोक्षो वा न प्रक्षालितपाप आत्मसाम्यं भगवत्समतामसतां दुष्टानां सुदुर्लभं विचित्रं वस्तुतोयं परावराणां परमो ब्रह्मादीनामस्मदादीनां च प्रापेति यत् तत्र हेतुः ॥ ३८ ॥

**व्याख्यार्थ —** मनुष्य-बाल रूप होना ही माया है, उस मायावाले का इन बालकों को मृत्यु से छुड़ाना (अपनी अमृतमयी दृष्टि से अजगर के भीतर ही जीवित करना और अघासुर को मोक्ष देना) कोई आश्चर्यकारक कार्य नहीं है क्योंकि यह वास्तव में पर (ब्रह्मादि) और अवर (अस्मदादिकों) का नियन्ता और कर्ता है । पापरूप अघ के भी जिसके स्पर्श से पाप धुल गए और जो मुक्ति दुष्टों को मिलनी दुर्लभ है उस भगवत्समता (मुक्ति) को प्राप्त हुआ ॥ ३८ ॥

भगवान् का यह कार्य आश्चर्यकारक नहीं है, जिसका हेतु निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं ।

**श्लोक: —** सकृद्यदंगप्रतिमान्तराहिता मनोमयी भागवती ददौ गतिम् ।

स एव नित्यात्मसुखानुभूतिर्व्युदस्तमायः परमोङ्ग किं पुनः ॥ ३९ ॥

**श्लोकार्थ —** जिनकी केवल मनोमयी मूर्ति भी हृदय में धारण करने से मुक्ति देती है तो आत्मसुख स्वरूप सच्चिदानन्द माया से परे सर्वश्रेष्ठ स्वयं जिसके हृदय में पधारे उसकी मुक्ति होने में कौनसी विचित्रता है ।

**सुबोधिनी —** सकृद् यस्य भागवतीङ्गप्रतिमा शरीरसमाना सच्चिदानन्दरूप आत्मा व्युदस्तमायः पूर्णज्ञानेनैव गतमायः मानसी मूर्तिरन्तराहिता हृदये स्थापितापि भागवती गति परमकाष्ठां प्राप्नोन्तराहितः सन् मुक्तिं ददातीति किं ददौ ददाति तत्र स एव नित्यात्मसुखानु-भूतिः पुनर्वक्तव्यम् ॥ ३९ ॥

**व्याख्यार्थ** — एक बार, जिस भगवान् की शरीर के समान मनोमयी (मन से ध्यान में लाई हुई) मूर्ति, हृदय में धारण की हुई, मुक्ति देती है तो फिर वह ही नित्य, आत्म-सुखानुभूति स्वरूप सच्चिदानन्द आत्मा पूर्ण ज्ञान के कारण माया से परे, सबसे उच्च स्थितिवाले स्वयं हृदय में पधारकर मुक्ति देवे इसमें क्या कहना है ॥ ३९ ॥

**आभास** — एतावदुक्त्वा शुकः परमनिर्वृतः तूष्णीभास तदा राजा पृच्छतीत्याह सूतः ।

**आभासार्थ** — इतना कहकर परम प्रसन्न हुए शुकदेवजी शान्त हो गए अर्थात् आगे बोले नहीं तब राजा पूछने लगे, जिसका वर्णन सूतजी निम्न श्लोक में करते हैं ।

॥ सूत उवाच ॥

**श्लोकः** — इत्थं द्विजा यादवदेवदत्तः श्रुत्वा स्वरातुश्चरितं विचित्रम् ।

पप्रच्छ भूयोपि तदेव पुण्यं वैयासकिं यन्निगृहीतचेताः ॥ ४० ॥

**श्लोकार्थ** — सूतजी कहते हैं, हे ब्राह्मणों ! इस तरह निज पालक भगवान् का विचित्र चरित्र सुनकर उस चरित्र श्रवण में चित्तवाले राजा परीक्षितने व्यासजी के पुत्र से फिर भी वही चरित्र पूछा ।

**सुबोधिनी** — हे द्विजाः शौनकादयः, यादवदेवेन भूयोपि तदेव पप्रच्छ यतो विचित्रं पुण्यं च, वैयासकिं कृष्णेन दत्तो विष्णुरतः स्वरातुः स्वराक्षितुश्चरितं श्रुत्वा शुकं, येन चरित्रेण निगृहीतं चेतो यस्य ॥ ४० ॥

**व्याख्यार्थ** — हे शौनकादिक द्विजों ! यादवों के देव श्रीकृष्ण से रक्षा किए हुए राजा परीक्षित अपने पालक का चरित्र सुनकर फिर भी वही चरित्र व्यास पुत्र शुकदेवजी से पूछने लगे, कारण कि भगवान् के चरित्र पुण्यरूप तथा विचित्र है और भगवान् के चरित्रों ने परीक्षित का चित्त अपनी तरफ आकृष्ट कर लिया था ॥ ४० ॥

**आभास** — प्रश्नमेवाह त्रिभिः ।

**आभासार्थ** — तीन श्लोकों से राजा के किए हुए प्रश्न का वर्णन करते हैं ।

॥ राजोवाच ॥

**श्लोकः** — ब्रह्मन् कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेत् ।

यत् कौमारे हरिकृतं विदुः पौगण्डकेर्षकाः ॥ ४१ ॥

**श्लोकार्थ** — राजा परीक्षित ने कहा कि हे ब्रह्मन् ! भगवान् ने कुमार अवस्था में जो लीला की थी बालकों को उस लीला का ज्ञान पौगण्ड अवस्था में हुआ, एक काल में किए हुए कर्म का ज्ञान दूसरे काल में कैसे हुआ ।

**सुबोधिनी** — ब्रह्मत्रितिसम्बोधनं ज्ञानार्थं, यदुक्तं | कालान्तरकृतं तत्कालीनं कथं भवेदिति, तदेवाह यत् "कौमारे हरिकृतं पौगण्डे कीर्तितं" मितितत्र शङ्का | कौमारे हरिकृतं बालकाः पौगण्डके विदुरिति ॥ ४१ ॥

**व्याख्यार्थ** — श्लोक में शुकदेवजी को 'ब्रह्मन्' कहा है, जिसका तात्पर्य है कि शुकदेवजी ज्ञानवान् है अतः इस प्रश्न का उत्तर देने में समर्थ है (कुमार अवस्था में जो हरि ने किया उसका कीर्तन बालकों ने पौगण्डवय में किया) इसमें शंका होती है कि एक काल में किया हुआ कर्म उसका दूसरे काल में ज्ञान कैसे हुआ होगा ॥ ४१ ॥

**श्लोकः** — तद् ब्रूहि मे महायोगिन् परं कौतूहलं गुरो ।

नूनमेतद्धरेरेव माया भवति नान्यथा ॥ ४२ ॥

**श्लोकार्थ** — हे गुरु ! महायोगी ! वह मुझे कहो ! मुझे इसका आश्चर्य है मेरे विचार में निश्चय से यह हरि की माया ही है, माया के बिना वैसा हो नहीं सकता है ।

**सुबोधिनी** — यद्यपि भविष्यति किञ्चित् कारणं | नूनमेतद्धरेरेव माया भवति, अन्यथा तेषां भ्रमो न स्यात्, तथापि तन् मे मह्यं ब्रूहि, अज्ञानं तु तव नास्तीत्याह हे अतो भगवच्चरित्रमिति वक्तव्यम् ॥ ४२ ॥

**व्याख्यार्थ** — जो कि इसमें कुछ कारण होगा, तो भी वह मुझे कहो । आप महायोगी हो अतः आप सब कुछ जानते ही हो । आप से कुछ भी छिपा हुआ नहीं है और यह महान् आश्चर्य है । इतना समझ में आता है कि निश्चय से यह हरि की माया है जो हरि की माया न होती तो बालकों को इस प्रकार भ्रम नहीं हो सकता था । अतः कहना या समझना चाहिये कि यह सब भगवान् का चरित्र (लीला) ही है ॥ ४२ ॥

**आभास** — कथनार्थं स्वश्लाघां करोति वयं धन्यतमा इति ।

**आभासार्थ** — शुकदेवजी मेरे प्रश्न का उत्तर दें, इसलिये निम्न श्लोक में अपनी बढाई करते हैं ।

**श्लोकः** — वयं धन्यतमा लोके गुरोपि क्षत्रबन्धवः ।

यत् पिबामो महुस्त्वतः पुण्यं कृष्णकथामृतम् ॥ ४३ ॥

**श्लोकार्थ** — हे गुरु ! हम क्षत्र बन्धु हैं, तो भी आपके मुखारविन्द से निकले हुए श्रीकृष्ण के कथारूप अमृत का पान करने से बड़े भाग्यशाली है ।

सुबोधिनी — क्षत्रियायमा अपि वयं धन्यतमा यतो | पिबामः ॥ ४३ ॥  
भवान् गुरुः, किञ्च त्वत्तः कृष्णकथामृतं यतो मुहुः |

**व्याख्यार्थ** — जो कि क्षत्रियो में भी अधम हैं तो भी हम बड़े भाग्यशाली हैं । क्योंकि आप हमारे गुरु हो और आप से कृष्ण कथारूप अमृत बार-बार पान कर रहे हैं ।

**आभास** — एवं पृष्टो जातसमाधिरपि शुकः पुनराहेत्याह सूतः ।

**आभासार्थ** — यद्यपि इतना कहकर शुकदेवजी समाधिस्थ हो के शान्त हो गए थे किन्तु राजा के पूछने पर फिर शुकदेवजी कहने लगे । यह सूतजी निम्न श्लोक में कहते हैं ।

॥ सूत उवाच ॥

**श्लोकः** — इत्थं स्म पृष्टः स तु बादरायणिः संस्मारितानन्तहृताखिलेन्द्रियः ।

कृच्छात् पुनर्लब्धबहिर्दृशिः शनैः प्रत्याह तं भागवतोत्तमोत्तमम् ॥ ४४ ॥

**श्लोकार्थ** — श्री सूतजी कहते हैं कि हे शोणकादिक ऋषिओं ! इस तरह भगवान् का स्मरण कराते ही शुकदेवजी की सर्व इन्द्रियां भगवान् में लीन हो गईं । फिर किसी प्रकार के कष्टपूर्वक शुकदेवजी ने बहिर्दृष्टि कर वैष्णव-श्रेष्ठों में उत्तम वैष्णव राजा परीक्षित को धीरे-धीरे उत्तर देना प्रारम्भ किया ।

सुबोधिनी — इत्थं पृष्टो बादरायणिः सम्यक् स्मारितो | समाधेर्विरतस्योच्चैर्भाषणं न सम्भवतीति भागवतोत्तमानां  
योयमनन्तस्तेन हृतान्यखिलेन्द्रियाणि यस्य, तादृशोपि | मध्यवर्त्तमानप्रतीतिकथने हेतुः ॥ ४४ ॥  
कृच्छात् पुनर्लब्धबहिर्दृष्टिः शनैः प्रत्याह

**व्याख्यार्थ** — सम्यक् प्रकार से स्मरण कराए हुए अनन्त भगवान् में शुकदेवजी की सर्व इन्द्रियां लीन हो गईं अर्थात् शुकदेवजी समाधिस्थ हो गए थे । किन्तु वैसा होते हुए भी शुकदेवजी कष्ट से बाहिर की दृष्टि प्राप्त कर (समाधि से जागृत हो) धीरे धीरे उत्तर दिया । समाधि त्याग के अनन्तर ऊंचे स्वर से बोला नहीं जा सकता है । शुकदेवजी ने समाधि त्याग कर भी उत्तर देने की आवश्यकता इसलिये समझी कि प्रश्न करनेवाला राजा वैष्णवोत्तमों में भी श्रेष्ठ वैष्णव था ॥ ५४ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) के द्वादश अध्याय की श्रीमद्भगवाचार्य  
चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तीन प्रक्षिप्त अध्यायों में का प्रथम  
अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्यतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ✧ श्रीमद्भागवत महापुराण ✧

श्रीमद्वल्मीकि — विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

### कौतुक लीला निरूपक



प्रक्षिप्त द्वितीयऽध्याय

दशम स्कन्धानुसारः त्रयोदशोऽध्याय



कारिका — द्वितीये वत्सहरणं बालैर्ब्रह्म भ्रमस्ततः ।  
स्तोत्रस्योपक्रमश्चैव भोजनादि निरूप्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ — इस द्वितीय अध्याय में भोजन से लेकर ब्रह्मा का बालक और बछड़ों को चुराकर ले जाना तथा ब्रह्मा को भ्रम होना, अन्त में भगवान् की स्तुति करने का उपक्रम (प्रारम्भ) करना, यह निर्माण किया जाता है ।

आभास — अभिनन्दति द्वाभ्यां ।

आभासार्थ — पहले दो श्लोकों में प्रश्न का वर्णन करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — साधु पृष्टं महाभाग त्वया भागवतोत्तम ।

यन्नूतनयसीशस्य शुण्वन्नपि कथां मुहुः ॥ १ ॥

**श्लोकार्थ** — श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे भागवतोत्तम ! हे महाभाग: तुमने श्रेष्ठ प्रश्न किया है । क्योंकि भगवान् की कथा बार-बार सुनने पर भी तुम उसे नवीन के समान समझते हो ।

**सुबोधिनी** — साधु पृष्टमिति, भगवच्चरित्र एव सर्वदैवेशकथां शृण्वन्नपि यन् नूतनमिव करोषीति ॥ १ ॥ स्थिर बुद्धिरिति महाभागत्वं, भागवतोत्तमेति सहजोत्तमता,

**व्याख्यार्थ** — हे बड़े भाग्यशाली ! तुम इसलिये बड़े भाग्यवान हो कि तुम्हारी बुद्धि भगवान् के चरित्र में स्थिर है । वैष्णवों में श्रेष्ठ हो इससे यह बताया कि आपकी यह उत्तमता सहज (स्वाभाविक) है, क्योंकि सदा भगवान् की कथा सुनते हुए भी उसको नवीन नवीन ही समझते हो ॥ १ ॥

**श्लोकः** — सतामयं सारभूतां निसर्गो यदर्थवाणीश्रुतिचेतसामपि ।

प्रतिक्षणं नव्यवदच्युतस्य यत् स्त्रिया विद्यनामिव साधुवार्ता ॥ २ ॥

**श्लोकार्थ** — सार ग्रहण करनेवाले सत्पुरुष स्वभाव से ही यह मानते हैं कि हमारी वाणी, कान और चित्त ये सब भगवान् के अर्थ (लिये) है । जैसे स्त्री लम्पट<sup>१</sup> पुरुषों को स्वभाव से बारम्बार स्त्रियों की कथाएँ नवीन लगती हैं इसलिये उन्हें सुनना चाहते हैं वैसे ही सत्पुरुष स्वभाव से ही भगवान् के चरित्रों को प्रतिक्षण नवीन समझकर सदैव सुनना चाहते हैं ।

**सुबोधिनी** — किञ्चोचितमेव तत्र यतः सतां सारभूतां भक्तिमतां निसर्गः स्वभावोयं, तमेव स्वभावमाहार्यवाणीश्रुतिचेतसामपि यस्मादयं स्वभावः, अर्थो धनं वाणी वाक् श्रुतिः श्रोत्रं चेतोऽन्तःकरणं, एतान्यपि स्वभावत एव भगवत्प्रवणानि, तदाह प्रतिक्षणं नव्यवन् नूतनवदच्युतस्य वार्तेति यद् रस आविष्टे स्वभावे एव तथा भवतीति, दृष्टान्तमाह यथा स्त्रिया वार्ता विद्यनां श्रुता कीर्तिता भाविता वा सुखदा पश्यसाधुवार्ता सा भवति, इयं तु साधुवार्तेतिविशेषः ॥ २ ॥

**व्याख्यार्थ** — और तुम्हारा इस प्रकार प्रश्न करना योग्य ही है । कारण कि भक्तिवालों (भक्तों) का यह स्वभाव ही है । अतः उनका धन, वाणी, कान तथा अन्तःकरण भगवान् में ही प्रवण<sup>२</sup> होते हैं । प्रवण होने से उनको भगवान् के चरित्र प्रतिक्षण नवीन ही भासते हैं । जब रस भीतर घुस जाता है तब स्वभाव भी रसरूप हो जाता है । इसको दृष्टांत देकर समजाते हैं कि स्त्रियों



की सुनी हुई, कही हुई, या ध्यान में लाई हुई कथा स्त्रीलम्पट पुरुषों को आनन्द देनेवाली होती है वह स्त्रियों की वार्ता तो निकृष्ट<sup>१</sup> है किन्तु यह भगवत् चरित्र उत्तम व श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

**आभास** — महद्भुतमस्ति सावधानतया श्रोतव्यमित्याह ।

**आभासार्थ** — यह चरित्र महान् अद्भुत होने से श्रवणीय है । निम्न श्लोकों में इस प्रकार कहते हैं ।

**श्लोकः** — शृणुष्ववहितो राजन्नपि गुह्यं वदामि ते ।

**ब्रूयुः** स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत ॥ ३ ॥

**श्लोकार्थ** — हे राजन् सावधान होकर सुनो यह गृह्य<sup>२</sup> है तो भी तुम्हें कहता हूँ । कारण कि गुरु प्रिय शिष्य को गृह्य भी बताते हैं ।

**सुबोधिनी** — शृणुष्वेति, अवहितः सावधानः, गुरवो गुह्यमपि वदन्ति ॥ ३ ॥  
गुह्यमप्येतत् तुभ्यं वदामि यतः स्निग्धस्य प्रेमवतः शिष्यस्य ।

**व्याख्यार्थ** — यह चरित्र अत्यन्त अद्भुत है । अतः सावधान होकर श्रवण करो । यह गृह्य है तो भी तुम्हें सुनाता हूँ, कारण कि प्रेमी शिष्य को गुरुजन गृह्य भी बताते हैं ॥ ३ ॥

**आभास** — वत्सापहरणार्थमघमुखान् मोचितानां बालकानामुत्तरवृत्तान्तमाह ।

**आभासार्थ** — निम्न ११ श्लोकों में वत्सहरण लीला के जताने के लिए पहले अघासुर के मुख से छुड़ाए हुए बालकों का उत्तर चरित्र कहते हैं ।

**श्लोकः** — तथाघवदनान् मृत्यो रक्षित्वा वत्सपालकान् ।

**सरित्पुलिनमानीय भगवानिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥**

**श्लोकार्थ** — भगवान् ने इस प्रकार बछड़े और ग्वालबालों को अघासुर के मुख रूप मृत्यु से रक्षा कर, उनको नदी के किनारे पर लाकर यह कहा ।

**सुबोधिनी** — तथेत्येकादशभिः, अघस्थ वदनान् भगवानिदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥ ४ ॥  
मृत्योरेव रक्षित्वा वत्सपालकान् सरित्पुलिनं यमुनातीरमानीय ।

व्याख्यार्थ — अधासुर के वदनरूप मृत्यु से ही ग्वाल बालकों का रक्षण कर और उनको यमुनाजी के किनारे पर लाकर भगवान् ने जो कहना है वह कहा है ॥ ४ ॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

श्लोकः — अहोतिरम्यं पुलिनं वयस्याः स्वकेलिसम्पन्मृदुलाच्छवालुकम् ।  
स्फुटत्सरोगन्धहृतालिपत्रिकध्वनिप्रतिध्वानलसद्दुमाकुलम् ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ — भगवान् कहते हैं कि अहो ! हे मित्रों ! यह तट अपने क्रीड़ा की सम्पत्ति और अति रमणीय है यहां की बालु कोमल तथा स्वच्छ है । प्रफुल्लित कमलवाले सरोवर की सुगन्ध के लोभ से प्राप्त भौर और पक्षियों के जल में होते हुए शब्दों की प्रतिध्वनि से शोभायमान वृक्षों चारों ओर व्याप्त हो रहे हैं ।

सुबोधिनी — अहोतिरम्यमिदं पुलिनमतोत्रास्माभिः-  
र्षोक्तव्यमिति, वयस्या इति स्नेहेन सम्बोधनं, स्वस्य केलिः  
क्रीडा तत्र या सम्पन् मृदुलाच्छवालुकारूपता सा वर्तते यत्र  
तस्मादत्र; क्रीडापि कर्तुं शक्यते भोक्तुं च, अन्येष्वस्मिन्  
पुलिने गुणाः सन्तीत्याह स्फुटन्ति यानि सरोरुहाण्यत्यन्तं  
निबिडतया स्थितानि सः शब्देनैवोच्यन्ते, अतः स्फुटद् यत्  
सरस्तस्य गन्धेन हृता वशीकृता अलपो भ्रमरः पत्रिणः  
पक्षिणश्च तेषां ध्वनिस्तस्य यत् प्रतिध्वानं प्रतिशब्दस्तेन  
लसन्तो ये दुमास्तैरकुलं व्याप्तं, तत्रत्यानि पुष्पाणि फलानि  
च पुलिने पतन्तीति ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ — अहो ! यह तट अतिशय सुन्दर है । इसलिए अपने को यहाँ भोजन करना चाहिए । ग्वालों को वयस्य विशेषण देकर उनमें अपना स्नेह प्रकट किया है । हमको क्रीड़ा के लिए जो सम्पत्ति चाहिए वह भी यहाँ स्वच्छ व कोमल बालु है इसलिए यहाँ भोजन व क्रीड़ा दोनों कर सकते हैं । इस किनारे में और भी गुण हैं । 'सर' शब्द से यहाँ बताया है कि इसमें उत्पन्न कमल बहुत परस्पर घने (जुड़े) हुए हैं, अतः प्रफुल्लित कमलयुक्त सरोवर से आती हुई सुगन्धि से वश किए हुए भ्रमर और पक्षियों की ध्वनि से निकली हुई प्रतिध्वनि से सुशोभित वृक्षों से वह तट व्याप्त है । उन वृक्षों से फल और पुष्प किनारे पर गिर रहे हैं ॥ ५ ॥

आभास — अत्रैव भोजने हेतुर्दिवारूढमिति ।

आभासार्थ — यहाँ ही भोजन करना चाहिये जिसका कारण निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोकः — अत्र भोक्तव्यमस्माभिर्दिवारूढं क्षुधादिताः ।  
वत्साः समीपेपः पीत्वा चरन्तु शनकैस्तृणम् ॥ ६ ॥

**श्लोकार्थ** — अपने को यहाँ भोजन करना चाहिए क्यों कि दिन चढ़ गया है, भूख भी सता रही है। बछड़े यहाँ ही जल पीकर समीप ही धीरे धीरे घास चरते रहेंगे।

**सुबोधिनी** — महद् दिनं जातं क्षुधा च सर्वे चरन्तु ॥ ६ ॥  
पीडिताः, अत एव वत्साः समीपेपः पीत्वा शनैःस्तुणं

**व्याख्यानार्थ** — दिन बहुत चढ़ गया है देरी हो गई है और भूख से सब पीड़ित है। अतः बछड़े समीप में जल पीकर धीरे-धीरे घास चरते रहें ॥ ६ ॥

**आभास** — एवं भगवतोक्ता बालस्तथैव कृतवन्त इत्याह।

**आभासार्थ** — इस प्रकार भगवान् के कहने पर बालकों ने यों ही किया।

**श्लोकः** — तथेति पाययित्वाभ्यां वत्सानारु ह्य शाद्वले ।

मुक्त्वा शिष्यानि बुभुजुः समं भगवता मुदा ॥ ७ ॥

**श्लोकार्थ** — आपने जो कहा वह सत्य है हम वैसा ही करते हैं यों ग्वाल कह कर बछड़ों को जल पिलाकर, हरी घासवाले प्रदेश में चरने के लिए उन्हें छोड़कर अपने छींके खोलकर भगवान् के साथ आनन्द से भोजन करने लगे ॥ ७ ॥

**सुबोधिनी** — तथेति, अर्थां वत्सान् पाययित्वा शिष्यानि मुक्त्वा भगवता समं बुभुजुः ॥ ७ ॥  
शाद्वल उत्तमतृणवति देश आरुह्यारोहं कारयित्वा स्वयं

**व्याख्यानार्थ** — बछड़ों को जल पिलाकर जहाँ उत्तम घास था ऐसी भूमि पर पहुँचा के आप (बालक) छींके खोल कर भगवान् के साथ भोजन करने लगे ॥ ७ ॥

**आभास** — तेषां भोजनार्थमुपविष्टानां प्रकारमाह।

**आभासार्थ** — वे भोजन करने के लिए किस प्रकार बैठे वह नीचे के श्लोक में कहते हैं।

**श्लोकः** — कृष्णस्य विष्वक् पुरुराजिमण्डलैः रम्याननाः फुल्लदृशो व्रजार्पकाः ।

सहोपविष्टा विपिने विरेजुश्च्छदा यथाम्भोरु हर्कर्णिकायाः ॥ ८ ॥

**श्लोकार्थ** — वन में भगवान् श्री कृष्ण चारों ओर बहुत सी पंक्तियों के मण्डल बनाकर सम्मुख मुख कर, साथ बैठे हुए प्रफुल्लित दृष्टिवाले ग्वालबाल कमल की

कर्णिका के पत्तों के समान शोभायमान लगते थे ॥ ८ ॥

सुबोधिनी — आवरणवत् स्थिताः पुरुणि पंक्ति- कदैवोपविष्टा विभिनेरण्ये तत्रान्यो लौकिको न पश्यतीति  
मण्डलानि मण्डलत्वाकारेण पौर्वापर्येणोपविष्टः सर्व एव विशेषेण रेजुर्यथा छदाः पत्राण्यम्भोरुहकर्णिकायाः परितो  
भगवत्सम्मुखा अत एव फुल्लदृशे व्रजबालकाः सहै- यजन्ते ॥ ८ ॥

व्याख्यार्थ — ग्वालबाल बाड़ की तरह श्रीकृष्ण के चारों ओर गोलाकार बहुत पंक्तियाँ बनाकर एक दूसरे के पीछे इस प्रकार बैठे जैसे सब भगवान् के सन्मुख रहें जिससे ग्वालबाल के नेत्र प्रफुल्लित हो गए थे । सब ग्वाले साथ ही वन में बैठ गए, जैसे कोई दूसरा लौकिक उनको देख न सके । जैसे कमल के चारों ओर कर्णिका के पत्र शोभा देते हैं वैसे ही वे विशेष शोभायमान थे ! ॥ ८ ॥

आभास — तेषां भोजनपात्राण्याह केचिदिति ।

आभासार्थ — निम्न श्लोक में भोजन के पात्रों का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — केचित् पुष्पैर्दलैः केचित् पल्लवैरङ्गुरैः फलैः ।

शिग्भिस्त्वग्भिर्दृषद्भिश्च बुभुजुः कृतभाजनाः ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ — कितने ही बालकोंने पुष्पों (बड़े बड़े कमलों) के, किसीने फल की पंखुरियों के, कुछ बालकोंने पत्तों के, अंकुरों के, फलों के, छीकों के, पेड़ों की छालों के और पत्थरों के बर्तन बनाकर भोजन किया ।

सुबोधिनी — पुष्पादीनि प्रसायं तैस्व कृतभाजनाः । सन्तस्तदुपर्योदनं स्थापयित्वा बुभुजुः ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ — पुष्पादिकों का विस्तार कर (भोजन के पात्र के समान बनाकर) उनको भोजन पात्र के स्थान पर समझ उनके ऊपर भात रखकर भोजन करने लगे ॥ ९ ॥

आभास — बालकानां लौकिकत्वाद् भोजने प्रकार माहसर्व इति ।

आभासार्थ — बालक लौकिक थे इसलिए उनके भोजन करने का प्रकार नीचे श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — सर्वे मिथो दर्शयन्तः स्वस्वभोज्यरुचिं पृथक् ।

हसन्तो हासयन्तश्चाभ्यवजहुः सहेश्वराः ॥ १० ॥

**श्लोकार्थ** — सब अपने भिन्न भिन्न भोजन करने के पदार्थों का स्वाद दिखाते हुए हँसते हुए और हँसाते हुए भगवान् के साथ भोजन करते थे ।

**सुबोधिनी** — स्वस्वभोज्यस्योदनादे रुचिमन्यस्मै । अभ्यवजहुर्भोजनं कृतवन्तः, एवमानन्दभोजनं प्रदर्शयन्तः, पृथगिति भोज्यप्रकारविशेषाणां लङ्कुकादीनां, ईश्वरसाहित्यमेव हेतुः, सर्वैरानीतान्त्रान्येकीकृत्याग्रभागं ततः स्तोत्रनिन्दार्थं हासन्तो हासयन्तश्चेश्वरसहिता भगवतो दत्त्वा भगवत्कृपयक्षय्यान्ना बुभुजुः ॥ १० ॥

**व्याख्यार्थ** — प्रत्येक ग्वाल बालक अपने अपने भात आदि भोज्य पदार्थों का स्वाद अन्यो को दिखाता था । सबके पृथक् भोज्य पदार्थ थे । उनके विशेष प्रकार लड्डू आदि के स्वाद का वर्णन करते हुए स्वयं हँसते तथा दूसरों को हँसाते हुए श्रीकृष्णचन्द्र के साथ भोजन करने लगे । इस प्रकार के आनन्द का कारण ईश्वर के साथे ग्वालों के भोजन करना था । भोजन किस प्रकार परोसते थे वह भी बताते हैं कि सब जो कुछ लाए थे उसको इकट्ठा कर प्रथम आगे का हिस्सा भगवान् को अर्पण करते थे जिससे वह भोज्य भगवान् की कृपा से अक्षय हो जाता था । अतः वे ग्वाल बिना संकोच के पूर्ण तृप्ति से भोजन करने लगे ॥ १० ॥

**आभास** — भगवानपि मुक्तवानिति वदन् ध्यानार्थं तादृशं रूपमनुवर्णयति बिभ्रद् वेणुमिति ।

**आभासार्थ** — ग्वाल बालकों के साथ स्वयं भगवान् भी भोजन करने लगे । ध्यानार्थ उस समय के रूप का वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — बिभ्रद् वेणुं जठरपटयोः शृङ्गवेत्रे च कक्षे,  
वामे पाणौ मसृणकवलं तत्फलान्यङ्गुलीषु ।  
तिष्ठन् मध्ये स्वपरिसुहृदो हासयन् नर्मभिः  
स्त्वैः स्वर्गे लोके मिषति बुभुजे यज्ञभुग् बालकेलिः ॥ ११ ॥

**श्लोकार्थ** — भोजन के समय, श्री कृष्ण ने बंसी कमर की फेंट में खोंस ली, सिंगा और बेंत को बगल में दबा रखा था, वाम हस्त में घृत मिला हुआ दही भातका कौर और अंगुलियों के मध्य में भाग्य फल लेकर कर्णिका के समान यज्ञ भोक्ता भगवान् सबके सन्मुख विराजते थे और अपने हास्य वचनों से सब सुहृद्गणों को हँसाते थे एवं स्वर्गस्थ तथा लोकस्थ देवों के देखते हुए भोजन करते थे ।

सुबोधिनी — मल्लवत् कटितटे पीताम्बरमस्ति तत्र हस्ते स्थितानां वेणवादीनां मध्ये वेणु जठरपटयोर्मध्ये स्थापितवान् छद्मं क्षेत्रं च कक्षयोः वामे पाणौ मसृणं चिकणं भृतदध्यादिवेष्टितं कबलमोदनं, सर्वत्र बिभ्रदितिसम्बन्धः, तत्र दध्योदन उचितानि फलानि ।

जम्बीरकादीन्यङ्गुलीषु सन्धिषु वा बालकानां मध्ये तिष्ठन् स्वस्य परितो वर्तमानान् सुहृदो बालकान् स्वैरसाधारणैर्नर्मभिः स्वर्गे लोके तत्रस्थितदेवेषु मिषत्सु सत्सु सर्वयज्ञभोक्ता बुभुजे, बालस्येव केलिर्विनोदो यस्य ॥ ११ ॥

व्याख्यानार्थ — भोजन करने के समय में श्रीकृष्णने मल्लयुद्ध करनेवालों के समान अपना पीताम्बर कटि पर बान्ध रखा था, हाथ में जो वेणु आदि थे उनमें वेणु को कमर की फेंट में खोंस रखी थी । सिंगा और छड़ी को काख (बगल) में दबाये हुए थे । वाम हस्त में चिकने पदार्थ (घृत दधि सहित चावल) का कोर लिए हुए दही और ओदन (भात) के साथ खाने योग्य जम्बीर आदि फलों को अंगुलियों के बीच में धारण करके बालकों के बीच में स्थित, अपने चारों ओर फैले हुए मित्र बालकों को अपने असाधारण हास्य वचनो से स्वर्ग और लोक में स्थित देवों के सामने सर्व यज्ञ भोक्ता भगवान् ने सन्तुष्ट होकर भोजन किया । यज्ञ भोक्ता की यह लीला बालकों की क्रीडा के समान है ॥ ११ ॥

आभास — एवं सर्वेषां भोजने जायमाने किञ्चिदद्भुतमिव जातं तदाह भारतेति ।

आभासार्थ — इस प्रकार भोजन करते समय कुछ अद्भुत घटना हुई उसका वर्णन नीचे श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — भारतैवं वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु ।

वत्सास्त्वन्तर्वने दूरं विविशुस्तृणलोभिताः ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ — हे राजन् ! ग्वालों का इस प्रकार भोजन करने और श्रीकृष्णचन्द्र में लवलीन होने पर, बछड़े तृण के लोभ से वन के अन्दर दूर चले गए ।

सुबोधिनी — वत्सपेषु भुञ्जानेष्वच्युतात्मसु | लोभिता दूरं गताः ॥ १२ ॥  
विस्मृतदेहेषु सत्सु वत्साः स्वयमेवान्तर्वने वनमध्ये तृणेन ।

व्याख्यानार्थ — बछड़ों के पालक ग्वालबाल भोजन करने में श्री कृष्ण में लवलीन होने के कारण अपनी देहादि की सुधि भूल गए । इतने में बछड़े अपने आप ही वन में घास के लोभ से दूर निकल गए ॥ १३ ॥

श्लोकः — तान् दृष्ट्वा भयसन्त्रस्तानूचे कृष्णोस्य भीमयम् ।

मित्राण्याशान् मा विरमतेहानेष्ये वत्सकानहम् ॥ १३ ॥

**श्लोकार्थ** — उन (बालकों) को भयभीत देखकर, जगत् की मृत्यु जिससे डरती है, उस श्रीकृष्णने कहा कि हे मित्रों, भोजन छोड़कर उठो मत, मैं बछड़ों को यहां ले आऊंगा ।

**सुबोधिनी** — ततो बालका भयसन्त्रस्ता जातास्तां । भयरूपो "भीषास्माद् घातः पवतः" इति श्रुतेः भगवतो स्तथाविधान् दृष्ट्वा कृष्णो भगवानूचे यतोयं निर्धयः, तत्र वाक्यमाह मित्राणीति, हे मित्राण्याशाद् भोजनान् मा हेतुरस्य भीषयमिति, अस्य जगतो या भीर्मृत्युस्तस्यापि विरमताहमिहैव वत्सकानानेष्वे ॥ १३ ॥

**व्याख्यार्थ** — उसके अनन्तर डरे हुए बालकों को देखकर भय रहित भगवान् श्रीकृष्ण, (जिनसे कि मृत्यु (जिससे सारा जगत् डरता है वह) डरती है और उनके ही डर से वायु अपना कार्य पूर्ण रीति से करता है) कहते हैं कि हे मित्रों ! भोजन करना बन्द मत करो मैं सभी बछड़ों को ले आऊंगा ॥ १३ ॥

**श्लोकः** — इत्युक्त्वाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेष्वात्मवत्सकान् ।

विचिन्वन् भगवान् कृष्णः सपाणिकवलो ययौ ॥ १४ ॥

**श्लोकार्थ** — इस प्रकार कहकर, कौर अभी हाथ में ही था, उसको लिए हुए भगवान् (कृष्ण) अपने बछड़ों को पर्वतों की गुफाओं, कुञ्जों तथा अन्य भयानक स्थलों में ढूँढ़ने लगे ।

**सुबोधिनी** — इत्युक्त्वा भगवांस्ततो गत आदौ । वत्सान् दृष्ट्वा द्रेः पर्वतस्य गोवर्धनादेर्दरीषु कन्दशसु कुञ्जेषु स्ववत्सकान् विचिन्वन् सपाणिकवलसहितः । द्रोणीषु गह्वरेषु भयानकस्थानेषु सर्वत्रैव गतः ॥ १४ ॥  
एवाद्रिदरीकुञ्जगह्वरेषु ययौ, आदौ कियद् दूरे गतस्तत्र ।

**श्लोकार्थ** — यों कहकर भगवान् वहाँ से चले गए । पहले अपने बछड़ों को ढूँढ़ते हुए आगे बढ़े । उस समय आपके हाथ में कौर था, उसका त्याग न कर हाथ में उसे लिए ही पहाड़ एवं उनकी गुफाओं में कुञ्ज तथा भयानक स्थलों में सर्वत्र गए ।

**आभास** — ननु निकट एव वत्साः, सम्भवन्ति कथं दूरे गत इत्याशङ्क्य मध्ये ब्रह्मणा वत्सा हता इत्याह ।

**आभासार्थ** — बछड़े तो समीप ही मिलने चाहिए फिर इतनी दूर क्यों गए ? इसका कारण था कि ब्रह्माजी बछड़ों को चुरा ले गए थे । जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

॥ श्री शुक उवाच ॥

श्लोकः — अम्भोजन्मजनिस्तदन्तरगतो मायार्भकस्येशितुर्द्रष्टुं,  
 मञ्जुमहित्वमन्यदपि तद्वत्सानितो वत्सपान् ।  
 नीत्वान्यत्र कुरु द्वहान्तरदधात् खेवस्थितो यः पुरा,  
 दृष्ट्वाघासुरमोक्षणं प्रभवतः प्राप्तः परं विस्मयम् ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी कहते हैं, हे कुरु कुलदीप ! इस अवसर में ब्रह्माजी जो आकाश में स्थित होकर बाल-रूपधारी भगवान् कृष्ण के किए हुए अघासुर मोक्ष को देखकर विस्मित हुए थे, पुनः भगवान् का वीर्य पराक्रम देखने की इच्छा से यहाँ से बालकों का और वहाँ से बछड़ों का हरण कर अन्य स्थान पर ले जाके उनको छिपा दिया और स्वयं तिरोहित<sup>१</sup> हो गए ।

सुबोधिनी — अम्भोजन्मजनिरिति, अम्भोजन्म कमलं तत्र जनिर्जन्म यस्य, नाभिकमल एवोत्पन्नस्तदन्तस्तन्मध्य एवागतः सन् मायार्भकस्य मायाबालकस्येशितुर्भगवतो मञ्जुमहित्वं दृष्ट्वाघसायुज्यलक्षणमन्यदपि द्रष्टुमरण्याद् वत्सान् पुलिनाद् वत्सपांश्च नीत्वान्यत्र स्थापयित्वा, हे कुरुद्वहेतिविश्वासार्थं, स्वयमन्तर्धानं कृतवान् नीत्वेत्युभयत्र

सम्बन्धः, ननु किमित्येवं कृतवानित्याशङ्क्याह यः पुरा ख आकाशेवस्थितः सन्नघासुरमोक्षणं दृष्ट्वा परं विस्मयं प्राप्तः, ननु किमाश्चर्यं भगवतः सकाशान् मुच्यत् एवेति तत्राह प्रभवत इति, प्रकर्षेण भवत्यस्माज् जगदिति प्रभवो भगवान्, ततस्तस्मादुत्पत्तिरेवोचिता स्वदृष्टान्तेन न तु मुक्तिरिति विस्मयः, अन्यथा स्वस्यापि मुक्ति स्यात् ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ — जिन(ब्रह्माजी) का जन्म भगवान् की नाभिरूप कमल से हुआ है, उन्होंने उस समय आकर माया (अपनी इच्छा) से बालक रूप धारण किए हुए भगवान् की सुन्दर महिमा को अघासुर वध से जिसकी सायुज्य मुक्ति हुई थी, उसको आकाश में स्थित होकर देखी थी, जिससे विस्मित हुए थे । फिर भी दूसरी आश्चर्यमय मनोहर लीला के दर्शन की इच्छा से यहाँ (भूमि पर) आए और आकर अरण्य<sup>२</sup> में से बछड़ों को और यमुना तट से ग्वाल-बालकों को लेकर दूसरे स्थान पर रखकर, आप अन्तरध्यान<sup>३</sup> हो गए । राजा को 'कुरुद्वह' विशेषण इस लिये दिया है कि जैसे राजा कुरु स्वयं विश्वासवाले थे वैसे ही आप भी विश्वास रखो । अघासुर की भगवान् द्वारा हुए वध से मुक्ति हुई, इसमें आश्चर्य क्यों करना चाहिए इस शंका के निवारणार्थ श्लोक में 'प्रभवतः' शब्द कहा है । उत्कृष्ट<sup>४</sup> रीति से जगत् का जिससे जन्म होता है उसको 'प्रभव' अर्थात् भगवान् कहते हैं । इसलिये उस (भगवान्) से तो उत्पत्ति होनी चाहिये जैसे मेरी हुई है, वह न होकर मुक्ति क्यों हुई ? यह देखकर ब्रह्मा को आश्चर्य हुआ कि जो उत्पन्न करने



वाला है उसने नाश (मुक्ति) कैसे किया यदि वैसा है तो मेरी भी मुक्ति होनी चाहिए ॥१५॥

श्लोकः - ततो वत्सानदृष्ट्वैत्य पुलिनेपि च वत्सपान् ।

उभावपि वने कृष्णो विचिकाय समन्ततः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ - जब श्रीकृष्ण बछड़ों को न देख अर्थात् जब बछड़े भगवान् को नहीं मिलने पर व लौटकर जमुना तट पर आए तो वहाँ ग्वालों को भी नहीं देखा तब आप उन दोनों को वन में चारों तरफ ढूँढने लगे ।

सुबोधिनी - ततो भगवान् वनाददृष्ट्वा वैत्य पुलिनेपि इत्युभावप्युभयविधानपि वने भगवान् समन्ततो विचिकाय वत्सपानदृष्ट्वा प्रायेणैते वत्सपास्वयमपि वत्सानन्वेष्टुं गता ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ - इसके अनन्तर, भगवान् बछड़ों को न देखकर अर्थात् अप्राप्त कर वन से लौट कर आए, तो यहाँ तट पर ग्वालों को भी न देखकर समझे कि ये ग्वाले स्वयं बछड़ों को ढूँढने गए हैं । तब भगवान् इन दोनों (बछड़ों और ग्वालों) को वन में चारों तरफ ढूँढने लगे ॥ १६ ॥

श्लोकः - क्वाप्यदृष्ट्वान्तर्विपिने वत्सान् पालांश्च विश्ववित् ।

सर्वं विधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ - सर्वज्ञ श्रीकृष्णने वन में कहीं भी बछड़ों और ग्वालों को न देख झट समझ लिया कि यह सब कृत्य ब्रह्मा के हैं ।

सुबोधिनी - ततोन्तर्विपिने क्वापि वत्सान् सर्वमिति सहसा शीघ्रमेवावजगाम ज्ञातवान् हेत्याश्चर्यम् ॥ वत्सपांश्चादृष्ट्वा विचार क्रियमाणे विश्ववित् सर्वज्ञो विधिकृतां १७ ॥

व्याख्यार्थ - उसके पीछे वन के भीतर कहीं भी बछड़ों और ग्वालों को न देख कर विचार किया कि वे कहां चले गए ? कृष्णने जो विश्व को जानने वाले अर्थात् सर्वज्ञ हैं, उन्होंने झट समझ लिया कि यह कार्य ब्रह्मा का है 'ह' का अर्थ आश्चर्य है । इसमें यह जताया कि भगवान् को आश्चर्य इसलिये हुआ, कि जो मेरे स्वरूप को जानता है और मुझ से पैदा हुआ है, उसने यह कार्य किया है जो उसको नहीं करना चाहिये था । अतः आश्चर्य है ॥ १७ ॥

श्लोकः - ततः कृष्णो मुदं कर्तुं तन्मातृणां च कस्य च ।

उभयायितमात्मानं चक्रे विश्वकृदीश्वरः ॥ १८ ॥

**श्लोकार्थ** — इसके अनन्तर विश्वकर्ता भगवान् कृष्ण, ब्रह्मा को और ग्वालों की माताओं को प्रसन्न करने के लिये आप ही सर्व वत्स और ग्वाल रूप बन गए ।

**सुबोधिनी** — ततो भगवान् ब्रह्मणो मुदं कर्तुं उपयेषां मुदं कर्तुमात्मानमुभयायितं चक्रे यतोयं विश्वकृत्, बालकानानीतवान् तथा सति तस्य स्वप्रयासवैयर्थ्यात् खेद कोयं प्रयासः ननु तज्जनकानां कालकर्मस्वभावानामभावात् एव भवेत्, तूष्णीं गृहगमने तु तन्मातृणां खेदो भवेत्, अतः कथं कृतवानित्याशङ्क्याहेश्वर इति ॥ १८ ॥

**व्याख्यानार्थ** — उसके पीछे भगवान् ने विचार कि जो मैं बछड़ों को ले आऊँगा तो ब्रह्मा, अपने परिश्रम को व्यर्थ समझ दुःख पाएगा । अतः ब्रह्मा प्रसन्न हो इसलिये बछड़ों को नहीं ले आए और बालकों को तथा बछड़ों को घर न ले चलूँगा तो बछड़ों की माताएँ (गौएँ) तथा ग्वालों की माताएँ दुःखी (खेदयुक्त) होंगी । अतः इन दोनों को प्रसन्न करने के लिये भगवान् ने वत्स और ग्वालों के समान रूप धारण किए क्योंकि आप विश्व को बनाने वाले हैं अतः उनको इस स्वल्प कार्य में कोई परिश्रम नहीं हुआ । बछड़े और बालक जो बनाए उनके काल, कर्म और स्वभाव तो थे नहीं फिर वे कैसे बनाए ? इस शंका को मिटाने के लिए कृष्ण का विशेषण (गुण दिखानेवाला) शब्द 'ईश्वर' दिया है । ईश्वर का अर्थ है कि जिसमें सब प्रकार के कार्य करने, न करने और अन्यथा करने की शक्ति हो । अतः काल, कर्म और स्वभाव का विचार न कर कृष्ण स्वयं बाल और वत्स रूप बन गए । इसलिये वे बाल वत्स लौकिक काल, कर्म और स्वभाव से बने हुए पांच भौतिक व मायिक नहीं थे ॥ १८ ॥

**आभास** — इयं सृष्टिरात्मसृष्टिरेव जातेत्याह यावदिति ।

**आभासार्थ** — यह सृष्टि ग्वाल-बाल और बछड़े आत्म-सृष्टि ही थे, अर्थात् भगवान् ही ग्वाल और बछड़े बन गए । यह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

**श्लोकः** — यावद्वत्सकवत्सपाप्लवपुर्यावत्कराङ्घ्र्यादिकं  
यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम् ।  
यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारदिकं  
सर्वं विष्णुमयं गिरोद्भवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ॥ १९ ॥

**श्लोकार्थ** — जितने बालक वत्स, जैसे उनके छोटे शरीर जैसे उनके छोटे-छोटे हाथ पांव आदि अंग, जितने उनके पास सिंगा, छड़ी, वेणु पत्ते और छींके आदि थे जैसे उनके गहने, कपड़े थे जैसा उनका स्वभाव, गुण, नाम, रूप और अवस्था और जैसे उनके विहारदिक थे, उसी प्रमाण से 'सब जगत् विष्णुमय है' ऐसी जो प्रसिद्ध वाणी है, इस वाणी के अनुसार, यथार्थ रूप से, सर्व स्वरूप भगवान्, शोभित हुए ।

सुबोधिनी — यावन्तो वत्सा वत्सपश्च सङ्ख्यया तावान् भगवानेव जातोत्पत्तानि वपुषि जातः, यावदिति पदार्थानतिवृत्तौ, वत्सकवत्सपाल्यकवपुर्यावत् तावद्रूपो जात इत्यवधारणे वा, कण्डूध्यादिकं यावत् तावदपि जातो यद्विषाणवेणुदलशिङ्ग यावद् विभूषाम्बरं च यावत् तावदपि जातः, शीलगुणाभिधाकृतिकयो यावद् विहारदिकं च यावत् तावद्रूपः सन् बभावितासम्बन्धः, ननु कथमेवं जात

इत्याशङ्क्याह सर्वस्वरूप इति नन्वेकस्य कथं सर्वभावस्तत्राह “सर्वं विष्णुमयं जग”दित्यत्रवाक्ये “सर्वं विष्णुमय” मितिप्रतीकग्रहणं, “सर्वं विष्णुमय”मित्येवं रूपा या गीस्तस्या अङ्गवदर्थवत् ‘सर्वं विष्णुमयं जगद्’ इतिवाक्यार्थो यथाश्रुतो यथोपपद्यत आत्मसृष्ट्याधिदैविकसृष्ट्या वा यथैवोपपद्यते तथैवेतदपि जातमिति ज्ञातव्यम् ॥ १९ ॥

व्याख्यार्थ — ग्वाल-बाल और बछड़ों की जितनी संख्या थी उतने ही भगवान् स्वयं हो गए । उनके जैसे छोटे शरीर थे आपने भी वैसे छोटे रूपों को ग्रहण किया था । ‘यावत्’ शब्द का यही भाव है कि उनमें किसी प्रकार की घटती बढ़ती नहीं की थी । उनके जितने हाथ अंगुलियां आदि थे आप भी वैसे ही और उतने ही बन गए । उनके पास जितनी छड़ियाँ, सिंगा, वेणु पत्ते और छींके थे आप भी उतने ही बन गए । जितने और जैसे गहने और कपड़े थे वैसे ही आप हो गए । जैसा उनका स्वभाव, गुण, नाम, रूप और अवस्था तथा जैसे विहारदिक थे, उसी प्रमाण बनकर भगवान् शोभित हुए । कृष्ण इस प्रकार कैसे हुए इस शंका को मिटाने के लिए श्लोक में कृष्ण का विशेषण ‘सर्व स्वरूप’ दिया है अर्थात् सब रूप कृष्ण के हैं । कृष्ण जब चाहें तब वह रूप ग्रहण कर सकते हैं । एक में सर्व के भाव कैसे होंगे उसका उत्तर श्लोक में ‘सर्व विष्णु-मय’ पद से दिया है । इसका यह तात्पर्य है कि सकल जगत् विष्णु रूप है । इस प्रकार की जो वाणी (वेदवाणी) प्रसिद्ध सुनी जाती है । तदनुसार जैसे आत्म-सृष्टि प्रकट होती है उसी प्रकार यह सृष्टि भी हुई है, यों समझना चाहिए ॥ १९ ॥

आभास — एवं सर्वरूपो भूत्वा रूपाणां विनियोगमाह स्वयमिति ।

आभासार्थ — इस प्रकार भगवान्ने सर्वरूप बनकर उसका जिस तरह उपयोग किया है उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — स्वयमात्मात्मगोवत्सान् परिवार्यात्मवत्सपैः ।

क्रीडन्नात्मविहारैश्च सर्वात्मा प्राविशद् व्रजम् ॥ २० ॥

श्लोकार्थ — आप ही निजरूप ग्वालों से, निजरूप बछड़ों को घेर कर आत्मरूप विहारों से क्रीड़ा करते सर्वात्मा भगवान् व्रज में पधारे ।

सुबोधिनी — स्वयमेव भगवानात्मना स्वेनैवात्मरूपान् सह वात्मरूपैरेव विहारैः क्रीडन् स्वयमेव धर्मिधर्मभावं गोवत्सान् परिवार्यात्मरूपैरेव वत्सपैस्तत्तद्वत्सान् परिवार्य प्राप्तः सर्वात्मा व्रजं प्राविशत् ॥ २० ॥

**व्याख्यानार्थ** — आप ही भगवान् अपने ही रूपवाले बछड़ों को तथा अपने ही रूप ग्वाल-बालों से उनके बछड़ों को चारों तरफ से घेरकर, उनके साथ आत्म-रूप विहारों से खेलते हुए धर्मी और धर्म-भाव को प्राप्त कर (खिलाड़ी आप, खेल आप और खिलौने आप, होकर) वे सर्वात्मा व्रज में पधारे ॥ २० ॥

**श्लोकः** — तत्तद्वत्सान् पृथङ् नीत्वा तत्तद्गोष्ठे निवेश्य सः ।

तत्तदात्माभवद् राजंस्तत्तत् सद्यः प्रविष्टवान् ॥ २१ ॥

**श्लोकार्थ** — हे राजन् ! उन उन बछड़ों को पृथक् - पृथक् लेकर उन उन गोष्ठों<sup>१</sup> में प्रविष्ट कराके वे बालरूप भगवान् उन घरों में प्रविष्ट हुए ।

**सुबोधिनी** — ततस्तद्वत्सान् पूर्ववदेव यावता मार्गेण स्थित्यर्थं तत्तद्भावं प्राप्तवान् बन्धनादिभावं ततो वत्सरूपेण यत्र गम्यते तावद् दूर एव ततस्ततः पृथङ् नीत्वा तत्तद्गोष्ठे तत्तत् सद्यः गृहं तेनतेन प्रकारेण प्रविष्टवान् ॥ २१ ॥ निवेश्य स्थापयित्वा स एव भगवान् तत्तदात्माभवत् तत्र

**व्याख्यानार्थ** — उसके पीछे उन उन बछड़ों को पहले की तरह ही, जिस रह से जो जहाँ जाते थे उतनी दूर ही जाकर वहाँ वहाँ से अलग-अलग उनको लाकर व्रज को ले चले । व्रज में आकर अपने-अपने गोष्ठों में उनको स्थापित किया, वे ही वहाँ स्थित होने के लिए भगवान् वत्स और बाल-रूप हुए थे । अतः बन्धनादिभाव को प्राप्त होने के लिए गोष्ठों में एवं निवासादिक करने के लिए गृहों में प्रविष्ट<sup>२</sup> हुए ॥ २१ ॥

**आभास** — एवं तेषां कार्यमुक्त्वा गोपिकानां पूर्ववदेव तेषु वृत्तिमाह तन्मातर इतिद्वाभ्यां ।

**आभासार्थ** — इस प्रकार उनके कार्य का वर्णन कर निम्न दो श्लोकों में कहते हैं कि गोपियों का उनमें पहले की तरह ही प्रेम था ।

**श्लोकः** — तन्मातरो वेणुरवत्वरोत्थिता उत्थाप्य दोर्भिः परिरभ्य निर्वृत्ताः ।

स्नेहस्रुतस्तन्यपयःसुधासवं मत्वा परं ब्रह्म सुतानपाययन् ॥ २२ ॥

**श्लोकार्थ** — मुरली का शब्द सुनते ही त्वरा<sup>३</sup> से उठी, उनकी माताएँ उनको (बालरूप परब्रह्म को) अपने पुत्र समज अपने हाथों से उठाकर आलिङ्गन कर अत्यन्त

प्रसन्न तथा आनन्दमय हो गई, उस आनन्द स्नेह के कारण टपकते हुए अपने स्तन्य को, जो अमृत के समान मधुर और आसव<sup>१</sup> के समान मादक<sup>२</sup> था वह पिलाने लगी।

सुबोधिनी — वेणुखे श्रुते त्वस्योत्थिता जाताः, तनूद्भवं यत् पयस्तदेव सुधारूपमासवं मादकं च जातं तादृशं उपविष्टानपि बालकान् दोर्भिरुत्थाप्य परिभ्य निर्बृता जाता पयः परं ब्रह्म सुतान् मत्वापाययन्, वस्तुतस्त्वेते मुक्तस्तना देहस्वभावोपि तदधिष्ठानकृतस्तथैव जात इत्यत्यन्तस्नेहेन स्तुतं भवन्ति ॥ २२ ॥

व्याख्यानार्थ : वेणु की ध्वनि सुनते ही माताएँ वेग से उठ खड़ी हो गईं। बैठे हुए बालकों को भी हाथों से उठाकर आर्लिंगन किया जिससे आनन्द मग्न हो गई। देह का स्वभाव भी वैसा हो गया, जैसा देह के अधिष्ठाता ने बनाया था। इस प्रकार अत्यन्त स्नेह से जो शरीर (स्तन) से उत्पन्न पय<sup>३</sup> टपकने लगा था, वह अमृत रूप और मादक हो गया। वैसा पय परब्रह्म को पुत्र समझकर पिलाने लगी। वास्तविक रीति से देखा जाय तो बालक तो बड़े थे। उन्होंने माता का स्तन्यपान तो छोड़ दिया था\* ॥ २२ ॥

आभास — ततो बहिरपि सेवां कृतवत्य इत्याह ।

आभासार्थ — अनन्तर माताओं ने बाहर की भी सेवा की, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में है ।

श्लोकः — ततो नृपोन्मर्दनमञ्जलेपनालङ्काररक्षातिलकाशनादिभिः ।

संलालितः स्वाचरितैः प्रहर्षयन् सायं गतो यामयमेन माधवः ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ — हे नृप ! माधव भगवान् काल को अपने नियम में रखकर शामको घर पधारते तब अपने चरित्रों से आनन्द देते हुए भगवान् का माताओं ने मर्दन<sup>४</sup>, स्नान लेपन, अलङ्कार रक्षा, तिलक और भोजन आदि से लालन किया ।

सुबोधिनी — हे नृप, प्रथममुन्मर्दनं तैलपिष्टेनोद्धर्तनं, हर्षयन् जातः, नन्वेतावत्ता भूयान् कालो लगति तत् ततो मञ्जो मञ्जनं, स्नानमिति यावत्, ततो लेपनं गन्धादिना, संसारव्यापृतानां प्रत्यहं कथं सम्भवतीत्याशङ्क्याह सायं गत ततो लङ्कारः, ततो रक्षा, ततस्तिलकादि, ततोशनं भोजनं, इति, सायङ्कालेपि गतस्तावद्भावं प्राप्नोति, तत्रहेतुर्यामयमेनेति ततो वार्तामुखशयनादि, तैः सर्वैरेव संलालितः सन् यामस्य कालस्य प्रहरात्मकस्य यमेन नियमेन, यावत्तैतावान् स्वाचरितैर्यथापूर्वं बालका आचरन्ति तादृशचरित्रैः प्रकर्षेण कालो भवति तावत् सूर्यगतिः

\* इससे वात्सल्यभाष की परकाष्ठा (सब से ऊँची हद) दिखाई गई - अनुवादक ।

१—मदिर, मद्य ।

२—मस्ती लानेवाला ।

३—दूध ।

४—मालिश ।

कुण्ठिता भवतीत्यर्थः, कथमेवमत आह माधव इति, कालकृतानुपपत्तिरिति ॥ २३ ॥  
लक्ष्मीपतिरयमतः सर्वसम्पत्तिः, कालस्य च नियन्तातो न

**व्याख्यानार्थ —** प्रथम माताओं ने बालकों का तेल से मिले हुए पिष्ट<sup>१</sup> द्रव्यों<sup>२</sup> से मर्दन किया । अनन्तर स्नान, गंध आदि पदार्थों से लेपन आभूषण पहनाकर अलंकृत किया एवं रक्षा और तिलक किए । अन्त में भोजन कराके कहानियाँ कहते हुए शयनादि कराया । उन सब से माताओं द्वारा लालन किए हुए बालक पूर्व के समान चरित्रों से विशेष हर्ष देने लगे । ये कार्य प्रतिदिन कार्य में व्यावृत्त होने से प्रातःकाल में नहीं कर सकती थीं । अतः सायंकाल में बन से लौटते थे तब होता था । यहाँ शंका होती है कि शामको लोटने के पीछे इस प्रकार लालनादि करने में तो समय बहुत लगेगा । सूर्य तो अस्त हुआ होगा रात्रि हो जाती होगी । इसके प्रत्युत्तर में श्लोक में 'याम यमेन' शब्द दिया है जिसका भावार्थ है काल को नियम में रखकर (अपने आधीन कर) शाम को आते थे । क्योंकि वे जानते थे कि माताओं को इतना कार्य करना है । इसलिये सूर्य की गति (चलना) रुक जाती थी । जब माताएँ यह कार्य कर लेती थीं तब सूर्य अस्त हो जाता था । इस प्रकार कैसे हो सकता है ? इसके उत्तर में भगवान् का विशेषण 'माधव' दिया है जिसका भाव यह है कि कृष्ण, लक्ष्मी (सर्व सम्पत्ति) का पति है । और काल भी नियामक है । अतः काल के द्वारा उसके कार्य में किसी प्रकार का प्रतिबन्ध<sup>३</sup> नहीं हो सकता है ॥ २३ ॥

**आभास —** एवं मातृणां बालेषु वृत्तिमुक्त्वा गवां वत्सेषु वृत्तिमाह गाव इति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार माताओं की वृत्ति का वर्णन कर अब गौओं के वत्सों के प्रति, वृत्ति का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः —** गावस्ततो गोष्ठमुपेत्य सत्वरं हुङ्कारघोषैः परिहृतसंगतान् ।

स्वकान् स्वकान् वत्सतरानपाययन् मुहुर्लिहन्त्यः स्रवदौघसं पयः ॥ २४ ॥

**श्लोकार्थ —** तत्पश्चात् गौ शीघ्र गोष्ठ में आकर, हुँकार शब्दों से बछड़ों को बुलाने लगीं, अब वे पास आ गए तब अपने अपने बछड़ों को चाटती हुई धनों में से स्रवित<sup>४</sup> दूध पिलाने लगीं ।

**सुबोधिनी —** ततो वत्सप्रीत्यनन्तरं गावोपि गोष्ठमुपेत्य वत्सतरान् स्यूतवत्सानप्यपाययन् स्नेहान् मुहुर्लिहन्त्यः न सत्वरं त्वरया हुङ्कारघोषैः स्वकृतहुङ्कारशब्दैः परिहृता चाग्रे दोहः कथं भविष्यतीत्याशङ्कनीयं, यतः स्रवदौघसमोघः आहूताश्च ते संगताश्च, ततस्तादृशान् स्वकान् स्वकान् सम्बन्धि पयो न त्वन्तःस्थितम् ॥ २४ ॥

**व्याख्यार्थ** — गौओं ने जो अपने अपने बछड़ों को देखा तो उनके अन्तःकरण में भी बछड़ों के लिए वात्सल्य प्रेम उत्पन्न हुआ। प्रेम उत्पन्न होने के अनन्तर वे भी शीघ्र गोष्ठ में आ गई और अपने हुँकारों की ध्वनियों से बछड़ों को बुलाने लगीं वे आकर मिले। फिर मिले। गौएँ अपने अपने बछड़ों को स्नेह से बार-बार चाटती हुई दूध पिलाने लगीं। यदि बछड़ों को दूध पिला दिया तो दोहन क्रिया पीछे कैसे होगी ? यह शंका नहीं करना चाहिये क्योंकि जो दूध बछड़ों को पिलाने लगीं वह दूध स्नेह के कारण थनों से जो टपक रहा था वह पिलाया न कि जो भीतर थनों में दूध था वह तो भीतर ही पड़ा था। जिससे दोहन क्रिया बिना संकोच हो सकती थी ॥ २४ ॥

**आभास** — एवमुभयविधानां पूर्ववत् स्थितिमुक्त्वा विशेषमाहगोगोपीनामिति ।

**आभासार्थ** — इस प्रकार वत्स और बालकों की पहले जैसी स्थिति कही अब इस श्लोक में विशेष स्थिति का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः** — गोगोपीनां मातृतास्मिन् सर्वाः स्नेहर्द्धिकां विना ।

पुरोवदास्वपि हरेस्तोकता मायया विना ॥ २५ ॥

**श्लोकार्थ** — गौ और गोपियों का मातृभाव तो इसमें जैसा ही रहा, किन्तु अब आगे से प्रेम विशेष होने लगा। गौ और गोपियों में भगवान् का बाल (पुत्र) भाव तो वैसा ही रहा किन्तु इस समय भगवान् का बाल-भाव रूप धर्म, माया से प्रकट किया हुआ है। माया को छोड़कर तो स्वरूप से बाल-भाव तो पूर्व के समान ही है।

**सुबोधिनी** — गवां गोपीनां च मातृता मातृभावः सा स्तोकता मातृविषयिणी स्तोकनिष्ठ हरेरप्यासीद् यथा सेवादिरूपः सर्वोभ्यस्मिन् नूतन पुत्रेपि पूर्ववदेवासीत्, परं पूर्वं, स्तोकानां परमिदानां भगवति स धर्मो मायया जातः, स्नेहर्द्धिकां विना स्नेहर्द्धिस्त्वधिका जाता, आस्वपि अतो मायया विना माया परित्यज्य स्वरूपतः गोगोपीषु हरेस्तोकतां पूर्ववदेवासीत्, स्तोकेषु यादृशो भावः पूर्ववदेवासीदित्यर्थः ॥ २५ ॥

**व्याख्यार्थ** — गौओं का तथा गोपियों का सेवा आदि करने का सर्व मातृ-भाव तो इस नए पुत्र में पूर्व के समान ही था। किन्तु अब स्नेह विशेष उत्पन्न हुआ है। हरि अपने को गोपियों का मैं बालक हूँ यह पूर्व के समान समझते थे। किन्तु यह धर्म इस समय भगवान् ने अपने में माया से उत्पन्न किया है अर्थात् माया के बिना अर्थात् माया का त्याग करने पर स्वरूपतः वास्तविक रीति से बाल-भाव पूर्व की तरह ही है ॥ २५ ॥

**आभास** — एवमारम्भ एव स्नेहाधिक्यमुक्त्वा तस्य वृद्धिमाह व्रजौकसामिति ।

आभासार्थ — इस प्रकार आरम्भ में स्नेह की अधिकता होना कहकर अब इस श्लोक में स्नेह की वृद्धि बताते हैं ।

श्लोकः — ब्रजौकसां स्वतोकेषु स्नेहवल्ल्याद्वमन्वहम् ।  
शनैर्निःसीम ववृधे यथा कृष्णे त्वपूर्ववत् ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ — ब्रजवासियों का पहले यशोदानन्दन श्रीकृष्ण में अपने पुत्रों से भी अधिक जैसा असीम प्रेम था वैसा स्नेह उस समय एक वर्ष पर्यन्त अपने पुत्रों में बढ़ा ।

सुबोधिनी — स्वतोकेषु स्वस्त्रबालकेषु स्नेहवल्ली ततो निःसीम ववृधे, यथा कृष्णे तु पूर्ववत्, कृष्णे शीघ्रमेव वर्धमानान्वहं ववृधे, शनैरिति विलक्षणाज्ञानार्थ, त्वपूर्ववदेव, कृष्णशब्दः सप्तम्यन्तो वाङ्मयमावर्तते ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ — अपने-अपने पुत्रों में स्नेह रूप बेल शीघ्र ही प्रति दिन धीरे-धीरे बढ़ने लगी । धीरे - धीरे कहने का आशय यह है कि वह बढ़ते हुए प्रेम की विलक्षणता कोई समझ न सके । प्रेम बिना सीमा के बढ़ता ही गया । जैसे कृष्ण में पहले निःसीम प्रेम नित्य बढ़ता ही जाता था । वैसे ही इन अपने-अपने पुत्रों में स्नेह बढ़ने लगा ॥ २६ ॥

आभास — एवं भगवच्चरित्रं नूतनमुक्त्वोपसंहरतीत्यमिति ।

आभासार्थ — इस प्रकार भगवान् का नवीन चरित्र वर्णन कर निम्न श्लोक में उस चरित्र की कथा का उपसंहार करते हैं ।

श्लोकः — इत्थमात्मात्मनात्मानं वत्सपालमिषेण सः ।  
पालयन् वत्सपो वर्षं चिक्रीडे वनगोष्ठयोः ॥ २७ ॥

श्लोकार्थ — इस प्रकार श्रीकृष्ण वत्स पालक (ग्वाला) होकर, वत्स और पालक के बहाने से अपने ही स्वरूप को आप ही पालन करते हुए एक वर्ष पर्यन्त वन और गोष्ठों में खेलने लगे ।

सुबोधिनी — आत्मा कृष्ण आत्मना वत्सरूपेणात्मानं तेन स एव वत्सपो भूत्वात्मानं पालयन् वनगोष्ठयोर्वने गोष्ठे वत्सरूपं वस्तुतः स्वयमेव वत्सः पाल इतिमिषमात्रं व्याजमात्रं, च चिक्रीडे क्रीडां कृतवान् ॥ २७ ॥

व्याख्यार्थ — श्लोक में एक ही आत्मन् शब्द तीन विभक्तियों आत्मा, आत्मना और आत्मानं में आया है । उनका अर्थ बताते हैं कि 'आत्मा' श्रीकृष्ण, 'आत्मना' वत्सरूप से, 'आत्मानं' वत्स रूप को अर्थात् वास्तविक रीति से वत्स रूप (बछड़े का रूप) और ग्वाल रूप भी आप



आत्मा (श्रीकृष्ण) ही बने थे । ये सब रूप दिखाने मात्र के थे । ऐसा कहने का आशय यह है कि आप श्रीकृष्ण ही ग्वाले बनकर अपने ही रूप वत्सों (बछड़ों) का पालन करते हुए बन और गोष्ठ में क्रीड़ा करने लगे ॥ २७ ॥

**आभास —** इदानीं गोकुलवासिनां सर्वेषां मध्ये बलभद्रस्य भगवत एवंगीलया ज्ञानं जातमिति वक्तुमुपाख्यानं मारभत एकदेति ।

**आभासार्थ —** श्रीकृष्ण ने ग्वाल और वत्सों का रूप धारण किया है । इसका ज्ञान अब तक बलरामजी को भी नहीं था । अतः उनको जताने के लिये निम्न श्लोक से उपाख्यान<sup>१</sup> प्रारम्भ करते हैं ।

**श्लोक: —** एकदा चारयन् वत्सान् सरामो वनमाविशत् ।

**पञ्चषासु त्रियामासु हायनापूरणीष्वजः ॥ २८ ॥**

**श्लोकार्थ —** एक वर्ष पूर्ण होने में शेष पांच छ रत्रि थी, तब श्रीकृष्ण बलरामजी को साथ में लेकर बछड़ों को चराने के लिये बन में पधारे ।

**सुबोधिनी —** यदा भगवत इच्छा, वत्सान् पालयन् वर्षमात्रं जातं पञ्च वा षड् वा एवयो न्यूनाः, त्रियामा बलभद्रसहितो वनमाशित् यत्र गच्छे वने गावश्चरन्ति तत्र इत्यल्पत्वं, अज इति वत्सपालरूपेण तन्मातृभ्यो न जातः गतः पञ्चषासु रत्रिषु हायनापूरणीषु सत्सु वत्सापहरणे केवलं स्वयमेव तथा वर्तत इतिज्ञापनार्थमुक्तम् ॥ २८ ॥

**व्याख्यानार्थ —** किसी समय जब भगवान् की इच्छा हुई तब बलरामजी को साथले बछड़ों को चराने जहाँ घना जंगल था, जहाँ गौएँ घास चरती थीं वहाँ बन में पधारे । ब्रह्मा बाल और बछड़ों को ले गया और आप बाल वत्स रूप बन गए इस लीला को पाँच पाँच छः रत्रि कम एक वर्ष पूर्ण होने आया था । श्लोक में 'त्रियामा' पद का भाव यह है कि तीन प्रहर कहने से रत्रियाँ छोटी थीं यह बताया है । श्लोक में 'अज' पद का भाव यह है कि इस समय बछड़ों की रक्षा करनेवाले ग्वाले माता के गर्भ से उत्पन्न ग्वाले नहीं हैं किन्तु 'अज' है अर्थात् जिनका जन्म नहीं केवल वह आप भगवान् ही ग्वाल रूप हैं ॥ २८ ॥

**टिप्पणी —** व्याख्या में कृष्ण शब्द दो बार लिया गया है जिसका आशय है कि एक स्वयं कृष्ण और अब सर्व बाल भी कृष्ण के रूप थे । अतः बालक कृष्ण रूपहोने से उनमें भी व्रजवासियों का निःसीम प्रेम प्रतिदिन वर्ष पर्यन्त बढ़ा । -अनुवादक ।

आभास — ततो यदासीत् तदाह ।

आभासार्थ — इसके अनन्तर जो कुछ हुआ वह इस श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — ततो विदूराच्चरतो गावो वत्सानुपव्रजम् ।  
गोवर्धनादिशिरसि चरन्त्यो ददृशुस्तृणम् ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ — गोवर्धन पर्वत के शिखर पर घास चरती हुई गौओं ने दूर से ब्रज के समीप चरते हुए अपने बछड़ों को देखा ।

सुबोधिनी — विशेषेण दूरद् दूरे चरतो वत्सानुपव्रजं गोवर्धनादिशिरसि चरन्त्यो गावो ददृशुः ॥ २९ ॥  
ब्रजसमीप एव स्थितान् ब्रजसमीपारण्ये स्थितानित्यर्थः,

व्याख्यार्थ — गौओं ने दूर दूर चरते हुए बछड़ों को ब्रज के समीपवाले अरण्य<sup>१</sup> में स्थित देखा । उस समय स्वयं गौ गोवर्धन पर्वत के शिखर पर घास चर रही थीं ॥ २९ ॥

आभास — यद्यपि गवां तृणमत्यभीष्टं तथापि तत् परित्यज्य वत्सस्नेहाद् वत्ससमीपमागता इत्याह दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ — यद्यपि गौओं को घास अत्यन्त प्रिय था तो भी उसको छोड़कर बछड़ों के स्नेहवश हो बछड़ों के पास आईं । इस श्लोक में उसका वर्णन है ।

श्लोकः — दृष्ट्वाथ तत्स्नेहवशीस्मृतात्मा स गोव्रजोत्पात्मपदुर्गमार्गः ।  
द्विपात् ककुद्ग्रीव उदास्यपुच्छोगाद्घुङ् कृतैरसुपया जवेन ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ — देखते ही सब की सब उनके स्नेहवश हो, अपनी देह की सुघ भूल गईं । उनके थनों में से दूध टपकने लगा । ग्वाल और विषम मार्ग का रंचक भी ध्यान न रख कर, ऐसी दौड़ी कि मानो दो ही पावों से चल रही हों और उनकी गर्दन डील से मिल गई थीं । सिर और पुँछ, को ऊँचा कर (उठा कर) बड़े वेग से हुंकार शब्द करती हुई अपने अपने बछड़ों के पास आन पहुंची ।

सुबोधिनी — पूर्वमपि पश्यन्ति कदाचित् तदव्यावृत्त्यर्थं वशीकृतस्तत्स्नेहवशीत एवास्मृत आत्मा देहो येन स भिन्नप्रक्रममाहास्येति, तत्स्नेहेन वत्सस्नेहेन प्रसिद्धोपि गोव्रजः सर्वा एव गावोत्पात्मपदुर्गमार्गो जातः,

अतिक्रान्ता आत्मपा गोपाला दुर्गञ्च मार्गोयेन, रक्षकानतिक्रम्य सन्नगाद् वत्ससमीपे सभागतो हुङ्कृतैः सह, आसमन्तात् कण्टकादिभूयिष्ठमपि प्रदेशं मार्गव्यतिरेकेणैवातिक्रम्यागत इत्यर्थः सवतीत्यासु, आसुपयो यस्य स आसुपया जघेनागतः किञ्च द्विपाञ्च जातो योजितपादद्वयेनैवोत्पलवनेनैव धावति, ॥ ३० ॥ ककुदि, ग्रीवा यस्य, उदध्वंमास्ये पुच्छं यस्यैतादृशः

**व्याख्यार्थ** — श्लोक में कहे हुए 'अथ' शब्द का भाव बताते हैं कि गौएं अपने बछड़ों को पहले भी देखती थीं किन्तु अब का देखना अन्य प्रकार का है इसलिये 'अथ' शब्द 'आरम्भ में' के अर्थ में दिया गया है। अर्थात् इस प्रकार देखने से नया विशेष प्रेम उत्पन्न होने से गौओं ने विशेष प्रकार की क्रिया की। जैसे कि अबकी बार देखते ही उनमें ऐसा प्रेम उत्पन्न हुआ जो उनके वश में हो गई, जिससे अपने देहादि को भी भूल गई। सब गौओं ने अपने गोपों का तथा काटे वाले मार्ग और कठिन मार्ग का भी ध्यान नहीं किया और शीघ्र ही उनका अतिक्रमण करती हुई दो पैरों से उछलती कूदती दौड़ती हुई जा रही थीं। उस समय उनकी ग्रीवाएँ हुड्डों में मिली हुई सी दीखने में आती थीं तथा उनकी पुँछें लम्बी और ऊंची हो रही थीं, इसी तरह जाते समय हुङ्कार करती हुई, और अपने धनों से दूध को टपकाती हुई बछड़ों के पास आ गई ॥ ३० ॥

**श्लोकः** — समेत्य गावोधोवत्सान् वत्सवत्योप्यपाययन् ।

गिलन्त्य इव चाङ्गानि लिहन्त्यः स्वौघसं पयः ॥ ३१ ॥

**श्लोकार्थ** — बछड़ों वाली इन गौओंने गोवर्धन से नीचे आकर, जिन बछड़ों ने दूध पीना भी छोड़ दिया था उनके अंगों को इस तरह चाटती हुई, मानों उनको निगल जाएगी (पेट में ही रख लेंगी) दूध पिलाने लगी।

**सुबोधिनी** — ततः समेत्य वत्सवत्योप्यधोवत्सांस्य- स्नेहमुद्गिरन्त्यस्तथा कुर्वन्ति, नात्र तासां कश्चन दोषो यतः कवत्सानप्यपाययन्, तत्राप्यङ्गानि गिलन्त्य इव लिहन्त्यः स्वौघसं स्वस्यैवौघसि स्थितं पयः ॥ ३१ ॥

**व्याख्यार्थ** — अनन्तर नीचे आकर बछड़ों से मिलीं यद्यपि उन्होंने दूध पीना छोड़ भी दिया था और गौओं के दूसरे छोटे बछड़ें भी थे तो भी उनको दूध पिलाने लगीं। दूध पिलाते समय स्नेह प्रकट करती हुई बछड़ों को इस प्रकार चाटती थीं मानो उनको निगल रही हैं। ऐसा करने में इनका कोई दोष नहीं था क्योंकि जो दूध इनके धनों में भरा हुआ था वह पिलाया ॥ ३१ ॥

**आभास** — एवं गवां स्नेहाधिक्यमुक्त्वा गोपानां स्नेहाधिक्यमाह गोपा इति ।

**आभासार्थ** — इस प्रकार गौओं के स्नेह की अधिकता का वर्णन कर अब निम्न तीन श्लोकों से बालकों पर गोपों के प्रेम की विशेषता का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — गोपास्तद्रो घनायासमौढ्यलज्जोरु मन्युना ।

दुर्गाध्वकृच्छतोभ्येत्य गोवत्सैर्ददृशुः सुतान् ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ — धेनुओं के रोकने का प्रयास व्यर्थ होने से गोप पहले 'किंकर्तव्यमूढ़' (क्या करना चाहिये इसका निर्णय नहीं कर सके) हो गए और लज्जित हुए जिससे क्रोध से भरे हुए ग्वाल विषम मार्ग में क्लेश पाकर भी नीचे आए वहाँ गौओं के बछड़ों के साथ अपने पुत्रों को भी देखा ।

सुबोधिनी — प्रथमतः तस्य गोव्रजस्य रोधनार्थं दोषत्रयेणोरुमन्युर्जातः, तेन मन्युनाविचारितक्लेशा एव योयमायासस्तस्मिन् विफले जाते यन् मौढ्यमितिकर्तव्य- दुर्गाध्वनि यः कृच्छ्रः ल्क्लेशस्ततोपि समेत्य क्लेशं प्राप्यापि ताजानाभावो जातस्तस्मिन् जाते पश्चात्तल्लज्जा जाता, एवं मिलित्वा गोवत्सैः सह मिलितान् सुतान् ददृशुः ॥ ३२ ॥

व्याख्यानार्थ — पहले गोप, गौओं को रोकने का प्रयास निष्फल होने से, 'किंकर्तव्यमूढ़' बने जिससे लज्जित हुए । निष्फलता, मूढ़ता और लज्जित होना इन तीन प्रकार के दोषों से गोप बहुत क्रुद्ध हुए । उस क्रोध के कारण, पर्वतीय मार्ग के क्लेश की चिन्ता न कर उनको सहन कर भी जहाँ नीचे गौएँ थीं वहाँ आकर बछड़ों के साथ मिले हुए अपने पुत्रों को देखा ॥ ३२ ॥

आभास — क्लेशः कोपो लज्जा मौढ्यमायासश्चेतिपञ्चदोषयुता अपि वस्तुनाशमपि दृष्ट्वा पश्चात् पुत्रदर्शने सर्वं विस्मृतवन्त इत्याह तद्वीक्षेति ।

आभासार्थ — दुःख, क्रोध, लज्जा, मूढ़ता और परिश्रम इन पांच दोषवाले भी हुए तथा वस्तु (दूध) का नाश\* भी देखा किन्तु अनन्तर पुत्रों के दर्शन से ये सब दुःखादि एवं वस्तु नाश को भूल गए । इसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — तद्वीक्षणोत्प्रेमरसाप्लुताशया जातानुरागा गतमन्यवोर्भकान् ।

उदूह्य दोर्भिः परिरभ्य मूर्ध्नि घ्राणैरवापुः परमां मुदं ते ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ — उनको देखते ही, वे गोप प्रेम रस से भरे अन्तःकरणवाले हो गए और अनुराग विशेष होने से उनका क्रोध शान्त हो गया; अतः अपने पुत्रों को हाथों से उठाकर छाती से लगाया तथा उनके मस्तक सूंघने से परमानन्द को प्राप्त हुए ।

\* गौओं ने दूध बछड़ों को पिला दिया था ।

सुबोधिनी — तेषां पुत्राणां वीक्षणेन यत् प्रेम जातं दोर्भिः परिरभ्य, बहुवचनं समुदायाभिप्रायं, मूर्ध्नि तस्य रसेनाप्लुताशया व्यासान्तःकरणाः प्रथमतोपि जातानुरागा घ्राणैराघ्राणनैः कृत्वा ते परमां मुदमवापुः ॥ ३३ ॥ अतो गतमन्यवो जाताः, ततोर्भकान् बालकानुदुहोर्ध्वमुत्थाप्य

व्याख्यार्थ — गोपों के अपने पुत्रों को देखने से जो प्रेम उत्पन्न हुआ उसके रस से उनके अन्तःकरण भर गए पहले से ही अनुराग होने से अब क्रोध रहित हो गए । तब अपने बालकों को हाथों से ऊँचा उठाकर छाती से लगाकर उनके मस्तकों को सूँघकर परमानन्द को प्राप्त हुए ॥ ३३ ॥

आभास — ततो निर्गमनेप्यशक्ता जाता इत्याह तन इति ।

आभासार्थ — इस प्रकार प्रेम मग्न होने के कारण वहाँ से जाने की भी इच्छा शक्ति गोपों में न हुई । यह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोकः — ततः प्रवयसो गोपास्तोकाश्लेषसुनिर्वृताः ।

कृच्छ्राच्छनैरपगतास्तदनुस्मृत्युदश्रवः ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ — अनन्तर बालकों के आलिङ्गन से परम आल्हादित बड़े गोप धीरे-धीरे अत्यन्त कठिनता (दुःख) से वहाँ से (उन बालकों के पास से) गए किन्तु उन (बालकों के) स्मरण से उनके आँखों में आँसू भर आए थे ।

सुबोधिनी — प्रवयसो वृद्धा अपि गोपास्तोकानां शनैस्ततोपगतास्तेषां बालकानामनुस्मृत्योदश्रवोपि जाताः बालानामाश्लेषेण सुहृन्निर्वृता जाताः कृच्छ्रादेव ॥ ३४ ॥

व्याख्यार्थ — बड़े गोप भी बच्चों के आलिङ्गन करने से अत्यन्त आनन्द को प्राप्त हुए । दुःख से ही धीरे-धीरे वहाँ से खाना होने लगे । बालकों की स्मृति से उनके नेत्र जल से पूर्ण हो गए ॥ ३४ ॥

आभास — एवं दृष्ट्वा रामस्य शङ्का जातेत्याह व्रजस्येति ।

आभासार्थ — यह प्रकार (नमूना) देखकर बलदेवजी को शङ्का हुई उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — व्रजस्य रामः प्रेमद्धेर्वीक्ष्यौत्कण्ठ्यमनुक्षणम् ।

मुक्तस्तनेष्वपत्येष्वप्यहेतुविदचिन्तयत् ॥ ३५ ॥

**श्लोकार्थ** — जिन्होंने स्तन से दूध पीना छोड़ दिया है ऐसे बच्चों पर भी क्षण क्षण में होती ब्रज के प्रेम की वृद्धि देखकर, उसके कारण को न जानने से बलरामजी विचार में पड़ गए ।

**सुबोधिनी** — व्रजस्य प्रेमद्वि दृष्ट्वा हेतुवित् सन् हेतुमज्ञात्वाचिन्तयत् ॥ ३५ ॥  
मुक्तस्तेष्वप्यपत्येष्वौत्कण्ठ्यमनुक्षणं लालसतां दृष्ट्वा

**व्याख्यानार्थ** — ब्रज की अर्थात् ब्रजवासी गोप, गौ आदि की, प्रेम की वृद्धि देखकर, जिन्होंने स्तन से दूध पीना छोड़ दिया है, उन बच्चों को भी प्रति क्षण दूध पिलाने की लालसा देख इसका कारण न समझ बलरामजी विचार में पड़ गए ॥ ३५ ॥

**आभास** — चिन्तामाह किमेतदिति ।

**आभासार्थ** — निम्न श्लोक में बलदेवजी के विचार का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः** — किमेतदद्भुतमिव वासुदेवेखिलात्मनि ।

ब्रजस्य सात्मनस्तोकेष्वपूर्वं प्रेम वर्धते ॥ ३६ ॥

**श्लोकार्थ** — सब की आत्मा भगवान् वासुदेव में स्थित होते हुए भी यह अपूर्व प्रेम मेरे सहित ब्रज के बालकों में बढ़ रहा है, यह अचम्भे के समान क्या है ।

**सुबोधिनी** — एतद् गणं गोपानां च स्वतोकेषु तिसन्देहः, ब्रजस्य सात्मन इति, स्वसहितस्य सर्वस्यैव भावलक्षणं किमेतद् यल्लोकयुक्तिप्रमाणैर्विरुध्यते ? अतः ब्रजस्य स्तोकेषु बालकेष्वपूर्वमभूतपूर्वं प्रेम वर्धते इति एवाद्भुतं भवितुमर्हति, तदपि न भवति, वासुदेवेखिलात्मनि यदेतदद्भुतमिवेति सम्बन्धः ॥ ३६ ॥  
सति किं भगवत्सान्निध्यादेवाहोस्विन् निमित्तान्तरमस्ती-

**व्याख्यानार्थ** — गौओं और गोपों का अपने सन्तति पर इस प्रकार का भाव होना, क्या यह लोक, युक्ति और प्रमाण से विरुद्ध है ? इस कारण से ही यह अद्भुत होना चाहिये । वह भी नहीं हो सकता है । सबकी आत्मा भगवान् वासुदेव के सान्निध्य से इन बालकों में यह प्रेम बढ़ रहा है वा कोई दूसरा कारण है ? यह सन्देह है । केवल ब्रज का हो सो नहीं, किन्तु मेरा भी इन बालकों में जो आगे कभी नहीं हुआ वैसा प्रेम बढ़ रहा है । इससे यह जो कुछ हो रहा है अद्भुत जैसा, यह सम्बन्ध है ॥ ३६ ॥

**आभास** — तर्हि काचिन् माया भविष्यतीत्याशंक्याह केयंवेति ।

**आभासार्थ** — निम्न श्लोक में विचार करते हैं कि यह कोई माया होगी ।

श्लोकः — केयं वा कुत आयाता दैवी वा नार्युतासुरी ।

प्रायो मायास्तु मे भर्तुर्नान्या मेपि विमोहिनी ॥ ३७ ॥

**श्लोकार्थ** — क्या यह माया देवताओं की है ? या मनुष्यों की है ? अथवा दैत्यों की है ? यह माया कैसी है ? कहाँ से आई है ? दूसरों की तो नहीं हो सकती है, क्योंकि इसमें मैं भी मोहित हो गया हूँ । इसलिये बहुधा यह माया मेरे स्वामी की ही होनी चाहिए ।

**सुबोधिनी** — इयं वेति, इयं का वा माया ? कुतो वा ? एते पूर्वपक्षाः, प्रायेण मम भर्तुर्व मायास्तु, सिद्धान्तोयं वायाता ? तत्र स्वरूपे सम्बन्धिभेदेन भेदान् निर्दिशति, भविष्यति, तत्र हेतुर्यतो मे ममापि विमोहिनी, अतो नान्या दैवी देवसम्बन्धिनी नारी नरसम्बन्धिन्यासुर्यसुरसम्बन्धिनी ॥ ३७ ॥

**व्याख्यार्थ** — यह कौनसी माया है ? कहाँ से आई है ? माया के स्वरूप वर्णन करते हुए सम्बन्धियों के भेद से स्वरूप के भेदों को कहते हैं कि, यह माया देवों से सम्बन्धवाली दैवी माया है वा मनुष्यों से सम्बन्धवाली मानवीय माया है । अथवा असुरों से सम्बन्धवाली आसुरी माया है । ये तीन भेद पूर्व पक्ष से (शङ्का से) कहे हैं । अब इसके उत्तर पक्ष में कहते हैं कि मैं समजता हूँ कि यह माया उपरोक्त सम्बन्धवाली माया नहीं है किन्तु प्रायः मेरे स्वामी की यह माया होनी चाहिये । क्योंकि यह माया मेरे अन्तःकरण में भी मोह उत्पन्न कर रही है, मेरे स्वामी की माया के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार की माया मुझे मोहित नहीं करती है । अतः निश्चित है कि यह माया मेरे स्वामी की है ॥ ३७ ॥

श्लोकः — इति सञ्चिन्त्य दाशार्हो वत्सान् सवयसानपि ।

सर्वानचष्ट वैकुण्ठं चक्षुषा वयुनेन सः ॥ ३८ ॥

**श्लोकार्थ** — इस तरह सोच विचार कर बलरामजीने ज्ञान-दृष्टि से देखा तो सब बछड़े और अपने मित्र गोप-बालक उनको श्रीकृष्ण रूप से दर्शन देने लगे ।

**सुबोधिनी** — एवं सञ्चिन्त्य दाशार्हो बलभद्रो स्वव्यतिरिक्तान् वैकुण्ठमचष्ट, अयं सर्वोपि गणः केवलं निदिध्यासनेन वत्सान् वयस्यसहितान् सर्वानपि भगवानिति, तत्र प्रमाणं वयुनेन चक्षुषा ॥ ३८ ॥

**व्याख्यार्थ** — इस प्रकार विचार कर बलरामजीने निदिध्यासन (पूर्ण विचार) से अपने अतिरिक्त सकल वयस्य (मित्रों) तथा बछड़ों को श्रीकृष्ण रूप देखा अर्थात् ऐसा निश्चय से जाना कि ये सब रूप श्रीकृष्ण के हैं ॥ ३८ ॥

**आभास** — एवं दृष्ट्वा सन्दिहानो भगवन्तं पृच्छति नैते सुरेशा इति ।

आभासार्थ — जब इस प्रकार देखा तब मन में कुछ संशय हुआ । उस संशय निवारण के लिए निम्न श्लोक में भगवान् से पूछने लगे ।

श्लोकः — नैते सुरेशा ऋषयो न वैते त्वमेव भासीश भिदाश्रयेपि ।

सर्वं पृथक्त्वं निगमात् कथं वदेत्युक्तेन वृत्तं प्रभुणा बलौवैत् ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ — बलरामजीने जब इस प्रकार देखा तब भगवान् से पूछने लगे, हे ईश ! ये (बालक) इन्द्र नहीं हैं और ये बछड़े ऋषि नहीं हैं । आश्रय पृथक् पृथक् होने पर भी ये सब आप (आपके रूप) ही हैं । अतः जो कुछ है वह स्पष्ट वेद से बताइये । भगवान् के बताने पर बलरामजी ने सब समझा ।

सुबोधिनी — हे भगवन् पूर्वमस्माभिर्ज्ञायत एते भेदाश्रयेपि स एवेत्याश्चर्यं, अतोत्र वेदानामभावात् सर्वं वत्सणाः सुरेशा इन्द्रादय एते च वत्सा ऋषय इति वेदार्थद्वयान्, पृथक्त्वं कथं ? तन् निगमाद् वद वेदवाक्याद् बोध्यं इदानीं तु पुनर्नैते सुरेशा न वैत ऋषयः किन्तु त्वमेव भेदपक्षे श्रुतिः कथं सर्वब्रह्मतां वदतीति, तदा भगवतोक्तोर्थात् तत्तद्रूपेण भासि, ननु सत्यमेव ब्रह्मवादस्तथैवेति चेत् तत्राह पूर्ववृत्तान्तं बलो बलमद्रौवैत् ॥ ३९ ॥ भिदाश्रयेपीति, अभेदाश्रये सर्वं भगवानेव नात्र सन्देहः,

व्याख्यार्थ — हे प्रभु ! पहले तो हम जानते थे कि ये बछड़ों के पालक इन्द्रादिक देव थे और ये बछड़े वेदज्ञ ऋषि थे । अब तो ये न इन्द्रादिक देव हैं और न वेदज्ञ ऋषि हैं । किन्तु आप ही इस रूप से प्रकाशित हो रहे हैं ।

ब्रह्मवाद सिद्धान्त के अनुसार यह सत्य है यों कहो तो कहते हैं कि अभेद आश्रय में तो सब भगवान् ही हैं । इसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है किन्तु भेद आश्रय (सब अलग अलग रूप) होते हुए भी वह (भगवान्) ही एक है । यह आश्चर्य है । अतः इस विषय में वेद वचनों का अभाव है । अर्थात् वेद भिन्न-भिन्न आश्रय होते हुए भी सब भगवद्रूप हैं ऐसा नहीं कहते हैं तो आप इसको वेद के वचनों से समझाओ कि भेद होते हुए भी सब भगवद्रूप कैसे हो सकते हैं ? तब भगवान् ने बलरामजी को सारा चरित्र कह सुनाया । तब बलरामजी ने इसको समझा ॥ ३९ ॥

आभास — एवं बलभद्रं ज्ञापयित्वा ब्रह्माणमपि ज्ञापितवानिति च ब्रह्मणः समागमनमाह तावदेत्येति ।

आभासार्थ — इस प्रकार बलदेवजी को समझाने के अनन्तर आए हुए ब्रह्माजी को भी समझाया । इसका वर्णन नीचे श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — तावदेत्यात्मभूरात्ममानेन त्रुट्यनेहसा ।

पुरोवदब्दं क्रीडन्तं ददृशे सकलं हरिम् ॥ ४० ॥



**श्लोकार्थ** — यहाँ तो इस प्रकार क्रीड़ा करते हुए एक वर्ष बीत गया पर ब्रह्माजी का तो एक त्रुटि<sup>१</sup> जितना ही काल हुआ था। इतने ही काल में ब्रह्माजीने लौटकर आके जो देखा तो जैसे आगे खेलते थे वैसे ही अपनी कला से भगवान्, ग्वालबाल और बछड़ों से खेल रहे हैं।

**सुबोधिनी** — आत्मभूयं ब्रह्मा, अन्यथा सापराधो नष्टो भवेदेव तावदेव शीघ्रमेवैत्यागत्य पुरोवदेवान्दमब्द-पर्यन्तं क्रीडन्तं सकलं पालकवत्सहितं हरिं ददृशे, ननु ब्रह्मा कथमेतावद्विलम्बं कृतवान् ? तत्राहात्ममानेन त्रुट्यनेहसेति, अनेहा काल आत्मनो ब्रह्मणो भानेन, त्रुटिरत्राङ्गुलिस्फोटनमात्रं विवक्षितं न तु तृतीयस्कन्धगणितत्रुटिकालः, अतः शीघ्रमेवागतोपि स्वकालवशाद् वर्षानन्तरमागतः ॥ ४० ॥

**व्याख्यार्थ** — ये ब्रह्माजी स्वतः उत्पन्न होने से जन्म-रहित अर्थात् अजन्मा हैं यदि अजन्मा न होते तो इस अपराध के करने से नष्ट हो जाते। किन्तु नष्ट न होकर शीघ्र लौटकर आए और आकर पूर्ववत् अपनी कला से ग्वालबाल तथा बछड़ों के साथ वर्ष पर्यन्त क्रीड़ा करते हुए हरि को देखा।

ब्रह्मा इतने समय के अनन्तर देखने को क्यों आये ? इस शंका को मिटाने के लिये श्लोक में 'त्रुटि' शब्द देकर यह बताया है कि ब्रह्मा की दृष्टि में वा उसकी गणना में तो अब एक 'त्रुटि' \* समय ही बीता है। अतः ब्रह्माजी तो अपने किए हुए कार्य की सफलता वा निष्फलता देखने के लिये शीघ्र ही आ गए हैं। ब्रह्माजी तो शीघ्र ही आ गए किन्तु भूलोक की गणना से एक वर्ष के अनन्तर आए ॥ ४० ॥

**आभास** — आगतस्य दृष्टवतो विचारमाह यावन्त इतिद्वाभ्यां।

**आभासार्थ** — अब दो श्लोकों से आए हुए ब्रह्माजी के विचारों का वर्णन करते हैं।

**श्लोकः** — यावन्तो गोकुले बालाः सवत्साः सर्व एव हि।

मायामये शयाना मे नाद्यापि पुनरुत्थिताः ॥ ४१ ॥

**श्लोकार्थ** — गोकुल में जितने भी बालक, बछड़ों सहित थे उन सबको मैंने मायामय लोक में सुलाया है। अभी तक भी उठे नहीं हैं।

\* यहाँ तृतीय स्कन्ध में 'त्रुटि' काल की गणना नहीं ली गई है - (श्री सुबोधिनीजी)

१-त्रुटकी बजाने जितना समय।

सुबोधिनी — गोकुले यावन्तो बाला वत्साश्च ते शयाना एव तिष्ठन्त्यद्यापि पुनर्नोत्थिताः ॥ ४१ ॥  
सर्व इतो मया नीता मायामये लोके मया स्थापिताः

व्याख्यार्थ — गोकुल में जितने भी बालक और बछड़े थे वे सब यहाँ से लेकर मायामय लोक में उनको स्थापित किया । वे आज तक (अभी तक) सो रहे हैं उठे नहीं हैं ॥ ४१ ॥

श्लोकः — इत एतेत्र कुत्रत्या मन्मायामोहितेतरे ।

तावन्त एव तत्राब्दं क्रीडन्तो विष्णुना समम् ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ — मेरी माया से मोहितों से इतर (दूसरे) ये यहाँ कैसे आए ? स्वतः उत्पन्न हुए, वा दूसरे कहाँ से आए ? वर्ष भर उतने ही (बालक और बछड़े) विष्णु के साथ खेल रहे हैं ।

सुबोधिनी — एते चात्र पुनर्दृश्यन्त इत एषैते उत्पन्ना इतर एते, आश्चर्यं च तावन्त एव तत्रैव स्थाने तद्रूपा एव, उद्भूता वा भवितुमर्हन्ति न तु तत आगन्तुं, अन्यथात्र विष्णुना सममब्दं क्रीडन्त एते कुत्रत्या इतिसाम्बन्धः ॥ ४२ ॥  
कुत्रत्या ? विलक्षण्यं च दृश्यत इत्याह मन्मायामोहितेभ्यः

व्याख्यार्थ — वे (बालक और बछड़े) जो यहाँ देखने में आते हैं, ये यहाँ ही उत्पन्न हुए दिखते हैं वहाँ से आए ऐसा तो बन नहीं सकता है यदि यहाँ उत्पन्न नहीं हुए तो ये कहाँ के हैं । मैं जो ले गया था उनमें मैं और ये जो दिख रहे हैं इनमें विलक्षणता<sup>१</sup> देखने में आती है । अतः मेरी माया से मोहित हुए हैं उनसे ये दूसरे हैं । अचम्भा है उतने ही 'वहाँ' (उस स्थान पर) ही, वैसे ही रूपवाले विष्णु के साथ वर्ष भर से क्रीड़ा करते हुए ये कहाँ के हैं ॥ ४२ ॥

आभास — अत्र ब्रह्मण उभयथाबुद्धिः किं भगवन्मायया तदानीमेव निर्मिता बाला मयानीता आहोस्वित् सत्या एवेत्येते वा सत्या निर्मिता वेति युक्तिभिरनुचिन्तने क्रियमाणे निर्धारो न जात इत्याहैवमिति ।

आभासार्थ — इस विषय में ब्रह्माजी की बुद्धि अनिश्चित हो गई है । एक विचार आया कि क्या मैं जिन (बालकों और बछड़ों) को ले गया हूँ वे भगवान् ने अपनी माया से बनाये थे अथवा जो असल सत्य थे उनको मैं ले गया अथवा ये माया से बनाये हुए हैं वा ये सच्चे हैं इस प्रकार युक्तियों से विचार करते हुए ब्रह्माजी कुछ भी निर्णय न कर सके । उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः — एवमेतेषु सुचिरं ध्यात्वा सर्वात्मनात्मभूः ।**

**सत्याः के कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे कथञ्चन ॥ ४३ ॥**

**श्लोकार्थ —** इस प्रकार बहुत समय तक विचार करते हुए भी सब के सम्बन्धी स्वयंभू ब्रह्माजी नहीं जान सके कि इनमें सत्य कौन से हैं और माया से बने असत्य कौन से हैं ।

**सुबोधिनी —** एतेषु बालेषूभयविधेषु चिरं समर्थो जातः कथञ्चन युक्त्यापि ॥ ४३ ॥  
ध्यात्वाप्यात्मभूरपि के सत्याः कतरे नेति ज्ञातुं नेष्टे न

**व्याख्यार्थ —** इन दो प्रकार के (यहाँ स्थित और आप जो ले गए) बालकों और बछड़ों में कौन से सत्य और कौन से जूटे हैं यह बहुत ध्यान विचार करते हुए भी स्वयं ब्रह्मा किसी युक्ति से जानने में भी असमर्थ हुए ॥ ४३ ॥

**आभास —** तर्हि किं जातमित्याकाङ्क्षायामाहैवमिति ।

**आभासार्थ —** जब ब्रह्माजी भी नहीं जान सके तब क्या हुआ इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः — एवं सम्मोहयन् विष्णुं विमोहं विश्वमोहनम् ।**

**स्वयैव माययाजोपि स्वयमेव विमोहितः ॥ ४४ ॥**

**श्लोकार्थ —** इस प्रकार ब्रह्माजी, विश्व को मोहित करनेवाले और किसी से भी मोहित न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण को अपनी माया से मोहित करने चले थे परन्तु स्वयं ब्रह्माजी अपनी माया से आप ही मोहित हो गए ।

**सुबोधिनी —** विष्णुविमोहयन् विष्णुविमोहार्थ प्रवृत्तः भगवतामोहितोपि स्वयैव माययाजोपि सन् स्वयमेव स्वयमेव विमोहितो जातः, तत्र हेतुविमोहं विश्वमोहनमिति, विमोहितः ॥ ४४ ॥  
भगवान् स्वयं मोहरहितोन्यांश्च विमोहयति, अतो

**व्याख्यार्थ —** विष्णु (श्रीकृष्ण) को मोहित करने में प्रवृत्त ब्रह्माजी स्वयं मोहित हो गए ऐसा क्यों हुआ ? उसमें कारण बताते हैं कि विष्णु को कोई भी मोहित नहीं कर सकता है किन्तु आप सकल विश्व को मोहित कर सकते हैं । यहाँ भगवान् ने ब्रह्माजी को मोहित नहीं किया, तो भी ब्रह्माजी अजन्मा होते हुए भी अपनी ही माया से स्वयं मोहित हो गए ॥ ४४ ॥

**आभास —** तद् युक्तमेवेत्याह तम्यामिति ।

आभासार्थ — ब्रह्माजी का मोहित होना योग्य ही था । यह निम्न श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक: — तस्यां तमोवन् नैहारं खद्योतार्चिरिवाहनि ।

महतीतरमायैश्यं निहन्त्यात्मनि युञ्जतः ॥ ४५ ॥

श्लोकार्थ — जैसे अंधेरी रात्रि में नीहार<sup>१</sup> के अन्धकार का और दिन में जुगनू के प्रकाश का पता नहीं चलता है वैसे ही बड़े पर साधारण पुरुष अपनी माया महापुरुष पर चलाना चाहें तो उनकी वह माया बड़ों को कुछ भी हानि नहीं कर सकती है । प्रत्युत बड़ों की माया उनका और उनकी माया का नाश करती है ।

सुबोधिनी — तमिस्रा रात्रिस्तमी तस्यां नैहारतमोवल् अत्रयोजकत्वमुक्त्वा भगवदग्रे ब्रह्मणोप्यप्रयोजकत्वमाह लोकस्य व्यामोहार्थं नीहारदप्यन्धकारे जायते स चेद् रात्रौ खद्योतार्चिरिवाहनीति, अहनि खद्योतार्चिः स्वयमपि न भवेत् सोपि न दृश्येत, लोकानामदर्शनं त्वन्यथैव सिद्धमतो प्रकाशते कुतो घटदीन् प्रकाशयिष्यति ? दूरे सूर्यप्रकाशनाशा महामायायुक्ते भगवत्यन्या माया स्वपदमेव न प्राप्नोति किं अत एव महतीतरस्य माया वैश्यमीशत्वं वा युञ्जतः पुरुषस्य पुनः कार्यं प्राप्स्यति ? एवं मोहकसाधर्म्येण ब्रह्ममायाया महतो मायैश्यं प्रयुञ्जतो मायामैश्यं च निहन्तीत्यर्थः ॥ ४५ ॥

व्याख्यानार्थ — लोगों को प्रातः कुहरे का अन्धकार भी मोहित कर देता है कि अभी तक रात्रि है किन्तु वही कुहरा अन्धेरी रात्रि में जो अन्धकार करे, तो वह अन्धकार देखने में नहीं आता है, व्यर्थ है । लोग तो अन्धेरी रात्रि में यों ही पदार्थों को नहीं देख सकते हैं । इस प्रकार महामाया भगवान् में दूसरे की माया को स्थान ही नहीं मिलता है । तब वह वहाँ क्या कार्य कर सकेगी अर्थात् कुछ नहीं । इसी तरह दोनों, ब्रह्मा और कृष्ण की मोह उत्पन्न करनेवाली माया का धर्म (मोहित करना) समान होते हुए भी ब्रह्मा की माया की निरर्थकता बताकर, अब भगवान् के आगे ब्रह्मा भी किसी गिनती में नहीं है अतः उनका भी अप्रयोजकत्व सिद्ध करने के लिये श्लोक में 'खद्योतार्चिरिवाहनि' शब्द दिए हैं । जैसे जुगनू दिनको आप ही प्रकाश नहीं दे सकता है तो घटदिकों को कैसे प्रकाशित करेगा ? सूर्य को प्रकाशित करने की आशा तो दूर रही । इसी प्रकार जब भगवान् के आगे ब्रह्माजी स्वयं कुछ नहीं कर सकते तो उनकी माया क्या करेगी । अतः महान् पर माया अथवा ईशपना डालनेवाले दूसरे (छोटे) पुरुष की माया और ईशपने (ऐश्वर्य) को उस बड़े की माया नाश कर देती है ॥ ४५ ॥

आभास — एवं चिन्ताकुलिते ब्रह्मणि भगवान् स्वरूपं प्रदर्शितवानित्याह तावदिति ।

आभासार्थ — ब्रह्माजी जब इस प्रकार चिन्तातुर हुए तब भगवान् ने ब्रह्माजी को अपना स्वरूप दिखाया । यह नीचे के श्लोक में कहते हैं ।

श्लोकः — तावत् सर्वे वत्सपालाः पश्यतो जस्य तत्क्षणात् ।

व्यदृश्यन्त घनश्यामाः पीतकौशेयवाससः ॥ ४६ ॥

**श्लोकार्थ** — इतने में ब्रह्माजी के देखते हुए उसी समय बछड़े और उनके पालक (ग्वाल-बालक) मेघ जैसे श्याम वर्णवाले और पीतवस्त्र धारण किए हुए देखने में आये ।

**सुबोधिनी** — यावदयं विचारयति तावत् पश्यत व्यदृश्यन्त नीलमेघश्यामा भ्राता ब्रह्मणा वा दृष्टः सर्वे च एवाब्जस्य सतस्तत्क्षणादेव सर्वे वत्सा पालाश्च घनश्यामा पीतपट्टाम्बरधारिणः ॥ ४६ ॥

**व्याख्यानार्थ** — ब्रह्माजी विचार ही कर रहे थे तो उसी क्षण में ब्रह्माजी के देखते ही देखते सब बछड़े और पालक (ग्वाल-बालक) मेघ जैसे श्याम वर्ण वाले और सब पीतवस्त्र धारण किए हुए थे । यों ब्रह्माजी को दिखने लगे ॥ ४६ ॥

श्लोकः — चतुर्भुजाः शङ्खचक्रगदाराजीवपाणयः ।

किरीटिनः कुण्डलिनो हारिणो वनमालिनः ॥ ४७ ॥

**श्लोकार्थ** — चतुर्भुज, हाथों में शंख, चक्र, गदा और कमल धारण किए हुए, मुकुटवाले, कुण्डल, हार और वनमाला पहने हुए (ब्रह्माजी ने देखे) ।

**सुबोधिनी** — चतुर्भुजाः, यस्य यस्य धर्मस्य जीवानी प्रत्येकं पाणिषु येषां, राजीव कमल, सर्वे किरीटिनः प्राकट्यार्थं यादृशो वैकुण्ठमूर्तिस्तादृशा एत इति भुजादयो किरीटभरणयुक्ताः कुण्डलाभरणयुक्ताः मुक्ताहारयुक्ता निरूप्यन्ते, चत्वारो भुजाः प्रत्येकं येषां, शङ्खचक्रगदारा- वनमालायुक्ताश्च ॥ ४७ ॥

**व्याख्यानार्थ** — वैकुण्ठ में जिस जिस धर्म को प्रकटनार्थ जैसी मूर्ति (स्वरूप) है वैसे ये हैं जैसे कि चार भुजावाले और हाथों में शंख, चक्र, गदा और पद्म धारण किए हुए सब ने किरीट (मुकुट) धारण कर रखे थे । कानों में कुण्डल आभूषण पहिने थे, मोतियों की मालाओं से तथा बन मालाओं से सुशोभित थे । (ऐसे ब्रह्माजी को दिखाई देने लगे) ॥ ४७ ॥

**आश्वास** — सारूप्यं गतानामप्येतद् भवतीत्यसाधारणाञ्छ्रीवत्सादिधर्मानाह ।

**आश्वासार्थ** — ये उपरोक्त चार भुजायें और मुकुटादि आभूषण सायुज्य मुक्तों को भी होते हैं किन्तु जो श्रीवत्स आदि असाधारण आभूषण उनको नहीं होते हैं । वे भी इनको थे । उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — श्रीवत्साङ्गददोरत्नकम्बुकङ्कणपाणयः ।

नूपुरैः कटकैर्भाताः कटिसूत्राङ्गुलीयकैः ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ — श्रीवत्स, भुजाओं में भुजबन्द<sup>१</sup> रत्नमय आभूषण तथा हाथों में शंख के समान तीन धारावाले कंकण, नूपुर, कटक, (कड़े) कटिमेखला और अंगूठियों से सुशोभित (देखने में आए) ।

सुबोधिनी — श्रीवत्सो दक्षिणावर्तरेमेखा, अङ्गदं पाणयो येषां, नूपुरैश्चरणाभरणैः कटकैर्हस्ताभरणैश्च भाताः बाहुवलयं, दोरत्नानि दोषां बाहूनां रत्नानि बाहव एव वा कटिसूत्रेणाङ्गुलीयकैश्च भाताः ॥ ४८ ॥ रत्नानि, कम्बुसदृशानि कङ्कणानि, एतत्सहिताः प्रत्येकं

व्याख्यार्थ — श्रीवत्स (दक्षिण और आवर्त (गोल चक्करवाली) रेम की रेखा) भुजबन्द, भुजाओं के रत्न, अथवा भुजाएं ही रत्नों जैसी थीं, शंख के समान तीन धारावाले कङ्कण, प्रत्येक के हाथ में ये आभूषण थे, चरणों के आभूषण नूपुरों से, हाथों के आभूषण कड़ों से और कटिमेखला (करधनी) तथा अंगूठियों से शोभायमान हो रहे थे (ऐसे देखने में आए) ॥ ४८ ॥

श्लोकः — आङ्घ्रिमस्तकमापूर्णास्तुलसीनवदामभिः ।

कोमलैः सर्वगात्रेषु भूरिपुण्यवदर्पितैः ॥ ४९ ॥

श्लोकार्थ — अति पुण्यवान् पुरुषों द्वारा अर्पण की हुई कोमल तुलसी की नवीन मालाओं से पांव से शिर तक परिपूर्ण भरे हुए (दिखाई दिये) ।

सुबोधिनी — तुलसीनूतनमालाभिराङ्घ्रिमस्तकं कोमलतुलसीनिमित्तानि, सर्वगात्रेषु च पृथक्पृथक् नखशिखाप्रपर्यन्तमासमन्तात् पूर्णास्तानि च दामानि समर्पितानि, समर्पकाश्च भूरिपुण्यवन्तः ॥ ४९ ॥

व्याख्यार्थ — तुलसी की नवीन मालाओं से चरण से मस्तक तक अर्थात् नख से लेकर चोटी तक भरे हुए (देखने में आए) वे मालाएँ कोमल तुलसी की बनाई हुई थीं । सकल अङ्गों में पृथक्-पृथक् अर्पण की हुई थीं । समर्पण करनेवाले अत्यन्त पुण्यात्मा हैं ॥ ४९ ॥

आभास — असाधारण भगवद्भावं तत्र वर्णयति ।

आभासार्थ — उनमें भगवान् के असाधारण भाव का निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — चन्द्रिकाविशदस्मरैः सारुणापाङ्गवीक्षितैः ।

स्वकार्थानामिव रजःसत्त्वाभ्यां स्रष्टापालकाः ॥ ५० ॥

**श्लोकार्थ** — चन्द्रिका के समान स्वच्छ मन्द हास्यों से अपने भक्तों के मनोरथों का मानो सतोगुण से पालन करते हैं और अरुण जैसे कटाक्ष सहित विशेष ईक्षणों से मानों रजोगुण से अपने भक्तों के मनोरथों को उत्पन्न करते हुए (दिखाई देने लगे) ।

**सुबोधिनी** — चन्द्रिकेति, चन्द्रिकावद् विशदाः स्मेर रजःसत्त्वाभ्यामिवेति, अरुणवर्णत्वाद् वीक्षितं रजस्तुल्यं, मन्दहासा अरुणान्यपाङ्गवीक्षितानि स्मेरैर्वीक्षितैश्च शुभ्रत्वात् स्मेरं सत्त्वतुल्यं, रजसोत्पाद्यते सत्त्वेन परिपाल्यते स्वकार्यानां भक्तपुरुषार्थानां स्रष्टृपालका जाताः, वीक्षितैः ॥ ५० ॥  
पुरुषार्थानामुत्पत्तिः स्मेरैः पालनं, तत्रोपपत्तिं वदन् दृष्टान्तमाह

**व्याख्यार्थ** — चन्द्रिका (चान्दनी) के समान स्वच्छ मन्दहासों (मुसक्यानों) से और अरुण (लाल) जैसे कटाक्षों के ईक्षणों से भक्तों के पुरुषार्थों की रचना और पालन करने लगे । इसको हेतु देकर सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त देते हैं, जैसे रजोगुण से उत्पत्ति होती है तथा सतोगुण से पालन होता है वैसे ही यहाँ मन्दहास स्वच्छ होने से सतोगुण के समान है । अतः इनसे पालन किया तथा कटाक्ष लाल होने से रजोगुण के समान है इनसे रचना उत्पत्ति की है ॥ ५० ॥

**श्लोकः** — आत्मादिस्तम्बपर्यन्तैर्मूर्तिमद्भिश्चराचरैः ।

नृत्यगीताद्यनेकाहैः पृथक्पृथगुपासिताः ॥ ५१ ॥

**श्लोकार्थ** — ब्रह्माजी से लेकर स्तम्ब<sup>१</sup> पर्यन्त, सब स्थावर और जंगम मूर्तिमान् होकर, नृत्य और गायन आदि अनेक प्रकार की पूजाओं से उनकी भिन्न-भिन्न उपासना कर रहे थे (ऐसे देखने में आए) ।

**सुबोधिनी** — किञ्चात्मा ब्रह्मास्तम्बस्तृणस्तम्बो इतिस्तम्बन्धः, पृथगुपासने हेतुर्नृत्यगीताद्यनेकाहैर्यथाधिकारं ब्रह्मादिपृणस्तम्बपर्यन्तैराधिदैविकैर्मूर्तिमद्भिर्विग्रह- स्वस्य धर्मा भगवत्सेवोपयिकाः पृथक् पृथक् सन्तीति वद्भिश्चराचरैः स्थावरैर्जङ्गमैश्च पृथक्पृथगुपासिता सर्वेषां पृथगुपासनम् ॥ ५१ ॥

**व्याख्यार्थ** — ब्रह्माजी से लेके तृणों की झाड़ी आदि सब जड़ और चेतन अपने अपने आधिदैविक मूर्तिमान् स्वरूपों से उनकी पृथक् पृथक् उपासना कर रहे थे । पृथक् पृथक् उपासना का कारण यह है कि जैसा जिसका अधिकार था उसी अधिकारानुसार नृत्य गीत आदि विविध प्रकारों से पृथक् पृथक् सेवा की ॥ ५१ ॥

**श्लोकः** — अणिमाद्यैर्महिमभिरजाद्याभिर्विभूतिभिः ।

चतुर्विंशतिभिस्तत्त्वैः परिता महदादिभिः ॥ ५२ ॥

**श्लोकार्थ —** अणिमा आदि आठ सिद्धियों, माया आदि विभूतियों और महत्त्व आदि चौबीस तत्त्व, इनसे वेष्टित<sup>१</sup> थे ।

**सुबोधिनी —** अणिमाद्यष्टैश्वर्यैरपि सेविताः, सम्पादयति या शक्तिः साजा, सादिर्यासां लक्ष्म्यादीनां, अणिमादीनां महित्वं माहात्म्यरूपत्वं, अजाद्या विभूतयः, ताभिर्पि प्रत्येकमुपासिताश्चतुर्विंशतितत्त्वाभिर्मानिन्यो देवताः उत्पत्तिव्यतिरेकेणैव स्वस्योत्पत्तिभावमन्येषां चोत्पत्तिः ॥ ५२ ॥

**व्याख्यार्थ —** अणिमा आदि आठ ऐश्वर्यों से सेवित, अर्थात् अणिमादिकों के माहात्म्य रूप से सेवित, अजा (योगमाया) आदि विभूतियों से सेवित, अजा का स्वरूप बताते हैं कि जो स्वयं उत्पन्न न हो, किन्तु उत्पन्न होने का केवल भाव दिखाती हो और दूसरों को उत्पन्न करती हो उसको 'अजा' कहते हैं । लक्ष्मी आदि शक्ति में यह अजा शक्ति मुख्य है । इन अजादि शक्तियों से प्रत्येक पृथक् पृथक् उपासित हो रहे थे, एवं चौबीस तत्त्वों के अभिमानी देवता भी प्रत्येक की पृथक् पृथक् उपासना कर रहे थे । (ऐसा देखने में आता था) ॥ ५२ ॥

**श्लोकः —** कालस्वभावसंस्कारकामकर्मगुणादिभिः ।

स्वमहिध्वस्तमहिभिर्मूर्तिमद्भिरुपासिताः ॥ ५३ ॥

**श्लोकार्थ —** काल, स्वभाव, संस्कार, काम, कर्म और गुणादिक पदार्थ, मूर्तिमान होकर, प्रत्येक की सेवा करते थे । इन सबकी महिमा भगवान् की महिमा के सामने नष्ट हो गई ।

**सुबोधिनी —** कालादयोप्यभिमानिदेवाः, गुणा स्वमहिध्वस्तमहिभिरिति, स्वमहिम्नैव ध्वस्तो महिमान्येषां सत्त्वरजस्तमांसि, आदिशब्देन नामसृष्टिवर्गः यैः, भगवन्महिम्ना वा ध्वस्तमहिमानः, ते च सर्वे भूर्तिमन्तः, सर्वोप्यासन्यादयश्च, तेषां माहात्म्यमाह तैरपि 'पृथक्पृथक्' गुपासिताः ॥ ५३ ॥

**व्याख्यार्थ —** काल आदि देवगण भी अभिमानी देव हैं । सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण ये तीन गुण कहे और आदि शब्द से सम्पूर्ण नाम सृष्टि का वर्ग तथा आसन्य आदि प्राण कहे हैं । श्लोक में आए हुए 'स्वमहिध्वस्तमहिभिः' पद के दो अर्थ करते हैं - (१) इन अभिमानी देवगणों ने अपनी महिमा से दूसरों की महिमा नाश कर दी है अथवा भगवान् के माहात्म्य से जिनकी (कालादिकों की) महिमा नष्ट हो गई है । वे सब कालादिक मूर्तिमान (आधिदैविक रूप वाले) हैं । उनसे भी जिनकी पृथक् पृथक् उपासना हो रही है (ऐसे दीखे) ॥ ५३ ॥

**आभास —** धर्मानुक्त्वा स्वरूपमाह सत्येति ।



आभासार्थ — इस प्रकार धर्मों का वर्णन कर अब स्वरूप का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — सत्यज्ञानानन्तानन्दमात्रैकरसमूर्तयः ।

अस्पृष्टभूरिमाहात्म्या अपि ह्युपनिषद्दृशाम् ॥ ५४ ॥

श्लोकार्थ — ये सब (बछड़े और ग्वाल बालक) सत्य, ज्ञानरूप, अनन्त, आनन्द मात्र एक रस मूर्तिवाले, आत्म-ज्ञान रूप नेत्रवाले, महात्मा लोग भी जिनके माहात्म्य को नहीं जान सकते हैं (ऐसे देखने में आए) ।

सुबोधिनी — सत्यज्ञानानन्तशब्देन दोषाभावः, भवति, उत्कर्षमाहास्पृष्ट भूरीति, उपनिषद्दृग्भिरपि न स्पृष्ट इतरन्यत्वमानन्दश्च स्वरूपे दोषाभावोप्यवश्यं वक्तव्यः, भूरि माहात्म्यं येषाम् ॥ ५४ ॥ तन्मात्रा एकरसा मूर्तयो येषां, रसभेदस्तु विजातीयसंश्लेषाद्

व्याख्यार्थ — ये सब सत्य, ज्ञान, आनन्दमात्र, एक रसकाल मूर्तिमान थे । अनन्त शब्द से बताया है कि इनमें दोषों का अभाव है तथा ये दूसरों (लौकिकों) से दूसरे प्रकार के (अलौकिक) थे और 'आनन्द' शब्द से यह बताया है कि किसी भी रूप में दोष नहीं है, यह सर्व रूपों में निर्दोषता भी अवश्य कहनी चाहिये । रस स्वरूप में भेद तब होता है जब उसमें विजातीय पदार्थ (रस रहति पदार्थ) का मिलन होता है । यहाँ किसी का भी मेल नहीं है । उसकी स्पष्टता करते हुए कहते हैं कि उपनिषद् प्रोक्त ज्ञान दृष्टिवाले भी जिनकी महिमा को नहीं जान सकते हैं (ऐसे वे दीख रहे थे) ॥ ५४ ॥

आभास — एवं सर्वमेव भगवत्स्वरूपं वर्णयित्वोपसंहरंस्तस्य दर्शनमाह ।

आभासार्थ — इस प्रकार सब ही भगवत्स्वरूप हैं ऐसा वर्णन कर अब ब्रह्माजी को भी वैसे दर्शन हुए उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — एवं सकृद्ददर्शाजः परब्रह्मात्मनोखिलान् ।

यस्य भासा सर्वमिदं विभाति सचराचरम् ॥ ५५ ॥

श्लोकार्थ — इस प्रकार ब्रह्माजी ने एक बार सबको परब्रह्ममय देखा, जिस पर ब्रह्म के प्रकाश से यह सब जगत् प्रकाशित होता है ।

सुबोधिनी — अजो ब्रह्माप्येवं सकृदेव ददर्श सवनिव यस्येति, यस्य भगवतो भासेदं सर्वमेवसचराचरं विभाति, परब्रह्मात्मनः परब्रह्मरूपान्, एकं हि परब्रह्मं प्रतिद्वंद्वं दृश्यते अतो भगवदिच्छयैव भगवद्भासा सर्वज्ञो जातः ॥ ५५ ॥ त्वनन्तरूपमिति, नन्येकेन ब्रह्मणा कथमेतावन्तो दृष्टास्तत्राह

**व्याख्यानार्थ** — ब्रह्माजी ने भी सबको इस प्रकार परब्रह्म रूप देखा । परब्रह्म एक ही है यह प्रसिद्ध है, एक होते हुए भी उनके अनेक रूप हैं । ब्रह्माजी एक थे, एक ने इन सबको किस प्रकार देखा ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् के प्रकाश से यह सर्व जड़ चेतन प्रकाशित हो रहा है । अतः भगवान् की इच्छा से ही ब्रह्माजी को वह रूप प्रकाशित हुआ जिससे वह सर्वज्ञ हुए और उन्होंने देखा तथा समझा ॥ ५५ ॥

**श्लोकः** — ततोतिकुतुकोद्वृत्य स्तिमितैकादशेन्द्रियः ।

तद्धाम्नाभूदजस्तूष्णीं पूर्देव्यन्तीव पुत्रिका ॥ ५६ ॥

**श्लोकार्थ** — उनके तेजस ब्रह्म की एकादश ही इन्द्रियाँ जड़ हो गईं । तब ब्रह्माजी दृष्टि को फिराकर चुपचाप खड़े हो गए जैसे नगर के अधिष्ठात्री देवी के पास पुतली शान्त होकर खड़ी रहती है ।

**सुबोधिनी** — ततोतिकुतुकेनातिसन्तोषेणोद्वृत्य दृष्टीः तत्र दृष्टान्तो लौकिकः पूर्देव्यन्ती पुत्रिकेव, पूर्देवी सर्वैव परवृत्त्य स्तिमितान्येकादशेन्द्रियाणि यस्य तादृशो जातः, पुरवासिभिः पूज्यते न तु तत्रिकटस्था पुत्रिका, न हि तेन हर्षादपि स्तोत्रे न समर्थो जातः, अशक्यं च स्तोत्रं, समानदेशस्थितिमात्रेण पूजार्हता भवति, अतस्तदानीं दष्टेः प्रदर्शितस्य मनसाप्याकलयितुमशक्यत्वात् हेत्वन्तरमप्याह सर्वैरवायमुपेक्षित इति निष्प्रतिषत्त्वमुचितमेव ॥ ५६ ॥ तद्धाम्नाभूदिति, भगवत्तेजसा निष्प्रतिषो ब्रह्मा तूष्णीमासीत्,

**व्याख्यानार्थ** — इसके अनन्तर क्रिया करने में असमर्थ हुई एकादश इन्द्रियोंवाले ब्रह्माजी ने अति सन्तोष से दृष्टि को बदल दिया । अति सन्तोष (हर्ष) के कारण भगवान् की स्तुति भी नहीं कर सके । स्तुति न कर सके इसका दूसरा कारण यह था कि ब्रह्माजी भगवान् के तेज से शक्तिहीन हो गए थे । अतः ब्रह्माजी कुछ भी कह नहीं सके और शान्त रहे । कैसे शान्त रहे इसका दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे नगर की अधिष्ठात्री देवी के पास पुतली केवल खड़ी रहती है । नगर की अधिष्ठात्री देवी का तो सब नगरवासी पूजन करते हैं किन्तु वह पुतली पास में केवल खड़ी रहती है । उसकी कोई पूजा नहीं करता है । केवल समान देश में स्थिति<sup>१</sup> करने से कोई भी पूजा के योग्य नहीं बनता है । अतः सबने इन ब्रह्माजी को देखा किन्तु देखने पर भी इन ब्रह्माजी की उपेक्षा कर दी थी । इससे ब्रह्माजी का तेज हीन होना उचित ही जचता है ॥ ५६ ॥

**आभास** — एवं प्रयोजके ब्रह्मणि जाते भगवांस्तद्रूपमुपसंहृतवानित्याहेतीश्वरे इति ।

**आभासार्थ** — इस प्रकार जब यह लीला देखकर ब्रह्माजी का तेज नष्ट हो गया कारण कि

उनका किया हुआ कार्य निष्फल हो गया था, तब भगवान् ने अपने उन रूपों को तिरोहित कर लिया । इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक: — इतीरेशेतर्क्ये निजमहिमनि स्वप्रमितिके  
परत्राजातो तन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ ।  
अनीशेपि द्रष्टुं किमिदमिति वा मुह्यति सति  
चछादाजो ज्ञात्वा सपदि परमोजाजवनिकाम् ॥ ५७ ॥

श्लोकार्थ — इस प्रकार अतर्क्य, (जो तर्क विचार में न आ सके) स्वप्रकाश, प्रकृति से पर और ब्रह्म से भिन्न वस्तुओं का निषेध करते हुए उपनिषद्, जिनके स्वरूप का ज्ञान कराते हैं वैसे असाधारण महिमावाले स्वरूप में 'यह क्या ?' ऐसे ब्रह्माजी मोहित हो गए और उनकी दर्शन करने की शक्ति भी जब चली गई तब भगवान् ने मायारूप पड़दा डाल दिया ।

सुबोधिनी — इत्यमुना प्रकारेणैरेषे वाक्यतौ ब्रह्मणि द्रष्टुमप्यनीशे मुह्यति च सति तस्य मोहादिक्लेशं ज्ञात्वाजाजवनिकाम् मायारूपतिरस्करिणीं चछादाच्छादितवान्, तदुपरि प्रसारितवान् यथा ब्रह्मणो दर्शनं न भवति, उद्घाटितमाययैव तेषां दर्शनं न तु निर्माणमत आच्छादनेदर्शनं युक्तमेव, ननु ब्रह्मणो मोहे दर्शने च को हेतुस्तत्राह निजमहिमन्यतर्क्ये सति, भगवतोसाधारणमहिमान्येषां तर्कविषयोपि न भवति, अतः कथं द्रष्टुं शक्यते ज्ञातुं वा ? तदेव कुतस्तत्राह स्वप्रमितिक इति, स्वस्यैव भगवत एव प्रमितिर्यस्य, केवलं स्वसंवेद्यमेव तन् न त्वन्यसंवेद्यं, तत्रापि हेतुस्वातः परत्रेति, प्रकृतेः परः सः, प्रकृतौ चान्ये, अतो यत्र

भगवांस्तत्राव्यो नास्तीति भगवत्संवेद्यमेव भगवन्माहात्म्यं, ननु श्रुत्वा कथं न ज्ञायते ? तत्राहातन्निरसनमुखब्रह्मकमितौ-विति, ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य निरसनद्वारेणोपनिषदो ब्रह्मस्वरूपं बोधयन्ति न तु साक्षादाहृत्य, सङ्केतग्रहाभावात्, वैदिकव्यवहारेपि यावदयं बहिर्मुखस्तत्र प्रविशति तावद्बहिर्निरसनेनैव प्रवेशनीयः प्राविष्टस्तुतद्भावमेव प्राप्स्यतीति स्वसंवेद्य एव भविष्यति, अतः प्रथमाधिकारे श्रुतिस्तथैवा 'हाथात आदेशो नेति नेती'ति, अतः श्रुतयोप्याहृत्य न वदन्तीति युक्तमेव तस्य द्रष्टुमशक्तिर्मोहश्च ततो दुःखं चेति ॥ ५७ ॥

व्याख्यार्थ — इस प्रकार जब ब्रह्माजी मोह को प्राप्त हुए और देख भी न सके तथा दुःखी हुए । ब्रह्माजी की यह दशा जानकर भगवान् ने इस लीला को माया के पड़दे से ढँक दिया अर्थात् जिससे उन (ब्रह्माजी) को भगवद्रूप के दर्शन न हो सके । पहले ब्रह्माजी को बछड़े और बालक भगवद्रूप देखने में इसलिये आए थे जो भगवान् ने माया का पड़दा हटा दिया था । बछड़े और बालक कल्पित<sup>१</sup> नहीं थे किन्तु वास्तविक ब्रह्म-स्वरूप थे । अब माया फैलाने से वे (बछड़े और बालक) ब्रह्मरूप नहीं देखने में आए, यह योग्य ही है ।

ब्रह्माजी को मोह हुआ और देख भी न सके इसका यह कारण है कि भगवान् का माहात्म्य ऐसा है जिससे उनको कोई नहीं जान सकता है। इतना ही नहीं, किन्तु उसकी महिमा कितनी है ? इसका तर्क भी कोई नहीं कर सकता है। अतः वे कैसे देखे जा सकते हैं अथवा जाने जा सकते हैं।

भगवान् की ऐसी महिमा किस कारण से है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'स्वप्रमितिकः' है। भगवान् ही अपने को जान सकते हैं कि मैं कैसा हूँ मेरी महिमा कितनी एवं कैसी है अर्थात् भगवान् 'स्व संवेद्य' अपने से ही जानने योग्य हैं। उनको अन्य कोई नहीं जान सकता है। दूसरा उनको क्यों नहीं जान सकता है। दो हेतु देते हैं -

१. 'अजातः' जिसका जन्म नहीं अर्थात् जो अनादि है। अन्य सब जन्मे हुए हैं 'आदि' वाले हैं, आप सब से पहले हैं। अतः आपको कोई नहीं जान सकता है।

२. 'परत्र' वे प्रकृति से परे हैं। अन्य सब प्रकृति के भीतर हैं इसलिये प्राकृत अप्राकृत को नहीं जान सकते हैं। क्योंकि जहाँ (प्रकृति से परे) भगवान् हैं वहाँ अन्य (प्राकृत) नहीं है। इत्यादि से भगवान् का माहात्म्य स्व संवेद्य ही है।

भगवत्माहात्म्य सुनकर तो जाना जा सकता है ? नहीं। इसके लिये श्लोक में 'अतन्निरसन मुखब्रह्मकमितौ' पर दिया है अर्थात् ब्रह्म के स्वरूप का उपनिषद् भी साक्षात् वर्णन नहीं करते हैं किन्तु ब्रह्म भिन्न जो वस्तु दृष्टि में आती है उनका निषेध करते हुए ही ब्रह्म के स्वरूपका ज्ञान कराते हैं ब्रह्म स्वरूप ऐसा ही है यों उपनिषद् भी कहते हैं। कारण कि ब्रह्म स्वरूप के साक्षात् बताने के लिये किसी प्रकार का कोई भी संकेत नहीं है। वैदिक व्यवहार में भी जब यह बहिर्मुख जीव ब्रह्म में प्रवेश × करता है तब बहिर्मुखता को निकाल कर (मैं दैहादि हूँ, इसका त्याग कर) उसमें प्रवेश‡ योग्य होता है। प्रवेशानन्तर\* ब्रह्म भाव को प्राप्त होता है अर्थात् अक्षर ब्रह्मरूप हो जाता है, भगवान् का माहात्म्य वही जान सकता है। अतः प्रथम अधिकार (जब तक अविद्या असित है) में श्रुति 'इति न इति न' यह नहीं यह नहीं इस प्रकार उपदेश करती है। इससे श्रुतियाँ भी जानकर ब्रह्मस्वरूप नहीं कहती हैं। अतः ब्रह्माजी भगवान् के स्वरूप का दर्शन न कर सके और मोह को प्राप्त हुए तथा दुःखी हुए, यह कहना योग्य ही था ॥५७॥

आभास — भगवतैवं कृते मूर्छित एव ब्रह्मा पतितस्ततः कियत्कालानन्तरमुत्थितः ।

× अपने में आनन्दांश को प्रकट करता है —अनुवादक ।

‡ आनन्दांश प्रकट करने के —अनुवादक ।

\* आनन्दांश की अभिव्यक्ति (प्राकृत्य) के अनन्तर —अनुवादक ।

१—विचार, बहस ।

**आभासार्थ** — भगवान् ने माया का पड़दा डाल दिया तब ब्रह्माजी मूर्छित होकर गिर गए । कुछ समय के अनन्तर उठे । यह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

**श्लोकः — ततोर्वाक् प्रतिलब्धाक्षः कः परेतवदुत्थितः ।**

**कृच्छ्रदुन्मील्य वै दृष्टीरचष्टेदं सहात्मना ॥ ५८ ॥**

**श्लोकार्थ** — तदनन्तर मर कर पीछे उठे हों ऐसे ब्रह्माजीने बाह्य दृष्टि को प्राप्त कर बड़ी कठिनता से आँख खोल अपने को और जगत् को देखा ।

**सुबोधिनी** — अर्वाङ्गेव प्रतिलब्धमक्षं ज्ञानं येन, केनचिन्निमित्तेन तद्यायमप्युत्थितः पूर्व मृतो मूर्छितः पश्चादुत्थितः लोकदर्शनार्थमेवोत्थितो न तु भगवद्दर्शनार्थमिति, इति वा, कृच्छ्रदतिकष्टेनैव दृष्टीरुन्मील्येदं जगदेव दृष्टवान् व्यर्थमस्योत्थानमिति दृष्टान्तमाह परेतवदिति, यथा मृत उत्तिष्ठति ॥ ५८ ॥

**व्याख्यानार्थ** — कितनेक समय के अनन्तर ज्ञान प्राप्त कर ब्रह्माजी उठे । लोक के देखने के लिये ही उठे न कि भगवान् के दर्शन के लिये । अतः उनका उठना<sup>१</sup> व्यर्थ था । इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे मर हुआ किसी कारण से जीवित होण उठता है । वैसे ये भी उठे अथवा पहले मरे (मूर्छित हुए) पीछे उठे । अत्यन्त कष्ट से नेत्र खोल कर इस जगत् को ही देखने लगे ॥ ५८ ॥

**श्लोकः — सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोपश्यत् पुरः स्थितम् ।**

**वृन्दावनं जनाजीव्यं द्रुमाकीर्णं समप्रियम् ॥ ५९ ॥**

**श्लोकार्थ** — उसी समय चारों ओर दृष्टि डालकर देखा तो सामने विद्यमान, चारों तरफ प्रिय पदार्थों से भरा हुआ और मनुष्यों की जीविका के साधन रूप वृक्षों से व्याप्त वृन्दावन देखने में आया ।

**सुबोधिनी** — ततः सपद्येवाभितः पश्यन् दिशोपश्यत् द्रुमाकीर्णमिति द्रुमैर्व्याप्तं न तु सून्यारण्यं, समं च तदासमन्तात् ततः पुरःस्थितं वृन्दावनं चापश्यत् ततस्तस्मिन् वने प्रियं च ॥ ५९ ॥  
जीवनार्थभागतांल्लोकानप्यपश्यत्, तदाह जनाजीव्यमिति,

**व्याख्यानार्थ** — इसके अनन्तर, उस क्षण में ही चारों ओर देखते हुए ब्रह्माजी ने दिशाएँ देखीं । पश्चात् सामने स्थित वृन्दावन को देखा । उसके अनन्तर उस वन में जीवन के लिये आए हुए

‡ मर हुआ जीवित होने के अनन्तर भी संसार में आसक्त होता है । भगवद् भजन नहीं करता है । अतः उसका जीवित होना जैसे व्यर्थ है वैसे ही ब्रह्माजी का उठना भी व्यर्थ था — अनुवादक ।

लोगों को देखा । लोग जीवन के लिये वृन्दावन में क्यों आए ? इसके उत्तर में वृन्दावन की विशेषता बतलाते हैं कि यह बन वृक्षों से व्याप्त है । शून्य अरण्य नहीं है तथा समभूमि वाला है जिससे सब प्रकार से प्रिय है ॥ ५९ ॥

**आभास —** ततस्तत्रत्यान् मृगानपि दृष्टवानित्याह ।

**आभासार्थ —** इसके पीछे ब्रह्माजीने वन के रहनेवाले पशुओं को भी देखा जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक: —** तत्र नैसर्गदुर्वैरः सहासन् नृमृगादयः ।

मित्राणीवाजितावासगतरुद्वर्षकादिकम् ॥ ६० ॥

**श्लोकार्थ —** वहाँ परस्पर स्वाभाविक गाढ वैरवाले मनुष्य एवं सिंहादिक भी आपस में मित्रों के समान रहते थे । कारण कि वहाँ भगवान् निवास करते थे । जिससे उस वन एवं उनके निवासियों में से क्रोध, लोभ आदि निकल गये थे ।

**सुबोधिनी —** तत्र नैसर्गदुर्वैर इति । स्वभावत एव कामादयो दोषाः, गतरुद्वर्षादिकं यथा भवति तथा दुर्वैर अप्यश्वयहिषादयः सहैवासन्नर मृगाश्च, मित्राणीव, सहासन्नितिसम्बन्धः ॥ ६० ॥  
तत्र हेतुरजितस्य भगवत आयासेन गता रुद्वर्षा तृष्णान्येपि

**व्याख्यानार्थ —** स्वाभाविक दुष्ट वैरवाले होते हुए भी, घोड़े, भैंस आदि और मनुष्य तथा पशुगण भी साथ ही रहते थे । वे सब परस्पर मित्रों के समान रहते थे । उसका कारण यह था कि जिसको किसी(काम क्रोधादि)ने भी नहीं जीता है ऐसे भगवान् वहाँ विराजते थे जिससे वहाँ से द्वेष, तृष्णा तथा दूसरे काम आदि दोष भाग गए थे । इससे वह वन तथा वनवासी निर्वैर होकर प्रेम से हिलमिल कर रहते थे ॥ ६० ॥

**आभास —** तस्मिन् वने भगवन्तमपि पूर्ववद् दृष्टवानित्याह तत्रोद्वहदिति ।

**आभासार्थ —** ब्रह्माजी ने उस वन में भगवान् को भी पहले के समान देखे । यह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

**श्लोक:—** तत्रोद्वहत्पशुपवंशशिशुत्वनाट्यं ब्रह्माद्वयं परमनन्तमगाधबोधम् ।

वत्सान् सखीनिव पुरा परितो विचिन्वदेकं सपाणिकवलं परमेष्ठयच्च ॥ ६१ ॥

**श्लोकार्थ —** वहाँ ग्वालवंश को बालक भाव का नाटक करते हुए ब्रह्माजीने जैसे पहले देखा था वैसे ही अब हाथ में ग्रास लिए हुए श्रीकृष्ण को देखा । जो द्वैत भाव

रहित पर, अनन्त तथा अगाध ज्ञानवान् होते हुए भी, बछड़ों और मित्रों को पूर्व की तरह चारों ओर दूँढते थे ।

सुबोधिनी — तत्र वृन्दावन उद्धृत्यशुपवंशशिशुत्व- पतितो विचिन्वन्तं, विचिन्वन् यो वर्तते तमितियोजना नाट्यं येन वस्तुतस्तद्वैतं, बह्वैव, परं कालादिनियन्तु, एकमेव वर्षात् पूर्वमेव गृहीतं कवलं हस्ते यस्य, पाणौ अनन्तमत एवापरिच्छिन्नं, अगाधो बोधो यस्य, उद्धृदिति कवलं तेन सहितमचष्ट दृष्टवान् ॥ ६१ ॥ भिन्नपदं वा विचिन्वदित्यनेन सम्बध्यते, सखीन् वत्सांश्च

व्याख्यार्थ — जो वास्तविक अद्वितीय<sup>१</sup> ब्रह्म है, केवल गोपवंश में बाल भाव का जिसने नाट्य किया है, और जो 'पर' (कालादिकों का नियन्ता) है तथा अत्रतएवं अगाध बोध<sup>२</sup> है वैसे बालकृष्ण को पूर्ववत् ब्रह्माजीने देखा । श्लोक में "उद्धृत्" × और 'विचिन्वत्' ये परस्पर सम्बन्धवाले दो पद ब्रह्माजी के विशेषणों के रूप में लिये गए हैं, जिनका अर्थ 'विचिन्वत्' बछड़ों को दूँढते हुए और 'उद्धृत्' ग्रासवाले हस्त को धारण करते हुए श्रीकृष्ण को ब्रह्माजी ने देखा, जैसे एक वर्ष पहले भगवान् को बछड़ों को दूँढते तथा हाथ में ग्रास लिए देखा था । अब भी वैसे ही देखा ॥ ६१ ॥

श्लोकः — दृष्ट्वा त्वरेण निजघोरणतोवतीर्य पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवानिषात्य ।

स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम् ॥ ६२ ॥

श्लोकार्थ — इस प्रकार के भगवान् के दर्शन कर (ब्रह्माजी ने) शीघ्र अपने वाहन हंस से उतरकर, कनक दण्ड के समान अपने शरीर से साष्टाङ्ग प्रणाम कर, चारों मुकुटों की कोटि<sup>४</sup> से चरण युगल को छूकर आनन्दाश्रुओं के जल से अभिषेक किया ।

सुबोधिनी — ततो भगवन्तं दृष्ट्वा त्वरेण पातयित्वापरिवर्तनं चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं स्पृष्ट्वा निजघोरणतो विमानादवतीर्य विमानं परित्यज्य भूमौ समागत्य पुनर्वाचापि नत्वाश्रुजलैः प्रेमाश्रुभिः पृथिव्यां स्वस्य वपुः कनकदण्डमिवासमन्तात् पादयुग्मस्यैवाभिषेकमकृत ॥ ६२ ॥

व्याख्यार्थ — पश्चात् भगवान् को देखकर, शीघ्र ही अपने विमान (हंसरूप वाहन) से उतर कर भूमि पर आ के पृथ्वी के ऊपर अपने शरीर को स्वर्ण के दण्ड के समान सम्पूर्ण गिराकर, उलटे होके चारों मुकुटों की कोटि<sup>४</sup> से भगवान् के चरणों का स्पर्श कर, पुनः वाणी से भी प्रणाम कर प्रेम के आँसुओं से भगवान् के चरण युगल का अभिषेक किया ॥ ६२ ॥

× 'उद्धृत्' यह पद श्लोक में 'पशुपवंशशिशुत्व नाट्य' पद में मिला हुआ आया है । उसका अर्थ रूप किया गया है । आचार्यश्रीने इसका, पृथक् कर यह अर्थ भी बताया है — अनुवादक ।

श्लोकः — उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयोः पतन् ।

आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुनः ॥ ६३ ॥

श्लोकार्थ — जैसे जैसे प्रथम देखी हुई महिमा को बार बार स्मरण करते थे वैसे वैसे ही बार बार उठकर बहुत देर तक भगवान् के चरणों में पड़ते थे ।

सुबोधिनी — ततोपि पुनः पुनरुत्थाय कृष्णस्य पुनः पुनः स्मृत्वा स्मृत्वा ॥ ६३ ॥  
पादयोः पतन् स्तब्ध इवास्ते, तत्र हेतुः प्राग्दृष्टं महित्वं

व्याख्यार्थ — वहाँ से भी बार-बार उठकर कृष्ण के चरणों में पड़कर स्तब्ध हो जाते थे कारण कि भगवान् की देखी हुई पूर्व की महिमा ज्यों-ज्यों याद आती थी त्यों-त्यों बार-बार चरणों में पड़कर ब्रह्माजी स्तब्ध हो जाते थे ॥ ६३ ॥

श्लोकः — शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने मुकुन्दमुद्गीक्ष्य विनम्रकन्धरः ।

कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः सवेपथुर्गद्गदयैडतेलया ॥ ६४ ॥

श्लोकार्थ — फिर धीरे से उठ, आँखे पोंछ, भगवान् को देखकर गर्दन नीची कर हाथ जोड़, विनय सहित सावधान ब्रह्माजी कांपते कांपते गद्गद वाणी से स्तुति करने लगे ॥ ६४ ॥

सुबोधिनी — ततः पुनर्मूर्च्छं परित्यज्य शनैरुत्थाय प्रश्रयवान् विनयसहितः समाहितः सावधानः सवेपथुः  
नेत्रे विमृज्य ततो निर्मलचक्षुषा मुकुन्दमुद्गीक्ष्य विशेषेण कम्पमानो गद्गदयैलया सरस्वत्यैडत स्तोत्रं कृतवान् ॥ ६४ ॥  
नम्रा कन्धरा यस्य तादृशो जातः, ततः कृताञ्जलिः

व्याख्यार्थ — इसके अनन्तर मूर्च्छ को छोड़कर धीरे-धीरे उठाकर, निर्मल नेत्रों से मुकुन्द भगवान् के दर्शन कर नीची गर्दन कर विनय - पूर्वक हाथ जोड़ सावधान होके कांपते हुए ब्रह्माजी गद्गद वाणी से स्तुति करने लगे ।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशम-स्कन्ध (पूर्वार्ध) के तेरहवें अध्याय को  
श्रीमद् बल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तीन प्रक्षिप्त  
अध्यायों में का द्वितीय अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।



॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ❖ श्रीमद्भागवत महापुराण ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य — विरचित — सुबोधिनी — टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

### कौतुक लीला निरूपक

❖ ❖ ❖ ❖ ❖ ❖

प्रक्षिप्त तृतीय अध्याय

दशम स्कन्धानुसार : चतुर्दशो अध्यायः

❖ ❖ ❖ ❖ ❖ ❖

कारिका — स्तुतिर्ब्रह्मप्रसादश्च वत्सानां पुनरगतिः ।

स्नेहोपपत्तिः श्रवणे फलं चेति निरूप्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ — इस अध्याय में पांच विषयों का निरूपण है —

(१) ब्रह्मा ने भगवान् की स्तुति की है, (२) प्रसन्नता, (३) भगवान् बछड़ों को ले आए, (४) भगवान् में स्नेह होना, (५) इस कथा के श्रवण से प्राप्त फल का निरूपण ।

आभास — प्रथमं व्याकुलो ब्रह्मा दृष्टं रूपं वर्णयन् नमस्यति ।

आभासार्थ — प्रारम्भ में व्याकुल हुए ब्रह्मा ने जैसा रूप देखा उसका वर्णन करते हुए स्तुति करते हैं ।

॥ ब्रह्मोवाच ॥

श्लोकः — नौमीड्य तेभ्रवपुषे तडिदम्बराय गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय ।

वन्यस्तजे कवलवेत्रविषाणवेणुलक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय ॥ १ ॥

**श्लोकार्थ —** ब्रह्माजी कहने लगे कि, हे स्तुति करने योग्य मेघ श्याम वर्ण वाले बिजली के समान चमकीले पीताम्बरधारी, गुंजा के कर्णभूषण और मयूर पिच्छों के मुकट से शोभायमान, वन मालाओं से विभूषित, ग्रास, बेंत, सींग और वंशी के चिन्हों से सुशोभित शरीर वाले तथा कोमल चरणों वाले गोपाल के पुत्र आपकी स्तुति करता हूँ ।

**सुबोधिनी —** नौमीति "णु स्तुती" स्तौमि भगवन्तं, तत्र हेतुं सम्बोधनेनाह हे ईद्वयेति, सर्वैरेव स्तुयतेतो भयापीति, "प्रयोजनमनुद्दिश्य कोपि न प्रवर्तते" इति किमर्थं स्तोत्रमित्याशङ्क्याह त इति, तुभ्यमेव, विमेव फलं न त्वहं, ब्रह्मप्राप्तिश्च तपोज्ञानादिभिः किं स्तोत्रेणेति चेत् तत्राहाभ्रवपुष इति, नास्माकं फलं शब्दविषयकं ब्रह्म किंत्वेतदेव प्रत्यक्षतो दृश्यं तदपि प्राकृतचक्षुषैव तत्रापि सर्वाभरणभूषितं तत्रापि प्राकृतालङ्कारसहितं तत्राप्येतदवस्थापत्रमिति वक्तुं तथाविशेषणान्याहाभ्रवन् मेघवद् वपुर्यस्य नीलमेघश्यामाय, तडिद्वत् पीतमम्बरं यस्य, गुञ्जाफलानामवतंसः परितो मयूरपिच्छानि तैलसन् मुखं यस्य, वनोद्भवानां पुष्पाणां स्रग् यस्य, कवलं दध्योदनो हस्ते, क्षेत्रविषाणे कक्षयोः वेणुर्जठरपटयोः, एतान्येष यानि लक्ष्माणि चिह्नानि तैः श्रीः शोभा यस्य, मृदू पादौ यस्य, पशुपस्य नन्दस्याङ्गच्च जातो नन्दसुनुः, अनेन यथैव व्यवहारे लौकिकस्तद्विषय एव भगवानस्माकं फलरूपोस्त्वित्यर्थः ॥ १ ॥

**व्याख्यानार्थ —** मैं (ब्रह्मा) आप (भगवान्) की स्तुति<sup>१</sup> करता हूँ कारण कि आपकी सब स्तुति करते हैं आप स्तुति करने योग्य हो अतः मुझे भी स्तुति करनी चाहिये । स्तुति करने की क्या आवश्यकता है । इसके उत्तर में कहते हैं कि मुख भी प्रयोजन के बिना कोई कार्य प्रारम्भ नहीं करता है तो मैं बिना प्रयोजन के कैसे स्तुति करूँगा । प्रयोजन बताते हुए कहते हैं कि 'ते' तेरे लिये ही स्तुति करता हूँ कारण कि आप (जो इन नेत्रों से दिख रहे हो वह) ही फलरूप हो, न कि मैं फलरूप हूँ । ब्रह्म की प्राप्ति तो तप ज्ञानादि होती है स्तुति करने से क्या लाभ ? इस शङ्का के निवारण के लिये कहते हैं कि 'अभ्रवपुषे' मैं उस स्वरूप की स्तुति करता हूँ जो आपका स्वरूप घनश्याम है । हम लोगों के लिये जिसका केवल शब्द से इंगित वर्णन किया जाता है वह फलरूप नहीं है किन्तु यह ही फलरूप है जो प्रत्यक्ष देखने में आ रहे हैं और जो इन प्राकृत नेत्रों से ही दृश्य हो रहे हैं, तथा प्राकृत अलङ्कार पहिने हुए और इसी अवस्था में स्थित है — इसको बताने के लिये दूसरे विशेषण देते हैं । अभ्र (आकाश) के समान नील, (मेघश्याम) बिजली के समान पीले वस्त्र वाले, गुञ्जाफल के आभूषण पहने हुए मोर पिच्छ से शोभित मुख वाले, वनमालाओं से विभूषित, दहि से मिश्रित भात के ग्रास को हाथ में लिए हुए जठर (पेट) पर लपेटे वस्त्र में वंशी धारण किए; इतने पदार्थों से जिनकी शोभा हो रही है और कोमल चरण वाले, नन्दनन्दन उनका जैसा ही लौकिक व्यवहार देखने में आता है, वैसे विषय वाले भगवान् ही हमारे फलरूप है ।

१—श्लोक में 'नौमि' पद 'णु' स्तुतिवाचक धातु का रूप है ।

कारिका — लौकिके प्राकृते भावे यस्य भावः स भक्तिमान् ।  
हीनभावं तं विदित्वा योन्यथा वेद सोधमः ॥ १ ॥  
यद् गृह्णाति यथैवायं रोधयत्यत्र लौकिके ।  
तत् प्रमाणमिहास्माकं नान्यद् भिन्नाधिकारतः ॥ २ ॥

कारिकार्थ — लौकिक और प्राकृत भाव वाले स्वरूप में जिस मनुष्य (भक्त) का प्रेम है वह ही भक्तिवाला है । और जो इस प्राकृत भाववाले स्वरूप को हीन समझता है वह पुरुष अधम है ।

भगवान् लोक में जिस प्रकार के स्वरूप को ग्रहण करते हैं एवं जैसा भी जनाते हैं, वही स्वरूप हमारे भक्ति मार्ग में प्रमाण है । अन्य प्रकार का रूप दूसरों (जो भक्ति मार्ग के अधिकारी नहीं हैं उन) के लिये प्रमाण है ।

व्याख्या — आचार्य श्री दोनों कारिकाओं से यह शिक्षा देते हैं कि भगवान् स्वइच्छा से जो भी रूप धारण कर भक्तों को दर्शन देते हैं वह स्वरूप लौकिक प्राकृतवत् है तो भी हमारे (भक्तों के) वह ही फलरूप परमत्व\* है । जो इस स्वरूप को नीची श्रेणी का मानते हैं वे अधम हैं ।

आभास — नन्वेतदेव फलत्वेन किमिति प्रार्थ्यते ? प्रदर्शनार्थमेवैतदतः श्रुतिसिद्धमेव फलत्वेन प्रार्थ्यतामित्याशङ्क्याहास्यैवेति ।

आभासार्थ — इस दृश्यरूप को ही फलरूप कैसे कहते हो ? यह तो केवल दिखावा (मायिक) है, अतः श्रुति प्रमाण सिद्ध स्वरूप को फलरूप समझ उसकी प्रार्थना करो । इस शङ्का को मिटाने के लिये निम्न श्लोक कहते हैं ।

श्लोकः — अस्थैव देव वपुषो मदनुग्रहस्य स्वेच्छामयस्य तनुभूतमयस्य कोपि ।

नेशे महि त्ववसितुं मनसान्तरेण साक्षात् तवैव किमुतात्मसुखानुभूतेः) ॥ २ ॥

श्लोकार्थ — हे देव ! मुझ पर अनुग्रह करने वाली, स्वइच्छानुसार स्वरूप धारण करने वाली यह आपकी मूर्ति की जो पञ्चभूतों से बनी हुई नहीं है उसको कोई भी विचारयुक्त मन से जान नहीं सकता है तो आपके साक्षात् स्वतः पुरुषार्थ रूप स्व अनुभूति स्वरूप की महिमा को कौन जान सकेगा ?

\* जैसे गोपियों ने कहा है कि 'अक्षण्वतां फलमिदं' इन्द्रियवानों का यही फल है कारण कि भक्त को वह स्वरूप तथा उसके आभूषणादि आनन्द रूप ही दीखते हैं । और अभक्त को प्राकृत व मायिक, अतः वे अधम हैं — अनुवादक ।

सुबोधिनी — एतदप्यस्माकं महत् फलं यस्य हि स्वरूपानुभावौ ज्ञायेते तत् फलमिष्टं भवति, अस्माकं त्वेतस्यापि स्वरूपानुभावौ न बुद्धिगोचरावत इदमेव फलत्वेन चार्ष्ट्यादेव प्राप्यते, देवेतिसम्बोधनमुपास्यत्वाय, अस्यापि वपुषो महि महिमानमन्तरेणापि मनसान्तर्मुखेन विचारयुक्तेनापि मनसाहं ब्रह्मापि नेते "कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैकदाब्रूतचक्षुः" इति पक्षं व्यावर्तयति, यद्यपीदं वपुर्मदनुग्रहं मय्यनुग्रहो यस्य, ब्रह्मकृपयैवावतारो ब्रह्मवचनाच्च गोकुले समागमनं ब्रह्मणि कृपयैवेदानीं प्रादुर्भावं इति, अत इदं रूपं ब्रह्मार्थमेव, तर्हि कथं न माहात्म्यं ज्ञायत इत्याशङ्क्याह स्वेच्छामयस्येति,

स्वस्य वेच्छा, तन्मयोयं, इच्छा त्वपराधेन्यथा भवतीति न नियमो मय्यनुग्रहमेव करिष्यतीति, न च कालकर्मस्वभावानां नियामकत्वं, तथा सति ब्रह्मणस्तेनुकूला इत्यनुग्रहमेव करिष्यतीति कल्पयितुं शक्यते, अतः कालाद्यधीनत्वाभावे हेतुमाह तनुभूतमयस्येति, कोप्यहमपि, यत्रास्य रूपस्यैव महिमा न ज्ञायते तत्र साक्षात्तर्कैव श्रुत्यैकसमधिगम्यस्यात्मसुखानुभूतेः स्वत एव बोध्यमानाशेषपुरुषार्थस्वरूपस्य सच्चिदानन्दरूपस्य वा, यद्यप्येतदेव तद् तथाप्यप्रतीयमानमपि फलत्वेन भिन्नतया निर्दिष्टम् ॥ २ ॥

**व्याख्यार्थ —** यह प्रत्यक्ष देखने में आनेवाला स्वरूप भी हमारे लिये महान् फल है। जिसके स्वरूप और प्रभाव जानने में आवे वह स्वरूप ही फल, अभिलाषित तथा प्यारा होता है। हम लोगों को तो इसके भी प्रभाव और स्वरूप समझ में नहीं आते हैं अतः इसकी भी फलरूप से घृष्टता कर ही प्रार्थना करते हैं। श्लोक में 'हे देव' शब्द से बताया गया है कि यह स्वरूप ही उपासना करने योग्य है। इस वपु<sup>१</sup> की महिमा विचारयुक्त मन से भी मैं ब्रह्मा भी नहीं जान सकता हूँ। 'किसी अन्तर चक्षुधारी धीर ने प्रत्यगात्मा को देखा' इस पक्ष को यहाँ स्वीकार नहीं करते हैं। जो कि यह स्वरूप मेरे पर अनुग्रह वाला है अर्थात् मेरी प्रार्थना से मुझ पर कृपा कर यह स्वरूप धारण किया है। मेरे कहने से गोकुल में पधारे, अब भी मुझ पर कृपा कर प्रकटे हैं अतः यह रूप ब्रह्मा के (मेरे) लिये ही है। तो इसका माहात्म्य ब्रह्मा क्यों नहीं जान सकते हैं। इसके उत्तर में कहते हैं कि यह अवतार 'स्वेच्छामय' है। अपनी इच्छा वाला है इच्छा में तो कोई अपराध करे तो भी उसके ऊपर कृपा की जा सकती वहाँ कोई भी नियम लागू नहीं हो सकता है। अतः मेरे पर अनुग्रह ही करेगा ऐसा नियम नहीं है। इस पर काल कर्मादिकों का भी नियामकत्व नहीं है उनके नियामकत्व न होने से जाना जाता है कि भगवान् की इच्छा ब्रह्मा के अनुकूल है, इससे अनुग्रह ही करेंगे यह कल्पना की जा सकती है। ऐसा क्यों कहते हो कि कालादि के आधीन यह स्वरूप नहीं है? इसके उत्तर में कहते हैं कि कालादि के आधीन वह होता है जो पञ्चभूतों से बना हुआ शरीर हो। यह पांच भूतों से बना हुआ नहीं है, किन्तु स्वेच्छामय है। अतः कोई भी एवं मैं भी जहाँ इस रूप की महिमा नहीं जान सकते हैं तो साक्षात् अशेष<sup>२</sup> पुरुषार्थ रूप, सच्चिदानन्द स्वरूप की महिमा को कौन जान सकेगा। यद्यपि (जोकि) यह भी यही है तो भी प्रतीति न होने से उसको पृथक् फलरूप से वर्णन किया गया है ॥ २ ॥

**आभास —** नन्वेवं सति कथं ज्ञानार्थं यतन्ते ? तत्राह ज्ञाने प्रयासमिति ।

आभासार्थ — यदि ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान होना अशक्य है तो उसके लिये प्रयत्न क्यों करते हैं ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक द्वारा करते हैं ।

श्लोकः — ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्ताम् ।

स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोजित जितोप्यसितैस्त्रिलोक्याम् ॥३॥

श्लोकार्थ — हे अजित<sup>१</sup> ? ज्ञान प्राप्ति के लिये परिश्रम का त्याग कर, जो लोग सत्पुरुषों के मुख से गाई हुई आपकी कीर्ति कान में आते ही शरीर, वाणी तथा मन से नमन करते हुए जीते हैं उनसे आपके स्थान (तीर्थ, मन्दिर आदि) में स्थित ही आप अजित को प्रायः जीत लिया है अर्थात् अपने वश में कर लिया है ।

सुबोधिनी - ज्ञानं द्विविधं भगवतः स्वस्य च, तत्र स्वज्ञानमपि भक्त्यैव भवतीति वक्तव्यं, भगवज्ज्ञानं तु न कस्यापि भवति, न ह्यापाततो दृष्टो भगवान् ज्ञातो भवति नापि श्रुतः, भक्त्यापि तत्त्वं ततो ज्ञानमिति प्रवेशोपयोग्येव तावदेवापेक्ष्यत इति, अतो ज्ञाने प्रयासमुदूर्ध्वमेवापास्य दूरीकृत्य तव द्वारकादिस्थानेषु स्थिता देशदोषाभावाय यत्र काप्युपविष्ट वा सन्निर्मुखरितां भगवदीयवार्ता स्वस्य श्रुतिगतां कर्णगतां तनुवाङ्मनोभिर्नमन्तो ये जीवन्ति ते प्रथमतः प्रसिद्धा भवन्ति, किं बहुना ? तैरजितोपि भवाज्जितः अयमेको मार्गः सर्वेषां पुरुषार्थसिद्ध्यर्थं प्रसिद्धः सुगमः, आदौ स्थानस्थितानां जीविकोपद्रवाभावादिः स्वतः सिद्धः.

सन्तश्च सर्वत्र भगवदाज्ञया परिभ्रमन्ति, तेषां चैतदेव कृत्यं, भगवद्गुणगाने ते मुखरा एव भुवन्ति, तत्रापि कथायां ज्ञात्वा वक्तव्यमिति न नियमः, केवलं भगवदीया भगवत्सम्बन्धिनी वार्ता भवतु न तूपपन्नानुपपन्ना चेति, तत्राप्यनायासेन स्वकर्णे समागता भवति, परं कायवाङ्मनोभिर्नमन्त्या सा, तदनुगुणतया कायवाङ्मनोभिः स्थापनीयानि, न तु तत्र विशेष आचरणीयः, एतावदेव कृत्यमत्र साधनं जीवनमेव न तु कर्मकरणादिकमपि, प्रायश इति ते चेद् भावान्तरं न कुर्युः कालादयः प्रतिबन्धकत्वाद्वा, अतोनेनैव प्रकारेणाशिमतनानां निस्तारो मम त्वनेनैव स्वरूपेणेति स्वतन्त्र पक्षो निरूपितः ॥ ३ ॥

व्याख्यानार्थ — ज्ञान दो प्रकार का है । १- भगवान् के स्वरूप का ज्ञान, २ - अपने (जीव) स्वरूप का ज्ञान । इन दोनों में अपने (जीव) स्वरूप का ज्ञान भी भक्ति से प्राप्त होता है । भगवान् के स्वरूप का ज्ञान तो किसी को भी नहीं होता है । कारण कि भगवान् के दर्शन से वा उनके स्वरूप का वर्णन श्रवण करने मात्र से उसका पूरा ज्ञान नहीं होता है । भक्ति से भी तत्त्व हृदय में आ जाता है, उससे प्रवेश उपयोगी जितना ज्ञान अपेक्षित है उतना ज्ञान हो जाता है, अतः ज्ञान के लिये परिश्रम करना छोड़कर देश के दोष विघ्नकारक न हों इसलिये आपके द्वारका आदि स्थानों में स्थित अथवा जहाँ कहीं भी स्थित सत्पुरुषों के द्वारा कही गई भगवान् की कथा जब अपने काम में आती है तब शरीर, वाणी और मन से आपको ही प्रणाम करते हुए जो लोग जीवित रहते हैं वे पहले से ही प्रसिद्ध हैं । बहुत क्या कहें ? उन्होंने अजित आपको भी जीत लीया है । यह एक ही सरल मार्ग सबके लिए पुरुषार्थ सिद्ध करने वाला प्रसिद्ध है । आरम्भ

१-किसी से भी नहीं जीते गए ।

में ही आपके स्थान में रहने वालों को भोजन आदि का कष्ट नहीं होता है यह स्वतः सिद्ध है । सत्पुरुष सर्वत्र<sup>१</sup> भगवदाज्ञा से परिभ्रमण करते हैं उनका यही कर्तव्य है । भगवान् के गुणगान करने में वे अगुए ही होते हैं । उसमें भी कथा जानकर ही कहनी वैसा नियम वहाँ नहीं है । केवल भगवान् से सम्बन्धित कथा ही होनी चाहिये । युक्ति - युक्ति वा अनुपपन्न हो उसका विचार नहीं करना चाहिये । वह बिना प्रयास कान में आ जाती है किन्तु वह काया, वाणी और मन से नमन योग्य है । उस वार्ता को शरीर, मन तथा वाणी में इस प्रकार स्थान देना जैसे उसमें दुर्भाषना उत्पन्न न होने पावे । उसके विरुद्ध विचार न करने चाहिये इतना ही कृत्य है । यहाँ (भक्ति मार्ग में) जीवन ही साधन है न कि कर्म करने आदि साधन है । श्लोक में आए हुए 'प्रायशः' का भाव बताते हैं कि वे (भक्ति पथिक) यदि अन्य भाव न लावें अथवा कालादिक प्रतिबन्धक हैं केवल जीवित रहकर श्रवण से क्या होगा ? इस प्रकार के भाव न लावें तो यही (जीवन) एक सरल साधन सर्व सिद्धि कारक है । अतः इस प्रकार (जीवित रहकर भगवद्गुण श्रवण से) होने वालों (जीवों) का मोक्ष होगा । मेरा तो प्रथम श्लोक में कहे हुए भगवान् के स्वरूप से ही मोक्ष होगा । इस प्रकार स्वतन्त्र (प्रत्यक्ष दर्शन के) पक्ष का निरूपण किया है ॥ ३ ॥

**आभास —** ये तु पुनः स्वज्ञानर्थं यतन्ते तेन च पुरुषार्थ साधयितुं ते भ्रान्ता एवेत्याह श्रेयः स्तुतिमिति ।

**आभासार्थ —** जो लोग आत्म-ज्ञान प्राप्ति के लिये प्रयत्न करते हैं और उससे पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये प्रयास करते हैं वे भ्रान्त<sup>२</sup> हैं । यह निम्न श्लोक में दृष्टान्त देकर समझाते हैं ।

**श्लोकः —** श्रेयः स्तुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो यतन्ति ये केवलबोधलब्धये ।

तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥ ४ ॥

**श्लोकार्थ —** हे विभो ! कल्याण के प्रवाह को प्रकट करने वाली आपकी भक्ति को छोड़कर, जो लोग केवल आत्मबोध की प्राप्ति के लिये क्लेश करते हैं उनको केवल यह क्लेश ही फलरूप में प्राप्त होता है जैसे भूसा कूटने वाले को दुःख के अतिरिक्त कोई लाभ नहीं है ।

१ जीवन को साधन कहने का आशय यह है कि भगवद्गुण श्रवण जीवन में हो सकते हैं — अनुवादक ।

१—सब स्थानों में । २—भूले हुए ।

सुबोधिनी — श्रेयसः स्रुतिः प्रसन्नः, स्रुतिर्गतिर्वा, नान्यफलसिद्धिरन्तः करणशुद्धिर्वा भवेदित्याशङ्क्य यया भक्तिर्हि चिन्तामणिरूपा प्रार्थ्यते चेदन्यदिवात्मज्ञानमपि दृष्टान्तमाह स्थूलतुषावष्मादिनामिति, महता कष्टेनाप्युत्पादिताः स्थूलतुषा अवहता अपि स्वरूपत एव परं नश्यन्ति न तु कश्चन तेषु सारांशोस्ति, अतः सत्त्वमूर्तेरस्वीकारे सत्त्वाभावाच्छुद्धिज्ञानादिकं न भवत्येव, मौढ्यात् प्रवृत्ताः क्लिष्टा एव भवन्तीत्यविवादम् ॥ ४ ॥

प्रासङ्गिकमपि न भवतीत्यर्थः ननु तपस्यादिना यत्ने कथं

व्याख्यानार्थ — जिससे कल्याण के झरने बह रहे हैं ऐसी चिन्तामणि रूप से, आत्म-ज्ञान की प्राप्ति होती है उसको त्याग कर केवल यही चाहते हैं कि स्वरूप का ज्ञान ही हो इस प्रकार जो लोग प्रयत्न करते हैं उनका यह प्रयत्न केवल क्लेशकारक ही होता है । क्लेश के अतिरिक्त कुछ भी फल नहीं मिलता है । उस प्रयत्न से मुख्य फल नहीं होगा किन्तु गौण फल तो मिलेगा ? इस शंका निवारणार्थ कहते हैं कि दूसरा प्रासंगिक फल भी नहीं होता है । तपस्यादि प्रयत्न करने से दूसरे फल की सिद्धि क्यों नहीं होगी ? अथवा अन्तःकरण की शुद्धि तो होगी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे भूसा कूटने से किसी प्रकार का फल तो नहीं मिलता है किन्तु वह भूसा ही नष्ट हो जाता है । वैसे ही सत्त्वमूर्ति की भक्ति का स्वीकार किए बिना तथा सत्त्वगुण का अभाव रहने से, अन्तःकरण की शुद्धि वा ज्ञानादिक की प्राप्ति नहीं होती है । मूर्खता से उसमें प्रवृत्त हुए लोग दुःखी ही होते हैं । इसमें किसी प्रकार का वाद नहीं अर्थात् यह निश्चय ही है ॥ ४ ॥

आभास — अस्मिंश्च मार्गे फलसिद्धिर्बहूनां जातेत्याह पुरेति ।

आभासार्थ — इस मार्ग में आए हुए बहुतों को फल प्राप्ति हुई है । यह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोकः — पुरेह भूमन् बहवोपि योगिनस्त्वदर्पितेहा निजकर्मलब्धया ।

विबुध्य भक्त्यैव कथोपनीतया प्रपेदिरेञ्जोच्युत ते गतिं पराम् ॥ ५ ॥

श्लोकार्थ — हे भूमन् ! हे अच्युत ! इस लोक में पहले बहुत से योगीजन अपनी चेष्टा और कर्मों को आप में अर्पण कर, उन अर्पित कर्मों से प्राप्त, कथा श्रवण से उत्पन्न भक्ति-द्वारा ही, आत्मज्ञान को प्राप्त कर अनायास से आपकी परागति को प्राप्त हुए हैं ॥ ५ ॥

सुबोधिनी — हे भूमन् व्यापक, पूर्वमपि विद्यमान मार्गं येन प्रकारेण त्वं गच्छसि तां प्रपेदिरे, पश्चात् इहास्मिन् बहवोपि सङ्कुशो योगेनावधृतमक्तिसामर्थ्याः, अतः त्वदनुगतां न कापि चिन्ता, अज्ञानायासेनैव परं लोकातीतां एव त्वय्यर्पितेहा चेष्टा यस्तेनैव समर्पणलक्षणेन कर्मणा प्रपेदिरे प्राप्तवन्तः, अतः आत्मज्ञानापेक्षायामप्ययमेव मार्ग त्वत्सेवालक्षणकर्मणा वा लब्धया भक्त्यैव विबुध्य उचितः ॥ ५ ॥

स्वरूपं ज्ञात्वा हेच्युत केनापि प्रकारेण च्युतिरहितं ते गतिं

व्याख्यार्थ — हे भूमन् ! (पहले भी विद्यमान ! सर्वव्यापक ! ) इस (भक्ति) मार्ग में बहुत संख्या वाले योगीजन जिन्होंने योग से भक्ति के माहात्म्य को जान लिया है इस कारण से ही अपनी चेष्टाएँ एवं सर्व कर्म अर्पण कर दिये हैं उससे अथवा आपकी सेवा रूप कर्म से प्राप्त भक्ति द्वारा ही आत्म स्वरूप को जानकर हे अच्युत<sup>१</sup> जिस प्रकार से आप जाते हो उसी गति<sup>२</sup> को वे प्राप्त हुए हैं । अनन्तर आपके अनुयायियों को किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती है । अनायास<sup>३</sup> से ही परम अलौकिक गति को प्राप्त होते हैं अतः आत्मज्ञान की अपेक्षा<sup>४</sup> से भी यही मार्ग उचित है ॥ ५ ॥

आभास — एवं लौकिकप्रकारं समर्थयित्वा वैदिकं च व्यवस्थया निरूप्य पौराणिकप्रकारेणापीदमेवोपास्यं न त्वन्तर्यामिरूपमिति वक्तुं तदपेक्षयास्य माहात्म्यं वदिष्यन्नन्तर्यामिरूपं सुकरत्वेन निरूपयत्यथापीति ।

आभासार्थ — इस तरह लौकिक प्रकार का समर्थन कर तथा वैदिक प्रकार की व्यवस्था (शास्त्र की मर्यादा) से निरूपण कर एवं पुराणों में कहे हुए प्रकार से भी यह बताया कि यह स्वरूप ही उपासना करने योग्य है । अन्तर्यामी रूप उपास्य नहीं है । यों कहने के लिये भी इस (श्रीकृष्ण स्वरूप) के माहात्म्य का वर्णन करने के पहले सरल रीति से अन्तर्यामी रूप का निरूपण निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — अथापि भूमन् महिभागुणस्य ते विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।

अविक्रियात् स्वानुभवादरूपतो ह्यनन्यबोद्ध्यात्मतया न चान्यथा ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ — हे भूमन् ! (हे सर्वत्र व्यापक ! ) यों तो आपके सगुण और निर्गुण दोनों रूपों का ज्ञान होना कठिन है तो भी आपके निर्गुण स्वरूप की महिमा तो विकार रहित आत्मानुभव युक्त अन्तःकरण से ही अहम रूप ज्ञानियों को अनन्य भाव से अनुभव में आती है परन्तु दूसरे प्रकार से नहीं ।

१—किसी प्रकार की भी हानि या पतन से रहित ।

२—मार्ग ।

३—बिना परिश्रम ।

४—तुलना में ।



सुबोधिनी — हे भूमन् ? अगुणस्थ गुणातीतस्य ते महिमामलान्तःकरणैर्बोद्धुं बोधगोचरीभवितुमर्हति योग्यो भवति, हेतौ तृतीया, बोधविषयो महिमा भवति, यथा बोधे कर्ता योग्यो भवत्येवं कर्मापि "ग्रामो गन्तुमर्हती"तिवत्, अन्तःकरणैर्मल्येगुणस्य महिमा चित्ते प्रकाशते दर्पणे मुखवत् प्रयासाभावात्, चित्तं हि सत्त्वाकारं तद् गृह्णाति, अग्रहणे हेत्वभावात्, तत्र विकारं हेतुत्वेनाशङ्क्य परिहृत्यविक्रियादिति, न विक्रिया यस्मिन्, विकारे हि सति शुद्धचित्तेन न गृह्यते, किञ्च शुद्धं चित्तमात्मगाम्यात्मस्थितमेव पदार्थं गृह्णाति, महिमा पुनरात्मनिष्ठ एव, अतोपि ग्रहणयोग्यो भवतीत्याह स्वानुभवादिति, स्वस्यानुभव एकानुभवो यस्य, आत्मग्रहणेनैव गृह्यत इति स्वशब्देनात्मा, महिम्न एव स्वशब्दावाच्यत्वे महिम्न एवानु पश्चाद् भव उद्भवो यस्मान्

महिमसम्बन्धयानुभवोन्तःकरणे भवति, गुणातीतस्य चेत् तथा महिमा न भवति तदान्तःकरणे ज्ञानं न भवेदेव, अत एवात्मानमपि गृह्णन् स्वजनकं ज्ञापयत्येव, स्वस्यायं महिमानुभवरूप एव वा, स्वयमेवानुभवस्तथा सति स्वप्रकाश एव, किञ्च शुद्धे ह्यन्तःकरणे ब्रह्माकारेण परिणते रूपवत्पदार्थ एव न गृह्यन्ते महिमा तु ब्रह्मभूत एवेति, भिन्नरूपत्वाभावाद बोद्धुमर्हति, तदाहान्यबोध्यात्मतयेति, अन्येन बोध्य आत्मा स्वरूपं यस्य तादृशभिन्नोपमात्मत्वेनैव भासमानत्वात्, अन्तःकरणधर्मा वा एते निर्दिष्टः, सर्वविकारं परित्यज्य ज्ञानरूपेण परिणतं संप्रापन्निकविषयग्रहणहेतुभूतवासनारहितं सत् स्वत एव स्फुरज्ज्ञानरूपमन्तःकरणं भगवन्महिमानं गृह्णातीति ॥ ६ ॥

व्याख्यानार्थ — हे सर्वत्र व्यापक ! गुण रहित, आपकी महिमा का शुद्ध ज्ञान, ज्ञानियों को अन्तःकरण ही कराता है । 'अन्तःकरण' शब्द श्लोक में तृतीया विभक्ति में (अमलान्तगुणभिः) आया है, साधारण रीति से तृतीया विभक्ति 'करण' कारक में आती है किन्तु यहाँ वह हेतु में दी गई है, अर्थात् महिमा को जानने में ज्ञानियों का शुद्ध अन्तःकरण कारण है । 'महिमा' ज्ञान का विषय है अर्थात् 'महिमा' जानने के योग्य है । अतः जानने के लिये जैसे कर्ता योग्य होता है वैसे ही कर्म भी योग्य होना चाहिये । इसको यों समझना चाहिये, कि जैसे 'महिमा' स्वयं जान नहीं सकती है, किन्तु उसको जानने वाला शुद्ध अन्तःकरण, उसका योग्य कर्ता है । वैसे ही गांव भी जड़ होने से वहाँ भी जा नहीं सकता है अतः 'ग्रामो गन्तुमर्हति' वाक्य का अर्थ होगा, मनुष्य गांव को जाता है तब कर्म की योग्यता सिद्ध हो जाएगी, आशय समझ में आ जाएगा । जैसे निर्मल दर्पण में बिना प्रयास के मुख स्वयं प्रकाशित होता है वैसे ही अमल<sup>१</sup> अन्तःकरण में महिमा स्वतः प्रकाशित हो जाती है । शुद्ध अन्तःकरण सत्त्व<sup>२</sup> रूप होने से महिमा का ग्रहण कर लेता है, शुद्ध अन्तःकरण महिमा के ग्रहण नहीं करने में किसी प्रकार का कोई कारण नहीं है । यदि कोई कहे कि शुद्ध सतोगुण रूप अन्तःकरण विकार वाली वस्तु को ग्रहण नहीं करता है । तो इस शङ्का के मिटाने के लिये श्लोक में 'अविक्रियात्' शब्द दिया है कि उसमें (महिमा में) किसी प्रकार का विकार नहीं है । शुद्धचित्त आत्मगामी<sup>३</sup> होने से आत्मा में स्थिर पदार्थ को ही ग्रहण करता है । महिमा<sup>४</sup> आत्मा में ही स्थित है इस कारण से भी महिमा ग्रहण करने के योग्य है । इसको सिद्ध करने के लिये श्लोक में 'स्वानुभवात्' पद दिया है । आत्मा के अनुभव से ही महिमा का अनुभव होता है । यदि 'स्व' शब्द का अर्थ 'महिमा' लिया

१-मल रहित साफ ।

२-सतोगुण ।

३-आत्मा की तरफ आकृष्ट (खिंचा हुआ)

४- माहात्म्य ।

जाए तो भी महिमा का अन्तःकरण में अनुभव होने से आत्मा का भी अनुभव हो जाता है । जो निर्गुण की ऐसी महिमा न होवे तो अन्तःकरण में ज्ञान ही न हो सके । इस कारण से आत्मा का ग्रहण करते हुए वह अनुभव अपने उत्पन्न कर्ता का ज्ञान करता है अथवा महिमा की यह आत्मा अनुभव रूप ही है । आत्मा ही अनुभव रूप है । आत्मा अनुभव रूप होने से आप ही अपने को प्रकाश करता है और अब अन्तःकरण शुद्ध होकर ब्रह्मरूप हो जाता है तब रूप वाले पदार्थों को वह ब्रह्मरूप अन्तःकरण ग्रहण नहीं करता है किन्तु महिमा तो ब्रह्मरूप ही है । ब्रह्म से प्रथक् महिमा का कोई रूप नहीं अतः उसको ब्रह्मरूप अन्तःकरण जान सकता है । इसलिये श्लोक में 'अनन्य बोध्यात्मतया' पद आया है, जिसका भावार्थ यह है कि 'महिमा' का स्वरूप दूसरे से (अन्तःकरण से) जाना जा सकता है क्योंकि इसका स्वरूप आत्म रूप से प्रकाशित होते हुए भी भिन्न प्रतीत होता है उसका कारण है कि ये अन्तःकरण के धर्म ही बताए गए हैं । तात्पर्य यह है कि सर्व प्रकार के विकारों का त्याग कर, प्रपञ्च के विषयों को ग्रहण करने वाली वासना रहित हो के, ज्ञान रूप हुआ, स्वतः प्रकाशमान् स्वरूप अन्तःकरण भगवान् की महिमा को ग्रहण करता है ।

**आभास —** गुणात्मनस्तु महिमा ज्ञातुं न शक्यत इत्याह गुणात्मनस्त इति ।

**आभासार्थ —** निम्न श्लोक में बताते हैं कि आपके सगुण स्वरूप की महिमा को कोई भी नहीं जान सकता है ।

**श्लोक: —** गुणात्मनस्तेपि गुणान् विमातुं हितावतीर्णस्य क ईशिरेस्य ।

**कालेन यैर्वा विमिताः सुकल्पैर्भूपांसवः खे मिहिका द्यु भासः ॥ ७ ॥**

**श्लोकार्थ —** जगत के हितार्थ, सगुण स्वरूप से प्रादुर्भूत, आपके गुणों की गणना कौन करने में समर्थ है ? जो अति निपूर्ण<sup>१</sup> पुरुष, विशेष समय लगाकर पृथ्वी के रजःकण, आकाश में के हिमकण और नक्षत्र आदि के किरणों के परमाणु भी गिन सके, वे भी आपके गुणों को नहीं गिन सकते हैं ॥ ७ ॥

**सुबोधिनी —** सर्वगुणरूपे भगवानेव जातस्ते च गुणा अनन्तास्तेषां विमानेपि कश्चित् शक्तः, यतः सर्वजगद्धितार्थमवतीर्णः, बहवोपि मिलित्वा नेशिरे, महतापि कालेन सुकल्पैरतिमसर्थैर्भूपांसवो विमिता भवन्ति पंचाशत्कोटिष्वनस्य गणनायां धनान्तरवत् तदपि गणयितुं शक्येत, ख आकाशे मिहिका हिमकणाः, द्युभासो ज्योतिश्चक्रतेजोःशाः एते तामसा रजसाः सात्त्विकाः सर्वहितार्थं प्रवृत्ताः परिमितत्वात् गणितुं शक्याः, अपरिमितास्तु भगवद्गुणा गणितुं न शक्याः ।

**व्याख्यार्थ** — सर्व गुण रूप भगवान ही प्रकट हुए हैं। वे गुण अनन्त हैं, उनकी गणना करने में कोई भी शक्तिमान नहीं है। कारण कि सर्व जगत् के हितार्थ अवतार धारण किए हैं। बहुत मिल कर भी गुणों की गणना नहीं कर सकते हैं। विशेष सामर्थ्य वाले पुरुष भी, बहुत समय से भूमि के रजःकण गिनते हैं। पचास करोड़ समूहों की गणना में एक दूसरे समूह के समान वह (रजःकण समूह) भी कदाचित् गिना जा सके, आकाश में के हिम कण और नक्षत्र आदि के किरणों के पराण कदाचित् गिनने में भी आ जावें क्योंकि वे तामस, (भूमि के रजःकण) राजस (हिम कण) और सात्त्विक (नक्षत्रादि) सर्व हितार्थ प्रवृत्त होने के कारण परिमित<sup>१</sup> है अतः- वे गिने जा सकते हैं किन्तु भगवान् के गुण अपरिमित<sup>२</sup> है इससे वे गिनने में नहीं आ सकते हैं।

**आभास** — अतो ये सगुणोपासकास्ते गुणज्ञानाग्रहं परित्यज्यास्मदुक्तानुसारेण चेत् प्रवृत्तास्तदा कृतार्था भवन्तीत्याशयेनाह तत् ।

**आभासार्थ** — आप के गुण असीम हैं, अतः गुणों के ज्ञान का आग्रह छोड़ कर, जो सगुणोपासक हमारे कहे हुए प्रकार से यदि प्रवृत्ति करते हैं, तो कृतार्थ होते हैं। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

**श्लोकः** — तत् तेनुकम्पां प्रसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।

हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन् नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ॥ ८ ॥

**श्लोकार्थ** — इसलिए आपकी कृपा की राह देखता हुआ, अपने कर्म फल भोगता हुआ, मन, वाणी और शरीर से आपको प्रणाम करता हुआ जीवन धारण करता है वह मुक्ति पद का भागीदार<sup>३</sup> होता है।

**सुबोधिनी** — तस्मात् कारणात् तेनुकम्पां कृपामेव हृदयमेव मनो वाङ्मनोवपुर्भिस्ते नमो विदधद् यो जीवेत प्रकर्षेण समीक्षमाणः कदा कृपां करिष्यतीति स मुक्तिपदे दायभाग् भवति, यथा पितृद्रव्ये जीवन् पुत्र तावत्पर्यन्तमात्मकृतमेव विपाकं कर्मविपाकं भुञ्जानो एव भागी ॥ ८ ॥

**व्याख्यार्थ** — इस कारण से, आपकी कृपा की राह देखता रहता है, कि कब कृपादृष्टि होगी? तब तक अपने किए हुए कर्मानुसार प्रारब्ध भोगों को भोगता हुआ, हृदय ही मन है। वाणी, मन और शरीर से आपको प्रणाम करता हुआ जो जीवन यापन करता है, वही मुक्ति में, इस प्रकार भागीदार होता है, जैसे पिता के द्रव्य में जीवित पुत्र होता है।

**आभास —** एवं रूपमेव भगवतः सर्वोपास्यत्वमुक्त्वा स्वापराधं क्षमापयितुमनुवदति पश्येति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार का भगवद्रूप ही उपासना के योग्य है, यों कह कर अब निम्न श्लोक में ब्रह्माजी अपने अपराध की क्षमा याचना करते हैं ।

**श्लोकः —** पश्येश मेनार्यमनन्त आद्ये परात्मनि त्वय्यपि मायिमायिनि ।

मायां वितत्येक्षितुमात्मवैभवं ह्यहं कियानैच्छमिवार्चिरग्नौ ॥ ९ ॥

**श्लोकार्थ —** हे ईश्वर ! मेरी दुर्जनता<sup>१</sup> तो देखिए कि आप, जो आदि और अन्त रहित हो, तथा मायावियों को भी मोहित करने वाले, तथा सब से 'पर' आत्मा हो, उन पर अपनी माया फैलाकर आपके ऐश्वर्य को देखने की इच्छा की । जैसे अग्नि के आगे उसकी किरण क्या चीज है ? कुछ नहीं । वैसे ही आपके सामने मैं क्या हूँ ? कुछ नहीं हूँ ।

**सुबोधिनी —** हे ईश मेनार्य दुष्टत्वं पश्य, प्रदर्शनार्थमेवैतदित्यपराधाभावोपि सूचितः, परमेतदप्यनुचितं, अनार्यमेवाहानन्त उत्तरवधिरहित आद्ये पूर्वावधिरहिते तत्र हेतुमाह कियानहमिति, को वाहं वराकः ? तत्र परमात्मनि नियामकात्मरूपेणैतर्बहिः स्थित एतादृशे त्वय्यपि दृष्टान्तोनावर्चिस्त्विति, न ह्यग्नेर्ज्वालाधिशेषोऽग्निमेव कर्तुमर्हति मायिनामपि मायिनि मोहके, प्रकृतोपयोगि विशेषणमेतत्, ॥ ९ ॥ तादृशे मायां वितत्यात्मवैभवंमीक्षितुमेच्छं, अनेन

**व्याख्यार्थ —** हे ईश ! मेरी दुष्टता को देखो ! अपनी दुष्टता बताते हैं कि आप जो अनन्त<sup>२</sup> तथा आद्य<sup>३</sup> हो, अन्दर बाहर सर्वत्र नियामक रूप 'पर' आत्मा हो और मायावियों<sup>४</sup> को भी मोहित करने वाले<sup>५</sup> हो उन पर अपनी माया फैलाकर आपका वैभव<sup>६</sup> देखने की इच्छा की । इस प्रकार कहने से ब्रह्मा ने यह बताया कि मैंने यह कार्य आपका ऐश्वर्य देखने के लिये किया है, अतः मैं निरपराधी<sup>७</sup> हूँ । किन्तु तो भी ऐसा करना भी मेरे लिये उचित नहीं था । उचित न होने में दृष्टान्त देकर कारण बताते हैं कि मैं छोटा (बिचारा) कौन ? जैसे अग्नि के कण को अग्नि के

\* यह विशेषण इस प्रकरण में उपयोगी है । अर्थात् जो मैं ब्रह्मा मायावाँ हूँ उसको भी आपने मोहित कर दिया है । इसलिये श्री सुबोधिनीजी में यहाँ आचार्यश्री ने 'प्राकृतोपयोगि विशेषण मेतत्' संक्ति दी है ।

१-दुष्टपन ।

२-जिसका अन्त कहाँ और कब होगा जिसका पता न हो ।

३-जिसका आदि कब है अर्थात् कब उत्पन्न हुआ जिसका भी पता न हो ।

४-मोह में डालने वालों ।

५-ऐश्वर्य ।

६-निर्दोष ।

प्रकाश (वैभव) को देखने की इच्छा करना योग्य नहीं है। वैसे ही मुझे भी ऐसा करना योग्य नहीं था ॥ ९ ॥

श्लोकः — अतः क्षमस्वाच्युत मे रजोगुणो ह्यजानतस्त्वत्पृथगीशमानिनः ।

अजावलेपान्धतमोन्धचक्षुष एषोनुकम्प्यो मयि नाथवानिति ॥ १० ॥

श्लोकार्थ — हे अच्युत ! इसलिए आप मेरे पर दया करो। मैं तो रजोगुण से हूँ, उत्पन्न, अनजान हूँ। इस कारण से मैं अपने को आप से पृथक्, अजन्मा, जगत्कर्ता ईश्वर समझता हूँ ऐसे मद के गाढ अन्धकार से अन्धदृष्टि हो गया हूँ। परन्तु आपको यों समझना चाहिये कि यह मेरा दास है, दास समझ कर क्षमा ही करनी चाहिये।

सुबोधिनी — अतोनुचितं यद्यपि तथापि क्षमस्व तेनावलेपेनान्यं चक्षुर्यस्य, क्षमायां हेतुमाहैषोनुकम्प्यो मयि नाथवानिति, एष ब्रह्मानुकम्प्यः, कुतः ? मय्येष सत्यं नाथवान् अन्यथा त्वनाथ एव स्यात्, अतो ब्रह्मण एतावत्त्वं पत एवेति क्षमोचिता ॥ १० ॥  
न कस्मादप्युत्पन्न इति योयमवलेपो गर्वो वस्तुतस्त्वज एष,

व्याख्यानार्थ — मैंने जो कुछ किया है वह अनुचित ही है तो भी आप क्षमा करो। क्योंकि आप 'अच्युत' हो दुष्ट किसी प्रकार का भी आपके प्रति अनुचित करे तो भी आपकी कोई क्षति नहीं होती है। मेरा यह स्वाभाविक दोष है क्योंकि रजोगुण से पैदा हुआ हूँ। रजोगुणी को अभिमान होता ही है। रजोगुण के साथ आपके माहात्म्य का अज्ञान मिल जाने से मस्तिष्क में यह गर्व आ गया कि मैं पृथक् ही ईश हूँ। केवल इतना ही नहीं किन्तु दूसरा भी अभिमान का कारण यह हुआ कि मैं 'अजन्मा' हूँ किसी से भी उत्पन्न नहीं हुआ हूँ। इस गाढ गर्व से मैं चक्षुहीन हो गया, देख नहीं सका (समझ नहीं सका) कि मैं कौन हूँ। वास्तविक में तो मैं अज्ञ हूँ, अतः क्षमा करे। आप जानते ही हैं कि ब्रह्मा का इतना महत्त्व मेरे कारण ही है। मुझ से ही यह (ब्रह्म) सनाथ<sup>१</sup> है। यदि मैं क्षमा न करूँगा तो ब्रह्मा अनाथ जैसा हो जाएगा, अतः मुझे अनाथ न बताते हुए क्षमा करें मैं दास हूँ अतः क्षमा के योग्य हूँ ॥ १० ॥

आभास — एवमाधिभौतिकब्रह्माणमात्मानं तिरस्कृत्याधिदैविकमपि तिरस्करोति क्वाहमिति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार ब्रह्माजी अपने आधिभौतिक स्वरूप का तिरस्कार कर अब निम्न श्लोक में आधिदैविक रूप का भी तिरस्कार करते हैं ।

**श्लोकः —** क्वाहं तमोमहदहङ्खचराग्निवाभू संवेष्टिताण्डघटसप्तवितस्तिकायः ।

क्लेदुग्विधाविगणिताण्डपराणुचर्या वाताध्वरोमविवरस्य च ते महित्वम् ॥ ११ ॥

**श्लोकार्थ —** प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी से वेष्टित ब्रह्माण्ड रूप घट में सातवितस्ति<sup>१</sup> प्रमाण शरीरवाला मैं कहाँ ? और इस प्रकार के अनेक ब्रह्माण्ड रूप जिनके रोमकूप झरोखों में फिरा करते हैं वैसे आपकी महिमा कहाँ ।

**सुबोधिनी —** तमः प्रकृतिर्महन् महत्तत्त्वमहमहङ्कारः ईदृग्विधानामविगणिताण्डपरमाणूनां गतिर्यत्र तादृशो  
खपाकाशश्चरो वायुरग्निर्वाजलं भूमिश्चेत्यष्टावरणानि तैः वाताध्वो गवाक्षः, गवाक्षे हि सूर्यकिरणेषु त्रसरेणूनां गतिर्दृश्यत  
सम्यग् वेष्टितो योग्यमण्डरूपो घटस्तस्मिन् घटे इति गवाक्षवद् रोमविवराणि यस्य, तादृशस्य ते महत्त्वं  
सप्तवितस्तिपरिमितः कायो देहो यस्य, वितस्तिमात्रं क्वाहं च क्वेति सर्वथा परीक्षायामयोग्यता ॥ ११ ॥  
**शिरः** परित्यज्य **कायः** सप्तवितस्ति र्भवति,

**व्याख्यार्थ —** प्रकृति, महत्तत्त्व, अहङ्कार, आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवि इन आठ आवरणों से वेष्टित ब्रह्माण्ड रूप घड़े में सातवितस्ति<sup>२</sup> प्रमाण शरीर वाला मैं हूँ यह नाप मस्तक को छोड़कर शेष शरीर का है । और इस प्रकार से असंख्य ब्रह्माण्डरूप परमाणुओं, जिनके रोम कूप रूप झरोखों में इस प्रकार फिरा करते हैं जैसे झरोखों में सूर्य किरणों के त्रसरेणु\* फिरा करते हैं । वैसे महान् आपका महत्त्व कहाँ ? और मैं कहाँ इस प्रकार अपने स्वरूप का वर्णन कर यह बता दिया कि आपकी परीक्षा करने की मुझ में योग्यता नहीं ॥ ११ ॥

**आभास —** आध्यात्मिकस्यापि ब्रह्मणः स्वरूपमाश्रित्यापराधक्षमापनामाहोत्क्षेपणमिति ।

**आभासार्थ —** ब्रह्मा अपने आध्यात्मिक स्वरूप द्वारा अपराध की क्षमा याचना निम्न श्लोक से करते हैं ।

\* झरोखों से आने वाले सूर्य की किरणों के रजःकण को त्रसरेणु कहते हैं । उसका तीसवां भाग 'परमाणु' होता है ।

श्लोक: — उत्क्षेपणं गर्भगतस्य पादयोः किं कल्पते मातुरधोक्षजागसे ।

किमस्तिनास्तिव्यपदेशभूषितं तवास्ति कुक्षेः कियदप्यनन्तः ॥ १२ ॥

**श्लोकार्थ —** हे अधोक्षज ! गर्भ में स्थित बालक का पादों को उछालना क्या माता का अपराध गिना जाता है ? भाव और अभाव (स्थूल सूक्ष्म वा कार्य कारण) नाम से भूषित (प्रसिद्ध हुआ) हुआ यह सर्व जगत् आपके उदर से कुछ भी बाहिर है ? नहीं है ।

**सुबोधिनी —** गर्भगतस्य पादयोः उत्क्षेपणं मातुरागसे तव कुक्षी, अतो ममापि सर्वमध्ये पातान् नापराध इत्यर्थः, किं भवति ? अपराधाय न कल्पते, ननु विषमो दृष्टान्त इति अनेनापि प्रकारेणापराधक्षमापनं, अयं साधारणः पक्ष इति चेदस्तिनास्तिव्यपदेशाभ्यां भावाभाव शब्दाभ्यां ॥ १२ ॥  
भूषितमलङ्कृतं जगत् तव कुक्षेरनन्तर्बहिः किम् ? सर्वं हि

**व्याख्यार्थ —** गर्भ में स्थित बालक का पादों को उछालना क्या माता के अपराध के लिये होता है ? पैरों का उछालना अपराध नहीं गिना जाता है ।\* यदि कहो कि यह दृष्टान्त विषम\* है तो उसके उत्तर में दूसरा अर्थ श्लोक कहते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् जो भाव (स्थूल) और अभाव (सूक्ष्म) नाम से भूषित\* है क्या वह आपके उदर से बाहिर है क्या ? सब (जगत्) निश्चय से आपके उदर में है । मैं भी सब में आ जाने से आपके उदर में ही हूँ इसलिये आपको यह मेरा अपराध न समझना चाहिये । इस प्रकार से ब्रह्मा ने जो अपराध नहीं समझना चाहिये । इस प्रकार से ब्रह्मा ने जो अपराध क्षमा करने की प्रार्थना की है वह साधारण पक्ष है ॥ १२ ॥

**आभास —** विशेषप्रकारेण स्वस्य पुत्रत्वं भगवतः पितृत्वं चाह जगत्त्रयेति ।

**आभासार्थ —** अब निम्न श्लोक में विशेष प्रकार से अपना पुत्र-पन और भगवान् का पिता-पन बताते हैं ।

श्लोक: — जगत्रयान्तोदधिसम्प्लवोदे नारायणस्योदरनाभिनालात् ।

विनिर्गतोजस्त्वितिवाङ् न वै मृषा किन्त्वीश्वर त्वन्न विनिर्गतोस्मि ॥ १३ ॥

\* अपराध इसलिये नहीं गिना जाता है कि वह बालक का सहज धर्म है, यों समझ माता उसको अपराध नहीं समझती है । उस दुःख को सहन कर मातृ-धर्म का पालन करती है - अनुवादक ।

★ आप ब्रह्मा ईश हो और यह छोटे बालक उसके साथ आपकी बराबरी नहीं हो सकती है । इसलिये आपका दिया यह दृष्टान्त विषम है - अनुवादक ।

**श्लोकार्थ —** हे ईश्वर ! प्रलय समय में एकत्रित<sup>१</sup> हुए समुद्रों के जल में, नारायण के उदर के नाभि नाल में से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ है । यह कहना निश्चय में झूठा नहीं है । क्या मैं आप से पैदा नहीं हुआ हूँ ।

**सुबोधिनी —** जगत्रयस्यान्ते प्रलये य उदधिसम्प्लव उपाख्यानानामपि सत्यार्थप्रतिपादकत्वात्, अत एव हे उदधीनां संश्लेषस्तस्मिन् प्रलयोदके नारायणस्योदरना- ईश्वर किं त्वत्तोहं न निर्गतः ? अपि तु निर्गत एवास्मि भिनालात् कमलादजो विनिर्गत इतिवाङ् न मृषा, ॥ १३ ॥

**व्याख्यानार्थ —** तीनों जगत् के प्रलय समय में जो समुद्र इकट्ठे हो जाते हैं उस इकट्ठे हुए प्रलय जल में नारायण की नाभि कमल से ब्रह्मा प्रकट हुआ है यह वाणी बिलकुल झूठी नहीं है क्योंकि उपाख्यान (इतिहास) भी सत्य अर्थ का प्रतिपादन करते हैं । इसीसे हे ईश्वर ! क्या मैं आपसे पैदा नहीं हुवा हूँ ? निश्चय से उत्पन्न हुवा ही हूँ ॥ १३ ॥

**आभास —** ननु नाहं नारायण इति चेत् तत्राह नारायणस्त्वमिति ।

**आभासार्थ —** यदि कहो कि 'मैं नारायण नहीं हूँ' तो निम्न श्लोक में सिद्ध करते हैं कि आप ही नारायण हो ।

**श्लोक: —** नारायणस्त्वं न हि सर्वदेहिनामात्मास्यधीशोखिललोकसाक्षी ।

नारायणोऽङ्गं नरभूजलायनात् तच्चापि सत्यं न तवैव माया ॥ १४ ॥

**श्लोकार्थ —** क्या आप नारायण नहीं हो ? सर्व प्राणियों के आत्मा तथा अधीश्वर हो । और अखिल<sup>२</sup> लोक के साक्षी हो । नर से उत्पन्न जिसका आश्रय स्थान है वह नारायण आपका अंग है, वह भी सत्य नहीं है किन्तु आपकी माया है ।

**सुबोधिनी —** त्वं किं नारायणो न हि ? यतो नारायणत्वसाधका हेतवः सन्ति तानाह सर्वदेहिनामात्मेति, नारं जीवसमूहस्तदयनं यस्येति, आत्मा हि सर्वभूतेषु तिष्ठति, 'अहमात्मा गुड्यकेश सर्वभूताशयस्थिति' इतिवा क्वात्, किञ्च नारमयते प्रेरयतीति नारायणः, अस्मिन्नपि पक्षेधीश्वरत्वाद् भवान् नारायणो "नराज् जातानि तत्त्वानि नाराणीति विदुर्बुधास्तेषामधीश्वरः साक्षान् नारायण इतिस्मृत" इतिवाक्यात्, नारं जीवसमूहमयते जानातीति चेत् तथापि

भवान् नारायणो यतोखिललोकसाक्षी, ननु नैवं नारायणशब्दो व्युत्पन्नः किं "न्वापो नार इति प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः अयनं तस्य ताः पूर्वं तेन नारायणः स्मृत" इतिवाक्यान् नरोत्पन्नजलायनान् नारायण इति चेत् तत्राह नारायणोऽङ्गमिति, नरभूजलायनाद् यो नारायणः स तत्राङ्गं पुरुषत्वात् "पुरुषोह वै नारायणोऽकामयते"तिश्रुतेः, "विष्णोस्तु त्रीणो रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदुः प्रथमं महतः स्रष्टु द्वितीयं खण्डसंस्थितं तृतीयं सर्वभूतस्थं तानि ज्ञात्वा विमुच्यत"



इतिवाक्यान्नारायणस्तवाङ्गमवतारः, किञ्च नारायणशब्दो प्रदर्शनमात्रपरत्वात् तेन न नारायणयोगार्थः, सिध्यति, तदाह वस्तुतस्तथा न व्युत्पन्न एव, यतो जलवासस्य तच्चापि सत्यं नेति, जलाधिकरणत्वं न सत्यं किन्तु तव प्रदर्शनमात्रपरत्वात्, न ह्यवस्तुना शब्दो व्युत्पद्यते, अन्यथा मायैव ॥ १४ ॥  
रजतदाने शुक्तिकामपि दद्यात्, अतो जलस्थितेः

**व्याख्यार्थ** — तो क्या आप नारायण नहीं हो ? ऐसा नहीं है आप नारायण ही हो । क्योंकि आपके नारायणत्व को सिद्ध करने वाले अनेक कारण हैं । वे कारण बताते हैं ।

(१) सकल देहधारियों की आत्मा हो ।

(२) 'नार' शब्द का अर्थ जीव समूह है उस (जीव समूह) में निवास करते हो । आत्मा सर्व भूतों में रहती है जैसा कि गीता में आपने ही कहा है कि हे गुड़केश ! हे अर्जुन ! मैं जो आत्मा हूँ वह सर्व भूतों के अन्तःकरण में रहता हूँ ।

(३) 'नारं' (जीव समूह) को अयते जो प्रेरणा\* करता है वह नारायण है ।

(४) 'नार' शब्द का अर्थ यह भी होता है कि 'नर'<sup>१</sup> से उत्पन्न तत्त्व 'नार' है उनका अधीश्वर साक्षात् नारायण है । ज्ञानी इस प्रकार जानते हैं ।

(५) नारं (जीव समूह) को 'अयते' जो जानता है इस अर्थ से भी आप नारायण हो क्योंकि अखिल लोक के साक्षी<sup>२</sup> हो । यदि कहो कि आपके ये अर्थ यथार्थ नहीं हैं नारायण<sup>३</sup> का अर्थ तो 'जल' है जिसे नार कहते हैं, ये जल नर के पुत्र हैं, वे जल पहले उसके निवास-स्थान थे इस कारण से यह नारायण है । इस वास्ते नर से उत्पन्न जल जिसका घर है वह नारायण है । मैं तो नारायण नहीं हूँ इसके उत्तर में कहते हैं कि 'नारायणोऽङ्ग' वह नारायण आपका ही अंग है । क्योंकि पुरुष है । श्रुति कहती है कि निश्चय से प्रसिद्ध है कि पुरुष नारायण है उसने कामना<sup>४</sup> की । विष्णु के पुरुष नाम से तीन रूप प्रसिद्ध हैं । प्रथम रूप महत्तत्त्व को उत्पन्न करने वाला है । द्वितीय ब्रह्माण्ड में स्थित । तृतीय सर्व भूतों में वास करने वाला । इनको जान लेने पर मुक्त होता है इस वाक्य से नारायण आपका अंग (अवतार) है और नारायण शब्द की वास्तविक व्युत्पत्ति<sup>५</sup> इस प्रकार हो नहीं सकती है । कारण कि जल में निवास तो केवल दिखावे मात्र है जो वस्तु है ही नहीं उससे शब्द उत्पन्न नहीं होता है जो यों न होवे तो चांदी के दान के बदले में शक्ति<sup>६</sup> दी जावे । वैसा नहीं होता है । इससे नारायण शब्द का यह यौगिक अर्थ सिद्ध नहीं

\* आप प्रेरक हो इससे नारायण हो - अनुवादक ।

१ आपो नार इति प्रोक्ता आपो वै नर सूत्रवः । अयनं तस्य ताःपूर्वं तेन नारायणः स्मृतः ॥

होता है। उसको स्पष्ट करते हैं कि वह भी सत्य रूप नहीं है। जल आपका निवास-स्थान है यह सत्य नहीं है क्योंकि यह सब आपकी माया ही है।

**आभास —** तस्य मायिकत्वार्थे तर्कमाह तच् चेज् जलस्थमिति ।

**आभासार्थ —** वह निवास-स्थान जल मायिक था उसकी सिद्धि के लिये निम्न श्लोक में तर्क<sup>१</sup> देते हैं ।

**श्लोकः —** तत् चेज् जलस्थं तव सत् जगद्वपुः किं मे न दृष्टं भगवंस्तदैव ।

किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैव किं नो सपद्येव पुनर्व्यदर्शि ॥ १५ ॥

**श्लोकार्थ —** हे भगवन् ! यदि आपकी जगदाश्रय रूप मूर्ति जल में ही स्थित होती तो मैंने उस समय\* क्यों न देखी ? अथवा हृदय में क्यों न देखने में आई ? और फिर तत्क्षण क्यों न देखने में आई ?

**सुबोधिनी —** तद् वपुश्चेत् सज्जलोपरि च वर्तते तदा मे मया किं तदैव न दृष्टं ? यो हि स्थूलपदार्थः परिच्छिन्नो योग्ये वर्तते स दृश्यते यथा घटः, अतस्तदा मया न दृष्टमिति न तज्जले तिष्ठति, न च योग्यत्वात् दृश्यते न त्वविद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह किं वा सुदृष्टं हृदि मे तदैवेति ? नारायणो न तु सः, नारं सर्वमेवायते प्रविशति यमिति न हि हृदये जलमस्ति, अतो जलस्थितिर्न नारायणः सर्वजगदाधारः, स भवानेव न तु सः ॥ १५ ॥

**व्याख्यानार्थ —** वह तनु यदि सत्य हो और जल के ऊपर विराजमान होता तो मैंने उस समय क्यों न देखा ? जो स्थूल पदार्थ परिच्छिन्न<sup>२</sup> योग्य, स्थल पर होता है वह देखने में आ जाता है जैसे घड़ा देखने में आता है उस समय मैंने नहीं देखा इससे जाना जाता है कि वह (शरीर) जल पर नहीं है यदि कहें कि शरीर तो था किन्तु आप उसके दर्शन करने के योग्य अधिकारी नहीं थे इसलिये नहीं देखा। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि यदि मैं अयोग्य था तो उसी समय मैंने हृदय में आपका दर्शन क्यों किया ? हृदय में तो जल नहीं है, अतः नारायण शब्द का तात्पर्य जल में स्थिति दिखाने का नहीं है। और फिर तत्क्षण क्यों नहीं देखने में आए ? जबकि मैं उस नारायण का पुत्र हूँ तो मुझे क्यों दर्शन नहीं दिए ? पिता और पुत्र दोनों आपस में प्रत्यक्ष दिखते हैं। उन दोनों में परस्पर देखने की अयोग्यता नहीं होती है। अतः वास्तविक

\* कमल नाल में बैठ अन्वेषण करते समय ।

नारायण तो आप ही हैं न कि वह है। नारायण शब्द की व्युत्पत्ति<sup>१</sup> वास्तविक यह है कि 'नारं' अयते प्रविशति यं इति नारायणः' सर्व जीव समूह जिसमें प्रविष्ट होकर रहता है वह जगदाधार नारायण है। जगत् का आधार आश्रय आप ही हो न कि वह (जल में स्थित रूप) नारायण है ॥ १५ ॥

**आभास —** तस्योदर एवाहं स्थितो जगत् कृतवाञ् यदि जगत् तत्र सहजं तिष्ठेत् मम कृतिर्व्यर्था स्यादत्र तु तिष्ठतीत्याहात्रैवेति ।

**आभासार्थ —** उस (जलस्थ नारायण) के उदर में स्थित होकर मैंने जगत् रचना की होती तो वह मेरी कृति व्यर्थ हो जाती क्योंकि उसके उदर में जगत् सहज नहीं है जगत् तो इस आपके स्वरूप में ही है। इसका निरूपण इस निम्न श्लोक में करते हैं।

**श्लोक: —** अत्रैव मायाधमनावतारे ह्यस्य प्रपञ्चस्य बहिःस्फुटस्य ।

कृत्स्नस्य चान्तर्जठरे जनन्यामायात्वमेव प्रकटीकृतं ते ॥ १६ ॥

**श्लोकार्थ —** हे मायानाशक ! इस ही अवतार में आपने बाहिर प्रकट, इस समय जगत् को, अपनी माता को, अपने उदर में दिखला कर यह सिद्ध कर दिखाया है कि यह प्रपञ्च मायिक नहीं है।

**सुबोधिनी —** हे मायाधमन मायानिवारक, अनेन प्रकटीकृतं, "अथो अमुष्ये" तिवाक्यात्, अतः मायासम्बन्धो भगवति निराकृतः, अस्य प्रपञ्चस्य सत्यप्रपञ्चाधारत्वाद् भवानेव नारायणः ॥ १६ ॥ बहिःस्फुटस्य कृत्स्नस्याप्यन्तर्जठरे ते जनन्यामायात्वमेव

**व्याख्यार्थ —** हे माया निवारक ! हे माया को मिटाने वाले ! इस विशेषण से यह बताया कि भगवान् के साथ माया का सम्बन्ध मात्र नहीं है। बाहर प्रकट इस समय प्रपञ्च को अपने उदर में माता को दिखाकर प्रपञ्च मायिक नहीं है यह\* प्रमाणित कर दिखाया है। इससे सत्य प्रपञ्च के आप ही आधार होने से आप ही नारायण हो ॥ १६ ॥

**आभास —** ननु विश्वाधारे नारायण एव पुरुषस्तस्मिन् विश्वप्रतीतेरतोहं प्रपञ्चमध्ये स्थितः सूक्ष्मो नारायणो न भवामीति चेत् तत्राह यस्येति ।

\* १०-८-४० के उतपट्टानुसार ।

आभासार्थ — वही पुरुष नारायण है जो विश्व का आधार है उसमें ही विश्व दिखता है। इस कारण से प्रपञ्च के मध्य में स्थित, मैं सूक्ष्म नारायण नहीं हो सकता हूँ इस शंका निवारणार्थ निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोकः — यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्त्वं भाति यथा तथा ।  
तत् त्वय्यपीह तत् सर्वं किमिदं मायया विना ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ — जिस नारायण की कोख<sup>१</sup> में आत्मा सहित यह सर्व प्रपञ्च जिस प्रकार भासता है उसी प्रकार यह सर्व प्रपञ्च आप में भी भास रहा है। क्या यह माया के बिना दीखता है ?

सुबोधिनी — यस्य नारायणस्य कुक्षाविदं सर्वं तव व्यामोहिकया शक्त्या माययैवं भासते भवान् परिच्छन्न सात्त्वमात्मसहितं भाति तथा त्वय्यपीह भाति, अतो आधेयो नारायणाद् भिन्न इति अतः पुरुषस्य नारायणपक्षेऽपि विशेषाभावाद् भवानपि नारायणः, यस्तु भेदः भवान् नारायण ॥ १७ ॥  
परिच्छेदोऽन्यथाप्रतीतिरितत् सर्वं किं मायया विना ? अपि तु

व्याख्यार्थ — जिस नारायण के उदर में आत्मा सहित सर्व प्रपञ्च जिस प्रकार भासता है वैसे ही आप में भी यहाँ ही भास रहा है। अतः उसमें कुछ भी विशेषता न होने से आप भी नारायण हो। यदि आप कहो कि मुझ में तो भेद, परिच्छेद<sup>२</sup> और अन्यथा प्रतीति देखने में आती है तो मैं नारायण कैसे हो सकूँगा इसके उत्तर में कहते हैं कि यह सब अन्यथा प्रतीति माया के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। माया ही अन्यथा प्रतीति कर रही है वास्तव में तो पुरुष पक्ष से भी आप नारायण ही हो ॥ १७ ॥

आभास — किञ्च नारायणः पुरुषोत्तमः स एव सर्वं न त्वन्यो नारायणो भवतीति चेत् तत्राहाद्यैवेति ।

आभासार्थ — नारायण, पुरुषोत्तम, सब कुछ वही है अन्य कोई भी नारायण हो नहीं सकता है। ऐसी शङ्का का निवारण करने के लिये निम्न श्लोक कहते हैं।

श्लोकः — अद्यैव त्वदृतेस्य किं मम न ते मायात्वमादर्शित-  
मेकोसि प्रथमं ततो ब्रजसुहृद्वत्साः समस्ता अपि ।  
तावन्तोसि चतुर्भुजास्तदखिलैः साकं भयोपासिता -  
स्तावन्त्येवजगन्त्यभूस्तदमितं ब्रह्माद्वयं शिष्यते ॥ १८ ॥

**श्लोकार्थ** — आपके बिना अन्य समस्त जगत् का रूप मायिक रूप है। क्या यह आपने मुझे अभी नहीं दिखाया? प्रथम तो आप एक ही थे पश्चात् ग्वाल-बाल और वत्सरूप हो गए। पुनः वे सब रूप चतुर्भुज बन गए। अनन्तर देखा तो मेरे सहित सब तत्त्व और वत्सों की सेवा कर रहे हैं। इसके पश्चात् देखो तो उतने ही ब्रह्माण्ड रूप बन गए। इसलिये परिच्छेद<sup>१</sup> रहित अद्वैत ब्रह्म की अवशिष्ट रहता है। अर्थात् आप उस परब्रह्म से पृथक् नहीं हो, जो अवश्य रहता है वह आप ही हो।

**सुबोधिनी** — अद्यैव ते त्वया त्वदुत्तेस्य प्रपञ्चस्य सख्यब्रह्माण्डरूपस्ततः क्षणानन्तरं तावन्तोऽपि भिन्नतया सत्त्वं नास्तीति ज्ञापयितुं भायात्वमादर्शितं, ये हि भिन्नतया जगद् भगवद्व्यतिरिक्तमस्तीत्याहुस्तेष्वैव भ्रान्ताः मया चोपासितास्तावन्त्येव जगन्ति त्वमेवाभूः, कृता यतः सर्वं त्वमेवेति, तदुपपादयत्येकोऽसि प्रथमं यदा अतःकारणाद् ब्रह्माद्वयमेव शिष्यते, न त्वन्यः पदार्थो मया वत्सा अपहृता बालाश्च ततो ब्रजस्य सम्बन्धिनः विचार्यमाणः सिध्यति, तस्माद् भवानेव नागयण इति समर्थितम् सुहृदो बाला वत्साश्च ततः समस्ता अपि ॥ १८ ॥

**व्याख्यार्थ** — आज ही आपने मुझे यह दिखा दिया कि मेरे बिना अन्य सर्व प्रपञ्च का पृथक् अस्तित्व नहीं है। जो पृथक्ता दिखती है वह मायापना है। जो जगत् को भगवान् के अतिरिक्त अन्य भिन्न पदार्थ मानते हैं वे आज ही भ्रान्त<sup>२</sup> हैं ऐसा आज ही आपने मुझे समझा दिया। मैंने समझ लिया कि जो कुछ है वह आप ही हो। किस प्रकार आप हो वह प्रतिपादन<sup>३</sup> करते हैं। आप एक हैं। पहले, जब मैं बछड़े और बालकों को चुरा ले गया, तब आप एक ही थे। उसके अनन्तर, वह एक ही आप, ब्रज से सम्बन्धी मित्र, बालक और वत्सरूप बन गए। पश्चात् फिर आप ब्रह्माण्ड रूप हो गए। क्षणानन्तर वे सब चतुर्भुज स्वरूप से दर्शन देने लगे। दर्शन के पश्चात् देखा तो ब्रह्माण्ड मैं रहे हुए मेरे सहित सब उन चतुर्भुज स्वरूपों की सेवा कर रहे हैं। इतने जगत् आप ही हो गए। अतः विचार करने पर यही समझ में आया कि जगत् आदि पृथक् कुछ नहीं है एक अद्वितीय ब्रह्म ही शेष है। इससे निश्चय है कि आप ही नागयण हो। इस श्लोक में ब्रह्मा ने इस बात का समर्थन किया कि नागयण श्रीकृष्ण के बिना दूसरा नहीं है ॥ १८ ॥

**आभास** — अतः परं भवान् स्वाम्यहं सेवक इति सकृदपराधः सेवकस्य भर्त्रा सोढव्य इति वक्तुं सर्ववस्तूनां तत्त्वमाहाजानतामित्यादिदशभिः।

**आभासार्थ** — अभी से आप स्वामी मैं सेवक हूँ इससे स्वामी को सेवक का अपराध एकबार सहन करना चाहिये। यों कहने के लिये इस श्लोक से दश श्लोकों में सर्व वस्तुओं का तत्त्व कहते हैं।

श्लोकः — अजानतां त्वत्पदवीमनात्मन्यात्मात्मना भाति वितत्य मायाम् ।

सृष्टाविवाहं जगतो विधान इव त्वमेषोन्त इव त्रिनेत्रः ॥ १९ ॥

**श्लोकार्थ** — आपके स्वरूप को न जानने वालों को जैसे सृष्टि-कर्ता ब्रह्मा है, स्थिति-कर्ता विष्णु है एवं संहार-कर्ता यह शंकर है ऐसा भासता है वैसे अनात्म देहादिकों में भी माया के विस्तार से आत्मरूप भासता है ।

**सुबोधिनी** — त्वत्पदवीमजानतामेतदग्रे वक्ष्यमाणं सर्वं तत्त्वं न तु त्वत्पदवीं जानते, एवमपि तेन तत्त्वेन न तेषां निस्तारो भ्रमतत्त्वभावात्, किन्तु तेषामपि तव पादाम्बुजानुग्रहलेशादेव मुख्यतत्त्वप्राप्तिर्न तु भावित्वेन, भ्रान्ते निरीश्वरसाङ्ख्यादिपरिकल्पिते न काचित् सिद्धिरिति, तत्र तेषां प्रथमं भ्रमपाहनात्मनीति, अनात्मनि देहादावात्मात्मना देह आत्मेन्द्रियेणात्मना कृत्वा भाति, नन्वनात्मनि कथं कर्तृत्वं करणत्वं चेत्याशङ्क्याह वितत्य मायामिति, मायां वितत्य विस्तारयत्वानात्मन्येवात्मबुद्धिं सम्पादयति, तत्र दृष्टान्तो

यथा सृष्टावहं ब्रह्मा ब्रह्मा हि देहो न हि स कर्ता भवति, जगत्कर्तृत्वं भगवत एवेति जगतो विधाने स्थापने त्वमिव यथा गुणावतारो विष्णुः पालकत्वं च भगवत एवेति विष्णुरपि चतुर्भुजादिरूप इति त्वमिवेत्युक्तं, एव त्रिनेत्रः, अत एवेदानीं महादेवोप्यागत इति ज्ञायते, नाप्ययमन्तकर्ता, “जन्माद्यस्ये” तिन्याय उत्पत्तिस्थितिलया भगवतः सकाशादेवेत्युक्तं, अतो यद्येत्पत्तिस्मितिप्रलयकर्तारो वयं कल्पिता एव देहोप्यात्मा, इन्द्रियाणि च करणाण्यात्मा, अहमन्यथा पश्यामीति सामानाधिकरण्यप्रतीतिर्नोपपद्येत ॥ १९ ॥

**व्याख्यार्थ** — जो जन, आपकी महिमा<sup>१</sup> को नहीं जानते हैं, वे अब जो कहा जाएगा, उसको 'तत्त्व' समझते हैं । ऐसा जानने पर भी, उस तत्त्व से उनका निस्तार<sup>२</sup> नहीं होगा । कारण कि वह (तत्त्व) भ्रम के कारण, तत्त्व समझा जाता है । उनको भविष्य में निरीश्वर सांख्यादि मतों के कल्पित तत्त्वों के ज्ञान से किसी प्रकार की सिद्धि न होगी । सिद्धि तो तब होगी, जब आपके चरण कमल के अनुग्रह का कण उनको प्राप्त होगा, जिससे मुख्य तत्त्व की प्राप्ति होती है\* ।

उनकी (जो भगवान् की महिमा को नहीं जानते हैं एवं मुख्य तत्त्व को न जानकर भ्रम से अतत्त्व को 'तत्त्व' मानते हैं । जो पहले भ्रम होता है उसको कहते हैं । जो वस्तु आत्मा नहीं है उसको अनात्मा कहा जाता है जैसे कि देहादिक अनात्मा है किन्तु देहादि भी इन्द्रियों के कारण आत्मा रूप से भासमान होते हैं । अनात्म रूप देह, इन्द्रियादिकों में कर्त्तापन तथा करणपन कैसे भासता है ? माया के फैलाव से, अनात्म में, आत्म बुद्धि हो जाती है । इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं । जैसे सृष्टि कार्य में, मैं, ब्रह्मा कर्त्ता माना जाता हूँ, वास्तविक तो ब्रह्मा कर्त्ता नहीं है क्योंकि ब्रह्मा तो देह है जगत् का कर्त्तापन तो भगवान् का है । जगत् के पालन में पालनकर्त्ता

\* यहाँ तक जो कहा गया है वह दश श्लोकों में कहे हुए तत्त्व का तात्पर्य है ।

गुणावतार 'विष्णु' को कहते हैं, किन्तु वह भी देह है। यद्यपि विष्णु, आपके समान चतुर्भुज है, तो भी वास्तविक पालनकर्ता वह नहीं है किन्तु भगवान् ही है, इस प्रकार यह महादेव भी (श्लोक में 'ऐष' (यह) शब्द कह कर यह बताया है कि जब ब्रह्मा यों स्तुति कर रहे थे उस समय महादेवजी भी पधार गए थे) प्रलयकर्ता नहीं है। इसमें, व्यास सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' प्रमाण देते हैं कि व्यासजी ने इस सूत्र में सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकर्ता, एक ही परब्रह्म स्वरूप को माना जाता है। अतः जैसे हम (ब्रह्मा, विष्णु और शङ्कर) में उत्पत्ति स्थिति<sup>१</sup> और प्रलय के कर्तापन की कल्पना मात्र है, इसी प्रकार देह, आत्मा है, इन्द्रियां करण<sup>२</sup> रूप भी आत्मा है (यह भी कल्पना मात्र है) किन्तु देह और इन्द्रियाँ दोनों को आत्मा न माने तो "मैं देखता हूँ" इस प्रकार (इन्द्रिय और आत्मा दोनों में) एक प्रकार का रहा हुआ अनुभव नहीं हो सकता। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियां ज्ञान के कारण हैं इसलिये वे देख सकती हैं। तो भी "मैं देखता हूँ" इस प्रकार का अनुभव आत्मा को होता है। यह इसलिये होता है कि इन्द्रियों को भी आत्मा माना गया है ॥ १९ ॥

**आभास —** नन्वेवं भ्रमे सति कथं निस्तार इति चेत् तत्राह सुरेष्विति ।

**आभासार्थ —** जो इस प्रकार भ्रम होता है तो निस्तार<sup>३</sup> कैसे होगा ? इस शंका के निवारण<sup>४</sup> के लिए निम्न श्लोक कहते हैं ।

**श्लोकः —** सुरेष्वृषिष्वीश तथैव नृष्वपि तिर्यक्षु यादस्त्वपि तेजनस्य ।

जन्मासतां दुर्मदनिग्रहाय प्रभो विधातः सदनुग्रहाय च ॥ २० ॥

**श्लोकार्थ —** हे ईश ! हे प्रभो ! हे सृजन कर्ता ! अजन्मा आपके, देवताओं, पक्षियों और जलचर जन्तुओं में जन्म होते हैं वे दुष्टों का दुर्मद नाश करने तथा सत्पुरुषों का अनुग्रह करने के लिये होते हैं ।

**सुबोधिनी —** नन्वेवं भ्रान्तानां तत्त्वं को वा जानीयात् को वोपदिशेत् ? अतस्तव जन्मासतां स्वरूपस्वतत्त्वपरिज्ञापनाय, सुरेषु देवेषु वामनरूपेण, ऋषिषु दुर्मदनिग्रहाय सदनुग्रहाय च, दुष्टनिग्रहे तदुपद्रवस्तदावेशेन परशुरामरूपेण तथा नृषु रामरूपेण, तिर्यक्षु वराहरूपेण, बुद्धिनाशश्च निराकृतो भवति ॥ २० ॥  
यादःसु मत्स्यकूर्मरूपेणाजनोपि जन्म कृतवान्, अन्यथा

**व्याख्यार्थ —** भ्रान्तों को अपने स्वरूप तथा तत्त्व के परिज्ञान कराने के लिए ही, अजन्मा होते हुए भी सर्वरूपों से अपने वामन रूप से ऋषियों में, राम रूप में मनुष्यों में, वराह रूप

से पशुओं में, मत्स्य तथा कूर्म रूप से जल जन्तुओं में जन्म लिए हैं। यदि आप इस प्रकार, जन्म न लेते, तो आपका तत्त्व कौन जान सकते थे और कौन आपके स्वरूपादि का उपदेश दे सकते थे अतः आपका जन्म सत्पुरुषों के दुर्मद को नाश करने के लिये तथा सत्पुरुषों पर अनुग्रहार्थ है। दुष्टों के निग्रह से होने वाले उपद्रव तथा उन (दुष्टों) के आवेश से होने वाला बुद्धि का नाश दोनों दूर हो जाते हैं ॥ २० ॥

**आभास —** ननु तद् व्यतिरेकेणापि वेदादिना कथं न तत्त्वपरिज्ञानं ? तत्राह को वेत्तीति ।

**आभासार्थ —** उन (अवतारों के धारण) के अतिरिक्त भी वेदादि से तत्त्व का परिज्ञान क्यों न कर लेते हैं ? इस प्रकार की शंका का निवारण निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः —** को वेत्ति भूमन् भगवन् परात्मज्योगेश्वरोतीर्भवतस्त्रिलोक्याम् ।

क्वाहो कथं वा कति वा कदेति विस्तारयन् क्रीडसि योगमायाम् ॥ २१ ॥

**श्लोकार्थ —** हे भूमन् ! हे भगवन् ! हे परमात्मन् ! हे योगेश्वर ! आप जो योगमाया को फैलाकर क्रीड़ाएँ करते हो आपकी उन लीलाओं को त्रिलोकी में कौन जान सकता है ? कि कहाँ, किस प्रकार से, कितनी और कब होती है ।

**सुबोधिनी —** ननु तद्वत्त्वं भवान् भवल्लीला च, तत् को वा जानाति ? वेदस्तु व्याख्यात्रभावान् मूकवन् नार्थ समर्पयति, भूमत्रिति, व्यापकत्वादेकदेशे स्थितो न जानातीत्युक्तं, भगवत्रिति, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नत्वादिगुणयुक्तः कथं जानीयात् ? न हि पाप्म विदुषस्तत्त्वं जानन्त्यनीशो वेश्वरस्याविरक्तो वा विरक्तस्य, परात्मत्रिति, परमात्मनस्तत्त्वं न हि जीवो जानाति, योगेश्वरेति, न हि स्वच्छन्दतेर्बद्धो जानाति, किञ्च सापि लीला क्त्वा जायते ? अहो आश्चर्यं, न हि मत्स्यादिरूपे ज्ञानप्रकाश उचितः, कथं वा जायते ? न हि भगवतो लीलासमुद्रे प्रस्तरणादिरूपा कस्यचिद् बुद्धिगम्या भवति, कति वा लीलाप्रकाश भवन्ति कदा वा भवन्तीति न कोपि वेद, तत्र हेतुर्विस्तारयन् क्रीडसि योगमायामिति, यदि भाषामविस्तारयन् क्रीडेत् तदा लोको जानीयादपि, अतस्त्वत्स्वरूपं त्वमेव जानासीति तत्त्वोपदेशार्थं तवावतारः ॥ २१ ॥

**व्याख्यार्थ —** आप तथा आपकी लीलाएँ ही तत्त्व हैं इसको कौन जान सकता है ? वेद स्वयं तो मूक<sup>१</sup> के समान अपना अर्थ नहीं बताता है उसकी व्याख्या करने वाले का भी अभाव है। श्लोक में 'कृष्ण' के लिए दिए हुए 'भूमन्' आदि विशेषणों का भाव बताते हैं कि -



१ — हे भूमन् ! आप सर्व व्यापक हो, अतः अल्पज्ञ जीव जिसकी स्थिति एक देश में है, वह आपको कैसे जान सकेगा ? अर्थात् जीव भी आपको तथा आपकी लीला को नहीं जान सकता है ।

२ — हे भगवन् ! ऐश्वर्यादि षडगुण आप में है, जीव में कोई भाग नहीं है वह ईशादि गुणों से रहित है अतः आपको कैसे जानेगा । मूर्ख विद्वान के तत्त्वों को नहीं जान सकते हैं । जो ईश नहीं है, वे ईश्वर के तत्त्व को नहीं जान सकते हैं । जो वैराग्यवान् नहीं है वे वैराग्यवालों के तत्त्व को नहीं जान सकते हैं ।

३ — हे पशुत्पन् ! पर आत्मा का तत्त्व, आत्मा (जीव) नहीं जान सकता है ।

४ — हे योगेश्वर ! योगेश्वर स्वच्छन्द<sup>१</sup> गति वाले होते हैं अर्थात् मुक्त बन्धन होते हैं जहाँ इच्छा हो वहाँ जावें, जो चाहें सो करें ऐसे योगेश्वर को बन्धन में पड़ा हुआ (जीव) कैसे जान सकेगा ? अर्थात् नहीं जानेगा । और वह लीला कहाँ व कैसे होती है ? 'अहो' शब्द से कहते हैं कि लीलाएँ आश्चर्य मय हैं, जैसे कि मत्स्य आदि रूपों में ज्ञान का प्रकाश, जो, उन रूपों में होना असम्भव है ? कारण कि लीला रूप समुद्र में शय्या आदि पदार्थ, किसी की भी वृद्धि में नहीं आ सकते हैं । लीला के कितने प्रकार होते हैं और वे कब होते हैं उनको कोई नहीं जान सकता है । क्यों नहीं जाने जाते हैं, उसमें कारण बताते हैं कि, आप जो जो क्रीड़ा जब जब करते हो और जहाँ जहाँ जैसे करते हो, तब अपनी योगमाया का विस्तार कर, करते हो, जिससे कोई नहीं समझ सकता है । यदि योगमाया को, न फैलाकर, क्रीड़ा करो, तो लोक समझ भी सके ! इस कारण से आपके स्वरूप को आप ही जानते हो । अतः दूसरों को तत्त्व का उपदेश करने के लिए ही आपके अवतार हैं ।

आभास — एवं देहाद्यात्मभावं भवान् दूरीकरोतीत्युक्त्वा प्रपञ्चेपि योयं भ्रमः प्रपञ्चमिथ्यात्वं भिन्नं तथापि सत्यत्वं सोपि निवर्तत इत्यादि दिशति तस्मादिति ।

आभासार्थ — उपरोक्त श्लोक के अनुसार आप देहादिकों में, जो हम लोगों का आत्मभाव है, उसको दूर करते हो<sup>२</sup> यों कह कर अब प्रपञ्च में, प्रपञ्च का मिथ्यापन तथा भिन्न होते हुए भी सत्यपन, इस प्रकार के भ्रम को भी, आप मिटाते हो यह निम्न श्लोक द्वारा कहते हैं ।

श्लोकः — तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम् ।

त्वय्येव नित्यसुखबोधतनावनन्ते मायात उद्यदपि यत् सदिवावभाति ॥ २२ ॥

१—स्वतन्त्र, आजाद ।

२—मिटते हो ।

**श्लोकार्थ —** इसलिये, यह असत् स्वरूप, स्वप्न सदृश, बुद्धि<sup>१</sup> रहित और अत्यन्त दुःखदायी जगत् आपकी माया<sup>२</sup> से उत्पन्न होने पर भी नित्य आनन्द और ज्ञान स्वरूप अनन्त आप में सत् सदृश भासमान होता है ।

**सुबोधिनी —** सतां बहिर्मुखानामिव स्वरूपं यस्य सन्मार्गप्रतिबन्धकं, अत्र ममतायां भगवद्भैमुख्यं भवतीति स्वरूपतोऽप्यनित्यमुदयास्तमितप्रायं, तदाह स्वप्नाभिमिति, स्वप्नस्यैवाभा यस्य, किञ्च ज्ञानप्रतिबन्धकं चैतत्, यतोस्ता गता धिषणा यस्मात्, किञ्च क्लेशरूपं च, पुरुदुःखादपि दुःखं यस्मात्, एतादृशमपि त्वय्येव सदिवारभाति त्वन्निमित्तं यथा सन् नारदादिस्तथा घटादिरपि भाति भगवत्सेवासाधकत्वात्, तत्र हेतुनित्यसुखबोधतनावनन्त इति, उदयास्तमितत्वं नित्यस्य भगवतः सम्बन्धान् नित्यमिवाभाति, पुरुदुःखदुःखमपि सुखात्मकमाभाति, अस्तधिषणमपि बोधात्मकमाभाति, अनित्यमप्यनन्त आभातं नित्यमिव भासते, भ्रममाहप्युदगतं देहात्मज्ञानं सेवौपथिकत्वात् सदिवावभाति, अतः सर्वमेव जगत् त्वत्सम्बन्धे सति समीचीनं, अन्यथा विपरीतमिति जगत्स्तत्त्वम् ॥ २२ ॥

**व्याख्यानार्थ —** यह समग्र जगत् असत् स्वरूप है, कारण कि दुष्ट बहिर्मुखों के समान सन्मार्ग में प्रतिबन्धक<sup>३</sup> है । जैसे दुष्ट, सन्मार्ग से प्रेम को हटाकर, असन्मार्ग में ममता कराते हैं वैसे ही प्रपञ्च भी, पुत्रादिकों में ममता उत्पन्न कर के भगवान् से विमुख कराता है । स्वरूप से भी प्रपञ्च अनित्य है, जो वह उदय और अस्त होता रहता है । इसका अनित्यपन, स्वप्न सदृशता बताकर सिद्ध किया है । और बुद्धि अस्त हो जाने से ज्ञान से ज्ञान में भी प्रतिबन्धक है । अत्यन्त दुःख से भी विशेष दुःख रूप होने से क्लेश<sup>४</sup> रूप है । इस प्रकार का प्रपञ्च है, तो भी आप से सम्बन्ध होने से सत् जैसा भासता है । आपके कारण (सम्बन्ध) से जैसे नारद आदि सत् हैं वैसे घट आदि भी सत् भासते हैं क्योंकि घट आदि भी आपकी सेवा में आने से उनका भी सम्बन्ध आप से हो जाता है । नित्य सुख रूप, ज्ञान स्वरूप और अनन्त स्वरूप आप हो । आप नित्य हो, अतः आपके सम्बन्ध से प्रपञ्च की अनित्यता, नष्ट जैसी हो जाती है आप सुखरूप हो अतः आपके सम्बन्ध से प्रपञ्च का दुःखपन भी नष्ट हो जाता है । आपके ज्ञान स्वरूप के सम्बन्ध से, प्रपञ्च की बुद्धी का उदयसा हो जाता है । आपके अनन्त स्वरूप के सम्बन्ध से प्रपञ्च भी नित्य के समान भासमान होता है । भ्रम से भी उत्पन्न देह में, आत्मा की बुद्धि (देह आत्मा है ऐसी समझ) भगवत्सेवा के उपयोग में आने से सत्य प्रतीत होती है । अतः समग्र जगत् आप से सम्बन्ध होने से उत्तम है (सत् है) सम्बन्ध न होने से निकृष्ट<sup>५</sup> है अर्थात् असत् है । इस प्रकार जगत् का तत्त्व है ॥ २२ ॥

**आभास —** भगवतस्तत्त्वमाहैकस्त्वमात्मेति ।

**आभासार्थ —** निम्न श्लोक में भगवत्तत्त्व समझाते हैं ।

१-ज्ञान ।

२-इच्छा ।

३-अन्तरहित ।

४-रुकावट ढालने वाला ।

५-दुःख ।

श्लोकः — एकस्त्वमात्मा पुरुषः पुराणः सत्यः स्वयञ्ज्योतिरनन्त आद्यः ।

नित्योक्षरोजससुखो निरञ्जनः पूर्णोद्वयो मुक्त उपाधितोमृतः ॥ २३ ॥

श्लोकार्थ — आप एक, आत्मा, पुरुष, सत्य, स्वयं प्रकाश, अनन्त, आद्या नित्य, अक्षर, नित्य सुखरूप, अविद्या रहित, पूर्ण, अद्वितीय, उपाधि रहित और अलौकिक हो ।

सुबोधिनी — त्वमादावेक एव सजातीयविजातीय स्वगतभेदशून्यः, तत आत्मा त्रिविधो जीवरूपोन्तर्यामिरूपो विभूतिरूपश्च जातः, ततः पुराणः पुरुषः पुरुषोत्तमः अथवैको ब्रह्मवादे, आत्मा योगे, पुरुषः साङ्ख्ये, पुराणो वैष्णवे, सत्यः पाशुपते, सत् त्यदितिभेदे सत्यो जगद्गुणो वा, एवं पञ्चविधोऽपि स्वयञ्ज्योतिः स्वप्रकाशो न तु जडः, अनन्तोत्तमश्च उत्तमवधिरहितः, आद्यः पूर्वावधिरहितः, नित्यः सदैकरूपः, न तु वृद्धिक्षयवान् यथा समुद्रश्चन्द्रो वा, एवं प्रपञ्चरूपत्वे दोषचतुष्टयं निवार्य भगवतो रूपान्तराभ्याहाक्षर इति, शब्दब्रह्माक्षररूपः प्रकृतिपुरुषकारणरूपो वा, तेन ज्ञानविषय उक्तः, तत्साध्यामीक्षरूपत्वमाहाजससुखः इति नित्यसुखरूपः, तस्मिन्नापि सुखे प्राप्तदोषान् निवारयति निरन्तरसुखरूपमप्यज्ञानयुक्तं भवति यथा सुषुप्तिः

तद्व्यावृत्त्यर्थमाह निरञ्जन इति, अञ्जनमविद्या तद्रहितः, परिच्छेदोऽपि भवति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह पूर्ण इति, तरतमराहित्यार्थमाहाद्वय इति, केनचिदुपाधिनैव भोक्तव्यमिति शङ्कं वारयति मुक्त उपाधित इति, यथा स्त्रीसुखं पुरुषेणैव भोक्तव्यं पुरुषसुखं स्त्रियैव तथा ब्रह्मानन्दानुभवे न कोऽप्युपाधिरपेक्षितः, किञ्च स्वरूपतोऽपि स ऋतोलौकिकः श्रुत्यैकसमधिगम्यो न तु लौकिकप्रमाणवेद्यः, अन्यथा पूर्वोक्तरूपो न स्यात्, एभिरेव षोडशविशेषणैर्देहाद् वैलक्षण्यमपि ज्ञातव्यं "षोडशकलोऽयं पुरुषः," देहस्तु व्यात्यक्तौभारादिभेदेनानेको नापि व्यापको नाप्यात्मेत्यादि स्वयमूहं, एकादशेन्द्रियपञ्चमहाभूतेभ्यो वा वैलक्षण्यं ज्ञातव्यं, षोडशकलो वा नारायण एभिरुक्तः ॥ २३ ॥

व्याख्यानार्थ — प्रथम आदि में, आप एक ही सजातीय<sup>१</sup> विजातीय<sup>२</sup> और स्वगत<sup>३</sup> इन तीन प्रकार के भेदों से रहित थे ।

इसके अनन्तर आपने जीवनरूप, अन्तर्यामीरूप और विभूतिरूप तीन स्वरूप धारण किए ।

पश्चात् आप पुराण पुरुष हुए, अर्थात् 'पुरुषोत्तम' कहलाए । अथवा ब्रह्मवाद (वेदान्त) में आप एक हो । योगमार्ग में आपको 'आत्मा' कहते हैं । सांख्य मत में आप 'पुरुष' नाम से प्रसिद्ध हो । वैष्णव मत में आपको 'पुराण' कहते हैं । और पाशुपत मत में 'सत्य' कहे जाते हो । अथवा सद् और त्यद् इस भेद से आप 'सत्य' रूप वा जगत् हो ।

इस प्रकार पाँचों प्रकारों की आप स्वयं ज्योति हो अर्थात् स्वतः प्रकाशक होने से जड़ नहीं हो ।

आप अनन्त होने के कारण अन्त रहित हो, आपकी कोई अन्तिम अवधि<sup>४</sup> नहीं है । आप आद्य होने से आपके आदि की कोई अवधि नहीं है ।

१-अपनी जाति से भेद ।

२-दूसरी जाति से भेद ।

३-अपने में के भेद ।

४-सीमा, रह ।

आप नित्य एक समान हो, समुद्र और चन्द्रमा के सदृश आप में क्षय वृद्धि नहीं है ।

इस प्रकार प्रपञ्च रूप पने में प्रतीत होने वाले चारों दोषों का निवारण कर<sup>१</sup> 'अक्षर' नाम से भगवान् के दूसरे रूपों का वर्णन करते हैं ।

'अक्षर' नाम से शब्द ब्रह्मरूप आप हो अथवा प्रकृति और पुरुष के कारण रूप हो । इससे आप ज्ञान का विषय हो अर्थात् आपका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये ।

ज्ञान से प्राप्त करने योग्य मोक्ष का रूप आप हो इसलिये ही नित्य सुख रूप हो ।

नित्य सुख रूप में भी, जो दोष होते हैं, उनके निवारण के लिये आप 'निरञ्जन' अर्थात् अविद्या रहित हो । नित्य सुख रूप 'सुषुप्ति' में भी अविद्या रहती है वह आप में नहीं है । प्रत्येक पदार्थ की सीमा होती है, आपकी किसी प्रकार की कोई भी सीमा नहीं है; इसको बताने के लिये आपको 'पूर्ण' कहा गया है ।

कम और अधिकपन आप में नहीं है इसलिये आपको 'अद्वय' कहा है ।

आपका ब्रह्मानन्द रूप सुख किसी भी उपाधि के बिना भोगा जाता है इसलिये कहा है कि आप उपाधि से मुक्त हो अर्थात् आपके सुख भोग में किसी प्रकार की उपाधि नहीं है ब्रह्मातिरिक्त अन्य पदार्थों से जो सुख भोगा जाता है वह उपाधि से प्राप्त होता है । जैसे स्त्री का सुख पुरुष से ही भोगा जाता है और पुरुष का सुख स्त्री से ही भोगा जाता है । इसलिये वह सुख उपाधि से प्राप्त होता है ।

आप स्वरूप से भी 'अलौकिक' हो, इसलिये आपका ज्ञान, श्रुतियों से होता है । लौकिक प्रमाणों से ज्ञात नहीं होता है यदि ऐसा न हो तो ऊपर कहा हुआ आपका रूप न हो ।

इन उपरोक्त सोलह विशेषणों से आपकी देह से विलक्षणता भी सिद्ध हो गई है । जैसे कहा है कि 'षोडश कलोऽयंपुरुषः' यह पुरुष सोलह कलाओं वाला<sup>२</sup> है । देह तो बाल्य, कौमार आदि अवस्था भेद से भिन्न - भिन्न रूप वाली होने से एक रस नहीं, अतः अनेक हैं व्यापक तथा आत्मा भी नहीं है । इन सब बातों को स्वतः समझ लेना अथवा उपरोक्त षोडश विशेषणों से आप पञ्च महाभूत और एकादश इन्द्रियों से पृथक् एवं विलक्षण हो अथवा सोलह विशेषणों से यह सिद्ध किया है कि षोडश कला वाले नागयण आप हो ॥ २३ ॥

आभास — एवं भगवत्स्वरूपमुक्तैर्विधिं ये वक्ष्यमाणप्रकारेणोपासते ते भ्रान्ता इत्याहैवविधिमिति पञ्चभिः, एवं ।

आभासार्थ — भगवान् के स्वरूप का वर्णन किया, अब नीचे कही जायगी जो परिपाटी, तदनुसार जो उस स्वरूप की उपासना करते हैं, वे भ्रान्त<sup>४</sup> हैं । यह निम्न पाँच श्लोकों में कहते हैं ।

१-मिट कर । २-प्राप्त किया । ३-देह में इन षोडश कलाओं में से कोई कला नहीं है—अनुवादक ।

४-भूले हुए ।

**श्लोकः — एवंविधं त्वां सकलात्मनामपि स्वात्मानमात्मात्मतया विचक्षते ।**

**गुर्वर्कलब्धोपनिषत्सुचक्षुषा ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम् ॥ २४ ॥**

**श्लोकार्थ —** समस्त जीवों के आत्मरूप आपको, जो लोग गुरु रूप सूर्य द्वारा प्राप्त उपनिषद् रूप सुन्दर नेत्रों से अपना ही रूप समझते हैं वे इस संसार रूप असत् समुद्र से मानो तर जाते हैं ।

**सुबोधिनी —** षोडशकलं त्वां सकलात्मनामपि संसारेनृतरूपः केवलं स्वमोहात् कल्पितोहम्ममात्मा स सर्वजीवानामात्मानं देहरूपमात्मरूपं चात्मन एव एवाम्बुधिस्तरणेशक्यः तादृशमपि तरन्तीव स्वस्यैवात्मतयाहमेव भगवानिति ये विचक्षते पश्यन्ति तत्र दोषाधारस्वानिवृत्तत्वात्, अन्तर्दोष एव निवृत्तो न तु विषयप्रबोधको गुरुरर्को ज्ञानकरणमुपनिषदेव चक्षुः, य देहेन्द्रियविषयाणां, अतोऽनृताम्बुधिस्तीर्णोऽप्यतीर्णप्राय इत्यर्थः एवमहमेव परं ब्रह्मेति जानन्ति ते भवानृताम्बुधि तरन्तीव ॥ २४ ॥ सर्वब्रह्मेतिज्ञाने सर्वतरणं केवलमात्मन एव ब्रह्मत्वेन ज्ञाने यः

**व्याख्यार्थ —** इस प्रकार के (शोडश कलावाले) समग्र जीवों के आत्म (देह-वास स्थान) रूप तथा जीव रूप आपको अपना ही आत्मा समझते हैं, अर्थात् मैं ही ब्रह्म हूँ, यों जो लोग समझते हैं । (वे मानों संसार समुद्र को पार कर गए हैं ऐसा जाना जाता है) जैसे सूर्य अन्धकार मिटा कर नेत्र को देखने का साधन ज्ञान (प्रकाश) देता है जिससे वह वस्तु को देख सकता है । वैसे ही गुरु रूप सूर्य ज्ञानार्थ उपनिषद् रूप नेत्र साधन के ढंग के देते हैं । जो लोग, मैं ही परब्रह्म हूँ, इस प्रकार समझते हैं, वे संसार रूप झूटे समुद्र को, मानो पार करते हैं । 'सर्व ब्रह्म' सब ब्रह्म है, इस प्रकार के ज्ञान होने से सब प्रकार से तारण होता है । केवल अपने को ही ब्रह्म समझने से, जो संसार (अहन्ता - ममता) अनृत<sup>१</sup> है वह केवल अपने मोह से उत्पन्न 'अहं और मम' रूप समुद्र ही पार किया हुआ प्रतीति मात्र देखने में आता है । वास्तविक व यह भी, पूर्ण रीति से तर नहीं गया है; क्योंकि दोष का आधार निवृत्त नहीं हुआ है । अन्तर का दोष ही निवृत्त हुआ है । देह इन्द्रियों के विषयों का विद्यमान दोष है । उन दोषों के नाश हुए बिना 'अहं मम' रूप अनृत समुद्र तर हुआ भी न तरे हुए के समान ही है ।

**आभास —** ननु सर्वस्यैव तेन ज्ञानेन कथं न विलय ? तत्राह्यात्मानमेवेति ।

**आभासार्थ —** उस (मैं ही ब्रह्म हूँ) ज्ञान से सब (देह, इन्द्रिय विषय दोषों) का नाश होकर मोक्ष क्यों नहीं होता है ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं ।

श्लोकः — आत्मानमेवात्मतया विजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम् ।

ज्ञानेन भूयोपि च तत् प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोगभवाभवौ यथा ॥ २५ ॥

**श्लोकार्थ** — जो लोग, अपने को ही आत्म (ब्रह्म) रूप समझते हैं, वे मानते हैं कि जैसे रज्जु में सर्प की, अज्ञान से उत्पत्ति और ज्ञान से नाश होता है, वैसे ही भ्रम से कल्पित, यह जगत् अज्ञान से उत्पन्न होता है । और ज्ञान से लय हो जाता है (शेष, में तो सर्वदा मुक्त ब्रह्म रूप ही हूँ) ।

सुबोधिनी — ते ह्यात्मानमेवात्मतया जानन्ति, सर्पोऽयं सर्प इति स्वबुद्धिकल्पितस्यैव नाशो नान्यस्य जगतो अतस्तेनैव भ्रमाद् यावज् जातं निखिलमपि प्रपञ्चितं भगवत्कृतस्य नापि स्वकृतस्य भ्रमात् सर्पदेहे रज्जुर्न पुनरुपवर्तते प्रपञ्चाकारेणात्मोपतया परिकल्पितं ज्ञानेन भूयोपि तदेव नायं सर्प इति ज्ञातेपि, अतो ज्ञानकृतमेव निवर्तते तावन्मात्रमेव लीयते न तु कृतिसाध्यं, तत्र दृष्टान्तो रज्ज्वामहेः नान्यदित्यहम्ममाभिमान एव गच्छति नान्यत् ॥ २५ ॥ कल्पितस्यैव सर्वस्य भोगस्य कायस्य भवाभवावृत्तिनाशौ

**व्याख्यार्थ** — वे लोग अपने को ही ब्रह्म मानते हैं इससे ही वे मानते हैं, कि जो कुछ प्रपञ्च आकार से परिणत<sup>१</sup> है वह 'मैं हूँ' भ्रम से कल्पना की गई है । ज्ञान से वह कल्पित ही बारम्बार लय होता है । परन्तु जो प्रयत्न<sup>२</sup> से साध्य<sup>३</sup> होता है वह लय नहीं होता है । जैसे कि रज्जु में भ्रम से ही सर्प के देह की उत्पत्ति और नाश होता है अर्थात् पहले भ्रम से रज्जु को सर्प समझा जाता है पुनः ज्ञान होने पर समझा जाता है कि सर्प नहीं है (इस प्रकार सर्प का न होना (नाश) भी भ्रम ही है; क्योंकि सर्प था ही नहीं तो उसका नाश कैसे इसलिये सह सर्व (सर्प का होना और नाश) भ्रम मात्र है । शेष रज्जु में तो किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है । इस दृष्टान्त ये यह समझना चाहिए कि अपनी भ्रमित बुद्धि से कल्पित पदार्थ का ही नाश होता है । दूसरे किसी भगवान् के बनाए हुए जगत् और अपने बनाए हुए पदार्थ का नाश नहीं होता है । भ्रम होने पर रज्जु सर्प नहीं बन जाती है और ज्ञान होने पर रज्जु का नाश भी नहीं होता है । उत्पत्ति और नाश तो केवल भ्रम से कल्पित सर्प देह का ही होता है इस प्रकार 'अहं-मम'<sup>४</sup> अभिमान जो अज्ञान रूप भ्रम से हुआ है वह नाश होता है दूसरा (जगत् आदि) कुछ भी नाश नहीं होता है ।

श्लोकः — अज्ञानसंज्ञौ भवबन्धमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात् ।

अजस्रचित्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी ॥ २६ ॥

**श्लोकार्थ** — संसार में बद्ध होना और संसार से मुक्त होना ये दोनों अन्य कुछ नहीं हैं केवल अज्ञान ही है अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ अथवा मुक्त हूँ, यों समझना अज्ञान ही है ।

सत्य वाणी (उपनिषद्) से प्राप्त, सत्य ज्ञान का स्वरूप ही मोक्ष है उसका अज्ञान ही बन्धन है। कारण विचार करने पर समझ में आ जाता है कि दिन और रात्रि जो सूर्य के द्वारा होती है वही सत्य है।

सुबोधिनी — किञ्च वस्तुतोस्य तदपि न निवर्तते मुक्तोहमिति ब्रह्माहमित्येतदप्यज्ञानकृतमेव, आत्माज्ञानादेवैवमपि जानाति, बन्धस्य तज्जनितत्वेन कार्यत्वाविशेषाज् ज्ञानमोक्षावप्यज्ञानकार्यमेव, न हि शयानः स्वप्न उत्थाय भोजनादिकमपि कुर्वन् वस्तुतः जित्यतो भवति स्वप्नस्यानिवृत्तेः, तथा भगवच्छक्तेरज्ञानस्याप्यनिवृत्तेर्न तेषां परमार्थतो मोक्षोपि सम्भवति तत्र हेतुमाह ऋतज्ञभावादिति, मोक्षस्तृप्तज्ञानरूपः न त्वज्ञानजनितज्ञानरूपः, भगवज्ज्ञानशक्त्यैव मोक्ष इत्येकादशे वक्ष्यति, किञ्च मोक्षो हि भगवति सायुज्यं, स चाज्ञस्त्वचिदात्मा नित्यचिदानन्दरूपः

तत्राज्ञानकृतप्रपञ्चज्ञानयोरभावाज् जीवस्याज्ञानकृतज्ञानेन कथं प्रवेशः स्यात् ? तदाह केवल इति, किञ्च स तु परो नियामकः, न हि नियम्यैर्भगवदज्ञाव्यतिरेकेण निकटे गन्तुं शक्यते, अतो जीवब्रह्मज्ञानिनो न मोक्षः, तत्रोपपत्तिं वदन् दृष्टान्तमाह विचार्यमाणे तरणाविवाहनी इति, सूर्यं विचार्यमाण एव अहनी भवतो न तु स्वबुद्ध्या, अन्यथा निमीलिताक्षः स्वयमेव रात्रिं कुर्यात् प्रसारिताक्षश्च दिनं, अतः सूर्य एवागते दिनमपगते रात्रिरिति केवलं खण्डाहं तवादिनो भ्रान्ता एव ॥ २६ ॥

व्याख्यानार्थ — यदि विचार जाय तो 'मैं ब्रह्म हूँ' यो मानने वालों का 'अहं' मम' १ यह अधिमान भी वास्तविक रीति से नष्ट नहीं होता है। क्योंकि "मैं मुक्त हूँ" "मैं ब्रह्म हूँ" इस प्रकार का उनका ज्ञान भी आत्मा के अज्ञान से ही उत्पन्न हुआ है। जैसे बन्ध अज्ञान का कार्य है वैसे "मैं ब्रह्म हूँ" यो समझना भी अज्ञान का कार्य है। दोनों का कारण (अज्ञान) समान होने से उनका ज्ञान तथा मोक्ष भी अज्ञान के ही कार्य है।

जैसे स्वप्न में, कोई पुरुष समझता है कि मैं उठकर भोजन कर रहा हूँ वास्तविक रीति से, वह उठा ही नहीं है, भोजन करना तो दूर रहा, क्योंकि उसका स्वप्न मिट नहीं है। वैसे ही भगवान् की अविद्या (अज्ञान) शक्ति भी अब तक उनकी मिटी नहीं है, इससे उनका परमार्थ रूप से मोक्ष का होना भी सम्भव नहीं है। कारण कि मोक्ष तो सत्यज्ञान रूप है, अज्ञान से उत्पन्न ज्ञान मोक्ष का रूप नहीं है। भगवान् की ज्ञान शक्ति से ही मोक्ष होता है। यह एकादश स्कन्ध में कहेंगे। और भगवान् में सायुज्य ही मोक्ष है। यह मोक्ष नित्य चिदानन्द रूप है। वहाँ जब, अज्ञान से उत्पन्न प्रपञ्च तथा ज्ञान दोनों का अभाव है, तब जीव अपने अज्ञान कृत ज्ञान से उसमें कैसे प्रविष्ट हो सकेगा ? अर्थात् उस चिदानन्द रूप को कैसे अपने में प्रकट कर सकेगा ? यह 'केवल' विशेषण देकर समझाया है और ब्रह्म तो 'पर' अर्थात् नियामक<sup>३</sup> है अतः नियामक की आज्ञा के बिना सेवक उसके पास नहीं जा सकता है। अतः जीव स्वरूप को, जो ब्रह्म मानकर अपने को मुक्त समझते हैं उनका मोक्ष नहीं होता है। इसको दृष्टान्त द्वारा हेतु दे कर सिद्ध करते हैं।

जैसे जब सूर्य उदय होने का विचार करता है और उदय होता है, तब दिन होता है एवं जब अस्त होने का विचार कर अस्त होता है तब रात्रि होती है न कि मनुष्य अपनी बुद्धि से दिन वा रात्रि कर सकता है। किसी के चक्षु बन्द करने से रात्रि नहीं होती है और न आँख खोलने से दिन होता है। दिन रात्रि तो सूर्य के द्वारा ही होते हैं केवल खण्ड अद्वैतवादी भ्रान्त ही है।

**आभास —** किञ्च ये स्वात्मब्रह्मविचारकाः सर्वसङ्गं परित्यज्य देशान्तरे गत आत्मा प्राप्तव्य इति परित्यागं कुर्वन्ति तेतिभ्रान्ता इत्याह त्वामात्मानमिति ।

**आभासार्थ —** और जो अपने आत्मीय रूप ब्रह्म का विचार करने वाले सर्व सङ्ग त्याग कर, देशान्तर में जाकर आत्मा प्राप्त करने योग्य है, ऐसा मानते हैं वे अति भ्रान्त हैं। यह इस निम्न श्लोक में कहते हैं।

**श्लोक: —** त्वामात्मानं परं मत्वा परमात्मानमेव च ।

**आत्मा पुनर्बहिर्भूय अहोज्ञजनताज्ञता ॥ २७ ॥**

**श्लोकार्थ —** आत्म स्वरूप आप (कृष्ण) को पृथक् समझ और भगवद्रूप को आत्मा मानकर उनको बाहिर प्राप्त करने योग्य समझते हैं। अहो ! अज्ञानियों को कितना अज्ञान है।

**सुबोधिनी —** त्वं कृष्णः सर्वात्मा सर्वरूपस्तादृशं इत्यहो अज्ञानां भ्रान्तजनानां भ्रमपरम्पर ! कथमेते त्वां भिन्नं मत्वा नाहं सर्वः किन्तु विलक्षण इति परं च प्रमाणमप्यविचार्य भ्रान्ता भवन्तीत्याश्चर्यम् ! एवं भगवद्रूपमेव ज्ञानप्रकाश आत्मा भगवद्विभूतिरूपो भावमया खण्डभावयुक्तानां "यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदमन्तरं कुरुतेय स्फुरितो व्यापकत्वादिधर्मः साङ्ख्यादिस्मृतिसिद्धस्तमात्मानं तस्य भयं भवती" तिश्च्युक्तं तेषां भयं निरूप्य ये मत्वा, स तु न जीवरूपः कदाचिदपि न हि घटः पर्वतो पुनरिहैवान्तःकरणे भगवद्विन्तका अन्तर्यामिणमितरपरित्यागेन भवति, अतः परमात्मा पुनर्बहिर्भूत्वा सन्यासं गृहीत्वा भूय भावयन्ति ते कृतार्थाः ॥ २७ ॥

**व्याख्यार्थ —** आप (कृष्ण) सबकी आत्मा हो और सर्वरूप हो ऐसे आपको पृथक् समझ कर, अपने को मैं सर्व नहीं हूँ किन्तु विलक्षण हूँ ऐसा मानकर वे भगवद्रूप को ही ज्ञान से प्रकाशित होने वाला आत्मा भगवान् का विभूति रूप, भगवान् से स्फुरित होने वाले व्यापकत्व आदि धर्मवाले साङ्ख्य आदि स्मृतिओं से सिद्ध आत्मा को मानते हैं \*। वह (आत्मा) तो कभी भी जीव रूप नहीं होता है जैसे घड़ा पर्वत नहीं होता है\*। अतः बाहिर जाकर सन्यास लेके

\* जीव कभी भी इस (अविद्याग्रस्त) रूप में वह आत्मा नहीं हो सकता है जैसे घड़ा घड़े के रूप में हो तो पर्वत नहीं कहा जा सकता है —अनुवादक ।



परमात्मा को ढूँढ़ना चाहिये इस प्रकार की अज्ञानियों के (भ्रान्त जनों के) भ्रम की परम्परा आश्चर्य कारक है; किस प्रकार ये प्रमाण का भी विचार न कर भ्रान्त हो जाते हैं; यह अचम्भा है। इस प्रकार खण्ड भाव वाले अद्वैतवादियों का 'जब ही निश्चय से जो जीव इस परमात्मा में थोड़ा भी भेदभाव करता है उसको भय होता है। इस प्रकार श्रुति में कहा हुआ भय बताकर कहते हैं कि जो फिर यहाँ ही अन्तःकरण में भगवान् का चिन्तन करते हैं अन्य का परित्याग कर अन्तर्यामि की भावना करते हैं वे कृतार्थ होते हैं ॥ २७ ॥

**आभास —** एकत्र लब्धपदं चित्तमन्यदपि प्राप्स्यतीत्याहान्तर्भव इति अन्तर्भवतीति ।

**आभासार्थ —** एक में चित्त की स्थिरता होने से दूसरे की भी प्राप्ति हो सकती है। यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

**श्लोकः —** अन्तर्भवेनन्त भवन्तमेव ह्यतत् त्यजन्तो मृगयन्ति सन्तः ।

असन्तमप्यन्त्यहिमन्तरेण सन्तं गुणं तं किमयन्ति सन्तः ॥ २८ ॥

**श्लोकार्थ —** हे अनन्त ! जिन साधनों से भगवान् का चिन्तन<sup>१</sup> नहीं हो सकता है उनको छोड़े तब ही सत्पुरुष अपने हृदयाकाश में स्थित आपको वहाँ ही ढूँढ़ने से पा सकते हैं। जैसे झूठा सर्प समीप न हो तो भी जब तक उस झूठे सर्प के भ्रम को त्यागा नहीं जाता है तब तक समीप स्थित सत्य रज्जू का स्वरूप जानने में नहीं आता है।

**सुबोधिनी —** अन्तर्भवो हृदयाकाशस्तस्मिन् हे अनन्त देशकालवस्तुपरिच्छेदरहित, तत्रापि विद्यमानं भवन्तमेव ये सन्तं गुणं रज्जुं किमयन्ति जानन्ति ? अन्तरशब्दो नानार्थः मृगयन्ति ते सन्तो भवन्ति, अन्वेषणे प्रकारमाहातत् त्यजन्तः सोत्रापरित्यागवाची, भ्रमप्रतिपन्नं विषयमपरित्यज्य इति, न तद् यत्र येषु साधनेषु भगवच्चिन्तनं सम्पद्य न वस्तुस्वरूपचिन्तनं न सम्भवति, अतो भूलघ्नमप्रतिपन्नं भवति तदतत् त्यजन्तो धिरुद्धसाधनपरित्यागेन स्रितरं देहात्मभावं व्यामोहकशास्त्रप्रतिपन्नं च भावं परित्यज्य भगवच्चिन्तकाः सन्त इत्युक्तं भवति, किञ्च भ्रमबुद्धिमपि हृदये विद्यमानो भगवान् भावनीयः, पुनः सन्त इतिपदं ते तथैव भावयन्तीतिप्रमाणकथनार्थम् ॥ २८ ॥

**व्याख्यार्थ —** हे अनन्त ! आपको अनन्त इसिलिये कहा जाता है कि आप देश, काल, एवं किसी वस्तु के परिच्छेद<sup>२</sup> से रहित होने से अन्तरहित हो। अर्थात् सब में आप विराजमान हो। आप भीतर रहने वाले हृदयाकाश में भी रहते हो अतः जो सत्पुरुष हैं वे आपको उस (हृदयाकाश)

में ही ढूँढते हैं। किस प्रकार ढूँढते हैं? वह प्रकार बताते हैं कि जिन साधनों से भगवान् का चिन्तन<sup>१</sup> नहीं हो सकता है, प्रथम, उन विरुद्ध साधनों का परित्याग करते हैं एवं भ्रम का भी त्याग कर पश्चात् हृदयाकाश में चिन्तन करते हैं। इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं। 'अन्तर' शब्द के बहुत अर्थ हैं किन्तु यहाँ 'अन्तर' शब्द का अर्थ 'अपरित्याग' <sup>२</sup> है। भ्रम से समझ में आए हुए विषय का परित्याग किए बिना सत्य वस्तु का ज्ञान नहीं होता है। जैसे भ्रम से उत्पन्न सर्प, झूठा होते हुए भी, रज्जु के बदले में सर्प समझा जाता है। उस भ्रम को जब तक मिटाया नहीं जाएगा तब तक रज्जु का सच्चा स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता है। इसलिये मूल भ्रम से प्राप्त देह में, आत्मा भाव को तथा मोह में डालने वाले शास्त्रों के भावों को छोड़ कर, हृदय में विद्यमान भगवान् की ही भावना करनी चाहिए अर्थात् उनका ही चिन्तन आदि करना चाहिये। 'सन्त': शब्द दूसरी बार भी श्लोक में इसलिए दिया है कि वे (सन्त) इसी प्रकार (हृदयाकाश में) भगवान् की भावना (चिन्तन) करते हैं।

**आभास —** यद्यप्येवम्भावनान्तःकरण उचिता तथापि भजनमार्गव्यतिरेकेण तच्छास्त्रव्यतिरेकेण च भगवन्माहात्म्यं न परिज्ञातं भवतीति केवलचिन्तनं तथा नोपयोगाय भगवदाविर्भावं सम्पादयति नापि प्रपञ्चनिवृत्तिमित्याहाथापीति ।

**आभासार्थ —** यद्यपि (जो कि) अन्तःकरण में इस प्रकार भगवान् की भावना करनी योग्य है तो भी जब तक भक्ति मार्ग और भक्तिमार्ग के शास्त्रों से भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान पूर्णतया प्राप्त नहीं किया जाता है तब तक केवल अन्तःकरण में भावना करने से भगवान् का प्रादुर्भाव<sup>३</sup> नहीं होता है और प्रपञ्च भी नाश नहीं होता है। यह निम्न श्लोक से कहते हैं।

**श्लोकः —** अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि ।

जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोपि चिरं विचिन्वन् ॥ २९ ॥

**श्लोकार्थ —** हे देव ! यद्यपि अन्तःकरण से भावना करनी योग्य है तथापि जब आपके चरणारविन्द युगल की स्वल्प भी कृपा प्राप्त हो जाय तब आपकी महिमा का तत्त्वज्ञान होता है। आपकी कृपा बिना बहुत काल तक चिन्तन करता रहे तो भी आपकी महिमा के तत्त्व को कोई नहीं जान सकता है।

**सुबोधिनी —** हे देव ते पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशे- एकोपि चिरमपि विचिन्वन्नन्यो न जानाति ॥ २९ ॥  
नैवानुगृहीतो भगवन्महिम्नस्तत्त्वं जानाति बहूनां मध्य

**व्याख्यार्थ** — हे देव ! आपके युगल चरणारविन्द की लेशमात्र कृपा से अनुगृहीत जीव ही भगवान् की महिमा के तत्त्व को जान सकता है । उसके बिना अन्य, जो कोई बहुत समय तक चिन्तन करता रहे, तो भी नहीं जान सकता है ॥ २९ ॥

**आभास** — तस्मादावश्यकत्वात्लाघवाच्च भगवन्मार्गेणैव भगवान् सेव्यो नान्य इतिशास्त्रार्थान्मम भगवद्भक्तेषु जन्मास्त्विति प्रार्थयते तदस्तु मे नाथेति ।

**आभासार्थ** — अब निम्न श्लोक में ब्रह्माजी प्रार्थना करते हैं कि भगवान् की भक्ति करना आवश्यक कर्तव्य है और वह भक्ति मार्ग सरल भी है; अतः भक्ति मार्ग के अनुसार भगवान् की ही सेवा करनी चाहिये, दूसरे की किसी की नहीं करनी चाहिये । यही शास्त्रों का तात्पर्य है । इसलिये मेरा जन्म भगवान् के भक्तों में हो ।

**श्लोकः** — तदस्तु मे नाथ स भूरिभागो भवोत्र वान्यत्र तु वा तिरश्चाम् ।

येनाहमेकोपि भवज्जनानां भूत्वा निषेवे तव पादपल्लवम् ॥ ३० ॥

**श्लोकार्थ** — हे नाथ ! यहाँ अथवा दूसरे स्थल में पशु पक्षियों में भी मेरा जन्म तब भाग्यशाली होगा, जब आपके सेवकों में, मैं भी एक सेवक होकर आपके चरणारविन्द की सेवा करूँगा ।

**सुबोधिनी** — हे नाथ, भक्तिमार्गानुसारेण सम्बोधनं, भवज्जनानां मध्य एको भूत्वा तव पादपल्लवं निषेवे, स भूरिभागो भवो मेस्तु, अत्र गोकुलेन्यत्र वा, किं अन्यथा विजातीयैः सह मत्ता भजनं न कुर्वन्ति ॥ ३०॥ बहुना ? तिरश्चामपि मध्ये, येन भवेन जन्मनाहमपि

**व्याख्यार्थ** — हे नाथ ! यह सम्बोधन (अर्थात् नाथ कह कर पुकारना भक्ति मार्ग की प्रणाली है) भक्ति मार्ग के अनुसार है । मेरा जन्म विशेष भाग्यशाली वह हो । यहाँ गोकुल में अथवा दूसरे स्थान पर हो । बहुत क्या कहूँ ? मेरा साधारण प्राणियों (पशु पक्षियों) में भी उसी प्रकार का जन्म हो जैसे मैं भी आपके सेवकों में एक होकर आपके चरण कमल की सेवा करूँ । यदि आपके सेवकों में जन्म न होगा तो आपकी सेवा न हो सकेगी । क्योंकि विजातीयों (अभक्तों) के साथ भगवान् का भजन, भक्त नहीं कर सकते हैं ।

**आभास** — एवं स्वप्रार्थनामुक्त्वा गोकुलवासिनां भाग्यमभिनन्दत्यहो इति ।

**आभासार्थ** — इस प्रकार ब्रह्माजी प्रार्थना कर, गोकुलवासियों के भाग्य का अभिनन्दन<sup>१</sup> निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — अहोतिथ्या ब्रजगोरमण्यः स्तन्यामृतं पीतमतीव ते मुदा ।

यासां विभो वत्सतरात्मजात्मना यत्तृप्तयेद्यापि न चालमध्वराः ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ — अहो ! ब्रज की गौएँ और गोपियां बड़ी भाग्यशाली हैं क्योंकि जिनको तृप्त करने के लिये, यज्ञ भी आज तक सामर्थ्य वाले नहीं हुए हैं, उन (आप) ने, स्वयं बछड़ों और पुत्रों का रूपधारण कर, जिनका दुग्ध रूप अमृत बहुत ही प्रेम पूर्वक पान किया ।

सुबोधिनी — ब्रजे स्थिता गवो रमण्यश्च धन्याः, विभो सर्वभवनसमर्थ, कथमेतावता भाग्यमित्याशङ्क्याह यतस्ते त्वया स्तन्यामृतं पीतमत्यर्थं सन्तोषपूर्वकं च, तत्र यत्तृप्तय इति, यस्य भगवतस्तृप्तयेद्यापि अध्वरा यागा नालं प्रकारमाह, यासां गोरमणोनां वत्सतरात्मजात्मना च, न समर्थाः ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ — ब्रज में रहने वाली गौएँ तथा स्त्रियाँ धन्य हैं । कारण कि, आपने, उनका स्तन्य (दूध) रूपी अमृत, अत्यन्त सन्तोष के साथ (तृप्ति पर्यन्त) पिया । किस प्रकार पिया वह बताते हैं कि आप विभु, सर्व समर्थ हो, अतः आपने बछड़ों तथा पुत्रों का रूप धारण कर, गौ और गोपियों का दूध पीया । मैंने दूध पीया, इससे वे धन्य क्यों हुई ? इसलिये श्लोक के चौथे पाद में कहते हैं कि ये विशेष भाग्यशाली इसीलिए हुई हैं, कि आज तक भी यज्ञों ने, आपको वैसा तृप्त नहीं किया है, जैसा कि दूध पिला कर इन्होंने तृप्त किया है ।

आभास — किञ्च न केवलमेतावन्मात्रमेव किन्त्वन्यदपि करोतीत्याहोभाग्यमिति ।

आभासार्थ — भगवान् ने केवल इतना ही नहीं किया, किन्तु इससे भी विशेष करते हैं । वह निम्न श्लोक में बताते हैं ।

श्लोकः — अहोभाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपब्रजौकसाम् ।

यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ — नन्दजी, गोपों और ब्रजवासियों के बड़े भाग्य हैं, बड़े भाग्य है, क्योंकि परमानन्द, पूर्ण सनातन साक्षात् परब्रह्म जिनके मित्र हैं ।

सुबोधिनी — पूर्वकाण्डस्याप्रयोजकता स्वतः ब्रह्मापि संस्तेषां मित्रं जातस्तत्प्रतिपक्षान् हन्ति तांश्च सर्वतः स्तनपानेनैव कृता, उत्तरकाण्डस्याप्यप्रयोजकतां परिपालयतीति, अहो भाग्यमहो भाग्यमिति वीप्सया कृतवानित्युच्यते यद् ब्रह्म मित्रमिति, ब्रह्म हि सर्वसमं पुनः पुनर्भाग्यस्मरणं प्रापयति, नन्दगोपस्य ब्रजे ये तिष्ठन्ति मित्रं हि विषमं हिताचरणादहितादिदूरीकरणाच्च, भगवांस्तु तेषां सर्वेषामेव, अथवादौ नन्दस्य भाग्याभिनन्दनं ततो

गोपानां ततो ब्रजौकसामितिक्रमोपपत्तिः स्पष्टैव, किञ्च स्वरूपानुभवं कारयति, तदाह परमानन्दं पूर्णं सनातनमिति, नोपकारेणैव तेषां कृतार्थता किन्तु स्वयमानन्दरूपः फलात्मा अनित्यपरिच्छेदरहितो ह्यानन्दः फलमिति ॥ ३२ ॥

**व्याख्यार्थ —** पूर्व काण्ड में कहे हुए, यज्ञादि कर्म करने से जो फल मिलता है, वह भगवान् ने स्तन पान करके दे दिया अतः इनको यज्ञ आदि करने की आवश्यकता न रही। इस प्रकार पूर्व काण्ड की निष्फलता बताई। अब इनके मित्र बने, जिससे उत्तर काण्ड (ज्ञान काण्ड) की भी निष्फलता सिद्ध की। कारण कि यों तो ब्रह्म सर्व के लिये समान है किन्तु यहाँ आप मित्र बन कर कर्ता हुए, शत्रुओं का नाश किया और चारों ओर से रक्षक बने एवं अहित (शत्रु दुःख) आदि को मिटाने वाले होकर विषम (पक्षपाती) भी बने। अतः ब्रह्माजी दो बार धन्य ! धन्य ! कहकर उनके भाग्य की सराहना करते हैं अथवा क्रमशः प्रत्येक के नन्द, गोप और अन्य ब्रज में रहने वालों के भाग्य का अभिनन्दन करते हैं। वे अभिनन्दन करने के योग्य हैं यह स्पष्ट देखने में आता है। भगवान् ने शत्रु नाश कर दुःखों को मिटया और रक्षक बने इन उपकारों से नन्दादि ब्रजवासी वास्तव में कृतार्थ नहीं हुए, किन्तु जो नित्य और असीम आनन्दरूप फल है वह स्वयं पूर्ण परमानन्द सनातन रूप फलात्मा, अपने स्वरूप का उनको अनुभव करते हैं जिससे वे भाग्यशाली और कृतार्थ हुए हैं।

**आभास —** एवमाधिभौतिकस्य जन्मप्रार्थनेन तेषां भाग्याभिनन्दनेन च भगवान् स्तुतः इदानीमाध्यात्मिकरूपस्य स्वस्यैवाभिनन्दनेन स्तौत्येषामिति।

**आभासार्थ —** इस प्रकार ब्रह्मा ने ३० श्लोक में भगवान् को यह प्रार्थना की कि मेरा आधिभौतिक जन्म भक्त का हो और ३१ वें तथा ३२ वें श्लोक में ब्रज भूमिस्थ भगवदभक्तों को धन्य धन्य कह कर उनकी श्लाघा की तथा भगवान् की स्तुति भी की। अब ब्रह्माजी इस निम्न श्लोक में अपने ही आध्यात्मिक स्वरूप का स्वयं अभिनन्दन कर प्रभु की स्तुति करते हैं।

**श्लोकः —** एषां तु भाग्यमहिमाच्युत तावदास्तामेकादशैव हि वयं बत भूरिभागाः।

एतद्धृषीकचषकैरसकृत् पिबामः शर्वादयोद्धुयदजमध्वमृतासवं ते ॥ ३३ ॥

**श्लोकार्थ —** हे अच्युत ! इन ब्रजवासियों के भाग्य की महिमा तो अपूर्व है ही। परन्तु शंकर आदि एकादश हम भी महाभाग्यशाली हैं क्योंकि इन ब्रजवासियों के इन्द्रिय रूप पात्रों से, आपके चरणारविंद के मकरन्द रूप मधुर आसवाका चारंवार पान करते हैं।

सुबोधिनी - तुशब्दः पूर्वपिक्षयाप्याधिक्यकथनार्थः, एषा भाग्यस्य महिमा तावदास्तां ततः पूर्वमेतदेव निरूपयिष्यामः, एतन्निरूपणे तु तत्तत्त्रयोदशगुणमेषां भाग्यमर्थादेवोक्तं भविष्यति, वयमेतेषां गोकुलवासिना-मिन्द्रियाधिष्ठातृदेवा एकादश "दिग्वातार्कप्रचेतोरिव-द्विन्द्रोपेन्द्रमित्रका" श्रद्धांति, केचिदन्तःकरणचतुष्टयस्य भिन्नं भिन्नमाहुस्तदा चतुर्दश त्रयोदश वा भवन्ति, सर्वानात्मतया गृहीत्वा वदन्ति वयमिति, वतेति हर्षे, भूरि भाग्यमेषां, यद्येते

गोकुलवासिनो नोत्पन्ना भवेयुस्तदास्माकमधिष्ठातृता विफलैव स्यात्, भाग्ये निदानमाहैतद्भूषीकं चर्षकैरिन्द्रियपानपात्रैरसकृद् वारंवारमङ्गयुदजमध्वमृतासवं शर्वादयो महादेवसहिता वयं पिबामः, अङ्घ्रिरेवोदजं कमलं तत्र मध्वेव मकरन्द एवामृतासवं मिष्टं देहादिविस्मारकं च, रोमाञ्चः स्वेदश्च दशमकार्यं, अन्येषामुपयोगः, स्पष्ट एवं, पुंसामपि बालककन्योत्पादनादिद्वारा मित्रकौ परित्यज्य शर्वादय एकादशैव वा ॥ ३३ ॥

व्याख्यानार्थ - श्लोक में 'तु' शब्द पूर्व से भी, गोकुलस्थों का अधिक भाग्य है, यह बताने के लिये दिया है। इन (गोकुलवासियों) के भाग्य की महिमा जो पूर्व में कही गई है, उसको तो रहने दो, अर्थात् वह अन्य समय में, फिर कभी कहेंगे, उससे पूर्व यह ही निरूपण करेंगे। यह जो अब निरूपण किया जाएगा उसमें इन ब्रजवासियों का पूर्व (हम) से भी १३ गुणा\* विशेष भाग्य है यह कहा जाएगा। हम इन गोकुलवासियों के इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव ११ हैं।

- १-कान की-दिशाएँ, २-त्वचा की-वायु, ३-आँख का-सूर्य, ४-जिह्वा का-वरुण,  
५-नासिका का अश्विनी कुमार, ६-वाणी का-अग्नि, ७-हस्त का-इन्द्र,  
८-पाद का-उपेन्द्र, ९-उपस्थ का-ब्रह्मा, १०-वायु का-मित्र, ११-मन का-चन्द्रमा

है) कितने ही कहते हैं कि अन्तःकरण चतुष्टय के भिन्न - भिन्न देवता हैं यों मानने से चौदह वा तेरह होते हैं। सब देवों को अपना रूप ही समझ कर ब्रह्माजी कहते हैं कि 'हम' बड़े भाग्यशाली हैं यों कहकर 'वत' शब्द से हर्ष प्रकट करते हैं। और कहते हैं कि यदि ये गोकुलवासी उत्पन्न न होते तो हमारा अधिष्ठातापन व्यर्थ हो जाता। इनके जन्म से हमारा अधिष्ठातापन सफल हुआ है, कारण कि महादेवादि सहित हमने भी इनके इन्द्रिय रूप पात्रों द्वारा बार बार आपके चरणारविन्द के मकरन्द रूप मधुर आसव, जो मिष्ट तथा देहादि का विस्मारक है उसका पान किया है रोमाञ्च<sup>२</sup> और स्वेद<sup>३</sup> होना ये दोनों ही दशम (मित्र) के कार्य हैं, दूसरों का कार्य स्पष्ट ही है। जैसे पुरुषों के लिङ्ग इन्द्रिय के देव का उपयोग, बाल एवं बालिका उत्पन्न करने में होता है। दो मित्र देवों के अतिरिक्त शेष शंकर प्रभृति देव भाग्यशाली हैं।

आभास - एवं गोकुलवासिनां भाग्यमभिनन्द्य वृन्दावनबृहद्वनादिष्वपि ये वृक्षा - दयोपि जाता लतागुल्मादयश्च कीटयः वा तेषामपि भाग्यमभिनन्दति तद् भूरिभाग्यमिति।

\* हम एक एक इन्द्रिय के अधिष्ठाता होने से एक ही इन्द्रिय से आपके चरणारविन्द मकरन्द के मधुर आसव का पान करते हैं। ब्रजवासी तेरह इन्द्रियों से पान करने के कारण महाभाग्यशाली हैं।

- १-चाप, चमड़ी। २-रोम (रूबटि) खड़े होने। ३-पसीना।

आभासार्थ — इस प्रकार गोकुलवासियों के भाग्य की प्रशंसा कर, अब निम्न श्लोक में वृन्दावन अथवा बृहद्वन आदि वनों में जिन्होंने वृक्ष, लता, गुल्म और कीट आदि रूप से जन्म लिया है उनका अभिनन्दन<sup>१</sup> करते हैं।

श्लोकः—तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां यद् गोकुलेपि कतमाङ्घ्रिरजोभिषेकम् ।  
यज्जीवितं तु निखिलं भगवाननन्तस्त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव ॥ ३४ ॥

श्लोकार्थ — यहाँ, वन में अथवा गोकुल में किसी प्रकार का भी जन्म हो, तो बड़ा भाग्य है। क्योंकि यहाँ गोकुलवासियों के चरण रज का अभिषेक सदा ही होता रहेगा जिन गोकुलवासियों का सम्पूर्ण जीवन भगवान् अनन्त ही है। आज तक भी, जिनके पद की रज को, श्रुतियाँ ढूँढ़ रही हैं।

सुबोधिनी — तदेव जन्म भूरिभाग्यमधिकभाग्ययुक्तं, किन्तु विशेषप्रकारेण रजसां माहात्म्यमाहाद्यापि यस्य भगवतः  
इह वृन्दावने गोकुले वा किमप्यप्रयोजकमपि जन्म, तत्र पदरजः श्रुतिमृग्यमेव, श्रुतयो हि भगवत्पदान्वेषणपरं ब्रह्म  
हेतुः कतमस्य परब्रह्मणोऽङ्घ्रिरजसामभिषेको यत्र, कतमस्य भगवत्पदं ज्ञात्वा "ब्रह्म पुच्छं, प्रतिष्ठा" "तद् विष्णोः परमं  
गोकुलवासिनो वा यस्यकस्यचित्, येषामुत्पन्नानां गोकुलवासिनां पद"मित्यादिभिर्ब्रह्म प्रशंसन्ति, रजःप्राप्तौ तु कृतार्थाः सत्यो  
वा निखिलमपि जीवितं स्वार्थं परार्थमैहिकपारलौकिकार्थं च न पुनर्बोधयेयुः प्रयोजनाभावात् ॥ ३४ ॥  
सर्वमेव भगवाननन्तः, अनन्तपदेन ब्रह्मवादप्रकारे व्यावर्तितः,

व्याख्यार्थ — इस वृन्दावन वा गोकुल में, उपयोग में आने वाला किसी प्रकार का भी देह जिसको प्राप्त हो, तो वह अधिक भाग्यशाली है, कारण कि उस देह पर भगवान् के चरणारविन्द की रज का और जिस किसी भगवद्भक्त गोकुलवासियों के चरणारविन्द की रज का अभिषेक होता रहेगा। वहाँ उत्पन्न हुए गोकुलवासियों का, 'सम्पूर्ण सर्व प्रकार का लौकिक पारलौकिक स्वार्थ युक्त परोपकार युक्त' जीवन धन भगवान् अनन्त ही है। 'अनन्त' विशेषण से यह बताया कि यहाँ ब्रह्मवाद प्रकार नहीं है, किन्तु विशेष प्रकार से, चरणारविन्द की रज का ही माहात्म्य वर्णन है। जैसा कि, आज तक भी, जिस भगवान् के चरणारविन्द की रज को श्रुतियाँ ढूँढ़ रही हैं। श्रुति ही भगवान् के चरणारविन्द के ढूँढ़ने में तत्पर संलग्न है। भगवान् को चरणारविन्द की 'ब्रह्म पुच्छं,\* प्रतिष्ठा', तद् विष्णोः परमं पदम्' इत्यादि प्रमाणों से ब्रह्म रूप समझकर उनकी

\* ब्रह्म (अक्षर ब्रह्म) अनन्त विष्णु का पुच्छ (अन्तिम भाग) और निवासस्थान है।

† ब्रह्म (अक्षर ब्रह्म) विष्णु का परम पद है।

प्रशंसा करते हैं। यदि केवल रज की प्राप्ति से ही वे कृतार्थ हो जाती तो फिर प्रयोजन न होने से, भगवान् को जानने का प्रयत्न न करती।

**आभास —** तेषां फलमेतदेव न भवति, सेवायाः क्रियमाणत्वात्, अतस्तत्फलं कथं नाभिनन्द्यत इत्याशङ्क्य तत् फलं न ज्ञायत एवेत्याहैषामिति ।

**आभासार्थ —** उन (गोकुलवासियों) का यह (भगवान् के चरणों की रज) ही फल नहीं है, कारण कि वे सेवा भी कर रही हैं, अतः वह फल, जो सेवा से प्राप्त होता है उसका अभिनन्दन<sup>१</sup> क्यों नहीं करते हो ? इस शंका को मिटाने के लिये निम्न श्लोक में कहते हैं कि उस फल को मैं नहीं जानता हूँ।

**श्लोकः —** एषां घोषनिवासिनामुत भवान् किं देव गतेति नश्चेतो ।

विश्वफलात् फलं त्वदपरं कुत्राप्ययन् मुह्यति ॥

सद्वेषादिव पूतनापि सकुला त्वामेव देवापिता ।

ये धामार्थसुहृत्प्रियात्मतनयप्राणाशयास्त्वत्कृते ॥ ३५ ॥

**श्लोकार्थ —** हे देव ! आप इन ब्रजवासियों को कौनसा फल देओगे इसका विचार करते हुए मेरा चित्त सब स्थानों में दूँढते हुए भी यही देखता है कि आपके बिना अन्य कोई उत्तम फल है ही नहीं, जो आप इनको दो। इससे मैं मोहित हो रहा हूँ। हे देव ! पूतना केवल सत्स्त्री (यशोदाजी) का वेष धारण कर आपके पास आई, उसको भी आपने कुल (बकासुर-अघासुर दोनों भ्राताओं) सहित मुक्ति दी तो जिन्होंने घर, धन, मित्र, प्रिय, पदार्थ, देह, पुत्र, प्राण और अन्तःकरण आदि सब आपके लिए ही रखे हैं उनको कौनसा फल दोगे।

**सुजोषिणी —** एतेष्वो घोषनिवासिभ्य एतस्सेवासाध्यमेतत्सम्बन्धि हे देव त्वं किं गता ? किं दास्यसीति नोस्माकं चित्तं त्वतोऽन्यत् फलं कुत्रापि ब्रह्माण्डे सकलेष्वयद् गच्छन् विमुह्यति, यतस्त्वमेव विश्वस्यैव फलं परमानन्दस्त्वतोऽन्यत् कथं फलं भविष्यति ? तद्वात्मानमेव दास्यामीति चेत् तत्राह, सद्वेषादिवैति, सतो यशोदाया वेषाद्

वेषं प्राप्य वेषाद्धेतोर्वा पूतना सकुला भ्रातृसहितापि त्वामेवापिता प्रापिता, अर्थात् त्वयैव, देवेतिसम्बोधनं पूज्यार्थं, ये पुनस्त्वदर्थमेव धाम गृहमर्थो धनं सुहृदो मित्राणि प्रियाः प्रीतिविषयाः पदार्था आत्मा देहस्तनयाः पुत्राः प्राणा इन्द्रियाणि चाशयोऽन्तःकरणमेतत् सर्वं केवलं त्वत्कृते त्वदर्थम् ॥ ३५ ॥



**व्याख्यार्थ** — हे देव ! इन व्रजवासियों की सेवा से साध्य<sup>१</sup> जो देव आप हो वह आप, इन सेवा करने वालों को कौनसा फल दोगे ? इसके लिए हमारा चित्त कहीं भी समग्र ब्रह्माण्ड में जाते हुए क्या आपके अतिरिक्त दूसरा कोई फल है ? इसमें मोहित होता है । कारण कि आप ही समग्र विश्व के परमानन्द रूप फल हो । आपके बिना दूसरा कोई भी कैसे फल बनेगा । यदि आप कहो कि मैं अपने को ही दे दूँगा । इस पर ब्रह्माजी कहते हैं कि केवल यशोदाजी के वेश को धारण करने से पूतना ने भी कुल (दोनों भ्राताओं) के साथ आपको प्राप्त किया, अर्थात् आपने अपने को पूतना को प्राप्त कराया देव सम्बोधन, पूज्य भाव दिखाने के लिए किया गया है जो (वृजवासी) फिर आपके लिए ही घर, धन, मित्र, प्रिय पदार्थ देह, पुत्र प्राण, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण आदि यह सर्व रख रहे हैं उनको आप क्या दोगे ?

**आभास** — नन्वेतेषां संस्कारो जीवतामेव निवर्तनीयः पूतना तु मारितेति संसारनिवृत्ति दास्यामीति चेत् तत्राह तावदिति ।

**आभासार्थ** — इस निम्न श्लोक<sup>२</sup> में ब्रह्माजी कहते हैं कि यदि यह शङ्का होती हो कि भगवान् ने पूतना को मारकर मोक्ष दिया किन्तु इनको तो जीते जी ही इनका संसार नाश कर जीवन मुक्ति फल देंगे, ऐसा भी नहीं है ।

**श्लोकः** — तावद् रगादयः स्तेनास्तावत् कारागृहं गृहम् ।

तावन् मोहोऽङ्घ्रिनिगडो यावत् कृष्ण न ते जनाः ॥ ३६ ॥

**श्लोकार्थ** — हे कृष्ण ! रगादिक तब तक चोर का काम करते हैं, घर तब तक कारागृह<sup>३</sup> है मोह, भी तब तक पैरों की बेड़ी है; जब तक मनुष्य आपके (सेवक) नहीं हुए हैं ।

**सुबोधिनी** — गृहादिषु रगादयस्तावदेव स्तेना कृष्ण न ते जनास्त्वत्सेवका न भवन्ति, त्वत्सेवकानां विवेकधैर्यापहाकास्तावदेव गृहमपि कारागृहं बन्धनस्थानं त्वेतानि त्रीण्यपि सात्त्विकादीनि सेवौपधिकानीति तावदेव पुत्रादिषु मोहोऽङ्घ्रिनिगडः पादगुह्यला यावत् शास्त्रतोष्यभिलाषितान्येव ॥ ३६ ॥

**व्याख्यार्थ** — हे कृष्ण ! जब तक मनुष्य आपके सेवक नहीं हुए हैं तब तक गृहादिकों में रगादिक विवेक धैर्यादिकों के चोर बने रहते हैं और तब तक ही घर भी कारागृह<sup>३</sup> है और पुत्रादिकों का मोह पैरों की बेड़ी है सेवकों के तो ये उपरोक्त रगादिक पुत्र और गृह आदि सब सात्त्विक हो जाते हैं जिससे वे सेवा के उपयोग में ही आते हैं । इसलिये शास्त्रों की आज्ञा से

भी ये पदार्थ सेवकों को अभिलषित है अर्थात् चाहिये क्योंकि इनके बिना सेवा नहीं हो सकती है ॥ ३६ ॥

**आभास —** नन्वेतत् सर्वं साक्षात्स्वरूपे युक्तं न तु कृत्रिम इत्याशङ्क्याह प्रपञ्चमिति ।

**आभासार्थ —** यह उपरोक्त कहना सत्य है किन्तु उनका उपयोग कृत्रिम<sup>१</sup> स्वरूप में न कर साक्षात् स्वरूप में होना चाहिये । इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक कह कर करते हैं ।

**श्लोक: —** प्रपञ्चं निष्प्रपञ्चोपि विडम्बयसि भूतले ।

प्रपन्नजनतानन्दसन्दोहं प्रथितुं प्रभो ॥ ३७ ॥

**श्लोकार्थ —** हे प्रभो ! शरणागत जीवों में आनन्द सन्दोह<sup>२</sup> फैलाने के लिये आप निष्प्रपञ्च हो, तो भी पृथ्वी पर, प्रपञ्च के समान अनुकरण करते हो ।

**सुबोधिनी —** निष्प्रपञ्चोपि त्वं प्रपञ्चं विडम्बयसि कथं तदधिकं भविष्यतीत्याशङ्क्याह प्रभो इति, सर्वप्रकारेणापि प्रापञ्चिकेपि चेष्टां करोषि, तत्र हेतुः प्रपन्ना य जनता तस्य सर्वसमर्थः ॥ ३७ ॥  
आनन्दसन्दोहमानन्दसमूहं प्रथितुं स्थूलं कर्तुं ननु विपरीतरूपेण

**व्याख्यार्थ —** आप निष्प्रपञ्च<sup>३</sup> होकर भी प्रपञ्ची के समान चेष्टा<sup>४</sup> करते हो । इस प्रकार (प्रपञ्च के समान) चेष्टा क्यों करते हो ? उसका कारण यह है कि आपको जगत् में शरणागत जनों के आनन्द समूह को बढ़ाना है । आप अलौकिक, निष्प्रपञ्च हो, अतः आपके कृत्रिम प्रपञ्ची रूप से आनन्द कैसे बढ़ेगा ? इस शंका के मिटाने के लिये श्लोक में 'प्रभु' शब्द विशेषण देकर समझाया है कि आप सर्व समर्थ होने से किसी भी रूप से अपनी इच्छानुसार आनन्द बढ़ाने में सर्वथा समर्थ हो इसलिये प्रपञ्चवत् अनुकरण करके भी आनन्द समूह को बढ़ा सकते हो ।

**आभास —** ननु ज्ञानेनाप्यानन्दप्रथनसम्भवात् किमिति प्रपञ्चं विडम्बयतीत्याशङ्क्याह जानन्त इति ।

**आभासार्थ —** ज्ञान से भी आनन्द बढ़ सकता है तो फिर भगवान् प्रपञ्च का अनुसरण क्यों करते हैं इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक से करते हैं ।

**श्लोक: —** जानन्त एव जानन्तु किं बहूक्त्या न मे प्रभो ।

मनसो वपुषो वाचो वैभवं तव गोचरः ॥ ३८ ॥

**श्लोकार्थ —** हे प्रभो ! आपको जो जानते हैं वे भले ही जाने, मैं अधिक क्या कहूँ, मेरे मन, वचन और शरीर से आपकी महिमा नहीं जानने में आती है ।

**सुबोधिनी —** ये जानन्तो भवन्ति त एव जानन्तु वैभवं न गोचरे ज्ञातुं शक्यं, न देहकृत्या परिच्छेदुं शक्यं, वस्तुतो ज्ञानं स्वप्नप्रबोधरूपं, अतो भ्रान्ता एव ते, ननु तथा स हि सर्वं करोति तथा भगवद्वैभवंमपि कृत्वा सति तन्मतं दूषणीयमिति चेत् तत्राह किं बहुक्तयेति, प्रदर्शयिष्यतीति शङ्क्योक्तं वचसां विषयो न भवत्येव तथा बहुक्त्या किं प्रयोजनम् ? अल्पेनैव तु दूष्यते, न हि मतः चेतसोपि ॥ ३८ ॥  
कश्चिन् महानस्ति वेदगर्भोऽहं भव तु मनसो वपुषो वाचोपि

**व्याख्यानार्थ —** जो जानने वाले होते हैं वे भले ही जाने । वास्तविक, ज्ञान<sup>१</sup> भी, केवल स्वप्न से जगाने के समान नहीं है । अतः वे जो कहते हैं, कि हमने जान लिया वे भ्रान्त हैं । यदि यों है तो उस मत के दोष, प्रकट कहने चाहिए । इसके उत्तर में ब्रह्माजी कहते हैं, कि बहुत कहने से क्या लाभ है ? थोड़े से ही, वह मत दूषित हो जाता है, जैसे कि मुझ से, कोई महान नहीं है, क्योंकि मैं वेद गर्भ हूँ, अर्थात् मेरे भीतर वेद रहते हैं यों कहने का तात्पर्य यह है, कि वेद में जो ज्ञान का वर्णन है वह सब मैं जानता हूँ, ऐसा भी मैं, अपने मन, शरीर तथा वाणी से भी आपकी महिमा को समझ नहीं सकता हूँ । मेरी देह की कृति से आपका परिच्छेद<sup>२</sup> नहीं हो सकता है । यदि कहा जाय कि, जैसे ब्रह्माजी सब बताते हैं वैसे ही भगवान् की महिमा का भी वर्णन कर सकेंगे, तो इसके उत्तर में कहते हैं कि मेरे मन और वाणी को भी आपकी महिमा जानने की सामर्थ्य नहीं है ।

**आभास —** एवं स्तुत्वा गमनं प्रार्थयति बालकानामानयनार्थमनुजानीहीति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार ब्रह्माजी स्तुति कर बालकों को ले आने के लिये जाने की प्रार्थना करते हैं ।

**श्लोकः —** अनुजानीहि मां कृष्ण सर्वं त्वं वेत्सि सर्ववित् ।

त्वमेव जगतां नाथो जगदेतत् तवार्पितम् ॥ ३९ ॥

**श्लोकार्थ —** हे कृष्ण ! मुझे जाने की आज्ञा दो । आप सब जानते हो, क्योंकि सर्वज्ञ हो । आप ही जगत् के स्वामी हो । आपका ही यह जगत् है । जिसे सम्हालने के लिए मुझे आपने ही दिया है ।

सुबोधिनी — गन्तुमनुज्ञां प्रयच्छ, कृष्णेतिसम्बोधनं स्वातन्त्र्यशङ्का न कर्तव्या, यतस्त्वमेव जगतां नाथः, स्वस्य प्रेमख्यापनार्थं, प्रेषणेपराधाभावे वा न किञ्चिन् मया अतोधिकारस्थित्यर्थं प्रेषय, एतज् जगत् तवैव त्वयैव चापितं वक्तव्यं यतस्त्वमेव सर्वं वेत्सि यतः सर्ववित्, तत्र गतस्य भयि स्थापितं, अतः प्रेषणमुचितमेव ॥ ३९ ॥

व्याख्यार्थ — हे कृष्ण ! मुझे जाने की आज्ञा दो । ब्रह्मा ने भगवान् को 'कृष्ण' नाम देकर अपना प्रेम प्रकट किया है । जाने की आज्ञा के विषय में अथवा मेरे अपराध के विषय में, मैं कुछ नहीं कहूँगा, क्योंकि सब कुछ आप सर्वज्ञ होने से जानते ही हो । मैं वहाँ (ब्रह्म लोक में बालकों को लाने के लिए) जाकर स्वतन्त्र होकर बैठ जाऊँगा इस प्रकार की शंका भी नहीं करनी, कारण कि, सकल जगत् के स्वामी आप ही हो । अतः केवल अधिकारी हो कर, लोक की स्थित्यर्थ वहाँ कार्य करूँ इसलिये मुझे जाने की आज्ञा दो । यह जगत् आपका ही है, आपने ही मुझे सम्हालने के लिए दिया है । इसलिये मुझे वहाँ जाने की आज्ञा देना उचित ही है ।

आभास — गच्छन् नमस्यति श्री कृष्णेति ।

आभासार्थ — जाते हुए ब्रह्माजी श्रीकृष्ण को प्रणाम करते हैं उसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — श्रीकृष्ण वृष्णिकुलपुष्करजोषदायिन् क्षमानिर्जरद्विजपशूदधिवृद्धिकारिन् ।  
उद्धर्मशार्वरहर क्षितिराक्षसधुगाकल्पमार्कमर्हन् भगवन् नमस्ते ॥ ४० ॥

श्लोकार्थ — हे श्रीकृष्ण ! यादवों के कुल रूप कमल का विकास करने वाले ! पृथ्वी, देवता, ब्राह्मण और पशु रूप समुद्र की वृद्धि करने वाले ! पाखण्ड धर्म रूप अन्धकार के संहारकर्ता ! पृथ्वी में स्थित राक्षसों के द्रोही ! सूर्यादिक सर्व से पूज्य भगवन् ! आपको कल्प पर्यन्त मेरा नमस्कार है ।

सुबोधिनी — वृष्णयो यादवास्तेषां कुलमेव पुष्करं पाखण्डधर्मस्तदेव शार्वरं तस्य निवारकेत्यग्निरूपता, तस्यजोषो विकासस्तस्य दायिन्निति सूर्यरूपतोष्ठा, क्षमा क्षितिराक्षसधुगिति, क्षिताद्युत्पन्ना ये राक्षसास्तान् पृथिवी निर्जरा देवा द्विजा ब्राह्मणाः पशवश्च त द्रोघीत्यवतारप्रयोजनं, आकल्पं नमस्त इति, आर्कमर्हन्निति, एवोदधस्तस्य वृद्धिकारिन्निति चन्द्ररूपता, उद्धर्मः अर्कमधिव्याप्य सर्वपूज्येति स्वस्यापि नमस्कारे हेतुः ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ — आप सूर्य रूप हो कारण कि आप यादवों के कुल रूप कमल का विकास करने वाले हो । आप चन्द्रमा रूप भी हो कारण कि पृथ्वी, देव, ब्राह्मण और पशु ये तीन समुद्र हैं इनकी वृद्धि करते हो । पाखण्ड धर्म रूप अन्धकार को नाश करते हो । अतः आप अग्नि रूप भी हो ।

पृथ्वी पर प्रकट हुए रक्षसों का द्रोह<sup>१</sup> करते हो इससे आपको अवतार लेने के कारण का ज्ञान हो जाता है। ऐसे आपको कल्प पर्यन्त मेरी नमस्कार है। नमस्कार करने में कारण बताते हैं कि सूर्य से लेकर सब देवों के आप पूज्य हो, अतः मेरा भी आपको नमस्कार करना उचित है।

**आभास —** एवं स्तुत्वा गत इत्याहेतीति ।

**आभासार्थ —** इस निम्न श्लोक में ब्रह्माजी स्तुति के अनन्तर आज्ञा ले प्रणामादि करके पधार गए इसका वर्णन है ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

**श्लोकः—** इत्यभिष्टूय भूमानं त्रिः परिक्रम्य पादयोः ।

नत्वाभीष्टं जगद्धाता स्वधाम प्रत्यपद्यत ॥ ४१ ॥

**श्लोकार्थ —** श्री शुकदेवजी कहते हैं इस प्रकार ब्रह्माजी भूमा<sup>२</sup> स्वरूप की स्तुति कर तीन परिक्रमा देकर और चरणों में प्रणाम कर अपने लोक को गए ।

**सुबोधिनी —** भूमानं पूर्वमनन्तकोटिब्रह्माण्डरूपेण भगवन्तं स्वस्य धाम वा प्रत्यपद्यत प्रस्थितः, गत इत्यावात् प्रदर्शितात्मानं त्रिः परिक्रम्य पुनः पादयोर्नत्वाभित इष्टं ॥ ४१ ॥

**व्याख्यार्थ —** जिसने प्रथम अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड रूप से दर्शन दिया था, उस भूमा स्वरूप आत्मा (श्रीकृष्ण स्वरूप) को तीन परिक्रमा देकर पुनः अपने प्रिय भगवान् के चरणों में प्रणाम कर ब्रह्माजी अपने अभीष्ट<sup>३</sup> धाम को खाने हुए ॥ ४१ ॥

**आभास —** ततो भगवत्कृत्यमाह तत इति ।

**आभासार्थ —** ब्रह्माजी के जाने के अनन्तर जो भगवान् ने किया उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः —** ततोनुज्ञाप्य भगवान् स्वभुवं प्रागवस्थितान् ।

वत्सान् पुलिनमानिन्ये यथापूर्वसखं स्वकम् ॥ ४२ ॥

**श्लोकार्थ —** भगवान् ने ब्रह्माजी को जाने की आज्ञा दी, उनके जाने के अनन्तर, पूर्ववत् स्थित मित्रों वाले तट पर, भगवान् बछड़ों को ले आए ।

सुबोधिनी — यावद् गत्वा ब्रह्मा स्वगृहं बालकान् सखायो यत्र पूर्वं पुलिने बालकान् पूर्ववदुपवेश्य एश्चाद् वत्सांश्चानयति तावद् भगवानेव ब्रह्माणमनुज्ञाप्य वत्सानयनार्थं गत इव वत्सान् पुलिनमानिन्ये ॥४२॥  
प्रागवस्थितान् वत्सान् पुलिनमानिन्ये, पुलिनमपि स्वकमेव,  
यत्र पूर्वं बालकाः स्थितास्तत्रापि यथापूर्वसखं पुलिनं यथापूर्वं

व्याख्यार्थ — ब्रह्माजी भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर, जब तक अपने घर जाके बालक और बछड़ों को ले आवें, तब तक भगवान् स्वयं जिस तट पर पहले बछड़े-खड़े होकर चरते थे, बालक भी बैठकर भोजन आदि करते थे, उस अपने तट पर जहाँ पहले की तरह बालकों को तट पर बिठाकर, पीछे बछड़ों को भी लाने के लिये मानो गए हैं ऐसे बछड़ों को भी वहाँ तट ले आए ॥ ४२ ॥

आभास — तदा बालकाः समागतं भगवन्तं कथं ज्ञातवन्त इत्याकाङ्क्षायामा-  
हैकस्मिन्नपीति ।

आभासार्थ — भगवान् बछड़ों को ले आए उस समय बालकों ने भगवान् को कैसे पहचाना जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — एकस्मिन्नपि यातेब्दे प्राणेशं चान्तरात्मनः ।

कृष्णमायाहता राजन् क्षणार्धं मेनिरेर्भकाः ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ — यद्यपि अपने प्राणनाथ भगवान् के बिना एक वर्ष बीत गया था तो भी भगवान् की माया से मोहित उन बालकों ने उस समय को अर्ध क्षण के समान समझा ।

सुबोधिनी — एकस्मिन्नप्यब्दे वर्षे याते गत कृष्णमायया आहता व्यासा न तु ब्रह्मायया क्षणार्धमेवार्भका  
आत्मनः प्राणेशमन्तरं भगवन्तं विनात्स्येपि कालो यत्र मेनिरे ॥ ४३ ॥  
विरहाद् भूयान् भवितुमर्हति तत्र तावन्तमपि कालं

व्याख्यार्थ — जहाँ अपने प्राणपति भगवान् के बिना अल्प<sup>१</sup> समय भी महान् होना चाहिये था वहाँ पूर्ण एक वर्ष बीत गया तो भी बालकों ने भगवान् की माया से मोहित हो जाने के कारण उस समय को आधी क्षण समझा था । यह माया भगवान् की थी ब्रह्मा की नहीं थी ॥ ४३ ॥

आभास — ननु कथमेतावतः कालस्य विस्मरणम् ? तत्राह किं किमिति ।

**आभासार्थ** — इतने लम्बे वर्ष भर के काल को एक क्षण कैसे समझा । इतना विस्मरण कैसे हुआ ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — किं किं न विस्मरन्तीह मायामोहितचेतसः ।

यन् मोहितं जगत् सर्वमभीक्ष्णं विस्मृतात्मकम् ॥ ४४ ॥

**श्लोकार्थ** — जिस भगवान् की माया से मोहित यह सकल जगत् अपने आत्मा को ही भूल गए हैं, उस माया से मोहित चित्त वाले यहाँ क्या क्या नहीं भूल सकते हैं ? अर्थात् सब कुछ भूल सकते हैं ।

**सुबोधिनी** — मायामोहितचेतसः किं किं न सर्वदैव विस्मृतात्मकं विस्मृत आत्मा येन तादृशम् विस्मरन्ति ? यद् यस्मात् सर्वमेव जगत् मोहितं सदभीक्ष्णं ॥ ४४ ॥

**व्याख्यार्थ** — माया से मोहित चित्त वाले, क्या क्या नहीं भूल सकते हैं ? जबकि जिस कारण से (माया से) सकल जगत् मोहित होके सदा ही अपनी आत्मा को ही भूल गया है ॥ ४४ ॥

**श्लोकः** — ऊचुश्च सुहृदः कृष्णं स्वागतं तेतिरंहसा ।

नैकोप्यभोजि कवल एहीतः साधु भुज्यताम् ॥ ४५ ॥

**श्लोकार्थ** — बालकों ने अपने मित्र श्रीकृष्ण को कहा कि आप बहुत शीघ्र आ गए हमने अब तक एक भी ग्रास नहीं खाया है । यहाँ आओ, अच्छी तरह भोजन करो ।

**सुबोधिनी** — अत एव स्वसुहृदं कृष्णमूचुस्ते भुक्तः, अनेन भगवति प्रेमापि सूचितं, अत एवैहि, मध्ये त्वयतिरंहसा स्वागतमिति, तत्र हेतुत्वेनाहुर्नैकोप्यभोजि पूर्ववत् तिष्ठ, साधु भुज्यतामिति ॥ ४५ ॥  
कवल इति, तव गमनान्तरमेकोपि कवलो नाभोजि न

**व्याख्यार्थ** — इस कारण से ही अपने मित्र श्रीकृष्ण को कहने लगे कि आप बहुत शीघ्र पधारे हो; शीघ्र पधार गये हो, इसकी पुष्टि में कहते हैं कि देखो आपके जाने के पीछे हमने एक ग्रास नहीं खाया है; अर्थात् वह ग्रास हाथ में ही है । इस प्रकार कहकर भगवान् में अपना प्रेम प्रकट किया था । इससे अब आप यहाँ आओ हमारे बीच में पहले के समान बैठे और प्रेम पूर्वक भोजन करो ॥ ४५ ॥

**आभास** — ततो भगवता तथैव कृतमित्याह तत इति ।

**आभासार्थ** — भगवान् ने, जैसे मित्रों ने कहा वैसे ही किया । ये निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोकः — ततो हसन् हृषीकेशोभ्यवद्वत्य सहार्धकैः ।

दर्शयंश्चर्माजगरं न्यवर्तत वनाद् व्रजम् ॥ ४६ ॥

श्लोकार्थ — फिर भगवान् हास्य करते हुए बालकों के साथ भोजन कर अजगर का चर्म दिखलाते हुए बन में व्रज को पधारे ॥ ४३ ॥

सुबोधिनी — अर्धकैः सहाभ्यवद्वत्य मुक्त्वायासुरस्य च चर्म प्रदर्शयन् वनाद् व्रजं प्रति न्यवर्तत ॥ ४६ ॥

व्याख्यार्थ — बालकों के साथ भोजन कर, अघासुर का चर्म बालकों को दिखाते हुए, बन में से व्रज को पधारे ॥ ४६ ॥

आभास — समागच्छन्तं भगवन्तं वर्णयति बर्हेति ।

आभासार्थ — व्रज में आते हुए भगवान् का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — बर्हप्रसूनवनधातुविचित्रिताङ्गः प्रोद्दामवेणुदलशृङ्गरवोत्सवाढ्यः ।

वत्सान् गृणन्ननुगगीतपवित्रकीर्तिगोपीदृगुत्सवदृशिः प्रविवेश गोष्ठम् ॥ ४७ ॥

श्लोकार्थ — जिनकी, ग्वाल बाल पवित्र कीर्ति गा रहे हैं, जिनकी दृष्टि<sup>१</sup> गोपी जनों के नेत्रों, के लिये उत्सव<sup>२</sup> रूप है, मोर पिच्छ, पुष्प, वन की धातु, गेरू आदिकों से, विशेष रीति से, चित्रित अङ्ग वाले हैं, गौओं के बछड़ों को बांधने वाली रज्जु, वंशी, पत्र और सींग की ध्वनि से आनन्द वाले हैं, बछड़ों को शब्दों द्वारा पुचकारते अथवा आगे चलाते हैं, वैसे भगवान् वृज में प्रविष्ट हुए ॥ ४७ ॥

सुबोधिनी — प्रोद्दामगोबन्धनरज्जुर्दोहसम्बन्धि, पवित्रा कीर्तयस्य, गोपीदृशामुत्सवरूपा दृष्टिर्यस्य ॥ ४७ ॥  
अधिको वा, वत्सान् गृणन्नुच्चारयन्, अनुगैर्बालकैर्गीता

व्याख्यार्थ — प्रोद्दाम\* गायों को दोहने के समय बान्धने में आने वाली रस्सी अथवा इससे भी बड़ी रस्सी, बछड़ों को आगे चलाने के लिये अस्पष्ट शब्द उच्चारण करते हुए बालक जिनकी कीर्ति गा रहे हैं वैसे, गोपीओं के नेत्रों के लिए आनन्द रूप दृष्टि वाले भगवान् व्रज में प्रविष्ट<sup>३</sup> हुए ॥ ४७ ॥

★ इस श्लोक को टीका में केवल कुछ पदों के ही शब्दार्थ कहे हैं — अनुवादक ।

१—दर्शन ।

२—आनन्द,

३—प्रवेश अर्थात् पधारे ।



आभास — ततो बालका अधासुरवधं व्रज आहुरद्यानेनेति ।

आभासार्थ — बालकों ने व्रज में अधासुर के वध की कथा कही जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — अद्यानेन महाव्यालो यशोदानन्दसूनुना ।

हतोविता वयं चास्मादिति बाला व्रजं जगुः ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ — आज इन यशोदा और नन्दनन्दन ने अजगर को मारा और इस अजगर से हमारी रक्षा की ।

सुबोधिनी — केचिद् यशोदासूनुनेत्यन्ये नन्दसूनुनेति, वयं चास्माद् व्यालादविताः ॥ ४८ ॥

व्याख्यार्थ — व्रज में आकर, कितनेक बालकों ने कहा कि आज यशोदानन्दन ने और कितनेक बालकों ने कहा कि नन्दनन्दन ने आज सर्प को मारा तथा उस सर्प से हम लोगों की रक्षा की (यह सब ने मिलकर साथ में कहा) ॥ ४८ ॥

आभास — एवं भ्रान्तमोहनिवृत्त्यर्थं सर्वसिद्धान्तमुपपाद्य स्नेहाश्रयविवेचनार्थं प्रक्रियान्तरमारभते, स्नेहः स्वात्मनिष्ठः स चात्मा भगवान् जीवो वा, सहजस्नेहो भगवति जीवे तत्सम्बन्धात् तदंशत्वादाहोस्विज् जीव एव ? तथा सति भगवति स्नेहः कथमित्याक्षिपते ब्रह्मन्निति ।

आभासार्थ — इस प्रकार भ्रान्तों के मोह की निवृत्ति के लिए सब प्रकार का सिद्धान्त कहकर, अब स्नेह का वास्तविक<sup>१</sup> आश्रय<sup>२</sup> कौन है ? इसके निर्णय करने के लिये दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करते हैं । स्नेह अपनी आत्मा में ही होता है ? वह आत्मा कौन ? भगवान् अथवा जीव ? स्नेह का स्वाभाविक पात्र तो भगवान् ही है । जीव में स्नेह तो इसलिये होता है कि जीव उस (भगवान्) का सम्बन्धी वा अंश है । यदि कहो, कि जीव भी आत्मा है वह ही प्रेम का पात्र है तो (व्रजवासियों का) भगवान् में गाढ़ प्रेम कैसे हुआ ? इस संशय की निवृत्ति के लिये राजा परीक्षितजी निम्न श्लोक में प्रश्न करते हैं ।

॥ राजोवाच ॥

श्लोकः — ब्रह्मन् परोद्भवे कृष्णे इयान् प्रेमा कथं भवेत् ।  
यो भूतपूर्वः स्तोकेषु स्वोद्भवेष्वपि कथ्यताम् ॥ ४९ ॥

श्लोकार्थ — राजा कहते हैं, हे ब्रह्मन् ! ब्रजवासियों का अपने औरस<sup>१</sup> पुत्रों में जैसा पहले प्रेम नहीं था इतना अभूतपूर्व प्रेम पराए पुत्र श्रीकृष्ण में कैसे हुआ वह कहो ।

सुबोधिनी — जीवस्य देहेन सम्बन्धस्ततः पुत्रादिषु योधिकः प्रेमा स कथं भवेत् स्वोद्भवेष्वपि स्तोकेषु ततो नन्दे ततो नन्दपुत्र इतिक्रमः, परोद्भवे स्वप्राणापेक्षयापि योभूतपूर्वः ? अतोत्र सिद्धान्तः कथ्यताम् ॥ ४९ ॥

व्याख्यार्थ — जीव का प्रथम, देह से सम्बन्ध हुआ, पीछे देह से उत्पन्न पुत्रादि में हुआ, पश्चात् नन्द में, उसके अनन्तर नन्द के पुत्र में यह क्रम है । अन्य से उत्पन्न में अपने प्राणों से भी अधिक, जो प्रेम, वह कैसे हुआ । अपने उत्पन्न बालकों में भी इतना पहले प्रेम नहीं था । अतः इस विषय में क्या सिद्धान्त है वह बताओ ॥ ४९ ॥

आभास — तत्र भगवति स्नेहमुपपादयति सर्वेषामिति ।

आभासार्थ — इसके उत्तर में कहते हैं कि स्नेह भगवान् में ही होता है, यह सिद्धान्त है । निम्न श्लोक से नौ श्लोकों में इस सिद्धान्त को प्रति पादन करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः ।  
इतरेपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ॥ ५० ॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी ने कहा कि महाराज ! सब प्राणियों को मुख्य अपनी आत्मा<sup>२</sup> ही प्रिय है । सन्तान और धन आदि दूसरे पदार्थों में जो प्रेम है, सो देह की वल्लभता<sup>३</sup> के कारण ही है ।

१-अपने से पैदा हुए ।      २-देह ।      ३-प्रियता ।

सुबोधिनी — लोके तावत् सर्वेषां प्रेमविषय आत्मा युक्तश्चायमर्थः, अन्यथा परबालके पदेहे वा स्नेहः स्यात् देहः, इतरेष्वप्यविताद्यास्तस्य देहस्य बल्लभतया प्रियतया, ॥ ५० ॥

व्याख्यार्थ — लोक में तो सब के प्रेम का विषय, देह ही है। दूसरे और धन आदि से प्रेम तो उस देह में प्रेम होने के कारण होता है। यह सिद्धान्त योग्य ही है। यदि यों नहीं होवे, तो दूसरे बालकों में वा दूसरी देहों में प्रेम होना चाहिये।

आभास — तत्रापि तारतम्यमित्याह तद् राजेन्द्रेति ।

आभासार्थ — इसमें भी भेद है वह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोकः — तद् राजेन्द्र यथा स्नेहः स्वस्वकात्मनि देहिनाम् ।

न तथा ममतालम्बिपुत्रवित्तगृहादिषु ॥ ५१ ॥

श्लोकार्थ — हे राजेन्द्र देहधारियों को जैसा स्नेह अपनी अपनी देहों में होता है, वैसा ममता के आस्पद<sup>१</sup> पुत्र, धन और गृह आदि में नहीं होता है।

सुबोधिनी — देहाभिमानवतां यथा स्वस्वकात्मनि ममताविषयत्वात् ॥ ५१ ॥  
देहे स्नेहोऽहमभिमानविषयत्वात् तथा पुत्रवित्तादिषु

व्याख्यार्थ — देह मैं हूँ, इस प्रकार के ज्ञान से देहाभिमानी बने हुए लोगों में, अपनी देह में जैसा प्रेम होता है, वैसा प्रेम जिन, पुत्र, धन, गृह में ममता रहती है, उनमें नहीं होता है। कारण कि ममता वालों से ग्रह<sup>२</sup>में विशेष आसक्ति होती है ॥ ५१ ॥

आभास — नन्वत्र देहो वात्मा वा कः प्रियत्वेन सहजोभिनिर्दिष्टः ? आत्मा चेत् स न देहातिरिक्तः प्रतीतः केनापि पामरेणातः प्रेम कथम् ? तत्र देहश्चेत् को हेतुरित्याकाङ्क्षायामाह देहात्मवादिनामिति ।

आभासार्थ — इस उपरोक्त श्लोक में देह में प्रेम होता है यह कहा। किन्तु वह प्रेम वास्तविक किसमें है, इसका निर्णय नहीं हुआ क्योंकि यदि कहो कि देह में हुआ, तो क्या देह आत्मा से पृथक् है। यदि कहो कि आत्मा में तो क्या आत्मा देह से पृथक् है। किसी भी पामर ने देह, आत्मा पृथक् देखी नहीं है तो प्रेम किसमें हुआ ? यदि जो देह में हुआ, तो उसका हेतु कहो। इस पर नन्म श्लोक कहते हैं।

श्लोकः — देहात्मवादिनां पुंसामपि राजन्यसत्तम ।

यथा देहः प्रियतमस्तथा न ह्यनु ये च तम् ॥ ५२ ॥

श्लोकार्थ — हे राज सत्तम ! जो पुरुष देह को ही आत्मा मानते हैं, उनको भी जैसे देह प्यारी है, वैसे देह के पीछे लगे हुए पुत्र, धन, आदि प्यारे नहीं होते हैं ।

सुबोधिनी — अस्ति देहव्यतिरिक्त आत्मा पाशराणामपि वादिनां, राजन्यसत्तमेतिसम्बोधनं स्नेहार्थं, यथा देहः मते, तथाप्यङ्गीकृत्याप्युच्यते देह एव आत्मा येषामपि प्रियतमो न तथा पुत्रादयः ॥ ५२ ॥

व्याख्यार्थ — यद्यपि पामारों के मत में भी देह से आत्मा पृथक् है, तो भी उनके देह को ही, आत्मा मानना स्वीकार कर, कहा जाता है कि देह को आत्मा मानने वालों को भी जैसी देह अति प्यारी है, वैसे पुत्रादिक नहीं है । राजा को 'राजन्य सत्तम' सम्बोधन शुकदेवजी ने राजा में अपने स्नेह को प्रकट करने के लिये दिया है ॥ ५२ ॥

श्लोकः — देहोपि ममताभाक् चेत् तर्ह्यसौ नात्मवत् प्रियः ।

यज्जीर्यत्यपि देहेस्मिञ् जीविताशा बलीयसी ॥ ५३ ॥

श्लोकार्थ — यहि देह भी ममता का स्थान हो जाए तो यह देह आत्मा के समान प्रिय नहीं रहती, क्योंकि जब देह बहुत जीर्ण हो जाती है मरने का भी निश्चय हो जाता है तो भी जाने की बलवती आशा रहती है ।

सुबोधिनी — पश्चादल्पविवेकेन देहोपि ममताभाक् प्राणवन्न देहः प्रियः, यज्जीर्यत्यपि देहेस्मिन्नपि देहे चेत् तर्ह्यसावेव देह आत्मवत् पूर्वानुभूतदेहवदहमपिपान- बलीयसी तस्य जीविताशा ॥ ५३ ॥  
युक्तदेहवत् प्रियो न भवति, किञ्च प्राणश्चेदात्मा तदापि

व्याख्यार्थ — जीव के स्वल्प भी विवेक जब आ जाता है, तब वह समझने लगता है कि मैं देह नहीं हूँ किन्तु देह मेरी है । इस विवेक से जीव को पहले, मैं देह हूँ, इस प्रकार के ज्ञान से, जो देह में प्रेम होता था वह अब नहीं होता है, क्योंकि उसको ज्ञान हो गया है कि मैं देह नहीं हूँ और प्राण ही आत्मा है । इस प्रकार जब मानता है, तब प्राण के समान, देह प्रिय नहीं रहती है । देह जीर्ण होती है । (बेकार हो जाती है) तो भी जीने की आशा बलवती ही रहती है कारण कि देह से प्राण (आत्मा) प्यारे होते हैं ॥ ५३ ॥

श्लोकः — तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।

तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ॥ ५४ ॥

**श्लोकार्थ** — इससे सिद्ध होता है कि सब प्राणियों<sup>१</sup> को अपनी आत्मा ही अति प्रिय है। यह समस्त जड़ और चेतन जगत् उसके लिए ही है।

**सुबोधिनी** — तस्मादात्मा प्रिय इत्यविवादं, तदर्थं चान्यत् ॥ ५४ ॥

**व्याख्यार्थ** — इससे (उपरोक्त कहे हुए ज्ञान से) निश्चय है कि आत्मा<sup>२</sup> \* प्रिय है, इसमें किसी प्रकार का विवाद<sup>३</sup> नहीं है उस (भगवान्) के लिये ही दूसरे सब हैं ॥ ५४ ॥

**आभास** — स चात्मा कृष्ण एवेत्याह कृष्णमेनमिति ।

**आभासार्थ** — इस निम्न श्लोक में स्पष्ट करते हैं कि वह आत्मा भगवान् श्रीकृष्ण ही है।

**श्लोकः** — कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।  
जगद्धिताय सोप्यत्र देहीवाभाति मायया ॥ ५५ ॥

**श्लोकार्थ** — इस श्रीकृष्ण को तुम सब आत्माओं की आत्मा समझो वह भी जगत् के कल्याणार्थ यहाँ देही के समान माया से भासते हैं।

**सुबोधिनी** — अखिलात्मनामयमात्मा, अस्मैव स्नेहः भासन्त इति, ननु कृष्ण कथमात्मा ? तत्राह जगद्धितायेति, सहजो धर्म एतद्विषयकस्तदंशः पश्चादन्यत्र गच्छति तदंशेषु, केवलं जगद्रक्षार्थं मायया देहीवाभाति वस्तुतस्तु ब्रह्मैव एतन् मैत्रेयीब्राह्मणे वाक्यान्वयादित्यधिकरणे ॥ ५५ ॥  
स्पष्टमस्माभिर्बुद्ध्यादितं, भगवद्धर्मा एवान्यत्र कार्येण च

**व्याख्यार्थ** — यह श्रीकृष्ण, सकल आत्माओं<sup>४</sup> की आत्मा है। इसमें ही जीवों का सहज<sup>५</sup> प्रेम होता है क्योंकि प्रेम भगवान् का ही स्वाभाविक धर्म है। भगवान् के उस स्वाभाविक धर्म (प्रेम) का अंश दूसरों में (उनके अंशों में, जीवों में) पीछे उत्पन्न होता है। इस विषय को हमने मैत्रेयी ब्राह्मण में 'वाक्यान्वयात्' इस सूत्र से स्पष्ट सिद्ध किया है। दूसरे कार्यों में, वा अंशों में, जो धर्म देखने में आते हैं, वे भगवान् के ही धर्म हैं। कृष्ण को आप सब की आत्मा कैसे कहते हो ? इस शङ्का को मिटाने के लिये श्लोक के उत्तरार्थ में कहते हैं कि केवल जगत् की

\* सबकी आत्मा भगवान् है। जीव सबकी आत्मा नहीं है अतः अपनी आत्मा कहने का तात्पर्य है कि जीव की जो आत्मा है वह प्रिय है।

भगवान् के लिये ही सब है का तात्पर्य है कि भगवान् के क्रीडार्थ और सेवार्थ सकल पदार्थ हैं न कि जीव के लिए अतः जीव को सब पदार्थों का भगवान् की सेवा में उपयोग करना चाहिये - अनुवादक।

१—जीवों । २—भगवान् । ३—झगड़ । ४—जीवों । ५—स्वाभाविक (कुदरती)

रक्षा करने के लिये, माया से, मनुष्य के समान प्रतीति होते हैं, किन्तु वस्तुतः वे ब्रह्म ही हैं ॥ ५५ ॥

श्लोकः — वस्तुतो जानतामत्र कृष्णं स्थाष्णु चरिष्णु च ।

भगवद्रूपमपरं नान्यद् वस्त्विह किञ्चन ॥ ५६ ॥

श्लोकार्थ — वस्तुतः<sup>१</sup> सर्व जगत के कारण श्रीकृष्ण ही हैं । इस प्रकार के ज्ञानियों को, सब चर और अचर जगत्, भगवान् का अपर रूप दीखता है क्योंकि कोई भी वस्तु भगवान् से भिन्न<sup>२</sup> नहीं है ।

सुबोधिनी — किञ्च कृष्णं जानतां सर्वमेव कृष्णरूपमपरं जगत्, अतो महापुरुषप्रतीत्यापि कृष्णो, स्थावरजङ्गमात्मकं भगवद्रूपं भाति यदन्यन् नास्त्येव किञ्चन, भगवान्, "यस्मिन् विदिते सर्वमिदं विदितं भवती" ति किञ्चन, ननु भगवतः कथमेवमूपम् ? तत्राहापरमिति, परं तदैव सङ्गच्छते ॥ ५६ ॥

व्याख्यानार्थ — श्रीकृष्ण के स्वरूप को वास्तविक रीति से जानने वालों को, सब ही स्थावर और जंगम भगवान् का ही रूप दीखता है; क्योंकि उसके अतिरिक्त दूसरा कुछ है ही नहीं । भगवान् का ऐसा रूप कैसे है ? इसके उत्तर में श्लोक में कहते हैं कि 'अपरं' कृष्ण का एक रूप 'पर' है और दूसरा 'अपर' है । 'पर' रूप तो अलौलिक आनन्द मय है और यह 'अपर' तिरोहितानन्द स्वरूप है । अतः महान् पुरुषों की प्रतीति<sup>३</sup> से भी श्रीकृष्ण भगवान् हैं । 'यस्मिन् विदित सर्वमिदं' विभाति' (जिसको जानने से सब का ज्ञान हो जाता है) यह श्रुति भीत भी ही चरितार्थ वाली होती है ॥ ५६ ॥

आभास — किञ्च न केवलं सर्वस्य भगवत्त्वे महतां दृष्टिरेव प्रमाणमपि तु युक्तिरप्यत आह सर्वेषामिति ।

आभासार्थ — सर्व 'भगवान्' है इसमें केवल महापुरुषों की दृष्टि ही प्रमाण नहीं है किन्तु युक्ति भी इसको सिद्ध करती है यह निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोकः — सर्वेषामेव भावानां भावार्थो भवति स्थितः ।

तस्यापि भगवान् कृष्णः किमतद् वस्तुरूप्यताम् ॥ ५७ ॥

श्लोकार्थ — सर्व पदार्थों (कार्यों) का कारण होता है तब सब कार्यों के कारणों

का कारण आप में स्थित है अर्थात् मूल कारण आप श्रीकृष्ण भगवान् हो। उस (भगवान् श्रीकृष्ण) से पृथक् कोई वस्तु नहीं है। जो पृथक् है ? तो बताओ।

सुबोधिनी — सर्वपदार्थानामबाधितोर्थो भवति कारणे कारणं तत्त्वं भगवानेव, अतद् भगवद्व्यतिरिक्तं वस्तु किं स्थितः कारणातिरिक्तं कार्यं नास्तीति, तस्य कारणस्यापि निरूप्यताम् ॥ ५७ ॥

व्याख्यार्थ — सर्व पदार्थों का अबाधित<sup>१</sup> अर्थ उसके कारण में स्थित होता है। कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता है। उस कारण का भी कारण तत्त्व भगवान् ही है। भगवान् से पृथक् कोई वस्तु नहीं है, तो बताओ ॥ ५७ ॥

आभास — स्नेहोपि धर्मो जगद्धत् पूर्वमुत्पन्नोतो भगवत्येव युज्यत इति प्रसङ्गात् तस्य कारणत्वमुक्तं, सर्वपुरुषार्थरूपत्वाच्च तस्मिन् स्नेह इत्याह समाश्रिता इति।

आभासार्थ — स्नेह भी धर्म है। वह जगत् के समान पहले उत्पन्न हुआ है। इसलिये वह प्रेम, भगवान् में ही होना चाहिये। इस प्रकार प्रसङ्ग से उसको कारण कहा। सर्व पुरुषार्थ रूप होने से उसमें स्वतः स्नेह होता है - यह निम्न श्लोक में कहते हैं।

श्लोकः — समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत् पदं पुण्ययशो मुखरेः।

भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद् विपदां न तेषाम् ॥ ५८ ॥

श्लोकार्थ — भगवान् के पुण्य यश वाले चरण का जिनने आश्रय लिया है और चरण कैवल रूप नौका ही जिनका परम पद है उनके लिये यह संसार - समुद्र, बछड़े के खुर के समान है एवं वही पद (उद्यम) है। विपत्तियों का स्थान (बार - बार जन्म लेना) उनके लिए पद (उद्यम) नहीं है।

सुबोधिनी — ये मुखरेः पदं समाश्रिताः पुण्यं पदं तेषां भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं तु विपदां यत् पदं यशो यस्य पदपल्लव एव प्लवस्तत् स्वभावतोपि महत् न तत् तेषां पदम् ॥ ५८ ॥

व्याख्यार्थ — जो मुर दैत्य के शत्रु के चरणों के आश्रित हैं, जो चरण पुण्य कीर्ति वाले हैं। चरण कमल की नौका है, वह नौका स्वभाव से महत् पद<sup>३</sup> है उन चरणाश्रितों के लिये संसार - समुद्र पार करना वत्स पद को उल्लङ्घन करने के समान सरल है। वही उनका परम पद<sup>४</sup> है। विपत्तियों का पद (पुनर्जन्म लेना) उनका पद<sup>४</sup> नहीं है ॥ ५८ ॥

आभास — उपसंहरत्येतत् त इति।

आभासार्थ — निम्न श्लोक से विषय का उपसंहार<sup>१</sup> करते हैं ।

श्लोकः — एतत् ते सर्वमाख्यातं यत् पृष्टोहमिह त्वया ।

यत् कौमारे हरिकृतं जगुःपौगण्डकेर्भकाः ॥ ५९ ॥

श्लोकार्थ — भगवान् ने कौमार अवस्था में जो चरित्र किया वह बालकों ने पौगण्ड अवस्था में कहा । इस विषय में जो तुमने पूछा था वह सब मैंने तुमको कह दिया ।

सुबोधिनी — कौमारे यद्घरिणा कृतं तत् पौगण्डे परिकीर्तितमित्यत्र, तत्रानुपपत्तिः परिहृतेत्यर्थः ॥ ५९ ॥

व्याख्यार्थ — कौमार अवस्था में हरि ने जो किया वह पौगण्ड अवस्था में कहा । इस प्रकार के जो प्रश्न प्रक्षिप्त (पहले अध्याय के ४१ वें व ४२ वें श्लोक में किये थे उन सबका तुमको उत्तर दिया । उस विषय में जो अयोग्यता समझी जाती थी यह समग्र प्रकरण कहकर, उसका निवारण किया ॥ ५९ ॥

आभास — अध्यायत्रयश्रवणकीर्तनयोः फलमाहैतदिति ।

आभासार्थ — इन तीन अध्यायों के श्रवण और कीर्तन के फल का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — एतत् सुहृद्भिश्चरितं मुरारेरधार्दनं शाङ्खलजेमनं च ।

व्यक्तेतरमूपमजोर्वभिष्टवं शृण्वन् गृणन्नेतिनरोखिलार्थान् ॥ ६० ॥

श्लोकार्थ — भगवान् ने मित्रों के साथ जो चरित्र<sup>२</sup> किये, अघासुर को मारा, हरियाली भूमि पर भोजन किया, प्रकट रूप से अन्य स्वरूप का दर्शन, ब्रह्माजी की करी हुई स्तुति आदि सर्व चरित्रों को श्रवण और कीर्तन करने वाले पुरुष के सर्व मनोरथ सिद्ध होते हैं ।

सुबोधिनी — आदौ मुरारेः सुहृदां बालकानां चरितं मजस्योर्वभिष्टवं स्तोत्रं, एतत् सर्वं शृण्वन् गृणन्नपि पुरुषार्थान् क्रीड्य ततोऽधार्दनं ततः शाङ्खले जेमनं भोजनं चकाराद प्राप्नोति ॥ ६० ॥  
वत्सापहरणं, व्यक्तादितरमव्यक्तमलौकिकं भगवद्रूप-



व्याख्यार्थ — आदि में अर्थात् पहले मुरारि का बालकों के साथ किया हुआ रमण चरित्र पश्चात् अघासुर का वध, हरियाली भूमि पर भोजन करना, 'च' शब्द से वत्सों को चुराना और भगवान् के इस प्रकट रूप से अन्य रूप जो अदृश्य अलौकिक हैं उनका दर्शन, ब्रह्माजी ने जो विशेष स्तुति की है, इन सर्व विषयों को सुनने वाला और कीर्तन करनेवाला भी सर्व पुरुषार्थों को प्राप्त करता है ॥ ६० ॥\*

इति श्रीमद्भागवत् महापुराण, दशम-स्कन्ध (पूर्वार्ध) के चौदहवें अध्याय की  
श्रीमद्वल्सभाचार्य चरणविरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तीन  
प्रक्षिप्त अध्यायों का अन्तिम अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।

---

\* टिप्पणी — इसके अनन्तर का 'एवं विहारः कौमारैः' यह श्लोक एकादश अध्याय में आया हुआ है अतः इसको पुनः आचार्यश्री ने यहाँ नहीं लिया है और न पुनः इसके अर्थ की आवश्यकता है —अनुवादक ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीवाक्यतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ❖ श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमः स्कन्धः ( पूर्वार्धः )

### तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणम्

‘प्रथमोऽध्यायः’

श्री सुबोधिनी अनुसार द्वादश अध्याय

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार पञ्चदश अध्याय

कारिका — यशोदानन्दयोरेवं निरोधः सुनिरूपितः ।

गोपालानां निरोधोऽत्र सस्त्रीकाणां निरूप्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ — इस प्रकार (तामस-प्रमाण उपकरण में) यशोदा और नन्दजी का निरोध अच्छे प्रकार से निरूपण कर, इस (प्रमेय-प्रकरण) में स्त्रियों सहित गोपों के निरोध का निरूपण करते हैं ।

व्याख्यानार्थ — तामस प्रमाण अवांतर प्रकरण में यशोदा तथा नन्दजी के निरोध का मुख्य रूप में पूर्णतया वर्णन किया हुआ है । गौण रूप से प्रसंग आने पर गोप एवं गोपियों का भी निरोध

है । अब इस तामस प्रमेय प्रकरण के १२ से १८ तक के सातों अध्यायों में मुख्य रूप से गोप और उनकी स्त्रियों का निरोध वर्णन किया गया है ॥ १ ॥

कारिका — मध्यमोऽयं समस्तानां निरोधः परिकीर्त्यते ।

पञ्चधैवानुभावोऽत्र दुष्टनिग्रहरूपवान् ॥ २ ॥

**कारिकार्थ —** यहाँ (प्रमेय प्रकरण में) सबके जिस निरोध का वर्णन किया जाता है वह (निरोध) मध्यम निरोध है । दुष्टों का निग्रह रूप प्रभाव पाँच प्रकार का ही यहाँ निरूपण करते हैं ।

**व्याख्या —** गोप शब्द से यहाँ भगवान् के मित्र समझने चाहिये और गोप की स्त्रियाँ शब्द से गोपियाँ समझनी चाहिये । इनके जिस निरोध का यहाँ वर्णन किया गया है वह मध्यम निरोध है, क्योंकि प्रमाण उप-प्रकरण में किए हुए निरोध से यह विशेष है और इससे भी विशेष निरोध साधन उप-प्रकरण में किया जायगा, अतः इसे मध्यम निरोध कहते हैं । इस उप-प्रकरण के (१२ से १६) ५ अध्यायों में भगवान् का दुष्ट निग्रह करने से, पाँच प्रकार का प्रभाव कहने में आया है ।

पाँच अध्यायों में जिन पाँच दुष्टों का भगवान् ने निग्रह किया है, उनके यह नाम हैं - १-धेनुकासुर, २-कालीयनाग, ३-पहली दावाग्नि, ४-प्रलम्बासुर और ५-दूसरी दावाग्नि । ये पाँचों अविद्या के पाँच पर्व रूप हैं । जैसा कि १-धेनुकासुर देहाध्यास का रूप है जिससे मनुष्य को यह भ्रान्ति होती है कि देह ही मैं हूँ । २-कालीय सर्प, इन्द्रियाध्यास का रूप है जिससे मनुष्य समझता है कि मैं इन्द्रिय रूप हूँ । ३-प्रथम दावाग्नि प्राणाध्यास रूप है जिससे प्राण को ही अपना रूप माना जाता है । ४-प्रलम्बासुर - अन्तःकरणाध्यास रूप है जिससे अन्तःकरण ही मैं हूँ, ऐसा निश्चय हो जाता है । ५-द्वितीय दावाग्नि स्वरूप विस्मृति रूप है, जिससे मनुष्य अपने आत्मरूप को भूल जाता है । इस प्रकार इन पाँच दुष्टों के जाल में फँसे हुआँ को छुड़ाने के लिए इन पाँचों को भगवान् ने निग्रह कर गोप गोपियों का निरोध किया है जिससे इस उप-प्रकरण में भगवान् का प्रभाव निरूपण हुआ है । कृष्णोपनिषद् में 'लोभादिकों' को दैत्य कहा गया है । तदनुसार यहाँ भी अविद्या के पाँच पर्वों ने धेनुकासुरादि रूप धारण किए हैं उनका नाश कर भगवान् ने अविद्या को नष्ट किया है । यही भगवान् का प्रभाव है ॥ २ ॥

कारिका — आध्यात्मिकीमविद्यां वै दूरीकर्तुं तथाकृतिः ।

तदर्थं क्रमतोऽध्याया उभयेषां तथा द्वयम् ॥ ३ ॥

स्नेहाधिक्यसुसिद्ध्यर्थं स्नेहान्तो मध्यमः स्मृतः ।

प्रथमं द्वादशेऽध्याये देहाध्यासो हि धेनुकः ॥ ४ ॥

**कारिकार्थ** — आध्यात्मिकी अविद्या को दूर करने के लिए ही भगवान् की ऐसी कृति है इसलिए क्रम पूर्वक पाँच अध्याय कहे गए हैं। शेष दो अध्याय दोनों (गोप और उनकी स्त्रियों) के अधिक स्नेह की सिद्धि के लिए कहे हैं, मध्यम निरोध का फल स्नेह है। प्रथम( द्वादश) अध्याय में धेनुक को देहाध्यास कहा गया है ॥ ३-४ ॥

**व्याख्या** — अविद्या, आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक होने से तीन प्रकार की है। स्थूल शरीर में जिससे अध्यास होता है वह अविद्या आधिभौतिक है। उस आधिभौतिक अविद्या का रूप पूतना थी। जिसका नाश प्रमाण उप-प्रकरण में भगवान् ने किया है जिससे स्थूल देहाध्यास रूप अविद्या ब्रजवासियों की नष्ट हुई। अब इस प्रमेय उप-प्रकरण में भगवान् सूक्ष्म (लिङ्ग) शरीराध्यास रूप आध्यात्मिक अविद्या का नाश करेंगे। यह अविद्या तब नष्ट होगी, जब इसके देहाध्यासादि पाँच पर्वरूप धेनुकासुरादि पाँच दुष्टों (दैत्यों) का नाश होगा। भगवान् ने इस प्रकरण के, एक एक अध्याय में, एक एक दैत्य का नाश किया है, इस प्रकार १२ से १६ तक के पाँच अध्यायों में पाँचों का नाश कर, भगवान् ने ब्रजवासियों की आध्यात्मिक अविद्या नाश की है। १७ वें और १८ वें इन दो अध्यायों में भगवान् के मित्र गोप और उनकी स्त्रियों के निरोध का वर्णन है। इन दोनों का निरोध, अन्य ब्रजवासियों से पृथक् निरूपण करने का कारण यह है कि इन दोनों में उन (ब्रजवासियों) से भगवान् में स्नेह विशेष था। जिस निरोध का फल स्नेह † (आसक्ति) है, वह निरोध मध्यम कहा जाता है। इस उप-प्रकरण में 'स्नेह' शब्द का तात्पर्य "आसक्ति" से है। कारण कि तामस प्रमाण उप-प्रकरण में की हुई लीलाओं से, ब्रजवासियों का भगवान् में स्नेह हो जाने से उनको प्रमेय (भगवान्) की प्राप्ति हो गई, जिससे इस उप-प्रकरण में भगवान् ने साधनों की अपेक्षा न रख कर, अपने प्रमेय बल से, इनका मध्यम निरोध सिद्ध किया है।

आचार्य श्री ने 'तत्त्वदीप निबन्ध' के भागवतार्थ प्रकरण, के दशम स्कन्ध की कारिका ५९वीं, ६०वीं में निरोध ४ प्रकार के कहे हैं।

द्वादश अध्याय में बताया है कि धेनुक दैत्य, देहाध्यास है। ५ वें से ८ वें श्लोकों तक लीला के सम्बन्धी सर्व वस्तुओं का ज्ञान भगवान् ने ब्रजवासियों को कराया। तदनन्तर ९वें से १८ वें श्लोकों तक दश रस पूर्ण लीलाओं के अनुभव कराए। इस प्रकार के अनुभव में, इन लोगों का भगवान् में भाव जागृत हुआ, जिससे उनको देह आदि का विस्मरण भी हो गया। यह भाव स्वल्प समय के लिए नहीं जगा था, किन्तु सदैव के लिए उत्पन्न हो गया था। वह कभी भी कम न हो, इसलिए भगवान् ने दश विध रस वाली लीला रूप, धेनुक-देहाध्यास-को पहले नष्ट किया।

† निरोध चार प्रकार का है, १-स्नेह, २-आसक्ति, ३-व्यसन और, ४-फल।

प्रमाण उप-प्रकरण में, स्नेहात्मक निरोध का वर्णन है। अ. ५ से ११ तक

प्रमेय उप-प्रकरण में, आसक्तिरूप निरोध का वर्णन है। अ. १२ से १८ तक

साधन उप-प्रकरण में, व्यसन रूप निरोध का वर्णन है। अ. १९ से २५ तक

और फल उप-प्रकरण में फल रूप निरोध का वर्णन है। अ. २६ से ३२ तक

जिन लोगों का आग्रह है, कि अविद्या, देहाध्यास कराती है, उनको श्री विठ्ठलेश्वर प्रभुचरण 'दुर्जन-परितोष न्याय' से कहते हैं कि आप धेनुक को ही, अविद्यारूप समझो । आपके मतानुसार अविद्या, देह में अध्यास कराके लौकिक में प्रवृत्ति और भगवद् भजन में विघ्न डालती है, वही कार्य धेनुक कराता है, जैसे गोप वन में जाकर भगवद्भजन करना चाहते थे, उस समय धेनुक उसमें विघ्न करता था अतः धेनुक देहाध्यास रूप है यह निश्चित सिद्धान्त है ॥ ३-४ ॥

**कारिका — तद्वधो ज्ञानपूर्वो हि फलावधि निरूप्यते ।**

**कालीय इन्द्रियाण्याहुर्विषयास्तद्विषं मतम् ॥ ५ ॥**

**कारिकार्थ —** ज्ञान पूर्वक फल की प्राप्ति होने तक उस (धेनुक) के वध का निरूपण किया गया है । मनुष्य की इन्द्रियाँ कालीय सर्प के विष के समान हैं ॥ ५ ॥

**व्याख्यार्थ —** जब तक ज्ञान पूर्वक फल की प्राप्ति हुई, तब तक धेनुक के वध का निरूपण होने से सिद्ध है, कि धेनुक देहाध्यास था । जैसे तत्त्वज्ञान से, देहाध्यास का नाश होता है । यह तत्त्वज्ञान तब होता है, जब आत्मा में पूर्ण प्रेम उत्पन्न हो । वैसे ही गोपों को भगवान् की लीलारस का अनुभव होने से, उस रस के विशेष पान करने की तीव्र इच्छा हुई, जिससे उन्होंने धेनुक के वन में, भगवान् की भक्ति करने के लिए वहाँ जाने की, भगवान् को प्रार्थना की । वहाँ जाकर विशेष रस का अनुभव किया, जिससे तत्त्वज्ञान की तरह, यहाँ भी गोपों का देहाध्यास नष्ट हो गया अर्थात् धेनुक का नाश हुआ ।

ये सर्व वृक्षादि पदार्थ लीला सम्बन्धी हैं और लीला दश रसों वाली है, इसका अनुभव और इस प्रकार का ज्ञान, गोपों को हुआ तदन्तर धेनुक का (देहाध्यास का) नाश हुआ ।

धेनुक (देहाध्यास) के नाश से, जो उत्तम फल प्राप्त होता है, वह गोपों को भी प्राप्त हुआ । जैसे कि धेनुक के मरने पर, वे निर्भय हुए और निडर होकर, वन के फल खाने लगे । देहाध्यास नष्ट होते ही, विष युक्त यमुना जल पान करने से, प्राण त्याग किया तब भगवान् ने अपनी अमृतमयी दृष्टि की वर्षा से उनको जीवन दान देकर अलौकिक देह की प्राप्ति करा दी ॥ ५ ॥

**कारिका — ततः सर्वविनाशः स्यादित्यन्ते मरणाभिधा ।**

**ततश्चेज्जीविताः सर्वे पुनर्देहान्तरस्थितिः ॥ ६ ॥**

**कारिकार्थ —** उससे (विष से) सर्व का नाश होता है इसलिए अन्त में मरण कहा है । मरणानन्तर, जीने पर दूसरे देह की प्राप्ति समझनी चाहिए ॥ ६ ॥

**व्याख्यार्थ —** जैसे सर्प के विष से, मरण होता है वैसे ही विषय रूप विष से, जीर्ण शीर्ण इन्द्रियों से मृत्यु होती है । अतः इन्द्रियाँ कालीय सर्प के समान हैं और विषय विष जैसे हैं ।

आध्यात्मिक अविद्या को नाश करने के लिए, धेनुकादि का भगवान् ने प्रथम निग्रह किया है। लिंग शरीर में, जो अध्यास होता है, वह आध्यात्मिक अविद्या से होता है। जब तक आध्यात्मिक अविद्या नष्ट नहीं होगी तब तक प्राकृत लिंग शरीर का भी नाश न होगा। भगवान् को इनके प्राकृत लिंग शरीर का नाश करना है, अतः ये कालीय के विष से युक्त यमुनाजी का जल पीते हैं, जिससे मृत्यु को प्राप्त होते हैं। उनका प्राकृत लिंग शरीर नष्ट हो जाता है। भगवान् अपनी अमृतमयी दृष्टि वृष्टि से उनको अलौकिक देह का दान करते हैं। वह अलौकिक देह, लीलोपयोगी होती है। यह देह प्रारब्ध कर्म से उत्पन्न नहीं हुई है, कारण कि, लिंग शरीर के नाश से उनके प्रारब्ध कर्म भी नष्ट हो गए थे।

लीला के उपयोगी भक्तों का जीवन, अलौकिक ही होता है। जैसे लीला में स्थित वृक्षादिकों का अलौकिक स्वरूप, भगवान् ने बलदेवजी को दिखाया वैसे ही गोपों का स्वरूप भी, अपनी कृति से दिखाने के लिए, प्रथम उनमें लौकिक भाव की स्थापना की थी। उनका देहाध्यास नाश कर, उनके अलौकिक देह का दान किया। वास्तव में तो, लीला के जीवों में, प्राकृतता कभी भी नहीं होती है। उनमें सदैव भगवद्भाव ही बना रहता है।

कारिकार्थ व्याख्या सहित सम्पूर्ण।

कारिकाओं द्वारा प्रथमाध्याय का अर्थ समझाकर अब श्लोकार्थ प्रारम्भ करते हैं।

**आभास —** तत्र प्रथमं ज्ञानं निरूपयन् भगवान् देशशुद्धिं वनप्रवेशं वनक्रीडायां मनश्च कृतवानित्याह त्रिभिः ततश्चेति, वन एव ज्ञानं सात्त्विकत्वात् तत्रोद्देगो न भवतीति तत्र क्रीडायां मनौ निरूपणीयं प्रवेशश्च ग्रामाद् भिन्नप्रक्रमार्थो वक्तव्यः, तत्र प्रथमं भगवतो मध्यमलीलायां वृन्दावनस्य दैत्यभूयिष्ठत्वाच्छुद्धिमाह तत इति,

**आभासार्थ —** ज्ञान का निरूपण करते हुए, प्रथम भगवान् ने (१) देश की शुद्धि (२) वन में प्रवेश और (३) वन में क्रीडा करने का मन किया। इसका वर्णन क्रम पूर्वक तीन श्लोकों से करते हैं, ज्ञान सात्त्विक होने से, सात्त्विक स्थान पर ही उत्पन्न होता है। वन सात्त्विक है अतः वहाँ ही ज्ञान होगा वहाँ उद्देग भी न होगा, इसलिए वहाँ भिन्न प्रकार से\* प्रवेश और क्रीडा करने का मन किया†। इस उप-प्रकरण में, मध्यम लीला के प्रारम्भ में, देशशुद्धि की आवश्यकता है कारण कि, वृन्दावन में दैत्यों का बाहुल्य है, अतः प्रथम श्लोक में देश की शुद्धि का वर्णन है।

\* ११ वें अध्याय में भी वन लीला कही है। वह गाँव के सम्बन्ध वाली होने से, वैसी नहीं थी जैसी यह है। अतः यहाँ पृथक् प्रकार से प्रवेश किया। 'लेख'

† धेनुक का वध ज्ञान पूर्वक करना है, इसलिए ज्ञान का निरूपण आवश्यक है। किन्तु यहाँ वन प्रवेश आदि का वर्णन प्रथम इसलिए किया है कि ज्ञान सात्त्विक स्थान में उद्भव होता है। वन सात्त्विक स्थान है वहाँ ज्ञान का वर्णन उद्देग बिना होगा। 'प्रकाश'

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — ततश्च पौगण्डवयः श्रितौ व्रजे बभूवतुस्तौ पशुपालसम्मतौ ।  
गाश्चारयन्तौ सखिभिः समं पदैर्वृन्दावनं पुण्यमतीव चक्रतुः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी कहने लगे कि - फिर पौगण्ड आयु को प्राप्त हुए, वे दोनों भ्राता, व्रज में पशुपालों के मान्य हुए । सखाओं के साथ गौओं को चराते हुए अपने चरणारविन्दों से वृन्दावन को विशेष पवित्र करते थे ।

सुबोधिनी — पौगण्ड वयः षष्ठवर्षमारभ्य नववर्षपर्यन्तं, पुरुषार्थचतुष्टयसाधककालाभिमानिन्यो देवता भगवन्तं सेवितुमागताः पौगण्डशब्देनोच्यन्ते, दोषाभावः प्रथमं निरूपणीय इति पञ्चात्मकः कालः पूर्वं निरूपितः, ततस्तदनन्तरं पौगण्डमेव वयस्तारुण्यमिव श्रितौ व्रजे पशुपालानां सम्मतौ बभूवतुः पशूनां पालने वा योग्यौ, तौ रामकृष्णौ साधारणं चरित्रमुभयोरिति अतो गाश्चारयन्तौ सखिभिः सख्यपर्यन्तमागतैर्बालकैर्गोरक्षा धर्मः स तैः कार्यतेऽन्यथा सख्यपर्यन्तं गता यदि विक्षिप्ता भवेयुस्तदा

वैकुण्ठे नयनलक्षणमात्मसमर्पणं नोपद्येन्, सखिभिः समं, समं वा वृन्दावनमतीव पुण्यं चक्रतुः, समत्वाद् यागभूमिरेषा, इदानीं पुण्यरूपैव जाता, पदैः पादन्यासैः, पादयोः पुण्यनिकायोऽस्तीति पूर्वमवोचाम, पुण्यं हौहिकपारलौकिकसाधनं कामानुरूपफलदं च, इदमपि निःसाधनानां स्वयमेव भगवत्प्राप्तिसाधनरूपं लीलाविशिष्टं सत् स्वतः फलरूपं, अयमेवातिशयो ज्ञेयः, कामाभावेऽपि भगवत्प्रापकं च ॥ १ ॥

व्याख्यानार्थ — छठे वर्ष पर्यन्त की आयु, 'पौगण्ड' कही जाती है । 'पौगण्ड' शब्द का भावार्थ यह है कि उस आयु में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाली, कालाभिमानी देवता इस काल में भगवान् की सेवा करने के लिये आए हैं । प्रथम भगवान् में दोषों का अभाव\* है, इसका निरूपण करना चाहिए । इसलिए प्रमाण उप-प्रकरण में पाँच वर्ष भगवान् की

\* श्री विठ्ठलेश्वर प्रभुचरण, 'टिप्पणी' में इसका स्पष्ट विवेचन करते हुए कहते हैं कि, प्रभु में दोष लेश भी नहीं है, क्योंकि जैसे प्राणियों के देह में, देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण और जीव ये पाँच पृथक् पृथक् होते हैं, वैसे ही भगवान् में भी प्रतीत होते हैं जिससे पुरुष की तरह भगवान् भी दोष वाले हैं । इन पाँचों का अभाव सिद्ध हो जाय तो दोषाभाव हो, अन्यथा दोष सिद्ध है ही । इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि - भगवान् में देह आदि, पाँचों का अभाव 'प्रमाण' उप-प्रकरण में सिद्ध हो गया है । भगवान् में जैसे इन दोषों का अभाव सिद्ध है, वैसे ही भगवान् के भक्तों में ये दोष नहीं हैं । यदि भक्तों में दोष होते, तो भगवान् उनको अपना सखा न बनाते । वह सखापन लीला द्वारा, वहाँ कहा गया है, और जैसा श्रीकृष्ण का प्राकट्य उत्सव मनाया गया हो वैसा "ही" जीव का नहीं मनाया जाता है । इसके सिवाय पूतना

आयु के काल का वर्णन पहले ही किया गया है। इसके अनन्तर दोनों भ्राताओं ने तारुण्य<sup>१</sup> के सदृश पौगण्डवय<sup>२</sup> धारण की और पशुपालों<sup>३</sup> के मान्य हुए अथवा पशुओं (गौओं) के पालन करने के योग्य हो गए। यह (गौचारण) चरित्र साधारण चरित्र होने के कारण दोनों का चरित्र साथ में वर्णन किया है। सख्य<sup>४</sup> पर्यन्त आए हुए गोपबालक सखाओं के साथ गौओं को चराने लगे। इन गोपबालकों से उनका गौपालन धर्म कराने लगे, यदि वे उस धर्म का पालन न करें तो उनके चित्तों में विक्षेप पैदा हो जाए, जिससे वैकुण्ठ में ले जाने के लक्षणवाला आत्म-समर्पण उनका सिद्ध नहीं हो सकता।<sup>†</sup> इससे ये दोनों, सखाओं की गौओं को चराते हुए अपने पदारविन्दों से वृन्दावन को पुण्य रूप करने लगे। पहले यह वृन्दावन भूमि सम होने से, केवल यज्ञ भूमि थी। अब पुण्य स्थान रूप चरणारविन्दों के स्पर्श से, पुण्य रूप भी हो गई। इस लोक और परलोक के धर्म के साधन और कामना के अनुरूप

का नाश और मुक्ति दान का कार्य जीव नहीं कर सकता है। अतः श्रीकृष्ण भगवान् हैं, जीव नहीं हैं। अपनी बुराई करने वाले के लिए ब्रह्मादिकों को दुर्लभ पुरुषार्थ के हेतु वाला कृपायुक्त अन्तःकरण, भगवान् के सिवाय दूसरे का नहीं हो सकता है। जहाँ भी कृपा आदि श्रेष्ठता देखने में आती है, वहाँ स्वार्थ का उल्लङ्घन नहीं होता है। यहाँ तो स्वार्थ का उल्लङ्घन करते हुए भी कृपा की गई है। पूतना के विष युक्त स्तन्य सम्बन्ध होने पर प्राणों की रक्षा हो नहीं सकती थी किन्तु यहाँ उसका कुछ भी प्रभाव न हुआ। अतः भगवान् में न अन्तःकरण दोष है और न प्राण दोष है। इसलिए ही भगवान् को दुर्जर वीर्य कहा जाता है अर्थात् जिसकी वीर्य शक्ति कभी कम न हो। प्राण रक्षार्थ माता के स्तन की इच्छा वाले छोटे बालकपने की दशा में पूतना के स्तन्य पान किए, कोमल पादांगुलियों के स्पर्श से शकट भञ्जन किया, तृणावर्त का गला ग्रहण किया, बकासुर के मुख में प्रवेश किया आदि कार्य, अवस्था विरुद्ध करने पर भी, कुछ (मृत्यु आदि) न हुआ जिससे आप में प्राणों का अभाव सिद्ध है। अपने मुखारविन्द में विश्व के दर्शन से और ऊखल से बन्धन समय रज्जु का छोटा होना दिखाता है कि आप में देह इन्द्रियादि नहीं हैं 'या पृथिव्यां तिष्ठन्' इत्यादि श्रुति प्रोक्त धर्म वाले भगवान् में देह इन्द्रियादि हो नहीं सकते हैं। यह भी विचार करना चाहिए कि एक ही देह में लघुत्व एवं गुरुत्व एक ही काल में नहीं होता है जिससे रज्जु में अन्य रज्जु मिलाने पर भी कम ही कम होती गई। इससे भगवान् में देहादिकों के अभाव से, उनका अभ्यास भी नहीं था। और उपरोक्त कहे हुए गुणों से आप (भगवान्) का निर्दोष पूर्ण विग्रह रूप से सिद्ध ही है।

†- 'टिप्पणी' में श्री विठ्ठलेश्वर प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि - प्रभु के सख्य को प्राप्त बालकों को, प्रभु जैसे कर्तव्य ही करने चाहिए परन्तु ये तो वर्ण धर्म पालन करते हैं वह योग्य नहीं हैं ऐसी शङ्का नहीं करनी, क्योंकि भगवान् ने उन (बालकों) में 'स्वाभाविक धर्मों' के स्थापन करने के साथ सख्य का भी दान किया है। अतः इसमें विशेषता ही है, हानि कुछ भी नहीं है। यदि भगवान् इस प्रकार न करते,



फल देनेवाले साधन को, 'पुण्य' कहा जाता है। यह वृन्दावन भी, पुण्य रूप होने से, निःसाधनों का स्वयं ही भगवान् की प्राप्ति का साधन हो गया है। इतना ही नहीं किन्तु लीला विशिष्ट<sup>१</sup> होने से, स्वतः फलरूप है। यही वृन्दावन में विशेषता समझनी चाहिए और जिसको इच्छा न हो, तो भी उसको भगवत् प्राप्ति कराता है अतः यह वृन्दावन पुण्यों से भी विशेष उत्तम है ॥ १ ॥

**आभास —** ततो भगवान् विशेषाकारेण वृन्दावनप्रवेशं कृतवानित्याह तन्माधव इति ।

**आभासार्थ —** तदनन्तर भगवान् के वृन्दावन में विशेष प्रकार से प्रवेश का वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः —** तन्माधवो वेणुमुदीरयन् वृतो गोपैर्गृणद्भिः स्वयंशो बलान्वितः ।

**पशून् पुरस्कृत्य पशव्यमाविशद् विहर्तुकामः कुसुमाकरं वनम् ॥ २ ॥**

**श्लोकार्थ —** आपके यश का गान करते हुए ग्वालबालों से वेष्टित, बंसी बजाते हुए भगवान् गौओं को आगे कर, विहार करने की इच्छा से, पशुओं के हितकारी पुष्पों से समृद्ध<sup>३</sup> वन में बलरामजी के साथ पधारे ॥ २ ॥

तो विष पान के व्याज<sup>२</sup> से, मृत्यु करकर स्वाभाविक धर्मों का नाश तथा अलौकिक देह की प्राप्ति की लीला भगवान् ने न की होती। इस प्रकार से सख्य का फल प्राप्त हो, तब तक भगवान् उनसे गोरक्षा का कार्य कराते हैं। सख्य फल प्राप्त होने पर, प्रभु कर्तव्य करना ही उनका स्वधर्म है। यदि वे उनको न करें और स्वाभाविक धर्मों से चित्त इधर उधर भटकने लग जाए तो गोप भगवान् के माहात्म्य ग्रहण में असमर्थ हो जावें और मन में भगवान् के लोक के देखने की उत्कण्ठा भी पैदा न होवे, तो उसके दर्शन भी न हो। कारण कि समर्पण करने पर भी, यदि भगवान् उसको स्वीकार न करें तो समर्पण सिद्ध नहीं होता है। जब भगवान् अपनाते हुए अङ्गीकार करते हैं तब सिद्धि होती है। यहाँ तो भगवान् उनके लिए अपने गृह को प्रकट करने से, उनमें अपनापन मानते हैं ऐसा जाना जाता है। उनके लिए वैकुण्ठ प्रकट करना ही आत्म-समर्पण रूप है। यह साधन रूप होने से, साधन उप-प्रकरण में इसका निरूपण है। फल रूप का तो फल उप-प्रकरण में निरूपण होगा। साधन रूप नौ प्रकार की भक्ति के अनन्तर फल रूप नवविध भक्ति का भी निरूपण होगा।

सुबोधिनी - सामान्यलीलैकेनैवोक्ता, तत् तत्र माधवो लक्ष्मीपतिर्लक्ष्म्या क्रीडां कर्तुं शब्दब्रह्म च संवादार्थमुदीरयन्, वेणुरिति वश्चैश्च वयौ स्वरूपानन्दविषयानन्दावणू यस्मात् स वेणूरुभयविस्मारकस्तद्वादने विषयिणो मुक्ताश्च सर्वे समायान्त्याध्यात्मिका आधिदैविकाश्चोद्बुद्धा भवन्ति ततो वृत्तो गोपैराधिदैविकैरत एव स्वयंशो गृणद्भिः, भगवद्यशस्तैर्निरन्तरं गीयते, सामर्थ्यार्थं बलान्वितः, बलभद्रो हि बलात्मा, क्रियायां पशूनां विनियोग इति पशून्

पुस्कृत्य तानादौ क्रियाशक्त्या शुद्धान् कर्तुं वनमाविशत्, स्थानमपि पशव्यं पशूनां हितं, भगवता पूर्वं तथाकृतत्वात्, विहर्तुकाम इति, तत्र विहारेच्छया प्रविष्टः, विहारे हि क्रिया पूर्णा भवति, रजसैव विहार इति स्थानस्य रजस उद्रेकमाह कुसुमाकरमिति, कुसुमानां रजोविकासानामाकरं स्थानभूतं, वनमिति, वनलीला सात्त्विकीति सत्त्वप्रधानैव रजोलीला ॥ २ ॥

**व्याख्यार्थ** - भगवान् के वन में प्रवेश का वर्णन, पहले श्लोक में सामान्य रीति से किया था, अब इस श्लोक में विशेष प्रकार से है। लक्ष्मी पति भगवान् ने लक्ष्मी के साथ क्रीड़ा करने के लिए वेणु बजाते हुए वन में प्रवेश किया। वेणु के बजाने का कारण यह है, कि इस क्रीड़ा में शब्दः ब्रह्म (वेद) की भी सम्मति है। वेणु के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि स्वरूप (मोक्ष) के आनन्द और विषयों (स्वर्ग) के आनन्द वेणु के नाद के आनन्द के आगे तुच्छ है। वेणु शब्द में व + ई + अणु तीन शब्द मिले हैं 'व' का अर्थ 'स्वरूपानन्द (मोक्ष)' है, 'ई' का अर्थ 'विषयानन्द (स्वर्ग का आनन्द)' है, ये दोनों 'अणु' तुच्छ हैं। अतः वेणु<sup>१</sup> से ये तुच्छ होने के कारण बंशी की ध्वनि से दोनों सुखों की विस्मृति हो जाती है, जिससे बंशी ध्वनि सुनते ही मुक्त और स्वर्गस्थ (विषयानन्द) जीव इस आनन्द के स्वाद लेने के लिए दौड़ते हुए आते हैं। आध्यात्मिक भक्त और आधिदैविक भक्त वेणुनाद के श्रवण से उद्बुद्ध<sup>२</sup> हो जाते हैं। इससे वेणु बजाते ही भगवान् आधिदैविक गोपों से वेष्टित हो जाते हैं। ये गोप आधिदैविक होने से, निरन्तर भगवान् के यश का गान करते रहते थे। सामर्थ्य (विघ्नों को दूर करने) के लिए बलदेवजी को साथ लिया था। कारण कि बलदेवजी बलात्मा<sup>३</sup> है। क्रिया\* में पशुओं के उपयोग की आवश्यकता होने से पशुओं को अगाड़ी कर प्रथम उन (पशुओं) को क्रिया शक्ति से (वन में प्रवेश करने से वा कराने से) शुद्ध करने के लिए वन में प्रवेश किया। यह

<sup>१</sup>टिप्पणी में श्रीमद्विठ्ठलेश्वर प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि-यहाँ 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग ब्रज सीमन्तिनियों के लिए किया है।

<sup>२</sup>टिप्पणी - वन में प्रवेश का कारण स्वच्छन्द लीला है। स्वच्छन्द लीला में मर्यादा नहीं रहती है, तो उसमें वेद का विरोध होगा? इस शङ्का के मिटाने के लिये उत्तम ब्रह्म रूप वेणु बजाकर वेद की सम्मति प्रकट की है। 'वेणु' शब्द का अर्थ सुबोधिनी में यह किया है कि स्वरूपानन्द और विषयानन्द का सुख वेणु नाद के सुख के आगे तुच्छ है। जब लीला में प्रवृत्त कराने वाले वेणु के नाद के आगे स्वरूपानन्द (मोक्ष का आनन्द) और विषयानन्द (स्वर्ग का आनन्द) तुच्छ है तो लीला के आगे वे तुच्छ हो तो कौन-सा आश्चर्य है।

\* क्रिया से-गौचारण लीला समझनी।

स्थान (वन) पशुओं का हितकारी\*\* है। इसे भगवान् ने पहले ही ऐसा बना दिया था। विहार की इच्छा से प्रवेश किया। विहार करने से क्रिया पूर्ण होती है और रजोगुण से ही विहार होता है। इस स्थान में रजोगुण की विशेषता है, क्योंकि यह वन रजोगुण का विकास करने वाले पुष्पों का स्थान है वन की लीला सत्त्वगुण प्रधान रजोगुण वालीॐ है ॥ २ ॥

**आभास —** पश्चाद् भगवांस्तत्र स्थिताभिः सर्वाभिरेव देवताभिरलौकिकीभिः सह रन्तुं मनः कृतवानित्याह तदिति,

**आभासार्थ —** प्रवेश के पश्चात् भगवान् ने वहाँ वृन्दावन और गोवर्धन के निकट रहने वाली अलौकिक देवताओं (ब्रज की सुन्दर उत्तम स्त्रियों) से रमण करने का मन (इच्छा) किया। इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

**श्लोक: —** तन्मञ्जुघोषालिमृगद्विजाकुलं महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता ।  
वातेन जुष्टं शतपत्रगन्धिना निरीक्ष्य रन्तुं भगवान् मनो दधे ॥ ३ ॥

**श्लोकार्थ —** सुन्दर मधुर शब्द करते हुए, भ्रमर, मृग तथा पक्षियों से व्याप्त और महत् पुरुषों के समान स्वच्छ जल से भरे सरोवरों में से आती हुई कमलों की सुगन्धि से युक्त पवन को देखकर भगवान् ने क्रीड़ा करने के लिए मन किया ॥ ३ ॥

\*\* वृन्दावन के तृणादि दोष रहित<sup>१</sup> हैं यह आगे कहा जायगा। अतः उनके सम्बन्ध से गौ भी शुद्ध होगी इसीलिए वन को पशुओं का हितकारी कहा है।

ॐ श्री विट्ठलेश प्रभुचरण टिप्पणी में कहते हैं कि—जैसे लौकिक में रस बढ़ाने वाली रीति रस शास्त्र में वर्णन की गई है, वैसे ही अलौकिक में भी वही प्रकार रस बढ़ाने का है इसलिए यहाँ रजोगुण शब्द से केवल बढ़ाने वाली सामग्री कही है।

‘प्रकाशकार’ इसको विशेष स्पष्ट कर रजोगुण कहने से उत्पन्न शङ्का का निवारण करते हैं। यह रजोगुण भगवद्धर्म रूप है अतः इससे उत्पन्न ११ वृत्तियाँ भी लौकिक नहीं किन्तु अलौकिक हैं। जैसे भगवान् अलौकिक रस रूप हैं वैसे उनके धर्म भी अलौकिक रस रूप होने से यहाँ रजोगुण से उत्पन्न सर्व सामग्री भगवद्रस रूप है।

सुबोधिनी — मञ्जुघोषो येषामलीनां मृगाणां द्विजानां च कुलैराकुलं दृष्ट्वा स्तु, मनो दध इतिसम्बन्धः, यत्र त्रिविधा अपि मञ्जुघोषास्तत्र भूदोषो नास्तीति ज्ञातव्यं, तृणपुष्पफलात्मकं च वनं भवति, तत्सम्बन्धिनश्चेन् निर्दुष्टास्तदा तृणादयोऽपि निर्दुष्टा एव, अत्राल्यादीनां मञ्जुघोषत्वस्यानुक्तिसिद्धत्वेऽपि यत् कथनं तेन लोक-प्रसिद्धातिरिक्तो भगवत्स्वरूपनादानुभवानन्दजत्वलक्षणो मञ्जुत्वविशेषो यः स उच्यतेऽतो नानर्थक्यं, अत एव मृगाणाम-प्युक्तिः, अन्यथा रसोद्दीपकत्वं तेषां लोके न सिद्धमिति तदुक्तिरयुक्ता स्यात्, स्वस्थितिदेशे प्रियस्थितिज्ञाप्यत्वमपि मञ्जुत्वं तेषां ज्ञेयं, किञ्च न केवलं दोषाभावस्तत्र किन्तु गुणपूर्णतापीत्याह महन्मनःप्रख्यपयःसरस्वता वातेन जुष्टमिति, अन्तरिक्षदैवत्या हि पशवोरण्यप्रतिष्ठाः तत्र वायुरुभयाधिपतिर्गवामरण्यस्य च, स चेत् सर्वथादोषरहितो

गुणवांश्च भवति तदैव लीला सङ्गच्छते, श्रमापनोदनार्थं च तस्यापेक्षा लोकसिद्धा, वृन्दावने सामान्यतः सर्वदोष-निवृत्तेरुक्तत्वाद् वायोरगन्तुकदोष एव परिहर्तव्यः, जलं पुष्पाणि च तत्सम्बन्धीनि शैत्यमान्द्यसौरभ्याणि च गुणाः, तथा सति वायुराधिदैविको भवति, महतां मनोवद् यत् सरः, सर्वदोषाभावपूर्वकगुणेषु निदर्शनं महतां मनः, ततोऽपि प्रकर्षेण ख्यातिर्यस्य भगवल्लीलौपयिकत्वात्, एतादृशं पयस्तद्युक्तं सरो लयविक्षेपशून्यं शान्तं तरङ्गादिरहितं, अनेन शैत्यमान्द्ये निरूपिते, सदादिपदेषु सत्स्वपि यन्महत्पददानं तेन सरस्स्वपि नाल्पत्वं महत्परिमाणवत्त्वमेतल्लीलामध्य-पात्यतिरिक्ताज्ञातत्वं च ज्ञाप्यते, शतपत्राणि कमलानि कुशेशयानि पुष्पविशेषा वा, तेषां गन्धोऽस्यास्तीति सौरभ्यं निरूपितं, तेनापि चेत् सेवितं तदा भगवान् षड्गुणैः सह तत्र रमणार्थं प्रवृत्तः, भृङ्गादिषु त्रयो गुणा वाते च त्रयः, अतो वृन्दावनं षड्गुणैर्युक्तं, स्वसमाने च रमणं भवति ॥ ३ ॥

व्याख्यार्थ — भ्रमर, मृग तथा पक्षियों के मधुर ध्वनि से भरपूर वन को देखकर भगवान् ने रमण करने के लिए मन किया जिस भूमि पर तीन प्रकार के मधुर शब्द होते हों, वह भूमि दोष रहित अर्थात् शुद्ध है। वन में तृण, पुष्प और फल ये तीन वस्तुयें होती हैं। तृणादिकों के सम्बन्धीन दोष रहित हैं तो वे तृणादिक भी निर्दोष ही हैं। शुद्ध तृणादिकों के भक्षण करने से उनका शब्द मधुर ही रहा है। भ्रमरादिकों की ध्वनि स्वतः सिद्ध मधुर होती है, पुनः उसकी मधुरता कहने का कोई अर्थ नहीं था। इस शंका निवारण के लिए कहते हैं कि उनकी मधुर ध्वनि कहने का तात्पर्य यह है कि यह मधुरता लोक प्रसिद्ध मधुरता से विशेष भिन्न प्रकार की है। कारण कि यह ध्वनि इनकी तब निकली जब इनको भगवान् के बंशी (भगवत्स्वरूप) के नाद के अनुभव से आनन्द उत्पन्न हुआ। उस आनन्द से उत्पन्न यह मधुर ध्वनि अलौकिक रसमयी थी, इसलिए इसका कहना आवश्यक तथा सार्थक ही है, और मधुर ध्वनि भ्रमर तथा पक्षियों की होती है किन्तु मृगों की नहीं होती है। यहाँ मृगों की मधुर ध्वनि कही है इससे यह स्पष्ट एवं निश्चित सिद्ध होता है कि यह मधुर ध्वनि सामान्य लौकिक नहीं थी किन्तु बंशी के नाद श्रवण से उत्पन्न आनन्द के कारण हुई है, नहीं तो 'मृग' शब्द नहीं देते। पशुओं की ध्वनि से रस जागृत नहीं होता है, तो उनकी मधुर ध्वनि (रस जागृत करने वाली) कहना अयोग्य हो जाता। जहाँ हम रहते हैं वहाँ

ही हमारे प्यारे भी रहते हैं इसको बताने के लिए भी उनकी मधुर ध्वनि थी, ऐसा भी समझना चाहिए ।

वन केवल निर्दोष नहीं था, किन्तु गुणों से भी पूर्ण था । इसको सिद्ध करने के लिए श्लोक में दृष्टान्त देकर समझाया है कि जैसे महान् पुरुषों का मन उदार<sup>१</sup> निर्दोष एवं गुणवान् है वैसे ही जल निर्दोष गुणवान् (उदार, परोपकारी) होता है । उस जलवाले सरोवर से होकर आनेवाले वायु से युक्त वन है । अतः गुणों से भी पूर्ण है । अरण्य<sup>२</sup> में जो पशु रहते हैं उनका देवता अन्तरिक्ष<sup>३</sup> है । उनमें वायु गौ और अरण्य दोनों की अधिपति देवता है । वह (वायु) जब सर्वथा दोष रहित और गुणवान् हो तब ही लीला सिद्ध हो सकती है, क्योंकि लीला करते समय जो श्रम होता है, उसको वायु मिटाती है । इसलिए वायु की अपेक्षा होती है यह लोक सिद्ध है । निर्दोष वृन्दावन में जो प्रवेश करता है उसके भी सामान्य रीति से सर्व दोष निर्वृत्त हो जाते हैं । अतः वायु के भी आगन्तुक दोष आदि रहे नहीं, किन्तु शीतलता, धीमापन और सुगन्धि गुण ही रह गए । इस कारण से वायु आधिदैविक है । महापुरुषों का मन निर्दोष और पूर्ण गुणों वाला होता है अतः वह मन दूसरों की निर्दोषता तथा पूर्णगुणता दिखाने में उदाहरण दिया जाता है इसलिए महापुरुषों के मन की सर्वत्र ख्याति<sup>४</sup> होती है किन्तु वृन्दावन में जो सर है वह महापुरुषों के मन के समान होते हुए भी उससे विशेष ख्याति वाला है क्योंकि भगवल्लीला के उपयोग में आता है ।

इस प्रकार के जलवाला सरोवर लय<sup>५</sup> और विक्षेप<sup>६</sup> से रहित होने के कारण शान्त तथा भरपूर था । इससे शीतलता एवं धीमापन बताया । सत्पुरुष न कहकर, महत्पुरुष कहा इसका भावार्थ यह है कि सरोवर में भी महानता है, जिससे इस लीला मध्यपाती भक्तों से अतिरिक्तों को, इसकी जानकारी नहीं है । वायु में दोनों प्रकार के (दिन में विकसित और रात्रि में विकसित) कमलों तथा अन्य पुष्पों की सुगन्धि थी । ऐसे वायु से सेवित वह वन था । रमण अपनी समानता वाले में होता है । वृन्दावन में भ्रमरादिकों के तीन गुण और वायु के तीन गुण थे, जिससे वृन्दावन षड्गुणवाला हुआ तब भगवान् के षड्गुणों के साथ वहाँ रमण के लिए प्रवृत्त हुआ ॥ ३ ॥

**आभास** — कदाचित् प्राकृतरतिं भगवान् करोतीति कस्यचिच्छङ्का स्यात् तत्परिहारार्थं वृक्षाणां भ्रमराणां मृगपक्षिणां भूमेश्च स्वरूपं वक्तव्यं, वनं हि भूमिवृक्षात्मकं, तत्स्था अपि यदि दुष्टा भवेयुः स्वरूपतोऽपि तदापि वनं त्याज्यमिति दोषाभावो गुणाश्च वक्तव्याः, तान् भगवानेव जानाति बुध्यते च बलभद्र एव, अतोऽग्रे प्रत्यक्षतो लीलां कर्तुं तेषां स्वरूपं बलभद्रं बोधयति स तत्र तत्रेति,

१-दातार, परोपकारी । २-वन, जंगल । ३-आकाश । ४-प्रशंसायश ।

५-सूखना । ६-तरंगादि से होने वाली हलचल ।

**आभासार्थ —** कदाचित् किसी के मन में ऐसी शंका का प्रादुर्भाव हो जावे कि भगवान् अप्राकृत होकर भी प्राकृत पदार्थों से रति<sup>१</sup> करते हैं ? इस शङ्का के मिटाने के लिए निम्न श्लोक में वृक्ष, भ्रमर, मृग, पक्षी और भूमि के स्वरूप बताते हैं । जिस भूमि पर वृक्षादि होते हैं उसको वन कहते हैं, और उस वन में रहने वाले यदि स्वरूप से दोषवाले हों तो उस वन का त्याग करना उचित है, इसलिए उनके दोषों का अभाव और गुणों का वर्णन करना चाहिए । उनके निर्दोषत्व और गुणों को भगवान् ही जानते हैं और केवल बलरामजी को जताते हैं । क्योंकि भगवान् ही अपने स्वरूप को जानते हैं, वृन्दावन भगवत्स्वरूप होने से उसके और वहाँ रहने वालों के स्वरूप को आप जानकर ही उनसे प्रेम करते हैं, न कि प्राकृत पदार्थों से प्रेम करते हैं । यह भगवान् यहाँ प्रत्यक्ष लीला करेंगे उसमें कोई विघ्न आवे तो बलभद्रजी उसका निवारण कर दें इसलिये बलभद्रजी को भी उसका स्वरूप बता देते हैं ।

**श्लोक —** स तत्र तत्रारुणपल्लवश्रिया फलप्रसूनोरुभरेण पादयोः ।

स्पृशच्छिखान् वीक्ष्य वनस्पतीन् मुदा स्मयन्निवाहाग्रजमादिपूरुषः ॥ ४ ॥

**श्लोकार्थ —** वहाँ वहाँ अरुण<sup>२</sup> पल्लवों की शोभा वाले, फल-फूल के विशेष भार से जिन वृक्षों की शाखाएँ अपने अग्र<sup>३</sup> भाग से चरण स्पर्श कर रही हैं, उनको देख कर आनन्द से मानो मुस्कुराते हुए भगवान् ने अपने बड़े भाई बलरामजी के कहा ॥ ४ ॥

**सुबोधिनी —** यदि वनस्था न स्वभावं प्रकटयेयुस्तूष्णीं वा तिष्ठेयुस्तदा भगवांस्तेषां स्वरूपं न वदेत् किन्तु त एव नम्रा इत्याह, स तत्र तत्र सर्वत्र वनेऽरुणपल्लवानां श्रियोपलक्षितान् फलप्रसूनयोरुभरेण स्वपादयोः स्पृशच्छिखान् वनस्पतीन् वीक्ष्येति, पल्लवा अङ्गुलिस्थानीयाः, तेन हस्ताभ्यां नमस्कारः सूच्यते, फलानि पुष्पाणि च निवेदयन्ति साष्टाङ्गश्च नमस्कारः पादयोः शिखास्पर्शेन यथासम्भवं सूचितः, तानुद्धृतान् दृष्ट्वा भगवतो

हर्षः, स्मयन्निवेति मन्दहासो मुखप्रसादहेतुः, बलभद्रस्य तदज्ञानाद् विस्मयः, आश्चर्यभावादिवेति, बलभद्रोऽप्यावेशित्वेन बोधनीयः, अन्यथा देवताचिन्तनाभावे सा देवता नाविष्टा स्यात्, नन्वावेशापेक्षयावतारो मुख्य इति कथं बलभद्रपरत्वेन तेषां निरूपणमित्याशङ्क्याहाग्रजमिति, अग्रे स एवाविर्भूत इति, तर्हि बोधनमनुचितमिति चेत् तत्राहादिपूरुष इति पुरुषोत्तमः ॥ ४ ॥

**व्याख्यार्थ —** यदि वन में स्थित वृक्ष आदि अपने भाव (आधिदैविक स्वरूप) को प्रकट न करें अथवा मौन धारण कर रहे होते तो भगवान् उनका स्वरूप बलरामजी को प्रकट कर न बताते, किन्तु वे अपनी नम्रता प्रकट करने लगे । कैसे नम्रता प्रकट कर दिखाई उसका वर्णन करते हैं कि पल्लव रूप अंगुलियों द्वारा हस्तों से भगवान् को नमस्कार करते हैं । फल- फूलों भार से नम्र शाखाओं के

अग्र<sup>१</sup> भाग से भगवान् के चरणों को छूते हुए नमस्कार करते हैं, तथा फल और फूल भगवान् को अर्पण कर अपना भाव प्रकट करने लगे कि हम प्राकृत नहीं हैं किन्तु अप्राकृत हैं। इस प्रकार की नम्रता से उद्धृत (निरोध को प्राप्त हुए) वृक्षों को देखकर भगवान् को आनन्द हुआ तब भगवान् के मुख पर मुस्कराहट छा गई जिससे निश्चय हुआ कि भगवान् प्रसन्न हुए हैं। बलदेवजी को वृक्षादिकों के इस स्वरूप का ज्ञान नहीं था अतः उनको वृक्षों की यह क्रिया देखकर आश्चर्य हुआ। बलदेवजी देव के स्वरूप हैं, उनको भी इनके स्वरूप का ज्ञान न हुआ तो दूसरों को न हो तो क्या आश्चर्य है? इसलिए उन बलभद्रजी को जो आवेशी हैं, आश्चर्य युक्त देखकर, भगवान् ने सोचा कि इन (बलभद्रजी) को वृन्दावन के स्वरूप का तथा उनके स्वरूप (आवेश वाले स्वरूप) का ज्ञान कराना चाहिये, यदि नहीं कराया गया तो बलदेवजी देवताओं का चिन्तन नहीं करेंगे तो वृक्षों में देवताओं का आवेश न होगा। (जैसे बलरामजी में भगवान् का आवेश है वैसे ही वृक्षों में देवताओं का आवेश है)।

(भगवान् को वृक्षों की इस क्रिया से आश्चर्य नहीं हुआ इसलिये मानो मन्द मन्द हँसते हुए बलरामजी को इनका स्वरूप कहने लगे।)

५वें से ८वें श्लोकों तक वृक्षादि बलरामजी का ही आदर करते हैं, भगवान् का नहीं। इसका कारण यह है कि बलरामजी बड़े भाई हैं अतः बड़े भाई का आदर करना योग्य ही है।

जब बलरामजी बड़े हैं तो छोटे भाई ने बड़े भाई को वृक्षादिकों के स्वरूप का ज्ञान कराया यह योग्य नहीं था। इस शङ्का के निवारण के लिए श्लोक में श्रीकृष्ण को 'आदि पुरुष' अर्थात् पुरुषोत्तम विशेषण देकर बताया कि श्रीकृष्ण सब के आदि हैं, अतः 'आदि पुरुष' होने से सब को उपदेश कर सकते हैं ॥ ४ ॥

**आभास —** प्रथमं वनस्पतीनां वैष्णवत्वात् स्वरूपमाहाहो इति,

**आभासार्थ —** वनस्पति (वृक्ष) वैष्णव हैं अतः प्रथम उनके स्वरूप का वर्णन करते हैं।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

**श्लोकः —** अहो अमी देववरामरार्चितं पादाम्बुजं ते सुमनःफलार्हणम् ।

नमन्त्युपादाय शिखाभिरात्मनस्तमोपहत्यै तरुजन्म यत्कृतम् ॥ ५ ॥

**श्लोकार्थ —** श्री भगवान् ने कहा कि - अहो ! हे उत्तमदेव ! जिस (तम) से इनको वृक्ष जन्म मिला है उसके नाश होने के लिए, अपनी शिखाओं से फल, फल रूप पूजन के पदार्थ लेकर, देवपूज्य आपके चरणारविन्द में प्रणाम करते हैं ॥ ५ ॥

सुबोधिनी — अहो इति आश्चर्यं तेषामवान्तरभेददर्शनं स्मृत्वाश्चर्यमाह हे देववर ! अमी वृक्षा अमरार्चितं ते पादाम्बुजं शिखाभिर्नमन्तीतिसम्बन्धः, प्रदर्शनेन तेषां चेतनत्वं सूचितमाधिदैविकत्वं च, यद्यप्येते देवास्तथापि भवान् देववरः, तरतमभावेऽपि देवानां देवभजनं न युक्तमित्या-शङ्क्याहमरार्चितमिति, अमरा ये मुख्यदेवास्तैरर्प्यचितं, स हि सङ्कर्षणो देवकार्यसाधकोऽतो भूभारहणार्थं प्रार्थितोऽतो यथा तेषां खेदं दूरीकरोष्येवं वनस्पतीनामपि तमो दूरीकर्तव्यं, दूरीकरणार्थं प्रवृत्तेः, अतो नमन्ति, तमोपहृत्या इति, येन तमसा तरुजन्म कृतं, सजातीयेनैव सजातीयनिराकरणं भवतीत्याधिदैविकतमोनियामकमेव नमस्यन्ति, अत एव भगवता स्वनमस्कारो नोक्तः, मूलभूतं च तमो न कर्मणा ज्ञानेन च गच्छति किन्तु देवतयैव, तरुत्वदोषनिवृत्त्यर्थं त्वां ज्ञापयितुं तरुरूपेणैव नमस्कारं कुर्वन्ति दयासिद्धयर्थं च, गुणाधिकारोऽस्मै दत्त इति मर्यादार्थं तन्निकरणाय निवेदनं, शिष्टं स्वयमेव करिष्यति, तदर्थं लीला क्रियत एव, यद्वा केनचिद् भगवत्स्थितिमज्ञात्वा तत्प्रश्ने कृते सुज्ञस्तं प्रत्याह,

तस्य कदम्बस्य प्रियालस्य पनसस्य वा तले क्रीडतीति तदा तदज्ञाननिवृत्तिः स्वस्माद् भवत्येतच्च तरुत्व एव सम्भवति नान्यथेति तादृक् तरुजन्म यत्कृतं येन भवता कृतं, तमोपहत्यै, उक्तरीत्या सर्वेषां तमोज्ञानं तदपहत्यर्थमित्यर्थः, आत्मपदस्य शिखाभिरित्यनेन तरुजन्मेत्यनेन वा सम्बन्धः, हरौ स्वतले क्रीडत्यन्यदेशीयतरुवन्न मौढ्यं किन्तु तत्सर्वपरिज्ञानमानन्दश्च भवतीत्यात्मनस्तमोपहत्या इत्यत्रैव सम्बन्धः, अतस्तमुपकारं स्मृत्वा नमन्तीति वार्थः, यद्वा यद् यस्माद्धेतोरात्मन आत्मीयं स्वीयत्वेन परिगृहीतमिति यावत् तादृक् तरुजन्म कृतमर्थात् त्वयैवातो नमन्तीतिसम्बन्धः, वृन्दावनभूमावुत्पत्तिमात्रेणैव हरिरात्मीयत्वं मनुत इति तथा, यत्रोत्पत्त्यादिरूपधर्माणामेतादृशत्वं तत्र धर्मिणां किं वाच्यमिति भावः, वक्ष्यति चाग्रे “न नः पुरो जनपदा” इत्यारभ्य “नित्यं वनौकस” इति “तस्मान् मच्छरणं गोष्ठ” मित्यादि, तमःपदं गुणत्रयोपलक्षकं, विशेषाकथनात् सम्बन्धमात्रेण सर्वेषां तथात्वायेति ज्ञेयं, ‘मन्निकेतं तु निर्गुण’ मितिवाक्यात् ॥ ५ ॥

व्याख्यानार्थ — “अहो” शब्द से भगवान् आश्चर्य जता रहे हैं कि ये वृक्ष भगवान्, बलराम और गोपों के स्वरूपों में जो अवान्तर भेद है उसको जानते हैं। अतः हे देवों मे श्रेष्ठ ! ये वृक्ष देव पूज्य आपके चरणकमल को अपनी शाखाओं के अग्र भाग से प्रणाम करते हैं। ‘ये वृक्ष’ कहने का तात्पर्य है कि उस समय भगवान् बलराम को वृक्षों को दिखाते हुए कहते हैं कि देखो ये वृक्ष जड़ (प्राकृत) नहीं हैं किन्तु अप्राकृत (आधिदैविक) हैं, इस कारण से ये देव हैं किन्तु आप उत्तम देव हो। आप को इसीलिए केवल नहीं पूजते हैं कि आप देव वर हो किन्तु ये जानते हैं कि आपके चरणकमल उत्तमदेव भी पूजते हैं क्योंकि आप सङ्कर्षण हो, देवों के कार्य सिद्ध करते हो इसलिये देवताओं ने पृथ्वी के भार उतारने के लिए आपको प्रार्थना की थी। इससे जैसे देवताओं के खेद को मिटाते हो वैसे वृक्षों के तम को भी मिटाना चाहिए। आपकी प्रवृत्ति दुःखों को दूर करने की ही है। वृक्ष, जो आपको नमन करते हैं उसका कारण यह है कि उनका जन्म ‘तम’ (तमोगुण) से हुआ है उस तम को आप ही मिटाने वाले हो। क्योंकि सजातीय से ही सजातीय का निराकरण होता है (जैसे विष ही विष को नाश करता है) वृक्षों में तमोगुण है आप आधिदैविक तम के नियामक हो। भगवान् ने वृक्ष मुझे (मेरे लिये) प्रणाम करते हैं ऐसा न कहा उसका कारण यह है कि आधिदैविक तमोगुण के नियामक सङ्कर्षण (बलभद्र) हैं। मूलभूत (देह के प्राप्ति का कारण) तमोगुण, कर्म, सेवा वा ज्ञान से नहीं मिटता है किन्तु तम के देवता से मिटता है। उसके (तम के) देव आप हो, इस मर्यादा की



रक्षा के लिये ही ये वृक्ष, वृक्ष रूप से नमस्कार करते हैं कि आप दया करो । शेष अन्यः कार्य भगवान् ही करेंगे । उसके लिए (रस का अनुभव कराने के लिए) तो भगवान् ने यह लीला की है । भगवान् बलराम को अन्य प्रकार से प्रणाम के कारण बताते हैं । (१) भगवान् कहते हैं कि हे बलभद्र ! आपने इनको वृक्षों में इसलिये जन्म दिया है कि ये वृक्ष दूसरों का अज्ञान मिटावें । दूसरों का अज्ञान कैसे मिटाते हैं ? वह बताते हैं कि यदि किसी को यह पता न हो कि वन में भगवान् किस जगह पर विराजमान हैं तो ये वृक्ष उस अनजान को बता देते हैं कि भगवान् कदंब, प्रियाल अथवा पनस के नीचे क्रीड़ा कर रहे हैं । जिससे उसका अज्ञान मिट जाता है और वह वहाँ जाकर भगवान् के दर्शन कर सकता है । उसका अज्ञान वृक्षों से ही मिटा । ऐसी अज्ञान निवृत्त कराने की शक्ति वृक्षों को आपने दी है । इसलिए वृक्ष आपको प्रणाम करते हैं (२) हमारे तम को आपने नष्ट किया है जिससे हमको यह ज्ञान हो जाता है कि भगवान् हमारे नीचे क्रीड़ा कर रहे हैं, अन्य देश के वृक्षों की तरह हम में मौढ्य<sup>१</sup> नहीं है । इस उपकार स्मरण से आपको प्रणाम करते हैं । (३) हमको आप अपना समझते हो अर्थात् ये वृक्ष मेरे हैं मैंने ही इनको वृक्ष का जन्म दिया है इस कारण से आपको प्रणाम करते हैं । जब वृन्दावन में केवल उत्पत्ति से भगवान् अपना समझते हैं तो वहाँ के वृक्ष तो वृन्दावन रूप ही हैं, उनको भगवान् अपना माने तो इसमें लेश मात्र भी शङ्का नहीं रहती है । कारण कि भगवान् आगे कहेंगे कि 'अपना कोई नगर वा देश नहीं है' 'सदैव वन में रहने वाले हैं । इससे गोष्ठ 'मेरे ही शरण वाला है' इत्यादि शब्दों से भगवान् ने वृन्दावन धर्मी एवं उसमें उत्पन्न हुए (पदार्थ धर्म रूप) को अपना माना है ।

यहाँ 'तमः' पद सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों का उपलक्षक<sup>२</sup> है । बलभद्र किस प्रकार तमोगुण दूर करते हैं वह कहा नहीं है । अतः आप केवल अपने सम्बन्ध से ही जैसे सबों के गुणों को दूर करते हो वैसे हमारा तम भी दूर करो, इस प्रकार वृक्षों ने आपको प्रार्थना की है । मेरे में निष्ठ<sup>३</sup> तो गुणातीत<sup>४</sup> है ॥ ५ ॥

**आभास —** एवं वृक्षाणां विज्ञापनमुक्त्वा भ्रमराणां विज्ञापनमाहैतेलिन इति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार वृक्षों की प्रार्थना कह कर अब इस निम्न श्लोक में भ्रमरों की प्रार्थना का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः —** एतेलिनस्तव यशोऽखिललोकतीर्थं गायन्त आदिपुस्मानुपथं भजन्ते ।

प्रायो अमी मुनिगणा भवदीयमुख्या गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवम् ॥ ६ ॥

**श्लोकार्थ —** हे आदि पुरुष ! सर्व लोगों के तीर्थ रूप आपकी कीर्ति का गान करते

ःलेखकार अन्य कार्य का भाव कहते हैं कि 'रस का अनुभव कराना'

ये भ्रमर अनुपद आपकी सेवा करते हैं। इसलिए ये आपके मुख्य सेवक भ्रमर मुनिगण हैं। हे अनघ ! आप गुप्त रूप से वन में विराजते हो तो भी ये अपने आत्म रूप और देव रूप आपको छोड़ते नहीं हैं ॥ ६ ॥

सुबोधिनी - लोकप्रतीत्या यद्यप्येते झङ्कारमिव कुर्वन्ति । तथापि वस्तुतस्तु यश एव गायन्ति, एतेऽपि तामसाः परं वृक्षापेक्षया किञ्चित्समीचीनाः, ते तु फलपुष्पाढ्या इति सुमनांसि फलानि चार्हणरूपाणि पूजारूपाण्यग्रे स्थापयित्वा कायिकं नमनं कृतवन्तः, एते तु राजसा इति फलाद्यभावाच्च वाचनिकीमेव सेवां कुर्वन्ति, ते सङ्गे मुखामोदार्थमायान्तीति न मन्तव्यं यतो यश एव गायन्तोऽनुपथं भजन्ति, प्रार्थना त्वेतेषां नापेक्ष्यते यतोऽखिललोकतीर्थं यशो गायन्ति, सर्वेषामेव यच्छोधकं तदात्मानं शोधयत्येवेत्यविवादं, प्रभूणां गायका अपि सेवका भवन्ति, कदा वा कृपां करिष्यतीत्यनुपथं भजनं, नन्वेते भ्रमरा हीनाः कथं यशो ज्ञास्यन्तीत्याशङ्क्याह प्राय इति, अमी सर्वे मुनिगणा एव भवदीयेषु भवत्सेवकेषु मुख्याः, ननु ब्रह्मविदो भक्ताः कथं नीचयोनिं प्राप्तवन्त इत्याह गूढं वनेऽपि न जहत्यनघात्मदैवमिति, भवान् गूढस्तेऽपि गूढाः, यथा भवान् मनुष्यभावं प्राप्त एवमेतेऽपि भ्रमरभावं, भवदीयमुख्यत्वादनूपथं भजनं, मुनिगणत्वाद् गानं ननु किमिति गूढं भजन्ते प्रकटमेव देवान्तरं महादेवादिरूपं कथं न भजन्ति ? तत्राहानघात्मदैवमिति, अनघश्चासावात्मा दैवं च, निर्दोषो हि त्यक्तुं न शक्यः, तत्राप्यात्मनः, तत्रापि दैवं, तामसा एव हि सेव्याः, तत्र महादेवादयः स्वसम्बन्धिनोऽपि देवता अपि भूतगणावृता इति न सेवितुं शक्याः, ब्रह्मादयस्तु स्वसम्बन्धिन एव न भवन्ति, अन्ये तामसा देवता एव न, अत एवानन्यगत्या गूढमपि भजन्ते, वने वा गूढं यथा भवति तथा, अन्यथा भगवान् शेषं वा कुर्यात्, अत एतेष्वप्यनुग्रहः कर्तव्य इति ॥ ६ ॥

**व्याख्यानार्थ -** लौकिक दृष्टि से ये भ्रमर गुझार ही करते हैं तो भी वास्तविक रीति से विचारा जावे तो आपका यश गा रहे हैं। यद्यपि भ्रमर तामस हैं किन्तु वृक्षों से कुछ श्रेष्ठ हैं। वे (वृक्ष) फल और पुष्प युक्त थे जिससे फल-पुष्प जो पूजा के पदार्थ हैं, उनको लाकर विनियोग<sup>१</sup> करते हुए आपको काया से प्रणाम करते हैं। ये (भ्रमर) तो राजसः भी होने से फल-पुष्पों के अभाव के कारण वाणी से ही सेवा करते हैं।

ये आपके यश के गानार्थ अर्थात् कीर्तन द्वारा सेवा करने के लिए आपके साथ चलते हैं न कि आपके मुखारविन्द की गन्ध लेने के लिए चलते हैं। उन (भ्रमरों) को आप से प्रार्थना करने की अपेक्षा<sup>२</sup> नहीं है क्योंकि ये आप से कुछ भी लेने की इच्छा वाले नहीं हैं; कारण कि सकल लोगों को पवित्र करने वाला आपका यश गा रहे हैं उस (यशोगान) से ही वे आनन्द मग्न वा आनन्दमय हो रहे हैं। आपका यश सब जगह सर्व लोगों को पवित्र करता है। तब यशोगान करने वालों को पवित्र करेगा

‡ प्रकाशकार ने यहाँ खुलासा दिया है कि पहले तामस कहा और अब राजस कह रहे हैं यहाँ विशेष नहीं समझना चाहिए क्योंकि पहले भी तामस को तामसरजस मान कर कहा था।

इसमें किसी प्रकार की शङ्का अथवा वाद नहीं है किन्तु निश्चय ही है। यशोगान करने वाले भी प्रभु के सेवक हैं। प्रभु कब कृपा करेंगे इसकी परवाह न कर प्रभु के साथ चलते चलते समग्र मार्ग में यशोगान करते रहते हैं।

ये भ्रमर हीन योनि में होने से यश को कैसे जानते होंगे ? इस शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि ये, भ्रमरों के रूप में आपके मुख्य सेवक मुनि हैं।

यदि ये (भ्रमर) ब्रह्मवेत्ता और भक्त हैं तो नीच योनि को क्यों प्राप्त हुए ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि वन में भी गूढ<sup>१</sup> अपने देव को नहीं छोड़ते हैं। आप अपने सङ्कर्षण देवरूप को छिपाकर मनुष्य रूप से दर्शन देते हो, अतः आपके मुख्य भक्त मुनिगणों ने भी अपने मुनि रूप को छिपाकर भ्रमर रूप धारण किया है। आपके सेवकों में मुख्य सेवक होने से आप जिस मार्ग से चल रहे हो वे भी उस मार्ग से साथ साथ चलते हुए यशोगान से आपकी सेवा कर आनन्द मग्न होते हैं।

जब मैं मनुष्य रूप में हूँ तो भी मेरा भजन क्यों करते हैं ? क्यों नहीं, प्रकट रूप वाले महादेवादि देवों का भजन करते हैं इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि आप सर्वथा निर्दोष आत्मा और दैव हो। निर्दोष को छोड़ना अशक्य है। उसमें भी फिर वह निर्दोष, अपनी केवल आत्मा नहीं किन्तु पुनः देव भी हैं। ऐसी अवस्था में आपको छोड़ना उन (मुनि रूप भ्रमरों) के लिए असम्भव है।

भ्रमर तामस हैं अतः उनके सेव्य तामस महादेवादि ही हैं। इसके उत्तर में कहते हैं कि यद्यपि तामस गुण के कारण महादेवादि तामस देव भ्रमरों के सम्बन्धी हैं तो भी वे भूतगणों से आवृत होने से उनकी सेवा हो नहीं सकती है। ब्रह्मादिक हम भ्रमरों के सम्बन्धी नहीं हैं महादेवादि के सिवाय अन्य देव तामस नहीं हैं अतः और कोई गति न देख आप गूढ हो तो हम आपका भजन करते हैं।

गूढ शब्द का अन्य प्रकार से भाव बताते कहते हैं कि, आपका वन में गूढ<sup>२</sup> रीति से इसलिये भजन करते हैं कि हम आपका भजन कर रहे हैं इसका किसी को पता न पड़े। हम प्रकट भजन करें तो अन्य कोई जान जाय और इससे भगवान् अप्रसन्न हो जाय इसलिए भ्रमर इस प्रकार गुप्त रीति से आपका भजन कर रहे हैं। अतः आपको उन पर अनुग्रह करना चाहिए ॥ ६ ॥

**आभास —** मृगपक्षिणां विज्ञापनामाह नृत्यतीति,

**आभासार्थ —** मृग और पक्षियों की विज्ञप्ति का निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं।

**श्लोकः —** नृत्यन्त्यमी शिखिन ईड्य मुदा हरिण्यः कुर्वन्ति गोप्य इव ते प्रियमीक्षणेन।

सूक्तैश्च कोकिलगणा गृहमागताय धन्या वनौकस इयान् हि सतां निसर्गः ॥ ७ ॥

**श्लोकार्थ** — हे स्तुत्य ! आपके समीप ये मयूर नृत्य करते हैं, हरिणियाँ आनन्दमयी दृष्टि से गोपियों के समान आपके प्रति प्रेम प्रकट करती हैं, कोयलें मधुर शब्दों से आपकी सेवा करती हैं अतः ये वनवासी धन्य हैं क्योंकि इनके पास जो कुछ है वह घर में पधारे हुए आपको अर्पण करते हैं । सत्पुरुषों का यही स्वभाव होता है ॥ ७ ॥

सुबोधिनी — हे ईड्य ? अमी शिखिनस्त्वामागतं ज्ञात्वा नृत्यन्ति, ईड्येति सम्बोधनादन्ये गायन्ति स्वयं नृत्यन्ति, शिखिनां नृत्यमेव प्रशस्तं, आगमने यो नृत्यति स महान् भक्तः, आगमनमेव तस्याभीष्टं यतो हरिण्योऽपि त ईक्षणेन प्रियं कुर्वन्ति, कथञ्चित् प्रीतिरुत्पादनीया, ता अपि मुदा भवन्तं पश्यन्ति स्वस्य च चक्षुषि भवते प्रदर्शयन्त्यो गोपिका-

दिस्मारकत्वेन सुखं जनयन्ति, गोष्य इवेति, गोष्यो यथा स्वरूपतः सुखजनिका एवं तत्स्मारिका अपि, नाट्यकाव्येषु तथानिरूपणात्, कोकिलगणास्तु सूक्तैः स्तोत्ररूपैः प्रियं कुर्वन्ति, तासां शब्देन च महानन्दो भवति, एते वनस्था गृहस्था इव धन्याः, यत इयानेव सतां निसर्गः स्वभावः अत आहेयानेव सतां निसर्ग इति ॥ ७ ॥

**व्याख्यार्थ** — हे स्तुति करने योग्य ! ये मयूर आपको पधारे हुए देखकर नृत्य करते हैं । दूसरे जब आपकी स्तुति कर रहे हैं तब ये आपका गुणगान सुनकर आनन्द युक्त हो नाचते हैं । स्वामी के आगमन पर प्रफुल्लित होकर जो नाचता है वह बड़ा भक्त है । उसको स्वामी का आगमन ही प्रिय है जिससे हरिणियाँ भी दृष्टि से आपके प्रति प्रेम प्रकट करती हैं । जिस प्रकार भी आपको आनन्दित किया जाय ऐसी क्रिया करती हैं, वे (हरिणियाँ) भी आपको प्रेम से देखती हैं और आपको अपनी चितवन से गोपियों का स्मरण कराकर गोपियाँ के समान आप में आनन्द उत्पन्न कराती हैं । जैसे गोपियाँ अपने स्वरूप से सुख उत्पन्न कराने वाली हैं वैसे ही उन गोपियों की याद दिलाने वाली भी सुख जनिका हैं । नाट्य और काव्य शास्त्रों में ऐसा निरूपण है कि कोयलें तो स्तुति रूप गानों से आनन्दित करती हैं, उनके मधुर शब्दों से महान् हर्ष होता है । ये वनवासी गृहस्थों के समान धन्य श्लाघ्य<sup>१</sup> हैं क्योंकि यही सत्पुरुषों का स्वभाव है ।

**कारिका** — आगते परमस्तोषः प्रियार्थस्योपनायनम् ।

वाक्यैःस्तुतिश्च परमा महत्येतावदेव हि ॥ १ ॥

तृणानि भूमिस्त्वं सामान्ये गृहमागते ॥ १½ ॥

**कारिकार्थ** — जब अपने घर में महान् पुरुष पधारें तब प्रथम परम प्रसन्नता प्रकट करनी चाहिए, तदन्तर जो पदार्थ उनको प्रिय हो, वे लाकर उनको अर्पण करने और वचनों से उनके गुणगान करने चाहिए । यदि कोई साधारण<sup>x</sup> व्यक्ति घर में

x शत्रु आदि भी - अनुवादक

आवे तो उसका भी आसन, पृथ्वी और जल से आदर सम्मान करना गृहस्थ का धर्म है ।

**आभास —** वृन्दावनभूम्यादीन् स्तौति धन्येति,

**आभासार्थ —** इस आठवें श्लोक में वृन्दावन भूमि के तथा अन्य पदार्थों की स्तुति करते हैं ।

**श्लोक: —** धन्येयमद्य धरणी तृणवीर्यस्त्वत्पादस्पृशो द्रुमलताः करजाभिमृष्टाः ॥

नद्योऽद्रयः खगमृगाः सदयावलोकैर्गोप्योऽन्तरेण भुजयोरपि यत्स्पृहा श्रीः ॥ ८ ॥

**श्लोकार्थ —** आज यह पृथ्वी, घास, और लताएँ तथा वृक्ष वेलि आपके चरण स्पर्श होने से धन्य हुए हैं । नदी और पर्वत आपके नख स्पर्श से धन्य हुए, पक्षी और पशु आपकी कृपा भरी दृष्टि से धन्य हुए तथा गोपियाँ लक्ष्मी जिसकी इच्छा कर रही है उस वक्षस्थल से आलिङ्गन कर धन्य हुई हैं ॥ ८ ॥

**सुबोधिनी —** इयं धरणी भूमिर्धन्या तव पादस्पर्शात् तृणवीर्योऽपि धन्याः, त्वत्पादस्पृशो द्रुमलता अपि धन्याः, करजैर्नखैर्भिमृष्टा नद्योऽद्रयः खगा मृगाश्च धन्याः, दयासहितावलोकनैर्गोप्योऽपि धन्यास्तव भुजयोरन्तरेण कृत्वा तत्रालिङ्गनं प्राप्य, ननु कथमस्य दुर्लभत्वम् ? तत्राह यत्स्पृहा श्रीरिति, भूम्यादीनां विज्ञापनं न किञ्चित् कर्तव्यं यतस्त्वया यथाकथञ्चित् सर्व एव तत्तत्प्रकारेण प्रीणिताः,

आवेशिनः सर्वभावेन निरूपणे आवेशाधिकरणभूतः सम्यग् भावयति ततः शीघ्रमेवाविष्टा सा देवता भवति, अन्यथोभयेषामप्यनिष्टं स्यात्, वृन्दावनस्थानां सङ्कर्षणस्य च भजनेऽभजनेऽपि देवतान्तरभजनेन तेषां नाशा भगवद्भोग्यानां स्वीकारेणैतत्तस्य चाभजने तु सर्वदेवाभजनेतिक्रमः स्यादन्यस्य च क्रोधः अतो नित्यस्वावेशसिद्ध्यर्थं बलभद्रस्य प्रबोधनम् ॥ ८ ॥

**व्याख्यार्थ —** (वृन्दावन की) यह भूमि, घास, पृथ्वी पर पड़ी हुई लताएँ और पेड़ों पर चढ़ी हुई लताएँ भी आपके चरण स्पर्श होने से धन्य हुई, नखों से छुई हुई पर्वत एवं नदियाँ भी धन्य हुई, और खग मृग भी दया दृष्टि के लाभ से धन्य हुए, दयायुक्त अवलोकन से तथा दुर्लभ आपके आलिङ्गन से गोपियाँ भी धन्य हुई । यह आलिङ्गन क्यों दुर्लभ है ? यह आलिङ्गन इसलिए दुर्लभ है कि लक्ष्मी भी इस आलिङ्गन की कितने दिनों से इच्छा कर रही हैं किन्तु उसे भी प्राप्त नहीं हुआ है । भूमि आदि आपको कुछ भी प्रार्थना नहीं करती हैं कारण कि आपने उनको किसी न किसी प्रकार से प्रसन्न किया ही है ।

जिस देवता का आवेश अपने में होने वाला हो उसकी भावना करने से वह देव शीघ्र उसमें प्रविष्ट होता है । यदि इस प्रकार की भावना न की जाए और वह देवता उसमें प्रविष्ट न हो तो, दोनों (वृन्दावनस्थ पशु-पक्षी और बलभद्र) का भी अनिष्ट हो जाए ऐसी सम्भावना है । यदि वृन्दावन में

स्थित पशु-पक्षी आदि केवल सङ्कर्षण (भगवान् के आवेश रहित) का भजन करें तो अन्य देवता का भजन करने के कारण उनका नाश हो और भगवान् की भोग्य सामग्री को स्वीकारने के कारण संकर्षण का। और यदि ये वनस्थ पशु-पक्षी भजन न करें तो सभी देवों में श्रेष्ठ बलराम के अभजन करने से अतिक्रम होगा और सङ्कर्षण के अपमान से बलभद्र को क्रोध भी हो सकता है, अतः भगवान् ने नित्य अपने आवेश की सिद्धि बलभद्र में हो इसलिए बलभद्र को यह सर्व बोध कराया है ॥ ८ ॥

**आभास —** एवं वृन्दावनस्वरूपं निरूप्यात्रत्यानां च स्वरूपमर्थाद् बलभद्रबोधनं च कृत्वा तादृशे वृन्दावने भगवान् क्रीडां कृतवानित्याहैवमितिदशभिः,

**आभासार्थ —** इस प्रकार वृन्दावन के स्वरूप का निरूपण कर यहाँ स्थित करने वालों (वृक्ष पशु-पक्षी आदि) का स्वरूप एवं बलभद्र को आवेशी स्वरूप का ज्ञान कराया अर्थात् आप में मेरा आवेश है तदनन्तर ऐसे वृन्दावन में भगवान् क्रीड़ा करने लगे इसका वर्णन नीचे के दश श्लोकों से करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — एवं वृन्दावनं श्रीमत् कृष्णः प्रीतमनाः पशून् ।

रेमे सञ्चारयन्नद्रेः सरिद्रोधस्सु सानुगः ॥ ९ ॥

**श्लोकार्थ —** श्री शुकदेवजी कहने लगे कि-इस प्रकार की शोभावाले वृन्दावन में प्रसन्नचित्त श्री कृष्णचन्द्र ग्वाल बालों को साथ लेकर, पर्वत के समीप वाली नदियों के तटों पर गौओं को चराते हुए क्रीड़ा करने लगे ॥ ९ ॥

**सुबोधिनी —** पौगण्डवयसः पुरुषार्थचतुष्टयसाधक-कालरूपत्वादादौ पुरुषार्थचतुष्टयप्रतिपादनं क्रमेण ततो दशरसोद्भावेन क्रीडां परमानन्दस्य दशधा रसो लोकेऽनुभूयत इति ब्रह्मानन्दापेक्षया भजनानन्दस्योत्तमत्वप्रतिपादनार्थं, तथा प्रथमं धर्ममाविष्कुर्वन् रतिं कृतवानित्याहैवमूपे वृन्दावने कृष्णः पशून् सञ्चारयन् रेम इतिसम्बन्धः, वृन्दावनगुण-निरूपणार्थमेव वचनानामुपयोगादेवमित्यनेनैव सम्बध्यते, अतो निरूप्योक्तेत्यादिक्रिया नाध्याहर्तव्याः, शाब्दी च सङ्गतिरेव-मित्यत्रैव योजनीया, यत्र रन्तुं मनो दधे यत्र चोवाच रेमेत्यानि च कृतवानिति महावाक्ये सर्वेषां सम्बन्धः, यदा पुनस्तत्तदभिमानिदेवताभिः सह रतिं कर्तुमारम्भं कृतवांस्तदा लक्ष्मीः स्वत एव समागतातो रमणमनुक्तसिद्धमेवेत्यनुभावा उद्दीपनविभावा व्यभिचारिणश्च निरूप्यन्ते, आलम्बनं तु

लक्ष्मीरेव, नायकोत्कर्षमाह कृष्ण इति, सदानन्दो हि पुरुषोत्तमो मनुश्च करणं, तस्यापि दोषनिवृत्तिपूर्वकं गुणा वक्तव्याः, तदाह प्रीतमना इति, प्रीतं निर्दुष्टं सन्तुष्टं मनो यस्य, पशून् सञ्चारयन्नितिधर्मः, सम्यक् चारणं देशविशेषे, गह्वरादिवने वक्तव्ये स्वरमणं बाध्येतेत्युभयोरूपयोंगार्थं देशविशेषान् निर्दिशत्यद्रेः सरिद्रोधस्स्विति, पर्वतसम्बन्धिन्यो याः सरितस्तासां रोधस्सु कूलेषु, तत्र हि हस्तिवृणानि भवन्ति प्ररूढानि च, पर्वते स्थित्वाधस्तात् स्थित्वा वा तासामन्यत्र गमशङ्काभावाच्चारयन्नेव रमणं सम्भवति, अत एव सम्यक् चारणं, धर्मरतौ रक्षायां स्वाभिनिवेशे धर्मरमणयोर्हीनता स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह सानुग इति, अनु पश्चाद्गच्छन्तीत्यनुगाः सेवकास्तैः सहितः ॥ ९ ॥

**व्याख्यानार्थ —** छठे वर्ष नव वर्ष पर्यन्त, चार वर्ष की आयु को पौगण्ड अवस्था कहते हैं। इस काल को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला माना गया है अतः क्रम से प्रथम चार पुरुषार्थ प्रतिपादन किये गये हैं।

ब्रह्मानन्द से भजनानन्द की उत्कृष्टता दिखाने के लिए, और (भगवान् के) दश रसों का अनुभव दश प्रकार से होता है इसलिए आप दश रसों को प्रकट करते हुए क्रीड़ा करते हैं। इस (९वें) श्लोक में प्रथम पुरुषार्थ धर्माचरण (वैश्य धर्माचरण) करते हुए क्रीड़ा करने लगे, इसका वर्णन करते हैं।

उपर्युक्त प्रकार से वर्णित श्री वृन्दावन में श्रीकृष्ण पशुओं को चराते हुए रमण करने लगे। इस रमण का सम्बन्ध इस श्लोक से १९ श्लोक तक है। इन दश श्लोकों में चार पुरुषार्थ और दश रसों का वर्णन कर अन्तिम १९वें श्लोक में इनका उपसंहार<sup>१</sup> किया गया है।

भगवान् ने जब वृन्दावन के पृथक् पृथक् अभिमानी देवताओं से रमण प्रारम्भ किया तब लक्ष्मीजी स्वतः स्वयं पधारी। लक्ष्मीजी के साथ स्पष्ट रमण नहीं कहा गया है तो भी उनके साथ रमण सिद्ध ही है। इससे ही अनुभव\* उद्दीपन विभाव† व्यभिचारिभाव‡ वर्णन किए हुए हैं यों जानना चाहिये। आलम्बन विभाव तो स्वयं लक्ष्मी हैं ही।

नायक (श्रीकृष्ण) की उत्तमता का वर्णन करने को 'कृष्ण' पद का प्रयोग किया। 'कृष्ण' में 'कृष्' का अर्थ सत् है और 'ण' का आनन्द है अर्थात् नायक-कृष्ण तो सद्-आनन्द है, पुरुषोत्तम है। रमण में करणसाधन है मन। मन में भी कोई दोष नहीं है प्रत्युत् गुण है यह दिखलाने के लिए नायक को 'प्रीतमनाः' कहा जा रहा है। (नायक कृष्ण का) वह मन दोष रहित और सन्तोष वाला था। पशु चारण रूप धर्म तथा रमण दोनों को पूर्णतया करने के लिए भगवान् ने पशुओं को पर्वतों से सम्बन्ध वाली नदियों के किनारों पर चराना योग्य समझा। एक तो वहाँ पशुओं के चरने के लिए हरी घास मिलेगी और रमण के लिए सुन्दर स्थान होने से रमण में मन स्थिर रहेगा और वहाँ से गौ भी अन्यत्र जा नहीं सकेगी अतः गौओं को चराते हुए रमण भी होगा इसके सिवाय अपने साथ अनुचर<sup>२</sup> भी हैं वे भी गौओं को चराते हुए उनकी रखवाली करते रहेंगे तो मेरा मन केवल गौचारण रूप धर्म में निरुद्ध नहीं होगा जिससे रमण में किसी प्रकार की रुकावट न होगी दोनों कार्य सुचारु रूप से सिद्ध होंगे ॥ ९ ॥

\* ये रसान् अनुभावयन्ति ते अनुभावाः' जो रसों को अनुभव के योग्य बनावे उनको 'अनुभाव' कहते हैं।

† ये रसान् उद्दीपयन्ति ये बाह्याः ते उद्दीपन विभावाः' जो भाव हृदय में उत्पन्न हुए हों उनको उत्तेजित करें उनको उद्दीपन विभाव कहते हैं।

‡ 'ये इतस्ततः सञ्चरन्ति रसेषु अनेक रस व्याप्या भवन्ति ते व्यभिचरिभावाः' जो एक रस में स्थिर न रह कर अनेक रसों में फिरते रहें ऐसे भाव व्यभिचारी भाव हैं।

**आभास —** एवं धर्मोद्भावेन क्रीडामुक्त्वार्थोद्भावेनापि क्रीडामाह क्वचिदिति,

**आभासार्थ —** उपरोक्त (९वें) श्लोको में गौचारण रूप धर्म प्रकट कर जो लीला की, उसका वर्णन किया, अब इस (१०वें) श्लोक में अर्थ रूप धर्म को प्रकट करने के लिए जो क्रीड़ा करेंगे उसका वर्णन करते हैं ।

**श्लोक: —** क्वचिद् गायति गायत्सु मदान्धालिष्वनुव्रतैः ।

**उपगीयमानचरितः सखिसङ्कर्षणान्वितः ॥ १० ॥**

**श्लोकार्थ —** जिनके चरित्रों का भक्त गान कर रहे हैं और जिनके साथ सखा और सङ्कर्षणजी भी हैं, ऐसे भगवान्, मदान्ध भ्रमरों के गाने पर भी आप भी गान करते थे ॥ १० ॥

**सुबोधिनी —** मदान्धालिषु गायत्सु क्वचिद् भगवानपि गायति, अनुव्रतैर्निजभक्तैरुपगीयमानचरितश्च सखिसङ्कर्षणाभ्यां चान्वितः, 'यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यत' इति श्रुतेर्वीणानुरणनस्थानीया भ्रमरा भवन्ति, अर्थभोगेनैव गीतमपि गायति, अन्यथा तद्रसोद्रेको न ज्ञापितः स्यात्, सर्वतश्च स एव स्तूयमानोऽपि भवति परिकरयुक्तश्च, परिकरो द्विविध इति सखिसङ्कर्षणौ निरूपितौ स्वसम्बन्धिनः कुलसम्बन्धिनश्चेति, "बन्धुभिर्या न भुज्यत" इत्यर्थे तेषां

सहभाव आवश्यकः, समीपे गानं स्तोत्रं वार्थभोग एव, मुनीनां भ्रमरत्वनिरूपणात् समीपे धार्ष्ट्याद् गानं न भविष्यतीति मदान्धता निरूपिता, मदोऽत्र भगवत्सात्रिध्यानन्दो भक्तिरसोन्मादो वा वृन्दावने पुष्पेषु मकरन्दश्चरणसमर्पितेषु भक्तिरूप एवेति, अनु व्रतं येषामिति तेषामपि स्वसाम्यकरणं सर्वे सखायः सङ्कर्षणश्च समयवयस्तेषामप्यर्थभोगः सम्यक् सम्पाद्यत इति, एवं वृन्दावने श्रीमान् कृष्णः प्रीतमनः इति पञ्चपदानि सर्वत्रानुवर्तन्ते ॥ १० ॥

**व्याख्यानार्थ —** मद से अन्धे भ्रमरों के गाने पर कभी भगवान् भी गाते हैं । आपके भक्त भी आपके चरित्र गा रहे हैं । मित्र और सङ्कर्षणजी भी आपके साथ थे ।

"यदा खलु वै पुरुषः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यत" यह श्रुति कहती है कि पुरुष जब 'श्री' का भोग करता है तब उसके पास वीणा बजती है । इस श्रुति के अनुसार जब भगवान् अब 'श्री' (अर्थ) का भोग कर रहे हैं तब भ्रमर वीणा के रूप में गा रहे हैं और आप भी गान करते हैं । यदि आप गान न करें तो रस में विशेषता उत्पन्न न होवे । चारों तरफ आपकी ही स्तुति, भ्रमर और भक्तगण कर रहे हैं आप के साथ आपका परिकर भी है ।

प्रकाशकार 'श्री' का भाव स्पष्ट करते हुए आज्ञा करते हैं कि 'माताजी के भेजे हुए पदार्थों का भोग करते थे अथवा वन में उत्पन्न फलादिकों का भोग करते थे' ।



भगवान् के साथ अपने सम्बन्ध वाला और कुल से सम्बन्ध रखने वाला दोनों प्रकार का परिकर था। दोनों प्रकार का परिकर साथ में इसलिए रखा था कि शास्त्रों में कहा है कि 'बन्धुभिर्या न भज्यते' जो भी (पदार्थ) बान्धवों के साथ भोगी नहीं जाती है वह "श्री" नहीं है, तदर्थ बान्धवों को साथ में रखना आवश्यक है।

समीप में गान करना अथवा भगवान् की स्तुति करना यह भी अर्थ भोग ही है। भ्रमरों को मुनि कहा गया है तो उन्होंने भगवान् के सामने गाने की धृष्टता क्यों की? ऐसी शङ्का के निवारण के लिए ही भ्रमरों को मदन्ध कहा गया है। भ्रमरों का मद अहंकार रूप नहीं था, किन्तु भगवान् की सान्निध्यता के आनन्द का मद था अथवा उन्होंने जो वृन्दावन के भगवच्चरण समर्पित पुष्पों का जो भक्ति रस रूप मकरन्द था उसका पान किया था जिससे उनको उन्माद था। इस उन्माद के कारण वे भगवान् के सामने गान कर रहे थे इसलिए उनमें धृष्टता दोष नहीं है।

जो भगवान् के भक्त अनुव्रती<sup>१</sup> हैं, सब सखा तथा सकर्षणजी इस प्रकार के हैं। अतः इनको भी अपने समान ही अर्थ भोग कराना योग्य समझ भगवान् ने उनका भी पूर्ण रीति से भोग सम्पादन किया। (९वें) श्लोक के 'एवं वृन्दावने श्रीमान् कृष्णः प्रीतमनाः' ये पाँच पद इस श्लोक और आने वाले श्लोकों से भी सम्बन्धित हैं।

**आभास —** एवमर्थलीलामुक्त्वा कामलीलामाह क्वचिच्चेति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार 'अर्थ' लीला कह कर (११वें) श्लोक में कामलीला का वर्णन करते हैं।

**श्लोकः —** क्वचिच्च कलहंसानामनुकूजति कूजितम् ।

अभिनृत्यति नृत्यन्तं बर्हिणं हासयन् क्वचित् ॥ ११ ॥

**श्लोकार्थ —** (इस प्रकार के वृन्दावन में प्रसन्न चित्त वाले लक्ष्मी युक्त श्रीकृष्ण) कभी कल हंसों के समान कूजन करते हैं, कभी नृत्य करते हुए मयूर को अपने चारों तरफ सुन्दर नृत्यों से हास्य पात्र बनाते हैं ॥ ११ ॥

**सुबोधिनी —** कलहंसानां कूजितमनुकूजति, कामे हि द्वयं कर्तव्यं कूजितं रसोद्गमनार्थं, बन्धाश्च रसार्थं, तत्र मयूरस्य मयूर्या सह सम्बद्धस्यैव मत्तस्य गात्रविक्षेपे सर्वतो रस एकीभूय नेत्राभ्यां निर्गतो मयूर्या मुखे प्रविशत्यूर्ध्वं च रेतो निर्गच्छति ज्ञानद्वारा च, अन्ये सर्वे कामे प्राकृता एव रसाः, अत एव विचित्रं तत्र कार्यमुत्पद्यते, शब्दो हि मनःपूर्वक इति रसारसयोर्भेदकस्य हंसस्य मानसैकशरणस्य तादृशं भवति कूजितं, अत एव सर्वविलक्षणत्वं हंसे वक्तुं कलहंस

उक्तः, स हि कलानां हंसः, वहूनामेकविधप्रतिपादकत्वे नृत्यति रसाभासभावाभासनिरूपणार्थेन्यथा रसः पुष्टो न भवेत्, तदर्थनिष्णातत्वं भवति भगवांस्तु सर्वेषामेव कूजितं तदाह हासयन् क्वचिदिति, कदाचिद् बर्हिणं हासयन् नृत्यति रसावान्तरभेदाविर्भावार्थमनुकूजति, अभितश्च नृत्यन्तं बर्हिणं बाला बर्हिणं हसन्ति नायं सम्यक् नृत्यतीति, नृत्यति यदि मयूरो मयूर्या सह रसेन नृत्यति, अन्यथा सर्वदैवमितिनिषेधार्थमाह पुनः क्वचिदिति ॥ ११ ॥

**व्याख्यार्थ** — कल हंस जिस प्रकार कूजन करते हैं उसी प्रकार आप (श्रीकृष्ण) भी कूजन करते हैं। काम लीला में दो कर्तव्य हैं। रस को प्रकट करने के लिए कूजन करना और रस\* लेने के लिए बन्ध।

जब मयूरी मयूर के निकट आती है तब उसको देखकर मयूर काम मत्त होता है जिससे मयूर अपने गात्रों को विस्तारता<sup>१</sup> है। गात्रों के फुलाने से उसके सर्व गात्रों में रहा हुआ रस इकट्ठा होकर नेत्रों द्वारा बाहिर निकलता है उसको मयूरी मुख द्वारा पान करती है। इस प्रकार का रेत<sup>२</sup> ऊपर के भाग से ज्ञान के साधन नेत्रों द्वारा बाहिर निकलने से वह अप्राकृत रेत है। इससे भिन्न सब रेत जो काम क्रीड़ा<sup>३</sup> से उत्पन्न होते हैं वे प्राकृत रस हैं।

मयूर का रेत अप्राकृत होने से वहाँ का गर्भधारणादि कार्य विचित्र प्रकार से ही होता है।

शब्द की उत्पत्ति मन से होती है, प्रथम मन में विचार होता है तदनन्तर यह विचार शब्द रूप से मुख द्वारा बाहिर आता है। रस (दूध) अरस (जल) को पृथक् करने वाला हंस जिसका आश्रय केवल मानस है उसका कूजन भी वैसा (अप्राकृत) होता है। कारण कि हंस अन्य सर्व से विलक्षण है यह सूचित करने के लिए हंस को 'कल हंस' कहा है अर्थात् हंस कलाओं का हंस है। इसलिए ही वह पानी में मिले हुए दूध को पृथक् कर सकता है<sup>४</sup>। अनेक बातों का एक रूप में प्रतिपादन निष्णात व्यक्ति ही कर सकता है। भगवान् कूजन में प्रवीण हैं क्योंकि आप एक ही कूजन में सर्व प्रकार के हंसों का कूजन करते हैं। एक ही कूजन में रस के जितने भी अवान्तर भेद हैं उनको प्रकट करने के लिए आप हंस के अप्राकृत कूजन जैसा कूजन भी करते हैं। भगवान् मयूर के सब प्रकार के नृत्यों के समय नृत्य करते हैं। जब मयूर मयूरी के साथ रस से नृत्य करता है अथवा मेघ आदि को देखकर नृत्य करता है, वा स्वभाव के कारण नृत्य करता है तब भगवान् रसाभास और भावाभास के निरूपण के लिए नृत्य करते हैं। यदि भगवान् नृत्य न करें-तो रसाभास और भावाभास के कारण मयूर के नृत्य से रस पुष्ट नहीं होता। फिर कभी तो मयूरों की हँसी कराने के लिए ऐसा नृत्य करते

\* लेखकार - कूजन करने से जो रस प्रकट होता है -

† प्रकाशकार - मयूर का गात्रों को फुलाना ही 'बन्ध' है।

‡ लेखकार - उसमें जो आलिङ्गन होता है उसको बन्ध कहा जाता है।

हैं कि जिसको देखकर बालक इसका नृत्य अच्छा नहीं इसने बराबर नाच नहीं किया आदि शब्द कहते हुए मोरों पर हँसते थे । भगवान् सदा ऐसे नृत्य नहीं करते इसलिए 'पुनः क्वचित्' फिर कभी शब्द कहे हैं ॥ ११ ॥

**आभास — मोक्षलीलामाह मेघगम्भीरयेति,**

**आभासार्थ —** इस (१२वें) श्लोक में मोक्ष लीला कहते हैं ।

**श्लोक: — मेघगम्भीरया वाचा नामभिर्दूरगान् पशून् ।**

**क्वचिदाह्वयति प्रीत्या गोगोपालमनोज्ञया ॥ १२ ॥**

**श्लोकार्थ —** (इस प्रकार के श्री वृन्दावन में प्रसन्न मन वाले लक्ष्मी युक्त श्रीकृष्ण) मेघ के समान गम्भीर और गौ तथा गोपालों के मन को हरण करने वाली वाणी से दूर गए हुए पशुओं को कभी प्रेम से प्रत्येक का नाम लेकर बुलाते थे ।

**सुबोधिनी —** वाचा दूरगान् पशून् नामभिर्भगवान् क्वचिदाह्वयतीतिसम्बन्धः, भगवत्सायुज्यं मुक्तिश्च भगवद्दत्तैव भवति, सर्वशास्त्रनिर्मुक्तानां साधनानां भगवति तत्तद्धर्मसम्बन्धजनकानां ततः प्रतिफलितानां भगवत्कृतानामेव साधकत्व मितिसिद्धान्तः, “यदनुस्मर्यते काले स्वबुद्ध्या भद्रस्थन येनोपशान्तिर्भूताना” मित्यत्र विशेषतो निरूपणात्, अतो भगवन्नामस्मरणं कीर्तनं च भगवता नामग्रहणार्थं, तदपि ग्रहणं सर्वेषां तापनिवर्तकरूपेण तदपि कृपयावसरे, यदा ते दूरं गता भवन्ति, यथा ते साक्षात्कृतस्य भगवतो नाम न गृह्णन्ति तथा भगवानपि दूरगानेवाह्वयति, पशवः सर्वथा गत्यन्तररहिताः स्वतो

बुद्धिरहिताश्च, तदपि नामग्रहणं प्रीत्यैव, अन्यथान्यस्य विषयनिवारकत्वं न सम्भवति, प्रत्यक्षापेक्षया शब्दस्य दुर्बलत्वात्, सापि चेद् वाण्यलौकिकी न भवेत् तदालौकिकं फलं न प्रयच्छेदिति ज्ञापयितुं गोगोपालमनोज्ञयेत्युक्तं, गवां गोपालानां च मनोज्ञा भवति साक्षाद्वाणी, गोपाला गुरव इव गावोऽधिकारिण्य इव, उभयेषां मनोज्ञता पूर्वं ततः फलानुभवात्, इमामेव हि लीलां भगवान् मुक्तौ करोति, केवलवाचा समाह्वाने स्वाधिकारो न भात इति न निवर्तेतातो भिन्नभिन्नाधिकारिनिरूपणार्थं नामभिरितिबहुवचनं तदवान्तर-साधनपरिग्रहार्थं च, प्रथमत एव पशवस्ततोऽपि दूरगास्ते चेद् भगवता स्वतो न मुच्यन्ते मुक्ता एव तिष्ठन्ति ॥ १२ ॥

**व्याख्यार्थ —** भगवान् दूर गए हुए पशुओं को वाणी से प्रत्येक का नाम लेकर कभी बुलाते हैं । भगवान् के साथ सायुज्य और मुक्ति\* भगवान् के देने से ही प्राप्त होती है । सकल शास्त्रों में कहे

\* प्रकाशकार सायुज्य और मुक्ति के अर्थ का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि, पुष्टिमार्ग के अनुसार सायुज्य का अर्थ सखा भाव है अर्थात् भगवान् के साथ प्रथम मिलाप और मुक्ति का अर्थ दुःख का अभाव है । अन्य मतों के अनुसार सायुज्य का अर्थ 'भगवान्' से मिल जाना है और मुक्ति का अर्थ अपने स्वरूप में स्थिति है । भगवान् (अधिकारानुसार) दोनों मार्गों द्वारा मोक्ष देते हैं मोक्षदाता जनार्दन भगवान् हैं वह जब देते हैं तब मोक्ष मिलता है ।

हुए श्रवणादि साधन भगवान् से सम्बन्ध कराते हैं। इस प्रकार जब जीव का भगवान् के साथ सम्बन्ध होता है तब भगवान् भी वैसे धर्मों का पालन करते हैं<sup>†</sup> जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है यह सिद्धान्त<sup>‡</sup> है।

प्रचेताओं ने भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है कि 'यदनुस्मर्यते काले स्व बुद्ध्या भद्ररन्ध्रं येनोपशान्तिर्भूतानां' हे अभद्र को दूर करने वाले ! दीनों से प्रेम करने वाले स्वामियों को इतना ही करना चाहिए कि समय पर चित्त में अपने प्राणियों को स्मरण करें, जिससे उनको शान्ति प्राप्त होवे, (प्रचेताओं के इन वचनों में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादन किया गया है) अतः भक्त भगवान् का नाम स्मरण और कीर्तन इसलिए करते हैं कि भगवान् भी हमारा नाम ग्रहण करे अर्थात् हमको याद कर अपने पास बुला लेवे।

वे पशु जब दूर चले जाते हैं तब भगवान् कृपा कर अवसर देख जैसे उन सबका ताप मिट जावे वैसी वाणी से उन पशुओं के नाम लेते हैं। दूर गए हुए पशुओं के नाम लेने का कारण यह है कि जैसे साक्षात्कार किए हुए जिस भगवान् का नाम वे नहीं लेते हैं वैसे ही भगवान् भी उनका नाम न लेकर दूरस्थों को ही नाम लेकर अपने पास बुलाते हैं। पशुओं को तो अपनी बुद्धि नहीं है। भगवान् के बुलाने के सिवाय उनके लिए मुक्त होने का कोई भी उपाय नहीं है।

भगवान् वैसे प्रेम से उनका नाम लेकर उनको बुलाते हैं जैसे नामों के सुनते ही उनके विषयों का नाश हो जाता है। यों तो विषय प्रत्यक्ष होने से सबल हैं और शब्द (नाम) परोक्षता के कारण निर्बल हैं किन्तु उस शब्द के साथ प्रेम पीयूष होने से प्रत्यक्ष विषयों से परोक्ष नाम सबल हो गए जिससे पशु तत्क्षण विषयों का त्याग कर सके।

भगवान् केवल प्रेम-से नाम लेवें, किन्तु वह वाणी अलौकिक न होवे तो अलौकिक फल (मोक्ष) की प्राप्ति न होवे इसलिए भगवान् ने प्रेमयुक्त अलौकिक वाणी से नाम लिए। वह वाणी अलौकिक

<sup>†</sup>'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' गीता में भगवान् ने कहा है कि जो जैसे मुझको भजते हैं मैं भी उनको उसी तरह भजता हूँ। गीता के इस वचन के अनुसार जीव जैसे साधन कर भगवान् को सन्तुष्ट करता है भगवान् भी वे साधन ग्रहण कर जीव की मनःकामना पूर्ण करते हैं-अनुवादक

<sup>‡</sup>शङ्का - जब भगवान् मोक्ष देवें तो प्राप्त होता है, नहीं तो नहीं होता है। यदि ऐसा है तो शास्त्रों की क्या आवश्यकता है ? इस शङ्का का निवारण प्रकाशकर श्री पुस्तोत्तमजी इस प्रकार करते हैं कि-शास्त्रों में कहे हुए साधनों से जब जीव का मन भगवत्परायण हो ध्यान मग्न हो जाता है उसका सर्वत्र सम्बन्ध छूटकर केवल भगवान् से ही सम्बन्ध हो जाता है। साधनों द्वारा जब जीव इस कोटि पर पहुँचता है तब भगवान् जीव के किए हुए साधनों से प्रसन्न होकर उसका फल देने का विचार करते हैं। उसको उसके अधिकार और साधनानुसार फल देते हैं। जैसे भीष्म ने जब शर शय्या पर भगवान् से एक तान मन कर भगवान् में ध्यान लगाया तब भगवान् वहाँ भीष्म को दर्शन देकर मुक्त करने के लिए भीष्म के पास स्वयं पधारे। इससे सिद्ध हुआ कि शास्त्रों में कहे हुए साधन भगवान् में मन एकाग्र कराने के लिए है अतः शास्त्र निरर्थक नहीं है।

है, इसकी सिद्धि इससे होती है कि उसको सुनकर गौ और गोपों के मन आनन्द मग्न हो गए। गौ और गोपालों के मनों को साक्षात् वाणी (अलौकिक वाणी) ही मधुर तथा आनन्ददायी होती है, कारण कि 'गोप' गुरु जैसे हैं और गौ अधिकारी जीव जैसे हैं।

गोप और गौओं को प्रथम भगवान् की वाणी मन की प्रसन्नता करने वाली और आनन्द देने वाली हुई। मन आनन्द युक्त प्रसन्न हो तब ही वह फल का पूर्ण अनुभव कर सकता है। किसी को भी मुक्ति देनी हो तो भगवान् प्रथम इस प्रकार की लीला करते हैं। अर्थात् जिसको मुक्ति देनी हो प्रथम उसके मन को प्रसन्न (विषय के दुःखों से छुड़ाते हैं) और आनन्द युक्त करते हैं।

यदि भगवान् प्रत्येक का नाम न लेकर केवल वाणी से बुलाते तो यों भी हो सकता है कि वे पशु समझने लगे कि न जाने किसको बुला रहे हैं इसलिए कदाचित् वे नहीं भी आवें। तथा भगवान् ने भी सोचा कि साधनों के भेद से सबका अधिकार समान नहीं है अतः अधिकारानुसार प्रत्येक का नाम लेकर सब को पृथक् ही बुलाना योग्य है इसलिए मूल में 'नाम' शब्द बहुवचन में दिया है।

एक तो ये पशु जीव होने से, बुद्धि हीन है और दूसरा भगवान् से दूर चले गए हैं। अतः जो दयालु सर्वोद्धार प्रयत्नात्मा प्रभु स्वयं उनको मुक्त न करते तो वे अमुक्त ही रह जाते ॥ १२ ॥

**आभास — एवं पुस्मार्थचतुष्टयलीलामुपपाद्य दशरसप्रकारेण भगवतो लीलां वदन् प्रथमं षड्रसलीलामाह चकोरेति,**

**आभासार्थ —** इस प्रकार चारों पुरुषार्थों की लीला का वर्णन कर अब दश रसों के प्रकार की लीला कहते हुए इस श्लोक में छः प्रकार के रसों की लीला को कहते हैं (पश्चात् शेष ४ रसों की लीला आगे के श्लोकों में वर्णन करेंगे)।

**श्लोकः — चकोरक्रौञ्चचक्राह्वभारद्वाजांश्च बर्हिणः ।**

**अनुरौति स्म सत्त्वानां भीतवद् व्याघ्रसिंहयोः ॥ १३ ॥**

**श्लोकार्थ —** (ऐसे वृन्दावन में प्रसन्न मनवाले, लक्ष्मी युक्त श्रीकृष्ण) चकोर क्रौञ्च, चक्राह्व, भारद्वाज और मयूरों के समान ध्वनि करते थे, तथा बाघ और सिंह से डरे हुए प्राणियों जैसी ध्वनि करते थे ॥ १३ ॥

**सुबोधिनी —** चकोरा हि चन्द्रकिरणभोक्तारो-  
लौकिकभोगाः, न ह्यन्येन चन्द्रकिरणा भूमौ स्थिता भोक्तुं  
शक्यन्ते त एव परं भोक्तारः सूर्यकिरणा इव, अन्यथा ततः  
शैत्यादिकं न स्यात्, तथैव सर्वे पुरुषाः स्त्रीभिर्भुज्यन्ते

तद्वास्यं चानुभवन्ति, तथैव लोकप्रतीतिः तद्वदयं भगवान् न  
रसानुभवं करोतीति ज्ञापयितुं शृङ्गाररसे चकोरवद् भगवतो  
वाग्व्यापारो निरूप्यते, क्रौञ्चो वीरे, चक्रवाकः कसगायां, स  
हि वियुक्तश्चक्रपद आवर्तनेन मारणमभिप्रेतमिति तेनाह्व आह्वानं

यस्येति तस्यावश्यं करुणायुक्तैव, भारद्वाजोऽद्भुते, क्रमस्य नियामकत्वाद्, भारद्वाज इत्याख्या यस्य, स हि द्विजन्मा तन्नामसम्बन्धख्यापनमद्भुतरसेऽनुगुणं भवति, बर्ही हास्ये, तस्य तथात्वं पूर्वमेव निरूपितं, एते पञ्चविधा नात्यन्तं विरुद्धा इत्येकीकृत्य निरूपिताः, भयानकरसस्तु सर्वोपमर्दक इति पृथङ् निरूपयति, सत्त्वानां मध्ये व्याघ्रसिंहयोर्भीतव-  
च्चानुरौतीति, एवं रसाविर्भावे प्रमाणं प्रसिद्धमिति स्मेत्याह,

भयं द्विविधं स्वरूपनाशादभिमानादिधर्मनाशाद् वा, तत्र स्वरूपं व्याघ्रोभिमानादिधर्मे सिंहः, बहुप्रकारं च भयं प्रतीकागसमर्थानां सम्भावनायामप्यन्यथा, अन्येषां चान्यथेति, तत्र सत्त्वानि शशादीनि प्रतीकारसम्भावनारहितानि, भये परमा काष्ठा सत्त्व-  
सम्बन्धिन्यवस्था, रसाभिनये चेष्टापेक्षया वचनमतिसुन्दरमिति तदेव निरूपितम् ॥ १३ ॥

**व्याख्यार्थ —** यह प्रसिद्ध है कि चकोर पक्षी अंगार खाता है जिससे उसके शरीर में ताप होता है, उस ताप की निवृत्ति के लिए वह पृथ्वी पर पड़ी हुई चन्द्रमा की किरणों का उपभोग वैसे करता है, जैसे सूर्य अपनी किरणों से चन्द्रमा की किरणों का भोग करता है, यह उसका (चकोर का) भोग अलौकिक भोग है कारण कि चकोर के सिवाय अन्य कोई भी प्राणी पृथ्वी पर पड़ी हुई चन्द्रमा की किरणों का भोग नहीं कर सकता है। यदि चकोर इस प्रकार चन्द्रमा की किरणों का भोग न करे तो चकोर में शीतलतादि गुण न होंगे। चन्द्रमा की किरण पुरुष रूप है इस पुरुष रूप किरण का भोग चकोर कैसे करता है ? इस शङ्का की निवृत्ति आचार्य श्री दृष्टान्त देकर कहते हैं, कि वास्तव में स्त्रियाँ ही पुरुषों का भोग करती हैं न कि पुरुष स्त्रियों का भोग करते हैं क्योंकि भोग का तात्पर्य है जो वस्तु, भोग में आवे उस वस्तु में जो सार (शक्ति तत्त्व) हो उसको भोगकर्ता अपने में ले लेवे तो विचार करने से यह बात समझ में आ जाती है कि पुरुषों में जो शक्ति तत्त्व सार रूप वीर्य है उसको स्त्रियाँ अपने में खींच लेती हैं अतः पुरुष ही भोग्य हैं स्त्रियाँ भोक्ता हैं। इतना ही नहीं; किन्तु पुरुष का भोग कर उसको अपने आधीन बना लेती है। इसलिए चकोर पुरुष रूप किरणों को कैसे भोगता है ? पुरुष भोग्य नहीं है, स्त्री भोग्य है यह शङ्का निर्मूल है। पुरुष स्त्रियों का भोग करते हैं, यह केवल लोक प्रतीति मात्र है।

भगवान् लोकवत् रस का अनुभव वा स्त्रियों की दासता नहीं करते हैं। ऐसा बताने के लिए शृङ्गार रस के पक्ष में भगवान् का चकोर पक्षी के समान वाणी के व्यापार का वर्णन है। इससे यह बताते हैं कि जैसे चकोर पक्षी का भोग अलौकिक है, वैसे ही भगवान् के भोगादि अलौकिक प्रकार के हैं लोकवत् नहीं हैं।

भगवान् वीर रस वाले क्रौञ्च पक्षी के समान ध्वनि कर बताते हैं कि मेरा वीर रस अलौकिक है।

भगवान् करुणा रस वाले चकवा पक्षी के समान ध्वनि कर अपने में करुणा रस का अस्तित्व प्रकट करते हैं। इस पक्षी के चक्राह्व नाम से ज्ञात होता है कि इसने भंवर में पड़े हुए प्राणी के समान बहुत विरहादि दुःख भोगे हैं, इसलिए इसमें करुणरस का आविर्भाव निश्चय से है।

रसों में चौथा रस 'अद्भुत' रस है अतः यहाँ भारद्वाज पक्षी का नाम चतुर्थ श्रेणी में दिया है। भारद्वाज ब्राह्मण है। इस पक्षी का नाम भारद्वाज इसलिए पड़ा कि भारद्वाज का जन्म अद्भुत<sup>१</sup> प्रकार से हुआ था, इस पक्षी में भी अद्भुत रस है अतः इस समानता के कारण ही इस पक्षी को भारद्वाज पक्षी कहते हैं। भगवान् भी अपने में अद्भुत रस की विद्यमानता दिखाने के लिए ही भारद्वाज पक्षी जैसी ध्वनि करते हैं।

पाँचवां 'रस' हास्य है वह मयूर पक्षी में है इसका प्रतिपादन पहले ही (इस अध्याय के एकादश श्लोक की सुबोधिनी जी में) किया गया है। इस हास्य रस का अस्तित्व अपने में बताने के लिए भगवान् ने मयूर जैसी केका ध्वनि कर दिखाई है।

ये पाँच रस साथ में इसलिए बताए हैं कि परस्पर अत्यन्त विरुद्ध नहीं हैं।

भयानक रस सर्व रसों का उपमर्दक<sup>२</sup> है अतः उसका पृथक् वर्णन किया है।

मूल श्लोक में दिए हुए 'स्म' शब्द का भाव प्रकट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि भयानक (रस) के आविर्भाव करने में यह प्रमाण प्रसिद्ध है कि व्याघ्र और सिंह से डरे हुए प्राणी ऐसी आवाज करते हैं जिससे सुनने वालों में भय (भयानक रस) उत्पन्न होता है। यहाँ भगवान् भी प्राणियों के बीच में व्याघ्र और सिंह से डरे हुए के समान ध्वनि का उच्चारण करते हैं।

मुख्य भय दो प्रकार के हैं, १-एक भय से स्वरूप का नाश होता है, २-दूसरे भय से अभिमानादि धर्म नाश होते हैं।

व्याघ्र के भय से स्वरूप का नाश होता है, सिंह के भय से अभिमानादि धर्मों का नाश हो जाता है।

भय केवल दो प्रकार के ही नहीं है किन्तु बहुत प्रकार के हैं। जैसा कि जो प्राणी असमर्थ हैं, वे तो कल्पना मात्र से भयभीत होकर शान्त रहते हैं यह भय की परकाष्ठा<sup>३</sup> है जैसे खरगोश आदि असमर्थ प्राणी शान्त ही रहते हैं। इनकी यह अवस्था सत्त्व सम्बन्ध वाली है। जो प्राणी समर्थ है उनको तो जब भय उपस्थित होता है तभी भय होता है। (वे अपनी सामर्थ्य से भय का निवारण करते हैं)

रस का अभिनय<sup>३</sup> केवल क्रिया से वाणी द्वारा सुन्दर होता है। इसलिए वही निरूपण किया गया है ॥ १३ ॥

<sup>१</sup> भारद्वाज ऋषि के पुत्र भारद्वाज का जन्म इस अद्भुत प्रकार से हुआ है कि, भारद्वाज ऋषि का वीर्य 'धृताचि' अप्सरा को देख खलित हो गया। उसको भारद्वाज ने एक द्रोण (वर्तन) में रखा उससे भारद्वाज उत्पन्न हुआ इसलिए इसको द्रोणाचार्य कहते हैं।

## आभास - बीभत्सरसलीलामाह क्वचित् ।

आभासार्थ - इस चौदहवें श्लोक में बीभत्स रस की लीला का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः - क्वचित् क्रीडापरिश्रान्तं गोपोत्सङ्गोपबर्हणम् ।  
स्वयं विश्रमयत्यार्यं पादसंवाहनादिभिः ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ - (ऐसे वृन्दावन में प्रसन्न मन वाले लक्ष्मी युक्त श्रीकृष्ण) क्रीड़ा से हुई थकावट के कारण गोप के उत्सङ्ग को तकिया बनाकर आर्य (बलरामजी) पोढ़े थे तब अङ्गमर्दन आदि से उनकी थकावट दूर करते थे ॥ १४ ॥

सुबोधिनी - क्रीडापरिश्रान्तमिति, आर्य बलभद्रं स्वयं क्वचिद् विश्रमयति विगतश्रमयुक्तं करोति पादसंवाहनादिभिः, पादे हि चलतः श्रमो भवति, अङ्गमर्दनं च तदुक्तकरणं च शय्यास्तरणादिकं चादिशब्देनोच्यते, हीनाद्धीनभाव उत्तमस्य बीभत्सो भवति, भक्तिमतामेव स बीभत्स इतिप्रतीतेरत्यन्तानुचितप्रतीतिस्तेषामेवेति यथा "स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमती"ति न पिशाचानां तादृशदर्शनेन बीभत्सरस उदेति किन्त्वस्मदादीनामेव तथेदमपि भक्तानां, एते हि सर्वे रसा भगवद्भजने तत्तदधिकारनिरूपकाः,

सर्वरसाविष्टा अपि भगवति सायुज्यं प्राप्नुवन्तीति, पादसंवाहनादिकरणे हेतुः क्रीडापरिश्रान्तमिति, क्रीडा मल्लक्रीडा, भगवतैव सह बलिष्ठेन सह कृतश्रमो बलाधिक्यजनको भवति परं प्रथमं पीडां प्राप्नोति, तत्प्रतीकारं नान्यो जानाति, भगवद्भलेनैवातिमात्रं व्यापृतत्वात्, तदाह परितः श्रान्तमिति, अतिविह्वलतासूचनार्थं गोपस्यैव कस्यचिदुत्सङ्ग उपबर्हणं यस्य, अत एव विकलत्वात् स्वामिकृतमुपचारमपि सहते, आर्यत्वादेव भगवतस्तथाकरणम् ॥ १४ ॥

व्याख्यार्थ - श्रीकृष्ण स्वयं अपने ज्येष्ठ भ्राता बलरामजी के परिश्रम<sup>१</sup> को दूर करने के<sup>२</sup> लिए पादादि सकल अङ्गों को मसलते थे और आदि शब्द से अन्य कार्य, जैसे शय्या का बिछाना, उस पर बिस्तर लगा देना भी करते थे । यह कार्य हीन से भी हीन था और उसको करने वाले उत्तम से भी उत्तम श्रीकृष्णजी थे । उत्तम पुरुष यदि हीन कार्य करें तो उसको देखकर देखने वाले प्रेमियों के हृदय में बीभत्स रस उत्पन्न होता है । उन प्रेमियों को ही यह कार्य अत्यन्त अनुचित प्रतीत होता है । केवल प्रेमियों को बीभत्स रस उत्पन्न होता है अन्यो (अप्रेमियों) को क्यों नहीं होता है ? इसको आचार्य श्री दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि, जैसे पिशाचों को माँस खाने जैसे हीन कार्य को देखकर बीभत्स रस का भान नहीं होता है किन्तु सत्पुरुषों को ही माँसादि भक्षण जैसे कार्य को देख वा सुनकर भी हृदय में बीभत्स भाव जगता है वैसे ही भगवान् के इस हीन कार्य को देखकर भक्तों को ही बीभत्स रस प्रकट होता है ।



ये सर्व रस भगवान् के भजन में उस अधिकार के निरूपण करने वाले हैं । सर्व रस में (रसों में से किसी भी रस में) जिसका प्रेम पूर्ण होता है तो उसको भगवत् सायुज्य की प्राप्ति होती है अतः यहाँ से सर्व रस भगवान् में वर्णन किए गए हैं ।

भगवान् बलभद्र के पादादि अङ्गों के मसलने का कार्य इसीलिए करते थे कि बलभद्रजी भगवान् के साथ मल्ल आदि क्रीड़ा करके थक गए थे । बलिष्ठ के साथ की हुई मल्ल क्रीड़ा विशेष थकावट कराती है । वह क्रीड़ा प्रथम अङ्गों में पीड़ा करती है यह पीड़ा आदि भगवान् के विशेष बल के कारण हुई है इसका प्रतीकार<sup>१</sup> (यह पीड़ा किस प्रकार मिटेगी) भगवान् के सिवाय कोई अन्य नहीं जानता है । विशेष थकावट के कारण ही व्याकुलता उत्पन्न हुई थी उसको मिटाने के लिए किसी गोप के गोद को तकिया बनाकर आराम कर रहे थे । बलरामजी इस विकलता के कारण ही अपने स्वामी के किए हुए उपचार को भी सहन कर रहे थे (यदि विशेष विकलता होती तो भी स्वामी के उपचार को कभी सहन नहीं करते अर्थात् उनको करने ही नहीं देते) । भगवान् स्वामी थे तो स्वामी होकर उन्होंने सेवक की हीन सेवा क्यों की ? इसके उत्तर में आचार्य श्री कहते हैं कि भगवान् ने बड़े भाई के नाते ऐसा किया था वह योग्य ही था ॥ १४ ॥

**आभास —** रौद्ररसमाह नृत्यत इति,

**आभासार्थ —** इस श्लोक में रौद्र रस का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः —** नृत्यतो गायतः क्वापि युध्यतो वल्गतो मिथः ।

गृहीतहस्तौ गोपालान् हसन्तौ प्रशशंसतुः ॥ १५ ॥

**श्लोकार्थ —** (ऐसे वृन्दावन में प्रसन्न मन वाले लक्ष्मी युक्त श्रीकृष्ण और बलराम) कहीं नृत्य करते, कहीं गाते, कहीं आपस में युद्ध करते और कहीं तो बड़प्पन दिखाते, गोपालों को हाथों से पकड़ कर हँसते थे और उनकी प्रशंसा करते थे ।

**सुबोधिनी —** मल्लानामिव हि वीरसो रौद्रः, स रसयुक्तलीला ॥ १५ ॥  
चान्यत्रोत्पन्नोऽपि भगवतोपनिबध्यत इति भगवतो

**व्याख्यानार्थ —** जैसे मल्लों का वीर रस क्रोध उत्पन्न कराता है वैसे रौद्र रस भी क्रोध उत्पन्न कराता है किन्तु भगवान् में रौद्र रस से इस प्रकार का क्रोध उत्पन्न नहीं होता है । रौद्र रस से दूसरों (गोपों)

में उत्पन्न क्रोध का भगवान् वर्णन मात्र करते हैं जिससे वह (क्रोध) भगवान् को हुआ है ऐसे समझा जाता है। इस प्रकार यह भगवान् की रौद्र रस से युक्त लीला है।

**कारिका — कायवाङ्मनोभिर्यद्युक्तमयुक्तं पीडकं च तत् ।**

**चतुर्विधा मल्ललीला स्तूयते हरिणा मुदा ॥ १ ॥**

**कारिकार्थ —** काया, वाणी और मन से जो योग्य है और वह जो पीड़ाकारक होने से अयोग्य है। इन चार प्रकार के मल्ल युद्धों की भगवान् प्रशंसा करते हैं।

**सुबोधिनी —** साधारणत्वाद्गोभयोर्ग्रहणं, उभावुभौ मल्लयुद्धे, अन्यत्र बहवः, तत्र कायिकं नृत्यं गानं वाचिकं वल्गनं मानसं स्वप्रौढिख्यापकत्वान् मिथश्च युध्यत इति पीडारूपक्रिया कायिकीव, कांश्चिद्धसन्तौ कांश्चित् प्रशंसन्तुः, गृहीतहस्ताविति न पक्षपातेन कस्यचित् क्रियाभिनिवेशः केनचित् कर्तव्य इतिज्ञापनार्थः, सापि लीला लोकप्रसिद्धा मुख्यत्वख्यापिका, हसन्ताविति, प्रथमं सन्तोषः पश्चात् प्रशंसन्तुरिति वा ॥ १५ ॥

**व्याख्यार्थ —** यह मल्ल लीला साधारण होने के कारण इस मल्ल युद्ध में दोनों भाई हैं, दूसरी लीला में बहुत हैं। इस मल्ल युद्ध में दोनों भाईयों का होना इसलिए आवश्यक था कि यह मल्ल युद्ध अकेले से नहीं होता है, इसमें युग्म<sup>१</sup> की आवश्यकता है। अतः दोनों भाईयों ने मिल कर परस्पर मल्ल युद्ध किया था। चार प्रकार की मल्ल लीला में से नृत्य लीला काया से होने के कारण काया की लीला है, गान वाणी से किया जाता है अतः गान वाणी की लीला है, अपनी-अपनी प्रशंसा की फूलझड़ी उड़ाने का कार्य मन से किया जाने के कारण यह मानसी लीला है और परस्पर युद्ध करने का कार्य पीड़ा रूप होने से शारीरिक जैसा है। इस प्रकार परस्पर क्रीड़ा करते हुए श्रीकृष्ण और बलराम किन्हीं गोपों की हँसी करते थे और किन्हीं गोपों की प्रशंसा करते थे, और गोपों के हाथों को पकड़ कर उनको जताते थे कि, कोई भी क्रीड़ा में किसी का पक्षापात न करें। हँसी करना और प्रशंसा करना भी एक प्रकार की लोक प्रसिद्ध क्रीड़ा है और जो इस प्रकार की क्रीड़ा करना जानता है, वह मुख्य क्रीड़क समझा जाता है। श्रीकृष्ण और बलराम हँसने से अपना सन्तोष प्रकट कर अनन्तर प्रशंसा करते थे ॥ १५ ॥

**आभास —** शान्तरसलीलामाह क्वचित् पल्लवतल्पेष्विति

**आभासार्थ —** इस श्लोक में शान्त रस लीला का वर्णन करते हैं।

श्लोक - क्वचित् पल्लवतल्पेषु नियुद्धश्रमकर्षितः ।

वृक्षमूलाश्रयः शेते गोपोत्सङ्गोपबर्हणः ॥ १६ ॥

**श्लोकार्थ -** (ऐसे वृन्दावन में प्रसन्न मन वाले लक्ष्मीयुक्त श्रीकृष्ण) बाहुयुद्ध के श्रम को जीतने वाले (वे श्रीकृष्ण) कभी वृक्षों के मूलों में नवीन कोमल पत्तों की शय्याओं पर गोपों के उत्सङ्गों को तकिये बनाकर शयन करते हैं ॥ १६ ॥

**सुबोधिनी -** शयानो हि शान्त इव भवति नियुद्धं बाहुयुद्धं तत्र यः श्रमः स कर्षितो येन, जितश्रम इत्यर्थः, शान्तरसः प्रत्येकपर्यवसायीति निरूपयन् भगवाननेकरूपः सर्वत्र वृक्षमूलेषु सर्वैव गोपालैरहमहमिकतयास्तृता बहव एव तल्पास्तेषां सर्वेषामेव युगपत्सौख्यसिद्ध्यर्थं सर्वेष्वेव तल्पेषु भगवान् शयानो जातः, तदाह बहुवचनं, ननु तथापि भगवान् किमिति तत्र शयनं कृतवानित्याह वृक्षमूलाश्रय इति, वृक्षस्य मूलमेवाश्रयत्वेन येषां ते वृक्षमूलाः

परमहंसास्तानाश्रयते अतस्तत्र-तत्रातीन्द्रियत्वेन स्थितान् परमर्षीन् कृतार्थीकर्तुं तथा करोतीत्यर्थः, लोकानामेव प्रतीतिस्तल्पे शेत इति, वस्तुतस्तानि योगिनामन्तःकरणान्यतस्तेषु शेते, गोपानामुत्सङ्ग एवोपबर्हणं यस्येति तेषु भगवतः प्राधान्यस्थापनमृषिष्वप्राधान्यस्थापनमिति ज्ञापयति, ते हि वैश्या अतः स्वधर्मख्यापकमुत्सङ्गपदं, उपबर्हणं शिरस उपधानम् ॥ १६ ॥

**व्याख्यानार्थ -** भगवान् बाहु युद्ध से उत्पन्न श्रम को जीत कर शयन कर रहे हैं अतः शान्त जैसे हैं, शान्त होने से यह भगवान् की लीला शान्त रस प्रकट करने वाली है । इस शान्त रस का परिणाम<sup>१</sup> प्रत्येक गोप में पृथक् पृथक् प्रकार से हुआ अतः प्रत्येक गोप ने स्पर्धा<sup>२</sup> से भगवान् के लिए वृक्षों के नीचे शय्याएँ पृथक् पृथक् बिछाई । भगवान् भी सब गोपों को साथ ही आनन्द देने के लिए अनेक रूप धारण कर सब शय्याओं पर शयन करने लगे । भगवान् ने वहाँ शयन क्यों किया ? इसका भाव प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि भगवान् ने इसलिए वहाँ शयन किया<sup>३</sup> कि वृक्ष मूल, परमहंस रूप हैं और परमहंस वृक्षों के मूल में ही रहते हैं, अतः इन्द्रियों से अदृश्य, उन परम ऋषियों को कृतार्थ करने के लिए, भगवान् भी वृक्षमूल का आश्रय कर रहे हैं । लोकों को ऐसी प्रतीति होती है कि भगवान् यहाँ शय्याओं पर शयन कर रहे हैं वास्तव में वे शय्याएँ योगियों के अन्तःकरण रूप थी अर्थात् भगवान् शय्याओं पर शयन नहीं कर रहे थे किन्तु योगियों के अन्तःकरण में स्थिति<sup>४</sup> कर रहे थे । भगवान् ने गोपों के उत्सङ्ग<sup>५</sup> को तकिया बनाकर, अपना मुख्य अङ्ग मस्तक, उस पर रखा

<sup>१</sup>लेखकार-गोप यों समझते थे कि भगवान् श्रम से थक गए हैं अतः शय्याओं पर पोछ रहे हैं किन्तु भगवान् तो योगियों के अन्तःकरण में बिराज कर उनके मनोरथों को (चरण सेवा रूप) पूरण कर रहे थे ।

था शेष अप्रधान भोग ऋषियों के अन्तःकरण में स्थापन किया था। गोप, वैश्य हैं उनकी उत्पत्ति भगवान् के उरुओं से हुई है अतः गोपों ने अपने धर्म के ख्यापनार्थ भगवान् के प्रधान अंग मस्तक को वहाँ आश्रय दिया है ॥ १६ ॥

**आभास** — भक्तिरसमाह पादसंवाहनं चक्रु रिति, केचिदिति दुर्लभाः ।

**आभासार्थ** — इस (१७वें) श्लोक में भक्ति रस का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः** — पादसंवाहनं चक्रुः केचिदस्य महात्मनः ।

अपरे हतपाप्मानो व्यजनैः समवीजयन् ॥ १७ ॥

**श्लोकार्थ** — कितनेक ग्वाल इन महात्मा (श्रीकृष्ण) के पैर दाब रहे हैं, कितनेक निष्पाप, पत्ते आदि से बनाए हुए पंखों से हवा कर रहे हैं ॥ १७ ॥

**सुबोधिनी** — अस्येति, शान्तरसाभिनयकर्तुः । करणार्थमुक्तं हतपाप्मान इति, ते ह्यासन्योपासकाः पूर्वं तेनैव सर्वरसास्वादकस्य वा, महात्मन इति, ततोऽप्यधिकस्य तथाकृताः, अतो वायोः साम्यात् तदभिव्यक्तिहेतुर्भिव्यजनैः रसान्तरमुत्पादयितुं समर्थस्य, पादसंवाहनमत्र दास्यं, अन्ये सम्यगवीजयन्, एवमुभयविधा अपि भगवत्सेवालक्षणं पुनः कर्ममार्गानुसारेणापि भक्तिं कुर्वाणा हतपाप्मानो भक्तिरसं भगवत्सन्निधानाल्लभन्त इति भक्तिरससहिता भगवत निष्कल्मषाः, कर्मिणां पापसम्भावना वर्तत इति तन्निरा- एव लीला ॥ १७ ॥

**व्याख्यार्थ** — कोई इन (भगवान्) के चरण दाबते थे । 'कोई' कहने का भाव यह है कि पाद दाबने की सेवा करने वाले (भक्त) दुर्लभ<sup>१</sup> होते हैं । 'इन' शब्द कहने का भाव प्रकट करते हुए कहते हैं कि, जो शान्त रस का अभिनय करने वाले और सर्व प्रकार के रसों का जो आस्वादन करने वाले हैं । उससे भी (नवरसों से भी) अधिक अन्य (दशवें) रस को भी उत्पन्न करने में समर्थ हैं अतः वे महात्मा हैं । उन महात्मा (भगवान्) के पादों को दाबना 'दास्य' (भक्ति) है । कर्म मार्गियों में यद्यपि कुछ पाप सम्भावना रहती है किन्तु यहाँ कर्ममार्गानुसारी भी जिन्होंने भक्ति की है वे निष्पाप हो गए हैं ।

(प्राण) की ये सब आसन्य उपासना करने वाले हैं । आसन्य (प्राण) ने पहले ही इनको भगवान् का भक्त बना दिया था । अतः इन्होंने प्राण वायु के साम्य वाली क्रिया से अर्थात् पंखों से वायु करते हुए भगवान् की सेवा की । दोनों प्रकार के गोपों ने भगवान् के सान्निध्य से भक्ति रस की प्राप्ति की । यह भगवान् की लीला भक्ति रस वाली है ॥ १७ ॥

**आभास — एवं रूपप्रपञ्चानुसारेण लीलामुक्त्वा नामप्रपञ्चानुसारेणापि तां लीलामाहान्य इति,**

**आभासार्थ —** इस प्रकार (१७वें) श्लोक में रूप प्रपञ्च के अनुसार भक्ति रस लीला कहकर अब (१८वें) श्लोक में नाम प्रपञ्च के अनुसार भक्ति रस का वर्णन करते हैं ।

**श्लोक: — अन्ये तदनुस्वाणि मनोज्ञानि महात्मनः ।**

**गायन्ति स्म महाराज स्नेहक्लिन्नधियः शनैः ॥ १८ ॥**

**श्लोकार्थ —** हे महाराज ! स्नेह से आर्द्र बुद्धि वाले अन्य, (गोप) उन महात्मा के मनोहर और उनके अनुरूप चरित्र धीरे धीरे गा रहे हैं ॥ १८ ॥

**सुबोधिनी —** भगवतोऽनुरूपाणि योग्यानि न त्वननुरूपाणि, निरोधार्थं केवलं कृतानि मनोज्ञानि मनोहराणि भगवतो भक्तानां च, यद् भगवता गोप्यं तत्प्राकट्यं भगवतो-मनोहरं भवति भक्तानां तु भक्तिमार्गविरुद्धं, महात्मन इति, भगवति सर्वं सम्भवति, अतो भगवन्माहात्म्यं ज्ञात्वा भगवान् कीर्तनीय इतिज्ञापनार्थं महात्मन इत्युक्तं, गानं रागानुसारेण भगवद्गुणोपनिबन्धयुक्तानां कीर्तनं, स्मेति प्रसिद्धिः प्रमाणं, महाराजेतिसम्बोधनं राजलीलात्वज्ञापनाय, तेषामपि प्रेमोद्गमो भगवत्सान्निध्यादभीष्टगुणाच्च जात इति सर्वलीलान्ते तेषां प्रेमोच्यते स्नेहक्लिन्नधियः शनैरिति, स्नेहेन क्लिन्ना धीर्येषां, आर्द्रवाससा स्पृष्टं सर्वमार्दमिव भवतीति ज्ञापयितुं तेषां गानमपि तथा जातमित्याह शनैरिति एतदन्तैव भगवल्लीला ॥ १८ ॥

**व्याख्यानार्थ —** भगवान् ने निरोध के लिए जो मनोहर चरित्र किए और भक्तों के जो सुन्दर चरित्र हैं जो चरित्र भगवान् को प्रिय तथा उचित लगे वैसे चरित्र वे गाने लगे । जो चरित्र भगवान् गुप्त रखना चाहते हैं और जो भक्तों को भक्ति मार्ग के विरुद्ध देखने में आवे, उन चरित्रों का गान नहीं किया । यदि उन चरित्रों को गावें तो भगवान् को वह गान अप्रिय लगे ।

‘महात्मा’ पद के देने का भाव बताते हैं कि भगवान् का माहात्म्य जान कर ही भगवान् के गुणों का गान करना चाहिये । और भगवान् में सर्व करने की शक्ति होने से सर्व सम्भव है इसलिए भी ‘महात्मा’ कहा है ।

जिन पदों में भगवान् के गुणों का वर्णन है वे रागानुसार गाए जावें उनको कीर्तन कहते हैं । श्लोक में ‘स्म’ शब्द से प्रमाणित किया गया है कि यह सिद्धान्त प्रसिद्ध है । अतः वे गोप वैसे ही गाते थे ।

हे महाराज ! इस सम्बोधन से श्री शुकदेवजी बताते हैं कि यह राजलीला है । भगवान् के

सान्निध्य<sup>१</sup> से और अभीष्ट<sup>२</sup> गुणों से गोपों में भी प्रेम उत्पन्न हुआ। समस्त लीलाओं के अन्त में उनके प्रेम का प्रकट वर्णन किया गया है। जैसा कि 'स्नेहक्लिन्नधियः' स्नेह से आर्द्र बुद्धि वाले होने से धीरे धीरे गाने लगे। जैसे आर्द्र<sup>३</sup> वस्त्र से शुष्क<sup>४</sup> वस्त्र का मेल हो तो वह शुष्क वस्त्र भी आर्द्र हो जाता है। वैसे ही स्नेह से आर्द्र गोपों के संसर्ग से गुणगान भी स्नेहार्द्र हो गया, जिसके सुनने से सुननेवालों में भी प्रेम सञ्चार होने लगा। यहाँ तक ही भगवन् की की हुई लीलाओं का वर्णन है।

**आभास —** अतः परं जीवाः सायुज्यमेव प्राप्स्यन्तीति कैः सह लीला कर्तव्या स्यादत उपसंहरत्येव, ?

**आभासार्थ —** इसके (उपरोक्त लीलाओं द्वारा भगवान् में पुनः प्रेम उत्पन्न होने के) अनन्तर जीवों को सायुज्य की प्राप्ति होगी किन्के साथ लीला की जाए ? जिनके साथ लीला की जाए वे तो रहेंगे नहीं अतः इस श्लोक में लीला का उपसंहार करते हैं।

**श्लोकः —** एवं निगूढात्मगतिः स्वमायया गोपात्मजत्वं चरितैर्विडम्बयन् ।

रेमे रमालालितपादपल्लवो ग्राम्यैः समं ग्राम्यवदीशचेष्टितः ॥ १९ ॥

**श्लोकार्थ —** लक्ष्मी जिनके पाद पल्लवों का लालन कर रही है और जो इस प्रकार के चरित्रों से गोपबालकपन का विडम्बन<sup>५</sup> करते हैं तथा जो, ईश के समान चेष्टा वाले हैं ऐसे भगवान् ने अपनी माया से अपनी गति (ईश्वरीय ज्ञान) को छिपाकर ग्रामीणों के साथ ग्रामीणों के समान क्रीड़ा की ॥ १९ ॥

**सुबोधिनी —** एता एव दशविधलीला यत्र क्वचिद् भगवत उच्यन्ते, अग्रे भगवतो राजसीं सात्त्विकीं च लीलां वक्ष्यन् तामसीयं गोकुले ग्राम्यैः सह कृतेत्याह, ननु ज्ञानरूपे भगवति कथमियं लीला सम्भवति ज्ञानस्य तमोविरोधित्वात् ? तत्राह निगूढात्मगतिरिति, नितरां गूढा आत्मनो गतिर्ज्ञानलीला यस्य, स्वमाययेत्युभयत्र सम्बध्यते, स्वाधीनमायया गोपात्म-जत्वमपि चरितैः कृत्वा विडम्बयत्यनुकरोत्युपहसति वा, न हि गोपा एतादृशा भवन्ति, अतो महानल्पस्य नाम स्वस्मिन् स्थापयंस्तानुपहसत्येव, चरितान्यलौकिकानि, विडम्बनं चालौकिकचरित्रैर्न भवतीति माया तेषु सहकारिणी क्रियते, बहूनामेव चरित्राणां बहुधा प्रदर्शितानां विडम्बनं सिध्यति,

अतः स्वरूपं गोपयन् गोपानुकरणं चोपहसन् रेमे, लीलादा-  
वुक्ताया लक्ष्म्या उपसंहारे विनियोगमाह रमालालितपादपल्लव  
इति, क्रीडान्ते पादसंवाहनं पतिव्रताया धर्मः, अन्यथा  
समतया गता भक्तिर्न पुनरागच्छेत्, अतः प्रत्यापत्त्यर्थ-  
मन्तेऽवश्यं पादसंवाहनं कर्तव्यं एतादृशोऽपि ग्राम्यैः समं  
ग्राम्यरसानुभवार्थं ग्राम्यवदेव रेमे, अन्यथा विजातीये रसो  
नोत्पद्येत, ईशचेष्टित इति भगवतोऽप्यन्ते प्रत्यापत्तिः, ईशस्येव  
चेष्टितं यस्येति “लोकवत् तु लीलाकैवल्य” मितिन्याय  
उपदर्शितः, ईश्वरा अप्याखेटकादिरूपां व्याधवल्लीलां कुर्वन्ति  
तथैतदपि भगवता कृतमिति ॥ १९ ॥

**व्याख्यानार्थ** — भगवान् की ये ही दश प्रकार की लीलाएँ जहाँ तहाँ कही जाती हैं। आगे के राजस तथा सात्त्विक प्रकरण में शुक्रदेवजी राजसी और सात्त्विकी लीला कहेंगे और तामसी लीला गोकुल में ग्रामीणों के साथ की है उसका अब वर्णन करते हैं।

जब तमोगुण ज्ञान का विरोधी है जहाँ ज्ञान है वहाँ तम रह नहीं सकता है तब ज्ञान रूप भगवान्, तामसी लीला करते हैं यह सम्भवित<sup>१</sup> नहीं लगता है। इस शङ्का के निवारण<sup>२</sup> के लिए श्लोक में भगवान् को 'निगूढात्मगतिः' विशेषण दिया है जिसका आशय है कि भगवान् ने अपनी ज्ञान लीला तिरोहित कर ली है जिससे भगवान् तामसी लीला कर सकते हैं। भगवान् ने अपनी माया से दो कार्य किए हैं, एक अपनी ज्ञान लीला तिरोहित की है और दूसरे अपने चरित्रों से गोपबालकपने का विडम्बन<sup>३</sup> किया है और उसका उपहास<sup>४</sup> किया है। उपहास कैसे किया ? वहाँ कहते हैं कि गोपजन भगवान् नहीं बनते हैं अतः महान् (भगवान्) छोटे का (गोप का) नाम धारण कर उनकी हँसी करते हैं। ये चरित्र अलौकिक हैं, किन्तु अलौकिक चरित्रों में विडम्बन नहीं हो सकता है, इसलिए इन चरित्रों में भगवान् ने माया को सहकारिणी बनाया है, जिससे विडम्बन हो सका है और माया के कारण सब भगवान् को भी सामान्य गोप समझने लगे। विडम्बन तब सिद्ध होता है जब चरित्र बहुत हो तथा पृथक् पृथक् प्रकार से किए जावें। अतः भगवान् अपने (ज्ञान) स्वरूप को छिपाके और गोपानुकरण कर गोपों पर हँसते हुए रमण करने लगे।

लीला के आरम्भ में (श्लोक ९ में) लक्ष्मी का आगमन और कार्य कहा है अब उपसंहार में भी उनकी सेवा का वर्णन करते हैं। लक्ष्मीजी अपने पतिव्रता धर्म को पालन करती हुई क्रीड़ा के अन्त में अपने पति भगवान् के चरणों को दबाती है। यदि लक्ष्मीजी इस प्रकार पति की सेवा नहीं करे तो क्रीड़ा के समय समानता के कारण तिरोहित हुई भक्ति का पुनः आविर्भाव<sup>५</sup> न हो अतः तिरोहित<sup>६</sup> भक्ति के आविर्भाव के लिए लक्ष्मीजी ने पाद संवाहन की सेवा की है। जिनकी सेवा लक्ष्मीजी कर रही है ऐसे भी भगवान् ग्रामीणों<sup>७</sup> के साथ ग्राम्य रस के अनुभव के लिए ग्रामीणों के समान ही रमण करने लगे। यदि आप ग्रामीण जैसे बनकर रमण न करते और ईश्वर होकर ही रमण करते तो रमण में रस उत्पन्न नहीं होता कारण कि विजातीय<sup>८</sup> से रमण में रस प्रकट नहीं होता है। यद्यपि उस समय भी भगवान् की चेष्टा वैसी ही ईशपने की थी, केवल ग्रामीणों को रसदानार्थ वैसा स्वांग कर 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यं' सूत्र में कहे हुए न्याय को प्रदर्शित किया है। जैसे राजा लोग शिकार के समय शिकारी जैसा वेश कर शिकार खेलते हैं, वैसे ही भगवान् ने भी यह लीला की है। इस प्रकार लीला करते हुए भगवान् के भगवत्त्व में किसी प्रकार की कमी नहीं आई है। जैसे राजा के राजापने में शिकार करते हुए कोई कमी नहीं आती है ॥ १९ ॥

**आभास** — एवं गोपानां संस्कारार्थं लीलां प्रदर्श्य तेषां दोषनिराकरणार्थं धेनुकवधलीलां प्रस्तावयति श्रीदामानामेति विंशत्या,

१-होने जैसा।

२-मिताने।

३-हँसी की, मजाक उड़ाया।

४-अनुकरण, नकल।

५-प्रकट।

६-छिपी हुई।

७-गँवारों।

८-दूसरे स्वभाव वाले।

**आभासार्थ** — इस प्रकार गोपों के संस्कार करने के लिए (अलौकिक भाव की सिद्धि के लिए) उपर्युक्त लीला की, अब उनके दोषों के निराकरण<sup>१</sup> के लिए धेनुक के वध की लीला की भूमिका प्रारम्भ करते हैं। यह लीला २० (२० से ३९) श्लोकों से वर्णन करते हैं।

**श्लोकः** — श्रीदामा नाम गोपालो रामकेशवयोः सखा ।

**सुबलस्तोककृष्णाद्या गोपाः प्रेम्णेदमब्रुवन् ॥ २० ॥**

**श्लोकार्थ** — राम और केशव के सखा श्रीदामा नाम वाले गोपाल ने, और सुबल स्तोक कृष्ण तथा स्तोक कृष्ण आदि गोपों ने प्रेम पूर्वक यह कहा ॥ २० ॥

**सुबोधिनी** — श्रीदाम यस्य, लक्ष्म्याः सम्बन्धी कश्चित् सुबलेति, स्तोको भिन्नः, कृष्णो, भिन्न स्तोककृष्णश्चापः, तद्भ्रातेव, सोऽपि गोपालो नन्दवंशोद्भवो रामकेशवयोः सुबलो बलभद्रानुसारी स्तोककृष्णो भगवदनुसारी सखा साधारणः सख्यपर्यन्तमागतः स्त्रीसम्बन्धी सुबलस्तोककृष्णावेवाद्यौ येषां, ते सर्वे सम्भूय प्रेम्णा लीलासम्बन्धी भक्ति सम्बन्धी च, तादृशानन्यानपि गणयति स्वाभिलषितं किञ्चित् प्रार्थयन्ति ॥ २० ॥

**व्याख्यार्थ** — श्रीदामा गोपाल, लक्ष्मी का भ्राता जैसा सम्बन्धी है इसलिए ही इसका नाम ('श्री' लक्ष्मी 'दामा' रस्सी सम्बन्ध वाली जिसकी है) श्रीदामा पड़ा है। वह गोपाल नन्दजी के वंश में उत्पन्न हुआ है और राम तथा केशव का सखा है। जिसका तात्पर्य है कि इस श्रीदामा गोपाल ने भगवान् का सख्य प्राप्त कर सख्य भक्ति सिद्ध कर ली है। इस गोपाल का तीन प्रकार से सम्बन्ध हुआ है— १-लक्ष्मीजी के सम्बन्ध से सम्बन्धी, २-नन्दवंश में उत्पन्न गोपाल होने से लीला सम्बन्धी और ३-सख्य भक्ति के कारण से सम्बन्धी हुआ है। इस गोपाल के सिवाय वैसे अन्य सुबल आदि गोपों की गिनती करते हैं। १-स्तोक, २-कृष्ण, ३-स्तोक कृष्ण। सुबल गोप बलभद्र का अनुयायी था और स्तोक कृष्ण श्रीकृष्ण का अनुयायी था। सुबल और स्तोक कृष्ण ये दोनों गोपों में मुख्य थे। ये सब गोप मिलकर, प्रेम से अपने अभिलषित पदार्थ की प्रार्थना करते हैं ॥ २० ॥

**आभास** — तदाहुः

**आभासार्थ** — अब प्रार्थना करते हैं।

**श्लोकः** — राम राम महाबाहो कृष्ण दुष्टनिबर्हण ।

**इतोऽविदूरे सुमहद् वनं तालालिसङ्कुलम् ॥ २१ ॥**



**श्लोकार्थ** — हे महाबलिष्ठ ! हे राम ! हे राम ! हे दुष्टों के नाश कर्ता कृष्ण ! यहाँ से निकट ही ताड़ वृक्षों की पंक्तियों से युक्त बड़ा सुन्दर वन है ॥ २१ ॥

**सुबोधिनी** — सुबलः प्रथमं निरूपित इति रामरामेति सम्बोधनं प्रथमं, कायिकश्चायं दोषस्तेनैव दूरीकर्तव्यः, महासत्त्वेति तस्य स्तुतिः प्रकृतोपयोगिनी, मल्लयुद्धादिना च महाबलत्वं ज्ञातं, भगवतस्तु तद्रूपं माहात्म्यजनकं न भवतीति, धेनुकवधस्यावश्यकत्वाय दुष्टनिबर्हणेतिस्तुतिः, इतः क्रीडास्थानादविदूर एव निकट एव, सुमहदस्मादपि महत् तालालिभिस्तालपंक्तिभिर्व्याप्तमस्ति ॥ २१ ॥

**व्याख्यानार्थ** — उपर्युक्त श्लोक में सखाओं की गणना करते हुए प्रथम सुबल का नाम दिया है, सुबल बलरामजी का सम्बन्धी है अतः यहाँ बलरामजी को हे राम ! हे राम ! संबोधन से पहिले पुकारा है तथा तालवन में रहने वाला धेनुकासुर देहाध्यास का रूप है अतः काया का दोष है, काया के दोष को बलरामजी को ही दूर करना है । इस कारण से भी राम को प्रथम प्रार्थना की है । काया के दोष रूप धेनुक का नाश बलरामजी करेंगे क्योंकि बलरामजी महाबलवान् हैं । महा बलिष्ठ कह कर राम की स्तुति करना प्रकृत विषय में उपयोगी है । राम के महा बलिष्ठत्व का परिचय उसके मल्ल युद्ध करने से हो गया है । यदि राम के समान यहाँ श्रीकृष्ण को महाबली का विशेषण देकर उनकी स्तुति की जाती तो उससे श्रीकृष्ण का महत्त्व नहीं बढ़ता इसलिए कृष्ण का विशेषण 'दुष्ट निबर्हण' दुष्टों का नाशक देकर उनकी स्तुति की गई है । इस क्रीडा स्थान से थोड़ी दूर ही अर्थात् निकट ही इस वृन्दावन से भी सुन्दर तथा बड़ा तालवृक्षों के पंक्तियों से पूर्ण वन है ।

**आभास** — ततः किमत आह फलानीति,

**आभासार्थ** — वृन्दावन से भी सुन्दर तालवन निकट ही है इसके कहने का आशय आप लोगों का क्या है ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं-

**श्लोकः** — फलानि तत्र भूरीणि पतन्ति पतितानि च ।

सन्ति किन्त्ववस्त्वनि धेनुकेन दुरात्मना ॥ २२ ॥

**श्लोकार्थ** — उस वन में बहुत बड़े बड़े फल गिरे हुए हैं, गिर रहे हैं (तथा अन्य पेड़ों में लटक रहे हैं) । किन्तु दुष्ट धेनुक ने उनको रोक रखा है (जिससे कोई ले नहीं सकता है) ॥ २२ ॥

**सुबोधिनी** — पातनप्रयासोऽपि नास्ति पतितानि सन्ति, हेतुर्धेनुकेना-वस्त्वनि, तर्हि प्रार्थनायां चिरपतितानां तथारसो न भवतीति पतन्ति चेत्युक्तं, न दास्यतीत्याशङ्क्याहुर्दुरात्मनेति, स हि दुष्टः प्रार्थितोऽपि न प्रयच्छति ॥ २२ ॥

**व्याख्यार्थ** — फलों को लेने के लिए फल गिराने का परिश्रम भी नहीं करना पड़ेगा कारण कि फल गिरे पड़े हैं । गिरे हुए फल शुष्क होने से उनमें रस होगा नहीं । यदि उनमें रस न हो तो भी कोई बात नहीं क्योंकि अब भी ताजे फल गिर रहे हैं वे फल कोई ले नहीं गया है यों ही पड़े हैं । तथा पेड़ों में भी अब तक बहुत फल हैं वे लेकर खाएँगे किन्तु ले नहीं सकते, धेनुक ने उनको रोक रखा है अर्थात् अपने अधिकार में ले लिया है, किसी को लेने नहीं देता है । यदि वह लेने नहीं देता है तो उससे माँग कर लो, इस पर कहते हैं कि वह धेनुक दुरात्मा है, अतः प्रार्थना करने पर भी नहीं देता है ॥ २२ ॥

**आभास** — किञ्च न तं कोऽपि प्रार्थयत इत्याह सोऽतिवीर्य इति,

**आभासार्थ** — अति पराक्रम के कारण उसको कोई प्रार्थना भी नहीं कर सकता है । इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — सोऽतिवीर्योऽसुरो राम हे कृष्ण खरस्त्वधृक् ।

**आत्मतुल्यबलैरन्यैर्ज्ञातिभिर्बहुभिर्वृतः ॥ २३ ॥**

**श्लोकार्थ** — वह असुर बहुत वीर्यवाला<sup>१</sup> है । हे राम ! हे कृष्ण ! और उसने गधे का रूप धारण किया है और अपने समान बल वाले ज्ञातिजन तथा अन्य भी बहुत उसके साथ में है ॥ २३ ॥

**सुबोधिनी** — अतिवीर्यत्वान् न कमपि गणयति, भवन्तः अतः सम्भूय मारणीय इति शङ्कां वारयन्ति आत्मतुल्य-  
हीनभावाश्रये तु भक्षयत्येव यतोऽयमसुरः तर्ह्यस्माकमप्यशक्य बलैरिति बहूनां तादृशबलवत्त्वे कुलमेव हेतुरिति  
इति शङ्कां वारयितुं पुनर्नाम गृह्णन्ति राम हे कृष्णोति, स कथं ज्ञापयितुमाहुर्ज्ञातिभिरिति, अन्यैरपि बहुभिर्वृतः, तेऽप्यन्ये  
परिज्ञातव्य इत्याशङ्क्याहुः खररूपधृगिति, न चैकः सः बहवश्च सङ्घशो बहव एव सजातीयाः ॥ २३ ॥

**व्याख्यार्थ** — धेनुक अति पराक्रमी होने से किसी को भी ध्यान में नहीं लाता है, जिससे, कोई प्रार्थना भी नहीं कर सकता है, यदि कोई नम्र होकर दीनता पूर्वक प्रार्थना करता है तो उसको अपना भक्ष्य<sup>२</sup> बना लेता है क्योंकि यह असुर है । यदि ऐसा है तो हम से भी अशक्य है ? (जीता नहीं जायगा ?) इस शङ्का को मिटाने के लिए पुनः<sup>३</sup> राम ! कृष्ण ! नाम लेकर बताते हैं कि हे राम ! आप महा बली हैं और हे कृष्ण ! आप दुष्ट नाशक हो अतः आप इनको जीत सकते हो । अच्छा; हम जीत सकें ऐसा है तो उसको पहचाने कैसे ? उसकी पहचान कराने के लिए कहा है कि उसने गधे का रूप धारण कर लिया है । आप गोप बहुत हो वह एक है अतः आप सब मिलकर उस अकेले का

नाश कर दो । यदि राम और कृष्ण ऐसा कह दें, तो उसके लिए कहते हैं कि वह एक नहीं है किन्तु उसके साथ उसके समान बल वाले उसके बहुत जाति भाई और अन्य असुर भी बहुत हैं इसलिए हमसे उसका नाश न हो सकेगा ॥ २३ ॥

**श्लोकः — तस्मात् कृतनराहाराद् भीतैर्नृभिरमित्रहन् ।  
न सेव्यते पशुगणैः पक्षिसङ्घैर्विवर्जितम् ॥ २४ ॥**

**श्लोकार्थ —** हे शत्रु के नाशक ! मनुष्यों को खाने वाले इस दैत्य के भय से भीत, (डर कर) कोई भी मनुष्य वहाँ नहीं जाता है तथा पशु और पक्षियों ने भी वहाँ जाना छोड़ दिया है ॥ २४ ॥

**सुबोधिनी —** एवं तस्य वीर्यं प्रशस्तं यदर्थं तदाह तस्मादिति, कृतो नर एवाहारे येन, स हि मनुष्यानेव विशेषतो भक्षयत्यत एव तस्माद् भीतैर्नृभिर्न सेव्यते तद् वनं, तर्ह्यस्माभिरपि न गन्तव्यमित्याशङ्क्याहुरमित्रहन्त्रिति, हे कृष्ण भवानमित्रहन्ता सोऽप्यमित्र इति तद्धननं तव शक्यं कर्तव्यं च, अयं धर्मो भगवन्निष्ठो जागरूक एतेषां हृदि स्फुरतीत्युक्त- दोषवतोऽपि स्थाने गमनं प्रार्थयन्ति, अन्यथैवम्प्रेरणस्य प्रेमविरुद्धत्वेन “प्रेम्णेदमबुव” त्रितिवचनं विरुद्धं स्यात् प्रियस्यामित्रे च न स्थापयितुमुचितमिति च, किञ्च तद् वनं सर्वेषामेवासेव्यं ये भूचरा ये चान्तरिक्षचराः, अतः पशुगणैः पक्षिसङ्घैश्च विशेषेण वर्जितं, अतो ये पशुपालका ये वा देवपरिपालकास्तैः सोऽवश्यं वध्यः ॥ २४ ॥

**व्याख्यार्थ —** इस प्रकार जिस कारण से उसके वीर्य<sup>१</sup> की प्रशंसा की उसका कारण वर्णन करते हैं ।

वह (धेनुक) मनुष्यों को ही विशेष कर खाता है इस लिए उस, नर भक्षक के भय से डरे हुए मनुष्य, उस वन में नहीं जाते हैं । यह सुनकर कदाचित् राम कृष्ण कह दें कि तब तो हमको भी वहाँ नहीं जाना चाहिये; इसके उत्तर में कहते हैं कि आप शत्रुओं को नाश करने वाले हो<sup>२</sup>, वह भी शत्रु है, अतः उसको मारना आपका कर्तव्य है और आप उसको मार सकते हो । यह शत्रु को नाश करने वाला धर्म सदैव भगवान् में जगा हुआ रहता है । यह भगवान् का धर्म गोपों के मन में नित्य स्फुरित रहता है अतः ऐसे दोष (भय) वाले स्थान में जाने के लिए भगवान् को प्रार्थना करते हैं । यदि भगवान् के शत्रु नाश करने की स्फूर्ति गोपों के हृदय में न होती तो वे कदापि प्रार्थना नहीं करते, क्योंकि पहले कहा गया है कि ‘प्रेम से यह कहने लगे’ वे इनके वचन ऐसे भय वाले स्थान पर जाने की प्रार्थना करने से विरुद्ध हो जाते परन्तु भगवद्धर्म की अन्तःकरण में स्फूर्ति होने से विरुद्ध नहीं है । और उस वन में पृथ्वी पर विचरण करने वाले और अन्तरिक्ष<sup>३</sup> में विचरने वाले सब जा नहीं सकते

**लेखकार —** यह विशेषण श्रीकृष्ण के लिए है क्योंकि पहले श्रीकृष्ण को ‘दुष्टनिर्वहण’ दुष्ट नाशक कहा है ।

हैं अर्थात् उनके जाने के योग्य वह वन नहीं रहा है, इस कारण से पशुगणों ने तथा पक्षियों ने भी उसमें जाना छोड़ दिया है। इसलिए जो पशुओं के पालक हैं और देवताओं की पालना करने वाले हैं उन्हीं से यह मारने योग्य है अर्थात् आप पशुओं के पालक तथा देवताओं के रक्षक हैं अतः आप इनको नाश करो जिससे पशु पक्षी और देवताओं का यह सङ्कट मिट जावे और हम भी फलों का उपभोग कर सकें ॥ २४ ॥

**श्लोकः — विद्यन्तेऽ भुक्तपूर्वाणि फलानि सुरभीणि च ।**

**एष वै सुरभिर्गन्धो विषूचीनोऽवगृह्यते ॥ २५ ॥**

**श्लोकार्थ —** उपवन में कभी नहीं खाए, ऐसे सुगन्धित फल हैं। उन (फलों) की चारों तरफ फैली हुई सुगन्धि आ रही है ॥ २५ ॥

**सुबोधिनी —** किञ्च तत्राभुक्तपूर्वाणि फलानि सम्भवति, तानि च फलान्यत्यन्तसुरभीणि, सौरभ्यं तु तेषां दिव्यानि सन्ति, केचिद् भुक्तपूर्वाणीत्याहुरन्यथा कथं तेषां प्रत्यक्ष-सिद्धमेव, तदाहैष वै सुरभिर्गन्ध इति, विषूचीनः कामनेति, रक्षायां यद्यपि भोगो बाध्यते तथापि चौर्येण भक्षणं परितः प्रसरद्रूपः, अत एव सर्वतो गृह्यते ॥ २५ ॥

**व्याख्यार्थ —** उस वन के फल जो आगे खाए नहीं हैं वे दिव्य (अलौकिक अथवा स्वर्गीय फलों के समान) हैं। कितनेक यहाँ 'भुक्तपूर्वाणि' पाठ लेकर अर्थ करते हैं कि ये फल पहले खाए हुए हैं, यदि उन्होंने खाए न होते तो ये मीठे हैं यों कह कर उनकी कामना कैसे प्रकट करते, अतः यद्यपि धेनुक उसकी रक्षा करता है इसलिए वे खाए नहीं जा सकते हैं किन्तु चोरी से खाए जा सकते हैं। वे फल अत्यन्त सुगन्धि वाले हैं। उनकी सुगन्धि तो प्रत्यक्ष सिद्ध है कारण कि वे चारों तरफ फैली होने से सब तरफ से आ रही है ॥ २५ ॥

**श्लोकः — प्रयच्छ तानि नः कृष्ण गन्धलोभितचेतसाम् ।**

**वाञ्छाऽऽसीन् महती राम गम्यतां यदि रोचते ॥ २६ ॥**

**श्लोकार्थ —** हे कृष्ण ! हे राम ! सुगन्धि से हमारे चित्त में फलों को खाने का लोभ उत्पन्न हो गया है अतः वे फल हमको दो क्योंकि उनके खाने की बहुत इच्छा है। यदि आपका जी चाहे तो आप वहाँ पधारें ॥ २६ ॥

**सुबोधिनी —** एवं दुर्लभतां फलोत्तमत्वं चोक्त्वा तानि ग्रहीतुं शक्यं, तत्र कामनायां हेतुर्गन्धलोभितचेत-सामिति, प्रार्थयन्ते प्रयच्छेति, दाने भगवानेव समर्थ इति कृष्णोत्पुक्तं, गन्धेन लोभितं चेतो येषां, न केवलमिदानीमेव चित्तलोभः तस्यैव सर्वत्र स्वत्वात्, अन्येन प्रतिबन्धनिवृत्तावपि परस्वं न किन्तु पूर्वमपि वाञ्छासीन् महती, उत्सुको राम इति राम

गम्यतामित्युक्तं अति निर्बन्धे कदाचित् कोपं कुर्याद् | गन्तुं रोचते ॥ २६ ॥  
गते चानिष्टं भवेदित्याशङ्क्याहुर्यदि रोचत इति, यदि

**व्याख्यानार्थ —** फलों के मिलने की दुर्लभता और उनकी उत्तमता का वर्णन कर, उनको देने के लिए भगवान् को प्रार्थना करते हैं कि हे कृष्ण ! वे फल हमको दो । कृष्ण को क्यों कहा कि आप हमको फल दो उसका कारण बताते हैं कि, देने में भगवान् ही समर्थ हैं, सबों पर उनका ही स्वामीपन है । वन से धेनुक का प्रतिबन्ध हट जावे तो भी पराई वस्तु नहीं ली जा सकती है । अतः भगवान् को देने के लिए प्रार्थना की है । फलों के प्राप्ति की कामना का कारण यह है कि फलों की सुगन्धि ने इनका चित्त अपनी तरफ खींच लिया है । यह लोभ अब नहीं हुआ है किन्तु पहले भी विशेष इच्छा थी । फलों के लिए राम भी उत्सुक<sup>१</sup> है इसलिए कहते हैं कि हे राम आप वन में पधारो, यों कहते हुए गोपों के मन में शङ्का हुई कि विशेष आग्रह करने से राम को क्रोध आ जाय तो इसीलिए फिर कहते हैं कि यदि आप पधारना चाहें तो पधारो (यदि इच्छा न हो तो मत पधारो) ॥ २६ ॥

**आभास —** ततो गतावित्याहैवमिति,

**आभासार्थ —** गोपों के ये शब्द सुनने के अनन्तर दोनों (राम-कृष्ण) गए इसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक: —** एवं सुहृद्वचः श्रुत्वा सुहृत्प्रियचिकीर्षया ।

प्रहस्य जग्मतुर्गोपैर्वृतौ तालवनं प्रभू ॥ २७ ॥

**श्लोकार्थ —** ऐसे मित्रों के वचन सुनकर, मित्रों को प्रसन्न करने की इच्छा से दोनों भाई हँस कर गोपों के साथ ताल वन में पधारें ॥ २७ ॥

**सुबोधिनी —** सुहृदां स्वभावत एव हितं कर्तव्यं, तत्रापि तेषां वचनं श्रुतं, अतः सुहृदामेव प्रियचिकीर्षया तत्र गतौ, अन्यथाक्लिष्टकर्मा भगवान् निरपराधिनं कथं मारयेत् ? अत एव भगवता न मारितोऽपि, मित्रहितं च कर्तव्यमतः । प्रहस्य, तेषामाग्रहं दृष्ट्वा दोषनिवृत्तिं वाञ्छन्तीति वा, सामान्यकार्यमित्युभौ जग्मतुः, गोपैर्वृताविति कर्तव्यार्थ-निर्धारः, अन्यथा तैः सह न गच्छेतां, शङ्काभावार्थमाह प्रभू इति ॥२७॥

**व्याख्यानार्थ —** यद्यपि मित्रों का हित बिना कहे हुए ही करना चाहिए किन्तु यहाँ तो मित्रों ने प्रार्थना भी की है । अतः सखाओं के हित के लिए दोनों भाई गए । जो मित्रों ने प्रार्थना नहीं की होती और उनके प्रिय करने की इच्छा दोनों भ्राताओं को न होती, तो क्लेश विना कर्म करने वाले भगवान्, निरपराधी

धेनुक को क्यों मारे ? इसलिए भगवान् ने धेनुक को मारा भी नहीं । मित्रों का हित भी करना है । भगवान् ने गोपों का अभिप्राय समझा था कि ये जाने का आग्रह अपने दोषों (देहाध्यास) के निवृत्ति कराने के लिए कर रहे हैं इसलिए भगवान् हँसकर के जाने लगे । धेनुकादिकों का वध सामान्य कार्य है इससे दोनों गए । गोपों को साथ में इसलिए लिया था कि उन का देहाध्यास नष्ट करना था नहीं तो साथ में लेजाने की आवश्यकता नहीं थी । यदि यह शङ्का हो कि धेनुक अति वीर्यवान् है और उसके साथ भी ऐसे बहुत हैं उनको मारने के लिए गोपों की आवश्यकता समझ कर उनको साथ में लिया तो इस शङ्का के मिटाने के लिए श्लोक में दोनों के लिए 'प्रभु' विशेषण दिया गया है कि वे दोनों, उन सबों के नाश करने के लिए 'समर्थ' थे ॥ २७ ॥

**आभास** — तत्र गत्वा यत् कृतवन्तौ तदाह बल इति,

**आभासार्थ** — वहाँ जाकर उन्होंने जो किया उसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — बलः प्रविश्य बाहुभ्यां तालान् सम्परिकम्पयन् ।

**फलानि पातयामास मतङ्गज इवौजसा ॥ २८ ॥**

**श्लोकार्थ** — बलरामजी वन में जाकर हाथी के समान तालके वृक्षों को बाहुओं से हिलाते हुए फलों को गिराने लगे ॥ २८ ॥

**सुबोधिनी** — अक्लिष्टकर्मा भगवान् बहिरेव स्थितो बलस्त्वन्तः प्रविश्य बाहुभ्यां तालानि सम्परिकम्पयन् फलानि पातयामास, यानि सुपक्वानि तानि चालनेन पतन्ति, ननु विद्यमानेषु फलेषु किमिति बहूनि पातयामास ? **मतङ्गज इवेति**, मतङ्गजः सर्वाण्येवानुपयुक्तान्यपि पातयति बलजनितकण्डूनिवृत्त्यर्थं, उपायेनापि पातनं सम्भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमाहौजसेति, स्वबाहुबलेनैव ॥ २८ ॥

**व्याख्यानार्थ** — क्लेश विना ( लीला मात्र से) कर्म करने वाले भगवान् बाहिर ही खड़े रहे, बलरामजी ने तो अन्दर प्रवेश कर बाहुओं से ताल वृक्षों को अच्छे प्रकार से हिलाया जिससे वे पके हुए फल गिरने लगे, पके हुए फल पेड़ों को हिलाने से गिरते ही हैं । पृथ्वी पर आगे ही फल गिरे पड़े थे फिर अन्य फलों को गिराने की क्या आवश्यकता थी ? क्यों गिराए ? गिराने का कारण बताने के लिए मस्त हाथी की समानता का दृष्टान्त दिया है कि जैसे मदोन्मत्त हाथी केवल अपने बल जनित कण्डू<sup>१</sup> को मिटाने के लिए वृक्षों को हिलाता है जिससे काम में न आने वाले भी सर्व फल गिरते हैं वैसे ही बलरामजी ने भी फलों के गिराने की इच्छा से नहीं, फल तो अन्य उपाय से भी गिराए जा सकते थे, किन्तु अपने बड़े हुए बाहु बल की विशेषता प्रकट करने के लिए ही अपने बाहुओं से वृक्षों को कम्पायमान किया ॥ २८ ॥

**आभास —** ततो यजू जातं तदाह,

**आभासार्थ —** इसके अनन्तर जो कुछ हुआ उसका वर्णन करते हैं ।

**श्लोक: —** फलानां पततां शब्दं निशम्यासुररासभः ।

अभ्यधावत् क्षितितलं सनगं परिकम्पयन् ॥ २९ ॥

**श्लोकार्थ —** गिरते हुए फलों के शब्द सुनकर वह गर्दभरूप असुर पर्वत सहित पृथ्वी को कम्पायमान करता हुआ दौड़कर आया ॥ २९ ॥

**सुबोधिनी —** पततां फलानां शब्दं श्रुत्वासुरेष्वपि | तस्य निर्भयागमने हेतुमिव सामर्थ्यमाह सनगं परिकम्पयन्निति रासभोऽधमः, असुरापेक्षयासुरपशवोऽधमास्तत्रापि गर्दभाः, | गोवर्धनसहितं सर्वमेव भूतलं परिकम्पयन् ॥ २९ ॥

**व्याख्यार्थ —** पशु भी, दैवी असुर भेद से दो प्रकार के होते हैं, असुरों से भी असुर पशु अधम होते हैं । असुर पशुओं में भी, असुर गर्दभ, विशेष अधम होता है । इस धेनुक ने उस विशेष असुर गर्दभ का रूप धारण किया था । फलों के गिरने के शब्द सुनकर अपनी विशेष असुरता तथा सामर्थ्य प्रकट करने के लिए गोवर्धन पर्वत समेत समग्र पृथ्वीतल को कम्पायमान करता हुआ निर्भय होकर दौड़ता वहाँ आया ॥ २९ ॥

**आभास —** आगत्य बलभद्रं ताडितवानित्याह समेत्येति,

**आभासार्थ —** धेनुक ने आकर बलभद्रजी को मारा, उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक: —** समेत्य तरसा प्रत्यग् द्वाभ्यां पद्भ्यां बलं बली ।

निहत्योरसि काशब्दं मुञ्चन् पर्यसरत् खलः ॥ ३० ॥

**श्लोकार्थ —** बहुत शीघ्र आकर बलरामजी के वक्ष स्थल में पिछले दोनों पादों से लात मार कर रिकता हुआ यह बलवान दैत्य चारों ओर फिरने लगा ॥ ३० ॥

**सुबोधिनी —** समेत्य मिलित्वा निकटे समागत्य | जातिस्वभावोऽयं, ननु महान् फलार्थी स्वस्थाने समागतः तरसा प्रत्यग्भूतो जातो विपरीतमुखस्ततो द्वाभ्यां पद्भ्यां | स्वयमेव फलान्युत्पाद्य गृह्णाति तत्र कथमागत्य ताडनमनुचितं बलं बलभद्रमुरसि निहत्य ताडयित्वा काशब्दं रासभशब्दं कृतवान् ? तत्राह खल इति ॥ ३० ॥

**व्याख्यार्थ —** बलरामजी के पास, निकट आकर मिले, बहुत शीघ्र शरीर को फिराकर, मुख को दूसरी तरफ और पादों को बलरामजी की तरफ किया । उसके अनन्तर (पिछले) दोनों पैरों को बलरामजी

के वक्षः स्थल में मारकर रिंगने लगा और चारों ओर बलरामजी को मानो लपेटते हुए प्रदक्षिणा करने लगा यों (प्रदक्षिणा) क्यों किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि यह इनका, जाति स्वभाव है । शिष्टाचार यह है कि कोई महान् पुरुष फलों को लेने अपने घर में आवे तो वह आपही अपने हाथों से स्वयं फल ले लेते हैं । ऐसी हालत में अपने घर में आए हुए को कोई फलों को लेने से रोकता नहीं है, तो इसने (धेनुकासुर ने) वैसा अयोग्य कार्य कैसे किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि इसने यह अयोग्य कार्य किया इसका कारण, यह है कि, यह धेनुकासुर खल है ॥ ३० ॥

**आभास —** बलभद्रोऽपि स्वयमेवागतस्तत्स्थान इति सकृदपराधः सोढः, तावतापि स न निवृत्त इत्याह पुनरासाद्येति,

**आभासार्थ —** बलदेवजी ने भी उसके (धेनुक के) स्थान (वन) में उसका आज्ञा के बिना प्रवेश किया था अतः उसका एक अपराध सहन कर लिया तो भी वह रुका नहीं, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः —** पुनरासाद्य संरब्ध उपक्रोष्टा पराक् स्थितः ।

चरणावपरौ राजन् बलाय प्राक्षिपद् स्था ॥ ३१ ॥

**श्लोकार्थ —** हे राजन् ! क्रोधाविष्ट शृगाल जैसे इस गर्दभ ने पुनः लौट कर उल्टे मुँह खड़ा हो क्रोध से पिछले पैर बलदेवजी पर फँके ॥ ३१ ॥

**सुबोधिनी —** पुनर्निकटे गत्वा क्रोधसंरब्ध उपक्रोष्टा इति ज्ञापयितुमन्ते रुषेत्युक्तं, सम्बोधनं स्नेहादप्रतारणाय सृगालतुल्यो गर्दभः पराक् स्थितः पुनर्विमुखो भूत्वापरौ ॥ ३१ ॥  
चरणौ पुनर्बलाय प्राक्षिपत्, समागत्य प्रक्षेपपर्यन्तं क्रोधोऽनुवृत्त

**व्याख्यार्थ —** क्रोध से भरा हुआ शृगाल तुल्य यह गर्दभ फिर समीप जाकर उल्टे मुँह खड़ा हो पीछे के पैर बलदेवजी पर फँकने लगा जब तक पैर मारे तब तक उसमें क्रोध भरा हुआ था इसलिए श्लोक में 'रूपा' शब्द का प्रयोग किया हुआ है । (श्रोता को) हे राजन् ! यह सम्बोधन स्नेह से दे कर बताया कि यह जो मैं कह रहा हूँ वह सत्य है आप को ठगने के लिए नहीं कह रहा हूँ ॥ ३१ ॥

**आभास —** तदा द्वितीयापराधे बलभद्रो मारितवानित्याह स तमिति,

**आभासार्थ —** जब एक बार अपराध सहन करने पर भी वह रुका नहीं फिर भी उसी तरह अपराध करने लगा तब बलरामजी ने उसको मारा जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक —** स तं गृहीत्वा प्रपदोभ्रामयित्वैकपाणिना ।

चिक्षेप तृणराजाग्रे भ्रामणत्यक्तजीवितम् ॥ ३२ ॥



**श्लोकार्थ** — बलरामजी एक हाथ से उसके पिछले पादों को पकड़कर फिराने लगे, फिराते-फिराते उसके प्राण निकल गए तब उसे ताड़के वृक्षों पर फेंक दिया ॥ ३२ ॥

**सुबोधिनी** — प्रपदोः पादाग्रयोर्गृहीत्वैकपाणिनैव तं | भगवता, अयमप्यन्तरिक्ष एव मृत इत्याह त्यक्तजीवितमिति, भ्रामयित्वा तृणराजस्य तालवृक्षस्योपरि प्राहिणोद् यथा वत्सो | त्यक्तं जीवितं येन ॥ ३२ ॥

**व्याख्यानार्थ** — बलरामजी ने उसके पिछले पादों के अग्रभाग (ऐड़ी) को एक ही हाथ से पकड़ कर फिराते फिराते ताल के वृक्ष के ऊपर फेंका जैसे भगवान् ने वत्सासुर को ऊपर ही फिराते प्राण हीन कर दिया था वैसे ही बलभद्रजी ने भी धेनुकासुर को फिराते हुए उसके प्राण ऊपर ही निकाल दिए थे इसलिए श्लोक में 'भ्रामण त्यक्त जीवितम्' कहा है (घुमाने से जिसके प्राण निकल गए हैं वैसे को) ॥ ३२ ॥

**आभास** — पूर्व तु फलान्येव पतन्तीदानीं तु वृक्षाः स्वयमपि पतिता इत्याह तेनाहत इति,

**आभासार्थ** — पहले तो फल ही गिरते थे अब तो वृक्ष भी स्वयं गिरने लगे इसका वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः** — तेनाहतो महातालो वेपमानो बृहच्छिराः ।

**पार्श्वस्थं कम्पयन् भग्नः स चान्यं सोऽपि चापरम् ॥ ३३ ॥**

**श्लोकार्थ** — इस दैत्य के शरीर के पछाड़ने से कम्पायमान पास के ताड़ को भी कम्पित करता हुआ, बड़े शिर वाला वह ताड़ का वृक्ष गिर पड़ा, उससे दूसरा गिर पड़ा, और उस (दूसरे) से तीसरा गिरा ॥ ३३ ॥

**सुबोधिनी** — तेन बलभद्रेण रासभदेहेन वा | कम्पयन्नेव मध्ये भग्नः सोऽपि पूर्ववद् वेपमानः पार्श्वस्थं आसमन्ताद्धतो महातालोऽपि वेपमानो जातस्ततो बृहच्छिराः | कम्पयन् भग्नः, सोऽप्येवमपरः, एवं सा पंक्तिः सर्वापि स्थूलाग्रिमभागः कम्पने स्थिरीभवितुमशक्तः स्वपार्श्वस्थं वृक्षं | पतितेत्यर्थः ॥ ३३ ॥

**व्याख्यानार्थ** — बलभद्रजी से अथवा रासभ<sup>१</sup> के देह से चारों ओर से घायल बड़ा ताल का वृक्ष भी ऐसा कम्पित हुआ जो बड़े शिर वाला होते भी स्थिर रहने में असमर्थ हो गया, पास वाले वृक्ष को

कम्पित करता हुआ बीच से टूट गया, वह पास वाला भी काँपता हुआ अपने पास वाले को कम्पायमान करता हुआ स्वयं टूट पड़ा, वह भी ऐसे ही टूटा, इसी तरह दूसरा भी तथा सारी पंक्ति इसी प्रकार गिर पड़ी ।

**आभास —** किञ्च न केवलमेका पंक्तिः पातिता किन्तु सर्व एव वृक्षा वेपमाना जाता इत्याह बलस्येति,

**आभासार्थ —** केवल एक ही पंक्ति गिरा दी हो ऐसा नहीं, किन्तु सब वृक्षों को कम्पित कर दिया । इस श्लोक में उसका वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः — बलस्य लीलयोत्सृष्टखरदेहहताहताः ।**

**तालाश्चकम्पिरे सर्वे महावातेरिता इव ॥ ३४ ॥**

**श्लोकार्थ —** बलरामजी ने लीला ही से फेंके हुए गर्दभ के देह से ताड़ित वृक्षों से जो अन्य वृक्ष ताड़ित हुए थे वे सब ताल वृक्ष ऐसे काँपने लगे जैसे मानों महावायु से कम्पायमान किए गए हों ॥ ३४ ॥

**सुबोधिनी —** साक्षाद्बलरूप एवायमतस्तेन लीलया-  
प्युत्सृष्टखरदेहेन हतेन वृक्षेण आ सर्वतो हतास्ताला  
महावातेरिता इव चकम्पिरे, अस्य क्रियाशक्तिरनेक-  
परम्परायामपि न शान्ता सर्वात्मकत्वादस्य यत्रैवावस्य  
क्रियाशक्तिर्व्याप्नोति तत्सम्बन्धात् तत्र स्थितापि क्रियाशक्ति-

रुद्गच्छति तथा चान्यत्र स्पर्शे पुनरन्यत्र स्थिताप्युद्गच्छति यथा  
काष्ठेषु वह्निः, वह्निराधारमपि न स्थापयतीति वह्निसमानधर्मा  
वायुरत्र दृष्टान्तीकृतः, महावातेन स्पृष्टो गुप्तोऽपि वायुरुद्गतो  
महानेव भूत्वान्यमप्येवमुद्बोधयतीत्यन्तं महानेव भवति  
॥ ३४ ॥

**व्याख्यार्थ —** यह बलरामजी साक्षात् बल रूप हैं, इससे उनने लीला से भी फेंके हुए गर्दभ के देह से जो ताल वृक्ष गिरा उस ताल वृक्ष से चारों तरफ से आहत हुए ताल के सब पेड़, महावायु से जैसे कम्पायमान होवे वैसे काँपने लगे । एक पेड़ पर गर्दभ के देह की चोट लगी उस एक के सम्बन्ध से चारों तरफ सब पेड़ क्यों कम्पायमान होने लगे ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि, बलरामजी की क्रिया शक्ति सर्वात्मक होने से एक दूसरे में फैलती हुई शान्त नहीं हुई । इसकी (बलरामजी की) क्रिया शक्ति जहाँ भी पहुँची उसके सम्बन्ध से वहाँ स्थित क्रिया शक्ति भी प्रकट हो जाती थी उसका अन्यत्र<sup>१</sup> स्पर्श होने से वहाँ भी स्थित शक्ति प्रकट हो जाती है जैसे काष्ठ में अग्नि एक स्थान से प्रकट हो तो वह स्पर्श से अन्यत्र भी प्रकट होती रहती है यहाँ अग्नि का दृष्टान्त देकर वायु का दृष्टान्त दिया है, उसका कारण यह है कि अग्नि स्पर्श करती है तो अपने आधार (काष्ठ) को

भी नाश कर देती है अतः अग्नि का दृष्टान्त न देकर, अग्नि के समान धर्म वाले वायु का दृष्टान्त दिया है । कारण कि जैसे बलरामजी की क्रिया शक्ति जहाँ जाती है वहाँ गुप्त क्रिया शक्ति को जगाती है वैसे महावायु भी जहाँ जाता है वहाँ गुप्त रूप से स्थित वायु को प्रकट करता है वह भी महान् बनकर दूसरे गुप्त को जगाता है इस प्रकार गुप्त शान्त वायु भी महान् वायु का रूप धारण करती है ॥ ३४ ॥

**आभास —** इदं बलभद्रचरित्रमाश्चर्यमिव मत्वा समाधत्ते नैतच्चित्रमिति,

**आभासार्थ —** इन बलदेवजी के चरित्र को आश्चर्य जैसा माना जाता है अतः उसका इस श्लोक में समाधान करते हैं कि—

**श्लोकः —** नैतच्चित्रं भगवति ह्यनन्ते जगदीश्वरे ।

**ओतप्रोतमिदं यस्मिस्तन्तुष्वङ्ग यथा पटः ॥ ३५ ॥**

**श्लोकार्थ —** अनन्त और जगदीश्वर भगवान् के इस कार्य करने में कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि सकल जगत् उनमें (भगवान् में) ऐसे ओतप्रोत है जैसे तन्तुओं में पट ओतप्रोत है ॥ ३५ ॥

**सुबोधिनी —** नेदं कर्म बलभद्रस्य किन्त्वाविष्टस्य भगवतः, तदाह भगवति नैतच्चित्रमिति, किञ्चायमनन्तः सर्वसंहर्ता सङ्कर्षणस्तस्य तालवृक्षमात्रकम्पनं किमाश्चर्यं यं कालं स्मृत्वा जगदेव कम्पते ? किञ्च जगदीश्वरः, अयं जगतो नियन्ता, ईश्वरस्याज्ञयैव सर्वे कम्पन्ते “यद्भयाद् वाति वातोऽय” मित्यादिवाक्यात्, प्रथमप्रहारपर्यन्तं बलभद्रः, ततो व्यथाप्रतीकारार्थमुपायान्वेषणे भगवदुपदेशे स्मृते सहसैवाविष्टे

भगवांस्तथा कृतवान्, अन्यथा बाहुभ्यां कम्पन एव वृक्षभङ्गो भवेत् किञ्च यस्मिन् सङ्कर्षणेहम्ममाभिमानाधिष्ठितरि सर्वमेव जगदोतं प्रोतं च समवायरूपत्वान्निमित्तरूपत्वाच्च, तन्तुभिः पट ओतः प्रोतश्च दीर्घतन्तव ओतास्तिर्यक्तन्तवः प्रोतास्तथा सर्वमेव जगद् भगवति समवेतत्वेन ग्रथितत्वेन च स्थितं अतो हस्तचालनेनापि सर्वजगत्कम्प उचितः, किमाश्चर्यं वृक्षाणां महाव्यापारे ? ॥ ३५ ॥

**व्याख्यार्थ —** यह कर्म (लीला) बलभद्रजी का किया हुआ नहीं है किन्तु उनमें आविष्ट भगवत्स्वरूप द्वारा हुआ है । अतः कहते हैं कि भगवान् में इस प्रकार लीला करने से कोई आश्चर्य नहीं है, और यह अनन्त है अर्थात् सर्व का संहार करने वाला संकर्षण है, उसने ताल वृक्षों को (भय से) कंपाया किया इसमें क्या आश्चर्य है ? कारण कि उसके कालस्वरूप के स्मरण से समग्र जगत् कांपता है, और वह जगदीश्वर होने से सकल जगत् का नियन्ता है । सब देवादि ईश्वर की आज्ञा से ही डरकर अपने कार्य में संलग्न रहते हैं । जैसा कि कहा है कि ‘यद्भयाद् वाति वातोऽयं’ जिसके भय से वायु वाता है ।

धेनुक ने बलरामजी को प्रथम प्रहार किया तब तक केवल बलरामजी थे । उस प्रहार की व्यथा मिटाने के लिए उपाय ढूँढने पर भगवान् का दिया हुआ उपदेश (इस अध्याय के श्लोक ५ से ८ वाला उपदेश) स्मरण करने पर उन बलभद्र स्वरूप में भगवान् का आवेश आ गया तब इस प्रकार कर सके अर्थात् धेनुक को पकड़ कर फिराते हुए ताल पर फेंक दिया जिससे सब पेड़ कंपित होकर क्रमशः टूटने लगे । यदि यह कार्य भगवान् ने आविष्ट होकर न किया होता, अकेले ही बलदेवजी ने किया होता, तो पहले जब बाहुओं से पेड़ों को हिलाया था तब वृक्ष टूट जाते थे वैसा अब न होने से यह सिद्ध होता है कि यह कर्म बलरामजी में आविष्ट भगवान् के संकर्षण स्वरूप का है, और अहं<sup>१</sup> तथा मम<sup>२</sup> के अभिमानी अधिष्ठाता सङ्कर्षण स्वरूप में सकल जगत् ऐसे ओत-प्रोत हैं जैसे तन्तुओं में पट ओत-प्रोत हैं । जैसे वस्त्र में तन्तुएँ दो प्रकार की होती हैं एक दीर्घ<sup>३</sup> दूसरी तिर्यक्<sup>४</sup> होती हैं । दीर्घ तन्तु ओत<sup>५</sup> होती है और तिर्यक् तन्तु प्रोत<sup>६</sup> होती है वैसे ही समग्र जगत् भगवान् में समवेत तथा ग्रथित हो कर ओत-प्रोत है । अतः भगवान् ने केवल हस्त चलाने से जब सर्व जगत् का कम्पित होना भी योग्य है अर्थात् हो सकता है तब केवल वृक्षों की यह दशा हुई तो इसमें किसी प्रकार के आश्चर्य की बात नहीं है ॥ ३५ ॥

**आभास** — एवं धेनुकवधं भगवत्सामर्थ्यं चोक्त्वा प्रसङ्गात् तत्सम्बन्धिनां सर्वेषां वधमाह तत इति,

**आभासार्थ** — इस प्रकार धेनुक का वध और भगवान् के सामर्थ्य का वर्णन कर इसी प्रसङ्ग में उसके सब साथियों का भी हुआ उस वध का वर्णन अब करते हैं ।

**श्लोकः** — ततः कृष्णं च रामं च ज्ञातयो धेनुकस्य ये ।

क्रोष्टारोऽभ्यद्रवन् सर्वे संरब्धा हतबान्धवाः ॥ ३६ ॥

**श्लोकार्थ** — फिर धेनुक के नाती जिनका बन्धु मर गया है वे सब गधे (श्लोक में 'क्रोष्ट' शब्द दिया है जिसका अर्थ 'गीदड़' होता है, यहाँ गीदड़ थे नहीं फिर 'क्रोष्ट' शब्द क्यों दिया ? इस शङ्का का निवारण श्री सुबोधिनीजी में आचार्य श्री ने यों किया है कि जो गर्दभ गीदड़ के समान ध्वनि करते हैं उनको भी 'क्रोष्ट' कहते हैं) क्रोध में आकर राम और कृष्ण पर आक्रमण करने लगे ॥ ३६ ॥

सुबोधिनी - ते तु बहवो मूर्खाः कृष्णं रामं च | अभ्यद्रवन्, चकारद्वयेन गोपानप्यभ्यद्रवन्, तदा प्रतिगोपं धेनुकस्य ज्ञातयो ये धेनुकवधेन क्लिष्टा हतबान्धवाः | कृष्णो रामश्चोपस्थितौ भवतः अतो बहुधा कृष्णं बहुधा क्रोधसंरब्धाः सन्तः क्रोष्टारो गर्दभा आक्रोशयुक्ता | राममिति ज्ञापयति ॥ ३६ ॥

**व्याख्यानार्थ** - वे (धेनुक के सम्बन्धी) तो बहुत मूर्ख थे, जो सम्बन्धी धेनुक के वध से दुःखी हुए थे इसी कारण क्रोध में भर गये थे। उन गीदड़ों ने (गीदड़ जैसी ध्वनि करने वाले गर्दभ थे अतः इनको गीदड़ कहा गया है) राम और कृष्ण पर आक्रमण किया, श्लोक में 'च' दो बार आया है उसका आशय है कि उन्होंने गोपों पर भी आक्रमण किया। उस वक्त राम और कृष्ण प्रत्येक गोप के पास उपस्थित थे, जिस से राम कृष्ण पर बहुत स्थानों पर बहुत बार आक्रमण हुआ ॥ ३६ ॥

**आभास** - तदनु भक्तरक्षार्थं सर्वानेव मारितवन्तावित्याह तांस्तानिति

**आभासार्थ** - तदनन्तर भक्तों (गोपों) के रक्षाणार्थं कृष्ण तथा राम ने उन को मारा, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः** - तांस्तानापततः कृष्णो रामश्च नृप लीलया ।

गृहीतपश्चाच्चरणान् प्राहिणोत् तृणराजसु ॥ ३७ ॥

**श्लोकार्थ** - हे नृप ! जो जो गधे, सामने पास आए, उनके पिछले पाँव पकड़ कर राम और कृष्ण ने लीला ही से उनको ताड़ वृक्षों पर फेंक दिए ॥ ३७ ॥

सुबोधिनी - य एवाग्र आगतास्त एवाग्रे मारिताः, पश्चाच्चरणौ येषां, सर्वेषामेवान्तरिक्षमारणार्थं दुष्टारोपित- कृष्णो रामश्चेति, यस्यैवाग्रे पतन्ति, नृपेति सम्बोधनं पूर्ववत्, तालवनदूरीकरणार्थं च तृणराजस्वेव प्राहिणोत्, रसः तेषां वधे न कोऽपि प्रयास इत्याह लीलयेति गृहीतौ | कृष्णश्चैक एवेत्येकवचनम् ॥ ३७ ॥

**व्याख्यानार्थ** - जो जो आगे आते थे उनको क्रमशः मार देते थे, कृष्ण के पास जो आते थे उनको कृष्ण मारते थे और जो राम के पास आते थे उनको राम नाश करते थे। यहाँ भी 'नृप' सम्बोधन पूर्व के समान दिया है (अर्थात् इस बात को प्रेम पूर्वक समझाया है कि यह कही हुई बातें सत्य हैं।) इनके (धेनुक के सर्व सम्बन्धियों के) वध करने में राम तथा कृष्ण को किसी प्रकार का श्रम नहीं हुआ था, इसको बताने के लिए कहा है कि 'लीलया' लीला से<sup>१</sup> उनको मारा था। पिछले पैरों को पकड़ने का भाव यह था कि उनके प्राण अन्तरिक्ष में ही निकालने थे। और ताड़ के पेड़ों पर फेंक कर ताड़ के वृक्षों को नाश करने का आशय यह था कि ये पेड़ इस दुष्ट ने पाल कर बड़े किये थे अतः ये रहने नहीं चाहिए। राम तथा कृष्ण एक ही स्वरूप हैं इसको समझाने के लिए 'प्राहिणोत्' यह क्रिया एक वचन में दी है यदि दो होते तो द्विवचन देते ॥ ३७ ॥

**आभास** — ततो यज् जातं तदाह फलप्रकरैः

**आभासार्थ** — इनके अनन्तर जो कुछ हुआ वह इस श्लोक में कहते हैं ।

**श्लोकः** — फलप्रकरसङ्कीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिः ।

राज भूः सतालाग्रैर्घनैरिव नभस्तलम् ॥ ३८ ॥

**श्लोकार्थ** — (उस समय) पृथ्वी फलों के ढेर से, मरे हुए गर्दभों की लोथों से और ताड़ के पेड़ों की शाखाओं से वैसी शोभित होने लगी जैसे बादलों से आकाश शोभित होता है ॥ ३८ ॥

**सुबोधिनी** — फलसमूहैः सङ्कीर्णं दैत्यदेहैर्गतासुभिश्च चन्द्रनक्षत्रसहितं यथा शोभते तथा घनैरपि सम्बद्धं शोभते सङ्कीर्णं ध्वस्ता भग्ना ये तालाग्रास्तालशिरांसि तैरपि घनानां सर्वजनापेक्षाविषयत्वात् त्रीण्यप्येतानि नीला- सङ्कीर्णं तलं भूतलं राज शोभामेव प्राप्तवत्, न तु भूशोभा वान्तरजातियुक्तानि, अतिनीलानि फलानि रासभास्तु काचित्रा, तत्र दृष्टान्तो घनैर्नभ इवेति, निर्मलं नभः सूर्यसहितं धूसरास्तालाग्राश्च श्यामा मेघा अपि तथैव ॥ ३८ ॥

**व्याख्यार्थ** — फलों के समूहों से, मरे हुए दैत्यों की लोथों से और ताड़ के पेड़ों से टूट कर गिरि हुई शाखाओं से छाया हुआ वह पृथ्वी का तल शोभित होने लगा । इनसे पृथ्वी की कुछ भी शोभा नष्ट नहीं हुई । इसको दृष्टान्त दे कर समझाते हैं कि जैसे निर्मल आकाश, सूर्य अथवा चन्द्रमा तथा ताराओं से जिस प्रकार सुशोभित है उसी प्रकार बादलों के सम्बन्ध होने पर भी वह सुशोभित हो जाता है । उसकी शोभा में बादलों के आने से कोई कम नहीं आती है कारण कि बादलों की तो सारी जनता को अपेक्षा है । ये तीनों ही नील<sup>१</sup> रंग की अवान्तर जातियाँ हैं जैसे ताल के फल आसमानी रंग के होते हैं, रासभ<sup>२</sup> धूसर रंग के होते हैं, और ताल के पेड़ की शाखाएँ श्याम होती हैं वैसे ही मेघ भी इसी रंग के होते हैं ॥ ३८ ॥

**आभास** — तत् कर्म तयोः सर्वजगत्प्रसिद्धं जातमिति ज्ञापकमाह तयोरिति,

**आभासार्थ** — इन (राम और श्रीकृष्ण) का यह कर्म समस्त जगत में प्रसिद्ध हुआ इसको जताने के लिए यह श्लोक कहते हैं ॥ ३९ ॥

**श्लोकः** — तयोस्तत् सुमहत् कर्म निशम्य विबुधादयः ।

मुमुचुः पुष्पवर्षाणि चक्रुर्वाद्यानि तुष्टुवुः ॥ ३९ ॥

**श्लोकार्थ —** राम तथा कृष्ण का यह बड़ा कर्म देखकर देवादिकों ने पुष्पों की वृष्टि की, बाजे बजाए और स्तुति की ॥ ३९ ॥

**सुबोधिनी —** सुमहत् कर्म धेनुकवधलक्षणं चक्रुस्तुष्टुश्च, त्रिविधानां त्रयं हर्षनिधानं, अनेन देवानां विबुधादयो गन्धर्वादयः पुष्पवर्षाणि मुमुचुर्वाद्यानि । हितार्थं वध उक्तः ॥ ३९ ॥

**व्याख्यार्थ —** उन दोनों का धेनुक वध रूप महत् कर्म देखकर, अथवा जानकर गन्धर्व आदि देवों ने पुष्पों की वृष्टि की बाजे बजाए और स्तुति की । तीन प्रकार के देवों के ये तीनों कार्य हर्ष प्रदर्शक हैं । जिससे देवताओं ने यह बताया कि भगवान् ने धेनुक का वध उनके हित के लिए किया है ॥ ३९ ॥

**आभास —** एवं सपरिकरो धेनुकवधो निरूपितः, भगवता तु तालफलानि न दत्तानि परं स्वेच्छयैव सर्वैर्भक्षितमित्याह

**आभासार्थ —** इस प्रकार सपरिकर धेनुक के वध का निरूपण किया । भगवान् ने अपने हाथ से किसी को तालफल नहीं दिए किन्तु सबों ने अपनी इच्छा से लेकर फलों को खाया, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः —** अथ तालफलान्यादन् मनुष्या गतसाध्वसाः ।

तृणं च पशवश्चेर्हतधेनुककानने ॥ ४० ॥

**श्लोकार्थ —** अनन्तर जिस वन में धेनुक मारा गया था उस वन में मनुष्य निर्भय होकर फल खाने लगे और पशु भी डर छोड़कर घास चरने लगे ॥ ४० ॥

**सुबोधिनी —** अथेति भिन्नप्रक्रमेण, तालफलान्यादन् । तृणं न शुष्कं भवतीति, चकारात् पक्षिणोऽपि सुखिनो सर्व एव मनुष्या गतसाध्वसाश्च जाताः, तृणं च जाताः ॥ ४० ॥  
पशवश्चेरुः, हतो धेनुको यत्र तादृशे कानने, तत्र छायया

**व्याख्यार्थ —** अथ शब्द कहकर यह बताया है कि अब यह प्रसङ्ग पृथक्<sup>१</sup> प्रारम्भ होता है । जहाँ धेनुक मरा, वैसे वन में, मनुष्यों को फल लेकर खाने में किसी प्रकार का अब डर नहीं रहा अतः निडर होके फलों को लेकर खाने लगे । वहाँ छाया हो जाने से घास हरा ही पड़ा रहा था जिससे पशु भी हरा घास प्रेम से खाने लगे । श्लोक में आए हुए 'च' शब्द का भाव आचार्य श्री बताते हैं कि इससे ('च' देने से) जाना जाता है कि केवल मनुष्य और पशु निडर होकर भोजन करने लगे यों नहीं किन्तु पक्षी भी सुखी हुए वे भी फल खाने और छाया में विचरने से आनन्दित हुए ॥ ४० ॥

**आभास —** एवं वनलीलामुक्त्वा पुनर्व्रजे भगवतः समागमनमाह कृष्णः कमलपत्राक्ष इति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार वन की लीला पूर्ण कर भगवान् व्रज में पधारे उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः — कृष्णः कमलपत्राक्षः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।**

**स्तूयमानोऽनुगैर्गोपैः साग्रजो ब्रजमाव्रजत् ॥ ४१ ॥**

**श्लोकार्थ —** जिनका श्रवण और कीर्तन पुण्य प्रद है, वैसे कमल दल लोचन कृष्ण, गोपों से स्तुति कराते हुवे बलरामजी के साथ व्रज में पधारे ॥ ४१ ॥

**सुबोधिनी —** कृष्णो ब्रजमाव्रजदिति ब्रजस्थानां महानानन्दहेतुरुक्तः, तदेतावत्कालं विरहतमानां कथं तापं दूरीकरिष्यतीत्याशङ्क्याह कमलपत्राक्ष इति, कमलपत्र-वदायतेतिशाले परतापापनोदके अक्षिणी यस्य, अनेन दृष्ट्यैव तापहारित्वमुक्तं, ननु कारणभूत आध्यात्मिके पापे विद्यमाने कथं तापनिवृत्तिः ? तत्राह पुण्यश्रवणकीर्तन इति, पुण्ये श्रवणकीर्तने यस्य, अनेन पापं जलपूरेणेव नाशयत इति

निरूपितं श्रवणे प्रविशति कथा पूरो हृदयं ततः सर्वमेव दोषमालोड्य मुखतो निःसरति, एवं कियत्कालपर्यावृत्त्या सर्वथैव शुद्धो भवति । नन्वेवमपि सति भगवत्कीर्तिः कथं प्राप्यते ? तत्राह स्तूयमानोऽनुगैरिति, अनुगा भक्ता गोपाश्च, तेन भगवच्चरित्रं सर्वथैव सुलभमुक्तमलौकिकेन लौकिकेनापि प्रकारेण, साग्रज इति, धेनुकवधस्तेन कृत इति तं पुरस्कृत्य सहैवागतो भगवान् न तु पृथक्पृथग् यथायथम् ॥ ४१ ॥

**व्याख्यार्थ —** भगवान् का व्रज में पधारना ब्रजवासियों के लिए महान् आनन्द का कारण है। ब्रजवासी तो इतने समय से भगवान् के विरह† के कारण तप्त होने से दुःखी हैं। उनका वह दुःख भगवान् कैसे मिटायेँगे, जब दुःख को मिटावें तब भगवान् का आना उनके सुख का कारण बने। इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् के नेत्र, कमल के पत्र के समान, विशाल हैं। जैसे कमल पत्र ताप को बुझाते हैं वैसे ही आप कमल जैसे नेत्रों की दृष्टि मात्र से ताप को मिटाने वाले\* हैं। जब तक विरह ताप का कारणभूत आध्यात्मिक‡ पाप विद्यमान है तब तक कार्य रूप विरह ताप कैसे मिटेगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आपके श्रवण और कीर्तन से वे पाप ऐसे मिट जाते हैं जैसे जल का प्रवाह गन्दगी को साफ कर बाहर फेंक देता है। भगवान् के गुणों का अमृत पूर्ण कथा रूप प्रवाह श्रवण द्वारा हृदय में जाता है वहाँ जाकर जो

† लेखकार - इस श्लोक में 'विरह' ताप कहा है जिसे दूर करने का कहा है-आने वाले श्लोक में दूसरे प्रकार का ताप कहेंगे।

\* लेखकार - भगवान् दृष्टि से संयोग दान का संकेत करते हैं जिससे विरह ताप मिटता है।

‡ लेखकार - मद आदि।



भी कश्मल<sup>१</sup> होता है उसको खींच कर, कीर्तन करते हुए मुख द्वारा बाहिर निकाल देता है। इस प्रकार कितने ही काल पर्यन्त आवृत्ति<sup>२</sup> करने से सर्वथा ही मनुष्य शुद्ध हो जाता है अर्थात् आध्यात्मिक पाप निवृत्ति<sup>३</sup> हो जाते हैं जिससे कार्य रूप विरह ताप तो स्वतः ही नष्ट हो जाता है अतः कहा है कि भगवान् 'पुण्य श्रवण कीर्तनः' है। पुनः शङ्का होती है तो भगवत्कीर्ति का ज्ञान कैसे होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'स्तूयमानोऽनुगैः' भगवान् के अन्तरंग भक्त और गोप सदैव भगवान् की अलौकिक (रहस्य लीला) तथा लौकिक प्रकार से स्तुति करते ही रहते हैं अतः भगवत्कीर्ति का ज्ञान इस प्रकार सुलभ रीति से प्राप्त हो सकता है जिससे नित्य प्रेम करने से प्रतिबन्धक आधिदैविक पाप भी नष्ट हो जाते हैं। भक्त और गोपादिक जिसके साथ स्तुति करते आ रहे थे ऐसे भगवान् बलरामजी को आगे कर आप पीछे होके ब्रज में पधारें, यों करने का कारण यह है कि धेनुक का वध बलरामजीने किया था अतः पहले भगवान् पीछे बलरामजी इस क्रम से पृथक् पृथक् नहीं आए ॥ ४१ ॥

**आभास —** आगच्छन्तं भगवन्तं वर्णयति तं गोरजश्छुरितकुन्तलेति-

**अभासार्थ —** ब्रज में पधारते समय जैसा भगवान् ने स्वरूप धारण किया था वैसा वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः —** तं गोरजश्छुरितकुन्तलबद्धबर्हवन्यप्रसूनसचिरेक्षणचारुहासम् ।

वेणुं क्वणन्तमनुगैरनुगीतकीर्तिं गोप्यो दिदृक्षितदृशोऽभ्यगमन् समेताः ॥ ४२ ॥

**श्लोकार्थ —** भगवान् के दर्शन की इच्छा वाली दृष्टि से युक्त गोपियाँ, जिनके केशों में गौओं के खुरों की रज लग रही है, मोर पिच्छ और वन के पुष्प गुथे हुवे हैं, हास्य तथा नेत्र सुन्दर हैं और जो मुरली बजा रहे हैं तथा जिनके पीछे पीछे अनुचर<sup>४</sup> यश गा रहे हैं वैसे भगवान् को चारों ओर से घेर रही थी ॥ ४२ ॥

**सुबोधिनी—** तं भगवन्तं गोप्योऽभ्यगमन्नितिसम्बन्धः, पूर्वं पुरुषार्थचतुष्टयसहिता दशरसयुक्ता लीला च प्रदर्शिता, सा गोपिकाभिर्न दृष्टेति गोपिकानां भवति तापोऽतस्तन्निवृत्त्यर्थं चतुर्दशधर्मयुक्तो भगवानत्र निरूप्यते, तत्र गोरजोभिश्छुरितानि व्याप्तानि कुन्तलानि यस्येति पुरुषार्थलीला प्रतिपादिता, गावोऽत्र धर्मो रजोऽर्थो व्याप्तिः कामो अलका मोक्षस्थानीयाः सत्यावलम्बिनः, धर्मादिसहितानामेव मोक्ष इति चतुर्णामेकवाक्यता, कुन्तलाश्च कामरूपा रजो रजोगुण एव

\*लेखकार - श्रवण और कीर्तन से पाप रूप कश्मल बाहिर निकल जाता है स्वरूप से पाप नष्ट नहीं होता है। निबन्ध में आचार्य श्री ने इस प्रकार कहा है।

गावोऽत्रानुभावाः, तेन पुष्टः शृङ्गाररसो निरूपितः, बद्धो बर्हः बर्हस्य मयूरपिच्छस्य बन्धनं वीर्यदुतरसौ बोधयति, वनोद्भवानां प्रसूनानां सम्बन्धो भयानकहास्ये जनयति, संचिरेक्षणं करुणाख्यं, चास्त्रासो रौद्ररसं, महतस्तादृशो विशिष्टो वेषो नाट्यावशिष्टरसं जनयति, वेणुं क्वणन्तमिति शान्तरसः, ब्रह्मामृतं प्रकटीकुर्वन्, अनुगैरनुगीता कीर्तिर्यस्येति भक्तिरसः, एवं सर्वरसयुक्तं भगवन्तं पश्यन्त्योऽपि दिदृक्षितदृष्ट्य एव स्थिताः, न हि साधारण्येन दृष्टो भगवान् स्वस्य

परमरसमुत्पादयति, एकान्ते समागतं भगवन्तं सर्वरससहितं द्रक्ष्याम इतिदिदृक्षैव स्थिता, अत एव प्रथमं दर्शनं नोक्तं समागम एवोक्तः, समागमार्थं यद् दर्शनं तदन्यशेषभूतमिति न पृथङ्गिनरूपणमपेक्षते, अभितः समागता इति भगवतस्ताभिरेव वेष्टनं निरूपितं, एकस्यास्तत्कार्यं न भवतीति समेताः, अग्रे गावो बलभद्रप्रमुखाश्च गताः पश्चादा-गच्छन्तो गोपिकाभिरेव व्यवहिताः, मध्ये गोपिकाभिर्भगवान् वेष्टित इत्यर्थः ॥ ४२ ॥

**व्याख्यार्थ** — गोपियाँ भगवान् को चारों तरफ घेर रही थीं । कारण कि भगवान् ने जो पहले चतुर्विध पुरुषार्थ युक्त दश रस वाली लीला की थी, वह गोपियों ने नहीं देखी थी, जिससे उनको उसका ताप था, उस ताप से निवृत्ति के लिए यहाँ भगवान् चतुर्दश धर्म युक्त होकर पधारें हैं जिसका यहाँ निरूपण है ।

भगवान् की अलकें गोरज से व्याप्त<sup>१</sup> थी, इस विशेषण से पुरुषार्थ लीला का प्रतिपादन किया है, जैसे कि 'गौ' से धर्म, रज से अर्थ, व्याप्ति से काम और कुन्तल<sup>२</sup> से मोक्ष बताया है । अलक सदैव पृथक् रहते हैं और सत्य (भगवान् के स्वरूप) के आश्रय करने वाले होने से मोक्ष रूप हैं । जिन (जीवों) के धर्म, अर्थ और काम ये तीन पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं उनको ही मोक्ष की प्राप्ति होती है इसलिए श्लोक में चारों (गो, रज, धूरित, कुन्तल) का समास किया गया है ।

चतुर्विध<sup>†</sup> पुरुषार्थ की लीला दिखाकर, अब दश विध रस सम्बन्ध वाली लीला दिखाते हैं । दश रसों में से प्रथम, "शृङ्गार रस की सम्बन्धिनी लीला, 'अलक' 'रज' और 'गौ' उपरोक्त इन

† साहित्याशय, टिप्पणी और लेख

इस लीला में 'गौ' को धर्म इसलिए कहा गया है कि 'वृष' (सांड-बैल) गौ जाति का है जिसको भागवत में 'धर्म' रूप कहा है और 'गौ' धर्म के कारण रूप है । 'रज' को अर्थ कहने का कारण यह है कि 'अर्थ' धर्म से प्राप्त होता है अतः 'अर्थ' धर्म का सम्बन्धी है, गौ धर्म रूप है । गौओं के चलने से उड़ने वाली रज, गौओं के सम्बन्ध वाली हैं । और रज 'रजोगुण रूप होने से मद उत्पन्न करने वाली है, अर्थ भी मद कर्ता होता है अतः रज को अर्थ कहा गया है । 'व्याप्ति' को काम कहने का भाव यह है कि कामनावाला ही सर्व से सम्बन्ध रखता है, निष्काम किसी से सम्बन्ध नहीं रखता है । 'व्याप्ति' का तात्पर्य है अन्य पदार्थों से मिलकर रहना और अन्य पदार्थों में मिलजुलना अर्थात् उसको अपना रूप बना देना अतः 'व्याप्ति' को काम कहा है । जैसे भगवान्, में कामना उत्पन्न हुई तब इस जगत् को उत्पन्न कर इसमें प्रविष्ट होकर रहे और सर्व रूपों से आविर्भूत हो कर सर्व में व्याप्त हो गए, इस दृष्टान्त से सिद्ध है कि 'व्याप्ति' काम है । 'अलक' मोक्ष रूप इस कारण से कहा कि 'केश' बद्ध

रहते हैं तीन शब्दों से दिखाते हैं। 'अलक' 'कामरूप'<sup>१</sup> है 'रज'<sup>२</sup> रजोगुण रूप है और 'गौ'<sup>३</sup> अनुभावक है। इन से पुष्ट शृङ्गार रस का निरूपण हुआ है।

मयूर पिच्छ का बन्धन 'वीर'<sup>४</sup> तथा 'अद्भुत'<sup>५</sup> रसों का बोध कराता है। वन में उत्पन्न पुष्पों का सम्बन्ध 'भयानक'<sup>६</sup> और हास्य<sup>७</sup> रस उत्पन्न करते हैं। सुन्दर दृष्टि करुणा<sup>८</sup> रस उत्पन्न करती है। मनोहर हास 'रौद्र'<sup>९</sup> रस उत्पन्न करता है। महान्युरुष जब इसी प्रकार का विशेष वेश धारण करते हैं, जिससे

और 'अलक' मुक्त रहते हैं। अलक मुक्त होने से, भक्त जनों के मन कहीं अन्यत्र चले गए हो तो भी वे मन भी अलक की शोभा देखकर वहाँ आकर्षित हो कर आ जावें, इस प्रकार भगवान् अलकों द्वारा इन भक्तों को बुलाकर स्वरूपानन्द का दान देते हैं।

इस लीला में गौ, रजःकण, व्याप्ति और अलकों के दर्शन से क्रमशः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्विध पुरुषार्थों का भक्तों को अनुभव हुआ।

१ - लोक में यह प्रसिद्ध है कि कोई भी, जब रसिक को उत्तम रस भोग करते देखता है, तब उसको भी रस भोग करने की चाह होती है। यहाँ भगवान् के कुन्तल (अलक) आपके श्री मुखरूप कमल के चारों तरफ भ्रमरवत् सुशोभित हो रहे हैं अतः जो भी इनके दर्शन करते हैं उनके भावों में उद्दीपन (वृद्धि) होता है इससे ये कुन्तल काम रूप हैं।

“टिप्पणी”

‘कामरूप’ अर्थात् काम का निरूपक अथवा काम को जागृत करने वाला है।

“लेख”

२ - गौ के द्वारा उड़ते हुए रजःकण 'काम उत्पन्न करते हैं, अतः ये रजः कण, शृङ्गार रस के उद्दीपन होने से 'रजोगुण' रूप हैं।

“लेख”

३ - गौ भगवान् के साथ सदैव रहती है अतः इनको देखने से भगवान् का स्मरण होता है जिससे मन दूसरी जगह हो तो वहाँ से खींचकर भगवान् के रस का अनुभव कराती है इसलिए गौ अनुभावक (रस का अनुभव कराने वाले) हैं।

“टिप्पणी”

४ - मयूर पिच्छ उत्साह उत्पन्न कर्ता होने से वीर रस प्रकट करता है।

“प्रकाश”

५ - भगवान् ने मोर पिच्छ बान्धा है यह देख कर सबको विस्मय उत्पन्न होता है इसलिए यह 'अद्भुत' रस है।

“प्रकाश”

६ - दुर्गम स्थान में उत्पन्न होने से वहाँ से लाना भयंकर है अतः इनको देखने से भयानक रस उत्पन्न होता है।

“प्रकाश”

७ - ये पुष्प कभी इस प्रकार धरे हुए हों जो देखने में अच्छे न लगने से 'हास्य' रस उत्पन्न करते हैं।

८ - सुन्दर दृष्टि के दर्शन से मन में पश्चाताप होता है कि हा ! हमने इतने समय तक इसके दर्शन ही नहीं किए जिससे 'करुणा' रस हृदय में उत्पन्न होता है।

९ - मनोहर हास से किसी अधिकारी को 'रौद्र' रस उत्पन्न होता है।

नाटक का अवशिष्ट रस 'बीभत्स'<sup>१</sup> रस उत्पन्न होता है। भगवान् वेणु बजाते हुए ब्रह्मानन्द प्रकट करते हुए व्रज में पधारते हैं तब उससे 'शान्त रस' प्रकट होता है। अन्तरङ्ग भक्त भगवान् की कीर्ति का गान करते हैं जिससे 'भक्ति'<sup>२</sup> रस प्रकट होता है।

इस प्रकार सर्व रस युक्त भगवान् को देखती हुई भी पुनः पुनः देखने की इच्छा युक्त दृष्टि वाली वे गोपियाँ वहाँ ही खड़ी रही। वहाँ ही खड़ी क्यों रही? उसका कारण प्रकट करते हैं कि जब भगवान् को साधारण रीति से सबों के संग में देखा जाता है तब भगवान् दर्शन तो देते रहते हैं किन्तु अपने सर्व रसों को प्रकट कर दर्शन नहीं देते हैं। जब भगवान् अकेले होंगे तब एकान्त में पधारे हुए भगवान् का सर्व रस सहित दर्शन करेंगी इस आशा से वे गई नहीं, खड़ी रही। इसी कारण से प्रथम, दर्शन, न कहकर समागम कहा। समागम में जो दर्शन होता है वह दूसरों के अवशेष<sup>\*</sup> में होता है। इसलिए इसके पृथक् निरूपण की अपेक्षा की आवश्यकता नहीं है।

वह कार्य एक का नहीं था इसलिए उन सबों ने मिलकर भगवान् को घेर लिया था।

आते समय पहले गौ उनके पीछे बलभद्रजी जिनके नेता हैं वैसे गोप थे, इसके अनन्तर जो पीछे गोप भगवान् के साथ थे उनको गोपियों ने भगवान् से अलग कर दिया। स्वयं सब ने भगवान् को घेर कर, भगवान् को बीच में लेकर सबों के साथ आने लगी। वे गोप सबसे पीछे आते रहते थे ॥ ४२ ॥

**आभास** — ततस्ता यत् कृतवत्यस्तदुक्त्वा पश्चाद् भगवतो व्रजे समागमनं निरूपयति पीत्वेति,

**आभासार्थ** — गोपीजनों ने जो कुछ कृत्य किया उसका वर्णन कर अब इस श्लोक में भगवान् के व्रज में आने का निरूपण करते हैं।

**श्लोकः** — पीत्वा मुकुन्दमुखसारधमक्षिभृङ्गैस्तापं जहुर्विरहजं व्रजयोषितोऽह्नि ।

तत्सत्कृतिं समधिगम्य विवेश गोष्ठं सव्रीडहासविनयं यदपाङ्गमोक्षम् ॥ ४३ ॥

**श्लोकार्थ** — व्रज की स्त्रियों ने मुकुन्द भगवान् के मुखारविंद के मधु का

१ - भगवान् के इस प्रकार के वेश को देखकर जुगुप्सा (ग्लानि) उत्पन्न होने से 'बीभत्स रस' उत्पन्न होता है।

“प्रकाश”

२ - भक्तों के दर्शन से रूपात्मक भगवान् की सेवा रूप भक्ति रस उत्पन्न होता है।

भगवान् के कीर्ति का गान सुनने से नामात्मक भगवान् का 'सेवा' रूप भक्ति रस उत्पन्न होता है।

“लेख”

\* बाकी ।

अपने नेत्र रूप भ्रमरों से पान कर दिन में लज्जा, हास तथा विनय सहित कटाक्षों से र में पधारे ॥ ४३ ॥

सुबोधिनी — आदौ तापापनोदनार्थं गोपीजन-  
वल्लभसरसः कसणावीचियुक्ताल्लावण्यामृतं पातव्यं  
अन्यथान्तस्तापो न गच्छेत्, गते हि तापे रसास्वादनं,  
बहिस्तापो मिलनादेव गतः, स पेपीयमानो रसो यदि तापहारको  
मिष्टश्च भवति तदैव भूयान् पातुं शक्यः, तच्च लोके नास्ति,  
दुग्धादीनां तृषादिजनकत्वात्, जलं नीहारवत् पातुं न शक्यते,  
उभयात्मकमपि यदि परिणामे सुखदं न भवति तदापि न  
समीचीनं, अतो भगवत्लावण्यामृतं सर्वगुणविशिष्टमित्याह,  
मुकुन्दो मोक्षदाता ज्ञानरूपः शान्तः, अतो नाग्रे दोषजनकः  
प्रत्युत मोक्षपर्यवसायी, मुखं हि भक्त्यात्मकं भवति, अतः  
स्नेहाद् बहुपानं सम्भवति, तत्र सारघं, सरधा मधुमक्षिका,  
तथा सर्वेभ्यः पुष्पेभ्यो रसं समानीयैकत्र मधु क्रियते तत्  
कोट्यदिषु तिष्ठति, अन्यजातीयं तु मधु न द्रवीभूतं भवति,  
घनीभूतं च पातुं न शक्यं, ब्रह्मादयोऽत्र सर्वे श्रुतयश्च  
सर्वाः सरधास्थानीयाः, तैः सर्वैरेव सर्वप्रकरणेभ्यः परमानन्दं  
समुद्भूत्यैकत्रानन्दनिधिर्बोधितः सर्वप्रकरणेषु प्रतिपादित  
आनन्द एकीभूयात्र स्थित इत्यर्थः, ब्रह्मादिभिः श्रुतिभिश्च  
प्रार्थनया भगवानत्रानीतः, रसस्तु गोपिकाभिरेव भुक्तः, त  
एव हि रसं जानन्ति ये तदेकोपजीविनो भवन्ति, ते भृङ्गाः,  
न तेषामन्यदेहनिर्वाहकमप्यस्तीति विषयान्तरसम्बन्धो नास्त्येव,  
केवलमन्यत्र परिभ्रमणमात्रं, तथा गोपिकानामपि चक्षूषि  
परिभ्रमन्ति सर्वत्र, विषयीकुर्वन्ति भगवन्मुखलावण्यामृतमेव,  
अत आहाक्षिभृङ्गैरिति, अनेन गोपिकानां श्रुत्यादिभिः सह  
साजात्यमपि निरूपितं, पानं वहिःस्थितस्य द्रवद्रव्यस्यान्त-  
र्निवेशनं, नेत्राणामपि स्वतो रसाभिज्ञत्वज्ञापनाय भृङ्गपदं, तथा  
सति स्वतोऽपि प्रवृत्तिर्भवति, अन्यत्र च न विनियोगः  
सिध्यति, गोपिकानामपि देवतात्वादनेनापि पानं सम्भवति,

व्याख्यार्थ — गोपीजनों के तीन कार्य :  
२-विरहोत्पन्न ताप का मिटाना, ३-भगवान् का सत्व

करुणा रूप तरङ्गे उछल रही हैं वैसे गोपीजनवल्लभ रूप सरोवर से लावण्यामृत का पान अवश्य कर्तव्य<sup>१</sup> है। यदि इस लावण्यामृत का पान नहीं किया जाएगा तो विरह ताप नहीं मिटेगा। जब ताप नष्ट होगा तब ही रस का आस्वादन<sup>२</sup> हो सकेगा।

बाहिर का ताप तो भगवान् के साथ मिलन होने पर मिट गया। भीतर का ताप लावण्यामृत रस का पान कर मिटया।

जिस रस का पान किया जाए वह रस ताप को मिटाने वाला और मिष्ट होता है तो विशेष पीया जा सकता है, किन्तु लौकिक कोई रस वैसा नहीं है। दूध मिष्ट और ताप हारक है, परन्तु तृषादि जनक दोष वाला है इसी प्रकार जल भी बर्फ के समान ज्यादा पीया नहीं जाता है तात्पर्य यह है कि मिष्ट और ताप हारक होते हुए भी परिणाम में सुखदायी न होने से उनका पान करना श्रेष्ठ नहीं है। अतः भगवान् का लावण्यामृत रस ही सर्व गुणों वाला है, इसका वर्णन करते हैं। यह लावण्यामृत रस, ज्ञान रूप तथा शान्त होने से निर्दोष है और अन्त में मोक्ष देने वाला भी है। भगवान् का मुखारविन्द भक्त्यात्मक<sup>३</sup> है, अतः भक्ति स्नेह रूप द्रवीभूत तत्त्व होने से उसका पान प्रेम से विशेष किया जा सकता है।

यह लावण्यामृत रस, मुकुन्द के मुखारविन्द का मधु है। जैसे मधु-मक्षिकाएँ सर्व पुष्पों से रस को चूस कर ले आती हैं और उस रस को वृक्ष के कोटर में स्थापित करती हैं वह मधु द्रवीभूत है। अन्य जाति का मधु धनीभूत होने से पीने योग्य नहीं होता है। वैसे ही यहाँ ब्रह्मादिक देव रूप मधुमक्षिकाओं ने तथा श्रुति मधुमक्षिकाओं ने सकल शास्त्रों के प्रकरणों में स्थित, परमानन्द रूप मधु (आनन्द रस) को, वहाँ से लाकर इस स्वरूप में धरा हैं, अर्थात् सर्व प्रकरणों में प्रति पादित<sup>४</sup> आनन्द इकट्ठा हो कर, यहाँ आकर कृष्ण स्वरूप में प्रकट स्थित हुआ है। तात्पर्य यह है कि ब्रह्मादि देवताओं की तथा श्रुतियों की प्रार्थना से भगवान् यहाँ प्रकट हुए हैं।

उस प्रकट रस स्वरूप के रस का गोपिकाओं ने ही उपभोग किया है। जो, उस रस पर ही जीवन धारण करते हैं, वे ही, उस रस के स्वरूप को समझते हैं। वे भ्रमर हैं उनके (भ्रमरों के) देह का निर्वाह करने वाला कोई अन्य पदार्थ नहीं है इसलिए उनका दूसरे किसी से सम्बन्ध भी नहीं है। वे दूसरे स्थानों पर केवल भ्रमण करने के लिए जाते हैं। इसी प्रकार गोपिकाओं के नेत्र रूप भ्रमरों के देह का निर्वाह करने वाला मुकुन्द के मुखारविन्द का मधुर रस ही है। अतः वे नेत्र रूप भ्रमर अन्यत्र भ्रमण करते हुए भी भगवान् के मुखारविन्द के लावण्यामृत मधु को ही ग्रहण करते रहते हैं। इसलिए कहा है कि गोपिकाओं ने नेत्र रूप भ्रमरों से, मुकुन्द के मुखारविन्द रूप मधु का पान किया। इस प्रकार कहने से यह बताया है कि गोपीजन भी श्रुतियों के जाति वाली हैं अर्थात् गोपीजन श्रुतियाँ हैं।

१ - करना चाहिए। २ - पूर्ण स्वाद की प्राप्ति। ३ - भक्ति स्वरूप

४ - समझा कर निर्णय किया हुआ।

बाहिर स्थित द्रवपदार्थ<sup>१</sup> का शरीर के अन्दर प्रवेश कराना पान कहा जाता है। नेत्र, स्वतः रस के अभिज्ञ<sup>२</sup> हैं इसको जताने के लिए नेत्र को 'भृङ्ग' कहा है। नेत्र भृङ्ग है इस कारण से ही उनकी रस पान में स्वतः (गोपियों की प्रेरणा विना) प्रवृत्ति होती है। दूसरे किसी वस्तु में प्रवृत्त नहीं होते हैं। गोपीजन, देवता होने से, दूसरे (नेत्रों) से भी पान कर सकते हैं। अतः इतने समय तक, हमने इस रस का स्वाद नहीं लिया, इस चिन्ता से जो ताप उत्पन्न हुआ है, वह (ताप) लावण्यामृत रस से जब पूर्ण रीति से अन्तःकरण पूर्ण होगा, तब निवृत्त होगा। इसके सिवाय, अन्य जो त्रिविध ताप था, वह तो भगवान् के दर्शन मात्र से मिट गया था, शेष रहा विरहज ताप, वह अब रसपान कर मिटाया है।

गोपिकाओं ने विरह ताप क्यों उत्पन्न किया ? क्यों नहीं भगवान् के सान्निध्य में सदैव रहती थी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए गोपिकाओं को 'व्रजयोषितः' कहा है। 'व्रज' की स्त्रियाँ विवेक रहित<sup>३</sup> और पराधीन होने से सारा दिन गोपालों के साथ गोष्ठ<sup>४</sup> में रहती थी और स्त्री स्वभाव भी अन्यत्र जाने में बाधक है। इन कारणों से सन्निधि<sup>५</sup> में नहीं रह सकती थी जिससे विरहताप हुआ।

तदनन्तर इकट्ठी हुई गोपियों का उनके मध्य में स्थित भगवान् के प्राते जो कर्तव्य है वह कहना अशक्य है अतः संक्षेप में कहा है कि गोपियों ने भगवान् का अच्छा सत्कार किया। भगवान् ने उनके किए हुए सत्कार को स्वीकार किया। जो कुछ चारों तरफ समालिङ्गन आदि तथा भगवद्भय से भी जो कुछ हो सका वह सब सत्कार शब्द से कह दिया है। प्रत्येक गोपी ने पृथक् पृथक् जो सत्कार किया उसका अनुभव कर अच्छे प्रकार से गोपीजनों को कृतार्थ कर, भगवान् ने गोष्ठ में प्रवेश किया।

गोपीजनों ने किस प्रकार का सत्कार किया ? यदि सत्कार लौकिक भोजनादि से किया हो तो भगवान् का 'गोष्ठ' में पधारना व्यर्थ ही है और लौकिक का भी बाध होता है। अतः जिस प्रकार से विशिष्ट सत्कार किया, उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जिसका स्पष्ट विशेष वर्णन नहीं किया जा सकता है। किन्तु सूक्ष्म में कहते हैं कि 'सब्रीडहास विनयं' लज्जा, हास्य और विनय सहित कटाक्षों के डालने से सत्कार किया मुखारविन्द में ही रस है, उस मुखारविन्द का रस पान जैसा अन्धकार (गुप्त स्थान) में प्राप्त किया जाता है वैसा वर्णन यहाँ करना (होना) अशक्य होने से नहीं किया है।

कटाक्ष मोक्ष के भी पृथक् पृथक् प्रकार होते हैं। जैसा रस अद्भुत कराना हो वैसा कटाक्ष मोक्ष होता है। भगवान् किस प्रकार का अभिनय<sup>६</sup> करेंगे इस का विचार करती हुई प्रथम बार ही आई हुई गोपी के मुख्य रस के अङ्गभूत तीन रसों का वर्णन करते हैं। (१) ब्रीड़ा<sup>७</sup> से रस प्रादुर्भाव होकर जब

१ - रस रूप पदार्थ। २ - ज्ञाता, जानने वाले। ३ - बुद्धि हीन - भोली - सीधी सादी।

४ - गौशाला में गायों का बाड़ा या खिड़क। ५ - पास। ६ - लीला। ७ - लज्जा।

पुष्ट होता है तब (२) हास्य होता है और अन्त में (३) विनय होता है। इन तीन प्रकारों से वर्तमान, प्रत्येक रस अनेक प्रकार का है, इस कारण से यह भगवान् का दिव्य प्रभाव कहा गया है। इसके वर्णन करने में लौकिक प्रकार (दृष्टि) से किसी प्रकार के औचित्य का भङ्ग न हो अतः सूक्ष्म में (सत्कृति) शब्द दिया है। भगवान् जगत् के पूज्य है। प्रत्येक गोपी ने अपने अधिकारानुसार भगवान् का सत्कार किया है। गोष्ठ में आने के अनन्तर भी सत्कार हो सकता था तो मार्ग में ही सत्कार क्यों किया? उसके उत्तर में कहते हैं कि यह 'गोष्ठ' है गौओं के बन्धन का स्थान\* है। वहाँ इस प्रकार से गोपियाँ सत्कार नहीं कर सकती थीं तो भी भगवान् के प्रभाव से जैसा उचित बन सका वैसा घर में भी किया ॥ ४३ ॥

**अभास —** तत्रापि सत्कारो जात इत्याह तयोरिति,

**आभासार्थ —** गोष्ठ में भी सत्कार हुआ जिनका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोक: —** तयोर्यशोदारोहिण्यौ पुत्रयोः पुत्रवत्सले ।

**यथाकामं यथाकालं व्यधत्तां परमाशिषः ॥ ४४ ॥**

**श्लोकार्थ —** पुत्रों पर प्रेम वाली यशोदा और रोहिणी, दोनों पुत्रों को इच्छानुसार तथा कालानुकूल बड़े-बड़े आशीर्वचन कहने लगी ॥ ४४ ॥

**सुबोधिनी —** साधारण इतिज्ञापनार्थमुभयोर्ग्रहणं, यशोदारोहिण्याविति लोके ख्यातिरुक्ता, पुत्रयोरिति लौकिक एव भावः, प्रेमरहितं न गृह्णातीत्याशङ्क्य पुत्रवत्सले इत्युक्तं, इच्छामप्यनतिक्रम्य कालमप्यनतिक्रम्य परमाशिषो व्यधत्तां, कामः स्वनिष्ठः, सन्ध्याकाले च परोक्षतयैवाशिषो वक्तव्या इति कालापेक्षानिरूपणं, नमस्कारे कृतेऽकृते वा स्वस्थ महित्वं स्थापितवत्याविति ज्ञापयितुमाशिषां निरूपणम् ॥ ४४ ॥

**व्याख्यार्थ —** गोष्ठ में पधारने पर राम तथा कृष्ण का जो यह सत्कार हुआ वह सामान्य था, अतः दोनों का नाम दिया है। जननी अथवा माताओं न कहकर, जो उनके नाम यशोदा और रोहिणी दिए गए उसका तात्पर्य है कि, इससे इनकी लोक में प्रसिद्धि बताई। यहाँ राम-कृष्ण नाम न देकर यह 'पुत्रयोः' कहने का आशय यह है कि राम और कृष्ण में इनका लौकिक पुत्र भाव था। भगवान् किसी की भी कोई वस्तु तब ग्रहण करते हैं जब देखते हैं कि इसको मेरे लिए प्रेम है, यदि प्रेम नहीं हो तो ग्रहण नहीं करते हैं अतः कहा है कि ये यशोदा रोहिणी 'पुत्र वत्सले' पुत्रों में प्रेमवालियाँ थीं। इनमें अपने लिए प्रेम देखकर, जो कुछ इन्होंने अपनी इच्छानुसार तथा कालानुसार किया उसको भगवान् ने अङ्गीकार किया। जैसा कि सन्ध्या काल में परोक्ष में ही आशीर्वचन कहने चाहिए इसलिए आशीर्वाद देने में काल की अपेक्षा की आवश्यकता का वर्णन है। श्रीकृष्ण तथा बलराम ज्यों-ज्यों उनको प्रणाम करने लगे

\*गोष्ठ में आने के अनन्तर सत्कार न कराने का कारण यह भी था कि भगवान् 'रसं दानं' संसार रूप घर में नहीं करते हैं।  
"प्रकाश"



त्यों-त्यों वे अपनी महत्ता दिखाने के लिए आशीर्वाद देने लगी ॥ ४४ ॥

**आभास** — तत उपचारा गताध्वानश्रमाविति,

**आभासार्थ** — तदनन्तर गोष्ठ में जो उपचार<sup>१</sup> हुए उनका वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः** — गताध्वानश्रमौ तत्र मज्जनोन्मर्दनादिभिः ।

नीवीं वसित्वा सचिरां दिव्यस्रग्गन्धमण्डितौ ॥ ४५ ॥

जनन्युपहृतं प्राश्य स्वाद्वन्नमुपलालितौ ।

संविश्य वरशय्यायां सुखं सुषुपतुर्व्रजे ॥ ४६ ॥

**श्लोकार्थ** — वहाँ ब्रज में, स्नान और मर्दन<sup>२</sup> से मार्ग में हुई थकावट जिनको मिट गई है उन (राम-कृष्ण) दोनों भ्राताओं ने सुन्दर नीवी<sup>३</sup> पहनी और दिव्य पुष्पों की मालाएँ गले में डाल, ललाट पर चन्दन चरच जननी के लिए हुए स्वादिष्ट अन्न का भोजन कर, माता से लालित (दुलारे) हुए, सुन्दर शय्या पर लेट आनन्द से पौढ़े ॥ ४५-४६ ॥

**सुबोधिनी** — मज्जनान्युन्मर्दनादीनि, उन्मर्दनमादिर्येषां मज्जनानां, छान्दसः परनिपातः, मज्जनं वा पादयोः, मज्जने वोन्मर्दनादिना, रजोनिवृत्त्यर्थमादौ वा मज्जनं, प्रातीतिकोऽयं श्रमः, नीवीं मल्लानामिव रुचिरां पीताम्बरादिनिर्मितां, दिव्येन स्रग्गन्धादिना च मण्डितौ जातौ मध्ये त्वधिकारि-देवैस्तथाकृतौ ॥ ४५ ॥

**सुबोधिनी** — पश्चाज्जनन्युपहृतं प्राश्येति रोहिण्या समानीतं, प्रायशो भगवतो बलभद्रेणैव सह भोजनं, असमासाद्

द्रव्यमेकमेवेति न यशोदाया वैलक्षण्यं, प्राश्येति कोमलं दुग्धान्नादिकं सूचितं, तत उपलालितौ पित्रादिभिः सर्वे रेव, सर्वेषामनुग्रहार्थमेवमुक्तं, वरशय्यायां संविश्येति रात्रिकृत्यमुक्तं, जनन्यादिभिः सह शयननिषेधार्थमुक्तं सुखं सुषुपतुरिति, लीलाहिकी सम्पूर्णा निरूपिता, ब्रजे हि नात्यन्तं धर्मप्रधानता, अतो न रात्रिकृत्यं किञ्चिदुक्तं, ब्रजस्यानुक्ति-सिद्धत्वेऽपि कथनेन सम्पूर्णं ब्रजे स्वप्रियाभिः सहशयनं सूच्यते ॥ ४६ ॥

**व्याख्यानार्थ** — श्लोक में 'मज्जनोन्मर्दनाभिः' पंक्ति में मज्जन और उन्मर्दन दो शब्द हैं । लौकिक व्याकरण के अनुसार उन्मर्दन शब्द प्रथम आना चाहिए, किन्तु यहाँ मज्जन प्रथम आया है उसका कारण यह है कि यहाँ वैदिक व्याकरण के नियम को लागू किया है । अथवा प्रथम केवल दो पैरों को ही स्नान कराके अनन्तर उबटन कर सर्व श्री अङ्ग को स्नान कराया (अथवा मार्ग में आते रज से श्री अङ्ग को स्नान कराया ।) अथवा मार्ग में आते रज से श्री अङ्ग मलीन हुए थे अतः पहले उस मैल को निकालने

के लिए स्नान कराया पुनः तैल फुलेल आदि से उबटन कर दूसरी बार स्नान कराया ।

इस प्रकार के संस्कार श्रम निवारण के लिए किए गए थे किन्तु यह श्रम की प्रतीति मात्र थी वास्तविक श्रम नहीं था ।

तदनन्तर उन्होंने जैसे मल्ल काछनी पहनते हैं, वैसी सुन्दर काछनी पीताम्बरादि से बनी हुई को धारण की, दिव्य मालाओं तथा गन्धादि चरचकर सुशोभित हो† रोहिणी‡ माता के लाया हुआ दुग्ध अन्नादि का कोमल भोज्य, बलभद्रजी के साथ प्राशन किया । भगवान् बहुत करके बलभद्रजी के साथ ही भोजन करते थे । अनन्तर पितादि सर्व बान्धवों ने उनको दुलार किया अर्थात् लाड़ लड़ाए । इस प्रकार की क्रिया से भगवान् ने सबों पर अनुग्रह प्रकट किया । अब रात्रिचर्या का वर्णन करते हैं कि 'सुन्दर शय्या' पर पोढ़े । इस प्रकार पृथक् शयन कह कर दिखाया कि मातादि के साथ शास्त्रों में शयन का निषेध है । यहाँ दिन का समग्र कृत्य कहा है किन्तु रात्रि का कृत्य नहीं कहा है उसका कारण बताते हैं कि ब्रज में धर्म की विशेष प्रधानता नहीं है किन्तु धर्मी की प्रधानता है इसलिए रात्रि का कृत्य नहीं कहा ।

यद्यपि रात्रि का कृत्य स्पष्ट नहीं कहा तो भी ब्रज में 'सुख से पोढ़े' केवल धर्मी की इतनी लीला कहने से रात्रिचर्या ज्ञात हो जाती है कि भगवान् ने सम्पूर्ण ब्रज में स्वप्रियाओं के साथ शयन किया\* । ॥ ४६ ॥

**आभास —** एवमाहिकं भगवत्कृत्यं निरूप्य वैषयिकं भगवत्कृत्यं वक्तुं कालीय-हृदगमनार्थं प्रस्तावनामाहैवं स भगवानिति,

**अभासार्थ —** इस प्रकार भगवान् के आहिक कृत्य का वर्णन कर अब भगवान् के अभिलषित विषय का कृत्य वर्णन करने के लिए कालीय हृद पर जाने की भूमिका इस श्लोक में कहते हैं ।

**श्लोक: — एवं स भगवान् कृष्णो वृन्दावनचरः क्वचित् ।**

**ययौ राममृते राजन् कालिन्दीं सखिभिर्वृतः ॥ ४७ ॥**

† ४५ श्लोक में जो संस्कार हुए वे अधिकारी देवों ने गुप्त रूप से किए हैं अतः इस श्लोक में माता ने किए ऐसा नहीं लिखा है ।

‡ श्लोक में 'जननी' शब्द एक वचन में दिया है इसलिए भोजन लाने वाली माता एक ही थी, वह कौन थी ? इस शङ्का का निवारण भी 'जननी' शब्द से किया गया है । श्रीकृष्ण को तो किसी ने जना नहीं है किन्तु राम को रोहिणी ने जना है अतः भोजन 'रोहिणी' लाई थी यशोदा नहीं लाई थी ।

\* अन्यथा ब्रज में शयन तो बिना कहे भी समझा जा सकता है परन्तु बिना कहे गूढाशय को जानना कठिन था अतः "ब्रज में शयन किया" यह अलग से कहना पड़ा ।

**श्लोकार्थ** — हे राजन् ! इस प्रकार सखाओं से आवेष्टित वे श्रीकृष्ण, राम के बिना अकेले एक दिन वृन्दावन में घूमते हुए कालिन्दी पर पधारे ॥ ४७ ॥

**सुबोधिनी** — एवं निरोधार्थं वृन्दावनचरो भगवान् ज्ञात्वा राममृते कालिन्दीं ययौ, वनं ह्युभयत्रापि भवति जातः तत्र हेतुः स भगवानिति, स इति निरोधार्थमेवागतः, पर्वतसमीपे कालिन्दीसमीपे च, तत्र निदाघे प्रायशः भगवानिति सामर्थ्यं, कृष्णइतिनाम्ना'नेन सर्वदुर्गाणि कालिन्दीसमीप एव गोचारणं, सखिभिर्वृत इति तेषां यूयमञ्जस्तरिष्यथे' तिवाक्यार्थं बोधयितुं प्रवृत्तिरुचितेति, समानशीलतोक्ता, अपरिहार्यतापि, अन्यथा भगवान् स्वयमेव क्वचित् कदाचित् कस्मिंश्चिद्देशे वा तत्कार्यं स्वसाध्यमेवेति गच्छेत् ॥ ४७ ॥

**व्याख्यानार्थ** — व्रजस्थों के निरोधार्थ ही, भगवान् वृन्दावन में घूमते थे । कारण कि आप (भगवान्) सर्व समर्थ (निरोध आदि करने के लिए समर्थ) हैं और आप (कृष्ण) के लिए ही गर्गाचार्य जी ने कहा है कि इनके द्वारा आप सङ्कटों को पार करोगे अतः इस वाक्य को सत्य करने के लिए आपको प्रवृत्ति करनी उचित है । कभी अथवा किसी स्थान पर जो कार्य आपसे ही हो सकने योग्य समझा उस कार्य के लिए राम के बिना ही आप अकेले कालिन्दी पर पधारे । वन, पर्वत तथा कालिन्दी, (यमुना) दोनों के पास था किन्तु उष्णकाल में प्रायशः<sup>१</sup> कालिन्दी के पास वाले वन में ही सखाओं के साथ गौओं को चराते थे । इससे यह बताया कि सखाओं का स्वभाव भी भगवान् के समान था इसलिए भगवान् अपने समान स्वभाव वाले सखाओं को छोड़ भी नहीं सके, उनको भी साथ ले कालिन्दी पर पधारे । यदि सखा वैसे न होते, तो भगवान् उनको छोड़ अकेले आप ही पधारते ॥ ४७ ॥

**आभास** — एवं सम्भूयगतानां मध्ये भगवानन्यत्रैव स्थितः भिन्नप्रक्रमेणैव गावो गोपालाश्च गता इत्याहाथेति,

**आभासार्थ** — इस प्रकार मिलकर गए हुए भगवान्, गोप और गौओं में से, भगवान् एक स्थान पर खड़े हो गए और गोप तथा गौ अन्य क्रम से जाने लगे । इस प्रकार का वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — अथ गावश्च गोपाश्च निदाघातपपीडिताः ।

दुष्टं जलं पपुस्तस्यास्तृषार्ता विषदूषितम् ॥ ४८ ॥

**श्लोकार्थ** — अनन्तर ग्रीष्म के आतप<sup>२</sup> से पीड़ित तथा तृषा से व्याकुल गौओं और गोपों ने विष से दूषित यमुनाजी का दुष्ट जल पिया ॥ ४८ ॥

सुबोधिनी — क्वचिद् वृक्षच्छायायां भगवन्तं स्था- सा हि यमभगिन्यतो दुष्टायापि स्थानं दत्तवती, स  
पयित्वा जलं पाययित्वा पीत्वा चागमिष्याम इत्यभ्यनुज्ञाय च दोषो न तस्याः किन्त्वन्यकृत इत्याह  
दूरे गन्तव्यमिति बोधिता अपि विशेषतो न निषिद्धा विषदूषितमिति, विषेणात्यन्तं दूषितं, उष्णस्पर्शादिनापि दूष्यते  
निदाघातपेनात्यन्तं पीडिता दुष्टं तस्या यमुनाया जलं प्रयुः, तदर्थं विशेषः ॥ ४८ ॥

**व्याख्यार्थ** — श्लोक में 'अथ' शब्द देकर बताते हैं कि अब दूसरे प्रसङ्ग का प्रारम्भ होता है।

गोपगण भगवान् को वृक्षों की छाया वाले किसी स्थान पर ठहरा कर, आज्ञा लेकर गए कि, हम गौओं को पानी पिलाकर तथा स्वयं पान कर आते हैं। भगवान् ने उनको समझाया भी, दूर जाकर पानी पीना किन्तु विशेष स्पष्ट यहाँ ही पीने का निषेध नहीं किया। वे ग्रीष्म की गर्मी से व्याकुल थे अतः वहाँ ही यमुना का दुष्ट जल पीने लगे। उसने (यमुनाजी ने) यम की भगिनी होने से दुष्ट को भी स्थान दिया था। यमुना के जल में जो दोष हुआ था वह यमुनाजी का नहीं था किन्तु दूसरे का किया हुआ था। इसलिए कहा है कि यमुना का जल विष से अत्यन्त दूषित<sup>१</sup> हुआ है। अत्यन्त दूषित इसलिए कहा है कि उष्णता, स्पर्श आदि से भी जल बिगड़ता है किन्तु यह विष से बिगड़ा है इसके लिए विशेष बिगड़ाना कहा है ॥ ४८ ॥

**आभास** — पानफलमाह विषाम्भ इति

**आभासार्थ** — इस श्लोक में विष से दुष्ट जल पीने से जो फल मिला उसका वर्णन करते हैं।

**श्लोकः** — विषाम्भस्तदुपस्पृश्य दैवोपहतचेतसः ।

निपेतुर्व्यसवः सर्वे सलिलान्ते कुरूद्वह ॥ ४९ ॥

**श्लोकार्थ** — ह कुरूद्वह<sup>१</sup> ! देवसे<sup>२</sup> चतन हान<sup>३</sup> उन्हीन। वेप स युक्त जल का उपस्पर्शन<sup>३</sup> किया जिससे वे प्राण रहित होकर जल के समीप ही गिर पड़े ॥ ४९ ॥

सुबोधिनी — उपस्पर्शनं पानस्नानादिकं स्पर्शमात्रं वा दैवेनैवोपहतचेतसः, सलिलसमीपेर्धजल एव निपेतुः, यद्यपि तावतैव सर्वे व्यसवः सलिलान्त एव निपेतुः, ननु तेषां दोषो दूरीकृतो धेनुकवधेन तथापि पूर्वसन्ततिरपि दूरीकर्तव्या, जीवनादृष्टस्य विद्यमानत्वात् कथं व्यसवो जाताः ? तत्राह दुष्टेनैव हि दोषाणां नाशो भवत्यलौकिकसुकृतेन च दिव्यभावोत्पत्तिः, विश्वासार्थं सम्बोधनम् ॥ ४९ ॥

† टिप्पणी आगे के ८२ पृष्ठ पर है।

**व्याख्यार्थ** — ज्योंही उन्होंने जल में स्नान, वा जल का पान अथवा केवल जल का स्पर्श ही किया त्योंही प्राण रहित हो के जल के समीप आधे जल में गिर पड़े। उनकी अभी आयु तो थी फिर निष्प्राण कैसे हुए ? इसके उत्तर में कहा है कि उनकी आयु इतनी ही थी, विशेष नहीं थी, इसलिए प्रारब्ध ने इनकी विषयुक्त जल को पीने की बुद्धि कर दी। यद्यपि धेनुक के वध से दोष† दूर कर दिये थे, तो भी शेष रहे दोषों की सन्तति‡ को भी नाश करना आवश्यक है। दोषों का नाश दुष्ट कर्म द्वारा ही होता है। अलौकिक पुण्य कर्म से दिव्य भाव‡ की उत्पत्ति होती है। राजा परीक्षित को 'कुरुद्वह' विशेषण देकर यह बताया है कि आप कुरु वंश में हो इसलिए आपको इस कथा पर विश्वास करना चाहिए ॥ ४९ ॥

**आभास** — ततो भगवत्कृत्यमाह वीक्ष्येति,

**आभासार्थ** — इस श्लोक में भगवान् के लिए हुए कृत्य का वर्णन करते हैं।

**श्लोकः** — वीक्ष्य तान् वै तथाभूतान् कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।

ईक्षयामृतवर्षिण्या स्वनाथान् समजीवयत् ॥ ५० ॥

**श्लोकार्थ** — उनको निश्चय से इस (मृत-प्राण हीन) दशा को प्राप्त देखकर योगेश्वरों के ईश्वर श्रीकृष्ण ने, अमृत वर्षा करने वाली अपनी दृष्टि से, जिनके आप नाथ हैं, उन सबको, सम्यक् प्रकार से जीवित किया ॥ ५० ॥

**सुबोधिनी** — स्वभावतोऽपि जानाति तथापि क्रीडायां साधनं वक्तव्यमिति योगेश्वरेश्वर इत्युक्तं, योगस्यापि नियन्ता, योगेन हि सर्वेषां ज्ञानं भवति, तत्राप्ययं नियामकः, किं पुनः स्वज्ञाने वक्तव्य इत्यर्थः, योगेश्वराणामपीश्वर इत्युपदेष्टृणामप्ययं नियामक उक्तः, तत्र हेतुः कृष्ण इति, सदानन्दः, तान् निरोधार्थमानीतान् वै निश्चयेन तथाभूतान् न तु मूर्च्छितान् स्वयमागत्य वीक्ष्य वीक्षणेन नूतनदेहान् निर्मायामृतवर्षिण्येक्षया समजीवयत्, सर्वे हि प्राण अमृता आधिदैविकाः, तान् दृष्ट्यैवानीय तेषु देहेषु वर्षति स्म, नन्वेतावत्करणे को हेतुः ? तत्राह स्वनाथानिति, सम्यगजीवयदिति, पुनर्विषसम्बन्धेऽपि न तेषां काचित् क्षतिः ॥ ५० ॥

**व्याख्यार्थ** — यद्यपि भगवान् स्वभाव से भी जानते हैं कि इनको कैसे जीवित किया जा सकता

† धेनुक के वध से देह का अध्यास मिटाया जिससे पुनः देह की प्राप्ति नहीं होगी। किन्तु जब तक 'लिङ्ग' देह है तब तक दोष संतति 'पुनः पुनः जन्म' मिटेगा नहीं अतः विष पान द्वारा 'लिङ्ग देह' नाश करके सदैव के लिए देह प्राप्ति मिटा दी।

‡ ५० वें श्लोक में भगवान् के सत्कृत्य से दिव्य भाव रूप फल की प्राप्ति का वर्णन है।

है तो भी लीला करने के समय कोई भी कार्य आप साधन से करते हैं। इसको स्पष्ट समझाने के लिए श्लोक में भगवान् का 'योगेश्वर' विशेषण दिया है। योग से सर्व पदार्थ मात्र का ज्ञान होता है, आप तो उस (सर्व पदार्थ का ज्ञान कराने वाले) योग को नियम में रखने वाले हैं अतः आप में सर्व प्रकार का ज्ञान पूर्ण है। इसमें कोई संशय नहीं है। न केवल योग के नियामक हैं, किन्तु योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं अर्थात् योग के उपदेश करने वालों के भी आप नियामक हैं। कारण कि आप, कृष्ण (सदानन्द रूप) हैं। अतः निरोध के लिए लाए हुए उनको, आपने स्वयं आकर देखा कि ये मूर्छित नहीं हैं किन्तु गत प्राण हैं, केवल देखने से उनके देह, नवीन बन गए पुनः अमृत वर्षा करने वाली दृष्टि से उन (देहों) को सम्यक् प्रकार से जीवित किया। सम्यक्<sup>१</sup> प्रकार से कहने का तात्पर्य यह है कि उनके जो प्राण मरे (गए) थे वे आधिदैविक थे। उनको (आधिदैविक प्राणों को) अमृत वर्षा करने वाली दृष्टि से ला कर उन देहों पर बसाये अर्थात् वे आधिदैविक प्राण उनमें डाले जिससे पुनः विष सम्बन्ध होवे तो भी कोई हानि न हो। ऐसा करने का कारण यह है कि आप उन (गोपादिकों) के नाथ हैं ॥ ५० ॥

**आभास —** तेषां पूर्वस्माद् वैलक्षण्यं तद्रूपतां च प्रतिपादयति त इति,

**आभासार्थ —** उन (गौ तथा गोपों) का पहले से भिन्न प्रकार का और पहले जैसा रूप इस श्लोक में वर्णन करते हैं।

**श्लोकः —** ते सम्प्रतीतस्मृतयः समुत्थाय जलान्तिकात् ।

**आसन् सुविस्मिताः सर्वे वीक्षमाणाः परस्परम् ॥ ५१ ॥**

**श्लोकार्थ —** जिनको पुनः सम्यक् प्रकार से स्मृति आ गई वैसे वे जल के समीप से उठकर, परस्पर देखते हुए विस्मय करने लगे ॥ ५१ ॥

**सुबोधिनी —** त एवैते जीवाः, सम्यक् प्रतीताः | सुविस्मिता जाताः, एतावान् भावो भगवता विशेषः स्मृतिर्येषां, अनुसन्धानं प्राप्तमेव भवति परं सर्ववृत्तान्तपुरःसरं कारितोऽतो विस्मयो भगवद्भावस्य निवृत्तत्वात् ततः सर्वे न भवतीत्याधिदैविकभावमापन्नाः सर्वे स्मृतियुक्ता जाताः, परस्परं वीक्षमाणा प्रत्येकमुद्बोधका इव जाताः ॥ ५१ ॥ अतः समुत्थाय जलसमीपं परित्यज्य प्रदेशान्तरं गताः |

**व्याख्यानार्थ —** ये वे ही जीव थे अतः इनको पूर्व स्मृति पुनः होने लगी जिससे वे कुछ विचार करने लगे कि हम कौन थे ? कहाँ थे इत्यादि, किन्तु पूर्णतया वह इसको समझ न सके, यह इतनी स्मृति भी आधिदैविक भाव को प्राप्त होने के कारण हुई थी। अतः उठकर जल का समीप वाला स्थान छोड़कर दूसरे प्रदेश पर गए वहाँ अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुए। भगवान् ने उनमें यह विशेषता उत्पन्न की थी जो उनको नूतन<sup>२</sup> देह दी थी; जिससे उनको विस्मय हुआ किन्तु भगवद्भाव निवृत्त होने के अनन्तर सब

परस्पर वैसे देखने लगे जैसे कि एक दूसरे को जाग्रत करने पर देखते हैं कि यह क्या हुआ है ? ॥ ५२ ॥

**आभास —** अत एवोद्बुद्धज्ञानाः पूर्वसिद्धं सर्वमेव ज्ञातवन्त इत्याहान्वमंसतेति,

**आभासार्थ —** परस्पर इस प्रकार जाग्रत करने से उनको पूर्व वृत्तान्त का ज्ञान हो गया जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः —** अन्वमंसत तद् राजन् गोविन्दानुग्रहेक्षितम् ।

पीत्वा विषं परेतस्य पुनस्तथानमात्मनः ॥ ५२ ॥

**श्लोकार्थ —** हे राजन् ! विष के पान से मरे हुआ ने अपना पुनः उठकर खड़ा होना (जीवित होना) भगवान् के अनुग्रह रूप दृष्टि से हुआ है यों माना ॥ ५२ ॥

**सुबोधिनी —** स्वयमेवानुमानं कृतवन्तः प्रायेणैवं भविष्यतीत्युत्प्रेक्षितवन्तः, भगवद्वैभवस्याप्रत्यक्षत्वात्, राजन्निति स्नेहसम्बोधनं, तदग्रे वक्ष्यमाणं, गोविन्दस्यानुग्रहेणेक्षणं यत्रेति तज् ज्ञातवन्तः, तदाह विषं पीत्वा परेतस्यात्मनः । स्वस्य पुनस्तथानमिति, भगवत्कृपावीक्षणेनैव जातमिति ज्ञातवन्तः, एवं ज्ञानपूर्णा देहस्तैः प्राप्त इति प्रथमो निरोधो निरूपितः ॥ ५२ ॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिनीयां श्रीमद्वल्लभदीक्षित'त'विरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वादशाध्यायविवरणम् ॥

**व्याख्यार्थ —** उन्होंने स्वयं यह अनुमान किया कि, बहुत करके मरे हुए हम निम्न प्रकार से जीवित हुए हैं । उन्होंने अनुमान इसलिए किया कि जिस समय भगवान् ने अमृत वृष्टि से ईक्षण किया उस समय ये तो थे नहीं जो इन्होंने प्रत्यक्ष देखा हो अतः अनुमान से ही समझ लिया कि भगवान् की कृपा से अमृतमयी दृष्टि की वृष्टि से हम जीवित हुए हैं ।

यहाँ राजन् ! यह सम्बोधन स्नेह से किया गया है ।

इस प्रकार इन्होंने ज्ञान पूर्ण आधिदैविक (अलौकिक) देह प्राप्त की । इससे इनका प्रथम निरोध सिद्ध हुआ ॥ ५१ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध पूर्वार्ध के १२वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी ( संस्कृत टीका ) के तामस-प्रमेय अवान्तर प्रकरण के प्रथम अध्याय की हिन्दी टीका सहित सम्पूर्ण ।

राग सारंग - खेलत चलत बजावत तारी ।

खात ताल फल करत कुलाहल देत परस्पर गारी ॥

बहुत दिवस बन राख्यो रासिभ अब के मारन पायो ।

जै जै राम-कृष्ण नंद-सुत अब ग्वालनु जसु गायो ॥

अब गोधन निर्भय है चरिहै तुअ प्रसाद गोविंदा ।

इह सब कथा चलैगी आगे बलि-बलि परमानन्दा ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीवाक्यतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ❖ श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमः स्कन्धः ( पूर्वार्धः )

### तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणम्

‘द्वितीयोऽध्यायः’

श्री सुबोधिनी अनुसार १३वाँ अध्याय

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार १६वाँ अध्याय

तामस प्रकरण के द्वादशाध्याय में भगवान् ने पधार कर अपनी अमृत वर्षिणी दृष्टि द्वारा विषयुक्त जल पीने से मूर्छित गोपों को इस प्रकार पूर्ण जीवन दान दिया जिससे पुनः (फिर दूसरी बार) विष का प्रभाव उनकी देहों पर न पड़े कारण कि वह देह ज्ञान पूर्ण अलौकिक बन गया था । गोपों ने भी जान लिया था कि यह सब भगवान् की कृपा दृष्टि से हुआ है इसी भाँति उस (१२वें) अध्याय में गोपों का प्रथम निरोध सिद्ध हुआ ।

उसके अनन्तर अक्लिष्ट कर्मा भगवान् ने लीला द्वारा जो छः अर्थ सिद्ध किए उनका वर्णन इस १३वें अध्याय में है जिससे मध्यम निरोध सिद्ध हुआ है ।

आचार्य श्री, प्रथम, इस अध्याय में की हुई लीलाओं का तात्पर्य, (सार-भाव) कारिकाओं द्वारा बताते हैं ।



कारिका — इन्द्रियाणि समस्तानां मृत्यवः समुदाहृताः ।

त एव विषपूर्णानि कालीयस्य शिरांसि हि ॥ १ ॥

कारिकार्थ — शास्त्रों में इन्द्रियों का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा गया है कि ये ही सबों की मृत्यु रूप हैं । वे ही कालीय सर्प के विष से भरे हुए शिर हैं ॥ १ ॥

कारिका — अतस्तदुपमदर्शेऽत्र निरूप्यो हि त्रयोदशे ।

सन्तुष्टो भगवांस्तेषु स्वलीलां चेत् करोति हि ॥

भक्तिमार्गानुसारेण निस्तारो नान्यथा भवेत् ॥ २ ॥

कारिकार्थ — इस कारण से इस अध्याय में उनके मर्दन (उनके पूर्व के धर्मों को नष्ट कर नवीन धर्म प्रकट करा देने) का वर्णन आया है । सन्तुष्ट भगवान् उनके साथ भक्ति मार्गानुसार स्वयं जब लीला करें तब, उनका, संसार से छुटकारा होता है, अन्य प्रकार से नहीं होता है ॥ २ ॥

कारिका — तेषां प्रपञ्चः कामिन्यस्ताश्चेत् कृष्णस्य सर्वथा ।

ततोऽञ्जसैवेन्द्रियाणि भवन्त्याज्ञावशे हरेः ॥

तदैव विषयश्चापि हरेर्भवति सर्वथा ।

सर्वोपयोगरहितः पूर्वसम्बन्धहानतः ॥ ३-४ ॥

कारिकार्थ — उनका (इन्द्रियों का) विस्तार स्त्रियों द्वारा विषय सम्बन्ध से होता है यदि वे स्त्रियाँ ही भगवान् की आज्ञाकारिणी बन जाएँ तो सबका विषय भी भगवान् हो जाएँ, जिससे विषयों का सम्बन्ध स्त्री आदि से टूट जाए और किसी के काम की वे (विषय) न रहें ॥ ३-४ ॥

कारिका — परीक्ष्यैवेन्द्रियाणां हि निग्रहं कुस्ते हरिः ।

परीक्षार्थं ततो देवः कालं प्रेरितवांस्तथा ॥ ५ ॥

कारिकार्थ — भगवान् परीक्षा के वास्ते ही अपनी इन्द्रियों का निग्रह करते हैं अतः, देव ने काल को, वैसी प्रेरणा की है ॥ ५ ॥

कारिका — स्वासक्तिश्चापि कर्तव्या निरोधे मध्यमे महान् ।

यत्नः कर्तव्य इत्येव मुग्धभावं चकार ह ॥ ६ $\frac{१}{३}$  ॥

कारिकार्थ — भगवान् गोपों की अपने में आसक्ति कराना चाहते हैं, अतः मध्यम निरोध की सिद्धि कराने में उनको (भगवान् को) महान् यत्न करना है इसलिए ही आपने (भगवान् ने) मुग्धभाव प्रकट किया ॥ ६ $\frac{१}{३}$  ॥

कथामात्रत्वाभावाय संक्षेपेणाह तां पुरा ।

अक्लिष्टकर्मा भगवान् ज्ञापयामास लीलया ॥

उद्यमश्चापराधश्च परीक्षाकार्यमेव च ।

स्तुतिः प्रसाद इत्यत्र षडर्थाः परिकीर्तिताः ॥ ८ $\frac{१}{३}$  ॥

कारिकार्थ — यह केवल कथा (कहानी मात्र) नहीं है, यह जताने के लिए प्रथम इसका संक्षेप में वर्णन किया । यह भी भगवान् ने लीला करके बता दिया, क्योंकि आप अक्लिष्ट कर्मा हैं ।

उद्यम<sup>१</sup>, अपराध<sup>२</sup>, परीक्षा<sup>३</sup>, कार्य<sup>४</sup>, स्तुति<sup>५</sup> और प्रसाद<sup>६</sup> ये छः अर्थ इस अध्याय में कहे गए हैं ॥ ८ $\frac{१}{३}$  ॥

कारिका — व्याख्या तथा टिप्पणी, लेख, प्रकाश और याजना का संक्षिप्त भावार्थ—

'शतायुः पुरुषः शतेन्द्रियः' इस वाक्य में पुरुष की आयु शत वर्ष बताने के साथ, उसकी मृत्यु भी सौ, बताई गई है । यहाँ 'इन्द्रिय' शब्द मृत्यु वाचक है । गोपों की जिस विष पूर्ण इन्द्रियों से (१२वें अध्याय) में मृत्यु हुई थी । वे ही इन्द्रियाँ कालीय के शिर हैं । कालीय ने क्रोध से उस विष को अपने उच्च शिरों में धारण कर रक्खा है, इस कारण से, नेत्रों से विष का वमन करता है ।

१ - जिनको कर्म करने में किसी प्रकार का क्लेश न होता हो ।

१ - कालीय का दमन । २ - कालीय का अपराध । ३ - भक्तों के स्नेह की परीक्षा ।

४ - कालीय के दमन का कार्य । ५ - नाग पत्नीओं की, की हुई भगवान् की स्तुति ।

६ - भगवान् की कृपा ।

द्वादश अध्याय के अन्त में भगवान् ने अपनी अमृतमयी दृष्टि से गोपों को जीवित कर, उनकी देह अलौकिक बना दी, जिससे विष का रूप विष सहित मृत्यु रूप इन्द्रियाँ, गोपों की देह में प्रवेश न कर सकी अतः वे कालीय के शिरों में जाके रही इसलिए कालीय के शिरों को गोपों की इन्द्रियाँ कहा गया है ।

इन्द्रियों की वृत्ति सदा विषय के तरफ होने से वह भगवद्विमुख होती है । जब तक इन्द्रियाँ विमुख होती हैं, तब तक उनका भगवान् से सम्बन्ध नहीं होता है, उनका (इन्द्रियों का) भगवान् से सम्बन्ध होने के लिए उपमर्दन करना आवश्यक है । वह दो प्रकार से होता है, एक ज्ञान मार्ग से अन्य भक्ति मार्ग से । ज्ञान मार्ग द्वारा किए हुए उपमर्दन से इन्द्रियों का स्वरूपतः मर्दन (नाश) होता है, जिससे वे इन्द्रियाँ भगवद्भजनानन्द ले नहीं सकती हैं इससे इन्द्रियों के उत्पत्ति की निरर्थकता हो जाती है । भक्ति मार्ग द्वारा होने वाले उपमर्दन से इन्द्रियों का स्वरूप से नाश नहीं होता है, किन्तु उनके दोषों का नाश होता है जिससे वे निर्दोष हो कर भगवद्भजनानन्द का स्वाद ले सकती हैं और उनके उत्पन्न होने की इससे सार्थकता भी होती है यह भक्तिमार्गीय उप-मर्दन तब हुआ, जब भगवान् ने प्रसन्न होकर, भक्तिमार्गीय प्रकार से, गोपों के इन्द्रिय रूप कालीय के शिरों पर नृत्य लीला की है, कारण कि, भगवान् की इच्छा थी, कि गोपों की संसार से मुक्ति हो । इस नृत्य लीला द्वारा भगवान् ने गोपों की संसार से निवृत्ति कराई तथा कालीय के दोषों का नाश किया, तात्पर्य यह है कि संसार से छुटकारा भक्ति मार्ग द्वारा होता है अन्य प्रकार से नहीं होता है ।

संसार जाल में, विशेष फँसना तब होता है, जबकि इन्द्रियाँ प्रपंच में (विषय रूप विस्तार को आश्रय देने वाली स्त्रियों में) आसक्त होती हैं । ये स्त्रियाँ प्रपंच के विस्तार की जड़ें हैं यदि वे (जड़ रूप स्त्रियाँ) ही भगवान् की बन जाए तो इन्द्रियाँ स्वतः भगवान् की आज्ञा पालन करने वाली हो जाए, कारण कि, उनके विषयों का विस्तार (प्रपंच) अपने आप बन्द हो जाए ।

यहाँ विषय विष का विस्तार करने वाली नाग पत्नियाँ थीं, वे भगवान् की हो जाए तो सर्व कार्य सिद्ध हो जाए, इसलिए, भगवान् ने, यह नृत्य लीला की; जिसका परिणाम कालीय के दोषों के नाश होने के साथ साथ यह भी हुआ कि नाग पत्नियाँ भगवान् के शरण आकर स्तुति करने लगी ।

भगवान् ने अपराधी कालीय का निग्रह<sup>१</sup> किया, यह तो श्रेष्ठ किया किन्तु आपने अपने को नाग के फणों से लपेटाकर जो मूर्च्छित भाव दिखाया और अन्य उत्पात कराए वे कार्य उनको कराने के योग्य नहीं थे ? ऐसी शङ्का का उत्तर (५-५३) कारिका में देते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि-भगवान् ने इस प्रकार अपनी इन्द्रियों का जो निग्रह किया उसका कारण यह है, कि भगवान् ने जो गोपों का स्नेह रूप निरोध (१२वें अध्याय में) सिद्ध किया था, वह गोपों का स्नेह परिपक्व है वा नहीं इसकी परीक्षा लेने के लिए लीलाएँ की थी । प्रेमी की पीड़ा देखकर, स्नेह वाले को मृत्यु से भी विशेष दुःख होता है । यदि गोपों का मुझ में सच्चा स्नेह होगा, तो उनकी भी वैसी ही दशा होगी, इसको

देखने के लिए, भगवान् ने यह लीला की थी। इसी प्रकार आधिदैविक काल, जो स्वयं आप ही हैं, उसको प्रेरणा द्वारा तीन प्रकार के (आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक) उपद्रव भी परीक्षार्थ ही कराए।

विशेष स्पष्ट करने के लिए कहते हैं, कि स्नेह की परीक्षा से, उनको उत्तीर्ण (पास) कर, पश्चात् मध्यम श्रेणी का आसक्ति रूप निरोध सिद्ध करना था, इसलिए भगवान् ने इतना महान् परिश्रम किया है।

यह तो कथा है इससे निरोध कैसे सिद्ध होगा, इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि यह केवल कथा नहीं है, प्रथम श्लोक में, शुकदेवजी ने संक्षेप में, इसलिए कहा है, कि भक्ति मार्ग का यह सिद्धान्त है, कि श्रोता प्रश्न करे, तब वक्ता उसके प्रश्न का विस्तार पूर्वक, समझा कर, उत्तर देवे। इस सिद्धान्त के अनुसार, श्री शुकदेवजी ने राजा के प्रश्न करने के अनन्तर, विस्तार से सब चरित्र वर्णन कर बताएँ हैं, जिससे राजा को, समग्र चरित्र करने का भाव, पूर्णतया समझ में आ गया। लीला से यह भी भगवान् ने दिखा दिया कि मुझे किसी भी कार्य करने में किसी प्रकार का कष्ट नहीं होता है।

### कारिका व्याख्या सम्पूर्ण

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — विलोक्य दूषितां कृष्णां कृष्णः कृष्णाहिना विभुः ।

तस्या विशुद्धिमन्विच्छन् सर्पं तमुदवासयत् ॥ १ ॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी कहने लगे, कि कृष्णा (श्री यमुनाजी) को, कृष्ण (कालीय) सर्प से दूषित हुआ देख कर, सर्व समर्थ श्री कृष्णचन्द्रजी ने उसकी शुद्धि करने का विचार कर, उस सर्प को वहाँ से निकाल दिया ॥ १ ॥

सुबोधिनी — तत्र प्रथमं संक्षेपेण कथामाह विलोक्येति, कृष्णां यमुनां कृष्णाहिना कालीयेन दूषितां विलोक्य समर्थो भगवांस्तस्या विशुद्धिमन्विच्छन् कालीयेन दूषितवान् ततोऽन्यत्र प्रेषितवान् मारुप्यं प्राप्ता हि भगवता निर्दुष्टः कर्तव्यः सारूप्यं प्राप्तेन च दोषो नान्येन निवारणीयो रूपान्तरदोषो न

निर्वाय इति मर्यादा, अतः कृष्णपदत्रयं, विभुरिति सामर्थ्यं, प्रकृतोपयोगिसारूप्यादेव न मारणं, हृषीकेशत्वाच्च नतनं, अत एव कलौ कृष्ण एव सर्वदोषनिवारको यदि सर्वोन्द्रियेषु नृत्यतीन्द्रियकृतमपराधं च सहते, अतो यमुना शुद्धा कर्तव्येति तस्याः प्रसिद्धायाः प्रसिद्धं सर्पं दूरीकृतवान् ॥ १ ॥

व्याख्यार्थ — प्रथम श्लोक में, संक्षेप से, ही कथा कही गई है। श्लोक में, श्री यमुनाजी के लिए कृष्णा शब्द देकर उसका स्वरूप श्याम है, यह बताया है। कालीय को 'कृष्णाहि' कह कर यह सिद्ध किया है कि कालीय सर्प, भी काला है। इसी प्रकार भगवान् का नाम भी 'कृष्ण' दिया है जो काले है।

तीनों की सारूप्यता बताने का तात्पर्य यह है, कि मर्यादानुसार समान रूप वालों के दोष समान रूप वाले को ही मिटाने चाहिए। समान रूप वालों के दोष, अन्य रूप वाले को नहीं मिटाने चाहिए और इसी प्रकार अन्य रूप वाले में, यदि दूसरे रूप वाले के दोष आजावें तो वे नहीं मिटाने चाहिए। अतः यहाँ श्री कृष्णचन्द्र जो सर्व करण समर्थ भी हैं। उन्होंने कालीय को अपने समान रूप वाला देख, उसको निर्दोष बनाना योग्य समझा इस कारण से, कालीय को लीला द्वारा निर्दोष बनाया इसी प्रकार, भगवान् ने विचार किया, कि श्री यमुनाजी भी अपने सदृश श्याम हैं और इनमें जो दोष आए हैं वे भी काले रूप वाले होने से, समान बने सर्प से आए हैं इसीलिए इनके दोष भी निवृत्त करने चाहिए। यमुनाजी की इसलिए भी शुद्धि करनी चाहिए कि मुझे आगे इनमें रमण करना है सर्प को अपराधों के कारण मारना योग्य नहीं है, क्योंकि इसने मेरा काला रूप धारण किया है। भगवान् ने इन्द्रियों के ईश होने के कारण, कालीय के इन्द्रिय (मृत्यु रूप) शिर पर नृत्य किया, जिससे उसके दोष दूर हो गए एवं अपराध का दण्ड भी मिल गया इसके अनन्तर उसको यमुनाजी से दूसरे स्थान पर भेज कर यमुनाजी को भी शुद्ध बना दिया। इस लीला से यह बताया है कि कलियुग में श्रीकृष्ण ही सर्व प्रकार के दोषों को मिटाने वाले हैं, अथवा सर्व जीव मात्र के दोषों की निवृत्ति करने वाले हैं ॥ १ ॥

**आभास —** राजा विशेषं पृच्छति कथमिति,

**आभासार्थ —** इतना सुनकर परीक्षित राजा को इस चरित्र को विशेष सुनने की इच्छा हुई इसलिए नीचे के दो श्लोकों से पृच्छता है।

॥ राजोवाच ॥

**श्लोकः —** कथमन्तर्जलेऽगाधे न्यगृह्णाद् भगवानहिम् ।

स वै बहुयुगावासं यथाऽऽसीद् विप्र कथ्यताम् ॥ २ ॥

**श्लोकार्थ —** राजा परीक्षित ने कहा कि हे विप्र ! भगवान् ने गहरे जल के भीतर रहे हुए सर्प को किस प्रकार पकड़ कर रखवा और यह भी बताइए कि वह (सर्प) बहुत लम्बे समय से यहाँ क्यों निवास कर रहा था ॥ २ ॥

**सुबोधिनी —** स हि जानाति बडिषेन यथा मत्स्यो वश्यते तथा कालीयो यद्ध इति, अतस्तस्य महतः कीदृशं बडिषमिति साधनप्रकारप्रश्नः, यदि लोके तादृशमपि बन्धनं स्यात् तदा न प्रष्टव्यः स्यात् स तु नास्ति, यतः स बहुयुग-

पर्यन्तमावासो यत्र तादृशं यथा भवति तथावात्सीत्, यदि तादृशं भवेद् बन्धनं पूर्वमेव निवृत्तः स्यात् न चेतदसम्भावितं यतो भगवान् अतः प्रकारं कथयेति प्रश्नः, विप्रेतिसम्बोधनं विशेषेण ज्ञानपूरणाय विशेषेण प्रकर्षणं वा कथ्यतामिति ॥ २ ॥

**व्याख्यार्थ —** राजा परीक्षित ने यों समझा था, कि जैसे मत्स्यों<sup>१</sup> को पकड़ने वाले अंकुड़ी

(लोहे की टेडी काँटिया) जिसको रस्सी से लकड़ी में बाँध कर और आटा लगा के पानी में डाल देते हैं जिससे मत्स्य आटे के लोभ से उसमें फँस जाते हैं इसी प्रकार, किसी साधन से कालीय का निग्रह किया होगा, किन्तु यह कालीय बड़ी देह वाला और अथाह जल के भीतर रहने वाला, उसका निग्रह भगवान् ने जिस साधन से किया, उस साधन को जानने की इच्छा से, यह प्रश्न किया, कि कैसे (किस साधन से,) उसका निग्रह किया ? यदि परीक्षित को यह पता होता, कि कैसे बड़े को पकड़ने का लोक में, यह साधन है, तो राजा प्रश्न ही नहीं करता, किन्तु वैसा बड़ा, कभी लोक में, न पकड़ा गया देखा और न सुना है, जिससे उसके साधन का ज्ञान हो। यह सर्प तो यहाँ युगों से निवास करता है यदि वैसे के बन्धन का साधन होता, तो इससे पूर्व ही इसको पकड़ के निकाल देते क्योंकि इसके विष के प्रभाव से, इतने प्राणी मरते थे। इससे निश्चय है, कि लोक में ऐसा कोई साधन नहीं है, इसी कारण से ही, राजा ने इस प्रकार प्रश्न किया है। यदि ऐसा साधन लोक में नहीं है और इसी कारण से ही, यह यहाँ इतना समय रह सका था तो, असम्भवित साधन का प्रश्न करना ही व्यर्थ है। इस शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि इसको निग्रह करने वाला सर्व समर्थ भगवान् है। अतः, उनके पास साधनों की कमी नहीं है। उन्होंने अवश्य कोई साधन काम में लाए होंगे, इसलिए मैं उस साधन को, जानने की इच्छा वाला हूँ। अतः प्रश्न किया है। आप साधारण ज्ञाता नहीं हो किन्तु 'विप्र' हो, अर्थात् आप में वह ज्ञान है, जिससे प्रश्न कर्ता की शङ्काओं को विशेष प्रकार से निवृत्त कर उसके मन का सन्तोष कर सकने में समर्थ हो। इसलिए कृपया मेरे प्रश्न का उत्तर अवश्य विस्तार पूर्वक कहिए ॥ २ ॥

**आभास —** जलचरसाधारणबन्धवदिदमपि भविष्यत्यतो न वक्ष्यतीत्याशङ्क्य साधारण्येन भगवत्कथां श्रोतव्यत्वेन स्तौति, ब्रह्मत्रितिसम्बोधनं ज्ञानायानुद्वेगाय च,

**आभासार्थ —** परीक्षित के मन में संशय उत्पन्न हुआ, कि मैंने केवल, साधन का प्रश्न किया, यदि वह साधन, जल जन्तुओं के बन्धन के समान होगा तो, शुकदेवजी उसका उत्तर नहीं देंगे। इसलिए निम्न श्लोक में अन्य प्रकार से प्रश्न करते हैं कि मनुष्य मात्र को, साधारण रीति से, भगवान् के चरित्र श्रवण करने ही चाहिए, कारण कि, वे उत्तम और अमृत रूप आनन्द देने वाले हैं इस प्रकार स्तुति करते हुए कहते हैं कि,

**श्लोक: —** ब्रह्मन् भगवतस्तस्य भूमः स्वच्छन्दवर्तिनः ।

गोपालोदारचरितं कस्तृप्येतामृतं जुषन् ॥ ३ ॥

**श्लोकार्थ —** हे ब्रह्मन् ! स्वच्छन्द विहार करने वाले, उन भूमा भगवान् के, उदार चरित रूप अमृत का सेवन करने वाला कौन है जो उससे तृप्त हो जाए (पशु धन के सिवाय कोई नहीं है) ॥ ३ ॥

सुबोधिनी — ब्रह्मत्रिति सम्बोधनं ज्ञानायानुद्वेगाय । त्रयप्रयोजकत्वं निवारितं, भूम इति सर्वत्र लीलाधिव्यं, च भगवत इति सर्वत्र लीला पद्गुणयुक्ता भविष्यती- स्वच्छन्दवर्तिन इति लीलायां न कस्याप्यनुरोधः, तत्रापि

गोपालस्य लौकिकानां बुद्धिपरिग्रहार्थं यतमानस्य, उदारं चरितं न तु कल्पितं, तत्रापि सर्वदोषनिवारकं मृत्युनिवारकं सर्वपुरुषार्थान् पात्रापात्राविवेकं परित्यज्य प्रयच्छतीति च, तदाहामृतमिति, किञ्च, अमृतं जुषन् किं कश्चित् पुरुषार्थानामपेक्षितत्वात् सर्वथैतदेव वक्तव्यं श्रोतव्यं च, तदपि तृप्येतेतिलौकिकोक्तिः ॥ ३ ॥

**व्याख्यार्थ** — राजा ने प्रश्न करते हुए श्री शुकदेवजी को (ब्रह्मन्) यह सम्बोध (विशेषण) इसीलिए दिया है, कि एक तो आप भगवान् के सकल चरित्रों को जानने वाले हो और दूसरा गुण आपमें यह है कि आप को प्रश्नकर्ता के प्रश्न करने से मन में क्षोभ नहीं होता है किन्तु प्रसन्नता होती है। श्रोता के प्रश्नों का उत्तर प्रसन्नता पूर्वक विस्तार से देते हो जिससे श्रोता की शंकाओं का पूर्ण समाधान हो जाता है एवं उसका चित प्रसन्न होता है।

भगवान् की लीलाओं का प्रश्न बिना प्रयोजन वाला नहीं है कारण कि, भगवान् की सर्व लीलाएँ ऐश्वर्यादि षड्गुण युक्त हैं। तथा वह लीलाकर्ता (भूमा) होने से, स्वच्छन्दवर्ती हैं, अतः विशेष लीलाएँ करते हैं उनकी लीला करने में, कोई भी रुकावट नहीं कर सकता है तथा उसमें (लीला करने में) किसी की भी परवाह भी नहीं करते हैं। आप 'गोपाल' हैं इसका भाव बताते हैं कि गोपाल होने से, आप सदैव लौकिक मनुष्यों की बुद्धि को, अपने में, लीलाओं द्वारा, आसक्ति कराने के लिए प्रयत्न करते हैं। 'गोपाल' शब्द का अर्थ है, इन्द्रियों की रक्षा करना, वह तब हो सकती है, जब इन्द्रियाँ विषय की ओर न जाकर आपमें (भगवान् में) ही लगी रहे। यदि इन्द्रियाँ विषय की तरफ गई तो इन्द्रियों का नाश हुआ। अतः भगवान् उनकी अर्थात् इन्द्रियों की लीलाओं द्वारा अपने में आसक्ति कराके विषयों से हटाते हुए उनकी रक्षा करते हैं। आप 'उदार' हैं, इसलिए पुरुषार्थों का दान करते समय पात्र व अपात्र का विचार भी नहीं करते हैं, इससे जाना जाता है, कि सबको पुरुषार्थों की अपेक्षा है। जिससे 'सर्वथा' भगवान् के चरित्र कहने तथा सुनने चाहिए। वे चरित्र भगवान् के किए हुए हैं कल्पित नहीं हैं। उनके (भगवान् के) वे चरित्र अमृत रूप हैं अतः उनसे केवल सर्व दोषों की निवृत्ति होती है यों नहीं है किन्तु मृत्यु (जन्म मरण का चक्कर) भी मिट जाता है। कोई भी मनुष्य लोक में ऐसा नहीं है, जो अमृत के पान से तृप्त हो जाए ॥ ३ ॥

**आभास** — भगवतोऽतिसामर्थ्यं ख्यापयितुं हृदस्वरूपमाह द्वयेन कालिन्द्यामिति,

**आभासार्थ** — अब निम्न दो श्लोकों से श्री शुकदेवजी भगवान् के विशेष सामर्थ्य के ज्ञान की प्रसिद्धि के लिए उस हृद<sup>१</sup> का स्वरूप बताते हैं जिसमें कालीय निवास करता था।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — कालिन्द्यां कालियस्यासीदध्रदः कश्चिद् विषाग्निना ।

श्रप्यमाणपया यस्मिन् पतन्त्युपरिगाः खगाः ॥ ४ ॥

**श्लोकार्थ** — कालिन्दी (श्री यमुनाजी) में एक कालीय सर्प हृद (कुण्ड) था जिसमें उसके (कालीय सर्प के) विष की अग्नि से जल उबलता रहता था, आकाश मार्ग से जाते हुए पक्षी उसमें गिर पड़ते थे ॥ ४ ॥

**सुबोधिनी** — कालियः कालीय इत्युभयं, व्याप्यमानं वा पयो यस्मिन्, यस्मिन् हृद आकाशमार्गं गच्छन्ति कालीयस्य सम्बन्धी कश्चिद्धृद आसीत्, सम्बन्धोऽग्रे गच्छन्तोऽपि खगा मध्ये पतन्तीत्युपरि दोगमवादा निरूपिता वक्तव्यः, विषाग्निना तस्यैव श्रव्यमाणमावर्त्यमानं विप्रेण ॥ ४ ॥

**व्याख्यार्थ** — इस काले सर्प को 'कालिय' तथा 'कालीय' भी कहते थे । कालीय के सम्बन्ध वाला (अर्थात् जिसमें कालीय निवास करता था) एक हृद कालिन्दी (श्रीयमुनाजी में) था । सम्बन्ध आगे कहेंगे । जिस हृद में उसके विष की अग्नि से जल उबलता रहता था और वह विष सर्वत्र जल में फैला हुआ था उस विष का दोष आकाश मार्ग तक फैल गया था जिससे आकाश मार्ग से उड़ कर जाने वाले पक्षी भी उस विष के दोष से मूर्च्छित होकर हृद में गिर पड़ते थे ॥ ४ ॥

**आभास** — परितो दोषमाह विप्लुष्मतेति,

**अभासार्थ** — विष का दोष चारों तरफ फैल गया था उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं-

**श्लोकः** — विप्लुष्मता विषोदोर्मिमास्तेनाभिमर्शिताः ।

म्रियन्ते तीरगा यस्य प्राणिनः स्थिरजङ्गमाः ॥ ५ ॥

**श्लोकार्थ** — जहरीले जल की तरंगों से उत्पन्न बिन्दुओं वाले वायु के लगते ही जिसके (हृद के) तीर पर जाते हुए चर तथा अचर सब प्राणी मर जाते हैं ॥ ५ ॥

**सुबोधिनी** — विन्दुसहितेन विषोदसम्बन्धिनाभूमौर्णां मण्डूकादयोऽपि प्रमादादप्यागता म्रियन्ते लतावृक्षशाखाश्च चलनेन जातेन वायुनाभिमर्शिताः स्पृष्टा एवाभवकृले वर्धमानास्तत्रायान्तीति तथोक्तम् ॥ ५ ॥ विद्यमानास्तीरगा भूमिश्च अपि प्राणिनः स्थावरा वृक्षा जङ्गमाः ।

**व्याख्यार्थ** — चारों तरफ फैले हुए विष के परिणाम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि, विष से पूर्ण सम्बन्ध वाले कालिन्दी के जल के तरंगों की बून्दों से मिश्रित वायु के स्पर्शमात्र से दोनों किनारों पर स्थित स्थावर एवं जंगम प्राणी अथवा वहाँ आए हुए भी आते ही मर जाते हैं । प्राणी दो तरह के होते हैं १-जंगम, २-स्थायी । जंगम तो इधर उधर चलकर आते जाते हैं अतः वे जल आदि आते ही मर जाते हैं, स्थावर कैसे आएँगे इसको समझाते आचार्य श्री कहते हैं कि वृक्षा आदि शाखाएँ ज्यों बढ़ती थी त्यों इस तरफ आ जाती थी एवं उनके साथ लताएँ भी बढ़ती बढ़ती आती थी तथा वहाँ आते ही नष्ट हो जाती थी इस प्रकार स्थावर भी आकर नष्ट हो जाते हैं ॥ ५ ॥



**आभास —** एतादृशो दोषः परिहरणीय इति भगवानुद्यमं कृतवानित्याह तमिति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार फैले हुए जीव हिंसक दोषों को मिटाना चाहिए इस विचार से भगवान् उद्यम करने लगे ।

**श्लोकः —** तं चण्डवेगविषवीर्यमवेक्ष्य तेन दुष्टं नदीं च खलसंयमनावतारः ।

**कृष्णः** कदम्बमधिस्था ततोऽतितुङ्गमास्फोट्य गाढरशनो न्यपतद्विषोदे ॥६॥

**श्लोकार्थ —** उग्र वेग वाला विष ही जिसका पराक्रम है, वैसे उस सर्प को, तथा उसके पराक्रम से दूषित कालिन्दी को देखकर, खलों का दमन करने के लिए अवतार धारण करने वाले श्री कृष्णचन्द्र ने बहुत ऊँचे कदम पर चढ़ कर, अपनी कमर का फेंटा कस के और ताल ठोक कर उस विषैले जलवाले हृद में, जिसमें कालिय का घर था कूद पड़े ॥ ६ ॥

**सुबोधिनी —** आदौ भगवान् स्वयं तत्र गत इत्याह तं कालीयं प्रसिद्धमल्पेन न निराकार्यं चण्डवेगं काल-वदतिवेगवत्तरं अत एव भगवतैव शक्यप्रतीकार इत्यवेक्ष्य कदम्बमधिस्था ततोऽतितुङ्गात् बाहुस्फोटनं कृत्वा मल्लभावाविष्करणेन विषोदे न्यपतदितिसम्बन्धः, प्रथमत एव चण्डवेगं तत्रापि विषं वीर्यं यस्येत्युपासिता देवता तस्य प्रत्यक्षेति सूचितं, अत एव भगवदतिक्रमोऽपि, “विषमिति सर्पा” इति श्रुतेः “श्रुतद्वैतान् भूत्वावतीति च” अत एव विषस्य चण्डवेगता गुण उक्तः, विषस्यापि पराक्रमः, तेन दुष्टमिति विशेषणार्थं भरः, अत एवाधिदैविकेन दुष्टा देवाधिदेवं विना नान्येन समीचीना कर्तुं शक्या, चकारात् तं चापि दुष्टं समीचीनं कर्तुं, खलसंयमनावतार इत्य-वतारप्रयोजनमपि तत्, खलाः परोपद्रवकारिणस्तेषां संयमो नियमनं, जीवने दोषनिवृत्तौ दोषमेव दूरीकरोति न मारयतीत्यन्यदा

**मारयतीतिनियमः,** नियमनार्थमेवावतारः, कृष्ण इति सदानन्दो दोषनिवृत्त्यर्थं, तज्जातीयश्च कदम्बो वृक्षः, स हि तुङ्ग उच्चे वर्तते, स हि कदम्बो भगवत्कृत एव गरुडस्थानभूतः, तत्रागत्य गरुडः कालीयनिर्गमनं मारणार्थं प्रतीक्षते, गरुडकूपयैव न शुष्यति, विष्णुष्मतेतिविशेषणात् सजलवायुस्पर्श एव मरणस्योक्तत्वादूर्मिजनितस्यैव वायोस्तथात्वादुच्चैः स्थितोयं महान् वृक्षो न म्रियत इतिसिद्धान्तः, प्रथमतस्तस्यारोहणं कृत्वा ततो वृक्षादतितुङ्गादत्युच्चे रोधसि प्ररुद्धादत्युच्चाधिदैविकेन सह समानेन युद्धं कर्तुमास्फोटनं कृत्वा मध्ये कालेन भूमौ मर्यादाभङ्गो मा भवत्विति गाढा रशना यस्य तादृशो भूत्वा नितरामास्फालनं कृतवान्, स्थानस्य क्रूरतानिर्देशो भगवन्माहात्म्यज्ञापनाय ॥ ६ ॥

**व्याख्यानार्थ —** काल के समान अतिशय वेगवाले कालीय के दोषों का निराकरण? भगवान् के बिना अन्य कोई करने में समर्थ नहीं है । इसलिए आप स्वयं वहाँ जाकर बहुत ऊँचे कदम्ब पर चढ़कर, बाहुओं पर ताल ठोक, मंल्लयुद्ध करने के समय के भाव प्रकट करते हुए उस विष युक्त जल में कूद पड़े । श्लोक में सर्प के लिए दो विशेषण दिए हैं १-चण्डवेग २-विषवीर्य । प्रथम

विशेषण से सर्प का गुण बताया गया है, और दूसरे विशेषण से यह सूचित किया है कि कालिय को उसके इष्ट देवता उपासित होने से प्रत्यक्ष हो गया था जिससे उसका पराक्रम, उस विष में ही समाया हुआ था, इसी से सर्प भगवान् का भी अतिक्रमण करने लगा है। 'विषं इति सर्पाः' - श्रुति इस श्रुति में सर्पों का स्वरूप ही विष है यह कहा है विष को किसी से भी लड़ने वा कोई हानि करने में हिचक नहीं होती है अतः सर्प भगवान् से भी लड़ने के लिए तैयार हो गया। विष सर्प रूप होकर इनकी (सर्पों की) रक्षा करता है अतः निर्भय हो भगवान् का अतिक्रमण करने लगा। इससे यह बताया कि विष में प्रचण्ड<sup>१</sup> वेग का गुण है। विष के पराक्रम से (कालीय से) ही यमुनाजी का जल दूषित हो गया है कालिन्दी स्वतः स्वयं दोष वाली नहीं है किन्तु कालीय के (विष के) सम्बन्ध से उसमें दोष आया है। यह दोष विषके आधिदैविक देवता का है अतः उसका नाश भी आधिदैविक श्रीकृष्ण ही करने में समर्थ हैं। अन्य कोई समर्थ नहीं है। इसके अतिरिक्त श्रीकृष्ण के प्राकट्य का प्रयोजन खलों को नियम में लाना है, इस कारण से भी, कालीय को बन्धन में लाने के लिए श्रीकृष्णचन्द्र की आवश्यकता है, किन्तु उसे मारे बिना उसके दोष नाश कर उसको नियम में चलने की शिक्षा देना यही सदानन्द श्रीकृष्ण में विशेषता है। अतः उसको सूनियम्य ही किया। कदम्ब भी वैसा ही (आनन्दमय) है, वह ऊँचा था तथा ऊँचे स्थान पर था। और उसको गरुड़ के रहने के लिए भगवान् ने उत्पन्न (प्रकट) किया था। उस पर बैठ कर गरुड़ सर्प की राह देखता था कि बाहिर निकले तो कालीय को अपना कवल<sup>२</sup> बना दूँ। अन्य पेड़ तो विष के प्रभाव से सूख गये किन्तु यह गरुड़ की कृपा के कारण ज्यों का त्यों स्निग्ध खड़ा था। उसको विष बिन्दुओं से युक्त वायु, ऊपर होने से भी शुष्क न कर सका।

भगवान् कुण्ड के पास आकर, सम्पूर्ण परिस्थिति को देख, प्रथम उस ऊँचे कदम पर चढ़ गए। भगवान् ने विचारा कि मुझे आधिदैविक से लड़ाई करनी है, अतः पूर्ण रीति से तैयार होकर चलना चाहिए। बीच में मर्यादा भंग न हो, इसलिए कमर की फेंट को कस कर बान्ध लिया तथा समान के साथ लड़ना है यह दिखाने के लिए पहलवानों के समान भुजाओं पर ताल ठोकते हुए जोर से कूदे। इस स्थान की क्रूरता से भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान प्रकट किया है ॥ ६ ॥

**आभास —** ततो यज् जातं तदाह सर्पहृद इति,

**आभासार्थ —** भगवान् के कूदने से क्या हुआ ? उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोक: —** सर्पहृदः पुष्पसारनिपातवेगसङ्क्षोभितोरगविषोच्छ्वसिताम्बुराशिः ।

पर्युत्प्लुतो विषकषायविभीषणोर्मिर्धावन् धनुःशतमनन्तबलस्य किं तत् ॥ ७ ॥

**श्लोकार्थ —** कालीदह का जल सांप के विष के कारण पहले ही से खौल रहा था। उसकी लहरें लाल पीली कषाय रंग की और अत्यन्त भयङ्कर उठ रही थी। पुरुष श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण के कूद पड़ने से उसका जल और भी उछलने लगा और जल इधर उधर उछल कर सौ सौ धनुष तक फैल गया। भगवान् श्रीकृष्ण अनन्त बलशाली हैं सो ऐसा होने में कोई आश्चर्य नहीं है।

**सुबोधिनी —** पुरुषोत्तमस्य पुरुषोत्तमस्य निपातवेगेन सम्यक् क्षोभितो योऽयमुगस्तस्य यद् विषोच्छ्वसितं विषोच्छ्वामस्तेनोच्छ्वसिताम्बुराशिर्यस्य, उच्छ्वसितपदमावृत्त्या योजनीयं, एतादृशो हृदः परितः प्लुत उत् प्लुतः, वर्षायामि-वोच्छूनो जात उत्प्लुत्य गच्छन्निव जातो वा, भगवन्निपातेन जातक्षोभादितोऽन्यत्र गमिष्यामीति, विषेण कषाया विशेषेण

भीषणा ऊर्मयो यस्य तादृशश्च सः, एतादृशो धावन् जातः, अधावदिति वा, अडभावश्छान्दसः, धनुःशतं हस्तानां, चतुःशतं, अनन्तबलं यस्य तादृशस्य नैतदाश्चर्यं, अनन्ते काले वा बलं यस्मात्, यस्तु जगदेवात्प्लुतं कुर्याति, विषकषायविभीषणोर्मित्वकथनात् सर्वभारकत्वं तस्योक्तं उपासितभगवच्चरित्रमेतत् ॥ ७ ॥

**व्याख्यानार्थ —** पुरुषोत्तम श्रीकृष्णचन्द्र के कुण्ड में ऊँचे स्थान से तथा जोर से कूदने से और सर्प के विषेले स्वांस लेने से घबराए हुए कुण्ड का जल भी उछलने लगा। जिस प्रकार वर्षा का जल वेग से नीचे ऊँचे स्थानों से दौड़ता हुआ जाता है वैसे ही हृद (कुण्ड) का जल वेग से दौड़ने लगा ऐसा प्रतीत होता था कि भगवान् के कूदने से कुण्ड घबरा कर अन्य स्थान में जा रहा है। विष से जल कषाय हो गया था और विशेष जल के कारण भयानक तरंगों वाला बन कर दौड़ता जाता था। उस कुण्ड का जल ४०० हाथ आगे दौड़ कर गया, यों होना आश्चर्य कारक नहीं है, कारण कि भगवान् अनन्त बल वाले होने से समस्त जगत् को दौड़ाते हैं वहाँ हृद को दौड़ाने में कौनसा आश्चर्य है, हृद के विष से कषाय एवं भयानक तरंगों सब का नाश करने वाली हैं क्योंकि कालीय सर्प काल रूप है। यह उपासित (उपासना किए हुए) देवता का चरित्र है ॥ ७ ॥

**आभास —** भगत्समीपमागत इत्याह तस्येति,

**आभासार्थ —** कालीय भगवान् के पास आया जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः —** तस्य हृदे विहरतो भुजदण्डघूर्णवाधोषमङ्ग वरवारणविक्रमस्य ।

आश्रुत्य तत्स्वसदनाभिभवं निरीक्ष्य चक्षुःश्रवाः समसरत् तदमृष्यमाणः ॥ ८ ॥

**श्लोकार्थ —** हे अंग ! श्रेष्ठ हस्ती के समान पराक्रम वाले तथा हृद में विहार करने वाले उन भगवान् के भुजदण्डों से हिलाए हुए जल के शब्द को सुनकर, उस ध्वनि से

पं.मुल श्लोक में 'धावत्' पद है आचार्य श्री कहते हैं यहाँ 'अ' नहीं लिखा है उसका कारण रूप (वैदिक) है नहीं तो अधावत् चाहिए।

अपने घर का अपमान समझ अथवा घर पर आक्रमण हुआ देख, उसको सहन न कर सकने के कारण सर्प भगवान् के पास आ गया ॥ ८ ॥

सुबोधिनी — हृदे विहरतो भगवतः समसङ्गं समीपं गतः। भुजदण्डयोः प्रहारेण घूर्णाथमानं यद् वार्जलं तस्य घोषमाश्रुत्य तदमृष्यमाणः समागत इति सम्बध्यते। आदौ निपाते किं जातमित्याश्चर्याविष्टस्ततः कश्चिद् विहरतीति श्रुत्वान्, ततोऽपि तस्य बाहुप्रहारेण जले शब्दः श्रुतः, शब्दं हेतुर्वीवागणविक्रमस्येति, वर उत्कृष्टो यो वारणो गजस्तद्वद्

विक्रमो यस्येति, तस्य हि स्वभावो जले विहरणं, सर्वोपमत्वाद् भगवतोऽपि तथा, न श्रवणमात्रेण तस्यागमनं किन्तु तेन भगवता स्वसदनस्याभिभवं श्रुत्वा, तेन शब्देन वा, चक्षुःश्रवा इति श्रवणदर्शने एकत्रैव, अतः श्रुतमपि दृष्टमिव मन्यते, सम्यगागत इति, स्वप्रौढिसहितः, तत्स्वसदनाभिभवममृष्यमाणः इत्यागमने हेतुः ॥ ८ ॥

**व्याख्यार्थ** — भुजारूप दण्डों के प्रहार से इधर-उधर (चारों ओर) चक्कर खाते हुए जल की गम्भीर गर्जना को सुनकर, उसको न सहता हुआ, हृद में खेलते हुए भगवान् के पास कालीय आया। आने के कारण और आने से पहिले की स्थिति (दशा) बताते हुए कहते हैं कि, प्रथम तो भगवान् के कूदने से आश्चर्य में पड़ गया अनन्तर, कोई जल में विहार (क्रीड़ा) कर रहा है ऐसे शब्द सुने, और विशेष पुनः शब्द सुना कि कोई जल में भुजाओं से प्रहार कर रहा है। जल में भुजाओं के प्रहार का शब्द इसलिए सुना कि भगवान् का यह विहार भी श्रेष्ठ गज के समान था। कारण कि भगवान् श्रेष्ठ हाथियों के समान पराक्रम से जल में विहार करने वाले हैं। भगवान् सर्वरूप तथा सर्वगुण सम्पन्न हैं अतः उनको सबकी उपमा दी जा सकती है केवल शब्द सुनने से सांप भगवान् के पास नहीं आया किन्तु अपने घर पर आक्रमण हुआ सुन अथवा देखकर, उसको सहन न कर सकने के कारण आया था। सांप सुनने का और देखने का दोनों काम आँखों से लेता है, अतः जो सुना वह देखा भी। अकेला नहीं आया, किन्तु अपने परिकरों को भी साथ लेकर आया ॥ ८ ॥

**आभास** — ततोऽपराधं कृतवानित्याह तमिति,

**आभासार्थ** — आकर जो अपराध किए उनका वर्णन करते हैं-

**श्लोकः** — तं प्रेक्षणीयसुकुमारघनावदातं श्रीवत्सपीतवसनं स्मितसुन्दरास्यम् ।

क्रीडन्तमप्रतिभयं कमलोदराङ्घ्रिं सन्दश्य मर्मसु स्था भुजया चछाद ॥ ९ ॥

**श्लोकार्थ** — दर्शन करने के योग्य, सुन्दर कुमार, मेघ के समान श्याम, श्रीवत्स का चिन्ह धारण किए हुए तथा पिताम्बर ओढ़े मन्द मुसक्यान सहित सुन्दर मुख वाले एवं कमल के मध्य भाग के समान कोमल चरण वाले भगवान् को निर्भय क्रीड़ा करते हुए देख कालीय ने मर्म स्थानों में डसते हुए क्रोध पूर्वक अपने शरीर से भगवान् को लपेट लिया ॥ ९ ॥

सुबोधिनी — अयुक्तं कृतवानिति वक्तुं भगवन्तं वर्णयति प्रेक्षणीयमिति, प्रेक्षणीयश्चासौ सुकुमारश्चासौ घनावदातश्च सान्त्विकादित्रिविधानामप्यादरणीयः, अनेन लोकविरुद्धं तेन कृतमित्युक्तं भवति, परमार्थतोऽपि विरुद्धं कृतवानित्याह श्रीवत्सेन सहितं पीतवसनं यस्य, प्रमेयविरोधः प्रमाणविरोधश्चाक्तं स्मितयुक्तं सुन्दरमास्यं

यस्येति भक्तिमार्गविरोधश्च, क्रीडन्तमिति रसशास्त्रविरोधश्च, अप्रतिभयमिति नीतिशास्त्रविरोधश्च, कमलोदराङ्घ्रिमिति सर्वोपास्यत्वेन जगद्विरोधश्च, तत्रापराधं कृत्वा स्वस्थानं नेष्यामीति विचार्य रोषेण भुजया स्वकायेन फणेन वा आच्छादितवान् वेष्टितवान् वा ॥ ९ ॥

**व्याख्यानार्थ —** कालीय ने इस प्रकार जो भगवान् का अपराध किया वह अयोग्य कार्य किया यह बताने के लिए भगवान् के स्वरूप का वर्णन करते हैं ।

सात्विक, राजस तथा तामस तीनों गुणों वाले भगवान् का आदर करते हैं, कारण कि वह (भगवान्) दर्शनीय<sup>१</sup> है, इसलिए सात्विक आदर करते हैं । सुकुमार है, इसलिए राजस आदर करते हैं । मेघ के समान श्याम है, इसलिए तामस आदर करते हैं जिससे सर्प ने ऐसे का अपराध कर लोक से विरुद्ध कार्य किया है । इसने केवल लोक से ही विरुद्ध नहीं किया है, किन्तु यह कार्य परमार्थ दृष्टि से भी विरुद्ध किया गया है । कैसे सो वह कहते हैं कि जैसे श्रीवत्स अक्षर रूप है, इसलिए वह ज्ञेय स्वरूप होने से प्रमेय है, उसको धारण करने वाले का अपराध करना प्रमेय से विरुद्ध कार्य है । भगवान् पीताम्बर धारण करते हैं, भगवान् का पीताम्बर वेदरूप है, वेद को धारण करने वाले का अपराध करना प्रमाण से विरुद्ध कार्य है । जिसका मन्द मुसक्यान वाला मुखारविन्द (प्रेम स्वरूप) है उसका अपराध भक्ति मार्ग से विरुद्ध कार्य है । भगवान् खेल रहे थे । खेलते समय रस की उत्पत्ति होती है उस रसिक का अपराध करना रस शास्त्र से विरुद्ध कार्य है । जो ऐसे विष युक्त जल में (जिस जल का इतना प्रकोप है कि आकाश मार्ग से जाने वाले पक्षी गिर कर मर जाते हैं आसपास वाले चर अचर नष्ट हो जाते हैं) निर्भय होकर खेल रहे हैं उसका अपराध करना नीति से भी विरुद्ध कार्य है । जिसके कमल जैसे कोमल चरणों को समग्र जगत् पूजता है इसका अपराध करना सकल जगत् के विरुद्ध कार्य है । सर्प ने मन में ऐसा विचार किया था कि इनको दंशित<sup>२</sup> कर भुजाओं से लपेट अपने स्थान पर ले जाऊँगा इसलिए इतना अपराध किया गया है ॥ ९ ॥

१- गो. श्री वल्लभजी लेख में कहते हैं कि-

- १- ज्ञान प्राप्त करने योग्य स्वरूप होने से दर्शनीय है अर्थात् जिसके दर्शन से ज्ञान प्राप्त हो जाता है ज्ञान सत्तागुण से प्राप्त होता है अतः सात्विक आदर करते हैं ।
- २- सुकुमार, सुन्दर कुमार स्वरूप होने से, उसके प्राप्त करने का लोभ होता है, लोभ रजोगुणी को होता है अतः रजोगुण वाले आदर करते हैं ।
- ३- मेघ श्याम होने से आपकी वह श्यामता, कालों को (तामस गुण वालों को) अपनी कालास (तमोगुण) मिटाने के लिए उपयोगी है, अतः तामस गुण वाले आदर करते हैं ।

**आभास —** ततो यज् जातं तदाह तमिति,

**आभासार्थ —** यों अपराध करने से जो हुआ उसका वर्णन करते हैं-

**श्लोक: —** तं नागभोगपरिवीतमदृष्टचेष्टमालोक्य तत्प्रियसखाः पशुपा भृशार्ताः ।

कृष्णेऽर्पितात्मसुहृदर्थकलत्रकामा दुःखानुशोकभयमूढधियो निपेतुः ॥ १० ॥

**श्लोकार्थ —** उनको सर्प के शरीर से वेष्टित<sup>१</sup> और निश्चेष्ट<sup>२</sup> देख कर, उनके प्यारे मित्र गोप अति दुःखी हुए, और भय से चेतन हीन होकर गिर पड़े, क्योंकि उनकी आत्मा, मित्र, धन, स्त्री और भोग सब श्रीकृष्ण के ही अर्पण किए हुए थे ॥ १० ॥

**सुबोधिनी —** नागशरीरेण परिवीतं शेषशयनाभि-  
नयनकर्तारमत एवादृष्टचेष्टमालोक्य प्रलयो भविष्यती-  
त्याशङ्क्य तस्य भगवतः प्रियाः सखायश्च तादृशा भृशमार्ता  
जाताः, ते ह्यात्मनिवेदिनः, आत्मनिवेदिनां न पृथक्  
स्थातुमुचितं, अत एव व्याकुला जाताः, तदाह, कृष्णे  
भगवत्यर्पित आत्मा सद्भावतः सुहृदो मित्राण्यर्थो धनं कलत्रं

स्त्री कामाः पुत्रादयः, सर्व एवा पिता यैः, अत एव दुःखं,  
आत्मापि तत्र वर्तत इति अनु पश्चाच्छोकश्च, सुहृदोऽपि तत्र  
निवेदिता इत्युभाभ्यां मूढा भयेन च गुणत्रयकार्यैर्स्त्रिभर्गप  
मूढा धीर्येषां ते, पूर्वं जीविता अपि मूर्छिताः सन्तां  
निपेतुः ॥१०॥

**व्याख्यानार्थ —** गोपों ने भगवान् को सर्प के शरीर से लपेटा देख यों समझा कि अब भगवान् प्रलय करेंगे अतः शेषशय्या पर पोढ़ने की तैयारी कर रहे हैं इसलिए आपने सब चेष्टाएँ बन्द कर शान्त स्वरूप धारण कर लिया है, इस लीला के करने से गोप जो भगवान् के प्रिय सखा थे वे अत्यन्त दुःखी हुए, क्योंकि वे आत्म-निवेदित थे जिन्होंने आत्मनिवेदन किया है वे भगवान् से पृथक् रह नहीं सकते हैं । इस कारण से वे दुःखी हुए इन्होंने (गोपों ने) भगवान् कृष्ण में देह, मित्र, धन, स्त्री और पुत्र आदि सर्व अर्पण कर दिए थे अतः दुःखी हुए थे । सर्प के दंश से भगवान् को तो कुछ भी दुःख नहीं हुआ किन्तु गोपों की आत्मा जो वहाँ थी उसको दुःख हुआ, अतः गोप दुःखी हुए एवं मित्र आदि भी भगवान् में थे वे दुःखी हुए उनको दुःखी देख गोपों को शोक भी हुआ । इससे इनके होश उड़ गए, भयभीत होकर, तीन गुणों के कार्य से मूढ बने हुए पहिले जीवित किए हुए थे तो भी अभी मूर्छित होकर गिर गए ॥ १० ॥

**आभास —** गावोऽपि गोपालवज् जाता इत्याह गाव इति,

**आभासार्थ —** गौओं की भी गोपालों जैसी दशा हुई उसका वर्णन करते हैं ।

**श्लोक: —** गावो वृषा वत्सतर्यः क्रन्दमानाः सुदुःखिताः ।

कृष्णे न्यस्तेक्षणप्राणाः क्रन्दन्त्य इव तस्थिरे ॥ ११ ॥

**श्लोकार्थ —** गौ बैल, छोटे बछड़े ये सब ही दुःखी हो रंभने लगे, श्रीकृष्ण में दुष्टि तथा प्राण लगाते हुए मानो रोते हैं इसी भाँति डर के साथ खड़े रहे ॥ ११ ॥

**सुबोधिनी —** स्त्रियः पुरुषा बालाश्च क्रन्दमानाः सुदुःखिता जाताः, तेषां चित्ते सात्त्विकत्वाभावात् न भूर्छिताः किन्तु कृष्णे न्यस्तानीक्षणानि प्राणाश्च यासां ताः सर्पादिभेदं न जानन्ति, पश्यन्ति च कृष्णं, किन्त्वगम्ये तिष्ठतीति दुःखिताः क्रन्दन्त्य इति ग्राम्यपशुसङ्घत्वात् स्त्रीप्रयोगः, 'ग्राम्यपशुसङ्घे-

ष्वतरुणेषु स्त्री" त्वनुशासनात्, यथा वा विवेकयुक्ताः स्त्रियो रुदन्ति तद्वदेव तद्विधेरे, सर्व एव देवा लोका भूतानि त कालादयोऽपि भगवाय् छेदशायी प्रलयं करिष्यतीति तावत् प्रलये यावन्त उत्पातास्तान् सर्वानेव कृतवन्तः ॥ ११ ॥

**व्याख्यार्थ —** स्त्री (गौ) पुरुष (बैल) बालक (छोटे बछड़े बछड़िया) रंभते हुए दुःखी हो गए। वे भूर्छित न हुए कारण कि उनमें सात्त्विक भाव नहीं था किन्तु कृष्ण में अपने नेत्र और प्राण लगा दिये थे वे सर्प आदि के भेद को नहीं जानते थे केवल कृष्ण की चेष्टा को देख रहे थे कृष्ण को वैसे स्थान में देख जहाँ स्वयं जा नहीं सकती थीं इससे दुःखी हो रही थीं, पुकार रही थीं, यहाँ स्त्रीं' लग इसलिये'दयौ हि'क ग्राम्यपशु'आ कां सधै'हो। य पशु'इसाँ'भाते'रात हुए खड़े रहै'जस विवेक वाली स्त्रियाँ खड़ी होकर रोती हैं। सब देवता, लोक, भूतमात्र तथा कालादिक भी शेषशायी भगवान् अब प्रलय करेंगे यों समझ कर सर्व प्रकार के उत्पात करने लगे ॥ ११ ॥

**आभास —** ततो गोकुलवासिनस्तान् दृष्ट्वा भीता जाता इति वक्तुं प्रकृतोपयोगित्वाच्च व्रज एवोत्पातान् वर्णयत्यथेति,

**आभासार्थ —** इन उत्पातों को देख कर गोकुलवासी डर गए व्रज का ही प्रकरण है अतः व्रज में हुए उत्पातों (उपद्रवों) का इस श्लोक में वर्णन करते हैं-

**श्लोकः —** अथ व्रजे महोत्पातास्त्रिविधा ह्यतिदास्यः ।

उत्पेतुर्भुवि दिव्यात्मन्यासन्नभयशंसिनः ॥ १२ ॥

**श्लोकार्थ —** अनन्तर व्रज में तुरन्त ही अतिभयानक तीन प्रकार के बड़े-बड़े उत्पात निकट होने वाले भय की सूचना देते हुए पृथ्वी, आकाश तथा शरीर में होने लगे ॥ १२ ॥

**सुबोधिनी —** सर्वकालविलक्षणार्थमथेति, महोत्पाताः युक्तश्चायमर्थः, प्रलये हि ते कर्तव्या अन्यथाधिकारिणो प्रलयकालीना दिवि भुव्यन्तरिक्षे चेति त्रिविधाः, हि दण्ड्याः स्युः, किञ्च शीघ्रमेव प्रलयो भविष्यतीत्या-

सन्नभयशंसिनः, सूचका अपि स्वरूपतोऽपि भयानका चोत्पन्नाः, एकदोत्पन्नत्वादतिशीघ्रानिष्टपर्यवसायित्वम् ॥ १२ ॥  
इत्याहातिदास्या इति, दिव्युत्पेतुरुत्पन्नाः, भुव्यात्मनि शरीरे

**व्याख्यानार्थ —** यह काल साधारण काल नहीं था किन्तु सर्वकालों से विलक्षण था, यह बताने के लिए श्लोक में 'अथ' शब्द दिया है प्रलय काल में होने वाले उत्पातों जैसे तीन प्रकार के उत्पात स्वर्ग, पृथ्वी और अन्तरिक्ष<sup>१</sup> में होने लगे। श्लोक में आए हुए 'हि' शब्द का भाव बताते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि प्रलय के समान दृश्य देख कर भी यदि अधिकारी देव वैसे (प्रलय जैसे) उत्पात (उपद्रव) न करें तो दण्ड के भागी हो जाए अतः उन्होंने ये उपद्रव किए। वे उत्पात स्वरूप से भी अति दारुण<sup>२</sup> थे एवं अभी जल्दी प्रलय होने वाली है वैसी सूचना देते थे कारण कि एक ही काल में साथ में सर्वत्र उत्पात होने लगे थे ॥ १२ ॥

**आभास —** ते च व्रजस्थास्तानालक्ष्यैत

**आभासार्थ —** गोप उपद्रव देखकर घबरा गए उसका वर्णन करते हैं—

**श्लोकः —** तानालक्ष्य भयोद्विग्ना गोपा नन्दपुरोगमाः ।

विना रामेण गाः कृष्णं ज्ञात्वा चारयितुं गतम् ॥ १३ ॥

तैर्दुर्निमित्तैर्निधनं मत्वा प्राप्तमतद्विदः ।

तत्प्राणास्तन्मनस्कास्ते दुःखशोकभयातुराः ॥ १४ ॥

आबालवृद्धवनिताः सर्वेऽङ्ग पशुवृत्तयः

निर्त्तग्मर्गोकुलाद् दीनाः कृष्णदर्शनलालसाः ॥ १५ ॥

**श्लोकार्थ —** हे प्रिय ! उनको (उत्पातों को) देख कर, नन्द आदि गोप भय से विह्वल<sup>३</sup> हो गए उस समय श्रीकृष्ण भी अकेले (राम के बिना) गौओं को चराने चले गए थे ये गोप, श्रीकृष्ण के प्रभाव से अनजान थे इसीलिए इन बुरे निमित्त देखकर श्रीकृष्ण का अनिष्ट हुआ मान बैठे, जिससे श्रीकृष्ण में ही प्राण और मनवाले वे सब गोप छोटे बड़े दुःख शोक तथा भय से व्याकुल हो गए। पशु के समान वृत्ति वाले वे सर्व गोप दीन<sup>४</sup> होकर श्रीकृष्ण के दर्शन को इच्छा से गोकुल से बाहर निकल गए ॥ १३-१४-१५ ॥

लेखकार कहते हैं कि, आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीन प्रकार के उत्पात हुए।

१-जहाँ सूर्य आदि नक्षत्र घूमते हैं पृथ्वी और स्वर्ग का मध्य भाग।

२-डरावने।

३-घबरा गए।

४-उदास, नम्र।



सुबोधिनी — उत्पाता भवन्तीति ज्ञात्वा भयेनोद्विग्ना जाता यतो गोपाः, नन्दः कर्मसिद्धान्तयुक्तः पुरोगमो मुख्यो येषां, कृतनिरोधा वा विवेकिनः, कृष्णे विद्यमानेऽस्माकं प्रलयोऽपि न भाविष्यतीति निश्चित्य प्राकृतबुद्ध्या कल्पयन्ति स्म, विना रामेणेति, रामो हि बालिष्ठो लोकप्रतीत्या धेनुकोऽपि तेनैव मारित इति रामेण विना भगवानेव गाश्चारयितुं गतस्तन्मध्य उत्पाताश्च जायन्ते ॥ १३ ॥ अतो दुर्निमित्तान्यत्यनिष्टं सूचयन्तीति विपरीतं ज्ञात्वा निर्जग्मुस्त्युत्तरं सम्बन्धः, विपरीतज्ञाने हेतुस्तद्विद इति, तस्य भगवतो माहात्म्यं न विदन्तीत्युचितमेव तेषां, लौकिका

हि ते, लौकिकानां प्रियोऽनिष्टं भावयत्याप्रिय इष्टमिति स्थितिः, भवननिषेध-विषयत्वेन सर्वदानिष्टमेव भावयति प्रियः स्नेहस्य तथाभावकस्वभावत्वात्, अन्यस्य विपरीतं, किञ्च ते आत्मानमेवानिष्टविषयं भावितवन्त इत्याह तत्प्राणा इति, तस्मिन्नेव प्राणा येषां, तस्मिन्नेव मनो येषां, अत एव दुःखं शोकं भयं च त्रिभिस्तुराः ॥ १४ ॥ गोकुलं शून्यं विधाय सर्व एव निर्गता इत्याह बालवृद्धवनिता इति, अङ्गेतिसम्बोधनं सर्वत्र स्नेहमूचकं, पशूनामिव वृत्तिर्येषामिति न देहवस्त्रादिदृष्टिः, गोकुलादेव निर्गताः, तेषां कामनामाह कृष्णदर्शने लालसाः, दर्शनार्थमतिव्याकुलाः ॥ १५ ॥

**व्याख्यानार्थ —** व्रजवासियों ने उत्पातों के प्रथम चिन्ह देखे पीछे जान लिया कि उपद्रव हो रहे हैं जिससे डर गए तथा घबराहट में आ गए क्योंकि गोप थे । ये गोप कर्म के सिद्धान्त को मानने वाले थे, अर्थात् दुःख सुख कर्म से ही प्राप्त होता है उन्होंने जो मुख्य गोप नन्दजी थे वे भी कर्मवादी थे अतः ये उत्पात कर्म के ही फल हैं ।

कर्म को मानने वालों के अतिरिक्त अन्य गोप जिनका भगवान् ने निरोध किया था, वे विवेक वाले थे, जिससे उनको यह दृढ़ विश्वास था कि श्रीकृष्ण की उपस्थिति में हमारा प्रलय नहीं होगा । पश्चात् प्राकृत बुद्धि (लौकिक बुद्धि) से विचारने लगे कि श्रीकृष्ण अकेले गए हैं राम बलवान् हैं धेनुका को भी राम ने ही मारा था वे तो यहाँ हैं । इसी बीच में उपद्रव हो गए हैं अब क्या होगा ? शकुन भी अच्छे नहीं दिखते हैं, इससे समझ में आता है कि श्रीकृष्ण का अनिष्ट हुआ है । यों विचारते हुए गोकुल से बाहिर निकले । ऐसा बुरा विचार इनको इसलिए आया कि ये श्रीकृष्ण के प्रभाव को नहीं जानते थे । अतः इनको ऐसा विचार होना उचित ही है कारण कि ये लौकिक (लोक बुद्धि वाले) हैं । उन में (लौकिकों में) सदा ऐसे विचार होते हैं कि जब भी कुछ उपद्रव आदि सुनते हैं तो अपने प्रिय का अनिष्ट ही उनके मन में आ जाता है । यह स्नेह का स्वभाव है । शत्रु के लिए तो ऐसे विचार नहीं आते हैं । गोपों को अपना भी अनिष्ट होगा ऐसे भी विचार आने लगे क्योंकि उनके प्राण तथा मन आदि सब श्रीकृष्ण में अर्पित (दिए गए) थे जिससे श्रीकृष्ण के साथ अपना भी अनिष्ट अवश्य होगा ऐसा विचार उनको होने लगा । अतः वे सब दुःख, शोक तथा भय से व्याकुल हो गए उसी अवस्था में छोटे बड़े स्त्री तथा पुरुष सब गोकुल को शून्य (बिना प्राण वाला) करके वहाँ से निकल गए । हे अंग ! यह सम्बोधन स्नेह की सूचना देने वाला है । उन गोपों की वृत्ति (दशा) पशुओं जैसी हो गई थी अर्थात् देह वस्त्र आदि का भी ज्ञान नहीं रहा था गोपों ने इस प्रकार गोकुल को खाली कर दिया उसका कारण श्रीकृष्ण के दर्शन की उत्कट कामना थी, वे दर्शन के लिए व्याकुल हो रहे थे ॥ १३-१४-१५ ॥

लोक की वैसी प्रतीति थी कि धेनुक को राम ने मारा है वास्तविक तो श्रीकृष्ण ने ही राम में प्रविष्ट हो उसका मारा था ।

**आभास —** तेषां श्रीभगवत्समीपगमने भ्रमाभावाय हेतुमाह तेऽन्वेषमाणा इति

**आभासार्थ —** वे गोप गोकुल से निकल कर सीधे भगवान् के समीप पहुँच गए जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक: —** तेऽन्वेषमाणा दयितं कृष्णं सूचितया पदैः ।

**भगवल्लक्षणैर्जग्मुः पदव्या यमुनातटम् ॥ १६ ॥**

**श्लोकार्थ —** वे प्यारे कृष्ण को ढूँढते-ढूँढते भगवान् के लक्षण वाले चरणों से सूचित मार्ग से (पग-डंडी से) सीधे यमुनाजी के तट पर पहुँचे ॥ १६ ॥

**सुबोधिनी —** पतिरेवान्वेषणीयस्ततोऽपि सदानन्दः, ते भगवद्गतमार्गेणैव गताः, तदाह पदव्या यमुनातटमिति, पदवी सूक्ष्मो मार्गः, तथा यमुनातटमेव गताः, तेषां मार्गान्तरगमने तथैव च गमनेऽभिज्ञानमाह भगवल्लक्षणैः । पदैः सूचितयेति ध्वजवज्राङ्कुशाद्यसाधारणचिह्नैर्भगवच्च - रणसम्बन्धे भूमेरार्द्रता भवतीति स्फुटसर्वलक्षणानि पदानि भूमावुद्गच्छन्ति तैः सूचिता पदवी भवति ॥ १६ ॥

**व्याख्यार्थ —** साधारण पति कहीं चला गया हो और उस समय कोई उपद्रव उत्पन्न हो जाए तो वैसे पति को भी ढूँढ़ा जाता है सो यह पति तो सदानन्द स्वरूप पति हैं, उनको तो अवश्य ढूँढ़ना चाहिए इस विचार से वे उसी मार्ग से गए जिस मार्ग से श्रीकृष्ण गए थे । वह रास्ता कैसा था ? इस पर कहते हैं कि वह मार्ग पगडंडी का था और उस पगडंडी पर भगवान् के चरण चिन्ह अंकित (लगे) थे तथा वह सीधा यमुना किनारे तक था अतः ये भी इस रास्ते से बिना भ्रम के यमुना तट पर पहुँच गए जाने में रास्ते का भ्रम नहीं हुआ, कारण कि वह भूमि आर्द्र<sup>१</sup> थी जिससे उस पर भगवान् के ध्वज 'वज्र' अंकुश आदि चिन्ह साफ-साफ देखने में आ रहे थे ॥ १६ ॥

**आभास —** तत्रापि भगवान्न केवलं गतः किन्तु गोगोपालसहित एव गत इत्यत्राभिज्ञानमाह ते तत्रेति,

**आभासार्थ —** भगवान् अकेले नहीं गए थे किन्तु साथ में गो और गोपों को भी ले गए थे जिस का ज्ञान निम्न श्लोक से करते हैं ।

**श्लोक: —** ते तत्र तत्राब्जयवाङ्कुशाशनिध्वजोपपन्नानि पदानि विश्रुतेः ॥

**मार्गे गवामन्यपदान्तरान्तरे निरीक्षमाणा ययुरङ्ग सत्वराः ॥ १७ ॥**

**श्लोकार्थ —** वे लोग वहाँ-वहाँ (जहाँ-जहाँ) कमल, यव, अंकुश, वज्र और ध्वजा के चिन्ह वाले वैश्यों के अधिपति भगवान् के चरणों को अन्यो के चरणों के मध्य में स्थित देख कर शीघ्र वहाँ पहुँचे ॥ १७ ॥

सुबोधिनी — तत्र तत्र मार्गे विरपतेर्वैश्याधिपते- निर्भयवासदानाय, एवमनेकविधैश्चिह्नैस्त्रयपन्नानि पदानि, गोकुलराजस्य भगवतः पदानि दृष्ट्वा तेनागतप्राणाः सत्त्वरा अतः स्वस्यापि कृतार्थता भविष्यतीति शकुनमिव ययुः, अन्यथा गमनेऽप्यसामर्थ्यं स्यात्, यवः कीर्तिप्रति- प्राप्येष्टदर्शनार्थं शीघ्रं गताः, गवां मार्गेऽन्येषां गोपालानां च पादकः, अब्जाकाररेखा सुसेव्यत्वाय, भक्तानां मनोगज- पदान्यन्तरा यत्र, तेन सर्वैः सह तिष्ठतीतिसन्तोषोऽपि, अन्तरा निवारणायाअंकुशरेखा, अग्निः पापपर्वतच्छेदाय, ध्वजो मध्ये ॥ १७ ॥

**व्याख्यार्थ —** जाते समय वे गोप इसी प्रकार चलते थे, मानो उनमें प्राण हैं ही नहीं, किन्तु जब राह में जहाँ, तहाँ, अन्यो के पद पंक्तियों के मध्य में, भगवान् के चरण चिन्ह देखे, तब उनमें प्राण आ गए, जिससे वे शीघ्र चलने लगे। आचार्य श्री भगवान् के चरण चिन्हों के भावों को स्पष्ट कर बताते हैं- “यव” का चिन्ह कीर्ति<sup>१</sup> का प्रतिपादन<sup>२</sup> करने वाला है ‘कमल’ का चिन्ह इसलिए है कि आपके श्री चरण, संसार ताप हारक होने से, सेवा करने के योग्य हैं। ‘अंकुश’ का चिन्ह इस लिए धारण किया है कि भक्तों के मन रूप हस्ती को अपने वश में कर रखें। ‘वज्र’ धारण करने का तात्पर्य यह है कि शरणागत भक्तों के पाप रूप पर्वतों को नष्ट करने में विलम्ब न होए। ‘ध्वज’ का चिन्ह धारण कर भक्तों को निर्भय रहने का दान किया है अर्थात् मेरे शरणागतों को किसी प्रकार भय नहीं करना चाहिए यह आश्वासन<sup>३</sup> दिया है इस प्रकार अनेक चिन्हों से युक्त आप के चरणारविन्द हैं। अतः जैसे पृथ्वी कृतार्थ हुई है, वैसे ही हम भी कृतार्थ होंगे, अर्थात् हमारी मनो कामना पूर्ण होगी, कारण कि, ऐसे शुभ चिन्हों का दर्शन शुभ शकुन है। ऐसा जान शीघ्रता से जाने लगे। राह में अन्यो के साथ भगवान् के चरण देख संतोष भी हुआ कि भगवान् अकेले नहीं हैं जिससे चिन्ता आदि कुछ कम हो गए ॥ १७ ॥

**आभास —** ननु कथमत्र सर्वज्ञो बलभद्रो न तेषां निषेधं कृतवानित्याशङ्क्याह तांस्तथेति,

**आभासार्थ —** बलरामजी जो सर्वज्ञ थे, उन्होंने गोपों को क्यों नहीं रोका ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक में करते हैं कि-

श्लोकः — तांस्तथा कातरान् वीक्ष्य भगवान् माधवो बलः ।

प्रहस्य किञ्चिन् नोवाच प्रभावज्ञोऽनुजस्य सः ॥ १८ ॥

**श्लोकार्थ** — बलरामजी उनको वैसे भीरु<sup>१</sup> देख कर हँसे, किन्तु कुछ भी बोले नहीं, कारण कि, अपने छोटे भाई माधव (भगवान्) के प्रभाव को जानते थे ॥ १८ ॥

सुबोधिनी — तथा कातरानतिदीनान् वीक्ष्य प्रहस्य यतोऽनुजस्य भगवतः प्रभावज्ञः, अयं श्लोकः पूर्वत्र वा भगवत्परीक्षां स्मृत्वा विधिनिषेधयोरन्यतरदपि नोक्तवान्, विगीतो वा ॥ १८ ॥

**व्याख्यानार्थ** — बलरामजी उन (गोपों) को इस प्रकार अति दीन देख, हँस कर चुप रह गए, उनको कुछ नहीं कहा कि वैसे करो, अथवा न करो, क्योंकि छोटे भाई के प्रभाव को वे जानते थे और यह भी जानते थे कि कृष्ण ने इनकी परीक्षा के लिए यह लीला की है। यह श्लोक इससे पहले चाहिए अथवा क्षेपक समझना चाहिए। इसी कारण से आचार्य श्री ने इस श्लोक पर सूक्ष्म में टीका की है दूसरे टीकाकारों ने इसको १६वां श्लोक माना है ॥ १८ ॥

**आभास** — गता भगवन्तं दृष्टवन्त इत्याह अन्तर्हृद इति

**आभासार्थ** — वहाँ गए, जाते हुए, दूर से ही (जैसे समुद्र में शेषशायी के दर्शन होते हैं वैसे हैं) यहाँ (यमुना हृद में) भगवान् के दर्शन किए, उसका वर्णन करते हैं।

**श्लोकः** — अन्तर्हृदे भुजगभोगपरीतमारात् कृष्णं निरीहमुपलभ्य जलाशयान्ते ।

गोपांश्च मूढधिषणान् परितः पशूंश्च सङ्क्रन्दतः परमकश्मलमापुरार्ताः ॥ १९ ॥

**श्लोकार्थ** — वे सब कालीय दह के भीतर दूर से सर्प के शरीर से वेष्टित<sup>२</sup> निश्चेष्ट<sup>३</sup> श्रीकृष्ण को और जलाशय के पास मूर्ख खाकर गिरे हुए गोपों को तथा आर्त स्वर से राँभते हुए पशुओं को देखकर दुःखी हुए जिससे वे मूर्छित हो गए ॥ १९ ॥

सुबोधिनी — दूरादेव भगवन्तं यमुनाहृदे समुद्रे बुद्धिर्येषां, परितः सर्वतो विक्षिप्तान् पशूंश्च सङ्क्रन्दन्त इति शेषशायिनमिव भगवन्तं दृष्टवन्तः, तदाह, हृदमध्ये भुजगभोगेन तेषामनिष्टसूचकत्वं, अतो मार्गे यथाकथञ्चिदप्यागता एतत् सर्पशरीरेण परितः वेष्टितमारादेवोपलभ्य सुप्तत्वान् निरीहं त्रितयं दृष्ट्वा परमकश्मलं मूर्खमापुः, आर्ता विकलाः जलाशयसमीपे च गोपानुपलभ्य, वृत्तान्तप्रश्नाभावाय सन्तापयुक्ताश्च जाताः ॥ १९ ॥ विशेषणमाह मूढधिषणानिति, मूढा लयं प्राप्ता धिषणा

**व्याख्यानार्थ** — हृद (दह) के मध्य में दूर से ही साँप के शरीर से लपेटे हुए भगवान् को तथा जलाशय के समीप जिनकी बुद्धि शिथिल हो गई है, ऐसे गोपों को और चारों ओर व्याकुल हुए

अनिष्ट होने के कारण आर्तता से रंभते हुए पशुओं को देखा । ये गोप राह से तो जैसे तैसे भी आ गए, किन्तु यहाँ की ऐसी तीन प्रकार की अवस्था देख कर आर्त<sup>१</sup> हो गए जिससे व्याकुल और सन्ताप<sup>२</sup> को प्राप्त हो मूर्छित हुए ॥ १९ ॥

**आभास —** एवमार्त्यनन्तरं गोपिकानां यशोदासहितसाधारणस्त्रीणां नन्दादीनां च वृद्धगोपानामवस्था आह गोप्य इतित्रिभिः,

**आभासार्थ —** इस प्रकार आर्ति के होने के अनन्तर गोपियों की तथा यशोदा सहित सब साधारण स्त्रियों की एवं नन्दादि वृद्ध गोपों की अवस्था का वर्णन नीचे के तीन श्लोकों से करते हैं ।

**श्लोक: —** गोप्योऽनुरक्तमनसो भगवत्यनन्ते तत्सौहृदस्मितविलोकगिरः स्मरन्त्यः ॥

**ग्रस्तेऽहिना प्रियतमे भृशदुःखतप्ताः शून्यं प्रियव्यतिहृतं ददृशुस्त्रिलोकम् ॥ २० ॥**

**श्लोकार्थ —** जिनका मन भगवान् में प्रेमपूर्वक आसक्त है वैसी गोपियाँ, अपने प्रियतम को साँप से जकड़ा हुआ देख उनके सौहार्द मंद हास्य, कटाक्ष और मीठी वाणी को स्मरण कर अति दुःख से पीड़ित हो गईं और प्यारे के बिना उनको तीन लोक शून्य देखने में आए ॥ २० ॥

**सुबोधिनी —** गोप्यस्तु भगवन्तं तादृशं दृष्ट्वा त्रैलोक्यमेव प्रियरहितं जातवत्यः, प्रिया एव हि रक्षणीयाः, अतः प्राणरक्षायामिहलोकरक्षायां परलोकरक्षायां च निवृत्तव्यापारस्तथैव लयं प्राप्तवत्य इति तामस्यवस्था, अनुरक्तं मनो यासां, अनेन तेषां प्राणवियोगाभावे हेतुरुक्तः, ननु भगवति साम्प्रतं मनः प्राणवियोगजमेव न तु प्राणरक्षकमित्याशङ्क्याह भगवतीति, सर्वकरणसमर्थो भगवान्, अतः षड्विधगुणैस्तासां प्राणा रक्षिता इत्यर्थः, तथापि विषयस्यानिष्टरूपत्वे प्राणरक्षा भक्तिविरोधिनी-

त्याशङ्क्याहानन्त इति, न विद्यतेऽन्तो यस्येति, विषयश्च नानिष्टरूपः, अतो भगवता रक्षिताः सजीवा एवेतिकर्तव्यतामृद्धाः स्थिताः, किञ्च तासां जीवने हेत्वन्तरमपि जातमित्याह तत्सौहृदेति, तस्य भगवतः सौहृदं स्मितं विलोकं गिरश्च स्मरन्त्यः, सौहृदस्मरणे शरीरस्थितिः स्मितस्मरणे इन्द्रियाणां विलोकस्मरणे प्राणानां वाक्यस्मरणेऽन्तःकरणस्य, साधकानुक्त्या बाधकमाहाहिना सर्पेण वेष्टिते परमप्रीतिविषये भृशं दुःखेन तप्ताश्च जाताः, अतस्त्रिलोकं प्रियेण व्यतिहृतं शून्यमेव ददृशुस्त्रिलोकम् ॥ २० ॥

**व्याख्यानार्थ —** गोपीजन भगवान् की इस प्रकार की चेष्टा (शरीर की स्थिति) देख त्रिलोकी को प्रीतम से शून्य समझने लगी । अपने प्रिय रक्षा करने योग्य हैं, इस कारण से उन्होंने अपनी तीनों प्रकार (प्राणरक्षा, लोकरक्षा और परलोक रक्षा) की रक्षा करनी छोड़ जैसे भगवान् के समान लय

प्राप्त कर ली। गोपिजनों की तामसी अवस्था है यदि उनकी गोपियों की वैसी दशा हो गई तो उनके प्राण क्यों न निकल गए? उस शंका का निवारण करते हुए कहते हैं कि उनका मन भगवान् में लगा हुआ था इनके पास मन नहीं था। अतः सर्व समर्थ षड् गुण पूर्ण भगवान् ने उनके प्राणों की रक्षा कर ली उनको (प्राणों को) जाने नहीं दिया। प्रीतम की यह दशा और भक्त के प्राण रहे यह भक्ति से विरुद्ध है। इस शंका के समाधान के लिए भगवान् का विशेषण 'अनन्त' दिया है, अर्थात् वह भगवान् किस प्रकार लीला करते हैं क्यों करते हैं, उसको वे (अनन्त भगवान्) ही जानते हैं और यह विषय अनिष्ट भी नहीं है अतः भगवान् ने उनकी रक्षा कर उनको जीवित रहने दिया। केवल अब क्या करना चाहिए इतनी समझ नहीं रही और भी यह अन्य कारण उनके जीवन में हैं। वे भगवान् की प्रीति, मन्दहास्य, कटाक्ष एवं वाणी का स्मरण कर रही थीं, जिससे वे जीवित रह गईं। प्रभु के प्रेमस्मरण से देह, मन्दहास्य के स्मरण से इन्द्रियाँ, कटाक्षों के स्मरण से प्राण, तथा वाणी की स्मृति से अन्तःकरण नष्ट न हुआ। ये कारण तो प्राणों के रक्षक हुए। अब प्राणों के बाधक कारण कहते हैं। गोपियों के परम प्रेम का स्थान भगवान् श्रीकृष्ण है। उनको साँप ने लपेट लिया है यह देख गोपियाँ अत्यन्त दुःखी हो गईं, जिससे प्रीतम बिना तीन लोक उनके लिए निरर्थक हो गए। इससे उनकी दशा आधी जली हुई के समान हो गई मानो उस समय वे न जीवितों की पंक्ति में थीं और न मरे हुए की गिनती में गिनने योग्य थीं ॥ २० ॥

**आभास —** यशोदासहितानामवस्थामाह ता इति,

**आभासार्थ —** यशोदा के साथ आई हुई स्त्रियों की अवस्था का वर्णन करते हैं—

**श्लोकः —** ताः कृष्णमातरमपत्यमनुप्रविष्टां तुल्यव्यथाः समनुगृह्य शुचः स्रवन्त्यः ॥

**तास्ता व्रजप्रियकथाः कथयन्त्य आसन् कृष्णाननेऽर्पितदृशो मृतकप्रतीकाः ॥ २१ ॥**

**श्लोकार्थ —** यशोदाजी, पुत्र के पीछे जो जल में प्रवेश करने लगी, तो उनको रोक कर, यशोदा जैसी ही व्यथा वाली गोपियाँ आँसू डालती हुई, व्रज के प्यारे की विविध कथाएँ कहने लगी। वे कृष्ण के मुखारविन्द को ही देख रही थीं उस समय उनकी दशा मृतकों के समान थी ॥ २१ ॥

**सुबोधिनी —** कृष्णमातरं समनुगृह्य लोकन्यायेन | कृष्णाननेऽर्पिता दृशः, भगवन्मुखारविन्दमपि पश्यन्ति, शुचः स्रवन्त्यो जाताः, यशोदा त्वपत्यं भगवन्तमनुप्र-विष्टा | अतो मृतकप्रतीका आसन् मृतप्रायाः सजीवा एव तत्रैव गता, अन्यासां जीवने हेतुः, तास्ता | स्थिताः, पूर्वं भगवता रक्षिता एता भगवद्गुणैर्दर्शिन च ॥२१॥ व्रजप्रियमय भगवतः कथाः कथयन्त्यः, किञ्च |

**व्याख्यार्थ —** यशोदा के साथ जो स्त्रियाँ (गोपियाँ) आई थीं उन्होंने यशोदाजी को अपने पुत्र श्रीकृष्ण के लिए जल में प्रवेश करती देख लौकिक रीति के अनुसार उनको रोक रखा। उस समय उनकी आँखों

में से जल बह रहा था। यशोदाजी ने तो पुत्र के पीछे जल में प्रवेश किया अन्य उनके साथ आई थीं उन्होंने का जल में प्रवेश न करने का कारण यह था कि वे ब्रज के प्यारे की लीलाओं का गान कर रही थी और उनके मुखारविन्द के दर्शन का रस ले रही थीं जिससे वे जीवित रह गई (पानी में प्रवेश नहीं किया) यद्यपि वे जीवित थीं तो भी प्रिय विरह (दुःख) के कारण मृतक समान हो रही थीं। ऊपर के श्लोक (२०) में के गोपियों की रक्षा भगवान् ने की थी जिससे वे जीवित रह गई और ये भगवान् के गुणगान तथा दर्शन के कारण जीवित रही ॥ २१ ॥

**आभास —** अन्ये तु नन्दादयो बलभद्रेण रक्षिता

**आभासार्थ —** बलभद्र ने नन्दादि गोपों की रक्षा की उसका वर्णन करते हैं।

**श्लोक: —** कृष्णप्राणान् निर्विशतो नन्दादीन् वीक्ष्य तं हृदम् ।

**प्रत्यषेधत् स भगवान् रामः कृष्णानुभाववित् ॥ २२ ॥**

**श्लोकार्थ —** कृष्ण में प्राण वाले, नन्द आदि गोपों को हृद में प्रवेश करते हुए देख, भगवान् बलरामजी ने ऐसे करने से उनको रोका क्योंकि आप श्री कृष्ण के प्रभाव को जानते हैं ॥ २२ ॥

|                                                                                                                                                                                                                                |                                                                                                                    |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी —</b> इत्याह कृष्णोति, कृष्णे प्राणा येषां, प्राणस्थाने हि स्वेनापि स्थातव्यमिति तमेव हृदं निर्विशन्तो जाताः, तदा तान् बलः प्रत्यषेधत्, कथं तेन प्रतिषिद्धाः स्थिता इत्याशङ्क्याह स भगवानिति, स रामो भगवान्</p> | <p>भगवत्सहितो वा, सोऽपि किमिति प्रत्यषेधत् ? तत्राह कृष्णानुभाववित्, कालीयदमनलक्षणं भगवदनुभावं जानातीति ॥ २२ ॥</p> |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यार्थ —** जीव का निवास स्थान प्राण है, अतः जहाँ प्राण है, वहाँ जीव जाना ही चाहता है यहाँ भी नन्दादिकों के प्राण श्रीकृष्ण में थे इसलिए वे श्री कृष्ण के पास जाना चाहते थे, किन्तु राम, कृष्ण के प्रभाव को जानते थे उनको ज्ञान था कि श्रीकृष्ण कालीय के दमन के लिए यह लीला कर रहे हैं, इसलिए आपने (बलरामजी ने) इनको (नन्दादि गोपों को) जाने से रोका नन्दादि गोप भी जाने से रूक गए कारण कि नन्दादि गोपों को यह ज्ञान था कि 'राम' साधारण मनुष्य नहीं है किंच भगवान् वा भगवान् के आवेश से युक्त है ॥ २२ ॥

**आभास —** एवं सर्वेषां गोकुलवासिनां वैयग्रमुपपाद्य सर्वसमर्थस्य भगवत एवङ्कुरणमनुचितमित्याशङ्क्य

**आभासार्थ —** सर्व समर्थ भगवान् को इस प्रकार सब गोकुलवासियों को व्याकुल करना वा उलझन में डालना योग्य नहीं था इस शंका का निवारण 'इत्थं स्वगोकुल' श्लोक से करते हैं।

श्लोकः — इत्थं स्वगोकुलमनन्यपतिं निरीक्ष्य सस्त्रीकुमारमतिदुःखितमात्महेतोः ॥

आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमानः स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात् ॥ २३ ॥

**श्लोकार्थ —** इस प्रकार भगवान् ने अच्छे प्रकार से देख लिया कि मेरा यह गोकुल मेरे बिना अन्य किसी की भी शरण नहीं लेता है । मैं एक ही इसका आश्रय हूँ अतः मेरे लिए ही जब स्त्री बालक सहित सर्व नन्दादि गोप दुःखी हैं तब मुझे भी विशेष समय तक इस स्थिति में नहीं रहना चाहिए ऐसे विचार, थोड़े समय तक इस स्थिति में रह कर, शीघ्र ही सर्प के बन्धन से स्वतः<sup>१</sup> छूट आए ॥ २३ ॥

**सुबोधिनी —** तत्समाधानार्थं भगवान् परीक्षां कृतवानित्याहेत्यमिति, परीक्षायां हेतुः स्वगोकुलमिति, स्वस्य गोकुलं परीक्षणीयमेव, अन्यथा कृतकरिष्यमाणयो- निरोधयोर्वैयर्थ्यं स्याद् यदि तेषु कृतकार्यं नोपलभ्येत, परीक्षया यत् सम्पन्नं तदाहानन्यपतिमिति, न विद्यतेऽन्यः पतिर्यस्य, जडत्वाद् गोकुलत्वेनान्यपत्यभाव एव निरूपितः, किञ्च सस्त्रीकुमारमात्महेतोरेतिदुःखितं निरीक्ष्य, स्त्रियः

साधारण्यः, कुमारा अतिबालाः तदन्वाज्ञाय विचार्य, भवत्येवमेवैतदिति निश्चित्य, ननु स्वतःसर्वज्ञस्य किं परीक्षयेत्याशङ्क्याह मर्त्यपदवीमनुवर्तमान इति, यथा तेषु मानुषभावेनैव निरोधं करोति तथा परीक्षामपि कृतवान्, अतो मुहूर्तं स्थित्वोरगबन्धात् सर्पबन्धनादुदतिष्ठदुत्थितः, निद्रापाये सृष्टिमिव कृतवानित्यर्थः ॥ २३ ॥

**व्याख्यार्थ —** यह गोकुल (गोकुल में रहने वाले सब मनुष्य पशु आदि) मेरी है क्योंकि मैंने इसका निरोध किया है अतः इसकी परीक्षा करनी आवश्यक है, यदि परीक्षा नहीं की गई तो कैसे पता लगेगा कि इनका जो निरोध किया वह सिद्ध है वा ये भूल गए हैं । परीक्षा से यदि यह ज्ञान हो जाए कि ये अब 'निरोध' में स्थित नहीं हैं, तो किया हुआ कार्य और जो करना है वह व्यर्थ है । इसलिए परीक्षा ली गई है । परीक्षा का परिणाम यह आया कि ये इतना कष्ट झेलते हुए भी दूसरे की शरण में नहीं गए हैं दूसरे की शरण नहीं जाने से दुःख के कारण जड़ बन गए हैं । भगवान् ने परीक्षा से यह निश्चय किया तथा स्त्री, बाल और आप सब दुःखी हैं यह देख विचार कर इनके दुःख को मिटाने के लिए स्वतः थोड़े ही काल में सर्प के बन्धन से छूट गए । भगवान् आप सर्वज्ञ हैं तब परीक्षा की क्या आवश्यकता थी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् ने यह मनुष्य के समान परीक्षा की है । इसलिए जैसे मनुष्य भाव से लीला करते हैं निरोध किया है वैसे ही उसी भाव से परीक्षा भी की है । जैसे शेषशय्या पर कुछ देर निद्रा लेते हैं और निद्रा की निवृत्ति होते ही सृष्टि करते हैं वैसे ही यहाँ भी थोड़ी देर नाग के बन्धन में बन्धन कर स्वतः उस बन्धन से छूट गए ॥ २३ ॥

आज्ञाय मर्त्यपदवीमनुवर्तमानः स्थित्वा मुहूर्तमुदतिष्ठदुरङ्गबन्धात् तत्प्रत्यमानात्,



**आभासार्थ** — कालीय ने भगवान् को छोड़ दिया उसके पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — तत्प्रथमवपुषा व्यथितात्मभोगस्त्यक्त्वोन्नमय्य कुपितः स्वफणान् भुजङ्गः ।

तस्थौ श्वसञ्छ्वसनरन्ध्रविषाम्बरीषस्तब्धेक्षणोल्मुकमुखो हरिमीक्षमाणः ॥ २४ ॥

**श्लोकार्थ** — (भगवान् को जब नाग ने अपनी पाश में जकड़ लिया तब वे अपने अंग को फुलाने लगे) भगवान् के शरीर के बढने से उस साँप का शरीर पीड़ित होने लगा (अर्थात् नसें टूटने लगी) जिससे उसने भगवान् को अपने बन्धन से छोड़ तो दिया किन्तु क्रोधित होकर विषैली फूँकारे नाक छिद्रों से फेंकने लगा तथा आवा (भट्टी) में तपाए हुए (खमरा के समान) लाल स्थिर नेत्रों से युक्त मुख से आग की लपटें निकालते हुए और श्रीकृष्ण को देखते हुए सामने खड़ा हो गया ।

**सुबोधिनी** — अत्र भारतादौ बलभद्रस्तुति-प्रबोधादिकं निरूपितं तत् कल्पान्तरीयं, तत्रांशावतारो मनुष्यभावापत्तिश्चेति केचित्, लीलयैव तथेत्यपरे, वस्तुतो यथा येन यत्र कारयति तथा स करोतीतिव्यवस्था, पूर्वं भगवान् सूक्ष्मः स्थितः पश्चात् पुष्टो जातस्तेन स्वयमेव वेष्टनानि भगवानीव जातानि, तदाह तेन भगवता प्रथमानं यद् वपुस्तेन कृत्वा व्यथित आत्माभोगो यस्य, एतादृशः शीघ्रं भगवन्तं परित्यज्य स्वफणानुन्नमय्य कुपितो भुजङ्गो

युद्धार्थं तस्थौ क्रोधे हि बलमधिकं भवतीति, स्थितिसमयेऽपि श्वसन् विषवायुं विमुञ्चन् स्थितः किञ्च श्वसनरन्ध्रविषाम्बरीषस्तब्धेक्षणोल्मुकमुखस्तस्य ह्यपरि पञ्च छिद्राणि नासे चक्षुषो मुखमिति, स्थानत्रयेऽपि स घोर इत्युच्यते, तत्र प्रथमं श्वसनरन्ध्रे विषं यस्य, अम्बरीषवद् भाष्ट्रग्निवत् स्तब्धे ईक्षणे यस्य, उल्मुकयुक्तं मुखं यस्य, एतादृशोऽपि हरिमीक्षमाणो भगवत्सान्निध्यात् स्वयमपि न ज्वलितः परं सम्मुखं स्थितः ॥ २४ ॥

**व्याख्यार्थ** — भारत आदि ग्रन्थों में कहा है कि जब भगवान् साँप से अपने को लपेटे जाकर निश्चेष्ट हो गए थे, तब बलरामजी ने भगवान् की स्तुति की है और उनको प्रबोध भी किया है (जगाया है) यह उन ग्रन्थों में कही हुई कथा किसी दूसरे कल्प की है । कितने ही कहते हैं कि उस कल्प में भगवान् अंशावतार थे और मानुष भाव ग्रहण किया था (दूसरों का कहना है कि भगवान् ने लीला से यों किया था) वास्तविक बात तो यह है कि भगवान् जहाँ, जैसे, जिससे जो कुछ कराते हैं वह (भगवान् की प्रेरणानुसार) वहाँ वैसा ही करता है । पहले (जब साँप ने आपको लपेटा था तब) आप सूक्ष्म थे पश्चात् (लपेटे जाने के कुछ समय के अनन्तर) स्थूल बन गए जिससे साँप के शरीर के बन्धन स्वतः मानों टूटने लगे और उस शरीर की स्थूलता से सर्प के शरीर में पीड़ा होने लगी, पीड़ा के कारण शीघ्र ही उसने भगवान् को छोड़ तो दिया किन्तु अपने फणों को ऊँचे कर क्रोधित होके लड़ने के लिए सामने खड़ा हो गया क्रोध इसलिए किया कि जब शरीर

में क्रोध उत्पन्न होता है तब शक्ति बढ़ जाती है । खड़े होने के समय भी सर्प अपने पाँच छिद्रों (२ नेत्र के २ नाक के और एक मुख) से भयावह दिखता था, जैसे नाक के छिद्रों से विष सहित वायु निकालता था, आँवा (भुनने के पात्र) के समान लाल स्तब्ध<sup>१</sup> नेत्रों से, मानो अग्नि आ रही है, इसी प्रकार जिसके मुख से भी आग उगली जा रही है वैसा वह काला कालीय हरि को देख रहा था । इस विषैली वायु एवं अग्नि से भगवान् को तो कुछ हो ही नहीं सकता था, किन्तु सर्प नष्ट हो जाता फिर भी वैसा नहीं हुआ, कारण कि, भगवान् की सन्निधि में खड़ा था इसलिए जला नहीं, भगवान् के सामने ही खड़ा रहा ॥ २४ ॥†

**आभास —** तदा भगवान् यत् कृतवान् तदाह तं जिह्वयेति,

**आभासार्थ —** उसके पश्चात् भगवान् ने जो किया वह इस श्लोक में कहते हैं ।

**श्लोक: —** तं जिह्वया द्विशिखया परिलेलिहानं द्वे सृक्किणी ह्यतिकरालविषाग्निदृष्टिम् ।

**क्रीडन्नमुं परिससार यथा खगेन्द्रो बभ्राम सोऽप्यवसरं प्रसमीक्षमाणः ॥२५॥**

**श्लोकार्थ —** दो शिखा वाली (दोहरी) जीभ से दोनों गलफरों को चाट रहा है ऐसे अति विकराल विषाग्नि से भरे हुए दृष्टि वाले इस सर्प के चारों ओर क्रीड़ा करते हुए भगवान् गरूड़ के समान फिरने लगे और वह भी अवसर देखता हुआ भगवान् के चारों ओर फिरने लगा ॥ २५ ॥

**सुबोधिनी —** द्विशिखया जिह्वया युगपदेव द्वे सृक्किणी परिलेलिहानं तं प्रसिद्धं कालीयमति-करालविषमेवाग्निदृष्टौ यस्य तादृशं सर्वप्रकारेण क्रोधमूर्छितं, कौतुकी भगवान् क्रीडन्नेवामुं परिससार, भगवतो निर्भयगमने दृष्टान्तं हेतुत्वेनाह यथा खगेन्द्र इति, न हि कस्यचिद् भक्ष्याद् भयमस्ति, दुष्टश्च भगवतो दाह्याः, न हि काष्ठाद् बहेर्भयं भवति, अतः स एव भगवतो भीतः युद्धार्थमेवावसरं प्रसमीक्षमाणो बभ्राम, प्रदक्षिणां बहुधा कृतवान् ॥ २५ ॥

**व्याख्यार्थ —** दो शिखा वाली (दोहरी) जीभ से दोनों होठों के भागों को चाटते हुए, अतिविकराल विषरूप अग्नि सहित दृष्टि वाले सर्व प्रकार क्रोध से बेसुध बने हुए उस प्रसिद्ध कालीय के चारों तरफ कौतुकी (विनोद करने वाले) भगवान् जैसे गरूड़ निर्भय हो फिरता है वैसे निर्भय फिरने लगे । जैसे काष्ठ से अग्नि को भय नहीं होता है । भक्ष्य<sup>२</sup> पदार्थ से भक्षक<sup>३</sup> को भय नहीं होता है,

† इस लीला के सम्बन्ध में भक्तवर सूरदासजी का एक सुन्दर पद इस अध्याय के अन्त में देखें ।

वैसे ही जो जलाए जाते हैं उनसे जलाने वाले को डर नहीं होता है इसी प्रकार दुष्टों को तो भगवान् जलाकर नष्ट करते हैं उनसे आपको भय कैसे होगा ? अतः आप निर्भय हो फिर रहे थे । वह ही डर रहा था, तो भी दुष्टता के कारण एवं अज्ञता से दाव देखता हुआ भगवान् के चारों ओर अनेक प्रकार से फिरने लगा ॥ २५ ॥

**आभास —** तदा भगवांस्तं निगृह्य तदुपरि नृत्यं कृतवानित्याहैवमिति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार फिरते समय भगवान् ने उसको पकड़ लिया और उस पर नृत्य करने लगे उसका वर्णन नीचे के इस श्लोक में करते हैं—

**श्लोक: —** एवं परिभ्रमहतौजसमुन्नतांसमानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढ आद्यः ।

तन्मूर्धरत्ननिकरस्पर्शातिताम्रपादाम्बुजोऽखिलकलादिगुर्त्ननर्त ॥ २६ ॥

**श्लोकार्थ —** वैसे फिरते फिरते, जब उसका (सर्प का) बल नष्ट हो गया, तब ऊँचे कन्धे वाले उसको (सर्प को) नमाकर, वे आदि पुरुष भगवान् उसके (चंचल) शिरों पर चढ़ गए और नृत्य करने लगे क्योंकि आप सर्व कलाओं के गुरु हैं । उस समय आपके चरण कमल उसके मस्तक के रत्नों के समूह से अतिशय लाल हो रहे थे ॥ २६ ॥

**सुबोधिनी —** ननु दुष्टः कथं नृत्यं कारितवान् ? तत्राह परिभ्रमहतौजसमिति, सर्पो हि परिभ्रमे व्यथां प्राप्नोति, अतो बहुधा परिभ्रमाद्धतौजा इव जातः, केवलमुन्नता अंसा यस्य तादृशमानम्य तमपि भागमधस्तात् कृत्वा तत्र द्वयोर्द्वौ पादौ निवेश्यान्यौ हस्ताभ्यां धृत्वानम्य तत्पृथुशिरःस्वधिरूढो जातः, ननु सर्पोऽयममङ्गलः कथं भगवता आरूढ इति चेत् तत्राह आद्य इति, स हि सर्वकर्ता सर्वस्यात्याद्यस्तस्यापि पिता भवत्यतस्तमारूढवानथ वा शेषशायी स हि सर्वदा सर्पमेवाह्य तिष्ठति, अतस्तस्य

सर्पारेहणेऽभ्यासात् तत्र स्थितः संस्तस्य मूर्धसु यानि रत्नानि तेषां निकरः समूहस्तस्य स्पर्शेनातिताम्रं पादाम्बुजं यस्यैतादृशः, पूजितचरण इव सन्तुष्टस्तत्पृथुशिरस्सु नर्त, ननु विषमशिरस्सु कथं नृत्यं कृतवान् ? तत्राह अखिलकलादिगुरुरिति, अखिलकलानामादिगुरुः, कलाकौशलानि यावन्ति लोके तानि सर्वाण्यनेनैव कृतान्युपदिष्टानि च, लोका रज्जौ पादुकासहिता नृत्यन्तो दृश्यन्ते तत्र किमाश्चर्यं स्थूलेषु बहुषु शिरस्सु नृत्यतीति ॥ २६ ॥

**व्याख्यार्थ —** यद्यपि कालीय सर्प दुष्ट होने के कारण भगवान् को अपने ऊपर नृत्य करने नहीं देता, किन्तु सर्प की शक्ति चक्रर काटने से नष्ट हो जाती है अतः इसने भी बहुत परिभ्रमण किया था जिससे इसकी शक्ति नष्ट हो गई थी, शक्ति हीन हो जाने से भगवान् के नृत्य में रुकावट डाल न सका । शक्ति हीन हो गया था किन्तु कन्धे ऊँचे थे उनको भगवान् ने नमा लिया । दो कन्धों के ऊपर दो पाद धर कर उनको नमाया और दो को हाथों से नीचे कर लिया अनन्तर उन विशाल

शिरों पर चढ़ गये । यद्यपि सर्प अमंगल है उस पर चढ़ना नहीं चाहिए किन्तु भगवान् सब के आदि होने से सब के पिता हैं तो सर्प के भी पिता हैं पिता के लिए कोई सन्तति अमंगल नहीं है और भगवान् सर्वदा शेषशायी हैं इस लिए आपको सर्प पर चढ़ने का अभ्यास भी है अतः वहाँ चढ़ गये । चढ़ने के अनन्तर सर्प के शिरों के रत्नों से आपके चरण लाल हो गए, जिससे आप उसको मानों अपनी पूजा समझ सन्तुष्ट हो गए अतः आप उन (शिरों) पर नृत्य करने लगे ।

कालीय के शिर सीधे नहीं थे और विषम<sup>१</sup> थे उन पर नृत्य कैसे किया ? इस शंका को मिटाने के लिए कहा है कि भगवान् ने ही सब नृत्य आदि कलाएँ संसार मात्र को सिखाई हैं अतः आप सम्पूर्ण कलाओं को सिखाने वाले आदि (पहले) गुरु हैं । जगत् में जब देखा जाता है कि रस्सी पर खड़ाऊँ पहनकर नाचते हैं तब इन स्थूल विशाल फणों पर नाचने में कौन सा आश्चर्य है ॥ २६ ॥

**आभास —** नृत्ये गीतवाद्ययोरङ्गत्वात् तदभावे नृत्यं विगुणं स्यादित्याशङ्क्याह तं नर्तुमुद्यतमिति,

**आभासार्थ —** नाच के समय यदि गीत और बाजे नहीं हो तो नृत्य में रस नहीं आता है इस शंका के होने पर यह श्लोक कहा गया है—

**श्लोक: —** तं नर्तुमुद्यतमवेक्ष्य तदा तदीयगन्धर्वसिद्धमुनिचारणदेववध्वः ।

**प्रीत्या मृदङ्गपणवानकवाद्यगीतपुष्पोपहारनुतिभिः सहसोपसेदुः ॥ २७ ॥**

**श्लोकार्थ —** जब आप नृत्य करने को उद्यत<sup>२</sup> हुए, तब आपको देख, भगवदीय गन्धर्व, सिद्ध मुनि, देव, चारण और अपसराएँ ये सब आनन्द पूर्वक मृदंग, पणव, आनक आदि बाजे, गीत और पुष्प, तथा भेट एवं स्तुति से सेवा करने के लिए तुरन्त उपस्थित हो गए ॥ २७ ॥

**सुबोधिनी —** सर्वत्र देवा भगवन्तं पश्यन्त एव तिष्ठन्ति, अत्रापि ते लौकिकानां सेवासामर्थ्यात् स्वयमेव सेवां कृतवन्त इत्याह नर्तुमुद्यतं भगवन्तमवेक्ष्य तदा तस्मिन् समये तदीया ये गन्धर्वादयस्ते प्रीत्या स्वस्य सेवाविनियोगं ज्ञात्वा मृदङ्गपणवानकानि वाद्यानि गीतानि पुष्पोपहाराः पुष्पवृष्टयो नुतिभिः स्तोत्रैः सहसा शीघ्रमेवोपसेदुरुपसन्नाः, नृत्ये हि प्रथमतो नान्दी तत्र देवतास्तुतिः पुष्पवृष्टिश्च कर्तव्या

तदनु वाद्यं गीतं च, तदत्रापि वाद्यगीतयोरारम्भं कृत्वानान्दी-  
-प्रकटनार्थं पुष्पवृष्टिर्भवत्येव, भगवन्तमेव च देवाधिदेवं स्तुवन्तः, अत्र क्रमो न विवक्षित इति ज्ञापयितुं सहसा शीघ्रमेवोपसेदुरित्युक्तं, गन्धर्वा गायकाः, सिद्धाः पुष्पवृष्टिकर्तारः, मुनयः स्तोत्रकर्तारः, चारणा वाद्यकाः, देववध्वोऽपसरसः सहनर्तक्यः, क्वचिदभिनय उभयोर्वह्नां च नृत्यं भवति तदोपकारस्तासाम् ॥ २७ ॥

**व्याख्यानार्थ** — देवता लोग सब स्थानों में भगवान् को देखते रहते हैं यहाँ भी उन्होंने देखा कि लौकिक मनुष्यों में भगवान् की सेवा करने का सामर्थ्य नहीं है इसलिए स्वयं सेवा करने के लिए उपस्थित हुए जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं-

भगवान् को नृत्य के लिए उद्यत देख कर उसी समय भगवदीय जो गन्धर्व आदि थे, वे अपने सेवा के विनियोग (सेवा में लगने का) अवसर देख, समझ, मृदंग, पणव और आनक आदि बाजे गीत (गाने) पुष्प वृष्टि तथा स्तोत्र आदि लेकर शीघ्र ही आकर वहाँ उपस्थित हुए । जब नृत्य आरम्भ करना होता है तब प्रथम नान्दी\* पश्चात् पुष्पों की वर्षा होती है उसके अनन्तर वाद्य (बाजे बजने) तथा गीत आदि की क्रिया की जाती है । यहाँ भी प्रथम वाद्य तथा गीत का प्रारम्भ कर नान्दी को प्रकट करने के लिए पुष्पवृष्टि होगी ही । यहाँ क्रम कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि देवों के भी अधिदेव भगवान् की स्तुति करनी है अतः कहा गया है कि शीघ्र ही वे वहाँ आकर पहुँचे ।

गन्धर्व (गानेवाले) व सिद्ध (पुष्प वर्षा करने वाले) मुनि (स्तुति करने वाले) चारण (बजाने वाले) देव वधू - अप्सराएँ (नृत्य करने वाली) ये सब सेवा करने के लिए प्रेम से आए हुए थे । नाटक में कभी दो का नृत्य होता है और कभी बहुतों का नाच दिखलाया जाता है, इसी प्रकार यहाँ भी उनका इस नृत्य में उपयोग होने से उपकार ही है ॥ २७ ॥

**आभास** — एवं नृत्ये क्रियमाणे यदासीत् तदाह यद्यदिति,

**आभासार्थ** — भगवान् के नृत्य करने से जो कुछ हुआ वह इस श्लोक में कहते हैं-

श्लोकः — यद्यच्छिरो न नमतेऽङ्ग शतैकशीर्ष्वास्तत्तन् ममर्द खलदण्डधरोद्घ्रिपातैः ।

क्षीणायुषो भ्रमत उल्बणमास्यतोसृङ् नस्तो वमन् परमकश्मलमाप नागः ॥ २८ ॥

**श्लोकार्थ** — हे अंग ! सौ मुख्य मस्तक वाले का जो, जो शिर नहीं नमता है (था) दुष्ट दमन करने वाले भगवान् अपने चरण प्रहार से<sup>१</sup> उसका दमन कर देते थे कालीय नाग की आयु क्षीण हो रही थी तब भी घूम रहा था उससे (घूमने से) उसके मुख तथा नासिका से रक्त बहने लगा जिससे उसको बहुत कष्ट होने लगा ॥ २८ ॥

\*नाटक में सूत्रधार आकर जो सर्वप्रथम मङ्गलाचरण से देवता की स्तुति करता है उसे नान्दी कहते हैं ।

**सुबोधिनी** — यद्यद्व कालीयस्य शिरो न नमते तदेव नामयन् दमयाम्बभूवेतिसम्बन्धः, शतं शतसङ्ख्याकान्येकानि प्रधानानि शीर्षाणि यस्य, एतादृशस्य कालीयस्य सर्वाण्येव शिरांसि प्रधानानीत्येकनमनेऽपि नान्येषां नमनं, अतः प्रत्येकं नामनं, अङ्गेतिसम्बोधनं स्नेहात्, आदौ यावन् नमनं न मन्त्रेऽन्यत्र स्थित एवाङ्घ्रिपातैर्नृत्ये गतिविशेषैस्ताल-समाप्तिस्थानेषु तस्मिन्नेवोच्चशिरसि पादप्रहारं करोति, ततः पादप्रहारधिया तन् नतमेव तिष्ठति, किञ्च न प्रहारमात्रं करोति किन्तु ममर्दं, पादेन मर्दनमपि करोति यथोपरिनिनी त्वम्

गच्छति द्वितीयप्रहारेऽधिकव्यथाजननार्थं, नन्वाक्लिष्टकर्मा किमित्येवं करोति ? तत्राह खलदण्डधरइति खलानां दण्डमयं बिभर्ति, अतो दण्डार्थमेवं करोतीत्यर्थः, ततः क्षीणायुषः क्षीणप्राणबलस्य मूर्छितस्य संधिरमुल्बणं जातं, तदन्तः स्थापयितुमशक्यमिति मुखान् नस्तो नासिकातश्च वमन् नागः परमकश्मलमाप, मूर्छा महती व्यथां वा, नागजातित्वान्न पलायते शूरा हि ते, क्षीणायुषो संधिरमुल्बणमिति भिन्नं वाक्यं सङ्घातपरं देहपरं वा, अन्यत् तु जीवपरम् ॥ २८ ॥

**व्याख्यानार्थ** — जो जो कालीय का शिर नहीं नमता था उसको ही भगवान् दमन<sup>१</sup> करते थे । कालीय के सौ शिर थे किन्तु प्रत्येक शिर मुख्य था अर्थात् स्वतंत्र था जिससे एक के दमन करने से दूसरे का दमन नहीं होता था, इसी कारण से भगवान् को हर एक शिर का दमन पृथक् पृथक् करना पड़ा । यहाँ अंग ! यह सम्बोधन स्नेह प्रकट करने के लिए दिया गया है यदि कालीय स्वतः अपने सिर को पहले ही नहीं नमा लेता था तो भगवान् अन्य शिर पर स्थित होते हुए ही नाच करते, जब ताल को लय की गति समाप्ति होने का समय आता तो उस के साथ आप अपने पाद के प्रहार से उस दूसरे उठाए हुए शिर को लात मारने के साथ कुचल भी देते थे जिस से वह डर कर पुनः उस शिर को ऊपर न उठाकर नीचे ही रखता था कुचलने से साँप की ऊपर की चमड़ी उखड़ जाती जिससे दूसरी बार लात मारने से विशेष पीड़ा हो तो यह अपने शिर को पुनः ऊँचा न उठावे । भगवान् तो क्लिष्ट (दुखः) देने वाले कर्म करते नहीं हैं फिर यहाँ वैसा कर्म क्यों किया ? इस शंका का उत्तर देते हैं कि भगवान् अक्लिष्ट कर्मा होने के साथ दुष्टों को दण्ड देने वाले भी हैं । अतः सर्प को दण्ड देने के लिए यों करते हैं । इस प्रकार दमन करने से उसकी प्राण शक्ति निर्बल होने से वह मूर्छित के समान हो गया और उसके नासिका तथा मुख से रक्त बहने लगा जिसे रोकने की शक्ति उस में नहीं रही थी । रक्त निकल जाने से उसको अत्यन्त कष्ट हुआ । अथवा बहुत मूर्छा आ गई । ऐसी दशा में भी वह इसलिए नहीं भागा कि सर्प जाति शूरावीर होती है, वीर युद्ध में मरना स्वीकार करते हैं किन्तु भागना नहीं चाहते हैं, इससे यह कालीय काला सर्प कैसे भागे । क्षीणबल वाले में रुधिर बढ़ गया यह वाक्य पृथक् है अर्थात् केवल देह से सम्बन्ध रखने वाला है । शेष अन्य वाक्य जीव से सम्बन्ध रखने वाले हैं ॥ २८ ॥

**आभास** — पूर्वश्लोक आधिभौतिकस्याध्यात्मिकस्य च दण्डो निरूपितः, आधिदैविकस्य दण्डमाह तस्याक्षिभिरिति-

**आभासार्थ** — पूर्वश्लोक २८ में आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक के दण्ड का वर्णन किया अब २९ में आधिदैविक के दण्ड का वर्णन करते हैं-

श्लोकः -- तस्याक्षिभिर्गरलमुद्रमतःशिरस्सु यद्यत् समुन्नमति निःश्वसतो कषोच्चैः ।

नृत्यन् पदानुनमयन् दमयाम्बभूव पुष्पैः सुपूजित इवेह पुमान् पुराणः ॥ २९ ॥

**श्लोकार्थ —** क्रोध से ऊँचा श्वास लेता और नेत्रों में से गरल<sup>१</sup> उगलता हुआ यह नाग, शिरों में से, जिस जिस शिर को उठाता है, उसी शिर को नृत्य करते हुए भगवान् ने अपने चरण से नमा कर सर्प का दमन<sup>२</sup> किया उस समय गन्धर्वादिक देवों ने जो पुष्प वृष्टि की उससे मानो भगवान् का यहाँ पूजन हुआ है । वैसा दृश्य देखने में आया ॥ २९ ॥

**सुबोधिनी —** तस्याक्षिभिरिति, नासिकामुखयोः रुधिरमेव विषप्रतिबन्धकं जातं, अक्षणोस्तु ज्ञानप्रधानत्वात् प्रतिबन्धकं न जातमिति यदाक्षिभिर्गरलमुद्रमति तादृशस्य शिरस्सु मध्ये यद्यत् समुन्नमति तत्तदेव पदानुनमयन् दमयाम्बभूव, आधिदैविकभावापन्नान्यपि कानिचिच्च छिन्नांसि, तान्येव वा पुनरुद्गतानि, गरलं स्वस्योपास्यं रूपं, तदग्रे करोति, पश्चात् तस्मिन्नापि प्रतिहते निःश्वसिति नातः परं निस्तार इति, तादृशं क्षीणमपि चेन् मारयति भगवांस्तदा मरणार्थं स्त्रोञ्चैर्भवति, सम्यगुन्नमतीत्यनेन देवताधिष्ठानं ज्ञापितं, आधिदैविके क्षीणे मरणार्थमुपस्थिते साक्षान्मरणभनुचितमिति नृत्यत्यदा नृत्यं कुर्वतेन नृत्यकरणभूतेन पदा, अनुनमयन् स्वसम्मुखतया नमनं कारयञ्छिक्षयन्निव दमयाम्बभूव

दमनं कारितवान्, स्वयमेव वा कृतवान् एवं दमनं कृत आधिदैविकस्योपास्यस्य भगवतो वाञ्छारस्य भवेत् तदा मर्यादाविरोधः स्यादित्याशङ्क्याह पुष्पैः सुपूजित इवेह पुमान् पुराण इति इहास्मिन्नवसरे पुष्पैः सुपूजित इव जात आध्यात्मिको भगवता सन्मार्गे शिक्षित इति तयोः सन्तोष एवातस्ताभ्यां पूजितो भगवान्, तौ ह्यलौकिकप्रकारेण दिव्यैः स्वतेजोभिः पूजां कृतवन्तौ, तानि पुष्पाणीव जातानि, तदाह पुष्पैरिव सुपूजित इति, उभयोः पूजायां प्रत्येकं हेतुमाह पुष्प इति, आधिदैविकपूजायां हेतुः, त्रयमपि प्राकृतमिवेति पुराणस्तूपास्यः पुरुषोत्तमो हि सर्वोपास्यरूपाणामप्युपास्यो यथा व्यासकपिलादेः, एवं मूर्छापर्यन्तं दण्डं कृतवानद्भुतकर्मत्वाच्च त्येनाविलाष्टकर्मत्वाच्च मारितवान् ॥ २९ ॥

**व्याख्यार्थ —** कालीय अब अपना विष नेत्रों द्वारा बाहिर निकालने लगा क्योंकि पहले तो रक्त विशेष होने से नासिका तथा मुख से वह बहने लगा था जिससे सर्प उन द्वारों से विष वमन नहीं कर सका कारण कि रुधिर ने विष के निकलने का मार्ग बन्द कर दिया था । नेत्र ज्ञान प्रधान थे अतः विष को निकलने से नहीं सका । आँखों से गरल वमन करने वाले के शिरों में से जो शिर ऊँचा उठता था उसको भगवान् चरण से मार कर दमन कर देते थे । इन सर्प के शिरों में जो शिर आधि\* दैविक भाव को प्राप्त हुए थे, वे ही फिर ऊँचे होते थे । ऊँचे होने की शक्ति उसके (सर्प के) उपाय स्वरूप गरल से उनमें आई हुई थी फिर वह शिर भी जब पादप्रहार से कुचल कर निबल हो जाता तब ठंडी साँस लेने

\* जिन शिरों में सर्प का उपास्य देव विष आ गया था वह शिर आधिदैविक भाव वाला हो गया था ।

लगता और समझ जाता कि अब कोई अन्य छुटकारा नहीं है। क्षीण होने पर भी, यदि भगवान् मारेंगे तो भले मारें, मरने के लिए स्वयं आगे आ जाता और क्रोध में भरकर शिर को अच्छी तरह ऊँचा करता। इससे यह जताता कि, यह शिर देवता का अधिष्ठान (रहने का स्थान) है। आधिदैविक बल भी क्षीण होने से, मरण के लिए उपस्थित (निकट आया) हुआ है किन्तु इसको साक्षात् मारना उचित (योग्य) नहीं है अतः भगवान् नाच करने वाले पाद से उसको सन्मुख कर फिर अपने को प्रणाम कराके एक शिक्षा† करते हुए उसका दमन कराने लगे अथवा स्वयं भगवान् ने ही दमन किया। इस प्रकार दमन करने से आधिदैविक (शेष) एवं (विष) उपास्य देवता की कोई अनिष्ट (अप्रसन्नता) न हो जाए यदि होगी तो यह कार्य मर्यादा के विरुद्ध हुआ कहा जाएगा। किसी को इस प्रकार शंका हो जाए तो उसका निवारण करते हुए कहते हैं कि इस अवसर पर भगवान् मानों पुष्पों से पूजे गए। आध्यात्मिक को भगवान् ने सन्मार्ग की शिक्षा† दी इससे आध्यात्मिक और आधिदैविक दोनों संतुष्ट हुए जिससे उन्होंने अलौकिक प्रकार से अर्थात् अपने दिव्य तेजों से भगवान् का पूजन किया वे तेज, पुष्प जैसे हो गए इसलिए कहा है कि पुष्पों से भगवान् की पूजा की।

दोनों ने भगवान् की आधिदैविक प्रकार से पूजा की प्रत्येक के पूजा का कारण यह है कि, भगवान् पुरुष हैं, श्लोक में केवल पुरुष न कहकर पुराण भी कहा है इस लिए जो पुराण पुरुष अर्थात् पुरुषोत्तम है तथा जिसकी व्यास कपिल आदि भी उपासना करते हैं वह सबों को पूजना चाहिए इस लिए जो तीन प्राकृत\* रूप उपास्य है वे भी उस की (पुरुषोत्तम की) उपासना करते हैं। अतः कालीय ने आध्यात्मिक तथा आधिदैविक दोनों रूपों से जो पूजा की वह उचित ही है।

भगवान् अद्भुत कर्मा हैं अतः मूर्च्छा‡ पर्यन्त दुष्ट कालीय को दण्ड दिया और अक्रिष्ट कर्मा होने के कारण नृत्य करते हुए दण्ड दिया, मारा नहीं ॥ २९ ॥

**आभास —** एवं सति भगवच्चरणारविन्दप्रसादात्तस्य ज्ञानभक्ती जाते इत्याह तच्चित्रेति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार नृत्य करने से भगवान् के चरणारविन्द के अनुग्रह से उसको (कालीय को) ज्ञान तथा भक्ति की प्राप्ति हुई, इस श्लोक में यह वर्णन किया है।

† ऐसे पवित्र स्थान पर जिस प्रकार का कार्य अब तू कर रहा है उस प्रकार नहीं करना चाहिए इस प्रकार की शिक्षा करते हुए।

\* एकादश स्कन्ध के २२वें अध्याय के इस श्लोक (ममांग माया) में लिखा है कि मेरी माया अनेक प्रकार की है इसलिए रूप में जो विकल्प बुद्धि होती है वह गुणों द्वारा होती है जिससे अध्यात्म, आधिदैव एवं अधिभूत कहा जाता है इत्यादि। 'प्रकाश'

‡ उससे इन्द्रियों का सामर्थ्य नष्ट हो गया। यह दण्ड आध्यात्मिक स्वरूप को दिया है। 'लेख'



श्लोकः — तच्चित्रताण्डवविरुग्णफणातपत्रो रक्तं मुखैरुरु वमन् नृप भग्नगात्रः ॥

स्मृत्वा चराचरगुरुं पुरुषं पुराणं नारायणं तमरणं मनसा जगाम ॥ ३० ॥

**श्लोकार्थ —** हे नृप ! भगवान् के विचित्र ताण्डव करने से जिसके फण रूप छत्र टूट पड़े ऐसा, वह नाग मुखों में से रक्त उगलता हुआ जब भग्नशरीर हो गया तब उसने श्रीकृष्णचन्द्र को चराचर के गुरु, पुराण पुरुष और नारायण समझ मन से उनकी शरण ली ॥ ३० ॥

सुबोधिनी — नन्वभिमाने विद्यमाने कथं ज्ञानम् तत्राह चित्रताण्डवेन विरुग्णा फणातपत्रं यस्येति, अभिमानस्य सूचकाः फणा एव श्वेतातपत्रस्थानीयाः, ते पुनर्विचित्रताण्डवेन विशेषेण भग्नाः, नृत्यं द्विविधं लास्यताण्डवभेदेन लास्यं स्त्रीनृत्यं ताण्डवं पुंस्वनृत्यं, तयोरवान्तरभेदाः शतशः सन्ति, तत्र रसाभिनिविष्टः पुंस्वः प्रलये महादेव इव विचितत्राण्डवं करोति तद् भगवतात्र तच्छिक्षार्थं कृतं, तेन विशेषेण भग्नफणातपत्रो जातः, ननु शरीरदोषे विद्यमान आध्यात्मिके भौतिके च कथं ज्ञानभक्ती भवत इत्याह रक्तं

मुखैरुरु वमन्निति, रुधिरमन्तर्दोषात्मकं, तद्वमन्तर्दोषो गतः, भग्नगात्रत्वाद् बहिर्दोषोपि, अतो निर्दुष्टो नारायणं स्मृतवान्, आधिदैविके हि शेषे स्वसम्बन्धिनि स शेषे, अत आधिदैविकेनोपकृतो नारायणं स्मृतवान्, उपास्येन च स एवायं नारायण इति ज्ञातवान्, तदा स्वस्य दासत्वमस्य भगवतः स्वामित्वं चाद्यत्वेन ज्ञात्वा तमेवारणं शरणं मनसा जगाम, मनसा हि नारायणः शरणत्वेन भावनीयः स ह्यन्तः-करणसाक्षी, शरणं गतो हि पश्चात् सेवया भक्तो भवति, ततः परं न प्रहार इति ज्ञातव्यम् ॥ ३० ॥

**व्याख्यानार्थ —** वह कालीय अभिमानी था उसको ज्ञान की प्राप्ति कैसे हुई ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे राजा को राजापन का अभिमान तब तक रहता है जब तक उसका श्वेत छत्र स्थापित है, उसके नष्ट होने पर, राजा का राजापन का अभिमान नष्ट हो जाता है, वैसे इसके फण रूप छत्र को, भगवान् ने विचित्र ताण्डवनृत्य करने से, विशेष भाँति भग्न<sup>१</sup> कर दिया जिससे उसका अभिमान भी नष्ट हो गया ।

नृत्य दो प्रकार के होते हैं, एक का नाम लास्य है और दूसरे का नाम ताण्डव है । लास्य नृत्य स्त्रियाँ करती हैं और ताण्डव पुरुषों का नृत्य है । उन नाचों के अनेक प्रकार हैं । उनमें, जैसे प्रलय के समय, विचित्र ताण्डव नृत्य कर महादेवजी उस रस में मग्न हो जाते हैं । वैसे ही पुरुष भी ताण्डव करता हुआ रस मग्न होता है । वह नृत्य भगवान् ने यहाँ उसकी (सर्प की) शिक्षा के लिए किया । अन्तःकरण का दोष रक्त है वह आध्यात्मिक दोष मुख से रक्त के वमन हो जाने से नष्ट हो गया और गात्रों के टूट जाने से, आधिभौतिक<sup>२</sup> दोष दूर हो गया । जिससे निर्दोष हो गया अतः अभिमान त्याग, नारायण स्मरण करने लगा । नारायण का स्मरण इसलिए किया कि नारायण, आधिदैविक शेष

पर शयन (स्थिति) करते हैं, क्योंकि वे अपने सम्बन्ध वाले हैं जिससे उस पर आधिदैविक का उपकार हो जाता है। इस उपकार से शुद्धान्तःकरण हां, नारायण की स्मृति करने लगा। निर्दोष होने पर भी जब तक महापुरुषों की कृपा नहीं होती, तब तक भगवत्स्मरण नहीं होता है कालीय निर्दोष हो गया किन्तु जब आधिदैविक ने उपकार किया, तब पूर्ण स्मरण करने लगा।

उपास्य की कृपा से, इसको (कालीय को), यह ज्ञान हो गया, कि वह ही यह पुरुषोत्तम है। ऐसा ज्ञान होने से अपने को दास समझ उनको स्वामी-मान और यह ही सबके आदि हैं यों निश्चय पूर्वक जान लेने से उनके ही शरण मन पूर्वक गया।

नारायण के शरण की भावना मन से ही करनी चाहिए क्योंकि वे अन्तःकरण के साक्षी हैं। इसलिए जब तक हम मन से शरण नहीं जायेंगे तब तक उससे फल सिद्धि नहीं होगी क्योंकि वे हमारे अन्तःकरण की सब बात जानते हैं। इस प्रकार शरण जाने के पीछे सेवा करने से भक्त बनता है। भक्त होने के पीछे प्रहार नहीं होता है यों समझ लेना चाहिए ॥ ३० ॥

**आभास —** अन्येन स एवं जात इत्यन्येनैव तस्य विमोचनं वक्तुं तस्य स्त्रियः समागता इत्याह कृष्णस्येति।

**आभासार्थ —** कालीय भगवान् की शरण अन्यो की प्रेरणा से आया था अतः उसको अन्यो ने ही छुड़ाया यह कहने के लिए उसकी (नागकी) स्त्रियाँ आई जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं-

**श्लोक: —** कृष्णस्य गर्भजगतोऽतिभरावसन्नं पार्श्विप्रहारपरिभग्नफणातपत्रम् ॥

**दृष्ट्वाहिमाद्यमुपसेदुस्मुष्य पत्न्य आर्ताः श्लथद्वसनभूषणकेशबन्धाः ॥ ३१ ॥**

**श्लोकार्थ —** उदर में स्थित समस्त जगत् के भारवाले भगवान् के बोझ से पीड़ित और उनको एड़ी के प्रहार से टूटे हुए फण रूप छत्र वाले कालीय नाग को देख जिनके वस्त्र, आभूषण और बालों की शोभा शिथिल हो गई है वैसी अत्यन्त आर्त<sup>१</sup> उसकी पत्नियाँ भगवान् के शरण आई ॥ ३१ ॥

सुबोधिनी — ता हि भर्तारं द्रष्टुमागताः पतिव्रता नार्यः, स्वधर्मैर्नैव तासां ज्ञानं, कृष्णस्य भारेणावसन्नं पीडितं भगवन्तमुपसेदुरितिसम्बन्धः, ननु बालकस्य भगवतः को भारः तत्रापि सच्चिदानन्दस्य स्थूलकार्यस्यैव भारत्वात् ? तत्राह

गर्भे जगद् यस्येति न ह्येकेन जगद्भारः सोढुं शक्यते, नन्वन्यैव भ्राता शेषः कथं सहते ? तत्रोक्तं परितो भग्नं फणातपत्रं यस्येति, न केवलं भगवान् भाररूपः किन्तु ारयति च, नन्वन्यस्य स्त्रियः कथं भगवत्स्थाने समागताः ? तत्राहाद्यमिति, स ह्यहेः स्वस्य च मूलभूतो भवति, किञ्चामुष्य पत्न्यः "पत्युर्नो यज्ञसंयोग" इति यज्ञसंयोग एवासां पत्नीत्वं, अयं च भगवान् यज्ञः, तत्र पतिः संयुक्तः

स्वयं चेदसंयुक्ताः स्युस्तदा पत्न्य एव न स्युः, किञ्चार्ताः पत्नीत्वादेव तस्यार्धशरीरं भवन्त्यतः स्वयमेव ताडिता अर्धमृता विज्ञापयन्ति, नन्वन्यस्य मारणे कथमन्यो मारित इव पीडितो भवेत् ? शास्त्रं तूपचरितार्थमिति मतं दूरीकुर्वस्तत्राधिकारे तथैव भवतीति ताडितचिह्नान्याह श्रूयन्ति वसनानि भूषणानि केशबन्धाश्च यासाम् ॥ ३१ ॥

**व्याख्यानार्थ —** नाग की स्त्रियाँ पतिव्रताएँ थीं, वे पति के दर्शन के लिए वहाँ आई थीं उनको ज्ञान पतिव्रत धर्म के पालन के बल से हुआ था । श्रीकृष्ण के बोझ से पीड़ित<sup>१</sup> तथा (वैसे) एड़ी के प्रहार से, जिसके फण रूप छत्र टूट गए हैं वैसे नाग को, उन्होंने (नाग पत्नियों ने) देखा । भगवान् के इस प्रकार की लीला से, जिसके अपने (देह के) तथा अभिमान के दोष शेष नष्ट हो गए हैं वैसे उसको देख, उसकी स्त्रियाँ दुःखित होने लगीं, अतः भगवान् के निकट शरण में आई ।

भगवान् के भार से पीड़ित<sup>१</sup> हुई, यह कहना असंगत है, कारण कि पीड़ा बोझ से होती है, बोझ स्थूल पदार्थ में होता है, स्थूल पदार्थ वह होता है जो पाँच भूतों में से बना हुआ हो । भगवान् का श्री अंग पँचभूतों से नहीं बना है अतः सूक्ष्म अलौकिक होने से, उसमें भार तो है ही नहीं, तब वह पीड़ित कैसे हुआ ? इसके उत्तर में कहते हैं कि देह के भार से पीड़ित नहीं हुआ किन्तु उदर में स्थित जगत् के भार से पीड़ित हुआ है अकेला इतना जगत् का भार कैसे सहन कर सकेगा इसलिए दुःखी हुआ है ।

इसका (कालीय का) भाई, शेष कैसे जगत् भार अकेले धारण करता है । जब वह धारण कर सकता है, तो यह क्यों न धारण करे । इस पर कहते हैं, कि उसकी (कालीय की) फणें भगवान् ने तोड़ डाली हैं, जिससे वह क्षीण हो गया है । क्षीण शक्ति वाला भार कैसे सहन कर सकेगा, केवल भगवान् का भार हो, तो किसी प्रकार वह सहन करने का प्रयत्न भी करे, किन्तु वे तो मारते भी थे ।

ये स्त्रियाँ, नाग की पत्नियाँ हैं, वे दूसरे के वहाँ, अर्थात् भगवान् के स्थान पर कैसे आई इस शंका को मिटाने के लिए कहते हैं कि वह (भगवान् कृष्ण) सर्प (कालीय) तथा उसकी स्त्रियाँ के आदि हैं । ये स्त्रियाँ कालीय की पत्नियाँ तब हो, जब वे, भगवान् से संयोग करें क्योंकि, 'पत्युर्नो यज्ञसंयोग' इस शास्त्र वचन के अनुसार पत्नीत्व तब होता है, इसको स्पष्ट कर समझाते हैं कि यह भगवान् यज्ञ रूप हैं उससे हमारे पति का (कालीय का) संयोग हुआ है । अब हम यज्ञ रूप भगवान् से संयोग न करें तो हम पत्नियाँ ही नहीं बनें । पत्नी होने से उसका (कालीय का) अर्धशरीर थी तब ही तो दुःखी

हुई जिससे वे बताती हैं, कि देखो हम भी उनसे (भगवान् से) ताड़ित होकर आधी मरी हो गई हैं ।

कोई कहें, कि यह आपका कहना सत्य नहीं है । क्योंकि एक के मारने से अन्य का मारा जाना कैसे माना जाए, जिससे दूसरे को पीड़ा हुई हो । उसका उत्तर देती हैं कि यह आपका मत, अनुभव से विरुद्ध है । शास्त्र ने जो पत्नी को पति का आधा अंग कहा है वह अलङ्कारिक भाषा नहीं है किन्तु सत्य वाक्य है । इसके प्रमाण में हम अपना अनुभव तथा चिह्न बताती हैं । मार खाने से हमारे शरीर दुबले हो गए हैं । जिससे हमारे वस्त्र, आभूषण और केश पाश सब शिथिल हो गए हैं ॥ ३१ ॥

**आभास** — आदिमध्यावसानेषु संयुक्तपदार्थानामपगमस्ताडनव्यतिरेकेण न सम्भवति तत्रापि मानवतीनां तासां भर्तृमोचनार्थं भर्तरि दयोत्पादनार्थं भर्तृबालकत्वं ज्ञापयन्त्यो भर्तृरूपान् बालकान् पुरस्कृत्योपायनमिव स्वसर्वस्वं भर्तृस्थापितं निवेद्य स्वयमपि भूमौ जल एवोद्गताधिदैविकभूमौ तीरस्थभूमौ वान्तर्हृदमध्ये प्रविष्टं भगवन्तं वात्मनिवेदनमिव कुर्वन्त्यो नमस्कारं कृत्वा भगवत्स्तोत्रं कृतवत्य इत्याह तास्तमिति,

**आभासार्थ** -- शरीर पर धारण किए हुए वस्त्र, मध्यमें पहने हुए आभूषण और मस्तक पर केशपाश जो अंगों से संबद्ध<sup>१</sup> थे, वे मार पड़े बिना कभी भी शिथिल नहीं पड़ते हैं और ये तो पतिव्रताएँ थीं इसलिए इनका शरीर तो हृष्ट पुष्ट रहता है अतः मार के कारण ही वैसा हुआ है । ये पतिव्रताएँ, पति को छुड़ाने के लिए पति पर भगवान् दया करें, ऐसे विचार भगवान् के हृदय में उत्पन्न कराने के लिए, यह हमारा बालक है वैसा जनाती हुई, भर्तृरूप बालकों को भेंट की तरह आगे कर, और पति के दिये हुए अपने सर्वस्व को भगवान् के आगे निवेदन कर, आप (नाग पत्नियाँ) भी हृद के मध्य पृथ्वी<sup>२</sup> पर प्रविष्ट हुए भगवान् को मानों आत्म-निवेदन (अर्पण के समान) करती हुई प्रणाम कर, उनकी स्तुति करने लगीं-इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं-

† (१) यमुनाजी के किनारे की भूमि (२) जल के भीतर उत्पन्न (निकली हुई) आधिदैविक भूमि और (३) हृद के नीचे की भूमि । इस प्रकार भूमि शब्द तीन प्रकार की भूमि बताता है । किन्तु भगवान् स्त्रियों की लज्जा रखने के लिए हृद के नीचे की भूमि पर, कालीय के साथ प्रविष्ट हुए ।

श्लोकः — तास्तं विपन्नमनसोऽथ पुरस्कृतार्थाः कायं निधाय भुवि भूतपतिं प्रणोमुः ॥

साध्व्यः कृताञ्जलिपुटाःशमलस्य भर्तुर्मोक्षेप्सवःशरणदं शरणं प्रपन्नाः ॥ ३२ ॥

**श्लोकार्थ —** उद्विग्न<sup>१</sup> मनवाली और पापी पति को दुःख से छुड़ाने की इच्छा वाली वे पतिव्रताएँ, अपने बच्चों को आगे कर, शरण देने वाले भगवान् की शरण में आकर हाथ जोड़ अपने शरीर को पृथ्वी पर (दण्डे की भाँति) धर के प्रणाम करने लगी ॥ ३२ ॥

**सुबोधिनी —** नन्वागता एव कथं न प्रार्थितवत्यः ? तदाह विपन्नमनस इति, विपन्नं मनो यासां, भगवान् मोक्षयिष्यतीति गतिविश्वासा भर्तुःपराधित्वात्, अतस्तं प्रकारं परित्यज्याथ भिन्नप्रकारेण स्तोत्रं कृतवत्यः, पुरस्कृता अर्था बालका याभिः संयुक्ता तु सामग्री पूर्वमेव गतातो भूमौ कायं निधाय, नन्वेतादृगवस्थायां कथं पुरुषान्तरे पतिताः ? तत्राह भूतपतिमिति, स हि भूतमात्रस्य पतिः साधारणः, तर्ह्येता

एवानुगृहीताः स्युस्तत्राह साध्व्य इति, ता हि भर्तृरूपमेव भगवन्तं सेवितुं वाञ्छन्ति नान्यप्रकारेण, अतः कृताञ्जलिपुटा अञ्जलि-बद्ध्वा देवतारूपत्वाद् दिव्यस्त्रीरूपा भर्तुः शमलस्य पापस्यापराधस्य च मोक्षे मोक्षण इच्छा यासां तादृश्यः सत्यो भगवान् शरणद इति शरणं प्रपन्नाः, स तु शरणागत इति भगवतैव न मारणीयस्तथापि तस्य पापं सहजं तमोरूप-मपराधश्च न गच्छतीत्येतासामुद्योगः ॥ ३२ ॥

**व्याख्यार्थ —** उनको (नाग पत्नियों को) आते ही भगवान् को प्रार्थना करनी चाहिए थी, किन्तु चिन्ताग्रस्त मन होने से उनको यह विश्वास नहीं हुआ कि हमारे इस अपराधी पापी पति को भगवान् छोड़ेंगे या नहीं ? अतः प्रथम प्रार्थना न कर, अन्य प्रकार से स्तुति करने लगी । जिन्होंने बालकों को आगे कर रखा है इसलिए कि ये हमारे बालक हैं इनको देख कर भगवान् को दया आएगी । और संयुक्त सामग्री तो पहले ही भगवान् के पास जा चुकी थी । अतः पृथ्वी पर शरीर को दण्डवत् धर दिया । ये पतिव्रताएँ थी इनको पर पुरुषों के पास इस प्रकार लेट जाना योग्य नहीं था । इस शंका के मिटाने के लिए कहा है कि ये पर पुरुष के पास नहीं नमी थीं किन्तु जिनके आगे नमी थीं वे समस्त भूतों के पति हैं, पति होने से इनके ऊपर भी अनुग्रह करेंगे और साथ में ये साध्वी (पति के साथ छाया के समान रहनेवाली पतिव्रताएँ) हैं । इन्होंने भगवान् की जो प्रणाम रूप से, सेवा की है, वह भगवान् को पति समझ कर ही की है, न कि अन्य प्रकार से अर्थात् पर पुरुष समझकर नहीं की है । अतः हाथ जोड़ कर देवता रूप होने से, वे दिव्य (अलौकिक) रूपस्त्रियाँ अपने पति के पाप तथा अपराध को क्षमा कराना चाहती थीं । इन्होंने जान लिया कि भगवान् शरण्य (शरण आए हुए पर दया करने वाले) हैं इसलिए उनके शरण गईं । वह (सर्प) तो शरण आया हुआ ही था भगवान् उसको तो मारेंगे नहीं किन्तु वह सहज (स्वभाव से) पापी है क्यों कि तमोरूप है और इसी कारण से भगवान्

का अब अपराधी हुआ है। इस पाप तथा अपराध का जाना कठिन है इसलिए ही नाग पत्नियों का उद्यम है ॥ ३२ ॥

कारिका — दण्डानुमोदनं षड्भिर्नमनं दशभिस्तथा ।  
 प्रार्थना पञ्चभिश्चेति त्रेधा स्तुतिस्तीर्यते ॥ १ ॥  
 द्विविधस्यापि पापस्य सापराधस्य नाशिका ।  
 भगवान् षड्गुणस्तास्तु दशधा पञ्चधा पतिः ॥ २ ॥

कारिकार्थ — छः श्लोकों से दण्ड का समर्थन, दश श्लोकों से प्रणाम, पाँच श्लोकों से प्रार्थना, इस प्रकार तीन भाँति स्तुति कही जाती है ॥ १ ॥

वह स्तुति, अपराध तथा दो प्रकार के पापों को, नाश करने वाली है, उनके (नाग पत्नियों के) हृदय में भगवान् छः गुणों से प्रकट हुए हैं और पाँच प्रकार से उनके पति हैं ॥ २ ॥

कारिका व्याख्यार्थ — नाग पत्नीओं ने भगवान् की तीन भाँति इक्कीस श्लोकों में स्तुति की है। पहला प्रकार छः श्लोकों (३३ से ३८) में जो स्तुति की, उसमें भगवान् ने जो कालीय को दण्ड दिया उसका अनुमोदन (आपने इसको दण्ड दिया वह अच्छा किया इस प्रकार के वचन कहने से) किया। दूसरा प्रकार दश श्लोकों (३९ से ४८) में जो स्तुति की उसमें भगवान् को प्रणाम किया है कारण कि उनके हृदय में दशलीला युक्त भगवान् का आविर्भाव हो गया था। तीसरा प्रकार पाँच श्लोकों (४९ से ५३) में जो स्तुति की वह प्रार्थना रूप में की है। उस (प्रार्थना) का पाँच श्लोकों में करने का तात्पर्य (भाव) यह है कि भगवान् पाँच प्रकार से पति हैं।

१-श्रियः पतिः, २-यज्ञ पतिः, ३-प्रजापतिः, ४-धियापतिः, ५-लोकपतिः, अतः इनके भी पति हैं-अतः उनको प्रार्थना करना योग्य है यह भी इससे बता दिया है ॥ १ ॥

नाग पत्नियों ने भगवान् की स्तुति इस आशय से की है कि, हमारे पति के तीन प्रकार के दोष नष्ट हो जावें।

१-सहज दोष, देह के साथ (जन्म से) उत्पन्न हुए वे दोष हैं अतः वे स्वाभाविक दोष कहे जाते हैं।

∴ लक्ष्मी के पति हैं, यज्ञ के पति हैं, प्रजा के पति हैं, बुद्धि के पति हैं, और लोक-धरा के पति हैं। इस प्रकार पाँचों के पति हैं, लोक और धरा एक ही मान पाँच के पति कहे हैं। लोक में नागपत्नियाँ तथा सर्प के भी पति हैं क्योंकि लोक में ये भी आ जाते हैं।

२-तमोरूप वा अज्ञान रूप है जिस के कारण वह प्रतिदिन अपने विष से प्राणियों को नाश करता था ।

३-भगवान् को दंश (डसने) से पीड़ा पहुँचाना और उनको लपेट लेना, उनका यह (भगवान् का) अपराध किया है अतः यह तीसरा दोष है ।

इस प्रकार वह तीन तरह से दोषी था जिससे उन तीनों दोषों की निवृत्ति एक प्रकार की स्तुति से नहीं हो सकती है इसलिए उन तीनों की निवृत्ति के लिए पृथक् पृथक् प्रकार से स्तुति की है ॥

॥ इति कारिका व्याख्या सार ॥

**आभास —** तत्र प्रथमं भगवत्कृतस्य दण्डत्वं स्वीकृत्य तस्य न्याय्यत्वमाहुर्न्याय्यो हि दण्ड इति.

**आभासार्थ —** नाग पत्नियाँ निम्न श्लोक में कहती हैं कि भगवान् ने जो दण्ड दिया है वह न्याय के अनुसार है ।

॥ नागपत्न्य ऊचुः ॥

**श्लोकः —** न्याय्यो हि दण्डः कृतकिल्बिषेऽस्मिस्तवावतारः खलनिग्रहाय ।

**रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टेर्धत्से दमं फलमेवानुशंसन् ॥ ३३ ॥**

**श्लोकार्थ —** नाग पत्नियाँ कहने लगी कि - इस पापी (अपराधी) को जो आपने दण्ड दिया है वह न्याय किया है । आपका अवतार दुष्टों को दण्ड देने के लिए ही है । आप जो कुछ दण्ड देते हैं वह फल का विचार करके देते हैं, कारण कि, आप शत्रु तथा पुत्र को एक समान देखते हैं ॥ ३३ ॥

**सुबोधिनी —** अयं मारणलक्षणो दण्डो न्यायादनयेतः, ईक्षते हि त्रिविधदण्डं करोति न्याय्यं न्यूनमधिकं च प्रसादमर्धदेश्वरत्वधर्मास्तत्र प्रयोजकाः, तत्रायं न्याय्यः, कृतं किल्बिषं पापं येन, अनेन बहव एव विहिंसिता इत्येतद्व्याप्युचितैव, ननु पापे दण्डधरो यमोऽस्ति मया कथं न दण्ड्यः इति चेत् तत्राहुस्तवावतारः खलनिग्रहायेति,

खला हि निरन्तरं दोषकर्तारो बहुजीविनश्च, मरणानन्तरमेव यमोऽधिकारी तावत्पर्यन्तमुपेक्षायां सर्वनाश एव स्यात्, अतः खलानां निग्रहार्थमेव भगवान् मध्येऽवतीर्णः, ननु तथापि कश्यपपुत्रोऽयं शेषभ्राता कथं दण्ड्य इति चेत् तत्राहु रिपोः सुतानामपि तुल्यदृष्टेरिति, न ह्यवतीर्णः सम्बन्धमपेक्षते दण्डार्थमेव ह्यवताराद् रिपोः सुतानां स्वसुतानां च

सम्बन्धिनी तद्विषयिका भगवतस्तुल्यैव दृष्टिः, अन्यथाकरणे तस्याग्रे सत्फलमेवानुशंसन् दमं करोति, तदाह धत्से दमं  
वैषम्यं स्यात्, रिपोः सम्बन्धिनी सुतसम्बन्धिनी वा सप्तम्यर्थे फलमेवानुशंसन्निति, अतोऽस्याग्रे फलं भविष्यतीति दण्डेन  
वा पष्ठी, किञ्च भगवान् दण्डं न पीडार्थं करोति तथा विनिश्चितम् ॥ ३३ ॥  
सत्यात्मत्वं भज्येताद्यत्वं च किन्तु भगवान् पुत्रमिव

**व्याख्यार्थ** — इसको जो आपने पीटा है वह न्याय युक्त है। ईश्वर में तीन प्रकार के धर्म हैं, १ प्रसाद, २-मर्यादा और ३-अनुग्रह। अतः दण्ड भी तीन प्रकार करते हैं १-न्याय (पूरा) २-कम, और तीसरा अधिक। इनमें से दण्ड न्याय्य है कारण कि इसने बहुतों की हिंसा कर अनेक पाप किए हैं इसलिए इसका इस प्रकार दमन करना उचित ही है। आप यों नहीं कहना कि पाप का दण्ड देना तो यम के अधिकार की बात है मेरे अधिकार की नहीं है। क्योंकि आपने अवतार ही खलौं (दुष्ट पापियों) के दमन करने के लिए लिया है कारण कि, यदि आप इस प्रकार मध्यमें ही अवतार लेकर खलौं का निग्रह नहीं करो तो, ये खल बड़ी आयु वाले होने से अपने कर्मों से संसार को नष्ट कर देते। यम तो मरने के अनन्तर दुष्टों को दण्ड देने का अधिकारी है। अतः आप जगत् की रक्षा के लिए मध्य में अवतार लेकर खलौं को दण्ड देकर अपना जगत् रक्षक (पालक पिता) का धर्म पालन करते हैं।

यदि आप कहो कि यह (कालीय) तो कश्यप का पुत्र और शेष का भ्राता है वह दण्ड के योग्य कैसे? यह आपका कहना आपके सहज धर्म के अनुकूल नहीं है क्योंकि आपका सहज धर्म, शत्रु और पुत्रों को समान देखना है अतः यह कश्यप का पुत्र हो, वा शेष का भाई हो, तो भी, अपराधी होने के कारण, आपसे दण्ड्य<sup>१</sup> ही है। नहीं तो आपका सहज धर्म, समदृष्टि रहेगी नहीं। इसको यदि आप दण्ड नहीं देते तो आप विषम<sup>२</sup> दृष्टि वाले कहे जाते।

भगवान् सब की आत्मा और आदि है अतः किसी को भी दण्ड, पीड़ा<sup>३</sup> देने के लिए नहीं देते हैं यदि पीड़ा देने के लिए देवें तो उनका अन्नापन तथा आदि कारण रहे नहीं। यदि पीड़ा के लिए नहीं देते हैं तो किस लिए देते हैं। उसके उत्तर में कहते हैं कि, पहले विचार करते हैं, कि इस को ऐसा दण्ड दूँ, जिससे, इसका हित होवे, यह फल विचार कर, पश्चात् उसी प्रकार का उसको वैसा दण्ड देते हैं ॥ ३३ ॥

† यहाँ मूल में (रिपोः सुतानां) ये दो पद पष्ठी विभक्ति में है किन्तु यह पष्ठी सप्तमी के अर्थ में ही है। अतः इनका अर्थ सप्तमी के समान होगा। अर्थात् इसका अर्थ होगा - शत्रु और पुत्रों पर एक ही दृष्टि रखते हैं ॥ सु.॥



**आभास —** एवं भगवत्कृतस्य दण्डत्वमङ्गीकृत्येदानीं दण्ड एवायं न भवति किन्त्वनुग्रह एवेत्याहुर्नुग्रह इति,

**आभासार्थ —** उपरोक्त ३३वें श्लोक में भगवान् ने जो सर्प का दमन किया उसको दण्ड स्वीकार किया है, अब इस ३४वें श्लोक में उस दण्ड के लिए कहती हैं कि वास्तव में वह दण्ड होते हुए भी आपका अनुग्रह ही है ।

**श्लोक: —** अनुग्रहोऽयं भवतः कृतोऽहिनी दण्डोऽसतां ते खलु कल्मषापहः ।

**यद् दन्दशूकत्वममुष्य देहिनः क्रोधोऽपि तेऽनुग्रह एव सम्मतः ॥ ३४ ॥**

**श्लोकार्थ —** आपने सर्प के ऊपर अनुग्रह ही किया है क्यों कि आप जो दण्ड करते हैं वह पापियों के पाप को नाश करने वाला है । यह जिस पाप के कारण सर्प योनि में आया है (वह पाप इस दण्ड से नष्ट हो गया है) सत्पुरुष आपके क्रोध को अनुग्रह ही मानते हैं ॥ ३४ ॥

**सुबोधिनी —** भवतायमनुग्रह एव कृतः, अहिनीहेः, अप्रयोजकत्वात्त्रपुंसकत्वं, ततो नुम्, अतो वानुग्रहः, अहीनी वानुग्रहः, ननु दुःखात्मकस्यास्य कथमनुग्रहरूपत्वम् ? तत्राहुर्दण्डोऽसतां खलु कल्मषापह इति, दण्डो भगवानिति भारते व्यवस्थापितं, अतः क्लेशरूपोऽपि तपोवद् यागवद् दण्डोऽपि कल्मषनाशक इत्यनुग्रह एव, ननु पापस्य प्रत्यहं जायमानस्य दीपेनान्धकारस्येव निवृत्तिरप्यप्रयोजिकान्यथा दुःखनिवारणार्थं कोऽपि पापं न कुर्याद् दण्डापेक्षया पूर्वदुःख-

स्यैवाल्पत्वादत आह यद् दन्दशूकत्वमिति, आदावसत्त्व-प्रतिपादकत्वं तस्योक्तमेव तद्गतेन सत्त्वं भवतीति च सिद्धं, दन्दशूकत्वं सर्पत्वमपि जातं तदपि गच्छति चेद् दन्दशूकत्वमपि गच्छेत् ततो देहिन इतिशब्दाद् देहसम्बन्धस्तदभिमानश्च गच्छेत् अतो बह्वर्थसाधकदण्डस्य हेतुभूतः क्रोधोऽप्यनुग्रह एव, न केवलं युक्तिमात्रं किन्तु सम्मतः सतां मतः सर्वाविप्रतिपन्नरूपः, अतो दण्डो दण्डहेतुः क्रोधश्चानुग्रह एव ॥ ३४ ॥

**व्याख्यार्थ —** आपने इस सर्प\* पर अनुग्रह ही किया । साधारण अनुग्रह नहीं किया है, किन्तु विशेष

\* श्लोक में (अहिनः) पद है यों (अहि) शब्द पुल्लिङ्ग का है उसको नपुंसकलिङ्ग में देने का भाव यह है कि यहाँ दिखाना है कि 'सर्प' का पौरुष (पुरुष पने का बल) यहाँ चल नहीं सका है अतः यह नपुंसक है । आचार्य श्री कहते हैं कि यदि (अहिनः) स्थान पर (अहीनः) पद मान लिया जाय और वह 'अनुग्रह' का विशेषण समझ कर अर्थ किया जाय कि आपका सर्प के उपर यह अनुग्रह स्वल्प (थोड़ा) नहीं है किन्तु विशेष है ।

अनुग्रह किया है। जिस दण्ड के मिलने से दुःख होता है, वह दण्ड का अनुग्रह है, इस प्रकार आप कैसे कहती हो ? इसके उत्तर में कहती हैं कि भारत में (दण्ड) को भगवान् का ही रूप सिद्ध किया है क्योंकि जैसे भगवान् पापी के पापों को नाश करते हैं वैसे ही दण्ड क्लेश रूप होते हुए भी तपस्या तथा याग के समान पाप को नाश करता है, अतः हम कहती हैं कि यह दण्ड, दण्ड रूप आप, भगवान् का, अनुग्रह ही है।

पाप तो नित्य होते ही हैं, उनकी निवृत्ति<sup>१</sup> के लिए दण्ड सहन करना निरर्थक<sup>२</sup> है क्योंकि जैसे दीपक से अन्धेरा मिटाने पर भी अन्धेरा सर्वथा निवृत्त नहीं होता है, क्योंकि अन्धकार का कारण रात्रि विद्यमान है। यदि पाप पुनः उत्पन्न न होवे, तो उनके मिटाने के लिए दण्ड सहन करना युक्त है, किन्तु वैसा होता नहीं है, अर्थात् दण्ड सहन करने के अनन्तर, पुनः पाप किए जाते हैं। सांसारिक धनाभाव आदि दुःखों से छूटने के लिए प्राणी अनेक प्रकार के पाप करते हैं, यदि पापों से छूटने के लिए दण्ड रूप दुःख भोगा जाय और उसके भोगने पर, पुनः पाप न किए जावें तो वह दुःख का भोगा जाना सार्थक है, किन्तु दण्ड रूप दुःख भोगने पर भी पाप प्रवृत्ति की निवृत्ति नहीं होती है, तो दण्ड रूप दुःख भोगने से, वे सांसारिक दुःख स्वल्प है, अतः वे ही भोगे जाने अच्छे हैं। इस शंका को मिटाने के लिए कहती हैं कि इस (कालीय) को जो सर्प योनि मिली है उसके मिलने का कारण पाप है। उन पापों को मिटाने वाला आपका किया हुआ यह दण्ड है। इस दण्ड से, इसके पाप मिट जाने से, यह असत् है, वह सत् हो जाएगा, जिससे इस देह का सम्बन्ध एवं उससे उत्पन्न अहंकार भी नष्ट हो जाएगा। अतः बहुत अर्थों (कार्यों) को सिद्ध करने वाला यह आपका दिया हुआ दण्ड तथा दण्ड का कारण क्रोध, दोनों ही अनुग्रह रूप हैं। यह केवल युक्ति से हम नहीं कहती हैं किंच सर्व सत्पुरुषों का यह सिद्धान्त है, कोई भी सत्पुरुष इसका विरोध नहीं करते हैं।

**आभास —** किञ्चास्तां दण्डप्रसादवार्ता, एकमत्यन्तमाश्चर्यं प्रतिभाति यदस्मिन् नृत्यं कृतवानिति तत्र हेतुं न जानीम इत्याहुस्तपः सुतप्तमिति,

**आभासार्थ —** यह दण्ड अनुग्रह है इसको तो हमने समझ लिया किन्तु आपने इसके ऊपर जो नृत्य किया वह क्यों किया ? उसका हमको बहुत आश्चर्य है इसको हम समझ नहीं सकती हैं— इस अपने विचार को निम्न श्लोक में कहती हैं—

**श्लोकः —** तपः सुतप्तं किमनेन पूर्वं निरस्तमानेन च मानदेन ।

धर्मोऽथ वा सर्वजनानुकम्पया यतो भवांस्तुष्यति सर्वजीवः ॥ ३५ ॥

**श्लोकार्थ —** इसने पूर्व जन्म में ऐसा क्या तप किया है, जिससे सबको जिलाने वाले आप, इस पर प्रसन्न हुए हैं, अवश्य इसने मान छोड़, दूसरों को मान दिया है और सब पर दया भी की है इस प्रकार धर्म तथा तप करने के कारण ही आप इस पर प्रसन्न हुए हो ॥ ३५ ॥

**सुबोधिनी —** धर्मो द्विविधः प्रवृत्तिलक्षणो निवृत्तिलक्षणश्च तत्र निवृत्तिलक्षणो धर्मस्तपो विद्यमानस्यैवासत्सम्बन्धस्य त्याजकत्वात्, अत एव “यदा वै दीक्षितः कृशो भवत्यथ मेध्यो भवती” त्यादिवाक्यानि सम्पादकस्तु प्रवृत्तिलक्षणो धर्म इत्युच्यते, एकस्तु दोषनिवृत्त्या विद्यमानमेव फलं प्रकटी-करोत्यपरस्तु दोषचिन्तां परित्यज्यागन्तुकं फलं साधयति, भगवांस्त्वात्मा ईश्वरश्च ज्ञानप्रसादो भक्तिप्रसादश्च, तत्राद्ये पक्षे तपसा ये दूरीकर्तुमशक्या दोषास्तेषु विद्यमानेषु तपसा न निवृत्तिः सम्पादयितुं शक्या, स दोषस्त्वहङ्कारात्मकः, यस्तपसा न गच्छति प्रत्युताहं तपस्वीत्यधिक एवाहङ्कारो भवति, तदर्थमाह किं वा नेन लोकोत्तरं तपस्तप्तमिति येन भवान् परमात्मा तुष्यति ? तोषान्यथानुपपत्त्या तादृशमपि तपोऽस्तीति कल्प्यते, तत्रापि तप्तं, देशकालादिसाधनानि सम्यग्जातानि प्रकारश्च, अन्यथा पङ्गुणो भगवान् न तुष्येत्, परं दोषान्तरनिराकरणार्थं धर्मद्वयमपेक्षते, तदाह निरस्तमानेन च मानदेनेति, स्वयं निरभिमानो महानप्यन्यस्मै हीनायापि मानं प्रयच्छति, तदाह स्वकृतः परकृतश्चाभिमानौ गच्छतः, यद्यप्यस्य पक्षस्य

तोषजनकत्वमस्ति तथापि यावता भगवान् नृत्वं तावतोपजनकत्वं न भवतीति पक्षान्तरमाह धर्मोऽथ केने, प्रथम-पक्षे बहिस्तोषरूपनृत्वहेतुत्वं नोपपद्यतेऽत उभयमपेक्षितं, वाशब्दः समुच्चये वाशब्दप्रयोगाच्चैवं ज्ञायते तपो निवृत्तिलक्षणो धर्मोऽस्तु न वा बहिस्तोषहेतुरवश्यमपेक्ष्यते, अथेति भिन्नप्रक्रमे तेन धर्मशास्त्रानुसारेण धर्मो नैतादृशं फलं साधयति किन्तु भगवच्छास्त्रानुसारेणैव, तत्राप्येको दोषः परिहरणीयः, द्रव्यमयश्चेत् परोपद्रवकारी क्रियामयश्चेदात्मोपद्रवकारी ज्ञानमयश्च तथा, अयमेवा-परितोषस्तपसि, अतस्तदोषपरिहारार्थमाह सर्वजनानु-कम्पयेति, सर्वजनेषु यानुकम्पा यत्र स्वपरद्रोह सम्भावना नास्ति, भगवच्छ्रवणकीर्तनादौ, तत्रापि कीर्तने, ननु भगवतोषहेतुषु परिचर्यादिरूपेषु भगवद्धर्मेषु सत्सु कथमयमेव सर्वोपकारी धर्मस्तोषहेतुरिति चेत् तत्राह सर्वजीव इति, सर्वांश्च जीवयतीति सर्वजीवः सर्वे वा जीवा यस्माद्विद्धि वा, सर्वेषां जीवात्मरूपो वा, अतः सर्वोपकारिणि धर्मे तोष उचितः यतो भगवान् सर्वजीवः, अनेनैवापराधाभावोऽपि सूचितः, योनिजीवस्यभावकर्मणां विरुद्धत्वादाश्चर्यम् ॥ ३५ ॥

**व्याख्यार्थ —** शास्त्रों में धर्म दो प्रकार के कहे हैं । एक प्रवृत्ति रूप धर्म और दूसरा निवृत्ति रूप धर्म । इनमें से निवृत्ति रूप धर्म तपस्या है, क्योंकि, वह (तपस्या) धर्म, असत् (लौकिक, धन, पुत्र आदि से सम्बन्ध) है उसको छोड़ाता है । अतः निवृत्ति रूप है । जैसे कहा है कि (‘यदा वै दीक्षितः कृशो भवति अथ मेध्यो भवति’) जब दीक्षित कृशः (निर्बल) हो जाता है तब वह पवित्र हो जाता है ।

‘प्रवृत्ति’ रूप धर्म दोषों की चिन्ता छोड़ाकर नवीन फल प्राप्त कराता है, जिससे प्राणी उस फल को पाकर उसमें आसक्त हो, उसको भोगता है ।

निवृत्ति' रूप धर्म दोषों को मिटाकर प्रथम जो था वही फल प्रकट करता है ।

भगवान् तो ईश्वर (सर्व समर्थ) हैं तथा सबकी आत्मा है अतः ज्ञान तथा भक्ति से प्रसन्न होते हैं ।

प्रथम पक्ष (निवृत्ति पक्ष) - यहपि 'तपस्या' निवृत्ति धर्म सिद्ध करने वाली है तो भी उससे सर्व दोषों की निवृत्ति नहीं होती है जब तक सर्व दोषों का नाश नहीं होता है तब तक निवृत्ति धर्म सिद्ध नहीं होता है । जैसे कि अहंकार दोष तपस्या से मिटता तो नहीं है किन्तु बढ़ता है कि मैं तपस्वी हूँ । जब तप से सर्व दोषों की निवृत्ति नहीं हुई तो भगवान् की प्रसन्नता कैसे होगी ? हम देखते हैं कि इस पर आप प्रसन्न हैं, इससे अनुमान है कि इस साधारण तपस्या से दूसरी कोई विशेष तपस्या है जिसको इसने किया है जिससे इस पर आप प्रसन्न हुए हैं । आप के प्रसन्न होने की कोई अन्य प्रकार की उपपत्ति नहीं है ।

वह विशेष तपस्या भी साधारण प्रकार से नहीं की है किन्तु अच्छे प्रकार से की है । अर्थात् देश काल आदि सर्व साधन उत्तम थे और तप करने का प्रकार भी श्रेष्ठ था यदि इस प्रकार न होते तो भगवान् (आप) प्रसन्न नहीं होते ।

अन्य दोषों को मिटाने के लिए दो धर्मों की आवश्यकता रहती है । एक स्वयं निरभिमान होना और अपने से जो हीन हैं उन से भी नम्र होकर व्यवहार करना यों करने से अपने आप जो अहंकार होता है वह नष्ट होता है और दूसरों के द्वारा आदर किये जाने से जो अहंकार उत्पन्न होता है, उसका भी नाश होता है । जब ये दो धर्म भी सिद्ध होते हैं तब भगवान् प्रसन्न तो होते हैं किन्तु इस पक्ष (विशेष तप और दोनों धर्म की सिद्धि) के अनुसार भी यदि भगवान् नृत्य करे तो भी उनमें उतनी प्रसन्नता नहीं होती है जितनी कि होनी चाहिए अतः दूसरा पक्ष कहते हैं क्योंकि पहले पक्ष (तप करने) से भगवान् का बहिः सन्तोष (प्रसन्नता) और नृत्य करना दोनों सिद्ध नहीं होते हैं यहाँ तो भगवान् प्रसन्न भी हुए हैं और उन्होंने नृत्य भी किए हैं अतः इस के लिए कोई अन्य कारण ढूँढ़ना चाहिए । श्लोक में के समुच्चयार्थक ॥ वा ॥ शब्द का भाव बताते हैं कि निवृत्ति सिद्ध करने वाला धर्म (तप) हुआ हो या न हुआ हो किन्तु भगवान् की प्रसन्नता के कारण की अपेक्षा है ही अतः उस कारण को ढूँढ़ना आवश्यक है ।

श्लोक में 'अथ' शब्द आया है; जिसका तात्पर्य है कि, अब उसका शोध करने के लिए दूसरा प्रक्रम करते हैं । धर्मशास्त्र के अनुसार किया हुआ धर्म इस प्रकार का फल सिद्ध नहीं कर सकता है, किन्तु भगवत् शास्त्र के अनुसार किया हुआ धर्म इस प्रकार का फल सिद्ध कर सकता है; किन्तु उसमें (भगवत् शास्त्र के अनुसार किए हुए धर्म में) भी एक दोष आता है उसे मिटाना चाहिए । यदि वह (भगवद् शास्त्रानुसारी) धर्म द्रव्य मय (जो द्रव्य से किया जाता है) हो, तो अन्य को (जिसका द्रव्य

लगाया जाता है उसको) उपद्रव करने वाला होता है क्रियामय (कर्म रूप) धर्म हो, तो अपने को उपद्रव (परिश्रम) देने वाला होता है और ज्ञानमय होने पर भी अपने को (साधनों के करने में क्लेश करने से) उपद्रव कारक होता है। तपस्या करने में भी यही क्लेश है। अतः कहते हैं कि इन दोषों को मिटाने के लिए ऐसे धर्म का आचरण करना चाहिए, कि जिससे किसी को भी परिश्रम आदि क्लेश नहीं हो। वह धर्म भगवान् के चरित्रों का श्रवण कीर्तन आदि है; जिससे अपना तथा दूसरों का भी द्रोह नहीं होता है और सर्व जीवों पर दया की ही जाती है। श्रवण से भी कीर्तन में विशेषता है क्योंकि उसको दूसरे से सुन कर प्रसन्न होते हैं।

भगवान् को प्रसन्न कराने वाले भगवान् की सेवा आदि भगवत् धर्मों के होते हुए आप कीर्तन से ही भगवान् को प्रसन्न करने वाला एवं सर्व का उपकारक धर्म कैसे कहती हो ? उसके उत्तर में 'सर्व जीव' पद दिया है। जिस पद का भावार्थ बताते हुए आचार्यश्री उसके तीन अर्थ करते हैं- १-भगवान् सबको जिलाने वाले हैं। २-भगवान् से सर्व जीव मात्र उत्पन्न हुए हैं। ३-भगवान् सबों के जीव रूप से आत्मा हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवान् ही इस प्रकार सर्व जीव रूप हैं। अतः जिस धर्म से सर्व जीव प्रसन्न हो और उनका उपकार हो उसी धर्म से भगवान् प्रसन्न होते हैं वह योग्य ही है। इस प्रकार कहने से नाग पत्नियों ने यह भी सूचित किया है कि यह कालीय निरापराधी है कारण कि जब भगवान् सर्व जीव रूप हैं तो इसकी आत्मा भी भगवान् का रूप है इस प्रकार के (सर्व जीवों पर दया रूप) धर्म का आचरण इसने किया हो यह आश्चर्य जैसा है क्योंकि सर्प की योनि, सर्प का स्वभाव और उसके कर्म (प्राणियों को नाश करना) ये तीनों ही इस धर्म के विरुद्ध हैं ॥ ३५ ॥

**आभास —** किञ्चास्तामिदमाश्चर्यं, इतोऽप्यधिकमाश्चर्यमस्तीत्याहुः कस्येति,

**आभासार्थ —** यह तो आश्चर्य है किन्तु इससे भी विशेष आश्चर्य अन्य है उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करती हैं।

**श्लोक: —** कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।

यद्वाञ्छया श्रीर्ललनाचरत् तपो विहाय कामान् सुचिरं धृतव्रता ॥ ३६ ॥

**श्लोकार्थ —** जिस आपके चरण रज की प्राप्ति की इच्छा पूर्ति के लिए लक्ष्मीजी ने सर्व कामनाओं का त्याग कर बहुत समय तक तप किया (किन्तु प्राप्त नहीं हुई) उस आप के चरण रज के स्पर्श का अधिकारी, यह किस के प्रभाव से हुआ यह हम नहीं जानती हैं ॥ ३६ ॥

सुबोधिनी—भगवच्चरणारविन्दरेणवो भगवदीयदेह सम्पादका इति पूर्वमवाचाम, तादृशानां सम्बन्धोऽस्य च जातस्तेन जायते भगवदीयदेहं प्राप्स्यतीति परं येषामेव कोटिजन्मोपार्जितत्रिविधधर्मसंस्कृतभूतानि तेषामेव देहं सम्पादयन्तीति मर्यादा व्यवस्था, साधारणसंस्कारपक्षे तूपपत्तिः सम्भवाति, तत्रापि हेतुः कश्चन वक्तव्यः, स च क्रियारूपो न भवति, अधिकारिणामेव तथात्वसम्पादकत्वात्, अलौकिकस्तु भवति, स लोकेऽनुभावो न सिद्धः, ततोऽस्यापि कस्यचिदनुभावोऽस्तीति जायते, परं स सम्बन्धी न निर्णीतस्तस्यानुभावस्य प्रयोजनमाहुस्तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकार इति तवाङ्घ्रिरेणूनां स्पर्शोऽधिकारो येन गुणातीता एव हि जीवास्तदधिकारिणो, न तु सगुणाः कथञ्चन, यतो महद्विरपि सगुणैर्जीवैस्तत्र प्राप्यत इत्याह यद्वाञ्छयेति,

श्रीः सात्त्विकी भगवच्छक्तिः, तस्याश्चेन्नाधिकारां ब्रह्मरुद्रयोस्त-त्सम्बन्धिनां च सुतरामेव नाधिकारः, ब्रह्मानन्दरूपापि सा भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह ललनेति, या श्रीः स्त्रीरूपा शक्तिरूपेति यावत्, अनेन भगवतोऽन्तरङ्गदासीभूता निरूपिता, सापि तपः कुर्यात्ति दास्यसिद्ध्यर्थं तथापि न प्राप्तवती, त्रितयमेवैतत्स्थानमिति सर्वप्रसिद्धिः, न तु चरणौ, न च वक्तव्यं स्त्रीभावेन श्लोकेच्छ तत्र प्रतिबन्धिके तीत्याह विहाय कामानिति, सर्वनिवान्तःकरणाभिलाषरूपान् धर्मान् परित्यज्य तपः करोति, न च वक्तव्यं दीर्घकालादरनैरन्तर्याभावस्तस्या इति, तत्राहुः सुचिरं धृतव्रतेति, आदरनैरन्तर्यं व्रताभिनिवेशाज् जायते, एवं साधनविचारेण रेणूनामुत्कृष्टत्वमुक्त्वा तत्स्पर्शायोग्यत्वमस्य समर्थितम् ॥ ३६ ॥

**व्याख्यानार्थ —** भगवान् के चरणकमल की रेणु, प्राणी की देह को भगवदीय (अलौकिक) बना देती हैं। यह पहले हमने (आचार्यश्री ने सुबोधिनी जी में) कहा है। उन रेणुओं का सम्बन्ध, इसने सिद्ध कर लिया है, अतः निश्चय से जाना जाता है कि इसे अवश्य भगवदीय देह की प्राप्ति होगी।

मर्यादा के अनुसार यह नियम है कि करोड़ों जन्मों में उपार्जित<sup>१</sup> किए हुए तीन प्रकार के (श्रौत, स्मार्त और भगवदीय) धर्मों से जिनके भूत (जिनसे सूक्ष्म देह बनती है) संस्कार (शुद्ध) किए हुए हैं उनको भगवान् के चरणारविन्द की रज के स्पर्श की प्राप्ति होती है जिससे उनकी देह भगवदीय बनती है।

साधारण धर्म से यदि देह संस्कृत<sup>२</sup> हुई हो कदाचित् उसको भगवान् के चरण रेणु का स्पर्श होता हुआ देखा जाय तो उसमें कोई हेतु<sup>३</sup> कहना (समझना) चाहिए वह हेतु क्रियारूप, धर्मरूप नहीं होना चाहिए क्योंकि धर्म रूप तो करोड़ों जन्मों के अनन्तर फल सिद्धि कराने में सफल होता है अतः साधारण धर्म से यदि यह फल (भगवान् के चरण रज की प्राप्ति) होवे तो उसमें कोई अलौकिक कारण होगा किन्तु ऐसा कोई दृष्टान्त अब तक लोक में देखने में नहीं आया है।

इस सर्प को जो आपके चरण रेणु के स्पर्श का सौभाग्य<sup>४</sup> प्राप्त हुआ है, इसमें अवश्य कोई किसी महानुभाव का प्रभाव होगा किञ्च वह प्रभाव किसका है यह हम नहीं जान सकी हैं।

जो जीव आपके चरणारविन्द के रेणु के अधिकारी हैं वे निर्गुण हैं सगुण जीव आपके चरण रेणु के स्पर्श का अधिकारी नहीं है वे सगुण कितने भी ऊँचे अधिकार वाले हो, तो वे प्राप्त नहीं कर सकते हैं, जैसे कि श्री लक्ष्मीजी भगवान् की सात्विक शक्ति सत्त्व गुणाधिष्ठाता विष्णु की स्त्री हैं तो भी उसको सर्व काम त्याग कर वर्षों तक तप (धर्म) करने पर भी आपके चरण रेणु की प्राप्ति नहीं हुई है जब उसको (सात्विक शक्ति-विष्णु की स्त्री को) नहीं मिली तो ब्रह्मा रुद्र आदि तथा उनके सम्बन्धियों को तो निश्चय से उसकी (रेणु की) प्राप्ति नहीं होगी ।

लक्ष्मी तो ब्रह्मानन्दरूपा हैं उसको इसकी प्राप्ति कैसे न होगी ? इस शंका को मिटाने के लिए श्लोक में 'ललना' शब्द दिया है जिसका तात्पर्य है कि यहाँ जिस (श्री) (लक्ष्मी) का दृष्टान्त दिया है वह ब्रह्मानन्द रूपा श्री नहीं हैं, किञ्च सात्विक शक्ति सत्त्व गुणाधिष्ठाता विष्णु की पत्नी कही गई है, इससे यह बताया कि, यह लक्ष्मी भगवान् की अन्तरंग दासी है, वह दास्य सिद्धि के (चरण रेणु के) लिए तप करती है तो भी रेणु को प्राप्त नहीं कर सकती है । कारण कि इस लक्ष्मी का स्थान तीन गुण ही है, क्योंकि सकाम, सगुण होते हैं । निर्गुण भगवद् भक्तों में, किसी प्रकार की कामना नहीं रहती है । यद्यपि लक्ष्मी ने सर्व काम त्याग कर तप किया है तो भी वह चरण रेणु प्राप्त नहीं हुई उसका कारण है कि लक्ष्मी ने तप रूप साधन से धर्म का आश्रय किया है । साधन धर्म आश्रय से भगवान् वा भगवान् के चरण की रेणु प्राप्त नहीं होती है ॥ ३६ ॥

**आभास —** इदानीं फलविचारेणापि माहात्म्यं वदन्त्यस्तथात्वमाहुर्न नाकपृष्ठमिति,

**आभासार्थ —** उपर्युक्त श्लोक में साधनों का विचार करते हुए यह सिद्ध किया है कि रेणु उत्कृष्ट होने से साधनों से भी प्राप्त नहीं होती हैं, अतः यह (सर्प) तो उनके स्पर्श के भी योग्य नहीं है इसका समर्थन किया है ।

अब फल के विचार से भी उनका (रेणुओं का) माहात्म्य कह कर सिद्ध करती हैं कि इससे भी यह (सर्प) उनके (रेणुओं के) स्पर्श का अधिकारी नहीं है-जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करती हैं-

**श्लोक: —** न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।

**न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा वाञ्छन्ति यत्पादरजःप्रपन्नाः ॥ ३७ ॥**

**श्लोकार्थ —** जो आपके चरण रज के शरण हैं, वे न तो स्वर्ग, न चक्रवर्तीराज, न ब्रह्मलोक, न पाताल का राज, न योग न सिद्धियाँ और न मोक्ष चाहते हैं ॥ ३७ ॥

सुबोधिनी — लोके होतावन्ति फलानि त्रिविधधर्मसाध्यानि, तत्र सात्त्विकधर्मसाध्यः स्वर्गो नाकपृष्ठात्मको यत्रेन्द्रादयो निवसन्ति, राजसधर्मसाध्यं सार्वभौमं सर्वस्या अपि भूमेरधिपत्यं, ज्ञानसहित-सात्त्विकराजसोभयधर्मसाध्यं पारमेष्ठ्यं ब्रह्मस्थानं, तामसधर्मसाध्यं रसाधिपत्यं, निवृत्तिधर्मसाध्यो योगः,

सिद्ध्यश्चाणिमादयो ध्यानादिसाध्याः, अपुनर्भवो मोक्षः सर्वसाध्यः, एतावन्ति फलानि, वाशब्देनानुक्त सर्वसमुच्चयोऽनादरश्च सूच्यते, एतानि सर्वाण्येव फलानि यत्पादरजः प्रपन्ना न वाञ्छन्ति, रजः प्राप्तौ तु न वाञ्छन्तीति किं वाच्यम् ? रजः प्रपन्ना एव कत्र न वाञ्छन्ति ॥ ३७ ॥

**व्याख्यानार्थ —** इस श्लोक में कहे हुए फल लोक में फल रूप माने गए हैं । वे तीन प्रकार के धर्म से प्राप्त होते हैं । जैसे कि सात्त्विक धर्म से, जहाँ इन्द्रादिक देवता रहते हैं वह स्वर्ग प्राप्त होता है । राजस धर्म से समस्त पृथ्वी का राज्य अर्थात् चक्रवर्ती पद की प्राप्ति होती है । ज्ञान के अतिरिक्त सात्त्विक तथा राजस धर्म के करने का फल कह कर अब ज्ञान सहित सात्त्विक तथा राजस धर्म से, जिस फल की प्राप्ति होती है उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि ज्ञान सहित सात्त्विक तथा राजस धर्म से ब्रह्मा के लोक की प्राप्ति होती है । तामस धर्म से पाताल लोक का आधिपत्य मिलता है । निवृत्ति धर्म से योग की सिद्धि रूप फल प्राप्त होता है । ध्यान आदि धर्म करने से अणिमादि ८ (आठ) सिद्धियाँ मिलती हैं । सर्वत्र ब्रह्म दृष्टि रखने से, तथा सर्व का हित करने से, जो सर्व साध्य धर्म किया जाता है, उससे मोक्ष की प्राप्ति होती है ! श्लोक में आए हुए 'वा', शब्द का भाव यह है कि इनके सिवाय जो अन्य फल हैं उन सब का साथ में अनादर\* दिखाया है ।

जिन जीवों ने भगवान् (आप) के चरण रज की शरण ली है, वे भी उपर्युक्त फलों को नहीं चाहते हैं तो जिनको आपके चरण रज की प्राप्ति हो गई है, वे इन फलों को न चाहें तो उसमें क्या कहना है ॥ ३७ ॥

**आभास —** एवं रजसो महाफलत्वं निरूप्य तदनेन प्राप्तमित्यस्य भाग्यमभिनन्दन्ति तदेष इति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार रेणु के माहात्म्य का वर्णन कर कहती हैं कि वह रेणु इसने (सर्प ने) प्राप्त की है जिससे यह भाग्यशाली है उसका वर्णन निम्न श्लोक में करती हैं—

**श्लोकः —** तदेष नाथाप दुरापमन्यैस्तमोजनिः क्रोधवशोऽप्यहीशः ।

संसारचक्रे भ्रमतः शरीरिणो यदिच्छतः स्याद् विभवः समक्षः ॥ ३८ ॥

**श्लोकार्थ —** हे नाथ ! जिस रज को अन्य पुरुष, प्राप्त नहीं कर सकते हैं उसको



इस तमो गुण से उत्पन्न और क्रोध के वशीभूत सर्पराज ने प्राप्त किया है । यह आपकी (चरण) रज ऐसी है जिसको संसार के चक्र में घूमता हुआ प्राणी भी केवल इच्छा करता है तो उसको विभव (ऐश्वर्य का मोक्ष आदि फल) प्रत्यक्ष होता है ॥ ३८ ॥

सुबोधिनी — अर्थे तिसम्बन्धनेनोपपत्तिरुक्ता : भगवदिच्छयैव भवतीति निर्णयते, चक्रे हि पक्षितः सर्वत्र  
अन्यैर्दुरापमध्यमाय प्राप्तवान्, अस्यानशितारधमानाह परिभ्रमति, स भगवच्छरणेऽप्यायाति भगवति स्तनातिष्ठो  
तमोजनिस्त्यादिभिः, केवलतमसैव जनिर्जन्म यस्य, अनेन न कोपि हेतुः कर्मादिः, किन्तु यदिच्छतो यस्य  
मूलाशुद्धिरुक्ता, क्रोधवश इति कार्याशुद्धिः, अहोश इति चरणारविन्दरेणोरिच्छत इच्छं कुर्वतः पुरुषस्य साधनरहितस्यापि  
संसर्गाशुद्धिरुक्ता, ईशपदेनान्यकृतपापसम्बन्धोऽप्युक्तः, एवं विभव उत्कृष्टफलं कदाचित् समक्षो भवति  
सर्वदोषनिधानस्य सर्वोत्कृष्टदुर्लभफलप्राप्तिः केवलं प्रत्यक्षो भवति, यदृच्छत इति पाठे यदृच्छातोऽकस्माद्  
भगवदिच्छयेत्याहुः संसारचक्र इति यादृच्छिकमिदं फलं भगवदिच्छया वा ॥ ३८ ॥

व्याख्यानार्थ — हे नाथ !\* इस संबोधन देने से इस (कालीय) को भगवान् के चरण रेणु की प्राप्ति हुई इसको कारण बताकर सिद्ध किया है ।

अन्यों को यह (रज) दुराय भी (कठिनता से प्राप्त) है, किन्तु इसको यह प्राप्त हो गई है, जबकि यह सर्व प्रकार अयोग्य भी है । इसकी अयोग्यता के धर्मों को कहती है - १. इसका जन्म तमो गुण से हुआ है अतः यह मूल से (जन्म से) ही अशुद्ध है । २. क्रोध के अधीन होने से कार्य से अशुद्ध है । ३. सर्पों का राजा है इस का संसर्ग सर्पों से ही रहता है अतः संसर्ग दोष वाला है । इसके अतिरिक्त सर्पों का राजा होने से सर्पों के पाप से भी, इसका सम्बन्ध है इस कारण से भी यह अशुद्ध है । इस प्रकार, सब दोषों के भण्डार इसको सबसे उत्तम और दुर्लभ फल की प्राप्ति हुई है वह केवल भगवदिच्छा से हुई है । उसका वर्णन श्लोक के उत्तरार्द्ध से करती है - अचानक यह उत्कृष्ट फल भगवान् की इच्छा से ही होता है (हुआ है) इसका निर्णय करती है । संसार रूप चक्र (भंवर) में घूमता हुआ प्राणी कभी भगवान् के पधारने पर उनके चरण के समीप भी आ पहुँचता है इस पहुँचने में किसी प्रकार का कर्म आदि कारण नहीं है । किन्तु भगवान् के चरण रेणु की इच्छा ही कारण है, वह पुरुष भले ही साधन से हीन भी हो, तो भी, कभी अचानक उसको उत्कृष्ट फल प्रत्यक्ष होता है । श्लोक में यदिच्छतः के स्थान पर यदृच्छतः<sup>१</sup> पाठ लेने से उसका अर्थ होता है, अकस्मात्<sup>२</sup> वा भगवान् की इच्छा से यह उत्कृष्ट फल मिला है ॥ ३८ ॥

\* आप स्वामी हो सब कुछ आपकी इच्छा से होता है अतः यह भी आपकी इच्छा से ही हुआ है ।

**आभास —** एवं चरणस्पर्शभगवत्तोषादिलक्षणं तस्य भाग्यमभिनन्द्य तत्सम्बन्धात् स्वयमपि भगवन्नामस्काराधिकारिण्य इति नमस्यन्ति नमस्तुभ्यमिति दशभिः ॥

**आभासार्थ —** कालीय को भगवान् के चरण स्पर्श हुए यह भगवान् के प्रसन्न होने के लक्षण हैं, इस प्रकार उसके भाग्य का बखान किया जिससे, यह भी बता दिया कि उसके (सर्प के) हम सम्बन्धी (अर्द्धांगिनी) हैं अतः हम भी भगवान् को नमस्कार करने के लिए अधिकारिणी हैं यों सिद्ध कर 'नमस्तुभ्यं' से लेकर दश श्लोकों से नमस्कार करती हैं-

कारिका — दश रूपाणि तु हरेर्मूलरूपः स्वशास्त्रतः ।  
वेदान्तवेद्यरूपश्च जगद्रूपस्तथैव च ॥ १ ॥  
सङ्घातजीवरूपश्च नानारूपश्च शास्त्रतः ।  
एवं प्रमेयरूपाणि पञ्चधोक्तानि वै हरेः ॥ २ ॥  
वेदार्थरूपस्तन्त्रार्थो गुणार्थो ह्यवतारकृत् ।  
अन्तर्यामी च भगवान् दशधोक्तः स्वलीलया ॥ ३ ॥

**कारिकार्थ —** हरि के दश रूप हैं-१-अपने शास्त्र के अनुसार 'मूलरूप' २-वेदान्त से जिस रूप का ज्ञान होता है, और ३-वैसे ही जगद् रूप ॥ १ ॥

४-संघात जीव रूप ५-शास्त्र में जो अनेक रूप कहे हैं । इस प्रकार ये पाँच रूप हरि के प्रमेय रूप हैं ॥ २ ॥

६-वेदार्थ रूप ७-तन्त्रार्थ रूप, ८-गुणार्थ रूप, ९-अवतार लेने वाला रूप और १०-अन्तर्यामी है, इस प्रकार भगवान् के जो दश रूप कहे हैं वे आप की लीला के कारण हैं ॥ ३ ॥

**कारिका व्याख्यार्थ —** प्रकाश, लेख और योजना साहित्य का स्वल्पसार - वेद में भगवान् के कर्म (कृत्) और ब्रह्म के भेद से दो रूप कहे हैं एवं तन्त्र शास्त्र में चार व्यूह रूप कहे हैं, अतः दो या चार श्लोकों में नमन कहना चाहिए न कि दश श्लोकों से, इन छः रूपों से अधिक रूपों का वर्णन कहीं देखने में नहीं आता है, इस शंका का निवारण करते हुए इन कारिकाओं द्वारा भागवत् में की हुई दश लीलाओं के अनुसार भगवान् के दश रूप हैं यह सिद्ध करते हैं । जिससे दश श्लोकों से नमन करने में किसी प्रकार का दोष नहीं है ।

भगवान् के दश रूप हैं। जैसे कि १-मूल रूप (३९वें) श्लोक में जिसको परमात्मा (सर्वोत्तम) भूतावास (सर्वाश्रय) और व्यापक कहकर मूल रूप कहा है उसको नमस्कार करती हैं।

२-वेदान्त वेद्य रूप (४०वें) श्लोक में उस रूप को नमन करती हैं जो वेदान्त शास्त्र से जाना जाता है उस श्लोक में भगवान् को ज्ञान विज्ञान की निधि अधिकारी और अनन्त शक्तिमान आदि विशेषणों से उसका स्वरूप वर्णन कर यह बताया है कि यह स्वरूप वेदान्त (उपनिषदों से) समझ में आता है।

३-जगत् रूप (४१वें) श्लोक में जिस भगवान् के रूप का वर्णन 'विश्व' शब्द से किया है और उस विश्व (जगत्) के रूपों को समझाया है। अतः नाग पत्नियाँ उसमें जगत् रूप भगवान् को नमस्कार करती हैं वह नमस्कार भी वेदान्त में कहे हुए प्रकार से जगत् को ब्रह्म रूप जान कर करती हैं।

४-संघात जीव रूप, इस भगवान् के रूप को वेदान्त (उपनिषद्) तथा सांख्य में भी भूत, इन्द्रियाँ, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार रूप से वर्णन किया है तदनुसार समझ कर ब्रह्म भावना से नमस्कार करती हैं।

५-नाना रूप, यह भगवान् का नाम और सृष्टि रूप है जिसका वर्णन (४३वें) श्लोक में 'अनन्त' पद से किया है। उसको इस श्लोक में नमस्कार करती हैं।

ये उपर्युक्त पाँच रूप जिनको नाग पत्नियों ने (३९वें) श्लोक से (४३वें) श्लोक में नमस्कार किया है वे भगवान् के पाँचों रूप प्रमेय रूप हैं।

६-वेदार्थ रूप, इस भगवान् के रूप को (४४वें) श्लोक में नमस्कार करती हैं। इस स्वरूप का उस श्लोक में स्वरूप दिखाया है। वेद रूप और उसका अर्थ रूप भी भगवान् है यह 'प्रमाण' मूल शब्द देकर सिद्ध किया (समझाया) है।

७-तन्त्रार्थ रूप (तन्त्र में कहा हुआ रूप) इस रूप को (४५वें) श्लोक में वर्णन किया है जैसे कि चारों व्यूह राम (संकर्षण) वसुदेव सुत (वासुदेव) प्रद्युम्न और अनिरुद्ध सहित पुरुषोत्तम (श्रीकृष्ण के रूप का तन्त्र में प्रतिपादन है, उस स्वरूप को नमस्कार किया है।

८-गुणार्थ रूप (गुणों का अर्थ सहित प्रकाश करने वाला) इस रूप का वर्णन (४६वें) श्लोक में है और उस रूप को इस श्लोक में नमन किया है।

९-'अवतार लेने वाला रूप' इस रूप का वर्णन (४७वें) श्लोक में किया है जिसमें 'अव्याकृतविहाराय' पद से दिखाया है कि आप का विहार (अनेक अवतार लेते हो वह विहार) विकार रहित है अर्थात् अवतार लेकर क्रीड़ा करते भी आपमें विकार उत्पन्न नहीं होता है ऐसे स्वरूप को इस श्लोक में नमस्कार करती हैं।

१०-'अन्तर्यामी रूप' इसका वर्णन (४८वें) श्लोक में सब की गति को जानने वाला आदि विशेषण देकर किया है और उस श्लोक में नागपत्नियों ने इस स्वरूप को नमस्कार किया है।

इस प्रकार दश लीला कर्ता भगवान् के दश रूपों को दश श्लोकों से नाग पत्नियाँ नमस्कार करती हैं-

**आभास** — ज्ञात्वा हि स्तोत्रं कर्तव्यं कोऽयमिति कियानिति कथङ्गुणक इति च, तत्र दशविधो भगवान् दशविधलीलाभिरेकस्यामेकस्यां लीलायां यावन्त्यवान्तररूपाणि तानि सर्वाण्युच्यन्ते, तत्र प्रथमं सृष्टिलीलां वदन्त्यः पुरुषोत्तमरूपं भगवन्तं निरूपयन्त्यो नमस्यन्ति ॥

**आभासार्थ** — भगवान् के स्वरूप को जान कर ही स्तुति करनी चाहिए जिसकी हम स्तुति करते हैं, वह कौन है ? कितना है ? इसके गुण कैसे हैं ? इन सब बातों को जान कर जो स्तुति की जाती है, उससे भगवान् प्रसन्न होते हैं । अन्यथा भगवान् यों समझते हैं कि इसने कदाचित् अन्य के गुणों का मुझ में आरोप कर दिया है और शास्त्र यह भी कहता है कि यदि स्वरूप जाने बिना भगवान् की स्तुति की जाय तो भगवान् का स्वरूप जिस प्रकार का है, उसका अन्य प्रकार से वर्णन कर देवे, तो स्तुति कर्ता, आत्मापहारी चोर कहा जाता है, अतः जान कर ही स्तुति करनी चाहिए ।

भगवान् एक होते हुए भी दश प्रकार की लीला करने से दशविध कहे जाते हैं किन्तु एक लीला में जितने अवान्तर<sup>१</sup> के रूप हैं वे सब यहाँ कहे जाते हैं । उसमें प्रथम सृष्टि लीला का वर्णन करती हुई, पुरुषोत्तम रूप भगवान् का निरूपण कर, इस निम्न श्लोक में उनको नमस्कार करती हैं ।

**श्लोकः — नमस्तुभ्यं भगवते पुस्त्राय महात्मने ।**

**भूतावासाय भूताय पराय परमात्मने ॥ ३९ ॥**

**श्लोकार्थ** — आप भगवान्, महात्मा, पुरुष रूप, आकाशादि भूतों के आश्रय रूप, सब से उत्तम परमात्मा को हम नमस्कार करती हैं ॥ ३९ ॥

**सुबोधिनी** — नमस्तुभ्यमिति, भगवान् मूलभूतः स एव भवान्, तदाह तुभ्यं भगवते नम इति, आविर्भूतानाविर्भूतरूपे एते एव, ततः सर्वोत्तमोऽप्ययं जात इतीतरसापेक्षत्वेन पुरुषोत्तमत्वं पदद्वयेन निरूपयन्ति **पुस्त्राय महात्मने**, महांश्चासावात्मा चेति, आत्मा हि साक्षात् सर्वस्मृतिप्रतिपाद्यः, **पुस्त्रः** साङ्ख्यप्रतिपाद्यः, **महान्** वेदप्रतिपाद्यः, त्रितयमेकीकृतं महान् **पुस्त्ररूप आत्मेत्युक्तं** भवति, अनेनैव **सच्चिदानन्दरूपताप्युक्ता**, **पुस्त्रः** सद्रूपो महानानन्दरूपश्चिद्रूप आत्मेति, ततो मूलभूतस्य

पञ्चात्मकत्वमाह **भूतावासायेत्यादिपदैः**, स एव मूलस्त्रो भवति यस्मिन् सर्वाणि भूतानि तिष्ठन्ति, एतदर्थमेव भगवता **प्रदर्शितं मात्रे स्वस्मिञ् जगत्**, तदाह भूतानामावासो यस्मिन्निति, तानि चेद् भूतानि भिन्नानि भवेयुस्तदासङ्गत्वं भगवतो भज्येतेति भूतरूपोऽपि भगवान्, तदाह **भूताय परायेति**, स एव च पुनर्मूलरूपो भवति यस्तु प्रशास्ति, अनियामकस्य मूलत्वं न सम्भवतीति तदाह परायेति, 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गी द्वावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत' इत्यादिश्रुतेः, यश्च पुनर्न सर्वोत्तमः स मूलभूतो न भवतीति

परम उत्कृष्ट उक्तः, तथा न व्यापको योऽयं नात्मा स पुरुषः, ततो महत्तत्त्वं, ततो भूतावासोऽहङ्कारः, ततो भूतानि, विभूतिमान् न भवतीति न तस्य मूलत्वं, तदाहात्मन इति, ततः सर्वं जगत्, तत्रापि परो विराड्रूपः परमात्मा परमश्चासावात्मा चेति, सर्गलीलायां तु प्रथमतो भगवान्, ततः नारायणश्चेति ब्रह्माण्डविग्रहान्ता सर्वकथा ॥ ३९ ॥

**व्याख्यानार्थ** — जो भगवान् मूल रूप (सबकी जड़) कहे जाते हैं वे ही आप हैं। इसलिए कहती हैं कि 'आप भगवान् को नमस्कार है'। भगवान् के प्रकट और अप्रकट दोनों रूप, यही (जो हमारे सामने स्थित आप हैं वही) हैं।

यह ही रूप सर्वोत्तम<sup>१</sup> है (भूमा-अजन्मा है) तो भी प्रकट हुवा है प्रकट होने वाले को दूसरे की अपेक्षा रहती है किन्तु इसको नहीं है क्योंकि पुरुषोत्तम है। इसका समर्थन करने के लिये 'पुरुषाय' 'महात्मने' दो विशेषण दिए हैं, जिनका आशय<sup>२</sup> यह है कि 'आत्मा' शब्द कहने से यह बताया है कि स्मृति शास्त्र भी आपका 'आत्मा' पद से प्रतिपादन करते हैं, 'पुरुष' शब्द देकर यह सिद्ध किया है कि सांख्य शास्त्र 'पुरुष' शब्द से आपका ही वर्णन करता है। एवं 'महान्' पद से बताते हैं कि वेद भी आपको ही मूल रूप कहता है, इन तीनों पदों को मिलाने से महान्, पुरुष रूप और आत्मा यों कहा गया है इससे ही आप सच्चिदानन्द रूप हैं यह भी कह दिया गया है। जैसे कि, पुरुष पद से आप सद्रूप हैं महान् पद से आप 'आनन्द रूप' हैं आत्मा पद से आप चिद् रूप हैं अर्थात् आप 'सच्चिदानन्द स्वरूप' मूल रूप हैं।

अब मूल भूतस्वरूप के जो पाँच प्रमेय रूप हैं उनका वर्णन करती हैं आप मूलरूप का एक प्रमेय रूप भूतावास स्वरूप है मूल रूप उसे कहते हैं जो सबका आश्रय हो आपने माता को मुख में सकल जगत् दिखा कर यह प्रमाणित कर दिया है कि मैं मूल रूप हूँ।

२ - 'भूताय' शब्द से कहा है कि भूत रूप भी आप हैं। भीतर (उदर में) रहे हुए भूत आदि आप से पृथक्<sup>३</sup> होवे तो आप अन्य हो और भूत अन्य है ऐसा सिद्ध होने पर द्वैत हो जाए, किन्तु आप सर्वभूत होने से द्वैत का नाश हो जाता है और आप किसी से भी पृथक् नहीं हैं सब में मिले हुए होने से भूत रूप हैं।

३ - नियामक<sup>४</sup> रूप भी आप हैं। श्रुति भगवती कहती है कि-हे गार्गी ! इस अक्षर (ब्रह्म) की आज्ञा से पृथ्वी आकाशादि कार्य कर रहे हैं। अतः नियम में रखने वाले होने से आप (मूल रूप) हैं इसलिए आप 'पर' शब्द से वर्णन किये जाते हैं।

४ - सर्वोत्तम भी आप हैं इसलिये आपका 'परम' शब्द से वर्णन किया गया है जो सर्वोत्तम नहीं है वह मूल रूप भी नहीं हो सकता है, आप सर्वोत्तम होने से मूल रूप हैं।

५-व्यापक रूप भी आप हैं, इसलिए आपका 'आत्मा' शब्द से वर्णन किया गया है। जो व्यापक नहीं है, वह विभूतियों वाला नहीं होता है और न वह मूल रूप हो सकता है। अतः आपको आत्मा कह कर, व्यापक सिद्ध किया गया है, जिससे आप मूल रूप हैं यह निश्चित सिद्धान्त हो जाता है, अतः आप 'परम' 'सर्वोत्तम' तथा 'आत्मा' (व्यापक) होने से मूल रूप (परमात्मा) ही हैं।

मूल रूप जब सृष्टि लीला करते हैं तब प्रथम भगवान् † होते हैं, पश्चात् 'पुरुष' अनन्तर 'महत्तत्त्व' उसके पश्चात् 'अहङ्कार'\* पीछे 'भूत', पुनः पश्चात् सारा 'जगत्' होता है। उस में भी 'पर' विराट् रूप और नारायण स्वरूप होते हैं इस प्रकार समग्र ब्रह्माण्ड का विग्रह<sup>१</sup> किस प्रकार बनता है वह सब कथा यहाँ (भागवत) में कही है। ३९ ॥

**आभास —** विसर्गसहितं ब्रह्मरूपं भगवन्तं नमस्यन्ति ज्ञानविज्ञाननिधय इति,

**आभासार्थ —** विसर्ग लीला कर्ता ब्रह्मस्वरूप भगवान् को इस निम्न श्लोक में नमस्कार करती हैं-

**श्लोकः —** ज्ञानविज्ञाननिधये ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।

**अगुणायाविकाराय नमस्तेऽप्राकृताय च ॥ ४० ॥**

**श्लोकार्थ —** ज्ञान तथा विज्ञान के निधि, ब्रह्मरूप अनन्त शक्ति, निर्गुण, निर्विकार और अप्राकृत वैसे आप को हम नमस्कार करती हैं ॥ ४० ॥

**सुबोधिनी —** ज्ञानं शास्त्रीयं विज्ञानमनुभवः, निर्विषयकं सविषयकं वा आत्मभूतं गुणभूतं च, तयोर्निधिरु-त्पादितज्ञानं, ये केचन ज्ञानविज्ञानार्थिनस्ते सर्वे तत एव कृतार्था भवन्तीति, एवं साधनरूपतामुक्त्वा फलरूपतामाह ब्रह्मण इति, ननु ब्रह्मणः फलरूपत्वं जगत्कर्तृत्वं च कथमुपपद्यते? तत्राहानन्तशक्तय इति, अनन्ताः शक्तयो यस्य, तेन सर्वरूपोऽपि भवितुं शक्नोति, अनन्तशक्तित्वं गुणसङ्गाद-

भविष्यतीत्याशङ्क्याहागुणार्थेति, न विद्यन्ते गुणा यस्य, गुणसम्बन्धाभावे हेतुर्विकाशयेति, विकारेषु सत्सु कारणत्वेन गुणा मृग्यन्ते, विकारा अत्र जन्मादयो दोषाश्च, तत्रापि हेतुप्राकृतायेति, प्राकृतो हि विकारी दोषवांश्च भवति, चकारादप्राकृतत्वेसङ्गित्वं हेतुरुक्तः, विसर्गे तु ज्ञानमधिका-रिविशेषणं, ज्ञानपूर्णो ब्रह्मा भवति, विविधज्ञानं मृष्ट्युपयोगि, एवं स्वरूपकार्योपयोगिविशेषणद्वयमुक्त्वा विसर्गरूपमाह

† अपने ऐश्वर्याद षड्गुणों को अपने स्वरूप में प्रकट करते हैं अतः भगवान् कहे जाते हैं।

\* जिस में भूतों का निवास है।

ब्रह्माण इति, ब्रह्मात्र चतुर्मुखः, ततः माहाप्राकृतायेति, अनेन विसर्गे षड्गुणाप्युक्ता गुणत्रयं सर्वकार्योत्पत्त्यर्थमनन्तशक्तय इति, बन्धाभावाद्यागुणायेति, दोषत्रयाभावश्च, ज्ञानमहत्त्वसामर्थ्यानि गुणा बन्ध दोष जड़ता दाषाभावाद्याविकारायेति, स्वेच्छया सृष्टिव्यावृत्त्यर्थ- दोषा भवन्ति त्रिविधाः ॥ ४० ॥

**व्याख्यानार्थ** — ज्ञान (जो शास्त्र से होता है) विज्ञान (अनुभव से) यह ज्ञान तथा विज्ञान निर्विषयक (किसी पदार्थ के सम्बन्ध वाला न हो) अथवा सविषयक (पदार्थ के विषयों से सम्बन्ध वाला) हो, आत्मा के (किसी पदार्थ के अपने) हो, या गुणों के हो। इस प्रकार जो सब ज्ञान तथा विज्ञान है, उनकी निधि (उत्पन्न होने का स्थान) आप हो। जो कोई ज्ञान तथा विज्ञान को समझना चाहते हैं उनको भी वे आप से ही प्राप्त होते हैं, कारण कि प्रत्येक पदार्थ वहाँ से प्राप्त किया जाता है जहाँ उन पदार्थों का भण्डार हो, तो ज्ञान तथा विज्ञान के भण्डार आप हैं जिससे इनके चाहने वाले, आपसे ही प्राप्त करने के लिए आपकी शरण लेते हैं।

इस प्रकार साधन का रूप बताकर अब फल के रूप का वर्णन करती हैं। जगत् का कर्ता फल रूप कैसे होगा ? इस शंका के निवारण के लिए उत्तर में कहती हैं कि, आप अनन्त शक्तिमान हैं शक्तिमान सब कुछ कर सकते हैं अतः आप जगत् बना भी सकते हैं और फल रूप भी रह सकते हैं।

अनन्त शक्ति, गुणों के सम्बन्ध बिना, नहीं आती है, गुणों का सम्बन्ध, विकारों को पैदा करता है। इस शंका की निवृत्ति के लिए कहती हैं कि, गुणों का सम्बन्ध और उससे विकार का होना उनमें होता है जो प्राकृत होते हैं। आप अप्राकृत हैं, जिससे आपका गुणों से सम्बन्ध नहीं है। अतः आप निर्गुण हैं एवं अप्राकृत होने के कारण निर्गुण हैं तो आपका निर्विकारी होना स्वतः सिद्ध है ही। अतः आप में जन्म मरणादि दोषों का अभाव है, इत्यादि उपपत्ति से आप जगत् कर्ता होते हुए भी फल रूप भी हैं। इस में किञ्चित् मात्र संशय नहीं है। आप संगरहित होने के कारण ही 'अप्राकृत' हैं। यह श्लोक में आए हुए 'च' शब्द का आशय है।

विसर्ग लीला में तो 'ज्ञान' शब्द अधिकारी का विशेषण है अर्थात् जो ज्ञान से पूर्ण होगा वही सृष्टि की रचना कर सकेगा। अतः ब्रह्मा ज्ञान पूर्ण है। अनेक प्रकार का ज्ञान, सृष्टि के बनाने में उपयोगी होता है। इस प्रकार स्वरूप और कार्य के उपयोगी दोनों विशेषण कह कर अब विसर्ग रूप का वर्णन करते हुए कहती हैं, कि (ब्रह्मणे) आपका ब्रह्मा रूप विसर्ग (करने) का है। यहाँ 'ब्रह्मन्' शब्द से चतुर्मुख ब्रह्मा कहा गया है। वह अनन्त शक्तिमान् है क्योंकि, उस को सर्व प्रकार के सृष्टि के कार्य की उत्पत्ति करनी है। और सृष्टि कार्य करते हुए भी इस स्वरूप को बन्धन नहीं है, कारण कि वह निर्गुण है। सृष्टि कार्य करने से आपके स्वरूप में कोई विकार (दोष) नहीं होता है। क्योंकि, आप निर्विकार हैं। अपनी इच्छा से सृष्टि कार्य बन्द कर देते हैं कारण कि आप 'अप्राकृत' हैं।

इससे विसर्ग लीला में छः गुण ऊपर कहे हैं। तीन गुणों से, तीन दोषों (विकारों)† का अभाव दिखाया है शेष तीन गुण, ज्ञान महत्त्व और सामर्थ्य गुण रूप रहे हैं ॥ ४० ॥

**आभास** — जगद्रूपतां सहेतुकामुक्त्वा नमस्यन्ति कालायेति,

**आभासार्थ** — भगवान् को हेतु (कारण) सहित जगत् रूपपन कह कर उस रूप को नमन करती हैं - जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में किया है।

**श्लोकः** — कालाय कालनाभाय कालावयवसाक्षिणे ।

**विश्वाय तदुपद्रष्टे तत्कर्त्रे तस्य हेतवे ॥ ४१ ॥**

**श्लोकार्थ** — कालरूप, नाभि में काल को आश्रय देने वाले, काल के अवयवों के साक्षी, विश्व रूप, विश्व के द्रष्टा विश्व के कर्ता और विश्व के कारण (हम आपको नमन करती हैं) ॥ ४१ ॥

**सुबोधिनी** — स्थानं हि द्विविधमुक्तं, शब्दमर्यादायां कालो नियामकः, अर्थमर्यादायां भूमिरिति, तदप्याह जगतो मूलकारणं कालः, भगवच्चेष्टारूपत्वात् कालो नाभौ यस्येति सृष्टेः प्रयोजनमुक्तं, मृत्युर्हि कालः, स स्वस्थाने तिष्ठति, नाभिस्तस्य स्थानं, मृत्युना भक्षिता हि मृत्योर्बहिःकृता मृत्युमन्तर्निवेश्य 'मृत्युनैवेदमावृतमासीदि' त्यत्र विस्तरेण प्रपञ्चितं, तेन कालत्वेन क्रियाशक्तिरुक्ता, कालनाभत्वेन सृष्टिप्रयोजनमुक्तं, सृष्टिप्रकारमाह कालावयवसाक्षिण इति, कालावयवानां सर्वोत्पत्तिनिमित्तानां साक्षिणे, अनेन विश्वसृष्टेः क्लेशाभावोऽप्युक्तः, शब्दमर्यादायां तु कालः सूर्यः कालनाभाः शब्दाः, सर्व एव वेदाः कालावयवसाक्षिणः

कर्माणि, सूर्यस्य कालात्मत्वं तृतीये प्रपञ्चितं, वर्णा हि मात्रात्मकाः, तेन काल एव नाभौ येषामिति सर्वथा कालापेक्षा तेषामेव "काले कर्म हि चोद्यत" इतिकालावयवसाक्षित्वं, कर्मणां नित्यत्वाय कालावयवस्य साक्षित्वमुक्तं, विश्वकारणरूपत्वमुक्त्वा विश्वरूपत्वमाह विश्वायेति, तस्य विश्वस्य त्रैविध्यं निरूपयन्नादावाधिदैविकरूपमाह तदुपद्रष्ट इति, तस्य विश्वोपद्रष्टा, आधिदैविकव्यतिरेकेण तस्य स्वरूपेणैवासम्भवात्, तत्कर्त्रे इत्याध्यात्मिकरूपं, स हि सर्वकर्ता, आधिभौतिकमाह तस्य हेतव इति हेतुः कारणं भूतादि, अनेनार्थमर्यादापि निरूपिता, विश्वमेवार्थरूपः, तदुपद्रष्टा मोक्षरूपः तत्कर्ता कामरूपः, तद्धेतुर्धर्मः ॥ ४१ ॥

**व्याख्यार्थ** — स्थान<sup>१</sup> दो प्रकार के हैं, इस नियमन लीला में नियामक<sup>२</sup> दो हैं। 'शब्द' नियमन

† बन्ध, दोष और जड़ता ये तीन दोष (विकार) ।



(वेद में कही हुई मर्यादा) में काल नियामक है। 'अर्थ' मर्यादा (अर्थ (स्थान जम्बूद्वीप तीर्थ आदि) की मर्यादा) में भूमि (शेषात्मक ब्रह्माण्ड भूमि) नियामक है। उसका वर्णन करती हैं कि, भगवान् की चेष्टा<sup>१</sup> रूप होने से काल ही जगत् का मूल कारण है। काल मृत्यु रूप भी है, उस मृत्यु रूप काल से समस्त जगत् घिरा\* हुआ है, वह मृत्यु रूप काल, जगत् का भक्षण कर अपने स्थान भगवान् की नाभि में जाकर निवास करता है। भगवान् ने मृत्यु को अपनी नाभि में आश्रय दे कर रखा है उसका प्रयोजन यह है कि जब भगवान् की सृष्टि करने की इच्छा होवे, तब मृत्यु रूप काल ने जिनका भक्षण किया है, उनको नाभि से बाहर निकालते हैं। यह काल भगवान् की क्रिया रूप शक्ति है। उस क्रिया शक्ति रूप काल के, जो अवयव, इस समग्र विश्व के पदार्थ मात्र के, उत्पन्न होने के कारण हैं उनके आप साक्षी हो अतः विश्व की रचना में, आपको किञ्चित्मात्र भी, क्लेश नहीं होता है, इस प्रकार 'अर्थ' मर्यादा को समझाकर अब 'शब्द' मर्यादा का वर्णन करती है।

'शब्द' मर्यादा (वेद में कही हुई मर्यादा) में सूर्य† काल का रूप है 'शब्द'‡ काल की नाभि हैं अर्थात् शब्दों‡ में (वेदों में) रहता है।

काल के अवयव जिनके साक्षी हैं, वैसे सर्व वेद कर्म हैं। सूर्य का कालात्मा रूप, तृतीय स्कन्ध में वर्णन किया है। वर्ण मात्रा रूप है अतः वर्ण में काल की अपेक्षा रहती है। काल में ही कर्म किए जाते हैं अतः काल के अवयव उनके साक्षी हैं, क्योंकि कर्म नित्य हैं। इस प्रकार आप (भगवान्) विश्व के कारण रूप हैं यह प्रतिपादन कर, अब 'विश्वाय शब्द' से कहती हैं कि, विश्व रूप भी आप हैं। वह विश्व आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूप से तीन प्रकार का है। उस विश्व के उपद्रष्टा आप, विश्व के आधिदैविक रूप हो यदि आप आधिदैविक रूप न होते तो, विश्व भी न होता अतः प्रथम, आधिदैविक स्वरूप, आप को कहा है। अनन्तर विश्व के 'कर्ता' आप आध्यात्मिक रूप हो, उसके बिना भी जगत् बने नहीं, अतः द्वितीय आध्यात्मिक स्वरूप आपका वर्णन किया है। पश्चात् तीसरे आधिभौतिक विश्व के रूप का वर्णन करती हुई कहती हैं कि इस विश्व के हेतु (महाभूत आधिकारण) भी आप हैं। इस प्रकार इन चार (विश्वाय तदुपद्रष्टे तत्कर्त्रे और तस्य हेतवे) पदों से अर्थ (पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) की मर्यादा का भी निरूपण हुआ। कैसे निरूपण हुआ उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि 'विश्व' ही 'अर्थ रूप' है, उस विश्व का उपद्रष्टा ही 'मोक्ष रूप' है, उसका कर्ता 'कामरूप' है और उसका हेतुधर्म 'रूप' है ॥ ४१ ॥

\* 'मृत्युर्न वेदमावृत्तमासीत्' 'काण्व शाखा के बृहदारण्यक' के प्रारम्भ अग्नि ब्राह्मण में यह श्रुति है वहाँ इस विषय का विस्तार से वर्णन है।

† आधिभौतिक काल का रूप दृश्यमान सूर्य है।

'योजना'

‡ ऋक्, यजुः और साम तीनों वेदों में कालात्मा सूर्य है वह कालात्मा सूर्य, वेदों में रहता है। उसके द्वारा वेद वर्ण (अक्षर-शब्दों) की व्यवस्था प्रकट करता है, अतः वेद कालनाभि है।

'प्रकाश'

**आभास** — एवं विश्वरूपत्वमुक्त्वा तद्भोक्तृ - सङ्घातजीवरूपत्वमाह, तत्र प्रथमं सङ्घातं निर्दिशति भूतमात्रेति,

**आभासार्थ** — इस प्रकार भगवान् के विश्व रूप का वर्णन कर, उस विश्व के भोक्ता सङ्घात और जीव रूप का वर्णन इस निम्न श्लोक में करती है -

श्लोकः — भूतमात्रेन्द्रियप्राणमनोबुद्ध्याशयात्मने ।

त्रिगुणेनाभिमानेन गूढस्वात्मानुभूतये ॥ ४२ ॥

**श्लोकार्थ** — पंच महाभूत, तन्मात्रा, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और चित्त, आत्मा (अहंकार रूप) तथा त्रिगुण रूप अभिमान से, अपने अंश रूप आत्माओं के अनुभव को आच्छादित कर दिया है । वैसे आपको, हम नमन करती हैं ॥ ४२ ॥

**सुबोधिनी** — भूतानि मात्रा इन्द्रियाणि प्राणा मनो बुद्धिराशयश्चित्तमात्माहङ्कारश्च, अयमेव हि सङ्घातः, एतद्रूपाय, जीवरूपश्चेत्याह, त्रिगुणेनाभिमानेन गूढा स्वात्मानुभूतिर्यस्य, ॥ ४२ ॥

**व्याख्यानार्थ** — संघात और जीव रूप दोनों में से, प्रथम संघात रूप का वर्णन करती हैं, भूत (महाभूत) मात्रा (तन्मात्रा) इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और आत्मा (अहंकार) ये संघात रूप हैं । ऐसे आप संघात रूप, को, तथा जीव के रूप भी आप हैं, किन्तु त्रिगुण रूप अभिमान से अपनी आत्मा की अनुभूति गूढ़ (गुप्त) की है, वैसे आपको, हम नमस्कार करती हैं ।

यह ही आपका (भगवान् का) पुष्टि रूप है, जिसकी आपने मर्यादा के विरुद्ध स्थिति की है । कैसे ? वहाँ कहती हैं कि, आप संघात रूप तथा उसी समय जीव रूप भी होकर दोनों रूपों का अनुभव करते हैं, साथ में अपने आत्मरूप का भी आनन्द लेते हैं, यह मर्यादा के विरुद्ध है । इसलिए यह ही आपका पुष्टि रूप है, केवल इसको, अन्य समझ न सके अतः अपनी आत्मा की अनुभूति को, गुणों के द्वारा गुप्त रखते हैं ॥ ४२ ॥

**आभास** — एवं भगवतोऽर्थसृष्टिरूपत्वमुक्त्वा शब्दसृष्टिरूपत्वमाह नमोऽनन्तायेति,

**आभासार्थ** — इस प्रकार उपर्युक्त ४ श्लोकों में, प्रमेय रूप, 'अर्थ' सृष्टि का वर्णन किया, कारिकाओं के अनुसार, ५ श्लोकों में प्रमेय रूप का वर्णन होना चाहिए अतः इस श्लोक में प्रमेय रूप 'शब्द' सृष्टि का वर्णन करती हैं जिससे ५ श्लोक की संख्या जो कारिकाओं में कही हुई है वह कहना योग्य सिद्ध हो गया है ।

श्लोकः — नमोऽनन्ताय सूक्ष्माय कूटस्थाय विपश्चिते ।

नानावादानुरोधाय वाच्यवाचकशक्तये ॥ ४३ ॥

**श्लोकार्थ** — अनन्त, सूक्ष्म, कूटस्थ, सर्वज्ञ, अनेक वादों के अनुरोधवाले<sup>१</sup> वाच्य (अर्थ) और वाचक (शब्द) दोनों में जिन की शक्ति है वैसे आपको हम प्रणाम करती हैं ॥ ४३ ॥

**सुबोधिनी** — रूपसृष्ट्यपेक्षया नामसृष्टिर्विलक्षणा, अन्तवती रूपसृष्टिरनन्ता नामसृष्टिः, स्थूला रूपसृष्टिः सूक्ष्मा नामसृष्टिः, विकृता रूपसृष्टिः कूटस्थाविकृता नामसृष्टिः, जडरूपा रूपसृष्टिर्विपश्चिद् बोधरूपा नामसृष्टिः, एवं चतुर्धा विलक्षण्यमुक्तं नन्वेवं नामसृष्टौ जगद्विलयप्रसङ्गस्तत्राह नानावादानुरोधायेति, सिद्धान्ततदाभासतत्पाषण्डरूपा

नानावादास्तेषामनुरोधो यस्य, सर्वैरेव यथा निरूप्यते तथा भगवान् भवतीति, तत्रोपपत्तिमाह वाच्यवाचकशक्तये इति, वाच्योऽर्थो वाचकः शब्दः, उभयत्रापि शक्तयो यस्य, यथैवार्थं वक्तुमिच्छति तथैवार्थो भवति तं प्रति सर्वस्यापि शब्दस्य, यथैवार्थं वक्तुमिच्छति तथैवास्मिञ् छन्दे तदर्थं शक्तयो भवन्ति, ऊतिरत्र स्पष्टैव ॥ ४३ ॥

**व्याख्यार्थ** — नाम (शब्द)सृष्टि और रूप सृष्टि में चार प्रकार के भेद हैं, १-रूपसृष्टि अन्तवाली है और नाम सृष्टि अनन्त है । २-रूप सृष्टि स्थूल है और नाम सृष्टि सूक्ष्म है । ३-रूप सृष्टि विकार वाली है और नामसृष्टि विकार रहित है । ४-रूप सृष्टि जड़ रूप है । और नामसृष्टि ज्ञान रूप है यों रूप और नाम सृष्टि की विलक्षणता<sup>२</sup> बताई ।

यदि नामसृष्टि इस प्रकार ही होगी तो जगत् के विलय<sup>३</sup> हो जाने की आपत्ति आ जाएगी अर्थात् जगत् का अस्तित्व ही नहीं रहेगा । इस शंका को मिटाने के लिए कहती हैं कि आपके अनेक प्रकार के जो जो वाद प्रचलित हैं उनका अनुसरण करने वाले हैं ।

जगत् में (१)-शास्त्रों के अनुसार सिद्धान्त है (२)-शास्त्रीय सिद्धान्त से, मिलता जुलता, सिद्धान्ताभास है, जैसे ब्राह्मण में, ब्राह्मण के धर्म पूर्ण न होवे तो, उसको ब्राह्मणाभास कहा जाता है । वैसे ही मायावादादि सिद्धान्त, पूर्ण शास्त्रीय सिद्धान्त, न होने से सिद्धान्ताभास हैं । ३-‘पाषण्ड रूप’ सिद्धान्त, जो वेद विरुद्ध सिद्धान्त हैं । इस प्रकार अनेक वाद हैं, किन्तु आपके जो सिद्धान्त जिस प्रकार आपका वर्णन करते हैं, आप उनके लिए वैसे ही बन जाते हैं, कारण कि, ‘शब्द’ और ‘अर्थ’ दोनों में आपकी शक्तियां विद्यमान हैं । अतः ‘शब्द’ का अर्थ जो जैसे करना चाहते हैं वैसे ही हो सकता है । क्योंकि शब्द का अर्थ जैसा करना चाहो वैसी शक्ति उसमें विद्यमान है । यह भगवान् की ऊति लीला है, ऊति कहते हैं कर्म वासना को अतः जिस अधिकारी की जैसी वासना होती है वह उसके अनुकूल अर्थ करता है ॥ ४३ ॥

**आभास —** एवं सामान्यतो नामसृष्टिलीलामुक्त्वा विशेषमाह ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार सामान्य रूप से नाम सृष्टि की लीला को कह कर अब विशेष प्रकार से नाम (शब्द) सृष्टि लीला का वर्णन इस श्लोक में करती हैं ।

**श्लोक: — नमः प्रमाणमूलाय कवये शास्त्रयोनेय ।**

**प्रवृत्ताय निवृत्ताय निगमाय नमो नमः ॥ ४४ ॥**

**श्लोकार्थ —** प्रमाण के आदि कारण, कवि, शास्त्र (वेद) के कारण प्रवृत्ति तथा निवृत्ति कराने वाले, निगम (वेद) रूप आपको हम नमस्कार करती हैं ॥ ४४ ॥

|                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                         |                                                                                                                                                                                                                                                                                                                              |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी —</b> नमः प्रमाणमूलायेति, वेदादयो हि प्रमाणं, तेषां यत् प्रामाण्यमादरणीयत्वं वा तद् भगवत्प्रतिपाद्यत्वेन भगवत्प्रतिपादितत्वेन च, अन्यथा तत्प्रामाण्यं न स्यात्, नित्यत्वेऽपि भगवदव्यतिरिक्तत्वेऽप्रामाण्यं च स्यात्, नित्यता च न स्यात्, अतः प्रमाणमूलभूतो भवानेव, कवये तद्रसाभिज्ञाय, अनेन शब्दवक्ता शब्दरसाभिज्ञः शब्दरूपश्चोक्तः,</p> | <p>शब्दोपादानकारणरूपश्चेत्याह शास्त्रयोनेय इति, शास्त्रस्य वेदस्य योनिः कारणं, एवं निदानरूपत्व-मुक्त्वावान्तररूपत्वमाह प्रवृत्ताय निवृत्तायेति, वेदो हि द्वयं सम्पादयति प्रवृत्तिं निवृत्तिं च कुतश्चिन्निवर्तयति क्वचित् प्रवर्तयति, निगम आज्ञारूपो भवति, एवम्प्रकारेण निगमरूपो वेदरूपो वा, अनेन सद्धर्मा उक्ताः ॥ ४४ ॥</p> |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यानार्थ —** वेद आदि शास्त्रों को हम प्रमाण इसीलिए मानते हैं और इसीलिए उनका आदर करते हैं कि वेदादि के प्रतिपाद्य विषय आप ही हैं और वेद आदि शास्त्रों का प्रतिपादन आपने ही किया है, यदि यों न होवे तो उनको कोई प्रमाण<sup>१</sup> न मानें, यदि नित्य हो तो भी, भगवान् से पृथक् होने के कारण, उसका प्रामाण्य कोई न माने तथा उसकी नित्यता भी न रहे, अतः प्रमाण मूल भूत कारण आप ही हैं और उस में जो रस है, उसके स्वरूप को जानने के कारण तथा वक्ता एवं शब्द रूप होने से आप कवि हैं । आप 'शब्द' के उपादान कारण रूप हो अतः आपको 'शास्त्रयोनिः' (वेद का कारण) कहा गया है । वेद के अवान्तर रूप (मध्य में रहा हुआ रूप) का वर्णन करती हैं कि, वेद आज्ञा रूप है, वह (निगम-वेद) दो कार्यों का सम्पादन कराता है (१) - प्रवृत्ति (२) निवृत्ति कराता है । किन्हीं कार्यों में प्रवृत्ति की आज्ञा देकर प्रवृत्ति कराता है किन्हीं कार्यों के करने का निषेध कर उनसे निवृत्ति कराता है । इस प्रकार आप निगम रूप वा वेद रूप हैं इससे सद्धर्म कहे हैं - जिससे सिद्ध है, कि यह सद्धर्म मन्वन्तर लीला है ॥ ४४ ॥

**आभास —** एवं वैदिकप्रमाणप्रमेयरूपतामुक्त्वा तदनाविर्भूतमित्याविर्भूतं भगवन्तं चतुर्मूर्ति तन्त्रप्रकारयुक्तं निरूपयति नमः कृष्णायेति,

**आभासार्थ —** इस तरह वैदिक प्रमाण वैदिक प्रमेय के रूप में भगवान् के वर्णन के पीछे अब तंत्र के प्रकार वाले चतुर्मूर्ति भगवान् का वर्णन करते हैं क्योंकि यह भगवान् का आविर्भूत रूप है जब कि वैदिक रूप आविर्भूत नहीं है ।

**श्लोक: — नमः कृष्णाय रामाय वसुदेवसुताय च ।**

**प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥ ४५ ॥**

**श्लोकार्थ —** कृष्णरूप, रामरूप, वासुदेव पुत्र रूप प्रद्युम्न रूप और अनिरुद्धरूप सात्वतों के पति चतुर्मूर्ति आपको हम नमस्कार करती हैं ॥ ४५ ॥

**सुबोधिनी —** कृष्णाय सदानन्दायेतिस्वरूपमुक्तं, अवान्तरूपत्वमाह ततो रामाय सङ्कर्षणाय, वसुदेवसुताय वासुदेवाय, चकारादस्य प्रद्युम्नरूपताप्युक्ता, वसुदेवशब्दस्य शुद्धसत्त्वं वसुदेवे च सङ्केतात्, प्रद्युम्नायानिरुद्धायेतिचतु-

मूर्तिर्भगवानुक्तः, सदानन्दो भगवांश्चतुर्मूर्त्या चावतीर्णो यदर्थं तदाह सात्वतां पतये नम इति, शुद्धसत्त्वानां परमवैष्णवानां पतिः भक्तिफलरूपो भक्तिप्रवर्तकश्च, अतोऽनेनेशानुक्त्या विष्णुभक्तिर्निरूपिता ॥ ४५ ॥

**व्याख्यानार्थ —** कृष्ण नाम कहने से नागपत्नियों ने यह बताया है कि आप (भगवान्) सदानन्द हैं अतः आपका प्रधान स्वरूप सदानन्द ही है । आपके दूसरे स्वरूप ये हैं-१-राम (संकर्षण) २-वासुदेवजी के पुत्र वासुदेव, (श्लोक में आए हुए 'च' 'ओर' शब्द से यह ध्वनि प्रकट की है कि वसुदेवजी के पुत्र एवं प्रद्युम्न रूप भी हैं कारण कि वसुदेव शब्द से दो का संकेत है १-वासुदेव से शुद्ध सत्त्वरूप पर और दूसरा वसुदेव नाम पर तथा ३-प्रद्युम्न एवं ४-अनिरुद्ध इन चार व्यूहों के कारण आप चतुर्मूर्ति भगवान् कहे जाते हैं । सदानन्द श्रीकृष्ण भगवान् चतुर्मूर्ति स्वरूप से जिनके लिए प्रकट हुए उनका वर्णन 'सात्वतां पतये' पद से कहती हैं कि आप शुद्ध सत्त्व गुण वालों (परम वैष्णवों) के पति हैं । 'सात्वत' शब्द यहाँ दो अर्थों में दिया है १-सात्वत शब्द से 'वैष्णव' । (२)-सात्वत शब्द से वह

† भगवान् को जब देवकी द्वारा प्रकट होना था, तब आप वासुदेव व्यूह रूप से वसुदेव के हृदय में पधारे अतः 'वसुदेव पुत्र' कहने से वासुदेव व्यूह समझना चाहिए । वंश वृद्धि करने के लिए भगवान् प्रद्युम्न 'व्यूह रूप से' वसुदेव के यहाँ प्रकटे हैं, इसलिए वह भी वसुदेव पुत्र होने से वासुदेव अर्थात् वसुदेवजी के पुत्र कहे जा सकते हैं ।

ज्ञान, जो भक्ति का भी फल रूप है, अतः आप भक्ति के फल रूप ज्ञान का स्वरूप हैं जिस का भाव यह है कि आप भक्ति के द्वारा ही प्राप्त होते हैं और आप भक्ति के प्रवर्तक भी हो । अतः इससे ईशानु कथा (अर्थात् विष्णु की भक्ति) का निरूपण किया है ॥ ४५ ॥

**आभास —** एवं तन्त्रन्यायेन भगवन्तं निरूप्य साङ्ख्ययोगादिभिः स्मार्तनिरूपितं भगवन्तं निर्णयेन निरूपयति नमो गुणप्रदीपायेति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार तन्त्र शास्त्रों में जिस भांति भगवान् के स्वरूपों का वर्णन किया गया है वह निरूपण कर अब इस निम्न श्लोक में स्मार्तमतवालों (स्मृति शास्त्रों को मुख्य प्रमाण मानने वालों) ने सांख्य तथा योगादि शास्त्रों से, जिस प्रकार भगवान् के स्वरूप का वर्णन किया है उसी प्रकार के भगवान् के स्वरूप का वर्णन करती हैं -

**श्लोक: —** नमो गुणप्रदीपाय गुणात्मच्छादनाय च ।

**गुणवृत्त्युपलक्ष्याय गुणद्रष्टे स्वसंविदे ॥ ४६ ॥**

**श्लोकार्थ —** गुणों के प्रकाशक, गुणों से अपने स्वरूप के आच्छादक<sup>१</sup> गुणों की वृत्तियों से बोध कराने वाले, गुणों के द्रष्टा, स्वतः स्वयं ज्ञान वाले, वैसे आपको हम नमन करती हैं ॥ ४६ ॥

**सुबोधिनी —** 'भगवान् सगुण' इत्यस्यायमर्थो गुणान् प्रकर्षेण दीपयति तत्प्रकाशनार्थमेव गुणान् स्वनिकटे स्थापयति, ततो गुणान् प्रकाशयन् गुणानां माहात्म्यख्यापनाय गुणैरात्मनश्छादनं येन गुणैरात्मानं छादितवान् गुणेषु स्वतेजो दत्त्वा स्वयं तिरोहितो जात इत्यर्थः, ततः पुनः कौतुकार्थं गुणानां या वृत्तयश्चाक्षुष-ज्ञानादयस्तैरुपलक्ष्यत इति तथा, एवं सत्त्वरजस्तमोभावा

उक्ताः, नन्वेतदपि किमिति करोति ? तत्राह गुणद्रष्टृ इति, गुणानां द्रष्टा, तान् दृष्ट्वा तेषामेवमुपकारं कृतवानित्यर्थः, तैः कृतस्तु स्वस्यापकारो नास्तीत्याह स्वसंविद इति, स्वत एव संविद् यस्य, न तस्य ज्ञानं केनचिदुत्पाद्यते केनचिन् नाशयते वा, अतो गुणानां सच्चिदानन्दधर्माणां स्वयमेव तद्रूपेणाविर्भूतस्वस्वाणामुपकारार्थं सगुण इत्युच्यत इत्यर्थः ॥ ४६ ॥

**व्याख्यार्थ —** भगवान् गुणों को प्रकाशित<sup>२</sup> करने के लिए अपने पास रखते हैं अतः आपको 'सगुण' कहते हैं । इस प्रकार गुणों को प्रकट करते हुए उनका माहात्म्य प्रसिद्ध करने के लिए उन गुणों से अपना आच्छादन कर देते हैं अर्थात् भगवान् अपना तेज गुणों को देकर आप तिरोहित<sup>३</sup> हो जाते हैं पश्चात् पुनः

कौतुक<sup>१</sup> के लिए, गुणों की वृत्तियां (नेत्र आदि का ज्ञान, देखना आदि) से अपना बोध कराते हैं, इस प्रकार सत्त्व, रज और तमोगुण के भाव इस प्रकार (गुणों का प्रकाशन, उनसे अपना आच्छादन और पुनः गुणों की वृत्तियां से अपना ज्ञान कराना) भगवान् यों किस लिए करते हैं ? इस के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् गुणों को देखते हुए, उन पर इस प्रकार उपकार करते हैं ! उन पर इसी भांति उपकार करने से, भगवान् का कुछ भी अपकार नहीं हुआ है कारण कि आप 'स्वतः' स्वयं ज्ञान वाले हैं उनका अन्य कोई न ज्ञान दाता है और न उनके ज्ञान का कोई भी नाश कर सकता है, अतः जिन गुणों के 'सत्', 'चित्', और 'आनन्द' रूप धर्म हैं, उन उन गुणों के रूप से स्वयं भगवान् स्वतः प्रकट होते हैं, प्रकट हो कर उन पर उपकार करते हैं जिससे आप 'सगुण' कहे जाते हैं ॥ ४६ ॥

**आभास —** एवं सगुणरूपत्वमुक्त्वा ज्ञेयं रूपं भगवन्तमाहाव्याकृतेति,

**आभासार्थ —** इसी भांति भगवान् के सगुण रूप का वर्णन कर अब इस निम्न श्लोक में भगवान् के जिस रूप को जानना चाहिए उस रूप का निरूपण करती हैं -

**श्लोक: —** अव्याकृतविहाराय सर्वव्याकृतसिद्धये ।

हृषीकेश नमस्तेऽस्तु मुनये मौनशीलिने ॥ ४७ ॥

**श्लोकार्थ —** हे हृषीकेश<sup>२</sup> ! जिस आपके विहार<sup>३</sup> को कोई नहीं जान सकता है, सर्व व्याकृत<sup>४</sup> की जिस आपसे सिद्धि<sup>५</sup> होती है, मुनि और मौन स्वभाव वाले भी आप हैं, वैसे आपको हमारा प्रणाम हो ॥ ४७ ॥

**सुबोधिनी —** अव्याकृते प्रकृतिपुरुषरूपे विहारो यस्य, अव्याकृतो वा केनाप्यज्ञातो विहारो यस्य, अव्याकृतार्थ वा विहारो यस्य, कपटमानुषभावं सम्पादयति यथा न कोपि जानात्विति, तस्याव्याकृतत्वे प्रमाणमाह सर्वव्याकृतसिद्धये इति, सर्वे ये व्याकृतास्तत्त्वानि ब्रह्माण्डानि च तदन्तर्वर्तीनि च तेषां सिद्धिरुत्पत्तिर्ज्ञप्तिश्च यस्मात्, "अव्यक्तादीनि भूतानी" तिवाक्यात्, अन्यथा व्याकृतोत्पत्तिर्न स्यात् कार्यस्य पूर्वावस्थातो वैलक्षण्यस्यावश्यकत्वात्, एवमुत्पत्तिपक्षं निरूप्य ज्ञप्तिपक्षं निरूपयति हृषीकेश नमस्ते स्त्विति, हृषीकाणीन्द्रियाणि तेषामीशः प्रवर्तकः, प्रकृते भगवानेवंज्ञापनार्थं स्वेन्द्रियाणि

प्रवर्तयन्नुपस्थित इति साक्षात् तं नमस्यन्ति, तादृशीं वाक्स्थां प्रार्थयन्ति, तर्ह्यव्याकृतस्य ज्ञानं कथं भवतीत्याकाङ्क्षायामाह मुनय इति, मननमेव तत्र हेतुः, मुनयश्च द्रष्टारः, तद्रूपो भगवान्, किञ्च साधनान्तरमप्यव्याकृतस्य भगवतो ज्ञाने निरूपयन्ति मौनशीलिन इति, मौनमेव शीलं सहजः स्वभावो यस्य, "उपरतायां वाचि किञ्च्योति" रितिप्रश्ने "अत्रायं पुरुषः स्वयञ्च्योति" रिति "वचस्युपरते प्राप्ये" तिवाक्याच्च, तदेकं भगवत एवाव्याकृतं रूपं यत्रैव "यस्यामतं तस्य मतं" मित्यादिवाक्यानि सम्बध्यन्ते ॥ ४७ ॥

**व्याख्यानार्थ** — इस श्लोक में दो सिद्धान्त कहे हैं। एक 'उत्पत्ति' सिद्धान्त, अर्थात् उत्पत्ति कैसे एवं किससे हुई ? और उत्पत्ति-कर्ता का स्वरूप कैसा है ? तथा दूसरा, 'ज्ञप्ति' सिद्धान्त अर्थात् भगवान् के मूल रूप का ज्ञान, हो जाए कि वह कैसे है ?

श्लोक के पूर्वार्ध में, उत्पत्ति पक्ष (सिद्धान्त) कहते हैं—(१)-उत्पत्ति कर्ता (कारण रूप) के स्वरूप का वर्णन करते हैं—'अव्याकृत विहाराय' वह कारण स्वरूप (१)-अव्याकृत<sup>१</sup> होने से उसके विहार<sup>२</sup> को कोई जान नहीं सकता है (२)-प्रकृति और पुरुष रूप में जो विहार करते हैं अर्थात् जिनका प्रकृति और पुरुष स्वरूप है उनमें वा उनके द्वारा, लीला कर रहे हैं (३)-कोई भी जान न सके इस लिए जिसका विहार है अतः आप आनन्दाकार होते हुए भी मनुष्य रूप का दिखावा करते हैं जिससे आपके आनन्दाकार को कोई नहीं जान सकता है। इस प्रकार आपका कारण रूप अव्याकृत है। यह कह कर उसकी दृढ़ सिद्धि के लिए कहती है कि 'सर्वव्याकृतसिद्धये' सब जो तत्व, ब्रह्माण्ड और उनके भीतर जो कुछ है उनकी उत्पत्ति और ज्ञान जिससे होता है वह आप हैं। गीता में इसी लिए कहा गया है कि इन भूतों की आदि अव्यक्त<sup>३</sup> है। यदि वह अव्याकृत न होवे तो उससे उत्पत्ति नहीं हो सके, कारण कि, व्याकृत से उत्पत्ति नहीं होती है। व्याकृत अर्थात् कार्य विकार वाला होता है। अतः कारण से कार्य का प्रकार पृथक् होता है, जब कार्य (व्याकृत) विकार वाला है तब कारण का अव्याकृत<sup>४</sup> होना निश्चित ही है।

इस प्रकार पूर्वार्ध में उत्पत्ति पक्ष का निरूपण कर, अब उत्तरार्ध में 'ज्ञप्ति' पक्ष का निरूपण करती हैं। नागपत्नियां भगवान् को प्रत्यक्ष सामने नमस्कार करती हुई कहती हैं कि आप को हमारी नमस्कार हो कारण कि आप इन्द्रियों के ईश<sup>५</sup> हो अतः उनके प्रेरक<sup>६</sup> हो, इस लीला में भी आप इस हृषीकेश नाम के भाव को सिद्ध करते हुए इन्द्रियों को प्रवृत्त करते हुए इस लीला में उपस्थित हो। अथवा आप इसी अवस्था में दर्शन दो। यदि इस प्रकार प्रकट दर्शन होंगे, तो अव्याकृत का ज्ञान फिर कैसे होगा ? इस आकांक्षा में कहते हैं, कि मनन करने से, उस अव्याकृत का ज्ञान हो जाएगा, क्योंकि, आप 'मुनि' हो। 'मुनि' द्रष्टा होते हैं। वही रूप आपका है। कुछ और कहती हैं कि, अव्याकृत, भगवान् का ज्ञान, प्राप्त करने के लिए दूसरा साधन है, वाणी का शान्त होना। इसलिए कहा है कि, 'मौनशालिने' मौन ही जिसका सहज स्वभाव है। अर्थात् जीव जब मौनावस्था सिद्ध करता है तब उसको पा सकता है। जब वाणी शान्त होती है तब कौन सी ज्योति है ? ऐसे प्रश्न के उत्तर में कहा है कि इस अवस्था में (जब वाणी शान्त हो जाती है) यह पुरुष स्वयं ज्योति स्वरूप है। वह एक भगवान् का ही अव्याकृत, रूप है ॥ जो कहता है कि मैंने नहीं जाना है उसने जान लिया है ॥ जैसे वचनों की संगति भी यही इस भगवान् के रूप में बैठ जाती है ॥ ४७ ॥

१-विकार रहित । २-लीला । ३-जिसको कोई जान न सकता है । ४-बिना विकार वाला ।

५-स्वामी । ६-प्रेरणा करने वाले ।



**आभास —** शास्त्रार्थरूपश्चैको भगवान् पण्डितव्यवहार्यः, तमाह

**आभासार्थ —** इस निम्न श्लोक में भगवान् का जो शास्त्रार्थ रूप (शास्त्रों में जिस रूप का वर्णन) है जिसको पण्डित व्यवहार में लाते हैं उसका वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः — परावरगतिज्ञाय सर्वाध्यक्षाय ते नमः ।**

**अविश्वाय च विश्वाय तद्द्रष्टे तस्य हेतवे ॥ ४८ ॥**

**श्लोकार्थ —** छोटे और बड़ों की गति को जानने वाले, सर्व के स्वामी, तथा विश्व से पृथक् और विश्वरूप उसके द्रष्टा एवं उसके कारणरूप आपको हम नमन करती हैं ॥ ४८ ॥

**सुबोधिनी —** परावरेति, परे ब्रह्मादयः, अवेरेऽस्मदादयः, तेषां सर्वेषामेव गतिं व्यवस्थां जानातीति, शास्त्रेण ह्युत्पाद्यते यज् ज्ञानं तदेतादृशं भवतीति, एवं बहिर्ज्ञानमुक्त्वान्तर्ज्ञानमाह सर्वाध्यक्षायेति, सर्वेषामध्यक्षः साक्षी, अतस्तं प्रत्यक्षेण नमन्ति ते नम इति, तेषां प्रतिपाद्यरूपं सद्ग्रहेणाहविश्वायेति, विश्वव्यतिरिक्तो विश्वरूपश्च, विश्वरूप एव सन् विश्वव्यतिरिक्तश्च, यथा वृक्षः काण्डादिरूप एव सन् फलरूपोऽपि, चकारादुभयमुभयत्र, अनेन केचन विश्वरूपं प्रतिपादयन्ति केचन तद्व्यतिरिक्तं, केचनोभयं, केचित् पुनरेकदेशिन इति, किञ्च तद्द्रष्टे तस्य रूपस्य द्रष्टा त्वमेव, अनेनाविश्वपक्षे प्रमाणमुक्तं, विश्वपक्षेऽपि प्रमाणमाह तस्य हेतव इति, तस्य विश्वस्य कारणरूपोऽपि, कारणात्मकतैव कार्यस्येति प्रमाणात्, एवं निरोधमुक्त्याश्रयाः क्रमादेतैरेवोक्ताः ॥ ४८ ॥

**व्याख्यानार्थ —** शास्त्रों में से यह ज्ञान होता है कि बड़े (ब्रह्मादि देवता) तथा छोटे (हमारे जैसों) की गति को आप जानते हैं इस प्रकार शास्त्रों से होने वाले बाहिर के ज्ञान के रूप का वर्णन कर, भीतर के ज्ञान को कहती हैं कि आप सब के साक्षी रूप भी हो अतः ऐसे भगवान् के रूप को प्रत्यक्ष प्रणाम करती हैं ।

अब उत्तरार्थ में शास्त्रों में कहे हुए रूपों को, संक्षेप में कहती हैं, कि आप विश्व से पृथक् तथा विश्वरूप भी हो वैसे दो रूप आपके कैसे हैं ? इसको आचार्यश्री दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे वृक्ष का एक रूप शाखादि है और एक रूप फल है वे पृथक् भी कहे जाते हैं किन्तु वे दोनों ही रूप वृक्ष के ही हैं, वृक्ष उनसे अन्य नहीं और वे (शाखादि एवं फल) उससे (वृक्ष से) अन्य नहीं वैसे ही आप भी दोनों रूप होते हुए भी एक ही हैं । श्लोक में आए हुए 'च' शब्द का आशय यह है कि दोनों रूप, दोनों स्थानों पर (विश्व में और विश्व से बाहर भी) हैं ।

इस प्रकार का वर्णन शास्त्रों में होने से, कितने ही भगवान् को केवल 'विश्वरूप' कहते हैं और कितने ही कहते हैं, कि विश्व से बाहर (पृथक्) हैं और कितने ही कहते हैं कि भगवान् तो विश्वरूप भी हैं और विश्व से बाहर भी हैं अतः एक ही भगवान् दोनों रूप हैं एवं जो कहते हैं कि विश्व से बाहर का रूप और विश्व का भीतरी रूप दोनों अलग हैं वे एकदेशीय<sup>†</sup> हैं ।

किञ्च (कुछ और कहती हैं कि) भगवान् विश्व से बाहर हैं उसमें प्रमाण देती हैं कि आप विश्व के द्रष्टा हैं । द्रष्टा दृश्य से बाहर ही रहता है, आप विश्व रूप हैं, इसमें प्रमाण देती हैं कि आप विश्व के कारण रूप हैं कार्य, कारण का ही रूप है उस से (कारण से) कार्य अन्य वस्तु नहीं है । इस प्रकार इन ४६वें, ४७वें और ४८वें श्लोकों में क्रम से 'निरोध' 'मुक्ति' और 'आश्रय' के स्वरूप<sup>‡</sup> कहे हैं ॥ ४८ ॥

**आभास —** एवं सर्वरूपेण नत्वा विज्ञापनार्थं प्रथमतोऽस्यापराधस्तथा नास्तीति वक्तुं त्वमेव सर्वस्वभावानां बोधक इत्युपपत्तिमाहुस्त्वं ह्यस्येति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार भगवान् के दश लीला वाले सर्व स्वरूप को प्रणाम कर अब प्रार्थना करती हैं, जिसमें प्रथम कहती हैं, कि जैसे इसका अपराध कहा जाता है, वैसे इसका अपराध नहीं है । उसको इस श्लोक में युक्ति देकर सिद्ध करती हैं कि आप ही सर्व के स्वभावों को जगाते हो अर्थात् जिसका जैसा स्वभाव बताते हो वह उस स्वभाव के अनुसार कार्य करता है अतः जैसा इसका स्वभाव आपने बताया है उसके अनुसार यह कर्म करता है—

**श्लोक: —** त्वं ह्यस्य जन्मस्थितिसंयमान् प्रभो गुणैरनीहोऽकृत कालशक्तिधृक् ।

तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन् सतः समीक्षयामोघविहार ईहसे ॥४९॥

<sup>†</sup> इस मत का खण्डन ३-२-१२ वें ब्रह्मसूत्र में आचार्य श्री ने किया है ।

<sup>‡</sup> 'लेख'

<sup>‡</sup> ४६ वें, ४७ वें और ४८ वें श्लोकों में 'निरोध', 'मुक्ति' और आश्रय कैसे कहे हैं उसको स्पष्ट कर समझाते हैं कि ४६ वें श्लोक में भगवान् ने गुणों के ऊपर अर्थात् सगुण जीवों पर उपकार कर, उनको प्रकाश दिया है, इससे उनका निरोध किया है, अतः इस श्लोक से 'निरोध' लीला कही है । ४७ वें श्लोक में भगवान् अव्याकृत विहार करते हैं यों कहा है, जिसका तात्पर्य है कि भगवान् जीव स्वरूप में स्थिति करते हैं । जीव भगवान् में स्थित हुआ, उसे मुक्ति कहते हैं, अतः यह मुक्तिलीला हुई । ४८ वें श्लोक में ज्ञान का तथा क्रिया का आश्रय भगवान् हैं वैसे कहा है, अतः इसमें आश्रय लीला कही गई है ।

इस कहने से यह सिद्ध हो जाता है, कि भगवान् की की हुई दशलीलाओं से भगवान् के जो दश स्वरूप हुए हैं उनको नागपत्नियां प्रणाम करती हैं ।

**श्लोकार्थ** — हे प्रभो ! काल शक्ति धारण करने वाले आप इच्छा रहित होते हुए भी गुणों से इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति, तथा प्रलय करते हो । आपकी लीला अमोघ<sup>१</sup> है, अतः आप उन उन वस्तुओं के जैसे २ स्वभाव हैं, वैसे २ ही, उन स्वभावों को जागृत कर, सत्पुरुषों का पूर्ण ध्यान करते (रखते) हुए लीला करते हैं ॥ ४९ ॥

**सुबोधिनी** — त्वमेव ह्यस्य जगतो जन्मस्थिति-संयमान् गुणैरकृत कृतवान्, स्वयमनीह एव चेष्टामकुर्वन्नेव, तादृशस्य करणे हेतुमाह कालशक्तिधृति, कालशक्ति विभर्तीति, यदैव भगवता कालशक्तिरधिष्ठिता तदैव गुणक्षोभं करोति सिंहासनस्थितपुत्रिका वायुमिव, ततः सर्वाण्येव कार्याणि भवन्ति, गुणा उपादानं, कालो निमित्तं, स्वभावो नियामकः, तमाह तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन्निति, तस्य तस्य वस्तुनः स्वभावास्तत्तत्कार्यनियामकास्तेषां प्रतिबोधश्च कालेनैव क्रियते, स्वभावान्तःस्थितस्वरूपेण वा,

एवं कुर्वन् सतः समीक्षयेहसे लीलां करोषि तव कार्यद्वयं, अनवतीर्णो नाक्षरे समाख्ये कालशक्तिगुणाः स्वभावश्चोद्गता भवन्ति, ततः सर्वमेव जगद् भवति परमनेकविधं, तस्मिन्नपि च जगति सतः सर्वस्यैव सन्मार्गस्य सतां च समीक्षया परिपालन पूर्वकं सम्यगवेक्षया लीलां च करोषि, तेन च तेषां सर्व एव पुस्त्यार्थाः सिद्धा भवन्ति जगच्च रक्षितं भवति, न च पुनःपुनः कर्तव्यं पतति, तत्र हेतुमाहामोघविहार इति, न मोघो व्यर्थो विहारो यस्य, अनेनोभयत्रापि हेतुरुक्तः ॥ ४९ ॥

**व्याख्यार्थ** — भगवान् 'निरीह' कहे जाते हैं अर्थात् निरीह होने से भगवान् को किसी प्रकार कुछ भी करने की इच्छा नहीं होती है, तो इस जगत् का जन्म, स्थिति और लय, भगवान् ने कैसे किया ? इस शंका का समाधान<sup>२</sup> करते हुए इस श्लोक में इस विषय को समझाते हैं कि भगवान् जब अपनी काल शक्ति को धारण कर उसका अधिष्ठान<sup>३</sup> बनते हैं, तब जैसे सिंहासन पर धरी हुई पुतलियां, हवा के लगने से, चलने लगती हैं वैसे ही काल शक्ति को धारण करने पर, गुणों में क्षोभ<sup>४</sup> होता है जिसके द्वारा जगत् के सृष्टि आदि सर्व कार्य होते हैं । इन कार्यों के होने में 'गुण' उपादान कारण है । 'काल' निमित्त कारण है और 'स्वभाव' नियामक है । उसको (तत्तत्स्वभावान् प्रतिबोधयन्) पद से कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का जो स्वभाव है वह उसका नियामक<sup>५</sup> है और उनको (स्वभावों-नियामकों को जागृत करने वाला काल ही है) वह काल, किस स्वरूप से जागृत करता है ? जिस काल का स्वरूप स्वभावों के भीतर<sup>\*</sup> स्थित है । इस प्रकार सत्पुरुषों की पालना करते हुए आप लीला करते हैं ।

\* स्वभाव के भीतर स्थित स्वरूप कालका आधि दैविक स्वरूप है ।

१-व्यर्थ नहीं किन्तु सत्य ।

२-निवारण ।

३-आधार ।

४-हलचल ।

५-नियम से चलाने वाले ।

लीला के समय में आप के दो कार्य हैं। जब आप अवतार नहीं लेते हैं और 'अक्षर' पर आरूढ़ होते हैं तब अक्षर से, काल शक्ति, गुण और स्वभाव प्रकट हो जाते हैं। अनन्तर उनमें से जगत् की अनेक प्रकार (सदोष और निर्दोष) की उत्पत्ति होती है। उस अनेक प्रकार वाले जगत् में, आप सब प्रकार के सन्मार्ग तथा सत्पुरुषों की पूरी तरह देख रेख से पालन करते हुए लीला करते हैं। इसी भाँति लीला करने से उनके (सत्पुरुषों के) सर्व पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं तथा जगत् की भी रक्षा होती है जिससे शीघ्र बार बार जगत् बनाना नहीं पड़ता है, वैसा होने का कारण कहती हैं, कि आपकी, की हुई लीला सत्य होने से व्यर्थ नहीं जाती है। इससे स्वभाव को जाग्रत करने तथा सत् कार्य एवं सत्पुरुषों की रक्षा दोनों कार्यों का कारण कहा ॥ ४९ ॥

**आभास —** अस्य दुष्टस्वभावत्वे भगवतश्च शिक्षकत्वे हेतुमुक्त्वा कार्यमाह तस्यैव तेऽमूर्ति,

**आभासार्थ —** सर्प का स्वभाव दुष्ट क्यों है ? और भगवान् शिक्षक कैसे हैं ? उन दोनों के कारण बतलाकर अब भगवान् ने जो कार्य किया (सर्प को शिक्षा दी) उसका वर्णन करते हैं—

**श्लोक: —** तस्यैव तेऽमूस्तनवस्त्रिलोक्यां शान्ता अशान्ता उत मूढयोनयः ।

**शान्ताः प्रियास्ते ह्यधुनावितुः सतां स्थातुश्च ते धर्मपरीप्सयेहतः ॥ ५० ॥**

**श्लोकार्थ —** त्रिलोकी में शान्त, अशान्त तथा मूढ सात्त्विक, राजस और तामस, जितने शरीर हैं वे सब आपके क्रीडा के साधन रूप होने से आपके ही शरीर हैं। तो भी अब आपको शान्तरूप प्रिय है, क्योंकि, सत्पुरुषों के धर्म पालन की इच्छा से, प्रवृत्ति करते हुए आपने उन्हीं की रक्षा के लिए अवतार धारण किया है ॥ ५० ॥

**सुबोधिनी —** यदा भगवान् स्वार्थमेव सर्वं करोति तदा सर्वाण्येव शरीराणि भगवल्लीलौपयिकत्वाद् भगवत्तनवो भवन्ति, ते च त्रिविधाः शान्ताः सात्त्विका अशान्ता राजसा विक्षिप्ता मूढयोनयस्तामसास्तत्रैव तनवः, द्वितीयसर्ग प्रकारेऽत्रोपयुज्यते, दैत्यांशानां तत्रैवोपकार इति, मूढयोनिषु तत्त्वमनुचितमित्याशङ्क्योत इत्युक्तं, तथा सति कथं भगवदवतारलीला ? तत्राह शान्ताः प्रियास्त इति, अधुनावितुः पालकस्य धर्मपरीप्सया धर्मरक्षेच्छया स्थातुः स्थानेच्छेः, शान्ता एव सात्त्विका एव प्रिया न त्वतिरिक्ता उभयविधाः, ते हि नाशका उत्पादकाश्च, उत्पादका अप्यनभिमताः, अधिकभारजनकत्वात्, नाशकास्तु विरोधिन एव, अनेनोभयमपि कार्यमुक्तम् ॥ ५० ॥

**व्याख्यार्थ —** जब भगवान् अपने लिए ही (क्रीड़ा करने के लिए ही) सब जगत् बनाते हैं, तब सब शरीर भगवान् की लीला में उपयोगी होने से, उनके ही शरीर होते हैं। वे शरीर तीन प्रकार के होते हैं १-शान्त अर्थात् सात्त्विक २-अशान्त अर्थात् राजस और ३-मूढ योनि वाले तामस, ये तीन प्रकार के

शरीर आपके ही शरीर हैं। यहाँ द्वितीय प्रकार की सृष्टि में यों होता है। उस द्वितीय प्रकार की सृष्टि में ही, दैत्यांशों का उपकार होता है।

मूढ योनि वाले तामसों में भी भगवान् के शरीरों को मानना अनुचित है (योग्य नहीं है) इस प्रकार की शंका होवे तो, उसको मिटाने के लिए श्लोक में 'ते' शब्द देकर कहा है कि वे मूढ योनि वाले भी आपके शरीर हैं मूल में आए हुए 'उत' का तात्पर्य भी यह है कि मूढ योनि वाले आपके शरीर हैं। यदि सब शरीर भगवान् के ही हैं तो अवतार की लीला कैसे बन सकेगी? इस शंका का निवारण श्लोक के उत्तरार्ध से करते हैं कि, इस समय आपको शान्ति ही प्रिय है। कारण कि, आपने धर्म रक्षा की इच्छा से अवतार धारण किया है। इसी लिए आप सत्पुरुषों का पालन कर रहे हैं। शेष दो (राजस और तामस) प्रिय नहीं हैं, क्योंकि राजस सृष्टि बढ़ाकर पृथ्वी पर अधिक बोझ डालते हैं और तामस नाश करने वाले विरोधी हैं। इससे भगवान् के अवतार लेने के दोनों कार्य (दुष्टों का निग्रह करना और सत्पुरुषों का पालन करना) बता दिए ॥ ५० ॥

**आभास — तथाप्यस्यापराधः सोढव्य इत्याहुरपराध इति**

**आभासार्थ —** सर्प वैसा दुष्ट है, तो भी आपको इसका अपराध सहन करना चाहिए। इस प्रकार की प्रार्थना इस निम्न श्लोक में करती हैं—

**श्लोकः — अपराधः सकृद् भर्त्रा सोढव्यः स्वप्रजाकृतः ।**

**क्षन्तुमर्हसि शान्तात्मन् मूढस्य त्वामजानतः ॥ ५१ ॥**

**श्लोकार्थ —** पालन कर्ता स्वामी को एक बार अपनी प्रजा का अपराध सहन करना चाहिए। हे शान्त स्वरूप ! आपके स्वरूप से, अनजान इस मूर्ख पर, आपको क्षमा करनी चाहिए ॥ ५१ ॥

**सुबोधिनी —** यद्यपि साम्प्रतमन्याभिनिवेशस्तथाप्य-  
ममदादीनामपि भवानेव पतिरतोऽनवसरे कार्यकरणादपराधः  
साऽपि सोढव्यः, स्वस्थैव प्रजाभिः पालनीयाभिः कृत  
इति, अन्यथा पालकत्वं न स्यात्, कार्यनिर्वाहार्थं च सकृदेव  
सोढव्यो ज्ञापनार्थः, स्वस्य प्रजाभिः कृतः, पुनरपराधे ज्ञात्वा  
करणान् मारणमेवोचितं, विशेषित्वात् अत एव क्षन्तुमर्हसि,  
आमायामुपायान्तरमप्याह शान्तात्मन्निति, शान्त आत्म यस्य,

सत्त्वनिधानत्वात् क्षोभाभावाद् दण्डेन कार्यस्य सिद्धत्वादग्रे  
प्रतिबन्धकत्वाभावाच्च सोढव्यः नन्वज्ञानात् कृतमिति  
कथमवगन्तव्यम् ? ज्ञातकरणपक्षे तु सकृदपि न सोढव्य  
इत्याशङ्क्याहुर्मूढस्येति, स्वभावादेवायं सर्पयोनिस्तामसः, अतो  
मौढ्यात् त्वां न जानाति, अज्ञानात् कृतमकृतप्रायम्  
॥ ५१ ॥

**व्याख्यार्थ —** यद्यपि आपका इस समय अन्यो की (सात्विकों की) रक्षा पालने में आग्रह है, तो भी, हम लोगों के भी, इस समय आप ही पति हैं। इसको न समझ कर, समय का विचार भी न कर,

जो इसने, हमारे पति सर्प ने अपराध किया है वह आपको सहन करना चाहिए। क्यों सहन करें? इसके उत्तर में कहती हैं कि यह अपराध जिसने किया है, वह आपकी प्रजा है। प्रजा पालने के योग्य ही होती है, यदि उसका अपराध सहन न कर, उसका नाश करोगे, तो, आपका पालकपन चला जाएगा। अतः कार्य चलता रहे, इसलिए प्रजा का अपराध एक बार सहन करना चाहिए। यदि दूसरी बार करे, तो, उसको मारना चाहिए। क्योंकि एक बार, क्षमा मिलने पर यदि पुनः अपराध यह विरोधी करे तब वह दण्ड के योग्य है। अब तो आप क्षमा कर सहन करते हुए, आपने प्रजा पालन धर्म को सिद्ध करें।

आपको क्षमा इसलिए भी करनी चाहिए, कि आप शान्त आत्मा हो, जिससे आप सत्त्व के धाम हैं। इसी से, आप में क्षोभ नहीं होता है इसके अतिरिक्त आपने इसको दण्ड दिया है जिससे ही कार्य सिद्ध होगया है। अब आगे इससे किसी प्रकार विघ्न आदि नहीं होंगे, अतः अब एक बार अपराध सहन कीजिए।

इसने यह अपराध अनजान में किया है वैसा हम कैसे जाने? जान कर किया हो, तो एक बार भी सहन नहीं करना चाहिए, इस शंका को मिटाने के लिए उसको विशेषण 'मूढ' दिया है, अर्थात् वह अज्ञान है, सर्प योनि तामस होने से, 'मूढ' ही है, अतः आपके स्वरूप का उसको परिचय नहीं है इस लिए जो अज्ञान से किया गया अपराध है वह नहीं किए हुए के समान है ॥ ५१ ॥

**आभास —** क्षमायां यत् कर्तव्यं तदाहुरुगृहीध्वेति ।

**आभासार्थ —** क्षमा करते हुए जो कुछ करना है उसको इस श्लोक में कहती हैं-

**श्लोक: —** अनुगृहणीष्व भगवन् प्राणांस्त्यजति पन्नगः ।

**स्त्रीणां नः साधुशोच्यानां पतिः प्राणः प्रदीयताम् ॥ ५२ ॥**

**श्लोकार्थ —** हे भगवान् ! अनुग्रह कीजिए, यह सर्प मरता है, साधु पुरुषों के लिए शोचनीय हम स्त्रियों पर कृपा कर पति रूप प्राण दीजिए ॥ ५२ ॥

**सुबोधिनी —** अनुग्रहः कर्तव्यः, नन्वनुग्रहे को हेतुः? तत्राह भगवन्निति, तवैव गुणो हेतुभूतो न त्वस्य, तर्हि सर्वत्रैव प्रसादो भवेदित्याशङ्क्य निमित्तमाहुः प्राणांस्त्यजतीति, कृपावसरोऽयं, यथा कृपायां भक्त्यादिहेतुः, एवं समयोऽपि, अत एव ग्रहणादिकाले सेवारहितायामपि यथा दीयते तथा कृपा विधेयेत्यर्थः,

पन्नग इति, जीवमात्रमित्यल्पता दयायां हेतुः, नन्वल्पत्वादेव किमनेन जीवितेनेत्याशङ्क्याहुः स्त्रीणामिति, स्त्रीणामस्माकं पतिरूपोऽयं प्राणः प्रकर्षेण दीयतां, स्त्रीणां प्राणरक्षा सर्वथा कर्तव्येति, ननु स्त्रियोऽपि दुष्टाः "शालावृक्षाणां हृदयान्येता" इति श्रुतेरित्याशङ्क्याहुः साधुशोच्यानामिति, सत्यं दुष्टाः स्त्रियः परं स योनिदोष एव न तु जीवदोषः अतः

साधवस्तं जीवं शोचन्ति कथमयं स्त्रीशरीरे पतित इति | परिपालकः, अतस्तेषां शोकाभावायास्मत्प्राणा रक्षणीया  
यत्र सर्वदा भयं पराधीनता मुक्त्यभावश्च, भवौश्च साधूनां | इतिभावः ॥ ५२ ॥

**व्याख्यानार्थ —** आप इस सर्प पर अनुग्रह कीजिए, इस पर अनुग्रह करने में, इसका (सर्पका) गुण कारण नहीं है, किन्तु आप 'भगवान्' हो अतः आपका 'भगवत्त्व' ही दया करने में कारण है। यदि भगवत्त्व कारण है तो सर्वत्र सदा ही अनुग्रह करना चाहिए ? इसके उत्तर में कहती हैं कि, अब अनुग्रह करने का समय है, क्योंकि यह मर रहा है। जैसे, कृपा करने में, भक्ति आदि, कारण हैं, वैसे ही 'समय' भी, एक प्रकार से हेतु है, इस कारण से ही ग्रहण आदि काल में, जो सेवा आदि नहीं करते हैं, उनको भी 'समय' के कारण, दान दिया जाता है वैसे ही अब भी कृपा करने का समय है, अतः कृपा कीजिए। इस पर दया करने में दूसरा कारण यह भी है कि यह पन्नग<sup>१</sup> अल्प<sup>२</sup> जीव है इस लिए भी अनुग्रह कीजिए। जब यह छोटा सा साधारण जीव है, तो इसके जीने से क्या लाभ है ? इस शंका के उत्तर में कहती हैं कि हम स्त्रियों का यह पति रूप प्राण है। स्त्रियां की रक्षा सर्व प्रकार से करनी चाहिए।

स्त्रियां भी दुष्ट होती हैं जैसा कि श्रुति कहती है कि 'शालावृकाणां हृदयान्धेता' (स्त्रियां सियार के जैसे हृदय वाली होती हैं) अतः उनकी रक्षा कैसे की जाए, इस शंका को मिटाने के लिए कहती हैं, कि सत्य है स्त्रियां दुष्ट हैं किन्तु वह दोष देह का दोष है न कि जीव का दोष है जीव का दोष न होने के कारण ही, साधु पुरुष स्त्रियों पर दया कर, शोक करते हैं, कि ये जीव स्त्री शरीर में कैसे आ कर पड़े हैं ? जिस शरीर में सदा ही भय, पराधीनता और मुक्ति का अभाव है। आप साधुओं के पूर्ण रीति से पालन करने योग्य हैं अतः उनके (साधुओं के) शोक मिटाने के लिए हमारे प्राणों की रक्षा कीजिए ॥ ५२ ॥

**आभास —** ननु मुक्तिः सर्वेषामपेक्षितातः प्राणरक्षापेक्षया मुक्तिरेव कथं न प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्याहुर्विधेहि ते किङ्करीणामिति ।

**आभासार्थ —** सर्व जीव मात्र मुक्ति चाहते हैं अतः आप भी प्राणों की रक्षा मांगने से मुक्ति क्यों नहीं माँगती हो ? इस का उत्तर निम्न श्लोक में देती है।

**श्लोकः —** विधेहि ते किङ्करीणामनुष्ठेयं तवाज्ञया ।

यच्छ्रद्धयानुतिष्ठन् वै मुच्यते सर्वतोभयात् ॥ ५३ ॥

**श्लोकार्थ** — हम आपकी दासियां हैं, जो आज्ञा करनी हो वह करो, हम वैसे ही करेंगी आपकी आज्ञा के अनुसार जो श्रद्धा से वर्ताव करते हैं, वे सर्व प्रकार के भय से छूट जाते हैं ॥ ५३ ॥

सुबोधिनी — वयं ह्यात्मनिवेदनेनैव तव दास्यो जाताः, तासां च स्वधर्मस्तवाज्ञापरिपालनं, यतस्ते किङ्करीभिस्तवाज्ञयैवानुष्ठेयं, ततः किमत आह यत् तवोक्तं श्रद्धयानुतिष्ठन् सर्वत एव भयान्मुच्यते, मुक्तिस्तु तवाज्ञा-  
करणेनापि भविष्यति, एवमेव मुक्तौ दास्यमात्मनिवेदनं व्यर्थं स्याद् भक्तिरसश्चाननुभूतः स्यात्, अतोऽयं देय इतिप्रार्थना ॥ ५३ ॥

**व्याख्यार्थ** — हम आपको आत्म निवेदन करने से आपकी दासी बन चुकी हैं, इस लिए आपकी आज्ञा का पालन करना हमारा स्वधर्म हुआ है। जिससे आपकी दासियों को आपकी आज्ञा ही पालनी चाहिए। उसके पालने से क्या होगा? वह स्पष्ट कर बताती हैं, कि जो आपकी आज्ञा का पालन श्रद्धा से करता है, वह सर्व प्रकार के भय से छूट जाता है। मुक्ति की प्राप्ति तो आपकी आज्ञा पालन करने से भी हो जाएगी। यदि यों ही (आपकी आज्ञा के बिना) अब हम मुक्ति माँग लेवें तो हमारे दास्य भाव तथा आत्म निवेदन हो तो, व्यर्थ हो जाएँगे। मुक्ति प्राप्त करने पर, भक्ति रस का जो अनन्त आनन्द है, उसका अनुभव भी नहीं मिलेगा। अतः अब यह (पति रूप प्राण) दीजिए यह ही प्रार्थना है ॥ ५३ ॥

**आभास** — ततो यत् कृतवांस्तदाहेत्थमिति,

**आभासार्थ** — इस प्रकार नाग पत्नियों की प्रार्थना करने के अनन्तर जो, भगवान् ने किया उसका वर्णन, श्री शुकदेवजी इस निम्न श्लोक में करते हैं—

॥ श्रीशुक उवाच ॥

**श्लोकः** — इत्थं स नागपत्नीभिर्भगवान् समभिष्टुतः ।

मूर्च्छितं भग्नशिरसं विससर्जाङ्घ्रिकुट्टनैः ॥ ५४ ॥

**श्लोकार्थ** — इस प्रकार नागपत्नियां से स्तुति किए हुए भगवान् ने भग्न शिर वाले तथा मूर्च्छित सर्प को अपने चरणों के प्रहार से दूर फेंक दिया ॥ ५४ ॥

सुबोधिनी — एवम्प्रकारेण सम्यग्भिष्टुतो मूर्च्छितमन्तः जले जलक्रीडामेव कुर्वन् पादप्रहारेणैव तं स्त्रीणां स्थाने खिन्नं भग्नशिरसं वहिःखिन्नमङ्घ्रिकुट्टनैरेव विससर्ज, स्वयं प्रक्षिप्तवानित्यर्थः ॥ ५४ ॥



**व्याख्यार्थ** — इस प्रकार जब नाग पत्नियों ने भगवान् की, स्तुति की, तब भगवान् ने मूर्छा को प्राप्त (अन्तःकरण में खेद वाले) टूटे हुए शिर वाले (शिरों के टूटने से बाहिर भी खेद वाले) सर्प को, जहाँ उसकी स्त्रियां थीं, वहाँ पाद प्रहार से फेंक दिया । आपने जल में विहार करते हुए ही उसके फेंकने की यह क्रीड़ा की ॥ ५४ ॥

**आभास** — ततो यज् जातं तदाह प्रतिलब्धेति ।

**आभासार्थ** — इसी भाँति सर्प को फेंकने से जो कुछ हुआ उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — प्रतिलब्धेन्द्रियप्राणः कालीयः शनकैर्हरिम् ।

कृच्छ्रात् समुच्छ्वसन् देवः कृष्णं प्राह कृताञ्जलिः ॥ ५५ ॥

**श्लोकार्थ** — जिसको इन्द्रियां और प्राण मिले हैं, वैसा कालीय, देव बन, धीरे धीरे कष्ट से स्वास लेता हुआ हाथ जोड़ भगवान् की प्रार्थना करने लगा ॥ ५५ ॥

|                                                                                                                                                                                                                                                        |                                                                                                                                        |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी</b> — प्रतिलब्धानीन्द्रियाणि प्राणाश्च येन, प्राणग्रहणं बलार्थं, मूर्च्छितं 'स्वार्धसम्पत्त्या' इन्द्रियाणां प्राणानां च पुनरागमनं, अतः प्रतिलम्भः, कालीय इति प्रसिद्धिः सद्बुद्धिहेतुः, शनकैरिति शीघ्रता सूचिता हरिमिति निर्भयत्वं</p> | <p>स्वस्य जीवनाशा च, अतो वाक्यनिस्सारणार्थं कृच्छ्रात् कष्टेन सम्यगुच्छ्वसन् यथाशास्त्रं देवरूपं गृहीत्वा कृताञ्जलिः सन्नाह ॥ ५५ ॥</p> |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यार्थ** — व्यासजी ने 'मुग्धे ५ र्ध सम्पत्तिः परिशेषात्' ब्रह्म सूत्र ३-२-१० में कहा है कि जो मूर्च्छित हो जाता है उसमें आधी सम्पत्ति<sup>१</sup> होती है अतः यह सर्प मूर्च्छित होने से प्राण और इन्द्रियों की शक्ति का आधा भाग खोके बैठा था, किन्तु भगवान् के चरण स्पर्श कर फेंक देने से गई हुई इन्द्रियां और प्राणों की आधी शक्ति, पुनः उसमें लौट कर आ गई, जिससे वह बोलने की सामर्थ्य वाला हुआ । 'तो' तो वह नाम से कालीय है, उसको अब सद्बुद्धि आई है जिससे उसकी प्रसिद्धि हो गई, इस लिए श्लोक में इसका विशेषण 'देव' शब्द दिया है । सद्बुद्धि होने से, हाथ जोड़ हरि (पाप भय आदि को हरण करने वाले) श्री कृष्ण की धीरे धीरे स्तुति करने लगा । धीरे धीरे का भाव है कि वह अब भगवान् हरि हैं दुःख हरने वाले हैं, यह जान गया था, अतः मैं अब मरूंगा नहीं उसको निश्चय हो गया था इस लिए स्तुति, प्रेम से धीरे धीरे निर्भय हो कर करने लगा । स्तुति के समय जब शब्द बोलता था तब उसके श्वासों को कष्ट होता था तो भी स्तुति करने से रुका नहीं ॥ ५५ ॥

**आभास —** स्वापराधं निवेदयति कृपार्थं,

**आभासार्थ —** अब निम्न श्लोक में कालीय भगवान् के आगे अपना किया हुआ अपराध स्वीकार कर तदर्थ क्षमा माँग कर कृपा की याचना करता है—

॥ कालीय उवाच ॥

**श्लोक: —** वयं खलाः सहोत्पत्त्या तामसा दीर्घमन्यवः ।

**स्वभावो दुस्त्यजो नाथ लोकानां यदसद्ग्रहः ॥ ५६ ॥**

**श्लोक —** कालीय बोला - हे नाथ ! हम जन्म से ही खल, तमोगुणी, बहुत क्रोधी हैं, लोगों का जो मिथ्या आग्रह हो जाता है, जिससे स्वभाव का बदलना कठिन होता है ॥ ५६ ॥

**सुबोधिनी —** वयं स्वभावत एव खलाः । ज्ञानरहिताः, अनुसन्धाने विद्यमाने हि शिक्षणमुपकाराय परोपद्रवकारिणो दुष्टस्वभावाः, तदुत्पत्त्यैव सह, उत्पत्तिशिष्टोऽयं भवति, तामसानां तु नानुसन्धानं, किञ्च प्रत्युतापकार दोषो न त्वागन्तुकः, अतः शिक्षा व्यर्था, अनिवर्त्यदोषत्वात्, एव भवति यतो वयं दीर्घमन्यवः, अनेनैवं ज्ञापितं सर्वथा मारणपक्ष उत्पादनमेव व्यर्थं स्यात्, तथापि शिक्षया मन्मारणेऽपि मदीयोऽन्योऽपकरिष्यति त्वत्सेवकेभ्यः पश्चाद्वा, कश्चन गुणो भविष्यतीत्याशङ्क्याह तामसा इति, तामसास्तु तस्मादप्रतीकार्य-दुष्टा वयमिति ॥ ५६ ॥

**व्याख्यानार्थ —** हम स्वभाव से ही अन्यो के लिए उपद्रव<sup>१</sup> करने वाले तथा दुष्ट स्वभाव वाले हैं यह दोष आगन्तुक<sup>२</sup> नहीं है किन्तु सहज<sup>३</sup> है । अतः इसके लिए शिक्षा<sup>४</sup> देनी व्यर्थ है । क्योंकि यह दोष मिटने का नहीं है । यदि सर्वदा के लिए नाश कर दिया जाए तो उत्पत्ति करनी व्यर्थ है । मारे नहीं, किन्तु शिक्षा से कुछ तो गुण होगा, यों कहा जाय तो वह भी नहीं होगा, कारण कि हम तामस प्रकृति के जीव हैं । जिन में कुछ समझ हो, विचार कर सकें, उनके लिए शिक्षा, उपकार कर सकती है । तामसों में विचार करने की कोई बुद्धि नहीं है, अतः उनको शिक्षा देने से उपकार के स्थान पर उलटी शिक्षा देने वाले की हानि होती है । क्योंकि हम बहुत क्रोधी हैं-कहने से यह बताया गया कि यदि हम को मारेंगे तो दूसरे मेरे सम्बन्धी आपके सेवकों का अपकार<sup>५</sup> करेंगे, अतः हम दुष्ट होने से, किसी भी उपाय से, सर्वथा दुष्टता नहीं छोड़ सकते हैं ॥ ५६ ॥

१-दुःख ।

२-पीछे आया हुआ ।

३-स्वभाव से ही, देह से ही ।

४-दण्ड ।

५-हानि पहुंचाएँगे ।

**आभास —** अस्माकमेवमूपत्वे भवानेव हेतुरित्याह

**आभासार्थ —** हम ऐसे दुष्ट क्यों हुए, उसका कारण भी आप ही हैं इसका निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं ।

**श्लोक: —** त्वया सृष्टमिदं विश्वं धातर्गुणविसर्जनम् ।

नानास्वभाववीर्योजोयोनिबीजाशयाकृति ॥५७॥

**श्लोकार्थ —** हे धाता ! गुणों से विविध प्रकार का यह विश्व आपने रचा है जिसके, स्वभाव, शक्ति, बल, योनि, बीज, आशय और आकृति ये सब पृथक् पृथक् हैं ॥ ५७ ॥

**सुबोधिनी —** त्वया सृष्टमिति समुदायजननान् न दोषः, ब्रह्मणा सृष्टमित्याशङ्क्याह धातरिति, त्वमेव विधाता, ननु भगवत्कार्यं कथमेतादृशं ? तत्राह गुणानां विशेषेण सर्जनं यत्र, तत्रैविध्यं सर्वत्रैव सम्बध्यत इति भेदान् गणयति, नानाविधाः स्वभावादयो यस्मिन्निति, स्वभावः प्रकृतिधर्मो जीवगतः,

वीर्यमिन्द्रियधर्मः, ओजः प्राणधर्मः, योनिर्मातृधर्मः, बीजं पितृधर्मः, आशयोऽन्तःकरणस्य, एते सर्व एव नानाविधाः, प्रत्येकसमुदायाभ्यामनेकविधा भवन्ति, अत एव नानात्वं वैचित्र्यं च ॥ ५७ ॥

**व्याख्यानार्थ —** यह विविध विश्व आपने बनाया है, तो भी, इसके विविध प्रकार के होने में, आपका दोष नहीं है, कारण कि, आपने सकल विश्व गुणों के द्वारा एक साथ में ही बनाया है, पृथक् पृथक् बना कर उसमें कुछ फेर फार करते तो आपका दोष माना जाय । अब आप का कोई दोष नहीं है । जगत् का स्रष्टा<sup>१</sup> जो ब्रह्मा कहा जाता है वह भी आप ही हैं । गुणों के द्वारा सृजन करने से गुणों का त्रिविधपन सब में विद्यमान है जिससे उनमें स्वाभाविक भेद रहता है । जैसे कि जीव में, जो प्रकृति का धर्म रहता है, उसको स्वभाव कहते हैं । इसी प्रकार वीर्य, इन्द्रियों का धर्म है और बल प्राणों का धर्म है योनि (कारण) जीवों का वर्ग-उत्पत्ति स्थान माता का धर्म है, बीज पिता का धर्म है आशय (कर्म से उपजी हुई वासना रूप संस्कार) अन्तःकरण का धर्म है । ये सब ही प्रत्येक के और समुदायों के भिन्न २ अनेक होते हैं । अतः इनमें नानाप्रकार और विचित्रपन देखने में आता है ॥ ५७ ॥

**आभास —** अस्पाकं तु सर्वमेव तामसमित्याह वयमिति,

**आभासार्थ —** हम सर्पों का तो, ऊपर कहे हुए, स्वभाव आदि सब तमो गुण वाले हैं जिसका निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं—

**श्लोकः —** वयं च तत्र भगवन् सर्पा जात्युस्मन्यवः ।

**कथं त्यजामस्त्वन्मायां दुस्त्यजां मोहिताः स्वयम् ॥ ५८ ॥**

**श्लोकार्थ —** हे भगवन् ! उस (सृष्टि) में, हम तो जन्म ही से, बड़े क्रोधी सर्प हैं, स्वयं<sup>१</sup> मोह को प्राप्त हुए हैं, वह आपकी माया जो छोड़ी नहीं जा सकती है उसको कैसे छोड़ें ॥ ५८ ॥

**सुबोधिनी —** चस्त्वर्थे भौतिकाग्न्यादीनामपि सङ्ग्रहार्थं च, तत्र सृष्टौ, भगवन्नितिसम्बोधनं ज्ञानार्थं, सर्पा जात्यैव उस्मन्यवः, जातिस्वभावौ दुष्टौ निरूपितौ, गुणातीतावस्थया सात्त्विकावस्थया वा मायापरित्यागो भवति, सर्पाणां क्रोधवशानां च न तत् सम्भवति, अतः कथं त्वन्मायां

**त्यजामः ?** ननु दोषपरिज्ञाने कथं न त्यागः ? तत्राह दुस्त्यजामिति, त्वदीया मायास्मत्कृतैस्मायैः सर्वथा दुस्त्यजा, तर्हि त्यागार्थं भगवानेव किं न प्रार्थ्यते ? तत्राह मोहिताः स्वयमिति स्वयमेव मोहिताः, आत्मैव विमोहितः, अतः स्वहितापरिज्ञानात् त्यागार्थमपि न प्रयत्न इत्यर्थः ॥ ५८ ॥

**व्याख्यार्थ —** श्लोक में आए हुए 'च' शब्द का अर्थ १- 'तो' है 'और' २- भौतिक अग्नि आदि का सङ्ग्रह करना है । सृष्टि में हम सर्प, जाति से, बहुत क्रोधी हैं जिसको आप जानते ही हैं, क्योंकि आप भगवान् हैं । हम क्रोधी हैं जिससे न केवल, जाति से दुष्ट हैं, किन्तु क्रोधी होने से स्वभाव से भी दुष्ट हैं । आपकी माया का त्याग हम कैसे करें ? माया का त्याग तो गुणातीत अवस्था में, जब गुणों का प्रभाव मिट जावे उस अवस्था में, वा सात्त्विक अवस्था में जब रजो गुण और तमो गुण दोनों नष्ट हो जावें, केवल अन्तःकरण में सतो गुण का प्रभाव रहे, उस अवस्था में हो सकता है, अन्यथा नहीं । हम तो क्रोध के अधीन हैं, वे तो छोड़ने में सर्वथा असमर्थ हैं । आपकी माया दुस्त्यज<sup>२</sup> है । यदि कहो कि मेरी माया छोड़नी कठिन है तो उसको छोड़ने के लिए भगवान् की प्रार्थना क्यों नहीं करते हो ? वह प्रयत्न भी हम नहीं कर सकते हैं, क्योंकि अपने आप मोह में पड़े हुए हैं, तथा हमारी 'आत्मा' ही मोहित है । जिससे, हमारा कल्याण किस कार्य के करने में है, इसका परिज्ञान<sup>३</sup> नहीं है, अतः त्याग के लिए भी प्रयत्न नहीं करते हैं ॥ ५८ ॥

**आभास** — तर्ह्यवश्यं भवद्भ्यो दोषोत्पत्तिसम्भवान् मारणीया एव भवन्त इति चेत् तत्राह भवान् हि कारणमिति,

**आभासार्थ** — यदि यों है, तो आप लोगों से दोषों की (जीव मात्र के दुःखों की) उत्पत्ति होगी ? इस लिए आपको नाश कर देना ही अच्छा है इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहता है—

**श्लोकः** — भवान् हि कारणं तत्र सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।

अनुग्रहं निग्रहं वा मन्यसे तद् विधेहि नः ॥ ५९ ॥

**श्लोकार्थ** — इस प्रकार (हम लोगों से दोषों की उत्पत्ति होगी) जिसमें भी कारण आप सर्वज्ञ जगदीश्वर हैं । फिर भी, हम पर अनुग्रह वा निग्रह जो आप योग्य समझते हैं वह करो ॥ ५९ ॥

**सुबोधिनी** — अस्माकमेवम्भावे भवानेव कारणं । यद्यनेन दण्डः कृतः स्यात् त्वयानुग्रहः कर्तव्य इति तूचितं, “बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह” इत्यादिवाक्यान्यत्र प्रमाणमिति हिशब्द आह, एवं सति तत्रानुग्रहं निग्रहं वा यदुचितं तन्नोऽस्मभ्यं कर्तव्यः, अथ निग्रहोऽनुग्रहश्च कृतावाहोस्वित्र कृतावेतदुभयं कर्तव्यः, अथ निग्रहोऽनुग्रहश्च कृतावाहोस्वित्र कृतावेतदुभयं सर्वज्ञत्वाद् भवानेव जानाति, अतो यन् मन्यसे तद् विधेहि, इत्यनुग्रहः कर्तव्यः, ननु विरोधे शास्त्रार्थः को वा भवेत् ? शक्त्यभावस्तु तव नास्तीत्याह जगदीश्वर इति ॥ ५९ ॥

**व्याख्यार्थ** — हम (हम लोगों से दोषों की उत्पत्ति होगी) वैसे जो हुए हैं उसका कारण भी आप ही हैं । मैं उसका कारण हूँ इसमें प्रमाण क्या है ? उसमें आपकी कही हुई गीता का वाक्य ‘बुद्धिर्ज्ञानमसम्मोह’ प्रमाण है । वैसा होने पर भी, अब, आप चाहे ‘अनुग्रह’<sup>१</sup> करो वा ‘निग्रह’<sup>२</sup> करो । जैसे भी करना आपको योग्य ध्यान में आवे, वह करो । मैंने अपराध किया है यदि यों सत्य समझो तो निग्रह<sup>३</sup> करो, यदि वह अपराध आपने मुझे से करया है तो अनुग्रह<sup>४</sup> करो ।

जो इस दोष के कारण से, दण्ड करना हो, तो भी आपको तो, अनुग्रह ही करना उचित है । कारण कि जब आप ही सर्व रूप हो, तब आप को निग्रह से अनुग्रह करना चाहिए । निग्रह वा अनुग्रह किया जाए इन को आप सर्वज्ञ होने से जानते ही हो, अन्य कोई नहीं जानता है, अतः आप जो कुछ करना उचित समझें वह कीजिए, आप जगदीश्वर हैं, अतः शक्ति का अभाव तो है ही नहीं, ज्यों चाहें, सो कर सकते हैं ॥ ५९ ॥

**आभास —** एवं श्रुत्वा यत् कृतं भगवता तदाहेत्याकर्ण्येति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार कालीय ने जो कहा, वह सुनकर, भगवान् ने जो कुछ किया, उसका वर्णन श्री शुकदेवजी निम्न श्लोक में करते हैं-

॥ श्रीशुक उवाच ॥

**श्लोक: —** इत्याकर्ण्य वचः प्राह भगवान् कार्यमानुषः ।

नात्र स्थेयं त्वया सर्प समुद्रं याहि मा चिरम् ।

स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्यो गोनृभिर्भुज्यतां नदी ॥ ६० ॥

**श्लोकार्थ —** श्री शुकदेवजी कहने लगे - कि कार्य के लिए मनुष्याकृति धारण किए हुए भगवान् ने कालीय के ये वचन सुन कर, कहा कि - हे सर्प ! तुम यहाँ पर मत रहो, शीघ्र अपने साथ अपने परिवार को लेकर समुद्र को चले जाओ, इस (श्रीयमुनाजी) का सेवन गौ और मनुष्य करें ॥ ६० ॥

**सुबोधिनी —** वच एवं श्रुतमर्थस्तु पूर्वमेव परिज्ञातः, यद्यपि प्रसादः कर्तव्य स्वकृतत्वात् पूर्वभावस्य स्तुतत्वाच्च तथापि समयानुरोधेन प्रसादोऽन्यथा कर्तव्य इतिज्ञापनार्थमाह कार्यमानुष इति, यत्र कार्यार्थमयुक्तं मानुषभावमपि प्रदर्शयति तत्रास्य भक्तस्यापि प्रसादान्यथाकरणं किं वक्तव्यं ? न च तस्य बाधकशङ्कयान्यथा करोतीति शङ्कनीयं, यतो

भगवानाज्ञापयति, हे सर्प गमनसमर्थ, अत्र त्वया न स्थेयं समुद्रं गच्छ चिरं माज्ञात्रयं, गमने प्रकारमाह स्वज्ञात्यपत्यदाराढ्य इति, ज्ञातयो ज्ञातीया अपत्यानि दाराश्च तैराढ्य इति, यत्र ह्यपि तव स्थितौ न कोऽपि प्रयास इति सूचितं, इतो गमने हेतुमाह गो नृभिर्भुज्यतां नदीति, अनेन त्वया नदी दूषितेति तस्याधिको दोषो निरूपितः ॥ ६० ॥

**व्याख्यार्थ —** भगवान् ने कालीय के वचन ही सुने उनका अर्थ तो पहले ही जानते थे । क्योंकि इस (सर्प) का पूर्व भाव अर्थात् क्रोध आदि दोष वाला स्वभाव आपने ही किया है तथा सर्प ने स्तुति भी की है अतः इस पर अनुग्रह करना चाहिए, तो भी, समय के अनुसार, अन्य प्रकार से अनुग्रह करना है, कारण कि, आपने जब कार्य करने के लिए, अपना ईश्वर भाव छिपाकर, अन्यथा भाव (मनुष्य भाव) किया है, तो इस भक्त सर्प पर, अन्य प्रकार से अनुग्रह करें तो क्या है ? अन्य प्रकार से अनुग्रह इसलिए नहीं करते हैं, कि यह दुःख देता है, किन्तु यह भक्त है अतः मेरी आज्ञा मानेगा । भगवान् तीन आज्ञा करते हैं कि हे सर्प ! यहाँ से दूसरे स्थान को जाने में समर्थ यहाँ तुम न रहो शीघ्र समुद्र को जाओ ।

किस प्रकार जाओ, वह प्रकार बताते हैं-अपनी ज्ञाति, पुत्र और स्त्रियां आदि को अपने साथ लेकर

(समुद्र में) जाओ । आप जहाँ कहीं भी निवास करोगे तो आपको श्रम नहीं होगा । यदि पूछे कि हम यहाँ से क्यों जाय ? तो उसके उत्तर में कहते हैं कि आप के जाने पर, ये गौ और मनुष्य आदि श्री यमुनाजी का उपभोग करेंगे, तुम रहोगे तो वे उपभोग नहीं कर सकेंगे । यह कह कर सर्प को यह बताया कि तुमने श्री यमुनाजी के जल को दोष वाला बना दिया है, यह तुम्हारा अधिक दोष है ॥ ६० ॥

**आभास —** “सर्पजात्युरुमन्यव” इतिवाक्यात् कदाचिद् वैष्णवान् पीडयिष्यतीति भगवानाज्ञान्तरमाह य एतत् संस्मरेदिति,

**आभासार्थ —** ‘सर्पजात्युरुमन्यवः’ सर्प की जाति बहुत क्रोधी होती है । इस वाक्य के अनुसार कदाचित् (कभी) वैष्णवों को दुःख देगा, अतः भगवान् अन्य आज्ञा करते हैं जिसका वर्णन निम्न श्लोक में है-

**श्लोकः —** य एतत् संस्मरेन्मर्त्यस्तुभ्यं मदनुशासनम् ।

कीर्तयन्नुभयोः सन्ध्योर्न युष्मद्भयमाप्नुयात् ॥ ६१ ॥

**श्लोकार्थ —** जो मनुष्य, इस मेरी आज्ञा को, जो मैंने तुझसे कही है, उनका दोनों सन्ध्या के समय स्मरण करेगा या कीर्तन करेगा उसको तुम्हारा भय नहीं होगा ॥ ६१ ॥

**सुबोधिनी —** वैष्णवः सर्पेण न भक्षणीय एव यः । पुनरेतावन्मात्रमपि स्मरेत् सोऽपि न युष्मत्तो भयमाप्नुयात्, एतत् तव निग्रहलक्षणं चरित्रमित्याह तुभ्यं मदनुशासनमिति, तुभ्यं त्वदर्थं, मदीयं यदनुशासनमाज्ञा, एतावन्मात्रं वा । सम्यक् स्मरणं ध्यानपूर्वकं, अथवा कीर्तयन्नुभयोः सन्ध्योः, सायं प्रातरेतच्चरित्रं पठनीयं, उभयं वा कर्तव्यं, न प्राप्नु-  
यादितिविध्यर्थोऽयम् ॥ ६१ ॥

**व्याख्यानार्थ —** सर्प वैष्णवों को तो डसेगा (काटेगा) ही नहीं किन्तु जो अन्य (अवैष्णव) भी यदि आपकी दी हुई, इस आज्ञा का अच्छी तरह स्मरण करेगा अथवा दोनों सन्ध्याओं में (प्रातः और सायं काल में) इसका ध्यान पूर्वक स्मरण तथा पाठ करेगा, वह आपसे कभी भी भयभीत नहीं होवेगा यह ‘आप्नुयात्’ क्रिया विधि लिङ्लकार होने से पूर्ण आज्ञा अर्थ में है जिसका तात्पर्य है कि इस प्रकार करने वाले को सर्प कुछ नहीं करेगा वैसी मेरी आज्ञा सर्प को है ॥ ६१ ॥

**आभास —** ननु सर्पभक्षणनिमित्तपापे विद्यमाने कथं न सर्पो भक्षयेत् ? तत्राह, अस्मिन् स्नात्वेति,

**आभासार्थ** — किसी प्राणी ने पूर्व जन्म में वैसा पाप किया है, जिससे उसको सर्प से दंशित होना हो, तो उसको सर्प क्यों न भक्षण करे। इस शंका के निवारण के लिए निम्नश्लोक कहते हैं—

**श्लोकः — अस्मिन् स्नात्वा मदाक्रीडे देवादीस्तर्पयेज्जलैः।**

**उपोष्य मां स्मरन्नर्चेत् सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ६२ ॥**

**श्लोकार्थ** — मेरे इस क्रीड़ा स्थान में स्नान कर, जो मनुष्य जलों से देवादिकों का तर्पण करेगा तथा उपवास कर मेरा स्मरण करता हुआ, पूजन करेगा वह सब पापों से छूट जाएगा ॥ ६२ ॥

|                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                        |                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी</b> — ऋयोऽस्मिन्निति वा, अस्मिन् कालीयहृदे, स्थानान्तरापेक्षया विशेषमाह मदाक्रीड इति, ममाक्रीडा, यत्र स्नानमात्रेणैव तस्य देहसम्बन्धि पापं गच्छति, उपोष्य मां स्मरन्नर्चेदित्यत्रोपवासे प्राणसम्बन्धि पापं गच्छति, मत्स्मरणेनान्तःकरणपापं, अर्चनेनेन्द्रियपापं, पापकरणदशायां यद् देवानां चक्षुष्यागो जातं तत्र देवा बहुविधा देशकाल-</p> | <p>कर्मसाक्षिणोऽभिमानिनश्च पितरश्च वंश्याः क्रुद्धा भवन्त्यृषयश्च वेदोल्लङ्घनात्, अतो देवादीन् जलैस्तर्पयेत्, मत्क्रीडया चरित्रामृतपूर्णं जलं पीत्वा तृप्ताः सन्तः प्रत्युताशिषमेव प्रदास्यन्ति न तु क्रोधं करिष्यन्तीति भावः, अनेन पूर्वदिवसेऽपि स्नानतर्पणे विहिते, द्वितीयदिवसेऽपि, काम्यं वैतत् स्नानं भिन्नमेव ॥ ६२ ॥</p> |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यार्थ** — यह कालीय देह, जिसमें मैंने क्रीड़ा की है, वह मेरे क्रीड़ा करने से, अन्य स्थानों से विशेष है, विशेषता बताते हुए कहते हैं कि, इसमें केवल स्नान करने से ही, उसके देह से सम्बन्ध वाले सब पाप नाश हो जाते हैं। उपवास करने से प्राण से सम्बन्ध रखने वाले पाप नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार मेरे स्मरण से, अन्तःकरण के पाप तथा अर्चन करने से, इन्द्रियों के पाप जाते हैं।

पाप करने के समय, देश, काल और कर्म के साक्षी तथा अभिमानी देव पितर, वंश के पितर और ऋषि उन पापों को देखते हैं, जिससे वे क्रोध युक्त हो जाते हैं कारण कि, पापी पाप करने से वेद की आज्ञा का उल्लङ्घन कर रहे हैं, जिसको वे सहन नहीं कर सकते हैं। अतः उन सब को प्रसन्न करने के लिए, इस कालीय देह के जल से उनका तर्पण करे, जिससे, वे प्रसन्न हो कर, आशीर्वाद देंगे और क्रोध नहीं करेंगे, क्योंकि मेरे क्रीड़ा करने से एवं चरित्रों से वह जल अमृत के समान हो गया है उसको पीने से वे तृप्त हो जाएँगे (तृप्ति से उनका) क्रोध शान्त हो जाएगा और हृदय प्रसन्न होगा जिससे आशीर्वाद ही देंगे।

न नृल श्लोक में 'अस्मिन्' छपा है किन्तु आचार्य श्री इसका दूसरा पाठ 'योऽस्मिन्' अन्य पुस्तकों में है, उसको भी विकल्प से स्वीकार करते हैं।



जिस दिन उपवास करे, उसी दिन स्नान तथा तर्पण दोनों करे, तथा दूसरे दिन अर्चन स्मरणादि करे, उस दिन भी स्नान तर्पण करे । अथवा यह स्नान पृथक् है क्योंकि काम्य है कामना से (सर्प के भय निवृत्ति के लिए), किया जाता है ॥ ६२ ॥

**आभास —** नन्वन्यत्र गते गरुडो भक्षयिष्यतीति ते चेत् तत्राह द्वीपमिति,

**आभासार्थ —** सर्प के मन में यह शंका (वा भय) उत्पन्न होवे कि मैं यदि दूसरे स्थान पर जाऊँगा तो मेरा गरुड़ भक्षण करेगा - इस भय के निवारणार्थ<sup>१</sup> निम्न श्लोक में कहते हैं -

**श्लोक: —** द्वीपं रमणकं हित्वा हृदमेतदुपाश्रितः ।

यद्भयात् स सुपर्णस्त्वां नाद्यान्मत्पादलाञ्छितम् ॥ ६३ ॥

**श्लोकार्थ —** जिस गरुड़ के भय से, रमणक द्वीप को छोड़ कर (तुमने) इस कालीय देह का आश्रय लिया है, वह गरुड़ अब तेरा भक्षण नहीं करेगा, कारण कि (अब) तू मेरे चरणों के चिह्न से चिह्नित हो गया है ॥ ६३ ॥

**सुबोधिनी —** रमणके स पूर्व स्थितः, ततो गरुड- | नाद्यादित्याज्ञा, यद्यप्याज्ञयैव निश्चारे भवति तथापि तस्य भयादत्रागतः, यद्भयात् त्वमेतद्धृदमुपाश्रितः स सुपर्णस्त्वां | विश्वासार्थं हेत्वन्तरमाह मत्पादलाञ्छितमिति ॥ ६३ ॥

**व्याख्यार्थ —** यह कालीय सर्प पहले रमणक द्वीप में रहता था, गरुड़ के भय से यहाँ आकर रहा है । भगवान् आज्ञा करते हैं कि, अब तू उसका भय मत कर, वह तुझे मारेगा नहीं, इस आज्ञा से ही निर्णय हो जाता है, तो भी, सर्प को दृढ़ निश्चय कराने के लिए कहते हैं कि, देख तेरे पीठ पर मेरे चरण चिह्न हैं, जिनको देख, वह तेरा भक्षण नहीं करेगा ॥ ६३ ॥

**आभास —** एवमुक्तो भगवता स भयान् मुक्तो जातः,

**आभासार्थ —** भगवान् ने जब इस प्रकार कहा, तब सर्प का डर मिट गया । जिसका वर्णन निम्न श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं -

॥ श्रीशुक उवाच ॥

**श्लोक: —** मुक्तो भगवता राजन् कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।

तं पूजयामास मुदा नागपत्न्यश्च सादरम् ॥ ६४ ॥

**श्लोकार्थ** — श्री शुकदेवजी ने कहा हे राजन् ! अद्भुत कर्म करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण ने, इस प्रकार कह कर, जब सर्प को निर्भय किया, तब सर्प और उसकी पत्नियों ने आदर पूर्वक प्रसन्नता से भगवान् की पूजा की ॥ ६४ ॥

**सुबोधिनी** — भगवान् अद्भुतकर्मा निग्रहं कुर्वन्ननुग्रहं कृतवान् । अन्यथास्य सञ्चार एव क्वापि नास्ति, कदाचिद् वा गरुडो भक्षयेत्, अनेन यथाकथञ्चिद् भगवत्सम्बन्धः सर्वथा मोचक इत्युक्तं, राजत्रितिसम्बोधनं सर्पभयाभावार्थः, ततो भगवन्तं पूजयामास, दिव्यानि पुष्पाणि वस्त्रचन्दनादीनि न जलेन क्लिन्नानि भवन्ति, गरुडभयं निवर्तितमिति महान् प्रमोदो जात इति मुदेत्युक्तं, नागपत्न्यश्च सादरं पूजयामासुः, रमणके तु न प्रेषितः पुनः पूर्वदोषसम्भवात् ॥ ६४ ॥

**व्याख्यानार्थ** — भगवान् अद्भुत कर्मा हैं । अतः निग्रह के साथ सर्प पर अनुग्रह भी किया है । भगवान् ने इस पर यह अनुग्रह किया है जो सर्प किसी भी स्थान पर जाने से डरता था, वह डर उसका निकल गया अब वह कहीं भी जा सकता है । कदाचित् गरुड़ भक्षण करे, तो उस भक्षण का भय भी नहीं रहा । किसी प्रकार भी, भगवान् से सम्बन्ध होने पर, प्राणी भय से छूट जाता है, क्योंकि, भगवान् का सम्बन्ध सर्व प्रकार के भय से छुड़ाने वाला है ।

हे राजन् ! ये सम्बोधन देकर, परीक्षित को भी, यह संकेत किया कि, आपका भगवान् से सम्बन्ध हुआ है । अतः आप भी सर्प से डरो मत, दिव्य पुष्प वस्त्र चन्दन आदि से सर्प तथा उसकी स्त्रियों ने प्रसन्नता से एवं आदर से भगवान् का पूजन किया, गरुड़ का भय मिट गया इसलिए आनन्दमग्न हो गए थे । जल में पुष्प, वस्त्र, चन्दन से पूजन करने से वे तो भीज (गीले हो) जाएँगे और धुल जाएँगे । ऐसी किसी को शंका होवे उसको मिटाने के लिए इनका विशेषण 'दिव्य' दिया है । अर्थात् ये तीनों पदार्थ अलौकिक थे अतः ये न भीजे और न धुल गए । रमणक द्वीप में न भेजकर अन्य (दूसरे) स्थान पर भेजने का आशय यह है कि यदि रमणक में भेजते तो सर्प में पुनः वे पूर्व के दोष आ जाते, अतः नहीं भेजा ॥ ६४ ॥

**आभास** — पूजासाधनान्याह दिव्येति,

**आभासार्थ** — निम्न दो श्लोकों में जिस सामग्री (साधन वस्तुओं) से सर्प ने भगवान् को पूजन से प्रसन्न कर समुद्र के द्वीप में गया उसका वर्णन करते हैं -

**श्लोकः** — दिव्याम्बरस्त्रङ्गमणिभिः परार्ध्यैरपि भूषणैः ।

दिव्यगन्धानुलेपैश्च महत्योत्पलमालया ॥ ६५ ॥

पूजयित्वा जगन्नाथं प्रसाद्य गरुडध्वजम् ।

ततः प्रीतोऽभ्यनुज्ञातः परिक्रम्याभिवन्द्य च ॥

सकलत्रसुहृत्पुत्रो द्वीपमब्धेर्जगाम ह ॥ ६६ ॥

**श्लोकार्थ —** दिव्य (अलौकिक) वस्त्र, माला, रत्न, अमूल्य आभरण, दिव्य चन्दन का लेपन और बड़ी कमलों की माला से गरुडध्वज, जगन्नाथ भगवान् की पूजा की, जिससे, उनको प्रसन्न कर और उनकी आज्ञा ले तथा परिक्रमा कर, एवं प्रणाम कर, स्त्री, पुत्र और बान्धवों को साथ लेकर समुद्र के द्वीप में गया ॥ ६६ ॥

सुबोधिनी — दिव्यान्यम्बराणि स्वजो माला मणयश्च सर्पशिरोरत्नानि परार्ध्याप्यमूल्यानि भूषणानि मुकुटकटक केंयूरादीनि, दिव्यो गन्धो येषां, एतादृशा अनुलेपाश्च चतुः समादया महती चोत्पलानां माला, एवमलङ्कारचतुष्टयमपि कृतवान् ॥ ६५ ॥ ततः पूजयित्वा प्रसाद्याब्धेर्द्वीपं जगामेति सम्बन्धः, ननु पीडितः कथं पूजां कृतवान् ? तत्राह जगन्नाथमिति, स हि सर्वस्वामी तत्रापि रक्षकः स एवेति युक्तमेव तदाज्ञाकरणं, ततः प्रार्थितवान् प्रसन्नो भवेति, तत्र

हेतुमप्याह गरुडध्वजमिति, गरुडो ध्वजे यस्य, कोट्यंशेनापि भगवान् न प्रसन्न इति यदि गरुडो जानीयात् तं भक्षयेदेव, अतः प्रसादः करणीय एव, ततो भगवत्प्रसादानन्तरं प्रीतः सन्तुष्टो भगवता चाभ्यनुज्ञातः, प्रथमतस्तु क्रोधेनाज्ञातेन बुद्ध्या ततोऽभ्यनुज्ञातः परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्याभिवन्द्य च सम्भृतिं कृत्वा सर्वसहायोऽब्धेर्द्वीपं सर्वेषामगम्यं जगामेति हेत्याश्चर्यम् ॥ ६६ ॥

**व्याख्यार्थ —** अलौकिक वस्त्र, माला और सर्प के शिर के रत्न (मणि) और अमूल्य, मुकुट, कड़े तथा बाजूबन्द आदि आभूषण, दिव्य गन्ध वाले लेपन जिसमें केसर, कस्तूरी, चन्दन अरगजा चार समान डाले गए हैं तथा बड़ी कमलों की माला आदि से (इस प्रकार चार तरह से) अलंकृत कर अनन्तर भगवान् का पूजन किया। जिसने इतनी पीड़ा दी उसका पूजन कैसे किया ? इस शंका को मिटाने के लिए कहते हैं कि वह जगत् का नाथ है और रक्षक भी वही है, अतः उसने जो आज्ञा की है, वह योग्य ही है। पश्चात् प्रार्थना करने लगा कि हे प्रभो ! प्रसन्न हो (कृपा करो) यों कहने का कारण कहते हैं कि आप की ध्वजा में गरुड बिराज रहा है, आप प्रसन्न होंगे तो गरुड नहीं खाएगा यदि गरुड को यह पता लगे कि भगवान् इस (सर्प) पर प्रसन्न नहीं हैं, तो वह खा जाएगा अतः आप कृपा कर प्रसन्न हो जाओ।

पहले तो सर्प को, भगवान् के स्वरूप का ज्ञान नहीं था, जिससे भगवान् का अपराध किया, जब भगवान् के स्वरूप का ज्ञान हुआ, तब भगवान् का पूजन कर उनको प्रार्थना करने लगा, कि आप प्रसन्न हो जाओ, इस प्रकार पूजन तथा प्रार्थना करने से, भगवान् प्रसन्न हुए, जिससे सर्प को भी आनन्द हुआ पश्चात् भगवान् ने भी जाने की आज्ञा दी। आज्ञा पाने के अनन्तर भगवान् की परिक्रमा कर, उनको नमस्कार करने लगा, फिर जाने की तैयारी की, अर्थात्, अपने पुत्र स्त्री आदि बान्धवों को सहायता के लिए साथ में लिया, उनको लेकर समुद्र के द्वीप में ऐसे स्थान पर गया जहाँ कोई न

आ सके, मूल श्लोक में 'ह' आश्चर्य कहने का भाव यह है, कि जिसने भगवान् का अपराध किया, उस पर आपने अनुग्रह किया है ॥ ६६ ॥

**आभास —** तस्मिन्निर्गत एव तदैव भगवत्कृपया सा यमुना मिष्टोदकाभवत्,

**आभासार्थ —** जब वह (सर्प) निकल गया, उस समय ही भगवान् की कृपा से, श्री यमुनाजी का जल, मीठा तथा विष रहित हो गया । जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं -

**श्लोक: —** तदैव सामृतजला यमुना निर्विषाभवत् ।

**अनुग्रहाद्भगवतः क्रीडामानुषरूपिणः ॥ ६७ ॥**

**श्लोकार्थ —** क्रीड़ा के लिए मनुष्याकृति धारण करने वाले भगवान् के अनुग्रह से, उसी समय वह श्री यमुनाजी का जल विष रहित तथा अमृत के समान हो गया ॥ ६७ ॥

**सुबोधिनी —** निर्विषा च, न केवलमत्रामृतत्वं | तु सूचयति भगवत इति, ननु किमिति क्रीडा तस्यां मिष्टतामात्रपरं किन्तु मरणनिवर्तकमपि, सहजोऽपि यमुनायां कर्तव्या? तदाह क्रीडामानुषरूपिण इति, क्रीडार्थमेव यो दोषो विषादिः स्थितः सोऽपि गतः, तत्र हेतुः अनुग्रहाद् भगवतः मानुषरूपवान्, अतोऽवश्यं यमुनायां क्रीडा विधातव्यातः इति, न केवलं कालीयगमनेन निर्विषा जाता किन्त्वनुग्रहाद् प्रसाद इति, अनेन यमुनायाः सर्वदोषनिवृत्तिः सूचिता भगवतः क्रीडायाः करिष्यमाणत्वात् तस्यामनुग्रहः, ज्ञानादिकं ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिनीयां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां  
दशमस्कन्धविवरणे त्रयोदशाध्यायविवरणम् ॥

**व्याख्यार्थ —** श्री यमुनाजी का जल केवल मीठा ही नहीं हो गया, किन्तु मुक्ति दाता भी बन गया । श्री यमुनाजी में कालीय के कारण, जो सहज विष आदि दोष उत्पन्न हुआ था, वह भी निवृत्त हो गया । कारण कि, भगवान् ने उस पर (यमुनाजी पर) भी अनुग्रह किया है । केवल कालीय के चले जाने से वैसा जल नहीं हुआ, किञ्च, भगवान् ने क्रीड़ा करने के लिए जो अनुग्रह किया, जिससे वैसा जल हो गया ।

इस प्रकार यमुनाजी को निर्दोष करने का कारण यह है, कि भगवान् को इसमें क्रीड़ा करनी है । इनको यह (क्रीड़ा करने का) ज्ञान तो था क्योंकि भगवान् है । यमुनाजी में किस लिए क्रीड़ा करनी है ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि 'क्रीड़ा मानुष रूपिणः' क्रीड़ा के लिए ही मनुष्य रूप धारण किया है । अतः श्री यमुनाजी में अवश्य ही क्रीड़ा करनी है इसलिए पहले ही, 'प्रसाद' (अनुग्रह-कृपा) किया है इससे श्री यमुनाजी के निरोध होने से बाधक सर्व दोषों की निवृत्ति बताई ॥ ६७ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्ध के १३ अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरणकृत  
श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" के तामस प्रमेय अवान्तर प्रकरण का वीर्य निरूपक

तेरहवां अध्याय ( हिन्दी अनुवाद सहित ) सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का भाव शिरोमणि सूरदासजी ने निम्न पदों में कितने सुन्दर ढंग से व्यक्त किया है ।

### राग : बिलावल

उरग लियो हरि को लपटाई । गर्व वचन कहि कहि मुख भाषत मोको नहीं जानत अहिराई ॥  
लियो लपेट चरण ते सिखलों अति यह मोसों करी ठिठाई ।  
चांपि पूंछि लुकावत अपनी युवतिन को नहि सकत दिखाई ॥  
प्रभु अन्तर्यामी सब जानत अवगारों यह सकुचि मिटाई ।  
सूरदास प्रभु तन विस्तार्यो काली विकल भयो तब जाई ॥

### राग: कान्हरो

जब ही श्याम तन अति बिस्तारयो ।  
चटपटात टूटत अंग जान्यो, शरण शरण अहिशज पुकार्यो ॥  
यह वाणी सुनत ही कम्पानिधि, तुरत गए सकुचाई ।  
यही वचन सुन दुपद सुता के दीनो चीर बढाई ॥  
यही वचन गजराज पुकार्यो गच्छ त्याग तहां धाए ।  
यही वचन सुन लक्षागृह में पांडव जरत बचाए ॥  
यह वाणी प्रभु सह न सकत है ऐसे परम कृपाल ।  
सूरदास प्रभु अंग सकोर्यो व्याकुल जान्यो व्याल ॥

बहुत कृपा यह करी गुसाई ।  
इतनी कृपा करी नहि काहू जिनतें लिये रखि शरणाई ॥  
कृपा करी प्रह्लाद भक्त कों दुपद सुता पति राखी ।  
ग्राह मुखहि गजराज छुड़ाये, वेद पुरान न भाखी ॥  
जो कुछ कृपा करी काली सों सो काहू नहि कीनों ।  
कोटि ब्रह्माण्ड अंग प्रति रोमनि ते पग फनि प्रति दीनों ॥  
धरनी सिर धरि शेष गर्व करि यहि भरि अधिक संभार्यो ।  
पूरन कृपा करी सूरज प्रभु फन फन प्रति पगु धार्यो ॥

सुनहु कृपा निधि जिती कृपा तुम या काली को कीनी ।  
इती बड़ाई कबहूँ कैसो नहि काहू कों दीनी ॥  
जिन पद कमल सुकृत जल परस्यो अजहूँ धर्यो सिर शीश ।  
ते पद प्रगट धरे फन फन प्रति धन्य कृपा जगदीश ॥  
एक अंड कों भार बहुत है गर्व धर्यो जिय शेष ।  
यहि भर अधिक सह्यो अपने सिर अमित अंड मय धेष ॥  
सुर नर असुर कीट पशु पक्षि सब सेवक प्रभु तेरे ।  
सूर श्याम अपराध क्षमहु अब या अपने जन करे ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीवाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ❖ श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमः स्कन्धः (पूर्वार्धः)

### तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणम्

‘तृतीयोऽध्यायः’

श्री सुबोधिनी अनुसार १४वां अध्याय

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार १७वां अध्याय

कारिका — चतुर्दशे भगवतो दर्शनान्निर्वृतो वृजः ।

अग्नेः संरक्षितः पश्चात् प्रासङ्गिकमिहोच्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ — चौहदवें अध्याय में भगवान् के दर्शन से आनन्द मग्न वृजवासियों का, अग्नि से संरक्षण<sup>१</sup> किया है तथा प्रसङ्ग वाली कथा भी कही है ॥ १ ॥

**व्याख्यार्थ** — इस अध्याय में १-अग्नि से व्रजवासियों की रक्षा, २-कालीय की कथा, ३-गरुड़ को सौभरि ऋषि ने शाप देकर यमुनाजी से निकाल दिया है ये दो प्रासङ्गिक कथाएँ भी हैं ॥ १ ॥

**कारिका** — इन्द्रियप्राणयोर्दोषो निवार्यस्तु सहैव हि ।

**अतः कालीयकथया दाहाभावो निरूप्यते ॥ २ ॥**

**कारिकार्थ** — इस अध्याय में इन्द्रिय और प्राण के दोषों को साथ में मिटाते हैं इसलिए कालीय की कथा के साथ दाह के अभाव का निरूपण किया है ॥ २ ॥

**व्याख्यार्थ** — कालीय इन्द्रिय रूप है । उसके (कालीय के) भय को मिटाने से, इन्द्रियों के दोष नष्ट हो जाते हैं । अतः कालीय को, यहाँ से बाहर भेज दिया है । इसी प्रकार प्राण के दोष अग्नि को, (क्षुधा को) निवृत्त करने के लिए अग्नि के भय को मिटाया गया है । अतः भगवान् ने दावाग्नि का पान किया है ।

इन्द्रिय तथा प्राण का परस्पर इसी प्रकार सम्बन्ध मिला जुला हुआ है, कि एक का दोष निवृत्त भी हो जाए तो दूसरे का दोष उसका (मिटे हुए का) कार्य कर देता है अतः दोनों के दोष साथ में मिटाए गए हैं ।

गरुड़, प्राण के दोष (क्षुधा) के कारण, यमुनाजी में मत्स्यों को खाता था, इसलिए सौभरि ऋषि ने उसको शाप दिया, जिससे वह यमुनाजी छोड़ कर चला गया । इस कथा से, प्रत्येक को यह शिक्षा लेनी है, कि इस दोष को मिटाना आवश्यक है । यह ज्ञान कराने के लिए यह प्रासङ्गिक कथा यहाँ कही गई है ।

जिह्वा इन्द्रिय का धर्म, रुचि<sup>१</sup> है, भोजन जब रुचि से किया जाता है, तो प्राणों के धर्म, बल की वृद्धि होती है । इस प्रकार इन्द्रिय और प्राण का परस्पर सम्बन्ध है । जिससे दोनों के दोषों की साथ निवृत्ति करना आवश्यक है ।

**कारिका** — प्रासङ्गिककथा त्वत्र हरेरद्भुतकर्मताम् ।

**वक्तुं युक्ता सर्वदोषा नान्यथा यान्ति हीति च ॥ ३ ॥**

**कारिकार्थ** — यहाँ हरि के अद्भुत कर्म को कहने के लिए प्रासङ्गिक कथा कहनी योग्य है, यदि न कही जाती, तो सब के दोष निश्चय से मिटते नहीं ॥ ३ ॥

**व्याख्यार्थ** — कालीय यमुनाजी के जिस देह में आकर रहा था, वह उसके लिए निर्भय स्थान था, क्योंकि कालीय, जिस गरुड़ से डरकर, रमणक से भागा था, वह (गरुड़) सौभरि ऋषि के शाप से, यहाँ आ नहीं सकता था। सौभरि ऋषि ने मत्स्यों के भय मिटाने के लिए उनके काल, गरुड़ को शाप देकर यहाँ से निकाल दिया, किन्तु वहाँ पुनः मत्स्यों का अन्य काल, कालीय आकर रहा, जिससे जाना जाता है कि भगवान् अद्भुत कर्मा हैं, जिनके आगे, जीव की कृति कुछ नहीं कर सकती है।

भगवान् ने उस स्थान पर क्रीड़ा कर, उसको, सबके लिए शाप रहित (मत्स्य आदि सर्व प्राणी मात्र के लिए) निर्भय स्थान बना दिया, सौभरि ऋषि के शाप से, वह (स्थान) पूर्ण निर्भय न हो सका था, क्योंकि, वहाँ कालीय आकर रह गया, जिसका कारण सौभरि का शाप था, भगवान् ने उसको निकाल दिया। सौभरि ने भक्त गरुड़ को शाप देकर अपराध किया था।

भगवान् ने इस लीला से सब के दोष मिटाए, जैसे कि प्राणियों को, प्राण जाने का भय था वह मिट गया, सौभरि का अपराध नष्ट हुआ, और श्री यमुनाजी निर्विष हो अमृत जल वाली हुई। तथा भगवान् के क्रीड़ा की स्थली बनने के योग्य हुई। अतः इसको बताने के लिए ही यहाँ यह प्रासंगिकी कथा कही गई है ॥ ३ ॥

**आभास** — प्रथमं प्रासङ्गिकं पृच्छति नागालयमिति

**आभासार्थ** — इस अध्याय में प्रारम्भ से राजा प्रासंगिक<sup>१</sup> कथा पूछता है।

॥ राजोवाच ॥

**श्लोकः** — नागालयं रमणकं कस्मात् तत्याज कालियः ।

कृतं किं वा सुपर्णस्य तेनैकेनासमञ्जसम् ॥ १ ॥

**श्लोकार्थ** — राजा परीक्षित ने कहा कि - कालीय ने अपना (नागों का) निवास स्थान रमणीक द्वीप क्यों छोड़ दिया ? इस अकेले नाग ने गरुड़ का क्या अपराध किया था ॥ १ ॥



**सुबोधिनी** — 'द्वीपं रमणकं हित्वे'ति यद् भगवतोक्तं तस्य परित्यागे हेतुर्वक्तव्यः, नापि तत् स्थानं गरुडस्येति शङ्कनीयं, यतः सहजं नागानामेव, तदाह नागालयमिति, कस्माद्धेतोरिति, यद्यपि भयं पूर्वमुक्तं तथापि तद् भयं साधारणं वाऽसाधारणं? साधारणं चेत् कथमन्यैर्न त्यक्तमनेन

त्यक्तमिति भवति विशेषजिज्ञासा, विशेषभयं चेत् तत्र हेतुं पृच्छति कृतमिति, तेनैवैकेन सुपर्णस्य किं वासमञ्जसं कृतम् ? सुपर्णत्वादक्लिष्टकर्मा, एको वा कथमपराधी ॥ १ ॥

**व्याख्यानार्थ** — राजा पूछता है कि, यह जो भगवान् ने कहा है कि “रमणक द्वीप छोड़ कर कालीय यहाँ आकर रहा है” तो बताइए कि उसका क्या कारण है ? वह द्वीप तो नागों के रहने का सहज<sup>१</sup> स्थान है, गरुड़ का तो नहीं है । तो भी इसने उसको क्यों छोड़ा ? यदि भय से छोड़ा है तो क्या वह साधारण भय था, या असाधारण ? अर्थात् सर्व सर्पों के लिए भय उत्पन्न हुआ था वा इस अकेले को भय हुआ था इसलिए यह अकेला छोड़ आया, तो बताइए, कि इस एक ने ही गरुड़ का क्या अपराध किया था? जिससे इसको भय हुआ और भागना पड़ा । यहाँ गरुड़ को ‘सुपर्ण’ इसलिए कहा कि वह (गरुड़) जो कुछ कर्म करता है उसमें उसको परिश्रम नहीं होता है ॥ १ ॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

**श्लोकः** — उपहार्यैः सर्पजनैर्मासि मासीह यो बलिः ।

**वानस्पत्यो महाबाहो नागानां प्राङ् निरूपितः ॥ २ ॥**

**श्लोकार्थ** — श्रीशुकदेवजी ने कहा कि - भेट करने वाले सर्प जनों ने, पहले महीने में गरुड़ के निमित्त वृक्ष के मूल में बलि रख आने का ठहराव किया था ॥ २ ॥

**सुबोधिनी** — तत्रोपाख्यानमाह, उपहरन्तीत्युपहारः, उपहाराः समर्प्यन्त यैस्त उपहार्या उपहारसमर्पका इत्यर्थः, ते सर्व एव सर्पजनाः साधारणसर्पाः सर्पाणां वा जनाः सेवका अतलादिवासिनस्तैः सर्वैरेवेह रमणके मासि मासि बलिः क्लृप्तः, य इति प्रसिद्धः, एवं ह्याख्यायिका, गरुडः सर्वानेव सर्पान् भक्षयति सर्वदा मारयति च कांश्चिद् वृथैव मातुर्वैरमनुस्मरन्, ततो वासुकिप्रमुखा गरुडाद् भीता ब्रह्माणं शरणं गताः, ततो ब्रह्मा गरुडं समाहूय सन्धिं कृत्वा दण्डरूपं बलिं कल्पितवान्, अमावास्यायां वृक्षमूले 'नागलोकेषु यद्

भवेद् एकस्मिन् दिवसे तावदेकत्र स्थापयन्तु हि ततो हि गरुडस्तस्मिन्स्तद् भुक्त्वा नैव पीडये' दितिव्यवस्थयानया सर्पा मासि मासि बलिं ददुः," तदाह मासि मासीह यो बलिरिति, वानस्पत्यो वनस्पतेर्मूले देयः, महाबाहो इति सम्बोधनं यथा त्वया सर्वेभ्यः करो गृह्यत एवं गरुडोऽपि गृह्णातीतिसूचनार्थं, अरयो न केवलं वध्याः किन्तु दण्ड्या अपि, ततः किम् ? अत आह नागानां सम्बन्धी प्राग् दण्ड एवंविधो निरूपितः ॥ २ ॥

**व्याख्यानार्थ** — भेट करने वाले अतल आदि लोकों में रहने वाले, साधारण सर्प अथवा उनके सेवक आदि ने यह ठहराव किया था कि हम हर मास में गरुड़ के लिए रमणक द्वीप में बलिदान करेंगे ।

यह आख्यायिका<sup>१</sup> इस प्रकार है । गरुड़ माता के वैर को स्मरण करता हुआ, नित्य जो भी सर्प हाथ लगता था उसका भक्षण करता था किसी को तो वृथा<sup>२</sup> ढ़ही मारता था ।

इस प्रकार अपने कुटुम्ब का क्षय देखने के अनन्तर वासुकि आदि प्रमुख सर्प गरुड़ से डर कर, ब्रह्मा की शरण गए । ब्रह्मा ने गरुड़ को बुलाकर दोनों की सन्धि<sup>३</sup> कराई, जिसमें यह निश्चय हुआ कि 'अमावस्या' के दिन नागों में से एक की बलि वृक्ष के मूल में रखी जाए, गरुड़ वहाँ जाकर उसका भक्षण करे उसके अतिरिक्त किसी भी सर्प को नहीं पीड़ित करेगा । इस ठहराव के अनुसार सर्प हर महिने वृक्ष के मूल में बलि छोड़ आते थे ।

राजा को 'महाबाहो' यह विशेषण देकर समझाया कि आप भी राजा हो, सब से 'कर' लेते हो वैसे ही गरुड़ भी लेता है, इससे यह भी बताया है कि राजा शत्रुओं का केवल वध नहीं करे किन्तु उनको दण्ड भी देवे । अतः कहा है कि नागों को इस प्रकार दण्ड दिया गया जिसका वर्णन पहले किया है ॥ २ ॥

**श्लोकः** — स्वं स्वं भागं प्रयच्छन्ति नागाः पर्वणि पर्वणि ।

**गोपीथायात्मनः सर्वे सुपर्णाय महात्मने ॥ ३ ॥**

**श्लोकार्थ** — सर्व सर्प अपनी रक्षा के लिए हर एक अमावस्या को अपना अपना भाग महात्मा सुपर्ण (गरुड़जी) को देते थे ॥ ३ ॥

सुबोधिनी — ततः स्वं स्वं भागं सर्व एव नागाः | वीप्सा नित्यार्थ, आत्मनो गोपीथाय रक्षार्थं ननु वैरी कथं दण्डे अष्टकुलपरिमिता सर्व एव काद्रवेयाः पर्वण्यमावास्यायां, दत्तेऽपि विमुञ्चतीत्याशङ्क्याह सुपर्णाय महात्मन इति ॥ ३ ॥

ढ़पेट भर जाने के बाद भी जो सर्प सामने मिल जाता तो उसको मार देता था ।

'अनुवादक'

**व्याख्यानार्थ** — नागों के आठ कुल हैं, वे सर्व कद्रू की सन्तान हैं। वे अपना अपना भाग अमावस्या को गरुड़ के नित्य आहारार्थ वृक्ष के मूल में रख आते थे। वे समझते थे यों करने से हमारी रक्षा होगी। गरुड़ हमको खाएगा नहीं। यद्यपि वैरी, दण्ड देने पर भी मार देता है, किन्तु गरुड़ महान् आत्मा है अतः वह ऐसा कार्य नहीं करेगा ऐसा उनको निश्चय था ॥ ३ ॥

**श्लोकः** — विषवीर्यमदाविष्टः काद्रवेयस्तु कालियः ।

कदर्थीकृत्य गरुडं स्वयं तं बुभुजे बली ॥ ४ ॥

**श्लोकार्थ** — कद्रू का पुत्र कालिय विष रूप वीर्य से अभिमान में आ गया, जिससे गरुड़ को तुच्छ समझ कर उसकी बलि स्वयं खाने लगा ॥ ४ ॥

**सुबोधिनी** — तत्रायं कालियः स्वदेवोपासको जातः, ततो विषवीर्यं जातं, तस्य मदेनाविष्टः काद्रवेयः कद्रूदोषोऽप्यस्मिन्ननः कालाधिभौतिकरूपोऽपि कालियः । कदर्थीकृत्य दूषयित्वा गरुडसेवकान् मारयित्वा तं बलिं स्वयं बुभुजे, यतोऽयं महाबली बलिष्ठः ॥ ४ ॥

**व्याख्यानार्थ** — कालीय का देवता विष है अतः उसने उसकी (विष रूप देवता की) उपासना की, जिससे वह विष रूप देवता के प्रभाव से विष वीर्यवाला हो गया। उस (विषवीर्य) के मद से अभिमान में आ गया और माता कद्रू के दोष ने भी, इसमें प्रवेश किया तथा कालिय काल का आधिभौतिक रूप भी है, गरुड़ को तुच्छ जानकर वहाँ बलि की रक्षा के लिए जो गरुड़ के सेवक थे उनको मारकर, स्वयं उस बलि को खा जाता था, कारण कि, यह कालिय महान् बलवान था ॥ ३ ॥

**श्लोकः** — तच्छ्रुत्वा कुपितो राजन् भगवान् भगवत्प्रियः ।

विजिघांसुर्महावेगः कालियं समुपाद्रवत् ॥ ५ ॥

**श्लोकार्थ** — हे राजन् ! यह बात सुनकर, भगवान् के प्यारे, गरुड़ भगवान् क्रोधित हुए, अतः कालीय को मारने की इच्छा से बड़े वेग से उसके (कालीय के) समीप आए ॥ ५ ॥

**सुबोधिनी** — तत् सेवकैर्निवेदितो गरुडः श्रुत्वा कुपितो जातः, राजन्निति राज्यस्थितिरेतादृशीति ज्ञापयति, असामर्थ्यं तु तस्य नास्तीत्याह भगवानिति, भगवत्कृपया भगवान्, यतो भगवतोऽयं प्रियो वाहनरूपः, अतस्तस्य दण्डमप्यस्वीकृत्य विशेषेण जिघांसुरेव कालियं प्रति सम्यङ् महाघोषपूर्वकमुप समीप एव शीघ्रमाद्रवत् ॥ ५ ॥

**व्याख्यार्थ** — गरुड़ के सेवकों ने जाकर अपने स्वामी को ये सारे समाचार सुनाए जिनको सुनकर वे क्रुद्ध हुए । राजन् ! यह संबोधन देकर यह बताया है कि राज्य की स्थिति ऐसी ही होती है । गरुड़ शक्ति में कम नहीं हैं इसको जताने के लिए गरुड़ को 'भगवान्' कहा है । पक्षी होकर भगवान् कैसे ? इसका स्पष्टीकरण आचार्य श्री करते हैं, कि भगवान् की कृपा से गरुड़ में ऐश्वर्य आदि छः गुण उद्भव हो गए थे अतः उनको श्लोक में भगवान् कहा है । भगवान् ने कृपा इसलिए की है, कि वह भगवान् का प्यारा वाहन<sup>१</sup> है । गरुड़ कालिय को दण्ड देना भी स्वीकार न कर, उसको नाश ही करना है, ऐसी इच्छा से कालीय के पास ही बड़े वेग से ध्वनि करते हुए शीघ्र आकर पहुँचे ॥ ५ ॥

**आभास** — आराधितो विषात्मा हृदये प्रविष्ट इति तस्यापि सम्मुखो जात इत्याह तमापतन्तमिति,

**आभासार्थ** — कालीय ने अपने देवता विष की आराधना की थी, जिससे वह विषात्मा उसके (कालीय के) हृदय में प्रविष्ट हुआ, अतः गरुड़ के सामने युद्ध के लिए तैयार हुआ जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — तमापतन्तं तरसा नखायुधं प्रत्यभ्ययादुत्थितनैकमस्तकः ।

**दद्धिः** सुपर्णं व्यदशद् रदायुधः करालजिह्वोच्छ्वसितोऽग्रलोचनः ॥ ६ ॥

**श्लोकार्थ** — वेग से उड़कर आते हुए उस नखायुध (गरुड़) के सामने, अनेक मस्तकों को ऊँचा कर यह (कालिय) आया । भयंकर जीभ तथा उग्र नेत्र वाले एवं दान्त रूप शस्त्र वाले कालिय ने गरुड़ को दान्तों से डसा ॥ ६ ॥

**सुबोधिनी** — नन्वशस्त्रं कथं योधयतीत्याशङ्क्य आह नखायुधमिति, तं प्रतिकूलतयाभ्ययात् सम्मुखं गतः, उत्थितान्यनेकानि मस्तकानि यस्य, अयमेकोऽहं बहुरूप इति ज्ञापयितुं, ततः सुपर्णं दद्धिर्दन्तैराशीरूपैर्यतोऽयं रदायुधो रदा दन्ता आयुधानि यस्य, न केवलं दशमात्रेण तं त्यक्तुमिच्छति किन्तु भक्षयिष्यतीत्याह करालजिह्व इति, कराला जिह्वा यस्य, कराला ग्रसनसमर्था क्रूरा, उच्छ्वसितान्युग्राणि लोचनानि यस्य, अनेन तस्य ज्ञानशक्तिः कुण्ठतेति सूचितं, उच्छ्वसितत्वान्मर्यादाभङ्गः, उग्रत्वाद् विपरीतत्वम् ॥ ६ ॥

**व्याख्यार्थ** — कालीय, बिना शस्त्र वाले गरुड़ से लड़ने के लिए कैसे गया ? इस शङ्का को

मिटाने के लिए कहा है, कि गरुड़ शस्त्र से हीन नहीं था किन्तु गरुड़ के पास उसके नख ही आयुध<sup>१</sup> थे । इसको जान कर कालीय लड़ने के वास्ते सामने गया । कालीय ने अपने अनेक मस्तकों को ऊँचा उठाकर गरुड़ को यह बताया कि तूँ एक रूपवाला है मेरे बहुत रूप हैं । पश्चात्<sup>२</sup> अपने विष से भरे हुए दान्तों से उसको (गरुड़ को) डँसा । डँस कर उसको छोड़ दूँ ऐसी कालीय की इच्छा नहीं थी, किन्तु उग्र जिह्वा के कारण खा भी जावे, क्योंकि उसके लोचन स्तम्भित<sup>३</sup> हो गए थे । जिससे उसकी ज्ञानशक्ति नष्ट हो गई थी । इन दोषों से उसने (कालिय ने) मर्यादा<sup>†</sup> का भङ्ग किया, विपरीत<sup>\*</sup> कर्म किया ॥ ६ ॥

**आभास —** एतादृशमपि गरुडो मारितवानित्याह तमिति, तं प्रसिद्धं, तुल्यतायाम-  
वश्यमारकत्वे च हेतुमाह ताक्ष्यपुत्र इति,

**आभासार्थ —** वैसे को भी गरुड़ ने तोड़ना की - जिसका वर्णन इस श्लोक में है ।

**श्लोक: —** तं ताक्ष्यपुत्रः स निरस्य मन्युना प्रचण्डवेगो मधुसूदनासनः ।

**पक्षेण सव्येन हिरण्यरोचिषा जघान कद्रूसुतमुग्रविक्रमः ॥ ७ ॥**

**श्लोकार्थ —** (जब कालिय ने यों डँसने आदि, क्रिया की तब तो ) भगवान् के आसन, उग्र पराक्रम उस गरुड़ ने बहुत क्रोध में आकर इस (कालीय) को दूर फेंक कर बड़े वेग से सुवर्ण के सदृश चमकते हुए अपने सव्य पांख से कद्रू के पुत्र पर प्रहार किया ॥ ७ ॥

**सुबोधिनी —** ताक्ष्यः कश्यपो भवान्तरमापन्नः, रूपान्तरेण चतसृणां विवाहः कृत इत्ययमपि काद्रवेय इति तुल्यता, स इति पूर्वशत्रुः कोपितश्च, निरस्य नितरा<sup>†</sup> मसु क्षेपणे, दूरादेव क्षिप्त्वा तिरस्कृत्येत्यर्थः, नन्वाधिदैविकबलेन समागच्छन्तं कथं तिरस्कृतवान् ? तत्राह मन्युनेति, क्रोधेन तिरस्कारं कृतवान्, प्रचण्डो वेगो यस्य, तदपेक्षयाप्यस्य क्रियाशक्तिरधिकोक्ता, तत्र हेतुर्मधुसूदनस्यासनभूत इति, गमने भगवत आसनं तदर्थं भगवद्भक्ता क्रियाशक्तिरस्मिन् वर्तते

इति, अतः सव्येन पक्षेण बृहद्रूपेण, तद् ब्रह्मात्मकं भवति तेन, स निरस्तः, तस्य पक्षस्य ब्रह्मत्वाभिव्यक्तिर्जातेत्याह हिरण्यरोचिषेति, हिरण्यरूपत्वं भगवद्धर्मः, ननु सोऽपि कश्यपपुत्रः कथं तं मारितवानित्याह कद्रूसुतमिति, मातृदोषेण दुष्टं, मातृप्राधान्यान्नात्र बीजमुख्यता, ननु दंशापेक्षया प्रहारोऽल्पीयानिति कथमस्य जयः ? तत्राहोग्रो विक्रमो यस्येति, बाह्योऽप्ययं विक्रम उग्रो मरणपर्यवसायी ॥ ७ ॥

† गरुड़ से किया हुआ बलिदान का नियम तोड़कर मर्यादा भङ्ग किया ।

'योजना'

\* जो गरुड़ कालिय को मारने में शक्तिमान है उसको मारने की चेष्टा<sup>\*</sup> करना विपरीत कर्म है वह किया ।

'योजना'

**व्याख्यार्थ** — 'ताक्ष्य' (कश्यप) ने चार रूप धारण कर चार से विवाह किया था। कालिय 'कद्रू' नाम वाली स्त्री से उत्पन्न हुआ था उसके दोष इस (कालीय) में आ गए थे, पिता के बीज की मुख्यता इस कालीय में नहीं थी किन्तु विनता के पुत्र गरुड़ में पिता के बीज की मुख्यता थी। अतः कश्यप के पुत्र होने से, दोनों यद्यपि समान थे, तो भी उपर्युक्त कारण से दोनों की शक्ति में अन्तर था।

सर्प ने बलि खाकर गरुड़ को अपना शत्रु बना लिया था। जिससे गरुड़ को क्रोध उत्पन्न हुआ। अतः उसको दूर फेंक दिया अर्थात् उसका अपमान किया। यद्यपि सर्प आधिदैविक बल से, सामने लड़ने के लिए आ रहा था, तो भी क्रोध के आने पर शक्ति की वृद्धि हो जाती है। अतः उसने क्रोध के द्वारा इसका (कालीय का) तिरस्कार किया।

कालीय से गरुड़ में क्रियाशक्ति विशेष थी क्योंकि भगवान् का आसन था। कहीं भी भगवान् को शीघ्र जाना हो तो गरुड़ को आसन<sup>१</sup> बनाते थे, अतः भगवान् ने उसको क्रियाशक्ति दी थी इसलिए इसमें (गरुड़ में) दैवी क्रिया शक्ति थी जिससे कालीय से बलवान् था। इस बल के कारण अक्षर रूप सव्य पाँख के प्रहार से वह (सर्प) निरस्त हो गया। वह सव्य पंख सुवर्ण जैसी कांति<sup>२</sup> वाला था। अर्थात् भगवद्धर्म वाला था क्योंकि यह सुवर्ण जैसी कांति भगवान् का धर्म है।

यद्यपि सर्प भी कश्यप का पुत्र था तो भी उसको गरुड़ इसलिए मार सका, क्योंकि उसमें कद्रू के दोष आ गए थे।

दँश से प्रहार का बल अल्प है, तो प्रहार से इस (गरुड़) की जीत कैसे हुई? इस शङ्का के मिटाने के लिए कहा है कि साधारण रीति से, प्रहार दँश से अल्प है किन्तु गरुड़ उग्र विक्रम है, अतः उसका प्रहार अत्यन्त बलवान् है, जिस प्रहार से मरण भी हो सकता है ॥ ७ ॥

**आभास** — ततो यज् जातं तदाह सुपर्णपक्षाभिहत इति,

**आभासार्थ** — उसके अनन्तर जो कुछ हुआ वह इस श्लोक में कहते हैं —

**श्लोक** — सुपर्णपक्षाभिहतः कालियोऽतीव विह्वलः ।

हृदं विवेश कालिन्ध्यास्तदगम्यं दुरासदम् ॥ ८ ॥

<sup>१</sup> सवारी । <sup>२</sup> तेज, चमक ।

**श्लोकार्थ—** गरुड़ के पंख के प्रहार से, बहुत घबराए हुए कालीय ने कालिन्दी के हृद में प्रवेश किया, जहाँ गरुड़ आ नहीं सकता था और अगाध जल के कारण वहाँ जाना भी कठिन था ॥ ८ ॥

**सुबोधिनी —** सुपर्णस्य गरुडस्य पक्षेणाभिहतस्ता- | तत् त्वगम्यं गरुडस्य ॥ ८ ॥  
डितः कालियो विह्वलो जातस्ततः कालिन्द्या इदं विवेश,

**व्याख्यार्थ —** सुपर्ण के पंख से ताड़ित होने से, घबराया हुआ कालिय, कालिन्दी के हृद में चला गया, क्योंकि गरुड़ वहाँ नहीं जा सकते थे ॥ ८ ॥

**आभास —** तत्र हेतुं वक्तुमुपाख्यानमाह तत्रैकदेति,

**आभासार्थ —** गरुड़ क्यों नहीं जा सकता था वह बताने के लिए उपाख्यान कहते हैं —

**श्लोकः —** तत्रैकदा जलचरं गरुडो भक्ष्यमीप्सितम् ।

**निवारितः सौभरिणा प्रसह्य क्षुधितोऽहस्त ॥ ९ ॥**

**श्लोकार्थ —** किसी समय वहाँ गरुड़ आया, उसने सौभरि ऋषि के निषेध करने पर भी क्षुधित होने से अपने प्रिय भक्ष्य मत्स्य को बलात्कार से खाया ॥ ९ ॥

**सुबोधिनी —** यदास्य न भगवद्भावः, सौभर्युपाख्याने | प्रासस्तं गृहीत्वान्यत्र गतः, तत्र भक्षण आज्ञोक्तवनाद् विशेषतः  
सर्वत्र मीनसङ्गः प्रसिद्धः स हि मीनहितकारी भवति, पुनर्गरुडो | खेदजननाच्च मरणमेव भवेत्, जीवन्तमेवान्यत्र हतवानिति तत्र  
दैवगत्या तस्यैव समीप ईप्सितं भक्ष्यं जलचरविशेषं | तस्याप्रवेश एवोच्यते ॥ ९ ॥  
रोहितादिरूपं निवारितोऽपि सौभरिणा क्षुद्रशाद् बहिर्मुखावस्थां

**व्याख्यार्थ —** सौभरि ऋषि के उपाख्यान से जाना जाता है कि उसको मत्स्यों का सङ्ग था, इसलिए वह उनका हित चाहता था । मीन सङ्ग के कारण उस समय, उसमें† (सौभरि में) भगवद्भाव भी नहीं था । ऐसे समय गरुड़ दैव गति से उसके (सौभरि के) समीप गया और उसके सामने अपने प्रिय भक्ष्य रोहित आदि मत्स्य को खाने के लिए पकड़ने लगा, तब ऋषि ने गरुड़ को यों करने से

† गो० पुरुषोत्तमजी प्रकाश में - सुबोधिनीजी के अ. १४, श्लोक ९ की 'अस्य न भगवद्भावः' का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि- 'सौभरि में भगवद्भाव नहीं था ।'

निषेध किया<sup>१</sup> किन्तु क्षुधा से व्याकुल, गरुड़ की वृत्ति बहिर्मुख हो गई थी, जिससे वह जलचर को पकड़ के दूसरे स्थान पर ले गया और वहाँ उसका भक्षण किया। वहाँ ही खाता तो सामने आज्ञा के उल्लङ्घन से ऋषि को विशेष खेद होता जिससे मरण ही होता। जीवित मत्स्य अन्य स्थान पर ले जाने से समझा जाता है कि कालिन्दी के हृद में वह नहीं जा सकता था ॥ ९ ॥

**आभास —** ननु भगवन्निर्मितेऽर्थे कथं मुनेराग्रहः ? तत्राह मीनान् सुदुःखितान् दृष्ट्वेति,

**आभासार्थ —** भगवान् ने गरुड़ के लिए जो खाद्य पदार्थ बनाया है उसके लिए सौभरि ने इस प्रकार निषेध का आग्रह कैसे किया ? उसका कारण बताने के लिए निम्न श्लोक कहते हैं —

**श्लोकः —** मीनान् सुदुःखितान् दृष्ट्वा दीनान् मीनपतौ हते ।

**कृपया सौभरिः प्राह तत्रत्यक्षेममाचरन् ॥ १० ॥**

**श्लोकार्थ —** मत्स्यपति को गरुड़ ले गया जिससे अन्य दीन मत्स्य अत्यन्त दुःखी हुए, उनको दुःखी देखकर उनके कल्याण की इच्छा से दयार्द्र हृदय हो सौभरि ने जो कहा वह निम्न श्लोक में है ॥ १० ॥

|                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                |                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                    |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>सुबोधिनी — यथा भगवता मर्यादाशास्त्रं कृतं लौकिकमेवं वैदिकमपि, ततः परदुःखं दृष्ट्वा दुःखितः कासणिकस्तदुपायं कुर्यादिति दीनोपेक्षायां दोषस्य श्रवणात् 'स्रवते ब्रह्म तस्यापि भिन्नभाण्डात् पयो यथे'त्यादिवाक्यात्, अतो दयया लोकमर्यादोलङ्घनं कृतवान्, तदाह सुदुःखितान् दृष्ट्वेति, नन्वज्ञानादेव तेषां दुःखं कथं प्रतीकारार्थं यत्नः ? तत्राह दीनानिति, विचार्यमाणेऽपि ते</p> | <p>दीना रक्षकाभावात्, अत एव तत्र हेतुमीनपतौ हत इति, स हि मीनानां पतिः, अन्यथा गोत्रघातिनस्तं स्वात्मीयानापि भक्षयेयुः, अतः केवलं कृपया सौभरिर्विषयमाणं प्राह तत्रत्य-मीनानां क्षेममाचरन् वस्तुतस्त्वनर्थ एव कृतः, मीनाः सर्व एव तत्रत्या विषेण दग्धाः, तत्प्रसङ्गादन्येऽपि जीवाः, अतोऽन्येन यत् क्रियते तेनानर्थ एव सम्पद्यत इति फलितम् ॥ १० ॥</p> |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यानार्थ —** भगवान् ने वैदिक और लौकिक दो प्रकार की मर्यादाएँ बनाई हैं। वैदिक मर्यादा के अनुसार सर्व प्राणियों पर दया करनी चाहिए। जो दया नहीं करता है, दीनों की उपेक्षा करता है, उसके हृदय से ब्रह्म चला जाता है, जैसे फूटे हुए बर्तन में से दूध निकल जाता है। गरुड़जी ने लौकिक मर्यादा के अनुसार अपने भक्ष्य मत्स्य का भक्षण किया था, जिससे मत्स्य पति के जाने से, दीन मत्स्य दुःखी होने लगे क्योंकि उनका रक्षक तथा उनको नियम से चलाने वाला कोई नहीं रहा। इससे मत्स्य अपने कुल के भक्षक होने से, परस्पर मित्र बान्धवों को खाने लग गए। ऐसी दशा देख कर सौभरि



ने उन पर दया करने के लिए मर्यादा का उल्लङ्घन किया । यद्यपि, मत्स्यों को दुःख अज्ञान के कारण था तो भी दीन थे, जिससे उनकी रक्षा करने का यत्न सौभरि ने निम्न प्रकार से किया । किन्तु वह परमार्थ भी अनर्थ हो गया क्योंकि, गरुड़ के न आने से वहाँ कालीय आकर रहा जिसके विष से, सर्व मत्स्यों का नाश हो गया । उस प्रसङ्ग से अन्य जीव भी नष्ट हुए । इससे यह सिद्धान्त निश्चय हुआ कि भगवान् की मर्यादा (इच्छा) के विरुद्ध जो कुछ करता है वह अनर्थ ही है. उससे लाभ के स्थान पर हानि ही होती है ॥ १० ॥

**आभास —** शापवाक्यमाहात्र प्रविश्येति,

**आभासार्थ —** सौभरि ने जो शाप दिया वह इस श्लोक में कहते हैं ।

**श्लोकः —** अत्र प्रविश्य गरुडो यदि मत्स्यान् स खादति ।

**सद्यः प्राणैर्वियुज्येत सत्यमेतद् ब्रवीम्यहम् ॥ ११ ॥**

**श्लोकार्थ —** यहाँ गरुड़ आवेगा और जो वह मत्स्यों का भक्षण करेगा तो, उसके उसी समय प्राण चले जाएँगे, मैं यह सत्य कहता हूँ ॥ ११ ॥

**सुबोधिनी —** अत्र हृदे प्रविश्य, जलं तथा भवेदित्येकः शापः, तत्रापि यदि मत्स्यान्, तत्रापि स एव गरुडो न त्वन्यः पक्षी, ततः सद्य एव प्राणैर्वियुज्येतेत्यपरः, तेनान्याहृत-स्याप्यत्रत्यमत्स्यस्य भक्षणं निषिद्धं, तथा च न विशिष्टशापः, अत एव कालीयस्य रक्षा, अन्यथा मत्स्यखादने शापाभावात् सास्यादितिभावः, अत एव स इति पुनरुक्तं. ब्रह्मवाक्य-माज्ञारूपं, इदमनुवादकं वाक्यमित्याशङ्क्याह सत्यमेतद् ब्रवीम्यहमितिप्रमाणं न हि ब्रह्मवादो मृषा भवति ॥ ११ ॥

**व्याख्यानार्थ —** सौभरि ने गरुड़ को दो प्रकार से शाप दिया, एक यमुना के हृद में प्रवेश करेगा तो, उसी समय प्राण से रहित हो जाएगा । दूसरा मत्स्यों को खाएगा तो भी तेरे प्राण शीघ्र निकल जाएँगे । इस शाप से यह भी दिखाया है कि गरुड़ के अतिरिक्त अन्य पक्षी के लिए यह शाप नहीं है । इस शाप के कारण कालिय की भी रक्षा हो गई क्यों कि यदि यह शाप विशिष्ट (हृद में प्रवेश तथा मत्स्य भक्षण दोनों का मिलित) शाप न होता तो गरुड़ हृद में प्रवेश कर, कालिय को दुःख देता । इस प्रकार शाप न होता तो उसकी (कालीय की) रक्षा न होती । इसीलिए ही मूल श्लोक में 'स' 'वह' गरुड़ शब्द फिर दिया है । ब्राह्मण का वचन आज्ञा रूप है । यह सौभरि का कहना

केवल अनुवाद नहीं है, किन्तु यह सत्य है, ब्रह्म वाक्य होने से प्रमाण है। ब्राह्मण के वाक्य कभी भी झूठे नहीं होते हैं ॥ ११ ॥

**श्लोक: — तं कालियः परं वेद नान्यः कश्चन लेलिहः ।**

**अवात्सीद् गरुडाद् भीतः कृष्णेन च विवासितः ॥ १२ ॥**

**श्लोकार्थ —** इस बात को केवल कालिय ही जानता था दूसरा कोई सर्प नहीं जानता था, इसलिए गरुड़ से भयभीत हो यहाँ आकर रहा, और श्रीकृष्ण ने उसे निकाल दिया ॥ १२ ॥

**सुबोधिनी —** तमर्थ कालिय एव परं वेद, गरुडेन सह विरोधं चिकीर्षुस्तस्यागम्यं स्थानं विचारितवान्, अन्येषां त्वेवमध्यवसायाभावात् नान्यो लेलिहः सर्पो जानाति, अतो गरुडाद् भीतस्तत्रावात्सीत् कृष्णेन च विवासितस्ततो दूरीकृतः ॥ १२ ॥

**व्याख्यार्थ —** उस अर्थ अर्थात् गरुड़ सौभरि के शाप से इस हृद में नहीं आ सकेगा इस को केवल कालिय ही पूरी तरह जानता था। गरुड़ के साथ विरोध करने की इच्छा वाले कालीय ने यह विचार किया कि यदि इससे विरोध करूंगा तो यहाँ से भागना तो पड़ेगा क्योंकि यह बलवान् है, फिर कहाँ जाकर रहूँगा, वह स्थान ऐसा हो जहाँ गरुड़ नहीं आ सके। वह यमुनाजी का हृद ही है जहाँ वह जा नहीं सकता है वहाँ जाकर रहूँगा, दूसरे सर्पों को तो गरुड़ से वैर करने की इच्छा ही नहीं थी और उनको इसका पता भी नहीं था। अतः गरुड़ से डरा हुआ (कालिय) वहाँ जाकर रहा और भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे वहाँ से दूर किया ॥ १२ ॥

**आभास —** एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रस्तुतमाह कृष्णं हृदादिति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार प्रासङ्गिक विषयों को छोड़ अब चालू विषय को कहते हैं।

‡ यदि सौभरि इस प्रकार शाप नहीं देता तो कालीय इस हृद में प्रविष्ट न होता।

'टिप्पणी'

गरुड़ हृद में आते तो सर्प के विष से उसका मरण नहीं होता, किन्तु शाप के कारण मृत्यु हो सकता अतः सौभरि का वचन प्रमाण है जिससे गरुड़ हृद में नहीं आता था।

'प्रकाश'

श्लोकः — कृष्णं हृदाद् विष्क्रान्तं दिव्यस्त्रगन्धवाससम् ।

महामणिगणाकीर्णं जाम्बूनदपरिष्कृतम् ॥ १३ ॥

उपलभ्योत्थिताः सर्वे लब्धप्राणा इव प्रजाः ।

प्रमोदनिभृतात्मानो गोपाः प्रीत्याभिरेभिरे ॥ १४ ॥

**श्लोकार्थ—** दिव्यमाला, चन्दन, वस्त्र पहिरे, अमूल्य मणि-मालाओं से व्याप्त, सुवर्ण से अलंकृत श्रीकृष्णचन्द्र हृद से बाहर निकले, तब भगवान् को पाकर सब गोप, जैसे इन्द्रियाँ प्राण आने पर सचेत हो जाती हैं वैसे ही आनन्द से पूर्ण चित्त वाले होकर प्रेम से उनके (श्रीकृष्ण के) साथ मिले ॥ १३-१४ ॥

**सुबोधिनी —** विशेषेण निष्क्रान्तं भगवन्तं दृष्ट्वोत्थिताः सर्वेभिरेभिर इति द्वयोः सम्बन्धः, हृदाद् ध्रुवमध्यात्, विशेषेण निष्क्रमणमकस्मादाविर्भावः, पूर्वस्माद् वैलक्षण्यार्थं रूपं वर्णयन्ति, दिव्यानि स्त्रगन्धवासांसि यस्येति, अनेन सामान्यतः पूजा निरूपिता, महामणिगणैराकीर्णमिति विशेषपूजा, जाम्बूनदेन च परिष्कृतं, अनेन लोकत्रयपदार्थैः पूजित उक्तः, तत्र दिव्यानि स्पष्टानि, मणयः पातालस्थाः,

सुवर्णं भूमिष्ठं, अकस्मादुपलभ्य भगवत्सन्निधिमात्रेणैव लब्धप्राणा जाताः प्रजा बालका इवोत्थिताः, यथा बालका उत्तिष्ठन्त्येवं लब्धप्राणा एते महान्तोऽप्युत्थिताः, परस्परज्ञान-रहिताः प्रजा लौकिका वा यथा प्राणेष्वगतेषुत्तिष्ठन्त्येवमेते कृष्णे समागत उत्थिताः, ततोऽपि भगवत्सन्निध्ये प्रमोदेन निभृतः पूर्ण आत्मान्तःकरणं येषां, आदौ पुरुषास्तरुणाः पुरुषोत्तममपि प्रीत्यालिङ्गितवन्तः ॥ १३-१४ ॥

**व्याख्यार्थ —** यहाँ दो श्लोकों का परस्पर सम्बन्ध है अन्ततः उनका तात्पर्य साथ में ही समझाया गया है ।

हृद के बीच से अचानक प्रकट हुए भगवान् को देखकर सब उनसे मिले । भगवान् पहले से (जब यमुनाजी में कूदे थे तब से) अब विलक्षण दर्शन दे रहे थे, अतः उस विलक्षण रूप का वर्णन करते हैं ।

स्वर्ग के दिव्य चन्दन माला वस्त्र आदि से, भगवान् की वहाँ सामान्य पूजा हुई है ऐसा प्रतीत होता था, पाताल के पदार्थ महान् मणिओं की मालायों से व्याप्त देखने से समझा गया कि इनकी विशेष पूजा हुई है, और पृथ्वी के उत्तम पदार्थ सुवर्ण के आभूषणों से सुशोभित हुआ देखकर, सब ने निश्चय किया, कि भगवान् की तीन लोकों के पदार्थों से सब प्रकार पूजा हुई है ।

पूजा से सुशोभित विलक्षण रूप वाले वैसे भगवान् को अचानक आविर्भूत हुए देखकर, उनके

सन्निधि' मात्र से उनमें (गोपादि में) प्राण आ गए । बालकों की तरह वे उठ कर खड़े हो गए । जैसे बालक खड़े होते हैं वैसे ही प्राण मिलने से वृद्ध भी उठ कर खड़े हो गए । प्रजा (बालक) अथवा लौकिक मनुष्य की परस्पर पहचान न होते हुए भी जैसे प्राणों के (प्रेमी सुन्दर पुरुषों के) आने पर उठते हैं, उसी प्रकार, ये गोपादि भी श्री कृष्णचन्द्रजी के आने पर, उठ कर खड़े हुए । पश्चात् समीप होने पर, आनन्द से पूर्ण, अन्तःकरण वाले, पहले, उन तरुण पुरुषों ने पुरुषोत्तम को भी प्रेम से आलिङ्गन किया ॥ १३- १४ ॥

**श्लोक: — यशोदा रोहिणी नन्दो गोप्यो गावश्च कौरव ।**

**कृष्णं समेत्य लब्धेहा आसँलब्धमनोरथाः ॥ १५ ॥**

**श्लोकार्थ —** हे कौरव ! यशोदा, रोहिणी, नन्दरायजी, गोपियाँ, और गोप ये सब श्रीकृष्ण को पाकर चेष्टा वाले हुए और इनका मनोरथ पूर्ण हुआ ॥ १५ ॥

**सुबोधिनी —** ततो यशोदा रोहिणी, स्त्रियो ह्यत्युत्सुकाः, ततो नन्दो रोहिणीस्पर्शभयात्, ततो गोप्यो नन्दभयात्, ततो गावोऽपि, हे कौरवेतिसम्बोधनं विश्वागार्थं, सर्व एक कृष्णं समेत्य लब्धचेष्टा जाताः, लब्धो मनोरथो वैस्तादृशा अप्यासन्, क्रियाज्ञानशक्त्योः सम्बन्ध उक्तः ॥ १५ ॥

**व्याख्यानार्थ —** स्त्रियों में उत्सुकता (प्रिय के मिलने की चाह) विशेष होती है इसलिए पहले यशोदा और रोहिणी भगवान् से मिली, रोहिणी से स्पर्श न हो जाए, इस भय से, नन्दजी पश्चात् मिले, नन्दजी के भय से गोपियाँ पीछे मिली, उसके अनन्तर गाएँ भी मिली । परीक्षित को यह जताने के लिए कि यह प्रसङ्ग यों ही हुआ है इस पर तू विश्वास कर, संशय न कर, क्योंकि तू कुरु के कुल में उत्पन्न हुआ है अतः परीक्षित को "कौरव" विशेषण देकर सावधान किया है । सब कृष्ण को प्राप्त कर चेष्टा वाले हुए अर्थात् उनमें क्रिया शक्ति आ गई और उनका मनोरथ भी पूर्ण हुआ जिससे ज्ञान शक्ति भी उनमें प्रकट हो गई । इस प्रकार क्रिया और ज्ञान शक्ति का परस्पर सम्बन्ध दिखाया है कि जहाँ क्रिया शक्ति आती है वहाँ ज्ञान शक्ति अवश्य उत्पन्न होती है ॥ १५ ॥

**श्लोक: — रामश्चाच्युतमालिङ्ग्य जहासास्यानुभाववित् ।**

**नरा नार्यो वृषा वत्सा लेभिरे परमां मुदम् ॥ १६ ॥**

**श्लोकार्थ —** बलरामजी ने अच्युत (श्री कृष्णजी) का आलिङ्गन किया उनके

प्रभाव को जानने से हँसने लगे । पुरुष, स्त्रियाँ, वृष और बछड़े अत्यन्त प्रसन्न हुए ॥ १६ ॥

सुबोधिनी — रामश्चाप्येवंविधो जातः, विशेषमप्याह, परीक्षा सम्यक् कृतेति, कालीयनिष्कासनं तु नाश्चर्याय, अच्युतमालिङ्ग्य जहामेति, पूर्वं भगवदंशो भगवत्येव यतोऽयमस्यानुभाववित् विश्वमेवान्यथा क्षणेन करोति तस्य स्थितस्तदा सर्वसमानमेव कृतवान्, ततो भगवत्यालिङ्गिते किमिदमाश्चर्यमिति, दुःखसुखयोर्मिश्रणप्रतिषेधार्थमाह नरा नार्य तदीयोऽत्र समागत इति पश्चाद् जहास, तुल्यता सम्पादिता, इति, चतुर्विधा अप्येते परमामेव मुदमापुः ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ — राम ने भी अन्यो के समान भगवान् का आलिङ्गन किया । राम ने जब आलिङ्गन किया, तब हँसे नहीं, आलिङ्गन के अनन्तर हँसे, जिसका कारण यह है, कि बलरामजी में पहले, भगवान् का अंश<sup>१</sup> नहीं था, भगवान् से आलिङ्गन करने से वह भगवदंश बलरामजी में आ गया तब समानता होने से हँसने लगे । हँस कर, श्रीकृष्ण को जताने लगे कि आपने इनकी (गोपादिकों की) पूर्ण परीक्षा की है । कालीय को निकाला इसमें कोई कुछ भी आश्चर्य नहीं है, कारण कि भगवान् के प्रभाव को जानते थे, जो विश्व को क्षण में उलट सकते हैं उनका यह कार्य आश्चर्यजनक नहीं है ।

पुरुष, स्त्रियों, वृष और बछड़े इन चारों को सुख के साथ दुःख भी हुआ होगा ? इसके उत्तर में स्मष्ट कहते हैं कि नहीं, वे बहुत आनन्द को प्राप्त हुए (दुःख लेशमात्र भी न था) ॥ १६ ॥

आभास — नन्वेतावत् कालं ब्राह्मणैः कथमेते नोपदिष्टा इदानीं ब्राह्मणाः कथं तत्सान्त्वनं कृतवन्त इत्याशङ्क्याह नन्दमिति,

आभासार्थ — ब्राह्मण इतने समय तक तो शान्त रहे, किसी प्रकार उपदेश द्वारा सान्त्वना नहीं दी, अब नन्दरायजी को सान्त्वना कराने के लिए कैसे आए ? इस शङ्का को मिटाने के लिए निम्न श्लोक कहते हैं -

श्लोकः — नन्दं विप्राः समागत्य गुरवः सकलत्रकाः ।

ऊचुस्ते कालियग्रस्तो दिष्ट्या मुक्तस्तवात्मजः ॥ १७ ॥

श्लोकार्थ — पत्नियों समेत कर्म कराने, वा गुरु ब्राह्मण नन्दजी के पास आकर

कहने लगे, कि 'बधाई है' प्रसन्नता की बात है कि कालीय का पकड़ा हुआ आपका पुत्र सकुशल छूटकर आ गया ॥ १७ ॥

सुबोधिनी — विप्रास्त्वत्यन्तमेव महापुत्राः न केवलं कर्मजडा वैश्यगुरवो जीवनार्थं स्थितास्तसम्बन्धिनोऽपि तथा, भगवांस्तवात्मजो दिष्ट्याऽस्मदादिभाग्यैर्मुक्तः, एतावतोत्सवे देयमिति सूचितं भवति ॥ १७ ॥  
अतः सकलत्रा एते समागत्य नन्दमूचुः कालियेन सम्बद्धो

**व्याख्यानार्थ —** 'विप्र' तो बहुत ही महान् पुरुष होते हैं। वैश्यों के गुरु, जो उनको कर्म मात्र कराते हैं, वे कर्मजड़ होते हैं। वे वहाँ आजीविका<sup>१</sup> के लिए खड़े हुए उनके (कर्मजड़ ब्राह्मणों के) सम्बन्धी (स्त्री पुत्र आदि भी) वैसे ही होते हैं इसी कारण से, स्त्रियों समेत, वे कर्मजड़ गुरु ब्राह्मण नन्दजी के पास आकर कहने लगे कि, कालीय का पकड़ा हुआ तुम्हारा पुत्र, आनन्द पूर्वक छूट आया है, वह हमारे भाग्य से ही छूटा है। अतः बधाई है। (यों कहने का तात्पर्य यह कि आप हम ब्राह्मणों को बधाई के रूप में कुछ भी दीजिए) ॥ १६ ॥

**श्लोकः —** देहि दानं द्विजातीनां कृष्णनिर्मुक्तिहेतवे ।

नन्दः प्रीतमना राजन् गाः सुवर्णं तदादिशत् ॥ १७ अ॥

**श्लोकार्थ —** हे राजन् ! कृष्ण सकुशल छूट आए अतः उनके निमित्त ब्राह्मणों को दान दीजिए। नन्दजी ने प्रसन्न चित्त से ब्राह्मणों को गौ और सुवर्ण दान में दिए ॥ १७ अ ॥

सुबोधिनी — अतो द्विजातिभ्यो दानं देहीति कृष्णागमननिमित्तं, ततो नन्दो गाः सुवर्णं च दत्तवान् ॥ १७अ ॥

**व्याख्यानार्थ —** इस आशय को समझकर नन्दजी ने प्रसन्नता से ब्राह्मणों को गौ और सुवर्ण बधाई के रूप में दिया ॥ १७ अ ॥

\*यह १७ वाँ श्लोक और इसकी टीका प्रायः बहुत पुस्तकों में देखने में नहीं आती है। किन्तु दोनों का सम्बन्ध होने से कहीं कहीं लिखा है।

**आभास —** यशोदाया विशेषमाह यशोदा च तैरुक्ता,

**आभासार्थ —** यशोदा ने जो विशेष किया उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक: —** यशोदा च महाभागा नष्टलब्धप्रजा सती ।

परिष्वज्याङ्गमारोप्य मुमोचाश्रुकलां मुहुः ॥ १८ ॥

**श्लोकार्थ —** सती यशोदा, महा भाग्यवाली है, क्योंकि, अदृश्य (जो गुम होने से देखने में नहीं आता है वैसा) पुत्र पीछे (बादमें) मिल गया है, उसने पहले पुत्र का आलिङ्गन किया पश्चात् गोद में बिठाया उस समय उसके (यशोदा के) नेत्रों से (प्रेम के कारण) आँसू बहने लगे ॥ १८ ॥

**सुबोधिनी —** महाभागेति, तेभ्यो दित्सितवतीति, भाग्योदये जाते परिष्वज्य पश्चादङ्गमारोप्याश्रुकलां मुमोच विशेषकरणाद् वा तस्या भाग्यमभिनन्दति, नष्टादृष्टा पुन- ॥ १८ ॥  
लब्ध्या प्राप्ता प्रजा यया, तथात्वे हेतुर्धर्मः सतीति, अतो

**व्याख्यार्थ —** ब्राह्मणों ने यशोदा को महाभाग्य वाली कही है, उसके दो कारण हैं । एक ब्राह्मणों को बहुत दान मिला था और दूसरा यशोदा ने कृष्ण के लिए सब से विशेष प्रेम दिखाया है । जैसे कि, सब से प्रथम, कृष्ण के आने पर, उसका आलिङ्गन कर गोद में बिठाया, जिससे प्रेम बढ़ कर आँखों से अश्रु बह निकले ॥ १८ ॥

**आभास —** एतावतार्धरात्रिर्जाता, तस्मिन् दिवसे न केनापि भुक्तं, गावः पूर्वं शुष्कस्तना एवाधुना तु स्तन्यसहिता अपि दोहसाधनाभावान्न दुग्धदा जाताः, भगवदागमनप्रमोदेनैव च निर्वृतास्तत्रैव स्थिता इत्याह तां रात्रिमिति,

**आभासार्थ —** निम्न श्लोक में कहते हैं कि, इस समस्त कार्य में आधी रात्रि बीत गई, उस दिन किसी ने भी खाया नहीं था, जिससे गौओं के स्तन सूख गए थे। अर्थात् उनमें दूध नहीं था, किन्तु भगवान् के पधारने की प्रसन्नता में वे ही स्तन दूध से पूर्ण हो गए? किन्तु दोहने के पात्र न होने से, गौओं से दूध दुहा नहीं गया । वे सर्व आनन्द मग्न होने से वहाँ ही रात्रि भर रहे ।

श्लोकः — तां रात्रिं तत्र राजेन्द्र क्षुत्तृड्भ्यां श्रमकर्षिताः ।

ऊषुर्व्रजौकसो गावः कालिन्ध्या उपकूलतः ॥ १९ ॥

**श्लोकार्थ** — हे राजेन्द्र ! ब्रजवासी और गौ, भूख तथा प्यास एवं श्रम से कम शक्ति वाले हो गए थे, अतः वहाँ ही कालिन्दी के किनारे के निकट ही सो गए ॥ १९ ॥

**सुबोधिनी** — श्रम आगमनश्रमश्चित्तश्रमो वा मध्ये वा मरणार्थं श्रमः, तेनापि कर्षिताः, क्षुत्तृड्भ्यां सहिताः, श्रमस्य कार्यं कृत्वा गतत्वात् कार्यमेव निरूपितं क्षुत्तृषोः स्वरूपं च, व्रजौकस इत्यव्युत्पन्नाः, कालिन्ध्याः कूलसमीपे कियद्दूरे कूलं विहाय वनमध्ये शयनं कृतवन्तः ॥ १९ ॥

**व्याख्यार्थ** — गोप गौ आदि सब को, गोकुल से यहाँ आने से दैहिक श्रम, भगवान् का कालिय के साथ युद्ध देखने से चित्त का श्रम और उससे मरण के विचार करने का श्रम इत्यादि श्रम से दुर्बल तो हो गए थे, फिर क्षुधा तथा तृषा (व्यास) से विशेष रूप से निर्बल हो गए । श्रम तो निर्बलता देकर चले गए, किन्तु क्षुधा और तृषा तो शरीर के साथ ही रही इसलिए उनके स्वरूप को बताया । ये 'गोवाड़ों' में रहने वाले होने से, अनपढ़ थे, इस कारण से कालिन्दी के किनारे से थोड़ा दूर अर्थात् किनारे को छोड़ कर निकट ही वन के मध्य में सो गए ॥ १९ ॥

**आभास** — तदा कालीयाविष्टो दैत्यो दोषाभिमानि सर्वभक्षणार्थं स्थितो मृत्युश्चैकीभूय वह्निर्भूत्वा गोकुलवासिनां दाहार्थमुद्गत इत्याह तदेति,

**आभासार्थ** — कालीय में जो अहङ्कार दोष रूप दैत्य था, वह और क्षुधा तथा तृषा रूप जो मृत्यु था, उन दोनों ने मिलकर अग्नि का रूप धारण किया, अनन्तर वह अग्नि दावाग्नि रूप से गोकुलवासियों को जलाने के लिए प्रकट हुई जिसका वर्णन नीचे श्लोक में करते हैं—

श्लोकः — तदाशु विपिनोद्भूतो दावाग्निः सर्वतो ब्रजम् ।

सुप्तं निशीथ आवृत्य प्रदग्धमुपचक्रमे ॥ २० ॥

**श्लोकार्थ** — वन में उत्पन्न दावाग्नि ने, सोते हुए ब्रज को शीघ्र ही चारों ओर से, घेर कर आधी रात को जलाना प्रारम्भ किया ॥ २० ॥

**सुबोधिनी** — आशु प्रतिक्रियायाः करणार्थं विपिने स्वयमेवोद्भूतो दारुघर्षणजन्यो वा दावानलशब्दवाच्यो जातः, वृत्त्यार्धरात्रसमये प्रदग्धमुपक्रान्तवान्, पूर्वं हि ते स्नेहे परीक्षितास्तं स्नेहं स्थापयन्तदेहसम्बन्धित्वं दूरी करिष्यन् सर्वपदार्थानेकीकृत्य ज्वालनात्, सर्वत एव ब्रजं सुप्तमा- माहात्म्यं प्रदर्शयति, अन्यथा, लौकिक एव स स्नेहः



स्यात्, भगवदर्थं च क्लिष्टा एते न तु गतदेहाभिमाना इति । शरीराभिमानस्य गतत्वात् ॥ २० ॥  
च ज्ञापयितुमिदमुच्यते, अन्यथा ज्ञानाधिकारिण एव स्युः ।

**व्याख्यानार्थ —** श्लोक के 'आशु' पद का भावार्थ बताते हैं कि वैर लेने के लिए अग्नि शीघ्र ही वन में अपने आप ही उत्पन्न हुई । अग्नि तथा पेड़ की लकड़ियों के आपस में घर्षण<sup>१</sup> से उद्भूत<sup>२</sup> हुई अग्नि जिसको दावाग्नि<sup>३</sup> कहते हैं, उसके सब पदार्थों को इकट्ठा कर जलाने से, सोए हुए ब्रज को चारों तरफ घेर कर, आधी रात में जलाने लगी ।

भगवान् ने कालीय दह में कूदकर तथा कालीय से युद्ध लीला दृश्य दिखाकर, ब्रजवासियों के प्रेम की परीक्षा की । अब उस स्नेह का स्थापन करते हुए, उनमें जो देह सम्बन्ध<sup>४</sup> रहा हुआ है, उसको दूर करने के साथ, अपना माहात्म्य ज्ञान भी, विशेष प्रकार से कराते हैं । यदि इस प्रकार, देह सम्बन्ध दूर न करावें तो स्नेह लौकिक हो जाएगा । अभी तक, ये स्नेह के कारण, भगवान् के लिए दुःखी तो हुए, किन्तु, इनका देहाभिमान नहीं गया था । वह बताने के लिए यह कहा जाता है । यदि इनमें देहाभिमान नहीं होता तो, ये ज्ञान के अधिकारी हो जाते, स्नेह के अधिकारी नहीं होते ॥ २० ॥

**आभास —** अतस्तेषां व्याकुलतां प्रार्थनां चाह तत उत्थायेति,

**आभासार्थ —** दावाग्नि से, जब जलने लगे, तब देहाभिमान होने के कारण व्याकुल हुए और भगवान् की प्रार्थना करने लगे जिसका वर्णन निम्न तीन श्लोकों में करते हैं । इस श्लोक में उनकी व्याकुलता और प्रार्थना का वर्णन करते हैं—

**श्लोकः —** तत उत्थाय सम्भ्रान्ता दह्यमाना व्रजौकसः ।

कृष्णं ययुस्ते शरणं मायामानुषमीश्वरम् ॥ २१ ॥

**श्लोकार्थ —** तब ब्रजवासी जलते हुए उठे और घबराकर, माया से मनुष्य देखने में आने वाले, परमेश्वर श्रीकृष्ण की शरण में गए ॥ २१ ॥

**सुबोधिनी —** सम्यग् भ्रान्ता जाता अतिनिद्रया । व्रजौकसः कालियेन पूजितं भगवन्तं दृष्ट्वा कृष्णमेव ते शरणं दिग्देशकालज्ञानरहितता अपि स्वभावतोऽपि । ययुः ॥ २१ ॥

**व्याख्यार्थ** — बहुत घबराए और विशेष निद्रा आ जाने से तथा घबराहट के कारण, देश, दिशा और समय का भी ज्ञान उनको नहीं रहा। और स्वभाव से भी, वे ब्रजवासी थे जिससे अनपढ़ तथा ज्ञान शून्य थे। कालीय ने भगवान् का पूजन किया है यह देख कर वे भी श्रीकृष्ण की शरण गए ॥ २१ ॥

**आभास** — न तु कृष्णरक्षार्थं यत्नं कृतवन्तः प्रत्युत स्वरक्षामेव कृष्णं प्रार्थितवन्त इत्याह कृष्ण कृष्णेति,

**आभासार्थ** — श्रीकृष्ण की रक्षा के लिए तो उन्होंने कोई प्रयत्न नहीं किया किन्तु अपनी रक्षा के लिए ही श्रीकृष्ण की प्रार्थना करने लगे।

**श्लोकः** — कृष्ण कृष्ण महाभाग हे रामामितविक्रम ।

एष घोरतमो वह्निस्तावकान् ग्रसते हि नः ॥ २२ ॥

**श्लोकार्थ** — हे कृष्ण ! हे महान् भाग्य वाले कृष्ण ! हे असीम पराक्रम वाले राम ! यह महा घोर अग्नि आपके सेवक जो हम हैं उनको खा जाती है (भस्म कर रही है) ॥ २२ ॥

**सुबोधिनी** — भयाद् वीप्सा, महाभागेति तव शरण्यत्वेऽस्माकं शरणगमने च हेतुः, साधारणाः सर्व इति राममप्याहुर्हे रामेति, अमितः पराक्रमो यस्येति, तालवने ज्ञातं, एकवदेवाहुषे घोरतमः शीघ्रभक्षकस्तावकान् वैष्णवान् नोऽस्मान् ग्रसते, ग्रासे सन्देहाभावाद् हिशब्दः, नातः परमाशा जीवनस्येति ॥ २२ ॥

**व्याख्यार्थ** — कृष्ण ! कृष्ण ! दो बार नाम भय से घबराने के कारण कहे हैं। हम आपके शरण आए हैं, क्योंकि आप उनकी अवश्य रक्षा करते हो, जो आप की शरण लेते हैं; इसलिए आप शरण्य होने से, महाभाग कहे जाते हैं। प्रार्थना करने वाले, सर्व साधारण थे, अतः राम को भी प्रार्थना करते हुए कहते हैं, कि आप का पराक्रम तालवन में हमने देखा है, अतः आपका पराक्रम असीम है। राम और कृष्ण में भेदभाव न रखकर, प्रार्थना करते हैं कि, यह अग्नि बहुत भयानक है, अतः शीघ्र ही भक्षण करने वाली है। आपके जो हम हैं, उनको निगल रही है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है। इसलिए मूल श्लोक में (हि)<sup>१</sup> शब्द दिया है। इस दशा में जीने की आशा नहीं रही है ॥ २२ ॥

**आभास —** तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाहुः सुदुस्तरादिति,

**आभासार्थ —** ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए ? इसके उत्तर में, निम्न श्लोक कहते हैं ।

**श्लोकः — सुदुस्तरान् नः स्वान् पाहि कालाग्नेः सुहृदः प्रभो ।**

**न शक्नुमस्त्वच्चरणं सन्त्यक्तुमकुतोभयम् ॥ २३ ॥**

**श्लोकार्थ —** हे प्रभु ! इस महादुस्तर, काल रूप अग्नि से, आपके भक्त और मित्रों की रक्षा कीजिए, किसी प्रकार का भी जिन को भय नहीं है, वैसे आपके चरणों का त्याग करने में हम सर्वथा अशक्त हैं ॥ २३ ॥

**सुबोधिनी —** अयं कालाग्निः प्रलयाग्निरिव, अत एव सुदुस्तरः, अतः स्वान् भक्तान् सुहृदो हृदयशुद्धान् सम्बन्धिनो वा भगवच्छास्त्रं लौकिकं वा विचार्य पाहि, यतस्त्वं प्रभुः, ननु भगवद्भक्तानां किं देहरक्षणेन ? प्रत्युत भगवत्समीपे मरणमेव समीचीनमित्याशङ्क्याहुर्न शक्नुमस्त्वच्चरणमिति, न हि मरणोऽस्माकं चिन्ता किन्तु तव चरणवियोगो

भविष्यतीति, दाहस्तु सोढुं शक्यो न तु चरणवियोगः, ननु विरोधि कथमङ्गीक्रियते ? दाहो बलिष्ठश्चरणान् दूरीकरिष्यत्येवेति तत्राहाकुतोभयमिति, न विद्यते कुतश्चिद् भयं यस्मात्, अनेनेदानीमपि नास्माकं भयं निश्चितं किन्तु शङ्कामात्रेण प्रार्थ्यत इति भावः ॥ २३ ॥

**व्याख्यानार्थ —** यह अग्नि काल रूप है, अतः प्रलय करने वाली (अग्नि) है जिससे बचना कठिन है अथवा सहन करना भी अशक्य है । इसलिए अपने भक्त और शुद्ध हृदय वाले सम्बन्धियों की रक्षा करो । कारण कि, भगवच्छास्त्र के विचार से, भक्तों की रक्षा करना और लौकिक शास्त्र के विचार से, सम्बन्धियों की रक्षा करना आपका कर्तव्य है, अतः भगवच्छास्त्र का और लौकिक शास्त्र का विचार कर रक्षा करो, कारण कि, आप सर्व समर्थ हैं ।

भक्तों का भगवान् के सन्मुख मरना अच्छा है, उनके देह की रक्षा करने का कोई प्रयोजन नहीं है, यदि आप यों कहो, तो हमारा उत्तर यह है, कि हमको देह में ममता नहीं है, अतः हम मरने से भी नहीं डरते हैं, किन्तु मरने से आपके श्री चरणों का वियोग होगा, जिसको हम सहन नहीं कर सकते हैं, दाह को तो सहन कर सकते हैं ।

आप जिन चरणों को चाहते हो, उनकी अग्नि, विरोधिनी है, वह चरणों को यों ही दूर कर देगी क्योंकि बलिष्ठ है, अर्थात् जिन (चरणों) से रक्षा चाहते हो अथवा जिन चरणों के वियोग से डर कर अपनी रक्षा चाहते हो उनको तो यह नाश कर देगी । इसके उत्तर में 'अकुतो भयम्' पद दिया है जिसका आशय है कि यह अग्नि क्या है ? किन्तु उनको किसी से भी (मृत्यु आदि का) भय नहीं है वे निर्भय हैं अतः हम उनको ही चाहते हैं, न कि देह को चाहते हैं । देह की रक्षा उन चरणारविन्द के मकरन्द रस पान करने के लिए

चाहते हैं। हम आप को प्रार्थना केवल शङ्का<sup>१</sup> के कारण कर रहे हैं। शेष हमको तो अभी भी निश्चय रूप से कोई भय नहीं है ॥ २३ ॥

**आभास —** एवं प्रार्थनायां यत् कर्तव्यं तत् कृतवानित्याहेत्थमिति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार प्रार्थना करने पर जो कुछ योग्य कर्तव्य करना था वह भगवान् ने किया है जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं।

**श्लोक: —** इत्थं स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्य जगदीश्वरः ।

तमग्निमपिबच्छीघ्रमनन्तोऽनन्तशक्तिधृक् ॥ २४ ॥

**श्लोकार्थ —** अपने भक्तों की इस प्रकार घबराहट देख, अनन्त शक्ति वाले, अनन्त जगदीश्वर ने उस अग्नि का शीघ्र पान किया ॥ २४ ॥

**सुबोधिनी —** समागतस्य वह्नेर्निर्वापण एतेषां वान्यत्र नयने तावदपि विलम्बं न सहत इत्यन्तःकालीयसम्बन्धकृत-दुष्टाचां दाहार्थं तमग्निमपिबत्, मुखमप्यग्निरिति “नाग्नेर्हि तापः,” ननु किमित्येवं कृतवान् ? तत्राह स्वजनवैक्लव्यं निरीक्ष्येति, स हि सर्वनियन्ता दुष्टाग्निर्वह्निर्न स्थापनीयोऽन्यथा कालान्तरेऽप्युपद्रवं कुर्यात्, कालकूटभक्षणं जातगर्वस्य महादेवस्य गर्वनिवारणार्थं दहनधारणजनितगर्वनिवारणार्थं च दहनं तमपिबत्, शीघ्रमिति, तेषां प्रतीतिजनितभयाभावाय, स्वतस्तु भयाभावः, अनन्त इति प्रकारविशेषेऽप्यप्रश्नः, उत्तरमाहानन्तशक्तिधृगिति, अनन्ता एव शक्तीर्बिभर्ति, यदि वायुरूपो भवेत् तथापि पिबेद् यदि जलरूपो भवेत् तथापि शामयेद् यदि मुखं वा मुद्रेत् तथापि पिबेत् सर्वमुखत्वात् तत्रैव वा मुखं प्रसारयेत् तथापि पिबेदिति नात्र किमप्याश्चर्यमित्यर्थः ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिनीयां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे चतुर्दशाध्यायविवरणम् ॥

**व्याख्यार्थ —** दाह के लिए आ रही अग्नि को बुझा दें, अथवा इन ब्रजवासियों को दूसरे स्थान पर ले जावें तो विलम्ब होगा इतना विलम्ब भी ये सहन नहीं कर सकेंगे इसलिए और कालीय के सम्बन्ध से हुए दुष्ट पदार्थ, जो आपके भीतर रहे हैं, उनको जला कर नष्ट करने के लिए भी, उस अग्नि का भगवान् ने पान किया। अग्नि के पान करने में अन्य भी कारण थे, भगवान् एक ही लीला से अनेक कार्य सिद्ध करते हैं जैसे कि (१) ब्रजवासियों की घबराहट दूर की, (२) दुष्ट पदार्थों का नाश किया, (३) कालकूट विष के भक्षण करने से महादेव को गर्व हुआ था उसके गर्व को भी दावाग्नि पान कर नाश किया, (४) यह सिद्ध कर दिखा दिया कि मेरा मुख अग्निरूप है इसी कारण से अग्नि पान से मेरा मुख जला नहीं है।

भगवान् स्वयं अभय रूप हैं ही, किन्तु अग्नि पान करते देख कर, व्रजजनों को भय की प्रतीति भी नहीं हो, इसलिए मूल में 'शीघ्र' शब्द दिया है, अर्थात् शीघ्र ही पी गए जैसे उन्होंने देखा ही नहीं ।

भगवान् अनन्त हैं, अतः अनन्त शक्तिमान भी हैं । जिससे अग्नि का पान एक प्रकार से नहीं, बहुत प्रकार से कर सकते हैं-जैसे कि वायु रूप होकर भी पान कर सकते हैं, यदि जल रूप धारण करें तो उस रूप से बुझा सकते हैं, सर्वत्र मुख होने से मुख बन्द कर लेवें तो भी उसका पान कर सकते हैं वहाँ ही मुख खोल दें तो भी पान कर सकते हैं, अतः भगवान् की इस लीला करने में कोई आश्चर्य नहीं है ॥ २४ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्ध १४ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत  
श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" के तामस प्रमेय अवान्तर प्रकरण का यश निस्त्यक्त  
तीसरा अध्याय ( हिन्दी अनुवाद सहित ) सम्पूर्ण ।



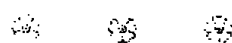
इस अध्याय में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की वर्णित लीला के आधार पर भक्त शिरोमणि श्रीसूरदासजी द्वारा रचित निम्न पद का पाठ कर आनन्दमय हुईए ।

#### राग : कल्याण

जै जै धुनि अभरनि नभ कीनो ।  
धन्य धन्य जगदीश गुसाईं अपनों करि अहि लीनों ॥  
अभय कियो फन चिन्ह चरण धरि जानि आपनों दास ।  
जलतें काढ़ि कृपा करि पठयो मेटि गरुड को त्रास ।  
अस्तुति करि अहि पति कुटुंब ले चल्यो आपने ओक ।  
सूर श्याम मिलि मात पिता को दूर कियो तन शोक ॥

#### राग : बिहागरो

चकृत देखि यह कहि नर नारि ।  
धरनि अकाश बराबर ज्वाला झपटी लपटि करारि ॥  
नहिं बरष्यो नहि छिरक्यो काहू कहाँ धों गयो बिलाई ।  
अति अघात करत बन भीतर कैसे गयो बुझाई ॥  
तृण की आगि बरत नहिं बुझिगई हंसि हंसि कहत गोपाल ।  
सुनहु सूर वह करनि कहनि यह ऐसे प्रभु के ख्याल ॥



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीवाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ❖ श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमः स्कन्धः (पूर्वार्धः)

### तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणे

‘चतुर्थोऽध्यायः’

श्री सुबोधिनी अनुसार १५वां अध्याय

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार १८वां अध्याय

कारिका — उक्तः पञ्चदशोऽध्याये प्रलम्बस्य वधो महान् ।

आवेशिचरितं वाच्यं बलभद्रकृतं ततः ॥ १ ॥

कारिकार्थ — पन्द्रहवें अध्याय में प्रलम्ब के वध का महान् चरित्र कहा है । भगवान् के आवेश युक्त बलभद्र का किया हुआ यह चरित्र भी भगवान् का किया हुआ ही समझना चाहिए ।

व्याख्यानार्थ — जब राजा परीक्षित ने दशम स्कन्ध के प्रथम अध्याय के १०वें श्लोक में श्रीकृष्ण चरित्र का प्रश्न किया है तो यहाँ श्री शुकदेवजी ने बलदेवजी का चरित्र क्यों कहा ? इस शङ्का को

मिटाने के लिए उपर्युक्त कारिका में आचार्य श्री ने स्पष्टीकरण किया है कि प्रलम्ब का वध भगवान् ने बलदेवजी में प्रवेश कर किया है अतः यह भी भगवान् का ही चरित्र है ।

भगवान् ने स्वतः प्रलम्ब वध न कर, बलदेव में प्रवेश कर क्यों किया ? इस प्रकार की लीला करने का कारण यह है कि भगवान् को शिक्षा देनी थी, कि जिसमें ( भक्त में अंश रूप में ) मेरा आवेश होता है उस भगवदीय के संग से अन्तःकरण का दोष निवृत्त हो जाता है ।

**कारिका —** ब्रजे गतस्य क्रीडा च सर्वथा क्नगोष्ठयोः ।

अन्तःकरणादोषश्च महानत्र निवर्त्यते ॥ २ ॥

**कारिकार्थ —** ब्रज में पधारे हुए भगवान् का वन और गोष्ठ की जो लीला कही गई है, उनसे महान् अन्तःकरण दोष नाश किया गया है ।

**व्याख्यार्थ —** १५ वें अध्याय में वन लीला का वर्णन है और गोष्ठलीला का वर्णन १६ वें अध्याय में है, तो भी, कारिका में दोनों लीलाएँ, एक ही दिन भगवान् ने की हैं, इसलिए कारिका में दोनों लीलाएँ साथ में दी हैं ।

लोक में, लौकिक पुरुष भी क्रीड़ा में यदि अपने से बड़ों पर सवारी करनी पड़ती हो तो, वे नहीं करते हैं क्योंकि ऐसा शिष्टाचार है, किन्तु गोपों का भगवान् में स्नेह था तो भी, खेल में, सवारी करने का अवसर आया, तो भगवान् के ऊपर सवारी करने में, अन्तःकरण की प्रवृत्ति हुई, इस प्रकार, शिष्टाचार के त्याग का कारण, अवश्य कोई होना चाहिए, वह कारण था, अन्तःकरण का दोष, जिसको भगवान् ने प्रलम्ब ( अन्तःकरण का दोष रूप ) का वध कर निवृत्त किया है प्रलम्ब के वध से उनके अन्तःकरण का दोष निवृत्त हुआ, जिससे, उनमें भगवान् के लिए विशेष प्रेम बढ़ा, इससे भगवान् को आशीर्वाद दिए ॥

**आभास —** एवं पूर्वाध्यायान्ते दावाग्नेर्मोचिता इत्युक्तं, ततः स्वस्थाने कृत्यमाहाथेति भिन्नक्रमेण,

**आभासार्थ —** इस प्रकार १५ वें अध्याय के अन्त में की हुई लीला से ब्रजवासियों की रक्षा की ! उसके अनन्तर अपने स्थान में की हुई लीला का वर्णन, पृथक् क्रम से करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोकः — अथ कृष्णः परिवृतो बन्धुभिर्मुदितात्मभिः ।

अनुगीयमानो न्यविशद् व्रजं गोकुलमण्डितम् ॥ १ ॥

**श्लोकार्थ —** श्री शुकदेवजी ने कहा कि प्रसन्न अन्तःकरण वाले, बान्धवों से घिरे हुए और स्तुति किये हुए श्री कृष्णचन्द्रजी ने गौओं के समूह से सुशोभित व्रज में प्रवेश किया ।

**सुबोधिनी —** प्रातःकाले जाते सर्वैः सह भगवान् क्रीडार्थमेवाविर्भूतः सर्वैरेव बन्धुभिश्च वेंष्टितः सन्तुष्टैस्तैरुपगीयमानश्च गोकुलेन मण्डितं व्रजमाविशत्, तस्मिन् दिवसे गावोऽपि गोकुल एव समानीता न तु कश्चित् चारणार्थं गतः, एतेन पूर्वं गाः स्वस्थानस्थिताः कारयित्वा पश्चात् स्वयं प्रविष्ट इति ज्ञायते, एवमेकं प्रत्यापत्तिरुक्ता, अन्यथा दोषाभावे दोषाणां नियतधर्मत्वाद् धर्म्यपि गच्छेत् ॥ १ ॥

**व्याख्यार्थ —** प्रातःकाल होते ही, सर्व व्रजवासियों के साथ क्रीड़ा करने के लिए ही, भगवान् प्रकट हुए, सब बान्धवों से घिरे हुए थे और अत्यन्त प्रसन्न उन से स्तुति किये हुए थे, वैसे भगवान् गौओं के समूह से सुशोभित व्रज में प्रविष्ट हुए । उस दिन गौओं को चराने के लिए कोई भी ले नहीं गया था । सब गौ भी गोकुल में लाई गई थीं, इससे प्रथम, सकल गौओं को अपने-अपने स्थान पर खड़ी करवाने के पश्चात् आपने प्रवेश किया ।

इस प्रकार, एक ही श्लोक से, यह कह दिया कि सब लोग व्रज में लौट कर आ गए । यदि लौट कर न आते तो नियत<sup>१</sup> धर्म वाले दोषों का अभाव<sup>२</sup> होने से उनके धर्मों (शरीर) के भी<sup>३</sup> नाश हो जाने की शङ्का होती ॥ १ ॥

† पिछले अध्याय में कालीय दमन और दावाग्नि पान से, इन्द्रिय तथा प्राण के दोष निवृत्त किए, उससे इन्द्रिय और प्राण भी नाश होने चाहिए, क्योंकि उनके धर्मों का नाश हो गया है, धर्मनाश से धर्मों नाश हो जाता है, किन्तु यहाँ इस प्रकार नहीं हुआ है यह दिखाने के लिए वे व्रजवासी भगवान् के साथ व्रज में लौट कर आ गए हैं । धर्मों का नाश क्यों न हुआ उसका कारण यह है कि शरीर नाश तब होता है जब अभ्यास की निवृत्ति होती है व्रजवासियों के लौकिक दोष रूप अभ्यास निवृत्त हो गया, किन्तु अलौकिक भगवत्सम्बन्धी अभ्यास निवृत्त नहीं हुआ था, अतः धर्मों का नाश नहीं हुआ उससे तो व्रजवासियों को भगवान् के साथ क्रीड़ा कर रस पान करना था ।



**आभास —** अयं सर्वोऽपि दोषः कालकृत इति ज्ञापयितुं ग्रीष्मोपद्रवं वर्णयति भूमिगुणेन च स्वसान्निध्यकृतेन तद्दोषपरिहार इति कालकृतोऽन्तःकरणदोषः स्वसन्निधिसहितपदार्थैस्तन्निवृत्तिर्भविष्यतीति सूचयति ब्रजे विक्रीडितोरवमिति,

**आभासार्थ —** पूर्व अध्याय में कहे हुए दोष, काल के कारण उत्पन्न हुए हैं यह जताने के लिए ग्रीष्म ऋतु के उपद्रवों का वर्णन करते हैं ।

भगवान् की सन्निधि से, जो गुण, भूमि में आ गए उन गुणों से उन दोषों का नाश हुआ । इस प्रकार, काल ने जो अन्तःकरण दोष उत्पन्न किए, उनका भी भगवान् के सान्निध्य वाले पदार्थों से नाश होगा । जिसका वर्णन दो निम्न श्लोकों से करते हैं ।

**श्लोकः — ब्रजे विक्रीडितोरेवं गोपालच्छद्मस्त्वपिणोः ।**

**ग्रीष्मो नामर्तुरभवन् नातिप्रेयाज्छरीरिणाम् ॥ २ ॥**

**श्लोकार्थ —** जिस समय छल से, गोप रूप धारी (श्रीकृष्ण और बलराम) ब्रज में क्रीड़ा कर रहे थे उस समय शरीरधारियों को विशेष रुचिकर नहीं, ऐसी ग्रीष्म नाम वाली ऋतु उत्पन्न हुई ॥ २ ॥

**सुबोधिनी —** ब्रजे गोपगवादीनां निवेशस्थाने प्रसिद्धेऽपि क्रीडतोः सतोः ग्रीष्मो नामर्तुरभवदितिसम्बन्धः ननु भगवति विद्यमाने कथमनभिप्रेतो ग्रीष्मस्तत्रागत इत्यत आह गोपालेति, गोपाल इतिच्छद्म कपटभूतं रूपं ययोः,

अन्यतरज्ञानेऽपि नागच्छेदितिद्विवचनं, छद्मस्त्वमनयोर्वर्तत इतिच्छद्मस्त्वपिणौ, भगवतो गुप्तत्वाद् ग्रीष्मप्रवृत्तिः, ग्रीष्मस्य दुष्टत्वमाह नातिप्रेयाज्छरीरिणामिति शरीरमात्रपरिग्रहवतां नातिप्रेयाज्केषांचिच्छीतभीतानां प्रिय इत्यतिपदम् ॥ २ ॥

**व्याख्यार्थ —** जहाँ गोप और गौओं का प्रसिद्ध निवास स्थान है, जो ब्रज कहलाता है उसमें दोनों (श्रीकृष्णजी और बलरामजी) खेल रहे थे उस समय ग्रीष्म ऋतु आ गई, साक्षात् भगवान् के विराजमान होते हुए अरुचिकर ग्रीष्म ऋतु आई है, यदि एक को भी पहचान जाती, तो न आती । ग्रीष्म ऋतु दोष वाली है, इसको बताने के लिए ही कहा है कि शरीरधारियों को यह बहुत प्रिय नहीं है । बहुतों को तो प्रिय नहीं है, किन्तु शीत से जो डरते हैं केवल उनको प्रिय है ॥ २ ॥

**आभास —** तर्हि तन्निवृत्त्यर्थं भगवानाविर्भावं कुर्यादित्याशङ्क्य तस्य दोषस्यान्य-

-थैव निवृत्तिमाह स चेति,

**आभासार्थ** — इस प्रकार दोष वाली ऋतु की निवृत्ति करने के लिए भगवान् को प्रकट होना चाहिए, इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि उस ऋतु के दोष की निवृत्ति, अन्य प्रकार से हुई है- जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — स च वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षितः ।

यत्रास्ते भगवान् साक्षाद् रामेण सह केशवः ॥ ३ ॥

**श्लोकार्थ** — वह (ग्रीष्म ऋतु) वृन्दावन के गुणों के कारण वसन्त के समान देखने में आई, जिस (वृन्दावन) में बलरामजी के साथ भगवान् केशव साक्षात् विराजते थे ।

**सुबोधिनी** — चकारादन्येऽपि दोषा वातादयो वृन्दावनस्य ये गुणा वक्ष्यमाणास्तैः कृत्वा वसन्त इव तत्रत्यैर्लक्षितो ज्ञातः, वसन्ते शीतोष्णयोः समता, मीनादिषु शीताधिक्यं ग्रीष्मादिषु तापाधिक्यं च, सरसो देशः शीतजनकः सवातश्च, तदुष्णकाले शीतजनको देशः समतामापादयति, अतो वसन्तत्वं, स्वाभाविका एव वृन्दावनगुणा आधिभौतिकवसन्तत्वं सम्पादयन्ति रामसहिता आध्यात्मिकवसन्तत्वं भगवत्सहिता आधिदैविकवसन्तत्वमिति, अतः सर्वथैव वसन्तत्वं वृत्तं, तदाह वृन्दावनगुणैर्वसन्त इव लक्षित इति, देशापेक्षया कालस्य प्रबलत्वादिवेत्युक्तं,

अन्यथा पृथग् ग्रीष्मप्रवृत्तिर्वक्तव्या स्यात् कालबाधो वा तदा ग्रीष्मर्तुगुणा न भवेयुर्यवादयश्च, यत्र वृन्दावने ग्रीष्मर्तौ वा साक्षाद् भगवानास्ते, षड्गुणान् प्रकट्येकुर्वन्, ईश्वरस्थितावेव सर्वकालीना गुणा लोके भवन्ति, वीर्ये सत्यन्यदीया अन्यस्य सम्भवन्तीति स्पष्टं, यशसि सर्वेषामागमनात् तथा श्रियां च, ज्ञाने सर्वात्मकतायां सर्वं स्पष्टं वैराग्ये च निरपेक्षत्वात् तुल्यता, यत्र साक्षादेव सर्वैर्गुणैः सह भगवांस्तत्र कः सन्देहः ? केशव इति ग्रीष्माधिपतेर्महादेवस्य ग्रीष्मवरदातुर्ब्रह्मणश्च भगवानुपजीव्य इति तयोः पक्षपातः परिहृतः ॥ ३ ॥

**व्याख्यार्थ** — मूल श्लोक में 'च' शब्द देने का आशय यह है कि ग्रीष्म के ताप आदि दोषों के अतिरिक्त अन्य वायु आदि के दोष भी निवृत्त हो गए ।

वृन्दावन के गुणों का वर्णन जो आगे किया जाएगा, उन गुणों के कारण, ब्रजवासियों ने इस (ग्रीष्म) ऋतु को वसन्त ऋतु के समान समझा । वसन्त ऋतु में शीत<sup>१</sup> व ग्रीष्म<sup>२</sup> दोनों समान होते हैं । हेम ऋतु में ठंड विशेष होती है और ग्रीष्म में ताप अधिक होता है ।

जल समीप वाला देश, शीत को पैदा करने वाला होता है और वहाँ वायु भी विशेष होती है। इसलिए वैसे प्रदेश में, ग्रीष्म ऋतु में भी शीत तथा ताप समान होते हैं जिससे वहाँ ग्रीष्म में भी वसन्त होता है। वृन्दावन के स्वाभाविक गुणों के कारण ग्रीष्म में आधिभौतिक वसन्त, का आविर्भाव हो गया उस समय न केवल आधिभौतिक वसन्त का आविर्भाव हुआ, किन्तु बलरामजी के सामीप्य से, आध्यात्मिक वसन्त तथा भगवान् के सान्निध्य से, आधिदैविक वसन्त का भी, प्राकट्य हो गया। अतः सर्व प्रकार से वसन्त ही हो गया। इसलिए मूल में कहा है कि वृन्दावन के गुणों के कारण वह ग्रीष्म ऋतु भी वास्तव में पूर्ण वसन्त बन गई।

मूल श्लोक में 'इव' शब्द कहने का तात्पर्य यह है, कि देश की अपेक्षा काल बलवान्<sup>†</sup> है, जो इस प्रकार न होता अर्थात् (ग्रीष्म वसन्त न बन जाती तो) ग्रीष्म का होना और काल का बाध, पृथक् कहना पड़ता। यदि यों होता अर्थात् काल का बाध होता तो ग्रीष्म ऋतु के गुण जो वर्षा उत्पन्न करने के हैं वे व्यर्थ जाते, तात्पर्य वर्षा नहीं पड़ती जिससे वहाँ धान्यादि न होकर केवल यव उत्पन्न हो जाते।

वहाँ (वृन्दावन तथा ग्रीष्म ऋतु में) साक्षात् भगवान् के विराजने से षड्गुण प्रकट होने लगे। लोक में ईश्वर की स्थिति होने से ही, सर्व काल के गुण एक ही समय में उत्पन्न हो जाते हैं। अतः ग्रीष्म में वसन्त होना कोई आश्चर्य नहीं है। भगवान् के एक-एक गुण से क्या होता है उसका स्पष्टीकरण करके कहते हैं कि, जहाँ भगवान् का वीर्य गुण, कार्य करता है, वहाँ एक का गुण दूसरे में आ सकता है। (जैसे यहाँ ग्रीष्म में वसन्त आया है) यश और श्री गुण जहाँ होते हैं वहाँ सर्व गुण आ जाते हैं, ज्ञान गुण जहाँ प्रकट होता है वहाँ सर्वात्म भाव उत्पन्न हो जाता है, जहाँ वैराग्य गुण कार्य करता है वहाँ किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा नहीं रहती है। जब एक गुण होने से इस प्रकार होता है तो जहाँ सर्व गुणों सहित साक्षात् स्वयं भगवान् विराजते हैं वहाँ यों होए उसमें कौन-सा संदेह है? कोई सन्देह नहीं होना चाहिए।

भगवान् केशव हैं इसलिए ग्रीष्म के अधिपति महादेव और ग्रीष्म को वर देने वाला ब्रह्मा भी ग्रीष्म का पक्षपात नहीं कर सकते हैं, कारण कि भगवान् दोनों (महादेव और ब्रह्मा) के उपजीव्य<sup>‡</sup> हैं ॥ ३ ॥

**आभास — वृन्दावनगुणानाह यत्रेति त्रिभिः ।**

<sup>†</sup>काल व्यापक (सर्व स्थल में रहने वाला) होने से बलवान् है। 'प्रकाश'

आभासार्थ — निम्न तीन श्लोकों से वृन्दावन के गुणों का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — यत्र निर्झरनिर्हादनिवृत्तस्वनझिल्लिकम् ।

शश्वत्तच्छीकरजीषदुममण्डलमण्डितम् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ — जहाँ झरनों के शब्द से, झिल्ली<sup>१</sup> का शब्द सुनने में नहीं आता है और निरन्तर झरनों की बूँदों से युक्त सार रहित छाल वाले वृक्षों का समूह शोभा दे रहा था ॥ ४ ॥

कारिका — राजसः सात्विकश्चैव तामसश्चापि कीर्त्यते ॥

कारिकार्थ — वृन्दावन के राजस, सात्विक और तामस गुणों का वर्णन (क्रमशः निम्न तीन श्लोक में) किया जाता है ।

|                                                                                                                                                                                                                                                                                                     |                                                                                                                                                                              |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>सुबोधिनी — तत्र राजस गुणानाह, यत्र वृन्दावने निर्झरनिर्हादैर्झरणा-शब्दैर्निवृत्तस्वना गतशब्दा झिल्लीका यत्र तादृशवनं शश्वत् सर्वदा तच्छीकरैर्झरणाकर्णैर्ऋजीषयुक्ता ये द्रुमास्तेषां मण्डलैर्मण्डितं च, ग्रीष्मतौ सर्वे वृक्षा ऋजीषप्राया भवन्ति, ऋजीषं त्वङ्मात्रं निःसारं, शश्वत् तच्छीकरैः</p> | <p>सहितमृजीषं तद्युक्ता द्रुमा भवन्ति तेषां मण्डलानि च भवन्ति, सजातीय-विजातीयप्रचययुक्तानि मण्डलानि, तैर्मण्डितं, अनिष्टशब्दस्य सुशब्दो बाधको रसहारकस्य रसदायक इति ॥ ४ ॥</p> |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

व्याख्यार्थ — इस श्लोक में राजस गुण का वर्णन करते हैं—यहाँ वृन्दावन में, झरनों के शब्द से झिल्ली<sup>१</sup> का शब्द सुनने में नहीं आता है, वैसा ही वह वन सदा ही झरनों के बिन्दुओं से युक्त, सार रहित छाल वाले सजातीय<sup>२</sup> और विजातीय<sup>३</sup> वृक्षों से मिलकर एक ही मण्डल होकर शोभा दे रहा था ।

जैसे झरनों के सुन्दर शब्दों ने झिल्ली के कुत्सित<sup>४</sup> शब्द को कम कर दिया अर्थात् वह (बुरा शब्द) सुनने में नहीं आया, वैसे ही रस हरण करने वाली ग्रीष्म ऋतु ने तथा झिल्ली ने वृक्षों का रस शुष्क कर अथवा चूस कर, वृक्षों को जो निःसार छाल जैसा बना दिया था, उनको झरनों की बूँदों ने रस प्रदान कर, पूर्व जैसा, वा वसन्त जैसा, हरा-भरा बना दिया । अतः कहा है कि अनिष्ट<sup>५</sup> शब्द का सु शब्द<sup>६</sup> बाधक है और रस हरण करने वाले का रस दाता बाधक है । ॥ ४ ॥

**आभास —** तापनिवारकं वायुमाह सरिदिति,

आभासार्थ — ताप को मिटाने वाले वायु का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः —** सरित्सरःप्रस्रवणोर्मिवायुना कल्लारकञ्जोत्पलरेणुहारिणा ।

न विद्यते यत्र वनौकसां दवो निदाघवहन्यर्कभवोऽतिशाड्वले ॥ ५ ॥

**श्लोकार्थ —** जहाँ नदी, तलाबों तथा झरने की लहरों से मिश्रित, कल्लार, कमल और उत्पल की रज को हरने वाला वायु चल रहा है, जिससे वह भूमि, हरित तृण वाली ठंडी हो गई थी, अतः उस वन में रहने वालों पर ग्रीष्म, अग्नि और सूर्य से होने वाले ताप का प्रभाव कुछ नहीं हुआ ॥ ५ ॥

**सुबोधिनी —** सरितो नद्यः सरांसि सरोवराणि प्रस्रवा झरणा राजससात्त्विकतामसास्त्रिविधानामप्यूर्मिभिर्य उत्पाद्यते वायुः, अनन्यमान्द्यं शैत्यं चोक्तं, सौम्यमाह, कल्लारपुष्पाणि सन्ध्याविक्रामोनि कञ्जानि कमलानि दिनविक्रामयुक्ता-न्युत्पलानि रात्रिविक्रामोनि, त्रिविधैरप्येतैः सर्वदा वायुः सुगन्ध एव भवति, तदाह तेषां रेणुहारिणोति, अत एव वनौकसां दवोरण्याग्निजनितस्तापः दावस्थारण्यार्थता दवतापयोगादेव,

दवदावशब्दावरण्यवाचकावितिकोशः, तापवाचकोऽत्र प्रयुक्तः, क्वचिद् दावोऽग्निवाचकः प्रयुक्तोऽतोनेकार्थो दवदावशब्दो, तापस्त्वन्तः पित्तादिनापि भवतीति तद्विवृत्यर्थमाह निदाघवहन्यर्कभव इति निदाघे यौ वहन्यर्कौ ताभ्यां भवो यस्य, ननु भूमिकृतस्तापो भवेत् तत्राहातिशाड्वल इति, शाड्वलं हरिततृणभूखण्डो दूर्वायुक्तः, अत्यन्तं शाड्वलं यत्र ॥ ५ ॥

**व्याख्यानार्थ —** राजस नदी, सात्त्विक तलाव और तामस झरने इन तीनों की लहरों से उत्पन्न हुआ पवन, शीत तथा मन्द था, और वह पवन, सन्ध्या में विकसित होने वाले कल्लार के पुष्प, दिन में विकसित होने वाले कमल तथा रात्रि को प्रफुल्लित होने वाले उत्पल, इन तीनों की रेणु को हरण करने से सर्वदा सुगन्धि वाला रहता था, जिससे वन में रहने वालों को जो गर्मी के कारण अग्नि और सूर्य से होने वाला ताप था वह कुछ भी दुःखदायी न हो सका अर्थात् शीत, मन्द और सुगन्धि युक्त वायु से ताप लगा ही नहीं । इस कहने से यह भी बताया कि पित्तादि से भी ताप होता है । वह भी नहीं हुआ । तथा भूमि हरित घास वाली शीत होने से भूमि कृत ताप भी न हुआ । तात्पर्य यह है कि ग्रीष्म, वसन्त समान हो जाने से उसका कोई प्रभाव किसी पर भी न हुआ ॥ ५ ॥

**आभास —** शिष्टानपि गुणानाहागाधं तोयं यत्र,

**आभासार्थ —** ग्रीष्म को वसन्त बनाने वाले गुणों से अन्य जो गुण वृन्दावन में हैं, जिन गुणों से रस जागृत होता है उन गुणों का वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — अगाधतोया हृदिनीतटोर्मिभिर्द्रवत्पुरीष्याः पुलिनैः समन्ततः ।

न यत्र चण्डांशुकरा विषोल्बणा भुवो रसं शाड्वलितं च गृह्णते ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ — जहाँ अगाध जलवाले सरोवरों के तट की उर्मियों<sup>१</sup> से तीर की मिट्टी चारों तरफ द्रवीभूत<sup>२</sup> हो रही है, वैसी भूमि के रस<sup>३</sup> तथा हरियाली को, सूर्य की विष से भी तेज किरणें चूँसने में समर्थ नहीं ॥ ६ ॥

सुबोधिनी — एतादृशीनां हृदिनीनां तटसम्बन्धिनीनां य ऊर्मयस्तीरे जायमानास्तैः कृत्वा द्रवत् पुरीषं मृत्तिका यस्याः सा द्रवत्पुरीषी, गीरादित्वान् डीप्, तादृश्या भुवः समन्ततोऽपि रसं शाड्वलितं च यत्र वृन्दावने विपादप्युल्ब-णाश्चण्डांशुकरा न गृह्णते, वृन्दावनभूमिः सर्वदा सरसैव तिष्ठति सर्वतश्च पुलिनानि भवन्ति, तानि च पुलिनान्यगा-

धहृदिनीतटोर्मियुक्तानि भवन्ति, भुव एव वा स्थानविशेषा स्तेषां शीतलत्वायोर्मिभिर्द्रवत्पुरीषत्वं निस्तप्यते, मध्ये शीतलतानिरूपणाय द्रवत्पुरीषता निरूपिता, बहिःशीतलतायं पुलिनानि, अतो मूलादुपरिभागाच्च रसाधिक्याच्छोषाभावेन भूरसशाड्वलितयोर्नाभावः, एवं सरसता निरूपिता ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ — अगाध जलवाले सरोवरों के समीप होने वाली लहरों से, चारों ओर गली हुई मृत्तिका वाली, रस भरित तथा हरित भूमि के रस को एवं हरियाली को विष से भी प्रचण्ड सूर्य की किरण ग्रहण नहीं कर सकते हैं, अतः वृन्दावन की भूमि सदैव रस वाली रहती है । इसको स्पष्ट कर समझाते हैं कि, वृन्दावन के चारों ओर सरोवरों के किनारों की लहरों से पुलिन<sup>४</sup> भीगे हुए रहते हैं जिससे वहाँ सदा ही मध्य में तथा बाहर शीतलता रहती है । मूल में तथा ऊपर के भाग में, अधिक रस होने से, शुष्कता का अभाव रहता है जिससे पृथ्वी पर रस तथा हरियाली का, कभी भी अभाव न होने से, वृन्दावन की सरसता का निरूपण किया है ॥ ६ ॥

आभास — अन्यान् वनधर्मानाह वनमिति,

आभासार्थ — इस निम्न श्लोक में वन के अन्य धर्मों का वर्णन करते हैं-

श्लोकः — वनं कुसुमितं श्रीमन्नदच्चित्रमृगद्विजम् ।

गायन्मयूरभ्रमरं कूजत्कोकिलसारसम् ॥ ७ ॥

श्लोकार्थ — पुष्पों से समृद्ध<sup>५</sup> तथा सुन्दर, सुशोभित वन, जिसमें विचित्र पशु तथा

१-लहरें ।

२-गोली ।

३-आर्द्रता, गोलापन ।

४-तट या किनारे ।

५-भरपूर ।

पक्षी नाद कर रहे हैं, मयूर और भौर गा रहे हैं एवं कोयल तथा सारसों कूजन<sup>१</sup> कर रही हैं ॥ ७ ॥

सुबोधिनी — आदौ कुसुमितं, ग्रीष्मे हि प्रायेण | आदौ नादस्तदनु गानं तत उद्विक्ते रसे कूजितानीति  
कुसुमानि न भवन्ति, शोभायुक्तं च, कुसुमानि राजसानि | त्रयमुक्तं, मिथुनत्वाय द्वौ द्वौ, नादे हि श्रुतिपूरकोऽपेक्ष्यत इति  
नदन्तश्चित्रा मृगा द्विजाः पक्षिणश्च यत्र, सात्त्विका एते गायन्तो | मृगाःसह निरूपिताः, गाने नृत्यमपेक्ष्यत इति मयूराः, कूजिते  
मयूरा भ्रमराश्च यत्र, कूजन्तः कोकिलाः सारसाश्च यत्र, परपुष्टोपेक्षित इति कोकिलाः ॥ ७ ॥

व्याख्यानार्थ — ग्रीष्म ऋतु में प्रायः पुष्प उत्पन्न नहीं होते हैं, किन्तु यहाँ पुष्पों की समृद्धि थी, जिससे वन सुशोभित था रजोगुण शोभा बढ़ाता है, पुष्प राजस है, अतः उन के कारण, वन सुशोभित था । वन का राजस भाव बताकर अब सात्त्विक भाव बताते हैं, मृग और पक्षी सात्त्विक होते हैं, वे वहाँ नाद कर रहे थे एवं कोयल तथा सारस कूजन करते थे । इस प्रकार नाद तथा गान से, जब रस प्रकट होता, तब कूजन प्रारम्भ होने लगता । अतः तीनों का वर्णन किया है । सब में दो-दो कहने का तात्पर्य यह है कि एक से कार्य की पूर्णता नहीं होती है । ध्वनि हो तब उसकी पूर्णता के लिए अन्य की अपेक्षा होती है इसलिए नाद कर्ता मृगों<sup>२</sup> के साथ पक्षी कहे हैं । इस प्रकार गान में नृत्य चाहिए, नहीं तो गान पूर्ण न होए अतः गान करने वाले भ्रमरों के साथ मयूर शामिल किए गए हैं । कूजन<sup>३</sup> में पर पुष्ट<sup>४</sup> की अपेक्षा है अतः सारसों के साथ कोयल कही है । तात्पर्य यह है कि वन में भगवान् को क्रीड़ा करनी है अतः वन के गुणों का वर्णन किया है ॥ ७ ॥

आभास — एवं वनगुणानुक्त्वा तत्र भगवतः क्रीडां वक्तुमादौ भगवतः प्रवेशमाह क्रीडिष्यमाण इति,

आभासार्थ — इस प्रकार वन के गुणों का वर्णन कर, अब भगवान् को जो क्रीड़ा करनी है, उसको कहने से पहले, क्रीड़ा कर्ता भगवान् का, निम्न श्लोक में, प्रवेश का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — क्रीडिष्यमाणस्तत् कृष्णो भगवान् बलसंयुतः ।

वेणुं विरणयन् गौपैर्गोधनैः संवृतोऽविशत् ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ — क्रीड़ा करने की इच्छा वाले गोप और गोधन से घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने बलदेवजी के साथ वैसे सुन्दर वन में प्रवेश किया ॥ ८ ॥

सुबोधिनी - क्रीडार्थमेव भगवता तत्र गुणाः सम्पादिताः, तत् तस्मात्कारणात् कृष्णः क्रीडार्थमाविर्भूतो भगवान् बलसंयुतो जातः, षड्गुणाः स्वस्य बलं च तस्य, अतः सहस्रिभिः क्रीडां वक्ष्यति पूर्ववत् तत्रत्यानां देवानामुद्बोधनार्थं वेणुं विरणयन्, गोपा गोधनानि सेवार्थं धर्मार्थमर्थार्थं, संवृतो जातः, एतादृशोऽविशदिति तद्रसप्रारम्भ उक्तः ॥ ८ ॥

**व्याख्यार्थ** - वन में, जो इतने गुणों का प्रादुर्भाव किया, जिसका कारण, भगवान् को यहाँ क्रीड़ा करने की इच्छा थी । वन में, इस प्रकार, गुणों को प्रकट कर, श्रीकृष्ण क्रीड़ा के लिए भगवान् बल<sup>१</sup> को साथ ले कर वहाँ आविर्भूत<sup>२</sup> हुए । इस प्रकार छः अपने धर्म<sup>३</sup> एवं सातवाँ बल, इन सात स्वरूपों से क्रीड़ा करेंगे, अतः उसका वर्णन सात श्लोकों से कहेंगे । वन में प्रवेश करने के समय, वेणु बजाने का आशय यह था कि वहाँ के देव जागृत हो जाएँ । गोपों को सेवा के लिए और गोधन, धर्म तथा अर्थ के लिए साथ में लेकर पधारे हैं । इस प्रकार पधारने से रस का प्रारम्भ हुआ, यह कहा ॥ ८ ॥

**आभास** - सामान्यतः प्रथमतः क्रीडामाह सर्वेषां प्रवालेति,

**आभासार्थ** - इस निम्न श्लोक में सब की सामान्य क्रीड़ा का वर्णन करते हैं-

**श्लोकः** - प्रवालबर्हस्तबकस्रग्धातुकृतभूषणाः ।

**कृष्णरामादयो गोपा ननृतुर्युयुधुर्जगुः ॥ ९ ॥**

**श्लोकार्थ** - श्रीकृष्ण, राम आदि सर्व गोपों ने प्रवाल, मोरपिच्छ, पुष्पों के गुच्छे माला और धातु इनके आभूषण धारण कर, परस्पर सामान्य क्रीड़ा की, जैसे कि कभी नृत्य करते थे, कभी युद्ध करते थे और कभी गाते थे ॥ ९ ॥

सुबोधिनी - प्रवालानि पल्लवानि बर्हस्तबकानि साधारणक्रीडात्वात् कृष्णरामौ रामकृष्णौ वादिर्येषां ते सर्वे पुष्पगुच्छानि स्रजः पुष्पमाला धातवो गैरिकादयस्तैः कृतानि गोपा ननृतुर्मनोविलासं कृतवन्तः, युयुधुर्देहविलासं जगुर्वा- भूषणानि यैः, पञ्चधा हि वनभूषणानीति गणितानि, गिविलासम् ॥ ९ ॥

**व्याख्यार्थ** - कृष्ण राम आदि सब गोपों ने पाँच प्रकार के आभूषण धारण किए, १-पल्लवों के, २-मयूर पिच्छों के, ३-पुष्पों के गुच्छों से, ४-पुष्पों की मालाओं से, ५-गैरिक धातुओं से । इस प्रकार



पाँच तरह के आभूषणों से भूषित हो, गोप† क्रीड़ा करने लगे । १-नाच करते हुए मनोविलास<sup>१</sup> करने लगे, २-युद्ध करते हुए देह का विलास<sup>२</sup> लेने लगे, ३-गान करते हुए वाणी का विलास<sup>३</sup> प्राप्त करने लगे ।

**आभास —** भगवतो लीलामाह कृष्णस्येति,

**आभासार्थ —** ९ वें श्लोक में गोपों की लीला कही अब इस निम्न श्लोक में भगवान् की लीला कहते हैं ।

**श्लोक: —** कृष्णस्य नृत्यतः केचिज् जगुः केचिदवाद्यन् ।  
वेणुपाणिदलैः शृङ्गैः प्रशशंसुरथापरे ॥ १० ॥

**श्लोकार्थ —** श्रीकृष्णचन्द्रजी के नृत्य करने पर, कई गाते थे, कतिपय बंशी करताल और सींग बजाते थे और अन्य प्रशंसा करते थे ॥ १० ॥

**सुबोधिनी —** शिक्षार्थं लोके नृत्यप्रसिद्ध्यर्थं च भगवतो नृत्यतः सतो नृत्याङ्गभूते गीतवाद्ये अन्ये कृतवन्तः, केचिज् जगुः केचिदवाद्यन्ति, वेणुः श्रुतिपूरकः पाणिः शङ्खवन्नादं करोति, दलान्यश्चत्थपत्रदीनि गोमुखवच्छब्दं कुर्वन्ति, शृङ्गाणि चावाद्यन्, अथापरे प्रशशंसुर्भिन्नप्रकारेण, नृत्यसम्बन्धप्रशंसातः स्वतन्त्रप्रशंसा भिन्ना ॥ १० ॥

**व्याख्यानार्थ —** भगवान् नृत्य विद्या की शिक्षा के लिए तथा लोक में नृत्य की प्रसिद्धि के हेतु नृत्य करते थे, तब अन्य नृत्य में रस को उत्पन्न करने के लिए उसके अङ्गभूत गायन तथा वादन करने लगे, वेणु 'श्रुति पूरक' है हाथ से शङ्ख के समान ध्वनि हो रही थी, पीपल के पत्ते गौ के मुख के शब्द के समान शब्द करते थे और सींग बजाए गए, तथा अन्य नृत्य सम्बन्धी स्वतंत्र प्रशंसा पृथक् प्रकार से कर रहे थे ॥ १० ॥

‡ इस ९ वें श्लोक में कही हुई क्रीड़ा केवल गोपों ने की है, भगवान् की क्रीड़ा का वर्णन १० वें श्लोक में है । 'लेख'

† इस श्लोक का तात्पर्य श्रीकृष्ण का नृत्य ही है, गान और वादन का वर्णन नृत्य के अङ्ग के रूप में कहे गए हैं । 'लेख'

१-मन को प्रसन्न । २-व्यायाम का आनन्द । ३-वाणी के रस का आनन्द ।

४-शब्द को पूर्ण करने वाली ।

**आभास —** नन्वेते कथं प्रशंसादिकं कृतवन्तोऽज्ञाने प्रशंसासम्भवाज् ज्ञाने महतो लीलायां प्रशंसानुपपत्तिरित्याशङ्क्याह गोपजातिप्रतिच्छन्ना इति,

**आभासार्थ —** गोपों को यह ज्ञान था कि, श्रीकृष्ण भगवान् हैं, महापुरुष सब कुछ कर सकते हैं तब प्रशंसा करनी योग्य नहीं, इस शङ्का के उत्तर में यह निम्न श्लोक कहते हैं ।

**श्लोक: — गोपजातिप्रतिच्छन्ना देवा गोपालरूपिणः ।**

**ईडिरे कृष्णरामौ च नटा इव नटं नृप ॥ ११ ॥**

**श्लोकार्थ —** महाराज ! देवगण गोप जाति से अपने को गुप्त बना कर, कृष्ण और राम की वैसे स्तुति करने लगे, जैसे नट, नट की बड़ाई करते हैं ॥ ११ ॥

**सुबोधिनी —** यथा भगवान् प्रतिच्छन्न एवं भगवत्सेवका अपि गोपजात्या प्रतिच्छन्ना जाताः, इदानीमेव गोपवेषं कृत्वा समागता इत्याशङ्कां व्यावर्तयति गोपालरूपिण इति, गोपरूपयुक्तास्तथैवोत्पन्नास्तेष्वविष्टाश्चातः कृष्णरामावीडिरे, तथापि सेवकानां कथमेवं धार्ष्ट्यमत आह नटा इव नटं नृपेति, नटा हि स्वामिसेवकभावं परित्यज्यान्योन्यं प्रशंसन्ति तद्वदित्यर्थः ॥ ११ ॥

**व्याख्यार्थ —** जिस प्रकार भगवान् ने अपने को मनुष्य रूप से छिपा रक्खा है, वैसे ही उनके सेवकों ने भी अपने को गोप जाति में छिपा रक्खा है ।

सेवक, नटों के समान, अब गोप वेश धारण कर, गोप बन कर नहीं आये हैं, किन्तु गोप जाति में उत्पन्न हुए हैं, उस गोप रूप देहों में ही, देव स्वरूप का आवेश,<sup>१</sup> जन्म समय में किया था; अतः कृष्ण और राम की स्तुति करने लगे । यह भी शङ्का नहीं करनी कि, सेवक होकर वैसी धृष्टता कैसे की ? क्योंकि जैसे नट, नट की प्रशंसा करते हैं वैसी उन्होंने प्रशंसा की है । कारण कि इस समय दोनों का रूप वेश नट के समान था, स्वामि, सेवक भाव नहीं था अतः किसी प्रकार धार्ष्ट्य नहीं है ॥ ११ ॥

**आभास —** पुनर्भगवतो नानाविधक्रीडामाह भ्रामणैरिति,

**आभासार्थ —** इस निम्न श्लोक में पुनः भगवान् की अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — भ्रामणैर्लङ्घनैः क्षेपैरास्फोटनविकर्षणैः ।

चिक्रीडतुर्नियुद्धेन काकपक्षधरौ क्वचित् ॥ १२ ॥

**श्लोकार्थ** — कभी, कभी, काक पक्ष धारण किए हुए, ये दोनों भाई, चकरी खाना, कूदना, फेंकना, ताल ठोकना, खँचना, बाहु युद्ध करना आदि अनेक खेल खेलने लगे ॥१२॥

**सुबोधिनी** — मल्लयुद्धे होते प्रकारः, अन्योन्यहस्तस्पर्शनेन भ्रमन्ति हस्तद्वयं धृत्वा वा भ्रामयन्ति, एतद् बालानामपि भवति, तथोल्लङ्घनानि, उच्चैर्भूमौ गर्तादिषु च मल्लानां वोल्लङ्घनं, क्षेपः प्रक्षेपः, तिरस्कारदिर्वा, आस्फोटनं बाहुस्फोटनं, विकर्षणं नियमस्थाने बलान्नयनं, एवंपञ्चविधा

लीला, चिक्रीडतुःक्रीडां कृतवन्तौ बाहुयुद्धेन, क्वचित् काकपक्षधरौ कृतचूडाकरणौ, कियत्कालमेव हि चूडाकरणानन्तरं केशांस्तत्तद्देशेषु क्वचित्क्वचित् स्थापयन्ति ॥ १२ ॥

**व्याख्यार्थ** — एक दूसरे का हाथ पकड़ कर घूमना, दोनों हाथ मिलाकर घुमाना, मल्ल युद्ध में इस प्रकार भ्रमण<sup>१</sup> और भ्रामण<sup>२</sup> की क्रियाएँ होती हैं । यह खेल बच्चों भी करते हैं । इसी प्रकार उच्च भूमि से कूदना, गढ़े में कूदना, अथवा मल्लों से कूद जाना तिरस्कार करना वा दूर फेंक देना, बाहुओं को ठोकना, बल पूर्वक नियमित<sup>३</sup> स्थान पर ले जाना । इस प्रकार पाँच तरह की लीला, बाहु युद्ध से करने लगे । क्रीड़ा करने के समय कृष्ण और राम के, काक पक्ष के समान बाल, कानों के समीप थे । वे बाल चूड़ाकरण संस्कार के समय रखे जाते हैं, जिससे सिद्ध होता है कि कृष्ण राम का चूड़ाकरण संस्कार हो गया है ॥ १२ ॥

**आभास** — एवं भगवतो नृत्यमुक्त्वा भगवत्सन्निधानेऽन्येषां नृत्यमाह क्वचिन्नृत्यत्स्विति,

**आभासार्थ** — भगवान् की नृत्य आदि लीला वर्णन करने के अनन्तर अब भगवान् की उपस्थिति में अन्यो के नृत्य का वर्णन करते हैं—

श्लोकः — क्वचिन्नृत्यत्सु चान्येषु गायकौ वादकौ स्वयम् ।

शशंसतुर्महाराज साधुसाध्वतिवादिनौ ॥ १३ ॥

**श्लोकार्थ** — महाराज ! कभी अन्य नाच करते तब आप दोनों भाई गाते हैं और बजाते हैं, वाह वाह कहते हैं और प्रशंसा करते हैं ॥ १३ ॥

**सुबोधिनी** — अन्येषु नृत्यत्सु सत्सु स्वयं गायकौ वादकौ च, चकारादन्येषु गायकेषु स्वयं वादकावन्येषु वादकेषु स्वयं गायकाविति, किञ्च स्वयमेव शशंसतुर्यदान्यप्रेरणयापि साधुसाध्वितिवादिनौ क्वचिद् भवतः न्वचिद् विशेषेण शंसतःस्तोत्रं कुरुतः क्वचिद् विशेषेणानुशासनं वा ॥ १३ ॥

**व्याख्यार्थ** — अन्य (गोप) नाचते थे तब आप गाते और बजाते थे, मूल श्लोक में आए हुए 'च' शब्द का आशय कहते हैं कि, अन्य गाते थे, तो आप बजाते थे तथा अन्य बजाते थे, तो आप गान करते थे और अपनी इच्छा से ही, उनकी बड़ाई करते, कभी दूसरों की प्रेरणा से भी, वाह वाह कहते थे । कभी तो, विशेष स्तुति करते थे और कभी विशेष प्रकार से नृत्य की शिक्षा देते थे ॥ १३ ॥

**आभास** — एवं शास्त्रानुसारिलीलामुक्त्वा केवलबालकसम्प्रदायप्रसिद्धां लीलामाह क्वचिद् बिल्वैरिति,

**आभासार्थ** — इस प्रकार शास्त्र के अनुसार, जो लीलाएँ की, उनका वर्णन कर, अब लोक में, जिस प्रकार बालक खेल खेलते हैं, उस प्रकार के खेल कहते हैं ।

**श्लोकः** — क्वचिद् बिल्वैः क्वचित् कुम्भैः क्व चामलकमुष्टिभिः ।

अस्पृश्य नेत्रबन्धादौः क्वचिन्मृगखगेहया ॥ १४ ॥

**श्लोकार्थ** — कभी बिल्व फलों (बेलों) से, कभी कुंभी के फलों से, कभी आमलों से, कभी मुठ्टियों से, कभी छूने न देने से, कभी आँख मिचोनी से, तथा कभी हरिणों व पक्षियों के अनुकरण करने से (खेलते थे) ॥ १४ ॥

**सुबोधिनी** — बिल्वफलानां क्रीडा कन्दुकवत् क्षेपणरूपा, कुम्भफलानि सूक्ष्माणि, ततस्तैः क्रीडा लाक्षासूक्ष्मपिण्डवत् सूक्ष्माण्यामलकानि, मुष्टिभ्रामणक्रीडया क्रीडनं, अस्पृश्य क्रीडा, कपर्दिकेति प्रसिद्धा वरवर्तिकेति च, नेत्रबन्धक्रीडाक्षिमुद्रिकेति प्रसिद्धा, आदिशब्देन निलायनक्रीडामग्रे वक्ष्यति, आरोहक्रीडैकपदक्रीडा च, तथा काष्ठखण्डैस्तथाकपालैर्जलस्थलयोः क्वचिद्धरिणक्रीडा हरिणाकृतिं विधाय नृत्यं कुर्वन्ति, खगवन् मयूरादिकव-दिहानेकविधा ॥ १४ ॥

**व्याख्यार्थ** — जैसे गेंद फेंकने का खेल बालक खेलते हैं, कभी, उसी प्रकार, बिल्व फलों से खेलने लगे, कुंभीफल तथा आमल छोटे होते हैं, लाख के सूक्ष्म पिंड<sup>१</sup> से जैसे खेला जाता है, वैसे उनसे खेलने लगे, कभी मुठियों को घुमाने की क्रीड़ा करने लगे तथा कभी एक अपने को छूने नहीं दे और अन्य उसको किसी प्रकार भी छू लें, इस प्रकार की क्रीड़ा करते थे (जिस क्रीड़ा को कपर्दिका अथवा वरवर्तिका उस देश में कहते हैं) कभी आँख मिचोनी खेल खेलते थे, श्लोक में आदि शब्द से अन्य लोक प्रसिद्ध क्रीड़ाएँ जैसे कि छिप जाने की क्रीड़ा जिसका आगे वर्णन होगा, तथा एक दूसरे के पृष्ठ पर चढ़ना, एक पैर से चलना, जल तथा थल<sup>२</sup> पर कपाल<sup>३</sup> से खेलना और कभी हरिण तथा मयूर बनकर नाचना, इस प्रकार की अनेक क्रीड़ाएँ करने लगे ॥ १४ ॥

**आभास** — एवं स्थललीलामुक्त्वा जले प्रकारविशेषलीलामाह क्वचिच्चेति,

**आभासार्थ** — इस प्रकार साधारण रीति से स्थल की क्रीड़ा का वर्णन कर अब विशेष प्रकार की जल क्रीड़ा का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः** — क्वचिच्च दर्दुरप्लावैर्विविधैः स्पृहासकैः ।

कदाचित् स्पन्दोलिकया कर्हिचिन्नृपचेष्टया ॥ १५ ॥

**श्लोकार्थ** — कभी मेंढकों के समान कूदने से, कभी अनेक प्रकार के हास्य<sup>४</sup> करने से, कभी झूलों से, कभी राजा के वेशों को धारण कर राज्य क्रीड़ा करने से (खेलते थे) ॥ १४ ॥

**सुबोधिनी** — क्वचिद् दर्दुरवद् भेकवत् प्लवनं कुर्वन्ति मध्ये इदस्य प्लवस्य, "निगृह्य चतुरःपद" इति श्रुतेः निरस्तरमुत्प्लुत्य गमनं, तच्चार्तिकठिनं नेदानीं बालकेषु प्रसिद्धं, उत्प्लवाश्चोपप्लव्यनानि च, अतो विविधैरित्युभयत्र सम्बध्यते, उपहासकान्युपहासवचनानि चेष्टाश्च, कदाचिद् भगवान् राजा क्वचिदुपविश्य सिंहासनेऽक्षादिभिश्च क्रीडत्याज्ञापयति यन्माति भवति तदा दोलामारुह्य गच्छति केचन वाहकाः केचन दोलारूपा एव भवन्ति, स्पन्दोलिका दोला स्पन्दनरूपा दोलिका वा, वृषभाविवाग्रे द्वौ भवतः प्रसारितबाहुरपरो मध्ये बद्धहस्ताश्चत्वारः पश्चात् सर्वे सम्बद्धा भगवन्तं नयन्ति सा स्पन्दोलिका, कदाचित् पुनर्नृपचेष्टया क्रीडति, क्वचिदुपविश्य सिंहासनेऽक्षादिभिश्च क्रीडत्याज्ञापयति यन्माति दण्डयति वा ॥ १५ ॥

१-जहाँ आचार्य श्री का निवास स्थान था ।

**व्याख्यार्थ** — कभी तड़ाग वा अल्प जल वाले स्थलों में, मेंढक के समान पादों की ऊपर कूदने की कठिन क्रीड़ा भी करते थे, कठिन होने के कारण, अब वह क्रीड़ा बालकों में प्रसिद्ध नहीं है अर्थात् अब के बालक वह क्रीड़ा नहीं करते हैं। इस क्रीड़ा में कूदना, किसी पदार्थ को भी उल्लङ्घन कर जाना आदि विविध प्रकार के थे और हास्य भी अनेक प्रकार से करते थे।

कभी भगवान् राजा बनते तब गोप कहार बन राजा को पालकी में विराजमान कर अपने कंधे पर पालकी को उठा के चलते थे, कभी गोप स्वयं पालकी बनते। वह पालकी झूलती पालकी होती थी जिसको संस्कृत में 'स्पन्दोलिका' कहते हैं। जिसमें दो गोप बैलों के समान आगे के भाग को लेकर चलते हैं, एक गोप बीच में एक बाहु को लम्बी कर उसको पकड़ कर चलता है, परस्पर हाथ मिलाकर चार गोप मिलकर भगवान् को लेकर चलते रहते हैं। कभी किसी स्थल पर भगवान् सिंहासन पर विराजमान होकर पासों से खेलते थे, अन्यो को आज्ञा देते अथवा बाँधते तथा दण्ड करते ॥ १५ ॥

**आभास** — एवं क्रीडामुक्त्वोपसंहरत्येवं ताविति,

**आभासार्थ** — इस प्रकार क्रीड़ाओं का वर्णन कर, अब इस श्लोक में उपसंहार करते हैं।

**श्लोकः** — एवं तौ लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिश्चेतुर्वने ।

नद्यद्रिद्रोणिकुञ्जेषु काननेषु सरित्सु च ॥ १६ ॥

**श्लोकार्थ** — इस प्रकार वे दोनों (राम-कृष्ण) भ्राता, लोक प्रसिद्ध अनेक प्रकार की क्रीड़ा करते हुए वन, नदी, पर्वत, द्रोणी, कुंज, कानन<sup>१</sup> और सरोवरों में फिरते थे ॥ १६ ॥

**सुबोधिनी** — अत्र प्रमाणं लोक एव, एताः क्रीडा वन एव काश्चन क्रीडा नद्यामद्रावद्रिद्रोणीषु, उभयतः पर्वता मध्ये निम्ना भूमिद्रोणी, तथा नद्यामपि भवति, कुञ्जानि तृणसहितानि गह्वरस्थानानि काननानि निविडवनानि, सरितः क्षुद्रनद्यः, चकारात् सरस्सु च, एवं सर्वलौकिकभावान्

बालकानां निवारयन्तःकरणदोषान् निवारितवान्, यावत् तामु स्वयं न प्रविशति तावत् ताः केबला एव स्मृता भवन्ति न भगवद्विशिष्टा भगवत्स्मारिका वा, अतो बालकानां प्रपञ्च-विस्मरणार्थं सर्वकर्मसु स्वयं प्रविष्टः ॥ १६ ॥

**व्याख्यार्थ** — ये क्रीड़ाएँ लोकों ने ही प्रारम्भ की हैं अर्थात् इन क्रीड़ाओं का शास्त्रों में वर्णन नहीं है अतः इनका प्रमाण लोक ही है। ये क्रीड़ाएँ वन में ही हुई हैं। कुछ क्रीड़ाएँ नदी में, पर्वत

पर, पर्वतों के बीच की निम्न<sup>१</sup> भूमि में, कुञ्जों<sup>२</sup> में, काननों में, छोटी नदियों में और सरोवरों में करते थे । इस प्रकार सर्वत्र बाल क्रीड़ा करने का आशय यह है कि, जब तक किसी भी कार्य में, भगवान् प्रवेश नहीं करते हैं, तब तक क्रीड़ा आदि कार्य करने वालों में लौकिक भाव रहता है, जिससे भगवान् की स्मृति नहीं रहती है, अतः भगवान् ने स्वयं क्रीड़ा में प्रवेश कर, बालकों को प्रपञ्च की विस्मृति करा दी ॥ १६ ॥

**आभास —** एवं क्रियामयान् संस्काररूपांश्च दोषान् निवर्त्यन्तःकरणदोषाभिमानिनीं दैत्यभूतां निवारयितुमुपाख्यानमारभते पशूंश्चारयतोरिति

**आभासार्थ —** गोप बालकों में भगवद्भाव रहित कर्म क्रिया रूप था और इसी प्रकार भगवत्स्मृति न करा के, केवल कर्म की क्रिया का ही स्मरण था । इन दोषों को बालक्रीड़ा से निवृत्त कर, अब अन्तःकरण के दोष रूप अभिमानी देवता, जो दैत्य बन गए हैं उसके निवारणार्थ<sup>३</sup> श्री शुकदेवजी वह उपाख्यान (जिस लीला से अन्तःकरण दोष दूर हुआ वह कथा) कहते हैं ।

**श्लोकः —** पशूंश्चारयतर्गोपैस्तद्वने रामकृष्णयोः ।

गोपस्त्री प्रलम्बोऽगादसुरस्तज्जिघांसया ॥ १७ ॥

तं विद्वानपि दाशार्हो भगवान् सर्वदर्शनः ।

अन्वमोदत तत्सख्यं वधं तस्य विचिन्तयन् ॥ १८ ॥

**श्लोकार्थ —** गोपों के साथ उस वन में, पशु चराते हुए राम कृष्ण को हर ले जाने की इच्छा से, प्रलम्ब नाम वाला असुर, गोप का रूप धारण कर, वहाँ आया । सर्वज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण उसको जानते थे तो भी, उसके वध का विचार कर, आपने उसके साथ मित्रता करनी स्वीकार की ॥ १७-१८ ॥

**सुबोधिनी —** गोपैः सह पशूंश्चारयतोः सतोः । इति सञ्चिन्त्य तथैव लीलायाः प्रारब्धत्वाद् भगवतः सर्वसखस्य सर्वात्मकस्य दोषत्वेन दैत्यहननावश्यकत्वात् सख्यं कृतवान्, अत एव भगवता न मारितः, देहोत्पन्नाश्च स्वतो न मार्यन्ते, यथौषधं तथा बलभद्रौ व्यवहारे च स कृष्णसम्बन्धी गोपालानां मध्ये कृष्णस्यार्थे तस्य प्रवेशात्, अनेनैव प्रकारेणाक्लिष्टतया वधो भवतीति विचारयंस्तथा कृतवान् ॥ १७-१८ ॥

**व्याख्यार्थ** — जिस समय, गोपों के साथ, जहाँ पशुओं को दोनों भाई चराते थे, वहाँ प्रलम्ब गया। अन्तःकरण के अनुसार रूप बनता है। प्रलम्ब गोपों के अन्तःकरण के दोषों का अभिमानी दैत्य था और वह अन्तःकरण दोषाभिमानी, दोषों द्वारा गोपों का अपहरण करना चाहता था अतः गोप रूप होकर आया। भगवान् सर्वज्ञ होने से उसको पहचानते थे कि यह गोप नहीं है अन्तःकरण का दोष रूप प्रलम्ब असुर है जो मुक्ति पर्यन्त अन्तःकरण में रहने वाला है अतः इसको बालकों से दूर करना है, जब यह दूर होगा तब वे शुद्ध होकर मुझ में निरुद्ध होंगे। इस अन्तःकरण के दोषों के अभिमानी दैत्य को तो जाकर भी मारना ही था किन्तु जब वह स्वयं आ गया तो फिर उसकी मृत्यु में सन्देह ही कैसा ? भगवान् सब के सखा और आत्मा है अतः भगवान् ने उसको मारा नहीं। देह से उत्पन्न होने वाले को वह आप नहीं मारते हैं इसलिए भगवान् ने स्वयं इसको मारा नहीं, किन्तु उसके नाश के लिए लीला प्रारम्भ की; प्रलम्ब ने मित्रता करनी चाही तो उसका अनुमोदन कर उससे मित्रता कर ली।

देह में, रोग उत्पन्न होता है तो, उसको मिटाने के लिए, औषध का उपयोग किया जाता है, जिससे वह मिट जाए देह निरोग हो जाए। इसी प्रकार यह असुर, देह से उत्पन्न होते हुए भी दोष रूप रोग है। उस रोग को नाश करना भी आवश्यक है। इस रोग की औषध बलभद्र है। बलरामजी व्यवहार में कृष्ण के सम्बन्धी हैं, गोपों के बीच में उनका भी प्रवेश कृष्ण के समान है। मैत्री करने का कारण भी यह था कि बिना क्लेश के लीला करते हुए इसका वध हो जाय ॥ १७-१८ ॥

**आभास** — ततः सख्यकरणानन्तरं वधप्रकारं कृतवानित्याह तत्रोपाहूयेति,

**आभासार्थ** — मित्रता करने के अनन्तर, भगवान् ने उसका वध कैसे किया जाय ? उसका विचार करने लगे। यद्यपि भगवान् होने के कारण, श्रीकृष्ण को विचार करने की आवश्यकता नहीं थी तो भी, उनको लीला लोकवत् करनी है, इसलिए करने लगे, जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं-

**श्लोकः** — तत्रोपाहूय गोपालान् कृष्णः प्राह विहारवित् ।

हे गोपा विहरिष्यामो द्वन्द्वीभूय यथायथम् ॥ १९ ॥

**श्लोकार्थ** — सब प्रकार के खेलों को जानने वाले श्रीकृष्ण ने गोपों को वहाँ बुलाकर कहा कि, हे गोपों ! हम लोग जैसे कोई प्रतिबन्ध न पड़े वैसे सुखपूर्वक, दो टोले बनाकर खेलेंगे ॥ १९ ॥

**सुबोधिनी** — सर्वानेव गोपालानुपाहूय । तत्रोपाहूयेति यत्र संभूमौ तादृशलीला भवति तत्र नानाविधक्रीडायां प्रवृत्तान् क्रीडाविशेषमुपदेष्टुं प्राह, । सर्वानुपाहूयाग्रे वक्ष्यमाणं प्राहेतिसम्बन्धः, यतो भगवान्



क्लिष्टकर्मा प्रकर्षेण स्पष्टमेवाह, गोपालानां विश्वासार्थं प्राप्तस्तथा तेनैव सह स जयं पराजयं वा प्राप्नोतीति यथा स्वज्ञातक्रीडापरित्यागार्थं च विशेषणं विहारविदिति, सर्वानेव तथा यथायथं वा यथासुखमित्यर्थः, विहारान् वेत्ति, भगवद्वाक्यमेवाह हे गोपा विहरिष्याम इति, यथातथमिति पाठेऽपि क्रियाविशेषणमात्रत्वं विशेषः ॥ १९ ॥ अद्वन्द्वभूता अपि द्वन्द्वीभूय यथा येन सह यो सहयोद्वन्द्वं

**व्याख्यानार्थ —** अनेक प्रकार की क्रीड़ाओं में प्रवृत्त हुए सब गोपालों को, विशेष क्रीड़ा का उपदेश करने के लिए, जो भूमि समतल क्रीड़ा करने के योग्य थी, वहाँ बुलाकर, जो आगे कहा जाएगा वह कहने लगे । भगवान् को किसी प्रकार कार्य करने में परिश्रम नहीं होता है । अतः गोपों को स्पष्ट कहने लगे । (मूल श्लोक में भगवान् को 'विहारवित्' कहा है जिसका भावार्थ है कि, भगवान् को सब प्रकार की विशेष क्रीड़ाएँ आती हैं) ये देखकर गोप, वे (क्रीड़ाएँ) सीखने के लिए और हमारा आप में विश्वास है इसको सिद्ध करने के लिए अपनी प्रवृत्त की हुई क्रीड़ाओं को छोड़कर, भगवान् के निकट आ गए ।

समीप आए हुए गोपों को भगवान् कहने लगे कि हे गोपों ! हम लोग एक साथ हो मिले हुए हैं तो भी क्रीड़ा करने के लिए दो टोले बनाकर सुख पूर्वक खेलेंगे । किसी भी टोले के किसी एक की जीत या हार हुई तो, वह, उस समग्र टोले की जय व पराजय मानी जाएगी ॥ १९ ॥

**आभास —** भगवदुक्तास्तथैव कृतवन्त इत्याह तत्र चक्रुरिति,

**आभासार्थ —** गोपों ने भगवान् की आज्ञानुसार कार्य किया जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः —** तत्र चक्रुः परिवृढौ गोपा रामजनार्दनौ ।

**कृष्णसङ्घट्टिनः केचिदासन् रामस्य चापरे ॥ २० ॥**

**श्लोकार्थ —** वहाँ गोपों ने राम तथा कृष्ण को मुखिया बनाया, उनमें से कितने ही कृष्ण के साथी<sup>१</sup> और कितने ही राम के साथी बने ॥ २० ॥

**सुबोधिनी —** उभौ तत्र क्रीडायां मुख्यौ क्रियेते पश्चाद् द्वौ द्वौ समागच्छतः कृत्रिमसङ्केतं कृत्वा तत्र य एव यमर्थं वृणीते तेन सङ्केतितस्तदीयो भवति, एवं सर्वे गोपालाः प्रकारद्वयेन द्विविधा भवन्ति, तदाह कृष्णसङ्घट्टिनः केचिदासन् रामस्य चापरे इति ॥ २० ॥

**व्याख्यार्थ** — उस प्रकार की क्रीड़ा में दो मुखिया बनाए जाते हैं, पश्चात् दो दो (गोप) कृत्रिम<sup>१</sup> नाम धारण कर मुखियों के समीप आते हैं । प्रत्येक मुखिया जिस कृत्रिम नाम को स्वीकार करता है उस नाम वाला वह गोप उसका साथी बन जाता है । इस प्रकार कितने ही कृष्ण के साथी हुए और कई राम के साथी बन गए ॥ २० ॥

**श्लोक: — आचेर्ष्विविधाः क्रीडा वाह्यवाहकलक्षणाः ।**

**यत्रारोहन्ति जेतारो वहन्ति च पराजिताः ॥ २१ ॥**

**श्लोकार्थ** — चढ़ने और चढ़ाने आदि अनेक प्रकार के खेल खेलने लगे, जिसमें जो हारे वे चढ़ा कर ले जाए और जो जीतें वे चढ़ें ।

**सुबोधिनी** — तत्रापि प्रथममागतौ मुख्यकार्यं कुरुतः श्रीदामा प्रलम्बशोभौ समागतौ द्वन्द्वीभूय, तत्रापि श्रीदामा बलभद्रेण गृहीतो बलकार्यं करोति प्रलम्बो भगवत्कार्यं, एतौ मन्त्रिणाविव, अन्यथा जयपराजययोः कृष्णरामावेवान्योन्यं वाहकौ स्यातां तुल्यत्वात्, नाप्यव्यवस्थिततया वहनं, तथा सत्यतः प्रसङ्गात् कलहसम्भवाच्च, नाप्यत्र मुख्यो वाहकत्वपक्षः, अन्यथा भगवतोऽपि वाहकत्वं न स्यात्, मुख्ययोरैकः क्रीडत्येको वहति, अथवा क्रीडाविशेषे सर्व एव सर्वान् वहन्तीति, तत्रैकपादगमने क्रीडान्तरे वा मध्ये द्वितीयपादस्य भूस्पर्शे पराजितो भवति, तत्र प्रतियोगिनस्तान् भ्रामयन्ति यथा स्खलनं भवति, येन प्रतियोगिना भ्रामितः स्पृशति भूमिं तं वहति, तदाहाचेर्ष्विविधाः क्रीडा इति, वाह्यवाहकत्वे निमित्तमाह यत्रारोहन्तीति, जेतार आरोहन्ति पराजिता वहन्ति ॥ २१ ॥

**व्याख्यार्थ** — इस प्रकार की क्रीड़ा में यह नियम है कि जो जोड़ी प्रथम आ पहुंचे, वह जोड़ी मुख्य कार्य कर्ता बने ।

यहाँ श्रीदामा तथा प्रलम्ब, दोनों मिलकर प्रथम आए थे । उनमें से श्रीदामा को बलरामजी ने अपना साथी बनाया जिससे वह बलरामजी का कार्य कर्ता हो गया और प्रलम्ब को कृष्ण ने साथी किया, अतः वह कृष्ण का कार्य करने वाला हुआ । तात्पर्य यह है कि ये दोनों, बलराम तथा कृष्ण के मन्त्री जैसे हुए । यदि इस प्रकार मन्त्री न बनाए जाते तो, कृष्ण तथा राम भी, जय या पराजय के समय कृष्ण तथा राम को भी परस्पर बाहक बनना पड़ता, क्योंकि, वे दोनों एक जैसे हैं । वहाँ सर्व कार्य, नियम अनुसार होते हैं, कोई किसी को स्व इच्छा से ले जाए यों नहीं था, वैसा न करने से, किसी का अपमान हो सकने का अवसर आ जाने से कलह हो जाए अतः नियम पूर्वक कार्य होता है । यों भी नहीं था कि, चढ़ने वाला पक्ष मुख्य<sup>२</sup> है । यदि वैसा किया जाता तो चढ़ाने वाला पक्ष ही अयोग्य माना जाता, इसका तात्पर्य यह है कि चढ़ने वाला और चढ़ानेवाला, दोनों पक्ष समान गिने जाते हैं । जिससे कोई भी (भगवान् भी) वाहक बन जावे तो किसी प्रकार की अशिष्टता नहीं हो ।

मुख्यों में से एक क्रीड़ा करता है और एक वहन करता है, अथवा विशेष क्रीड़ा में, यों भी होता है कि, एक पक्ष के सब गोप अन्य पक्ष के सब गोपों को चढ़ा कर ले जावें ।

एक पाद से चलने की अथवा एक पाद से कूदने की क्रीड़ा में यदि खेलने वाले के पाद ने पृथ्वी का स्पर्श किया तो वह पराजित<sup>१</sup> माना जाता है । इस क्रीड़ा में विरुद्ध पक्ष वाला क्रीड़ा करने वाले को इसी प्रकार भ्रमण कराता है जैसे उसका पाद भूमि का स्पर्श करे । जो जो प्रतिपक्षी<sup>२</sup> खेलने वाले के पाद का भूमि को स्पर्श कराता है उसको खिलाड़ी चढ़ाकर ले जाता है । इसी भांति चढ़ना चढ़ाना आदि क्रीड़ाएँ करने लगे ॥ २१ ॥

**आभास —** नापि निसर्गतः पराजितः पराजित एव भवति, अतः कदाचित् कश्चिद् वहति वाह्यते च, तदाह वहन्तो वाह्यमानाश्चेति,

**आभासार्थ —** इस क्रीड़ा में यों भी नियम नहीं है कि एक बार हारा वह सदा के लिए वाहक बना रहे, किन्तु इसमें कभी कोई पक्ष जीतता है, और कभी कोई हार जाता है । जब जीतता है, तब चढ़ने वाला होता है और जब हारता है तब चढ़ाने वाला बनता है जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः —** वहन्तो वाह्यमानाश्च चारयन्तश्च गोधनम् ।

**भाण्डीरकं नाम वटं जग्मुः कृष्णपुरोगमाः ॥ २२ ॥**

**श्लोकार्थ —** वैसे चढ़ते चढ़ाते और गायों को चराते हुए श्रीकृष्ण को अपना मुखिया बनाकर सब गोप भांडीर नाम वाले बट के पास जाने लगे (गए) ॥ २२ ॥

**सुबोधिनी —** मध्ये सर्वेषामेव क्रीडायां प्रविष्टत्वाद् पश्चादागतस्यानागमनं भवत्यतो भाण्डीरकं नाम वटं सर्व गवां चारणाभावे चतुर्विधपुरुषार्थहानिः स्यादित्याशङ्क्याह एव जग्मुः, इममर्थं भगवानेव जानातीति कृष्णपुरोगमाः, चारयन्तश्च गोधनमिति, गाव एव धनं, चकाराद् रक्षामपि कृष्ण एव पुरोगमो येषां, तत्र मध्येऽपि क्रीडां कुर्वाणा एव कुर्वन्तो भाण्डीरके वने मुख्यो वटोऽस्ति गताः ॥ २२ ॥ तदाख्यातिकरस्तत्र समा च भूमिः प्रलम्बस्य सहायान्तरस्यापि ।

**व्याख्यार्थ —** श्लोक में 'चारयन्तश्च जग्मुः' कहा है (गौओं को चराते हुए तथा उनकी रक्षा करते हुए जाने लगे) जिसके कहने का भाव यह है कि किसी को यह शङ्का मन में नहीं लानी चाहिए कि सब खेलने में आसक्त हो गए होंगे, तो गोधन का चराना और रक्षा करनी भूल गए होंगे जिससे

चतुर्विध पुरुषार्थ की हानि होती है। जाते समय वे खेलते थे और गोधन को चराते तथा उसकी रक्षा भी करते थे।

इस वन का नाम 'भाण्डीरक' इसलिए पड़ा है कि वहाँ एक बड़ा बट का प्रसिद्ध वृक्ष है, जिसका नाम भाण्डीरक है, जिससे इस वन को भाण्डीरक वन कहते हैं। उस वन की भूमि सम<sup>१</sup> है। सब साथ में मिलकर (किसी को पीछे न छोड़कर) भाण्डीरक बट के पास जाने लगे। कारण कि, प्रलम्ब के साथ अन्य गोप भी था जिसको वह चढाकर ले चलता था यदि वह पीछे रह जाए तो, अन्य गोप को भी, लेकर अन्यत्र चला जाए इसलिए सब साथ चलते थे। इस सत्य बात को<sup>२</sup> भगवान् जानते थे इसलिए श्रीकृष्ण को नेता बनाया है। वहाँ बीच में (रस्ते में जाते समय) भी क्रीड़ा करते जाते थे ॥ २२ ॥

**आभास —** ततो यदा पराजयस्तदा वहनं तदाह रामसङ्घट्टिनो ये हीति,

**आभासार्थ —** पश्चात् जब हार होवे तब हारे हुए जीतने वाले को उठाते<sup>३</sup> थे जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोक: —** रामसङ्घट्टिनो ये हि श्रीदामवृषभादयः ।

क्रीडायां जयिनस्तांस्तानूहुः कृष्णादयो नृप ॥ २३ ॥

**श्लोकार्थ —** हे नृप ! जब बलरामजी के पक्ष के श्रीदामा, वृषभ आदि गोप जीत गए तब कृष्ण आदिक ने उनको चढाया था ॥ २३ ॥

**सुबोधिनी —** त्रयोऽत्र निरूपिता अन्तःकरणगुणानां । श्रीदामा सात्त्विको वृषभस्तामसः, तत्र यदा ते क्रीडायां त्रैविध्यज्ञापनाय, रामो यथा तथा श्रीदामा वृषभश्च, रामो राजसः । जयिनस्तांस्तान् कृष्णादय ऊहुः ॥२३॥

**सुबोधिनी —** अन्य गोपों के जीतने का न कहकर केवल तीन के जीतने का भाव बताते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि—अन्तःकरण के तीन प्रकार के गुण होते हैं अतः राम राजस, श्रीदामा सात्त्विक और वृषभ तामस इन तीनों से जीतने का वर्णन किया (तात्पर्य लौकिक में तीन गुण ही जीत रहे हैं) वे जब क्रीड़ा में जीते तब उनको कृष्ण आदि ने वहन किया<sup>४</sup> ॥ २३ ॥

१-एक सी - समान।

२-प्रलम्ब के आशय को।

३-ऊपर लेते।

४-उठाया, अपने ऊपर लिया।

कारिका — अक्लिष्टकर्मतासिद्ध्य हीनत्वं कुस्ते क्वचित् ।

धर्मप्रधानो भगवानिति ज्ञापयितुं तथा ॥ १ ॥

कारिकार्थ — भगवान् अक्लिष्टकर्मा हैं अतः कभी ऐसा कार्य भी करते हैं जो भगवान् के महत्त्व के अनुरूप न हो—जैसे यहाँ श्रीदामा का अपने पर आरोहन<sup>१</sup> भगवान् का कार्य इसलिए करते हैं कि यह जाना जा सके कि भगवान् धर्म प्रधान हैं ।

श्लोकः — उवाह कृष्णो भगवान् श्रीदामानं पराजितः ।

वृषभं भद्रसेनस्तु प्रलम्बो रोहिणीसुतम् ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ — हारे हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीदामा को उठाया, भद्रसेन ने वृषभ को और प्रलम्बासुर ने बलरामजी को उठाया ॥ २४ ॥

सुबोधिनी — यथा बलभद्रः प्रलम्बारूढो भवेत् तदर्थं भगवान् श्रीदामानमुवाह नाम्ना लक्ष्मीवनमालारूपत्वं तत्पूर्ववद् वहनमिति ज्ञापयति, प्रलम्बस्तु रोहिणीसुतं, तस्यानोऽस्तङ्कार्थं वहनमुच्यते, पराजित इति निमित्तमन्यस्यापि मातृनाम्ना व्यपदेशस्तदज्ञानज्ञापनाय ॥ २४ ॥

व्याख्यानार्थ — यद्यपि, श्रीकृष्ण को नियमानुसार, बलभद्र को उठाना चाहिए था, किन्तु भगवान् को जो प्रलम्ब वध बलरामजी द्वारा करना था, अतः आपने बलरामजी के स्थान पर उसके मन्त्री तथा साथी श्रीदामा को उठाया, उस तत्त्व को भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई भी नहीं जानता था । श्रीदामा को उठाने का और यह कारण था कि, श्रीदामा नाम से उसके स्वरूप का भाव, समझ में आ जाता है कि, वह लक्ष्मी को बनाई हुई वनमाला का रूप था अतः भगवान् को उसके आधिदैविक रूप को धारण करना था, इसलिए उसको उठाया था, जो योग्य था । श्रीकृष्ण खेल में पराजित हुए, यह उठाने का कारण था, यदि भगवान् स्वयं नियमानुसार न उठावें, तो अन्य भी न उठावें, जो योग्य नहीं था । भगवान् ने श्रीदामा को उठा लिया, यह देख कर भद्रसेन ने वृषभ को और प्रलम्ब ने रोहिणी पुत्र को उठाया । यहाँ बलरामजी का नाम न देकर रोहिणी का पुत्र इसलिए कहा कि उनको (बलरामजी को) यह गोप प्रलम्बासुर है इसका अज्ञान है ॥ २४ ॥

आभास — ततो यज् जातं तदाहाविषह्यमिति,

आभासार्थ — पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — अविषह्यं मन्यमानः कृष्णं दानवपुङ्गवः ।

वहन् द्रुततरं प्रागादवरोहणतः परम् ॥ २५ ॥

**श्लोकार्थ —** वह दानव श्रेष्ठ, श्रीकृष्ण को बलवत्तम<sup>१</sup> समझ, बलरामजी को लेकर शीघ्रता से चलता हुआ नियत स्थान से दूर चला गया ॥ २५ ॥

**सुबोधिनी —** प्रलम्बेन हि ज्ञातं भगवता सख्यकरणाद् भगवानविषह्यो न केनापि सोढुं शक्यः अतोऽन्यतरस्याप्युपद्रवः स्वकार्यफलसाधक इति दानवपुङ्गवो दानवानां मध्ये श्रेष्ठे दानवारिं भगवन्तं कृष्णं परित्यज्य रोहिणीसुतं वहन्नवरोहणतः परमपि द्रुततरं प्रागात्, शनैर्गमने सर्वैः सह गमनसम्भवात् पश्चात्त्रयनं न सम्भवेत्, अवरोहणपर्यन्तं मर्यादैवेति ततः परं गतः ॥ २५ ॥

**व्याख्यार्थ —** भगवान् से मित्रता करने से प्रलम्ब को यह ज्ञान हो गया कि श्रीकृष्ण का भार कोई भी सहन नहीं कर सकेगा अतः राम और कृष्ण इन दोनों में से एक का भी यदि उपद्रव<sup>२</sup> किया जाए तो वह (उत्पात) मेरे कार्य के फल को सिद्ध कर देगा, अर्थात्, मैं जिस कार्य के लिए आया हूँ वह पूर्ण हो जायगा । इसलिए दानव श्रेष्ठ प्रलम्ब, कृष्ण को न ले कर, रोहिणी के पुत्र को उठाकर, उतारने के लिए निश्चित किए हुए स्थान से शीघ्रता पूर्वक चलकर दूर ले गया । यदि, धीरे धीरे, सब के साथ जाता तो, रोहिणी पुत्र को दूर ले जा नहीं सकता था । उतारने के स्थान पर, उतारना यह मर्यादा<sup>३</sup> थी, किन्तु यह असुर मर्यादा का उल्लङ्घन कर, उस स्थान से दूर चला गया ॥ २५ ॥

**आभास —** स्वार्थसिद्धिं मत्वोपास्यां मायां परित्यज्य तत्कृतं भगवति सख्यं चाहङ्कारदेवतायामपहतायां दोषो दृढो भवतीति विचिन्त्य दैत्यरूपेणैव हतवानित्याह तमुद्रहन्निति,

**आभासार्थ —** प्रलम्ब ने अपना स्वार्थ सिद्ध हुआ समझ कर, माया से जो गोप रूप धारण किया था, उसको छोड़ असुर रूप धारण कर लिया और भगवान् से जो मित्रता की थी वह भी छोड़ दी, क्योंकि उसने अहङ्कार के देवता (सङ्कर्षण) को साथ में ले लिया था, जिससे समझा कि, अब मेरा असुरपन दृढ<sup>४</sup> हुआ है, इससे असुर रूप से ही, बलरामजी को उठा के आगे जाने लगा । जिसका वर्णन इस ज्मोक्त में करते हैं ।

श्लोकः — तमुद्रहन् धरणिधरेन्द्रगौरवं महासुरो विगतरयो निजं वपुः ।

स आस्थितः पुरटपरिच्छदो बभौ तडिद्द्युमानुडुपतिमानिवाम्बुदः ॥ २६ ॥

१-अत्यन्त भारवाला होने से सर्वथा असहन योग । २-गड़बड़, उत्पात । ३-रीति-नियम ।

४-बलवान् ।

**श्लोकार्थ —** जब पर्वत के समान अधिक बोझ वाले बलदेवजी का भार उठाने से उसका वेग बन्द हो गया, तब शीघ्र उसने अपना दैत्य शरीर धारण किया, उस समय वह सुवर्ण के आभूषण धारण किये हुए ऐसे शोभा दे रहा था, जैसे चन्द्रमा को धारण किए दामिनी<sup>१</sup> की दमक से बादल शोभायमान हो ॥ २६ ॥

**सुबोधिनी —** बलभद्रोऽपि मर्यादातिक्रमे भगवदाविष्टो जातस्ततो धरणिधरेन्द्रवन् मेवादिपर्वतवद् गौरवं यस्य तस्य वहने सामर्थ्यं महासुर इति, प्रलम्बो हि मुख्यस्तथापि विगतरयो जातस्ततः कृत्रिमवपुषा नयनमशक्यमिति मत्वा निजं वपुःसुरं वपुःस्थितः, तस्य वपुर्वर्णयति पुरटपरिच्छदो बभाविति. पुरटं सुवर्णं तदेव परिच्छदो भूषणादिकं यस्य तादृशः सन् बभौ, स्कन्धे बलभद्रः, बलभद्रस्यापि मुकुटादिकं, शीघ्रगमने स्वमुकुटं तडिद्वद् भाति बलभद्रमुकुटं द्युमानिव, द्युमान् सूर्यः, तडिद् द्युमांश्च यस्य, उडुपश्चन्द्रः बलभद्रोऽपि श्वेतश्चन्द्रतुल्यः, तद्वानुडुपतिमानम्बुद इव स्वयं श्यामो वेगवांश्च, अभूतोपमेयं तडित्सूर्यचन्द्रा एकदैक्यं सम्बन्धिनो न भवन्तीति ॥ २६ ॥

**व्याख्यार्थ —** जब प्रलम्ब ने मर्यादा को (नियमानुसार उतारने का स्थान) छोड़ दिया तब भगवान् ने बलभद्रजी में अपना आवेश डाला । उससे बलरामजी मेरु आदि पर्वत के समान गौरव<sup>२</sup> वाले हो गए । ऐसे महान् भार को उठाने में महान् असुर होने से इसलिए समर्थ हुआ, जो प्रलम्ब ने समझा कि, इस कृत्रिम (गोप) रूप से यह भार नहीं उठा सकूँगा, अब मुझे वही असुर रूप धारण करना चाहिए, इस विचार से, उस असुरों में मुख्य, प्रलम्ब ने अपना निजी रूप धारण कर लिया । उस समय वह सुवर्ण के आभूषण धारण किए हुए शोभा देने लगा । शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि प्रलम्ब के कंधे पर बैठे हुए बलभद्रजी का मुकुट सूर्य के समान चमकता था और प्रलम्ब का मुकुट शीघ्र गति के कारण बिजली की भांति भासमान हो रहा था, तथा बलभद्रजी श्वेत वर्ण होने से, चन्द्र के समान दीखते थे और प्रलम्ब श्याम होने से, मेघ के समान दीखता था । आचार्य श्री कहते हैं कि, यह उपमा अभूत है । (होने वाली नहीं है किन्तु यहाँ हुई है) बिजली, सूर्य और चन्द्रमा एक ही काल में परस्पर इस प्रकार मिलते नहीं हैं । असुर श्रेष्ठ प्रलम्ब ने अपना महान् असुर रूप धारण कर लिया तो भी बलभद्रजी के भारी भार से उसका बल नष्ट हो गया अर्थात् बलभद्रजी के भार उठाने में वह असमर्थ हो गया ॥ २६ ॥

**आभास —** ततो बलभद्रकृत्यमाह निरीक्ष्येति,

**आभासार्थ —** पश्चात् बलभद्रजी ने जो कार्य किया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक: — निरीक्ष्य तद्वपुरलमम्बरे चरन् प्रदीप्तदृग्भुक्कुटितटोग्रदंष्ट्रकम् ।

ज्वलच्छिखं कटककिरीटकण्डलत्विषाद्भुतं हलधर ईषदत्रसत् ॥ २७ ॥

**श्लोकार्थ —** आकाश में घूमते हुए, बलभद्रजी उसका (प्रलम्ब का) शरीर अन्य प्रकार का देखकर कुछ डरे, उसका शरीर अतिशय दीप्त दृष्टिवाला, भौंह तक जिसकी उग्र दाढ़ें पहुँच रही हैं और केश जिसके मानो जल रहे हैं ऐसे किरीट, कुंडल तथा कड़ों की कान्ति से अद्भुत था ॥ २७ ॥

**सुबोधिनी —** तस्य वपुरत्यर्थं निरीक्ष्य स्वयमाकाशे चरन् गच्छन्नीषदत्रसदितिसम्बन्धः तस्य रूपं वर्णयति प्रदीप्ता दृग् यस्य, भुक्कुटितट उग्रा दंष्ट्रा यस्य आविष्ट-क्रोधमुखविकारयुक्त इत्यर्थः, ज्वलन्ती शिखा यस्येत्यारक्त-दीप्तशिखायुक्तं, कटककिरीटकण्डलानां त्विषाद्भु-तमेतादृशमपूर्वं दृष्ट्वा हलधरोऽपि गृहीतहलायुधोऽप्यत्रसत्, त्रासे वा हेतुश्छलाद्, अत्र कल्पान्तरे भगवता ज्ञापित इति ॥ २७ ॥

**व्याख्यानार्थ —** बलभद्रजी आकाश में जा रहे थे उस समय उसके (प्रलम्ब के) विचित्र नवीन प्रकार के रूप को देखकर कुछ डर गए । उसके रूप का वर्णन करते हैं अतिशय तेज दृष्टि वाला, भौंह तक जिसकी उग्र दाढ़ें पहुँच रही हैं जिससे उसका मुख क्रोध से विकार वाला हो रहा है, जिसकी अग्नि के समान लाल तथा चमकती हुई शिखाएँ हैं, किरीट, कुंडल तथा कड़ों की कान्ति वाला है, ऐसे अद्भुत अपूर्व रूप को देख कर हल को धारण करते हुए भी बलभद्रजी कुछ डर गए । बलरामजी का डर जाना जो कहा है उसके दो आशय हैं १-वह (प्रलम्ब) छल से ले जाता था, २-अन्य कल्प में, इस लीला के समय, भगवान् ने बलरामजी को प्रलम्ब का परिचय कराया था । परिचय न होने से और अब छल से ले जाना, अतः कुछ डरे ऐसा कहा है ॥ २७ ॥

**आभास —** प्रकृते तु भगवदाविष्टो यत् कृतवांस्तदाह,

**आभासार्थ —** इस समय तो, भगवान् के आवेश युक्त होने से, बलरामजी ने जो किया, उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक: — अथागतस्मृतिरभयो रिपुं बलो विहायसार्थमिव हरन्तमात्मनः ।

स्म्राहनच्छिरसि दृढेन मुष्टिना सुराधिपो गिरिमिव वज्ररंहसा ॥ २८ ॥

**श्लोकार्थ —** फिर स्मृति आते ही निर्भय हो, बलदेवजी ने किसी पदार्थ के समान अपने को आकाश में ले जाते हुए शत्रु को देखकर, क्रोधित होके, इन्द्र ने जैसे वज्र के जेठ से पर्वत पर प्रहार किया था वैसे ही उसके सिर पर दृढ़ मुष्टि से प्रहार किया ॥ २८ ॥



सुबोधिनी — आगता स्मृतिर्यस्येति, अथेति केवलव्युदासार्थः, अत एवाभयो भयरहितो जातो विहायसाकाशमार्गेण हस्तं रिपुमात्मनो रिपुत्वात् स्वभावतो वध्यं शिरसि दृढेन मुष्टिना स्वाहनन् मुष्टिप्रहारं कृतवान्,

ननु नयनमात्रेण कथं हननं ? तत्राह सुराधिपो गिरिमिवेति, सर्वलोकापकारित्वाद् वज्रवेगेन यथेन्द्रेण गिरिर्हतस्तथायमपि लोकापकारित्वादेव हतः, रंहसेति प्रतीकाराकरणार्थः तावन्मात्रेण तस्याहननशङ्कापि निवारिता ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ — मूल श्लोक में 'अथ' शब्द कहने का आशय यह है कि 'अनन्तर' अर्थात् बलरामजी ने निर्भय होकर प्रलम्ब के वध का कार्य भगवान् के आवेश आ जाने के पीछे किया, अकेले नहीं कर सकते थे । आवेश के प्रवेश से (उनको) स्मृति आ गई जिससे निर्भय हुए । आकाश मार्ग से, अपने को हर ले जाने वाला, स्वाभाविक शत्रु वध के ही योग्य है, ऐसा विचार कर, क्रोधित हो के दृढ़ मुष्टि से उसके शिर पर ऐसे प्रहार किया, जैसे इन्द्र ने वज्र के वेग से, पर्वत पर प्रहार किया था, केवल ले जाने के अपराध से क्यों मारा ? अर्थात् स्वल्प दोष के लिए इतना भारी दण्ड क्यों दिया ? इस शङ्का के मिटाने के लिए इन्द्र का दृष्टान्त दिया है, कि इन्द्र ने पर्वतों को सकल लोकों का अपकार करने वाला जान कर, जैसे दुःख देने वाले, उनके, उड़ने के पांख काट दिए थे वैसे (ही) यह लोकों को दुःख देने वाला था इसलिए इसको मारा गया है । वेग से<sup>२</sup> मारने का कारण यह है कि, यह उपद्रवी है, किसी प्रकार प्रतीकार<sup>३</sup> न कर सके । वेग से मुक्का मारने से यह बच नहीं सका, अर्थात्, वेग के कारण केवल मुक्के से ही मर गया ॥ २८ ॥

आभासा — ततो यज् जातं तदाह स आहत इति,

आभासार्थ — मुक्के लगने के अनन्तर जो हुआ वह इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोकः — स आहतः सपदि विशीर्णमस्तको मुखाद् वमन् र्धिरमपस्मृतोऽसुरः ।

महारवं व्यसुरपतत् समीरयन् गिरिर्यथा मघवत आयुधाहतः ॥ २९ ॥

श्लोकार्थ — प्रहार होते ही, शीघ्र उसका शिर बिखर गया, मुंह से रक्त बहने लगा, और वह दैत्य बड़ा शब्द करता हुआ अचेत हो, बिना प्राण होकर गिर गया, जैसे इन्द्र के शस्त्र के प्रहार से पर्वत गिर गया था ॥ २९ ॥

सुबोधिनी — आ समन्ताद् हतः सपद्येव शीर्णमस्तको जातः ततो मुखाद् र्धिरं वमन्नन्तर्गतमपि दूरीकुर्वन् स्मृतिरहितोऽपि जातः, एवं देहेन्द्रियमनसां वैकल्यं निरूपितं, तथाप्यसुरत्वात् स्वस्य राजसं भावं कृतवान्, तदाह महारवं समीरयन् व्यसुः सन्नपतदिति, प्राणास्त्वन्तरिक्ष एव

गताः, पश्चाद् भूमौ पतितः, पुनरुत्थानं पतितस्य नाभूदित्येतदर्थं दृष्टान्तमाह गिरिर्यथेति, मघवत आयुधेन वज्रेण हतो गिरिर्यथेति, न कदाचिदप्युदगतो नापि प्रवृद्धः, तथैवास्थि-समूहो जात इत्यर्थः ॥ २९ ॥

**व्याख्यार्थ** — चारों तरफ से मारा हुआ, उसका मस्तक सहसा<sup>१</sup> खण्डित<sup>२</sup> हो गया पश्चात् मुख से लोहू बहने लगा जिसके साथ वह अपने भीतर के दोष भी निकालने लगा, तब उसकी स्मृति भी चली गई । इस प्रकार देह, इन्द्रिय और मन की विकलता<sup>३</sup> का निरूपण किया । ऐसी दशा होने पर भी असुर था इसलिए अपना राजस भाव प्रदर्शित करने लगा । राजसभाव कैसे दिखाया ? इस पर कहते हैं कि बड़े जोर से शब्द करता हुआ निष्प्राण हो के भूमि पर गिरा । प्राण तो आकाश में होते हुए ही निकल गए थे, पृथ्वी पर उसका शव<sup>४</sup> ही गिरा । यह असुर भी गिरने के अनन्तर, वज्र से गिरे हुए पर्वत के समान न उठा और न बढ़ा, अस्थिओं का ढेर हो गया ॥ २९ ॥

**आभास** — ततो यज् जातं तदाह दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतमिति,

**आभासार्थ** — उसके पीछे जो हुआ, उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — दृष्ट्वा प्रलम्बं निहतं बलेन बलशालिना ।

**गोपाः सुविस्मिता आसन् साधुसाध्वितिवादिनः ॥ ३० ॥**

**श्लोकार्थ** — बलवान बलभद्रजी से प्रलम्ब (को) मरा हुआ देख, गोप अचंभे में पड़ गए और अच्छा हुआ, अच्छा हुआ यों कहने लगे ॥ ३० ॥

**सुबोधिनी** — बलभद्रः प्रलम्बं मारयतीति नाश्चर्यं यतो बलशाली, तथापि कथं ज्ञातवान् कथं वा शीघ्रमुपायस्फूर्तिः कथं वा सकृत्प्रहारेणैव मृत इति गोपालत्वाद् वा सुष्ठु विस्मिता आश्चर्ययुक्ता आसन्, आदौ चिन्ताकुला जाता इति हननमात्रेणैव साधुसाध्वितिवादिनो जाताः ॥ ३० ॥

**व्याख्यार्थ** — गोपों को आश्चर्य इसलिए नहीं हुआ था कि बलभद्रजी ने प्रलम्ब को मारा है, क्योंकि बलभद्रजी की शक्ति को (वे) जानते थे । किन्तु आश्चर्य इससे हुआ कि, बलभद्रजी ने कैसे पहिचाना कि यह गोप नहीं है और असुर है ? और इसको शीघ्र मारने के ढंग की स्फूर्ति कैसे हुई ? तथा एक ही प्रहार से मर गया इत्यादि कारणों से गोप जाति होने के कारण, विशेष विस्मित हुए । प्रथम, जब वह असुर बलभद्रजी को आकाश में ले जाता था उस समय गोप चिन्तित थे अतः उसके (असुर के) मरने से प्रसन्न हुए, जिससे साधु<sup>५</sup> साधु शब्द का उच्चारण करने लगे ॥ ३० ॥

**आभास** — ततो देवास्त एव देवभावं प्राप्ता आशिषोऽभिगृणन्तश्च जाताश्चिरञ्जीवास्मान् पालयेत्यादि,

आभासार्थ — वे गोप अन्तः के दोषों के निवृत्त होने से देव भाव को प्राप्त हुए जिससे बलरामजी को आशीर्वाद देने लगे उसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — आशिषोऽभिगृणन्तश्च प्रशंसुस्तदर्हणम् ।

प्रेत्यागतमिवालिङ्ग्य प्रेमविह्वलचेतसः ॥ ३१ ॥

श्लोकार्थ — गोप देव भाव को प्राप्त कर बलरामजी को आशीर्वाद देते हुए कहने लगे कि बहुत समय तक जीवन धारण करो और हम लोगों का पालन करो ॥ ३१ ॥

सुबोधिनी — तस्यार्हणं यथा भवति तथा प्रशंसुश्च । माधमभावौ वा निरूपितौ, समभावकृत्यमाह प्रेत्यागत-  
कृत्वा स्तोत्रमपि कृतवन्तः, उत्तमानां हीनानामुत्त- मिवालिङ्ग्य प्रेम्णा विह्वलचेतसोऽपि जाता इति ॥ ३१ ॥

व्याख्यार्थ — उनका (बलभद्रजी का) पूजन जिस प्रकार हो वैसे (ही) उनकी स्तुति करने लगे, अर्थात् पूजा करने के अनन्तर स्वयं स्तुति करने लगे । इस प्रकार उत्तम गोपों के उत्तम भाव तथा हीन गोपों के हीन भाव का वर्णन कर शेष आधे श्लोक में कहते हैं कि सम भाव वाले गोपों ने बलभद्रजी का इस प्रकार प्रेम से विह्वल होकर आलिङ्गन किया जैसे मर कर जीता हुआ लौटकर आया हो उसका आलिङ्गन किया जाता है ॥ ३१ ॥

आभास — न केवलं प्रलम्बवधो भूमिष्ठानामेव हितार्थः किन्तु देवानामपीत्याह पाप इति,

आभासार्थ — प्रलम्ब का वध केवल भूमि पर रहने वालों के लिए हितकारी नहीं था, किन्तु देवों के लिए भी लाभकारी था, इसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः — पापे प्रलम्बे निहते देवाः परमनिर्वृताः ।

अभ्यवर्षन् बलं माल्यैः शशंसुः साधुसाध्विति ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ — पापी प्रलम्ब के मरने से, देव गण परम प्रसन्न हुए जिससे बलदेवजी के ऊपर पुष्प बरसाने लगे और वाह वाह कह कर प्रशंसा करने लगे ॥ ३२ ॥

सुबोधिनी — पापरूपेऽस्मिन् निहते देवाः शुद्धसत्त्वा- च कृतवन्तः साधुसाध्वितिप्रशंसां कृतवन्तः अन्यथाकाशे  
त्मकाः परमनिर्वृता जाताः कंसादंरपि निर्भयाश्च जाताः गच्छतस्तदारूढेन मारणं स्वरक्षां भावयताशक्यमन्यश्च न तत्र  
अतो माल्यैर्बलमभ्यवर्षन् पुण्यवृष्टिं कृतवन्तः, शशंसुः स्तोत्रं प्रकारोऽतो महासाहसेन कृतमिति साधुसाध्वितिकथनं, प्रशंसा

देवत्वज्ञापिका पुष्पवृष्टिर्हर्षज्ञापिका दोषापगतिस्तद- परिहृतः, तैश्चानुमोदितो देवैश्च ॥ ३२ ॥  
भिमानिनामपि सुखदायिनीति ज्ञापितं, एवमन्तःकरणदोषः

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिण्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे पञ्चदशाध्यायविवरणम्

**व्याख्यार्थ** — पापी प्रलम्ब के मरने से शुद्ध सत्व गुण रूप देवगण, कंस आदि दैत्यों के भय से छूटे, अतः परम आनन्द को प्राप्त हुए। उस आनन्द को प्रकट करने के लिए बलरामजी के ऊपर फूल बरसाने लगे तथा उनकी स्तुति करने लगे एवं वाह वाह करते हुए प्रशंसा करने लगे प्रशंसा करने से उनके देवता का ज्ञान होता है, पुष्पों की वर्षा हर्ष बताती है। इससे यह बताया कि दोष दूर होने से उनके (दोषों के) अभिमानी भी सुखी होते हैं। इस लीला से अन्तःकरण के दोषों की निवृत्ति की, जिससे गोप (जिनके अन्तःकरण के दोष निवृत्त हो गए) तथा देव दोनों ने उसका अनुमोदन किया ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्ध १५ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण कृत श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" के तामस प्रमेय अवान्तर प्रकरण का 'श्री' धर्म निस्त्रय चौथा अध्याय ( हिन्दी अनुवाद सहित ) सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित भगवान् श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की लीलाओं का अवगाहन निम्नलिखित भक्त शिरोमणि सूरदासजी के पदों से कीजिएगा ।

### राग बिलावल

चले सब वृन्दावन समुहाई ।  
नन्द भवन सब ग्वालनि टेस्त, लाबहु गाय फिराई ॥  
अति आतुरहै फिरे सखा सब, जहाँ तहाँ आई धाई ।  
बूझत ग्वाल बात कहि कारण, बोले कुँवर कन्हाई ॥  
सुरभी वृन्द इतही को हांकी, औरनि लेहु बुलाई ।  
सूर श्याम यह कही सबनि सों, आपु चले अतुराई ॥

### राग धनाश्री

गैयनि घेर सखा सब त्याये ।  
दैखो कान्ह जात वृन्दावन, यातें मन अति हर्ष बढ़ाये ॥  
आपुस में सब करत कुलाहल, धौरी धूमरी धेनु बुलाए ।  
सुरभी हांक देत सब जहाँ तहाँ, टेरे टेरे हेरी सुर गाए ॥  
पहुंचे आय विपिन घन वृन्दा, देखत द्रुम दुःख सबनि गँवाए ।  
नूर श्याम गए अघा मारि जब, तादिन ते यहि वन अब आए ॥

### राग सारङ्ग

चरावत वृन्दावन हरि धेनु ।  
 ग्वाल सखा सब संग लगाए, खेलत हैं करि चेनु ॥  
 कोउ गावत कोउ मुरलि बजावत, कोउ विधान कोउ बेनु ।  
 कोउ निरत कोउ उघटि तारि दै, जुरि ब्रज बालक सेनु ॥  
 त्रिविध पवन जहँ तहँ बहे निश दिन, सुभग कुंज घन ऐनु ।  
 सूरश्याम निजु धाम बिसारत, आवत यह सुख लेनु ॥

### राग धनाश्री

वृन्दावन मोकों अति भावत ।  
 सुनहु सखा तुब सुबला सुदामा वृज तैं बन गोचारन आवत ॥  
 कामधेनु सुर तरु सुख जितने, रमा सहित वैकुण्ठ भुलावत ।  
 यह वृन्दावन यह जमुना तट, ये सुरभी अति सुखद चरावत ॥  
 पुनि पुनि कहत श्याम श्री मुख सों, तुम मेरे मन अतिहि सुहावत ।  
 सूरदास सुनि ग्वाल चकृत भए, यह लीला हरि प्रकट दिखावत ॥

### राग बिलावल

ग्वाल सखा कर जोरि कहत हैं, हमहि कान तुम जिनि बिसरावहु ।  
 जहों जहीं तुम देह धरत हो, तहीं तहीं जिन चरण छिड़ावहु ॥  
 ब्रज ते तुमहि कहूँ नहीं प्यारे यह पाय मैं हूँ ब्रज आवत ।  
 यह सुख नहि कहूँ भुवन चतुर्दश, यह ब्रज में अवतार बतावत ॥  
 और गोप जे बहुरि चले घर, तिन सो कहि ब्रज छाक मंगावत ।  
 सूरदास प्रभु गुप्त बात सब, ग्वालन सों कहि कहि सुख पावत ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीवाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ❖ श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमः स्कन्धः (पूर्वार्धः)

### तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणम्

‘पञ्चमो ऽध्यायः’

श्री सुबोधिनी अनुसार १६वां अध्याय

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार १९वां अध्याय

कारिका — अज्ञानात्मा ह्यात्मदोषो दवाग्निस्तन्निवारणम् ।

षोडशे प्रोच्यते सम्यङ्निरोधः सेत्स्यते ततः ॥ १ ॥

कारिकार्थ — आत्मा का अज्ञान है, वह दोषरूप है, उस आत्म अज्ञान रूप दोष का दवाग्नि प्रकट रूप है, अतः इसको नाश करना चाहिए, जिसका वर्णन १६ वें अध्याय में करते हैं जिससे निरोध सिद्ध होगा ॥ १ ॥

व्याख्या — पञ्च पर्व रूप अविद्या का एक पर्व, स्वरूप का अज्ञान है, जिसका प्रकट रूप दवाग्नि है। उसके नाश के अनन्तर ही, निरोध सिद्ध हुआ। निरोध सिद्धि से, ब्रज भक्तों को यह ज्ञान हो गया, कि भगवान् की लीला में उपयोगी श्रवण तथा आचरण करना चाहिए तथा विपरीत का त्याग

करना चाहिए एवं दोष दृष्टि नहीं रखनी चाहिए । दावाग्नि के† (स्वरूप विस्मृति रूप अज्ञान के) नाश के अनन्तर ही, गोपों को भगवान् तथा बलदेवजी के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान हुआ ।

अविद्या के पंच पर्व रूप दोषों के स्वरूप धेनुकादि दैत्यों का नाश, भगवान् ने इस दशम स्कन्ध में किया है, जिससे निरोध सिद्ध हुआ है, अतः यह लीला निरोध का अंग होने से दशम स्कन्ध में कही गई है इसलिए इस कारिका द्वारा स्कन्धार्थ की संगति कही गई है ॥ १ ॥

**कारिका — ततो दासैर्मुदा लीला स्वच्छन्दाग्रे भविष्यति ।**

**स्त्रीणां चैव मनःप्रीतिस्तदासक्तिः फलिष्यति ॥ २ ॥**

**कारिकार्थ —** पश्चात् (निरोध होने के अनन्तर) जब दासों के साथ स्वच्छन्द लीला होगी, तथा स्त्रियों के मन की प्रीति भी होगी, तब भगवान् में हुई आसक्ति फलीभूत होगी ॥ २ ॥

**व्याख्यानार्थ —** साधारणतः सिद्ध निरोध का भी, मुख्य लीला में जो उपयोग होगा, उसका निरूपण इस उपरोक्त कारिका से किया है । यह (निरोध) आसक्ति रूप निरोध होने से, दास (गोप) भी स्वच्छन्दलीला भगवान् के साथ करेंगे तथा स्त्रियों की भी प्रेमपूर्वक आसक्ति होगी । १७ वें व १८ वें अध्यायों की लीला निरोध सिद्ध होने के पीछे हुई है जिसमें गोपों के साथ की हुई लीला का वर्णन १७ वें अध्याय में और स्त्री जनों में वेणुनाद द्वारा उत्पन्न प्रेम से जो लीला हुई, जिसका वर्णन १८ वें अध्याय में है । इस प्रकार गोप तथा स्त्री भक्तों से की हुई लीला का वर्णन किया है ॥ २ ॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

**श्लोकः — क्रीडासक्तेषु गोपेषु तद्गावो दूरचारिणीः ।**

**स्वैरं चरन्त्यो विविशुस्तृणलोभेन गह्वरम् ॥ १ ॥**

**श्लोकार्थ —** श्री शुकदेवजी ने कहा कि जब गोप खेलने में आसक्त हो गए तब

† 'स्वरूप विस्मृति' दोष ने, जीव को अपने स्वरूप (में भगवान् का अंश हूँ जिससे भगवान् से अन्य वस्तु (देहादि) नहीं हूँ) और भगवान् अंशी होने से, पूर्ण सर्वज्ञ, सर्व शक्ति युक्त है, इस प्रकार के भगवत्स्वरूप का तथा वह कृष्ण भगवान् है, इस प्रकार का ज्ञान, गोपों को अविद्या के कारण नहीं रहा, यह जीव दोष है, उस स्वरूप विस्मृति रूप अज्ञान (दोष) का स्वरूप दावाग्नि है, जिसका नाश जब भगवान् ने किया, तब गोपादिकों को, यह ज्ञान हुआ, कि हम भगवान् के अंश हैं और वह अंशी भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं । बलदेवजी भी उनकी क्रियाशक्ति रूप हैं, अतः दोनों हमारे देव हैं ।

उनकी गौ, स्वेच्छापूर्वक चरती चरती तृण के लोभ से गह्वर (सघन) बन में चली गई ॥ १ ॥

**सुबोधिनी** — एवं प्रलम्बवधप्रसङ्गेन क्रीडासक्तानां गोपानां विस्मृतपशुधनानां सम्बन्धिन्यो गावो यतःकुतश्चिद् गताः, अन्तःकरणदोषे परिह्रियमाणे जीवस्यासदवस्था भवतीत्यज्ञानं बलिष्ठमिव भवति, उपाधेर्देहस्यासदर्थनिवेशात् तत्प्रसङ्ग आत्मापि तद्दोषसहितो भवति तदा गवां दाहे गोपाला अपि दाधा उच्यन्ते, एवं सर्वनाशे समुपस्थिते हरिरेव रक्षकः, तदुपेक्षायां तु सर्वनाश एव भवेत्, शरणागतौ च रक्षा, अतः सर्वोपाधिविनिर्मुक्तोऽपि हरिं शरणाभावज्जेदिति, क्रीडायामासक्तेषु गोपेषु सत्सु तत्सम्बन्धिन्यो गावो रक्षकाभावाद् दूरचारिण्यो जाताः, ततः स्वैरं चरन्त्य- स्तृणलोभेन गह्वरमत्यगम्यस्थानं विविशुः, एवमेव देह उपेक्षितोऽत्यशक्यस्थाने विशेत् ॥ १ ॥

**व्याख्यानार्थ** — प्रलम्ब के वध से निर्भय गोप क्रीड़ा में आसक्त हो गए, जिससे, उनका गौधन, जहाँ तहां चला गया जिसका इनको ज्ञान भी नहीं रहा । इसलिए नहीं रहा, कि जब अन्तःकरण का दोष नाश हो जाता है, तब लौकिक विषय का अज्ञान सा रहता है, क्योंकि दोष निवृत्ति से उस जीव की मुक्त सम अवस्था हो जाती है, अतः पशुधन का ध्यान गोपों को नहीं रहा किन्तु जब तक पूर्ण निरोध, वा मुक्त अवस्था नहीं होती है तथा देह की उपाधि लगी हुई है, जिससे असत् अर्थ में प्रवेश होता है, असत् अर्थ में प्रवेश होने से, आत्मा, जीव भी उस दोष वाला (असत् में प्रवेश वाला) होता है । तब गौओं<sup>१</sup> के दाह होने पर गोप (जीव) भी दग्ध हुए कहे जाते हैं । तात्पर्य यह है, कि जीव भी देह की उपाधि के दोषों से, स्वयं दोषी कहा जाता है अथवा स्वयं यों मानता है । इस प्रकार, जब सर्व नाश होने लगता है, तब हरि ही रक्षक हैं । यदि हरि की उपेक्षा<sup>२</sup> की जावे तो सर्व नाश हो जाय । भगवान् की शरण लेने से ही सर्व की रक्षा हो जाती है । अतः जो सर्व उपाधि से छूट गया है उसको भी भगवान् की शरण लेनी चाहिए ।

गोप क्रीड़ा में आसक्त हो गए जिससे गौओं का पालक कोई भी न रहने से गौ दूर चली गई । स्वच्छन्द होने से तृणों के लोभ के लिए जाने के योग्य नहीं वैसे स्थान में पहुँच गई । इस प्रकार देह की भी यदि उपेक्षा की जाय तो वह भी अशक्य स्थान में प्रवेश करे ॥ १ ॥

**श्लोकः** — अजा गावो महिष्यश्च निर्विशन्त्यो वनाद् वनम् ।

इषीकाटवीं विविशुः क्रन्दन्त्यो दावतर्षिताः ॥ २ ॥

**श्लोकार्थ** — अजा,<sup>३</sup> गौ, महिषी<sup>३</sup> ये सब बन की जाती हुई दाव<sup>४</sup> से प्यासी हो

<sup>१</sup> गौ का तात्पर्य यहाँ देह है ।

'प्रकाश'



गई, जिससे रंभाती हुई मुञ्जारण्य में चली गई ॥ २ ॥

**सुबोधिनी** — देहानां त्रैविध्यमिव वक्तुं तस्मिन् दिवसे अजा राजस्यो गावः सात्त्विक्यो महिष्यस्तामस्यश्च पूर्व धर्मरक्षायां निरूपितत्वात् न राजसतामसानां निरूपणं, चकारादन्ये हरिणादयश्च लीलार्थं गृहीताः श्वानो वा, एकं वनं परित्यज्य वनान्तरं नितरां विविशुः, पूर्वोक्तवने हि देवतासान्निध्यं निरुपद्रवश्च, अतस्तद् वनं परित्यज्य वनान्तरं

गताः, तत्रापि रक्षकाभावादिषीकाटवीं विविशुर्यत्र प्रवेशनिर्गमौ कठिनौ, ते हि वर्षवृद्धा आसन्नमरणाः स्वयमेव म्रियमाणाः कथमन्यरक्षां कुर्युः ? तत्र प्रविष्टाः क्रन्दन्त्यो जाता औष्ण्येन च कृत्वा तर्षितास्तृषायुक्ताश्च जाताः, एवं गवां स्वतः स्वसम्बन्धाभावोऽनिष्टसम्बन्धश्च कथितः ॥ २ ॥

**व्याख्यानार्थ** — जैसे देह सात्त्विक, राजस और तामस भेद से तीन प्रकार की है, वैसे ही, ये गौ भी तीन प्रकार की थीं, इसलिए श्लोक में, राजस गौओं को 'अजा', सात्त्विक गौओं को 'गावः' और तामस गौओं को 'महिष्य' कहा गया है। पूर्व प्रकरण में, केवल गोपों का धर्म, गौ रक्षा है, इतना ही वर्णन करना था, अतः गौ कितने प्रकार की थीं, उसके वर्णन की आवश्यकता नहीं थी। इसलिए वहाँ तीन प्रकार की गौ हैं यह वर्णन नहीं किया गया। मूल श्लोक में 'च' शब्द इसीलिए दिया है, कि उस समय लीला के लिए हरिण वा श्वान आदि पशु भी साथ में लिए थे। जिस वन में देवता का सान्निध्य था और किसी प्रकार का उपद्रव नहीं था, उस वन का त्याग कर वैसे (मुंजारण्य) में जा पहुँचे, जहाँ कोई रक्षक नहीं था और जिससे आना जाना भी कठिन है वहाँ जाने के अनन्तर देखा कि वर्ष की वृद्ध (एक साल की सूखी हुई) मूँज जो स्वयं मरणासन्न हो गई वह हमारी रक्षा कैसे कर सकेगी, अतः वे रोती हुई पुकारने लगी,<sup>१</sup> तथा धूप के कारण प्यास से व्याकुल होने लगी। इस प्रकार गायों ने आप ही अपने पालक गोपों का सम्बन्ध गँवाया और अनिष्ट से सम्बन्ध किया ॥ २ ॥

**आभास** — तादृशीषु निवृत्तान्तःकरणदोषाणां स्मृतिमाह तेऽपश्यन्त इति,

**आभासार्थ** — जिनके अन्तःकरण का दोष नाश हो गया है उनको (गोपों को) गौओं की स्मृति हुई, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

**श्लोकः** — तेऽपश्यन्तः पशून् गोपाः कृष्णरामादयस्तदा ।

जातानुतापा न विदुर्विचिन्वन्तो गवां गतिम् ॥ ३ ॥

**श्लोकार्थ** — वे, कृष्ण, राम आदि गोप पशुओं को न देखकर पछताते हुए दुःखी हो गए, गायों को बहुत कुछ ढूँढा परन्तु पता न लगा ॥ ३ ॥

सुबोधिनी — ते गोपालाः पशूनपश्यन्तः दशायां स्मरणानन्तरं जातानुतापा जाताः, कृतापि लीलाऽकृता कृष्णरामादयो गतस्थानपरिज्ञानार्थं भगवत्प्रधानाः सन्तो भाविता, अत एव न विदुर्गवां गतिं विचिन्वन्तोऽपि, मार्गमन्वगमत्रित्यग्रेण सम्बन्धः, प्रथमं तदा क्रीडाव्यवहित- धर्मपरिपालने तु गाव एव मुख्याः ॥ ३ ॥

**व्याख्यार्थ** — जब गोपों ने गोधन को नहीं देखा, तब जहाँ वे चली गई हैं, उस स्थान का ज्ञान करने के<sup>१</sup> लिए राम कृष्ण को अपना मुख्य नायक बनाकर, उस रास्ते से जाने लगे । (रास्ते से जाने लगे यह ४थे श्लोक में है उससे इसका सम्बन्ध है ।) पहले जब क्रीड़ा से विरक्त हुए<sup>२</sup> तब पशुओं का स्मरण<sup>३</sup> हुआ उनको न देखकर पछताने लगे, कि यह जो लीला (क्रीड़ा) की, वह न करने के बराबर है, कारण कि, इससे उत्पन्न आनन्द नष्ट हो गया । अतः गौओं के जाने के स्थान की गति<sup>४</sup> न हुई । गौओं के स्थान जानने का प्रयत्न इसीलिए किया कि धर्म की पालना करने में गौ जाति मुख्य है ॥ ३ ॥

**आभास** — ततोऽनुमानेन ज्ञातवन्त इत्याह तृणैरिति,

**आभासार्थ** — इसके अनन्तर, अनुमान से स्थान को जान लिया । जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — तृणैस्तत्खुरदच्छिन्नैर्गोष्पदैरङ्कितैर्गवाम् ।

मार्गमन्वगमन् सर्वे नष्टजीव्या विचेतसः ॥ ४ ॥

**श्लोकार्थ** — आजीविका के साधन नष्ट हो जाने, से चेतन<sup>५</sup> रहित हो गए । परन्तु गायों के खुरों से तथा दाँतों से कटी हुई घास देखते हुए गायों के खुरों के चिन्ह वाले मार्ग पर जाने लगे ॥ ४ ॥

सुबोधिनी — तासां गवां खुरैः दद्भिश्च छिन्नैस्तृणैः कृत्वा ज्ञातं, अतः सामान्यविशेषज्ञापकैस्तृणैर्गवां सम्बन्धिभिर्गोष्प- मार्गमन्वगमन्, आरण्यवैलक्षण्यं खुरैर्ज्ञातं रदच्छेदेन सामान्यतो दैर्घ्याङ्कितैश्चिह्नितैस्तृणैरेव, त्रिविधानि तृणानि जातानि

† अन्तःकरण का स्वरूप विस्मृति दोष पूर्ण रीति से जब तक नष्ट नहीं होता है, तब तक अल्प दोष भी पुनः उद्भूत<sup>६</sup> हो जाते हैं । गोपों को इसीलिए पुनः गौओं की स्मृति आदि लौकिक ज्ञान उदय हो गया ।

१-जानने के ।

२-छूटे ।

३-जिस स्थान पर वे गई थी उसका ज्ञान ।

४-विवेक, समझ ।

५-प्रकट ।

मूलतश्छिन्नानि मध्यतश्छिन्नानि पीडितानि च गोमयखुरघातैः, ननु चेतना अचेतनप्रायाणां मार्गे कथं गताः ? तत्राह विचेतस  
अतस्त्रिविधानामपि ज्ञापकत्वान् नात्र भ्रमशङ्का, ततः सर्व एव इति, विवेकरहिता व्याकुला वा ॥ ४ ॥  
मार्गमन्वगमन् गवां मार्गेण गताः, यतः सर्व एव नष्टाजीव्याः,

**व्याख्यानार्थ —** उस मार्ग से जाने लगे, जिसमें देखा, कि यहाँ का यह घास गौओं ने अपने खुरों से और दान्तों से काटा है, अतः इस मार्ग से गौ गई हैं आगे जाने से मिल जाएगी । गौओं के खुरों से यह जान लिया, कि इस वन को छोड़कर दूसरे वन में, इस मार्ग से गई हैं और दान्तों से कटी हुई घास से, सामान्य रीति से, यह पहचान लिया, कि गौ इस रास्ते से किस प्रकार कहां कहां गई हैं । गौओं के जाने से, उस मार्ग के तृण तीन प्रकार के हो गए थे । १-जड़ से कटे हुए तृण, २-बीच से टूटे हुए और ३-गोबर तथा खुरों के घात<sup>१</sup> से पीड़ित तृण । इन तीन प्रकार के तृणों से यह निश्चय हो गया कि, गौ यहाँ से ही गई हैं इसमें किसी प्रकार की शङ्का नहीं है । ऐसा निश्चय होने से, सब उसी मार्ग से जाने लगे । सब इसी एक ही मार्ग से, इसलिए जाने लगे कि, जो सबों की आजीविका का आश्रय गौ थीं, उनके जाने से, सब आजीविका विहीन हो गए थे ।

गोप चेतन थे, वे अचेतन<sup>२</sup> पशुओं के मार्ग पर कैसे गए ? इसके उत्तर में कहते हैं कि, आजीविका जाने से व्याकुल तथा विवेक रहित हो गए थे ॥ ४ ॥

**आभास —** ततः प्राप्य न्यवर्तन्तेत्याह,

**आभासार्थ —** वहाँ पहुंच कर गोधन लेकर पीछे लौटकर आए जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः —** मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गं क्रन्दमानं च गोधनम् ।

सम्प्राप्य तृषिताः श्रान्तास्ततस्ते सन्त्यवर्तयन् ॥ ५ ॥

**श्लोकार्थ —** मूँज के वन में भूले हुए, पुकारते हुए, अपने गोधन को प्राप्त कर, प्यासे तथा थंके हुए गोपों ने उसको चारों ओर से घेर कर पीछे लौटया ॥ ५ ॥

**सुबोधिनी —** मुञ्जाटव्यामिति, यदि मध्ये मुञ्जाटवी गावो जाताः, ततस्तादृशं गोधनं सम्प्राप्य स्वयमपि तृषिताः  
न स्यादग्रेऽपि गच्छेयुः, अतो मुञ्जाटव्यां भ्रष्टमार्गं अत एव श्रान्ताः गोभिः समानधर्माः क्षणं विश्रम्य तृषां दूरीकृत्य  
क्रन्दमाना इति कर्तव्यतामौढ्यात् सुतरां मुञ्जस्पर्शेण सुदुःखिता ततस्तदनन्तरं सम्यङ् न्यवर्तयन् निवर्तितवन्तः ॥ ५ ॥

**व्याख्यार्थ** — वह गौधन, यदि मध्य में मूँज का वन न आता तो, इससे भी आगे जाता, किन्तु मूँज के वन में ही भूल जाने से, कर्तव्य विमूढ<sup>१</sup> हो गए। मूँज के स्पर्श से, दुःखित होने के कारण, पुकारने लगे। गोप इसी प्रकार के गोधन को प्राप्त कर स्वयं भी प्यासे और श्रमित हो गए<sup>२</sup>। इनकी दशा भी गौओं के समान हो गई। प्यास मिट के थोड़ा समय विश्राम कर (थकावट दूर कर) पीछे भली भाँति उनको लेकर लौटे ॥ ५ ॥

**आभास** — सर्वे निवर्तिता न निवर्तिता इति सन्देहे भगवता सामान्यतो विशेषतश्च वनमध्यं प्रविष्टास्ता आहूताः,

**आभासार्थ** — सर्व गौ लौटकर आईं अथवा कोई रह गई, इस सन्देह को दूर करने के लिए, भगवान् ने सामान्य तथा विशेष रीति से ध्वनिकर<sup>३</sup> उनको बुलाया जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः** — ता आहूता भगवता मेघगम्भीरया गिरा ।

स्वानाम्नां निनदं श्रुत्वा प्रतिनेदुः प्रहर्षिताः ॥ ६ ॥

**श्लोकार्थ** — मेघ जैसी गम्भीर वाणी से, जब भगवान् ने उनको बुलाया, तब वे गौ, अपने नाम की ध्वनि सुनकर, प्रसन्न होकर, पीछे आप भी नाद करने लगीं ॥ ६ ॥

**सुबोधिनी** — शब्देनैव तासामन्तस्तापबहिस्तापौ गताविति ज्ञापयति मेघगम्भीरयेति, ततो गततापाः स्वानाम्नां निनदं शब्दं श्रुत्वा प्रतिनेदुः, तत्रैव स्थित्वा प्रतिशब्दं । कृतवत्यः प्रहर्षिताश्च जाताः, निकटे समागताश्चेति ज्ञातव्यं, असमागताश्च काश्चन ॥ ६ ॥

**व्याख्यार्थ** — वन से सब आ गई हैं अथवा कोई रह गई हैं इसलिए भगवान् ने मेघ के समान ध्वनि से प्रत्येक का नाम लेकर उनको बुलाया। भगवान् के उस शब्द सुनने से, उनके बाहर और भीतर के दोनों ताप मिट गए। ताप मिट जाने से, अपने नाम सुनकर, वहाँ ही खड़ी रहकर, आप भी ध्वनि करने लगीं और बहुत प्रसन्न हुई और भगवान् के पास आ गई, कोई नहीं भी आई ॥ ६ ॥

**आभास** — एतस्मिन्नवसरे दैत्याभिमानिनी देवतोपासिता लौकिक्यश्चान्तःकरणदेवताः क्रुद्धा एकीभूय दवानलरूपा जाताः स दवानलस्तस्मिन्नवसरे पलायनासमर्थे समन्तात् प्रादुर्भूतो जात इत्याह तत इति,

**आभासार्थ** — उसी, समय, प्रलम्ब दैत्य के अभिमान रूप देवता, तथा उससे (प्रलम्ब से) उपासना किए हुए देवता, एवं अन्तःकरण के अभिमान रूप तथा दोष रूप देवता, इन चार प्रकार के देवताओं ने मिल कर, दावाग्नि का रूप धारण किया । उस दावाग्नि ने मूँज से पीड़ित होने के कारण, भाग जाने में असमर्थ गौ आदि को, चारों ओर से घेर लिया जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

**श्लोकः** — ततः समन्ताद् वनधूमकेतुर्यदृच्छयाभूत् क्षयकृद् वनौकसाम् ।

**समीरितः सारथिनोल्बणोन्मुकैर्विलेलिहानः स्थिरजङ्गमान् महान् ॥ ७ ॥**

**श्लोकार्थ** — पश्चात्, यदृच्छा<sup>१</sup> से चारों ओर बनवासियों का नाश करने वाली बड़ी दावानल उत्पन्न हो गई, उसके सहायक मित्र सारथी ने (वायु ने) उस (अग्नि) को विशेष बढ़ाया जिससे वह महती अग्नि तेज ज्वालाओं से स्थावर तथा जंगम पदार्थों को चाटने लगी अर्थात् भस्म करने लगी ॥ ७ ॥

**सुबोधिनी** — वनसम्बन्धी धूमकेतुरग्निरनिष्टहेतुरिति धूमकेतुपदेनोक्तस्तेषां माहात्म्यज्ञापनार्थं यदृच्छयैवाभूदकस्मात् कालकर्मस्वभावभगवदिच्छाभिर्वा, उद्भवे हेतुमाह क्षयकृद् वनौकसामिति, वनसम्बन्धमात्रेणैव सोऽग्निः पीडयति, सुतरामेव वने स्थानं येषां, तादृशस्य सहायोऽप्यन्यो जात इत्याह, समीरितः सारथिनेति, वायुरग्नेः सारथी रथप्रवर्तकः, रथो ज्वाला, अत एवोल्बणोन्मुकैर्विलेलिहानो जातः, सर्प इव ग्रसन्नागतस्ततो बहुभक्षणेन पुष्टः सन् महाज् जातः ॥ ७ ॥

**व्याख्यानार्थ** — मूल श्लोक में अग्नि के लिए 'धूमकेतु' नाम देने से यह बताया है, कि यह अग्नि अनिष्ट<sup>२</sup> का कारण है तथा इस अग्नि का माहात्म्य दिखाने के लिए कहा, कि यह अग्नि किसी की उत्पन्न की हुई नहीं है, किन्तु यह अपनी इच्छा से अचानक स्वयं प्रकट हुई है, अथवा काल, कर्म, स्वभाव वा भगवदिच्छा से उद्भूत<sup>३</sup> हुई है । उत्पन्न होने के कारण बताने के लिए कहते हैं, कि वन में रहने वालों का क्षय करने के लिए प्रकट हुई है । यह अग्नि वन की सदा सम्बन्धिनी है, अतः जो अन्य, वन से सम्बन्ध करते हैं, उनको पीड़ा करती है, अर्थात् अन्य का वन से सम्बन्ध हो वह मानो इसको सहन नहीं कर सकती है । उस अग्नि को, तेज करने वाला अन्य भी सहायक मिल गया । वह है वायु । वायु को शास्त्रों में अग्नि का सारथी<sup>४</sup> कहा गया है । अग्नि का रथ अग्नि की ज्वालाएं हैं, उनको वह (वायु) तेज कर, आगे बढ़ाता<sup>५</sup> है, इसलिए मूल में, तेज ज्वालाओं से काटने लगी जैसे सर्प

१-अपनी इच्छा अचानक । २-दुःख । ३-पैदा । ४-रथ चलाने वाला साथी ।

५-चलाता ।

समीप में आए हुए को ग्रसता<sup>१</sup> है, जिससे वह पुष्ट होता है वैसे ही वह अग्नि भी इस प्रकार करने में महान् हुई ॥ ७ ॥

**आभास** — तादृशो भगवदीयानामपि स्थाने समागत इत्याह तमापतन्तमिति,

**आभासार्थ** — इस प्रकार की वह दावाग्नि, जहाँ भगवदीय (गोप, गौ) बैठे थे, वहाँ भी आई। जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः** — तमापतन्तं परितो दवाग्निं गोपाश्च गावः प्रसमीक्ष्य भीताः ।

ऊचुश्च कृष्णं सबलं प्रपन्ना यथा हरिं मृत्युभयार्दिता जनाः ॥ ८ ॥

**श्लोकार्थ** — चारों ओर से आती हुई, उस दावाग्नि को देख गौ और गोप भयभीत हो गए, जिससे बलराम तथा श्रीकृष्ण की शरण जाकर उनको कहने लगे ॥ ८ ॥

|                                                                                                                                                                                                                                                                               |                                                                                                                                                                                                                                                |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी</b> — परितः आपतन्तमुपर्यागच्छन्तं दवाग्निमपरिहार्यं सहजदोषरूपं गोपाः प्रतिक्रियानभिज्ञा गावश्चमूढाः प्रकर्षेण समीक्ष्य भीता जाताः, ततो ज्ञातभगवन्माहात्म्या भगवन्तं प्रार्थितवन्त इत्याहोचुश्चेति, बलभद्रसहितमिति प्रकृतोपयोगात् क्रियाशक्तिसाहित्यमुक्तं,</p> | <p>कृष्णं सदानन्दं प्रकृते लीलाकर्तारं शरणापन्नाः सन्त ऊचुः, तत्र दैन्यार्थं दृष्टान्तमाह यथा हरिमिति, मृत्युभयेनाप्रतीकार्येणार्दितो यथा कश्चित् कृतपुण्यपुञ्जो जनो गजेन्द्र इव हरिं शरणं गच्छति तथात्यन्तं दीनाः सर्व एव शरणं गताः ॥ ८ ॥</p> |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यानार्थ** — अपरिहार्य<sup>२</sup> अग्नि को अपने ऊपर आती हुई देख गोप (उस अग्नि के मिटाने के उपाय को न जानने वाले थे) और गौ (पशु-मूढ थीं) इसलिए उस (अग्नि) को देख डर गए। पश्चात् भगवान् के माहात्म्य को जानते थे अतः उनके शरण गए तथा प्रार्थना करने लगे। क्रियाशक्ति रूप बलभद्र एवं सदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण हैं, अतः इस कार्य में वे हमारी अवश्य सहायता करेंगे, यों समझ प्रार्थना की। क्योंकि, श्रीकृष्ण सदानन्द स्वरूप होते हुए भी अब लीला करने के लिए प्रकट हुए हैं। इस प्रकार, बलरामजी भी क्रियार्थ प्रकट हुए हैं, इसलिए शरण जा कर प्रार्थना करने से, हमारा यह सङ्कट वैसे ही मिटाएँगे, जैसे गजेन्द्र का मिटाया था अतः गजेन्द्र की तरह अत्यन्त दीन होकर शरण गए ॥ ८ ॥

कारिका — प्रार्थनामुपपत्तिं च क्रमेणाह निराकृतौ ॥ ३ ॥

कारिकार्थ — निवारण\* के लिए प्रार्थना तथा उपपत्ति† को क्रम पूर्वक कहते हैं ।

आभास — तेषां विज्ञापनामाह कृष्णकृष्णेतिद्वाभ्यां,

आभासार्थ — निम्न दो श्लोकों से प्रार्थना करते हैं ।

श्लोकः — कृष्ण कृष्ण महावीर्य हे रामामितविक्रम ।

दावाग्निना दह्यमानान् प्रपन्नांस्त्रातुमर्हथः ॥ ९ ॥

श्लोकार्थ — महान् पराक्रम वाले हे कृष्ण, हे कृष्ण ! अनन्त पराक्रम वाले हे राम ! दावानल से जलते हुए हम, जो आपके शरणागत हुए हैं उनकी रक्षा कीजिए ॥ ९ ॥

सुबोधिनी — कृष्णकृष्णेतिसम्बोधनमादरेण वैकल्याच्च महावीर्येति प्रकृतोपयोगिसामर्थ्यं, द्विविधा हि त इति । सामर्थ्यममितविक्रमेतिसम्बोधनेनोक्तं, विज्ञापना-  
माहुर्दावाग्निना दह्यमानानिति, रक्षायां हेतुः प्रपन्नानिति,  
राममप्याहुः परं न द्विरुक्तिः, प्रलम्बादिवधात् प्रकृतोपयोगि । समर्थ एव प्रपन्नरक्षायामधिकारी अतस्त्रातुमर्हथः ॥ ९ ॥

व्याख्यार्थ — भगवान् को कृष्ण ! कृष्ण ! यह सम्बोधन देने का अर्थात् दो बार कहने का भाव यह है कि एक तो श्रीकृष्ण के लिए आदर प्रकट किया है और दूसरा अपनी विकलता<sup>१</sup> बताई है तथा महान् पराक्रम वाले हो इस विशेषण देने से प्रकृत कार्य (दावानल से बचाने) में आप समर्थ हो यह बताया है । इसी प्रकार गोपों ने राम को अनन्त पराक्रम वाला कह कर दावाग्नि से बचाने की प्रार्थना की है किन्तु गोप दो प्रकार<sup>‡</sup> के थे इसलिए 'राम' यह सम्बोधन दो बार नहीं कहा । विशेष

\*दावाग्नि से प्राप्त भय के निवारण (मिटाने) के लिए ।

†हेतु देकर कार्य सिद्ध का उपाय बताना ।

‡साधारण गोप श्रीकृष्ण व बलराम को समान मानते थे, असाधारण श्रीकृष्ण को विशेष मानते थे, वा उनका पूर्णरूप से मानते थे ।

‘प्रकाश’

से, यह बता दिया कि आपने अभी प्रलम्ब को मारा है अतः इस दावाग्नि से भी रक्षा करने में शक्तिमान हो। हम आपकी शरण आए हैं जो समर्थ होता है, वह शरणागत की रक्षा करता है, क्योंकि उसको वैसा करने का अधिकार है। इसलिए आप दोनों हमारी रक्षा करने के लिए योग्य हैं ॥ ९ ॥

**आभास —** एवं मर्यादाविचारेणापि स्वरक्षाया आवश्यकत्वं निरूप्य पुष्टिमार्गेणापि स्वरक्षायास्तथात्वमाहुर्नूनमिति,

**आभासार्थ —** उपर्युक्त श्लोक में, मर्यादा के विचार से, अपनी रक्षा की आवश्यकता निरूपण कर, अब पुष्टि मार्ग से, अपनी रक्षा करानी आवश्यक है अथवा आपकी स्थिति (पद) से, तथा हमारी स्थिति (दशा) से भी हमारी रक्षा आवश्यक है जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः —** नूनं त्वद्बान्धवाः कृष्ण न चाहन्त्यवसीदितुम् ।

वयं हि सर्वधर्मज्ञ त्वन्नाथास्त्वत्परायणाः ॥ १० ॥

**श्लोकार्थ —** हे कृष्ण ! निश्चय से हम आपके बान्धव हैं, अतः हम दुःखी होवें, यह योग्य नहीं है। हे सर्व धर्मों को जानने वाले ! हम सब के आप नाथ हैं और आप ही शरण्य हैं ॥ १० ॥

**सुबोधिनी —** भगवद्विचारेणोक्त्वा स्वविचारेणाहुर्वा कृष्णेति, सदानन्दसम्बोधनं सेवकानां दुःखित्वा-नौचित्याय, त्वद्बान्धवास्त्वमेव बन्धुर्येषां बन्धुत्वसम्बन्ध-ज्ञानवन्तस्तेऽवसीदितुमवसादं प्राप्तुं नार्हन्ति, चकारादल्यमपि खेदं प्राप्तुं नार्हन्त्येव, अवसादितुमिति वा पाठः, एवकारेण कादाचित्कोऽप्यवसादो निषिद्धः, भगवद्बान्धवत्वं समर्थयन्ति वयं हीति, धर्मा अनेकविधा लौकिकवैदिकानन्त-प्रकारभिन्नाः सर्वे त्वयैव ज्ञायन्ते तेषां बाध्यबाधकता च,

अतो येनकेनापि प्रकारेणास्मत्प्रपत्तिः क्वचिद्धर्मे प्रवेशमर्हति, अन्यथा वयं कथं त्वन्नाथास्त्वमेव नाथो येषां तादृशा भवेम ? न हि धर्मव्यतिरेकेण विशेषाकारेण त्वं नाथो भवसि, किञ्च वयं त्वत्परायणास्त्वमेव परमयनं स्थानं येषां, नाथत्वेऽपि तदेकनिष्ठतातिदुर्लभा यथा गावस्त्वन्नाथास्त्वन्निष्ठाः, वयं तूभयविधाः, गवां वा वचनमाद्यं गोपानामग्रिमम् ॥ १० ॥

**व्याख्यानार्थ —** भगवान् को कृष्ण नाम कह कर, यह बताया है कि सदानन्द स्वरूप है अतः आप (सदानन्द स्वरूप) के सेवक (हम) दुःखी, यह उचित नहीं है तथा हम आपके बान्धव हैं, इससे भी हम दुःखी होने योग्य नहीं है। 'च' शब्द से यह बताया है कि थोड़ा सा भी दुःख हम (आपके सेवक तथा बान्धव होने से) सहन करने योग्य नहीं है। 'एवं' शब्द से यह भी कह दिया कि, किसी भी समय, हमको दुःख नहीं होना चाहिए। आप हमारे बान्धव हैं, इसको हेतु देकर सिद्ध करते हैं। लौकिक, वैदिक अनन्त प्रकार के जो धर्म हैं, वे भिन्न भिन्न हैं, उनको आप ही जानते हैं। तथा कौन सा धर्म किस धर्म को बाध करता है और कौनसे धर्मों का अन्य धर्म से बाध होता है इसको भी आप



जानते हैं । अतः चाहे किसी भी प्रकार से हम आपके शरण आए हैं, उस शरणागति की किसी भी धर्म में गणना होनी चाहिए यदि नहीं गणना होती है तो आप ही हमारे नाथ हैं यह कैसे सिद्ध होगा ? धर्म के अतिरिक्त विशेष प्रकार से आप नाथ नहीं हो सकते हैं और वह विशेष यह है कि हमारे परम स्थान आप ही हैं । नाथ मानने पर भी एक निष्ठा<sup>१</sup> अतीव दुर्लभ<sup>२</sup> है । ‡ जैसे आप गायों के नाथ हो और हमारे तो नाथ और आधार भी आप ही हो क्योंकि हम 'त्वन्नाथ' भी हैं और 'त्वत्परायणः' भी । अथवा गाएँ भगवान् को अपने नाथ के रूप में प्रार्थना कर रही हैं और गोप अपने आधार-स्थान के रूप में ॥ १० ॥

**आभास —** भगवांस्तु तेषां प्रार्थितं कृतवानित्याह वचो निशम्येति,

**आभासार्थ —** गोपों ने, जो अपनी रक्षा के लिए बलरामजी तथा श्रीकृष्ण को प्रार्थना की है, उसको सुन कर, भगवान् (श्रीकृष्ण) ने तो उनकी प्रार्थना के अनुसार उनका भय मिटाते हुए उनकी रक्षा की-बलरामजी शान्त रहे जिसका वर्णन इन निम्न दो श्लोकों से करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

**श्लोकः —** वचो निशम्य कृपणं बन्धूनां भगवान् हरिः ।

निमीलयत मा भैष्ट लोचनानीत्यभाषत ॥ ११ ॥

**श्लोकार्थ —** श्री शुकदेवजी कहने लगे कि-भगवान् हरि बान्धवों के वैसे दीन वचन सुनकर, बोले कि हे गोपों ! बान्धवों ! मत डरो ! आँखें बन्द करो ॥ ११ ॥

|                                                                                                                                                                                                                                                                                                 |                                                                                                                                                                                                      |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी —</b> कृपणं दीनतरं बन्धूनामुभयविधानां भगवानुपायाभिज्ञः समर्थश्च हरिः सर्वदुःखहर्ता स्वाभाविकोऽयं धर्मो देवगुह्यं भगवत्कर्माज्ञानां भयजनकं च, रात्रौ तु सम्यग्दर्शनाभावान्न चक्षुर्निमीलनोपदेशो ज्ञानशक्तिप्राकट्या-देवैतज् जातं, अज्ञाने तु हितमेवैतद् भवेद् यथाग्नौ पतङ्गाः</p> | <p>पतन्ति, अन्यत्र वैते नेयाः, तथाप्येतेषां भयं स्यात्, अतः सर्वप्रकारेण भयाभावायाह निमीलयतेति, चक्षुर्निमीलनं कुरुत, न च शङ्कनीयमग्निर्धक्ष्यतीत्यत आह मा भैष्टेति, अग्निभयं न कर्तव्यम् ॥ ११ ॥</p> |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

‡ यहाँ मूल में 'यथागावस्त्वन्नाथास्त्वनिष्ठा' कहकर 'वयं तु भयविद्या' कहा है अतः स्पष्ट नहीं होता है कि आशय क्या है । अनुवाद 'यथागावस्त्वन्नाथाः' और 'त्वन्निष्ठाः वयं तूभयविद्याः' यों 'तु' के स्वारस्यानुरोध से किया है ।

'अनुवादक'

**व्याख्यार्थ** — भगवान् जिनके नाथ और आधार हैं, उन गोप बान्धवों का तथा जिन गौओं के आप नाथ हैं उनका इस प्रकार दोनों प्रकार के बन्धुओं के दीन वचन सुनकर, सब के दुःखों को मिटाना, जिनका स्वाभाविक धर्म है तथा दुःख हरण के उपाय जानने वाला और सर्व समर्थ हरि भगवान् ने दुःख मिटाना आवश्यक समझा, आप अपना कर्म (लीला) देवताओं से गुप्त रखते हैं और आपके कर्म से अज्ञ डर जाते हैं, अतः भगवान् ने इन दोनों (देव रूप गोप जाने नहीं और अज्ञ डरे नहीं) कार्यों की सिद्धि, के लिए गोपों को आज्ञा दी कि अपने नेत्र मूँदलो । पहली दावाग्नि हुई, तब नेत्र बंद नहीं करवाये, जिसका कारण यह था, कि उस समय रात्रि थी जिससे वे पूरी तरह देख नहीं सकते थे । अब गोपों में ज्ञान शक्ति प्रकट हो गई है, जिससे वे डर गए थे, यदि ज्ञान शक्ति प्रकट न हुई होती तो अज्ञान की अवस्था में, अग्नि को मित्र समझ, पतङ्ग की तरह अग्नि में पड़ जाते, इनको अन्य स्थान पर ले जाने से भी भय तो बना रहता, अतः सर्व प्रकार से, भय का अभाव हो इसलिए आज्ञा दी, कि नेत्र मूँद लो । नेत्र मूँदने पर अन्तःकरण में यह भय रह जाता कि अग्नि हमको जला देगी, अतः भगवान् ने इस भय को मिटाने के लिए विश्वास दिला दिया कि डरो नहीं, अर्थात् अग्नि जला देगी यह भय मत करो ॥११॥

**आभास** — ईश्वरवाक्यादुपायत्वेनाज्ञातमपि कृतवन्त इत्याह तथेति,

**आभासार्थ** — यद्यपि गोपों को यह ज्ञान नहीं था कि नेत्र बंद भगवान् ने इसलिए कराए हैं, कि हमारे दुःख निवृत्ति का उपाय भगवान् करते हैं, तो भी, आपकी आज्ञा से नेत्र बंद किए, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं -

**श्लोकः** — तथा निमीलिताक्षेषु भगवानग्निमुल्बणाम् ।

पीत्वा मुखेन तान् कृच्छ्राद् योगाधीशो व्यमोचयत् ॥१२॥

**श्लोकार्थ** — वैसे ही आँखें बन्द करने पर, योगेश्वर भगवान् ने मुख से उन अग्नि का पान कर, उन (शरणागतों) को दुःख से छुड़ाया ॥१२॥

सुबोधिनी — निमीलिताक्षेषु सत्सूल्बणामप्यग्निं भगवान् मुखेनैव पीत्वा पूर्ववत् तान् व्यमोचयत्, उल्बणत्वं दुष्टवेशात्, सख्यसम्बन्धेन प्राप्तदोषदाहार्थं पानं तेषामग्निरूप-दोषाणां दाहार्थं वा ते ह्याधिदैविका एव दग्धा भवन्तीति,

ननु कथं स्वान्तर्गतानामग्निगतानां वा धर्माणां प्रकटीकरणं ? तदाह योगाधीश इति, योगानामधीशः स्वामी, अतो विशेषेणामोचयद् यथा तत्संस्कारोऽपि न तिष्ठतीति ॥१२॥

**व्याख्यार्थ** — भगवान् ने देखा कि गोपों ने नेत्र मूँद लिए हैं, तब दुष्ट के आवेश होने से, तेज हुई दावाग्नि को, मुख से ही उसका पान कर शरणागतों को पहले की तरह दुःख से छुड़ा दिया ।

अग्नि को जल से न बुझाकर मुख से इसलिए पान किया, कि उसमें (दावाग्नि में) जो सख्य+ सम्बन्ध के कारण से दोष आए थे वे जल से नष्ट नहीं होते, अतः उनका पान कर, अर्थात् अपने भीतर स्थित आधिदैविक अग्नि में स्थित कर, उन दोषों को तथा अग्नि रूप दोषों को भी नाश किया। वे दोष भगवान् में अन्दर स्थित आधिदैविक अग्नि से मिलने पर ही समूल नष्ट हो सकते थे। अपने सेवकों में तथा अग्नि में, भीतर रहे हुए दोष भगवान् ने कैसे प्रकट किए। इस शङ्का के उतर में कहते हैं, कि योगाधीश (कर्म करने में चतुरों के स्वामी) हैं, अतः भक्तों के तथा अग्नि के दोषों (असुरत्व) को, उनमें से पृथक् कर, दावाग्नि में धरा, आपने उस दावाग्नि को पान कर, दोष समूल नष्ट कर दिए। वे गोप निर्दोष होने के साथ दुःख से छूट गए ॥ १२ ॥

**आभास —** ततो भीताः पीतेऽप्यग्नौ निमीलिताक्षा एव स्थितास्ततो

**आभासार्थ —** भगवान् ने अग्नि का पान कर लिया, तो भी भय के कारण उन्होंने नेत्र खोले नहीं, जब आपने आज्ञा की, कि नेत्र खोलो, तब आँखें खोल दी, जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः —** ततश्च तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनर्भाण्डीरमापिताः ।

**निशम्य विस्मिता आसन्नात्मानं गाश्च मोचिताः ॥ १३ ॥**

**श्लोकार्थ —** फिर, जो उन्होंने नेत्र खोले, तो देखा कि हम भाण्डीर वन में हैं, अपने को और गौओं को छूटे हुए की कहानी सुनकर अचम्भे में पड़ गए ॥ १३ ॥

|                                                                                                                                                                                                                                                                                  |                                                                                                                                                                                                                                        |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी —</b> भगवतैवोन्मीलयतेत्युक्तास्तेऽक्षीण्युन्मील्य पुनरलौकिकेनैव प्रकारेण भाण्डीरवनमापिताः पुनर्गमने तेषां ज्ञानाभावादागतमार्गस्य विस्मृतत्वाज्ज्ञापकानां नूतनैर्नाशनादतिजिज्ञासायां विलम्बाच्च, अतो भगवतैव भाण्डीरमापिताः, निमीलिताक्षा एव समागता इतिविमर्शः,</p> | <p>यतो भगवान् हरिः, अतो निशम्य ज्ञात्वा श्रुत्वा वा विस्मिता आसन्, आत्मानं गाश्च मोचिता निशम्य, आत्मानं गा इत्यवयुज्यानुवादः, चक्षुर्निमीलनेन पूर्वसर्वविस्मरणं, पश्चाद् भगवन्मुखाद् बलभद्रमुखाद् वा श्रवणं, तदाह निशम्येति ॥ १३ ॥</p> |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यानार्थ —** भगवान् ने दावाग्नि का पान कर, नेत्र मूंदे हुए गोपों को भाण्डीर वन (में) ले आए, वहाँ उनके नेत्र खुलवाये आँखें खोलकर देखा कि हम तो भाण्डीर वन में बैठे हैं। मन में विचारा, कि यह सब भगवान् की कृपा है, उन्होंने ही यहाँ पहुंचा दिया है। यदि हम स्वतः आते

† गोप भगवान् के सखा थे, अतः सखा भाव में समानता होने से, भगवान् को अपने समान समझने लगे, अपना अंश स्वरूप भूल गए यह दोष जो गोपों में आ गया था वह दोष 'दावाग्नि' रूप है अतः उसको पान कर, मित्रों के दोषों को समूल नाश कर दिया।

'योजना'

तो एक तो वह मार्ग याद नहीं और नवीन घास उत्पन्न होने से, खुरों के चिन्ह भी मिटजाने से मार्ग ढूँढने में विलम्ब होता । हमारी आँखें बंद ही थीं तब भगवान् ने यहाँ पहुँचाया है, उस (पहुँचाने) का कारण यह है, कि भगवान् 'हरि' (दुःख हरण कर्ता) हैं । अनन्तर भगवान् के मुख से अथवा बलरामजी के मुख से, दावाग्नि पान कर, हमको तथा गौओं को भगवान् दुःख से छुड़ाकर यहाँ लाए हैं यह सुनकर तथा समझकर अचम्भे में पड़ गए । नेत्र बन्द करने से पहले का सब वृत्तान्त भूल गए थे, पीछे सुनने से समझा और स्मरण हुआ ॥ १३ ॥

**आभास —** ततस्तेषां गताविद्यानां या बुद्धिर्जाता तामाह कृष्णस्य योगवीर्यं तदिति,

**आभासार्थ —** पञ्च पर्वा अविद्या नष्ट होने के अनन्तर, उन (गोपों) की जैसी बुद्धि हुई, वैसी का वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

**श्लोकः —** कृष्णस्य योगवीर्यं तद् योगमायानुभावितम् ।

दवाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य तं मेनिरेऽमरम् ॥ १४ ॥

**श्लोकार्थ —** योगमाया से जिस (दावाग्नि से रक्षा) का अनुभव हुआ है, वैसा श्रीकृष्णचन्द्रजी के योग का प्रभाव, देखकर गोपों ने श्रीकृष्ण को अमर माना ॥ १४ ॥

**सुबोधिनी —** योगमाययानुभावितं, विस्मरणपुनः—  
स्मरणाभ्यां सहितं, तद् भगवद्दीर्यमलौकिकमात्मनो दवाग्नेः  
सकाशात् क्षेमं वीक्ष्य तं भगवन्तममरं मरणनिवर्तकं कालातीतं

वा पुरुषोत्तमं मेनिरे, तेषां देवा एवोत्तमा इत्यनैष्वर्चस्विकं  
देवत्वं वा मेनिरे, दावाग्निर्हि लब्धनाशकः, ततः परिपालनं  
क्षेमो भवत्येव ॥ १४ ॥

**व्याख्यार्थ —** योगमाया से विस्मरण कराना २ फिर स्मरण कराने का अनुभव हो रहा है, वैसे अलौकिक भगवान् के वीर्य<sup>१</sup> को, (अपनी दावाग्नि से रक्षा होना एवं अपना कुशल होते) देख उन भगवान् को अमर तथा कालातीत<sup>२</sup> अथवा पुरुषोत्तम मानने लगे, अथवा गोप देवों को ही, सबसे उत्तम मानते थे, अतः श्रीकृष्ण को उन देवों में उत्तम देव समझने लगे । दावाग्नि के लपेटे, में, जो भी आवे, उसका वह नाश करने वाली है वैसी दावाग्नि से हमारी रक्षा ये (श्रीकृष्ण) ही कर सके हैं ॥ १४ ॥

**आभास —** एवं तान् सर्वथा निर्दुष्टान् कृत्वाग्रे निवर्त्यदोषाभावादत्रैव प्रत्यापत्तिः  
क्रियते गाः सन्निवर्त्येति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार सर्व को निर्दोष बनाया, अर्थात् सब की पञ्चपर्वा अविद्या नाश कर दी और वे दोष फिर आने के नहीं, अतः यहाँ से ही अपने स्थान ब्रज में लौट आए — जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः — गाः सन्निवर्त्य सायाह्ने सहरामो जनार्दनः ।**

**वेणुं विरणयन् गोष्ठमगाद् गोपैरभिष्टुतः ॥ १५ ॥**

**श्लोकार्थ —** सांझ के समय, बलदेवजी के संग श्रीकृष्णचन्द्र गौओं को अच्छे प्रकार से लौटाकर, गोपों से स्तुति कराते और बंसी बजाते हुए गोकुल में पधारे ॥ १५ ॥

**सुबोधिनी —** न हि भीतानामेव गमनं किन्तु यथासुखं सायाह्ने एव, जनाविद्या नाशितेति जनार्दनः, न केवलं दोषं दूरीकृतवान् किन्त्वष्टमपि कृतवानित्याह सहराम इति, वेणुं विरणयन्निति सर्वसद्गुणोद्बोधनं, गोष्ठमगादिति स्थानस्य पवित्रता निरूपिता, गोपैरभिष्टुत इति गोष्ठसमागमनेऽपि तेषां माहात्म्यज्ञानं दृढमिति ज्ञापितम् ॥ १५ ॥

**व्याख्यानार्थ —** गोपों को उसी समय, गोष्ठ में न ले आने का कारण यह था, कि गोप भयभीत थे, जब उनका भय मिट गया और वे समझ गए कि अब कोई भय नहीं है, तब तक सायंकाल हो गया था, अतः सायंकाल में सुख पूर्वक गोकुल आए । गोपों की अविद्या नाश हुई, क्योंकि भगवान् जनार्दन हैं अविद्या को नाश करने वाले हैं । न केवल अविद्या नाश हुई, किन्तु ईष्ट की भी प्राप्ति हुई, कारण कि भगवान् के साथ बलरामजी भी थे इस प्रकार दोनों की प्राप्ति कर, प्रसन्न होते हुए, लौटने लगे । भगवान् ने बंसी बजा कर सबों के सद्गुणों को जगाया गोष्ठ शब्द से स्थान की पवित्रता दिखाई अर्थात् जहाँ गौओं का निवास है वह स्थान पवित्र है । गोप भगवान् की स्तुति करते थे । यहाँ गोष्ठ में आने पर भी गोपों को भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान दृढ था ॥ १५ ॥

**आभास —** एवं वनगमने गोपानां सौख्यमुक्त्वा गोष्ठगमने गोपीनां सौख्यमाह गोपीनामिति ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार, भगवान् वन में पधारे, जिससे गोपों को आनन्द हुआ उसका वर्णन कर अब गोष्ठ में आने से गोपीजन को आनन्द हुआ जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः — गोपीनां परमानन्द आसीद् गोविन्ददर्शने ।**

**क्षणं युगशतमिव यासां येन विनाभवत् ॥ १६ ॥**

**श्लोकार्थ —** भगवान् के दर्शन होते ही, गोपीजन को परमानन्द हुआ, जिन

गोपीजन के भगवान् के बिना एक क्षण भी सौ युग के बराबर बीतता था ॥ १६ ॥

**सुबोधिनी** — सौख्यमाह गोपीनामिति गोविन्ददर्शने तेषामानन्दाविर्भावादज्ञाननिवृत्तिरथैवोक्ता, प्रपञ्चविस्मृतिमाह क्षणं युगशतमिवेति, यासां गोपिकानां येन भगवता बिना क्षणं युगशतमिवाभवदेकस्मिन् क्षणेऽनन्तवारमुत्पद्यन्ते प्रियन्ते चेति, एवमनिर्वृत्या संसारभावो ज्ञापितः ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिनीयां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे षोडशः अध्यायः ॥ १६ ॥

**व्याख्यानार्थ** — गोपीजन ने गोविन्द का दर्शन किया जिससे उनको परमानन्द हुआ और उससे अज्ञान की भी निवृत्ति हो गई, तथा गोपीजन को भगवान् के बिना एक क्षण भी सौ युगों के समान भासता था, जिसका तात्पर्य है, कि गोपियां उसी एक क्षण में, मनुष्यों के नौ युग में, जितने जन्म मरण होते हैं, उतने जन्म मरण भोगती अर्थात् उनको वह क्षण भी दुःख रूप संसार था, अतः जब भगवान् के दर्शन हुए तो आनन्द प्राप्त होने से, जन्म मरण का चक्र नष्ट हो गया अर्थात् संसार की विस्मृति हो गई ॥ १६ ॥

इति श्रीमद्भागवत महा पुराण दशम स्कन्ध पूर्वार्ध के १७वें अध्याय की श्री मद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तामस प्रमेय अवान्तर प्रकरण के 'ज्ञान' निरूपण पाँचवें अध्याय के हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।



इस अध्याय में वर्णित भगवान् श्री कृष्णचन्द्र आनन्दकन्द की लीलाओं का अवगाहन निम्नलिखित भक्त शिरोमणि सूरदासजी के पदों से कीजिएगा ।

### राग कान्हरो

अब की राख लेहु गोपाल ।

दसहुं दिसाते दुसह दावाग्नि उपजी है यहि काल ॥

पटकत बांस कांस कुश चटकत लटकत ताल तमाल ।

उचटत अति अंगार फुटत फर झपटत लपट कराल ॥

धूम धूँषि बाढी धुर अंबर चमकत बिच बिच ज्वाल ।

हरिन बराह मोर चातिक पिक जरत जीव बेहाल ॥

जिन जिय डरहुं नयन मूँदहु सब हंसि बोले नन्दलाल ।

सूर अनल सब बदन समानी अभै करे ब्रजबाल ॥

### राग गोड

दावानल अचै ब्रज जन बचायो ।

धरनि अकासलों ज्वाल माला प्रबल धेरि चहुं पास वृज वास आयो ॥

भये बेहाल सब देख नन्दलाल तब हंसत ही ख्याल ततकाल कीनों ।

सबनि मूंदे नयनि नाहि चितये सैन तृषा ज्यों नीर दब अचै लीनों ॥

देखो अब नयन भरि बुझि गई अगनि झार चितै नर नारि आनन्द भारी ।

सूर प्रभु सुख दियो दावानल पीलियो कहत सब ग्वाल धनि धनि मुरारी ॥

### राग बिहागरो

चकृत देखि यह कहि नर नारि ।

धरनि अकाश बराबर ज्वाला झपटी लपटि करारि ॥

नहिं वरष्यो नहिं छिक्क्यो काहू कहां धों गयो बिलाई ।

अति अघात करत बन भातर कैसे गयो बुझाई ।

तृण की आगि बरत नहिं बुझिगई हंसि हंसि कहत गोपाल ।

सुनहु सूर वह करनि कहनि यह ऐसे प्रभु के ख्याल ॥

### राग बिलावल

जाको सदा सहाइ कन्हाई । ताहि कहौ काको डर माई ॥

वनचर जहाँ संगही डोलै । खेलत खात सबनिसों बोलै ॥

जाको ध्यान न पावै जोगी । सो वृज में माखन को भोगी ॥

जाकी माया त्रिभुवन छावै । जो जसूमति के प्रेम बँधावै ॥

मुनि जन जाको ध्यान न पावै । वृजजन लै लै नाम बुलावै ॥

सूर ताहि सुर अंबर देखो । जीवन जन्म वृज ही को लेखो ॥



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीवाक्यतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ❖ श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमः स्कन्धः ( पूर्वार्धः )

### तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणम्

‘चच्छेऽध्यायः’

श्री सुबोधिनी अनुसार १७वां अध्याय

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २०वां अध्याय

कारिका — लीला सप्तदशेऽध्याये निरुद्धैः सहितोच्यते ।

वर्षाशरत्कालयोगात् सर्वतत्त्वं निरूप्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ — जिन भक्तों का निरोध हो गया है, उनके साथ की हुई लीला का वर्णन सत्रहवें अध्याय में किया जाता है, तथा वर्षा और शरद् ऋतु के योग से सर्व प्रकार के तत्त्व निरूपण किये जाते हैं ॥ १ ॥

व्याख्या — इस अध्याय में निरुद्ध भक्तों के साथ, जो लीला भगवान् ने की है, उसका वर्णन है, जिसका कारण यह है कि भगवान् के मित्र गोप तथा ब्रजवासियों की भगवान् में पहले से अब विशेष आसक्ति हुई है, क्योंकि भगवान् ने अन्तःकरण के दोष रूप दावाग्नि तथा प्रलम्ब दैत्य का नाश किया



है। इन दैत्यों के नाश से, गोपों की भगवान् में विशेष आसक्ति हुई है अतः निरुद्ध भक्तों के साथ की हुई लीला का वर्णन सत्रहवें अध्याय में है।

इस कारिका में यों नहीं कहा है, कि निरुद्ध<sup>१</sup> भक्त प्रभु के साथ थे किन्तु उनके साथ प्रभु की लीला का वर्णन है जिसका भावार्थ यह है कि जैसे स्वामिनियां (गोपीजन) जब प्रभु गौ चारणार्थ वन में पधारते तब आपस में मिलकर परस्पर प्रभु की लीलाओं का गुणगान करती थीं, जिससे लीलाओं में तन्मय हो जाती थीं, वैसे ही गोप रात्रि को, परस्पर तथा अन्य ब्रजवासियों के साथ भगवान् की लीलाओं का गुणगान करते थे, जिससे वे लीलाएँ, उनके हृदय में स्थिर हो जाती थीं।

वर्षा और शरद् ऋतु के योग से उनमें (लीलाओं में) आने वाले सर्व पदार्थों के तत्त्वों का निरूपण किया है।

**कारिका — दोषापगमन एव सर्वतत्त्वस्य बोधनम् ।**

**ज्ञाते च तत्त्वे सत्क्रीडा प्राजापत्ये निरूप्यते ॥ २ ॥**

**कारिकार्थ —** सब तत्त्वों का ज्ञान तब होता है जब सर्व दोष पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं, तत्त्वों का जब ज्ञान हो गया तब सत्क्रीड़ा हुई जिसका वर्णन सत्रहवें\* अध्याय में किया गया है ॥ २ ॥

**व्याख्या —** पहले भी, ये (वर्षा और शरद्) ऋतुएं आई हैं, तब वर्णन न कर, इस अध्याय में, इनका वर्णन इसलिए किया गया है, कि अब ये गोप, देहाध्यास आदि दोषों के नाश होने से, शुद्ध हो गए हैं। दोष को मिटाने वाली, इन लीलाओं के श्रवण मात्र से, जब सर्व दोषों की निवृत्ति होती है, तो गोपों ने तो, इन लीलाओं का साक्षात् अनुभव किया है, जिससे वे दोष रहित हो गए, यह स्वतः सिद्ध सिद्धान्त है। दोष वालों को लीला के स्वरूप के तत्त्वों का ज्ञान नहीं हो सकता था। अब निर्दोष होने से गोपों को लीला के सर्व तत्त्व (पदार्थों) का ज्ञान हो गया, जिससे इस अध्याय में सत्क्रीड़ा<sup>२</sup> का वर्णन है, जिस क्रीड़ा में दैत्यों का संहार करते हुए भी, उनका (दैत्यों का) सम्बन्ध न रहे वह सत्क्रीड़ा है ॥ २ ॥

**कारिका — माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु स्नेहः कृष्णो हि युज्यते ।**

**तादृशैश्च मुदा क्रीडा तच्चाप्यत्र निरूप्यते ॥ ३ ॥**

\*यज्ञ में, यज्ञात्मक प्रजापति को श्रुति के अनुसार १७वां कहा है। अतः यहाँ १७ के अर्थ में प्रजापत्य है।

१-जिनका प्रभु ने अपने में निरोध सिद्ध किया है वे।

२-आनन्द रूप क्रीड़ा।

**कारिकार्थ** — श्रीकृष्ण में पूर्ण स्नेह तब होता है जब श्रीकृष्ण के माहात्म्य का पहले ज्ञान किया जाए। ऐसे माहात्म्य ज्ञान वाले पूर्ण स्नेहियों से ही भगवान् आनन्द से क्रीड़ा करते हैं, उस क्रीड़ा का भी यहाँ वर्णन है ॥ ३ ॥

**व्याख्या** — कारिका में 'तु' (तो) शब्द देकर यह बताया है, कि भगवान् में लौकिक विषय वाला स्नेह नहीं होना चाहिए। वह (निष्काम स्नेह) तब होता है, जब भगवान् के माहात्म्य द्वारा, भगवान् के आनन्द स्वरूप आदि का ज्ञान होता है। इसलिए ये भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान होने से, उनका (गोपों का) भगवान् में शुद्ध स्नेह हुआ था, जिससे आनन्द रूप भगवान् ने उनसे आनन्दमय क्रीड़ाएँ की हैं ॥ ३ ॥

**आभास** — पूर्वाध्याये गोष्ठे समागता इत्युक्तं, ततः पूर्वापेक्षया यो विशेषः स वक्तव्यः तमाह द्वाभ्यां,

**आभासार्थ** — १६ वें अध्याय के अन्त में कहा, कि भगवान्, बलराम तथा गोप गोकुल में आए, उस समय उनमें (गोप आदि में) विशेषता क्या थी, उसका वर्णन, निम्न दो श्लोकों से करते हैं।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

**श्लोकः** — तयोस्तदद्भुतं कर्म दवाग्नेर्मोक्षमात्मनः ।

गोपाः स्त्रीभ्यःसमाचक्षुः प्रलम्बवधमेव च ॥ १ ॥

**श्लोकार्थ** — श्री शुकदेवजी ने कहा कि गोपों ने इन दोनों भ्राताओं के यह अद्भुत चरित्र अर्थात् अपने को (गोपों को) दावानल से बचाना और प्रलम्बासुर का वध, स्त्रियों से कहे ॥ १ ॥

**सुबोधिनी** — तयोरिति रामकृष्णयोः प्रलम्बवधाग्नि- शान्ततया कथ्यत इति गोपालाः शनैः स्वगृहे समागत्य स्त्रीभ्यः विमोचनलक्षणमद्भुतं सर्वलोकोत्तममश्रुतमदृष्टं च कर्म स्त्रीभ्यः एवोक्तवन्तः, तासामपि सर्वथा भगवत्परत्वाय, तथा सति समाचक्षुः, तत् कर्म निर्दिशति, दवाग्नेरात्ममोक्षः प्रलम्बस्य तत्सङ्गदोषो न भवेदिति तेषां विमर्शः, प्रसङ्गाद् वृद्धानामपि च वधः, यथा यथा माहात्म्यं भगवतो ज्ञायते तथा तथा श्रवणम् ॥ १ ॥

**व्याख्यार्थ** — भगवान् का किया हुआ उत्तम कर्म, जो पहले किसी ने न सुना तथा न देखा वैसा अद्भुत (दावाग्नि से अपनी (गोपों की) रक्षा करने का और प्रलम्ब के वध का) चरित्र गोप अपने अपने घर में आकर स्त्रियों (घर की सब स्त्रियों माता आदि) को सुनाने लगे। ज्यों ज्यों

चरित्र वर्णन किया जाता, त्यों त्यों, भगवान् का माहात्म्य हृदय में स्थिर होने लगा, जिससे, शान्त चित्त होकर धीरे धीरे कहते थे, इसके श्रवण से, स्त्रियां भी भगवत्परायण होगी तो, हमको भगवद्गुणगान में प्रतिबन्धक नहीं होगी । अन्यथा रात्रि को, जागरण होने से, क्षुब्ध हो, गुण वर्णन में, प्रतिबन्ध करेंगी । जो वृद्धत्व के कारण घर में ही बैठे रहते हैं, उन्होंने भी वह गुणगान श्रवण किया ॥ १ ॥

**आभास —** ततः सर्व एव गोकुलवासिनो भगवन्माहात्म्यं ज्ञातवन्त इत्याह,

**आभासार्थ —** गोपों ने गोकुल में आकर जो भगवान् के चरित्र कहे उनको सुनकर सर्व ब्रजवासियों को भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान हुआ जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं-

**श्लोकः — गोपवृद्धाश्च गोप्यश्च तदुपाकर्ण्य विस्मिताः ।**

**मेनिरे देवप्रवरौ कृष्णरामौ ब्रजं गतौ ॥ २ ॥**

**श्लोकार्थ —** गोपों में वृद्ध गोप तथा गोपियां यह बात सुन, विस्मय करने लगे, और ब्रज में आए हुए कृष्ण तथा राम को देवों में, उत्तम देव समझने (मानने) लगे ॥ २ ॥

|                                                                                                                                                                                                                                                                                                      |                                                                                                                                                                                         |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी —</b> गोपवृद्धाश्चेति चकारादतिमूढा बालाश्च गोप्यश्चकारादन्याः सर्वास्तदुपाकर्ण्य भगवन्माहात्म्यं श्रुत्वा विस्मिता जाताः, तस्मिन् कर्मणि श्रुते भगवति यज् ज्ञानं जातं तदाह मेनिरे देवप्रवराविति, देवानामपि प्रकृष्टा वरा वरणीया देवानां मध्ये प्रकृष्टा इन्द्रादयस्तेषामपि वरणीयौ</p> | <p>पुरुषोत्तमरूपावनुपचारादित्येतदर्थं कृष्णरामावितिनामग्रहणं, दृष्टानुपपत्तिं परिहरति ब्रजं गताविति, ब्रजं समागतौ यथा महाराजः कदाचित् क्वचिद् गच्छत्येवं भगवानपि ब्रजमागत इति ॥ २ ॥</p> |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यार्थ —** बूढ़े गोप तथा गोपियां वह चरित्र सुनकर आश्चर्य में मग्न हो गईं । श्लोक में दो बार दिये हुए 'च' का तात्पर्य है कि मूढ़, बालक तथा गोपियों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियां भी सुनकर अचंभे में आ गईं । पहले श्लोक में, कहे हुए, चरित्र के श्रवण से, विस्मित हो गए किन्तु उससे सब को यह ज्ञान हुआ, कि ये दोनों भाई (राम-कृष्ण) सर्व इन्द्रादि देवों से उत्तम हैं, अर्थात् दोनों पुरुषोत्तम स्वरूप हैं । किसी को यह शङ्का होवे, कि ये पुरुषोत्तम स्वरूप नहीं हैं, केवल उपचार (पूजार्थ) के लिए यों कहा गया है । इसके उत्तर में गोप कहते हैं, कि यह शङ्का ही नहीं करनी चाहिए : हम इनको, वास्तविक पुरुषोत्तम रूप समझते हैं-क्योंकि, शङ्काशीलों

की शङ्का मिटाने के लिए उनके नाम 'कृष्ण-रामौ' श्लोक में दिये गए हैं अर्थात् ये कृष्ण और राम ही, देवोत्तम (पुरुषोत्तम) स्वरूप हैं। श्लोक में 'प्र'† अक्षर से उनकी विशेषता (उत्तमता) बताकर यह सिद्ध किया है, कि ये अन्य गोपों के समान गोप नहीं हैं, किन्तु देवों में, भी उत्तम देव होने से, सर्वथा पूज्य हैं। जैसे भूपति, सदैव प्रकट रूप से, अपनी राजधानी में रहता है, किन्तु कभी अपनी प्रजा की दशा देखने तथा उनके हित करने के लिए भेष बदल कर गरीबों के घरों में जाता है, वैसे ही भगवान् भी ब्रज में आए हैं ॥ २ ॥

**आभास —** एवं तेषां ज्ञानानन्तरं भगवत्क्रीडार्थं प्रावृट् समागतेत्याह तत इति द्वाविंशत्या,

**आभासार्थ —** इस प्रकार जब उनको कृष्ण तथा राम के स्वरूपों का ज्ञान हो गया, तब वर्षा ऋतु, भगवान्, भक्तों के साथ सानन्द क्रीड़ा करें, इसलिए आई, जिसका वर्णन २२ श्लोकों में करते हैं।

**श्लोक: — ततः प्रावर्तत प्रावृट् सर्वसत्त्वसमुद्भवा ।**

**विद्योतमानपरिधिर्विस्फूर्जितनभस्तला ॥ ३ ॥**

**श्लोकार्थ —** उसके अनन्तर सब जीवों को उत्पन्न करने वाली, सर्व दिशाओं को प्रकाशित करने वाली, वर्षा ऋतु आई, जिससे सूर्य और चन्द्रमा के समीप में आए हुए मेघों से मण्डल बन गए तथा आकाश में गड़गड़ाहट शब्द होने लगे ॥ ३ ॥

**सुबोधिनी —** आदौ स्वयं प्रावृट् समागता, ननु प्रावृष्ट्यागतायां का भगवल्लीला भविष्यतीत्याशङ्क्याह सर्वसत्त्वसमुद्भवेति, सर्वेषामेव सत्त्वानां सम्यगुद्भवो यत्रेति, सर्वजीवेष्वेव हि भगवत्क्रीडा तदर्थं वा सर्वसत्त्वगुणोद्बोधाद् वा, तदा भगवान् सत्त्वेन सात्त्विकैः सह क्रीडिष्यतीति कार्यतस्तस्या भगवत्क्रीडौपयिकत्वमुक्त्वा स्वरूपतोऽपि क्रीडौपयिकत्वमाह विद्योतमानाः परिधयो यत्रेति, परिधयः

परितोवेष्टनदिशस्ताः सर्वा एवान्यदाप्रकाशमाना अपि वर्षास्वागतास्वेव विद्योतमाना विशेषेण प्रकाशमाना भवन्ति, विस्फूर्जितं नभस्तलं च भवति, अनेन भगवत इयं सम्भृतिरूपा निरूपिता यस्यामागतायामुपर्यधः सर्वतश्च सर्वे गुणा उद्बुद्धा भवन्तीति यथा महाराजसम्भृतौ समागतायां सर्वो ग्राम उद्बुद्धो भवति, भूमेर्गुणाः सर्वे जीवा दिशो विद्युद् गर्जितान्याकाशस्य, एतान्येव तम सत्त्वरजांस्यपि ॥ ३ ॥

† शास्त्रों में यह नियम है कि एक अक्षर से समग्र शब्द के अर्थ का तात्पर्य समझा जा सकता है जैसे कि 'भारत' में 'भा' 'र' 'त' ये तीन अक्षर हैं जिनका अर्थ यों किया गया है, 'भा' अक्षर से 'भाति सर्वेषु वेदेषु' लिया है अर्थात् इसमें जो कहा गया है वह ही सर्व वेदों में है 'र' रति सर्वेषु जन्तुषु' इस शास्त्र का उपदेश है सकल जीवों से प्रेम करना। 'त' तरणं सर्व भूतानां' इसके श्रवण से सर्व प्राणी संसार से पार हो जाते हैं। अतः इस शास्त्र को 'भारत' कहते हैं। इसी प्रकार यहाँ 'प्र' शब्द से विशेषता बताई है। 'योजना'

**व्याख्यानार्थ** — भगवान् के क्रीड़ा करणार्थ स्वयं वर्षा ऋतु आई, यद्यपि वर्षा ऋतु में, मार्ग में कीचड़ आदि होने से, भगवान् की क्रीड़ा कैसे वा कौनसी हो सकेगी ? यह शङ्का हो, तो उस (शङ्का) के निवारण के लिए कहते हैं, कि वर्षा ऋतु कार्य तथा स्वरूप दोनों से लीला में, उपयोगिनी हुई है, क्योंकि भगवान् को सर्व जीवों में रमण करना है तथा सर्व सत्त्वगुण प्रकट हों, तब लीला हो, ये दोनों कार्य प्रावृत्<sup>१</sup> ऋतु ने किए हैं, इस प्रकार कार्य से, प्रावृत् ऋतु, लीलोपयोगिनी हुई है । स्वरूप से भी लीलोपयोगिनी हुई है, जैसे प्रावृत् ऋतु ने आकर चारों तरफ, सर्व दिशाएँ आगे से विशेष प्रकाशमान कर दीं, तथा आकाश में बिजली के गड़गड़ाहट शब्द के साथ प्रकाश होने लगा । इससे यह बताया है, कि इस (वर्षा ऋतु) ने आकर, लीला के लिए सर्व प्रकार की पहले ही सजावट कर रखी है, जिससे लीला में, किसी प्रकार विलम्ब वा रुकावट न हो, पूर्ण आनन्द से रसात्मक लीला हो । वर्षा ऋतु के आने से ही, पृथ्वी के गुण, सब जीव, दिशाओं का गुण, बिजली की गर्जना, आकाश का गुण (गड़गड़ाहट) आदि होते हैं । जैसे महाराजा के आने पर समग्र ग्राम जागृत होता है । ये गुणः तम,<sup>२</sup> सत्त्व और रजो रूप हैं ॥ ३ ॥

**आभास** — तस्यामागतायां सर्वा भगवच्छक्तयः क्रीडौपयिक्यः समागता इति ज्ञापयितुं दिव्यानेकविंशतिधर्मानाह सान्द्रेत्यादितावद्भिः श्लोकैः,

**आभासार्थ** — वर्षा ऋतु के आने से भगवान् की लीला के उपयोग में आने वाली सर्व भगवान् की शक्तियां भी आ गई । जिसको बताने के लिए अलौकिक<sup>३</sup> इक्कीस धर्मों का वर्णन इक्कीस श्लोकों से करते हैं ।

\*ये गुण (धर्म) अप्राकृत अलौकिक हैं अतः भगवद् धर्म रूप हैं ।

‘प्रकाश’

‡उस काल (वर्षा ऋतु) में जीवों में आनन्द का आविर्भाव होता है यह ‘आनन्द धर्म’ है । विद्युत का होना यह अस्तित्व दिखाता है जिससे यह ‘सत्’ धर्म है, आकाश की ‘गड़गड़ाहट’ चेतन धर्म है अतः यह चित् धर्म है । इस प्रकार इन्होंने परस्पर एक दूसरे के धर्म भी रहते हैं । अतः ये तम, सत्त्व और रज रूप हैं ।

‘लेख’

†१ यह वर्षा ऋतु भगवान् के क्रीड़ा के लिए तैयारी करने के लिये आई है अतः यह वर्षा ऋतु, इस लोक से पृथक् आनन्द रूप (सच्चिदानन्द रूप) वेद से प्राप्त होने योग्य स्वर्ग लोक के समान अलौकिक है, जिसको बताने के लिए कहते हैं कि जितने (२१) प्रकार के स्वर्ग हैं उतने ही २१ श्लोकों से इस ऋतु का वर्णन करते हैं ।

‘टिप्पणी’

२ स्वर्ग लोक २१ प्रकार के हैं, इसलिए २१ श्लोकों से ब्रज की वर्षा ऋतु का वर्णन कर यह सिद्ध किया है कि ब्रज की वर्षा ऋतु भगवदीय स्वर्ग (सच्चिदानन्द स्वरूप) है । जिस प्रकार पुण्यात्मा स्वर्ग में भोग भोगते हैं उसी प्रकार पुष्टि भक्त ब्रज की वर्षा ऋतु में अलौकिक आनन्द रूप भोग भोगते हैं । ‘योजना’

श्लोकः - सान्द्रनीलाम्बुदैव्योम सविद्युत्स्तनयित्नुभिः ।

अस्पष्टज्योतिराच्छन्नं ब्रह्मेव सगुणं बभौ ॥ ४ ॥

**श्लोकार्थ -** दामिनी<sup>१</sup> और गर्जनावाले प्रकाशमान काले बादलों से आच्छादित<sup>२</sup> आकाश, सगुण ब्रह्म की भांति अस्पष्ट तेज वाला हुआ ॥ ४ ॥

**सुबोधिनी -** "एकविंशो वा इतः स्वर्गो लोकः" इति श्रुते "रेकविंशतिर्वै देवलोकाः" इति च, एतेष्वेव सर्वप्रतिष्ठा "द्वादश मासा पञ्चतर्वस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश" इति च, तत्र प्रथममादित्यवत् प्रकाशमानं सगुणं ब्रह्म दृष्टान्तेन प्रावृट् स्पष्टयतीति प्रावृट्कृतं ब्रह्मदृष्टान्तमाह सान्देति, "आकाशशरीरं ब्रह्मे" ति श्रुतावाकाशस्य शरीरत्वं श्रूयते, तत् प्रसिद्धकृष्णस्वरूपतुल्यं न भवतीति श्रुतिबाधायाम् प्रावृट्कालेन तत्समर्थनं क्रियते, सत्यमियं श्रुतिराकाशो भगवद्रूपतुल्य इति, तत् लोकाः प्रत्यक्षविरुद्धं, नाङ्गीकुर्वन्तीति विद्यमानानेव गुणान् समयान्तरे गुणान् प्रकटीकरोति, तान् गुणानाह सान्द्राश्चिक्कणाः किम्रीति या ये नीलाम्बुदाः सजलजलदा अवयवप्रायास्तैः सहितं व्योम, तथापि न शरीरतुल्यत्वं वर्णमात्रेणैव साम्यादिति विशेषमाह सविद्युत्स्तनयित्नुभिरिति, विद्युत् पीताम्बरस्थानीया

आभरणस्थानीया च, नानाभूषणगीतवेणुनादादिरूप-शब्दसिद्ध्यर्थं स्तनयित्नुसहिताः, गर्जितानि नानाविधानि भवन्ति तेना "काशशरीरं ब्रह्म" भवति, ननु शरीरं ह्यन्तस्तेजोमयं बहिराच्छन्नतेजो भवति यथा भगवाँल्लोकव्या-मोहनार्थं जात इव दृश्यते तदभावात् कथमाकाशस्य भगवद्रूप-तुल्यतेत्याशङ्क्याहास्पष्टज्योतिरिति, न स्पष्टानि ज्योतीषि सूर्यादीनि यत्र, तथाप्यनेकविधवस्त्रगृहगोपिकाभिर्वेष्टितो भगवान् भवति तदभावात् कथं तुल्यतेत्याशङ्क्याहाच्छन्नमिति, तदप्यवान्तरमेघैराच्छन्नं भवति, अतः सगुणमनन्तगुणपरिपूर्णं ब्रह्म भगवद्रूपं यथा तथा व्योम बभौ, अतः श्रुतिः प्रमाणमिति भावः, सत्त्वरजस्तमोगुणपक्षेऽप्याकाशेऽप्यभ्रतमः प्रकाशा भवन्ति भगवत्यपि लोकव्यामोहनं गोपिकालीला प्रबोधनञ्चेति ॥ ४ ॥

**व्याख्यार्थ -** एक श्रुति कहती है, कि यहाँ से स्वर्गलोक\* इक्कीसवाँ है, दूसरी श्रुति कहती है, कि 'देवलोक इक्कीस हैं† तीसरी श्रुति कहती है कि '१२ मास, ५ ऋतु, ३ लोक और १ यह सूर्य ये मिलकर इक्कीस‡ हैं। इस प्रकार इनमें ही (२१ धर्मों में ही) सत्त्व धर्म वा भगवद् धर्म की प्रतिष्ठा (आश्रय) है। पहले सूर्य की भांति प्रकाशित, सगुण ब्रह्म को, वर्षा ऋतु के दृष्टान्त से स्पष्ट रीति से समझाते हैं, ब्रह्म के सम दिए हुए वर्षा ऋतु दृष्टान्त को समझाने के लिए इस श्लोक में वर्णन करते हुए कहते हैं, कि 'श्रुति कहती है, कि 'ब्रह्म का शरीर (स्वरूप) आकाश है' भगवान् कृष्ण के स्वरूप को देखते हुए 'आकाश' कृष्ण के स्वरूप के समान न होने से प्रत्यक्ष विरुद्ध, श्रुति का कहना, लोक प्रमाणित (प्रमाण रूप) नहीं मानते हैं, अतः उसको प्रमाणित

\*'एकविंशो वा इतः स्वर्गो लोकः'

†'एकविंशतिर्वै देव लोका'

‡'द्वादश मासा पञ्चतर्वस्त्रय इमे लोका असावादित्य एकविंश'

करने के लिए ही प्रावृट् (वर्षा) ऋतु आकर उसका समर्थन कर रही है कि 'आकाश में जो गुण गुप्त विद्यमान है, उन गुणों को वर्षा ऋतु अन्य समय में प्रकट कर दिखाती है, कि जैसे आकाश सजल मेघों वाला, घनश्याम स्वरूप है, वैसा ही, कृष्ण भी घनश्याम है, अतः आकाश ब्रह्म का शरीर है। ऐसा सिद्ध होने पर भी, शङ्का उठती है, कि केवल बादलों के कारण 'आकाश' ब्रह्म का शरीर है यह मान-लेना पूर्ण नहीं है, इस पर कहते हैं, कि केवल वर्ण की समता से 'आकाश' ब्रह्म का शरीर नहीं है किन्तु अन्य भी समानताएँ हैं, जैसे कि आकाश विद्युत्<sup>१</sup> रूप आभूषणों से विभूषित है, वैसे ही श्रीकृष्ण पीताम्बर से विभूषित है, तथा जैसे आकाश गर्जनादि शब्द से शब्दायमान है वैसे ही श्रीकृष्ण वेणुनाद करते हुए शब्दायमान (शब्द करने वाले) है। इससे भी सिद्ध होता है कि 'आकाश है शरीर जिसका' वैसा ब्रह्म है।

शरीर में तेज भीतर रहता है और बाहर तेज आच्छन्न<sup>२</sup> रहता है, जैसे भगवान् अपने तेज को भीतर छिपाकर बाहर लोक को व्यामोह कराने के लिए ऐसा दिखाव करते हैं कि मैंने जन्म लिया है। आकाश में वैसा न होने से उससे भगवान् के रूप की बराबरी कैसे होगी? इस शङ्का का निवारण<sup>३</sup> कराने के लिए कहते हैं कि वर्षा ऋतु सिद्ध कर दिखाती है कि आकाश भी वैसा ही है, उसमें भी सूर्य आदि ग्रह स्पष्ट दिखाई नहीं देते हैं।

इस प्रकार होने पर भी, भगवान् का शरीर आकाश है यह सिद्ध नहीं होता है, कारण कि भगवान् अनेक वस्त्र, गृह तथा गोपियों से घिरे हुए रहते हैं आकाश तो वैसा नहीं है, इस पर कहते हैं कि आकाश भी मेघों से घिरा हुआ रहने के कारण ब्रह्म का शरीर है, अर्थात् आकाश अनन्त गुण परिपूर्ण सगुण ब्रह्म के समान होने से ब्रह्म का शरीर है अतः श्रुति का यह कहना है कि 'आकाश ब्रह्म का शरीर है' यह यथार्थ<sup>४</sup> है।

ब्रह्म में, सत्त्व, रज तथा तम ये तीन गुण हैं इस प्रकार से भी दोनों (आकाश तथा ब्रह्म) में समानता है, जैसे कि आकाश में मेघ, तम, तथा प्रकाश तीन गुण हैं और ब्रह्म (श्रीकृष्ण) में भी तीन गुण १-व्यामोह, २-गोपियों से लीला, ३-ज्ञान हैं ॥ ४ ॥

**आभास —** एवं वर्षाकृतमाकाशं निरूप्य तत्सम्बन्धिनं सूर्यं निरूपयत्यष्टौ मासानिति,

† इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि, लोकों को व्यामोह कराना तमोगुण का कार्य है, गोपियों से लीला रजोगुण का कार्य है और ज्ञान सतोगुण का कार्य है। इस प्रकार भगवान् सगुण ब्रह्म जैसे हुए।

‘योजना’

\* ये गुण प्राकृत गुण नहीं समझने चाहिए किन्तु अलौकिक हैं ऐसा समझना चाहिए।

‘अनुवादक’

**आभासार्थ** — इस प्रकार, वर्षा ऋतु के कारण जो आकाश का स्वरूप प्रकट हुआ, उसका निरूपण कर, अब इस निम्न श्लोक में उसके (वर्षा के) सम्बन्ध वाले सूर्य का वर्णन करते हैं।

**श्लोकः** — अष्टौ मासान् निपीतं यद् भूम्याश्चोदमयं वसु ।

स्वर्गोभिर्मोक्तुमारेभे पर्जन्यः काल आगते ॥ ५ ॥

**श्लोकार्थ** — सूर्य ने जो पृथ्वी के जल रूप धन का आठ महिने तक पान किया, उस (जल रूप धन) को समय आने पर (वर्षा ऋतु आने पर) पर्जन्य रूप हो के अपनी किरणों से छोड़ने लगे ॥ ५ ॥

**सुबोधिनी** — अयमेव सूर्यः पर्जन्यो “याभिरादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षती” ति श्रुतेः सूर्यस्याध्यात्मिकं रूपं पर्जन्य आधिभौतिक आदित्य आधिदैविकः संवत्सरः स प्रजापतिः, अतोऽयं सूर्य एव पर्जन्यःस्वरश्मिभिरेवाष्टौ मासान् निरन्तरं मासाष्टकपर्यन्तं नितरां पीतं यदुदमयं जलमयं वसु धनं सार्द्धं हि भूमिः सर्वमन्नादिकमुत्पादयति, अतो जलं वस्वेव वसुप्रधानं

वा, जलेनैव सस्यादिना धनोत्पत्तिः, अतो दत्तं ग्राह्यमिति पक्वं कृत्वा तदेव प्रयच्छति, तस्य किरणा एव मेघा अतो मोक्तुमारेभे प्रावृष्यागतायां, अन्यथा स कालस्तस्याप्युपद्रवहेतुः स्यादत आह काले समागत इति, अतो यथा ब्रह्मशरीरत्वं सम्पादयति तथा सूर्यस्यापि जगत्कर्तृत्वरूपं सवितृत्वं सम्पादयति ॥ ५ ॥

**व्याख्यार्थ** — यह सूर्य ही पर्जन्य है, जैसा कि भगवती श्रुति कहती है ‘जिन किरणों से आदित्य तपता है, उन किरणों से ही पर्जन्य रूप रस सूर्य वर्षा करता है, अतः कहा गया है कि सूर्य के तीन रूप हैं-१-आध्यात्मिक रूप, जिसको पर्जन्य कहते हैं, २-आधिभौतिक रूप, जिसको आदित्य कहते हैं, ३-आधिदैविक स्वरूप है, जिसको संवत्सर कहते हैं। वह (संवत्सर) प्रजापति है अतः इस सूर्य रूप पर्जन्य ने ही अपनी किरणों से निरन्तर<sup>१</sup> आठ मास पर्यन्त जो जल रूप धन का पान किया उसको वापस लौटाकर भूमि को आर्द्र करते हैं, जिससे वह जल अन्नादि द्रव्यों को पैदा कर सकती है। अतः जल ही धन है क्योंकि जल के द्वारा ही सस्यादि उत्पन्न होते हैं जिनसे धन की प्राप्ति<sup>२</sup> होती है। सूर्य ने जल रूप धन इसलिए ग्रहण किया, कि उसे पकाकर (उसमें सस्य की उत्पत्ति की शक्ति डालकर) लौटा दूँ। उसकी किरणें ही मेघ हैं अर्थात् मेघ पर्जन्य रूप सूर्य की किरणें हैं, जिनके द्वारा लिया हुआ जल वर्षा ऋतु आने पर लौटाता है। यदि लौटा कर न देवे तो वह ऋतु, काल रूप भगवान् उसके (पर्जन्य के) लिए भी उपद्रव का कारण हो जाए। वर्षा ऋतु, जिस प्रकार, आकाश को ब्रह्म का शरीर (स्वरूप) सिद्ध करती है, वैसे ही, सूर्य को भी, जगत् का कर्ता तथा उत्पन्न कर्ता सिद्ध करती है ॥ ५ ॥



**आभास** — एवमाकाशसूर्ययोः स्वरूपसम्पादकत्वमुक्त्वा सूर्योपरिलोकयोर्मध्यमलो-  
कस्याप्यन्तरिक्षस्य स्वरूपसम्पादिका प्रावृड् जातेत्याह तडित्त्वन्त इति,

**आभासार्थ** — इस प्रकार वर्षा ऋतु को आकाश तथा सूर्य के स्वरूप का प्रकट करने वाला कहकर, अब अन्तरिक्ष लोक के स्वरूप का प्रकाशक भी यही है उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः** — तडित्त्वन्तो महामेघाश्चण्डश्चसनवेपिताः ।

**प्रीणनं जीवनं ह्यस्य मुमुचुः कस्मिन् इव ॥ ६ ॥**

**श्लोकार्थ** — जिस प्रकार दयावान, दुःखी प्राणी को देखकर उसके दुःख को मिटाने के लिए, अपना सर्वस्व जीवन भी त्याग देता है, वैसे ही प्रबल वायु वेग से कम्पित बिजली वाले बड़े बड़े मेघ, इस जगत् को तप्त देखकर, उसको प्रसन्न करने वाला तथा प्राण देने वाला जल देने लगे ॥ ६ ॥

**सुबोधिनी** — अन्तरिक्षदेवता मेघा वाय्वधीनाः, बलकार्यं स एव तद्भेदा एव सर्व इन्द्रादय इति त्रिदेवतापक्षे निर्णयः, अतो मेघानां वाय्वधीनत्वमिन्द्राधीनत्वमिति न विरुध्यते, इन्द्रो देवता वायुरात्मा मेघा भूतानीति त्रयाणामेकरूपत्वं वा, यथा पुरुषप्रयत्नेन शरीरचेष्टा तथा वायुप्रेरणया मेघानां कार्ये स्थितिः, ते हि मेघाः सर्वस्वं लोकेभ्यो जलरूपं प्रयच्छन्तोऽपि नावैदिकन्यायेन प्रयच्छन्ति, तथा सति फलं न स्यात्, न हि वृष्टिमात्रं फलं किन्तु ततोऽत्रोत्पत्तिस्तदग्नौ होमव्यतिरेकेण फलजनकं न भवतीत्यग्निहोमार्थं विद्युदूपो गृहीत इत्याह तडित्त्वन्त इति,

"विद्युदग्निर्वर्षं हविः स्तनयितुर्वषट्कारो यदवस्फूर्जति सोऽनुऽवषट्कार" इति श्रुतेः, महामेघा इति, सम्यक्-शास्त्रार्थकर्तारः, चण्डश्चसनेन च वेपिताः कम्पिताः, प्रचण्डो हि पवनो देहमर्यादां न मन्यते, अतस्तेन कम्पिताः, प्रीणनमाप्यायनजनकं तापनिवर्तकं च जीवनमग्रेनेत्राद्युत्पत्त्या प्राणधारकं, तदपगमे तेपि रिक्ता भवन्तीति कथमात्मविरोधि दानमित्याशङ्क्याह कस्मिन् इवेति, दध्यङ्गुलिबिभ्रतयः परार्थं स्वप्राणानपि ददुः, न चैते करुणया प्रयच्छन्ति किन्तु कालवायुप्रेरिता इति कस्मिन् इवेत्युक्तम् ॥ ६ ॥

**व्याख्यानार्थ** — अन्तरिक्ष तथा वायु एक ही हैं अतः मेघों के देवता अन्तरिक्ष होने से मेघ वायु के आधीन होते हैं। मेघों में जो बल (इधर उधर आने और जाने की शक्ति) है वह अकेली वायु का ही है, उसके (अन्तरिक्ष वा वायु के) ही इन्द्रादिक भेद हैं। तीन देवता हैं, इस प्रकार का निर्णय, वृहदारण्य के शाण्डिल्य ब्राह्मण में किया गया है, कि जहाँ अग्नि, वायु और आदित्य रहते हैं वे तीन लोक के देवता हैं, उनमें सर्व देवों का समावेश हो जाता है। अतः मेघ वायु के आधीन हैं वा इन्द्र के आधीन है, इसमें किसी प्रकार का विरोध नहीं है। इन्द्र देवता, वायु आत्मा और मेघ भूत है इस प्रकार तीनों

की एक रूपता है। जिस प्रकार, पुरुष के प्रयत्न से, शरीर में चेष्टा<sup>१</sup> उत्पन्न होती है, उसी प्रकार, वायु की प्रेरणा से, मेघ अपने कार्य करने में स्थिति करते हैं अर्थात् कार्य करते हैं।

मेघ अपना सर्वस्व जल, अवैदिक रीति से नहीं देते हैं, किन्तु वैदिकानुसार अर्पण करते हैं, जिससे उस जल से अन्नादिकों की उत्पत्ति होती है, अवैदिक रीति से यदि दिया हो, तो अन्नादिकों की उत्पत्ति न होवे।

मेघ जो जलदान करते हैं, उसका फल केवल 'वर्षा' नहीं है, किन्तु उससे उत्पन्न अन्न, अग्नि में जब अर्पण किया जाता है तब वह (जलदान) फल रूप होता है। इसलिए अग्नि ने वर्षा में विद्युत<sup>२</sup> का रूप धारण किया है जिसका वर्णन श्रुति ने इस प्रकार किया है 'विद्युत'<sup>३</sup> अग्नि है, 'वर्षा' हवि<sup>४</sup> है, मेघ 'वषट्' बोलने वाले हैं तथा उन मेघों की 'गड़गड़ाहट' अनुवषट्कार है। ये मेघ 'महामेघ' हैं कारण कि शास्त्र के अर्थ का अनुसरण करते हैं अर्थात् शास्त्र की आज्ञा अनुसार कार्य करते हैं। तेज वायु, देह की मर्यादा का, विचार नहीं करती है अतः वे मेघ, प्रचण्ड वायु से कम्पित होते हैं। उन्होंने बलदायक, ताप<sup>५</sup> निवृत्त करने वाला, अन्नादि उत्पत्ति से आगे प्राण देने वाला जल दान किया।

मेघ जलदान करने से स्वयं<sup>६</sup> तो रिक्त<sup>६</sup> हो जाएँगे तब ऐसा अपने को हानि करने वाला दान क्यों किया? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि जैसे दयालु पुरुष करते हैं उनकी तरह इन्होंने भी किया है। दधीचि तथा शिबि आदिकों ने तो दयाकर प्राण भी दे दिए हैं, इन्होंने दया से जलदान नहीं किया है किन्तु काल वायु से प्रेरित होकर किया है अतः श्लोक में 'इव' शब्द दिया है ॥ ६ ॥

**आभास —** क्रमप्राप्तां प्रावृट्कृतां भूमिं वर्णयति तपःकृशेति,

आभासार्थ — वर्षा ऋतु ने प्रथम आकाश, सूर्य और अन्तरिक्ष के स्वरूप को जिस प्रकार बनाया उसी प्रकार अब पृथ्वी को भी बनाया जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोक: —** तपःकृशा देवमीढा आसीद् वर्षीयसी मही ।

यथैव काम्यतपसस्तनूः सम्प्राप्य तत्फलम् ॥ ७ ॥

**श्लोकार्थ —** जैसे सकाम पुरुष का शरीर तप करने से प्रथम दुर्बल हो जाता है

१-कार्य करने में चाह।

२-बिजली।

३-होम का पदार्थ। ४-तेज।

५-आप। ६-शून्य, खाली।

अनन्तर तपस्या का फल मिलने पर पुष्ट होता है, वैसे ही पृथिवी जो ग्रीष्म के तप से, जल चूँसे जाने के कारण दुर्बल<sup>१</sup> हो गई थी वह इन्द्र के वर्षा करने से फिर पुष्ट हो गई ॥ ७ ॥

सुबोधिनी — पूर्व तपसा सन्तापेन सर्वजलहरणाच्छुष्का कृशा जाता देवेनेन्द्रेण मीढा 'मिह सेचने' सिक्ता, वर्षीयसी स्थूलोच्छूना वर्षाकालसम्बन्धिनी च क्षुद्र भोजने हि पुष्टो भवति, नन्वस्य देवस्य किं प्रयोजनं ? प्रहणत्यागाभ्यां भूम्यर्थमिति चेद् भूम्या अपि न किञ्चित् फलं पश्याम इत्याशङ्क्याह यथैवेति, तपसा शोषिते देहे तत्तपसा या विशेषसम्पत्तिः फलत्वेनायाति तेन सुखं पुष्टिश्च भवति प्रथमपुष्टिस्तु न सुखं जनयति, अतस्तस्या दूरीकरणं पुनःकरणमिति युक्तमेव भूमेस्तथात्वं, तदाह, काम्यतपसः सम्बन्धिन्यस्तनूस्तत्फलं सम्प्राप्य यथा वर्षीयस्यो भवन्ति, तनुरिति वा पाठः, प्रथमार्थे द्वितीया वा, अथवा तपस्वी तपसः सम्बन्धिनीस्तनूः स्वर्गादिदेहान् प्राप्य तत्फलं प्राप्नोति तद्वत् पृथिवी फलमपि सस्यादिकं प्राप्तवतीत्यर्थः, ननु 'न

यत्र चण्डांशुकं विषोल्बणा भुवो रसं गृह्णन्त' इति पूर्वमुक्तमिति तपःकृशत्वोक्तिस्तद्विरुद्धेति चेन्न, दृष्टान्तेनैव तन्निरसता, तथा हि यथाग्रिमफलार्थमसहजमपि तप करोति कामी तेन विना तदसम्भवात् तथाग्रिमसस्यार्थं तदुत्पत्तिस्थले रसं गृह्णन्ति नान्यत्र, पूर्व सारस्यवति देश उतस्य बीजस्यापि नाशात् तत्र रसग्रहणस्यावश्यकत्वात्, अत एव जलादिपदं हित्वा रसपदमुक्तं, सस्योत्पादनाशक्ते रसपदार्थत्वादत्र विषादप्युल्बणत्वेन तामपि ज्वालयितुं सामर्थ्यमप्यस्तीति ज्ञापितं, जीवितविरोधित्वाद् विषस्य तादृशैरपि रसाग्रहणं यत् तद् वृन्दावनमाहात्म्यं, एतेन कालादयोपि व्रजवासिविरुद्धं कर्तुं न शक्नुवन्तीति ज्ञापितं, अत्र काम्यतपःफलस्य दृष्टान्तीकरणेनात्रत्यसस्यादेस्तद्विन्नत्वं ज्ञाप्यते, तदेतत्पूर्वमेवोक्तं "तत आरभ्ये" ति श्लोके ॥ ७ ॥

व्याख्यानार्थ — प्रथम तेज ताप (ग्रीष्म ऋतु के तीक्ष्ण ताप) से जल चूँसे जाने के कारण पृथ्वी निर्बल<sup>२</sup> हो गई थी, इन्द्र (मेघ) के जलदान देने से फिर पुष्ट हो गई । जैसे क्षुधा से पीड़ित और निर्बल पुरुष भोजन की इच्छा रखता है, उस इच्छा की पूर्ति से अर्थात् भोजन मिलने से पुष्ट होता है वैसे ही जल चूँस जाने से, पृथ्वी क्षुधित तथा निर्बल हो गई थी इसलिए वर्षा के जल (भोजन) की इच्छा कर रही थी उस इच्छा की पूर्ति (जल रूप भोजन की प्राप्ति) से अर्थात् देव के (मेघ के) वर्षा करने से पुनः पुष्ट हो गई ।

इन्द्र (मेघ) रूप देव को पृथ्वी से ग्रीष्म ऋतु में जल लेने और उसको वर्षा ऋतु में जल देने की क्या आवश्यकता वा प्रयोजन था ? जिससे भूमि को भी कोई लाभ नहीं । इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि जैसे पुरुष प्रथम तपस्या द्वारा कृश<sup>३</sup> होकर फिर फल मिलने से पुष्ट होता है अथवा स्वर्गादि में सुख भोगता है । तपस्या करने के अनन्तर जो आनन्द मिलता है और शरीर पुष्ट होता है, तपस्या करने से पहले होने वाला आनन्द अथवा पुष्टि वैसी नहीं होती है । इसी प्रकार, पृथ्वी भी जलदान और जल प्राप्त करने से प्रथम वैसी प्रसन्न अथवा पुष्ट नहीं हो सकती थी जैसे यों करने से (ग्रीष्म ऋतु में जलदान

कर शुष्क हो, अनन्तर वर्षा ऋतु द्वारा) वह परिपक्व, शुद्ध अमृतमय बना हुआ जल, प्राप्त कर प्रसन्न और पुष्ट होती है तथा सस्यादि उत्पन्न करने की सामर्थ्य वाली होती है। देव का जल लेने और देने का यही प्रयोजन है जिससे पृथ्वी धान्य आदि उत्पन्न कर, समग्र प्राणी मात्र की क्षुधा की निवृत्ति कर सके। सकाम की जाने वाली तपस्या से सम्बन्ध रखने वाले शरीर, उसका फल प्राप्त कर, पुष्ट हो जाते हैं। मूल श्लोक में 'तनूः' शब्द दिया है, आचार्य श्री कहते हैं कि यदि 'तनूः' के स्थान पर 'तनु' पद लिया जाय तो, उसका अर्थ इस प्रकार होगा 'सकाम तपस्या करने वाले का शरीर तपस्या का फल प्राप्त कर पुष्ट होता है'। अथवा 'तनूः' पद को द्वितीया का बहुवचन लिया जाय, तो उसका अर्थ हो सकता है 'सकाम तपस्या करने वाला तपस्वी तपस्या से सम्बन्ध रखने वाले शरीरों (स्वर्गादि लोकों) को प्राप्त कर तपस्या का फल (स्वर्गीय सुख) प्राप्त करता है वैसे (ही) पृथ्वी भी तपस्या कर सस्यादि फल प्राप्त करती है।

अ. १५ श्लोक ६ में कहा है कि जिस वृन्दावन में सूर्य की किरणें पृथ्वी के जल को चूस नहीं सकती हैं, पुनः यहाँ उसके विपरीत उसी पृथ्वी के ताप से कृश कैसे कहा ? इस शङ्का का निवारण इसमें दिए हुए दृष्टान्त से ही हो जाता है। जो पुरुष सर्व प्रकार से सुखी है, तो भी आगामी जन्म में सुख की प्राप्ति होवे, इस इच्छा से वह (अस्वभाविक भी) तपस्या करता है यदि तपस्या न करे तो, आगामी सुख की प्राप्ति उसको नहीं होवे, इसी प्रकार वृन्दावन में आगे होने वाले सस्यों के लिए उस भूमि से (जिससे ब्रजवासियों की इच्छा थी) रस ग्रहण करने हैं, जहाँ विशेष जल (अन्न को उत्पन्न करने वाला जल-रस) है, उसके रहने से बोए हुए बीज भी, नष्ट हो जाएँगे। अतः जल न कहकर रस कहा है उसको किरणों ने वहाँ ही चूँसा है, अन्यत्र नहीं जिसका भाव यह है कि तीक्ष्ण किरण जल को ग्रहण कर पृथ्वी को जला देती है, किन्तु वृन्दावन की भूमि से, वे जल भी ग्रहण करने में असमर्थ हैं, तो पृथ्वी को कैसे जला सकेंगे ? यह वृन्दावन का माहात्म्य है। इससे यह बताया है कि कालादिक भी ब्रजवासियों के विरुद्ध कुछ भी करने में, असमर्थ हैं।

इस श्लोक में काम्य तपस्या का दृष्टान्त देकर, यह बताया है, कि इस प्रकार के तप से, हुई वर्षा से, जो अन्न उत्पन्न होता है, वह वृन्दावन में स्वतः उत्पन्न अन्न से पृथक् प्रकार का है। यह लौकिक अन्न केवल वीर्य उत्पन्न करता है, किन्तु वृन्दावन का अन्न भक्ति उत्पन्न करता है। इसका वर्णन प्रथम ही १०-५-१८ श्लोक में किया गया है ॥ ७ ॥

**आभास —** एवं लोकत्रयस्यादित्यसहितस्य स्वरूपमुक्त्वा शिष्टानां स्वरूपं वक्तुमृतवो धर्मे प्रतिष्ठिता मासा धर्मिष्विति प्रथममृतुवर्णनायां धर्मप्रतिष्ठामाह निशामुखेष्वित्यादिपञ्चभिः,

**आभासार्थ —** इस प्रकार उपरोक्त श्लोकों में सूर्य सहित, आकाश, अन्तरिक्ष तथा पृथ्वी लोकों

का स्वरूप कहकर, अब शेष ऋतु आदि का स्वरूप वर्णन करते हैं। ऋतु धर्म में<sup>†</sup> प्रतिष्ठित है और मासः<sup>‡</sup> धर्मियों में प्रतिष्ठित है। पहले ऋतुओं का वर्णन करते हुए धर्म की प्रतिष्ठा पांच श्लोकों से कहते हैं।

श्लोकः — निशामुखेषु खद्योतास्तमसा भान्ति न ग्रहाः ।

यथा पापेन पाषण्डा न हि वेदाः कलौ युगे ॥ ८ ॥

श्लोकार्थ — जिस प्रकार पाप की वृद्धि से कलियुग में वेदों का प्रकाश नहीं होता है वैसे ही रात्रि के आरम्भ में (प्रदोष समय में) अन्धकार से जुगनू चमकते हैं ग्रह (तारे) नहीं चमकते हैं ॥ ८ ॥

कारिका — अर्थः शब्दः फलं चापि त्रिविधं परिकीर्तितम् ।

अन्तर्बहिस्तथा चाङ्गमान्तरञ्चेतिभेदतः ॥ १ ॥

† आचार्य श्री ने इस अध्याय के ४थे श्लोक की सुबोधिनी में, श्रुति द्वारा यह बताया है, कि १२ मास, ५ ऋतु, ३ लोक और १ आदित्य इस प्रकार ये २१ हैं। जिनमें से चारों (तीन लोक और सूर्य) का वर्णन पूर्व में कर, अब पांच ऋतुओं का वर्णन करते हुए, ८ वें श्लोक के आभास में, कहते हैं, कि ५ ऋतुओं की प्रतिष्ठा धर्म में है और मासों की 'धर्मियों' में प्रतिष्ठा है। जिसका स्पष्टीकरण श्री प्रभुचरण यहाँ करते हैं कि वर्ष में १२ मास होते हैं, एक एक ऋतु दो मासों की होती है इसी गणना से ऋतु ६ होनी चाहिए तो श्रुति ने पांच क्यों कही? इस शङ्का को मिटाने के लिए ही आचार्य श्री ने कहा है, कि ऋतुओं की प्रतिष्ठा धर्म में है, अर्थात् ऋतुओं का विभाग धर्म (कर्म) के कारण हुआ है अतः जितने धर्म (कर्म) उतनी ऋतुओं की संख्या की गई है। १-अग्नि होत्र, २-दर्श, ३-पौर्णमास्य, ४-चातुर्मास्य और ५-पशु सोम। इस प्रकार के पांच वैदिक धर्म (कर्म) हैं। इन पांच कर्मों के करने की आज्ञा ऋतु अनुसार दी है जैसे कि, वसन्त ऋतु में 'अग्नि की स्थापना' करनी चाहिए आदि इसी भांति, अन्य कर्म भी ऋतु अनुसार करने चाहिए तथा वर्ण धर्म भी, ऋतु अनुसार होते हैं, जैसे ब्राह्मण का यज्ञोपवीत वसन्त ऋतु में करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि ऋतु धर्म में कारण, अथवा उपयोगी होने से ही श्रुति ने पांच कही है। 'टिप्पणी'

‡ ५ धर्म तथा १ धर्मी मिलकर ६ होते हैं, उनके करने वाले सकाम व निष्काम भेद से, दो प्रकार के हैं अतः वे १२ होते हैं प्रत्येक के अंग भी १२ होते हैं। धर्मी धर्म का आचरण करे उसका मूल साधन 'आयु' है। कितनी आयु है, इसका अनुमान वर्षों से लगाया जाता है। उसके (वर्ष के) भी १२ मास होते हैं, अतः कहा गया है कि मास धर्मी में प्रतिष्ठित हैं। इन ४ श्लोकों के अनन्तर जो १२ श्लोकों से जिन जीवों का वर्णन होगा उनका भी धर्मी में समावेश समझना चाहिए। 'टिप्पणी'

**कारिकार्थ** — तीन श्लोकों में अर्थ, शब्द तथा फल इन तीनों का वर्णन है, और दो श्लोकों में फल के अन्दर के अंग तथा बाहर के अंग का वर्णन किया गया† है ॥ १ ॥

**कारिका** — पुष्टिमार्गे हि मर्यादामार्गस्तत्र न शोभते ।

अतः पञ्चविधस्यापि हानिरत्र निरूप्यते ॥ २ ॥

**कारिकार्थ** — जहाँ पुष्टि मार्ग है, वहाँ मर्यादा मार्ग की शोभा नहीं होती है । इसी कारण से, पांच प्रकार के धर्म की हानि का यहाँ निरूपण किया‡ है ॥ २ ॥

† 'निशामुखेषु' श्लोक ८ से १२ पर्यन्त के श्लोकों में प्रतिपादित अर्थ का वर्णन इस कारिका में करते हैं । १ धर्म की जड़ (मूल) वेद है, उसमें वर्णाश्रमादि धर्म कहे गए हैं, यह अर्थ (वेदों का अर्थ) है, क्योंकि वेदने वर्णाश्रम धर्म रूप अर्थ का प्रतिपादन किया है । २-वेद का अध्ययन 'शब्द' है, कारण कि, अध्ययन करने से 'शब्द' का ग्रहण होता है उसकी ही मुख्यता है । ३-कर्म का निषिद्ध (हीन) फल, ४-निषिद्ध फल के मिलने से बाह्य सम्पत्ति (भगवान् से विमुख करने वाली सम्पत्ति) प्राप्त होती है । ५-उस बाह्य सम्पत्ति से शरीर में मद (अभिमान) आता है । इस प्रकार ५ श्लोकों में हीन पदार्थों के दृष्टान्त दिए हैं । उनके देने का आशय (पुष्टि मार्गे) इस कारिका में स्पष्ट करते हैं । 'टिप्पणी'

‡ हीन पदार्थों के दृष्टान्त, जो पांच श्लोक में दिए हैं, उनका तात्पर्य, इस कारिका से प्रकट करते हैं, कि पुष्टि मार्ग में मर्यादा मार्ग से विलक्षणता है । यदि पुष्टि मार्ग और मर्यादा मार्ग में भिन्नता है तो इस ८ वें श्लोक के आभास में यह कैसे कहा गया है कि पांच ऋतुओं की धर्म में प्रतिष्ठा है ? इसको समझाते हैं कि विचार करने से दोनों प्रकार का कहना (पुष्टि मार्ग से मर्यादा मार्ग भिन्न है और धर्म की प्रतिष्ठा) योग्य है । जैसे कि, लौकिक सृष्टि में, जब पाप बढ़ता है तब पाषण्ड धर्म प्रकाश में आता है और वैदिक धर्म तिरोहित हो जाता है । वैसे ही यहाँ वर्षा ऋतु का सहज  जो अन्धकार, वह धर्म है दूसरा पाप है । उस समय में (वर्षा ऋतु में) सदैव प्रकाश करने वाले चन्द्र आदि ग्रह तो छिप जाते हैं (प्रकाश नहीं करते हैं) किन्तु जुगुनू प्रकाश करने लगते हैं । जुगुनू का प्रकाश (जो क्षणिक है) यही पाषण्ड के धर्म का प्रकाश है, इसी प्रकार चन्द्र आदि ग्रहों का अप्रकाश यही वैदिक धर्म का अप्रकाश है । इनसे पृथक् कोई अन्य पाषण्ड धर्म का प्रकाश नहीं है और वैदिक धर्म का अप्रकाश भी नहीं है । यह वर्षा ऋतु की शोभा करने वाला है क्योंकि इससे बताया है कि यहाँ (व्रज में) पूर्ण वैदिक धर्म है, अर्थात् यह वर्षा ऋतु लीला सृष्टि के स्वरूप को जानने  वाली है ।

सुबोधिनी — तत्र प्रथमतो वेदार्थहानिमाह, वसन्ते हि ब्राह्मणानामुपनयनाग्न्याधानादि तस्याभावे वसन्त-व्यवस्थोक्ता भवति, ब्राह्मणानामन्यशेषत्व उपनयनानन्तरं यदध्ययनादि ग्रीष्मर्तौ तदन्यार्थमिति तत्स्वरूपमप्युक्तं भवति, ततः कर्मफलं यद् वर्षाकार्यं तदप्यसङ्गतमिति तस्यापि स्वरूपं विवृतं भवति, अल्पफलं बाह्यं क्लेशसाध्यं शरत्फलमिति दोषदुष्टत्वात् तस्यापि स्वरूपमुक्तं भवति, ततोऽल्पसन्तोष-स्तदभावश्चेत्यवशिष्टस्य द्विरूपस्य, प्रावृषि निशामुखेषु

खद्योताः कीटविशेषा लोकानां प्रकाशका इव भवन्ति स्वयमपि प्रकाशन्ते तत्र हेतुस्तमर्सेति, कालकृतं यत् तमो मेघवृष्ट्यादिकृतं तेनैव तेषां प्रकाशस्तदपि प्रथममेव, अग्रे वृष्ट्या तेषामेव मरणसम्भवात् कस्य प्रकाशका भवेयुः ? ग्रहा ये नित्यप्रकाशास्ते न भान्ति एवम्भावे यो हेतुस्तं दृष्टान्तेन स्पष्टयति यथा पापेनेति, यथा यथा पापाधिक्यं तथा तथा वेदविस्मृताग्रे सचिः,

**व्याख्यानार्थ —** प्रथम वेदार्थ<sup>१</sup> की हानि का प्रकार बताते हैं, वसन्त ऋतु में ब्राह्मणों को उपनयन संस्कार (जनेऊ धारण) करना चाहिए अग्नि का आधान (गृह में अग्निहोत्र के लिए अग्नि की स्थापना करना चाहिए इत्यादि), उनका अभाव, अर्थात्, इस समय उन धर्मों का पालन नहीं होता है, जिससे वसन्त ऋतु भी व्यर्थ सी हो गई है, अतः वेदार्थ की हानि है ।

उपनयन के अनन्तर ग्रीष्म ऋतु में, वेदों का अध्ययन करना चाहिए । वह अध्ययन अपने लिए न कर, दूसरों के लिए करते हैं (जिसका वर्णन ९वें श्लोक में है) इससे यह सिद्ध हुआ, कि ग्रीष्म ऋतु का धर्म जो वेदाध्ययन ब्राह्मणों को स्व धर्म समझ कर करना चाहिये, वह न करके धन प्राप्त्यर्थ दूसरों के लिए करते हैं, अतः ग्रीष्म ऋतु का स्वरूप भी सार्थक नहीं है ।

तदनन्तर (१०वें श्लोक में) वर्षा ऋतु का स्वरूप भी असङ्गत है, क्योंकि वर्षा का कार्य, जो कर्म फल है, वह भी मार्गानुसार न होने से, लाभदायी नहीं अतः वर्षा ऋतु का स्वरूप भी विफल<sup>२</sup> है ।

---

मर्यादा मार्ग से पुष्टि मार्ग में विशेषता यह है, कि व्रज में, निवास करने वाले लीला में उपयोगी क्षुद्र<sup>३</sup> जीव भी प्रकाश करते हैं और महान् होते हुए भी लीला में उपयोगी नहीं हैं वे प्रकाशित नहीं होते हैं ।\*

परोक्ष वाद से भी पुष्टि मार्ग में वैलक्षण्य है—इत्यादि विशेष टिप्पणीजी में देखिये ।

---

\*पुष्टि मार्ग में दीनता ही उच्च कक्षा पर पहुँचाकर जीव में प्रकाश लाती है । अहंकार प्रकाश का आवरक हो जाता है अर्थात् दीनता ही जीव को लीलोपयोगी बनाती है । 'अनुवादक'

दोषों से दुष्ट बाह्य और अल्प फल वाली शरद ऋतु है, इसका भी, इसी प्रकार वर्णन किया गया है। हेमन्त और शिशिर ऋतु का फल है, अल्प से सन्तोष मानना चाहिए। अर्थात् वह युगन ऋतु कहती है, कि जो कुछ मिले, उसमें प्रसन्न रहना चाहिए किन्तु उस (सन्तोष) का भी अभाव है। इस प्रकार सर्व ऋतुओं के स्वरूप की निष्फलता बताई।

वर्षा ऋतु में, रात्रि का जब प्रारम्भ होता है, उस समय मेघ और वृष्टि आदि के कारण, अन्धकार होने से, जैसे जुगनू स्वल्प<sup>१</sup> समय तक, चमकने लगते हैं और अन्यो को भी प्रकाशक जैसे होते हैं, वे वर्षा से स्वयं भी नाश हो जाते हैं तथा उस समय नित्य प्रकाश करने वाले ग्रह आदि का प्रकाश लुप्त सा हो जाता है, इसी प्रकार, कलियुग में पाप रूप अन्धकार के कारण, नित्य प्रकाशक, वेद मार्ग लुप्त हो जायेंगे और पाषण्ड धर्म का प्रकाश होगा, उस वेद बाह्य पाषण्ड धर्म में रुचि बढ़ती रहेगी।

**कारिका — वेदमार्गविरोधेन येषां करणमण्वपि ।**

**ते हि पाषण्डिनो ज्ञेयाः शास्त्रार्थत्वेन वेषिणः ॥ १ ॥**

**कारिकार्थ —** जिनका कर्म स्वल्प<sup>१</sup> भी वेदमार्ग से विपरीत<sup>२</sup> है, उनको पाषण्डी समझना चाहिए, वे शास्त्रों का अर्थ (विरुद्ध अर्थ) कहने के लिए ही वेष<sup>३</sup> मात्र धारण कर रहे हैं ॥ १ ॥

सुबोधिनी — धर्मे पुष्टे तु तत्र रुचिर्न भवत्येव न त्रियुगो धर्मस्तत्प्रतिपादको वेदोऽपि तावत्काल एव भवितु-मर्हति, तदाह हीति, वेदान्तः कलिर्यतः, युगपदप्रयोगा-दनुल्लङ्घ्यत्वम् ॥ ८ ॥  
 पाषण्डप्रवृत्तिः ? तत्राह न हि वेदाः कलौ युग इति,

**व्याख्यार्थ —** जब धर्म पुष्ट होता है, तब पाषण्ड धर्म में रुचि नहीं है और जिसका उपनयनादि संस्कार वैदिक विधि के अनुसार होता है, वह पहले की भांति व्यवस्था करना नहीं चाहता है, अर्थात् वेद विरुद्ध या पाषण्ड धर्म का आचरण करने की इच्छा नहीं करता है। अतः पाप की वृद्धि से ही पाषण्ड बढ़ता है। वेदों के विद्यमान<sup>४</sup> होते हुए पाषण्ड में प्रवृत्ति कैसे होगी ? इस शङ्का के निवारण<sup>५</sup> के लिए कहते हैं कि 'नहि वेदाः कलौयुगे' कलियुग में वेदों का प्रकाश (प्रकाश) नहीं होगा, कारण कि, 'त्रियुगोधर्मः' धर्म तीन (सत्ययुग, त्रेता और द्वापर) युगों तक रहता है अतः उस धर्म के प्रतिपादक वेद भी, तीन युग तक अपना प्रकाश करते हैं। इस आशय के बताने के लिए मूल श्लोक में 'हि' शब्द दिया है, अर्थात् निश्चय से, कलियुग में वेदों का



प्रभाव न रहेगा । जहाँ भगवान् और जगत् दोनों हैं वह 'युग' है, अतः युग के धर्म को कोई उल्लङ्घन नहीं कर सकता है, कारण कि, इस समय इस प्रकार का धर्म हो, यह भगवदिच्छा है ॥ ८ ॥

**आभास —** एवमर्थतो वेदनिराकरणमुक्त्वा शब्दतोऽप्याह श्रुत्वा पर्जन्यनिनदमिति,

**आभासार्थ —** उपर्युक्त श्लोक में यह सिद्ध किया है, कि कलियुग में, वेद में कहे हुए उपनयन आदि संस्कार भी, विधि अनुसार नहीं होते हैं, अतः इस युग में वेद का अर्थ नहीं रहा है । अब इस श्लोक में कहते हैं, कि कलि में वेद का पठन आदि भी यथा विधि नहीं होता है, अतः शब्द से भी वेद का अस्तित्व नहीं है । तात्पर्य यह है कि वेद के शब्द तथा अर्थ दोनों का कलियुग में ह्रास है अतः कलियुग में वेद नहीं हैं ।

**श्लोकः —** श्रुत्वा पर्जन्यनिनदं मण्डूका व्यसृजन् गिरः ।

तूष्णीं शयानाः प्राग् यद्वद् ब्राह्मणा नियमात्यये ॥ ९ ॥

**श्लोकार्थ —** जैसे शान्ति से सोते हुए ब्राह्मण नियम के उल्लङ्घन होते हुए शब्द सुनकर वेद ध्वनि करते हैं, वैसे ही मेघों की गर्जना सुनकर मण्डूक<sup>१</sup> बोलने लगते हैं ॥ ९ ॥

**सुबोधिनी —** मण्डूकाः सर्वप्राण्यनुपजीवनीया "एष वै पशूनामनुपजीवनीयो न वा एष ग्राम्येषु पशुषु हितो नारण्ये" ध्वितिश्रुतेः, तथा चेद् ब्राह्मणाः सर्वोपद्रवकारिणो भवन्ति ततः कथं वेदस्तत्र प्रतिष्ठितः स्यात् ? तेषां च मण्डूकानां च वचनं सर्वोपद्रवकर्तृ कालाधीनं, तदाह पर्जन्य-निनदं श्रुत्वा मण्डूका गिरो व्यसृजन्निति, पर्जन्यनाद-व्यतिरेकेण न तेषां सहजा प्रवृत्तिः, तदैव तेषामुद्गमात्, अनेनोत्तमा वाणी तस्मिन् काले लुप्ता, गर्जनशब्दो वा मण्डूकशब्दो वा, उपर्यधश्च ब्राह्मणानां विद्यमानत्वात् कथं नोत्तमशब्द इत्याशङ्क्य दृष्टान्ते ब्राह्मणान् निरूपयति तूष्णीं शयाना इति, पूर्वं कलिस्था ब्राह्मणाः प्राक्शयाना एव भवन्ति ततो नियमस्याप्यत्यये मर्यादायां गतायां प्रभोर्दानादिकं श्रुत्वा तदा गिरो व्यसृजन्, तथा चक्रुः, "ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् अध्वर्यवो धर्मिणः शिश्विदाना आविर्भवन्ति गुह्या न केचित्", 'सोम' पानप्रवणः 'ब्राह्मणा' यथासुखं 'वाचमक्रत' कृतवन्तः, 'परिवत्सरीणं' संवत्सरसाध्यं 'ब्रह्मा'त्रादिकं 'कृण्वन्तः'

कृष्यादिपरा यथासुखं वेदशब्दान् पठन्तीत्यर्थः, 'केचित्' पुन- - 'रध्वर्यवो' ध्वरयाजका 'धर्मिणः' प्रवार्यकर्तारः 'शिश्विदानाः' प्रकाशमाना 'गुह्याः' सन्तो 'नाविर्भवन्ति', यज्ञा धर्माश्च न वर्षासु प्रभवन्ति, अतो बहिर्मुखा एव कृष्यादिपरा यथासुखं 'वाचमक्रत', अस्यैवार्थस्य भूयसे निर्वचनायापरा ऋक् "देवहिर्ति जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्रमिणन्त्येते संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तसा धर्मा अश्नुवते विसर्गः," ये 'नरः' पुरुषा 'देवहिर्ति' भगवतः शब्दरूप- 'मृतुं जुगुपुर्द्वादशस्य' संवत्सरस्य सम्बन्धी ऋतुमुख्यो वसन्तस्तं 'न प्र मिणन्त्येते' न जानन्ति, अतोऽज्ञानात् तूष्णीमेव तदा स्थिताः 'संवत्सरे' संवत्सरमध्ये 'प्रावृष्यागतायां' पूर्वं 'तसा धर्माः' 'वि' विधमेव 'सर्गमश्नुवते', न तु मूलभूतां वाणीं वदन्ति, यत्किञ्चिद् वदन्तीत्यर्थः, यतो 'धर्माः' परतापकाः स्वयं च 'तसाः,' तेषां यत्किञ्चिद्वचनान्याहापरा ऋक्, "गोमायुरदादजमायुरदात् पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि गवां मण्डूका ददतः शतानि सहस्रसावे प्र तिरन्तं आयुः," वर्षायामुत्पन्नं फलं प्राप्य केनैतत् फलं दत्तमिति पृष्ट आहु 'गोमायुरदात्' सुगाले

दत्तवान् 'अजमायु'र्वृकः 'पृश्नि'भूमि'र्हीस्तो' मेघा 'नो' स्मभ्यं  
'वसूनि' दत्तवन्तः, किञ्च 'गवां शतानि मण्डूका ददतः  
सहस्रसावे' सहस्रवर्षपर्यन्त'मायु'श्च 'प्र तिरन्तः' प्रयच्छन्तो  
जाताः, किञ्च वृष्ट्यर्थं मण्डूकस्य पत्नीं च प्रार्थय "न्युप  
प्रवद मण्डूक वर्षमावदतादुरि मध्ये हृदस्य प्लवस्य विगृह्य

चतुरःपदः," हे 'मण्डूक' 'उप' समीपे 'वर्ष' प्रवद', 'अ'  
समन्ता 'दुरि' मण्डूको 'वद'तात्', तस्यावस्थो चाह  
'मध्य' इति, एवं ब्राह्मणा यथा तेषामुपजीव्या मण्डूकास्तथैव  
ये ब्राह्मणा मण्डूकोपजीविनस्तैः कथं वा वेदरक्षा भवेदिति  
शब्दतोऽपि वेदनिवृत्तिः सूचिता ॥ ९ ॥

**व्याख्यार्थ** — जैसे इस श्रुति\* में कहा है कि मण्डूक की वाणी ग्राम वाले अथवा वन में रहने वाले प्राणिओं की हितकारिणी नहीं है। अतः मण्डूक की वाणी सब को उपद्रव करने वाले काल के आधीन हैं, इसी प्रकार, यदि ब्राह्मण भी सर्व के लिए उपद्रव कारी हो, तो वहां वेद का ज्ञान कैसे स्थित होगा ? अर्थात् वैसे ब्राह्मण, वेद का प्रचार वा वेद के तत्त्व के ज्ञान की प्राप्ति कैसे कर सकेंगे ? इसलिए वेद आदि शास्त्रों में भी कहा है कि जैसे मेघों की ध्वनि सुनकर, मण्डूक सब को अप्रिय शब्द टर् टर् करते रहते हैं वैसे ही वे ब्राह्मण कर्म के समय पर तो यथाविधि वेद का उच्चारण नहीं करते हैं भली भांति नींद लेते हैं और जब किसी दाता यजमान का शब्द सुनते हैं तब ज्यों आवे त्यों पढ़ने लग जाते हैं जिससे लाभ के स्थान पर सबों का अहित होता है ।

श्रुति† कहती है, कि ब्राह्मण, जो सोमपान करने की इच्छा करने वाले हैं, वे तो योग्य प्रकार से वेद पाठ करते हैं, वर्षा में उत्पन्न होने वाले, अन्न को जो पैदा करने का काम करते हैं वे तो जैसे आवे वैसे (वेद मन्त्र वा अन्य) बोल देते हैं और अन्य प्रकार के ब्राह्मण जो 'यज्ञ करने वाले हैं', सोमयज्ञ की प्रारम्भिक विधि करने वाले तथा तेजस्वी हैं वे छिपकर रहते हैं, प्रकट नहीं होते हैं, जैसे वर्षा ऋतु में सूर्य आदि ग्रह छिप जाते हैं । अतः वर्षा ऋतु में यज्ञादि धर्म नहीं होते हैं किन्तु जैसे इस ऋतु में मेंढक टर् टर् करते हैं वैसे ही खेती करने वाले अनजान ब्राह्मण जैसे आता है वैसे ही अंड बंड बोलते हैं ।

श्रुति‡ स्पष्ट कहती है कि, जो पुरुष उस वसन्त में शान्त रहते हैं, जिसमें देवताओं की वृद्धि

\* 'एष वै पशूनामनुजीवनीयो न वा एष ग्राम्येषु पशुषु हितो नारण्ये' इति श्रुतिः ।

† 'ब्राह्मणासः सोमिनो वाचमक्रत ब्रह्म कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् अध्वर्यवो ।

‡ 'धर्मिणः शिशिवदाना अविर्भवन्ति गुह्या न केचित्' श्रुतिः ।

§ 'देवर्हाति जुगुपुर्द्वादशस्य ऋतुं नरो न प्रमिणन्त्येते संवत्सरे प्रावृष्यागतायां तप्ता धर्मा अश्नुवतेविसर्गम् श्रुतिः

ती हैं उनका कल्याण होता है उस (वसन्त) को नहीं जानते हैं कि यह ऋतु वर्ष भर की ऋतुओं में मुख्य एवं श्रेष्ठ ऋतु है, इस प्रकार अज्ञानता के कारण, इस ऋतु में वेद का अध्ययन न कर, शान्त रहते हैं और जब वर्षा ऋतु आती है तब अंड बंड वाणी बोलते हैं अर्थात् वेदोच्चारण नहीं करते हैं जिससे सब को दुःखी करते हैं और आप भी पीड़ा भोगते हैं ।

इस श्रुति\* में यह बताते हैं कि वे बहिर्मुख ब्राह्मण किस प्रकार अंड बंड बोलते हैं- जब वर्षा ऋतु आने से, खेत में धान उत्पन्न हो जाता है, तब उनसे पूछते हैं कि इतना धान (धन) किसने दिया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि, गीदड़ ने दिया, भेड़िये ने दिया, पृथ्वी ने दिया, बादलों ने दिया और मण्डूकों ने सहस्र गायें दी तथा एक हजार वर्ष की आयु भी दी ।

इस श्रुति द्वारा वृष्टि हो, तदर्थ मण्डूकी को प्रार्थना करते हैं ।

मण्डूक चार पादों से कूदकर तालाब वा नाव में जाकर मण्डूकी को कहता है कि तू कहदे कि थोड़े ही समय में वर्षा होगी । इस प्रकार जो ब्राह्मण मण्डूकों के ऊपर आश्रय करने वाले हैं वे ब्राह्मण वेद की रक्षा नहीं कर सकते हैं जिससे निश्चय होता है कि कलियुग में शब्द से भी वेद की स्थिति नहीं है ॥ ९ ॥

**आभास —** तर्हि मास्तु वेदः पाषण्डैरेव कार्यं भवत्वित्याशङ्क्य महतां तु ते क्षोभका भवन्त्यल्पानां तु व्यामोहका भवन्तीत्याहासत्रिति, उत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्यो

**आभासार्थ —** यदि कलियुग में वेद, शब्द तथा अर्थ दोनों से नहीं रहा है, तो पाषण्ड धर्मों से ही काम चलाना चाहिए । इसके उत्तर में कहते हैं कि वे (पाषण्ड धर्म) महापुरुषों के अन्तःकरण में क्षोभ उत्पन्न करते हैं और साधारण पुरुषों के हृदय में व्यामोह पैदा करते हैं । अतः पाषण्ड धर्म नाश के कारण बन जाते हैं । जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः —** आसन्नोत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योऽनुशुष्यतीः ।

**पुंसो यथास्वतन्त्रस्य देहद्रविणसम्पदः ॥ १० ॥**

\* 'गोमायुरदादजमायुरदात् पृश्निरदाद्धरितो नो वसूनि गवां मण्डूका ददतः शताति सहस्रसावे प्रतिरन्त आयुः' श्रुतिः ।

† 'उपप्रवद मण्डूकिं वर्षमावदतादुरि मध्ये हृदस्य प्लवस्य विगृह्य चतुरः पदः' श्रुतिः ।

**श्लोकार्थ** — जैसे इन्द्रियाधीन पुरुष की देह, धन तथा सम्पदा उलटे मार्ग पर जाकर नाश हो जाती है वैसे ही क्षुद्र नदियाँ उलटी राह में जाती हुई अन्त में सूख जाती है (नाश को प्राप्त होती है) ।

सुबोधिनी — उत्पथवाहिन्यः क्षुद्रनद्योः वर्षासु जाता शुष्यतीर्भवन्ति, प्रकृतोपयोगाय दृष्टान्तमाह  
अकस्मादेव निषिद्धं फलं बह्वेव प्राप्नुवन्त्यमर्यादत्वात् यथास्वतन्त्रस्येन्द्रियपरवशस्य देहेन्द्रिय-  
तद्रक्षणाशक्ता उत्पथवाहिन्यो भवन्ति, ततोऽनु तत्क्षणमेव सम्पदोमार्गवाहिन्योऽपि भवन्त्यनुशुष्यतीश्च भवन्ति ॥ १० ॥

**व्याख्यार्थ** — छोटी नदियाँ, वर्षा ऋतु में, अचानक विशेष जल पाने से, उसको धारण करने में असमर्थ होने के कारण, उलटे मार्ग में, इधर उधर बहकर शीघ्र ही वैसे ही सूख जाती है, जैसे इन्द्रियाधीन पुरुष की देह और सम्पदाएँ उलटी राह पर जाकर नष्ट हो जाती\* है ॥ १० ॥

**आभास** — बाह्यसम्पत्त्याः स्वरूपमाह हरिता इति,

**आभासार्थ** — इस निम्न श्लोक में बाहर की सम्पत्ति का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः** — हरिता हरिभिः शष्पैरिन्द्रगोपैश्च लोहिताः ।

उच्छिलीन्धकृतच्छाया नृणां श्रीरिव भूरभूत् ॥ ११ ॥

**श्लोकार्थ** — हरी घास से हरी, इन्द्रगोप<sup>१</sup> से लाल, उच्छिलीन्द्र<sup>२</sup> से छायावाली, पटबीजना भूमि, मनुष्यों की लक्ष्मी जैसी हो गई ॥ ११ ॥

सुबोधिनी — इयं सर्वैव भूस्त्रिगुणा सती नृणां यथा लोहितशुक्लकृष्णा, इन्द्रगोपो राजेव छत्रमिव छत्राकं सेनावच-  
राज्यसम्पत्तिर्धनसम्पत्तिर्वा भवति तथा जाता, हरिभिर्हरिद्वर्णैः छष्पाणि, अनेन भूमिरपि युद्धसामग्रीव वर्णिता, अतो यथा  
शष्पैर्घासैर्हरिता श्यामवर्णा भूरिन्द्रगोपैः कीटविशेषै- खड्गजीविका मरणपर्यवसायिन्येवमिव  
लोहितवर्णा उच्छिलीन्धैश्छत्राकैः श्वेतवर्णा कृतच्छायेवैव कृष्यादिजीविकापि मरणपर्यवसायिनी ॥ ११ ॥

\*इस श्लोक में यह बताया है कि ब्रज में जो ब्राह्मण इस समय हैं वे धर्मनिष्ठ हैं, कलियुग में जैसे ब्राह्मण होंगे वैसे यहाँ मण्डूक हैं, और यहाँ इन्द्रियाधीन पुरुष भी नहीं है, सब अन्तरङ्ग भक्त हैं अन्तरङ्ग भक्त इन्द्रियाधीन नहीं होते हैं । 'टिप्पणी'

**व्याख्यार्थ** — यह सर्व भूमि, मनुष्यों की लक्ष्मी, राज्य की लक्ष्मी तथा उसके समान धन सम्पत्ति की भाँति तीन गुणों वाली हो गई । हरी घास से हरी, पटबीजना से लाल, छत्रांक से श्वेत हुई अर्थात् पृथ्वी हरी लाल और श्वेत होने से तीन प्रकार की हुई । इस पृथ्वी पर, पटबीजना तो राजा के समान, छत्रांक छत्र के समान और घास के तिनके सेना के समान हैं । जिससे यह जताया है कि पृथ्वी भी मानो युद्ध की सामग्री वाली है । अतः जैसे तलवार अर्थात् युद्ध से जो आजीविका की जाती है, वह मारने वाली ही है, वैसे ही खेती से होने वाली आजीविका भी, मृत्यु लाने वाली ही है । अर्थात् जैसे युद्ध करने में, मृत्यु का भय बना रहता है वैसे ही खेती में भी मृत्यु का डर रहता है ॥ ११ ॥

**आभास** — शरत्कालीनो धर्मस्तथैव च भवत्यन्तस्तोषतदभावावाह क्षेत्राणीति,

**आभासार्थ** — शरद ऋतु का धर्म वैसा ही है और इस श्लोक में अन्तःकरण की प्रसन्नता और उसका अभाव वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः** — क्षेत्राणि सस्यसम्पद्भिः कर्षुकाणां मुदं ददुः ।

मानिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम् ॥ १२ ॥

**श्लोकार्थ** — खेत, धान्य की समृद्धि से किसानों को आनन्द देने लगे । सब (जय-पराजय) दैव के आधीन है, इस तत्त्व को नहीं जानने वाले आक्रमणकारी अभिमानियों को दुःखदायी हुए ॥ १२ ॥

|                                                                                                                                                                                                                                     |                                                                                                                           |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी</b> — सस्यानां सम्पत्तिभिः कृत्वा कर्षुकाणां कृषीवलानां क्षेत्राणि मुदं ददुः, मानिनामभिमानवतां शत्रुवधार्थं प्रवृत्तानां वर्षासस्यादिभिः प्रतिबन्धं ज्ञात्वा क्लिष्टानामुपतापं च ददुः, जयादिकं सर्वं भगवदधीनं, न</p> | <p>हि वर्षाप्रतिबन्धाभावे सर्वथा तेषां जयो निश्चयाभावात् तदाह दैवाधीनमजानतामिति, जये पराजये च दैवमेव प्रयोजकम् ॥ १२ ॥</p> |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यार्थ** — खेत, धान की सम्पदाओं से, किसानों को हर्ष देने वाले हुए । शत्रु पर विजय पाने के लिए आक्रमण करने वाले अभिमानियों को, वर्षा से उत्पन्न हुई कीचड़ से, तथा मार्ग की रुकावट करने वाले सस्य आदि से, खेत दुःखदायी हुए । वे अभिमानि इस शास्त्रीय सिद्धान्त को तो समझते नहीं हैं कि सबकुछ (जय और पराजय) दैव के आधीन है, दैव अनुकूल है तो रुकावटों के होते हुए भी जय होगी और यदि दैव अनुकूल नहीं है, तो रुकावटें न होने पर भी पराजय होती है ॥ १२ ॥

**आभास —** एवमृतुन्यायेन वर्णनामुक्त्वा मासन्यायेन द्वादशधा धर्मानाह जलस्थलौकस इति द्वादशभिः, मासा हि निमित्तं धर्मिणोत्र प्रधानगुणा वाच्याः ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार ऋतुओं के न्याय से वर्णन कर अब १२ श्लोकों में, महीनों के न्याय से द्वादश प्रकार के धर्मों का वर्णन करते हैं । महीने (धर्मों के स्वरूप प्राप्त कराने में) कारण हैं । अतः यहाँ मुख्य जो धर्मों हैं उनके प्रधान गुण कहने चाहिये सो कहे जाते हैं ।

**कारिका — जीवा नद्यः पर्वताश्च मार्गा कामिन्य एव च ।**

विद्यावांश्चन्द्रमा बर्ही भक्ता वा तापसास्तथा ॥ १ ॥

गृहिणो वैदिका मार्गा राजानश्चेति कीर्तिताः ।

त्रिविधाः सर्व एवैते मासभोग्याः प्रकीर्तिताः ॥ २ ॥

सर्वेप्येते वृष्टिकाले सुखं दुःखं च लेभिरे ।

पुष्टिमार्गस्थिताः सर्वे सुखं प्राप्नु चोपरे ॥ ३ ॥

**कारिकार्थ —** १-जीव, २-नदियाँ, ३-पर्वत, ४-मार्ग, ५-कामिनियाँ, ६-विद्यावाले, ७-चन्द्रमा, ८-मयूर वा भक्त, ९-तपस्वी, १०-गृहस्थी, ११-वैदिक मार्ग, १२- राजा लोग ये सब तीन प्रकार के मास न्याय से भोग्य कहे गए हैं ॥ १-२ ॥

ये सब वर्षा के समय में सुख तथा दुःख भोगने लगे, सुख तो उनको हुआ जो पुष्टि मार्गीय थे, जो दूसरे (पुष्टि मार्गीय नहीं) थे वे दुःख भोगने लगे ॥ ३ ॥

**श्लोकः — जलस्थलौकसः सर्वे नववारिनिषेवया ।**

अबिभ्रद् सचिरं रूपं यथा हरिनिषेवया ॥ १३ ॥

**श्लोकार्थ —** जैसे हरि की सेवा करने से, भक्त जन सुन्दर स्वरूप को पाते हैं, वैसे ही जल तथा स्थल के रहने वाले जीवों ने वर्षा के नवीन जल से सुन्दर स्वरूप को प्राप्त किया ॥ १३ ॥

**सुबोधिनी —** तत्र क्रमेण सुखदुःखे निरूपयन्नादौ । भूचरा जलचराश्च राजसास्तामसाश्च, सात्त्विकास्त्वनुक्तसिद्धाः । नववर्षायेयं प्रावृद्धिति ज्ञापयितुं सर्वेषामेव प्राणिनां सुखजनिका । सुखिनो दृष्टान्तार्थं भिन्नतया स्थापिताः, सर्व एव जलस्थलौकस इति, जलं वा स्थलं वा लोको येषां । नववारिसेवया नवजलसेवया सचिरं मनोहरं रूपमबिभ्रत्,

दोषादपि रूपवैलक्षण्यं भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह | तेजोविशेषं वा, हरिपदेन तदानीमेव गजेन्द्रस्य यथा हरिनिषेवया, भगवत्सेवया चतुर्भुजादि रूपं प्राप्नोति | रूपान्तरसम्पत्तिः स्पष्टार्थं ज्ञापितेति प्रदर्शितम् ॥ १३ ॥

**व्याख्यानार्थ —** सुख किसको हुआ और दुःख किसको हुआ ? इसका क्रम पूर्वक निरूपण करते हुए, प्रथम बताते हैं कि यह वर्षा ऋतु सर्व प्राणि मात्र को सुखदायिनी हुई क्योंकि यह (वर्षा) ऋतु भगवदीय है, भगवदीय किसी को दुःख नहीं देते हैं किन्तु सुख ही देते हैं, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

पृथ्वी पर रहने वाले राजस जीवों ने तथा जल में रहने वाले तामस जीवों ने वर्षा से प्राप्त नवीन जल के सेवन से सुख प्राप्त किया अर्थात् नवीन सुन्दर स्वरूप धारण किया, शेष सात्त्विक तो सुखी हुए ही, उनके सुखी होने के लिये कहने की आवश्यकता नहीं है, सात्त्विक दृष्टान्त के लिये पृथक् कहे हैं । दोष से (चित्त में क्षोभ आदि होने से) भी रूप में विलक्षणता आ जाती है । इस शङ्का को मिटाने के लिये जो दृष्टान्त भगवान् की सेवा का दिया है, उससे सिद्ध है, कि ब्रज में जो सब के स्वरूप नवीन सुन्दर हो गए हैं वे दोषों के कारण नहीं हुए हैं, जैसे भगवान् के सेवन से (जीव) चतुर्भुजादि रूप अथवा विशेष तेज को प्राप्त करता है । जिसका प्रत्यक्ष दृष्टान्त 'गजेन्द्र' है, भगवान् के सेवन (स्मरण) से गजेन्द्र ने नवीन सुन्दर स्वरूप प्राप्त किया है ॥ १३ ॥

**आभास —** अभिमानी तु महान् मोहं प्राप्नोतीति समुद्रं निरूपयति,

**आभासार्थ —** बड़ा, अभिमानी होता है, अतः उसको मोह होता है, जिसको समझाने के लिए इस १४ वें श्लोक में समुद्र का निरूपण करते हैं-

श्लोकः — सरिद्धिः सङ्गतः सिन्धुश्चक्षोभ श्वसनोर्मिमान् ।

अपक्वयोगिनश्चित्तं कामाक्तं गुणयुग् यथा ॥ १४ ॥

**श्लोकार्थ —** जैसे अपक्व योगी का चित्त, काम वासना और विषयों से युक्त हो क्षोभित<sup>१</sup> होता है, वैसे ही समुद्र, नदियों के मिलने से तथा पवन के वेग से उत्पन्न लहरों से क्षोभ वाला होता है ॥ १४ ॥

सुबोधिनी — सरितो हि तस्य स्त्रियः, सर्वाभिरेव ताभिः सङ्गतः सिन्धुः समुद्रश्चक्षोभ क्षोभं प्राप्तवान्, वर्षाकालो हि कामिनां क्षोभकः सुतरां स्त्रीसङ्गिनां, किञ्च श्वसनेन कृत्वोर्मिमांश्च जातः, तरङ्गाश्च गर्भस्थानीयाः, वायुश्च रजोगुणः, एवं तस्यानर्थो निरूपितः, महतःकथमनर्थ इत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन परिहरत्यपक्वयोगिन इति, न पक्वो योगः फलपर्यवसायी यस्य, "चित्तवृत्तिनिरोधो" हि "योगः"

स चेत् पक्वो भवेत् कुर्याच्चित्तवृत्तिनिरोधोऽपक्वत्वान् निरोधो जात इव प्रतिभाति, परीक्षायां न सङ्गच्छते, तदाह कामाक्तमिति, स्वभावतो गुणयुग्ं गुणसम्बन्धी स चेत् कामेनाक्तो भवेद् विषयसम्बन्धी भवेत् तदा क्षोभं प्राप्नुयात्, कामलक्षणदोषयुक्तं वा गुणयुग्ं विषयसम्बन्धि, अतः स्वभावदोषस्यानिवृत्तत्वान् महानपि क्षुभ्यति ॥ १४ ॥

**व्याख्यार्थ** — वर्षा ऋतु का समय कामियों को क्षोभ करता है, उसमें भी, जो स्त्रियों के सङ्गी हैं उनको विशेष क्षोभ करने वाला होता है, जैसे कि नदियाँ समुद्र की स्त्रियाँ हैं वे जब समुद्र से जाकर मिलती हैं, वर्षा का समय होता है साथ में पवन चलती है तो समुद्र में लहरें उठती हैं जिससे समुद्र क्षुभित हो जाता है। लहरें समुद्र के गर्व को प्रकट करती है, वायु चलती है वह बताती है कि समुद्र में रजोगुण बढ़ रहा है, इस वर्णन से यह समझाया है कि महान् जो होते हैं वे अनर्थ वाले होते हैं। महानों में तो अनर्थ का अभाव होना चाहिए। आप कैसे कहते हैं कि महान् अनर्थ वाले होते हैं ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'अपक्वयोगी' का दृष्टान्त दिया है।

चित्त की वृत्तियों के पूर्ण संयम होने को 'योग' कहते हैं, यदि योग इस प्रकार परिपक्व हो गया हो, तो फल की सिद्धि होती है; अर्थात् वह योगी कामाधीन न होने से क्षोभ को प्राप्त नहीं होता है, किन्तु योगी का योग यदि पूर्ण नहीं हुआ है, तो उसका (योगी का) चित्त विषयों से डुल जाता है। अपक्व योग से, परीक्षा के समय अनुत्तीर्ण हो जाता है। विषयासक्त होकर, क्षोभ को प्राप्त होता है। अतः स्वभाव से सिद्ध दोष, जब तक समूल नष्ट नहीं होते हैं, तब तक महान् भी अनर्थ वाले हो जाते हैं ॥ १४ ॥

**आभास** — तत्रापि ये पुनर्महान्तो दृढा उच्चा भगवन्निष्ठा न तु ज्ञानिन इव सर्वसमाः समुद्रविलक्षणास्तेषां वर्षाकृतोपद्रवमाह। गिरय इति,

**आभासार्थ** — उनमें भी जो, फिर दृढ़, उच्च तथा भगवान् में निष्ठावाले महापुरुष हैं, वे ज्ञानियों की भाँति सर्व सम नहीं हैं, समुद्र से विलक्षण (पर्वत) जैसे वर्षा के उपद्रवों को सहन करते हैं वे (भगवन्निष्ठ) भी, सर्व व्यसनों को सहन करते हैं जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

श्लोकः — गिरवो वर्षधाराभिर्हन्यमाना न विव्यथुः ।

अभिभूयमाना व्यसनैर्यथाधोक्षजचेतसः ॥ १५ ॥



**श्लोकार्थ** — जैसे भगवान् में स्थित चित्तवाले भक्त दुखों से अभिभूत<sup>१</sup> होने पर भी, क्षोभ<sup>२</sup> को प्राप्त नहीं होते हैं वैसे ही पर्वत, वर्षा की धाराओं से पीड़ित होते हुए भी, व्यथा को प्राप्त नहीं होते हैं ॥ १५ ॥

**सुबोधिनी** — निरन्तरं वर्षाधाराभिर्हन्यमाना अपि गिरयो न विव्यथुर्व्यथां न प्राप्तवन्तो यतस्तेऽन्तः साराः, हेतुं दृष्टान्तेन स्पष्टयत्यभिभूयमाना व्यसनैरिति, यथा व्यसनैः स्त्र्यादिभिरापद्भिर्वाभिभूयमाना वशीक्रियमाणा अप्य-  
धोक्षजचेतस इन्द्रियातीते भगवति स्थापितचित्ता न क्षोभं प्राप्नुवन्ति तथा, तदा कन्दरादिष्वन्तर्भगवानस्तौति तत्र

वृष्टिधारास्पर्शनिवारकत्वं स्वस्य सम्पद्यत इति तदानन्देन च पूर्णा धाराकठिनस्पर्शमपि सुखत्वेन मानयामासुर्जलद इवातपस्पर्शमित्यर्थः, अधोक्षजपदेनान्याविषयत्वोक्त्या रहश्यनं सूच्यते, यत्र जडाः कठिना अप्येतादृशास्तत्र चेतनाः किमु वाच्या इतिभावः, समुद्रस्तूद्धृतस्नादिरित्यसारः ॥ १५ ॥

**व्याख्यानार्थ** — निरन्तर<sup>३</sup> वर्षा की धाराओं की मार सहते हुए भी पर्वत व्यथित नहीं हुए, कारण कि, उनकी कन्दराओं में भगवान् विराजमान हैं । वे समझते हैं, कि हमारे भीतर विराजमान प्रभु को वर्षा की धाराओं से होने वाले कष्ट को हमने रोक कर, प्रभु की सेवा की है, जिससे वर्षा की धाराओं के दुःख रूप कठिन स्पर्श को यों सुख रूप समझने लगे, जैसे बादल, धूप के स्पर्श को आनन्ददाता समझते हैं । इसी प्रकार, वे महान् पुरुष, जिनके चित्त में इन्द्रियातीत परब्रह्म विराजमान हैं, उनको व्यसन (स्त्री आदि अथवा आपदाओं से) पराभव होने पर भी क्षोभ<sup>२</sup> नहीं होता है ।

भगवान् का 'अधोक्षज' नाम देकर यह भाव बताया है कि उनके पास अन्य नहीं जा सकते हैं, कारण कि, आप पोढ़े हुए हैं । यदि उस स्वरूप में आसक्त कठोर जड़ (पर्वत) भी भगवदीय हैं, तो चेतन जीव उसमें आसक्त हो जावें, उसमें कौनसा आश्चर्य है ? समुद्र से रत्न निकाल लेने से, वह निःसार हो गया है, जिससे उसका चित्त भगवान् में नहीं लगता है ॥ १५ ॥

**आभास** — एवं राजसी सात्त्विकी व्यवस्थामुक्त्वा तामसीमाह मार्गा बभूवुरिति,

**आभासार्थ** — इस प्रकार उपरोक्त दो श्लोकों में, राजसी तथा सात्त्विकी व्यवस्था बताकर, अब तामसी व्यवस्था निम्न श्लोक में कहते हैं—

**श्लोकः** — मार्गा बभूवुः सन्दिग्धास्तृणैश्छन्ना ह्यसंस्कृताः ।

नाभ्यस्यमानाः श्रुतयो द्विजैः कालहता इव ॥ १६ ॥

**श्लोकार्थ —** जैसे अभ्यास न करने तथा समय व्यतीत हो जाने से, ब्राह्मणों को श्रुतियों के स्पष्ट शुद्ध पढ़ने में कष्ट होता है, वैसे ही लोगों का आना जाना न होने से और घास से ढक जाने से तथा सफाई न होने से, मार्ग संदिग्ध हो गए, जिससे आने जाने में पथिकों को कष्ट होने लगा ॥ १६ ॥

**सुबोधिनी —** सर्व एव मार्गाः सन्दिग्धा जाता यतस्तृणैराच्छन्नाः, युक्तश्चायमर्थः प्रत्यक्षत एव सन्देहदर्शनात्, पूर्व ये तेन मार्गेण सञ्चरन्ति तान् प्रति सन्दिग्धा अन्येषां तु ज्ञानमेव न यतस्तृणैश्छन्नाः, तद्वर्गि मार्गप्रवृत्तिः कथमित्या- शङ्क्याहासंस्कृता इति, संस्कारपर्यन्तं सन्देह एव संस्कारभावे तु मार्गस्य लोप एव, बहुधा दृष्टस्य कथं सन्देहजनकत्व- मिति शङ्कां दृष्टान्तेन वारयति नाभ्यस्यमाना इति, यथानभ्यस्यमानाः श्रुतयस्तैरेव द्विजैः पुनः स्मृताः सन्दिग्धा भवन्ति, आम्नायश्छन्दसां दण्डः, तदभावे सन्देहः सहजस्तस्य, कालेन महता हताश्च भवन्ति ॥ १६ ॥

**व्याख्यार्थ —** वर्षा होने से, उत्पन्न घास से, सर्व मार्ग ढक गये थे; जिससे वे मार्ग, आने जाने वालों को भी संदेह उत्पन्न करने वाले हो गए कि, यह मार्ग है या नहीं है। अनजान के लिए तो मार्ग का पता ही नहीं पड़ता। जब तक वे साफ नहीं किए जाएँगे, तब तक आने जाने में रुकावट ही रहेगी। यदि विशेष समय यों ही छोड़ दिया सफाई नहीं की गई तो मार्ग लुप्त हो जाएँगे। जिस राह को बहुत बार देखा है उसमें सन्देह क्यों पड़ा? इस शङ्का को दृष्टान्त देकर मिटाते हैं कि जैसे ब्राह्मण वेद का पढ़ना छोड़ दे, तो उसको वेद विस्मृत हो जाएगा, पुनः पढ़ने के समय उनको शङ्का होती है, कि ये श्रुतियाँ वैसी हैं या नहीं? इसी प्रकार पथिकों को भी मार्ग में न आने जाने से, सन्देह पड़ता है। अतः अभ्यास करना यह वेद का दंड (स्मृति कराने वाला) है, यदि अभ्यास नहीं किया जाता है तो वेद पढ़ने के समय सन्देह उत्पन्न होता है कि यह बराबर है या नहीं, यदि बहुत समय छोड़ा गया हो, तो ब्राह्मण वेद के मूल को भूल जाता है।

**आभास —** एवं गुणातीतसगुणभेदेन चतुर्धा वर्षाकृता धर्मा उक्ताः पुनर्विपरीततया चतुर्धा निरूपयति, द्वितीये राजसाः प्रथमास्ततः सात्त्विकस्ततस्तामसो गुणातीतश्चेति तामसभावेन चतुर्धाग्रे निरूपयिष्यति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार निर्गुण तथा सगुण भेद से, वर्षा के चार प्रकार के धर्म कहे हैं। अब विपरीत प्रकार से, वर्षा के चार प्रकार के धर्मों का वर्णन करते हैं। प्रथम राजस, फिर सात्त्विक, अनन्तर तामस, अन्त में निर्गुण, इसी क्रम से वर्षा के चार धर्म कहते हैं-तामस भाव से चार प्रकार के धर्मों का निरूपण आगे करेंगे।

**श्लोकः —** लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदाः ।

स्थैर्यं न चक्रुः कामिन्यः पुरुषेषु गुणिष्विव ॥ १७ ॥

**श्लोकार्थ** — जैसे कामिनियां<sup>१</sup> गुणवान पुरुषों में भी मन को स्थिर नहीं करती हैं वैसे ही वर्षा के समय में लोगों के बन्धु रूप मेघों में बिजली स्थिर नहीं रहती है ॥ १७ ॥

**सुबोधिनी** — तत्र स्त्रियो राजस्यो मुख्यास्तासां राजसस्तामसो वा चेद् भर्ता तदा स्थिरता सात्त्विकत्वे तु न स्थैर्यं, विद्युतामस्थैर्यं हेतुस्तेनोच्यते, लोकबन्धुषु लोकानां सर्वेषां बान्धवा मेघाः, यदि सर्वमेव जलं विद्युत्स्वेव प्रयच्छेयुस्तदा विद्युतः स्थिरा भवेयुस्ते तु लोकहितैषिण इति सर्वेभ्यो दाने तेषु चलसौहृदा जाताः, सौहार्दं तत्प्रकाशकत्वं तत्र शोभाजनकत्वं वा, यत एताः कामिन्यः, अतो लोकेऽपि

**कामिन्यः** परोपकारनियतेषु स्थिरतां न प्राप्नुवन्ति, कामिनीपदात् कुलवधूच्युदासः, युक्तश्चायमर्थः, सर्वस्वे दत्ते किं ता भक्षयेयुरिति चेत् तत्राह गुणिष्वपीति, ते हि गुणवन्तस्ततोऽप्यधिकं सम्पादयिष्यन्ति, तथापि प्रत्यक्ष एव पर्यवसितमतित्वान् न स्थैर्यं चक्रुः मेघा अपि गर्जनेन गुणवन्तः ॥ १७ ॥

**व्याख्यानार्थ** — गुणों से, जीव तीन प्रकार के होते हैं उनमें जो जीव राजस हैं, उनमें स्त्रियाँ मुख्य हैं, अर्थात् स्त्रियों में रजोगुण मुख्य है; अतः वे सतोगुणी पति से, प्रेम कर उसके पास स्थिर स्थिति नहीं करती है, किन्तु राजस वा तामस पति में स्थिर स्थिति करती हैं। जैसे बिजली लोक बन्धु मेघों में स्थिर नहीं रहती है, प्रकाश कर चली जाती है, प्रकाश से, अपना प्रेम तो प्रकट करती है, किन्तु वे समझती हैं कि हमारे पति मेघ लोकबन्धु (सात्त्विक परोपकारी) है, अपना सब धन (जल) पृथ्वी को दे देंगे जिससे हम दरिद्र भूखी रह जायेंगी। इस प्रकार के विचार कामिनियों का होता है। इसलिए श्लोक में, 'कामिन्यः' पद दिया है। बिजली कामिनीयों है। जिससे यह बताया है, कि लोक में, भी व्यभिचारिणी स्त्रियाँ यों करती है, किन्तु कुलीन स्त्रियाँ तो इस प्रकार न कर, पति से स्थिर प्रेम करती हैं। क्योंकि वे समझती हैं कि पति को अपने पोषण से भी, हमारे पोषण की चिन्ता विशेष रहती है। वे जो कुछ दान करते हैं; उससे उनको भगवान् विशेष देते हैं; जिससे हमारा भरण पोषण सुख से होगा किन्तु कामिनियाँ तो प्रत्यक्ष को ही देख, गुणवान से प्रेम नहीं करती हैं। श्लोक में 'गुणवान' विशेषण देकर यह बता दिया है, कि वे सात्त्विक पुरुष इस बात को जानते हैं, कि दान से वृद्धि ही होती है। मेघ गर्जना कर अपना गुणीपन बताते हैं ॥ १७ ॥

**आभास** — विजातीया अपि विजातीयेषु शोभां प्राप्नुवन्तीति, प्रावृत्कृतधर्ममाह धनुरिति,

१-स्त्रियाँ ।

† ब्रज में 'कामिनियां' केवल 'बिजलीयों' थी, वहाँ की स्त्रियों में तो 'कामिनी' कोई नहीं थी, सब प्रभु में स्थिर प्रेम वाली थी।

'टिप्पणी'

**आभासार्थ** — वर्षा ऋतु के गुण से विजातीय भी, विजातीय में शोभा पाता है, जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — धनुर्वियति माहेन्द्रं निर्गुणं च गुणिन्यभात् ।

व्यक्ते गुणव्यतिकरेऽगुणवान् पुरुषो यथा ॥ १८ ॥

**श्लोकार्थ** — गुणों की गड़बड़ वाले प्रपंच में<sup>१</sup> गुण रहित पुरुष शोभा देता है वैसे (ही) गुणवाले आकाश में, निर्गुण महेन्द्र का धनुष शोभा देने लगा ॥ १८ ॥

**सुबोधिनी** — वियत्याकाशे माहेन्द्रं धनुर्निर्गुणमपि गुणिन्यपि विद्यावत्यपि विषयाभावात् प्रकाशं प्राप्तवत्, महेन्द्रोपि वृत्रवधान् 'महान् वा अयमभूद् यो वृत्रमवधीदिति तन् महेन्द्रत्वमिति श्रुतेर्भगवत्सम्बन्धो महेन्द्रे निरूपितः, तस्य सम्बन्धाद् वज्रं निर्गुणमपि सगुणे शोभां प्राप्नोति तथा भगवदीयोपि सर्वत्र शोभां प्राप्स्यतीति फलितं, जीवास्तु त्रिविधाः स्वभावतो भगवद्गुणवन्तो दोषवन्त उभयरहिताश्च, तत्र देवा गुणवन्त दैत्या दोषवन्तो मानुषास्तु-

भयरहिताः, तेऽपि भगवत्कृपया देवा इव गुणवन्तो भवन्ति तदभावेऽपि कर्मणा व्यक्ते गुणव्यतिकरे संसारे त्रिगुणयुक्ते गुणवानपि पुरुषो योनिबीजवर्णधर्मान् प्राप्य भासते, अगुणत्वाद् गुणातीतो वा भगवत्सेवकः भगवद्धर्मान् दृष्टान्तीकुर्वतेन्द्रधनुषो माहात्म्यं निरूपितं, भगवदीयैव सम्पत्तिर्गुणं भगवदीयं प्रकटीकरोतीति, पुरुष इति गुणातिरिक्तत्वख्यापनाय, प्रकृतिस्तु गुणमय्येव ॥ १८ ॥

**व्याख्यार्थ** — इन्द्र धनुष निर्गुण-डोरी (ज्या) बिनाका-है और आकाश गुणवान है । गुणवान आकाश में निर्गुण इन्द्र धनुष उभरा है । (आकाश को गुणवान इसलिए कहा जा रहा है कि श्रुति में आकाश को ब्रह्म का शरीर बतलाया है । शरीर का परिचय शरीर से होता है, विद्या से ज्ञान प्राप्त होता है अतः आकाश-ब्रह्म विद्यावान है-गुणवान है । इन्द्र धनुष का कोई लक्ष्य न होने से, निर्गुण होने पर भी, शोभास्पद हुआ ।

इसी तरह गुणातीत वज्र भी (आयुद्यानामहं वज्रः के अनुसार भगवद् विभूति रूप होने से) सगुण महेन्द्र के हाथ में शोभता है । श्रुति\* कहती है, कि इन्द्र वृत्र को मारकर महेन्द्र बन गया । यहाँ भगवत् सम्बन्ध ही इन्द्र का दिखलाया गया है । या जैसे सगुण इन्द्र के सम्बन्ध से, वज्र निर्गुण होने पर भी, भगवद् गुण वाले इन्द्र के हाथों में शोभा देता है, वैसे भगवदीय भी सर्वत्र† शोभास्पद है ।

\*महान् वा अयमभूद् यो वृत्रमवधीदिति तन् महेन्द्रत्वम् ।

†भगवद् गुणों वालों में गुणातीत शोभता है, तो भगवद् गुण रहितों में तो अवश्य वही शोभेगा ।

जीव तीन तरह के होते हैं (१) स्वभावतः भगवद् गुणों से युक्त, देव । (२) स्वभावतः दोष वाले, दैत्य, (३) गुण दोष दोनों से रहित-मानव । यह मानव भी भगवान् की कृपा से गुणवान बन सकता है । भगवद् गुण के बिना ही कर्म से व्यक्त सत्त्व रजस्तमो गुण वाले संसार में गुण रहित भी पुरुष योनि, बीज और वर्ण के धर्मों को लेकर भासमान होता है, अथवा निर्गुण होने के-कारण, भगवान् के सेवक गुणातीत + होते हैं । इस तरह इन्द्र धनुष की शोभा के वर्णन में भगवान् के धर्मों का दृष्टान्त देकर, उसका माहात्म्य भी दिखलाया है क्योंकि भगवान् से संबद्ध वस्तु ही भगवदीय को प्रकट कर सकती है । 'पुरुष' कह कर गुणों से पृथक्ता दिखलायी जब कि प्रकृति तो गुणमय ही है । x ॥ १८ ॥

**आभास —** गुणेष्ववशिष्टं चन्द्रमाह न राजेति,

**आभासार्थ —** अब इस श्लोक में गुणों में अवशिष्ट<sup>१</sup> तामस चन्द्र का वर्णन करते हैं-

**श्लोक: —** न राजोदुपश्छन्नः स्वज्योत्स्नाराजितैर्धनैः ।

**अहम्मत्या भासितया स्वभासा पुरुषो यथा ॥ १९ ॥**

**श्लोकार्थ —** जैसे अपने प्रकाश से प्रकाशित अहङ्कार वाली बुद्धि से आच्छादित<sup>२</sup> पुरुष शोभा को नहीं पाता है, उसी प्रकार अपनी चाँदनी से प्रकाशित हुए मेघ से आच्छादित चन्द्रमा सुशोभित नहीं हुआ ॥ १९ ॥

**सुबोधिनी —** उदुपः क्षुद्रपोषको नक्षत्राधिपतिः । स्वभासा पुरुषो यथेति, अहम्मतिरहङ्कारोहमिति या बुद्धिः स्वज्योत्स्नयैवाभासितैरपि धनैर्न राज, तत्र भगवदीय-सापि स्वभासात्मभासैव भासिता तथापि तया पुरुषो न व्यतिरिक्तं पुरुषं साहङ्कारं दृष्टान्तिकरोत्यहम्मत्या भासितया शोभते ॥ १९ ॥

+ अर्थात् तीन प्राकृत गुण वाले संसार में गुणातीत भगवदीय जैसे शोभता है वैसे इन्द्र धनुष आकाश में शोभा ।

इन्द्र धनुष भगवदीय है क्योंकि वर्षा ऋतु द्वारा भगवान् की लीला के विनियोग के लिए उभरा है ।

x यहाँ निर्गुण शब्द वाच्य सगुण शब्द वाच्य में शोभता है इसी अंश दृष्टान्त और इन्द्र धनुष का वर्णन है । सगुण और निर्गुण शब्द अनेक अर्थ में यहाँ प्रयुक्त हुए हैं ।

**व्याख्यार्थ** — जिस प्रकार, प्रपञ्च में अपने ही प्रकाश से प्रकाश वाली अहं बुद्धि (अभिमान) से युक्त अभक्त पुरुष शोभा को नहीं पाता है, वैसे ही, अपनी ही चाँदनी से प्रकाशित मेघों से, क्षुद्र जो तारे एवं नक्षत्र हैं उनका अधिपति होते हुए भी चन्द्रमा शोभा को प्राप्त नहीं होता है ॥ १९ ॥

**आभास** — एवं त्रिविधानुक्त्वा ये केवलं भगवदीया यथा मेघोन्नत्यभिकाङ्क्षिणो बर्हिणस्ते सुखिनो भवन्तीति वर्षाकृतं तेषु सुखमाह ।

**आभासार्थ** — इस प्रकार वर्षा के कारण, सगुणों की दशा का वर्णन कर, अब इस श्लोक में कहते हैं कि जो मयूरों के समान निर्गुण भगवदीय हैं, वे सुखी होते हैं ।

**श्लोकः** — मेघागमोत्सवा हृष्टाः प्रत्यनन्दञ्छिखण्डिनः ।

गृहेषु तप्ता निर्विण्णा यथाच्युतजनागमे ॥ २० ॥

**श्लोकार्थ** — जिस प्रकार घर में सन्ताप को प्राप्त हुए विरक्त पुरुष, भगवद्भक्त के आगमन से प्रसन्न हो उनका वाणी आदि से सत्कार करते हैं, उसी भाँति गरमी से तपे (दुःखी) हुए मोर मेघों के आगमन रूप उत्सव को देख, उनका केकावाणी से आदर करते थे ॥ २० ॥

**सुबोधिनी** — मेघागमोत्सवा-निति, मेघानामागमे य उत्सवः स येषां सस्यवृक्षलतादीनां तान् दृष्ट्वा मेघोत्सवान् वा वृष्टिविद्युदादीञ्छिखण्डिनो मयूरा प्रत्यनन्दन् भगवता विचित्राः कृता एव भगवदीयोत्सवं मन्यन्त इति, एतन्निरूपणं यदर्थं तदाह गृहेषु तप्ता इति, गृहेषु स्थिता गृहादिचिन्तया तप्ता दुःसङ्गैरसदिन्द्रियैश्चात एव गृहा बहुविधा

उक्ताः, तथाभूता अपि यदा निर्विण्णास्तापेनैव वा निर्विण्णा अच्युतजना जितेन्द्रियाः परमहंसा त्रिदण्डिनो भगवज्जनास्ते हि परिभ्रमन्तो वर्षासु गृहस्थस्य गृहे गच्छन्ति तदा तेषां समागमो भवति तेषु समागतेषु ये निर्विण्णास्ते प्रतिनन्दनं कुर्वन्ति न त्वनिर्विण्णाः, अतः प्रावृट् सर्वेषामेव तप्तानां सुखदायिनी ॥ २० ॥

**व्याख्यार्थ** — जिस प्रकार, ग्रीष्म के ताप से दुःखी जीवों में भी, केवल भगवदीय मयूर ही मेघों के आगमन से जो आनन्द उत्सव होता है (जैसे कि बेल बूँटे वृक्ष आदि हरियाली एवं पुष्प फलों से सुशोभित होते हैं तथा वृष्टि और बिजली आदि से शोभा होती है) उसको देखकर प्रसन्न हो, उनका केका वाणी से अभिनन्दन<sup>१</sup> करते हैं, उसी भाँति, घरों में रहने वाले जो गृहस्थी भी दुःसङ्ग अथवा असत् इन्द्रियों से एवं गृह की चिन्ताओं से व्याकुल हो दुःखी होने से निराश

होते हैं, वे जब (वर्षा ऋतु में) देखते हैं, कि हमारे यहाँ भगवान् के जन,<sup>१</sup> परमहंस त्रिगुणधारी संन्यासी जिन्होंने इन्द्रियों को जीतकर भगवान् में मन पिरो दिया है, वे पधारे हैं, तब उनका समादर कर प्रसन्न होते हैं। उनके सङ्ग से उस दुःख से छूट कर, आनन्द को प्राप्त करते हैं। जिनका मन दुःखों से व्याकुल न हो, घरों में आसक्त है, उनको आनन्द नहीं प्राप्त होता है और वे उनका अभिनन्दन नहीं करते हैं। भगवदीयों वर्षा ऋतु संसार से तप्त सब भगवदीया को<sup>\*</sup> आनन्द देती है ॥ २० ॥

**आभास —** प्रकारान्तरेण चातुर्विध्यमाह पीत्वाप इति, ।

**आभासार्थ —** अब निम्न चार श्लोकों से, चार प्रकार के तामसों का पृथक्<sup>२</sup> पृथक् वर्णन करते हैं-

**श्लोकः — पीत्वापः पादपाः पद्भिरासन् नानात्ममूर्तयः ।**

**प्राक्क्षामास्तपसा श्रान्ता यथा कामानुसेवया ॥ २१ ॥**

**श्लोकार्थ —** जैसे, प्रथम तप करने से दुर्बल और थके हुए पुरुष, प्रिय पदार्थों के सेवन से पुष्ट होकर, अन्य रूप वाले होते हैं, वैसे (ग्रीष्म के ताप से शुष्क) पेड़ वांछित जल का मूल से पान कर, हरे रूप वाले होते हैं ॥ २१ ॥

**सुबोधिनी —** पादपाः सर्वे वृक्षास्तामसेषु सात्त्विकाः, नानात्ममूर्तिर्येषां तादृशा जाताः, पानमप्रत्यक्षसिद्धमिति पद्भिरित्युक्तं पादपशब्दो रूढो वा भवेदिति, तेषां नीरस्यैव जीवनत्वेन पदयोरेव तत्पानसाधनत्वेन स्वच्छययैवोपगताप-शीतादिभ्यः स्वपादान् पान्तीति वा तथा, नानामूर्तयस्तु स्वभावात् एव भवन्ति वृक्षाणामनियतरूपस्योक्तत्वात्, तन्निराकरणार्थमात्मपदं, यस्य ग्रीष्मर्तौ या मूर्तिः स्थिता ततो

विलक्षणा नानामूर्तिर्जातिति, एतदपि निरूपणं यदर्थं तदाह प्राक्क्षामा इति, पूर्वं क्षामा दुर्बलास्तपसा न केवलं देहदौर्बल्यमपि तु तपसा श्रान्ताः, इन्द्रियशक्तिरपि कुण्ठिता भवति, ते यदा तपः फलरूपं कामानुसेवन्ते तदा प्रत्यहं नानात्ममूर्तयो भवन्ति, ते वर्षायामेव पुष्टा भवन्तीति प्रकृते निरूपितं, अन्यदा शोषकबाहुल्यान् न शीघ्रमुपचयः ॥ २१ ॥

<sup>\*</sup>लेख तथा टिप्पणीजी में दिए हुए भावों का सारांश-यद्यपि श्लोक में 'मयूर' मेघ के आगमन से प्रसन्न हो उनका सत्कार करते हैं यों कहा है, किन्तु इसका भीतर का आशय यह है, कि स्वामिनीयाँ मेघों को देख, उनका अभिनन्दन करती हैं, कारण कि वर्षा ऋतु में ही प्रभु वन तथा पर्वत आदि पर, जब स्वर विहार करने पधारते हैं, तब स्वामिनीयाँ वहाँ जाती हैं, मेघ आकर वर्षा करते हैं तो प्रसन्न होती हैं, क्योंकि वर्षा के कारण प्रीतम का मिलाप विशेष मिलेगा, नहीं तो घर शीघ्र लौटना पड़ता। अब वर्षा के कारण, बहाना मिल गया है। घर वाले रीस नहीं करेंगे, अतः भगवदानन्द देने वाले मेघों का सत्कार करती हैं।

**व्याख्यार्थ** — जड़ पदार्थ तामस होते हैं, किन्तु उन तामसों में वृक्ष सात्त्विक हैं। वृक्षों के अपने रूप पृथक्<sup>१</sup> पृथक् हैं, वे मूल से पानी पीते हैं, जिससे उनका पानी पीना कोई भी नहीं देख सकता है। 'पादप' शब्द का रूढ़ि<sup>२</sup> अर्थ है। 'मूल से पानी पीने वाला' किन्तु शब्दों से, जो दूसरा अर्थ निकलता है, वह 'यौगिक' अर्थ इस प्रकार है—जो अपनी छाया से प्रबल ताप तथा शीत से अपने मूल की रक्षा करते हैं—वे 'पादप' कहे जाते हैं।

वृक्ष, एक प्रकार से उत्पन्न नहीं होते हैं, अतः वे अनेक रूप वाले तो होते ही हैं, किन्तु यहाँ 'आत्म' शब्द देकर यह भाव बताया है, कि गर्मी के कारण, जो वृक्षों के अपने रूप हो गए थे, वे बदल कर नाना रूप हो गए जैसे कि कहा है, प्रथम तपस्या के कारण देह से दुर्बल और ताप से श्रान्त होने से जो इन्द्रियों से भी दुर्बल हो गए थे, वे अपने मनोवाञ्छित जल प्राप्त होने से, उसका<sup>३</sup> पान कर अनेक रूप वाले (हरे, पत्र पुष्प फल आदि से) युक्त होकर इन्द्रिय देह से पुष्ट हो गए। यदि इस प्रकार वाञ्छित जल की प्राप्ति न होती, तो विशेष शोक होने से शीघ्र बल की प्राप्ति न होती। श्लोक में तपस्वी पुरुष का दृष्टान्त देकर भी इसकी पुष्टि की गई है, कि पुरुष प्रथम तपस्या कर, देह तथा इन्द्रियों से निर्बल होता है; पुनः जब तपस्या का वाञ्छित फल प्राप्त होता है (तब) उसका भोग कर, पुनः विशेष पुष्ट हो जाता है ॥ २१ ॥

**आभास** — तत्र राजसानामाह सरस्स्वति, ।

**आभासार्थ** — तामसों में जो राजस हैं उनका वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः** — सरस्स्वशान्तरोधस्सु व्यूषुरङ्गापि सारसाः ।

गृहेष्वशान्तकृत्येषु ग्राम्या इव दुराशयाः ॥ २२ ॥

**श्लोकार्थ** — हे महाराज ! जैसे दुष्ट अन्तःकरण वाले संसारी पुरुष, अखुट कर्मों

\*जो एक पर दृढ़ विश्वास करते हैं, उनको वह मनोवाञ्छित फल देता है जैसे वृक्ष, अपने जीवन रूप जल को कामना करते हैं, किन्तु स्वयं उसको प्राप्त नहीं कर सकते हैं, अतः उसकी प्राप्ति करने वाले मूल<sup>४</sup> की रक्षा करते हैं, जड़ निर्बल<sup>५</sup> ताप से तप्त होती है उसका दृढ़ आश्रय केवल वर्षा ऋतु पर है, आश्रय के फल स्वरूप, उस जड़ को वह ऋतु जल देकर तृप्त करती है। इसी प्रकार, जो भक्तभगवदीय का दृढ़ आश्रय रखता है, उसको उस (भगवदीय) से भगवद् रस की प्राप्ति होती है। भगवदीय वर्षा ऋतु भी, सर्वत्र निकुञ्ज आदि उत्पन्न कर, वहाँ भक्त को भगवत्सम्बन्ध का आनन्द दान करवाती है।

'टिप्पण'



से भरे हुए, घरों में रहते हैं, उसी प्रकार, सारस पक्षी उन तलावों के किनारों पर जो किनारे सदैव एक समान शान्त नहीं है ॥ २२ ॥

**सुबोधिनी** — सारसा हि सरस्येव रसवन्तः, तानि वर्षाकाले पूरितानि भवन्ति, उपरि बहुदूरे जलं गच्छति ततश्च नीडं कृत्वा स्थिताः कूले, तत् कूलं जलेन प्लावितं भवति, तदुपरि कृतं तदपि कदाचित् कूलं पतति, एवमनेकविध-दोषदुष्टेष्वपि सरस्सु सारसास्तद्रसाविष्टा व्यूषुः समीपसमीविशेषणवशादशान्तरोधसि तिष्ठन्तीति गम्यते,

एतद् यदर्थमुक्तं तदाह गृहेष्विति, न शान्तं कदाचिदपि कृत्यं कर्तव्यं येषु, न ह्यामरणं गृहचिन्ता कदाप्यपगच्छति, तेऽपि ग्राम्या ग्राम एवोत्पन्ना स्ता इन्द्रियग्रामपोषका वा तादृशा अपि दुराशया अन्तःकरणदोषयुक्ता अपि, बहिर्निर्गतानां खेदेन भगवत्स्मरणं तीर्थदर्शनं सत्सङ्गो वा भवेत् क्रियाव्यापृतौ चिन्ताभावो वा, वर्षायां तु सर्वाभावः ॥ २२ ॥

**व्याख्यानार्थ** — जिन पक्षियों को सरोवर पर रहने से ही रस (आनन्द) आता है, उनको 'सारस' कहते हैं । सरोवरों में सदैव जल स्वल्प<sup>१</sup> रहता है, किन्तु वे वर्षा के समय में पूर्ण भरपूर हो जाते हैं, जिससे जल ऊपर आ जाता है । जब जल ऊपर आता है, तब वे पक्षी अपना आवास<sup>२</sup> किनारे पर बना कर वहाँ रहते हैं और कभी किनारे भी पानी से भर जाते हैं, अर्थात् पानी में डूब जाते हैं, तो वहाँ भी क्लेश होता है, वहाँ रहने में इतने दोष होते हुए भी सरोवर के रस के इच्छुक, उस रस में मग्न होने से, वे (सारस) वहाँ ही रहते हैं । इसी प्रकार जिन घरों में रहने से कभी भी घर के कार्य पूरे नहीं होते हैं, मरण पर्यन्त घर की चिन्ता लगी ही रहती है, तो भी ग्राम में उत्पन्न होने से, ग्राम में ही जिनको आनन्द आता है, अथवा इन्द्रिय रूप ग्राम का पोषण करने वाले तथा अन्तःकरण के दोष वाले पुरुष भी ग्राम वा गृह को नहीं छोड़ते हैं । यदि घर छोड़ बाहर निकले, तो वहाँ दुःख प्राप्त होने से भगवान् की स्मृति हो, तीर्थों का दर्शन हो तथा सत्सङ्ग प्राप्त हो एवं काम में ही रुके रहने से चिन्ता का भी अभाव हो जाय, किन्तु इस सब को वर्षा होने नहीं देती है, कारण कि, वर्षा बाहर निकलने नहीं देती है ॥ २२ ॥

**आभास** — एवं राजसानुक्त्वा तामसानाह जलौघैरिति, ।

**आभासार्थ** — तामसों में जो सात्विक और रजस थे, उनका वर्णन कर अब तामसों का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः** — जलौघैर्निरभिद्यन्त सेतवो वर्षतीश्वरे ।

पाषण्डिनामसद्वादैर्वेदमार्गाः कलौ यथा ॥ २३ ॥

**श्लोकार्थ** — जिस भाँति कलियुग में, पाषण्डियों के असद्वादों<sup>१</sup> से, वेद के मार्ग नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार इन्द्र द्वारा की हुई प्रबल वर्षा से पुल टूट गए ॥ २३ ॥

सुबोधिनी — जलसमूहः सेतवो नितरामभिद्यन्त भिन्ना जातास्तत्र च प्रतीकारो न शक्यः, ईश्वरे वर्षति पर्जन्य ईश्वरः स हि सर्वसुखार्थं वर्षति, ततो शक्यप्रतीकारात् सेतवो भिन्ना एव, एतदपि यदर्थं तदाह पाषण्डि- नामसद्वादैरिति, कलौ बुद्धावतारे भगवति तेन प्रवर्धिताः पाषण्डास्तेषामसद्वादैः कुयुक्तिभिः सर्व एव वेदमार्गाः कर्मज्ञानभक्त्युपासनादि प्रतिपादकाः सर्व एव निरभिद्यन्त कलौ तेषां प्रयोजनाभावात् ॥ २३ ॥

**व्याख्यार्थ** — इन्द्र द्वारा की हुई प्रबल वर्षा से, पुल टूट गए, उसका कोई उपाय नहीं, कारण कि, वह वर्षा करने वाला ईश्वर है अतः वह (ईश्वर) जो कुछ करता है, सो सब के हित के लिए ही करता है । वर्षा होगी, तो पुल टूटेंगे ही, उसका कोई प्रतिकार<sup>२</sup> नहीं है । यह दृष्टान्त जिस लिए दिया गया है, वह श्लोक के उत्तरार्द्ध में कहते हैं, कि कलियुग में, भगवान् ने बुद्धावतार धारण कर, असद्वादों से कल्पित युक्तियों से, पाषण्ड धर्म चलाए, जिनसे, सब वेद मार्ग (जो वेद मार्ग, कर्म, ज्ञान, भक्ति और उपासना आदि धर्मों का प्रतिपादन करते थे वे सब) टूट गए लुप्त<sup>३</sup> हो गए, क्योंकि, कलियुग में उनका कोई प्रयोजन नहीं है ॥ २३ ॥

**आभास** — गुणातीतस्थानीयमाह व्यमुञ्चन्निति,

**आभासार्थ** — तामसो में जो गुणातीत है उसका वर्णन अब करते हैं ।

**श्लोकः** — व्यमुञ्चन् वायुभिर्नुन्ना भूतेभ्योऽथामृतं घनाः ।

यथाशिषो विश्पतयः काले काले द्विजेरिताः ॥ २४ ॥

**श्लोकार्थ** — जैसे ब्राह्मणों की प्रेरणा से, भूपतिगण<sup>४</sup> समय समय पर दीनों को धनादिक देते हैं, वैसे (ही) वायु से प्रेरित मेघ, प्राणिओं को समय समय पर अमृत जल देते हैं ॥ २४ ॥

<sup>१</sup>व्रज में आपके बिराजने से केवल जल को पार करने के लिए जो पुलें थीं वे ही टूट गई थीं, किन्तु अन्य वेद धर्म की सेतु<sup>५</sup> नहीं टूटी थी, अर्थात् व्रज में, वेद धर्म उसी प्रकार ही चल रहा था । 'टिप्पणी'

सुबोधिनी — वायुभिः प्रेरिता घना भूतेभ्योऽमृतं  
अस्तादिजलं मघादिजलं वा मुमुचुः, अन्यत् तु जलं गच्छति  
मघादिजलं वध्यत इति दृष्टान्ते कालपदवीप्सया यदा यत्र  
गलमपेक्षितं तत्रैव तदैव वर्षावृष्टिर्ज्ञाप्यते, भूतेभ्य इति  
ऋतुर्थी, एतदपि यदर्थं तदाह यथेति, विष्णुतयो देशाधिपतयो ।

ब्राह्मणैः प्रेरिता आशिषो धनादिकं प्रयच्छन्ति, पुरोहितप्रेरिता  
हि ते दीनेभ्योऽन्नादिकं प्रयच्छन्ति, वर्षासु दीनानां  
स्वतःकार्यसामर्थ्याभावाद् यस्तु वर्षासु दाता स दातेति  
ब्राह्मणप्रेरणा प्रत्यक्षकृतोपयोगिता ॥ २४ ॥

**व्याख्यार्थ —** जो जल, प्राणियों को अमृतः समान (हस्त और मेघा नक्षत्र में पड़ा हुआ जल  
अन्नादिक को उत्पन्न करता है अतः अमृत रूप है) हितकर होता है, वह जल समय समय पर  
अर्थात् जब प्राणियों को जल की आवश्यकता होती है, तब मेघ वायु की प्रेरणा से उनको देते  
हैं, जैसे राजा लोग, ब्राह्मणों (पुरोहितों) की प्रेरणा से दीनों को धन अन्नादि देकर, उनको सुखी  
करते हैं । वर्षा ऋतु में, दीन स्वतः अपने कार्य (धनादि को लाने के कार्य) करने में असमर्थ  
होते हैं; अतः जो वर्षा समय में दान करता है, वह ही दाता है, इससे ब्राह्मणों की प्रेरणा प्रत्यक्ष  
उपयोग वाली सिद्ध हुई है ॥ २४ ॥

**आभास —** एवमेकविंशतिप्रकारेण स्वरूपेण च प्रावृड् वर्णिता, तस्यां प्रावृषि भगवतो  
गुणानां च रमणमाह सप्तभिः, तत्र प्रथमं रमणार्थं भगवत प्रवेशमाहैवमिति,

**आभासार्थ —** वर्षा ऋतु का इक्कीस प्रकार तथा स्वरूप से वर्णन कर, अब वर्षा ऋतु में  
भगवान् ने स्वयं तथा गुणों ने जिस प्रकार रमण किया, उसका निम्न सात श्लोकों से वर्णन करते  
हैं । जिसमें प्रथम भगवान् ने रमण के लिए वन में प्रवेश किया उसका वर्णन इस श्लोक में  
करते हैं ।

१ श्री प्रभु चरण 'अमृत' शब्द का भावार्थ स्पष्ट करते हुए आज्ञा करते हैं, कि पहले कह आए हैं, कि मेघों  
ने जल बरसाया, फिर वही बात दुबारा क्यों कही, ऐसी शङ्का निवारण के लिए 'अमृत' कहा, 'जल' नहीं,  
क्योंकि, जो जल, हस्त आदि नक्षत्रों में पृथ्वी पर पड़ता है, वह अन्न आदि उत्पन्न करता है । यदि वह ऐसे  
समय में न पड़े, तो धान्य उत्पन्न न होवे, पहले पड़ा हुआ जल व्यर्थ हो जाए, अतः इस जल को जल न  
कहकर, 'अमृत' कहा है, कारण कि, वह जल धान्यादि पैदा कर प्राणियों की क्षुधा रूप मृत्यु से रक्षा करता  
है, अतः यह जल 'अमृत' कह कर पुनरुक्ति दोष को मिटा दिया है ।

२ व्रज में सब को सब प्रकार की सम्पत्ति प्रभु देते थे; अतः उन (व्रजवासियों) को दूसरे, किसी का प्रयोजन  
नहीं था, वर्षा ऋतु भगवान् को लीला के लिए जिसकी आवश्यकता थी, उसकी प्रथम ही तैयारी कर देती  
थी ।

३ जैसे भूपति, दूसरों की प्रेरणा के बिना किसी को भी नहीं देते हैं, वैसे ही यहाँ व्रज में, केवल मेघ हैं, जो  
दूसरों की (वायु की) प्रेरणा ने जलदान करते हैं, दूसरे नन्दादिक तो, अन्य की प्रेरणा के बिना (ही) सब  
को सर्व प्रकार के पदार्थ स्वयं देते हैं ।

श्लोकः — एवं वनं तद् वर्षिष्ठं पक्वखर्जूरजम्बुमत् ।

गोगोपालैर्वृतो रन्तुं सबलः प्राविशद्धरिः ॥ २५ ॥

**श्लोकार्थ —** इस प्रकार बहुत सम्पदावाले, उस वन में, जहाँ खजूर और जामुन पके हुए थे, वहाँ गौ तथा गोपों से घिरे हुए श्रीकृष्णचन्द्र बलदेवजी सहित पधारे ॥ २५ ॥

**सुबोधिनी —** एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वगुणसम्पन्नं वनं तत् प्रसिद्धं वर्षिष्ठं सर्वोत्तमं जातं, नन्वत्र वने क्रीड़ायां शीघ्रं गृहागमनं न सम्भवति भुक्त्वा गमनेऽपि महद् दिनमिति मध्ये क्षुद् भवेदाप्रादिफलानि तु निवृत्तानि ततः कथं रमणमित्याह पक्वखर्जूरजम्बुमदिति, पक्वानि खर्जूरफलानि जम्बुफलानि च यस्मिन् वने, भगवान् गुणातीतः सत्त्व-स्थानीयो बलो रजःस्थानीया गोपाला गावस्त्ववशिष्टाः, तैः सर्वैरव भगवदीयैरवृतः प्रकर्षेण क्रीडां कर्तुं स्वसम्पादित-निर्दुष्टैर्जीवैः सह वनं प्राविशत् ॥ २५ ॥

**व्याख्यार्थ —** जिस सर्व गुण वाले वन का पहले वर्णन हो चुका है, वह प्रसिद्ध वन, सबसे उत्तम हुआ । वैसे वन में रमण किया जाएगा तो घर शीघ्र लौटना न हो सकेगा और यदि भोजन कर जावें तो भी दिन बड़े हैं, बीच में भूख लगेगी, वन में वर्षा के कारण, आम्र फल तो भोजन के लिए मिलेंगे नहीं, क्योंकि, वे नष्ट हो गए हैं, अतः भूख होते हुए रमण कैसे हो सकेगा ? इस शङ्का के निवारण के लिए श्लोक में कहा है, कि वन में आम्र नहीं है, किन्तु भोजन के लिए पकी हुई खजूर तथा जामुन बहुत हैं, उनसे भूख मिटई जाएगी, सत्त्व में स्थित बलरामजी रजोगुण में स्थित गोप और तम में स्थित गौ, इन तीन प्रकार के सर्व भगवदीयों से वेष्टित,<sup>१</sup> गुणातीत भगवान् जिन (भगवान्) ने सब के दोष निवृत्त कर दिए हैं, उन निर्दोष जीवों के साथ आप उत्तम प्रकार के रमण करने के लिए वन में प्रवृष्टि हुए ॥ २५ ॥

**आभास —** तत्र प्रथमं धेनूनां शोभामाह,

**आभासार्थ —** भगवान् जिनके साथ वन में पधारे उनमें से प्रथम गौओं की शोभा का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — धेनवो मन्दगामिन्य ऊधोभारेण भूयसा ।

ययुर्भगवताहूता द्रुतं प्रीत्या स्नुतस्तनीः ॥ २६ ॥

**श्लोकार्थ** — भारी ऊध<sup>१</sup> के भार से गौ धीरे-धीरे चलती थी किन्तु जब भगवान् ने बुलाई तो वे स्तनों से दूध को स्रवित<sup>२</sup> करती हुई प्रेम से शीघ्र शीघ्र भगवान् के पास जाने लगी ॥ २६ ॥

**सुबोधिनी** — प्रवेशो वीर्यशक्तिरियं वैराग्यशक्तिर्वा, निर्वन्धेनाप्यागमनं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह प्रीत्येति, ऐश्वर्यशक्तिमाह मन्दगामिन्यो धेनवो जाताः, गर्भेणापि तथा प्रीत्याहूताः प्रीत्या च ययुः प्रीत्यैव च स्नुता स्तना यासां भवन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाहोद्धोभारेण भूयसेति, क्षीराशयस्यैव डीप्टापौ व्यत्ययेन भवतः ॥ २६ ॥

**व्याख्यानार्थ** — भगवान् का, वन में प्रवेश, उन (भगवान्) की वीर्य शक्ति\* तथा वैराग्य शक्ति† का द्योतक<sup>३</sup> है अर्थात् यह प्रवेश भगवान् की वीर्य शक्ति तथा वैराग्य शक्ति को प्रकट करता है। ऐश्वर्य शक्ति का वर्णन करते हैं। गौ ऊध के भार से धीरे धीरे चलती थीं, यों कहने से यह बताया है, कि उस समय गौओं का धीरे धीरे चलना गर्भ के कारण नहीं था, अर्थात् वे गर्भवती नहीं थीं। यद्यपि ऊध के भार से वे धीरे धीरे चलती थी, तो भी जब भगवान् उनको बुलाते थे, तब वे प्रेम से दूध को बहाती हुई शीघ्र<sup>२</sup> भगवान् के पास जाती थीं। यह उनका भगवान् के पास जाना भगवान् से डर, वा उनके आग्रह के कारण नहीं था, किन्तु जैसे भगवान् प्रेम पूर्वक बुलाते थे, वैसे (ही) ये भी प्रेम से जाती थीं ॥ २६ ॥

**आभास** — गोपानां सुखमाह वनौकसः प्रमुदिता इति,

**आभासार्थ** — अब इस श्लोक में गोपों के सुख का वर्णन करते हैं।

\*योजनाकार लालू भट्टजी कहते हैं कि जिस वन में प्रलम्ब आदि रहते थे जिनको भगवान् ने मारा था और दावाग्निओं का पान किया था वैसे भयङ्कर वन में भगवान् का प्रवेश उनकी (भगवान् की) वीर्य शक्ति प्रकट करता है।

†आठवें श्लोक की टिप्पणीजी में श्री प्रभुचरण ने कहा है कि यह लीला परेक्षवाद से रहस्यलीला कही गई है, भगवान् सदैव रहस्य लीला में आसक्त हैं तो भी आप जो अब बलराम, गौ और गोपों के साथ बाहर रमण के लिए वन में पधार हैं जिससे भगवान् में वैराग्य शक्ति है यह सिद्ध होता है अर्थात् भगवान् ने यह लीला कर अपनी वैराग्य शक्ति प्रकट की है।

१-हवाना या आयना (वह अंग जिसमें दूध रहता है)। २-बहाती हुई।

३-प्रकाश करने वाला।

श्लोकः — वनौकसः प्रमुदिता वनराजीर्मधुच्युतः ।

जलधारा गिरेरासन्नासन्ना ददृशे गुहाः ॥ २७ ॥

**श्लोकार्थ** — वन में निवास करने वाले बहुत आनन्द में थे, वन की पंक्तियाँ रसों को टपकाती थीं, पर्वतों से जल की धाराएँ बहती थी और उनके समीप ही, गुफाएँ थीं, भगवान् ने इन सबको देखा ॥ २७ ॥

**सुबोधिनी** — वनवासिनां हि कालान्तरे तापो भवतीदानीं शीतलत्वात् सर्वे प्रमुदिताः, अनेन दोषाभाव उक्तः सहजं च सुखं, भक्ष्यसम्पत्तिमाह, वनराजीर्वनपङ्क्तयः सर्व एव वृक्षा नानाजातीया मधुच्युतः पूर्णे मधुनि ततोपि प्रवाहमधुयुक्ता जाताः, पेयसम्पत्तिमाह जलधारा गिरेरासन्निति पर्वतसम्बन्धिन्यो

जलधारा अकलुषिताः शीतलाः पानयोग्यधाराश्च भवन्ति, वृष्टौ स्थातुं शयनं च कर्तुं स्थानमाहासन्ना ददृशे गुहा इति, आसन्ना निकटस्था गुहा विश्रामस्थानानि, एतत्त्रिविधसामग्रीयुक्तान् वनौकसो गोपालानन्याश्च ददृशे ॥ २७ ॥

**व्याख्यार्थ** — वर्षा ऋतु के कारण, वनवासी जो अन्य समय में ताप आदि से वन में दुःख भोगते थे, वे अब शीतल के कारण प्रसन्न थे । यों कहकर यह बताया है, कि वनवासियों के सर्व दोष निवृत्त हो गए हैं और सहज सुख की प्राप्ति हो गई है । न केवल शीतलता के कारण आनन्द मग्न थे किन्तु भोजन की सम्पत्ति भी प्राप्त थी जैसे कि सर्व वृक्ष, अर्थात् प्रत्येक जाति के वृक्ष मधु धाराएँ बहाते थे और पान की सम्पत्ति भी विद्यमान थी जैसे पहाड़ों से शीतल तथा स्वच्छ जल की धाराएँ बह रही थीं । इसके साथ विश्राम और शयन के लिए पास में गुफाएँ भी थीं, इस प्रकार, तीनों प्रकार की आवश्यक सामग्री वाले वन में वन निवासी गोप तथा अन्य (भील आदि) को भगवान् ने देखाः ॥ २७ ॥

**आभास** — बलभद्रस्य तत्र रमणमाह क्वचिद् वनस्पतिक्रोड इति,

**आभासार्थ** — इस श्लोक बलदेवजी के रमण का वर्णन करते हैं ।

श्लोकः — क्वचिद् वनस्पतिक्रोडे गुहायां चाभिवर्षति ।

निर्विशन् भगवान् रेमे कन्दमूलफलाशनः ॥ २८ ॥

**श्लोकार्थ** — भगवान् रमण करते हुए देखते, कि वर्षा होती है तब वृक्ष की खोह में, वा पर्वत की गुफा में प्रवेश करते थे और वहाँ कन्द मूल और फल खाते थे ॥ २८ ॥

**सुबोधिनी** — वृक्षस्य क्रोडे कोटरे गुहायां वाभिवर्षति । स्वादिष्ठानि च रेमइतिपदाद् रामो ज्ञायते, विशेषं च वक्ष्यति, देवे निर्विशंस्तत्रोपविशन् भगवान् रामो मूलकन्द- भगवति क्रोडे पुनर्निलीयोपवेशनं फलाहारश्च न सम्यक् फलान्येवाशनं यस्य वनस्थानि सर्वाणि दिव्यानि सम्पद्यते ॥ २८ ॥

**व्याख्यार्थ** — कभी वर्षा होती, तो भगवान् (राम) वृक्ष के कोटर में, वा पर्वत की गुफा में प्रवेश कर, वहाँ बिराजते हुए कन्द, मूल और फल<sup>†</sup> का भोजन करते थे, वन के कन्दादिक सर्व अलौकिक स्वादिष्ट होते हैं । श्लोक में भगवान् कहा है किन्तु 'रमे' क्रिया पद से ज्ञात होता है कि यह 'बलरामजी' की लीला है, विशेष में इसका स्पष्टीकरण आगे कहेंगे, वृक्ष के कोटर में, और छिपकर फलाहार, यह भगवान् के लिए उचित\* नहीं है ॥ २८ ॥

**आभास** — भगवतो लीलामाह दध्योदनमिति,

**आभासार्थ** — इस श्लोक में स्वयं भगवान् ने जो लीला की है उसका वर्णन करते हैं—

**श्लोकः** — दध्योदनमुपानीतं शिलायां सलिलान्तिके ।

**सम्भोजनीयैर्बुभुजे गोपैः सङ्कर्षणान्वितः ॥ २९ ॥**

**श्लोकार्थ** — जल के समीप वाली शिला पर बैठ, सङ्कर्षणजी के साथ वाले भगवान् ने अपने साथ भोजन करने वाले गोपों से घर से आए हुए दही भात का भोजन किया ॥ २९ ॥

**सुबोधिनी** — गोपैर्गोपिकाभिर्यशोदया रोहिण्या वा चान्वितो बुभुजे, एतद् भोजनं प्रावृषि तस्याः स्वसम्पत्तित्वं तदानीमुपनीतं दध्योदनं शिलायां पर्वतसानुनि स्थूलं ख्यापनार्थं, अन्ये च गोपाला भिन्नतया बुभुजुर्वलभद्रेण सह आच्छन्नमेघे वर्षति सति सलिलसमीप एव जलार्थमन्यत्र फलाहारे वा ॥ २९ ॥  
गमनाभावाय सम्भोजनीयैः सजातीयैर्गोपैः सङ्कर्षणेन

<sup>†</sup>इस भोजन से बलरामजी की वैराग्य शक्ति कही है, यदि २५वें श्लोक में वैराग्य शक्ति कही गई तो यहाँ पुनरुक्ति समझी जाएगी, तो यह बलरामजी का चरित्र है, जिससे यों समझना कि 'वीर्य शक्ति' कही है ।

‘प्रकाश’

\*कंदरा में छिपकर भोजन करना भगवान् के योग्य न होने से यह भगवान् बलरामजी की लीला है ।

‘टिप्पणी’

**व्याख्यार्थ** — जिस समय भगवान् अपने भक्त गोप तथा भ्राता श्री बलदेवजी के साथ रमण कर रहे थे, उसी समय गोप, गोपीजन अथवा यशोदाजी तथा रोहिणीजी, जो दही भात लाई थीं, उसका, पर्वत के शिखरों पर धीरे धीरे बादलों के बरसते हुए पीने का पानी लाने के लिए कहीं जाना न पड़े (ऐसी) जल के समीप वाली चट्टानों पर बैठकर सजातीय (भक्त) गोपों के साथ भगवान् भोजन करने लगे। उस समय श्री बलरामजी भी, आपके साथ में थे। वह भोजन भगवान् ने यहाँ इसलिए किया, कि वर्षा में उत्पन्न सर्व सम्पत्तियाँ मेरी और मेरे लिए ही हैं। जो गोप सजातीय नहीं थे, उन्होंने पृथक् भोजन किया अथवा बलरामजी के साथ फलाहार किया ॥ २९ ॥

**आभास** — ननु गोषु विद्यमानासु ताभ्योऽदत्त्वा कथं भगवान् बुभुज इति शङ्कां वारयति शाद्वलोपरीति,

**आभासार्थ** — भगवान् ने गोपों के साथ भोजन किया, किन्तु आपके साथ गौ बैल आदि थे, उनको भोजन न करा के आपने कैसे किया ? इस शङ्का का निवारण इस श्लोक में करते हैं —

**श्लोकः** — शाद्वलोपरि संविश्य चर्वतो मीलितेक्षणान् ।

तृप्तान् वृषान् वत्सतरान् गाश्च स्वोद्धोभरश्रमाः ॥ ३० ॥

**श्लोकार्थ** — तृप्त हुए वृष<sup>१</sup> और बछड़े हरी घास बैठकर आँखें मीचकर जुगारी करते थे और गौ, औध के भार से थककर, बैठी हुई जुगारी करती थीं ॥ ३० ॥

**सुबोधिनी** — शाद्वलं हरितृणवदेशस्तत्र संविश्य गणिताः, तत्र गोप्रासो देय इत्यधिकशङ्कायामाह चर्वतो रोमन्थं कुर्वाणान् तृप्तान् वृषान् वत्सतरान् गाश्च स्वोद्धोभरश्रमा इति, स्वस्योद्धसो भरेण श्रमो यासां, एवं ददृश इतिसम्बन्धः, रोमन्थसमये न तेभ्यो देयं, त्रिविधा सर्वेषां भोजनपान-शयनविहारा निरूपिताः ॥ ३० ॥

**व्याख्यार्थ** — भगवान् ने देखा कि हरी घास वाली भूमि पर तृप्त हुए बैल, बछड़े तथा गौ जुगारी कर रही हैं, जिस समय वृष आदि जुगारी करते हैं, उस समय, उनको खाने के लिए नहीं देना चाहिए, क्योंकि वे तृप्त होकर बैठे हैं और चरे हुए पदार्थ के रस का स्वाद ले रहे हैं। गौ घास तो देना चाहिए था, इसके उत्तर में कहते हैं कि वे गौ तृप्ति के कारण ओध\* के भार से

\*गौ का ओध भर गया, यह तृप्ति का चिह्न है, जिससे भगवान् की यश शक्ति प्रकट होती है, तात्पर्य यह है कि भगवान् के कारण, गौ इस प्रकार तृप्त होती है कि उनका ओध दूध से इतना भर जाता है कि उसके भार से थक जाती है, अतः तृप्त को घास देना व्यर्थ है।

'प्रकाश'



श्रमित हुई थीं, अर्थात् थक गई थीं अतः उनको गौ ग्रास ऐसे समय देना व्यर्थ था, इस प्रकार, सबके भोजन, पान और शयन के विहार का वर्णन किया है ॥ ३० ॥

**आभास —** एतादृशस्य वनस्य भगवत्कृतमभिनन्दनमाह प्रावृट्श्रियमिति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार के वन का, जो अभिनन्दन<sup>१</sup> भगवान् ने किया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक: —** प्रावृट्श्रियं च तां वीक्ष्य सर्वभूतसुखावहाम् ।

भगवान् पूजयाञ्चक्र आत्मशक्त्युपबृंहिताम् ॥ ३१ ॥

**श्लोकार्थ —** सब जीवों को आनन्द देने वाली उस वर्षा की सम्पदा को अपनी शक्ति से समृद्ध देखकर भगवान् ने उसकी पूजा की ॥ ३१ ॥

**सुबोधिनी —** आधिदैविकी प्रावृट्श्रीः स्वकीया तत्र शक्तयस्ताभिरुपबृंहितत्वं चकारसूचितमाधिदैविकरूपत्वञ्च, समागता, आधिदैविकीमपि तां वीक्ष्य भगवान् पूजयाञ्चक्रे, तस्यां क्रीडित्वा तस्या अभिनन्दनं कृतवान् ॥ ३१ ॥ पूजायां हेतुत्रयं, सर्वभूतसुखावहत्वमात्मनो यावत्यः ।

**व्याख्यार्थ —** व्रज में आधिदैविकी वर्षा ऋतु आई, उसको देखकर भगवान् ने उसका आदर सत्कार किया, क्योंकि वह (वर्षा ऋतु) तीन कारणों से सत्कार के योग्य थी, १-सर्व प्राणियों का हित करने वाली थी, २-भगवान् की सर्व शक्तियों से समृद्ध (बहुत सम्पदावाली) थी, ३-आधिदैविक रूप धारण कर आई थी, इन तीनों गुणों वाली इस वर्षा ऋतु में भगवान् ने रमण द्वारा उसका समादर<sup>२</sup> किया, यदि भगवान् रमण नहीं करते, तो प्रावृट् ऋतु<sup>३</sup> का तीन गुणों को प्रकट कर आना व्यर्थ हो जाता, जिससे वह अपना अपमान वा अनादर समझती, अतः गुणज्ञ सर्वान्तर्यामी भगवान् ने उसकी की हुई सेवा को ग्रहण किया ॥ ३१ ॥

**आभास —** इदानीं पूर्वलीलामुपसंहरन् लीलान्तरकथनार्थं शरद्वर्णनमाहैवमित्यष्टादशभिः, सामान्यतः शरत्प्रवृत्तिरेकेन सप्तदशभिश्च तत्कार्याणि, तत्र प्रथमं तस्याः प्रवृत्तिमाह, एवं लीलां कुर्वाणयोस्तस्मिन्नेव वने निवसतो,

**आभासार्थ** — वर्षा ऋतु की लीला के वर्णन की समाप्ति कर, अब अन्य लीला के कहने का प्रारम्भ करते हैं, वह लीला शरद् ऋतु में की हुई कहनी है अतः अठारह श्लोकों में शरद् का वर्णन करते हैं, जिससे इस एक श्लोक में, शरद् की प्रवृत्ति का वर्णन कर, शेष १७ श्लोकों में उसके कार्यों का वर्णन करेंगे ।

**श्लोकः — एवं निवसतोस्तस्मिन् रामकेशवयोर्व्रजे ।**

**शरत् समभवद् व्यभ्रा स्वच्छाम्ब्वपरुषानिला ॥ ३२ ॥**

**श्लोकार्थ** — इस प्रकार बलरामजी और श्रीकृष्णचन्द्रजी के वन में (व्रज में) रहते हुए शरद् ऋतु आई, जिसके आने से बादल बिखर गये, जल निर्मल हो गया और वायु मन्द-मन्द चलने लगी ॥ ३२ ॥

**सुबोधिनी** — रामकेशवयोः सतोर्व्रजे च निवसतोः शरत् समभवत्, वर्षासु भगवान् रेम इति ज्ञात्वा शरदपि समागता मय्यपि रंस्यत इति, तस्या वर्षातो वैलक्षण्यमाह व्यभ्रेति, वर्षाया गुणत्रयमुक्तं 'मेघा विद्युत् स्तनयित्त्व' इति तथास्या अपि गुणत्रयमाहाभ्राभावो जलगतमल-निवृत्तिर्वायोः परुषस्पर्शनिवृत्तिश्चेति अनेन तदपेक्षया अस्या

उत्तमत्वमुच्यते, सा हि प्रवृत्तिधर्मस्त्वेयं निवृत्तिधर्मस्त्वा, उपर्याकाशनैर्मल्यमधो जलनैर्मल्यं परितो वायुनैर्मल्यमिति यथा प्रवृत्तावुत्पत्तिमुख्या तदपेक्षयोत्पत्त्या नैर्मल्यं मुख्यं भूम्यपेक्षया जलं महत् परिध्यपेक्षया च वायुः, अत एवास्यां भगवान् रतिं करिष्यतीति स्त्रीणामानन्दस्तत्र प्रतिष्ठित इति ॥ ३२ ॥

**व्याख्यार्थ** — भगवान् राम तथा कृष्ण इस प्रकार रमण करते हुए, वन और व्रज में रहते थे, तब इनका वर्षा ऋतु में रमण देख, शरद् ऋतु को भी इच्छा हुई, कि मैं भी वहाँ चलूँ तो मुझ में भी प्रभु रमण करेंगे, इस आशा से शरद् ऋतु भी वर्षा से पृथक्<sup>१</sup> लक्षण वाले तीन गुणों से युक्त होकर आई, १-वर्षा में जो आकाश, बादलों से घिरा रहता था उसको अभ्र रहित बना के स्वच्छ कर दिया, २-वर्षा में नदियों का जल, मलवाला हो जाता था उसको निर्मल<sup>२</sup> बना दिया, ३-वर्षा में पवन का स्पर्श तीव्र प्रतीत होता है उसको बदलकर शीत मन्द मन्द वायु चलाई, इस प्रकार शरद् ऋतु ने अपने निवृत्ति परायण गुणों से निवृत्ति धर्म प्रवृत्त्यर्थ सेवा की और वर्षा ऋतु के प्रवृत्ति धर्म को बन्द किया । ऊपर तो आकाश निर्मल किया नीचे जल स्वच्छ बना दिया और चारों तरफ वायु में निर्मलता प्रकट कर दी ।

प्रवृत्ति धर्म में, उत्पत्ति का होना मुख्य है, निवृत्ति धर्म में, उत्पन्न हुए पदार्थों की शुद्धि होना मुख्य है, भूमि से जल महान् है और परिधि<sup>३</sup> से वायु बड़ी है, अतः वैसी शरद् में, भगवान् रमण करेंगे क्योंकि इस (शरद् ऋतु) में स्त्री जीवों (प्रेमी भक्तों) का आनन्द प्रतिष्ठित<sup>४</sup> है ॥ ३२ ॥

**आभास —** शुद्ध्यर्थमस्याः प्रवृत्तिरिति षोडशकलासहित जीवस्य सप्तदशात्मकस्य शुद्धिरुच्यते ।

**आभासार्थ —** निवृत्ति धर्म वाली शरद् ऋतु शुद्धि के लिए आई है, अतः जो जीव, सप्तदशात्मा (१६ गुण और १ गुणी स्वयं जीव इस प्रकार जीव सप्तदशात्मा) है, उसकी शुद्धि के वर्णन का क्रमशः प्रारम्भ करते हैं-

कारिका — जलानां सर्वभूतानामभ्राणां ज्ञानिनां तथा ।  
 कुटुम्बिनां दरिद्राणां विरक्तानां विमुक्तिनाम् ॥ १ ॥  
 योगिनां गोपिकानाञ्च शरत्सम्बन्धतो हरिः ।  
 दश दोषान् निवार्याथ चित्तस्यापि निवार्य च ॥ २ ॥  
 सर्वानशोभयद् देवः षड्गुणैश्चन्द्रमानवाः ।  
 गावः पद्मानि भूमिश्च वर्णाश्चैव विभाविताः ॥ ३ ॥  
 शरदः कार्यमेतावद् भगवानविशद् यतः ॥ ३३ ॥

**कारिकार्थ —** भगवान् ने शरद् के सम्बन्ध से, जलों, सर्व भूतों, मेघों, ज्ञानियों, कुटुम्बियों, दरिद्रों, विरक्तों, मुक्तों, योगियों और गोपीजनों के दश प्रकार के दोष निवृत्त किए तथा चित्त के दोषों का निवारण किया, इस प्रकार, सब के दोष मिटाकर सब को हरि ने सुशोभित किया ।

यह कार्य शरद् ऋतु ने किया है, क्योंकि भगवान् ने इस शरद् ऋतु में प्रवेश किया है ।

इन कारिकाओं में, जो एक एक जल आदि पदार्थ कहे हैं, वे निम्नलिखित श्लोकों का सारांश लेकर कहे हैं-अर्थात् इन पदार्थों का एक-एक श्लोक में, विवेचन है जैसे कि इस ३३ वें श्लोक में जलों के दोषों के मिटाने का वर्णन है ।

**श्लोकः —** शरदा नीरजोत्पत्त्या नीराणि प्रकृतिं ययुः ।

भ्रष्टानामिव चेतांसि पुनर्योगनिषेवया ॥ ३३ ॥

**श्लोकार्थ** — जैसे योग सिद्ध होने से, जो योगी योग भ्रष्ट होकर जन्म लेते हैं, वे पुनः उसी दूसरे जन्म में योग द्वारा निरोध प्राप्त करते हैं, अर्थात् शुद्ध होकर (योग सिद्ध कर) अपने लक्ष्यों को प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही वर्षा के कारण, मल युक्त हुए जल, शरद् के कारण, कमलों को उत्पन्न कर, शुद्ध बन अपने मूल निर्मल शुद्ध रूप को प्राप्त करते हैं ॥ ३३ ॥

**सुबोधिनी** — तत्र प्रथमं जलानां दोषं निवर्तितवतीत्याह शरदेति, अद्धिः सर्वशुद्धिस्ताश्चेन् निर्मलास्तदा सर्वमेव शुद्धं भवेत्, शुद्धां प्रकार उच्यते शरदेति, कमलोत्पत्तिः शरदैव, निर्गतं रजो यस्मादिति नीरजं, सर्वमेव जलरजो भौतिकं भूमौ विलाप्याध्यात्मिकं स्वरूपभूतं कृत्वाधिदैविकं शुद्धं मकरन्दात्मकं स्वस्मिन् कृत्वा सर्वमेव रजो दूरीकरोत्यतो नीरजमित्युच्यते, तानि चेदुत्पन्नानि तदा दोषस्य निवृत्त-त्वात्रीराणि प्रकृतिं ययुः, नीरे जातानीत्यपि व्युत्पत्तिरतः पुत्रे जाते स्वयमपणो भवति तदा प्रकृतिं प्राप्नोत्यन्यथा ऋणेन

पीडित एव स्यात्, न केवलमेतद् भौतिकदोषनिवृत्त्यर्थं शरदेवं करोति किन्तु भगवत्क्रीडार्थमन्तरापि हृदयकमलविकासेन हृदयं गुणातीतं भवति, तत्र शरद् योगमुत्पादयन्ती तथा करोतीति योगो दृष्टान्तत्वेनोच्यते, अथ वा शनैः शनैः शुद्धिर्योगे भवतीति तदर्थं दृष्टान्तः, तदाह भ्रष्टानामिव चेतांसीति, भ्रष्टा योगभ्रष्टास्तेषां चेतांस्यपि भ्रष्टानि भवन्ति, तानि पुनर्योगसेवया वृत्तिरूपस्य रजसो निरोधं प्राप्नुवन्ति ॥ ३३ ॥

**व्याख्यानार्थ** — जल सर्व पदार्थों को शुद्ध करते हैं, किन्तु यदि वे ही शुद्ध न होवे तो, अन्य पदार्थों को शुद्ध कैसे करेंगे, अतः शरद् ने आकर, प्रथम जलों की शुद्धि की है। किस प्रकार जलों की शुद्धि की, उसका वर्णन करते हैं कि, शरद् ऋतु पहले तो जलों की भौतिक सर्व रज<sup>१</sup> को पृथ्वी में लीन कर, उनका स्वरूप आध्यात्मिक बना के तथा शुद्ध मकरन्द वाला आधिदैविक सिद्ध कर, सर्व प्रकार की रज दूर कर देती है; जिससे वे जल, नीरज<sup>२</sup> हो गए हैं, अतः उन जलों में कमल उत्पन्न हुए हैं उनसे वे जल स्वाभाविक निर्मल रूप को प्राप्त हुए। जैसे, मनुष्य पुत्रों को उत्पन्न कर, पितृ ऋण से उन्मुक्त होते हैं और चिन्ता से छूटकर आनन्द को प्राप्त करते हैं, वैसे (ही) ये जल भी, कमलों को उत्पन्न कर, अपने मल को निवृत्त कर, आनन्दित हो गए, क्योंकि अपनी प्रकृति (चित्त रूप शुद्ध स्वरूप) को प्राप्त हुए। शरद् ऋतु केवल भौतिक (बाहर के) दोषों को मिटाने के लिए कमलों को उत्पन्न नहीं करती है, किन्तु भगवान् की क्रीड़ा के लिए, जल का हृदय भी कमलों के विकास से गुणातीत करती है, अर्थात् हृदय रूप कमल के विकास से, हृदय गुणातीत होता है। हृदय के गुणातीत होने में, शरद् योग<sup>३</sup> देती है इसलिए योग का दृष्टान्त दिया है, अथवा योग द्वारा शुद्धि धीरे धीरे होती है इसी कारण से, योग का दृष्टान्त दिया है, जैसे कि योग से जो पतित<sup>४</sup> होते हैं, उनके चित्त भी पतित<sup>५</sup> हो जाते हैं। वे योग भ्रष्ट मनुष्य, योग के सेवन से, रजोगुण को प्राप्त, चित्त का निरोध करते हैं, अर्थात् रजोगुण को नाश कर, चित्त को सतोगुणी बनाते हैं, जैसे वह भगवान् के बिराजने के योग्य हो जाए ॥ ३३ ॥

**आभास —** एवं सर्वशुद्धिहेतुभूतस्यान्तःकरणस्य जलस्य च शुद्धिमुपपाद्य महाभूतानां शुद्धिं कथयन्नाश्रमाणां शुद्धिप्रकारमाह,

**आभासार्थ —** इस प्रकार सब की शुद्धि के कारण, रूप, अन्तःकरण और जल की शुद्धि का प्रतिपादन कर, महाभूतों की शुद्धि कहते हुए, आश्रमों की शुद्धि का प्रकार बताते हैं—

**श्लोक: — व्योम्नोब्दं भूतशाबल्यं भुवः पङ्कमपां मलम् ।**

**शरज् जहाराश्रमिणां कृष्णे भक्तिर्यथाशुभम् ॥ ३४ ॥**

**श्लोकार्थ —** जैसे श्रीकृष्ण में की हुई भक्ति, चारों आश्रम वाले पुरुषों का पाप (दुःख) हरण करती है, वैसे ही शरद् ऋतु ने महाभूतों की सङ्कटरता (जैसे अग्नि तथा वायु की मिलावट, भूमि तथा जल की कीच, आकाश के मेघ, इस प्रकार चारों का चारों मल) दूर की ॥ ३४ ॥

**सुबोधिनी —** महाभूतानि चेच्छुद्धानि तदा देहः शुद्धो भवेदाश्रमशुद्ध्या धर्मः शुद्धः तदर्थमाह, व्योम्नोब्दमिति व्योम्न आकाशस्य मेघा एव मलरूपाः, भूतशबलताग्नि-वाय्वोर्मलं स्पर्शार्थं क्षुदर्थं तत्सम्भवाद् भुवः पङ्क एव मलमपामपि पङ्क एवेति, एवं पञ्चमहाभूतानां शरज् जहार, इयं च शरदाश्रमाणामपि मलं दूरीकरोति वर्षासु स्वधर्मस्य निरुद्धत्वान् न्यासिनामेकत्रात्रभोजनेन दोषोत्पत्तिसम्भवाद् ब्रह्मचारिणो गुरुसेवायां सङ्कोचसम्भवाद् गृहस्थस्य कालाज्ञानात् कर्मलोपसम्भवाद् वनस्थस्य च सङ्ग्रहादिना दोषसम्भवात् तत् सर्वं निवर्तयति शरत्, तस्या भगवत्सान्निध्यादाधिदैविकवद् दोषनिवर्तकत्वं जातमिति दृष्टान्तेनाह कृष्णे भक्तिर्यथेति भक्तिश्च हृदयाकाशशोकं दूरीकरोति नेत्रजलजननादब्दो

भूतानां शबलता त्रिविधजीवानां किर्मरितत्वं भक्ति-दूरीकरोति, तस्य प्रवर्तक आसन्नो वाग्निर्वेत्येको दूरीकरोत्यपरो ज्वालयति, भुवः पङ्कमपि प्रसाददानाद् दूरीकरोति भक्त्या भावितौ चरणौ भक्तानां हृदये स्नेहेनाद्रौ जलार्द्रतां दूरीकुस्तः, तावेव हि भूः, अपां सर्वासामेव मलं भक्तो दूरीकरोतीति प्रसिद्धमेव, ब्रह्मचर्ये च गुरवे जलदानमस्ति भक्तिश्च तद् दूरीकरोत्यलौकिकदानसामर्थ्यात्, भूतैः सह शबलता गार्हस्थ्ये भवति भक्त्या तन्निवृत्तिः स्पष्टैव, भूस्थानीयो वनवासस्तत्र मलधारणं धर्मः, भगवद्भक्तिस्तु भगवत्सेवार्थं तद् दूरीकरोति अपां बहूदकादीनां मलं परिश्रमणादिक्लेशं भगवदायतने नित्यस्थितिसम्भवात्, किञ्चाशुभं पापमपि दूरीकरोति यदनिवार्यं तत्संस्कारार्थमुत्तरक्रिया ॥ ३४ ॥

**व्याख्यानार्थ —** जब महाभूत शुद्ध होंगे, तब देह भी शुद्ध रहेगी, क्योंकि देह महाभूतों से बनी है । इस प्रकार, चारों आश्रम शुद्ध रहेंगे, तो धर्म की भी शुद्धि रहेगी अन्यथा नहीं, अतः शरद् ने जिस प्रकार, आकाशादि एवं आश्रमों की शुद्धि की, उसका वर्णन करते हैं । शरद् ऋतु प्रत्येक के मल को निवृत्त करती है, 'मल' उसको कहा जाता है जो कार्य में वा स्वरूप दर्शन में रुकावट डाले, जैसे 'मेघ' आकाश के मल हैं क्योंकि मेघों से आच्छन्न होने पर आकाश का शुद्ध स्वरूप

देखने में नहीं आता है। शरद् ने आकर मेघों को हटाकर आकाश का मल मिटाया, जिससे, आकाश का स्वच्छ स्वरूप देखने में आने लगा। महाभूतों की मिलावट, अग्नि और वायु का मल है, स्पर्श एवं भूख\* के लिए इनकी (अग्नि और वायु की) आवश्यकता है। पृथ्वी और जल का मल कीच है, इन सब मलों को शरद् ने हरण कर लिया।

शरद् ने जैसे महाभूतों के मलों को मिटाया, वैसे ही आश्रमों के मल भी निवृत्त किए। जैसे कि, संन्यासियों का धर्म घूमने का है, उनके लिए एक स्थान पर रहने का शास्त्रों ने निषेध किया है, किन्तु वर्षा, इस संन्यास आश्रम के धर्म में रुकावट डालती है, जिससे, वे एक ही स्थान में रहते हैं, वहाँ एक ही स्थान का भोजन करते हैं उससे दोषों की उत्पत्ति का सम्भव है; ब्रह्मचारी भी वर्षा के कारण भिक्षा माँग कर गुरु को देना, उनकी आज्ञा से, भिक्षात्र भोजन करना, इस धर्म का पालन नहीं कर सकते हैं। वर्षा के कारण समय के अज्ञान से, गृहस्थी भी अपना कर्म समयानुसार नहीं कर सकते हैं। वानप्रस्थी भी, इस कारण से, सङ्ग्रह कर रखते हैं, इससे दोष उत्पन्न होने का सम्भव है। इसी प्रकार, वर्षा में, सर्व आश्रम वालों में, दोष आने की, जो सम्भावना थी उसको शरद् ने आकर मिटा दिया। शरद् ऋतु से भगवान् का सान्निध्य होने से, आधिदैविक के समान वह (शरद्) भी दोषों को मिटाने वाली हुई है। शरद् ऋतु किस प्रकार दोषों को मिटाती है, उसके लिए दृष्टान्त देते हैं, कि जैसे श्रीकृष्ण की भक्ति, दोषों (पापों) को मिटाती है। भक्ति, शोक से आँखों में उत्पन्न आँसू रूप, हृदयाकाश के मेघों को नष्ट करती है, अर्थात्, हृदय के शोक को मिटाकर हृदय को शुद्ध (आनन्दित) बनाती है।

जीव सात्त्विक, राजस तथा तामस भेद से, तीन प्रकार के हैं। उनको आसन्न्य तथा अग्नि मिला देते हैं, अर्थात् एक समान दिखा देते हैं। जैसे आसन्न्य, सब जीवों की इन्द्रियों में बल<sup>१</sup> उत्पन्न कर, उनको संसार में प्रवृत्त कराते हैं और वाणी की अधिष्ठात्री देवता अग्नि, वाणी में बल देकर, अन्यो से संग कराती है, इसी प्रकार, संसार एवं संग में सब जीव समान से दिखते हैं। जिससे, उनमें दोष आ जाते हैं, किन्तु जब उन जीवों में भक्ति का उदय होता है, तब उनके वे सर्व दोष मिट जाते हैं। आसन्न्य तथा अग्नि जो जीवों में दोष उत्पन्न करने वाले थे, वे ही भक्ति के प्रताप से, दोषों के नाश कर्ता होते हैं, आसन्न्य, उन दोषों को दूर करता है और भक्ति उनको भस्म कर देती है।

\*वर्षा ऋतु में सर्व पदार्थ गीले रहते हैं अतः वे शुष्क हों तो, उनका स्पर्श किया जा सके अर्थात् वे काम में लाने के योग्य हों, इसलिए अग्नि तथा वायु की आवश्यकता रहती है। शरीर के भीतर वर्षा काल में वायु का प्रकोप होता है, जिससे भूख नहीं लगती है, उसके लिए मन्द हुई जठराग्नि को प्रदीप्त करने के लिए औषध सेवन की आवश्यकता होती है। इससे समझा जा सकता है, कि अग्नि और वायु का सांकर्य है, जिससे मन्दाग्नि तथा गीलापन होता है। उसको शरद् ने आकर मिटाया।

भक्त को भक्ति<sup>१</sup> करने से भगवत्प्रसाद की प्राप्ति होती है जिससे हृदय रूप भूमि की कीच नष्ट हो जाती है ।

जब तक, भक्ति द्वारा, भक्त भगवान् के चरणों को स्नेह रूप जल से आर्द्र कर, हृदय में स्थापित नहीं करता है, तब तक हृदय में, शोक से उत्पन्न जल की आर्द्रता<sup>२</sup> रहती है । भगवान् के चरणों के बिराजते ही, शोक रूप जल से उत्पन्न वह आर्द्रता मिट जाती है, कारण कि, भगवान् के चरणारविन्द आधिदैविक भूमि<sup>३</sup> है । भूमि जल को चूसती है, यह तो प्रसिद्ध ही है कि भक्त सर्व प्रकार के जलों का मैल दूर कर देता है, क्योंकि भक्त के हृदय में भगवान् बिराजते हैं, जिससे, भक्त तीर्थ रूप हो के, तीर्थों के मल को नाश कर, तीर्थों को शुद्ध तीर्थ बना देता है ।

ब्रह्मचर्य में ब्रह्मचारी गुरु को जलदान करता है, भक्ति ब्रह्मचारी के इस श्रम को दूर करती है, कारण कि भक्ति करने से ब्रह्मचारी भक्ति से उत्पन्न अलौकिक दान के सामर्थ्य से भगवान् की प्रीति रूप जल का दान गुरु को दे देता है ।

गृहस्थाश्रम में, अनेक प्रकार के जीवों से संग होता है, जो दोष रूप संसारसक्त कराने वाला है । भक्ति उस संग को मिटाकर, गृहस्थाश्रम को सुखदायी बना देती है । यह स्पष्ट देखने में आता है, कि भक्ति का उदय होने पर, जीव (गृहस्थी भी) निःसङ्ग हो, भगवत्परायण ही रहते हैं ।

जैसे भूमि, कीच रूप मल से दूषित रहती है, वैसे (ही) वानप्रस्थी भी मल युक्त (केश, नख, दाढ़ी आदि धारण करने से-मल युक्त) रहते हैं, किन्तु भक्ति प्राप्त होने पर, वानप्रस्थी भगवत्सेवा करते हैं, तो उनको निर्मल स्वच्छ शुद्ध रहना पड़ता है, देव+ बनकर (आन्तर बाह्य शुद्धि स्वच्छता रखकर) देव की सेवा करे अतः भक्ति, वानप्रस्थ का मल भी दूर कर देती है ।

संन्यासी चार प्रकार के होते हैं,-१-कुटीचक, २-बहुदक, ३-हंस और ४-परमहंस । इनमें से कुटीचक को एक ही स्थान पर रहना पड़ता है, शेष तीनों को भ्रमण कर भिक्षा द्वारा उदर पूर्ति करनी पड़ती है, अतः उन तीनों का यह भ्रमण कर भिक्षा माँग माँग (कर) उदर भरने का कष्ट भी भक्ति मार्ग पर चलने से मिट जाता है, अर्थात्, जब वे भक्ति पथ के पथिक बनते हैं, तब उनको, एक स्थान (देवालय) में निवास करना पड़ता है, वहाँ ही भगवत्प्रसाद से उदर पूर्ति करते हुए भगवद् ध्यान में मग्न रहते हैं, जिससे उनका भ्रमण एवं भिक्षा माँगने का कष्ट मिट जाता है, इतना ही नहीं, किन्तु जो पाप, अन्य उपायों से नहीं मिटते हैं, वे भी भक्ति से मिट

<sup>१</sup>वैश्वानर विद्या में भगवान् के चरणों को आधिदैविक भूमि कहा है ।

‘प्रकाश’

+देवो भूत्वा देवं यजेत्’

जाते हैं पाप (दोष) आदि को मिटाने के लिए । उपनिषदों में ज्ञान के साधन कहे हैं, वे भी भक्ति से सिद्ध हो जाते हैं ॥ ३४ ॥

**आभास —** एवमेषां दोषान् दूरीकृत्यान्नोत्पादकानां मेघानां दोषान् दूरीकृतवतीत्याह,

**आभासार्थ —** इस प्रकार, शरद् ने इन (महाभूत तथा आ मों) के दोष मिटाए अब अन्न के उत्पन्न करने वाले मेघों के दोषों को जिस . कार मिटाया उसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

**श्लोक: — सर्वस्वं जलदा हित्वा विरेजुः शुभ्रवर्चसः ।**

**यथा त्यक्तैषणाः शान्ता मुनयो मुक्तकिल्बिषाः ॥ ३५ ॥**

**श्लोकार्थ —** जैसे शान्त मुनि लोग, तृष्णा का त्याग कर, पाप रहित हो, स्वच्छ (शुद्ध) तेज वाले होने से शोभते हैं, वैसे (ही) मेघ अपना सर्वस्व (जलरूप धन) छोड़ने से स्वच्छ हो के, शोभा युक्त हुए ॥ ३५ ॥

**सुबोधिनी —** सर्वस्वमिति, यथा मरणकाले न कोपि किञ्चिन् नेतुं शक्नोत्येवं शरत्कालेपि मेघाः किञ्चित् स्थापयितुं न शक्ताः सर्वस्वत्याग एव सर्वप्रायश्चित्तं स्वधर्मवदिति स्वधर्ममाह जलदा इति, हित्वा ज्ञानपूर्वकं ततः शुभ्रवर्चसो भूत्वा विरेजुः, पापस्य हि स्वं नीलिमा पुण्यस्य शुक्लमतो मेघानां नीलं रूपं गतं शुभ्रं च जातं, तदाह “शुभ्रेति शुभ्रं वर्चस्तेजो येषामिति, न केवलं शुभ्रत्वमात्रेण सम्यक्त्वं केशादिषु व्यभिचारादत आह विरेजुरिति, विशेषेण दीप्तियुक्ता जाताः कालवशादेवैवम्भूता जाता इति, तदा नापि रमणं नापि दीप्तिरित्याशङ्क्य दृष्टान्तेन तद्दोषनिवृत्तिपूर्वकं शास्त्रतो दीप्तिमाह यथेति, अन्तःकरणं हि चतुर्विधं तत्र चतुर्विधोपि दोषश्चेद् गच्छति तदा बहिस्त्यागादिना दीप्तिमान् भवति, तदभावे न शोभते तत्र चित्तस्थैषणात्रयं दोषो बुद्धेर्घोर-

विमूढत्वं मनसो बहिर्विषयत्वमहङ्कारस्तु सन्निपातस्त्वो दोषात्मक एव तदत्र क्रमेणैव तेषां निराकरणमाह त्यक्त्वा ईषणा यैः, ईषणात्रयं तत्र लोकेषणा द्विविधा भुवनजनभेदाद् वित्तेषणा सर्वविषयरूपा अर्थेषणा नाम दारेषणा पुत्रसहिता, अनेन धर्मार्थकामा उक्ताः, त्रिवर्गपरित्याग ईषणात्रयाभावः शान्तिः सत्त्वादपि भवति तथा सति गुणान्तरोद्भवे सा निवर्तते, अतः शान्ताः स्वस्त्रेणैव शुद्धसत्त्वरूपेण वा ‘मनसैवैत- दाप्तव्य’ मिति श्रुतेः, आत्मप्रवणं मनो येषां ते मुनयः, मुक्तं किल्बिषमहङ्कारात्मकं यै, एवं त्यक्तदोषा बहिः सर्वपरित्यागेन शुद्धा अपि भवन्ति प्रकाशमानाश्च, एतच्छब्दैव भवति भगव- त्सहितया, अत एवाग्रे वक्ष्यति ‘सर्वाः शरत्काव्यकथास्साश्रया’ इति ॥ ३५ ॥

**व्याख्यार्थ —** जैसे मरण के समय, कोई भी प्राणी अपने साथ कुछ भी लेकर नहीं जा सकता है, वैसे ही, शरद् ऋतु रूप काल के आने पर, मेघ भी अपने पास कुछ भी नहीं रख सकते हैं अतः शरद् के आते ही, मेघों ने अपना सर्वस्व (जल) दान कर दिया, क्योंकि यह मेघों का



धर्म है । धर्मानुसार आचरण कर, सर्वस्व त्याग देना<sup>१</sup> ही सर्व पापों का प्रायश्चित्त है, वह प्रायश्चित्त मेघों ने ज्ञानपूर्वक<sup>२</sup> किया है, जिससे स्वच्छ तेज वाले होकर सुशोभित हुए । पाप का रूप काला है और पुण्य का रूप स्वच्छ<sup>३</sup> है, सर्वस्वदान से मेघों का पाप रूप काला रंग नष्ट हो गया और पुण्य रूप स्वच्छ रंग प्रकट हुआ । मेघ केवल सफेद रूप वाले, (ही) नहीं हुए किन्तु विशेष तेज वाले भी हुए । केवल स्वच्छता तो वृद्धावस्था में केशों में भी आ जाती है, वैसी स्वच्छता मेघों में नहीं आई, किन्तु इससे विलक्षण, कालवश से, ही दीप्ति युक्त स्वच्छता आई ।

तब (शरद् ऋतु में) मेघों में रमण अथवा दीप्ति<sup>४</sup> तो दृष्टिगोचर नहीं होती है, इस प्रकार की शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि मेघों में जो दीप्ति आई वह शास्त्रानुसारिणी थी, उसका विवेचन<sup>५</sup> करते हैं कि, अन्तःकरण चार (चित्त, बुद्धि, मन तथा अहङ्कार) प्रकार का है, इनके चारों प्रकार के दोष जावे, तब बाहर के त्याग से, वह दीप्तिवाला होता है, यदि त्याग नहीं तो शोभता नहीं । अब अन्तःकरण के एक एक वृत्ति (विभाग) के दोष बताते हैं-१-चित्त के दोष तीन ईषणा<sup>६</sup> है, २-बुद्धि का दोष अतिशय मूर्खता, ३-मन का दोष बाहर के विषयों में आसक्ति, ४-अहङ्कार तो दोषों का भण्डार होने से सन्निपात रूप है । इस प्रकार उनके दोष बताकर अब क्रम से उनका निराकरण<sup>७</sup> कहते हैं । ईषणा तीन है, १-लोकेशणा, २-वित्तेशणा और ३-अर्थेशणा । इनमें लोकेशणा दो प्रकार की है-(१) भुवन की (लोक की) कामना, (२) जन (सेवकादि) की कामना । २-वित्तेशणा-सर्व पदार्थ मात्र की कामना, ३-अर्थेशणा-स्त्री और पुत्र की कामना । इस ईषणा कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों की कामना । इन तीन पुरुषार्थों की कामना के त्याग से वे तीन ईषणाएँ नष्ट होती हैं, जिससे शांति प्राप्त होती है, यह सत्त्व गुण से भी होती है, किन्तु यदि अन्य गुण रजो वा तमो गुण का प्रभाव बढ़ने लगे, तो वह शांति लुप्त हो जाती है, अतः 'मन' परमात्मा में पिरोने से, जो स्वरूपात्मक शांति प्राप्त होती है, वह लुप्त नहीं होती है यह शांति सत्त्व गुण उदय होने पर, भगवद्भक्ति<sup>८\*</sup> से प्राप्त होती है, इस प्रकार जो मन को परमात्मा में पिरो देते हैं वे मुनि हैं ।

जिन्होंने अहङ्कार रूप दोषों को मिट दिया है और बाहर के भी सर्व पदार्थों को त्याग दिया है, वे शुद्ध तथा तेज वाले होते हैं । यह शरद् के द्वारा ही होता है क्योंकि आध्यात्मिक शरद् में भगवान् स्वयं बिराजते हैं अतः आगे कहेंगे कि शरद् की सर्व रात्रियाँ भगवान् की लीला की रात्रियाँ हुई ॥ ३५ ॥

**आभास —** एवं शरत्कृतां दोषनिवृत्तिमुक्त्वा गुणानाह गिरयो मुमुचुरिति,

\*'चेतः तत्प्रवणं सेवा' सिद्धान्त मुक्तावली में श्री महाप्रभुजी ने कहा है ।

१-दे देना । २-समझकर । ३-स ४-प्रकाश । ५-निर्णय ।

६-बलवती इच्छा । ७-मिटाना । ८-भगवान् की सेवा ।

**आभासार्थ** — इस प्रकार शरद् ऋतु ने जिस भाँति दोषों की निवृत्ति की, उसका वर्णन कर अब उसके गुणों का वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — गिरयो मुमुचुस्तोयं क्वचिन् न मुमुचुः शिवम् ।

यथा ज्ञानामृतं काले ज्ञानिनो ददते न वा ॥ ३६ ॥

**श्लोकार्थ** — जैसे, ज्ञानी लोग, अपना ज्ञान रूप अमृत किसी समय देते हैं और कभी नहीं भी देते हैं, वैसे (ही) पर्वत अपना निर्मल जल किसी स्थल पर छोड़ते हैं कहीं नहीं भी छोड़ते हैं ॥ ३६ ॥

**सुबोधिनी** — ज्ञानं हि गुणोन्तःसारेष्वेवेति तच्च ज्ञानं शुद्धं सर्वदोषनाशकं, तदत्र जलं निरूपयन् दृष्टान्तेन निरूपयति, पर्वताः क्वचित् तोयं मुमुचुः क्वचिन् न यत्र झरणादिमार्गो भवति तत्र 'मुञ्चन्त्यन्तःस्थितं जलं न तु वर्षोद्भूतं तदाह शिवमिति, शान्तं शीतलं सुस्वादु, महतां ह्यन्तस्तापाभावान् न सूर्यादिनापि तेषां तापः शक्यते कर्तुं, तेषामुभयरूपत्वं बुद्धिकृतमाहोस्वित् स्वाभाविकमिति विचिन्त्य स्वाभाविकत्वे शरदो न कापि प्रतिष्ठेति ज्ञानकृतत्वं वदन्

शरदस्तत्र प्रयोजकतामाह यथा ज्ञानामृतमिति, ज्ञानमेवामृतं मरणनिवर्तकं काले शुद्धेऽवसरे पुरुषविशेषे स्वयं ज्ञानपूर्णा अपि देशकालाधिकारिणो दृष्ट्वा ज्ञानयोग्याश्चेदुत्तरत्र सम्प्रदायनिर्वाहका अमार्गरहिता विचार्यैव ज्ञानप्रदाश्चेत् तदा ददतेऽन्यथा तु न ददत इति, 'विद्यया सहितो विद्वान् म्रियेतैवा-विचारयन् न त्वयुक्ताय तद् दद्यात् कथञ्चिदितिनिश्चयः,' शुद्धिः सर्वा शरत्कृतेति शरदः प्रयोजकत्वम् ॥ ३६ ॥

**व्याख्यानार्थ** — ज्ञान रूप गुण उनमें है, जिनके अन्दर सत्य तत्त्व है, वह ज्ञान शुद्ध तथा दोषों को मिटाने वाला होता है । यहाँ जल का निरूपण करते हुए, उस ज्ञान का, दृष्टान्त से निरूपण करते हैं । पर्वत सर्व स्थान पर जल नहीं बरसाते हैं, जो स्थान योग्य समझते हैं, वहाँ बरसते हैं जैसे कि, जहाँ पर्वतों में ऐसे स्थान हैं, जहाँ से वह जल स्रोतों<sup>१</sup> के रूप में बहकर नीचे जाता है, वहाँ ही बरसते हैं । उस स्थान पर बहना नहीं चाहते हैं, जहाँ झरने न बन सकें और आगे का बरसाया हुआ पानी खड्डों में भरा भरा मलीन हो जाए । पर्वतों के ऊपर के पानी का गुण 'शिवम्' शब्द से प्रकट करते हैं जिसका तात्पर्य<sup>२</sup> है कि वह जल शान्त, शीतल तथा स्वादिष्ट है । जैसे पर्वत के अन्दर का जल शीत एवं शान्त है, वैसे (ही) महान् पुरुष का अन्तःकरण शान्त तथा शीतल होने से, सूर्य आदि के ताप भी उनके अन्दर ताप (दुःख) आदि नहीं कर सकते हैं । इससे यह बताया, कि जैसे पर्वत योग्य स्थान पर जल बरसाते (छोड़ते) हैं अन्यत्र नहीं, वैसे (ही) महान् पुरुष भी योग्य अधिकारी को ज्ञान का दान करते हैं ।

उनके, ये दो प्रकार के रूप स्वाभाविक हैं ? अथवा अपनी बुद्धि से किए हुए हैं ? ऐसा विचार कर, निर्णय करते हैं, कि स्वाभाविक रूप में तो शरद् ऋतु का कोई बल नहीं चलेगा इसलिए बुद्धि २ किए हुए होने से, शरद् का बल चल सकता है, अर्थात् शरद् अपना प्रभाव डाल सकती है । ज्ञान ही अमृत (मृत्यु को मिटाने वाला) है, जब शुभ समय होता है, तब ज्ञानी स्वयं ज्ञान से परिपूर्ण होते हुए भी देश, काल तथा ज्ञान लेने योग्य अधिकारी को देख और ज्ञान लेने के अनन्तर इस सम्प्रदाय (ज्ञान मार्ग) को स्थिर करता रहेगा एवं कुमार्ग पर न जाएगा, इन सर्व विषयों का पूर्ण विचार कर, जब समझते हैं कि ये ज्ञान देने के योग्य हैं, तब उनको ज्ञान देते हैं अन्यथा<sup>१</sup> नहीं देते हैं, शास्त्रों में आज्ञा है कि 'ज्ञानवान् महापुरुष शरीर छोड़ देवें तो भी बिना विचारे अनधिकारी को किसी सूरत में भी ज्ञान न देवें ।' महाभूतादि की शुद्धि शरद् ऋतु ने की है, अतः शुद्धि से बुद्धि (ज्ञान) भी शुद्ध हो गई है, जिससे किसको ज्ञान देना चाहिए (और) किसको नहीं देना चाहिए, पर्वत कहाँ जल छोड़ें कहाँ नहीं छोड़ें इत्यादि सर्व ज्ञान शरद् के कारण हुआ है ॥ ३६ ॥

**आभास —** एवं शरदो ज्ञानोपयोगित्वमुक्त्वा वैराग्योपयोगित्वमाह नैवाविदन्निति.

**आभासार्थ —** इस प्रकार शरद् के ज्ञान के लिए उपयोग सिद्ध कर, अब इस श्लोक में, वैराग्य के लिए भी शरद् उपयोगी<sup>२</sup> है यह बताते हैं ।

**श्लोक: —** नैवाविदन् क्षीयमाणं जलं गाधजलेचराः ।

यथायुरन्वहं क्षय्यं नरा मूढाः कुटुम्बिनः ॥ ३७ ॥

**श्लोकार्थ —** जैसे कुटुम्बी मूर्ख मनुष्य, अपनी नित्य क्षय होती जा रही आयु को नहीं जानते हैं, वैसे (ही) उथले<sup>३</sup> जल में रहने वाले जल के जन्तु नित्य क्षीण होने वाले जल को नहीं पहचान सकते हैं ॥ ३७ ॥

**सुबोधिनी —** जलस्य क्षयकर्त्री शरज् जलं च गाधं परिमितं, जलचरा जल एव क्रियाशक्तियुक्ता भवन्ति, जले गते गता एव तेन जलेन सह यद्यगाधं जले प्रविष्टा भवेयुस्तदा न कापि चिन्ता स्यात्, जलेऽपि स्थित्वा जलक्षयं न ज्ञातवन्तः, अत एव न प्रयत्नं कृतवन्तः, एतदपि स्वाभाविकं चेन् न शरदुपयोग इति शास्त्रीयत्वसमर्थनार्थं दृष्टान्तमाह यथायुरिति, आयुषा हि पुस्त्रार्थाः सम्पादनीयास्तच्चायुः परिमितं तादृशेनाल्पायुषा वृथा व्ययस्थानं गृहं परित्यज्य निर्भयं भगवच्चरणं चेद् गच्छेत् तदा न काचित् क्षतिराधिदैविकायुषः पूर्णस्य तत्र विद्यमानत्वात् सर्वोपीष्टसाधने प्रवर्तत इति प्रवृत्त्यभावे ज्ञानाभाव एव हेतुः, अतोऽज्ञानं निन्द्यत आयुः क्षीयमाणं न विदुरिति.

क्षय्यपदेन शक्यता निरूपिता, यद्ययमक्षयं कर्तुं वाञ्छति | क्षय्यमित्युक्तं, अन्वहमिति पश्चाज्ज्ञाने पश्चात्तापाभावाय, अज्ञाने तदाक्षयमपि भवति, आयुः प्राणविशेष इति पूर्वमुक्तं 'शतायुः हेतुत्रयं नरत्वं मूढत्वं कुटुम्बित्वं च स्वभावतः शास्त्रतः पुरुष' इत्यपि सर्वत्र मृत्यवोऽप्युक्ताः प्रतीकारश्च, अतः आयुः सङ्गतश्चेति ज्ञानाभावो निरूपितः ॥ ३७ ॥

**व्याख्यार्थ** — एक तो जल जन्तु, यों ही उथले हुए जल वाले सरोवर में रहते हैं, फिर शरद् ऋतु उस जल का धीरे २ शोषण करती रहती है, जिसका ज्ञान उन जन्तुओं को जल में रहते हुए भी नहीं होता है। वे तो, उस उथले पानी में ही, क्रिया शक्ति का कार्य (चलना, फिरना और खेलना आदि) आनन्द से निश्चिन्त होकर करते रहते हैं और न उस उथले पानी के साथ, किसी अथाह जल वाले नद में चले जाते हैं, प्रयत्नकर, यदि चले जाते तो, कोई चिन्ता नहीं रहती, किन्तु, न जाने का परिणाम, यह होता है, कि पानी नष्ट होते<sup>१</sup> हो, वे स्वयं भी नष्ट हो जाते हैं, यदि यह जल का नष्ट होना स्वाभाविक<sup>२</sup> होता, तो शरद् ऋतु का कोई उपयोग न रहता, अर्थात् यदि वह पानी स्वतः<sup>३</sup> सूख जाता तो शरद् की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस शास्त्र सिद्ध विषय को समझाने के लिए दृष्टान्त देते हैं, कि जैसे आयु है, आयु से ही धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ सिद्ध किए जा सकते हैं, किन्तु एक तो, वह आयु परिमित<sup>४</sup> है, फिर हम ऐसे स्थान में रहते हैं, जहाँ उसका अपव्यय<sup>५</sup> होता है और न उस स्थान (गृह) को छोड़ कर उसी दूसरे निर्भय स्थान (भगवान् के चरणारविन्द रूप गृह) का आश्रय करें तो किसी प्रकार की हानि न हो, किन्तु वहाँ आश्रय करने से पूर्ण आधिदैविक आयु की प्राप्ति तथा सर्व प्रकार के इष्ट की सिद्धि हो। इतना होने पर भी जीव यों नहीं करता है, उसका कारण अज्ञान ही है। अतः अज्ञान की निन्दा करते हुए कहते हैं कि अज्ञान से ही, वे इसको नहीं समझ सकते हैं, कि हमारी आयु प्रति दिन क्षीण होती जाती है। यहाँ क्षीण शब्द देने का तात्पर्य यह है कि यदि कोई चाहे तो वह क्षीण न हो, तो वह अक्षय भी हो सकती है। क्योंकि 'आयुः' का भावार्थ कोई वर्ष वा मास बताने का नहीं है किन्तु आयु का अर्थ प्राण विशेष बताना है अर्थात् इसकी इतनी आयु है, जिस कहने का भाव यह है कि इसको इतने 'प्राण' मिले हैं। पूर्व में यों भी कह आये हैं, कि 'शतायुर्वै पुरुषः' पुरुष की आयु शत वर्ष की है इसी प्रकार 'मृत्यु' भी सर्वत्र कहे हैं तथा उनके प्रतीकार<sup>६</sup> भी बताए हैं। आयु क्षीण होती है एवं प्रतिदिन क्षय हो रही है। यदि मनुष्य को यह विषय ध्यान में आ जाए कि मेरी आयु दिन-प्रति-दिन क्षय होती जा रही है, इसको मैं अक्षय बनाने के लिए भगवान् के चरणों का आश्रय करूँ ऐसा विचार हो जाए, तो मनुष्य पश्चात्ताप करने से बच जाए, किन्तु वैसा होता नहीं, कारण कि अज्ञान है। अज्ञान होने के १-नरत्वं, २-मूढत्वं, ३-कुटुम्बित्व ये तीन कारण हैं। इन तीनों से ज्ञान नहीं होता है। नरत्वं-मनुष्य स्वभाव, वैसा है जो उस ओर रुचि करने नहीं देता है, २-मूढत्वं-मूर्खता के कारण शास्त्र ज्ञान न होने से, अज्ञान नहीं मिटता है। ३-कुटुम्बित्व-इससे स्त्री, पुत्र, धन आदि में सङ्ग<sup>७</sup> होने से भी अज्ञान नहीं मिटता है ॥ ३७ ॥

१-सूख जाने पर।

२-कुदरती।

३-अपने आप।

४-सीमावाली।

५-व्यर्थ नाश, फिजूल खर्च।

६-उपाय।

७-आसक्ति।

**आभास** — ननु क्वचिदज्ञानमपि सुखकरं भवति तथा नरत्वादयोऽप्यतो वैराग्याभाव ऐहिकं सुखं भविष्यतीत्याशङ्क्याह गाधवारिचरा इति,

**आभासार्थ** — जैसे किसी समय अज्ञान भी सुखकर हो जाता है, वैसे (ही) वे (अज्ञान के तीन कारण नरत्व आदि) भी सुख देने वाले होते हैं, वैराग्य के अभाव में उनसे लोक के सुख भोगे जाते हैं, इस प्रकार शङ्का हो तो उसका निवारण इस श्लोक से करते हैं—

**श्लोकः** — गाधवारिचरास्तापमविन्दञ्छरदर्कजम् ।

**यथा दरिद्रः कृपणः कुटुम्ब्यविजितेन्द्रियः ॥ ३८ ॥**

**श्लोकार्थ** — जैसे दरिद्री, कृपण और अजितेन्द्रिय कुटुम्बी पुरुष, संसार के दुःखों को भोगता है, वैसे (ही) उथले जल में रहने वाले जन्तु शरद् के सूर्य के ताप को सहन करते हैं ॥ ३८ ॥

**सुबोधिनी** — अल्पवारिचरा विद्यमानेऽपि जले शरदा कृत्वा खेदं प्राप्तवन्तः, अज्ञानं तदैवोपयोगि यदि कालेन कर्मणा वा न पीड्यते, अतोऽत्र शरदा मेघा निर्वर्तिता इति जलशोषकस्य तापजनकस्य सूर्यस्य व्यवधायकाभावाज् जलतापे तप्ता भवन्ति, तत्रापि पूर्ववद् दोषपरिहारायाह यथेति, दोषचतुष्टयाभावे दुःखाभावः प्रत्येकसमुदायाभ्यां तारतम्येन, अन्तःकरणेन्द्रियशरीरविषयाः पुरुषस्य पोषकाः सुखदातारस्ते

सर्वे स्वभावदोषसहिताः, तत्र दारिद्र्यांसर्वविषयनाशकं बहिर्मुखस्य दुःखदायि कार्पण्यमन्तःकरणदोषो लोभात्मकः दरिद्रोपि भूत्वाऽलुब्धो यदि भवति तदा न प्राप्नुयाद् दुःखं, तत्राप्येकाकी चेन् न काचित् क्षतिः प्रत्युत कुटुम्बी, देहदोषेयं, तथाभूतोपि यदि जितेन्द्रियः स्यान् न काचित् चिन्ता, न विजितानि विशेषेणन्द्रियाणि येन ॥ ३८ ॥

**व्याख्यार्थ** — अज्ञान, सुखदायी तब हो सकता है जब काल अथवा कर्म, प्राणी को दुःख न दे सकें, वे तो अज्ञान दशा में भी दुःख देते ही हैं, जैसे कि उथले जल में रहने वाले अज्ञानी जन्तुओं को शरद् सूर्य तथा जलाशय के बीच में अन्तराय<sup>१</sup> डालने वाले मेघों को दूर कर जल को तप्त कर शुष्क करने वाले सूर्य द्वारा उनको दुःखी करती है ।

जहाँ चार दोष (१-अन्तःकरण, २-इन्द्रिय, ३-शरीर और ४-विषय) नहीं हैं वहाँ दुःख नहीं होते हैं । जैसे वर्षा ऋतु में वर्णन है, कि व्रज निर्दोष होने से, वहाँ किसी प्रकार का पाषण्ड धर्म नहीं है, जिससे दुःख हो । यहाँ भी दृष्टान्त से इसको समझाते हैं, कि यद्यपि ये अन्तःकरण

आदि चार स्वयं अथवा दूसरों से मिलकर प्राणियों का पोषण करने वाले तथा सुखदाता हैं, तो भी वे सब स्वाभाविक दोष वाले हैं। जिन दोषों में से दरिद्रता<sup>१</sup> सर्व विषयों को नाश करने वाली तथा बहिर्मुखों को दुःख देने वाली है, समपन<sup>२</sup> अन्तःकरण का लोभ रूप दोष है, यदि गरीब होते हुए भी लोभी नहीं है, तो वह दुःख को प्राप्त नहीं होता है। यदि मनुष्य एकाकी हो तो भी हानि नहीं, किन्तु कुटुम्ब वाला है, यह देह दोष है। कुटुम्बी होकर, यदि जितेन्द्रिय बन जाए तो भी कोई चिन्ता न रहे, किन्तु इन्द्रियों को जीता नहीं है। अतः अज्ञान होते भी काल कर्म वश दुःख भोगना ही पड़ता है सुख प्राप्ति नहीं होती है ॥ ३८ ॥

**आभास —** एवं शरत्कृतं दोषत्रयमुक्त्वा गुणसहितं केवलान् गुणानाह शनैः शनैरित्येकादशभिः,

**आभासार्थ —** इस प्रकार शरद् ऋतु के किए हुए गुण सहित तीन दोषों का वर्णन कर, अब एकादश (११) श्लोकों से शरद् के निर्दोष गुणों का वर्णन करते हैं।

**श्लोकः —** शनैः शनैर्जहुः पङ्क्तं स्थलान्यामं च वीरुधः ।

यथाहम्ममतां धीराः शरीरादिष्वनात्मसु ॥ ३९ ॥

**श्लोकार्थ —** जैसे धीर पुरुष धीरे धीरे, अनात्म रूप शरीर आदि पदार्थों में से अहन्ता एवं ममता का त्याग करते हैं, वैसे (ही) स्थलों (भूमि) ने कीच को तथा लताओं ने कच्चेपन का त्याग किया ॥ ३९ ॥

**सुबोधिनी —** शनैः शनैः क्रमेणैव स्थलानि पङ्क्तं जहुः, तामसाः स्वतामसदोषं जहुः, वीरुधो लतागुल्मादय आममपक्वतां जहुः, चकाराद् वृक्षा अपि सात्त्विका आममेव जहुः, पूर्ववदेवाह यथाहम्ममतामिति, ममता पङ्क्तस्थानीया, अहन्तामस्थानीया, अहन्ताममतात्यागे यद्यपि शास्त्रं हेतुस्तथापि धैर्याभावात् स्वाभाविकदोषेण पीडिताः शास्त्रीयं न मन्यन्तेऽतो धैर्यमेव हेतुत्वेनाह महतां ममतैवान्येषामहन्ताप्यतो द्वयमप्युक्तमभेदश्च, केचिदत्रात्मता-

दात्म्यमात्मसम्बन्धञ्चाहुः, अहङ्कारो ब्रह्मवादे नैयायिकादि-सिद्धान्ते च नास्ति तत्रात्मबुद्धिरेवेति स्वयमात्मत्वमध्यस्यत इत्यपरे, तादात्म्यमित्यन्ये, सर्वथा त्याज्यमेव, गौणपक्षेपि त्यागमर्हति, करणपक्षे तु ममता कार्यार्थ इति न त्यागः, अत एव धीरा इत्युक्तं न तु भक्ताः, आदिशब्देन पुत्रादयः, तेष्वप्यहन्ता केषाञ्चिद् वैदिके त्वहन्तैव पुत्रे भार्यायां च शनैस्त्यागस्त्यक्तांशस्य पुनरग्रहणार्थं त्यागे भिन्नत्वं हेतुरिति तदुपपादयत्यनात्मस्विति ॥ ३९ ॥

**व्याख्यानार्थ** — धीरे, धीरे, अर्थात् क्रम के अनुसार, ज्यों ज्यों समय बीतता गया, त्यों त्यों, भूमि ने कीच को छोड़ा (भूमि सूखी होने लगी) जिससे, यह जताया है कि तामसों ने अपने दोषों का त्याग किया। बेल और झाड़ियों ने अपना कच्चापन छोड़ दिया, मूल श्लोक में 'च' (और) कहने का तात्पर्य यह है, कि सात्त्विक वृक्षों ने भी कच्चेपन को छोड़ा। जैसे वर्षा ऋतु के प्रकरण में, दृष्टान्त देकर समझाया है वैसे (ही) यहाँ भी दृष्टान्त देकर समझाते हैं।

जैसे भूमि में कीच, वैसे ही मनुष्य में ममता है, जैसे लता वृक्षादि में कच्चापन है वैसे (ही) मनुष्य में अहन्ता है। इन दोनों (अहन्ता तथा ममता) के छोड़ने में शास्त्र कारण होते हैं किन्तु धैर्य के अभाव से तथा स्वाभाविक दोषों से पूर्ण मनुष्य, शास्त्रों में कहे हुए ज्ञान आदि साधनों को नहीं मानते हैं; अतः धैर्य को यहाँ अहन्ता ममता के त्याग का कारण कहा गया है। लोक में देखा जाता है कि महान् पुरुषों को केवल ममता होती है। अन्यो को अहन्ता तथा ममता दोनों होती है। इसलिए दोनों (अहन्ता, ममता) का अभेद बताने के लिए दोनों (अहन्ता तथा ममता) एक ही है। श्लोक में कहे हुए 'शरीरादिषु' में जो आदि शब्द दिया है जिससे इन्द्रिय, प्राण तथा अन्तःकरण कहा है उसका भावार्थ अहन्ता त्याग ही जाना जाता है, तो फिर उसके साथ ममता क्यों जोड़ी जाती है इस प्रकार की शङ्का मिटाने के लिए ही उपर्युक्त विवेचन (दोनों एक ही है) आचार्य श्री ने किया है।

१-कोई अहन्ता तथा ममता का स्वरूप इस प्रकार कहते हैं। आत्मा के साथ तादात्म्य सम्बन्ध (आत्मवत्-आत्मा की तरह हो जाना) अहन्ता है और उस (आत्मा) से केवल सम्बन्ध ममता है, अतः अहन्ता का त्याग नहीं हो सकता है (न करना चाहिए) केवल ममता का त्याग हो सकता है और वह करना भी चाहिए।

२-ब्रह्मवाद तथा नैयायिक आदि सिद्धान्त में अहङ्कार (अहंभाव) उत्पन्न करने वाली अहन्ता नहीं है, किन्तु शरीर आदि को आत्मा समझना और उसी प्रकार कर्तव्य करना यह अहन्ता है। यही शुद्ध वैदिक सिद्धान्त सम्मत मत† है।

३-देह आदि में आत्मा का जो अध्यास (एक पदार्थ को दूसरा समझना अध्यास है, जैसे देह को आत्मा समझना यह देह में आत्मा का अध्यास कहा जाता है) किया जाता है वह अहन्ता है।

४-आत्मा के साथ तादात्म्य (एकी भाव) अहन्ता है यों भी कोई मानते हैं। (यह ऊपर बताया है)

यह अहन्ता सर्वथा त्याज्य है, गौण पक्षवाली‡ अहन्ता भी नहीं करनी चाहिए। केवल तभी

† श्री महाप्रभु भी मद्गलभाचार्य चरण भी अहन्ता का यह स्वरूप मानते हैं।

-अनुवादक

‡ शरीर को आत्मा समझना यह गौणी बुद्धि है, निश्चित न हो कर थोड़े समय के लिए होने से ऐसी बुद्धि को गौणी कहते हैं।

ममता का त्याग नहीं करना चाहिए जब वह ममता भगवान् की सिद्धि के लिए हो, तब वह 'ममता' लीला की सिद्धि में करण (साधन) होती है अतः त्याग के योग्य नहीं है। इसीलिए ही श्लोक में 'धीराः' पद देकर बताया है कि धीर पुरुष इनका त्याग करते हैं किन्तु भक्त नहीं करते हैं।

श्लोक में दिए हुए (आदि) शब्द से स्त्री पुत्र आदि में अहन्ता होती है, यों कितनेक कहते हैं। वेद में कहे हुए सिद्धान्त के अनुसार तो, स्त्री और पुत्र में अहन्ता ही होती है, जैसे कि कहा है ('आत्मा वै पुत्र नामासि' 'स पतिः पत्नीचाभवताम्) 'तू स्वयं पुत्र रूप है' 'वह पति और पत्नी दो रूप हुए, अर्थात् पत्नी पति का आधा शरीर है। त्याग किए हुए अंश को फिर ग्रहण नहीं करने के लिए धीरे धीरे त्याग करते हैं कहा है, और त्याग में कारण बताते हैं कि वे आत्मा न होने से अपने से भिन्न है इसलिए त्याग योग्य है ॥ ३९ ॥

**आभास -** एवं बहिर्दोषं परिहृत्य ततोऽन्तरङ्गदोषपरिहारार्थं समुद्रं निरूपयति ।  
निश्चलाम्बुरिति,

**आभासार्थ -** इस प्रकार बाहर के दोषों का परिहार<sup>१</sup> कर अब इस श्लोक में भीतर के दोषों के निवारण करने के लिए 'समुद्र' का निरूपण करते हैं।

**श्लोकः -** निश्चलाम्बुरभूत् तूष्णीं समुद्रः शरदागमे ।

आत्मन्युपरते सम्यङ् मुनिर्व्युपरतागमः ॥ ४० ॥

**श्लोकार्थ -** जैसे अन्तःकरण के उपराम<sup>२</sup> पाते ही मुनि, वेद से निवृत्त हो जाता है, वैसे ही शरद् आने पर समुद्र स्थिर जलवाला हो शान्त हो गया ॥ ४० ॥

**सुबोधिनी -** पृथिव्यपेक्षया जलमुत्तमं जले च समुद्रः, तत्र चाञ्चल्यं दोषो रजःसम्बन्धस्तत्र स्वभावत एव नास्ति शब्दश्च दोषश्चलनेनैवोत्पद्यते, उभयमपि राजरं, तामसं पृथिव्यामेवोक्तं च, तदुभयाभावमाह निश्चलाम्बुरिति, तूष्णीमभूदिति, तत्र हेतुः शरदेव, पूर्ववद् दृष्टान्तमाह, आत्म-  
न्यन्तःकरणे सम्यगुपरते लयविक्षेपरहिते जाते मुनिर्मनशील उपरतागमोपि भवति निवृत्तवेदार्थानुसन्धानो भवति, यतोयं सम्यङ् मुनिर्निष्पन्नमनननिदिध्यासनसाधनः, आगमः शब्द-  
श्चाञ्चल्यात् उपरतिः, सात्त्विकस्तु तथा दोषो न भवतीति पृथिवीजले एव निरूपिते ॥ ४० ॥

**व्याख्यार्थ -** पृथ्वी से जल उत्तम है, जल में भी समुद्र उत्तम है, उसमें चञ्चलता दोष है,



समुद्र के जल में रज का (पृथ्वी की मिट्टी व कूड़ा) मेल स्वभाव से नहीं है, गर्जना की ध्वनि रूप दोष जल के चलने से उत्पन्न होता है। ये दोनों दोष (चंचलता तथा ध्वनि) राजस हैं, तमोगुण का दोष पृथ्वी में है, इसमें नहीं है। शरद् के आने से, वे दोनों दोष नष्ट हो गए जिससे समुद्र स्थिर जल वाला बन कर, शान्त हो गया। वर्षा के समान, यहाँ भी दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि, जब अन्तःकरण लय तथा विक्षेप रहित होकर शान्त हो जाता है, तब मनन करने वाले 'मुनि' को वेद के अर्थ का अनुसन्धान नहीं करना पड़ता है वा नहीं रहता है। कारण कि, इस मुनि ने मनन, निदिध्यासादि साधन पूरे कर लिए हैं। आगम<sup>१</sup> शब्द है और चञ्चलता का अभाव यह उपरति है। तात्पर्य यह है, कि जैसे मुनि को, वेद ध्वनि वां उनके अर्थ के अनुसन्धान करने की आवश्यकता न रहने से, शान्ति प्राप्त होती है, वैसे (ही) शरद् में समुद्र भी चञ्चलता व ध्वनि बन्द हो जाने से शान्त हो जाता है।

पृथ्वी के तामस दोष और जल के राजस दोषों के (३९वें तथा ४०वें श्लोकों में) दूर करने का वर्णन किया। सात्त्विक दोष तो होते नहीं हैं ॥ ४० ॥

**आभास —** जलभेदान् निरूपयति केदारेभ्य इति,

**आभासार्थ —** अब इस श्लोक में जल के भिन्न-भिन्न भेदों का वर्णन करते हैं।

**श्लोक: —** केदारेभ्यस्त्वपोऽगृह्णन् कर्षुका दृढसेतुभिः ।

**यथा प्राणैः स्रवज् ज्ञानं तन्निरोधेन योगिनः ॥ ४१ ॥**

**श्लोकार्थ —** जैसे योगीजन प्राणों के द्वारा निकल जाते (स्रवित) हुए ज्ञान को, उन (प्राणों) का नियमन (निरोध) कर रोक रखते हैं, वैसे ही किसान भी वह जाते हुए जल को दृढ़ मेंड़ों से पकड़ रखते हैं और समय पर क्यारों में पुनः भर देते हैं ॥ ४१ ॥

**सुबोधिनी —** केदारा धान्योत्पत्तिक्षेत्राणि विभक्तानि तेभ्यो निःसरन्तीरपः कर्षुका अगृह्णन् गमनमार्गमुद्रणेन, तदाह दृढसेतुभिरिति जलेन सर्वमार्द्रमिति जलगतिनिरोधार्थं दृढत्वमुक्तं, अस्यापि गुणस्य स्वभाविकत्वपरिहाराय दृष्टान्तमाह यथेति, शरदि वृष्टिर्दुर्लभेति जलार्थिनां तन्निरोध उचितस्तथाप्यस्य फलसाधकत्वं साधनीयं जलाभावे सर्वैव

कृषिर्व्यर्था भवेदिति रक्षायां दाढ्यमपि निरूपणीयं, प्राणादयो वायवो यदा बहिर्निः सरन्ति तदा ज्ञानसहिता एव निःसरन्ति तथेन्द्रियाण्यपि, ज्ञानक्रियाशक्तियुक्तो हि भगवाञ् ज्ञानक्रिययोर्गतयोरपगच्छतीव प्राकट्यं तु निवर्तत एव, ज्ञानं हि प्रकटमुच्यते शास्त्रतो जातं 'स्रवतीन्द्रियलौल्येन ज्ञानं चैवावकीर्यत' इतिवाक्यात्, ज्ञानार्थमेव हि योगशास्त्रं प्रवृत्तं,

**व्याख्यार्थ** — खेती में किसान अन्न के उत्पादन के लिए पृथक् पृथक् क्यारे बनाते हैं, जिनमें धान बोते हैं, धान के लिए पानी चाहिए। वर्षा ऋतु में वे क्यारे भर जाते हैं, किन्तु शरद् आते ही वह पानी सूख जाता है वर्षा भी निश्चित रूप से पड़ती नहीं, ऐसी सूरत में यदि पानी न मिले तो खेती नष्ट हो जाए, अतः किसान लोग प्रथम ही सावधान होकर पहाड़ नदी आदि जहाँ से भी पानी निकल जाने का मार्ग होता है उस मार्ग पर दृढ़ बान्ध बनाकर पानी को रोक रखते हैं जब भी आवश्यकता होती है तब खेती के लिए क्यारों में पानी ले लेते हैं, जिस से, खेती नाश से बच जाती है धान भी पुष्कल उत्पन्न होता है। इसी प्रकार योगी जन भी, प्राण वायु तथा इन्द्रियों द्वारा निकलते हुए ज्ञान को रोकने के लिए योग के साधन रूप बान्धों को बनाते हैं अर्थात् योग के साधन करते हैं।

भगवान् की ज्ञान और क्रिया दो शक्तियाँ हैं उनके साधन, प्राण और इन्द्रियाँ हैं। यदि वे दोनों शक्तियाँ प्राण तथा इन्द्रिय सहित निकल जावें तो उनके अभाव के कारण, भगवान् भी वहाँ न रहेंगे और इन्द्रियाँ विषयों में आसक्त हुई तो ज्ञान नष्ट हुआ। ज्ञान नष्ट न हो, इन्द्रियाँ विषयासक्त न हो, तदर्थ (ज्ञान की रक्षा के लिए इन्द्रियों को सन्मार्ग पर चलाने के लिए) योग शास्त्र प्रवृत्त हुआ है।

**कारिका** — “ऊर्ध्वेन्द्रियैस्तु विक्षेपो ज्ञानस्याधो विनाशनम् ।

निरोधे पुञ्जभावेन स्वकार्यं साधयेद् ध्रुवम् ॥

**कारिकार्थ** — ऊर्ध्व इन्द्रियों (जिन इन्द्रियों का निरोध नहीं हुआ है उनको ऊर्ध्व इन्द्रियाँ कहते हैं) से ज्ञान बह जाता है (बाहर निकल जाता है) और नीचे से जाते हुए, यों नष्ट हो जाता है जैसे छिद्रवाले घड़े से पानी बहकर नष्ट हो जाता है, अतः निरोध से उनका संयम कर, योगी को अपना कार्य सिद्ध करना चाहिए।

**सुबोधिनी** — प्राणेन्द्रियनिरोधेन स्रवज् ज्ञानमगृह्णन् । नित्यः, आसनप्राणायामादिस्थैर्ये ज्ञानं नावकीर्यत एव तत्र योगमार्गा दृढसेतव इति, केदारेभ्य इति चतुर्थी, योगः शरदि सिध्यतीति च शुद्धिद्वारा च हेतुः ॥ ४१ ॥ तुल्यशब्दोपग्रहणेपि सिद्धिं व्यावर्तयति, अतः साधनदशायां योगो

**व्याख्यार्थ** — योगीजन प्राण तथा इन्द्रियों का निरोध कर बहते हुए ज्ञान को रोक लेते हैं। इस (ज्ञान को रोकने) में योग के जो मार्ग हैं वे दृढ़ बान्ध हैं। मूल श्लोक में ‘केदारेभ्यः’ यह पद चौथी विभक्ति का है जिसका तात्पर्य है पानी को रोकने का कारण ये क्यारे हैं अर्थात् क्यारों के लिए पानी रोका जाता है। मूल श्लोक में ‘तु’ शब्द इसलिए दिया है कि केवल पानी रोक रखने से भी सिद्धि नहीं होती है उसकी सदैव देख भाल करनी ही चाहिए, जैसे योगी को साधन दशा में योग नित्य करना पड़ता है। आसन, प्राणायाम आदि योग के अंग जब स्थिर हो जाते

हैं, तब फिर, ज्ञान निकल नहीं सकता है । योग, शरद् ऋतु में सिद्ध होता है क्योंकि शरद् ऋतु, महाभूत आदि की शुद्धि कर देती है, उनकी शुद्धि होने पर ही, योग की क्रिया, की जा सकती है और तब वह क्रिया योग को सिद्ध करने में समर्थ होती है ॥ ४१ ॥

**आभास —** एवमाधिभौतिकीमाध्यात्मिकी च जलस्य शुद्धिमुक्त्वाधिदैविकप्रकारेण शुद्धिमाह । शरदर्काशुजानिति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार जल की आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक\* शुद्धि कह कर अब इस श्लोक में, आधिदैविक प्रकार से शुद्धि कहते हैं-

**श्लोक: —** शरदर्काशुजांस्तापान् भूतानामुडुपोऽहरत् ।

देहाभिमानजं दुःखं मुकुन्दो व्रजयोषिताम् ॥ ४२ ॥

**श्लोकार्थ —** जैसे मुकुन्द भगवान् ने व्रज की स्त्रियों का देहाभिमान से उत्पन्न दुःख (ताप) हरण कर लिया, वैसे ही चन्द्रमा ने शरद् के सूर्य की किरणों से उद्भूत<sup>१</sup> भूतों का ताप नाश किया ॥ ४२ ॥

**सुबोधिनी —** शरत्कालीनो योऽर्कः सोऽत्यन्तं खरस्तस्यांशवोऽपि तथा तज्जनितास्तापा ज्वराद्युत्पादकत्वेनापि खराः अतस्तापेषु बहुवचनं, भूतानां जातानां, चन्द्रो हि जलाधिपतिर्जलप्रकृतिकस्तदात्मिकानि च भूतान्यतस्त-  
तापनिवारकत्वं तस्य युक्तं, उडुप इति, नक्षत्रद्वारापि तापहारकत्वमुक्तं उभयत्रापि शरदो हेतुत्वं, पूर्ववद् दृष्टान्तः, यथा चन्द्र आधिभौतिकं तापं हृतवानेवं भगवानाध्यात्मिकं तापं हृतवान्, स तापो देहाभिमानरूपः स क्रमेण पुष्टिमार्गप्रवेशनाद् हृतो देहादीनां भगवति विनियोगाद् न केनाप्यंशेन तापः,

व्रजयोषितामिति, तदा ता एव स्थिताः, चन्द्रसमानतया निवारणाद् रात्रावेव देहाभिमानः स्त्रीत्वाभिमानज्ञानं कामस्तत्कृताश्च तापाः, ननु जात्यादिधर्मनाशकत्वात् कथं तापनिवारकत्वं ? तत्राह मुकुन्द इति, मोक्षदानसमये पूर्वावस्था त्याजनीयैव, अत उपयुक्त एव त्यागः अन्यथा शरदि ता मृता एव स्युस्तत्र विद्यमाने भगवति मोक्षाभावश्च सर्वभावेन ता गृहीता इति तासां तापाभावः शरदो विभाव-  
कत्वादुपयोगः, केदारदृष्टान्त एव वायोः शुद्धिरर्कचन्द्र-  
मसोर्निरूपण एव तेजसः ॥ ४२ ॥

\* (१) प्राण की शुद्धि कहने से जल की आध्यात्मिक शुद्धि कही है क्योंकि श्रुति में 'आपोमयः प्राणः' कहा है कि प्राण जलमय है ।

(२) 'शुद्धि' पद का तात्पर्य है अपने कार्य करने की शक्ति ।

'प्रकाश'

**व्याख्यानार्थ** — जैसे शरद् का सूर्य तीव्र ताप वाला है वैसी ही उग्र ताप वाली उसकी किरणें भी हैं। भूत अनेक हैं, ताप से उत्पन्न रोग भी अनेक हैं, उन भूतों के रोगों (तापों) को नाश किया यह बताने के लिए मूल श्लोक में 'ताप' शब्द बहुवचन दिया गया है। ताप हरण करने वाला 'चन्द्र' क्यों हुआ ? इस शङ्का की निवृत्ति करते हुए कहते हैं कि 'चन्द्रमा' जल का अधिपति है तथा जल प्रकृति वाला है और भूत<sup>६</sup> जल<sup>७</sup>त्मक है अतः अधिपति होने के नाते उनका ताप मिटाना चन्द्रमा का यह कार्य योग्य ही है। चन्द्रमा को मूल श्लोक में 'उडुप' नाम इसलिए दिया है कि वह 'उडु' (नक्षत्रों को) 'प' (पालने वाला) है। इससे चन्द्रमा नक्षत्रों द्वारा भी ताप को हरण करने वाला है। चन्द्रमा स्वयं ताप को हरण करे अथवा नक्षत्रों द्वारा ताप मिटावे इन दोनों प्रकारों में शरद् कारण रूप है। अब पूर्ववत्<sup>८</sup> दृष्टान्त देकर समझाते हैं जैसे चन्द्रमा ने आधिभौतिक ताप को मिटाया, वैसे (ही) भगवान् ने आध्यात्मिक ताप को नाश किया। वह आध्यात्मिक ताप देहाभिमान रूप है, जीव जब पुष्टि मार्ग में प्रवेश हुआ (होता है) तब धीरे धीरे उसका देहाभिमान से उत्पन्न ताप का हरण हुआ। पुष्टि मार्ग में प्रवेश होते ही देहादि का भगवान् में विनियोग होता है उससे (विनियोग होने से) सब ताप नाश हो जाते हैं किसी अंश से भी ताप नहीं रहता है।

भगवान् ने ब्रज सीमन्तनियों का ताप हरण किया, कारण कि उस समय, वहाँ वे ही स्थित थीं। भगवान् ने उनका ताप चन्द्रमा की भाँति निवारण किया। चन्द्रमा रात्रि के समय, ताप को मिटाता है, प्रभु ने भी उनके स्त्रीपन का अभिमान, काम और उससे उत्पन्न ताप ये तीन दुःख रात्रि में ही मिटाए, कारण कि, स्त्रियों को ये रात्रि को ही होते हैं।

भगवान् ने उनके तापों का नाश किया, जिससे उनका जाति धर्म (स्त्रियों का स्वाभाविक धर्म स्त्रीत्व आदि) भी नाश हुआ। इसलिए भगवान् को उनके तापों को नाश नहीं करने चाहिए थे ? ऐसी शङ्का का निवारण 'मुकुन्द' नाम देकर किया है। भगवान् मोक्ष दाता है, जब मुक्ति दान करने का समय होता है, तब पूर्व अवस्था (बन्धन में जकड़ रखने वाली कामादि अवस्था) को छोड़ना योग्य होता है, इसलिए जाति धर्म का त्याग योग्य ही है। यदि उनका त्याग न करें, तो शरद् में उनकी मृत्यु हो जाती, भगवान् की उपस्थिति में<sup>९</sup> उनको मोक्ष न होता। किन्तु भगवान् ने उनका सर्वात्म भाव से अङ्गीकार किया था, इससे उनको तापाभाव हुआ। शरद् ऋतु का तो दर्शक की भाँति इस लीला में उपयोग<sup>१०</sup> है। पूर्व श्लोक में क्या<sup>११</sup> का दृष्टान्त दिया, जिससे वायु की शुद्धि कही, इस श्लोक में सूर्य चन्द्र के निरूपण से तेज की भी शुद्धि बताई ॥ ४२ ॥

**आभास** — आकाशस्य शुद्धिपूर्वकं गुणमाह खमशोभतेति, निर्मेघं खमशोभत, शरदा कृत्वा विमलास्तारका यस्य,

**आभासार्थ** — इस श्लोक में आकाश की शुद्धि कह कर, गुणों का वर्णन करते हैं । शरद् के कारण, जिसमें निर्मल तारे हैं और मेघों का अभाव है, वैसा आकाश शोभा पाने लगा ।

**श्लोकः** — खमशोभत निर्मेघं शरद्विमलतारकम् ।

सत्त्वयुक्तं यथा चित्तं शब्दब्रह्मार्थदर्शनम् ॥ ४३ ॥

**श्लोकार्थ** — वेद के अर्थ के प्रकाश होने से, सत्त्व गुण वाला चित्त, जैसे शोभा पाता है वैसे ही मेघ रहित शरद् के कारण निर्मल तारोंगण वाला आकाश शोभा पाने लगा ॥ ४३ ॥

**कारिका** — मासाष्टकं तथाकाशे तमस्तापैः कृतं रजः ।

मेघैरपोह्यते सम्यगतः शरदि निर्मलाः ॥ १ ॥

सर्वं नभो दिशश्चैव तारकाश्चन्द्र एव च ॥ १½ ॥

**कारिकार्थ** — आठ मास पर्यन्त (चातुर्मास के बिना) आकाश में सूर्य के तापों ने जो रज रूपी तम किया उसको मेघ (वर्षा ऋतु में) पूर्ण प्रकार से मिटाते हैं, जिससे शरद् ऋतु में सम्पूर्ण आकाश, दिशाएँ तारागण और चन्द्रमा भी निर्मल होते हैं ॥ १½ ॥

**सुबोधिनी** — तदाह, शरद्विमलेति, मेघापगमो दोषाभाव आधिभौतिक विमलताध्यात्मिकी तारका गुणाः, आधिदैविकीयं शरदिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह सत्त्वयुक्तमिति, सत्त्वगुणेन युक्तं चित्तं शब्दब्रह्मणो वेदस्य दर्शनं यत्र तादृशमशोभत, चित्तस्य रजस्तमसी दोषः सत्त्व-सम्बन्धेऽपगच्छति, गुणस्तु सर्वपदार्थानां तत्त्वतो ज्ञानं, ते

च पदार्थाः श्रुत्येकसमधिगम्याः शुद्धेऽन्तःकरणे वेदभावनया स्फुरन्ति, शुद्धिर्हेतुत्वाच्छ्रदुपयोगः, मेघा-भावस्थानीयं सत्त्वं विमलस्थानीयं शब्दब्रह्म तदर्थज्ञानं तारकास्थानीयं एतद्व्यावर्त्या दोषा आकाशो बाह्य आभ्यन्तरश्च शुद्धो निरूपितः ॥ ४३ ॥

**व्याख्यार्थ** — शरद् ने आकर, आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीन प्रकार के दोष आकाश के नाश किए । आकाश में मेघों का होना आधिभौतिक दोष था, शरद् ने उन (मेघों) को हटाकर, आकाश का आधिभौतिक दोष निवारण किया, आकाश में रज, आध्यात्मिक दोष था, शरद् ने उस (रज को नष्ट कर आकाश को निर्मल बना के उसका आध्यात्मिक दोष दूर किया । तारागण गुण हैं उनसे आकाश का सुशोभित होना आधिदैविकी शरद् है, यह बताने के लिए दृष्टान्त देते हैं, चित्त के दो दोष, रजोगुण और तमोगुण हैं । वे दोनों ही, सतोगुण का जब

चित्त से सम्बन्ध होता है, तब चले जाते हैं, जिससे सतो गुण युक्त चित्त में, वेद के अर्थ का प्रकाश होता है उस प्रकाश से वह (चित्त) शोभा पाता है। सर्व पदार्थों का तत्त्व से (वास्तविक प्रकार से) ज्ञान होना ही गुण है। वे पदार्थ श्रुति द्वारा ही समझे जाते हैं। शुद्ध हुए अन्तःकरण में, वेद की भावना से वे स्फुरित<sup>१</sup> होते हैं। शुद्धी करने वाली होने से शब्द का यहाँ उपयोग है। जैसे आकाश में मेघ न होने से आकाश स्वच्छ रहता है, वैसे (ही) चित्त में सत्त्व आने से (रज तम जाते हैं) चित्त शुद्ध हो जाता है। जैसे आकाश निर्मल हो तो शोभा देता है वैसे (ही) चित्त शब्द ब्रह्म से निर्मल हो सुशोभित होता है। जैसे आकाश में तारे चमकते हैं तो आकाश अलङ्कृत सा दिखता है वैसे ही चित्त को वेदों के अर्थ का ज्ञान तारों के समान चमकता है तथा अलङ्कृत करता है।

इस वर्णन से दूर करने योग्य दोषों का (मेघ, रज तथा तम) तथा महाभूत आकाश, एवं भीतर के आकाश (चित्त) की शुद्धि का निरूपण किया ॥ ४३ ॥

**आभास** — तत्र हृदये भगवच्छोभावक्तुं प्रथमत आकाशे चन्द्रशोभामाह महाभूतानन्तरं मनसः क्रमभावित्वाद्, अखण्डमण्डल इति,

**आभासार्थ** — पूर्व श्लोक में कहे हुए, सत्त्व युक्त चित्त में, भगवान् की शोभा का वर्णन करने के लिए, इस श्लोक में, प्रथम आकाश में हुई चन्द्रमा की शोभा कहते हैं, कारण कि मन, महाभूतों के अनन्तर ही आता है।

**श्लोकः** — अखण्डमण्डलो व्योम्नि रराजोऽगुणैः शशी ।

यथा यदुपतिः कृष्णो वृष्णिचक्रावृतो भुवि ॥ ४४ ॥

**श्लोकार्थ** — जैसे यादवों के पति श्रीकृष्ण, भूमि पर यादव मण्डल से आवृत हो शोभा देते हैं, वैसे (ही) सम्पूर्ण मण्डल सहित चन्द्र, तारा मण्डल से आवृत हो आकाश में शोभता है ॥ ४४ ॥

**सुबोधिनी** — अखण्डं मण्डलं यस्य तादृशः वर्णमासश्चन्द्रो भगवदीयो वोऽगुणैः सह रराज, भगवदीयव्यावृत्त्यर्थं शशी निरूपितः, सोऽपि चन्द्रो नैवैकादिभिर्दृश्यमान एव तथा, अग्रे वा तस्य प्राकट्यं यथा

हृदये, यदुभिः सह यदुपतिः कृष्णो भुव्यखण्डमण्डलो राजते यद्यपि यदुपतिः सर्वत्रैव राजते, कृष्ण एवावतारान्तरेष्वपि तथापि वृष्णिचक्रेणावृतोऽवतीर्णः साक्षाद्भगवानत्रैव शोभते ॥ ४४ ॥

**व्याख्यानार्थ** — इस श्लोक में दो प्रकार के चन्द्रमाओं<sup>१</sup> की शोभा का वर्णन किया है । एक की शोभा का आकाश में और एक की शोभा का पृथ्वी पर वर्णन करते हुए कहते हैं कि सम्पूर्ण बिम्ब वाला पूर्णिमा का चन्द्र तारागणों के साथ जैसे आकाश में शोभता है वैसे ही पृथ्वी पर यादवों से आवृत श्रीकृष्णचन्द्र शोभते हैं । मूल श्लोक से 'अखण्डमण्डल'<sup>२</sup> शब्द से निष्कलङ्क सम्पूर्ण भगवदीय चन्द्र का वर्णन किया है और 'शशी' शब्द से कलङ्क वाला लौकिक चन्द्र कहा है । जैसे लौकिक चन्द्रमा को आकाश में नक्षत्र सुशोभित करते हैं वैसे (ही) भगवदीय चन्द्रमा के लिए स्वामिनीयों के मन नक्षत्र रूप हैं अतः जब स्वामिनीयाँ उन अपने नक्षत्र रूप मन से, भगवदीय चन्द्र (भगवान् के मुखचन्द्र) का दर्शन करती हैं, तब भगवान् का मन भी स्वामिनीयों में संलग्न होने से सुशोभित होता है अथवा आगे उनका प्राकट्य होगा, जैसे हृदय में ।

श्लोक में 'व्योम्नि'<sup>३</sup> पद दिया है जिसका आशय है कि यह लौकिक 'चन्द्र' आकाश में शोभता है और 'अलौकिक चन्द्र' (श्रीकृष्ण) भक्तों के हृदयाकाश में प्रकट होकर शोभा देता है ।

यद्यपि यदुपति सर्वत्र अन्य अवतारों में भी शोभा देता है, तो भी यादवों के चक्र से आवृत अवतारी साक्षात् भगवान् तो यहाँ ही सुशोभित होते हैं ॥ ४४ ॥

**आभास** — शरदो मासान्तरकृत्यमाहाश्लिष्येति,

**आभासार्थ** — इस श्लोक में शरद् ऋतु के द्वितीय मास का कृत्य वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः** — आश्लिष्य समशीतोष्णं प्रसूनवनमारुतम् ।

जनास्तापं जहुर्गोप्यो न कृष्णाहतचेतसः ॥ ४५ ॥

**श्लोकार्थ** — जिस (शरद्) में पुष्पों वाले वन की समान उष्ण और शीत युक्त वायु से आलिङ्गन कर, मनुष्यों ने तों अपना ताप मिटा दिया, किन्तु जिनका मन श्रीकृष्ण ने हर लिया है, वैसी गोपीजनों का ताप उस वायु का चित्त से स्पर्श न होने से नहीं मिटा ॥ ४५ ॥

★ एक चन्द्रमा जो आकाश में स्थित है, दूसरा 'भगवदीयचन्द्र' (भगवान् ही चन्द्र, अथवा भगवन्मुखचन्द्र) पृथ्वी पर है ।

★ यह भावार्थ प्रभुचरणों की 'टिप्पणी' से लिया है ।

— अनुवादक

सुबोधिनी — समं शीतमुष्णं च यत्र प्रसूनयुक्ते वने मास्तो यस्य तादृशं शीतोष्णभावमाश्रित्य तापं जहुः, वनमास्तं वा समत्वान्मान्दमपि प्रसूनसम्बन्धात् सौगन्ध्यं, एवं सर्वगुणमपि वायुमाश्लिष्य जनास्तापं जहुः, अस्य सहजत्वाभावात् दृष्टान्तः, परं हीनतामाह गोप्यो नेति, तत्र हेतुः कृष्णहृतचेतस इति, कृष्णेनैव हृतं चित्तं यासां, चित्ते हि सुखं भवति तत् कृष्णसम्बन्ध एव देहे तिष्ठति, आश्लेषोऽपि न कृतः, सामान्यनिषेधात् कृष्णाश्लेषोऽप्यनेनैव निषिद्धो हरणशब्दाच्च, अत आध्यात्मिकीयं शस्त्रं सुखदायिनी वृत्ता, आधिदैविकी तु वक्ष्यति ॥ ४५ ॥

**व्याख्यार्थ** — शरद् ऋतु के कारण, वन की वायु, गरमी और ठंडी समान होने से मंद मंद चलती थी, और पुष्पों के सम्बन्ध से वह वायु सुगन्धि युक्त भी हो गई थी। इस प्रकार सर्व गुण युक्त वायु का आश्रय<sup>१</sup> कर मनुष्यों ने अपने ताप मिटा दिए। यह स्वाभाविक नहीं है, अतः दृष्टान्त रूप से यह नहीं दिया है, किन्तु इससे वायु की हीनता प्रकट करते हुए कहते हैं कि गोपीजन का ताप नहीं मिटा, कारण कि उनके चित्त को भगवान् ने हरण कर लिया था, अतः वह चित्त भगवान् के पास था, जिससे वायु के साथ तो चित्त का आलिङ्गन न हुआ किन्तु भगवान् ने भी उस (चित्त) का आलिङ्गन नहीं किया था, जिससे गोपीजन का ताप मिटा नहीं, चित्त स्थान पर होए तो आलिङ्गन ही सके यह हरण किया हुआ होने से, स्थान पर नहीं है, अतः भगवान् का भी आश्लेश न हो सका है, ताप मिटकर, सुख चित्त को होता है, वह चित्त, कृष्ण के सम्बन्ध वाले देह में स्थित है। अतः गोपीजन के लिए यह आध्यात्मिकी शरद् सुखदायी नहीं हुई है, आधिदैविकी शरद् का वर्णन आगे कहेंगे ॥ ४५ ॥

**आभास** — आध्यात्मिक्याः प्रसङ्गादुपयोगान्तरमप्याह गाव इति,

**आभासार्थ** — आध्यात्मिक शरद् के प्रसङ्ग में उसका अन्य उपयोग (लाभ) इस श्लोक में कहते हैं—

**श्लोकः** — गावो मृगाः खगा नार्यः पुष्पिण्यः शरदाभवन् ।

अन्वीयमानाः स्ववृषैः फलैरीशक्रिया इव ॥ ४६ ॥

**श्लोकार्थ** — गाएँ हरिणियाँ, पक्षिणीयाँ (चिड़ियाँ) और स्त्रियाँ शरद् से पुष्प वाली (ऋतुमती) होती हैं तथा पति उनके पीछे लग जाते हैं तब, जैसे ईश्वराराधन रूप क्रियाओं से फल प्राप्त होता है वैसे ही वे भी फल प्राप्त कर लेती हैं ॥ ४६ ॥



**सुबोधिनी** — गर्भाधानकालोऽयं वर्षाभिर्बीजोत्पत्तेः, गावो मृगाः खगास्तामसादिभेदाश्च एव नार्यः स्त्रियोपि स्पष्टार्थं वा ता एव शरदा कृत्वा पुष्पिण्यः, अन्तःप्रविष्टा शरद् रजोविकासं कृतवती तासामृतुकालो जात इत्यर्थः, अभिव्यञ्जकं तु नारीणामेव नैमित्तिकं स्ववृषैः स्वपति-भिरन्वीयमानाः फलैरप्यन्वीयमाना अभवन्नितियोजना,

फलस्यामोघत्वप्रतिपादनाय दृष्टान्तमाहेशसम्बन्धिन्यः क्रिया इव, ईशसंयोगात् फलयुक्ता अपि भवन्ति, ईशः पतिस्थानीयः, ता अपि फलैरन्विताः फलमभिलषितं सहजं वा दृष्टान्तस्त्वभिलषितसिद्ध्यर्थः, भगवत्सम्बन्धाच्च छद् एते गुणाः ॥ ४६ ॥

**व्याख्यानार्थ** — वर्षा के कारण, पृथ्वी में से बीज उत्पन्न होते हैं, अतः इससे सिद्ध होता है, कि यह काल गर्भाधान का है, गाएँ, हरिणियाँ, चिड़ियाँ ये तामस भेद वाले जन्तुओं की स्त्रियाँ हैं इनके अतिरिक्त स्त्रियाँ (मनुष्य जाति की स्त्रियाँ) भी कही हैं, किन्तु इस बात को स्पष्ट समझाने के लिए वे पृथक् कही हैं, तामस जाति की स्त्रियाँ ही शरद् ऋतु में पुष्पवती (गर्भ धारण योग्य) होती हैं जिसका अन्य कोई चिन्ह नहीं है केवल इससे जाना जाता है कि नर (पति) उनके पीछे लगे रहते हैं, जिससे निश्चय होता है कि शरद् ने इनमें प्रवेश किया है। मनुष्यों की स्त्रियों की रज (पुष्प वा ऋतु) तो चिन्हवाली होने से प्रकट दिखाई देती है।

फल अवश्य होता है इसके लिए दृष्टान्त देते हैं कि भगवत्सम्बन्धी क्रियाएँ जैसे अभिलषित फल को देती ही हैं वैसे ही शरद् भी देती हैं, कारण कि, भगवान् के सम्बन्ध होने से शरद् में ये गुण प्रकट हुए हैं जैसे क्रिया के फल सिद्ध करने में भगवान् ईश (पति) हैं वैसे ही वहाँ 'पति' 'ईश' समझना चाहिए। फल अभिलषित<sup>१</sup> हो वा सहज<sup>२</sup> हो दृष्टान्त तो अभिलषित सिद्धि का है ॥ ४६ ॥

**आभास** — जङ्गमानामुक्त्वा स्थावराणामाहोदहप्यन्निति,

**आभासार्थ** — जङ्गमों<sup>३</sup> का वर्णन कर अब स्थावरों<sup>४</sup> का वर्णन इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोकः** — उदहप्यन् वारिजानि सूर्योत्थाने कुमुद विना ।

राज्ञा तु निर्भया लोका यथा दस्यून् विना नृप ॥ ४७ ॥

**श्लोकार्थ** — हे नृप ! जैसे चोरों के अतिरिक्त अन्य सब लोग राजा से (राजा के होने से) निर्भय होते हैं, वैसे ही सूर्य के उदय होने पर कमोदनी के अतिरिक्त अन्य कमल प्रफुल्लित हो गए ॥ ४७ ॥

१-चाहा हुआ ।

२-स्वाभाविक-सरल ।

३-चलने फिरने वाले चेतन्य प्राणियों ।

४-जड़-पुष्पादि ।

सुबोधिनी — सूर्योत्थाने कमलान्युदहृष्यन्, कुमुदं तु चन्द्रमसा विना कालेन उदहृष्यत्, कुमुदं विना वा, सुब्लोपः, अनेन सात्त्विकाः सात्त्विकाधिपतावुद्गच्छन्ती- व्यतिरिक्तानां सुखं यतस्तेषां कुत्सिता मुद, केवल- भौतिकव्यावृत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह, राज्ञा सर्व एव लोका निर्भया न तु दस्यवः, ते कुमुदाः, नृपेति सम्बोधनं तत्सम्मत्यर्थं, लोका भुवनान्यपि, शरदि चौर्याभावश्च सूचितः ॥ ४७ ॥

**व्याख्यार्थ —** सूर्य के उदय होते ही, कुमुदिनी<sup>१</sup> के अतिरिक्त अन्य कमल प्रफुल्लित होकर अपनी प्रसन्नता प्रकट करते हैं, कुमुदनी तो समय पर जब चन्द्र उदय होता है, तब खिलने लगती है। सात्त्विक ही सात्त्विकों के पति की ओर स्वयं खिच जाते हैं, अन्य जो सात्त्विक नहीं हैं वे खिचते नहीं। यद्यपि सात्त्विक सुखदाता हैं, तो भी वह सुख, सात्त्विकों के सिवाय अन्यो को नहीं मिलता है, कारण कि अन्यो का आनन्द कुत्सित<sup>२</sup> है। राजा (चेतन) का दृष्टान्त इसीलिए दिया है कि स्थावरों की भाँति चेतनों में भी यों होता है, जैसे कि राजा का उदय होते (राजा का सिंहासन पर विराज राज्य की वागडोर हाथ में लेते) ही सब लोक निर्भय होने से प्रसन्न होते हैं, किन्तु चोर निर्भय न होने के कारण, प्रसन्न नहीं होते हैं। श्लोक में महाराजा को 'नृप' कह कर यह बताया है कि आपकी भी इसमें सहमति है। श्लोक में 'लोक' शब्द देने का भाव यह है, कि राजा से सब 'भुवन' निर्भय बनते हैं, न कि, केवल (वह स्थान) जहाँ उसका राज्य है वह निर्भय होता है, अतः राजा के कारण शरद् में कही भी चोरी नहीं होती है, जिससे सब भुवन निर्भय कहे हैं ॥ ४७ ॥

**आभास —** एवं लौकिकं सर्वमुक्त्वा वैदिकमाह पुरग्रामेष्विति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार शरद् से हुए लौकिक सर्व गुण आदि का वर्णन कर, अब इस श्लोक में, जो वैदिक गुण हुए उनका वर्णन करते हैं।

**श्लोकः —** पुरग्रामेष्वग्रयणैरैन्द्रियैश्च महोत्सवैः ।

बभौ भूः पक्वसस्याढ्या कलाभ्यां नितरां हरेः ॥ ४८ ॥

**श्लोकार्थ —** पके हुए धान से समृद्ध भूमि, नगरों तथा गावों में होने वाले श्रौत और स्मार्त यज्ञादि तथा लौकिक महोत्सवों से तो शोभा देती (ही) थी किन्तु हरि की दां कलाओं से, विशेष शोभित होने लगी ॥ ४८ ॥

**सुबोधिनी** — पुराणिसात्त्विकानि ग्रामा राजसा  
आग्रयणानि श्रौतानीन्द्रसम्बन्धीनि स्मार्तानि महोत्सवा  
लौकिकाः, चकारात्कुलधर्माश्च, पुराणामेष्वितिबहुवचनात्  
त्रिविधा अपि गृहीताः, सर्वैः कृत्वा भूरेव बभौ, तस्या  
आधिभौतिकी शोभामाह पक्वसस्याद्वयेति, पक्वैः  
सस्यैराद्या, आधिदैविकीमाह कलाभ्यामिति, रामकृष्णाभ्यां  
सङ्कर्षणकृष्णाभ्यां, भारहरणार्थं हि तावेवागतौ, विशेषमप्याह

नितरां हरेरिति, हरेःसम्बन्धिनी भूनितरां बभौ पदैरनुभावे-  
लीलाभिश्च, अस्मिन् वाक्ये भूप्रस्तावाद्धरिपदात् तस्या एव  
दुःखहर्तोच्यते, स च पुरुषोत्तम एव, भारहरणद्वारा  
सङ्कर्षणोपीति तत्कलारूपत्वं च, केशयोरिति, भूमेर्वा  
दुःखहर्तुः केशाभ्यां नितरामित्यन्तःकरणसन्तोषाच्च  
चिदानन्दाभ्यां वा, सत् सिद्धैव ॥ ४८ ॥

**व्याख्यानार्थ** — सात्त्विक नगर और राजस ग्राम, दोनों में, श्रौत (वैदिक) तथा स्मार्त यज्ञ आदि तथा लौकिक महोत्सव और कुल धर्म इत्यादि होने वाले सर्व उत्सवों से भूमि सुशोभित होने लगी । पृथ्वी की शोभा एक प्रकार से नहीं हुई, किन्तु दोनों (आधिभौतिकी एवं आधिदैविकी) प्रकार से होने लगी । चारों तरफ धान्य आदि पक जाने से, आधिभौतिकी शोभा हुई तथा भार हरण के लिए प्रकट हुए सङ्कर्षण और श्रीकृष्ण से आधिदैविकी शोभा हुई । इस प्रकार, केवल साधारण शोभा कह कर, अब विशेष शोभा का वर्णन करते हैं, कि यह भूमि भगवान् के चरणों से, उनके प्रभावों से तथा उनकी लीलाओं से सम्बन्ध वाली हुई, अतः विशेष सुशोभित होने लगी ।

यह प्रसङ्ग भूमि का ही है और भगवान् का नाम यहाँ हरि कह कर यह बताया है, कि उस (भूमि) का ही दुःख हरण करने के लिए आप प्रकटे हैं, वह (दुःख हर्ता) पुरुषोत्तम ही है और भार हरण कार्य सङ्कर्षण ने किया है वह (सङ्कर्षण) उन (पुरुषोत्तम) का कलारूप भी है अतः इस कला रूप से भी भार हरण (दैत्यों का वध) कर, हरि ने भूमि का दुःख दूर किया है ।

श्लोक में दिए हुए 'हरेः कलाभ्यां' पद से शङ्का होती है, कि भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं यहाँ उनको 'कला' कैसे कहा है ? इस शङ्का को मिटाने के लिए आचार्य श्री कहते हैं, कि आपने अपनी चित् और आनन्द कलाओं (अंशों) को प्रकट कर, भूमि के दुःख को हरण किया है अतः कलाभ्यां पद दिया है और भागवत २।७।२६ के 'सितकृष्णकेशः' कहने का भी यह भाव है । सत् कला (अंश) तो सिद्ध ही है (प्रकट ही है) ॥ ४८ ॥

**आभास** — उपसंहारार्थ शरदः सर्वसाधकत्वमाह वणिगिति,

‡ योजनाकार लालू भट्टजी इसको विशेष स्पष्ट कर लिखते हैं कि भगवान् की तीन कलाएँ (सत् चित् तथा आनन्द) हैं, उनमें से एक 'सत्' कला तो सर्वदा प्रकट देखने में (अनुभव में) आती ही है, शेष दो कलाएँ 'चित्' और 'आनन्द' तिरोहित रहती हैं, वे दो कलाएँ, भगवान् जब श्रीकृष्ण और बलराम स्वरूप से लीलार्थ अब प्रकटे हैं, तो वे दो कलाएँ भी, लीलार्थ उनके साथ पृथ्वी पर प्रकट हुई हैं; अतः उन कलाओं से भूमि विशेष सुशोभित होने लगी ।

**आभासार्थ** — शरद् के वर्णन का उपसंहार (समाप्ति) करते हुए इस श्लोक में कहते हैं कि यह (शरद्) सर्व को सिद्ध कर देने वाली है ।

**श्लोकः** — वणिङ्मुनिनृपस्नाता निर्गम्यार्थान् प्रपेदिरे ।

वर्षरुद्धा यथा सिद्धाः स्वपिण्डान् काल आगते ॥ ४९ ॥

**श्लोकार्थ** — जैसे बहुत वर्षों से जिन्होंने संयम कर, अपने को सिद्ध बना लिया है, वे समय आने पर अपनी देहों (देवादि) को प्राप्त करते हैं, वैसे ही वर्षा के कारण घर में रुके हुए वैश्य, मुनि, राजा और स्नातक शरद् का समय होते ही बाहर निकल अपने अर्थों को प्राप्त हुए ॥ ४९ ॥

**सुबोधिनी** — वणिङ्मुनिनृपा वैश्यब्राह्मणक्षत्रिय-  
श्रेष्ठस्ते निर्गम्य पण्यात् प्रदेशान् प्राप्तवन्तः, तदाहार्थान्  
प्रपेदिरे इति, अर्थशब्दो हि लोके प्रसिद्धो वक्तव्यस्ततो  
वैदिकस्ततः स्मार्त इति, अर्थे तमः प्रधानं ततः सत्त्वं ततो रजः,  
अनेन स्थितानां न सिद्धिरुक्ता लौकिकोपकारी वैदिकोपकारी  
चोपकार्ये पूर्वमुक्तां, स्नाताः स्नातकास्ते हि तीर्थवासिनस्ते  
यथाभिलषितान् धर्मार्थकामान् प्रपेदिरे, प्रत्येकसमुदायाभ्यां  
वा धर्मार्थकामा उक्ताः, अत्रापि पूर्ववद् दृष्टान्तमाह वर्षरुद्धा

इति, वर्षैर्बहुभिरेव रुद्धा निरुद्धाः सिद्धाः पश्चात् प्राप्तफलाः  
स्वपिण्डान् पूर्वस्थितानेव काल आगते प्रपेदिरे, योगादिना  
बहुकालं स्वनिरोधं कृत्वा ततः सिद्धाः सन्तः तत्फलमनुभूय  
पुनः काले प्रलये समागते मोक्षसाधकत्वात् पुनस्तानेव  
देवदेहान् गृह्णन्ति स्वपिण्डान् फलरूपान् वा, कालः फलकालः  
पूर्वकालस्य साधकत्वमस्य फलत्वमित्याधिर्भातिका-  
ध्यात्मिकभेदेन निरूपितं कालप्राधान्यार्थमागत इति, एवं  
सलीला शरद् वर्णिता ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिनीयां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे सप्तदशाध्यायविवरणम् ॥

**व्याख्यार्थ** — वैश्य, ब्राह्मण और क्षत्रियों में जो श्रेष्ठ (उद्यमी अपने कर्म करने के उत्साही) थे वे अपने कामों पर जाने लगे अर्थात् अपने अर्थ प्राप्त करने का उद्यम करने लगे । 'अर्थ' शब्द तो लोक में प्रसिद्ध ही है, वह अर्थ वैश्यों के लिए 'धन' है, मुनियों के लिये वैदिक अर्थ (धर्म) है और राजा (क्षत्रियों) के लिए वह अर्थ स्मार्त (काम) है । इन तीन प्रकार के अर्थों में जो 'धन' अर्थ है वह तमोगुण प्रधान है, वैदिक अर्थ (धर्म) सतोगुणी है और स्मार्त अर्थ 'काम' रजोगुणी है । इस प्रकार के धन की प्राप्ति जो घर में बैठे रहते हैं उनको नहीं होती है अतः शरद् होते ही वे† (वैश्य और मुनि) राजा के उपकार का कार्य करने लगते हैं । स्नातकों

†(१) वैश्य व्यापारादि तथा गोपालन आदि अपने कर्तव्य से राजा का उपकार करते हैं तब राजा प्रजा को मंतुष्ट कर सकता है ।

(२) मुनि लोग धर्म द्वारा देवताओं को प्रसन्न कर वर्षा आदि करवाते हैं तथा अधर्म के नाश से रोगादि का नाश करते हैं जिससे प्रजा सुखी हो राजा के गुण गान करती है । इस प्रकार दोनों राजा पर उपकार करते हैं ।

ने (तीर्थ वासियों ने) भी अपने वाञ्छित धर्म, अर्थ और काम को पृथक् पृथक् अथवा साथ में सिद्ध किया ।

यहाँ भी पहले की भाँति दृष्टान्त देते हैं-बहुत वर्षों से संयम कर बैठे हुए सिद्धों ने समय आने पर, फल को (प्रथम स्थित देहों को) प्राप्त किया अर्थात्-योग आदि से बहुत समय तक इन्द्रिय प्राण आदि का निरोध करने से सिद्ध हो उस सिद्धपन के फल का अनुभव कर, समय (प्रलय का (फल प्राप्ति का) समय) आने पर फिर उन देव देहों को प्राप्त करते हैं । जब वे योगाभ्यास आदि करते हैं, तब वह काल साधक (फल को सिद्ध करने वाला) काल, आधिभौतिक काल है, और यह काल, फल काल होने से आध्यात्मिक है । काल की प्रधानता\* स्थापन करने के लिए ही भगवान् पधारे हैं । इस प्रकार लीला के साथ शरद् का वर्णन किया ॥ ४९ ॥

---

\*लेखकार का आशय-प्रत्येक वस्तु में जब उसका स्व (अपना) भाव (स्वरूप रस) प्रकट हो तब उसमें से रस प्राप्त होता है तब ही लीला रसजनक होती है । भगवान् रस को प्रादुर्भूत करने के लिए ही लीला करते हैं । रस का प्रादुर्भाव काल करता है वह काल भगवान् ही स्थापना कर सकते हैं अतः भगवान् काल की स्थापना के लिए प्रकटे हैं ।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध पूर्वार्ध के १७वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण कृत श्री सुबोधिनी ( संस्कृत टीका ) के तामस प्रमेय अवान्तर प्रकरण के 'वैराग्य' निरूपण छठे अध्याय के हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

### राग मलार

देखियतु गोवर्द्धन गिरिधारी ।

सघन घटा चहुं दिसिमें धाई चमकति है चपला री ॥

गरजत मंद मंद धन बरपत मानों मेघ पुलवा री ।

जमुना-पुलिन मनोहर सुंदर वृन्दावन सुखकारी ॥

बंसीवट कुंजनि तरुवर मानों होत कुलाहल भारी ।

देखत सुर नर कौतुक भूले 'कृष्णदास' बलिहारी ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्रीवाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ❖ श्रीमद्भागवतमहापुराणम् ❖

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशमः स्कन्धः ( पूर्वार्धः )

### तामस-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरणम्

‘सप्तमोऽध्यायः’

श्री सुबोधिनी अनुसार १८वाँ अध्याय

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २१वाँ अध्याय

कारिका — अष्टादशे गोपिकानामासक्तिर्वर्ण्यते स्फुटा ।  
वर्ण्यवर्णकभेदेन गोपानामपि सोच्यते ॥ १ ॥  
प्रवेशकूजने तासामुद्बोधाय निरूपिते ।  
तद्गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति हि ॥ २ ॥  
आसक्तिः प्रेमपूर्वेव प्रेमापि हरिणा कृतम् ।  
उद्बोधकं च हरिणा कृतं नान्येन केनचित् ॥ ३ ॥  
आसक्त्या वर्णनं तस्माद् विद्यान्ते वर्ण्यते स्फुटम् ।  
कालाधिको हरिश्चात्र पुरुषोत्तम एव च ॥ ४ ॥  
त्रयोदशविधा लीला तत उक्ता पृथक् पृथक् ॥ ४½ ॥ १ ॥

**कारिकार्थ** — अठारहवें अध्याय में गोपीजन की आसक्ति प्रकट रूप से वर्णन की जाती है, वर्णनीय वस्तु तथा वर्णन करने वालों के भेद से, गोपों की आसक्ति भी कही जाती है ॥ १ ॥

उनकी (गोपीजन की) आसक्ति को जगाने के लिए भगवान् का वृन्दावन में प्रवेश तथा उनके वेणुनाद करने का वर्णन किया गया है । जो भगवान् के गुणों में आसक्त हैं वे ही भगवान् में भी आसक्ति वाले होते हैं<sup>१</sup> ॥ २ ॥

प्रेम के अनन्तर आसक्ति होती है । वह (प्रेम) हरि ने ही कराया है, और उद्बोधन<sup>१</sup> भी हरि ने कराया है, हरि के सिवाय, कोई अन्य उद्बोधक नहीं है ॥ ३ ॥

इस कारण से, पञ्च पर्व्यात्मक विद्या के वर्णन के अनन्तर आसक्ति से उसका स्फुट वर्णन किया जाता है ॥ ३<sup>१</sup> ॥

यहाँ जिस हरि का वर्णन है, वह पुरुषोत्तम है, कारण कि काल से अधिक है ॥ ४ ॥

अतः तेरह प्रकार की लीला, पृथक् पृथक् कही गई है ॥ ४<sup>१</sup> ॥

**व्याख्या** — यद्यपि समग्र प्रमेय प्रकरण में आसक्ति का ही वर्णन है, तो भी गोपीजन की आसक्ति के स्पष्ट वर्णन को इस १८वें अध्याय में ही प्रदर्शित किया गया है, अतः प्रकरण और अध्याय की सामान्य वर्णन रूप संगति है, अर्थात् प्रकरण में आसक्ति का सामान्य वर्णन है और अध्याय में विशेष वर्णन है ।

**शङ्का** — गोपीजन की आसक्ति का स्पष्ट वर्णन तो है ही नहीं ?

**उत्तर** — इस अध्याय में यह कथा है कि गोपीजन ने दिन में भगवान् के गुणों को गाते हुए, सारा दिन पूर्ण किया है, जिससे भगवान् के गुणों में गोपीजन की आसक्ति का स्पष्ट वर्णन है, अतः आचार्य श्री, कारिका में कहते हैं, कि 'तद् गुणेषु प्रसक्ता हि तदासक्ता भवन्ति हि' भगवान्

---

<sup>१</sup>जिनकी भगवान् में आसक्ति होती है वे ही भगवान् के गुणों में आसक्त होते हैं ।

के गुणों में जो आसक्त हैं वे ही भगवान् में आसक्ति वाले हैं, अर्थात् गोपीजन भगवान् के गुणों में आसक्त हैं अतः भगवान् में आसक्त हैं ही । यदि भगवान् में उनकी आसक्ति न होती, तो वे भगवान् के गुणों का गान ही न करती, जिसमें आसक्ति होती है, उसके ही गुण-गान किए जाते हैं । परोक्ष में उसके गुणगान के सिवाय, जीवन दुर्भर हो जाता है अथवा रहता ही नहीं है ।

जो कि, वर्णन का विषय एक ही भगवान् का चरित्र है, तो भी, जैसे दिन का चरित्र और रात्रि का चरित्र पृथक् पृथक् होने से, चरित्र के दो भेद हैं, वैसे ही चरित्र के कहने वालों के भी दो भेद हैं, दिन में चरित्रों का गान करने वाली गोपीजन हैं और रात्रि में चरित्र गान करने वाले गोप हैं, अतः इस भेद के होने से गोपों की आसक्ति भी कही गई है । गोपों का जो पाँच अध्यायों में आसक्ति रूप निरोध प्रभु ने किया है, वह उनका निरोध भी गोपीजन के कार्य की सिद्धि के लिए ही किया है ।

शङ्का — भगवान् ने वेणु कूजन क्यों किया ? जब कि आसक्ति का उद्बोधन तो कोकिल की कुहू ध्वनि से भी हो सकता है ?

उत्तर — भगवान् ने केवल, वेणु ध्वनि से आसक्ति का उद्बोधन नहीं किया है, किन्तु सब कुछ जो भी लीला के लिए आवश्यक था, वह स्वयं भगवान् ने ही किया है, जैसे कि, आसक्ति तब होती है जब प्रेम हो, इसलिए भगवान् ने प्रथम 'प्रमाण' प्रकरण की लीलाओं द्वारा 'प्रेम' प्रकट किया तदनन्तर<sup>१</sup> आसक्त्यर्थ 'प्रमेय' प्रकरण की लीलाएँ की, उस आसक्ति को जगाने के लिए 'वृन्दावन प्रवेश' और 'वेणुकूजन' किया । वृन्दावन प्रवेश और वेणुकूजन से सिद्ध है कि भगवान् का इन पर (गोपीजन पर) प्रेम था, वृन्दावन में आप अकेले नहीं पधारे हैं किन्तु गौ और गोपों के साथ पधारे हैं । तात्पर्य यह है, कि प्रेम से अङ्गीकृति के कारण लीलार्थ अपेक्षित सर्व सामग्री हरि ने ही सिद्ध की है । कोकिल कूजन से वा अन्य के वेणुनाद से, इस अलौकिक आसक्ति का जागरण नहीं हो सकता है, न केवल इतना (ही) किन्तु अन्य साधन से भी, वह नहीं हो सकता है; अतः श्री हरि ने ही उसका उद्बोधन करने के लिए यह लीला की है ।

पुष्टि मार्ग में, 'प्रभु की प्राप्ति का साधन प्रभु स्वयं है' अतः 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इस श्रुति के अनुसार प्रभु, कृपा पूर्वक अङ्गीकार कर, जीव के सर्व साधन, आप सिद्ध करते हैं ।

यद्यपि गोपीजन दिन को गोकुल में अपने घर में बैठी थी और भगवान् वन में जो जो लीलाएँ करते थे उन सर्व लीलाओं का गोपीजन भगद्भाव के उद्रेक<sup>२</sup> से अनुभव कर सकती थी, जिससे वे लीलाएँ घर में बैठे बैठे गाया करती थी, एवं गोप भी भगवान् की रात्रि लीलाओं का गान गोपीजनों के समक्ष करते थे । यद्यपि रात्रि लीला रहस्य लीला होने से, शुकदेवजी ने गोपों की गाई हुई लीलाओं का स्पष्ट वर्णन नहीं किया है तो भी, 'अन्ये तदनुरूपाणि' इस श्लोक से गोपों



ने लीलागान किया है इसका संकेत मिलता है । यद्यपि गोप, बालक थे और बालकों का स्वभाव है जो कुछ देखे वा सुने उसको जहाँ तहाँ कह देते हैं किन्तु गोप, बालक होते हुए भी इस बात को समझते थे कि यह 'भगवच्चरित्र' हमारा सर्वस्व धन है, वह जिस किसी को देने योग्य नहीं है अतः इसके योग्य भगवदासक्त, निरुद्ध गोपीजनों को ही योग्य समझ, उनके आगे वर्णन किया करते हैं । इससे सिद्ध है कि गोप भी गोपीजनों की भाँति आसक्त चित्त वाले निरुद्ध भक्त थे, इसीलिए भगवान् इनको अन्तरङ्ग लीला में ले गए हैं । वहाँ साक्षी रूप से रहकर, लीलाओं का अनुभव कर, आनन्द मग्न हुए हैं, अर्थात् पूर्णानन्द प्राप्त किया है ।

'कुसुमित वनराजि' श्लोक में अन्य पदार्थ भी आसक्ति के बोधक कहे हैं, तो भी सर्व का वास्तविक उद्बोधक भगवान् ही हैं, क्योंकि इनका वर्णन करने वाले, श्री शुकदेवजी स्वयं भगवद् गुणों में आसक्त हैं ।

यद्यपि 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः' इस श्रुति का अक्षरार्थ इतना ही है कि भगवान् जिस जीव को अङ्गीकार करते हैं उसको वे मिलते हैं, किन्तु इसका गूढार्थ स्वारस्य<sup>१</sup> यह है, कि आसक्ति तक जीव पहुँचा हो, तो भी जब तक विद्या<sup>२</sup> का (पञ्चपर्व) दान हरि नहीं करते हैं, तब तक प्रभु के स्वरूप का तथा उनके गुण एवं लीलाओं का ज्ञान नहीं होता है ।

भगवान् ने वेणुनाद द्वारा आसक्त गोपीजन में अपने लिए काम (मिलने की कामना) उत्पन्न किया, गोपीजन भी कामवश होने से, भगवान् में अपने लिए काम (मिलने की कामना) का उद्भव करणार्थ अपनी सखियों के सन्मुख भगवान् के गुणों का गान करना प्रारम्भ करने लगीं, किन्तु उनकी आसक्ति विद्या रहित थी, अतः प्रभु गुण-गान करते ही स्मर<sup>३</sup> के वेग से चित्त विक्षिप्त हो गया जिससे गुणादिका का गान न कर सकीं, तब स्वभक्त जन पक्षपाती पुष्टि, प्रभुने भक्तों का दुःख न सह सकने के कारण शुक द्वारा 'बर्हापीडं' श्लोक से, विद्या का दान उनको किया, तदनन्तर वे विद्या प्राप्त कर १३ श्लोकों से गुणगान करने में समर्थ हुई ।

प्रभु ने गोपीजन को प्रथम नाद ब्रह्मरूप अमूर्त\* विद्या का अन्तःकरण में अनुभव कराके,

† आज कल के हम वैष्णवों को इस पर ध्यान देना चाहिए कि विद्या (ज्ञान) के सिवाय प्रभु के स्वरूप, उनके गुण तथा लीलाओं का साक्षात् (अनुभव) दर्शन नहीं होता है । अतः हम लोगों को विद्या प्राप्ति के लिए प्रभु कृपा सम्पादन करनी चाहिए ।

-अनुवादक

\*विद्या के दो रूप हैं, एक अमूर्त और दूसरा मूर्त । अमूर्त विद्या अप्रकट रूप से भीतर अन्तःकरण में अनुभव कराती है और मूर्त विद्या, प्रकट रूप से, अंग संग द्वारा, स्वरूपानन्द का अनुभव कराती है ।

-अनुवादक

उस (अमूर्त) विद्या का जो फल रूप स्वरूप हैं, उसका भी अनुभव 'वेणुगीत' में नाद द्वारा अन्तःकरण में ही कराया है, आगे रासोत्सव में व्यापि वैकुण्ठ की मूर्तिमती विद्या, स्वरूपानन्द के अनुभव का दान करेगी यह प्रसङ्ग 'फल' प्रकरण में विशेष स्पष्ट होगा ।

'विद्या' भी एक भगवत् शक्ति है, अतः श्रुति कहती है 'विद्ययाऽमृतमश्नुते' विद्या से ही अमृत का भोग होता है, अर्थात् इस भगवत् शक्ति रूप विद्या की प्राप्ति विना भगवत् स्वरूपानन्द नहीं मिलती है । अतः यहाँ ब्रजभक्तों को भी विद्या का दान हुआ है । जब पञ्चपर्वा विद्या (१-वैराग्य, २-सांख्य, ३-योग, ४-तप और ५-भक्ति) प्राप्त हुई तब तत्क्षण<sup>१</sup> गोपीजन भगवद् गुणगान करने में समर्थ हुई । यह गुणगान साधारण गुणगान नहीं हुआ है, किन्तु फलदान होने का प्रारम्भ हुआ है, अर्थात् यह निश्चय हो गया, कि इस (गुणगान) से अविलम्ब<sup>२</sup> निश्चित ही फल की प्राप्ति होगी ।

यह पञ्चपर्वा विद्या भी अलौकिक है, उसका दान श्री गोपीजन को हुआ है । इस अलौकिक विद्या का स्वरूप निम्न प्रकार का है, १-वैराग्य-भगवान् के सिवाय सर्व पदार्थ मात्र में अनुराग<sup>३</sup> का अभाव अर्थात् केवल भगवत्स्वरूप में अनुराग-वैराग्य है । २-सांख्य,-परब्रह्म का स्वरूप रसमय है इस ज्ञान को सांख्य कहते हैं । ३-योग-चित्त भगवान् में यों तन्मय हो जाए जैसे मनिकों में तागा<sup>४</sup> लीन हो जाता है । ४-तप-भगवान् के वियोग से उत्पन्न ताप क्लेश का अनुभव 'तप' है । ५-भक्ति-चारों<sup>५</sup> पुरुषार्थों की कामना (को) त्याग भगवान् में पूर्ण आसक्ति 'भक्ति' है

यह पञ्चपर्वा विद्या पुष्टिमार्गीय है, जिसका दान गोप सीमन्तिनियों को हुआ है । इस विद्या के पञ्चम् पर्व भगवदासक्ति रूप भक्ति का निरूपण इस अध्याय में हुआ है ।

भगवान् ने गीता में, कहा है कि 'भक्त्यामामभिजानाति' जीव में जैसा हूँ, जो हूँ, जितना हूँ, इसको पूर्ण रीति से, भक्ति द्वारा मुझे जान सकता है, अतः गोपीजनों ने विद्या के अन्तिम पर्व पुष्टिमार्गीय भक्ति द्वारा 'बर्हापीडं' श्लोक में वर्णित जिस स्वरूप का अनुभव किया उसका वर्णन 'अक्षण्वतांफलमिदं' श्लोक में किया है, तदनन्तर गुण वर्णन प्रारम्भ हुआ है, इससे सिद्ध है कि गोपीजन का यह वर्णन आसक्ति पूर्वक किया हुआ है, अतः वह साधन रूप होते हुए भी फल रूप ही हैं । इसलिए कारिका में आचार्य श्री ने कहा है कि 'विद्यान्ते वर्ण्यते स्फुटम्' फल रूप होने से ही विद्या के अन्त में इसका वर्णन हुआ है ।

गोपीजनों ने 'अक्षण्वतां फलमिदं' इस ७वें श्लोक से 'गा गोपकैः' इस १९ वें श्लोक तक,

<sup>१</sup>धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ।

१-उसी क्षण में । २-शीघ्र । ३-प्रेम । ४-धागा, डोरा ।

तेरह श्लोकों से भगवान् के गुणों का वर्णन किया है । २०वें श्लोक में श्री शुकदेवजी ने इस अध्याय को सम्पूर्ण किया है ।

१३ श्लोकों में भगवान् के गुणों का वर्णन इस आशय से गोपीजनों ने किया है, कि जिस स्वरूप के गुणों का हम वर्णन करती हैं, वह स्वरूप द्वादशाङ्ग पुरुष तथा द्वादशमासात्मक काल पुरुष से अतीत अर्थात् उत्तम है । जिसके कहने का भाव यह है, कि यह पुरुषोत्तम स्वरूप प्रभु तथा इनके गुण, लीला एवं स्वरूप सब कालातीत होने से नित्य हैं और यही 'इन्द्रिय वालों का पक्का फल' है ॥ १-२-३-४-४½ ॥

॥ कारिका व्याख्या सम्पूर्ण ॥

**आभास —** भगवल्लीलार्थ पूर्वाध्यायान्ते शरद् वर्णिता ततोऽत्र लीलार्थं भगवतो वृन्दावनप्रवेश उच्यत इत्थमिति,

**आभासार्थ —** १७वें अध्याय के अन्त में भगवान् की लीला सामग्री सिद्ध करने वाली शरद् ऋतु का वर्णन हुआ है । अब इस १८वें अध्याय में भगवान् लीलार्थ वृन्दावन में प्रविष्ट हुए जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

**श्लोकः —** इत्थं शरत्स्वच्छजलं पद्माकरसुगन्धिना ।

न्यविशद् वायुना वातं सगोगोपालकोऽच्युतः ॥ १ ॥

**श्लोकार्थ —** श्री शुकदेवजी कहने लगे, कि इस प्रकार की शरद् थी, जिससे (जिस वन का) जल स्वच्छ हो गया था और जिससे कमलों की सुगन्धि से व्याप्त वायु लग रहा था, वैसे वृन्दावन में, भगवान् ने गौ और गोपों के साथ प्रवेश किया ॥ १ ॥

**सुबोधिनी —** इत्थम्भूता या शरत् तथा स्वच्छं जलं यस्मिन् वृन्दावने तादृशमच्युतो न्यविशदितिसम्बन्धः, अत्रापि पूर्ववदाभिदैविकीभिः शक्तिभिर्लीला वक्तव्या, तत्र नायकोत्कर्षार्थमच्युत इत्याह, तत्रापि गावोऽनुभाविका गोपालाः सेवकाः, शक्तीनां निर्भयत्वायैते देवाः साक्षिणः, स्मरणं जलस्थलभेदेन द्विविधं निर्भरमणे च वायोरपेक्षा जलक्रीडायां तु नैर्मल्यं शीताभावश्च, शरदा नैर्मल्यं शीता-

भावश्चोक्तः, शरत्स्वच्छजलमिति, शरदा स्वच्छानि जलानि यत्र, विशेषतः कर्मानिर्देशात् क्रीडार्थं जलप्रवेशश्चोक्तः, पद्माकराणां सुष्ठु यो गन्धः शैत्यसहितस्तद्वान् सुगन्धी, एतादृशवायुना वातं वनं न्यविशत्, गन्धवत्त्वेनैव मान्द्यमृक्तां, एतावदेव क्रीडायामपेक्षितं, विशेषणधर्माणामेव प्राधान्यात् विशेष्यनिर्देशः, नितरां प्रवेश आधिदैविकपर्यन्तः ॥ १ ॥

**व्याख्यानार्थ** — इस प्रकार की शरद् ऋतु ने निर्मल जल युक्त हुए वृन्दावन में अच्युत (भगवान्) ने प्रवेश किया। इस अध्याय में पहले की भाँति ही आधिदैविकी शक्तियों<sup>†</sup> के साथ की हुई लीला कहनी चाहिए। इस लीला में लीला का नायक श्रेष्ठ है अतः उनका उत्कर्ष<sup>‡</sup> बताने के लिए (अच्युत)<sup>‡</sup> शब्द दिया है, उस (लीला सामग्री) में भी गौ अनुभव करने वाली है और गोप सेवक है, शक्तियों के निर्भयत्व<sup>‡</sup> के लिए ये देव (गोप) साक्षी\* हैं। रमण, जल में और स्थल में, होता है, अतः रमण दो प्रकार का है। निर्भर<sup>‡</sup> रमण के समय में वायु की आवश्यकता होती है, जल की क्रीड़ा में तो निर्मलता होती है और शीतलता का अभाव होता है। शरद् ऋतु के वर्णन से ये दोनों (निर्मलता और शीत का अभाव) बता दिए हैं। जैसे कि श्लोक में 'शस्त-स्वच्छ जलं' से स्पष्ट कहा है, कि शरद् ने जल को स्वच्छ कर दिया है, जिससे यह बता दिया है, कि वैसे स्वच्छ जल में क्रीडार्थ प्रवेश किया है। श्लोक में विशेष कर 'वनं' कर्म नहीं दिया है इससे भी जल में प्रवेश को कहा, समझा जाता है। वन में प्रवेश के समय जो वायु चल रही थी उसका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि वह वायु कमलों की सुगन्धि से सुगन्धवाली एवं ठंडी तथा धीमी थी। जितनी क्रीड़ा में अपेक्षा थी उतनी ही सुगन्धि ठंडक तथा धीमीपन धारण की हुई वायु थी। श्लोक में विशेष्य (वन) शब्द क्यों नहीं कहा? इसके उत्तर में कहते हैं, कि यहाँ विशेष्य (वन) से भी विशेषण धर्मों की प्रधानता है अतः विशेष्य यहाँ नहीं कहा है, कारण कि, प्रधान विशेषणों से (वन के गुणों से) स्वतः विशेष्य (वन) का ज्ञान भी हो जाता

<sup>†</sup>यहाँ 'श्री गोपीजन के साथ' स्पष्ट न कहकर शक्तियों के साथ लीला करने को कहा है, उसका कारण श्री प्रभुचरण टिप्पणीजी में कहते हैं, कि एक तो जिन अज्ञानियों को श्री गोपाजन के अलौकिक, नित्य तथा स्वाभाविक धर्म वाले स्वरूप का ज्ञान नहीं है और ये (गोपीजन) भी भगवान् के समान ही सर्व अलौकिक धर्म तथा स्वरूप वाली हैं, इसका ज्ञान नहीं है उससे भगवद् भोग्य श्री गोपीजन के साथ हुई लीलाओं को गुप्त रखने के लिए 'शक्ति' शब्द दिया है।

<sup>‡</sup>जिसके स्वरूप की कभी भी किसी प्रकार भी च्युति (क्षरण-नाश-कमती) नहीं होती है।

<sup>\*</sup>प्रभुचरण टिप्पणी में 'साक्षी' शब्द का भाव बताते हैं कि, जैसे उपनिषद् में भगवान् को साक्षी कहा है, वैसे ही यहाँ (इस लीला में) गोप भी साक्षी हैं, कारण कि, जैसे स्वार्थ अथवा स्वार्थ बिना फल भोग का दाता तथा अधिकार अनुसार उसमें प्रवृत्त करने वाला, साक्षी कहा जाता है, वैसे ही यहाँ गोपों में ये लक्षण हैं तथा वे अन्तरङ्ग भक्त हैं अतः इनको (सेवक गोपों को) साक्षी कहा गया है।

है। 'नि' उपसर्ग देने का यह भाव है कि भगवान् ने केवल आधिभौतिक (दृश्य) वन में प्रवेश नहीं किया किन्तु आधिदैविक† गुप्त वन (निकुञ्जों) में भी प्रवेश किया+ ॥ १ ॥

**आभास —** प्रवेशमुक्त्वा देवतोद्बोधनमाह कुसुमितेति,

**आभासार्थ —** प्रथम श्लोक में प्रवेश का वर्णन कर अब इस श्लोक में देवता के उद्बोधन का वर्णन करते हैं।

**श्लोक: —** कुसुमितवनराजिशुष्मिभृङ्गद्विजकुलजुष्टसरःसरिन्महीध्रम् ।

मधुपतिरवगाह्य चारयन् गाः सहपशुपालबलश्चुकूज वेणुम् ॥ २ ॥

**श्लोकार्थ —** फूले हुए वन की पङ्क्तियों से उत्पन्न रस तथा गन्ध के मद से उन्मत्त<sup>१</sup> हुए भ्रमर तथा पक्षियों के समूह से सेवित, तलाब, नदी और पर्वत वाले वन में प्रवेश कर, गोप तथा बलदेवजी के साथ गौओं को चराते हुए मधुपति भगवान् ने वेणु का कूजन किया ॥ २ ॥

**सुबोधिनी —** मधुपतिर्गाश्चारयन् वेणुं चुकूज, वसन्ताधिपतिः सरसः शृङ्गारात्मा धर्मं कुर्वन् क्रियाज्ञान-शक्तिसहितो देवतोद्बोधनाय वेणुनादं कृतवान्, उद्बुद्धा देवताः सामग्र्यभावात् रता भवन्तीति भगवतो मधुपतित्वं निरूपितं, विभावादीन् निरूपयति, कुसुमिता या वनराजय- स्ताभिर्ये शुष्मिणो मत्ता जाता भृङ्गाः पक्षिणश्च तेषां कुलान्यवान्तरजातिभेदास्तैर्जुष्टानि सरितः सरांसि महीध्राः पर्वताश्च यस्मिंस्तानेव वा, एकवद्भावः, एवंविधमवगाह्य तत्रत्यानपि त्रिविधानुद्बोधयितुं केवलं शृङ्गारार्थमेव कूजनं कृतवान् ॥ २ ॥

**व्याख्यार्थ —** वसन्त के अधिपति सरस<sup>२</sup> शृङ्गारात्मा<sup>३</sup> ने धर्म\* को (गोचारण रूप धर्म को)

†आधिदैविक शब्द 'परोक्षवाद' से निकुञ्ज प्रवेश बताने के लिए दिया है।

'योजना'

+जहाँ (निकुञ्जों में) देवता आकर अपना २ कार्य नैत्र तथा भृकुटी के विलासों से करते हैं।

'लेख'

\*श्री विठ्ठलेश प्रभुचरण 'धर्म' शब्द का भाव 'टिप्पणीजी' में स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'धर्म' साक्षात् अथवा परम्परा भेद से 'धर्म', 'अर्थ', 'काम', और 'मोक्ष' चारों पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला होता है, जिस जिस स्थान में जैसी २ लीला करनी योग्य होती है वहाँ जाकर वैसी लीलाएँ की जाती हैं। किसी लौकिक कार्य के सिद्ध करने के बिना, यों ही वन में जाना लोक के विरुद्ध है, अर्थात् वन में किसी कार्य सिद्ध करने के लिए ही जाना चाहिए, जिसे अपने गुप्त इच्छित कार्य के लिये जाना हो उसका अन्यो को ज्ञान हो जाय (पता पड़ जाय) तो उससे स्वारस्य (सरसपना) निकल जावे तो वह रस विरुद्ध है, अतः भगवान् वन में जिस रहस्य लीला के लिए पधारे थे उसको तो गुप्त ही रखा जैसे उसका सरसपन बना रहे और गोचारण रूप धर्म को प्रकट दिखाया, जिससे पुरुषार्थ (अपने इच्छित कार्य) की भी सिद्धि की है, अतः वह लीला कार्य न लोक विरुद्ध हुवा तथा न रस विरुद्ध हुआ।

करते हुए देवता के उद्बोधन<sup>१</sup> के (जागृत करने के) लिए क्रिया और ज्ञानशक्ति<sup>x</sup> के साथ हो वेणु का कूजन किया। भगवान् को 'मधुपति' इसलिए कहा है कि आप वसन्त के स्वामी होने से, जैसे वसन्त में सर्व प्रकार की रस सामग्री सिद्ध (स्थित) होती है वैसे ही भगवान् में भी सर्व रस सामग्री विद्यमान है अतः आप सरस शृङ्गारात्मा मधुपति हैं। जिससे उद्बुद्ध किए हुए देवताओं को रत होने में किसी प्रकार प्रतिबन्ध नहीं हुआ, वे (देवता) जागृत होते ही, रत (क्रीडारत) होने लगे। इस प्रकार भगवान् का (मधुपतित्व) सिद्ध कर, अब रस को उद्दीप्त करने वाले, जो विभावादि हैं उनका वर्णन करते हैं कि-भ्रमर और पक्षी, वन की पङ्क्तियों को खिले हुए पुष्पों वाली देख के तथा उनसे आते हुए रस एवं सुगन्धियुक्त वायु का सेवन कर मत्त बन गए और उन मत्त भ्रमर एवं अनेक जाति वाले पक्षियों से नदी, सरोवर तथा पर्वत सेवित हैं। इस प्रकार के समलङ्कृत वन में प्रवेश कर, वहाँ रहने वाले तीन प्रकार के देवताओं<sup>‡</sup> को जगाने के लिए केवल शृङ्गार के लिए ही कूजन किया ॥ २ ॥

**आभास —** एवमुद्बोधनमुक्त्वा ताभिः सह रमणे कामिनीकामोद्बोधकत्वात् कूजितस्य व्रजस्त्रियोप्युद्बुद्धकामा जातास्ततः कामवशाद् भगवदुद्बोधार्थं स्वसखिभ्यः स्वसमानशीलव्यसनाभ्यस्तद्गुणान् वर्णयितुमारेभिर इत्याह तद् व्रजस्त्रिय इति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार उद्बोधन कहकर, यह बताया कि उन देवताओं से एक प्रकार से रमण हुआ जिससे, उस कूजन से कामिनियों<sup>१</sup> में काम<sup>२</sup> उद्भव<sup>३</sup> हुआ, वह देखकर व्रजसुन्दरियों में भी अभिलाषा जगी जिससे (कामवश होने से) वे व्रज सुन्दरियाँ भगवान् में अपने लिए काम पैदा करणार्थ, अपने जैसी (समान शील और व्यसन वाली) सखियों के आगे उनके गुणों का वर्णन प्रारम्भ करने लगीं। जिसका वर्णन 'तद् व्रजस्त्रिय' इस निम्न श्लोक में कहते हैं।

<sup>१</sup>'उद्बोधन' का भावार्थ है, शृङ्गार रस को जगाना, शृङ्गार का अर्थ (भाव-आशय) है। 'प्रेम' 'रति' उसको (प्रेम को) जगाने के लिए उद्बुद्ध प्रेम ही आसक्ति कही जाती है।

<sup>x</sup>योजनाकार कहते हैं कि मधुपति, सदैव ही 'या सर्वज्ञः सर्वशक्तिः' इस श्रुति के अनुसार सदैव लीलार्थ ज्ञान शक्ति को साथ में रखते हैं, अतः अब भी क्रिया शक्ति रूप गोपों को (अन्तरङ्ग कार्य के लिए उनको) साथ में ले 'गोचरण रूप धर्म' भी करते हैं, और ज्ञान शक्ति रूप बलरामजी द्वारा लीला में प्रतिबन्धक दैत्यों का वध एव भक्त रक्षा करते हैं। (अन्तरङ्ग लीला में आपको साथ नहीं लेते हैं कारण कि आपका (बलरामजी का) वहाँ अधिकार नहीं)

-लेख

<sup>‡</sup>'देवताओं' शब्द से तलाव, सरोवर तथा पर्वतों के समीप रहने वाली व्रज सुन्दरियाँ समझनी चाहिए, अर्थात् व्रजसुन्दरियों में प्रेम को जगाकर उनकी आसक्ति दृढ़ की।

श्लोकः — तद् ब्रजस्त्रिय आश्रुत्य वेणुगीतं स्मरोदयम् ।

काश्चित् परोक्षं कृष्णस्य स्वसखीभ्योऽन्ववर्णयन् ॥ ३ ॥

**श्लोकार्थ —** ब्रज की स्त्रियों ने काम को जगाने वाला वह बंशी का नाद पूर्ण रीति से सुना । उनमें से कितनी ही गोपीजन श्रीकृष्ण के परोक्ष में अपनी सखियों के आगे उसका वर्णन करने लगीं ॥ ३ ॥

**सुबोधिनी —** आसमन्ताच्छ्रुत्वाधिदैविकत्वात्, अन्यथा कथं वनस्थितो वेणुनादो ब्रजस्थिताभिर्गोपिकाभिरेव श्रूयेत ? यथा सर्वे देवा उत्थिता एवं स्मरेपि, उद्दीपनविभाव-त्वात्त्रादस्य, तन्मध्ये स्मरेण काश्चन मूर्च्छिता एव काश्चित् पुनः कृपया भगवत्सङ्गं प्राप्य कृष्णस्य परोक्षे विद्यमानाभ्यः स्वसखीभ्योऽनु भगवत्करणानन्तरमेवावर्णयन् वर्णितवत्यः ॥ ३ ॥

**व्याख्यार्थ —** भगवान् ने वेणुनाद वन में किया था और उस समय गोपीजन ब्रज में स्थित थीं-वन में हुआ प्रथम वेणु कूजन पश्चात् (नाद)+ ब्रज में स्थित गोपीजन × ने ही पूर्ण रीति से (पूर्ण) सुना, उसका कारण यह है, कि वह कूजन 'आधिदैविक' था । यदि वह आधिदैविक न होता तो, ब्रज स्थित गोपीजन ही उसको नहीं सुन सकती थीं किन्तु अन्य भी सुनते । इस नाद ने उद्दीपन विभाव होते से, जैसे सब देवों को जगाया वैसे काम को भी जागृत किया क्योंकि वह भी देव है । काम के जागृत होने से, काम के कारण कितनी ही (ब्रज स्त्रियाँ) मूर्च्छित हो गईं वे तो अज्ञानावस्था में पड़ी रही और कितनी ही जिनको मूर्च्छा न हुई, वे भगवान् की कृपा से (अन्तः स्थित भगवान् का) सङ्ग प्राप्त करने के अनन्तर कृष्ण के परोक्ष में वहाँ विद्यमान<sup>१</sup> अपनी सखियों के समक्ष भगवद्गुणगान करने लगीं ॥ ३ ॥

**आभास —** तासामपि पुनः कामोद्बोधे विशेषतो वर्णनाशक्तिर्जातित्याह तद्, वर्णयितुमिति ।

+ नाद-(लीला विशिष्ट रस स्वरूप को स्पष्ट शब्दों में कहने वाला गान) ।

× गोपियों ने ही सुना जिसका कारण यह है कि भगवान् ने स्वामिनी भाव स्थापन कर जिन ब्रज भक्तों का अंगिकार किया है, वे ही भगवान् की इच्छा से वेणुनाद में स्थित सुधा पान कर भगवदीय बने अतः उन्होंने ही सुना अन्यो ने नहीं सुना, नाद आधिदैविक है अतः अन्य अधिकारी नहीं ।

१ मौजूद, स्थित ।

**आभासार्थ** — वे गोपीजन\* (जो मूर्च्छित नहीं हुई थी) वे भी भगवान् में काम<sup>१</sup> जगाने के लिए सखियों के आगे वर्णन करने की इच्छा करने लगी, किन्तु काम के उद्बोध<sup>२</sup> से वर्णन करने में असमर्थ हुई-जिसका वर्णन इस श्लोक में करते हैं ।

**श्लोकः** — तद् वर्णयितुमारब्धाः स्मरन्त्यः कृष्णचेष्टितम् ।

नाशकन् स्मरवेगेन विक्षिप्तमनसो नृप ॥ ४ ॥

**श्लोकार्थ** — हे नृप ! गोपीजन ने वर्णन करना आरम्भ किया, किन्तु भगवान् की लीलाओं का स्मरण करने से उत्पन्न काम के वेग से व्याकुल हो गई, जिससे वर्णन नहीं कर सकी ॥ ४ ॥

सुबोधिनी — वर्णयितुमिति तत् स्वानुभूतं भगवद्रूपं वेणुगीतं वा वर्णयितुं कार्यतः कारणतः फलतः स्वरूपतश्च तेन विक्षिप्तमनसो जाताः, नृपेति सम्बोधनं धर्मवत्त्वेन निरूपयितुमारब्धवत्यस्ततो मध्ये वर्णनार्थं कृष्णचेष्टितं जितेन्द्रियत्वाय ॥ ४ ॥

**व्याख्यार्थ** — गोपीजन, अपने अनुभव किए हुए भगवान् के स्वरूप का अथवा वेणु गीत का कार्य से, कारण से, फल से और स्वरूप से निरूपण करने के लिए प्रस्तुत<sup>३</sup> हुई, किन्तु वर्णन करने के लिए जो कृष्ण की लीलाओं का स्मरण करने लगी, तो उस स्मरण से स्मर<sup>४</sup> का वेग

\* कुछ गोपीजन जो वेणु कूजन से मूर्च्छित हो गई थी शेष (जो मूर्च्छित होने से बची थी) वे वर्णन करने लगी । परन्तु वर्णन प्रारम्भ करते हुए जो श्री कृष्ण लीलाओं का स्मरण हुआ, तो वे भी चित्त के विक्षेप से गुण-गान न कर सकी किन्तु जब वह क्षोभ शान्त हुआ तब निम्न श्लोकों से चार प्रकार से वेणुगीत का वर्णन करने लगी ।

१-वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्ति - इस श्लोक में कार्य से वर्णन किया ।

२-अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदाम - इस श्लोक में कारण से वर्णन किया ।

३-गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्मः - इस श्लोक में स्वरूप से वर्णन किया ।

४-गा गोपकैरनुवनं नयतोरुदार वेणु स्वनैः - इस श्लोक में फल से वर्णन किया ।



ऐसा हुआ जिससे उनका मन विक्षिप्त<sup>१</sup> हो गया, जिससे वर्णन न कर सकी । राजा को यहाँ 'नृप' सम्बोधन देकर यह सूचना की, कि आप धर्मनिष्ठ तथा जितेन्द्रिय हो ॥ ४ ॥

**आभास —** ताभिर्वर्णयितुमशक्यं स्वयं वर्णयति तथात्वज्ञापनाय बर्हापीडमिति,

**आभासार्थ —** गोपीजन विक्षिप्त होने से जब वर्णन न कर सकी तब शुकदेवजी स्वयं निम्न श्लोक से वर्णन करने लगे ।

श्लोकः — बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं  
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीञ्च मालाम् ।  
रन्धान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दै-  
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ॥ ५ ॥

**श्लोकार्थ —** शिर पर मोर पिच्छ का मुकट, कानों में कनेर के पुष्प, श्री अङ्ग पर सुवर्ण सम पीत पट और कण्ठ में वैजयन्ती माला धारण किए नट और वर के समान रूप वाले, अपने अधरामृत से वेणु के छिद्रों को पूर्ण करते हुए गीत कीर्ति (जिनके की कीर्ति का गान हो रहा है वैसे) भगवान् ने गोपों के साथ अपने चरणों के स्पर्श से सुन्दर तथा रमण स्थल बने हुए वृन्दावन में प्रवेश किया ॥ ५ ॥

**सुबोधिनी —** वाक्यार्थोत्र वर्णनीयो न तु रूपमात्रं, तथा सति रूपं वेणुनादः क्रीडा चेति त्रयं वर्णितं स्यादन्योन्यसम्बन्धे प्रकारविशेषश्च, एतादृशं वपुर्बिभ्रद् वेणोः रन्धान् पूरयन् वृन्दारण्यं प्राविशदितिसम्बन्धः, स्वरूपगुणलीला उक्ताः क्रमेणैव, बर्हो मयूरपिच्छं स एवापीडः शिरोभूषणं यस्य वपुषः, नृत्यन्मयूरानुकरणञ्चैतत्, स चोदबुद्ध रस एव तथेति भगवतोऽप्युदबुद्धसात्मकत्वं सूचितं भवत्यनेन, अतो युक्तैवा-शक्तिरितिभावः, नटवद् वरवच्च वपुः, रसो हि द्विविधो 'धर्म सहितः केवलश्च, केवलो नाट्ये प्रसिद्धो धर्म सहितः सम्भोगे, भगवतो वपुरुभयविधमप्यत उक्तं नटवद् वरवदिति, वरः प्रत्यग्रभोक्ता, भगवांस्तु हृदयेऽपि वर्तते

तावतापि ज्ञानिनामिव न तासां सुखमिति ज्ञापयितुं वपुषो भरणं निरूप्यते, न तु स एव तथा, कर्णयोः कर्णिकारकुसुमं यस्य, अलुक्सप्तमी, बिभ्रदिति वा सम्बन्धः, कर्णिकारस्तु शृङ्गारोद्बोधकः शृङ्गारस्तु संयोगविप्रयोगभेदेन द्विविधः, श्रोत्रे तदुभयप्रतिपादके, तयोः कर्णिकारसम्बन्धेन पूर्वं निरूपितो रस उच्छलितो भवति, तादृशस्तु रसो गुप्त एव रसत्वमापद्यत इति पीताम्बरं वर्णयति कनककपिशं वासो बिभ्रदिति, उदबुद्धे रसे गोपिका वासो न गणयेयुरिति व्यामोहककनक तुल्यता निरूपिता, कनकवत् कपिशं पीतमिति, माया हि सा, अतो यत्र वसनाकृतिरपि न सम्यगवलोकिता तत्र तेन वसनेनाच्छन्नं रसं कथमुद्घाटयेयुः ? ततोऽप्याच्छादिकामाह

कीर्तिमयी वनमालां वैजयन्तीञ्च मालां बिभ्रदिति, वै निश्चयेन सर्वजयप्रकाशिका वैजयन्ती, एवं रसद्वयं तदुद्बोध आच्छादकं विक्षेपकं च रूपे निरूपितं, नामलीलारूपं वेणुनादं निरूपयति रन्धान् वेणोरिति, रन्धा वेणोः सप्त, सुधा त्रिविधा, देवभोग्या भगवद्भोग्या सर्वाभोग्या च, तत्र हेतुर्लोभात्मकेऽधरे स्थापिता, तस्याः साक्षादनुभवो नोच्छिष्टेन सम्भवति, अतः श्रोत्रपेयैव सा, सा हि सर्वेषां भगवदीयत्वं सम्पादयति, आनन्द एव सा प्रकटा द्रवीभूता, ब्रह्मानन्दा-दप्यधिका, आनन्दसारभूता, सा न कथञ्चित् साधनता-मापद्यते स्वतः, अतो नादब्रह्मणि तां योजयितुं नादोत्पत्तिस्थाने वेणौ तत्रापि तद्रन्ध्रेष्वमूर्तत्वात् पूरिता, न हि सा साक्षाद् वेणुमपि स्पृशति, वेणोरित्यसमासाद् वेणुमध्येपि सा न, अतो यदा नादस्तद्द्वारा गच्छति तदा तेन सम्बद्धा गच्छति, ततः कर्णद्वारा हृदये प्रविष्टा वर्णनायां मुखे समागच्छन्ती मुखमपि स्वभोगयोग्यं करोति यावच्च रसपूरेण सोऽप्यंशो नान्तः प्रविशति तावदपि साक्षात् तद्भोगयोग्यता न भवति, एतदर्थमेव वर्णनं, तद्रसप्रवेशे निरोधः सिद्धः, अतः स्वल्पतरो गोपेषु भोग्यगोपी-व्यतिरिक्तसु सर्वेषु च, अत एव निरोधो भक्त्यनन्तरं निरूपितः, सृष्ट्युत्पन्नानां भोग एतत्पर्यवसायी, ततो विमोचनं स्वा-

श्रयप्रापणं च प्रत्यापत्तिः, अन्यथा सृष्टिर्व्यर्था स्यात्, अयं पुनर्ब्रह्मानन्दभावे जाते तत्राप्याधिदैविकरूपे सम्पन्ने लक्ष्म्या इव मुख्यो रसभोगः सम्भवति तदंशानाञ्च क्रमेण, अतो निरोधो महाफलः, अतोऽत्र स्त्रियः प्रकरणान्ते निरूप्यन्ते, भगवद्भो-गानन्तरमेव भगवान् भोग्यो भवति, अतोऽत्र शुकोऽपि मुख्यतया स्त्रिय एव वर्णयति, अग्निकुमाराणामप्यत एव स्त्रीत्वं, न हि पुरुषोऽन्योपभोग्यो भवति स्वोपभोग्यो वा, परं ज्ञात्वा पाने महान् रस इति भगवतोऽग्रे ज्ञानोपदेशनिबन्धः, मुख्यप्रापणार्थं वा, दुःखः दूरीकरणार्थं च, अत एवाग्र आधि-दैविकी स्त्रियं प्रार्थयिष्यन्ति, अतो रूपेण वशीकृत्याधरामृतं पाययन् स्वच्छन्दतां सम्पादयति, स्वच्छन्दतामाह गोपवृन्दैरिति, वृन्दायाः स्त्रिया अरण्यं प्राविशत्, सर्वं कार्यं कृत्वा स्वच्छन्दतां सम्पादितवान्, ननु जगति भक्तिर्न स्थापितेति कथं कृतकार्यता ? तत्राह स्वपदरमणमिति, स्वपदानां स्वचरणानां रमणं यत्र, धर्मस्थापनमाह गोपवृन्दैः सहेति, अवशिष्टसर्वपुरुषार्थस्थापनार्थमाह गीतकीर्तिरिति, गीता कीर्तिर्यस्येति, स्त्रीभावो गूढः पुष्टिमार्गे तत्त्वमिति-कृष्णपदार्थः क्वचिद् विवृतः ॥ ५ ॥

**व्याख्यार्थ —** यहाँ वाक्य के अर्थ का वर्णन करना है क्योंकि उससे रूप, वेणुनाद तथा क्रीड़ा इन तीनों का वर्णन हो जाता है, केवल रूप के वर्णन से तीनों का वर्णन नहीं होगा; तीनों का (रूप, वेणुनाद और लीला का) परस्पर सम्बन्ध होने के कारण वर्णन का यह विशेष प्रकार है, अब वाक्यार्थ का प्रकार कहते हैं-वैसे वपु (श्री अङ्ग) को धारण करते हुए और वेणु के रन्ध्रों को भरते हुए प्रभु वृन्दावन में प्रविष्ट हुए । यह सम्बन्ध (वाक्यान्वय-वाक्य का सम्बन्ध) है इस वाक्यार्थ से स्वरूप, गुण और लीला तीनों क्रम से कही ।

जिनके श्री अङ्ग का मयूर पिच्छ ही शिरोभूषण है, और जिनका नृत्य भी मयूर का अनुकरण है । मयूर नृत्य तब करता है, जब उसमें रस जागृत होता है, इससे (मयूर के नृत्य का अनुकरण तथा मयूर पिच्छ को शिर पर धारण करने से) यह बताया कि भगवान् में भी रस जागृत हुआ है, जिससे भगवान् के स्वरूप का स्मरण करते ही गोपीजन के चित्त आकुल व्याकुल हो गए और वे गुण-गान न कर सकीं यह योग्य ही है । प्रभु का रूप (श्री अङ्ग) दो प्रकार का है,

एक नट के समान और दूसरा वर के समान; कारण कि, आप रस स्वरूप हैं। रस दो प्रकार का होता है; अतः आपका रूप भी दो प्रकार का है। रस के दो प्रकार बताते हैं-१-एक रस 'केवल' होता है और दूसरा रस 'धर्म सहित' होता है। 'केवल' रस, नाट्य में होता है उस रस में भोग नहीं होता है, वहाँ नट मात्र<sup>१</sup> इङ्गितों<sup>२</sup> से रस के आनन्द का अनुभव कराता है, क्योंकि, वहाँ उद्दीपन सामग्री का अभाव रहता है। किन्तु 'धर्म सहित' रस में, उद्दीपन करने वाली सर्व भोग्य सामग्री सिद्ध होती है। अतः वहाँ भोग करता है, जिससे रस का अविर्भाव होता है, अर्थात्, धर्म सहित रस प्राप्त होता है। अतः 'केवल' रस को 'विप्रयोग' शृङ्गार रस कहते हैं और 'धर्म सहित' रस को 'संयोग' शृङ्गार रस कहते हैं।

भगवान् वर भी है, नट भी है, अतः आपके श्री अङ्ग में, दोनों रस सदैव स्थित हैं। वर, नूतन पदार्थ का भोक्ता होता है, यद्यपि भगवान् गोपीजन के हृदय में भी हैं, तो भी ज्ञानियों के समान उनको इतने से ही सुख की प्राप्ति नहीं हुई, अतः भगवान् ने उन (गोपीजन) को रस दान करने के लिए 'वपु'<sup>३</sup> को धारण किया। शरीर धारण करने का भावार्थ यह है, कि जैसे कोई मनुष्य किसी को, कोई पेय<sup>४</sup> पदार्थ पिलाना चाहता है, तो प्रथम वह पेय किसी पात्र में धरता है उसके द्वारा पीने वाले को पिलाता है अन्यथा (अर्थात् पात्र बिना) वह पेय पदार्थ बह जाता है, इसी प्रकार भगवान् ब्रजजनों को रस पिलाना चाहते थे, अतः रस रूप आप अपने रस रूप को धरने के लिए श्रीअङ्ग रूप पात्र बने, उसमें उस रस को धर गोपीजनों को पिलाया, जिससे वह रस इधर-उधर बह नहीं सका। भगवान् ने रस को धरने के लिए श्रीअङ्ग रूप पात्र बनाया, उसमें दोनों रस धरे उनको जगाने के लिए आपने दोनों कानों में कनेर के आभूषण पहने, क्योंकि, कनेर के फूल शृङ्गार (रस) को जगाने वाले हैं। वैसे उच्छृङ्खल (स्वतन्त्र जगे हुए) रस को गुप्त रखना चाहिए, क्योंकि गुप्त रस ही रस को उत्पन्न करता है। अतः भगवान् ने रस को गुप्त रखने के लिए पीताम्बर धारण किया है, पीताम्बर होते हुए भी रस के जागृत होने से, यदि गोपीजन, उस वस्त्र की परवाह न करे तो कहते हैं, कि वह पीताम्बर, कनक<sup>५</sup> के समान चमकीले वर्णमाला व्यामोहक माया का रूप था, जिससे गोपीजन उस पीताम्बर को भी जब न देख सकीं तो उससे वेष्टित<sup>६</sup> उद्बुद रस को कैसे खोल सकेगी।

भगवान् ने रस को गुप्त रखने के लिए वैसा केवल पीताम्बर (ही) धारण नहीं किया था किन्तु उससे भी विशेष आच्छादन के लिए, कीर्तिमती वनमाला तथा वैजयन्ती माला को भी धारण किया था। "वैजयन्ती" माला के "वै" और 'जयन्ती' दो पदों से, यह स्पष्ट होता है, कि जिसने इसको धारण किया, उसकी अवश्य जय होगी\* क्योंकि यह माला निश्चय से जय कराने वाली

\*अतः रस क्रीड़ा करते हुए आपने काम पर जय पाई।

-अनुवादक

१-केवल, सिर्फ।

२-चेष्टाओं व संकेतों (इशारों)।

३-शरीर।

४-रस।

५-सुवर्ण।

६-ढके हुए।

है। इसी भाँति दोनों रस, उन दोनों रसों का उद्बोध<sup>१</sup>, उनका आच्छादक<sup>२</sup> और विक्षेपक<sup>३</sup> रूप भगवान् के रूप में वर्णन किया है।

अब नाम लीला रूप वेणुनाद का वर्णन करते हैं। अर्थात् भगवान् ने जो बंशी बजाकर लीला की है, वह 'नामलीला' है, उसका अब श्लोक के उत्तरार्ध (रन्ध्रान् 'वेणोः') से वर्णन करते हैं। वेणु के छिद्र सात हैं, सुधा तीन प्रकार की है, १-देव भोग्या, २-भगवद् भोग्या और ३-सर्व से अभोग्या। (जिसका सब कोई भोग नहीं कर सकता है) १-देवभोग्य सुधा वह है, जिसका भोग देव कर सकते हैं (यहाँ देव शब्द से स्वर्ग में रहने वाले देव नहीं समझने चाहिए, किन्तु 'देवाः अत्र साक्षिणः' इस आचार्यश्री की उक्ति के अनुसार जो लीला में गोप, गौ आदि थे वे देव समझने चाहिए) उन देवों के भोग योग्य सुधा को 'देव भोग्य' सुधा कहा है।

२-'भगवद् भोग्या' सुधा वह है जिस अधर सुधा को भगवान् 'वेणुनाद' द्वारा भक्त हृदय में (गोपीजन एवं वृन्दावन के नदी पुष्प आदि पदार्थों में) प्रवेश कराके पुनः आप (प्रभु) स्वयं उनके द्वारा पान करते हैं वह 'भगवद् भोग्या' सुधा है। ३-'सर्वाभोग्या' सुधा वह है जो द्रव पदार्थ के समान सर्वत्र प्रसरण<sup>४</sup> करती है, यह सुधा द्रवानन्दात्मक प्रभु का स्वरूप है इसका प्रवेश कर्ण द्वारा सीधा हृदय में होकर सर्व इन्द्रियों में प्रसरता है।

इस त्रिविध सुधा को 'सुधा' इसलिए कहते हैं, कि वह प्रभु ने अपने लोभात्मक अधर में स्थापित की है। अतः यह सुधा सब सुधाओं से उत्तम है, इस सर्वोत्कृष्ट<sup>५</sup> सुधा का साक्षात् अनुभव उच्छिष्ट से (मुख द्वारा) नहीं होता है किन्तु कर्ण द्वारा पान होता है। वह सुधा कर्ण द्वारा हृदय में पहुँच कर सर्व इन्द्रियादि में फैलकर सब को भगवदीय बना देती है। वह प्रकट द्रवीभूत सुधा, ब्रह्मानन्द से भी अधिक आनन्द रूप है तथा आनन्द की सारभूत है। वह किसी प्रकार भी स्वतः साधन रूप नहीं होती है। अतः प्रभु ने इसको अमूर्त<sup>६</sup> होने से, नाद ब्रह्म में मिलाने के लिए नाद को उत्पन्न करने वाले वेणु के छिद्रों में भरा। प्रभु ने वेणु में भरा तो सही, किन्तु उस (वेणु) के स्पर्श किए बिना ही नाद के साथ मिल कर सीधी भक्तों के कर्ण द्वारा उनके हृदय में प्रवेश करती है। इसके (प्रवेश होने के) पश्चात् गोपीजन निष्काम हो, भगवद्गुणगान करने में समर्थ होती हैं। वर्णन करने के समय, वह सुधा मुख में आकर, मुख को भी भोग योग्य बना देती है। जब तक रस के पूर से, वह अंश भीतर प्रवेश नहीं करता है, तब तक उस भोग की साक्षात् योग्यता नहीं होती है। इसलिए ही गोपीजन का यह गुण वर्णन है। इस प्रकार रस के प्रवेश होने से, निरोध सिद्ध होता है। इस कारण से, गोप तथा भोग्य गोपीजन से भिन्न अन्य सर्व में यह रस अतिशय स्वल्प<sup>७</sup> है। यह ही कारण है, कि जिससे निरोध का भक्ति के पश्चात्, निरूपण किया है। इस सृष्टि में (लीला सृष्टि में) उत्पन्न जीवों को यहाँ तक ही इस प्रकार का उत्कृष्ट भोग प्राप्त होता है अतः यह भोग की चरमावधि<sup>८</sup> है, उसके पश्चात् भगवान् मोक्ष और अपना

१-जगाना।

२-वस्त्र से ढाँकना।

३-क्षोभ उत्पन्न करने वाला।

४-फैलाव।

५-सब से उत्तम।

६-द्रवी भूत।

७-बहुत कम।

८-अन्तिम सीमा।

प्राप्ति रूप, पहली जैसी स्थिति, उनकी कर देते हैं, जो यों न करें तो उस सृष्टि का प्राकट्य वृथा<sup>१</sup> हो जाए ।

लक्ष्मी की भाँति यह मुख्य रस भोग, तब प्राप्त होता है, जब ब्रह्मानन्द (आध्यात्मिक) का भाव उद्भव होवे और पश्चात् वह पुनः आधिदैविक होवे जब तक यह भाव प्राप्त नहीं होता है, तब तक, मुख्य रस भोग की प्राप्ति नहीं होती है । लक्ष्मी के अंशों को तो, (वह रस) क्रमशः प्राप्त होता है, इसलिए कहते हैं कि 'निरोध' महाफल है । अर्थात् निरोध से जिस फल की प्राप्ति होती है वह फल महान्<sup>२</sup> है । अतः इस प्रकरण में स्त्रियों का वर्णन शुकदेवजी ने अन्त में किया है । इस लीला में, प्रथम भगवान् भोक्ता बनते हैं । जब भगवान् भोग कर लेते हैं, तदनन्तर भगवान् भोग्य बनते हैं । गोपियाँ भोक्ता बनती हैं, जिससे शुकदेवजी ने मुख्य रूप से, स्त्रियों का वर्णन किया है, इसीलिए ही 'अग्निकुमार' स्त्री रूप हुए हैं । पुरुषोत्तम का कोई अन्य पुरुष भोग नहीं कर सकता है और न स्वयं अपना भोग कर सकते हैं । किन्तु स्वरूप को जानकर उसके पान में महा रस की प्राप्ति होती है, इस कारण से ही, भगवान् ने ज्ञान के उपदेश का अभिनिवेश<sup>३</sup> किया है\* । यह उपदेश मुख्य फल की प्राप्ति के लिए अथवा दुःख दूर करने के लिए किया है । इसी वास्ते आगे आधिदैविकी स्त्री (कात्यायनी) की प्रार्थना करेंगे । अतः रूप से वश कर, अधरामृत को पिलाकर, स्वच्छन्दता सिद्ध करते हैं ।

श्लोक में कहे हुए 'गोपवृन्दैः' पद से भगवान् की स्वच्छन्दता बताई है । सर्व कार्य कर (सब लीला सामग्री आदि की सिद्धि कर) गोपों को अपने साथ लेके वृन्दा (स्त्री)\* के छरण्य में प्रवेश किया ।

जगत् में तो भक्ति की स्थापना अभी की नहीं है तो कृतकृत्यता<sup>४</sup> कैसे हुई ? इस शङ्का को निवारण करने के लिए कहते हैं, कि भगवान् ने अपने भक्ति रूप चरणों से रमण कर, भक्ति की स्थापना की है तथा गोपों को साथ लेकर क्रीड़ा की, जिससे धर्म की स्थापना की है, आपकी कीर्ति का गान हो रहा है जिससे बाकी बचे हुए पुरुषार्थों की भी स्थापना की है ।

'कृष्ण' पद के अर्थ का विवरण यहाँ यह किया है, कि वह 'पुष्टि मार्ग' में कृष्ण है, अर्थात् जिसमें प्रकट पुरुष भाव है और गुप्त स्त्री भाव है ऐसा जो 'रस' स्वरूप परब्रह्म है वह 'कृष्ण' है जिसका भीतरी भाव यह है कि रस शास्त्र में जो 'स्त्री भाव' को ही परमानन्द स्वरूप कहा है वह परमानन्द स्वरूप 'कृष्ण' है ॥ ५ ॥

\*एकादश स्कन्ध में उद्धवजी को ज्ञानोपदेश देकर वैसा करने का आग्रह किया है ।

\*पुरुष गोपों को साथ ले, लीलार्थ स्त्री के वन में प्रवेश कर स्वच्छन्द विहार करना, जिससे भगवान् की स्वच्छन्दता प्रकट होती है नन्दालय में यों न कर सकते थे ।

**आभास —** अतः सर्वमेवोपसर्जनीभूतं वेणुनाद एव मुख्य इति तमेव वर्णयितुमारेभिरे गोप्य इत्याहेति वेणुरवमिति,

**आभासार्थ —** इस श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं कि ब्रज की स्त्रियाँ वेणु रव<sup>१</sup> सुनकर उसका ही वर्णन करने लगीं, कारण कि, अन्य सर्व पुरुषार्थ नाद के आगे गौण हैं ।

**श्लोक: —** इति वेणुरवं राजन् सर्वभूतमनोहरम् ।

श्रुत्वा ब्रजस्त्रियः सर्वा वर्णयन्त्योऽभिरेमिरे ॥ ६ ॥

**श्लोकार्थ —** हे राजन् ! सर्व जीवों के मन को हरन करने वाला वेणुगीत सुनकर, सब ब्रज की स्त्रियाँ उसका वर्णन करती हुई चारों ओर रमण करने लगीं ॥ ६ ॥

**सुबोधिनी —** इतिहेतोर्वेणुरवमेव वर्णयितुं वेणुरवमाकर्ण्य वर्णयितुं मारेभिर इतिसम्बन्धः, तत्र प्रथमश्रवणे वर्णनार्थं श्रवणे च सादरं श्रवणं भवति, अमुना प्रकारेणोद्गतं वेणुरवं न तु केवलं, राजत्रितिसम्बोधनं तद्रसानभिज्ञत्वज्ञापनाय, अनेनापि स्पष्टार्थो नोक्त इति ज्ञापितं, तर्हि तत्र कथं प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य प्रमेयबलादेव भविष्य-  
तीत्यभिप्रायेणाह सर्वभूतमनोहरमिति सर्वभूतानां मनोहरं स्वत एव मनोवशीकरणसमर्थं, अतः सम्यक् श्रुत्वाभिरेमिरे, ब्रजस्त्रिय इति कार्यान्तराभावः सूचितः, न हि ब्रजस्त्रीणां पुष्पेषु वनं गतेषु सन्ध्यापर्यन्तमागमनसम्भावनाहितेषु प्रातरेव निवृत्तावश्यकेषु किञ्चित् कार्यमस्ति, अतः सर्वा एव वर्णयन्त्यः पौर्वापर्येणाभितो रेमिरे, दुःखात्मकं प्रपञ्चं विस्मृत्य परमानन्दविलासं कृतवत्यः पूर्वं प्रथमश्रवणमात्रेण कामोद्दीपने चित्तविक्षेपादशक्तिरुक्ता, तत उक्तसुधायामन्तः-  
पूर्णाभ्याभत्याधिक्येन परितो गलनरूपं वर्णनमिति पश्चात् तदुक्तम् ॥ ६ ॥

**व्याख्यार्थ —** सर्व पुरुषार्थों में यह श्रेष्ठ है, इस कारण से, वेणु रव का वर्णन करने के लिए ही, उसको श्रवण किया, पश्चात् वर्णन करने लगी । गोपीजन जिसका वर्णन करने लगी, वह दूसरे श्लोक में कहा हुआ वेणु रव है, प्रथम श्लोक में कहे हुए, वेणुनाद और दूसरे श्लोक में कहे हुए वेणु रव में भेद है । पहला 'नाद' केवल (अधर सुधा से मिला हुआ नहीं था) और दूसरे श्लोक में कहा हुआ 'रव' अधर सुधा से सम्मिलित था । 'रव' शब्द का भावार्थ यह है, कि 'र' अग्नि बीज होने से 'विरहाग्नि' प्रकट करता है, और 'व' अमृत बीज होने से विरह को शांत कर आनन्दोत्पत्ति करता है । अतः प्रथम केवल नाद श्रवण से उत्पन्न विरहाग्नि से उदय हुए काम के कारण मन विक्षिप्त हुआ, जिससे वर्णन न कर सकी, अब सुधा मिश्रित रव ने कर्ण द्वारा हृदय में प्रवेश कर कामाग्नि शांत की, तब सचेत हो, इस (वेणु रव) को ही मुख्य समझ वर्णन करने लगी । परीक्षित् को हे राजन् ! ये सम्बोधन कर यह बताया, कि आप राजधर्म निष्ठ होने से, इस रस के भाव को नहीं समझ सकते हो । किन्तु फिर भी, आप (राजा) को इस चरित्र

के सुनने की अभिलाषा इसलिए हुई है, कि यह 'वेणु रव' सर्व प्राणी मात्र के मन को अपनी तरफ खींचने वाला है, अतः यह अपने प्रमेय बल से, सब की प्रवृत्ति कराता है। इसलिए गोपीजन भी, भली भाँति श्रवण कर, उसमें सर्व प्रकार रमण करने लगी। गोपीजन ब्रज की स्त्रियाँ हैं, अतः उनको दिन में घर का कोई काम नहीं रहता है, कारण कि, उनके पति प्रातः गौ चारण के लिए चले जाते हैं, जिससे वे सब भी काम काज से प्रातः ही निबट जाती हैं, फिर जब गोप, शाम को घर लौटे, तब तक गोपीजन को कोई काम नहीं होता है, इस कारण से, वे समस्त दिन वेणु रव का वर्णन करती हुई, आगे पीछे चारों ओर से उसमें ही रमण करती थी। दुःख रूप संसार को भूलकर उस परमानन्द में विलास<sup>१</sup> करती रहती थी ॥ ६ ॥

**आभास —** अनुवर्णनमेवाहाक्षण्वतामिति त्रयोदशभिः ।

**आभासार्थ —** अब गोपीजन १३ श्लोकों से 'वेणु रव' का वर्णन करती हैं। उसका क्रमशः भाव कारिकाओं द्वारा समझाते हैं—

कारिका — रसद्वयार्थं द्वितयं वेणुपूरणमेकतः ।  
 स्वच्छन्दपादगमने हेतुश्चापि तथापरः ॥ १ ॥  
 चतुर्भिः पीठिकैवं स्यात् षड्भिर्वेणोस्तु वादनम् ।  
 द्वाभ्यां भक्तेः प्रतिष्ठा च दोषः स्याद् वर्णनेव्यथा ॥ २ ॥  
 वैपरीत्यात् समाधानमन्यथा स्यात् तु दूषणम् ॥ २½ ॥

**कारिकार्थ —** सातवें श्लोक से वर्णन का प्रारम्भ होता है। अतः पहले, दो श्लोकों (७-८) में संयोग तथा विप्रयोग रस का वर्णन किया है। पश्चात् एक श्लोक (९) में वेणु के पूरण (भरने की क्रिया) का वर्णन, तथा दूसरे एक (१०) में स्वच्छन्दता से चरणों के गमन का हेतु कहा है। इस प्रकार इन चार श्लोकों से पीठिका कही (वर्णन की)। पश्चात् छ (११ से १६) श्लोकों से वेणु वादन से जो कुछ नाम लीला का आनन्द जिन जिन को हुआ उनका वर्णन है। पीछे दो (१७, १८) श्लोकों से भक्ति की स्थापना का वर्णन है, यदि भक्ति की स्थापना नहीं की जावे तो दोष हो। उस (दोष) का समाधान विपरीतता बताकर किया है नहीं तो दूषण की प्राप्ति हो जाए ॥ २½ ॥

**व्याख्या** - इन कारिकाओं में पहले यह बताया है कि, किन किन श्लोकों में किस किस प्रकार की लीला हुई है और अन्त में भक्ति की स्थापना दोष निवारण के लिए की हुई है। कारण कि, जो कार्य लोक में 'दूषण' देखने में आता है, वह यहाँ भक्ति मार्ग में भूषण है। यही भक्ति मार्ग में विशेषता है। भक्ति रस में यह बल है कि जड़ को चेतन बना दे चेतन को जड़ बना दे जैसे वेणु रव श्रवण (पान) से चेतन नदियाँ जड़ हो गई और जड़ पर्वत चेतन हो गए।

— भगवान् कचरण, भौक्तरूप ह, उनका सम्बन्ध चरण से हुआ, ता वि हानि जीर्ति काँ पुलान्द  
भी भक्त बन गई, जिससे अयोग्य होते हुए भी योग्य बन गई। भक्त होने के कारण, उनका उच्च कोटि हुई, अतः उनके संसर्ग से जो दोष भगवान् में दिखता है वह 'भक्ति स्थापना' कर से निवृत्त हो गया। भगवान् की लीला लोक से विपरीत है, अतः भगवान् ने वन में गोपों के साथ, गौओं को लेकर, बंशी बजाते हुए वन में जब अटन किया तब समस्त वन, वनस्थ स पदार्थ शुद्ध होकर भक्ति रस वाले हो गए।

ये पुलिन्दियाँ भी गोवर्द्धन पर्वत, जो कि हरिदासों में श्रेष्ठ हैं उनके संग से भगवच्चरणों को प्राप्त हो उत्तम बनी हैं। तात्पर्य यह है कि भक्ति मार्ग (अनुग्रह मार्ग) सर्व मार्गों से उत्कृष्ट है। अतः इसमें लौकिक दृष्टि से जो दोष दीखते हैं वे दोष नहीं हैं, कारण कि, भक्ति में यह शक्ति है जो दोषों को नष्ट कर गुण प्रकट कर देती है। इसलिए भक्ति मार्ग की स्थापना हुई है।

**आभास** — तत्र प्रथमं यद् वर्णयितुमारब्धं तत्राशक्तौ शुकेन यद् वर्णितं चतुर्भिस्त वर्णयन्ति, तत्र प्रथमं स्वरूपतो रसात्मकं भगवन्तं वर्णयन्त्यक्षण्वतामिति,

**आभासार्थ** — गोपीजन जिस भगवद् स्वरूपादि के वर्णनार्थ प्रथम उद्यत हुई थी, किन्तु का वेग से विक्षिप्त हो वर्णन न कर सकी। इससे वह वर्णन 'श्री शुकदेवजी' ने 'बर्हापीडं' श्लोक में कर दिया। अब गोपीजन व्याकुल होकर, सावधानी आने से, जो शुकदेवजी ने उ (बर्हापीडं) श्लोक में वर्णन किया था उसका क्रमशः चार श्लोकों में वर्णन करती हैं। उन प्रथम, स्वरूप से रसात्मक<sup>३</sup> भगवान् का वर्णन 'अक्षण्वतां फलमिदं' श्लोक में करती हैं\*

॥ गोप्य ऊचुः ॥

**श्लोकः** — अक्षण्वतां फलमिदं न परं विदामः सख्यः पशून्नु निवेशयतोर्वयस्यैः ।  
वक्त्रं व्रजेशसुतयोरनुवेणु जुष्टं यैर्वा निपीतमनुरक्तकटाक्षमोक्षम् ॥ ७

\*श्लोक में 'इदं' पद में सन्मुख उपस्थित और जो हृदय में मनोरथ से भासमान है, वही स्वरूप 'फल' है।

१-स्तब्ध, स्थिर। २-हरि भक्तों। ३-रसरूप।



**श्लोकार्थ —** गोपीजन ने कहा कि, हे सखियों ! वेणुनाद करते हुए तथा बंशी बजाते हुए एवं स्नेह भरे कटाक्ष चलाते हुए मित्रों के द्वारा पशुओं को वन में ले जाने वाले व्रजराजजी के पुत्रों के मुख का सेवन तथा पान ही इन्द्रिय वाले अथवा नेत्र वालों का फल है किन्तु 'मोक्ष' फल नहीं है इस प्रकार हम जानती हैं ॥ ७ ॥

**सुबोधिनी —** अक्षण्वतामिन्द्रियवतां चक्षुष्मतां वा, इदमिति स्वहृदये मनोरथप्रकारेण प्रतिभातं,

**व्याख्यार्थ —** 'अक्षण्वतां' एकादश इन्द्रिय वालों का तथा नेत्र वालों का यह+ जो गोपीजन के हृदय में मनोरथ रूप से भासमान हो रहा है वह प्रभु स्वरूप ही फल है ।

**कारिका —** भगवता सह संलापो दर्शनं मिलितस्य च ॥ ३ ॥

आश्लेषः सेवनं चापि स्पर्शश्चापि तथाविधः ।

अधरामृतपानं च भोगो रोमोद्गमस्तथा ॥ ४ ॥

तत्कूजितानां श्रवणमाघ्राणं चापि सर्वतः ।

तदन्तिकगतिर्नित्यमेवं तद्भावनं सदा ॥ ५ ॥

इदमेवेन्द्रियवतां फलं मोक्षोपि नान्यथा ।

यथान्धकारे नियता स्थितिर्नाक्ष्णोः फलं भवेत् ॥ ६ ॥

एवं मोक्षोपीन्द्रियादियुक्तानां सर्वथा न हि ।

बाधकानां परित्यागे साधकानां न तद् भवेत् ॥ ७ ॥

**कारिकार्थ —** नेत्र अथवा इन्द्रियधारियों का वह स्वरूप ही फल है, क्योंकि इस स्वरूप से वार्तालाप, दर्शन, आश्लेष<sup>१</sup> सेवा, स्पर्श, अधरामृत का पान, भोग, पुलकता,<sup>२</sup> भगवान् के किये हुए कूजन का श्रवण, श्री अङ्ग की सुगन्धि, नित्य प्रभु के निकट जाना, सदा इस प्रकार की भावना, आदि होती है अतः यह स्वरूप ही इन्द्रियधारियों का मोक्ष फल है अन्य प्रकार का जो 'मोक्ष' है वह फल नहीं है । जिस प्रकार अन्धकार में स्थिति नेत्रों का फल नहीं है, अर्थात् नेत्रों का होना सफल तब होता है, जब प्रकाश हो जिसमें सर्व प्रकार की कृति की जा सके अन्यथा (अन्धकार होना) नेत्रों की निष्फलता है । इसी प्रकार इन्द्रियधारियों की

+श्लोक में 'इदं' पद से सन्मुख उपस्थित और जो हृदय में मनोरथ से भासमान है वही स्वरूप 'फल' है ।

१-परस्पर मिलन । २-रोमें (रोंगटों) का खड़ा हो जाना ।

इन्द्रियाँ तब फलवती होती हैं, जब वे इन्द्रियाँ रसमय इस वपुधारी स्वरूप से सर्व प्रकार की चेष्टाएँ करती हैं अन्यथा नहीं, अतः इन्द्रियाँ वालों का 'यह' वपुधारी रसेश ही फल है जिनको साधारण जन 'मोक्ष' कहते हैं, जिससे सर्व इन्द्रियाँ निरर्थक हो जाती हैं, वह 'मोक्ष' इन्द्रिय वालों के लिए मोक्ष नहीं है। बाधकों को परित्याग कर, साधकों के प्राप्ति से वैसा मोक्ष प्राप्त नहीं होता है, अतः मोक्ष फल नहीं है।

जिन इन्द्रियवालों ने भगवान् के सिवाय अन्य सर्व को बाधक (आनन्द में रुकावट) समझ उनका त्याग किया है, वे तो इस रसेश की प्राप्ति ही मोक्ष फल समझते हैं, कारण कि, उनकी इन्द्रियाँ अलौकिक होने से नित्य हैं और उनके रसमय प्रभु का वपु भी अलौकिक होने से नित्य है, अतः वे भक्त आनन्दमय वपु का अलौकिक इन्द्रियों से रस लेने को ही मोक्ष फल समझते हैं उनके लिए यही फल मोक्ष है, शेष, जो इस फल के अधिकारी नहीं हैं जिनका अन्तःकरण आदि का हरण हो गया है, वे उस 'अण्वीगति' (मोक्ष) को प्राप्त होते हैं और उसको फल समझते हैं।

सुबोधिनी — तदाह न परं विदाम इति, परो मोक्षः सायुज्यादिः, नन्वा "त्मलाभात्र परं विद्यत" इति श्रुतेः कथं न परस्य पुरुषार्थत्वम् ? तदाहुर्विदाम इति, वयमप्युपनिषद्द्रुपा अतो वयमेव जानीमः, न ह्यनुभवविरुद्धमनुभवापर्यवसायि फलं श्रुत्युक्तं भवति, ततः केवलानां तदेव फलमिन्द्रियवतां त्वेतदितिव्यवस्थितविकल्पः अस्मिन्नर्थे श्रुत्यन्तररूपाणां गोपिकानां सम्मतिमाहुर्हं सख्य इति, समानशीलव्यसन एव सख्यपदप्रयोगात्, अतः श्रुत्यन्तरसम्मतिरप्युक्ता, एतत् कासाञ्चिद् गोपिकानामेव भवतीति सर्वेषां साधारणं पक्षमाहुश्चक्षुष्मतामिति, अस्मिन् पक्षेऽक्षण्वत्पदं चक्षुष्मत्पदपरं ज्ञेयं, तेनास्यावृत्तिर्वा ज्ञेया, पशून्नु पशूनां पश्चाद्भागे वयस्यैः सह वनं पशून् निवेशयतो रामकृष्णयोर्वक्त्रमेकं यैर्वा निपीतमिति, वेत्यनादरे मुख्यापेक्षयेदं गौणमिति, ये तु कालेन तुल्यास्तैः सह पशूनेतद्रसानभिज्ञान् वनं प्रवेशयति भगवान् निर्गुणावस्थाधिकाराभावे सात्त्विकावस्थाया युक्तत्वात्, भगवतो लीलायां कालो निमित्तं गोपानां लीलायाश्च तदाभारत्वे निमित्तमिति वयस्यता, तदा तैः पशूनां वने निवेशनं तैः सह

वा समानकालैर्वने निवेशनं भगवतो वा सहभावः, तथा सति वननिविष्टानां पशूनामपि गोपानां तच्छ्रेमे तत्स्थाने निवेशनार्थं, आविष्टस्य मुखारविन्दं न स्पष्टमिति भगवत् एव मुखमुभयरूपस्यापि मुखं चक्षुर्द्वारा यैस्तदन्तःप्रवेशितं "तत् सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेन्नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन् मुख" मिति वाक्यात् किञ्चैता हि स्वहृदि भावितं निरूपयन्ति तथा च साधारणपक्षत्वेन सामान्यतो बलभद्रस्य निरूपणेऽपि मुखनिरूपणप्रस्तावेऽन्यमुखमेतासां हृदि नायातीत्येकमेव तन् निरूपितम्, मुखस्यैकत्वं प्रतिपादयन्त्य ईश्वरत्वेनाराधनबुद्ध्यानुरोधबुद्ध्या वा येषां पानं तत् सापेक्षमित्यनादरे हेतुमाहुर्व्रजेशसुतयोरिति, न हि बलभद्रो व्रजेशस्य पुत्रः, आवेशपक्षे तु कृष्ण एवाविशतीति युक्तमेव तयोर्व्रजेशसुतत्वं, अनादरे लौकिकसापेक्षदर्शनं हेतुः, अन्ये पुनर्गीतरसाभिज्ञा वेणुनादश्रवणार्थं भगवन्मुखारविन्दं पश्यन्ति तदाहानुवेणु जुष्टमिति, वेणुमनुलक्ष्यीकृत्य यद् वर्तते तदनुवेणु वेणुवादनपरं तद् यैर्जुष्टं यैर्वा निपीतमिति, सेवनं निदर्शनं पानमन्तःप्रवेशनं, केवलं शब्दग्रहणं मनोहरत्वाच्च-

छिन्नार्थं वेतिविकल्पः, अनादरस्तु स्वरादेवायाति, एवं मनोहर-  
 त्यात्रादाविष्टत्वाद् वा भजनमुक्तं, कामसम्बन्धादपि भजनं | अनुरक्तानां कटाक्षानां मोक्षो यत्र एतच्च चक्षुष्मतां फलमिति  
 पाक्षिकमिति विशेषणान्तरमाहानुरक्तकटाक्षमोक्षमिति, | निर्गुणसगुणभेदा निरूपिताः ॥ ७ ॥

**व्याख्यानार्थ —** गोपीजन कहती हैं कि हम इस फल से उत्तम फल अन्य (मोक्ष) नहीं समझती हैं, 'आत्मलाभात् न परं' इस श्रुति में जब आत्म रूप के लाभ को 'पर' कहा गया है, तब आप कैसे कहती हो कि अन्य (आत्मलाभ) उत्तम नहीं है, इसके उत्तर में गोपीजन श्लोक में 'विदामः' पद कह कर कहती हैं, कि हम भी उपनिषद् रूपा हैं अतः इस श्रुति के तत्त्व को हम ही जानती हैं। श्रुतियाँ अनुभव के विरुद्ध ऐसा कुछ भी नहीं कहेंगी जिसका अन्त अनुभव में न आ सके, अर्थात् श्रुतियाँ वही कहेंगी जो अनुभव से सिद्ध हो। यों कहने का तात्पर्य<sup>१</sup> यह है, कि जो इन्द्रिय रहित हैं, उनका फल मोक्ष है। जो इन्द्रिय वाले हैं उनका फल 'यह' रस स्वरूप है। जो श्रुति रूप गोपीजन यों कह रही हैं वे अपने इस सिद्धान्त के लिए अन्य उपनिषद्रूप अपनी सांख्यों से सम्मति लेती हैं हे सखियों ! इस सम्बोधन से यह बताया कि, अन्य गोपीजन भी हमारे समान शील एवं व्यसन वाली हैं, अतः वे भी उपनिषद्रूपा ही हैं, अतः उनकी सम्मति<sup>२</sup> भी प्रमाण है। इस प्रकार का अनुभव विरल<sup>३</sup> गोपीजन को ही होता है, शेष साधारण गोपीजनों को जो अनुभव होता है वह कहते हैं कि नेत्रधारियों का यह ही फल है। 'अक्षण्वतां' पद के दो अर्थ होते हैं एक 'इन्द्रिय वाले' दूसरा 'नेत्र वाले' अतः जो जैसी अधिकारिणी थी उनको वैसा ही फल मिला। जो उत्तम अधिकारिणियाँ थीं, उन्होंने सर्व इन्द्रियों से उस स्वरूप का आनन्द प्राप्त किया, जो उत्तम नहीं थीं उन्होंने केवल नेत्रों से दर्शन का ही आनन्द लूटा। अतः दोनों प्रकार की गोपीजन ने इस स्वरूप को ही परम फल समझा।

जो भगवान् राम कृष्ण, मित्रों के साथ गौओं के पीछे आते थे और साथ पशुओं को भी वन में प्रवेश कराते थे उनके एक ही मुखारविन्द को जिन्होंने भली भाँति पान किया है उन इन्द्रियधारी वा नेत्रधारियों का यह ही फल है, 'वा' शब्द यह समझाने के लिए दिया है कि सकल इन्द्रियों को प्रभु में जोड़ देने से केवल नेत्रों से दर्शन करना यह फल गौण है, अर्थात् जिन्होंने केवल नेत्रों से मुखारविन्द का ही दर्शन कर उसके ही परम फल समझा वह फल 'गौण' है। मुख्य फल सर्व इन्द्रियों से उस रस का अनुभव करना है। भगवान् अपने समान आयु वाले मित्र गोपों के साथ उन गोपों को भी वन में प्रवेश कराते हैं जो इस रस को नहीं जानते हैं। अर्थात् जो पशु समान अज्ञ हैं, भगवान् यों इसलिए कराते हैं कि जो निर्गुण<sup>४</sup> अवस्था वाले नहीं हैं उनकी सात्त्विक अवस्था में ही स्थिति करानी योग्य है, नहीं तो वे

१ श्रुति रूपा गोपीजन ने अपनी सखियों से पूछा तब उन्होंने भी कहा कि 'विदामः' हम भी यों ही समझती हैं-  
 'विदामः' की आवृत्ति है।

'अनुवादक'

२ अन्तरंग लीला के अधिकारी।

अनाधिकारी अन्तरंग लीला देख भगवान् तथा गोपीजन में दोषारोपण करते अतः उनको केवल वन (आधिभौतिक वन) तक ही प्रवेश कराया है। और निर्गुणावस्था वाले वयस्य गोपों को आधिदैविक वन तक (निकुञ्जादि में) ले गए हैं। भगवान् की लीला में काल निमित्त है, गोप तथा लीला के आधार, जो भगवान् का प्राकट्य है वह ही निमित्त है, इसी कारण से, समान अवस्था वाले गोप मित्र हैं। अतः भगवान् उनके द्वारा पशुओं को वन में प्रवेश करवाते हैं अथवा जो गोप समान आयु वाले हैं उनके साथ भगवान् गोप तथा गौओं को वन में प्रवेश कराते हैं, अथवा वयस्यों का भगवान् के साथ सदैव सहभाव है<sup>१</sup>। भगवान् वयस्यों को सदैव साथ में इसलिए रखते हैं कि कदाचित् अन्य गोप कहें कि 'गौ दूर' चली गई हैं हम थक गए हैं तो उस कार्य करने के लिए वयस्यों को नियुक्त<sup>२</sup> कर दें।

श्लोक में मुख के लिए 'वक्त्रं' एक वचन दिया है और यह मुख किसका है वहाँ 'ब्रजेशसुतयोः' राम और कृष्ण दोनों का एक मुख कहा है तथा 'राम' को भी ब्रजेश (श्री नन्दरायजी) का पुत्र कहा है, इसको स्पष्ट समझाने के लिए कहते हैं कि, जिस मुखारविन्द को चक्षु द्वारा गोपीजनों ने अन्तःकरण में प्रवेश कराया है वह मुखारविन्द भगवान् (कृष्ण) का ही है, अतः वह मुख फल रूप है, आविष्ट स्वरूप बलभद्रजी का 'मुख' स्पष्ट नहीं है, क्योंकि, वह भगवान् के मुख में तिरोहित<sup>३</sup> है अतः श्लोक में 'मुख' एक वचन दिया है, जिससे दोनों स्वरूपों का यही 'मुख' है यह उक्ति भी सत्य है, तथा 'राम' ब्रजेश का पुत्र नहीं है तो भी यहाँ ब्रजेश कहा है उसका कारण यह है कि उस समय भगवान् 'राम' स्वरूप में आविष्ट थे। अतः राम को भी 'ब्रजेश' कहना असत्य नहीं।

जो भक्त, केवल भगवान् के स्वरूप के रसाभिलाषी अनन्य उपासक हैं, वे तो भगवान् के मुखारविन्द के सिवाय अन्य मुखारविन्द के रस की स्वप्न में भी केवल भावना भी, नहीं करते हैं, तो वे भगवान् के मुख के सिवाय अन्य मुख के दर्शन को फलरूप कैसे मानेंगे ? अतः यहाँ ब्रजेश सुतयोः मुखं एक वचन देकर यह स्पष्ट किया है कि यह 'मुख' भगवान् कृष्ण का ही है जिसको गोपीजन 'फल' रूप मानते हैं।

भगवान् का श्री मुख उस समय वेणुवादन में रत<sup>४</sup> था, अर्थात् भगवान् उस समय बंशी बजा रहे थे, अतः जो गीत रस के अभिज्ञ<sup>५</sup> भक्त थे वे वेणुनाद के श्रवणार्थ भगवान् के मुखारविन्द को देखते थे, वेणुवाद का श्रवण कर जिन्होंने उसका केवल श्रवण रूप सेवन किया, और जिन्होंने पान किया (अन्तःकरण में प्रवेश किया) उन दोनों को पृथक् पृथक् लाभ (फल) मिले।

श्रवण करने वालों को वह 'मनोहर' है वैसा ज्ञात हुआ, जिससे उन्होंने केवल श्रवण ही किया। अन्यो ने पान कर, उसको शिक्षा के लिए अन्तःकरण में श्रा, कारण कि, उनकी भावना

१-साथ में रहते हैं। २-मुर्कर कर दें, लगा देवे। ३-छिपा हुआ।

४-लगा हुआ। ५-जानने वाले।

यह थी, कि हम भी इस नाद गान को सीखकर कभी भगवान् की भाँति गान करेंगे ।

कितनी ही गोपीजन काम के सम्बन्ध से भी भजन कर रहे हैं, वह पाक्षिक<sup>१</sup> है, यह भजन श्लोक में 'अनुरक्त कटाक्ष मोक्षम्' पद से कहा है, अर्थात् भगवान् के जिस मुखारविन्द पर अनुराग युक्त प्रेमी भक्तों के कटाक्षों का पात होता है, वह मुख चक्षु वालों का फल है । इस प्रकार इस श्लोक में गोपीजन के निर्गुण तथा सगुण भेद कहे हैं । निर्गुण भक्त वे हैं, जो सर्व ११ इन्द्रियों से भगवदस्वरूपानन्द का भोग ही फल मानते हैं, और सगुण भक्त वे हैं जो केवल नेत्र इन्द्रिय से श्री मुख का सेवन, पान तथा उस पर (मुखारविन्द पर) कटाक्ष मोक्ष करते हैं ॥ ७ ॥

**आभास —** केवलं रसरूपमाह चूतेति,

**आभासार्थ —** निम्न 'चूत प्रवाल' श्लोक में केवल रस रूप (विप्रयोग शृङ्गार रसात्मक) स्वरूप का वर्णन करते हैं ।

**श्लोकः —** चूतप्रवालबर्हस्तबकोत्पलाब्जमालानुपृक्तपरिधानविचित्रवेषौ ।

मध्ये विरेजतुरलं पशुपालगोष्ठ्यां रंगे यथा नटवरौ क्व च गायमानौ ॥ ८ ॥

**श्लोकार्थ —** आम की कोंपल कानों में, मयूर पिच्छों के गुच्छक मस्तक पर, कमलों की माला कण्ठ में धारण किए हुए और इन से मिले हुए पीताम्बर आदि वस्त्रों से विचित्र वेष वाले राम और श्रीकृष्ण दोनों भ्राता कभी उत्तम नट के समान ग्वाल बालों की सभा में गान करते हुए ऐसे शोभा देते हैं जैसे नट नाट्यशाला में शोभायमान होते हैं ॥ ८ ॥

**सुबोधिनी —** चूतानामाग्राणां प्रवालाः कर्णयो-  
बर्हस्तबका बर्हगुच्छानि शिरस्युत्पलाब्जानां माला कण्ठे  
तैरनुपृक्तं मिलितं परिधानं पीताम्बरदिवस्त्राणि तैर्विचित्रौ

वेषो ययोरेतादृशवुभावपि पशुपालगोष्ठ्यां मध्ये विरेजतुः,  
रसाभिनयेऽवतारवदेवावेशस्याप्युपयोगाद् द्विवचनम् ।

**व्याख्यार्थ** — आम के कोंपल कानों के ऊपर के भाग में, मयूर पिच्छों के गुच्छक मस्तक पर, कमलों की माला कण्ठों में धारण किए हुए ओर इनसे<sup>†</sup> मिले हुए पीताम्बर आदि वस्त्रों से विचित्र वेष वाले बलराम<sup>\*</sup> और श्रीकृष्ण दोनों भ्राता कभी उत्तम नट के समान ग्वाल बालों की सभा में गान करते हुए शोभा दे रहे हैं ।

श्लोक में 'विचित्रवेषौ' द्विवचन देने का भावार्थ यह है, कि जैसे अवतार के कार्य में बलरामजी (आवेश स्वरूप) का उपयोग है, वैसे ही रस के अभिनय में भी उनका उपयोग (आवश्यकता) है ।

**कारिका** — गुणा माया च वेषार्थमुपयुक्ता भवन्ति हि ।  
 अतो रसस्याभिनये चत्वारोऽर्था निरूपिताः ॥ १ ॥  
 रसरूपसुगन्धानां प्रतिष्ठा त्रिषु निश्चिता ।  
 धर्म्याच्छादनबोधाय मायाप्यत्र निरूप्यते ॥ २ ॥  
 वस्तुनिर्देशमात्रेण श्रोतृणां काव्यवद् रसः ।  
 रसवत्फलबोधाय प्रथमं पल्लवो मतः ॥ ३ ॥  
 शास्त्रार्थस्य परिज्ञानाद् भावस्य कलिका भवेत् ।  
 ततस्तस्य च वैचित्र्यं पुष्पस्थानमिहोच्यते ॥ ४ ॥  
 अहोरात्रं वासना स्यात् तत आच्छादनं स्मृतम् ।  
 रसोत्पत्त्यर्थमेतावन् निरूपितमिति स्थितिः ॥ ५ ॥  
 आविर्भावे रसास्वादानृत्यं शोभा ततो भवेत् ।  
 अतोऽतिगुप्तो भगवान् रसत्वं प्रतिपद्यते ॥ ६ ॥

**कारिकार्थ** — गुण और माया ये दोनों निश्चय से वेष के लिए उपयोगी होते हैं, इस कारण से रस के अभिनयार्थ चारों पदार्थ निरूपण किए हैं ॥ १ ॥

<sup>†</sup> भगवान् ने कानों में कर्णिकार (कनेर के पुष्प) के साथ ऊपर के भाग में आम्र के कोंपल भी धारण किए हैं, कारण कि शिर पर धारण किया हुआ मोर पिच्छ का मुकट जिसमें पीले वस्त्र का जो टुकड़ा बाँधा हुआ है उससे वे कोंपल भी सम्मिलित हो, और उत्तरीय वस्त्र (नीचे धारण किया हुआ पीताम्बर) का भी माला से मेल हो यों करने से वेष में विचित्रता आ गई है । सुबोधिनीजी में 'पीताम्बरदि' में आदि शब्द से श्री बलदेवजी के नील वस्त्र का सूचन किया है ।

<sup>\*</sup> श्री बलदेवजी में जो श्री पुरुषोत्तम का आवेश स्वरूप है, वह रस रूप है उस रस रूप की ही इस रस के अभिनय में आवश्यकता है ।

रस, रूप और सुगन्ध की प्रतिष्ठा<sup>१</sup> तीन में निश्चित रूप से की है, धर्मी स्वरूप के रस का आच्छादन करने के लिए माया का भी यहाँ निरूपण किया गया है ॥ २ ॥

केवल वस्तु के निर्देश<sup>२</sup> से ही श्रोताओं को काव्य के समान रस प्राप्त होता है, यह फल रस भरित है यह जताने के लिए पहले पल्लव<sup>३</sup> कहा है ॥ ३ ॥

भाव रूप कली तब उत्पन्न होती है, जब शास्त्र के अर्थ का पूर्ण ज्ञान होता है, उसके पश्चात् उसमें विचित्रता आती है, उसको यहाँ पुष्प का स्थान दिया है ॥ ४ ॥

रात-दिन वासना होती रहे इसलिए आच्छादन की स्मृति कराई गई है, यह सब रस के प्राकट्य के लिए कहा है, इस प्रकार की स्थिति है ॥ ५ ॥

रस का आविर्भाव होता है, तब रस के स्वाद की प्राप्ति होती है तथा नृत्य एवं शोभा भी होती है जिससे अतिशय गुप्त रस रूप भगवान् का रस पन प्रकट होता है ॥ ६ ॥

**व्याख्या** — कारिका में जो 'गुण' कहे हैं उनके दो भाग हैं एक भाग-प्रवाल स्थायिभावः<sup>†</sup> स्तबक (व्यभिचारी भावः<sup>‡</sup>) माला (विगाढभाव\*) है, दूसरा भाग-प्रवाल (रजोगुण रूप) स्तबक (तमोगुण रूप) माला (सत्त्व गुण रूप) है, ये तीन गुण और चौथी पीताम्बर वस्त्र रूप माया ये चार, वेष के लिए उपयोगी है तथा रस प्रकट करने में भी उपयोगी है ।

†यं आलम्ब्य रस उत्पद्यते सः स्थायिभावः, आलम्बना विभावः जिसके आश्रय से रस उद्भव होता है वह स्थायिभाव, आलम्बन विभाव है ।

‡यो इतः ततः सञ्चरन्ति रसेषु अनेक रस व्याप्ता भवन्ति, ते व्यभिचारी भावाः, जो भाव यहाँ वहाँ रसों में संचरण कर अनेक रसों में व्याप्त होते हैं वे 'व्यभिचारि भाव' हैं ।

\*विलोडितः (संचालितः-उन्माद पर्यन्तं संचालितः) कटाक्षादि रूपो भावः अनुभावः । (उन्माद हो तब तक चलाया हुआ) जो कटाक्षादि रूप भाव रसों का अनुभव कराता है वह विगाढभाव वा अनुभाव है ।

१-आलम्बन विभावात्मक धर्मी स्वरूप में धर्म रूप स्थायि भाव, व्यभिचारि भाव और अनुभाव से ही विचित्रता उद्भव होती है ।

२-(अ)-प्रवाल (रजोगुण रूप) से अनेक प्रकार के भावों की उत्पत्ति होती है ।

(आ)-मकर गुच्छ (तमोगुण रूप) से भगवान् के किसी भी एक स्वरूप में (वा अवयव में) विशेष प्रेम होकर उस में मन का लय होता है ।

(इ)-कमल माला (सत्त्व गुण रूप) से यह ज्ञान होता है कि सर्व पदार्थ रस में उपयोगी है ॥ १ ॥

प्रवाल (कोंपल) मयूर पिच्छ के गुच्छ, कमलों की माला और माया रूप पीताम्बर धारण इन चार पदार्थों के धारण करने के भाव निम्नलिखित है ।

१-मैं रस रूप हूँ, इसकी सूचना के लिए आम्र के रस रूप कोंपल धारण किए हैं, क्योंकि आम्र वृक्ष में रस प्रतिष्ठित है ।

२-मैं रूप से सुन्दर हूँ इसका ज्ञान कराने के लिए 'मयूर पिच्छ गुच्छ' को धारण किया है ।

३-मेरे श्री अङ्ग में सहज सुगन्ध है इसको प्रकट करने के लिए 'कमलों की माला' धारण की है ।

४-'रस' गोप्य<sup>१</sup> है अतः माया रूप पीताम्बर धारण किया है ।

आम्र में रस स्थित है अतः आम्र के पल्लव (कोंपल) स्थायिभाव है, मयूर में रूप है रस नहीं है, इसलिए मयूर पिच्छ गुच्छ व्यभिचारीभाव के द्योतक हैं, कमलों में सुगन्ध रहती है, इसी कारण से कमल माला 'अनुभाव' है जिससे सुगन्ध ग्रहण करते हुए जो 'चुम्बन' होता है वह अनुभावक है । ये तीनों (रस, रूप और सुगन्ध) वेष में विचित्रता उत्पन्न करते हैं । तो भी पूर्ण विचित्र तो आच्छादन वस्त्र ही करता है अतः उसकी भी अपेक्षा रहती है अतः चौथी वस्त्र रूप में भी धारण किया है ॥ २ ॥

अनुभव करने के सिवाय केवल कहने से रस का अनुभव<sup>२</sup> कैसे होगा ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'काव्य उसको कहा जाता है जिसके वाक्य रस भरित हो' उस काव्य के श्रवण मात्र से श्रोताओं को जैसे रस का आनन्द प्राप्त<sup>३</sup> होता है वैसी ही यहाँ भी जो रसवाले शब्द हैं वे फलरूप सुधामय हैं, अतः उनसे गलित हुई सुधा गोपीजन परस्पर कहकर, पान करती हुई



रस का आस्वाद लेती हैं । अतः 'केवल वस्तु के कहने से भी रस का आस्वाद होता है, यह सिद्धान्त सत्य है इसलिए यहाँ प्रथमः रसमय 'कौपल' धारण किया है ॥ ३ ॥

प्रथम पल्लव<sup>१</sup> के कहने का कारण यह है कि 'फल' रसवाला है, उसके पश्चात् रस शास्त्र के अर्थ (फल) के ज्ञान होने पर, भाव की कली प्रकट होती है, अतः कली के समान मयूर पिच्छ गुच्छ को कहा है । 'फल' रसमय थे, इस प्रकार के ज्ञान होते ही, वह भाव रूप कलिका पुष्प रूप होकर अव्यक्त रसादि को व्यक्त कराके, अनुभव कराने में सहायभूत होती है । प्रमाण प्रकरण की लीलाओं से उत्पन्न प्रेमरूप भाव बढ़कर प्रमेय प्रकरण की लीलाओं से आसक्ति रूप भाव में बदल जाता है किन्तु आसक्ति भी कलिका के समान ही है जिससे उसमें भी कटाक्षादि जो कुछ होता है वह अव्यक्त ही होता है । पश्चात् जब वह भाव बढ़कर व्यसन दशा को प्राप्त होता है तब पुष्प रूप बनता है अतः यहाँ कमल माला कही है उसको धारण कर व्यसन का सूचन किया है । व्यसन दशा में वे सर्व अव्यक्त भाव स्फुट हो जाते हैं और उनमें विचित्रता प्रदर्शित होती है ॥ ४ ॥

जब व्यसन होता है तब सर्वदा मिलन संभाषण आदि की वासना<sup>२</sup> होती रहती है उसके प्रकट होने से, रस रसाभास हो जाता है अतः उसको गुप्त रखने के लिए माया रूप पीताम्बर धारण करना आवश्यक समझ उसको धारण किया है गोप्य रस, रस ही रहा है ॥ ५ ॥

इस प्रकार क्रम से जब भावात्मक भगवान् का आविर्भाव होता है और स्वामिनीजी के सम्बन्ध होने से रस का अनुभव प्राप्त होता है तब प्रभु नृत्य कर शोभा को विशेष रूप से प्रकट करते हैं ॥ ६ ॥

**सुबोधिनी —** विचित्रवेषाविति सर्वरसाभिनिवेशनार्थं, त्रयाणामन्योन्यगुणप्रधानभावे नव रसा भवन्ति, एवं रसरूपं भगवन्तं निरूप्य तद्रसपोषकौ समाजे वाद्यगीतविशेषौ निरूपयति मध्ये विरेजतुरिति, पशुपालानां गोष्ठी नात्यन्तं गूढा तेन रसस्य सुलभत्वं निरूपितं, मध्ये गीतवाद्ययोः, त्रयाणां समानतैव सर्वोत्तमा, नृत्यस्य तु विशेषः प्रायिक एवेति तदेवोक्तं, कादाचित्कनिषेधार्थमलमिति, शास्त्रमत्र नियामकं न भविष्यतीत्याशङ्क्याह दृष्टान्तं रङ्गे यथा नटवराविति, रङ्गं शास्त्राधारभूतं स्थानं, रङ्गमण्डपे यथा नटौ शास्त्रार्थानुसारिणौ भवतः, अलौकिकनाट्यार्थं वरपदं, एवं राजसभावानृत्यमुक्त्वा सात्त्विकभावानृत्यमाह क्व च गायमानाविति, देशविशेषे हस्ताभिनयमात्रपूर्वकं श्रमरहितं गानं कुरुतः, एतदपि लोकप्रसिद्धम् ॥ ८ ॥

**व्याख्यार्थ —** श्लोक में 'विचित्रवेषौ' इस विशेषण के देने का आशय बताते हैं कि सब रसों का वहाँ अभिनिवेश<sup>३</sup> है ।

तीन गुणों के परस्पर मुख्य एवं गौण भाव से नव रस की सिद्धि होती है । इस प्रकार रस रूप भगवान् का निरूपण कर, समाज में, उस रस के पोषक गीत और वाद्यों का निरूपण करते हैं ।

वे दोनों के मध्य में भली-भाँति शोभा पा रहे थे। पशुओं के पालन करने वालों<sup>१</sup> की गोष्ठी<sup>२</sup> बहुत गूढ़ नहीं होती है, इससे यह बताया कि रस सुलभ है। गीत और वाद्य इन दोनों के मध्य में तीनों (नृत्य, वाद्य तथा गीत) की समानता ही सर्वोत्तम है। नृत्य की विशेषता कदाचित् ही होती है अतः 'वाद्य' ही कहा है किसी समय ही वैसा होता होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'अलम्' (बहुत अच्छी रीति से) कहा है।

राम और श्रीकृष्ण के गीतों में यहाँ शास्त्र नियामक नहीं होगा ? ऐसी शङ्का के निवारण के लिए दृष्टान्त देकर कहते हैं कि जैसे शास्त्रानुसारी रङ्ग मण्डप में नट शास्त्र के अनुसार ही गीत नृत्यादि करते हैं, वैसे (ही) ये दोनों भी शास्त्रार्थ के अनुसार ही अलौकिक नाट्य (नृत्यादि) करते हैं अतः 'वर' पद दिया है, इस प्रकार राजस भाव का नृत्य कह कर 'क्व च गायमानौ' पद से कहते हैं, कि सात्त्विक भाव का नृत्य करते हैं जैसा कि अमुक स्थान में केवल हस्त के अभिनय के साथ इसी प्रकार गान करते हैं, जिससे कुछ भी परिश्रम नहीं होता है। यह बात भी लोक में प्रसिद्ध ही है ॥ ८ ॥

**आभास —** एवं रसं निरूप्य तस्याधिदैविकरूपतासम्पादकं वेणुनादं निरूपयन्ति गोप्य इति,

**आभासार्थ —** इस प्रकार रस के स्वरूप का वर्णन कर उस रस को आधिदैविक बनाने के लिए इस 'गोप्य किमाचरत्' श्लोक में वेणुनादः का निरूपण करते हैं।

**श्लोकः —** गोप्यः किमाचरदयं कुशलं स्मवेणुर्दामोदराधरसुधामपि गोपिकानाम् ।

भुङ्क्ते स्वयं यदवशिष्टरसं हृदिन्यो हृष्यत्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्याः ॥९॥

**श्लोकार्थ —** हे गोपीजनों ! इस मुरली ने ऐसा कौन-सा पुण्य किया है कि, जो केवल गोपीजनों के ही भोग्य दामोदर भगवान् के अधरामृत को स्वतन्त्र होकर यथेच्छ पान कर रही है उससे शेष रहे रस को झरने तथा वृक्ष भी भोग रहे हैं और वे आर्यों के समान रोमांचित होते हैं एवं आनन्द के आँसू गिराते हैं ॥ ९ ॥

१-श्री विठ्ठलेश प्रभुचरण 'टिप्पणी' में आज्ञा करते हैं कि, जो काम रस सहज<sup>३</sup> है अर्थात् लौकिक है उसको यह वेणुनाद अधर सुधा के साथ अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर आधिदैविक भगवदीय (भगवत्सम्बन्धी अलौकिक आधिदैविक रसमय) बनाता है।

**सुबोधिनी** — गोप्य इतिसम्बोधनं पूर्वरसाभिज्ञापकं, नात्र बोधनीयं वचनीयं वा किञ्चिदस्ति, यद्यपि तेन रसो न पीतस्तथापि मुखे सन्दर्शनादन्यार्थत्वेऽपि भोजनं करोतीति लक्ष्यते, पुरुषस्य तद्भोजनं सर्वथासम्भावितमन्यथा भगवतैव भुक्तं स्यादतः स्त्रीणामेतद् भोग्यं, तदाह गोपिकानामिति अधरसुधा गोपिकानां सम्बन्धिनी, बहुवचनेन समुदायरूपा लक्ष्मीरप्यनेन सूचिता तदंशाश्च तथैव समागताः, नान्यत्र तद्भोगो लोके प्रसिद्धः, तादृशस्य वस्तुनो भोक्ता पुरुष एव न भवति किम्पुनर्योन्यन्तर्गतो जीवस्तत्रापि वेणुः ? आधिदैविकस्य चेतनत्वं सूचयन्त्य आहुः सर्वा एव आधिदैविक्य इति स्वगोष्ठ्यां तस्यापि विचारो घटते, सर्व धर्मफलमिति वैदिकसिद्धान्तोऽतः कारणभूतं धर्म विचारयन्ति किमाचरदिति, धर्मः सर्वोऽपि वेदसिद्धो वेदरूपाश्च वयमतोऽस्मदज्ञातः कथं धर्मो भवति येन धर्मेण वयं जाताः ? परं तत्रापि मर्यादान्यायेन साधनविरोधाभावस्ततोऽस्मासु स्त्रीत्वं वेणौ तु तदभावस्ततः सन्देहः फलस्य दृष्टत्वाच्च, सम्प्रत्यर्थं च गोपिकासम्बोधनं, अयमिति पुल्लिङ्गनिर्देशश्च बाधकः स्मेतिप्रसिद्धिश्च, वस्तुतस्तु न तस्य फलं, तदुपपादितं, तर्ह्यन्यतराबाधे कर्तव्ये साधनबलनिश्चयेन फलाभावः पूर्वपक्षः फलबलविचारेण साधनाभावाभावः सिद्धान्तः, तदाह वेणुपदेन, वश्च इश्च वयौ तावणूकृतौ येनेति, लोकेभ्यस्तथासुखदानाद् धर्मोऽस्तीति निश्चीयते, अधरसम्बन्धादेव तथात्वमित्यनिश्चयोऽपि, तथापि साधनं स्वयमेवेति निश्चयः, पुष्टिबलमाश्रित्य तस्य सिद्धिरिति ज्ञापयितुं मर्यादायां हीनतामाह दामोदरेति, दामोदरे यस्येति

भगवतो गोपिकाधीनत्वं सूचितं, लोभात्मकश्चाधरः, अतः स्वतः परतश्च तस्य साधनाभावः सूचितः, सुधापदेन च रसविवक्षायां रसनेन्द्रियाभावश्च बाधकत्वेन सूचितः, नादं भुङ्क्त इत्यविवादं सुधामपि भुङ्क्त इति विवादास्पदं “सा वनस्पतीन् प्राविश” इति श्रुतेः, सुधानधिकारः पूर्वमुपपादितः, किञ्च भगवांश्चेद् दद्यात् कदाचित् सम्भवेदपि व्यभिचारे स्त्रीसिद्धान्तवत्, गोपिकावत् स्वयं भुङ्क्त इत्याश्चर्यं, अधरमुखसम्बन्धे पानमस्माकं सिद्धमस्ति तस्यापि मन्यामहे, किञ्चास्मदपेक्षयापि तस्मिन् विशेषो यस्मिन् भोजनेऽवशिष्टं रसं हृदिन्यस्तरवश्च भुञ्जते, बालत्वान्माता-पितरावेव पालयति, उभयत्र हेतुमाह यतो हृदिन्यो हृष्यन्त्वचो जाता अन्तःपूर्णान्दास्ततोऽप्यानन्दाधिक्ये रोमाञ्चयुक्ता भवन्ति, तत्रायं निर्णयः, रोमाञ्चोऽत्र कमलरूपः, स च जगति सर्वोत्तमः, अतो हेत्वन्तरानन्दरोमाञ्चो न भवति तथा सति शैवालानामेवोद्गमः स्यान् न कमलादीनां, अतो ज्ञायतेऽधरमृतमेव हृदिनीभिः पीतमिति, अन्यथा तेषु लक्ष्म्या उद्गमो न स्यात्, “यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलङ्घना” इति न्यायात्, लक्ष्म्यास्तदेकभोगित्वमुपपादितं, उपलक्षणमेतत्, अश्रु च मुमुचुः, न हि मकरन्दोऽन्यस्य रसो भवति, तरवश्च तथा, तेषां रोमाञ्चः फलान्यश्रु च मधुधाराः, एतच्चोभयविधं नान्यथा सम्भवति, नचैतद् द्वयं तयोः स्वाभाविकमिति मन्तव्यं, कादाचित्कत्वाद् वेणुनादानन्तरमेव तथात्वात् स्वाभाविकवैलक्षण्याच्च, तदाह यथार्या इति, सन्तो हि भगवद्भ्रमान्तःप्रवेश एव तथा भवन्तीति, तस्माद् धृदिन्यो मातृरूपास्तरवः पितृरूपाश्च तद्भुक्तावशिष्टरसपाताः ॥ ९ ॥

**व्याख्यार्थ** — हे गोपीजन ! यह सम्बोधन, प्रथम कहे हुए सहज काम रस का बोधक है, यह वेणु भगवान् के अधर पर स्थित है, चाहे इसने रस पान नहीं किया है, तो भी यों समझा जाता है कि यह दूसरों के लिए भोग करता है, अतः यहाँ जानने व कहने योग्य कुछ नहीं है। श्लोक में ‘गोपिकानां’ पद देकर बताया है कि यह अधर सुधा गोपीजन के लिए है तब यह ‘वेणु’ जो पुरुष है, वह इसका भोग कैसे करेगा ? यह भोग तो स्त्रियों का है यदि पुरुषों के योग्य होता, तो भगवान् ही इसका भोग करते वे तो करते नहीं, अतः इस रस का भोगना पुरुषों के लिए सर्वथा असम्भव है। जब चेतन पुरुष ही इसका भोक्ता नहीं बन सकता है, तो अन्य योनि में उत्पन्न जीव उनमें भी वेणु ? इसका भोग कैसे कर सकता है ?। ‘गोपिकानाम्’ यह बहुवचन देने का भाव यह है, कि इन (गोपीजन) में लक्ष्मी का अंश भी है। लक्ष्मी के बिना दूसरा कोई इस (सुधा) का भोग नहीं कर सकता है। आधिदैविक वस्तु चेतन होती है, चाहे

उसका ऊपर का रूप जड़ भी हो। हम सब आधिदैविकी हैं अतः हमें उन वेणु का विचार करना चाहिए कि इसको इतनी उच्च कोटि का अधिकार क्यों मिला है? यह सब धर्म का प्रमाण है, ऐसा वैदिक सिद्धान्त है, इसलिए गोपीजन वेणु के इस अधिकार पाने का कारणभूत धर्म विचारती हैं, कि इसने कौन-सा धर्म किया है? धर्म मात्र वेद से सिद्ध है, हम वेद रूप हैं इसलिए जिसका हमको ज्ञान नहीं है वह 'धर्म' कैसे हो सकता है? जिस धर्म से, हम (गोपी रूप में) उत्पन्न हुई हैं। वह उसने भी किया हो तो भी हम में तो मर्यादानुसार साधन का विशेष नहीं है क्योंकि हम तो उस धर्म साधन से आधिदैविक स्त्रियाँ बन गई हैं, किन्तु यह तो वेणु रूप पुरुष बना है, इस प्रकार (विरुद्ध) फल देखने से सन्देह होता है कि जैसा साधन हमने किया है वैसा इसने नहीं किया है, यदि वैसा साधन किया होता तो, फल में वैषम्य न होता। इसलिए अन्य गोपीजन की भी सम्मति लेने के लिए 'हे गोप्यः' सम्बोधन दिया है। श्लोक में 'अयं' पद से वेणु की पुरुष जाति बताई है। वह इसके भोग करने में रुकावट है और 'स्म' पद प्रसिद्धि सूचक है 'अधरसुधा' का भोग तो गुप्त स्थान में होता है, जैसे उसकी प्रसिद्धि न होवे, यहाँ प्रसिद्धि सूचक 'स्म' भी भोग में बाधक है। वास्तविक रीति से देखा जाए तो 'वेणु' की फल प्राप्ति है ही नहीं, वह 'बर्हापीडम्' श्लोक में प्रथम ही प्रतिपादन कर दिया है। तब दोनों (साधन और फल) में से एक का बाध करना चाहिए। यों करने से, यदि साधन का बल निश्चित किया जाएगा तो साधन का अभाव नहीं है, यह सिद्धान्त होगा। इसको बताते हुए 'वेणु' शब्द का रहस्य प्रकट करते हैं। 'वेणु' शब्द में 'व' 'इ' और 'अणु' ये तीन शब्द हैं, 'व' का अर्थ है ब्रह्मानन्द 'इ' का अर्थ है विषयानन्द ये दोनों जिसने तुच्छ कर छोड़ दिए हैं वह 'वेणु' है, दोनों प्रकार के सुखों का त्याग करने से वह अन्यो को आनन्द देता है, अतः उस (वेणु) में धर्म है, यद्यपि अधर के सम्बन्ध से इसमें धर्म है, वैसा निश्चय नहीं है तो भी स्वयं<sup>१</sup> ही साधन है, पुष्टि बल<sup>२</sup> के आश्रय से उसकी सिद्धि हुई है। यह जताने के लिए मर्यादा में साधन की हीनता है, अर्थात् मर्यादा मार्ग में, ऐसा कोई साधन नहीं है जिससे भगवान् वश हो जावे, पुष्टि में दीनता आदि साधन हैं जिससे भगवान् भक्तों के आधीन होते हैं जैसे 'दामोदर' लीला में भगवान् ने, दीनता से भक्ताधीन हो, अपने आप को रस्सी से बन्धवाया है।

'अधर' लोभात्मक है कारण कि उसमें 'सुधा' की स्थिति है अतः स्वतः<sup>३</sup> वा परतः<sup>४</sup> उस (वेणु) को साधन का अभाव है। वेणु को रसना इन्द्रिय<sup>५</sup> नहीं है इसलिए भी वह सुधा का भोग करने में असमर्थ है, क्योंकि सुधा रस रूप है उसके लिए जिह्वा की आवश्यकता है। वेणु के नाद का भोग (श्रवण) करता है, इसमें किसी प्रकार शङ्का नहीं है किन्तु सुधा का भोग करता है यह विवाद का विषय है क्योंकि भगवती श्रुति कहती है कि 'सा वनस्पतीन् प्राविशत्' वह वाणी (वा-सुधा) वनस्पतिओं में प्रविष्ट हुई। वेणु पुरुष रूप है इसलिए वह सुधा का अधिकारी नहीं है, यह पहले प्रतिपादन किया है किन्तु यदि भगवान् अनधिकारियों को भी दान करें, तो

कदाचित् वैसे सम्भव हो सकता है, जैसे स्त्री अनधिकारी उपपति को अपने रस का कदाचित् दान करे, तो वह उस रस को भोग सकता है अन्यथा नहीं । फिर ऐसा होते हुए भी यह (वेणु) गोपीजन की भाँति स्वयं भोग करता है वह आश्चर्य है । वेणु सुधापान करता है इसका निर्णय आपने कैसे किया ? इसके उत्तर में कहती हैं कि जैसे अधर तथा मुख के सम्बन्ध से हम पान करती हैं वैसे ही उसका भी उनसे सम्बन्ध है, अतः वह भी पान करती होगी ऐसा हम मानती हैं और हमसे भी उसमें यह विशेषता है, जो उसका बचा हुआ रस नदियाँ (झरनें) और वृक्ष भोगते हैं जैसे सन्तान माता पिता की पालना करता है वैसे ही वेणु, नदियाँ तथा वृक्षों का सन्तान (उनसे उत्पन्न हुआ) है अतः अवशिष्ट रस देकर उनका पोषण करता है । वे पान करते हैं इसका हेतु देते हैं, रस भोग से झरनों में, हर्ष से रोमाञ्च होते हैं वे रोमाञ्च यहाँ कमल रूप हैं । वह कमलों का रूप जगत् में सब से उत्तम है । यदि सुधा का पान न किया होता तो, कमल उत्पन्न न होकर शैवाल का ही उद्भव होता । इस सुधा पान के कारण, लक्ष्मी की उत्पत्ति कमलों से होती है । 'जहाँ अतिशय देखने में आता है, वहाँ स्वार्थ का उल्लङ्घन करने के सिवाय ही वह होता है; इस न्यायानुसार लक्ष्मीजी, केवल उसका ही भोग करती है', यह उपलक्षण है, अर्थात् इससे यह सिद्ध हुआ है । जिस प्रकार माता रूप नदियाँ रसपान से आनन्द मग्न होकर रोमाञ्चित हुई, वैसे ही पितृ स्थानीय पेड़ भी इस रस का पान कर आनन्द युक्त हुए, जिससे रोमाञ्च रूप फलों को उत्पन्न किया, तथा अश्रुरूप मकरन्द (मधुधारा) का आविर्भाव किया, इस प्रकार ये दोनों सुधा रस के पान बिना उत्पन्न नहीं हो सकते हैं । यों भी नहीं समझना चाहिए कि इनमें ये (रोमाञ्च आदि) स्वाभाविक हुए हैं, क्योंकि, वेणुनाद होने के अनन्तर हुए हैं, यदि स्वाभाविक होते तो, प्रथम ही हो जाते और इनमें स्वभाव से भी विलक्षणता दिखती है । इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, कि जैसे सत्पुरुष, भगवद्धर्म के अन्तःकरण में प्रविष्ट होने से, रोमाञ्चित होकर आँसू बहाते हैं, वैसे (ही) झरने तथा वृक्ष भी वेणु भुक्त से शेष रस के पान से वैसे हुए हैं ॥ ९ ॥

**आभास —** वृन्दावनविहारे चरणानां स्वरूपमाह वृन्दावनमिति,

**आभासार्थ —** वृन्दावन के विहार में, भगवान् के चरणों का स्वरूप इस 'वृन्दावनं सखि भुवो' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

**श्लोक: —** वृन्दावनं सखि भुवो वितनोति कीर्तिं यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि ।

गोविन्दवेणुमनु मत्तमयूरनृत्यं प्रेक्ष्याद्रिसान्वरतान्यसमस्तसत्त्वम् ॥१०॥

**श्लोकार्थ —** हे सखि ! देवकीजी के पुत्र के चरण कमल से जिसने लक्ष्मी (शोभासुन्दरता) प्राप्त की है, और गोविन्द के वेणु के अनुसरण करने से, मत्त बने हुए मयूरों के नृत्य को देखकर, श्री गिरिराज पर स्थित सर्व प्राणी मात्र मूक हो गए हैं । वैसा यह वृन्दावन पृथ्वी की कीर्ति को बढ़ा रहा है ॥ १० ॥

**सुबोधिनी** — देवानां पादा भूमिं न स्पृशन्ति सुतरां देवोत्तमस्य तत्रापि पुरुषोत्तमस्य, पुरुषोत्तमांशस्य पुरुषस्य मह्याधिभौतिकौ पादावाध्यात्मिकावतीन्द्रियावाधि-  
दैविकावानन्दरूपौ तयोरपि न भूमिसम्बन्धः, भूमावपि दैत्यभूमिरधमा तत्रापि स्त्रीसम्बन्धिनी तद् वृन्दावनं तस्मिन् भगवतः पादा वर्तन्त इति तस्या भाग्याभिनन्दनं स्वस्यौत्कण्ठ्यख्यापकं स्वस्यापि हृदयदेशो भूमिर्भवति स्त्रीणां च हृदयं कठिनमपि भवति पर्वता अपि सन्त्यन्तः प्रवहा नद्यश्च सन्ति रसपूरा रोमपङ्क्तिर्वनमपि भवति स्त्रीसम्बन्धि च, एवं तुल्यतायामप्यत्र चरणौ न स्थाप्येते तत्र स्थाप्येते इतीर्ष्या वर्णनं, गुणत्रयेण पूर्वं वर्णनं निर्गुणगोपिका त्वेषेति नात्रासूयेति केचित्, सखीति सम्पत्त्यर्थं, तादृश्यो न बहव्य इत्येकवचनं, असूयापक्षेपि तथा, ननु भगवत्पदानि यथा व्यापिवैकुण्ठे भवन्त्येवं वृन्दावनेऽपि जातानीति किमाश्चर्यम् ? तत्राह भुवो वितनोति कीर्तिमिति, यदि वृन्दावनं व्यापिवैकुण्ठ एव स्यात् तदा न कार्चिच्चिन्ता, भूमौ तद् वर्तत इति केवलं भूमेः कीर्तिमेव तनोति धन्या भूर्यत्र वृन्दावनमस्तीति भगवतो नित्यस्थितिमन्यमानाया वचनं, पदानि त्वाधिदैविके नित्यान्येव स्थास्यन्ति प्रदर्शयिष्यति च क्वचिद् भगवांस्त्व-  
पराधीन इति न तत्प्रदर्शने वृन्दावनस्य सामर्थ्यं, भक्तेः सर्वत्रैव तथात्वान् न वृन्दावनप्रतिष्ठा भवतीति प्रतिष्ठाया निमित्तमाह यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मीति, यद् यस्मात् तद् वनं देवक्याः पुत्रस्य पदाम्बुजानां लक्ष्माणि चिह्नानि ध्वज-

वज्रादीनि तैर्लब्धा लक्ष्मीर्येन स्वस्य स्वच्छन्दसम्बन्धः देवकीसुतपदप्रयोगः, नन्दगोपसम्बन्धिनी च, देवक्याः प्रसूतिमात्रं न त्वन्यदिति सुतपदं, स्त्रीप्राधान्यान् स्त्रीषु कृपापि सूचिता, पुष्टिमार्गे तासां प्राधान्यमित्यवांचाम, भक्तिमार्गे चरणौ प्रधानभूतौ, तत्राप्यम्बुजं वनं स्त्रीणामेव हृदये तापहारकत्वेन शोभते, तादृशस्यापि य ध्वजवज्राङ्कुशादिशोभा सा नान्यत्र फलति वृन्दावने सा प्रतिफलतेति 'पाद'त्वमेव सम्पन्नमतो लक्ष्मीरपि तत्र नियतातः पदाम्बुजैर्लब्धा लक्ष्मीर्येनेति, भूमिर्यदि साद्रा तदेवं भवतीति भूमिकृतैव सा लक्ष्मीप्राप्तिरतो युक्तं च भूमिः कीर्तिं ख्यापयतीति, किञ्च न केवलं लक्ष्मीरेव प्राप्ता किन्तु भक्तिज्ञाने अपि प्राप्ते इत्याह गोविन्देति, यदा भगवान् वेणुनादं करोति तदा नीलमेघो गर्जतीव भाति ततो मयूरा मत्ताश्च भवन्ति ततो नृत्यन्ति, यदैव भगवता वेणुनादः क्रियते तदैव देहविस्मरणं नृत्यं च जायत इति भक्त्युदेक उक्तः, मयूरा वनमेवेति वृन्दावनप्रशंसा, तादृशं नृत्यं प्रेक्ष्या-  
दिसानुष्ववस्तानि तूष्णीं स्थितान्यन्यानि सर्वाण्येव सत्त्वानि यत्र, संभगवद्भक्तिज्ञानात् तेषां तूष्णीम्भावलक्षणं ज्ञानमुक्तं, एको भक्तोऽन्ये सर्वे ज्ञानिनः, नन्वधोबिलेशयाः स्वभावतः कथंज्ञानिनो भविष्यन्ति ज्ञानस्य फलमूर्ध्वगमन-  
मित्याशङ्क्याहादिसानुष्विति, यत्र क्वापि स्थितास्तत्रैव गत्वापश्यन्तस्तिष्ठन्तीति दोषाभावः स्वस्थानत्याग ऊर्ध्वगमनं चोक्तम् ॥ १० ॥

**व्याख्यार्थ** — यह वर्णन गोपीजन ईर्ष्या से कर रही है, जब पृथ्वी का स्पर्श देवताओं के चरण भी नहीं करते हैं, तब इस वृन्दावन भूमि का स्पर्श देवोत्तम के चरण नहीं, किन्तु पुरुषोत्तम के चरण कर रहे हैं। पुरुषोत्तम के अंश १५ पुरुष के आधिभौतिक चरण पृथ्वी है, आध्यात्मिक चरण अतीन्द्रिय (इन्द्रियों से जो देखे नहीं जाते हैं वे) हैं और आधिदैविक चरण आनन्द रूप हैं, उनका भी भूमि से सम्बन्ध नहीं होता है, तब पूर्ण पुरुषोत्तम के चरणों का सम्बन्ध होना अत्यन्त विस्मय का कारण है, उसमें भी, यह भूमि दैत्य भूमि होने से अधम है, उसमें (अधम होते हुए) भी स्त्री के सम्बन्ध वाली है। इतना सब होने पर भी, वृन्दावन की भूमि में जो भगवान् के चरणारविन्द स्थित हैं, जिससे यह महा भाग्यवती है, यों निश्चय होता है, इसके भाग्य की सराहना से अपने हृदय की भी उत्कण्ठा प्रकट करती है कि, हमारा हृदय प्रदेश ही भूमि है तथा इस भूमि में स्त्रियों का हृदय कठोर है, वहाँ पर्वत भी हैं, अन्तःकरण में जो भगवत् रस विद्यमान है वह नदी रूप है, रोम कूप रूप वन है तथा वह स्त्री रूप भी है अतः यह कहकर गोपीजन ने अपनी वृन्दावन से समानता सिद्ध की है, इस प्रकार समानता होते हुए भी भगवान् उस (वृन्दावन) में अपने चरण स्थापित करते हैं हमारे हृदय भूमि पर क्यों नहीं धरते हैं ? इसी भाँति

यह वृन्दावन का भाग्याभिनन्दन ईर्ष्या से कर रही हैं । किसी की राय है कि पहले का वर्णन सगुण गोपीजन का किया हुआ है और यह वर्णन निर्गुण गोपीजन का है अतः यह वर्णन ईर्ष्या से नहीं है । हे सखि ! यह सम्बोधन देकर यह बताया है कि इस मेरे कथन में अन्य गोपीजन भी सहमत हैं । वह सम्मति देने वाली अनेक नहीं हैं किन्तु एक है अतः एकवचन दिया है । असूया<sup>१</sup> पक्ष में भी वैसे समझना ।

भगवान् के चरणारविन्द जैसे व्यापि वैकुण्ठ में स्थित हैं, वैसे ही वृन्दावन में भी हैं इसमें आश्चर्य करने का क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि, इन चरणों की स्थिति होने से, वृन्दावन पृथ्वी की कीर्ति को बढ़ाता है, क्योंकि, यदि यह वृन्दावन व्यापि वैकुण्ठ में होता तो किसी प्रकार विचार करने की आवश्यकता न पड़ती, किन्तु यह पृथ्वी पर है अतः यह वृन्दावन चरणों की स्थिति होने से केवल पृथ्वी की कीर्ति को बढ़ा रहा है, इसलिए यह भूमि धन्य बखानने के योग्य है; जिस पर वृन्दावन जैसा वन है, यह कहना उसका है जो भगवान् की नित्य स्थिति नहीं मानती है । चरणारविन्द तो आधिदैविक में नित्य ही स्थित रहेंगे, किन्तु उनका दर्शन तो स्वतन्त्र भगवान् अपनी इच्छा से कभी कराते हैं । उन (चरणों) के दिखाने में वृन्दावन का सामर्थ्य नहीं है । भक्ति को तो सब स्थानों में (सब समय) ऐसा सामर्थ्य है जो चरणारविन्द का दर्शन करा सके, वृन्दावन की यों तो प्रतिष्ठा (यश) नहीं है किन्तु प्रतिष्ठा का जो कारण है वह 'यद् देवकीसुतपदाम्बुजलब्धलक्ष्मि' पद से कहा है ।

भूमि में स्थित वृन्दावन ने देवकी के सुत के चरण कमल के चिह्नों\* के धारण करने से लक्ष्मी (शोभा) को प्राप्त किया है, भगवान् से अपना स्वच्छन्द सम्बन्ध दिखाने के लिए 'देवकी सुत' कहा है 'यशोदा सुत' नहीं कहा क्योंकि वह गोपी, नन्द गोप की सम्बन्धिनी है, अतः यशोदा नन्दन से इसका स्वच्छन्द सम्बन्ध नहीं हो सकता । 'पुत्र' शब्द न देकर 'सुत' पद दिया जिसका भावार्थ यह है, कि भगवान् के साथ देवकी का केवल प्रसूति (प्रकट होने) का सम्बन्ध है न अन्य कुछ भी । 'वसुदेव सुत' न कहकर 'देवकी सुत' कहा उसका कारण यह है कि स्त्री की प्रधानता दिखला कर अपनी, स्त्रियों पर कृपा प्रकट की है, पुष्टि मार्ग में स्त्रियों\* की प्रधानता है यह पहले ही हम कह चुके हैं, भक्ति मार्ग में दोनों चरण, प्रधान हैं, उनमें भी चरणाम्बुज (अम्बुज) कहा क्योंकि कमल जल से उद्भूत होने से ताप हारक है; अतः चरणाम्बुज ताप हारक होने से स्त्रियों के हृदय में उत्पन्न ताप को नाश करने के लिए 'शोभा' दे रहा है । इस प्रकार ताप हारक 'चरणारविन्द' की ध्वज, वज्र और अंकुश आदि शोभा अन्यत्र<sup>२</sup> नहीं खिली है, वृन्दावन

\*ध्वज, वज्र आदि चरण के चिह्न ।

\*कोमल प्रकृति वाले प्रेमी जीव, स्त्री जीव है उनकी पुष्टि मार्ग में प्रधानता है-देह सम्बन्धी स्त्री यहाँ स्त्री नहीं मानी गई है ।

-अनुवादक

में ही खिल रही है इससे उसका (वृन्दावन भूमि का) चरणत्व सिद्ध किया, जिससे, लक्ष्मी भी वहाँ सदैव निवास करती है, इसलिए कहा है, कि चरण कमलों के कारण वृन्दावन ने शोभा प्राप्त की है। भूमि आर्द्र होती है, तब यों होता है, अर्थात् चरण स्थापित होते हैं, इसी कारण से, उसने (वृन्दावन भूमि ने) ही वह लक्ष्मी (शोभा) प्राप्त की है इसलिए यों कहना, कि इसने (वृन्दावन ने) भूमि की कीर्ति की वृद्धि की वह योग्य ही है।

केवल शोभा प्राप्त नहीं की है, किन्तु भक्ति तथा ज्ञान भी प्राप्त किए हैं, जिसका वर्णन 'गोविन्दवेणुमनुमत्तमयूरनृत्यं' पद से किया गया है। जब भगवान् वेणुनाद करते हैं तब यों प्रतीत होता है कि मानो नील मेघ गर्जना कर रहे हैं जिसको सुनकर मयूर मत्त होकर नृत्य करते हैं, वेणुनाद से जो नृत्य करते हैं, वह (नृत्य) देह की सुधि भुलाकर भक्ति का उद्रेक<sup>१</sup> करता है। यहाँ मयूर कहे हैं, वे वृन्दावन के उपलक्षण है, अर्थात् वेणुनाद से देह विस्मृति<sup>२</sup> और भक्ति की वृद्धि वृन्दावन में हो गई। यह वृन्दावन की प्रशंसा है।

यह नृत्य देखकर, गिरिराज के शिखर पर आकर स्थित हुए, अन्य प्राणी भी, 'मूक भाव' को प्राप्त हो गए, मूक भाव कहने का भावार्थ यह है, कि उनको भगवान् की भक्ति के साथ ज्ञान भी हुआ है, इनमें एक भक्त, अन्य सर्व ज्ञानी हुए हैं। ज्ञान का फल तो ऊपर जाता है, अतः ये नीचे बिलों में रहने वाले कैसे ज्ञानी हुए? इसके उत्तर में कहते हैं कि वे ज्ञानी हो जाने के कारण 'अद्रिसानुषु' गिरिराज के शिखर पर चढ़ गए। शिखर पर जहाँ कहीं भी स्थित हुए वहाँ से, भगवल्लीला के दर्शन करने लगे, जिससे निश्चय होता है, कि उनके दोष नष्ट हो गए हैं, वे अब निर्दोष हैं अतः उनको लीला का दर्शन हो रहा है। इस योग्यता के कारण उन्होंने अपना स्थान छोड़ ऊपर गमन किया है ॥ १० ॥

**आभास —** एवं रूपवर्णनामुक्त्वा षोढा वेणुं वर्णयन्ति धन्यास्त्विषड्भिः ।

**आभासार्थ —** इस प्रकार वेणु के स्वरूपः का वर्णन कर छ प्रकार से (ऐश्वर्यादि धर्म से) वेणु का वर्णन निम्न ६ श्लोकों से करते हैं।

**श्लोक: —** धन्यास्तु मूढमतयोऽपि हरिण्य एता या नन्दनन्दनमुपात्तविचित्रवेषम् ।

**आकर्ण्य वेणुरणितं सहकृष्णसाराः पूजां दधुर्विरचितां प्रणयावलोकैः ॥११॥**

**श्लोकार्थ —** ये हरिणियाँ मूढमति होते हुए भी धन्य हैं जो भगवान् के वेणुनाद को सुनकर, अपने प्रेम भरित अवलोकनों (नेत्रों) से विशेष विचित्र वेषधारी नन्द नन्दन का स्वागत (पूजा) करती हैं ॥ ११ ॥

१-ये आगे पृष्ठ ३३६ के फुट नोट में पढ़ें।

१-वृद्धि। २-अपने को भूल जाना।



कारिका — हरिण्योऽप्सरसो गावः पक्षिणो नद्य एव च ।

मेघाश्चेतिक्रमेणैव कृष्णैश्वर्यादिबोधकाः ॥ १ ॥

ईश्वरः पूज्यते लोके मूढैरपि यदा तदा ।

निस्त्राधिकमैश्वर्यं वर्णयन्ति मनीषिणः ॥ २ ॥

वीर्यं देवेषु तत्रापि स्त्रीषु तत्रापि कामतः ।

सान्निध्ये पुस्त्राणां च मूर्च्छा तेन ततो महत् ॥ ३ ॥

यशो यदि विमूढानां प्रत्यक्षासक्तिवारणात् ।

स्वधर्मं योजयेत् तेषु तदा भवति नान्यथा ॥ ४ ॥

तामसा राजसाश्चान्ये गुणातीताश्च रूप्यते ।

वृन्दावनं गुणातीतं मुनयश्चापि पक्षिणः ॥ ५ ॥

गोवर्धनश्च त्रितयं गुणातीतमिह स्थितम् ।

तद्रताश्चापि लोकेऽस्मिन् गुणातीता भवन्ति हि ॥ ६ ॥

“यदा खलु वै पुस्त्रः श्रियमश्नुते वीणास्मै वाद्यत” इतिश्रुतिन्यायेन सर्व एव विहगा भगवदीया अपि परमां श्रियं प्राप्नुवन्ति,

श्रियो हि परमा काष्ठा सेवकास्तादृशा यदि ।

ज्ञानोत्कर्षस्तदैव स्यात् स्वभावविजयो यदि ॥ ७ ॥

हरेश्चरणयोः प्रीतिः स्वसर्वस्वनिवेदनात् ।

उत्कर्षश्चापि वैराग्ये हरेरपि हरिर्यदा ॥ ८ ॥

भक्त्या च तादृशत्वं च सा सेवा सेवकोचिता ॥ ८½ ॥

कारिकार्थ — श्रीकृष्ण के षड्गुणों के क्रमशः बोधक<sup>१</sup> ये (हरिणियाँ, अप्सराएँ, गाएँ, पक्षिगण, नदियाँ तथा मेघ) छ हैं ॥ १ ॥

१-‘वेणु’ शरीर वाला है इसका प्रमाण ‘बर्हापीड़’ इस श्लोक में कहे हुए नाद के श्रवण से समझ में आता है पृथक् नहीं । रस द्वय का वर्णन तथा चरण का जो निरूपण है वह निरूपण ‘वेणु’ के स्वरूप का ही है ।

विद्वान् कहते हैं कि जब लोक में मूढ लोग भी ईश्वर की पूजा करते हैं तब समझना चाहिए कि ईश्वर में बिना उपाधि वाला, ऐश्वर्य है ॥ २ ॥

इस कारिका में वेणुनाद का महान् प्रभाव सिद्ध कर, भगवान् का वीर्य दिखाया है, जैसे कि वेणुनाद से देवों में (अप्सराओं में) देवाङ्गनाओं में भी काम का उदय हुआ जिससे पुरुषों के समीप वे (देवाङ्गनाएँ) मूर्छित हो गई ॥ ३ ॥

अतिशय<sup>१</sup> मूढ प्राणियों की जिन प्रत्यक्ष पदार्थों में आसक्ति हो, उनमें से आसक्ति को छुड़ा कर, जब उन (मूढ प्राणियों) में अपना धर्म (अपने स्वरूप में आसक्ति) पीयूष पान द्वारा स्थापन करे तब यश होता है अन्य प्रकार से नहीं होता है ॥ ४ ॥

अब तामस, राजस, सात्त्विक और गुणातीत का निरूपण करते हैं, यहाँ, वृन्दावन, पक्षी रूप मुनि तथा गोवर्द्धन ये तीनों गुणातीत हैं । इस लोक में जिनकी रति<sup>२</sup> इनमें है वे भी गुणातीत होते हैं ॥ ५ ॥

“जब पुरुष निश्चय पूर्वक श्री का भोग करता है तब उसके लिए वीणा बजाई जाती है” इस श्रुति न्याय के अनुसार सर्व भगवदीय पक्षीगण भी परम श्री को प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

श्री ही परम सीमा है, जब सेवक इस श्री को प्राप्त करते हैं और इस से जब सेवक, स्वभाव को जीत लेते हैं, तब ही ज्ञान का उत्कर्ष होता है ॥ ७ ॥

जब सेवक अपना सर्व सर्वस्व<sup>३</sup> भगवान् को अर्पण करता है, तब भगवान् के चरणों में प्रीति होती है ।

वैराग्य का भी उत्कर्ष<sup>४</sup> तब होता है, जब सेवक हरि के दुःखों का हरण करने वाला बनता है, ऐसा भक्ति (प्रेम) से हो सकता है । सेवक को इस प्रकार की सेवा करनी ही योग्य है ॥ ८, ८<sup>१</sup> ॥

**व्याख्या** — द्वितीय कारिका में जो यह कहा है कि भगवान् में निरुपाधिक ऐश्वर्य है, वह कहना योग्य है, क्योंकि लोक में, जिसमें भी ऐश्वर्य के गुण दीखते हैं, वह चाहे ईश्वर न भी हो। तो भी, उसकी पूजा होती है, अर्थात् जिसमें ऐश्वर्य के गुण नहीं दिखते हैं उसकी पूजा नहीं होती है। यदि ऐश्वर्य की सामग्री न हो तो भी जिसकी पूजा होती हो तो समझना चाहिए कि उसमें स्वाभाविक ऐश्वर्य है। ज्ञानी ऐश्वर्य सामग्री न होते हुए भी जो पूजा करता है जिसका कारण यह है कि ज्ञानी को उसके स्वरूप का ज्ञान है परन्तु अज्ञानी जिसको, उसके स्वरूप का ज्ञान नहीं है और ऐश्वर्य के गुण भी प्रकट नहीं दिखते हैं, तो भी उसकी पूजा करता है, इससे निश्चय पूर्वक समझा जा सकता है कि यहाँ असाधारण ऐश्वर्य है। इस प्रकार का परमैश्वर्य भगवान् में स्थित है भगवान् में ही समझा जाता है ॥ २ ॥

तृतीय कारिका में भगवान् के वीर्य की महत्ता दिखाते हैं, भगवान् मनुष्य रूप से दिखाई दे रहे थे तो भी देवता रूप देवाङ्गनाओं को, उनको देखकर जो काम उत्पन्न हुआ वह असम्भव था, अर्थात् न होना चाहिए, कारण कि देवाङ्गनाएँ जिस रस को चाहती हैं वह मनुष्य से तो उनको मिल नहीं सकता है, फिर उनको इसके लिए काम क्यों उत्पन्न हुआ ? और न भगवान् ने उन (देवाङ्गनाओं) को अपना अलौकिक प्रभाव दिखाया है, किन्तु केवल वनिताओं<sup>१</sup> को मोहित करने वाला सुन्दर वेष तथा वेणुनाद से ही साधारण स्त्रियों के समान इन (देवाङ्गनाओं) को मोह हो गया। वैसा होने का कारण, भगवान् का 'वीर्य' गुण ही है ॥ ३ ॥

चतुर्थ कारिका में यश की सिद्धि का कारण कहा है, यश तब सिद्ध होता है जब अन्य पदार्थों में जो आसक्ति है, उसको छुड़ाकर अपने में करावें। वह तब होता है जब अन्य में आसक्ति वालों के अन्दर अपना धर्म स्थापन करें। यहाँ भगवान् ने गौओं की जो तृण आदि में आसक्ति थी वह (आसक्ति) अपने पीयूष<sup>२</sup> रूप धर्म का उनमें स्थापन कर छुड़ा दिया। जिससे भगवान् के यश का विस्तार हुआ है अन्यथा नहीं होता ॥ ४ ॥

५-६ कारिकाओं में केवल यह बताया है कि वृन्दावन, पक्षी रूप मुनिगण तथा गिरिराज ये तीन ही गुणातीत हैं और जो इनमें रतिवाली गोपीजन हैं वे भी गुणातीत हैं। इनका विशेष विवेचन उन उन श्लोकों में होगा जहाँ जहाँ इनका वर्णन आया है ॥ ५-६ ॥

यह तो लोक में प्रसिद्ध है, कि यदि सेवक सुख पूर्वक आनन्द से भोग करता है, अर्थात् सर्व प्रकार से सुखी है, तो इससे यह सिद्ध होता है, कि स्वामी परम सौभाग्य वाला है, अर्थात् वह (स्वामी) तो इससे भी विशेष सुखी होगा। नीचे (भूमि पर) स्थित भगवान् के किए हुए वेणुनाद को वृक्षों के ऊपर बैठे हुए मुनिरूप पक्षी सुन रहे हैं, अर्थात् उस नादामृत का पान (अनुभव) कर रहे हैं, इस प्रकार पक्षी श्री का भोग कर रहे हैं, (इसीलिए श्रुति कहती है कि जब पुरुष श्री का भोग करता है तब उसके लिए वीणा बजती है)।

इस लीला में, भगवान् में स्थित श्री, जो भगवान् के श्री की कार्यरूप है वह पक्षियों में आ गई, जिस कार्य रूप श्री से भगवान् की श्री जो कि कारण रूप है उसका ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार नदियों के ज्ञान से भगवान् के कारण रूप ज्ञान का बोध होता है तथा वैराग्य रूप भगवद्धर्म भी मेघ<sup>१</sup> में कार्य रूप से आ गया है।

जब सेवक वैसे होते हैं (सर्व प्रकार से आनन्द का ही अनुभव करने वाले होते हैं) तब श्री की पराकाष्ठा<sup>२</sup> होती है। ज्ञान का भी उत्कर्ष तब कहा जाता है जब ज्ञानी स्वभाव को अपने आधीन कर ले।

वैराग्य के प्रकार-१-सब पदार्थों में आसक्ति न होना यह सामान्य वैराग्य है, यदि वह अनासक्ति त्याग वाली है, अर्थात् उन पदार्थों को परार्थ दिया जाता है तो वह वैराग्य का उत्कर्ष है।

२-यदि उस वैराग्य से हरि चरण में रति हो जाती है तो वह वैराग्य भक्ति मार्गीय है, यदि उस (भक्ति मार्गीय वैराग्य) में जो हरि चरण में रति है वह (रति) सर्वस्व (अपने धन आदि) भगवान् में निवेदन युक्त है तो वह भक्ति मार्गीय वैराग्य उत्कृष्ट<sup>३</sup> है।

३-यदि उस वैराग्य से पुष्टि मार्गीय सेवा (भगवान् में बाल भाव आदि के कारण शीतादि निवारण पूर्वक) की जाती हो तो वह वैराग्य 'पुष्टि मार्गीय वैराग्य' है, यदि वह सेवा, प्रेमपूर्वक की जाती है तो इस पुष्टि मार्गीय वैराग्य का उत्कर्ष समझना चाहिए। इसमें भी इस वैराग्य की विशेष उत्कृष्टता तब होती है, जब हरि के दुःखों (परिश्रम) को समझकर अपना सबकुछ इस प्रकार निवेदन कर दे, जैसे प्रभु का सर्व क्लेश एवं परिश्रम नष्ट हो जाए और प्रभु सुख पूर्वक बिराजमान होकर आनन्द का अनुभव करावें इस प्रकार की सेवा करना ही सेवक को उचित<sup>४</sup> है, जैसे मेघों ने अपना सर्वस्व त्याग प्रभु का आतप कष्ट निवारण किया।

सुबोधिनी — तत्र प्रथमं हरिणीनां भाग्यमभिनन्दन्ति धन्या इति, ज्ञानं हि क्रियाविशेषणीभूतं क्रियोत्कर्षः पूजायां सापि चेज् ज्ञानमयैर्द्रव्यैर्भगवद्विषयिणी भवति, भगवज्ज्ञानं स्वज्ञानं च तस्याः अप्यङ्गं तदभावे सर्वं व्यर्थं यद्यन्यत्रापि तद् भवेत् तदा तदेवोत्तममिति पक्षमाश्रित्य पूर्वपक्षं व्यावर्तयन्ति धन्यास्त्विति, तु शब्देन स दोषो न ज्ञायत इत्याशङ्कं परिहरन्त्य आहुर्मूढमतयोपीति, स्त्रीणामेवाभिनन्दनं प्रकरणाद्धरिणानां स्त्रियोऽत्र विवक्षिता हरिण्यः, सर्वत्रान्या एव वर्णयन्तीति ज्ञातव्यं, स्वस्याकृतार्थताभावनया

दैन्याविर्भावे भगवान् कृपया वर्ण्यमानसर्वसामग्रीसहितः प्रकटीभूत इति ज्ञापयितुमेता इत्युक्तं, तासां भाग्ये हेतुमाहुर्न्या नन्दनन्दनं निरीक्ष्य वेणुरणितमाकर्ण्य भगवत्कृतैः प्रणयावलोकैर्विरचितां पूजां स्वस्मिन् दधुरिति, या इति, पूर्व भगवदुक्ताः प्रसिद्धाः, नन्दमप्यानन्दयतीति नन्दनन्दनः, भक्तोद्धारार्थमेव ब्रह्मवाक्यात् प्रवृत्त उद्धारप्रकरणात् ता अप्युद्धरिष्यतीत्युपात्तः स्वीकृतो विचित्रो वेषो येन, अनेन रसाभिनयार्थं प्रवृत्तो भगवानुक्तः, एवं स्वरूपतस्तत्कार्यकर्तृत्वं साधनतश्च फलमुखं कर्तृत्वमुक्तं, विचित्रपदेन सर्व एव

रसाः परिगृहीताः, समीपे स्वीकारे ब्रह्मानन्दस्य तत्र प्रवेशनार्थः. आकर्ण्येत्येव क्रिया वेणुरणिते भगवति चार्थतः शब्दतश्च, पशुदृष्टिर्विशेषं न गृह्णातीति शास्त्रदृष्टिरुक्ता, पश्चाज् जायमानापि प्रत्यक्षदृष्टिरन्यानुरोधिनीति विद्यमानापि सा न गणिता, तदाहाकर्ण्येति, वेणो रणितं सर्वरससाधारणं, यथा रसो बाह्यतो न गच्छति तथा शब्दविशेषो रणितं, तादृशमपि निकटे गत्वा श्रुतवत्यः, अनेन दैहिका धर्मा निर्वर्तिताः, सहकृष्णसाराः स्वभर्तृसहिताः, अनेन भर्तृनिरोधोपि परिहृतः, सापत्न्याभावश्च कृष्णसारा इत्यनेन, कृष्ण एव

सारो येषामिति कृष्णसाराः, अनेन गोपास्तथा न भवन्तीति स्वस्यातथात्वं सूचितमन्यथास्माभिरपि सह गोचारणं कुर्युः, अत एतेभिमानसारा एव धन्यास्ते कृष्णसाराः, स्नेह-पूर्वकावलोकनैर्विरचितां भगवति पूजां धारयामासुः, नेत्राण्येव कमलानि ज्ञानवासितानि ज्ञानोद्भवस्थानानि तैः पूजा सर्वोत्तमा तस्याश्च धारणं ततोऽपि, कृतिरथादेवोक्ता, भगवता च प्रतिपूजितमात्मनि वा दधुः, सदयावलोकैरिति वा पाठः, एतावदेव कर्तव्यं प्राणिनां भगवतश्च ॥ ११ ॥

**व्याख्यानार्थ —** भगवान् के ऐश्वर्यादि छ धर्मों का बोध कराने वाले हरिणी आदि छ में से, इस श्लोक में पहले हरिणियों के भाग्य की प्रशंसा करते हैं।

ज्ञान, क्रिया (जो कर्म किया जाता है) का विशेषण (गुण) है, जो पूजा ज्ञानमय द्रव्यों के द्वारा भगवान् के सम्बन्ध वाली होती है, उस पूजा से ही क्रिया का उत्कर्ष होता है, किन्तु ऐसी पूजा के भी दो अङ्ग हैं एक भगवान् का ज्ञान और दूसरा अपना ज्ञान, इन दोनों अङ्गों से जब क्रिया की जाती है तब वह सफल होती है। उन अङ्गों के ज्ञान के सिवाय, यदि यों ही पूजा की जाती है, तो वह सर्व व्यर्थ है। यदि यहाँ यह अङ्गज्ञान न हो, अन्यत्र हो, तो वह ही उत्तम है, इस प्रकार के पूर्व पक्ष का निराकरण करने के लिए मूल श्लोक में 'धन्यास्तु मूढमतयोऽपि हरिण्यः' पद दिया है। 'तु' शब्द देने का यह आशय है, कि अङ्गों का ज्ञान न होना, यह दोष, यहाँ न समझना, कारण कि, यहाँ मूढ मति वाली, अर्थात् जिनको भगवान् का अथवा अपना ज्ञान नहीं है ऐसी भी हरिणियां 'धन्य' हैं। इस प्रकरण में स्त्रियों का ही अभिनन्दन<sup>१</sup> है, अतः

†(१) भगवान् का ज्ञान, यहाँ भगवान् के ज्ञान कहने का आशय यह है कि सेवक को सेवा करने के लिए यह ज्ञान आवश्यक है कि देश कालानुसार भगवान् को किस वस्तु की अपेक्षा होगी जैसे कि शीतकाल है इसलिए रुई के वस्त्र चाहिये, उष्ण काल है महीन सूत के वस्त्र चाहिये इत्यादि ज्ञान भगवद् ज्ञान कहा जाता है यों समझकर भगवत्सेवा करनी चाहिए।

(२) जो भी पदार्थ उत्तम है वही भगवान् के विनियोग के लिए योग्य है अर्थात् भगवान् को सुन्दर वस्तु ही अर्पण करनी यह ज्ञान सेवक के लिये अपना (सेवक पन का) ज्ञान है।

‡ भगवान् को किसी की भी अपेक्षा नहीं है, क्योंकि वह पूर्ण है किन्तु तो भी भक्त द्वारा समयानुसार सर्व की अपेक्षा वाला है यही भक्ति मार्ग की उत्कृष्टता है।

यहाँ हरिण न कहकर हरिण की स्त्रियाँ कही गई हैं, सर्वत्र अन्य पूर्वा गोपिकाएँ ही वर्णन करती हैं ऐसा समझना चाहिए। हरिणियों का यह भाग्य देखकर गोपीजन ने अपनी अकृतार्थता (हरिणियों जैसा भी हमारा भाग्य नहीं है इस प्रकार अकृतार्थता) समझी, जिससे उनके हृदय में दीनता का प्रादुर्भाव हुआ, उससे यहाँ जैसा यहाँ वर्णन किया जा रहा है उन सारी सामग्रियों के सहित भगवान् इनके समक्ष प्रकट हुए यह हरिणियों को 'एता' अर्थात्, 'ये हरिणियाँ' यों माने प्रत्यक्ष दर्शन पूर्वक वर्णन कर रही हो इससे सिद्ध होता है। वे इसलिए भाग्यवती हैं। उनके भाग्यवती होने में हेतु<sup>१</sup> कहती हैं, जिन हरिणियों ने नन्दनन्दन को देखकर तथा वेणुनाद सुनकर, भगवान् के किए हुए प्रेमावलोकन से की हुई पूजा को ग्रहण किया है। 'या' शब्द से यह बताया है कि १२वें अध्याय के ७वें श्लोक में 'नृत्यन्त्यमी' पदों से इन मूढ हरिणियों ने ही भगवान् की, की हुई पूजा को अपने में धारण किया, अर्थात् पूजा को ग्रहण किया वे हरिणियाँ धन्य हैं।

यह नन्दनन्दन हैं अर्थात् नन्द (जो स्वयं आनन्द रूप है उन) को भी आनन्द देने वाले हैं और ब्रह्माजी के वचनानुसार भक्तों के उद्धारार्थ प्रकट हुए हैं अतः यह प्रकरण उद्धार लीला का है; इसलिए इनका भी उद्धार करेंगे। इस कारण से हरिणियों के सान्निध्य<sup>२</sup> में ही विचित्र वेष धारण किया है जिससे यह कहा जाता है कि भगवान् इसके अभिनय<sup>३</sup> के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं। इस प्रकार भगवान् नन्दनन्दन स्वरूप से उद्धार के अनुकूल कार्य के कर्ता हैं और वेष कारण रूप साधन से फल देने वाले कर्ता हैं, विचित्र वेष धारण कर, यह बताया कि सर्व रस मैंने ग्रहण किए, अर्थात् विचित्र वेष से सर्व रस मुझ में हैं यह बताया है। हरिणियों के समीप वेष धारण करने का कारण यह था कि उनमें ब्रह्मानन्द प्रविष्ट हो, जिससे हरिण्यां आधिदैविक बन जाए और रस स्वरूप के आनन्द ग्रहण करने के योग्य हो जाए।

'आकर्ण्य' श्रवण कर, यह सुनने की जो क्रिया है, उसको वेणु की रणकार में तथा भगवान् में अर्थज्ञान तथा शब्द ज्ञान से संयुक्त करना<sup>४</sup> चाहिए, इस प्रकार कहना शास्त्र दृष्टि से है शास्त्र दृष्टि से कहने का कारण यह है, कि पशु दृष्टि विशेष ग्रहण नहीं कर सकती हैं। इतना कहने का तात्पर्य यह है, कि जो सुना जाए वह कार्य रूप में लाना चाहिए, अर्थात् वेणुनाद सुनकर, अपना मन तथा इन्द्रियाँ भगवान् में एवं वेणु के रणकार में पिरो देना चाहिए।

---

\*यद्यपि हरिणियों में ज्ञान नहीं है तो भी उन्होंने अपने में जो सुन्दर अङ्ग नेत्र हैं वे ही भगवान् को अर्पण किए अर्थात् उन ज्ञानेन्द्रिय रूप नेत्रों से भगवान् की पूजा की जिससे वे मूढमति होते भी वैसी सेवा कर सकी जो अन्यो ने नहीं की अतः वे धन्य हैं।

---

पश्चात्<sup>१</sup> प्रत्यक्ष हुई दृष्टि दूसरी दृष्टि के समान होते हुए भी उसको ग्रहण नहीं किया है केवल श्रवण को ही ग्रहण किया है इसलिए 'आकर्ष्य' पद कहा है। 'वेणोरणितं सर्वसाधारणं' पद कह कर यह बताया है, कि वेणु के रणकार का जो रस है, उससे अन्य सर्व रस साधारण है, 'रणित' रणकार कहने का तात्पर्य यह है, कि यह रस (सुधा रस) बाहर न चला जाए अतः इसी प्रकार के शब्द विशेष को 'रणित', अर्थात् रणकार कहा जाता है। वैसे भी 'रणकार' को समीप जाकर, सुनने लगी। इस प्रकार सुनने से देह सम्बन्धी जो धर्म (हम स्त्रियाँ हरिणियाँ) है उसको भूल गई, उस समय (वेणुनाद सुनने के समय) वे पतियों के साथ थीं, देह सम्बन्धी धर्म की निवृत्ति हो जाने से एवं पति साथ थे इससे पतियों का निरोध (रोकना) भी मिटा दिया और साथ में सापत्न्य भाव का भी परिहार कर दिया, अर्थात् सापत्न्य भाव को भी मिटा दिया। हरिण तो कृष्ण सार हैं, अर्थात् कृष्ण के तत्त्व को जानने वाले हैं इसीलिए ये कृष्ण सार हैं किन्तु गोप कृष्ण के तत्त्व को नहीं समझते हैं इसलिए वे कृष्णसार नहीं हैं अतः गोपों में सापत्न्य भाव का अभाव है यदि अभाव न होता, तो वे गौचारण के समय हम (गोपियों) को भी साथ ले चलते जैसे हरिण हरिणियों को साथ लाए हैं किन्तु ये (गोप) अभिमानी हैं और वे कृष्णसार, हरिण धन्य हैं, अतः ये हरिणियाँ भी सर्व प्रकार धन्य हैं। कृष्णसार हरिणों की स्त्रियाँ (हरिणियाँ) धन्य इसलिए भी हैं जो स्नेह पूर्वक अवलोकनों से भगवान् की पूजा करने लगी, इस पूजा में नेत्र ही ज्ञान गन्ध युक्त कमल हैं उनसे की हुई पूजा सर्वोत्तम कही जाती है इस पूजा को धारण करना उससे भी उत्तम है, भगवान् ने जो उसी प्रकार प्रति पूजन (दया पूर्वक अवलोकन किया) उसको हरिणियों ने अपने अन्तःकरण में स्थिर कर दिया। भगवान् तथा प्राणियों का इतना ही कर्तव्य है, कि जीव भगवान् का प्रेम सहित दर्शन करे यह जीव का कर्तव्य (धर्म) है और भगवान् दया सहित दृष्टि से जीव को कृतार्थ करें यह भगवान् का कर्तव्य है ॥ ११ ॥

**आभास —** अप्सरसामवस्थामाह कृष्णं निरीक्ष्येति,

**आभासार्थ —** इस 'कृष्णं निरीक्ष्य' श्लोक में अप्सराओं की अवस्था का वर्णन करते हैं।

**श्लोकः —** कृष्णं निरीक्ष्य वनितोत्सवचारुवेषं श्रुत्वा च तत्त्वणितवेणु विचित्रगीतम् ।

देव्यो विमानगतयः स्मरनुन्नसारा भ्रश्यत्प्रसूनकबरा मुमुहुर्विनीव्यः ॥१२॥

**श्लोकार्थ —** स्त्रियों को आनन्दित करने वाले वेष को धारण किये हुए भगवान् का अच्छे प्रकार दर्शन कर, उनकी बजाई हुई बंशी का विचित्र गीत सुनकर, विमान में बैठकर जाती हुई अप्सराओं का, कामदेव से व्याकुल होने के कारण, विवेक नष्ट हो गया, इस प्रकार मोहित<sup>२</sup> हो गई कि जिससे उनके गूँथे हुए केश पास से पुष्प समूह गिरते जाते हैं तथा नीवी<sup>३</sup> खुल गई है उसका भी ध्यान नहीं रहा ॥ १२ ॥

सुबोधिनी - कृष्णपदार्थात् स्त्रीणां निरोधः सूचितः, आनन्दे दृष्ट आनन्दसाधन आसक्त्यभावो युक्त एव, तत्रापि सदानन्दे, नितरामीक्षणं दिव्यदृष्ट्या, स्वजातीयो-  
द्धारार्थमागत इतिविशेषः, तदाहुर्वनितोत्सवचास्वेषमिति, वनितानामेवोत्सवार्थं चास्वेषो यस्य, स उत्सवो ह्यनेक-  
विधस्तत्तदुत्सवे ते ते भूषिता भवन्त्युत्सवरसानुभवार्थं केवलं वनितानामेवोत्सवो यत्र, वनं यौवनमिताः प्राप्ताः प्रासवत्यः, वनं सञ्जातमिति वा इतच्प्रत्ययः, न हि तत्र प्रविष्टः पुनरावर्तते, यौवनमित्यत्रापि 'यु' मिश्रणार्थं 'वन' मिति तासामेवोत्सवो भवत्विति भगवता वेषः कृतः सर्वाभरण-  
भूषिताः सर्वा एव वनिता यथावेषरसं पुस्त्रार्थमनुभवन्ति, अनेनास्मिन्नुत्सवे यासामलङ्कारदिनोत्सवो न जातस्तासां वनितात्वं व्यर्थमेव यथा रण्डानां तत्रापि चारु मनोहर-  
मन्तरप्यलङ्कारहेतुस्तत्र प्रेमज्ञानादिकमलङ्कारा बहिरिवान्तरपि रसानुभवश्च, अनेनाप्सरसां भगवदर्थगमने सर्वोऽप्युपाय उक्तोनुभावकं ततो विलम्बेन प्रस्थापकमाह श्रुत्वा चेति, निकटे समागत्य पूर्ववदेव क्वणितस्य श्रवणं, अत्र वेण्वतिरिक्त-  
कृजितादिक्वणितानां सङ्ग्रहार्थं तस्य भगवतः क्वणित-मित्युक्तं, क्वणितश्च वेणुः, तादृशवेणावाविर्भावं प्राप्तानि

विचित्राणि गीतान्याकर्ण्येति सम्बन्धः, एकैव गीतेन मूर्च्छिता जाता इत्येकवचनं, विचित्राणि सर्वसार्थानि, शृङ्गार एव सर्वे रसा इति नाट्यशास्त्रसिद्धान्तः, अन्यस्य रसत्वमेव न मन्यन्ते यथा महान्तः सुवर्णाभरणान्येवोपकरणानि च कुर्वन्ति तथा शृङ्गार एव सर्वरसा अन्यथा रसिकानां रुचिर्नोत्पद्येत, अत एव विचित्रं गीतं, यद्यपि ता देव्यो देवतारूपा पूज्या एव तत्रापि विमानेनैव गतिर्यासां नापि भोग्या नापि दुःखसहन-  
शीलास्तथापि स्मरेणैव नुन्नः सारो यासां, शरीरेन्द्रियापेक्षया मनो बलिष्ठमिति स्मरेण सारो विवेकः सर्वोऽप्यपहृतः, भूमावनागमने पदभ्यामनागमने स्वतोऽप्यनागमने हेतव उक्ताः, ततो यज् जातं तदाहुर्मुमुहुरिति, न केवलमन्तरेव हृदयप्रदेशे मोहः किन्तुपर्यधश्चेति, भ्रश्यत्प्रसूनानि कबरे यासां विगता नीवी च यासामिति केशनीवीबन्धयोर्विश्लेष आमुष्मिकैहिक-  
फलपरित्यागज्ञापकः, देवतात्वान्न मरणं विमानगतिवत्त्राधः पतनं विवेकाभावान्नोपायेनागमनं, भगवदनुपयोगेऽन्यस्यापि रसो नोत्पद्यतामिति रसाभासो वर्णितः, देवसहितानामपि प्रायेणात्रावतीर्णानां केवलानां स्त्रियस्ताः स्वपत्यन्वेषणार्थमागता भगवन्तं दृष्ट्वा पूर्वावस्थां सर्वामेव विस्मृतवत्यो भगवानेव पतिर्भवत्विति, तदास्माकं तथात्वं युक्तमेवेत्यर्थः ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ - श्लोक में 'कृष्ण नाम कहने का भाव यह है, कि परब्रह्म इस स्वरूप से स्त्रियों का (कोमल हृदय वाले प्रेमी जीवों का) निरोध करते हैं। यह तो योग्य ही है, कि जब आनन्द का दर्शन हो जाता है, तब आनन्द के साधनों से आसक्ति स्वतः मिट ही जाती है, उसमें भी यदि सदानन्द स्वरूप का पूर्ण दर्शन हो जाए तो, साधनों से आसक्ति मिट जाती है, इसके लिए तो कहने की आवश्यकता ही नहीं है। श्लोक में 'ईक्ष्य' देखकर इतना ही न कहकर जो 'ईक्ष्य' के 'निर्' जोड़ा है, अर्थात् 'निरीक्ष्य' कहा है जिसका भावार्थ यह है, अप्सराओं ने मनुष्याकृति का दर्शन नहीं किया, किन्तु दिव्य दृष्टि से भगवान् के उस अलौकिक रसमय स्वरूप का दर्शन किया और उन (अप्सरसों) को इससे यह विशेष ज्ञान भी हो गया कि इस स्वरूप का प्राकट्य हमारी जाति के उद्धार के लिए ही हुआ है। इस विषय (स्त्रियों के उद्धारार्थ प्रकटे हैं) को प्रमाणित करने के लिए 'वनितोत्सव चारु वेष' वाक्य कहा है। जिस कृष्ण ने वनिताओं को आनन्द देने के लिए ही सुन्दर वेष धारण किया है, यह आनन्द देने वाला उत्सव, अनेक प्रकार का है, उस भिन्न भिन्न उत्सव में भिन्न-भिन्न उत्सव के रस के अनुभव के लिए वे अनुभव करने वाले जीव भूषित होते हैं। जहाँ केवल वनिताओं का ही उत्सव है, आचार्य श्री 'वनिता' शब्द के गुप्त भाव को प्रकट करने के लिए दो अर्थ कहते हैं कि-

१-अर्थ-'वनं इता प्राप्ताः' जो पुरुष संसार त्याग कर, भगवदानन्द रस की प्राप्ति के लिए बन में गए हैं वे 'वनिता' हैं।



२-अर्थ-‘वनं यौवनमिताः प्राप्तवत्यः’ जो स्त्रियाँ युवावस्था को प्राप्त हुई हैं वे ‘वनिताः’ हैं ।

इस प्रकार अर्थ करने से यह भाव प्रकट करते हैं, कि भगवान् ने सुन्दर वेष यौवन प्राप्त स्त्रियों के लिए (जिन स्त्रियों में भगवान् की प्राप्ति की कामना उत्पन्न हो गई है उनके लिए) तथा जो पुरुष होते हुए भी भगवान् की प्राप्ति के लिए हृदय में प्रेम उत्पन्न होने से संसार त्याग वन में जाकर निवास करते हैं उनके लिए धारण किया है ।

भगवान् के इस प्रकार के सुन्दर वेष धारण करने से, स्त्रियों में काम का प्रबोध<sup>१</sup> होता है और पुरुषों में, स्त्री भाव की भावना उत्पन्न होती है, जिससे वे (पुरुष भी) स्त्री भाव उत्पन्न होने से, इस रसपान के अधिकारी होते हैं । जिस प्रकार भगवान् ने सुन्दर वेष धारण किया है, वैसे ही रस एवं पुरुषार्थ के अनुभव करने के लिए वनिताओं ने भी सर्व आभूषणों सहित सुन्दर वेष धारण किए हैं । जिन्होंने ऐसे उत्सव के समय भी सुन्दर वेष धारण नहीं किया है उन स्त्रियों का स्त्रीत्व विधवाओं के समान व्यर्थ है । जैसे बाहर के अलङ्कार, रस ग्रहण करने में, कारण हैं वैसे (ही) भीतर के भी, अतः रस की प्राप्ति के लिए भीतर के अलङ्कारों से अन्तःकरण को भूषित करना चाहिए वे आभूषण प्रेम और ज्ञान आदि हैं जिनसे बाहर की भाँति भीतर भी रस का पूर्ण अनुभव होता है ।

यों कहने से यह बताया, कि अप्सराओं को भगवान् के पास आने के लिए जो उपाय करने चाहिए वे उन्होंने किए हैं । अब भगवान् के पास तो आई किन्तु रस के अनुभव में विलम्ब न हो तदर्थ समीप आकर आलाप किए हुए विचित्र गीत का श्रवण किया । यहाँ ‘गीत’ शब्द एक वचन में इसलिए दिया है, कि एक ही गीत के श्रवण से अप्सराएँ मूर्च्छित हो गई । ‘विचित्र’ शब्द का भावार्थ यह है कि सर्व रस इस में ही समाए हुए हैं, क्योंकि नाट्य शास्त्र, शृंगार रस को ही, रस मानता है, अन्य रसों को रस ही नहीं मानता है; अतः यह विचित्र गीतशृङ्गारसात्मक होने से सर्व रस इसमें समाए हुए हैं ।

जैसे महापुरुष सुवर्ण के ही आभूषण बनवाकर शृङ्गारार्थ पहनते हैं, शृङ्गार में ही सर्व रस मानते हैं, अन्यथा यदि सुवर्ण के आभूषणों से शृङ्गार न किया जाए तो रसिक<sup>२</sup> पुरुषों में आनन्द ही उत्पन्न नहीं होता है ।

जो कि अप्सराएँ देवता रूप होने से, पूज्या हैं इसमें भी वे विमानों में बैठकर जा रही हैं और न वे भोग के योग्य हैं तथा वे दुःख को भी सहन नहीं कर सकती हैं ऐसी अप्सराओं के भी शरीर एवं इन्द्रियों से भी बलवान मन का काम ने विवेक नष्ट कर दिया । पृथ्वी पर न आई, क्योंकि देवताएँ थीं, पैरों से न आने का कारण विमान में बैठी थी भोग्या न होने से स्वतः भी नहीं आई । इस सब के होते हुए भी गीत से वे मूर्च्छित हो गई ।

केवल भीतर हृदय प्रवेश में मोह (मूर्च्छा) हुआ, किन्तु बाहर भी सर्वत्र मोह हुआ, जिससे केश पास के पुष्प गिरने लगे, नीवी छूट गई। इसका आन्तर भावार्थ यह है, कि इस लोक तथा परलोक के फलों का त्याग कर दिया है। देवता होने से मृत्यु भी न हुई विमान में होने के कारण नीचे गिरी भी नहीं और विवेक नष्ट हो गया था इसलिए आने में भी असमर्थ थीं।

जिस वस्तु का उपयोग भगवान् के लिए नहीं होता है, उस वस्तु में रस उत्पन्न नहीं होता है, इस सिद्धान्तानुसार अप्सराओं का उपयोग भगवान् के लिए नहीं हुआ, इससे यह सिद्ध हुआ, कि उनमें रसाभास ही उत्पन्न हुआ न कि सत्य रस उत्पन्न हुआ।

वे अप्सराएँ अपने पतियों‡ को ढूँढने के लिए निकली थीं, किन्तु भगवान् के सुन्दर वेष तथा गीत को सुनकर, वह कार्य भूल गई और मन में यह भाव उत्पन्न हुआ कि 'भगवान् ही हमारे पति हों' गोपीजन कहती हैं, कि जब ये अप्सराएँ भी यों चाहती हैं तो, हम भगवान् की कामना करें वह तो योग्य ही है ॥ १२ ॥

**आभास —** गवां वत्सानां च चरित्रमाह गाव इति,

**आभासार्थ —** गाएँ और बछड़ों के चरित्र का वर्णन इस 'गावश्च' श्लोक से करते हैं।

**श्लोक: —** गावश्च कृष्णमुखनिर्गतवेणुगीतपीयूषमुत्तभितकर्णपुटैः पिबन्त्यः ।

**शावाःस्नुतस्तनपयःकवलाःस्म तस्थुर्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाःस्पृशन्त्यः ॥ १३ ॥**

**श्लोकार्थ —** ऊपर किए हुए कर्ण रूप दोनों से श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए वेणुगीत रूपी अमृत का पान करती हुई गाएँ तथा स्तनों से टपकते हुए दूध के कवल को मुख में धारण किए हुए बछड़े अपने नेत्र आँसुओं से भर जाने के कारण अन्तःकरण में ही श्री गोविन्द का स्पर्श करते हुए स्थित (वहाँ ही खड़े) हो गए ॥ १३ ॥

**सुबोधिनी —** चकाराद् गावोपि तथा जाताः, बहूनां वादने मुखादर्शन इतरवैलक्षण्यानवधाने वा कथं उत्तमाधमयोर्मध्यमाभिलाषो निरूप्यते, असम्भावितत्वान्मोहः, भगवन्मुखवेणुगीतमिति ज्ञायते ? तत्राह पीयूषेति, अमृतं ता हि वेणुमात्र आसक्तास्तथा कुर्वन्तीतिशङ्कां परिहर्तु- हि तत्, तेन व्यञ्जकान्तराभावेपि स्वत एव ज्ञायते, सदानन्दो माहुः कृष्णमुखेति, कृष्णमुखान्निर्गतं यद् वेणुगीतं, ननु वाच्यो मुखं वागधिपतिर्निर्गमनं वाग् वेणुरितरविस्मारको

‡ भगवदाज्ञानुसार ब्रह्मा के कहने से देवों ने यादवों में जन्म लिया था, किन्तु देवों ने योगियों के समान अन्य रूप से जन्म लिया है, अतः वे देव उस रूप में वहाँ (स्वर्ग में) हैं।

गीतं षड्गुणात्मकमतः सर्वा सामग्री वक्तुमेतावदुक्तं, अन्यथा 'कृष्णगीतपीयूष' मित्येव वदेयुः, इतरगीतपीयूषनिवृत्त्यर्थं कर्णानामुत्तम्भनं, प्रतिक्षणं नूतनकर्णत्वात् प्रत्येकपक्षेपि बहुवचनं सङ्गच्छते, पुटशब्देन तदर्थमेव कर्णसम्पादनमिति, ज्ञापितं न हि पर्णपुटे पुनः कार्यान्तरं भवति चषकादिकं तु बह्वर्थं भवेत्, पुटानां बहुत्वं प्रतिक्षणं नूतनरसतां बोधयति, व्यवस्था तु पूर्वोक्तैव, शावा बालका हरिणादीनामन्यजीवानां वा गवामेव वा, अतिबालका घोषे वा, स्नुतं स्तनात् पयः

कवलरूपं येषां, न तस्य पयसोऽन्तःप्रवेशः, इदं सन्दिग्धमिति प्रमाणमाहुःस्मेति, तस्थुर्गावः शावाश्च, उभयेषामपि तथात्वे हेतुमाहुर्गोविन्दमात्मनि दृशाश्रुकलाः स्पृशन्त्य इति, तासां न बहिःसंवेदनं यतोऽन्तर्भगवन्तं स्पृशन्ति, तत्रापि दृशावृत्तचक्षुषा भगवन्तं स्पृशन्त्य इति न भावनामात्रं किन्त्वाविर्भूत इति ज्ञापितं, अन्यथा कथं तुल्यता स्फुरति ? बहिरदर्शने हेतुरश्रुकलाइति, अश्रूणां कला यासां, गोविन्दपदं गवां हृदय आविर्भावे दोषाभावाथ यतोऽयं तेषामेवेन्द्रः ॥ १३ ॥

**व्याख्यार्थ —** श्लोक में 'च' देकर यह बताया है कि गौओं की भी दशा अप्सराओं जैसी हो गई, जो कि अप्सराएँ उत्तम हैं और गाएँ अधम हैं, तो भी, दोनों की मध्यम अभिलाषा (सायुज्य रूपी अभिलाषा) का निरूपण करते हैं, यह अभिलाषा करनी तो, इनके लिए असम्भव सी थी, क्योंकि इनको तो मोह है और ये जो केवल वेणु में आसक्त हैं इसलिए यों करती हैं, इस प्रकार की शङ्का को मिटाने के लिए ही कहा है, कि श्रीकृष्ण के मुख से निकले हुए वेणुगीत रूप अमृत को पान कर अन्तःकरण में गोविन्द का स्पर्श (आलिङ्गन आदि आनन्द) पाने से उसमें मग्न हो, एक स्थान पर ही खड़ी हो गई। यह वेणुगीत भगवान् के मुख से निकला है इसका ज्ञान इनको कैसे हुआ ? इस शङ्का का निवारण करने के लिए, मूल श्लोक में 'पीयूष' पद दिया है, जिसका भावार्थ यह है, कि वह गीत जिसको कर्ण पुटों द्वारा गाएँ पान कर रही हैं, वह साधारण नहीं था, किन्तु वाणी के अधिपति रूप भगवान् के मुख से निकला हुआ और जो वेणु अन्यो का विस्मारक है उसके द्वारा कर्णपुटों में आया हुआ है तथा यह गीत ऐश्वर्यादि षड्गुण वाला है, इस प्रकार सर्व सामग्री से युक्त यह अमृत रूप गीत भगवान् का ही गाया हुआ है, गौओं को यह निश्चय हो गया था। यदि यह वैसा न होता, अर्थात् सर्व सामग्री युक्त पूर्ण रूप न होता, तो केवल 'कृष्ण गीत पीयूष' पद कहते। इस गीत के सिवाय अन्य गीत 'अमृत' नहीं है, यह ही अमृत है, इसलिए गायों ने अपने कर्णों को ऊँचा किया है। 'कर्णपुटैः' बहुवचन देकर यह बताया है, कि प्रतिक्षण<sup>१</sup> कर्ण नए बनते हैं 'पुट' शब्द से यह कहा है कि कान इसीलिए ही है, क्योंकि पुट<sup>२</sup> दूसरे काम के लिए नहीं 'दोनों में' दूध पिया और उनको फेंका जाता है, फिर दूध आदि पीने के लिए दूसरे दोने लाए जाते हैं, इसी प्रकार ये गाएँ भी, इस गीत रूपी अमृत पान के लिए क्षण क्षण में, कर्णों को नवीन बनाती थीं। इससे यह भाव निकला, कि यह गीत रस भी, क्षण क्षण में नूतन बन नूतन आनन्द देता है। यहाँ श्लोक में 'शावाः' पद दिया है, जिसका अर्थ बालक होता है। वे बालक हरिणादि अन्य जीवों के अथवा गायों के हों अथवा गोकुल में जो छोटे बालक थे उनके लिए है। स्तनों से टपकता हुआ कवल रूप पय मुख में ही रहा, वा भीतर गया, यह निश्चित नहीं है, इसलिए 'स्म' शब्द दिया है। गाएँ और बालक

एक ही स्थान पर स्तब्ध हो खड़े हो गए; कारण कि, उनके नेत्र आँसुओं से भर गए थे इसलिए गोविन्द भगवान् का वे अन्तःकरण में ही दर्शन एवं स्पर्श करते थे, जिससे उनको बाहर किसी प्रकार से वेदना न होती थी। अन्तःकरण में केवल भावना से स्पर्श आदि नहीं था, किन्तु भगवान् आविर्भूत<sup>१</sup> विराजमान हो गए थे यदि यों न होता तो, अपने साथ भगवान् की तुल्यता कैसी होती, अर्थात्, बराबरी का स्फुरण कैसा होता। बाहर दर्शन न होने का कारण नेत्रों में आँसुओं का भर जाना था। यहाँ श्रीकृष्ण के लिए 'गोविन्द' नाम देने का भाव यह है, कि आप गायों के इन्द्र हैं इसीलिए उनके दोषों के नाश करने के लिए आप भीतर हृदय में प्रकट हुए हैं ॥ १३ ॥

**आभास —** पक्षिणां श्रवणं सङ्गाभावाज् ज्ञानाभावाच्चासम्भावितं मत्वा सम्भावनानिरूपणपूर्वकमुपपादयन्ति प्राय इति,

**आभासार्थ —** पक्षियों के लिए वेणुगीत का श्रवण असम्भव है, क्योंकि उनको न सत्सङ्ग है और न ज्ञान है, इस शङ्का के निवारण के लिए इस श्लोक में कहते हैं, कि पक्षी, मुनि रूप होने से, श्रवण कर सकते हैं।

**श्लोक: —** प्रायो बताम्ब विहगा मुनयो वनेऽस्मिन् कृष्णोक्षितं तदुदितं कलवेणुगीतम् ।

आस्थ्य ये द्रुमभुजान् सचिरप्रवालान् शृण्वन्ति मीलितदृशो विगतान्यवाचः ॥१४॥

**श्लोकार्थ —** हे माता ! इस वन में जो पक्षी हैं वे बहुधा मुनि हैं, क्योंकि ये पक्षी भगवान् का दर्शन करते करते सुख से आँखों को मीचकर सुन्दर कोंपल वाली वृक्ष की शाखा रूप भुजाओं पर बैठकर सर्व प्रकार से बोलचाल बन्द कर, भगवान् के सुन्दर वेणु के गीत को सुन रहे हैं ॥ १४ ॥

**सुबोधिनी —** एता निर्गुणा अत एव यशोदया सह स्नेहस्तद्गृहकन्यका वा, यथा गवां धनस्य रत्नानां सङ्ग्रह एवमेवोत्तमकन्यकानामपि, द्रव्येण क्रीतास्ता गृहे परिपाल्यन्ते राज्ञां दानार्थं, ता यशोदानन्दगोपकुमारिका अम्बेत्याहुः, सिद्धवन्निरूपणे का एता इतिसन्देहो भवेदतः प्राय इत्याहुः, प्रायः प्रायेण, बत इति खेदे कथमेतादृशी योनिं प्राप्ता इति, हर्षे वा साधु तैरयमुपायः कृत इति, अम्बेतिसम्बोधनं दयार्थं, भगवदाविर्भावादिति केचित्, अतस्तासां वाक्याद् विहगा मुनय एव बाहुल्येन, ते हि मुनयो मननशीला जानन्त्यत्र भगवानाविर्भविष्यतीति, अत

एवास्मिन् वने कृष्णोक्षणाः कृष्णार्थमेव क्षणो येषां कृष्ण एव वेक्षणं येषां, भगवन्तं पश्यन्त एव तदुदितं कलवेणुगीतं द्रुमभुजानास्थ्य शृण्वन्ति यावद् भगवतो वेणुनादो न श्रुतस्तावद् रूपमेव पश्यन्तः स्थिता यदा पुनर्वेणुनादमारब्धवांस्तदोभयं कृतवन्तो यदा पुनस्ततो भगवान् दूरे गतस्तदोड्डीयान्यत्रगमने वेणुनादरसो गमिष्यतीति तत्रैव स्थिताः कदाचित् स रसो रसान्तरमुत्पादयिष्यति रसान्तरेण वा प्रतिबन्धो भविष्यतीति नाशङ्कनीयं यतः कलमव्यक्तमधुरं वेणुगीतं, ततो भगवतः सकाशादुदितं नादब्रह्मात्मकं वेणुरण्यव्यक्तमधुरस्ततो मधुर एव रस उत्पद्यत इति, गीतं

वा भगवदुक्तपरमार्थप्रतिपादकं तदा तदुदितमिति विशेष्यं, वेदशाखा इव दुमभुजानास्त्वा पतनमारणादिशङ्काभावान् निश्चिन्ताः शृण्वन्ति, मनसो विषयान्तरसञ्चारभावाय भगवति दूरं गते दर्शनाभावान् मननाभ्यासाच्च मीलितदृशो जाताः, विशेषेण गता या अन्यविषयिका वाचो येभ्यः, भगवदुपयोगि-वागत्यागज्ञापनायान्यपदं, एतच्च सार्वदिकमिति ज्ञेयं, अन्यथा श्रवणकाले वाचस्तत्प्रतिबन्धकत्वेनैवाभावः सिद्ध इति तदुक्तिर्निरर्था स्यात्, तथा च सदैतद्रसानुभवो

हृदीति ज्ञापितं भवति, एतेनास्य नादस्यालौकिकत्वं दुर्लभत्वं चोच्यते, न हि मुनीनामतादृशेऽर्थे आसक्तिः सम्भवति, तेषां शरादिभयाभावार्थमाह सचिरप्रवालानिति, पल्लवा उत्तमाः कोमलपत्राण्याम्रादिस्थितानि दृष्टिमुद्रणेऽपि हेतुरन्यथा प्रवालदर्शनं स्यान् मुखमुद्रणेपि हेतुरन्यथा तेषां भक्षणं स्यात्, कोलाहलश्च सम्भवति शकुनभाषणमन्योन्यं पदार्थनिरूपणं वा ॥ १४ ॥

**व्याख्यानार्थ —** हे माता ! यशोदाजी को प्रेम पूर्वक हे अम्ब ! हे माता ! कहने वाली ये गोपियाँ निर्गुण हैं । हे माता कहने से यशोदाजी में अपना प्रेम प्रदर्शित किया है । मनुष्य जिस प्रकार गाएँ, रत्न और धन का संग्रह करते हैं वैसे (ही) पूर्वकाल में उत्तम, कन्याओं का भी संग्रह करते थे । पैसा देकर भी कन्याएँ खरीदते थे, वे कन्याएँ इसलिए खरीदते थे, जो राजाओं को भेट स्वरूप कन्याएँ देनी पड़ती थीं । यशोदा के घर की कन्याएँ वा खरीदी हुई वे निर्गुण कन्याएँ यशोदाजी को कहती हैं, कि हे माता ! ये पक्षी बहुत करके मुनि हैं । ‘बहुत करके’ इस पद कहने का भाव यह है, कि कोई यों कह दे कि ये कौन है ? जो कहती हैं, कि ये पक्षी मुनि हैं इसलिए ‘बहुत करके’ ये शब्द कहे हैं । ‘वत’ शब्द कहने का भाव यह है, कि हमको दुःख है, कि ‘मुनि’ होकर, ये ‘पक्षी’ कैसे हुए हैं ? अथवा ‘वत’ पद हर्ष का सूचक है, क्योंकि मुनियों ने यहाँ वृन्दावन में इस गीत रस के पान तथा नाद श्रवण के लिए यह पक्षी रूप धारण किया है, वह अच्छा किया है । ‘अम्ब’ यह शब्द कुमारिकाओं ने दया प्रकट करने के लिए कहा है । किन्हीं टीकाकारों की राय है, कि यह सम्बोधन यशोदा से भगवान् का आविर्भाव हुआ है इसलिए वह माता है; तदर्थ ‘अम्ब’ कहा है, अतः इन निर्गुण गोपीजन के कहने से ज्ञात होता है, कि ये पक्षी बहुधा मुनि होने से मननशील हैं । मनन<sup>१</sup> करने वाले हैं इसी कारण से इन्होंने समझ लिया है, कि ‘यहाँ भगवान् प्रकटेंगे’ उसके लिए कृष्ण के दर्शनार्थ ही जिसका क्षण<sup>२</sup> है, ऐसे ये भगवान् के दर्शन करते हुए, उनके किए हुए वेणुनाद को वृक्ष रूप भुजाओं पर बैठकर सुनते हैं, जब तक वेणुनाद नहीं सुना था, तब तक भगवान् का दर्शन नहीं करते थे । जब वेणुनाद प्रारम्भ हुआ दोनों कार्य करने लगे, अर्थात् नाद भी सुनते थे और दर्शन भी करते थे । जब भगवान् दूर पधारते, तो भी, वहाँ से आप, अन्यत्र<sup>३</sup> नहीं जाते, क्योंकि, अन्यत्र जाने पर वेणुनाद का रस चला जाएगा इसलिए वहाँ ही स्थित रहे । यदि किसी को यह शङ्का हो, कि यह (वेणुनाद) दूसरे रस को उत्पन्न करेगा, तो दूसरे रस के उत्पन्न होने से, इस रस में प्रतिबन्ध हो जाएगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि यह वेणुगीत, साधारण गीत नहीं है, यह तो वह गीत है जिसमें छुपा हुआ स्थिर मधुर रस है जो बदलता नहीं है और भगवान् से उदित<sup>४</sup> नाद ब्रह्म रूप वेणु भी अव्यक्त<sup>५</sup> मधुर है उस नाद ब्रह्मरूप अव्यक्त मधुर वेणु से, मधुर रस और मधुर गीत ही

प्रकट होता है, वह उद्धृत मधुर गीत परमार्थ को प्रतिपादन करने वाला है। जैसे मुनिगण वेद की शाखाओं का आश्रय करने से निश्चिन्त होते हैं, वैसे (ही) ये मुनि रूप पक्षी भी, इन वेदात्मक वृक्ष की भुजा रूप शाखाओं का आश्रय कर रहे हैं, जिससे वे पतन मरणादि भय से निश्चिन्त हो, इस प्रकार के वेणुगीत का श्रवण कर रहे हैं। मन दूसरे किसी भी विषय में न जाए तथा भगवान् के दूर जाने पर, उनके दर्शन न होंगे, अतः इन मुनि रूप पक्षियों ने अन्तःकरण में मनन और अभ्यास करने के लिए आँखें मूँद ली हैं तथा वाणी से भी कोई अन्य विषय (जिससे भगवत्सम्बन्ध न हो वैसा) न बोला जाय इसलिए बोलचाल बन्द कर दी है। पक्षी रूप मुनियों की यह कृति<sup>१</sup> सदैव की है। यदि सुनने के समय बोला जाय तो सुनने में प्रतिबन्ध<sup>२</sup> हो और उसकी उक्ति निरर्थक<sup>३</sup> हो जाय। अतः पक्षीगण उपर्युक्त प्रकार से (मीलित नेत्र और मूक) हो गए, जिससे यह सिद्ध किया है, कि सदा इस रस को हृदय में अनुभव कर रहे हैं। इससे इस वेणुनाद का अलौकिकपन तथा दुर्लभ होना बतलाया है। यदि वेणुनाद वैसा न होता, तो मुनि रूप पक्षियों की इसमें आसक्ति न होती। उनकी इन गुणों से रहित पदार्थ में, आसक्ति नहीं होती है। 'रुचिर प्रवालान्' पद का भावार्थ कोई टीकाकार यों कहते हैं, कि इन सुन्दर पल्लवों से इनके शरीर आच्छादित हैं, अतः इनको शर<sup>४</sup> आदि का भय नहीं है। ये पल्लव सुन्दर हैं इनकी सुन्दरता के कारण हमारी दृष्टि इनको देखना चाहेंगी तो भगवत्दर्शन में रुकावट होगी इसलिए नेत्र मूँद लिए हैं। नेत्र मूँदने में यह भी एक कारण है तथा मुख के मूँदने में भी एक प्रकार से ये पल्लव भी कारण हैं क्योंकि मुख खुला होगा तो इनके भक्षण का सम्भव होगा, इसके सिवाय मुख को मूँदने का और यह भी कारण है कि यदि मुख खुला रखेंगे तो पक्षी स्वभाव से, शब्द निकल जाएँगे कोलाहल होगा अथवा आपस में बोलचाल करने लगेंगे ॥ १४ ॥

आभासा — भगवद्वेणुनादेन नद्यादिषु जातमाह नद्यस्तदेति,

आभासार्थ — भगवान् के वेणुनाद से नदीयों में जो कुछ हुआ उसका वर्णन 'नद्यस्तदा' श्लोक से करते हैं—

श्लोकः — नद्यस्तदा तदुपधार्य मुकुन्दगीतमावर्तलक्षितमनोभवभग्नवेगाः ।

आलिङ्गनस्थगितमूर्मिभुजैर्मुरारेर्गृह्णन्ति पादयुगलं कमलोपहाराः ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ — उस समय नदियाँ भी मुकुन्द भगवान् के गीत का श्रवण कर काम के उद्दीपन से नष्ट वेग वाली हो गई, जिससे उनमें होने वाले पानी के भँवर स्थिर हो गए। कमल रूपी उपहार को ली हुई वे (नदियाँ) आलिङ्गन के लिए भगवान् के दोनों

चरण जब स्थिर हो गए, तब अपनी ऊर्मि<sup>१</sup> रूप भुजाओं से उनको ग्रहण करती हैं ॥

१५ ॥

सुबोधिनी — यदा मुनयो भगवतानुगृहीता वेणुद्वारा सर्वं तत्त्वं ज्ञातवन्तस्तदा नद्योपि वयमपि कृतार्था भविष्याम इति तदुपधार्य मुनीनां ज्ञानोपदेशं निश्चित्य तत् प्रसिद्धं मोक्षदातुर्गीतं श्रुत्वावर्तेन भ्रमणेन मूर्च्छया लक्षितो योऽयं मनोभवस्तेन स्तम्भजनकेन भग्नो वेगो यासां, स्वाभाविकी गतिः कुण्ठिता, मनोभवोत्र विवेकः, अचेतनप्रायाणामपि भगवत्सम्बन्धाकाङ्क्षेत्याहुः, न स्थितिमात्रेण तदासक्ति-र्भवत्यौषधादिनापि तथा सम्भवादत आहालिङ्गनार्थं स्थगितं

स्थिरीभूतं भगवतः पादयुगलं कमलोपहाराः सत्य ऊर्मिस्त्वैर्भुजैर्गृह्णन्ति, स्वहृदयकमलं भगवच्चरणारविन्दे दत्त्वा तत् स्वयं गृह्णन्ति, नदीनामपि देवतात्वात् ताभिः सह नान्या लीला सम्भवत्यत आलिङ्गनार्थमेव स्थितिः, प्रयोजनार्थमुक्तं मुरारेरिति, मुरो हि जलदोषात्मका-विद्यारूपस्तस्यारित्वादवश्यं चरणसम्बन्धे नदीगतामविद्यां नाशयिष्यति ॥ १५ ॥

**व्याख्यानार्थ —** जब भगवान् ने मुनियों के ऊपर अनुग्रह किया जिससे वेणु द्वारा उन्होंने भगवत्स्वरूपात्म रस तत्त्व को जान लिया, तब नदियों ने समझा कि हम भी इस प्रकार कृतार्थ हो जाएंगी यों जान कर और मुनियों के ज्ञानोपदेश का निश्चय कर, मोक्ष देने वाले का वह प्रसिद्ध गीत सुन कर, जल के भ्रमण (भँवर) अथवा मूर्च्छा से प्रतीत होने वाला, यह उद्भूत काम, जिसने नदियों<sup>†</sup> का वेग बन्द कर दिया है जो कि वेग स्वाभाविक है तो भी इससे (काम से) वह (वेग) बन्द हो गया, जिससे नदियाँ स्तब्ध हो गई हैं, किन्तु यहाँ यह 'मनोभव' विवेक वाला<sup>\*</sup> है (अप्सराओं के समान अविवेक वाला नहीं है) चेतन प्राणियों को तो भगवान् से सम्बन्ध होने की इच्छा हो यह युक्त है अर्थात् वैसा बन सकता है, किन्तु यहाँ वह अभिलाषा अचेतन प्राणियों में भी उत्पन्न हुई है यह यहाँ विशेषता है। नदियों का वेग रुक गया, अर्थात् नदियाँ स्थगित<sup>२</sup> हो गई यह स्थिर होना आसक्ति का कारण नहीं है। क्योंकि, स्थिरता तो औषधि आदि से भी हो सकती है, किन्तु यहाँ की स्थिरता औषधादि से नहीं हुई है इसकी स्थिरता में भगवान् से मिलने की इच्छा कारण है, अतः इनकी आसक्ति का कारण भी भगवान् से मिलना है, अतः आलिङ्गन<sup>३</sup> के लिए स्थिर भगवान् के चरणयुगल कमल रूप भेट करती हुई नदियाँ उनको (चरण

† ब्रज में नदी एक ही श्री यमुनाजी है, फिर 'नद्यः' नदियाँ बहुवचन क्यों दिया है इसका आशय यह है कि केवल श्री यमुनाजी का वेग नहीं रुक गया था किन्तु झरणें आदि भी स्तब्ध हो गए थे इसलिए 'नद्यः' बहुवचन देकर यह बताया है कि नदी, सरोवर, झरणें आदि की भी ऐसी दशा हो गई थी। - योजना

\* यदि विवेकवाला मनोभव न होता तो नदियाँ भी अप्सराओं के समान मिल नहीं सकती थीं किन्तु वे भगवान् के समीप आ सकी।

युगल को) अपनी उर्मि रूप भुजाओं से<sup>१</sup> ग्रहण करती हैं। अपना हृदय रूपी कमल भगवान् के चरणारविन्द में अर्पण कर वह (चरणारविन्द) स्वयं ग्रहण करती हैं। अर्थात् हृदय अर्पण कर, उनमें चरणों को स्थापित करती हैं। नदियाँ भी देवता हैं उनसे अन्य प्रकार की लीला नहीं हो सकती है, इसलिए मिलने के लिए भगवान् ने स्थिति की है, यों स्थित होने का कारण यह है, कि आप, मुर दैत्य, जो जल में दोष रूढ़ अविद्या हैं, उसका शत्रु (नाश कर्त्ता) हैं, इसलिए नदी से चरण सम्बन्ध कराके, नदी की अविद्या का नाश किया। इसलिए मूल श्लोक में, भगवान् का दूसरा नाम मुरारि कहा है, 'मुकुन्द' नाम से पुष्टि मार्गीय मोक्ष दाता बताया है ॥ १५ ॥

**आभास —** मेघानामाहुर्दृष्ट्वेति,

**आभासार्थ —** इस 'दृष्ट्वातपे' श्लोक में मेघों की दशा तथा उनके कार्य का वर्णन करते हैं -

**श्लोक: —** दृष्ट्वातपे व्रजपशून् सह रामगोपैः सञ्चारयन्तमनुवेणुमुदीरयन्तम् ।

प्रेमप्रवृद्ध उदितः कुसुमावलीभिः सख्युर्व्यधात् स्ववपुषाम्बुद आतपत्रम् ॥ १६ ॥

**श्लोकार्थ —** धूप में बलरामजी और ग्वाल बालकों के साथ व्रज के पशुओं को चराते हुए एवं वेणुगीत गाते हुए अपने मित्र श्रीकृष्ण का दर्शन कर प्रेम से प्रवृद्ध<sup>२</sup> हुए मेघ ने अपने शरीर से उन पर छाया की तथा पुष्पों की (बूँद रूप पुष्पों की) वर्षा की ॥ १६ ॥

**सुबोधिनी —** आतपे शरत्कालसम्बन्धिनि व्रजपशून् सर्वदाछायाभ्यासयुक्तान् सर्वदा रक्षका गोपा अभितो रतिवर्धको राम एतैः सहितमेतैर्वा सञ्चारयन्तं सर्वसामग्रीसहितं देवतावेदसहितं धर्मसहितं तदनु वेणुमुदीरयन्तं सर्वेषामाधिदैविकानुद्दीपयन्तं, सर्वशक्तिसहितो हि ताभिः सह क्रीडति तदावश्यं छायापेक्षितेति प्रेम्णा भगवत्स्नेहेन सख्यपर्यन्तं गतेन तादृशेन प्रवृद्धो मेघः स्ववपुषा सख्युरातपत्रं व्यधात्, प्रवृद्धमुदित इतिपाठे प्रवृद्धश्चासौ मुदितश्च, प्रेम प्रवृद्धं यथा भवति तथा वोदितः, अतः

**कुसुमावलीभिः** सूक्ष्मस्वकणिकाभिः "मेघपुष्पं धनरस" इतिकोशात्, पूर्वमनेन सख्यपर्यन्तं भक्तिः कृतेदानीमात्म- निवेदनं कृतवान्, प्रेम्णैव प्रवृद्धः श्रवणमारभ्य सख्य- पर्यन्तमागतः स्नेहवशाद् वा स्थूलो जातः, कामरूपिणस्ते यथाभिलषितं रूपं कुर्वन्ति, प्रकृते भगवत्स्नेहाद् यथाभिलषितं रूपं कृतवान् यावता सर्वेषां छाया भवति, ननु स्वस्यापि क्लेशो भवतीति किं दुःखेन तथा कृतवान्? नेत्याह मुदित इति, यावज्जन्म यो भक्त्यैव वर्धते सोऽन्ते कृतात्मनिवेदो भवति, लोकोपकारित्वान् नीलत्वाज् जीवनदातृत्वाच्च



सख्यमिति केचित्, सर्वस्वमपि दत्तवानिति ज्ञापयितुं गोपैर्गोचारणं बलभद्रेण रक्षा वेणुनादेन प्रबोधनं पश्चाद् रमणमिति कुसुमावलीभिः सहेत्युक्तं, अनेन साक्षालक्ष्म्या सह भगवतः शेषवदस्यापि सखित्वात् तादृशेऽपि समये छायाकरणं युक्तमेव क्रीडा सूचिता, अत एवाग्रे पुलिन्दीनां स्तोत्रं भविष्यति, ॥ १६ ॥

**व्याख्यानार्थ** — जो पशु सदा छाया में रहने के अभ्यासी हैं, जिनके रक्षक गोप हैं तथा जिनमें प्रेम बढ़ाने वाले राम हैं, इन गोप और बलराम के साथ आप अथवा इन (गोपों) के द्वारा शरद् ऋतु वाली धूप में ब्रज के पशुओं को सर्व सामग्री (देवता, वेद और धर्म) सहित चराते हुए और वेणु बजाकर सर्व के आधिदैविकों का उद्दीपन करते हुए, सर्व शक्तियों सहित, आप उनसे क्रीड़ा करते हैं, उस समय धूप के कारण, छाया अवश्य चाहिए, यह समझकर, जिस मेघ ने भगवान् में स्नेह होने से, सखा भाव की भक्ति सिद्ध कर ली है, उस मेघ ने विशेष प्रकार से, बढ़े हुए शरीर को अपने मित्र पर छाता बना लिया, इस श्लोक के मूल पाठ में 'प्रेम प्रवृद्ध उदितः' और 'प्रेम प्रवृद्ध मुदित' इस प्रकार दो भेद हैं, 'प्रेम प्रवृद्ध उदित' का भावार्थ ऊपर दे दिया है, अब 'प्रेम प्रवृद्ध मुदित' पाठ से इस प्रकार आचार्य श्री ने दो अर्थ बताए हैं - १ - प्रेम से बढ़ा हुआ तथा आनन्द को प्राप्त हुआ मेघ, २ - ज्यों ज्यों प्रेम बढ़ता है, वैसे (ही) आप (मेघ) बढ़ता है ऐसे मेघ ने मित्र पर छाया करने के लिए छत्र रूप धारण किया। मेघ ने यहाँ तक तो सख्य भक्ति की थी, इससे आगे बढ़ कर अब आत्म निवेदन करने लगा है, जैसे कि अपने सूक्ष्म कणिका रूप पुष्प प्रभु को अर्पण कर आत्मनिवेदन किया है। धन रस (बादलों के सूक्ष्म कण) को कोष में, मेघ पुष्प कहा गया है, अतः मूल श्लोक में 'कुसुमावलीभिः' कहा है। मेघ प्रेम से बढ़ा इसका भावार्थ यह है कि मेघ श्रवण भक्ति से लेकर सख्य भक्ति तक बढ़ गया, अथवा स्नेह के कारण स्थूल हो गया। बादल काम रूपी होते हैं, अतः अपनी इच्छानुरूप रूप बना सकते हैं। चालू प्रसङ्ग में भगवान् में स्नेह होने के कारण, अपना वैसा इच्छित रूप बनाया, जिससे सब के (भगवान् गोप गौ आदि के) ऊपर छाया हो सके। ऐसे रूप बनाने और छाता रूप बनने में, मेघ को भी कष्ट हुआ होगा तो कष्ट प्रद कार्य मेघ ने क्यों किया ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'मुदितः' पद दिया है जिसका भावार्थ यह है कि उस (मेघ) को कष्ट तो नहीं हुआ, किन्तु इससे आनन्द ही हुआ। जन्म से लेकर जो भक्ति<sup>१</sup> से बढ़ता रहता है वह अन्त में आत्मनिवेदन कर ही देता है।

‡ भगवान् लीला में क्रिया शक्ति रूप गोपों को तथा ज्ञान शक्ति रूप बलरामजी को रखते हैं। क्रिया शक्ति रूप गोपों से 'गौ चारण' आदि क्रिया करवाते हैं और ज्ञान शक्ति रूप बलरामजी से लीला में प्रतिबन्ध करने वाले राक्षसों को पहचान कर उनका नाश करना आदि कार्य करवाते हैं—प्रतिबन्ध निवृत्त करवाकर फिर आप श्रीकृष्ण भक्तों के साथ स्वच्छन्द क्रीड़ा करते हैं। इस प्रकार दोनों (क्रिया तथा ज्ञान) शक्तिओं को साथ में रखने का प्रयोजन समझना चाहिये।

- योजनाशायः

कितने ही टीकाकार कहते हैं, कि मेघ की भगवान् से मित्रता इसीलिए हुई है, कि मेघ में भी भगवान् जैसे तीन गुण, (लोकोपकार करना, नील वर्ण, जीवन<sup>१</sup> देना) हैं, अतः समान शील गुण वालों में मित्रता होती ही है। मेघ ने अपने रस मय सूक्ष्म कण रूप पुष्पों द्वारा अपना सर्वस्व भगवान् को अर्पण कर दिया, जिससे यह बताया, कि भगवान् साक्षात् लक्ष्मीजी से क्रीड़ा कर रहे हैं इसी कारण से आगे पुलिन्दियों की स्तुति की जायगी (गोपीजन भीलनियों की प्रशंसा<sup>२</sup> करेगी)।

भगवान् ने, गोपों से गौ चराई, बलभद्र से रक्षा कराई, वेणुनाद से प्रबोधन<sup>३</sup> कराई, इसके अनन्तर रमण किया, शेष के समान, मेघ भी जो मित्र है, उसको भी ऐसे समय में छाया करनी योग्य ही है ॥ १६ ॥

**आभास —** वनवासिक्षुद्रजातीयाः पुलिन्दास्तेषां पत्न्यः पुलिन्द्यः,

**आभासार्थ —** इस 'पूर्णाः पुलिन्द्यः' श्लोक से कहते हैं कि वन में रहने वाले क्षुद्र<sup>४</sup> जाति वाले भील तथा उनकी स्त्रियों में भी भगवान् की समीपता के कारण भक्ति उत्पन्न हुई -

**श्लोकः — पूर्णाः पुलिन्द्य उन्नायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन दयितास्तनमण्डितेन ।**

**तद्दर्शनस्मररुजस्तृणरूषितेन लिम्पन्त्य आननकुचेषु जहुस्तदाधिम् ॥ १७ ॥**

**श्लोकार्थ —** भगवान् के केवल दर्शन ही काम से व्याकुल हुई पुलिन्दियों (भीलों की स्त्रियों) ने लक्ष्मीजी के स्तनों के आभरण रूप कुङ्कुम भगवान् के चरण कमलों द्वारा तृणों पर लगा हुआ था उसको अपने मुख और स्तनों पर लेप करने से अपनी आधि (काम से उत्पन्न दुःख) को दूर किया अतः वे पुलिन्दियाँ पूर्ण हैं ॥ १७ ॥

**सुबोधिनी —** भगवन्नैकट्यात् तासामपि भक्तिजतित्याह पूर्णा इति, सर्वा पेक्षया पुलिन्द्य एव पूर्णाः, तासां साक्षाद्भगवच्चरणारविन्दरजस्सम्बन्धो वर्तते इति, उन्नायपदाब्जरागश्रीकुङ्कुमेन भगवान् सर्वप्रमाणसिद्धः सर्वगुणपूर्णस्तस्य पदाब्जं चरणारविन्दद्वयं तत्र यो रागस्तत्सहिता श्रीः, महता विचारेण हि लक्ष्मीर्भगवन्तं वव्रे, तच्चरणारविन्दभक्ता या लक्ष्मीस्तस्या यत् कुङ्कुमं तयैव निष्पादितं दिव्यं कुङ्कुमं,

अर्थात् तयैव चरणारविन्दे दत्तं तत् पुनर्बन्धविशेषे लक्ष्म्या एव दयिताया रसदातृत्वेन प्रियायाः स्तनयोर्मण्डितं तथा वा स्वहृदि स्थापितं, अथ वा लक्ष्म्या दत्तमाधिदैविकीषु शक्तिषु स्तनेषु मण्डितं ततश्चरणारविन्दे समागतं, अथ वा तृणरूषितेन तृणेन कृत्वा कुङ्कुमेव मकरिकापत्रवद् रूषितं तदा तत् कुङ्कुमसहितं तृणं भगवद्धस्तस्थितं भूमौ पतति, तृणेषु वा रूषितं संलग्नं चरणारविन्दात्, तादृशस्य

कुङ्कुमस्य दर्शनेन लक्ष्म्या ताभिर्वा सह भगवत्सम्भोग-  
दर्शनेन वा स्मरकृता रुग्यासां तास्तद्दर्शनस्मरुजः, तदा  
तच्छान्त्यर्थमाननकुचेषु कुङ्कुमेन लिम्पन्त्यस्तदाधि  
जहुः, तत् कुङ्कुमं मुखे स्तनयोश्च दत्त्वा ता अपि  
यदोपस्थितास्तां तद्द्वारा लक्ष्मीप्रवेशात् ता अप्युपभुक्ता-

स्तदाधि जहुस्तस्ताः पूर्णाः, इयमलौकिकी भगवत्कथा,  
उरुगायेति वचनात् ताभिरपि भगवान् श्रुत इति लक्ष्यते, एतद्  
वनगमने भवतीत्यस्माकं तदभावादपूर्णत्वमिति कामस्तु वस्तुतो  
मनःपीडारूपः ॥ १७ ॥

**व्याख्यानार्थ** — सर्व की अपेक्षा पुलिन्दियाँ ही पूर्ण हैं (भाग्यशाली हैं) क्योंकि उनको सदैव साक्षात्<sup>१</sup> भगवान् के चरण कमलों की रज का सम्बन्ध है। सर्व प्रमाणों से सिद्ध और सकल गुणों से परिपूर्ण, जिनके गुणों का बहुत भक्त गान करते हैं, वैसे उरुगाय भगवान् के युगल चरण कमलानुरागी लक्ष्मीजी ने जिनका महान् विचार के अनन्तर वरण किया है। भगवान् के चरणारविन्द की लक्ष्मीजी ने दिव्य कुङ्कुम सिद्ध<sup>२</sup> कर, भगवान् के चरणारविन्द में अर्पण किया<sup>३</sup>। वह ही कुङ्कुम पुनः रसदान के समय जब बन्ध विशेष हुआ तब लक्ष्मीजी के स्तनों पर सुशोभित किया गया (होने लगा) अथवा उस (लक्ष्मीजी) ने ही अपने हृदय में स्थापित<sup>४</sup> किया। अथवा श्री लक्ष्मीजी ने वह कुङ्कुम आधिदैविक शक्तियों के स्तनों पर अलङ्कृत किया<sup>५</sup> उनसे वह (कुङ्कुम) भगवान् के चरणारविन्दों में आया। (लगा) अथवा तृणों के कारण वह कुङ्कुम मकर<sup>६</sup> के समान आकृति वाला हो गया और वे तृण भगवान् के हाथ में आ गए, किन्तु हाथ से भूमि पर गिर गए। अथवा भगवान् के चरणारविन्द में लगा हुआ कुङ्कुम पृथिवी पर पदार्पण के समय तृणों को लगा गया।

वैसे कुङ्कुम को देखकर अथवा लक्ष्मीजी की शक्तियों से भगवान् का किया हुआ भोग देख कर जब पुलिन्दियाँ विशेष काम पीड़िता होने लगी, तब उस काम से उत्पन्न पीड़ा को मिटाने के लिए उन्होंने स्वयं उस कुङ्कुम को अपने मुख तथा स्तनों पर लेप कर दिया।

उस लेप करने से इन (पुलिन्दियों)की काम पीड़ा इसलिए निवृत्त हो गई, जो इस लेप से पुलिन्दियों में लक्ष्मी का आवेश आ गया जिससे वे, भगवान् के उपभोग की पात्र हो गई। अतः भगवद्भोग से उनका काम शान्त हो गया और उससे उद्भूत पीड़ा भी नष्ट हो गई। इसलिए वे पुलिन्दियाँ पूर्ण हैं। यह भगवान् का चरित्र अलौकिक है। भगवान् का नाम 'उरुगाय' देने का यह भी भावार्थ है कि इन्होंने भी भगवान् का श्रवण किया है। यह सर्व वन में रहने से होता है, गोपियाँ कहती हैं, कि वह तो हम लोगों में है नहीं इसलिए हम अपूर्ण हैं। 'काम' तो वास्तविक मन की पीड़ा (आधि) रूप है। वह आधि' उपभोग से शान्त हो गई, जैसे अन्न के भोजन से भूख की निवृत्ति होती है ॥ १७ ॥

१ - प्रकट-सामने । २ - तयार । ३ - लगाया एवं दिया । ४ - धारण ।

५ - भूषण की भाँति लगाया । ६ - मगर मच्छ ।

आभास — निर्गुणा आहुर्हन्तेति,

आभासार्थ — 'हन्तायमद्विखला' यह श्लोक निर्गुण गोपीजन कहती हैं ।

श्लोकः — हन्तामयद्विखला हरिदासवर्यो यद् रामकृष्णचरणस्पर्शप्रमोदः ।

मानं तनोति सहगोगणयोस्तयोर्यत् पानीयसूयवसकन्दरकन्दमूलैः ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ — गोपीजन अन्य गोपीजन को कहती हैं कि हम अबलाएँ हैं । अतः हे अबलाओं ! खेद है, कि जैसे राम कृष्ण के चरणारविन्द के स्पर्श से यह गिरिराज आनन्दित हुआ है वैसे हम नहीं हुई हैं, यह गिरिराज गौ गण सहित श्रीराम कृष्ण का जल, घास, कन्दरा कन्द मूल आदि से सत्कार कर रहा है, इसलिए भगवद्भक्तोंमें श्रेष्ठ है ॥ १८ ॥

सुबोधिनी — कथं पुलिन्द एतादृश्यो जाता इत्याशङ्क्यां भगवद्भक्तसङ्गात् तथात्वं जातमिति गोवर्धनस्य भगवद्भक्तत्वमाहुर्हन्तेति खेदे यद्यस्माभिरपि गोवर्धने स्थितं स्यात् तदास्माकमपि तथा भवेत् तदभावात् खेदः, अयमद्विर्गोवर्धनो हरिदासानां मध्ये वर्यः, तत्र हेतुर्यद् यस्मात् कारणाद् रामकृष्णचरणारविन्दस्पर्शं प्रकृष्टमोदो यस्येति, स एव भगवदीयेषु श्रेष्ठो यो भक्तिमार्गस्य स्पर्शोऽप्यानन्द-युक्तो भवति, किञ्च सात्त्विकोयं गुणातीतो वातो निर्धनोथापि तयोर्मानं करोति सहगोगणयोः, गावश्च गणा देवरूपा बालकाश्च, तयोः पानीयसूयवसकन्दर-कन्दमूलैश्चतुर्भिरातिथ्यं करोति, पानीयसूयवसे गवां कन्दरा स्थानं, कन्दमूलानि भक्ष्याणि,

“तृणानि भूमिरुदक” मितिवाक्याच् चतुष्टयसम्पत्तिरुक्ता, तत्र कोमलदूर्वा गवां भक्षणार्थेऽन्येषामास्तरणार्थं चोपयुज्यन्ते, भूमिः कन्दरैव, प्रायेणेदानीं वर्षतीति लक्ष्यते, वाक्स्थाने कन्दमूलानि, सर्वाभावे वाचो गणना, सन्तोषो भक्तस्याधिकः, अबला इतिसम्बोधनं, सर्वासामप्यस्माकं तत्र गमने सामर्थ्याभाव उक्तः, कन्दा भर्जनसापेक्षा मूलानि तु तथैव भक्ष्याणि, एकरसाभावाय चोक्तमन्नव्यञ्जनभावार्थं वा, तत्राप्यवान्तरभेदा बहव इति बहुवचनं, अनेनाबलास्वाक्रोशोपि प्रदर्शितो या नवनीतादिभक्षणे विमनस्का जाताः, अतो युक्तमेवापूर्णत्वं, पूर्वोक्ताः पुलिन्द इति पर्वतप्रेरणया कन्दमूलादिकं ताभिः समानीयत इति लक्ष्यते ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ — पुलिन्दियाँ वैसी (पूर्ण) कैसे हो गई ? इस शङ्का के उत्तर में कहती हैं कि ये भगवद्भक्त (गोवर्धन) क साथ सङ्ग होने से वैसी हुई हैं । यह कहकर अनन्तर, गोवर्धन का भगवदीयत्व सिद्ध करती हैं, और 'हन्त' इस पद से अपने लिए दुःख प्रकट करती हुई कहती हैं, कि यदि हम भी गोवर्धन पर रहती तो हमारी आधि<sup>१</sup> निवृत्त हो जाती किन्तु वैसा न होने से, हम अपूर्ण ही रह गई हैं अतः खेद है । श्रेष्ठ भगवद्भक्त वह होता है जिसको भगवान् के चरणारविन्द के स्पर्श से अत्यन्त मोद<sup>१</sup>

होता है, अतः यह गोवर्धन हरिदासों (भगवान् के दासों) में श्रेष्ठ है, क्योंकि इसको रामकृष्ण के चरणारविन्द के स्पर्श होते ही प्रकृष्ट<sup>१</sup> मोद<sup>२</sup> हुआ है, और यह (गोवर्धन) सात्त्विक<sup>३</sup> अथवा गुणातीत है, कारण कि निर्धन होते हुए भी गौ और देव रूप बालक (गोप) समेत इन दोनों (राम कृष्ण) का आतिथ्य सत्कार कर रहा है, निर्धन है तो फिर आतिथ्य सत्कार कैसे किया ? इसके उत्तर में कहते हैं जैसे शास्त्र में कहा है कि 'तृणानि भूमि रुदकं वाक् चतुर्थी च सूनृता । एतान्यपि सतां गेहे नोच्छिद्यन्ते कदाचन' भक्तों के यहाँ चार पदार्थ बैठाने के लिए १ - तृणासन, २ - भूमि, ३ - पिलाने के लिए जल, ४ - मन प्रसन्न करने के लिए मधुर वाणी ये चार पदार्थ भक्तों के घर से कभी भी नष्ट नहीं होते हैं चाहे अन्य पदार्थ सभी चले जाएँ । इस प्रकार गोवर्धनजी के यहाँ भी चार पदार्थ विद्यमान थे जिनसे उसने आतिथ्य किया, वे चार पदार्थ ये हैं जल, सुन्दर घास, कन्दरा और कन्द मूल । इन चारों से इस (निम्न) प्रकार आतिथ्य सत्कार किया, जल से सब की तृषा निवृत्ति, सुन्दर घास से गौओं को भोजन कराया और अन्यो का बिछोना बनाया, कन्दरा में बिठाकर उस समय पड़ रही वर्षा से रक्षा की कन्द तथा मूल से रामकृष्ण तथा बालकों को भोजन कराया । कन्द भूँज कर खाए जाते हैं और मूल बिना भूँजे भी खाने में आते हैं । कन्द और मूल में भिन्न भिन्न रस हैं अतः कंद, अन्न के स्थान<sup>४</sup> पर दिए गए और मूल, व्यंजन के एवज में दिये गए बहुवचन देकर यह कहा है, कि इनके भी अनेक भेद होते हैं सारांश यह है, कि गोवर्धन ने निर्धन होते हुए भी शास्त्रानुसार प्रेम पूर्वक अपना दास धर्म पालन किया है । क्योंकि भक्तों में सन्तोष विशेष होता है, जिससे वे उस सन्तोषामृत से सभी दशा में सन्तुष्ट रहते हैं । गोपीजन ने अपने को 'अबला' कह कर यह बताया है कि हम वहां (गोवर्धन के पास) जाने में असमर्थ हैं । इससे उन्होंने अपना चिल्लाना वा गुस्सा भी दिखलाया है, जैसे कि जब भगवान् माखन आदि खाते थे तब हम मन ही मन कुड़बुड़ाती थी अतः हम अपूर्ण हैं यह कहना योग्य ही है । जाना जाता है कि ये पुलिन्दियाँ वे ही हैं, जिनका वर्णन पहले किया गया है इसलिए पर्वत की प्रेरणा से वे कन्द मूलादि लाती हैं ॥ १८ ॥

**आभास —** ननु तथापि वयं सजातीया योग्यास्ता विहाय तस्मिस्तासु च कथं कृपेत्याशङ्क्याहर्गा गोपकैरिति,

**आभासार्थ —** इस निम्न 'गा गोपकैः' श्लोक से जब हम सजातीय हैं वे विजातीय हैं तब हमको छोड़कर गिरिराज तथा उन पर कृपा क्यों ? इस शङ्का की निवृत्ति की गई है ।

**श्लोकः —** गा गोपकैरनुवनं नयतोद्धारवेणुस्वनैः कलपदैस्तनुभृत्सु सख्यः ।

अस्पन्दनं गतिमतां पुलकस्तरूणां निर्योगपाशकृतलक्षणयोर्विचित्रम् ॥ १९ ॥

**श्लोकार्थ** — हे सखियों ! गोप बालकों के साथ एक वन से दूसरे वन में गौओं को ले जाते हुए, तथा नियोग तथा पाश के चिन्ह से विभूषित उन दोनों के उदार, वेणु के नादों से और अव्यक्त<sup>१</sup> चर पदार्थों<sup>२</sup> में रुकावट डालना अर्थात् स्थिरता कर देना, और अचरों<sup>३</sup> में रोमाञ्च उत्पन्न करना, इत्यादि से यह देहधारियों में विलक्षणता दिखती है ॥ १९ ॥

**सुबोधिनी** — विपरीतं हि भगवच्चरित्रं, साक्षाद् भगवान् न किञ्चित् करोति किन्तु साक्षिमात्रेणैव गतिमतामस्पन्दनं भवति तरूणां च पुलकं तथास्माकं योग्यानामयोग्यत्वमयोग्यानां पुलिन्दीनां तथात्वमिति, विपरीतसम्पादने हेतुत्रयमाह गोपकैः सहानुवनं गा नयतोः सतीरित्येकः, वेणुस्वनैरित्यपरः, कलानि पदानि यत्रेतिविशेषणेन चापरः पदैश्चरणैर्वा, गावो वने वने नीयन्ते सर्वेषामेव वनानां शुद्धिं सम्पाद्यतेऽतो वनानि निर्दुष्टानि भवन्ति, गवां गोपानां च तत्सम्बन्धो भवति, एतदीया शुद्धिर्धर्मश्च तत्र गच्छतः, तत उदारो यो वेणुस्वनो वेणुर्वोदारस्ततो वेणुभुक्तशेषं ते भुञ्जते, अतस्तेषां पुलक

उचित एव, ये पुनर्गतिमन्तस्ते दोहार्थं भगवति समागते मनःपूर्वकं स्वामृतदानार्थं तत्र विघ्नाभावार्थं च सर्व एव तूष्णीं भवन्ति, शब्द शङ्कया चलन्त्यपि न, अत एव भगवतोऽव्यक्तमधुराणि पदानि भवन्ति शनैर्गमनात् दोहकालोऽयं, सख्य इतिसम्बोधनं तत्र गतानां दर्शनेन सम्मत्यर्थं, अतस्तनुभूत्सु स्थावरजङ्गमेषु चित्रं भवति, तामवस्थां ज्ञापयति नियोगपाशकृतलक्षणयोरिति, नितरां योगो याभ्यां गोवत्सयोस्तौ पाशौ नियोगपाशौ निदाने ताभ्यां कृतं लक्षणं ययोः, हस्तेन तदुभयग्रहणं पादयोर्योजनं वा, अतो भीताः सर्व एव जङ्गमा अस्मानपि बध्नीतेति, स्थावराणां तु भयात् स्वत एव मधुधाराः ॥ १९ ॥

**व्याख्यानार्थ** — भगवान् के चरित्रों की गति लोक से विपरीत होती है, यद्यपि भगवान् स्वयं कुछ नहीं करते हैं तो भी उनके (भगवान्) के साक्षी मात्र से ही चर<sup>४</sup> प्राणियों में जड़ता आ जाती है अर्थात् जो चेतन होने से चलते रहते हैं वे जड़ की तरह स्तम्भित हो जाते हैं, अर्थात् चल नहीं सकते हैं ठहर जाते हैं, और जो जड़ होने से क्रिया हीन हैं उनमें चेतनता<sup>५</sup> हो जाती है जैसे कि नदियों का वेग रुक गया और वृक्षों में रोमाञ्च होने लगा । इसी प्रकार हम (गोपियाँ) जो रस लेने के योग्य थीं, वे तो अयोग्य हो गईं, जिससे हमको उस रस की प्राप्ति नहीं हुई, किन्तु जो पुलिन्दियाँ अयोग्य थीं, वे योग्य बन गईं जिससे रस प्राप्त होने के कारण उनकी आधि नष्ट हो गई । इस प्रकार की विपरीतता होने के तीन कारण हैं, १ - कारण यह है कि भगवान् गोप बालकों के साथ गौओं को एक वन से दूसरे वन में ले जाते हैं, २ - वेणु के स्वरों की ध्वनिओं से, ३ - मधुर अव्यक्त पद अर्थात् अस्फुट श्री चरण । इन तीनों कारणों से सब वनों की शुद्धि हुई जिससे वन दोष रहित हो गए हैं । सारांश यह है कि भगवान् बंशी बजाते हुए गोपों के साथ गौओं को चराते हुए प्रत्येक वन में घूमते हैं, तब गौओं का, गोपों का, भगवान् के चरणों तथा वेणु के स्वरों का वनों से सम्बन्ध होता है, जिससे वे वन निर्दोष हो जाते हैं और इनके धर्म तथा इनकी शुद्धि वनों में प्रवेश करती है । चर प्राणी, गौओं में क्रिया की निवृत्ति

१ - अस्पष्ट जो साफ समझ में न आवे, सूक्ष्म मधुर हो ऐसे ।

२ - चलने वाले नदी पशु आदि ।

३ - वृक्षादि ।

४ - चेतन ।

५ - क्रिया उत्पन्न ।

हुई, जिससे वे स्थिर हो गईं इन (गौओं) के सम्बन्ध से, वन भी अपनी क्रिया (स्थिरता) से निवृत्त हो गए, जिससे उनमें रोमाञ्च उत्पन्न होने लगे अर्थात् चेतनों में जड़ता आ गई और जड़ों में चेतना आ गई। इस प्रकार जब स्वभाव पर विजय होती है, तब रस की प्राप्ति होती है। गोप जो रसिक<sup>१</sup> हैं उनका धर्म (रसिकत्व) जब वनों में प्रविष्ट हुआ तब वन भी (रसिक) हो गए। अनन्तर उदार, जो वेणु के रव, अथवा वेणु, उनके भोग से बाकी रही हुई, सुधा (रस) वे (वन) भोगते हैं (रस को लेते हैं) इसलिए उनको रोमाञ्च होना योग्य ही है।

जो गति वाली चेतन गौ हैं, वे जब देखती हैं, कि भगवान् दोहने के लिए आए हैं, तब मन (प्रसन्नता) से अपना अमृत (दूध) देने के लिए वहाँ उस समय किसी प्रकार विघ्न न हो, तदर्थ कुछ नहीं बोलती हैं, चुपचाप खड़ी रहती हैं, न केवल मौन रहती हैं, किन्तु कुछ शब्द मात्र भी न हो जाए इसलिए एक ही स्थान पर खड़ी रहती हैं। इसी कारण से, भगवान् भी धीरे धीरे पधारते हैं, जिससे आपके चरण भी अव्यक्त तथा मधुर दिखते हैं, धीरे धीरे चलने का कारण दोहने का समय है, अर्थात् दोहने के समय, किसी प्रकार की ध्वनि न होकर, शांति होनी चाहिए शान्ति में ही अमृत की प्राप्ति होती है। हे सख्यः ! इस सम्बोधन से यह बताया है कि, वहाँ जाकर जो गोपीजन भगवान् के उस समय की लीला का दर्शन कर आई थी उनकी इस विषय में सम्मति है, अतः जड़ और चेतन प्राणियों में विचित्रता दिखाई गई है।

जिन (रस्मियों) से गौ के साथे बछड़े का योग<sup>२</sup> होता है उनको 'निर्योगपाश' कहते हैं वह निर्योगपाश भगवान् के हाथ में है, जिनसे भगवान् चेतन (गौओं) को बान्धते हैं, यह देखकर सब जङ्गम<sup>३</sup> डरने लगे कि हमको भी बाँधेंगे। स्थावरो<sup>४</sup> से तो भय के कारण स्वतः (बान्धने के बिना ही) ही मधु धारा बहने लग गई ॥ १९ ॥

**आभास —** उपसंहरत्येवंविधा इति,

**आभासार्थ —** निम्न 'एवं विद्या' श्लोक से श्री शुकदेवजी इस 'प्रमेय प्रकरण' का उपसंहार<sup>५</sup> करते हैं।

**श्लोकः —** एवंविधा भगवतो या वृन्दावनचारिणः ।

वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः ॥ २० ॥

१ - रसवाले अथवा रस को जानने वाले । २ - मिलाप का बन्धन । ३ - चेतन प्राणी ।

४ - वृक्षों । ५ - समाप्ति ।

**श्लोकार्थ** — वृन्दावन में स्वच्छन्द विहार करने वाले भगवान् की इस प्रकार की क्रीड़ाओं का परस्पर गान करती हुई गोपीजन तन्मय बन गई ॥ २० ॥

सुबोधिनी — अयमेकप्रकार उक्त एवंविधाः कोटिशः सन्ति लीलाः, तत्र हेतुर्भगवत् इति, गुणानां भगवत्स्व मिश्रणे कोटिशः प्रस्तारा भवन्ति, किञ्च मर्यादायां परिमिता अपि भवन्ति या पुनर्वृन्दावनचारिणः स्वेच्छागतिमतो भगवतोऽतो मर्यादाभावादसङ्ख्याता एव, अत एव वर्णयन्त्यो गोप्यस्तन्मयतां ययुः क्रीडामय्य एव जाता जाग्रत्स्वप्नेषु क्रीडामेव पश्यन्त्य आसक्तिभ्रमन्यायेन, ययुरिति न पुनस्तेषां संसारे समागमनम् ।

**व्याख्यार्थ** — श्री शुकदेवजी उपसंहार करते हुए कहते हैं कि, यहाँ तो अब लीला का एक ही प्रकार कहै है, यों तो षड ऐश्वर्यादि गुणों वाले धर्मी स्वरूप भगवान् की वैसी कोटिशः लीलाएँ हैं, और मर्यादा मार्ग में तो लीलाओं की सीमा हो सकती है, किन्तु स्वच्छन्द गति वाले वृन्दावन विहारी भगवान् में, किसी प्रकार मर्यादा न होने से, उनकी अगणित लीलाएँ हैं । इसीलिए श्लोक में कहा है, कि 'वर्णयन्त्यो मिथो गोप्यः क्रीडास्तन्मयतां ययुः' वे गोपीजन इन लीलाओं का परस्पर वर्णन करती हुई तन्मय<sup>१</sup> हो गई । वर्णन करती हुई जागृत अवस्था में तथा स्वप्न अवस्था में 'आसक्ति भ्रम न्याय से\* क्रीड़ाओं<sup>२</sup> का ही दर्शन करती थीं जिससे उनमें ऐसी लीन हो गई जैसे उनसे फिर बाहर न निकल सकी अर्थात् पुनः संसार में जन्मी नहीं ।

एवं सप्तभिर्मध्यमो निरोधो निरूपितः पञ्चपर्वाविद्यानिवृत्तिपूर्वकमन्तर्भगवत्प्राप्तिरूपः ॥ २० ॥

इति श्रीमद्भागवतसुबोधिण्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां  
दशमस्कन्धविवरणेऽष्टादशाध्यायविवरणम् ।

इस प्रकार मध्यम निरोध वाला यह प्रमेय प्रकरण सात अध्यायों से पूर्ण किया है जिससे अविद्यानिवृत्ति पूर्वक अन्तःकरण में भगवत् प्राप्ति रूप निरोध का वर्णन है ॥ २० ॥

\* 'आसक्ति भ्रम न्याय' का तात्पर्य यह है कि जिसको जिस पदार्थ में 'आसक्ति' लगन<sup>३</sup> होती है उसको दिन रात अर्थात् जागते सोते वही पदार्थ याद आता है एवं दिखता है जिससे वह आसक्ति वाला उस पदार्थ का रूप बन जाता है अतः गोपीजन का मन भी भगवान् में तथा उनकी लीलाओं में आसक्त<sup>४</sup> हो गया था, जिससे उनको दिन रात भगवान् तथा उनकी लीलाओं के बिना कुछ भी न याद आता था न कुछ दिखता था, बस भगवान् और उनकी लीलाओं के दर्शन तथा वर्णन में ही वे लोग मग्न रहती थी जिससे वे तन्मय बन गई ।



॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिनीयां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणोष्टादशाध्यायविवरणम् ॥

॥ समाप्तं तामस प्रमेय प्रकरणम् ॥

‘तामस प्रमेय प्रकरणं सम्पूर्णम्’

इति श्रीमद्भागवत् महापुराण दशम स्कन्ध पूर्वार्ध के १८वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी ( संस्कृत टीका ) के तामस प्रमेय अवान्तर प्रकरण के ‘धर्मी’ निरूपण सातवें अध्याय के हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

राग-सारंग

वेनु धरयो कर गोविंद गुन निधान ।  
जाति हुति वन काज सखिनि संग रही ठगी सुनत कान ।  
मोहत सहज सकल मृग खग पसु बहु विधि सप्तक सुर बंधान ।  
‘चत्रभुज’ दास गिरिधर तनु मनु चोरि लियो करि मधुर गान ॥

राग-केदारो

मधुर मोहन मुख हिं मुरली बाजै ।  
मनहुँ, मन्दि, मन्दि, तै मन्दि, तन्दि, जगन्नी, ।  
राग केदारो, चर्चरी ताल साजै ॥  
सप्त सुर-भेद बंधान तुम नांउ लै  
करत गुन-गान मिलि, तुम हित काजै ।  
‘छीत-स्वामी’ नवललाल गिरिधरन को  
वेगि मिलि भेटि, मन्मथ-दाह दाजै ॥

राग-गौरी

चंचल चारु कमल-दल-नैन ।  
अद्भुत अधरबिंब कर मुरली तान स्रवन कृत ऐन ॥  
ललित त्रिभंग त्रिलोकी-मोहन भ्रू विलास जीते मैन ।  
‘कृष्णदास’ प्रभु गिरिधर देखत ब्रज बनौक सुख चैन ॥

॥ श्री हरिः ॥

## श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला

### चतुर्थ पुष्प

श्री मद्भागवत महापुराण की श्री मद्बल्लभाचार्य विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध-पूर्वार्ध अध्याय—२२-२८

श्री सुबोधिनी-तामस-साधन उप-प्रकरण अध्याय—१९-२५

श्री भागवत गूढार्थ प्रकाशन परायणः ।

साकार ब्रह्म चार्दक स्यापको वेद पारगः ॥—(श्रीमद्बल्लभाचार्य)

श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण

सहायक ग्रन्थ—

टिप्पणी—श्री मद्विठ्ठलेश प्रभुचरण

लेख—गो० श्री बल्लभजी महाराज

प्रकाश—गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज

योजना—प० भ० श्रीलालभट्टजी

कारिकार्थ—प० भ० श्री निर्भयरामजी भट्ट

अनुवादक—

गो. वा. प. भ. पं० श्री गोवर्धनजी शास्त्री वेदान्ताचार्य

कोटा ( राजस्थान )

प्रथम आवृत्ति, १०००

राधाष्टमी-महोत्सव

भाद्रपद शुक्ला ८ वि. सं. २०२६

दिनांक १८ सेप्टेम्बर, १९६६

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल

मानधना भवन, चौपासनी मार्ग

जोधपुर ( राजस्थान )

नये

सा. मं.

संस्था

सदस्यों

को

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥  
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥  
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## • श्रीमद्भागवत महापुराण •

दशम स्कन्ध ( पूर्वार्ध )

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका ( हिन्दी अनुवाद सहित )

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २२वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार १६वां अध्याय

तामस-साधन-अवान्तर प्रकरण

‘प्रथम अध्याय’

चीर-हरण-लीला

कारिका—अतः सप्तभिरध्यायैर्निरोधोत्र निरूप्यते ।

उत्तमः फलपर्यन्तो विद्यानिर्णयपूर्वकः ॥१॥

कारिकार्थ—अब यहाँ\* सात अध्यायों से विद्या के निर्णय पूर्वक, फल पर्यन्त† उत्तम निरोध का निरूपण किया जाता है ॥१॥

---

\*-‘अत्र’-इस तामस-साधन उप-प्रकरण में ।† ‘फल पर्यन्त’-बैकुण्ठ की प्राप्ति करा देने वाले आत्म समर्पण तक ।

कारिका—विद्या पञ्चकमत्रापि तस्मिन् जाते सुरक्षणम् ।

इहैव गमनं चापि वैकुण्ठावधि वर्ण्यते ॥२॥

कारिकार्थ—इस साधन प्रकरण में भी, पाँच विद्याएँ कही गई हैं और इनके सिद्ध हो जाने पर, देवताओं का दर्शन तथा वैकुण्ठ पर्यन्त गमन का वर्णन इसी उप प्रकरण में किया गया है ॥२॥

योजना—उत्तम—इस दशम स्कन्ध में, निरोध लीला का वर्णन है। वह प्रेमात्मक निरोध आसक्त्यात्मक निरोध और व्यसनात्मक निरोध, भेद से तीन प्रकार का है। उनमें प्रथम (प्रेमात्मक) निरोध का निरूपण, “प्रमाण” उप-प्रकरण में, हो चुका है और मध्यम (आसक्त्यात्मक) निरोध का प्रमेय उप-प्रकरण में वर्णन कर दिया गया। उत्तम (व्यसनात्मक) निरोध का वर्णन, इस “साधन” उप-प्रकरण में करते हैं। यह व्यसनात्मक निरोध बिना किसी व्यवधान<sup>१</sup> के स्वयं साधन रूप होने से उत्तम (निरोध) है। और शास्त्र में बतलाया है, कि जब भगवान् कृष्ण में व्यसन हो, तब जीव कृतार्थ होता है। अतः व्यसन रूप होने से, यह “साधन” उप-प्रकरण का, निरोध ही उत्तम (निरोध) है और उसी का यहाँ वर्णन है।

फलपर्यन्त—ब्रह्मानन्द का अनुभव रूप अवान्तर<sup>२</sup> फलपर्यन्त ॥१॥

टिप्पणी—विद्यापञ्चकम्—यदि साक्षात् सेवा सम्भव न हो, तो परम्परा से भी भगवान् की ही सेवा करना चाहिए। देह इन्द्रिय आदि का विनियोग, भगवान् में ही करना, अपने स्वार्थ में देह आदि को नहीं लगाना,—ऐसी निर्णय रूप विद्या ‘प्रथम’ विद्या है।

देह के निर्वाह के लिए और प्राणादिक भूख प्यास आदि धर्म की निवृत्ति के लिए भी,—देह निर्वाह और भूख प्यास आदि प्राणादि के धर्मों की निवृत्ति करने में, स्वयं समर्थ होने पर भी,—प्रभु से ही प्रार्थना करना, अन्य किसी से नहीं। प्रभु लोक में, अलौकिक, कुछ नहीं करते हैं। भगवद्भाव की प्राप्ति भगवान् के अनुग्रह से ही हो सकती है, शास्त्रोक्त जप आदि साधनों से नहीं हो सकती—ऐसा निर्णय करने वाली विद्या ‘दूसरी’ विद्या है। अन्य का भजन नहीं करना, स्व पूर्वजों की परम्परा से चले आए धर्म का भी भगवान् की इच्छा हो, तो त्याग कर देना ऐसा निर्णय करने वाली विद्या, ‘तीसरी’ है। सब अवस्था में भगवान् की ही सेवा करना तथा अक्लिष्ट कर्म (सम्पूर्ण क्रीड़ादि कार्य में श्रम रहित) भगवान् अपने दास जनों की रक्षा अवश्य करते ही हैं—यह ‘चतुर्थ’ विद्या

\*‘यदा स्याद् व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि’ ।

कारिका—ज्ञानं कर्म च विद्यायां पश्चात्कर्मिति स्थितिः ।

अविद्या कार्य सम्बन्धो नात्रेति दिनिरूप्यते ॥३॥

कारिकार्थ—ज्ञान और कर्म रूप विद्या में, अंगभूत ज्ञान पांच प्रकार का है और कर्म भी पांच प्रकार का है । अविद्या और अविद्या के कार्य का सम्बन्ध यहाँ नहीं है—इस बात को बतलाने के लिए, विद्या के निरूपण के अनन्तर, देव के दर्शन का निरूपण आता है ॥३॥

है । भगवान् का माहात्म्य जान कर, उन में परम स्नेह करना तथा भक्तों को, सब की अपेक्षा श्रेष्ठ समझना,—यह 'पांचवी' विद्या है । इन पाँचों विद्याओं की प्राप्ति होने पर, पूर्ण निरोध सिद्ध हुआ, तब अपना कार्य (निरोध सिद्धि) हो जाने के अनन्तर इन्द्रादि देवता को देखने की दृष्टि प्रभु ने ब्रजवासियों की करी । इसी से इसका निरूपण, पोछे किया है और श्रीनन्दरायजी को भगवान् की महिमा (उत्कर्ष) का ज्ञान कराने के लिए ही वरुण का दर्शन कराया यही तात्पर्य—तस्मिन् जाते सुरक्षणम्—इन पदों में कहा है ।

लेख—'अत्रापि'—साधन मार्गीय भक्तों में । 'अत्रापि' पद का सम्बन्ध—'निरूप्येत'—के साथ समझना । लीलास्थ भक्तों के विषय में भी, पाँच विद्याओं का निरूपण किया जाता है । 'तस्मिन् जाते सति' व्यसन पर्यन्त निरोध की सिद्धि हो जाने पर, भगवान् ने इन्द्र का दर्शन कराया और भक्तों ने वरुण का दर्शन किया—इन दोनों का वर्णन—सुरक्षणम्-पद में किया, ऐसा सम्बन्ध है अतः इस निरोध की सिद्धि होने तक, भगवान् ने अन्य कोई कार्य नहीं किया । उक्त निरोध की प्राप्ति हो जाने के अनन्तर ही ब्रज वासियों की इन्द्र विषयिणी दृष्टि की । इससे यह लीला अत्यन्त महत्वपूर्ण समझ में आती है । तात्पर्य यह है कि, यह निरोध, देव दर्शन में आने वाले प्रतिबन्ध को, दूर करने में तथा भगवन्लोक के दर्शन की इच्छा उत्पन्न करा कर, वरुण के दर्शन की स्वरूपयोग्यता का सम्पादन कराने में, कारण है । इहैव—वरुण दर्शन के अध्याय में । 'च' छन्द तथा ब्रह्मात्मकता का भी द्योतक है ।

टिप्पणी—इस निरूपण का तात्पर्य कहते हैं—'अविद्याकार्येति-अविद्या' तथा अविद्या का कार्य—यह समझना ।

लेख—कर्म और ज्ञानात्मक विद्या में, उसके अंगभूत ज्ञान का वर्णन आगे होगा वह (ज्ञान) पर्व के भेद से, पांच प्रकार का है । कर्म भी, देश, काल, द्रव्य, कर्त्ता और मन्त्र भेद से पाँच प्रकार का है । ऐसी मर्यादा है । अविद्या और उसके कार्य का सम्बन्ध यहाँ नहीं है, इसीलिए इस (सम्बन्धाभाव) को बतलाने के लिए विद्या का निरूपण कर देने के अनन्तर, देव दर्शन का निरूपण आता है ।

योजना—'ज्ञानं कर्म च विद्यायाम्'—यहाँ—'विद्या'—'टिप्पणी' में कहे हुए भेदों से पाँच प्रकार की समझना । ज्ञान और तदनन्तर ज्ञान के अनुकूल कर्म भी, निम्नलिखित प्रकार से पाँच प्रकार का हैः—१—कात्यायनी व्रत, पूजा आदि कर्म, भगवान् को प्राप्त करा (देने की इच्छा) देगा—ऐसी इच्छा से ही करना और परम्परा से भी भगवान् की ही सेवा करना । २—गोपजनों ने भूख से पीड़ित होकर भी क्षुधा की शान्ति के लिए, भगवान् की

कारिका—स्त्रीपुंसोः सहभावेन तुल्यत्वाच्चनिरूपणम् ।

लोकानुसारिणी विद्या कर्मज्ञानात्मिका पुरा ॥४॥

कारिकार्थ—स्त्रियों और पुरुषों की समानता है इसलिए सह भाव से निरूपण है । पहिले गोप और गोपीजनों की कर्म ज्ञानात्मिका तथा लोकानुसारिणी (लोक का अनुसरण करने वाली) विद्या का भेद सहित निरूपण किया गया है ॥४॥

कारिका—निरूप्यते गोपिकानां गोपानां च विभेदतः

एकोनविंशे भोग्यानां कुमारीणां व्रतं यथा ॥५॥

अन्तःस्थानां कुमाराणां तथा ज्ञानमिहोच्चते ॥५॥

कारिकार्थ—भोग्य कुमारिकाओं के व्रत का निरूपण उन्नीसवें अध्याय में जिस प्रकार किया है उसी प्रकार (इसी अध्याय में) अन्तःस्थ कुमारों के ज्ञान का निरूपण (वर्णन) भी यहीं किया गया है ॥५॥

ही प्रार्थना की—यह प्रार्थना रूप, द्वितीय कर्म । ३—श्रीनन्दरायजी आदि ने इन्द्र का याग रूप परम्परागत धर्म का त्याग किया और गोवर्धनयाग किया—यह तृतीय कर्म । ४—इन्द्र के द्वारा की गई वृष्टि से व्याकुल हुए, व्रज जनो ने हरि की ही सेवा की—यह शरणगमन रूप, चतुर्थ कर्म । ५—उन गोपों ने जिनका सन्देह श्रीनन्दरायजी के वाक्यों से दूर हो गया था, भगवान् में माहात्म्य ज्ञान पूर्वक, स्नेह युक्त कार्य किया—यह पाँचवाँ कर्म है ।

टिप्पणी—स्त्रियों और पुरुषों का सह भाव से निरूपण करने का कारण, उनकी तुल्यता है अविद्या के सम्बन्ध का अभाव अथवा निरोध दोनों में समान है ।

योजना—स्त्रीपुंसो—कुमारिका और उनके पुरुषभावरूप वयस्य । तुल्यत्वात्—रहस्यलीला का अनुभव कुमारिका और उनके पुरुष भाव रूप वयस्य दोनों को साथ ही फल प्रकरण में होगा । अतः फल के अनुभव की, समानता होने से, 'साधन' उप-प्रकरण में भी दोनों का सहभाव से, निरूपण किया गया है । 'वयस्यैरागतस्तत्र' वयस्यों (सखाओं) के साथ भगवान् वहाँ पधारे—इत्यादि स्थलों पर साधन में, सहभाव का निरूपण है । इससे गोपीजनों की कर्मात्मिका विद्या कात्यायनी व्रतरूप विद्या—का निरूपण किया गया है और गोपों की ज्ञानात्मिका विद्या का निरूपण—'धन्य एषां वर जन्म'—इन वृक्षों का जन्म उत्तम है—इत्यादि वाक्यों में, भगवान् ने उपदेश करके किया है । इस प्रकार गोपीजनों की कर्मात्मिका विद्या और गोप जनों की ज्ञानात्मिका विद्या का, भेद सहित निरूपण किया गया है । यही विषय अन्तिम कारिका में स्पष्ट कहा है कि उन्नीसवें अध्याय में, जिस प्रकार भोग्य कुमारिकाओं के व्रत का निरूपण किया है, उसी प्रकार अन्तस्थ कुमारों के ज्ञान का निरूपण भी यहाँ (इसी अध्याय में) ही किया गया है । अन्तःस्थ कुमारों का, अर्थात् जिन भक्तों का निरोध करवाना है, उन्हीं की इन्द्रियों में उनके अधिष्ठाता रूप से भीतर रहने वाले कृष्ण स्तोक आदि का ।



## प्रथम अध्याय

श्री शुक उवाच

श्लोक—हेमन्ते प्रथमे मासि नन्दगोपकुमारिकाः ।

चेरुहविष्यं भुञ्जानाः कात्यायन्यर्चनव्रतम् ॥१॥

श्लोकार्थः—श्री शुकदेवजी कहने लगे हेमन्त ऋतु के प्रथम, मार्गशीर्ष मास में, नन्दगोपकी कुमारिकाओं ने, हविष्य अन्न का भोजन करते हुए, कात्यायनी की पूजा के व्रत का आरम्भ किया ॥१॥

सुबोधिनी—पूर्वाध्याये स्त्रीणां गोपिकानां भगवत्क्रीडायां परमासक्तिनिरूपिता, ताश्च द्विविधा अनन्यपूर्वा अन्यपूर्वाश्च, अन्यपूर्वास्त्वन्यथैव कृतसंस्काराः, तासां त्यागोङ्गं, तदुत्तरत्र वक्ष्यते, अन्यासा अन्यासामसंस्कृतानां संस्कार एव निरूप्यते, विद्यायामयमेव त्यागात्याग-निर्णयः, अत्यागस्त्यागादुत्तम इति ज्ञापयितुं परीक्षा, नन्दगोपो मुख्य इति तत्रैव भोग्याः कन्यका भवन्ति, ता देवगत्या एकजातीया एव “ऋषयः षोडशसहस्र” मिति-पुराणान्तरादवसीयते, ता अप्यम्बे’तिसम्बोधनात् पूर्वं निरूपिताः, तासामृषित्वादप्यत्र दानमन्त्रेणा भोगं चाशङ्क्य व्रतार्थं प्रवृत्तिः, पूर्वं शरदि तासां चित्तस्थिति-

निरूपितेति हेमन्ते व्रतप्रवृत्तिः, तत्रापि “मासानां मार्गशीर्षोह” मिति--भगवद्वाक्यात् प्रथमे मासि व्रतारम्भः, इदं व्रतमत्रैव प्रसिद्ध, कात्यायन्याधिदेविकी तामसी शक्तिः, दुर्गा पार्वती च राजसी, ब्राह्मणाः सात्त्विकाः, तेषां प्रसादरूपा शक्तिः स्त्री भवति भगवानेव वा गुणातीतः, तदर्थं सेव्यत इति, अतो हेमन्ते पञ्चमऋतौ पञ्चमपुरुषार्थसिद्धयर्थं, प्रथमे मासि मार्गशीर्षे नन्दगोपस्य कुमारिकाः सम्पादिताः संरक्षिता हविष्यान्नमेव भुञ्जानाः कात्यायनीपूजालक्षणं मासं समाप्यव्रतं चेरुः, नित्यं कात्यायनी पूजनीयेतिनियमः ॥१॥

व्याख्यानार्थः—गत अध्याय में, स्त्रियों-(गोपीजनों) की भगवान् की क्रीड़ा में परम आसक्ति का निरूपण किया है। वे गोपिकाएँ, अन्यपूर्वा (कुमारिका) और अन्यपूर्वा (विवाहिता) भेद से, दो प्रकार की हैं। इन में परिणीताओं (विवाहितों) का संस्कार अन्य रीति से-अन्य के साथ विवाह से हुआ है उनका तो वह संस्कार हो चुका अनन्तर केवल त्याग ही बाकी रहा है जिसका आगे वर्णन किया जाएगा अन्य गोपिकाओं (कुमारिकाओं) जिनका विवाह संस्कार नहीं हुआ है उनके विवाह संस्कार का ही निरूपण किया जाता है। विद्या में इसी त्याग और अत्याग का निर्णय है। उन में ‘त्याग’ से ‘अत्याग’, उत्तम है-यह बतलाने के लिए ही परीक्षा की। नन्द गोप मुख्य हैं अतः उनके यहाँ ही, भोग्यकन्याएँ हैं। देव गति से वे सारी एक, ही जाति की हैं—ऐसा ऋषयः षोडश सहस्रम्—इत्यादि अन्य पुराणों से ‘सोलह हजार ऋषि निश्चित होता है। प्रायो ब्रह्मम्’ इस वेणु गीत के श्लोक में ‘अम्ब’ इस सम्बोधन से उन कन्याओं का ही पहिले निरूपण किया गया है।

वे कन्याएँ पूर्व जन्म में ऋषि थीं अतः उनको यह शंका होती थी हमें कहीं किसी अन्य के लिए दान में न दे दिया जाए तथा कोई अन्य हमें अपनी भोग्या न बनाले। इस लिए वे व्रत के लिए प्रवृत्त हुईं। पहिले (१७ वें अध्याय में) उनके चित्त की स्थिति का निरूपण किया। अब हेमन्त ऋतु में वे

व्रत करने लगीं-ऐसा समझना । उस हेमन्त ऋतुमें भी, प्रथम, मार्गशीर्ष मास में, मासाना मार्गशीर्षोऽहम् ( मासों में मार्गशीर्ष मैं हूँ ) गीतोक्त इस भगवद्वाक्यानुसार—व्रत का आरम्भ किया । यह व्रत यहाँ ही प्रसिद्ध है ।

कात्यायनी भगवान् की आधिदैविकी तामसी शक्ति है । दुर्गा और पार्वती राजसी शक्ति है । ब्राह्मण सात्त्विक हैं उनकी प्रसादरूपा शक्ति स्त्री है अथवा गुणातीत भगवान् ही हैं, उनकी प्रसन्नता के लिए ही सेवा की जाती है । इस लिए पाँचवी, ऋतु हेमन्त में, पंचम पुरुषार्थ ( भक्ति ) की सिद्धि के लिए प्रथम, मार्गशीर्ष मास में नन्द गोप की कुमारिकाओं ने ( जिन को प्राप्त कर के अच्छी तरह सुरक्षित रखा है ) हविष्यान्न ही खाकर एक मास में समाप्त होने वाला कात्यायनी की पूजा रूप व्रत किया । प्रति दिन कात्यायनी की पूजा करने का नियम धारण किया ।

‘भगवानेव वा’—आधिदैविक स्त्री शरीर धारी भगवान् ही कात्यायनी है । वह रहस्य लीला में उपयोगी स्त्री शरीर वाला भगवान् का स्वरूप गणातीतु है ऐसा कहा है इस से तामस, राजस, सात्त्विक और गुणातीत व्रज सुन्दरियों को लीला से उपयोगी शरीरों की सिद्धि होना बतलाया है ॥१॥

टिप्पणी—‘अन्यपूर्वास्त्वन्यमैव कृतसंस्कारा इति’-यहाँ यह समझना चाहिए कि, स्त्रियों का विवाह ही मुख्य संस्कार है, क्योंकि वह मंत्र सहित होता है । लोक में, संस्कार द्वारा स्वर्गादि फल को देने वाले अग्नि होत्र आदि “वैदिक कर्मों” के करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है । यहाँ इस प्रकरण में, फल की बात नहीं है, यहाँ तो भगवत् सम्बन्ध ही फलरूप से कहा जाएगा और उस “भगवत्सम्बन्धरूप फल” में संस्कार का कोई प्रयोजन नहीं है, फिर तो यहाँ उसका वर्णन निरर्थक ही हो जाएगा । इसलिए जिस फल को यहाँ कहना चाहते हैं, उस की प्राप्ति कराने वाला कोई धर्म ही, यहाँ ‘संस्कार’ शब्द का अर्थ है । वही धर्म, विवाह से उत्पन्न हुए तृतीय पुरुषार्थ “काम” के विशेष रस का अनुभव कराने में कारण है । काम वास्य की मर्यादा के अनुसार, वह (रस) सब पति पत्नी में उत्पन्न नहीं हो सकता, इसी से व्याख्या में, ‘अन्यथा’ अन्य के साथ उनका परिणय संस्कार होना कहा है । भगवदीयों का किसी अन्य के साथ विवाह अनुचित है—इसी से ‘अन्यथा’ शब्द का प्रयोग किया है परन्तु उन पतियों के साथ, उनका सम्बन्ध न होने से और भगवद्रस का पोषक होने से उसको संस्कार कहा है । इस कथन से, पूर्वोक्त संस्कार की निरर्थकता भी दूर हो गई (मिट गई), क्योंकि अनुचित सम्बन्ध को संस्कार नहीं कहा जाता है । इसलिए यह सब निर्दोष है ।

और यहाँ—‘लोकानुसारिणी विद्या’—इत्यादि वाक्य से पहिले, लोक के अनुसार, कर्म का निरूपण किया है, भगवच्छास्त्रे “भागवत” के अनुसार नहीं किया है । भगवच्छास्त्र में तो, भगवान् की प्राप्ति के लिए भगवान् की ही सेवा करने की मर्यादा है । लोक में, जैसे अपने प्रिय को मिलने के लिए उसकी दूती से प्रार्थना करनी पड़ती है, वैसे ही यहाँ भी कात्यायनी की प्रार्थना की गई है । उस लोकिक दूती को, जैसे धन आदि देकर सन्तुष्ट किया जाता है, वैसे ही यहाँ इस भलीकिक दूती (कात्यायनी) को भलीकिक रीति से, सन्तुष्ट किया गया है ।



अतः इसमें, अन्य का भजन रूप “अन्याश्रय” दोष भी नहीं हो सकता, क्योंकि यह तो भगवान् को प्रसन्न करने के लिए, अपने शरीर के मण्डन के तुल्य है और रस का पोषक है।

वे विवाहित गोपीजन तो प्रौढ अवस्था की हैं, उन में तो भाव के अंकुर उत्पन्न हो चुके हैं, उनका तो अनंगवृक्ष, प्रतिदिन, प्रिय भगवान् के प्रतिदिन बढ़ते हुए प्रेम से अत्यन्त गीले नेत्रों के दर्शन से, सुदृढ हो चुका है और उसके रस के प्रवाह के वेग से, अन्य का भान मिट गया है। उन्हें समय प्राप्त होने पर, भगवान् के समागम की ही अपेक्षा है, जिसका वर्णन “निशम्य गीतम्” से आरम्भ करके “न न्यवर्तन्त” श्लोक तक छब्बीसवें अध्याय में करेंगे। इसी को ध्यान में रखकर व्याख्या में ‘तासां त्यागोऽङ्गम्’ उनका तो त्याग ही करना बाकी है, ऐसा कहा है। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि, इन कुमारिकाओं के व्रत के प्रसंग में प्रौढ गोपीजनों का प्रसंग क्यों आया? उत्तर इस प्रकार से है, मूल श्लोक में “कुमारिकाव्रतंचेरुः” कुमारिकाओं ने व्रत का आरम्भ किया,—इस कथन से कुमारिकाओं से अलग गोपीजनों का व्रत न करना सूचित किया, उन में व्रत न करने वाली, गोपीजनों का स्वरूप कहना और उन “स्वरूप के” न कहने का कारण बतलाना भी आवश्यक है। अतः उन दोनों का कहना प्रसंगानुकूल उचित ही है, इसके पीछे “अन्यासामसंस्कृतानाम्” संस्काररहित (अविवाहित) कुमारिका-गोपीजनों के संस्कार का ही निरूपण करते हैं, उसका यहाँ अनेक प्रकार से वर्णन किया गया है, जैसे, प्रथम भगवान् के लिए किए गए व्रत में आए हुए क्लेश से उत्पन्न विशेषभाव रूप संस्कार, क्योंकि विना परिश्रम सहज मिली हुई वस्तु की अपेक्षा, परिश्रम से प्राप्त हुई में, स्नेह अधिक होता है। यह सभी का अनुभव है, फिर “कृष्णचेतसः” पंचम श्लोकोक्त इस पद से वर्णित हुआ, भगवान् के निरन्तर और अनेक प्रकार का-भगवान् के साथ-संगम का, मनोरथरूप संस्कार तथा उससे उत्पन्न हुआ भाव, विशेष संस्कार, जिससे आगे-कात्यायनी की प्रार्थना न करके-भगवान् की ही प्रार्थना करेंगी। आगे-उषसि-छठे श्लोक में प्रदर्शित प्रकार का संस्कार। पीछे प्रिय भगवान् के पधार आने पर, अनेक प्रकार के रस और भावों से भरे हुए परस्पर के वार्तालाप से उत्पन्न प्रमोद अथवा आनन्द विशेष, द्वारा होने वाला भाव रूप संस्कार। पीछे-यूयं विवस्त्राः” भगवान् के वाक्यों को सुनकर, अगले वाक्य में बतलाया हुआ विशेष भावरूप संस्कार। तदनन्तर, वस्त्र-वितरण और उस समय में, उत्पन्न भावों को, प्रदर्शित करने वाली दृष्टि, चितवन द्वारा अनेक प्रकार के स्पर्श से उत्पन्न, भावविशेष संस्कार। उसका ही वर्णन श्री शुकदेवजी ने—दृढं प्रलब्धाः—श्लोक से किया है। इसी से, ईर्ष्या के कारण होने पर भी, उन्हें ईर्ष्या न हुई, क्योंकि संस्कार से, दोष उत्पन्न होते ही नहीं, फिर अग्रिम वाक्य में, कहा हुआ भाव विशेष संस्कार। पश्चात् अत्यन्त प्रसन्न प्रिय,—भगवान् के दर्शन-अवलोकन-और वरदान के वाक्यों के सुनने से उत्पन्न, अवश्यम्भावी संगम के निश्चय से होने वाला संस्कार। फिर घर जाने की आज्ञा से उत्पन्न, अन्यन्त दुःख और इष्ट की प्राप्ति से उत्पन्न अत्यन्त सुख से विभिन्न भावरूप संस्कार। पीछे एक एक क्षण का अनेक कल्पों के तुल्य होने का भान होना, सब ओर से गुप्त रख (छिपा) कर, अपने हृदय से अत्यन्त बढ़ते हुये भाव के रस के वेग से, कभी कभी आपस में, उनकी कथा रूप अमृत की वर्षा से, प्राप्त सुख से, निरन्तर अनेक मनोरथ करना और उनके द्वारा, क्षण क्षण में, साक्षात् भगवान् के द्वारा, अपना उपभुक्त होना, मानना इत्यादि। इनके हृदय में, भगवान् का जैसा साक्षात् सम्बन्ध था, वैसा बाहिर नहीं था। भगवत्सम्बन्ध होने पर ही, इनकी आगे होने वाले भगवान् के संगम में, रसको अनुभव

करने की योग्यता हुई, यह भी इनका संस्कार ही समझना । इन सबको ध्यान में रखकर ही व्याख्या में 'संस्कार एव निरूप्यते' संस्कार का ही निरूपण करना लिखा है । यद्यपि भगवान् सर्व शक्तिमान हैं, तब भी, इस रस का स्वरूप, ऐसा ही होने के कारण, ऐसे कहा गया है—यह तात्पर्य है ।

'विद्यायामेव त्यागात्यागनिर्णय' — त्याग और त्यागभाव का निर्णय विद्या में ही है । इसे त्याग कहते हैं और यह अत्याग है, वह इस तरह करना, ऐसा न हो, तो नहीं करना-इत्यादि का निर्णय ही इस ऊपर कहे संस्कार का निरूपण है । समझ लीजिये "यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्"—श्रुति कि जिस दिन, वैराग्य उत्पन्न हो जाए, उसी दिन सन्यास ले लिया जाए—इस श्रुति के अनुसार प्रचलित (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास) आश्रमों की मर्यादा में केवल अनुराग न करना ही, त्याग बतलाया गया है यहां भक्ति मार्ग में, ऐसा नहीं है इसी भाव से, व्याख्या में, 'विद्यायाम्' पद कहा गया है । विद्या से, यहां भक्ति मार्गीय विद्या, समझना चाहिए । भक्तिमार्गीय विद्या ही विद्या है, अन्य स्थलों पर कहीं विद्या, विद्या नहीं है इसीलिए विद्या—यह सामान्य पद कहा है । इन गोपीजनों का विषयों में अनुराग नहीं है, तो भी, फलरूप भगवान् घर में ही विराजते हैं, इसलिए बाहर जाने—गृहत्याग—की आवश्यकता न होने से, उन्होंने बाह्य त्याग नहीं किया, किन्तु घर में रहकर ही, भगवत्प्राप्ति के अनुकूल प्रयत्न किया है । ज्यों ज्यों भगवद्भाव बढ़ता गया, त्यों त्यों बाह्य साधनों का त्याग और अन्तरंग साधनों का आचरण करते गए । भगवान् के संगम की भावना के, सहज होने से, लौकिक ही नहीं, वैदिक क्रियाएं भी, जो स्वतः छूटती गई, छूट गई । उन्होंने, उनका, किसी का जान कर, त्याग नहीं किया । प्रिय भगवान् को प्रसन्न करने के लिए, यदि देह अन्तःकरण के धर्म (जो छोड़े नहीं जा सकते) भी त्याग देने चाहिए, जो उन गोपीजनों ने छोड़ दिए थे । यहां व्रत, भगवत्प्रार्थना, वस्त्रत्याग, हाथ जोड़ना, घर जाना आदि से यही निर्णय होता है, कि फल की प्राप्ति हो जाने के पीछे भी, भगवान् की जब इच्छा हो, तब ही त्याग करना चाहिए, नहीं तो त्याग नहीं करना चाहिए । इसीलिए आगे त्याग कहा गया है । इसके अतिरिक्त, अन्य रीति से, किया हुआ त्याग, त्याग ही नहीं है, क्योंकि, वैसे त्याग से फल के रसका अनुभव नहीं होता है । यही 'अत्याग' पद का तात्पर्य है । सारांश यह है कि साधन दशा में तो त्याग उचित ही नहीं है फल की प्राप्ति हो जाने पर भी संस्कार की पूर्वकथित (पहले कही हुई) रीति से इनकी साधन दशा ही है वास्तव में तो अभी फल की प्राप्ति का निश्चय ही हुआ है फल की प्राप्ति तो आगे होगी, इसलिए उनका घर चला जाना उचित ही है ।

शंका—यहां यह शंका होती है कि "नीवीं प्रतिप्रणिहितेतु करे," अधोवस्त्र की गांठ के ऊपर प्रिय के हाथ रखने पर कुछ भी अनुसन्धान नहीं रहता—इस न्याय से उस समय उनको अपने वस्त्र छुड़ाने का अनुसन्धान रह कैसे गया ? इस का समाधान इस प्रकार है कि संगम के भाव में ही गोपीजन हृदय में भगवान् के प्रति रहे-स्थित-उत्कट अनुराग से अपने अन्तराय को भी नहीं सह सकने की भावना से उन्हें वस्त्र छुड़ाने का अनुसन्धान बना रहा, इसी से प्रिय भगवान् ने—'मस्तक पर अंजलि बांध कर'—इत्यादि वचन कहकर उनके भाव की परीक्षा की । ऊपर कहे गए भाव से ही, यदि वे (गोपीजन) अंजलि मस्तक पर धर लेंगी, तो दृष्टि का अन्तराय दूर कर लेंगी, परीक्षा करने का यही प्रयोजन था ।

तुमने वरुण देवता की अवहेलना की है, यह कह कर, भगवान् ने वस्त्रत्याग में अपनी अरुचि सूचित की है। भगवान् का अभिप्राय यह है कि, भगवान् के साक्षात् संगम और अन्तराय के असह्य होने के पीछे ही वस्त्र-त्याग उचित हो सकता है, केवल संगम की भावना में, ही ऐसा करना उचित नहीं है, इसी लक्ष्य से, व्याख्या में 'अत्याग' 'त्याग' से उत्तम है—यह बतलाने के लिए परीक्षा की, ऐसा कहा गया है। इसी से मूल में 'तत्पूतिकामाः' व्रत की पूर्णता चाहने वाली, ऐसा कहा है। सारे अंग पर दृष्टि पड़ने से ही, व्रत की पूर्णता मानने वाले को भगवान्, जब तक सारा अंग नहीं देख लेते हैं, तब तक, व्रत अपूर्ण है, अतः उक्त विधि से, व्रत पूरा करने की इच्छा से ही उन (गोपीजन) ने ऐसा किया यदि वस्त्रों का त्याग न करती तो, भगवान् के पास शीघ्र ही चली जाती। वस्त्रत्यागने से ही, देरी हुई। इस कारण से भी, 'अत्याग' की 'त्याग' से उत्तमता सिद्ध होती है।

अथ ब्राह्मणाः सात्विकाः—से आरम्भ करके—सेव्यते—तक व्याख्या का तात्पर्य कहते हैं। पद्मपुराण में कहा है, कि दण्डक वन में रहने वाले, सोलह हजार ऋषियों ने उनके आश्रमों के निकट आए हुए, करोड़ों कामदेव जैसे सुन्दर, श्री रामचन्द्रजी के दर्शन करके, मन में, उनके साथ रमण करने की, अत्युत्कट इच्छा की और उनसे, उनकी पत्नियाँ होने की प्रार्थना की। तब श्री रामचन्द्रजी ने उन पर कृपा कर के, कहा कि, “अभी तो मैं एक पत्नीव्रत धारण करता हूँ, व्रज में तुम्हारा मनोरथ पूरा (सिद्ध) होगा” वे ही, ऋषि ये कुमारिकाएँ हैं, यह ध्यान में रख कर ही, व्याख्या में “ब्राह्मणाः” इत्यादि कहा है। 'आदि वाराह'† पुराण में, कहा है कि कृष्ण के साथ रमण करने की इच्छा से, सोलह हजार ने गोपी रूप धारण किया और कृष्ण के साथ रमण किया। 'महाकूर्म'\* पुराण में, लिखा है, कि महात्मा अग्निपुत्रों ने तपस्या करके, स्त्रीभाव प्राप्त किया और जगत्कर्ता, व्यापक वासुदेव भगवान् को, पति प्राप्त किया। इत्यादि अन्य पुराणों के आधार से ही आचार्य चरणों ने उन सोलह हजारों को, एक जाति की बतलाई है। यहाँ ऐसा समझना चाहिए, कि परस्पर विरोध के कारण, पुरुष शरीर बना रहे, तब तक तो स्त्री भाव उत्पन्न ही नहीं हो सकता, ऐसी स्थिति में इन ऋषियों को अत्यन्त पवित्र और परम पुण्यशाली देख कर, श्री रामचन्द्रजी उन पर इतने प्रसन्न हुए, कि कभी किसी को भी न दिया जाने योग्य साक्षात्स्वरूपानन्द का दान उनके लिए करने की इच्छा उत्पन्न हुई। किसी प्रमाण के न होने से, यह नहीं कह सकते, कि पुरुष रूप में, अथवा केवल स्त्री रूप में स्वरूपानन्द का अनुभव सम्भव नहीं है, क्योंकि स्त्री रूप से शरण में गई हुई ब्राह्मण-पत्नियों को भी, भगवान् ने साक्षात्स्वरूपानन्द का दान नहीं किया और क्षुद्र भीलनियों के लिए दान कर दिया, किन्तु अचिन्तनीय अनन्त शक्तिमान् भगवान् की प्रसादरूप शक्तियाँ भी बहुत हैं, उनमें भी एक शक्ति अत्यन्त अन्तरंग है, जिसके सम्बन्धी जीव पर (को) भगवान् के स्वरूपानन्द का अनुभव अवश्य होता है, वह अन्तरंग शक्ति बतलाए हुए इस स्त्रीत्वरूप “लक्षण” धर्म रूप ही है, इसी से उसको भगवान् ने इन ऋषियों में स्थापित किया।

†कृष्णस्य रमणार्थं हि सहस्राणि च षोडश । गोप्यो रूपाणि चक्रुश्च तत्रा क्रीडन्त केशवम् ।

आदि वाराह पु० ।

\*अग्निपुत्रा महात्मानस्तपसा स्त्रीत्वमापिरे । भर्तारं च जगद्योनि वासुदेवमजं विभुम् । महा कूर्म पु० ।

तभी वे साक्षात् स्वरूपानन्द का अनुभव, कर सकने योग्य हुए, परन्तु भगवान् श्रीरामचन्द्रजी की इच्छानुसार, स्वरूपानन्द का अनुभव करने योग्य देह भी, अभी हुई, इसी से व्याख्या में, उनकी प्रसादरूप शक्ति स्त्री है—ऐसा कहा है। वह शक्ति, स्त्री के सारे धर्मों से युक्त स्त्रीरूप, कात्यायनी रूप है और उसी की-फल की प्राप्ति होने तक “सेव्यते” सेवा की जाती है—ऐसा सम्बन्ध (अन्वय) है। उन ऋषियों का यह भाव, निश्चितरूप से, भगवद्भाव ही है। क्योंकि नेत्र द्वारा भगवान् के हृदय में आने पर, यह भाव उत्पन्न हुआ है।

व्याख्या में ‘भगवानेव वा’—पक्षान्तर करने का आशय यह है, कि—‘रसो वै सः’—इत्यादि श्रुतियों में, भाव रूप से, निरूपण है, धर्मरूप से नहीं, किन्तु धर्मरूपता है, सेव्य भगवान्, सेवक में, अपना स्वरूप सिद्ध कर देते हैं। हृदय में पधारे हुए, भावरूप भगवान् ने हमारे देह आदि को ऐसा बना दिया, कि भावरूप भगवान् की ही सेवा कर सकें। बाहर हमारे साथ रमण करने के लिए प्रकट होओ, इस लिए नायिकाभाव से, स्त्रीभाव कहा है “इससे, उनमें कोई कमी, या सगुणता होने की शंका को दूर करने के लिए ही, व्याख्या में ‘गुणातीतः’ गुणातीत कहा है।” इस स्त्री भाव के कथन से. उनमें किसी न्यूनता या सगुणपन की शंका को मिटाने के लिए ही, व्याख्या में गुणातीत पद का प्रयोग किया जाता है। इससे यह सिद्ध हुआ, कि जैसे समुद्र से उत्पन्न अमृत का दान करने के लिए, आप—भगवान्—मोहिनीरूप हुए थे, वैसे ही अपने लोभामृत—अधरामृत का दान करने के लिए यह रूप है, इस कथन से, यह बतलाया कि—मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूँ, इस गीता वाक्य के अनुसार जैसे दिव्य दृष्टि से ही भगवान् के दर्शन किये जा सकते हैं, वैसे ही भगवद्रूप दिव्य स्त्रीभाव से ही, भगवान् भोग्य हो सकते हैं।

लेख—व्याख्या में ‘आधिदैविकी’ अर्थात् आधिदैविक प्रतिबन्ध का नाश करने वाली। इसका स्पष्टीकरण मंत्र की व्याख्या में किया जाएगा। यह तामस—तामस जीवों को भगवान् की प्राप्ति कराने वाली है। दुर्गा राजसी है अतः उसके द्वारा राजस प्रकरण में दुर्गा के द्वारा भगवत्प्राप्ति हुई है। “ब्राह्मणः” आदि से पक्षान्तर कहते हैं। यहाँ पहले “ये” पद का अध्याहार है तब—ये अत्र—सात्विका ब्राह्मणाः कुमारिकास्तेषां ब्राह्मणानाम्” ऐसा सम्बन्ध है। यहाँ यह सम्बन्ध कारक विषय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, अतः ब्राह्मणविषयक प्रसाद का निरूपक अर्थ है। यहाँ व्रत का प्रसंग होने से सात्विकता का वर्णन किया है। गुणातीतः—पद का सम्बन्ध—स्त्री भवति के साथ है। “इदं व्रतमत्रैव प्रसिद्धं” कुमारिकाओं ने किया, यह कात्यायनी व्रत यहाँ श्रीमद्भागवत में ही, कर्तव्यरूप से प्रसिद्ध है। “कात्यायनी” यह नाम का निर्देश है। वह आधिदैविकी संहारकारिणी शक्ति है, वह तामस भक्तों को फल की प्राप्ति कराती है, अतः उसका स्वरूप तामसी है। दुर्गा का वर्णन यहाँ प्रसंगवश किया है, क्योंकि दुर्गा का उपयोग तो आगे राजस प्रकरण में स्फुट होगा, कात्यायनी के स्वरूप के विवेचन में भिन्न दो पक्ष बतलाते हैं १—सात्विक ब्राह्मण अथवा २—गुणातीत भगवान् ही।

स्तेषां प्रसादरूपा शक्तिः स्त्री भवतीति—सु०

दिव्यं ददामि ते चक्षुः—गीता ११ अ०



यहां "टिप्पणीजी" में "स्त्रीत्वलक्षणधर्मरूपापिस्त्रीरूपा" स्त्रीत्व में —आकृति और —स्त्री में—स्त्री का शरीर यह भेद है । शरीर के बिना केवल आकृति से ऐसे भाव रूप भगवान् की बाह्य पूजा नहीं हो सकती, इसी से—स्त्री भवति—प्रतिमा में प्रकट होकर दोनों प्रकार की सेवा कराते हैं—ऐसा अर्थ है, आगे यहां यह कहा गया है, कि पुरुषपन में, अथवा केवल स्त्रीभाव में, साक्षात् स्वरूपानन्द का अनुभव नहीं हो सकता—सो यह केवल स्त्रीत्व में केवलत्व क्या है ? यदि इसका अर्थ स्त्रीत्वमात्र कहें, तो स्त्रीत्व तो सभी स्त्रियों में है, तब तो किसी भी स्त्री को स्वरूपानन्द का अनुभव नहीं हो सकेगा ? उत्तर—स्त्रीत्व के सहकारी का अनुसन्धान न रख कर, की हुई इस शंका का उत्तर तो —यत्सम्बन्धिजीवे— "जिसके सम्बन्धवाले जीव में भगवान् के स्वरूपानन्द का अनुभव अवश्य होगा ही "इत्यादि से स्वयं ही दे दिया गया है । "माताभावोत्" प्रत्यक्षादि चारों प्रमाणों के अभाव से । उनमें 'शब्द' और 'प्रत्यक्ष' प्रमाणों के अभाव में तो कोई विवाद नहीं है द्विजपत्नियों को स्वरूपानन्द का दान नहीं किया—इससे—यत्सत्वेयदभाव" अन्वयव्यभिचार बताया । इसका कारण यह है, कि उनमें पुरुष-भावयुक्त स्त्री भाव था इसी से भगवान् की शरण में चले जाने के पीछे भी, उनके लिए स्वरूपानन्द का दान नहीं किया । भीलनियों को जिनमें द्विजपत्नियों की अपेक्षा बहुत थोड़ा स्त्रीत्व था—तो भी—स्वरूपानन्द का दान कह कर —यदभावे यत्सत्त्वम्— 'व्यतिरेक व्यभिचार' सूचित किया है । "साएका" ऊपर कही वैसी । "तेषां प्रसादरूपा शक्तिः" शक्तिः सामर्थ्यका मुख्या ।" उसका स्वरूप यह है कि उसके सम्बन्धी जीव को अवश्य ही स्वरूपानन्द का अनुभव होवे—इस कार्य-लक्षणा से उसे मुख्य कहा गया है । यह शक्ति भगवान् का धर्मरूप ही है कोई अन्य पदार्थ नहीं है । जिसका स्वरूप ऊपर कहे अनुसार जीव को स्वरूपानन्द का अनुभव कराने वाले अन्तरंगप्रसाद का देने वाला है और वही स्वरूप ऐसे स्त्री भाव से युक्त है । "एव" से यह बतलाया कि वह कोई दूसरा स्वरूप नहीं है । अतः — भगवान् का अनुभव कराने वाली होने से । ताम्— उस कही गयी शक्ति को । तदनु रूपः—स्वरूपानन्द के अनुभव के अनुकूल । अधुना—श्री कृष्णावतार के समय में । तथा—नन्दगोपसुत कृष्ण-रूप से उनके मनोरथ पूर्ण करने की इच्छा जिस कारण से हुई, उससे तात्पर्य यह है, कि स्त्रीत्वलक्षण वाला धर्मरूप हो कर स्त्रीरूप कात्यायनी रूप है ऊपर कहे हुए धर्मवाली भी वह शक्ति । स्त्रीरूप! सारी स्त्रियां जिसका रूप है ऐसी कात्यायनीरूप । इसी को तदनु रूप "उसके अनुकूल देह अब प्राप्त हुई" पद से कहा है । अथवा —तदनु रूप— ऊपर बतलाए गए स्त्रीत्व लक्षणयुक्त धर्म के अनुकूल । ऊपर कहे हुए धर्म वाली, जैसी यह स्त्री, वैसी ही देह, इसमें भगवान् के स्वरूप का अनुभव कराने की क्षमता दोनों—देह और स्त्रीत्व—में है । ऐसी देह अग्निकुमारों को अभी प्राप्त हुई है, यही स्त्री भवति इस वाक्य से कहा है । तात्पर्य यह है, कि ऐसे शरीर वाली वह शक्ति कात्यायनी पद से कही गई है । अथवा ऊपर कहे हुए धर्म की सहायक देह, लीला के समय में, श्री रामचन्द्रजी की स्वरूपानन्द का दान कराने की इच्छा से—अभी उन्हें प्राप्त हुई । ग्रन्थ के स्वारस्य को लेकर, उपर्युक्त धर्म से ही, अर्थात् अपने अनुकूल देह अपने से ही प्राप्त हुई—यह ऐसा— "स्त्री भवति" का आशय है । स्त्रीरूपा—ऐसी स्त्री देह, जिसे कात्यायनी पद से, कहा है, वह रूप । जैसे जीव, जैसी देह (योनि) को प्राप्त होता है, उस देह के अनुसार ही उस के साथ व्यवहार होता है इसी तरह यहां भी समझना चाहिए ।

योजना—कात्यायनी आधिदैविकी—इत्यादि । पूर्वजन्म में, रामावतार में, जिन अग्निकुमारों पर, जो भगवत्प्रसाद हुआ, उसका रूप कात्यायनी शक्ति है, इसी से, उसे आधिदैविकी कहा है । कात्यायनी शिवजी की पत्नी है, इसलिए वह शिवशक्ति रूप से, प्रसिद्ध है भगवत्शक्ति रूप से उसकी प्रसिद्धी कहीं भी नहीं है । अतः वह कात्यायनी भगवत्शक्ति नहीं हो सकती ? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यद्यपि, आधिभौतिक कात्यायनी शिवशक्ति है, तो भी, आधिदैविक कात्यायनी तो भगवत् शक्ति ही है—श्रुति से ऐसा निर्धार हो चुका है । “ग्रोप-लाम्” का पत्थर का सम्बन्ध वाली पार्वती,—यह अर्थ है, ब्रह्मवैवर्तपुराण में कहा है, कि रासमण्डल में शिवजी ने पार्वती को भगवान् के लिए दिया ।<sup>१</sup> श्रुति में, भगवान् की विविध शक्तियां कही हैं । अनेक शक्तियां होने से, भगवान् भिन्न भिन्न कार्यों में, अलग अलग शक्तियों का उपयोग करते हैं, इससे तामस व्रजवासियों को भगवान् की प्राप्ति कराने में, कात्यायनी तामसी भगवत्शक्ति हेतु है, ऐसा समझना चाहिए । इसी से—हे सतियों<sup>२</sup> ! जिसके उद्देश्य से, तुमने आर्या की पूजारूप यह व्रत किया ऐसा सत्ताईसवें श्लोक में भगवान् का वाक्य है । राजस भक्तों को, दुर्गा पार्वतीरूप, राजसी और भगवत्शक्ति के द्वारा भगवत्प्राप्ति होती है, इसी से श्री रुक्मिणीजी की प्रार्थना में है । ‘हे कल्याणि’<sup>३</sup> मैं तुम्हे बार बार नमस्कार करती हूं, भगवान् कृष्ण, मेरे पति होवें, ऐसा कहा है, और स्थान्तक मणि के प्रसंग में भी, कृष्ण<sup>३</sup> की उपलब्धि (प्राप्ति) के लिए, महामाया दुर्गा की उपासना करना (की) यह लिखा है । कात्यायनी, दुर्गा और पार्वती शब्दों से कही जाने वाली तीनों शक्तियां, भगवान् की ही हैं । तीनों परस्पर अभिन्न हैं, इन में केवल अलग अलग गुणों का ही भेद है । तात्पर्य यह है, कि कात्यायनी, दुर्गा और पार्वती के द्वारा क्रम से तामस, राजस और सात्विक भक्तों को भगवत्प्राप्ति होती है । इससे यह भक्ति मार्ग की रीति के योग्य ही है । इस कथन से, कात्यायनी नाम की शिवशक्ति है, वह स्वतन्त्र देवता है और सन्तुष्ट हुई, वह स्वयं अपने सेवकों के लिए श्रीकृष्ण का दान कर सकती है, —इस तरह की शंका करने वालों का, तथा श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए कुमारिकाओं ने अन्य देवता का आश्रय—अन्याश्रय किया,— ऐसी शंका करने वालों को भी निरास कर दिया, क्योंकि पूर्वोक्त उपनिषद् और ब्रह्मवैवर्तपुराण के वाक्यों से निश्चय होता है कि कात्यायनी आदि भगवान् की शक्तियां हैं ।

कात्यायनी भगवान् की शक्ति है—इस पक्ष में कात्यायनी को तामसी कहा है । अब पक्षान्तर कहते हैं ।

सु—भगवानेववा—आधिदैविक स्त्री शरीर धारी भगवान् ही कात्यायनी हैं । वह रहस्य लीला में उपयोगी स्त्री शरीरवाला भगवान् का स्वरूप गुणातीत है—ऐसा कहा है । इससे तामस, राजस, सात्विक और गुणातीत व्रजसुन्दरियों लीला में उपयोगी शरीरों की सिद्धि होना बतलाया है ॥१॥

\*अश्रियं लक्ष्मीमौपलाम्बिकाङ्गाम्—श्रुतिः ।      †परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते ।

१—यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरारार्याचलं सतीः । भा १०।२२।२७

२—भूयात् पतिर्भगवान् कृष्णस्तनुमोदताम् । भा १०।५३।४६

३—उपतस्थु महामायां दुर्गां कृष्णोपलब्धये । भा १०।५६।३५



**आभास—**तत्र पूजाप्रकारमाहाप्लुत्याम्भसीति,

**आभासार्थ—**वहाँ 'आप्लुत्याम्भसि' इस श्लोक से पूजा विधि कहते हैं ।

**श्लोक—**आप्लुत्याम्भसि कालिन्ध्या जलान्ते चोदितेऽरुणे ।

कृत्वा प्रतिकृतिं देवीमानर्चुर्नृप सैकतीम् ॥ २ ॥

**श्लोकार्थ—**हे राजन् ! सूर्य के उदय होने पर, (वे) कालिन्दी के जल में स्नान करके, बालू रेत की प्रतिमा बना कर, देवी की पूजा करने लगीं ।

**सुबोधिनी—**कालिन्ध्या अम्भसि स्नात्वा, सा हि भगवत्पतित्वकामनया तपः करोति तेन चाग्रे फलं भाव्यतः सफलतपःसम्बन्धित्वेनैतदम्भोपि तादृशमिति वतानुकूलं सफलं च तत्र स्नानमितिज्ञापनाय कालिन्दी-पदं, तस्याश्रिरेण फलं भाव्यत्र तु शीघ्रमितिज्ञापनाय

पदन्यासः, जलान्ते जलसमीपे चकारादागत्य गृहेपि देवीं प्रतिमारूपां कृत्वा सिकतामयीमरुण उदिते प्रातःसन्ध्यायां सर्वकामनाप्रदायां देवतां तामानर्चुः, नृपेति सम्बोधनमेता-वता क्लेशेन भगवान् प्राप्त इति ज्ञापयितुम् ॥२॥

**व्याख्यार्थ—**कालिन्दी के जल में स्नान करके वह कालिन्दी,—भगवान् मेरे पति हों—इस कामसा से तप करती है । इस से आगे फल मिलने वाला है । अतः सफल तपस्या का सम्बन्धी होने से यह जल भी वैसा (सफल) है । इस लिए उसमें स्नान करना, व्रत के अनुकूल और सफल है—यह बताने के लिए, कालिन्दी पद का प्रयोग किया है । कालिन्दी को तो फल की प्राप्ति देर से होगी और यहाँ तो शीघ्र ही फल मिलने वाला है—इस बात को बतलाने के लिए कालिन्दी पद की आवृत्ति न करके—जल के समीप—केवल 'जल' पद का प्रयोग किया है । जलान्ते-जल के समीप 'च' पद से घर आकर घर में भी बालुका रेत की प्रतिमा रूप देवी की अरुणोदय होने पर सब कामनाओं को देने वाले प्रातः संध्या के समय में पूजा करना कहा है । 'नृप' यह सम्बोधन इतने क्लेश से भगवत्प्राप्ति हुई—यह बतलाने के लिए दिया है ॥२॥

**आभास—**पूजासाधनान्याह गन्धैरिति,

**आभासार्थ—**पूजा के साधनों को—गन्धः—श्लोक से कहते हैं—

‡'तेज'—सफलतपः सम्बन्धित्वेन—इस पद के पहिले—कालिन्ध्याः—पद का अध्याहार कर लेना चाहिए । वह सफल तप के सम्बन्धवाली है ।—सफलतपस्विनी—जिसका तप सफल है । जल भी अपने स्नान का जो तप—स्नानादि रूप—सफल करता है वह सफलतपःसम्बन्धी—ऐसा—कर्मधारय—समास है ।

श्लोक—गन्धैर्माल्यैः सुरभिभिर्बलिभिर्धूपदीपकैः ।

उच्चावचैश्चोपहारैः प्रवालफलतण्डुलैः ॥३॥

श्लोकार्थ—सुन्दर गन्धवाले गन्धों (द्रव्यों) और मालाओं से और बलि, धूप दीपक, उत्तम मध्यम सब प्रकार की सामग्रियों से तथा प्रवाल, फल और चावलों से पूजा की ॥३॥

सुबोधिनी—माल्यानि, पुष्पाणि, सुरभिभिरित्युभ-  
येषां विशेषणं, बलिभिरहिंसैः, ऋषित्वात् तासां, परि-  
ज्ञानं, धूपो दीपावलयश्च पङ्क्तिरूपा दीपा दीपकाः उच्चा-

वचानि सर्वाण्येवानेकरूपाणि, उपहारा नैवेद्यद्रव्याणि  
प्रवालाः पल्लवाः फलानि तण्डुलाश्च, एव नवविधा निरु-  
पिताः, एव कतृदेशद्रव्याणि निरूपितानि ॥३॥

व्याख्यार्थ—माल्य अर्थात् पुष्प । सुरभिभिः—सुगन्ध वाले यह,—‘गन्ध’ और ‘माल्य’ दोनों का विशेषण है । बलिभिः बिना हिंसा की सामग्रियों से । वे ऋषि हैं, इस लिए उन्हें सब ज्ञान हैं । धूप और दीपावलियां—दीपकों से तात्पर्य है दीपों की पङ्क्तियां । ऊँचे नीचे सब—अनेक—प्रकार के उपहार—नैवेद्य की सामग्री । प्रवाल (पल्लव) फल और चावलों से (पूजा की) इस तरह नौ प्रकार की सामग्री का निरूपण किया ऐसे—तीन श्लोकों से—क्रम से—कर्ता, देश और द्रव्य का निरूपण हुआ ॥३॥

आभास—मन्त्रमाह कात्यायनीति,

आभासार्थ—कात्यायनि इस श्लोक से मन्त्र कहते हैं—

श्लोक—कात्यायनि महाभागे महायोगिन्यधीश्वरि ।

नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ॥४॥

इतिमन्त्रं जपन्त्यस्ताः पूजां चक्रुः कुमारिकाः ॥४१॥

श्लोकार्थ—हे कात्यायनी, हे बड़ भागिनी, हे महायोगिनी, हे अधीश्वरी, हे देवी ! नन्द गोप के पुत्र को मेरा पति कर तुझे मेरा नमस्कार है ॥४॥ इस मंत्र का जप करती हुई वे प्रसिद्ध कुमारिकाएँ पूजा करने लगी ॥४१॥

‘योजना’—ऊँचे और नीचे सब—अनेक प्रकार के—उपहार (नैवेद्य के द्रव्य) । इसी से हेमन्त ऋतु में अपने सम्प्रदाय में अनेक प्रकार के द्रव्य भगवान् के समर्पण किए जाते हैं, क्योंकि—‘भगवानेव गुणातीतः’—इस पक्ष में कात्यायनी भगवद्रूप है ॥३॥





सुबोधिनी — ऋषित्वान् मन्त्रदर्शनं, मन्त्रे ऋषि  
देवता मन्त्रोपासनया साक्षात्कृता, अर्थस्यापि दृष्टत्वात्,  
अनः कात्यायनीतिपरिज्ञानसम्बोधनं, कायं त्याजयतीति  
कात्या संहारिका शक्तिस्तस्या आधिदैविकं रूपं कात्या-  
यनी फलि रूपं, पूर्वं भगवान् न प्राप्तस्तत्रावश्य दुरदृष्ट-  
मेव प्रतिबन्धकमिति मन्तव्यं, तपस्तु सिद्धमेव साधन-  
मन्यथाग्रेपि न स्यात्, अतः प्रतिबन्धस्याधिदैविकस्य  
नाशन इयमेव समर्था, ननु प्रतिबन्धकमाधिदैविकं यदि  
भगवदिच्छयैव स्यात् तदा कथं निवर्तत इत्याशङ्क्याह  
महाभाग इति, अल्पभाग्यत्वे भगवान् नाज्ञापयेत्, यशो-  
दायां च जन्म न स्याद् भगवद्दास्यं च न प्राप्नुयात्,  
त्वया प्रार्थितः प्रियः स्वेच्छामप्येतदनुगुणं करिष्यत्यतो  
महाभाग्यं तव, आभिमानिकसम्बन्धेन त्वं पुनर्भगिनी  
भवसि ज्येष्ठात उपकारोपि कर्तव्यः, न च मन्तव्यं  
तादृशदोषो न मया परिहर्तुं शक्यत इति यतस्त्वं  
महायोगिनी गर्भसङ्कुर्षणादिकार्यकरणात्, नन्वाधिदैविक  
कथं परिहर्तव्यं कालादिभ्यो बलिष्ठा हि सा प्रतिबन्धक-  
शक्तिः ? तत्राहाधीश्वरीति, ईश्वरं भगवन्तमधिकृत्य  
वर्तसेतोन्तरङ्गा त्वं शक्तिः, कात्यायन्या गुणत्रयं चोक्त  
पदत्रयेण, अतः सर्वप्रकारेण त्वं भगवदीया, नन्द-  
गोपसुतं मे पति कुरु, प्रत्येक भर्तारि कुरु, भगवानशब्द  
इति न मन्तव्यं यथा नन्दगोपस्य पुत्रो जातस्तथा-  
स्मत्पतिरपि भविष्यति, किञ्च त्वं देवतारूपा, अलौकि-  
केनापि प्रकारेण भगवन्तं पतिं करिष्यसि, प्रत्युपकारस्तु  
तुभ्यं नमनं, अहङ्कारस्तुभ्यं दत्तस्त्वदीय इति, अन्यत्  
सर्वं भगवदीयं, प्रतिबन्धके निवृत्ते स एव भविष्यति  
तथापि वक्तव्योपि स हि मायायवनिकामाच्छाद्य कचिद-  
त्पोद्धाटनेन तिष्ठत्यतोस्मदर्थं तत्रतत्रोद्धाटिता भवेत्यर्थः,  
अपराधस्तु न भविष्यति यतस्तं पतिं करिष्यसि, कन्या-  
वर्योर्विवाहे यवनिका दूरीक्रियत एव, अयमर्थो नित्यः,  
प्रत्यगाशीमंश्रत्वाज् जप एवास्य, न कर्माङ्गकरणं  
'प्रत्यगाशीषो मन्त्रान् जपत्यकरणा'नितिकल्पात्, अतः  
परं 'तेषां प्रसादरूपा शक्तिः स्त्री भवति' 'भगवानेव वा  
गुणातीत' इतिपक्षद्वये मन्त्रार्थ उच्यते, भगवतः स्त्रियः  
कतीतिप्रश्रविषयाः कात्याः—अत एव परीक्षितो राज्ञः  
प्रश्ने 'पत्न्यः कत्यभवन् प्रभो'रितिबचनं—अयनं यस्याः  
सा कात्यायनी, डीबत्र छान्दसो ज्ञेयः, नन्वेतस्या भग-

वद्भोग्यतासम्पादकत्वंकस्वभावायाः स्वस्मिन् स्थिति  
चेज् जानन्ति तदा भगवत्सम्बन्धस्यावश्यम्भावित्वेन ज्ञानं  
च भविष्यत्येवेति कथं व्रतारम्भः ? न च विलम्बा-  
भावार्थ इति वाच्यं, एतस्याः सर्वतोधिकत्वेनान्याप्रति-  
बन्धसामर्थ्यात्, न च स्वस्य रसयोग्यवयःसम्पत्तो सा  
स्वत एव विलम्बासहिष्णुर्धतः, न च तादृगवयःसम्पत्त्य-  
र्थमेव व्रतारम्भ इति वाच्यं प्रमाणाभावात्, पतित्व-  
करणस्यैव मन्त्रं श्रूयमाणत्वात् तस्य चैतच्छ्रवतेरेतद्रूपस्य  
भगवतो वा प्रवेशेनैव सिद्धत्वादेतत्प्रयोजनं न विद्यः,  
अथ स्वस्मिस्तत्स्थितेरज्ञानाद् व्रतारम्भ इति वाच्यं  
तथापि वस्तुतस्तत्प्रयोजनं न सिध्यतीति चेत्, उच्यते,  
मन्त्रे पठ्यमानमेव फलं प्रयोजनं, न चोक्तन्यायेन तन्  
सिद्धमिति वाच्यं, तत्तात्पर्यानिवगमात्, तथा हि साक्षा-  
त्पुरुषोत्तमरमणे ह्येतासामिच्छा 'भयेमा रस्यथ क्षपाः  
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरार्यार्चनं सती'रितिभगवद्वचनात्,  
एव च सत्युक्तरूपशक्तेर्भगवतो वा प्रवेशस्य प्रयोजन-  
मावेशरमणेनैवान्यथासिद्धं कदाचिद् भगवान् मन्येत सर्वं  
सर्वत्र योजयितुं शक्तो यतः, तथा चावेशेनांशावतारेण  
वा सम्बन्धो मा भूदिति तदर्थं व्रतलक्षणं तदाराधन-  
मारब्ध यथान्यसम्बन्धराहित्येन पुरुषोत्तमसम्बन्धो भवेत्,  
अत एव भगवता 'सती'त्व विशेषणमुक्तमेतदभिप्रायेणैव  
नन्दगोपसुतपदमप्यत एव तत्रैव पुरुषोत्तमाविर्भावो यतः,  
एतच्च यथा तथाप्रकरणे निरूपितं, यथा कंसादिभिर्या  
तदज्ञानार्थं गुप्तस्थाने स्थापितो नन्दपुत्रोभवत् तथा  
त्वयैकान्तस्यलेन्याज्ञाततया प्रापितोस्मद्भ्रमणकर्ता भव-  
त्वित्यप्यस्य पदस्य तात्पर्यं ज्ञेयं, अत एव बलदेवादि-  
व्यावृत्तिरपि, अत एव तथैवाग्रे करिष्यति भगवान्,  
उद्देश्यपतित्वविधानप्रार्थनावाचकयोः पदयोर्मध्ये देवी-  
तिसम्बोधनेन मध्यस्थतया कदाचिद् द्वीतीन्यायेनापि  
तथाकरणं द्योत्यते, एतदेव तव परमानन्दजनकं क्रीडेवेति  
देवीशब्देन द्योत्यते, गावो हि स्वतः शुभाशुभयोः  
प्रवृत्तिनिवृत्तिरहिताः किं बहुना ? स्वभक्ष्येपि स्वरक्षक-  
प्रेरणायां प्रवृत्तिनिरोधे तूष्णीम्भाव एव तासां, तथा  
चैतादृशीनां पालकस्य सुत इत्यस्माकमप्येतादृशफल-  
सम्बन्धे साधकबाधकज्ञानराहित्येन कदाचित् स्वतोऽन्य-  
थाचिकीर्षायामपि स्वयमेव कृपया ततो निवर्तक इष्ट-  
सम्पादकश्च भविष्यतीति गोपपदेन ज्ञाप्यते, अपरञ्च

गोपजातीया हि लोके न महत्त्वेन गण्यन्ते, तथा च ब्रह्मावाक्सत्यत्वार्थं स्वयं तादृशस्य पुत्रत्वमङ्गीकृतवान् यः स स्ववाक्सत्यत्वार्थमस्मत्पतित्वमङ्गीकारेण्यत्येव निमित्तमात्रं त्व भवेतिज्ञापनायापि गोपपदं, तेनात्र तव नाधिकः प्रयासो भवितेति सूचितं स्वस्याभिमानाभावश्च, एतादृक्फलसम्पादिकायास्तव प्रत्युपकारस्तु नास्माभिः कर्तुं शक्यः किन्तु यथा “किमासनं ते गरुडासनाये” तिवाक्यान् “नमो नम इत्येतावत् सदुपशिक्षित” मिति-वाक्याच्च भगवति जीवन्मनमेव कर्तव्यं भवति कर्तुं शक्यं च तथास्माभिरपि तुभ्यं नमनमेव कर्तुं शक्य-मित्याशयेनाहुस्ते नम इति, नमनातिरिक्ताशक्यत्वे तन्महत्त्वं हेतुर्गति तदुक्तं महाभाग इत्यादिना, भगवता सह योगोऽस्यास्तीति योगी, योगे महत्त्वं तु नायिकाभाव-

पूर्वकत्वं, तथा च तादृशे पुरुषेधीश्वरि, अङ्गाकृतस्वामि-त्व इत्यर्थः, तेन साधारणाप्राप्यत्वेन महत्सम्बन्धित्वेन च महत्त्वमुक्तं भवति, एतादृशस्येश्वरो हि भगवानेव भवति त्वं त्वेतादृशी यदीश्वरोपि त्वदधीनस्तस्मै फलं ददातीत्युपसर्गः, पक्षद्वयेप्येतस्या भगवत्स्वरूपात्मकत्वात् तदधीनत्वेपि नेश्वरे काचिन् न्यूनता शङ्कनीया, महायोग-वत्त्वे हेतुभूतं पुरुषे विशेषणमाहुर्महाभाग इति, भक्ति-मार्गेऽङ्गीकार एव भाग्यरूपस्तत्रापि पुष्टिपुष्टावङ्गीकारो महत्त्वं अतस्तं मन्त्रं जपन्त्यस्तूष्णीमेव पूजा चक्रुरित्या-हेतीति, इममेव मन्त्रं जपन्त्यस्ताः प्रसिद्धास्तूष्णीं पूजां चक्रुर्यतः कुमारिकाः स्त्रीणां विवाहोत्तरमेव मन्त्रसम्बन्धः, अयं तु मन्त्रस्ताभिरेव दृष्ट इति युक्तं तासां जपकरणं, अनेन क्रियोक्ता ॥४३॥

व्याख्यानार्थः—कुमारिकाएँ ऋषि हैं इसलिए उन्हें मंत्र का दर्शन है । मंत्र की उपासना करने से उस-मंत्र-में प्रसिद्ध देवता का उन्हें साक्षात्कार हुआ; क्योंकि अर्थ का भी दर्शन हो गया । इससे—‘कात्यायनि’—यह ज्ञान सूचक सम्बोधन है—‘कायं त्याजयतीति कात्या’—शरीर छोड़ा देने वाली संहारिका शक्ति—उस शक्ति का आधिदैविक स्वरूप कात्यायनी है, तद्धित का यह फल प्रत्ययान्त रूप है । अब तक भगवान् प्राप्त नहीं हुए, इसमें अपना दुर्भाग्य ही निश्चित रूप से प्रतिबन्धक ( अवश्य बाधक )—है—ऐसा मानना चाहिए । तप तो ( सिद्ध ) प्रत्यक्ष ही साधन है, नहीं तो आगे—तप करने पर—भी भगवत्प्राप्ति नहीं होती इससे आधिदैविक प्रतिबन्ध का भी नाश करने में यह कात्यायनी ही समर्थ है ।

यहां यह प्रश्न होता है कि यदि प्रतिबन्ध आधिदैविक होता और यदि वह भगवान् की इच्छा से होता तो कात्यायनी उसे क्यों कर मिटा—( दूर कर ) सकी ? इसका उत्तर ‘महाभागे’ पद से देते हैं—हे बड़े भाग्य वाली ! यदि यह अल्प भाग्य वाली होती तो भगवान् ( अपने अवतार के समय में अवतार लेने की ) उसे आज्ञा नहीं देते तो यशोदाजी में ( उसका ) जन्म नहीं होता । एवं भगवान् की दासता भी प्राप्त न होती । तू प्रार्थना करेगी तो प्रिय भगवान् अपनी इच्छा को भी ( बदल कर ) तेरे अनुकूल कर देंगे, क्योंकि तेरा बड़ा भाग्य है । और आभिमानिक सम्बन्ध से तू भगवान् की बहिन होती है फिर बहिन भी बड़ी । इससे तुझे आधिदैविक प्रतिबन्ध मिटाना रूप ( हम पर ) उपकार भी करना चाहिए । तू यह मत मान कि आधिदैविक दोषों को मैं कैसे मिटा सकूँगी; क्योंकि तू महायोगिनी है । देवकीजी से गर्भ को खींच कर रोहिणीजी में आरोपण करना आदि कार्य तूने ही किए हैं ।

आधिदैविक प्रतिबन्ध ( कि जिसकी शक्ति, काल, कर्म, स्वभाव से अधिक बलवती है ) का परिहार मुझसे कैसे हो ? ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि तুম ‘अधीश्वरी’ हो भगवान् पर



अधिकार करके तुम ही रहती हो । इससे तुम अन्तरंग शक्ति हो । इस प्रकार ( महाभागे, महायोगिनि, अधीश्वरि ) इन तीन विशेषणों से कात्यायनी के तीन गुण कहे इसलिए सब तरह से तुम भगवदीय है । नन्दगोपसुत को मेरा पति कर, प्रत्येक का भर्ता कर । भगवान् को (प्रत्येक का) पति करना अशक्य नहीं है, क्योंकि जैसे वे (भगवान् होते हुए भी) नन्द गोप के पुत्र हुए उसी तरह से हमारे पति भी होंगे । और तू देवता रूप है इसलिए अलौकिक रीति से भी तुम भगवान् को हमारा ( प्रत्येक का ) पति कर तेरे इस उपकार के बदले में हम तुम्हें नमन करती हैं । ग्रहंता ( मैं पन ) का अभिमान तुमने ही दिया है अतः यह तुम्हारा ही है । और सब तो भगवान् का ही है । प्रतिबन्ध-दोष-के हट जाने पर भगवान् स्वयं पति हो जायेंगे तो भी तू (हमारी ओर से) उनसे अवश्य कह । वह भगवान् अपने आपको माया के परदे से ढक कर किसी स्थान पर उस परदे को कुछ हटा कर रहते हैं, इसलिए हम जहाँ जहाँ हों, वहाँ वहाँ हमारे लिए उस परदे को तू हटाने वाली हो । भगवान् के दर्शन में अन्तरायभूत उस परदे को दूर करने में तेरा कुछ अपराध नहीं होगा, क्योंकि तू तो भगवान् को हमारे पति करेगी, कन्या और वर का विवाह में अन्तः पट दूर कराया ही जाता है । यह अर्थ नित्य है अर्थात् ऐसा सदा ही सब जगह किया जाता है । यह प्रत्यक्ष (प्रत्यक्ष) आशीमन्त्र है । इसलिए इसका जप ही किया है, कर्म का अंग रूप नहीं किया है । कल्पसूत्र में बतलाया है कि 'प्रत्यगाशिषो मंत्रान् जपत्यकरणान्-' कि जो मंत्र कर्म के अंग भूत नहीं है, उन प्रत्यगाशिष मंत्रों का जप करते हैं ।

अब आगे-‘तेषां प्रसादरूपाशक्तिः स्त्री भवति,’ ‘भगवानेव वा गुणातीतः-’ प्रथम श्लोक की व्याख्या में बतलाये गए दोनों पक्षों में मंत्र का अर्थ कहते हैं । भगवान् के स्त्रियाँ कितनी थीं ? ऐसा स्त्री विषयक प्रश्न किया गया है, ये ही-‘कात्यायनी’-पद का अर्थ है । इसीलिए-पत्न्यः कत्यभवन् प्रभोः- राजा परीक्षित के प्रश्न में-भगवान् के कितनी पत्नियाँ थीं ? ऐसा वचन है । वे † कात्यायनी-स्त्रियाँ-अयन ( स्थान ) जिसका । वह कात्यायनी है । यहाँ स्त्री प्रत्यय ( डीब् ) वैदिक सम्भना ।

शंका:-जब कात्यायनी को ये कुमारिकायें स्वयं को भगवान् की भोग्य अवश्य बना देने के स्वभाव वाली जानती हैं तो भगवान् का सम्बन्ध अवश्य ही होगा-ऐसा ज्ञान भी उन्हें होगा ही, फिर उन्होंने व्रत का आरम्भ क्यों किया ? विलम्ब को दूर करने के लिए किया, यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि यह तो सबसे अधिक है इसलिए इसका प्रतिबन्ध दूसरा कोई हो ही नहीं सकता । वह कात्यायनी तो स्वयं ही विलम्ब सहन नहीं करती, किन्तु अपनी ( कुमारिकाओं की ) अवस्था को रस के योग्य कराने के लिए व्रत का आरम्भ किया है यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा कहने में कोई प्रमाण नहीं है । मंत्र में तो भगवान् को पति करना ही सुना है और वह पति करना कार्य तो इस कात्यायनी शक्ति के अथवा कात्यायनी रूप भगवान् के प्रवेश से ही सिद्ध है । फिर व्रत करने का प्रयोजन ज्ञात नहीं होता । इससे तो ऐसा कहना ही उचित है कि उन्हें अपने में कात्यायनी की स्थिति का ज्ञात नहीं था और इस कारण से ही उन कुमारिकाओं ने व्रत का आरम्भ किया । ऐसा कहने पर भी व्रत का कोई वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । इस से व्रतारम्भ करने के हेतु को जानने का प्रश्न बना ही है ।

उत्तर:-इन सब शंकाओं का उत्तर देते हैं कि मंत्र में कहा-भगवान् को पति कर-यह फल ही

व्रतारम्भ का प्रयोजन है । यह प्रयोजन तो पूर्वकथित—(पहिले बतलाए हुए)—कात्यायनी शक्ति के अथवा कात्यायनी रूप भगवान् के प्रवेश रूप न्याय से ही सिद्ध है ? ऐसा मत कहो क्योंकि उनके तात्पर्य का ज्ञान अपने को नहीं है । वह तात्पर्य इस प्रकार है:—साक्षात् पुरुषोत्तम के साथ रमण करने की कुमारिकाओं की इच्छा थी । भगवान् ने भी कहा है कि हे सतियों ! जिस उद्देश्य से तुमने आर्या-कात्यायनी की पूजारूप यह व्रत किया है, उस उद्देश्य को पूरा करने के लिए इन रात्रियों में तुम मेरे साथ रमण करोगी । इस से कात्यायनी शक्ति के अथवा भगवान् के प्रवेश का 'रमण रूप' प्रयोजन है । इस प्रयोजन को भगवान् कदाचित् आवेशरूप बलदेवजी आदि के रमण से सिद्ध हुआ मान ले और सब का, सब जगह, सम्बन्ध जोड़ देने की शक्ति वाले भगवान् हमारा अन्य के साथ योग कर देंगे तो आवेश अथवा अंशावतार के साथ सम्बन्ध हो जाएगा, जिसे ये कुमारिकायें नहीं चाहती थी । इसलिए व्रत-रूप उस कात्यायनी की पूजा की जिस से आवेश अथवा अंश आदि के साथ इनका सम्बन्ध न हो कर पुरुषोत्तम के साथ ही हो । इसी अभिप्राय से भगवान् ने 'हे सतियों !' विशेषण कहा है । और इसी अभिप्राय से ही 'नन्दगोपसुत' पद का प्रयोग किया है क्योंकि पुरुषोत्तम का आन्विर्भाव—नन्दगोपसुत में ही है । ( अन्य किसी आवेश या अंशावतार में नहीं है ) इस सब का निरूपण जन्म प्रकरण में कर दिया गया है । नन्दगोपसुत का तात्पर्य यह भी है कि जैसे कंस आदि के भय से—वे न जान सके—इसलिए गुप्त-स्थान में छिपाए हुए भगवान् नन्द पुत्र हुए, वैसे ही तू भगवान् को एकान्त स्थान में जहाँ कोई जान न पाए—ले जा, जहाँ वे हमारे साथ रमण करने वाले हों । इसीलिए बलदेवजी आदि को इससे अलग किया और भगवान् भी आगे इसीलिए बलदेवजी को दूर रख कर रमण करेंगे ।

मूल में उद्देश्य ( नन्दगोपसुत ) और विधान ( प्रार्थना ) वाचक ( पति ) पदों के बीच में दिए सम्बोधन देवी पद से मध्यस्थ हो कर कदाचित् दूतीरूप से पति कराने का भाव भी सूचित होता है । और जैसे देवी शब्द से क्रीड़ा तुम्हें परम आनन्द देने वाली है, इसी तरह तेरी यह-भगवान् को हमारा पति कराना रूप-क्रीड़ा भी तुम्हें परम आनन्द जनक है—यह भी भाव सूचित होता है । गायों को जैसे अपने हित और अहित के कार्य में लगाने या हटाने का स्वतः ज्ञान नहीं है और तो क्या ? उनके खाने की वस्तु घास को खाने से भी—उनके रक्षक की प्रेरण से उन्हें रोक दिया जाय तो वे केवल चुप ही-खाना बन्द करके—रह जाती हैं; ऐसी-ज्ञान शून्य-गायों के पालक-गोप-नन्दरायजी के पुत्र कहने का तात्पर्य यह है कि गायों की तरह हमें भी उस रमणरूप फल के सम्बन्ध में साधक बाधक का ज्ञान ( रमण करने देने या न करने देने के विषय का ज्ञान ) नहीं है इससे कदाचित् अपनी इच्छा-उपर्युक्त फल से-विपरीत करने की हो, तो भी स्वयं ही कृपा करके अपनी उस विरुद्ध-फलदान की-इच्छा को बदल कर हमारा हित ही सिद्ध करेंगे ।

गोप पद का यह भी तात्पर्य है कि जैसे ब्रह्माजी की वाणी को सत्य-करने के लिए भगवान् ने जगत् में हीन दृष्टि से देखी ( गिनी ) जाने वाली गोप जाति का पुत्र रूप ग्रहण किया है, उसी तरह अपने वाक्यों को सत्य करने के लिए हमारे पति पन को भी अवश्य स्वीकार करेंगे ही । तू तो केवल इसमें निमित्त हो । इस कथन से यहाँ यह भी सूचित किया कि नन्दगोपसुत को पति कराने में तुम्हें अधिक परिश्रम नहीं होगा । और अपने अभिमान का त्याग भी बतलाया क्योंकि हमारे साधन के बल से भगवान् हमारे पति नहीं हुए, किन्तु तेरी प्रार्थना करने से हुए हैं । हमारे इस फल को सिद्ध करने वाले तेरे इस उपकार का बदला—( प्रत्युपकार )—तो हम कुछ नहीं कर सकती; किन्तु-किमासनं ते



गहडासनाय—जैसे गरुड़ आसन वाले भगवान् के लिए नमन से अधिक क्या किया जा सकता है, इस से जीव केवल नमन ही कर सकता है इसी तरह हम भी तुम्हें केवल नमन ही करती हैं। 'ते नमः' नमन के अतिरिक्त हम कुछ भी करने में समर्थ नहीं हैं। हमारी इस असमर्थता का कारण तेरा महत्व-बढ़पन-है, जिसे 'महाभागे' आदि पदों से कहा है। 'योगोऽस्यास्तीति योगो' भगवान् के साथ इस कात्यायनी का सम्बन्ध है। इस से यह योगिनी है। योग में भी महत्व यह है कि वह योग नायिका भाव सहित है अर्थात् जैसे भगवान् रूप पुरुष पर—'अधीश्वरि'—तेने स्वामित्व स्वीकार कर लिया है। साधारण रीति से जो प्राप्त नहीं हो सके और योग के सम्बन्ध से जो प्राप्त हो सके, उसको महत्व कहते हैं। ऐसे महत्व के ईश्वर भगवान् ही हैं और तू तो ऐसी है कि वह ऐसा ईश्वर भी तेरे अधीन है। तू ही उसे फल देती है—यह बतलाने के लिए—अधि उपसर्ग दिया है।

यह कात्यायनी भगवत्स्वरूप है, इसलिए उसकी आधीनता और उसके द्वारा फल की प्राप्ति रूप उक्त दोनों पक्षों से भगवान् में न्यूनता—कात्यायनी की अपेक्षा कुछ कमी—की शंका नहीं करना चाहिए। महायोगपन में हेतु भूत विशेषण को—'महाभागे'—पद से कहते हैं। भक्ति मार्ग में अंगीकार कर लेना—कात्यायनी का—भाग्यरूप है और उसमें भी पुष्टि पुष्टि में अंगीकार करना ही महत्व है। इसलिए उस मंत्र का जप करने वाली वै मौन होकर ही पूजा करने लगीं यह 'इति-मन्त्रम्' इत्यादि आधे श्लोक से कहते हैं। इस मंत्र को जपती हुई प्रसिद्ध कुमारिकाओं ने मौन होकर ही पूजा की, क्योंकि वे अविवाहित थीं। यद्यपि विवाह के पीछे ही स्त्रियों को मंत्र का सम्बन्ध हो सकता है तो भी इस मंत्र का दर्शन उनको ही हुआ था, इससे उनका जप करना उचित है। इससे क्रिया का वर्णन किया ॥४३॥

'लेख'—पूर्व के तृतीय श्लोक में कहा है कि इस प्रकार तीन श्लोकों से कर्ता, देश और द्रव्य का निरूपण किया अब इस चौथे श्लोक से मन्त्र का वर्णन करते हैं और पांचवे श्लोक में काल का निरूपण करेंगे। इस प्रकार पांच श्लोकों से पञ्चात्मक कर्म का निरूपण सम्भूत। साक्षात्कार हुआ, क्योंकि श्लोक में मध्यम पुरुष 'तू' पद का प्रयोग किया है। परिज्ञान अर्थात् उस—कात्यायनी—के स्वरूप का ज्ञान हम को हो गया है। इससे—'परिज्ञान सम्बोधन'—अपनी जानकारी का बोध हमें अच्छी तरह हो गया है—यह परिज्ञान सम्बोधन पद का अर्थ है। तत्र—उस भगवत्प्राप्ति में। 'अदृष्ट'—भगवान् को ढक—'छिपा'—देने वाला, आधिदैविक सामग्री का कारण होने से आधिदैविक प्रतिबन्धक है। क्योंकि यह प्रतिबन्धक भगवत्कृत है, इस से इसको दूर करने में दूसरा कोई समर्थ नहीं है। केवल यह कात्यायनी ही समर्थ है, क्योंकि लीला के प्रतिबन्ध को दूर करने (मिटाने) का सामर्थ्य भगवान् ने कात्यायनी को ही दिया है। यहाँ यह अदृष्ट कर्मजन्य नहीं है, किन्तु भगवान् के भिन्न भिन्न अंगोंका आच्छादन करने वाली योग माया का अंश ही अदृष्ट सम्भूत चाहिए। ननु—पद से होने वाली शंका का आशय यह है कि यदि प्रतिबन्ध भगवान् की इच्छा से ही हुआ हो तो वह प्रबल प्रतिबन्ध दूर कैसे हो ? महाभाग होने में अर्थापत्ति का प्रमाण देते हैं कि यदि अल्प भाग्य होता तो भगवान् की आज्ञा न होती—इत्यादि। भाग्य का कार्य—जो यहाँ करने का है—उसे कहते हैं कि प्रार्थना करेगी तो भगवान् अपनी इच्छा को भी इसके अनुकूल कर देंगे। 'अतः' पद का सम्बन्ध पूर्व के साथ है। तीन कारणों से तेरे महाभाग्य का निश्चय हुआ है। इससे तू प्रार्थना करेगी तो ऐसा करेंगे—ऐसा—'यतः तव'—के बाद अध्याहार

करना । इस प्रकार प्रतिबन्धक के निवारण की प्रार्थना की और इसी से फल दान की भी प्रार्थना की । इस को- 'आभिमानिकसम्बन्धेन'-पद से कहते हैं । भाग्य का साधन रूप कारण जो यशोदाजी में जन्म । इस से भाग्य के कार्य रूप से कहा गया यह जन्म यहाँ उपकारक बहिनपन का कारण रूप कहा जाता है । इसी से-'पुनः'-पद का प्रयोग किया है । दासियाँ-प्रभुपत्नी को माता और उसकी पुत्री को बड़ी बहिन-कहती हैं और यह व्यवहार लोक सिद्ध है । यहाँ-'प्रायो बताम्ब'-( अ १८ ) इस श्लोक में यशोदाजी को माता कहा है । इस से उनकी पुत्री को बड़ी बहिन कहना उचित ही है । कथं-किस प्रकार से ? उत्तर-तू अन्तरंग है, इसलिए भगवान् की प्रार्थना करके । कात्यायनी के तीन गुणों-ऐश्वर्यं, वीर्यं, यश को क्रम से अधोऽवरि, महायोगिनी, महाभागे पदों से समझना । सर्व प्रकारेण-भगवान् के घमों से भी । 'वक्तव्योपि'-आज्ञा के बिना ऐसा नहीं किया जा सकता । इससे प्रतिबन्ध की निवृत्तिको "सहि" आदि पदों से स्पष्ट करते हैं । "अयं अर्थः" रमणरूप अर्थ । नित्यः-'कादाचित्क'-अनिश्चित-नहीं है तात्पर्य यह है कि पति के साथ रमण सर्वदा होता है और जार के साथ कभी कभी होता है ।

'प्रत्यगाशी-इति'-निरुक्त में निरूपण किया है कि आशीर्वाद के मन्त्र प्रत्यक्षकृत, परोक्षकृत और आध्यात्मिक भेद से तीन प्रकार के हैं । और वे क्रम से मध्यम पुरुष 'तू' प्रथम पुरुष 'वह' और उत्तम पुरुष 'मैं' का प्रयोग वाले हैं । इससे यह मन्त्र प्रत्यक्षकृत मन्त्र रूप है । 'अवश्यं भावित्वेन'-यह तृतीया विभक्ति यहाँ प्रकार के अर्थ में है । अर्थात् यदि इन कुमारिकाओं को अपने में कात्यायनी की स्थिति का ज्ञान है, तो उस प्रकार का ही भगवत्सम्बन्ध का ज्ञान होना निश्चित है । 'अन्यथासिद्ध' के पीछे 'भवतु' पद का अध्याहार है । प्रयोजन अर्थात् रमण भगवान् के आवेश का रमण जैसा ही हो-ऐसा अर्थ है । अंशावतार-वामन आदि । तत्रैव-वहाँ यशोदा में ही, अदिति रोहिणी आदि नहीं । इसी लिए 'एव' का प्रयोग दिया है । तत्र-वहाँ प्रकट हुए । बल-देवजी में तो पुरुषोत्तम नाम का आवेश है, इस लिए उनके साथ रमण न होवे-यह इसका आशय है । 'उद्देश्य'—आदि-नन्दगोपसुत का उद्देश्य करके पतित्व का विधान किया गया है, इस से उद्देश्य का वाचक 'नन्दगोप-सुत' पद और पतित्व के विधान का अथवा पतित्व की प्रार्थना का बोधक 'पति' पद-इन दोनों के बीच में कहा है । 'तेन अत्र तव'-आदि-गोपसुत को पति कराने की प्रार्थना से । स्वस्य-आदि-प्रार्थना से भगवान् ही पति हुए हैं, अपने साधन बल से नहीं, इससे अभिमान का अभाव कहा है । अधीश्वरी-अर्थात् भगवान् की अपेक्षा अधिक अथवा भगवान् पर ईश्वरता रखने वाली ।

योजना-तेरे लिए नमस्कार करती हैं । इस तरह 'ते' पद के प्रयोग से साक्षात्कार होने का बोध होता है । बड़ी बहिन होती है क्योंकि यशोदाजी में उत्पन्न होने से अभिमानिक सम्बन्ध से बहिन होती है । "विष्णु के पीछे उत्पन्न हुई तथा आयुध युक्त आठ भूजा वाली दिखाई दी"-इस वाक्य के अनुसार ज्येष्ठा' गुणों के कारण बड़ी-ऐसा अर्थ करना । अर्थात् तेरे में बहुत गुण हैं इससे तू सब से बड़ी है ।

'लेख'-अतः-आदि-इसे कर्म का अग्ररूप न करने से । स्वतन्त्र लेख के पहिले इसका सम्बन्ध है । बोध में स्वतन्त्र लेख का व्याख्यान है । 'यतः कुमारिकाः' इत्यादि-वे कुमारिकायें थीं इसलिए चुपचाप पूजा की । यहाँ यह शंका होती है कि इस मन्त्र का जप ही नहीं हो सकता ? इसका उत्तर देते हैं कि यह प्रत्यगाशी मन्त्र है, उस कारण से इससे पूजा न हो-यह उचित ही है । 'क्रियोक्ता'-अर्थात् व्रत का अंगभूत पूजा रूप कर्म कहा है ।

श्लोक—एवं मासं व्रतं चेरुः कुमार्यः कृष्णचेतसः ।

भद्रकालीं समानचूर्तु भूयान् नन्दसुतः पतिः ॥५३॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार कुमारिकाओं ने एक मास तक व्रत किया और कृष्णमया चित्तरूप हुई। फिर भद्रकाली देवता की—‘नन्द सुत पति होवे’—इस मंत्र से पूजा की ॥५३॥

सुबोधिनी—एवमप्रत्यक्षप्रकारेण मासपर्यन्तं व्रतं कुमार्यश्चेरुः, अनेन कालोप्युक्त उपसंहृतश्च, एवं षडङ्ग-सहिता व्रतरूपा क्रिया निरूपिता, एतस्य व्रतस्य फलं जातमित्याह कृष्णचेतस इति, कृष्ण एव चेतो यासां तादृश्यो जाताः, तदा नान्या प्रार्थिता, अतोऽग्रे भगवन्तमेव प्रार्थयिष्यन्ति चित्तदोषस्य गतत्वात्, आरब्धस्यावान्तर-फले जातेऽपि परमफलं न जातमिति पुनर्मसान्तरेऽपि व्रतं कृतवत्य इत्याह भद्रकालीमिति, कात्यायन्यामेवावस्था-विशेषो देवताविशेषो वा वर्तते यतो भगवत्-सम्बन्ध-लक्षणो भद्रः कालो भवत्यतस्तामेव भद्रकालीरूपां समान-चूर्तवान्यो मन्त्रः पश्चाद् दृष्टो भूयान् नन्दसुतः पति-

रिति, नन्दसुतः स्वयमेव पतिर्भूयात्, निमित्तं काल इति कालाभिमानिनी पूज्यते कादाचित्कत्वात्, अतः कदाचित् सम्बन्धो न सर्वदा जातः, नन्दस्य पुत्रः कृपालुरिति भूयादितिप्रार्थना, भगवन्तमेव प्रार्थयन्ति, अत्र प्रत्येकं प्रार्थनाभावात् समुदायेनापि रमणं, अतोऽग्रेऽपि वक्ष्यत “एकैकशः प्रतीच्छन्तु सहैवो”तेति, फलवाचकत्वात् पूजायामशेषत्वादस्याङ्गत्वाभावाय स्वरूपेणैव कीर्तनं कृतं, इतिशब्दप्रयोगे गौणता स्यात् प्रार्थनया भगवान् स्वतो वृत इत्यन्तः-करणधर्मत्वाद् भगवान् पतिर्जातः, परमन्तरेव “ये यथा मां प्रपद्यन्त” इतिवाक्यात् तदान्तः स्थितभगवद्रूपा निःशङ्का जाताः ॥५३॥

व्याख्यानार्थः—इस तरह अप्रत्यक्ष रूप से ( कात्यायनी के द्वारा ) एक महीने तक कुमारिकाओं ने व्रत किया। इस से काल (कितने समय तक) का वर्णन किया और व्रत का उपसंहार भी कह दिया। इस तरह छः अंग सहित व्रतरूप कर्म का निरूपण किया। इस व्रत का फल उन्हें मिल गया—यह—‘कृष्ण चेतसः’ पद से कहते हैं। कृष्ण ही जिनका चित्त रूप है—ऐसी हो गई। तब कृष्ण के सिवाय अन्य की प्रार्थना नहीं की। इस से चित्त का दोष दूर हो जाने से आगे चल कर कृष्ण की ही प्रार्थना करेंगी। आरम्भ किये हुए व्रत के गौण फल की प्राप्ति हो जाने पर भी परम फल अभी नहीं मिला, इस से एक मास तक फिर भी व्रत करना कहते हैं—भद्रकाली—कात्यायनी में ही अवस्था विशेष अथवा देवता विशेष—भद्रकाली—रहती है। ( भद्र ) भगवत्सम्बन्ध को प्राप्त कराने वाला काल ही भद्रकाली रूप है इस लिए उसकी अच्छी प्रकार पूजा की। वहाँ पीछे—‘भूयान्नन्दसुतः पतिः’—दूसरे मंत्र का दर्शन हुआ। नन्दसुत स्वयं ही पति होवें—इस पति होने में काल निमित्त—कारण—है,—इस लिए काल की अभिमानिनी देवता की पूजा की। पति होने में काल के निमित्त होने से उनको भगवत्सम्बन्ध कादाचित्क हुआ, सर्वदा नहीं हुआ। नन्द के पुत्र आप कृपालुता से हुए हो कृपालुता से ही हमारे पति भी होओ—ऐसी प्रार्थना की। वह भी भगवान् की ही की, दूसरे की नहीं की। यहाँ प्रत्येक की भिन्न भिन्न प्रार्थना का निरूपण नहीं है तो भी समुदाय से भी भगवान् ने ही रमण किया और, इसी से आगे कहेंगे—‘एकैकशः प्रतिच्छन्तु सहैव’—कि एक एक आकर अथवा इकट्ठी ही आकर वस्त्र ले जाओ।

यह मंत्र फलवाचक है (पतिरूपफल)। पूजा का अंगरूप नहीं है। इस से पहिले के मंत्र की तरह यह भी पूजा का अंग न हो जाय—इस लिए स्वरूप से ही कीर्तन किया। अन्त में—इति—शब्द का प्रयोग नहीं किया

यदि-इति-शब्द का प्रयोग किया होता तो इस मंत्र के किर्त्तन में गौणता आ जाती । प्रार्थना करने से भगवान् ने स्वयं वरण किया और प्रार्थना अन्तःकरण का धर्म है, इस से भगवान् अन्तःकरण में ही पति रूप हुए क्योंकि भगवान् का वचन है कि 'जो जिस रीति से मेरी शरण आता है, उसे उसी प्रकार से मैं भजता हूँ ।' तब वे अन्तःकरण में भगवान् को धारण करने वाली और शंका रहित हो गई ॥५३॥

'टिप्पणी'—यहाँ ही आगे-चित्तदोषस्य गतत्वात्-भ्रम उत्पन्न दोष से होता है अर्थात् जिससे भ्रम उत्पन्न होता है, उसे दोष कहते हैं । ये कुमारिकायें तो व्रत करने से पहिले भी भगवदीय ही थीं । इससे व्रत करने का हेतु संशय है और वह द्वितीय कोटि के भ्रम की स्फूर्तिरूप ज्ञात होता है । उनका चित्त कृष्ण में ही लगा होने से उन्हें-भगवान् पति होंगे-ऐसा निश्चय हो गया था इस से उनकी दूसरी कोटिरूप भ्रम की स्फूर्ति नष्ट हो गई थी-इस अर्थ ( बात ) को ध्यान में रख कर-'चित्तदोषस्य गतत्वात्'-कहा है । भगवान् हमारे पति होंगे या नहीं-ऐसा अनिश्चय ही उनके चित्त का दोष समझना चाहिए और इसका कारण भगवान् पर उनका स्नेहाधिव्य ही है, क्योंकि संशय पंदाकर देना स्नेह का स्वभाव है । स्नेह के साथ ही उनका चित्त कृष्ण में ही था, इससे उनके चित्त में भ्रम का विरोधी निश्चय उत्पन्न हो जाने से उपर्युक्त भ्रमरूप अनिश्चय का मिट जाना उचित ही है उनका चित्त सदा कृष्ण में था ही, फिर भी-'कृष्णचेतस्त्व' पद से उनमें कुछ विशेष अथवा आधिव्य कहना चाहिए और यह कृष्णचेतस्त्व व्रत के पीछे कहा है । इस लिए फलरूप होना ही इस कथन में विशेषता है और इसी आशय से फलरूप कहा है । किन्तु आगे चलकर फिर साधनरूप कहने से इसे अवान्तर-गौण-फल समझना । इस से इन्हें पहिले की अपेक्षा इतनी विलक्षणता प्राप्त हो चुकी है । ऐसा समझ में आता है ।

व्याख्या में-'फलवाचकत्वात्'-से 'कृतम्' तक का तात्पर्य कहते हैं कि पहिले एक मास में समाप्त होने वाले व्रत का उपसंहार करके फिर पूजा और पूज्य देवता के नामों के भेद से भिन्न मंत्र और काल का भेद बतलाया है-इससे और 'वृत्तव्रता' (श्लोक १६) भगवान् के इस वाक्य से यह कोई दूसरा ही व्रत ज्ञात होता है । और यह भी है कि-भगवान् पति हो-केवल इसीलिए व्रत किया था उनके चित्त में कृष्ण थे इससे उन्हें अपने हृदय में कृष्ण के पति होने का निश्चय था ही और वह-पति होना-केवल भगवान् स्वयं से ही हो सकता है यह भी वे जानती थीं । अतः पहिला व्रत करना भी संभव नहीं है । किन्तु वे अब फिर बाहर भी भगवान् रूप पति चाहती हैं इस में वैसा काल ही कारण है और यह काल की अभिमानिनी देवता हैं-ऐसा समझकर कर यहाँ इसकी ही पूजा करना कहा गया है । इसी से भगवान् ने उसके चौदह नामों में भद्रकाली नाम कहा है । मंत्र में भी बाहिर प्रकट रूप से पति होने की ही प्रार्थना है नहीं तो प्रार्थना करना ही व्यर्थ है क्योंकि हृदय में भगवान् पति हैं-ऐसा इन्हें निश्चय था ही । इसी से-इसका विषय भिन्न होने से-यह प्रार्थना पूजा का अंग रूप नहीं है । दूसरी बात यह भी है कि पहिले दूसरे की प्रार्थना की थी तो उसके आग्रह से पति होने से और स्वतः पति न होने से नीरसता हो (आ) जाती है । उसको दूर करने के लिए ही प्रार्थना की । इसी से भगवान् की अलग पूजा नहीं की, क्योंकि इनकी भगवान् में पतिरूप की भावना है । यहाँ ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए कि-यदि इस प्रकार पूर्वोक्त मंत्र पूजा का अंग है, तो निष्प्रयोजन होने से, वह मंत्र, मंत्र ही नहीं कहा जाएगा, क्योंकि भाव का क्रम ही ऐसा है-जो प्र



भाव दूसरे भाव को उत्पन्न कर देने का कारण है। इसी से कृष्ण चेतस्त्व को व्रत का फलरूप कहा है। इस विषय का प्रतिपादन पहले हो चुका है। इस मंत्र में अर्थ की भावना ही प्रधान है, जप मुख्य नहीं है। इसी से इसका जप करना नहीं कहा है। यहाँ यह पूजा भी अपने वाञ्छित प्रकार से प्रिय भगवान् की भावना रूप ही है। इसी बात को भगवान् ने—मदर्चनात्—(मेरी पूजा से) २५ वें श्लोक में कहा है। और—भगवानेव गुणातीतः—इस क्ष में तो सब ठीक है, क्योंकि इसमें दोनों ही मंत्र एक है, तो भी पहिली पूजा की अपेक्षा पीछे की हुई पूजा में, अधिक गुण होने से (दोनों का) भेद सिद्ध होता है और पूजा भेद के कारण व्रत भेद भी सिद्ध है।

शंकाः—जब एक कार्य में ही अवान्तर फल और परमफल कहे जा सकते हैं तो यहाँ व्रत के भेद को लेकर व्याख्या में अवान्तर फल और परमफल—आचार्य चरणों का कथन संगत नहीं होगा—ऐसी शंका नहीं करना चाहिये, क्योंकि यहाँ केवल स्वामिनी कुमारिकाओं के उद्देश्य से ही फल की परमता—उत्कृष्टता और अवान्तरता—गौणता अपेक्षित है। इस कारण से एक ही कर्म से उक्त दोनों फलों की सिद्धि हो सकने का कोई कारण नहीं है—ऐसा समझना चाहिए। अर्थात् एक कर्म के ही दो फल कहे जा सकते हैं तब फिर व्याख्या में गौण और परम फल भेद का कारण व्रत भेद को बतलाना असंगत सा प्रतीत होता है? इस का समाधान करते हैं कि यहाँ फल की गौणता अथवा मुख्यता में स्वामिनी—उन कुमारिकाओं का उद्देश्य ही हेतु है—उनके उद्देश्यानुसार ही फल भेद कहना संगत ही है, इसी से एक ही फल पुरुष के भेद से एक के प्रति गौण—फल ही दूसरे के लिये परम फल भी हो सकता है। इस तरह—ज्ञान मार्ग के अनुसार मोक्ष चाहने वाले के—योग से—दोष दूर होते हैं और ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है—यह बात भी संगत हो सकती है।

“लेख”—एवं इदं चेहू : ततः कृष्णचेतसः सत्यः अग्रिमं कृतवत्यः ऐसा सम्बन्ध है। (इस प्रकार यह व्रत किया, पीछे कृष्ण में चित्त वाली हो कर आगे का कार्य किया—ऐसा सम्बन्ध है) भगवत्सम्बन्ध—इत्यादि—जिस काल में भगवान् का सम्बन्ध अवश्य हो—ऐसा काल। ‘निमित्तम्’—के पहिले ‘पतित्वे’ का अध्याहार समझना अर्थात् पति होने में कारण। क्योंकि—कादाचित्कत्वात्—लक्ष्मीजी की तरह सदा पति पत्नी भाव स्थापन कराने की इच्छा न होने से। अतः—पति भाव में काल हेतु होने से प्रार्थयन्ति—अर्थात्—‘पति में कुरु’—में पति करा देना कात्यायनी के हाथ है और यहाँ पति बनना भगवान् के ही आधीन है (कात्यायनी अथवा दूसरे की अपेक्षा बिना) ऐसा भाव है। ‘फलवाचकत्वात्’—इत्यादि—पहिले के मंत्र में—‘पति मे कुरु’—से कात्यायनी से पतिरूप फल की प्रार्थना की है, इस से वह प्रार्थना पूजा का अंग है, और यहाँ—‘स्वयं पति होओ’—ऐसा केवल फल का स्वरूप ही कहा है, इस से पूजा का अंगभूत नहीं होने से यह मंत्र ही नहीं है। ‘मंत्रवत् इति’ इस से—‘तच्चोदकेषु मंत्राख्या’—मंत्र के लक्षण के अनुसार यह मंत्र ही नहीं है। ‘अन्तः करणधर्मत्वात्’ के पहिले—‘प्रार्थनायाः’—का अध्याहार समझना अर्थात् प्रार्थना अन्तः करण का धर्म होने से।

योजना—फलवाचकत्वात्—इत्यादि—इस से (होओ) इस तरह यह मंत्र फलवाचक है। पति होना यह फल है और यह फल पूजा का अंग नहीं है, इस कारण से—भूयान्न्दसुतः पतिः—इस वाक्य में देवता की प्रार्थना

श्लोक—उषस्युत्थाय गोत्रैः स्वरन्योन्याबद्धबाहवः ।

कृष्णमुच्चैर्जगुर्गन्त्यः कालिन्ध्यां स्नातुमन्वहम् ॥६३॥

श्लोकार्थ—वे बड़े सबेरे उठकर एक एक को नाम लेकर पुकारती थी और फिर एक एक का हाथ पकड़ कर यमुना में नित्य स्नान करने जाती हुई ऊँचे स्वर से कृष्ण की लीलाओं का गान करती थीं ॥६॥

सुबोधिनी—ततः प्रकटतया पूजां परित्यज्य भगवद्गानं कुर्वन्त्यः कालिन्ध्यां कामनास्नानार्थं गता इत्याहो-  
षस्युत्थायेति, अधुना निःशङ्कतयारुणोदयात् पूर्वमेवोत्थाय  
स्वर्गोत्रैः कृत्वा कृष्णमुच्चैर्जगुः, अत्र गोत्रशब्देन  
नामाप्युच्यते, ततः स्वस्वनामग्रहणेन बोधन प्रथमतः  
प्रबुद्धा अन्यास्तद्गोत्रैः प्रबोधयन्तीति व्यावहारिकोर्थः,  
ते हि सर्वे गोत्रप्रवर्तका ऋषयो यज्ञे प्रवृत्ता अतः  
आर्पणज्ञानेन स्वगोत्रैः कृत्वा निर्भयाः सत्यः कृष्णं  
सदानन्द स्वतः पुरुषार्थरूपं जगुः, मध्ये भगवन्तं परि-  
कल्प्यान्योन्याबद्धबाहवोभवन् यथा रासे, अतः प्रकटमेव  
तासां तथात्वं जातमतो जलक्रीडार्थं गोत्रिकाभिः परि-  
वेष्टितं कृष्णं गायन्त्य एव कालिन्ध्यां स्नातुं यान्त्यो

जाताः, गानं मुख्यं स्नानगमने गौणे, अन्वहमेवं, अनेन  
हेमन्तनियमो गतः, अन्यान्यपि व्रतानि निवृत्तानि, सर्व-  
मेव गाने प्रतिष्ठित, कलिं छतीति कलिन्दस्तस्य पर्वतस्य  
कन्यकापि तद्विधा, अनेन दोषत्रयं परिहृत भविष्यती-  
त्युक्तं, अन्धोन्यं कलहो भगवता सह कलहः कलिकाल-  
दोषश्च, एतदर्थमेव कालिन्ध्यां स्नान पुनः शुद्धभावाय,  
उषः सर्वकार्येषु प्रशस्तमिति भगवत्क्रीडार्थं “मुषः  
प्रशंसते गर्गं” इतिवाक्याद् गमनं, अन्वहमिति नात्र  
कालोपरिच्छिन्नः, अतोव्यक्ततवा भगवत्स्थितिर्गानमन्यो-  
न्यस्पर्धाभावोसङ्घाताभावो दोषाभावाश्च सर्वदैव जातो  
न कदाचिदपि कोप्यंशो निवृत्तः ॥६३॥

व्याख्यार्थः—फिर बाहरी-प्रत्यक्ष-पूजा को छोड़कर भगवान् का गान करती हुई वे कामना-  
'काम्य'-स्नान के लिये यमुनातट पर गईं-यह-उषस्युत्थाय-इस श्लोक से कहते हैं । अब निःशंक  
हो कर सूर्योदय से पहले ही उठ कर अपने अपने नाम से औरों को उठा कर कृष्ण का ऊँचे स्वर से  
गान करने लगी । यहाँ गोत्र शब्द का अर्थ नाम भी है । इस लिए अपना अपना नाम लेकर पहिले  
जगी हुई औरों को उनका नाम ले लेकर जगाती हैं ऐसा व्यावहारिक अर्थ है । वे सब गोत्र के प्रवर्तक

न करके-नन्दसुत पति होवे इस आशा से मद्रकाली की पूजा की । इस से यह पूजा का अंग नहीं है । ( मंत्र वत्  
इति-काल्यायनी के मंत्र की तरह यह मंत्र पूजा का अंग नहीं है । इस से-‘स्वरूपेणैव कीर्तनम्’-भगवान् पति हो  
इस प्रकार स्वरूप से ही भगवान् का कीर्तन किया, किसी अन्य देवता के प्रति भगवान् को पति कराने की प्रार्थना  
नहीं की । ‘इति’ शब्द प्रयोगे गौणता स्यात्-इस से-भूयान्नन्दसुतः पतिः-इस के पीछे-इति उच्चार्य-ऐसा उच्चारण  
करके, अथवा, इति जपच-आदि के साथ इति शब्द का प्रयोग करें, तो मंत्र द्वारा देवता की प्रार्थना हो जाए  
और यदि देवता की कृपा से, भगवान् की प्राप्ति होवे, तो अपनी स्नेहरूप भक्ति गौण हो जाएगी, इसी आशय  
को-‘प्रार्थनया-से आरम्भ करके-पतिर्जातः-( भगवान् का स्वयं ही वरण किया, इस लिए प्रार्थना के अन्तः  
करण का धर्म होने से भगवान् पति हुए ) इस वाक्य से कहा है ।

ऋषि हैं और यज्ञ करने में लगे हैं । इस कारण वे आर्षज्ञान के द्वारा अपने गोत्र से निर्भय हो कर सदानन्द तथा स्वयं पुरुषार्थरूप कृष्ण का गान करने लगीं । अपने बीच में भगवान् की कल्पना करके रासमण्डल की तरह आपस में एक दूसरे का हाथ पकड़े हुए वे प्रत्यक्ष ( में ) भगवान् की पत्नियाँ ( पतिपन वाली ) लगीं । इस से जल क्रीड़ा करने के लिए गोपिकाओं से घिरे हुए कृष्ण का गान करती हुई वे कालिन्दी पर स्नान करने गईं । इन में गान करना मुख्य है और यमुना पर जाना तथा स्नान करना गौण है । प्रति दिन का यही नियम था । इस प्रकार हेमन्त ऋतु का नियम पूर्ण हुआ तथा अन्य-‘दूसरे’ व्रतों का विधान भी नहीं रहा । गान में ही सबका समावेश हो गया । ( कल्लि-चतीति ) कलह अथवा कलिकालका खण्डन करने वाले कलिन्द पर्वत हैं अतः उन की कन्या कालिन्दी भी कलि का खण्डन करने वाली है । अतः कालिन्दी पद से यह सूचित हुआ कि इनके तीनों-१ परस्पर सौतपने का-२ भगवान् के साथ मानादिका और ३ कलिकाल से चित्त की अशुद्धि के दोष दूर हो जावेंगे । इसी से, फिर शुद्ध भाव के लिए, कालिन्दी में स्नान करती थीं । प्रातः काल, सब कामों के लिए प्रशंसनीय है \* और गर्गाचार्य भी भगवत्क्रीड़ा के लिये प्रातः काल की प्रशंसा करते हैं इस लिए वे प्रातः काल-‘बड़े सबेरे’-गईं । प्रति दिन पद से-इतने समय से इतने समय तक-इत्यादि काल का परिमाण नहीं है । इस से अपने में अप्रकटरूप से भगवान् की सदा स्थिति का ज्ञान, सदा गुणगान, आपस में सदा ईर्ष्या का अभाव, भगवान् के साथ सदा स्थिति और दोषों की निवृत्ति सदा के लिए हो गई । कभी भी इन दोषों का कुछ भी अंश उनमें फिर नहीं आने पाया ॥६॥

**श्लोक—**नद्यां कदाचिदागत्य तीरे निक्षिप्य पूर्ववत् ।

वासांसि कृष्णं गायन्त्यो विजहुः सलिले मुदा ॥ ७३ ॥

**श्लोकार्थ—**किसी एक दिन वे कुमारिकाएँ यमुना पर आकर और नित्य की

**लेख—**‘तथात्वम्’-भगवान् हैं पति जिन के ऐसा भाव । अतः-इसके पीछे प्रातःकाल में । मूल में-‘एवं जगुः ततः उषसि स्नातुं यान्त्यः जाताः—’ ऐसे सम्बन्ध के अभिप्राय से कहते हैं-गायन्त्य एव गानं मुख्यम्-काल से परिच्छिन्न नहीं है नित्य है । ‘स्नानगमने गौणे’-काल से परिच्छिन्न हैं अर्थात् अमुक काल तक स्नान और गमन । अनेन-अर्थात् ‘अन्वह’-इस मूलोक्त पद से । यदि ऐसा नहीं होता तो पहिले की तरह एक मास का व्रत करना कहते । अन्योन्यं कलहः-अन्य गोपिका को सौत-सपत्नी-समझ कर कलह । भगवता सह कलहः-मानादिक से होने वाला । कलिकालजनितः-हम तो इतना कष्ट उठा रहीं हैं, भगवान् आ नहीं रहे हैं-इत्यादिक क्रूरतादि दोषों का भगवान् पर अपने चित्त की अशुद्धि से-आरोपण रूप । “नात्र इति अन्वहम् इत्यस्य यान्त्य इति अनेन अन्वयात् गमने अपरिच्छिन्नः कालो न, किन्तु दिनैः परिच्छिन्न एव” प्रति दिन जाती हुई-ऐसा कहने से जाने में काल अपरिमित नहीं है, किन्तु अमुक-इतने-दिन तक का है । अतः-जाना अमुक दिन तक का-परिमित-होने से भगवान् की स्थिति, गान, स्पर्धा का अभाव, दोष का अभाव-आदि-नित्य सदा ही-उनमें थे । इसी से गमन को काल से परिच्छिन्न कहना वाक्यार्थ है । ‘संघाताभावः’ का भगवान् के साथ स्थिति और भगवान् के साथ कलह का अभाव-ऐसा तात्पर्य है ।

तरह किनारे पर वस्त्रों को रख कर कृष्ण के गुणों को गाती हुई जल में आनन्दपूर्वक विहार करने लगीं ॥७३॥

एवं जाते स्वयमपि भगवान् प्रकटो जात इति । विस्मृतात्मानः स्वपरिहितानि वासांसि तीरे निक्षिप्य  
वक्तुमुपाख्यानमारभते नद्यामिति, कदाचिदिति, यदा भगवता सह जलक्रीडाथमेव प्रविष्टा मुदा संचिते विजहुः,  
पुनर्भद्रः कालः, कालिन्ध्याः प्रयोजनं वृत्तमिति नदी स्थाने मौनवस्त्रपरित्यागी दोषद्वयं क्रीडा च नियमस्थानां  
निरूपिता, पूर्ववदेव गानं कृत्वा तेन गानेन मत्ता । देहविस्मरणं च मुदेत्यनेन सूचितम् ॥७३॥

**व्याख्यानार्थः**—ऐसा होने पर, भगवान् स्वयं ही वहाँ प्रकट हुए,—इस बात को कहने के लिए—‘नद्यां’—श्लोक से उपाख्यान का आरम्भ करते हैं । कदाचित्—जब फिर, शुभ समय के आने पर कालिन्दी का कलमलनिवर्तन रूप, प्रयोजन सिद्ध हो जाने से, कालिन्दी शब्द का प्रयोग न करके—नदी शब्द कहा है । पहिले की तरह ही, गुण गान करके, उस से मस्त होकर वे अपने आपको भूल गईं । और अपने पहिने हुए वस्त्रों को किनारे पर उतार कर—भगवान् के साथ में जल क्रीड़ा करने के लिए जल में घुस कर आनन्द पूर्वक जल में विहार करने लगीं । स्नान करते समय मौन का परित्याग और वस्त्रों का परित्याग, जल में क्रीड़ा तथा नियम धारण करने वाली कुमारियों का देहविस्मरण—इस प्रकार उनके इन चार दोषों को—‘मुदा’—आनन्द शब्द से बतलाया । अर्थात् कर्म मार्ग के अनुसार ये दोष हैं । भक्ति मार्ग में तो ये दोष नहीं, किन्तु गुण हैं ॥७३॥

‘लेख’—मत्तः—वस्त्र का परित्याग उन्मत्त ही करता है, यह भाव है । आभास में बीच के प्रकरण का अर्थ कहा है । ‘स्नाने’—से—आरम्भ करके गुणाः तक का वाक्यार्थ कहा ।

‘योजना’—भगवान् का कीर्तन करने के लिए मौन का परित्याग करना उचित ही है । इसी स्कन्ध में गर्भ स्तुति के वाक्य में कहा है कि—क्रियाओं \* में भगवान् के मंगलमय नामों और स्वरूपों का श्रवण, उच्चारण, स्मरण और चिन्तन करता हुआ जो पुरुष आप के चरणारविन्द में अपने चित्त को लगा देता है, वह फिर संसार में जन्म मरण में नहीं पड़ता है । इस से प्रत्येक कार्य में भगवान् का कीर्तन आवश्यक है । इसलिए भक्ति मार्ग में मौन का त्याग करना गुण है । वस्त्रों का परित्याग भक्ति से ( उत्पन्न ) होने वाले मद का सूचक है, इस से यह भी गुण है । “आपस ‡ में आपके गुणगान रूपी अमृत से जिनके देह धर्म दूर हो गए हैं”—इस वाक्य से परम भक्ति में देह धर्म दूर हो जाते हैं । यहाँ भी मद से देह धर्म की निवृत्ति और वस्त्र के परित्याग से मद को सूचित किया । इस लिए भक्ति जन्य मद के कारण वस्त्र त्याग भी गुण ही है । ‘विजहुः’—पद से कही हुई क्रीड़ा भी

\* शृण्वन् गृणन् संस्मरयश्चिन्तयन्नामानि रूपाणि च मंगलानि ते ।

क्रियासुयस्त्वचरणारविन्दयोः शविष्ट चेतान भवाय कल्पते ॥ भा० १० ।

‡ परस्परं ते गुणाबादसीधु—



श्लोक—भगवांस्तदभिप्रेत्य कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।

वयस्यैरागतस्तत्र वृतस्तद्व्रतसिद्धये ॥८३॥

श्लोकार्थ—योगेश्वरों के ईश्वर भगवान् कृष्ण उनके दोषों को जानकर उनका निवारण करने और उन्हें व्रत का फल देने के लिए अपने सखाओं के साथ वहाँ स्वयं पधारे ॥८॥

सुबोधिनी—एवं चत्वारो दोषा जाताः कर्ममार्गे भक्तौ तु गुणा अतस्तदोषपरिहारार्थं कर्मण्यपगते भगवान् स्वयमागत इत्याह भगवांस्तदभिप्रेत्येति, तासामपराधं ज्ञात्वा तन्निवृत्त्यर्थं समागतः, किञ्च कृष्णः स्त्रीणां हितकारी, आनन्दस्तत्र प्रतिष्ठित इति, परं सदानन्द इति दोषो निवर्तनीयः, अन्तःस्थितदोषनिवृत्तौ सामर्थ्य-माह योगेश्वरेश्वर इति, योगेश्वरा हि योगबलेनान्तः प्रविश्य तत्र तत्र स्थितं दोषं दूरीकुर्वन्ति तस्याप्ययमोश्वर

इति नास्य प्रवेशोपेक्ष्यते, एते हि बालकाः पूतनायां प्रविष्टाः पुनः स्वस्मिन्नागता एतासामाधिदैविकरूपाः, अत एव पुरुषरूपा एव, अनधिष्ठिताः पुनः स्वच्छन्द-भोगयोग्या न भविष्यन्तीति दृष्टिद्वारा तेषामपि प्रवेशनं, तद्भोगार्थं च तैरपि वृतः प्रार्थितः, तत्रैव स्थाने ताभि-रपि वृतो 'भूयान् नन्दसुत' इति, एतदपि सर्वमभिप्रेत्य वयस्यैः सहागतस्तत्रैव वृतश्च, अतस्तस्य व्रतस्य सिद्धिः फलं तदर्थम् ॥८३॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कर्ममार्ग के अनुसार उन में चार दोष उत्पन्न हो गए थे यद्यपि भक्ति मार्ग में तो वे गुण ही कहे जाते हैं तथापि कर्म मार्ग के अनुसार उनका दोष दूर करने के लिए उनके व्रत के पूरे हो जाने पर भगवान् स्वयं पधारे—इथ अर्थ को—'भगवांस्तदभिप्रेत्य'—श्लोक से कहते हैं । उनके अपराध को जान कर उसको निवृत्त-दूर-करने के लिए पधारे । कृष्ण-स्त्रियों का हित करने वाले हैं । आनन्द स्त्रियों में स्थित होकर रहता है । इससे पधारे । कृष्ण स्वयं सदानन्द रूप हैं, इस लिए दोषों की निवृत्ति करना ही चाहिए । अन्तःस्थित-भीतर के-दोषों को भी दूर कर देने की सामर्थ्य भगवान् में है—इस अर्थ को 'योगेश्वरेश्वरः' पद सूचित करता है योगेश्वर तो योग बल से भीतर प्रवेश करके उस उसस्थल के दोषों को दूर करते हैं उन योगेश्वरों के भी ईश्वर भगवान् को तो दोष दूर करने के लिए भीतर प्रवेश करने की आवश्यकता नहीं होती ।

गुण है, क्योंकि—प्रसन्न होते हैं, रमण करते हैं—इस प्रमाण से भक्ति का उत्कर्ष होने पर ही क्रीड़ा होती है । इसी प्रकार देह—विस्मरण गुण ही है, क्योंकि † "भगवान् में चित्त वाले भगवान् का गुण गान करने वाले, भगवान् की चेष्टा करने वाले, भगवद्रूप हुए और भगवान् का गुणगान करने वाले ब्रज भक्त अपने शरीर और घरों को भूल गए थे" । इस प्रकार देह का विस्मरण भी गुण रूप कहा है । इस तरह ये चारों दोष भक्ति मार्ग में गुण रूप हैं ।

† तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।

तद्गुणानेव गायन्त्यो नात्मागाराणि सस्मरुः ॥ भा १० ॥

ये बालक पूतना में स्थित थे भगवान् ने जब पूतना के प्राणों का पान किया था तब वे भगवान् में-पूतना के प्राणों के साथ-आ गए थे । ये कुमारिकाओं के आधिदैविक रूप होने से उनके पुरुष भाव रूप थे, यदि ये कुमारिकाओं में पुरुष रूप से अधिष्ठित नहीं होते, तो वे स्वच्छन्दता पूर्वक भोग करने योग्य नहीं होती । (विपरीत रस क्रीड़ा के योग्य नहीं होती) इसलिए, भगवान् ने दृष्टि के द्वारा उनका प्रवेश कुमारिकाओं में किया, उन्होंने भी भगवान् के साथ भोग करने की प्रार्थना की थी और उसी स्थान पर कुमारिकाओं ने भी-भूयान्नन्द-सुतः पतिः-ऐसी प्रार्थना की थी इस विषय को ध्यान में रख कर, वयस्यों के साथ स्वयं वहाँ पधारे । वरण भी वहाँ ही किया था । इसलिए उस व्रत का फल देने के लिए वहाँ पधारे ।

टिप्पणी—व्याख्या में यहाँ ही-‘वयस्यैरागतः’ इस श्लोक के विवरण में-एते हि बालका—से लेकर-‘तद्भोगार्थ’-का तात्पर्य इस प्रकार बतलाया है:-सृष्टि को रचने वाले भगवान् ने कितने ही जीवों को तो पुरुष की प्रकृति वाले और कितने ही की स्त्री के स्वभाव वाले उत्पन्न किए । पुरुष के शरीर में स्त्री प्रकृतिक जीव का स्वभाव स्त्री जैसा और स्त्री की देह में पुरुष की प्रकृति वाले जीव का स्वभाव पुरुष जैसा होता है । पुरुष प्रकृति वाले जीवों में पुरुष के अंश का प्रवेश होता है, इस से वे हरि का भजन करते हैं । अन्य जीव भजन नहीं करते हैं, क्योंकि उनमें केवल प्रकृति का ही अंश होता है । इसी से, जहाँ जहाँ, भगवान् का भजन करना लिखा है, वहाँ-‘को नु राजन्निन्द्रियवान्’-इत्यादि स्थलों में ‘कः’ आदि पदों से पुरुष को भगवान् के भजन का अधिकारी कहा है । यदि ऐसा न हो तो फिर स्त्रियों का तो भगवद्भजन करने में-कहीं भी उनका विधान न होने से-अधिकार ही नहीं रहेगा तात्पर्य है कि पुरुष शरीर अथवा स्त्री शरीर भजन करने में उपयोगी नहीं है किन्तु यह पुरुष प्रकृति अथवा स्त्री प्रकृति ही-शास्त्रानुसार-भजन करने में अपेक्षित है । इस से-देह के बिना-केवल जीवों में पुरुष भाव अथवा स्त्री भाव का रहना सूचित होता है । इस प्रकार पूर्वोक्त ऋषि भी पुरुष प्रकृति वाले थे और वे भगवान् को अत्यन्त प्रिय-थे इस लिए उनकी सम्बन्धी सब वस्तु भगवान् को प्रिय थी इस तरह उन पर अत्यन्त कृपा करके उनके धर्मों का भी अंगीकार-ग्रहण-किया और उनका सम्बन्धी कुछ भी व्यर्थ न हो, इस लिए उनके पुरुष धर्म का इन कुमारिकाओं में स्थापन करने के लिए, उस उस स्थल पर उनका अवतार किया । यह ही इन की आधिदैविकता है । इसी से भगवान् ने इन की ऋषि दशा में, अपने कहे हुए वचन सत्य किए । ‘तदिमेविदुः’-उसको ये पुरुष जानते हैं”-और इसी से उन्हें साक्षी रूप ( ११ श्लोक में ) कहेंगे । स्त्री का अवलोकन आदि होने पर, विकार होना; उन में सहज दोष है । दोष होने पर भगवान् का अपराध हो और उस से अनर्थ का सम्बन्ध हो जावे, इस से, जैसे क्षार से मेल दूर किया जाता है, उसी प्रकार उनका-दोष दूर करने के लिए-क्षाररूप अत्यन्त क्रूर पूतना में पहले सम्बन्ध कराया । वे स्वयं भी महापुरुष थे और उस समय पूतना ने भी-यह भगवान् है । कि यह भगवान् है-इस प्रकार भगवद्भाव वाली हो कर ही उनको निगला था । इसी से पूतना के भीतर (उनकी) स्थिति होने पर भी (पूतना में भगवद्भाव के होने से) उन में आसुर भाव का प्रवेश नहीं हुआ । उन में आसुर भाव के न आने पर तप की तरह पूतना के सम्बन्ध से उत्पन्न क्रेश रूप तप से दोष दूर हो गए । मेरे लिए ही पूतना ने इन्हें खाया है-भगवान् ने इस विचार से उन्हें अपने आनन्द का दान करने के लिए

श्लोक—तासां वासांस्युपादाय नोपमाहृह्य सत्वरम् ।

हसद्भिः प्रहसन् बालैः परिहासमुवाच ह ॥६॥

श्लोकार्थ—भगवान् उनके वस्त्रों को-अपने पास लेकर उठा कर भट एक कदम्ब के वृक्ष पर जा चढ़े और हँसने वाले बालकों के साथ स्वयं भी हँसते हुए यों हँसी के वचन बोले ॥६॥

पूतना के प्राणों के साथ उनका प्रवेश भी अपने में कराया । कुमारिकाओं में उक्त गीति से अपनी प्रसाद रूप शक्ति का अथवा स्वयं अपना (भगवान् का) प्रवेश कर के अपने भोग की योग्यता का सम्पादन किया—उन्हें अपने भोगकरने योग्य बनाया । सहज पुरुष भाव का तो उनमें स्थापन किया ही । यदि पुरुष भाव का स्थापन न करते तो उनमें काम भाव ही उत्पन्न होता, क्योंकि 'जहाँ कुछ भी विशेषता दिखाई पड़ती है, वह स्वार्थ का विचार करके ही होती है'—इस न्याय से स्त्री भाव के कारण और स्त्रियों का ऐसा ही स्वभाव होने से उन में काम भाव ही उत्पन्न होता है सर्वात्मभाव उत्पन्न नहीं होता किन्तु सहज पुरुष भाव का स्थापन करने से उन में प्रीति भाव की उत्पत्ति हुई और उसीसे उन्होंने लोक वेद की अपेक्षा न रख कर सर्वात्म भाव से भगवान् का भजन किया । भगवान् ने भी स्वच्छन्द भोग इनमें ही किया और इनका ही किया । यद्यपि यह कहा जा सकता है कि भगवान् किसी साधन के बिना ही सब कुछ कर सकते हैं तो भी उस वस्तु की मर्यादा में रह कर ही भोग करने से अधिक रस प्राप्त होता है । इस लिए सारे रसों का भोग करने वाले भगवान् ने भी, उक्त मर्यादा पूर्वक ही भोग किया । नहीं तो भगवान् स्त्री भाव के बिना ही, अपने आनन्द का दान कर देते । परन्तु रस की मर्यादा की रक्षा के लिए वात्स्यायन के काम शास्त्र के अनुसार ही ( भगवान् ) रमण करते हैं । "भगवानपि रन्तु मनश्चक्र"—भगवान् ने स्वयं भगवान् होते हुए भी रमण करने का मन किया—इस फल प्रकरण के वाक्यानुसार सब उचित ही है ।

लेख—कर्मणि—हेमन्त ऋतु के नियम आदि रूप कर्म में, उस कर्म के करते रहने पर, इन चार दोषों के होने से, वह कर्म केवल कर्म मार्ग में सर्वथा दोष रूप ही होता तो, भगवान् उसकी उपेक्षा ही कर देते, 'स्वयम्'-अब तक जिनकी भावना कर रही थीं, वे अब स्वयं प्रकट पधारे । 'आनन्दस्तत्र रमादीनां'—अन्न आदि की तरह उपस्थेन्द्रिय विषयक आनन्द स्त्रियों के भीतर स्थित हो रहा है । "भगवत्वात् समागतः कृष्णत्वाच्च इति मूल-वासनया किञ्च इति उक्तम्"—स्वयं भगवान् होने और कृष्ण होने से मूल वासना के द्वारा भी पधारे--ऐसा अर्थ किञ्च-पद से सूचित होता है । 'पुनः' इत्यादि नायिकारूप से भोग सिद्ध हो जाने के पीछे नायिकारूप से फिर भोग करने के लिये । दृष्टि द्वारा अर्थात्—'तास्तथावतता दृष्ट्वा'—इस इक्कीसवें श्लोक में कही जाने वाली सर्वाङ्ग विषयिणी दृष्टि के द्वारा ।

योजना—आधिदैविकरूपाः—इन कुमारिकाओं का पुरुषभावरूप । इस की युक्ति में प्रमाण प्रकरण की योजना में निरूपण किया जा चुका है । अनधिष्ठिताः—इत्यादि का--यदि ये कुमारिकाएँ इस पुरुष भाव से अधिष्ठित नहीं होती तो ये विपरीत रस क्रीडा में होने वाले स्वच्छन्द भोग के योग्य नहीं होती । इस से विपरीत रस के अनुभव के लिए इन में इस पुरुष भाव की स्थापना की--ऐसा अर्थ है ।

अर्थ ग्रहण की हुई वस्तु का ग्रहीता के पास आना ही तो है, फिर यहाँ सामीप्य अर्थ को बताने वाले 'उप' उपसर्ग के प्रयोग का कोई विशेष अभिप्राय होना चाहिए व्याख्यामें उसी अभिप्राय का—'स्वान्तः स्थित'—इत्यादि के द्वारा निरूपण किया गया है।

इस विषय में शका होती है कि—“यः पृथिव्यां तिष्ठन्” जो पृथिवी में रहता है—इत्यादि श्रुति के अनुसार स्वाभाविक ब्रह्म के धर्म वाले जगत् का वस्त्रों से ढकना कहना ठीक नहीं जँचता, क्योंकि भगवान् के साथ व्यवधान अथवा आच्छादन नहीं हो सकता। और इसी कारण से दैत्य का प्रवेश होना भी असम्भव है। आच्छादन करने का प्रयोजन भी समझ में नहीं आता तो फिर उस आच्छादन या दैत्य के प्रवेश को रोकने के लिए नीप—(कदम्ब)—पर चढ़ने का कथन भी अनुचित ही प्रतीत होता है। और जब भगवान् स्वयं कदम्ब पर चढ़े हैं। तो उनके साथ उनके भीतर रहने वाले जगत् का भी कदम्ब के साथ सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है ही। ऐसी दशा में साक्षान् भगवान् में रहने वाले जगत् में भगवत्सम्बन्ध के कारण दैत्य का प्रवेश <sup>१</sup>(करना) ही नहीं हो सकता है तो उस—(दैत्य प्रवेश)—को रोकने के लिए कदम्ब पर क्यों चढ़े ?

इस शंका का समाधान करते हैं कि—कई पुरुष तो शास्त्र के द्वारा भगवान् तथा उनके माहात्म्य को जान कर उनका भजन करते हैं। वह भजन भी साक्षात् भजन नहीं है, क्योंकि वह श्रवण आदि धर्म के द्वारा भजन है। वास्तव में तो वे धर्मों को ही भजते हैं और इस कारण वे लोग वैदिक कहलाते हैं, और कुछ लोग पुत्र भावं आदि धर्म को लेकर, लौकिक धर्म के द्वारा भजन करते हैं। इस लिए भगवान् उनके लिए लोकानुसार ही फल देते हैं। इन कुमारिकाओं की केवल भगवान् के धर्मों में ही बुद्धि नहीं है, किन्तु भगवान्—भगवान् के स्वरूप—में भी है और वह भी नारदजी आदि तथा यशोदाजी आदि की तरह धर्म के द्वारा नहीं है। इसी से—“मेरे लिए ही तुमने लोक, वेद और अपने परिवार का त्याग किया है”—भगवान् आगे ऐसा कहेंगे। स्त्री का स्वाभाविक धर्म 'लज्जा' का त्याग भी उन्होंने भगवान् के स्वरूप की प्राप्ति के लिए ही किया था। जब उन्होंने लोक वेद की सारी मर्यादा त्याग कर भगवान् का भजन किया था तो भगवान् ने भी इनके लिए अपने स्वरूप की मर्यादा को त्याग दिया था, क्योंकि ‡ भगवान् ने गीता में भक्तों के भजन के अनुसार ही उनका स्वयं भजन करना कहा है। इसी से आगे आत्माराम भी भगवान् ने रमण किया—ऐसा कहेंगे। और इसी से भगवान् ने स्वयं कहा है कि † भक्तों का हृदय मैं हूँ और मेरा हृदय भक्त हैं, भक्त केवल मुझे जानते हैं, और मैं भी भक्तों के सिवाय किसी और को नहीं पहचानता हूँ। यदि ऐसा न करते, अर्थात् सारी मर्यादाओं को त्याग कर भजने वाले भक्तों को भजन वाले भगवान् अपने स्वरूप की मर्यादा का त्याग नहीं करते तो अकुण्ठित ज्ञान शक्ति वाले भगवान् का साधुओं के अतिरिक्त का न जानना कहना उचित नहीं होता। यह तो पुष्टि—(अनुग्रह)—लीला है। इस में मर्यादा मार्ग से विपरीतता दोष नहीं है, प्रत्युत गुण है, क्योंकि पुष्टिमार्ग ही इस तरह का है। तब मर्यादात्याग पूर्वक ऐसे (इतने से) स्वरूप का दर्शन अपने पुष्टि भक्तों के सिवाय दूसरों को न होने देने के लिए अपने में रहने वाले जगत् का आच्छादन किया। यह आच्छादन करने का मर्म है।

\* एवं मदर्थोज्झितलोकवेदस्वानाम् ।

‡ ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । गी० ।

आत्मारामोऽप्यरमत् । भा० १० ।

† साधवो हृदयं--मदन्यत्तेन जानन्ति नाहंतेभ्यो मनागपि ॥ भा० ।





उनके अतिरिक्त मैं भी किसी को नहीं जानता, इस वाक्य के अनुसार, जैसे दूसरा कोई भी भगवान् को नहीं जानता है, वैसे ही अपना स्वरूप भी भगवान् ने उनके लिए ही प्रकट किया है, इस लिए उन पुष्टिमार्गीय भक्तों के सिवाय (कोई दूसरे उस स्वरूप को न देख सके) किसी दूसरे के साथ उस स्वरूप का सम्बन्ध नहीं है। इसी से भगवान् के साथ व्यवधान तथा आच्छादन भी सम्भावित है। यह अलौकिक अर्थ भगवान् के वचन बल और श्रद्धाशक्ति से भरे हुए हृदय से ही जानने योग्य है। भगवान् व्यापक हैं, इससे पूर्वोक्त आच्छादन की असम्भवताकी शंका नहीं करना चाहिए। नहीं तो फिर व्यापक का हृदय में धारण करना और भक्त के हृदय को क्षणभर भी न छोड़ना कहना असंगत हो जाएगा। वह दूर भी है वह पास भी है—इस श्रुति का भी यही तात्पर्य है। इस से भगवान् रूप वस्तु के, विरुद्ध घर्माश्रय होने से और भगवान् का ग्रहण कराने वाले प्रमाणों से, उस वस्तु के वैसे ही सिद्ध होने से, इस में कोई कथन असंगत नहीं है, सभी उचित है।

कदम्ब पर चढ़ने के विषय में, उठाई हुई आपत्ति का समाधान इस तरह है, कि भगवान् लीला करते करते, शास्त्रार्थ का बोध भी कराते हैं। भगवान् में इन कुमारिकाओं का सा भाव, रखने वाले भक्तों को ही साक्षात् पुरुषोत्तम का सम्बन्ध होता है, ओंको को कभी नहीं होता। उनमें आसुर घर्म का प्रवेश आवश्यक है। उनका वह आसुरावेश, भगवान् से अधिष्ठित वैष्णव, अथवा श्रवण कीर्तन आदि, वैष्णव घर्मों के द्वारा शीघ्र ही दूर किया—इस बात को बतलाने के लिए आच्छादन और कदम्ब पर चढ़ना आदि कहते हैं। इस लिए यहाँ कुछ भी असंगत कथन नहीं है।

सेवकों के रहते हुए भी स्वयं ईश्वर (भगवान्) ने ही वस्त्र क्यों लिए? वस्त्रों को लिए बिना ही उन्हें अपने पास क्यों नहीं बुला लिया? इत्यादि शंका का समाधान यह है कि—‘तासामावरणम्’—यहाँ केवल वस्त्र ग्रहण करना ही तात्पर्य नहीं है, किन्तु इनका साक्षात् भगवत्सम्बन्ध में अन्तराय—(जो किसी अन्य प्रकार से दूर करने योग्य नहीं था)—को वस्त्रों को हरने के बहाने से दूर करके दूसरे स्थान पर रख दिया—ऐसा है। भगवान् के कार्य लौकिक जैसे दिखाई देते हैं, परन्तु वे वास्तव में अलौकिक हैं। उनकी अलौकिकता का ज्ञान भगवद् दृष्टि से ही होता है, अन्य किसी रीति से नहीं हो सकता है।

इसके आगे—‘हसद्भिः प्रहसन बालैः’—की व्याख्या में—‘तेषामपि मायाधिदैविकी’—इत्यादि का भाव कहते हैं। यदि ये कुमारिकाएँ, इन बालकों को, आधिदैविक सम्बन्ध से अपने सम्बन्धी ही जान लेती तो, भगवान् के एक बार—(प्रथम)—बुलाने पर ही चली जातीं, क्योंकि उनमें पराए पुरुष का ज्ञान न रहने से, उनकी इन पर दृष्टि पड़जाने पर भी, कुछ भय तो था नहीं, किन्तु उन बालकों ने हँस कर उन्हें अपने सम्बन्ध का ज्ञान न करा कर विपरीत—(अन्यपने का)—ही ज्ञान करा दिया। यह बालकों का कपट किंवा माया है। इस से उन बालकों में पराये पुरुष के और अपने आप में भगवान् से अनन्य—अभिन्न—होने के ज्ञान से, उनके देख लेने की शंका से, वे बाहर नहीं आईं। वे आधिदैविक थे और भगवान् की इच्छा के अनुसार बर्ताव करने वाले थे, यही उन में आधिदैविकता थी। भगवान् की ऐसी इच्छा तो, उन्हें विशेष आनन्द उत्पन्न कराने और उनकी परीक्षा कराने के लिए थी।

श्लोक—अत्रागत्याबलाः कामं स्वं स्वं वासः प्रगृह्यताम् ।

सत्यं ब्रुवाणि नो नर्म यद् यूयं व्रतकशिताः ॥ १०३ ॥

श्लोकार्थ—हे अबलाओं ! तुम यहाँ मेरे पास आकर अपने अपने वस्त्र ले जाओ । मैं तुम से सच ही कह रहा हूँ, हँसी नहीं करता, क्योंकि तुम व्रत करने के कारण निर्बल और कृश हो रही हो ॥ १०३ ॥

सुबोचिनी—भगवती वाक्यमाहात्रागत्येति, अस्मदीयः कामस्तत्र न गच्छत्यतोऽत्रागत्यं कामं वास आच्छादकं वस्त्ररूपं काममयत्वाद् यथेच्छमिति लोकप्रसिद्धिः, सर्वस्यैव कामस्याधिदैविकमत्र तिष्ठतीति अतो वस्त्रसम्बन्धात् पूर्वं निष्कामा एव ताः, पुनरपि पूर्वकामवत् वस्त्रवद् वा हरणे ग्रहणं व्यर्थमित्याशङ्क्याह प्रकर्षेण गृह्यतामिति, दाने प्रयोजनमबला इति, बलमस्मादेव भवतीति, अत एव निरिन्द्रियाः स्त्रियोबला इत्युच्यन्ते, बहुव्रीहावपि निमित्ततायां स्वार्थं कामदानं वस्त्रदानं च, अन्यथा मर्यादाभङ्गः स्यात्, वासोपि मयि स्थितं

प्रगृह्यतामिति ध्वनिः, अस्मदीयाभिरेव वापूर्वपरिग्रहः कर्तव्य इति, अन्यथानिष्टः स्यात्, बालकानां मायया च व्याप्ता इति स्ववाक्ये प्रामाण्यं ज्ञास्यन्तीत्यत आह सत्यं ब्रुवाणीति, सत्यं वदामीत्यर्थः, अनेन स्त्रीष्वनृतं वक्तव्यमित्यपि निराकृतं, नन्वनृतं न भवति दास्यसि परं नग्नदर्शनेनोपहासार्थं वदसीत्याशङ्क्याह नो नर्मति, नर्म नो न भवति, यद्यपि लोकदृष्ट्या नर्मवद् भाति तथापि वस्तुतो न नर्म, युक्तिमप्याहानर्मत्वे यद् यस्माद् यूयं व्रतेन कशिताः, न हि व्रतिभिः सह नर्मोचितं नापि क्लिष्टः, अन्यथा नर्म वैरजनकं भवेत् ॥ १०३ ॥

‘लेख’—‘अन्तरास्थितम्—इति’—प्रतिबन्ध की निवृत्ति की प्रार्थना कर चुकी थी, विवाह में वर कन्या का अन्तरपट, दूर कराया जाता ही है और वरण कर लिया गया था, इन कारणों से वस्त्रों का हरण किया—इस आशय से, आभास शब्द का व्याख्या में प्रयोग है । ‘किञ्च’—इत्यादि—कदम्ब के ऊपर चढ़ने से निष्कामपन की शंका दूर करदी और—‘प्रहसन’—पद से हँसना रूप काम की उनमें स्थापना करने से भी निष्कामपन का न होना बतलाया । ‘बलकार्यार्थमेव’—बल के कार्य के लिए अर्थात् उनमें पुरुष भाव से, रस का अनुभव कराने के लिए । ‘अतएव’ इत्यादि का तात्पर्य यह है, कि दृष्टि के द्वारा स्थापन करने से यथोचित भोग के अनुकूल ज्ञान शक्ति का दान इन बालकों के लिए करेंगे ।

योजना—‘नीप’—‘नितरां ई कामं पिबति’ इति नीप इति—हमेशा काम देव का पान करने वाला नीप = कदम्ब । मंत्र शास्त्र के अनुसार ‘ई’ काम बीज प्रसिद्ध है । इससे कार्य को सफल कराने के लिए वहाँ वस्त्र ग्रहण करने के स्थान पर उनको ले गए । इस प्रकार टिप्पणी में कहे हुए ‘स्वान्तः स्थितैः’ आदि पदों के अर्थ में युक्ति बताई है । (इस अध्याय में श्रीसुबोचिनी की पंक्तियों का अर्थ अत्यन्त गूढ़ है । उनका व्याख्यान करना आवश्यक है, किन्तु श्रीमत्प्रमुचरणों ने टिप्पणी में उनका विस्तार पूर्वक व्याख्यान कर दिया है, वहाँ देख लेना चाहिए) ६३

व्याख्यानार्थः—हमारा काम वहाँ नहीं जाता है । इससे यहाँ ही आकर काम रूपी वस्त्र अर्थात् वस्त्ररूप आच्छादक को (ग्रहण करो और) काम मय होने से अपनी अपनी इच्छा अनुसार लेजाओ-ऐसा लोक-रीति से अर्थ है । सारे ही काम का आधिदैविक स्वरूप इन वस्त्रों में ही रह रहा है । इस कारण भगवान् के द्वारा दिए गए काम रूपी वस्त्रों का सम्बन्ध होने के पहिले वे निष्काम ही थी । अब फिर भी, पहिले के काम की तरह अथवा वस्त्र की तरह, हरण कर लेने पर, तो ग्रहण करना ही निष्फल होता है ? ऐसी आशंका करके कहते हैं, 'प्रगृह्यताम्'—कि भली भाँति ले लो (कोई जान न सके, ऐसी रीति से पकड़ लो) काम को देने में प्रयोजन यह है कि तुम अबला हो, इस वस्त्र से ही तुम को बल मिलेगा, इसी लिए इन्द्रिय रहित—(सामर्थ्यरहित)—स्त्रियों को अबला कहते हैं । अबलाः—पद में बहुव्रीहि समास करने—(मानने)—में निमित्त स्वार्थ ही है अर्थात् भगवान् ने अपने लिए ही उन्हें काम अथवा वस्त्र दिए, जिस से वे, भगवान् के साथ रमण करने का बल प्राप्त कर सकीं । ऐसा नहीं किया जाता तो, रस शास्त्र की मर्यादा का भंग हो जाता । वस्त्र भी मेरे भीतर रहने वाले बल से ले लो—ऐसा ध्वनित होता है । जो हमारी हैं, वे ही पहिले छोड़ी हुई वस्तु को ले लो नहीं तो अनिष्ट हो जाएगा ।

ये बालकों की हास्यरूप माया से व्याप्त हो रही है, इस लिए मेरे वचन को सच्चा नहीं 'मानेगी'—यह समझ कर भगवान् उनसे कहते हैं कि—'सत्यं ब्रवाणि'—मैं सत्य कहता हूँ । इस कथन से—स्त्रियों के साथ असत्य व्यवहार निन्दित नहीं होता—इस सिद्धान्त, का \* निराकरण कर दिया । आप का कथन भूठ तो नहीं है, किन्तु हमें नग्न—(नगी) देख कर हमारी हँसी करने के लिए ऐसा कह रहे हो ? तुम ऐसी शंका भी मत करो, क्योंकि—'नो नर्म—यह हँसी—भी नहीं है । यद्यपि साधारण दृष्टि से तो हँसी सी ज्ञात होती है, वास्तव में हँसी नहीं है इस में युक्ति देते हैं कि—'यद् यूयं व्रत-कश्चिताः'—तुम व्रत के करने से दुबली पड़ गई हो और व्रत करने वालों और थके हुआओं के साथ हँसी करना उचित—नहीं है । नहीं तो वह हँसी बैर उत्पन्न कर देती है ॥१०३॥

\*स्त्रीषु नर्मविवाहे च नानृतस्याज्जुगुप्सितम्—भा—८ ।

टिप्पणी—व्याख्या में—'अम्मदीयः कामः (हमारा काम इत्यादि) कथन का तात्पर्य कहते हैं । लोक में कोई बुलाने वाला अपने पास बुलाने में आना और अपने से दूर भेजने में 'जाना' शब्द का उपयोग करता है । इस लोक सिद्ध नियम के अनुसार इस श्लोक में—आकर—'आगत्य' शब्द से ही पास के स्थान का बोध हो जाएगा, तो फिर—'अत्र'—यहाँ—पद का प्रयोग क्यों किया ? और कदाचित् यह कहा जाए कि—'आङ्'—उपसर्ग का तो केवल सम्मुख अर्थ है । इस लिए किसी विशेष स्थान की आकांक्षा को पूरा करने के लिए—'अत्र'—पद का प्रयोग आवश्यक है—तो यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि—“स्व स्वं वासः प्रगृह्यताम्” “अपने अपने वस्त्र ले लो” इस वाक्य से वस्त्र लेने के लिए ही आगमन (आना) है और वह वस्त्र लाभ अन्य स्थान पर जाने से हो नहीं सकता था । इस लिए वस्त्र लेने योग्य स्थान का बोध स्वतः हो जाने से—'अत्र'—यह पद निरर्थक ही है ? जैसे—'दण्डेन घट कुरु'—दण्ड से घड़ा बनाने के लिए कहने से घड़े की मजबूती का ज्ञान स्वतः ही हो जाता है ।



और यदि-अत्र-इस का अभिमुख अर्थ है तो अभिमुख पद के अर्थ का विचार करना आवश्यक है। केवल सम्मुख कहना अभिमुख पद का अर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि यदि सम्मुख होने में ही अभिमुख अर्थ हो जाता हो तो सामने ठहर कर पीछे पैरों से लीट जाने पर भी-आता है-आना ही कहा जाता आता नहीं किन्तु वह तो सम्मुख होकर भी जा रहा है। इस लिए यहाँ बुलाने वाले के पास के स्थान पर आना ही अभिमुख पद का अर्थ होने से मूल में-‘अत्र’ पद निरर्थक ही है। लोक में जैसे वहाँ आया-‘तत्रागता’-का वहाँ गया के अर्थ में भी प्रयोग होना दिखाई देता है, इसी तरह से ‘अत्र’-पद के प्रयोग को सार्थक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि पास आने का अभिप्राय वाला, बुलाने वाला तो अवश्य ही ‘आड्’ का प्रयोग करता ही है। इस लिए पास बुलाने के अर्थ में ‘आड्’ की शक्ति है। और वहाँ आया-इत्यादि प्रयोग में तो-किसी स्थान पर आया-इस तरह स्थान को बतलाने वाले और उस स्थान पर अपनी उपस्थिति मानने वाले बुलाने वाले का ‘अत्र’ प्रयोग तुम्हें भी औपचारिक-गौण-ही मानना पड़ेगा। इस शंका का समाधान इस तरह करते हैं-‘उच्यते’ साक्षात् भगवान् प्रकट न हों तब तक भक्त सब कुछ भावनासे ही करते हैं। और साक्षात् प्रकट हो जाने पर भावना उचित नहीं है, क्योंकि ये दोनों साक्षात् और भावना एक सा नहीं हैं। इस नियम से, अब तक भगवान् प्रकट नहीं हुए थे, अतः इन कुमारिकाओं ने भावना से ही सब कुछ किया था और प्रकट के पीछे होने भी पहले की भावना की स्थिति उचित नहीं है। इस से भावना और उसके कार्य का त्याग करके-‘अत्र’-यहाँ प्रकट हुए मेरे पास आकर वस्त्र ले जाओ ‘यह’ ‘अत्र’-पद का तात्पर्य है। अब तक इन की भावना से ही इनका काम सिद्ध हो रहा था, जो मुख्य काम नहीं, किन्तु उसका आभास-कामाभास-मात्र था इस लिए मैं तुम्हें मुख्य काम देता हूँ यद्यपि यह लोक दृष्टि से वस्त्र थे किन्तु वास्तव में, यह काम रूप हैं, ऐसा कहकर भगवान् ने उन्हें वस्त्र के बहाने से, अपने मुख्य काम का दान किया। इसी लिए ‘काम’ ‘वासः’ दोनों पदों का सामानाधिकरण्य--(समान विभक्ति)-है। अब आगे उनकी काम पूर्ति साक्षात्सम्बन्ध के बिना केवल भावनामात्र से नहीं होगी इसी आशय को लेकर व्याख्या में-‘अस्मदीयः कामः’ मेरा मुख्य काम-इत्यादि कहा है। भावना से किया हुआ काम मुख्य काम भाव नहीं होता है।

अन्यथा-इत्यादि-का नहीं तो-ईश्वर होकर भी उनके साथ रस का अनुभव कराने की सामर्थ्य न हो तो रस की मर्यादा का भंग हो जाए यह तात्पर्य है। दी हुई वस्तु को ले लेना-ग्रहण शब्द का अर्थ है। यहाँ प्रकर्षवाची ‘प्र’ उपसर्ग से यह ध्वनित होता है, कि रस से वशीभूत हुए प्रिय भगवान् के, उनके आधीन हो जाने पर, उनके न दिए हुए वस्त्र को भी रस की अधिकता अथवा बल से लिया जा सकता है। इसी अभिप्राय से व्याख्या में-‘वासोऽपि’-इत्यादि कहा है। यहाँ ‘स्व’ मेरे वस्त्र को-स्वं-तुम्हारे-अपने हुए की तरह ले लो-यह भी अर्थ है। इस से यह भी सूचित किया ‘मेरे पास कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे मैं तुम्हें न दे सकूँ’ अबला:- इस सम्बोधन से यह बतलाया है, कि पहिले निर्बल भी तुम मेरे निकट आकर, उक्त बलवाली हो जाओ।

शंका-उपर्युक्त वाच्य अर्थ में यह बिना कहे ही सिद्ध है कि वे वस्त्र कुमारिकाओं के ही थे फिर मूल के-‘स्वं स्वं-कहे हुए पदों की व्यर्थता को दूर करने के लिए व्याख्या में ‘अस्मदीयाभिः’-इत्यादि से पक्षान्तर करके

ध्वनित अर्थ को बतलाते हैं, कि अब तक, ये वस्त्र की तरह, काम भाव का भी त्याग करके ही विहार कर रही हैं और 'मुदा'—पद से ज्ञात होता है, कि भावनामात्र से ही पूर्ण मनोरथ वाली थीं । 'अबलाः—सम्बोधन से वे स्वतंत्र नहीं, किन्तु भगवान् के आधीन—भगवदीय (स्वकीय) थीं । इसी से उन्हें, वस्त्र ले लेने का अधिकार, प्राप्त हो चुका था । 'स्वं स्वं—पदों से पूर्वसिद्ध स्वत्व का अनुवाद किया गया है । इस से ऋषिदशा में प्रार्थना करने का कारणभूत प्रथम काम अथवा इसी समय का पूर्व कालिक काम (की ध्वनी निकलती है) ध्वनित होता है । यही व्याख्या में 'अस्मदीयाभिरेव पूर्वं परि ग्रह; कर्तव्यः' जो मेरे है वे हो पूर्ण परिग्रह करें अर्थात् जिसका पहिले त्याग किया, उसी पदार्थ को फिर से ले लो ।

अन्यथा—यदि वे ऐसा मान लें, कि—हमें अब तक जो मिला है, वह हमारे व्रत के बल से मिला है और व्रत के बल से ही और भी प्राप्त कर लेंगी, तो उनमें भगवान् की अधीनता का भाव न रहने से, भगवान् के द्वारा दिए जाने वाले, वस्त्र को ले लेने का अधिकार प्राप्त नहीं होगा और व्रतरूपी कर्म का फल थोड़ा होने से, व्रत के फल रूप से मिले हुए वस्त्र, अथवा काम के ग्रहण का परिणाम अनिष्ट होगा । सर्वात्म भाव और शरणागति के द्वारा प्राप्त हुआ रस इष्ट है और इससे भिन्न स्वबल अथवा व्रतबल से मिला हुआ अनिष्ट है । इस से—स्वं—पहले जो तुम्हारा स्वकीय था, उसे अभी त्याग कर—'स्वं'—फिर से वह तुम्हारा हो जावे—इस रीति (प्रकार) मुझ से ले जाओ—यह अर्थ भी ध्वनित होता है । तात्पर्य यह है, कि तुम अत्यधिक 'सर्वतोधिक' भाव वाली बनो । वही भाव भगवान् को इष्ट है, क्योंकि ऐसा नहीं होगा तो रसाभास हो जाएगा । इसी अभिप्राय को व्याख्या में 'अन्यथानिष्टः स्यात्'—इस वाक्य से कहा है । अथवा 'स्वं स्वं' दो बार कहने से यह भी ज्ञात होता है—कि नायिका के भेद से जिस कुमारिका का जैसा भाव हो वह अपने अपने भाव के अनुकूल ही वस्त्र ले जाय अपने भाव के प्रतिकूल वस्त्र को मत ले यदि ऐसा करोगी तो रस का पोषण नहीं होगा । यही 'अन्यथा'—इत्यादि पदों से कहा है । रसके उच्छलित होकर अत्यन्त बढ़ जाने पर तो व्यवस्था दूसरी ही हो जाती है इस लिए तब तो कुछ भी असंगत नहीं है, क्योंकि रस की वृद्धि के लिए ही यह सब लीला है । अथवा इस प्रकरण में त्याग कब करना, कब न करना, इत्यादि का निर्णय किया जा रहा है । इस लिए—'अस्मदीयाभिः'—इत्यादि पदों से उस निर्णय की ध्वनि भी निकलती है । यहाँ आशय यह है, कि इस समय उन्हें आगे होने वाली अवस्था विशेष की स्फूर्ति होती, तो अपनपे—(देह)—के अनुसन्धान पूर्वक, तीर पर वस्त्र उतारती, किन्तु कदाचित्, ये प्रत्येक यह चाहे, कि रस की अधिकता से हुई, मेरी यह दशा सदा ही बनी रहे, तो मैं प्रिय भगवान् का उत्तरीय वस्त्र—(उपरना)—को ले लूंगी । ऐसे भाव के—(प्रत्येक गोपीजन के मनमें)—उत्पन्न होने के कारण, वस्त्रों का उन्होंने त्याग ही किया, केवल किनारे पर घरे ही नहीं । तब तो त्यागी हुई वस्तु का फिर से लेना तो अनुचित होगा ? ऐसी शंका का तो यहाँ अवसर ही नहीं है, क्योंकि छोड़ी हुई वस्तु का पुनः ग्रहण करने में निषेध तो मर्यादा मार्ग में है और ये केवल घर्मी—(भगवान्)—में ही तत्पर हैं वेद वाक्य के आधीन नहीं हैं, किन्तु केवल भगवान् के वशी भूत हैं । इस लिए पहिले त्यागी हुई वस्तु को भी यदि भगवान् दे रहे हैं, तो ले लेना उचित ही है । अन्यथा—न लेने पर तो मर्यादा—मार्गीयता हो जाएगी । इस लिए वापस ले लिए, और बात तो यह है, कि उन्होंने केवल वस्त्रों का त्याग

किया था और भगवान् इन्हें अपने काम रूप वस्त्र दे रहे हैं, इसलिए वहां यह त्याग की हुई वस्तु (वस्त्र) का ग्रहण भी नहीं रहा। आचार्य चरणों ने ऐसा समाधान लोक दृष्टि की अपेक्षा रख कर और त्याग के निर्णय को कहने के लिए किया है।

**अथवा:—**पूर्वपरिग्रह पद में नञ् का प्रश्लेष योग्य करके अपूर्वपरिग्रह-ऐसा पढ़ो और यह अर्थ करो कि अपूर्व अनन्य पूर्वा अर्थात् जो हमारी है, उन्हें ही वस्त्र देता हूँ वे ही यहां आकर ले।

**अथवा—**पूर्वपरिग्रह पद में पूर्व शब्द से पहला पुरुष भाव रूप धर्म- ऐसा अर्थ है। यदि पुरुष भाव न हो तो सर्वात्म भाव और शरणागति न हो—ऐसा कार्य—कारणभाव पहिले कहा जा चुका है। इस कारण से पहिले दण्डकारण्य में जो पुरुष थे, वे ही गोकुल में आकर स्त्रियां हुई हैं—इससे अपना उनके साथ प्रथम सम्बन्ध का स्मरण कराया है। ‘अत्रागत्याबलाः—’ यहां आकर हे अबलाओं!— इस तरह सम्बोधन करके उनका कर्तव्य बतलाया है। यहा—वातः—पद में योगविभाग से, ‘वा’ ऐसा छेद है। तब ‘सः’ यह पूर्वपरामर्शी होने से प्रथम के पुरुष भाव रूप धर्म का बोधक है, अर्थात् उस पहिले जन्म के पुरुष भाव रूप धर्म को ले जाओ—ऐसा भी अर्थ है। और—स्व स्व—यह अण्वय पद होकर—ध्वनित अर्थ से लिंग आदि की विवक्षा न रहने से—‘सः’—छेद पद का विशेषण माना जा सकता है। अथवा, ‘स्व स्व’ को क्रिया विशेषण मान लो। सर्वात्मभाव से शरण में आई हुई कुमारिकाओं को ही अपने आनन्द का दान शृंगाररस की रीति से ही करेंगे। और वह शृंगाररस मान, खण्डिता आदि भावों के द्वारा ही पूरा होता है। सर्वात्मभाव की स्फूर्ति होने पर तो मान, खण्डिता आदि भाव निरन्तर हो नहीं सकते। इस लिए ये भाव कभी होंगे, कभी नहीं होंगे—इस विकल्प से गृहण रूप अर्थ का बोध वा सः—के ‘वा’ इस प्रथम छेद से होता है। ‘स’ यहां विसर्ग का लोप छान्दस—वैदिक—प्रयोग रूप से नहीं हुआ। इससे मूल में यह अर्थ ध्वनित हुआ समझना चाहिए।

**लेख—**व्याख्या में ‘काममयत्वात्’ इत्यादि का तात्पर्य यह है कि—‘सोमयावांसः—’ सोम के लिए वस्त्र—यहां—‘क इदं कस्मा अददात् कामः कामाय—’ किसने इसको किसके लिए दिया, काम ने काम के लिए दिया—इस श्रुति के अनुसार वस्त्र काम रूप है, आधिदैविकम्—आधिदैविक स्वरूप वस्त्रों में। निरिन्द्रियाः इन्द्रिय—सामर्थ्य के बिना अर्थात् असमर्थ। यदि बहुव्रीहि समास माने तो भी असमर्थ भोग नहीं कर सकते, इस लिए मैं बल का दान करूंगा और वह भी अपने ही वास्ते। इससे यह वस्त्र दान अपने—(भगवान् के) लिए ही यह सिद्ध होता है। षष्ठ्यन्त बहुव्रीहि समास में भी—‘न बलं याभ्यः, यन्निमित्तकं बलं मम नास्ति, अहं भवदधीनः, अतो ददामि—’ जिनके निमित्त का बल मेरे पास नहीं है, मैं तुम्हारे आधीन हूँ, इस से देता हूँ—ऐसा अर्थ है। इस प्रकार निमित्त में बहुव्रीहि करें तो निमित्त बोधक चतुर्थ्यन्त बहुव्रीहि में भी सिद्ध होता है। माययाच—यहां ‘चकार’ से परिहास का वचन भी कहा—ऐसा समझना चाहिए १०३॥

**योजना—**‘अत्रागत्याबाला’ इस श्लोक की सुबोधिनी में ‘बहुव्रीहावपि निमित्ततायां’ पंक्ति है, जिसका अन्वय ‘निमित्ततायां बहुव्रीही’ होगा जिसका आशय है कि बहुव्रीहि समास निमित्तता जनाता है। भगवान्

कह दिया, वह कभी भी झूठ नहीं होता है। उदितम्—कहा हुआ। पहिले कहा हुआ 'उदितपूर्व'—पद का अर्थ है। अथवा मैं जगत् कर्ता हूँ। इस लिए मैंने मेरे जैसा जगत् उत्पन्न किया है। मुझसे कभी असत्य वस्तु उत्पन्न नहीं हुई होती। यह "वै" निश्चय है। इसके ये आधिदैविक ऋषि साक्षी हैं, और ये जानते हैं। तुमने आधिदैविक स्वरूप को त्याग दिया है और उन बालकों की माया से मोहित हो रही हो, इसलिए तुम्हें संदेह हो रहा है। वस्त्रों को लेने आने की विधि बताते हैं—एकैकशः प्रतीच्छ्वम्—एक एक आकर, अपने अपने वस्त्र को ले लो, अलग अलग आने पर प्रत्येक का भोग हो सकेगा अथवा यदि तुम मत्सर दोषरहित और परम भक्त हो तो एक साथ इकट्ठी आकर भी ले लो। इकट्ठी आने का यह पक्ष ज्यादा अच्छा है।

शंका—भगवान् ऐसी न करने योग्य बात का उपदेश क्यों करते हैं ? उत्तर — सुमध्यनाः। उनका मध्यमस्थान सुन्दर है अर्थात् वे शुद्ध अन्तःकरण वाली हैं और (वात्स्यायनोक्त) सारे बन्धनों की सिद्धि के लिए भगवान् ने उन्हें पूर्ण ज्ञान दृष्टि से देखा (था) है। इस से वे सारी रीति से शोभा रूप हो गई हैं ॥ ११३ ॥

श्लोक—तस्य तत् क्ष्वेलितं दृष्ट्वा गोप्यः प्रेमपरिप्लुताः।

व्रीडिताः प्रैक्ष्य चान्योन्यं जातहासा न निर्ययुः ॥ १२३ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् के उस हँसी भरे कार्य को देखकर गोपियाँ प्रेम में डूब गई और लज्जित हो गईं। फिर वे एक दूसरी की ओर देखकर मुसकराने लगीं और जल से बाहर नहीं निकली ॥ १२३ ॥

सुबोधिनी—एवं भगवतोक्ता अपि नागता इत्याह तस्येति, तस्य निरोधकतुर्भगवतस्तत् प्रसिद्धं क्ष्वेलितं दृष्ट्वा, अनेन वाक्यार्थो न विचारितः, किञ्च तस्य तमबसरं दृष्ट्वा तस्य क्ष्वेलितत्वं निश्चित्य रसमध्ये स्वप्रवेशं मत्वा गोप्यो विशेषविचाररहिताः केवलं प्रेम्णा परिप्लुता जाताः, प्रथमतः स्नेहेनैव निमग्नाः, ततो जातान्तः-

सम्बन्धा वहिःसंवेदने जाते व्रीडिता जाताः, तदा प्रत्यक्षतो भुक्ता इवात्मानं मन्यमानाः संवादायमन्योन्यप्रेक्षणं कृतवत्यः, तदान्योन्यसम्बन्धसंवेदनाभावात् कोतुकं तद्रसं विदित्वा जातहासा जाताः, लोकरीत्यापि जातहासाः, तदा न निर्ययुर्न निर्गता जलाद् वहिः ॥ १२३ ॥

व्याख्यानार्थः—भगवान् के इस प्रकार कहने पर भी, वे नहीं आई, यह—तस्यतत्—इस श्लोक से कहते हैं—उन निरोध करने वाले भगवान् के उस प्रसिद्ध हँसी के कार्य को देख कर, वे नहीं आई। यों हँसी समझकर उन्होंने भगवान् के वाक्य के अर्थ का विचार नहीं किया और उनके उस समय को देख कर, उनके उस हास्य का निश्चय करके और उस हास्य रस में अपने आपको प्रविष्ट हुई

लेख—'मया वा इति' मेरा उत्पन्न किया जगत् मिथ्या नहीं, किन्तु सत्य ही है। यह अर्थ है।

मान कर, वे गोपियाँ—विशेष विचार करने की शक्ति से शून्य—केवल—भगवान् के—प्रेम में डूब गईं । पहले तो स्नेह से ही डूबी थीं, फिर भावना से भगवान् के साथ अन्तः सम्बन्ध हुआ था और जब बाहर ज्ञान हुआ तब लज्जित हुई । तब प्रत्यक्ष रीति, से, भगवान् के द्वारा अपने आपको भोगी हुई सी समझ कर, सम्मति के लिए वे एक दूसरी को देखने लगी । उस समय, परस्पर के सम्बन्ध का ज्ञान न होने से, उसे कोतुक हास्यरस जानकर, हँसने लगी । लोक रीति से भी उन्हें हँसी आ गई और वे जल से बाहर नहीं आई ॥ १२३ ॥

**श्लोक—**एवं ब्रुवति गोविन्दे नर्मणाक्षिप्तचेतसः ।

आकण्ठमग्नाः शीतोदे वेपमानास्तमब्रुवन् ॥१२३॥

**श्लोकार्थ—**भगवान् के फिर भी इसी प्रकार कहने पर, परिहास (हँसी) के वचन से मोहित हुई, कण्ठ तक ठंडे जल में डूबी हुई और काँपती हुई वे भगवान् से यों कहने लगीं ॥१२३॥

**सुबोधिनी—**भगवांस्तासामन्तर्भावं दृष्ट्वा पूनः पूर्वव-  
देवाह, तदा पुनरेवं ब्रुवति भगवति सति नर्मणा  
परिहासवचनेनापातत एव प्रतीतेन हास्यरसजनकेना-  
क्षिप्तचेतस एव भूत्वार्थमविचार्य बहिर्निगते भगवान्  
कोपं करिष्यति निर्लज्जा इति वा ज्ञास्यतीत्याकण्ठमग्ना

जाता यथा न कोप्यवयवो दृष्टो भवतीति, ततो  
लौकिकरसभयाभ्यामाविष्टचित्ता जाता जातबहिःसंवे-  
दनत्वाच्छीतोदे वेपमाना जाताः, ततो देहभावस्य दृढत्वे  
विस्मृतपूर्वभावाः साक्षिभिश्च व्यामोहितास्त भगवन्तं  
प्रति किञ्चिदब्रुवन् ॥१२३॥

**व्याख्यार्थः—**उनके हृदय के भाव को देख करके, भगवान् फिर भी पहले की तरह ही बोले, यह—‘एवं ब्रुवति’—इस श्लोक से कहते हैं । जब भगवान् ने, फिर भी वैसा ही कहा, तब बाहर से, हँसी के वचन जंसे लगने वाले, हास्यरस को उत्पन्न कर देने वाले भगवान् के वचन से उनका चित्त मोहित हो गया और अर्थ का विचार न करके यों समझीं; कि बाहर निकल जाने पर भगवान् क्रोध करेंगे अथवा हमें निर्लज्ज जानेंगे । इस लिए कण्ठ तक जल में इस प्रकार डूबी रहीं कि जिससे, उनके शरीर का कोई भी भाग नहीं दिखाई दे रहा था । फिर उनका चित्त लौकिक रस तथा भय से भर गया और बाहरी ज्ञान—(देहानुसन्धान)—हो जाने से ठण्डे जल में काँपने लगीं । तदनन्तर उस देह भाव

**‘लेख’—**‘अनेन’—हास्य वचन समझने से । वे विचार शक्ति से रहित अर्थात् उनमें विचार शक्ति के न होने से, उन्हें हँसी पन का ही ज्ञान हुआ । हास्य वचन समझने में “किञ्च” से दुसरा कारण कहते हैं ‘अन्योन्य सम्बन्धाभावात्’—एक दूसरे को भगवान् के साथ सम्बन्ध का ज्ञान न होने से, ‘कोतुक’, अपना ही भगवान् के साथ अन्तः सम्बन्ध हुआ, दूसरी का नहीं हुआ—ऐसे समझने से कोतुक उत्पन्न हुआ ॥ १२३ ॥





के दृढ़ हो जाने पर, अपने प्रथम भाव को भूल गई और साक्षियों से व्यामोहित हो कर यथार्थ ज्ञान के न रहने से, वे भगवान् से कुछ कहने लगीं ॥१३१॥

**श्लोक—**माऽनयं भो कृथास्त्वां तु नन्दगोपसुतं प्रियम् ।

जानीमोऽङ्ग व्रजश्लाघ्यं देहि वासांसि वेपिताः ॥१४३॥

**श्लोकार्थ—**हे श्रीकृष्ण ! आप अनीति न करो । हम आपको जानती हैं । आप नन्द गोप के पुत्र और हमारे प्रिय हो । हे अंग ! सारे व्रज में आपकी कीर्ति फैल रही है । हमारे वस्त्र दे दो । हम ठण्ड के मारे काँप रही है ॥१४३॥

सुबोधिनी—तासां वाक्यमाह माऽनयं भो कृथा इति, भर्तृत्वान् न नामग्रहणं, भो इतिसम्बोधनं बालक-  
व्यावृत्त्यर्थं च, नयो न्यायोऽन्यायं मा कार्षीः, वयमद्यापि  
कुलस्त्रियः पुरुषान्तरदृष्ट्या न दृष्टाङ्गा अतः साम्प्रतं  
बालानां दृष्ट्या न द्रष्टव्यास्त्वद्वाक्येन चागन्तव्यं तथा  
सति यद्यपीश्वरवाच्यकरणे नाधर्मस्तथाप्यन्यायो भवति  
नीतिलोकविरुद्धमित्यर्थः, नैवं मन्तव्यं मामेता न जान-  
न्तीति तथा सत्यविचार्यकरणादेता एव दुष्टा इति  
तत्राहुस्त्वा तु जानीम इति, परमार्थतो ज्ञानमस्माकं  
हितकारि न भवतीति तुशब्दस्तं पक्षं व्यावर्तयति किन्तु

नन्दगोपस्य सुत जानीमः, तेन प्रभुपुत्रत्वमुक्तं, न हि  
प्रभुपुत्रोनीति करोति किञ्चास्माकं प्रियो भवान् परम-  
प्रीतिविषयः, अनेन त्वद्दृष्ट्या न द्रष्टव्या इति नास्मा-  
कमभिप्रायः, अङ्गेतिसम्बोधनं च स्वस्याङ्गतां ज्ञापयति,  
नन्वस्त्वन्याय इति चेत् तत्राहुर्व्रजश्लाघ्यमिति, व्रजे  
सर्वत्र भवानेव श्लाघ्य एव सत्यपकीर्तिः स्यात् केषाञ्चित्  
चित्ते स्त्रियो धर्षयतीति केषाञ्चित् त्वयुक्तं प्रदर्शयतीति,  
अतः कारणान् निर्गमनात् पूर्वमेव वासांसि देहि,  
दयाधमाहुर्वेपिता इति ॥१४३॥

**व्याख्यानार्थ—**‘माऽनयं भो कृथा’—इस श्लोक से उनके वाक्य का वर्णन करते हैं । भगवान् भर्ता—(पति)—हैं, इस से नाम नहीं लिया । ‘भोः’—इस सम्बोधन से यह बतलाया कि ये इन बालकों को सम्बोधित नहीं करती हैं । नय—न्याय । अनय—अन्याय । अन्याय मत करो । हम अभी तक कुलीनस्त्रियाँ हैं । हमारे अंग का दर्शन अन्य पुरुष की दृष्टि से अब तक नहीं हुआ है । इस लिए इस समय बालकों की दृष्टि हम पर नहीं पड़नी चाहिए । यद्यपि आपके वचन का आदर करके हमें बाहर आजाना चाहिए, क्योंकि भगवान् की आज्ञानुसार कार्य करने में अधर्म नहीं है । तो भी नीति तथा लोक विरुद्ध करने में अन्याय तो होता है । आप यह भी न मान लें, कि ये—कुमारिकाएँ—मुझे

**लेख—**‘साक्षिभिः व्यामोहिताः’—साक्षियों के द्वारा व्यामोहित हुई । साक्षी, जो उनके पुरुषभाव रूप थे, जिन्हें कुमारिकाओं की कुछ भी अपेक्षा नहीं थी, जो भगवान् की ही स्वच्छन्दता सम्पादन करके, उनके ही कार्य को सिद्ध करते थे और भगवान् के साथ हास्य करते थे, उन साक्षियों से व्यामोहित हुई । भगवान् और बालक हमें हँसते हैं—ऐसा समझ कर यथार्थ ज्ञान में रहित हो गई थी ॥ १३१ ॥

शंका--अन्याय हो तो हो, क्या हुआ ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आप व्रजश्लाघ्य, है, सारे व्रज में आप ही प्रशंसा के पात्र हो । इस लिए अन्याय करने से, आपकी अपकीर्ति होगी । कई व्यक्तियों के मन में यों आवेगा कि ये स्त्रियों को दबा रहे हैं और कई यों सोचेंगे कि अनुचित बात का प्रदर्शन करा रहे हैं । इस कारण से जल से बाहर निकलने के पहिले ही हमारे वस्त्र दे दो । दया करने के लिए कहती हैं-- हम काँप रही हैं ॥ १४३ ॥

श्लोक—श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदितम् ।

देहि वासांसि धर्मज्ञ नो चेद् राज्ञे ब्रुवामहे ॥१५३॥

**श्लोकार्थ—**हे श्याम सुन्दर ! हम तो आपकी दासी हैं, आपकी आज्ञा का पालन करने को हम तैयार हैं । हे धर्म के जानकर ! हमारे वस्त्र दे दो । यदि नहीं दोगे, तो हम राजा के पास जाकर कहेंगी ॥१५३॥

सुबोधिनो—दण्डमप्यङ्गीकुर्वन्ति श्याममुन्दर ते दास्य इति, सुन्दरेतिसम्बोधनान् न प्रतारणा, अतुल्यत्वात् स्त्रीत्वं परित्यज्य दासीत्वमाहुस्ते न तु त्वत्सम्बन्धिन एतेषां वा, ननु दर्शनाकांक्षा दास्येन निवर्तत इति चेत् तत्राहुः करवाम तवोदितमिति. दास्य एव यद् वध्यसि केवलस्तत् करिष्याम इत्यर्थः, अतस्तवेत्येकवचनमिदानीमुक्तं तु बहूनां वाक्यमित्यभिप्रायः, तर्हि दास्योपि भवतेति चेत् तत्राहुर्देहि वासांसीति, दासीत्वसिद्धयर्थं वा वासांसि देहि दास्यसिद्धयर्थं वा, किञ्च धर्मशास्त्रे “कन्यायोनि पशुक्लीडा नग्नस्त्रीं प्रकटस्तनीं उन्मत्तं पतितं क्रद्धं यन्त्रस्थं नावलोकये” इति नग्नया दर्शन-

निषेधादत आहुर्धर्मं जेति, एवमप्यदानेति क्लेशे सति  
तिर्गता अप्यनिर्गता वा बहुकालमपि कष्टमनुभूय पश्चाद्  
राज्ञे ब्रूवामहे नन्दं ज्ञापयिष्यामः, नवविधा वा नव-  
पदैरुक्ताः, राजसराजस्या वचनं मानयं भो कृथा इति,  
राजसतामस्या वा, राजसराजस्या नन्दगोपमुतमिति,  
प्रियमिति राजससात्त्विक्याः, स्रजभूषाढ्यमिति सात्त्विक-  
राजस्याः, वेपिता इति सात्त्विकसात्त्विक्याः, श्याम-  
सुन्दर ते दास्य इति सात्त्विकतामस्याः, करवाम  
तवोदितमिति तामससात्त्विक्याः, धर्मं जेति तामस-  
राजस्याः, अतिरिक्तं शिष्टाया इति ॥१५३॥

व्याख्यार्थः—‘श्यामसुन्दर’—इस श्लोक से दण्ड को भी स्वीकार करती हैं । ‘सुन्दर’—इस सम्बोधन से यह बताया कि यह ठगना—(धोका देना)—नहीं है, क्योंकि जो बराबर हो, उसे ही ठगा जाता है और हम तो आपके समान नहीं हैं । स्त्री भाव को छोड़ कर, दासी भाव को कहती हैं, कि हम आपकी दासी हैं, आपके सम्बन्धियों तथा इन बालकों की दासी नहीं हैं ।

शंका—दास्य कहने से क्या दर्शन की इच्छा दूर हो जाती है ? उत्तर देती हैं कि तुम्हारी आज्ञा पालन करने को हम तयार हैं । दास्य भाव में ही, केवल आप जो कुछ कहोगे, उसे हम करेंगी इसी अभिप्राय से मूल में—‘तव’—एक वचन का प्रयोग है, और अभी कहा हुआ तो बहुतों का वाक्य है । जब तुम मेरी दासी हो तो मेरे सम्बन्धियों की भी दासी बनो ? इसका उत्तर देती हैं कि हमारे वस्त्र दे दो, अर्थात् हमें आप सब की दासी होना स्वीकार है । अथवा दासी भाव—(भोग्य दासी भाव)—की सिद्धि के लिए वस्त्र दे दो । और धर्म शास्त्र में कहा है कि \* कन्यायोनि, पशुकीड़ा नग्न स्त्री, खुले स्तन वाली, उन्मत्त, पतित, क्रोधी और सम्भोग करते मनुष्य को नहीं देखे । इस प्रमाण से नंगी स्त्री के देखने का निषेध होने से कहती हैं—हे धर्मज्ञ—आप धर्म जानते हो—इस लिए ऐसा करना उचित नहीं है । इतना कहने पर भी जब वस्त्र नहीं दिए तब दुःखी हो कर, बहुत समय तक—बाहर निकलें अथवा न निकलें, ऐसा सोचती रहीं और फिर कष्ट पूर्वक बोलीं कि हम राजा (नन्दरामजी) से कहेंगी—(विज्ञापन करेंगी) ।

अथवा यहाँ १४-१५ इन दो श्लोकों में कहे हुए नौ पदों के द्वारा गोपीजनों के नौ भेदों का वर्णन किया है वह इस प्रकार है—“माऽनयं भोः कृथाः, <sup>१</sup> नन्द गोप सुतं <sup>२</sup> प्रियं, <sup>३</sup> व्रजस्लाघ्यं, <sup>४</sup> वेपिताः, <sup>५</sup> श्यामसुन्दर ते दास्यः, <sup>६</sup> करवाम तवोदितं <sup>७</sup> धर्मज्ञ, <sup>८</sup> नो चेद्राज्ञे ब्रुवामहे”<sup>९</sup> से क्रम से राजस--राजसी अथवा राजस-तामसी, <sup>१</sup> राजस--राजसी, <sup>२</sup> राजससात्विकी, <sup>३</sup> सात्विक राजसी, <sup>४</sup> सात्विकसात्विकी, <sup>५</sup> सात्विक तामसी, <sup>६</sup> तामस सात्विकी, <sup>७</sup> तामस राजसी, <sup>८</sup> तामसतामसी, <sup>९</sup> के वचन हैं ॥ १५३ ॥

\* कन्यायोनि पशुकीड़ां नग्नस्त्री प्रकटस्तनीम् ।

उन्मत्तं पतितं क्रुद्धं यन्त्रस्थं नावलोकयेत् ॥ (धर्मशास्त्र)

टिप्पणी—‘माऽनयं भोः कृथाः’ इस की व्याख्या में जिन गुणों का वर्णन आया है, वे गुण स्वामिनियों के परस्पर भिन्न भिन्न भावों को बताने के लिए दृष्टान्त रूप से कहे गए हैं, न कि, इस से इन के इन भावों को प्राकृत बताने के अभिप्राय से । यदि कोई हठी वादी--“प्रकृति के \* इन गुणों से रहित कोई वस्तु त्रिलोकी में नहीं है”—भगवान् के वचनानुसार इन भावों को भी प्राकृत ही रहे तो इसका उत्तर यह है कि यहाँ ये भाव ही गुण रूप है, प्राकृत-प्रकृति-के-गुण यहाँ नहीं हैं । इस से यह समझना चाहिए कि यहाँ यह प्रकृति भी सामान्य प्रकृति नहीं है, किन्तु भिन्न जाति की विशेष-प्रकृति है, और वह रसरूप भगवान् की स्थाई भावरूप ही है । इसीलिए गीता में भगवान् ने-पृथिवी आदि-ऐसा विशेष रूप से कहा है, सामान्य रीति से नहीं कहा है । लीलासृष्टि तो अलौकिक और नित्य है । पृथिवी आदि में उसका स्थान नहीं है, वह तो ब्रह्म के समान है । लीलासृष्टि की अलौकिकता और नित्यता का हमने विद्वन्मण्डन में विस्तार से प्रतिपादन कर दिया है ॥ १५३ ॥

॥ श्रीभगव नुवाच ॥

श्लोक—भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ ।

अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः ॥ १६३ ॥

श्लोक—भगवान् ने कहा, यदि तुम मेरी दासी हो अथवा मेरा कहा करोगी, तो हे पवित्र मुस्कराहट वाली कुमारियों ! यहां आकर अपने वस्त्र ले जाओ ॥ १६३ ॥

सुबोधिनी—एवं तासां वचनानि श्रुत्वा दैविक-  
मोहिता इति तदवगण्य स्वेच्छया तथा जातेति  
लौकिकयुक्त्या ताः प्रबोधयति भवत्य इति, यद्यस्म-  
द्वाक्यानुसारेण न प्रवृत्तिस्तदा स्ववाक्यानुसारेण वा  
प्रवृत्तिरस्तु भवतीनामपि स्वात्मानं प्रति वाक्यद्वयं  
'श्यामसुन्दर ते दास्यः करवाम तवोदित' मिति दासीत्वे  
दास्ये वा न लोकानोचित्यं भावनीयं, तत्रैव चेद् वाक्यं

कर्तव्यं तर्ह्यत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु, उभयोरपि  
वाक्याकरणोक्त्याभिनिवेशान् नाश एव, दासीत्व  
ईश्वरसुखमेव कर्तव्यं न तासां काचिन् मर्यादातोऽन्य-  
दर्शनमपि न दोषाय, मनसि निष्ठं वाक्यकरणे तु  
वाङ्निष्ठान्यथा देहनिष्ठा तथा सति नाशः, 'पति मे  
कु'विति प्रभो पतित्वस्य प्रार्थितत्वात् स्वस्य भायात्त्व-  
मभिमतं पूर्वमित्यधुना यदीत्युक्तम् ॥ १६३ ॥

व्याख्यानार्थः—उनके इस प्रकार के वचनों को सुन कर और उन्हें आधिदैविक स्वरूप से मोहित होने के कारण भगवान् की अपेक्षा<sup>१</sup> न रख कर अपनी इच्छा से ही इस तरह हुई जान कर भगवान् ने लौकिक युक्ति पूर्वक—'भवत्यः'—श्लोक से उन से कहा । भगवान् उन्हें बोध कराते हैं कि यदि तुम मेरे कहने के अनुसार नहीं चलती हो तो स्वयं तुमने कहा वह तो करो । तुमने अपने लिए 'श्याम-

लेख—व्याख्या में 'तर्हि'—जो तुम मेरा कहना करती हो तो । 'दास्योपि'—यहाँ--'मत्सम्बन्धिनाम्'—इस पद का अध्याहार समझ लेना । मेरे सम्बन्धियों की भी दासियाँ होओ--ऐसा अर्थ है । हम ऐसा नहीं करेंगी, हमारे, वस्त्र दे दो—इस कथन से तो भगवान् के कथानुसार करनारूप अर्थ नहीं निकलता । तब इस अर्थ से दूसरा पक्ष करते हैं कि—दासीत्व सिद्धयर्थम्—दासी भाव की सिद्धि के लिए । यदि हम वस्त्र पहिन लेंगी तो आपकी आज्ञा का पालन और दासी भाव दोनों सिद्ध हो जाएंगे—यह भाव है ।

योजना—'दासीत्वसिद्धयर्थं वा'—भोग्य दासी भाव की सिद्धि के लिए । वस्त्र शूषण आदि से सुसज्जित दासी ही भोग करने लायक होती है यह तो परम अनुग्रह का कार्य है । यदि अभी ऐसा अनुग्रह न करो तो सामान्य अनुग्रह तो करो—इस अभिप्राय को लेकर कहती हैं : कि—दास्य सिद्धयर्थं वा--परिचर्या अथवा सेवा लेने के लिए हमें वस्त्र दे दो, क्योंकि वस्त्र रहित--नग्न--परिचारिकाओं की शोभा नहीं होती है इस लिए वस्त्र का दे देना उचित है—यह भाव है ॥ १६३ ॥

सुन्दर ने दास्यः', 'करवाम तवोदितम्'—हम तुम्हारी दासी हैं, आप कहो सो करेंगी—ये दो वाक्य कहे हैं। इन में दामी भाव अथवा दास्य भाव यदि लौकिक रीति से अनुचित प्रतीत होता है, तो उसका विचार नहीं करना चाहिए और यदि अपने वाक्य के अनुसार करना हो, तो यहाँ आकर अपने वस्त्र ले लो। उपर्युक्त दोनों वाक्यों में कहने के अनुसार नहीं करोगी तो तुम्हारा असत्य बोलने वालों में प्रवेश हो जाएगा और तब तो नाश ही है। दासीभाव में तो केवल स्वामी का सुख ही कर्तव्य है। इसके सिवाय दासियों के लिए कोई मर्यादा नहीं है—किसी मर्यादा का पालन आवश्यक नहीं है। इस लिए कोई तुम्हारे नग्न शरीर को देख भी ले तो कोई दोष नहीं है। यह मन की निष्ठा—(स्थिरता)—और अपने कहे अनुसार करने में वाणी की निष्ठा (सत्यता) है। इन दोनों के अनुसार नहीं तो देह निष्ठा होने पर, नाश हो जाएगा। “पति मे” कुरु—इस प्रार्थना से यह सूचित किया कि भगवान् में पति भाव और अपने में पत्नी भाव पहिले सम्मत है। इसी से अभी भगवान् ने—यदि—मेरी दासी हो तो मेरा कहा करो—ऐसा कहा है ॥ १६३ ॥

श्लोक—ततो जलाशयात् सर्वा दारिकाः शीतवेपिताः ।

पाणिभ्यां योनिमाच्छाद्य प्रोत्तेरुः शीतकशिताः ॥१७३॥

श्लोकार्थ—तब तो असह्य शीत से पीड़ित और ठण्ड के मारे काँप रही सब कुमारिकायें हाथों से गुप्त अंग को ढक कर जलाशय से बाहर निकली ॥१७३॥

सुबोधिनी—ईश्वरभावेन भगवतोक्तमिति वाक्यार्था-  
परिज्ञानेपि समागता इत्याह तत इति, जलानामाशयाज्  
जडानामाशयाज् जलानामभिप्रायो न गन्तव्यमित्यज्ञानां  
मर्यादायां यतो शुद्धिसम्भावना तदपेक्षया भगवद्वाक्यनिष्ठा  
श्रेष्ठः, सर्वा इतीश्वरवाक्येन सर्वगुणतिरोभावः, दारिका  
इति शुभो बालत्व ज्ञापयितुं, अगत्या सदसो राज्ञश्च

भावोन्यथा भवेदिति, नन्वत्यन्ततामस्यः कथं वाक्यनिष्ठा  
जातास्तत्राह शीतवेपिता इति, बहिःकम्पोन्तःशीतेन  
कशिताश्च स्वभावाधीना एवोत्थिताः, अतो जातिर्वर्णिता  
परीक्षार्थं प्रमेयं निरूप्यमिति, अकथने शुक्तस्य मूर्धा  
विपतेत् ॥१७३॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के इस ईश्वर भाव से कहे गए वाक्य के अर्थ को न समझकर भी, वे आ गई, यह 'ततः'—इत्यादि श्लोक से कहते हैं। जल के स्थान से—जल जड़- के स्थान से वे बाहर आई। जल शब्द का अभिप्राय यह है कि नहीं जाना चाहिए, क्योंकि अज्ञानियों की तो मर्यादा का पालन करने में ही शुद्धि की सम्भावना है। (पाठ भेद—क्योंकि अज्ञानी जन मर्यादा में रहकर अशुद्ध हो सकते हैं)। उस-मर्यादा-की अपेक्षा भगवान् के वाक्य में निष्ठा रखना अधिक श्रेष्ठ है। 'सर्वाः'—सब शब्द का तात्पर्य यह है, कि भगवान् के वाक्य से उनमें रहने वाले भिन्न-भिन्न सब गुणों का तिरोभाव हो गया था। मूल में दारिका शब्द का प्रयोग उनके बाल भाव को बतलाता है। यदि श्री शुक्रदेवजी 'दारिका' शब्द नहीं कहते तो सभा और राजा परीक्षित का उन पर दुष्ट भाव हो जाता। प्रश्न होता है, कि वे तो अत्यन्त तामसी-तमोगुण वाली-थीं, उनकी भगवान् के वचन पर निष्ठा कैसे हुई? उत्तर में कहते हैं कि—'शीतवेपिताः'—वे ठण्ड से काँप रही थीं। इसलिए बाहर काँपने और भीतर ठण्ड से

दुःखी होकर स्वभाव के वशीभूत ही हुई, वे बाहर निकली । इससे परीक्षा के लिए उनकी जाति-स्वरूप-का वर्णन किया है । नहीं तो ब्रह्म को लौकिक मानने से शुकदेवजी का मस्तक गिर जाता ॥१७३॥

टिप्पणी—ततो जलाशयात्—की व्याख्या में । मूल में 'ततः' पद का केवल आनन्तर्य अर्थ है, न कि सुन कर समझ पड़ने पर आई । इसी लिए व्याख्या में—वाक्यार्थापरिज्ञानेपि—वाक्यार्थ समझ में न आने पर भी वे बाहर आ गईं । वह—ईश्वर—स्वामी—के वाक्यानुसार ही करना चाहिए—इत्यादि से कहा गया है । 'ईश्वर वाक्येन'—इत्यादि का अर्थ यह है कि गत श्लोक की व्याख्या में कहे हुए राजसराजस आदि भाव वाले गुणों के कारण उन्होंने केवल वैसे ही वचन कहे थे, आई नहीं थीं । तब भगवान् ने—'तुम दासी हो इस लिए आओ'—ऐसा न कह कर—यदि तुम दासी हो तो आज्ञाओ—ऐसा कहा है । इस से यह बताया, कि न आने पर, तुम्हारा दासी भाव भी सिद्ध नहीं होगा । यह तो बहुत ही अनिष्ट होता, ऐसा भय उत्पन्न हुआ । उत्पन्न हुए भय के द्वारा—ही उनके सारे भाव तिरोहित हो गए । भगवान् के वाक्य के द्वारा उन भावों के तिरोभूत होने से वे सब एक रूप हो कर एक ही रूप से आ गईं ।

अत्यन्त तामसी कहने का तात्पर्य यह है, कि भगवान् चाहे कितना ही कहे, परन्तु हम तो पराए पुरुष होने से, इन बालकों को अपने नग्न शरीर के दर्शन नहीं कराएंगी उनके इस आग्रह को ही 'तमः' शब्द से कहा है । बालक तो कुमारिकाओं के ही घर्म रूप—आधिदैविक स्वरूप थे, कोई पर पुरुष नहीं थे, किन्तु इस का ज्ञान न होने के कारण वे नहीं आईं अर्थात् ऐसा आग्रह किया ।

ऐसा आग्रह होने पर, भगवान् का वचन मानकर, अपना बाहर निकलना उचित नहीं हो सकता—ऐसा समझने वाली वे फिर बाहर क्यों आईं ? इस शंका के उत्तर में यह आशय है, कि उन्हें अपने पास बुलाना है और सब रीति से, परीक्षा करने के लिए, बालकों का—आधिदैविक—स्वरूप नहीं बताना है । इन दोनों कार्य को करने के लिए लीला में उपयोगी और भगवान् के मुख्य सेवक आधिदैविक काल ने अपने शीत धर्म को, भीतर और बाहर प्रकट कर दिया, जिस से, ये अधिक समय तक, जल में न रह सकीं । इससे पहले, जल विहार में तो इन्हें ठण्ड नहीं लगी थी और अब शीत धर्म के प्रकट होने से, जल में अधिक ठहर न सकीं । 'शितकशिताः'—ठण्ड से दुःखी हो जाने के कारण, पूर्वोक्त आग्रह का भी तिरोभाव होने से बाहर आईं । इसी आशय की व्याख्या में—स्वभावाघीना एव—पदों से कहा है ।

शंका—ऐसा मानने पर तो, उनकी कालाधीनता हो जाएगी । वे भगवान् के आधीन न रहेंगी ? उसर—यदि वे भगवान् की आज्ञा से नहीं आई होती तो कालाधीनता हो जाती । ऐसा तो नहीं हुआ । वे तो प्रथम अपने-स्वयं—कहे हुए, फिर भगवान् के द्वारा अनुवाद किए हुए दासी भाव और आज्ञा पालन रूप धर्मों की सिद्धि के लिए आई थीं, क्योंकि भगवान् ने वैसे ही कहा है और 'यदि' पद से अभी न आने पर पूर्व कथित दोनों धर्मों का सिद्ध



श्लोक—भगवानाह ता वीक्ष्य शुद्धभावप्रसादितः ।

स्कन्धे निधाय वासांसि प्रीतः प्रोवाच सस्मितम् ॥१८३॥

श्लोकार्थ—भगवान् उन्हें सब भाँति दोष रहित देखकर, उनके शुद्ध भाव से प्रसन्न हो गए और वृक्ष की शाखा पर वस्त्रों को रख कर प्रसन्नता पूर्वक मुस्कराते हुए यों कहने लगे ॥१८३॥

न होना बतलाया है । इससे आगे भी भगवान् जो कहें, वही हमें करना चाहिए—इस विचार से ही और अभी भी, भगवान् का कथन ही किया । इससे भगवान् के वचनानुसार आने से, पूर्वोक्त शंका नहीं टिकती है । शीत का कथन उनके आग्रह की दृढ़ता को बतलाने के लिए किया है । अर्थात् अत्यन्त ठण्ड से काँपती हुई भी, आग्रह वश पहले बाहर नहीं आई । फिर भगवान् के ऐसे वाक्य सुन कर, तो आ ही गई । यदि-इत्यादि 'भगवान्' पद को सुन कर भगवान् के आग्रह को अपने आग्रह से विपरीत जान कर और अपने अनिष्ट को जानकर, जल से बाहर निकलीं, तो भी अपने गुह्य (गुप्त) अंग को ढक कर ही निकली । तात्पर्य यह है, कि उन्होंने अपने कुछ आग्रह का त्याग तो नहीं किया, इसी अभिप्राय से व्याख्या में,—“स्वभावाधीना एव”—श्री आचार्य चरणों ने उन्हें स्वभाव के आधीन कहा है । भगवान् की आज्ञानुसार कार्य न करने पर, काल के घर्म बाधा करते हैं । इस बात को बतलाने के लिए ठण्ड का लगना—(बाधा करना)—कहा । इस से, बालकों को परपुरुष, अंग न दिखाने की शंका के समाधान में कहा हुआ, हमारा आशय पूर्णतया निर्दोष ही है ।

लेख—परीक्षार्थम्—सब प्रकार से विचार करने के लिए । 'प्रमेयं निरूप्यम्'—स्वरूप का निरूपण करना चाहिए । इस कारण से योनि को ढक कर,—इत्यादि से जाति का वर्णन किया । शका—ऐसा होने पर भी, स्वभाव की आधीनता किसी दूसरी तरह से करना चाहिए था । सभा में ऐसे शब्दों का प्रयोग उचित नहीं था ? समाधान—यदि लीलास्थ भगवद्रूप सब जीवों को लौकिक मान कर संकोचवश सभा में उनके स्वरूप का कथन न होता तो, ब्रह्म को लौकिक मानने से शाक्त्य के मस्तक पतन की तरह, शुकदेवजी का भी मस्तक पतन हो जाता ।

योजना—व्याख्या में 'अकथने शुकस्य इति'—यदि शुकदेवजी उनमें लौकिक भाव को मान कर, रहस्य का वर्णन नहीं करते, तो उनके मस्तक का पतन सम्भव था । उन्होंने तो उन्हें साक्षात् पुरुषोत्तम स्वरूप समझ कर, पुरुषोत्तम के सभी अंगों के वर्णन में जैसे कोई दोष नहीं है, उसी तरह इनके गूढ़ अंग का वर्णन किया है—इसलिए इस वर्णन में कोई दोष नहीं है । वास्तव में तो यह साक्षात् श्रीकृष्ण स्वरूप ही हैं । भृगुजी से ब्रह्माजी के \*हे पुत्र ! ब्रज सुन्दरियाँ स्त्रियाँ नहीं हैं, वे तो श्रुतियाँ हैं—इस कथन का अनुसन्धान रख कर श्री शुक-देवजी ने रहस्य वर्णन किया है । यदि ऐसा वर्णन नहीं करते तो तेरा† मस्तक गिर जाएगा श्रुति के अनुसार उनका मस्तक गिर जाता ॥१७३॥

\* न स्त्रियो ब्रजसुन्दर्यः पुत्र ता. श्रुतयः किल-ब्रह्मवै०

† मुघति विपतिष्यति श्रु०

### ५—कथन ।



श्लोक—यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता व्यगाहतंतत् तदु देवहेलनम् ।

बद्धवाञ्जलिं मूर्धन्यपनुत्तयेऽहसः कृत्वा नमो ऽधो वसनं प्रगृह्यताम् ॥१६३॥

श्लोकार्थ—व्रत धारण करने वाली तुमने निपट नंगी होकर जल के भीतर घुस कर स्नान किया है । तुम्हारा यह कृत्य जल के देवता वरुण का अपमान जनक है । इसलिए इस पाप को दूर करने के लिए मस्तक पर हाथ जोड़ कर प्रणाम करो और प्रत्येक अपना वस्त्र ले जाओ ॥१६३॥

प्रथवा—‘निदानं—अपने स्वरूप को । पद्मिनी स्त्रियों की नीची (अधोवस्त्र<sup>२</sup>, की ग्रन्थि<sup>३</sup>) में पद्म की सुगन्ध होती है । तो जब वृक्ष के स्कन्ध पर वस्त्रों को धरा तब भंवरो का भुण्ड आकर गुञ्जार करने लगा । उनके गुञ्जार का सुनना ही निदान—श्रवण है । इससे उन्हें अपने अनुकूल उत्तम नायिका जानकर रसभाव के उद्बोध होने के कारण विशेष प्रसन्न हुए ।

लेख—अन्यार्थ—इत्यादि । बालकों की दृष्टि न पड़ने देने के लिए इतना संग्रह किया हुआ जान कर अपनी ज्ञान दृष्टि सब स्थान पर व्याप्त न होने से उन्हें कुछ दोष युक्त माना । ‘ततः पुनः’—और फिर पहले देखते हुए भी भगवान् गुप्त अंग छिपाया हुआ देख कर नहीं देख रहे से हो गए किन्तु सुन्दर मध्य भाग को देख कर प्रसन्न हो गए और प्रसन्नता पूर्वक फिर देखने लग गए ।

योजना—आ—सब प्रकार से । ‘ग्रहताः—किसी भी अंश से दुष्ट नहीं । यहाँ (आ)\* अभिविधि (उसको भी साथ लेकर) अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । इस लिए—‘आ—ग्रहताः’—में सन्धि—आङ् के डित् के कारण—महा भाष्यकार ऋषि पतञ्जलि ने सिद्ध की है इस से—आर्ष है, क्योंकि डित् होने के कारण प्रकृति भाव न होने से दीर्घ सन्धि सुखेन हो गई । ‘ज्ञान दृष्टि : सर्वत्र न व्याप्ता’—व्याख्या के इन पदों का अर्थ टिप्पणी में स्पष्ट कर दिया है और—‘तदावरणानि वैष्णवानि कृत्वा पद्मात्तासां निदानं श्रुत्वा’—(उनके वस्त्रों को वैष्णव करके फिर उनके कथन को सुन कर) इत्यादि व्याख्या के पदों का अर्थ टिप्पणीजी में बिस्तारपूर्वक कह दिया है ॥१६३॥

\* विना तेनेति मर्यादा सहतेनेत्यभिविधिः—कोषः ।

सुबोधिनी—भगवद्वाक्यमाह यूयमिति, "अप्स्व-  
ग्निर्देवताश्च तिष्ठन्त्यतो नाप्सु मूत्रपुरीषं कुर्यान् न  
निष्ठीवेन् न विवसनः स्नायाद् गुह्यो वा एषोऽग्निरेत-  
स्याग्नेर्गतिदाहाये" ति श्रुतेर्विवस्त्रस्नाने तत्र स्थिताग्ने-  
र्देवताभ्यो वा व्रतादिसर्वनाशो भवेदिति तत् प्रतिविधा-  
तव्यं, भगवान् हि तत्कर्मसिद्धये समागत इति स्वतन्त्रतया  
फलदानात् कर्मसादगुण्यार्थमाह यतो यूयं धृतव्रतास्तथा-  
भूता अपि विवस्त्रा यदपो व्यवगाह्य विशेषेण  
विलोडितवत्यः क्षोभमुत्पादितवत्यः क्रीडया वस्त्राभावेन

च दृष्टादृष्टाभ्यामेतदालोडनं तत् प्रसिद्धमेव देवहेलनं,  
उ इति निश्चये, एवं दोषं निरूप्य प्रायश्चित्तं निरूपय-  
त्यञ्जलिं बद्धा मूर्ध्नि स्थापयित्वा हसोपनुत्तये पापनाशाय  
नमः कृत्वा वो युष्माकमेतद् वसनं प्रगृह्यतामिति या  
क्रियाशक्तिरभिमानरक्षार्थं स्थापिता सापराधनिवृत्तये  
योजनीया तत्रापि ज्ञानसहिता, एतावतैव देवता तुष्यति  
क्रियामूलस्यापि ज्ञानशक्तिव्याप्तेः, एवं प्रीधरूपा  
शक्तिरिति तद्विदः, सा चेज् ज्ञानेन व्याप्ता फलं सिद्धं  
कृतार्थोपि भवति ॥१६३॥

व्याख्यानार्थ—'यूयं' इत्यादि श्लोक से भगवान् का वाक्य कहते हैं—जल<sup>१</sup> में अग्नि और देवता  
निवास करते हैं। इससे जल में मूत्र और शौच न करे, न धूकें, नग्न होकर स्नान न करे। यह ढकी  
आग है जो जलाती नहीं है—इत्यादि श्रुति के अनुसार नग्न स्नान करने से जल के भीतर रहने वाली  
अग्नि और देवता व्रत आदि सारे शुभ कर्मों का नाश कर देते हैं। इसलिए इसका प्रायश्चित्त<sup>१</sup>-करना  
चाहिए। भगवान् उस कर्म की सिद्धि के लिए आए थे। इसलिए स्वतन्त्रता पूर्वक फल देनेार्थ उसकी  
पवित्रता के लिए कहने लगे—तुमने व्रत धारण कर रखा है, फिर नग्न होकर जल में स्नान किया है  
स्नान ही नहीं, किन्तु क्रीड़ा करके जल में विशेष क्षोभ<sup>२</sup> किया है। क्रीड़ा और वस्त्र के अभाव से  
दृष्ट और अदृष्ट दोनों प्रकार से जल का आलोडन—क्षोभ—किया है। यह देव की प्रसिद्ध अवहेलना<sup>३</sup>  
है। 'उ' अव्यय का निश्चय अर्थ है।

इस प्रकार दोष का निरूपण करके उसके प्रायश्चित्त का निरूपण करते हैं—अञ्जलि बान्ध कर-  
हाथ जोड़ कर माथे पर रख कर पाप का नाश करने के लिए नमस्कार करके तुम्हारे इस वस्त्र को  
ले जाओ। जो क्रिया शक्ति—हाथ, अभिमान की रक्षा के लिए स्थापित की थी, उस क्रिया शक्ति—हाथ  
को, अपराध को नाश करने के लिए जोड़ो और उसको भी ज्ञान शक्ति (मस्तक) सहित जोड़ो। ऐसा  
करने से ही देवता प्रसन्न होंगे, क्योंकि दोनों हाथों का (क्रिया शक्ति का) मूल (मस्तक) की ज्ञानशक्ति  
से व्याप्त होगा। शास्त्र को जानने वाले कहते हैं कि यह ही प्रवाहरूप क्रियाशक्ति है, वह यदि ज्ञान  
से व्याप्त हो, तो फल सिद्ध हो जाता है और कृतार्थ भी हो जाता है ॥१६३॥

१—अप्स्वग्निर्देवताश्च तिष्ठन्त्यतो नाप्सु विवसनः स्नायात्-श्रुतिः



श्लोक—इत्थच्युतेनाभिहिता ब्रजाबला मत्वा विवस्त्राप्लवनं व्रतच्युतिम् ।

तत्पूतिकामास्तदशेषकर्मणां साक्षात् कृतं नेमुरवद्यमृग् यतः ॥२०३॥

श्लोकार्थ—अच्युत भगवान् के द्वारा इस प्रकार कही गई उन ब्रज की अबलाओं ने नग्न स्नान को व्रत भंग का करने वाला मानकर भगवान् की इच्छा को पूर्ण करने के लिए व्रत तथा सारे सत्कर्मों के साक्षात् फलरूप भगवान् को नमस्कार किया, क्योंकि नमस्कार करने से सब पापों का नाश हो जाता है ॥२०३॥

लेख—‘यूयम्’—इत्यादि श्लोक की व्याख्या में—‘तत्रापि ज्ञान सहिता’—का अर्थ यह है, कि उस क्रियाशक्ति का योग, मेरी ज्ञान शक्ति के साथ करो । हाथों को शिर के ऊपर तक लाने से, ऐसा हो जाता है—यह भाव है । ‘एषैव प्रोधरूपा शक्तिः’—यह क्रिया शक्ति ही प्रकृष्ट ओघप्रवाहरूप प्रावाहिक शक्ति है । ‘तद्विदः’—शास्त्र से सिद्ध है कि कर्मों का बहुत अधिक फल होता है । ज्ञान शक्ति केवल ब्रह्मरूपी फल को देने वाली है । ऐसी ज्ञान शक्ति यहाँ अपेक्षित नहीं है—यह बतलाने के लिए ‘एव’ पद का प्रयोग किया है । वह शक्ति यदि ज्ञान से व्याप्त हो, तो मोक्षरूपी मुख्य फल की सिद्धि होती है । क्योंकि ज्ञानी को उस शक्ति की अभिव्यक्ति<sup>१</sup> होने पर क्रम से मोक्ष सिद्ध होता है—ऐसा सिद्धान्त है । इस पर भी वह प्रावाहिक अभिमान की रक्षा करने वाली क्रियाशक्ति यदि मेरी शक्ति से व्याप्त हो जाय तो प्रावाहिकपन का त्याग हो जाता है और अनन्य भाव सिद्ध हो जाता है । तब भगवत्सम्बन्धरूपी फल सिद्ध हो जाता है कर्म भी उत्तम गुण वाला हो जाता है और कृतार्थ भी हो जाता है (कृत—साध लिया है व्रत रूपी अर्थ जिसने—ऐसा हो जाता है) । सामान्य रीति से कहेजाने के अभिप्राय से पुञ्जिङ्ग का प्रयोग किया है ।

योजना—“या क्रियाशक्तिरभिमानरक्षार्थं स्थापिता”—जो क्रिया शक्ति अभिमान की रक्षा के लिए स्थापन की—इत्यादि—हाथ क्रिया शक्ति रूप है । लज्जा की रक्षा के लिए स्थापित किए हुए दोनों हाथों को मस्तक के ऊपर रख कर, अपराध की निवृत्ति कराना उचित है । मस्तक के ऊपर हाथ जोड़ने से, मेरी ज्ञान शक्ति के साथ उनका योग हो जाता है । ‘क्रियामूलस्यापी—हाथों को मस्तक पर रखने से, क्रियामूल—भुजाओं का मूल भी, भगवान् की ज्ञानशक्ति से व्याप्त हो जाएगा । तब अच्छी प्रकार निरीक्षण करने से, भगवान् में विशेष भाव जागृत होगा । ‘एषैव’—(एषा)—लज्जा की रक्षा के लिए, घरी हुई हाथ रूपी क्रियाशक्ति—प्रकृष्ट ओघ (प्रवाहरूप) भगवान् की इच्छा के विरुद्ध करने से—प्रवाहसम्बन्धिनी होकर अहंता ममता रूप संसार को ही उत्पन्न करेगी—यह अर्थ है । वह क्रियाशक्ति भगवान् की सेवा में लगा दी जानी चाहिए—इस प्रकार के ज्ञान से युक्त हो जाय, तो वह प्रवाह की गति को दूर करके भगवत्सम्बन्ध से अलौकिक होकर, पुष्टिमार्ग के फल को सिद्ध कर देती है ॥१६३॥

सुबोधिनी—ताः पुनर्भगवदभिप्रायमपि ज्ञात्वोक्ता-  
दप्यधिकं कृतवत्य इत्याहेत्यच्युतेनाभिहिता इति,  
केनाप्यशेन च्युतिरहितेन पूर्णशक्तिमताभिहिता उक्ता  
वचनद्वारा प्राप्तज्ञाना ब्रजाबलाः स्वभावतश्चातुर्यादि-  
दोषरहिता विवस्त्राप्लवन व्रतच्युति मत्वा हृदयेऽपि संवादं  
प्राप्य तत्पूर्तिकामा न तु देवतापराधनिवृत्तिमात्रपरास्ता-  
दृशे तस्य वा व्रतस्याशेषकर्मणां च साक्षात् कृतं  
कर्मभिरयं साक्षात् फलरूपेण सम्पादितः, फले जाते  
साधनन्यूनता व्यर्थेति फलदृष्टयस्तादृशं भगवन्त नेमु-  
भंगवते नमस्कारं कृतवत्यः, साष्टाङ्गप्रणाममिति केचित्,  
तथा करणे हेतुर्यतोवद्यमृगवद्यभाजनं यतो नमस्काराद्  
भवति, देवतापराधे शान्तेऽपि कर्मच्छिद्रस्य जातत्वात्

फलं न भविष्यतीत्युभयमेकेन यथा भवेत् तथा कृतवत्यः,  
यद्वा तस्य भगवतः पूर्तिकामा इत्यर्थः, न च व्रतच्युति-  
मितिपूर्वोक्तत्वेन तत्परामर्श एव तत्पदेनाकारीति वाच्यं,  
व्रततदन्याशेषकर्मफलत्वेन भगवान्निरूपणवैयर्थ्यापत्तेः,  
किञ्च 'दृढं प्रलब्धा' इत्याद्यसूयाहेतुकत्वनुपपत्तिः,  
व्रतपूर्तिपक्षे तदर्थमेव सर्वमुक्तं भगवता कारितं चेत्य-  
सूयाहेतुत्वाभावात् तेषां, न हि स्वहितवाचा कृत्या वा  
तदारोपः सम्भवति प्रत्युत तद्विपरीत्यमिति, ननु व्रतच्युति  
मत्वा कथं तदुपेक्षां कृत्वा प्रियमेव नेमुः? तत्राह  
तदशेषेति पूर्ववत्, न चैवं व्रतच्युति मत्वेति कथनवैयर्थ्य-  
मिति वाच्यं, तत्कालीनभावप्रौढिनिरूपणार्थत्वात्,  
अन्यथा विशेषणवैयर्थ्यापत्तिरित्युक्तमेव ॥२०॥

व्याख्यानार्थ—उन कुमारिकाओं ने भगवान् के अभिप्राय को जान कर उनके कथन से भी और अधिक किया—यह 'इत्यच्युतेन-श्लोक से कहते हैं । अच्युत (किसी भी अंश से च्युति<sup>१</sup> रहित) (अस्खलित) पूर्ण शक्तिमान् भगवान् के द्वारा इस प्रकार कही गई-वचन द्वारा ज्ञान को प्राप्त हुई और स्वभाव से चतुराई, छल आदि दोषों से रहित वे ब्रज की अबलाएँ नग्न स्नान को व्रत के भंग का कारण मान और अपने हृदय में भी इस बात को सत्य मान कर, इसकी पूर्ति अथवा व्रत को पूर्ण करने वाले भगवान् की इच्छा से भगवान् को नमस्कार करने लगीं । केवल देवता के अपराध की निवृत्ति के लिए नहीं, किन्तु इस व्रत तथा सारे कर्मों का साक्षात्कार रूप (साक्षात् फल रूप) भगवान् को नमस्कार किया । फल की प्राप्ति हो जाने पर, साधन की कमी व्यर्थ है, अर्थात् भगवान् को पति कराने में, प्रतिबन्धक कुछ नहीं रहा । इस प्रकार फल की दृष्टि वाली, उन्होंने फल को सम्पादन कराने वाले फलरूप भगवान् को नमस्कार किया । कोई टीकाकार नमस्कार का अर्थ साष्टांग प्रणाम करते हैं । वह भी उचित ही है, क्योंकि नमस्कार करने से पापों का नाश होता है । देवता का अपराध शान्त<sup>२</sup> हो जाने पर भी जल क्रोड़ा करने से, कर्म अपूर्ण हो जाएगा तो फल की प्राप्ति नहीं होगी । इस लिए दोनों एक के ही करने से निवृत्त हो जाए वैसा किया (नमस्कार किया) अथवा उन भगवान् की इच्छा को पूरी कराने की इच्छा से प्रणाम किया ।

पहिले व्रत भंग का भय कहा है, इस लिए—'तत्' पद उस व्रत भंग का सूचक है—ऐसी शंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि यदि ऐसा अर्थ करेंगे तो व्रत और सारे कर्मों का—भगवान् को—फलरूप कहना ही अर्थ हो जाएगा और—दृढं प्रलब्धाः !—इत्यादि असूया आदि के कारणों का कहना अनुचित हो जाएगा । व्रत के पूर्ण होने के पक्ष में—उसके लिए ही कहा हुआ सब भगवान् ने करा लिया—इस लिए असूया<sup>३</sup> आदि का कुछ कारण रहा ही नहीं । उनके हित के वचन अथवा हित की कृति से असूया का आरोप असम्भव है, किन्तु उससे विपरीत भाव की ही सम्भावना है ।



शंका—व्रत की च्युति मान कर फिर उन्होंने उसकी उपेक्षा<sup>१</sup> करके प्रिय भगवान् को ही नमस्कार क्यों किया ? इस का उत्तर यह है कि व्रत आदि मारे शुभ कर्मों का फल भगवान् हैं, इस लिए उन्हें ही नमस्कार किया । इस से व्रत च्युति के कथन की व्यर्थता को शंका नहीं करनी चाहिए क्योंकि उस समय के भावों की उत्कृष्टता<sup>२</sup> का यह निरूपण है । नहीं तो—‘अवद्यमृग्’—‘पापों का नाशक’ विशेषण व्यर्थ हो जायगा ॥२०३॥

**श्लोक—**तास्तथावनता दृष्ट्वा भगवान् देवकीसुतः ।

वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत् करुणस्तेन तोषितः ॥२१३॥

**श्लोकार्थ—**भगवान् देवकीनन्दन ने उन कुमारिकाओं को अपनी आज्ञानुसार प्रणाम करती हुई देखकर और उससे सन्तुष्ट होकर, उन्हें (अपूर्व) वस्त्रों का दान किया ॥२१३॥

**सुबोधिनी—**तदा भगवान् सन्तुष्टः प्रादादित्याह तास्तथेति, यदि चातुर्येणावनताः स्युस्तदा सन्तुष्ट एव भवेत् परं तथावनता न तु चातुर्यार्थमतस्तथा दृष्ट्वा तथा ज्ञाने हेतुर्भगवानिति, प्रसादे हेतुर्देवकीसुत इति, तदा वासांसि ताभ्यः प्रायच्छत्, चतुर्थ्या सम्प्रदानादपूर्वदान

सूचितं, [अत एवार्थविशेषेपि ‘दाञ्ज्दणो’रत्र दाण एव प्रयोगः कृतो यतोस्य पूर्वनिवृत्तिरपूर्ववच्छादेशेनापूर्वरूपवत्त्वमेवमत्रापि देवेषु केवलवस्त्रत्वनिवृत्तिमपूर्वभगवद्भावात्मककामरूपतां च सम्पाद्य तानि दत्तवानिति ज्ञाप्यतेत एव ‘प्रेष्ठसङ्गम’ सज्जने वस्त्रदानमेव हेतुत्वे-

‘लेख’—व्याख्या में—‘अभिप्रायमपि’—वाक्य को सुनकर और उसके अभिप्राय को भी समझकर । ‘उक्तादप्यधिकम्’—भगवान् ने जो कुछ कहा था, उनसे उससे भी अधिक ही किया, अर्थात् भगवान् की आज्ञा का पालन तो कुछ संकोच रख कर भी हो सकता था, किन्तु तब उनका सर्वांग दर्शन—जिसको भगवान् चाहते थे—भगवान् को नहीं होता । इसलिए भगवान् की वैसी इच्छा को जानकर और उसे पूरी करने के लिए निशंक होकर भगवदिच्छानुसार ही किया । थोड़ा भी संकोच नहीं किया । साष्टांग प्रणाम के पक्ष में—प्रणाम ही नमस्कार से अधिक किया—अर्थ है । ‘तदशेषकर्मणाम्’—उस विषय में पूर्णता करने की इच्छा से । यहाँ—तत्—यह शब्द सप्तमी विभक्ति बोधक अव्यय है और यदि—‘तत्’ इस पद का—तस्य—षष्ठी अर्थ करें तो आगे के ‘अशेष कर्मणां’ पद के साथ द्वन्द्व समास करना चाहिए । ‘फले जाते’—भगवान् के आ जाने पर । इन पदों का—नेमुः—के साथ अव्यय है अर्थात् भगवान् के पधार आने पर फलरूप उनको नमस्कार किया । ‘व्यर्था’—अर्थात् विरुद्ध (पतिरूप फल में प्रतिबन्ध करने वाली) । ‘तादृशं’—वैसे पति रूप फल का सम्पादन करके देने वाले । ‘कर्मच्छिद्रस्य जातत्वात्’—क्रीड़ा करने से कर्म में अन्तराय के उत्पन्न हो जाने से नमन किया ॥२०३॥

नोक्तं 'परिधाय स्ववासांसी'ति, अत एव 'स्व'पदमप्युक्तं नायिकानां प्रियविषयकोत्कटभावस्यैव स्वकीयत्वादन्यथा न वदेत् प्रयोजनाभावात्,] अर्थात् तासामेव प्रकर्षेण दत्तवान् यथा तामु पूर्वोक्तः कामः सिद्धो भवत्यन एव जलक्रीडादिषु वस्त्रोत्तारणपरिधाने नापेक्षिते, नन्वेव-विधवस्त्रदाने को हेतुः ? तत्राह कश्चन इति, परमकल्याण

दुःखप्रहाणेच्छानन्दाविर्भावनरूपा तासूतपन्ना, ननु तर्हि मुक्तिमेव दद्यात् कुतो वस्त्राणि दत्तवान् ? तत्राह तेन तोषित इति, तेन मुग्धभावेन साष्टाङ्गनमस्कारेण तोष प्राप्तिः, अनस्तोषः सञ्जातः, ततो ब्रह्माभूतानामेव तासां भगवता सह रमणमपि भविष्यति, रसरक्षार्थमेव वस्त्र-दानं, अनेनाग्यादशनमपि सेत्स्यति ॥२१३॥

व्याख्यानार्थ—तब भगवान् ने प्रसन्न हो वस्त्र दे दिए । यह 'तास्तथावनताः'—इस श्लोक से कहते हैं—यदि वे नमस्कार करने में चतुराई (छल) करती, तो भगवान् असन्तुष्ट ही होते, किन्तु उस तरह-भगवान् के कथन से भी अधिक रीति से—नम्र देख कर सन्तुष्ट हुए । केवल चतुराई के लिए इनने नमस्कार नहीं किया है, किन्तु मेरी इच्छा को जानकर और उसे पूरी करने के लिए ही नमस्कार किया है, यह जानकर सन्तुष्ट हुए, क्योंकि आप भगवान् हैं । प्रसन्न होने में यह कारण है कि आप देवकीसुत हैं अर्थात् देवकीजी पर कृपा करके जैसे उनके पुत्र हुए, वैसे ही इन कुमारिकाओं पर कृपा करके, इनके पति हुए । तब उनके लिए वस्त्र प्रकर्षतापूर्वक दिए । 'ताभ्यः'—यह चतुर्थी विभक्ति अपूर्व दान की सूचना करती है । इसलिए अपूर्वदान रूप विशेष अर्थ होने से 'दाञ्' और 'दाण्' धातुओं में से यहां 'दाण्' धातु का—जिसे 'यच्छ'—आदेश हो जाता है—ही प्रयोग किया है । तात्पर्य है, कि जैसे 'दाण्' धातु के 'दा' पूर्वरूप की निवृत्ति होकर—'यच्छ'—नया अपूर्व रूप आदेश हो जाता है, वैसे ही यहां दिए जाने योग्य वस्त्रों में केवल पहिले वस्त्रपने की निवृत्ति करके, अपूर्व-नवीन भगवद्भावात्मक कामरूप-वस्त्र सम्पादन करके वे भगवान् ने उनके लिए दिए । इसीलिए—'प्रेष्ठसंग-मसज्जिताः'—२३वें श्लोक में यह नवीन वस्त्रदान ही हेतु रूप से कहा गया है, क्योंकि 'परिधाय स्ववासांसी'—यहाँ अपने अपने वस्त्रों का पहिनना कहा है । 'स्व' पद का प्रयोग भी इसीलिए किया है कि नायिकाओं का भगवान् में प्रिय अत्यन्त उत्कट भाव उत्पन्न हो और 'स्व' भगवान् का वस्त्रों में अपने द्वारा ही दान किए का भाव उत्पन्न हो यदि यहाँ यह तात्पर्य नहीं होता, तो व्यर्थ स्वपद का प्रयोग क्यों करते । अर्थात् उन्हें वस्त्र इस प्रकर्षता से दिए कि जिससे, उनमें पूर्व कथित काम सिद्ध हो । इसी से, जल क्रीडा आदि में, वस्त्रों को दिव्य करने के लिए, वस्त्रों को उतारने और फिर पहिनने की अपेक्षा नहीं है, इस प्रकार वस्त्र देने का क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं—'कल्याणः'—कि उन पर अत्यन्त कल्याण से, दुःख दूर करने और आनन्द का आविर्भाव करने की भगवान् की इच्छा उत्पन्न हुई तब वस्त्र दिए । फिर शंका होती है, कि मुक्ति का दान न करके वस्त्र ही क्यों दिए । मुक्ति देते ? इसका उत्तर यह है कि—'तेन तोषितः'—उनके उस नमस्कार से, भोलेभालेपन से, साष्टांग प्रणाम से, भगवान् सन्तुष्ट हो गए थे (यदि ऐसा नहीं होता तो केवल ब्रह्मभाव का सम्पादन करके मुक्ति ही देते) इस से ब्रह्मभाव प्राप्त हो जाने के अनन्तर भगवान् के साथ उनका रमण कराने की इच्छा से, रमण के उपयोगी अवयव आदि सामग्री का सम्पादन करने के लिए काम रूपी वस्त्र का दान किया, जिस (वस्त्र दान) से इन्हें कोई दूसरा देख भी नहीं सकेगा ॥२१३॥

टिप्पणी—लोक और वेद में मुक्ति का दान परम फल रूप से प्रसिद्ध है किन्तु भक्ति मार्ग में तो मुक्ति अल्प फल है और वस्त्र दान परम फल है—इस बात को बतलाने के लिए व्याख्या में—'ननु तर्हि मुक्तिमेव दद्यात्'—

श्लोक—दृढं प्रलब्धास्त्रपया च हापिताः प्रस्तोभिताः क्रीडनवच्च कारिताः ।

वस्त्राणि चैवापहृतान्यथाप्यमुं ता नाभ्यसूयन् प्रियसङ्गनिर्वृताः ॥२२३॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने उनके साथ वंचना की, उनको लज्जा छोड़ने के लिए विवश किया. उनका अपमान किया, उनके वस्त्र हर लिए और कठपुतली की तरह भाँति भाँति के नाच (उनको) नचाए, तो भी उन गोपिकाओं के मन में भगवान् के प्रति ईर्ष्या उत्पन्न नहीं हुई किन्तु प्रिय भगवान् के संग से वे अत्यन्त प्रसन्न हुई ॥२२३॥

सुबोधिनी—ननु ता अनेकविधा वस्त्रपरिधानानन्तरं विचार्यते भगवद्वचने च विश्वासो भगवति च स्नेहस्तस्य पूर्ववासनयाक्षितो शेषः कथं नोत्पन्न इत्याशङ्क्याह च परमासत्त्वं स्वस्य च दोषस्कृतिस्तन्निवृत्तेरनन्योपायत्वं दृढं प्रलब्धा इति, लौकिकदृष्टिस्तासां जाता न वेति चान्यथा सर्वथा निरभिमानानां पुनर्जिज्ञासा नोपपद्येत,

तो फिर मुक्ति ही देते ? इत्यादि शंका करके समाधान किया है । सारे दुःखों का अभाव ही मुक्ति है और परम कर्षणा का अर्थ केवल दुःखों का अभाव करना ही नहीं है, किन्तु आनन्द का आविर्भाव भी जब होवे तब परम पद की साधकता है । जिन पर भगवान् इस तरह प्रसन्न नहीं होते हैं उनको ही मुक्ति देते हैं । इस वस्त्रों के दान में परम कर्षणा कारण है । इससे इन व्रज भक्तों को मुक्ति न देकर वस्त्र दिए । इस कथन से यह स्पष्ट है कि इस काम भाव की अपेक्षा मुक्ति अल्प वस्तु है ।

‘लेख’—‘तथा ज्ञाने’—भगवान् ने ऐसा जाना । अर्थात् भगवान् ने—स्वय आन्तर भाव ज्ञान सहित भगवान् होने के कारण—यह जान लिया, कि ये गोपीजन मेरा अभिप्राय जान गई हैं और मेरी इच्छा को पूरी करने के लिए ही यह सब कुछ किया है और तब देवकीसुत होने के कारण, सन्तुष्ट होकर वस्त्रों का दान किया । मूल में ‘कर्षणः’ पद अतिशय बोधक ‘मत्त्वर्थीय’ प्रत्ययान्त होने के अभिप्राय से, परम कर्षणा से, भगवान् की उन पर दुःख के अत्यन्त नाशपूर्वक आनन्द को प्रकट करने की इच्छा हुई । केवल दुःख दूर करने पर तो, आनन्द का तिरोभाव ही बना रहता है और आनन्द का उनमें आविर्भाव करना ही उन पर परम कृपा है । उनमें आनन्द को प्रकट करने की इच्छा परम कृपा है । ‘ब्रह्म भूतानां’—का अर्थ यह है कि ब्रह्म भाव के प्राप्त होने के पीछे जिनमें आनन्द प्रकट हो गया है ऐसे । इस प्रकार यदि भगवान् को सन्तोष नहीं होता, तो केवल ब्रह्म भाव का ही सम्पादन करते और जिससे, उनकी मुक्ति ही होती । यहाँ तो भगवान् सन्तुष्ट हुए हैं । इससे उनके साथ आगे रमण भी होगा । इसलिए रमण के योग्य अवयव आदि सामग्री सिद्ध करने वाला वस्त्रदान रूप ब्रह्मभाव सिद्ध कर दिया ॥२२३॥

दृढमत्यन्तं प्रलब्धा 'यूयं विवस्त्रा यदप' इति, 'अत्रागत्य स्ववासांसी'तिवाक्यात्, त्रपया च हापितास्त्याजिता लज्जा हि तासां सर्वस्वं, दोषारोपो गुणाभावश्चोक्तः, चकारादपत्रपया च हापितास्त्याजिताः, 'भवत्यो यदि मे दास्य' इति तद्वाक्यमेव पुरस्कृत्य ता निजिता इति प्रस्तोभिताः, स्तोभवाक्यं वृथावाक्यं, प्रकर्षस्तस्यापकार-हेतुत्वं, अतः प्रस्तोभिता 'मूर्ध्नि बद्ध्वाञ्जलि' मिति क्रीडनवच्च कारिता यथा बालो यथैव कार्यते तथा कारिताः, तासां च पुनर्वस्त्राण्यपहृतान्येव, एवं पञ्च-विधदोषैरपि ता भगवन्तं नाभ्यसूयन्, अभ्यसूया

ह्यन्तर्दुःखे भवति, तानि च वाक्यानि महान्तो जलमिव, भगवता स्वरूपेणैवानन्दं प्रापितासु न तैर्दुःखमुत्पादयितुं शक्तं स्वानन्देनैव निर्वृताः, भगवदीयैरप्याधिदैविकैर्वा-क्यैर्नापकारः कर्तुं शक्यः, तत्र हेतुः प्रियस्य भगवतः सङ्गेन वस्त्रद्वारा प्रियस्य सङ्गस्तेन निर्वृताः, प्रमेयबलेन प्रमाणं दुर्बलं जातमित्यर्थः, अनेन 'प्रायच्छदि'ति 'प्र'शब्देन परिधापनमप्युक्तं 'करुणा' पदेन च तदानीन्त-नोन्यो योग्योप्युपचारः सूचितो निर्वृता भगवति स्वस्मिन् दोषाभावाद् दोषं नारोपितवत्यः ॥२२१॥

व्याख्यार्थ—शंका—ये गोपीजन अनेक प्रकार की थी 'भवत्यो यदि में दास्यः'—भगवान् के इस वाक्य को सुनने से पहिले उनके अनेक भाव कहें जा चुके हैं। फिर वस्त्र पहिन लेने के अनन्तर पहले की भिन्न भिन्न भाव वाली, उस वासना के द्वारा होने वाला दोष, उनके मनमें उत्पन्न क्यों नहीं हुआ ? इस शंका के समाधान में—दृढं प्रलब्धाः—यह श्लोक कहते हैं—यहाँ यह विचार किया जाता है, कि उनकी लौकिक दृष्टि हुई या नहीं हुई ? भगवान् के वचन पर इन्हें विश्वास आया, भगवान् में स्नेह उत्पन्न हुआ, भगवान् की अक्षरशः सत्यवक्तृता पर विश्वास हुआ, और अपने दोष की स्फूर्ति हुई। उस दोष के दूर करने का एक मात्र उपाय, नमस्कार ही उन्हें सूझा, नहीं तो अभिमान को सर्वथा त्याग देने वाली उनकी फिर जिज्ञासा—भगवत्संज्ञम की इच्छा—नहीं होती। 'तुम ने नग्न हो कर जल में विहार किया ? इत्यादि वचनों से भगवान् ने उन्हें ठगा, 'यहाँ आकर अपने वस्त्र ले जाओ'—कह कर, उनकी लज्जा छुड़ा दी, जो कि उनका सर्वस्व थी। इस प्रकार, प्रथम वाक्य से, उन पर दोष लगाया, दूसरे से उन में गुण का अभाव कहा और—'च' से उन्हें निर्लज्ज कर दिया। 'यदि तुम मेरी दासी हो'—इत्यादि उनके ही वाक्यों को लेकर उन्हें निरुत्तर किया—यही उनका अपमान किया, क्योंकि स्तोभवाक्य-बुरे वाक्य के प्रकर्ष<sup>१</sup> से अपकार<sup>२</sup> करना ही अपमान है। 'शिर पर हाथ जोड़ो,—कह कर, उनके साथ कठपुतली का सा खिलवाड़ किया, बालक के साथ जैसा व्यवहार किया और यह सब कुछ करा लेने पर भी वस्त्र तो उनके हर ही लिए थे। इस तरह से उन पर ये पाँच दोष लगाए जाने पर भी, उनको भगवान् पर इर्ष्या नहीं हुई। इर्ष्या तो, हृदय में दुःख होने पर होती है। भगवान् के ये वचन तो उन्हें, घघकती हुई अग्नि पर जल की तरह ठण्डक करने वाले लगे। जिन्हें भगवान् ने अपने स्वरूप का ही आनन्द प्राप्त कराया है, उन्हें इन वाक्यों से दुःख कैसे उत्पन्न हो सकता है। वे तो भगवान् के आनन्द से सुखी (हैं) थीं। इस लिए भगवान् के आधिदैविक वाक्यों से भी उनका कुछ अपकार नहीं हो सका, क्योंकि, वे तो प्रिय भगवान् के—वस्त्र द्वारा—संग से परम सुखी थीं। यहाँ प्रमेय बल से प्रमाण बल दुर्बल हो गया। (प्रमेय बल—भगवान् के स्वरूप का बल—के आगे—प्रमाण बल भगवान् के वचनों का बल—दुर्बल हो गया)। इस से 'प्रायच्छत्'—उन्हें भगवान् ने वस्त्र केवल दिए ही नहीं, किन्तु देते देते, पहना भी दिए। करुणा पद से यह भाव है कि उस समय के होने वाले दूसरे—आंसू पोंछना, मस्तक पर हाथ रखना आदि उपचार भी किए। इससे वे प्रसन्न हुई और उन स्वयं में दोष न रहने से भगवान् पर भी दोषारोप नहीं किया ॥२२१॥



टिप्पणो—उनकी लौकिक दृष्टि न होना नहीं समझें, तो दोष आता है—उसे व्याख्या में—‘अन्यथा’—पद से कहते हैं। लोक में, जो धर्म, असूया<sup>१</sup> ईर्ष्या<sup>२</sup> के कारण रूप से प्रसिद्ध है उनका अनुभव करते हुए भी गोपीजनों के मन में ईर्ष्या के न होने से सिद्ध है कि उनका भाव अलौकिक था इसी आशय से मूल में उन असूया के कारणों को बतलाया है। भगवान् में केवल स्नेह होना ही, ईर्ष्या न होने का कारण नहीं है, क्योंकि, यदि स्नेह के कारण ही ईर्ष्या आदि न होते तो, फिर स्नेह वाली खण्डिता, कलहान्तरिता आदि नायिकाओं में भी ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए। परन्तु स्नेह होने पर भी, उनमें उक्त ईर्ष्यादि रहते ही हैं और भगवान् में ईर्ष्या करने से, अनिष्ट फल होता है, ऐसा शास्त्र का ज्ञान रखने वाले स्नेह मूल्यों में भी ईर्ष्यादि दोष नहीं पाए जाते। इस अन्वय व्यतिरेक व्यभिचार दोष से, स्नेह-असूयादि न होने का कारण नहीं कहा जा सकता।

और यह भी कहना अनुचित है, कि खण्डितादि को प्रिय भगवान् का संग न होने से, उनमें उक्त दोष होते हैं, ये तो-प्रिय संगनिवृत्ताः—प्रिय भगवान् के संग से सुखी थीं, इस से, इन में असूयादि दोष उत्पन्न नहीं हुए, क्योंकि, खण्डिता का भगवान् को उपालम्भ<sup>३</sup> देना आगामी संगम के अभाव के लिए होता है और वह इसी से, भगवान् को उपालम्भ देती हैं परन्तु उपालम्भ देने के समय में, तो उसे भी भगवान् का संग ही है, संग का अभाव नहीं है। खण्डिता का भगवान् से ईर्ष्या करना पहले हुए संग के अभाव से हुआ भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उपालम्भ देते समय भगवान् का संग हो जाने पर पहले संग का अभाव बाधित-दूर-हो गया।

फिर शङ्का करते हैं कि उपालम्भ देते समय, संग होने पर भी, पूर्वकाल में हो चुका संग का अभाव (जो अत्यन्त अभावरूप है) तो दूर नहीं होता है। यद्यपि वह अभाव (अत्यन्ताभावरूप) नहीं दीख पड़ता, तो भी, किसी अंश में तो अभावरूप से दृष्टि में आता ही है। उत्तर देते हैं कि आगे हुए संग के अतिरिक्त कोई दूसरा संग उस अत्यन्ताभाव का प्रतियोगी<sup>४</sup> स्वीकार करने में कोई प्रमाण नहीं है, और कोई प्रतियोगी मान लेने पर गौरव<sup>५</sup> दोष आजाने से, अत्यन्ता भाव का अभाव हो जाएगा। इससे गोपीजनों की अलौकिक दृष्टि होने के कारण ही ईर्ष्यादि नहीं हुए।

इनकी अलौकिक दृष्टि तो नहीं थी किन्तु केवल दोष का अभाव ही था—ऐसा भी नहीं कहना चाहिए, क्योंकि, दोष के मूल कारण अभिमान का तो—हाथों की अंजलि बान्ध कर मस्तक पर घरने तक भगवान् के वाक्यों के स्वीकार कर लेने से—नाश होना कहा जा चुका है। इसी बात को व्याख्या में—“सर्वथा निरभिमानानाम्”—“सर्वथा निरभिमान हुई” इत्यादि पद से कहा है।

इस प्रकार लोक में ईर्ष्या उत्पन्न करने वाले सब कारणों का उन्हें अनुभव होने पर भी ईर्ष्या के न होने से उनके भाव और उनकी दृष्टि के अलौकिक होने में कोई सन्देह नहीं है। और वह भाव रुखा<sup>६</sup>—नहीं, किन्तु

१—निन्दा, द्वेष। २—डाह या जलन। ३—उलाहना। ४—विरोधी, प्रतिपक्ष। ५—भारी।

६—शुष्क।

श्लोक—परिधाय स्ववासांसि प्रेष्ठसङ्गमसज्जिताः ।

गृहीतचित्ता नो चेलुस्तस्मिंल्लज्जायितेक्षणाः ॥२३३॥

श्लोकार्थ—वे गोपिकाएँ अपने अपने वस्त्र पहिनकर प्रेष्ठ (परम प्रिय) भगवान् के संगम के लिए तय्यार हो गई और प्रिय के परम प्रिय समागम में उनका मन ऐसा लग गया था कि, वे आगे नहीं बढ़ सकीं, वहीं खड़ी होकर, लज्जापूर्ण दृष्टि से भगवान् की ओर निहारने लगीं ॥२३३॥

सुबोधिनी—ततो यज् जातं तदाह परिधायेति, स्वस्ववासांसि परिधाय प्रेष्ठस्य सङ्गमे तृतीयपुरुषार्थे सज्जिता जाता रसाकरा जाता इत्यर्थः, अन्यथाश्रयभङ्गः क्षीणरसता वा स्यात्, एवं देहव्यवस्था निरूपिता, अन्तःकरणव्यवस्थामाह गृहीतचित्ता इति, गृहीतं चित्तं याभिर्यासामिति वा, सम्बन्धिनः कर्तुं श्रापेक्षितत्वाद् भगवच्चित्तं ताभिर्गृहीतमभिप्रायो जातो वस्त्रपरिधानेनैव भगवता च तासां चित्तमपहृतं 'तोषित' इति, एवं

चित्तव्यतिषङ्गे इकुर उत्पन्ने ततः क्रियाशक्तिः कुण्ठिता जातेत्याह नो चेलुरिति, अन्यत्र ज्ञानशक्तिरपि कुण्ठितेति वक्तुं तस्मिन् रस एव तस्या विनियोगमाह, लज्जायितेक्षणा लज्जां प्राप्तानीक्षणानि यासां भगवति लज्जया-पितानी वा, पूर्वस्वदोषानुसन्धानादिति केचित्, वस्तुतस्तु तदेयं भावदृष्टिः, एव तासां शरीरान्तःकरणेन्द्रियवृत्तय उक्ताः ॥२३३॥

व्याख्यार्थ—इसके पीछे जो हुआ उसे 'परिधाय'—इस श्लोक से कहते हैं । अपने अपने वस्त्रों को पहिनकर प्रेष्ठ भगवान् के संगम के लिए—तृतीय पुरुषार्थ—काम—की सिद्धि के लिए तैयार हुई—वे रस की निधिरूप हुई । अन्यथा—यदि उन्हें रस की निधि न मानें तो शृंगार रस के आश्रय-आलम्बन-का भंग

महान् रस रूप या उस भाव की महारस रूपता—भगवान् में विश्वास, स्नेह, आप्तता और स्वयं के दोष की स्फूर्ति आदि विशेषणों से स्पष्ट ज्ञात होती है जिसे व्याख्यामें—'भगवद्वचने च'—इत्यादि पदों से बतलाया है । इनके ऐसे विशुद्ध भाव के कारण ही इन्हें वस्त्रदान के साथ ही—वस्त्र द्वारा ही—भगवान् के साथ साक्षात् सम्बन्ध का अनुभव हुआ । इसी को, 'प्रियसंगनिवृत्ताः' पद से कहा है । उस प्रियसंग जनित आनन्द के कारण, असूयादि उत्पन्न नहीं हुए, यदि ऐसा न माने, तो असूया के 'दृढं प्रलब्धाः' कारण कहे पीछे शीघ्र असूया के होने के प्रतिबन्धक-दोष को रोकने का—किसी भी कारण के न होने पर, ईर्ष्या के उत्पन्न न होने का कोई अन्य कारण नहीं दीखता ।

लेख—व्याख्या में—'पूर्ववासनया'—'जो तुम मेरी दासी हो'—इस वाक्य को सुनने के पहिले, उनके भिन्न भिन्न भावों की वासना के द्वारा । 'वस्त्राणि अपहृतानि'—परीक्षा के लिए उन्हें खिलौना सा किया और वस्त्र भी नमस्कार कराए बिना नहीं दिए और इसी से इस विशेषण का यह अर्थ कहा है, कि उसकी निवृत्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं है ॥२३३॥



हो जाएगा, अथवा क्षीण रस की उत्पत्ति होगी। इस कथन से, उनके देह की व्यवस्था का निरूपण करके, अब—‘गृहीतचित्ताः’—पद से, अन्तःकरण की व्यवस्था को कहते हैं। कुमारिकाओं ने भगवान् का चित्त ग्रहण किया, अथवा भगवान् ने उनके चित्त को ग्रहण किया। सम्बन्धी और कर्ता के ज्ञान की-किस का (चित्त) किस ने ग्रहण किया—अपेक्षा में भगवान् (सम्बन्धकारक) का चित्त गोपीजनों (कर्तृकारक) ने वस्त्र पहनने से ग्रहण किया अथवा (सम्बन्धकारक) गोपीजनों का चित्त (कर्तृकारक) भगवान् ने ‘तोषितः’ पद से ग्रहण किया। (इस प्रकार दोनों के चित्त ग्रहण में परस्पर दोनों ही कारण हुए)। इस तरह चित्त के संकल्प विकल्प से अंकुर-काम-की उत्पत्ति हुई, फिर क्रिया शक्ति के कुण्ठित हो जाने से, वे वहाँ से चल न सकीं। और ज्ञान शक्ति भी कुण्ठित हुई कहने के लिए उसका भी, उस रस में ही विनियोग ‘लज्जायि तेक्षणाः’—पद से कहते हैं कि उनके नेत्र भगवान् की तरफ लज्जा से देख रहे थे, अथवा जिनके नेत्रों का अर्पण लज्जा से, भगवान् में हो गया है। कितनेक टीकाकार कहते हैं कि अपने पहिले दोष के अनुसन्धान के कारण ऐसा हुआ। (पहले बुलाने पर न आना रूप दोष)। वस्तु स्थिति तो यह है, कि उस समय, ऐसी भाव वाली हुई। इस तरह, उनके शरीर, अन्तःकरण और इन्द्रियों की वृत्ति का निरूपण किया गया है ॥२३३॥

टिप्पणी—‘परिघायेत्यादि’ श्लोक की व्याख्या में—‘रसाकरा जाताः’—का अर्थ यह है, कि रस की खान रूप हुई। रस शृंगार-रस शृंगार के योग्य अवयवों में ही, प्रकट होता है, यह रसशास्त्र का नियम है। यदि अंग रस के योग्य न हों तो वे रस के आश्रय रूप नहीं हो सकते हैं। इस लिए यहाँ वे रस के योग्य हुए। इस बात को बताने के लिए ही, घनुष, कवच आदि से रण के लिए सज्जित हुए वीर की तरह, वे कुमारिकाएँ प्रेष्ठ<sup>१</sup> भगवान् के संगम के लिए तैयार हुईं। काम रूपी वस्त्रों को देने के पीछे ही वे इस योग्य हुईं।

कुमारिकाओं का उसी समय इस तरह शृंगार रस के योग्य हो जाना युक्ति विरुद्ध है ? ऐसी शंका नहीं करना चाहिए, क्योंकि, यदि वैसी अवस्था, अंग आदि प्राप्त नहीं होते तो, काम शास्त्र में कहे हुए नखक्षत, दन्तक्षत, ताड़न आदि व्यापार द्वारा उद्बोध होने योग्य रस का वे अंग आश्रय नहीं बन सकते और तब मूल में कहे गए संगम पद के बाध का प्रसंग (ही) आ जाएगा। यदि रसानुकूल अवस्था, अवयव आदि के न होने पर भी, जैसे तैसे संगम होने पर, पूर्ण रस प्रकट न होने से, रसाभास अथवा क्षीणरसता हो जाएगी। इन के लिए पहिले ‘दारिका’, ‘कुमारी’ आदि शब्दों का प्रयोग करके, अभी रस की खान कहने का तात्पर्य यह है, कि पूर्व कथित गुणातीत भगवान् ने ही, उनमें प्रवेश करके, उनके देह इन्द्रिय, अन्तःकरण, आदि को भगवत्स्वरूप कर दिया। इसी से काल के क्रम के बिना ही, कुमारिका अवस्था में ही सब सिद्ध हो गया।

‘लज्जायितेक्षणाः’—की व्याख्या में ‘पूर्व स्वदोषेति’ पहिले बुलाने पर नहीं आना रूप दोष। वस्तु स्थिति तो यह है कि इस समय उनकी ऐसी भाववाली दृष्टि हुई, अर्थात् वे भगवान् के द्वारा इस समय प्रकट किए हुए रस

श्लोक—तासां विज्ञाय भगवान् स्वपादस्पर्शकाम्यया ।

धृतवतानां सङ्कल्पमाह दामोदरोबलाः ॥२४३॥

श्लोकार्थ—अपने चरणों का स्पर्श करने की कामना से व्रत को धारण करने वाली उन गोपीजनों के विशेष सङ्कल्प को जानकर दामोदर भगवान् ने उन से कहा ॥२४३॥

सुबोधिनी—तदा यदुचितं तद् भगवान् कृतवानि-  
त्याह तासां विज्ञायेति, तासां सङ्कल्पं विज्ञायाहेतिसम्बन्धः,  
भगवानिति सर्वसामर्थ्यमुक्तं, तेन ज्ञात्वा यथोचितं तत्  
करिष्यतीति सिद्धं, उत्पत्त्या चोपपत्त्या च ज्ञातवानिति  
विशब्दाथः, तत्र विषयनिर्धारमाह, न हि ता लौकिका  
इव विवाहार्थमागता नापि भोगार्थं नापि लोकविरोधेन  
नापि ज्ञानार्थं किन्तु सर्वथा विचारेण भक्त्यर्थमेवागता-  
स्तदाह स्वपादस्पर्शकाम्ययेति स्वस्य भगवत् एव तत्रापि  
भक्तिरेव भक्तावपि स्पर्श एव न तु श्रवणादिसंख्यपर्यन्ता  
तस्या एव कामना, न केवलं कामनामात्रं तदर्थं देहेन्द्रि-

यादीनामपि विनियोगं कृतवत्य इत्याह धृतवतानामिति,  
धृतं कात्यायन्यर्चनव्रतं याभिः, धारणेन व्रतनिवृत्ति-  
निराक्रियतेन्यथा कृतवतानामित्येवोक्त स्यात्, सङ्कल्पो  
मानसो नियमः, अनेन सर्वोपि सङ्घात एतासामुत्तम-  
भक्त्यर्थमेवेति निश्चित्य पश्चादाह यथा भक्तिर्भवति  
तथोपाय, नन्वेवं निर्वन्धकथने को हेतुः ? तत्राह दामोदर  
इति, अनेन गोपिकावश्यता निरूपिता यत्र तथा वश्यो  
जातस्तत्रैवमपि वश्यो भविष्यतीति, प्रथमतस्तासां  
सम्बोधनमाहाबला इति, रससम्बोधनमेतदुभयोरन्योन्य-  
वशात्त्वज्ञापकं भगवान् दामोदरस्तास्त्वबला इति ॥२४३॥

के भार से भरी हो जाने के कारण, उनको भगवान् के सिवाय कोई दूसरा (किसी दूसरे का) अनुसन्धान ही नहीं रहा । उनकी ऐसी भाव दृष्टि को ही, व्याख्यामें—‘तदा इयं भावदृष्टिः’ इन पदों से कहा है ।

लेख—‘अंकुर उत्पन्ने’ स्मर-काम की दूसरी दशा उत्पन्न हुई तब । आगे की संकल्प आदि दशाओं में क्रिया की निवृत्ति हो गई । इसको बताने के लिए क्रिया शक्ति का कुण्ठित होना कहा है ।

योजना—‘गृहीत चित्ता’—की व्याख्या में—सम्बन्धिनः कर्तुं श्रापेक्षितत्वाद्—का अर्थ यह है कि किसका-चित्त ग्रहण किया—इस सम्बन्ध की जिज्ञासा में—‘गृहीतं चित्तं यासां’ से सम्बन्धी गोपकुमारियों का निरूपण किया और चित्त किसने ग्रहण किया—इस कर्ता की जिज्ञासा में गृहीतं चित्तं याभिः—इस विग्रह से चित्त को ग्रहण वाली उनको बताया । इस प्रकार भगवान् और कुमारिकाओं—दोनों के चित्त का ग्रहण करने में परस्पर दोनों ही कारण हैं ।

तस्मिन् लज्जायितेक्षणाः—की व्याख्या में—भगवति लज्जया अपितानि वा—इस पक्ष में—‘लज्जापितेक्षणाः’ ऐसा पाठ जानना चाहिए । शरिरेन्द्रियान्तःकरण वृत्तय उक्ताः—अर्थात् परिधाय स्ववासांसि—पद से शरीर की ‘गृहीत चित्ताः’ पद से अन्तःकरण की ओर लज्जायितेक्षणाः पद से इन्द्रियों की वृत्तियाँ कही हैं ॥२४३॥

व्याख्यान—तब भगवान् ने जो करना उचित था, वह किया-यह-‘तासां विज्ञाय’-श्लोक से कहते हैं। उनके संकल्प को जान कर, बोले-ऐसा सम्बन्ध है (भगवान् शब्द से सर्व सामर्थ्य कहा है, जिससे जानकर यथोचित करेंगे-यह सिद्ध है।) भगवान्-सर्व सामर्थ्य युक्त-होने से जान कर जो उचित है उसी को करेंगे-यह सिद्ध है। उत्पत्ति और युक्ति दोनों प्रकार से जान लिया,—यह ‘विज्ञाय’ में ‘वि’ उपसर्ग का अर्थ है। उन दोनों प्रकार के ज्ञान में, विषय का निर्धार कहते हैं, कि वे लौकिक स्त्रियों की तरह विवाह के लिए नहीं आई थीं, लोक से विरुद्ध हो कर भी नहीं आई थीं और न ज्ञान प्राप्त करने के लिए ही, किन्तु सब प्रकार से विचार करके भक्ति के लिए ही आई थीं-यह-‘स्वपाद-स्पर्शकाम्यया’-पद से कहते हैं। ‘स्वस्य’-भगवान् का ही (अन्य का नहीं) उस में भी भक्ति से ही और भक्ति में भी केवल चरणस्पर्श की इच्छा से ही, न कि श्रवण भक्ति से सख्य भक्ति तक की भी कामना से आई थीं। केवल कामना ही नहीं थी, किन्तु उनके लिए उन्होंने देह इन्द्रिय आदि का विनियोग भी कर दिया था। यह ‘धृतव्रतानां’ इस पद से कहा है। धारण किया है कात्यायनी की पूजा का व्रत जिन्होंने-वे ऐसी थीं। ‘धृत’-शब्द से-व्रत चालू है, समाप्त नहीं किया-ऐसा अर्थ सूचित होता है और यदि व्रत की निवृत्ति का अर्थ अपेक्षित होता तो ‘कृतव्रतानां’ ऐसा कहा जाता। इससे उनका अभी व्रत समाप्त करना सिद्ध नहीं है। संकल्प का प्रर्थ मानसिक नियम है। इससे इनका देह, इन्द्रिय, मन आदि का संघात सारा उत्तम भक्ति के लिए ही है। भगवान् ऐसा निश्चय करके, फिर जिस के करने से ऐसी भक्ति सिद्ध हो, उस उपाय को कहते हैं।

शंका—इस प्रकार विचार (आग्रह) करके कहने का क्या प्रयोजन है? ‘दामोदर’ पद से इसका समाधान करते हैं। भगवान् दामोदर है। दामोदर पद से गोपिका (यशोदाजी) के वश में होने का निरूपण है। इस से-भगवान् यदि यशोदाजी की इच्छा से उनके वश में हुए थे तो यहां इन गोपीजनों की इच्छा से इनके वश में होंगे-यह सूचित किया। पहिले जिगपद से, उनके स्वरूप का बोध हो उस पद को सम्बोधन रूप से कहते हैं। हे अबला:—वे अबला हो गई थी। यह पद रस का बोधक है। रस के कारण, सब अंगों में काम व्याप्त हो जाने से, वे अबला हो गई थीं और भगवान् दामोदर-गोपीकाओं के वशीभूत हो गए थे। इस तरह दोनों का परस्पर वशीभूत होना सूचित किया है ॥२४३॥

श्लोक—सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनात् ।

मयानुमोदितः सोसौ सत्यो भवितुमर्हति ॥२४३॥

श्लोकार्थ—हे साध्वियों ! तुम्हारे द्वाग की हुई मेरी पूजा से तुम्हारा मनोरथ मैंने जान लिया है। मैं भी उसका अनुमोदन करता हूँ, इसलिए वह पूर्ण होने योग्य है ॥२४३॥

लेख—‘तासां’ की व्याख्या में-‘तत्र’-उत्पत्ति और उपपत्ति के द्वारा जान हो जाने पर, लोक विरोध-स्त्रियों का अपने पति के अतिरिक्त दूसरे पुरुष के साथ सख्य करना तो लोक विरुद्ध है किन्तु चरण स्पर्श करने में कुछ लोक विरोध नहीं है। चरण स्पर्श की कामना आना कहने से ज्ञान के लिए नहीं आई थी यह सूचित किया। ‘सम्बोधनम्’ उनके स्वरूप का अग्रही तरह बोध कराने वाला-‘अबला:’-यह पद भगवान् के कहे वचनों के पहले कहा है-यह अर्थ है ॥२४३॥

सुबोधिनी—तासां हृदये स्वाभिप्रायो ज्ञापनीय इति यदासीत् तत्राह सङ्कल्पो विदित इति, भवतीनामभिप्रायो विदितः, अनेन न वक्तव्य इति ज्ञापितं, अन्यथा रसस्त्वपुष्टः स्यादत एव भगवानपि नोच्चारयति तत्रायुक्तः सङ्कल्प इति शङ्कां वारयति साध्य इति, साध्वी सर्वदोषविवाजिता पतिव्रतेति यावत्, अतोधिकारिणा कृतः सङ्कल्पः सफलो भवति, अनेनान्यस्मै देयाः केनाप्यशेन विनियोगान्तरं च निवारितं, भवतीनां च सर्वाशामेव ज्ञातस्वरूपाणां, यद्यपि कात्यायन्यर्चनेनादमर्षः सिद्धस्तथापि मदर्चनाद् द्वितीयवारमहमेवाचितः, प्रबुद्धा हि देवतार्चयत इति तदैव ज्ञानं परमर्चनं मत्स्पर्शं न भवतीत्यसत्यो भवति देवताज्ञाव्यतिरेकेण च कृतेति फलदोषि न भवति, तदिदानी सन्तोषाद् द्वयं

पूर्यते, मयानुमोदित इति, तत्र मयानुमोदित इति स सङ्कल्पो न पञ्चान् मोदित इति मोदं प्रापितः स प्रसिद्धः पूजायामभिव्यक्तो भावपूर्वकदृष्टिपूर्वकपुष्पादिपदार्थानां भाविते भगवति समर्पणरूपः स त्ववस्तुसमृदायरूप इत्यसत्य एव स्वरूपतो ज्ञापकः परं जातः, तज्ज्ञापितमाज्ञासाविति, इदानीमहं प्रत्यक्षोन्तकामश्च दत्तो भावोद्गगान्निणी दृष्टिश्चोदं, निवेद्य तु सर्वमेवान् पूर्वकृति-तुल्यमेव सांप्रतं जायमानं सर्वमेव सावित्युच्यते, स स्वरूपतः सत्योपि फलतोपि सत्यो भवितुमर्हति, सत्यात् सत्यं फलमुचितमिति, अतो योग्यत्वादेव फल भविष्यति न चिन्ता कर्तव्येति भावः, अनेन कार्याधीनत्वाद् गोपिकाधीनमेव फलमिति वाचनिकोपि सन्देहो निवारितः

॥२५१॥

ध्याल्यार्थ—उन ब्रज भक्तों के मन में यह था, कि अपना अभिप्राय भगवान् को बतलावें, इसलिए कहते हैं कि तुम्हारा संकल्प मैंने जान लिया—‘संकल्पो विदितः’—श्लोक से यह कहते हैं। तुम्हारे अभिप्राय को मैंने जान लिया, ऐसा कह कर, यह बतलाया कि अब तुम्हारे कहने की आवश्यकता नहीं है। कहने से, रस पुष्ट नहीं होता। इसी से, भगवान् स्वयं भी, उस को नहीं कह रहे हैं। इनका संकल्प अयोग्य होगा? इस शंका के समाधान में ‘साध्यः’—पद दिया है। सब दोषों से रहित अर्थात् पतिव्रता होने के कारण, उनका ऐसा संकल्प करने का अधिकार था और वही सफल होना है। इस कथन से भगवान् के द्वारा उन गोपिकाओं का किसी अन्य के लिए दिया जाना अथवा किसी अंश में, उनका उपयोग करके, फिर अन्य किसी के लिए दिया जाने का निषेध सूचित किया है। ‘भवतीनाम्’—तुम सबों का, कि जिनका स्वरूप जान लिया गया है (अथवा नहीं जाना गया है

पाठ भेद से) यद्यपि कात्यायनी, की पूजा से, यह अर्थ सिद्ध हो गया था, तो भी दूसरी बार, तमने मेरी ही पूजा की। प्रबुद्ध (जागृत) हुई देवता को ही पूजक के संकल्प का ज्ञान उसी समय होता भावना पूर्वक किए गए उस पूजन का साक्षात् मेरा स्पर्श नहीं होता। इसलिए वह संव होता है और देवता की आज्ञा के बिना की हुई होने से, वह पूजा फलदायक भी नहीं होती अभी सन्तोष से उक्त दोनों न्यूनता को पूरा करते हैं—‘मयानुमोदित’ अर्थात् स्वरूप से उस संकल्प को पूरा करते हैं—मयानुमोदितः—कि वह संकल्प मेरे द्वारा अनुमोदित हुआ है पीछे मैं मेरे मोद को प्राप्त हुआ है। ‘स’ अर्थात् वह प्रसिद्ध संकल्प पूजा में प्रकट हुआ दृष्टि से पुष्प आदि पदार्थों की भावना से भावित हुए भगवान् के लिए समर्पण रूप संक से सिद्ध होने के कारण, भावनामय उस पूजा सामग्री का साक्षात् भगवान् के स्वरूप में होने से, असत्य था, किन्तु अभी तो वह स्वरूप से सत्य होकर फल का बोधक हो गया। व पद से कहा गया है। अभी मैं प्रत्यक्ष हूँ मैंने तुम्हें अन्तःकाम का दान किया है, यह दृष्टि



को प्रकट करने वाली है और तुम्हारा सर्वस्व ही निवेदन की वस्तु है । इससे पूर्व आकृति-पूजा-के तुल्य यह सब जो अभी हुआ है वह—‘असौ’—पद से कहा है । वह संकल्प स्वरूप से सत्य है और सत्य संकल्प से सत्य फल भी उचित ही है । इससे तुम्हारे और तुम्हारे संकल्प के सब प्रकार से योग्य होने के कारण फल अवश्य प्राप्त होगा चिन्ता नहीं करनी चाहिए—ऐसा भाव है । इस कथन से—इस संकल्प के गोपिकाओं के कार्य के आधीन होने से फल भी गोपिकाओं के आधीन है—यह बतला कर वचन का सन्देह भी दूर कर दिया ॥२५१॥

**श्लोक—**न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।

भजिताः कथिता धाना भूयो बीजाय नेशते ॥२६१॥

**श्लोकार्थ—**जिनकी बुद्धि मेरे में लगी हुई है, उनकी कामना अन्य कामना को उत्पन्न नहीं कर सकती है । भुनो हुई अथवा पकी हुई धाणो फिर बीज को उत्पन्न नहीं कर सकती ॥२६१॥

**टिप्पणी—**व्याख्या में—‘भवतीनां’—का तात्पर्य यह है, कि ज्ञान दो प्रकार से होता है—वस्तु के स्वरूप से और वस्तु के गुणों से यहां ‘भवतीनां संकल्पः’ इन दो पदों के अलग देने से अभी संकल्प का ही ज्ञान होना और स्वरूप का ज्ञान अभी न होना सूचित होता है । इनका स्वरूप रसात्मक है, केवल अनुभव से ही जाना जा सकता है इसलिए उनके उस स्वरूप का ज्ञान अभी आगे होने वाला है । अभी तो मैंने तुम्हारा स्वरूप ही जाना है—यहाँ यह रसोक्ति समझना चाहिए “लोकवत्तु लीला कैवल्यम्” (ब्र. सू. २।१।३३) इस सूत्र में कथनानुसार भगवान् रसमयिदा में रह कर ही इनके स्वरूप का अनुभव करेंगे इस अभिप्राय से ऐसा कहा है ।

**लेख—**‘संकल्पः’—श्लोक की व्याख्या में “तदेव ज्ञानम्” तब ही ज्ञान होता है । देवता जब जागृत हो, उस समय पूजा की हो, तब ही पूजक के संकल्प का देवता को ज्ञान होता है । परं अर्चनम्-भावनापूर्वक की हुई पूजा का साक्षात् स्पर्श न होने के कारण, वह संकल्प स्वरूप से असत्य होगा और देवता की आज्ञा के बिना की हुई पूजा के कारण वह फल से भी मिथ्या ही होगा । ‘द्वयं पूर्यते’—इन दोनों प्रकार की (स्वरूप और फल से) न्युनता को ‘असौ सत्यः’—इन दो पदों से पूर्ण किया है । उक्त दोनों पदों से यह सूचित होता है कि वह संकल्प स्वरूप और फल से सत्य ही है । ‘तत्र’—श्लोक के उत्तरार्ध में । पहले कही हुई प्रतीक को उत्तरार्ध की समझनी चाहिए । व्याख्या में—स संकल्पः—से आरम्भ करके—इति भावः—तक के कथन से संकल्प को फल देने वाला कहा है । स तु अस्तु—वह संकल्प तो केवल भावना रूप है, इससे उसमें पूजा की कोई वस्तु होती ही नहीं, इस कारण, वह असत्य है, किन्तु अभी वह स्वरूप से सत्य होकर फल को बताने वाला हो गया है । तज्ज्ञापितम्—फल को उपपन्न करा देने वाला । ‘असौ’ यह—“अर्हति”—यहाँ तक का प्रतीक है केवल एक पद का नहीं है । फल कार्य के आधीन होता है, कार्य गोपिकाओं के आधीन है इसलिए फल भी उनके ही आधीन सिद्ध है ॥२५१॥

सुबोधिनी—ननु कालान्तरेभ्यां सामग्रीं प्राप्येयं सामग्रीं विशकलित्वा पूर्वावस्थामेव प्राप्स्यति न त्वेवमूपा स्थास्यतीत्याशङ्क्य सामान्यन्यायेन परिहरति न मयीति, अयं सामग्र्याः संस्कारो यथा संस्कृतो ब्राह्मणो संस्कृतरपि महिनो नासंस्कृतो भवति नापि पुनः संस्कारो भवत्यतो भगवति समर्पिता सर्वा सामग्री भगवदीया जाना, कोटिसूर्याधिकज्ञानाग्निरूपो भगवस्तत्र सर्व बुद्ध्यधीनमिति बुद्धिश्चेत् समर्पिता तदा सर्वमेव समर्पितमिति बुद्धिसमर्पणमेवाह मय्यावेशितधियामिति, न केवल समर्पिता किन्त्वावेशिता तदुपर्येव स्थापिता बुद्ध्यधीनः काम इच्छा हि ज्ञानाधीनेति “कामः संकल्पः” इत्यादिश्रुतौ “सर्वं मन एव” तिनिरूपण मनोधर्मत्वान् “मनसस्तु परा बुद्धि” रतो बुद्ध्यधीन सर्व, यथा राजनि निगृहीते राज्यमेव तदधीन भवत्येव बुद्धो निवेदितायां सर्वमेव निवेदितमतः पूर्वावस्थायां यद् रूपं तत् तेषां न भवति, कामो हि पुरुषात्मकः “काममय एवाय पुरुष” इतिश्रुतेः, यदि कामः कामाय न क्लृप्तस्ततोऽग्रे तस्मात्

सङ्घातान् न मङ्घातान्तरमुत्पत्स्यते किन्तु स एवान्तिमः सङ्घातो भवति धिया सह कामस्यापि दग्धत्वात्, काममथश्च मङ्घातः, तत्र दृष्टान्तेनावेशनमात्रेण तस्याकायं त्वसाधानि भजिता इति, यवादयो हि भजिता धाना भवन्ति धानास्तु भ्रष्टयवा इति, धनं हि धनोत्पादक तथा यवा यवोत्पादका न तु धानावस्थायां, अतः पूर्वावस्थां परित्यज्य ये सम्बन्धमात्रेण तदीया भवन्ति ते न तत्कार्यं कुर्वन्ति, केषाञ्चिद् बीजानां केवलाग्निना बीजशक्तिर्न गच्छति तेषां जन्माग्निसंयोगेन गच्छतीति कुथिता इत्युक्तं, उपपन्नशमेतद् यावता यस्य बीजशक्तिर्गच्छति ततस्तदनन्तरं तत् कार्यभ्रमं न भवतीत्यतो धाना जाता भूयो बीजाय नेशते न समर्था भवन्ति, “अथ वाग्धन धानासु लीयते धाना भूमौ प्रलीयन्ते” इत्यत्र ‘धाना’शब्देन बीजान्युक्तानीत्यत्रापि तथैवेति ज्ञेयं, तेन ‘भजिता’ इत्युक्तियुक्ता, अनो मयि समर्पितः कामः पुनः कामान्तरं न जनयिष्यति, नुतयं पूर्वावस्थां न प्राप्स्यति, तथा सति जनयदेवाधिकं तत्रानुप्रविष्टमिति ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—शंका करते हैं कि समर्पित को हुई सामग्री भी असमर्पित सामग्री के साथ मिलने से फिर कभी कालान्तर में पहली अवस्था—असमर्पितावस्था को प्राप्त हो जाएगी। तदवस्थ—वैसी की वसी नहीं रहेगी? इसका सामान्यन्याय से—न मयि—इस श्लोक द्वारा समाधान करते हैं। यह सामग्री का संस्कार है। अर्थात्, भगवान् में बुद्धि का आवेश संघात—देहेन्द्रियादि का संस्कार है। इस कारण से, जैसे एक बार संस्कार पाया हुआ ब्राह्मण संस्कार रहित पुरुषों के साथ रहने से बिना संस्कार का नहीं होता और न फिर उसका दुबारा संस्कार ही होता है, उसी तरह यहां भी बुद्धि का आवेश संस्कार रूप होने से, भगवान् में अर्पण की हुई सामग्री भगवदीय हो जाती है और वह फिर कभी असंस्कृत नहीं होती। भगवान् करोड़ों सूर्य से भी अधिक ज्ञानाग्निरूप हैं, और सब बुद्धि के आधीन हैं। बुद्धि समर्पित करदी, तब तो सब का ही समर्पण हो गया। इसलिए बुद्धि समर्पण ही, ‘मय्यावेशितधियां’ पदों से कहा है। बुद्धि का केवल समर्पण ही नहीं किया किन्तु उसका आवेश-भगवान् के ऊपर स्थापित करना कहा है।

बुद्धि के आधीन काम है और इच्छा ज्ञान के आधीन है ‘कामः संकल्पः’—इत्यादि श्रुति में—‘सर्वं मन एव’ सब मन ही है—सब मनका धर्म होने से—मनसस्तु पराबुद्धिः—मन से बुद्धि परे है—सब बुद्धि के आधीन ही है। जैसे राजा के पकड़ लिए जाने पर सारा राज्य ही पकड़ने वाले के आधीन हो जाता है, ऐसे ही बुद्धि का निवेदन कर देने पर, सबका ही भगवान् में निवेदन हो जाता है। इससे पहली अवस्था में, जो रूप था वह उनका नहीं होता है। (पर भगवदीय हो गया)। ‘काममय एवायं पुरुष’—इस श्रुति के अनुसार काम पुरुषात्मक है। यदि काम के लिए काम का सृजन नहीं होता तो



आगे उस संघात<sup>१</sup> से दूसरा संघात उत्पन्न नहीं होता, किन्तु बुद्धि के साथ काम के भी जल जाने के कारण, वही अन्तिम संघात होता है। संघात काममय है। इस बात को-कि भगवान् पर बुद्धि (कामरूप) का आवेश कर देने पर काम फिर अन्य कामों को उत्पन्न नहीं करता-दृष्टान्त द्वारा सिद्ध करते हैं- भजिता-भुने हुए जौ आदि को (धानास्तु भ्रष्टयवाः) धाना कहते हैं। जैसे धन से धन उत्पन्न होता है इसी तरह जौ जौ को उत्पन्न करते हैं, किन्तु भाड़ में भुन जाने पर, (धाना हो जाने पर) वे फिर अन्य जौ को उत्पन्न नहीं कर सकते। इस लिए पहली अवस्था का त्याग करके, सम्बन्ध मात्र से भी, जो-तदीय भगवदीय-हो जाते हैं, वे फिर उनका-दूसरे को उत्पन्न करना रूप-कार्य नहीं करते हैं। कई बीज ऐसे भी होते हैं, कि जिन की बीज शक्ति (उत्पादक शक्ति) केवल अग्नि से नष्ट नहीं होती है। उनके लिए दूसरा दृष्टान्त देते हैं, कि-कथिता-जल और अग्नि के सहयोग से उनकी भी बीज शक्ति नष्ट हो जाती है। यह-‘भजिता कथिता’-भूना हुआ और पकाया हुआ धान्य का तो केवल दृष्टान्त मात्र है। इस से यह सिद्ध है, कि जिससे जिसकी बीज शक्ति नष्ट हो जाती है, फिर वह उस कार्य-अन्य स्वसदृश्य की उत्पत्ति-को नहीं कर सकता है। जैसे धाना फिर बीज के लिए समर्थ नहीं हो सकती।

अथवा “अन्नं धानासु लीयते”, धाना भूमौ प्रलीयन्ते-इस श्रुति में धाना शब्द से बीज में तण्डुल कहे हैं तो यहाँ भी वैसा ही समझ लेना चाहिए। इसलिए-भजिता-भुने हुए कहा है। इस कारण से, जब मेरे लिए अर्पण किया गया काम, दूसरे काम को उत्पन्न नहीं करेगा, तो फिर कभी भी अपनी पहली स्थिति पर नहीं आ सकेगा। इस में तो कहना ही क्या? ‘अधिकं तत्रानुप्रविष्टम्’-अर्थात् यह तो स्वतः सिद्ध ही है ॥२६३॥

लेख-व्याख्या में-‘ननु’-आदि से शंका करते हैं, कि भगवान् को निवेदन किया हुआ संघात<sup>२</sup>-निवेदन नहीं किए हुए के साथ संग प्राप्त होने से, अनिवेदित हो जाएगा? ‘अयम्’-यह सामग्री भगवान् में किया हुआ बुद्धि आदि का आवेश है। ‘अतः’-बुद्धि का आवेश संस्कार रूप होने से ‘जातां’-इस पद के पीछे-‘तथा असंस्कृता न भवति, इतने पदों का अध्याहार जानना चाहिए। ‘अकार्यत्वम्’-वह जिससे फिर दूसरा कार्य-कामादि-नहीं हो सकता। ‘धाना’ धनकी अवस्था विशेष धन की अवस्था में जौ जौ को उत्पन्न कर सकते हैं। भुने (हुए) पीछे, धाना अवस्था में नहीं कर सकते, क्योंकि धाना अवस्था में, वे धन के केवल सम्बन्धी हैं, धन<sup>३</sup> रूप नहीं है। इसी अभिप्राय से व्याख्या में ‘अतः’-पद का प्रयोग किया है। सुतराम्-यदि दूसरे काम को उत्पन्न करेगा भी तो मेरे सम्बन्धी काम को ही उत्पन्न करेगा। पूर्व सिद्ध काम को उत्पन्न नहीं करेगा ॥२६३॥

श्लोक—याताबला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः ।

यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेहरार्यार्चनं सतीः ॥२७३॥

श्लोकार्थ—हे अबलाओं ! तुम व्रज में जाओ । तुम्हारा संकल्प सिद्ध हो गया । हे सतियों ! जिस (रमण) के उद्देश्य से तुमने कात्यायनी का पूजन रूप यह व्रत किया है वह रमण तुम मेरे साथ इन रात्रियों—(जिनका मैं तुम्हें दर्शन करा रहा हूँ)—में करोगी ॥२७३॥

सुबोधिनी—यत्र कापि तिष्ठन्तु न प्राकृतत्वं भविष्यत्यनो गच्छतेत्याह याताबला इति, पुनः स्वकीय-त्वेन सम्बोधनं स्नेहं सूचयति सह पर्यटनं तु बलकार्यं यथा भूमिर्नान्यत्र नोयते भोमा एव च नोयन्ते तथापि संस्कारार्थं कर्षणवत् क्रियया व्याप्रियत इति भवानेव वा स्थित्वा तथा करोत्वित्याशङ्क्याह सिद्धा इति, न भव-तीषु किञ्चत् साध्यमस्ति किन्तु सिद्धा एव भवत्यः, अतो व्रजं यात गच्छत, अलौकिकीं च दृष्टिं दत्त्वाह मयेमा रंस्यथ क्षपा इति, इमाः परिदृश्यमाना क्षपा मध्येव विद्यमानाः क्षपा रात्रीर्मया सह रंस्यथ रमणं करिष्यथ, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया, रमणसहितास्ताः प्रदर्शिता इति

न सन्देहः, नन्वेतदेव कथं फलं नित्यसम्बन्धोन्यो वाहो-रात्रसम्बन्धः कथं नोच्यते इत्याशङ्क्याह यदुद्दिश्येति, रमणमेवोद्दिश्येदं व्रतं चेहरार्यायाः कात्यायन्या अर्चन-लक्षणं, स्वार्चनस्य तु सत्यत्वे विनियोगो रमणं तु तद्व्रतफलं तत्र तु मास एव नियामको रात्र्यन्ते च पूजनमतो रात्रावेव परिमितकाले रमणं न दिवसे नाप्यपरिमितकाले, किञ्च सतीर्हि सतीरूपाः, पूर्वसवर्णात्र, सतीनां न दिवसे रमणं नापि सर्वदा यथेष्टमिति, अतो विवाहितान्यायेन रमणं भविष्यतीतिभावः, प्रथमंवाक्य-समागमने तु भगवदाज्ञाकरणादक्षयमेव फलं भवेत् कर्मफलं तु क्षयिष्णु ॥२७३॥

व्याख्यार्थ—जहाँ कहीं भी रहो, अब तुम्हारी फिर प्राकृत अवस्था नहीं होगी । इस लिए तुम जाओ—यह—‘याताबला’—इस श्लोक से कहते हैं । स्वकीय<sup>१</sup> मान कर फिर—अबलाः—किया हुआ सम्बोधन स्नेह को सूचित करता है । भाव यह है, कि मेरे साथ साथ घूमना, बल (शक्ति) का काम है और तुम तो अबला हो । जैसे पृथ्वी दूसरे स्थान पर नहीं ले जाई जा सकती, किन्तु उसके निरर्थक घास फूस आदि अंकुरों को ही दूर किया जा सकता है, इसी तरह तुम्हें भी दूर ले जाने की आवश्यकता नहीं है । शंका—यद्यपि पृथ्वी दूसरे स्थान पर नहीं ले जाई जा सकती, तो भी, उस पर संस्कार के लिए खोदना आदि व्यापार तो होता है, इसी तरह आप ही विराज कर हमारी योग्यता सिद्ध करने के लिए कोई व्यापार करें ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि—‘सिद्धा’—तुम सिद्ध हो चुकी हो । तुम में अब, कुछ सिद्ध करना बाकी नहीं है, तुम सिद्ध ही हो । इस लिए तुम व्रज को जाओ । उन्हें अलौकिक दृष्टि देकर कहते हैं कि,—‘मयेमा रंस्यथ क्षपाः’—इन रात्रियों में तुम मेरे साथ रमण करोगी । ‘इमाः’—जिन रात्रियों को मैं तुम्हें दिखा रहा हूँ, जो मेरे भीतर ही स्थित हैं, इन रात्रियों



में मेरे साथ रमण करोगी ।—(रात्रीः) क्षपाः—यहाँ अत्यन्त संयोग में द्वितीया विभक्ति है । रमण सहित रात्रियों का दर्शन कराया इससे रमण में सन्देह नहीं है ।

शंका—भगवान् ने उन्हें अपना नित्यसंबन्ध अथवा (कभी रात कभी दिन) रात दिन का सम्बन्ध न देकर यह रमण रूप फल ही क्यों दिया ? उत्तर में कहते हैं कि—यदूदिश्य—रमण को ही उद्देश्य करके आर्या (कात्यायनी) का अर्चन रूप व्रत किया था ।

भगवान् की पूजा करने का तो उनकी भावना के मनोरथ का सत्य होना फल है (भगवान् की पूजा से तो संकल्प सत्य हुआ) और रमण तो कात्यायनी के व्रत का फल है । उसमें भी, एक मास ही नियामक था और रात्रि के अन्त में पूजन किया था । इससे रात्रि में—परिमित अथवा निश्चित किए हुए समय में ही रमण हुआ दिन में अथवा अपरिमित समय में नहीं हुआ । 'सतीः' तुम सतीरूप हो सतियों का रमण दिन में अथवा इच्छानुसार सदा नहीं होता है । इस से विवाहिता के न्याय से रमण होगा—ऐसा भाव है । भगवान् के पहिले वाक्य को सुन कर ही, यदि ये आ जाती तो भगवान् की आज्ञा का पालन करने से इन्हें अक्षय फल की प्राप्ति होती । कर्म का फल तो क्षयवाला है ॥२७३॥

टिप्पणी—'याताबलाः' की व्याख्या में—'यथा भूमि ?—जैसे भूमि इत्यादि । भगवान् के विषय का काम अन्य काम को उत्पन्न नहीं करता—इस में—धाना—(घाणी) का दृष्टान्त दिया है । जैसे जौ पूर्वविस्था—(यव) की अवस्था में पृथ्वी में बोए जाएँ तो अंकुर उत्पन्न करते हैं । उसमें विजातीय अंकुर की उत्पत्ति को रोकने और (भूमि) उसकी रक्षा करने के लिए पृथ्वी को किसी दूसरे स्थान में नहीं ले जाया जाता, किन्तु उसके उपर्युक्त दोष ही दूर किए जाते हैं ।

यहां इस प्रकृत (चालू) प्रसंग में इन स्वामिनी (गोपीजनों) के हृदय में यह इच्छा थी, कि अब से भगवान् जहां कहीं भी, हमें अपने साथ ही ले पधारें । किन्तु रस की पुष्टि के लिए और लोक से विरुद्ध होने के कारण रसाभास हो जाने की सम्भावना से अभी, सदा संग रखना उचित न समझ कर, भगवान् ने उन्हें आज्ञा दी, कि हे अबलाओं ! तुम व्रज को जाओ ।

अथवा भूमि सम्बन्धी हल कूली आदिक ही भूमि के पास ले जाए जाते हैं पृथ्वी को दूसरे स्थान पर नहीं ले जाया जाता—ऐसा अर्थ है । इस से जब जब आवश्यकता होगी, तब तब सन्ध्या आदि के समय में, मैं तुम्हारे लिए व्रज में आऊंगा—यह भाव सूचित होता है । 'रमण सहितास्ताः'—रमण सहित रात्रियों का दर्शन कराया । ये रात्रियाँ केवल रमण के लिए ही प्रकट हुई हैं—इस अर्थ को बतलाने वाला धर्म उन में स्थित है । ऐसी उन रात्रियों के दर्शन से उन्हें अपने रमण का निश्चय भी हो गया ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—इत्यादिष्टा भगवता लब्धकामाः कुमारिकाः ।

ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भौजं कृच्छ्रान् निर्विविशुर्ब्रजम् ॥२८३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि इस प्रकार भगवान् के कहने से अपने मनोरथ को सिद्ध हुआ मानने वाली वे कुमारिकाएँ भगवान् के चरणों का ध्यान करती हुई बड़े कष्ट से ब्रज को लौट कर गई ॥२८३॥

लेख—‘यातावलाः’—की व्याख्या में रात्रि और रमण का अत्यन्त संयोग अर्थ है ‘रमण सहितास्ताः प्रद-  
शिंताः’—(रमण सहित रात्रियों का दर्शन कराया) इन पदों से रमण सहित उन भावी आने वाली रात्रियों का दर्शन करा देने से भविष्य का कोई सन्देह नहीं रहा । इसको अक्षरार्थ समझो । नित्यसम्बन्ध—अन्तर्गृहता की तरह सर्वदा नित्य सम्बन्ध । यदि ऐसा नहीं हो तो इनको अन्तर्गृहता की तरह विप्रयोग का अनुभव न हो । इस अरुचि से दूसरा अर्थ—‘अहोरात्र’—पद में कहते हैं कि, कभी दिन रात में, कभी दिन दिन में,—इस तरह प्रति दिन ।

योजना—‘यातावला’—की व्याख्या में—तथापि संस्कारार्थ कर्षणवत्—(तो भी संस्कार के लिए खींचते हैं जैसे) । यद्यपि भूमि के दोष ही दूसरे स्थान पर ले जाए-हटाए-जाते हैं भूमि को नहीं ले जाया जाता, तो भी उसके ऊपर का कूड़ा आदि तो हल कूली आदि चला कर दूर किया जाता है, इसी तरह हमारे लिए भी आपका भजन करने में उपयोगी संस्कार करना उचित है । ‘इमाः क्षपाः—ये रात्रियाँ मेरे में ही रही हुई रात्रियाँ ।

शंका—यह वस्त्र-हरण-लीला हेमन्त ऋतु में और दिन में हुई थी, तब-इमाः क्षपाः-ये रात्रियाँ ऐसा क्यों कहा गया और यदि रात्रि के विषय में कहा है, तब रात्रियों की समानता को लेकर कहा गया है तो शरद् ऋतु की रात्रियाँ-ऐसा अर्थ हो सकता है । किन्तु यहाँ तो शरद् ऋतु नहीं किन्तु हेमन्त है और रात्रि नहीं किन्तु दिन है । इस कारण से-ये रात्रियाँ-कहना उचित नहीं है, क्योंकि रमण तो-‘शरदोत्फुल्लमल्लिकाः’—इस पद के अनुसार शरद् ऋतु में हुआ है ? समाधान—ये रात्रियाँ अलौकिक है, भगवद्रमण की आधार भूत हैं, नित्य रमण सहित हैं तथा जगत् की इन लौकिक रात्रियों से भिन्न है । अलौकिक शरद् ऋतु सम्बन्धी है और भगवान् में नित्य स्थित है । इससे भगवान् ने हेमन्त ऋतु और दिन में भी, उन रात्रियों का दर्शन गोपीजनों को कराया यह सब इमाः’ शब्द से सिद्ध होता है क्योंकि-इदम्\* शब्द का प्रयोग समीप रहने वालों के लिए किया जाता है ॥२८३॥

\*इदं मस्तु सन्निकृष्टं समीपतरवति चैतदो रूपम् ।

अदसस्तुविप्रकृष्टं तदतिपरोक्षे जानीयात् ।



सुबोधिनी—तनो भगवताज्ञता आशोल्लङ्घनभीता व्रज गता इत्याह इत्यादिष्टा इति, यद्यपि कामो महं-स्तथापि भगवदिच्छया बाधते मनोरथश्च प्राप्तः परं साक्षाद्विवाहाभावान् कुमारिका एव, तासां रसान्तर-व्यावृत्त्यर्थं भक्तिमाह ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोजमिति, हृदि भगवच्च एकमल ध्यायन्त्य, कृच्छ्रादिति कष्ट प्राप्य मध्ये गन्तुमशक्ताः कथञ्चिद् व्रजं निर्विशिशुर्गृहगमनाज्ञया

तादृशस्तापो वृत्तो येन जीवनमपि तत्कालीनं न सम्पद्येत यदि पदाम्भोजध्यानं न स्यात् तस्मिन् सति तद्विषय-स्याम्भोजत्वेन तापहरणाज् जीवनसम्पत्तिरभूत् तथापि कृच्छ्रादित्युक्तेस्तद्व्यायनं तापकार्यप्रतिबन्ध एवोपक्षीणं न तु तद्वरशेषीति ज्ञाप्यते, एवं साधिकैस्तत्त्वैस्तासामर्ध-भक्तिनिरूपिता तत्त्वातिक्रमश्च ॥२८३॥

व्याख्यार्थ—आज्ञा के उल्लंघन से डरी हुई वे भगवान् की आज्ञा पाकर व्रज में गई-यह-इत्यादिष्टा’-श्लोक से कहते हैं। यद्यपि उनका काम रमण का था, वह रमण तो अभी हुआ नहीं, तब-“लब्धकामाः”—क्यों कहा गया ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं, कि यद्यपि उनका काम अथवा मनोरथ तो बहुत बड़ा था जो भगवान् की इच्छा के अनुरूप (रुक) हो गया था, तो भी, पति होना रूप मनोरथ तो प्राप्त हो गया था, किन्तु साक्षात् रमण के न होने से, वे अभी कुमारिका ही रहीं। उनकी अन्य रस-(रसान्तर)-नहीं हुआ-इसको बताने के लिए-‘ध्यायन्त्यस्तत्पदाम्भोज’-से उनकी भक्ति का वर्णन करते हैं। वे अपने हृदय में भगवान् के चरण कमल का ध्यान करती थीं। ‘कृच्छ्रात्’-दुःख पाकर जाने में असमर्थ हुई भी वे ज्यों त्यों करके व्रज को गई। घर जाने की आज्ञा से उन्हें इतना सन्ताप हुआ कि, जिस से, जीवन रहना भी उस समय असम्भव हो जाता। यदि उन्हें चरण कमल का ध्यान न होता। चरण कमलों का ध्यान करने पर, कमल में सन्ताप दूर करने का गुण होने के कारण, जीवन तो रहा, किन्तु वह केवल जीवन को ही रख सका, ताप को दूर नहीं कर सका-यह ज्ञात होता है। इस प्रकार साढ़े अठ्ठाईस श्लोकों से उनकी अर्धभक्ति का और तत्त्वों के अतिक्रम का भी निरूपण किया है ॥२८३॥

श्लोक—अथ गोपैः परिवृतो भगवान् देवकोसुतः ।

वृन्दावनाद् गतो दूरं चारयन् गाः सहाग्रजः ॥२८३॥

श्लोकार्थ—इसके पीछे नया प्रकरण आरम्भ करते हुए कहते हैं कि गोपगण सहित देवकी नन्दन भगवान् बड़े भाई बलदेवजी के साथ गाएँ चराते हुए वृन्दावन से दूर निकल गए ॥२८३॥

टिप्पणी—तासामर्धभक्तिः—अंग संग न होने के कारण अर्ध भक्ति कही है।

लेख—इत्यादिष्टाः—की व्याख्या में शंका करते हैं, कि उनका काम तो रमण का था और वह अब तक तो हुआ नहीं था, तो फिर-‘लब्धकामाः’-(सिद्ध काम वाली) कैसे कहा गया ? इसका उत्तर गए श्लोक ‘याताबलाः’ में ‘सिद्धाः’ पद से कहा गया है, कि मनोरथ और भगवान् का पतिभाव इन्हें प्राप्त हो चुका है।

योजना—साधिकैस्तत्त्वैः—साढ़े अठ्ठाईस तत्त्वरूप श्लोकों से ॥२८३॥

सुबोधिनी—अथ ज्ञान निरूप्यतेन्यथा गोपालाना-  
मनर्थपर्यवसानं स्यात् तैर्यद्यन्यार्थता बुध्येत तदा क्रमेण  
भगवदर्थमेव सर्वमिति ज्ञातं भवेदतस्तेभ्यः परार्थतां  
विद्यां प्रथमपर्वरूपां भगवान् भगवान् बोधयितुं स्थानान्तरे  
जगामेत्याहायेति दशभिः, अथ भिन्नप्रक्रमेण गोपैर्वृतो  
भगवान् भक्तोद्धारार्थं प्रवृत्तो वृन्दावनाद् दूर गतो

वृन्दावन परित्यज्याग्रे गतो वृन्दावनस्य तु स्त्रीप्राधान्याज्  
ज्ञानं न भविष्यतीति, तत्र गतानां ज्ञानार्थं प्रथमतो  
धर्ममाह चारयन् गा इति, पूर्वं तु न गोभिः सहितो  
नापि गोपालसहितो नापि बलभद्रसहितः पश्चादेव च ते  
मिलितास्तस्मिन्नेवावसरे तदुक्त्वा ज्ञापितमथ गोपैरिति  
॥२६३॥

व्याख्यानार्थः—अब-भगवान् ने गोपों को ज्ञान दिया—इस का निरूपण करते हैं। ज्ञान—अर्थात्  
अपना सारा संघात<sup>१</sup> परोपकार के लिए ही होना चाहिए ऐसा ज्ञान दिया। यदि उनको ऐसा ज्ञान  
दिया। यदि उनको ऐसा ज्ञान नहीं होता, तो उनके लिए परिणाम अच्छा नहीं होता (अनर्थमय  
होता)। यदि वे ऐसा जान लें कि शरीर इन्द्रियादि सब संघात परोपकार के लिए है तो, धीरे धीरे  
यह भी जान जाएंगे, कि ब्रज की सारी वस्तुएँ भगवान् के लिए ही हैं। इस कारण से, उन्हें परोपकार  
रूप विद्या (विद्याका) के प्रथम पर्व का ज्ञान देने के लिए भगवान् दूसरे स्थान पर गए—यह—“अथ  
गोपैः” इस श्लोक से आरम्भ करके दश श्लोकों से कहते हैं।

‘अथ’ कहने से यहाँ से नए प्रकरण का आरम्भ होता है। भक्तों का उद्धार करने के लिए ही  
सारी लीला—प्रवृत्ति—करने वाले भगवान् वृन्दावन से दूर पधारे। (वृन्दावन को छोड़ कर आगे गए)  
वृन्दावन में स्त्रियों की प्रधानता के कारण यहाँ गोपों को ज्ञान न होगा—ऐसा विचार करके,  
वृन्दावन को छोड़ कर आगे चले गए। वहाँ साथ में गए हुए गोपों को ज्ञान देने के लिए पहले “चार-  
यनूगाः”—पदों से धर्म का निरूपण करते हैं। ‘अथ गोपैः’—इत्यादि पदों से ऐसा जाना जाता है कि  
भगवान् के साथ पहिले तो गायें, गोप और बलभद्रजी कोई भी नहीं थे उसी समय आकर पीछे ही  
मिले थे ॥२६३॥

टिप्पणी—“अथ गोपैः”—इस श्लोक में कहे गए गोप पहले के साथी वयस्य नहीं थे। ये तो उन से भिन्न  
ही थे, क्योंकि भगवान् के “वयस्य” कोई गोपाल नहीं थे। इसी से उनके लिए ‘वयस्य’ न कह कर ‘गोप’ कहा  
गया है। यदि स्तोक आदि को यह ज्ञान नहीं होता, कि ब्रज की सारी वस्तुएँ भगवान् के लिए ही हैं, तो  
कुमारिकाओं का वृत्तान्त सुन कर, भगवान् पर दोषारोप करते। यह दोषारोप ही अनर्थ रूप है और यदि सब  
पदार्थ भगवान् के लिए ही हैं—ऐसा जाना जाए तो दोषारोप की सम्भावना ही न हो।

“वृन्दावनस्य स्त्रीप्राधान्यात्”—(वृन्दावन के स्त्रीजन प्रधान होने से) इत्यादि। यहाँ ज्ञान शब्द का (अन्य  
के लिए) ब्रज के पदार्थों को दूसरों के लिए जानना—ऐसा अर्थ है। भगवदीय ब्रज की स्त्रियों को तो यह दृढ़ ज्ञान

श्लोक—निदाघाकर्तृपे तिग्मे छायाभिः स्वाभिरात्मनः ।

आतपत्रायितान् वोक्ष्य द्रुमानाह व्रजौकसः ॥३०३॥

श्लोकार्थ—उष्ण काल के सूर्य की घोर धाम में अपनी छाया के द्वारा अपने ऊपर छत्ररूप हुए वृक्षों को देखकर, भगवान् ने ब्रजवासियों से कहा ॥३०३॥

मुञ्चोषिनी—तदा कियद् दूरे गत्वा श्रान्तेषु सर्वेषु  
 कचिच् छायामुपविष्टेषूपदेशार्थं किञ्चिदाहेत्याह निदा-  
 धेति, निदाधकाले योक्तस्तस्यातपे तिग्मेपि स्वामिदछाया-  
 भिरात्मनः स्वस्यातपत्रायितान् श्वेतच्छत्राकारेण समा-  
 गच्छतः पूर्ववर्णितान् वृक्षान् वीक्ष्य व्रजौकसो गोपान्  
 प्रत्याह व्रजजातापेक्षया वनजाता एव वृक्षाः समीचीना

इति, पञ्चपर्व विद्यां बोधयिष्यति वृक्षदृष्टान्तेन, वृक्षेषु  
चतस्रो विद्याभेदो गोपेक्षेण, यथा ता अपि चतस्रो  
भवन्ति तदर्थमुपदेशः, यद्यपीदानीं न निदाघकालो  
नाप्येत आतपत्रायिताः किन्तु तेषां पूर्वविस्थामेव स्मृत्वा  
साम्प्रतं तान् द्रुमान् दृष्ट्वाह ॥३०३॥

व्याख्यान—फिर कुछ दूर जाकर, उन सब के थक कर किसी छाया के स्थान में बैठ जाने पर, भगवान् ने उपदेश के लिए, उनसे कुछ कहा। यह—'निदाघार्कतपे'—इस श्लोक से कहते हैं। उष्णकाल

है, कि भगवान् का प्राकट्य केवल हमारे लिए ही है और इसका कारण, रसभावना की प्रचुरता ही था। इसी से वे आगे कहेंगे कि व्रजजन ‡ की आति दूर करने के लिए ही आप प्रकट हुए हो, यह स्पष्ट है। ऐसी स्थिति में व्रज की स्त्रियों को वृन्दावन में यही ज्ञान दृढ़ है कि भगवान् के लिए ही अपना सर्वस्व है। इसके विपरीत—अपना सर्वस्व किसी और (दूसरे) के लिए है—ज्ञान उनमें सम्भव नहीं है। भगवान् से अतिरिक्त वस्तुओं में तो, उनकी उपेक्षा ही है। इस लिए वृन्दावन में, सभी भगवान् के लिए होने के कारण—दूसरा और दूसरे के लिए—ऐसे ज्ञान की वहाँ सम्भावना नहीं है।

लेख—प्रथम पर्वरूपम्—प्रथम पर्व है । टिप्पणी में इस अध्याय के प्रारम्भ में ही—‘विद्यापंचकम्’—ऐसा कहा गया है । उसके अर्थ में कहा हुआ प्रथम पर्वरूप ।

योजना—‘प्रथमपर्वरूपाम्’—जो प्रथम पर्व है । वैराग्य, सांख्य, योग, तप, और केशव में भक्ति—ये पांच विद्या के पर्व हैं जिस विद्या से, विद्वान् हरि में प्रवेश करता है । इस वाक्य में ‘वैराग्य’ का नाम प्रथम कहा है । इस से प्रथम पर्वरूपा का अर्थ वैराग्य रूप विद्या समझना चाहिए । वैराग्य के होने पर ही, परोपकार के लिए ही अपना सर्वस्व है ऐसा ज्ञान होता है ॥२६॥

व्यक्तं भगवान् ब्रजजनार्तिहरोऽभिजातः—भा०/गोपी गीत

में सूर्य की तीक्ष्ण घाम में भी (भगवान् के ऊपर श्वेत छत्र के रूप) अपनी छाया के द्वारा भगवान् पर श्वेत छत्र के रूप में छाए हुए पूर्वं वर्णित वृक्षों को देख कर, भगवान् ने गोपों से कहा—ब्रज में उत्पन्न होने वालों की अपेक्षा वन में उत्पन्न होने वाले वृक्ष ही अधिक अच्छे हैं। वृक्षों के दृष्टान्त से, पञ्चपर्व विद्या का ज्ञान, भगवान् गोपों को करावेंगे। वृक्षों में, विद्या के चार भेद हैं और गोपों में एक भेद है। जिस प्रकार से, गोपों में भी विद्या के एक भेद के चार भेद हों, उसी प्रकार, भगवान् उपदेश देते हैं। यद्यपि अभी न तो उष्ण काल ही है और न ये वृक्ष ही छत्ररूप हो रहे हैं, किन्तु, उनकी पहली अवस्था का स्मरण करके इस समय वृक्षों को देख कर बोले ॥३०३॥

**श्लोक—**हे कृष्ण स्तोक हे अंसो श्रीदामन् सुबलार्जुन ।

विशालर्षभ तेजस्विन् देवप्रस्थ वरूथप ॥३१३॥

**श्लोकार्थ—**हे कृष्ण, स्तोक, हे अंशु, श्रीदामा, सुबल, अर्जुन, हे विशाल, ऋषभ, तेजस्वी, देवप्रस्थ और वरूथप मित्रों ॥३१३॥

**सुबोधिनी—**अत्रैकादशमुख्याधिकारिणो गोपा एकादशेन्द्रियाधिष्ठातृरूपास्ते चेत् परार्थास्तदा सर्वं सिद्धमिति तान् सम्बोधयति हे कृष्णेति, भगवतो नामकरणे अग्न्या अपि गोपिकाः स्वपुत्रनाम तथा कृतवत्यः, स्तोको द्वितीयः, अंसुरपरः, श्रीदामा सुबलो-र्जुनो विशाल ऋषभस्तेजस्वी देवप्रस्थो वरूथपश्च, वरूथपो मनसस्तन्निकटस्थानि निकटस्थस्यैव, कृष्णो

वाचः, स्तोको रसस्य, एकत्रोभयसत्त्वात्, पुनरन्येषां भिन्नतया सम्बोधनं, अंसुर्घ्राणस्य, श्रीदामा चक्षुषः, सुबलो बाह्वोः, अर्जुनः श्रोत्रयोः, विशालस्त्वचः, ऋषभः पादयोः, अवशिष्टस्तेजस्वी पाकज्ञापकत्वात्, एतेषां भगवता सह संव्यवहार इति महत् पर्वं सिद्धं तत् सम्बोधनेन निरूपितम् ॥३१३॥

**व्याख्यानार्थ—**यहाँ ग्यारह मुख्य अधिकारी गोप ग्यारह इन्द्रियों के अधिष्ठाता हैं। यदि वे परोपकार परायण हो जाते हैं, तो सब ही सिद्ध हो जाता है। इसलिए—‘हे कृष्ण’—इस श्लोक से उन्हें सम्बोधन करते हुए कहते हैं।

हे कृष्ण ! भगवान् का नाम करण हुआ, तब किसी और गोपियों ने भी अपने पुत्रों का नाम यही रखा था। स्तोक दूसरा, तीसरा अंशु, श्रीदामा, सुबल, अर्जुन, विशाल, ऋषभ, तेजस्वी, देव-प्रस्थ और वरूथप। वरूथप मन का अधिष्ठाता है। जो जिसके पास हो, वही उसका अधिष्ठाता

**टिप्पणी—**‘निदाघार्कतिपे’—की व्याख्या में—‘ब्रजजातापेक्षया’—(ब्रज में उत्पन्न होने वालों की अपेक्षा) इत्यादि ब्रज में उत्पन्न होने वाले तो भगवान् के पास जाने से ही रोकते हैं और ये वन जात वृक्ष तो भगवान् के रमण के अनुकूल हैं। इस कारण से ब्रजवासियों की अपेक्षा, ये वृक्ष अधिक उत्तम हैं। अथवा यहाँ वृक्षों के लिए ही कहा गया है। ब्रज के वृक्षों का लीला विशेष में, उपयोग नहीं है और वनजात वृक्षों का तो है। इसी लिए उनसे ये उत्तम है ॥३०३॥



है। कृष्ण वाणी का, स्तोक रस का, अधिष्ठाता है। वाणी और रस दोनों एक स्थान पर रहते हैं इस से दोनों—कृष्ण, स्तोक—का साथ ही सम्बोधन है, और फिर औरों का भिन्न भिन्न सम्बोधन किया है। अंसु घ्राण<sup>१</sup> का अधिष्ठाता है। श्रीदामा नेत्र का, सुबल भुजाओं का, अर्जुन कानों का, विशाल त्वचा का ऋषभ पंरों का, और बाकी रहा तेजस्वी पचाने का कार्य करने वाला होने से, पायु<sup>२</sup> का अधिष्ठाता, देव प्रस्थ उपस्थ<sup>३</sup> का अधिष्ठाता है, इन सब का भगवान् के साथ ठीक व्यवहार होना एक बड़े भारी पर्व का सिद्ध होना है। इस बात का-उनको सम्बोधन करके-निरूपण किया है ॥३१३॥

**श्लोक—**पश्यतेतान् महाभागान् परार्थकान्तजीवनान् ।

वातवर्षातपहिमान् सहन्तो वारयन्ति नः ॥३२३॥

**श्लोकार्थ—**इन महाभाग्यशाली वृक्षों को देखो, इनका जीवन केवल परोपकार के लिए ही है। ये स्वयं आँधी, वर्षा, धूप और पाला सहकर उनसे हम को बचाते हैं ॥३२३॥

सुबोधिनी—द्वितीयमाह पश्यतेति, धर्मः प्रथमं सर्वपरित्यागेन परार्थता द्वितीयं सर्वत्र भगवद्बुद्धिस्तृतीयं तस्य ज्ञापिका सर्वसेवा, अकामश्चतुर्थो भगवदीयानां चेदेतच्चतुष्टयं तदा कृतार्थता भवतीति, प्रथमो यादृशो धर्मोपेक्ष्यते तादृशमाह पश्यतेति, आदौ धर्मसन्देहे

धर्मत्मानो द्रष्टव्या धर्मो हि भाग्यवतामेव फलति, अन्यथा विघ्नः स्यात्, भाग्यं च महत्, तस्य ज्ञापकं यशः, सर्वैरुच्यमानं, तदाह महाभागानिति, धर्मस्वरूपमाह परार्थेति, जीवनं तदुपकरणं च स्वस्य तत्र परार्थमेव चेज् जीवितं तदान्ते धर्मो निरूपितः स हि मुख्योन्ते

लेख—‘हे कृष्ण’—की व्याख्या में ‘इन्द्रियाधिष्ठातृ रूपाः’—जिन के रूपों में इन्द्रियों के अधिष्ठाता हैं वे। ‘पाकज्ञापकत्वात्’ अश्रु आदि पायु इन्द्रियों का कार्य है। उनके द्वारा अन्तः स्वेद<sup>४</sup> और पाक होता है तेज से ही चावल आदि का पाक होता है—यह भाव है।

योजना—हे कृष्ण स्तोक—की व्याख्या में—‘अत्रैकादश मुख्याधिकारिणो गोपाः’—कृष्ण नाम वाले गोप से प्रारम्भ करके वरूथप नाम के गोप तक एकादश है। ‘इन्द्रियाधिष्ठातृ-रूपाः’—जिन भक्तों का निरोध कराना है उनकी एकादश इन्द्रियों के अधिष्ठाता ये गोप हैं। सारे वैकुण्ठ को पृथ्वी पर उतार लाए कृष्णोपनिषत् के कथानुसार कृष्णावतार का सारा परिकर वैकुण्ठवासी है इस कारण से ये सखा भी वैकुण्ठवासी हैं और व्रज में जिन भक्तों का निरोध कराना है, उनकी एकादश इन्द्रियों के अधिष्ठाता (रूप से) भगवान् के साथ ही यहाँ अवतरित हुए हैं—ऐसा समझना चाहिए। व्रजवासी सब अलौकिक हैं इसलिए उनकी इन्द्रियों के अधिष्ठाताओं का भी प्रपञ्च से अतीत वैकुण्ठ का परिकर रूप होना उचित ही है ॥३१३॥

या मतिः सा गतिरितिसामान्यपक्षं व्यावर्तयति, परार्थमेवकान्ततो जीवनं वर्तते येषामिति, एकान्तजीवन-त्वान् न स्वार्थपरार्थत्वरूपमध्यमत्वं, स्वार्थं त्वधमं. एवं स्वरूपतोन्ततो धर्म निरूप्य बाह्यधर्ममाह वातवर्षेति, जीवनेने हि वर्धते शरीरं सा वृद्धिः परेच्छयैव, यदि च परो वृद्धि न मन्यते तावतैव दारुणा कार्यमिच्छति, एवं जीवन चेत् परार्थता भवति तथा धर्मोपि यदि परार्थ एव भवेत्, केवलश्चेदधमः, उभयार्थश्चेत् काम्यो मध्यमो यथोपवासाः, विद्यमानमन्नमन्येभ्यो दत्त्वा तदभावे

रन्तिदेवस्येव ते मोक्षहेतवः, स्वतोप्यभावेन्यतः पोषणे तेषां दुःखाभावाय मध्यमः, तदुभयाभावे क्लेशात्मकः, निर्हेतुश्चेदधमोपि महान्, सकामश्चेन् मध्यमः, अन्याप-कारी त्वधमाधमः, तत्रोत्तममाह, वातवर्षा आतपो हिमश्च त्रयः कालगुणाः, आद्यश्चतुर्णा सहकारी, एतान् सहन्तोन्येषामेतान् वारयन्ति तत्रापि नोस्माकं, अनेन प्रमाणं प्रत्युपकाराभावश्चोक्तः, बाह्यमेतदेव तपः, अन्नशनादिक तु प्रायश्चित्तमिति न धमत्वेन परिगणितं, अन्ये सर्वे भेदा हीनाः ॥३२३॥

**व्याख्यार्थ—**विद्या के दूसरे पर्व को—‘पश्यतंतान्’—इस श्लोक से कहते हैं। धर्म—उन बाकी चार में से प्रथम पर्व है। सब का परित्याग करके परोपकार-परायण होना—दूसरा पर्व है। सब स्थानों में भगवद्बुद्धि रखना—तृतीय पर्व है, जो सबकी सेवा से जाना जाता है। अकाम-निष्काम होना चौथा पर्व है। इन चारों की प्राप्ति होने पर, भगवदीय कृतार्थ होते हैं। पहिले, जिस प्रकार के धर्म की आवश्यकता है, उस धर्म का वर्णन—‘पश्यत’—श्लोक से करते हैं। धर्म में सन्देह हो तो धर्मात्मा पुरुषों को देखो। धर्म भाग्यशाली पुरुषों को ही फल देता है। बिना भाग्य के धर्म का आचरण करने में विघ्न होता है। भाग्य भी महापुरुषों का देखना चाहिए। भाग्य का ज्ञान यश से होता है। यश वह है, जिसका सब गुण गान करें। उस यश को—‘महाभागान्’—पद से कहा है ‘परार्थ’ इत्यादि पद से धर्म का स्वरूप कहते हैं जीवन और जीवन का उपकरण—सब सामग्री—। इनमें भी यदि जीवन परो-पकार के लिए हो जाए, तो अन्त में धर्म सिद्ध हो गया—यह निरूपण किया। वही मुख्य धर्म है क्योंकि अन्त में जैसी मति होती है, वैसी ही गति होती है—इस सामान्य पक्ष का निवारण करते हैं, अर्थात् सामान्य रीति से, सब धर्म ऐसा नहीं है, किन्तु जो अन्त में सिद्ध हो, वही धर्म है।

परोपकार ही जिनका वास्तविक जीवन है यह—‘एकान्तजीवनान्’—पद का तात्पर्य है। जिनका जीवन कुछ अपने लिए और कुछ परोपकार के लिए होता है, वे मध्यम हैं। और जिनका जीवन केवल अपने लिए ही हो, वे तो अधम हैं। इस प्रकार स्वरूप से अन्त में धर्म का निरूपण करके बाह्य धर्म वर्णन करते हैं—‘वातवर्षेत्यादि’—के द्वारा जीवन से शरीर बढ़ता है। वह वृद्धि भी पराए की इच्छा से ही होती है। यदि पराया पुरुष उन वृक्षों के बढ़ने देने की इच्छा न करे और उतनी सी ही लकड़ी से अपना कार्य करना चाह लेता है तो वृक्ष को काट कर उसकी वृद्धि को रोक देता है—इस से सिद्ध है कि वृद्धि का आधार दूसरों की इच्छा ही है। इस प्रकार जीवन हो तो, परार्थता सिद्ध होती है। इसी तरह धर्म भी परार्थ हो तब ही सिद्ध हो। यदि केवल स्वार्थ ही हो तो अधम है और जो स्वार्थ और परार्थ दोनों के लिए होता है वह काम्य होने के कारण मध्यम है। इस में उपवासों का दृष्टान्त देते हैं। अपने पास के अन्न को दूसरों के लिए देकर स्वयं रन्तिदेव की तरह उपवास से रह जाना ऐसा उपवास मोक्षहेतु है, तब ही उपवास है। अपने पास भी अन्न न हो और देने में आत्माओं की

पीड़ा होने का विचार करके ओरों से भी अन्न न मांग कर किया हुआ उपवास मध्यम है और दोनों के अभाव में—अपने पास भी अन्न न हो और ओरों से भी अन्न न मिलने के कारण—किया हुआ उपवास वलेशात्मक होने से, अधम है। वह अधम उपवास भी यदि अपना अथवा दूसरों का हित करने के संकल्प के बिना—‘निहैतुक’—हो तो उत्तम है। अपने या पराए के हित के संकल्प से किया हो तो मध्यम और पराए का अपकार<sup>१</sup> करने के लिए किया हुआ उपवास तो, अधमाधम (अधम में अधम) है।

इन में उत्तम धर्म का निरूपण—‘वातवर्षतिपेत्यादि’ पद से करते हैं। वात, वर्षा, आतप और हिम—इनमें तीन—वर्षा, धूप और शीत—तो—वर्षा काल, उष्णकाल और शीतकाल—काल के गुण हैं और पहला वायु—इन तीनों का सहकारी<sup>२</sup> है, क्योंकि वायु के साथ रहने पर, ये तीनों असह्य<sup>३</sup> तथा घोर पीड़ाजनक हो जाते हैं। ये (वृक्ष) स्वयं इन सब को सह करके भी दूसरों के लिए वर्षा, आतप हिम को दूर करते हैं, ‘नः’—हमारा स्वयं के वर्षादि को दूर करते हैं, न केवल ओरों के ही, किन्तु हमारे भी, वर्षादिजनित वलेश को दूर करते हैं। इस कथन से प्रमाण भी सूचित किया और प्रत्युपकार का अभाव भी निरूपित किया। बाह्य<sup>४</sup> तप यह ही है अनशन<sup>५</sup> आदि तो प्रायश्चित्त होने से, धर्म में उनकी गणना नहीं है। अन्य सब भेद, हीन<sup>६</sup> हैं ॥३२३॥

टिप्पणी—‘पश्यतैतान्’—की व्याख्या में ‘तदा अन्ते घर्मः’ इत्यादि। ‘परार्थजीवनान्’—दूसरों के लिए जिन का जीवन है—इतना कहने से ही, यहाँ अभीष्ट अर्थ की प्रतीति हो जाती है फिर भी—एकान्त—इन दोनों पदों के कहने का तात्पर्य कहते हैं—जीवन परोपकार करने का साधन है। इस कारण से, उसके पहिले के जीवन को भी, परोपकार का साधन ही कहना चाहिए इससे यह सिद्ध हुआ कि पीछे से सिद्ध हुआ परोपकार—पदार्थ—पूर्व काल के जीवन के अन्त में होता है। यह परार्थ किसी प्रसंग को लेकर होने वाला परार्थ नहीं है, किन्तु समझकर परार्थ के उद्देश्य से ही किया हुआ होने के कारण वह मुख्य परार्थ है। इसी लिए ‘एक’ पद का प्रयोग किया है। ‘अन्ते या मतिः सा गतिः’—इत्यादि से, व्याख्या में, यही बात कही है। इस प्रकार परार्थ ही है एक मुख्य जिसके अन्त में, यह मूल का अर्थ सिद्ध होता है। इसी पक्ष में दूसरी रीति से भी हो सकने वाली योजना को—एकान्ततः—इत्यादि से कहते हैं। यथोपवासाः—इत्यादि। उसी का विवरण ‘विद्यमान’—इत्यादि से किया है। वह यों है, कि अपने पास जो अन्न था, उसे दूसरों को देकर उस अन्नाभाव से जो उपवास रन्तिदेव के हुए थे वे मोक्ष के कारण हुए। इस से उसकी तरह हुए उपवास उत्तम हैं। ‘स्वतः इति’—अपने पास अन्न न होने से (अपने पास के अन्न को दूसरों के लिए दान में दे देने से नहीं) और दूसरों से अन्न मिलना सम्भव होने पर भी और स्वयं को अन्न की अपेक्षा होने पर भी, दूसरों को पीड़ा न हो—इसलिए ओरों के द्वारा दिए जाने वाले अन्न को न लेकर

१—बुरा, अनिष्ट।

२—सहायक।

३—नहीं सह सकने जैसे।

४—बाहर का।

५—भोजन न करना।

६—नीचे दर्जे का।

सुबोधिनी—एव धर्मं निरूप्य परोपकारलक्षणमर्थ-  
रूपं निरूपयत्यहो इति, एवामेव वरं जन्म देहग्रहणा-  
नन्तरजीवित येषां न स्वार्थापेक्षा, तदुपपादयति  
सुजनस्येवेतिदृष्टान्तेन, अहो इत्याश्चर्यं, एतादृशमपि  
जन्म जायत इति, यत्र स्वकार्यं नास्त्येव भगवतोप्यवतारे  
लीला भवति यद्यपि सा परार्था तथापि लोकप्रसिद्ध्या  
स्वार्थापि भवत्यतो भगवतोप्याश्चर्यं, केवलं कर्मफलभोगे  
मण्डूकानामिव परार्थता न स्यादत एवामेव जन्म वरं,  
तत्र हेतुः सर्वप्राणिनामुपजीवन यस्मिन्निति, ये हि सर्वान्

जीवयन्ति ते सफलजीवनाः तद् येन भवति तत् सुजनेषु  
प्रसिद्धं यथा सतां गृहे समागतोर्थो याचको विद्यमानेर्थे  
विमुखो न मच्छति तादृशो दुर्लभ इत्येकवचनं, येषामिति  
सर्वनाम्ना वृक्षाः सर्वे तद्विधा एवेत्याधिक्यं निरूपितं,  
वै निश्चयेनैव ग्रहीतुं योग्याः, तत्रार्थित्वे सम्पन्ने विमुखा  
न भवन्ति, अग्रेपि वीनां मुखे न प्रविशन्ति यदि दारुणि  
भवन्ति नापि कालमुखे पतन्ति यदि वृक्षभिक्षुका एव  
भवन्ति ॥३३३॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार धर्म का निरूपण करके परोपकार लक्षण अर्थरूप पर्व का वर्णन—  
‘अहो एषां’-श्लोक से करते हैं। इन का ही जन्म धन्य है, कि जिन्हें देह धारण करने के पीछे  
कोई भी स्वार्थ की अपेक्षा नहीं है। इस को ‘सुजनस्येव’-इस दृष्टान्त से सिद्ध करते हैं। अहो !  
आश्चर्य है, कि ऐसा भी जन्म होता है, जिस में अपना कार्य कुछ नहीं होता है। भगवान् के अवतार  
में भी, लीला होती है। यद्यपि वह औरों के लिए-परार्थ-होती है, तो भी लोक प्रसिद्धि से वह स्वार्थ  
-(भगवान्) के लिए भी होती है। इस लिए भगवान् को भी आश्चर्य होता है। केवल कर्म फल  
भोगने में मेंढकों की तरह स्थिति में कोई परोपकार नहीं होता। इस लिए इनका ही जन्म उत्तम है,  
व्योंकि इन से सब प्राणियों का उपजीवन है। ये सारे प्राणियों को जिवाते हैं। ये सफल जीवन वाले  
हैं। वह सफल जीवन जिस कारण से होता है, वह कारण सज्जनों में प्रसिद्ध है, सज्जनों के घर पर  
आया हुआ याचक, घर में द्रव्य रहते हुए जैसे विमुख नहीं जाता। ऐसे सुजन का होना दुर्लभ है-इस  
लिए मूल में-सुजनस्य-एक वचन दिया है। येषां-इस सर्वनाम से-सारे वृक्ष इसी प्रकार के होते हैं-  
यह कह कर उनका अतिशय सूचित किया है। ‘वै’-निश्चय ही ग्रहण करने योग्य हैं। उनके पास  
याचक भाव से जाया जाए,-याचना की जाए तो याचक विमुख नहीं होते। आगे भी देह त्याग करने  
के पीछे-वीनां-पक्षियों के मुख में नहीं पड़ते हैं, किन्तु वृक्षों के काष्ठ हों तो उनकी देह को भस्म करने  
में सहायक होते हैं। और ‘वि’ शब्द का ‘काल’ अर्थ करें तो वे याचक-वृक्षभिक्षुक-परम हंस हों तो  
काल के मुख में पड़ते ही नहीं ॥३३३॥

टिप्पणी—‘अहो एषां’ की व्याख्या में-अग्रेपि-आगे भी देह त्याग करने के पीछे। वीनां-पक्षियों गीघ  
आदि के (मुख) खाने के लिए होते हैं जिन में विमुख वे अर्थी नहीं होते हैं किन्तु काष्ठ होने के कारण, देह  
जल कर भस्म हो जाती है। -‘वि’-शब्द का अर्थ ‘काल’ करें तो काल के मुख में, नहीं पड़ते। केवल वृक्षों से  
ही भिक्षा मांगने वाले परम हंस कहे जाते हैं।

लेख—अहो एषां-की व्याख्या में-‘तद्वयेनेति’-वह सफल जीवन जिस के द्वारा। जिससे सब का उप-  
जीवन होता है। सर्वनाम्ना-सर्वनाम से। महा संज्ञा करण के योग्य आशय को स्वीकार करने से। गृहीतुं-के  
पीछे-स्वसाधर्म्येण-पद का ग्रन्थाहार-अपने समान धर्मपन से-समझना चाहिए ॥३३३॥

श्लोक—पत्रपुष्पफलच्छायामूलवल्कलदारुभिः ।

गन्धनिर्यासभस्मास्थितोवमैः कामान् वितन्वते ॥३४३॥

श्लोकार्थ—ये वृक्ष पत्ते, फूल, फल, छाया, जड़, छाल, लकड़ी, गन्ध, गोन्द, कोयला, भस्म और शाखाओं से लोगों के-काम में आते हैं—मनोरथ पूरा करते हैं ॥३४३॥

सुबोधिनी—एवमर्थोत्तमतां निरूप्य कामोत्तमतां निरूपयन्तेतेषां कामजनितमपि सर्व परार्थमेवेत्याह पत्रेति। पत्राणि संयोगिद्रव्याणि यथा केशा दन्ताश्च तत्र पत्राणां सर्वोपयोगो न केशानां कथञ्चन, पुष्पाणि रजो-रूपाणि तानि सर्वपुरुषार्थसाधकानि स्त्रीणां तु ताशामप्यपकारजनकानि, फलानि पुत्रा इव, तेषामर्थे परमन्यान् घातयन्ति न तु तान् प्रयच्छन्ति, छाया गृहमिव न तत्र सर्वः प्रविशति प्रविष्टोपि तापयुक्तो भवति शीतवद् भयं च प्राप्नोति व्यसनानि च वृष्टिवत्, मूलं तेषां धर्म एव प्राणिनां धर्मो पशवो हन्यन्तेत्र तु मूलमन्येभ्यः प्रयच्छन्त्यौषधार्थं, तथा वल्कलानि च

परिच्छदा घटपटादय इव दारुणि काष्ठानि शुष्काणि, उपभुक्तशेषमपि नान्यस्मा उपकरोति स्त्रीशरीरादिषु तथा प्रसिद्धिः, गन्धश्चन्दनादिषु कीर्तिवत् प्रसिद्धनामानोपि नाम्नापि नोत्कुर्वन्ति, निर्यासस्तदन्तःसारो वाक्य-रूपः, भस्म तदभाववन् मृतोपि प्रेतवच् श्राद्धादिकारणाद् वापकरोत्येव, इदं तु क्षालनादावुपयुज्यते, अस्थीङ्गालास्ते सर्वत्र तैजसेषूपकुर्वन्ति, एतेषां त्वस्थि न कस्याप्युप-करोति प्रत्युत दोषे निमित्ततामापाद्यते 'नारं स्पृष्ट्वे'त्यादौ, तोवमाः सूक्ष्मवृक्षाः शाखारूपा दासादिवत्, एवं सर्वैरेव सर्वेषां कामान् वितन्वते ॥३४३॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार अर्थ की उत्तमता का निरूपण करके काम की उत्तमता को निरूपण करते हुए उनका काम से उत्पन्न हुआ भी सब परोपकार के लिए ही है—यह—'पत्रपुष्पेत्यादि श्लोक से कहते हैं। पत्र-वृक्ष में लगे हुए पदार्थ—शरीर में केश, दाँत आदि की तरह। उनमें पत्तों का उपयोग सब के लिए होता है। मनुष्य के केशों का उपयोग तो किसी भी भाँति नहीं हो सकता। पुष्प रजो-रूप हैं। वे पुष्प सब पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाले हैं। स्त्रियों का रज तो उन स्त्रियों का अपकार करने वाला है। फल पुत्रों के समान हैं। परन्तु मनुष्य तो पुत्रों के लिए दूसरों को मरवा देते हैं, पुत्रों को दूसरों के लिए नहीं देते हैं। छाया घर के समान है। घर में तो सब को प्रवेश नहीं मिलता और यदि प्रवेश मिल भी जाए तो वह तापयुक्त होता है, शीत आदि का भय और वर्षा आदि का भय दुःख वाला है। (वृक्ष तो छाया से ताप, शीत और वर्षा तीनों का निवारण करते हैं) मूल ही (जड़) वृक्षों का धर्म है। प्राणियों के धर्म में पशुओं की हिंसा होती है। यहाँ तो वृक्ष अपने मूल को औषध के लिए ओरों को देते हैं यह धर्म है, वल्कल-घट पट आदि की तरह सामग्री। 'दारुणिः'—सूखी लकड़ियाँ वृक्ष दूसरों को देते हैं और मनुष्य तो उपभोग करने के पीछे बचे हुए ईंधन से भी ओरों का उपकार नहीं करता। स्त्री शरीर आदि में वंसी (ही) प्रसिद्धि है। गन्ध-चन्दन आदि में गन्ध, कीर्ति रूप है। मनुष्य तो कीर्ति से प्रसिद्ध नाम वाले भी, नाम से भी उपकार नहीं करते हैं। निर्यास—भीतर का सार वाक्य रूप है। भस्म-वृक्षों की भस्म उपयोग में आती है। मनुष्य की भस्म तो उपयोग में आती ही नहीं है, किन्तु मनुष्य तो मर जाने के पीछे भी प्रेत होता है, इसलिए उसके श्राद्धादि करना आवश्यक होने से अपकार ही करता है। वृक्ष की भस्म तो धोना, माँजना आदि के काम में आती

है। अस्थि-वृक्ष के अंगारे सब जगह तेज के कामों में उपकार करते हैं। मनुष्य की अस्थि तो किसी के उपयोग में नहीं आती किन्तु और दोष का-(नारस्पृष्ट्वा)-निमित्त होती है। तोक्माः-सूक्ष्म वृक्ष शाखा रूप दास दासियों के समान उपयोग में आते हैं। इस प्रकार वृक्ष अपनी सब वस्तुओं से सब के मनोरथ पूरे करते हैं ॥३४३॥

श्लोक—एतावज् जन्मसाफल्यं देहिनामिह देहिषु ।

प्राणैरर्थधिया वाचा श्रेय एवाचरेत् सदा ॥३५३॥

श्लोकार्थ—देह धारियों में उन ही-देह धारियों-की यही जन्म की सफलता है कि प्राण, धन, बुद्धि और वाणी से सदा दूसरों का कल्याण करते रहें ॥३५३॥

सुबोधिनी—किञ्च न केवलं परार्थं कुर्वन्ति स्वार्थ-मपि किन्तु परार्थमेवातो मोक्षरूपा विरक्ता ज्ञानिनः पूर्णस्वार्था इति वक्तुमाहेतावदिति, एतावद्धर्मवज् जन्म तत् सफलगत एतावदेव वक्ष्यमाणरूपमेव जन्मसाफल्यं, देहिनां गृहीतदेहानां देहिषु गृहीतदेहेषु देहग्रहणं भगवदिच्छया स्वस्यान्येषामपि तत्र न स्वक्रिया काचित्, ततः संस्कारैः सिद्धे ज्ञाने यदि सर्वतुल्यता तदा न कोपि पुरुषार्थः, भगवान् पुनः सर्वार्थं सर्वं सृष्ट्वास्ततः स्वयमपि सर्वं स्वकीयं सर्वार्थं कुर्यात् तदा भगवानिव भवेदित्यवतारतुल्यतया जन्म सफलं भवति नो चेत् प्रवाहतुल्य

एव, परार्थमेव स्वमिति स्वार्थता न सम्भवत्येव, तदाह प्राणैरर्थगति, एते चत्वारः प्राणादयः सर्वपुरुषार्थोपयोगिनोपि धर्मादिषु प्रत्येकं स्वातन्त्र्येण बलता, ततः प्राणैर्यः साध्यो धर्मस्तं परार्थमेव कुर्यात्, अर्थाः स्पष्टा एव, बुद्धिः कामरूपा सविषयत्वात्, वागुपदेशरूपा मोक्षदायिनी, एवं सर्वेषां चतुर्भिः सर्वपुरुषार्थाः साधनीयाः, एतदपि सदा, इतीति समाप्तिः, एवमुपदिश्येति नोक्तं पूर्ववत्, अन्यथेयं लीला न स्यात्, यथा भगवतः क्रिया वणिक्तैव वाक्यान्यप्युक्तानि ॥३५३॥

व्याख्यानार्थः—और केवल परार्थ और स्वार्थ दोनों के लिए ही उपयोग नहीं करते हैं, किन्तु परोपकार के ही लिए वृक्ष अपने पत्रादिक उपयोग करते हैं। इस से ये मोक्ष स्वरूप हैं, विरक्त हैं, ज्ञानी हैं, और पूर्ण स्वार्थ को पा चुके हैं—यह बतलाने के लिए—‘एतावज्’—इत्यादि श्लोक को कहते हैं। ‘एतावत्’—धर्मयुक्त जीवन ही सफल जीवन है। इसलिए यही एक कहे जाने वाली जन्म की सफलता है। ‘देहिनां’—देह ग्रहण करने वालों का। ‘देहिषु’—उन देहधारियों में भी अपना और पुत्रादि का देह ग्रहण केवल भगवान् की इच्छा से ही हुआ मानने वालों अपनी कुछ क्रिया अथवा प्रारब्ध आदि के द्वारा हुआ न मानने वालों का तो यही जन्म साफल्य है। फिर भगवदिच्छा से देहधारण करने के पीछे संस्कारों के द्वारा ज्ञान सिद्ध होने पर यदि स्वयं सब जगत् की तरह स्वार्थपरायण हो

लेख—‘पत्रेत्यादि’ श्लोक की व्याख्या में—‘शीतवदिति’—छाया ताप शीत और वृष्टि का निवारण करती है। और घर में तो ये तीन उत्पन्न होते हैं। शीत के स्थान पर भय और वृष्टि (वर्षा) के स्थान पर दुःखों को समझना चाहिए ॥३४३॥

जाता है तो उससे कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता। भगवान् ने तो सब के लिए सब को उत्पन्न किया है। इससे अपने आपको और अपने सर्वस्व को सब के उपयोग में लगावे तो भगवान् के समान हो जाता है। अर्थात् जैसे भगवान् का अवतार परोपकार के लिए होता है, वैसे ही देही भी स्वयं को और अपने सब कुछ को परोपकार में लगा कर जन्म को सफल करता है। यदि ऐसा नहीं करता तो प्रवाह के समान ही होता है। परोपकार के लिए ही अपना सर्वस्व समझने में स्वार्थता की सम्भावना हो ही नहीं सकती इसको—‘प्राणैरर्भैः’—कहते हैं। यद्यपि इन प्राण आदि चारों का सभी पुरुषार्थों में उपयोग है, तो भी धर्म आदि में एक एक का इनका स्वतन्त्रता से योग है। इससे प्राणों से सिद्ध होने वाले धर्म को परोपकार के लिए करे। अर्थ का व्यय परोपकारार्थ ही करे। बुद्धि काम रूप है, क्योंकि विषयों में उसका उपयोग होता है। इस लिए बुद्धि का उपयोग भी दूसरों के कार्यों को सिद्ध करने में ही करे। उपदेशमयी वाणी से मोक्ष प्राप्त होती है। इस प्रकार इन चारों के द्वारा सब को सदा सारे पुरुषार्थ सिद्ध कर लेने चाहिए। इति—यह पद समाप्ति का सूचक है। यद्यपि ऐसा उपदेश करके इस प्रकार नहीं कहा, तो भी पहिले की तरह ही समझना चाहिए। ‘भगवान् के इन वचनों को भी लीलामध्य-पाती समझो’ नहीं तो यह लीला नहीं रहेगी। भगवान् की क्रियाओं के वर्णन की तरह भगवान् के वाक्यों का वर्णन भी किया गया ॥३५३॥

श्लोक—इतिप्रवालस्तबकफलपुष्पदलोत्करैः ।

तरुणां नम्रशाखानां मध्येन यमुनां गतः ॥३६॥

श्लोकार्थ—नवीन पल्लवों के गुच्छों, फल पुष्प और पत्तों के बोझ से जिन की डालें झुक रही हैं, उन परोपकारी वृक्षों के नीचे नौचे चल कर भगवान् यमुना तट पर पहुँचे ॥३६॥

टिप्पणी—‘एतावन्’—श्लोक की व्याख्या में—‘यदि सर्वतुल्यता’—यदि सब जगत् की तरह स्वार्थ परायण इत्यादि। ज्ञान प्राप्त होने के पीछे भी यदि स्वार्थ परायणता हो तो, किसी भी पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती। जैसे कुण्डल वाले पुरुष को कुण्डली कहते हैं। कुण्डल के अतिरिक्त अन्य कुछ कुण्डलीपन नहीं हैं। इसी तरह यहां भी—एतावत्—का अर्थ समझना चाहिए।

लेख—देहिनाम्—सामान्य रीति से ‘देहियों में और विशेष करके देह धारण करने वालों में’ विशेष को—देहग्रहणं—से कहते हैं। अपना और पुत्र आदि का देह ग्रहण जिनका भगवान् की इच्छा से ही है। अपनी किसी क्रिया या प्रारब्ध वश नहीं हुआ है। ऐसे उन विशेष देहधारियों का देहधारण ही जन्म की सफलता है। ‘ततः’ भगवान् की इच्छा से देह ग्रहण करने से, ज्ञान सिद्ध हो जाने पर भी, कहे जाने वाले धर्म से ही, जन्म की सफलता होती है—यह अर्थ है।

सुबोधिनी—ततो यत् कृतवांस्तदाह इति प्रवालेति, तेषां परार्थत्वं यत् प्रसिद्धं तत् प्रदर्शयस्तेषां मध्येन मार्गेण यमुनां गत इतिसम्बन्धः, येषु वृक्षेषु पञ्चाङ्गानामुत्करा वर्तन्ते राशयः प्रवालाः कोमलपत्राणि स्तवका पुष्पाणां पत्राणां वा फलानि पुष्पाणि च

दलानि च केवलानि तैः पञ्चविधैरपि समूहेनैवाः शाखा येषां, एतावदपि दत्त्वा विनीतास्तेषां मध्ये गमनं तद्धर्म-सम्बन्धाय यमुनापि पुनरेतादृशबर्णवतीति तत्र गतः ॥३६३॥

व्याख्यार्थ—तदनन्तर भगवान् ने जो किया, उसका वर्णन 'इति' इस श्लोक से करते हैं। उनकी प्रसिद्ध परोपकार परायणता को प्रदर्शित करते हुए उनके बीच में हो कर, यमुनातट पर चले गए—ऐसा सम्बन्ध है। जिन वृक्षों में इन पाँच अंगों का समूह है (१) प्रवाल (कोमल पत्र) (२) स्तवक (पुष्पों अथवा पत्तों के गुच्छे) (३) फल, (४) पुष्प और (५) केवल पत्ते—इन पाँच प्रकार के अंगों के समूहों से भुकी हुई शाखा वाले वृक्षों के। दूसरों के लिए अपने को और अपने सर्वस्व को देकर भी जो अत्यन्त नम्र हैं, उन वृक्षों के बीच में हो कर जाना उनके गुणों के सम्बन्ध के लिए था। यमुनाजी भी फिर ऐसे ही परोपकार धर्म वाली हैं। इससे यमुना पर गए ॥३६३॥

श्लोक—तत्र गाः पाययित्वापः समृष्टाः शीतलाः शिवाः ।

ततो नृप स्वयं गोपाः कामं स्वादु पपुर्जलम् ॥३७३॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! वहाँ जाकर गौओं को स्वच्छ, ठण्डा और कल्याणकारी जल पिलाया और स्वयं ने भी मधुर जल पिया ॥३७३॥

सुबोधिनी—तत्र गतस्य कृत्यमाह तत्रेति, तत्र यमुनायां गा अपः पाययित्वा ततो गोपाः स्वयमपि भगवान् कामं यथेच्छं जलं पपुः प्रातरेव गृहान् निःसृता भोजनाभावात् क्षुधिता भगवदिच्छया च लब्धभक्षा अपि गृहगमनप्रत्याशारहिताश्च जलमेव पपुः, आपः

स्त्रीप्रकृतिका अतः स्वजातीयाः पायिताः समृष्टा उज्ज्वलाः पङ्कादिदोषरहिताः शीतला गुणवत्यः शिवाः परिणामत आरोग्यकराः, जलं नपुंसकमपि कामरूपं स्वादु स्वादिष्ठमनेनाधिकमपि पातुं शक्यत इत्युक्तम् ॥३७३॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने वहाँ जाकर जो कार्य किया, उसका वर्णन 'तत्र गाः'—श्लोक से करते हैं। तत्र—यमुना पर गौओं को जल पिला कर, फिर गोपों ने तथा स्वयं भगवान् ने भी, यथेच्छ जल पिया। दिन निकलते ही घर से निकले हुए, भोजन के न मिलने से, भूख से व्याकुल हुए और भगवान् की इच्छा से भक्ष्य पदार्थों को पाकर भी, घर जाने की इच्छा नहीं रखने वाले गोपों ने, जल का ही पान किया। आपः—यह—'अप्'—शब्द स्त्री प्रकृति—नित्य स्त्रीलिंग—वाला है। इस से अपनी जैसी प्रकृति वाली गायों को ही अप् का पान कराया। समृष्टाः—उज्ज्वल पंक आदि दोषों से रहित। शीतलाः—ठण्डे गुण वाला। शिवाः—परिणाम में आरोग्य करने वाला। जल शब्द यद्यपि नपुंसक लिङ्ग है। तथापि काम रूप स्वादिष्ठ होने के कारण अधिक पिया जा सकता है। यह कहा है ॥३७३॥



योजना—‘तत्र गाः पाययित्वायः’—की व्याख्या में—स्त्री प्रकृतिकाः—(स्त्रीणां प्रकृतिः यायिः—) स्त्रियों की प्रकृति जिनसे) में व्यधिकरण पद बहुव्रीहि समास है। स्त्री शब्द व्रजसुन्दरी वाचक है और प्रकृति शब्द का ‘स्वभाव’ अर्थ है। भाव यह है, कि व्रजरत्नरूप गोपिकाओं के हृदय में भगवद्विषयक परम स्नेह रूप भाव को सिद्ध करने वाला श्रीयमुनाजी का जल गायों को पिलाने से गायों का भी भगवान् में विशेष भाव उत्पन्न हुआ। और श्री यमुना का नपुंसक प्रकृति वाला जल गोपों को पिलाने का तात्पर्य यह है कि उस जल के पीने से गोपों को भगवान् की अन्तरंग लीला के दर्शन आदि में पुंभावरूप दोष नहीं हुआ। इस प्रकार—आपः स्त्रीनिग—जल नपुंसक लिंग शब्द से यह तारतम्य सूचित किया गया है। यहां यदि ऐसा अभिप्राय नहीं होता तो गायों और गोपों को पान कराने में ‘आपः’—और ‘जल’ भिन्न भिन्न पदों का प्रयोग नहीं किया जाता ॥३७३॥

—: श्री हरिरायजी कृत स्वतन्त्रलेखानुवाद :—

श्री हरिरायजी महाराज—‘तत्र गाः’—श्लोक पर एक स्वतन्त्र लेख में इस प्रकार कहते हैं।

श्री यमुनाजी में वृक्षों की तरह परार्थता—केवल परोपकार रूप धर्म है—यह निरूपण किया गया है। उसके सम्बन्ध मात्र से गायों को परार्थता का ज्ञान उत्पन्न होना अनुचित है, क्योंकि उन गायों का भाव भगवान् में स्वामिनियों का भाव सा है—यह भाव—गावश्चकृष्णमुख—इस श्लोक की व्याख्या में स्पष्ट कहा है। वहां यह कहा गया है कि प्रभु ने स्वामिनीजी के भाव के सी सामग्री प्रकट करके स्वबल से उपयुक्त भाव उत्पन्न किया। वह भाव प्रभु के योग्य है। इससे विपरीत भाव वाले के सम्बन्धी रस का भगवान् भोग नहीं करते हैं। जन्मोत्सव के अध्याय की—गन्धरूपम्—इस कारिका में स्वामिनियों में भगवद्भोग के योग्य पांच विषयों का निरूपण किया है। इसी से, श्री आचार्य चरणों ने—रसो नवीनतस्य—रस नवीनत का—आदि कहा है। परार्थ ज्ञान तो उनको हो सकता है, जिनका भाव स्वामिनीजी के भाव से विजातीय हो। प्रभु का प्राकट्य हमारे लिए ही है—स्वामिनियों को यह दृढ़ ज्ञान था इस से, अपनी वस्तुओं में भी भगवदीयपन का ज्ञान दृढ़ था। इसी से पान करने के जल के एक होते हुए भी उसके वाचक ‘आपः’ और ‘जल’ का तात्पर्य श्री आचार्य चरण—‘स्त्री प्रकृति का’—इत्यादि पदों से करते हैं।

श्री यमुनाजी में दो प्रकार हैं—उनमें स्वामिनी सहित क्रीड़ा का सम्बन्ध होने के कारण, स्वामिनी भाव को उत्पन्न करना रूप है। इसी से यमुनाजी की स्तुति में आचार्य चरणों ने ‘इयं तव कथा अधिका’ (यह तेरी कथा अधिक है) ऐसा कहा है। और दोष मात्र को निवृत्त करने के लिए समानता से स्वरूप द्वारा भगवद्भाव उत्पन्न कराना रूप भी उनमें है। इसी से ‘स्मरपितुः श्रियं विभ्रतीम्’—(भगवान् की शोभा को धारण करने वाली को) ऐसा स्तुति में ही कहा है। और प्रभु चरण श्री गुंसाई जी ने उसका ऐसा विवरण किया है। इस कारण से जो जल स्त्री स्वभाव वाला है और अपने प्रवेश से स्त्रीस्वभाव सम्पादन करने वाला है उस—‘आपः’—जल का पान स्वसजातीय भाव वाली गायों को कराया। जिससे गायों का वह भाव (स्वीयत्व अभिमान भाव हमारी ये सब वस्तुएँ भगवान् के उपयोग की हैं ऐसा) दृढ़ हो। और गोपों को तो केवल जल पिलाया। वह कामरूप होने से, भगवद्भाव को उत्पन्न करने वाला और नपुंसक होने के कारण, भगवान् में दोषारोप का मूल कारण पुंभावरूप दुष्ट स्वभाव का जय करने वाला है। ऐसे जल का पान कराया। इसलिए श्री महाप्रभुजी के विवरण में कोई भी बाधा नहीं आती है। संक्षेप में सार यह है कि सज्जन पुरुष अपने चित्त में कोई शंका न करें ॥

श्लोक—तस्या उपवने कामं चारयन्तः पशून् नृप ।

कृष्णरामावुपागम्य क्षुधान् इदमब्रुवन् ॥३८३॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! यमुना के उपवन में गायों को चराते चराते गोप लोग भूख से व्याकुल हुए, और कृष्ण और बलरामजी के पास आकर इस प्रकार कहने लगे ॥३८३॥

सुबोधिनी—एवं जात आपातत एव क्षुन् निवृत्तंति विशेषं प्रार्थयितुं भगवन्त विज्ञापयामासुरित्याह तस्या इति, कालिन्ध्या उपवने पशूश्चारयन्त एव कृष्णरामा-वुपागम्य तालफलन्यायेन किञ्चिद् वचनमब्रुवन्, गोपा

इत्यविवेकिनः, सर्वत्र राजन्नितिसम्बोधनं स्नेहेन कथायां रसोत्पादनार्थं, राजन्नितिसम्बोधनेन महत्त्वं सूच्यत इति सर्वार्थं भगवानेव वक्तव्य इतिविद्याफलमन्ते सूचितम् ॥३८३॥

व्याख्यार्थ—ऐसा होने से केवल ऊपर से ही भूख निवृत्त हुई । इस कारण से विशेष प्रार्थना करने के लिए भगवान् से इस प्रकार विज्ञापना की, यह 'तस्या उपवने' इस श्लोक से कहते हैं । वे गोप कालिन्दी के उपवन में पशुओं को चराते चराते कृष्ण और बलराम के पास आकर ताल के फल के न्याय (ताल फल के विषय में किया वैसे ही) से कुछ वचन बोले । गोप-विवेक रहित । राजन् यह सम्बोधन स्नेह से कथा में रस उत्पन्न करने के लिए सब स्थान में प्रयुक्त हुआ । और —'राजन्'—यह सम्बोधन महत्त्व का सूचक भी है । इससे सभी अर्थ की प्राप्ति के लिए भगवान् से ही प्रार्थना करना चाहिए । यही विद्या का फल इस प्रकार अन्त में सूचित किया गया है ॥३८३॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध पूर्वार्ध तामस साधन के एकोनविंश अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" तामस साधन अवान्तर प्रकरण, ऐश्वर्य निरूपक प्रथम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित 'चीर हरण' लीलादि के निम्न पदों का अध्ययन करें—

॥ राग रामकली ॥

हरियश गावत चली ब्रजसुंदरी, नदी यमुना के तीर ।

लोचन लोल बांह जोटीकर, श्रवणन भलकत बीर ॥१॥

वेनि शिषिल चारु कांधे पर, कटिपर अंबर लाल ।

हाथन लिये फूलन की डलियां, उर मुक्तामणि माल ॥२॥

लेख—'तस्या उपवने'—की व्याख्या में गोपों की अविवेकी कहने का कारण यह है, कि 'विवेक-धैर्याश्रय' ग्रन्थ में कहा है कि दैहिक वस्तुओं के लिए प्रभु से प्रार्थना नहीं करना, परन्तु प्रभु अन्तःकरण गोचर हैं दैहिक विषय से अन्य भिन्न विषय की प्रार्थना करना ॥३८३॥

जल प्रवेश कर मञ्जन लागी, प्रथम हेम के मास ।  
 जैसे प्रीतम होय नंदसुत, व्रत ठान्यो यह आस ॥३॥  
 तबलैं खीर हरे नंद नंदन, चढ़े कदंब की डारि ।  
 परमानंद प्रभु वर देवे को, उद्यम कियो है मुरारि ॥४॥

वसन हरे सब कदंब चढाये ।  
 सोले सहस्र गोपकन्यन के, अंग आभूषण सहित चुराये ॥१॥  
 अति बिस्तार नीप, तरु, तामें, ले, ले, जहाँ तहाँ लटकाये  
 मणि आभूषण डार, डारन प्रति, देखत छबि मनही अटकाये ॥२॥  
 नीलांबर, पाटंबर, सारी, श्वेत पीन चुनरी अरुणाये ।  
 सूर श्याम युवतिन व्रत पूरण की, कदंब डार फल पाये ॥३॥

मोहन देहो वसन हमारे ।  
 जाय कहीं ब्रजपतिजू के आगें, करत अनीत लतारे ॥१॥  
 तुम ब्रजराज कुमार लाडिले, और सबहिन के प्राण पियारे ।  
 गोविंद प्रभु प्रिय दासी तिहारी, सुंदर वर मुकुमारे ॥२॥

जलतें निकस तीर सब आवहु ।  
 जैसे सविता सों कर जोरे, तेसेहूँ जोर दिखावहु ॥१॥  
 नव बाल हम, तरुण कान्ह तुम, कैसे अंग दिखावहु ।  
 जलतें सब बांह टेक के, देखहुं श्याम रिझावहु ॥२॥  
 ऐसे नहीं रीझों में तुम कूं, उंचे बांह उठावहु ।  
 सूरदास प्रभु कहै हरि, चोली बस्तर तब पावहु ॥३॥

दृढ व्रत कीनो मेरे हेत । घन्य घनि कहि नंदनदन जाऊ सबै निकेत ॥१॥  
 करो पूरण काम तुम्हरो शरद रास रमाय । हरष भई यह सुनत गोपी रही सीस नवाय ॥२॥  
 सबनि को अंग परस कीनो, व्रत कीयो तनुगारि । सूर प्रभु सुख दियो मिलिके ब्रज चली मुकुमारि ॥३॥

### ॥ राग विहाग ॥

मन रे तू वृक्षन को मत ले ।  
 काटे तापर क्रोध करे नहीं सींचे नहीं सनेह ॥१॥  
 जो कोई वा पर पत्यर चलावे ताहि को फल दे ।  
 आप शिर पर धूप सहत है, औरन कुं छाया सुख दे ॥२॥  
 घन घन जड़ ए परम पदारथ वृथा मनुष्य की देह ।  
 सूरदास मन कर्म वचन करि, भक्तन को मत एह ॥३॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेश्वर्यो नमः ॥

## • श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका ( हिन्दी अनुवाद सहित )

दशम स्कन्ध ( पूर्वार्ध )

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २३वां अध्याय

श्रीसुबोधिनी अनुसार, २०वां अध्याय

तामस-साधन-अवान्तर प्रकरण

‘द्वितीय अध्याय’



यज्ञ पत्नियों पर कृपा

कारिका—कर्मज्ञाने वैदिके तु विशत्यध्याय उक्तवान् ।

उभयोर्निर्णयो यादृक् सोऽप्यत्र विनिरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस बीसवें अध्याय में वैदिक कर्म तथा वैदिक ज्ञान का वर्णन है और उन कर्म, ज्ञान का जैसा निर्णय है, उस निर्णय का भी निरूपण इसी अध्याय में किया जाता है ।

---

टिप्पणी—उभयोर्निर्णयो यादृक् इति—(उभयोः)—कर्म, ज्ञान दोनों का भगवत्सम्बन्ध के बिना किया हुआ कर्म सत्त्व की शुद्धि नहीं कर सकता । जिस कर्म का भगवान् के साथ सम्बन्ध कर दिया गया हो, वही कर्म सत्त्व का शोधक होता है । यदि भगवत्सम्बन्ध से रहित कर्म से भी सत्त्व की शुद्धि हो सकती होती तो गोपों के वाक्यों से ही ब्राह्मणों के हृदय में भगवद्भाव हो जाता ।

कारिका—साक्षाद्भगवतोक्तं हि यथापूर्वं न भासते ।

परम्परोक्तमप्येवं स्त्रिया भावस्तथापरः ॥२॥

कारिकार्थ—साक्षात् भगवान् का कथन भी, तात्पर्य ज्ञान सहित समझने में नहीं आता (नहीं तो विप्र पत्नियां घर लौट जाना स्वीकार नहीं करती) परम्परा से कहा हुआ, अर्थात् गोपों द्वारा ब्राह्मणों के लिए कहलाया हुआ भी उन ब्राह्मणों के—जो उत्तमाधिकारी नहीं थे—समझ में नहीं आया, इसी तरह यज्ञ पत्नी के भगवान् में परम भाव को, अन्य विप्र पत्नियां नहीं जान सकीं । इसका कारण भी यही है ॥२॥

( पृष्ठ ८५ से आगे )

यद्यपि उन ब्राह्मणों का वह कर्मानुष्ठान भगवत्सम्बन्धी नहीं था, तो भी वह वैदिक कर्म था और उसका तात्पर्य भगवान् में ही होने से (उनके उस कर्म का) परिणाम भक्ति में ही हुआ है । और वह भी उन ब्राह्मणों के कर्तव्य से नहीं, किन्तु उनकी भगवद्भक्त पत्नियों के संग से ही हुआ है । भक्ति नहीं होती तो कर्म व्यर्थ हो जाता । द्वितीय (१०।२०।२) श्लोक में भक्तायाः—इस पद से एक पत्नी के प्रसंग से अन्य पत्नियों का अंगीकार हुआ है और उनके संग से ही पुरुषों (उनके पतियों) की भक्ति हुई है ।

गृह्णन्ति नो न पतयः (१०-२०-३०) हमको हमारे पति स्वीकार नहीं करेंगे । इस वाक्य को सुनकर भगवान् ने उसका समाधान करके उन्हें पीछा घर चले जाने की आज्ञा दी और वे चली भी गईं । इस से यह सिद्ध हुआ, कि किसी दूसरे को मुख्य मान कर, प्रभु का भजन करे, तो प्रभु उस भजन को स्वीकार नहीं करते हैं । इस से तो भगवदन्तराय ही होता है । पुरुषार्थ की सिद्धि नहीं होती । अन्य पत्नियों का भी भगवान् में स्नेह तो था ही, किन्तु यह तो प्रसाद का विषय था । जिसका कारण उसका भक्त होना कहा है और जो अन्य भाव की अपेक्षा इस एक विप्र पत्नि के भाव में विलक्षणता बताता है । उसका वह भाव ही सर्वात्मभाव है । पुष्टि मार्ग में, अंगीकार ही यहां प्रसाद है । इसी से, उसकी सद्योमुक्ति नहीं हुई । यदि पूतना आदि पर हुआ प्रसाद जैसा ही प्रसाद यहां कहा गया होता, तो इस को प्रसाद विशेष कहना विरुद्ध होता । शरीर मर्यादा मार्गीय है । उसका नाश करके जो देने योग्य था, भगवान् ने वह दिया—यह मर्म है । इस प्रकार यहां कर्म और ज्ञान का निर्णय कहा है ।

लेख—कर्मज्ञाने इति—विप्र और विप्र पत्नियों के मर्यादा तथा पुष्टि रूप भेदों से दो प्रकार के कर्म और ज्ञान का निरूपण इस बीसवें अध्याय में किया है ।

योजना—इत्युक्ता (१०।२०।३३) श्लोक में कहा गया वैदिक कर्म और—देशः कालः (१०-२०-१०) श्लोक में कहा हुआ वैदिक-ज्ञान—इन दोनों का इस अध्याय में वर्णन होगा ॥१॥

टिप्पणी—शंका-नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति-(१०।२०।१६) तथा-प्राण बुद्धि मनः स्वात्मा (१०-२०-२७) इत्यादि वाक्यों के द्वारा भगवान् ने भगवान् में सहज प्रियत्व और अपने से भिन्न स्त्री पुत्रादि लौकिक में, उपाधि से-कृत्रिम-प्रियत्व बतला कर, उस उपाधि कृत प्रियत्व को पुरुषार्थ रूप नहीं कहा है—इस बात को सुनकर भी, यज्ञ पत्नियां घर कैसे चली गईं ? उत्तर—भगवान् का कथन भी, पहले से तात्पर्य ज्ञान पूर्वक समझ में नहीं आता और गोपों



के द्वारा ब्राह्मणों से जो कहलाया, वह—परम्परोक्तम्—परम्परा से कहा गया था, क्योंकि, वे ब्राह्मण उत्तमाधिकारी नहीं थे, यह बात— प्रायः श्रुतः (१०।२०।२३) श्लोक के विवरण में स्पष्ट होगी ।

शंका—उत्कट भाव से उस यज्ञ पत्नी का देह त्याग करना अन्य यज्ञपत्नियों ने पहले से ही जान लिया होगा । फिर उन्होंने उस को क्यों नहीं रोका ? इसका उत्तर यह है, अन्य सब पत्नियों की अपेक्षा उत्तम, उस नायिका का वह उत्कृष्ट सर्वात्मभाव उनकी समझ में पहिले नहीं आया था, क्योंकि यह सर्वात्मभाव रूप वस्तु ही इस प्रकार की है ।

अथवा फिर शंका करते हैं, कि जब परम्परा से अर्थात् गोपों के द्वारा कहलाने पर ब्राह्मणों को भान नहीं हो सका तो स्त्रियों को उस भाव का ज्ञान क्यों कर हुआ ? इसका उत्तर कारिका में—स्त्रिया भावः—इन पदों से दिया है अर्थात् जैसे भगवान् के वचन दुर्बोध हैं, वैसे ही स्त्रियों का भाव भी उत्कृष्ट था इसलिए प्रिय भगवान् सम्बन्धी वार्ता के श्रवण करने से, वह उत्कट भाव उत्पन्न हुआ जिसके द्वारा ही, वे भगवान् के पास आई थीं, भगवान् के वचनों का तात्पर्य समझ कर नहीं आई थीं । कारिका में स्त्रियाः—यह एक वचन जाति के अभिप्राय से सारी स्त्रियों का वाचक है ।

अथवा—प्रसीदन्—(१०-२०-२) इस वाक्य से यज्ञ पत्नियों पर भगवान् की प्रसन्नता अवश्य कहना चाहिए उन पर भगवान् के उस प्रसाद को शरीर त्याग, अथवा सद्यो मुक्ति तो नहीं कह सकते; क्योंकि पूर्वोक्त दोनों प्रकार का प्रसाद तो पूतना आदि पर भी किया है । इनके अतिरिक्त अन्य प्रसाद स्पष्ट नहीं कहा गया; तो फिर वह प्रसाद क्या है ? ऐसी शंका के उत्तर में—स्त्रिया भावः—कहते हैं, कि व्रजसीमन्तिनियों के सर्वोत्कृष्ट भाव के समान ही, इस यज्ञ पत्नी का भाव परम उत्कट सर्वात्मभाव रूप था, इसी से उन व्रजसीमन्तिनियों के साथ भगवान् ने जैसी लीला की थी, वैसी ही इस यज्ञपत्नी के साथ भी की । इसका शरीर मर्यादामार्गीय था अतः उसका नाश कर दिया । यदि यह यज्ञ पत्नी भी, भगवान् के पास आ जाती, तो सर्वात्मभाव सिद्ध हो जाने के कारण यह अन्य पत्नियों की तरह, फिर वापस लौट कर नहीं जाती । इसलिए, उसके प्रतिबन्ध रूप मर्यादा शरीर का नाश करके भगवान् उसको ले गए । यही उस यज्ञ पत्नी पर भगवान् का प्रसाद समझना चाहिए । नहीं तो—‘ये यथा मां’—जो जिस भाव से मेरा भजन करते हैं, उन्हें मैं वैसे ही मिलता हूँ—इस प्रतिज्ञा का भंग हो जाएगा ।

अन्य यज्ञपत्नियों पर ऐसी कृपा न करके, इस एक पर ही उत्कट<sup>१</sup> कृपा करने का कारण यह था, कि जैसा उत्कृष्ट<sup>२</sup> भाव भगवान् पर इस एक का था वैसा भाव औरों का नहीं था । इसलिए उन दूसरियों पर वैसी कृपा नहीं हुई ॥२॥

.

## द्वितीय अध्याय

॥ गोपा ऊचुः ॥

श्लोक—राम राम महावीर्यं कृष्ण दुष्टनिबर्हण ।

एषा वै बाधते क्षुभस्तच्छान्तिं कर्तुमर्हथ ॥१॥

श्लोकार्थ—गोपलोग बोले, कि हे महाबली बलभद्र ! हे दुष्टों के दमन कर्ता कृष्णचन्द्र ! हमको इस समय बड़ी भूख लगी है । कृपा करके इस भूख की शान्ति का कुछ उपाय कीजिये ॥१॥

सुबोधिनी—पूर्वाध्याये विद्या पञ्चपर्वोपदिष्टा तेन मोहः सर्वोप्यपगतो दैहिका घर्मास्तु नापगतास्तेपि चेदपगता भवेयुस्तदा कृतार्था भवन्तीति तद् विनिश्चित्य सर्वे गोपालाः परमाधिकारिणो विज्ञापयन्ति राम रामेति, आदरे वीप्सा, नाम्ना “रमन्ते योगिनो नन्ते सत्यानन्दे चिदात्मनि इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते” तो यथात्मनि रतिर्भवति तथा कर्तव्यमिति प्रार्थना, तत्र सामर्थ्यमाह महावीर्यंति, अयं हि ज्ञानात्मकः श्रुतिरूप आवेशी च, भगवन्तं च प्रार्थयन्ति कृष्ण दुष्टनिबर्हणेति, ‘क्षुत् खलु वै मनुष्यस्य भ्रातृव्य’ इति श्रुतेः सदानन्द-तिरोभावरूपा सदानन्दादेव गच्छतीति कृष्णेति सम्बोधनं,

यदीयं क्षुद् बाधिका मृत्युरूपापि भवति तथापि निवारणीयेति ज्ञापयितुमाहुर्दुष्टनिबर्हणेति, सर्वे एव दुष्टास्त्वया निवार्यन्त इति, स्त्रीनिवारणे नास्माकं सामर्थ्यं, न हि विद्यया स्त्रिया क्षुद्रूपा स्त्री निवर्तते, तदाहुरेषा वै बाधते क्षुन् न इति, ननु तदभावे सद्यः शरीरपातः स्यात् ततो लीला भगवता सह न स्यादित्याशङ्क्याहुस्तच्छान्तिं कर्तुमर्हथेति, तस्याः शम एव कर्तव्यो यथा न बाधते यथाज्ञानादिदोषनिवृत्तौ शास्त्रमुपायस्तथा क्षुन्नवृत्तावपि ज्ञानरूप एव कश्चनोपायो वक्तव्य इति भावः ॥१॥

व्याख्यानार्थ—पहले अध्याय में किये गए पंचपर्व विद्या के उपदेश से सारा मोह तो मिट गया, किन्तु भूख प्यास आदि-देह के धर्म नहीं गए । इनके मिटने पर ही हम गोपों की कृतार्थता है-ऐसा निश्चय करके सब गोप-जो उत्तम अधिकारी थे-प्रार्थना करते हैं ।

राम ! राम ! यह आदर के लिए दो बार कहा है । “योगी” लोग अनन्त, सत्यानन्द, चिदात्मा में रमण करते हैं, अतः राम पद से यह परब्रह्म कहा जाता है । इससे आत्मा में जैसी रति होती है वैसा स्नेह करने की प्रार्थना इस नाम से की गई है । ‘महावीर्य’ पद से उनकी सामर्थ्य का बोध होता है । ये ज्ञानात्मक श्रुतिरूप और आवेशी हैं । कृष्ण दुष्ट निबर्हण पदों से भगवान् से प्रार्थना करते हैं, ‘क्षुधा’ मनुष्य की सहज शत्रु है । इस श्रुति के अनुसार सदानन्द का तिरोभाव करने वाली भूख, सदानन्द से ही दूर हो सकती है इस अभिप्राय से ‘कृष्ण’ यह सम्बोधन कहा है । यद्यपि यह क्षुधा बाधक और मृत्यु रूप है तथापि निवारण करने योग्य है-इस अभिप्राय से मूल में दुष्ट निबर्हण-सम्बोधन दिया है । सब दुष्टों को आप निवारण करते हैं । क्षुधा-स्त्री के निवारण करने में हमारी शक्ति नहीं है । स्त्री रूप विद्या से स्त्री रूप क्षुधा दूर नहीं की जा सकती । यह क्षुधा हम गोपों को पीड़ा दे रही है ।



क्षुधा की निवृत्ति-क्षुधा के अभाव में-तो शीघ्र शरीर का पात हो जाएगा तो भगवान् के साथ लीला नहीं होगी-इस शङ्कः का समाधान-तच्छान्ति कर्तुं मर्हथ:-इस वाक्य से किया है। आप उस क्षुधा की शान्ति हो करें, जिस से वह बाधा न करे। अर्थात् अज्ञानादि दोषों की निवृत्ति के जैसे ज्ञानादिक उपाय शास्त्र के बतलाए हैं, उसी प्रकार इस क्षुधा की शान्ति का भी कोई ज्ञान रूप उपाय कहिए ॥१॥

॥ श्री शुक उवाच ॥

श्लोक—इति विज्ञापितो गोपैर्भगवान् देवकीसुतः ।

भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदन्निदमब्रवीत् ॥२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि गोपों के यों प्रार्थना करने पर, देवकीनन्दन भगवान् ने अपनी भक्त, ब्राह्मण पत्नी पर अनुग्रह करने के लिए इस प्रकार कहा ॥२॥

सुबोधिनी—भगवांस्तु संसारस्याग्रपश्चाद्भावेन गमन स्यादिति विचिन्त्य सुतरां स्त्रीणामुपकारार्थं तत्रापि ब्राह्मणस्त्रीणां पुरुषाधिकाररहितानां धर्ममार्गमपि स्थापयितुं ग्रामज्ञानानां भिक्षाटनमेव मुख्यमिति विचिन्त्य प्रथमं पुरुषभिक्षामुक्तवान् द्रव्ये हि तेषां स्वाम्यमिति, अलोकिकेरुपायैः स्त्रीमुक्तिर्न स्यात् सर्वेषां च सत्सङ्गो न स्यात् ततः सम्प्रदायोच्छेदश्च स्यादभिमानाभावाद्

दीनता तु नास्त्येव भगवत्कृपया नापि लोकेतो भगवान् याचनमेवोपदेष्टुकाम उत्तरं दत्तवानित्याहेतीति, एवं गोपैर्विज्ञापितोपि भगवान् सर्वसमर्थोपि देवकीसुतः परमकृपालुः सुतरां स्त्रीषु कृपावान् भक्तिमार्गप्रवर्तको भक्ताया विप्रभार्यायाः प्रसीदस्तस्याः प्रसादं करिष्यन्निदं वक्ष्यमाणं याचनरूपमब्रवीत् ॥२॥

लेख—कृतार्था भवन्ति—अर्थात्—‘सर्वं परार्थं कुर्यात्’,—भगवान् के इस उपदेश को सिद्ध करने वाले हो। अयं-हि-इस पद से प्रथम तीन चरणों के तीन अर्थ कहे गए हैं—प्रथम राम पद से योगियों के रमण करने का स्थान कहकर, ज्ञान रूपता कही, द्वितीय राम पद से, संकर्षण कह कर, श्रुति रूपता बतलाई और महावीर्य पद से, आवेश रूपता का वर्णन किया; महान् बलवान् होना आवेश का कार्य है। दुष्ट होने से सत् का तिरोभाव तथा दुःख रूप होने के कारण क्षुधा, आनन्द का तिरोभाव करने वाली है। अभाव का नाश प्रतियोगी के द्वारा ही होता—यह ‘एव’ पद का अर्थ है। क्षुधा की दुष्टता में यह श्रुति प्रमाण है। मूल में-एषा-स्त्री रूप अक्षरार्थ है। इसकी व्याख्या में-स्त्री निवारणे, विद्याया स्त्रिया-स्त्री रूप विद्या स्त्री रूप क्षुधा की शान्ति नहीं कर सकती। सब भगवदीय हैं-भगवान् के इस ज्ञानोपदेश से यह सिद्ध होता है कि भगवान् से अतिरिक्त परतन्त्र हैं, इसलिए ज्ञान में भी, भगवदधीनता रूप स्त्रीत्व है। अतः विषयाकार होने से ज्ञान भी स्त्री रूप है।

योजना—व्याख्या में श्रुति से, राम शब्द का निर्वाचन किया है। यद्यपि श्री रामतापिनी उपनिषद् की यह श्रुति, श्री रामचन्द्र विषयक है तो भी, बलदेवजी में भी, पुरुषोत्तम का आवेश होने से, बलदेवजी परब्रह्म हैं। इसलिए उन पर इस श्रुति की योजना उचित ही है। पाँचवे स्कन्ध के भागवतार्थ प्रकरण निबन्ध में-राम कदाचित् पुरुषोत्तम है-इत्यादि कथन से, रामचन्द्रजी को भी पुरुषोत्तम रूप निर्णीत किया है। और नवम स्कन्ध में भी--रघुनाथजी, पुरुषोत्तम कहे जाते हैं—ऐसा वर्णन है।



व्याख्यान—गोपों की प्रार्थना सुनकर भगवान् ने विचार किया कि इनका वर्तमान संसार (अहंता ममता) नष्ट करके फिर उसे (संसार को) उत्पन्न न होने देना, स्त्रियों पर और उनमें भी ब्राह्मण स्त्रियों पर—जो कि पुरुषों के अधिकार से सर्वथा वञ्चित हैं—उपकार अवश्य करना, धर्म (भक्ति) मार्ग की स्थापना करना और ज्ञानियों का भिक्षा मांगना ही मुख्य है—ऐसा सोचकर, उनको पहिले पुरुषों के पास भिक्षा मांगने भेजा; क्योंकि पुरुष ही धन के स्वामी होते हैं।

अलौकिक उपायों के द्वारा स्त्रियों की मुक्ति नहीं होती और न सबको सत्संग ही होता है। सत्संग के अभाव में तो, सम्प्रदाय का उच्छेद हो जाता, इससे, भिक्षा मांगना रूप लौकिक उत्तर दिया। इन्हें स्वाभिमान नहीं था। इसलिए दीनता नहीं थी। भगवान् की कृपा से, लोक में उन्हें किसी से कोई भिक्षा मांगने की आवश्यकता भी नहीं थी। उन्हें केवल उपदेश देने की इच्छा से, (भिक्षा मांगना) यही उत्तर देते हुए बोले। भगवान् सर्व शक्तिमान् तथा देवकी सुत परम दयालु हैं। स्त्रियों पर अत्यन्त कृपा करने वाले और भक्ति मार्ग के प्रवर्तक हैं। इसलिए अपनी भक्त ब्राह्मण पत्नी पर अनुग्रह करना सोचकर भिक्षा रूप उत्तर देने लगे ॥२॥

श्लोक—प्रयात देवयजनं ब्राह्मणा ब्रह्मवादिनः ।

सत्रमाङ्गिरसं नाम ह्यासते स्वर्गकाम्यया ॥३॥

श्लोकार्थ—वेद पाठी ब्राह्मण लोग स्वर्ग की कामना से, आङ्गिरस नाम का यज्ञ कर रहे हैं। तुम उस देवयजन स्थान पर जाओ ॥३॥

लेख—गोपों ने तो ज्ञान आदि उपाय के द्वारा क्षुधा शान्ति करने की प्रार्थना की थी, उसके विपरीत और भगवान् की अपनी सामर्थ्य के विपरीत भिक्षा मांगने का उपदेश देने का कारण यह, है कि भगवान् देवकी सुत हैं। इसलिए भक्त विप्र पतिन पर कृपा करने की इच्छा से ही, भिक्षा मांगने का उपदेश करते थे—इत्यादि व्याख्या में विज्ञापितोपि—कहे गए 'अपि' शब्द का तात्पर्य है।

योजना—ज्ञान के उपदेश के द्वारा गोपों का संसार निवृत्त करना है और वह आगे पीछे क्रम से होगा एक साथ संभव नहीं है। इस लिए क्रम से, संसार के धर्मों की निवृत्ति करने की इच्छा से ज्ञान का उपदेश न करके, पुरुषों से भिक्षा मांगने का ही उपदेश दिया। सत्संग के अभाव में, भक्ति मार्ग सम्प्रदाय का उच्छेद हो जाएगा; क्योंकि स्वयं भगवान् ने एकादश स्कन्ध में उद्धवजी के प्रति सत्संग को अत्यावश्यक बतलाया है। अभिमान से भिक्षा मांगने में दीनता होती है। गोपों में तो, अभिमान था ही नहीं, अतः दीनता भी नहीं आई। दूसरी बात यह भी है कि बराबरी वाले से मांगने में अभिमान रहने से, दीनता हो सकती है। ये तो दीक्षित पूज्य ब्राह्मण हैं। पूज्यों के आगे अभिमान न रहने से, दीनता का होना भी सम्भव नहीं था। भगवान् की कृपा से मांगने से आनेवाली लोक में प्रसिद्ध दीनता भी गोपों में नहीं आ पाई ॥२॥



सुबोधिनी—ज्ञान हि ब्रह्मात्मकं बीजरूपं तद् ब्रह्मणैव चेत् परिपुष्यते तदा ब्रह्मयोग्यं भवति यथा बीजं ब्राह्मण्यमेव पुष्ट ब्राह्मणान्नेनैव वृद्धिं गतं ब्रह्मसंस्कारैर्ब्राह्मणा वेदेन च व्याप्त ब्रह्मभावाय कल्पते तथेदानीमपि जातं ज्ञानं ब्राह्मणान्नेनैव चेत् पुष्टमेति तदा कार्यक्षमं भवति तत्रापि ब्राह्मणाः पूर्णज्ञानकर्मनिष्ठा न तु दादृशास्तादृशाः, अन्नमूलकमेव हि ज्ञानमन्नेन प्राणाः' इत्यादिपरम्पराश्रुतो 'विज्ञानेनात्मानं वेदयती' त्यन्तभूतायां तथैव निरूपणात् 'तस्मादन्नं ददत् सर्वाण्येतानि ददाती'ति च ब्राह्मणदत्तमेवान्नं भुज्जतं सज् ज्ञानं जनयात तद्द्वारा सर्वदानाज् ज्ञानं ब्राह्मण एव प्रतिष्ठितमिति, अन्यान्ये तु ज्ञानादिकमन्योक्तमेव

स्यात् ततश्च न तद् ब्रह्मज्ञानं भवेदतो भगवान् प्रथमं ब्राह्मणस्वरूपमाह पश्चाद् याचनं वक्ष्यति प्रयातेति, देवा इज्यन्तेस्मिन्निति देवयजनं यज्ञभूमिस्तेषां भेदाः श्रुतावनेके, अथवाभूते देशे यज्ञो न कर्तव्य इतिज्ञापनार्थः, ब्राह्मणा एव सर्वे न तु याज्यः कश्चित् क्षत्रियस्ते च स्वधर्मैरवदाताः, तदाह ब्रह्मवादिन इति ब्रह्मवदनशीलाः, ब्रह्म वेदो वेदार्थश्च, तादृशा मुख्याधिकारिण आङ्गिरसं सत्रं चतुर्विंशतिरात्रं चत्वारः षडहा नामेति प्रसिद्धं, स्वर्गकाम्यये—'त्यङ्गिरसो वै सत्रमासत ते सुवर्गं लोकमाय' न्निति श्रुतेः स्वर्गो भगवत आनन्दांशो भगवदवतारो 'देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरो भव'दित्यत्र निर्णीतोतस्ते सर्वोत्तमाः सत्रिणः ॥३॥

**व्याख्यानार्थ—**बीजरूप ब्रह्मात्मक ज्ञान की परिपुष्टि यदि ब्रह्म के द्वारा ही होवे तो वह ज्ञान ब्रह्म योग्य हो सकता है। जैसे ब्राह्मणी में परिपुष्ट हुआ बीज, ब्राह्मण के अन्न से ही बड़ा हुआ, ब्रह्म संस्कारों तथा ब्रह्म (वेद) से व्याप्त होकर ब्रह्मभाव के योग्य होता है, वैसे ही, अभी उत्पन्न हुआ ज्ञान, यदि ब्राह्मणों के अन्न से ही पुष्ट होवे तो फलदायक हो। ब्राह्मण भी साधारण नहीं; किन्तु पूर्ण ज्ञान कर्मनिष्ठ हैं। ज्ञान का मूल अन्न ही है। 'अन्नेन प्राणाः' इत्यादि और 'विज्ञानेनात्मानं' वेदयति—इति पर्यन्त की परम्परा से श्रुति में यही निरूपण किया गया है।

अन्न का दान करने वाला इन सारी वस्तुओं का दान करता है। वह ब्राह्मण का दिया हुआ ही अन्न खाया जाए तो ज्ञान को उत्पन्न करता है। अन्नदान से सब के दान का फल प्राप्त हो जाता है। इसलिए वह ज्ञान ब्राह्मण में ही सुस्थिर रहता है। अन्य के अन्न से उत्पन्न हुआ ज्ञान तो, ब्राह्मण के द्वारा कहा हुआ न होने से वह ब्रह्म ज्ञान नहीं हो सकेगा। इसलिए भगवान् पहले ब्राह्मण का स्वरूप कहते हैं और फिर याचना कहेंगे। देवयजन देवों की पूजा का स्थान (यज्ञभूमि) अयोग्य स्थान में यज्ञ करने का निषेध बतलाने के लिए वेद में उनके कई भेद कहे हैं। वे सभी ब्राह्मण थे, उनमें कोई क्षत्रिय यजमान नहीं था। वे सब अपने धर्म से पवित्र, ब्रह्म वेद तथा वेदार्थ के ज्ञाता थे। ऐसे मुख्य अधिकारी वे ब्राह्मण आङ्गिरस‡ चौबीस रात्रि में समाप्त होने वाले यज्ञ को\* स्वर्ग की प्राप्ति की कामना से कर रहे थे।† स्वर्ग भगवान् का आनन्दांश किंवा भगवान् का अवतार रूप है। अतः सर्वोत्तम याज्ञिक ब्राह्मण थे ॥३॥

‡ चत्वारः षडहा नामेति प्रसिद्धं।

\* अंगिरसो वै सत्रमासतते सुवर्गं लोकमायन्।

† देवेभ्यो वै स्वर्गो लोकस्तिरो भवत्—इति श्रुति

**टिप्पणी—**व्याख्या में कहे गए—ज्ञानं ही ब्रह्मात्मक—से लेकर कार्यक्षमं भवति—तक वाक्य का अभिप्राय यह है—पहले अध्याय में—यहां की सभी वस्तुएँ भगवदर्थ हैं अपने उपयोग में लेने की नहीं हैं, ऐसा ज्ञानोपदेश किया

श्लोक—तत्र गत्वोदनं गोपा याचतास्मद्विसजिताः ।

कीर्तयन्तो भगवत आर्यस्य मम चाभिधाम् ॥४॥

श्लोकार्थ—हे गोपों ! हमारे द्वारा भेजे हुए तुम वहाँ जाकर भगवान् आर्य बलदेवजी का और मेरा नाम लेकर उनसे ओदन-(भोजन)-माँगो ।

सुबोधिनी—तत्र गत्वा याचनं कर्तव्यमित्याह तत्र । तदाहार्यस्य बलभद्रस्य मम चाभिधां नाम कीर्तयन्तो याचत ॥४॥  
गत्वेति, अस्मद्विसजिता अस्मत्प्रेषिता न तु स्वतन्त्रतया-  
न्यथा गमनेष्यपराधः स्यात्, स्वनाम्ना न याचनीयं,

व्याख्यार्थ—वहाँ जाकर याचना करने के लिए—इस श्लोक में कहते हैं । स्वतन्त्रता से-अपने आप-जाने में, अपराध होगा, इसलिए हमारे भेजे हुए जाओ । हमारे नाम से माँगो अर्थात् आर्य बलभद्रजी के और मेरे नाम का कीर्तन करते हुए माँगना ॥४॥

श्लोक—इत्यादिष्टा भगवता गत्वायाचन्त ते तथा ।

कृताञ्जलिपुटा विप्रान् दण्डवत् पतिता भुवि ॥५॥

श्लोकार्थ—भगवान् की आज्ञा के अनुसार वे वहाँ गए और हाथ जोड़कर पृथिवी पर दण्डवत् प्रणाम करके विप्रों से भोजन माँगने लगे ।

है—तब तो भगवदर्थ उन वस्तुओं को अपने काम में लेने पर व्यवहार का और लीला का भी विरोध होगा । क्षुधा की निवृत्ति भी अत्यावश्यक है और भगवदीय वस्तु का उपयोग न हो जाए—ऐसा भय भी है । इसी से नई वस्तु की प्रार्थना की । नहीं तो फल आदि से भी मूख की (निवारण) शान्ति हो सकती थी; फिर प्रार्थना करना व्यर्थ होता । अतः जिस वस्तु का उपयोग करने में भगवान् की इच्छा है, उसका उपयोग करना और जिसके उपयोग करने में उनका संकेत न हो, उसका उपयोग न करना—इस प्रकार के (भगवान् के संकेत के ज्ञान की भी आवश्यकता है । इतने पर भी—इस वस्तु का भोग मैं ही करूँगा—यदि भगवान् का ऐसा आग्रह होवे, तब ही बाल लीला में रस आवे । नहीं तो—आग्रह बिना—शान्त रस के मध्यपाती होने से, रसाभास हो जाएगा । और जब तक पहले दिया हुआ ज्ञानोपदेश जागृत रहेगा, तब तक ऐसा होना संभव नहीं है । इसलिए प्रारम्भ में, लोक के अनुकूल और अन्त में, भगवत्सम्बन्धी ज्ञान जिसके द्वारा होगा—वह यह अन्न है—ऐसा कहते थे । अन्न के स्वामी—ब्राह्मण-बहिर्मुख और अन्न को अर्पण करने वाली स्त्रियाँ भक्त थीं । इस प्रकार अन्न के दो भेद हैं । श्रुतियों में अन्न को ज्ञान का पोषक बतलाया है ।

लेख—स्वर्ग, भगवान् के आनन्द का अंश है—इसलिए स्वर्ग की कामना से किया हुआ भी वह कम—सत्र-विकृत नहीं था ॥३॥

सुबोधिनी—तथैव कृतवन्त इत्याहेत्यादिष्टा इति, भगवतादिष्टा नान्यथा कर्तुं शक्ता अतस्तत्र गत्वा तथैव ते याचितवन्तः, तेषां याचने प्रकारमाह कृता-

ञ्जलिपुटा इति, कृतोञ्जलिपुटो यैः, अगर्वार्थमेतत्, दण्डवत् पतिता भुवि ब्राह्मणानयाचन्तेतिसम्बन्धः ॥५॥

**व्याख्यार्थ—**गोपों ने वैसा ही किया—यह 'इत्यादिष्टा' इस श्लोक में कहते हैं। उन्हें भगवान् ने भेजा था, वे उनकी आज्ञा के विपरीत करने में समर्थ नहीं थे। इसलिए उन्होंने गर्व के नाश के लिए हाथ जोड़े और पृथ्वी पर दण्डवत् गिरकर ब्राह्मणों से अन्न मांगा ॥५॥

**श्लोक—**हे भूमिदेवाः शृणुत कृष्णस्यादेशकारिणः ।

आप्ताञ् जानीत भद्रं दो गोपान् नो रामचोदितान् ॥६॥

**श्लोकार्थ—**हे पूजनीय ब्राह्मणों ! सुनिए आपका कल्याण हो, हम लोग कृष्ण और बलरामजी की आज्ञा से आपकी सेवा में उपस्थित हुए हैं ।

सुबोधिनी—तेषां याचनवाक्यान्माह भूमिदेवा इति, भूमौ प्रत्यक्षदेवा ब्राह्मणाः, शृणुतेति श्रवणार्थं प्रार्थयन्ते, के भवन्त इत्याकाङ्क्षायामाहुः कृष्णस्यादेशकारिण इति सदानन्दस्य भगवतः फलरूपस्य वयमाज्ञाकारिणः तथापि किं प्रमाणं भगवद्वाक्य इत्याकाङ्क्षायामाहुराप्तान् जानीतेति, आप्तवाक्यं शब्दः प्रमाणं, यथादृष्टार्थवादिन आप्ताः, किमुच्यत इत्याकाङ्क्षायामाहुर्भद्रं व इति, प्रथमतः

आशिषो याचकैर्वक्तव्या इति, अथ वा यदुच्यते तद् भवतां भद्रमेव वयं च जात्या गोपा रामेण बलभद्रेण च प्रस्थापिताः, भगवान् सदानन्दो न हि भक्तान् याचने प्रवर्तयते, यदपि भगवतोक्त 'मस्मद्विसृजिता' इति तदपि वाक्यत्वाद् वेदमध्ये प्रविष्टं बलभद्र एव प्रविशत्यतो रामचोदितानिति युक्तम् ॥६॥

**व्याख्यार्थ—**हे भूमिदेवाः—इत्यादि तीन श्लोकों के द्वारा गोपों के अन्न मांगने के वचन कहते हैं। भूमि पर प्रत्यक्ष देवता ब्राह्मण हैं। सुनने की प्रार्थना करने वाले वे गोप, अपना परिचय देते हुए कहते हैं कि कृष्ण—सदानन्द फल रूप भगवान्—के आज्ञापालक हैं। हम लोग आप हैं अर्थात् शब्द को प्रमाण मानने वाले यथादृष्ट कहने वाले हैं (मिथ्यावादी नहीं हैं)। याचकों को याचना के पहिले आशीर्वाद देना उचित है। इस से आशीर्वाद देते हैं—आपका कल्याण हो। अथवा हमारे वचन आपके कल्याण के लिए ही हैं। हम गोप हैं और बलभद्रजी ने हमें भेजा है। क्योंकि सदानन्द भगवान् तो अपने भक्तों को याचना कार्य में प्रवृत्त नहीं करते हैं अर्थात् भक्तों से भिक्षा नहीं माँगवाते हैं।

यद्यपि भगवान् ने इन से—हमारे भेजे हुए—ऐसा कहा था, तो भी, भगवान् के वेदरूप उस वाक्य का बलभद्रजी से ही सम्बन्ध है। इस से बलभद्रजी के कहने से, गोपों का आना बतलाना ही उचित है (था) ॥६॥

श्लोक—गाश्चारयन्तावविदूर ओदनं रामाच्युतौ वो लषतो बुभुक्षितौ ।

तयोद्विजा ओदनमथिनोर्यदि श्रद्धा च वो यच्छत धर्मवित्तमाः ॥७॥

**श्लोकार्थ—**यहाँ पास में ही गोचारण करने वाले राम कृष्ण दोनों भाईयों को भूख लगी है । वे आप से भोजन मांगते हैं । इसलिए—हे ब्राह्मणों ! यदि उन प्रार्थियों पर तुम्हारी श्रद्धा हो और तुम्हारा ही अन्न हो तो दीजिए । आप लोग धर्म के जानने वालों में श्रेष्ठ हैं ॥७॥

**सुबोधिनी—**एवं पूर्वपीठिकामुक्त्वा याचनमाहुर्गाश्चारयन्ताविति, गाश्चारयन्तौ धर्मप्रवर्तकावविदूरे निकट एव स्थितौ रामाच्युतौ ब्रह्मपरमानन्दौ वो युष्माकमन्नं लषतः, तत्र हेतुर्बुभुक्षिताविति अन्यथा न याचेयातां, न हि कश्चिद् याचकं याचते, बुभुक्षिताविति भगवद्वाक्यात् 'कीर्तयन्तो भगवत' इतिभगवद्वचनात्, अभिप्रायमज्ञात्वा क्षुधामेव ज्ञातवन्तः, अभिप्रायस्तु तैर्भगवानेव याचत इति ज्ञातो यथा महान् प्रभुः सेवक याचयित्वा ददाति तथा ब्राह्मणयाचनं कृत्वा देयमिति,

अत उक्तं बुभुक्षिताविति, द्विजा इतिसम्बोधनमज्ञानाद् रुद्ध्या वा तयो रामकृष्णयोरोदनं यच्छत क्षुधैव पात्रता निरूपिता, अथित्वमपि द्वितीयमङ्गलं, अन्यर्थकादश्यामपि क्षुधितायान्नं देयं स्यात्, तत्रापि यदि श्रद्धास्तिवय-बुद्धिस्तदा देयं, एतयोर्दाने वयं कृतार्था भविष्याम इति, चकाराद् यद्योदनोस्ति यदि वा वो युष्माकमेव न त्वन्यस्य प्रसङ्गादागतः, अत्र सर्वत्र विधिनिषेधपरिज्ञानं भवतामेव वर्तत इत्याहुर्धर्मवित्तमा धर्मविदां मध्येतिशयिताः ॥७॥

**व्याख्यानार्थ—**इस प्रकार पूर्व पीठिका कह कर गाश्चारयन्तौ—इस श्लोक से याचना करते हैं । गोचारण रूप धर्म के प्रवर्तक हैं । (रामकृष्ण ब्रह्म और परमात्मा) पास में ही स्थित हैं । भूखे हैं—इससे आपका अन्न चाहते हैं । भूख न लगी होती, तो आपके अन्न की याचना नहीं करते क्योंकि भिखारी से कोई कुछ याचना नहीं करता । वे भगवान् के—'कीर्तयन्तो भगवतः—' वचनों का अभिप्राय न समझ कर—'बुभुक्षितौ'—भूखे हैं ऐसा ही समझें । उनके द्वारा भगवान् याचना करते हैं—यह अभिप्राय जाना । जैसे कोई बड़ा स्वामी, सेवक से कुछ मांगकर फिर उसे देता है, इसी तरह ब्राह्मणों से मांग कर देना है । इसी से भूखे हैं—ऐसा कहा है । द्विजाः ! यह सम्बोधन अज्ञानता के कारण अथवा रुद्धि से कहा है । उन रामकृष्ण के लिए ओदन देओ । भूखे अन्नदान के पात्र हैं और मांगते हैं—यह योग्यता—पात्रता—का द्वितीय अंग है । नहीं तो एकादशी के दिन भी भूखे के लिए अन्नदान वैध हो जाएगा ।

**क्षुधा और याचना—**दोनों प्रकार से योग्यता होने पर भी, यदि आपकी श्रद्धा—आस्तिक्य बुद्धि हो, अर्थात् इनको देने से हम कृतार्थ होंगे—तो देओ । ओदन होवे और आपका ही होवे, प्रसंग वश किसी से आया हुआ न होवे तो देओ । इस विषय में, विधि निषेध का परिज्ञान आपको ही है, क्योंकि धर्म के ज्ञाताओं में श्रेष्ठ हैं ॥७॥



श्लोक—दीक्षायाः पशुसंस्थायाः सौत्रामण्याश्च सत्तमाः ।

अन्यत्र दीक्षितस्यापि नान्नमशनं हि दुष्यति ॥८॥

**श्लोकार्थ—**बलिदान के पहले दे देने से, अन्न के उच्छिष्ट हो जाने का भय मत करो, क्योंकि हे सज्जनों में श्रेष्ठों ! यज्ञ में दीक्षा लेने के पीछे बलिदान के पहले तक और सौत्रमण्य दीक्षा तथा अन्य दीक्षाओं में अन्न देने से उच्छिष्ट नहीं होता है ॥८॥

**बुधोधिनी—**ननु दीक्षितानामन्नमभोज्य 'न दीक्षित-वसनं परिदधीत नास्य पापं कीर्तयेन् नान्नमश्रीया'दिति तत्राहुर्दोषाया इति, दीक्षातः पूर्वं भोक्तुं शक्यते ततो दीक्षादिवसेषु न भोक्तव्यं पशुसंस्थादिवसेषु च न भोक्तव्यं, सौत्रामण्याश्च सुत्येहनि न भोक्तव्यं यदा सुग्राहः, अथ वा दीक्षाया दीक्षामारभ्य पशुसंस्थाया अन्यत्र पशुसंस्थापर्यन्तं न भोक्तव्यं सौत्रामण्यां च,

'सस्थिते वाग्नीषोमीये हुतायां वा वपाया'मिति वाक्यात् सौत्रामण्यां तु सुराधान्या'दन्नस्य वा एतच्छमलं यत् सुरे'ति शमलसम्बन्धान्न भोक्तव्यं, द्रव्यनिर्देशः कृतो न वेतिसन्देहात् स पक्षो नोक्तः, अन्यत्रैतद्व्यतिरिक्तस्थले दीक्षितस्याप्यन्नमशनं न दुष्यति, हि युक्तश्रायमर्थः, तदुपपादितं श्रुतिप्रदर्शनेन ॥८॥

**व्याख्यार्थ—**जब—'न दीक्षित वसनं परिदधीत नास्य पापं कीर्तयेन्नान्नमशनीयात्'—श्रुति में दीक्षितों के अन्न को अभोज्य—न खाने योग्य—(निषिद्ध) बतलाया है तो फिर, भगवान् ने उनका अन्न कैसे मंगवाया ? इस प्रश्न के उत्तर में—'दीक्षायाः'—यह श्लोक कहते हैं । दीक्षा के पहले, दीक्षित का भी अन्न खाया जा सकता है । दीक्षा तथा बलिदान के दिनों में, दीक्षित का अन्न ग्रहण का निषेध है । सौत्रामण्य होम में, सुरा की प्रधानता होती है और सुरा अन्न का मूल है । इसलिए सौत्रामण्य होम के दिन भी, दीक्षित का अन्न ग्रहण करने लायक नहीं होता है । द्रव्य-अन्न का निर्देश किया गया है या नहीं किया—ऐसे सन्देह के कारण, अन्न के भेद का पक्ष नहीं कहा । अर्थात् तीन प्रकार आज्य, पशु, पुरोडाशीय अन्न में कौनसा अन्न ग्रहण करने योग्य होता है और कौनसा नहीं—यह पक्ष नहीं कहा गया है । अन्यत्र—इन बताई हुई परिस्थितियों के अतिरिक्त दीक्षित का अन्न खाने वाला दूषित नहीं होता है । श्रुति के अनुसार 'हि' यह अर्थ उचित है ।

**लेख—**व्याख्या में—अतः—क्षुधा के ज्ञान से ।

**योजना—**व्याख्या में—'ब्रह्म परमात्मानो' का तात्पर्य यह है कि योगिजनों के रमण करने का स्थान होने से राम ब्रह्म है और अच्युत कृष्ण-कृषिर्भूवाचकः इस श्रुति के अनुसार परमानन्द रूप है ॥७॥

**लेख—**अन्यत्र—बलिदान के पश्चात् भी दीक्षित का अन्न खाने में दोष नहीं है ॥८॥

श्लोक—इति ते भगवद्याच्छां शृण्वन्तोपि न शुश्रुवुः ।

क्षुद्राशा भूरिकर्माणो बालिशा वृद्धमानिनः ॥६॥

श्लोकार्थ—तुच्छ स्वर्ग सुख की कामना रखकर, परिश्रम साध्य यज्ञ करने वाले बडप्पन के अभिमानी उन बेसमझ ब्राह्मणों ने गोपों के द्वारा की हुई भगवान् की याचना को सुनकर भी, नहीं सुना (अनसुनी कर दी) उस पर कोई ध्यान नहीं दिया ॥६॥

सुबोधिनी—एवं सोपपत्तिके याचने कृतेपि ते न दत्तवन्तस्तत्र हेतुरश्रवणं तत्रापि हेतुर्बालकोक्तमिति, 'असंस्कृता न परिभाष्या' इति 'न स्त्रिया न शूद्रेण सम्भाषेते' ति च, तथापि भगवन्नाम्ना याचितवन्त इत्यदाने तेषां दोष एवेति मन्यमानः शुक आह्वेतीति, ते हि भगवद्याच्छां शृण्वन्तोपि सन्तो न शुश्रुवुर्दत्तचित्ता न जाताः, तत्र हेतवः क्षुद्राशा इत्यादिपदोक्ताश्चत्वारः, क्षुद्रत्वेऽप्येव आशा येषां, स्वर्गानन्दो हि क्षुद्रः परमानन्दापेक्षया, 'अस्यैवानन्दस्यान्यानि मात्रामुपजीवन्ती'ति श्रुतेः, साङ्गादेव वैदिककर्मणः फलावश्यम्भावः, ते ह्येवं मन्यन्ते प्रमाणबलनिष्ठा भगवान् हि सर्वात्मकः सर्वत्रैव वर्तते विशेषेणाभिष्यक्तिपक्षेपि यज्ञोपि भगवान् सर्वस्यापि प्रारब्धमूर्तिरेव सन्तोषणीया ततो यथा यज्ञापराधो न पतति तथा विधेयमन्यथा विधिनिषेधो न स्यातां, प्रायेणैतद्व्यनिर्देशः कृत 'आज्यं पशवः पुरोडाशीया एते मे यज्ञार्था यावद् यज्ञ उपयोक्ष्ये तावन् मे यज्ञार्थं शेषाद् ब्राह्मणा भुञ्जीर' इति, अतो, 'ब्राह्मण'-पदश्रवणाद् भगवतेपि न दत्तवन्तो रूपान्तरपरिज्ञानात्, एवं तेषां क्षुद्राशा, किञ्च ते हि भूरिकर्माणः, यद्यप्ये कर्मणि तावानपि स्वर्गः स्यात् तथापि न कुर्युरतो

महतापि यज्ञेन यावान् स्वर्गो भवति तावान् भगवत्तत्र दानेनापि भवत्यधिकोपि सर्वयज्ञात्मकत्वात् तथापि न कृतवन्तः कर्मतारतम्येन फलतारतम्यमिति न्यायादन्यथा पूर्णाहुत्या सर्वे लोकाः सिद्धा इति सत्प्रारम्भ एव व्यर्थः स्यादतो यथा समानफलान्यपि नाल्पानि कर्माणि क्रियन्ते तथैतदपि न कृतवन्तो 'न ददाति न पचत' इति वाक्याच्चातो भूरिकर्माणः स्थूल एव कर्मण्यासक्तास्तत् कर्म नष्टं भवेदिति शङ्क्या न दत्तवन्तो यतो बालिशा अज्ञाः, कर्म हि देवताप्रीतिहेतुस्ताश्च देवता आधिदैविकभूता भगवति सन्तुष्ट एव सन्तुष्यन्ति नाभ्यथा 'तोर्के चेन् मधु विन्देते' तिन्यायेन सर्वफलरूपे भगवति सर्वदेवतारूपे चोपस्थिते-त्पसाधनेनैव परितुष्यमाण आदरमकृत्वा वस्तुज्ञानाभावेभिव्यक्त्यभावाद् यज्ञस्य च स्वरूपानभिज्ञानादन्यथा मूलेनादरासम्भवात् कर्मणो बह्वन्तरायत्वात् केवलं आन्त्येदमेव कर्तव्यमिति प्रवृत्ता बालिशा एव, किञ्च यथैतत् सर्वं न जानन्ति तथा स्वदोषमपि न जानन्त्यन्यथान्यो वा बोधयेत्, स्वस्य मोढ्याज्ञाने हेतुर्वृद्धमानिन इति, वयमेव त्रयीवृद्धा वेदार्थं जानीम इत्यसदाग्रहाः

॥६॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार युक्ति पूर्वक, अन्न मांगने पर भी, ब्राह्मणों ने अन्न नहीं दिया, क्योंकि, उन्होंने गोपों के वचनों को-बालक का कथन समझकर-सुना ही नहीं । शास्त्र में, संस्कार रहित बालकों के, स्त्रियों के और शूद्रों के साथ भाषण का निषेध है । इन गोपों ने तो, भगवान् के नाम से अन्न मांगा था, तब भी, भोजन न देने से उन ब्राह्मणों के दोष को श्री शुकदेवजी-इति ते-इस श्लोक से कहते हैं ।

वे भगवान् की याच्ना को सुनते हुए भी, नहीं सुनते थे दत्तचित्त नहीं हुए । इस के चार कारण थे । (१) क्षुद्राशाः—वे तुच्छ वस्तु की प्राप्ति की आशा वाले थे । क्योंकि परमानन्द की अपेक्षा स्वर्गानन्द तुच्छ है । वेद में कहा है कि—‘अस्यैवानन्दस्यान्यानि मात्रामुपजीवन्ति’—इस परमानन्द के आनन्द की मात्रा-अंश-से अन्य जीवित है । अंग सहित-विधिपूर्वक-किए गए वैदिक कर्म से, फल की प्राप्ति अवश्य होती है । प्रमाण बल (मर्यादा) में निष्ठा रखने वाले वे ऐसा समझते थे । भगवान् सर्व रूप हैं, सब ठौर विराजते हैं । कहीं पर विशेष प्राक्क्य के पक्ष में, यज्ञ भी—‘नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्’—भगवान् हैं । इसलिए सब की ही आरम्भ की हुई मूर्ति—(यज्ञ) का ही सन्तोष करना चाहिए । यज्ञ में जैसे अपराध न आवे, वैसा ही करें । नहीं तो इच्छानुसार चाहे जैसा कर लेने पर तो, विधि निषेध ही न होते । उन ब्राह्मणों ने तो अधिकतया द्रव्य का नाम भी प्रकट कर दिया है (आज्य, पशु, पुरोडाश—ये मेरे यज्ञ के लिए हैं, जब तक यज्ञ में मैं इन का भोग करूँ, तब तक ये मेरे यज्ञ के लिए हैं । बचे हुए का उपभोग ब्राह्मण करें) । यहाँ आए हुए ब्राह्मण पद को सुनकर उन ब्राह्मणों ने भगवान् के लिए भी भोजन नहीं दिया; क्योंकि, वे भगवान् से भिन्न मान रहे थे । इस प्रकार उनकी क्षुद्र आशा थी और बहुत बड़ा कर्म करने वाले थे । यद्यपि छोटे यज्ञ का भी, वही (उतना ही) फल होता तो भी—समान स्वर्ग की प्राप्ति फल होने पर भी, छोटा यज्ञ न करके बहुत बड़ा यज्ञ कर रहे थे । बड़े यज्ञ से जितने स्वर्ग की प्राप्ति होती है; उतना ही, उस से भी अधिक स्वर्गफल भगवान् के लिए—अन्नदान—अर्पण करने से होता है, क्योंकि, भगवान् सर्व यज्ञ स्वरूप हैं । तब भी भगवान् के लिए भोजन नहीं दिया । कर्म के तारतम्य से फल में—न्यूनाधिक—(तारतम्य) होता है—इस न्याय से, उन्होंने ऐसा नहीं किया । अन्यथा (नहीं तो) पूर्ण भगवान् के लिए आहुति देने से, सब लोकों की सिद्धि हो जाने पर, सत्र का प्रारम्भ करना निरर्थक होगा । इसलिए जैसे फल बराबर रहने पर भी, छोटे कर्म नहीं किए जाते हैं, वैसे यह भी नहीं किया । न देता है और न पकाता है—इस वाक्य से, वे बड़ा यज्ञ-कर्म करने वाले थे । स्थूल कर्म में ही उनकी आसक्ति थी । कर्म का नाश होने की शंका से अन्न नहीं दिया; क्योंकि, वे बालिश अज्ञानी थे । कर्म से देवता प्रसन्न होते हैं । आधिदैविक भूत देवता, भगवान् के सन्तुष्ट होने पर ही सन्तुष्ट होते हैं । भगवान् के सन्तुष्ट न होने पर देवता भी सन्तुष्ट नहीं होते । इसलिए—पास में ही यदि मधु<sup>१</sup> मिल जाए, तो फिर, उसके लिए पर्वत पर क्यों जाया जाए—इस न्याय से भी, सब फलस्वरूप, सब देवतामय और थोड़े से साधन से ही सन्तुष्ट होने वाले भगवान् का ही आदर करना उचित था वह नहीं किया, क्योंकि उनमें यह नहीं जाना कि सच्ची वस्तु (भगवान्) के अज्ञान से यज्ञ भगवान् प्रकट नहीं होते । वे तो यज्ञ के स्वरूप को भी नहीं जानते थे, नहीं तो सब के मूल भगवान् में अनादर करने से कर्म में बहुत विघ्न आवेंगे—ऐसा समझते । किन्तु केवल भ्रम से—यही कर्तव्य है, ऐसा समझकर अन्न नहीं दिया; क्योंकि वे अज्ञानी—ही थे । और उन्हें जैसे इस सब वस्तु का ज्ञान नहीं था, उसी तरह, वे अपने दोष को भी नहीं जानते थे । नहीं तो, उन्हें कोई बता भी देता । अपनी अज्ञानता को न जानने का कारण यह था, कि वे वृद्धमानी थे—सारे वेदों का अर्थ हम ही जानते हैं । ऐसे मिथ्या आग्रह वाले थे ॥६॥

लेख—‘इति ते’ श्लोक की व्याख्या में—दत्तचित्ताः—का अभिप्राय यह है, कि सुनने पर भी चित्त में ग्रहण करने योग्य नहीं समझा ।



श्लोक—देशः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रद्विजाग्नयः ।

देवता यजमानश्च ऋतुधर्मश्च यन्मयः ॥१०॥

श्लोकार्थ—जो देश, काल, यज्ञ की सारी सामग्री, मंत्र, तन्त्र, ब्राह्मण, अग्नि, देवता यजमान, ऋतु और धर्म स्वरूप हैं ॥१०॥

सुबोधिनी—तेषामज्ञानं सर्ववस्तुयाथात्म्यनिरूपणेन प्रकटयति देश इति, देशादय एकादश द्वादश वा कस्यापि ते स्वरूपं न जानन्ति, ज्ञात्वा हि कर्म कर्तव्यं, तत्र देशा देवयजनानि, कालो वसन्तादिः, पृथगिति सर्वत्र भेदः पृथग् द्रव्याणि वा, मन्त्र ऋगादि, तन्त्रमानुपूर्वी क्रिया-समुदायो वा, द्विजा ब्राह्मणा 'भार्गवो होता भवती'त्यादि

भेदाश्च, अग्नयो ब्रह्मवा भिन्ना ग्राहवनीयादयः, देवता अग्न्यादयः, यजमानो ब्राह्मणादिः 'सिक्तेता' इत्यादि-भेदाश्च, ऋतुर्यज्ञाधिष्ठात्री देवता, धर्मो यज्ञः, चकारात् तदङ्गादिकं सर्वमेव, आध्यात्मिकभेदेन वा ऋतुर्यज्ञो धर्मस्तज्जनितमपूर्वमिति ॥१०॥

व्याख्यार्थ—सब वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप निरूपण के द्वारा—'देशः'—श्लोक से उनके अज्ञान को प्रकट करते हैं । इन देश काल—आदि ग्यारह अथवा बारह में से किसी एक के स्वरूप को भी वे नहीं जानते थे । कर्म का तो यह नियम है, कि जानकर ही कर्म करना चाहिए । 'देशः'—देवों का यजन पूजन करने का स्थान । 'कालः'—वसन्त आदि ऋतुएँ । पृथक्—सब वस्तुओं में भेद अथवा भिन्न भिन्न सामग्रियाँ । मंत्र—ऋचा आदि । 'तन्त्रम्'—आनुपूर्वी कर्म का क्रम अथवा क्रिया समूह । द्विजाः—ब्राह्मण जिनके—भार्गव होता होता है—इत्यादि भेद हैं । अग्नयः ग्राहवनीय आदि अनेक प्रकार की है । देवता—अग्नि आदिक । यजमानः—ब्राह्मण आदिक, जिनके—सिक्तेता आदि अनेक भेद हैं । ऋतुः—यज्ञ की अधिष्ठात्री देवता । धर्मः—यज्ञ । 'च' से यज्ञ के सारे अंग । अथवा आध्यात्मिक भेद से ऋतुः—यज्ञ । धर्मः—यज्ञ से उत्पन्न हुआ अपूर्व । ये सब जिससे भगवन्मय हैं ॥१०॥

श्लोक—तद् ब्रह्म परमं साक्षाद्भगवन्तमधोक्षजम् ।

मनुष्यदृष्ट्या दुःप्रज्ञा मर्त्यात्मानो न मेतिरे ॥११॥

श्लोकार्थ—उन साक्षात्—प्रत्यक्ष—परब्रह्म अधोक्षज—(इन्द्रियजन्य ज्ञान से ग्रहण करने में न आने वाले)—सर्व शक्तिमान् का मन्दबुद्धि वाले देहाभिमानी ब्राह्मणों ने मनुष्य दृष्टि (अज्ञान) से आदर नहीं किया ॥११॥

सुबोधिनी—नन्वेतत् सर्वं ब्रह्मात्मकमतः प्रकृते कथमुपालम्भः ? तत्राह तद् ब्रह्मेति, यदेतत् सर्वं तद् ब्रह्म तत्रापि परमं, ब्रह्मशब्देन चत्वार उच्यन्ते वेदो ब्राह्मणजातिश्च चतुर्मुखः परब्रह्म च, अतोऽन्यव्यावृत्त्यर्थं

परमशब्दः, स एवायं साक्षात्, औपचारिककार्याशिस-गुणपक्षा व्यावृत्तिताः, ततोऽप्याधिक्यमाह भगवन्तमिति, षड्गुणैश्वर्यसम्पन्नं पुरुषोत्तमं, भगवच्छब्दवाच्यस्य प्राकृतत्वव्युदासायाहाधोक्षजमिति, अधोक्षजं ज्ञानं

यस्मात् तद्वत्तादृशे वस्तुनि प्रकटे स्वप्रकाशे कथं तेषामज्ञानम् ? तत्राह मनुष्यदृष्टयेति, अन्यथाज्ञानादज्ञानं यद्यन्यभावस्फूर्तिर्न स्याद् विचारे ज्ञानोपाये च प्रवृत्तिः स्यात्, अन्यथाज्ञाने हेतुमाह दु प्रज्ञा इति, दुष्टा प्रज्ञा येषां, बुद्धिदोषात् सर्वत्रैव तेषामन्यथाज्ञानं तथा प्रकृतेऽपि जातमित्यर्थः, नन्वत्रान्यथाज्ञानं भवितुं नाहंति समान-धर्माभावात् विषयत्वाभावादारोपायोग्यत्वात् स्वप्रकाश-त्वाद् विषयः सर्वथा शुद्ध इति कथं तत्रान्यथाबुद्धिरिति चेत् तत्राह मर्त्यात्मान इति, न ह्यत्र तेषां बुद्धिविषयं स्पृशति किन्तु मध्यममेवावलम्बते यथा भ्रमदृष्टेर्भूम्या-दयः, न हि कदाचिदपि भूम्यादीनामावर्तोस्ति, अतोन्तरेव

दृष्टिभ्रमणं स्वाधिकारादारोप्यते, विषयधर्माणां हेतुत्वे रजतभ्रमवदन्यः स्यात् तस्यापि कालान्तरे स्यात्, अत एव ते मानुषभावेनैव व्याप्ता मनुष्या एव वयमिति मन्यमाना भगवन्तमपि तथैव मन्यन्ते, यथा चौरः सर्वा-नेव चौराव जानाति तथा मूर्खा देवमप्यागतं स्वसमानमेव मन्यन्ते, यथा व्याघस्तपस्विनं, इतरवैलक्षण्याज्ञानात्, तस्मात् स्वदोषादेव निर्दुष्टे विषयेन्ययास्फूर्तिः, अत एते मर्त्यात्मान आत्मानमपि मर्त्यं कृतवन्तः परमात्मनस्तथा-करणे कः प्रयासः ? अतो भगवच्छास्त्रं दृष्ट्वापि न मेनिरे नाङ्गीकृतवन्तः ॥११॥

व्याख्यार्थ—जब यह सब ब्रह्मात्मक है तो रहे । यहाँ उन विप्रों को उपालम्भ कैसे ? इस शंका के उत्तर में-तद् ब्रह्म श्लोक कहते हैं । यह सब ब्रह्म ही नहीं, किन्तु परम ब्रह्म है । ब्रह्म शब्द के-वेद, ब्राह्मण, ब्रह्मा और परब्रह्म-चार अर्थ हैं । इन में यहाँ अन्य तीन अर्थों का निषेध करने के लिए मूल में-‘परम’-विशेषण दिया है । वह ही यह साक्षात् है । साक्षात् पद से, उपचार, कार्य, अंश, सगुण आदि पक्षों का निषेध किया है । परब्रह्म ही नहीं, किन्तु उससे भी उत्कृष्ट भगवान् छः ऐश्वर्यों से सुशोभित पुरुषोत्तम ! यहाँ भगवान् शब्द का अर्थ ‘भगवान् कालिदास’ आदि की तरह प्राकृत नहीं है, क्योंकि यह अधोक्षज है-इन्द्रिय जन्य ज्ञान इनका स्पर्श नहीं कर सकता है ।

इस प्रकार के स्वतः प्रकाश सर्वोत्कृष्ट भगवद्रूप वस्तु के प्रकट रहने पर भी द्विजों के अज्ञान का कारण, मूल में-‘मनुष्य दृष्ट्या’-पद से बतलाते हैं । विपरीत ज्ञान से उन्हें अज्ञान था । यदि विपरीत भाव नहीं होता, तो वे विचार करने में और ज्ञान के उपाय में लगते । विपरीत ज्ञान का कारण यह था, कि वे दुष्प्रज्ञ थे-दुष्ट बुद्धि वाले थे । बुद्धि के दोष के कारण ही, उनका सभी स्थानों में होने वाला विपरीत ज्ञान यहाँ भी-भगवान् में भी-हो गया ।

शंका—भगवान् में अन्यथा ज्ञान नहीं हो सकता; क्योंकि, ओरों में, उनके समान धर्म नहीं है । उनमें विषयता का अभाव है, आरोप की योग्यता नहीं है और स्वयं प्रकाशमान है । विषय सब प्रकार से शुद्ध है, फिर उसमें अन्यथा बुद्धि क्यों हुई ? इस शंका का उत्तर मूल में ‘मर्त्यात्मानः’ पद से दिया है । यहाँ उनकी बुद्धि विषय का स्पर्श नहीं करती-विषय तक नहीं पहुँचती है, किन्तु माया का अवलम्बन करती है । जैसे की घूमने वालों की दृष्टि में, भूमि, वृक्ष आदि घूमते दिखाई देते हैं । परन्तु भूमि आदि कभी घूमते नहीं हैं । इसलिए अपने अधिकार से बीच में ही, दृष्टि के भ्रमण से भूमि में भ्रमण का आरोप किया जाता है, अर्थात् निश्चल भूमि आदि घूमती सी दीखती है । यदि वस्तु-भूमि, पर्वत आदि में भ्रमण धर्म मान लेने पर तो, सीप में चांदी के भ्रम की तरह किसी और व्यक्ति को भी घूमते दीखने चाहिए तथा उस घूमती हुई दृष्टि वाले को भी स्थिर दृष्टि रहने पर भूमि घूमती हुई दीखनी चाहिए । किन्तु ऐसा नहीं होता । इसी से, मनुष्य भाव से ही व्याप्त थे । हम मनुष्य हैं-ऐसा मानने वाले, उन ब्राह्मणों ने भगवान् को भी अपना सा मनुष्य ही समझ लिया, जैसे चोर ओरों को

भी चोर मानता है, उसी तरह वे मूर्ख, आए हुए देव को भी, अपने तुल्य मानते थे । अपनी अपेक्षा दूसरों में विलक्षणता के अज्ञान से, जैसे वहिक, तपस्वी को वहिक समझता है । इसलिए उन्हें अपने दोष से ही, निर्दोष वस्तु-भगवान्-में विपरीत-मनुष्य का-भान हुआ । मर्त्यात्मा-उनने अपनी आत्मा को भी मरण धर्म वाला कर दिया, तो भगवान् को मर्त्य<sup>१</sup> मानने में उन्हें क्या परिश्रम हो । इस कारण भगवत्-शास्त्र को जानकर भी, उन्होंने उन्हें भगवान् नहीं माना ॥११॥

लेख—तद्ब्रह्म-की व्याख्या में अन्यथा ज्ञान के सम्भव न होने का कारण—‘समानधर्माभावात्’ पद से देते हैं । भगवान् में जो धर्म विराजते हैं, वे शरीरों—(जीवों)—में नहीं हैं । सीप में चांदी के समान ही चमक दमक होने से, चांदी का आरोप हो सकता है । इसलिए बुद्धि सीप में चांदी का आरोप करके सीप को चांदीपने के ज्ञान का विषय कर लेती है, अर्थात् सीप में चांदी मान लेती है । भगवान् में मनुष्य के समान धर्मों का अभाव है । इसलिए उनमें, मनुष्यता का आरोप तो अनुचित है । इस न्याय से, जब भगवान् में मनुष्य भाव का आरोप हो सम्भव नहीं है, तो फिर उनमें-ये भी साधारण मनुष्य हैं—ऐसा ज्ञान भी नहीं हो सकता, इसलिए भगवान् में, इस प्रकार का ज्ञान असंभव है । व्याख्या में, अन्यथा ज्ञान का कथन होने से, यहां भी अन्यथा व्याप्ति के पक्ष से ही विवेचन किया है ।

समान धर्म का अभाव कहने का कारण—‘स्वप्रकाशत्वात्’—यह है, कि स्वयं प्रकाशमान होने से, वह ब्रह्म रूप विषय सब प्रकार से शुद्ध है, उसमें किसी भी प्रकार से, मनुष्य जैसे धर्म सम्भव नहीं हैं । उनकी बुद्धि पदार्थ के श्रोतृत्विक-सहज धर्मों का विचार नहीं कर सकी; क्योंकि, उनका विचार कर लेने पर तो समान और असमान धर्मों का निर्णय हो सकता है । इसलिए बीच-(माया) के धर्मों का ही, उनकी बुद्धि ने विचार किया । पदार्थ के वास्तविक धर्मों तक नहीं पहुंच सकी; क्योंकि वे जीव को देह रूप मान रहे थे । अपने आप में माने हुए, मरण धर्म को भगवान् में भी मानते थे । स्वयं प्रकाश रूप धर्म को, भगवान् में नहीं मान रहे थे । इसी कारण, मनुष्य दृष्टि से, उन्होंने भगवान् के वाक्य को स्वीकार नहीं किया ॥ भगवच्छास्त्र वेदादि को देखकर भी उनका तात्पर्य न जानने के कारण वे जीव को मर्त्य मानते थे ॥

योजना—तद्ब्रह्म परमं-श्लोक की व्याख्या में—न ह्यत्र तेषां बुद्धिः विषयं स्पृशति—इत्यादि की योजना इस प्रकार है । भ्रम के—सोपाधिक भ्रम (उपाधि सहित) और निरूपाधिक-भ्रम (उपाधि रहित)—दो भेद हैं । घड़ा घूमता है, शंख पीला है, शक्कर कड़वी है—इत्यादि भ्रम सोपाधिक भ्रम के उदाहरण हैं । वहां अविष्टान घड़े का अश्व के द्वारा ग्रहण करने पर भ्रमरिका की उपाधि को लेकर भगवान् की शक्ति माया घड़े में झूठा भ्रमण उत्पन्न कर देती है । वहां मायाकृत मिथ्या भ्रमण और सत्य घड़ा-ये दोनों ही दिखाई देते हैं ।

इस प्रसंग को ऋतेर्थं यत्प्रतीयेत—इस श्लोक की व्याख्या में—विषयता माया जन्या, विषयो भगवान् विषये विषयता काचित् स्वीकर्तव्या—इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट किया है ॥ विषय-घड़े—में भ्रमण रूप धर्म विषयता

है अर्थात् घड़ा विषय है और उसमें भ्रमण विषयता । वह भ्रमण रूप विषयता माया जन्य मिथ्या है और विषय घट भगवद्रूप सत्य है । घड़े में घड़े का-यथार्थ-ज्ञान विषय जन्य है और घूमने का ज्ञान विषयता जन्य है । वहां आखे विषय (घट) और विषयता (भ्रमण) दोनों का प्रत्यक्ष करती है । इस से घड़ा घूमता है-ऐसा भान होता है । वहां-हमारी घूमती हुई आंख से घड़े में मिथ्या भ्रमण (मायाकल्पित) दिखाई दे रहा है, सत्य भ्रमण नहीं है-बालकों को ऐसा ज्ञान नहीं होता है । उनकी बुद्धि तमोगुण से दबी हुई हो जाने के कारण वे तो घड़े को घूमता ही मान लेते हैं ।

भागवत् सिद्धान्त में, बुद्धि ही सब प्रकार का ज्ञान कराने वाली है । इस लिए बुद्धि के दोष से, घड़ा घूमता दीखने लगता है । अर्थात् तमोगुण से व्याप्त हुई बुद्धि, घड़े को घूमता हुआ ही निर्धार करती है । उस समय उनकी बुद्धि शुद्ध घड़े का ग्रहण न करके घूमते हुए घड़े का ग्रहण करती है । चक्षु इन्द्रिय तो शुद्ध घड़े का मायाकृत मिथ्या भ्रमण सहित ग्रहण करती है । यह मन और इन्द्रिय जन्य ज्ञान सामान्य ज्ञान है और घड़ा घूमता है यह अन्यथा प्रतीति है । मन सहित चक्षु इन्द्रिय से घड़ा घूमता है-ऐसी प्रतीति के पश्चात् बालकों की तमोगुण से व्याप्त हुई बुद्धि घड़े को घूमता हुआ निश्चय कर लेती है । बुद्धि से कल्पना किया हुआ, यह घूमता हुआ घड़ा बुद्धि में ही रहता है । बाहिर तो माया जनित भ्रमण वाला शुद्ध ही घड़ा है । उसे चक्षु ही देखती है, बुद्धि से उसका ग्रहण नहीं होता । इस कारण से चक्षु से देखा हुआ घड़ा मिथ्या नहीं है किन्तु बुद्धि से कल्पना किया हुआ ही मिथ्या है । इस प्रकार इन्द्रियों का शुद्ध घड़े के साथ सम्बन्ध होने पर भी, तमोगुण से मलीन हुई बालकों की बुद्धि का उस-शुद्ध घड़े के साथ सम्बन्ध नहीं होता । इसी अर्थ को, व्याख्या में-न ह्यत्र तेषां बुद्धिः-से लेकर-स्वाधिकारादारोप्यते-यहाँ तक के वाक्यों में लिखा है ।

उन अज्ञानियों की बुद्धि विषय का स्पर्श नहीं करती । मन सहित इन्द्रियां तो शुद्ध विषय-घटादि-को ही देखती हैं । इन्द्रिय सहकृत मन, विषय को ग्रहण करता हुआ भी, भ्रमात्मक अथवा निश्चयात्मक ज्ञान को उत्पन्न नहीं कर सकता, किन्तु केवल सामान्य ज्ञान को उत्पन्न करता है । विशेष ज्ञान को तो बुद्धि उत्पन्न करती है; क्योंकि तृतीय स्कन्ध में कपिलदेवजी ने-संशयोऽथ विपर्यासः-संशय आदि ज्ञान को बुद्धि वृत्तियां कही हैं । सत्वगुण सहित बुद्धि निश्चयात्मक ज्ञान को, रजोगुण युक्त बुद्धि संशयात्मक ज्ञान को तमोगुण सहित बुद्धि भ्रमात्मक ज्ञान को उत्पन्न करती है ।

सीप में चांदी का भान-इत्यादि निरूपाधिक भ्रम में तो चांदी माया जनित नहीं है; तमोगुण युक्त बुद्धि कल्पित है । उस बुद्धि कल्पित और बुद्धि में ही रहने वाली चांदी को बुद्धि ही ग्रहण करती है । चक्षु उसका ग्रहण नहीं करती । यद्यपि वहां मन से युक्त चक्षु इन्द्रिय सीप का ही ग्रहण करती है, तो भी चांदी के सस्कारों की प्रबलता से, तमोगुण से व्याप्त हुई बुद्धि उसमें चांदी का भान करा देती है । उस बुद्धि कल्पित चांदी को बुद्धि ही ग्रहण करती है । इसी अर्थ का-अन्तरात्वयि विभाति मृदैकरसे-वेद स्तुती की व्याख्या में-रंजतं तु तदन्तरं बुद्धयाजन्यते-इत्यादि वाक्यों से वर्णन किया है । अर्थात् पीछे बुद्धि चांदी मान लेती है, आंख से तो सीप का ही ग्रहण होता है । इस कारण से चक्षु इन्द्रिय से संयुक्त सीप में अन्य की-चांदी की-ख्याति अन्यथा ख्याति है । यह सिद्धान्त है ।

शंख पीला है-इत्यादि रूप लोपाधिक भ्रम में विषय-शंखादि पदार्थ भ्रम के कारण नहीं है; किन्तु

श्लोक—न ते यदोमिति प्रोचुर्न नेति च परन्तप ।

गोपा निराशाः प्रत्येत्य तथोचुः कृष्णरामयोः ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे शत्रुदमन परीक्षित ! जब उन विप्रों ने उन्हें हाँ, ना, का कुछ भी उत्तर न दिया तब वे गोप निराश होकर वापस आ गए । उन्होंने कृष्ण और बलभद्रजी से सारी बात कही ।

सुबोधिनी—ततो यज् जातं तदाह न ते यदोमिति प्रोचुरिति, ओमित्यङ्गीकारेनेति निषेधे निषेध उपाया-न्तर एव प्रवृत्तिः स्यात् तेषां धर्मेण वा तुष्टा भवेयुः, नेत्यसत्ये सत्यनिवृत्तेः सिद्धत्वात्, अतो निराशाः,

परन्तपेतिसम्बोधनं स्वाधिरैविकशुक प्रति कोपनिषेधाथ-मागतं, राज्ञो वा, महद्भाग्ययोगे ह्यतिथिविमुखो न गच्छतीति तद्भाग्याभिनन्दनार्थं, प्रत्येत्य व्याघुष्य समागत्य कृष्णरामयोः पुरतस्तथोचुः ॥१२॥

कांचकामलादि<sup>१</sup> नेत्र रोग रूप उपाधि भ्रम का कारण है । इसका व्याख्या में--विषय-धर्माणां--इत्यादि वाक्यों से विवरण किया है । जैसे सीप में चांदी का भ्रम विषय--सीप--में स्थित चमक दमक आदि को लेकर होता है; वैसे शंख के पीलेपन आदि में विषय-शंख के धर्म से भ्रम नहीं होता किन्तु नेत्र रोग के कारण से एक नेत्र रोगी को ही होता है । नेत्र रोग रहित अन्य व्यक्तियों को और उसी नेत्र रोगी को भी नेत्र रोग मिट जाने के पीछे शंख पीला नहीं दिखता है । इस से--शंख पीला है--इत्यादि सोपाधिक भ्रम शंखादि पदार्थ के धर्मों के कारण से न हो कर नेत्र रोग रूपी उपाधी के कारण ही होता है--यह सिद्ध है ।

वह--सीप में चांदी रूप--निरूपाधिक भ्रम अधिष्ठान--सीप--का ज्ञान हो जाने पर मिट जाता है । और--शंख पीला इत्यादि सोपाधिक भ्रम तो--शंख पीला नहीं होता--ऐसा ज्ञान होते हुए भी होता है । इसलिए वह भ्रम अधिष्ठान--शंख का ज्ञान होने पर दूर नहीं होता, किन्तु नेत्र रोग रूप उपाधि का नाश होने पर मिटता है--यही इन दोनों भ्रमों में भेद है ।

यहां इन ब्राह्मणों की भगवान् में भक्ति न होने के कारण, उनकी बुद्धि में दोष हो गया जिससे, वे भगवान् की इच्छा से दिखाए हुए अवास्तविक--मिथ्या--मनुष्य धर्मों को भगवान् में देखते थे और उनमें उनकी मनुष्य बुद्धि थी । इसलिए उनका यह सोपाधिक--बुद्धि दोष जनित--भ्रम था । जब भगवान् की इच्छा से उनकी वह भगवद्भक्ति का न होना रूप उपाधि दूर होगी, तभी वह भ्रम मिटेगा--यह निश्चय है ।

भ्रम के स्वरूप का विशेष विचार हमने प्रमेयरत्नांश्व ग्रन्थ के ख्याति विवेक नामक प्रकरण में स्पष्ट किया है । विशेष जानकारी के लिए उसको वहां देखो ॥११॥

व्याख्यार्थ—फिर-न ते यदोमिति-श्लोक से आगे के प्रसंग को कहते हैं। 'ओम्' का अर्थ अंगीकार करना है और 'न' का अर्थ निषेध करना है। यदि वे निषेध कर देते तो गोप किसी दूसरे उपाय में लगते अथवा उन द्विजों के धर्म से सन्तुष्ट होते। उन्होंने-ना-ऐसा निषेध भी नहीं किया जो असत्य था। इस कारण से, उनमें सत्य की निवृत्ति होना सिद्ध होने से वे गोप निराश होकर पीछे चले गए। परन्तप-यह सम्बोधन अपने में स्थित आधिदैविक शुक में कोप का निषेध करने के लिए कहा गया है। अथवा-परन्तप-यह सम्बोधन राजा परीक्षित के लिए दिया है जो-बड़भागी के घर से ही अतिथि विमुख-निराश-नहीं जाते-इसलिए राजा के भाग्य की प्रशंसा के अभिप्राय से आया है। पीछे फिरकर-शीघ्र भगवान् के पास जाकर कृष्ण और राम के आगे यों कहने लगे ॥१२॥

लेख—जब विप्रों ने निषेध नहीं किया तो गोप निराश क्यों हुए ? इस शका का उत्तर-न-पद से दिया है। असत्य में अभिनिवेश से वस्तु का यथार्थ ज्ञान न होने पर, निषेध हो, वह सत्य की निवृत्ति तो उनके मोन रह जाने पर भी, सिद्ध थी। वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर, मोन क्यों रह जाते। इसलिए उनके 'न' न कहने पर भी (निषेध न करने पर भी) गोप लोग उन ब्राह्मणों के अज्ञान का निश्चय करके निराश हो गए। परन्तप-यह राजा का सम्बोधन है। निरोध लीला के प्रारम्भ में अपने में आए हुए अपने आधिदैविक शुक भगवान् के प्रति कोप का निषेध करने के लिए दिया है। हे परीक्षित ! तू परन्तप है, इससे मेरे भीतर आविष्ट हुए भगवान् को देखता है। इसलिए उसमें कोप के अभाव को प्रत्यक्ष ही देख-यह भाव है। राजा को शुकदेवजी में आविष्ट-स्थित-भगवान् का दर्शन होना अब तक स्पष्ट रूप से कहीं भी नहीं कहा गया-इस अरुचि से दूसरा पक्ष कहते हैं-अथवा परन्तप-यह सम्बोधन राजा में कोप का निषेध करने के लिए है। उसका विशेष विवेचन व्याख्या में-महद्-इत्यादि पद से किया है। हे राजन-तेरा ऐसा भाग्य है। वे ब्राह्मण भाग्य हीन थे। इसीसे उन्होंने ऐसा किया। इस से अज्ञानियों पर कोप करना उचित नहीं है-यह तात्पर्य है।

योजना—न ते यदोमिति-श्लोक की व्याख्या में-नेत्य-सत्ये-सत्य निवृत्तेः-इत्यादि का तात्पर्य यह है कि उन ब्राह्मणों ने ओम् नहीं कहा, वह तो सत्य था क्योंकि उनका बैसा ही-न देने काही-अभिप्राय था और जो उन्होंने-न नेति-नहीं-निषेध-नहीं कहा यह असत्य था क्योंकि वे वास्तव में देना नहीं चाहते थे। इसलिए उन्हें निषेध कर देना ही उचित था, तो भी नहीं किया। इस कारण से, निषेध न करने का बोधक नकारा का प्रयोग मिथ्या था; क्योंकि वे निषेध करना ही चाहते थे। वह नहीं किया। इस निषेध का निषेध अर्थात् विधि अर्थ को बतलाने वाले 'न' शब्द का प्रयोग मिथ्या अर्थ में था। इस प्रकार निषेध के निषेध (विधि) से ब्राह्मणों के हृदय में, असत्य के आग्रह का ही बोध होता है, इसी को व्याख्या में-सत्यानिवृत्तेः सिद्धत्वात्-पदों से कहा गया है अर्थात् मिथ्या होने पर सत्य की निवृत्ति अपने आप-स्वतः-सिद्ध है। जहां असत्य हो, वहां से सत्य का अवलम्बन करने वाले पुरुष को सच्चे ही लौट जाना चाहिए। इससे गोप निराश होकर लौट गए।

व्याख्या में-परन्तपेति स्वाधिदैविक शुकं प्रति-इत्यादि का तात्पर्य यह है कि-इस दशम स्कन्ध की निरोध लीला का वर्णन करने के प्रारम्भ में शुकदेवजी में भगवान् का आवेश हुआ था। इस प्रसंग को-वैयासकिः स भगवानथ विष्णुरातं' इस श्लोक की व्याख्या में-भगवता सह वर्तमानः स भगवान्-इत्यादि कह कर स्पष्ट किया है। इसलिए इन शुकदेवजी में आवेश से स्थित हुए भगवान् आधिदैविक शुक कहे जाते हैं। उन (आधिदैविक) शुकदेवजी को लक्ष्य करके-परन्तप-सम्बोधन है अर्थात् शुकदेवजी ने-परन्तप-यह सम्बोधन अपने में आविष्ट होकर

श्लोक—तदुपाकर्ण्य भगवान् प्रहस्य जगदीश्वरः ।

व्याजहार पुनर्गोपान् दर्शयँल्लौकिकीं गतिम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—गोपों के वचन सुनकर जगत के ईश्वर भगवान् हँसे और लौकिक गति को दिखाते हुए फिर कहने लगे ॥१३॥

सुबोधिनी—गोपानां खेदादिकं दृष्ट्वा भगवद्भूमध्ये क्रोधं च तन्निवृत्त्यर्थं हास्यं कृतवान्, ननु क्रोधः कर्तव्यः प्राज्ञोल्लङ्घनात् कथं हास्यं ? तत्राह जगदीश्वर इति, जगतः स एवेश्वरः, तथैव ते प्रतिबोधिताः, तेषां

पूर्वखेदस्य विस्मृतत्वात् पुनरह, तेषां गमनाङ्गीकारार्थं प्रबोधनं च कृतवान्, लौकिकी गतिरेतादृशी कश्चित् प्राप्यते कश्चिन्न कश्चिदुत्तराभावश्च ॥१३॥

व्याख्यार्थ—गोपों के खेद आदि तथा उन ब्राह्मणों की भगवान् से विमुखता पर क्रोध को देखकर उनके खेद और क्रोध को दूर करने के लिए भगवान् हँसे । उन विप्रों के भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन करने के कारण भगवान् को उन पर क्रोध करना चाहिए था । हँसे क्यों ? इस शंका का उत्तर जगदीश्वरः—पद से देते हैं । जगत् के ये ही ईश्वर हैं । जगत् के ईश्वर भगवान् ने उन्हें वैसा ही बोध कराया था, जैसा कि उनने बर्ताव किया । गोप लोग पहले—याज्ञिकों के निषेध पर उत्पन्न हुए—खेद को भूल गए थे । इस कारण भगवान् ने उनसे फिर कहा । और जाना—द्विजपरितियों के पास जाना—स्वीकार करने का बोध कराया । उन्हें लौकिकी गति समझाई कि ऐसा ही होता है अर्थात् मांगने पर कहीं मिल जाता है, कहीं नहीं मिलता और कहीं तो कुछ उत्तर भी नहीं मिलता ॥१३॥

स्थित हुए भगवान् के लिए कहा है और वह कोप के निषेध के लिए कहा है । गोप लोगों का निराश होकर लौट जाना इन शुकदेवजी के मुख से सुन कर उन आविष्ट भगवान् शुकदेवजी को क्रोध आ जाए । उस क्रोध की निवृत्ति के लिए—परं (क्रोध रूपी) शत्रु को (तापयति—सन्तप्त करने वाले हो) तपाने वाले—परन्तप—सम्बोधन आया है । आप परन्तप हो, इससे क्रोध नहीं करना चाहिए—यह अभिप्राय है ।

यह सेवक शुकदेवजी का अपने में आवेश से विराजमान (भगवत्स्वरूप) आधिदैविक शुक रूप भगवान् को क्रोध न करने का उपदेश देना अनुचित समझ कर व्याख्या में—आगतम्—आगया कहा है अर्थात् उस समय की लीला में तन्मय हुए शुकदेवजी के मुख से ऐसा निकल गया । उन्होंने जान कर ऐसा नहीं कहा ।

अथवा—परन्तप—यह सम्बोधन राजा परीक्षित के लिए कहा गया है । यहां भी प्रयोजन तो वही—कोप का निषेध करना ही है । राजा परम वैष्णव है, इसलिए गोपों का निराश होकर लौट जाना सुन कर उन ब्राह्मणों पर राजा क्रोध करे । उस क्रोध का निषेध इस 'परन्तप' सम्बोधन से किया अर्थात् हे राजन् ! तुम क्रोध रूपी शत्रु को ताप देने वाले हो । इस से उन विप्रों का अनुचित कार्य—अन्याय—देखकर भी उन पर तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिए; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण ब्रह्मण्य देव हैं और तुम उनके सेवक हो, यह भाव है ॥१२॥

श्लोक—मां ज्ञापयत पत्नीभ्यः ससङ्कर्षणमागतम् ।

दास्यन्ति काममन्नं वः स्निग्धा मय्युषिता धिया ॥१४॥

श्लोकार्थ—हे गोपजनों ! अब तुम उन ब्राह्मणों की पत्नियों के पास जाओ और कहो कि बलदाऊजी के साथ मैं उनके घर के पास आया हूँ । वे तुम्हें बिना मांगे ही तुम्हारी इच्छानुसार अवश्य भोजन देंगी क्योंकि उनके मन में मेरी भक्ति है अर्थात् उनका मन मुझ में लगा हुआ है ॥१४॥

सुबोधिनी—भगवद्वाक्यमाह मां ज्ञापयतेति, यज्ञे यजमानपत्न्यः पत्न्य एवोच्यन्ते निदुष्टत्वज्ञापनाय 'तस्मात् स्त्रियो निरिन्द्रिया अदायादीरपि पापात् पुंस उपस्तितरं वदन्तीति श्रुतेः. अतो निदुष्टत्वात् मां पत्नीभ्यो ज्ञापयत ससङ्कर्षणं बलभद्रसहितमागतं, याचनं तु न कर्तव्यमयाचिता एव दास्यन्तीत्याह दास्यन्तीति, काम यथेष्टं तद् वो युष्मभ्यं तस्यान्नदोषो

निरूपितः कामपदाद् वदतिपदाच्च, दाने हेतुः स्निग्धा इति, मयि ताः स्निग्धाः प्रेमवत्योतो मदागमने ज्ञापिते परितुष्टा एव दास्यन्ति यथा प्रियवार्ताहर्त्रे दानं, किञ्च धिया पुनर्मध्येवोषितास्ताः सङ्घाते बुद्ध्या मपि तिष्ठन्ति शेषेण तत्र बुद्धयेत्युपलक्षणं ज्ञानशक्त्यान्तःकरणेन चात्र तिष्ठन्ति बाह्यक्रियया देहेन च तत्र, अतो ज्ञानशक्तिर्मय्येव तिष्ठतीति दास्यन्ति ॥१४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के वचन—मां ज्ञापयत—इस श्लोक से कहते हैं । यज्ञ में यजमानों की पत्नियों को—उनमें दोष का अभाव बतलाने के लिए—पत्नियाँ ही कहा जाता है । श्रुति में तस्मात् स्त्रियों निरिन्द्रिया—स्त्रियों को निरिन्द्रिय सम्पत्ति में भाग न पाने वाली और सेवक जैसी कहा है । इस कारण से वे पत्नियाँ दोष रहित हैं । उन को तुम मेरे बलभद्रजी सहित यहां आने की सूचना करो । याचना तो मत करना, क्योंकि वे बिना मांगे ही दे देंगी । वे (कामं) यथेष्ट अन्न (वः) तुम्हारे लिए देंगी । यहां मूल में कामं और (वः) पदों से उस अन्न का दोष निरूपण किया है । वे पत्नियाँ मुझ पर प्रेम करती हैं । इसलिए तुमसे मेरा यहां आना जानकर वे प्रसन्न होंगी और लोक में जैसे प्यारे के समाचार लाने वाले के लिए कुछ दिया जाता है, वैसे ही तुम्हारे लिए (अन्न) देंगी । और यह भी है, कि वे देह इन्द्रियादि के संघात में बुद्धि से—केवल बुद्धि से ही नहीं; किन्तु ज्ञान शक्ति और अन्तःकरण से तो मेरे पास ही रहती हैं । बाह्य क्रिया और देह से घर पर रह रही हैं । उनकी ज्ञानशक्ति के मुझ में ही रहने के कारण से वे दे देंगी ॥१४॥

टिप्पणी—मां ज्ञापयत—श्लोक की व्याख्या में—तस्यान्नदोषो निरूपितः—इत्यादि का तात्पर्य यह है । कामं—पद का पहले—यथेष्ट अर्थ किया था । अब इस—कामं—पद को अन्न का विशेषण मान कर उसका तात्पर्य कहते हैं । उस अन्न का स्वयं उपभोग करने पर दोष हो सकता है । यहां दोष कैसे निरूपण किया ? ऐसी शंका में व्याख्या में—काम पदात्—ऐसा कहा है । यहां यह निष्कर्ष है—अन्न का स्वामी पुरुष होता है । उन याज्ञिकों ने वह अन्न स्वर्ग की कामना से यज्ञ-सम्बन्धी अन्य देवता का उद्देश्य करके संकल्प पूर्वक बनाया था । इस लिए वह सकाम भी अन्न कामना की प्रबलता के कारण काम रूप ही होगया था । यह बतलाने के लिए अन्न का विशेषण



श्लोक—गत्वाथ पत्नीशालायां दृष्ट्वासीनाः स्वलङ्कृताः ।

नत्वा द्विजसतोर्गोपाः प्रश्रिता इदमब्रुवन् ॥१५॥

कहा । इस कथन से उन ब्राह्मणों की बहिर्मुखता सूचित होती है । इसलिए दूसरे के उद्देश्य से सिद्ध किया हुआ अभक्त सम्बन्धी अन्न अपने उपभोग (खाने) योग्य नहीं होता है—इस प्रकार से दोष बतलाया है । इसी प्रकार—मां जापयत् पत्नीभ्यः । (ब्राह्मण पत्नियों से मेरा आना कहो)—यों कह कर देने के समय में भी—मुझे देगी—ऐसा न कहकर अन्य गोपों को दान पात्र कहने से भी अन्न का दोष ही प्रकट होता है । इस आशय से ही व्याख्या में—वः इति पदाश्च—ऐसा कहा गया है । यहां पूर्वोत्तर—पहले और पीछे के—वाक्यों की सगति इस तरह होती है कि वे पत्नियां भक्त हैं, उन्हें मेरे यहां आने की सूचना देने पर तुम्हें (गोपों को) मेरे सम्बन्धी जान कर तुम्हारे लिए भी दे दूँगी—इस अभिप्राय से पहले—‘स्व’—कहा और फिर अन्न का दोष बतलाने के लिए—वः—ऐसा कहा है । यदि यह अभिप्राय नहीं होता तो वे पत्नियां भी उन गोपों को ही अन्न दे देती; वे स्वयं लेकर भगवान् के पास नहीं आतीं ।

तब फिर, वे उस अन्न को कैसे लाई और भगवान् ने उसे स्वीकार कैसे किया ? इस के उत्तर में ऐसा ज्ञात होता है कि पत्नी, पति का अर्धाङ्ग होने से, उस अन्न में उनका भाग हो सकता है और वह (अन्न) उन पत्नियों के भगवद्भक्त होने के कारण, पूर्वोक्त दोष रहित हुआ मानना चाहिए । भाव यह है, कि वह अन्न पहले पति पत्नियों का इकट्ठा होने से और पत्नियों के भक्त न होने के कारण दोष युक्त था और अन्न उन पत्नियों ने भगवान् के लिए अपने भाग को अलग कर लेने पर—भक्ति पूर्वक लाए हुए पदार्थ को मैं ग्रहण करता हूँ—इस वचन के अनुसार—उस दोष रहित अन्न को भगवान् ने अवश्य ही स्वीकार किया ।

अथवा आगे—अन्नमादाय भाजनेः—इस १६ वें श्लोक में भाजन शब्द से यदि उस अन्न में से पत्नियों का भाग का अलग करना सम्भव न होने पर भी उस अन्न में पहले अन्य—यज्ञ देवता का उद्देश्य था । इससे वह दूषित था और उस में भगवान् का उद्देश हो जाने से, वह अन्न निर्दोष हो गया था । इस तरह, वह सारा ही अन्न भगवान् के अंगीकार करने योग्य हो गया था । उन पत्नियों की भक्ति से, उन याज्ञिकों का अन्न भाग निर्दोष कैसे हो गया ? ऐसी शंका नहीं करना चाहिए, आगे चलकर उन पत्नियों के सम्बन्ध से याज्ञिकों का भी, भक्त होना कहा जाएगा ।

अथवा—कामं—का यथेष्ट अर्थ करने के पक्ष में भी—तस्याश्रयस्य दोषः (उस अन्न का दोष) इत्यादि से, उसका तात्पर्य कहा है । अर्थात् उन याज्ञिकों ने आधिदैविक यज्ञ को सिद्ध करने के लिए चाहा था; किन्तु आधिदैविक यज्ञात्मक भगवान् की आज्ञा से आए हुए उन आध्यात्मिक गोपों की याचना का जो मंग किया था । उसी को व्याख्या में दोष पद से कहा है । तब आधिभौतिक यज्ञ भी, कैसे सिद्ध हो सकेगा—ऐसा जानकर, साक्षात् आधिदैविक यज्ञरूप (मुझ) भगवान् के लिए नहीं दे सकेगी, तो आध्यात्मिक (यज्ञरूप) तुम्हारे (गोपों के) लिए तो तुम्हारी तृप्ति के लायक अन्न दे देगी । उससे आधिदैविक (भगवान्) की तृप्ति हो जाएगी और आधिभौतिक यज्ञ भी सिद्ध हो जाएगा । इस आशय से व्याख्या में—कामपदात्, वः पदाच्च—ऐसा कहा गया है । यदि ऐसा अभिप्राय नहीं होता तो यज्ञ के लिए सिद्ध किए हुए अन्न को, यज्ञ के लिए न रखकर, यथेष्ट देने का कथन संगत नहीं होता । उन पत्नियों को तो—मूल का सिंचन करने से सारा वृक्ष हरा भरा रहता है—ऐसा ज्ञान था । इस

**श्लोकार्थ—**भगवान् की आज्ञा पाकर वे गोप पत्नीशाला में गए । वहाँ वस्त्र आभूषणों से सुशोभित होकर बैठी हुई याज्ञिक-पत्नियों को देखकर नमस्कार किया और नम्रता पूर्वक यों कहने लगे ॥१५॥

सुबोधिनी—ते पुनर्वाताः पूर्ववदेव गत्वा तथैव याचितवन्त इत्याह गत्वेति, अथ भिन्नप्रक्रमेण येन मार्गेण यथा रीत्या पूर्व गता न तथेति, पत्नीशाला भिन्नेव प्राग्वंशे सदसि या भवति पर प्राग्वंश एव यत

आसीना निश्चिन्ताः सुष्ठ्वलङ्कृताश्च, अनेन सौभाग्य-सहितास्ता निरूपिताः पूर्ववदेव नत्वा प्रथिता विनीताः सन्त इदं वक्ष्यमाणमब्रुवन् ब्राह्मणसम्बन्धान्नमनं सतीत्वाद् विनयः ॥१५॥

**व्याख्यार्थ—**फिर वे रोपबालक पहिले की तरह ही जाकर वैसे ही मांगने लगे । यह-गत्वाथ श्लोक से कहते हैं । अथ शब्द प्रक्रम भेद का सूचक है अर्थात् जिस मार्ग से और जिस रीति से पहले गए थे उस से भिन्न मार्ग और भिन्न रीति से गए । पत्नीशाला अलग ही प्राग्वंश (यज्ञशाला के पूर्व में बाहर बैठने का घर) अथवा सभा मण्डप में होती है परन्तु वे प्राग्वंश में ही अच्छी तरह अलंकृत निश्चिन्त बैठी हुई थीं । सौभाग्यवती पत्नियों को ब्राह्मणों के सम्बन्ध से नमन करके और पहले याचना भंग के दुःख तथा उनके सती (पतिव्रता) होने के कारण से विनीत होकर इस तरह कहने लगे ॥१५॥

**श्लोक—**नमो वो विप्रपत्नीभ्यो वचांसि नः ।

इतोविदूरे चरता कृष्णेन प्रेरिता वयम् ॥१६॥

**श्लोकार्थ—**हे विप्र पत्नियों ! आपको नमस्कार है । हमारे वचनों को सुनिए । यहाँ निकट ही परिभ्रमण-क्रीड़ा-करने वाले भगवान् कृष्ण ने हमें (तुम्हारे पास) भेजा है ॥१६॥

सुबोधिनी—तेषां वाक्यमाह द्वयेन, नम इति, चैदिकार्थापरिज्ञानाद् विप्रपत्नीभ्य इत्युक्तं, तत्राप्यन-वचनतानिवृत्त्यर्थं निबोधतेत्याहुः, के भवन्त इत्या-

काङ्क्षायामाहुरितो निकट एव चरता परिभ्रमता लीलाकर्त्रा कृष्णेन सदानन्देन वयं प्रेषिता इति कार्यनिवेदनं वा ॥१६॥

कारण आधिदैविक भगवान् के लिए देने (अर्पण करने) से ही सब सिद्ध हो-इस अभिप्राय से वे तारे उस अन्न को भगवान् के पास ले आईं । इसलिए यह सब उचित है ॥१४॥

**लेख—**व्याख्या में-पत्युः स्त्री पत्नी-ऐसा पुंयोग करने से वे पत्नियों पतिव्रता थीं-यह सूचित किया गया है । यही-ताः संघाते-यह निर्धारण अर्थ में सप्तमी है अर्थात् सारे संघात में बुद्धि-अन्तःकरण-से वे मुक्त (भगवान्) में स्थित हैं और शेष देह इन्द्रियादिक से घर पर रह रही हैं-यह अर्थ है ॥१४॥

व्याख्यान—नमः इत्यादि दो श्लोकों से गोपों के वचन कहे हैं । वैदिक अर्थ को न जानने के कारण-विप्रपत्नीभ्यः (ब्राह्मण पत्नियों के लिए) ऐसा कहा है । वे अपना परिचय देते हुए बोले कि यहां निकट में ही परिभ्रमण करने वाले अर्थात् क्रीड़ा करने वाले सदानन्द श्रीकृष्ण ने हमें यहाँ भेजा है अथवा यों कहकर कार्य का निवेदन किया है ॥१६॥

श्लोक—गाश्वारयन् स गोपालैः सरामो दूरमागतः ।

बुभुक्षितस्य तस्यान्नं सानुगस्य प्रदीयताम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—गायों को चराते हुए वे कृष्ण गोप और बलभद्रजी सहित दूर आ गए हैं । हम सब ही को भूख लगी है । इसलिए सेवक सहित उनके लिए भोजन दीजिए ।

सुबोधिनी—प्रयोजनमाहुर्गाश्वारयन्निति, ते त्वन्यान्नं न गृह्णन्त्यतो भगवतोक्तमपि स्त्रीभिर्दत्तमप्यन्नं स्वयं न गृहीतवन्तः किन्तु भगवदर्थमेव याचन्ते तेषां स एव धर्म इति, दोषकीर्तनं त्वज्ञानात्, गवां चारणमावश्यकमिति तदनुरोधेन तृणवति देशे समागतो गोपालैश्च

सहितः, अनेन स्वागमने सर्वं एवागच्छेरन्निति बाधक-मुक्तं, सराम इति, आदरार्थं कार्यान्तरामावार्थं च, अतो वा दोषकीर्तनं, अतो बुभुक्षितस्य तस्य ससेवकस्य तस्यैवान्नं तत्र गत्वा दीयतामिति प्रकर्षो यथायोग्यम् ॥१७॥

व्याख्यान—‘गाश्वारयन्’ इस श्लोक से गोप लोग अपने आने का प्रयोजन बतलाते हैं । वे दूसरों के अन्न को नहीं लेते हैं इस लिए भगवान् के कहने पर भी, स्त्रियों-पत्नियों के देने पर भी, उन्होंने (अपने लिए) अन्न स्वयं नहीं लिया । वे तो भगवान् के लिए ही मांगते थे और उनका यह ही धर्म है । भगवान् को भूख लगी है-यह दोष का कथन तो भगवान् के स्वरूप के अज्ञान से किया है । गायों का चराना आवश्यक है । इस कारण गोपालों के सहित घास वाले प्रदेश में आ गए हैं । इस से अपने-कृष्ण के-आने पर यहाँ सब ही आवें-इस प्रकार कृष्ण के आने में बाधा का वर्णन किया । मूल में-सराम (राम सहित) यह आदर के लिए अथवा दूसरा कोई कार्य नहीं है इसलिए कहा गया है । इसमें दोष का कीर्तन भी नहीं है । इस कारण से, सेवकों सहित भूखे उनके लिए उनका ही अन्न वहाँ जाकर देओ । यथा योग्य देना, देने में उत्कर्ष है ॥१७॥

लेख—व्याख्या में-वैदिकार्थ ज्ञानात्-का तात्पर्य यह है कि यजमान की पत्नियां यज्ञ में पत्नियां ही कही जाती हैं-इस अर्थ का ज्ञान उन गोपों को नहीं था । इससे उनने उन्हें विप्रपत्नियां कहा । यदि वे वैदिक अर्थ को जानते होते तो केवल-हे पत्नियों ? ऐसा कहते ॥१६॥

लेख—व्याख्या में-अन्यान्नं-इत्यादि का तात्पर्य भगवत्संबन्ध रहित (असम्पत्त) है । स्त्रीभिर्दत्तमपि-यहां अपि शब्द का सम्भावना अर्थ है अर्थात् जिस अन्न को स्त्रियां दे सकती हैं उसको भी नहीं लिया । दोष कीर्तन- (दोष कहा) का तात्पर्य-भगवान् को भूख लगी है-यह कथन है ।

श्लोक—श्रुत्वाच्युतमुपायान्तं नित्यं तद्दर्शनोत्सुकाः ।

तत्कथाक्षिप्त मनसो बभूवुर्जात सम्भ्रमाः ॥१८॥

श्लोकार्थ—वे पत्नियाँ नित्य भगवान् के गुणों को सुन कर उनके दर्शनों के लिए बड़ी उत्सुक थी । आज उनको निकट आए हुए सुनकर सबको उनके दर्शन की बड़ी चटपटी लगी ॥१८॥

सुबोधिनी—ततो यज् जातं तदाह श्रुत्वाच्युतमिति, 'चरते'तिवचनात् सोपि पश्चादागच्छतीत्युक्तं, अत आहोपायान्तमिति, उप समीप आगच्छन्तं, पूर्वं तु तास्तत्र गता इदानीमत्र भगवान् समायाति मनोरथस्तु पूर्वशेष इति समागमन इतिकर्तव्यत'नभिज्ञाः ससम्भ्रमा जाताः, किञ्च नित्यं तद्दर्शनार्थमुत्सुकाः, अतः शीघ्रमपि

गन्तव्यं, क्षुधित इति सामग्र्यपि नेयातोपि सम्भ्रमः, किञ्च तस्य भगवतः कथामिराक्षिप्तं मनो यासां, यत्र कापि स्थितं मनस्तत आ समन्ताद् दूर एव क्षिप्तमतो भगवति गतमतो मनोरथबाहुल्यात् किं कर्तव्यमिति ससम्भ्रमाः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—तदनन्तर जो हुआ उसे—श्रुत्वाच्युत—इस श्लोक से कहते हैं । मूल में 'चरता' (भ्रमण करने वाले ने) कहकर यह बतलाया कि पीछे भगवान् भी आ रहे हैं । इसीलिए उपायान्तं—(उप) समीप में आने वालों को—ऐसा कहा है । प्रथम तो वे पत्नियाँ भगवान् के पास—मनोरथ से गई और अब भगवान् यहाँ आते हैं । इनका मनोरथ तो भगवान् के पास पहले जाने का था अर्थात् वे पहले भगवान् के पास स्वयं जाना चाह रही थी किन्तु भगवान् का स्वयं वहाँ पधारना सुनकर वे किकर्तव्यताविमूढ—आगे कर्तव्य कार्य के ज्ञान से रहित हो गई (विह्वल हो गई) । उन्हें नित्य भगवान् के दर्शन की उत्कण्ठा हो रही है । इसलिए शीघ्र जाना चाहिए और 'भूखे हैं' इसलिए भोजन भी ले चलना चाहिए—इन कारणों से वे व्याकुल होगई । दूसरी बात यह भी थी कि भगवान् की कथाओं के द्वारा उनका मन आकर्षित हो रहा था । उन्होंने जहाँ कहीं भी लगे हुए अपने मन को अच्छी

लेख—व्याख्या में—अन्यान्नं—इत्यादि का तात्पर्य भगवत्संबन्ध रहित (असम्पित) है । स्त्रीभिर्दत्तमपि—यहाँ अपि शब्द का सम्भावना अर्थ है अर्थात् जिस अन्न को स्त्रियाँ दे सकती है उसको भी नहीं लिया । दोष कीर्तनं—(दोष कहा) का तात्पर्य—भगवान् को भूख लगी है—यह कथन है ।

योजना—व्याख्या में—दोषकीर्तनन्तु० इत्यादि का (दोष का कीर्तन तो अज्ञान से किया है) अभिप्राय यह है कि—'माया मनुष्यस्य कपट मानुषः'—इत्यादि वाक्यों के अनुसार भूख प्यास आदि मनुष्य के असाधारण धर्म भगवान् में माया से प्रतीत होते हैं । वास्तव में मनुष्यों के धर्म भगवान् में नहीं है । इस से—क्षुत् खलु मनुष्यस्य आतृष्यः—(क्षुधा मनुष्य का शत्रु है)—इस श्रुति के अनुसार भूख मनुष्य का असाधारण धर्म है वह भूख प्यास भगवान् में नहीं है—इस प्रकार के शास्त्रार्थ के अज्ञान से कहा है ॥१७॥

तरह से से खींच लिया इसलिए वह भगवान् में चला गया अतः असंख्य मनोरथों के कारण वे अब क्या करना—इस तरह से व्याकुल हो गई थीं ॥१८॥

**श्लोक—चतुर्विधं बहुगुणमन्नमादाय भाजनैः ।**

**अभिसस्रुः प्रियं सर्वाः समुद्रमिव निम्नगाः ॥१९॥**

**श्लोकार्थ—**जिस प्रकार नदियाँ समुद्र की ओर वेग से चल देती हैं उसी तरह वे पत्नियाँ चार प्रकार के भोजन को पात्रों में लेकर प्रिय भगवान् के दर्शन करने के लिए चल दीं ॥१९॥

**सुबोधिनी—**इदानीन्तनं बलिष्ठमिति विचार्य ससामग्रीका आगता इत्याह चतुर्विधमिति भक्ष्यं पेयं चोष्यं लेह्यमित्यन्यथा भोजनं न स्यात्, भक्ष्ये दन्तानां विनियोगोन्यद् गोणं चोष्ये परितःस्थितांशानां लेह्ये जिह्वायाः पेयेन्तःस्थितस्य वक्त्रस्यातश्चतुर्विधमेव सर्वं भोजनं भवति, गुणा व्यञ्जनानि घर्मा वा, बह्वो गुणा यत्र, अन्नं साधारणं, अपेक्षितादप्यधिकं, भाजनैर्येष्वेव स्थितं न तूद्धृत्य, अभिसस्रुरभिसरणं कृतवत्य

आभिमुख्येन गमनं, समुदायशक्त्या सर्वथा गमनं प्रतीयते, तत्र हेतुः प्रियमिति, प्रियं प्रति हि सर्वेषां गमनं, अतः सर्वा एव, बह्वीनां कथमेकत्र गमनमेकदेव्याशङ्क्य दृष्टान्तेन परिहरन् प्रतिबन्धाभावमाह समुद्रमिव निम्नगा इति, निम्नगा नद्यो मध्ये पर्वतादीनामपि प्रतिबन्धं न मन्यन्ते, न हि तासां देवाः पतयो भवन्ति किन्तु समुद्र एव तथात्रापि, निम्न एव गच्छन्तीत्युच्चैरहङ्कारे स्थिताः पतयो नाङ्गीकृताः ॥१९॥

**व्याख्यानार्थ—**उस समय उचित आवश्यक कर्तव्य को विचार कर उनका सामग्री लेकर जाना—चतुर्विधः—श्लोक से कहा गया है । भक्ष्य, पेय, चोष्य और लेह्य—चार प्रकार का भोजन लेकर गईं । भोजन में ये चार प्रकार के पदार्थ नहीं हो तो भोजन ही नहीं हो । भक्ष्य में दांतों का, चोष्य में मुख के दांत आदि सारेभागों का, लेह्य में जीभ का और पेय में मुख के भीतरी भाग का उपयोग होता

**लेख—**श्रुत्वाच्युतं—की व्याख्या में—मनोरथस्तु (मनोरथ तो)—इत्यादि का तात्पर्य यह है कि वे स्वयं भगवान् के आने के पहले ही भगवान् के पास जाना चाहती थीं और जाकर यों यों करेंगी—इस प्रकार का मनोरथ उनके सोचे हुए पहले जाने का अंगभूत है । भगवान् स्वयं आगए—ऐसा समझ कर अपने मनोरथ को भूँनकर आकुल हो गईं ।

**योजना—**व्याख्या में पूर्व तु तास्तत्रागताः— इत्यादि का (पहले तो वे वहां आगईं) तात्पर्य यह है कि वे पत्नियाँ भगवान् के पास पहले ही आगईं । मनोरथस्तु पूर्व शेषः (मनोरथ तो अंग था) का अभिप्राय रमण के मनोरथ से है, और वह (रमण) पहिले सोचे हुए भगवान् के निकट जाने का कार्य है अर्थात् जब भगवान् के समीप जाना होगा, तब रमण मनोरथ सिद्ध होगा । भगवान् ही यहां आ रहे हैं तो फिर, मन की अभिलाषा कैसे पूर्ण होगी—ऐसा समझकर हवकी बवकी हो गई ॥१८॥

है अन्य तो एक दूसरे के सहायक हैं। इस प्रकार चार तरह का ही पूरा भोजन होता है। भुण्ण शब्द का अर्थ यहाँ व्यञ्जन अथवा धर्म है, अर्थात् जिस भोजन में अन्न तो थोड़ा था और व्यञ्जन अधिक थे। आवश्यकता से भी अधिक थे। पात्रों से निकाल कर नहीं किन्तु जिन पात्रों में भोजन धरा था, उन पात्रों समेत ले आई। अभिसरण किया अर्थात् चारों ओर से इकट्ठी होकर गई—ऐसा प्रतीत होता है। सब के एक साथ जाने का कारण यह है, कि भगवान् सब के प्रिय है। प्यारे के पास सभी इकट्ठी हो, जाते हैं। इसलिए वे सभी इकट्ठी होकर प्रिय भगवान् के पास गईं। वे सब पत्नियाँ एक स्थान पर एक साथ कैसे गईं? इस शंका का दृष्टान्त से समाधान करते हुए मूल में—समुद्रमिव निम्नगाः—प्रतिबन्ध का अभाव बतलाते हैं। नदियाँ बीच में आने वाले पर्वत आदि प्रतिबन्धों की परवाह नहीं करती हैं। उन नदियों के पति देवता नहीं होते हैं, किन्तु जैसे उनका पति समुद्र ही है, वैसे (ही) यहाँ भी इनके पति भगवान् ही हैं। निम्नगा अर्थात् नीचे बहने वाली होने के कारण ऊँचे अहंकार से भरे हुए पति स्वीकार नहीं किए ॥१६॥

श्लोक—निषिध्यमानाः पतिभिर्भ्रातृभिर्बन्धुभिःसुतैः ।

भगवत्युत्तमश्लोके दीर्घश्रुतधृताशयाः ॥२०॥

श्लोकार्थ—पतियों, भाईयों, बन्धुओं और पुत्रों ने उनको जाने से रोका, तो भी वे नहीं रुकी। वे बहुत समय से, भगवान् के गुणों को सुन रही थीं, इस कारण से उनका चित्त उत्तम कीर्ति वाले भगवान् पर मोहित हो रहा था ॥२०॥

सुबोधिनी—प्रतिबन्धाभावमाशङ्क्याह निषिध्य-  
माना इति, उदासीनाना भाषणं निषिद्धमन्तः सम्बन्धि-  
भिरेव निषिद्धाः, बलवद् बाधकं च तत्, पितरोत्र नोक्ता  
अन्यथोत्पत्तिविरोधः स्यात्, उपपत्तिविरोधे तु शास्त्रं  
वलिष्ठ, तासां चतुर्विधपुरुषार्थश्रुतुभिर्देया धर्मदः  
पतिरर्थदो भ्राताभिलषितार्थदातारो बान्धवाः सुता  
मोक्षदाः, तेषां निषेधे तत्तत्पुरुषार्थहानिस्तथापि पञ्चममेव  
पुरुषार्थं मन्यमाना गता एवेत्याह भगवतीति, भगवांस्तु  
षड्गुणः स्वयं चैकीतः सप्तपुरुषार्थास्तत्र सिध्यन्ति,  
किञ्चोत्तमश्लोक इति, उत्तमैः सिद्धपुरुषार्थैरपि श्लोक्यतेतो  
भक्तिरप्यष्टमः पुरुषार्थः, किञ्च कामितो हि पुरुषार्थो

भवति न त्वकामितोतो धर्मादीनामपुरुषार्थैतैव किन्तु  
भगवानेव पुरुषार्थ इत्यभिप्रायेणाह दीर्घश्रुतधृताशया  
इति, दीर्घकालपर्यन्तं यः श्रुतो यद्वा श्रुतं तस्मिन् तेन  
वा धृत आशयो याभिः, यथा फलश्रवणेन फले चित्तं  
भवति तथा भगवति चित्तं न त्वन्यत्र, निषेधोत्र वाच-  
निक ऋत्विजां कर्मवैयर्थ्यात्, न ह्यन्यभार्या अन्येन  
स्पष्टं शक्या यागनाशश्च स्यादतो यजमानपत्नीव्यति-  
रिक्ताः सर्वा एव गता एकरूपाश्च, ऋत्विजां मिश्रप्रति-  
षेधात् 'यूनः स्थविरान् वे'ति, यजमानस्तु विसदृशोपि  
भवत्यतो गता एव ॥२०॥

व्याख्यार्थ—उनको जाने से किसी ने नहीं रोका होगा? ऐसी शंका में—निषिध्यमानाः—यह श्लोक कहते हैं। उदासीन—जिनका कोई सम्बन्ध नहीं—वे तो रोक ही नहीं सकते (कुछ कह ही नहीं

लेख—व्याख्या में—धर्माः—का तात्पर्य मधुरता आदि है। साधारण—अन्न तो सब पत्नियों के पास साधारण था। अलग २ नहीं था। समुदाय शक्ति से) अर्थात् सभी इकट्ठी होकर गईं ॥१६॥

सकते)। इस लिए सम्बन्धियों ने ही उन्हें रोका। और वही सम्बन्ध-शृंखला अत्यन्त बाधक है। यहाँ रोकनेवालों में उनके पिता नहीं कहे। नहीं तो पिता भी रोकते और वे नहीं रुकती तो उत्पत्ति उत्पन्न करने वालों-पिताओं-का विरोध होता। अर्थात् उनके जाने की प्रवृत्ति में प्रतिबन्ध हो जाता। युक्ति के विरोध में तो शास्त्र ही दृढ़ प्रमाण है अर्थात् जाना चाहिए अथवा नहीं जाना चाहिए-ऐसी शंका होने पर तो शास्त्र के कथनानुसार ही-जैसा शास्त्र में कहा हो वैसा ही-कर लेना चाहिए। पति धर्म को देने वाला, अर्थ को देने वाला भाई, कामनाओं (काम) को अभिलाषित वस्तुओं को देनेवाले बान्धव और मोक्ष को देनेवाले पुत्र-इस प्रकार ये चारो रोकने वाले उनके चार पुरुषार्थों को देनेवाले थे। उनके रोकने पर भी न रुकने से उन पत्नियों के उक्त चारों पुरुषार्थों की हानि हो जाने की भी परवाह न करके पाँचवे पुरुषार्थ को ही मानती हुई वे वहाँ चली गईं-इस बात को मूल में-भगवति-इत्यादि पदों से कहा गया है। भगवान् के पास जाने से-ऐश्वर्य वीर्यादि छः गुण और सातवें स्वयं धर्मी-इस प्रकार सात पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं। उन भगवान् की कीर्ति को (उत्तम) सिद्ध पुरुष गते हैं। इससे आठवां पुरुषार्थ भक्ति सिद्ध होती है। और जो जिस पदार्थ को चाहता है उसके लिए वही पुरुषार्थ होता है। नहीं चाहा हुआ पुरुषार्थ नहीं होता। इसलिए ये धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप पुरुषार्थ को नहीं चाहती। इससे ये पुरुषार्थ ही नहीं हैं। भगवान् ही पुरुषार्थ है। इस अभिप्राय से मूल में-दीर्घश्रुतधृताशया (बहुत समय तक सुनने से अपने चित्त को भगवान् में लगा देने वाली) कहा है। अर्थात् जैसे फल सुनकर सुनने वाले का चित्त फल में लग जाता है। उसी प्रकार उनका चित्त भगवान् में लग गया था और जगह नहीं लगता था। वे याज्ञिक विप्र यज्ञानुष्ठान में संलग्न थे-इस लिए उनसे उन्हें वाणी से ही जाने से रोका। दूसरे की स्त्री को पराया नहीं छू सकता और स्पर्श कर लेने पर यज्ञ का नाश हो जाए। इस कारण से उसे यजमानों की पत्नियों के अतिरिक्त सभी एक रूप होकर चली गईं क्योंकि ऋत्विजों-याज्ञिकों ने उन्हें इकट्ठी ही रोका था अथवा तरुण या वृद्धों ने रोका था। यजमान तो उन रोकने वाले पति पुत्रादिकों से भिन्न भी हो सकता है। इन से वे न रुकी चली ही गईं ॥२०॥

श्लोक—यमुनोपवनेऽशोक नव पल्लव मण्डिते ।

विचरन्तं वृत्तं गौपेर्ददृशुः साग्रजं स्त्रियः ॥२१॥

श्लोकार्थ—वहाँ उन्होंने श्री यमुनाजी के तट पर अशोक वृक्षों के नए पत्तों से सुशोभित निकुंज में विचरण-भ्रमण करते हुए गोपों के साथ बलभद्रजी सहित भगवान् के दर्शन किए ॥२१॥

लेख—व्याख्या में-यजमानस्तु (यजमान तो) इत्यादि का अभिप्राय यह है कि यद्यपि 'यजमान' शब्द सभी याज्ञिकों का बोधक है, तो भी यहाँ मुख्य याज्ञिक का ही वाचक है।

योजना—व्याख्या में-पंचम मेव पुरुषार्थः—इत्यादि का आशय यह है कि स्वतन्त्र भक्ति रूप, पुष्टि-मार्गीय भजन को ही पुरुषार्थ मानने वाली गई ॥२०॥



सुबोधिनी—गतानां समागमनप्रकारमाह यमुनेनि, यमुनोपवने विचरन्तं स्त्रियो ददृशुरितिसम्बन्धः, जल-स्थलक्रीडायोग्यभूमिः सूचिता, उपवने पुष्पाणि फलानि च सर्वदा भवन्ति तथाविधान्येवारोप्यन्त इति, यमुना क्रूरेत्युपवनगता यमभागाभावश्च, गतानामुभयपरित्यागे शोकः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमाहाशोकानां नवपल्लवै-

मण्डित इति, अनेन शय्या अपि निरूपिताः, तादृशे विभाव्यादियुक्ते गोपैर्मुग्धवृत्तं विशेषेण हसगत्यादिना गच्छन्तं साग्रजं क्रियाशक्तिसहितं सर्वतो रक्षणसमर्थं ददृशुः स्वाभिलषितप्रकारेण दृष्टवत्यो यतः स्त्रियः ॥२१॥

व्याख्यानार्थ—इस बलोक में गई हुई उन पत्नियों को भगवान् के दर्शन होने का प्रकार कहते हैं। यमुनाजी तट पर निकुंज में विचरते हुए भगवान् को देखा—ऐसा सम्बन्ध है। (इस कथन से) यह कह कर जलक्रीड़ा और स्थल क्रीड़ा करने योग्य भूमि की सूचना की है। अर्थात् यहां—इस स्थान पर उभय विध—दोनों प्रकार की—क्रीड़ा हो सकती है। उपवन में पुष्प, फल मदा ही रहते हैं, क्योंकि वगीचे में पुष्प और फल वाले वृक्ष ही लगाए जाते हैं। यमुनाजी क्रूर हैं। इससे उपवन की रक्षा थी और यमराज का भाग वहां नहीं था। (भगवान् के पास गई हुई पत्नियों को यज्ञशाला और घर दोनों का त्याग करने में शोक हुआ होगा ? इस शंका की निवृत्ति के लिए—अशोक वृक्षों के नवीन पत्तों से सुशोभित कहा है)। वह उपवन अशोक वृक्षों के नवीन पत्तों से सुशोभित था इस से उन जाने वाली पत्नियों को यज्ञशाला और घर को छोड़ने में शोक नहीं हुआ। इस कथन से शय्या का निरूपण भी हो गया। विभावानु-भावाद से युक्त ऐसे उपवन में (गोप) भोले भाले गोपों के बीच में हंस की चाल से चलते हुए साग्रज क्रिया-शक्ति सहित सब प्रकार से रक्षा करने में समर्थ भगवान् को देखा। वे स्त्रियां थीं, इसलिए अपनी मनोवाञ्छित अभिलाषाओं के साथ भगवान् के दर्शन किए ॥२१॥

लेख—इनको सर्वात्मभाव की प्राप्ति नहीं हुई थी—इसलिए व्याख्या में—समागम प्रकार—कहा गया है अर्थात् अभिसरण (जाना) ही मुख्य था, दर्शन तो गमन के प्रकार रूप से गौण था। क्रूरा पद का अभिप्राय यह है कि (तनुनवत्वमेतावता, —नवीन शरीर (सेवोपयोगी) का दान करने के दृष्टान्त से श्री यमुनाजी सारे विन्धों को दूर करने वाली हैं। इस कारण से उस उपवन में विघ्न नहीं आवेंगे। यमभागाभावश्च (यमराज का भाग नहीं है) इससे दूसरा यह तात्पर्य बतलाते हैं कि यमराज का दोष हटाने के लिए ही यमुनाजी की उत्पत्ति है, अर्थात् जीवों को यमलोक (नरक) में (जाने से रोकने के लिए) न जाने देने के लिए ही यमुनाजी भूतल पर पधारी हैं। साधारण रीति से भी बहिन में भाई का भाग—हिस्सा—नहीं होता। इसलिए भगवान् के निकट जाने वालों का भगवान् से ही सम्बन्ध होता है। उनका फिर संसार में आकर यमराज का सम्बन्ध नहीं होता है। उभय परित्यागे—(दोनों को छोड़ने में) का अभिप्राय यह है, कि भगवान् की न होने की बुद्धि से जहां वे बैठी थी, उस स्थल का त्याग और शरीर आदि से जहां रहती थीं, उस घर का त्याग किया। भगवान् की प्राप्ति न होने पर भी वैसे सर्व परित्याग से भगवान् अवश्य मिल जाएंगे—ऐसा निश्चय था इस कारण से उन्हें शोक नहीं हुआ यह भाव है।

योजना—व्याख्या में—यमुना क्रूरा (यमुनाजी क्रूर है) का आशय यह है, कि भगवान् के साथ सम्बन्ध





श्लोक — श्यामं हिरण्यपरिधिं वनमालिवर्हधातुप्रवालनटवेषमनुव्रतांसे ।

विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जं कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—जो श्याम स्वरूप, पीताम्बरधारी, और गले में वनमाला से सुशोभित थे । मोर पंखों, गैरु आदि धातुओं के रंगों और नवीन पल्लवों से सुसज्जित नटवर वेष से मनोहर थे । एक सखा के कन्धे पर एक हाथ रखकर दूसरे हाथ से लिए हुए कमल को नचा रहे थे । कानों पर कमल के पुष्प, कपोलों पर काली अलकें और प्रसन्न मुख—कमल पर मंद मुस्कान से परम सुन्दर थे । ऐसे भगवान् के दर्शन किए । ॥२२॥

सुबोधिनी—स्त्रीदृष्ट भगवन्तं वर्णयत्यन्यथा भगवच्चरित्रं न भवेदन्योपसर्जनत्वाद् वर्णिते तु भगवत्तैव तथा क्रियत इति तादृशरूपप्राकट्येन निश्चीयते, श्याममिति, आदौ वर्णः शृङ्गाररसात्मको गौरो रजोह्वा एव स्यात् तैजसश्च शुक्लो जलप्रकृतिकोऽन्यत्तन्मोक्षमेव हि सर्वरसात्मकं भोग्यं च केवलं तद् रसजनक न भविष्यतीति तयोरपि सम्बन्धो निरूप्यते, हिरण्यपरिधिं वनमालिनमिति, सुवर्णमेखलैव परिधिरूपा कुण्डलमुकुटकण्ठाभरणानि च पीताम्बर कङ्कणाङ्गदादीनि च, अनेन परिधिसहितः सहस्रमूर्तिः श्यामश्चन्द्रो निरूपितः, वनमाला वर्ततेत्येति, सर्वपुष्पमयी सा शुभ्रा, अन्येपि सर्वे रसास्तत्र सन्तीति ज्ञापयितुं साधनत्रयमाह वर्हधातुप्रवालेति, त्रयाणामन्योन्यसम्बन्धात् सर्व एव रसाः, वर्हश्च एव घातवोनेकविधाः शुभ्रादयो मिश्राः, प्रवाला आरक्ता एव, एतैरपि कृत्वा नटवेषो यस्य, केवलं रसं घमिसहितमपि रसं दातुमुपस्थितः, किञ्च लीलामपि सामग्रीरूपा स्वयमेव करोतीत्याहानुव्रतांसे विन्यस्तहस्तमितरेण धुनानमब्जमिति, लीलायाः

प्राधान्यरूपापनार्थं स्वस्य परवशत्वं बोध्यते, स्वातन्त्र्ये रसो गुप्तो भवतीत्यनुव्रतस्य स्वसमानघर्मशीलस्यासे स्कन्धे हस्तं विन्यस्य युग्मरसं रूपापयन् विश्वमेव कमलात्मकं भ्रामयति सर्वमेवान्यथा करिष्यामीति ज्ञापयन् निर्भयतां सम्पादयति, परमनुव्रतत्वं एवाणुमात्रान्यथाभावेपि नैवमयं रसः क्रियापर्यवसायीति स्कन्ध एव कृतिनिरूपिता, उभयोरेकत्र व्यापृती रसो न स्यादिति तरेणेत्युक्त कम्पने मकरन्दः स्रवतीति रसार्थमेव तथाकरणं, ज्ञानक्रिययोर्मर्षादायाः शास्त्राणामङ्गानां भवतेविरोधमाशङ्क्य परिहरति कर्णोत्पलालककपोलमुखाब्जहासमिति, कर्णयोस्तपले घेलका नालसहितकमलस्थितभ्रमरा इव कपोलयोर्मुखे च हास्यं, यस्येति, तेष्वपि हाससम्बन्धः कपोलयोर्मुखे च सर्वेषामेव कमलत्वं कपोलयोर्मुखस्यैव वा कर्णयोर्योगसाङ्ख्यत्वं प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्रत्वं च, उत्पलानां मयिदारूपत्वं, अलकानां शास्त्रत्वं विद्वत्त्वं वा, कपोलयोर्भक्त्यङ्गत्वं मुखस्य भक्तित्वं, सर्वेषामेव सरसत्वायाब्जत्वं, तत्र हासो यस्येति सर्वव्यामोहात् सर्वविरोधः परिहृतो भवति ॥२२॥

होने में आने वाले सारे विघ्नों का नाश करने वाली है, तो फिर केवल भगवान् ही की क्रीड़ा का स्थल अपने ही उपवन पर आने वाले विघ्नों का विनाश क्यों नहीं करेगी ? करेगी ही । यमभावाभावः (यमराज का भाग नहीं है) का तात्पर्य यह है कि यमराज काल रूप है और काल सब का भक्षण करने वाला है तो कभी इस उपवन को भी अन्यथा (नष्ट) कर दे । परन्तु यहां बहिन के नाते से विनाश न करके (रक्षा करना) बहिन के उपवन की रक्षा ही करेगा जो उचित है । यह यमुना पद का तात्पर्य है ॥२१॥

व्याख्यार्थ -- उन पत्नियों ने वहाँ जाकर भगवान् के जैसे स्वरूप को देखा उसका वर्णन करते हैं। नहीं तो यह भगवान् का चरित्र नहीं रहेगा; क्योंकि वह अन्य की गुणी भूत हो जायगी। स्वरूप वर्णन करने पर तो उस रूप के प्राकट्य से ऐसा निश्चय होता है कि स्वयं भगवान् ही अपने को स्त्रियों के देखने योग्य कर लेते हैं। यह इस-‘श्याम’ श्लोक से कहते हैं।

पहले वर्ण का वर्णन करते हैं कि भगवान् का श्याम वर्ण है। श्याम वर्ण शृंगार रस रूप, गौर वर्ण रजो रूप, तंजस लाल रंग का, जल प्रकृतिवाला सफेद और अव्यक्त रसवाला होता है। अन्न ही सब रस रूप और भोग्य होता है। (अन्न) वह केवल रस को उत्पन्न करने वाला नहीं होगा? ऐसी शंका में-हिरण्यपरिधि, वनमालिन-इन पदों से दोनों के सम्बन्ध का निरूपण करते हैं। सोने की करधनी ही परिधिरूप है। कुण्डल, मुकुट, कण्ठ के आभूषण, पीताम्बर, कड़े, भुजबन्द आदि भी परिधिरूप ही जानने। इस प्रकार परिधि सहित अनन्त मूर्तिवाले श्याम चन्द्रमा का निरूपण किया है। वे वनमाला पहने हुए हैं। वह वनमाला सब भाति के पुष्पों की बनी हुई और सफेद है। भगवान् में और भी सारे रसों को बतलाने के लिए-बर्ह धातु प्रवाल-इन तीन शब्दों से तीन साधनों का वर्णन करते हैं। इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध होने के कारण सब ही रस रूप हैं। बर्ह-मोर का चंदवा चित्र विचित्र, गैरू आदि धातु लाल सफेद आदि अनेक रंग के और प्रवाल लाल रंग के होते हैं। इन से अद्भुत नट वेष वाले हैं। साक्षात् धर्मी सहित होकर रसदान करने के लिए आगया है। अर्थात् केवल रस और धर्म सहित रस दोनों रसों का दान करने के लिए भगवान् उपस्थित हुए हैं। सामग्री रूप लीला को भी भगवान् स्वयं ही कर रहे हैं-अनुव्रतां से०। कि गोप के कन्धे पर एक हाथ धरे हैं और दूसरे हाथ से कमल को घुमा रहे हैं। लीला की प्रधानता को दिखाने के लिए भगवान् अपनी पराधीनता को बतला रहे हैं जो मित्र का सहारा ले रखा है। स्वतन्त्रता में रस गुप्त हो जाता है। इसलिए अपने समान धर्म वाले अनुचर के कन्धे पर हाथ धर कर संयोग और विप्रयोग दोनों रसों को प्रकट करते हुए कमल रूप सारे विश्व को बचा रहे हैं। सारे विश्व को ही अन्यथा-पलट-दूंगा-ऐसा बतलाते हुए अपनी निर्भयता को मिद्ध कर रहे हैं। यह सब दास की अनुकूलता में ही होता है। थोड़ा भी भेद होने पर यह रस क्रिया में परिणत नहीं हो सकेगा। इस कारण से क्रिया शक्ति के मूलरूप कन्धे पर ही हाथ रखने का निरूपण किया है। दोनों हाथों के एक स्थान पर रखने पर रस नहीं होता। इसलिए दूसरे हाथ से कमल को घुमा रहे हैं अर्थात् रसदान के लिए ही कमल के मकरन्द को बरसा रहे हैं।

ज्ञान, क्रिया, मर्यादा शास्त्र, अङ्ग और भक्त के विरोध की शंका को दूर करने के लिए-‘कर्णोत्पलालक कपोल मुखाब्जहास’-यह पद कहा है। दोनों कानों पर कमल टके हैं और उन पर अलकें बाल सहित कमलों पर बँठे हुए भौरों की तरह शोभा दे रही हैं। कपोलों और मुख पर मन्द मुस्कराहट है। अर्थात् दोनों कपोलों और मुख पर हास्य का सम्बन्ध है। ये सभी अथवा कपोल और मुख ही कमल सरीखे हैं। दोनों कान योग और सांख्य रूप तथा प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग के बोधक शास्त्र रूप हैं। उत्पल (कमल) मर्यादारूप और अलक शास्त्र रूप तथा विद्वतारूप हैं। कपोल भक्ति के अंगरूप और मुख भक्ति रूप है। ये सभी सरस हैं। इसीलिए इन्हें कमल रूप कहा है। अर्थात्-‘अब्ज’-रस में से उत्पन्न होने वाले कहा है। इन सब में मोह करानेवाला (सर्वव्यामोहक) भगवान् का हास फँला हुआ होने से उपर्युक्त ज्ञान क्रिया आदि सब का विरोध दूर हो जाता है ॥२२॥

टिप्पणी—व्याख्या में ज्ञान क्रियायोः—से आरम्भ करके—‘सर्वं विरोधः परिहृतो भवति’ का आशय इस प्रकार है ।

शका—वे पत्नियाँ भगवान् के संयोग तथा विप्रयोग शृंगार रूप ऐसे स्वरूप के दर्शन करके तत्काल पीछी लौट गईं—यह समझ में नहीं आता; क्योंकि ज्ञान का फल क्रिया में आता है अर्थात् रस रूप भगवान् का ज्ञान होने पर तदनुसार रस योग ही की क्रिया करती । चली क्यों गई ? इसलिए—‘बर्हधातु’ आदि की व्याख्या में केवल धर्म सहित रसदान के लिए आगमन, पराधीन होना, दोनों रसों का प्रकट करना रूप क्रिया के वर्णन से भगवान् का ज्ञान भी उन्हें इस क्रिया के अनुकूल ही हुआ जाना जाता है । इसलिए लौट जाना क्रिया, ज्ञान के विरुद्ध थी । भगवान् का ज्ञान, क्रिया आदि कभी विपरीत नहीं होते—इस से मर्यादा का विरोध भी हुआ । कृष्णं ध्रुपदमधुलिट् (कृष्ण के चरण के मधु—मकरन्द—का पान करने वाला फिर छोड़े हुए घर में पीछे नहीं जाता) इस भागवत शास्त्र और रस शास्त्र का भी विरोध होता है । भगवान् में प्रीति पहले उनका श्रवण कीर्तन आदि के द्वारा उत्पन्न होती है इसलिए भगवत्प्रेम के अंग श्रवण कीर्तन आदि का विरोध होता है और भगवान् की संगति करने वाली उन पत्नियों का अन्य मनुष्यों को पति रूप से मानने पर भक्ति का विरोध भी होता है । उन पत्नियों के पीछे घर चले जाने से इस प्रकार ज्ञान क्रिया आदि के विरोध की शंका के समाधान में व्याख्या में व्यामोह को कारण बतलाया है अर्थात् इन सब का विरोध होते हुए भी वे मोह के कारण घर चली गईं । तात्पर्य यह है कि इन सारे विरोधों में से उन्हें यदि किसी एक की भी स्फूर्ति होती (संख्य, योग, मर्यादा, शास्त्र, अंग और भक्ति के विरोध में से किसी एक के विरोध का भी उन्हें ध्यान रह जाता) तो वे भगवान् के पास ही रहती, वापस घर नहीं लौट जाती । किन्तु मूल रूप में इन सबों का मोह रूप हास्य से सम्बन्ध होने के कारण से उनमें से एक की भी जब स्फूर्ति नहीं हुई तो विरोध का कार्य भगवान् के पास रुक जाना—भी नहीं हुआ और वे पीछी घर चली गईं ।

अथवा—भगवान् ब्रह्म रूप होने से सब में समान हैं और ज्ञान शक्ति भी उनकी सब में समान होने से ज्ञान शक्ति से विकार उत्पन्न नहीं हुआ; किन्तु मोह ने विकार उत्पन्न कर दिया । इस कारण वे घर चली गईं । भगवान् की क्रियाशक्ति के भी—योग शास्त्र आदि में किए हुए निरूपण के अनुसार—मन की समाधि (चित्त वृत्ति निरोध) का कारण होने से भी वे घर चली गईं । ब्राह्मणियों में इस प्रकार के रस भाव का प्रकट करना मर्यादा के विरुद्ध है । शास्त्र सब को अपने २ अधिकार के अनुसार भगवान् का भजन करना बतलाते हैं; और तभी शुभ फल प्राप्त हो सकता है । अधिकार से विरुद्ध करने पर विपरीत फल होता है । इन पत्नियों को अपने अधिकार के अनुसार अपने विवाहित पतियों का ही भजन करना उचित था । ऐसा न करके रस रीति से भगवान् का भजन करना शास्त्र विरुद्ध था । शास्त्रानुकूल ही भजन भक्ति का अंग होता है । विपरीत रीति से—शृंगार के भावों को उत्पन्न करने वाली रीति—से भजन भक्ति के अंग का विरोधी होता है । ऐसे ही जार रूप से भगवान् का भजन करने में भक्ति का विरोध भी होता है । व्याख्या में इन सब विरोधों के समाधान में व्यामोह को कारण बतलाया है अर्थात् पत्नियाँ व्यामोह से घर चली गईं । इसलिए सारे विरोध दूर हो गए ।

तात्पर्य यह है कि जैसे लोक में जो कोई जिस किसी का जिस काम को कराने के लिए व्यामोह करता है । मोहित हुआ वह मोह कराने वाले के कथनानुसार ही कार्य करता है, अपनी इच्छानुकूल कुछ भी नहीं कर सकता । इसी तरह यहां भगवान् ने इन पत्नियों का व्यामोह मर्यादा भाव से ही भजन करने के अभिप्राय से सिद्ध किया था । वो पुष्टि मार्ग की रीति से भजन करने जाती थी । इसलिए व्यामोह करके घर भेजकर पुष्टिमार्गीय भजन से अलग कर दिया । इस कारण से कुछ भी विरोध नहीं रहा ।

अथवा प्रारंभ में ऐसी शंका की गई है कि जब भगवान् सब रस रूप हैं तो वे पत्नियां वहां से घर कैसे चली गईं। इस के समाधान में व्याख्या में—सर्वं व्यामोहात्—(सब के व्यामोह से) यह पद कहा है। भगवान् ने उन सब पत्नियों का किंवा सब अंश में सब प्रकार से उन पत्नियों का ही ऐसा व्यामोह कर दिया कि जिससे भगवान् के ज्ञान, क्रिया, मर्यादा, अंग और भक्ति आदि किसी का भी कार्य उन पर सिद्ध नहीं हो सका। इसलिए वे घर चली गईं।

यहां तात्पर्य यह है कि उन पत्नियों का घर चले जाने के वर्णन से यह स्पष्ट है कि भगवान् के ज्ञान क्रिया आदि का कार्य सिद्ध नहीं हुआ। तब उन व्यर्थ ज्ञान क्रियादिक का वर्णन क्यों किया गया? ऐसी शंका को दूर करने के लिए उन ज्ञान क्रियादिक के कथन का प्रयोजन बतलाना आवश्यक है। वह प्रयोजन यह है कि जिस पत्नी को मर्यादा देह से अलग करके पुष्टि मार्गीय अलौकिक देह प्राप्त कराकर भगवान् अपने पास ले गए थे; उसी के लिए भगवान् ने वे अपने ज्ञान क्रियादि धर्म प्रकट किए थे और उसी पर ही उन धर्मों का भगवद्रस प्राप्ति रूप कार्य सिद्ध भी हुआ। घर चली जाने वाली पत्नीयों के लिए तो वे धर्म प्रकट ही नहीं किए थे। इससे उन पर उन धर्मों का कार्य सिद्ध नहीं हुआ। इस तरह कुछ भी विरोध की आशंका ही नहीं रहती है। इस कारण से इस श्लोक में उनको भगवान् का दर्शन होना नहीं लिखकर पहिले के श्लोक में ही दर्शन होना लिखा है। परन्तु अन्य पत्नियों के और अन्तर्गृह गत एक पत्नी के द्वारा देखा हुआ भगवान् का रूप एक ही। इससे पहले श्लोक के साथ इस श्लोक की संगति की गई है। ज्ञान क्रियादिक धर्मों की प्रतीति होने पर भी अन्य पत्नियों के हृदयों में उन धर्मों का प्रवेश—भगवान् के हास्य रूप व्यामोह के कारण से—नहीं हो सका। पहले श्लोक में तो उन्हें ज्ञान क्रियादिक भगवान् के धर्मों की प्रतीति ही नहीं हुई और यहां—इस श्लोक में धर्मों की प्रतीति होने पर भी उनका उनके हृदय में प्रवेश नहीं होना बतलाया गया है—यह विशेषता इस श्लोक में है।

लेख—व्याख्या में रस के उद्दीपन करने की सामग्री को रजः पद से बतलाया है। ऐसा टिप्पणीजी में पहले कहा गया है। इस प्रकार रजोगुण को रस का उद्दीपक कहा है, रस रूप नहीं कहा है। इसी आशय से—‘एव’ ही पद का प्रयोग किया है। गौर वर्णं शृंगार का उद्दीपक होता है और शृंगार रस का श्याम वर्ण है। वेद में तैजस का लाल वर्ण कहा है। केवलं (केवल)—तात्पर्य यह है कि रस के पक्ष में यदि उद्दीपक और रस गुप्त न रहे तो वह किसी अन्य के हृदय में रस को उत्पन्न नहीं करता है। केवल बहं पद से नट वेष बताकर केवल रस कहा गया है। पहले कहे हुए श्याम आदि तीन विशेषणों से शृंगार रस को—अन्य का सम्बन्धी बतलाकर—धर्म सहित कहा है। सामग्री रूपां—सामग्री रूप लीला को देखकर रस उद्बुद्ध—जागृत—होता है। इससे रस के उद्बोध करने में लीला सामग्री कारण है। स्वातन्त्र्ये—जब रस स्वतन्त्र होता है तब वह गुप्त रक्षित रस रहता है। उत्पलानां—कमल ब्रह्माण्ड रूप है इसलिए कमल रूप मर्यादा के कारण है।

लेख—शृंगार का श्याम रूप होने से शृंगार रसात्मक है, हिरण्य परिधि विशेषण द्वारा कहे गए सुवर्ण के मेखलादि आभरण गौर हैं। इस कारण रजो रूप हैं। ‘गौरो रजोरूप एव स्यात् तैजसश्च’—गौर वर्णं रजोरूप ही होता है और तैजस होता है—इत्यादि पदों से उसका स्वरूप कहा है। मूल में—‘वनमालिबहं’—कही हुई वनमाला का स्वरूप व्याख्या में—‘शुक्लो जल प्रकृतिकः अव्यक्त रसः’ (सफेद वर्णं जल की प्रकृति वाला और अप्रकट—गुप्त—रस वाला होता है)—इन पदों से बतलाया है। सोने की करघनी आदि तैजस पदार्थों और वनमाला आदि जल प्रकृति वाले पदार्थों सहित भगवान् के श्याम स्वरूप का वर्णन व्याख्या में—‘अन्नमेव ही सर्वरसात्मकं भोग्यं च’ (अन्न ही सब रस रूप और भोग्य है) इत्यादि पदों से किया है।

श्लोक— प्रायःश्रुतप्रियतमोदयकर्णपूरैर्यस्मिन्निमग्नमनसस्तमथाक्षिरन्ध्रः ।

अन्तः प्रवेश्य सुचिरं परिरभ्य तापं प्राज्ञं यथाभिमतयो विजहूर्नरेन्द्र ॥२३॥

श्लोकार्थ—नित्य बार बार सुने हुए जिन प्रियतम कृष्ण के गुण रूपी कान के आभरणों के द्वारा जिनका मन उनमें लीन हो रहा था, वे पत्नियां भगवान् को सामने देखकर नेत्रों के द्वारा उन्हें हृदय में बिठा कर सुषुप्ति के साक्षी प्राज्ञ-पुरुष-(भगवत्स्वरूप) में मिलकर जैसे अहंकार की वृत्तियां शान्त होकर लीन हो जाती हैं; उसी प्रकार--हे राजन्--वे पत्नियां अपना ताप दूर करके भगवान् के स्वरूप में लीन हो गई ॥२३॥

श्रुति में लाल रूप को तैजस अग्निका, श्वेत रूप को जल का और श्याम रूप को अन्न का रूप बतलाकर अन्न की श्यामता कही गई है । अन्न पृथिवी रूप है और पृथिवी में सारे रस है और वे सब के भोग्य हैं । इस प्रकार यहां--श्यामं हिरण्य परिधि-भगवान् के श्याम स्वरूप के वर्णन से भगवान् की अन्न-पृथिवी रूपता सर्वरसात्मकता और सर्व भोग्यता सिद्ध की है । तात्पर्य यह है कि-शृंगार-रस रूप श्याम वर्ण वाले भगवान् वैसा-शृंगार रसात्मक-ही भाव वाली स्त्रियों के भोग्य हैं । 'अनेन परिधिसहितः सहस्रमूर्तिः श्यामश्चन्द्रो निरूपितः'—इत्यादि कथन से इस प्रकार के विशेषणों से युक्त श्याम वर्ण के वर्णन करने से, परिधिरूप सुवर्ण की मेखला मुकुट, कण्ठाभरण, पीताम्बर, कंकण, भुजवन्ध आदि से युक्त असंख्य अवतार धारण करने वाले कृष्णचन्द्र भगवान् का वर्णन किया है । यद्यपि परिधि पद से, सूर्य और चन्द्र दोनों का ग्रहण हो सकता है, किन्तु श्याम वर्ण कहने और शृंगार रस में चन्द्रमाही सहायक होने के कारण, यहां चन्द्र ही कहा गया है । 'सहस्रमूर्ति' विशेषण तो मेखला आदि आभूषणों के स्वरूप के विचार से दिया है, अर्थात् द्वितीय स्कन्ध की सुबोधिनीजी में वराहादि सारे अवतारों को भगवान् के प्रादेश मात्र आदि धर्मों के अवतार कहे हैं । वहां मेखला को वामनजी का और पीताम्बर का अवतार बतलाते हुए सभी अवतारों में भगवान् के आभरणों का वर्णन किया है । इस प्रकार मेखला आदि रूप वामन आदि अवतार रूपों से युक्त कृष्णचन्द्र का वर्णन है । 'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्नृप' (सत्त्वनिधि भगवान् के अवतार असंख्य हैं) इस प्रकार सूतजी के कथन से वे अनन्त अवतार भगवान् के असंख्य आभरण स्वरूप होने के कारण सहस्र मूर्ति जो विशेषण दिया है वह उचित ही है ।

'केवल रसं धर्मं सहित मपीति'—(केवल रस और धर्म सहित रस) इत्यादि व्याख्या का आशय यह है, कि मूल श्लोक में बर्ह पद से नाट्य के अनुसार वेष का वर्णन करने से केवल रस कहा है; क्योंकि वेणुगीत के अध्याय व्याख्या (सुबोधिनी) में--'केवलो नाट्ये प्रसिद्धः'—(केवल रस नाट्य में प्रसिद्ध है) केवल रस का नाट्य में होना निर्धारित कर दिया है । वह केवल रस, विप्रयोग शृंगार रस है और श्याम, हिरण्य परिधि इत्यादि विशेषणों से धर्म सहित अर्थात् संयोग शृंगार रस का वर्णन किया है; क्योंकि वेणुगीत की व्याख्या में वहीं—'धर्मं सहितः सम्भोगे' (सम्भोग शृंगार में धर्म सहित है) सम्भोग शृंगार में धर्म सहित का होना बतलाया है । 'ज्ञान क्रिययोः'—से लेकर--'विरोधः परिहृतो भवति'—तक व्याख्या के पदों का अर्थ टिप्पणी में स्पष्ट कह दिया है । 'कर्णयोरुत्पले ये अलकाः'—इत्यादि व्याख्या का तात्पर्य यह है कि कान तो कमल की नाल रूप और उन पर स्थित कमलों पर गिरी हुई अलके भौरे रूप हैं ॥२२॥

सुबोधिनी—एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा तत्र तासां स्वरूपमाह प्राय इति प्राचुर्येण श्रुताः प्रियतमस्याभ्युदयरूपा गुणास्त एव कर्णपूराः कर्णाभरणानि तद्द्वारा भगवत्यन्तः प्रविष्टे यस्मिन् निमग्नमनसो जाता यथा गृहे गङ्गापूरे समागते गृह निमग्नं भवति, तमेव भगवन्तमन्तःस्थितं पुनः प्रकारान्तरेणाक्षिरन्ध्रैरन्तः प्रवेश्य तापं जहुः, पूर्वं शब्दात्मकः प्रविष्टः कर्णद्वारा, इदानीमक्षिद्वारा रूपात्मकः प्रविशत्यतोयेतिभिन्नप्रक्रमः, तेन तु सांसारिका एव तापाः परिहृता न त्वलौकिका अनेन त्वलौकिकाः परिह्रियन्ते, तदाह तापं जहुरिति, ननु तापः सर्वाङ्गेषु प्रविष्टः कथमन्तःप्रवेशनमात्रेण शान्त इत्याशङ्क्याह सुचिरं परिरम्येति, अन्तर्वहुकाल-मालिङ्गितवत्यस्ततः सर्वतापपरित्यागः, ननूपशान्ता एव तापा न तु नष्टा इति चेदित्याशङ्क्य तास्तत्रैव लीना इति वदन् स्वरूपतोपि तापनाशमाह दृष्टान्तेन

प्राज्ञं यथाभिमतय इति, प्राज्ञं सुषुप्तिसाक्षिणं स्वात्मानमेव भगवद्रूपमहङ्कारवृत्तयः प्राप्य तत्रैव लीना भवन्त्येवमेता भगवत्येव सायुज्यं प्राप्तवत्यः परं संस्कारशेषा अतः पुनर्वर्हिर्गमनमन्यथा सायुज्यमेव स्यात्, प्रायग्रहणेन सर्वं भगवदीया गुणा न श्रुता अन्यथा मोहयतीतिज्ञानेन मुग्धा भवेयुः, किञ्च श्रुत एव न दृष्टः कोप्यनुभावः, किञ्च प्रियतमत्वेनैव श्रुतो न तु साधनत्वेन, उदय इति कोमला एव भावाः श्रुताः, तेषां कर्ण एव प्रवाहत्वेन प्रविशन्ति न तु सर्वाङ्गे दृष्टानन्तर्याभावादतो मन एव निमग्नं न तु देहादिः, इदानीमप्येता ज्ञाननिष्ठा अन्तरेव सत्कारं कृतवत्यः सायुज्यं च प्राप्तवत्यः, ज्ञानं हि तमोरूपं रजोरूपा भक्तिः सत्त्वरूपः सङ्ग इत्यतः सुषुप्तिदृष्टान्तः, तापनिवृत्तिः फलमन्यथा गततापा नेत्रपेधमेव भगवत्प्रावण्यामृतं पपुः, नरेन्द्रेतिसम्बोधनं ध्यानायममोहार्थं च ॥२३॥

**व्याख्यार्थ**—इस प्रकार भगवान् के स्वरूप का वर्णन करके—‘प्रायः’ इस श्लोक से उन पत्नियों के स्वरूप का वर्णन करते हैं। बारंबार निरन्तर सुने हुए और कानों के भूषण बने हुए भगवान् के कीर्तिरूप गुणों के द्वारा भगवान् को हृदय से लाकर, उन में अपने मन को उन्होंने इस तरह लीन कर दिया, जैसे घर में गंगा का प्रवाह आजाने पर, घर गंगा में लीन हो जाता है। हृदय में रहे हुए उन्होंने भगवान् को फिर दूसरी तरह से—आंखों के छिद्रों के द्वारा—हृदय में प्रवेश कराकर (लाकर) पत्नियों ने अपने ताप को दूर किया। पहले कानों के द्वारा शब्दात्मक भगवान् का उनके हृदय में प्रवेश हुआ और अब नेत्र द्वारा रूपात्मक भगवान् प्रवेश करते हैं—यह प्रवेश का प्रकार भेद, मूल में आए हुए—अथ—पद से सूचित होता है। उस शब्द रूप से कानों द्वारा हृदय में प्रविष्ट हुए भगवान् ने पत्नियों के संसार सम्बन्धी ताप ही दूर कर दिए थे। अलौकिक ताप दूर नहीं हुए थे। रूपात्मक—(नेत्र द्वारा हृदय में विराजमान) भगवान् अलौकिक तापों को दूर करते हैं। इसलिए मूल में—तापं जहुः (ताप रहित हुई)—ऐसा कहा है।

ताप तो, उन पत्नियों के सारे ही अंगों में घुसा हुआ था और भगवान् को तो, केवल हृदय में बिठाया था। वह उनके सारे अंगों में रहने वाला ताप एक मात्र हृदय में, उनका प्रवेश कराने से दूर कैसे हो गया? ऐसी शंका का उत्तर—सुचिरं परिरम्य—(बहुत अधिक समय तक भगवान् का आलिङ्गन करके) पदों से देते हैं। बहुत देर तक आलिङ्गन करने से उनका सारा ताप मिट गया था। उनका वह ताप केवल शान्त—(दूर)—ही नहीं हुआ; किन्तु नष्ट ही हो गया; क्योंकि वे भगवान् में लीन हो गई थीं। इस बात को—(प्राज्ञं यथाभिमतयः)—दृष्टान्त देकर समझाते हैं। जैसे अहंकार की वृत्तियाँ सुषुप्ति के साक्षी, अपनी आत्मा भगवत्स्वरूप को प्राप्त करके उसी में लीन हो जाती हैं; ऐसे ही पत्नियों ने भगवान् में—सायुज्य प्राप्त कर लिया था—लीन हो चुकी थीं। उनके संस्कार बाकी थे, इस से वे सायुज्य से पीछी बाहर आ गईं। यदि संस्कार शेष नहीं होते तो सायुज्य ही हो जाता। मूल में

आए हुए—‘प्रायः’—शब्द का भाव यह है, कि पत्नियों ने भगवान् के सभी गुणों को नहीं सुना था। यदि वे सारे ही गुणों को सुन लेती तो फिर-भगवान् हम को मोहित कर रहे हैं—इस प्रकार मोह में नहीं पड़ती (सचेत हो जाती)। केवल सुना ही था; किसी अनुभाव—(सामर्थ्य)—को नहीं देखा था। और वह सुनना भी प्रियतम रूप (कामभाव) से ही था, भक्ति का साधन रूप शुद्ध भाव से नहीं था। यहाँ ‘उदय’ पद से—केवल कोमल भावों को ही उन्होंने सुना था—यह जाना जाता है। वे कोमल भाव भी कान में ही प्रवाह रूप से प्रवेश करते हैं सारे अंगों में प्रविष्ट नहीं होते हैं क्योंकि देख लेने के पीछे ही सारे अंगों में प्रवेश हो सकता है और अभी तो—(इन्होंने भगवान् को नहीं देखा)—यहाँ ऐसा नहीं हुआ। इसलिए केवल मन ही भगवान् में लीन हुआ, शरीर आदि लीन नहीं हुए। अभी तक भी भक्ति निष्ठा में भी, वे ज्ञान निष्ठ ही रही; क्योंकि भीतर ही (भगवान् का) सत्कार किया और सायुज्य को प्राप्त किया। उन का ज्ञान तमो रूप, भक्ति रजोरूप और संग सत्वरूप था। इस कारण से, यहाँ सुषुप्ति—गाढ निद्रा—का दृष्टान्त दिया गया है। ताप की निवृत्ति फल हुआ और ज्ञान, भक्ति और संग के द्वारा ताप रहित होकर आखों से पान करने योग्य भगवान् के लावण्यरूपी अमृत का पान किया। नरेन्द्र—यह सम्बोधन ध्यान देने और मोहित न होने के लिए दिया गया है ॥२३॥

टिप्पणी—‘प्रायः श्रुत’—इत्यादि श्लोक में—‘कर्णपूर’ पद की व्याख्या में—‘दृष्टानन्तर्या भावात्’ (दर्शन के पश्चात् प्रवेश का अभाव होने से) कहने का अभिप्राय यह है कि दृष्ट-दर्शन के-आनन्तर्य-पीछे-प्रवेश-होने का अभाव था। तात्पर्य यह है कि यदि यहाँ वर्णन किए हुए भगवान् के भावों के अनूकूल ही उन पत्नियों के भाव होते, तो पहिले अनुभव के अनुसार सभी अंगों में वह रस प्रकट होता। यहाँ तो भगवान् और उन पत्नियों के भाव एक से नहीं होने से, अर्थात् भिन्न भिन्न होने से उन पत्नियों को उस रस का आविर्भाव (अनुभव) नहीं हुआ।

लेख—‘अलौकिकाः’—अलौकिक अर्थात् भगवान् के विरह से होने वाले ताप भी नष्ट हो गए। ‘ननू-पशान्ता एव’ (ताप शान्त ही हो गए होंगे, नष्ट नहीं हुए होंगे) इत्यादि का आशय यह है, कि पिता पुत्र, माता पुत्र, मित्र-मित्र, गुरु शिष्य आदि के आलिंगन भेदों से आलिंगन के अनेक प्रकार हैं। उनमें जैसे प्रिय का आलिंगन करने से ताप की शान्ति ही होती है, इसी तरह उन पत्नियों का भी ताप शान्त ही हुआ होगा; ताप का नाश नहीं हुआ होगा? ऐसी शंका में, उन पत्नियों के आलिंगन में, अभिमान की वृत्तियों को प्राज्ञ की प्राप्ति का दृष्टान्त दिया है। इस से भेद रहित आलिंगन हो जाने के कारण, ताप का नाश हो गया। ‘प्रियतमत्वेनैव’ (प्रियतम के भाव से ही सुनने के कारण, पत्नियों का भगवान् में कामभाव ही था, भक्ति का साधन रूप ज्ञान से शुद्ध भाव नहीं था। ‘इदानीमपि-भक्ति निष्ठा होने पर भी। ‘ज्ञानं हि’—यहाँ ‘एतासां’ (इनका) पद का अध्याहार है। मन का लीन होना रूप ज्ञान काम भाव से होने के कारण, तमोरूप है। यह मूल में आए हुए ‘हि’ अव्यय पद का अर्थ है। इसीलिए वृत्तियों के लीन होने का दृष्टान्त कहा है। आदर पूर्वक श्री मुख के दर्शन करना भक्ति रूप है। देर तक गाढ आलिंगन रूप संग शान्ति रूप होने से सत्वरूप है। अन्यथा (केवल ज्ञान, भक्ति, सङ्ग के होने से) इस कथन से श्लोक के अर्थ का उपसंहार किया है। नेत्र—आदि शब्दों से महावाक्य का अर्थ कहते हैं। इस प्रकार ‘ददशुः स्त्रियः’ (स्त्रियों ने देखा) इस पूर्वोक्त २१वें श्लोक में कहा हुआ अभिसार का अङ्गरूप भगवान् का

श्लोक—तास्तथात्यक्तसर्वाशाः प्राप्ता आत्मदिदृक्षया ।

विज्ञायाखिलदृग्द्रष्टा प्राह प्रहसिताननः ॥२४॥

श्लोकार्थ—वे पत्नियां सारी आशाओं को त्यागकर भगवान् के दर्शन की इच्छा से आई थीं और इस बात को सभी मनुष्यों की बुद्धि के सत्य साक्षी भगवान् जानते थे ही; तथापि (परीक्षा के लिए) मुसकरा कर कहने लगे ॥२४॥

सुबोधिनी—ततो भगवता यत् कर्तव्यं तदाह तास्तथेति, तथा पूर्वोक्तप्रकारेण त्यक्ता ऐहिकपारलौकि-काशा यामिः, आत्मनः स्वस्य दिदृक्षया प्राप्ताः केवलं भगवान् द्रष्टव्यः, मर्यादायां ह्येतावदेव, श्रुतो हि भगवान् मनोनिदिध्यासितव्यश्च साक्षात्कर्तव्य इति, तत् त्वेतासां जातमतो रूपप्रकारविलक्षणं वचनमाह विज्ञा-येति, तासां स्वरूपं विज्ञाय प्रहसिताननो भूत्वा प्राह

दर्शनानन्तरभावव्यामोहार्थं हासः प्रकर्षेण कथनमबा-धितस्य, नन्वेवं कथनमयुक्तमिति चेत् तत्राहोखिल-दृग्द्रष्टेति, अखिलदृशां सर्वबुद्धीनां द्रष्टा सधर्माणां धर्मिणां यत्र प्रवृत्तिः, केवलधर्मिणां प्रवाहवत् सर्वत्र गच्छतां धर्मिणां बाधकसहितानां सधर्माणां पश्चादेवो-त्पन्नबाधवतां सर्वमेव प्रवृत्तिं जानाति, अत एता अन्तिमपक्षनिमग्ना इति तथोक्तवान् ॥२४॥

व्याख्यार्थ— इसके पीछे—तास्तथा—इस श्लोक से भगवान् का कर्तव्य वर्णन करते हैं। पहले कही हुई रीति से, वे पत्नियाँ इस लोक और परलोक की सभी प्रकार की इच्छाओं—आशाओं का त्याग करके मेरे (भगवान् के) दर्शन करने के लिए ही आई हैं—ऐसा जानकर, भगवान् बोले। मर्यादा मार्ग में तो इतना ही कर्तव्य है, कि भगवान् का श्रवण करके उनके साक्षात् दर्शन के लिए मन से निदिध्यासन करना चाहिए वह भगवद्दर्शन (साक्षात्कार) तो पत्नियों को हो ही गया। इसलिए—विज्ञाय—ऐसा जानकर, स्वयं ही किए हुए स्वरूप के प्रकार से, विलक्षण रीति, से बोले। उनके स्वरूप को जानकर, अट्टहासयुक्त मुख करके बोले। दर्शन करने के पीछे उत्पन्न होने वाले भावों का व्यामोह करने के लिए अत्याधिक (उच्च) हास किया। इस प्रकार से व्यामोह करने वाले वचन बोलना अनुचित है? ऐसी शंका का समाधान—अखिल दृग्द्रष्टा (सब की बुद्धि के दृष्टा) पद से करते हैं। भगवान् सब की बुद्धियों के दृष्टा-साक्षी-हैं। सब गुण वाले धर्मियों की सभी भिन्न २ प्रवृत्तियों को जानते हैं। प्रवाह की तरह सभी तरफ जाने वाले बाधक सहित और धर्म सहित

दर्शन, भगवान् का चरित्ररूप कहा था—यह इन दो श्लोकों से सिद्ध किया। नरेन्द्र—इस सम्बोधन का प्राशय है, कि ध्यान में 'नर'—मनुष्य—का विशेष अधिकार होता है और नरों में श्रेष्ठ (इन्द्र) को मोह नहीं होता है।

योजना—व्याख्या में 'ज्ञानं हि तमोरूपं' (ज्ञान तमोरूप था) का अर्थ यह है कि पत्नियों का भगवान् में कामी रूप का भाव होने से, वह भगवान् का ज्ञान तमोरूप का था। 'रजोरूपा भक्तिः'—इनकी भक्ति रजोरूप—राजसी—थी। 'सत्वरूपः संगः'—मूल में—'सुखिरं परिरम्भ्य'—पदों से कहा हुआ बहुत देर तक किया हुआ प्रालिङ्गन रूप सङ्ग सत्वरूप—सात्विक—था ॥२३॥



धर्मियों की प्रवृत्ति में आने वाले तथा पीछे से उत्पन्न होने वाली सभी बाधाओं को भी भगवान् जानते हैं। इस कारण से ये पत्नियां अन्तिम पक्ष की अधिकारिणी थीं अर्थात्, भगवद्दर्शन के पश्चात् भगवद्रस के अनुभव होने में बाधा-(रुकावट)-वाली थीं। इस लिए हास्य से मोहक वचन बोली ॥२४॥

**श्लोक—स्वागतं वो महाभागा आस्यतां करवाम किम् ।**

**यन्नो दिदृक्षया प्राप्ता उपपन्नमिदं हि वः ॥२५॥**

**श्लोकार्थ—**हे महाभाग्यवतीओं। आओ बैठो। मैं तुम्हारा स्वागत करता हूँ। कहो मैं तुम्हारा क्या सत्कार करूँ। यदि तुम केवल मेरे दर्शन के लिए आई हो तो तुमने बहुत अच्छा किया। मेरे दर्शनार्थ आना तुमने उचित ही किया ॥२५॥

**कारिका—भगवतो वाक्यमाह स्वागतमितिचतुभिः,**

**पूर्वानुवादस्तत्रैव उपपत्तिश्च तद्विधाम् ।**

**मर्यादायां प्रवेशश्च ततो गन्तव्यबोधनम् ॥१॥**

**कारिकार्थ—**भगवान् के वचन—स्वागतं-इत्यादि चार श्लोकों से कहते हैं। प्रथम श्लोक में पहिले कहे हुए का अनुवाद है। दूसरे श्लोक में, उनके आगमन की प्रशंसा-अभिनन्दन है। तीसरे श्लोक में उनका मर्यादा मार्ग में प्रवेश और चौथे श्लोक में घर चले जाने का बोध किया है।

**सुबोधिनी —**आदौ जातमनुवदति लौकिकन्यायेन वो युष्माकं स्वागतं सुष्ठुगमनं जातमितिकुशलप्रश्नः, बाह्यं तु देयं किमपि नावशिष्यत इत्याह महाभागा इति, महत्त्वमान्तरमपि भाग्य सूचयति तेन सर्वसमृद्धिः साक्षात्कारश्च सिद्धो निरूपितः, समागतानां क्षेदाभावायाहास्यतामिति, उद्देश्यमर्थं पृच्छति करवाम किमिति, अनेनासङ्ग्रहे सङ्ग्रहः कारणीयान्ते शुद्धा गतिः, तद् वक्ष्यति 'यज्ञपत्न्यस्तथापर' इति, वैष्णवैः सह सङ्गश्च, अतस्तेषां

याज्ञिकानां ज्ञानं ततः शुद्धानां समागमने सर्वधैव प्रपत्तिः स्यात् तदा तद्द्वारा एता अप्यन्यथा भवेयुरतो यावद् युक्तं तावत् करिष्याम इत्याह, ननु नाधिकं किञ्चित् कर्तव्यं किन्तु द्रष्टुमेवागता इति चेत् तत्राह यन् नोस्माकं दिदृक्षया समागतास्तदुपपन्नं व इति बहुवचनेन केवलो भावो निवारितः, अत आहोपपन्नमिदं हि व इति, सर्वसामग्रीसहितो भगवान् द्रष्टव्य इति ॥२५॥

**व्याख्यानार्थ—**अब तक हुई बात का पहले अनुवाद करते हैं। लौकिक रीति से कि तुम्हारा बहुत सुन्दर आगमन हुआ। यह कहकर कुशल पूछी। तुम महाभाग्यों-बड़भागिनियों-हो। इस लिए बाहिर की कोई भी वस्तु तुम्हें देने लायक नहीं बाकी रहती। महत्त्व पद से आन्तर-भीतरी-भाग्य भी सूचित होता है। इस कथन से-तुम्हें सब समृद्धि और साक्षात्कार भी सिद्ध है-यह कहा (निरूपण किया), पास में आई हुई उन्हें परिश्रम न हो-इसलिए-बैठो-बैठने के लिए कहा। हम तुम्हारा क्या प्रिय करें? यह कह कर उनके आने का प्रयोजन पूछते हैं। इस से जो वस्तु तुम्हारे पास नहीं है उस वस्तु का संग्रह करादूँ और अन्त में शुद्ध गति-मोक्ष-प्राप्त कर दूँ-ऐसा कहा। इसको-यज्ञपत्न्यस्तथा परे-यज्ञपत्नियाँ और अन्य भी मोक्ष को प्राप्त हो गए-इस प्रकार आगे कहेंगे।



वैष्णव का संग भी करादूंगा । इसलिए उन याज्ञिकों को भगवान् ज्ञान देगे । उस ज्ञान के द्वारा शुद्ध हुए उनकी समागम में सर्वथा प्रवृत्ति होगी (वे भी भगवान् की शरण में आना चाहेंगे) फिर उनके द्वारा ये पत्नियां भी मोक्ष पाने योग्य होवेंगी । इससे तुम्हारे लिए जो कुछ करना उचित है वही करूंगा-ऐसा कहा है । हम तो केवल आपके दर्शन के लिए ही आई है, अधिक और कुछ कर्तव्य नहीं है-ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि जो तुम मेरे दर्शनों की इच्छा से आई हो, यह उचित है । मूल में-‘वः’ इस बहुवचन से केवल भाव का निवारण किया है । इसलिए यह कहा है कि यह तुमने बहुत अच्छा किया, क्योंकि सारी सामग्री से युक्त भगवान् के दर्शन करना चाहिए ॥२५॥

**श्लोक—नन्वद्धा मयि कुर्वन्ति कुशलाः स्वार्थदर्शनाः ।**

**अहेतुकव्यवहृतां भक्तिमात्मप्रिये यथा ॥२६॥**

**श्लोकार्थ—**अपने सच्चे स्वार्थ को जानने वाले कुशल पुरुष प्रीतिपात्र (मुझ पर) मेरी निष्काम और देह इन्द्रियादि के आवरण से रहित अनन्य भक्ति करते हैं ॥२६॥

**सुबोधिनी—**ननु मर्यादायां ज्ञानमार्गे चैतद् भवत्यस्माकं तु प्रेमाधिकमस्तीति कथमेतावन्मात्रस्य युक्तं तत्राह नन्वद्धेति, नन्विति कोमलसम्बोधने स्नेहोपि मर्यादायामेव युक्तोत्त एवाद्धा साक्षान् न तु कामनार्थं भक्ति कुर्वन्ति मर्यादयनेनात्मता निरूपिता, एकवचनेनान्ये व्यावर्तिताः, कुर्वन्तीति नेदमपूर्वं किन्तु परम्परयैव तत् सिद्धं यतस्ते कुशलाः सर्वाणि साधनान्यनेन प्रकारेणानायासेन सिद्धानि भवन्ति फलं च, किञ्च स्वार्थकुशला-

स्तेन्यत् सर्वमिन्द्रियादिनामि भवतोदमेव परमात्मगामीति यावन् न भगवति प्रेम तावन् नात्मनि तत एव तत्रायातीति यावन् नात्मनि स्नेहस्तावदन्यरागो न गच्छत्यतस्ते स्वार्थदर्शिनः, अत एवाहेतुकीमव्यवहृतां देहेन्द्रियादिभिर्व्यवधानमप्राप्तां भक्ति प्रेमलक्षणां यथात्मनि प्रीतिविषये कुर्वन्ति तथैव कुर्वन्ति ज्ञानिनामात्मा दृष्टान्तस्ततोऽग्रिमकक्षाभावात् लोकेपि स्वस्य प्रीतिविषये भर्त्रादी, लोके हि पदार्थो ज्ञानार्थं सिद्ध इति ॥२६॥

**व्याख्यानार्थ—**शंका होती है कि-भगवान् ! आपने कहा, वैसा तो मर्यादा मार्ग और ज्ञान मार्ग में होता है । हमारी तो आप में अत्यधिक प्रीति है । इसलिए प्रभो ! आपने यह कैसे कहा कि तुम्हें यही करना-मेरे दर्शनार्थ आनामात्र-उचित है ? इसका उत्तर-नन्वद्धा-इस श्लोक से देते हैं । ननु (साक्षात्) शब्द का यहां कोमल सम्बोधन अर्थ में प्रयोग किया है । स्नेह भी मर्यादा में ही उचित है । इसी से बिना किसी कामना के साक्षात् मेरी भक्ति करते हैं । ‘मयि’ (मुझ में) पद से-भगवान् सब की आत्मा है-यह निरूपण किया है । एक वचन से भगवान् के अतिरिक्त अन्य (किसी और देवतादि सब) की भक्ति करने का निषेध किया है । कुर्वन्ति (करते हैं)-पद का तात्पर्य यह है, कि भगवान् ही में भक्ति करना कोई नई बात नहीं है, यह तो परम्परा से ही सिद्ध है; क्योंकि वे (भक्त) कुशल है । मेरी भक्ति करने से सारे साधन बिना परिश्रम के सहज ही सिद्ध हो जाते हैं और फल भी सिद्ध हो जाता है । ‘ते हि स्वार्थ-कुशलाः’-वे ही सच्चे स्वार्थ को जानते हैं । अन्य सब कुछ इन्द्रियादिकों के पोषण में जाता है । केवल यही परमात्मा के लिए होता है । जब तक भगवान् में प्रेम नहीं होता, तब तक आत्मा में भी प्रेम नहीं होता; क्योंकि भगवान् में होने वाला ही प्रेम आत्मा में आता है । जब तक आत्मा में स्नेह नहीं होता, तब तक अन्य पदार्थों से अनुराग नहीं

छूटता । इसलिए उनको 'स्वार्थ दर्शी' और कुशल कहा गया है । इसी से वे निष्कारण और देह इन्द्रियादि के आवरण से रहित प्रेम लक्षण भक्ति जैसी प्रीतिपात्र आत्मा में करते हैं, वैसे ही मुक्त में करते हैं । ज्ञानियों के लिए आत्मा ही दृष्टान्त होता है, क्योंकि आत्मा से ऊपर की कक्षा परमात्मा-तक तो उनकी पहुँच ही नहीं है । लोक में भी अपनी प्रीति के विषय-पात्र-पति आदिकों में भी आत्मा का ही दृष्टान्त दिया जाता है । इसी प्रकार लोक के दृष्टान्त से ही अलौकिक पदार्थ का ज्ञान भी किया जाता है अर्थात् अलौकिक पदार्थ का ज्ञान कराने के लिए लौकिक सिद्ध का ही दृष्टान्त दिया जाता है ॥२६॥

टिप्पणी—'यावन्न भगवति प्रेम' (जब तक भगवान् में प्रीति नहीं हो) इत्यादि व्याख्या का भाव यह है, कि भक्ति मार्ग में, भगवान् ही स्वतन्त्र पुरुषार्थ रूप है । इसलिए सारी उपाधियों से रहित निष्काम सबसे अधिक स्नेह भगवान् में ही होता है, और अपनी आत्मा-आदि पर स्नेह भी भगवान् पर होने वाले स्नेह का उपयोगी होने के कारण ही होता है । यह सिद्धान्त है (ऐसी वस्तु स्थिति है) । इसी से महिषी गीत में—यह्यम्बुजाक्ष न लभेय भवत्प्रसादं जह्यामसून् (हे कमलनेत्र, यदि आपकी कृपा नहीं होगी तो प्राणों का त्याग कर दूँगी) ऐसा कहा है । तात्पर्य यह है, कि जैसे विषयी मनुष्यों को आत्मा के अध्यास वाले देह इन्द्रिय आदि में—आत्मा का ज्ञान न होने पर भी—अत्यन्त स्नेह होता है । इसी प्रकार भगवान् में स्नेह न रखने वाले मोक्ष की कामना वालों का विषयों से वैराग्य हो जाता है ।

लेख-व्याख्या में—(एवं मति—इत्यादि का अभिप्राय यह है, कि भक्ति मार्ग में भगवान् पर ही स्नेह होना मुख्य है । इसीलिए भगवद्रूप आत्मा में स्नेह होता है । जिससे दूसरी वस्तुओं पर से स्नेह हट जाता है । यह हो सकता है, किन्तु मुमुक्षु (मोक्ष चाहने वाले) लोगों का तो भगवान् में ही स्नेह नहीं होता, तो फिर भगवद्रूप आत्मा में स्नेह कैसे सिद्ध होगा और जब आत्मा में स्नेह नहीं होगा, तो उनका (मुमुक्षु लोगों का) विषयों से वैराग्य कैसे हो सकेगा ? ऐसी शङ्का का निवारण दृष्टान्त द्वारा करते हैं । जैसे विषयी पुरुषों को आत्मा का ज्ञान नहीं है । इसलिए उनका आत्मा में स्नेह भी नहीं होता । किन्तु तो भी आत्मा की उपाधि रूप देह, इन्द्रियादि पर स्नेह होता ही है । इसी प्रकार मुमुक्षु पुरुषों का भगवान् में स्नेह न होने पर भी, भगवान् की उपाधि रूप आत्मा में स्नेह हो जाता है । विषय आत्मा का नाश करने वाले हैं । इसीलिए मुमुक्षु पुरुषों का विषयों से वैसे ही वैराग्य हो जाता है, जैसे विषयी पुरुष, शरीर का नाश कर देने वाले पदार्थों से द्वेष करते हैं । इससे यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि उपाधि का ज्ञान ही स्नेह का कारण है तो भी मूल-साक्षात् भगवान्-तक न पहुँचने के कारण वह वैराग्य हट नहीं होता । इसीलिए व्याख्या में—जब तक भगवान् में स्नेह नहीं होता, तब तक आत्मा में स्नेह नहीं होता—ऐसा कहा है । इसीसे भरतजी की फिर विषयों में आसक्ति हो गई थी । व्याख्या में 'भर्तादी-पद के पीछे-आत्मा दृष्टान्तः—ऐसा अध्याहार है । जानार्थ-अर्थात् लौकिक दृष्टान्त से अलौकिक ज्ञान के लिए । इसी लिए-न वा अरे पत्युः कामाय इत्यादि-श्रुति में दृष्टान्त पूर्वक आत्मा का बोध कराया गया है । इसी अभिप्राय से व्याख्या में 'हि' शब्द का प्रयोग किया है ।

योजना—तृतीय स्कन्ध में भगवान् ने ब्रह्माजी से कहा है कि—हे ब्रह्माजी ! मैं आत्माओं की आत्मा और प्यारों से प्यारा हूँ । इसीलिए मेरे ऊपर स्नेह करो । आत्मा के लिए ही देहादिक प्रिय लगते हैं, 'यावन्न भगवति स्नेहः—इत्यादि व्याख्या के पदों का अर्थ टिप्पणी में स्फुट कह दिया गया है ॥२६॥

श्लोक—प्राणबुद्धि मनःस्वात्मदारापत्यधनादयः ।

यत्सम्पर्कात् प्रिया आसंस्ततो को न्वपरः प्रियः ॥२७॥

श्लोकार्थ—प्राण, बुद्धि, मन, अपनी आत्मा, स्त्री, पुत्र और धन सभी कुछ मेरे सम्बन्ध से प्रिय लगते हैं । इसलिए मुझसे अधिक कोई दूसरा प्यारा नहीं है ॥२७॥

सुबोधिनी—एतदुपपादयति प्राणेति प्राणादयः सर्वं आत्मसम्बन्धात् प्रिया आत्मापि परमात्मसम्बन्धात् परमानन्दो ह्यात्मरूपः प्रियो न केवलमात्मनः प्रियत्व नाप्यानन्दस्य परानन्दे दुःखितजीवे च व्यभिचारादतः प्राणादिषु स्नेह उपाधिकः सहजो भवति, अतः को वापरः प्रियो भवेत् ? प्राणा इन्द्रियाणि प्राणाश्च

बुद्धिमनोनियामिका मनश्च स्वं शरीरं घनादिकं वात्मा देह आत्मैव वा दाराः स्त्रियोपत्यानि पुत्रा घन पञ्चादयो यावत्किञ्चिदात्मसम्बन्धि यस्यात्मनो मम सम्बन्धात् प्रिया आसंस्ततो मतो न्विति वितर्कं को वा प्रियः स्यात् ? अपरश्च नियम्यस्त्वप्रियो भवति ॥२७॥

व्याख्यानार्थ—इसी का उपपादन—प्राण बुद्धि—इस श्लोक से करते हैं । प्राण आदि सभी पदार्थ आत्मा के सम्बन्ध से प्यारे लगते हैं । आत्मा भी परमात्मा के सम्बन्ध से ही प्रिय लगती है । परमानन्द भी तभी प्रिय लगता है, जब उसका आत्मा से सम्बन्ध होता है । केवल आत्मा तथा केवल आनन्द भी प्रिय नहीं लगता है । यदि केवल आनन्द भी प्रिय लगता हो तो दूसरे का आनन्द भी प्रिय लगना चाहिए । और यदि केवल आत्मा ही प्रिय लगता हो तो किसी दूसरे दुःखी जीव की आत्मा भी प्रिय लगनी चाहिए । किन्तु ऐसा नहीं होता । इसलिए परमानन्द आत्मरूप से और आत्मा परमात्मा के सम्बन्ध से ही प्रिय होते हैं । इस से यह सिद्ध है, कि प्राण, बुद्धि आदि में होने वाला स्नेह उपाधि वाला है, सहज (स्वाभाविक) स्नेह तो मेरे ऊपर ही होता है । इस कारण से दूसरा कोई कैसे प्रिय हो सकता है । प्राण—इन्द्रियां और प्राण, बुद्धि—जो मन को नियम में रखने वाली है, मन, अपना शरीर, धन सम्पत्ति, आत्मा अर्थात् देह अथवा आत्मा, दारा—(स्त्रियां)—अपत्य—(पुत्रादि) और धन—पशु—आदि सभी कुछ आत्मा के सम्बन्धी हैं । और जिन २ का आत्मरूप मेरे साथ सम्बन्ध है, वे सभी प्रिय लगते हैं । इससे मेरे अतिरिक्त कौन प्रिय हो सकता है । मैं तो सब का नियामक हूँ, नियम्य होता है, वह प्रिय नहीं होता है ॥२७॥

श्लोक—तद् यात देवयजनं पतयो वो द्विजातयः ।

स्वसत्रं पारयिष्यन्ति युष्माभिर्गृहसेधिनः ॥२८॥

लेख—मूल में आए हुए-अपर-पद का अर्थ यह है कि 'पर' अर्थात् नियामक (सब को अपने वश में रखने वाले) भगवान् और अपर (जो पर न हो नियामक न हो) नियम्य (भगवान् के वशीभूत) जीव अपर-दूसरा तो नियम्य ही होता है ॥२७॥

**श्लोकार्थ—**अब तुम देवयज्ञ को लौट जाओ । तुम्हारे पति ब्राह्मण और गृहस्थी हैं । वे तुम्हारे साथ ही अपना यज्ञ पूरा करेंगे ॥२८॥

**सुबोधिनी—**अतः कार्यस्य सिद्धत्वाद् गृहं यातेत्याह तद् यातेति, यद्यप्यहमात्मा तथापि बहोरमणो बुद्धिरन्यथा भविष्यतीति न तत् कर्तव्यं यतो भवत्यः साध्व्यः पतिव्रताः संस्कारैश्च संस्कृता अतो देवयजनं यात, किञ्च वो युष्माक पतयो द्विजातयो ब्राह्मणजातीया

अतः संस्कारनाशे यज्ञो न सिद्धयेदतस्ते स्वसत्रं युष्माभिः कृत्वा पारयिष्यन्ति पारं नेष्यन्ति यतो गृहमेधिनो गृहस्था भार्यासहिता एव कर्माधिकारिणस्तस्मात् कार्यस्य सिद्धत्वात् स्वरक्षासम्भवात् परोपकारात् तेषां च जातिपूजागार्हस्थ्यसम्पादकत्वाद् गन्तव्यमित्यर्थः ॥२८॥

**व्याख्यान—**तुम्हारे यहां आने का कार्य सिद्ध हो गया—मेरे दर्शन हो गए, अब घर चली जाओ—यह—तदयात—इस श्लोक से कहते हैं । यद्यपि मैं आत्मा हूँ, तो भी बाहिर रमण करने से बुद्धि में विकार उत्पन्न हो जाएगा । इसलिए वह उचित नहीं है, क्योंकि तुम पतिव्रता हो । विवाहादि संस्कारों से संस्कृत हो । इस कारण से, देवयज्ञ में लौट जाओ । तुम्हारे पति ब्राह्मण हैं । संस्कार का नाश हो जाने पर, यज्ञ सिद्ध नहीं होता । इसलिए वे तुम्हारे साथ ही उनके यज्ञ को पूरा करेंगे । क्योंकि वे गृहस्थ हैं । गृहस्थियों को अपनी स्त्रियों के साथ ही यज्ञ यागादि कर्म करने का अधिकार होता है । इस कारण तुम चली जाओ; क्योंकि तुम्हारा मेरा दर्शन रूपी कार्य सिद्ध हो गया है । तुम्हारे चले जाने से वे तुम्हारी रक्षा करेंगे । तुम्हारे साथ ही वे अपना यज्ञ पूर्ण कर सकेंगे । इस लिए उन पर तुम्हारा उपकार होगा । उनकी जाति, यज्ञ, गृहस्थाश्रम सब को सिद्ध करने के लिए तुम्हें चले जाना चाहिए ॥२८॥

॥ पत्नय ऊचुः ॥

**श्लोक—**मैवं विभोर्हति भवान् गदितुं नृशंसं सत्यं कुरुष्व निगमं तव पादमूलम् ।

प्राप्ता वयं तुलसिदाम पदावसृष्टं केशैर्निबोद्धुमतिलङ्घ्य समस्तबन्धुन् ॥२९॥

**श्लोकार्थ—**यज्ञ पत्नियों ने कहा कि हे विभो (सर्व समर्थ) ऐसे क्रूर वचन कहना आपको उचित नहीं है । वेद के वचन—अपनी प्रतिज्ञा को सत्य कीजिए । हम अपने बन्धु बान्धवों को छोड़ कर आपकी अनादर के साथ भी दी हुई—चरणों से दूर की हुई भी—उच्छिष्ट (प्रसादी) तुलसी की माला को अपने सिर पर धारण करने अर्थात् दासी होने के लिए आपके चरणों के मूल में—निकट—उपस्थित हुई हैं ॥२९॥

**सुबोधिनी—**पत्न्यस्तु सर्वपरित्यागेन समागताः कृतसाक्षात्काराः पुनः पूर्वविस्था प्राप्तुमयुक्तेति सञ्चिन्त्य गमनाभिवं प्रार्थयन्ति मैवमिति, गृहगमनं त्वनुचित-

मेव कर्तव्यं च, तथापीश्वरवाक्यात् कर्तव्यं चेत् तदा कर्तव्यतायां वान्ताशित्वेन महद् भयमाशङ्क्य विज्ञापयन्ति विभो हे समर्थ सर्वप्रकारेणापि सर्वं कर्तुं समर्थव-

गवितुं भवान् नार्हति, अनर्हं हेतुमाह नृशंसमिति, इदं हि क्रूरं वाक्य स्वरूपतः फलतोर्थतश्च, आदौ पुष्टि-मार्गप्रवर्तनार्थं भगवानवतोर्णः कथं मर्यादां स्थापयति ? नापीयं मर्यादा त्यागानन्तरं पुनर्ग्रहणविधानात्, यद्यपि स्त्रीणां त्यागो नोक्तस्तथापि त्वय्यवतीर्णं उचितः, स्त्रीणामर्थ एवानन्दस्य प्रकटितत्वादतो न्यदा फलरूपानन्दाभावाद् भोग्यत्वेन तासामन्यगामित्वावश्यकत्वात् त्यागोनुचितो भवतु नाम प्रकृते तु तद्वैपरीत्यात् तस्यैव भोगपर्यवसानादुचित एव त्यागस्तथा सति पुनः परिग्रहः क्रूरो भवति, किञ्च दयाभावाच्च संसारदवानलान् निर्गन्तं पुनस्तत्र प्रवेशयतीति, अथ यदि तेनैव प्रकारेण पुरुषार्थसिद्धिस्तथापि न प्रेषणीया यतस्त्वं सर्वसमर्थः, अत्रैव तथाप्रकारं सम्पादय स्वयं तद्रूपो भूत्वा क्वचित् तिष्ठास्मान् वान्यथा प्रदर्शयात्मनि वा प्रवेशय वृक्षादिभावं वा प्रापयादृश्यान् वा कुरु, एवं सर्वोपायेषु विद्यमानेषु स एव कुतः क्रियते ? सिद्धत्वादिति चेत् तत्राहुः सत्यं कुरुष्व निगममिति, निगमो वेदस्त्यागे न पुनर्ग्रहणमिति, “तस्मान् न्यासमेषां तपसामतिरिक्तमाहुः” “न च पुनरावर्तते” “न च पुनरावर्तते” इति, “मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते” एवमनेकविधो

निगमोसत्यो भवेद् यदि त्यागानन्तरं त्वयैव चेद् ग्राहितः स्यादतः स्वनिगमं सत्यं कुरुष्व, ननु “मामुपेत्य” तिवाक्याद् न भवतीनां परावृत्तौ दोषो भिन्नतया तिष्ठन्तीति चेत् तत्राहुस्तव पादमूलं प्राप्ता वयमिति, प्राणिनस्त्वेतावद्दूरे स्वप्रयत्नो यत् तव चरणयोर्मूलं प्रेम रजश्छाया चित्ते तदवलम्बिनि स्थितिर्वाधोभाग इति सेवानिवेशो वा, एवं कृते शिष्टं त्वयैव कर्तव्यं न त्वधः पातनीयं, ननु स्त्रियो भवत्यः कामयुक्तास्तथा सत्यनुचितं लोकशास्त्रावतारविरुद्धं कथं कुर्यामतो व्याधुष्यगमनमेवोचितमिति चेत् तत्राहुस्तुलसिदाम पदावसृष्टं केशनिबोदुमिति, न वयमनुचितकर्माभिलाषिण्यः किन्तु सम्पूर्णं दिनं सेवां विधाय स्वामिनो निद्रासमये निद्रिते वा पादसंवाहने क्रियमाणे पादयोः समर्पितं तुलसीदाम प्रसादत्वेन त्वया दत्तमस्पर्शं वा दूरादुत्सृष्टं परमपुरुषार्थत्वेन प्राप्यमहाप्रसादरूप केशैः केशसम्बन्धिभिर्वेण्यापीडादिभिर्नितरां बोधुं तव पादमूलं प्राप्ता इतिसम्बन्धः, नन्वेतावदेव चेत् तत्रैव तुलसिदाम प्रेषयिष्यामि तत्राहुरतिलङ्घ्य समस्तबन्धूनि, सर्वे बान्धवाः पतिपुत्रादयस्त्यक्ता अतस्तद्विरोधादपि न तत्र स्थितिः सम्भवति ॥२६॥

**व्याख्यार्थ—**पत्नियार्थं तो सब का परित्याग करके आई हैं और भगवान् का दर्शन पा चुकी हैं । अब फिर पहली जैसी अवस्था को प्राप्त करना अनुचित है । ऐसा विचार करके घर न भेजने की प्रार्थना-मैं-इस श्लोक से करती हैं । घर जाना तो अनुचित है और कर्तव्य नहीं है । तो भी यदि भगवान् के वचनानुसार करना पड़े-घर चले जाना पड़े, तो वमन को खाने के समान बहुत भारी भय उत्पन्न होने की शंका करके प्रार्थना करती हैं-हे विभो ! सब प्रकार से सब कुछ करने में समर्थ आप इस प्रकार न कहें, क्योंकि ये वचन नृशंस हैं अर्थात् स्वरूप, फल और अर्थ-सब प्रकार से क्रूर हैं । स्वरूप से क्रूरता तो यह है, कि पुष्टि मार्ग की प्रवृत्ति करने के लिए भगवान् ने अवतार लिया है, वे मर्यादा का स्थापन, हमारे लिए मर्यादा में रहने की आज्ञा, कैसे करते हैं ? यह मर्यादा भी नहीं है, क्योंकि त्याग कर देने के पीछे फिर उसी पदार्थ का ग्रहण करना कह रहे हैं । यद्यपि स्त्रियों के लिए त्याग करना नहीं कहा है, तो भी, जब आप ने अवतार लिया है तब तो स्त्रियों के लिए भी त्याग उचित ही है; क्योंकि, आनन्दरूप भगवान् आप स्त्रियों के लिए ही प्रकट हुए हो । दूसरे समय-अवतार-में फलरूप आनन्द नहीं है (अभाव है) । स्त्रियां भोग्य हैं । इससे उनका अन्यगामी होना आवश्यक होने के कारण, भले ही उनके लिए त्याग अनुचित हो, किन्तु यहां तो ऐसा नहीं है (इस से विपरीत है); क्योंकि आनन्दरूप भगवान् स्वयं ही भोग कर सकते हैं और फल का अनुभव भी स्वयं ही करा सकते हैं । इस लिए अन्य का त्याग करना उचित नहीं है । ऐसी दशा में फिर उसका ग्रहण करने के लिए कहना फल की दृष्टि से क्रूरता को सूचित कर रहा है । अब

अर्थ से क्रूरता का वर्णन करती हैं, कि इस प्रकार के वचनों से दया का अभाव सूचित होता है अर्थात् संसार की दावानल से निकले हुए को, फिर उसी में प्रवेश करा रहे हैं। (जाने के लिए कह रहे हैं)। यदि ऐसा करने पर ही पुरुषार्थ सिद्ध होता हो, तो भी आप का हमको चले जाने की आज्ञा देना उचित नहीं है; क्योंकि आप सर्व समर्थ हैं। इसलिए यहां ही पुरुषार्थ सिद्धि का प्रकार सिद्ध कर दो। आप स्वयं हमारे पति रूप होकर किसी स्थान पर विराजो, अथवा हमको अन्यथा-गोपिका-रूप में दिखा दो, या आत्मारूप आप में, हमारा प्रवेश करा लो। वृक्ष लता आदि बना दो अथवा हमें अदृश्य कर दो। इस प्रकार सारे उपायों के रहते हुए संसार में ही किस लिए भेज रहे हो? कदाचित् आप यों कहें, कि ये सारे उपाय तो सिद्ध करने लायक हैं और घर तो सिद्ध ही है। उसमें तो कोई नई बात नहीं करना है। इसके उत्तर में कहती हैं कि—सत्यं कुरुष्व-वेद के वाक्यों को सत्य करिए। वेद में त्यागी हुई वस्तु का फिर ग्रहण कराने का निषेध किया है। ‘तस्मान्न्यासमेषां तपसामति रिक्त माहुः’ ‘न च पुनरावर्तते’, ‘मामुपेत्यतु कीन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते’—श्रुति में लिखा है कि इन तपस्वियों के लिए त्याग करना उचित है, फिर नहीं लौटता है, फिर संसार में नहीं आता है, हे अर्जुन ! मुझ को पाकर फिर जन्म नहीं लेता है। यह अनेक प्रकार के वेद के वचन—यदि आप हम से घर चले जाने के लिए कहेंगे तो—असत्य हो जाएंगे। इसलिए अपने वेद को सत्य करिए (छोड़े हुए घर को फिर से ग्रहण मत कराइए। यदि आप यह कहें, कि—मामुपेत्य-मेरा सायुज्य होने के पीछे जन्म नहीं होता और तुम्हारा तो मेरे साथ सायुज्य नहीं हुआ है, तुम तो मेरे से भिन्न-रह रही हो। इसलिए तुम्हारे चले जाने में दोष नहीं है तो इसके उत्तर में कहती हैं कि—तब पादमूलं प्राप्ता वयं (हम आपके चरण के मूल को प्राप्त हो गई हैं)। प्राणी तो अपने प्रयत्न से केवल इतना ही कर सकता है, कि आपके चरणों के निकट आ जाए। आपके चरणों का मूल अर्थात् प्रेम, अथवा चरणों की रज धारण करना, अथवा चरणों की छाया का आश्रय लेना, अथवा चरणों का अवलम्बन वाले चित्त में स्थित रहना अथवा सेवा के लिए चरणों के नीचे रहता रहे। इन में से प्राणी कुछ भी कर ले। इसके पीछे शेष सब आपको ही करना चाहिए। किसी तरह उसकी अधोगति नहीं करना चाहिए। शंका—आप सब स्त्रियां हो और कामना वाली हो इसलिए लोक विरुद्ध, शास्त्र और अवतार के विरुद्ध काम मैं कैसे करूं ? इसलिए तुम्हें यहां से शीघ्र ही चलेजाना ही उचित है। इसके समाधान में कहती हैं “तुलसीदाम” (आपके चरणों से उत्तरी हुई तुलसी की माला को अपने केशों में धारण करने के लिए) कि हमारी इच्छा अनुचित काम की नहीं है, किन्तु सारे दिन आपकी सेवा करके स्वामी के सोने-शयन करने-के समय में अथवा नींद में चरणों की सेवा करती करती चरणों में आभरणरूप से धारण की हुई तुलसी की माला को—जो आपने प्रसाद रूप से दी है अथवा अस्पर्श के समय में दूर से उतार दी है, उसको—परम पुरुषार्थ समझ कर महा प्रसाद रूप से लेने अथवा केशों पर वेणी, शेखर आदि के रूप से धारण के लिए आपके चरणों के मूल को प्राप्त हुई हैं। यदि आप उस तुलसी माला को हमारे चले जाने के पीछे घर पर ही भेज देने के लिए कहें तो—हम तो अपने—‘अतिलंघ्य समस्तबन्धून्’—सारे बान्धव, पति पुत्रादि का त्याग करके आई हैं। इसलिए उनके विरोध से, हम घर पर नहीं रह सकेंगी। तब ऐसी दशा में आप उस माला को हमारे पास नहीं भेज सकोगे। इसलिए हमें चले जाने की आज्ञा मत देओ ॥२६॥

लेख—‘आदौ’—स्वरूप, फल और अर्थ से क्रूरता में प्रथम स्वरूप से क्रूरता का वर्णन किया है।

श्लोक—गृह्णन्ति नो न पतयः पितरौ सुता वा न भ्रातृबन्धुसुहृदः कुत एव चान्ये ।

तस्माद् भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नो नान्या भवेद् गतिररिन्दम तद् विधेहि ॥३०॥

श्लोकार्थ—औरों की तो कौन कहे, हमारे पति, माँ बाप, पुत्र, भाई बन्धु और मित्र भी अब हमको ग्रहण नहीं करेंगे; क्योंकि हम उनकी बात न मानकर आई हैं । हे शत्रुदमन ! आपके सिवाय, अब हमारी और कोई गति नहीं है । इसी से हम आपके चरणों की शरण में आई हैं । हमको अंगीकार करिए । आपके साथ ही रहने दीजिए ॥३०॥

सुबोधिनी—किञ्च तेषामुपकारार्थं गन्तव्यमिति यदुक्तं तदपि न सम्भवतीत्याहुर्गृह्णन्तीति, ते परिग्रहमेव न करिष्यन्ति तद्वाक्योल्लङ्घनेनागतत्वाद् भर्तुरग्रहणे पितृगृहे स्थातव्यमित्यपि पक्षो निराक्रियते पितराविति सुता वा भिन्नतयान्नं दास्यन्तीति बान्धवा वा स्वमध्ये स्थापयिष्यन्तीति सुहृदो मित्राणि वोपकरिष्यन्तीति प्रत्यक्षं बन्धुसाहसस्य कृतत्वादप्येव सुतरामेव न ग्रहीष्यन्ति अथ यदि जातिपरित्यागेन यत्र क्वचित् स्थातव्यं तर्ह्य-

त्रैव स्यातव्यं, अत्र स्थितानां स्वर्गो न भविष्यतीति चेन्मास्त्वित्याहुर्भवत्प्रपदयोः पतितात्मनां नान्या गतिर्भवेदिति, पादाग्रे पतितानां पादगतिरेव गतिर्यथोपायः प्रपदपतितवस्त्राणां वा, तथास्माकमप्यन्या स्वर्गादिगतिर्मा भवतु भर्तृभिः सहितातः पादगतिमेव विधेहि दास्यो भूत्वा त्वत्सङ्गे सर्वत्र पर्यटनं, भर्त्रादिभ्यं तु तव नास्त्येव, तदाहुर् अरिन्दम शत्रुनाशक तद् गमनमेव विधेह्याज्ञापय ॥३०॥

व्याख्यार्थ—आपने कहा कि पति, पुत्रों पर उपकार के लिए घर चली जाओ । तो यह भी सम्भव नहीं है—इस बात को—गृह्णन्ति—इस श्लोक से कहती हैं । वे हमको अंगीकार ही नहीं करेंगे;

‘नापीयम्’—इत्यादि पदों से विरुद्ध विधान करके, फल से क्रूरता का वर्णन किया गया है । अतः भगवान् के अवतार लेने पर उचित ही है । यह फल रूप आनन्द के अभाव में हेतु है । ‘उचित एव’—फल का अनुभव कराने के कारण उचित ही है । किञ्च—इत्यादि पदों से दया का अभाव बतला कर अर्थ से क्रूरता का वर्णन किया है । तद्रूप (पति रूप) अन्यथा—आदि पदों का भाव यह है, कि गोपिका आदि रूप से हमको अन्य जीवों से भिन्न दिखा देओ । मूल पद का अर्थ प्रेम को प्राप्त हो गई—यह है । रजः—आपके चरणों की धूलि को धारण कर रही हैं । छाया—छाया का आश्रय करके उसके (अनु) पीछे चलने वाली हैं । इस प्रकार तीनों भांति से क्रूरता का वर्णन करके भिन्न रीति से मूल प्राप्ति का विवेचन करते हैं । चित्ते—चरणों का अवलम्बन करने वाले चित्त में स्थिति अर्थात् निष्ठा । अधः—चरण के नीचे के भाग में निवास का वर्णन—‘स्वामिनो निद्रा समये’—इत्यादि पदों से किया गया है । ‘पादयोः समर्पितम्’—चरणों के आभूषणों के स्थान पर पुष्पों के आभरणों की तरह बांधी हुई माला को । खुले हुए केशों पर, तुलसी की माला नहीं ठहर सकती । इसलिए केश शब्द का अर्थ वेणी, शेखर आदि किया गया है । ‘न तत्र स्थितिः’—अर्थात् घरों में हम नहीं रह सकेंगी तो फिर घर पर तुलसी की माला को कैसे भेज सकोगे ॥२६॥





क्योंकि, हम उनके वाक्यों का उल्लङ्घन करके आई हैं । यदि पति स्वीकार न करें, तो माँ बाप के घर रहना—इस पक्ष का भी निषेध करती हैं कि—पितरौ—माँ बाप भी नहीं रखेंगे । पुत्र रखकर अलग अन्न देते रहेंगे, बान्धव अपने पास रखलेंगे, अथवा मित्र कुछ उपकार कर सकेंगे—यह भी कुछ सम्भव नहीं है । प्रत्यक्ष में बान्धवों के विरुद्ध कार्य करने के कारण और लोग तो कभी रख ही नहीं सकते और यदि जाति, बन्धुओं का त्याग करके किसी और स्थान पर रहने से तो यहीं आपके निकट रहना ही उचित है । कदाचित् आप यह कहें, कि यहां रहने वालों को स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती है, तो मत होओ । इस बात को—भगवत्प्रपदयोः—इत्यादि पदों से कहती हैं कि आपके चरणों में गिरी हुई हमारी भले ही गति न होए तो भले ही मत हो । (कुछ परवाह नहीं है) चरणों के आगे गिरे हुए की (गति) तो जूता अथवा मौजा आदि की तरह चरण की गति ही गति है । इस तरह से हमारी भी हमारे पतियों के साथ स्वर्ग आदि की गति—प्राप्ति—भले ही मत हो । आपके चरणों की ही गति हमारी करिए । आपकी दासी होकर आपके साथ सब स्थानों में पर्यटन—(भ्रमण)—करती रहें । आपको हमारे पति पुत्रादिकों का भय तो है ही नहीं, क्योंकि आप अरिन्दम—शत्रु नाशक—हो । इसलिए आपके साथ आप जहाँ जावो, वहीं जाने की आज्ञा दीजिए ॥३०॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

श्लोक—पतयो नाम्यसूयेरन् पितृभ्रातृसुतादयः ।

लोकाश्च वो मयोपेता देवा अप्यनुमन्वते ॥३१॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा—हे पत्नियो ! तुम अपने घर जाओ । तुम्हारे पति, पुत्र, भाई आदि कोई तुम पर दोषारोपण नहीं करेंगे; क्योंकि तुम मेरे पास आई हो । मेरे पास आने वाली तुम्हारा देवता भी आदर करेंगे, अथवा जो मेरे पास आ जाते हैं उनका देवता भी सन्मान करते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—एवम्प्रार्थनायां बाधकादेवं वदन्तीति सद्यः सञ्जातबाधकं प्रति समाधत्ते पतय इति, त्यागाग्रहणसम्भावनैव नास्त्यभ्यसूयामपि न करिष्यन्ति पित्रादयोपि पूर्वपूर्वोपाधिरहिताः, न हि पितुः कामोस्ति न हि भ्रातुर्लोभोस्ति, किञ्च लोकाः सर्वे एव न दोषारोपं

करिष्यन्ति तत्र हेतुर्मयोपेता भवतीर्देवा अप्यनुमन्वते सन्माननं करिष्यन्ति, अशास्त्रेयुवते हि सर्वेषामसम्मतिनं त्वात्मनि कस्याप्यसम्मतः, अन्यथा स्वस्पर्शं स्वार्थगमनेपि त्यागः स्यात् ॥३१॥

लेख—सर्वत्र पर्यटनम्—के आगे—कुर्वन्त्यो भवाम—ऐसा अध्याहार है अर्थात् सब जगह पर्यटन करती हुई होंगे ।

योजना—गमनमेव विधेहि—आपके जाने पर हम भी वहीं आपके साथ ही चलें—ऐसी आज्ञा करिए ॥३०॥

व्याख्यान—इस प्रकार प्रार्थना करने वाली उन पत्नियों ने वापस घर चले जाने में पति पुत्रादिकों को बाधक रूप बतलाकर लौट जाने का निश्चय किया। इस कारण से भगवान् शोध ही उस बाधा का समाधान—पतयः—इस श्लोक से करते हैं। त्याग करने तथा स्वीकार न करने की तो सम्भावना ही नहीं है वे तो तुम मे ईर्ष्या भी नहीं करेंगे। पिता आदि भी पूर्व की उपाधि से रहित हैं। अर्थात् पति में रहने वाला काम पिता में नहीं है। पिता में रहने वाला लोभ भाई में नहीं होता है। इसलिए वे भी तुमसे ईर्ष्या नहीं करेंगे और अन्य लोग भी, तुम पर दोषारोप नहीं करेंगे; क्योंकि मेरे पास आने वाली तुम्हारा, तो देवता भी सम्मान करेंगे। शास्त्र के अथवा युक्ति के विरुद्ध किए हुए कामों में सभी की असम्पत्ति होती है (किसी की भी सम्पत्ति नहीं होती) किन्तु अपनी आत्मा के पास जाने में, कोई बुरा नहीं समझता। (किसी की भी असम्पत्ति नहीं होती)। यदि अपनी आत्मा के (पास) जाने में भी किसी की असम्पत्ति हो, तो अपने आप का स्वयं स्पर्श करने, अथवा अपने आप को अपने कार्य के लिए जाने पर भी त्याग करना हो जाए। (किन्तु ऐसा नहीं होता) ॥३१॥

श्लोक—न प्रीतयेनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह ।

तन् मनो मयि युञ्जाना अचिरान् मामवाप्स्यथ ॥३२॥

टिप्पणी—इस 'पतयो नाम्भसूयेरन्' श्लोक की व्याख्या में—पित्रादयोपि—इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है कि पति, पिता, भ्राता और पुत्र आदि के द्वारा उन पत्नियों को रोका जाने का क्रम से जो धर्म प्रथम पति आदि में कारण था, वह आगे नहीं था। इसीका 'न हि' इत्यादि पदों से व्याख्या में स्पष्टीकरण किया गया है। पिता का पुत्री के लड़के, दौहित्र, के द्वारा दिए जाने वाले पिण्ड में लोभ होता है। इसलिए पिता लोगों ने रोका। वह पिण्ड का लोभ भाईयों को नहीं होता। भाई तो बहिनों के सौभाग्य की इच्छा रखता है। इस इच्छा से भाईयों ने सब को रोका। पुत्रों में तो ऐसी इच्छा नहीं होती। पुत्र तो माता के निर्दोष भाव की अपेक्षा करते हैं। इसी-लिए पुत्रों ने निषेध किया था। अन्य साधारण लोगों को तो इसकी भी अपेक्षा नहीं थी। यद्यपि अन्य लोगों के द्वारा रोके जाने का कोई सा भी धर्म इनसे असूया करने में कारण नहीं था, तो भी इन वाक्यों से यह सूचित होता है कि उन पत्नियों में तो अब उन उन धर्मों का नाश हो गया था। केवल उनके उन पति पिता आदिकों में ही वे विभिन्न धर्म थे, जिनके ही कारण उन्होंने उन्हें भगवान् के पास जाने से रोका था।

लेख—त्यागाग्रहणसम्भावनेव नास्ति—इत्यादि व्याख्या के पदों में—सम्भावना नास्ति एव (सम्भावना है ही नहीं) इस प्रकार 'एव' पद अयोगव्यवच्छेद का सूचक है ।

योजना—त्यागा० अर्थात् तुम्हारे पति लोग ईर्ष्या भी नहीं करेंगे । भगवान् के इस कथन से त्याग करने और ग्रहण नहीं करने की सम्भावना ही नहीं है । त्याग और अग्रहण पदों में द्वन्द्व समास है और फिर दोनों की असम्भावना—ऐसा षष्ठी तत्पुरुष समास है । त्याग अर्थात् फिर से स्वीकार नहीं करना और अग्रहण अर्थात् उसी समय स्वीकार नहीं करना 'पूर्वं पूर्वोपाधिरहिता'—इत्यादि पदों का तात्पर्य टिप्पणी में स्फुट कर दिया गया है ॥३१॥



**श्लोकार्थ—**यदि कहो, कि हम को तो अङ्ग सङ्ग की इच्छा है, उसके बिना हम कैसे लौट जाएँ ? तो यहां अंग संग, प्रीति, या मुझ में स्नेह भी उत्पन्न नहीं करेगा । मनुष्यों को भी प्रीति उत्पन्न नहीं कर सकेगा, इसलिए अपने घर में ही रहकर मुझ में अपना मन लगाओ । इसी से मुझे शीघ्र प्राप्त कर लोगी ॥३२॥

**सुबोधिनी—**नन्वेवं सति लोकवेदविरोधाभावात् सङ्गोप्यस्त्विति चेत् तत्राह न प्रीतये इति इहास्मिन्नवसरेङ्गसङ्गो नृणां प्रीतये न भवति, अङ्गेन सङ्ग आत्मनैव सङ्ग उचितो मनसा वा न त्वङ्गेनाङ्गयोरिति न वक्तव्यं बाधितत्वादतो लोकविहृदत्वान्न कर्तव्यं, किञ्चैतद्धि भवत्यर्थं कर्तव्यं यथाधिकः स्नेहो भवतीति, तदपि

न भविष्यतीत्याहानुरागायेति, भवतीनामप्येतदनुरागाय न भविष्यति नृणामप्येतज्ज्ञाने, किञ्च सङ्गः परं प्रतिबन्धकः सायुज्ये तो मय्येव मनो गुञ्जाना अचिराच्छीघ्रमेव मामवाप्स्यथ, अनेनान्या गतिरपि निवारिता, ऋजुमार्गेण सिध्यतीत्यस्य वक्रेण साधनमयुक्तमित्येवमुक्तम् ॥३२॥

**व्याख्यार्थ—**यदि ऐसा है तो लोक और वेद का विरोध नहीं होने के कारण हमें आपके अंग का संग हो जाना चाहिए, जिसकी इच्छा से ही हम आई हैं—इस प्रकार पत्नियां कहें तो उसके उत्तर में—न प्रीतये—श्लोक कहते हैं । इस समय अंगसंग मनुष्यों की प्रीति करने वाला नहीं होता है । अंग-संग अर्थात् अंग के साथ संग । वह तो आत्मा के साथ ही अथवा मन के साथ ही उचित है । अङ्ग के साथ तो भगवान् का संग उचित नहीं है । बाधित होने के कारण भगवान् के और पत्नियों के दोनों के अंगों का संग कहना उचित नहीं है । इस लिए लोक से विहृद होने से, भगवान् के साथ अंग संग कर्तव्य नहीं है । यदि अंगसंग कर्तव्य ही हो, भक्ति के लिए करना चाहिए; जिससे भगवान् में अधिक हो । परन्तु वह भी नहीं होगा—इसको—अनुरागाय' पद से कहते हैं । अंग संग से तुम्हारा भी अनुराग तथा स्नेह नहीं होगा और इस अंग संग का ज्ञान मनुष्यों को हो जाने से उन (मनुष्यों) का भी स्नेह मेरे ऊपर नहीं होगा । सङ्ग तो सायुज्य में अत्यन्त प्रतिबन्धक (बाधक) है । इस लिए मुझ में ही मन को लगाती हुईं तुम मुझको शीघ्र ही प्राप्त हो जाओगी । इस कथन से उनकी अन्य गति का निवारण किया है । सरलता से जो कार्य सिद्ध हो जाता है तो फिर कठिन मार्ग से सिद्ध करना उचित नहीं होता । इस लिए ऐसा कहा है ।

**लेख—**'बाधित्वाद्'—भगवान् में अंगांगी भाव नहीं होने से अर्थात् भगवान् का अङ्ग और आत्मा दोनों भिन्न नहीं होते हैं ।

**योजना—**'न प्रीतये'—इत्यादि श्लोक की व्याख्या में—'अङ्गयोरिति न वक्तव्यम्'—इत्यादि का आशय यह है, कि यज्ञपत्नियों के अंग वाली होने पर भी भगवान् का अङ्ग सिद्धान्त में भगवान् की आत्मा से भिन्न नहीं है । इसीलिए—'केवलानुभवानन्द स्वरूपः सर्वं बुद्धि दक्'—वसुदेवजी ने स्तुति में भगवान् को केवलानुभवानन्द स्वरूप और सब की बुद्धि का साक्षी—देखने वाला—कहा है ॥३२॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—इत्युक्ता द्विजपत्न्यस्ता यज्ञवाटं पुनर्गताः ।

ते चानसूयवस्ताभिः स्त्रीभिः सत्रमपारयन् ॥३३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे राजन् ! भगवान् के यों कहने पर वे विप्र पत्नियां फिर यज्ञशाला को लौट गईं । वहाँ पतियों ने उनसे कुछ असूया न करके उनके साथ यज्ञ को पूरा किया ॥३३॥

सुबोधिनी—भगवतोऽनुल्लङ्घ्यवाच्यं तथैव कृतवत्य इत्याहेत्युक्ता इति, अयं यज्ञः प्राश्नमिक इति सर्वत्र द्विजग्रहणमत एवाग्रे जन्मत्रयं वक्ष्यन्ति समाप्तिपर्यन्तं तु द्विजत्वमेव, ननु दीक्षितविमितादन्यत्रगमने यज्ञनाश-श्रवणात् कथं प्रवासो 'गर्भो वा एष यद् दीक्षितो यो न दीक्षितविमितं यद् दीक्षितो दीक्षितविमितात् प्रवसेद् यथा योनेर्गर्भः स्कन्दति तादृगेव तद् यानि दीक्षितघ्नानि तानि पत्न्या' इति श्रुतेः कथं यज्ञपूर्तिरिति

चेत् सत्यं, मुख्यं न गता नापि तेषामपि स्वर्गप्राप्तिः किन्तु 'पद'प्राप्तिरेवाग्रे तेषामपि भक्तत्वेन निरूपणाद् संस्कारा एते फलोपकारिणो न तु यज्ञोपकारिणः, 'विबुधमान आत्विज्यं बलीय' इति न्यायेनापि न तासां मुख्यत्वं कर्मसमयेपि ता आगता एवेत्याह यज्ञवाटं पुनर्गता इति, भगवदुक्तं तथैव जातमिदं तावत् ते चेति, अनसूयव एव ताभिरेव पत्नीभिः स्वसत्रमपारयन् समाप्तं कृतवन्तः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के वाक्य का उल्लङ्घन नहीं हो सकता । इस का वर्णन—इत्युक्ता—इत्यादि श्लोक से करते हैं । यह यज्ञ पहला ही है, इस से सब स्थानों पर द्विज पद का प्रयोग किया गया है । इसी लिए आगे इनके तीन जन्म कहे जाएंगे । इस यज्ञ की समाप्ति होने तक, तो वे द्विज ही हैं । यहाँ यह शङ्का होती है कि श्रुति में बतलाया है, कि दीक्षित के द्वारा सीमित-यज्ञ के लिए नापी हुई-भूमि से बाहर चले जाने पर यज्ञ का नाश हो जाता है; तो फिर वे पत्नियाँ उस यज्ञ की सीमित भूमि से बाहर क्यों चली गईं ? श्रुति में कहा है, कि दीक्षित गर्भ सदृश है और यज्ञ के लिए नापी हुई समिति भूमि योनि के तुल्य है । उस यज्ञ सीमा से बाहर चले जाना गर्भ स्त्राव के समान है । जो व्रत नियम दीक्षित के लिए होते हैं, वे उनकी पत्नियों के लिए भी हैं । ऐसी दशा में यज्ञ पूरा कैसे हो सका ? इस के उत्तर में कहते हैं कि यह शंका सत्य है; किन्तु यहाँ मुख्य पत्नी नहीं गई और उन याज्ञिकों को भी मुख्य फल स्वर्ग प्राप्ति नहीं हुई । केवल भगवत्पद की प्राप्ति ही हुई है; क्योंकि आगे उनका भी भक्त रूप से निरूपण किया है । ये संस्कार उनके पद प्राप्ति रूप मुख्य फल के सहायक हैं, यज्ञ के उपकारक नहीं हैं । विवाद में, ऋत्विज भाव बलवान् होता है—इस न्याय से भी, वे मुख्य नहीं थीं और यज्ञ कर्म के समय पर वे पीछी आ भी गईं थीं । 'यज्ञवाटं पुनर्गताः—मूल में इन पदों से उनका पीछे घर चले जाना कहा है । भगवान् ने जो कहा था वैसा हुआ—'ते चानसूयवः'—द्विजों ने उन पर असूया-दोषारोपण—नहीं की । उन्होंने पत्नियों के साथ अपने यज्ञ को पूर्ण किया ॥३३॥

लेख—यहाँ एक पत्नी का मरण हो गया, तो भी प्रतिनिधि स्थापित करके यज्ञ समाप्त किया जा सका; क्योंकि भीमांसा के छठे अध्याय के तीसरे पाद में ऐसी व्यवस्था की है, कि यजमान की भी यज्ञ में मृत्यु हो जावे तो प्रतिनिधि स्थापित करके यज्ञ समाप्त कर लेना चाहिए ॥३३॥

श्लोक—तत्रैका विधृता भर्त्रा भगवन्तं यथा श्रुतम् ।

हृदोप गुह्य विजहौ देहं कर्मानुबन्धनम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—उनमें एक यज्ञ पत्नी को उसके पति ने पकड़ रखा था, जिससे वह भगवान् के दर्शन के लिए नहीं जा सकी थी । उसने जिस रूप से, भगवान् का श्रवण किया था, उन भगवान् का हृदय से आलिङ्गन करके, कर्म का बन्धन करने वाले अपने शरीर को छोड़ दिया । (वह सब से पहले भगवान् से जा मिली) ॥३४॥

सुबोधिनी—मुख्या न गतेत्यहं तत्रैकेति, तासु मध्य एका धृता स्वभर्त्रा यजमानेन ततो नर्थ एव जात इत्याह यथाश्रुतं भगवन्तं हृदोपगुह्यं देहं विजहाविति, त्यागे हेतुः कर्मानुबन्धनमिति, कर्मानुबन्धनं यस्मात्, अपकारित्वात् त्याग आत्मनोधिकारार्थमेतत्परिग्रह उपकारस्त्वेतावानेव स चान्यथैव सिद्धो भगवानेवोपगूढ इति भगवदालिङ्गिताया न स्थानान्तरं मृग्यते तच्छक्तीनामिव,

यदैव पुनः कर्मसम्बन्ध आत्मनस्तदैव तेन बध्यत इति कर्मार्थं तत्र न गन्तव्यमवसरस्तु कर्मण इति तस्मात् त्याग एव श्रेष्ठो यज्ञ इदानीं समारूढ इति कर्माधीनत्वाभावात् न कर्मभोगो वक्तव्यो गोपिकानामिव, देवतारूपायाः पत्न्या अधिष्ठानात् कालकर्मस्वभावा निवृत्ता भगवानालिङ्गित इति भगवानपि, अतस्तस्या मुक्तिः सिद्धा ॥३४॥

व्याख्यार्थ—मुख्य यज्ञ पत्नी नहीं गई—इस बात को—तत्रैका—इस श्लोक से कहते हैं । उनमें से एक को उसके पति यजमान ने पकड़ रखा । जिससे अनर्थ ही हुआ । वह—‘यथा श्रुतं भगवन्तम्’—इत्यादि पदों से कहते हैं कि उसने पहले से ही सुने हुए भगवान् का हृदय से आलिङ्गन करके, देह को छोड़ दिया । देह का त्याग करने में, कारण यह था, कि देह से कर्मों का बन्धन होता है, इस लिए अपकार करने वाले शरीर को छोड़ दिया । (भगवान् से मिलने में बाधक होने के कारण देह को छोड़ दिया । अपनी आत्मा के अधिकार के लिए देह का ग्रहण है । देह का तो इतना ही उपकार है । वह उपकार तो मन के द्वारा ही सिद्ध होगया, हृदय से भगवान् का आलिङ्गन कर लिया जिसका भगवान् से आश्लेष कर लिया हो, उसका भगवान् के पास से दूसरे स्थान पर जाना उचित नहीं है । जैसे भगवान् की शक्तियां भगवान् के पास ही रहती हैं, वैसे ही उस मुख्या का दूसरी देह में अथवा दूसरे स्थान पर रहना उचित नहीं । आत्मा का सम्बन्ध जब ही कर्मों के साथ होता है, तब ही बन्धन होता है । इसी से कर्म के लिए वह पत्नी वहां नहीं गई; क्योंकि वह समय तो, कर्म का ही था । इसलिए उसने त्याग को ही श्रेष्ठ समझा । यज्ञ कार्य अभी चल रहा था और वह कर्म के वशीभूत नहीं थी । इसलिए अन्तर्गृह गता गोपिकाओं की तरह उसके लिए भी कर्म का भोग कहना उचित नहीं है । देवता रूप, उस पत्नी के देह से, काल कर्म और स्वभाव दूर हो गए थे क्योंकि उसने तो भगवान् का आलिङ्गन कर लिया था । अन्तर्यामी भगवान् भी निवृत्त—तिरोधान हो गए दूसरे, उसकी भगवान् में मुक्ति सिद्ध हो गई ॥३४॥

लेख—व्याख्या में—‘स्थानान्तरं’—का अर्थ, दूसरी देह को प्राप्त करना है । ‘देवतारूपायाः’— दिव्य धातु से देवता शब्द बना है । दिव्य धातु का क्रीड़ा करना अर्थ है । इसलिए अन्तःकरण से भगवान् का आलिङ्गन करने

वाली-ऐसा अर्थ है। 'भगवानपीति'-अन्तर्यामी रूप भी निवृत्त होगया। इस कारण कृष्ण में उसकी मुक्ति सिद्ध होगई-ऐसा भाव है।

**योजन**—व्याख्या में—'अपकारित्वात्यागः' (अपकार करने वाला होने से, त्याग कर दिया) का तात्पर्य यह, है कि देह को पति ने रोक दिया। वह देह भगवान् के सम्बन्ध में बाधक था। इसलिए देह का अपकार करने वाला जान कर उसका त्याग किया। 'आत्मनोऽधिकारार्थं एतत्परिग्रहः' (आत्मा के अधिकार के लिए देह का ग्रंहीकार है) का अभिप्राय यह है कि भगवदीय जीव भगवान् की सेवा में अधिकार के लिए ही देह को ग्रंही-कार करते हैं; क्योंकि केवल जीव, (देह रहित जीव) देह के बिना हरि की सेवा नहीं कर सकता है। इसलिए देह का स्वीकार है। 'उपकारस्त्वेतावानेवेति'—जीव पर देह का भगवत्सेवारूप ही उपकार है। यह उपकार यदि देह से सिद्ध होता है, तो देह सफल है और वह भगवत्सेवारूप उपकार देह से नहीं होता है, तो ऐसी देह सब दोषों का कोप<sup>१</sup> रूप ही है, तथा अत्यन्त अपकार करने वाली है। इसलिए व्याख्या में—'एतावानेव'—केवल यही उपकार है—ऐसा कहा है। 'स च अन्यथैव सिद्धः'—वह उपकार दूसरी रीति—मानसिक आलिङ्गन—से ही सिद्ध हो गया; क्योंकि मूल में—'हृदोपगृह्यविजहौ'—यह वाक्य है। इसीको व्याख्या में—'भगवानेवोपगृह्यः'—(भगवान् का आलिङ्गन किया) पदों से कहा है। स्थानान्तरं भगवान् का आलिङ्गन करने वाली का स्थान भगवान् के निकट से दूसरा—अलग—नहीं होना चाहिए। जब तक देह है, तब तक ही पति के साथ रहकर यज्ञ कर्म का सम्बन्ध है और कर्म करने पर, फिर कर्म बन्धन अवश्यमावी है इसलिए देह के त्याग को ही श्रेष्ठ मान कर देह छोड़ दीं। 'यज्ञ इदानीं समारूढः'—इत्यादि से लेकर—'वक्तव्यः' यहां तक व्याख्या ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि यज्ञ के दिनों (में) बीच में भगवान् ने भोजन मंगवाया था; किन्तु द्विजों ने तो नहीं दिया था और द्विज पत्नियां सारी सामग्री सिद्ध करके लेकर जब भगवान् के निकट जा रही थीं, तब एक पत्नी को उसके पति के द्वारा रोके जाने पर, उसने देह छोड़ दी। इस कारण से, यज्ञ रूप वह कर्म असिद्ध हो गया था। सिद्ध नहीं हुआ कर्म नियामक नहीं होता। इसलिए वह कर्म के अधीन नहीं हुई। तब कर्म का भोग भी नहीं हो सका। इसमें—'गोपिकानामिव'—व्रजसीमन्तियों का विपरीत दृष्टान्त दिया गया है। अभिप्राय यह है, कि जैसे आगे फल प्रकरण में बताया जाएगा, कि गोपिकाओं के भगवान् के असह्य विरह के कारण, होनेवाले तीव्र संताप से, पाप का क्षय और ध्यान में भगवान् के आलिङ्गन से होने वाले परम सुख से पुण्य का क्षय हो गया था, उस तरह इस पत्नी के पाप पुण्य का क्षय होना निरूपण नहीं किया।

'देवता रूपायाः पत्न्याः'—इत्यादि व्याख्या का यह आशय है कि—'यज्ञो वै यजमानः'—इस श्रुति से आधि-दैविक यज्ञ का अधिष्ठान यजमान और आधिदैविक यज्ञपत्नी का अधिष्ठान यजमान की पत्नी होती है। इस लिए देवता रूप आधिदैविक यज्ञपत्नी का अधिष्ठान, यजमान पत्नी का देह होने के कारण, उसके काल, कर्म और स्वभाव की निवृत्ति हो गई; क्योंकि उसने भगवान् का आश्रय कर लिया था। इस प्रकार यज्ञ रूप कर्म के सिद्ध न होने से, कर्म बन्धन नहीं होने के कारण तथा काल, कर्म, स्वभाव की निवृत्ति का निरूपण करके, उस पत्नी को भगवान् में भक्ति का वर्णन किया। भक्ति मार्गीय जीव का, अन्तर्यामी में लय नहीं होता। इसलिए अन्त-र्यामी भगवान् निवृत्त हो गए (छिप गए), इस कारण उस परम भक्त यजमान पत्नी ने पुरुषोत्तम में मुक्ति प्राप्त कर ली ॥३४॥



श्लोक—भगवानपि गोविन्दस्तेनैवान्नेन गोपकान् ।

चतुर्विधेनाशयित्वा स्वयं च बुभुजे प्रभुः ॥३५॥

श्लोकार्थ—सर्व समर्थ भगवान् गोविन्द ने उसी चार प्रकार के अन्न से, गोपों को भोजन कराया और आपने भी (बलभद्रजी के साथ) भोजन किया ॥३५॥

सुबोधिनी—तस्यामन्तः-समागतायां तां बालकांश्च भोजितवानित्याह भगवानपीति, यद्यप्यन्यथापि सर्व-सामर्थ्यमस्ति, आज्ञयापि क्षुन् निवर्तयितुं शक्या, तथापि गवां सर्वस्य धर्मस्यापीन्द्र इति धर्मरक्षार्थं भक्तिरक्षार्थं स्ववाक्यरक्षार्थं च तेनैवान्नेन भक्ष्यादिचतुर्विधेन

सम्पूर्णरसात्मकेन गोपकानाशयित्वा भोजयित्वा स्वयं च बुभुजे, चकाराद् बलभद्रोपि, स्वस्य भोजनं पूर्ववत्, इदानीं पत्न्या भुक्तमतो 'व' इति वचनं न विरुध्यते, नन्वेतदपूर्वं कथं कृतवान् ? तदाह प्रभुरिति ॥३५॥

व्याख्यार्थ—उस पत्नी के भगवान् में सायुज्य प्राप्त कर लेने से भगवान् ने उस सायुज्य प्राप्त करती हुई पत्नी और बालकों को भोजन कराया । इस बात को—भगवानपि—इस श्लोक से कहते हैं । यदि कोई दूसरा उपाय करना चाहते, तो उसको करने की भगवान् में सब सामर्थ्य है । केवल आज्ञा से भी भगवान् क्षुधा को दूर कर सकते हैं, तो भी भगवान् गोविन्द—गायों के और सारे धर्म के भी इन्द्र हैं । इसलिए धर्म भक्ति और अपने वाक्य की रक्षा के लिए उस ही (भक्ष्य, भोज्य, चोष्य, लेह्य) सारे रसों से पूर्ण चार प्रकार के अन्न से गोपों को भोजन कराकर स्वयं भगवान् ने भोजन किया और बलभद्रजी ने भी भोजन किया । अपना भोजन तो पहिले की (गोपों का सा) तरह ही था । इस समय भगवान् में सायुज्य पाने वाली पत्नी ने भी भोजन किया । इसलिए—वः—इस बहुवचन पद का विरोध नहीं आता है । भगवान् ने यह अपूर्व कार्य इस लिए किया था, कि आप प्रभु—सब कुछ करने में समर्थ हैं ॥३५॥

श्लोक—एवं लीलानरवपुर्नृलोकमनुशीलयन् ।

रेमे गोगोपगोपीनां रमयन् रूपवाक्कृतैः ॥३६॥

श्लोकार्थ—लीला करने के लिए ही मनुष्य रूप धारण करने वाले भगवान् इस तरह नरलोक के सभी धर्मों का अनुशीलन करते हुए अपने रूप, वचन और कार्यों के

लेख—व्याख्या में धर्म की रक्षा के लिए अर्थात् जिनको ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है, उनको भिक्षा के अन्न से ही निर्वाह करना चाहिए । भक्ति की रक्षा के लिए अर्थात् उस भक्त पत्नी को प्रसाद देने के लिए । अपने वाक्य की रक्षा के लिए अर्थात् यदि आज्ञा से क्षुधा मिटा देते, तो फिर अन्न के लिए भगवान् का गोपों को यज्ञशाला में भोजना व्यर्थ हो जाता । इसलिए अपने वाक्य की रक्षा के लिए भी भगवान् ने उसी अन्न से सब को भोजन कराया और स्वयं भी भोजन किया ॥३५॥

द्वारा, गायों, गोपों, गोपीजन—सभी को रमण कराते थे और स्वयं भी रमण करते थे ॥३६॥

सुबोधिनी—वैदिके ज्ञानकर्मणी निरूप्योपसंहर-  
त्येवमिति, लीलार्थमेव नररूपं लोकं सर्वमेष लौकिकं  
वैदिकमनुशीलयन् स्वधर्मैर्योजयन्नुभयविधानपि भग-  
वच्छास्त्रानुसारिणः कुर्वन् गोपोगोपीनां मध्ये रेमे,

सम्बन्धी वा भूत्वा, द्वितीयार्थे वा षष्ठी तत्र रमयन्  
स्वयमपि रेमे, रूपेण वा वचनेन गोपान् कृत्तैर्गोपीः,  
सर्वत्र सर्वं वा, सच्चिदानन्दास्त्रयो निरूपिता रमण-  
करणरूपाः स्वस्य रमणे त्रयोपि सम्बन्धिनः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—वैदिक ज्ञान और कर्म का निरूपण करके—एवम्—इत्यादि श्लोक से उपसंहार करते हैं। केवल क्रीड़ा के लिए ही नर रूप धारी भगवान् सारे ही लौकिक वैदिक रूप नरलोक का अनुशीलन करते हुए—अपने धर्म के साथ योग करते हुए—मर्यादा और पुष्टि—दोनों प्रकार के जीवों को भगवत्-शास्त्र के अनुसार करके गायों गोपों और गोपियों के मध्य में रमण करते थे, उनके सम्बन्धी होकर रमण करते थे, अथवा द्वितीया के अर्थ में, षष्ठी विभक्ति मान कर उन—गायों और गोपीजनों—को रमाते हुए स्वयं रमण करते थे। स्वरूप से गायों को, वचन से गोपों को, कृति से गोपीजनों को रमण कराया, अथवा सभी के द्वारा सबको ही रमण कराया। इस प्रकार, सत् चित् आनन्द—तीनों रमण के साधनों का निरूपण किया। अपने रमण में भी इन तीनों का ही सम्बन्ध था ॥३६॥

श्लोक—अथानुस्मृत्य विप्रास्ते अन्वतप्यन् कृतागसः ।

यद् विश्वेश्वरयोर्वाच्छामहन्म नृविडम्बयोः ॥३७॥

श्लोकार्थ—उधर वे ब्राह्मण नर लोक का अनुकरण करने वाले दोनों जगदी-  
श्वरों की याचना के भङ्ग कर देने का स्मरण कर, अपने को अपराधी मानकर  
पश्चाताप करने लगे ॥३७॥

सुबोधिनी—एवं ज्ञानकर्मणी द्विविधे निरूप्य तयोः  
फलं भक्ति निरूपयत्येति, एका हि भगवतः कृतिरनेक-  
कार्यसाधका तेषां द्विजानां प्रबोधनं बालकशिक्षार्थं

पत्न्या मुक्त्यर्थं तेषां प्रबोधार्थं मर्यादास्थापनाद्यर्थं चातो  
वाक्येन प्रबोधितानां द्विजानां वाक्याभ्यां भक्तिबोधकानि,

व्याख्यार्थ— इस प्रकार ब्राह्मणों के मर्यादामार्गीय ज्ञान, कर्म तथा विप्र पत्नियों के पुष्टि ज्ञान और कर्म का निरूपण करके उनकी फल रूप भक्ति का निरूपण—अथानुस्मृत्य—श्लोक से करते हैं।

लेख—सच्चिदानन्द रूपा निरूपिताः—रूप वाणी और कृति रूप सच्चिदानन्द का निरूपण किया। यहां क्रम से रूप सद् रूप, वाणी त्रिरूप और कृति आनन्दरूप—इस तरह एक एक नहीं समझना चाहिए; किन्तु ये सभी, इनमें से एक एक भी, अलग अलग भी सच्चिदानन्द रूप हैं। यह तात्पर्य है ॥३६॥



भगवान् की एक कृति (कार्य) अनेक कार्यों को सिद्ध करने वाली होती है। उन द्विजों का प्रबोधन रूप कृति जैसे यहाँ बालकों को शिक्षा के लिए, पत्नी की मुक्ति के लिए, द्विजों को प्रबोध के लिए और मर्यादा की स्थापना आदि के लिए हुई। इसलिए वाक्यों से, प्रबोध पाने वाले द्विजों के भक्ति बोधक वाक्यों को कहते हैं।

**कारिका—**पश्चात्तापो विगर्हः च हेतुस्तस्य च रूप्यते ।

तथात्वे चापि हेतुर्हि स्वहीनत्वं च कर्मभिः ॥१॥

संस्काराणामहेतुत्वं भक्तेरन्यच्च साधनम् ।

स्वभक्तेर्बोधनं हेतुरन्यथा नोपपद्यते ॥२॥

तथात्वसाधनं तस्य कर्मवैयर्थ्यबोधनम् ।

द्वाभ्यां रूपद्वयोक्त्यैव स्त्रीसम्बन्धात् कृतार्थता ॥३॥

क्षमापनं नमस्कारैः प्रार्थनाभिनिरूप्यते ।

अनागमनमिच्छतो भक्त्यैवेत्थम्मतिर्भवेत् ॥४॥

**कारिकार्थ—**इन चार कारिकाओं में इस ३७ वें श्लोक से लेकर इस अध्याय के अन्त के ५१ वें श्लोक तक इन १५ श्लोकों में बतलाए जाने वाले विषयों का वर्णन किया है। वह यों हैं। ३७ वें श्लोक में पश्चात्ताप, ३८ वें श्लोक में विगर्हा (स्वनिन्दा), ३९ वें श्लोक में निन्दा का हेतु, ४० वें श्लोक में भगवान् से विमुख होने का हेतु माया, ४१ वें श्लोक में भक्ति द्वारा स्त्रियों का उत्कर्ष और कर्म द्वारा अपनी हीनता, ४२ वें श्लोक में संस्कारों से भक्ति का न होना, ४३ वें श्लोक में भक्ति होने का संस्कार साधन नहीं, भगवान् का अनुग्रह ही कारण है, ४४ वें श्लोक में भगवान् की अन्न याचना अपने प्रबोध के लिए थी, ४५ वें श्लोक में अन्य प्रयोजन का निषेध, ४६ वें व ४७ वें श्लोकों में कर्म की व्यर्थता का बोधन करके, कर्म और भगवान् के स्वरूपों का वर्णन, ४८ वें श्लोक में पत्नियों के सम्बन्ध से अपनी कृतार्थता, ४९ वें तथा ५० वें श्लोकों में प्रार्थना करके क्षमा की याचना और ५१ वें श्लोक में भगवान् के दर्शन की इच्छा होते हुए भी कंस के भय से नहीं आना इत्यादि का निरूपण किया जाएगा। ये ब्राह्मण पहिले से ही भक्त थे। इसलिए उनकी पश्चात्ताप करने, क्षमा याचना आदि की सद्बुद्धि हुई ॥१-४॥

**सुबोधिनी—**प्रथमतोनुतापमाहाथानुस्मृत्येति, भगवदीयानां वाक्यं स्मृत्वा तन्मूलभूतं भगवद्वाक्यं तद्द्वारा-  
नुस्मृत्य कर्मजडतां विहाय भक्त्यनुसारिणो भूत्वा विप्राः  
पश्चादेव जायमानजानाः कृतागसो भूत्वा पत्नीनिरोधेन

निषेधेनावश्यकथनेन भक्तमारुतेन जातापराधा अनुतापं  
कृतवन्तः, सर्वापराधापेक्षेश्वरवाक्योल्लङ्घनं महान् दोष  
इति तं निरूपयन्ति यद् विश्वेश्वरयोरिति, विश्वेश्वर-  
योरितिद्विवचनं कालपुरुषोत्तमपरं शब्दब्रह्मपरब्रह्मपरं वा,

याञ्चा बालद्वारोदनविषयिणी, वस्तुतो भगवत्तवाज्ञाभङ्गः । परम्परयापि दूरीकृतवान् 'न पुमान् मामुपाव्रज्य भूयो कारितः प्रथमतो भक्तकृपया तथोक्त्वापि बलिवावयात् । याचितुमर्हती'ति,

व्याख्यार्थ—अथानुस्मृत्य—इस श्लोक से पहले अनुताप का वर्णन करते हैं । भगवदियों के वाक्य का स्मरण करके और उसके द्वारा उसके मूलभूत भगवान् के वाक्य को याद करके, वे ब्राह्मण कर्म जड़ता को त्याग कर, भक्ति का अनुसरण करने लगे । वे विप्र, अर्थात् पश्चिम बुद्धि वाले थे । इसलिए उन्हें पीछे ज्ञान उत्पन्न हुआ । तब वे पत्नियों को रोकने, भोजन देने का निषेध करने, अनुचित वचन कहने, भक्त पत्नी की मृत्यु का कारण होने से, अपराधी वे पश्चात्ताप करने लगे । अन्य सभी अपराधों की अपेक्षा भगवान् की आज्ञा का उल्लङ्घन करना महान् दोष है । इस (उस) दोष का वर्णन—यद् विश्वेश्वरयोः—इत्यादि पदों से मूल में किया है । इस द्विवचन को काल और पुरुषोत्तम वाचक अथवा शब्द ब्रह्म, परब्रह्म वाचक समझना चाहिए । बालकों के द्वारा ओदन विषयक याचना वास्तव में तो आज्ञा भंग भगवान् ने ही करवाई; क्योंकि पहले याचना का वाक्य कहकर भी भक्त के ऊपर कृपा करने के लिए फिर दुबारा भेजकर, द्विज पत्नी पर कृपा करने के लिए अपनी आज्ञा का भंग कराया । फिर पत्नियों के पास भेजने से आज्ञा सिद्ध हो ही गई । राजा बलि से याचना करने के पीछे, फिर कहीं भी भगवान् का याचना करना अनुचित है; क्योंकि बलि ने कहा था—न पुमान् मामुपाव्रज्य—कि पुरुष मेरे पास आजाने के पीछे फिर याचक नहीं रहता । इसलिए यह याचना नहीं थी; किन्तु आज्ञा थी, इस प्रकार परम्परा से भी याचना भंग को दूर कर दिया ।

कारिका—ब्राह्मणानामयं धर्मः स्नेहाच्चापि न बाध्यते ।

भिक्षारूपेण सा याच्चा बाध्यते न तु लौकिकी ॥१॥

कारिकार्थ—अन्नदान से ब्राह्मणों के यज्ञ रूप धर्म का बाध नहीं हो जाता । उनका भगवान् पर स्नेह हो जाने से भी उनके धर्म में कोई हानि नहीं होती । भगवान् ने विहित भिक्षा का ही बाध कराया, लौकिक भिक्षा का बाध नहीं कराया ।

सुबोधिनी—'न्यासभूतौ प्रयच्छ मे' तथापि याचे तन्नः प्रयच्छे'ति 'तत्तन्निवेदये'दित्यादिवाक्यानि न विरुद्धानि भवन्ति न वा तेषामयुक्तं वा किञ्चिद् गृहीतं, नन्विमौ बालकौ कथमीश्वरो तत्राहुर्नृविडम्बयोरिति, नृणां विडम्बं विडम्बनं याम्यां, केवलं मनुष्यरसममिनयेन प्रदर्शयतः, एवं स्वस्यापराधित्वं निरूपितम् ॥३७॥

व्याख्यार्थ—'न्यास भूतौ प्रयच्छ मे' (धरोहर रूप दोनों पाद का मेरे लिए दान दो) 'तथापि याचे तन्नः प्रयच्छ' (तो भी जो मैं मांगता हूँ । उसे मेरे लिए दो), 'तत्तन्निवेदयत्'—(उस २ 'प्रिय पदार्थ को निवेदन करे) इत्यादि वाक्य इस प्रकार विरुद्ध नहीं होते हैं । इसके अतिरिक्त, उन ब्राह्मणों का कोई अनुचित ग्रहण नहीं किया और न उनकी मर्यादा मार्गीय पत्नियों की देह आदि का ही ग्रहण किया बल्कि उन्हें तो पीछा घर ही भेज दिया । इसलिए भी किसी विधि का उल्लङ्घन नहीं हुआ । ये दोनों तो बालक थे, इनको जगत् के ईश्वर क्यों कहा ? ऐसी शङ्का के उत्तर में—नृविडम्बयोः—कहते

हैं, कि वे तो केवल मनुष्यों का अनुकरण मात्र करते थे। अपने अभिनय से केवल मनुष्य रस का प्रदर्शन करते थे। इस प्रकार से अपने अपराधीभाव का निरूपण किया ॥३७॥

टिप्पणी—अथानुमृत्य—की व्याख्या में—एवं ज्ञान—कर्मणी द्विविधे—का तात्पर्य यह है, कि उन ब्राह्मणों और उनकी पत्नियों के मर्यादा और पुष्टि के भेद से दो दो प्रकार के ज्ञान और कर्म का निरूपण करना है। 'यद्विश्वेश्वरयोर्वाच्यां'—इन मूल के पदों का तात्पर्य व्याख्या में—भगवतैव इत्यादि पदों से स्पष्ट किया है। विश्व के ईश्वर अर्थात् नियामक, प्रवर्तक, निवर्तक—सब कुछ है। 'बलिवावयात्, परंपरयापि'—इत्यादि का अभिप्राय यह है, कि यद्यपि राजा बलि ने—मां (मुझको) अपने लिए ही कहा था, वह वाक्य भगवद्धर्म का बोधक नहीं था; तथापि ऐसा वाक्य समर्थ ही कह सकता है। इसलिए बलि में ऐश्वर्य धर्म होने से और उसमें वह ऐश्वर्य धर्म भगवान् का होने के कारण वह वाक्य भगवद्वाक्य ही है।

यहां पर ऐसी शंकाएँ होती हैं कि जब याचना का भंग भगवान् ने ही करवाया था, तो फिर वह ब्राह्मणों का अपराध कैसे समझा गया ? और बात तो वास्तव में यह हुई, कि जब यज्ञ की सीमा से बाहर जाने की विधि नहीं है, तब इन पत्नियों को यज्ञ की सीमित भूमि से बाहर बुलाकर विधि का उल्लंघन करके भगवान् ने ब्राह्मणों का ही अपकार किया ? इसका उत्तर व्याख्या में—'ब्राह्मणानामयं धर्मः। इत्यादि कारिका से दिया है। तात्पर्य यह है, कि ब्राह्मणों का यह सत्रयज्ञ रूपधर्म अन्न के समर्पण से बाधित नहीं होता; क्योंकि 'शेषाद् भुञ्जीरन्'—बाकी रहे अन्न में से, भोजन करने की विधि होने के कारण, अन्नदान तो विहित है। यज्ञ के लिए निर्दिष्ट घृत आदि के शेष भूत अन्न के अतिरिक्त वस्तु के दान का निषेध होने से अन्नदान में कोई बाधा नहीं होती। 'अन्नहीनं दहेद् राष्ट्रम्' जिस देश में अन्न नहीं हो, उस देश को जला देना—इत्यादि वाक्य से अन्नदान तो अत्यावश्यक ही था और आगे फल के दर्शन से भी साधना में कोई कमी नहीं कही जा सकती—यह बात व्याख्या में—'स्नेहाच्च' (स्नेह के कारण) इत्यादि पद से कही गई है। यद्यपि उनके अन्न का ग्रहण करने और उन्हें भक्तों का संग प्राप्त होने के कारण भक्ति हुई थी, तो भी उन्हें अभी आगे भक्ति के सिवाय और कोई फल होगा ही नहीं और वैदिक कर्म भी व्यर्थ नहीं होता। इसलिए उसका फल भी भगवान् ने उन्हें ही, भक्ति रूप ही सम्पादन कर दिया। यह स्नेहाच्चापि—'अपि' पद से ज्ञात होता है। और जो यह कहा गया कि याचना का भंग करवाया। इसका उत्तर—भिक्षा रूपेण—आदि से देते हैं कि भगवान् ने तो विहित याचना का ही भंग करवाया था। लौकिक याचना का विरोध तो ब्राह्मणों ने ही किया था। इसलिए उसे ब्राह्मणों का अपराध कहना उचित ही है। इस कारण से याचना सम्बन्धी भगवान् के वचन लौकिक याचना रूप होने से विरुद्ध नहीं है—यह—'न्यासभूतो प्रयच्छमे' इत्यादि पदों से व्याख्या में कहा है।

अथवा—शंका होती है, कि भगवान् भक्तों के वचनों का पालन करने वाले हैं। फिर उनने बलि भक्त राजा के वचन के विपरीत स्त्रियों से याचना क्यों की ? इसका उत्तर—'ब्राह्मणानां'—इत्यादि पदों से देते हैं। बलि के वाक्य से वर्णाश्रम धर्म में की हुई याचना और स्नेह से होने वाली याचना में विरोध नहीं आता और न कन्यादि विषयक लौकिक याचना में ही विरोध आता है, किन्तु दीनता से की हुई याचना में विरोध आता है। यहां यह याचना दीनता पूर्वक नहीं की गई। यह भक्त पर कृपा करने के लिए की गई है। इसलिए दीनता के वचनों से विरोध नहीं आता है—यह व्याख्या में—न्यास भूतो—इत्यादि पदों से कहा गया है।



श्लोक—दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्तिमलौकिकीम् ।

आत्मानं च तथा हीनमनुत्तमा व्यगर्हयन् ॥३८॥

लेख—‘प्रबोधन’ इत्यादि वाक्यों से प्रबोधन रूप कृति (कार्य) की है । कारिकाओं में—तस्य पद का अर्थ विगर्हा अथवा निन्दा है । तथात्वे—अर्थात् विमुख होने पर । स्वभक्तेः—भगवान् ने याचना के द्वारा ब्राह्मणों को अपनी भक्ति का उद्बोध कराया है । तथात्वसाधन—याचना करना भगवान् के योग्य नहीं है—इस बात को बताने का कारण । ‘कर्मति’—इन दो श्लोकों से, देशादि के द्वारा कर्म का और भगवान् का—दोनों के स्वरूप कह कर अपने कर्म की व्यर्थता का तथा—मूढ़ा न विद्यहे (हम मूर्ख नहीं जानते हैं) इत्यादि कह कर स्वयं को ज्ञान रूप फल के उत्पन्न न होने का बोध कराया है । तब भक्ति की सिद्धि भी कैसे हुई ? ऐसी शका करके स्वयं समाधान ‘स्त्री सम्बन्धात्—पद से करते हैं कि भक्ति के उत्पन्न करने से जो सफलता मिली है, वह भक्तों के सम्बन्ध से मिली है । वह केवल कर्म का फल नहीं था ।

इसके पीछे दो श्लोकों से नमस्कारों और प्रार्थनाओं से अपराध की क्षमा याचना की है । फिर एक श्लोक से भगवान् के निकट आने का वर्णन है । इस प्रकार चौदह प्रकार की बुद्धि भी भक्ति के द्वारा ही हुई । इसीलिए व्याख्या में भक्ति को अवान्तर प्रकरण का अर्थ कहा है—यह भाव है । विश्वेश्वरयोः—इत्यादि मूल पदों की व्याख्या में—तथोक्तवापि—का—‘याचना के वाक्य कह कर भी भक्त पर कृपा करने के कारण से गोपों को दुबारा भेज कर भक्त विप्र पत्नी पर कृपा करने के लिए पहले द्विजों द्वारा भगवान् ने आज्ञा का भङ्ग कराया । दूसरी बार पत्नियों के पास भेजने के कारण यह आज्ञा ही सिद्ध होती है । याचना नहीं है’—यह अभिप्राय है । बलि के वाक्य से अर्थात् बलि से याचना करने के पश्चात् फिर किनी दूसरे से भगवान् का याचना करना उचित नहीं है—इस कथन से भी यह आज्ञा ही सिद्ध होती है ।

इसकी टिप्पणी में—न ददाति, विध्युल्लङ्घनं च—इत्यादि का तात्पर्य यह है कि—न ददाति (नहीं देता है)—इस वाक्य का और—न ददाति न पचते (देता नहीं है, पकाता नहीं है) इत्यादि अन्न नहीं देने की विधिका उल्लंघन भगवान् ने करवाया । दुबारा विधि के उल्लङ्घन का समाधान—ब्राह्मणानां—इस कारिका से किया है । व्याख्या में—‘अयं’ इत्यादि से—‘भावः’—तक के पदों से अन्नदान की विधि को व्यवस्था से स्थापित करते हैं । किञ्चाग्रे—इत्यादि कहकर, पहले का समाधान अर्थापत्ति—प्रमाण देकर करते हैं, कि यदि विधि का उल्लङ्घन हो जाता तो, भक्ति रूप फल उत्पन्न नहीं होता । द्वितीय (विधिके) उल्लङ्घन का भी समाधान इसी से हो जाता है । इसीलिए—किञ्च—इस पद से उसका समुच्चय किया है । जिनको ज्ञान की प्राप्ति हो गई हो, उनके लिए तो भिक्षाटन करना ही मुख्य है । इसलिए भिक्षा रूप विहित याचना करना उचित न होने से भगवान् ने उसका बाध दान सम्पादन नहीं कराकर करवाया । लौकिक याचना तो अनुचित नहीं थी । इसलिए उसका बाध तो ब्राह्मणों ने ही किया था । यह—भगवता—इत्यादि पदों से कहा है । तात्पर्य यह है, कि भिक्षा के अंश का बाध भगवान् ने किया और लौकिक अंश का बाध ब्राह्मणों ने किया । व्याख्या में—न वा—इत्यादि पदों से यह कहा गया है, कि उन पत्नियों के देह आदि मर्यादा मार्ग के होने से, वे भगवान् के ग्रहण करने योग्य नहीं थे । इसलिए उन्हें अपने उपयोग में नहीं लिया, किन्तु उसी समय पीछा घर भेज दिया । इस से भी विधि का उल्लंघन नहीं हुआ ।

योजना—इस श्लोक की योजना का अर्थ व्याख्या में दी गई कारिकाओं के अर्थ में आगया है ॥३७॥

श्लोकार्थ—वे फलरूप भगवान् कृष्ण में स्त्रियों की अलौकिक भक्ति को और अपने आप में भक्ति के अभाव को देखकर पश्चात्ताप पूर्वक अपनी आत्मा की निन्दा करने लगे ॥३८॥

सुबोधिनी—तस्य दण्डं कुर्वन्तः स्वगर्हा कुर्वन्ति दृष्ट्वेति, स्त्रीणां कृष्णेलौकिकीं भक्तिं दृष्ट्वा तथा हीन-मात्मान् व्यगर्हयन्, पुष्टिभक्तेरेष्व स्थितिः, भगवान् षड्गुणैश्वर्योपि कृष्णः सदानन्द एव जातो धर्मोपसर्जन-त्वेन धर्म्येव जातः फलरूपत्वात् स्त्रीणां तत्र भक्तिः पुरुषास्तु धर्मपरा अतस्तथा रहिताः, तदुभयमाह स्त्रीणां

कृष्णे भक्तिमिति, दोषाभावाद्याहालौकिकीमिति, तारत-म्यपरिज्ञानं पदार्थयायात्म्यं भक्तिमावामावो च यो जानाति स भक्तः, अत एते तद्विधा इति निन्दैषा स्तुतिरेव, न केवलं ज्ञानं तेषां बाधकमुत्पन्नं किन्तु क्रियापि, तदाह अनुतप्ता इति ॥३८॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार अपने अपराध पर सन्ताप करके वे द्विज अपनी निन्दा करते हैं, यह 'दृष्ट्वा' इस श्लोक से कहते हैं। स्त्रियों की कृष्ण में अलौकिक भक्ति को देखकर उस कृष्ण भक्ति से शून्य अपनी आत्मा की निन्दा करने लगे। पुष्टि भक्ति की ऐसी ही स्थिति है। भगवान् छः गुणों और पूर्ण ऐश्वर्य से युक्त हैं तो भी कृष्ण सदानन्द ही हुए हैं। धर्मों के गौण होने से केवल धर्म रूप ही हुए। कृष्ण फलरूप हैं इसलिए स्त्रियों की उनमें भक्ति हुई। पुरुष तो गुण अथवा धर्म को देखने वाले हैं। इसलिए वे कृष्ण भक्ति से हीन रहे। ये दोनों बातें मूल में—स्त्रीणां कृष्णे भक्ति (स्त्रियों की फल रूप कृष्ण में भक्ति को) इत्यादि पदों से कही गई हैं। इस भक्ति में कोई दोष नहीं था अर्थात् यह भक्ति दोष रहित है—यह बतलाने के लिए भक्ति को—अलौकिकीं—अलौकिक कहा गया है। तरतम (न्यून अधिक रूप) धर्मों को, पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को और भक्ति के भाव तथा अभाव को जानने वाले (पुरुष) को भक्त कहते हैं। इन ब्राह्मणों को यह सब ज्ञान हो गया था इसलिए यह निन्दा वास्तव में स्तुति ही है। केवल ज्ञान ही, उनकी कृष्ण भक्ति में बाधक नहीं हुआ, किन्तु वे अश्रुपातादि कार्य भी ऐसा करने लगे, जो भक्ति में बाधक थे—इस बात को मूल में—अनुतप्ताः—पद से कहा गया है ॥३८॥

लेख—'दृष्ट्वा' इस श्लोक की व्याख्या में—गर्हा कुर्वन्ति 'अपनी निन्दा करते हैं' अर्थात् हम दुष्ट हैं, नीच हैं, इत्यादि प्रकार से कहने लगे—ऐसा ग्रन्थ से बाहर (यहां नहीं लिखा गया) समझना चाहिए। इसलिए इस श्लोक में निन्दा करना ही वाक्यार्थ है। आगे के श्लोक में निन्दा का कारण वाक्यार्थ है। निन्दा का विवरण वाक्यार्थ नहीं है। उस आगे आने वाले ३९ वें श्लोक में उसी प्रकार से व्याख्या की जाएगी। व्याख्या में—'पुष्टिः' इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है कि अपने दोषों का ज्ञान भगवान् की कृपा से ही होता है। 'एव' का अर्थ—'ही' है जो यहां अयोग—व्यवच्छेदक है। षड्गुणैश्वर्यं अर्थात् छः गुणों से ऐश्वर्य वाले भगवान्। परिज्ञानं—(जिसके द्वारा जाना जाता है) पद का अर्थ करण (तृतीया) व्युत्पत्ति से परिज्ञापक धर्म है। बाधकं—अर्थात् अपने ही कृतार्थता के अभिमान में बाधक हुआ। क्रियापि—और अश्रुपात आदि क्रिया ब्राह्मणों की कृतार्थता में बाधक थी।

श्लोक—धिग् जन्म नस्त्रिवृद् विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम् ।

धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥३६॥

श्लोकार्थ—हमारे शुक्ल, सावित्र और याज्ञिक इन तीन जन्मों को, वेदों के ज्ञान को, व्रत को, बहुत ज्ञान को कुल और कर्मकाण्ड में निपुणता को धिक्कार है; क्योंकि हम अधोक्षज भगवान् से विमुख हैं ।

सुबोधिनो—ननु कथमात्मविगर्हीत्मनि सत्पदार्थानां विद्यमानत्वादप्यथा सद्भिरोधे तेषामनिष्टमेव स्यादित्या-  
शङ्क्य स्वस्मिन् विद्यमानानां सत्त्वेन प्रतिभासमानानां  
बीजाभावादसत्त्वमेवेति ख्यापयन्ति धिग् जन्मेति,  
धिक्कारो दह्यतामित्यर्थे प्राणो गते शरीरं दह्यत एव तथा  
जन्मादीनां प्राणभूता भक्तिस्तदभावे दाह एवोचितः,  
त्रिवृज् जन्म शुक्लसावित्रयाज्ञिकरूपं, विद्यामपि धिक्  
सापि त्रिवृद् विद्या वेदत्रयसहिता, व्रतं 'न देय'मित्यादि  
तदपि धिक्, बहुज्ञतामिति धर्मसूक्ष्मपरिज्ञाने ये हि  
बहुज्ञास्ते लोकविरुद्धमपि कुर्वन्ति तथैतद् कृतं तां च  
बहुज्ञतां धिक्, अथ कुलीना इति वंशे कलङ्कुसम्बन्ध  
इति स्त्रीणां निवारणं तत् कुलमपि धिक्, क्रियादक्षता-  
मपि धिग् यथा भगवत्यवहेला भवत्यन्यथा पुरुषार्थं

साधयिष्यामोऽशक्तपरैव हि भक्तिरिति यथान्वपङ्खादयः  
क्रियायामसमर्था अन्यत्र युज्यन्ते तथा भक्तावपीति, एवं  
यत् क्रियादाक्ष्यं तदपि धिक्, तत्र बीजाभावं हेतुमाह ये  
वयमधोक्षजे विमुखाः, नन्वेतदेव कथं यज्ञोपि भगवाने-  
वातो ये यज्ञपराः कथं भगवद्विमुखा इतीमं पक्षं तु शब्दो  
व्यावर्तयति, तत्र हेतुरधोक्षज इति, अधोक्षजं यस्मा-  
दिति, ज्ञानेऽप्यात्मसाक्षात्कारः कर्मणि च क्रियारूपेलौकिके  
च रूपे ज्ञानवतां भक्ती तु न साक्षात्कारः फलं  
जायमानमप्यङ्गनामापद्यते केवलरसभक्षका इक्षुभक्षके-  
भ्योपि सरसा अत एतादृशो भक्तिमार्गो भगवता प्रकटित  
इति रूपान्तरपुरःसरं ये पक्षास्ते सर्व एव पूर्वपक्षाः  
॥३६॥

व्याख्यार्थः—द्विजों ने आत्मा की निन्दा क्यों की ? आत्मा में सत्पदार्थ विद्यमान है । आत्मा की निन्दा से सत्पदार्थों का विरोध होने पर, उनका अनिष्ट ही हुआ होगा ? ऐसी शंका करके—उनमें सत्ता रूप से भासमान होने वाले उन २ सत्पदार्थों की—बीज के न होने के कारण—अविद्यमानता को (न होना) ही—धिग् जन्म—इस श्लोक से कहते हैं । धिक्कार का जला देना अर्थ है । प्राणों के निकल जाने पर, जैसे शरीर जलादिया ही जाता है; उसी तरह, जन्म, विद्या आदि की प्राण रूप भक्ति के बिना इन जन्म आदि का जला देना ही उचित है । त्रिवृत् जन्म अर्थात् शुक्ल, सावित्र और याज्ञिक

योजना—दृष्ट्वा स्त्रीणां—इस श्लोक की व्याख्या में धर्मोपसर्जनेन धर्मवैजातः—इत्यादि कथन का अभिप्राय यह है, कि ऐश्वर्य आदि धर्मों को गौण करके (प्रकट न करके) अर्थात् स्फुरण न करके, उन यज्ञपत्नियों के हृदय में—आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्, (आनन्द ब्रह्म है—यह विशेष प्रकार से जानो) इस श्रुति के अनुसार आनन्द रूप ही स्फुरित हुआ । करोड़ों कामदेव भी अधिक सुन्दरता वाले भगवान् का पत्नियों के हृदय में स्फुरण हुआ । स्त्रीणां तत्र भक्तिः—केवल धर्मों, साक्षात् मदन मोहन स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्र में, कामभाव से स्त्रियों की भक्ति हुई—यह सारांश है ॥३६॥

रूप त्रिविध जन्म को धिक्कार । इसी तरह, विद्या भी तीनों वेद सहित तीन प्रकार की है । उसे भी धिक्कार । यज्ञ सम्बन्धी अन्न नहीं देना—इत्यादि रूप व्रत को भी धिक्कार । धर्म के सूक्ष्म तत्त्व को जानने में जो बहुज्ञ पुरुष हैं, वे भी । कभी लोक विरुद्ध आचरण कर बैठते हैं । जैसा यह हमने किया । इस लिए हमारी इस बहुज्ञता<sup>१</sup> को धिक्कार है । हम कुलीन हैं । हमारे कुल में कलङ्क का सम्बन्ध हो जाएगा—ऐसा समझकर स्त्रियों को रोका था । उस कुल को धिक्कार है । उस यज्ञादि कर्मानुष्ठान की चतुरता को धिक्कार है जिसके कारण भगवान् की उपेक्षा<sup>२</sup> होती है । हम तो अपने पुरुषार्थ को अन्य रीति से सिद्ध कर लेने में समर्थ हैं । भक्ति तो उन लोगों के करने की है, जो अन्धे, लूले हैं, और जो कुछ कर्म करने में असमर्थ हैं । जैसे यज्ञादि कर्म करने में असमर्थ अन्धे, लूलों को किसी अन्य कार्य में लगा दिया जाता है, उसी तरह असमर्थों को भक्ति करने में नियुक्त कर दिया जाता है । भक्ति तो असमर्थ पुरुषों के करने की वस्तु है । इस प्रकार की हमारी क्रिया में चतुराई को भी धिक्कार है । इतना सब कुछ होने पर भगवान् से विमुख करा देने में बीज-भगवान् के सम्मुख कराने वाले सत्त्वबीज-का अभाव<sup>३</sup> कारण है । इसी को मूल में—विमुखा ये त्वधोक्षजे—(सम्मुख करने वाले सत्त्व बीज के होने से) हम भगवान् से विमुख हैं ।

शंका—यही कैसे हो सकता है; क्योंकि यज्ञ भी तो भगवान् ही है । यज्ञ करने वाले भगवान् से विमुख कैसे हो सकते हैं । ऐसी शंका का निवारण मूल में—‘तु’ शब्द से किया है । इसमें कारण यह है कि भगवान् अधोक्षज है । इन्द्रियों से होने वाला ज्ञान भगवान् से नीचा है । ज्ञान में भी केवल आत्मा का साक्षात्कार होता है । कर्म मार्ग में क्रिया रूप यज्ञ की और ज्ञानियों को कर्म में अलौकिक रूप की सिद्धि होती है । भक्ति मार्ग में तो साक्षात्कार मात्र ही फल नहीं है और जो साक्षात्कार होता है वह केवल गौण फल ही है । क्योंकि जैसे गन्ने को चूसने वालों से केवल सिद्ध रस को पीने वाले अधिक सरस हैं । वैसे ही, भगवान् ने यह ऐसा भक्ति मार्ग प्रगट किया है, जिससे दूसरे सारे रूपों के भजन करने के सब पक्ष, पूर्व पक्ष होकर कर्तव्य नहीं रह जाते हैं ॥३६॥

टिप्पणी—‘विमुखा ये त्वधोक्षजे’—की व्याख्या में—‘ज्ञानेऽप्यात्मसाक्षात्कारः’—इत्यादि पदों से—इन्द्रियों के द्वारा होने वाले ज्ञान, पुरुषोत्तम का ज्ञान नहीं करा सकता—यह कहा गया है । ज्ञान मार्ग का भी केवल मानसिक आत्म साक्षात्कार हो जाना फल है । इसलिए ज्ञान मार्ग का फल, केवल मन के द्वारा—आत्मा का प्रत्यक्ष-दर्शन—कर लेना मात्र है । कर्म मार्ग में अधिकारी के भेद से दो प्रकार हैं । एक तो बहिर्मुख कर्मयोगी, जो क्रियात्मक यज्ञ का भजन करते हैं । उन्हें उसी से अदृष्ट के द्वारा फल की सिद्धि होती है—ऐसा वे मानते हैं । दूसरे कर्मठ, वे हैं, जिनको श्रुति के अभिप्राय का ज्ञान है । वे तो अलौकिक यज्ञ रूप का भजन करते हैं और वह भजन इन्द्रियों के द्वारा होने वाले ज्ञान से सिद्ध नहीं किया जा सकता । इस कारण, वह अधोक्षज भजन है । भक्ति मार्ग में—‘नाहं वेदः’ (न मैं वेदों से ग्रहण करने में आता हूँ) ‘ननु मां शक्यं से’ (मुझे इन चर्म चक्षु से नहीं देख सकता)—भगवान् का साक्षात्कार इन्द्रियों से नहीं होता । भगवान् के दर्शन हो जाने पर भी, जब तक सारी इन्द्रियों के द्वारा उनका साक्षात् अनुभव न हो जाए, तब तक भक्तों को शान्ति नहीं मिलती । इसलिए भक्ति मार्ग में, केवल दर्शन मात्र ही फल नहीं है । ‘दर्शयन् मुहमनसि नः स्मरं वीर यच्छसि’—दर्शन देकर क्षण-क्षण में कामदेव को उत्पन्न करते हो)

श्लोक—नूनं भगवतो माया मायिनामपि मोहिनी ।

यद् वयं गुरवो नृणां स्वार्थे मुह्यामहे द्विजाः ॥४०॥

श्लोकार्थ—निःसन्देह भगवान् की माया बड़े २ मायावी पुरुषों को भी मोहित कर देने वाला है । अहो ! हम ब्राह्मण, जो लोगों के गुरु कहलाते हैं, अपने स्वार्थ-भगवान् की भक्ति—में मोहित होगए (चूक गए) ॥४०॥

सुबोधिनी—ननु वैमुख्ये ज्ञानवतां को हेतुस्तत्राह नूनं भगवत इति, मायया हि पूर्वस्थितं ज्ञानादिक-माच्छाद्यतेतो ये शिष्याः प्राकृतास्तेषां तज् ज्ञानमाच्छाद्य नूतनमुत्पादनीयमन्यथा पूर्वविरोधान्नोत्पद्यते ज्ञानं, अतो गुरवः सर्व एव मायाविनः, तदत्र विपरीतं भगवन्मायया कृतं, ते स्वमायया स्वबुद्धिमेवाच्छादितवन्तः प्राकृतीं च बुद्धिं गृहीतवन्तः, तदाह नूनं निश्चयेन भगवतो माया मायिनामपि व्यामोहजनिका यद् वयं लोकानां गुरवः प्राकृतीं बुद्धिमाच्छाद्य स्वबुद्धिदातारस्ते स्वबुद्धिमेवाच्छाद्य प्राकृतीं बुद्धिमेव गृहीतवन्तः, भगवन्मायायाश्चैतद् कार्यं

प्राकृत्यामेव बुद्धी तथात्वमाच्छाद्यातथात्वं ग्राह्यत इति, अन्यथा भगवान् भगवच्छास्त्रं वा किं ग्राहयेद् भक्तिं वा कथं ग्राहयेद् ज्ञानेन प्रतिरोधान्, सहज प्राकृतं भक्ति-निशियितुमसमर्था सूक्ष्मा हि सातो गुरुमाययाच्छादिते-लौकिके च ज्ञाने सम्पन्ने तस्मिन्नपि ज्ञाने लब्धपदे भगवन्मायया पञ्चादाच्छादित आगतं प्राकृतत्वमूलक-मिति भगवच्छास्त्रेण भवत्या वा तन् निराकृत्य स्वकीयं तत्र स्थाप्यत इति भगवन्माया मायिनां व्यामोहिकेति नूनं नात्र पूर्वपक्षसम्भवः, द्विजा इतिसम्बोधनमस्य यज्ञस्याधिदैविकत्रैमुख्येनासम्पत्तत्वात् ॥४०॥

व्याख्यार्थ—ज्ञान वाले होकर भी भगवान् से विमुख होने के कारण वो—‘नून’—इस श्लोक से कहते हैं’ । माया पहिले रहने वाले ज्ञान को ढक देती है, इस लिए माया के द्वारा मूल ज्ञान के छिपा देने के कारण लौकिक ज्ञान वाले प्राकृत शिष्यों के उस प्राकृत ज्ञान को ढक कर उन में नया ज्ञान उत्पन्न किया जाता है । यदि पहले मूल ज्ञान का आच्छादन न करें, तो उसके विरोध से

दर्शन तो केवल आगे होने वाले भोग में उपयोगी होने से गीण है । जैसे रस का सम्बन्ध होने से गन्ना खाया जाता है, इसी प्रकार से भगवान् के आनन्दांश का सम्बन्ध होने से भगवान् के अन्य रूपों का मजन कर्तव्य है—इस अभिप्राय से इक्षु<sup>१</sup>—का दृष्टान्त दिया है । केवल रस रूप स्वयं भगवान् कृष्ण तो अभी प्रकट हुए हैं । इसलिए रसनिधि भगवान् के प्रकट होने के पहिले, जो जो-यज्ञ, जप, तप, दानादि—पक्ष कर्तव्य रूप से विद्यमान थे, वे अब केवल रसात्मक श्रीकृष्ण के प्रगट होने के अनन्तर वे कोई भी कर्त्तव्य नहीं है ।

लेख—‘बीजाभावात्’ भगवान् के सम्मुख ले जाने वाले सत्त्व बीज के न होने से, अधोक्षजे—की व्याख्या में—तत्र—यज्ञ में तत्पर रहने वाले भी भगवान् से बहिर्मुख थे ॥३९॥



नया ज्ञान उत्पन्न ही नहीं होवे । इसलिए गुरु लोग सारे ही मायावी हैं । यहां तो भगवान् की माया से विपरीत (उल्टा) ही हो गया, जो कि हम गुरु लोगों ने अपनी माया से अपनी ही बुद्धि का आच्छादन कर दिया और प्राकृत बुद्धि को ग्रहण कर लिया । यह भगवान् की माया ही है, कि जिसके द्वारा अपनी माया से औरों (शिष्यों) की बुद्धि का आच्छादन करके, अपनी बुद्धि का दान करने, हम मायावी गुरु लोगों ने अपनी ही बुद्धि का आच्छादन स्वयं ही कर दिया । भगवान् की माया का यह कार्य है कि वह प्राकृत-लौकिक-बुद्धि में लौकिक भाव को छिपा-(ढक)-कर अलौकिकता का ग्रहण करा देती है । यदि-(ऐसा)-माया से लौकिक में अलौकिकता का ग्रहण-नहीं कराया हो, तो भगवान्, भगवत् शास्त्र तथा भक्ति का ग्रहण कैसे हो सकता है; क्योंकि प्राकृत ज्ञान जब तक बना रहता है तब तक वह भगवान्, भगवत्शास्त्र तथा भक्ति नहीं होते हैं (प्राकृत बुद्धि इन सब का बाधक है) । भक्ति से सहज-(स्वाभाविक)-प्राकृत ज्ञान का नाश नहीं होता है, क्योंकि वह अत्यन्त सूक्ष्म होती है । इसलिए जब गुरु की माया से उस प्राकृत का आच्छादन हो और अलौकिक ज्ञान की प्राप्ति हो और वह अलौकिक ज्ञान भी स्थिर हो, तब फिर भगवान् की माया से आच्छादित हुआ, उत्पन्न प्राकृत ज्ञान बिना मूल का हो जाता है । उस अस्थिर मूल हीन प्राकृत ज्ञान को भगवत्शास्त्र अथवा भक्ति के द्वारा नष्ट-हटा)-करके अपना ज्ञान वहां स्थापित किया जाता है । इस कारण से भगवान् की माया मायावी पुरुषों को भी मोहित करने वाली है । यह निश्चय है । इसमें किसी प्रकार की भी शंका की संभावना नहीं है । मूल में 'द्विजाः'—अपने आपको द्विज पद से सम्बोधन करने का अभिप्राय यह है, कि आधिदैविक को विमुखता से यह यज्ञ सिद्ध नहीं हुआ ॥४०॥

श्लोक—अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ ।

दुरन्तं भावं योऽविध्यन् मृत्युपाशान् गृहाभिधान् ॥

श्लोकार्थ—अहो ! देखो स्त्रियों की जगद्गुरु श्रीकृष्ण में कैसी सुदृढ भक्ति है, जिससे इन्होंने गृहस्थी की ममता रूप कठिन मृत्यु पाश को भी तोड़ डाला ॥

सुबोधिनी—किञ्चाहो इति, अहो इत्याश्चर्यं, नरेषु दुर्लभं नारीषु भवति, भावं पश्यत, घृणाक्षरन्यायेन कादाचित्कं व्यावर्तयति दुरन्तमिति, ननु स्त्रीणां पुरुषेषु भावा भवत्येवेति किमाश्चर्यमित्याहुः कृष्णे जगद्गुरा-

विति, सदानन्दो जगद्गुरुश्च तस्मिन्, नारीणां भावो कामिष्वेव वर्तते न तु भगवत्पत आश्चर्यं, ततः किमत आह योविध्यदिति, यो भावो गृहसंज्ञकान् मृत्युपाशान-विध्यदच्छिनत् तं भावं भक्तिं पश्यतेति ॥

व्याख्यानार्थ—अहो ! आश्चर्य है, कि जो भाव पुरुषों में दुर्लभ है वह स्त्रियों में होगया ।

लेख—व्याख्या में, 'अतो ये' इत्यादि का तात्पर्य यह है, कि माया से मूल के ढक दिए जाने पर, प्राकृत-(लौकिक)-ज्ञान वाले । 'अन्यथा भगवान्' इत्यादि का आशय यह है कि प्राकृत बुद्धि के रहने पर, प्राकृत भाव के दूर न होने पर । 'ज्ञानेन'—अर्थात् प्राकृत ज्ञान के द्वारा ॥४०॥

स्त्रियों के भाव को देखो । यह भाव घुणाक्षर न्याय से कभी हो गया होगा ? इस शंका का निवारण-दुरन्त-पद से मूल में किया है । यह भाव दुरन्त-अन्त रहित पुष्कल था । स्त्रियों का तो पुरुषों पर भाव होता ही है । इस में आश्चर्य की बात क्या है ? इस शंका का समाधान-कृष्ण जगद्गुरौ-इन पदों से करते हैं । सदानन्द और जगद्गुरु में । स्त्रियों का भाव कामी पुरुषों पर ही होता है, भगवान् पर नहीं होता । यहां इनका भगवान् पर भाव होना आश्चर्य जनक है । जिसके कारण होने वाले फल को बहते हैं-‘योऽविध्यद्’ कि जिसने गृहस्थी नाम के मृत्यु के पाशों को काट दिया । उस भक्ति भाव को देखो ॥

श्लोक—नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि ।

न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ॥४१॥

श्लोकार्थ—हमारी तरह इन स्त्रियों का यज्ञोपवीत संस्कार नहीं हुआ, न वेदाध्ययन के लिए गुरुकुल में, इन्होंने निवास ही किया, न कोई प्रकार का तप किया, न आत्मतत्त्व की खोज की, न ये शौच<sup>१</sup> से रहती हैं और न इन्होंने सन्ध्यावन्दन, अग्निहोत्र आदि वेदोक्त शुभ कर्म ही किए हैं ॥४१॥

सुबोधिनी—नन्वस्य यज्ञस्य मुख्यफलाभावेप्युत्तर-मीमांसान्यायेन चित्तशुद्धिपरत्वं भवत्वतो धिक्कारोनुचित इति चेत् तत्राहुनसामिति, संस्काराणामहेतुत्वमन्वय-व्यतिरेकव्यभिचारात्, संस्काररहितासु स्त्रीषु भक्ति-सम्भवात् संस्कारवत्स्वस्मासु तदभावात्, तदाहुरासां

स्त्रीणां द्विजातिसंस्कार उपनयनं नास्ति नापि गुरौ निवासो वेदाध्ययनं तपः स्वधर्मः श्रोतस्मार्तकर्मणि-न्द्रियनिग्रहो वा स्नानादिना क्लेशसहनं वा नाप्यात्म-मीमांसात्मविचारो नापि शौचं नापि शुभाः क्रिया अग्निहोत्रादयः ॥४१॥

व्याख्यानार्थ—यदि इस यज्ञ का मुख्य फल प्राप्त नहीं हुआ, तो भी उत्तर मीमांसा के न्याय से चित्त शुद्धि रूप फल तो होता । फिर तो धिक्कार अनुचित है ? ऐसी शंका में-नासां-यह श्लोक कहते हैं । इन स्त्रियों का द्विजाति संस्कार नहीं हुआ । अन्वय और व्यतिरेक के व्यभिचार<sup>२</sup> से संस्कार भगवान् की भक्ति में कारण नहीं है; क्योंकि जिनके संस्कार नहीं हुए । उन स्त्रियों की तो भक्ति हो गई । (यह व्यतिरेक व्यभिचार है) और जिनके संस्कार अक्षुण्ण हुए उन अपने को भक्ति नहीं हुई । (यह अन्वय व्यभिचार है) इसी को बतलाते हैं, कि इन स्त्रियों का द्विजाति संस्कार<sup>३</sup> नहीं हुआ है, वेदाध्ययन के लिए ये गुरुकुल में नहीं रही हैं, न इन्होंने तप, अर्थात् स्वधर्म का पालन किया है, श्रुतियों, स्मृतियों में कहे हुए कर्म नहीं किए । इन्द्रियों के दमन तथा त्रिकाल स्नान करने आदि का कष्ट भी सहन नहीं किया है । न आत्म-विचार ही किया है । इन्होंने शौच का पालन भी नहीं किया है और अग्निहोत्र आदि वेदोक्त शुभ क्रियाएँ भी नहीं की हैं ॥४१॥

श्लोक—अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।

भक्तिर्हृदा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ॥४२॥

श्लोकार्थ—तो भी पवित्र यशवाले, योगेश्वरों के भी नियन्ता श्रीकृष्ण भगवान् में इनकी दृढ भक्ति है । पर संस्कार आदि से सिद्ध हुए भी हमलोगों की भगवान् में भक्ति नहीं है ॥४२॥

सुबोधिनी—एवं भवत्यधिकरणे साधनाभावं निरूप्य भक्तिमाहुरथापीति नन्वस्या भवतेः संस्कारा न साधन-भूता यथा जार इतीमामाशङ्कां व्यावर्तयन्त्युत्तमश्लोक इति, उत्तमैरपि व्यासवाल्मीकिपराशरादिभिः श्लोक्ष्यते कीर्त्यते इत्यनेन प्रमाणोत्कर्ष उक्तः, प्रमेयोत्कर्षमाह

कृष्ण इति, फलोत्कर्षोप्युक्तः, साधनोत्कर्षमाह योगेश्वरेश्वर इति, योगेश्वराणामपीश्वरे नियन्तरि, सापि भक्तिर्हृदा पत्यादिभिः प्रतिबद्धापि न विहतेति तैल-धारावदनवच्छिन्ना सर्वतोषिका, अन्वयव्यभिचारमाहुर्न चास्माकमित्यष्टचत्वारिंशत्संस्कारवतामपि ॥४२॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार श्रीकृष्ण में भक्ति वाली पत्नियों की निःसाधनता का निरूपण करके, 'अथापि' इस श्लोक से भक्ति का वर्णन करते हैं । जैसे जार<sup>१</sup> पुरुष में स्नेह होने से शुभ संस्कार रूपी साधन अपेक्षित<sup>२</sup> नहीं हैं, इसी तरह संस्कार, इस भक्ति के साधन रूप नहीं हो सकते ? ऐसी शंका का निवारण—उत्तम श्लोक—पद से किया है । व्यास, वाल्मीकि, पराशर आदि जिनके गुणों का कीर्तन करते हैं, उन भगवान् में । इस कथन से भगवान् में प्रमाण की उत्कर्षता कही है । 'कृष्णे'—पद से प्रमेय की और फल की उत्कर्षता का वर्णन है । 'योगेश्वरेश्वरे'—इस पद से साधन का उत्कर्ष कहते हैं, कि योग के ईश्वरों के भी नियन्ता में भक्ति और वह भी दृढ जो पति आदि के रोकने पर भी नष्ट नहीं हुई । तैल की धारा की तरह निरन्तर रहने वाली, सब से अधिक भक्ति हुई । 'न चास्माकं'—इत्यादि पदों से अन्वय दोष और व्यतिरेक दोष को बतलाते हैं, कि हम अड़तालीस संस्कारवालों की, तो भक्ति नहीं हुई और जिनका एक भी संस्कार नहीं हुआ, ऐसी इन पत्नियों की श्रीकृष्ण में दृढ भक्ति हो गई ॥४२॥

श्लोक—ननु स्वार्थविमूढानां प्रमत्तानां गृहेहया ।

अहो नः स्मारयामास गोपवाक्यैः सतां गतिः ॥४३॥

लेख—व्याख्या में—'अष्ट चत्वारिंशत्संस्काराः—

अड़तालीस संस्कार कहे गए हैं । यद्यपि इस समय दूसरे संस्कार नहीं होते, तो भी उत्तम शरीर संस्कारों से ही प्राप्त होता है । इसलिए उनके अन्य संस्कार पूर्व जन्म में ही सिद्ध हो चुके थे ॥४२॥

**श्लोकार्थ—**हम लोग निश्चय<sup>१</sup> ही-स्वार्थ-भगवत्सेवा से विमूढ<sup>२</sup> हैं, गृहस्थी के सुख में प्रमत्त<sup>३</sup> हो रहे हैं। अहो ! आश्चर्य है, कि गोपों के वाक्यों के द्वारा उन भगवान् ने हमें स्मरण (सचेत) कराया। सज्जनों के रक्षक तो वे ही हैं ॥४३॥

**सुबोधिनी—**ननु तासां जन्मान्तरे संस्काराः सिद्धा-  
श्चर्षण्य एता अन्यथा भर्तृपरित्यागो न स्यादतः पुरुषा  
एवैते पूर्वजन्मनि गोपिका इव भवतां च 'जन्मान्तर-  
सहस्रेषु तपोध्यानसमाधिभिर्नराणां क्षीणपापानां कृष्णो  
भक्तिः प्रजायते' इत्यतो भवतां बहुजन्मसंस्कारा न जाता  
इत्याशङ्क्याश्चर्येण तस्य समाधानमाहुर्नन्विति कोमल-  
सम्बोधने, ननु सत्यमेवमेव स्वार्थविमूढानां गृहेहया  
प्रमत्तानां नोस्माकं गोपवाक्यैः पूर्वस्थिति स्मारयामास,  
वयमपि भगवदीया एव पूर्व स्थितास्ततो दैत्यावेशाद्  
दैत्यप्रभुदेशे स्थित्या तैः पात्यमानास्तदन्नभोजिनो

पुनः स्वकीयान् जानाति, अहो अत्याश्चर्यमेतत् कथं  
वाक्यमात्रेण प्रबोध इति, अलौकिकसामर्थ्यं हि भगवतः,  
अहो इति तस्यानुकरण, अनेन पूर्वोक्तपक्षा निराकृताः,  
स्त्रियोप्येताः स्वस्यैव भगवतो दास्यो वयं च दासा नात्र  
सन्देहः, अन्यथा प्रतिकूलतर्क वक्ष्यन्ति स्वार्थे भगवत्सेवायां  
विमूढा गृहेहया इति कृत्यचिन्ता गृहघर्माश्च तत्रापि  
प्रमत्तास्तच्चिन्तया भगवत्सेवायां वा प्रमत्ता अतः स्व-  
सेवकान् स्मारितवान् साक्षादुपदेशेनधिकारिणो मत्वा  
गोपवाक्यैः, तथाकरणे हेतुः सतां गतिरिति, सतामयमेव  
गतिः, यद्येवं भगवानुपेक्षेत तदा सन्तो नष्टा एव  
भवेयुः ॥४३॥

विस्मृतस्वरूपा जातास्तच्च भगवान् गोपवाक्यमिषेण  
स्मारयामासान्यथान्यानं किं भगवान् याचते ? अस्मांश्च

**व्याख्यानार्थ—**शंका करते हैं, कि इन स्त्रियों के सारे संस्कार पूर्व जन्म में ही सिद्ध हो ही गए होंगे,  
क्योंकि वे चर्षणियां थीं, नहीं तो उनके पति उनका त्याग नहीं करते। इस लिए ये स्त्रियां भी गोपिकाओं  
की तरह पूर्व जन्म में पुरुष ही (होनी चाहिए) होंगे। फिर “हजारों जन्मों में किए हुए तपस्या, ध्यान,  
समाधि आदि साधनों के द्वारा जब मनुष्यों के पाप क्षीण होते हैं, तब उनकी कृष्ण में भक्ति होती  
है।” इस वाक्य के अनुसार, उन द्विजों के अनेक जन्म के संस्कार नहीं हुए होंगे ? इस शंका का  
समाधान—‘ननु’—इस श्लोक से आश्चर्य पूर्वक करते हैं। ‘ननु’ अर्थात् निश्चित रूप से। यह कोमल  
सम्बोधन में प्रयोग है। निश्चय ही ऐसा है, कि स्वार्थ में विमूढ़ और घर की इच्छा से प्रमत्त हुए  
हमें भगवान् ने गोपों के वाक्यों से, हमारी पहिली स्थिति का स्मरण कराया। पहले हम-भी  
भगवदीय ही थे; किन्तु दैत्यों के आवेश से, दैत्य राजा के देश में रहने से, दैत्यों के द्वारा ही  
सुरक्षित होने से और दैत्यों का ही अन्न खाने वाले होने से हम अपने भगवदीय स्वरूप को भूल गए।  
उन अपने वास्तविक पूर्व स्वरूप को भूले हुए हम लोगों को भगवान् ने गोपों के वाक्यों के बहाने से  
स्मरण कराया। नहीं तो (ऐसा नहीं होता तो, भगवान् किसी दूसरे के अन्न को क्यों नहीं मांग  
लेते ? वे हम लोगों को स्वकीय (अपने भक्त) जानते हैं। अहो ! अत्यन्त आश्चर्य है, कि केवल  
वाक्य से ही हमें कैसे ज्ञान हो गया। भगवान् की शक्ति अलौकिक है। ‘अहो’ पद से उसका अनुकरण  
किया गया है। इस कथन से पहले बताए हुए सारे पक्षों का निवारण कर दिया। ये स्त्रियां भी  
भगवान् की ही दासियां हैं और हम भगवान् के दास हैं—इस में कोई सन्देह नहीं है। यदि ऐसा

नहीं होता तो विरुद्ध ही तर्क वितर्क करते । स्वार्थ—(भगवत्सेवा)—में विमूढ हैं । 'गृहेहया' अर्थात् घर की इच्छा, घर के कार्यों की चिन्ताओं से चिन्तित हैं । घर के कार्यों को ही धर्म समझते हैं । इतने पर भी घर की चिन्ता से प्रमत्त है अथवा भगवान् की सेवा में प्रमत्त—(प्रमाद करने वाले)—हैं । इसलिए भगवान् ने अपने सेवक हम लोगों को स्मरण कराया । साक्षात् स्वयं के द्वारा उपदेश के अधिकारी न समझ कर, गोपों के वाक्यों से याद दिलाई; क्योंकि, भगवान् ही—'सतां गतिः'—सत्पुरुषों के आश्रय हैं । यदि भगवान् उपेक्षा करें—सेवकों को बोधन करावें—तो सेवकों का नाश ही हो जाए । इसलिए कृपा करके ही गोपों के वाक्यों से भगवान् ने स्मरण दिलाया था ॥४३॥

श्लोक—अन्यथा पूर्णकामस्य कैवल्ययाद्याशिषां पते ।

ईशितव्यैः किमस्माभिरीशस्यैतद् विडम्बनम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—नहीं तो पूर्णकाम और मोक्ष आदि दुर्लभ आशिषों—(वरों)—को देनेवाले भगवान् को हम दास लोगों से अन्न मांगने की क्या आवश्यकता थी । यह याचना भगवान् की कोई सच्ची याचना नहीं थी, किन्तु केवल अनुकरण मात्र थी । अवश्य ही अन्न मांगने का केवल बहाना था ॥४४॥

सुबोधिनी—एतत् सर्वं याचनान्धयानुरपत्त्या कल्प्यते तत्रान्यथोपपत्ति कल्पयित्वा परिहरन्त्यन्यथेति, भगवतस्तु नापेक्षितं किञ्चिन् नापि दुःखनिवृत्तिस्तत्साधनं वा नापि सुखं तत्साधनं वा पूर्णकामत्वात्, तस्य हि कामाः पूर्णा उत्पन्ना विषयैर्न पूर्यन्ते लौकिकवत् किन्तु पूर्णा एवाविर्भवन्ति, अतो नित्यविषयास्ते, तथा सति यात्रकामना भगवत्याविर्भूता सात्रसहितैवेति सिद्धये याचनमनुपपन्नं परमुद्देशान्तरं चेत् तदा सिद्धमपि दूरीकृत्य साधनान्तरं करोति, असाधनं वा बोधयति, तस्मादस्मत्प्रबोध एव याचनफलं, किञ्च कैवल्ययाद्याशिषां पतिर्भगवान्, कैवल्यं केवलता सङ्घातनिवृत्त्या केवलस्थितिः प्रत्यापत्तिरूपं तत् प्रथमं फलं ततः पूर्वं दुःखमेवातः कैवल्ये प्राप्ते ततः स्वरूपेण भजनं तत आनन्दाविर्भावस्ततो भगवति प्रवेशो भक्तिर्वा तदनन्तरं

धर्मा भगवदीया भगवदाज्ञापनरूपा अर्थाश्च तदीयाः कामाश्च, एवं कैवल्ययाद्या या आशिषस्तासां पतिरयं दाता नियामकः, तथा सति गोपानां क्षुदेव न स्थान् नापि तैः प्रार्थ्येत, लोकाणामपि कैवल्यविदाता, न हि तान् सङ्घाते स्थापयति येन क्षुद् भवेदतः क्षुधमप्युत्पाद्य विद्यमानेष्वन्ये तददत्त्वा बोधनार्थमेवात्र प्रेषितवान्, किञ्चेति शितव्यैरस्माभिः किं स्यात् ? वयमोशितव्या दासा न हि दासान्नं भुज्यते, तेभ्यो दीयत एव, न हि महाराजस्य दिनमात्रव्यवस्थामपि कश्चिद् दासः सम्पादयितुं शक्तः, नाप्यस्माभिस्तस्याग्रे कृत्यमत ईशस्यैतदनुकरणमात्रं न तु याचनं, अनुकरणं तु रसोत्पत्त्यर्थमिति निश्चयः, न हि नटस्य योगिभावप्रदर्शने किञ्चित् कृत्यमस्ति विना रसोत्पादनं तथा भगवद्या-ञ्जानुकरणमपि बोधनार्थमेव ॥४४॥

लेख—व्याख्या में—चर्षण्यः—शब्द का चर्षणी शक्ति वाली यह अर्थ है । 'यज्ञपत्यस्तथा परे'—इस वाक्य के अनुसार उस प्रकार की लीला का विषय—अधिकारिणी—होने से वे भगवान् के साथ रमण कर सकने की शक्ति वाली थी ॥४३॥

व्याख्यानः—यह सब कुछ इस कारण से, कल्पना कर रहे हैं कि नहीं तो भगवान् का अन्न की याचना करना, किसी प्रकार से संगत नहीं है । इस प्रकार से तो याचना किसी प्रकार उचित ही होगी—ऐसी कल्पना करके, 'अन्यथा' श्लोक से उसका निवारण करते हैं । भगवान् को दुःख की निवृत्ति तथा दुःख निवृत्ति का साधन और सुख तथा सुख की प्राप्ति का साधन—इत्यादि किसी की भी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि वह स्वयं पूर्ण काम है । उनकी सारी इच्छाएँ पूर्ण ही उत्पन्न होती हैं, वे लौकिक कामनाओं की तरह, विषयों से पूरी नहीं की जा सकती है । वे तो पूर्ण ही प्रकट होती हैं । इसलिए भगवान् के मनोरथ सदा ही विषयों के सहित हैं । इस तरह जो यह अन्न की कामना भगवान् में प्रगट हुई, वह अन्न सहित ही हुई । यद्यपि अन्न के सिद्ध होने पर फिर अन्नयाचना उचित प्रतीत नहीं होती, तो भी भगवान् किसी अन्य उद्देश्य से सिद्ध को दूर करके उसकी प्राप्ति के लिए दूसरा साधन करते हैं, अथवा अपने, भगवान् के पास उसको पाने का साधन नहीं है—यह बतलाते हैं । इसलिए केवल हमको प्रबोध कराना ही इस अन्न याचना का प्रयोजन-फल-है ।

भगवान् कैवल्य आदि आशीर्वादों के स्वामी हैं । कैवल्य अर्थात् केवलता, देह, इन्द्रिय आदि संघात की निवृत्ति होने से केवल आत्मा से स्थिति रहना ही केवलता है । अन्यथा रूप\* का त्याग करके फिर स्वरूप में स्थिति हो जाना कैवल्य रूप पहला फल है । इस स्थिति को प्राप्त न होने के पहिले तो दुःख ही है । इसलिए कैवल्य को प्राप्त होने पर, स्वरूप से भगवान् का भजन—(सेवा)—ही । भजन से आनन्द का आविर्भाव होने पर, भगवान् में प्रवेश हो अथवा भक्ति होने के पीछे भगवान् के आज्ञा रूपधर्म, भगवदीय अर्थ और भगवदीय ही काम होते हैं । इस प्रकार से, कैवल्य आदि सभी आशीर्वादों—शुभ पदार्थों—के स्वामी दाता तथा नियामक भगवान् ही हैं । सब के स्वामी होने पर तो भगवदीय गोपों को भूख ही क्यों लगे और अन्न के होते हुए वे भगवान् उनके द्वारा अन्न के लिए प्रार्थना ही क्यों करें । लोकों के लिए कैवल्य से लेकर सारे शुभ पदार्थों के देने वाले भगवान् अपने भक्त गोपों को (क्षुधा उत्पन्न करके) संघात—(शरीर)—में क्यों स्थापित करते । इस कारण से, भूख उत्पन्न करके और अपने पास अन्न होते हुए भी, उसे न देकर हमें हमारी पहली स्थिति का बोध कराने के लिए ही उनको हमारे पास भेजा है । फिर हम तो दास हैं । दासों से भगवान् का प्रयोजन । (दासों के अन्न को स्वामी नहीं खाते) वे दासों के लिए अन्न देते हैं । सेवक तो महाराजा की एक दिन की भी व्यवस्था नहीं कर सकता । उन सर्वशक्तिमान् भगवान् के आगे हम लोग भी कुछ करने में समर्थ नहीं हैं । इसलिए यह तो भगवान् का अनुकरण मात्र है, याचना नहीं है । और अनुकरण तो रस की उत्पत्ति के लिए ही है—यह निश्चित है । जैसे नट योगी का स्वाङ्ग बनाकर योगी के भाव दिखलाता है, उसका केवल रस उत्पादन करने के सिवाय कोई अन्य प्रयोजन नहीं होता । इसी तरह भगवान् का यह याचना का अनुकरण भी, केवल हमको प्रबोध कराने के लिए ही है ॥४४॥

\* “भुक्तिं हित्वाऽन्यथा रूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः”

योजना—कैवल्याद्याशिषां पतेः—इस की व्याख्या में 'भगवति प्रवेशो भक्तिर्वा'—इन पदों से कैवल्य प्राप्ति के पीछे स्वरूप से—(शुद्ध जीव रूप से)—भजन हो और भजन के द्वारा छिपा हुआ आनन्द प्रगट होने पर, दो

श्लोक—हित्वान्यान् भजते यं श्रीः पादस्पर्शशियासकृत् ।

आत्मदोषापवर्गेण तद्याच्चा जनमोहिनी ॥४५॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मीजी अपने चंचलता रूप दोष का त्याग करके चरण कमलों का स्पर्श करने की अभिलाषा से अन्य सब को छोड़कर जिनको बार बार भजती है । उन भगवान् का याचना करना अवश्य ही मनुष्यों को मोहित करने के लिए ही है ॥४५॥

सुबोधिनी—ननु पूर्णोप्यवतारं कृत्वा लीलया नट इव लौकिकं सम्पादयत्यतो याच्चा युक्तेति चेत् तत्राहु- हित्वान्यानि, यदि याचनीयं लक्ष्मीरेव वक्तव्या किं भिक्षुकैः ? न च मन्तव्यं लक्ष्मीः कार्यान्तरव्यापृतेति, यान्यान् तबनेषु हित्वासकृद् भजते तत्रापि पादस्पर्श आशामात्रं, सा चेदाज्ञां प्राप्नुयात् कृतार्थं भवेत् तां विहायान्ययाचनमन्यार्थमेव, ननु लक्ष्म्यां चाञ्चल्यमस्त्य- तस्तदा न स्थितेति चेत् तत्राहुरात्मदोषापवर्गेणेति,

आत्मनो दोषश्चाञ्चल्यं तस्यापवर्गो निवृत्तिः पुनरुत्प- त्तिरहिता, एवमेव हि भगवत्सेवकानां धर्मः ननु लोकाः पूर्वमप्याहुर्बलियाचितो भगवतेति तथेदानीमपि भविष्य- तीति चेत् तत्राहुस्तद्याच्चा जनमोहिनीति जनानेव व्यामोहयत्यन्यथा स्वस्मिन्नेव शरीरे त्रैलोक्यं प्रदर्शितं व्यर्थं स्यात् स्वस्यैव सिद्धत्वान् न याचनमिति स ज्ञापितो लोकास्तु व्यामोहिताः ॥४५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् पूर्ण होकर भी अवतार धारण करके लीला से नट की तरह लौकिक कार्य करते हैं । इसलिए उनका याचना करना उचित ही है ? ऐसी शंका का उत्तर इस-‘हित्वान्यान्’

पक्ष हो जाते हैं अर्थात् मर्यादा भक्तों का भगवान् में प्रवेश हो जाता है और पुष्टि मार्गीय भक्तों को तो फल रूप भक्ति की प्राप्ति होती है—यह अभिप्राय कहा है । इस कथन का तात्पर्य यह है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार पुरुषार्थ नाम से सब स्थानों में प्रसिद्ध हैं और श्रीमद्भागवत में तो—‘कैवल्यार्याशिषां पतेः’—इस वाक्य के अनुसार कैवल्य की प्रथम कक्षा है । उस कैवल्य का स्वरूप व्याख्या में—कैवल्यं यहां से लेकर—कामाश्च तक वर्णन किया गया है । ‘ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः’—इस श्रुति के अनुसार, वह कैवल्य ज्ञान से ही प्राप्त होता है । इससे भक्ति की कोई हानि नहीं है । देह इन्द्रियादि संघात की निवृत्ति होने पर केवल स्थिति रूप कैवल्य ज्ञान से ही होता है; क्योंकि ज्ञान अध्यास की निवृत्ति करने वाला है । परन्तु केवल—कैवल्य—(मोक्ष) तो परम पुरुषार्थ नहीं है । मोक्ष तो केवल—‘कैवल्यार्याशिषां पतेः’—पहली सीढ़ी मात्र है । परम पुरुषार्थ तो पुरुषोत्तम की नित्य लीला घाम में प्रवेश है; और वह ‘मत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्’—इस गीता वाक्य से पुरुषोत्तम भगवान् के एक मात्र अनुग्रह से, उत्पन्न हुई पुष्टि भक्ति से ही प्राप्त होता है । ‘एको वशी’ यहां से प्रारम्भ करके—‘ये तु भजन्ति नित्यं तेषां सिद्धिः शाश्वती नेतरेषां’—यहां तक की अथर्ववेदीय गोपालतापनीय उपनिषदों में यही बतलाया है, कि सिंहासन पर विराजमान भगवान् की सेवा—(भजन)—करने वालों को ही शाश्वती सिद्धि प्राप्त होती है । इस प्रकार ‘स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्’—गीता के शाश्वत पद से और गोपाल तापिनी के—‘सिद्धिः शाश्वती’—इस कथन से, नित्यलीलाघाम में प्रवेश को भक्तों के लिए फल रूप से, निरूपण किया है; क्योंकि शाश्वत पद नित्य का पर्याय है ॥४४॥

श्लोक से देते हैं । यदि भगवान् को याचना करना ही था तो लक्ष्मीजी से क्यों नहीं की, भिक्षुकों से क्यों मांगा ? लक्ष्मीजी किसी दूसरे काम में लगी हो-ऐसा भी नहीं माना जा सकता; क्योंकि वह उन २ सभी को छोड़कर जिनको बार बार भजती है और वह भी केवल चरण स्पर्श की आशा से ही । वो लक्ष्मीजी यदि भगवान् की आज्ञा पावें तो कृतार्थ ही हो जाँय । इसलिए लक्ष्मीजी से याचना न करके ओरों-हम-से याचना करने का प्रयोजन कुछ और ही है ।

यदि यह कहा जाय कि लक्ष्मीजी चंचल हैं, वह उस समय वहाँ स्थित नहीं होगी । इसलिए भगवान् ने अन्य से याचना की; तो इसका उत्तर मूल में-आत्मदोषापवर्गेण-इस पद से दिया है । आत्मा का-अपना-दोष चंचलता की निवृत्ति अर्थात् फिर कभी चञ्चलत्वरूप दोष उत्पन्न न हो सके-इसलिए भजती है । भगवान् के सेवकों का ऐसा ही धर्म है । शङ्का होती है कि जैसे भगवान् ने राजा बलि से पहले याचना की थी वैसे ही अभी भी करली होगी ? इस के उत्तर में कहते हैं कि-‘तद् याच्ञा जन मोहिनी-भगवान् का याचना करना मनुष्यों को ही मोहित करता है । यदि ऐसा-जनमोहिनी-न हो तो अपने ही शरीर में त्रिलोकी के दर्शन करादेना व्यर्थ ही हो जाता । अपनी देह में ही, त्रिलोकी को दिखाकर बलि को यह बतलाया कि मेरा-(भगवान्-का) याचना करना वास्तविक याचना नहीं है, किन्तु लोकों को केवल मोह हो गया, कि भगवान् ने बलि से याचना की ॥४५॥

श्लोक—देशः कालः पृथग् द्रव्यं मन्त्रतन्त्रात्विजोग्नयः ।

देवता यजमानश्च क्रतुर्धर्मश्च यन्मयः ॥४६॥

श्लोकार्थ—देश, काल, भिन्न २ द्रव्य, मन्त्र, तन्त्र, ऋत्विज, अग्नि, देवता, यजमान, यज्ञ और धर्म-से सब भगवद्रूप ही हैं ॥४६॥

सुबोधिनी—किञ्च देशादयः सर्वे तदात्मका एव श्रुत्यनुसारेण सर्वे पदार्था भगवदात्मका इति ज्ञायन्ते तथा सति तत्रादानबुद्धिर्मोहनव्यतिरेकेण कथं भवेदत तथापि यो मोहः स याच्ञयैव ॥४६॥  
इदमपि याचनं मोहनाथमेव, ‘पुरुष एवेदं सर्वं’मिति-

व्याख्यार्थ—देश काल आदि सभी पदार्थ भगवत्स्वरूप ही हैं । तब फिर, इन पदार्थों की याचना का प्रयोजन मोह के सिवाय और क्या हो सकता है ? इसलिए यह याचना भी मोह कराने के लिए ही है । ‘पुरुष एवेदं सर्वं’-(यह सब पुरुष (रूप) ही हैं । इस श्रुति के अनुसार सब पदार्थ भगवद्रूप ही जाने जाते हैं, तो भी हम लोगों को जो मोह हुआ है, वह याचना से ही हुआ है ॥४६॥

श्लोक—स एष भगवान् साक्षाद् विष्णुर्योगेश्वरेश्वरः ।

जातो यदुष्वित्यश्रुण्म ह्यपि मूढा न विद्महे ॥४७॥



**श्लोकार्थ—**उन्हीं साक्षात् योगेश्वरों के भी ईश्वर विष्णु भगवान् ने यदुवंश में जन्म लिया है—यह सुनकर भी हम मूढ़ उनको नहीं पहिचान सके ॥४७॥

**सुबोधिनी—**ननु स पुरुषो यदात्मकं जगदस्मिन्न-  
प्येतस्मिन्नज्ञानाद् दानमुचितमेवेत्याशङ्क्याहुः स एष इति,  
स पुरुष एवायं भगवांस्ततोऽधिकः पुरुषोत्तमः, किञ्च  
साक्षादयं यज्ञ आधिदैविको विष्णुर्ब्राह्मणभोजनसङ्कल्पेपि

योगेश्वराणामप्ययमोऽश्वरः स्वामी, एतादृशो यदुषु जात  
इत्यश्रूण्म श्रुतवन्तो वयं तथऽपि पूर्वसंस्कारलोपाद्  
विशेषमोढ्याद् भगवन्तं न विद्महे, एवं स्वापराधः  
समर्थितः ॥४७॥

**व्याख्यानार्थ—**यह वही पुरुष है, जिसकी आत्मा यह जगत् है । उस (इस) पुरुष के लिए भी अज्ञान से दान दिया ही जा सकता है ? इस शका का समाधान—‘स एष’—इस श्लोक से करते हैं । वह पुरुष ही, यह भगवान् है । पुरुष से भी अधिक—पुरुषोत्तम है । यह ही साक्षात् यज्ञ, आधिदैविक विष्णु है । ब्राह्मणों के लिए भोजन कराने के अपने संकल्प में भी यह योगेश्वरों के भी ईश्वर—(स्वामी)—हैं । उनका यदुवंश में अवतार लेना सुनकर भी, हम अपने पहले संस्कारों के लोप—(नाश)—के कारण हुई अत्यन्त मूर्खता से उन भगवान् को नहीं जानते हैं । इस प्रकार उन द्विजों ने अपने अपराध का समर्थन किया ॥४७॥

**श्लोक—**अहो ! वयं धन्यतमा येषां नस्तादृशीः स्त्रियः ।

भवत्या यासां मतिर्जाता अस्माकं निश्चला हरौ ॥४८॥

**श्लोकार्थ—**अहो हम लोग बड़े बड़भागी हैं । कारण—कि हमारे घर में ऐसी हरि की अनन्य भक्त स्त्रियां हैं । इन स्त्रियों की भक्ति से ही हम लोगों की श्रीकृष्ण में निश्चय—(दृढ़)—बुद्धि हुई है ॥४८॥

**योजना—**‘स एष भगवान्’—इस श्लोक की व्याख्या में—‘साक्षादयं’—इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है कि यद्यपि हम यज्ञ को ही परमेश्वर मानते हैं, तो भी आधिदैविक यज्ञ रूप होमे से यह श्रीकृष्ण ही आराधन करने के योग्य है; क्योंकि ‘यज्ञो वै विष्णुः’—(यज्ञ साक्षात् विष्णु है) इस श्रुति से आधिदैविक यज्ञ विष्णु रूप है । शंका—ब्राह्मणों को ही भोजन के लिए अन्न देना चाहिए । गोपों के लिए वह अन्न कैसे दिया जाए ? इस शंका के समाधान में कहते हैं, कि—‘ब्राह्मण भोजन संकल्पेपि’—ब्राह्मण भोजन के संकल्प में भी, श्रीकृष्ण भगवान् के लिए गोपों को अन्न देना उचित ही था; क्योंकि—‘एको विष्णु महद्भूतं पृथग्भूतान्यनेकशः त्रिलोकान् व्याप्य भूतात्मा भुवते विश्वभुगव्ययः’ (एक विष्णु ही सब से बड़ा प्राणी है, उसमें से ही भिन्न २ अनेक प्राणी उत्पन्न होते हैं, यह भूतात्मा तीनों लोकों को व्याप्त करके सब भोग करने वाला और अविनश्वर है) इस पद्य में भी विष्णु शब्द श्रीकृष्ण का ही वाचक है ॥४७॥

सुबोधिनी—तस्यापराधस्य क्षमापनार्थं नमन्ति नम इति, अत्रंकः श्लोको विनोतः सोपि व्याख्यायते, अहो इत्याश्चर्यं, वधमिति श्लाघायां धन्यतमाः कृतार्था

येषामस्माकं तादृशयः स्त्रियो यासां भक्त्या स्मारकत्वे-  
नोपस्थितयास्माकमपि हरी मतिनिश्चला जातेति ॥४८॥

**व्याख्यार्थ—**अपने उस अपराध को क्षमा कराने के लिए—नमः—इस श्लोक से नमस्कार करते हैं। यहां यह एक श्लोक प्रक्षिप्त (जान पड़ता) है। इस की भी व्याख्या करते हैं। अहो ! यह आश्चर्य में कहा है। वयं (हम लोग) यह पद स्वयं अपनी प्रशंसा में कहा है। हम कृतार्थ हैं कि जिन की (हमारी) स्त्रियाँ ऐसी हैं, कि जिनकी भक्ति का स्मरण करके हमारी भी भगवान् श्रीकृष्ण में निश्चल भक्ति हो गई ॥४८॥

**श्लोक—**नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।

यन्मायामोहितधियो भ्रमामः कर्मवर्त्मसु ॥४९॥

**श्लोकार्थ—**अकुण्ठित बुद्धि वाले उन भगवान् श्रीकृष्ण के लिए नमस्कार है।  
जिनकी माया के द्वारा मोहित हुई बुद्धि वाले हम लोग कर्म मार्ग में भटक रहे हैं ॥४९॥

सुबोधिनी—तुभ्यं भगवते नम इति, अपराधेन दीनभावे जात आविर्भूतो भगवानिति लक्ष्यते, अन्यथा तुभ्यमिति न वदेयुः, अनेन तेषामपराधो गत इति निश्चितं, तस्य षड्गुणान् दृष्ट्वा नमस्यन्ति भगवत इति, दृष्टादृष्टयोः साङ्ख्यार्थानावायमेवमुच्यते, स्वरूपमपि ज्ञात-  
वन्तः कृष्णायेति, तस्य पूर्णज्ञानशक्तिं दृष्ट्वाहुरकुण्ठा मेधा बुद्धिरस्येति, यद्यपि भगवच्छब्देनैव नित्यज्ञानवत्त्वं प्राप्तं तथापि यथा 'सर्वस्येशान' इति श्रुतेरैश्वर्यं साधारण तथा सर्वज्ञ इति श्रुतेर्ज्ञानमपि तादृशमेव भगवत्पदेनो-  
च्यते, एवं सति 'मदन्यत् ते न जानन्ति नाहं तेभ्यो

मनागपी' तिवावयात् केवलभक्तविषयकं स्वीयत्वेन यज् ज्ञानं पुष्टिमार्गीयं तदत्र मेधाशब्देनोच्यते, तदस्मद्विषयकं पूर्वमासीन् मध्येस्माकं बाहिर्मुख्येपि तस्याकुण्ठितत्वेन तत्कार्यमेव याच्ञारूपं प्रबोधं कृतवान्न तूपेक्षामितिभावः, नाप्यस्माकमयमपराधो भ्रान्तत्वादिति वदन्तो भ्रमस्त्व-  
त्कृत एवेत्याहुर्न्याययेति, भगवन्माययं च व्यामोहित-  
बुद्धयः कर्ममार्गेषु भ्रमामोन्यथा ज्ञाने भक्तौ वा मतिः स्याच्छ्रद्धे वा वैदिके कर्मणि यत् कर्मवर्त्मस्वेवाभास-  
रूपेषु तत्रापि निश्चयाभावात् केवलं भ्रमामोतो मोहिता एव ॥४९॥

**व्याख्यार्थ—**अपराध के कारण दीनता उत्पन्न होने पर, भगवान् वहां प्रगट हो गए—ऐसा ज्ञाता होता है। इसी लिए उन्होंने—तुभ्यं (तुम्हारे लिए) यह प्रत्यक्ष बोधक पद का प्रयोग किया है। नहीं तो तुम्हारे लिए—ऐसा नहीं कहते। इस कथन से उन के अपराध का दूर होना निश्चित है। भगवान् के छः गुणों को देखकर, नमस्कार करते हैं। दृष्ट और अदृष्ट का मिश्रण न हो—यह बतलाने के लिए भगवते—ऐसा कहा है। द्विजों को भगवान् के स्वरूप का भी ज्ञान हो गया था इसी लिए—कृष्णाय—(श्री कृष्ण के लिए) यह पद कहा है। (उन) भगवान् की पूर्ण ज्ञान शक्ति को देखकर कहते हैं, कि उनकी बुद्धि कुण्ठित नहीं (कुशाग्र) है। यद्यपि भगवान् शब्द से ही उनका नित्य ज्ञानवान् होना सिद्ध होजाता है, तो भी जैसे—'सर्व स्येशानः' (सब का ईश्वर) इस श्रुति से

भगवान् में साधारण ऐश्वर्य का वर्णन है, उसी तरह 'सर्वज्ञ', श्रुति से भी, साधारण ज्ञान यहां, 'भगवते' पद से कहा गया है । तभी तो—'मदन्यत्ते न जानन्ति' (भक्त मेरे सिवाय किसी और को नहीं जानते हैं और मैं भी केवल भक्तों को ही पहचानता हूँ) केवल भक्तों का ही अपने पन से ज्ञान—जो पुष्टिमार्गीय ज्ञान है—वही यहां मेधा शब्द का अर्थ है । भगवान् हमको पहले इस तरह आत्मीय रूप—(अपने पन)—से जानते थे, किन्तु बीच में हमारी बहिर्मुखता हो जाने पर भी, भगवान् ने अपने अकुण्ठित इस पुष्टिमार्गीय ज्ञान-बुद्धि-से हमें उसी का कार्य यह याचना रूप प्रबोध कराया है । हमारी उपेक्षा नहीं की है, यह भाव है । यह कोई हमारा अपराध भी नहीं था, क्योंकि हम तो भटक रहे थे । यों कहते हुए कहते हैं कि—यन्मायया—वह भ्रम भी हम को आप-भगवान् ने ही कराया है । भगवान् की माया ही के द्वारा हमारी बुद्धि का व्यामोह हो जाने से, हम कर्म मार्ग में प्रवृत्त हो रहे हैं । यदि ऐसा नहीं होता, तो हमारी बुद्धि ज्ञान मार्ग में, अथवा भक्ति मार्ग में लगती । और यदि बुद्धि का व्यामोह नहीं होता तो आभास रूप इस कर्म मार्ग में न लगाकर, शुद्ध वैदिक कर्म में बुद्धि प्रवृत्त होती—(लगती) । इस सकाम कर्म मार्ग में भी—सिद्धि असिद्धि का—निश्चय न होने से हम लोग केवल भ्रम में पड़े रहे हैं । इसलिए हम सचमुच ही मोहित हो रहे हैं ॥४९॥

श्लोक—स वैष आद्यः पुरुषः स्वमोहितात्मनाम् ।

अविज्ञातानु भावानां क्षन्तुमर्हत्यतिक्रमम् ॥५०॥

श्लोकार्थ—वह आदि पुरुष है । उनकी माया में आत्मा के मोहित हो जाने से, हम उनके प्रभाव को नहीं जान सके । इसी कारण हमसे, यह अपराध बन गया । वह भगवान् हम सेवकों के इस अपराध को क्षमा कर दें ॥५०॥

सुबोधिनी—वाचापि क्षमापयन्ति स वैष इति, क्रियया स्वापराधक्षमापनं न भवति दुर्बलत्वादतः स वा भगवानेव वा यस्यास्माभिरपराधः कृतः स एवंबोध आविर्भूतः, अनेन ज्ञायते क्षमां करिष्यतीति, किञ्चाद्योयं सर्वेषां पितातः पुत्राणामपराधमिव सहिष्यति, किञ्च

पुरुषोयमन्तर्याम्यतस्तत्प्रेरणयैव कृतमिति युक्तमस्य सहनं, किञ्च स्वमायामोहितात्मनामतस्तस्यैव मायया मोहितचित्तानामत एव न विज्ञातो भगवदीयानुभावो यस्तादृशानामतिक्रममपराधं क्षन्तुमर्हति, स्वधर्मविचारेणापि क्षमा युक्तेत्यर्थः ॥५०॥

व्याख्यार्थ—वाणी से भी 'स वैष' इस श्लोक द्वारा क्षमा प्रार्थना करते हैं । अपनी किसी क्रिया के द्वारा अपना अपराध क्षमा नहीं कराया जा सकता; क्योंकि अपनी क्रिया दुर्बल है ।

योजना—शुद्ध वा वैदिक कर्मणि—इत्यादि व्याख्या के पदों का अभिप्राय यह है कि निष्काम भाव से किए हुए अग्निहोत्र से लेकर सोमयाग तक शुद्ध वैदिक कर्म में बुद्धि लगती; क्योंकि इन पांच प्रकार के—अग्निहोत्र, दर्श, पीणमास, चातुर्मास, सोम—नित्य कर्म करने से भगवान् की प्राप्ति होती है—ऐसा निबन्ध सर्वनिर्णय प्रकरण में विस्तार से वर्णन है ॥४९॥

इसलिए वह भगवान् ही—कि जिनका हम से अपराध बन गया है—जो हमारे सामने ही यहां प्रगट हुए हैं। इससे जान पड़ता है कि वह हमारे अपराध को क्षमा कर देंगे। फिर यह आदि पुरुष हैं। सब के पिता हैं। इस लिए भी जैसे पिता अपने पुत्र के अपराध होने पर क्षमा कर देता है, उसी तरह यह भी हमारे अपराध को सहन कर लेंगे। यह पुरुष-अन्तर्यामी-है। इस लिए उस अन्तर्यामी प्रभु की प्रेरणा से ही हम से यह अपराध बन गया है। इस कारण भी हमारा यह अपराध उन के सहन (क्षमा) करने योग्य ही है। यह अपराध भी 'स्वमायामोहितात्मनां'—उन्हीं की माया के द्वारा हमारे चित्त के मोहित होने से हुआ है। इसी कारण से ही उन भगवान् के अनुभाव प्रभाव को न जानने वाले हम लोगों के—अतिक्रम अपराध को वह क्षमा करने योग्य हैं। अपने-स्वामी के धर्मों का विचार करके भी, उन्हें हमारे लिए क्षमा प्रदान कर देना ही उचित है ॥५०॥

**श्लोक—**इति स्वाधमनुस्मृत्य कृष्णे ते कृतहेलनाः ।

दिदक्षवो व्रजमथ कंसाद् भीता न चाचलन् ॥५१॥

**श्लोकार्थ—**कृष्ण की अवहेलानारूप अपने अपराध को स्मरण कर उन याज्ञिकों ने इस प्रकार बहुत पश्चाताप किया। यद्यपि उनके मन में श्रीकृष्ण के दर्शनों की बड़ी अभिलाषा थी, तथापि कंस के डर से वे भगवान् के पास नहीं गए। (नहीं जा सके)

सुबोधिनी—एवमपराधक्षमां कारयित्वा निवृत्त-  
व्यापारा जाता न तु स्वयं तत्र गत्वा लोकन्यायेन क्षमां  
कारितवन्तः, तत्र हेतुमाहेतीति, स्वाधं स्वापराधमनुस्मृत्य  
ते ब्राह्मणाः कृष्णे विद्यमानेपि कृतहेलना अपि दिदक्ष-

वोप्युदवसायाथ भिन्नप्रक्रमेण व्रजं प्रति न चाचलन्,  
तत्र हेतुः कंसाद् भीता इति, तत्र गते कंसो भगवानय-  
मिति ज्ञात्वा कदाचिदपकारं कुर्याद् व्रजस्य तदा  
महानयमपराधो भवेदतो व्रजं प्रति न गताः ॥५१॥

॥ इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीमद्ब्रह्मदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणे  
वान्तरसाधनप्रकरणे द्वितीयस्य स्कन्धादितो विशाध्यायस्य विवरणम् ॥२०॥

**व्याख्यार्थ—**इस प्रकार अपराध की क्षमा मांग कर के, वे कर्तव्य रहित—निश्चिन्त—हो गए। स्वयं वे भगवान् के निकट नहीं गए। लोक रीति से यज्ञशाला में बैठे ही अपराध क्षमा करा लिया। (इसमें) ऐसा करने में 'इति स्वाधं'—इस श्लोक से कारण को बतलाते हैं। अपने अपराध का स्मरण करके भी वे ब्राह्मण भगवान् श्रीकृष्ण के वहां उपस्थित होते हुए भी, स्वयं अपराधी भी और उनके दर्शन के अभिलाषी होते हुए भी अपना कार्य बन्द करके—अथ—भिन्न प्रकरण से व्रज की ओर नहीं गए। 'कंसाद् भीताः'—नहीं जाने का कारण यह था, कि भगवान् के पास चले चलेंगे तो कंस इनको साक्षात् भगवान् मान कर सम्भवतः व्रज का कुछ अपकार कर देगा, तब तो बड़ा भारी अपराध हो जाएगा। ऐसा विचार करके वे व्रज की तरफ नहीं गए ॥५१॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) के २० वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत  
श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका), तामस साधन अवान्तर प्रकरण के दूसरा अध्याय (हिन्दी-अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।



इस अध्याय में वर्णित लीला की भावना के निम्न पद अवलोकनीय हैं ।

#### द्विजपत्नी-प्रसंग

गोपालै जू मांगनि पठए भात ।  
देहु-देहु करि बालक बोले श्री बैठे ब्रजनाथ ॥  
पठए ग्वाल देखै नहि ब्राह्मन फिर हरि बूझनि आए ।  
लै उपहार चली सब नगरि भागनु दरसन पाए ॥  
बाम बाहु श्रीदाम-कंध पर लीला-कमल फिरावै ।  
सरनागत को देखि अभय-पद 'परमानंद' जसु गावै

जानि दै कमल-नयन पैं आजु ।  
सुनहु सबकंत लोक लाज तैं बिगतर हैं सब काजु ॥  
बृन्दावन हरि धेनु चरावै संकरषण के साथ ।  
पठए ग्वाल भात मांगनिकों जल-पुरुष ब्रजनाथ ॥  
मो तो याहि देह को नाँतो कंत रोकत घर मांझ ।  
मिलो पचारि स्यामसुन्दर कहूँ नंतर जननि भइ बांझ ।  
नंद को लाल-भगत-चितामनि घरै गोप की भेल ।  
'परमानंददास' को ठाकुर प्रिय विचारि किनि देख ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥  
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥  
॥ श्री बाळपतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## • श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका ( हिन्दी अनुवाद सहित )

दशम स्कन्ध ( पूर्वार्ध )

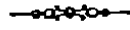
श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २४वां अध्याय

श्रीसुबोधिनी अनुसार, २१वां अध्याय

तामस-साधन-अवान्तर प्रकरण

‘तृतीयोऽध्यायः’

इन्द्रयज्ञ-निवारण



कारिका—एक विशेष हेतुकस्य कर्मणो विनिवारणम् ।  
कृत्वा तद् वैदिकं चक्रे युक्त्यैवेति निरूप्यते ॥१॥  
यथा प्रोबोधिता विप्रा एवं देवा अपि स्वयम् ।  
महतां महति शिक्षा उत्तरोत्तरमुत्तमा ॥२॥  
स्त्रीणां वस्त्राणि जगृहे विप्राणां तु स्त्रियः सतीः ।  
देवानां तु हवींष्येव येषु ते सुप्रतिष्ठिताः ॥३॥  
तामसान् राजसाञ्चैव समुद्धृत्य मनीषया ।  
सात्त्विकोद्धरणेयं तु यागभङ्गं चकार ह ॥४॥

कारिकार्थ—

भूमिका—भगवान् बलरामजी के साथ गोकुल (व्रज) में इसलिए विराजते थे कि इन व्रजवासियों के मन को अन्य विषयों से खींचकर अपने में निरुद्ध करे, अतः जब देखते थे कि ये

व्रजवासी मुझ से विमुख होने के कर्म करते हैं तब उनको शिक्षा पूर्वक अपने में निरुद्ध करने के उपाय करते थे । इस अध्याय में भगवान् ने देखा कि ये नन्दादि गोप, व्रज के स्वामी सर्वेश मुझसे विमुख हो देवतान्तर का आश्रय करने लगे हैं अतः इनको शिक्षा देकर भक्ति योग्य वैदिक यज्ञ कराके अपनी तरफ लाना चाहिए एवं इन्द्र का अहङ्कार भी तोड़ना चाहिए, ब्राह्मणों के न आने से वैदिक यज्ञ गोकुल में न हो सकेगा इस शङ्का को भी तोड़ देना चाहिए, इन कारिकाओं में इस विषय का ज्ञान कराते हैं—

**कारिकार्थ—**भगवान् ने इस २१ वें अध्याय में लौकिक हेतु सिद्ध करने के लिए होने वाले कर्म को निवारण कर वैदिक कर्म युक्ति से ही करवाया इसका नरूपण है ॥१॥

भगवान् ने जैसे युक्ति से यज्ञस्थ ब्राह्मणों को ज्ञान करवाया, उसी तरह आप अब देवों को भी ज्ञान करवाते हैं, महत् पुरुषों की शिक्षा महती होती है और उत्तरोत्तर उत्तम होती है ॥२॥

कुमारिकाओं को शिक्षा देने के लिए उनके वस्त्र ले लिए थे, बाह्मणों को ज्ञान देने के लिए उनकी सती स्त्रियों से भोजनार्थ सामग्री मंगाली थी । अब देवों को शिक्षा देने के लिए उनकी हवि बन्द करदी क्योंकि ये हवि में ही प्रतिष्ठित हैं ॥३॥

तामस (कुमारिकाओं) का, राजस (ब्राह्मणों) का बुद्धि पूर्वक उद्धार कर, अब सात्त्विक (देवों) का उद्धार करने के लिए इन्द्रयाग भङ्ग करने लगे ॥४॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

**श्लोक—**भगवानपि तत्रैव बलदेवेन संयुतः ।

अपश्यन्निवसन् गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमान् ॥१॥

**श्लोकार्थ—**श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे राजन् ? भगवान् कृष्ण ने बलभद्रेजी के साथ व्रज में रहते हुए एक समय गोपों को इन्द्र यज्ञ करने का उद्योग करते देखा ॥१॥

सुबोधिनी—पूर्वाध्याये ब्राह्मणा नागता इत्युक्तं, तथा सति गोकुले वैदिको यज्ञो न प्रवर्तत इत्याशङ्क्य भगवानपि सर्वनिरपेक्षोपि स्वार्थं तत्र यज्ञं कारितवानित्याह भगवानपीति, एवम्प्रकारेण तत्रैव गोकुले चलभद्रसहितो नितरां वसन् निरोधं कुर्वन्न्यार्थं प्रवर्तमानान् दृष्टवान्, तदाह गोपानिन्द्रयागकृतोद्यमानिति, इन्द्रयागार्थं कृत उद्यमो यैवृद्धैर्गोपैस्तानपश्यत्, एतेन शुक्रस्याश्चर्यमपि ज्ञापितं भवति, तथा हि यत्र विहितत्वेनापि कृतः श्रवणादिपरम्पराभगवत्सम्बन्धी धर्मस्तिष्ठति न तत्रान्यधर्मसम्बन्धः सम्भवतीह तु नैसर्गिकैश्वर्यादिमान् साक्षाद्दर्शो वसन्नन्यधर्मोसहिष्णुषु स्वैश्वर्यादिषु जागरूकेषु सत्स्वपि तत्रापि स्वयमन्यधर्ममपश्यत् स्वकिरणनाशयं तमः पुञ्जं तदग्निरिव, अत एव निवासोक्तिरपि पदं भगवत्पदं च, क्रियाशक्तिप्रधानेन देवत्वेन भजनधर्मविरोधिनाशकेन साहित्यमप्याश्चर्यहेतुः, एतावत्पर्यन्तं

निवासमात्रं कृतवान्न त्वन्यधर्मबाधनमप्यत एतावत्कालपर्यन्तं यागकरणमित्यभिप्रेत्यापि निवासोक्तिः, शनैः-शनैर्निरोधं कर्तुमिच्छा न त्वेकदैव सर्वप्रकारकं तं कर्तुं तथा सति लीलारसो न स्यादत इयदवधि नैतत्करणमिति चिरकालवर्तमानताबोधकशतृप्रत्ययेन ज्ञाप्यते, यद्यपि वर्तमानत्वमात्रमर्थस्तस्य तथाप्यखण्डदण्डायमानो वासश्चिरकालीन इति तस्य वर्तमानत्वबोधने यादृशः स तादृशस्य तथात्वमायातीति तथा, इदं दर्शनं तेषु स्वज्ञानशक्तिस्थापनरूपमन्यथा पारम्पर्यागतत्वेनोपपत्तिमत्त्वेन चाकरणे सुखासिहेतुत्वेन चेन्द्रयागं जानतां लोकरीतिपरिनिष्ठितबुद्धीना बालभाषितेन कथमेतादृशं कर्म त्याज्यमित्येव ज्ञानं स्यान्न तु भगवदुक्ताङ्गीकारः, अतः पूर्वमेतादृशीं स्वज्ञानशक्तिं बीजवद् गुप्ततया तेषु स्थापयित्वा तदुद्बोधकानि वचनानि वदिष्यति तेन सर्वेष्टसिद्धिरिति ज्ञेयम् ॥१॥

ध्याख्यार्थ—गत अध्याय में यह कहा गया कि ब्राह्मण व्रज में नहीं आए। उनके नहीं आने से, ऐसी शंका हो सकती है, कि गोकुल में वैदिक यज्ञ नहीं होता होगा ? इसकी निवृत्ति के लिए कृष्ण ने स्वयं भगवान् होते हुए, सब से निरपेक्ष होते हुए भी, अपने लिए वहां यज्ञ करवाया—यह बात—भगवानपि—इस श्लोक से कहते हैं। वहीं गोकुल में बलभद्रजी के सहित—सुखपूर्वक निवास करते हुए उन गोकुलवासियों को निरोध सिद्धि के लिए भगवान् ने इन्द्रयाग करने में प्रवृत्त हुए चृद्ध गोपों को देखा। इस कथन से ज्ञात होता है कि श्री शुक्रदेवजी को भी, इस बात पर आश्चर्य हुआ है; क्योंकि श्रवण मनन आदि की परम्परा से जहाँ भगवान् के सम्बन्धी धर्म रहते हैं अर्थात् जहाँ श्रवण आदि—शास्त्र में बतलाए हैं—केवल इस कारण से किए जाते हैं, वहां पर भी, प्रीति के बिना भी किए हुए उन श्रवण आदि धर्मों का सम्बन्ध एक मात्र भगवान् में ही होजाता है तो फिर, यहाँ तो संहज ऐश्वर्य आदि धर्मवाले साक्षात् धर्मो भगवान् विराज रहे हैं तथा अन्य के धर्मों को सहन न करने वाले भगवान् के ऐश्वर्य आदि धर्म प्रकाशमान हैं—ऐसे व्रज में स्वयं भगवान् का भी अन्य के धर्मों को देखना सूर्य के तेज से नष्ट होनेवाले अन्धकार को सूर्य देखता रहे के समान है।

इसी लिए मूल में भगवान् का निवास, 'अपि' और 'भगवत्' पदों का प्रयोग किया गया है। और क्रिया शक्ति से पूर्ण तथा देव होने के कारण भजन धर्म के सारे विघ्नों का नाश करने वाले श्री बलदेवजी भी भगवान् के साथ थे। यह सब होते हुए भी व्रजवासी लोग दूसरे (इन्द्र) का याग कर रहे थे—यह आश्चर्य का कारण था।

अब तक, यहाँ भगवान् केवल निवास ही करते थे, किसी अन्य धर्मों का बाध नहीं करते थे। इस कारण, अब तक इन्द्रयाग व्रजवासी लोग करते रहे—इस अभिप्राय से भी, भगवान् का वहां



निवास करना कहा गया है। भगवान् की इच्छा उनका धीरे २ निरोध करने की थी, एकदम सब प्रकार का निरोध करने की इच्छा नहीं थी, क्योंकि एकदम निरोध सिद्ध कर दिया जाता, तो लीला में आनन्द (रस) का अनुभव नहीं होता। इसलिए यह इन्द्रयाग अबतक वन्द नहीं किया। यह बात मूल में बहुत समय तक चलते रहने के अर्थ का बोधक इस शत्रु प्रत्ययान्त (निवसन्) पद से जानी जाती है। यद्यपि शत्रु प्रत्यय (निवसन्) का अर्थ केवल वर्तमानता का बोधक है, तो भी अखण्ड दण्ड (घड़ियों) का निवास, जैसे दीर्घ समय तक का था, उसी प्रकार उस निवास की वर्तमानता भी बहुत लम्बे समय तक थी—यह सूचित होता है।

इन्द्रयाग करने वाले गोपों को देखकर, भगवान् ने उनमें अपनी ज्ञान शक्ति की स्थापना की। नहीं तो जो इन्द्रयाग परम्परा से चला आ रहा है, जिसका युक्तियों से बाध नहीं हो सकना है, और जिसके करने से सुख की प्राप्ति होती है—इस तरह जानने वाले लौकिक में, अत्यन्त आसक्त बुद्धिवाले गोपलोग बालक (भगवान्) के कहने पर ऐसे कार्य को कैसे छोड़ दे—इस प्रकार विपरीत ज्ञान होता। भगवान् से वचनों को वे स्वीकार नहीं करते, इसलिए उन गोपों में पहले गुप्त रीति से भगवान् अपनी ऐसी ज्ञान शक्ति को बीजरूप से स्थापन करके, फिर उस बीज का उद्बोधन करने (बढ़ाने) वाले वचन कहेंगे, जिस से सारे मनोरथ सिद्ध होंगे ॥१॥

**श्लोक—तदभिज्ञोपि भगवान् सर्वात्मा सशर्दशनः ।**

**प्रश्रयावनतोपृच्छद् वृद्धान् नन्दपुरोगमान् ॥२॥**

**श्लोकार्थ—**भगवान् तो सब के आत्मा और अन्तर्यामी हैं। उन से कुछ छिपा नहीं है। वह सब जानकर भी बूढ़े बूढ़े नन्द आदि गोपों से विनय पूर्वक नम्र होकर पूछने लगे ॥२॥

**सुबोधिनी—**तच्च भगवद्भक्तेर्भगवता निरुद्धं कर्तव्यमिति तन्निषेधार्थं तन्मतं पूर्वपक्षीकृत्य सिद्धान्तं वक्तुं प्रस्तावनामाह तदभिज्ञ इति, भगवान् हि 'सर्वज्ञः', लोकन्यायेनापि पूर्ववर्षं कृतत्वात् तदभिज्ञः सर्वेषामन्त-

रात्मत्वाच्च सर्वज्ञानशक्तिमत्त्वाच्च सर्वेष्वेव दर्शनं यस्येति, एवम्भूतोपि प्रश्रयेण विनयेनावनतो भूत्वा जानन्निव नन्दपुरोगमान् वृद्धानपृच्छत् ॥२॥

**व्याख्यानार्थ—**भगवान् के द्वारा निरोध को प्राप्त हुए भगवद्भक्तों को यह इन्द्रयाग जैसा कर्म नहीं करना चाहिए। इस कारण से, उस कर्म का निषेध करने के लिए उस मत को पूर्वपक्ष करके सिद्धान्त कहने के लिए—तदभिज्ञोपि-श्लोक से प्रस्तावना कहते हैं। भगवान् तो सर्वज्ञ हैं। लोक न्याय के अनुसार भी, पहले वर्ष में वह यज्ञ किया गया था—इस से उसे जाननेवाले, सब के अन्तरात्मा, सारी ज्ञान शक्ति के आधार और सब पदार्थों को करामतकवत् देखने वाले होते हुए भी, विनय से नम्र होकर कुछ नहीं जानने वाले की तरह, नन्दरायजी आदि बूढ़े २ गोपजनों से पूछने लगे ॥२॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

श्लोक—कथ्यतां मे पितः कोयं सम्भ्रमो व उपागतः ।

किं फलं कस्य वोद्देशः केन वा साध्यते मखः ॥३॥

श्लोकार्थ—हे पिताजी ! बताओ तो सही । आप लोग यह किस हलचल में पड़ रहे हो ? इस यज्ञ का फल क्या होगा । किस उद्देश्य को लेकर यह किया जा रहा है तथा किन वस्तुओं से यह यज्ञ सिद्ध होता है ॥३॥

सुबोधिनी—प्रश्नमेवाह कथ्यतामिति, पितरिति-सम्बोधनमुत्तरत्रयपरिज्ञानार्थं, अनुशिष्टेन हि भाव्यं पितुः पुत्रेणेत्यत एव मे मह्यं कथ्यतां कोयं सम्भ्रमो व उपागत इति, सम्यग् भ्रमो यत्र तादृशः को वा पदार्थः समागत इति सम्भ्रम उत्सवप्रयत्नो वा ? अलौकिकश्चेत् तस्य विधानं वक्तव्यमित्याह किं फलमिति, आदौ कर्मणः फलं ज्ञातव्यमन्यथा प्रवृत्तिरेव न स्यात्

‘प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तत’ इतिन्यायात्, किञ्च कस्य वोद्देशः कमुद्दिश्यैतत् कर्म प्रवृत्तमिति ? का देवतेत्यर्थः, केन वा द्रव्येण साध्यत इति ? सर्वत्र हि द्रव्यदेवताफलानि वक्तव्यानि, महान् सम्भ्रम इति प्रायेणायं मखो महान् यागः, वेदे त्वप्रसिद्ध इति तदुपहासोपि ॥३॥

व्याख्यार्थ—कथ्यतां—इत्यादि श्लोक से प्रश्नों का वर्णन करते हैं । पिताः—इस सम्बोधन से तीन उत्तरों का परिज्ञान होता है । पुत्र को पिता से शिक्षा लेनी चाहिए—इस कारण से, भगवान् कहते हैं कि मुझे बताओ, कि तुम्हें यह क्या संभ्रम (अच्छी तरह भ्रम) हो रहा है ? ऐसा कौनसा संभ्रम वाला पदार्थ उपस्थित होगया है अथवा किसी उत्सव का यह प्रयत्न चल रहा है ? यदि यह याग अलौकिक हो तो इसका विधान कहिए—इसका फल क्या है ? कर्म का आरम्भ करने से पहिले उसका फल जान लेना आवश्यक होता है । प्रयोजन के बिना मंद बुद्धि वाला भी किसी काम को नहीं करता है—इस न्याय से फल नहीं जानेंगे तो इस याग करने में प्रवृत्ति ही नहीं होगी । किसके उद्देश्य से—किसको उद्देश्य करके यह याग प्रारंभ किया जा रहा है अर्थात् इसका देवता कौन है ? और किस द्रव्य से यह सिद्ध होता है ?—सारे ही कर्मों में द्रव्य, देवता और फल कहने चाहिए । महान् सम्भ्रम कहने से यह बहुत बड़ा याग होना चाहिए । तो भी वेद में तो यह अप्रसिद्ध है—इससे इस याग का उपहास भी सूचित किया है ॥३॥

श्लोक—एतद् ब्रूहि महान् कामो मह्यं शुश्रूषवे पितः ।

न हि गोप्यं हि साधूनां कृत्यं सर्वात्मनामिह ॥४॥

**श्लोकार्थ—**यह सब मुझसे कहिए । हे पिताजी ! मैं सुनने के लिए उत्सुक ही रहा हूँ । इस में कुछ गुप्त रखने की बात भी नहीं जान पड़ती । फिर साधु<sup>१</sup> तो सबके ही हृदय होते हैं, इसलिए उनका यहां कुछ कर्तव्य ही नहीं होता ॥४॥

**सुबोधिनी—**एतत् सर्वं विशेषाकारेण वक्तव्यमिति पुनराहैतद् ब्रूहीति, किं ततः स्यात् ? तत्राह महान् कामो मह्यमिति, अयं महानेव कामोभिलषितोऽर्थः, तद्विषयिणीच्छा वा, अतः शुश्रूषवे मह्यं वदेति, अज्ञत्वज्ञापनाय पुनः पितरितिसम्बोधनं, बाला हि पितरं बहुधा सम्बोधयन्तीति, ननु गोप्यमेतन् न बालेभ्यो वक्तव्यमिति चेत् तत्राह न हि गोप्यं हीति, इदं न गोप्यं प्रतिभाति महान् 'सम्भ्रमो' दृश्यत इति, किञ्च

साधूनां न किञ्चिद् गोप्यं, अन्यथा साधुत्वमेव न स्यादतो हि द्वयं युक्तं, किञ्च साधूनां कृत्यमेव नास्ति कुतः पुनर्गोप्यं कृत्यं भविष्यति ? साधवोऽत्र शास्त्रीयाः 'कृपालुरकृतद्रोह' इत्यादिघर्मयुक्ताः, तेषामगोप्यकार्यत्वे हेतुः सर्वात्मनामिति, सर्वेष्वेवात्मा हृदयं येषां, ते हि 'सर्वहिते रताः', तत्रापोहास्मिन्नलोके न तेषां कृत्यं गोप्यं, अनेन भगवच्छास्त्रं कदाचित् न वदेयुरपि न तु लौकिकं किञ्चित् ॥४॥

**व्याख्यानार्थ—**यह सारी बात विशेष रूप से कहिए—इसलिए—एतद् ब्रूहि—इस श्लोक से फिर कहते हैं । कहने से क्या होगा ? तो कहते हैं कि यह मेरी बड़ी भारी कामना<sup>२</sup> है । यह मेरी अत्यन्त अभिलषित वस्तु है अथवा इस विषय की मेरी इच्छा है इसलिए सुनने की इच्छा वाले मुझ से कहिए । अपनी अज्ञानता<sup>३</sup> बताने के लिए फिर—पितः (हे पिता) यह सम्बोधन कहा गया है । बालक पिता को बार बार सम्बोधन करते ही रहते हैं ।

**शंका—**यह बात गुप्त रखने की है, बालकों से कहने योग्य नहीं है—यदि ऐसा कहा जाए तो इसका उत्तर—न हि गोप्यं हि—इन पदों से देते हैं—अर्थात् यह बात गुप्त रखने अर्थात् नहीं कहने योग्य नहीं जान पड़ती है, क्योंकि बड़ा भारी सम्भ्रम<sup>४</sup> प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है और फिर साधु पुरुषों की, कोई भी बात (कार्य) गुप्त रखने—छिपाने योग्य नहीं होती । यदि उन (साधु पुरुषों) के भी गुप्त रखने की बात हो, तो वे साधु ही नहीं कहे जा सकते । इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिए ही मूल में 'हि' शब्द दो बार कहा गया है । साधु पुरुषों का तो कुछ कर्तव्य ही नहीं है, फिर वह गोप्य कैसे होगा ? साधु शब्द से यहाँ शास्त्रोक्त—कृपालु किसी से द्रोह न करने वाले—इत्यादि घर्म वाले पुरुषों का तात्पर्य है । उन ऐसे साधु पुरुषों का कोई भी कार्य गोप्य<sup>५</sup> नहीं होता; क्योंकि, उनकी आत्मा-हृदय-सभी में है । वे सब का ही हित करने में तत्पर होते हैं । फिर भी, यहाँ इस लोक में, उनका कर्तव्य गोप्य नहीं होता । इस कथन से, यह सूचित किया है, कि भगवत् शास्त्र को कदाचित् न भी कहें; किन्तु लौकिक के कहने में, तो कोई प्रतिबन्ध<sup>६</sup> नहीं है ॥४॥

**टिप्पणी—**'एतद् ब्रूहि'—इस श्लोक में आगे—शुश्रूषवे—सुनने की इच्छा वाले—यह कहा है । इस से—शुश्रूषा—इस इच्छार्थक सन् प्रत्यय ही से इच्छा कह दी गई । इसलिए मूल में आए हुए कामपद का—महान्

श्लोक—अस्तस्वपरदृष्टीनाममित्रोऽस्तविद्विषाम् ।

उदासीनोरिवद् वज्र्य आत्मवत् सुहृदुच्यते ॥५॥

श्लोकार्थ—सब को अपने समान देखने के कारण जिनको अपने पराये का ज्ञान नहीं है, जिनके कोई मित्र तथा शत्रु नहीं रहे हैं। उन्हें उदासीन का शत्रु की तरह त्याग कर देना चाहिए और मित्र को अपनी आत्मा की तरह मानना कहा गया है ॥५॥

सुबोधिनी—ननु 'नव गोप्यानि सर्वथे'तिशास्त्रात् कथमगोप्यमिति चेत् तत्राहास्तस्वपरदृष्टीनामिति, अस्ता गता स्वः परश्चेत्यवान्तरभेददृष्टिर्येषां, परबुद्धौ सत्यां गोप्यशास्त्रं न तु तदभावे, किञ्च न मित्रमुदासीनो विद्वेषी च येषां, तेषु बुद्धिभेदाभावात् तत्कृता मित्रोदासीनरिपवोपि न सन्ति तस्मात् सर्वत्र तुल्यबुद्धिरेव कर्तव्येत्युपदेशोपि, अथ यदि नास्मिन् ज्ञानेधि-

कारस्तस्मिन्नपि पक्षे द्वयी गतिः कर्तव्या त्याज्यात्याज्यभेदेन त्रिविधगती तु बुद्धिरतिनष्टा स्यात् सगुणापि भवेदतो द्वयमेव कर्तव्यमिति चतुर्णां भेदद्वयमेवाहोदासीन इति, आत्ममित्रोदासीनरीपव इति चतुर्धा तत्रात्मा मित्रं चैकमुदासीनोरिश्चैकोतः कार्येषूदासीनोरिवद् वज्र्यः शत्रुवन्निराकार्यः सुहृन् मित्रं त्वात्मवदुच्यत इतिप्रमाणम् ॥५॥

व्याख्यार्थ—शास्त्र में नौ बातों को गुप्त रखने के लिए कहा है तब फिर किसी बात को गुप्त नहीं रखने के लिए कैसे कहते हो-ऐसी शंका का समाधान-'अस्तस्वपरदृष्टीनां'-इस श्लोक से करते हैं। यह मेरा और यह पराया है-इस प्रकार की भेद बुद्धि जिनकी मिट गई है। पराए का ज्ञान-(भेदबुद्धि-रहने पर ही, गोप्य रखने की बात, शास्त्र कहता है भेद बुद्धि के अस्त' हो जाने पर तो, गोप्य शास्त्र हो ही नहीं सकता। ऐसे ही, जिनके मित्र, उदासीन और शत्रु कोई नहीं हैं, उनमें बुद्धिभेद (भेद बुद्धि) के न होने से, बुद्धि के भेद से होने वाले मित्र, उदासीन तथा शत्रु भी नहीं हैं। इस कथन से, सब में समबुद्धि रखने का उपदेश भी है। यदि कदाचित् यह, कहा जाए, कि इस प्रकार समबुद्धि का अधिकार नहीं है, तो भी (त्याग करने तथा ग्रहण करने योग्य) समबुद्धि का अधिकार न होने के पक्ष में भी, बुद्धि की त्याग करने योग्य और त्याग न करने योग्य भेद से, दो प्रकार की गति ही करना

कामः-अर्थ कहते हैं, कि यह मेरा अभिलाषित अर्थ है। यद्यपि किसी दूसरे के द्वारा कह देने पर भी शुश्रूषा-(सुनने की इच्छा)-दूर हो सकती है, तो भी सुनने की इच्छा वाले मुझ से, तुम साक्षात् कहिए-यह मेरी बड़ी अभिलाषा है। यह अर्थ प्रतीत होता है। वह गौण है। वास्तव में तो याग का भंग करना रूप अर्थ ही भगवान् के मन् से बड़ा है। यहां कहने का तात्पर्य यही है, तो भी, अन्य के भजन का निवारण करना और उसके स्थान पर अपना ही भजन कराना ही, प्रभु का तात्पर्य है। इसलिए दूसरा अर्थ कहते हैं, कि इस विषय की मेरी इच्छा है अर्थात् याग कराने की मेरी इच्छा है ॥४॥

उचित है । तीन प्रकार की गति करने पर तो बुद्धि नष्ट हो जाएगी और सगुण भी हो जाएगी । इसलिए आत्म, मित्र, उदासीन, रिपु-चारों को दो भेदों में विभक्तकरना—उदासीनोरिवत्—कहा है अर्थात् आत्मा और मित्र—की एक कोटि और उदासीन और शत्रु—की दूसरी कोटि समझना चाहिए । इस कारण से कार्यो में उदासीन को शत्रु के समान त्याग देना चाहिए और मित्र को आत्मा की तरह गिनना चाहिए । यह बात शास्त्र ने प्रमाण रूप से बतलाई गई है, यह 'उच्यते', पद का तात्पर्य है ॥५॥

**श्लोक—**ज्ञात्वाऽज्ञात्वा च कर्माणि जनोयमनुतिष्ठति ।

**विदुषः कर्मसिद्धिः स्यात् तथा नाविदुषो भवेत् ॥६॥**

**श्लोकार्थ—**सब मनुष्य दो प्रकार से—जानकर अथवा अज्ञान से—कर्म करते हैं । ज्ञान पूर्वक कर्म करने वाले विद्वान को, कर्म के फल की प्राप्ति होती है । अविद्वान को कर्मफल नहीं मिलता और मिलता भी है, तो बहुत थोड़ा ॥६॥

**सुबोधिनी—**ननु वक्तव्यं भवति परं न ज्ञायत इति चेत् तत्राह ज्ञात्वाऽज्ञात्वेति, यमर्थं ज्ञात्वा जनोनुतिष्ठत्यज्ञात्वा चानुतिष्ठति तत्रापि कर्माणि वैदिकानि तत्र ज्ञानमावश्यकं, कर्माणि ज्ञात्वा तत्सम्बन्धिपदार्थानुष्ठेयो नान्यथा, ततः किं स्यादत आह विदुषः कर्मसिद्धिः स्यादिति, यस्तु जानाति तस्यैव कर्मसिद्धिः कर्मफलं

स्याद् 'यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा वा तदेव वीर्यवत्तरं भवती'ति श्रुतेः, वीर्यवत्तरमेव फलजनकं, अथ वा सम्पूर्णं फलं ज्ञानेन भवत्यल्पं तु फलमज्ञात्वापि भवतीत्याह तथा नाविदुषो भवेदिति, अविदुषस्तथा फलं न भवेत् ॥६॥

**व्याख्या—**ऊपर के श्लोक के अनुसार यह सिद्ध हुआ, गुप्त नहीं रखना चाहिए, कह देना चाहिए । परन्तु जानकार ही कह सकता है, नहीं जाननेवाला कैसे कह सकता है ? इसका उत्तर—ज्ञात्वाऽज्ञात्वा—श्लोक से कहते हैं । मनुष्य जिस कर्म को जान कर करता है अथवा बिना जाने करता है तो भी कर्म तो वैदिक है । उनमें ज्ञान होना आवश्यक है । कर्मों का ज्ञान प्राप्त करके ही,

**लेख—**व्याख्या में—द्वयी गतिः—पदों के पहले—बुद्धेः—(बुद्धि की) पद का अध्यहार समझना अर्थात् बुद्धि की दो गति । तीन प्रकार की गति करने पर तो संशय रूप हो जाने से, वह बुद्धि मन रूप हो जाएगी । बुद्धि तो चित्त रूप में स्थिति रूपा है । यदि केवल बुद्धि रह जाएगी, तो उसका कुछ काल में नाश हो जाएगा और मन रूप में रहने पर तो, उसका उसी क्षण में सर्वथा नाश हो जाएगा और वह सगुण हो जाएगी । चित्त रूप होने पर ही; बुद्धि निर्गुण हो सकती है और दो गति मानने पर निश्चय रूप होने से, वह बुद्धि चित्तरूप हो भी सकती है । तीसरी गति मानने पर तो बुद्धि की मनरूपता होने से, चित्त रूप होने की सम्भावना भी नहीं है । इसलिए बुद्धि सगुण हो जाएगी और सगुण होने के साथ ही, उसका नाश भी हो जाएगा—यह बात व्याख्या में—सगुणापि—इस 'अपि', शब्द से ज्ञात होती है ॥५॥

उस कर्म के सम्बन्धी पदार्थ का अनुष्ठान करना चाहिए, बिना जाने नहीं करना चाहिए । जान कर करने तथा बिना जाने ही करने से, फल में क्या भेद पड़ेगा ? इसका उत्तर देते हैं, कि विद्वान को कर्म की सिद्धि प्राप्त होती है । जो मनुष्य जानता है, उसी को कर्मफल प्राप्त होता है । श्रुति में बतलाया है \* जो विद्या-ज्ञान से, श्रद्धा से अथवा गुरु के पास ज्ञान पाकर करता है, वही कर्म अधिक फल (देने) वाला होता है । वीर्यवत्तरं-अधिक वीर्यवाला ही कर्म फल उत्पन्न कर सकता है अथवा ज्ञान से किए कर्म का ही सम्पूर्ण फल होता है । बिना जाने किए कर्म का फल तो अल्प-थोड़ा-होता है । अविद्वान् को विद्वान् कर्ता की तरह सम्पूर्ण फल की प्राप्ति नहीं होती है ॥६॥

**श्लोक—तत्र तावत् क्रियायोगो भवतां किं विचारितः ।**

**अथ मा लौकिकस्तन् मे कृच्छतः साधु भण्यताम् ॥७॥**

**श्लोकार्थ—**आपका सोचा हुआ यह याग वैदिक है अथवा स्मार्त है ? या लौकिक ही है ? यह सब पूछने वाले मुझसे समझाकर कहिए ॥७॥

सुबोधिनी—आदौ चैतद् वक्तव्यं किमेतत् कर्म वैदिकं स्मार्तं लौकिकं वेति ? एतदभावेकर्तव्यमेवेत्याशयेनाह तत्रेति, तत्रान्यकथनापेक्षया प्रथमेतद् वक्तव्यं, अयं विचारितः क्रियायोगः किं वैदिकः स्मार्तो वाथ वा

लौकिकः कुलदेशधर्म इव, एतदेतेषामवान्तरनिर्णयरूपं पृच्छतो मे साधु यथा भवति तथा भण्यतां युक्तिपूर्वकं प्रमाणपूर्वकं वक्तव्यमित्यर्थः ॥७॥

**व्याख्यानार्थ—**प्रथम तो यह कहिए, कि यह कर्म क्या वैदिक है, स्मृति के अनुसार है, अथवा लौकिक ही है ? यदि इनमें से कैसा भी न हो तो इसको करना ही नहीं चाहिए—इस अभिप्राय से—‘तत्र तावत्’—यह श्लोक कहते हैं । इसके विषय में और कुछ कहने की अपेक्षा पहिले तो यह ही बतलाने की कृपा करें कि आपका बिचारा हुआ यह क्रिया याग-कर्म-वैदिक है या स्मार्त है अथवा लौकिक ही है ? कुल धर्म अथवा देशधर्म जैसा ही है ? इन तीन प्रकारों में से यह कैसा है—इस बात को पूछने वाले मुझ से निर्णय पूर्वक ठीक तरह से कहिए । युक्ति युक्त और प्रमाण पूर्वक कहो ॥७॥

॥ नन्व उवाच ॥

**श्लोक—पर्जन्यो भगवानिन्द्रो मेघास्तस्यात्ममूर्तयः ।**

**तेभिवर्षन्ति भूतानां प्राणनं जीवनं पयः ॥८॥**



**श्लोकार्थ—**नन्दजी ने कहा कि—पर्जन्य अर्थात् वृष्टि करने वाला देव इन्द्र ही भगवान् है । मेघ उनके शरीर के अङ्ग हैं । वे प्राणियों को तुष्टि पुष्टि करने वाले और जीवन देने वाले जल को बरसाते हैं ॥८॥

**सुबोधिनी—**एवं भगवता पृष्टो यादृश ज्ञानेनेन्द्रयागं । कृतवन्तस्तं प्रकारमाह पर्जन्य इति चतुर्भिः

**व्याख्यार्थ—**भगवान् के इस प्रकार पूछने पर नन्दरायजी जैसा समझ कर इन्द्र याग किया करते थे, उस प्रकार को पर्जन्य-इत्यादि चार श्लोकों से कहते हैं ।

**कारिका—**हेतुकं शास्त्रमाश्रित्य भौतिकेन्द्राय लोकतः ।

भ्रमात् परम्पराप्राप्तं कुर्वन्तीति निरूप्यते ॥१॥

**कारिकार्थ—**हेतुक-सकाम-शास्त्र के आधार पर भौतिक इन्द्र के लिए लोक रीति के अनुसार परम्परा से चले आए कर्म को भ्रम से करते हैं—यह निरूपण करते हैं ।

**सुबोधिनी—**हेतुशास्त्रमूलत्वात् प्रथमं हेतुमाह । पर्जन्यो नाम वृष्टिकर्ता देवः स भगवानेव, अन्यथा तद्वेतसाम्नादिकं जायत इति भगवतो जगत्कर्तृत्वं न स्यादतः पर्जन्यो भगवानेव, मेघाः पुनस्तस्यात्मनो देहस्य मूर्तयोवयवाः, त एव हि सर्वेषामेव भूतानां प्राणरूपमाप्यायनजनकं जीवनजनकं पयो जलं वर्षन्ति, अतः सर्वजगद्रक्षकः पर्जन्य एव, जलान्नाभ्यामेव हि जीवन्ति सर्वे प्राणिनः, अत उपकारी परमेश्वर्यं प्राप्त इन्द्र एव सर्वोपास्यः ॥८॥

**व्याख्यार्थ—**इस याग का मूल हेतु शास्त्र है । इसलिए प्रथम-पर्जन्यो—इस श्लोक से हेतु का वर्णन करते हैं । पर्जन्य अर्थात् वृष्टि-जल-बरसाने वाला देवता, वह भगवान् ही है । मेघ तो उनकी देह के अवयव हैं । वे ही सभी प्राणियों के प्राण रूप तुष्टि पुष्टि और जीवन-प्राणदान-देनेवाले जल की बरसा-वर्षा करते हैं । इसलिए पर्जन्य ही सारे जगत् की रक्षा करने वाला है । जल और अन्न से ही सारे प्राणी जीवित रहते हैं । इस कारण से इन्द्र परम उपकारी और सर्वाधिक ऐश्वर्य सम्पन्न है । सबको इन्द्र की ही आराधना करना चाहिए ॥८॥

**टिप्पणी—**पर्जन्यो भगवान्—की व्याख्या में पर्जन्य को भगवान् कहने का आशय यह है, कि भगवान् ही केवल जगत् की उत्पत्ति और पालन कर सकते हैं । उनके अतिरिक्त कोई दूसरा इन कार्यों का हेतु नहीं हो सकता । इसलिए यहां पर्जन्य को भगवान् कहा गया है ।

**लेख—**यादृशज्ञान अर्थात् (जिस प्रकार के ज्ञान से) आधिदैविक इन्द्र भगवान् की भुजारूप होने से, यह इन्द्र आधिभौतिक इन्द्र है ।

श्लोक—तत् तात वयमन्ये च वामुंचां पतिमोश्चरम् ।

द्रव्यैस्तद्वेतसा सिद्धैर्यजन्ति क्रतुभिर्नराः ॥६॥

श्लोकार्थ—इसलिए हे प्रिय ! सर्व शक्तिमान् तथा मेघों के स्वामी उसके रेतस्-वीर्य रूप जल से सिद्ध हुए पदार्थों से हम (वैश्य) तथा अन्य ब्राह्मण क्षत्रिय सभी लोग यज्ञों के द्वारा उसका यजन-पूजन-करते हैं ॥६॥

सुबोधिनी—अतस्तद्भजनं सर्वं कुर्वन्तीत्याह तत् तातेति, स्नेहेन सम्बोधनमप्रतारणाय, वयं वैश्या अन्ये क्षत्रिया ब्राह्मणाश्च सुतरां ये केचित् सस्योपजीविनस्ते सर्वे वामुंचां मेघानां पतिमिन्द्रं पोषकत्वेनेदं चर तद्वेतसेव

बीजभूतेन जलेन सिद्धैर्व्रीह्यादिभिः क्रतुभिर्नानाविधैरेव यागेनन्तरः सर्व एव मनुष्या यजन्ति मनुष्याधिकारित्वा-च्छास्त्रस्य ॥६॥

व्याख्यार्थ—इस कारण सब ही इन्द्र का भजन करते हैं—यह-तत् तात-इस श्लोक से कहते हैं । तात-हे बालक ! यह सम्बोधन स्नेह से किया है । जिससे इस उत्तर की निष्कपटता सूचित है । हम वैश्य और दूसरे क्षत्रिय तथा ब्राह्मण जो वृष्टि के द्वारा अपनी जीविका करने वाले हैं, वे सभी लोग मेघों के स्वामी तथा पालन करने के कारण सर्वशक्तिमान्-ईश्वर-इन्द्र का यजन उसी के रेतस् (वीर्य) अर्थात् बीजभूत से सिद्ध होने वाले घान्य आदि से अनेक प्रकार के यज्ञ यगादि करके करते हैं क्योंकि शास्त्रोक्त कर्म करने का अधिकार मनुष्यों को ही है ॥६॥

श्लोक—तच्छेषेणोपजीवन्ति त्रिवर्गफलहेतवे ।

पुंसः पुरुषकाराणां पर्जन्यः फलभावनः ॥१०॥

श्लोकार्थ—यज्ञ करने के पीछे जो अन्न बच रहता है, उससे मनुष्य धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि करते हुए अपने जीवन की रक्षा करते हैं; क्योंकि, पुरुषों के पुरुष प्रयत्नों का फल देने वाला पर्जन्य ही है, अर्थात् लोगों की वृत्तियों और व्यवसायों की आशा वर्षा के ऊपर निर्भर है । वर्षा के बिना खेती नहीं हो सकती और खेती ही सब का मूल कारण है ॥१०॥

सुबोधिनी—ततस्तच्छेषेण यज्ञशिष्टान्नेन त्रिवर्ग-फलसिद्धयर्थं जीवन्तीत्याह तच्छेषेणेति, तस्येन्द्रस्य यज्ञस्य वा शेषेण शिष्टान्नेन शेषत्वं वा प्राप्योपजीवन्ति तच्छेषमन्नमुपजीवन्ति, त्रिवर्गफलस्य हेतुर्जीवनं जीवना-र्थमन्न, तदास्यं वोपजीवन्तीत्यर्थः, ननु स्वपौरुषेणान्न-

मुत्पाद्य स्वत एव जीवन्ति किमिन्द्रेण कार्यमिरयाशङ्क्याह पुंस इति, पुरुषस्य ये पुरुषकाराः पौरुषाणि कृष्यादि-ध्यापारास्तेषां पर्जन्य एव फलं भावयति, अन्यथा वृष्ट्यभावे पुरुष प्रयत्नो व्यर्थ एव स्यादतः स्वसामर्थ्ये विद्यमानेष्युपजीव्य इन्द्रः ॥१०॥



व्याख्यान—फिर उस यज्ञ से बचे हुए अन्न के द्वारा-धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि के लिए-मनुष्य अपने जीवन की रक्षा करते हैं-इस बात का-तच्छेषेण-इस श्लोक से कहते हैं। इन्द्र का शेष अथवा यज्ञ का शेष-अर्थात् बाकी रहे अन्न से, इन्द्र का शेष पन अथवा दास भाव प्राप्त करके जीवित रहते हैं। उसके बाकी बचे हुए अन्न से, मनुष्य अपने जीवन का निर्वाह करते हैं। धर्म, अर्थ और काम इन तीनों पुरुषार्थों के फल का कारण जीवन ही है और जीवन का कारण अन्न है। अथवा यों कहा जाए कि मनुष्य इन्द्र का दास भाव प्राप्त करके जीवन धारण करते हैं।

शंका—मनुष्य अपने पुरुषार्थ से अन्न पैदा करके स्वयं ही जीवित रहते हैं। इसमें इन्द्र क्या करता है? ऐसी शंका के समाधान में कहते हैं, कि पुरुष के खेती आदि कार्यों का पुरुष प्रयत्न आदि सभी व्यापारों का-उद्योगों का-फल देने वाला तो पर्जन्य ही है। यदि पर्जन्य सहायता न करे, वृष्टि नहीं बरसे तो, पुरुष के सारे प्रयत्न निष्फल ही होजाते हैं। इसलिए पुरुष में अपना पुरुषार्थ-सामर्थ्य-होते हुए भी इन्द्र पर ही जीवन का आधार रखना पड़ता है ॥१०॥

श्लोक—य एवं विसृजेद् धर्मं पारम्पर्यागतं नरः ।

कामाल् लोभाद् भयाद् द्वेषात् स वै नाप्नोति शोभनम् ॥११॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार कुल परम्परा से चले आए धर्म का जो मनुष्य किसी काम, लालच, भय अथवा द्वेष से छोड़ देता है। उसको निश्चय ही शुभ फल की प्राप्ति नहीं होती है ॥११॥

सुबोधिनी—किञ्च परम्परया प्राप्तोऽयं धर्मोऽतः कर्तव्योऽकरणे प्रत्यक्षमेवानिष्टं स्यादित्याह य एवमिति, यथा ग्रामदेवता अपूजितास्तत्कालमेव ग्रामं दहन्त्यतः पूजनीयाः 'प्राप्तसेवापरित्यागो द्वेषमूलमिदं स्मृत'मिति, एवम्प्रकारेण पारम्पर्यागतं धर्मत्वेन कियमाणं स्वयं नरो भूत्वा यो विसृजेत् स शोभनं शुभफलं न प्राप्नोति, त्यागे हेतुचतुष्टय कामक्रोधलोभा अन्यभयात् प्रतिबन्धश्च, तानाह कामादिति, कामे कर्तुरस्वास्थ्यं यावता कालेन

यागः क्रियते तावान् कालो भोग एव व्याप्रियत इति कालसङ्कोचादकरणं कामहेतुकं, लोभो द्रव्यगतो दोषः, द्रव्यं स्वार्थे तिष्ठत्वित्यकरणं, मयमन्यस्मात् क्लेशभयं वा, द्वेषो देवताविषयकः प्रमाणविषयको वा, एवं चतुर्भिहेतुभिरभजनेनिष्टमेव फलं शुभफलाभावो वा शुभफले प्रतिबन्धो वा भवेत्, एवं हेतुवादमाश्रित्य लौकिकस्मार्तवैदिकानां सम्बन्धरहितमपि कर्म कर्तव्यमिति निरूपितम् ॥११॥

व्याख्यान—फिर यह धर्म अपनी कुल परम्परा से चला आ रहा है। इसलिए भी यह कर्तव्य है और यदि न किया जाएगा तो प्रत्यक्ष ही अनिष्ट फल होगा, यह 'य एवं'-इस श्लोक से कहते हैं। जैसे ग्राम देवतों की पूजा न करने पर, वे तत्काल ग्राम को जला देती हैं इसलिए उनकी पूजा करना ही चाहिए; क्योंकि स्मृति में कहा है कि—'परम्परा से चली आई सेवा का परित्याग द्वेष का मूल है'। जो स्वयं मनुष्य होकर, इस प्रकार कुल परम्परा से आए धर्म का त्याग कर देता है,

उसको शुभ फल की प्राप्ति नहीं होती है । त्याग करने में—काम, क्रोध, लोभ और दूसरे के भय से आ प्रतिबन्ध—ये चार कारण होते हैं । कामात्—आदि चार पदों से उनका वर्णन करते हैं । कामना से यज्ञ करने वाले को स्थिरता नहीं होती, क्योंकि जितना समय यज्ञ करने में लगता है, उतना समय भोग करने में ही लगा देता है । इस लिए समय के संकोच से, यज्ञ का त्याग काम से त्याग है । लोभ—यह द्रव्य में रहने वाला दोष है । धन को मेरे स्वार्थ के लिए बचाऊँ—ऐसा विचार करके यज्ञ—धर्म—न करना लोभ से छोड़ देता है । दूसरे के अथवा परिश्रम के भय से तथा देवता विषयक तथा प्रमाण—शास्त्र—विषयक द्वेष से—इस तरह इन चार कारणों से भजन नहीं किया जाए तो अनिष्ट फल मिलता है, शुभ फल की प्राप्ति नहीं होती अथवा शुभ फल में रुकावट होती है । इस प्रकार हेतुवाद का आश्रय लेकर लौकिक स्मार्त और वैदिक—तीनों प्रकार के सम्बन्ध रहित कर्म भी करने ही चाहिए—यह निरूपण किया है ॥११॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—वचो निशम्य नन्दस्य तथान्येषां व्रजौकसाम् ।

इन्द्राय मन्युं जनयन् पितरं प्राह केशवः ॥१२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि नन्द तथा अन्य व्रजवासियों की यह बात सुनकर कृष्ण ने उनके मन में इन्द्र पर कोप के भाव उपजाते हुए नन्दरायजी से यों कहा ॥१२॥

सुबोधिनी—तद् भगवान् सर्वधर्मरक्षकः पाण्डु-धर्मनिराकरणकर्ता दूषितवानित्याह वचो निशम्येति, नन्दस्य वचो निशम्य तथान्येषां सम्मत्यर्थं पुरोहितानामपि, व्रजवासिनः सर्वे मूर्खा एवेति विचिन्त्याभिभौतिक इन्द्रो वृथा भक्षयतीति दृष्टो धर्मो न भवतीतीन्द्राय

मन्युं जनयन् पितरं नन्दं प्रति भगवान् प्राह, ननु देवद्रोहं कुतः कृतवान् जाते वा भगवतः किं स्यात् ? तत्राह केशव इति, ब्रह्मशिवयोरपि मोक्षदाता कोयं वराक इन्द्रः ? ततः पाण्डुधर्मब्रह्मादीनां देवत्वमेव गच्छतीति तन्निवृत्त्यर्थमेवं कृतवानित्यर्थः ॥१२॥

व्याख्यानार्थ—सारे धर्म की रक्षा और पाण्डु धर्म का निराकरण करने वाले भगवान् इन तीन-लोक, वेद, स्मृति-प्रकार के सम्बन्ध से रहित और केवल हेतुवाद के आधार पर किए जाने वाले उस कर्म में रहने वाले दोष को बतलाया—यह 'वचो निशम्य' इस श्लोक से कहते हैं । नन्दरायजी तथा अन्य व्रजवासियों को और उनको याग करने की सम्मति देने वाले पुरोहितों के भी वचन सुनकर भगवान् यों विचार करने लगे, कि सभी व्रजवासी वे समझ हैं, यह आधिभौतिक इन्द्र व्यर्थ ही खा जाता है । धर्म से अदृष्ट फल की प्राप्ति होती है । दृष्ट फल देने वाला तो धर्म नहीं कहा जाता । इस तरह सोच कर इन्द्र पर क्रोध उत्पन्न कराते हुए भगवान्, पिता नन्दजी से कहने लगे । यहाँ पर यह शंका होती है, कि भगवान् ने इन्द्र देव से बैर क्यों किया तथा इस प्रकार देवद्रोह करने पर भगवान् का अनिष्ट क्यों नहीं हुआ ? इस के उत्तर में कहते हैं कि भगवान्

उनकी हेतुवाद में निष्ठा को दूर करने के लिए भगवान् ने उन से काल, कर्म और स्वभाववाद का वर्णन करने का विचार किया। उनमें कालवाद तो अत्यन्त गूढ़ होने के कारण, शीघ्र ही हृदयारूढ़ नहीं हो सकता। केवल ज्योतिष शास्त्र के ज्ञाता ही कालवाद में निपुण होते हैं। शेष कर्म और स्वभाववाद युक्ति और उत्पत्ति में उपयोगी होते हैं। इसलिए युक्ति बतलाने के लिए पहले तो भगवान् \* कर्मणा जायते-इस श्लोक से कर्मवाद का वर्णन करते हैं। जैसा शुभ अशुभ कर्म करके प्राणी देव, पशु पक्षी अथवा मनुष्य होता है। जिससे सब उत्पन्न होता है, जिसमें रहता है और जिसमें सब लीन हो जाता है, उसकी ही उपासना करना चाहिए वह ही उपासना करने योग्य होता है। प्राणी कर्म से ही उत्पन्न होता है और कर्म से ही मरता है। शुभ और अशुभ भोग के समाप्त होने पर, कर्म विपरीत होने से मरता है। स्थिति में भी, कर्म ही कारण है; क्योंकि, जीवित प्राणी कभी सुख, कभी दुःख, कभी भय तथा कभी कल्याण का अनुभव करता है। यह सब कर्मवाद से ही संगत होता है। कर्म के अभाव में सुख, दुःख आदि की संगत नहीं हो सकती ॥१३॥

श्लोक—अस्ति चेदीश्वरः कश्चित् फलरूप्यन्यकर्मणाम् ।

कर्तारं भजते सोपि न ह्यकर्तुः प्रभुर्हि सः ॥१४॥

श्लोकार्थ—और यदि जीव को कर्मों का फल देने वाला कोई ईश्वर है तो भी, वह कर्म करने वाले को ही फल देता है। जो जीव कर्म ही नहीं करता, उसका वह प्रभु (ईश्वर) नहीं है ॥१४॥

सुबोधिनी—ननु कथं कर्मणः कारणत्वं जडं हि कर्म फलं हि चेतनस्य चेतन एव प्रयच्छति स्वामिसेवक-योस्तथादर्शनात् तस्मादीश्वरवाद एव सत्यो न कर्मवाद इति चेत् तत्राहास्ति चेदिति, आदावीश्वर एव नास्ति प्रयोजनाभावात्, कर्मसिद्धान्तानभिज्ञो हि मूर्ख ईश्वरं मन्यते, वेदो हि बोधयति कर्म फलसाधनत्वेन कृते च कर्मणि फलं भविष्यतीति, यथा भोजने तृप्तिर्यथा बीजा-चापे फलं यथा शयने निद्रैवमलौकिकेपि कर्मणैव फलं भवति, न चानभिष्टितं कथं साधयेदिति वाच्यं, चेतनो

हि जीवस्तस्याधिष्ठाता, न च कर्मानित्यमिति कथं फलसाधकं? कर्मणो नित्यत्वात् तदानीमेव सूक्ष्मस्वर्ग-जननाद् बीजाद् गर्भाधानवददृष्टद्वारा वा, अन्यथा-नुपपत्त्या कल्पितमदृष्टं तादृशमेव कल्पनीयं यदितरान-विष्ठितमेव फलं जनयतीति, अस्तु वेश्वरः कल्प्यमानोप्य-किञ्चित्कर एव सूपकारवज् जीवशेष एव भवेद् यादृशं यस्य कर्म तादृशं तस्मै सिद्धं कृत्वा प्रयच्छतीति, तदाहान्यकर्मणां जीवकर्मणां फलनिरूपक ईश्वरः कश्चिदस्ति चेत् सोपि कर्तारमेव भजति तत्कर्मफलं

\* लेख—कर्मणा जायते-श्लोक की व्याख्या में-उत्पन्नः (उत्पन्न हुआ) इस पद के आगे-वक्तव्यत्वेन भगवन् मनसि (भगवान् के मन में कहने योग्य विचार उत्पन्न हुआ) इत्यादि पदों को और जोड़ लेना चाहिए। ऐसे ही उपपन्नाः (उचित हैं) के स्थान पर उत्पन्नाः (उत्पन्न हुए) ऐसा पाठ लेखकार को अभिष्ट है ॥१३॥

तत्कर्त्रे प्रयच्छति नान्यस्मै, सोऽपि न ह्यकर्तुः प्रभुः, वादः समीचीनो न, हेतुकोयमोऽश्वरो निविध्यते न स्वतन्त्रेश्वरवादे तु वैषम्यनैर्घृण्ये स्यातामतः सर्वेश्वर- प्रामाणिकः, तस्य हेतुनापि निषेधासम्भवात् ॥१४॥

**व्याख्यानार्थ—**कर्म कारण कैसे हो सकता है, कर्म तो जड़ है। चेतन प्राणी को फल देने वाला चेतन ही हो सकता है, क्योंकि स्वामी और सेवक के सम्बन्ध के प्रमाण से, ईश्वरवाद ही सत्य हो सकता है। कर्मवाद कैसे ठहर सकता है? ऐसी होने वाली शंका का समाधान—अस्ति—चेदीश्वरः—इस श्लोक से करते हैं। प्रथम तो ईश्वर ही नहीं है; क्योंकि उसका कोई प्रयोजन नहीं है। कर्मों के उपर्युक्त सिद्धान्त को न जानने वाला अज्ञानी पुरुष ही ईश्वर को मानता है। वेद तो कर्म का बोध करता है, कि फल के साधन रूप से कर्म करने पर फल की प्राप्ति होगी। जैसे लोक में भोजन करने पर तृप्ति, बीज बोने पर फल और शयन करने पर नींद आती है। इसी प्रकार अलौकिक में भी कर्म से ही फल होता है। इसमें ईश्वर की क्या आवश्यकता है।

यहां पर यह कहना भी अनुचित है, कि अधिष्ठाता बिना का कर्म फल कैसे देगा? क्योंकि जीव स्वयं चेतन है, वही कर्म का अधिष्ठाता है। कर्म का अनित्य बतलाकर (अनित्यकर्म) उसके द्वारा होने वाली फल सिद्धि में सन्देह करना भी उचित नहीं है; क्योंकि कर्म तो नित्य है और वह उसी समय बीज में से गर्भाधान की तरह सूक्ष्म स्वर्ग फल को उत्पन्न कर देता है। अथवा अदृष्ट उत्पन्न करके, उसके द्वारा फल उत्पन्न कर सकता है। अन्यथानुपपत्ति से अर्थात् आज समाप्त हो जाने वाला कर्म कालान्तर में (मृत्यु के पीछे) अदृष्ट के बिना फल कैसे दे सकता है—इस कारण से अदृष्ट की कल्पना की जाती है। वह अदृष्ट कल्पना उसी तरह के अदृष्ट की जाती है जो बिना किसी अधिष्ठाता के ही फल को उत्पन्न कर देता है। अथवा कोई ईश्वर हो भी तो वह कल्पित ईश्वर कुछ भी कर सकने में असमर्थ ही है। वह तो एक रसोईदार की तरह जीव के आधीन ही रहेगा। जिस जीव का जैसा कर्म होता है वैसा फल उस जीव के लिए (रसोईदार की तरह) सिद्ध करके देता है। इसी को कहते हैं, कि जीवों को कर्म का फल देने वाला यदि कोई ईश्वर है भी, तो वह कर्म करने वाले को ही फल देता है, अर्थात् जो कर्ता जैसा कर्म करता है, उसे ही वैसा ही फल देता है, किसी दूसरे को नहीं देता। वह ईश्वर भी, कर्म न करने वाले का प्रभु नहीं है। स्वतन्त्र ईश्वरवाद पक्ष में ऐसे ईश्वर की कल्पना करनी होगी जो बिना किसी कर्म के चाहे जिस जीव को जो चाहा फल दे सके। तब तो उसमें विषमता और निर्वृणता (क्रूरता) दोष आजाएंगे। इसलिए ईश्वरवाद तो सर्वथा उचित नहीं है। यह हेतुवाद से, ईश्वर को सिद्ध करने वालों के ईश्वर का निराकरण किया है, न कि वेदादि प्रमाणों से सिद्ध हुए ईश्वर का, क्योंकि प्रमाण सिद्ध का निराकरण हेतुवाद से भी होना असम्भव है ॥१४॥

**श्लोक—**किमिन्द्रेणोह भूतानां स्वं स्वं कर्मानुवर्तिनाम् ।

अनीशेनान्यथा कर्तुं स्वभावविहितं नृणाम् ॥१५॥

**श्लोकार्थ—**इसलिए जब जीवों को अपने २ कर्मों का ही अनुसरण करना पड़ता है, तो उनको इन्द्र से क्या मतलब? पूर्व संस्कार के अनुसार मनुष्यों के भाग्य में जो बदा है, उसे वह इन्द्र कभी अन्यथा—परिवर्तित अथवा विपरीत—नहीं कर सकता ॥१५॥

सुबोधिनी—न ह्यप्रयोजकोपि भर्ता निषेद्धं शक्यते तस्मात् प्रमाणाभावे हेतुसिद्ध ईश्वरो नाङ्गीकर्तव्यः, तदाह किमिन्द्रेणेति, इह कर्मफलदाने स्वं स्वं कर्मानुवर्तिनां भूतानामिन्द्रेण किं कार्यम् ? कर्मानुवृत्तिरीश्वरेणापि निषेद्धु न शक्यत उपजीव्यत्वादत ईश्वरं साधयन्ननीश्वरमेव साधयति तदाहानीशेनान्यथा कर्तुमिति, अन्यथा कर्तुमनीशेनासमर्थनेश्वरेण किं प्रयोजनम् । ननु

कर्मकरण ईश्वरो हेतुर्भविष्यति 'तं साधु कर्म कारयति यमुन्निनीषति तमसाधु कर्म कारयति यमघो निनीषती' ति श्रुतेः, प्रयमपि पक्षो नाङ्गीकर्तव्योन्यथोपपत्तेः, कर्मकरणे स्वभाव एव हेतुः, यदि सत्त्वमभिव्यक्तं साधु कर्म करोति रजश्चेन् मध्यम तमश्चेदधममिति ततो नृणां स्वभावविहितमेव कर्म स्वभावेनैव सिद्ध, अन्यथा कर्तुं समर्थो न भवतीश्वरोतो नाङ्गीकर्तव्य इत्यर्थः ॥१५॥

व्याख्यानार्थ—इस प्रकार प्रमाण सिद्ध कर्ता (ईश्वर) का तो—निष्प्रयोजन होने पर भी—निराकरण नहीं किया जा सकता—(मानना ही पड़ेगा) प्रमाण के बिना केवल हेतु से सिद्ध किए गए ईश्वर को स्वीकार करना आवश्यक नहीं है—यह—किमिन्द्रेण—इस श्लोक से कहते हैं । यहां कर्म फल देने में अपने २ कर्म का अनुसरण करने वाले प्राणियों का इन्द्र से क्या काम है ? कर्मों की अनुवृत्ति का निषेध तो ईश्वर से भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि कर्म के ऊपर ही प्राणियों के जीवन का आधार है । इस प्रकार हेतुवाद से इन्द्र की ईश्वरता सिद्ध करने वाला उसकी अनौश्वरता को ही सिद्ध करता है । यह कहते हैं, कि इन्द्र कर्म और कर्म फल को विपरीत (उल्टा) करने में समर्थ नहीं है । ऐसे अन्यथा कर्तुं असमर्थ—विपरीत करने में असमर्थ ईश्वर से क्या प्रयोजन है ?

शंका—श्रुति में कहा है कि वह—ईश्वर—ही जिस जीव को उत्तम लोको में लेजाना चाहता है, उससे उत्तम कर्म और जिसको नीचे लोकों में ले जाना चाहता है, उस से नीचे कर्म करवाता है—इस कारण से, कर्म करने में ईश्वर कारण होगा ? इस शंका के समाधान में कहते हैं, कि ईश्वर को जीवों की कर्म करने में प्रवृत्ति का कारण तब माना जाए, जब कि जीवों का कर्मप्रवर्तक कोई दूसरा न हो । यहाँ तो कर्मप्रवर्तक स्वभाव है । स्वभाव से ही, जीव कर्म करता है । सत्त्व गुण की वृद्धि—(उद्रेक)—में उत्तम कर्म, रजोगुण की अधिकता होगी, तो मध्यम श्रेणी के कर्म और तमोगुण की वृद्धि में अधम कर्म में प्रवृत्ति होती है । इसलिए मनुष्यों के स्वभाव से विहित ही कर्म स्वभाव से ही सिद्ध होता है । ईश्वर उसे विपरीत करने में समर्थ नहीं है । इसलिए ऐसे असमर्थ ईश्वर को मानने की आवश्यकता नहीं है ॥१५॥

श्लोक—स्वभावतन्त्रो हि जनः स्वभावमनुवर्तते ।

स्वभावस्थमिदं सर्वं सदेवासुरमानुषम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—सब प्राणी स्वभाव के ही अधीन हैं, स्वभाव का ही अनुगमन करते हैं । सात्त्विक देव, राजस असुर और तामस मनुष्य सहित यह सारा जगत् स्वभाव के वशीभूत है, स्वभाव ही के अनुसार चलता है ॥१६॥

सुबोधिनी—ननु स्वभावप्रबोधनार्थमीश्वरोङ्गीकर्तव्य इति चेत् तत्राह स्वभावतन्त्रो हि जन इति, यदि

स्वभावः परिच्छिन्नो देशतः कालतश्च स्यात् तदा तत्प्रबोधनार्थमीश्वरोङ्गीकर्तव्यः स्यात् स्वभावस्त्वादौ

है, उस स्थान पर यह जीव कैसे जा सकेगा ? ऐसी शंका का समाधान-देहानुच्चावधान-इस श्लोक से करते हैं । ऊँचे नीचे अनेक प्रकार के शरीरों को प्राप्त कर करके, यह जीव छोड़ देता है । व्यवधान रहित-निरन्तर-कर्म से ही नवीन देह को ग्रहण करके पहले शरीर का त्याग कर देता है ।

सब का शरीर समान-(एकसा)-है, तब भी कभी कोई शत्रु, कोई मित्र और कभी कोई उदासीन होने का क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि शत्रु, मित्र तथा उदासीन सब कर्म ही है । अन्यथा-कर्म की अधीनता न हो, तो उनसे अशुभ तथा शुभ फल की प्राप्ति नहीं हो । कर्म से ही जीवों को अशुभ और शुभ फल मिलता है । गुरु भी कर्म ही है; क्योंकि-गुरु उपदेश भी करें और वह सफल भी हो-यदि ऐसा उत्तम अदृष्ट नहीं हो तो गुरु उपदेश ही नहीं करें और वह उपदेश सफल भी नहीं हो । कर्म ही फल दान करता है, इस से ईश्वर भी कर्म ही है ॥१७॥

**श्लोक—तस्मात् सम्पूजयेत् कर्म स्वभावस्थः स्वकर्मकृत् ।**

**अञ्जसा येन वर्तेत तदेवास्य हि दैवतम् ॥१८॥**

**श्लोकार्थ—**जब स्वभाव सिद्ध कर्म ही सब फल देने वाला है, तब केवल उसी की पूजा करना चाहिए । प्राणियों को स्वभाव के अनुसार अपने कर्म का पालन और उसी का पूजन करना चाहिए । जिसके द्वारा सुख पूर्वक जीविका चले, वही प्राणियों का इष्ट देव है ॥१८॥

**सुबोधिनी—**अतस्तमेव पूजयेदित्याह तस्मादिति, कर्मैव सम्पूजयेत् सम्मानयेत्, तस्य सम्माननप्रकारमाह स्वभावस्थः सन् स्वकर्मकृद् भवेदिति, यस्य यः स्वभावो ब्राह्मणादिस्तदनुसारेण स्ववर्णाश्रमविहितं कर्म कर्तव्यमन्यथा पतितः स्यात् फलं प्रयच्छतु मा वैश्वरोस्तु न वा । कर्म कर्तव्यमेव, एवं सत्यञ्जसा सामर्त्येनानायासेन येनैवोपायेन प्रकारेण वर्तेत जीवेत तदेवास्य दैवतं, युक्तश्रायमर्थः, सद्वासद्वा यत्र प्रतिष्ठितस्तद् दैवतमिति ॥१८॥

**याव्यर्थ—**इस कारण से उसी की पूजा करना चाहिए-यह-तस्मात्-इस श्लोक से कहते हैं । कर्म का ही पूजन-सम्मान-करना चाहिए । उसके सम्मान करने की विधि बतलाते हैं, कि जिसका जो स्वभाव-ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भाव हो, उसके अनुसार अपने वर्ण तथा आश्रम में विधान किए हुए कर्म करने ही चाहिए । वर्णाश्रम विहित कर्म के न करने पर तो पतित हो जाता है । फल देवे अथवा न देवे, कोई ईश्वर हो अथवा नहीं हो-कर्म तो अवश्य ही करना ही चाहिए । ऐसी दशा में सब प्रकार सुखपूर्वक जिस उपाय और जिस रीति से जीवन निर्वाह हो सके, वही उसका इष्टदेव है । यह अर्थ उचित ही है । जो जिस सत् अथवा असत् विषय में स्थित है वही उसका दैवत है ॥१८॥

श्लोक—आजीव्यैकतरं भावं यस्त्वन्यमुपधावति ।

न तस्माद् विन्दते क्षेमं जारान्नार्यसती यथा ॥१६॥

श्लोकार्थ—जैसे पर पुरुष से सम्बन्ध रखने वाली कूलटा स्त्री, पर पुरुष से सुख नहीं पा सकती, वैसे ही जो पुरुष प्रथम, किसी एक पक्ष का आश्रय रख कर, फिर उसे छोड़कर किसी दूसरे की तरफ दौड़ता है, उसे उस दूसरे से भी सुख नहीं मिलता है ॥१६॥

सुबोधिनी—अन्यथात्वे बाधकमाहाजीव्येति, एकतरं भावमाजीव्य प्रथमं तदनुवृत्तिं कृत्वा पश्चाद् योन्यमुपधावति तत्र परितोषमकृत्वाधिकफलार्थमन्यं चेत् पक्षमवलम्बते तदा न तस्मात् क्षेमं विन्दते सोऽपि मन्यते

मामपि त्यक्ष्यतीति, अमन्यमानं प्रति दृष्टान्तमाह जारान्नार्यसती यथेति, न हि जारो भरणपोषणादिकं करिष्यति नापि सम्भोगं सर्वदा, परलोकस्तु नास्त्येव, तस्मात् कर्मण आवश्यकत्वात् स पक्षो न त्याज्यः ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—परम्परागत धर्म का त्याग करने में बाधक का वर्णन—आजीव्यैकतरं—इस श्लोक से करते हैं । पहले किसी एक पक्ष-भाव-का अवलम्बन करके-अनुवर्तन करके, फिर उससे असन्तुष्ट होकर, उसे छोड़कर अधिक फल की प्राप्ति के लिए यदि दूसरे का आश्रय करता है, तो उसको उससे सुख नहीं मिल सकता; क्योंकि, वह दूसरा भी यह सोचता है, कि यह मेरा भी त्याग कर देगा । इस बात को न मानने वाले के लिए दृष्टान्त कहते हैं, कि जैसे कुलटा स्त्री जार (पर पुरुष) से सुख नहीं पा सकती । जार पुरुष उस स्त्री का न तो भरण पोषण आदि करेगा और न सर्वदा सम्भोग ही । परलोक की प्राप्ति तो ऐसी कुलटा को होती ही नहीं । इस से कर्म आवश्यक है । इसलिए कर्म पक्ष का त्याग नहीं करना चाहिए ॥१६॥

श्लोक—वर्तेत ब्रह्मणा विप्रो राजन्यो रक्षया भुवः ।

वैश्यस्तु वार्तया जीवेच्छूद्रस्तु द्विजसेवया ॥२०॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण को वेदाध्ययन से, क्षत्रिय को प्रजा की रक्षा से, वैश्य को वार्ता और शूद्र को इन तीनों वर्णों की सेवा करके जीविका निर्वाह करना चाहिए ॥२०॥

सुबोधिनी—किञ्च कर्मोपजीवका एव सर्वे यतो ब्राह्मणो ब्रह्मणा वेदेन वर्तेत तस्य वेदाध्ययनादिनैव जीवनं, राजन्यस्तु भुवो रक्षया जीवेत, वैश्यस्तु वार्तया

जीवेत, शूद्रस्तु द्विजसेवया, तेषां सेवायां क्रियमाणायां ते यद् दद्युस्तेन जीवेत, तुशब्देनान्यपक्षा निराक्रियन्ते ॥२०॥

व्याख्यार्थ—क्योंकि कर्म ही सब प्राणियों के जीवन का साधन है, इसलिए ब्रह्म—(वेद)—से जीवन निर्वाह करे। ब्राह्मण का जीवन वेदों के अध्ययन से ही है। क्षत्रिय, तो प्रजा की रक्षा करके जीविका चलावे, वैश्य वार्ता से और शूद्र तीनों वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य—की सेवा से जीवित रहें। तीनों वर्णों की सेवा करने पर, जो कुछ वे देवें, उससे जीवन का निर्वाह करे। और सब ही धंधों का निराकरण—तु—शब्द का तात्पर्य है ॥२०॥

श्लोक—कृषिवाणिज्यगोरक्षाकुसीदं तुर्यमुच्यते ।

वार्ता चतुर्विधा तत्र वयं गोवृत्तयोनिशम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—वैश्यों की वृत्ति वार्ता—खेती, बनिज व्यापार, गोपालन और ब्याज बढ़ा—इन भेदों से चार प्रकार की है। हम ग्वाल सदा गाएँ पालकर अपनी जीविका चलाने वाले हैं। यही हमारा जीविका है। इसलिए हम लोगों को इन्द्र से प्रयोजन नहीं है ॥२१॥

सुबोधिनी—एवं सर्वेषामेव वर्णानां स्वकर्मणैव जीवनमिति निर्धार्य वार्तायामिन्द्रो हेतुभिरपेक्षित इत्युक्तस्तन्निराकरणार्थं वार्ता विभजति कृषीति, कृषिः कर्षणं वाणिज्यं व्यापारो गोरक्षा गोचारणं कुसीदं वृद्धिजीविका तत् तुर्यं चतुर्थं पूर्वाभाव एवोपजीव्यमिति,

अन्यथा तन् निन्दितमुपपातकमध्ये गणनात्, एवं चातुर्विध्यमुपपाद्य तस्य प्रकृतोपयोगमाह वार्ता चतुर्विधेति, तत्र प्रकारेषु वयमनिशं सर्वदैव गोवृत्तयोतः कृष्णभावान् नेन्द्रेण प्रयोजनमितिभावः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार सब वर्णों का अपने २ कर्म के द्वारा ही जीवन का निर्धार करके ऊपर कहे हुए—अपने धन्धे के हेतु—भूत इन्द्र की अपेक्षा है—इस पक्ष का निराकरण करने के लिए अपने जीवन के आधारभूत कार्यों का विभाग करके—कृषि—इस श्लोक से बतलाते हैं। कृषि (खेती) वाणिज्य (व्यापार करना), गोरक्षा (गाएँ चराना) और कुसीद (ब्याज लेना)। इन में से खेती, व्यापार अथवा गोपालन से जीविका न चल सकने पर ही चौथे से (ब्याज लेकर) जीवन निर्वाह करे। क्योंकि अन्य तीन धंधों के होते हुए भी, ब्याज से निर्वाह करना निन्दित है। ब्याज की गणना, उपपातक—मृदु पाप—में है। इस प्रकार वार्ता के चार भेदों को कहकर, यहाँ उसका उपयोग बतलाते हैं, कि उनमें से हम लोग सदा गोपालन करके जीविका का निर्वाह करने वाले हैं। इसलिए हमारे खेती न होने के कारण, हमें इन्द्र से कुछ प्रयोजन नहीं है ॥२१॥

श्लोक—सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्त्यन्तहेतवः ।

रजसोत्पद्यते विश्वमन्योन्यं विविधं जगत् ॥२२॥

श्लोकार्थ—सतोगुण रजोगुण और तमोगुण—ये तीन माया के गुण हैं। इन्हीं



गुणों से सृष्टि की उत्पत्ति, पालन और संहार होता है । यह विविध प्रकार का चराचर जगत् रजोगुण की प्रेरणा से आपस में उत्पन्न होता है ॥२२॥

सुबोधिनी—अस्तु वा कृषिस्तथापि नेन्द्रस्योपयोग इत्याह सत्त्वमिति, उत्पत्तिस्थितिप्रलयार्थं रजःसत्त्वत-मांसि स्वीकृतानि सन्त्यतस्त्रयोपि गुणाः स्थित्युत्पत्त्यन्त-हेतवः, समुदायेन निरूप्य प्रत्येकोपयोग निरूपयति रजोत्पद्यते विश्वमिति, अवश्यं हि रजो जगदुत्पादयति, यदि मेघान् रजो न प्रेरयेत् तदा कथमुत्पादयेत् ? यदीन्द्रादयोप्यङ्गोक्तव्यास्तेपि गुणाधीना इति न तेषां स्वातन्त्र्यं, किञ्चान्योन्यं चैतदुत्पद्यते सर्वत्र रजः प्रविष्ट-

मित्यतो बीजादङ्कुरोङ्कुराद् बीजं पितुः पुत्रः पुत्रात् पुनः पिता "प्रजामनु प्रजायन्त" इति श्रुतेः, किञ्च विविधमपि जगदुत्पद्यते चित्राच्च चित्रं चित्रादप्यचित्रं विकलात् सकलः सकलाद् विकल इति, अत एतत् सर्वं रजस एवोत्पद्यत इति वक्तव्यं, एकस्यैव तथाङ्गीकारे लाघवं स्यादतो जीवसृष्टिः कर्मणा जडसृष्टी रजसेति जडसृष्ट्यर्थमपि नेश्वरापेक्षा, एवं सामान्यत ईश्वरवादो निराकृतः, श्रुतिसिद्धस्तु न निराकृत इत्यवोचाम ॥२२॥

व्याख्यानार्थ—हम लोगों के तो खेती है ही नहीं और यदि खेती हो, तो भी, इन्द्र का उपयोग नहीं है—यह—सत्त्वरजः—इस श्लोक से बतलाते हैं । उत्पत्ति, पालन और प्रलय के लिए सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण का अंगीकार है । इसलिए ये तीनों गुण उत्पत्ति पालन और संहार के कारण हैं । इन गुणों को इकट्ठा कह कर, एक एक का अलग उपयोग निरूपण करते हैं । रजोगुण से विश्व की उत्पत्ति होती है । इसलिए रजोगुण ही जगत् को उत्पन्न करता है; क्योंकि जब रजोगुण मेघों को प्रेरणा करता है, तभी वे (मेघ) जगत् को उत्पन्न करते हैं, अन्यथा नहीं कर सकते । यदि इन्द्र आदि को मान भी लें तो भी वे स्वतन्त्र नहीं हैं, वे भी रजोगुण के ही अधीन हैं । सब जगह रजोगुण का प्रवेश है । इस कारण से, यह जगत् परस्पर एक दूसरे से उत्पन्न होता है । इसलिए बीज से अंकुर और फिर अंकुर से बीज उत्पन्न होता है । पिता से पुत्र और फिर पुत्र से पिता की उत्पत्ति होती रहती हैं; क्योंकि श्रुति में कहा है, कि प्रजा के पीछे प्रजा होती रहती है । अचित्र से सचित्र और चित्र से अचित्र तथा अंगहीन से पूरा और पूर्ण से आधा (अंगहीन) उत्पन्न होता है । इसलिए यों कहना चाहिए, कि यह सब रजोगुण से ही उत्पन्न होता है । इस प्रकार, जब एक केवल रजोगुण को स्वीकार कर लेने से ही प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, तो फिर इन्द्र, मेघ आदि विशेष के स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं रहती । इसलिए जीव-सृष्टि कर्म से उत्पन्न होती है अर्थात् जीवों का देहों के साथ संयोग, वियोग एवं सुख दुःख की प्राप्ति होना आदि कर्म से ही होता है । जडसृष्टि रजोगुण से होती है । इस कारण से जडसृष्टि के लिए भी ईश्वर की अपेक्षा नहीं है । इस प्रकार सामान्य रीति से, प्रचलित ईश्वरवाद का निराकरण किया है । वेद सिद्ध ईश्वर का नहीं किया है—यह ऊपर कह आए हैं ॥२२॥

श्लोक—रजसा चोदिता मेघा वर्षन्त्यम्बूनि सर्वतः ।

प्रजास्तेनैव सिध्यन्ति महेन्द्रः किं करिष्यति ॥२३॥

लेख—व्याख्यानार्थ में—जीवसृष्टि—पद का आशय यह है कि जीव का देह के साथ संयोग वियोग तथा जीव को सुख दुःख की प्राप्ति कर्म से ही होती है ॥२२॥

**श्लोकार्थ—**ये मेघ भी रजोगुण की प्रेरणा से सब जगह जल की वर्षा करते हैं । जल से अन्न पैदा होता है और उसी अन्न से सब का पालन होता है । इसमें इन्द्र क्या करेगा ॥२३॥

**सुबोधिनी—**इदानीं वृष्ट्यर्थमिन्द्रोपेक्षित इतिमतं विशेषाकारेण निराकरोति रजसा चोदिता इति, मेघा वर्षन्ति तेषामन्ता रजोगुणोस्ति स हि विक्षेपकोतस्तेन विक्षिप्ता वर्षन्त्येव यथा राजानः कौतुकिनः, अन्यथेन्द्राज्ञया वर्षणपक्षे जलेयुक्तभूमौ च वृष्टिर्न स्यादतो

रजोविक्षेपादेव यथासुखं वर्षन्त्यत आवश्यकत्वात्लाघवाच्च नाज्ञा नियामिका किन्तु रज एव, अतस्तेनैव रजः-प्रेरणावर्षणैव प्रजाः सिध्यन्ति जीवन्ति, एवं सति महेन्द्रः किं करिष्यति ? तत्कार्यमन्यथैव सिद्धमिति ॥२३॥

**व्याख्यार्थ—**अब वृष्टि के लिए इन्द्र की अपेक्षा है—इस मत का विशेष रूप से निराकरण-रजसा—इस श्लोक से करते हैं । मेघ पानी बरसते हैं । उनके भीतर रजोगुण है । रजोगुण विक्षेपक है, उससे प्रेरित होकर ही मेघ वर्षा करते हैं जैसे राजा लोग कौतुक से प्रेरित होकर दान करते हैं । अन्यथा—यदि इन्द्र की आज्ञा से मेघ बरसते हों तब तो पानी में तथा ऊपर भूमि में निरर्थक वृष्टि न हो । इसलिए रजोगुण से प्रेरित हुए ही मेघ इच्छानुसार बरसते हैं । इसलिए आवश्यक और लाघव होने से रजोगुण ही पानी बरसने में नियामक हैं । वर्षा होने में, इन्द्र की आज्ञा कारण नहीं है । रजोगुण की प्रेरणा से ही वृष्टि होती है और वृष्टि से उत्पन्न हुए अन्न से ही, प्रजा जीवित रहती है । इन्द्र के करने योग्य कार्य रजोगुण के द्वारा ही सिद्ध होता है, तो फिर, इसमें इन्द्र क्या करेगा ? अर्थात् इन्द्र की अपेक्षा नहीं है ॥२३॥

**श्लोक—**न नः पुरो जनपदा न ग्रामा न गृहा वयस् ।

नित्यं वनौकसस्तात वनशैलनिवासिनः ॥२४॥

**श्लोकार्थ—**इस के अतिरिक्त हमारे नगर, जनपद, गांव अथवा घर कुछ भी नहीं हैं । हे तात ! हम लोग तो सदा वन में रहने वाले हैं । वन और पर्वत पर ही अपना निवास है ॥२४॥

**सुबोधिनी—**अस्तु वा 'तृष्यतु कुर्जन' इतिन्यायेन महेन्द्रकार्यं तथापि नास्माकं तदुपयोगस्तदाह न नः पुरो जनपदा इति, नास्माकं पुरो नगराणि न सन्ति न वा जनपदा देशा न वा ग्रामा हट्टा नापि गृहाः, इन्द्रस्य हि

लोकपालकत्वं वृष्टिसाधकत्वं यागभोक्तृत्वं दिग्देवतात्वं च चतुर्विधत्वमप्यस्माकं नोपयुज्यते पुरामावात् न तेन रक्षा कर्तव्या नापि तस्याधिपत्यं देशाभावान् न कृष्यादौ तदुपयोगो ग्रामाभावादाहिताग्नेरिवेन्द्रो हविर्न ग्रीहीष्य-

**योजना—**रजसा० श्लोक की व्याख्या में—राजानः कौतुकिनः—का आशय यह है कि जैसे रजोगुण से प्रेरित राजा लोग दान करते हैं, वैसे ही रजोगुण से प्रेरित मेघ पानी बरसाते हैं ॥२३॥



तोति न भयं गृहाभावात् दिगादिपरिज्ञानापेक्षा, किञ्च वयं वनोक्तः, अस्वामिकं वनमितिशास्त्रं, तातेति- सम्बोधनं स्नेहार्थमप्रतारणार्थं च, किञ्च नित्यं सर्वदा

ज्ञेयं निवसामः, 'वैष्णवा हि वनस्पतयः' विष्णुः पर्वतानामधिपतिः, अतो वैष्णव एव याग उचितः ॥२४॥

**व्याख्यानार्थ—**दुर्जन तोष न्याय से इन्द्र का कार्य हो, तो भी, हमारा इन्द्र से प्रयोजन नहीं है यह, न नः पुरः' इस श्लोक से कहते हैं। हमारे नगर नहीं हैं, न देश है। गांव, हाट तथा घर भी हमारे नहीं हैं। इन्द्र लोकों का पालन करने वाला है, वर्षा का कारण है, यज्ञ का भोक्ता तथा दिशाओं का देवता है। इन चारों में से हमारे लिए तो एक का भी उपयोग नहीं है। हमारे नगर नहीं होने से लोकपालक इन्द्र की हमें आवश्यकता नहीं है। हमारे देश भी नहीं हैं जिससे कि लोकाधिपति इन्द्र की आवश्यकता हो। हमारे गांव भी नहीं है। इस कारण खेती में वर्षा करने वाले इन्द्र की अपेक्षा भी नहीं है। अग्नि होत्र करने वाले की तरह भी हमें भय भी नहीं है कि इन्द्र-हवि-आहुति-को ग्रहण नहीं करेगा। और अपने घर न होने के कारण दिशा आदि को जानने के लिए भी हमें इन्द्र की आवश्यकता नहीं है। हम लोग तो बनवासी हैं। शास्त्र में कहा है, कि वन का कोई स्वामी नहीं है। तात ! यह सम्बोधन स्नेह तथा सत्यता का सूचक है। हम लोग सदा पर्वत पर रहते हैं। वनस्पति वैष्णव हैं, विष्णु पर्वतों का स्वामी है-यह श्रुति में कहा है। इसलिए हमें वैष्णव यज्ञ ही करना उचित है ॥२४॥

**श्लोक—**तस्माद् गवां ब्राह्मणानामद्रेश्वरभ्यतां मखः ।

य इन्द्रयागसम्भारास्तैरयं साध्यतां मख ॥२५॥

**श्लोकार्थ—**इसलिए गाय, ब्राह्मण और गोवर्धन पर्वत के ही यज्ञ का आरम्भ करिए। आप लोगों ने इन्द्रयज्ञ के लिए जो सामग्री इकट्ठी की है, उससे इन गिरिराज की पूजा करिए ॥२५॥

**सुबोधिनी—**तत्र विष्णोर्द्वयमङ्गं ब्राह्मणा गावश्च, मन्त्रा एकत्र प्रतिष्ठिता हविरैकत्र, अद्विगोवर्धनः स्वयमेव देवतातो वैष्णव एव यागः कर्तव्य इति वक्तव्ये गवां ब्राह्मणानामद्रेश्वर मख आरभ्यतामित्याह तस्मादिति, यदि युक्तिरेव प्रमाणं तदा श्रुत्यनुसारिण्येषा भवतीति गिरिवनेचराणामेष एव याग उचितः, चकारादङ्गदेवताः सर्वा एव वैदिक्यः परिग्राह्याः, अयमिति गोसवात्मकः, 'अयाजयद् गोसवेने'तिवाक्याद् गोसत्रावयमतिरिक्त एव लौकिकोऽयं विधानं भगवानेव वक्ष्यति, अनेनैतज्ज्ञापितं युक्तिसिद्धमपीश्वरयुक्तिसिद्धमेव ग्राह्यं न तु लौकिकयुक्तिसिद्धमिति, नन्विन्द्रार्थं द्रव्याणि सम्पादि-

तानि कथमेतैरन्यसाधनं ? तत्राह य इन्द्रयागसम्भारा आज्यादयस्तैरेवायं मखः साध्यतां, मखपवेन च सर्व-देवोपकारो ज्ञापितस्तत्र त्वेक एवेन्द्रस्तुष्यतीति, अज्ञानात् कृते सर्वत्रैवं व्यवस्था, अन्यस्मै दत्तमपि हविराच्छि-द्यान्यस्मै देयमिति, 'यस्य हविर्निरुप्तं पुरस्ताच्चन्द्रमा अभ्युदेति त्रेधा तण्डुलान् विभजेद् ये मध्यमाः स्युस्ता-नग्नये दात्रे पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेद् ये स्यविष्ठा-स्तानिन्द्राय प्रदात्र' इत्याद्यभ्युदयेष्टौ कालभ्रमात् प्रवृत्तेष्टिरन्यथा क्रियते तथा प्रकृतेपि युक्तिभ्रमादिन्द्रार्थ-मपि सम्भृता अन्यायमेव कर्तव्याः ॥२५॥

**व्याख्यान**—उस वैष्णव यज्ञ में, विष्णु के ब्राह्मण और गाएँ ये दो अंग हैं। ब्राह्मणों में मंत्रों की स्थिति है और दूसरे अंग गायों में यज्ञ का द्रव्य हवि (दूध, दही, घृत) रहता है। गोवर्धन पर्वत स्वयं देवता है। इसलिए वैष्णव याग ही करना उचित है—यह कहते हुए गो, ब्राह्मण और पर्वत का यज्ञ प्रारम्भ करिए, यह 'तस्मात्' इस श्लोक से कहते हैं। यदि युक्तिवाद को प्रमाण माना जाए, तो यह युक्ति वेद के अनुसार है। इसलिए पर्वत और वन में विचरण करने वालों को यही-वैष्णव-यज्ञ करना योग्य है। 'अद्रेश्व'—इस च शब्द से वेद में कहे हुए सभी अंग देवताओं का ग्रहण है। 'अयं'—इस पद से गोसवात्मक यज्ञ का ग्रहण है। गोसव द्वारा यज्ञ कराया—इस वाक्य से, गोसत्र से यह गोसव भिन्न है, लौकिक है। इस का विधान—करने की विधि—को भगवान् ही कहेंगे। इस कथन से यह सूचित किया कि वेद में नहीं कही गई केवल युक्ति सिद्ध वस्तु का ग्रहण करना हो, तो केवल ईश्वर की कही हुई युक्ति से सिद्ध वस्तु का ही ग्रहण करना चाहिए, लौकिक युक्ति से सिद्ध का ग्रहण नहीं करना चाहिए। यहाँ ऐसी शंका होती है कि इन्द्र के लिए जो पदार्थ इकट्ठे किए हैं, उन से, अन्य का काम सिद्ध कैसे होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि इन्द्र याग के लिए जो घृत आदि जो सामग्रियाँ इकट्ठी की हैं, उन्हीं से, इस मख<sup>१</sup> को सिद्ध सम्पन्न—करिए। मख अर्थात् सब देवतों को तृप्त करने वाला यज्ञ करिए और इन्द्रयाग से तो केवल एक इन्द्र ही का उपकार होगा। यह मूल में कहे मख शब्द का आशय है। अज्ञान से किए हुए कार्य में सभी स्थानों में ऐसा ही होता है। (ऐसी ही व्यवस्था होती है)। अन्यदेव के लिए दी हुई आहुति को उससे हटाकर दूसरे के लिए दे दी जाती है। वेद में कहा कि—“जिसके लिए हवि—आहुति—का निर्वाप<sup>२</sup> किया जाए और उसी क्षण में चन्द्रमा का उदय हो जाए तो तण्डुलों के तीन विभाग करके मध्यम विभाग अष्टाकपाल पुरोडाश का अग्नि के लिए और घने तण्डुलों के भाग का इन्द्र के लिए विनियोग करें। इत्यादि अभ्युदय की इष्टि-याग—में जैसे कालभ्रम से दी हुई आहुति का परिवर्तन कर दिया जाता है, वैसे ही यहाँ युक्ति भ्रम से, इन्द्र के लिए दीजाने वाली सामग्री का ही गिरिराज के लिए ही विनियोग करिए ॥२५॥

**श्लोक**—पच्यन्तां विविधाः पाकाः सूपान्ताः पायसादयः ।

संयावापूपशङ्कुल्यः सर्वदोहश्च गृह्यताम् ॥२६॥

**श्लोकार्थ**—खीर, पूआ, पूरी, जलेबी आदि नाना भांति के पकवान सिद्ध करो। आज का सारा ही दूध उपयोग में लेओ, न ले सको, तो बछड़ों को पिला दो ॥२६॥

**योजना**—तस्माद् गवां—इस श्लोक की व्याख्या में—‘स्वयमेव देवता’ पदों का आशय यह है, कि विष्णु, नन्दगाँव और वरसाना पर्वत शिव और ब्रह्मरूप हैं तथा गोवर्धन विष्णु रूप है—ऐसा पुराण में कहा है ॥२५॥

सुबोधिनी—तस्माद् यागादत्र विशेषमाह पच्यन्ता-  
मिति, लौकिकोत्सवपुरःसरे तु प्राकृतानां महानुत्साहो  
भवतीति स्त्रीणामप्यश्रोपकारो भवतीति च, विविधाः  
पाका भर्जनजलपचनतैलघृतदुग्धदध्यादिषु च पाकाः  
परिगृहीतास्तेन नानाविधानि भक्ष्याणि सेत्स्यन्ति, तेषां  
सर्वेषामन्ते सूपः कर्तव्यः पक्वान्नादीनां करणे भूयान्  
कालो लगत्यतः प्रथमतः सूपकरणे सोम्यतामापद्यते,  
पायसं हि बहुदुग्धेत्पीयांसस्तण्डुला दत्ता अत्पाग्नावेव  
पच्यमाना महता कालेन पच्यन्त इति पायसमादौ

कर्तव्यं, अथ वा देवानां प्रथमतः पाको मध्ये लौकिकानां  
महतां प्राकृतानां सूपमात्रमिति, ततो यत् कर्तव्यं तदाह  
संयावो गोघूमचूर्णसारांशाः पूर्वदिवस एव पच्यमाना  
महता कालेन सिद्धा भवन्ति सोऽपि ग्राह्यः, अपूपः  
गुडमिश्रितचूर्णनिष्पादितपाकः स्नेहद्रव्येषु शङ्कुत्यो  
नालाकारेण भ्रमद्वतुला भक्ष्यविशेषः, सर्व एवाद्यतनो  
बोहो गृह्यतां दुग्धस्य विक्रयादिविनियोगो न कर्तव्यः,  
चकारादशक्यं वत्सेभ्य एव देयमिति ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—उस इन्द्रयाग की अपेक्षा, इसमें विशेष कर्तव्य को पच्यन्ता—इस श्लोक से बतलाते  
हैं। लौकिक उत्सव के निकट आने पर साधारण मनुष्यों को बड़ा उत्साह होता है। ऐसे उत्सवों में  
स्त्रियों का भी उपकार होता है; क्योंकि, ऐसे लौकिक उत्सवों में वे भी भाग ले सकती हैं। अनेक  
प्रकार के पकवान, भूँजने, जल में पकने, तैल, घी, दूध, दही में सिद्ध होने वाले अनेक भाँति, पाकों  
का ग्रहण किया गया है। जिस से नाना भाँति के भोजन—(पदार्थ) सिद्ध होंगे। इन सब की तैयारी  
हो जाने के पीछे सूप<sup>१</sup> तैयार करिए। पकवानों के सिद्ध करने में बहुत समय लगता है, इस  
लिए यदि दाल पहिले ही करके धरदी जाएगी तो वह खट्टी<sup>२</sup>—हो जाती है। पायस<sup>३</sup>—के पकने में  
बहुत देर लगती है, क्योंकि वह अधिक दूध में थोड़े से चावल डाल कर मन्द मन्द आँच—पर ही  
तैयार होती है। इसलिए पायस<sup>४</sup>—को पहिले करना चाहिए। अथवा प्रथम तो देवों के लिए पाक  
करिए। मध्य में लौकिक महापुरुषों के लिए और अन्त में साधारण पुरुषों के लिए केवल दाल ही  
सिद्ध करिए। आगे का कर्तव्य कार्य कहते हैं। संयाव<sup>५</sup> गेहूँ का दलिया दूध में एक दिन पहले से ही  
पकाना आरम्भ करके बहुत देर में सिद्ध होती है। वह संयाव करिए। अपूप<sup>६</sup> बड़े आदि जो गेहूँ  
के चून में गुड मिलाकर घी आदि चिकने पदार्थों में तलकर सिद्ध किए जाते हैं, तथा शङ्कुली<sup>७</sup>—जो  
नाल के आकार से घूमती हुई गोल २ खाद्य वस्तु पकवान विशेष है—इन सभी भोजन सामग्री को  
तैयार—सिद्ध—करिए। आज का सारा दूध इस उत्सव कार्य में ले लिया जाए। बेचा न जाए।  
यदि दूध का लेना—निकालना (दोहना) अशक्य हो (तो) बछड़ों को ही पी लेने दिया जाए। यह मूल में  
दिए—च—शब्द का स्वारस्य है ॥२६॥

श्लोक—ह्यन्तामग्नयः सम्यग् ब्राह्मणैर्ब्रह्मवादिभिः ।

अन्नं बहुविधं तेभ्यो देयं वो धेनुदक्षिणाः ॥२७॥

श्लोकार्थ—वेदपाठी ब्राह्मणों के द्वारा विधिपूर्वक हवन कराकर अग्नियों को

१—दाल

२—बिगड़

३—खीर

४—दूधपाक

५—गेहूँ के दलिये की खीर,

६—मालपुआ

७—जलेबी

तृप्त कीजिए । ब्राह्मणों को स्वादिष्ट भोजन कराकर गायों को दक्षिणा में देकर प्रसन्न करिए ॥२७॥

सुबोधिनी—ततोऽलौकिको देवानामर्थे होमः कर्तव्य इति सम्यग् विधानपूर्वकं ब्राह्मणाः स्वरूपत उत्तमा ब्रह्मवादिनो ज्ञानतः, ततो होमानन्तरं 'प्रत्यक्षदेवता

ब्राह्मणा' इति तेभ्योन्नं बहुविधं पक्वान्नादिसहितं देयं वो युष्माभिः, युष्माकं वैतत् कर्तव्यं ब्राह्मणान् प्रति वो युष्मभ्यमिति, धेनवश्च दक्षिणात्वेन देयाः ॥२७॥

व्याख्यान—फिर देवों को सन्तुष्ट करने के लिए अलौकिक होम करना चाहिए । इसलिए स्वरूप और ज्ञान से उत्तम ब्राह्मण (वेद) ब्रह्मवादियों के द्वारा विधान सहित होम से अग्नियों को तृप्त कीजिए । होम के पीछे ब्राह्मणों को भांति भांति के पकवान सहित अन्न दीजिए; क्योंकि, ब्राह्मण प्रत्यक्ष देवता हैं । आप लोग दीजिए । यह आप लोगों का कर्तव्य है अथवा भगवान् ब्राह्मणों से कहते हैं तुम्हारे लिए देना चाहिए । गाएँ दक्षिणा रूप से देनी चाहिए ॥२७॥

श्लोक—अन्येभ्यश्च श्वचाण्डालपतितेभ्यो यथार्हतः ।

यवसं च गवां दत्त्वा गिरये दीयतां बलिः ॥२८॥

श्लोकार्थ—अन्य अर्थात् क्षत्रिय, वैश्य आदि को देने के पीछे श्वान, श्वपच-चाण्डाल-पतित और पातकी लोगों के लिए भी यथोचित बलि दीजिए । गायों के लिए हरी हरी घास खिला कर गिरि गोवर्धन की पूजा कीजिए, भोग लगाइए ॥२८॥

सुबोधिनी—ततोऽन्येभ्यो देयमित्याहान्येभ्य इति, क्षत्रियवैश्यादिसर्वेण्यस्ततः श्वचाण्डालपतितेभ्यश्च, एते बहिर्बलिभुजोत्तोन्ते दैवतत्त्वान् निरूपिताः, 'श्व-चाण्डालपतितवायसेभ्यो बलि'रिति, परं यथायोग्यं,

ततो गोभ्यो यवसं देयं चारुणार्थं न प्रस्थापनीयास्ततो गिरये पर्वताय बलिद्वयः, सर्वमेवाश्रमुत्तमं पर्वतसमीपे राशोभूतं कर्तव्यम् ॥२८॥

व्याख्यान—फिर औरों के लिए भी देओ-यह-अन्येभ्यः-इस श्लोक से कहते हैं । क्षत्रिय, वैश्य

योजना—हयन्ता—इस श्लोक की व्याख्या में—अलौकिको देवानामर्थे होमः (देवों के लिए अलौकिक होम) पदों का तात्पर्य यह है, कि स्मृति और पुराणों में कहे हुए कार्य लौकिक कहे जाते हैं । इसलिए अलौकिक शब्द से वेद में कहा हुआ समझना । इस से यह सिद्ध हुआ, कि वेदोक्त होम करिए । देयं वो धेनुदक्षिणाः—की व्याख्या में वैदिक प्रक्रिय से 'वः' 'युष्माभिः' (तुम्हें) तृतीया भी है तथा 'वः'—युष्माभ्यं (तुम्हारे लिए चतुर्थी है ही । इसलिए भगवान् जब नन्दरायजी आदि गोपों को उपदेश देते हैं, तब तो (तृतीया) तुम्हें देना चाहिए और जब पुरोहित ब्राह्मणों को दान का पात्र कहकर इनके लिए गाएँ दक्षिणा में देओ, तब—'वः' यह चतुर्थी विभक्ति है ॥२७॥



आदि वर्णों को तथा श्वान चाण्डाल और पतितों के लिए भी दीजिए । ये सब बाहर से बलि का उपभोग करने वाले हैं । इसलिए इनका देवता रूप से अन्त में (पीछे) निरूपण किया है । श्वान, चाण्डाल, पतित और कौश्रों के लिए बलि देना—ऐसा विधान है । परन्तु वह बलि-पूजा—उन सब की योग्यता के अनुसार ही करना चाहिए । गौश्रों को घास दीजिए, उन्हें वन में घास चरने के लिए नहीं भेजिए । फिर पर्वत गोवर्धन की पूजा कीजिए । सारा ही उत्तम अन्न का गिरिराज को भोग लगाइए (निकट ढेर कीजिए) ॥२८॥

श्लोक—स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः स्वनुलिप्ताः सुवाससः ।

प्रदक्षिणं च कुरुत गोविप्रानलपर्वतान् ॥२९॥

श्लोकार्थ—इसके पीछे भोजन करके, उत्तम वस्त्र और आभूषण पहन कर, सुगन्धित चन्दन लगाइए । फिर गऊ, ब्राह्मण, अग्नि और गोवर्धन पर्वत की प्रदक्षिणा कीजिए ॥२९॥

|                                                                                                                                                                 |                                                                                                                                                               |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>सुबोधिनी—ततः सर्व एव वयं स्त्रियो बालाश्च<br/>स्वलङ्कृता भुक्तवन्तः कृतभोजनास्ततश्चन्दनादिलेपन-<br/>युक्तास्तत उत्तमकञ्चुकादिवस्त्राणि परिधाय गोवर्धनस्य</p> | <p>प्रदक्षिणं कुरुत चकाराद् वृन्दावनस्यापि गवां विप्राणा-<br/>मग्नीनां च प्रदक्षिणं कर्तव्यं, पर्वता अन्येपि तत्समीपस्थाः,<br/>आचाराद् गोवर्धन एव वा ॥२९॥</p> |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

व्याख्यान—पीछे हम सब पुरुष, स्त्रियां और बालक सुन्दर आभूषण पहिनें, भोजन करके चन्दन आदि का अपने अंगों पर लेप करें । उत्तम उत्तम वस्त्र धारण करके गोवर्धन पर्वत, वृन्दावन, गाँ, ब्राह्मण, अग्नि—इन सबकी परिक्रमा करिए । गोवर्धन के पास के दूसरे पर्वतों की भी अथवा सदाचार के अनुसार केवल गोवर्धन पर्वत की ही प्रदक्षिणा कीजिए ॥२९॥

श्लोक—एतन् मम मतं तात क्रियतां यदि रोचते ।

अयं गोब्राह्मणाद्रीणां मह्यं च दयितो मखः ॥३०॥

श्लोकार्थ—हे पिताजी ! मेरी तो यही सम्मति है । आप लोगों को रुचे तो इस के अनुसार उत्सव कीजिए । यह यज्ञ गायों को, ब्राह्मणों को, गिरिराज को और मुझे भी प्रसन्न करने वाला होगा ॥३०॥

|                                                                                                                                                                         |                                                                                                                                                                                   |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>सुबोधिनी—ननु किमेतद् वैदिकं वैदिकादिष्वन्य-<br/>तरदाहोस्विद युक्तिसिद्धं केवलयुक्तिसिद्धत्वे पूर्वयुक्तिसिद्ध<br/>इन्द्रयाग एव कथं न क्रियत इत्याशङ्क्याहैतन् मम</p> | <p>मतमिति, भवद्विरिन्द्रो वाहं वा परिग्राह्यो मत्परिग्रह<br/>एतन् मम मतं कर्तव्यमिन्द्रपरिग्रहे त्विन्द्रयागः कर्तव्य-<br/>स्तात इत्तिसम्बोधनादत्र स्नेहोप्यधिकः सेत्स्यस्यतः</p> |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

क्रियतां तथापि निर्वन्धेन न कर्तव्यं तथा सत्यश्रद्धया  
कृतमकृतं स्यात्, किञ्चायं यागो गवां ब्राह्मणाद्रीणां मम  
च दधितः, चकाराद् देवनामपि प्रियश्चायं यागो यतो

मह्यं मत्सम्प्रदानकमेव, एवं सर्वथा तत्परित्यागेनैतत्  
कर्तव्यमिति ज्ञापितम् ॥३०॥

व्याख्यार्थ—यहाँ शंका होती है, कि क्या यह वैदिक-वेदोक्त-है अथवा वेदोक्त आदि कर्मों में से-ऐसा करना-कोई एक है या केवल युक्ति सिद्ध ही है ? यदि केवल युक्तिसिद्ध ही हो तो परम्परा से चले आए इन्द्रयाग को ही क्यों नहीं किया जाए ? (ऐसी शंका) इस शंका का उत्तर- 'एतन्मम'—इस श्लोक से देते हैं । भगवान् नन्दरायजी से पूछते हैं, कि आप लोगों को इन्द्र का कहना मानना है अथवा मेरे कहने के अनुसार अन्नकूटोत्सव करके मुझे प्रसन्न रखना है ? यदि मेरा ग्रहण करना चाहते हो, तो, मेरा तो, यही गोवधन पूजा करने का सिद्धान्त है और यदि इन्द्र के पक्ष का होना है, तो इन्द्रयाग करिए । हे तात ! इस स्नेह सूचक सम्बोधन पद से यह सूचित होता है कि मेरी बात को स्वीकार करने में स्नेह भी अधिक बढ़ेगा । इससे मैंने कहा, वही कीजिए । वह भी केवल मेरे आग्रह से ही मत करिए; क्योंकि, ऐसा करने पर वह अश्रद्धा से किया गया हो जाएगा । जिसका करना, न करना होगा । यह याग गाय, ब्राह्मण, पर्वत और मुझे भी प्रिय है । (चकार से) देवतों का भी चाहा हुआ-प्यारा-है । क्योंकि वह मेरे लिए ही किया जाएगा । इस कथन से यह सूचित किया, कि इन्द्रयाग का सर्वथा परित्याग करके यह ही कर्तव्य है ॥३०॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—कालात्मना भगवता शक्रदर्पं जिघांसता ।

प्रोक्तं निशम्य नन्दाद्याः साध्वगृह्णन्त तद्वचः ॥३१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि कालरूप भगवान् ने इन्द्र के अहंकार को मिटाने की इच्छा से जो कहा, उसको सुनकर, नन्द आदि गोपों ने उनकी बड़ी बड़ाई की और प्रसन्नता पूर्वक स्वीकार कर लिया ॥३१॥

सुबोधिनी—हृदयपूर्वकं भगवताज्ञापितमिति तेषां  
हृदये समागतमिति वदन् तथा कथने हेतुमाह कालात्म-  
नेति, अयं दुष्टनिराकरणार्थं कालात्मा जातः कालस्या-  
त्माधिदैविकरूपोन्तर्यामी वा जातः, तादृशोपि न  
स्वरूपात् प्रभृत् इत्याह भगवतेति, तथाकथने हेतुः  
शक्रदर्पं जिघांसतेति गर्वस्तस्य दूरीकर्तव्यस्तदुपकारार्थं  
समागते भगवति तेनावश्यमनुवृत्तिः कर्तव्या तथा सति

लीला पुष्टा भवति भूयांश्च निरोधः कर्तव्यो न भवति,  
अनुवृत्त्यकरणं च गर्वात्, ऐश्वर्यं च तत्र हेतुः, अधि-  
कारित्वात् तन्न निराकर्तव्यमतो भ्रमशास्त्रप्राप्तमेव तस्य  
निराकृतवान्, अतस्तेन प्रोक्तं निशम्य साधनं श्रुत्वा  
मुख्या एव नन्दाद्याः साधु तद्वाक्यं यथा भवति तथा-  
गृह्णन्त तदुक्तोर्थोद्गीकृतः ॥३१॥

व्याख्यार्थ—शुद्ध और सच्चे हृदय से की हुई, भगवान् की यह आज्ञा उनके अन्तःकरण में अच्छी तरह समा गई—यह कहते हुए श्री शुकदेवजी भगवान् के इस प्रकार कहने का कारण-



‘कालात्मा’—इस श्लोक से कहते हैं। दुष्टों का निवारण करने के लिए भगवान् कालरूप हुए हैं। काल की आत्मा आधिवैदिक रूप, किंवा अन्तर्यामी हुए हैं। कालरूप होने पर उनके मूलरूप में कोई कमी नहीं आई है—यह भगवता—इस पद का अभिप्राय है। इस तरह कहने में कारण यह है, कि भगवान् की इच्छा इन्द्र के अभिमान को दूर करने की थी। इन्द्र पर कृपा करने के लिए उसके गर्व को दूर करना ही चाहिए। भगवान् के पधार आने पर, इन्द्र को भी भगवान् का अनुवर्तन अवश्य करना उचित था। जिससे यह लीला पुष्ट हो जाती और विशेष निरोध की आवश्यकता नहीं रह जाती। किन्तु इन्द्र ने ऐश्वर्य के कारण होने वाले गर्व से, भगवान् के कथनानुसार नहीं किया। इन्द्र अधिकारी देवता है। उसके उस अधिकार से होने वाले ऐश्वर्य को दूर करना उचित नहीं है। इसलिए उसके (इन्द्र के) भ्रम शास्त्र से हुए गर्व को ही दूर किया। इस कारण से भगवान् के वचन और साधन प्रकार को सुनकर नन्द आदि मुख्य २ गोपों ने भगवान् के वचनों की सराहना की और उनके कथनानुसार ही करना स्वीकार कर लिया ॥३१॥

श्लोक—तथा च व्यदधुः सर्वं यथाह मधुसूदनः ।

वाचयित्वा स्वस्त्ययनं तद्द्रव्येण गिरिद्विजान् ॥३२॥

श्लोकार्थ—मधुसूदन भगवान् के कथनानुसार गोपों ने सब वैसा ही किया। पहले स्वस्तिवाचन कराकर उस द्रव्य से गिरिराज तथा ब्राह्मणों का पूजन सत्कार किया ॥३२॥

सुबोधिनी—ततस्तथैव कृतवन्त इत्याह तथा । स्वस्त्ययनमित्युक्तवान् स्वस्तिवाचनं पुण्याहवाचनं ततः चेति, विधानपूर्वकं कृतवन्त इति वक्तुं वाचयित्वा । पूज्यानामर्चा ग्रहाणामिव निमन्त्रणप्रायमेतत् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—फिर वैसा ही किया—यह—‘तथा च’—इस श्लोक से कहते हैं। विघ्नी पूर्वक किया—यह कहने के लिए मूल में—वाचयित्वा स्वस्त्ययनं—(स्वस्तिवाचन कराकर) ऐसा कहा है। स्वस्तिवाचन अर्थात् पुण्याहवाचन कराकर पूजनीयों की पूजा की ! ग्रहों को जिस प्रकार निमन्त्रण किया जाता है, यहां भी सब विधि वैसी ही समझना चाहिए ॥३२॥

श्लोक—उपहृत्य बलीन् सर्वानाहता यवसं गवाम् ।

गोधनानि पुरस्कृत्य गिरि चक्रुः प्रदक्षिणाम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—भगवान् की आज्ञानुसार, ग्रहों, दिशा के देवों (दिक्पालों) को बली अर्पण करके गायों को हरी हरी घास खिला कर सन्तुष्ट किया। फिर गायों और बछड़ों को आगे करके गिरिराज की प्रदक्षिणा करने लगे ॥३३॥

सुबोधिनी—ततः सबनिव बलीनुपहत्य ग्रहेभ्यो दिग्देवताभ्यस्तदङ्गैर्म्यश्च यथोक्तप्रकारेण बलीन् दत्वा पूजाप्रकारानुपहारांश्च, ततः स्वयमत्यादरयुक्ता गोधनान्यग्रे कृत्वा गिरि प्रदक्षिणं चक्रुः प्रकर्षेण दक्षिणो यथा

भवति तथा, यद्यपि सामान्यकथनेनैव विशेषः समायाति तथाप्यन्यूनानतिरिक्तं कृतमिति वक्तुं विशेष उच्यते ॥३३॥

व्याख्यानार्थ—फिर सारी बलि अर्पण करके (निकट रख कर) ग्रहों, दिक्पालों तथा उनके अंगभूतों के लिए भगवान् के कथनानुसार विधिपूर्वक बलि देकर—(पूजा करके)—भेंट धरी। फिर स्वयं विशेष आदरयुक्त होकर, गायों को आगे लेकर गिरि गोवर्धन की प्रदक्षिणा करने लगे। अच्छी तरह दक्षिण अर्थात् दाहिने हाथ की तरफ गिरिराज को रखकर प्रदक्षिणा की। यद्यपि सामान्य कथन से ही विशेष का ग्रहण हो जाता है, तो भी यहाँ विधि में कमी तथा विधि विरुद्ध का अभाव बतलाने के प्रदक्षिणा की विशिष्टता कही गई है ॥३३॥

श्लोक—अनांस्यनडुद्युक्तानि ते चारुह्य स्वलङ्कृताः ।

गोप्यश्च कृष्णवीर्याणि गायन्त्यः सद्विजाशिषः ॥३४॥

श्लोकार्थ—वस्त्राभूषणों से अलंकृत हुए गोपालों ने बैलों के छकड़ों को सुसज्जित किया। भांति २ के वस्त्र तथा अलंकारों को धारण करने वाली गोपियाँ उन पर चढ़कर श्रीकृष्ण की लीलाओं को गाती हुई, गिरिराज की परिक्रमा करने लगीं। ब्राह्मण लोग भी प्रसन्न होकर शुभ और अमोघ (सफल) आशीर्वाद देने लगे ॥३४॥

सुबोधिनी—प्रदक्षिणायां विशेषमाहानासीति, अन्यथा क्लेशः स्याद् भगवत्परता च न स्यादतोनांस्यनडुद्युक्तानि कृतानि, ततोनांस्यलङ्कृतान्यनडुहश्च ते गोपालास्तान्यारुह्य चकारादनारुह्याप्यन्यानारोप्य सुष्ठ्वलङ्कृता जाता येलङ्कारा अधो न भवन्ति, गोप्योप्यारुह्य प्रदक्षिणं चक्रुरितिसम्बन्धः, चकारा-

दन्याश्च स्त्रियः कृष्णस्य सदानन्दस्य स्वार्थमेवावतीर्णस्य वीर्याणि पूतनानिराकरणादीनि गायन्त्यो जाताः, अनेन कर्मण्यङ्गवैकल्यं च निराकृतं, सत्यो द्विजाशिषश्च जाताः सतां द्विजानां सतां वा भगवदीयानां द्विजानां च, अनेनास्मिन् यागे ब्राह्मणानामतिसन्तोषः स्त्रीणां चेति निरूपितम् ॥३४॥

व्याख्यानार्थ—प्रदक्षिणा की विशेषता का वर्णन, 'अनांसि' इस श्लोक से करते हैं। छकड़ों में बैठकर न जाते तो परिश्रम होता और चित्त भगवान् में स्थिरता से नहीं लगता। इसलिए गाड़ों-छकड़ों-में बैल जोड़ लिए। गाड़ों तथा बैलों का शृङ्गार किया। वस्त्र तथा अलंकारों से अलंकृत हुए गोप उन गाड़ों पर बैठ गए और दूसरों को बिठाकर कई गोप पैदल ही चलते रहे। उन्होंने आभूषणों को अपने अंगों पर, इस तरह धारण किया था, जो वे नीचे गिर नहीं सकते थे। इसी तरह, गोपियाँ तथा अन्य स्त्रियाँ भी सुसज्जित होकर छकड़ों पर बैठकर गिरिराज की प्रदक्षिणा करने लगीं। अपने (ब्रजाङ्गनाओं के) लिए ही अवतार धारण करने वाले सदानन्द श्रीकृष्ण के पूतनामारणादि पराक्रमों का गान करने लगी। इस कथन से उनके शरीर में विकलता

तथा इस गोसव में न्यूनता का अभाव सूचित किया है । श्रेष्ठ ब्राह्मणों के अथवा भगवदीयों के आशीर्वाद सत्य हुए । इससे यह निरूपण किया है, कि इस याग में ब्राह्मण तथा स्त्रियों को अत्यन्त सन्तोष प्राप्त हुआ ॥३४॥

श्लोक—कृष्णस्त्वन्यतमं रूपं गोपविश्रम्भणं गतः ।

शैलोऽस्मीति वदन् भूरि बलिमादद् बृहद्वपुः ॥३५॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण भी गोपों को विश्वास कराने के लिए गिरिराज गोवर्धन के ऊपर दूसरे विशाल रूप से प्रकट होकर विराजमान हुए । ‘मैं ही गिरिराज हूँ’—ऐसा कह कर उस पुष्कल पकवान को आरोगने लगे ॥३५॥

सुबोधिनी—ते हि प्राकृता गोपाला दृष्टमेव मन्यन्तेतो विश्वासार्थ रूपान्तरं कृतवानित्याह कृष्णस्त्विति, अत्यन्तमन्योन्यतमोऽस्माद् रूपादतिविलक्षणोति-स्थूलो रूपान्तरमेव, तत् पर्वतस्याधिदैविक रूपमितिपक्षं व्यावर्तयति तुशब्दः, गोपानां विश्रम्भणं विश्वास गतः, विश्वासो यत्र तादृशे रूपे दृष्ट एव तेषां विश्वास इति

विश्वासो भगवद्विषयक इति तस्मादन्तं बलि वुभुजे तदा गोपैः कस्त्वमिति पृष्ठः शैलोऽस्मीति वदन्निगदः प्रकारवाची कश्चित् प्रति गोवर्धनोऽस्मीति कश्चित् प्रति शैलोऽस्मीति कश्चित् प्रति पर्वतोऽस्मीत्येवं वदन्, एवं भूरिवलिमादत् पक्वानादिकं बहु भक्षितवान् पर्वतस्थान् सर्वानिव तपितवान् ॥३५॥

व्याख्यानार्थ—वे गोप लोग प्राकृत-(लौकिक)-थे । इस लिए वे तो देखे हुए-(प्रत्यक्ष)-पर ही विश्वास करने वाले थे । उनको विश्वास दिलाने के लिए भगवान् ने दूसरा रूप धारण किया—यह, ‘कृष्णस्तु’ इस श्लोक से कहते हैं । इस रूप में अत्यन्त विलक्षण विशाल रूप धारण किया । भगवान् का यह एक दूसरा ही रूप था । यह रूप गिरिराज का आधिदैविक रूप होगा ? इस शंका के निवारण के लिए मूल में, ‘तु’ शब्द कहा गया है । गोपों के विश्वास को प्राप्त हुए । दृष्टि में आनेवाले प्रत्यक्ष रूप में ही, उनका विश्वास था । इसलिए वह विश्वास भगवद्विषयक ही था । भगवान् ने दूसरा विशाल रूप धारण करके, पकवान का भोजन किया । जब गोपों ने पूछा कि—‘आप कौन हैं’ ? तब भगवान् ने कहा कि “मैं गिरिराज हूँ” मूल में आए हुए ‘इति’ शब्द का प्रकार अर्थ है अर्थात् किसी से—मैं गोवर्धन हूँ, किसी से “मैं शैल हूँ”, किसी से “मैं पर्वत हूँ”—इस प्रकार उत्तर दिया । ऐसा कहकर, उस पकवान आदि का खूब भोजन किया और पर्वत पर रहने वाले सभी को तृप्त किया ॥३५॥

योजना—इस श्लोक के विवरण में—अनङ्गुहश्च—पद का—आरुह्य पद के साथ अन्वय है । इसलिए यह द्वितीया विभक्ति-कर्म है और गाड़ों पर बैठ कर गए—यह सम्बन्ध है ॥३४॥

योजना—‘आधिदैविक रूप’—इन व्याख्या के पदों का तात्पर्य यह है, कि यह रूप गोवर्धन का

श्लोक—तस्मै नमो व्रजजनैः सह चक्रेत्मनात्मने ।

अहो पश्यत शैलोसौ रूपो नोऽनुग्रहं व्यधात् ॥३६॥

श्लोकार्थ—उस समय श्रीकृष्ण भगवान् ने व्रजवासियों के साथ स्वयं अपने दूसरे रूप को नमस्कार किया फिर गोपों से कहा—अहो देखो ! गिरिराज ने स्वयं प्रकट होकर हम पर दया दिखाई है । यह जब चाहे, जैसा रूप धारण कर सकते हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—ततः केषाञ्चित् सन्देहोपि भवेदिति सर्वान् प्रदर्श्य नमस्कारं करोति, व्रजजनैः सह तस्मै नमश्चक्र आत्मना स्वेनैवात्मने स्वस्मै, आकारस्त्वत्र वैदिकप्रक्रियया लुप्तः, आत्मनेति द्वारान्तरनिषेधाय स्वरूपस्य करणता, तत्र तत्र स्थिता मायापसारितेति ज्ञापयितुमात्मन इत्युक्तं, सर्वथा 'तदेवैत'दितिवचन-मप्याहाहो पश्यतेति, असौ शैलः सर्वात्मिकत्वादानन्द-भयस्य बीजस्य तथात्वादतस्तन्नाम्नैव व्यपदिश्यते,

पश्यतेतिप्रबोधनं विशेषज्ञापनार्थं प्रमाणस्तुपरतन्त्रेपि सावधानार्थं विधियुक्त एव, ननु शैलो गोवर्धनः पृथग् दृश्यते कथमसौ शैल इति ? तत्राह रूपोति असौ रूपवान् कामरूपो ह्ययं, अतो भवतां सन्तोषार्थमेतादृश-रूपं कृत्वा भुङ्क्त इत्यर्थः, एतदप्यानन्द एव सङ्गच्छते, किञ्च नोस्माकमनुग्रह व्यधाद् दत्तार्थस्वीकारात्, अन्यथा प्रदर्शयेदेवात्मानं न तु भुञ्जीत, न इति सामान्योक्तिर्न-मस्कारवत् समर्थनीया ॥३६॥

व्याख्यार्थ—कई एक लोगों को सन्देह भी हो सकता है । इसलिए सब को दिखाकर नमस्कार करना—'तस्मै नमः'—इस श्लोक से कहते हैं । व्रजजनों के साथ, उस शैल रूप को नमस्कार किया । स्वयं आपने स्वयं अपने लिए ही नमस्कार किया । वैदिक प्रक्रिया से यहाँ आत्म शब्द के आकार का लोप हो गया है । आत्मना अर्थात् स्वयं ने नमस्कार किया, किसी अन्य के द्वारा परम्परा से नहीं ।

ग्राधिदैविक रूप नहीं था । यह तो, श्री गोवर्धन में विराजने वाले शुद्ध पुष्टि पुरुषोत्तम का स्वरूप था । यहाँ गोवर्धन निवासी पुरुषोत्तम स्वरूप के साथ, श्री नन्दराज कुमार पुरुषोत्तम का दोनों का साथ साथ ही भोजन करना समझना चाहिए; क्योंकि, दोनों स्वरूप एक ही तो हैं । इसलिए एक नन्दराजकुमार रूप से गोपों को गोवर्धन में निवास करने वाले स्वरूप की पूजा करने का उपदेश देते हैं और स्वयं गोवर्धन की पूजा करते हैं । उस शिक्षक स्वरूप में नन्दरायजी की पुत्र भावना दृढ़ है, वे उस स्वरूप को अपना पुत्र मानते हैं । इसलिए—यह देव मेरे पुत्र का कल्याण करें—इस भावना से नन्दरायजी स्वयं पूजा करते हैं और अपने बालक श्रीकृष्ण से पूजन कराते हैं । इसलिए इस लीला और इस भाव को लेकर हमारे मार्ग में भगवान् श्री नवनीत-प्रियजी गोवर्धन की पूजा करते हैं । नन्दराजकुमार और गोवर्धन में सदा विराजमान—दोनों स्वरूपों ने साथ ही भोजन किया था । इस कारण से, गोकुल और गोवर्धन में रहनेवाले दोनों स्वरूपों की भोजनलीला एक ही स्थान पर बतलाने के लिए श्री गुसाईजी—श्री विठ्ठलनाथजी—महाराज ने भगवान् की आज्ञा से, श्री नवनीत प्रिय आदि स्वरूपों को, श्री गोकुल से पधरा कर श्री गोवर्धनधर के साथ अन्नकूटोत्सव में स्थापित किए । वे सब स्वरूप साथ ही भोजन करते हैं । श्रीमद्भागवत के अनुसार गोकुलस्थ पुरुषोत्तम स्वरूप और गोवर्धनस्थ पुरुषोत्तम स्वरूप दोनों का साथ २ भोजन का वर्णन होने से, दोनों स्वरूपों का अलग २ दर्शन का वर्णन किया गया है ॥३५॥

स्वरूप को ही साधन बनाकर, उस उस स्थान पर की माया को दूर किया—इस बात को सूचित करने के लिए आत्मने (अपने आप के लिए) पद का प्रयोग किया है। सर्वथा 'वह ही यह है (भगवान् स्वयं गोवर्धन हैं)—ऐसा भी—अहो पश्यत (अहो देखो) इन पदों से कहते हैं। यह भगवान् पर्वत है; क्योंकि भगवान् सर्वात्मक हैं। सर्वात्मक ही आनन्दमय का बीज—मूलस्थान—हैं इसलिए उस—पर्वत—के नाम से ही यहाँ कहा गया है। विशेष ज्ञान कराने के लिए ही भगवान् ने गोपों से—'पश्यत'—देखो—ऐसा प्रबोधन रूप में कहा है। यद्यपि वस्तु का ज्ञान प्रमाणाधीन है, तो भी, सावधान करने के लिए—देखो—यह विधिप्रयोग उचित ही है।

पर्वत तो गोवर्धन है जो अलग दिखाई देता है, भगवान् पर्वत कैसे हो सकते हैं? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि यह रूपी अर्थात् जब चाहे जैसा रूप धारण कर लेते हैं। इसलिए आप लोगों को सन्तुष्ट करने के लिए ऐसा रूप धारण करके भोजन करते हैं। इच्छानुसार जब चाहे जैसा रूप धारण कर लेना भी आनन्दरूप भगवान् में ही सम्भव हो सकता है; क्योंकि वही (आनन्द रूप भगवान् ही) सब का बीज है \* यह ऊपर कहा जा चुका है। हमारे द्वारा अर्पण किए हुए सभी पदार्थों को स्वीकार करके इन्होंने हमारे ऊपर बड़ा अनुग्रह किया है। नहीं तो केवल दर्शन दे देते, भोजन नहीं करते। नः (हमारे ऊपर) का तात्पर्य यह है कि जैसे ऊपर स्वयं ने स्वयं अपने आप को ही नमस्कार करना लिखा है, वैसे ही यह सामान्य कथन अर्थात् स्वयं हमने हमारे ऊपर ही अनुग्रह किया है ॥३६॥

\* आनन्दाद्धयेव स्वत्वमानि भूतानि जायन्ते ।

लेख—'तस्मै नमः' की व्याख्या में—तथात्वात् अर्थात् भगवद्रूप होने से। श्रुति में आनन्द को ही सब का बीज कहा है और वह आनन्द भगवत्स्वरूप है। इसलिए सब नामों से भगवान् ही कहे जाते हैं। एतदपि—अर्थात् आनन्द के बीज और बीज के सूक्ष्म होने से उसके कार्य का जब चाहे जैसा रूप धारण कर लेना उचित ही है। नमस्कारवत् (नमस्कार की तरह) का आशय यह है, कि जैसे स्वयं ने स्वयं को नमस्कार किया ऐसे ही स्वयं ने स्वयं पर अनुग्रह किया।

योजना—'तस्मै नमः'—इस श्लोक की व्याख्या में—आत्मानात्मने—इत्यादि से यह अर्थ बोध होता है कि स्वयं भगवान् ने एक स्वरूप से नन्दराजजी के साथ रह कर गोवर्धन में रहने वाले अपने दूसरे स्वरूप को नमस्कार किया। ब्रज वासियों के सारे भाव—(स्नेह)—श्रीकृष्ण ही में स्थित थे, किन्तु नन्दराजकुमार रूप से थे। उनकी श्रीकृष्ण में देवबुद्धि नहीं थी। वे देवभाव से किसी दूसरे का भजन करेंगे तो भगवान् में निरोध सिद्ध नहीं होगा। इसलिए उनका भगवान् में निरोध सिद्ध करने के लिए और अपने में देव भाव स्थापन करने के लिए श्री गोवर्धन पर्वत में रहने वाले स्वरूप का पूजन करवाया। उन गोपों के हृदय में माहात्म्यज्ञान प्रकट करने के लिए स्वयं ने भी गोवर्धन की पूजा की। इस लीला से यह सिद्ध होता है, कि ब्रजवासियों का देव गोवर्धन पर्वत में रहनेवाले भगवान् पुरुषोत्तम हैं। इसी कारण से, गोवर्धन पर विराजमान श्री गोवर्धननाथजी हमारे सिद्धान्त—(पुष्टिमागं)—में देव हैं। उनमें ही देव रूप से व्यवहार होता है। जैसे देव मन्दिर में, ध्वजा आदि (का आरोपण) बांधी जाती है वैसे ही पुष्टिमागीय वैष्णवों को ऐसी भावना करना चाहिए।

शंका होती है कि भगवान् ने अपने आपको—शैलोऽस्मि—शैल-पर्वत—क्यों कहा; क्योंकि गोवर्धन पर्वत का स्वरूप तो अलग दिखाई दे रहा है? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् पर्वत है, क्योंकि भगवान् मर्मात्मक—सर्वस्वरूप—है। यह (एतदात्म्यमिदं सर्वम्, पुरुष एवेदं सर्वम्, स सर्वं भवति) सारा जगत् भगवन्मय है, भगवान् ही यह सारा जगत् है, भगवान् ही सब जगद्रूप होते हैं—इत्यादि श्रुतियों में भगवान् की सर्वरूपता का स्पष्ट वर्णन है। इसी बात का व्याख्या में—आनन्दमयस्य बीजस्य तथात्वात्—(आनन्दमय बीज सर्व रूप है) इत्यादि पदों से स्पष्ट किया है। यह जीव (एतमानन्दमय—मात्मानमुसंक्रामति) आनन्दमय आत्मा को प्राप्त होता है—इस श्रुति के अनुसार यह आनन्दमय है। आनन्दमय ही सबका कारण है—इसलिए वही बीज है। आत्मा से ही, आकाश उत्पन्न हुआ। आत्मा से ही, यह सब भूत—प्राणिमात्र उत्पन्न होते हैं—इत्यादि श्रुतियों में आनन्द को सब का कारण कहा है

श्लोक—एषोवजानतो मर्त्यान् कामरूपी वनौकसः ।

हन्ति ह्यस्मै नमस्यामः शर्मणे आत्मनो गवाम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—वन में रहने वाले जो प्राणी इनका अपमान करते हैं, यथेच्छ रूप धारण करने वाला यह देव उनका विनाश करदेता है । आओ, हम लोग अपने और गायों तथा सारे व्रज के कल्याण के लिए इनको नमस्कार—(प्रणाम)—करें ॥३७॥

सुबोधिनी—एवं तस्य स्वरूपमुक्त्वाऽपि भजन-सिद्ध्यर्थं प्रार्थयतेत्याहैष इति, अप्रार्थनायां बाधकं वदन्नवज्ञामात्रेपि बाधकमाहावजानतोवजां कुर्वतः किमर्थं करिष्यतीति मर्त्यान् मरणधर्मयुक्तानिदं महदनिष्टमिष्टानिष्टवार्ता दूरे वस्तुतो हृत्येव तस्य हनने सामर्थ्यं प्रकारं चाह कामरूपीति, कामं यथेष्ट रूपवानतः शस्त्री भवति व्याघ्रो भवति सिंहो भवति, पलायनं त्वशक्यं यतः सर्वे वनौकसः, धनमेवौकः स्थानं येषामित्यतस्तान्

हृत्येव, अहनन उपायमाहास्मै नमस्याम इति, अप्रतारणार्थमात्मानुप्रवेशः, हेतुवादोयमितीतरनिषेधे तात्पर्यान् नात्यन्तमाग्रहः कर्तव्यः, आत्मनः शर्मणे गवां च शर्मणे व्याघ्रादीनामुभयोपद्रवजनकत्वात्, नमस्कार एव महतां प्रतिविधिः, तदाह हिशब्दः, एवमप्येपि तथाकरणसिद्ध्यर्थमेतत्परित्यागे भयं च जनयितुं तथोक्तवान्, ईश्वरवाक्यात् तथैव च भवेत् ॥३७॥

व्याख्यानार्थ—इस तरह उसके स्वरूप का वर्णन करके आगे भी भजन की सिद्धि के लिए इसकी प्रार्थना करो यह, 'एषः' इस श्लोक से कहते हैं । प्रार्थना न करने में बाधा का वर्णन करते हुए केवल अपमान करने पर भी, बाधा का वर्णन करते हैं, कि इनका तिरस्कार करने वाले मरण धर्म वाले—(नाशवान)—प्राणियों का बड़ा अनिष्ट होता है । इष्ट, अनिष्ट की बात तो दूर रही, यह तो उनका विनाश ही कर देता है; क्योंकि यह जब चाहे जैसा रूप धर लेता है । शस्त्र धारी हो जाता है, व्याघ्र तथा सिंह रूप धारण कर लेता है । इसके सामने से कोई भग्न कर बच नहीं सकता; क्योंकि सब धन में रहने वाले हैं । इसलिए उन्हें यह मार ही डालता है । न मारने का (बचने का) उपाय बतलाते हैं कि—आओ हम सब इनको नमस्कार करें । गोपों की प्रवचना न करने—(उन्हें न ठगने)—के लिए नमस्कार करने वालों में अपनी भी गणना करते हैं अर्थात् गोपों के साथ स्वयं भी पर्वत को नमस्कार करते हैं । यह हेतुवाद है । इसलिए यहां दूसरे का निषेध करने में ही तात्पर्य है । विशेष आग्रह करने की आवश्यकता नहीं है । अपने और गौओं के कल्याण के लिए इनको नमस्कार करें । व्याघ्र, सिंह आदि हिंसक जन्तु हम गोप और गायों—दोनों को ही—उपद्रव करते हैं । महापुरुषों के कोप की शान्ति के लिए नमस्कार ही किया जा सकता है, अर्थात् महापुरुष केवल नमस्कार करने से ही प्रसन्न हो जाते हैं । यह मूल में आए हुए—हि—शब्द का तात्पर्य है ।

और सब का कारण होने से, आनन्द ही बीज है । बीज समवायी कारण है और कार्य समवायी कारण से अभिन्न होता है—इसलिए कार्य—जगत् भी—आनन्द रूप ही है । इस कारण से भगवान् सबके कारण होने से, स्वयं शैल रूप भी हैं । अतः भगवान् का अग्ने आप को शैलरूप कहना उचित ही है । नमस्कारवत् समर्थनीया (नमस्कार की तरह समर्थन करना चाहिए) व्याख्या के इन पदों का अभिप्राय यह है कि जैसे स्वयं भगवान् ने शैल—पर्वत—रूप स्वयं को नमस्कार करके उन व्रजवासियों को उस शैलरूप स्वरूप का माहात्म्य ज्ञान कराया, इसी तरह (अपने ऊपर) माहात्म्य—ज्ञान कराने के लिए अपने ऊपर अनुग्रह किया है । (ऐसा कहा है) इससे, जिन व्रजवासियों पर अनुग्रह हुआ, उनमें भगवान् ने अपने आप की भी गणना की ॥३६॥

यह गिरि गोवर्धन पूजोत्सव-अन्नकूट-आगे भी इसी तरह चालू रखने तथा इसको त्यागने पर भय उत्पन्न करने के लिए भगवान् ने इस प्रकार के वचन कहे हैं । भगवान् के वचन होने के कारण, वैसा होवे ही, अर्थात् गोवर्धन का अपमान करने वालों का विनाश अवश्य ही हो सकता है ॥३७॥

**श्लोक—इत्यद्विगोद्विजमखं वासुदेवप्रणोदिताः ।**

**यथा विधाय ते गोपाः सहकृष्णा व्रजं ययुः ॥३८॥**

**श्लोकार्थ—**इस प्रकार वासुदेव भगवान् की प्रेरणा से वे गोप लोग भगवान् की आज्ञानुसार ही गोवर्धन, गायों और ब्राह्मणों के वैष्णव याग को विधिवत् करके फलरूप भगवान् श्रीकृष्ण के साथ व्रज में चले गए ॥३८॥

|                                                                                                                                                                                                         |                                                                                                                                                                                                                 |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>सुबोधिनी—एवं कारयित्वा बोधयित्वा च पुनः स्वस्थानं प्रापितवानित्युपसंहरतीतीति, अद्विगोद्विजानां मखं वैष्णवमखं कृत्वा वासुदेवेनैव प्रकर्षेण नोदिता विशेषाकारेण तत्र तत्र तथा तथा बोधिता यथा यथावद्</p> | <p>विधाय भगवदावेशेनैतत् कृत्वा पुनस्त एव गोपा भूत्वा फलसहिता व्रजं ययुः स्वस्थानं प्राप्तवन्तः, अन्ते प्रत्यापत्तिरुक्ता, अन्यथा तज्जनितमन्यदेव किञ्चित् फलं स्यादिति शङ्का स्यादतः प्रत्यापत्तिरुक्ता ॥३८॥</p> |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

इति श्रीमद्भागवत सुबोधिनीयां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणे-  
वान्तरसाधनप्रकरणे तृतीयस्य स्कन्धादित एकविंशोऽध्यायस्य विवरणम् ॥

**व्याख्यानार्थ—**इस प्रकार गोवर्धन याग कराकर, उनको पीछे अपने स्थान पर ले गए—यह उपसंहार—इति—इस श्लोक से करते हैं । गोवर्धन, गाय और ब्राह्मणों के वैष्णवयाग को वासुदेव भगवान् के द्वारा ही प्रेरित हुए वे गोप लोग अर्थात् जहाँ २ जैसा २ कर्तव्य था—उसी तरह भगवान् के द्वारा बोधित होकर विधि पूर्वक यह सब—भगवान् के आवेश से—करके, फिर केवल गोप ही—भगवान् के आवेश से रहित—होकर फल रूप भगवान् के साथ अपने स्थान व्रज को लौट गए । अन्त में यह कहा गया है कि वे व्रजवासी जन पहले जैसे थे, वैसे ही हो गए । यदि यहाँ अन्त में यह नहीं कहा जाता तो इससे होने वाले कुछ दूसरे ही फल के उत्पन्न होने की शंका हो जाती । इस ऐसी शंका का अवसर, न आने देने के लिए ही पहले वे जैसे थे, वैसे ही (आवेश शून्य) होकर व्रज को लौट गए ॥३८॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्ध के २१ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी “संस्कृत टीका” के तामस साधन अवान्तर प्रकरण के तीसरा अध्याय हिन्दी-अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

**टिप्पणी—**‘इत्यद्वि०’—इत्यादि श्लोक की व्याख्या—वासुदेव-प्रणोदिताः (वासुदेव के बोध से) यहाँ वासुदेव शब्द कहने का तात्पर्य यह है, कि गोपों के अन्तःकरण को शुद्ध सत्त्वाकार करके, उसमें कर्मोपयोगी श्रद्धा और सामर्थ्य उत्पन्न की और फिर उसमें स्वयं प्रकट होकर भगवान् ने यह सब करवाया । इसी अभिप्राय से (प्रचोदिताः) प्रेरणा पाए हुए गोप लोगों ने (गोवर्धन याग) यह सब कुछ किया—ऐसा कहा है । अन्यथा ऐसा नहीं कहा जाता । अन्त में पीछे लौटते समय वे केवल गोप ही मुख्य थे, उनमें भगवान् गौण हो गए थे । इसलिए उस समय, उनमें भगवान् का आवेश नहीं था—ऐसा सूचित होता है । इन दोनों पदों के तात्पर्य को व्याख्या में—भगवदावेशेनैतद् (भगवान् के आवेश से यह सब किया) इत्यादि कहकर प्रकट किया है ॥३८॥

॥ इति शुभम् ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## • श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका ( हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध ( पूर्वार्ध )

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २५वां अध्याय

श्रीसुबोधिनी अनुसार, २२वां अध्याय

### तामस-साधन-अवान्तर प्रकरण

‘चतुर्थोऽध्याय’

श्री गोवर्धन धारण

—००००००—

कारिका—हेतुशास्त्रमिदं यस्माद् दृष्टार्थमुपयुज्यते ।

अदृष्टार्थं तथा चान्यत् तज् ज्ञापयति निश्चितम् ॥१॥

कारिकार्थ—यह हेतु शास्त्र है; क्योंकि इस का दृष्ट फल में उपयोग है अर्थात् जिस किसी कार्य के करने से उसका फल (परिणाम) प्रत्यक्ष दिखाई देता हो, वह हेतु शास्त्र है, जैसे यहाँ इन्द्रयाग करने पर इन्द्र वृष्टि द्वारा लोक को सुखी करता है । इसलिए यह हेतु शास्त्र है और जिसका फल यहाँ स्पष्ट नहीं दिखाई देता हो, वह शास्त्र हेतु शास्त्र से भिन्न है । जैसे वेद में कहे हुए अग्निष्टोम आदि का फल स्पष्ट नहीं दीखता है । इसलिए वह हेतु शास्त्र का विरोधी शास्त्र कहलाता है । यह इन दोनों हेतुवाद—(प्रत्यक्ष शास्त्र) तथा अहेतुशास्त्र—(परोक्ष शास्त्र) का निश्चय है ॥१॥

टिप्पणी—कारिका में कहे—तद् ज्ञापयति निश्चितम् (उन दोनों शास्त्रों का निश्चय कहा जाता है) । पदों का अर्थ कहते हैं । यहाँ जिस कर्म का फल स्पष्ट दीखता है, उस इन्द्रयाग रूप कर्म का अधिष्ठाता इन्द्र अपने यज्ञ का त्याग (भंग) होने के कारण—अनिष्ट उत्पन्न करके अपना प्रभाव प्रकट करता है ।



कारिका—हैतुके फलभोक्तायमिन्द्रो विघ्नं चकार ह ।

वृष्टिरूपं ततः कृष्णः शैलधारी बभूव है ॥२॥

कारिकार्थ—हैतुक—(दृष्टफलक)—यज्ञ में फल का भोगने वाला यह इन्द्र है, जिसने वृष्टिरूपी विघ्न करके अपना प्रभाव दिखाया । इस कारण भगवान् कृष्ण को गोवर्धन-धारी होना पड़ा ॥२॥

कारिका—उभयोर्हैतुकत्वार्थमेवं भगवता कृतम् ।

निषिद्धभोगिनो बुद्धिर्नृष्टा भवति सर्वथा ॥३॥

कारिकार्थ—इन्द्रयाग तथा पर्वत याग, ये दोनों ही दृष्ट फल वाले होने के कारण, भगवान् ने इस प्रकार इन्द्रयाग का भंग करके पर्वतयाग किया । निषिद्ध वस्तु का भोग करने वाले की बुद्धि का सर्वथा नाश हो जाता है ॥३॥

कारिका—इतीन्द्रस्य महामोहवाक्यान्याह विशेषतः ।

द्वाविंश ईर्यते कृष्ण इन्द्रेण विनिपीडितम् ॥४॥

व्रजं गोवर्धनं धृत्वा सम्यक् पालितवानिति ॥४३॥

कारिकार्थ—इस बात को बतलाने के लिए इन्द्र के महामोह के वाक्यों को विशेष रूप से इस बाईसवें अध्याय में कहते हैं और इसी अध्याय में यह भी कहा है, कि इन्द्र के द्वारा पीडित व्रज की, कृष्ण ने गोवर्धन धारण करके अच्छे प्रकार से रक्षा की ॥४३॥

॥ इति कारिकार्थः ॥

टिप्पणी—‘उभयोर्हैतुकत्वार्थम्’ (दोनों के हैतुक होने से)—कारिका के इन पदों का तात्पर्य यह है, कि यद्यपि भगवान् के इन्द्र के वृष्टि रूपी विघ्न से रक्षा कर लेने के, अनेक दृष्टि में न आने वाले भी, उपाय थे, तो भी गोवर्धन रूपी स्पष्ट दिखाई देने वाले साधन से ही रक्षा करने का कारण कहते हैं, ‘तच्छेषेणोपजीवन्ति’—(बाकी बचे हुए भाग से जीवित रहते हैं) श्री नन्दरायजी ने जैसे पूर्वाध्याय में कहा था कि हम लोगों के जीवन के आधारभूत अन्न को उत्पन्न करने वाले इन्द्र का याग करना चाहिए । इसी प्रकार, वही श्री भगवान् ने भी—वयं गोवृत्तयोऽनिशं, वनं शैलं निवासिनः, गवां ब्राह्मणानामद्रेश्चराम्यतां मखः (हम गोपाल सदा वन तथा पर्वत पर

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—इन्द्रस्तदात्मनः पूजां विज्ञाय विहतां नृप ।

गोपेभ्यः कृष्णनाथेभ्यो नन्दादिभ्यश्चुकोप सः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी राजा से कहते हैं कि तब इन्द्र ने अपनी पूजा के नाश को जानकर, श्रीकृष्ण को अपना स्वामी मानने वाले नन्द आदि गोपों पर बड़ा क्रोध किया ॥१॥

सुबोधिनी—पूर्वाध्याये इन्द्रयागभङ्गो निरूपितस्ततः क्रुद्ध इन्द्रो ब्रजपीडार्थं वृष्टिं करोतीति निरूप्यते इन्द्र इतिदशभिः,

व्याख्यार्थ—पहले अध्याय में कहे गए इन्द्रयाग के भंग से कुपित हुआ, इन्द्र ब्रज को पीड़ा देने के लिए वृष्टि करता है—यह यहाँ दश श्लोकों से वर्णन किया जाता है । इन्द्र के सारे इन ऐश्वर्य आदि छः गुण तथा धर्म आदि चार पुरुषार्थ—दशों का नाश दश श्लोकों से निरूपण किया है ।

कारिका—क्रोधोद्यमौ च वाक्यानि चतुर्भिः सर्वनाशनात् ।

पीडाहेतुफलान्युक्त्वा सन्धिमाहेतरेण हि ॥१॥

कारिकार्थ—प्रथम से लेकर दशवें श्लोक तक क्रम से क्रोध<sup>१</sup>, उद्यम<sup>२</sup>, चार वाक्य<sup>३-६</sup>, आगे आने वाले श्लोकों से सम्बन्ध<sup>७</sup>, पीड़ा<sup>८</sup>, हेतु<sup>९</sup> और फल<sup>१०</sup> का निरूपण है ।

सुबोधिनी—आदौ तस्य क्रोधमाहेन्द्र इति, तदा गोकुलगमन-समय एव, आत्मनः पूजां विहतां ज्ञात्वा नृपेति सम्बोधनं राज्ञां तथात्वज्ञापनाय गोपेभ्यश्चुकोप, ननु गोपा अज्ञाः कथं कोपस्तेषु ? तत्राह नन्दादिभ्य इति, नन्दो हि

महान्, तर्हि कोप उचित इति चेत् तत्राह, कृष्णनाथेभ्य इति, कृष्ण एव नाथो येषां, नन्विन्द्रः शुद्धसत्त्वपरिणाम-रूपः कथमेवं कृतवान् ? तत्राह स इति, निषिद्धभागभोक्ता ॥१॥

व्याख्यार्थ—पहले-इन्द्रः-इस श्लोक से इन्द्र के क्रोध का वर्णन किया है । गोकुल में जाने के समय में ही अपनी पूजा का भंग होना-विनाश-जानकर गोपों पर उसने क्रोध किया । नृप-यह सम्बोधन

रहने वाले हैं, गो, ब्राह्मण, पर्वत का यज्ञ प्रारम्भ करिए) गाय और पर्वत हम लोगों के जीवन का आधार होने से, इन्द्र याग न करके हमें गाय तथा पर्वत का याग करना चाहिए । इस प्रकार इन्द्रयाग तथा ब्रज राजकुमार की युक्ति से सिद्ध पर्वत याग-दोनों ही हेतुक हैं ।

‘एवं भगवता कृतम्’ (भगवान् ने इस प्रकार किया) अर्थात् इन्द्रयाग के भंग से होने वाला अनिष्ट, जैसे स्पष्ट दिखाई दिया, उसी प्रकार स्पष्ट देखने वाले (दृष्ट) साधन से ही भगवान् ने इस अनिष्ट का निवारण किया । वास्तव में तो ‘गोपाये स्वात्मयोगेन’ (मैं अपने प्रभाव से रक्षा करता हूँ) रक्षा स्वयं भगवान् ने स्वात्मयोग से ही की थी, किन्तु और लोगों को ऐसा प्रतीत हो, कि गोवर्धन धारण करके रक्षा की इसलिए स्वयं गोवर्धन धारण किया । नहीं तो, भगवान् का स्वात्मयोग से रक्षण कहना विरुद्ध होगा । तात्पर्य यह है, कि जिस रूप से भोजन किया, उसी रूप से रक्षा की ।

‘राजाओं’ की प्रकृति ऐसी ही होती है—यह प्रकट करने के लिए कहा है । उन वेसमभ गोपों पर, इन्द्र ने कोप क्यों किया ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि यद्यपि गोप अज्ञानी थे, तो भी नन्दरायजी उनमें बड़े थे । उनने ऐसा अनुचित कार्य क्यों करने दिया । तो क्या इन्द्र का उन पर कोप करना उचित ही था ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वे गोप श्रीकृष्ण को ही अपना स्वामी मानते थे । नन्द आदि बड़े २ गोपों ने भी श्रीकृष्ण के कहने से ही इन्द्र की पूजा का विनाश किया था । इस कारण से इन्द्र का मुख्य क्रोध कृष्ण के ऊपर ही था । शंका होती है कि इन्द्र तो शुद्ध सत्त्व का परिणाम रूप देव था, उसने ऐसा क्यों किया ? इसके समाधान में कहते हैं कि वह इतने वर्षों से निषिद्ध-असमर्पित-अन्न खा रहा था इस से उसकी बुद्धि नष्ट हो गई थी । इसलिए उसने कृष्ण पर क्रोध किया ॥१॥

**श्लोक—गणं संवर्तकं नाम मेघानां चान्तकारिणाम् ।**

**इन्द्रः प्राणोदयत् क्रुद्धो वाक्यं चाहेशमान्युत ॥२॥**

**श्लोकार्थ—**अपने आप को ईश्वर मानने वाले इन्द्र ने अत्यन्त कुपित होकर उसी समय प्रलय काल में जलवर्षा करने वाले संवर्तक नाम के मेघों को व्रजमण्डस पर घोर वर्षा करने के लिए भेजा और वह यों कहने लगा ॥२॥

**सुबोधिनी—**न केवलं कोपमात्रं किन्तु प्रयत्नमपि चकारेत्याह गणमिति, गणो हि बहूनां सङ्घातो भवति, संवर्तकः प्रलयकर्ता, नामेति प्रसिद्धो, अतः प्रसिद्ध एवायं संवर्तको गणः, समुदाय एव नाशशक्तिरिति पक्षनिराकरणार्थं प्रत्येकमपि मेघानां तथात्वमाह मेघानां चान्तकारिणामिति अन्तकारिणां मेघानां गणं संवर्तकं च गणं प्रेषयामास तथा सति प्रत्येकसमुदायाम्यां

सामान्यतो विशेषतश्च नाशो भवति, तस्याज्ञा कर्तव्येति-ज्ञापनार्थमिन्द्र इति, ‘इदि परमेश्वर्यं’, परमेश्वर्यं प्राप्तस्य वाक्यमनुद्ध्यमतः प्राणोदयत् प्रकर्षेण तदैवाविचारं प्रेषितवान्, तत्र हेतुः क्रुद्ध इति, एवं तस्य मानसदोषमुक्त्वा वाचनिकं दोषमाह वाक्यं चाहेति, यतोयमोश-मान्यहमेवेशस्त्रैलोक्यस्येति मन्यते, उतापि वाक्यमप्या-हेत्यर्थः, एतेनायुक्ततमत्वमुक्तं भवति ॥२॥

**व्याख्यानार्थ—**इन्द्र केवल कोप करके ही नहीं रह गया, किन्तु उसने आगे प्रयत्न भी किया, यह ‘गणं’ इत्यादि श्लोक से कहते हैं । बहुतों के समूह को गण कहते हैं । संवर्तक एक प्रलय करने वाले मेघ का नाम है । यह अत्यन्त प्रसिद्ध संवर्तक गण है । अर्थात् प्रलय करने में अत्यन्त प्रसिद्ध है । ये सारे मेघ इकट्ठे होकर ही प्रलय करने में समर्थ हो सकते हों—ऐसा, नहीं है, किन्तु एक एक भी प्रलय कर सकता है—यह मूल में—मेघानां चान्तकारिणाम्—दिए पदों का तात्पर्य है । इन्द्र ने प्रलयकारी मेघों के गण और संवर्तक नाम के गण को भेजा । प्रत्येक मेघ के द्वारा सामान्य रूप से और मेघों के समुदाय के द्वारा विशेष रीति से नाश होता है । उसकी आज्ञा का पालन करना चाहिए थीं; क्योंकि वह, इन्द्र परम ऐश्वर्य सम्पन्न है । परमेश्वर्य सम्पन्न की आज्ञा का उल्लङ्घन कभी नहीं किया जा सकता, अर्थात्, इन्द्र शब्द में—इदि—धातु परमेश्वर्य का सूचक है । इसलिए उसने उसी समय बिना विचारे शीघ्र ही मेघों को भेजदिया; क्योंकि वह अत्यन्त क्रोध युक्त हो रहा था । इस प्रकार, इन्द्र



के मानसिक दोष-(क्रोध)-का वर्णन करके आगे, 'वाक्यं चाह'-पदों से वचन कृत दोष का वर्णन करते हैं। वह अपने आपको तीनों लोकों का स्वामी मान रहा है। इसलिए वह केवल क्रोध करके ही नहीं रह गया, किन्तु कहने भी लग गया। इस कथन से यह सूचित किया कि यह उसने अत्यन्त अनुचित कार्य किया ॥२॥

॥ इन्द्र उवाच ॥

श्लोक—अहो श्रीमदमाहात्म्यं गोपानां काननौकसाम् ।

कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य ये चक्रुर्देवहेलनम् ॥३॥

श्लोकार्थ—इन्द्र ने कहा कि वन में रहने वाले गोपों के धन ऐश्वर्य से उत्पन्न हुए अभिमान को तो देखो। उन्होंने एक साधारण बालक कृष्ण के बल पर मुझ देवता का अपमान कर डाला। कैसा आश्चर्य है ?

सुबोधिनी—वाक्यमाह चतुर्भिः, परम्परया सिद्धो हेतुको न त्याज्य प्राधुनिकस्त्याज्य इति मन्यते, अहो अत्याश्चर्यं सर्वथा विधेकरहिता गोपाः कथमेवं मर्यादो-ल्लङ्घनं कृतवन्त इति स्वहृदय एवाह, श्रीमदस्य माहात्म्यमहो आश्चर्यं यतः श्रीमदाद् ये गोपा देवहेलनं चक्रुस्तत्रापि न महान्तः किन्तु गोपा न वा तेषां सत्सङ्गः सम्यग्देशस्थितिर्वा किन्तु काननौकसः, एतादृशानामपि

श्रीमदं करोति, ननु न श्रीमदात् तैरेवं कृतं किन्तु भगवद्वाक्यादतस्तेषां को दोष इति चेत् तत्राह कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्येति, देवा अमर्त्या मनुष्या मर्त्याः, भगवान् सदानन्दोपि मनुष्यवेषं कृतवान्, तस्य परिग्रह एव तेषां दोषः, उप समीप आश्रयण, न केवलं यागान्तरं कृतवन्तः किन्तु देवस्थेन्द्रस्यैव हेलनं तद्द्रव्यैरेव कृतमिति ॥३॥

व्याख्यानार्थ—चार श्लोकों से इन्द्र के वचनों का वर्णन करते हैं। इन्द्र यह मान रहा है कि परम्परा से सकारण सिद्ध यज्ञ का त्याग करना उचित नहीं है और नवीन-(अभी)-आरम्भ किए का त्याग कर देना चाहिए। उसने अपने मन में ही कहा, कि अत्यन्त आश्चर्य है कि कोरे अज्ञानी गोपों ने इस प्रकार से मर्यादा उल्लंघन कैसे कर डाली ? ऐश्वर्य के मद की महिमा आश्चर्यकारक है। उस लक्ष्मी के मद से गोपों ने मुझ जैसे देवता का तिरस्कार कर दिया। ये कोई महापुरुष थोड़े ही हैं, ये तो ग्वाल हैं। उनको न कोई सत्संग प्राप्त है और न वे किसी प्रसिद्ध स्थान-(देश)-में रहते हैं। वे तो वन में रहने वाले हैं। ऐसे तुच्छ पुरुषों को भी लक्ष्मी मदोन्मत्त कर देती है।

शंका—यदि यहां यह कहा जाय कि उन्होंने लक्ष्मी के मद से इन्द्रयाग का भङ्ग नहीं किया था। उन्होंने तो श्रीकृष्ण भगवान् के कथन से बैसा किया था ? तो इसके समाधान में कहते हैं, 'कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य'—मर्त्य कृष्ण का उन्होंने आश्रय लिया। देव अमर हैं और मनुष्य मरण धर्म वाले हैं। भगवान् सदानन्द हैं; तो भी मनुष्य का वेष धारण कर रहे हैं। उन मर्त्य के वाक्यों का ग्रहण करना ही उनका दोष है। भगवान् का गोपों ने उप-(समीप)-में आश्रय ग्रहण किया।

उन्होंने केवल दूसरा याग ही नहीं किया; किन्तु देव इन्द्र की (मेरी) अवहेलना करके इन्द्र के (मेरे) लिए सिद्ध किए पदार्थों से ही किया । यह देवका (मेरा) अपमान किया ॥३॥

**श्लोक—**यथादृढैः कर्ममयैः क्रतुभिर्नाम नौनिभैः ।

विद्यामान्वीक्षीं हित्वा तित्तीर्षन्ति भवार्णवम् ॥४॥

**श्लोकार्थ—**जैसे कोई मन्द बुद्धि लोग, आत्म ज्ञान की विद्या को छोड़कर, अन्य नाम मात्र की नाव के समान पार लगाने में असमर्थ, कर्ममय यज्ञों के द्वारा अपार संसार सागर के पार जाना चाहे । (वैसे ही ये गोप हैं) ॥४॥

**सुबोधिनी—**ननु भगवता कर्ममार्ग एव समीचीन उक्तः कथं दूष्यत इत्याशङ्क्याह यथादृढैरिति, अदृढैः क्रतुभिर्ये भवार्णवं तित्तीर्षन्ति ते मध्य एव निमग्ना भवन्ति, न हि स्वेन नीयमानया नौकया तरणं सम्भवति सापि स्वकर्मण्येव प्रेर्यत इति द्विगुणः क्लेशः, तदाह कर्ममयैरिति, कर्मैव तेषां स्वरूपं तदप्यदृढं प्रायश्चित्त-बाहुल्यात्, क्रतुभिरिति नाममात्रं यतस्ते नौनिभा नौकासदृशा दर्शनार्थमेव नौकातुल्याः, तान्यपि कर्माणि यदि चित्तशुद्धयर्थं कुर्यात् तदा भवतु चारादुपकारकत्वं

तदपि नास्तीत्याह विद्यामान्वीक्षीं हित्वेति, कर्म त्वविद्या विद्यान्वीक्षिकी, अन्वीक्षणमन्वीक्षा श्रवणा-नन्तरं पुनरात्मानुसन्धानं, 'विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सहेत्यत्र केवलाविद्यायाः प्रतिषेधात् तदाह हित्वेति, यथा ते तित्तीर्षन्ति न तु तरन्ति तथैवैत ईश्वरवाद निराकृत्य केवलकर्मवादेन स्वनिर्वाहेच्छामपि न तरन्ति निर्वाहं न प्राप्नुवन्त्यतः कृतस्य कर्मणो वैयर्थ्यात् तेन पालयितुं न शक्यत इति सुखेन तद्विघातः कर्तव्य इति भावः ॥४॥

**व्याख्यार्थ—**भगवान् ने कर्म मार्ग को श्रेष्ठ कहा है फिर उसमें दूषण क्यों देते हो ? इस शंका के उत्तर में 'यथादृढैः'—यह श्लोक कहा है । अदृढ यज्ञों के द्वारा जो लोग संसार सागर को पार करना चाहते हैं, वे बीच में ही डूबजाते हैं । अपने द्वारा ही खेई—(चलाई)—हुई नाव से पार होना सम्भव नहीं है । वह कर्ममयी नौका भी अपने कर्मों से ही खेई—(प्रेरित की)—जाती है । इस कारण दुगुना क्लेश होता है । यह बात मूल में—कर्ममयैः—पद से कही है । कर्म ही उन यज्ञों का स्वरूप है और वह भी दृढ नहीं है; क्योंकि उनमें प्रायश्चित्त बहुत से करने पड़ते हैं । वे तो केवल नाम मात्र के क्रतु-यज्ञ-हैं; क्योंकि वे नाव जैसे हैं । वह भी केवल दीखने मात्र के नाव हैं । वे भी कर्म यदि चित्त की शुद्धि के लिए किए जाएं, तब तो वे कभी कुछ उपकारक भी हो सकें, परन्तु ऐसा भी यहां नहीं है । यह मूल में—'विद्यामान्वीक्षीं हित्वा'—इन पदों का तात्पर्य है । कर्म तो अविद्या हैं और आन्वीक्षिकी अर्थात् अन्वीक्षण करना विद्या है । श्रवण के पीछे आत्मा का पुनः अनुसन्धान करना अन्वीक्षा है । 'विद्या और अविद्या—दोनों को साथ जाने'—इस श्रुति में जो केवल अविद्या का निषेध किया है, उसे यहां 'हित्वा' (त्याग करके) पद से कहा है । जैसे वे पार होना चाहते हैं किन्तु पार नहीं होते, वैसे ही ये गोप भी ईश्वरवाद का निराकरण करके केवल कर्मवाद से अपने निर्वाह की इच्छा को भी पार नहीं कर सकते, अर्थात् उनका निर्वाह भी नहीं हो सकता । उनका यह किया

हुआ कर्म (नया यज्ञ) व्यर्थ है। उसके द्वारा उनकी रक्षा नहीं हो सकती। इसलिए उनका विघात<sup>१</sup> सुख से करो—यह अभिप्राय है ॥४॥

श्लोक—वाचालं बालिशं स्तब्धमज्ञं पण्डितमानिनम् ।

कृष्णं मर्त्यमुपाश्रित्य गोपा मे चक्रुरप्रियम् ॥५॥

श्लोकार्थ—वैसे ही इन गोपों ने आज वाचाल (बढ़ कर बातें बनाने वाले), बालक, अविनीत, पण्डिताभिमानी, अज्ञ, मनुष्य कृष्ण का आश्रय लेकर मेरा अप्रिय किया है ॥५॥

सुबोधिनी—तस्य भगवति दोषवशाद् विपरीता बुद्धिर्जाता षड्गुणैश्वर्यसम्पन्ने षड्दोषवचनात् तत्र भगवत ऐश्वर्यमप्रतिहतं तदनुसारेणैवान्यत्रैश्वर्यं दूरीकर्तुं यथार्थान्येव वाक्यान् युक्तानीन्द्रस्य तु बुद्ध्यानीश्वरस्तथोक्तवानित्यत आह वाचालमिति, बहुभाषी वाचालः, अनीश्वर ईश्वरवद् वक्ता, वैराग्याभावो वानेनोक्तः, स्वार्थं बहूक्तवानिति बालिशो ज्ञानरहितः, यस्तु वीर्यरहितोऽप्येकं कर्तुं वाञ्छति स तथोच्यते, ज्ञानाभावः स्पष्ट एव, स्तब्धो न प्रस्तावशस्य कीर्त्यभावः स्पष्टः, विनीतस्यैव तथा, आत्मानमेव पण्डितं मन्येत इति पण्डितमानी, न तस्य श्रीः, विपर्ययो वा, कीर्त्यभाव एवानेनोच्यत इति, अज्ञो ज्ञानरहितः स्पष्ट एव, मर्त्यो मनुष्यः, न स विरक्त ईश्वरो वा, कृष्ण इति प्रसिद्धः, एवं विपरीता बुद्धिरिन्द्रस्य, अथ वा कृष्ण सदानन्दमपि विपरीतषड्गुणं तत्त्वेनोपाश्रित्य भगवत्यपि विपरीतां बुद्धिं सम्पाद्य सर्वे गोपा अल्पबुद्धयो मेप्रियं यागभङ्गं कृतवन्तः, यदि भगवन्तं वा परमेश्वरं जानीयुस्तदापि न खेदः, वस्तुतस्तु वाचा अलं पूर्णं यत्र यत्र वाङ् न प्रवर्तते

स पूर्णः सर्ववेदकर्ता सर्वथा नाश्रितः किन्तुप समीपेल्पमेवाश्रित इति, किञ्च बालिनोपि शं सुखं यस्मात्, स हि शत्रुपक्षपाती रावणमित्रं तस्यापि मोक्षदाता, बालमस्यास्तीति पुच्छवान् मर्कटः प्रतिपादितः, उत्कर्षस्तु वेदानामप्यगम्यः, कृपालुता तु बालिनमपि मोचयति, स्तब्धो ब्रह्मभूतो 'वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्व'मिति श्रुतेः, यदि भगवान् नम्रः स्यात् सत्यादिलोकानां नाश एव भवेदतो भगवान् स्वयमन-ओन्यान् नामितवान्, पण्डितान् मानयतीति पण्डितमानी विद्यावतः पूजयत्यतः पूजनार्थं विद्यामुपदिष्टवान्, न विद्यते ज्ञो यस्मात् सर्वज्ञोऽयं, यतोऽयं कृष्णः सदानन्दः, यत्र हि धर्मो तिष्ठति स धर्मसहित एव भवति, अतो गोपा मर्त्यं शरीरमुपाश्रित्य शरीरधारिणो भूत्वा मेप्रियं न विद्यते प्रियं यस्मान् न ह्यन्यस्ततः प्रियोस्ति तं भगवन्तं कृतवन्तः, यथा मम नित्यं प्रियजनको भवति तथोत्तरोत्तरं कृतवन्तस्तथा तथा धर्मान् सम्पादितवन्त इतिसरस्वती ॥५॥

व्याख्यार्थ—अपने दोष के कारण इन्द्र की भगवान् में विपरीत बुद्धि हो गई, जिससे षड्गुण ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् में छः दोष कह डाले। भगवान् का ऐश्वर्य अप्रतिहत है<sup>२</sup> उसके अनुसार ही भगवान् ने कहीं पर इन्द्र के ऐश्वर्य को दूर करने के लिए यथार्थ ही वाक्य कहे थे। इन्द्र की बुद्धि से भगवान् में ऐश्वर्य नहीं था, अर्थात् भगवान् कृष्ण को ईश्वर नहीं मान रहा था। इसीलिए भगवान् के लिए वे वचन कहे थे। अपनी दोष बुद्धि के कारण इन्द्र के वचन, 'वाचाल' इस श्लोक से कहते

हैं। आवश्यकता से अधिक बोलने को वाचाल कहते हैं, ईश्वर न होते हुए भी ईश्वर की तरह बातें बनाने वाला भी वाचाल कहा जाता है, अथवा 'वाचाल' पद से वैराग्य का अभाव सूचित किया है। अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए भगवान् बहुत बोले। इसलिए बालिश-ज्ञान रहित कहा है अर्थात् जो सामर्थ्यहीन होते हुए भी अशक्य कार्य को करना चाहता हो, उसे बालिश कहते हैं। यह पद स्पष्ट रूप से ज्ञान के अभाव का सूचक है। स्तब्ध<sup>१</sup> की कीर्ति का अभाव प्रत्यक्ष ही है; क्योंकि विनीत ही कीर्तिमान् होता है। अपने आप को ही पण्डित मानने वाले पण्डितमानी को लक्ष्मी प्राप्त नहीं होती है। अथवा यहां 'स्तब्ध' पद से लक्ष्मी का और पण्डितमानी पद से कीर्ति का अभाव समझना चाहिए। 'अज्ञ'<sup>२</sup> स्पष्ट ही है। मर्त्य-मनुष्य-है। वह न विरक्त है और न ईश्वर ही है। कृष्ण नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार भगवान् में इन्द्र की विपरीत बुद्धि हो गई।

अथवा वाचाल आदि पदों का अर्थ यह है-कृष्ण सदानन्द को भी विपरीत छः गुण वाला मान कर भगवान् में भी विपरीत बुद्धि प्राप्त करके उन अल्प बुद्धि वाले सब गोपों ने मेरा अप्रिय-याग भङ्ग कर दिया। यदि वे भगवान् को परमेश्वर जान कर ऐसा करते तो मुझे खेद नहीं होता वास्तव में तो, 'वाच+अल' वह वाणी से पूर्ण अर्थात् जहाँ वाणी नहीं पहुँच सकती है और सब वेदों का कर्ता है। गोपों ने उसका आश्रय न करके-उप-समीप में अल्प का ही आश्रय किया है। बालिश अर्थात् बाली को भी-शं-सुखदेने वाले हैं। बाली शत्रु का पक्षपाती और रावण का मित्र था-उसको भी वे मोक्षदेने वाले हैं। बाली-बालों वाला वानर। वाचाल-पद से वेदों के भी अग्रगण्य-यह उनका उत्कर्ष वर्णन किया और-'बालिश' पद से कृपालुता सूचित की। (जो मर्कट<sup>३</sup> को भी मोक्ष देते हैं।

'कोई एक जो आकाश में वृक्ष की तरह स्तब्ध स्थित है, उस पुरुष से यह सारा जगत् पूर्ण है'-इस श्रुति के अनुसार वह स्तब्ध-ब्रह्मभूत है भगवान् यदि नम्र (स्तब्ध नहीं) होते तो सत्य आदि लोकों का नाश ही हो जाता, इस कारण भगवान् स्वयं-स्तब्ध-अनम्र रह कर दूसरों को नम्र (भुंकाने) करने वाले हैं। पण्डितमानी-पण्डितों को मानदेने वाले हैं। विद्या वालों की पूजा करते हैं। इसलिए पूजा के लिए विद्या का उपदेश दिया है। अज्ञ-जिनसे अधिक (ज्ञ) जानने वाला न हो। यह भगवान् सर्वज्ञ है, क्योंकि ये-कृष्ण-सदानन्द हैं। धर्मी जहाँ रहता है, वहाँ सब धर्म सहित ही होता है। इसलिए गोपों ने मर्त्य शरीर का आश्रय ले कर-शरीरधारी होकर-मेरा (इन्द्र का) अप्रिय (जिससे बढकर दूसरा प्रिय न हो) किया है अर्थात् उन प्रियतम प्रभु को मेरा कर दिया है। जिस तरह भगवान् मेरे प्रिय जनक होते रहें, उत्तरोत्तर वैसा ही किया है, वैसे २ धर्मों का ही सम्पादन इन गोपों ने किया है। यह सरस्वती का अर्थ है। (अर्थात् ऐसे महापुरुष का मर्त्य-अनीश्वर आदि रूप से आश्रय करके मेरा गोपों ने अप्रिय किया है ॥५॥

टिप्पणी—व्याख्या में-'अथवा कृष्णम्'। विपरीत षड्गुणम् आदि-विपरीत छः गुण-यह मर्त्य पद का अर्थ

श्लोक—एषां श्रियावलिप्तानां कृष्णेनाध्मायितात्मनाम् ।

धुनुत श्रीमदस्तम्भं पशून् नयत सङ्क्षयम् ॥६॥

श्लोकार्थ—ये गोप धन मद से गर्वित हो रहे हैं, फिर इन्हें कृष्ण ने और भी बढ़ावा दे रक्खा है । हे मेघों ! तुम शीघ्र ब्रज में जाकर इनके श्री मद को दूर करो और इनके पशुओं का विनाश कर डालो ॥६॥

सुबोधिनी—अतो विपरीतां बुद्धिमाश्रित्य भक्तद्रोहं कर्तुमाज्ञापयत्येषामिति, एषां गोपानां श्रिया धनेनावलिप्तानां गविष्ठानां कृष्णेनाध्मायित आत्मा येषां, यथा स्तब्धो वायुरन्तः प्रविष्टो देहिनमाध्मापयति तादृश-

स्योपवासेषु कृतेषु तदाध्मानं गच्छति, अतः श्रीमदस्तम्भं धुनुत, श्रीमदस्यापि मूलं पशवोतो भवन्तो गत्वा पशून् सङ्क्षयं नयतातिवृष्ट्या पाषाणवर्षणेन च सम्यक् क्षयं नयत ॥६॥

व्याख्यार्थ—विपरीत बुद्धि का आश्रय लेकर इन्द्र 'एषां' इस श्लोक से भक्तों का द्रोह करने की आज्ञा देता है । ये गोप धन मद से गर्विष्ठ हो रहे हैं । कृष्ण ने इन्हें और भी बढ़ावा देकर फुला (गर्वित कर) दिया है । जैसे स्तब्ध-ठहरने वाली-वायु किसी के शरीर में घुस कर फुला देती है । फिर उपवास करने पर वह आफरा-आध्मान-दूर होता है । इस लिए धन के मद को दूर करो । उनके उस धनमद का मूल कारण पशु है । इसलिए अतिवृष्टि और पाषाण वर्षा करके पशुओं का पूर्ण विनाश करो ॥६॥

श्लोक—अहं चैरावतं नागमारुह्यानुव्रजे ब्रजम् ।

मरुद्गणैर्महावीर्यैर्नन्दगोष्ठिजिघांसया ॥७॥

श्लोकार्थ—मैं भी अभी नन्द के ब्रज का नाश करने की इच्छा से महापराक्रमी उनचास मरुद्गणों को साथ लेकर ऐरावत हाथी पर सवार होकर वहीं आता हूँ ॥७॥

सुबोधिनी—गोपालास्तु कन्दरादिष्वपि स्थातुं शक्ता अतस्तेषां वधार्थं कृष्णेन सह युद्धसम्भवादैरावतमारुह्या-हमागमिष्यामीत्याहाह चैरावतं नागमिति, ऐरावतोक्षयो

गजो जले स्थले च युद्धसमर्थोऽतस्तमारुह्यानु पश्चाद् भवदुग्मनानन्तरं ब्रज आगमिष्यामि, प्रसङ्गादागमनं निराकरोति व्रजमिति, ननु बहवो गोपाला एकस्त्वं

है । मर्त्य में अनीश्वरता आदि घर्म नियत होते हैं । उनको व्याख्या में विपरीत शब्द से कहा है । तात्पर्य यह है कि जैसे कामला-पीलिया-रोग का रोगी शख को पीला कहता है, उसी प्रकार से गोपों ने अपने मर्त्य आदि घर्मों का भगवान् कृष्ण में आरोप किया है । यह मेरा (इन्द्र का) अप्रिय किया है ॥५॥



बलभद्रश्च बल्यतः कथं युद्धमिति चेत् तत्राह मरुद्गणै-  
रिति, महावीर्यैरतिबलिष्ठैर्मरुद्गणैः सह, तत्र गतस्य  
प्रयोजनमाह नन्दगोष्ठजिघांसयेति, नन्दगोष्ठस्य घातने-

च्छया, इच्छया गतस्तदिच्छां पूरयति, अतो मारयिष्या-  
मीत्यर्थः ॥७॥

व्याख्यार्थ—गोपाल तो गुफाओं में भी रह सकते हैं । इस कारण उन के वध के लिए कृष्ण के साथ युद्ध की संभावना है । इस लिए ऐरावत पर सवार होकर मैं भी आऊंगा, यह 'अहं चैरावतं', इस श्लोक से कहते हैं । ऐरावत अक्षय हाथी हैं; क्योंकि अमृत मन्थन के प्रस्ताव में उत्पन्न होने के कारण इस में अमृत का धर्म भी है । इसलिए यह अक्षय है । पहले यह जल में था, अब इसकी पृथ्वी पर स्थिति है । इस कारण से यह जल और स्थल-दोनों युद्ध करने में समर्थ हैं । ऐसे ऐरावत हाथी पर सवार होकर अनु-आप लोगों के पीछे ही ब्रज में आऊँगा । मूल में, 'ब्रज' पद का अभिप्राय यह है, कि किसी प्रसङ्ग वश नहीं आकर मुख्य ब्रज में आने के उद्देश्य से ही ब्रज में आऊँगा । वहाँ गोपाल असंख्य हैं और बलदेवजी अधिक बलवान् हैं । तुम-(इन्द्र)-तो एक हो । युद्ध कैसे करोगे ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि महाबली उनचास मरुद्गणों के साथ आऊँगा । वहाँ जाने का प्रयोजन, एक मात्र नन्द के गोष्ठ को नाश करने की इच्छा थी । किसी इच्छा को लेकर जाने वाला अपनी इच्छा को पूरी करता है । इसीलिए विनाश करूँगा-यह तात्पर्य है ॥७॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—इत्थं मघवताज्ञप्ता मेघा निर्मुक्तबन्धनाः ।  
नन्दगोकुलमासारैः पीडयामासुरोजसा ॥८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि इस प्रकार इन्द्र की आज्ञा पा कर बन्धनविहीन मेघ बड़े वेग से ब्रज में जाकर घोर वर्षा करने लगे । उस वर्षा से नन्द का सारा गोकुल पीड़ित और व्याकुल हो उठा ॥८॥

सुबोधिनी—ततो यज् जातं तदाहेत्यमिति, मघ-  
वतेन्द्रेणाज्ञप्ता मेघाः पूर्व शृङ्खलाबद्धास्ते निर्मुक्तबन्धनाः । कृतास्ततो नन्दगोकुलमासारैर्वारासम्पातैरोजसा बलेन  
वायुसहिताः पीडयामासुः ॥८॥

व्याख्यार्थ—आगे जो हुआ, उसे, 'इत्थं' इस श्लोक से कहते हैं । इन्द्र के द्वारा आज्ञा दिए गए मेघ जो पहले सांकल से बंधे से थे, बन्धन रहित कर दिए गए । फिर वायु सहित वे नन्द के गोकुल को धारा सम्पातों-निरन्तर वर्षा-से बलपूर्वक पीड़ा देने लगे ॥८॥

श्लोक—विद्योतमाना विद्युद्भिर्नदन्तः स्तनयित्नुभिः ।  
तीव्रैर्मरुद्गणैर्नुत्ता ववृषुर्जलशर्कराः ॥९॥

व्याख्यान—मेघ बरसने लगे, 'यह स्थूणा स्थूलाः' श्लोक से कहते हैं । स्तम्भ के समान मोटी २ जलधाराओं के बरसाने से पृथ्वी पर गहरे गड्ढे पड़ गए थे । एक एक धारा से, मेघ के द्वारा एक २ गहरा गर्त<sup>१</sup> कर दिया जाने लगा । इस तरह सभी मेघों के बरसने से सारी ब्रजभूमि में गर्त हो गए थे । क्षण क्षण में सारी पृथिवी जल के प्रवाहों से इस प्रकार डूब गई थी कि नीची भी ऊँची अथवा नीची ऊँची कुछ भी नहीं जान पड़ती थी । वास्तव में सभी जगह गड्ढे पड़ गए थे; तो भी नीची है या ऊँची—इस तरह पाँव रखने के लिए विचार करने पर भी जल के पुरों से डूबी हुई—पृथिवी दिखाई नहीं पड़ती थी ॥१०॥

श्लोक—अत्यासारातिवातेन पशवो जातवेपनाः ।

गोपा गोप्यश्च शीतार्ता गोविन्दं शरणं ययुः ॥११॥

श्लोकार्थ—मूसलधार वृष्टि और महाप्रचण्ड पवन के मारे पशुगण काँपने लगे । शीत से पीड़ित गोप और गोपियाँ गोविन्द की शरण में गए ॥११॥

सुबोधिनी—ततो यज् जातं तदाहात्यासारेति, शीतपीडिता गोविन्दं गवां गोपगोपीनां चेन्द्रं लौकिकेन्द्रेण  
अत्यन्तं घारासम्पातेनातिवातेन च पशवो जातवेपना पीड्यमानाः शरणं ययुः ॥११॥  
जातकम्पा जाताः, अतो गोपा गोप्यश्च त्रिविधा अपि

व्याख्यान—आगे जो हुआ, उसे इस—'अत्यासाराति-श्लोक से कहते हैं । अत्यन्त मूसलधार वर्षा और अत्यन्त प्रचण्ड आंधी से पशुगण काँप उठे । इसलिए शीत के मारे और लौकिक-साधारण-इन्द्र के द्वारा सताए गए वे गाये, गोप, गोपियाँ—तीन प्रकार के जीव, 'गोविन्द' (गो, गोप, गोपियों के इन्द्र-स्वामी) भगवान् की शरण में गए ॥११॥

श्लोक—शिरः सुतांश्च कायेन प्रच्छाद्यासारपीडिताः ।

वेपमाना भगवतः पादमूलमुपाययुः ॥१२॥

श्लोकार्थ—बालकों को छाती में छिपाकर और अपने मस्तकों को शिलाओं की बौछार से बचाकर काँपते हुए, वर्षा से पीड़ित वे गोपों, गोपियों के समूह<sup>२</sup> भगवान् श्रीकृष्ण के चरणों की शरण में आ गए ॥१२॥

सुबोधिनी—एषां शरणगतावागमनप्रकारमाह शिरः पीडिताः सन्तो वेपमाना भगवतः पादमूलमुप समीप  
इति, स्वशिरः सुतांश्च स्वस्यैककायेन प्रच्छाद्यासारेण एवाययुरागताः शिरोत्पन्तमुदरे समागतं सुताश्च,

शरीरेणोभयोः प्रच्छादनं भगवद्दर्शनार्थं दयार्थं च, आसारेण पीडिता भक्तिमार्गं त्वक्तवन्तोऽन्यथा भगवद्रक्षा-  
र्थमेव यत्नं कुर्युर्न तु स्वरक्षार्थं भगवन्तं प्रार्थयेयुः, किञ्च वेपमाना जाता अतो देहस्थितिं सन्दिग्धां मत्वा

पादमूलमाद्ययुक्तेषु कृपया भगवान् निकट एवागतस्तत उपेत्युक्तमासर्वतः पादयोर्मूलमन्तर्जातभवत्या शरीरेण समीपमागता अपि मनसा पादमूले प्रविष्टाः ॥१२॥

**व्याख्यानार्थ—**इन की शरणागति में शरण में जाने की रीति का वर्णन—‘शिरः सुताश्च’—इस श्लोक में करते हैं । अपने मस्तकों और बालकों को शरीर के एक एक अंग से छिपा कर वर्षा से पीड़ित काँपते हुए वे भगवान् के चरण के मूल के निकट आए । शिर और बालकों को ठीक पेट पर लाकर अर्थात् शरीर से शिर और बालक दोनों को ढक कर भगवान् की दृष्टि के आगे दया करके रक्षा की आशा से भगवान् के अत्यन्त समीप आए । अति वर्षा से पीड़ित होकर, इन्होंने भक्ति मार्ग का त्याग कर दिया । यदि ये भक्ति मार्ग में स्थित रहते तो, वे भगवान् की रक्षा करने के लिए ही स्वयं प्रयत्न करते, अपनी रक्षा की भगवान् से प्रार्थना नहीं करते । वे काँप रहे थे, इसलिए अपने शरीर की स्थिति में सन्देह जान कर, भगवान् के चरणों के मूल में आए । उन पर कृपा करके भगवान् भी स्वयं उनके समीप आए । इसीलिए मूल में—उप (समीप में) यह पद दिया है । आययुः (आगए) इस क्रिया पद में ‘आ’ उपसर्ग का तात्पर्य यह है, कि वे सब प्रकार से भगवान् के दोनों चरणों के मूल में आए । हृदय में उत्पन्न हुई भक्ति से शरीर के द्वारा समीप गए मन से तो चरण के मूल में प्रवेश किया ॥१२॥

**श्लोक—**कृष्ण कृष्ण महाभाग त्वन्नाथं गोकुलं प्रभो ।

त्रातुमर्हसि दैवान् नः कुपिताद् भक्तवत्सल ॥१३॥

**श्लोकार्थ—**हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाभाग, हे प्रभो ! आप ही इस गोकुल के नाथ हो । हे भक्तवत्सलः—आप कुपित हुए इन्द्र से हमारी रक्षा करें ।

**सुबोधिनी—**तादृशानां विज्ञापनमाह कृष्ण कृष्णेति, सम्भ्रमाद् वीप्सा, गोकुलत्रातुमर्हसीति विज्ञापना, ननु स्तोत्रं कृत्वा सर्वे विज्ञापनां कुर्वन्ति, ततः कथमस्माद् विज्ञापनमिति चेत् तत्राहुर्हे महाभागेति, महद् भाग्य यस्येति, के वयं वराकाः स्तोत्रे ? व्यासादय एव महान्तो निरन्तरं स्तुवन्त्यतो महाभाग्यवतोऽप्यैः किं कर्तव्यमिति, अथ वा यथा भवन्तो वेपमानास्तथाहमपीति न वक्तव्यं त्वं तु महाभागोलौकिकसर्वभाग्ययुक्तोऽलौकिकेन प्रकारेण त्रातुमर्हसीत्यर्थः, सर्वथा रक्षायां हेतुस्तवन्नाथमिति, त्वमेव नाथो यस्य, किञ्च गवां कुलं गावः सर्वैरेव

पाल्यास्तवं च प्रभुः पालनक्षमः पालनसमर्थोऽतो बहूनां हेतूनां विद्यमानत्वात् त्रातुमर्हसि, ननु लौकिक एवोपायः कर्तव्यः कम्बलवस्त्रादिभिर्गृहेर्गुहादिभिर्वा किं मत्प्रार्थनयेति चेत् तत्राहुर्वैवादिति, प्राकृतापकारे हि प्राकृतः प्रतिक्रियायं त्वपकारो दैव इन्द्रेण कृतः, तर्हि स एव प्रार्थ्यतामिति चेत् तत्राहुः कुपितादिति, स हि कोपं प्रापितोपकारकरणादतः कुपितो मारयत्येव, ननु दैन्यं दृष्ट्वा न मारयिष्यतीति चेत् तत्राहुर्हे भक्तवत्सलेति, भवानेव भक्तवत्सलः स तु निर्दय एवातस्त्वयैव वयं पालनीयाः ॥१३॥

**व्याख्यानार्थ—**उन शरणागतों की विज्ञापना—‘कृष्ण ! कृष्ण !’ इस श्लोक से कहते हैं । कृष्ण कृष्ण—यह पद दो बार भय से कहा है । आप गोकुल की रक्षा करने में समर्थ हो, रक्षा करो—यह विज्ञापना

है। शका हो सकती है कि सभी लोग स्तुति करके ही प्रार्थना करते हैं। तो फिर यहाँ यह विज्ञापना कैसे मानी जाए? इसके उत्तर में, कहते हैं कि—हे महाभाग! आप बड़े भाग्यशाली हो। हम तुच्छ आपकी क्या स्तुति कर सकते हैं। व्यास आदि महापुरुष आपकी निरन्तर स्तुति करते रहते हैं, उन महाभाग्यशाली आप का, हम तुच्छ क्या करने योग्य हैं। अथवा कदाचित् भगवान् यों कहें, कि जैसे तुम काँप रहे हो। मेरी भी तो वही दशा है, तो इसके उत्तर में कहते हैं कि आप तो महाभाग हो, अलौकिक सभी भाग्य से युक्त हो। इसलिए अलौकिक रीति से हमारी रक्षा कीजिए।

रक्षा करने में प्रबल हेतु यह है, कि—त्वन्नाथं—गोकुल के आप नाथ हैं। गायों का कुल रक्षणीय होता है। गाएँ सभी की पालनीय हैं। फिर आप तो प्रभु हैं, सब प्रकार पालन करने में समर्थ हैं। इस प्रकार बहुत से कारणों के होने से रक्षा करनी ही चाहिए। यदि भगवान् उन गोपों से यह कहें, कि कम्बल, कपड़े, धर, गुफा आदि लौकिक उपायों से रक्षा करलो। मेरी प्रार्थना करने से क्या लाभ? इस के उत्तर में कहते हैं, कि—दैवात्—यह दैविक आपत्ति है। लौकिक उपायों से लौकिक अपकार में रक्षा हो सकती है। यह तो दैविक—इन्द्र के द्वारा की हुई आपत्ति है। इसका प्रतीकार लौकिक उपायों से नहीं हो सकता है। यदि हम आप के कहने पर इन्द्र से ही रक्षा की प्रार्थना करने लगे तो वह रक्षा नहीं करेगा; क्योंकि वह तो कुपित हो रहा है। वह यागभङ्ग रूप अपकार से कुपित हुआ है अतः मार डालेगा। यदि आप यह कहें, कि—इन्द्र के सामने दीन हो जाओ, वह तुम्हारी दीनता को देखकर नहीं मारेगा; तो इसके उत्तर में गोप कहते हैं कि—हे भक्तवत्सल—आप ही भक्तवत्सल हो। इन्द्र तो निर्दयी ही है। इसलिए आपको ही हमारी रक्षा करना चाहिए ॥१३॥

श्लोक—शिलावर्षनिपातेन हन्यमानमचेतनम् ।

निरीक्ष्य भगवान् मेने कुपितेन्द्रकृतं हरिः ॥१४॥

श्लोकार्थ—सारे गोकुल को शिलाओं की निरन्तर घोर वर्षा से पीड़ित तथा अचेतन देखकर, हरि भगवान् ने समझ लिया कि यह सब कुपित इन्द्र का ही काम है ॥१४॥

सुबोधिनी—एवं विज्ञापितः कर्तव्यं विचारितवान् किमिन्द्रो मारणीयो मेघा वा निवारणीया वृष्टिस्तम्भो वा कर्तव्य एतेभ्यो बालौकिकं सामर्थ्यं देयमन्यत्र वा नेया अन्यद् वा कर्तव्यमिति, तत्र प्रथममुपद्रवनिदान-निर्धारमाह शिलावर्षेति शिलानां वर्षणरूपो यो निपातो निरन्तरपतनं सर्वतस्तेन हन्यमानं गोकुलं निरीक्ष्य

कुपितेन्द्रकृतमेव मेने, यद्यपि तैरुक्तमेव तथापि किं वासनया वदन्त्याहोस्वित् सत्यमेव, लौकिकास्तु पौर्वापर्य-मेव दृष्टाहेतुमपि हेतु मन्यन्ते तथैव किं यागभङ्गानन्तर-मेव वृष्टिजतिति वदन्त्याहोस्वित् तथैवेति भवति विचारणा, ज्ञानेप्यर्थनिराकरणार्थमनूयतेन्यथाविमृश्य-कारित्वं शङ्क्येत ॥१४॥

व्याख्यानार्थ—उनकी इस प्रकार विज्ञापना को सुनकर, भगवान् ने विचार किया, कि क्या इन्द्र को मार दिया जाए, मेघों को हटा दिया जाए, वर्षा को रोक दिया जाए अथवा इन्हें अलौकिक

सामर्थ्य देदीजाए या दूसरे स्थान पर ले जाया जाए अर्थात् अपने स्वरूप में प्रविष्ट करलूँ अथवा इनकी रक्षा के लिए और कुछ उचित उपाय किया जाए । वहाँ पहले उपद्रव के कारण का निश्चय, 'शिलावर्ष' इस भूक से करते हैं । शिलाओं की वर्षा निरन्तर चारों ओर गिरने से विनष्ट हुए गोकुल को देखकर, उस उपद्रव को कुपित इन्द्र का किया हुआ ही समझ लिया । यद्यपि उन गोप लोगों ने पहले यह कुपित इन्द्र का कार्य निवेदन कर ही दिया था; तो भी क्या ये वासना (हृदयस्थ विचार) से कहते हैं अथवा सत्य ही कहते हैं । भगवान् ने इस का विचार किया (निर्णय किया) । लोग, एक के पीछे दूसरी वस्तु को होने वाली देखकर, उन का कार्य कारण का सम्बन्ध न होने पर भी, सम्बन्ध जोड़ लेते हैं । इस प्रकार यागभङ्ग के पीछे होने वाली वृष्टि को यागभङ्ग का कार्य कल्पना करलिया है, अथवा क्या वास्तव में यागभङ्ग ही वृष्टि का कारण है, ऐसा विचार उत्पन्न होता है । यद्यपि सर्वज्ञ भगवान् से यह बात छिपी हुई नहीं थी, तो भी, सर्वज्ञता का निराकरण करने के लिए यहाँ यह अनुवाद किया गया । यदि यहाँ ऐसा नहीं किया जाता तो भगवान् के इस कार्य में बिना बिचारे करलेने की शङ्का हो जाती ॥१४॥

श्लोक—अपर्तावुल्बणं वर्षमतिवातं शिलामयम् ।

स्वयागे निहतेस्माभिरिन्द्रो नाशाय वर्षति ॥१५॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा—हम ने इन्द्र के याग का भङ्ग कर दिया, इसी कारण से, वह रुष्ट होकर आज प्रचण्ड आंधी के झोंके और शिलाओं की बौछारों वाली बिना ऋतु की घोर वर्षा से ब्रज को नष्ट कर देने के लिए उद्यत है ॥१५॥

सुबोधिनी—ततस्तेषामुपद्रव इन्द्रकृत इति निश्चित्य हन्यमानत्वाच् छीघ्रं प्रतीकारं कर्तुं विचारयतीत्याहा-  
पर्तावितिद्वाभ्यामचेतनत्वाच्च तद्वचनापेक्षा क्षणमात्रा-  
विलम्बश्च भगवत्त्वात् सर्वसाधनपरिज्ञानं, वृष्टिरेतादृशी  
स्वाभाविक्यपि भवतीति तन्निराकरणार्थमपर्तावित्युक्तं  
मर्यादाकालोपमतः कलाविष न यदा कदाचिद् वृष्टि-  
स्तत्राप्यत्युल्बणमतिभयानकमृतावप्येतादृशं दुर्लभमिति,  
अत्यन्तं वातो यत्र, वायुना हि नीयन्ते मेघाः, तत्रापि

शिलामयमल्पं जल करका बह्व्यः, एवं चतुर्भिर्दोषै-  
रिन्द्र एव वर्षतीति ज्ञायते, अपर्षज्ञाने नित्यज्ञाने वा तर्को  
यदि न सहकारी स्याद् विरुद्धो वा भवेत् तदा लोका-  
नामपर्षज्ञानप्रतीतिर्न भवेत् कार्ये जातेपि काकतालीय-  
प्रसङ्गः स्यादतस्तर्को युक्तो ज्ञानसहकारी, तदाह स्वयाग  
इन्द्रयागे नितरां हते गोकुलनाशार्थमेवेन्द्रो वर्षतीति  
॥१५॥

व्याख्यान—फिर उनके, उस उपद्रव को इन्द्र के द्वारा किया हुआ निश्चय करके, उनका विनाश होता देख कर शीघ्र ही उपाय करने का विचार करना, 'अपर्तौ' इन दो श्लोकों से कहते हैं । सारा अचेतन होगया था, इसलिए उनके वचन की अपेक्षा नहीं थी और क्षण भर की विलम्ब करने की भी अपेक्षा नहीं थी । स्वयं भगवान् हैं । इस लिए सब साधनों का ज्ञान है । इस प्रकार की घोर वृष्टि कभी स्वाभाविक भी हो जाती है, किन्तु यह स्वाभाविक वृष्टि नहीं है; क्योंकि यह बिना ऋतु की वृष्टि है । फिर यह मर्यादा का समय है । इसमें कलियुग की तरह चाहे जब ही वृष्टि

सम्भव नहीं है । इस पर भी ऐसी घोर और अत्यन्त भयानक वृष्टि का होना तो ऋतु में भी दुर्लभ है । इसमें प्रचण्ड पवन है, जो मेघों को उड़ा ले जाती है । इस में शिलाएँ बरस रही हैं, जल थोड़ा है और ओले बहुत हैं । इन चार दोषों से ज्ञात होता है, कि इन्द्र ही यह वर्षा कर रहा है ।

यहां मूल उत्तरार्ध में तर्क<sup>१</sup> से वस्तु की सिद्धि करते हैं क्योंकि यदि आर्ष<sup>२</sup> ज्ञान अथवा नित्य ज्ञान में तर्क को सहकारी न मानें अथवा विरुद्ध मानें तो लोगो को आर्ष ज्ञान की प्रतीति<sup>३</sup> ही नहीं होगी और उस तर्क हीन कार्य के सिद्ध हो जाने पर काकतालीय—(अकस्मात् हो जाने का)—प्रसङ्ग (दोष) होगा । इसलिए तर्क उचित है और ज्ञान का सहकारी है । इस लिए कहते हैं, कि अपने इन्द्र याग का अत्यन्त भङ्ग होने पर, गोकुल का विनाश करने के लिए ही इन्द्र वर्षा कर रहा है ॥१५॥

श्लोक—तत्र प्रतिविधिं सम्यक् साधये योगमायया ।

लोकेशमानिनो मौढ्याद्धरिष्ये श्रीमदं तमः ॥१६॥

श्लोकार्थ—मैं अभी योगमाया से उसका पूर्ण प्रतिकार कर देता हूँ । ये इन्द्र आदि देवता मोहवश अपने को स्वतन्त्र ईश्वर मानकर, उसका अभिमान करते हैं । अभी मैं इनके ऐश्वर्य के मोह को दूर हटाए देता हूँ ।

सुबोधिनी—तर्हि कि विधेयमित्याकांक्षायामाह तत्र प्रतिविधिमिति, नात्रेन्द्रो दूरीकर्तव्यस्तथा सति क्लिष्टकारित्वं स्यादधिकारस्यैव तथात्वेन स्वतो दोषाभावाद् वृष्टिनिवारणे तु स्वतो युद्धं कुर्यात् तत्र मारणमारणाभ्यां पूर्वदोषानिवृत्तेर्वृष्टिस्तम्भे मेघान् मारयेन् मेघनाशेऽग्रिमकार्यं न स्यादतः प्रतिविधानमेव कर्तव्यं, तदाह तत्र प्रतिविधिं साधय इति, यद्यन्यत्रैते नीयेरंस्तदा तत्रापि भवेत् स्थानच्युतिर्वा स्यादितराश्रयणं वा भवेदतोनेन गोवर्धनेनोदनो भुक्त इत्ययमेव साधनीकर्तव्यः प्रतिकृत्या तस्य बलसत्त्वात्, तदाह सम्यगिति, नन्वेते पाषाणाः समुदायीभूता पर्वतव्यपदेशं लभन्ते नात्रैकोव्यव्यत उत्तोलनेपि पाषाणानां पातः स्यादवतीर्णस्य लौकिकन्यायेन प्रवृत्तस्य पुष्टिकार्यपरस्य

न प्रशासनन्यायेन पर्वत उपरि स्थापयितुं शक्योतः कथमुद्धरणमिति चेत् तत्राह योगमाययेति, योगमायात्र कार्ये स्वीकृता यथा गर्भसङ्घर्षेणो तदत्र पर्वतधारणेऽपि विनियोज्या यथा न कोप्यशः पतेत्, तस्या बलसिद्धयर्थं स्वक्रियाशक्तिस्तत्र प्रयोजनीया, ननु किमेतावता क्लेशेन पूर्वमेवायमुपद्रवः कथं न विचारितः ? तत्राह लोकेशमानिन इति, अहमेव लोकेश इति स्वात्मानं मन्यते न त्वधिकारिरिति, ननु वस्तुत एवायं लोकेश इति चेत् तत्राह मौढ्यादिति, न ह्यधिकारीशो भवति, एतदुपपादितं "स वै पतिः स्यादित्यत्र, स एक एवेतरथा मिथो भयमित्यत इन्द्रो नेश्वरो मौढ्यादेव तथा मन्यते तस्य स मोहः श्रीमदेन जातस्तमोज्ञानमेवातो हरिष्ये ॥१६॥

व्याख्यार्थ—तब क्या करना चाहिए—इस आकाङ्क्षा में, 'तत्र प्रतिविधि' इस श्लोक से कहते हैं। यहां इस प्रसङ्ग में इन्द्र को पदच्युत कर देने में तो क्लिष्टकारिता होगी, अर्थात् अपराध से दण्ड अधिक होजाएगा; क्योंकि इस में दोष तो केवल अधिकार का ही है। इन्द्रत्व में तो कोई दोष नहीं है। यदि वर्षा को रोक दिया जाएगा तो इन्द्र स्वयं युद्ध करने आजाएगा। युद्ध में मारने अथवा न मारदेने से अधिकार का दोष तो दूर—(निवृत्त)—नहीं हो सकेगा। अथवा बरसना बन्द कर देने पर (इन्द्र मेघों का विनाश कर देगा तो भविष्य में, मेघों का कार्य—(वर्षा)—ही कभी नहीं हो सकेगा। इसलिए इसका तो कुछ अन्य ही उपाय करना चाहिए। यह सोच कर, भगवान् कहते हैं कि—“मैं इसका उपाय करता हूँ”। यदि इन व्रजजनों को यहां से दूसरे स्थान पर लेजाया जाए तो वहां पर भी वर्षा होने लगजाएगी, स्थान का त्याग करना पड़ेगा अथवा अन्यत्र अन्य का आश्रय लेना पड़ेगा। इस लिए इस गोवर्धन पर्वत ने ही इन्द्र के लिए सिद्ध की गई चावल आदि सारी सामग्री को खाया है, इसको ही इनकी रक्षा का साधन—(उपाय)—बनाना चाहिए। भगवान् ने ऐसी (गोवर्धन उठाकर रक्षा करने की) कल्पना पहले ही करली थी—यह मूल में—सम्यक्—यद से ज्ञात होता है।

शङ्का—पत्थरों का समुदाय ही पर्वत कहा जाता है। इन में कोई एक अवयवी नहीं इसलिए पर्वत को उठालेने पर भी पत्थर गिरेंगे। प्रशासन—श्रुति के अनुसार—अक्षर भगवान् की आज्ञा से ही आकाश और पृथिवि ठहर रहे—(विधृत) हैं—(अलौकिक रीति से) भी पर्वत का ऊपर उठाना योग्य नहीं है; क्योंकि यहां भगवान् मनुष्य रूप से अवतार धारण किए हैं और लौकिक रीति से ही अनुग्रह कार्य करते हैं। तब गोवर्धन पर्वत का उद्धरण किस प्रकार किया जा सकता है? ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि योगमाया से करूंगा। अर्थात् इस गोवर्धनोद्धरण कार्य में, मैं योगमाया का ग्रहण करूंगा। जिस प्रकार योगमाया द्वारा गर्भ को खींच कर रोहिणीजी में स्थापित किया, वैसे ही पर्वत को उठाने में भी योगमाया का विनियोग<sup>१</sup> करूंगा। जिससे पर्वत का कोई भी भाग नहीं गिरने पाएगा। इस योगमाया को बलवती बना देने के लिए मैं उसमें अपनी क्रियाशक्ति का प्रयोग करूंगा।

इतने भारी क्लेश करने का कारण ही क्या है, इससे पहले ही इस उपद्रव का विचार क्यों नहीं कर लिया गया? ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि इन्द्र अपने आप को लोकों का ईश्वर मान रहा है। यह वह भूल गया है कि वह तो भगवान् के द्वारा नियत किया हुआ एक अधिकारी मात्र है। यह इन्द्र की मूढता है; क्योंकि अन्य के द्वारा नियत किया गया अधिकारी स्वामी नहीं हो सकता है। यही—“स वै पतिः स्यात्”—श्रुति में बतलाया है, कि पति निश्चय रूप से वही हो सकता है, जो सब प्रकार से रक्षा कर सके। ऐसा एक वही है। अधिकारी को भी पति मान लेने पर तो परस्पर में—एक दूसरे को एक दूसरे से भय है। इस कारण से इन्द्र कोई ईश्वर थोड़ा ही है। वह तो मूढता से अपने को ईश्वर मान रहा है। उसको यह मोह लक्ष्मी के मद से हुआ है। इसलिए मैं उसके श्रीमद से होने वाले अज्ञान को दूर करूंगा ॥१६॥

श्लोक—न हि मद्भावयुक्तानां सुराणामोशविस्मयः ।

मत्तोसतां मानभङ्गः प्रशमायोपकल्पते ॥१७॥

श्लोकार्थ—जो मेरे भाव से युक्त देवता हैं उन्हें—हम ईश्वर हैं—ऐसा अभिमान कभी नहीं हो सक्ता है । असत् जनों के अभिमान का भङ्ग—दूर—होना उनके लिए हितकारी ही होता है; क्योंकि फिर वे शान्त हो जाते हैं । उनका भ्रम मिट जाता है ॥१७॥

सुबोधिनी—ननु कि तदज्ञानहरणेनेत्यत आह न हीति, मद्भावः शुद्धसत्त्वं देवत्व वा पूज्यत्वमैश्वर्यं वा, षण्णां यत्र स्थितिस्तत्राज्ञानं न तिष्ठेदित्यन्यथा स न मद्भावः स्यात्, भक्तिस्तु नात्र विवक्षिता विस्मयसामानाधिकरण्याभावादत ऐश्वर्यसत्त्वादेरज्ञानसहकारित्वं न युक्तमित्युभयोरप्यन्यतरनिराकरणे कृपालुत्वात् तम एव हरिष्ये, ईशा वयमिति विशेषेण स्मयो गर्वो न हि लोकेपि भवति जाते वा सोधिकारी स्थाप्यते, लोकन्यायेन त्वकरणं कृपालुत्वादेवाक्लिष्टार्थं च, ननु मानभङ्गापेक्षयाधिकाराभाव एव श्रेष्ठ इति चेत् तत्राह

मत्तोसतामिति, यद्यप्य मानभङ्गोऽन्यतः स्यादयुक्तं स्यात् लज्जाकरश्च भवेन् मत्तः सर्वेश्वरान् मानभङ्ग उचित एव नात्यन्तं लज्जाकरः, यद्यप्येक एवेन्द्रस्तथा भवेत् तदा निराकर्तव्यः स्यात् सर्व एव तथा जाता इति प्रधानशिक्षया सर्व एव शिक्षणीयाः, तदाहासतामिति, सर्व एव लोकपाला असन्तो जाता इति, अन्यथान्योप्येतादृश एव स्यात् ततो नवस्थाभवेत्, तस्मादसतां मानभङ्ग एकद्वारा कृतः सर्वेषामेव प्रशमाय भवत्युप समीपे च कल्पते शीघ्रं च भवति, प्रत्येककरणे बहु कर्तव्यं स्यात् एतद् राजमन्त्रणम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—उनका अज्ञान हरने—(मिटाने)—से क्या लाभ होगा ? इस ऐसे प्रश्न का समाधान—‘न हि’—इस श्लोक से करते हैं । मेरा भाव अर्थात् शुद्ध सत्त्व, देवत्व अथवा पूज्य भाव या ऐश्वर्य जहाँ ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छः धर्म रहते हैं, वहाँ अज्ञान नहीं ठहरता है । इन उक्त धर्मों की स्थिति नहीं होती, वह मेरा भाव (भगवद्भाव) नहीं है । यहाँ भक्ति के कथन की तो इच्छा नहीं है, क्योंकि विशेष गर्व जहाँ हो, वहाँ भक्ति नहीं रहती है अर्थात् विशेष अभिमान और भक्ति दोनों एक स्थान नहीं रह सकते हैं । इसलिए कहते हैं, कि भक्ति की बात तो बहुत दूर है, ऐश्वर्य, सत्त्व आदि का और अज्ञान का भी साथ २ रहना उचित नहीं है । इस कारण से, ऐश्वर्य और अज्ञान—दोनों में से किसी एक को दूर करना आवश्यक है । मैं दयालु हूँ, इसलिए दया कर के इनके तम—(अज्ञान) को ही दूर करूँगा ! हम अधिकारी हैं—इस प्रकार का विशेष गर्व लोक में भी किसी अधिकार प्राप्त व्यक्ति के लिए अच्छा नहीं होता और यदि किसी को अपने अधिकार का विशेष गर्व हो जाता है तो वह अपने उस अधिकार से च्युत<sup>१</sup> कर दिया जाता है । इस लोक रीति के अनुसार, इन्द्र को इन्द्र पद से च्युत न करने में, मेरी दयालुता ही कारण है । अपनी दयालुता से ही मैं इन्द्र पद से दूर न करके, अज्ञान को ही दूर करूँगा । अधिकारी पद से श्रेष्ठ करने में, एक कारण यह भी है, कि भगवान् किसी को क्लेश देने वाला कार्य नहीं करते हैं ।



महापुरुषों का तो मान ही धन है । इसलिए मानभङ्ग करने की अपेक्षा तो, अधिकारच्युत कर देना ही श्रेष्ठ होता है ? ऐसी शङ्का के उत्तर में कहते हैं, कि यह मानभङ्ग यदि किसी दूसरे से होता तो अनुचित होता और इन्द्र के लिए लज्जाकारी भी होता । मुझ सर्वेश्वर से होने वाला मानभङ्ग तो उचित ही है और अत्यन्त लज्जाकारी भी नहीं है । यदि एक ही इन्द्र विशेष गर्व वाला होता तो उसे ही दूर करना पड़ता; परन्तु यहां तो सभी लोक पालक देवता गविष्ठ हो गए हैं । इसलिए मुख्य को शिक्षा देकर सभी को शिक्षित करना है । “असतां मानभङ्गः” सारे ही लोक पालक असत् हो गए हैं । यदि शिक्षा नहीं दी जाएगी तो एक के पीछे दूसरा, यों सभी असत् हो जाएंगे और अनवस्था-(अनन्तता)-दोष उपस्थित हो जाएगा । इसलिए एक का मानभङ्ग सारे ही असत् लोकपालों का होकर सभी का शीघ्र ही हितकारी सिद्ध होगा । एक एक को अलग २ शिक्षा देने में तो बहुत करना पड़ता । राजा लोग इसी प्रकार एक को शिक्षा देकर अन्य सभी को शिक्षित करते हैं । यह राजमन्त्र है ।

**श्लोक—तस्मान् मच्छरणं गोष्ठं मन्नायं मत्परिग्रहम् ।**

**गोपाये स्वात्मयोगेन सोयं मे व्रत आहितः ॥१८॥**

**श्लोकार्थ—**इस व्रज-(गोकुल)-का मैं ही रक्षक और स्वामी हूँ । ये सब व्रजवासी मेरी शरण में आए हैं । मैं इनको अपने आश्रित और स्वजन समझता हूँ । इसलिए मैंने यह व्रत-निश्चय-पहले ही करलिया है कि अपने योगबल से मैं इन सब की रक्षा करूंगा ॥१८॥

**सुबोधिनी—**नन्वेतेभ्य एव आवश्यकत्वात्लाघवादि-  
दानीमेव कथं न मुक्तिर्दीयते मानभङ्गस्तु प्रकारान्तरेणापि  
भवति गोवर्धनस्य तूद्धरणमलौकिकं ज्ञानोपदेशो वा  
कर्तव्यलौकिक सामर्थ्यं वा देयं बृहस्पतिद्वारेन्द्रो वा  
निवारणीयोऽत एतावति प्रकारे सति गोवर्धनोद्धरणमेव  
कुतः क्रियत इत्याशङ्क्याह तस्मादिति, अहमेव शरणं  
यस्य नापि ज्ञानं नापि भक्तिरन्यथावतारप्रयोजनं न  
स्यात्, पुष्टिमागंश्च न भवेत्, तत्रापि गोष्ठं, न हि गाव  
उपदेशयोग्याः, इदानीं तु मुक्तिर्भक्तिमागंविरोधिनी,  
तदाह मन्नायमिति, अहमेव नाथः स्वामी यस्यातः  
स्वामिसेवकभावनाशकत्वात् नेदानीं मुक्तिर्युक्ता, किञ्च

मत्परिग्रहमिति, मम परिग्रहो यत्र मया सर्वे सङ्घाता  
एव परिगृहीतास्तत्र यद्येकोप्यंशो गच्छेत् तदा प्रतिजा-  
विरोधः स्यात् तथा सति विशेषाभावात् सर्वनाश एव  
भवेदतो यथा ते जीवाः परिगृहीता एवं तेषां देहा  
अप्यतो गोपाये, साधनं तु स्वात्मयोगेनेति, पर्वतधारणे  
योगमायायाः करणत्वमेतेषां सर्वथा रक्षायां स्वात्मयोग  
एव, यथा वायुनिरोध इन्द्रियाणि सर्वोपद्रवरहितानि  
भवन्ति तथैतेष्वहमात्मानं स्थापयिष्यामि, ततो मयि  
स्थिता मदभ्यन्तरस्थितपूर्वभुक्तान्नभोजिनो भूत्वा सुखिता  
भविष्यन्तीत्ययमेव पूर्वकृतभोजनोपयोगः, ननु किमेता-  
वत्क्लेशेन ? तत्राह, सोयं मे व्रत आहित इति,

**व्याख्यानार्थ—**शङ्का होती है कि गोप गायें आदि को मुक्ति देना तो आवश्यक ही है, फिर इसी समय थोड़े से प्रयास से सिद्ध हो जाने वाली मुक्ति क्यों नहीं दे दी ? इन्द्र का मानभङ्ग तो किसी दूसरी रीति से भी हो सकता है । गोवर्धन का उद्धरण तो अलौकिक है । लोक में मनुष्य

रूप से अवतार लेकर ऐसा अलौकिक कार्य करना उचित प्रतीत नहीं होता । अथवा इनको ज्ञान का उपदेश ही दे देते । अथवा अलौकिक सामर्थ्य ही दे देते अथवा देवगुरु बृहस्पतिजी के द्वारा इन्द्र को ही रोक देना था । इतने उपायों के होते हुए फिर गोवर्धन का उद्धरण ही क्यों किया ? इसका उत्तर, तस्मात् इस श्लोक से देते हैं । मच्छरणां-मैं ही इनका शरण, आश्रय हूँ । ज्ञान अथवा भक्ति इनका आश्रय नहीं है । यदि इन से ज्ञान अथवा भक्ति करने का उपदेश करूँ तो फिर मेरा अवतार लेने का प्रयोजन ही सिद्ध न होगा; क्योंकि, ज्ञान, भक्ति के बिना भी केवल मेरा आश्रय लेने वालों को मैं स्वरूप बल से ही वाञ्छित फल देता हूँ । पुष्टि-(अनुग्रह)-मार्ग भी नहीं रहेगा । फिर यह तो गोष्ठ है । गायों में उपदेश ग्रहण करने की योग्यता नहीं होती । इसी समय मुक्ति दे देना भक्ति मार्ग के विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि मैं ही इनका स्वामी हूँ । इनके लिए अभी मुक्ति दे देने में तो स्वामी सेवक भाव ही लुप्त हो-जाएगा । इसलिए अभी मुक्ति देना उचित नहीं है ।

फिर मैं इनको स्वजन-(आत्मीय)-मानता हूँ । और जब मैंने इनके सारे शरीरों का परिग्रह किया है, तो शरीर का एक अणु भी यदि न रहे तो मेरी प्रतिज्ञा में विरोध भी आवे और अङ्ग तथा अङ्गी में अभेद होने के कारण एक अङ्ग का नाश होने से भी सर्वनाश ही होजाएगा । इसलिए इनकी आत्मा की तरह इनके शरीर भी मेरे ही परिग्रह-आश्रित-है, तो मैं इनकी रक्षा करूँगा । वह रक्षा स्वात्मयोग के द्वारा करूँगा । गोवर्धन को उठाने में तो, योगमाया साधन है और इनकी रक्षा करने में स्वात्मयोग-(प्रमेय बल)-ही साधन है । जैसे वायुनिरोध-प्राणायाम-से सारी इन्द्रियां शान्त एवं उपद्रव रहित हो जाती हैं, इसी प्रकार जब मैं इन में अपनी आत्म को स्थित कर-(रख)-दूँगा, तब मेरे भीतर रहने वाले ये गोपजन मेरे भीतर स्थित पहले मेरे भोजन किए हुए अन्न का भोजन करके सुखी हो जाएँगे । मेरे द्वारा पहले किए गए भोजन का इन्हें भोजन कराकर सुखी करना ही प्रयोजन-(उपयोग)-है । इतना क्लेश उठाने का कारण यह है, कि (सोऽयं में व्रत आहितः) मैंने यह व्रत धारण कर रक्खा है; क्योंकि

कारिका—शरणागतसंरक्षा सर्वभावेन सर्वथा ।

‘कोन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥१॥

‘सङ्ग्रामे च प्रपन्नानां तवास्मीति च यो वदेत् ।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥२॥

कारिकार्थ—शरणागत जीवों की सुरक्षा सर्व भाव से सर्वथा करना । हे अर्जुन तू निश्चय पूर्वक सत्य जान कि मेरे भक्त का विनाश नहीं होता है । युद्ध में अथवा शरणागतों में से जो कोई-मैं आपका हूँ-ऐसा कहता है, उसे मैं सब प्राणियों से अभय देता हूँ यह मेरा व्रत है ॥१-२॥

सुबोधिनी—तस्मात् सर्वथा स्वव्रतं पालनीयमिति, स्वधर्मनिर्वाहार्थमेव गोपाये, नन्वेतद् व्रतमेव किमिति गृह्यते ? तत्राहायं व्रतः पूर्वमेव मयाहितः स्वीकृतः ।  
 आस्थितो वातो गृहीतस्य त्यागाभावात् पालनमेवोचितम् ॥१५॥

**व्याख्यार्थ—**इस लिए अपने व्रत का पालन मैं सब प्रकार से करूँ । अपने धर्म की रक्षा-(निर्वाह)-के लिए रक्षा करूँगा । यदि यह कहा जाए कि ऐसा व्रत ही क्यों ले लिया ? तो इसके उत्तर में कहते हैं, कि यह व्रत मैंने पहले से ही ग्रहण कर रखा है । धारण किए हुए व्रत का त्याग नहीं किया जाता । व्रत का पालन करना ही उचित है ।

**कारिका—**प्रथमं क्लेशसम्बन्धः पूर्वपाण्डधर्मतः ।

शरणागमने बुद्धिर्यागानुष्ठानतोभवत् ॥१॥

**कारिकार्थ—**व्रजवासी, इन्द्रयाग रूपी पाखण्ड धर्म का सेवन कर रहे थे । इस कारण से, उन्हें पहले क्लेश का सम्बन्ध प्राप्त हुआ । तदनन्तर भगवद् याग का अनुष्ठान करने से उनकी भगवान् के शरण जाने की बुद्धि हुई ॥१॥

**कारिका—**मर्यादास्थापनार्थाय शरणागतिवर्णनम् ।

अन्यथान्यगृहीतार्थं गृह्णीयाद् भगवान् कथम् ॥२॥

**कारिकार्थ—**मर्यादा की स्थापना के लिए यहां शरणागति का वर्णन किया है । यदि इनकी शरणागति का वर्णन नहीं करते तो अन्य--(इन्द्र)--के ग्रहण किए पदार्थों का ग्रहण भगवान् कैसे करते ॥२॥

**कारिका—**अतो यागोपदेशश्च दूरोपायतया मतः ।

भक्तिमार्गस्तथाक्लिष्टकर्मत्वं च ततो भवेत् ॥३॥

**कारिकार्थ—**इस लिए दूर के उपाय की रीति से, अर्थात् उन व्रजवासियों को स्वरूपानन्द का दान करने के लिए--भगवद्-याग करने का उपदेश किया, जिससे अनन्य भक्ति मार्ग और भगवान् का अक्लिष्ट कर्म करना सिद्ध होता है ॥३॥

**टिप्पणी—**'गोपाये स्वात्म योगेन'-इस श्लोक की व्याख्या में-'पर्वत धारण'-से प्रारम्भ करके-'मविष्यन्ति'-इत्यादि ग्रन्थ का तात्पर्य यह है, कि यहां दो कार्य कर्तव्य हैं-एक तो यह, कि पर्वत धारण करके वर्षा से रक्षा और दूसरा यह, कि इनके देह, जीव आदि की भी रक्षा करना; क्योंकि यदि जीव, देहादि की रक्षा न की जाएगी तो पर्वत धारण कर लेने पर भी प्रलय काल के मेघों की गोर गर्जना आदि से इनके प्राण टिक नहीं सकेंगे । इसलिए अपने आत्मयोग से इनकी रक्षा कर्तव्य है । यही मूल में 'स्व' पद का तात्पर्य है ।

अथवा स्वयं और आत्मयोग (स्वशक्ति) दोनों ही प्रकार से रक्षा करना अभीष्ट है । वह स्वशक्ति यहाँ योगमाया ही कही गई है । अर्थात् (स्व) स्वयं तो—(क्षुत्तृङ्मयथां—इस तेबीसवें श्लोक के अनुसार)—भगवान् ने स्वरूपानन्द का दान करके इनके प्राणादि की और पर्वत उठाकर वर्षा से रक्षा की—यह भाव है ।

लेख -- तस्मान्मच्छरण—की व्याख्या में—ग्रलौकिकं सामर्थ्यम्—इत्यादि ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि—ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यादिभ्यः (ब्र. सू-४-४-५) जैमिनी के मत के अनुसार जीवों को देहादि विना लीला करने का सामर्थ्य देना उचित है ? इस शंका का समाधान—(मत्परिग्रहं) मैंने इनका परिग्रह—अंगीकृत—किया है—इस पद से और (बृहस्पति द्वारा—) बृहस्पति द्वारा इन्द्र को वर्षा करने से रोक दिया जाए ? इस शंका का समाधान—स्वात्मयोगेन—इस पद से किया है, न कि किसी दूसरे प्रकार से । ज्ञानोपदेशश्च—ज्ञान का उपदेश कहने से भक्ति का दान भी समझ लेना चाहिए; क्योंकि ज्ञान और भक्ति एक ही है । स्वात्मयोग एवं—अपनी आत्मा अथवा स्वरूप का (योग) इनमें स्थापन करना । स्वरूप स्थापन के द्वारा रक्षा की रीति कहते हैं, कि जिस प्रकार प्राणायामों के द्वारा, वायु के भीतर रोकने से,—वायु के वशीभूत इन्द्रियां बाहर की गति रहित होकर अन्तर्निष्ठ हो जाती हैं, उसी प्रकार मेरी आत्मा (स्वरूप) का इन में स्थापन करने से, मेरे आधीन, ये व्रजजन उपद्रव रहित होकर अन्तर्निष्ठ अर्थात् मेरे भीतर इनकी स्थिति हो जाएगी । तब मेरे भोजन किए हुए अन्न के प्रभाव की शक्ति से ये—‘सुखिताः—गर्जना आदि के प्रतिघात से रहित हो जाएंगे । इतीति—इस प्रकार स्वात्मयोग से रक्षा की ॥१६॥

टिप्पणी—‘तस्मान्मच्छरण’, इस श्लोक की व्याख्या में की गई ‘मुक्तिदान’ आदि की शङ्का के समाधान में कारिका में—‘प्रथमं क्लेश सम्बन्धः’ से प्रारम्भ करके, ‘ततो भवेत्’ तक कही गई है ।

शङ्का—भगवान् ने जब नन्द आदि व्रजजनों का इस प्रकार परिग्रह कर लिया था, तो फिर उनकी अन्य देव इन्द्र की पूजा में मन क्यों हुँगा ? और यदि इनकी अन्य के भजन में रुचि हो भी गई थी, तो अन्य भजन से इन्हें निवृत्त करना ही उचित था, याग करने का उपदेश तो अनुचित था; क्योंकि जब इनका परिग्रह भगवान् ने स्वरूप से ही किया था, तब यागादि दूसरे साधनों की कोई अपेक्षा नहीं थी । यह भी नहीं है कि इनका परिग्रह अभी ही किया गया हो; क्योंकि—“स्वगोकुलमनन्यगति—गोकुल मेरा है, मेरे विना इसका अन्य रक्षक नहीं है—इत्यादि वाक्यों से इनका भगवत्परिग्रह पहिले ही सिद्ध है । फिर भगवान् स्वयं सर्वज्ञ हैं और व्रज का परिग्रह सदा ही सिद्ध है, तब उनकी रक्षा के लिए की गई प्रार्थना को सुनकर भी, तत्काल रक्षा न करना भी अनुचित है ? इत्यादि शंकाओं का उत्तर—प्रथमं क्लेश सम्बन्धः—इस प्रथम कारिका में दिया है, यहाँ यह अभिप्राय है । यहाँ भगवान् के परिग्रह से ही सकल सिद्धि है । वह परिग्रह भी किसी अन्य साधन से सिद्ध नहीं हो सकता । तभी तो, अर्थात् स्वपरिग्रह के कारण ही विपरीत साधन (इन्द्रयाग) करते देख, उन्हें उस विपरीत साधन से निवृत्त किया । इससे इनका परिग्रह ही सिद्ध होता है । पहले से ही विपरीत साधन का था—इस कथन से स्वपरिग्रह सिद्ध नहीं हो सकता । इसी से श्रुति में कहा है कि “भगवान् किसी साधन द्वारा प्राप्त नहीं होते । वे जिस जीव का वरण करते हैं, उसे ही वे प्राप्त होते हैं” इसीलिए ‘प्रथम’ इत्यादि आधी कारिका आज्ञा की है ।

‘शरणागमने’, इत्यादि आधी कारिका से याग के उपदेश का प्रयोजन कहा गया है, कि याग के अनुष्ठान से उनकी शरणागमन की बुद्धि हुई । यदि गिरियाग न करते तो—“भगवान् के वचन से इन्द्रयाग का भङ्ग करने से, हम पर यह क्लेश आया है”—इस प्रकार उनकी भगवान् पर ईर्ष्या, असूया, बुद्धि हो जाती और जिससे अब

तक किया हुआ सारा निरोध व्यर्थ हो जाता । भगवान् का परिग्रह स्वयं ही बहुत प्रबल है,—यह बतलाने के लिए इन से, लोक साधारण रीति के अनुसार, याग करने से लिए कहा है । इसलिये अब तो ईर्ष्या के उत्पन्न होने की शङ्का ही नहीं रह जाती है । इसके पहले जब इनके देह, इन्द्रियाँ आदि इन्द्रयाग रूप पाखण्ड धर्म में विनियुक्त थे, तब तो असूया होना भी सम्भव था । अन्यत्र विनियुक्त हुई इन्द्रियों का निरोध भगवान् में सिद्ध नहीं होता इसी लिए—उनकी निरोध सिद्धि के लिए ही भगवान् ने उनका तथा उनकी वस्तुओं का अपने स्वार्थ कार्य—याग—में योग कर दिया । तब उस पूर्व दोष के दूर हो जाने पर उनमें भगवान् पर दोषारोपण नहीं किया और उनकी बुद्धि भगवान् के शरण में जाने की हुई ॥का०॥१॥

भगवान् ने उनका परिग्रह तो स्वरूप बल से ही कर रखा है, फिर परिग्रह के लिए यह याग कराना व्यर्थ है ? ऐसी शङ्का करना उचित नहीं है; क्योंकि याग कराकर उनकी शरण जाने की बुद्धि उत्पन्न करने का हेतु परिग्रह ही तो है । वह परिग्रह उनका और उनकी वस्तुओं का सब का ही कहना चाहिए । परिग्रह करने वाले (उन) भगवान् पर यदि उनकी निष्ठा न हो तो, परिग्रह का स्वरूप ही सम्भव न हो । यहाँ यह कहना कि—शरणागमन से ही परिग्रह तो सिद्ध हो गया था—उचित नहीं है; क्योंकि इस परिग्रह के कारण ही भगवान् ने उनकी रक्षा की है । शरणागति का वर्णन तो केवल भक्ति मार्ग की इस मर्यादा को बतलाने के लिए है, कि भगवान् ने जिनका परिग्रह कर लिया है, वे अपनी इस लोक और परलोक की सिद्धि के लिए भगवान् की ही प्रार्थना करते हैं किसी दूसरे की नहीं करते । शरणागति के वर्णन का दूसरा कारण ब्रजवासियों के इस प्रकार के कथन से इनके परिग्रह को पहले ही से सिद्ध बतलाना भी है; क्योंकि यदि परिग्रह पूर्व सिद्ध नहीं होता तो इन्द्र का अपराध करने से हुए—(आए)—अनिष्ट को देखकर पुनः इन्द्र का ही याग करने की प्रतिज्ञा करके इन्द्र से ही रक्षा की प्रार्थना करते । इसीलिए दूसरी कारिका—में मर्यादास्थापनार्थाय—ऐसा कहा है ।

अथवा—मर्यादा स्थापनार्थाय—इस कारिकास्थ पद का दूसरा तात्पर्य यह भी है, कि जैसे कोई मादक वस्तु के मद से मत्त होकर दूसरों की अवगणना कर देता है, उसी प्रकार ये ब्रजवासी भगवान् के परिग्रह के गर्व से अपने आप को निर्भय मानकर, तथा इन्द्र को तुच्छ समझ उसकी अवगणना करके गर्व से यदि भगवान् से भी रक्षा की प्रार्थना नहीं करते तो भी भगवान् तो रक्षा करते ही, किन्तु इनके भाव के अनुसार ही रक्षा करते । तब तो गोवर्धन का उद्धरण नहीं होता, केवल वर्षा का नाश करके ही रक्षा कर देते । इस प्रकार केवल वृष्टि का नाश करने से गोवर्धन के उद्धरण में होनेवाली—अन्य किसी की अपेक्षा न रखकर भगवान् के दर्शन करते रहना, केवल भगवदीयत्व का अनुभव करना, भगवान् का माहात्म्य जानना, गोविन्द नाम धारण करना, भगवान् पर अभिषेक—आदि लीलाओं का अनुभव ब्रजवासियों को नहीं होता । उन लीलाओं की सम्भावना भी तब तो नहीं रहती और उन लीलाओं से होने वाला निरोध भी उनका नहीं होता तब ब्रजवासियों के निरोध सिद्धयर्थ ही सारी लीला करना रूप नियम का भङ्ग हो जाता । इस लिए नियम रूप मर्यादा की रक्षा के लिए शरणागति का वर्णन किया है ।

दूसरी बात यह है, कि यह साधन प्रकरण है । यहाँ इस साधन प्रकरण में साधन मार्ग के अनुसार की हुई—भगवान् की—लीलाओं का ही वर्णन किया गया है । इसलिये अन्य—इन्द्र—याग का निषेध करना, स्वयाग

श्लोक — इत्युक्त्वैकेन हस्तेन कृत्वा गोवर्धनाचलम् ।

दधार लीलया कृष्णश्छत्राकमिव बालकः ॥१६॥ -

श्लोकार्थ—यों कह कर श्रीकृष्णचन्द्र ने एक हाथ से गोवर्धन (पर्वत) को अचल करके लीला पूर्वक उठा लिया, जैसे कोई बालक खेलते खेलते (बरसाती सांप की छतरी) धरती के फूल को धरती से उखाड़ ले ॥१६॥

सुबोधिनी—अतो भगवानेवं विचार्य तान् प्रति तथोक्त्वा विश्वासार्थं श्रुतिविरोधपरिहारार्थमाधिदैविक-सम्पत्त्यर्थं मायागोवर्धनादीनां प्रबोधनार्थं च तथोक्त्वा गोवर्धनोद्धरणं कृतवानित्याहेत्युक्तवेति, अयं गोवर्धन उत्तोलितः संवचनः स्यात् तथा सति स्वरूपनाशो भवेदचलो हि सोत एकेन हस्तेन गोवर्धनमचलं कृत्वा दधारेतिसम्बन्धः, गा वर्धयतीति गोवर्धन आधिदैविकस्य नामेति पूर्वं व्यवस्थापितः, स चलोपि भवेत् तस्याप्यचलता सम्पादिता धारणार्थमेकया क्रियाशक्त्या पालनलक्षणान्यथा सेवायामपि प्रवृत्तश्चेच्चलनं स्यात्,

अथ बाल्यो गोवर्धनो लम्बो विकृतश्च तमेकेन हस्तेन पादश उद्धर्तव्यस्तादृशं कृत्वा पश्चाद् दधार, एवं सति क्लेशो भवेत् किं वा प्रयोजनमित्याशङ्क्याह लीलयेति, लीलायां क्लेशो रसाय भवति लीलामात्रेण कृतमित्य-क्लेशश्च, ननु सर्वेश्वरो भगवान् कथमेवमचलं चलं विधाय स्वतः स्थितमन्यथाकृत्वा पालनं कृतवान् प्रकारान्तरेणापि पालनसम्भवात् ? तत्राह छत्राकमिव बालक इति, यथा बाला लीलायां छत्राकं स्थिरमपि राजलीलां बोधयितुं तत उत्पाठ्य मस्तकोपरि स्थापयन्ति तथा सति बाललीला सा भवेदन्यथा मर्यादाभङ्गो

कराना, ब्रजवासियों का भगवान् की शरण में जाना, तब भगवान् का उनकी रक्षा करना आदि का वर्णन उचित ही है । यदि उक्त प्रकार से वर्णन यहां नहीं होता तो, विपक्ष—(विरोध)—में आने—उपस्थित होने वाली बाधा का वर्णन—अन्यथा—इत्यादि द्वितीय कारिका के उत्तरार्ध में कहते हैं । (अन्यथा—यदि ऐसा नहीं करते तो अर्थात् इन ब्रजजनों को सबसे अलग करके मैं (इन्हें) आत्मीय करूंगा—यदि ऐसी इच्छा से भगवान् इन्द्रयाग भङ्ग

आदि लीला नहीं करते) अन्यथा यदि भगवान् ब्रजवासियों को सब से अलग करके आत्मीय करने की इच्छा से इन्द्रयाग का भङ्ग आदि लीला नहीं करते तो अन्य—इन्द्र के लिए सिद्ध किए हुए भोजन को भगवान् क्यों अरोगते ? दूसरे अन्न से भी गोसव—गायों के लिए यज्ञ—हो सकता था, परन्तु अन्य अन्न से यदि गोसव किया जाता तो इन्द्र का अंश—(भाग)—गोकुल में बना (स्थापित) ही रहजाता । इन्द्र का गोकुल में कुछ भी अंश शेष न रहे—इसी अभिप्राय से भगवान् ने अन्य नई सामग्री सिद्ध न कराकर उसी इन्द्रयाग के लिए सिद्ध की गई सामग्री से ही, स्वयाग करने का जो उपदेश दिया है, वह ब्रजजनों को केवल आत्मीय करके स्वरूपानन्द का दान करने के लिए दिया है । इसी कारण से तीसरी कारिका में याग के उपदेश को दूर के उपाय रूप से कहा है । ऐसा करने से अनन्य भक्ति मार्ग सिद्ध होता है । इन्द्र का अंश शेष रहने पर तो वह भक्ति अन्य से मिश्रित ही रह आती । आनुषङ्गिक (मध्य पतित) इन्द्र याग का भङ्ग आदि सब कुछ भक्तों की—काल कर्म स्वभाव से मुक्त होकर—केवल भगवदीयता तथा भगवान् की अक्लिष्ट कर्मता की सिद्धि के लिए किया है । तात्पर्य यह है, कि भक्ति मार्ग की स्थापना और भगवान् की अक्लिष्ट कर्मता सिद्ध हो—इसी उद्देश्य से यह लीला है । यह तीसरी कारिका के उत्तरार्ध में कहा है ।

दोषाय स्यादत एवेन्द्रो न निवृत्तः पौरुषस्याप्रकटित-  
त्वादनायासेपि दृष्टान्तः, वस्तुतो रक्षा भगवर्तव कृता न  
तु गोवर्धनेनाप्युद्धतेन न हि छत्राक क्वचिद् दृष्टि-  
वारयनि वृष्ट्या नाशसम्भवाच्चातोप्रयोजकत्वमपि  
जापयितुं दृष्टान्तः, तथोद्धृतवान् यथा मध्ये गर्तो भवति  
प्रान्तभागश्चोन्नतो गर्ताधिकप्रदेशे तद्गता छाया ॥१६॥

व्याख्यार्थ—इस कारण से भगवान् ने इस प्रकार विचार करके ब्रजवासियों में विश्वास उत्पन्न कराने, विश्वासार्थ आने वाले श्रुति के विरोध को दूर करने, आधिदैविक सम्पत्ति सिद्ध करने तथा माया, गोवर्धन आदि को प्रयोज्य कराने के लिए ऊपर कथित प्रकार से कहकर गोवर्धन का उद्धरण किया—यह—‘इत्युक्तवैकेन’—उस श्लोक से कहते हैं। इस गोवर्धन को ऊँचा धारण किया तो यह चल हो जाएगा। इसकी अचलता भिट जाएगी, तब तो इसके स्वरूप का नाश हो जाएगा; क्योंकि पर्वत तो अचल है। इसलिए एक हस्त से गोवर्धन को अचल करके धारण किया—यह सम्बन्ध है। गोवर्धन गायों को बढाने वाला, यह आधिदैविक नाम पहले ही सिद्ध किया हुआ है। वह चल भी हो, उसकी भी-धारण करने के लिए एक हस्त से—पालन स्वरूप वाली एक क्रियाशक्ति में—अचलता का सम्पादन किया। यदि उसे अचल नहीं करते, तो भगवान् की मेवा में लगा हुआ भी गोवर्धन अचल न रहकर चल हो जाता। अथवा यह भी तात्पर्य है कि ऊँचे, नीचे, लम्बे विकृत गोवर्धन को एक हाथ से उठाया जा सकने योग्य करके फिर धारण किया। पर्वत उठाने में भगवान् को क्लेश होगा और ऐसा करने का प्रयोजन भी क्या है? ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि, ‘लीला’ लीला से ही उठा लिया। लीला में होने वाला क्लेश आनन्ददायक होता है, रस उत्पन्न करता है। लीलामात्र से किया हुआ होने से उसमें क्लेश भी नहीं है।

यहां यह शंका होती है, कि भगवान् तो सब के ईश्वर हैं। वे किसी दूसरे प्रकार से भी रक्षा करने में समर्थ हैं फिर इस अचल गोवर्धन को चल-करके—इसकी स्थिति में परिवर्तन करके—ऊँचा उठाकर ही रक्षा क्यों की? इसका उत्तर—‘छत्राकमिव बालकः’—मूल में इन पदों से किया है। जैसे बालक खेलते २ वर्षी में उगने वाली छतरी के आकार वाली साँप की छतरी को उखाड़ कर राजा की सी लीला करने के लिए अपने गिर पर छत्र रूप से रख लेते हैं। ऐसा करने पर भी, वह बाल लीला ही कहलाती है, नहीं तो मर्यादा का भङ्ग दोष रूप होता। इसी लिए इन्द्र भी इस—गोवर्धनोद्धरण—को बाल लीला जानकर निवृत्त नहीं हुआ; क्योंकि भगवान् ने अपना कोई सामर्थ्य प्रकट किया नहीं। छत्राक के दृष्टान्त से यह सूचित होता है कि इस लीला में भगवान् को थोड़ा भी परिश्रम नहीं हुआ। वास्तव में तो रक्षा भगवान् ने ही की। गोवर्धन को उठा लेने से भी रक्षा होती नहीं! छत्राक से कभी वर्षा रुक नहीं सकती। छत्राक तो वर्षा से नष्ट हो जाता है। इसलिए गोवर्धन का धारण करना भी रक्षा करने में मुख्य कारण नहीं है। इसी अभिप्राय से, मूल में यहाँ छत्राक (साँप की छतरी) का दृष्टान्त दिया गया है। भगवान् ने गिरिराज का उद्धरण इस प्रकार से किया कि बीच में गड्ढा, दोनों किनारे ऊँचे और गड्ढे के अधिक भाग में उसकी छाया बनी रहे।

टिप्पणी—‘इत्युक्तवैकेन’—श्लोक की व्याख्या में—विश्वासार्थ—का तात्पर्य यह है कि आगे के डेढ़ श्लोक से—भगवान् हमारी रक्षा करेंगे ही—ब्रजवासियों को विश्वास उत्पन्न किया। भगवान् के कहने से इन्द्रयाग का भग्न करने से ही, यह उपद्रव भाया है। इसलिए भगवान् इसका उपाय अवश्य करेंगे ही। यह—स्वयामे विहते-गत

श्लोक—अथाह भगवान् गोपान् हेऽम्ब तात व्रजौकसः ।

यथोपजोषं विशत गिरिगर्तं सगोधनाः ॥२०॥

श्लोकार्थ—गोवर्धन पर्वत को ऊँचा धारण करके भगवान् ने गोपों और गोपियों

पन्द्रहवें श्लोक में कह आये हैं। व्रजवासियों के विश्वास उत्पन्न होने का कारण यह है, कि भगवान् की आज्ञा से भगवद् याग करने पर गोवर्धन देव के प्रत्यक्ष दर्शन हुए। यह—'कृष्णस्त्वन्य-तमं रूप'—इस गत अध्याय के पैंतीसवें श्लोक से बतलाया जा चुका है। इन्द्र का दमन करते तो—इन्द्रस्ययुज्यः सखा—(भगवान् इन्द्र के सहयोगी सखा हैं) इस श्रुति से विरोध आजाता। इस श्रुति विरोध को दूर करने के लिए ही इन्द्र का दमन न करके उसके लक्ष्मी मद को दूर करना कहकर उसका हित करना ही बतलाया है।

सभी देवताओं का आधिदैविक स्वरूप भगवद्रूप है। इन्द्र का भी आधिदैविक स्वरूप भगवद्रूप ही है। उस आधिदैविक स्वरूप से युक्त इन्द्र को मद कभी नहीं हो सकता। इसको मद के होने से ज्ञात होता है कि यह इन्द्र आधिदैविक स्वरूप से रहित है। ऐसे इन्द्र का मानभङ्ग उस आधिदैविक स्वरूप इन्द्र का सम्मत ही है। इसीलिए 'न हि मदभावयुक्तानां'—यह कहा है। यदि आधिदैविक इन्द्र को यह मानभग अभीष्ट नहीं होता, तो गत सत्रहवें श्लोक में भगवान्—मदभावयुक्तानां—यह नहीं कहते। गोपाये स्वात्मयोगेन—इन अठारहवें श्लोक के पदों की व्याख्या में, माया और गोवर्धन के प्रबोधन करने का अभिप्राय यह कहा है, कि पर्वत के धारण करने में योगमाया और गोपों की रक्षा करने में स्वात्मयोग साधन है। यहां व्याख्या में—माया गोवर्धनादीनां—आदि पद से गिरिराज पर स्थित वृक्ष, पक्षी आदि को भी प्रबोध दिया। भगवान् यदि उन वृक्षों, पक्षियों को प्रबोधन नहीं करते, तो वे पर्वत की छाया में नहीं आते। तब तो उनका नाश होने से अनिष्ट ही होता। इसलिए उन वृक्ष पक्षियों में भी स्वयोग सूचित किया है, कि भगवान् ने अपने वाक्यों से उनको भी प्रबोध किया। यदि ऐसा न मानें तो—इत्युक्त्वा दधार ऐसा कह कर धारण किया। यों कह कर रक्षा करना नहीं लिखते; क्योंकि यों बिना कहे भी गोवर्धन के धारण से रक्षा तो सम्भव थी ही। फिर भी इन वचनों के कहने से उन वृक्ष पक्षियों को भी बोधन करना समझना चाहिए।

लेख—इत्युक्त्वा—इस श्लोक की व्याख्या में—पूर्व व्यवस्थापितः—(गोवर्धन—यह आधिदैविक नाम पहले ही स्थापित कर दिया है) इन पदों का अभिप्राय यह है, कि गत अध्याय के पैंतीसवें श्लोक—'एषोऽवजानतो मर्त्यान्, शर्मणे गवाम्' में गायों के कल्याण के लिए भगवान् ने गोपों से इस गोवर्धन पर्वत को नमस्कार करवाया है। इस कथन से इस पर्वत का गायों की वृद्धि करना सिद्ध है। अन्यथा—आदि पदों का तात्पर्य यह है कि यदि भगवान् गोवर्धन पर्वत में अचलता का सम्पादन न करके उसे चल कर देते तो उसमें चलन धर्म प्रगट हो जाता। तब तो वह किसी अन्य कारण से चलन नहीं भी करता तब भी वह स्वयं हरिदासों में उत्तम—हरिदासवर्य—होने के कारण भगवान् की सेवा में प्रवृत्त होने पर चलन करने पर भी उसमें भगवान् के द्वारा की हुई अचलता को दूर न कर देने वाली सेवाएँ ही गोवर्धन करे। इसकी उस सेवा का स्वरूप वेणुगीत में, 'पानीयसूयवसकन्दर कन्दमूलैः' जल, सुन्दर घास, कन्दमूल उत्पन्न करना कहा है। भगवान् ने अचलता का सम्पादन करके ही गोवर्धन को धारण किया। इस कारण से उसमें चलन नहीं आया—यह भाव है ॥१९॥



से कहा--हे माता, हे पिता, हे ब्रजवासियों, आप सब अपने गोधन सहित इस गिरिराज के गढहे में आकर सुख पूर्वक बैठिये ॥२०॥

सुबोधिनी -- एवं धृत्वा शरणागतानाहायेति, उपायं कृत्वैव समाधानञ्चनमुक्तवान् तु पूर्वमित्यानन्तर्यार्थो-  
थशब्दः, भगवानिति पर्यवसानपरिज्ञानं, गोपानिति धर्मपरान्, अन्यथा भगवद्वाक्ये विश्वासो न भवेद् विपरीतक्लेशानुभवात्, अतस्तान् प्रत्याहेति वक्तव्ये गोपानाहेत्युक्तं, तेष्ववान्तरभेदं वक्तुं स्थानविशेष-

निर्देशार्थं स्नेहेन विशेषतः सम्बोधयति हेम्ब हे तात हे ब्रजौकस इति, राजसादित्रैविध्यं च प्रदर्शितं सर्वं एव पात्यन्त इतिज्ञापनार्थं, यथोपजोष यथासुखं गिरिगर्तं विशत, सर्वेषामेव स्थितौ महत् स्थानमस्तीति बोधितं, गोधनसहिता गाव एव धनानि येषां गोभिर्धनैश्च सह वा ॥२०॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार गिरिराज को धारण करके अपने शरणागत ब्रजवासियों से भगवान् के कथन का वर्णन 'अथाह' इस श्लोक से करते हैं। उपाय करने के पश्चात् ही भगवान् ने समाधान के वाक्य कहे, पहले नहीं कहे-यह बतलाने के लिए यहां मूल में-अथ (आन्तर्य अर्थ बोधक) शब्द भगवान् ने कहा है। स्वयं भगवान् है। इसलिए श्रीकृष्णचन्द्र को इस लीला से होने वाले सारे परिणाम का ज्ञान है। 'गोपान्'-यह पद गोपों की धर्म परायणता का सूचक है। यदि वे धर्म में परायण न होते, तो भगवान् के वाक्य पर उनका विश्वास नहीं होता; क्योंकि वे पहले (इन्द्र कोपरूप) विपरीत बलेश का अनुभव कर चुके थे। इसी आशय से-तान् प्रति आह-ऐसा न कहकर (सर्वनाम पद से न कहकर) गोपान्-यह पद मूल में कहा गया है उनमें स्वरूप भेद कहने और स्थान विशेष का निर्देश करने के लिए स्नेह के कारण भगवान् विशेष रूप सम्बोधन करते हैं-हे माता ! हे पिता ! हे ब्रजवासियो ! इस-प्रकार राजस, सात्विक, तामस, आदि प्रकार का निर्देश भी कर दिया और वह इस बात को सूचित करने के लिए कि भगवान् इन सब का पालन करते हैं। यथोपजोष-यथा सुख इस गिरिगर्त में प्रविष्ट हो जाओ। इस कथन से यह बतलाया, कि सब के रहने के लिए यहां विशाल स्थान है। गायें रूपी धन के अथवा गायें और धन के सहित इन पर्वत के नीचे गढहे में ठहर जाओ ॥२०॥

श्लोक—न त्रास इह वः कार्यो मद्वस्ताद्विनिपातनात् ।

वातवर्षभयेनालं तत्राणं विहितं मया ॥२१॥

श्लोकार्थ—आप लोग मेरे हाथ से इस पर्वत के गिर जाने का भयान करें। अब इस घोर वर्षा और प्रचण्ड आंधी से भी आप लोगों को कुछ भी भय नहीं है; क्योंकि उस विपत्ति से बचाने के लिए ही मैंने यह उपाय किया है ॥२१॥

सुबोधिनी -- उपरि मद्वस्त दृष्ट्वा त्रासो न कर्तव्य इत्याह न त्रास इति, इहास्मिन् गर्ते प्रविष्टेमद्वस्ताद्विनिपातनाद्धेतोस्त्रासो न कार्यो न पतिष्यति यतः,

ननुभयोर्भययोरेकमङ्गीकर्तव्यं ततो वरं वृष्टिभयमेवा-  
स्त्वित्याशङ्क्याह वातवर्षभयेनालमिति, वातवर्षभयं न कर्तव्यमलंशब्दो निवारणे तस्तद्भयं मास्त्वत्र तु शङ्का

न कर्तव्या, आगन्तव्यमित्याशङ्काभावमुपपादयति । पायतामापद्यते, मयेतिवचनान् न भ्रान्तेन कृत कृतत्वान्  
तत्राणं विहितं मयेति, तस्य भयस्य त्राणं रक्षणं न कर्तव्यम् ॥२१॥  
प्रतीकारस्तन् मया विहित, न ह्युपायः कदाचिदप्यनु-

**व्याख्यार्थ—**ऊपर मेरे हाथ को देख कर आप लोग डरो मत—यह इस, 'न त्रास इह' श्लोक से कहते हैं । इस पर्वत के गढहे में बैठे हुए आप लोगों को मेरे हाथ से पर्वत गिरने का भय नहीं करना चाहिए; क्योंकि यह नहीं गिरेगा । यहाँ शंका होती है: कि एक तो वात वर्षा का भय और दूसरा पर्वत के गिरजाने का भय—इन दोनों उपस्थित भयों में एक भय को स्वीकार तो करना ही है तो फिर, वर्षा का ही भय क्यों न हो ? अर्थात् वर्षा के भय को ही अंगीकार भले ही कर लें ? इस के उत्तर में भगवान् कहते हैं, कि प्रचण्ड पवन और घोर मूसलधार वर्षा का भय नहीं करना चाहिए । यहाँ, 'अलं' शब्द का 'निवारण' अर्थ है । अर्थात् पर्वत के गिर जाने और वात, वर्षा के भय की शंका ही नहीं करना चाहिए । निःशङ्क होकर इस गढहे में—पर्वत की छाया में आजाओ—इसका प्रतिपादन करते हैं कि उस भय का उपाय मैंने किया है अथवा भय से मैंने रक्षा की है । जो उपाय होता है वह कभी अनुपाय नहीं होता । वह उपाय भी—मया—मैंने किया है । किसी भ्रान्त पुरुष ने नहीं किया है । उपाय कर दिया है, इसलिए अब कुछ कर्तव्य भी शेष नहीं है ॥२१॥

**श्लोक—**तथा निविविशुर्गतं कृष्णाश्वासितमानसाः ।

यथावकाशं सधनाः सप्रजाः सोपजीविनः ॥२२॥

**श्लोकार्थ—**इस प्रकार श्रीकृष्ण के विश्वास पूर्ण वचनों के द्वारा आश्वासित होकर ब्रजवासी लोग अपने गोधन, पूत्रादि, सेवक, पुरोहित आदि के सहित सुख से उस पर्वत के गढहे में चले गए । सबने अपनी २ सामग्री भी छकड़ों में भरकर वहीं रख ली । किसी के लिए स्थान की कमी नहीं रही ॥२२॥

**सुबोधिनी—**ततस्ते तथैव कृतवन्त इत्याह तथेति, पतनभयाभावार्थमाह कृष्णाश्वासितमानसा इति, यथावकाशमित्युक्तार्थस्थापनं सधना गोसहिताः पुत्रादि-सहिता उपजीवी सेवकादिविप्रादिश्च तत्सहिताः, ततो वृष्टिः सप्तरात्र जाता भगवतो गुणानां च मर्यादायां प्रतीक्षार्थं यद्यपि भवेन् अयेतैवेन्द्रो मेघाश्च तदुपरि-

सहनं भगवतो नास्त्यत एव यो भगवदोयेभ्यो विचार्यो-पकारं करोति स सप्तरात्रं प्रतीक्षत एतन्मध्ये चेद् भगवता परिपालितस्तदा न करिष्याम्युपेक्षितश्चेत् करिष्यामीत्यविचार्यो षट्पवकर्ता तु सप्तरात्रं करोति यदि तावत्कालं जीवितस्तदा निवर्तते स्कनाशभयात्, एवं व्यवस्था सर्वत्र ॥२२॥

**व्याख्यार्थ—**तदनन्तर उन गोपों ने वही किया यह, 'तथा' इस श्लोक से कहते हैं । पर्वत के गिर जाने का भय उनके मन में अब थोड़ा भी नहीं था; क्योंकि भगवान् कृष्ण ने उनके मन को आश्वस्त कर (आश्वासन दे) दिया था । यथावकाशं—अर्थात् स्थान की सङ्कीर्णता से नहीं । यहाँ इस, 'यथावकाश' पद से बीसवें श्लोक में कहा गया सुखपूर्वक—यथोपजीवं—रहना सिद्ध होता है ।



गायें, पुत्रादि, सेवक आदि, ब्राह्मण आदि—सब के साथ उस गर्त में चले गए । तब भगवान् (धर्मी) और उनके गुणों (छः धर्मों) की मर्यादा की प्रतीक्षा में सात रात्रितक वर्षा होती रही । यदि इसके आगे भी वर्षा होती ही रहती तो, इन्द्र और मेघों का नाश ही हो जाता; क्योंकि सात रात्रि से अधिक आगे भगवान् सहन न करते । इस कारण से ही, जो कोई भगवदीय का जान कर अपकार करता है, तो वह सात रात्रि तक यह बाट देखता है, कि यदि इस अवधि—(सात रात्रि) के बीच में भगवान् उस भगवदीय की रक्षा कर लेते हैं, तो मैं (अपकार कर्ता) भगवदीय का अपकार नहीं करूँगा । यदि इस अवधि तक भगवान् ने उसकी उपेक्षा कर दी तो आगे भी अपकार करूँगा—इस तरह सात रात्रि तक राह देखता है । बिना विचारे उपद्रव करने वाला तो सात रात्रि तक ही उपद्रव करके देखता है, कि इस अवधि तक भगवदीय भक्त जीवित है तो वह उपद्रव करना रोक देता है; क्योंकि उसको स्वयं के नाश का भय हो जाता है । यह व्यवस्था सब स्थान पर ही समझने की है ॥२२॥

लेख—तथा इस श्लोक की व्याख्या में, 'प्रतीक्षार्थ' प्रतीक्षा करने के लिए । तात्पर्य यह है कि—धर्मी और धर्म—इन सातों में से कोई एक भी उपेक्षा कर देता है तो मैं (इन्द्र) उपद्रव करता ही रहूँगा—इस तरह सातों की प्रतीक्षा की । तदुपरि—इसके आगे रक्षक के न होने से वे नष्ट ही हो जाएँगे । तब तो भगवान् उस उपद्रव कर्ता को ही नष्ट कर देते हैं ।

योजना—इस 'तथा निर्विबिधुः' श्लोक की व्याख्या में—भगवतो गुणानां च प्रतीक्षार्थम् (भगवान् की और गुणों की प्रतीक्षा करने के लिए) कहे इन पदों का तात्पर्य यह है—जैसे कोई (अनेक) शक्ति वाला पुरुष अपनी शक्तियों से ही सब कार्य करता है और जैसे कोई अनेक आयुध वाला पुरुष सरलता से इच्छानुसार एक एक शस्त्र से हिंसकों को भगा कर दोनों की रक्षा करता है, इसी प्रकार से ऐश्वर्य आदि छः गुणों से युक्त भगवान् ने अपने प्रत्येक गुण से एक एक दिन उस वर्षा आदि के द्वारा हुए दुःख को दूर करके गोकुल की रक्षा की । इस तरह छः दिन तक तो छः गुणों से रक्षा की और सर्व गुण सम्पन्न भगवान् ने धर्मी रूप से सातवें दिन रक्षा की । रक्षक में इस तरह सात प्रकार हैं ।

इन्द्र इस आशय से सात दिनों तक वर्षा करता रहा, कि जैसे भगवान् ने प्रथम दिन ऐश्वर्य गुण द्वारा रक्षा की, इस प्रकार दो, तीन अथवा चार दिन रक्षा करके यदि भगवान् फिर उपेक्षा कर देंगे, तो मैं वर्षा से व्रज का नाश कर ही दूँगा । यह है भगवान् और उनके गुणों की प्रतीक्षा करना । फिर आगे आठवें दिन वर्षा क्यों नहीं हुई ? ऐसी शंका करके व्याख्या में कहा है 'तदुपरि सहन नास्ति'—अर्थात् छः गुण और छः गुण पूर्ण धर्मी भगवान्—इस तरह सात प्रकार से की हुई रक्षा का इन्द्र अनादर करता और आठवें दिन भी वर्षा करता रहता, तो जैसे भगवान् ने छः दिन तक अपने छः गुणों से इन्द्रकृत अपमान को सहन कर लिया, इस तरह धर्मी स्वयं के आठवें दिन भी वर्षा करके—इन्द्र द्वारा किए जाने वाले अनादर को आगे सहन न करने से आठवें दिन इन्द्र का नाश ही हो जाता । यह व्याख्या में, 'यदि अग्रेपि भवेत् अग्रे तैव इन्द्रः' इन पदों का भाव है । भगवान् इन्द्र को मारना नहीं चाहते थे, इसलिए उसको आगे भी वर्षा करने की कुबुद्धि न देकर सद्बुद्धि प्रदान की । जिस सद्बुद्धि के कारण उसने सात प्रकार की रक्षा देखकर वर्षा का निवारण कर दिया । यह आगे—सप्तम-दिवसस्य रात्रि शेषे निवारणम्—इन पदों से कहा जाएगा ।

श्लोक—क्षुत्तृड्व्यथां सुखापेक्षां हित्वा तैर्व्रजवासिभिः ।

वीक्ष्यमाणो दधावद्रि सप्ताहं नाचलत् पदात् ॥२३॥

श्लोकार्थ—भगवान् कृष्ण भूख, प्यास की व्यथा, सुख, विश्राम की अपेक्षा को त्याग कर, सात दिन तक बराबर इसी तरह गोवर्धन पर्वत को उसी हाथ पर धारण

व्याख्या में कहे--‘अत एव’--से लेकर--‘एवं व्यवस्था सर्वत्र’--इत्यादि पदों का स्पष्टीकरण करते हैं । विचार कर उपद्रवकारी तो पहले यह सोचता है, कि अमुक भगवद्भक्त ने अपराध किया है; किन्तु इसको दण्ड देना चाहिए या नहीं देना चाहिए--ऐसा सन्देह करके अन्त में निश्चय कर लेता है, कि जिसकी रक्षा के लिए भगवान् ने उपाय किया है--उसको दण्ड नहीं देना चाहिए--ऐसा निश्चय करके उस भगवद्भक्त को--अपराधी को भी--दण्ड नहीं देता है । इस तरह सात रात्रि तक यहाँ भगवान् और उनके गुणों की प्रतीक्षा है । यहाँ पर विचार कर उपद्रव करने वाले तो देवता ही होते हैं; क्योंकि उनको भगवान् के द्वारा होने वाली भक्तों की रक्षा का तथा उपेक्षा का भी ज्ञान (हो जाता) रहता है । किसी साधारण पुरुष को ऐसा ज्ञान नहीं होने से वह विचार कर उपद्रव नहीं कर सकता । इससे यह सिद्ध है कि सात रात्रियों में जब कभी भगवान् भक्त की रक्षा के लिए उपाय करते हैं, तब तो भगवान् के द्वारा रक्षित उस भक्त का नाश असम्भव है--ऐसा समझकर, विचार कुशल तो भक्तों का उपद्रव कभी नहीं करता है ।

शंका होती है, कि जब कोई किसी भक्त का उपद्रव करेगा तब ही तो भगवान् उसकी रक्षा करेंगे । पहले ही कैसे ज्ञान होजाएगा कि भगवान् ने रक्षा की या उपेक्षा ? इसका उत्तर यह है, कि उपद्रव की सम्भावना मात्र से ही, भक्त की रक्षा के लिए भगवान् पहले ही रक्षा का उपाय कर देते हैं । ‘प्रादिष्टं भक्तरक्षायां’ (१।४।४८) इस श्री शुकदेवजी के वाक्य से भक्त अम्बरीष राजा की रक्षा के लिए सुदर्शन चक्र का स्थापन भगवान् के द्वारा पहिले स्थापन करना सिद्ध होता है । उस भगवान् के द्वारा की हुई भक्तों की रक्षा का ज्ञान देवताओं को अलौकिक रीति से हो ही जाता है । इसी लिए तो चित्त से भगवान् का स्मरण करने वालों और स्मरण न करने वालों का ज्ञान यमदूतों को भी हो जाता है । तब ही तो भगवान् का स्मरण न करने वालों को ही यमलोक में ले जाते हैं । भगवान् का भजन करने वालों को नहीं ले जाते । छठे स्कन्ध में यमराज ने भी दूतों से--जीभ से भगवान् का नाम न लेने वाले, चित्त से स्मरण न करने वाले, मस्तक से एक बार भी भगवान् के चरणों में प्रणाम न करने वाले तथा भगवत्सम्बन्धी कुछ भी कार्य न करने वाले असत् पुरुषों को ही यमलोक में लाने का आदेश किया है । इस से सिद्ध है, कि देवता आदि को अलौकिक प्रकार से भगवत्कृत रक्षा किंवा उपेक्षा का ज्ञान है । इस प्रकार ‘विचार्योपद्रवकर्ता तु सप्तरात्रं प्रतीक्षते’--विचार कर उपद्रव करने वाले देवता ही समझने चाहिए; क्योंकि उनकी अलौकिक दृष्टि है । व्याख्या में--‘अविचार्योपद्रवकर्ता तु’--इत्यादि का तात्पर्य यह है कि बिना विचार के उपद्रव करने वाले तो इस इन्द्र के समान हैं । यहाँ जो यह कहा गया है, कि विचार कर उपद्रव करने में सात रात्रि तक ही प्रतीक्षा करता है और बिना विचारे उपद्रव कर्ता सात रात्रि तक ही उपद्रव करता है, उसमे ऐसा ही नियम नहीं है; किन्तु प्रतीक्षा करने तथा उपद्रव करने की सात रात्रियाँ परम अवधि होती है--यह समझना चाहिए ।

करते रहे । एक पग भी इधर उधर नहीं हटे । सभी ब्रजवासी जन आश्चर्य पूर्ण दृष्टि से भगवान् की ओर एक टक निहारते रहे ॥२३॥

सुबोधिनी—ततो भगवान् सप्तरात्र तथा स्थित इत्याह क्षुत्तृडिति, क्षुत्तृड्यां जायमानां व्यथां सोढ्वा सुखस्य निद्रादेरप्यपेक्षां त्यक्त्वा तैर्ब्रजवासिभिर्निरीक्ष्यमाणो भगवानद्रि दधौ, न दीर्यत इत्यद्रिः सोऽपि वृष्ट्या मध्ये न दीर्णो भगवानपि पदादपि न चलितः, अत्र हित्वेत्यनेनैव सम्बन्ध्यते क्षुत्तृड्यथामिति दर्शनेनान्न-भोजनेन वान्यथा गोपानां कथं धैर्यं भवेत् ? एवं सप्तरात्रं धृत्वा तान् ब्रजस्थान् सर्वेभ्यः पृथक्कृत्य स्वीयानेव कृतवानिति निरूपितं, सप्ताङ्गानि प्राणिनो भवन्ति देवर्षिपितर आत्मात्मीया वैदिकः पारलौकिक-श्चेति, यद्येतेषां मध्ये कश्चिदप्येतान् पालयेत् तदा तेषां वा भवेयुर्यदि ते सर्व एवाशक्ताः प्रतिपक्षा वा तदा नातःपरं तेषां सम्बन्ध इति, अत एव प्राणान्तःकरण-

धर्मत्याग उवतस्तेषां शुद्धभगवद्भावे बाधकत्वात्, एतेन प्रभुस्वरूपातिरिक्तं स्मृतवन्तोऽपि नेत्युक्तं भवति भगवद्रक्षणमेतादृशमिति च ज्ञापितं, सपदि रक्षाग्रे च सुखमेतेन भविष्यतीत्यनुसन्धानेन वीक्षणे वीक्षणस्य तच्छेषत्व स्यात् तथा सति भक्तिमार्गीया सा रक्षा न भवेदिति सर्वमन्यथा सयदत एव तैरिति पूर्वोक्तं केवलभगवदधीनत्वमेतादृग् रक्षणे हेतुत्वेन परामृष्टं पारम्पर्यागतस्यापीन्द्रयागस्य भगवद्वचनमात्रेण पूर्वं त्यक्तत्वात्, बधाविति 'हुधाञ् धारणपोषणयो'रित्यस्य रूपं तेनाद्रि धृतवान् पोषितवान्, सप्ताहमित्य'त्यन्त-समये द्वितीया', अहःशब्दो रात्रिदिनवाची, अचलत्व-स्थापनार्थं नाचलदिति पदादीषदपि, गतिः पादस्य सहजेति स निर्दिष्टः ॥२३॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् सात रात्रि तक पर्वत को उसी प्रकार धारण किए खड़े रहे, यह 'क्षुत्तृड्यथां' इस श्लोक में कहते हैं । भूख, प्यास से होने वाली पीड़ा को सहन कर सुख और निद्रा आदि की अपेक्षा को त्याग कर उन ब्रजवासियों को दर्शन देते हुए भगवान् ने पर्वत को धारण किया । ("अद्रि" जो विदीर्ण न हो) वह अद्रि भी वर्षा से मध्य में विदीर्ण नहीं हुआ और भगवान् भी, एक पैर भी नहीं चले । मूल में 'क्षुत्तृड्यथां' पद का, 'हित्वा' पद के साथ ही संबन्ध है । अर्थात् भगवान् के दर्शन से अथवा भगवान् ने अन्नकूट में किए अन्न के भोजन से भूख, प्यास का त्याग कर दिया । यदि ऐसा नहीं होता तो गोप जनों को धैर्य कैसे रहता ? इस प्रकार सात रात्रि तक पर्वत धारण करके उन ब्रजवासियों को सब से अलग करके अपने (स्वीय) ही किए—यह निरूपण किया ।

देव, ऋषि, पितर, आत्मा, आत्मीय (पुत्रादि), ऐहिक (स्वदेह सम्बन्धी), पारलौकिक (यागादि धर्म)—ये सात प्राणी के अंग होते हैं । यदि इन सातों में से, कोई एक भी अंग ब्रजवासियों की रक्षा कर लेता, तो वे उसी के होजाते; किन्तु जब वे सारे ही रक्षा करने में असमर्थ अथवा विरुद्ध होगए, तब ब्रजवासियों का उनके साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहा । इसीलिए प्राण का धर्म (भूख प्यास) और अन्तःकरण का धर्म (सुख की अपेक्षा) दोनों का त्याग करना कहा है; क्योंकि ये सब उनके भगवद्भाव में बाधक थे । इस कथन से यह सूचित किया, कि उन ब्रजवासियों को तब भगवान् के स्वरूप के अतिरिक्त किसी का भी स्मरण नहीं हुआ और यह भी, कि भगवान् के द्वारा की हुई रक्षा का यही माहात्म्य है । भगवान् के वीक्षण से इसी समय (शीघ्र) रक्षा हो जाएगी और आगे इससे सुख मिलेगा—ऐसा विचार कर के यदि वे भगवान् के दर्शन करते । तो, वह दर्शन रक्षा और सुख का अंगभूत (गौण) हो जाता । तब तो वह रक्षा भक्ति मार्गीय रक्षा नहीं होती तथा सब ही विपरीत

हो जाता। ऐसा न हो-इसी लिए मूल में-तैः (उनने) पहले ही यह पद कहा है। इस से इस रक्षा में कारण एक मात्र उनकी भगवदधीनता ही समझना चाहिए; क्योंकि परम्परा से चले आए (किए जाने वाले) इन्द्र-याग का भी त्याग पहले भगवान् के कथन से ही ये कर चुके थे। 'दधौ'-इस क्रिया पद के धारण और पोषण-दोनों अर्थ हैं। इससे पर्वत का धारण करना और गोकुल की रक्षा करना-दोनों ही समझने चाहिए। 'सप्ताहं' यह अत्यन्त संयोग में द्वितीया विभक्ति है। इससे सात दिन और धारण-दोनों का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध सूचित होता है। मूल में 'अहः' शब्द रात दिन दोनों का वाचक है। पर्वत में अचलता को स्थापन करने के लिए एक पग भी इधर उधर नहीं हटे। पाँव का कार्य-चलना-सहज है-इसलिए यह निरूपण किया है ॥२३॥

लेख-क्षुतृड्व्यथा-इस श्लोक की व्याख्या में-हित्वा-इस मूल पद का ही अर्थ-सोढ़ा--(सहन करके) यह किया है। इसलिए यहाँ-सोढ़ा--इस पद का अध्याहार नहीं है; क्योंकि आगे व्याख्या में ऐसा ही सम्बन्ध वर्णित है।

योजना-क्षुतृड्व्यथा-यहाँ भूख प्यास जनित व्यथा की निवृत्ति के उपाय की असम्भावना में-सोढ़ा-(सहन करके) पद का अध्याहार समझना चाहिए। अथवा अन्य पद का ('सोढ़ा' का) अध्याहार करने में दोष की शका करके दूसरी तरह से व्याख्या करते हैं कि-क्षुतृड्व्यथा-पद का सम्बन्ध-हित्वा-पद के साथ ही है। तब अर्थ यह है कि भूख प्यास की व्यथा का त्याग करके सात दिन तक पर्वत धारण किए रहे। ब्रजवासियों की भूख तथा प्यास की व्यथा भगवान् के दर्शन अथवा भगवान् के द्वारा आरोगे गए भोजन से दूर हो गई। 'वीक्ष्यमाणः'-इस मूलस्थ पद से उनकी भगवान् में आसक्ति का निरूपण किया है। भगवान् में आसक्ति हो जाने पर प्रपञ्च-जगत्-की विस्मृति स्वतः हो जाती है। प्रपञ्च विस्मृतिपूर्वक चित्त वृत्ति का भगवान् में निरोध ही इस दशम स्कन्ध का अर्थ है। जब सारे ही प्रपञ्च का विस्मरण हो जाता है, तब भूख प्यास की याद कैसे रह सकती है? इसी अभिप्राय से मूल में 'हित्वा'-(त्याग कर) पद दिया है।

अथवा-अन्न भोजनेन वा-भगवान् के अन्नकूट के भोजन से ब्रजवासियों की भूख, प्यास, सुख की अपेक्षा दूर हो गई, वे सब तृप्त होगए क्योंकि भगवान् के भोजन कर लेने पर सारी त्रिलोकी ही तृप्त हो जाती है। इसीलिए-शाकाक्षिष्टमुप भुज्य (१।१५।११) भगवान् के शाकान्न के शेष भाग के भोजन से शिष्यों सहित मुनी दुर्वासजी की तृप्ति के साथ त्रिलोकी के तृप्त हो जाने का वर्णन है।

'सप्ताङ्गानि प्राणिनो भवन्ति', व्याख्या में यहाँ-'प्राणिनः' यह पद षष्ठी विभक्तान्त है। प्राणी-(जीव)-के कल्याण में ये देव, ऋषि आदि-व्याख्या में कहे गए सात अङ्ग हैं। आत्मा भी अपनी शक्ति से अपना हित कर सकती है। इन सातों अङ्गों से रक्षा न होने पर ब्रजवासियों की इन पर प्रीति नहीं रही; किन्तु उनकी रक्षा करने वाले श्री गोवर्धनधर पर ही उनकी प्रीति उत्पन्न हो गई।

'सप्ताहं ना चलत् पदात्', की व्याख्या में-'गतिः पादस्य सहजा', इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है कि ब्रजवासियों ने जैसे भगवान् के लिए सहजधर्म भूखप्यास का त्याग कर दिया था, उसी प्रकार भगवान् ने उनके लिए पाँव के सहजधर्म गति का त्याग कर दिया; क्योंकि गीता में-'यं यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'-स्वयं भगवान् ने कहा है-कि "भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उन्हें उसी प्रकार से भजता हूँ ॥२३॥

श्लोक—कृष्णयोगानुभावं तं निशम्येन्द्रोतिविस्मितः ।

निःस्तम्भो भ्रष्टसङ्कल्पः स्वान् मेघान् सन्नयवारयत् ॥२४॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के इस अद्भुत योग के प्रभाव को देखकर; इन्द्र को बड़ा विस्मय हुआ । उसका साग सङ्कल्प भ्रष्ट हो गया । तब तो उसने अभिमान हीन होकर मेघों को पानी बरसाने से पूर्णतया रोक दिया ।

सुबोधिनी—तत इन्द्रो युद्धार्थं समागत्यालोकिकं दृष्ट्वा भीतः सन् मेघान् न्यवर्तयदित्याह कृष्णेति, लीलार्थमवतीर्णस्य सर्वयोगाधिपतेरप्रच्युतस्वरूपस्य तं गोवर्धनोद्धरणलक्षणमनुभावं निशम्य श्रुत्वा मेघद्वारे-

न्द्रोतिविस्मितो जातस्ततो निःस्तम्भो गतमर्बो भ्रष्ट-  
सङ्कल्पोपि जातः स्वोत्कर्षमपि त्यक्तवान् मारयिष्यामी-  
तिसङ्कल्पं च त्यक्तवांस्ततः स्वान् मेघान् सम्यङ्  
न्यवारयत् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—तब तो युद्ध करने को आकर भी, इन्द्र ने भगवान् के अलौकिक प्रभाव को देखकर, भयभीत हो मेघों को बर्षा करने से रोक दिया । यह, 'कृष्णयोगानुभाव' इस श्लोक से कहते हैं । केवल लीला के लिए ही अवतार धारण करने वाले सारे योगों के अधिपति तथा सदा एक रस स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण के उस गोवर्धन का धारण रूप अनुभाव (प्रभाव) को मेघों से सुनकर, इन्द्र को बड़ा विस्मय हुआ उसका गर्व और मनोरथ भी भग्न हो गया । तब तो उसने अपने उत्कर्ष और व्रज के नाश कर देने के सङ्कल्प को त्याग कर मेघों को सर्वथा रोक दिया ।

श्लोक—खं व्यभ्रमुदितादित्यं वातवर्षं च दारुणम् ।

निशम्योपरतं गोपान् गोवर्धनधरोब्रवीत् ॥२५॥

श्लोकार्थ—उसी समय आकाश में एक भी मेघ नहीं रहा । वह प्रचण्ड आंधी और वर्षा भी रुक गई । सूर्य देव भी निकल आए यह देखकर गिरिधारी श्रीकृष्ण ने गोपों से कहा ॥२५॥

सुबोधिनी—ततो यज् जातं तदाह खमिति, सप्तमदिवसस्य रात्रिशेषे निवारणं तत आकाशो व्यभ्रो जात उदित आदित्यो यस्य, एवमुपरितनवृष्ट्यभावं

ज्ञात्वा गोवर्धनं धृत्वाैव भगवानब्रवीत्, वातयुक्तं वर्षं चकारात्, शिलावर्षं मेघांश्च दारुणमतिमारकमुपरतं निशम्य, गोपानिति पूर्ववद् धर्मपरान् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—पीछे क्या हुआ ? यह, 'खं व्यभ्र' इस श्लोक से कहते हैं । सातवें दिन की रात्रि के कुछ शेष रहने पर (पिछली रात में) मेघों का निवारण हुआ । आकाश में एक भी मेघ नहीं रहा । सूर्यनारायण उग आए । इस प्रकार व्रज के ऊपर होती (हुई) वर्षा को रुकी (हुई) जानकर भगवान्

गोवर्धन को धारण किए हुए बोले । वह वर्षा प्रचण्ड आंधी तथा पाषाणमयी थी । मेघ दारुण-नाश कर देने वाले थे । इन सब को शान्त देखकर भगवान् ने सदैव अनन्य धर्म परायण गोपजनों से कहा ।

**श्लोक—**निर्याति त्यजत त्रासं गोपाः सस्त्रीधनार्भकाः ।

उपारतं वातवर्षं व्युदप्रायाश्च निम्नगाः ॥२६॥

**श्लोकार्थ—**हे गोपगण ! भय छोड़ दो । अब आंधी और वर्षा का चिन्ह भी नहीं रहा । बरसाती नदियां उतर गईं । तुम अपनी २ धन सम्पत्ति, स्त्रियों और बालकों को लेकर बाहर निकलो ॥२६॥

**सुबोधिनी—**भगवद्वाक्यमेवाह निर्याति, त्रासं च त्यजत वातवर्षकृत, गोपा इतिसम्बोधन गवां पालन-मावश्यकमिति, प्रथमतो बहिर्दृष्ट्वा पश्चात् सामग्री नेयेतिशङ्कां वारयन्नाह स्त्रीधनार्भका इति, स्त्रियो

धनान्यर्भका बालाश्चेति तैः सहिता एव निर्गच्छत यतो वातवर्षमुपारतं निम्नगाः सूक्ष्मनद्यो व्युदप्रायाः कचिद् गभीर एवोदकं नान्यत्रेति, तेषां जिज्ञासाभावादेतदुक्तम् ॥२६॥

**व्याख्यार्थ—**भगवान् के वचन, 'निर्याति' इस श्लोक से कहते हैं । अब वायु और वर्षा के भय को छोड़ दो । हे गोपाः ! इस संबोधन से सूचित किया कि गायों का पालन आवश्यक है; इसलिए बाहर निकलो । पहले बाहर यह सब देखकर ही सब सामग्री को गढहे से बाहर ले जाएँ ? इस शंका का निवारण करते हुए भगवान् ने कहा, कि स्त्रियों, धन और बालकों सहित ही बाहर निकल जाओ; क्योंकि वायु और वर्षा बन्द हो चुकी है । छोटी २ नदियां प्रायः सूख गई हैं । कहीं २ गहरी जगह पर ही जल है, और जगह पर नहीं है । इस प्रकार से वे गोप लोग स्वयं जिज्ञासा (विचार) नहीं कर सकते थे । इसलिए भगवान् ने यह स्वयं ही कहा ॥२६॥

**श्लोक—**ततस्ते निर्ययुर्गोपाः स्वं स्वमादाय गोधनम् ।

शकटाटोपकरणं स्त्रीबालस्थविराः शनैः ॥२७॥

**श्लोकार्थ—**तब स्त्रियों, बालकों और बूढ़ों के साथ सब गोप लोग अपने २ गोधन को आगे लिए हुए और छकड़ों में सब सामान लाद कर धीरे २ गिरिराज के गड्ढे से बाहर निकल आए ॥२७॥

**सुबोधिनी—**प्रवेशवदेव निर्गता अपीत्याह ततस्त इति, तत्र सर्वं पृथगेव स्थितमिति ज्ञापयितुं स्वं स्वं

गोधनमादाय सर्वे निर्गताः, शकटानामाटोपकरणं यथा भवति तथा यथा निर्भया हृष्टा निर्गमने महान्तं सम्भ्रमं





कुर्वन्ति तथा कृत्वा निर्गता इति तेषामानन्दः सूचितः, । ततोऽन्येऽपि स्त्रीबालस्यविराः शनरेव निर्गता अव्यग्राः ॥२७॥

**व्याख्यानार्थ—**जिस प्रकार प्रवेश किया था, वे उसी तरह बाहर निकल आए यह, 'ततस्ते' इस श्लोक से कहते हैं । अपना अपना गोधन लेकर बाहर निकलने के इस मूलस्थ वर्णन से यह सूचित किया है कि इस गर्त में वे सब अलग २ ही रह रहे थे । छकड़ों को सजाकर उनमें अपनी सारी वस्तुएँ भरकर बड़ी धूमधाम से वे बाहर निकले । वे अब निर्भय और बड़े प्रसन्न थे । इस कथन से यह सूचित किया, कि वे सब आनन्द विभोर थे । फिर अन्य स्त्रियाँ, बालक और वयोवृद्ध सभी निश्चिन्त होकर धीरे धीरे बाहर निकले ॥२७॥

**श्लोक—**भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने पूर्ववत् प्रभुः ।

पश्यतां सर्वभूतानां स्थापयामास लीलया ॥२८॥

**श्लोकार्थ—**प्रभु—सर्व शक्तिमान्—भगवान् ने भी सबके सामगे ही गिरिराज को पहले की तरह लीलापूर्वक उसी स्थान पर स्थापित कर दिया ॥२८॥

|                                                                                                                                                                                                                            |                                                                                                                                                                                                                 |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी—</b>सर्वेषु निर्गतेषु भगवत्कृतमाह भगवान्-पीति, यथा ते स्वस्वकार्यार्थं निर्गता एवं भगवानपि तं शैलं स्वस्थाने तस्यैव स्थाने पूर्ववदेवानुपूर्वो विधाय स्थापितवान्, अनेन प्रथनेनैकत्रकरणपक्षेऽपि यथापूर्वं</p> | <p>स्थापितवानिति लक्ष्यते, अत्र स्थापने ग्रहणे वा न किञ्चिन् मायिकमिति ज्ञापयितुं पूर्ववदेव स्थापितवान्, तदाह पश्यतां सर्वभूतानामिति, यथा दृष्टस्थितं पात्रं यथास्थानं स्थाप्यते तथैव लीलया स्थापयामास ॥२८॥</p> |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यानार्थ—**उन सब के बाहर निकल आने पर भगवान् ने भी गिरिराज को पहले के स्थान पर ही रख दिया । यह—'भगवानपि', इस श्लोक से कहते हैं । ज्योंही वे सब ब्रजवासी अपने २ काम के लिए गड्डे से बाहर होगए, भगवान् ने भी उस पर्वत को उसी के स्थान पर पहले जैसे ही ज्यों का त्यों करके स्थापन कर दिया । यदि यों भी कहाजाए कि धारण करते समय तो पर्वत को अधिक लम्बा कर दिया था और स्थापन करते समय उसका संकोच कर लिया था, तो भी इस 'पूर्ववत्' कथन से उसका यथा स्थान स्थापन ही लक्षित होता है । यहां पर्वत को उठाने और पोछा उसी स्थान पर रख देने में थोड़ा भी माया—(कपट)—नहीं थी; क्योंकि मूल में ही, सब प्राणियों के देखते हुए पर्वत का पहले की तरह ही स्थापन करना लिखा है । जैसे हाथ में लिए किसी पात्र को यथा स्थान रख देते हैं, उसी प्रकार लीला पूर्वक उसी पहले स्थान पर ही रख दिया ।

**श्लोक—**तं प्रेमवेगान्निभृता ब्रजौकसो यथा समीयुः परिरम्भणादिभिः ।

गोप्यश्च सस्नेहमपूजयन् मुदा दध्यक्षताद्भिर्युयुजुः सदाशिषः ॥२९॥

**श्लोकार्थ—**प्रेम के प्रवाह से पूर्ण, सभी ब्रजवासी श्रीकृष्ण के निकट आए और यथा योग्य प्रणाम, आशीर्वाद, आलिङ्गन आदि से उनका सत्कार करने लगे । गोपियों

ने भी आनन्द से स्नेह पूर्वक दही, अक्षत और जल से भगवान् कृष्ण का पूजन किया और माङ्गलिक—(शुभ)—आशीर्वाद दिए ॥२६॥

**सुबोधिनी**—एतद् भगवता लीला कृतमपि लोके चेत् तथास्त्वेन न प्रसिद्ध स्यात् तदा लीलात्वं न भवेदिति माहात्म्यदर्शनानन्तरमपि गोपाना पूर्ववदेव स्थितिमाह तमिति यदैव भगवान् गोवर्धन स्थापयामास तदैव त भगवन्तं प्रेमवेणात् परिरम्भणादिभिर्यथा यथावत् समीयुः, ते हि भगवदालिङ्गनार्थं प्रतीक्षन्त एव स्थिता यतः, यतः प्रेम्णो वेगस्तेषु स्थितो हृदये पूर्णं प्रेम बहिरपि निस्सरतीति प्रेम्णो वेगः, अत एव यथावद् यस्य यथोचितं तथा स कृतवान् प्रेम्णैव नितरां मृताश्च गोप्योपि, तथा विशेषमप्याह सस्नेहमपूजयन्निति, तैः

सर्वरेवायं देव इति ज्ञातस्तेन लौकिकीमपि क्रियां वैदिकीं कृतवन्तो भावद्वयस्य विद्यमानत्वादतः स्नेहपूर्वकं पूजां कृतवन्तः, मुदेति पूजायामुत्साहस्तेन लौकिकीत्वेनान्यथा-बुद्धिर्न बाधिकेति सूचित, दध्यक्षताद्विरिति पूजासाधनानि, जलानि चरणक्षालनादौ दध्यक्षता अलङ्कारार्थे, मार्जनार्था वापः, लौकिकी तद्देशप्रसिद्धेयं पूजा, दध्ना तिलक दत्त्वा तदुपर्यक्षतान् स्थापयित्वाप उपरि भ्रामयित्वा पिबन्तीति, सदाशिवश्च पुपुषु “जीव पालये” त्यादिरूपाः सन्तोषादेव न तु स्वाधिकारेण देवत्वेन ज्ञातत्वात् ॥२६॥

**व्याख्यार्थ**—यद्यपि यह रक्षण भगवान् ने लीला पूर्वक ही किया था; तो भी लोक में यह प्रसिद्ध न हो, तो यह लीला न रहे । इस लिए भगवान् के माहात्म्य को देखलेने के पीछे भी, ब्रजवासियों की स्थिति—(प्रीति)—भगवान् में पहले जैसी ही रही । यह, ‘तं’ इस श्लोक से कहते हैं । ज्यों ही भगवान् ने पर्वत को पीछा रखवा, उसी समय गोपजन अपनी अपनी योग्यता के अनुसार आलिङ्गन आदि करने के लिए भगवान् के पास आए; क्योंकि वे ऐसा करने की प्रतीक्षा ही कर रहे थे । उनके हृदय में प्रेम का प्रवाह उमड़ रहा था । हृदय में रहा पूर्ण प्रेम उमड़ कर बाहर निकल जाता है । वह प्रेम का वेग है । इसी से, प्रत्येक गोपजन ने यथोचित आशीर्वाद, प्रणाम, आलिङ्गन आदि किए ।

प्रेम विभोर ब्रजदेवियों ने भी, गोपों की तरह ही भगवान् का सत्कार किया । उनके किए सत्कार में विशेषता का वर्णन करते हैं, कि उन्होंने भगवान् का स्नेह पूर्वक पूजन किया । वे ब्रजभक्त भगवान् को देव मानते थे । इसलिए उन्होंने लौकिक तथा वैदिक—दोनों प्रकार से ही अपने लौकिक वैदिक भावों के द्वारा ही प्रेमपूर्वक भगवान् का पूजन किया । ‘मुदा’ आनन्द मग्न होकर प्रीति पूजन करने के कथन से पूजा में उनका उत्साह सूचित होता है । उत्साह पूर्वक पूजन करने के कारण ही लौकिक रीति से अन्यथा—लौकिक बुद्धि उनकी उस पूजा में बाधक नहीं हो सकी । दही, अक्षत और जल—ये तीनों पूजा के साधन कहे हैं । जल चरण धोने के लिए और दही अक्षत अलङ्कार के लिए कहे गए हैं । अथवा जल मार्जन कि वा शुद्धि के लिए अपेक्षित है । यह लौकिकी पूजा ब्रज में प्रसिद्ध है । ब्रज में लौकिक पूजा में दही का तिलक करके उस पर अक्षत चिपकाते हैं । फिर नीरांजन (ऊपर जल घुमा)—कर उस जल को पीते हैं । इस प्रकार भगवान् का पूजन करके शुभ आशीर्वाद-

चिरायु होओ, हमारी रक्षा करते रहो-इस प्रकार दिए । हम बड़े हैं, यह हमारा अधिकार है-ऐसा मानकर ये आशीर्वाद नहीं दिए थे; किन्तु सन्तुष्ट होकर ही दिए थे; क्योंकि वे भगवान् को देवरूप से जान चुके थे ॥२६॥

**श्लोक—**यशोदा रोहिणी नन्दो रामश्च बलिनां वरः ।

कृष्णमालिङ्ग्य युयुजुराशिषः स्नेहकातराः ॥३०॥

**श्लोकार्थ—**स्नेह से विह्वल नन्दजी, यशोदाजी, रोहिणीजी और महाबलशाली बलभद्रजी ने श्रीकृष्ण को गले से लगा कर शुभ आशीर्वाद दिए ॥३०॥

**सुबोधिनी—**एवं साधारणीं प्रतिपत्तिमुक्त्वा चतुर्भिः कृतां विशेषप्रतिपत्तिमाह यशोदेति, आदौ स्त्रीनिर्देशः स्नेहाधिक्यात्, अनयैवानुपूर्व्या स्नेहतारतम्यमपि ज्ञातव्यं, चकाराच् छ्रीदामाव्योपि, बलिनां मध्ये वर इति

बलभद्रविशेषणं तस्याप्याश्रयमेतदिति ज्ञापयति, कृष्णं सदानन्दं, एते ह्यन्तरङ्गाः ज्येष्ठाश्चात आलिङ्ग्याशिषो युयुजुः स्नेहेन च कातरा जाताः ॥३०॥

**व्याख्यानार्थ—**इस प्रकार साधारण सत्कार का वर्णन करके (यशोदादि चारों के द्वारा किए) चार श्लोकों से विशेष सम्मान को-‘यशोदा’-इस श्लोक से कहते हैं । स्त्रियों में स्नेह अधिक होता है । इसी से यहां श्लोक में पहले स्त्रियों का निर्देश किया है । इसी क्रम से स्नेह की अधिकता, न्यूनता भी जान लेनी चाहिए । मूलस्थ ‘च’ शब्द से श्रीदामा आदि का ग्रहण है । बलभद्र के यहाँ-इस-‘बलिनां वरः-बलवानों में श्रेष्ठ-विशेषण का आशय यह है कि भगवान् की यह लीला ऐसे बलरामजी को भी आश्चर्य करने वाली हुई । श्लोक में वर्णित ये सब अन्तरङ्ग और भगवान् से बड़े थे । इसलिए इन सब ने स्नेह से विह्वल होकर भगवान् का आलिङ्गन किया और आशीर्वाद दिए ॥३०॥

**श्लोक—**दित्रि देवगणाः साध्याः सिद्धगन्धर्वचारणाः ।

तुष्टुबुमुमुचुस्तुष्टाः पुष्पवर्षाणि पार्थिव ॥३१॥

**श्लोकार्थ—**स्वर्ग में देवगण, साध्य, सिद्ध, गन्धर्व, चारण आदि श्री कृष्ण की स्तुति करने लगे, प्रसन्न होकर पुष्पों की वृष्टि करने लगे ॥३१॥

**सुबोधिनी—**माहात्म्यदर्शनाद् देवतानामपि स्वा-पराधनिवृत्त्यर्थमुत्सवकार्यमाह दिव्येति, देवगण वस्वादय एकः कश्चिद् भक्तो भवतीति गणपदप्रयोगः, साध्या अपि देवभेदास्तथा सिद्धा गन्धर्वा अप्सरसश्च चारणाश्च

तुष्टुबुः पुष्पवर्षाणि मुमुचुस्तुष्टाश्च जाताः, वाचिक-कायिकमानसिकव्यापारा निरूपिताः, पार्थिवेति सम्बोधनं महत्कर्मकरणानन्तरं राज्ञामप्येवं तद्वश्यैः क्रियत इति-ज्ञापनार्थम् ॥३१॥

‘नृप’ यह सम्बोधन यह सूचित करता है कि श्री शुकदेवजी को इस प्रकार से दर्शन हुए हैं। इसलिए राजा को उनके कथन पर विश्वास रखना उचित है ॥३२॥

**श्लोक—**ततो नुरक्तः पशुपैः परिश्रितो राजान् स गोष्ठं सबलो व्रजद्धरिः ।

तथा विधान्यस्य कृतानि गोपिका गायन्त्य ईयुर्मुदिता हृदि स्पृशः ॥३३॥

**श्लोकार्थ—**इसके पीछे अपने अनुरक्त भक्त गोपों के बीच में विराजमान बलदेवजी सहित भगवान् श्रीकृष्ण व्रज में चले गए। इसी तरह समय २ पर किए श्री कृष्ण के मनोहर चरितों का आनन्द पूर्वक गान करती हुई गोपियाँ भी व्रज को चली गईं। उन्होंने हृदय में भगवान् का स्पर्श किया ॥३३॥

**सुबोधिनी—**एव भगवल्लीलामुक्त्वोपसंहरति तत इति, देवादीनां शब्दादिश्रवणानन्तरमत्यन्तमनुरक्तः पशुपैः परिश्रित एव सन् भगवान् गोष्ठमवजद् यतो हरिः, पशुपानां चारणार्थं गमन निषिद्धं गवां तेषां चापेक्षाभावात् तदुपपादितं, अतो नुरागबाहुल्यात् पशुपैः परिश्रित एव गतः, राज्ञिति पूर्ववत्, प्रायेण क्लिष्ट इति पुनः पुनः सम्बोधनं, स इति तथा समर्थोपि, न हि तादृशो गोष्ठे स्थातुं युक्तो भवति, तत्रापि सबलः बलभेदसहितस्तथाप्यवजद् यतो हरिः, अथ वेतादृशालोकिक्सामर्थ्यवतो द्वारकावदिहाप्युत्कृष्टं स्थान निर्माय स्थातुमुचितं न तु गोष्ठ इत्यत आह स इति, “ते ते धामानी”त्यादिभ्रुतिभिर्वैकुण्ठादप्यधिकमस्य सहजं स्थानमस्तीति निरूपितमस्तीति तथा प्रसिद्धो वेद इति तत्रैव गमनमुचितमावश्यकमपीत्यर्थः, यथा राजान्यत्र

कार्यं कृत्वा स्वराजधानीमेव गच्छति तथेतिज्ञापनाय सम्बोधनं, गोपीनां गमने भगवत्सङ्गो नास्तीत्याशङ्क्याह तथाविधानीति, गोवर्धनोद्धरणसदृशानि पूतनामुपयः-पानादीन्यनेनैव रूपेण कृतानि, गोपिका विशेषानभिज्ञा अतः कृतान्येव गायन्त्यो व्रजमीयुः, तत्र गतानां संसारनिवृत्त्यर्थमाह मुदिता हृदिस्पृश इति, मुदिता इति पूर्वदुःखनिवृत्तिः, अद्भुतभगवल्लीलादर्शनेन माहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहातिशयो गोपानामधुना जात इति प्रियनिकटगमने प्रतिबन्धं ते न करिष्यन्ति करणे वा सपदीवान्नुतरीत्याप्यस्मान् पालयिष्यतीति ज्ञात्वापि मुदिताः, भगवतो हृदिस्पृशो जाता हृदि भगवन्तं वा स्पृशन्तीति, एतेनेतरेभ्योधिकोन्तरङ्गः सङ्ग एतस्मात्तुक्तः, एव दुःखनिवृत्तिपूर्विका भगवदासक्तिनिरूपिता ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवत सुबोधिण्यां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणे-  
वान्तरसाधनप्रकरणे चतुर्थस्य स्कन्धादितो द्वाविंशाध्यायस्य विवरणम् ॥

**व्याख्यानार्थ—**इस प्रकार भगवान् की लीला का वर्णन करके ‘ततः’, इस श्लोक से उपसंहार करते हैं। देव, गन्धर्व आदि के शब्दों—स्तुति वाक्यादि के सुनने के अनन्तर भगवान् अत्यन्त अनुरागी गोपों के (मध्य में ही) भुण्ड से घिरे हुए ही गोकुल में पधारे। आप हरि हैं, गोकुल का दुःख दूर करने के लिए आपने अवतार लिया है। गोपों के भुण्ड के बीच घिरे हुए भगवान् के पधारने के कथन से यह बतलाया कि गोपों को गायें चराने जाने से रोक दिया था; क्योंकि गायों को उनकी

अपेक्षा नहीं थी। इस कारण अनुराग की अधिकता वश गोपों से घिरे हुए ही भगवान् पधारे। 'राजन्'—यह सम्बोधन पूर्ववत् विश्वासार्थ प्रयुक्त हुआ है। बार २ सम्बोधन का प्रयोग अक्लिष्टकर्मा भगवान् को—इस लीला में—स्वल्प भी क्लेश न होने का सूचक है। वे भगवान् स्वयं सर्वसमर्थ होकर भी और फिर बलशाली बलदेवजी के साथ होते हुए भी गोकुल जैसे—आपके विराजने के अयोग्य (हीन) स्थान में ही पधारे क्योंकि आप गोकुल के दुःख हर्ता हैं।

अथवा ऐसे सर्व शक्तिमान् भगवान् का द्वारका की तरह यहाँ ही कोई सर्वोत्तम स्थान निर्माण कर उसमें रहना उचित था; किन्तु गोष्ठ—(गोकुल)—में विराजना योग्य नहीं था। इसीलिए 'सः' सर्व समर्थ भी भगवान् का गोकुल में—(ऐसी लीलाएँ करने के लिए)—पधारना कहा गया है। 'ते ते धामानि'—श्रुतियों में भगवान् के वंकुण्ठ से भी उत्तम सहज स्थान का निरूपण है और वेद में हरिनाम-भगवान् का—प्रसिद्ध है। इस से वहीं पधारना उचित और आवश्यक भी है। वहाँ से भगवान् ब्रज में इस तरह पधारे, जैसे कोई राजा किसी दूसरे स्थान पर कार्य करके अपनी राजधानी में लौट आता है—यह सूचित करने के लिए, 'राजन्' सम्बोधन किया है। गोपी जनों को जाते समय, भगवान् का संग नहीं हुआ होगा? ऐसी शंका के समाधान में कहते हैं, कि गोवर्धन धारण रूप इस लीला के समान इसी रूप से की हुई पूतना के प्राण तथा स्तन्य पान आदि लीलाओं का गान करती गोपिकाएँ भी, भगवान् के साथ ही, ब्रज में गईं। उन्हें विशेष ज्ञान नहीं था। इसलिए वे चरित्रों का गान ही करती गईं। वहाँ जाने वालों की संसार निवृत्ति होगई थी—यह इस 'मुदिताः' पद से ज्ञात होता है। मुदित पद से उनके पूर्व दुःख की निवृत्ति होना सूचित होता है। इस प्रकार भगवान् की अद्भुत लीलाओं का दर्शन करने से गोपों का अब भगवान् पर माहात्म्य ज्ञान पूर्वक अतिशय स्नेह होगया। अतः अब वे भगवान् के निकट जाने से गोपीजनों को नहीं रोकेंगे और यदि प्रतिबन्ध करेंगे भी तो भगवान् तत्काल ही अद्भुत रीति से हमारी रक्षा करेंगे ही, ऐसा समझ कर भी गोपीजन आनन्दित हुईं। 'हृदिस्पृशः'—वे भगवान् के हृदय में स्पर्श करनेवाली अथवा (अपने) हृदय में भगवान् का स्पर्श करने वाली हुईं। इस कथन से गोपिकाओं के दूसरों की अपेक्षा अधिक अन्तरङ्ग सङ्ग का वर्णन किया। इस प्रकार दुःख निवृत्तिपूर्वक भगवदासक्ति का निरूपण किया गया ॥३३॥

॥ इति शुभम् ॥

इति श्रीमद्भगवत महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्ध के २२ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" के ताम्रस साधन अवान्तर प्रकरण का चौथा अध्याय हिन्दी-अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

.. श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## • श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका ( हिन्दी अनुवाद सहित )

दशम स्कन्ध ( पूर्वार्ध )

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २६वां अध्याय

श्रीसुबोधिनी अनुसार, २३वां अध्याय

### तामस-साधन-अवान्तर प्रकरण

‘पञ्चमोऽध्यायः’

श्री नन्दरायजी से गोपों की श्रीकृष्ण के प्रभाव के विषय में वार्तालाप



कारिका—अज्ञानमन्यथाज्ञानं कृष्णं विनिवार्यते ।

त्रयोविंशे समत्वाय निरुद्धानामशेषतः ॥१॥

कारिकार्थ—तेईसवें अध्याय में निरोध प्राप्त ब्रजवासियों के कृष्ण के विषय में अज्ञान तथा अन्यथा—(विपरीत)—ज्ञान को दूर किया जाता है; क्योंकि गोवर्धन पर्वत के उद्धरण से किया हुआ (उनका) विरोध उन सब का समान है ।

---

टिप्पणी—कृष्णं (कृष्ण विषयक) समत्वाय गोवर्धन का उद्धरण करके किया निरोध सब ब्रजवासियों का समान है—यह बतलाने के लिए निरूपण किया जाता है ।

कारिका—पूर्वपक्षश्च सिद्धान्तः फलं चेति निरूप्यते ।

अप्राकृतत्वं सम्बन्धो द्वयं स्थाप्यमिहोक्तिभिः ॥२॥

कारिकार्थ—इस अध्याय में पूर्वपक्ष—‘ततो नो जायते’

शङ्का—अर्थात् शङ्का का और सिद्धान्त—‘श्रूयतां मे वचो गोपाः’—इत्यादि से समाधान का और—मुदितानन्दमा—नर्चुः कृष्णं च गतविस्मयाः—इत्यादि से गोपों के विस्मय का दूर होना रूप फल का निरूपण किया जाता है । इसमें वचनों के द्वारा भगवान् में अप्राकृतता—(अलौकिकता)—तथा गोपों के साथ सम्बन्ध (नन्द पुत्रत्वरूप) भी दोनों को स्थापित किया जाएगा ।

कारिका—विरोधात् प्राकृतत्वेन सम्बन्धस्त्यज्यते पुरा ।

जातस्तादृश एवात्र न सन्देहस्तथापरः ॥३॥

कारिकार्थ—गोप स्वयं प्राकृत हैं, प्राकृतों के साथ अप्राकृत भगवान् के दैहिक सम्बन्ध को असङ्गत (विरुद्ध) मानकर पहले पूर्व पक्ष में सम्बन्ध का त्याग कहा जाएगा । फिर—यह बालक अप्राकृत अद्भुतकर्मा ही प्रकट हुआ है—इत्यादि गर्गोक्त नन्दजी के वाक्यों से सन्देह की निवृत्ति रूप सिद्धान्त—समाधान—का वर्णन किया है ।†

कारिका—माहात्म्यदर्शनं हेतुः पूर्वपक्षे तथापरे ।

गर्गवाक्यानि तज्ज्ञानं फलमित्येष निश्चयः ॥४॥

कारिकार्थ—व्रजवासियों को भगवान् का माहात्म्य देख कर सन्देह हुआ था, कि ऐसे विचित्र चरित्र वाला बालक नन्दपुत्र कैसे हो सकता है ? इस प्रकार उनके पूर्व पक्ष में सन्देह करने में, भगवान् का माहात्म्य दर्शन, कारण है । इसी तरह से नन्द-राय जी के द्वारा कहे गए, गर्गचार्यजी के वाक्यों से उनका वह सन्देह दूर होगा । इसलिए समाधान पक्ष में गर्गचार्यजी के वचन कारण हैं । व्रजवासियों को भगवान् के स्वरूप का ज्ञान हो गया—यही इन सब का फल है ।‡

† टिप्पणी—व्रजवासी जन स्वयं प्राकृत है और भगवान् अप्राकृत ही प्रकट हुए हैं । यहां भगवान् में अप्राकृतता और व्रजवासियों के साथ नन्दपुत्र रूप से दैहिक सम्बन्ध दोनों का (विरुद्ध धर्मश्रियता के कारण) विरोध नहीं होने से, सन्देह की निवृत्ति हो जाना रूप सिद्धान्त का वर्णन होगा ।

‡ टिप्पणी—पूर्व पक्ष (सन्देह) में भगवान् के माहात्म्य का दर्शन हेतु है । ‘परे’—सिद्धान्त पक्ष में, गर्गचार्यजी के वाक्य—‘तथा’—हेतु हैं । तज्ज्ञानं—भगवान् के स्वरूप का ज्ञान फल है । ऐसा यहां इस अध्याय में निश्चय किया गया है ॥४॥

इति कारिकार्थ



॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—एवांविधानि कर्माणि गोपाः कृष्णस्य वोक्ष्य ते ।

अतद्वीर्यविदः प्रोचुः समभ्येत्य सुविस्मिताः ॥१॥

**श्लोकार्थ—**श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे राजन् ! गोपगण भगवान् श्रीकृष्ण के पराक्रम और महिमा को नहीं जानते थे, इसलिए उनके इस प्रकार अनेक अद्भुत चरितों को देखकर उन्हें बड़ा विस्मय हुआ । वे एक दिन श्री नन्दजी के पास इकट्ठे होकर आए और कहने लगे ॥१॥

|                                                                                                                                                                                                                           |                                                                                                                                                                                                                         |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी—</b>पूर्वाध्यायान्ते गोकुले समागताः सर्वे इत्युक्त, आगतानां सन्देहो वर्ण्यते भगवति पूर्वपक्षरूपः, आदौ पूर्वपक्षनिरूपणार्थं तेषामुद्योगमाहैवंविधानीति, गोवर्धनोद्धरणरूपाणि बहूनि भगवतः कर्माणि दृष्ट्वा</p> | <p>धर्मस्वरूपमज्ञात्वा हेत्वभावेनैवंतत् कार्यमाहोस्विद् धर्मो हेतुः ? तथा सति न स नन्दपुत्र इति निश्चित्यात्- द्वीर्यविदो भगवतः क्रियाशक्तिमज्ञात्वा सुविस्मिता विकसितवदनाः सर्वे सम्भूय नन्दसमीपमागत्य प्रोचुः ॥१॥</p> |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यान—**गत अध्याय में उन सब व्रजवासियों का गोकुल में आजाने का वर्णन कर दिया है । यहां आकर गोपों के हृदय में भगवान् के विषय में सन्देह हो गया । इस पूर्वपक्ष का निरूपण करने के लिए पहले—‘एवं विधानि’ इस श्लोक से उनके उद्योग का वर्णन करते हैं । श्रीकृष्ण के इस गोवर्धन का उद्धरण आदि कई अद्भुत कार्यों को देखकर धर्मी भगवान् के स्वरूप को नहीं जानने वाले गोपों को यह शंका हो गई, कि ये अद्भुत किंवा अलौकिक कार्य कोई हेतु बिना ही हो रहे हैं अथवा इनको करनेवाले धर्मी भगवान् स्वयं ही हैं । यदि ये विचित्र कार्य स्वयं धर्मी भगवान् के ही किए हैं, तब तो यह नन्द—(साधारण गोप)—के पुत्र नहीं हो सकते ? ऐसा निश्चय करके भगवान् के ऐश्वर्य तथा क्रियाशक्ति को नहीं जानने वाले, वे गोप लोग विस्मित-विकसित मुख-होकर सारे ही इकट्ठे हो नन्दजी के पास आए और कहने लगे ॥१॥

श्लोक—बालकस्य यदेतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि वै ।

कथमर्हत्यसौ जन्म ग्राम्येष्व्वात्मजुगुप्सितम् ॥२॥

**टिप्पणी—**‘एवंविधानि’, श्लोक की व्याख्या में—हेत्वभावेनैवंतत् कार्यं—(हेतु के बिना ही यह कार्य हुआ है क्या) इन पदों से ज्ञात होता है, कि उन गोपों की बुद्धि अत्यन्त प्राकृत थी । इससे भगवान् का माहात्म्य (सूचित होता है) अथवा हेतु रूप से प्रतीत होने वाले प्रभु और हेतु दोनों में परस्पर-किसी एक दूसरे के—अभाव में अर्थात् दोनों के बिना यह कार्य नहीं हो सकता—यह सूचित होता है ।



**श्लोकार्थ—**इस बालक कृष्ण के सारे ही काम (चरित्र) बड़े ही अद्भुत हैं। हम ग्रामवासी गोपों के घर में, इसका जन्म कैसे हो सकता है ? गोप जाति में जन्म लेना स्वयं इसके लिए--योग्य नहीं जान पड़ता--निन्दित है ॥२॥

**सुबोधिनी—**कर्माणि तु दृष्टान्यहेतुकानि च न भवन्ति तस्मान्नायं नन्दस्य पुत्रो भवितुमर्हत्यलौकिक-कार्यकर्तृत्वात्, तदाहुष्यं यस्मादेतानि कर्माण्यत्यद्भुतानि बालकस्य दृश्यन्ते वै निश्चयेन, किमतो यद्येवम् ? तत्राहुः कथमर्हत्यसौ जन्मेति, ग्राम्येष्वस्मासु कर्मग्रस्त इवात्मनो महतो जुगुप्सितं निन्दितं जन्म कथमर्हति ?

कर्मणेन्द्राद्यपेक्षयापि महानिति निश्चीयते तथा सति कथमधमेष्ववतारः ? न हि स्वेच्छया कश्चित् स्वस्य हीनतां सम्पादयति, कर्माधीनता तु नास्त्येव कर्तुं म-कर्तुं मन्यथाकर्तुं सामर्थ्यात्, अतो जुगुप्सितं जन्म नाहंति ॥२॥

**व्याख्यान—**श्रीकृष्ण के जो चरित्र हमने देखे हैं, वे तो बिना हेतु के नहीं हो सकते। इसलिए ऐसे अत्यन्त अलौकिक कार्य करने वाला यह बालक, नन्दजी का पुत्र होने योग्य नहीं है—यह इस 'बालकस्य' श्लोक से कहते हैं। इसके इन अनेक अत्यन्त ही अद्भुत कार्यों को देखते हुए हमें सन्देह होता है, कि ग्रामवासी हीन गोपों में कर्मग्रस्त की तरह, महान् आत्मा के लिए निन्दित (निन्दाजनक) जन्म कैसे हुआ ? चरित्रों को देखते तो निश्चय होता है, कि यह बालक इन्द्रादि की अपेक्षा भी महान् है, इसने हम अधम गोपों के यहां (जन्म) अवतार कैसे लिया ? अपनी इच्छा से कोई भी अपनी हीनता नहीं करता। यह कर्मों के आधीन भी नहीं है, क्योंकि यह तो करने, न करने तथा विपरीत करने में समर्थ है। इसलिए यह स्वयं ही हीनता का द्योतक गोप जाति में निन्दित जन्म लेने के उचित नहीं है ॥२॥

**श्लोक—**यः सप्तहायनो बालः करेणैकेन लीलया ।

कथं बिभ्रद् गिरिवरं पुष्करं गजराडिव ॥३॥

**श्लोकार्थ—**जैसे गजराज कमल को उखाड़ कर खेलते २ ऊपर उठा लेता है, उसी प्रकार यह सात वर्ष का बालक लीलापूर्वक बाँये हाथ से इस भारी गिरिराज को उठाकर सात दिन तक एक पैर से कैसे खड़ा रहा ? ॥३॥

**सुबोधिनी—**अलौकिकानि कर्माण्याह यः सप्तहायन इति, षड्गुणा भगवांश्च तेषां तत्तद्वेष्टाः सर्वा एवात्र समागता अतश्चेष्टारूपः काल एकेन करेण स्वयं सप्तहायनोपि भूत्वा कथं गिरिवरं बिभ्रज् जातः ? तत्रापि लीलया कदाचिदङ्गुलीष्वपि समानयति, देणुं वा दयन्, अडभावो वा छान्दसः, अबिभ्रदिति, एते तु

यथादृष्टमनुवदन्तीति नात्र विचारणीयं, गिरिवरं पर्वतश्चेष्टं, अनायासे दृष्टान्तः पुष्करं गजराडिवेति, न हि मत्तगजस्य कमलधारणे कश्चन प्रयासोस्ति, अथ वा सप्तहायन एकेन करेण गिरिवरं बिभ्रत् कथं बालक इति तस्मान्नायं तव पुत्रो नापि बालकः ॥३॥

**व्याख्यार्थ—**इस 'यः सप्तहायनः' श्लोक से अलौकिक कर्मों का वर्णन करते हैं । छःगुण और भगवान्, तथा इन की भिन्न २ चेष्टाएँ—सभी यहां आकर एकत्रित होगई । इस से चेष्टारूप काल ने एक ही हाथ से स्वयं सात वर्ष का ही (भी) होकर गिरिराज को—सात दिन तक—कैसे धारण करते रहा ? इस पर भी लीलापूर्वक ही कभी अंगुलियों पर भी लिए रहा, वेणु बजाता—'अविभ्रत'—धारण कर रहा था । ये गोप तो जैसा देखते हैं; वैसा ही अनुवाद करते—कहते—हैं । इसीलिए यहां विशेष विचार करना नहीं है । गिरिराज—भारी पर्वत को सहज ही उठालेने में गजराज का कमल को उखाड़कर धारण करने का दृष्टान्त कहा है । मस्त हाथी को भी कमल लिए रहने में कोई परिश्रम नहीं होता । अथवा सात वर्ष का एक हाथ से भारी पर्वत को उठाए रहने वाला यह बालक कैसे है । इसलिए—नन्दजी—यह न तो तुम्हारा पुत्र ही है और न बालक ही है ॥३॥

**श्लोक—**तोकेनामीलिताक्षेण पूतनाया महौजसः ।

**पीतः स्तनः सह प्राणैः कालेनेव वयस्तनोः ॥४॥**

**श्लोकार्थ—**जैसे काल शरीर की आयु को हर लेता है वैसे ही इसने बचपन में ही आँख मूंद कर अति समर्थ पूतना के प्राणों का दूध के साथ ही पान कर लिया ॥४॥

|                                                                                                                                                                                                                                                                           |                                                                                                                                                                                                                                                                |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी—</b>अबालकत्वे हेत्वन्तरमाह तोकेनेति, आसमन्तान् मीलिताक्षेण तोकेनातिबालकेन पूतनाया महौजसोतिसमर्थायाः प्राणैः सह स्तन्यं पीतं, यद्यपि पूर्वं प्राणाः पीता इति न ज्ञातं तथाप्युत्तरोत्तरं सामर्थ्यदर्शनात् पूर्वकार्याण्येतद्वेतुकानीत्येवावधार्यते, पाने</p> | <p>तथापि न ज्ञातमित्येतदर्थं दृष्टान्तमाह कालेनेव वयस्तनोरिति, यथा तनोः शरीरस्य वयः प्रत्यहं क्षीयमाणमपि कालेन पुरुषो न जानाति तथा भगवता पेपीयमानाः प्राणाः पूतनया न ज्ञाता अन्यथा प्रतिक्रियां कुर्यात् पलायेत वा, तस्मादेवमलौकिकं सामर्थ्यं बाल्येपि ॥४॥</p> |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यार्थ—**इस 'तोकेन' श्लोक से इसके बालक न होने में दूसरा कारण कहते हैं । जब इसकी आँखें भी पूरी नहीं खुली थीं, यह बहुत ही छोटा बालक था, तभी अत्यन्त बलवती पूतना राक्षसी के प्राणों के साथ दूध पान कर लिया । यहां यद्यपि गोपों को स्तन पान करने के पहले ही पूतना के प्राणों का पान करलेने का ज्ञान नहीं था, तो भी आगे किए के अनन्तर एक दूसरे असंख्य अलौकिक चरितों में भगवान् की सामर्थ्य को देख कर उनको पहले किए चरितों में भी भगवान् की अलौकिक सामर्थ्य से किए जाने का ज्ञान हो गया । पूतना को पता नहीं पड़ा कि भगवान् ने उसके (पूतना के) प्राणों का पान कर लिया । इसके लिए दृष्टान्त देते हैं, कि जैसे शरीर की आयु को प्रतिदिन काल के द्वारा क्षीण होती को, पुरुष नहीं जान पाता है, वैसे (ही) पूतना भी भगवान् के द्वारा किए उसके प्राणों के पान को, नहीं जान सकी, यदि उसे ज्ञान हो जाता, तो वह कुछ उपाय करती, अथवा भगजाती । इससे गोप लोग यह जान गए कि भगवान् में बचपन—(से ही)—में भी ऐसी अलौकिक सामर्थ्य है ॥४॥

श्लोक—हिन्वतोऽधः शयानस्य मास्यस्य चरणान्बुदक् ।

अनोपतद् विपर्यस्तं रुदतः प्रपदाहतम् ॥५॥

**श्लोकार्थ—**जब यह तीन ही महिने का था, उस समय छकड़े के नीचे सोते समय इसने रोते २ दोनों पाँव ऊपर को उछाले और इसके सुकोमल पाँवों के स्पर्श से उतना भारी छकड़ा उलट कर गिर पड़ा ॥५॥

**सुबोधिनी—**किञ्चाधःशयानस्य हिन्वतश्चरणौ चालयतो “हिम् चलन” इति, मास्यस्य मासत्रयपरिमितस्य सङ्ख्यानुक्तिर्वर्षाभावार्था नाद्यापि वर्षः परिच्छेदको नाप्ययनं किन्तु मासा एव परिच्छेदका अत एव चरणान्बुद ऊर्ध्वं हिन्वतः सतः, न तु तदर्थं हिन्वतः,

तथापि विपर्यस्तं सदनः शकटमपतत् पादचालने निमित्तमाह रुदत इति, अनेनाशक्तिर्दृढीकृता, तत्रापि प्रपदेन पादाग्रेण, आ ईषदत सत् विपर्यस्तं विपरीतं सदपतत्, साधनाल्पत्वं कार्यमहत्त्वं चोक्तम् ॥५॥

**व्याख्यार्थ—**एक बार जब छकड़े के नीचे सुला दिया था और पावों को ऊँचा हिला रहा था । हिम्-धातु का हिलाना अर्थ है, केवल यह तीन मास का ही था । यहां संख्या नहीं लिखी है । वर्ष अथवा अयन परिमाण का नहीं था, केवल मासों ही का था, तब स्वभाव से ही पाँवों के ऊपर हिलाने से छकड़ा उलट कर गिर गया । इसने यद्यपि छकड़े को औंधा करने की इच्छा से पाँव ऊँचे नहीं हिलाए थे, तो भी, भारी छकड़ा उलट गया । पाँव भी रोते २ हिलाए थे । इस कथन से बालक का अशक्त होना दृढ किया अर्थात् इस बात की पुष्टि की, कि बालक की छकड़ा उलट देने की शक्ति नहीं थी । छकड़े को दोनों पूरे चरणों से नहीं छुआ था, किन्तु चरण के केवल अगले भाग के स्पर्श मात्र से ही लदा हुआ छकड़ा उलट गया । इस से थोड़े से साधन से बड़े भारी काम का होना वर्णित किया ॥५॥

श्लोक—एकहायन आसीनो हियमाणो विहायसा ।

दैत्येन यस्तृणावर्तमहन् कण्ठग्रहातुरम् ॥६॥

**श्लोकार्थ—**जब यह बालक पूरे एक वर्ष का था, और बैठा था, एक दिन तृणावर्त दैत्य इसे उठाकर आकाश में ले उड़ा । किन्तु रास्ते में ही इसने दोनों हाथों से उसका गला घोट दिया, जिसकी व्यथा से वह व्याकुल हो मर गया ॥६॥

**सुबोधिनी—**क्रमेण भगवच्चरित्रं वदन्तस्तृणावर्तवधमाहुरेकहायन इति, अयमेकहायन एकवार्षिक आसीन उपविष्टो न तु चलितुं समर्थस्तादृशोपि दैत्येन विहायसा

नीतो निरालम्ब एवाकाशे तमहन् मारितवान्, तत्रापि न युद्धं किन्तु कण्ठग्रहेणैव, यदैव कण्ठे गृहीतस्तदैवानुरो जातः, मातुः प्रदर्शनादिकमप्रसिद्धमिति न तद्वर्णनम् ॥६॥

श्लोक—क्वचिद्वैयङ्ग्यस्तन्ये मात्रा बद्ध उलूखले ।

गच्छन्नर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां तावपातयत् ॥७॥

श्लोकार्थ—किसी दिन यशोदाजी ने माखन चुराने के कारण इसको ओखली से बांध दिया । इसने घिसटते घिसटते बड़े बड़े यमलार्जुन वृक्षों के बीच में जाकर उन्हें गिरा (उखाड़) दिया ॥७॥

सुबोधिनी—ततः क्रमाज् जात यमलार्जुनभङ्गमाहुः क्वचिदिति, वैयङ्ग्यस्य स्तन्ये निमित्ते शिक्षार्थं मात्रोलूखले योजितस्तादृशोप्यर्जुनयोर्मध्ये बाहुभ्यां गच्छन् पश्चात् दुलूलस्य भारत्वात् पादद्वयेन सहोलूलस्याकर्षणमेव गमनं तु बाहुभ्यामेव, बाहुभ्यां तावपातयत्, यथादृष्टवचना हि ते, तेषामेतदेवाश्रयं मुभयोः पातनमुभाभ्यामिति ॥७॥

व्याख्यार्थ—फिर क्रम से होनेवाले यमलार्जुन वृक्षों के भङ्ग को—'क्वचित्'—इस श्लोक से कहते हैं । माखन चुरालेने के कारण आगे चोरी न करने की शिक्षा के अभिप्राय से यशोदाजी ने जब ओखली से इसको बांध दिया था तब बंधे हुए ने ही हाथों के बल चलकर यमलार्जुन वृक्षों के बीच में जाकर उनको गिरा दिया । पीठ पर ऊखल का भार होने के कारण दोनों चरणों के साथ वह ओखली तो खिचती ही रही । यह बालक चलता तो हाथों के बल ही रहा । अथवा दोनों हाथों से उन वृक्षों को गिरा दिया । वे गोजपन जैसा देखते हैं, वंसा ही कहते हैं । दोनों वृक्षों का दोनों हाथों से गिरा देना उनके लिए बड़ा आश्चर्यकारक हुआ ॥७॥

श्लोक—वने सञ्चारयन् वत्सान् सरामो बालकैर्वृतः ।

हन्तुकामं बकं दोभ्यां मुखं तोरिमपाटयत् ॥८॥

श्लोकार्थ—वने में बलराम और अन्य बालकों के साथ जब यह बछड़े चरा रहा था । उस समय मारने की इच्छा से आए बकासुर को इसने हाथों से उसकी चोंच को चीर कर उस शत्रु का संहार कर दिया ॥८॥

सुबोधिनी—ततो वृन्दावने बलभद्रसहितो वत्साञ्चारयन् बालकैर्वृतो विशेषसामर्थ्यमप्रकाशयन्नपि हन्तुकामं बकमरि शत्रुभूतं, न तु प्रासङ्गिकं, मुखं तोरिमपाटयत्, एतत् सर्वजनीन, बालानां पलायनमप्यशक्यं, स तु विपाटितवानेव, वत्सबकयोर्ध्वत्पासेन कथनमनवधानात् क्रमाग्रहणात्, नाप्येतेषां क्रमे तात्पर्यं, बाहुभ्यां पातनं बाहुभ्यामुत्पाटनमिति बाह्वोः सामर्थ्यकथनार्थं, यमलार्जुनयोर्भङ्गकथनानन्तरं बकनिरूपणमतः पश्चात् ॥८॥

व्याख्यार्थ—वृन्दावन में बलभद्रजी और गोपों के बालकों से घिरे हुए बालक श्रीकृष्ण ने अपनी विशेष शक्ति को प्रकट न करके भी उसे केवल मारने की इच्छा से—किसी अन्य प्रसङ्ग से नहीं—आए हुए शत्रु रूप बकासुर की चोंच को दोनों हाथों से फाड़ दिया । यह चरित्र सब के हित का

अथवा सर्व प्रसिद्ध है। बालक तो भग- (दौड़)-भी नहीं सकते किन्तु इसने तो उसको चीर ही डाला। इन गोपों का श्रीकृष्ण के चरितों का क्रम पूर्वक कहने का अभिप्राय नहीं है। इस कारण से वत्सासुर वध के पीछे किए चरित बकासुर वध का वर्णन अनवधानता से पहले कह दिया। दोनों हाथों से चोंच के चीर देने और वृक्षों के गिरा देने का वर्णन भुजाओं के सामर्थ्य का सूचक है। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण की भुजाओं में अनन्त बल है। इसीलिए यमलार्जुन के भङ्ग का वर्णन करने के पीछे ही बकासुर को चीर देने का वर्णन किया गया है।

श्लोक—वत्सेषु वत्सरूपेण प्रविशन्तं जिघांसया ।

हत्वा न्यपातयत् तेन कपित्थानि च लीलया ॥६॥

श्लोकार्थ—एक दिन वत्सासुर इसे मारने की इच्छा से आया और बछड़े का रूप रखकर बछड़ों में मिल गया। इसने खेल ही खेल में अनायास उसके पिछले पाँव पकड़ घुमा-कर कैथों के वृक्षों पर फेंक दिया, जिससे वह मर गया और कैथ के अनेक फल पृथ्वी पर गिर पड़े ॥६॥

सुबोधिनी-एकहस्तसाध्य वत्सासुरवधमाहुर्वत्सेष्विति। वत्सरूपेण जिघांसया वत्सेषु प्रविशन्तं तदानोमेव ज्ञात्वा मारयितुमागत इति, प्रथमत एव तं परिभ्रामणेन

हत्वा तेन कपित्थानि न्यपातयत्, चकारात् तमपि वृक्षशाखां वा, महाबलकार्यं तत्, तादृशमपि लीलया कृतवान् ॥६॥

व्याख्यान—एक हाथ से किए वत्सासुर के वध का वर्णन, 'वत्सेषु' इस श्लोक से करते हैं। बछड़े का रूप धर कर मारने की इच्छा से आए और बछड़ों में घुल मिल गए वत्सासुर को उसी समय जानकर, कि यह मारने के लिए आया है—पहले ही उसको घुमा कर मारकर कैथ के वृक्षों पर फेंक दिया, जिससे वह, कैथों की शाखा किंवा वृक्ष भी गिर गए। ऐसे महान् बल से किए जाने वाले कार्य को भी खेलते २ अनायास ही कर डाला ॥६॥

श्लोक—हत्वा रासभदंतेयं तद्बन्धुंश्च बलान्वितः ।

चक्रे तालवनं क्षेमं परिपक्वफलान्वितम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—इसने बलदेव के साथ एक दिन गदहे का रूप धर कर आए धेनुकासुर और उसके बान्धव अन्य सब असुरों को मारकर पके हुए फलों से परिपूर्ण तालवन को निर्भय स्थान कर दिया ॥१०॥

सुबोधिनी-ततो धेनुकवधमाहुर्हत्वा रासभदंतेयमिति, वहवो धेनुकसदृशा हता इति "प्रधानेन व्यपदेशा भवन्ती"

तिन्यायेन बलभद्रेण सहभावमात्रं, वस्तुतो भगवतैव हत इति हत्वा रासभदंतेयमित्युक्तं, रासभो भूत्वा दंतेयो

धेनुकस्तद्वन्धवोपि रासभास्तानपि हृषा बलभद्रसहित- | प्राप्नोतीति, फलं तु स्वभावत एव प्राप्नोतीत्याह  
स्तालवन क्षेमं चक्रे, यो हि तत्र गच्छति स क्षेमं न | परिपक्वफलान्वितमिति, परिपक्वः फलरन्वितम् ॥१०॥

**व्याख्यार्थ—**अब, 'हत्वा' इस श्लोक के धेनुकासुर वध का वर्णन करते हैं। धेनुक जैसे अनेक असुरों का वध किया। सेना के विजय से राजा की जीत कही जाती है—इस प्रधान के व्यपदेश—(कथन)—न्याय से बलदेवजी का केवल सहभाव कहा गया है। वास्तव में तो, उसका वध भगवान् ने किया था। इसी से मूल में—'रासभ दैत्य को मारकर'—ऐसा लिखा है। बन्धुओं सहित गदहे के रूप में आए धेनुकासुर को सपरिवार मारकर बलदेवजी के साथ श्रीकृष्ण ने तालवन को निर्भय बना दिया। उस वन में जाने वालों को निर्भयता नहीं मिलती थी। इसलिए उसे निर्भय बना दिया। उस वन में जाने वालों को फलों का मिलना तो स्वाभाविक ही था। क्योंकि वह वन पके हुए फलों से परिपूर्ण था ॥१०॥

**श्लोक—**प्रलम्बं घातयित्वा बलेन वलशालिना ।

अमोचयद् व्रजपशून् गोपांश्चारण्यवह्निः ॥११॥

**श्लोकार्थ—**महाबली बलदेवजी के द्वारा प्रबल प्रलम्बासुर का वध करवा कर इसने वन में लगी हुई आग से व्रज के पशुओं और गोपों को बचा लिया ॥११॥

**सुबोधिनी—**एवं धेनुकवधोपि लोकानां हितार्थमेव | प्रलम्बं बलभद्रेण घातयित्वा बलभद्रे घातकशक्तिं दत्त्वा,  
न त्वहितार्थं, मारणक्रमाद् धेनुकवधानन्तरं प्रलम्बवधो | स्वस्य मारकत्वे प्रयोजनाभावात्, व्रजपशून् गोपांश्चारण्य-  
निरूप्यते, मध्ये जातं कालीयदमनमग्रे वक्ष्यन्ति, उग्रमपि | वह्नितोमोचयद् दावानलान् मोचितवान् ॥११॥

**व्याख्यार्थ—**इस प्रकार धेनुक का वध भी लोगों का अहितकार न होकर, कल्याण के लिए ही था। वध के क्रम से धेनुकासुर के वध के अनन्तर क्रमप्राप्त प्रलम्बासुर के वध का निरूपण करते हैं। बीच में किए कालियदमन के चरित का वर्णन आगे करेंगे। अत्यन्त भयानक भी प्रलम्बासुर को बलदेवजी के हाथों—उन्हें घातक शक्ति देकर—मारवा दिया; क्योंकि उसके वध में इस बालक कृष्ण का कुछ प्रयोजन नहीं था। इसी तरह, इसने व्रज के पशुओं और गोपों की दावाग्नि—(वन में लगी आग)—से रक्षा कर ली ॥११॥

**लेख—**'हत्वा' इस श्लोक की व्याख्या में—'बहवः'—इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है, कि यद्यपि इस धेनुकासुर का वध बलदेवजी ने किया था, तो भी यहां भगवान् के द्वारा उसके वध का वर्णन प्रधानता से व्यपदेश के न्याय से किया गया है। अर्थात् इन गोपों को बलदेवजी में भगवदावेश का ज्ञान तो था नहीं। इसीलिए सेना की जीत को राजा की जीत मानी जाने की तरह बलदेवजी के किए धेनुक के वध को भगवान् के द्वारा किया गया कहा है; क्योंकि भगवान् ने ऐसे बहुत से असुरों को मारा है। इससे इसके वध में भी मुख्य भगवान् ही हेतु है।

श्लोक—आशीविषं तमाहीन्द्रं दमित्वा विमदं हृदात् ।

प्रसह्योद्दास्य यमुनां चक्रे सौ निविषोदकाम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—अति तोक्षण विषवाले कालिय सर्प को दर्पहीन और अपने आधीन करके इसने उसे कालीदह से बलपूर्वक निकाल दिया । यमुना के जल को विष रहित और सबके पीने योग्य बना दिया ॥१२॥

सुबोधिनी—वह्निर्गन्ध्याद् विषाग्निमपि निरूपयन्त्याशीविषमिति, आशी नाम विषदंष्ट्रा तत्र विषं यस्य स्वाभाविकविषादधिकविषयुक्तोहीन्द्रः सर्पश्रेष्ठस्तं प्रसिद्धं कालियमन्यैः स्मृतुं मपि भीयते तादृशं हृदाद् हृद प्राप्य हृदमध्ये दमित्वा प्रसह्य बलाद् हृदाद्दास्य

दूरीकृत्य यमुनां निविषोदकां चक्रे, अनेन यद् गरुडस्यासाध्यं यमादीनां देवानामपि, अन्यथा गरुडः शत्रुं मारयेद् यमुनां वा यमादिः शुद्धां कुर्यात्, दमनं च सुतरामशक्य निविषकरणं च ॥१२॥

व्याख्यार्थ—ऊपर वर्णित दावानल के वर्णन की तरह इस 'आशीविष' श्लोक से विषानल का भी वर्णन करते हैं । आशी-विष-जिसकी दाढ़ में विष था, जो स्वाभाविक विष से अधिक विष वाला था, उस अहीन्द्र-सर्पों में श्रेष्ठ-प्रसिद्ध कालियनाग-जिसका और लोग स्मरण करते भी डरते हैं-को उसके दह में जाकर वहाँ ही दमन करके इसने बलपूर्वक उसे कालीदह से हटा दिया और यमुना को विषशून्य जल वाली (बना) कर दिया । इससे यह सूचित होता है कि जिस कार्य को गरुडजी तथा यमराज आदि देव नहीं कर सके उसको इस बालक ने कर दिया । यदि ऐसा नहीं होता तो गरुड ही अपने शत्रु कालिय को मार क्यों नहीं देता अथवा यमराज ही अपनी भगिनी यमुना को शुद्ध क्यों न कर देते । कालिय का दमन और यमुना का विषरहित करना तो उनके लिए नितान्त ही अशक्य था जिसे इस बालक ने अनायास ही कर दिया ॥१२॥

श्लोक—दुस्त्यजश्चानुरागोस्मिन् सर्वेषां नो व्रजौकसाम् ।

नन्द ते तनयेस्मासु तस्याप्यौत्पत्तिकः कथम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—नन्दजी, आपके बालक पर हम सभी व्रजवासियों का ऐसा अटल अनुराग और इसका भी हम लोगों पर उत्पत्ति (जन्म) से ही ऐसा स्वाभाविक स्नेह क्यों है ॥१३॥

सुबोधिनी—एतत् सर्वं बाह्यं निरूप्यान्तरं निरूपयन्ति दुस्त्यज इति, अस्मिन् कृष्णे सर्वेषामेव नोस्माकमनुरागोपि दुस्त्यजः, न ह्यन्योद्भवे सम्बन्धिनि साधारणसम्बन्धमात्रेण वित्तात् पुत्रात् प्राणादप्यधिकः स्नेहो भवितुमर्हति,

तर्हि पुत्र एवास्य न भवत्यकस्मादेवागत इति मन्तव्यं, तत्राहुर्नन्द ते तनय इति, यच्चिद् गूर्वाविषु कस्यसित् स्नेहोपि सवेद् न तु सर्वेषां, न वा व्रजौकसां ज्ञानमस्ति, अतो वस्तुसामर्थ्यदिदैवं जायत इति, किञ्च तस्याप्यस्मा-

स्वोत्पत्तिक एव स्नेहो नान्येषां बालकानां एतत् कथं विचारेण धर्मविचारेण वा महान् भवतीति कथं तव भवेत् ? अतो वस्तुसामर्थ्यात् क्रियासामर्थ्याच्चा धर्म-पूत्रो भवेत् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार बाहर के चरित्र निरूपण करके इस—“दुस्त्यजः” श्लोक से हृदय के विचार को कहते हैं। इस कृष्ण पर हम सभी लोगों का दुस्त्यज-त्याग न करने योग्य-अनुराग भी है। किसी दूसरे साधारण सम्बन्धी (नन्दजी) के यहां उत्पन्न हुए बालक पर साधारण सम्बन्ध मात्र से धन, पुत्र और प्राण से भी अधिक स्नेह होना सम्भव नहीं है। इससे यह सहज ही मानलेना चाहिए कि, नन्दजी, यह तुम्हारा पुत्र ही नहीं है। यह तो अकस्मात् आगया है। मूल में यह बात—“नन्द ते तनये—इन पदों से कही है। गुरुजनों पर कभी किसी का स्नेह हो भी जाए तो भी सबों का तो नहीं हो सकता। फिर हम ब्रजवासियों को तो इसके स्वरूप का ज्ञान भी नहीं हैं, जो ज्ञान के द्वारा स्नेह कर सकें। इसलिए यह निश्चित है, कि वस्तु के (इस बालकके) सामर्थ्य से ही हमारा इस पर दुस्त्यज अनुराग है। इसी तरह इसका भी हम लोगों पर उत्पत्ति से ही जैसा स्नेह है, वैसा दूसरे बालकों का नहीं है। ऐसा क्यों है ? इसलिए वस्तु सामर्थ्य और क्रिया सामर्थ्य तथा गुणों और धर्मों के विचार से भी यह महान् है। इससे यह, नन्दजी, तुम्हारा पुत्र कैसे हो सके। अर्थात् तुम्हारा पुत्र यह नहीं है ॥१३॥

श्लोक—क्व सप्तहायनो बालः क्व महाद्विविधारणम् ।

ततो नो जायते शङ्का ब्रजनाथ तवात्मजे ॥१४॥

श्लोकार्थ—हे ब्रजराज, कहां तो सात वर्ष की आयु का बालक और कहां इतने बड़े पर्वत को उठा कर उसे सात दिन तक लिए खड़े रहना। यही सब देखकर हमको संदेह हो रहा है कि यह बालक कदाचित् तुम्हारा पुत्र न हो ॥१४॥

|                                                                                                                                                                                                                   |                                                                                                                                                          |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>सुबोधिनी—आस्तां तावदन्यदिदमधुना जातमत्या-<br/>श्रयमित्याहुः क्व सप्तहायनो बाल इति, सप्तहायनो बालः<br/>क्व महाद्विविधारणं च क्व ? अतः कार्यकारणयोलोकन्या-<br/>येन विरोधात् तवात्मजे नः शङ्का जायते, अस्माक-</p> | <p>मेतददिसन्दिग्धं तव पुत्रो भवति न वेति, विधिपक्षे<br/>कृतार्था भविष्यामोविधिपक्षंपराधाः क्रियन्त इति को वेद<br/>किं भविष्याम इति भवति विचारणा ॥१४॥</p> |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

व्याख्यार्थ—अन्य आश्चर्यकारी चरितों की बात को तो जाने दो; किन्तु अभी जो हुआ, वह तो अत्यन्त ही आश्चर्यकारी है। यह इस ‘क्व सप्तहायनः’ श्लोक से कहते हैं। कहां तो यह सात वर्ष का बालक और कहां विशाल गिरिराज का धारण करना। इससे कार्य (गिरिराज का धारण) और कारण (बालक) का विरोध होने से हम को तुम्हारे पुत्र के विषय में शङ्का होती है। हमें यह बड़ा सन्देह हो रहा है कि यह तुम्हारा पुत्र है अथवा नहीं। यदि यह तुम्हारा ही पुत्र है तो हम कृतार्थ होंगे और यदि नहीं है तो हम बड़ा अपराध कर रहे हैं। कौन जान सकता है कि हमारा क्या होगा ? इस लिए विचार प्राप्त हो रहा है ॥१४॥





॥ नन्द उवाच ॥

श्लोक—श्रूयतां मे वचो गोपा व्येतु शङ्कावचोर्भके ।

एनं कुमारमुद्दिश्य गर्गो मे यदुवाच ह ॥१५॥

**श्लोकार्थ—**नन्दजी कहते हैं—हे गोपगण ! मैं कहूँ उसे सुनो, जिससे इस बालक के विषय की तुम्हारी शङ्का—यह मेरा पुत्र है अथवा नहीं—दूर हो । इस बालक के विषय में महर्षि गर्गाचार्यजी मुझे बतला गए हैं । वह मैं तुमसे कहता हूँ । सुनो । आश्चर्य है, कि वे गर्गजी कैसे जान गए ॥१५॥

सुबोधिनी—एवं पूर्वपक्षे कृते नन्दः सिद्धान्तमाह श्रूयतामिति, भगवानद्भुतकर्मति पूर्वपक्षसिद्धान्तयोर्व्यत्यासोन्यथैतद् भगवच्चरित्रं न भवेत्, नन्दस्तु स तादृश एव कश्चिन् महापुरुषो मम गृहे जात इति मन्यते गर्गवाक्यात्, यथा भगवदवताराः क्वचिद् भवन्ति तथायमपि मम गृहेवतीर्ण इति, अतः सम्बन्धोप्यस्ति माहात्म्यं चोपपद्यत इति गर्गवाक्यानि वक्तुमुपक्रमते श्रूयतामिति, हे गोपा भवन्तो न विचारणक्षमा अतो

मे वच एव श्रूयतां सर्वरेव भवद्भिः, ततः किं स्यात् ? अत आह व्येतु शङ्कावचोर्भके इति, अर्भके बालके शङ्कावचनमपगच्छतु मत्पुत्रो भवति न वेति, ननु त्वद्वाक्यं कथं प्रमाणं वादिवाक्यस्याप्रमाणत्वात् तत्राहैनं कुमारमुद्दिश्येति, यदायं कुमारो बालक एव स्थितस्तदैव गर्गो मे मह्यं मां बोधयितुं किञ्चदुवाच हेत्याश्चर्यं कथमेवं ज्ञातवानिति ॥१५॥

**व्याख्या—**गोपों के इस प्रकार पूर्व पक्ष करने पर नन्दजी—‘श्रूयतां’ इस श्लोक से सिद्धान्त कहते हैं । भगवान् अद्भुतकर्मा हैं । इस कारण से यहां पूर्वपक्ष और सिद्धान्त की विपरीतता है अर्थात् नन्दजी का पुत्र न होना तो सिद्धान्त है और इनका पुत्र कहना पूर्व पक्ष है; क्योंकि यदि ऐसा नहीं हो तो, यह चरित भगवच्चरित न रह कर एक साधारण गोप के पुत्र का चरित ही रह जाय ।

**टिप्पणी—**इस—‘श्रूयतां’—श्लोक की व्याख्या में—‘पूर्व पक्ष सिद्धान्त योर्व्यत्यासः’ (पूर्वपक्ष और सिद्धान्त की विपरीतता) पदों का अभिप्राय यह है—नन्दजी के शरीर से उत्पन्न न होने के कारण यह नन्दजी का पुत्र नहीं है—यह सिद्धान्त यद्यपि उचित है, तो भी ऐसा ही मेरा पुत्र है—ऐसी बुद्धि भगवान् ने लीला के लिए नन्दजी की कर दी थी । इससे यह मेरा पुत्र है—नन्दजी की यह बुद्धि भ्रमरूप नहीं थी, इस कारण यह सिद्धान्ताभास नहीं है, किन्तु सिद्धान्त ही है; क्योंकि भगवान् ने ही स्वयं लीला के लिए नन्दजी का पुत्रत्व स्वीकार किया है । नित्य भगवान् का अपने को नन्दजी का पुत्र मानते रहना क्या उचित है ? ऐसी शङ्का को दूर करने के लिए नित्य भी भगवान् का नन्दजी का पुत्र होने में कारण बतलाते हैं कि भगवान् अद्भुतकर्मा हैं । जहां लौकिक युक्ति नहीं ठहर सकती, उसको अद्भुत कहते हैं । इसी प्रकार यहां भी भगवान् के नन्दजी के पुत्र होने के सम्बन्ध में लौकिक युक्ति नहीं चल सकती; क्योंकि इसी से भगवान् के अद्भुतकर्मता स्वरूप की सिद्धि होती है । इसलिए यह भूषण ही है, दूषण नहीं है । इसी अभिप्राय से ही गर्गाचार्यजी ने नन्दजी से भगवान् को उनका पुत्र कहा है ॥१५॥

नन्दजी तो गर्गजी के वाक्यानुसार यही मान रहे हैं, कि कोई महापुरुष मेरे घर प्रकट हुआ है। जैसी किसी समय कहीं पर भगवान् के अवतार होते हैं, इसी तरह यह भी मेरे घर में कोई अवतारी प्रकट हुआ है। इस प्रकार पुत्र रूप सम्बन्ध भी है और माहात्म्य भी उचित है। इसलिए गर्गजी के वचन को कहना आरम्भ करते हैं:—

हे गोपजनों, आप विचार करने में समर्थ नहीं हो। इसलिए आप सभी मेरे वचन को ही सुनिए जिससे इस बालक के विषय में आपकी शङ्का का वचन—यह मेरा पुत्र है, अथवा नहीं—दूर हो शङ्का—नन्दजी, तुम तो वादी हो। वादी का कहना प्रमाण नहीं माना जाता (फिर) तुम्हारे कहने से हमारी शङ्का के वाक्य दूर कैसे होंगे? इसके उत्तर में कहते हैं कि जब यह कुमार बालक ही था उसी समय गर्गचार्यजी ने इसके सम्बन्ध में जो कुछ बतलाया था, उसको सुनिए। मूल श्लोक में—ह—यह आश्चर्य अर्थ में अव्यय पद है अर्थात् आश्चर्य है कि गर्गचार्यजी ऐसा कैसे जान गए ॥१५॥

**श्लोक—**वर्णस्त्रियः किलास्यासन् गृह्णतोऽनुयुगं तनूः ।

शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः ॥१६॥

**श्लोकार्थ—**यह बालक प्रत्येक युग में अवतार लेता है। इसके श्वेत, रक्त और पीत—ये तीन वर्ण हो चुके। इस समय यह कृष्ण वर्ण से प्रकट हुआ है ॥१६॥

**सुबोधिनी—**गर्गवाक्यानि पूर्वं व्याख्यातान्यपि पुनरापाततो व्याख्यायन्तेनुवादात्, वर्णस्त्रिय इत्यादीनि वाक्यान्वष्ट श्लोकेकैरुक्तानि, किलेति प्रसिद्धे, अस्य बालस्य पूर्वं त्रयो वर्णा जाताः, वर्णशब्दो रूपविशेषे जातिविशेषे च वर्तते तत आह शुक्लो रक्तस्तथा पीत इति, इदानीं

कृष्णः कृष्णवर्णत्वं प्राप्तः, सत्यादिष्वेवं भवति रामं रामो रामो वा, इदानीं त्वद्गृहे वर्तमानसमीपे कली व कृष्णधर्मं कृष्णत्व प्राप्तः, न तु कृष्णः, मध्याह्ने सविति मण्डलस्य कृष्णत्ववदिति कृष्णनामनिश्चि ॥१६॥

**व्याख्यार्थ—**यद्यपि गर्गचार्यजी के वाक्यों की व्याख्या पहिले की जा चुकी है; तो भी अनुवाद रूप से उनका यहां फिर व्याख्यान (वर्णन) करते हैं। 'वर्णस्त्रियः'—इत्यादि आठ श्लोकों से गर्गजी के वाक्यों को कहते हैं। 'किल'—यह प्रसिद्ध अर्थ का बोधक अव्यय पद है। इस बालक के तीन वर्ण तो पहले हो चुके। वर्ण शब्द का अर्थ रूपविशेष और जाति विशेष होता है। इसलिए कहते हैं कि श्वेत रक्त और पीत वर्ण तो इसके हो चुके। कृष्ण इस समय अभी कृष्ण—श्याम—वर्ण को प्राप्त हुआ है। सत्य, त्रेता आदि युगों में जैसे परशुराम, राम, बलराम रूप से अवतारित होते हैं; उसी तरह अभी तुम्हारे घर में वर्तमान काल के समीप में अथवा कलियुग में यह कृष्ण धर्म कृष्णता को प्राप्त हुआ है। वास्तव में कृष्ण (श्याम) नहीं है। मध्याह्न के सूर्य में तेजो मण्डल के बीच में रहने वाले कृष्ण वर्ण की तरह वर्ण वाला यह बालक है। यह कृष्ण शब्द की व्युत्पत्ति है ॥१६॥

**टिप्पणी—**नाम करण संस्कार करते समय गर्गजी ने गद्य में ही वाक्य कहे थे और नन्दजी आदि ने भी गद्य में ही सब कुछ कहा था। उन्ही वाक्यों को व्यासजी ने पद्यों में कहा है। इसलिए—व्याख्या—में—



श्लोक—प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज् जातस्तवात्मजः ।

वासुदेव इति श्रीमानभिज्ञाः सम्प्रचक्षते ॥१७॥

श्लोकार्थ—(गर्गजी ने मुझ से कहा था कि) इस तुम्हारे पुत्र ने पहले कहीं किसी श अथवा काल में वसुदेवजी के यहां भी जन्म लिया है । इसी कारण जानकार-मर्मज्ञ-लोग इसको श्रीमान् (लक्ष्मीपति) वासुदेव भी कहते हैं ॥१७॥

|                                                                                                                                                                    |                                                                                                                                                                       |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>सुबोधिनी—वासुदेवनिरुक्तिमाह प्रागयमिति, क्वचिद्<br/>विशेषे कालविशेषे वा वसुदेवस्यायं पुत्रो जातः, अतो<br/>भिज्ञा एतन्मर्मं जानन्ति ते वसुदेव इति प्रचक्षते,</p> | <p>वस्तुतस्तु वसुशब्देन धनं वसुर्ह्यो देवो वसुदेवो<br/>लक्ष्मीस्तस्याः पतिवसुदेव इति तदाह श्रीमानिति, इतोति<br/>तत्रापि सम्बध्यते, इतिशब्दस्तदन्ते वा योजनीय ॥१७॥</p> |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

व्याख्यार्थ—“प्रागयं”—इस श्लोक से वासुदेव शब्द की व्युत्पत्ति कहते हैं । कभी देश विशेष अथवा काल विशेष में यह पहले वसुदेवजी का पुत्र हुआ है । इसलिए अभिज्ञ (इसके मर्म को जानने वाले) लोक इसको वासुदेव कहते हैं । वास्तव में तो वासुदेव शब्द का अर्थ लक्ष्मी पति होता है; क्योंकि

‘वाक्यान्यष्टश्लोकेरुक्तानि’—वाक्यों का आठ श्लोकों में कथन है । यद्यपि यहाँ गर्गजी के वाक्यों का अनुवाद प्राप्त इत्यादि सात श्लोकों में ही है तो भी—मन्येनारायणस्यांशम्—इस श्लोक में गर्गजी के वाक्यों का अलितार्थ निरूपण किया होने से इसे भी गर्गजी का वाक्य रूप ही मानकर इसी आशय से आठ श्लोकों की ख्या कही है ।

लेखः—‘शुक्लो रक्तस्तथा पीतः’—इस श्लोक की व्याख्या में वर्ण शब्द ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जाति विशेष का वाचक कहने का तात्पर्य यह है कि राम—परशुरामजी—ब्राह्मण, राम—रघुनाथजी—क्षत्रिय और राम—बलरामजी—वैश्य जाति में प्रकट हुए हैं । बलदेवजी का भगवान् के आवेश के कारण से ब्रजेश सुत होना हले सिद्ध किया जा चुका है । इस समय तुम्हारे घर में कृष्णता को प्राप्त हुआ है अर्थात् दास्य मार्ग को प्रकट किया है—यह अभिप्राय है ।

योजना—‘वर्ण’ शब्द का ब्राह्मण आदि अर्थ मान कर ही व्याख्या में—रामो रामो रामः—परशुराम, शरध पुत्र राम, बलराम—इनका क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य जातिपरक निर्देश किया है । बलदेवजी में श्रीकृष्णजी का आवेश है, श्रीकृष्ण नन्दजी के पुत्र हैं, नन्दजी वैश्य हैं—इस कारण से बलदेवजी को वैश्य कहा । ‘यत्कृष्णं तदज्ञस्य’—इस श्रुति में कहे गए अन्न—पृथिवी—के कृष्ण रूप की तरह श्रीकृष्ण में पार्थिव कृष्णरूप ही है; किन्तु मध्याह्न के सूर्य के तेजो मण्डल के मध्य में जैसा व्यामत्व है, वैसी श्यामता श्रीकृष्ण में है । अर्थात् जैसे मध्याह्न के सूर्य के तेजो मण्डल में स्थित श्यामता पार्थिव नहीं है, उसी तरह यह श्रीकृष्ण का व्यामत्व भी पार्थिव नहीं है, किन्तु वस्तु के स्वभाव से ही ऐसी प्रतीति होती है । यह श्यामता ओपाधिक—पृथिवी की उपाधि से होनेवाली—नहीं है; क्योंकि—‘यदादित्यस्य नीलभाः’—इस छन्दोग्य उपनिषद् की श्रुति में—आदित्यस्य-सम्बन्ध कारक (षष्ठी) सूर्य सम्बन्धी श्यामत्व को सूचित करता है, उपाधि सम्बन्ध को नहीं कहता ॥१६॥

वसु-शब्द का अर्थ धन है। वसुरूप देव-वसुदेव अर्थात् लक्ष्मी, लक्ष्मी के पति वासुदेव शब्द की यह व्युत्पत्ति है। इसी आशय से मूल में श्रीमान् (लक्ष्मीपति) शब्द का प्रयोग है। मूलस्थ 'इती' शब्द का सम्बन्ध, वासुदेव और श्रीमान्, इन दोनों के साथ है अर्थात् यह बालक वसुदेव का पुत्र भी है और लक्ष्मी पति है ॥१७॥

श्लोक—बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते ।

गुणकर्मनुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः ॥१८॥

श्लोकार्थ—गुणों और कर्मों के अनुसार तुम्हारे पुत्र के अनेक नाम और रूप हैं। उनको मैं जानता हूँ। अन्य साधारण लोग नहीं जानते हैं ॥१८॥

सुबोधिनी—न केवलं नामद्वयमेव भगवतः किन्तु न्यान्यपि बहूनि सन्तीत्याह बहूनीति, रूपाण्यपि सन्ति, ते सुतस्येति सम्बन्धस्थापनार्थं, रूपनाम्नोर्हेतुमाह गुणकर्मनुरूपाणीति, तावन्तो गुणास्तावन्ति च कर्माणि

प्रतिरूपनामभेदेन कर्तव्यान्यतस्तेषामनुरूपाणि, तत्र प्रमाणमाह तान्यहं वेदेति, बाधाभावमाह नो जना इति, जनास्तु न जानन्ति ॥१८॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के नाम वासुदेव और लक्ष्मीपति-केवल दो ही नहीं हैं; किन्तु और भी बहुत हैं। यह 'बहूनि' इस श्लोक से कहते हैं। जैसे इसके नाम असंख्य हैं, वैसे ही इसके रूप भी अनेक हैं। नन्दजी के साथ सम्बन्ध का बोध-स्थापन के लिए तुम्हारे पुत्र के (ते सुतस्य)-ऐसा कहा है। रूप और नामों के असंख्य होने का कारण बतलाते हैं कि वे गुण कर्मों के अनुरूप हैं इसलिए प्रत्येक गुण और कर्म के भेद से नामकरण होना चाहिए; क्योंकि वे नाम, उन असंख्य गुण और कर्मों के अनुरूप हैं। इस में प्रमाण यह है, कि उनको (नाम और रूपों को) मैं जानता हूँ। दूसरे साधारण मनुष्य इस बात को नहीं जानते हैं। उनका नहीं जानना, इस कथन में कोई बाधक नहीं है; क्योंकि जिन्हें ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान है, वे ही तो, इसे जान सकते हैं, अन्य साधारण मनुष्य कैसे जान सकते हैं ॥१८॥

श्लोक—एष वः श्रेय प्राधास्यद् गोपगोकुलनन्दनः ।

अनेन सर्वदुर्गाणि यूयमञ्जस्तरिष्यथ ॥१९॥

श्लोकार्थ—यह गायें और गोकुलवासियों को आनन्ददायक होगा; इसके द्वारा तुम्हारा सब प्रकार से कल्याण होगा। इसकी सहायता से तुम्हारे सारे संकट सहज ही दूर होंगे ॥१९॥

सुबोधिनी—एवं नामान्युक्त्वा भगवतः कार्याण्याहंष । इति, एष एव वो युष्माकं श्रेय प्राधास्यदाधास्यति,

“छन्दसि लुङ्लङ्लिट” इति भविष्यदर्थे लङ्, पूतना- | नन्दन आनन्दजनको भविष्यति, किञ्चानेनैव सर्वदुर्गाणि  
रिवधस्य कृतत्वात् भूतार्थताप्यस्ति, किञ्च गोपगोकुलयो- | सङ्कटस्थानानि यूयं तरिष्यथ, परमनायासेनैव ॥१६॥

**व्याख्यार्थ—**इस प्रकार नामों का वर्णन करके—‘एष वः’— इस श्लोक से भगवान् के कार्यों को बतलाते हैं। यह तुम्हारा कल्याण करेगा। मूल में आधास्यत्—यह पद भविष्यद् अर्थ का बोधक है। पूतना आदि का वध पहले कर दिया है। इसलिए भूतकाल का प्रयोग भी उचित ही है। यह बालक गोप और गोकुल दोनों को आनन्द देने वाला होगा। इस के ही द्वारा तुम लोग सभी सङ्कट के स्थानों को सहज ही पार कर लोगे। विना किसी परिश्रम के ही तर जाओगे ॥१६॥

**श्लोक—**पुरानेन व्रजपते साधवो दस्युपीडिताः ।

अराजकेरक्ष्यमाणा जिग्युर्दस्यून् समेधिताः ॥२०॥

**श्लोकार्थ—**हे व्रजराज, पहले जब साधु पुरुषों को दैत्यों ने सताया था, राजा के न होने से प्रजा का कोई रक्षक नहीं था, तब इस की कृपा से प्रजा ने अभ्युदय प्राप्त करके उस दस्यु गण पर विजय पाई है।

**सुबोधिनी—**अत्रार्थे पूर्वसम्प्रतिमाह पुरानेनेति, | दस्यून् जिग्युः, रावणादयोपि दस्यवोराजके चारक्ष्य-  
पृथुरूपेणान्येन वा, व्रजपते इतिसम्बोधनमज्ञानं नाश्रय- | भाणाः स्थितास्तदानेनैव समेधिता दस्यून् जिग्युः,  
मितिबोधनार्थं, साधवः सर्व एव दस्युभिः पीडिता | पृथावेव तत् स्पष्टम् ॥२०॥

**व्याख्यार्थ—**इस विषय में ‘पुरानेन’ इस श्लोक से पूर्व की सम्प्रति का वर्णन करते हैं। इसने पृथु-स्थूल-रूप से अथवा किसी दूसरे रूप से रक्षा की है। व्रजपते-सम्बोधन से यह सूचित होता है कि तुम व्रज-साधारण छोटे से गांव के राजा हो। इसलिए तुम्हें इस का ज्ञान न होने में कोई आश्चर्य नहीं है। सभी साधु पुरुष दैत्यों से पीड़ित हो, उन पर विजय प्राप्त करते थे। रावण आदि भी दैत्य थे। जब कोई राजा नहीं था, प्रजाओं का कोई रक्षक नहीं था। राजा उस समय इसी की कृपा से परिपुष्ट हो, दैत्यों को परास्त किया था। यह बात भगवदंशावतार पृथु के चरित्र से स्पष्ट है।

**श्लोक—**य एतस्मिन् महाभागाः प्रीतिं कुर्वन्ति मानवाः ।

नारयोभिभवन्त्येतान् विष्णुपक्षानिवासुराः ॥२१॥

**श्लोकार्थ—**जो भाग्यशाली लोग इस से प्रेम करते हैं, वे शत्रुओं से परास्त नहीं होते, जैसे विष्णु जिनके पक्ष में है उन देवों को दैत्य कभी जीत नहीं सकते ॥२१॥

सुबोधिनी—किञ्च य एतस्मिन् महाभागाः परम-  
भाग्यव्यतिरेकेण परं नास्मिन् प्रीतिर्भवत्येतादृशे प्रीति  
कुर्वन्ति ते मानवा अपि भूत्वा शत्रून् जिग्युः, तदाह  
नारय इति, अरय एतान् नाभिभवन्ति यतो विष्णुपक्षान्

विष्णुः पक्षे येषां वैष्णवानामसुरा असुरावेशिनो  
यथा लोकेपि नाभिभवन्ति, लौकिकी यथेयमिति  
दृष्टान्तः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—उत्कृष्ट भाग्य बिना, इसमें प्रीति नहीं होती है । इसलिए जो बड़ भागी जीव  
इस में प्रीति करते हैं, वे मनुष्य होते हुए भी शत्रुओं पर विजय प्राप्त करते हैं । शत्रु इनको जीत नहीं  
सकता, क्योंकि उनके पक्ष में विष्णु है । लोक में भी, जैसे वैष्णवों को असुरों के आवेश वाले नहीं  
जीत सकते हैं । यह कथा लौकिक है । इसलिए विष्णु आदि का दृष्टान्त दिया है ॥२१॥

श्लोक—तस्मान् नन्द कुमारोयं नारायणसमो गुणैः ।

श्रिया कीर्त्यानुभावेन तत्कर्मसु न विस्मयः ॥२२॥

श्लोकार्थ—हे नन्दजी इस कारण से यह तुम्हारा बालक गुणों में, श्री में, कीर्ति  
और प्रभाव में साक्षान्नारायण के समान है । नन्दजी कहते हैं, कि हे गोपों ! इसके  
अद्भुत चरित देखकर आश्चर्य नहीं करना चाहिए ॥२२॥

सुबोधिनी—एवं भगवत्सामर्थ्यमुपपाद्योपसंहरति  
तस्मादिति, अत्र पाठभेदः, अयं कुमारो हे नन्द नारायण-  
समो गुणैः कृत्वा नारायणतुल्यः श्रिया कीर्त्यानुभावेन

च नारायणतुल्यः, एतावद् गर्गवाक्यं, स्वयमाह तत्कर्मसु  
न विस्मय इति, तस्य भगवतः कर्मसु गोवर्धनोद्धरण-  
दिषु विस्मयो न कर्तव्यः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् के सामर्थ्य का उपपादन करके—‘तस्मात्’—इस श्लोक से  
उपसंहार करते हैं । इस श्लोक में पाठ भेद है । यह कुमार—(हे नन्दजी)—गुणों के द्वारा नारायण के  
तुल्य है, श्री कीर्ति और प्रभाव से भी नारायण के समान है—यहाँ तक गर्गजी के वाक्यों का अनुवाद  
करके नन्दरायजी स्वयं कहते हैं, कि हे गोपों !—इस कारण से इसके विचित्र चरित्रों को देखकर  
गोवर्धनोद्धरण आदि चरितों पर विस्मय मत करो ॥२२॥

श्लोक—इत्यद्धा मां समादिश्य गर्गे च स्वगृहं गते ।

मन्ये नारायणस्यांशं कृष्णमक्लिष्टकारिणम् ॥२३॥

योजना—‘विष्णुपक्षानिवासुरा’ इस श्लोक में यह दृष्टान्त अनुचित है; क्योंकि भगवान् ही तो विष्णु हैं ।  
इसलिए दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक यहाँ एक ही है, भिन्न भिन्न नहीं है ? इस शब्दा का समाधान व्याख्या में  
—लौकिकीकथेयम्—(यह लौकिक कथा है) इन पदों से किया गया है । तात्पर्य यह है, कि गर्गाचार्यजी ने लौकिक  
बुद्धि (का आश्रय लेकर) से यह कथा कही है । इसलिए इस दृष्टान्त में पूर्व पक्ष कथित दोष नहीं है ।

**श्लोकार्थ—**हे गोपों ! मुझ से यों कहकर गर्गाचार्यजी अपने घर को चले गए । तभी से मैं अक्लिष्ट कर्मा श्रीकृष्ण को नारायण का अंश मानता हूँ ॥२३॥

**सुबोधिनी—**एतादृश एवायं मम गृहेवतीर्ण इति ममाप्यत एवात्र न विस्मय इति सम्प्रत्यर्थं स्ववृत्तान्त-माहेत्यद्वेति, अद्वा साक्षान् मां प्रति सम्यगादिश्य भगवत्स्वरूपमुक्त्वा गमं स्वगृहं गते कृष्णं नारायणस्यांश-मेवाह मन्ये, चकारादहमपि गृहे गत्वा, पुरुषोत्र नारायणस्तस्यायमंशावतार इत्येतावज् ज्ञातवान् न

त्वधिकं, अधिकमग्रे वक्ष्यति, ब्रह्मांशोर्यमित्यस्मिन्नर्थे न केवलं वाक्यं प्रमाणं किन्तु अनुभवोप्यस्तीत्याहाक्लिष्ट-कारिणमिति, न क्लिष्टं कदाचित् कृतवान् करोति वा, यदि जीवः स्यात् क्लिष्टं कुर्यात्, व्यसनैः पीडितो हि तथा करोति न त्वपीडितः, व्यसनाभावस्तु ब्रह्मण्येव यतः कृष्णो ब्रह्मेत्यहं मन्ये ॥२३॥

**व्याख्यानार्थ—**यह ऐसा अद्भुत कर्मा ही मेरे घर में प्रकट हुआ । इसी कारण से मुझे भी इसके विचित्र इन गोवर्धनोद्धरण आदि चरित्रों पर विस्मय नहीं है । इस प्रकार अपनी सम्मति प्रदर्शित करने के लिए नन्दरायजी—‘इत्यद्वा’—इस श्लोक से अपना वृत्तान्त कहते हैं । साक्षात् मुझ से, इस प्रकार भगवान् के स्वरूप का भली भाँति वर्णन करके, गर्गाचार्य के मेरे पास से गर चले जाने पर, तभी से मैं श्रीकृष्ण को नारायण का अंश ही मानता हूँ । मूल श्लोक में चकार कहने का तात्पर्य नन्दरायजी कहते हैं, कि फिर मैं भी घर जाकर इतना ही जान पाया कि पुरुष यहाँ नारायण हैं, उनका यह अंशावतार है । इससे अधिक कुछ नहीं समझा । अधिक का वर्णन यहीं आगे किया जाएगा । यह बालक ब्रह्म का अंश है—इस कथन में केवल वाक्य ही प्रमाण नहीं है, किन्तु अनुभव भी प्रमाण है, क्योंकि इसने किसी दिन कोई क्लेशदायक कार्य नहीं किया और न करता ही है । यदि यह जीव होता, तो क्लिष्ट कर्म करता, क्योंकि दुःखों से पीडित (जीव) ही क्लेशदायक कार्य करता है । अपीडित क्लिष्ट कर्म नहीं करता, दुःख का अभाव न होना, तो केवल ब्रह्म में ही सम्भव है । इस कारण से मैं कृष्ण को ब्रह्म ही मानता हूँ ॥२३॥

**श्लोक—**इति नन्दवचः श्रुत्वा गर्गगीतं व्रजौकसः ।

दृष्टश्रुतानुभावस्य कृष्णस्यामिततेजसः ॥

मुदिता नन्दमानचुः कृष्णं च गतविस्मया ॥२४॥

**श्लोकार्थ—**इस प्रकार गर्गाचार्य के द्वारा पहले से ही वर्णन कर दिए गए अपरिमित तेजवाले, सदान्द श्रीकृष्ण सम्बन्धी, नन्दजी के वचनों को सुनकर कृष्ण के प्रभाव को प्रत्यक्ष देखने और सुनने वाले वे व्रजवासी जन बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने नन्दरायजी और श्रीकृष्ण की पूजा की और उनका सारा विस्मय दूर हो गया ॥२४॥

**सुबोधिनी—**एवमुपदेशे यज् जातं तदाहेतीति, यर्गेण पूर्वं गीतं वस्तुतो गर्गादिपि पूर्वसिद्धं तदिदानी नन्दवचः, तच् छ्रुत्वा व्रजौकसोत्यन्तासम्भावना रहिता

मुदिता जाता इतिसम्बन्धः, न केवलं वाक्यप्रामाण्यं स्वयमपि कृष्णं तथाभूतं दृष्टवन्त इत्याह दृष्टश्रुतानु-भावस्येति, दृष्टः, श्रुतश्रुतानुभावो यस्य, अमितं च तेजो

यस्य, स्वरूपतोपि सदानन्दस्य सम्बन्धि गगंवाक्यं न च भगवांस्तु पूजनीय एव, आश्चर्याभावः फलं, एवमध्याय-  
छूत्वा मुदिताः सन्तो नन्दमानर्चुः कृष्णं च गतविस्मयाश्च त्रयेण सन्देहाभावपूर्वकमुपधर्मनिवृत्तिपूर्वकं भगवन्माहा-  
जाताः, महान् नन्दो यस्यैतादृशः पुत्र इति नन्दपूजा त्म्य भगवद्धर्मश्च स्थापितः ॥२४॥

ध्याख्यार्थ—इस प्रकार नन्दजी से गर्गचार्य के उपदेश को सुनने के पीछे जो कुछ हुआ, उसे—इति नन्दवचः’ इस श्लोक से कहते हैं। गर्गजी के द्वारा पहले कहे हुए, वास्तव में तो गर्गजी से भी पहले ही सिद्ध श्रीकृष्ण सम्बन्धी नन्दजी के वचनों को अभी सुनकर ब्रजवासियों का सारा विस्मय और असंभव भाव मिट गया। वे बड़े आनन्दित हुए। केवल (गर्गजी अथवा नन्दजी) का वाक्य ही प्रमाण नहीं था; किन्तु गोप स्वयं भी कृष्ण के ऐसे ही प्रभाव को देख और सुन रहे थे। अगणित ऐश्वर्यशाली और स्वरूप से भी सदानन्द, श्री कृष्ण—सम्बन्धी गर्गजी के उस वाक्य को सुन, ब्रजवासी जनों ने नन्दजी और कृष्ण की पूजा की। उनका सभी विस्मय दूर हो गया। नन्दजी महान् है; क्योंकि इनके घर में ऐसे अद्भुतकर्म भगवान् ने अवतार लिया। इस कारण से नन्दजी की पूजा की। भगवान् तो सबके पूजने योग्य हैं ही। इसका फल यह हुआ, कि ब्रजवासियों का आश्चर्य दूर हो गया। इस प्रकार इन तीन अध्यायों से सन्देह का अभाव पूर्वक गौण धर्म का निरास करते हुए भगवान् के माहात्म्य और भगवद्धर्म की स्थापना की है ॥२४॥

श्लोक—देवे वर्षति यज्ञविप्लवरूपा वज्राश्मपरूषानिलैः

सीदत्पालपशुस्त्रि आत्मशरणं दृष्ट्वानुकम्प्युत्समयन् ॥

उत्पात्येककरेण शैलमबलो लीलोच्छिलीन्ध्रं यथा

बिभ्रद् गोष्ठमपान् महेन्द्रमदभित् प्रीयान् न इन्द्रो गवास् ॥२५॥

श्लोकार्थ—यज्ञ भङ्ग होने से कुपित हुआ इन्द्र जब ब्रज के ऊपर घोर वर्षा करने लगा। वज्रपात और शिलाओं की बौछार तथा प्रचण्ड आंधी से सारे गोपाल, बाल, वृद्ध, स्त्रियाँ और पशुगण व्याकुल हो उठे, तब बालक, जैसे खेलते २ धरती के फूल को हाथ से अनायास उखाड़ लेता है, उसी प्रकार जिन्होंने करुणावश होकर लीला पूर्वक हँसते हँसते गोवर्धन पर्वत को एक हाथ से उठा लिया और आप ही जिसके एक मात्र रक्षक थे, उस ब्रज की रक्षा की। वही इन्द्र का अभिमान दूर करने वाले गोविन्द नामधारी भगवान् हम पर प्रसन्न हो ॥२५॥

सुबोधिनी—एतादृशधर्मप्रवर्तकं भगवन्तं शुको नमस्यति देव इति, स भगवान् गवामिन्द्रो नोस्माकं प्रीयात् प्रीतो भवतु, स एव प्रीतो भवति यः कस्यचित् कदाचित् प्रीतो भवति, अतस्तस्य प्रीतिलीलामाह देव इन्द्रे वर्षति सति, वर्षणमपि न यादृच्छिकं किन्तु

यज्ञविप्लवरूपेन्द्रयागस्य विप्लवो नाशस्तेन हृद् रोषो न केवलं वृष्टिमात्रं किन्तु वज्राश्मपरूषानिलैः सह वज्रोश्मा परूषानिलश्च सात्त्विकतामसराजसा निरूपिताः, ततः किमत आह सीदत्पालपशुस्त्रीति, सीदन्तः पालाः पशवः स्त्रियश्च यत्र ब्रजे तत् सीदत्पालपशुस्त्रि तादृशमप्यात्म-



शरणमात्मैव शरणं रक्षको यस्य तादृशं दृष्ट्वानुकम्पी  
जातः कृपावान् जातः, ततस्तददुःखनिवृत्त्यर्थमुत्समयन्नुर्ध्वं  
स्मितं कुर्वन् गोपानामज्ञानं स्थापयन्नेवैककरेण शैलं  
गोवर्धनमुत्पाद्याबलो बालो यथा लीलयोच्छ्वलौन्ध्र-

मुत्पाद्य विभति तथा बिभ्रद् गोष्ठमपाद् रक्षितवान्,  
न केवलं गोष्ठरक्षैव फलं किन्तु महेन्द्रमदमिद् महेन्द्र-  
स्यापि मदं भिनत्ति गवां चेन्द्रो गोविन्द इत्याख्यां  
विभति, भाव्यर्थोयं, स प्रीयादिति प्रार्थना ॥२५॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिनी श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणे-  
वान्तरसाधनप्रकरणे पञ्चमस्य स्कन्वादितस्त्रयोविंशाध्यायस्य विवरणम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार के धर्मों के प्रवर्तक भगवान् को 'देवे वर्षति'—इस श्लोक से शुकदेवजी नमस्कार करते हैं । वह भगवान् गोविन्द (गायों के इन्द्र) हमारे ऊपर प्रसन्न होवें । प्रसन्न वही होता है, जो कभी किसी पर प्रसन्न होता रहता है । इसलिए उसकी प्रीतिलीला का वर्णन करते हैं, कि जब इन्द्र सहज ही नहीं; किन्तु स्वयाग के नाश के कारण उत्पन्न क्रोध-(रोष)-से, केवल वृष्टि नहीं; किन्तु वज्र, पाषाण और प्रचण्ड आंधी सहित घोर वर्षा कर रहा था, वज्र, पाषाण और पचण्ड पवन—ये क्रम से सात्विक, तामस और राजस निरूपण किए हैं, तब व्रज में गोपाल, पशुगण और स्त्रियाँ अन्यन्त व्याकुल होगए । व्रज को—जिसके एक मात्र आप ही रक्षक हैं—दुःखी देखकर कृपा परवश हो भगवान् ने उनके दुःख को दूर करने लिए जोर से मुस्कुराए और गोपों के बिना जाने ही, गोवर्धन पर्वत को एक हाथ से लीला पूर्वक, इस तरह उखाड़लिया जैसे एक बालक बरसाती धरती के फूल को खेलते खेलते भनायास ही उखाड़ लेता है । गोवर्धन को धारण करके, गोकुल की रक्षा की इस चरित्र का फल केवल गोकुल की रक्षा ही नहीं है किन्तु इन्द्र के मद का नाश करना और आगे गोविन्द नाम का धारण करना भी इसका फल है । वे भगवान् हमारे ऊपर प्रसन्न होवें । शुकदेवजी ऐसी प्रार्थना करते हैं ॥२४॥

गोवर्धन लीनो उचकाई । देख विकल नर नारि कन्हाई ॥१॥

अपने सुख व्रजजन वितताये । बूंद बहुत व्रज पर बरखाये ॥२॥

वे डरपत और हरषत मनमन । राखे रहे जहां तहां व्रजजन ॥३॥

घर के देख मनहिं सुख दीनों । वाम भुजा गिरिवर कर लीनो ॥४॥

सूर श्याम गिरि कर घर राख्यो । धीरज वचन सबन सों भाख्यो ॥५॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) २३ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी "संस्कृत टीका" के तामस साधन अवान्तर प्रकरण का पांचवा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री बावपतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## • श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका ( हिन्दी अनुवाद सहित )

दशम स्कन्ध ( पूर्वार्ध )

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २७वां अध्याय

श्रीसुबोधिनी अनुसार, २४वां अध्याय

### तामस-साधन-अवान्तर प्रकरण

‘४४३’अध्याय’

श्रीकृष्ण का अभिषेक

—००००००—

कारिका—चतुर्विंशे भगवतो अभिषेको निरूप्यते ।

स्तुतिः शिक्षा तथेन्द्रस्य कामधेन्वादिभिः कृता ॥१॥

कारिकार्थ—इस चौबीसवें अध्याय में काम धेनु आदि के द्वारा किए जाने वाले भगवान् के अभिषेक, इन्द्रकृत स्तुति और इन्द्र के लिए की (हुई) शिक्षा का भी निरूपण किया जाएगा ॥१॥

कारिका—यथा रक्षा सुसंसिद्धा मदाभावस्तथा यदि ।

तदेव भगवत्कार्यं सर्वं सफलता व्रजेत् ॥२॥

कारिकार्थ—जिस प्रकार से घोर वर्षा और प्रचण्ड आंधी से व्रज की बाल बाल



रक्षा सिद्ध हुई, उसी तरह से, इन्द्र के आभिमान का भी पूर्णतया अभाव हो जाने पर ही, भगवान् का सकल कार्य सफल हो ॥२॥

कारिका—गोरक्षा चेद्धरिक्ता नाधिदैविकगामिनी ।

तया वा दासभावश्चेन् न चाप्यङ्गीकृतः क्वचित् ॥३॥

स्वयं वा स्वामिभावेन न स्वीकुर्यान् मुरद्विषम् ।

तदेयं भगवल्लीला प्रमाणं नैव जायते ॥४॥

अतो हेतुक्तिरप्येषा सत्फला वर्ण्यते स्फुटा ।

इन्द्रयागश्च भविता यस्मादिन्द्रो हरिः स्वयम् ॥५॥

कारिकार्थ—भगवान् के द्वारा की गई गोरक्षा यदि आधिदैविक पर्यन्त नहीं पहुँचे, यदि आधिदैविक कामधेनु अपने दास भाव और भगवान् के स्वामिभाव को स्वीकार नहीं कर लेती तब तक यह लीला भगवान् की लीलाओं में प्रमाण रूप नहीं हो सकती है, इसलिए यह हेतुक्ति भी स्पष्ट रीति से सत्फल वाली वर्णन की जाएगी इसी तरह भगवान् के इन्द्र होने पर, इन्द्र याग भी स्थिर रहेगा ही ॥३॥४॥५॥

टिप्पणी—‘गोरक्षा’ से ‘जायते’, तक तीसरी चौथी कारिकाओं का तात्पर्य यह है । आधिदैविक कामधेनु की शरणागति से यह बात प्रमाणित होती है, कि केवल गायरूप सजातीयता से भी, सारी लौकिक गायों की आधिदैविक गाय कामधेनु तक पहुँच जाने वाली ऐसी पालन लीला को श्री पुरुषोत्तम के अतिरिक्त कोई दूसरा केवल देखा देखी रूप से भी-करने में समर्थ नहीं हो सकता है । इस बात को स्वयं कामधेनु ने ‘भवताऽलोकनाथेन’ (अलोकनाथ आपसे ही हम गायें सनाथ हैं) इन पदों से कही है । अलोक—लोक भिन्न अर्थात् अलौकिक गोत्रों को पालन करने वाले आपके द्वारा हम भी सनाथ (रक्षित) हुई हैं । इस ‘अलोक’ पद से, यह भी सूचित किया गया है कि लीला सम्बन्धी सारे पदार्थों के विषय में भी यही व्यवस्था है, अर्थात् सारी लीला सामग्री अलौकिक ही है । यदि ऐसा नहीं होता तो ‘अलोक नाथेन’ ऐसा सामान्य पद का प्रयोग न करके, ‘लोक नाथ’, पद का प्रयोग किया जाता । इस में कारण यह है, कि आप अच्युत हैं, घर्म से भी आप च्युति रहित हैं । इस कारण से, यदि आपका पालन करना रूप धर्म, हम आधिदैविक गायों तक नहीं पहुँच पाता, तब तो गोत्व की समानता से हमारी अंशभूत लौकिक गायों में आपके पालन घर्म की च्युति हो जाती किन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि आप ‘अच्युत’ (च्युतिरहित) हैं ।

‘तदेयम्’ के पश्चात् आया, ‘लीला’ पद भाव प्रधान है और—भगवल्लीला प्रमाणं—यह एक ही समासयुक्त पद है इसलिए इस आधी कारिका का यह अर्थ है कि यह कही जानी वाली लीला भगवल्लीलापन में प्रमाण नहीं होती है ।

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—गोवर्धने धृते शैल आसाराद् रक्षिते व्रजे ।

गोलोकादाव्रजत् कृष्णं सुरभिः शक्र एव च ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि—हे राजन् ! जब भगवान् ने गोवर्धन पर्वत उठा कर वर्षा की धाराओं से व्रज की रक्षा की, तब गोलोक से सुरभि गाय, इन्द्र और सब देवगण श्री कृष्ण की सेवा में उपस्थित हुए ॥१॥

सुबोधिनी—पूर्वाध्याये सन्देहाभावो निरूपितो तो भगवदुक्तमेव कर्तव्यमिति स्थापित, तद् यदि परम्पर-येन्द्रयागत्वेन प्रसिद्धं कर्म नेन्द्रयागत्वमापद्येत तदा प्रसिद्धिविरोधः स्यादिति भगवत् इन्द्राभिषेको निरूप्यते, न केवलं भगवानेव स्वयमिन्द्रो जातः किन्तु सर्वेरेवेन्द्रा-भिषेककर्तृभिरिन्द्रः कृत इति वक्तव्यं तदर्थमिन्द्रस्य कामधेनोऽगमनमाह गोवर्धन इति, गोवर्धने शैले श्रुत

इन्द्रमानभङ्गादिन्द्रः समागतोन्यथा भगवान् गोवर्धन-धारणेन क्लिष्ट इव तत् स्मृत्वेन्द्रं मारयेदतः क्षमापनीय इति, आसाराद् धारासम्पाताच्च रक्षिते गोकुले स्ववंशो रक्षित इति सुरभिः समागता, न हि प्राकृतैः स्ववंशीयै-र्भगवत्पूजां कर्तुं शक्यातः स्वयमागता चकारादन्येपि तदीया देवा उत्सवार्थं समागता इति ज्ञातव्यम् ॥१॥

व्याख्यार्थ—गत अध्याय में भगवान् के विषय में जो जो सन्देह गोपों को थे, वे सब दूर कर के यह सिद्ध कर दिया कि भगवान् जैसी आज्ञा करें वैसा ही करना उचित है किन्तु यदि परम्परा

शंका—हेतुवाद से ही पूर्व प्रचलित लौकिक इन्द्रयाग का भङ्ग करके फिर 'भवताऽलोकनाथेन' इत्यादि के अनुसार रक्षा करना आदि हेतुवाद पूर्वक भगवान् का इन्द्र रूप से अभिषेक होने पर कराया गया याग भी तो हेतुवाद सिद्ध ही है । अर्थात् हेतुवाद सिद्ध प्राचीन याग का भङ्ग करा कर फिर भी वैसा ही, हेतु सिद्ध नवीन याग कराने में क्या कारण है इसका उत्तर—'अतो हेतुक्ति', इत्यादि पदों से दिया गया है । इन्द्रयाग के भग कराने से, प्राप्त हुए दोष की शंका की निवृत्ति कराने के लिए लौकिक याग भङ्ग, अपूर्व याग प्रारम्भ और पालन—इन सबको लीला बतलाना है और यह इनके आधिदैविक तक पहुँचने का निरूपण करने से होता है । इसलिए ये सभी लीलारूप ही हैं । यह 'हेतुक्ति' भी लीला रूप ही है । इससे इस लीला को 'भवाय भव', इस बीसवें तथा—'कृष्णेऽभिषिक्ते'—इस सत्ताईसवें श्लोक में सफल वाली लीला कहा है । इस प्रकार परम्परा से चली आई मर्यादा का भङ्ग भी नहीं हुआ क्योंकि आगे भी प्रति वर्ष व्रज वासी लोग गोसव करते ही रहेंगे । इस कथन से यह सूचित किया कि लीला सम्बन्धी लोक पाल आदि भी भगवान् से भिन्न नहीं है ।

लेख—'गोरक्षा'—इत्यादि डेढ़ कारिका में सुरभि की स्तुति के तीन श्लोकों का अर्थ कहा है । 'तदेयं' यह गोरक्षा रूप भगवत्लीला सुरभि की शरणागति में प्रमाण भूत नहीं होती । अतः शरणागति के प्रमाण भूत होने से हेतु का कथन है ।

॥ इति कारिकायं ॥

से चला आया इन्द्र याग नाम से प्रसिद्ध कर्म, पुनः (पीछा) इन्द्रयागरूप को प्राप्त नहीं करें तो प्रसिद्धि का विरोध होगा । इस लिए प्रसिद्धि का विरोध दूर करने के लिए इन्द्र रूप से भगवान् के अभिषेक का निरूपण करते हैं । भगवान् ही स्वयं इन्द्र हुए केवल इतना ही नहीं किन्तु इन्द्र का अभिषेक करने वाले सभी देवों ने भगवान् का इन्द्राभिषेक करना कहने के लिए 'गोवर्धन' इस श्लोक से इन्द्र और कामधेनु का आगमन वर्णन करते हैं । जब भगवान् ने गोवर्धन पर्वत को धारण किया तब इन्द्र का मान भंग हो जाने से वह स्वयं भगवान् के पास आया । इन्द्र को यह भय हुआ कि यदि कृष्ण की सेवामें नहीं जाया जाएगा तो सम्भव है कि वह पर्वत को धारण करने में हुए क्लेश का स्मरण करके मेरा (इन्द्र का) अनिष्ट (नाश) कर दें । इस लिए, अपना अपराध क्षमा कराने के लिए वह भगवान् के पास आया । वर्षा की मूसल धाराओं से गोकुल में अपने वश (गोगण) की भगवान् ने रक्षा की । इस कारण से, सुरभि (कामधेनु) भी आई, काम धेनु के वंश की प्राकृत (लौकिक) गायें भगवान् की पूजा नहीं कर सकती । इस लिए सुरभि स्वयं भगवान् की सेवा में आई । श्लोक में कहे 'च' से यह सूचित किया है, कि सुरभि और इन्द्र सम्बन्धी सारे देवता उत्सव के लिए आए ॥१॥

श्लोक—विविक्त उपसङ्गम्य व्रीडितः कृतहेलनः ।

पस्पर्श पादयोरेनं किरीटेनार्कवर्चसा ॥२॥

श्लोकार्थ—कृष्णचन्द्र का अनादर करने के अपराध से अत्यन्त लाज्जित हुए अपराधी इन्द्र ने आकर, अपराध क्षमा कराने के लिए सूर्य के समान प्रकाशमान किरीट मुकुट से अलङ्कृत अपने शिर से एकान्त में भगवान् के दोनों चरणों का स्पर्श किया ॥२॥

सुबोधिनी—तत्र प्रथममपराधनिवृत्तिः कारणी- प्राथितवानित्यहं विविक्त इति, एकान्ते भगवत्समीपं  
येतीन्द्रस्योपाख्यानमुच्यते तत्र समागत इन्द्रो भगवन्तं गतो भक्ता अपकृता इति कदाचित् तेनिष्ठं वक्ष्युः, लज्जां

टिप्पणी—व्याख्या में—नहि प्राकृतैः—इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है कि प्रकृत लीला सम्बन्धी गायें भगवान् की पूजा करती तो लीला रस का विरोध होजाता ।

लेख—इस—'विविक्त'—श्लोक की व्याख्या में 'तत्र' पद से लेकर 'आह' पद तक—श्लोक द्वयेन (दो श्लोकों से) इस पद का अध्याहार समझना चाहिए । तात्पर्य यह है कि इन्द्र का आगमन कहना तो पहले कह दिया गया होने से यहाँ अनुवाद मात्र है । विविक्त इस दूसरे श्लोक का अर्थ नमस्कार है जो प्रार्थना का अङ्ग है और अगले तीसरे 'दृष्टश्रुत' इत्यादि श्लोक से प्रार्थना की है इस प्रकार दूसरे और तीसरे श्लोकों का अङ्ग सहित प्रार्थना करना अर्थ है ॥१॥

च हेतुत्वेन वक्ष्यति, अप्राप्यिते सर्वनाशो भविष्यतीति  
प्रार्थनावश्यकः, अतः एकास्ते निकटे गतः, तत्रापि  
श्रीडितो लज्जितः, कृतं हेतुनं येनेति भीतश्च, अतः एनं

भगवन्तं पादयोः पस्पशं, अर्कवर्चसा किरीटेन भुग्नपृष्ठः  
शिरो भगवत्पादयोः स्थापितवान्, महत एतन्  
सर्वापराधक्षमापकम् ॥३॥

व्याख्यानार्थ—वहां आकर पहले अपराध की निवृत्ति कराना चाहिए इसलिए इन्द्र का उपाख्यान कहते हैं । इन्द्र वहां आया और भगवान् से प्रार्थना करने लगा । यह 'विविक्त' इस श्लोक से कहते हैं । इन्द्र एकान्त में भगवान् के पास गया, क्योंकि उसने भक्तों का अपराध किया था । वे भक्त कदाचित् इन्द्र से अनिष्ट सूचक वचन बोल दे । और लज्जा भी एकान्त में जाने का कारण कहा जाएगा । प्रार्थना न करने पर सर्वनाश हो जाएगा । इस लिए प्रार्थना करना आवश्यक है । इस लिए लज्जित और अपराधी होने के कारण भयभीत हो । एकान्त में भगवान् के निकट आकर इन्द्र ने भगवान् के चरणों का स्पर्श किया सूर्य के समान जाज्वल्यमान किरीट से अलङ्कृत अपने मस्तक को इन्द्र ने भगवान् के चरणों पर रख दिया यह सब बहुत भारी अपराध को क्षमा कराने का साधन (उपाय) है॥२॥

श्लोक—दृष्टश्रुतानुभावस्य कृष्णस्यामिततेजसः ।

तष्टत्रिलोकेशमद इन्द्र आह कृताञ्जलिः ॥३॥

श्लोकार्थ—अतुलित तेज को धारण करने वाले श्रोक्वर्ण के अद्भुत प्रभाव को देख और सुन कर इन्द्र के मन से त्रिलोकों के ईश्वर होने का मद जाता रहा और वह हाथ जोड़ कर इस प्रकार प्रार्थना करने लगा ॥३॥

सुबोधिनी—एवं नमस्कारं कृत्वा स्तोत्रं कर्तुं मारेभे दृष्ट इति, ननु देवा नानृतं वदन्ति नाप्यासोपेक्षणं च भगवतो नोत्कर्षं जानात्यन्यथापराधं न कुर्याद् विपरीत-बुद्धिश्चातः कथं स्तोत्रमिति चेत् तत्राह दृष्टश्रुतानुभाव-स्येति, दृष्टो गोवधनोद्धरणलक्षणाः श्रुतः पूतनासुपयः-पानादिरनुभावो यस्य, किञ्च न केवलं दृष्टश्रुतानुभाव-

मात्रत्वमन्यदप्यधिकमस्तीति ज्ञापयति, यथा जाज्वल्य-  
मानोग्निः सर्वमेव घृक्ष्यतीति ज्ञायते तथा भगवत्तेजोपि  
परिदृश्यमानं सर्वं कर्तुं समर्थमित्यवसीयते, तदाहा-  
मिततेजस इति, अत एव नष्टस्त्रिलोकेशोहमितिमवो  
यस्यात इन्द्र इति नाममात्रं भगवद्धिकारी कृताञ्जलिः  
सन्नाहाग्रे वक्ष्यमाणम् ॥३॥

**व्याख्यानार्थ—**इस प्रकार नमस्कार करके इन्द्र 'दृष्टश्रुता-नुभावस्य', इस श्लोक से स्तुति आरम्भ करता हुआ कहता है । शङ्का-देवता झूठ नहीं बोलते हैं और न सीप में चांदी के भ्रम की तरह आरोप से ही कोई बात कहते हैं । इन्द्र भगवान् के उत्कर्ष की नहीं जानता है । यदि जानता होता तो भगवान् का अपराध नहीं करता और विपरीत बुद्धि वाला है तो फिर भगवान् की स्तुति कैसे करता है ? समाधान—इन्द्र ने अभी गोवर्धन का उद्धरण रूप भगवान् का प्रभाव देखा और पूतना के प्राण सहित स्तन्य पान, आदि प्रभाव सुने । इतना ही नहीं किन्तु और भी अधिक हैं—यह सूचित करते हैं कि जैसे जाज्वल्यमान धधकती हुई-अग्नि सभी को जला देगी—ऐसा जान पड़ता है । वैसे ही देदीप्यमान भगवान् का तेज भी सब कुछ करने में समर्थ है—ऐसा जाना जाता है क्योंकि,

भगवान् का तेज अतुलित है । इसलिए उस (इन्द्र) का त्रिलोकी का स्वामी होने का अभिमान नष्ट हो गया । तब केवल नाम मात्र का वह इन्द्र (भगवद्भक्त) अधिकारी पद को प्राप्त हुआ, दोनों हाथ जोड़ कर प्रार्थना पूर्वक इस प्रकार बोला ॥३॥

॥ इन्द्र उवाच ॥

श्लोक—विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तं तपोमयं ध्वस्तरजस्तमस्कम् ।

मायामयोयं गुणसम्प्रवाहो न विद्यते ते ग्रहणानुबन्धः ॥४॥

श्लोकार्थ—इन्द्र ने कहा—भगवान्, आपका धाम (स्थान, तेज) विशुद्ध सत्त्वरूप है, शान्त और तपोमय है । रजोगुण और तमोगुण का नाश करने वाला है । गुणों के द्वारा प्रचलित यह मायामय संसार आपका स्पर्श तक करने के योग्य नहीं है ॥४॥

सुबोधिनी—भगवन्तं स्तौति दशभिः प्राणश्लोकैः,

व्याख्यार्थ—इन्द्र दश प्राणरूप, दश श्लोकों से भगवान् की स्तुति करता है ।

कारिका—क्रियाशक्तिप्रधानोयं बाह्यश्चायं तथाविधः ।

पुरुषार्थप्रसिद्धयर्थं षड्गुणं स्तौति माधवम् ॥१॥

कारिकार्थ—इस इन्द्र में तथा इस वेद बाह्य में भी क्रिया शक्ति प्रधान है । अपने पुरुषार्थ की ठीक ठीक सिद्धि के लिए वह षड्गुण सम्पन्न माधव भगवान् की स्तुति करता है ॥१॥

सुबोधिनी—निर्दुष्टा भगवद्गुणा इति वक्तुं प्रथमं दण्डकरणेन प्राप्तं क्रोधं निवारयति द्वाभ्यां हेतुफलाभ्यां, तत्र प्रथमं भगवत् क्रोधे हेतुर्नास्तीत्याह विशुद्धसत्त्वमिति, परमार्थतस्तु सर्वात्मा सर्वकर्ता सर्वप्रेरकोतः क्रोधः सम्भावित एव न, आविर्भावप्रकारेणापि लीलापि क्रोधे हेतुर्नास्तीत्युच्यते, तत्र क्रोधे रजस्तमसो हेतू ते त्वयि न स्त इत्याह विशुद्धसत्त्वं तव धामेति, शुद्धं रजस्तमोभ्यामसम्पृक्तं विशेषेण शुद्धं सत्त्वेनाप्यसम्पृक्तं तत् तव धाम स्थानं “सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दित”मिति, तत्र भगवानाविर्भवतीति वासुदेवः, किञ्च धाम तेजोपि सात्त्विकमेव भगवत्तेजः सत्त्वमेव वा, किञ्चेदं सत्त्वं

शुद्धसत्त्वान्तरेणाप्यमिश्रितं तज् जीवस्थं तरतमभावापन्नं भवत्यत इदं सत्त्वं परमकाष्ठापन्नमेव, तदाह शान्तमिति, परमा शान्तिः सत्त्वोत्कर्षो ज्ञानादयोवान्तरभेदा अल्पविक्षेपरूपाः, अन्यथा कथं बोधयेत् कथं वा त्यजेत् कथं वा भजेत् ? अतः शान्तिरेव परमकाष्ठा नन्वज्ञानस्यापि शान्तिः परमकाष्ठा भवति वृक्षादिषु सुषुप्ती च तथोपलम्भादतस्तद्व्यावृत्त्यर्थमाह तपोमयमिति, तपस्तु विहितज्ञानात्मकं तेजोरूपमत एव तेजोव्यतिरिक्तं सन्तापयति, सुतरां भगवत्तपस्तु ज्ञानमयं “यस्य ज्ञानमयं तप”इति श्रुतेरतो मोढ्याद् या शान्तिरूपरतिरूपा सा नात्र ग्राह्यात एव ‘शम उपशम’ इति, आत्मसमीपे यः

शान्तस्तिष्ठति स उक्तो न तु शान्तिमात्रे निरोधेनाज्ञान-  
समीपे वातस्तपोमयमित्युक्तं, ननु "रजस्तमश्चाभिभूय  
सत्त्वं भवति भारते"ति यथा सत्त्वं प्रबलमेवं "रजः  
सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथे"त्यपि, "न तदस्ति  
पृथिव्यां वे" ति च केवलसत्त्वस्य बाधः, तत्राह  
ध्वस्तरजस्तमस्कमिति, ध्वस्ते रजस्तमसी येन लोकाना-  
मपि रजस्तमसी यो नाशयति त को वा नाशयेत् ?

आधिदैविक एव तादृशस्य नाशको भवति, स च  
व्यवस्थया स्थापितस्ते गुणाश्चाप्राकृताः सच्चिदानन्द-  
धर्मरूपाः प्राकृतेभ्यो भिन्ना अन्यथा "प्रकृतिर्जैस्त्रिभि-  
र्भुक्तं सत्त्वं पृथिव्यादिषु नास्ती" ति न वदेत् तस्यैवा-  
प्रसिद्धत्वाद् गुणावताराश्च भगवतोप्राकृता न भवेयुः,  
किञ्च सत्त्वस्य सत्त्वसम्बन्धः कथं भवेद् भेदाभावेतस्ते  
त्रयो गुणा ब्रह्मविष्णुशिवेष्वेव प्रतिष्ठिता अतः  
सच्चिदानन्दधर्मत्वाद् यदा ब्रह्मादिष्वितरापेक्षा तदेतर-  
भजनं सति सत्त्वं चिति रज आनन्दस्तमसीति भगवांस्तु  
कदाचिद् विष्णोः सत्त्वमाधारत्वेन गृह्णाति यदि न  
केवलः समायाति, प्रकृते तु केवलोपीन्द्रेण भ्रमात् तथा

जायतेन्यथा "प्रागयं वसुदेवस्य कचिजात"इति न वदेत्  
सर्वदैव वसुदेव एव जायमानत्वादत् इदानीं केवलोपि  
सत्त्वाश्रित उच्यते, पूर्वभ्रमापेक्षयायं भ्रम उत्तम इति  
स्तुतित्वमन्यथा व्यापिर्वकुण्ठे सर्वान् नेतुं न शक्यात्,  
सत्त्वं त्वाधारत्वेनैव गृहीतमिति विष्णोरपि तथा  
सामर्थ्यं कचिदुच्यते "ब्रह्मैव सगुणं बभौ" वित्यत्रापि  
विष्णुरेव गृह्यतां तदवतारा भगवान् वा कचिदन्यथा

कृष्णवद् बभावित्येव वदेदत् इन्द्रो विष्णुं भगवन्त  
जानातीति स्वज्ञानानुसारेणाह, यदा भगवत्सत्त्वं सर्व-  
रजस्तमोनाशकं तदा तदाश्रित्य स्थिता माया तत्र  
दुरापास्तेत्याह मायामयोयमिति, अयं सर्वोपि गुणानां  
सम्पक्प्रवाहो देवतियंङ्मनुष्यादिरूपो मायामयो माया-  
प्रचुरो गुणानां कारणभूतत्वान् मायायाः, तत्र  
प्रमाणमाहायमिति, अन्यथा कथं दृश्यः स्यात् ? तस्मात्  
प्राकृतमेवैतत् सर्वमप्राकृतं तु न दृश्यत इति तस्मादयं  
प्राकृतोपि प्रपञ्चस्ते ग्रहणस्य ज्ञानस्यानुबन्धरूपो न  
भवत्यतः प्राकृतदृष्ट्यायमपकारं कृतवानयमुपकारं कृत-  
वानिति तव न सम्भवति ॥४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के गुण निर्दुष्ट हैं यह कहने के लिए पहले दण्ड करने के कारण  
प्राप्त हुआ क्रोध भगवान् में नहीं है और उस (क्रोध) का कारण और फल भी उनमें नहीं है। इस  
प्रकार हेतु और फल के दो श्लोकों में से प्रथम श्लोक 'विशुद्धसत्त्वं'—से भगवान् में क्रोध के हेतु का  
अभाव सूचित करते हैं। वास्तव में तो भगवान् सब की आत्मा, सब के कर्ता और प्रेरक हैं। इस  
लिए उनमें क्रोध की सम्भावना नहीं हो सकती आविर्भूत होकर की गई लीला भी क्रोध का कारण  
नहीं है क्योंकि क्रोध के कारण—भूत, रजोगुण और तमो गुण आप में नहीं है। आप का धाम—स्थान  
तथा स्वरूप—रजोगुण तमोगुण से ही केवल नहीं सत्त्वगुण से भी छुआ हुआ नहीं है। विशुद्ध सत्त्व  
वसुदेव है, और वसुदेव में अवतार लेने के कारण भगवान् वसुदेव कहे जाते हैं। भगवान् का धाम,  
'तेज' भी सात्विक ही है अथवा सत्त्व ही भगवान् का तेज है। यह सत्त्व किसी अन्य शुद्ध सत्त्व से  
मिश्रित नहीं है जीवों में रहने वाला सत्त्व घटता बढ़ता रहता है 'न्यूनाधिक' होता है यह सत्त्व तो  
परमकाष्ठापन्न सर्वोत्कृष्ट ही है और शान्त है। परमशान्ति सत्त्वका उत्कर्ष है।

यद्यपि ज्ञान आदि भी सत्त्व के अन्य भेद हैं तो भी वे थोड़े-विक्षेपरूप हैं। यदि ज्ञानादिक  
अल्प विक्षेपक न होते तो इन्द्र कैसे बोध करता कैसे त्याग करता, और भगवान् का भजन भी कैसे  
करता। इसलिए शान्ति ही सत्त्व की पराकाष्ठा है।

शङ्का—अज्ञान में भी शान्ति की पराकाष्ठा होती है क्योंकि वृक्ष आदि और सुषुप्ति (गाढनिद्रा)  
में सभी परम शान्ति का अनुभव करते हैं ? इस के समाधान में कहा है कि 'तपोमय' आपका धाम  
तपोमय है। तप विहित ज्ञान रूप और तेज रूप होने से, वह तेज विहीन प्राणियों को सन्ताप



करता है। भगवान् का तप तो (यस्य ज्ञानमयंतप) इस श्रुति के अनुसार ज्ञान-मय है ही। इसलिए मूर्खता में होने वाली उपरतिरूप शान्ति यहां अभिप्रेत नहीं है क्योंकि 'शम उपशमे' उपशम अर्थ वाले शम धातु से शान्ति शब्द बनता है यहां उप-उपसर्ग समीप का अर्थ का बोधक है। तात्पर्य यह है कि जिस शान्ति के द्वारा आत्मा के समीप शान्त रहता है वही यहां शान्त कहा गया है न कि शान्तिमात्र में निरोध अथवा अज्ञान के पास रहने वाला शान्त कहा है इसी अभिप्राय से मूल में तपोमय विशेषण दिया है।

शङ्का—\* गीता में कहा गया है कि गुणों में उपमर्द्य-उपमर्दक भाव होने के कारण ये आपस में कोई एक प्रबल होकर अन्य दोनों गुणों को दबा देते हैं। इस प्रकार, जैसे जब, सत्त्व गुण प्रबल होगा तो रजोगुण तमोगुण-दोनों का बाध हो जाएगा। इसी तरह रजोगुण प्रबल होकर सत्त्व को भी दबा देगा। वहीं यह भी कहा है कि इन गुणों से शून्य-बाहर कोई वस्तु नहीं है। इस कारण से यहां कहे गए सत्त्व को विशुद्ध अथवा केवल सत्त्व कैसे माना जाय ? इस के उत्तर में कहते हैं कि यह सत्त्व-ध्वस्तरजस्तमस्कम्-रजोगुण तमोगुण का नाशक है। सारे लोकों के रजोगुण तमोगुण का नाश करने वाले उस सत्त्व का नाश कोई कैसे कर सकता है। केवल आधिदैविक सत्त्व ही उस सत्त्व का उपमर्दक हो सकता है। इस व्यवस्था से उस आधिदैविक सत्त्व को सिद्ध किया है। तात्पर्य यह है कि वे आधिदैविक गुण अप्राकृत हैं सच्चिदानन्द भगवान् के धर्म रूप हैं और प्राकृत गुणों से भिन्न हैं। यदि इन प्राकृत गुणों से वे आधिदैविक गुण भिन्न नहीं होते तो गीता में-इन प्राकृत गुणों से मुक्त कोई सत्त्व पृथिवी आदि में नहीं है-ऐसा नहीं कहा जाता: क्योंकि ऐसे सत्त्वके सर्वत्र सिद्ध होने से हेत्वाभावदूषण होजाता है। इस लिए भगवान् का सत्त्व अप्राकृत और सच्चिदानन्द धर्म रूप है। इसी कारण से भगवान् के गुणावतारों को भी अप्राकृत कहा गया है। दूसरी बात यह भी है कि यदि सत्त्व में प्राकृत अप्राकृत का भेद नहीं होतो एक सत्त्व का दूसरे सत्त्व के साथ सम्बन्ध कैसे हो सके। इस से भी भगवान् के अप्राकृत गुण प्राकृत गुणों से भिन्न ही हैं।

वे तीन गुण ब्रह्मा विष्णु और शिव में प्रतिष्ठित होकर रह रहे हैं। सत् में सत्त्व, चित् में रजोगुण और आनन्द में तमोगुण की स्थिति है। तमोगुण की प्रबलता में सब की विस्मृति हो जाने के कारण आनन्द का अनुभव होने से तमोगुण आनन्द का धर्म है। ब्रह्मादि देवों को जब अन्य गुण की अपेक्षा होती है तब वे विष्णु शिव आदि का परस्पर भजन करते हैं। भगवान् तो कभी विष्णु के सत्त्व का अवलम्बन (आधार) रूप से ग्रहण करते हैं और कभी सत्त्व का आधार न लेकर केवल ही अवतार धारण करते हैं। यहाँ तो ये भगवान् सत्त्व को आधाररूप से ग्रहण न करके केवल ही प्रकट हुए हैं तो भी इन्द्र तो भ्रम से यही जान रहा है, कि श्रीकृष्ण सत्त्व का अवलम्बन लेकर ही प्रकट हैं। नहीं तो गर्गाचार्यजी-यह पहले कभी कहीं पर वसुदेव से उत्पन्न हुआ है-ऐसा नहीं कहते; क्योंकि वे तो सदा वसुदेव में प्रकट होते हैं तो फिर पूर्व पक्ष के अनुसार गर्गाचार्य का यह कथन असङ्गत हो जाता है इस-लिए यहां भगवान् केवल ही प्रकट हुए हैं किन्तु इन्द्र भ्रम से सत्त्व का आश्रय लेकर प्रकट होना मान रहा है।

कृष्ण को इन्द्र पहले तो भ्रम से साधारण मनुष्य (बालक) ही मान रहा था । अभी यहां सत्व का आश्रय लेकर अवतरित हुए मानता है । इस प्रकार इन्द्र के पहले भ्रम की अपेक्षा यह भ्रम उत्तम है इसी से इन्द्र कृत भगवान् की स्तुति है । यदि ये केवल न होते, सत्व का आधार लेकर ही प्रकट हुए होते तो सारे गोकुल को व्यापि वैकुण्ठ में लेजाने में समर्थ नहीं हो सकते । कभी कभी विष्णु का भी ऐसा सामर्थ्य कहीं पर कहा गया है \* “सगुण विशुद्ध सत्वरूप ब्रह्म विष्णु की तरह सुशोभित हुआ” यहां भी विष्णु का ही अथवा उनके गुणावतारों का और कहीं पर भगवान् का भी ग्रहण हो सकता है । यदि इन्द्र कृष्ण को केवल अवतारी समझ लेता तो कृष्ण की तरह शोभित होना वर्णन करता । इस कारण इन्द्र अपने ज्ञान के अनुसार भगवान् को विष्णु जान कर यह कह रहा है ।

जब भगवान् का सत्व सारे रजोगुण तमोगुण का नाशक है तो गुणों का आश्रय लेकर रहने वाली माया तो वहां ठहर ही कैसे सकती है । इस लिए कहते हैं कि देव पशु पक्षि मनुष्य रूप से चलता यह सारा गुणों का प्रवाह माया मय माया से प्रचुर है; क्योंकि गुणों का कारण माया ही है । इसी लिए मूल में—अयं—यह दिखाई देने वाला प्रवाह—ऐसा प्रमाणरूप से कहा है । यदि यह प्रवाह माया प्रचुर नहीं हो तो दृष्टि गोचर ही नहीं हो सके अतः दिखाई देने वाला यह सब मायामय—प्राकृत—है अप्राकृत पदार्थ के दर्शन नहीं होते । इस कारण यह प्राकृत प्रपञ्च—(जगत्)—आपका ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता । इस लिए प्राकृत—दृष्टि से—भगवान् ने अपकार किया, उपकार किया—यह कहना आप में सम्भव नहीं है ॥४॥

लेख—‘विशुद्धसत्त्व’—इस श्लोक की व्याख्या में ‘परमार्थतस्तु’ इत्यादि पदों का आशय यह है । भगवान् अवतार समय में ही सत्व का आधार रूप से ग्रहण करते हैं । फिर मूल रूप में भी क्रोध का अभाव कैसे सिद्ध हो सकता है । इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् तो वास्तव में सबकी आत्मा सब के कर्ता और प्रेरक हैं । इसलिए उनमें क्रोध की सम्भावना ही नहीं है ।

‘सत्त्वेनाप्यसम्पृक्तम्’—अर्थात् न्यूनाधिक भाव को प्राप्त होने वाले सत्व से ‘वह विशुद्ध सत्व’ मिला हुआ नहीं है भिन्न है ।

तपोमयम्—सामीप्य में भेद होता है । इसलिए आत्मा का सामीप्य सम्भव नहीं है । तब ‘निरोधेन’ इस पद से दूसरा पक्ष कहते हैं कि सारी इन्द्रियाँ का निरोध करने से । इस कथन से सुषुप्ति (निद्रा) में कही शान्ति का भी निषेध हो गया । इस तरह इसका परमात्मा के समीप ले जाने वाली शान्ति—यह अर्थ हुआ । परमात्मा तो—ज्ञाज्ञी द्वावजौ—इस वाक्य के अनुसार जानवान ही है—इससे अज्ञान की समीपता का भी निषेध कर दिया । सुषुप्ति (निद्रा) में तो परमात्मा में लय होने के कारण सामीप्य रहता ही नहीं । इसलिए भूढ़ता से होने वाली शान्ति अग्राह्य है क्योंकि यह मूढ़ शान्ति अर्थ रूढ़ि से है । पराकाष्ठा रूप शान्ति योगिक अर्थ है ।

लोकानाम्—पहले कहे वाक्य प्राकृत सत्त्व विषयक है—क्योंकि— हे धातः आपका सत्त्व—इत्यादि श्लोक व्याख्या में भगवान् के सत्त्व को अप्राकृत सिद्ध कर चुके हैं ।

‘सति इति’—सत् और चित् सत्त्व और रजस् में क्रम से रहने के कारण वे उनके धर्म हैं । तमस् आनन्द का धर्म है । तमोगुण में आनन्द इसलिए कहा गया है, कि तमस् सब की विस्मृति कर देता है । इससे उसमें आनन्द का अनुभव होता है और आनन्द का स्वरूप ही ऐसा है, कि उस में अन्य कुछ भी जानने योग्य विषय रहता ही नहीं ।

भगवांस्तु—गुण के अवतार ब्रह्मा; विष्णु, शिव में ऐसा सामर्थ्य नहीं है—यह इस ‘तु’ शब्द से सूचित किया गया है ।

‘आधारत्वेन’, देह रूप से अर्थात् अप्राकृत गुण तीनों का स्वरूप और प्राकृत गुण तीनों के गुण हैं—यह विभाग है आधारात्वेन—यहां ‘एव’ कार से यह सूचित किया है, कि आवेश वाले देह रूप से भेद रूप से नहीं । विष्णु तो सत्त्वात्मक होने से गुण रूप है सगुण नहीं है । इसलिए ‘तदवताराः—सत्त्वदेह को ग्रहण करने वाले मत्स्य आदि अवतार से तात्पर्य है । जब भगवान् अंशावतार से प्रकट होते हैं तब भगवान् कृष्ण भी सत्त्व देह को धारण करते हैं इस प्रकार से भगवान् ‘कृष्णश्च एतेवा गृह्यन्ताम्’—यह अन्वय—सम्बन्ध है यद्यपि यहाँ भगवान् अंशावतार रूप से नहीं प्रकट हैं, तो भी इन्द्र रजोगुण तमोगुण के आश्रय वाली अपनी बुद्धि के अनुसार भगवान् के घाम (स्थान) को विशुद्ध सत्त्व कहता है । गुण प्रवाह के मायामय होने में प्रमाण है ‘अयम्’ अन्यथा, यदि माया की प्रचुरता न हो और केवल ब्रह्म ही हो, तो, यहाँ माया शब्द का अर्थ प्रकृति है । ‘तस्मात्’ इत्यादि का तात्पर्य यह है, कि दृश्य होने के कारण बन्धन करने का स्वभाव वाला यह प्राकृत प्रपञ्च (जगत्) आपके ज्ञान का अनुबन्धन नहीं कर सकता—आप के ज्ञान को अपना विषय नहीं कर सकता है इसलिए एक प्राकृत की तरह आपमें क्रोधादिक का सम्भव नहीं है ।

योजना—व्याख्या में—‘ज्ञानादय’ से लेकर ‘भजेत्’ तक ग्रन्थका तात्पर्य यह है । शङ्का—परम शान्ति को ही सत्त्व का उत्कर्ष कहना उचित नहीं है । क्योंकि ज्ञान तथा गीतोक्त सग \* त्याग, धैर्य आदि में सत्त्व का उत्कर्ष उचित है । इस के समाधान में कहा है कि ज्ञानादिक अल्प विक्षेप रूप हैं और सत्त्व के अवान्तर भेद हैं । वे सत्त्व का उत्कर्ष रूप नहीं हैं, सत्त्व का उत्कर्ष रूप तो परम शान्ति ही है । इसलिए शान्ति रहित को ज्ञानादिक भी विक्षेपरूप ही है । इन्द्र सात्त्विक है और ‘सत्त्वात्संजायते’, सत्त्व के कारण उसे ज्ञान भी हुआ किन्तु वह विक्षेप-रूप ज्ञान शान्ति प्राप्त न होने के कारण उपयोगी नहीं हो सका । इसी से वह (इन्द्र) कभी तो भगवान् का बोध करता है (भगवान् मानने लगता है) कभी भूल कर वर्णा आदि उपद्रव करने लगता है और कभी—विशुद्ध सत्त्वं इस प्रकार स्तुति करने लगता है । इस से इन्द्र का किया हुआ बोध भगवत्त्याग और भजन—ये सब अस्थिर होने के कारण विक्षेपरूप ही हैं । इसीलिए आगे पराजित के प्रसङ्ग में उस (इन्द्र) को फिर मोह हो जाएगा ।

‘तपोमय’, पद की व्याख्या में, ‘न तु शान्ति मात्रे निरोधेन’ इत्यादि ग्रन्थ का अभिप्राय यह है, कि

इन्द्रियों के निरोध मात्र से प्राप्त हुई शान्ति से ही—‘यह शान्त पुरुष है’—। पुरुष के शान्त बन जाने में शास्त्र का तात्पर्य नहीं है, किन्तु आत्मा के समीप स्थिति होने पर ही शान्त पद की चरितार्थता शास्त्रसम्मत है। वह आत्मा के पास स्थिति ज्ञान के द्वारा होती है इसलिए, ‘तपोमय’ इस विशेषण से अज्ञान से होने वाली शान्ति का निवारण किया है इस कथन में यह तपोमय विशेषण ही प्रमाण है क्योंकि ‘यस्य ज्ञानमयं तपः’ श्रुति में तप को ज्ञानरूप कहा है। इसलिए लोक में शान्ति शब्द से शान्ति मात्र का ग्रहण हो जाने पर भी यहाँ तो ज्ञान से प्राप्त हुई शान्ति का ही ग्रहण है।

‘यदा ब्रह्मादिषु इतरा पेक्षा’—इत्यादि ग्रन्थ का तात्पर्य यह है कि जब ब्रह्मा को सत्त्व अथवा तमस, की अपेक्षा होती है, तब वह क्रम से विष्णु अथवा शिव का भजन करते हैं इसी तरह अन्य गुणों की, अपेक्षा होने पर विष्णु, ब्रह्मा और शिव का तथा शिव भी विष्णु और ब्रह्मा का भजन करते हैं इसी कारण से पुराणों में विष्णु † को शिव का और शिव को विष्णु का हृदय कहा है। यह गुणावतार विष्णु और शिव के परस्पर भजन की व्यवस्था है। पूर्ण पुरुषोत्तम श्री कृष्ण तो गुणावतार ब्रह्मा—विष्णु शिव—इन तीनों के अवतारी परब्रह्म परम काष्ठापन्न है। यही व्याख्या में—‘भगवांस्तु कदाचित्’, इत्यादि पदों से कहा है। यहाँ तो यह केवल निरावरण पूर्ण पुरुषोत्तम शुद्ध सत्त्व का आधार न लेकर ही प्रकट हुए है। यदि यह अवतार भी विशुद्ध सत्त्व के आश्रय में होता तो गर्गाचार्यजी का—‘प्रागयं वसुदेवस्य क्वचिज्जातः’, कथन असङ्गत हो जाता क्योंकि सदा ही शुद्ध सत्त्व का, आश्रय रहने पर, ‘क्वचित् जातः क्वचित् न जातः—क्वचित्क प्राकट्य नहीं कहते। कारण कि—‘विशुद्ध सत्त्वं वसु देवशब्दितम्’—वसुदेव शब्द का अर्थ ही तो शुद्ध सत्त्व है।

शङ्का—यहाँ वसुदेव शब्द से शूरपुत्र का तात्पर्य है। इसलिए शूरपुत्र वसुदेव जी के घर कभी पुत्र होने का कथन उचित ही तो है। इस के उत्तर में कहा है, कि वसुदेव आधिदैविक विशुद्ध सत्त्वरूप है और विशुद्ध सत्त्व में सदा ही आविर्भाव का स्वीकार है। अतः क्वचित्क प्राकट्य कथन असङ्गत ही बना रहता है इसलिए कभी शुद्ध सत्त्व में आविर्भाव होता है और जब पूर्णावतार होता है, तब विशुद्ध सत्त्व में आविर्भाव नहीं होकर केवल ही होता है—यह तात्पर्य है। इस प्रकार यहाँ यह पूर्णावतार होने से सत्त्व में आविर्भाव नहीं है किन्तु इन्द्र भ्रम से इसको भी सत्त्व में ही आविर्भाव जान रहा है। जब कृष्णावतार पूर्णावतार नहीं होता है, तब सत्य के व्यवधान—(आधार)—होने के कारण कृष्ण सगुण ग्रहण करने चाहिए—तभी, ‘ब्रह्मेव सगुणं बभौ’—सगुण कहना सङ्गत होता है। नहीं तो ब्रह्मा—विष्णु—पूर्ण का उपमान और सगुण—दोनों कथन विरुद्ध हो—असङ्गत हो जाते हैं। तब तो, ‘कृष्ण वद बभौ’ ऐसा अनन्वय करते। इस लिए सगुण पद से विष्णु तथा गुणावतारों का ग्रहण ही है।

‘प्राकृतमेवैतत् सर्वम्’—इन पदों का अभिप्राय यह है, कि यह दृश्यमान जगत् प्रकृतिसम्बन्ध वाला है इस का समवायि कारण प्रकृति नहीं है इसीलिए प्राकृत इन्द्रियाँ इस को देख सकती हैं क्योंकि ‘यज्ञ बलि न्याय’ से—(जैसा देव वैसी पूजा) जगत् भी प्रकृति का सम्बन्धी और इस को देखने वाली इन्द्रियाँ भी प्राकृत—(प्रकृति के सम्बन्ध वाली) हैं। वास्तव में दृश्यमान जगत् ब्रह्म समवायि कारण होने से मायिक मिथ्या—नहीं है—यह निष्कर्ष है। लीला प्रपञ्च में जहाँ प्रकृति का सम्बन्ध नहीं है जो अप्राकृत है, वह प्राकृत इन्द्रियों से ग्रहण भी नहीं किया जा सकता। व्याख्या में ‘प्राकृत’ शब्द की प्रकृति शब्द से शैषिक (सम्बन्ध) अर्थ में अण् प्रत्यय द्वारा हुई है। इसलिए औपनिषद पुरुषः (उपनिषदों से जाना जाएगा) चाक्षुषं रूप (नेत्रों से ग्रहण किया जाए) की तरह प्रकृति से सम्बद्ध प्राकृत शब्द का अर्थ है।

† शिवस्य हृदयं विष्णु विष्णोश्च हृदयं शिवः।

श्लोक—कुतो नु तद्धेतव ईश मन्गुलोभादयो येषुधलिङ्गभावाः ।

तथापि दण्डं भगवान् विभर्ति धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ॥५॥

श्लोकार्थ—हे ईश्वर जब आपमें अज्ञान और अज्ञान से होने वाला देहसम्बन्ध नहीं है, तब अज्ञान और शरीर के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए दूसरे शरीर के बन्धन में डाल देने वाले और अज्ञान के चिन्हभूत ये क्रोध लोभ आदि भाव भला आप में कैसे रह सकते हैं । तथापि आप धर्म की रक्षा और दुष्टों का निग्रह करने के लिए दण्ड की व्यवस्था करते हो । आप भगवान् हैं । इस लिए क्या करने से क्या होगा ? इस का ज्ञान आप को ही है ॥५॥

सुबोधिनी—यद्येषा वैषम्यबुद्धिरेव नास्त्यन्येषामपि तादृशबुद्धिनाशकत्वात् तदा वैषम्यबुद्धिकृतानि कार्याणि क्रोधादीनि न भवन्तीति किं वक्तव्यमित्याह कुत इति,

नितिवितर्कतद्धेतवो ग्रहणहेतवो मायाहेतवो वा कुतो भवेयुः ? किञ्च हे ईश यदि तवापि ते स्युस्तदा तत्पारवश्यादीशत्वं नोपपद्येत यद्यपि बहव एव दोषा

टिप्पणी—इन्द्र स्तुति की व्याख्या में—दशभिः प्राणश्लोकाः—इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है—इन्द्र ने भगवान् का अपराध किया है । इस कारण उस के आधिदैविक सर्वस्व और आधिदैविक दश प्राणों का तिरोभाव (नाश) होजाने से वह मृतप्राय सा होगया । इस लिए अब आधिदैविक प्राणों को प्राप्त करके अपने जीवन लाभ के लिए दशविध प्राणों की संख्या के अनुसार दश श्लोकों से स्तुति करता है । यह स्तुति के दश श्लोकों की संख्या का तात्पर्य कहा है । शङ्का—‘गोवर्धने वृत्ति शैले’—(गोवर्धन पर्वत को उठा लेने पर) इस वाक्य से जिस तरह भगवान् ने क्रिया शक्ति प्रकट इन्द्र को अभी बोध कराया, इसी तरह पहले ज्ञान शक्ति प्रकट करके बोध क्यों नहीं करा दिया । यदि पहले ज्ञान शक्ति का भी बोध करा देते तो, अभी और आगे भी भगवान् का महात्म्य जान कर, अपराध नहीं करता यद्यपि यह माना, कि इन्द्र भगवान् की भुजारूप होने से, क्रियाशक्ति प्रधान है, तो भी प्रयोजन सिद्धि के लिए उसमें ज्ञान शक्ति का आविर्भाव भी कर देना उचित ही था । इस के उत्तर में कहते हैं, कि तथाविध यह इन्द्र हेतुक कर्म का सम्बन्धी होने से, वेदबाह्य है, ज्ञान का अधिकार उस को नहीं है तभी इस ने गोओं आदि का नाश करदेने कि आज्ञा मेघों को दी थी फिर भगवान् ने प्रयोजन के लिए जितनी क्रियाशक्ति प्रदान की थी उसके उपयोगी ज्ञान भी प्रदान किया, तभी इन्द्र को ज्ञान हुआ कि भगवान् का अपराध करने से उसके चारों पुरुषार्थ और भगवत्प्रदत्त ऐश्वर्य वीर्य आदि छः गुणों का तिरोधान होगया है । इन दशों की सिद्धि के लिए दश संख्या के श्लोकों से भगवान् की स्तुति करता है यह कारिका में कहे, ‘पुरुषार्थ सिद्धयर्थम्’—इत्यादि पदों का स्वारस्य है ।

लेख—पुरुषार्थ और धर्म आदिगुणों की उत्कर्षयुक्त सिद्धि की अभिलाषा से इन्द्र छः ऐश्वर्य सम्पन्न भगवान् की स्तुति करता है । स्तुति के इन दश श्लोकों में चार श्लोक चारों पुरुषार्थ की और छः श्लोक ऐश्वर्य आदि गुणों की सिद्धि के लिए हैं । इस अभिप्राय से दस श्लोकों से स्तुति करता है ॥५॥

निराकर्तव्यास्तथापि प्रकृते द्वयं प्रतिभात्यपकारिणि कोपो द्रव्ये लोभश्चेत्यत आह मन्युलोमादय इति, मन्यु राजसो लोभस्तामस इति वा, नन्वेते दृष्टाः कथं निराक्रियन्ते ? तत्राहाबुधलिङ्गभावा इति, अबुधानामज्ञानां लिङ्गभावो लिङ्गत्वं येषां ते ह्यज्ञानिनं ज्ञापयन्ति न तु सर्वज्ञा धीरास्तज्ज्ञापका वातः श्रुतिविरोधान् न तेङ्गीकर्तव्याः, न हि क्रोधादयो भगवति कैश्चिदनुभूताः कार्येण कल्पनं त्वन्यथाप्युपपद्यते ये प्राकृतेषु क्रोधादिभिर्जायन्ते ते भगवतीति स्वत एव न हि दोषेणैव कार्यं भवति गुणेन न भवतीति वक्तुं शक्यं दुःखादप्यश्रूण्यानन्दादप्यश्रूणि तथा प्रकृतेषु क्रोधादपि निग्रहोनुग्रहादपि निग्रह इत्यतः प्रमाणयुक्तिबाधान् न भगवति क्रोधादयः,

एवमपि सति भगवान् दण्डं बिभर्त्यतो ज्ञायते धर्मरक्षार्थं खलानां निग्रहार्थं च तत् करोतीति लौकिकभगवतोरेतावान् विशेषः, एकत्र फलाभावोपरत्र लौकिकसाधनाभाव इति साधनं भगवानेव तत्र साधनं स्वरूपमेवेतिसिद्धान्तः, फलं भ्रमप्रतिपन्नमन्यथा प्रवृत्तिर्न स्यात्, यदि भगवानेव न कुर्यात् पाषण्डप्रवृत्त्या धर्मनाशः स्यात्, स च सर्वेषां श्रेयोरूपः, किञ्च यदि स्वानुभाव न प्रकाशयेद् गोवधंनोद्धरणादिना तदा खला न निगृहीताः स्युः, अत्र दण्डद्वयं पूर्वस्थितस्य नाशोघिकताडनं च, एकस्तु दण्डत्वेन न व्यवहियत इत्येकवचनं एव कृत एदैतद् भवतीति तत्रैव ज्ञानं नान्यस्येति भगवानित्युक्तं, अतस्तस्य फलसाधकत्वेन प्रमाणान्तरं न सृज्यम् ॥५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् दूसरों की बुद्धि की विषमता (दोष) का नाश करते हैं । उन में विषय बुद्धि और उस से होने वाले (परिणाम) कार्य क्रोध आदि का सम्भव कैसे हो सकता है । भगवान् में क्रोध, लोभादि का नितान्त (सर्वथा) अभाव ही है । यह—‘कुतो नु’—इस श्लोक से कहते हैं । ‘नु’ यहाँ वितर्क अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । ग्रहण और माया के कार्य (परिणाम) क्रोधादि आप (भगवान्) में हो ही नहीं सकते । हे ईश (सर्वसमर्थ) यदि आप में भी क्रोधादि हो, तब तो आप भी उन के हेतु मायादि के पराधीन होकर ईश्वर ही न रहें, आप तो सर्वतन्त्र स्वतन्त्र ईश्वर हैं । सभी आप के वश में हैं आप किसी के वशीभूत नहीं हैं ।

दूर किए जाने योग्य दोष यद्यपि बहुत हैं, तो भी यहां प्रकरणगत दो दोष—अपकारी इन्द्र पर कोप और यज्ञ के द्रव्य-पदार्थों का लोभ—स्पष्ट दिखाई देते हैं । इसी अभिप्राय से ‘मन्युलोमादयः’—मूल केवल दोनों का ही निर्देश है । क्रोध राजस और लोभ तामस है । शङ्का—ये दोनों दोष तो स्पष्ट दिखाई देते हैं । इस लिए प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु का निषेध कैसे हो सकता है ? इस के उत्तर में कहते हैं कि ये आज्ञानी पुरुषों की अज्ञानता के चिन्ह—सूचक—हैं । अर्थात् क्रोध करना और लोभी होना—यह अज्ञानी पुरुषों के लक्षण हैं सर्वज्ञ और धीरों के ये चिन्ह नहीं हैं । श्रुतिविरोध के कारण क्रोध लोभादि दोष भगवान् में नहीं मानने चाहिए । किसी का भी यह अनुभव नहीं है कि भगवान् में क्रोध लोभ दोष हैं केवल कार्य अथवा परिणाम इन्द्र याग भङ्ग आदि से भगवान् में क्रोध आदि की कल्पना कर लेना तो अनुचित ही है क्योंकि याग भङ्ग आदि कार्य, क्रोध के बिना भी हो सकते हैं । प्राकृत पुरुषों के जो कार्य क्रोधादि के द्वारा होते दिखाई देते हैं वे भगवान् में स्वभाव से ही स्वतः ही हो जाते हैं । ऐसे कार्य, दोष से ही हो सकते हैं, गुण से नहीं हो सकते—यह तो नियम से कहा नहीं जा सकता, क्योंकि दुःखरूप दोष से जैसे आँसू आते हैं, वैसे आनन्दरूप गुण से भी तो, आँसू आते हैं । इस तरह यहाँ भी इन्द्र पर क्रोध से भी निग्रह और अनुग्रह से भी निग्रह संभव होसकने के कारण से भगवान् में क्रोधादिक के होने में कोई भी प्रमाण नहीं है और न कोई युक्ति ही है । इससे यह सिद्ध है कि भगवान् में क्रोधादि नहीं हैं ।

क्रोधादि के न होने पर भी भगवान् जो दण्ड करते हैं—इस से ज्ञात होता है, कि धर्म की रक्षा और दुष्टों के निग्रह के लिए ही भगवान् दण्ड देते हैं । इसलिए लौकिक और भगवान् में यह अन्तर है, कि लौकिक दण्ड का फल धर्मरक्षा नहीं होता और भगवान् में लौकिक (दण्ड का) साधन रूप क्रोधादि होते नहीं हैं । साधन भगवान् ही है और वहां भगवान् का स्वरूप ही साधन है । यह सिद्धान्त है । फल भ्रमयुक्त है निश्चित नहीं है । नहीं तो फल के अभाव में कोई किसी काम में प्रवृत्त ही नहीं हो । भगवान् यदि इस तरह याग भङ्ग नहीं करते, तो पाखंड-के प्रचार के द्वारा धर्म का नाश हो जाए । धर्म तो सब का कल्याण कारक है और भगवान् यदि गोवर्धन धारण करके अपना प्रभाव प्रकाशित नहीं करते तो दुष्टों का निग्रह नहीं होता । यद्यपि यहाँ—पूर्वप्रचलित केन्द्र के यज्ञ स्वामित्व का नाश और मान का भङ्ग रूप अधिक शिक्षा—ये दो दण्ड हैं, तो भी याग भङ्ग रूप एक दण्ड की दण्ड रूप में गणना न करके एक (मानभङ्ग) को ही दण्ड रूप मान कर, मूल श्लोक में—दण्ड—एक वचन प्रयुक्त हुआ है । ऐसा करने पर ही यही होता है—यह ज्ञान आप—को ही है क्योंकि आप भगवान् हैं । भगवान् हो वही ऐसा जान सकता है । इसलिए उस के फल की साधकता में किसी दूसरे प्रमाण के अन्वेषण की अपेक्षा रहती ही नहीं ॥५॥

लेख—व्याख्या में—फल भावः—इत्यादि का तात्पर्य यह है कि दण्ड के फल धर्मरक्षा और दण्ड के लौकिक कारण क्रोध का अभाव है । राजा के दण्ड का भी धर्मरक्षा फल होता है । याग भङ्ग धर्म की रक्षा के लिए है और गोवर्धन के उद्धरण का दुष्ट निग्रह फल है । यागभङ्ग करने से याग के स्वामित्व का अभिमान दूर किया और गोवर्धन के उद्धरण का मान भङ्ग रूप अधिक शिक्षा फल है ।

योजना—व्याख्या में 'अनु ग्रहादपि निग्रह' अनुग्रह से भी निग्रह किया जाता है क्योंकि 'देवस्य कोपोपि वरेण तुल्यः' देव का क्रोध भी वरदान के बराबर है । लौकिक 'भगवतोः एकत्र अपरत्र'—इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है, कि लौकिक में दण्ड देने की इच्छा वाला भी यदि असमर्थ हो, तो क्रोध का फल दण्ड नहीं होता है और भगवान् में लौकिक दण्ड का कारण क्रोध के न होने पर भी केवल अनुग्रह से ही भगवान् दण्ड देते हैं । शङ्काः—भगवान् किसी को दण्ड देते हैं तो उसकी सम्पत्ति का नाश अथवा कंस आदि की तरह उस की मृत्यु हो जाती है । इसलिए फल से साधन का अनुमान करने पर तो अनिष्ट फल का साधन क्रोध ही सिद्ध होता है अनुग्रह का अनिष्ट फल कैसे हो सकता है । इस के समाधान में कहते हैं कि 'फल भ्रमप्रतिपन्नम्', सम्पत्ति आदि का नाश अथवा मरण का दण्ड फल नहीं है । किन्तु मुक्ति ही दण्ड का फल है, जो भगवान् के द्वारा उसे आगे दी जाएगी इसलिए सम्पत्ति के नाश अथवा मरण को दण्ड का फल भ्रम से समझा जा रहा है ।

शङ्का—भगवान् को यदि कंसादिकों के लिए भी मुक्ति देना अभीष्ट है, तो फिर भक्तों की तरह ही मुक्ति न देकर मार ही कर उन्हें मुक्ति क्यों देते हैं । इस के उत्तर में कहते हैं कि 'अन्यथा प्रवृत्तिर्न स्यात्' कि दुष्कर्म करने वाले दुष्टों को भी भक्तों की तरह ही मुक्ति दे दें उनकी सम्पत्ति और शरीर का नाश न करें तो फिर सन्मार्ग में किसी की प्रवृत्ति ही नहीं होगी क्योंकि सज्जनता और दुर्जनता का फल जब समान ही होगा तो कोई सन्मार्ग में क्यों चलेगा ? 'यदि भगवानेवं न कुर्यात्', और यदि भगवान् दुष्कर्म करने वालों को भी भक्तों की तरह सुख से ही मुक्ति दे दें उनकी सम्पत्ति अथवा शरीर का नाश न करें तो फिर अनिष्ट फल की प्राप्ति का भय न रहने से सब ही निषिद्ध कर्म करने लग जाएं और तब पाखण्ड की प्रवृत्ति से धर्म का नाश ही

श्लोक—पिता गुरुत्वं जगतामधीशो दुरत्ययः काल उपात्तः ॥६॥

हिताय चेच्छातनुभिः समीहसे मानं विधुन्वन् जगदीशमानिनाम् ॥६॥

श्लोकार्थ—आप जगत् के पिता, गुरु, स्वामी और दुनिवार दण्ड-धारी काल रूप हैं। अपने आप को ही लोकों का ईश्वर मानने वाले मुझ जैसे मूढ़ों के मिथ्या अभिमान को दूर करके उनके कल्याण और मोक्ष की इच्छा से ही समय समय पर स्वेच्छा से अवतार धारण कर दण्ड देते हो ॥६॥

सुबोधिनी—एवं श्लोकद्वयेन दण्डः कृतः परं प्रयोजनार्थमिति निरूपितमिदानीं शिक्षैवैषा न तु दण्ड इत्याह पितेति, पुत्रा हि पितृभिस्ताड्यन्ते गुरुभिश्च शिष्या राजभिश्च प्रजाः कालादिभिश्च पुरुषा न चैते दण्डं कुर्वन्ति किन्तु शिक्षामेव, त्वं तु सर्वेषां सर्वरूपो जनकत्वात् पिता वेदकर्तृत्वाद् गुरुः सर्वेषामेव जगतामधीशः स्वामी ब्रह्मादीनामप्यधिकारसम्पादकोतो-धीशो दुरत्ययः कालो मृत्युः कालमृत्युर्हि न केनाप्यति-

क्रान्तो भवति, उपात्तो दण्डो येन स यमः, परलोकेऽपि दुःखदाता तर्वाधिकारिणस्त इति कर्मकारणात् प्रेरणाद्वातः सर्वत्राधिकृतो भवानेवेतीच्छातनुभी राजा-दिशरीरैर्लोकानां हितायैव दण्डं समीहसे जगदीशमानिनां मानं च विधुन्वन्, इच्छातनुवो मत्स्यादयोऽपि, पुरुषः पिता मत्स्यो गुरुरधीशः कुर्मो वराहश्च मृत्युदण्डधारिणो नृसिंहवामनौ तथान्यत्रापि ज्ञेयः, चकारान् मोक्षाय च तेषां जगतश्च ॥६॥

व्याख्यानार्थ—इस प्रकार दो श्लोकों से यह निरूपण किया, कि भगवान् ने प्रयोजन के लिए ही इन्द्र पर दण्ड किया है। अब 'पिता'—इस श्लोक से यह कहते हैं कि यह तो इन्द्र के लिए शिक्षा ही की है। दण्ड नहीं किया है। पिता पुत्रों को, गुरु शिष्य को, राजा प्रजा को और काल आदि पुरुषों को जो ताड़ना देते और मारते भी हैं, किन्तु वह मारना दण्ड नहीं है, शिक्षा ही है। आप तो सब के सर्वरूप हो। जन्मदाता होने से पिता हो, वेद के कर्ता होने से गुरु और सब जगत् के अधीश्वर होने से स्वामी हो। ब्रह्मादि को भी अधिकार आप ही देते हो। इस लिए आप ही अधीश्वर हो। दुनिवार काल—(मृत्यु)—हो। काल मृत्यु का अतिक्रमण कोई भी नहीं कर सकता है। दण्डधारी यमराज हो। परलोक में भी आपके अधिकारी देव ही दुःख देने वाले हैं इस प्रकार कर्म कराने तथा कर्म करने की प्रेरणा देने वाले होने से आप ही सब के अधिकारी हो और इच्छानुसार शरीर धारण करके राजा आदि का शरीर धर कर लोकों के कल्याण के लिए ही आप दण्ड करते हो और अपने को ही लोकों का ईश्वर मानने वालों के अभिमान को विशेषरूप से दूर कर देते हो। 'इच्छातनु' पद से मत्स्य आदि का ग्रहण है। पुरुषावतार पितारूप है, मत्स्यावतार गुरु रूप, कुर्म और वराह अवतार अधीश्वर, नृसिंह और वामन अवतार मृत्यु और दण्ड करने वाले

होजाए। 'स च सर्वेषां श्रेयोरूपः' वह धर्म तो सब का ही मङ्गल करने वाला है। यहाँ 'स' वह पद से—पटोलपत्रं पित्तघ्नं नाडी तस्य कफापहा—तस्य (उसकी) पद से पटोल की तरह धर्म नाश पद के अन्तर्गत धर्म शब्द का परामर्श है ॥५॥



हैं । इसी तरह अन्यत्र भी समझ लेना चाहिए । श्लोक में कहे 'व' शब्द का अर्थ यह है, कि उन को और जगत् को भी मुक्ति देने के लिए भगवान् शिक्षा देते हैं ॥६॥

**श्लोक—**ये मद्विधाज्ञा जगदीशमानिनस्त्वां वीक्ष्य काले मयमाशु तन्मदम् ।  
हित्वायमार्गं प्रभजन्त्यपस्मया ईहा खलानामपि तेनुशासनम् ॥७॥

**श्लोकार्थ—**जो मेरे समान अज्ञानी लोग अपने को जगदीश मान कर मदान्ध हो जाते हैं, उनका वह मद अन्त काल में आपके भयानक स्वरूप दर्शन करके तुरन्त ही-नशे की तरह-उतर जाता है, और वे अहङ्कार रहित होकर सन्मार्ग में लग कर आप का निरन्तर भजन करने लग जाते हैं । इसलिए आप की गोवर्धनोद्धरण आदि रूप चेष्टा भी दुष्टों के लिए शिक्षा रूप है ॥७॥

**सुबोधिनी—**तत्र हितं सन्दिग्धमिति स्वदृष्टान्तेन विवृणोति ये मद्विधा इति, अहमिन्द्रो यथैवमेव वरुणादयोऽज्ञा मूर्खा अन्यथा कथं नन्दं नयेयुः ? तेषामज्ञानस्थानमाह जगदीशमानिन इति, यद्यपि भगवदाज्ञा क्रियत इतिबुद्ध्यभावे सर्वमेव मोह्यकृतं तथापि जगदीशा वयमित्यभिमानः स्पष्टः, मोहकार्यत्वेन तादृशाः, काले स्वावसरेन्तकाले मयरूपं त्वां वीक्ष्याशु शीघ्रं वयमीश्वरा इति तन्मदं परित्यज्यायमार्गं नामस्मरणा-

दिक तुलसीगोपीचन्दनादिधारणं च प्रपद्यन्ते, यथेदानीमहं नमस्कारे प्रवृत्त एवमपि केचित् प्रपद्यन्ते, यावत् पुनर्भयात्मकमपि त्वां न प्रपश्यति तावन्नायमार्गं प्रपद्यन्त इति धर्मरक्षार्थं दण्ड उपपादितः, प्रकर्षेण भजनं पुनः पूर्वावस्थान न गृह्णन्ति, अपगतः स्मयो गर्वो येषां, आयमार्गस्य गर्वं एव बाधकः, अतो यद्यपि कौतुकार्थमेव गोवर्धनोद्धरणं कृतं तथापि खलानामनुशासनरूपं जातमतस्तव चेष्टामात्रमपि सफलमेव ॥७॥

**व्याख्यानार्थ—**ऊपर के श्लोक में कहा है, कि भगवान् हित के लिए ही दण्ड देते हैं, वहाँ-किस हित के लिए दण्ड करते हैं-हित शब्द में सन्देह है । इस लिए इन्द्र अपने दृष्टान्त से-‘ये मद्विधाज्ञा’-इस श्लोक से विवरण करता है. मेरी-(इन्द्र की)-तरह वरुण आदि भी अज्ञानी-(मूर्ख)-हैं । अज्ञानी नहीं होते तो वे नन्दरायजी को क्यों ले जाते ? उन के अज्ञान का कारण यह है, कि वे अपने आप को ही जगत् का ईश्वर माने बैठे हैं । यद्यपि वे भगवान् की आज्ञा का ही पालन कर रहे हैं, तो भी उनको ऐसा ज्ञान नहीं है, इस कारण से, उनके सारे कार्य मूर्खता से ही होते हैं । तथापि उन्हें जगत् के स्वामीपन का अभिमान स्पष्ट है । मोह के कारण ही वे इतने अभिमानी हो रहे हैं । वे अन्त काल में भय स्वरूप आप के दर्शन करके उसी समय अपने स्वामी भाव के मद को छोड़ देते हैं और आर्य मार्ग-भगवान् का नाम स्मरण तथा तुलसी, गोपी चन्दन आदि धारण करने लग जाते हैं । कई तो मेरी तरह से आप को नमस्कार करने लग जाते हैं । परन्तु जब तक वे आप के भयानक स्वरूप का दर्शन नहीं करते, तब तक उनकी आर्य मार्ग में प्रवृत्ति नहीं होती । इस से यही सिद्ध होता है, कि धर्म की रक्षा के लिए ही आप दण्ड देते हैं । ‘प्रभजन्ति’-प्र-प्रकर्ष से वे आप को भजते हैं । तात्पर्य यह है, कि इतने प्रकर्ष से वे आप को भजने लग जाते हैं, कि जिससे उन्हें पहली अभिमान की सी अवस्था फिर प्राप्त न हो सके । उनका गर्व दूर हो जाता है । गर्व ही आर्य मार्ग में प्रवृत्ति

नहीं होने देता । इस लिए कौतुक मात्र से की हुई भी आपकी गोवर्धनोद्धरण लीला दुष्ट लोगों के लिए शिक्षा-रूप ही हुई । इस कारण से आप की यह चेष्टा मात्र भी सफल ही हुई ॥७॥

**श्लोक—**स त्वं ममैश्वर्यमदप्लुतस्य कृतांहसस्तेविदुषः प्रभावम् ।

क्षन्तुं प्रभोयार्हसि मूढचेतसो मवं पुनर्भून्मतिरोश मेसती ॥८॥

**श्लोकार्थ—**हे नाथ ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त हो मैं आपके प्रभाव को भूल गया, इसी कारण मुझ से यह अपराध बन गया है । हे जगदीश्वर मुझ मूढमति के अपराध को क्षमा कर के ऐसी कृपा कीजिए कि फिर मेरी ऐसी कुबुद्धि कभी न हो ॥८॥

**सुबोधिनी—**एवं शिक्षार्थतामुपपाद्य कदाचिज् ज्ञानवत्त्वेन कृतं कर्म चित्तेपराधत्वेनैव भासेतातस्तन्निषेधार्थं प्रार्थयति स त्वमिति, एश्वर्यमदेन प्लुतस्यात एव कृतांहसः कृतापराधस्य, उभयत्रापि हेतुस्ते प्रभावम-विदुषः, क्षन्तुमर्हसि, अथ भिन्नप्रक्रमेण मदीयानधमनि-विचार्य केवलोयं दीन इति भ्रान्त इति, यतस्त्वं प्रभुः, न हि प्रभोश्चेतसि क्षुद्रकृता भासन्ते मूढचेतसो म इतिवचनान् मोढयं सिद्धमेव, नन्वज्ञानं निर्वातितं शिक्षा

च कृता कातः परं क्षमा या कर्तव्येति चेत् तत्राह मंवं पुनर्भूविति, एतादृशी मतिः पुनर्माभूदिति, यदि भगवान् क्षमां न कुर्यात् मदपराध स्मरेत् तदा सत्यसङ्कल्प इति नित्यविषयज्ञान इति मदाश्रयोप्यपराध उत्पद्यते स्मरणे तु नोत्पद्यते साधनाभावात् पूर्वसाधनस्य निवृत्तत्वाच्च, यत ह्य मतिरसती सम्बन्धिनमप्यसति योजयत्यतस्त-न्निवृत्तिप्रार्थनोचितैव ॥८॥

**व्याख्यानार्थ—**इस प्रकार भगवान् ने जो कुछ किया, वह शिक्षा के लिए ही किया है—यह निरूपण कर के ज्ञान से भी किया हुआ कार्य चित्त में कदाचित् अपराध रूप से भासमान-(प्रतीत)-हो जाए तो अब इस सन्देह की निवृत्ति के लिए—‘स त्वं’—इस श्लोक से प्रार्थना करता है । मैं ऐश्वर्य के मद से फूल गया । इसी से मुझ से अपराध बन गया । ऐश्वर्य मद और अपराध—इन दोनों का कारण यह है कि मैं आपके प्रभाव को नहीं जानता था, प्रभो, आपके माहात्म्य को न जानने वाले मुझ अज्ञानी के अपराध को क्षमा करिए । दूसरे प्रकार से भी क्षमा प्रार्थना करता है कि आप प्रभु (सर्वसमर्थ) हैं, इस लिए मेरे अधर्म पर विचार न करके और मुझे निरादीन तथा भ्रान्त बुद्धि वाला समझ कर क्षमा कीजिए, क्योंकि स्वामी—(प्रभु)—क्षुद्र पुरुषों के किए दोषों (अपराधों) को तनिक भी मन में नहीं लाते हैं । स्वयं मूढ चित्त वाला स्वीकार करने से मूढता सिद्ध ही है ।

यदि यहां ऐसी शंङ्का हो, कि भगवान् ने अज्ञान की निवृत्ति करके शिक्षा भी कर दी । अब क्षमा करने की बात बचा बाकी रही ? इस के उत्तर में प्रार्थना करता है, कि मेरी ऐसी बुद्धि फिर से न होवे । यदि भगवान् क्षमा न करें और मेरे अपराध का स्मरण किया ही करें तो सत्य संकल्प तथा नित्यविषयज्ञान वाले भगवान् के स्मरण मात्र से मेरे में रहा हुआ अपराध भी उत्पन्न होता ही रहे । सत्यसङ्कल्प भगवान् जिस विषय का स्मरण करते हैं, वह तत्काल उपस्थित होजाता है । इस लिए क्षमा न करें और मेरे अपराध का स्मरण करते रहें तो अपराध भी उत्पन्न ही होता रहे । यदि भगवान् मेरे अपराध का स्मरण नहीं करेंगे तो फिर वह उत्पन्न भी नहीं हो सकेगा; क्योंकि

भगवान् का स्मरण (करना) ही तो उसके (अपराध के) उत्पन्न होने का साधन है । जब साधन (स्मरण) ही नहीं होगा तो फिर वह उत्पन्न ही कैसे हो सकेगा । अपराध का पहला कारण ऐश्वर्य मद तो दूर हो ही चुका है । यह बुद्धि असती (दुष्ट) है, यह स्वसम्बन्धियों को भी असत् (बुरे) मार्ग में प्रवृत्त कर (लगा) देती है । इस से ऐसी दुर्बुद्धि की निवृत्ति की प्रार्थना उचित ही है ॥८॥

**श्लोक—**तवावतारोयमधोक्षजेह भुवो भराणामुरुभारजन्मनाम् ।

**चमूपतीनामभवाय देव भवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनाम् ॥९॥**

**श्लोकार्थ—**हे अधोक्षज देव, पृथ्वी के लिए स्वयं भाररूप हो रहे तथा पृथ्वी पर और अनेक पापरूप भार लादने वाले आसुरी प्रकृति के सेनापतियों का विनाश और आपके चरण सेवकों के कल्याण—(मोक्ष) के लिए ही आपने नर रूप से यह अवतार लिया है ॥९॥

**सुबोधिनी—**किञ्चैतदर्थमेव तवावतारो दुष्टा निराकर्तव्या अशक्यनिराकरणदोषाः स्वरूपतो न्ये तु दोषसम्बन्धादतो वयं निवार्यदोषा इत्यस्मद्दोषा एव निराकार्या न तु वयमित्यभिप्रायेणाह तवावतारोपमिति, विशेषेणायमवतारो भुवो भाररूपाणां चमूपतीनामभवाय युष्मच्चरणानुवर्तिनां भवाय, अन्ये त्ववतारा एकमेव कार्यं साधयन्ति भारनिराकरणं वा सद्रक्षां वा, कालभेदेन यद्येक एवोभयात्मकः स्यात् तदा द्वयमपि कर्तव्यं, इदानीमहं प्रपन्न इत्युद्भवोपि कर्तव्यो निग्रहस्तु कृत एवान्यथोभयार्थमवतारो न भवेद्, उभयार्थत्वे हेतुरधोक्षजेति, अधोक्षजं ज्ञानं यस्मादेतादृशो यः प्रकटो

जातः स उभयसम्पादनार्थमेव, एकैकं तु पूर्वमपि क्रियत इति, तत्रापीह गोकुले भुव उरुभारार्थमेव जन्म येषां जन्मकारणेषु भुवो दुःखार्थं जन्म स्वस्य तु नाशार्थं स्वयमेव भारभूता अधिकं च भारं जनयन्ति त्रीकारुद्धे-ध्वेतद् द्वयं पृथक् प्रसिद्धं, उरुभारस्य वा जन्म येषु, एतेन दोषत्रयमुपपादितं, भाररूपा उच्छृङ्खला भारजनका इति तादृशा अपि सेनापतयः, जननमात्रेणैव तन्नाश इत्यभवाद्येत्युक्तं यथान्धकारस्य सूर्योदये, देवेतिसम्बोधन-मतःपरं पूजार्थं, युष्मच्चरणमेवानुवर्तितुं शीलं येषां तेषामुद्भवाय मुक्तये वा संसाराभावाय वा संसाराय वा भवानेव तथा भवतीति ॥९॥

**व्याख्यानार्थ—**दुष्टों के निराकरण के लिए ही आपका अवतार है । दुष्ट दो तरह के हैं—एक तो स्वरूप से ही दुष्ट और दूसरे दोषसम्बन्ध से दुष्ट । इन में प्रथम स्वरूप से दुष्टों के दोषों का तो निराकरण ही ही नहीं सकता । दूसरे दोष के सम्बन्ध दुष्ट हुए हम लोगों के दोषों का ही निराकरण करना उचित है, हम लोग निराकरण (नाश) करने योग्य नहीं हैं—इस अभिप्राय से—‘तवावतारोयं’, यह श्लोक कहते हैं । आपका यह अवतार मुख्यरूप से भूमि के भारभूत सेनापतियों का विनाश और आपके चरणसेवकों का भव (स्थिति या कल्याण) के लिए है । अन्य अवतार तो एक ही—भार—निराकरण अथवा सज्जनों की रक्षा कार्य करते हैं । कोई एक ही पुरुष पहले दुष्ट हो और समय पाकर आप के चरणों का आश्रय ले ले तो उस पर आप को निग्रह और अनुग्रह दोनों ही करने चाहिए । अब मैं आप की शरण में आया हूँ । इस लिए शरणागत पर अनुग्रह कर्तव्य

है। निग्रह (दण्ड) तो आप कर ही चुके हो। यदि अब रक्षा नहीं करोगे तो आपके इस अवतार का निग्रह अनुग्रह दोनों के लिए होना सिद्ध नहीं होगा।

आप अधोक्षज हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञान आप से नीचा है, आप तक नहीं पहुँच सकता है। आप का यह अधोक्षजरूप से प्राकट्य उक्त दोनों कार्य के सम्पादन के लिए है। अर्थात् अधोक्षज रूप का कार्य तथा इस प्रकटरूप का कार्य दोनों कार्यों के लिए है। एक एक कार्य तो आपने पहले भी किया है, परन्तु यहाँ गोकुल में तो आप को ये दोनों ही कार्य करना है। पृथ्वी पर अधिक भार करने के लिए ही जिनका जन्म है, जिनके जन्म लेने के कारणों में पृथिवी को दुःखित करना और अपनी मृत्यु को निमन्त्रण देना ही एक कारण है। जैसे नाव में बैठा हुआ दुष्ट नाव में स्वयं भार रूप है और अपनी उच्छ्रंखलता से नाव को ड़िगमिगा कर उस में बैठे सभी जनों को व्याकुल तथा नाव के डूब जाने पर सभी का और अपना भी नाश कर देता है। अथवा अधिक भार का ही जिनमें जन्म है। इस प्रकार भाररूपता उच्छ्रंखलता और भार जनकता रूप तीनों दोषों से परिपूर्ण हो कर भी जो सेनाओं के नायक बने बैठे हैं उनका आपके प्राकट्य मात्र से ही सूर्य के उदय होने पर अन्धकार की तरह नाश हो जाता है। इसी से श्लोक में, 'अभवाय' (नाश के लिए) पद दिया है। श्लोक में—हे देव—इस सम्बोधन पद का अभिप्राय यह है, कि अब तो आप की देव रूप से पूजा करना चाहिए। जिन का शील-स्वभाव-आप के चरणों का अनुवर्तन करने का है उन को मुक्ति देने अथवा उन के संसार का प्रभाव करने किंवा उनके योग्य संसार के लिए आप ही वैसे-देव रूप-होते हो ॥६॥

**श्लोक—नमस्तुभ्यं भवते पुरुषाय महात्मने।**

**वासुदेवाय कृष्णाय सात्वतां पतये नमः ॥१०॥**

**श्लोकार्थ—**भगवान्, पुरुष, महान्, वासुदेव, श्री कृष्ण और यादवों के स्वामी आप के लिए बार बार नमस्कार हो ॥१०॥

सुबोधिनी—एव प्रार्थनामुक्त्वा क्षमापनार्थमेव नमस्यति नम इति, भगवदीयत्वाय वा, भक्तिमार्गं प्रकटीकुर्वन् सामान्यतो दशविधलीलायुक्तमाह नमो भगवत इति, आवेशादिपक्षव्यावृत्त्यर्थं तुभ्यमिति, योगं दृश्यते स एव भगवानिति, अनेनैव षड्विधा लीला निरूपिता स्थानादिनिर्गोचान्ता, पुरुषाय महात्मन इति कार्यकारणरूपाय, पुरुषः प्रथमतो महान् महत्तत्त्वं,

अन्तर्बहिर्वा साधकाय, वासुदेवायेति मोक्षदाता, कृष्णायेति फलं सदानन्दरूपत्वादाश्रयश्च, किञ्च न केवलं दशविधमेव लीलां करोत्यवतीर्णस्त्वधिकमपि करोतीत्याह सात्वतां पतये नम इति, यादवानामयं स्वामी, दशविधलीलावद् भक्तिरेकैव स्वतन्त्रेति पृथङ् नमस्कारः ॥१०॥

**व्याख्यानार्थ—**इस प्रकार प्रार्थना करके अपराध क्षमा कराने अथवा अपने भगवदीय भाव की सिद्धि के लिए नमस्कार करता है भक्ति मार्ग को प्रकट करता हुआ वह दशविध लीला युक्त भगवान् को नमस्कार करता है। तुभ्यं—सामने दर्शन दे रहे आपके लिए नमस्कार हो। तात्पर्य यह है,

श्लोक — स्वच्छन्दोपात्तदेहाय विशुद्धज्ञानमूर्तये ।

सर्वस्मै सर्वबीजाय सर्वभूतात्मने नमः ॥११॥

श्लोकार्थ—भक्तों की इच्छा को पूर्ण करने के लिए अवतार लेने वाले विशुद्ध चिद्रूप स्वरूप वाले सर्वरूप और सब के बीजरूप तथा सब प्राणियों की आत्मा चिद्रूप आप को नमस्कार है ॥११॥

सुबोधिनी—एवं परमार्थतो नमस्कारं कृत्वा मोहकलीलासहितमपि भगवन्तं लौकिकरसार्थं नमस्यति स्वच्छन्देति स्वा भक्तास्तेषां छन्द इच्छा तदर्थं तेषा-  
मिच्छापूर्त्यर्थमुपात्तो देहो येन, ते हि यथा भावयन्ति तथा रूपं करोति नटवदेव, रूपं तु विशेषेण शुद्धं चिद्रूपमेव तदाह विशुद्धज्ञानमूर्तये इति, ननु विशुद्ध-

स्याभिलषितरूपत्वं कथं ? तत्राह सर्वस्मा इति, सर्वरूप एव जातस्तत्राभिलषितरूपभवेन कः प्रयास इत्यर्थः, किञ्च सर्वबीजाय सर्वेषां कारणभूताय, अतोऽनन्तप्रकारेण भवति, अनेन सद्रूपतानन्दरूपताप्युक्ता, सत् सर्वमानन्दो बीजमिति, सर्वभूतानामात्मने चिद्रूपाय नमः, अतः

व्याख्यार्थ—इस प्रकार परमार्थतः भगवान् के परम (साक्षात्) स्वरूप को प्रणाम करके लौकिक रस के लिए मोहक लीला युक्त भगवान् को—‘स्वच्छन्दोपात्तदेहाय’—इस श्लोक से नमस्कार करता है । भक्तों की इच्छा को पूर्ण करने के लिए भगवान् ने देह धारण किया है । भक्तों की भावना के अनुसार आप नट की तरह रूप धारण करते हो । रूप तो आप का विशेषतया चित्स्वरूप ही है । आप सर्वरूप ही हुए हो इस कारण से आप का वह विशुद्ध चिद्रूप सभी अभिलषित रूपों का कारण है; क्योंकि सर्वरूप हुए आप को भक्तों का अभिलषित रूप धारण कर लेने में कुछ भी प्रयास नहीं है । आप सब के बीज-कारण भूत-हो, इस लिए अनन्त प्रकार के रूप धारण किए हुए हो । यहां ‘सर्वशब्द’ का अर्थ सत् और बीज शब्द का अर्थ आनन्द होने से सदानन्दरूपता का भी वर्णन किया है । सब भूत प्राणिमात्र के आत्मा और चिद्रूप आपके लिए नमस्कार है । इस कथन से यह सिद्ध हुआ कि,

लीला का वर्णन किया है और भगवत् शब्द से छः प्रकार की लीला का वर्णन यहीं ऊपर कर ही आए हैं । इस प्रकार मिलाकर आठ लीलाओं का निरूपण किया, (वासुदेवायेति मोक्षदाता)—वासुदेव पद से मुक्ति लीला और (कृष्णाय सदानन्दत्वादाश्रयश्च)—कृष्ण—‘सदानन्द’-पद से आश्रय लीला का निरूपण है । भक्तिरेकैव स्वतन्त्रेति पृथङ्-नमस्कारः—इन पदों का अभिप्राय कहते हैं । यद्यपि इस श्लोक में पहले एक बार कहे नमः शब्द से ही नमन सिद्ध था फिर भी—‘सात्वतां पतये नमः यहाँ ‘नमः’-पद की आवृत्ति से यह सूचित किया है कि दशविध लीलाओं की तरह एक भक्ति भी उद्धार कर देने में स्वतन्त्र है । यहां ऊपर भगवान् पद से छः प्रकार की लीलाओं के निरूपण में इशानुकथा रूप भक्ति का निरूपण हो जाने के उपरान्त भी फिर भक्ति के वर्णन से सूचित होता है, कि भक्ति उक्त सब लीलाओं की तरह ही स्वतन्त्र नहीं है, किन्तु सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है । जैसे प्रथम स्कन्ध में चौबीस अवतारों के वर्णन में कृष्णावतार वर्णन करके फिर भी अंशित्व और पूर्णता सूचित करने के लिए—कृष्णस्तु भगवान् स्वयं—कृष्ण का दुबारा निर्देश किया गया है । इसी तरह यहां भी दश विध लीला के अन्तर्गत वर्णित भक्ति से इस स्वतन्त्र भक्ति को भिन्न बताने के लिए (भक्तिका) दुबारा निर्देश है ॥१०॥

कारिका—सच्चिदानन्दरूपाय भक्तेच्छापूर्वकाय हि ।

शुद्धज्ञानस्वरूपाय फलसाधनरूपिणे ॥१॥

कारिकार्थ—इन्द्र सच्चिदानन्दस्वरूप भक्तों की इच्छा को पूर्ण करने वाले शुद्ध ज्ञानस्वरूप और फल तथा साधन रूप को

सुबोधिनी—नम इत्युक्तं भवति ॥११॥

व्याख्यार्थ—नमस्कार करता है ॥११॥

श्लोक—मयेदं भगवान् गोष्ठनाशयासारवायुभिः ।

चेष्टितं विहिते यज्ञे मानिना तीव्रमन्युना ॥१२॥

श्लोकार्थ—मेरी पूजा का नाश देख कर मुझ अभिमानी को प्रचण्ड क्रोध हो आया था । इसी लिए मैंने मूसल धार जल की वर्षा और प्रचण्ड पवन तथा ओलों से व्रज को नष्ट कर डालने की चेष्टा की ॥१२॥

सुबोधिनी—स्वापराधं प्रकटीकरोति मयेदमिति, को वेद भगवान् न विचारयतीत्यन्यथा कालान्तरे विशेषपर्यालोचनायामपराधं भावयेदतः कथयति, इदं वृष्ट्यादिरूपं गोष्ठनाशयासारवायुभिर्मया चेष्टितं यज्ञे विहित इति निमित्तं वस्तुतस्त्वस्मिन्नेव यज्ञे मया भुवतं न पूर्वं कदापि भगवता भुक्तमिति हस्तेन भुक्तमित्यतो यज्ञे विहित एव, तथाप्यभिमानादन्यथाङ्गीकृतं तदाह

मानिनेति, ननु तृप्तिः कथं न प्रतिबन्धिका जाता ? तदाह तीव्रमन्युनेति, शीघ्रमेव क्रोध उत्पन्नोतो जातापि तृप्तिर्विस्मृतेति, अन्यथा गोष्ठनाशे कश्चित् किं प्रवर्तते ? गवामुपजीव्यत्वात् सुतरां ममोपजीव्याः, भगवन्नितिसम्बोधनं स्वस्य दासत्वस्थापकं, इदानीं निदुष्टत्वस्थापकं वा ॥१२॥

व्याख्यार्थ—इन्द्र 'मयेदं' इस श्लोक से अपने अपराध को प्रकट करता है । कौन जानता है कि भगवान् अपराध का विचार नहीं करते हैं । यदि भगवान् ने कालान्तर में—(कभी)—अपराध का स्मरण कर लिया तो विशेष शिक्षा की आशङ्का कर के, स्वयं ही अपनी कृति का वर्णन करता है ।

योजना—व्याख्या में—सद्रूपता—आदि पदों का अभिप्राय कहते हैं । सर्व पद से भगवान् की सद्रूपता का वर्णन किया है क्योंकि सद्रूप से अश रूप से भगवान् सर्व रूप हैं । आनन्द सब का बीज है इस से बीज पद से भगवान् की आनन्द रूपता कही है क्योंकि \* श्रुति में सब की, आनन्द से ही उत्पत्ति कही है । सर्वभूतात्मपद से भगवान् की चिद्रूपता का वर्णन किया है । इस सारे अर्थ का सार—सच्चिदानन्द रूपाय—इत्यादि कारिका में संगृहीत किया है ॥११॥

\* आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।

गोकुलवासियों के द्वारा मेरे यज्ञ का भङ्ग कर देने से, मैंने गोष्ठ-(गोकुल)-का नाश कर देने के लिए वर्षा वायु आदि से चेष्टा की थी। वास्तव में तो, मैंने और भगवान् ने इसी अन्नकूट यज्ञ में भोजन किया है; पहले कभी नहीं खाया क्योंकि भगवान् ने इसमें भुजा (इन्द्र) से भोजन किया है। इस कारण से यह अन्नकूट यज्ञ वेद विहित ही है। अभिमान से मैंने विपरीत मान लिया था। शङ्का-जब इस अन्नकूट यज्ञ में भोजन कर के इन्द्र भी तृप्त हो गया, तो उस तृप्ति ने जल और ओले बरसाने से इन्द्र को क्यों नहीं रोका ? इसके उत्तर में कहते हैं कि शीघ्र ही प्रचंड क्रोध के उत्पन्न हो जाने से उस हुई तृप्ति को मैं सर्वथा भूल गया। यदि ऐसा न हो (भूल न जाय) तो गोष्ठ का नाश करने में कोई क्यों प्रवृत्त हो। ब्रजवासी जन गायों के रक्षक हैं, इस कारण मेरे भी वे सेव्य हैं। श्लोक में-'भगवन्'-इस सम्बोधन पद से इन्द्र अपने दास भाव अथवा अपनी निर्दुष्टता को सूचित करता है ॥१२॥

श्लोक—त्वयेशानुगृहीतोस्मि ध्वस्तस्तम्भो हतोद्यमः ।

ईश्वरं गुरुमात्मानं त्वामहं शरणं गतः ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे ईश्वर ! आपने मेरे अभिमान का ध्वंस कर दिया—यह मुझ पर बड़ा ही अनुग्रह किया है। मेरे सारे प्रयत्न व्यर्थ हो गए। अब मैं ईश्वर, गुरु और आत्मा रूप आप की शरण आया हूँ ॥१३॥

सुबोधिनी—तथापि स्वामिनानुग्रहः कृत एवेत्याह । अपि क्रुध्यति तथा सति तेषां नाश एव स्यादत त्वयेति, ईशत्वादानुग्रहकरण, न ह्युपजीवकेषु क्रुद्धेषूपजो- । एवानुगृहीतोस्मि, गोवर्धनधारणेन मान एव हतो न

योजना—'मयेदं'-श्लोक की व्याख्या में-न कदापि पूर्वं भगवता भुक्तम्, 'हस्तेन भुक्तम्'-इत्यादि ग्रन्थ का आशय यह है, कि नन्दजी युक्ति से ही इन्द्रयाग करते आरहे थे, वह वेद विहित नहीं था। इस से, उस में भगवान् ने और भगवान् की भुजा रूप होने से इन्द्र ने भी कभी भोजन नहीं किया था। यह अन्नकूट उत्सव भगवान् का बताया हुआ होने से, वेद विहित हो गया। इस में भगवान् ने भोजन किया है और भोजन श्री हस्त से किया है, इस लिए हस्त रूप इन्द्र (मैंने) भी अभी इसी अन्नकूट में ही भोजन किया है। इस से यह सिद्ध हुआ, कि वह इन्द्रयाग युक्ति पूर्वक होने से वेदविहित नहीं था। इस कारण से वह यज्ञ ही नहीं था। इस लिए उस का भगवान् के द्वारा विघात कर देने पर भी-वेदोक्त न होने से, उस में यज्ञत्व के अभाव से यज्ञ का विघात हुआ ही नहीं यज्ञ अविहित ही है।

जब इन्द्र याग का-यज्ञत्व न होने के कारण-यज्ञ नाश ही नहीं हुआ तो इन्द्र ने-'चेष्टितं विहते यज्ञे'-(याग भङ्ग होने से मैंने यह चेष्टा की) ऐसा क्यों कहा ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं, कि उस युक्ति कल्पित अवैदिक इन्द्र याग में मुझे (इन्द्र को) अपने याग का अभिमान था। इस से इस (कल्पित) याग के भंग होने पर मैंने अपने यज्ञ का नाश होना मान लिया-यह अभिप्राय है ॥१२॥



त्वहं हत इति मानहतिमेवाह ध्वस्तस्तम्भ इति, स्तम्भो  
गर्वोऽन्यता ध्वस्तो यस्य, तत्र हेतुहंतोऽयमिति, तथापि  
न मम लज्जा यतस्त्वमीश्वरो गुरुरात्मा च लोकतो

वेदतोऽनुभवतश्च त्वच्छिक्षायां नापमानं भवतीत्यतस्त्वां  
शरणं गतः, यथोचितं विधेयमिति भावः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—तो भी स्वामी भगवान् ने मुझ पर अनुग्रह ही किया । यह इस, 'त्वया'—श्लोक से कहता है । ईश्वर होने के कारण, भगवान् अनुग्रह करते हैं । सेवकों के क्रोध करने पर भी स्वामी तो उन पर क्रोध नहीं करते हैं । यदि स्वामी (भगवान्) उन पर कुपित हो जाए तब तो सेवकों का नाश ही निश्चित है । सेवक की रक्षार्थ ही आपने मुझ पर अनुग्रह किया है । गोवर्धन पर्वत को धारण कर के आपने मेरे गर्व अनन्यता को ही दूर किया मेरी तो रक्षा ही की है । वर्षादि के द्वारा नाश करना रूप मेरा प्रयत्न निष्फल हो गया है तब भी मुझे लज्जा नहीं है क्योंकि आप ईश्वर, गुरु और आत्मा हैं । लोक, वेद और अनुभव से भी मैं इस विषय में लज्जित नहीं हूँ, क्योंकि आपके द्वारा दी गई शिक्षा में मेरा कुछ भी अपमान नहीं है । मैं आपके शरण में आया हूँ, जो आप उचित समझें, करें—यह भाव है ॥१३॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—एवं सङ्कीर्तितः कृष्णो मघोना भगवानमुम् ।  
मेघगम्भीरया वाचा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥१४॥

श्लोकार्थ—इन्द्र ने जब इस प्रकार भगवान् की स्तुति की तब भगवान् कृष्ण ने हँसते हँसते मेघगर्जन के समान गम्भीरवाणी से उसे यों कहा ॥१४॥

आभास—तदा प्रसन्नो भगवांस्तस्य मनःपीडां दूरीकृतवानित्याहैवमिति चतुभिः;

आभासार्थ—इन्द्र की की हुई स्तुति को सुन कर भगवान् ने प्रसन्न हो उस के मन की पीड़ा को दूर किया—यह—'एवं'—इत्यादि चार श्लोक से कहते हैं ।

कारिका—उपक्रमः कृतं चैव हेतुश्चापि तथाकृतौ ।

प्रसादश्चेति भृत्याय भगवान् स्वयमुक्तवान् ॥१॥

कारिकार्थ—इन चार श्लोकों में प्रथम, 'एवं' इत्यादि प्रथम श्लोक से भगवान् के अनुग्रह का—शुकदेवजी ने—उपक्रम किया है । 'मया' इत्यादि दूसरे श्लोक से भगवान् ने अपने द्वारा किए इन्द्र याग के भङ्ग का वर्णन किया है । 'मामैश्वर्यं', इत्यादि तृतीय श्लोक से इन्द्र-याग भंग करने का कारण बतलाया है और 'गम्यतां शक्र' इत्यादि चौथे श्लोक से भगवान् ने अपने सेवक इन्द्र पर कृपा करने का निरूपण किया है ।



सुबोधिनी—एवं पूर्वोक्तप्रकारेण सङ्कोतितः कृष्णः | वाचा तस्य तापं शमयन् ग्रहसन् मोहयन्निदं वक्ष्यमाण-  
फलात्मा मघोनेन्द्रेण पूर्णः सर्वतो भगवान् मेघगम्भीरया | मन्त्रवोत्, अत एवाग्रेपि तस्य मोहः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—इन्द्र के द्वारा इस प्रकार स्तुति किए गए परिपूर्ण ऐश्वर्यादि षड्गुणसम्पन्न भगवान् फलात्मा कृष्ण ने मेघगर्जन के समान गम्भीर वाणी से उस के ताप को दूर करते हुए हँस कर उसे मोहित करते हुए इस प्रकार कहा । भगवान् के हँस कर मोहित करने के कारण से ही इन्द्र को आगे भी मोह होगा ॥१४॥

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

श्लोक—मया तैकारि मघवन् मखभङ्गोनुगृह्णता ।

मदनुस्मृतये नित्यं मत्तस्येन्द्रश्रिया भृशम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा—हे इन्द्र ! तुम अपने इन्द्र पद के ऐश्वर्य के मद से भतवाले—(अत्यधिक उन्मत्त)—हो गए थे । तुम नित्य मेरा स्मरण करते रहो—इसीलिए मैंने तुम्हारे यज्ञ का भङ्ग किया है ॥१५॥

सुबोधिनी—स्वकृतमाह ष्येति, काकतालीयव्या- | ममानुस्मृतिरेवानुग्रहः, यागभङ्गाभावेनुस्मृतिर्षं स्यादिति,  
वृत्त्यर्थं स्वकृतं ज्ञापयति हे मघवन्ननुगृह्णता मया | हेतुमाह नित्यमिन्द्रश्रिया मत्तस्येति ॥१५॥  
मखभङ्गोकारि, अनुग्रहमेवाह मदनुस्मृतये इति,

व्याख्यार्थ—भगवान् अपने कृत कार्य का वर्णन स्वयं,—‘मया ते’—इस श्लोक से करते हैं । हे इन्द्र यह तुम्हारे याग का भङ्ग काकतालीय न्याय से (काकस्यागमनं तालस्य पतनं) कौश्रे का आना और ताल का गिरना) अकस्मात् ही नहीं हो गया है, किन्तु तुम्हारे ऊपर कृपा करके ही मैंने ऐसा किया है । मेरा अनुग्रह यही है कि तुम्हें मेरा स्मरण सदा बना रहे, तुम मुझे कभी न भूलो । यदि मैं तुम्हारे याग का इस तरह भङ्ग नहीं करता, तो तुम्हें मेरी अनुस्मृति नहीं होती । क्योंकि तुम तो नित्य अपने (इन्द्र के) वैभव में मदोन्मत्त थे । फिर मेरा स्मरण कैसे होता ॥१५॥

श्लोक—मामैश्वर्यश्रीमदान्धो दण्डपाणिं न पश्यति ।

तं भ्रंशयामि सम्पद्भूचो यस्य चेच्छाम्यनुग्रहम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—जो ऐश्वर्य और लक्ष्मी के मद से अन्धा हो रहा है, वह दण्ड देने वाले मुझ ईश्वर को नहीं देख पाता । ऐसे मदान्धों में से जिस पर मैं अनुग्रह करना चाहता हूँ, उसे ऐश्वर्य और सम्पत्ति से भ्रष्ट कर देता हूँ ॥१६॥



सुबोधिनी—नाप्येतत् त्वया प्रार्थनीयं ममैवायं सहजो धर्म इत्याह मामेश्वर्येति, ऐश्वर्यं श्रीश्रान्ततराभावे न मदः पुष्टो भवतीतरमापेक्षत्वात्, न ह्येकाक्षि- विकलोन्धो भवत्यत ऐश्वर्येण श्रिया च यो मदस्तेनान्धः दण्डपाणि घातकमपि मां न पश्यति, अतस्तु सम्पद्भ्यो भ्रंशयामि शिक्षार्थमवश्यं मारणीयः, तदैव मारणे शिक्षा भवति यदि जानीयादतो जानार्थं सम्पद्भ्यो भ्रंशयाम्यन्यथानुग्रहो न भवेत्, इयं साधारणी व्यवस्था, विशेषमप्याह यस्य चेच्छाम्यनुग्रहमिति, यस्य चानुग्रह-

मिच्छामि, अयमनुग्रहं प्राप्नोत्विति विषयं बुद्धिभ्रंशो भवतीत्यतिवाते दीपवद् विषयं रनुग्रहोपि न स्थिरो भवति, अल्पेनैव कार्यसिद्धौ महाननुग्रहो न कर्तव्यो तो यथाल्पेनैव कार्यं भवति तदर्थं सम्पद्भ्यो भ्रंशयामि, तदनन्तरमनुग्रह इति पूर्वमिच्छं वोक्ता, अत्रत्यः क्रमो ग्रे वक्तव्यो “यस्यानुग्रहमिच्छामी”त्यत्र, अतः शिक्षार्थं प्रसादार्थं चैश्वर्यभ्रंशः कार्यते, अत एकदेश एव स कृतो यागमात्रेश्वर्यनिराकरणात् ॥१६॥

व्याख्यार्थ—इस विषय में तुम्हारे प्रार्थना करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह तो मेरा स्वाभाविक धर्म है यह, 'मामेश्वर्य' इस श्लोक से कहते हैं । ऐश्वर्य को लक्ष्मी की और लक्ष्मी को ऐश्वर्य की परम्परा अपेक्षा होने के कारण से, ऐश्वर्य और लक्ष्मी दोनों के ही होने पर मद पुष्ट होता है । इन में केवल एक के ही होने पर मद की पुष्टि नहीं होती । जैसे एक आंख से विकल (काणा) अन्धा नहीं कहा जाता दोनों नेत्रों के अभाव में ही अन्धा कहलाता है, इसी तरह ऐश्वर्य और श्री-दोनों के मद से अन्धा जो हो जाता है वह हाथ में दण्ड धारण करके हनन-(नाश)-करने वाले मुझ व भी नहीं देखता है । इस से उस की सम्पत्ति-(लक्ष्मी)-का नाश कर देता हूँ, क्योंकि शिक्षा के लिए दण्ड अवश्य देना ही चाहिए ।

मारने पर भी, शिक्षा तब ही लगती है जब कोई समझे । इस लिए उस को समझ पड़ने-(ज्ञान होने)-के लिए मैं उस की सम्पत्ति का नाश करता हूँ । यदि ऐसा नहीं करूँ तो उस पर मेरा अनुग्रह नहीं होवे-यह एक साधारण व्यवस्था कृपा करने की है । विशेष व्यवस्था को कहते हैं, कि जिस पर मैं अनुग्रह करना चाहता हूँ, अर्थात्, यह मेरी कृपा को प्राप्त करे-(ऐसी इच्छा करता हूँ) उस को निर्धन करता हूँ, क्योंकि विषयों से बुद्धि का नाश हो जाता है । तब जैसे प्रचण्ड हवा में दीपक नहीं ठहरता उसी तरह से विषयों से अनुग्रह भी स्थिर नहीं रह सकता है । इसी से विषयों के कारण भूत वैभव का नाश करता हूँ । जब थोड़े से ही कार्य सिद्ध हो, तब विशेष-(महान्) अनुग्रह करना आवश्यक नहीं होता । इसी तरह से थोड़ी कृपा से कार्य सिद्ध करने के लिए पहले उस की लक्ष्मी का नाश करता हूँ । पीछे अनुग्रह होता है । इसी लिए पहले इच्छा का वर्णन किया । यहाँ बतलाया हुआ यह इच्छा और अनुग्रह का क्रम आगे यस्यानुग्रहमिच्छामि' इस श्लोक में कहा जाएगा । इस लिए शिक्षा और कृपा के लिए ऐश्वर्य का नाश किया जाता है । यहाँ तो केवल इन्द्र याग रूप ऐश्वर्य का निराकरण वर्णन से, केवल एक का ही निरूपण है ॥१६॥

श्लोक—गम्यतां शक्र भद्रं वः क्रियतां मेनुशासनम् ।

स्थीयतां स्वाधिकारेषु युक्तैर्वः स्तम्भवर्जितैः ॥१७॥

श्लोकार्थ—हे इन्द्र ! तुम अपने लोक को जाओ, तुम्हारा कल्याण हो । तुम सब

लोक पाल-दिवपाल-अपने ऐश्वर्य का अभिमान छोड़ कर मेरी आज्ञा पालन करते हुए अपना अपना काम करो ॥१७॥

सुबोधिनी—अतस्त्रैलोक्यमवशिष्टमस्तीति तदर्थं गच्छेत्याह गम्यतामिति, अत्र शिक्षामात्रमेव ज्ञापनीयं, तदल्पेनापि भवतीति न सर्वैश्वर्यं भङ्गः, तदाह शक भद्रं च इति, इन्द्रत्वमग्रे स्वास्थ्यं च प्रयच्छति, अन्यथा भक्तिर्वा तन्नाशयेत् भक्तापकारित्वात्, भगवद्वाक्यात् तु न नाशः, अग्रे मोहाभावायाह क्रियतां मेनुशासनमिति, मदाज्ञाकरणे न मोहः स्यादिति, इन्द्रद्वारा सवनिवा-

जापयति प्रधानत्वात् स्वाधिकारेषु स्थीयतां वो गुप्ताक-मेव सम्बन्धिषु, यत्र यस्याधिकारः स तत्र तिष्ठत्वित्यर्थः, युस्तेरित्याज्ञायां योजितैः पर तथापि स्तम्भो मास्तु, अनन्तरयाज्ञापि न कर्तव्या, न हि कृतिमात्रेण भगवांस्तुष्यत्यपि तु नम्रत्वसहितया, एवमाज्ञापितोपि पूजां कर्तुं विलम्बमानो जातः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—हे इन्द्र तुम्हारे केवल याग का ही भङ्ग-(नाश)-किया । त्रिलोक के अधिपति तो तुम अभी बने हुए ही हो इस लिए तुम जाओ, यह 'गम्यतां'-इस श्लोक से कहते हैं । यहाँ तुम्हें केवल शिक्षा ही देना अभिष्ट था और वह शिक्षा का ज्ञान तुम्हें थोड़े से दण्ड से हो करा दिया (हो गया) इस से तुम्हारे सभी ऐश्वर्य का भङ्ग नहीं किया है-यह कहते हैं, कि-हे इन्द्र ! तुम्हारा कल्याण हो-इस प्रकार भगवान् इन्द्र के इन्द्रपन का भङ्ग न करते हुए उसे स्वास्थ्य का दान भी करते हैं । यदि स्वास्थ्य दान भगवान् न करते तो उनके भक्तों का अपराध करने से, भक्तों और गोपों में रही भक्ति ही इन्द्रपन का नाश कर देती । भगवान् के-'भद्रं वः' (तेरा कल्याण हो) वाक्य से उसके इन्द्रत्व का नाश नहीं हुआ । आगे मोह न हो-इस लिए कहते हैं कि मेरी आज्ञा का पालन करो, जिससे आगे मोह नहीं होगा । इन्द्र सारे दिवपालों में प्रधान है-इस कारण से इन्द्र के द्वारा सभी अधिकारी देवों को, आज्ञा देते हैं कि तुम सब अपने अपने अधिकार पर रहो जहाँ जिस का अधिकार है उन अपने अपने सम्बन्धी अधिकारों ही काम करो । मेरी आज्ञा का पालन करो और अपने अधिकार ऐश्वर्य का अभिमान मत करो । नम्र न हो कर तो आज्ञा पालन नहीं करना चाहिए, क्योंकि भगवान् केवल आज्ञा पालन से प्रसन्न नहीं होते हैं, नम्रतापूर्वक किए हुए आज्ञापालन से ही वे मनुष्ट होते हैं । भगवान् के द्वारा-इस प्रकार जाने की आज्ञा दिया हुआ भी इन्द्र-भगवान् की पूजा करने के लिए-जाने में विलम्ब करने लगा ॥१७॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—अथाह सुरभिः कृष्णमभिनन्द्य मनस्विनी ।

स्वसन्तानैरुपामन्त्र्य गोपरूपिणमोश्वरम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेव जी कहते हैं--इस के बाद, मानवती कामधेनु ने अपनी सन्तानों के साथ गोप रूप भगवान् कृष्ण चन्द्र के निकट आकर उनका अभिनन्दन कर के कहा ॥१८॥

सुबोधिनी—एवमिन्द्रप्रसादमुक्तवा कामधेनुः प्रसादार्थं तदभिषेकः प्रस्तूयतेत्येति, अयमभिषेको नेन्द्राद्यभिषेकवत् स्वतन्त्रतया कर्तुं शक्यते भगवतो हीनभावात् प्रार्थनया तु कर्तुं शक्यो हीन भावेनैव लीलायाः क्रियमाणत्वादतः प्रार्थनार्थमादौ स्तोत्रं कृतवतीत्याहायेति, अथेन्द्रवाक्यानन्तरं सुरभिः कामधेनुः कृष्णमग्निमन्त्रं साधु गोरक्षा कृतेन्द्रश्च साध्वनुगृहीतोयमप्यस्मत्पुत्रप्राय इति, स्वयमपि मनस्विनी महामानवती सम्माननपात्रमतो भगवांश्चेन्न मानयेत् मत्क्रियमाणम-

भिषेकं नाङ्गीकुर्यात् तदा न जीविष्यामीतिनिबन्धयुक्ता सर्वत्रार्थे निबन्धः कारणीय इति स्वसन्तानर्गोभिः सहोषामन्त्र्य निकटे सम्मन्त्रणं कृतवाह य इन्द्रोपकरोति सोस्माकमिन्द्रो मा भवतु न हि वयं भवानिव निरभिमाना यतो वयं मनस्विन्यः, ननु कथमेव घाष्ट्यं कर्तुमिच्छसि न हि सर्वेश्वर इन्द्रो भवितुमर्हति, तत्राह गोप रूपिणमिति, स ह्यस्मान् पाति लोकवत् पालकास्तूपसजंजीभूताः, यत्र स्वत एतावदवलम्बते तत्रास्मतुक्तमैश्वर्यं कथं न स्वीकरिष्यति ॥१८॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार इन्द्र पर की गई भगवान् की कृपा का वर्णन कर के, कामधेनु पर भी कृपा करवाने के लिए भगवान् पर कामधेनु कृत अभिषेक और स्तुति का वर्णन, 'अथाह' इस श्लोक से करते हैं। यह अभिषेक इन्द्रादि के अभिषेक की तरह स्वतन्त्र रीति से नहीं किया जासकता, क्योंकि यहाँ भगवान् का-गोपरूप से-हीनभाव है। भगवान् यहाँ हीनभाव से ही लीला कर रहे हैं। प्रार्थना से संगति ग्रहण करके तो, अभिषेक किया जा सकता है। इस कारण प्रार्थना करने के लिए पहले स्तुति, 'अथाह' करती है। इन्द्र के वाक्यों के बाद कामधेनु ने-प्रभो आपने गायों की रक्षा की, मेरे पुत्रों के ही तुल्य इस इन्द्र पर भी कृपा की-यह बड़ा ही उपकार किया-इस प्रकार भगवान् का अभिनन्दन किया।

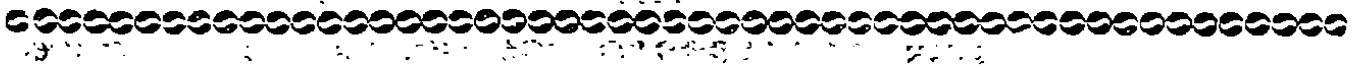
कामधेनु स्वयं मनस्विनी-(महामानवती)-तथा सम्मान करने योग्य है। इस लिए वह ऐसा दृढ संकल्प किए हुई है कि यदि भगवान् उस के किए अभिषेक को स्वीकार न करें तो वह जीवित न रहेगी। उस का ही केवल ऐसा आग्रह नहीं है। किन्तु सभी को ऐसा आग्रह करना चाहिए-इस अभिप्राय से उसने वह अपनी सन्तान गायों के साथ निकट में मन्त्रणा करके कहा, कि गोकुल का अपकार करने वाला इन्द्र हमारा इन्द्र न रहे। हे प्रभो ! हम आप की तरह अभिमान रहित नहीं हैं हम तो महामानवती हैं।

शङ्का—भगवान् कदाचित् यह कहें कि-ऐसी घृष्टता क्यों करती हो, मैं तो सबका ईश्वर हूँ, केवल इन्द्र ही होकर कैसे रहूँ-तो इस के उत्तर में कहती है, कि-गोप रूपिणम्-आप हमारे पालक है। लोक में जैसे पालक पाल्य गायें आदि का अनुसरण करते हैं इसी तरह लीला में भी पालक आप पाल्यो (हम गायों) का अनुसरण करते हो। इस लिए जब आप इस प्रकार गौण पालक भाव धारण कर रहे हो तो हमारे किए ऐश्वर्य-इन्द्र रूप से अभिषेक-को स्वीकार क्यों नहीं करोगे ? स्वीकार करोगे ही ॥१८॥

॥ सुरभिश्वाच ॥

श्लोक—कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वसम्भव ।

भवता लोकनाथेन सनाथा वयमच्युत ॥१९॥



श्लोकार्थ—सुरभि ने कहा—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगी ! हे विश्व रूप ! और विश्व को उत्पन्न करने वाले जगन्नाथ अच्युत भगवान् आप से ही हम सब सनाथ हैं ॥१६॥

सुबोधिनी—किञ्च पूर्वमप्ययं इन्द्र ईश्वरो यज्ञ इन्द्रो जात इत्यैश्वर्यमेतदीयमेवेत्यतो नास्माभिरलौकिकं किञ्चित् सम्पाद्यते किन्तु विद्यमानमेव लोके प्रकटीक्रियतेतो युक्तमेवाभिषेचनमिति विज्ञापयितुं स्तुतिमाह कृष्ण कृष्णेति द्वाभ्यां, आदरे वीक्ष्वा, योग्युपायविन् महायोग्यलौकिकोपायकर्तान्यदेव करोत्यन्यत् सम्पाद्यत इन्द्रेण क्लेशं प्रापित एव ज्ञातोपीन्द्रमेव क्लेशं प्रापितवान्, अथ वा महायोगिनो लीलार्थं प्रवृत्तस्य न किञ्चिदनुचितमुचितं वात् इन्द्रत्वमपि गृह्यतामित्यभिप्रायः, किञ्च

विश्वात्मा त्वं, अनेन प्रमेयोत्कर्ष उक्तः, पूर्वणैव साधनोत्कर्षः, विश्वस्यापि सम्भवो यत्रेतिप्रमाणोत्कर्षः, फलोत्कर्षं वक्तुं तस्य स्वस्मिन् पर्यवसानमाह, भवतैव लोकनाथेन सर्वलोकरक्षकेण वयं सनाथा न त्विन्द्रेण घातकत्वात्, किञ्च प्रतिमन्वन्तरं भिन्न एवेन्द्रोतोव्यवस्थितत्वात् कालपरिच्छेदात् स्वभावतस्तस्य जीवस्यापि नियम्यत्वात् भवानेव लोकनाथः, अत एव वयं सनाथाः, यो हि जीवयति स एव नाथः “स वै पतिः स्यादि”तिन्यायेन, भवानच्युतश्च ॥१६॥

व्याख्यार्थ—यह तो पहले भी इन्द्र था, ईश्वर और यज्ञ में इन्द्र हुआ था । इस लिए ऐश्वर्य तो इस इन्द्र का ही है । हम कुछ भी अलौकिक—(नई)—बात नहीं कर रही हैं । अतः इन्द्र रूप से किया जाने वाला अभिषेक उचित ही है । इस कारण को विज्ञापन करने के लिए—कृष्ण कृष्ण—इत्यादि दो श्लोकों से भगवान् की स्तुति करती हैं । आदर से—कृष्ण कृष्ण—यह सम्बोधन दो बार किया है । उपाय जानने वाला योगी और अलौकिक उपाय का करने वाला महायोगी होता है । महायोगी के किए एक ही काम के फल, भिन्न भिन्न होते हैं । जैसे यहाँ गोकुल पर घोर बात वर्षा से इन्द्र का क्लेश देना जान कर भी भगवान् ने परिणाम में उसी को क्लेश प्राप्त कराया ।

‘महायोगिन्’ सम्बोधन का दूसरा अभिप्राय यह भी है, कि लीला में लगे हुए महायोगी के लिए अनुचित उचित कुछ नहीं होता, महायोगी को सब फबता है । इस लिए हमारे इन्द्र पद को भी आप ग्रहण करिए । आप विश्व के आत्मा हो । इस ‘विश्वात्मन्’, सम्बोधन से प्रमेय का उत्कर्ष सूचित किया है । सब साधनों में योग के मुख्य साधन होने से, पूर्वकथित, ‘महायोगिन्’ सम्बोधन पद से साधन का उत्कर्ष वर्णित है । सारे विश्व का सम्भव भी आप से ही है । विश्व के अन्तर्गत वेद भी आजाते हैं, इस से वेदों के कर्ता और विश्व के आर्धार भी होने के कारण, ‘विश्व सम्भव’ सम्बोधन पद से प्रमाण की उत्कर्षता कही है । फल के उत्कर्ष का वर्णन सुरभि स्वयं अपने में ही करती है, कि सारे लोकों के रक्षक आप से ही हम सनाथ हैं, इन्द्र से हम सनाथ नहीं हैं । इन्द्र तो हमारा घातक है । दूसरी बात यह भी है कि इन्द्र तो प्रत्येक मन्वन्तर में बदलता रहता है, वह व्यवस्थित नहीं है और स्वभाव से यह जीव है, इस कारण से, वह तो नियम्य है, नियामक नहीं है । इन्द्र तो वास्तव में वही है, जो सबका नियामक है । इस लिए आप ही लोक नाथ हैं, आप ही हमारे नाथ हैं आप से ही हम सनाथ हैं । इन्द्र तो न लोक नाथ ही है और न हम उस से सनाथ ही हैं । रक्षा करने में समर्थ ही, उचित पति होता है । इस लिए जीवन दान देने वाले आप ही नाथ हैं । आप अच्युत हैं, आपकी सामर्थ्य में कभी अभाव होता नहीं है । सदा एक रूप हैं ॥१६॥

श्लोक—त्वं नः परमकं देवं त्वं न इन्द्रो जगत्पते ।

भवाय भव गोविप्रदेवानां ये च साधवः ॥२०॥

श्लोकार्थ—आप ही हमारे परमदेव हो । हे जगत् के स्वामी ! आप ही हमारे इन्द्र हो । इसलिए आप गायों, ब्राह्मणों, देवताओं और भगवद्भक्तों के भी अभ्युदय और रक्षा करने वाले हों ॥२०॥

सुबोधिनी—एवं नाथत्वमुपपाद्य देवत्वमुपपादयति त्वं न इति, त्वमेव नोस्माकं गवां परममुत्कृष्टं देवमस्माकं भाग्यरूपोपि त्वमेवास्माकं नियामकश्च, अस्मासु क्रीडतीन्द्रात् पृथक्कृत्वास्मान् विजयतेस्माभिव्यवहरत्यस्माकं कान्तिस्तत एवास्माभिः स्तूयते चास्माकं च तत एव सौन्दर्यं गतिरपि सर्वातो भवानेव देवः, किञ्च न केवलं देवमात्रं किन्तु देवेन्द्रोपि भवानेव त्वं न इन्द्र

इति, परमैश्वर्यं नान्यस्यास्ति जगत्पतित्वाभावात्, यो ह्यन्तर्बर्हिर्नियामकः स पतिरतो जगत्पतित्वात् त्वमेवेन्द्रोतो गोविप्रदेवानां हविर्मन्त्रहविर्भुजां भवायोद्भवाय भव यज्ञपरिपालको भव, एवं पूर्वकाण्डानुवृत्तिनां तत्प्रतिपाद्यधर्मस्योद्भवजनकत्वं प्रार्थयित्वा निवृत्तिपराणां भगवद्भक्तानां चोद्भवभाव भवेति प्रार्थयति ये च साधव इति, तेषामपि भवाय भवेति योत्रना ॥२०॥

व्याख्यानार्थ—इस प्रकार भगवान् नाथ हैं—इस का उपपादन करके आप हमारे देव भी हैं यह—‘त्वं नः’ इस श्लोक से कहते हैं । आप हम गायों के उत्कृष्ट देव हो, हमारे भाग्यरूप भी और नियामक भी आप ही हैं । † आप हमारे मध्य में क्रीड़ा करते हो, इन्द्र से हमें अलग कर के हमारा विजय करते हो, हमारे साथ व्यवहार करने वाले और हमारी कान्ति (शोभा) हो । इसी लिए हम आप की स्तुति करती हैं । हमारी सुन्दरता और सारी गति रूप आप ही हो । इस कारण आप देव हैं । आप केवल देव ही नहीं है, किन्तु देवेन्द्र भी आप ही हैं, क्योंकि परम ऐश्वर्य सम्पन्न केवल आप ही हैं और आप ही जगत् के भीतर, बाहर नियामक होने से पति हैं । जगदीश होने के कारण से आप ही हमारे इन्द्र हो । इस लिए आप यज्ञ का (घृत, दधि, दूध द्वारा) मुख्य साधन गायें, मन्त्रवेत्ता ब्राह्मणों, और यज्ञ भोक्ता देवों के रक्षक हों । यज्ञ के परिपालक बनें ।

इस प्रकार कर्मकाण्ड में प्रदर्शित धर्म का आचरण करने वालों के पूर्वकाण्ड में बताए गए धर्म की रक्षा के लिए प्रार्थना करके आगे निवृत्ति परायण भगवद्भक्तों की रक्षार्थ प्रार्थना करती हैं । साधु-भगवद्भक्तों की रक्षा करने वाले भी आप हों ॥२०॥

श्लोक—इन्द्रं नस्त्वाभिषेक्ष्यामो ब्रह्मणा नोदिता वयम् ।

अवतीर्णोसि विश्वात्मन् भूमेर्भरिापनुत्तये ॥२१॥

श्लोकार्थ—हे विश्व की आत्मा ! आप ने भूमि के भार को दूर करने (उत्तारने)—के



लिए अवतार लिया है । ब्रह्मा जी की प्रेरणा से हमारे इन्द्र रूप से मैं आप का अभिषेक करूँगी ॥२१॥

सुबोधिनी—किञ्चानभिषिक्तः शास्त्रत इन्द्रो न भवत्यभिषेकस्य संस्काररूपत्वात्, अभिषेके तु कृते नान्यः पतित्वं मन्यतेन्यथा मोहादयः कश्चिन् मन्येत, नन्विन्द्राधिकाराभिषेके ब्रह्माधिकृतः कथमन्येनाभिषेक इति चेत् तत्राह ब्रह्मणेति, ब्रह्मा स्वयं लज्जते कथं स्वस्वामिनं गवामिन्द्रपदेभिषेक्षामीति, अयुक्तश्च भवत्यस्माकं तु युक्तं, हीनोपि महान्तं पतित्वेन वृणुते, सम्मत्यर्थं

ब्रह्मप्रार्थना तेन च प्रेरिता वयं, भगवदधिष्ठितासु गोषु सर्वोत्कृष्टं हविर्भवेदित्यतः शीघ्रं प्रेरितवान्, शीघ्र-प्रेरणायां हेतुरवतीर्णोसीति, भूभारहरणार्थमवतीर्णः शीघ्रं भूभारं हत्वा तिरोभवेदतः शीघ्रं गवामिन्द्रः कर्तव्य इति, हीनतादूषणं तु नास्ति विश्वात्मकत्वाद् व्यापिवैकुण्ठादधः समागतः पदान्तरं च प्राप्नोत्यत इन्द्रत्वमुचितम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—अभिषेक एक संस्कार है, इस लिए अभिषेक बिना शास्त्रानुसार इन्द्र (पति) नहीं होता है । अभिषेक होजाने के बाद फिर दूसरा कोई अपने को पति नहीं मानता है । यदि अभिषेक नहीं किया जाए तो मोह से चाहे कोई अपने को पति मान बैठे ।

शङ्का—इन्द्र के अधिकार का अभिषेक करने का अधिकार तो केवल ब्रह्माजी को ही है, तब अन्य—(कामधेनु)—ने अभिषेक कैसे किया ? इसके उत्तर में कहती हैं कि आप तो स्वभाव से इन्द्र हो ही, फिर भी ब्रह्माजी की प्रेरणा से, हम आप का गोकुल नाथ—(पति)—रूप से अभिषेक करती हैं । अपने पति—(स्वामी) को गायों के पति—(इन्द्र)—हीन पद पर अभिषेक करने में ब्रह्माजी को लज्जा आई । इस कारण से वे स्वयं नहीं आए । स्वयं हीन हम तो अपने से महान् आप का पति रूप से अभिषेक कर सकती हैं । इस कार्य में सम्मति के लिए हमने ब्रह्माजी से प्रार्थना की थी । तब उन ने हम को इस कार्य में प्रेरित किया है ।

ब्रह्माजी ने भी यह सोच कर कि—‘भगवदधिष्ठित गायों में हवि (होम द्रव्य—दूध घी) सब से उत्कृष्ट होगा—हमें शीघ्र प्रेरित कर दिया । ब्रह्माजी के द्वारा हमें आप का अभिषेक करने की शीघ्र प्रेरणा देने का एक यह भी कारण है, कि आपने पृथ्वी के भार को उतारने के लिए अवतार लिया है । अतः शीघ्र ही पृथिवी के भार को दूर करके आप तिरोहित हो जाएँ, अपने अक्षर धाम में पधार जाएँ । इस लिए जल्दी से, गायों के इन्द्र रूप से, अभिषेक कर देना चाहिए । अखिल पति होकर केवल गायों के पति रूप से आपका अभिषेक करने से आप में हीनता दोष नहीं आसकता, क्योंकि आप तो विश्व रूप हो रहे हो और व्यापि वैकुण्ठ से नीचे पधार कर दूसरी स्थिति को प्राप्त हो ही रहे हो । इस लिए हमारे इन्द्र होना (बनना) आप को उचित ही है । आप स्वभाव से तो इन्द्र हैं ही अभिषेक से भी मैं आपको इन्द्र करूँगी ॥२१॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—एवं कृष्णमुपामन्य सुरभिः पयसात्मनः ।

जलैराकाशगङ्गाया ऐरावतकरोद्धत ॥२२॥

**श्लोकार्थ—**श्री शुकदेवजी कहते हैं कि कामधेनु ने इस प्रकार भगवान् का आमन्त्रण करके (पूछ कर) अपने दूध से और ऐरावत हाथी की सूँड से लाए आकाश गङ्गा—मन्दाकिनी के जल से अभिषेक किया ॥२२॥

सुबोधिनी—एवं प्रार्थनां कृत्वाभिषेकं कृतवतीत्या-  
हैवमिति, फलरूपमपि देवतात्वेनोपामन्याङ्गीकृते  
भगवत्सम्बन्धः, भगवतोङ्गीकारे दया  
हेतुरिति वदन्तस्या अभिषेकावश्यतामाह सुरभिरिति,  
सुराद् विभेतीति सुरभिः, देवा एव तां भक्षयन्ति किं  
पुनर्देवेन्द्रोतो भगवन्तं शरणं गच्छन्ती व्याजेनेन्द्राभिषेकं  
कृतवत्यत एव ततः प्रभृति सर्ववेदसिद्धोपि गोवधो निवृत्त  
उपपातकत्वं तद्वधे महापातकादध्यधिकविगानं च, प्रथमतः

आत्मनः पयसा दुग्धेनाभ्यषिञ्चत एव तदिन्द्रियं जात-  
मिन्द्रं यातीति, ततो जलाभिषेकोपि जात इत्याह  
जलैरिति, आकाशगङ्गा नित्या या शिशुमारे प्रसिद्धा,  
तन् नित्यं जलं तत्तरणादेव तारकात्वं, आकाशगङ्गा  
चोदरत इत्युपपादितं, ऐरावतो गजस्तस्य करोभिषेके  
प्रशस्तः, तथा सति पुष्करजलत्वमापद्यते, तत्सम्बन्धेपि  
जलं नोपहतं भवति प्रत्युत पवित्रमेव, अन्यस्य तत  
उद्गारोऽशक्य इति तथोक्तम् ॥२२॥

**व्याख्यानार्थ—**इस प्रकार प्रार्थना करके कामधेनु ने भगवान् का अभिषेक किया, यह 'एवं कृष्णमुपामन्य'—इस श्लोक से कहते हैं। फल रूप भी भगवान् का देवता रूप से उपामन्त्रण करके भगवान् के स्वीकार कर लेने पर, अभिषेक किया—ऐसा सम्बन्ध है। भगवान् की स्वीकृति में दया को कारण बतलाते हुए अभिषेक की आवश्यकता को कहते हैं कि वह सुरभि है, देवों से वह डरती है। देव भी उसे खा जाते हैं, तो देवेन्द्र उसका भक्षण कर ले, तो इस में कहना ही क्या है। इसलिए भगवान् के शरण जाती हुई वह बहाने से उनका इन्द्र रूप से अभिषेक करने लगी। इसी कारण से, सब वेदों से सिद्ध भी गोवध उसी समय से बन्द होगया। वह उप पातक (अल्पपाप) माने जाने लगा और उस के वध में महा पातकों से भी बढकर—(अधिक)—निन्दा होने लग गई।

पहले अपने दूध से अभिषेक किया। इस से, वह दूध इन्द्रिय—इन्द्र के योग्य शक्ति वाला और इन्द्र को प्राप्त होने वाला हुआ। फिर जल से भी अभिषेक किया। आकाश गङ्गा शिशुमार चक्र के उदर में प्रसिद्ध है, जिस का पंचम स्कन्ध में वर्णन आचुका है। वह और उस का जल भी नित्य है। उस के जल में तैरने से ही तारा कहे जाते हैं। ऐरावत हाथी की सूँड अभिषेक करने में उत्तम गिनी जाती है। हाथी की सूँड को पुष्कर कहते हैं और पुष्कर एक महा तीर्थ प्रसिद्ध है। इस श्लेष से हाथी की सूँड का जल पुष्कर तीर्थ के जल के समान पवित्र होजाता है। हाथी की सूँड के सम्बन्ध से जल अपवित्र नहीं होता किन्तु परम पवित्र हो जाता है। ऐरावत के अतिरिक्त आकाश गंगा के जल को कोई और ला भी नहीं सकता। इसीलिए ऐरावत का लाना कहा है ॥२२॥

**श्लोक—**इन्द्रः सुरर्षिभिः साकं प्रहितो देवमातृभिः ।

अभ्यषिञ्चत दाशार्हं गोविन्द इति चाम्यधात् ॥२३॥

**श्लोकार्थ—**देवर्षि नारदादि के साथ देव माता अदिति आदि अथवा श्रद्धा आदि



की आज्ञा से इन्द्र ने भक्तों की रक्षा करने में समर्थ भगवान् का अभिषेक किया और उनका गोविन्द नाम रखा ॥२३॥

सुबोधिनी—एवं तस्याभिषेकसमय एकदेशभूतास्ते देवा ब्राह्मणाः अप्यभिषेकं कृतवन्त इत्याहेन्द्र इति, सुरर्षिभिर्नारदादिभिः सहित इन्द्रस्तेर्वा यथेष्टं प्रेरितो देवमातृभिः सहितोदित्यादिभिः श्रद्धादिभिर्वा, सर्वसम्मत्या सर्वैरेव सहिता सुरभिरिन्द्रश्च दाशार्हं सेवकरक्षणक्षमं रक्षणपरं वान्यषिञ्चत् नामान्तरं च धारितवतीत्याह गोविन्द इति चाभ्यधादिति, गवामिन्द्रः, अत्रामृतबीजस्य

वकारस्य मध्य उपादानं “भूवादय” इतिवत्, रन्प्रत्ययो नात्रोपात्तः, रुद्धिजनकत्वेन धात्वर्थस्य गौणत्वापादकत्वादतोच्प्रत्ययान्त एव निर्दिष्टः, स तु धात्वर्थपर एव भवतीति गोविन्द इत्येव शब्दः साधुर्न तु गवेन्द्र इति, चकारादिन्द्रेन्द्रो देवेन्द्रः सुरभीन्द्र इत्यादिनामान्यपि स्वस्वनामपुरःसरं सर्वैर्धृतानि, तेन ब्रजेन्द्रो गोपेन्द्र इत्याद्यपि भवति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कामधेनु ने अभिषेक किया, तब एक ओर स्थित देवों और ब्राह्मणों ने भी भगवान् का अभिषेक किया । वह, ‘इन्द्रः’, इस श्लोक से कहते हैं । देवर्षि नारदादि के साथ अथवा नारदादि के द्वारा प्रीति से प्रेरित इन्द्र ने देव माता अदिति आदि अथवा श्रद्धा आदि के साथ सब की सम्मति से सभी के साथ सुरभि और इन्द्र ने सेवकों की रक्षा करने में समर्थ तथा सदा पालन करने वाले भगवान् का अभिषेक किया और गोविन्द (गायों के इन्द्र) यह उनका दूसरा नाम प्रसिद्ध किया । गोविन्द शब्द में ‘भूवादयः’ (धातव) की तरह अमृत का बीज ‘वकार’ मध्य में दिया है । यह नाम रुद्धिजनक है, इस लिए धातु का अर्थ रुद्धि से गौण हो गया है । इसी कारण से यहां रन् प्रत्यय का प्रयोग न करके अन्त में धातु के अर्थ में अच् प्रत्यय से गोविन्द शब्द निष्पन्न-सिद्ध होता है । इस तरह गोविन्द शब्द ही रुद्धि से उचित है, गवेन्द्र नहीं है । श्लोक में आए ‘च’ अव्यय पद से, सबों ने अपने अपने नाम के आगे इन्द्र शब्द का प्रयोग कर के इन्द्रेन्द्र, देवेन्द्र, सुरभीन्द्र, इत्यादि नाम रखे इस से ब्रजेन्द्र, गोपेन्द्र आदि नाम भी प्रसिद्ध हैं ॥२३॥

श्लोक—तत्रागतास्तुम्बुरुनारदादयो गन्धर्वविद्याधरसिद्धचारणाः ।

जगुर्यशो लोकमलापहं हरेः सुराङ्गनाः सन्ननृतुर्मुदान्विताः ॥२४॥

श्लोकार्थ—तुम्बुरु, नारद आदि प्रधान गन्धर्व विद्याधर सिद्ध चारण आदि उस स्थान पर उपस्थित हो कर, सकल लोक के पाप को हरने वाले हरि के यश को गाने लगे । अप्सराएँ आनन्दमग्न होकर नृत्य करने लगीं ॥२४॥

लेख—इन्द्रः—इस श्लोक की व्याख्या में—यथेष्टं प्रेरितः—पदों का तात्पर्य यह है कि अपनी अपनी रुचि के अनुसार देवेन्द्र, सुरभीन्द्र आदि नाम प्रसिद्ध करने की प्रेरणा की । अदिति के अतिरिक्त दूसरी देव माता नहीं हैं, किन्तु श्लोक में—देव—मातृभिः—बहुवचन से श्रद्धा आदि का ग्रहण करने पर यह अर्थ है कि—शुभ आदि धर्म पुत्र और सत्व के परिणाम हैं । इसलिए वे शुभ आदि भी देव हैं ॥२३॥



सुबोधिनी—एवं भगवतोभिषेक उत्सववाद्यानि जातानीत्याह तत्रागता इति, तुम्बुरुमंध्यमः पूर्वमुभयात्मको निरूपित इति तुम्बुरुनारदश्चादिर्येषां, गन्धर्वा गायका विद्याधरा वादकाः सिद्धा अद्भुतप्रदशंकाश्चारणाः पुरुषनतंका एते सर्व एव भगवतो यशो जगुः, ननूत्सवे सर्वेभ्योभीष्टं देयं किं गानमात्रेणेति चेत् तत्राह

लोकमलापहमिति, सर्वेषां सर्वदुःखे निदानभूतं मलमेव दूरीकरोति, सुराङ्गनाश्च हर्षेणान्वित सम्यङ्ननूत्सुता हि कृष्णेन सह रमणोत्सुक्यो देवादिन्द्राश्च भीताः स्थिता अधुनेन्द्रत्वे सम्पन्ने यान्निवृत्ता आगमनं चावश्यकं जातमिति मुदान्विता जाता भावपूर्वकं च नृत्यं कृतवत्यो यथा च भगवान् वशे भवति ॥२४॥

**व्याख्यान्य**—इस प्रकार भगवान् का अभिषेक होने पर उत्सव सूचक बाजे बजने लगे । यह, 'तत्रागताः'—इस श्लोक से कहते हैं । मध्यम भी तुम्बुरु का नाम प्रथम लेने का तात्पर्य यह है, कि तुम्बुरु गायन और वादन दोनों गुण वाला है । तुम्बुरु नारद आदि गन्धर्व (गायक) विद्याधर (वादक) सिद्ध (विचित्र इन्द्र जाल दर्शक) और चारण (नृत्यकला कुशल)—ये सब वहाँ आकर (भगवान्) जीवों के सारे दुःखों का कारणभूत मलों (पापों) का नाश कर देने वाले भगवद्यश को गाने लगे । पापों का फल दुःख है । भगवान् के यश का गान करने से, वह केवल गान मात्र ही नहीं रहा, किन्तु सारे दुःखों के कारण मल का नाश हो जाने से, सब को ही अपने वाञ्छित फल की प्राप्ति होगई । अप्सराएँ अत्यन्त प्रसन्न होकर मनोहर नृत्य करने लगीं । वे भगवान् के साथ रमण करने को उत्सुक थीं, किन्तु देवों से डरती थी । अब जब भगवान् का इन्द्र रूप से अभिषेक हो गया, तो वे निर्भय हो गईं और इस अवसर पर उनका भी आना आवश्यक था । इसलिए वे आकर आनन्दमग्न हो भाव पूर्ण इस प्रकार नृत्य करने लगीं कि जिस से भगवान् उनके वशीभूत हो जाए ॥२४॥

**श्लोक**—तं तुष्टुवुर्देवनिकायकेतवो व्यवाकिरंश्चाद्भुतपुष्पवृष्टिभिः ।

लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवंस्त्रयो गावस्तदा गामनयन् पयोद्रुताम् ॥२५॥

**श्लोकार्थ**—प्रधान प्रधान देव गण भगवान् पर दिव्य पुष्पों की वर्षा करके उनकी स्तुति करने लगे । तीनों लोकों में परम आनन्द छा गया । उमङ्ग के मारे गायों के थनों से दूध की धाराएँ बह चली, जिससे पृथिवी भीग गई (दूध से गीली हो गई) ॥२५॥

**लेख**—तत्रागताः—इस श्लोक की व्याख्या में, 'मुदाताहि', इत्यादि पदों का तात्पर्य इस प्रकार है । 'मुदा' पद का दूसरा अर्थ कहा है कि वे अप्सरायें पहले श्रीकृष्ण के साथ ही स्थित थीं और अब मय गिट जाने से वे भली भाँति नृत्य करने लगीं । 'कृष्णरमणोत्सुक्यः' (श्रीकृष्ण के साथ रमण करने में उत्सुक) पद से उन की श्रीकृष्ण के साथ स्थिति का निरूपण किया है । अर्थात् उनके मन में श्रीकृष्ण पहले ही स्थित है । यहाँ, 'मुदा' पद की दो बार आवृत्ति अभीष्ट है, क्योंकि एक 'मुदा' पद तो आनन्द का वाचक होने से श्रीकृष्ण परक है । और द्वितीय—मुदा—पद नृत्य में उन की प्रसन्नता का बोधक है । इसी प्रकार—सनत्रतुः—पद में—सम्—उपसर्ग के भाव पूर्वक नृत्य और भगवान् को वशीभूत कर लेने वाला नृत्य—दोनों अर्थ अभिप्रेत (लिए गए) हैं ।

सुबोधिनी—इन्द्रत्वे जाते सर्व एव स्वर्गलोकः समागतस्तदा देवसमूहे ये केतव इवोन्नता देवोत्तमा ब्रह्मादयो मन्त्रा वेदा वा तं भगवन्तमिन्द्रं पुष्ट्वुः, अत एव वेद इन्द्रो महान् स्तूयते भगवानिन्द्रो जात इति, ननु प्राकृतानामिन्द्रत्व आधिदैविके “प्यर्धेन्द्राणि जुहो” तीति नोपपद्यत इन्द्रत्वेनार्धता भगवत्त्वेन तु

सर्वत्वं, अद्भुतपुष्पवृष्टिभिश्च विशेषेणावाकिरन् पुष्पवृष्टि कृतवन्तः, एवं दिविष्ठाना वाचनिक कायिक चोक्त, मानसिकमाह सर्वे लोकाः परां निर्वृतिमाप्नुवन्निति, त्रयोपि लोकाः परमानन्द प्राप्ताः, तदा गावोन्ता रसपूर्णा बहिर्गपि रस त्यक्तवत्य इत्याह गावस्तवा गां पृथिवीं पयोद्रुतां पयसा पिच्छिलामनयन् कृतवत्यः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् का इन्द्र रूप से अभिषेक होने पर सारा स्वर्ग लोक वहाँ आगया । देवों में ध्वजा रूप प्रधान प्रधान ब्रह्मादि देवोत्तमों अथवा देवोत्तमरूप मन्त्रात्मक वेदों ने इन्द्र रूप से भगवान् की स्तुति की । भगवान् स्वयं इन्द्र हुए हैं, इसी कारण से वेदों में इन्द्र की स्तुति प्रधान देव रूप से की जाती है । वेदों में इन्द्र शब्द यदि प्राकृत इन्द्र का वाचक हो तो आधिदैविक यज्ञ में आधे हविर्भाग का इन्द्र के लिए होम और आधे का सारे देवों के लिए हवन लिखना सङ्गत नहीं होता । इन्द्र शब्द भगवत्परक मानने पर ही आधा या सारा भाग दिया जाना, सभी सङ्गत हो सकता है । श्रुति ने भी अर्धभाग की अधिकता कह कर, इन्द्र का उत्कर्ष श्रीकृष्ण को लक्ष्य करके ही कहा है । भगवान् सर्वरूप हैं, सर्वशक्तिमान् और विरुद्ध सर्वधर्मों के आश्रय हैं इस लिए उनके इन्द्रत्व में तो कुछ भी असङ्गत नहीं है ।

ब्रह्मादि देवों ने विचित्र पुष्पों की-भगवान् के ऊपर-विशेष वर्षा की । इस प्रकार स्तुति और पुष्पवृष्टि के कथन से देवों की वाणी और शरीर की क्रिया या वर्णन करके, अब मानसिक क्रिया का वर्णन करते हैं कि तीनों लोक परम आनन्दित हो गए । हृदय में रस पूर्ण-(आनन्दित)-हुई गायों ने बाहर भी रस-(दूध)-से पृथिवी को कीचड़-मयी-(चिकनी)-कर दिया ॥२६॥

श्लोक—नानारसौघाः सरितो वृक्षा आसन् मधुस्रवाः ।

अकृष्टपच्यौषधयो गिरयो व्यसृजन् मणीन् ॥२६॥

श्लोकार्थ—नदियों में भाँति भाँति के रसों के पूर आगए । वृक्षों के कोटरों में से मधु फिरने लगा । बिना जोते-बोए अन्न उत्पन्न होने लगे । पर्वतों में खान के भीतर के रत्न बाहर निकल आए ॥२६॥

सुबोधिनी—सरितश्च नानारसानां घृतक्षीरादीना-  
मोघो यासां तादृश्यो जाता वृक्षाश्च मधुच्युत औषधयो  
ब्रीह्यादयः कर्षणव्यतिरेकेणैव पक्ता जाताः, अकृष्टपच्यश्च

ता औषधयश्च गिरयः पर्वताश्च स्वाभ्यन्तः-स्थितान्  
मणोन् व्यसृजन्, एवं स्यावरजङ्गमानां सर्वेषामेवोत्सवो  
निरूपितः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—नदियों में घी, दूध आदि अनेक भाँति के रसों के पूर आए । वृक्षों में से मधु फिरने लगा । औषधियाँ और धान्य बिना जोते बोए ही पकने लगे । पर्वत अपने भीतर खानों में छिपे रत्नों को बाहर निकालने लगे । इस प्रकार जड़-चेतन-सभी के उत्सव का निरूपण किया ॥२६॥

श्लोक—कृष्णोभिषिक्त एतानि सर्वाणि कुरुनन्दन ।

निर्वैराण्यभवंस्तात क्रूराण्यपि निसर्गतः ॥२७॥

**श्लोकार्थ—**हे कुरुनन्दन ! कृष्ण का अभिषेक होने के समय स्वभाव से ही आपस में बैर रखने वाले क्रूर जीवों ने भी बैर-भाव छोड़-दिया ॥२७॥

**सुबोधिनी—**तमुपसंहरन् पूर्वोद्वेग्यो भगवतीन्द्रे विलक्षणमाह कृष्णेभिषिक्त इति, सदानन्देभिषिक्ते सति स हि सर्वानभिषिञ्चति स्वानन्देन यदि सोऽप्यभिषिक्तः सर्वस्तदा महदाश्चर्यं जातमिति, एतानि परिदृश्यमानानि सर्वाण्येव निसर्गतोपि क्रूराणि शाश्वतिकविरोधयुक्तान्यपि

निर्वेराण्यमवन्, तदा शुक्स्तामवस्थां प्राप्तं पशून् पश्यन्नाहैतानीति, कुरुनन्दनेतिसम्बोधनं विश्वासाय सद्दशोत्पन्नस्यैव विश्वासो भवतीति, तातेतिसम्बोधनं स्नेहसूचकं तेनाप्रतारणापि सूचिता ॥२७॥

**व्याख्यार्थ—**अभिषेक वर्णन का उपसंहार करते हुए पहले के इन्द्रों की अपेक्षा भगवान् का इन्द्र रूप से अभिषेक होने पर, जो विलक्षणता हुई, उस का वर्णन-‘कृष्णेभिषिक्ते’-इस श्लोक से करते हैं । कृष्ण सदानन्द का अभिषेक होने पर, वह तो अपने आनन्द से सब को अभिसिञ्चन करने वाला होकर भी, सब के द्वारा अभिषिक्त होता है-यह बड़े-आश्चर्य की बात हुई । ये सब ओर दिखाई देने वाले, स्वभाव से ही क्रूर जीवों ने अपने जन्म सिद्ध बैर का त्याग कर दिया । उस समय शुकदेवजी भी-निर्वैर भाव की अवस्था (स्थिति) को प्राप्त करके पशुओं के विरोध को प्रत्यक्ष देखते हुए-‘एतानि’-इन्होंने बैर छोड़ दिया-ऐसा कह रहे हैं ।

कुरुनन्दन, यह संबोधन पद विश्वास के लिए कहा है; क्योंकि उत्तम वंश में उत्पन्न होने वाले का ही इसमें विश्वास होता है । तात, इस से स्नेह सूचित होता है जो इस चरित्र में निष्कपटता का बोध कर रहा है ॥२७॥

**श्लोक—**इति गोगोकुलपति गोविन्दमभिषिच्य सः ।

अनुज्ञातो ययौ शक्रो वृतो देवादिभिर्दिवम् ॥२८॥

**श्लोकार्थ—**इस तरह गोपों और गायों के स्वामी गोविन्द का अभिषेक करके, उनसे आज्ञा लेकर इन्द्र भी देवर्षियों के साथ अपने स्वर्ग लोक में चला गया ॥२८॥

**सुबोधिनी—**एवमभिषेकमहोत्सवमुक्त्वाभिषेककर्तुः स्वर्गप्राप्तिमाहेतीति, पूर्व गोगोकुलपतिमित्यमुना प्रकारेण गोविन्दं कृत्वाभिषिच्य स प्रसिद्धो भगवदनुगृहीतो वा

भगवतैवानुज्ञातो देवादयोत्र स्थास्यन्तीति सन्दिह्य तैवृतः सन् दिवं ययौ, भगवांस्तु स्वस्थान एव वर्तते इति नात्र प्रत्यापत्तिः कर्तव्या ॥२८॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिनीयां श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणे-  
वान्तरसाधनप्रकरणे षष्ठस्य स्कन्धादितश्चतुर्विंशोऽध्यायस्य विवरणम् ॥२३॥

**व्याख्यार्थ—**इस प्रकार अभिषेक के महोत्सव का वर्णन करके अभिषेक करने वाले इन्द्र का पुनः स्वर्ग को लौट जाने का वर्णन-इति-इस श्लोक से करते हैं । पहले ही से गायों और गोकुल के पति भगवान् का इस प्रकार गोविन्द रूप से अभिषेक करके वह प्रसिद्ध अथवा भगवान् के द्वारा अनुग्रहित इन्द्र उन (भगवान्) की आज्ञा लेकर देवादिकों के साथ पीछा स्वर्ग में चला गया । उसके मन में ऐसा संदेह हो गया, कि देवगण यहाँ भगवान् के पास ही रह जाएँ । इसलिए उन्हें इन्द्र ने अपने साथ ही ले लिया । भगवान् तो अपने ही स्थान में विराजते हैं । इसलिए आप के लिए पीछा लौटने का कोई प्रश्न ही नहीं है ॥२८॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वाध) २४ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी “संस्कृत टीका” के तामस साधन अवान्तर प्रकरण का छठा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाष्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## • श्रीमद्भागवत महापुराण •

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका ( हिन्दी अनुवाद सहित )

दशम स्कन्ध ( पूर्वार्ध )

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २८वां अध्याय

श्रीसुबोधिनी अनुसार, २५वां अध्याय

तामस-साधन-अवान्तर प्रकरण

‘सप्तमोऽध्याय’

वरुण लोक से नन्दरायजी को छुड़ा कर लाना

—०००००—

कारिका—पञ्चविंशे तु वरुणान् नन्दं मोचयिता हरिः ।

ततः सर्वान् स्ववैकुण्ठे नेष्यतीत्युच्यते फलम् ॥१॥

कारिकार्थ—इस पच्चीसवें अध्याय में हरि नन्दरायजी को वरुण के पास से छुड़ावेंगे । फिर सब को अपने वैकुण्ठ में लेजाएँगे । इस प्रकार अवान्तर--(गौण)--फल का वर्णन होगा ॥१॥

कारिका—अभिषेकश्च तैर्दृष्टो देवस्तोत्रादिकं श्रुतम् ।

ज्ञाते देवोत्तमत्वे तु द्रष्टव्यं पौरुषं परम् ॥२॥

कारिकार्थ—उन व्रजजनों ने भगवान् का इन्द्र कृत अभिषेक देखा और देवों के



द्वारा की गई भगवान् की स्तुति सुनी । जिस से वे जान गए कि भगवान् सब देवों में उत्तम हैं । तदनन्तर पुरुष सम्बन्धी सब से श्रेष्ठ महात्म्य का दर्शन होना चाहिए ॥२॥

कारिका—अन्यथा नन्दविज्ञानं भवेत् पर्यवसायि तत् ।

अतस्तन्निग्रहो वाच्यो वरुणस्तेन सेवकः ॥३॥

कारिकार्थ—यदि ऐसा न होता, तो नन्दरायजी को केवल इतना ही ज्ञान हो पाता कि श्रीकृष्ण केवल देवोत्तम नारायण का अंशरूप है । यह ज्ञान भक्तिमार्ग का विरोधी है । इस विरुद्ध ज्ञान के कारण ही श्री नन्दजी का निग्रह--(बन्धन)--कहना चाहिए । इस से वरुण ने भगवान् के सेवक का सा काम किया ॥३॥

कारिका—कालाद्युपासकश्चेत् स्याद् भगवत्सेवकः क्वचित् ।

ततः क्लेशमवाप्नोति कृष्णादेव च मुच्यते ॥४॥

कारिकार्थ—भगवान् का सेवक यदि कहीं कभी काल आदि का उपासक हो जाता है, तो वह क्लेश को प्राप्त करता है । उस भक्त को उस क्लेश से भगवान् ही मुक्त करते हैं ॥४॥

कारिका—ततो माहात्म्यविज्ञानं पूर्णं तस्य भविष्यति ।

ततश्चिन्तनमात्रेण भगवान् स्वपदं नयेत् ॥५॥

कारिकार्थ—तदनन्तर भक्त को भगवान् के पूर्ण महात्म्य का ज्ञान हो जाएगा । इसी से, केवल चिन्तन करते ही, भगवान् उस भक्त को अपने स्थान में ले जाते हैं ॥५॥

टिप्पणी—‘अन्यथा नन्दविज्ञानम्’—इत्यादि कारिका का तात्पर्य यह है, कि वरुण का ऐश्वर्य, वरुण का भगवान् के आगे दास भाव और नन्दरायजी को वरुण के पास से लोटा लाना, यह सब पुरुष सम्बन्धी उत्कृष्ट महात्म्य का द्योतक है । इस प्रकार का परम-उत्कृष्ट महात्म्य जान लेने पर ही, भगवान् के पुरुषोत्तम रूप का ज्ञान होता है । भगवान् यदि नन्दरायजी को अपने परमोत्कृष्ट महात्म्य का दर्शन नहीं कराते, तो वे पहले कि तरह ही भगवान् को केवल देवोत्तम नारायण का अंश ही मानते रहते । पुरुषोत्तम को इस प्रकार नारायण का अंशरूप जानना भक्ति मार्ग का विरोधी ज्ञान है । इस प्रकार के ज्ञान से, आगे भजनानन्द का अनुभव नहीं हो सकता है । नन्दरायजी का भगवान् के विषय में अभी तक ज्ञान, भक्ति मार्ग के विरुद्ध है । इसी कारण से, उनका निग्रह (बन्धन) कराना चाहिए और तब उन्हें अपने निरवधि अनन्त माहात्म्य और पुरुषोत्तम रूप का ज्ञान उत्पन्न

कराना चाहिए । ये दोनों कार्य भगवान् ने वरुण के द्वारा कराए । इसलिए भगवान् वरुण को सेवक रूप से मानते हैं ।

लेखः—प्रथम कारिका में—मोचयिता—यह 'तृन्' प्रत्ययान्त पद है । 'स्व-वैकुण्ठे नेष्यति' (अपने वैकुण्ठ में ले जाएंगे) । यद्यपि अभी भी यह लीला—'रमाक्रीडमभूत्'—के अनुसार—व्यापिवैकुण्ठ में ही हो रही है, तथापि जब भगवान् ने मानुषभाव ग्रहण किया, तब उस व्यापिवैकुण्ठ का भी लौकिक भाव हो गया था । अभी अर्जुन को अलौकिक स्वरूप के दर्शन की तरह इन्हे दिव्य वैकुण्ठ के दर्शन कराएंगे । नहीं तो नन्दरायजी श्रीकृष्ण को नारायण का अंश ही जान पाते । उन को भगवान् में पुरुषोत्तम रूप का ज्ञान नहीं होता ।

योजना—'उच्यते फलम्'—वैकुण्ठ में गोपों को ले जाना रूप गोण फल कहा जाएगा । 'पर्यवायि'—इत्यादि पदों का अभिप्राय लिखते हैं । इन्द्र कृत स्तुति और अभिषेक तथा देव आदि के दर्शन से श्रीकृष्ण को देवोत्तम जान लेने के बाद पुरुष सम्बन्धी उत्तम माहात्म्य का दर्शन करना चाहिए, जिस से भगवान् को पूर्ण पुरुषोत्तम जान सके । इन्द्र का दमन करना रूप सामर्थ्य देखने से तो भगवान् में केवल इन्द्रदमन की शक्ति होने का ही ज्ञान, सीमित ही ज्ञान होगा । इसलिए, 'परमोत्कृष्ट' सर्वेश्वर्य का ज्ञान कराने के लिए नन्दरायजी का निग्रह कहना आवश्यक है । इस श्री नन्दजी के बन्धन के वर्णन से वहाँ वरुण लोक में वरुण के पृथिवी पर कभी नहीं देखा ऐसे लोकोत्तर वैभव को देख कर और ऐसे वैभवशाली वरुण को भी श्रीकृष्ण के आगे दास भाव से शरण में आना देख कर नन्दरायजी को यह ज्ञान हुआ कि श्रीकृष्ण भगवान् सब से श्रेष्ठ हैं । (तेन सेवकः) इसलिए वरुण ने नन्दजी का बन्धन किया, नन्दजी ने वरुण के वैभव को देखा । इस वरुण—वैभव को देख कर नन्दरायजी के मन में भगवान् के परम वैभव को देखने की इच्छा हुई और तब भगवान् ने उन्हें वैकुण्ठ के दर्शन कराए । इस प्रकार, वरुण कृत बन्धन से इतना उपकार हुआ । इसलिए वरुण ने भक्त गोपजनों का उपकार किया । यह उपकार करके वरुण ने भगवान् के आगे अपना सेवक भाव प्रकट किया ।

कालाद्युपासकश्चेत्—से लेकर—'क्लेशमवाप्नोति'—तक कारिका के पदों का भाव यह है, कि भगवान् के सेवक श्रीनन्दजी ने द्वादशीरूप काल विशेष के उपासक होकर वरुण—सेवक द्वारा बन्धन रूप क्लेश उठाया ।

यहाँ इन पाँचों कारिकाओं का निष्कर्षार्थ लिखते हैं । इस २५ वें अध्याय में गोपों को वैकुण्ठ में ले जाना रूप अवान्तर (गोण) फल का वर्णन है । इन्द्र कृत अभिषेक, इन्द्रादि देवों का दर्शन, उनके द्वारा भगवान् की स्तुति का श्रवण, भगवान् का इन्द्र को शिक्षा देना, आदि के द्वारा इन्द्रदमनादि कार्य से भगवान् को गोपजनों ने देवोत्तम तो जान लिया, किन्तु आगे वरुण का ऐश्वर्य, उस ऐश्वर्यशाली वरुण का श्रीकृष्ण के आगे दास भाव, नन्दजी को वहाँ से ले आना रूप अलौकिक सामर्थ्य को देखकर, पुरुषोत्तम रूप से जानना है । यदि वरुण कृत स्तुति आदि को नन्दजी नहीं देख पाते, तो वे श्रीकृष्ण को प्रथम ज्ञान की तरह, नारायण का अंश ही माने रहते । पुरुषोत्तम का ज्ञान उनको नहीं होता । वह 'मन्ये नारायणस्यांशम्' श्रीकृष्ण को नारायण के अंश रूप से ज्ञान भक्तिमार्ग के विरुद्ध है । इस कारण से वरुण के द्वारा नन्दजी का निग्रह कहना आवश्यक है । वरुण भगवान् का सेवक है । इस प्रकार इस लीला से—भगवान् ने अपना अनन्त माहात्म्य का ज्ञान तथा भक्तिमार्ग के विरुद्ध नारायण का अंशरूप ज्ञान का निराकरण—दोनों कार्य करा दिए । इसलिए भगवान् वरुण को अपना सेवक मानते हैं । कालाद्युपासकश्चेत्—भगवान् का सेवक यदि द्वादशी आदि काल साधन, तत्पर हो जाता है, तो वह

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—एकादश्यां निराहारः समभ्यर्च्य जनार्दनम् ।

स्नातुं नन्दस्तु कालिन्ध्या द्वादश्यां जलमाविशत् ॥१॥

**श्लोकार्थ—**श्री शुकदेवजी ने कहा--हे राजन्, नन्दरायजी ने एकादशी के दिन निराहार व्रत रह कर मोक्षदाता जनार्दन भगवान् की पूजा की और द्वादशी के दिन बहुत ही थोड़ी द्वादशी होने के कारण (द्वादशी में ही पारणा करना चाहिए इस लिए) वरुणोदय से पहले ही--आसुरी वेला का विचार न करके--स्नान करने के लिए यमुना के जल के भीतर प्रवेश किया ॥१॥

**सुबोधिनी—**भगवतः सम्पूर्णमाहात्म्यज्ञानार्थं निरुद्धानां वैकुण्ठे गमनमुच्यते तदर्थं प्रथमं धर्मबुद्ध्या मर्यादायां प्रवृत्तस्य सर्वथा भगवन्तमभजतो नन्दस्यानर्थ-सम्बन्धमाहैकादश्यामिति, स हि विष्णुव्रतपरायणो धर्मेनिष्ठश्चान्यस्य माहात्म्यज्ञानं न स्यादिति तथोच्यते माहात्म्यज्ञापनार्थमेव नयनमतो न वरुणो निगृहीतः, एकादश्यां निराहारः सञ् जनार्दनं मोक्षदातारं सम्यग्भ्यर्च्य नन्दो व्रते स्वधर्ममपि कर्तुं वैष्णवं पक्षमाश्रित्य

वैदिकपक्षं त्यक्त्वाधर्मात्रसमये द्वादश्यां जातायां कालिन्ध्यां प्रवाहमध्ये जलमाविशत्, "मुहूर्तार्धविशिष्टायां द्वादश्यां पारणां प्रति निशीयात् सम्यगुत्थाय क्रियाः कुर्याद् यथोचितम् अग्निहोत्रादिकर्माणि तथा नैमित्तिकानि च आ मध्याह्नात् क्रियाः सर्वाः कर्तव्याः शम्भुचोदना" इतिवैष्णवधर्मविश्वासात् स्नातुं प्रवृत्तः ॥१॥

**व्याख्यानार्थ—**भगवान् के सम्पूर्ण माहात्म्य का ज्ञान कराने और भगवान् में निरोधप्राप्त भक्तों को वैकुण्ठ प्राप्ति का वर्णन करने के लिए प्रथम धर्मबुद्धि से मर्यादा में लगे, सर्वथा भगवान् का भजन न करने वाले नन्दरायजी के अनर्थ के सम्बन्ध का वर्णन-एकादश्यां-इस श्लोक से करते हैं। नन्दरायजी विष्णु के व्रत में परायण एवं धर्मेनिष्ठ हैं। दूसरे को भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान न हो-इस लिए ऐसा कहा है। माहात्म्य का ज्ञान कराने के लिए ही इन्हें वरुण के पास लेजाया गया है। इसी कारण से भगवान् ने वरुण का निग्रह नहीं किया। एकादशी का उपवास रह कर मोक्ष के दाता जनार्दन की विधिपूर्वक पूजा करके नन्दरायजी ने व्रत में अपने धर्म के भी अनुसार वैष्णव पक्ष का आश्रय करके वैदिक पक्ष को छोड़कर अर्धरात्रि के समय में द्वादशी के आजाने पर यमुनाजी के प्रवाह के भीतर जल में प्रवेश किया। वैष्णवधर्म में कहा है कि-आधा मुहूर्त बाकी रहने

श्री नन्दजी की तरह क्लेश पाता है और कृष्ण ही उस क्लेश में मुक्त करते हैं। इस प्रकार क्लेश दूर करके स्वमाहात्म्य का ज्ञान कराकर मनोरथ करते ही स्वपद वैकुण्ठ को लेजाने का वर्णन किया है ॥

॥ इति कारिकाार्थः ॥



पर द्वादशी में पारणा के लिए मध्य रात्रि में ठीक उठकर यथोचित क्रियाएँ करे । मध्याह्न तक अग्निहोत्रादि नित्य, नैमित्तिक कर्म कर लेने चाहिए-ऐसा शम्भु का आदेश है । इस वैष्णव धर्म के वचन पर विश्वास होने के कारण नन्दरायजी स्नान करने में प्रवृत्त हुए । जल में प्रवेश ही नन्दरायजी को अनर्थ से सम्बन्ध कराने वाला हुआ ॥१॥

**श्लोक—**तं गृहीत्वानयद् भृत्यो वरुणस्यासुरान्तिकम् ।

अविज्ञायासुरीं वेलां प्रविष्टमुदकं निशि ॥२॥

**श्लोकार्थ—**रात्रि में आसुरी वेला को न जान कर, स्नानार्थ जल में प्रवेश करने वाले नन्दरायजी को पकड़कर वरुण का सेवक वरुण के निकट ले गया ॥२॥

**सुबोधिनी—**तद्रक्षको वरुणस्य सेवकोन्यायं करो-  
तीति मत्वा वैष्णवधर्मापरिज्ञानात् तं बद्ध्वा नीतवानि-  
त्याह तं गृहीत्वेति, वरुणस्यैव भृत्यो वरुणस्यान्तिक-  
मनयत्, तस्य नयनेभिप्रायमाहाविज्ञायेति, सासुरी वेला

यस्तत्र धर्मं करोति तदसुरगामि भवतीममर्थं नन्दोज्ञात्वा  
जलं प्रविष्ट इति विज्ञायानयत्, वस्तुतोयमपि न जानाति  
तदग्रे वक्ष्यति वरुणो जानतेति ॥२॥

**व्याख्यार्थ—**वैष्णव धर्म को नहीं जानने वाला, उस जल का रक्षक वरुण का सेवक, इस को नन्दरायजी का अन्याय समझ कर, उनको पकड़कर वरुण के पास ले गया-यह इस-‘तं गृहीत्वा’-श्लोक से कहते हैं । वरुण का सेवक ही उनको वरुण के समीप ले गया । उस का, उन को ले जाने का, अभिप्राय यह था कि वह आसुरी वेला है और आसुरी वेला में किया हुआ धर्म कर्म असुरगामी-(आसुरी)-हो जाता है । इस बात को नन्दरायजी ने नहीं जानकर ही, जल में प्रवेश किया है । ऐसा मान कर, वह उन्हें, अपने स्वामी वरुण के पास ले गया । वास्तव में तो यह वरुण का सेवक भी अज्ञानी था । यह आगे सातवें श्लोक में कहा जाएगा ॥२॥

**श्लोक—**चुक्रुशुस्तमपश्यन्तः कृष्णारामेति गोपकाः ।

भगवांस्तदुपश्रुत्य पितरं वरुणाहृतम् ॥

तदन्तिकं गतो राजन् स्वानामभयदो विभुः ॥३॥

**श्लोकार्थ—**नन्दरायजी को जल से बाहर निकलते न देखकर गोप लोग कृष्ण और बलदेवजी को ऊँचे स्वर से पुकारने लगे । उनके उस करुण क्रन्दन को सुन कर और पिताजी को वरुण के द्वारा ले जाए गए जान कर, निजजनों को अभय दान करने वाले सर्व शक्तिमान भगवान् उस वरुण के निकट गए ॥३॥

सुबोधिनी—ततस्त मोचयितुं सर्वे गोपालाश्चक्रुः कृष्णरामेति, अकस्माज्जले प्रविष्टः पञ्चाश हृष्ट इति तं नन्दमपश्यन्तः सर्वावस्थानु सर्वकार्येषु चोपायान्तरमलभमाना भगवन्तमेव विज्ञापयन्ति यतो गोपका अल्पा गोपास्तदा भगवान् गृह एव स्थितः शयानो दूरादेव कृष्णरामेतिवचनमाकर्ण्य पिता वरुणेन हृत इति ज्ञात्वेत एव वरुणान्तिकं गतः प्रायेणोक्त्वा गतोऽन्यथा महद् भयं स्यात्, भगवान् निरोधलीलामेतदर्थं कृतवान् यत् सर्वकर्मसु स्वयं प्रविष्टस्तानि कर्माणि स्वकर्माणि कृत्वा तेभ्यस्तान् मोचयत्यन्यथैवं न कुर्यात् तत् साधनदशायां च वक्तव्यं, आवश्यकफले पूर्व कृते कर्मणि सति

कर्मणो निवृत्तत्वात् प्रवेशः सम्भवतीत्यतो वरुणस्यान्तिकं स्वयमपि गतः, अन्यथा वरुणमेवाकारयेन् नन्दं वा कर्षेत्, माहात्म्यं च ज्ञापनीयमतः स्वयमेव गतः, राजन्नितिसम्बोधनं राजधर्मं एतादृश इति ज्ञापयितुमनुपेक्षणीयाः सेवका इति, किञ्च स्वानामभयदो यदि शीघ्रं न गच्छेदिदानीं भक्तानां भयं न निवर्तते, विभुरिति सर्वप्रकारेणापि सर्वं कर्तुं समर्थः, न हि भूमावतीर्णोऽत्रैव किञ्चित् करोति नान्यत्रेति, अन्यथा लीलाया अन्ते तान् वैकुण्ठे न नयेदवतारान्तरवदत् कृष्णः सर्वत्र सर्वसामर्थ्ययुक्तः ॥३॥

व्याख्यानार्थ—तब उन-नन्दरायजी-को छुड़ाने के लिए सब गोप लोग-हे राम ! हे कृष्ण ! इस प्रकार जोर से आक्रन्दन करने लगे-यह-‘चुक्रुः’ इस श्लोक से कहते हैं । गोपों ने अकस्मात् जल में डूबे हुए नन्दरायजी को जल से बाहर निकलते नहीं देखा । सब स्थितियों और सब कामों में गोपों को जब कोई दूसरा उपाय नहीं सूझता है, तब वे भगवान् से ही प्रार्थना करते हैं, क्योंकि वे (गोपकाः) तुच्छ गोप हैं । तब घर में ही सोए हुए भगवान् उनके करुण क्रन्दन से पिताजी का वरुण के द्वारा पकड़ मँगवाना जान कर, वहाँ से ही वरुण के पास चले गए । वास्तव में गोपों से कह कर ही गए । बिना कहे जाने पर, तो गोपों को अत्यन्त भय बना रहता ।

भक्तों के सभी कार्यों में प्रवेश करके, उन कार्यों को अपने कार्य करके, उन को (भक्तों को) उन कार्यों से मुक्त करने के लिए ही निरोध लीला की है । यदि ऐसा नहीं होता, तो इस प्रकार नहीं करते । इस बात-(प्रसंग)-को साधन दशा, तथा इसी तरह से फल दशा में भी कहना उचित होता । पूर्वकृत कर्म का फल आवश्यक होता है, किन्तु उस कर्म के पूर्ण न होने पर, अर्थात् पूर्वकृत कर्म की निवृत्ति न होने से, उस में प्रवेश नहीं हो सकता । इसी कारण से, भगवान्-वरुण को अपने निकट न बुलाकर, अथवा, नन्दरायजी को ही वरुण के पास से न मँगवाकर-स्वयं ही वरुण के निकट गए । भगवान् को अपना माहात्म्य प्रकट करना है । इस लिए भी स्वयं ही गए । ‘राजन्’, इस सम्बोधन पद से, यह सूचित किया है, कि राज धर्म ऐसा ही है, जिस में सेवकों की उपेक्षा नहीं की जा सकती । भगवान् तो भक्तों के लिए अभय दान देने वाले हैं, यदि वे स्वयं शीघ्र नहीं जाते तो भक्तों के भय की निवृत्ति नहीं होती । श्रीकृष्ण विभु-सब-प्रकार से सब जगह सब कुछ करने में समर्थ हैं । पृथ्वी पर अवतार धारण करने से यहीं पर कुछ कर सकने की सामर्थ्य हो, ऐसा नहीं है । यदि ऐसी ही बात होती, तो अन्य अवतारों की तरह भगवान् कृष्ण भी इसी लीला के अन्त में गोपों को वैकुण्ठ में नहीं लेजाते । इस से सिद्ध हो जाता है, कि श्रीकृष्ण सर्वत्र सर्व सामर्थ्य युक्त हैं ॥३॥

लेख—‘चुक्रुः’-श्लोक की व्याख्या में-निरोधलीला-पद का तात्पर्य ‘अनुशयन’ लीला से है । साधन दशा, अर्थात् याग दशा ! फले अर्थात् वृष्टि दशा में । साधन दशा में प्रवेश का कारण, आवश्यक आदि पदों से कहा है ।

पहले तो प्रयोजन के न होने से प्रवेश नहीं किया और पीछे तो, कर्म की निवृत्ति हो जाने से वरुण के द्वारा नन्दरायजी का हरणरूप फल की दशा में ही प्रवेश किया। 'लीलाया-अन्ते' अर्थात् वरुण का निग्रह रूप लीला के अन्त में गोपों को बँकुष्ठ में ले गए।

**योजना—**'चुकुशुः'—इत्यादि श्लोक की व्याख्या में—तदन्तिकं गतः—इत्यादि का अभिप्राय कहते हैं। शङ्का—वरुण तो सेवक है। स्वामी भगवान् का स्वयं सेवक के घर पर नन्दरायजी को लाने के लिए जाना तो उचित नहीं है। फिर भगवान् का—वरुण को अपने पास न बुलाकर—उस के पास जाने का क्या कारण है? इसके समाधान में कहते हैं, कि भगवान् ने इन नन्द आदि गोपों के प्रयोजन की सिद्धि के लिए ही निरोध लीला की है, जिससे प्रपञ्च की विस्मृतिपूर्वक उनकी भगवान् में आसक्ति हो जाए। भगवान् ने भक्तों के लिए वरुण के घर जाने की लीला की; जिससे, नन्दरायजी आदि यह जान गए कि भगवान् उनके लिए स्वयं नहीं करने योग्य तथा अत्यधिक परिश्रमयुक्त कार्य को भी करते हैं। इस प्रकार के ज्ञान से उनकी भगवान् में ही अत्यन्त आसक्ति हो गई, यह अभिप्राय है।

भक्त गोपों को निरोधदानार्थ ही, भगवान् वरुण के पास गए थे। यह कैसे जाना जाए? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् कुमारिकाओं के व्रत कर्म, याज्ञिकों के यज्ञ कर्म, श्री नन्दजी के इन्द्र याग कर्म, आदि भक्तों के सभी कर्मों में स्वयं प्रविष्ट हो कर, उन उन कर्मों की सिद्धि के पदार्थों का स्वयं के लिए अङ्गीकार कराकर निरोद्धव्य भक्तों के कर्मों में पूज्यरूप से स्वयं प्रवेश करते हैं। अर्थात् उन उन अन्य देवों के लिए दिए जाने वाले पदार्थों को भगवदीय करने के लिए, इतने आग्रह से उन में पूज्य रूप से प्रविष्ट हुए हैं। इससे ज्ञात होता है, कि यहाँ भी निरोध प्राप्ति के योग्य भक्तों के लिए निरोध सिद्ध करने के लिए ही भगवान् वरुण के पास गए हैं। तानि कर्माणि स्वकर्माणि कृत्वा' अन्य देवों के लिए किए गए कर्म—भगवत्कर्म—अपने लिए कर लेते हैं। देखिए—कुमारिकाओं के प्रसङ्ग में कात्यायनी की पूजा में कात्यायनी के स्वरूप में भगवान् ने स्वयं प्रवेश करके अपनी पूजा करवाई, यजमान पत्नियों के द्वारा उनके पदार्थों का अपने लिए विनियोग कराया और इन्द्र याग के भङ्ग के प्रसङ्ग में, श्री गोवर्धन में रहने वाले स्वरूप से भगवान् ने सारी सामग्री को अंगीकार किया। इस प्रकार भक्तों के सभी कर्मों में भगवान् प्रविष्ट हो जाते हैं। इस कारण से, यहाँ भी यही जाना जाता है कि श्री नन्दरायजी को लाने के लिए भगवान् स्वयं वरुण के पास गए। 'तेभ्यः तान् मोचयति'—तात्पर्य यह है कि दूसरों के उद्देश्य से किए—कर्मों में भगवान् भक्तों को छुड़ाते हैं, क्योंकि, यदि भक्तों को अपना स्वकीय (भगवदीय) करने का प्रयोजन नहीं होता, तो भगवान् अन्य देवों के उद्देश्य से किए कर्मों में पूज्य भाव से प्रवेश न करके, उन में विघ्न ही करते। भगवान् यदि भक्तों के—अन्य देवताओं के उद्देश्य से किए—कर्मों में विघ्न करते, तो कभी कालान्तर में भक्त उन कर्मों को फिर भी करलेते। इस लिए अन्य देवों के स्थान में स्वयं भगवान् के प्रविष्ट हो जाने पर भक्त लोग सदा भगवत्कर्म ही—(अन्नकूट की तरह)—करते रहते हैं।

सब गोपों में नन्दरायजी मुख्य हैं। इस लिए मुख्य के द्वारा अन्य सभी व्रज वासियों को ज्ञान देने के लिए नन्दरायजी को मुक्त करने का वर्णन दो बार—साधन दशा और फल दशा में—किया है। यहाँ साधन दशा में द्वादशी के व्रत में वरुण के द्वारा किए उपद्रव से और फल प्रकरण में अम्बिकावनगमन के प्रसङ्ग में सुदर्शन सर्प से मुक्त करके, भगवान् ने नन्दरायजी को अन्य देवों के उद्देश्य से किए कर्मों से छुड़ाया है। तात्पर्य यह है, कि सुदर्शन सर्पजनित दुःख का नन्दरायजी ने अनुभव किया और उस दुःख से भगवान् ने उन को छुड़ाया। इस कारण से, फिर आगे नन्दरायजी ने भगवान् के सन्तोष के ही कर्म किए, और देवों के भजन को त्याग दिया।

श्लोक—प्राप्तं वीक्ष्य हृषीकेशं लोकपालः सपर्यया ।

महत्या पूजयित्वाह तद्दर्शनमहोत्सवः ॥४॥

श्लोकार्थ—भगवान् को आए हुए देख कर--(दर्शन करके)--अत्यन्त प्रसन्न हुए लोकपाल वरुण ने हृषीकेश भगवान् की बड़ी धूमधाम से पूजा की ॥४॥

सुबोधिनी—ततो यज् जातं तदाह प्राप्तं वीक्ष्येति, ननु पूजाय न वक्तव्या मोक्षयितुमेव गतोपकारिगृहे च पूजा न ग्राह्यातः कथं पूजां कृतवानित्याशङ्क्याह प्रकर्षणाप्तं समागतं भगवन्तं वीक्ष्य पूजयामास तत्र हेतुर्हृषीकेशमिति, इन्द्रियाधिपतिरयं, यदि न पूजयेत् तल्लोकभोगः पश्चात् तस्य न स्यात्, अनिवेदितभोगे दोषश्च स्यात्, यथा देवेष्विन्द्र एवं दैत्येषु वरुणः, यद्यत्रैव तां श्रियं गृह्णीयाद् दैत्या न हता भवेयुरतस्तत्रैव गत्वा गृहीतवान्यथा भिन्नसत्ताके जाताः पदार्था भगवद्भूतानां शुद्धिहेतवो न भवेयुः, जीवास्तु त्रिविधा एव “देवमानुषदानवा” इति, तत्र मानुष्याकृत्या देवो-

भिषेकेण दैत्येश्वरपूजां च गृहीतवानतस्तस्मिन् समये सर्वमेव पुष्ट्युपयोगि फलसाधकं च भवति, तस्य सर्वस्व-निवेदनपूर्विकां पूजामाह लोकपालः सपर्ययेति, स हि सर्वेषामेव दैत्यानां लोकान् पात्यतः स्वस्य यावती सपर्या पूजासामग्री ततोप्यधिका कृताग्रे जायमानभोगमपि मध्ये निवेश्य पूजां कृतवान्, तदाह महत्येति, न केवलं कायिकीमेव सेवां कृतवान् किन्तु वाचनिकीमपि, ‘मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपमिति मानसिकं तत्रैव प्रवेक्ष्यतीति, वक्ष्यमाणमाह किञ्च तस्य दर्शनेनैव महानुत्सवो यस्य, समागते महानाह्लादो मानसिकी पूजा ॥४॥

व्याख्यार्थ—आगे की बात, ‘प्राप्तं वीक्ष्य’, इस श्लोक से कहते हैं । शङ्खा-श्रीकृष्ण तो वरुण के पास नन्दरायजी को छुड़ाने के लिए गए थे । वरुण उपकार करके नन्दरायजी को छोड़ेगा । इस लिए उपकार करने वाले वरुण के घर पर भगवान् की पूजा ग्रहण नहीं करना चाहिए । फिर वरुण ने पूजा कैसे की ? इस के उत्तर में कहते हैं कि (भली भाँति) सोभाग्य से पधारे हुए भगवान् के दर्शन करके वरुण ने पूजा की, क्योंकि भगवान् हृषीकेश-(इन्द्रियों के स्वामी)-हैं । यदि वरुण स्वयं कृपा करके पधारे हुए भगवान् की पूजा नहीं करता तो पीछे वह अपनी इन्द्रियों से वरुण लोक

यहां पर यह प्रश्न होसकता है, कि इन्द्र याग का भङ्ग की तरह यहाँ भी पूज्य देव रूप से, भगवान् ने उस कर्म में प्रवेश क्यों नहीं किया ? इस का उत्तर ‘व्याख्या में’-आवश्यक फले-से आरम्भ करके ‘सम्भवति’ तक के पदों से देते हैं । द्वादशी व्रत नाम का कालप्रधान कर्म पहले ही हो गया और कर्म पूरा पीछे हुआ । इस कारण से, इस कर्म में भगवान् का प्रवेश सम्भव नहीं होने से-इस कालप्रधान कर्म में भगवान् का आवेश नहीं होने के कारण इस कर्म से नन्दरायजी की निवृत्ति नहीं होगी । उन को इस काल प्रधान कर्म से, छुड़ाने के लिए इस कर्म में वरुण के द्वारा उपद्रव करने पर नन्दरायजी को छुड़ाने के लिए भगवान् स्वयं वरुण के पास गए । इस तरह दुःख का अनुभव होने से कर्म में अनादर और दुःख से छुड़ाने के कारण भगवान् में आदर हो जाएगा तब नन्दरायजी आदि सभी गोप भक्ति मार्ग की रीति के अनुसार भगवान् को प्रसन्न करने वाले कर्म ही करते रहेंगे । इस प्रकार ब्रजवासियों को कर्म बन्धन से मुक्त करने का भाव सिद्ध होता है ॥३॥

का उपभोग नहीं कर पाता और भगवान् के निवेदन नहीं किए पदार्थों का भोग करने से दोष भी लगता । देवों में जैसे इन्द्र श्रेष्ठ है, वैसे ही दैत्यों में वरुण श्रेष्ठ है । उन्न वरुण की लक्ष्मी को भगवान् यदि व्रज में विराजे ही ग्रहण कर लेते तो दैत्य भी भगवान् के शरण हो जाते तो उनका हनन नहीं होता । इस लिए वरुण के पास जाकर ही पूजा सामग्री को अंगीकार किया यदि भगवान् वहां नहीं पधारते तो, वरुण लोक में उत्पन्न हुए पदार्थ भगवद्भक्तों के उपयोग में लेने योग्य शुद्ध नहीं होते ।

जीव तो देव, मनुष्य और दानव भेद से तीन प्रकार के हैं । इन में मनुष्य की आकृति से देवराज इन्द्र-कृत अभिषेक और दैत्यों के राजा वरुण के द्वारा की पूजा का भगवान् ने ग्रहण कर लिया तब सारे ही पदार्थ पुष्टि के उपयोगी और फलसाधक हो गए । लोकपालः सपर्यया-अर्थात् वरुण ने अपना सर्वस्व निवेदन करके, भगवान् की पूजा की । श्लोक में 'महाम्या'-पद का अभिप्राय यह है, कि दैत्यों के लोक का पालन करने वाले वरुण ने अपनी सारी पूजासामग्री से भी अधिक और आगे भविष्य में अपने (वरुण के) उपभोग में आने वाली सारी पूजा सामग्री को मध्य में रख कर भगवान् की पूजा की । वरुण ने केवल कार्याकी सेवा ही नहीं की, किन्तु वाचनिक सेवा भी की मन पूर्वरूप और वाणी उत्तर रूप है । प्रत्येक वस्तु प्रथम मन में उत्पन्न होकर ही वाणी में आती है । इस न्याय से मानसिक सेवा भी वाचनिक सेवा से ही हो जाएगी । भगवान् का दर्शन करके वरुण को बड़ा उत्सव हुआ । भगवान् के पधारने पर अत्यधिक आनन्द होना ही मानसिक पूजा है । वरुण को जो कुछ कहना है, उसे आगे के श्लोक में कहते हैं ॥४॥

लेख—व्याख्या में—'दैत्या न हता भवेयुः'—इस वाक्य का यह भी तात्पर्य है कि यदि दैत्य यहाँ व्रज में आजाते तो भगवान् के शरणागत हो जाने के कारण वे फिर मारे नहीं जाते । अन्यथा—यदि भगवान् स्वयं वरुण लोक में नहीं पधारते तो, वरुणलोक की शुद्धि नहीं होती ।

योजना—वरुण यदि हृषीकेश भगवान् की पूजा नहीं करता तो फिर वह इन्द्रियों से वरुण लोक का भोग नहीं कर सकता था, क्योंकि भोग इन्द्रियों से सिद्ध होता है और इन्द्रियाँ-हृषीकेश-(इन्द्रियों के स्वामी) भगवान् के नियन्त्रण में रहती हैं । यह श्लोक में हृषीकेश पद का अभिप्राय है । यदि 'अत्रेव तां गृहीयात्' इत्यादि व्याख्यास्त पदों का तात्पर्य यह है, कि यदि व्रज में विराजे ही भगवान् सेवा ग्रहण कर लेते तो दैत्य व्रज में आते, भगवान् की पूजा होती देखते और सत्सङ्ग से उन का मन शरण आने का हो जाता, तो वे फिर भगवान् के द्वारा मारे नहीं जा सकते थे अर्थात् फिर, भगवान् शरणागत उन दैत्यों को नहीं मारते ।

'अन्यथा भिन्नसत्ताके'—इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है, कि यदि वरुण के द्वारा की गई पूजा को भगवान् स्वीकार नहीं करते तो, उन पदार्थों की भगवत्सम्बन्धी भाव से होने वाली शुद्धि नहीं होती और न वे पदार्थ वरुण आदि भगवद्भक्तों की शुद्धि-के कारण ही हो सकते थे । इसलिए मानुषी आकृति स्वरूप सौन्दर्य से भगवान् ने उन्हें अंगीकृत किया । 'देवोभिषेकेण'—अर्थात् इन्द्र देव के किए अभिषेक से भगवान् ने अंगीकार किया । इन्द्र मुख्य देव है । इसलिए इन्द्र के ग्रहण से सभी देवों का ग्रहण किया इसी प्रकार, 'दैत्येश्वर पूजाम्' दैत्यों के

॥ वरुण उवाच ॥

श्लोक—अद्य मे विधृतो देहोद्यैवार्थोधिगतः प्रभो ।

यत्पादभाजो भगवन्नवापुः पारमध्वनः ॥५॥

श्लोकार्थ—वरुण ने कहा--नाथ ! विशेष करके आज ही मैंने देह धारण की, अर्थात् आज ही मेरा जन्म सफल हुआ । आज ही मुझे, परम पुरुषार्थ प्राप्त हुआ । हे भगवान् ! आप के श्री चरणों की सेवा करने वाले लोग ही संसार सागर के पार होते हैं ॥५॥

सुबोधिनी—स्तुति योग्यः स्तुतिं कुर्याद् भगवद् गुण वर्णनम् अशक्तौ स्वोपकारमात्रं वक्तव्यमतस्तदेवा-  
हाद्य मे विधृतो देह इति, यद्यपि देवयोनिः प्राप्ता तथाप्याधिपत्यं दैत्येष्वतस्तत्सङ्गान्न भगवत्परता भवत्यतः प्राप्ताप्युत्तमा योनिरप्राप्तप्राया तदिदानीं स्वामिदर्शनाज्जाते फले साधनाभावेऽपि सफलजन्मत्वं, तदाहाद्यैव मे मया विशेषेण धृतो देह इति, साधनपरत्वं निराकुर्वन् हेतुमाहाद्यैवार्थः पुरुषार्थः प्राप्त इति ननु साधनाभावेन कथं फलं भवेत् साधने च पुनरङ्गीक्रियमाणेद्यैवेतिवचनं बाधितं स्यात् ? तत्राह प्रभो इति, समर्थो भवान्

साधनाभावे फलं दातुं साधनतापि स्वकृतेवेति, ननु कथमेवमलौकिकं भवेत् ? तत्राह यत्पादभाज इति, त्वत्सेवकानामेवालौकिककर्तृत्वं यत्र त्वयि तत्र किं वक्तव्यमिति, यस्य भगवत्श्ररणारविन्दं ये भजन्ति तेध्वनः पारमवापुर्नातः परं गन्तव्यमस्ति, लोके चरण-समागता गच्छन्ति यथा पादुकादयः, अन्यथा तांश्ररणो नानयेदतो यथैतद् विपरीतमेवं फलमपि, अत एव स्वामिदर्शनं भवितः पूजेत्यपि साधनं भवतीति निराकृत-मानन्दनिधेरन्यस्य प्राप्तव्यत्वाभावात् ॥५॥

व्याख्यार्थ—जो स्तुति करने में समर्थ हो, उसे भगवान् की स्तुति करना चाहिए और जो

स्वामी वरुण की पूजा का ग्रहण करने से, उस का भी अंगीकार और उस (वरुण) के अंगीकार से अन्य भक्तों के भी निरोध की सिद्धि होना सूचित किया ।

‘अग्रे जायमानभोगमपि मध्ये निवेश्य’—पूजा करने से सारे पदार्थों, की शुद्धि हो जाती है, क्यों कि पूजा में उन सारे पदार्थों को भगवदुच्छिष्ट कर के ही भगवदीयजन उन को ग्रहण करते हैं, ऐसी मार्ग की मर्यादा है । इसीलिए भोग्य पदार्थों को पहले भगवान् के समर्पण कर के पीछे भक्त वैष्णव उन का भोग करते हैं । वरुण तो अपने—(उसके)—भोग्य पदार्थों को—स्वयं भोग न कर के—भगवान् के समर्पण करके पीछे भगवदुच्छिष्ट का भोग करेगा—इसी आशय से, मूल श्लोक में—महत्या (बहुत सामग्री से) पद कहा है । ‘वाचनिकीमपि’—इस पद का अर्थ यह है, कि वचन से भी, स्तुतिरूप पूजा की । मानसिकी पूजा का तो वाचनिकी पूजा में ही अन्तर्भाव हो जाता है, क्यों कि मन पूर्वरूप है और वाणी उत्तर रूप है । वह उत्तर रूप वाणी पूर्वरूप मन के बिना सम्भव नहीं हो सकती, उस में मानसी का प्रवेश होजाता है । इसी से यहाँ मानसी पूजा को अलग नहीं कहा है । अथवा भगवान् के दर्शन से वरुण को जो महोत्सव हुआ, वह महोत्सव ही मानसिकी पूजा रूप है । इस प्रकार वरुण ने भगवान् को त्रिविध (कायिकी, वाचिकी तथा मानसिकी) पूजा की ।

भगवान् के गुणों का वर्णन करने में असमर्थ हो, अर्थात् भगवान् के गुणों का वर्णन करने की शक्ति जिस पुरुष में न हो, उसे अपने ऊपर किए भगवान् के केवल उपकार का ही वाणी से स्वीकार करना चाहिए—यह—‘अद्य में विधृतो देह’—इस श्लोक से कहते हैं। वरुण कहता है, कि यद्यपि मुझे देवयोनि मिली है तो भी, दंत्यों पर ही मेरा आधिपत्य है। दंत्यों के संग से मैं भगवान् से बहिर्मुख था। इस लिए प्राप्त हुई भी, यह उत्तम योनि नहीं मिली जैसे ही थी। अभी स्वामी आप के दर्शन से मुझे फल की प्राप्ति हुई। अब किसी साधन के बिना ही मेरा जन्म सफल हो गया। आज ही मैंने विशेष करके देह धारण की। मैंने बिना किसी साधन के ही आज परम पुरुषार्थ प्राप्त कर लिया। प्रश्न उठता है, कि साधन किए बिना फल की प्राप्ति कैसे होवे और यदि साधन करना स्वीकार कर लें तो आज ही किए साधन से आज ही फल कैसे मिल जाएगा ? इस के उत्तर में कहते हैं कि, ‘प्रभो:’ आप साधन किए बिना ही फल देने में समर्थ हैं क्योंकि साधन कराना भी तो आप के ही हाथ है।

तब तो बिना साधन किए मिला फल अलौकिक कैसे हो सकेगा ? इस के उत्तर में कहते हैं, कि—यत्पादभाजः—जब आप के भक्त भी अलौकिक कार्य कर सकते हैं तो फिर, आप—(भगवान्)—अलौकिक कार्य कर दें—इस में आश्चर्य ही क्या है। जो भक्त भगवान् के चरणारविन्द को भजते हैं, वे मार्ग के पार चले जाते हैं, उन के लिए आप के चरणारविन्द से उत्कृष्ट कोई गन्तव्य (जाने योग्य) स्थान शेष—नहीं रहता। जैसे लोक में पाँव के समागम से पादका—(खड़ाऊँ)—आदि जड़ पदार्थ भी चलने लगते हैं। यदि वे न चलें तो फिर उन को कोई क्यों धारण करे (पहने)। किन्तु भगवान् के चरणारविन्द का आश्रय लेने वाले भक्त तो इसके (भ्रमणके) विपरीत और गतिहीन हो जाते हैं, उन्हें फिर कहीं जाने का रहता ही नहीं है। जैसे यह विपरीत है इसी तरह फल भी विपरीत है। इस कथन से यह सिद्ध किया, कि स्वामी का दर्शन, भक्ति, पूजा आदि भी, साधन नहीं है, किन्तु फल रूप ही है, क्योंकि आनन्द निधि भगवान् को प्राप्त कर लेने के बाद दूसरी कोई वस्तु प्राप्त करने योग्य रहती ही नहीं है ॥५॥

**श्लोक—नमस्तुभ्यं भगवते ब्रह्मणे परमात्मने ।**

**न यत्र श्रूयते माया लोकसृष्टिविकल्पना ॥६॥**

**श्लोकार्थ—**हे प्रभो ! आप का ऐश्वर्य सर्वोत्कृष्ट—सब के ऐश्वर्य से बढ़कर है। आप पूर्ण ब्रह्म परमात्मा हैं। भ्रम उत्पन्न करने वाली, लोकसृष्टि का कारण माया

**योजना—**व्याख्या के—‘लोके चरणसमागता गच्छन्ति अतो यथैतद् विपरीतम्—इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है कि लोक में पाँव के सम्बन्ध से जड़ पादुका आदि भी गति वाले—हो जाते हैं, किन्तु भगवान् के चरणों का सम्बन्ध वाले भक्त तो भ्रमणशील चलते फिरते भी गति रहित हो जाते हैं। जैसे यह बात लोक से विपरीत है, इसी तरह फल भी विपरीत है, क्योंकि आप—(भगवान्)—का चरणाश्रित भक्त गतिहीन होकर भी, मार्ग के पार को प्राप्त कर लेता है।

आप में नहीं है । अर्थात् आप पर माया का प्रभाव नहीं पड़ता है । आप को प्रणाम है ॥६॥

सुबोधिनी—अतः सफलजन्मवता प्राप्तफलेन भगवति यत् कर्तव्यं तदाह नमस्तुभ्यमिति, नमस्कारो न जीवानां कर्तव्यस्तुत्यत्वाद् देहादेरागन्तुकत्वादतो भगवानेव नमस्कर्तव्यः, सोपि सर्वसिद्धान्तसिद्धश्चेत्, विवादे सत्सु विषयदोर्बल्यमेव कल्पनीयमतः श्रुतिस्मृतिपुराणेषु यत्र-कवाक्यता स नमस्कर्तव्यः, तत्रापि यदि तथानुभवो न भवेत् तदा महतामप्यन्तःकरणं प्रमाणमिति नमस्कर्त-

परमात्मन इति स्मार्तयि, श्रुतिव्यतिरिक्तपक्षेषु मायायाः सृष्ट्युपयोगः करणत्वेन प्रधानत्वेन वा पाषण्डेषु निमित्तत्वेनापि, सा चेद् भगवति नास्ति तदा तत्कृता दोषाः कामादयः सुतरामेव न भवन्ति तत आत्मन आत्मत्वस्य सिद्धत्वाद् दोषाणामभावाच्च ते न किञ्चिद् विज्ञाप्यमित्यभिप्रायेणाह न यत्र श्रूयते मायेति, लोकानां सृष्ट्यर्थं सृष्टिरूपेण वा विशेषेण कल्पना यया सा

व्यो न भवेदतश्चतुष्टयमाह तुभ्यमिति साक्षात्कृताय भगवत इति वैष्णवसिद्धान्तसिद्धाय ब्रह्मण इति श्रुताय

कार्यकारणरूपिणी सर्वा चेन्निषिद्धा तदा न किञ्चिद् विज्ञाप्यम् ॥६॥

व्याख्यानार्थ—इस कारण से, सफल जन्म वाले और फल को प्राप्त कर लेने वाले को भगवान् प्रति क्या करना चाहिए, यह इस, 'नमस्तुभ्यं'—श्लोक से कहते हैं । जीव आपस में एक से (समान) है । इस लिए जीवों को नमस्कार करना उचित नहीं है । इसी तरह देह भी नमस्कार के योग्य नहीं है क्योंकि शरीर आदि आगन्तुक हैं । इस लिए सारे सिद्धान्तों के एक मत से सिद्ध भगवान् के लिए ही नमस्कार करना चाहिए । उपास्य रूपों में (भगवान् के विषय में) सन्त पुरुषों (उपासकों) व यदि विवाद हो, तो उन उपास्य स्वरूपों में—भक्ति मार्ग में सेव्य पुरुषोत्तम की अपेक्षा—दुर्बलता आ जाती है । इस लिए श्रुति, स्मृति और पुराणों में एक मत (एक वाक्यता) से सिद्ध उपास्य देव को ही नमस्कार करना उचित है । फिर भी यदि सारे सिद्धान्तों से सिद्ध हुए भी उपास्य रूप में स्वयं व वैसा न हो, तो वहाँ भी नमस्कार नहीं करना चाहिए, क्योंकि महा पुरुषों का † अन्तःकरण—(अनुभव)—भी तो प्रमाण रूप है । इस लिए 'तुभ्यं, भगवते, ब्रह्मणे, परमात्मने'—ये चार पद श्लोक कहे हैं । वैष्णव सिद्धान्त सिद्ध भगवान् श्रुति—(वेद)—सिद्ध, ब्रह्म, स्मृति द्वारा सिद्ध परमात्मा और मेरे—(वरुण के)—प्रत्यक्षसिद्ध—जिनका मैं प्रत्यक्ष दर्शन कर रहा हूँ—आप के लिए नमस्कार है । वे से भिन्न पक्षों में किंवा पाषण्ड-पक्षों में सृष्टि की उत्पत्ति में माया का कारण—साधन रूप से, प्रकृति रूप तथा निमित्त रूप से भी उपयोग है । वह माया ही, जब भगवान् में नहीं है, तब माया से उत्पन्न होने वाले काम, क्रोध आदि दोष भगवान् में नहीं है—इस में कहना ही क्या है । इसलिए आत्म (भगवान्) की आत्मारूप से सिद्धि और दोषों का अभाव होने के कारण, आप—(भगवान्) से कुछ भी विज्ञापन करना बाकी नहीं है । इसी अभिप्राय से श्लोक में, 'न यत्र श्रूयते माया' ये पद कहे हैं तात्पर्य यह है, कि लोकों की सृष्टि करने, सृष्टि रूप से, अथवा कार्य कारण रूप से, विशेष कल्पन कारण माया का जब भगवान् में सभी भाँति निषेध है, तो फिर आप से कुछ भी विज्ञापन करना शेष नहीं है ॥६॥



टिप्पणी— 'नमस्तुभ्ये' श्लोक की व्याख्या में—विवाद सत्सु—इत्यादि पदों का अभिप्राय कहते हैं । शङ्का—जब कर्म काण्ड में \* जीवन भर अग्निहोत्र करन का विधान है, इस के विपरीत ‡ जिस दिन वैराग्य हो जाए उसी दिन, सन्यास लेलेना (कहा है) और गीता में † अनेक कर्मों को करने के लिए कहने वाली पुष्प जैसी सुन्दर वाणी—इत्यादि कहा है । इस प्रकार परस्पर विरोध होने पर भिन्न भिन्न सभी उपास्य रूपों के लिए नमस्कार क्यों नहीं करना ? इस शंका की निवृत्ति के लिए—विवादे—इत्यादि पदों से विषय की व्यवस्था करते हैं कि जिस विषय पर सत्पुरुषों में विवाद हो, उस को दुर्बल समझना चाहिए ।

कर्म तो इस कारण से हीन है, कि देहादि के अध्याय से कर्म में अधिकार माना जाता है और कर्म का मूल अज्ञान है तथा भगवान् के इन वचनों से—मेरी भक्ति वाले और \* मेरे रूप योगी का ज्ञान तथा वैराग्य यहाँ पूर्ण कल्याण नहीं कर सकते—भक्ति मार्ग की अपेक्षा अन्य मार्ग दुर्बल हैं और उन के उपास्य रूप भी भक्ति मार्ग में सेव्य श्री पुरुषोत्तम के रूप की अपेक्षा दुर्बल हैं; क्योंकि जब तक भक्ति मार्ग का ज्ञान नहीं होता, तब तक ही उनकी उपासना कराई जाती है । इसी अभिप्राय से भगवान् ने आज्ञा की है कि ★ जब तक मेरी कथा का श्रवण आदि में श्रद्धा नहीं बढे तब तक ही अन्य कर्तव्य रहते हैं ।

चार्वाक आदि तो ईश्वर को मानते नहीं हैं । इस कारण से ईश्वर भी सारे सिद्धान्तों से सिद्ध नहीं हैं । ईश्वर को मानने वाले भी सभी इन कृष्ण के स्वरूप को शुद्ध ब्रह्म रूप नहीं मानते हैं । ऐसी दशा में यह स्वरूप भी, सर्व सिद्धान्तों से सिद्ध नहीं है ? इस शंका के समाधान में कहा गया है, कि मोहक शास्त्रों से उत्पन्न हुए मोह से रहित सन्त महापुरुषों में जिन उपास्य रूपों के विषय में विवाद है, वह विषय दुर्बल है । इसीलिए व्याख्या में आगे बतलाया है, कि श्रुति स्मृति और पुराणों में जिस की एक वाक्यता हो, जो स्वरूप इन तीनों का सम्मत हो—उस के लिए ही प्रणाम—(नमस्कार)—करना चाहिए । लोकानां—माया से मोहित हुए पुरुष ही ऐसी कल्पना करते हैं कि सृष्टि के लिए अथवा सृष्टि रूप से माया है । कार्य अर्थात् मोह और कारण अर्थात् माया—यह कार्य कारण हविणी पद का अर्थ है ।

लेख—प्रधानत्वेन—प्रकृति रूप से  
निमित्तत्वेन—कर्ता रूप से

योजना—'तुभ्यं, भगवते, ब्रह्मणे, परमात्मने'—इन चार पदों से श्रुति, स्मृति, पुराण, और अनुभव—ये चार कहे हैं । इन में—साक्षात्कृताय—यह अनुभव सिद्ध, 'वैष्णव सिद्धाय'—पद से पुराण सिद्ध भगवान्, ब्रह्मणे—पद से श्रुति सिद्ध ब्रह्म और—स्मार्ताय पद से स्मृति सिद्ध परमात्मा है ॥६॥

\* यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहुयात् ।

‡ यदहरेव विरजेत्तद हरेव प्रव्रजेत् ।

† यामियां—गीता २-४३ ।

\* तस्मान्पद्भक्तिं युक्तस्य योगिनोर्व मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेद्विह ।

★ तत्कथा श्रवणादी वा श्रद्धा यावन्न जायते ।

श्लोक—अजानता मामकेन मूढेनाकार्यवेदिना ।

आनीतोयं तव पिता तद् भवान् क्षन्तुमर्हति ॥७॥

श्लोकार्थ—धर्म के तत्व को तथा आप के साथ नन्दरायजी के सम्बन्ध को भी न जानने वाले, और क्या करना चाहिए, क्या नहीं—इस से भी अनभिज्ञ महा मूढ़ मेरा सेवक आप के पिताजी को यहाँ ले आया है । हे प्रभो, इस अपराध को क्षमा करें ॥७॥

सुबोधिनी—तथापि स्वापराधो निवेदनीयोन्यथा स्वकृतादेव नश्येदत आहाजानतेति, मामकेन सेवकेन धर्मतत्त्वमजानता भवत्सम्बन्धं चाजानतायं तव पिता लीलायां पितृत्वेन कृतः समानीतः; यदि स्वरूपतोस्मिन्नुत्कर्षः स्यात् तदाज्ञोपि नानयेत् सम्बन्धस्तु न ज्ञातस्तदज्ञानादेव वैष्णवधर्मोप्यज्ञातः, अज्ञापने हेतुर्मामकेनेति, अयं दैत्यो यदि भगवद्धर्मां जानीयात् तदा दैत्यत्वमेव गच्छेत् ततः कोपि सेवको न भवेत्, स्वतस्त्वस्य न ज्ञानं तदाह मूढनेति, ननु तथापि सेवकेन स्वाम्युक्तमेव कर्तव्यं ततः कथमानीतवान् ? तत्राहाकार्यवेदिनेति,

नास्य कार्यवेदनं कार्यज्ञानमस्ति किं कार्यं किमकार्यमित्यतः सामान्यत उक्तमपि कर्त्रा विशेषाकारेण कर्तव्यमतोस्य स्वाभाविक एव दोषः, अयं च तव पिता त्रेपमानः पुरो वर्ततेतः स्वामिन् लीलायामपराधः कृतो वर्तते तद् भवान् क्षन्तुमर्हति, तव पितेतिवचनादपराधः सोढव्यो लीलायां प्रविष्ट इति, न हि लीलाप्रविष्टानामपराधो भवति, अतो भवानित्यप्युक्तं, भवानेव क्षन्तुमर्हति न त्वहं क्षमापयितुं योग्यः, 'गोविन्द नोयता' मिति विगीतं, तथा चेद् वदेदपराधी स्यात् ॥७॥

व्याख्यानार्थ—यद्यपि इस प्रकार माया का निषेध कर देने के बाद फिर कुछ विशेष विज्ञापना शेष नहीं रहती, तो भी अपना अपराध तो निवेदन करना चाहिए । यदि अपने अपराध को निवेदन न करें, तो अपने कर्म से ही अपने स्वयं नष्ट हो जाय । इस लिए, 'अजानता' इस श्लोक से अपने अपराध को कहता है । धर्म के तत्व से अनभिज्ञ तथा आप के नन्दरायजी के साथ सम्बन्ध को न जानने वाला मेरा सेवक इन नन्दरायजी को—(जिन्हें आपने लीला में पिता रूप से सम्मानित कर रखा है)—यहाँ ले आया है । नन्दरायजी स्वयं उत्कृष्ट तथा प्रभावशाली होते, तो मेरा ज्ञान हीन भी सेवक उन्हें यहाँ नहीं ले आता । आप के साथ इन के सम्बन्ध को इसने नहीं जाना । वैष्णव धर्म को भी यह नहीं जानता; क्योंकि यह तो मेरा—(दैत्य का)—सेवक है । यदि यह दैत्य सेवक भगवान् के धर्मों को जान जाए तो इस का दैत्य भाव दूर हो जाए, तो फिर कोई भी मेरी सेवा न करे (मेरा सेवक न रहे) । यह मूढ़ है, इस कारण इस को स्वतः ज्ञान है ही नहीं ।

सेवक को तो स्वामी की आज्ञा का ही पालन करना चाहिए, स्वामी की आज्ञा के बिना, वह सेवक नन्दरायजी को कैसे ले गया ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि—'अकार्यवेदिना'—क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए—इस प्रकार का कर्तव्याकर्तव्य का इस को ज्ञान नहीं है । सामान्य आज्ञा पाकर भी सेवक को विशेष विचार पूर्वक कार्य करना चाहिए । वह विचार शक्ति इस सेवक में नहीं है । यह इस का स्वाभाविक ही दोष है । ये आपके पिताजी सामने कांपते हुए (धूँजते) खड़े हैं । इसलिए, हे स्वामिन् । मैंने लीला में अपराध कर दिया है, उसे आप क्षमा कीजिए ।

श्लोक में—तव पिता (आप के पिता) इस वचन से जैसे लीला में ही पिता रूप से स्वीकार किया है, इसी प्रकार लीला में ही किया हुआ, यह मेरा अपराध सहन करने योग्य है। वास्तव में तो, लीला में प्रविष्ट होने पर, फिर उन से अपराध होता ही नहीं है। श्लोक में—‘भवान्’ (आप) पद का तात्पर्य—(अर्थ)—यह है, कि आप स्वयं ही क्षमा करने योग्य हैं, मैं तो क्षमा कराने योग्य (भी) नहीं हूँ।

(इस के आगे—गोविन्द नीयताम्—इत्यादि श्लोक से कई ग्रन्थों में है, किन्तु वह विगीत—(प्रक्षिप्त) है। यदि इस श्लोक के अनुसार वरुण कहे तो वह अपराधी हो जाए ॥७॥

॥ श्रीशुक उवाच ॥

श्लोक—एवं प्रसादितः कृष्णो भगवानोऽवरेऽवरेः ।

आदायागात् स्वपितरं बन्धूनां चावहन् मुदम् ॥८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं—वरुण ने इस प्रकार नम्रता से ईश्वरों के भी ईश्वर श्रीकृष्ण भगवान् को प्रसन्न किया। भगवान् ने वरुण लोक से पिताजी को साथ लेकर ब्रज में आकर अपने बन्धु—बान्धवों को आनन्दित किया ॥८॥

|                                                                                                                                                 |                                                                                                                                                                    |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>सुबोधिनी—एवं प्रार्थनायां कृतायां तत्सिंहासन उपविष्टं कृतार्थीकृत्य तत आगत इत्याहवमिति, प्रसादितो भूयापराधेनातो दण्डमकृत्वैव कृष्णः सदा-</p> | <p>नन्दस्तस्याप्यानन्दमुत्पाद्य ततः समागमने समानयने वा प्रार्थनीयरहितो भगवान् सर्वशक्तिः स्वपितरमादायागात्, भगवत्स्पर्शेन दैत्यसम्बन्धकृतो दोषो निवर्तितः, ननु</p> |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

टिप्पणी—‘आनीतोऽयं तवे पिता’, यहाँ, ‘अयं’ इस इदम् शब्द का प्रयोग न होता तो भी अर्थ में संगति थी ही। फिर भी—इदम्—शब्द का प्रयोग श्लोक में किया है। व्याख्या में इस का अर्थ—‘अयं च तव पिता वेपमानः’ (ये तुम्हारे पिता कांपते (घूँजते हुए खड़े हैं) इत्यादि वाक्य से लिखा है। यहाँ नन्दरायजी के घूँजने का कारण भगवान् के ऐश्वर्य के दर्शन से उत्पन्न सात्विक भाव समझना चाहिए।

योजना—व्याख्या में—‘तव पिता’—‘इति वचनादपराधः—सोढः’ इत्यादि वाक्य में योजनाकार—सोढव्यः—के स्थान पर—सोढः—ऐसा पाठ अङ्गीकार करते हैं। तुम्हारे पिता—ऐसा कहकर, वरुण ने लीला की प्रधानता को स्वीकार किया है, क्योंकि लीला में ही नन्दरायजी का पितृ भाव है। यदि केवल ब्रह्म धर्मों को ही भगवान् में वरुण स्वीकार करता तो भगवान् का तो जन्म ही न होने से ब्रजपति नन्दरायजी का पिता होना ही सम्भव नहीं है। किन्तु तो भी भगवान् ने लीला में नन्दरायजी को पिता रूप से स्वीकार किया है और वरुण ने भी ‘आपके पिता’ कह कर भगवान् का अंगीकार किया ‘पितृ’ भाव ही स्वीकार किया है। इसलिए भगवान् ने संतुष्ट होकर वरुण के अपराध को सहन कर लिया—यह अर्थ है।

तथापि वरुणेनागन्तव्यमनुवृत्तिश्च कर्तव्या तत् कथं  
नागत इति चेत् तत्राहेश्वरेश्वर इति, ईश्वराणामपि  
वरुणादीनामीश्वरो नियन्तातोनुल्लङ्घ्यशासनत्वात् स्वा-

मिलीलास्थाने न गन्तव्यमिति नोतिशास्त्रान् नागतः,  
साधनादिकं तु नापेक्षते, एवं स्मरणमात्रेणैव गोकुलप्राप्तेः,  
आगत्य बन्धूनां मुदं चावहत्, आवहन्, वा समागतः ॥८॥

**व्याख्यार्थ—**वरुण के इस प्रकार प्रार्थना करने पर, इस के सिंहासन पर विराजमान, भगवान् वरुण को कृतार्थ करके वरुणलोक से पोछे आए—यह इस-‘एवं’-श्लोक से कहते हैं। वरुण ने नम्र निवेदन से भगवान् को प्रसन्न कर लिया। इस कारण से उसके सेवक के अपराध का कोई दण्ड न देकर, सदानन्द श्रीकृष्ण वरुण को आनन्दित करके, वहाँ से लौट आए। वहाँ से आने अथवा पिताजी को ले आने में भगवान् को किसी से कुछ प्रार्थना नहीं करनी पड़ी, क्योंकि भगवान् तो ईश्वरों के ईश्वर सर्व शक्तिमान् है। पिताजी को लेकर वहाँ से लौट आए। भगवान् के स्पर्श से नन्दजी का दैत्य के सम्बन्ध से हुआ दोष दूर हो गया।

वरुण को भी भगवान् के साथ आना चाहिए तथा भगवान् का अनुवर्तन करना चाहिए था। वरुण ने ऐसा क्यों नहीं किया ? इस शंका के समाधान में कहते हैं, कि भगवान् ईश्वरों के भी ईश्वर हैं, और नियन्ता हैं। इस लिए उनकी आज्ञा का उल्लंघन वरुण आदि कोई भी नहीं कर सकते और स्वामी के लीला स्थल में जाने का नीतिशास्त्र में निषेध है, इस कारण से वरुण नहीं आया। वहाँ से लौट कर आने में भगवान् को किसी साधन की अपेक्षा नहीं है, केवल स्मरण मात्र से ही गोकुल में पधार आए और आकर बन्धुओं को आनन्दित किया अथवा आनन्दपूर्वक व्रज में लौट आए ॥८॥

**श्लोक—**नन्दस्त्वतीन्द्रियं दृष्ट्वा लोकपालं महोदयम् ।

कृष्णो च सन्नति तेषां ज्ञातिभ्यो विस्मितो ब्रवीत् ॥९॥

**श्लोकार्थ—**नन्दरायजी को लोकपाल वरुण के अपूर्व वैभव को, अतीन्द्रिय वरुण लोक को और वरुण के द्वारा किए भगवान् के आदर सत्कार, पूजन, प्रणाम को देख कर बड़ा विस्मय हुआ। व्रज में आकर नन्दजी ने ज्ञातिबन्धुओं से सब समाचार कहे ॥९॥

**सुबोधिनी—**यथैकं वचनं बहु कार्यं करोति तथेयं कृतिरपि बहु कार्यं कृतवतीत्यग्रिमं वृत्तान्तमाह नन्दस्त्विति, नीतोपि नन्दः पूर्वं तत्रैव स्थापितोपि न किञ्चित् दृष्ट्वान् पश्चाद् भगवदागमनानन्तरं सर्वं दृष्ट्वानतोतीन्द्रियदर्शनोतीन्द्रियत्वे हेतुं वदन् सर्वमेवातीन्द्रियमित्याह लोकपालस्य महान् उदयो यत्रेति, किञ्च योस्माभिः कृष्णो यथाकथञ्चिद् व्यवहियते तादृशे ते सम्यङ् न तास्तद्गमंदासा इव, इदं च तत्रत्यानां

स्त्रीपुरुषाणां सर्वेषामेव सेवनं दृष्ट्वा ज्ञातिभ्य उपनन्दादिगोपेभ्यो ब्रवीत्, नन्वतीन्द्रियं भगवता स्वार्थमेव प्रदर्शितं नान्येभ्यो वक्तव्यं तत् कथमुक्तवानिति चेत् तत्राह विस्मित इति, तस्याश्चर्यरस एवोत्पन्नो तो भगवन्तं पुत्रत्वेन नाङ्गीकृतवान् नाय सर्वथा पुत्रो गर्गश्छलवादी भ्रान्तो वात एव सति किं कर्तव्यमिति विचारणीयं किञ्चित् प्रार्थनीयमाहोस्विदधिका प्रतिपत्तिः कर्तव्येति, तत्र प्रतिपत्त्यर्थं फलार्थं वादो भगवतो निर्णीतं स्वरूपं

ज्ञातव्यमवान्तरभेदा एवैत उत्कर्षा श्रेतः परमोत्कर्षो | प्रथमतो भगवदुत्कर्षदर्शनार्थमुत्सुका जाताः ॥६॥  
ज्ञातव्यस्ततः फलप्रार्थना प्रतिपत्तिर्वा कर्तव्येति निश्चित्य

**ध्याख्या** - जिस प्रकार एक वचन, बहुत काम करता है इसी तरह से, भगवान् के इस कर्म से भी कई कार्य हुए-यह इस-‘नन्दस्त्वतीन्द्रिय’-श्लोक से कहते हैं । यद्यपि वरुण के सेवक ने नन्दरायजी को ले जाकर वरुण लोक में ही बैठा दिया था, तो भी पहले उन्हें वहाँ कुछ भी नहीं दिखा । भगवान् के वहाँ पधारने के बाद तो नन्दरायजी को वहाँ सभी ऐसे पदार्थों के दर्शन हुए जो प्राकृत इन्द्रियों से नहीं देखे जा सकते हैं । नन्दरायजी वहाँ अतीन्द्रिय पदार्थों के दर्शन कर सके-इस का कारण यह था कि वहाँ सभी अतीन्द्रिय था । वहाँ लोकपाल वरुण के अलौकिक वैभव को देखा और यह भी देखा कि जिस कृष्ण के साथ, हम गोप चाहे जैसा (अनादर का भी) साधारण बालक सा व्यवहार करते रहे हैं, उन-श्रीकृष्ण को वे गर्भ से ही दास की तरह साष्टाङ्ग प्रणम कर रहे थे । वहाँ के सारे ही स्त्री पुरुषों का इस प्रकार दासभाव देख कर नन्दरायजी ब्रज में ज्ञाति के उपनन्द आदि गोपों से कहने लगे ।

यद्यपि उस अपने अतीन्द्रिय वैभव का दर्शन भगवान् ने नन्दरायजी को केवल उनके लिए ही कराए थे, किसी और से अथवा उन गोपों से कहने के लिए तो नहीं कराए थे, तो भी वे विस्मित हो कर, उस को ज्ञाति बन्धुओं से नहीं छिपा सके (उन्होंने सब कह ही दिया) । उन्हें आश्चर्यरस उत्पन्न हो गया था, जिस से वे अभी भगवान् को अपना पुत्ररूप से स्वीकार नहीं कर सके । उन को यह पूरा निश्चय हो गया, कि यह श्रीकृष्ण मेरा पुत्र नहीं है, गर्गाचार्यजी ने मिथ्या ही कह दिया अथवा उन्हें भी भ्रम हो गया होगा । नन्दरायजी विचार करने लगे कि ऐसी परिस्थिति में उन्हें (नन्दरायजी को) क्या करना चाहिए ? भगवान् से कुछ प्रार्थना करूँ अथवा विशेष शरणागति करूँ । इन दोनों में शरणागति किंवा फल के लिए सब से पहले भगवान् के निर्णय किए हुए स्वरूप का जानना आवश्यक है, क्योंकि अपने देखे-हुए ये सारे उत्कर्ष तो अवान्तर भेद-(गौण)-हैं । इस लिए पहले भगवान् का परम उत्कर्ष-(वास्तविक स्वरूप)-समझना (जानना) चाहिए और पीछे फल की प्रार्थना अथवा शरणागति करना उचित है । ऐसा निश्चय करके वे सब गोप प्रथम भगवान् के उत्कर्ष के दर्शन करने के लिए उत्सुक हुए ॥६॥

**टिप्पणी**—ध्याख्या में-‘यथैक वचनम्’-इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है, कि जैसे गायों के लिए यज्ञ कराने का बोधक भगवान् के एक वचन से ब्रज को अनन्य करना, इन्द्र का मान भङ्ग, गोवर्धनोद्धरण, ब्रज जनो की संधातृषानिवृत्ति, भगवन्माहात्म्य, ज्ञान, इन्द्र कृत सम्मान, अभिषेक तथा गोविन्द नाम धारण रूप अनेक कार्य हुए, इसी प्रकार, भगवान् की एक कृति भी अनेक कार्य करती है ।

**लेख**—ध्याख्या में-नीतोऽपि-इत्यादि का आशय यह है, कि वरुण लोक में लेजाए गए नन्दरायजी को वहाँ का वैभव लौकिक इन्द्रियों से दिखाई दे देता तो वहाँ के वे पदार्थ अतीन्द्रिय नहीं होते । इसलिए भगवान् के वहाँ पधारने पर भगवत् दृष्टि से ही नन्दरायजी को दर्शन हुए ।

श्लोक—ते त्वोत्सुवयधियो राजन् मत्वा गोपास्तमीश्वरम् ।

अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मामुपाधास्यदधोश्वरः ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे राजन् । गोपों ने जान लिया कि कृष्णचन्द्र साक्षात् ईश्वर हैं । यह जान कर उन के मन में अभिलाषा और उत्कण्ठा हुई कि भगवान् कभी हमको भी अपनी सूक्ष्म गति, वैकुण्ठ धाम तक पहुँचा देंगे ॥१०॥

सुबोधिनी—ततो निःसन्दिग्धं तं परमेश्वरं ज्ञात्वा यावन्न दृश्यते तावत् सम्यक् प्रतीतिर्न भवतीति, गोपा विशेषज्ञानरहिताः किञ्चित् प्राथितवन्त इत्याह ते त्विति, तुशब्देन न तेषामन्यः पक्ष उद्गतो नाप्य-सम्भावना किन्त्वोत्सुक्यधिय एव दर्शनार्थं जाता., राजन्निति तथोत्सुका राजानोपि भवन्तीतिज्ञापयितुं अयमीश्वरो भवतीति निश्चितं तथा सति, अपीति-

सम्भावनायामीश्वरे मित्रे जाते स्वकीयं प्रदर्शयिष्यत्यथ यद्यस्मान् न मन्यते तदा दण्डं करिष्यतीति निश्चित्य सूक्ष्मां स्वगतिं वैकुण्ठाख्यामधोश्वरः स्वामी नोस्मभ्यमुप समीप एवाधास्यद् धाम्यति किम् ? अस्मन्निकट एव तं किं प्रकटीकरिष्यतीति मनोरथं कृतवन्तः, स्वस्य तथा-साधनामावेपि फलं भविष्यतीत्यत्र भगवद्देश्यमेव हेतु ॥१०॥

व्याख्यार्थ—तब वे निश्चित रूप से जान गए कि कृष्ण परमेश्वर हैं, किन्तु जब तक परमेश्वर रूप से दर्शन न हो तब तक पूरा विश्वास नहीं होता । इस लिए विशेष ज्ञान हीन गोपों ने भगवान् से जो कुछ प्रार्थना की वह 'तेतु' इस श्लोक से कहते हैं । श्लोक में 'तु' शब्द से यह सूचित किया है कि उन गोपों के मन में कोई शंका नहीं हुई और न उन्हें असम्भव ही लगा, किन्तु वे दर्शन के लिए उत्कण्ठित ही हुए । 'राजन्'-शब्द से सूचित होता है कि राजा लोग भी इस प्रकार से उत्सुक होते हैं । तब उन गोपों को निश्चय होगया कि श्रीकृष्ण साक्षात् ईश्वर हैं । श्लोक में—अपि—पद सम्भावना अर्थ का बोधक है । ईश्वर जब मित्र हैं तो अपने स्थान के दर्शन हमें करावेंगे ऐसी सम्भावना है । यदि प्रार्थना स्वीकार न करेंगे तो (हम उन्हें) दण्ड देंगे—ऐसा निश्चय करके उन गोपों ने मन में यह मनोरथ किया कि अपने स्वामी श्रीकृष्ण वैकुण्ठ नाम से अपने सूक्ष्म धाम को क्या हमारे पास लावेंगे, हमारे निकट अपने धाम को प्रकट करेंगे ? यद्यपि गोपों के पास उन का कोई ऐसा साधन नहीं था, तो भी भगवान् के ऐश्वर्य से ही यह वैकुण्ठ दर्शन रूप फल मिलेगा—ऐसा उन्होंने समझ लिया ॥१०॥

श्लोक—इति स्वानां स भगवान् विज्ञायाखिलहृक् स्वयम् ।

सङ्कल्पसिद्धये तेषां कृपयंतदचिन्तयत् ॥११॥

श्लोकार्थ—सर्वज्ञ अन्तर्यामी भगवान् स्वयं उन अपने भक्तों के मनोरथ को जान गए और उनकी अभिलाषा को सिद्ध करने के लिए कृपा पूर्वक यों विचारने लगे ॥११॥

सुबोधिनी—एवं तेषां चिन्तनानन्तरं यद् भगवांश्च-कार तदाहेतीति, स्वा भक्ताः, भवतेष्टं पूरणीयं यतः स

तेषामेवार्थं समागतो नापि तस्याशक्यं किञ्चिद् यतो भगवान्, ते तु स्वमध्य एव सङ्कल्पं कृतवन्तो न तु

प्राथितवन्तस्तथापि भक्तकामनापूरक इति तद् विज्ञायेतद्  
वक्ष्यमाणमचिन्तयदितिसम्बन्धः, ज्ञाने उपायान्वेषणादौ  
च सामर्थ्यमखिलदृगिति, सर्वमेव सर्वदैव स्वयमेव पश्यति  
न तु करणाद्यपेक्षाप्यतस्तेषा सङ्कल्पसिद्धये सङ्कल्प-

निर्वाहार्थमेतद् वक्ष्यमाणमचिन्तयन् किमेते साधने  
योजनीया आहोस्विन् मर्यादामुल्लङ्घ्य फलमेव देयमिति,  
तत्र साधनप्रवृत्तौ तेषां क्लेशः स्यादिति कृपया द्वितीयमेव  
पक्ष कर्तव्यत्वेनाचिन्तयदित्यर्थः ॥११॥

व्याख्यार्थ—गोपों के ऐसा मनोरथ करने पर भगवान् ने जो कुछ किया—वह इस—‘इति स्वानां’  
श्लोक से कहते हैं। गोप भक्त हैं। अपने भक्तों की इच्छा तो पूरी करनी ही चाहिए, क्योंकि भगवान्  
भक्तों के लिए ही पधारे हैं। भगवान् ऐश्वर्य आदि पूर्ण छः गुणों से युक्त हैं, इसलिए भगवान् के लिए  
कुछ अशक्य नहीं है। गोपों ने तो अपने (उनके) मन में ही विचार किया था, प्रार्थना तो की ही नहीं  
थी, तो भी निज भक्तों की कामना को पूर्ण करने वाले उनके संकल्प को जान कर इस प्रकार विचार  
करने लगे। मन की बात को जान लेने और उपाय को ढूँढ लेने में भगवान् स्वयं समर्थ हैं, क्योंकि वे  
अखिल दृष्टा हैं। वह सब को ही, सदा ही, स्वयं ही, बिना किसी साधन की अपेक्षा से ही, देखने  
वाले हैं। गोपों के मनोरथ को सिद्ध करने के लिए भगवान् ने सोचा कि गोपों से—बैकुण्ठ का दर्शन  
रूप फल की सिद्धि के लिए कोई साधन कराना चाहिए अथवा मर्यादा का उल्लंघन करके—बिना किसी  
साधन कराए ही—फल की प्राप्ति ही करा देनी चाहिए। साधन में लगाने से तो, इनको कष्ट होगा।  
इसलिए कृपा करके दूसरा पक्ष—बिना साधन के ही फल दान—को ही कर्तव्य रूप से विचारा ॥११॥

श्लोक—जनो वै लोक एतस्मिन्नविद्याकामकर्मभिः ।

उच्चावचासु गतिषु न वेद स्वां गतिं भ्रमन् ॥१२॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने विचार किया कि इस लोक में अविद्या (अज्ञान)  
जनित कामनाएँ और कामनाओं से उत्पन्न कर्मों के द्वारा ऊँची नीची गतियों में घूमता  
हुआ मनुष्य अपनी वास्तविक गति (स्वरूप) को नहीं जानता है ॥१२॥

सुबोधिनी—चिन्तामेवाह जन इति, एतस्मिँल्लोके  
यो जायते स सामान्यत एव न स्वगतिं जानाति,  
स्वगतिज्ञानानन्तरं दोषनिवृत्तिपूर्वकं तत्प्राप्त्युपायज्ञानं  
ततः क्रमेण यथाशास्त्रं साधनानुष्ठानं तत आत्मप्राप्ति-  
स्ततो ब्रह्मात्मभावस्ततो भक्तिस्ततो भगवज्ज्ञानं ततो  
मत्स्थानदर्शनमित्येतावदेतेषां जन्मकोटिभिरपि न भवति

यतः प्रथम एव पक्षे एतेनधिकृता इति, तदेवाह वै  
निश्चयेनास्मिँल्लोकेतितामसे जातोमेध्यपर्यवसायी न स्वां  
गतिं जानाति, तत्र हेतुरविद्याकामकर्मभिः, प्रथमतः  
पञ्चपर्वाविद्या जीवमावृत्य तिष्ठति ततस्तत्सम्बन्धात्  
कामस्ततो नानाविधानि कर्माणि तैरयं जायते तेन  
मूलाशुद्धः कथमुत्कृष्टां गतिं गच्छेत् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—इस ‘जनो वै’-श्लोक से भगवान् के विचार का वर्णन करते हैं। जो इस लोक में  
जन्म लेता है प्रायः वह अपनी गति को नहीं जानता है। अपनी गति को जान लेने के बाद अपने दोष  
को निवृत्त (दूर) करके उस (गति) की प्राप्ति के साधन का ज्ञान करना चाहिए। फिर क्रम से शास्त्र  
में कहे साधनों के करने से आत्म प्राप्ति होने पर, ब्रह्मात्मभाव होकर भगवान् में भक्ति हो और भक्ति

के द्वारा भगवान् का ज्ञान हो । इसके बाद मेरे (भगवान् के) स्थान का दर्शन हो सकता है । यह सब इन गोपों से करोड़ जन्मों तक भी नहीं हो सकता । इसलिए प्रथम-साधन-पक्ष में इनका अधिकार नहीं है । इसी बात को कहते हैं कि पूर्णरूप से इस अत्यन्त तामस लोक में जन्म लेने वाला दुष्टता के फल को प्राप्त करता हुआ मनुष्य अपनी गति को नहीं जानता है । इसका कारण यह है, कि पहले तो पंच पर्व अविद्या ने जीव को घेर रखा है । फिर अविद्या के सम्बन्ध से कामनाएँ होती हैं और इससे अनेक प्रकार के कर्मों को करता है । उन कर्मों के द्वारा यह उत्तम, अधम योनि में जन्म लेता रहता है । इस कारण से, जो मूल से अशुद्ध है, वह उत्कृष्ट गति को कैसे प्राप्त कर सकता है ॥१२॥

श्री गुसाँईजी का स्वतन्त्र लेख:—

शङ्का—व्रजवासी जन तो स्वरूपानन्द का अनुभव करते थे और जिस स्वरूप का वे अनुभव करते थे, उस वस्तु का ज्ञान भी उन को होना ही चाहिए । ऐसी दशा में फिर उनके मन में दूसरी वस्तु की अभिलाषा का होना कैसे संज्ञत हो सकता है ? कदाचित् यों कहा जाए कि स्वरूपानन्द का अनुभव करते हुए भी वे जैसे घर में स्थिति करके रह रहे थे, इसी प्रकार से, उनको दूसरी वस्तु की अभिलाषा करना भी संगत हो सकता है । तो प्रश्न होता है, कि फिर तो, उनकी घर में स्थिति भी संगत नहीं हो सकती, क्योंकि अनुभव की वस्तु स्वरूपानन्द तो सब से ही अधिक है । दूसरी शंका यह है, कि यदि व्रजजनों को किसी दूसरी वस्तु की अभिलाषा हो, तो भगवान् को वह पूरी करनी चाहिए, क्योंकि भगवान् ने स्वयं कहा है, कि \* जो मनुष्य जिस प्रकार से मेरी शरण आते हैं मैं उन का उसी प्रकार से भजन करता हूँ । तब फिर उन को वहाँ से निकाल कर अर्थात् उनकी अभिलाषा को पूरी न करके भगवान् ने स्वयं अपनी इच्छा से ही उन्हें भजनानन्द का दान (किस कारण से) क्यों दे दिया ? इन शंकाओं को दूर करते हुए कहते हैं, कि व्रजजनों का यह मनोऽर्थ प्रसङ्गवश है; क्योंकि, व्रज में रहने वाले सभी की भगवान् के सिवाय दूसरी गति ही नहीं है—यह, इस—‘जनो वै’, श्लोक से कहते हैं । इस समय में व्रज में रहने वाला मनुष्य मेरे सिवाय अपनी इस लोक तथा परलोक की गति दूसरी जानता ही नहीं है, वे तो निश्चित रूप से एक मुझे ही अपनी गति जानते हैं ।

जब यह कहा जाता है, कि व्रज जन भगवान् को ही एक मात्र अपनी गति जानते हैं, तो फिर उन्होंने—‘अपि नः स्वगतिं सूक्ष्मा’—इसी अध्याय के दशवें श्लोक में, दूसरी गति सम्बन्धी हृदय की अपनी अभिलाषा क्यों प्रकट की ? इस शंका का उत्तर—‘उच्चावचासु गतिषु भ्रमन्’—इन पदों से कहते हैं । उच्चा—उच्चगति वैकुण्ठ नामक मनोरथ रूप गति, अवचा—नीची गति तो लीला के अनवसर में निर्वाह के लिए घर आदि के सम्बन्ध वाली गति । अथवा गीता में † भगवान् के वाक्यानुसार उच्च अर्थात् पुरुषोत्तम और अवच (नीची) अक्षर तथा क्षर । इस प्रकार उच्च—पुरुषोत्तम से (अक्षर) वैकुण्ठ आदि सारी गतियाँ नीची है । उन गतियों में—वैकुण्ठ में मानसिक अभिलाषा से और घर आदि शरीर से भ्रमण करता हुआ भी व्रजजनकमल पत्र की तरह निर्लेप रह कर उन, वैकुण्ठ, घर आदि स्थानों में अपनी गति को नहीं जानता है । यह भाव है ।

\* ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् । गीता ।

† यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः । —प्रथितः पुरुषोत्तमः । गीता १५ अध्याय ।





श्लोक—इति सञ्चिन्त्य भगवान् महाकारुणिको विभुः ।

दर्शयामास लोकं स्वं गोपानां तमसः परम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—यों विचार करके करुणासिन्धु, सर्व समर्थ भगवान् ने अपने भक्त गोपों को माया से परे अपने लोक के दर्शन कराए ॥१३॥

सुबोधनी—किञ्चोच्चावचासु गतिषु परिभ्रमन्निपि वर्तते न तृप्तं प्राप्य ततोप्यग्रे गच्छति किन्त्वधमतामेव प्राप्नोत्यतः कारणविचारेण कार्यविचारेण वा न कोप्यस्याधिकार आत्मजाने तस्माद् यदेते वाञ्छन्ति तदेतेषामयोग्यमेवेति निश्चित्यापि प्रमेयबलमाश्रित्यापि

किञ्चित् प्रदर्शितवानित्याहेतीति, एवमनधिकारं सञ्चिन्त्य भगवान् सर्वकरणसमर्थोपि मर्यादारक्षकस्ततो महाकारुणिकश्च, करुणायां परमकाष्ठामापन्न उभयोरन्यतरनाशमाशङ्क्योभयमपि कर्तुं समर्थो विभुः स्वलोक दर्शयामास, एतादृशं वैभवं ममास्तीति ज्ञपयितुं तत्रैव

विना कारण ही भ्रमण कैसे होता है ? इस प्रश्न का उत्तर—‘अविद्याकाम कर्मभिः’—इस पद से देते हैं । यहाँ अविद्या शब्द का अर्थ भगवान् के माहात्म्य ज्ञान का अभाव है, भगवान् की शक्ति अथवा स्वरूप सम्बन्धी अज्ञान (अर्थ) नहीं है । अविद्या शक्ति तो माया से निमित्त हुई है और वह माया भगवान् की शक्ति है जो स्वयं भी ऽ लज्जा से भगवान् के दृष्टिपथ में—(सामने)—ही नहीं ठहर सकती, तो उस माया से निमित्त हुई अविद्या भगवान् के सम्बन्धी व्रजजनों को व्यामोह कैसे कर सकती है । तब तो अविद्या का कार्य अज्ञान तो इनमें उत्पन्न ही नहीं हो सकत है । माहात्म्यज्ञान का अभाव तो भगवान् ने अपनी इच्छा से किया है और वह लीला में उपयोगी है । इस लिए वह अज्ञान नहीं है । वास्तव में तो जैसे ब्रह्म ज्ञान में ब्रह्म से भिन्न पदार्थों के ज्ञान का अभाव (ज्ञान न होना) भी, ज्ञान रूप ही है, इसी प्रकार यहाँ भी भगवान् के स्वरूप, भजन में, माहात्म्यज्ञान प्रतिबन्धक होने से उस (माहात्म्य ज्ञान) का अभाव भी, भगवान् के स्वरूप का अंश ही मानना चाहिए ।

उस अविद्या—(माहात्म्य ज्ञान के अभाव) से, मनुष्य को दूसरे लोक की अभिलाषा रूप काम होता है और काम से लोक, जाति आदि में कहे गए गृह सम्बन्धी कर्मों को करता हुआ, प्रत्येक जीव इस प्रकार दोनों लोकों में भ्रमण करता रहता है । माहात्म्य ज्ञान हो जाने पर तो न अन्य लोककी कामना, न लौकिक कर्म अथवा लीला रस का अनुभव भी नहीं होता, किन्तु मुक्ति ही हो, इस कारण से, यह निश्चय होता है, कि ऐसा अज्ञान उत्पन्न करके भगवान् ने ही यह सब इतना किया है । अन्यथा (नहीं तो) अपने से भिन्न अपने भक्तों की अभिलाषा को पूर्ण करने के लिए स्वयं प्रयत्न भी न करें और देने योग्य स्वरूपानन्द का दान भी नहीं करें । फिर आगे भजनानन्द दान की तो बात ही क्या ? इसलिए भ्रमण करने में व्रजजनों का कोई दोष नहीं है, यह तो स्वयं भगवान् ने ही किया है—ऐसा मान कर श्री शुकदेवजी ने—व्रजजनों की भगवान् के घाम के दर्शन करने की इच्छा के अनुसार वेंकुण्ठ के दर्शन कराना और वहाँ से उन का उद्धार करने के लिए स्वयं अत्यन्त करुणा पूर्ण होना—यह कहने के लिए—इस श्लोक से भगवान् के अभिप्राय का वर्णन किया है । इस लिए ये सब उचित ही है ।

लेख—‘जनोवै’, इस श्लोक की व्याख्या में—‘ते तु ब्रह्महृद’—इस पन्द्रहवें श्लोक की टिप्पणीजी में द्वितीय व्याख्या में साधारण रीति प्रकट की । ऐसा कहा गया है ।” इस कारण से यहाँ यह कहा है ।

स्थित्वा न तु क्वचिद् गत्वा यतस्ते गोपा मित्राणि  
धर्मपराश्च, यत्र ते भगवन्तमेव पश्यन्ति तत्र किमाश्चर्यं  
तस्य लोकं द्रक्ष्यन्तीति, भगवतो बहवो लोकाः सन्तीति  
तद्व्यावृत्त्यर्थमाह तमसः परमिति प्रकृतेरप्युपरि 'तम

आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेत' मिति श्रुतेः, तस्यापि तमसो  
वस्तुविचारेण भगवत्त्वमुक्तं, ततोऽप्यग्रे व्यापिवैकुण्ठारूपं  
तत् प्रदर्शितवान् ॥१३॥

व्याख्यानार्थ—ऊँची नीची गतियों में भ्रमण करता हुआ भी जीव, किसी उत्तम गति को प्राप्त करके, उस से आगे तो जाता नहीं किन्तु अधमता को ही प्राप्त करता है । इसलिए कारण अथवा कार्य के विचार से इस मनुष्य का आत्म ज्ञान में कुछ भी अधिकार नहीं है । इस कारण से, ये ब्रजवासी जो चाहते हैं, उस के लिए तो ये अयोग्य ही हैं—ऐसा निश्चय करके प्रमेय बल का आश्रय लेकर भी भगवान् ने उन्हें कुछ दर्शन कराए—यह इस 'इतिसंचिन्त्य' श्लोक से कहते हैं । इस प्रकार उन ब्रज जनों को अनधिकारी सोच कर सब कुछ करने में समर्थ भी भगवान् ने—मर्यादा की रक्षा और अपनी अतिशय करुणा पूर्णता—दोनों की रक्षा करते हुए ही अपने लोक के दर्शन करा दिए । भगवान् ने ब्रज में रहकर ही ब्रज जनों को वहाँ ही अपना वैभव दिखला दिया । वे गोप, मित्र और धर्म परायण हैं । इस कारण से, उन्हें कहीं वैकुण्ठ आदि में न लेजा कर ब्रज में ही निज लोक के दर्शन करा दिए । जब वे साक्षात् भगवान् के ही दर्शन करते हैं तो फिर उन के लोक के वे दर्शन करें—इस में आश्चर्य ही क्या है ?

भगवान् ने अपने असंख्य लोकों में से किसी एक साधारण लोक के ही दर्शन नहीं करा दिए, किन्तु (तमसः परम्) प्रकृति से भी ऊपर के लोक का दर्शन कराया । तमस—(अन्धकार)—या और उस से गूढ़ आगे ज्ञान था—इस श्रुति के अनुसार वस्तु विचार से तमस् को भगवद्रूप ही कहा है । उस से भी आगे स्थित व्यापि वैकुण्ठ के दर्शन कराए ॥१३॥

श्लोक—सत्यं ज्ञानमनन्तं यद् ब्रह्म ज्योतिः सनातनम् ।

यद्धि पश्यन्ति मुनयो गुणापाये समाहिताः ॥१४॥

श्लोकार्थ—जो ब्रह्म लोक सत्य, ज्ञान, अनन्त, स्वयं प्रकाशमान और नित्य सनातन है । जिस का मुनिजन भी मनन के द्वारा निर्गुण और एकाग्रचित होकर ही दर्शन कर सकते हैं ॥१४॥

योजना—'इति संचिन्त्य'—इस श्लोक की व्याख्या में—'उभयो—रन्यतरनाशमाशङ्क्य'—पदों का अर्थ यह है, कि मर्यादा की रक्षा करना और महाकारुणिक भाव—दोनों में से एक के न रहने की शंका करके, अर्थात् बिना साधन के ही फल का प्रदान कर देने पर तो, मर्यादा की रक्षा और साधन करने पर ही फल देने से, महाकारुणिक भाव का भङ्ग होने की शंका करके, अपने प्रमेय बल से दोनों का भङ्ग न करके स्वधाम के दर्शन कराए ॥१३॥

सुबोधिनी—मायोद्घाटनेन तस्य स्वरूपमाह सत्य-  
मिति अक्षररूपं तत्, यदा भगवानीश्वरत्वेन तेषां हृदये  
जातस्तदाक्षरमपि लोकत्वेनाविभूतमन्यथा तस्य कृत्रिमत्व  
स्यात् स्वरूपं च तस्य सत्यं ज्ञानमनन्तं देशकालापरि-  
च्छिन्नमवाधितज्ञानरूपतापरिच्छिन्नता चोक्ता, ग्रन्थानपि  
तत्रत्यान् गुणान् वक्तुं प्रमाणमेवातिदिशति यद् ब्रह्मेति,  
यद् वैकुण्ठस्य 'सर्ववेदान्तप्रत्ययं' यद् ब्रह्मैव, अनेन  
बृहत्त्वं बृंहणत्वं चोक्तं प्रामाणिकत्वं च गुणोपसंहार-  
न्यायेन सर्वे गुणाश्च, दोषाभावार्थमाह ज्योतिरिति,  
तत्, स्वप्रकाशं कोटिसूर्याधिकप्रकाशरूपं, न चैतदिदानी-  
मेवैवं जातमिति शङ्कनीयं, यतः सनातनमनोदिसिद्धिर्द-  
मेतादृशमेव, ननु तर्हि सगुणं भवतु वैलक्षण्यप्रतीतेर-

त्रिकृतेनुवाच एकरसे ब्रह्मणि लोकत्वानुपपत्तेरित्या-  
शङ्क्याह यद्वि पश्यन्तीति, तत् तादृशं स्वभावत एवेति  
मन्तव्यं, गुणेष्वगतेषु यत् सामर्थ्यं यानुपपत्तिश्च परिहृता  
भवति सा स्वरूपेणैव परिहृतव्या सर्वभवनसमर्थ  
स्वरूपमेवेति, ननु कोयं निर्बन्धो गुणेन वा तथास्तु  
विनिगमनाभावादिति चेत् तत्राहुर्न वैकुण्ठस्य  
भगवत्स्थानं मुनयो मननशीला अपि गुणापाय एव  
पश्यन्ति, मनने क्रियमाणे यदावस्थान्नय गुणकार्यं  
बुद्ध्यादयोपि स्वभावगुणा अपि यदा विलीना भवन्ति  
तदा निर्गुणावस्थायां प्राप्तायां पश्चादविभूतं तत्  
पश्यन्ति, तत्रापि सावधाना अतस्तदष्टांगोपि यदा  
गुणातीतास्तदा का वार्ता तस्य सगुणत्वे ॥१४॥

व्याख्यार्थ—माया के परदे को हटा कर उस ब्रह्म लोक के स्वरूप का वर्णन इस, 'सत्यं'  
श्लोक से करते हैं। वह धाम अक्षररूप है। भगवान् जब उनके हृदय में ईश्वर रूप से प्रकट हुए।  
तब अक्षर का भी लोक रूप से आविर्भाव (प्राकट्य) हुआ। यदि लोकरूप से प्रकट नहीं होता, तो  
उस में कृत्रिमता-बनावट-होती। उस का स्वरूप सत्य, ज्ञान, और अनन्त है। देश, काल से  
अपरिच्छिन्न, अवाधित ज्ञान रूप और असीमित (किसी प्रकार की सीमा से रहित) है। उस ब्रह्म  
लोक के और भी गुणों को कहने के लिए श्लोक में, 'तद् ब्रह्म' इन पदों से प्रमाण का निर्देश करते  
हैं। वैकुण्ठ नाम से प्रसिद्ध तथा सब वेदान्त शास्त्रों से जिसका ज्ञान होता है, वह ब्रह्म है। इस प्रकार  
गुणोपसंहार न्याय से, व्यापकता प्रामाणिकता और सभी गुणों का वर्णन कर दिया। 'ज्योति'-वह  
दोषों से रहित, स्वयं प्रकाश तथा करोड़ों (अनन्त) सूर्यों से भी अधिक प्रकाश वाला है। वह  
इसी समय ऐसा (हुआ) हो गया हो-ऐसी बात नहीं, है किन्तु सनातन अनादि काल से  
ऐसा ही है।

शङ्का—ब्रह्म तो विलक्षण, अविकारी, सदा एक रस और सम (ऊँच नीच भाव से रहित) है,  
वह लोक रूप कैसे हो सकता है? और यदि लोक रूप है तो वह सगुण होगा? इस प्रश्न के उत्तर  
में-यद्वि पश्यन्ति-ये पद श्लोक में कहे हैं। तात्पर्य यह है, कि उस ब्रह्म लोक को स्वभाव से ही ऐसा  
मानना चाहिए। सगुण (गुणों के आने) होने पर जिस शक्ति की प्राप्ति और जिस अयोग्यता का  
दूरी करण (परिहार) हो, उस का परिहार स्वरूप (प्रमेय) बल से ही कर लेना चाहिए। वह स्वरूप  
ही सब रूप होने में समर्थ है। यदि यह कहा जाए कि ब्रह्म लोक को स्वरूप से ही इस प्रकार का  
मानने में कोई भी विशेष कारण नहीं मिलता, इस लिए वह सगुण होने के कारण से ही लोक रूप  
होता होगा। इस से, यहाँ उसे स्वरूप से ही इस प्रकार का मान लेने का आग्रह क्यों करना चाहिए?  
इस के उत्तर में कहते हैं कि मननशील मुनिलोग भी उस वैकुण्ठ नामक भगवान् के दर्शन सगुणभाव  
से दूर (निर्गुण) होकर ही कर सकते हैं। मनन करते करते जब मुनिजनों की-गुणों की कार्य भूत  
जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्था, बुद्धि आदि वृत्तियाँ भी और स्वभाव के गुण भी सर्वथा विलीन हो जाते  
हैं, तब ही प्रकट हुए उस ब्रह्म लोक के वे दर्शन कर सकते हैं। ऐसे गुणातीत भी मुनिजन सावधानी

से ही, उस को देख सकते हैं । इस प्रकार जब ब्रह्म लोक का दर्शन करने वाले मुनिजन तक भी गुणातीत हैं तो फिर वह-ब्रह्म लोक-सगुण कैसे कहा जा सकता है ॥१४॥

**श्लोक—**ते तु ब्रह्महृदं नीता भग्नाः कृष्णो न चोद्धृताः ।

ददृशुर्ब्रह्मणो लोकं यत्राक्रूरोध्यगात् पुरा ॥१५॥

**श्लोकार्थ—**भगवान् उन ब्रजवासियों को ब्रह्महृद में ले गए । वे वहाँ उस सरोवर में मग्न हो (डूब) गए । भगवान् ने उन का उद्धार किया । उस अवस्था से उन को हटाया । जिस स्थान पर, पहले अक्रूरजी ने भी यमुना जल के भीतर भगवत्स्वरूप के दर्शन किए थे, गोपों ने उस ब्रह्म लोक के दर्शन किए ॥१५॥

**सुबोधिनी—**ततो दर्शनानन्तरं सर्वत्रैव तत् प्रकटं जातमिति गोकुलस्य सर्वस्यापि विलय एवाभूदतोऽग्रे लीला बाधिता स्यादिति पुनस्तेषां प्रत्यापत्त्यर्थं यत्नमाह ते त्विति, लोकस्य तिरोभावेऽपि तदात्मकांशस्य लोकस्य न तिरोभावः काष्ठाग्निवत्, तेषां पुनः काष्ठतार्धज्वलितानामपि सम्पादनीयान्यथाग्रे लीला नोपपद्येत, तच्च वेदात्मके ब्रह्मणि योजिते भवति, तद्वि तस्य जलात्मकं, भूत एव शब्दब्रह्मणो जलरूपता कचित् प्रकटीकृता तत्कार्यमिदमग्रे च वक्ष्यति, अतोक्षरात्मकानेतान् ब्रह्महृदे नीत्वा स्नानं कारितवान्, तदंशेषु स्थितोऽपि लोकस्तिरोहितस्तत्रापि नीताः पुनर्भग्ना जाताः,

उत्तमाधिकारिणो हि ते शब्दब्रह्मात्मका एव जाताः, क्रमश्चायं परब्रह्म तदुच्यं शब्दब्रह्म तदुक्तं जगदिति, अत एवादूरविप्रकर्षेण ज्ञापकं, ततोऽपि भगवता त उद्धृताः, चकाराद् वेदैरपि भगवदाज्ञया, अन्यथा प्रमाणगृहीता लीलायां नोपयुक्ता भवेयुः, तद्यत्तावत् कृतं व्यर्थमेवासीदित्याशङ्क्य प्रयोजनार्थं जातमित्याह ददृशुरिति, शब्दब्रह्मणो लोकं ददृशुर्यतस्तदाद्रनयनास्तस्य न तावन्मात्रपरत्वमिति ज्ञापयितुं राजानं प्रति शुक आह यत्रैव स्थानेऽक्रूरः पुरा पूर्वमध्यगाद्, भगवत्स्वरूपमधीतवान् जातवानित्यर्थः, प्रमाणतस्तत्रैव परिज्ञातवानत एतेषामपि प्रमाणतो ज्ञानं कारणीयमिति तथा कृतवान्,

**व्याख्यानार्थ—**दर्शन होने के बाद वह ब्रह्म लोक जब सब ही जगह प्रकट हो गया, तब तो सारी ही गोकुल के लीन ही हो जाने पर आगे की जानी वाली लीला नहीं होगी । अतः भावी लीला की

**योजना—**‘सत्यं ज्ञानमनन्तं’—इस श्लोक की व्याख्या में—‘यद् वैकुण्ठाख्यं, सर्वं वेदान्तप्रत्ययं यद् ब्रह्मैव’—आदि पदों का आशय यह है । गीता † हमें अक्षर को गति-प्राप्त करने योग्य-धाम रूप कहा है । यहाँ \* श्री भागवत में भी अक्षर ब्रह्म को इसी प्रकार धाम बतलाया है और ‡ बृहद्भामनपुराण में वैकुण्ठ को ब्रह्मानन्दमय कहा गया है ॥१४॥

† अक्षरलोक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमो गतिम् । यद् गत्वा न निवर्तन्तेतद्धाम परमं मम । गीता ।

\* तदाहुरक्षरं ब्रह्म सर्वं कारणकारणम् । विष्णोर्धाम परं साक्षाद् पुरुषस्य महात्मनः । भाग ।

‡ ब्रह्मानन्द मयो लोको व्यापि वैकुण्ठ संज्ञकः—बृ--वा--पुराण ।

सिद्धि के लिए भगवान् ने ही उन व्रज वासियों को पहले जैसी स्थिति में लाने का प्रयत्न किया। यह—‘ते तु ब्रह्महृद’—इस श्लोक से कहते हैं। जिस प्रकार काष्ठ में रहने वाली अग्नि का तिरोभाव नहीं होता, उसी तरह लोक का तिरोभाव हो जाने पर भी उस लोकात्मक अंश लोक का तिरोभाव नहीं हुआ। आगे जले हुए काष्ठ को पहले की सी स्थिति में लाने की तरह उन व्रजवासियों को भी पहली अवस्था में ले आना चाहिए, जिस से आगे की लीला हो सके। उन की वह पहले जैसी स्थिति वेदात्मक ब्रह्म में उन का योग करने पर ही हो सकती है। वह वेदात्मक ब्रह्म जल रूप है। इसी कारण से कहीं कहीं शब्द ब्रह्म जल रूप कहा है। यह लोक उस शब्द का कार्य है, जो आगे कहा जाएगा। इस लिए अक्षर ब्रह्म रूप हुए व्रजवासियों को भगवान् ने ब्रह्महृद में लेजाकर उस में स्नान करवाया। तब उनमें रहने वाले उस वैकुण्ठ लोक का तिरोभाव हो गया। वहाँ गए भी वे उस में डूब गए। वे उत्तमाधिकारी होने के कारण, शब्द ब्रह्म रूप ही हो गए।

यहाँ यह क्रम है कि प्रथम परब्रह्म, परब्रह्म से शब्दब्रह्म हुआ और उस शब्दब्रह्म से जगत् उत्पन्न हुआ। इसीलिए यह समीप और दूर से ब्रह्मरूप का सूचक है। भगवान् ने वहाँ से भी उन को निकाला। यदि उन व्रजवासियों का उद्धार वहाँ से नहीं करते तो वेद प्रमाणस्त वे लीला के उपयोगी नहीं होते। भगवान् की आज्ञा से वेदों ने भी उन का उद्धार कर दिया। भगवान् ने उनके साथ जो इतना किया वह व्यर्थ था क्या? इस का समाधान—‘ददृशुः’—इत्यादि पदों से करते हैं। इस सब करने का प्रयोजन यह है कि गीले नेत्र वाले भी उन्होंने शब्द ब्रह्म लोक के दर्शन कर लिये। उस शब्द ब्रह्म को निःसीम (व्यापक) बताने के लिए श्री शुकदेवजी राजा से कहते हैं, कि जिस स्थान पर पहले प्रमाणबल से अकूरजी को भगवत्स्वरूप का ज्ञान हुआ था। इन व्रजवासियों को भी, प्रमाण से ही उसी स्थान पर भगवत्स्वरूप का ज्ञान कराने के लिए, भगवान् ने इस प्रकार किया ॥१५॥

कारिका—ब्रह्मानन्दान् महानन्दो भजने वर्तते स्फुटः ।

तारतम्यं च विज्ञातुं प्रदर्शयोद्धृतवांस्ततः ।

कारिकार्थ—ब्रह्मानन्द की अपेक्षा भजन में अत्यधिक आनन्द प्रकट रहता है। इस प्रकार ब्रह्मानन्द से भजनानन्द का उत्कर्ष—दोनों का न्यूनाधिक भाव—बताने के लिए दर्शन कराकर फिर वहाँ से उनका उद्धार किया ॥

टिप्पणी—व्याख्या में—‘विलय एवाभूत्’—आदि पदों का अभिप्राय यह है, कि जिस तरह प्रकट अग्नि का सम्बन्ध होने पर काष्ठ के भीतर रहने वाली अग्नि प्रकट होकर उस काष्ठ को भी अग्निरूप बना देती है और काष्ठ का विलय हो जाता है इसी प्रकार अक्षरात्मक उस लोक के आनन्द रूप का सभी जगह आविर्भाव हो गया और उन सब व्रजवासियों के देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण तथा आत्मा में भी आनन्द के प्रकट हो जाने पर उन के देहादिकों के आनन्दरूप हो जाने से, उनके देहादि भाव का विलय ही हो गया। तब उनका—प्रत्यापत्यर्थ—पूर्व भाव प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया। आनन्दांश का सब जगह ‘तदात्मकांशस्य’ आविर्भाव होने पर उनके देहादि में भी आनन्द प्रकट हो गया। इस में दृष्टान्त यह है कि जैसे ‘काष्ठाग्निवत्’ लकड़ी में रही अग्नि को

प्रकट करने के लिए बाहर की अग्नि का संयोग आवश्यक होता है ।

‘अर्घज्वलितानां—(आगे जले हुए) इत्यादि पदों का तात्पर्य यह समझना चाहिए, कि उन ब्रजवासियों के मनोरथ को पूर्ण करने तथा ब्रह्मानन्द की अपेक्षा भजनानन्द में उत्कर्ष को बताने के लिए भगवान् ने उन्हें अपने लोक के दर्शन कराए । इस दर्शन का स्मरण रहने पर ही इस न्यूनाधिक भाव का ज्ञान आगे रह सकता है और वह स्मरण भी तरतमभाव का अनुभव होने पर ही हो सकता है । इसलिए इन ब्रजवासियों को अभी ब्रह्मानन्द का अनुभव भी होना उचित है । वह अनुभव उस से अगना भेद जाने तब ही हो सकता है । इस प्रकार से, आनन्दात्मकता और भेदज्ञान पूर्वक अक्षरानन्द का अनुभव—इन दोनों के एक साथ होने से अर्घज्वलित भाव जानना चाहिए । फिर पीछा काष्ठ भाव प्राप्त होना कहने का अभिप्राय यह है कि पहले उनके देहादि में प्रकट हुए लोक का तिरोधान हो जाने पर, उस लोक के सम्बन्ध से होने वाले आनन्दात्मक भाव का भी तिरोधान हो गया और वे पहले जैसी स्थिति को प्राप्त हो गए । यदि—(अन्यथा)—उन को पहले की सी स्थिति में नहीं लाते तो आगे की लीला नहीं हो सकती थी । वह उन की पूर्व जैसी स्थिति, उन का वेदात्मक ब्रह्म में योग करने पर सम्भव है ।

कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार जली हुई लकड़ी फिर पीछी काष्ठ रूप में नहीं बदली जा सकती इसी प्रकार आनन्दात्मक रूप को प्राप्त ब्रजवासियों के देहादि फिर लौकिक—(जड़भाव)—को प्राप्त नहीं हो सकने के कारण उनका आगे की लीला में उपयोग नहीं हो सकता है । इसलिए देहादि भाव उन की प्रकृति—(स्व-भाविक) नित्य स्थिति है और (सदा नहीं रहने वाली) मुक्ति अवस्था विकार रूप है । इस प्रकार इन की उस विकार रूप स्थिति (मुक्ति अवस्था) को दूर करके स्वाभाविक नित्य स्थिति में लाना आवश्यक है और वह वेदब्रह्म से ही हो सकती है । यह वेदब्रह्म मर्यादारूप नहीं है । इसलिए उन ब्रजवासियों को देहादिभावरूप साधारण स्थिति प्राप्त करा कर भजनानन्द का अनुभव कराना भी मर्यादा का कार्य नहीं है । यदि यह वेदब्रह्म भी मर्यादामध्यपाती ही होता तो इन ब्रजवासियों की स्वाभाविक देहादि भाव (लौकिक) प्रकृति भजनानन्द का अनुभव नहीं कर सकती । इसलिए जैसे कोई तालाब नदी के भीतर रहता हुआ भी, नदी के प्रवाह से अलग और सदा अतिनिर्मल होता है । उस निर्मल जल में मकरन्द बरसाने वाले कमलों को उत्पन्न करता है और अपने भीतर पड़े-हुए पदार्थों को भी निर्मल जल से भर देता है । इसी प्रकार वह वेद ब्रह्म वेद के भीतर रहता हुआ भी, मर्यादा मार्ग से भिन्न होकर स्वयं ब्रह्म रूप है और निर्दोष भजनानन्द का अनुभव कराने वाले विचित्र भावों को उत्पन्न करता हुआ पुष्टिमार्गीय ही है । इसी अभिप्राय से मूल में वेद को ब्रह्मरूप और जल को तालाब रूप—दोनों रूप से कहा है । यही व्याख्या में—‘तद्धितस्य जलात्मकम्’, (वही जल रूप है) इत्यादि पदों से कहा है ।

वह लोक अक्षर रूप है । इसलिए ब्रह्महृद पद उसके (अक्षर)—आनन्द का वाचक है—ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि ब्रह्मानन्द अथाह और—हृद (तालाब) अल्प है । इस लिए दोनों में महान् अन्तर होने के कारण यह ‘ब्रह्म हृद’ पद अक्षर के आनन्द का वाचक नहीं माना जा सकता । यहाँ आनन्द पद का प्रयोग न करके ‘हृद’ पद के कहने का तात्पर्य ऊपर बताया हुआ उसका पुष्टिमार्गीय रूप ही है । अक्षर का निरूपण तो पहले कर दिया गया है । इस लिए यहाँ ब्रह्म पद का अर्थ अक्षर नहीं है । बीच में उसका शब्द ब्रह्म में योग करने का कारण व्याख्या में—‘प्रमाणतोज्ञानम्’—इत्यादि पदों से कहा है । इस प्रकार यहाँ तालाब रूप कहना और उसमें डूबना (मग्न होना) बतलाने से शब्दब्रह्म को जल रूप भी मान लेना चाहिए । इसी कारण से, उस शब्द ब्रह्म को जल रूप से किसी स्थान पर कहा गया है । यह शब्द ब्रह्म भी व्यापक है । इस लिए कहीं गोकुल के निकट प्रकट करना तात्पर्य है । ब्रजजनों को पूर्व स्थिति में लाना और प्रमाण के द्वारा उन्हें ज्ञान देना रूप दोनों

कार्य शब्द ब्रह्म से ही हो सकते हैं। इस लिए उस (शब्द ब्रह्म) को प्रकट करने की आवश्यकता है। इस विषय में युक्ति कहते हैं कि जहाँ अक्रूरजी को ज्ञान प्राप्त हुआ था वही शब्द ब्रह्म रूप जल के भीतर भगवान् के स्वरूप का ज्ञान पहले अक्रूरजी को हुआ था। वे व्रजजन उत्तम अधिकारी थे, इस लिए उसमें डूबने पर वे शब्दब्रह्म रूप ही हो गए। यहाँ पर यह शंका होती है, कि यदि शब्द ब्रह्म रूप जल से उनका उद्धार करना आवश्यक था, तो पहले की स्थिति में से उनका उद्धार करके, उन्हें अपना प्रकृति भाव (स्वाभाविक रूप) प्राप्त क्यों नहीं करा दिया? इसके समाधान में कहते हैं कि अपनी की हुई मर्यादा को स्थापन करने के लिए ऐसा किया है। कम यह है, कि पहले परब्रह्म अपने में स्थित शब्द ब्रह्म को अलग करता है और फिर वह शब्द ब्रह्म जिस वस्तु को अपने से अलग करता है, वह जगद्रूप होता है। कहने का अभिप्राय यह है, कि जिस जगत् का साक्षात् लीला में उपयोग होता है वह तो सच्चिदानन्द स्वरूप है और वह भगवान् के स्वरूप में ही स्थित रहता है, किन्तु वह बाहर लीलारूपी कार्य नहीं कर सकता है। इस लिए भगवान् क्रीड़ा करने की इच्छा से उस को अपने स्वरूप में से अलग करते हैं।

उस आनन्द स्वरूप से अलग हुआ वह जगत् अपने सहज स्वरूप से बिछड़ा हुआ सा होकर कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं होता। तब अलौकिक प्रवृत्ति निवृत्ति के द्वारा अलौकिक अर्थ सिद्ध करने में समर्थ शब्द ब्रह्म है। इस कारण से यह मान कर—कि यदि यह स्वरूप से अलग किया जगत् शब्द ब्रह्मरूप हो जाए तो यह लीला में उपयोगी प्रवृत्ति और निवृत्ति के योग्य हो सके। उस जगत् को शब्द ब्रह्म रूप किया। इस प्रकार जब वह अलौकिक प्रवृत्ति निवृत्ति के योग्य हुआ तब वह शब्दब्रह्मात्मक रूप होने से, प्रमाण रूप हुआ। लीला में तो प्रवृत्ति निवृत्ति स्नेह के आधीन है। इस लिए जगत् की उस शब्दब्रह्म रूपता का लीला में उपयोग नहीं होने के कारण व्रजजनों का वहाँ से भी उद्धार किया। यही बात व्याख्या में—‘अन्यथा प्रमाण-गृहीताः’—इत्यादि पदों से कही है। यदि व्रजजनों का उस प्रमाण रूप शब्दब्रह्मात्मक जगत् से उद्धार नहीं करते तो प्रमाणग्रस्त, वे व्रजजन लीला में उपयोगी नहीं होते, क्योंकि लीला तो स्वतन्त्र है और प्रमाण के आधीन हुए वे वेद में बताए कर्म को ही करते उसके अतिरिक्त कोई भी कर्म नहीं करते, तो इन का लीला में उपयोग होता ही नहीं। अथवा यों समझिये कि प्रमाण मार्ग में चलने वालों का चित्त प्रमाण के वशीभूत हो जाता है और फिर उसका लीला में प्रवेश करने का अधिकारी नहीं रहने के कारण, वह पुष्टि लीला में उपयोग नहीं होता।

‘तदार्द्रनयताः’—जल में डूबने वालों के नेत्र गीले हो ही जाते हैं। यहाँ, यह जल ऊपर बताए प्रमाण के अनुसार शब्दब्रह्मरूप है। इस से वेद में भगवान् का स्वरूप जैसा सिद्ध है वैसे स्वरूप के ही वे अपनी दृष्टि से दर्शन कर हैं—यही नेत्रों का गीलापन है। अथवा दर्शन करते समय आनन्द के आँसुओं से भी नेत्रों का भीगना समझ चाहिए। इस सारे कथन का सार रूप गूढ़ रहस्य व्याख्या में—‘ब्रह्मानन्दात्—(ब्रह्मानन्द से भजनानन्द में अत्यधिक आनन्द है) इत्यादि कारिका में कहा है।

अथवा—‘ते तु ब्रह्महृदं नीताः’, इस श्लोक का अर्थ यह भी हो सकता है। इस की व्याख्या में—‘ततो दर्शनान्तर’—इत्यादि पदों का आशय यह है, कि यद्यपि अक्षरानन्द की अपेक्षा लीलात्मक आनन्द अधिक है, किन्तु तो भी, वे व्रजजन लीला रूप तथा लीला के मध्यपाती होने, तथा अब त अक्षरानन्द का अनुभव न करने के कारण, उन को इन लीलानन्द और अक्षरानन्द के अधिक न्यून भाव का ज्ञान नहीं था। भगवान् तो यद्यपि लोक के भीतर विराज कर ही लीला कर रहे थे, तो भी व्रजजन तो अपने आपक दूसरे लोक की तरह—साधारण लोक मान रहे थे। इसी से, उन का ऐसा, ‘ब्रह्मलोक दर्शन’ का मनोरथ हुआ उन के इस मनोरथ को पूर्ण करने के लिए भगवान् ने अपने लीलात्मक अश को मृष्टी में बन्द सा (छिपा) कर

साधारण रीति प्रकट की, जिस में तो जीवों के भीतर केवल सत्, चित् अंशों का प्राकट्य होता है । आनन्द अंश का तिरोभाव रहता है । जब जीवों में उस आनन्द अंश का प्राकट्य हो जाता है, तब अक्षरानन्द का अशरूप ब्रह्मभाव सिद्ध होता है ।

जिस प्रकार बाहर की आग के सम्बन्ध से लकड़ी के भीतर छिपी आग बाहर प्रकट हो जाती है, उसी प्रकार अक्षरानन्द के प्रकट हो जाने पर जीवस्वरूपात्मक आनन्द भी प्रकट हो जाता है । तात्पर्य यह है, कि जीवस्वरूप के भीतर रहा हुआ आनन्दांश भी-लीला रूपी काष्ठ के बाहर के अंश में ही अग्नि भाव की तरह-प्रकट हो गया । इसी को व्याख्या में विलय शब्द से कहा है । इन व्रजजनों में भगवान् के आगे की लीला करने की जो इच्छा थी उसी लीला रूप काष्ठ के गीलापन के कारण वे अक्षरानन्द रूप नहीं हो सके । बाह्य अंश के स्थान पर केवल जीव भाव ही बना रहा । इसी को व्याख्या में अर्धज्वलितरूप कहा है । पुनः काष्ठ रूप में ले आना, यह है कि अक्षरानन्द का अनुभव करने के लिए लीलात्मक भाव और लीलात्मक कार्य करने के लिए जो उन्मुखता का अभाव और साधारण रीति प्रकट की थी, उसको दूर करके फिर पीछा लीलात्मक कार्य में तत्परता सम्पादन कर देना ही ज्वलित काष्ठ को पुनः काष्ठ रूप में ले आना है । यह कार्य शब्द ब्रह्म के द्वारा ही किया जा सकता है, क्योंकि देहादि का अध्यास वालों के लिए ही वह शब्द ब्रह्म देह धर्म कर्म ज्ञान उपासनायुक्त वर्णाश्रम धर्म का निरूपण करता है । इस शब्द ब्रह्म के सम्बन्ध से अक्षरानन्द के प्रकट होने पर प्रकट हुआ वह जीव का स्वरूपात्मक आनन्द छिप जाता है और पीछा जीव भाव सिद्ध हो जाता है । यह पीछा जीव भाव प्राप्त होना ही यहाँ लीला में उपयोगी होना है । मूल में ब्रह्म को हृद-तड़ाग-कहा है । वह जल रूप होने के कारण से जलात्मक कहा जाता है । जल अग्नि को बुझा (शान्त कर) देता है । इसी से, अक्षरात्मक रूप को अग्नि कहा है । इसी लिए कहीं गोकुल के निकट में ही कभी जलरूप शब्द ब्रह्म को प्रकट कर देने से उनका वह अग्नि रूप अक्षरात्मक भाव दूर हो (छिप) गया । इस विषय में व्याख्या में—‘अग्रे च वक्ष्यति’—पदों से प्रमाण दिया है ।

‘यत्राकूरोऽध्यगात् पुरा’—अकूर को पहले जलमें ही शब्द ब्रह्म का ज्ञान होने से और यहाँ उसको ब्रह्म हृद कहने से शब्द ब्रह्म को—बिना किसी संकोच के—जलरूप मानना ही होगा । उसमें स्नान करना कहने से, सब अंशों में उसका सम्बन्ध सूचित होता है । हृद (तड़ाग) में ले जाना कहने से ही, तालाब का सम्बन्ध सिद्ध हो जाने पर भी, फिर उसमें डूबना बतलाना,—‘शब्दात्मका एव जाताः’—उनका जलरूप—‘शब्दात्मकभाव’—होना सूचित करने के लिए है । क्रमश्चायम्—पुष्टिमार्ग में प्रवेश करने का यह क्रम है । शब्द ब्रह्म की अपेक्षा अक्षर ब्रह्म पर—उत्कृष्ट—होने के कारण अक्षर ब्रह्म को ही परब्रह्म कहते हैं । उस पर ब्रह्म को मुक्त जीव ही \* प्राप्त कर सकते हैं । इस लिये ब्रह्म भाव उत्पन्न हुए जीवों को ब्रह्म भाव अथवा वैकुण्ठ से अलग करके उनका फिर पीछा देहादि सम्बन्ध कराना मर्यादा श्रुतियों † के विरुद्ध है । तथापि, उन व्रजजनों को ब्रह्म भाव अथवा वैकुण्ठ से अलग करके उनके लिए पुष्टि लीलारूप जगत् (भगवान् ने) सम्पादन कर दिया ।

‘अत एव’.—इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है, कि पुरुषोत्तम का स्वरूप साक्षात् कहना (प्रत्यक्षतया वर्णन करना) अशक्य है, कार्य द्वारा अथवा अपने अनुभव के ज्ञान के द्वारा ही जाना जा सकता है । उसका ज्ञान जिस तरह होता है, उस प्रकार का वर्णन—मनोरथान्त श्रुतयो यथा ययुः (२९, १३)—इस दृष्टान्त की व्याख्या में

\* मुक्तोपस्थ व्यपदेशात् (अ. सू. १।३।२) ।

† न स पुनरावर्तते (छा ८।१५) ।





विस्तार से करेंगे। श्लोक में 'च' का आशय यह है, कि मर्यादा का निरूपण करने वाले वेदों को तो ब्रह्मानन्द में मग्न (डूबे हुए) जीवों को उससे अलग निकाल देना सम्मत नहीं है, तो भी श्रीकृष्ण की आज्ञारूप पुष्टिश्रुति की सम्मति हो जाने के कारण वेदों ने उन्हें अपने (ब्रह्मानन्द से) अलग कर दिया, क्योंकि वेद यह जान गए कि पुष्टिलीला में परिगृहीत जीवों पर उनका अधिकार नहीं है केवल मर्यादामार्गीय जीव ही उनके विषय हैं। इसीलिए व्याख्या में—“वेदैरपि भगवन्नाज्ञयोद्धताः” वेदों में भी भगवान् की आज्ञा से उन का उद्धार-अलग-कर दिया यह कहा है। यदि उन्हें वहां से न निकालते, तो मर्यादा में ही रहे हुए उनका पुष्टिलीला में प्रवेश नहीं होता।

‘यतस्तद्दर्शनयनाः’—इन व्याख्या के पदों का अर्थ यह है, कि यहां आगे के श्लोक में ही वर्णन किए जाने वाले उसके दर्शन से हुए परमानन्द के सुख से वे नन्दादि गोपजन आनन्द के अश्रुओं से गीले नेत्र वाले हो गए। अथवा—‘यत्राक्रूर’—इस आगे के पद से इन गोपजनों को प्रमाण के द्वारा दर्शन कराने पर उनका भगवान् में उत्पन्न हुआ माहात्म्यज्ञान पूर्वक सुदृढ़ स्नेह ही—आर्द्रनयनरूप से कह कर—सूचित किया है।

यहां पर शका करते हुए कहते हैं, कि इस प्रकार विवरण करने का कारण क्या है? वाक्यानुसार विवरण करना ही उचित प्रतीत होता है। वह इस प्रकार है—ब्रह्मानन्द ही अत्यन्त गम्भीर शुद्ध और सन्ताप को मिटाने वाला होने से ब्रह्महृद पद से कहा है। जैसे जलपूर्ण तालाब में डूबे हुए मनुष्य को बाहर के पदार्थों का कुछ भी ज्ञान नहीं रहता है, वैसे ही, ब्रह्मानन्द में मग्न हुए वे व्रजजन देहादि के अनुसन्धान से रहित हो गए। यह बतलाने के लिए उनका ब्रह्मानन्द में मग्न होना (डूबना) कहा गया है। इसके पीछे पूर्णानन्दरूप श्रीकृष्ण ने उनको गणितानन्द रूप ब्रह्म से अलग करके देहादि के अनुसन्धान वाले किए। तब वे व्रजजन उस ब्रह्मलोक का दर्शन करने लगे। इसीलिए श्लोक में (ब्रह्मणः) ब्रह्म के (लोकम्) लोक को—इकट्ठा न कह कर अलग अलग कहा है, क्योंकि इस प्रकार अलग नहीं किये जाते और देहानुसन्धान भी नहीं होता तो, लोक का दर्शन ही सम्भव नहीं था। इस प्रकार साधारण व्रजवासियों की व्यवस्था का वर्णन करके श्रीनन्दरायजी आदि प्रधान गोपों के विषय में,—‘नन्दादयः’—नन्दरायजी आदि—इत्यादि पदों से विशेष वर्णन पूर्वक—‘दर्शयामासुः’—दर्शन कराना रूप भगवान् का कार्य कह कर—ददृशुः—पद से उनका स्वयं दर्शन करना कहा है। इस कारण से—“दर्शयामासुः”—इस तेरहवें श्लोक से लेकर—“ददृशुः”—इत्यादि पन्द्रहवें श्लोक तक एक वाक्यता (एक ही विषय का वर्णन) मानना ही उचित है, दिखाना और देखना—इन दोनों को अलग अलग समझ कर वाक्य में कहे पदार्थ अलग मान लेना उचित नहीं है।

इसका समाधान करते हुए कहते हैं, कि पूर्वपक्षानुसार उक्त तीनों श्लोकों की एक वाक्यता नहीं है, किन्तु वाक्यभेद ही है यदि यहां पर दिखाना कह कर उस विषय का स्वरूप बतला कर उसी क्षण में दर्शन कर लेने का अव्यहित वर्णन होता तो एक वाक्यता सम्भव थी, परन्तु उनको पहले ब्रह्म हृद में ले जाना, दूसरे उन्हें उसमें मग्न करना और तीसरे उन्हें वहां से बाहर निकालना—आदि तीन क्रियाओं का समुदाय कहा है और “तु” शब्द से उनकी विभिन्नता (एक का दूसरे से असहयोग) को प्रदर्शित कर रहा है। पूर्वपक्षी के कथनानुसार तो दर्शन के पहले ही उसमें डूबना सिद्ध हो जाता है (और वह) जो किसी प्रमाण के न होने से उचित नहीं है। दूसरी बात यह है, कि—दर्शयामासु—दिखाना कहने से दर्शन का वर्णन तो हो ही गया, फिर पूर्वपक्षानुसार तो “ददृशुः” पद से पुनः उसी के दर्शन का ही वर्णन करना सिद्ध होता है। उसका पुनः वर्णन नहीं करता, इत्यादि सब कारणों से श्री व्याख्या के अनुसार अर्थ को ही श्लोकानुकूल यथार्थ समझना चाहिए।

योजना—व्याख्या में शब्द ब्रह्म का जलरूप से निरूपण किया, वह उचित ही है क्योंकि जल को शास्त्रों

श्लोक—नन्दादयस्तु तं दृष्ट्वा परमानन्दनिर्वृताः ।

कृष्णं च तत्र च्छन्दोभिः स्तूयमानं सुविस्मिताः ॥१६॥

श्लोकार्थ—वे नन्दरायजी प्रभृति गोपजन उस ब्रह्म लोक को देख कर अत्यन्त आनन्दित हुए और वहाँ यह देख कर कि शरीरधारी वेद श्रीकृष्ण की स्तुति कर रहे हैं—वे अत्यधिक आश्चर्यान्वित हुए ॥१६॥

सुबोधिनी—ततो यज् जातं तत्पर्यवसितमाह नन्दादय इति तं ब्रह्मलोकं दृष्ट्वा नन्दादयः प्राप्तस्वरूपाः परमानन्देन निर्वृता जाताः, तद्धि सर्वाविद्यानाशकमावरणनिवारकमतः प्रमाणेन तदनुभूय निर्वृताः, पूर्व स्वेकरसतामापन्नाः, किञ्च तत्रापि मध्ये कृष्णस्तं च

वेदाः स्तुवन्ति, अत आह च्छन्दोभिः स्तूयमानं कृष्णं दृष्ट्वा परमाश्चर्यं प्राप्ताः, तस्याप्येतत् फलं वैकुण्ठस्याप्येतत् फलमिति ज्ञात्वेतराभिलाष परित्यज्य परमाश्चर्यरसे निमग्ना जाताः ॥१६॥

॥ इति श्रीमद्भागवतसुबोधिनीयां श्रीमद्भल्लमदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे द्वितीये तामसप्रकरणे-  
वान्तरसाधनप्रकरणे सप्तमस्य स्कन्धादितः पञ्चविंशोऽध्यायस्य विवरणम् ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—तदन्तर होने वाले परिणाम का वर्णन इस—‘नन्दादयस्तु’—श्लोक से करते हैं । उस ब्रह्म लोक को देख कर, स्वरूप को प्राप्त हुए वे नन्दरायजी आदि गोपजन परमानन्द सुख को प्राप्त हो गए । वह ब्रह्म लोक अविद्या का नाशक और आवरण का निवारण करने वाला है । उसका इस प्रकार प्रमाण द्वारा अनुभव करके वे अत्यन्त सुखी हुए । पहले तो वे ब्रह्म के साथ एक रस हो गए थे और वहाँ भी भगवान् श्रीकृष्ण मध्य में विराजमान थे । वहाँ साक्षात् वेदों को श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए देख करके अत्यन्त चकित हुए । वेदों से स्तुति किए गए श्रीकृष्ण के दर्शन करके वे परम आश्चर्य मग्न हुए । ब्रह्म लोक और वैकुण्ठ—दोनों का भी यही एक फल जान कर वे अत्यन्त आश्चर्य रस में निमग्न हो—(डूब)—गए ॥१६॥

में शब्दब्रह्म स्पष्ट रीति से कहा है । पद्मपुराण में श्री यमुनाजी के तीस नाम कहे हैं, प्रयागमहात्म्यस्थ, उस श्री यमुनास्तोत्र में—त्रयी रसमयी सौरी ब्रह्म विद्या सुधावहा—श्री यमुनाजी को जलरूप और वेदत्रयीरूप बतलाया है इस कारण से जल और शब्दब्रह्म को एक रूप ही मानना चाहिए ॥१५॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वाध) २५ वें अध्याय की श्रीमद्भल्लमाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी “संस्कृत टीका” के तामस साधन अवान्तर प्रकरण सातवां अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्री हरिः ॥

## श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला

### पञ्चम पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण-दशम स्कन्ध-पूर्वार्ध एवं उसकी श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित

## श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

श्री भागवतानुसार अध्याय—२६ से ३५

श्री सुबोधिनी-तामस-फल-उप प्रकरण अध्याय—२६ से ३२

श्री भागवतपोष समुद्रमयन क्षमः ।  
तत्सारभूतरासस्त्री भाव पूरितविग्रह ॥ (श्रीमद्वल्लभाचार्य)

श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभु चरण

सहायक ग्रन्थ—

टिप्पणी— श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभु चरण

लेख— गो० श्री वल्लभजी महाराज

प्रकाश— गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज

योजना— प०भ० श्री लालूभट्टजी

कारिकार्थ— प०भ० श्री निर्भयरामजी भट्ट

अनुवादक—

प०भ० श्री फतहचन्वजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री विद्याभूषण, जोधपुर (राज.) ।

प्रथम आवृत्ति—१०००

दोलोत्सव

फाल्गुन शुक्ला १५

वि.सं. २०२७

दि. १२ मार्च, १९७१

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक :

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल

मानधना भवन, चौपासनो मार्ग,

जोधपुर (राज.) ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥  
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥  
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध ( पूर्वार्ध )

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका ( हिन्दी अनुवाद सहित )

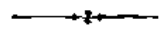
श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार २६ वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार २६ वां अध्याय

### तामस-फल-अवान्तर प्रकरण

‘प्रथम अध्याय’

रास लीला का आरम्भ



कारिका—ब्रह्मानन्दात्समुद्भूत्य भजनानन्दयोजने ।

लीला या युज्यते सम्यक् सा तुर्ये विनिरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—ब्रह्मानन्द के सुखानुभव में से निकालकर, भजनानन्द के आनन्द में नियुक्त करने के लिए सम्यक् प्रकार से जो लीला की है उस (लीला) का इस चतुर्थ तामस फल प्रकरण में वर्णन किया जाता है ॥१॥

कारिका—लौकिकस्त्रीषु संसिद्धस्तद्वारा पुरुषे भवेत् ।

स्वानन्दानुभवार्थं हि योग्यतापि निरूपिता ॥२॥

कारिकार्थ—यह भजनानन्द रूप फल लौकिक (अन्यविवाहित एवं अविवाहित)



स्त्रियों में पूर्णतया सिद्ध होने पर उनके द्वारा ही पुरुष (गोपों) में सिद्ध हो सकता है। अतः स्वामिनीभावगम्य भजनानन्द की योग्यता भी इन्हीं लौकिक स्त्रियों में है यह सूचित हुआ ॥२॥

कारिका—ततो हि भजनानन्दः स्त्रीषु सम्यग् विधार्यते ।

तद्वारा पुरुषाणां च भविष्यति न चान्यथा ॥३॥

कारिकार्थ—इससे यह बताया कि भजनानन्द स्त्रियों में ही भलीभांति स्थापित किया जा सकता है और उनके द्वारा (अर्थात् भगवत्प्रसादरूपा शक्ति के प्रवेश अथवा ऐसे प्रवेश वाली गोपिकाओं की कृपा द्वारा) ही यह भजनानन्दानुभव व पुरुषों को हो सकता है अन्यथा नहीं ॥३॥

कारिका—स्त्रिय एव हि तं पातुं शक्तास्तासु ततः पुमान् ।

अतो हि भगवान् कृष्णः स्त्रीषु रेमे ह्यर्हनिशम् ॥४॥

कारिकार्थ—(जहां ऐसा प्रवेश अथवा प्रसाद हो तो भी स्त्रित्व के बिना इस रस का पान असंभव है अतः) स्त्रियां ही इसे—पुरुषरूप भगवद्रसको—पीने में समर्थ हैं और उसके बाद ही उनमें स्वयं अपने इस भजनानन्द के रस का पान भगवान् भी कर सकते हैं अतः भगवान् कृष्ण ने अर्हनिश स्त्रियों के मध्य में ही रमण किया ॥४॥

कारिका—बाह्याभ्यन्तरभेदेन आन्तरं तु परं फलम् ।

ततः शब्दात्मिका लीला निर्दुष्टा सा निरूप्यते ॥५॥

कारिकार्थ—उपरोक्त श्रीकृष्ण की लीला (स्त्रियों में ही रमण) दो प्रकार से होती है। १—बाह्य प्रकार से, २—आम्यन्तर प्रकार से। इनमें आम्यन्तर लीला परम फल रूप है। अनन्तर शब्दात्मिका \* जो विशिष्ट निर्दोष लीला है, उसका निरूपण किया जाता है ॥५॥



कारिका—ततो रूपप्रपञ्चस्य पञ्चधा रमणं मतम् ।

आत्मना प्रथमा लीला मनसा तु ततः परा ॥६॥

वाक्प्राणस्तु तृतीया स्यादिन्द्रियैस्तु ततः परा ।

शारीरो पञ्चमी वाच्या ततो रूपं प्रतिष्ठितम् ॥७॥

कारिकार्थ—उसके पश्चात् भगवान् के पांच प्रकार के रूपों से पांच तरह रमण हुआ है । १-आत्मा से, २-मन से, ३-वाणी तथा प्राण से, ४-इन्द्रियों से और ५-शरीर से, इन ५ प्रकारों से रूप की प्रतिष्ठा हुई है ॥६-७॥

कारिका—षड्विंशे तु हरिः पूर्वं जीवानानन्दयत्स्वयम् ।

ते चेत् समपितात्मानस्तत्रोपायश्च रूप्यते ॥८॥

आत्मा यावत् प्रपन्नोऽभूत्तावद्वै रमते हरिः ।

सोऽन्तःकरणसम्बन्धी तिरोधत्ते हरिश्च सः ॥९॥

कारिकार्थ—२६ वें अध्याय में भगवान् ने स्वयं प्रथम जीवों को आनन्दित किया, जिससे भगवान् ने जीवों को आनन्द प्राप्ति के उपाय भी बतादिए हैं कि यदि जीव सर्वात्मभाव वाले हैं तो हरि उनके साथ रमण करते हैं अन्यथा नहीं । भगवान् वैसे भक्त से रमण करते हुए उसके अन्तःकरण के सम्बन्धी हो जाते हैं तब बाहर से छिप जाते हैं ॥८-९॥

व्याख्या—प्रमाण प्रमेय और साधन प्रकरणों में की हुई लीलाओं से निरुद्ध व्रज भक्तों को पुष्टि-मार्गीय भजनानन्द रूप उत्तम फल दान देने की भगवान् की इच्छा हुई, तदर्थ साधन प्रकरण के अन्त में भगवान् के व्रजभक्तों को उस फल की उत्तमता का ज्ञान कराने के लिए एवं उसके योग्य देहादि का निर्माण कराने के लिए 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति' इस श्रुति के अनुसार प्रथम उनको [व्रज भक्तों को] ब्रह्म रूप बना के ब्रह्मानन्द में मग्न कर देहादि का भान भुला दिया जिससे उनकी दशा पानी में डूबे हुए मनुष्य जैसी हो गई । जैसे पानी में डूबा हुआ जल के रस पान करने में असमर्थ होता है वैसे ही वे भी भगवद् रस पान करने में अशक्त हो गए किन्तु भगवान् को तो, उनको स्वर-सात्मक स्वरूप का अनन्त रस पान कराके पुष्ट कराना था, अतः जब उस परिमित आनन्द में डूबे हुए व्रजभक्तों को वहाँ से निकाला, तब उनकी देहादि सर्व इन्द्रियाँ ब्रह्मरूप दिव्य अलौकिक हो गई थीं । जिससे भगवान् ने उनको ब्रह्म का लोक दिखाया, अर्थात् अपना दिव्य धाम, जिसमें आप पुष्टि



पुरुषोत्तम स्वरूप से सदा विराजते हैं जिसका दर्शन अक्रूरजी ने किया था, उस स्वरूप का दर्शन कर नन्दादिक सर्व व्रजवासी अति विस्मित हुए ।

अब इस फल प्रकरण का विवरण करते हुए दोनों प्रकरणों की साधन और फल भाव रूपा सङ्गति बताते हुए कहते हैं कि साधन प्रकरण के अन्त में जो ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कही, वह पुष्टि-मार्गीय फल का साधन है, उसका फल यह भजनानन्द पुष्टि-मार्गीय फल है । इस प्रकार दोनों प्रकरणों की परस्पर साधन और फल भाव रूपा सङ्गति है ।

सर्व समर्थ सर्वत्र विराजमान् गोपों को ब्रह्मानन्द में मग्न करना और अपना धाम दिखाना आदि जो लीला की है वह यहां गोकुल में ही की है, अपने अचिन्त्यैश्वर्य से, उनकी दृष्टि में, गोकुलादि सर्व तिरोहित कर दिया और उनमें (व्रज भक्तों) में जो प्रथम केवल सत् चित् अंश था, उसमें आनन्दांश को प्रकट कर उन्हें ब्रह्म रूप बनाके ब्रह्मानन्द में मग्न किया, अनन्तर ब्रह्मानन्द से निकाल कर, अपने दिव्य धाम और उसमें अपने स्वरूप का दर्शन कराके दिव्य आनन्द का दान भी यहाँ ही दिया है । नन्दादि गोप ब्रह्म रूप हो, व्यापि वैकुण्ठ धाम में नहीं गए थे ।

इस लीला के अनन्तर फल प्रकरण की लीला प्रारम्भ की है जिससे पहली कारिका में कहा है कि ब्रह्मानन्द से निकालकर भजनानन्द में सम्यक् प्रकार से नियुक्त करने की लीला का वर्णन इस फल, (चौथे) उपप्रकरण में किया जाता है ॥१॥

दूसरी कारिका में यह दिखाया है, कि इस पुष्टि-मार्गीय 'भजनानन्द' रूप फल का स्वाद लेने के योग्य गोपीजन हैं कारण कि, वे लौकिक स्त्रियाँ हैं, अर्थात् जिन्होंने भगवान् से अन्य, लौकिक पुरुषों से विवाह किया है, उनमें ही रस शास्त्र के नियमानुसार भजनानन्द सिद्ध होता है ।

भगवान् ने गोपियों में अपने (भगवान् के) अनुभव की योग्यता भी बताई है, कारण कि उनमें (गोपियों में) ब्रह्मानन्द रूपी लक्ष्मी की स्थापना की है तथा इस प्रकार अन्य गोपियाँ जो कुमारिकाएँ हैं, जिन्होंने कात्यायनी अर्चन कर भगवान् की प्रसाद (अनुग्रह) रूप शक्ति को अपने में स्थापित किया है, जिससे, वे भी रस पान करने के योग्य हुई हैं । गोपों में इस प्रकार की शक्ति का अभाव है, अर्थात् उनमें न लक्ष्म्यंश है और न प्रसाद रूप शक्ति है अतः वे गोप भगवान् के साथ रमण के अधिकारी नहीं हैं ॥२॥

उपरोक्त कारणों से भजनानन्द स्त्रियों में ही सम्यक् प्रकार से स्थापित किया जाता है, उनके द्वारा अथवा उनकी कृपा से अथवा भगवान् की प्रसाद रूपा शक्ति के प्रवेश से तथा भगवान् के अनुग्रह से पुरुष भी भजनानन्द रस का पान कर सकते हैं, अन्य किसी प्रकार से वे नहीं कर सकते हैं ॥३॥

भजनानन्द रस का पान केवल स्त्रियाँ ही कर सकती हैं, पुरुष में कृपा शक्ति का प्रवेश हो तथा गोपीजनों का अनुग्रह हो तो भी जब तक उसमें स्त्री भाव का उदय नहीं हुआ है, तब तक वह पुरुष भजनानन्द के रस का पान करने के योग्य नहीं है, तात्पर्य यह है कि रस रूप भगवान् का रस स्त्री भाव वाले जीवों में ही ठहर सकता है वे ही जीव रस के पात्र हैं, स्त्री जीव वाले, जब रसात्मा



पुरुष रूप भगवान् का रस पान कर अपने में स्थित कर लेते हैं, तदनन्तर पुरुष रूप भगवान् उन जीवों (स्त्री भाव वाले जीवों) में अर्थात् (स्त्रियों में) स्थापित हुए अपने ही रस का आप, उनमें से ग्रहण करते हैं। अतः कहते हैं, कि भगवान् कृष्ण, दिन-रात स्त्रियों में रमण करते हैं ॥४॥

गोपीजनों की भक्ति तो पुरुषोत्तम के भजनानन्द रस के पानार्थ ही थी, तो उनको ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कैसे हुई ? और जहां २५ वें अध्याय में (साधन उपप्रकरण में) ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का वर्णन है वहाँ भी केवल नन्दादि गोपों को ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कही है, तो उनको (गोपियों को) ब्रह्मानन्द की प्राप्ति हुई तदनन्तर भजनानन्द मिला, यह कहना असंजत सा दिखाई देता है ?

इस शङ्का का समाधान इस प्रकार समझना चाहिए कि, भले गोपीजनों को ब्रह्मानन्द की आकांक्षा नहीं थी, तो भी, (भक्ति) का स्वभाव ही ऐसा है, कि जो भक्ति को अपनाता है, अर्थात् भक्ति करता है, उसको भक्ति ब्रह्मानन्द का दान स्वयं कर देती है, जैसा कि कहा है कि 'भक्तिर-निच्छतो मे गति मण्वी प्रयुक्ते' (भाग० तृतीय स्कन्ध अध्याय २५ श्लोक ३६) अतः भक्ति होने के कारण गोपीजनों में ब्रह्मानन्द रूप लक्ष्मी का प्रवेश हुआ है, यदि गोपीजनों में ब्रह्मानन्द रूप लक्ष्म्यंश न होता तो भगवान् उनसे रमण नहीं करते। किञ्च भगवान् एक ही लीला कार्य से अनेक कार्य सिद्ध करते हैं। इस न्यायानुसार भगवान् ने गोपों को जब ब्रह्मानन्द का अनुभव कराया तब गोपियों को भी अनुभव कराया समझना चाहिए, भक्त को तनुजा वित्तजा भक्ति (सेवा) से स्वतः प्रथम ब्रह्मानन्द की प्राप्ति तथा संसार के दुःख से निवृत्ति हो जाती है, अतः गोपीजनों से भक्ति ने अण्वीगति ब्रह्मानन्दात्मक लक्ष्मी का प्रवेश कर दिया एवं भक्तों पर भगवान् का अनुग्रह होता ही है इत्यादि कारणों से गोपीजन भजनानन्द की सर्वथा अधिकारिणी थी इसलिए भगवान् ने उनसे रमण कर उनको भजनानन्द का दान दिया है ॥४॥

फल उप-प्रकरण में भगवान् ने ब्रजभक्तों से दो प्रकार की लीला की है, जैसे भगवान् ने 'नाम रूपे व्याकर वाणि' इस श्रुत्यनुसार जगत् में नाम और रूप को प्रकट कर, दो प्रकार की लीला की है, अतः आचार्य श्री ने निबन्ध में भी आज्ञा की है, कि 'रूप नाम विभेदेन जगत् क्रीडति यो यतः' अर्थ—भगवान् रूप और नाम के विभेद से जगत् रूप हो कर क्रीड़ा करते हैं वैसे ही लीला प्रपञ्च में भी, पुष्टि पुरुषोत्तम नाम से तथा रूप से लीला करते हैं। १—नाम लीला (गुणलीला) और २—रूप लीला है, इनमें रूपलीला बाह्य लीला है और नाम लीला अन्तर लीला है। अन्तर लीला परम फल रूप है। प्रथम रूप लीला (बाह्य लीला) का वर्णन है अनन्तर शब्दात्मिका (नाम-गुण रूप) लीला का निरूपण किया गया है ॥५॥

रसात्मक भगवान् के पाँच रस रूप ये आधिदैविक हैं, उनके द्वारा पांच प्रकार से गोपीजनों के साथ रमण किया है। १—आत्मा, २—मन, ३—वाक्-प्राण, ४—इन्द्रियां, ५—शरीर ये पांच रूप हैं।





पहली लीला आत्मा से, दूसरी मन से, तीसरी वाणी तथा प्राणों से, चौथी इन्द्रियों से और पाँचवीं शरीर से की है। इस प्रकार पाँचों रूपों से लीला कर आपने इस रस स्वरूप की गोपीजनों में प्रतिष्ठा की है ॥६-७॥

भगवान् के ये पाँच रूप आत्म रूप ही हैं जीवके समान पृथक् नहीं हैं क्योंकि भगवान् को श्रुति ने 'स यथा सन्धवधन' कहा है अर्थात् सन्धवधन जैसे एक रस है वैसे ही भगवान् भी एक रस रूप होने से सर्व रूपों में एक ही रस रूप आप ही हैं। अतः श्रुति ने कहा है कि 'पश्यन् चक्षुः' 'वदन् वाक्', देखते हैं तब आप चक्षु रूप हैं, बोलते हैं तब आप वाक् रूप हैं अर्थात् आपके सर्व इन्द्रियादि रूप आत्म रूप, रस रूप ही है अतः आपके पाँच रूप आत्म रूप होने से आपसे पृथक् नहीं है जिससे आप में द्वैतायति नहीं है।

इस २६ वें अध्याय में भगवान् ने साधन बल के सिवाय स्वयं व्रजभक्तों को आनन्द दिया है। भगवान् ने नाद द्वारा उनको बुलाकर फिर उनको जाने को कहा यह तो योग्य नहीं था ? इस शङ्का के मिटाने के लिए आचार्य श्री कारिका में कहते हैं कि लीला करते हुए भगवान् शास्त्र की मर्यादा का भी पालन करते हैं, अतः कहा है कि 'ते चेत् समर्पितात्मानः..... निरोधते हरिश्च सः' ॥८, ९॥

यदि भक्त सर्वात्मभाव वाले हैं तो यह रस प्राप्त कर सकते हैं यदि सर्वात्म भाव वाले नहीं हैं तो नहीं पा सकते हैं अर्थात् भक्त के अन्तःकरण में शरण भावना और सर्वात्मभाव है, तो भगवान् वैसे शरण भावना युक्त सर्वात्मभाव वाले भक्त से रमण कर उसको रसदान करते हैं कारण कि भगवान् भक्त के अन्तःकरण को जानते हैं यदि अन्तःकरण में ये भाव नहीं हैं तो भगवान् उससे छिप जाते हैं उसको रसदानादि कुछ नहीं देते हैं अथवा यदि भक्त के अन्तःकरण में सर्वात्मभाव व शरणभावना देखते हैं तो उसको अन्तःकरण में दर्शन देकर रसपान कराते हैं और हरि होने से उनके दुःख दूर कर देते हैं फिर बाहर आप दर्शन नहीं देते हैं ॥९॥

**आभास —**प्रथम भजनानन्दं निरूपयितुं स्त्रीषु स्वानन्दः स्थापनीय इति तामु रत्यर्थमिच्छां कृतवानित्याह भगवानपीति ।

**आभासार्थ—**प्रथम भजनानन्द का निरूपण करने के लिए स्त्रियों में अपना आनन्द [रस] स्वरूप स्थापन करना चाहिए इसके लिए भगवान् ने उनसे रति करने की इच्छा की, जिसका वर्णन 'भगवानपि' इस श्लोक में करते हैं।

**श्लोक—**भगवानपि ता रात्रोः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।

वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ॥१॥

**श्लोकार्थ—**श्री शुकदेवजी कहने लगे कि—शरद ऋतु के कारण, जिनमें मालती

के पुष्प खिल रहे हैं उन रात्रियों को अच्छी प्रकार देख, योगमाया को साथ में लेकर भगवान् ने भी रमण के लिए मन किया ॥१॥

सुबोधिनी—‘मयेमा रंस्यथ क्षपा’ इति या रात्रयो वरत्वेन दत्ताः, स्त्रीणां रमणार्थाः, ता रात्रोर्भगवान् परिगृह्य, सर्वास्वेव रात्रिषु ता आधिदैविकीरारोप्य, पूर्णत्वात्तासां पूर्णिमारूपाः कृत्वा, ऋतुमपि शरदमेव कृत्वा, तस्यापि कार्यं पुष्पाण्येव कृत्वा, रसोद्दीपकत्वेन सर्वां सामग्रीं विधाय, पञ्चाद्रमणार्थं स्वानन्दप्रकाशकं काम-पितामहं मन उत्पादितवान् । तत्र सर्वासु संकल्पः स्वस्मिन्नपि बोधनीयः । तत्र वेणुरपि सहायतां प्राप्स्यति । ततः कामवर्णनम् । अतः प्रथमं तादृशं मनः कृतवान् यद्यपि उतत्प्रणालिकाव्यतिरेकेणापि स्वानन्दं तत्र स्थापयितुं शक्तः, तथापि मर्यादा तिष्ठत्वतो भगवानपि मनश्चक्रे । नन्वेवं सति स्वा-नन्दः स्थानत्यागात् अन्यथा भवेत्, ततः स्वरूपा-

दपि प्रच्युतः स्यादित्याशङ्क्याह योगमायामुपाश्रित इति । योगमाया हि यथास्थितमेवान्यत्र स्थापयति, यथा सङ्कर्षणम् । लीलार्थं सापि पूर्वं परिगृहीतेति नापूर्वं किञ्चित् । यथा प्रमाणे रक्षायां च बलभद्रोपयोगः, एवं कार्ये योगमायाः । तत्राप्यान्तरङ्गा योगमाया, अन्यत्र स्थितं प्रमाणमन्यत्रापि योजयति, अन्यत्र स्थितं चानन्दमन्यत्र । अतः प्रमाणातिरिक्तमार्गो भक्तिमार्गश्चाग्रे विततो भविष्यतः । याश्च रात्रयो रमणार्थमेव निमित्ताः, ता एव परिगृहीता अन्यथा साधारणीपरिग्रहे सर्वत्रैवानन्दः स्यात् । शरदि ऋतावुन्फुल्ला मल्लिका यासु । ता दृष्टारमणार्थं मनः कृतवान् । योगमायां च समीप एवाश्रित्य स्थितः ॥१॥

भगवान् श्रीकृष्ण अलौकिक आधिदैविक रस रूप हैं उनको लोलाए भी आधिदैविक हैं तथा लीला की सर्व सामग्री भी अलौकिक आधिदैविक होनी चाहिए अतः भगवान् ने इस फलरूप भजनानन्द लीला करने के लिए सर्व सामग्री आधिदैविक प्रकट की है । उसका वर्णन इस श्लोक में श्री शुकदेवजी ने किया है जिसका स्पष्टीकरण आचार्य श्री ने सुबोधिनीजी में किया है ।—‘टिप्पणी’

व्याख्यानार्थ—श्लोक में ‘ता रात्रीः’ कहा है ‘वे रात्रियां’ वे कौनसी रात्रियां हैं ? ‘मयेमा रंस्यथ क्षपाः’ में जो कुमारिकाओं के अत से प्रसन्न हो कर उनको जो रात्रियां रमण के लिए वरदान में दी गई थी उन आधिदैविक रात्रियों को प्रकट कर, इन रात्रियों में स्थापित किया जिससे उन पूर्ण आधिदैविक रात्रियों के मिलने से, रात्रियां भी पूर्ण होने से पूर्णिमा बन गईं । इसी प्रकार ऋतु को भी शरद् बनादो । केवल शरद् नहीं बनाई, किन्तु उसका कार्य, मालती के पुष्प खिला दिए, इसी भांति रस को जागृत करने वाली सर्व सामग्री तैयार कर, अनन्तर रमण करने के लिए अपने आनन्द के प्रकाशक, काम के पितामह\* (मन) को उत्पन्न किया । भगवान् ने मन के उत्पन्न से, जो रमण करने का सङ्कल्प अपने में उद्भूत (पैदा) हुआ देखा वह सङ्कल्प गान द्वारा सर्व व्रजाङ्गनाओं को सूचित करना चाहिए (सुनाना चाहिए), उस गान करने में वंशी भी सहायता देगी । उस गान

\*मन काम का पितामह (दादा) है । क्योंकि काम को पैदा करने वाला सङ्कल्प है, और सङ्कल्प को पैदा करने वाला मन है, अतः मन काम का पितामह है ।



द्वारा मेरा सङ्कल्प उनके पास पहुँचेगा तो उनके मन में भी सङ्कल्प का उद्भव होगा। उससे (गान से) काम का वर्णन हो जाएगा। इस कारण से, प्रथम वैसा मन किया, अर्थात् रमण करने वाला मन बनाया। जो कि इस प्रकार के सिवाय दूसरी तरह भी भगवान् गोपियों में अपना रस स्थापन करने में समर्थ थे तो भी रसशास्त्र की मर्यादा का भङ्ग न हो इसलिए रसशास्त्र की पद्धति के अनुसार रसदान करने के लिए भगवान् ने मन किया।

रसशास्त्र की पद्धति से करने पर अपना आनन्द (भगवान् का आनन्द रूप) स्थान छोड़कर दूसरे स्थान पर जाएगा तो उसमें विकार होगा और स्वरूप से भी च्युत होगा<sup>१</sup> अर्थात् जीव के समान हो जाएगा। तात्पर्य यह है कि यदि भगवान् अपना रस स्वरूप गोपियों में स्थापित करें तो वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने से विकृत हो जाएगा और भगवान् की रसात्मकता न रहेगी। इस प्रकार विकारादि न हो तदर्थ भगवान् ने प्रथम ही योगमाया को अपने पास रक्खा है। क्योंकि योगमाया में वैसी शक्ति है कि किसी भी वस्तु को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाय तो किसी प्रकार का विकार उसमें नहीं होता है जैसे 'सङ्कर्षण' को पधरा के गई तो उसमें किसी प्रकार की विकृति नहीं हुई। भगवान् ने इसको (योगमाया को) लीला के लिए पहले भी अपने पास रक्खा था। जैसे प्रमाण और रक्षा में बलमद्र का उपयोग<sup>२</sup> है, वैसे कार्य के लिए योगमाया की आवश्यकता है। इसमें भी योगमाया तो अन्तरंगा है, अन्यत्र स्थित प्रमाण एवं आनन्द को बिना विकृत किए अन्यत्र स्थापित कर सकती है। अतः प्रमाण से अतिरिक्त मार्ग और भक्ति मार्ग का आगे विस्तार होगा।

जिन रात्रियों को रमण के लिए भगवान् ने निर्माण किया था, वे ही रात्रियाँ ली गई हैं यदि साधारण\* रात्रियाँ ली जाती तो सर्वत्रां ही आनन्द प्रकटित हो जाता ॥१॥

**आभास—**तूतने तस्मिन् मनसि देवता नास्तीति, अनधिष्ठितं च कार्यं न साधयिष्यतीति तदधिष्ठातृदेवं चन्द्रं च ससृज इत्याह तदोदुराज इति।

**आभासार्थ—**भगवान् ने रमण करने के लिए नवीन मन उत्पन्न किया, उसके साथ उसके अधिष्ठाता देव चन्द्रमा को भी उत्पन्न किया, कारण कि अधिष्ठाता देव के बिना मन कुछ कार्य न कर सकेगा इसलिए चन्द्र भी उसी समय प्रकट हुआ जिसका वर्णन निम्न श्लोक में शुकदेवजी करते हैं।

\* जिन रात्रियों में रमण-लीला से अन्य लीलाएँ हुई हैं वे रात्रियाँ साधारण रात्रियाँ हैं।

† गो और गोपादिकों में भी



श्लोक—तदोदुराजः कुकुभः करैर्मुखं प्रक्ष्या विलिम्पन्नरणेन शन्तमैः ।

स चर्षणीनामुदगाच्छुचो हरन् प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥२॥

श्लोकार्थ—चिरकाल से मिला हुआ पति जैसे अपनी प्यारी का दुःख दूर करता है वैसे ही उस समय शीतलता देने वाली अपनी लाल किरणों से पूर्व दिशा के मुख का लेपन करते हुए और लोकों के दुःखों को मिटाते हुए चन्द्रमा उदय हुआ ॥२॥

सुबोधिनी—यदैव मनः कृतवान्, तदैव तस्याधिदैवतमुदुराज उदगात्, उदितो जातः । यद्यप्येकदा रात्रयो दृष्टाः, तथापि क्रमेणैव तासां स्थितिः । भगवन्मनश्चन्द्रस्याधिदैविकत्वात् पूर्ण एव सः, निष्कलङ्कश्च । मनस्येवाविर्भूते तस्याविर्भावः, क्रीडायामुपरतायामुपरतिः, मध्याकाशपर्यन्तमेव गमनम्, नास्तमयः कदाचिदपि । सोऽपि चन्द्रः, स्त्रीणां मनांसि उडुस्थानानीति तेषामपि रक्षकः । इदं प्रथमतया जात इति पूर्वस्यामेव दिशि तस्योदय उच्यते । 'सा दिग्देवाना' मिति । तस्या दिश इन्द्रो देवता अधिपतिश्च । इदानीं भगवानेवेन्द्र इति तस्य रेतोरूपः तस्यामुदगतः । अतः प्राच्याः कुकुभः मुखं मध्यभागं स्वकरैः स्वकिरणैः विलिम्पन् उदगात् । तस्या मुखे न रागः स्थितः, प्रतिस्पर्धिन्यां सूर्यसम्बन्धेन रागसंभवात्, अतः अस्या अपि मुखं कुङ्कुमसदृशैः करैरारक्तं क्रियते । यदि चन्द्रः स्वदिशो मुखं न रञ्जयेत्, तदा भगवन्मनोऽपि स्त्रीणां हृदयं न रञ्जयेत् । कराः शन्तमाः, शीतलत्वात् तापहारकाः । किञ्च अरुणेन गुणेन कृत्वा अत्यन्तं कल्याणरूपाः । अरुणो हि रागप्रधानः । पुरुषोऽपि यद्यनुरागेण स्पृशति, तदा शुखं भवति । तनु अस्थ चन्द्रस्य

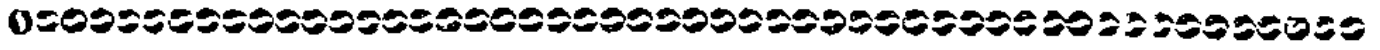
यदि अधिष्ठातृत्वमात्रम्, तदा मनस्येव उदयो भवेत्, यद्यन्धकारनिवृत्तिः प्रयोजनम्, तदा भगवतेव अन्धकारो निवर्तते, यदि वा उद्दीपकत्वम्, तदापि भगवन्तैव तत्सम्भवः, अतोऽस्यासाधारणं कार्यं वक्तव्यमिति चेत्, अत आह स चर्षणीनां शुचो हरन्निति । चर्षण्यः सर्वत्र परिभ्रमणशक्तयः । ताः सर्वत्र परिभ्रान्ता अपि न क्वापि परमानन्दसम्बन्धिन्यो जाताः । यदि वा कश्चिन्मुच्येत, तथापि ता न प्रवेशं लभन्ते । ततः पूर्वमेव ता निवृत्ता भवन्ति । अतस्तासां शोकस्तिष्ठत्येव । चर्षण्ये सहितानां जीवानां वा । तासां शोकः इदानीमेव निवृत्तः । शक्तिसहितानामेव । परमानन्दानुभवस्य वक्तव्यत्वात् । प्रायेण तदानीन्तना जीवाः तादृशशक्तियुक्ताः । तस्मिन्नुदिते परमानन्दानुभवोऽवश्यं भावीति । तथा सति प्रयोजनत्रयम्, दिग्देवताया मुखसम्प्राप्तं, चर्षणीनां शोकदूरीकरणं, अन्धकारनिवृत्त्यादिश्च । कण्ठोक्तं द्वयमपि तदेकसाध्यमिति वक्तुं दृष्टान्तमाह प्रियः प्रियाया इति । दीर्घकाले दर्शनं यस्य । महता कालेन गतो भर्ता प्रियः प्रियायाः पतिव्रतायाः शोकं दूरीकृत्य मुखसम्प्राप्तं च करोति । न चैतत्कार्यमन्यथा सिध्यति ॥२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने जिस समय रमणार्थ मन का प्रादुर्भाव किया उसी समय उसका अधिष्ठाता देव नक्षत्रों का राजा चन्द्र उदित हुआ । यद्यपि सर्व रात्रियों को एक साथ एक ही समय देखा, तो भी वे रात्रियाँ रमणार्थ क्रम से ही आईं । भगवान् के मन का चन्द्रमा आधिदैविक है अतः पूर्ण तथा कलङ्क रहित है । मन के आविर्भूत होने पर चन्द्रमा का आविर्भाव हुआ है, क्रीड़ा के बन्द होने पर चन्द्रमा भी कार्य बन्द कर आकाश के मध्य में, स्थिर हो जाता है, कभी भी अस्त नहीं होता है । यहा मूल में शुक्रदेवजी ने चन्द्रमा को 'उदुराज' कहा है जिसका भावार्थ यह है, कि चन्द्रमा



जैसे नक्षत्रों का राजा होने से उनका रक्षक है वैसे ही यह आधिदैविक चन्द्रमा भी गोपियों के मन रूप नक्षत्रों का राजा होने से उनका रक्षक है। भगवान् का मन पहले उत्पन्न हुआ उसके साथ उसके अधिष्ठाता चन्द्रमा का भी लीलार्थ पहले ही आविर्भाव हुआ इससे पूर्व दिशा में ही उसका उदय कहा जाता है (हुआ है)। वह (पूर्व) दिशा देवों की है यों श्रुति कहती है 'सा दिक् देवानां'। उस दिशा का देव और अधिपति इन्द्र है, किन्तु अब भगवान् ही इन्द्र है अतः उन (भगवान् का) रेतो रूप<sup>१</sup> चन्द्र पूर्व दिशा में प्रकट हुआ है अतः वह चन्द्रमा पूर्व दिशा के मध्य भाग को अपनी किरणों से रञ्जित करता हुआ उदय हुआ। चन्द्रमा ने पूर्व दिशा को अपनी किरणों से लाल इसलिए बनाया, कि एक तो उसी समय (रात्रि के समय) पूर्व दिशा लाल नहीं थी, पश्चिम में लालास थी जिससे पूर्व दिशा को रोस थी कि मैं वैसी क्यों न हुई? इस रोस को मिटाने के लिए उसको (पूर्व दिशा को) लाल बताया, लाल रंग अनुराग का चिन्ह है, दूसरा कि यदि मैं पूर्व दिशा को लाल अनुराग युक्त न बनाऊंगा तो भगवान् का मन भी स्त्रियों (गोपियों) के मन को रञ्जित न करेगा। चन्द्रमा की किरणें शीतल होने से, ताप को मिटाने वाली हैं। और अरुण<sup>२</sup> (अनुराग रूप) होने से आनन्द रूप भी है। अतः पुरुष जब अनुराग से (प्रिया का) स्पर्श करता है तब उसको आनन्द आता है। यदि चन्द्रमा मन का अधिष्ठाता है इसलिए उदय हुआ है, तो वह मन में ही उदय होना चाहिए, जो कहो, कि अन्धकार को मिटाने के लिए उदय हुआ है तो, वह (अन्धकार) भगवान् से मिट जाता, यदि कहो कि, गोपियों में उद्दीपन करने के लिए, तो वह भगवान् द्वारा हो सकता था अतः चन्द्रमा के उदय होने का असाधारण कारण क्या है? इस शङ्का को मिटाने के लिए शुकदेवजी ने कहा, कि चर्षणी शक्तियों के शोक को मिटाने के लिए विशेष चन्द्रमा का उदय हुआ है। सर्वत्र परिभ्रमण की हुई शक्तियों का नाम चर्षणी है। वे सभी जगह—इन अधिकारी भक्तों से अतिरिक्त भक्तों में भी—परिभ्रमण कर चुकी है परन्तु कहीं उनका परमानन्द से संबन्ध नहीं हुआ। यदि कोई मुक्त भी हुआ तो इन्होंने ऐसे जीवों में प्रवेश ही नहीं किया। वहां—मुक्ति पाने वाले जीवों में—से तो ये पहले ही निवृत्त (दूर) हो जाती हैं (क्योंकि मुक्ति में इनका अभिलषित परमानन्द नहीं मिलता है) अतः—भगवद् भोग योग्य स्वामिनियों के फल में विलंब और इस कारण होती हुई आर्ति को देखकर समवेदनावश—इनका शोक यों ही स्थिर (कायम) रहा। चर्षणी (सर्वात्मभाववाली लीला के अधिकारी जीवों का अन्य भावों से रक्षण करने वाली शक्ति) के सहित जो जीव थे उनका भी शोक यूँ ही स्थिर (कायम) था। वह शोक अब—रसोद्दीपक चन्द्रोदय होने से—ही चर्षणियों का दूर हुआ (क्योंकि यह चन्द्रमा प्रियतम के वियोग का दुःख न केवल स्वामिनियों में से किन्तु चर्षणी शक्ति सहित स्वामिनियों में से दूर करता है) शक्ति के सहित ही परमानन्द का अनुभव होता है यों कहना चाहिए और ब्रह्म करके उस समय के (भजनानन्द दान की लीला के समय के) जीव परिभ्रमण शक्ति वाले हैं अतः चन्द्रमा के उदय होने पर परमानन्द की प्राप्ति अवश्य होगी ऐसा उनको निश्चय हुआ जिससे उनका शोक निवृत्त होगया।

सारांश यह है कि चन्द्रमा ने उदय होकर तीन कार्य किए—१—दिशाके देवता के मुख (मध्य) को रञ्जित (अनुरागयुक्त लाल) किया। (२) भ्रमण शक्तियों का, एवं भ्रमण शक्ति युक्त जीवों का



शोक दूर किया । (३) अन्धकार निवृत्ति आदि की ।

मूल में भ्रमण शक्तियों का शोक दूर करना और दिशा के मुख रञ्जित करना ये दो प्रयोजन एक ही चन्द्रमा के उदय होने के कहे हैं इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं—कि जैसे बहुत समय से आया हुआ पति अपनी पतिव्रता प्रिया के मुख को रञ्जित कर उसका शोक दूर करता है वैसे एक ही चन्द्र दिशा का मुख रञ्जित कर उसका शोक मिटाता है और चर्षणी (भ्रमण करने वाली) शक्तियों का भी दुःख दूर करता है । जैसे पतिव्रता के मुख का रंजन और उसके शोक को मिटाने का कार्य केवल पति ही कर सकता है वैसे ही एक ही चन्द्र ने ये दोनों कार्य किए हैं अर्थात् वह एक ही कर सकता है दूसरा नहीं ॥२॥

**आभास—**एवं मनस उत्पत्तिमुक्त्वा तद्देवतायाश्च ततः सङ्कल्पोत्पत्त्यर्थं तच्छब्द-  
योनित्वं निरूपयन् तद्दर्शनेन वेणुनाद उत्पन्न इत्याह दृष्ट्वेति ।

**आभासार्थ—**श्रीशुकदेवजी ने उपरोक्त श्लोकों में मन और उसके अधिष्ठाता देव चन्द्रमा की उत्पत्ति का वर्णन किया । शब्द के उत्पत्ति का कारण मन और उसका अधिष्ठाता चन्द्र है, उस चन्द्र के दर्शन से, वेणुनाद उत्पन्न हुआ है जिसका वर्णन अब इस निम्न श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम् ।

वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं जगौ कलं वामदृशौ मनोहरम् ॥३॥

**श्लोकार्थ—**अखण्ड मण्डल वाले, लक्ष्मी के मुख के सदृश शोभा वाले, नवीन केसर के समान अरुण, पृथ्वी को मोद<sup>१</sup> देने वाले चन्द्रमा को तथा उसकी कोमल किरणों से रंजित वन को देखकर, भगवान् ने वाम (सुन्दर) दृष्टिवाली स्त्रियों के मन को हरण करनेवाला कल गान (अस्फुट तथा मधुर गान) किया ॥३॥

**सुबोधिनी—**कुमुदांश्चन्द्रः, पृथिव्यां सर्वत्रैव मुदं कृतवानिति । तथाकरणे सामर्थ्यं अखण्डमण्डलमिति । न खण्डं मण्डलं यस्य । एतस्य रसोत्पादने विभावत्वमप्यस्तीति ज्ञापयितुं रमाननाभमित्युक्तम् । लक्ष्म्या अयं आता भवतीति, रमाया आननवन् आभा यस्य, तथोक्तः । किञ्च, नव-

कुङ्कुमवदरुणवर्णमपि । तेन विवाहसमये यथा लक्ष्मीमुखम्, तथायं वर्तते । अतो नूतनकामजनकः । किञ्च, वनमपि रसपोषकम् । तस्य कोमलगोभिरल्पकिरणैः अभितो रञ्जितमारक्तयुक्तम् (किरणानां रसदोग्धृत्वम् । वन एव पाल्यमानत्वं च ज्ञापितुं गोपदम् । रमाननाभत्वेन पूर्वं



निरूपणाद्यथा तन्नूतनकटाक्षा भावोदयहेतवः, तथैतेऽपीति ज्ञापनाय च । गोपदमिन्द्रियस्यापि वाचकमिति तथा । अधुना भावोत्पत्तिरेव । तत्पोषस्तु स्वामिन्यागमनादिनाग्रे भावीति ज्ञापयितुं कोमलपदम् । यत्र तेन वनमपि रज्यते, तत्र यदर्थमागतः तद्रागं कथं न कुर्यात् ।) ततः सङ्कल्प द्वारा कामजनने सर्वं कार्यं भविष्यतीति कलं यथा

भवति तथा जगौ, गानं कृतवान् । तच्च गानं वामदृशां सुन्दरदृष्टीनां स्त्रीणां मनोहरमिति । 'तस्माद्गायन्तं स्त्रियं कामयन्त' इति श्रुतेः । अर्थाद्गोतेन सर्वाः समाहृता इति । यदि व्यक्तमधुरं गीतं कुर्यात्, तदा गीतमेव शृण्वन्त्यः तत्रैव स्थिता भवेयुः । यासां पुनर्दृष्टिर्नोत्तमा, तास्तु नाकारिता एव ॥३॥

**व्याख्यार्थ —** शुकदेवजी कहते हैं कि चन्द्रमा का नाम 'कुमुद्वान्'† है अतः यह पृथ्वी पर सर्व स्थानों में आनन्द उत्पन्न करता है, पृथ्वी का कोई भाग आनन्द रहित नहीं रहता है कारण कि इस चन्द्र का मण्डल अखण्ड (पूर्ण) है कहीं भी इसमें खण्ड नहीं हुआ है इसीलिए समस्त विश्व में मोद उत्पन्न करने में समर्थ है ।

चन्द्रमा का विशेषण 'रमाननामं' देकर शुकदेवजी ने यह भाव बताया है, कि रस के आविर्भावार्थ आलम्बन विभाव की आवश्यकता होती है । यह चन्द्रमा लक्ष्मीजी के मुख के समान आभा वाला होने से आलम्बन विभाव रूप भी है जिसके देखने से रस उद्दीप्त होता है, चन्द्रमा लक्ष्मी का भ्राता है इसलिए मुख की कान्ति समान है और चन्द्रमा नवीन केसर के समान अरुण रंगवाला भी है, जिससे यह भाव बताया है कि जैसे लक्ष्मीजी विवाह के समय लाल मुखवाली होकर नवीन काम को उत्पन्न करती थी, वैसे ही यह भी, नूतन काम को प्रकट करने वाला है और वन भी रस पोषक है, क्योंकि चन्द्र ने अपनी कोमल किरणों से उसको रंजित (लाल बना) कर रस का पोषण करने वाला बना दिया है ।\* (चन्द्र की किरणें रस का दोहन करती हैं । उस रस की पालना वन में होती है । इसलिए मूल श्लोक में किरणों के लिए 'गो' शब्द दिया है, चन्द्रमा की किरणों को लक्ष्मी के मुख जैसी लाल आभा वाला कहा है इससे जैसे लक्ष्मीजीके नूतन कटाक्ष भाव के उदय होने में कारण हैं वैसे ही ये (किरणें) भी भाव बढ़ाने में कारण हैं । 'गो' अर्थ इन्द्रियें भी होता है, जिसका यह भाव है कि अब तो केवल इन्द्रियों में पद का भाव-उत्पन्न हुआ है उसका पोषण और वृद्धि तो स्वामिनियों के आने के अनन्तर होगी । यों बताने के लिए 'गो' का विशेषण 'कोमल' दिया है । जब यह चन्द्र समस्त वन को रंजित करता है तो जिनके लिए उदय हुआ है उनको कैसे रंजित न करे ।) इससे संकल्प द्वारा काम के जगने से सर्व कार्य सिद्ध होंगे इसलिए भगवान् कलं गान गाने लगे (करने लगे) । उस गान ने वाम<sup>२</sup> दृष्टि वाली स्त्रियों के मन को हरण कर लिया क्योंकि श्रुति कहती है कि 'तस्मात् गायन्तं स्त्रियः कामयन्त' कि

† 'कु' पृथ्वी 'मुद' आनन्द 'वान्' वाला, चंद्र अर्थात् पृथ्वी पर आनन्द को देनेवाला इस-लिए चन्द्रमा का नाम 'कुमुद्वान्' पड़ा है ।

\* यह लेख श्री गुसांईजी का है ।



गान करने वाले पुरुष को स्त्रियाँ चाहती हैं, कारण कि गायक गान से उनका मन हर लेता है अर्थात् भगवान् ने कल गान से, (वेणुनाद से) सबको बुला लिया। यदि भगवान् अव्यक्त मधुर गान न कर व्यक्त स्पष्ट गान करते तो गीत सुनती हुई वहाँ ही स्थित हो जाती (यहाँ न आती)। जिनकी दृष्टि उत्तम न थी उनको भगवान् ने बुलाया ही नहीं ॥३॥

**आभास—**ततः सर्वाः स्त्रियः समागता इत्याह निशम्येति ।

**आभासार्थ—**वेणुनाद होने के अनन्तर, सर्व (कुमारिकाएँ तथा विवाहित) गोपीजन आई, उसका वर्णन करते हैं—

**श्लोक—**निशम्य गीतं तदनङ्गवर्धनं व्रजस्त्रियः कृष्णगृहीतमानसाः ।

आजभ्रुरन्योन्यमलक्षितोद्यमाः स यत्र कान्तो ज्वलोलकुण्डलाः ॥४॥

**श्लोकार्थ—**कामवर्द्धक उस गीत को सुन कर श्रीकृष्ण में जिनका मन लग गया है ऐसी व्रज की स्त्रियाँ परस्पर जाने की सूचना न देते हुए वहाँ आई जहाँ उनके कान्त भगवान् बिराजते थे, शीघ्रता से आने के कारण उनके कानों के कुण्डल चञ्चल हो रहे थे ॥४॥

**सुबोधिनी—**यद्यपि भगवता कुमारिका एवाहताः, तथापि आह्वानं सदृशमिति, निरोधोऽपि कर्तव्य इति सर्वा एव समागताः । किञ्च, यद्भगवता गीतं तदनङ्गमेव वर्धयति, अङ्गं तु नाशयत्येव । अतो नूतन उत्पन्नः कामः ता आनीतवान् । किञ्च, व्रजस्य स्त्रियः पूर्वमपि भगवदीयाः, कृष्णेनैव गृहीतं मनो यासाम् अतः शीघ्रमेव यत्र कान्तस्तत्रागताः । अनेन आकारिता एव प्रथममागता इत्युक्तम् । तासां

मुख्यः कान्त इति । अत एवान्योन्यमलक्षित उद्यमो यासाम् । ता हि प्रत्येकमेव भगवन्तं पतित्वेन स्वीकृतवत्यः । स पूर्वमुपात्तो यः कान्तः । तासां शरीरविचारेऽपि दृष्टिर्न जातेति वक्तुं जवेन लोले कुण्डले यासामिति कर्णपीडाननुसन्धानं प्रदर्शितम् । ताः स्त्रियो गौडदेशस्थाः । तत एव कुमारिकाः समागता इति । पूर्वं मथुरादेशस्थितानामपि अनागरीणां कुण्डले एव । ताटङ्कयोरेव वा कुण्डलत्वम् ॥४॥

**व्याख्यार्थ—**यद्यपि भगवान् ने कुमारिकाओं को ही बुलाया था, कारण कि उनको ही इन रात्रियों में रमण करने का वरदान दिया था, तो भी बुलावा तो सब को समान था और निरोध तो सबका करना था । इसलिए नाद श्रवण करते ही, सब आ गई और भगवान् ने जो गान किया था वह काम को बढ़ाने वाला तथा लौकिक देह को नाश करने वाला था, अतः अलौकिक देह में अलौकिक दिव्य काम उत्पन्न हुआ वह ( काम ) इनको यहाँ लाया । वे व्रजाङ्गनाएँ तो प्रथम ही भगवदीय थीं, इस कारण से कृष्ण ने जिनका मन आकर्षित कर लिया है, वैसी वे शीघ्र ही जहाँ उनके वे कान्त थे वहाँ आईं । जिससे यह बात दिया कि जिनको बुलाया वे ही पहले आ गई ।





क्योंकि उन (कुमारिकाओं) के मुख्य कान्त ये ही थे। अतः इसी प्रकार आने लगी कि जिससे उद्यम का एक दूसरे को पता न लगे। प्रत्येक कुमारिका कृष्ण को अपना २ कान्त समझ कर शीघ्रता से शीघ्र २ आई।

मूल में (स) पद देने का तात्पर्य यह है कि जिनको पहले अपना पति किया था, वे जहाँ थे, वहाँ ऐसी शीघ्रता से आई, जैसे शरीर को दुःख का भी ज्ञान न रहा, जैसे कि शीघ्रता से चलने से कानों के कुण्डल, जो हिलते थे, जिससे कानों में पीड़ा होती थी किन्तु उसका भान भी उनको न रहा।

वे स्त्रियां गौड देश की थी, वहाँ (गौड देश) से ही जो आई थीं वे कुमारिकाएँ थीं। मथुरा देश के गाँवों में रहने वाली स्त्रियां भी पहले कुण्डल पहनती थी अथवा कुण्डल से कान का भूषण 'बाला' आदि समझना चाहिए ॥४॥

**आभास—**प्रसङ्गादन्यासामप्यागमनमाह दुहन्त्य इति ।

**आभासार्थ—**प्रसङ्ग से, कुमारिकाओं के अतिरिक्त जिनको आह्वान नहीं किया गया था वे भी आईं उनका वर्णन इस श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**दुहन्त्योऽभिययुः काश्चित् दोहं हित्वा समुत्सुकाः ।

पयोऽधिश्चित्य संयावमनुद्वास्यापरा ययुः ॥५॥

**श्लोकार्थ—**भगवान् के किए हुए नाद के सुनने से, जिनके अन्तःकरण में भगवान् से मिलने की विशेष उत्कंठा जगी थी उनमें से, कितनीक दुहती हुई आधे में ही दुहना छोड़कर, कितनीक चूल्हे पर चढ़े हुए दूध को नीचे उतारे बिना, कितनीक दूध में पकी हुई गेहूँ की खीर चूल्हे पर धरी हुई छोड़कर, इसी प्रकार सब अपने कार्य की परवाह न कर भगवान् के पास शीघ्र पहुँच गईं ॥५॥

**सुबोधिनी—**तासां वा क्रियापराणाम् । तत्र काश्चन षोडशसहस्रव्यतिरिक्ताः नवविधाः समागताः, दशविधा वा । गुणानां त्रैविध्यान्नवविधत्वम् । निर्गुणाश्चैकविधाः । जातिकुललोकधर्मपराः तिस्रस्तिस्र उदीरिताः । तत्र गोपाजातीयाः दुग्धपराः । तत्र दुग्धस्योत्पत्तिस्थितिप्रलयान् कुर्वन्ति तास्तिस्रः प्रथममुदीरिताः । एवंविधा अपि गणेश इति वक्तुं सर्वत्र बहुवचनम् । काश्चिद्दुहन्त्य एव दोहं दोहनलक्षणं कर्म मध्ये त्यक्त्वा भगवदाभिमुख्येन ययुः । गौर्वत्सश्च बद्धौ,

दोहनपात्रं च अर्धदुग्धम्, यः समयः सर्वथा त्यक्तुमशक्यः, तस्मिन् समये समागताः । तथा समागमने हेतुः समुत्सुका इति । सम्यगुत्सुकाः, को वेद क्षणान्तरे भगवान् नव गमिष्यतीति । अन्याः पुनः पयः अधिश्चित्य तथैव ययुः । भोजनार्थं पयसि पच्यमानाः गोधूमकरणाः संयावशब्देनोच्यन्ते । तेषां दाहे सर्वनाश इति । पक्वदशैव संयावशब्देनोच्यते । अतस्तदप्यनुद्वास्या काश्चन अभिययुः । अपरा इति सर्वत्र गुणैर्भिन्नस्वभावत्वम् । एवं तिस्रो राजस्य ॥५॥



**व्याख्यान**—सोलह हजार कुमारिकाएँ थीं उनके सिवाय अन्य गोपियाँ गुणों के मिश्रण से नव प्रकार की थीं और एक प्रकार निर्गुणों का था यों मिलकर दश प्रकार की थीं। वे घर के काम में लगी हुई थीं। किन्तु नाद श्रवण से भगवान् से मिलने के लिए बिह्वल हो गई जो काम के बिगड़ जाने का भी ध्यान न कर शीघ्रता से भगवान् के पास आ गई।

वे (आई हुई) गोपियाँ जाति धर्म, कुल धर्म और लोक धर्म में परायण तीन-तीन भाव वाली थीं। उनमें जाति धर्म वाली, गोप की स्त्रियाँ थीं, जिनका (धंधा) दूध का है, वे प्रथम गौ आदि का दोहन कर दूध पैदा करती हैं, अनन्तर उसकी सावधानी से 'रक्षा' करती है पश्चात् दूध का प्रलय<sup>२</sup> करती हैं; वे प्रथम तीन प्रकार की<sup>३</sup> कही है उनके भी यूथ हैं इसलिए मूल श्लोक में बहुवचन कहा है।\*

कितनीक नाद श्रवण के समय दूध का दोहन करती थीं उसको बीच में ही छोड़ गौ और वछड़े बंधे पड़े रहे दूध का पात्र आधा ही भरा पड़ा था ऐसी अवस्था में उनको वैसी दशा में छोड़ना कठिन था, तो भी, छोड़कर भगवान् के पास आई कारण कि उनको यह विचार हुआ कि न जाने दूसरे क्षण में भगवान् कहीं चले जाएँगे इसलिए शीघ्र चलें।

दूसरी ऐसी थीं, जिन्होंने गरम करने के लिए दूध को चूल्हे पर धरा था उसको चूल्हे पर ही छोड़ कर भगवान् के पास आगई।

तीसरी वे थीं, जिन्होंने भोजन के लिए गेहूँ को दूध में पकाया था वह तय्यार भी होगया था तो भी उसको चूल्हे से नीचे उतारे बिना भगवान् के पास पहुँच गई, यह विचार नहीं किया, कि इसके जल जाने से सर्वनाश होगा अर्थात् दूध गेहूँ और शक्कर सर्व व्यर्थ होंगे। श्लोक में दिए 'अपरा' शब्द का भाव यह है कि प्रत्येक का गुणों से (सात्त्विक, राजस और तामस गुणों से) स्वभाव भिन्न है। इसी भांति इस श्लोक में जाति धर्मवाली तीन (सात्त्विक-राजस, राजस-राजस और तामस-राजस) राजस थीं ॥५॥

**आभास**—सात्त्विकीराह परिवेषयन्त्य इति ।

**आभासार्थ**—निम्न श्लोक में सात्त्विकाओं का वर्णन करते हैं ।

# सात्त्विक, राजस एवं तामस

\* उत्पत्ति स्थिति एवं प्रलय के नियामक गुण तीन हैं राजस सात्त्विक एवं तामस



श्लोक—परिवेषयन्स्तद्धित्वा पापयन्त्यः शशूनव ।

शुश्रूषन्त्यः पतीन् काश्चिदभ्रन्त्योऽपास्य भोजनम् ॥६॥

श्लोकार्थ—कितनीक परोसना छोड़, कितनीक बच्चों को दूध पिलाती थीं, उसको आधे में छोड़, कितनीक पतियों की सेवा को आधे में छोड़, और भोजन करना भी आधे में त्याग कर, अपने कान्त कमल नयन भगवान् के पास पहुँची ॥६॥

|                                                                                                                                                                                           |                                                                                                                       |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>सुबोधिनी—भर्तुरपत्यस्यापि सेवा स्त्रीधर्मः । तत्र भर्तुर्भोजने शयने च सेवा स्वधर्मः । अति-वालकानां पुत्राणां स्तनदानं च । परिवेषणं च सृष्टिरिव, रेतस उत्पादकत्वात् । स्तनदानं पाल-</p> | <p>नम् । शिष्टमन्यत् । सर्वत्र तत्तद्धित्वेति ज्ञेयम् । अन्या इत्यपि । तामसीराह अभ्रन्त्योऽपास्य भोजनमित्यादि ॥६॥</p> |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

व्याख्यार्थ—पति तथा पुत्रों की सेवा करना भी स्त्रियों का धर्म है, किन्तु पति की भोजन तथा शयन समय सर्व प्रकार से परिचर्या करना स्त्री का विशेष स्वधर्म है । और इसी प्रकार छोटे बच्चों को स्तनदान करना भी स्त्रियों का विशेष स्वधर्म है ।

पति को परोसना, यह सेवा तो स्त्रियों के लिए 'सृष्टि' धर्म है । परिवेषण<sup>१</sup> यह सृष्टि धर्म इसलिए है, कि भोजन से (वीर्य) 'उत्पन्न' होता है, वीर्य द्वारा 'सन्तति' होती है । स्तनदान से बालकों का पालन होता है शेष कार्य प्रलय धर्म है । इसी प्रकार इन तीन कार्यों से इस श्लोक में तीन तरह की सात्त्विक गोपियों का वर्णन किया है । जैसा कि परोसने वाली राजस सात्त्विकी हैं, स्तन पान से रक्षा करने वाली सात्त्विक सात्त्विकी हैं और केवल पति सेवा करने वाली तामस सात्त्विकी हैं, कारण कि, इस सेवा में भोग की अभिलाषा होने से तामसत्व है । ये तीनों प्रकार की गोपियाँ अपने-अपने पृथक् पृथक् कार्यों को त्याग कर भगवान् के वहाँ पहुँची ।

उपरोक्त प्रकार से जाति तथा कुल धर्म वाली तीन २ प्रकार की गोपियाँ का वर्णन कर अब चतुर्थ पाद 'अभ्रन्त्योऽपास्यभोजनम्' से लोक धर्म वाली तामस गोपीजन का वर्णन करते हैं, नाद श्रवण समय, जो गोपियाँ भोजन कर रही थीं, भोजन को आधे में ही त्याग कर भगवान् के पास गईं वे लोक धर्म वाली तामसी गोपियाँ थीं ॥ ॥



श्लोक—लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्योऽन्या अञ्जन्त्यः काश्च लोचने ।

व्यत्यस्तवस्त्राभरणाः काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः ॥७॥

श्लोकार्थ—कितनी एक लीपती थीं, कितनी एक उबटन कर रही थीं, कोई आँखों में अञ्जन<sup>१</sup> आँज रही थीं, कितनी एक ने तो शीघ्रता के कारण वस्त्र और आभूषण उलट पुलट पहन लिए और उतावली से श्रीकृष्ण के पास आ पहुँची ॥७॥

सुबोधिनी—लिम्पन्त्यः शरीरानुलेपनं कुर्वन्त्यः प्रमृजन्त्य उद्वर्तनादिकं कुर्वन्त्यः, गृहं वा लिम्पन्त्यः प्रमृजन्त्यः आभरणानि, भाण्डानि वा प्रमृजन्त्यः । अत्रापि पूर्ववदेव क्रमः । शरीरसेवातः गोसेवा मुख्या, ततः पतिसेवेति । 'अञ्जन्त्यः काश्च लोचन' इति गुणातीताः । अतः 'काश्च लोचने' इति दुर्लभाधिकारः सूचितः । ज्ञानमार्गशोधिका इति निर्गुणत्वम् । तासामागमने दैहिकाविचारोऽपि न जातः, किम्पुनस्तद्धर्माणामिति वक्तुं

वस्त्राभरणयोर्व्यत्यासमाह व्यत्यस्तेति । व्यत्यस्तानि विपरीतानि वस्त्राभरणानि च यासाम् । एवमुद्यमः सर्वासामेव साधारणो निरूपितः । 'व्यासो मार्गगता' विति केचित् । तन्मध्येऽपि काश्चित्कृष्णान्तिकं ययुः, काश्चित् । याः पुनः शब्दपरा जाताः, ता उद्युक्ता अपि नागताः, याः पुनः शब्दापेक्षां त्यक्तवत्यः, ताः सर्वतो निरपेक्षाः विपरीतावश्यकदेहधर्माः भगवदन्तिकमागताः ॥७॥

व्याख्यार्थ—कितनीक गोपियाँ शरीर पर अरगजा आदि से लेप + करती थीं, कितनीक तेल फुलेल से उबटन ॥ कर रही थीं, यहाँ भी क्रम के अनुसार, (राजस, सात्विक और तामस) क्रम लेना । शरीर सेवा से गौ की सेवा मुख्य है उससे पति की सेवा विशेष समझनी चाहिए । इनमें जो कितनीक अञ्जन आँज रही थीं वे निर्गुण थीं । कितनीक कहने से यह बताया है, कि वैसा अधिकार होना दुर्लभ है, आँखों में अँजन डालने वाली गोपियाँ ज्ञान मार्ग का शोधन करने से निर्गुण हैं अतः वैसा अधिकार पाना दुर्लभ है । इस प्रकार की गोपियों को भगवान् के पास आने में देह का भी अनुसन्धान जब न रहा तब देह के धर्मों का विचार कैसे रहेगा ? इसी कारण से, आभूषण एक स्थान के दूसरे स्थान पर धारण कर लिए एवं वस्त्र भी नीचे के ऊपर और ऊपर के नीचे पहन लिए । इस प्रकार सबका साधारण उद्यम बताया । (कोई कहते हैं कि, वस्त्र उलट पुलट मार्ग में हुए हैं) वैसी गोपियाँ भी कोई कृष्ण के पास पहुँच गई कितनीक नहीं पहुँची ।

जो गोपियाँ जाने के लिए उद्यम शील भी हुई किन्तु पति आदि के शब्द के परायण हुईं अर्थात्

+ ॥ अथवा वे गोपियाँ घर को लीप रही थीं तथा आभूषण तथा बर्तनों को साफ कर रही थीं ।



उन शब्दों से रुक गई वे, भगवान् के पास (भजनानन्द पाने के लिए) न आ सकी और जिन्होंने उनके (पति आदि के) शब्दों की परवाह नहीं की और किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं की तथा आवश्यक देह धर्म भी जिनके विपरीत हो गए थे उस पर भी ध्यान नहीं दिया, वे ही कृष्ण के पास पहुँच गई समय पर भजनानन्द का आनन्द भी उन्होंने ही पाया ॥७॥

**आभास—सर्वासामनागमने हेतुमाह ता वार्यमाणा इति ।**

**आभासार्थ—**भगवान् के पास भजनानन्द रस पाने के लिए, जो न पहुँच सकी उनके न आने का कारण इस श्लोक में कहते हैं ।

**श्लोक—**ता वार्यमाणाः पतिभिः पितृभिः पुत्रबन्धुभिः ।

गोविन्दापहृतात्मानो न न्यवर्तन्त मोहिताः ॥८॥

**श्लोकार्थ—**वेणुनाद श्रवण कर, जब गोपियाँ भगवान् के पास आने लगीं, तब उनको पति, पिता, पुत्र और बन्धुओं ने जाने से रोका तो भी जिनका हृदय हरि ने हरण कर लिया है वे रुकी नहीं, क्योंकि भगवान् ने उनको मोह लिया था, (शेष रुक गई) ॥८॥

**सुबोधिनी—**‘रक्षेत्कन्यां पिता विभ्रां पतिः पुत्रस्तु वार्धके । अभावे ज्ञातयस्तेषां न स्वातन्त्र्यं क्वचित्त्रिया’ इति चत्वारो रक्षकाः । अतो यथा-यथं पतिभिर्वार्यमाणा जाताः, काश्चन पितृभिः, तथैव पुत्रैर्बन्धुभिश्च । ते हि निरुद्धा अपि फलरसानभिज्ञाः, साधनप्रवणाः । स्वद्वारैव स्त्रीणां भजनं भजनं मन्यन्ते, न तु स्वातन्त्र्येण । तथापि गोविन्दे-नापहृतः आत्मा अन्तःकरणं यासाम् । निवारणं हि श्रोतम् । प्रवर्तकश्च भगवान् । अन्तःकरणा-रूढाश्च पुरुषाः । न हि नौका प्रवाहवेगाद्गच्छन्ती

तिष्ठतिष्ठेत्युक्ता तिष्ठति । भयं स्वधर्मो वा तासां नास्तीत्याह मोहिता इति । यदि ताः कृष्णान्तिकं न गच्छेयुः, तदा मूर्च्छिता इव प्राणास्त्यजेयुः । (सर्वात्मभावज्ञापनायैवाधुना ब्रजस्थानामेतदाग-मनज्ञानं कारितवानिति ज्ञेयम् । अन्यथाग्रे ‘मन्य-मानाः स्वपार्श्वस्था’निति वाक्याद्यथा वनस्थित्य-ज्ञानं सम्पादितवान्, एवं पूर्वमेवागमनाज्ञानमेव कथं न सम्पादयेत् । ‘प्रक्षालनाद्धि पङ्क्त्ये’ति न्यायेन तज्ज्ञानं सम्पाद्य तत्सम्भावितदोषाभाव-सम्पादनात्तदसम्पादनस्यैव वरीयस्त्वदिति) ॥८॥

**व्याख्यार्थ—**स्त्री जाति की रक्षा का (पालन-पोषण का) भार, स्त्री पर नहीं है, उसकी वचपन में पिता को रक्षा करनी चाहिए, युवावस्था में पति उनकी रक्षा करें, वृद्धावस्था में पुत्र उनकी रक्षा करें, इस प्रकार स्त्री की रक्षा का भार स्त्री पर नहीं है, अतः पिता, पति और पुत्र न



हो तो जाति वाले सगे सम्बन्धी भी उनकी रक्षा करें, इसी कारण से, स्त्री को उनकी आज्ञानुसार चलने की मर्यादा है। गोपियाँ जब घर से निकल कर जाने लगीं तब इस मर्यादानुसार पति पितादि वान्धवों ने उनको जाने से रोका। यद्यपि उन पति आदिकों का भी भगवान् ने निरोध किया था, अर्थात् वे निरुद्ध थे, किन्तु अब तक भगवान् के भजनानन्द रूप फल में कैसा अनन्त अद्भुत रस है उससे वे अनभिज्ञ थे इसीलिए साधन में लगे हुए थे। जिससे वे समझते थे कि स्त्रियों को भगवान् का भजन स्वतंत्र सीधा नहीं करना चाहिए पति द्वारा ही करना चाहिए। इसी प्रकार से (पति द्वारा) भजन ही स्त्रियों के लिए भगवान् का सद्वा भजन है। इसी भांति पति आदि का कहा हुआ रोकने वाला शब्द केवल कान तक पहुँचने वाला है, किन्तु अन्तःकरण पर उसका प्रभाव नहीं, कारण कि जीव अन्तःकरण के वश है और अन्तःकरण के प्रवर्तक भगवान् हैं, अतः जिनका अन्तःकरण भगवान् में लग गया था, उन पर पति आदि के शब्द का प्रभाव वैसे न पड़ा जैसे प्रवाह में जाती हुई नौका पर केवल 'ठहर ठहर' शब्द का प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः भगवान् में आसक्त आत्मा वाली गोपियाँ रुकी नहीं, भगवान् के पास चली गईं।

इस प्रकार कहने का आशय यह है, कि जिनका अन्तःकरण भगवान् में आसक्त नहीं था वे रुक गईं। भगवान् में आसक्त चित्त वाली गोपियों को किसी प्रकार का भय नहीं था, तथा उनको स्वधर्म (देह धर्म-मर्यादा धर्म) की भी परवाह न थी क्योंकि उन गोपियों का भगवान् में मोह था अतः यदि भगवान् के पास न जाती तो मूर्छित हो के भूमि पर गिर पड़तीं, मोहितों को किसी प्रकार का भय और स्वधर्म का भान नहीं होता है।

+ (इस प्रकार गोपियाँ पति आदि के वचनों की परवाह न कर भगवान् के पास पहुँचीं जिनको व्रजवासियों ने प्रत्यक्ष देखा था तो भी उन्होंने रात्रि में अपनी स्त्रियों को अपने पास ही सोई हुई पाई, अर्थात्, उस समय हमारी स्त्रियाँ तो हमारे वचनों की परवाह न कर भगवान् के पास गईं हैं इसको भूल गए) भगवान् ने प्रथम तो उनको (व्रजवासियों को) स्त्रियाँ भगवान् के पास गईं इसका ज्ञान कराया, पुनः अज्ञान कराया, यह तो कीचड़ में पैर डाल कर फिर धोने के समान ही हुआ जिससे अच्छा तो यह होता, कि उनको प्रथम ज्ञान ही न कराते, इस शङ्का का समाधान करते हुए प्रभुचरण आज्ञा करते हैं, कि भगवान् के पास गोपियाँ के जाने का व्रजवासियों को प्रथम ज्ञान कराने का तात्पर्य यह है कि उनको (व्रजवासियों को) यह दिखाना था कि गोपियों का भगवान् में सर्वात्मभाव सिद्ध है) ॥८॥

**आभास—**एवं दशविधानां भगवत्समीपगतिमुक्त्वा, यासां कालः प्रतिबन्धकः। पूर्वमेव भक्तियुक्ताः, ता भजनानन्दमनुभूयेव, प्रतिबद्धा एव, भगवत्सायुज्यं प्राप्तवत्य इत्याह अन्तर्गृह्यता इति त्रिभिः।

**आभासार्थ—** इस प्रकार दश प्रकार की गोपिकाएँ (३-रजोगुणी, ३-सतीगुणी, ३-तमोगुणी



और १-निर्गुणी) भगवान् के पास प्राप्त हुई, इनके सिवाय जो प्रथम भक्त थीं, किन्तु भजनानन्द के सुख का अनुभव नहीं लिया था, उनके जाने में काल ने रुकावट डाली, जिससे वे भजनानन्द रस पानार्थ भगवान् के पास न पहुँचकर सीधी भगवत्सायुज्य को प्राप्त हुई, इसका वर्णन निम्न ६ वें श्लोक में कहते हैं—मुक्ति, कर्म क्षय से होता है, कर्म क्षय, ज्ञान से, शास्त्रीय मर्यादा विहित भक्ति से, वा भगवत्सान्निध्य दर्शन से होता है ये तीनों यहाँ नहीं थे तो इनकी मुक्ति कैसे हुई? इस शङ्का के निवारणार्थ कर्मक्षय का प्रकार शुकदेवजी निम्न १० वें श्लोक में कहते हैं। इस प्रकार पाप पुण्य कर्मों के क्षय होने से मुक्त होगई उसका वर्णन निम्न ११ वे श्लोक में करते हैं।

**श्लोक—अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्धविनिर्गमाः ।**

**कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्भोलितलोचनाः ॥६॥**

**दुःसहप्रेषविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।**

**ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीणमङ्गलाः ॥१०॥**

**तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि सङ्गताः ।**

**जहर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥११॥**

**श्लोकार्थ—**कितनीक गोपियाँ घर के भीतर ही पति आदि के रोकने से रुक गईं जब निकलने का मार्ग उनको न मिला, तब उन्होंने आँखें बन्द कर, मन में श्रीकृष्ण का ध्यान किया ॥६॥

प्यारे श्रीकृष्ण के दुःसह<sup>१</sup> विरह के तीव्र<sup>२</sup> ताप होने से उनके पाप कर्म धुल गए और ध्यान से प्राप्त, श्रीकृष्ण के आलिङ्गन से, प्राप्त सुख के भोग से उनके पुण्य कर्म क्षीण हो गए ॥१०॥

अन्तर्गृहगता<sup>३</sup> गोपियों ने पाप फल भोग के अनन्तर जब परमात्मा का हृदय से दर्शन किया, तब भगवान् का जार बुद्धि से आलिङ्गन<sup>४</sup> कर इस प्रकार पाप पुण्य फल भोगने से कर्मक्षय होगया, जिससे सब बन्धन टूट गए और गुणमय देह छूट गई ॥११॥

१—जो मुश्किल से सहा जाय, २—तेज,

३—जो पति आदि के रोकने से घर में रह गई थीं, ४—मिलाप.



सुबोधिनी—दैवगत्या काश्चिद्गृहमध्ये स्थितः, गोपभार्याः चातुर्यानिभिज्ञाः, अत्रौढाः पतिसहिताः, पतिभिरेव संरक्षिताः, अलब्धविनिर्गमा जाताः । ततः प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थं कृष्णमेव ध्यातव्यः परं तद्भावनायुक्ताः, भगवान् जारः स्वयमभिसारिका इति । अन्यथा प्रतिबन्धो न स्यात् । तादृशोऽपि मीलितलोचनाः सत्यो भगवन्तं दध्युः ध्यातव्यः, ततो मुक्ता जाताः ननु तत्र ज्ञानाभावात् विहितभक्त्यभावात् भगवतोऽपि सान्निध्याभावात् कथं मुक्ता इत्याशङ्क्य, कर्मक्षयात् मुक्ता इति वक्तुं कर्मक्षयप्रकारमाह दुःसहेति । दुःसहो यः प्रेश्विरहः स एव महानग्निः, तस्य यस्तीव्रस्तापः, तेन धुतानि निर्धूतानि ज्वालितानि भस्मसात्कृतानि अशुभानि यासाम् । फलभोगे कर्म क्षीयत इत्यविवादम् । कोटिब्रह्मकल्पेषु कुम्भीपाकादिनरकेषु यावत् दुःखं भवेत्, तावत् दुःखं भगवद्विरहे क्षणमात्रेण जातम् । ततः सर्वपापफलभोगः समाप्तः । पुण्यक्षयप्रकारमाह ध्यानप्राप्तेति सर्वपापक्षये भगवान् ध्याने प्राप्तः । अच्युतः परमात्मा । न तु समागतोऽपि जारत्वेन, अन्यथा ततोऽपि

कर्मक्षेपः स्यात् । तस्य योऽयमाश्लेषः, तेन या निर्वृतिः, तथा क्षीणं मङ्गलं पुण्यं यासाम् । कोटिब्रह्मकल्पेषु स्वर्गादिलोकेषु यावत्सुखमनुभूयते, तावत् भगवदाश्लेषे क्षणमात्रेणैवानुभूतम् । अतः पुण्यक्षयोऽपि जातः । ततो मुक्ता जाता इत्याह तमेव परमात्मानमिति । सुखभोगार्थमेव भगवान् पूर्वमाश्लिष्टः भोगे जातेऽपि वियोजकपापाभावात् न वियुक्ताः, अतः संगता एव स्थिताः । शरीरं तु प्रारब्धकर्मनिर्वाणमपतत् । यद्याश्लिष्टो भगवान् न भवेत्, तदा तत्र प्रविष्टाः तद्गतं धर्माधर्मफलं बुभुजुः, भगवति प्रविष्टत्वात् मुक्ता एव, जाताः । तदाह तमेव परमात्मानमिति । पूर्व सम्बन्धसमये यद्यपि जारबुद्ध्यापि संगता एव, ततः कर्मबन्धस्य प्रक्षीणत्वात् गुणमयं देहं जहुः । तदा अज्ञान-मन्यथा ज्ञानं वा त्रिक्षणवस्थाधीति न तयोः प्रतिबन्धकत्वम्, वियोजकाभावात् शरीरान्त-रोत्पादकाभावात् । अविद्या परं तिष्ठति, सा भगवच्छक्तिः, भगवत्संगतं न व्यामोहयतीति सापि निवृत्ता । ततः मुक्ता जाता इत्यर्थः ॥११॥

व्याख्यानार्थ—दैवगति<sup>१</sup> से कितनी ही घर के भीतर रह गई, क्योंकि गोप की स्त्रियाँ होने से उनमें चातुर्य<sup>२</sup> न था, बड़ी भी नहीं थीं जिससे वे पतियों से रक्षित होने से उनके साथ थीं, जिससे बाहर न निकल सकी, इस प्रतिबन्ध को मिटाने के लिए कृष्ण का ध्यान करने लगीं, किन्तु कृष्ण हमारा नायक<sup>३</sup> है और हम उनकी नायिकाएँ हैं इस भावना से ध्यान करती थीं जिससे प्रतिबन्ध मिटा नहीं यदि ऐसा भाव नहीं होता, तो प्रतिबन्ध ही नहीं होता । जार बुद्धि से भी आँखें बन्द कर, भगवान् (कृष्ण) के ध्यान में मग्न हुईं जिससे मुक्त हो गई ॥११॥

यह बिना विवाद के मानी हुई बात है कि कर्मों के फल भोगने से कर्मों का नाश हो जाता है इस सिद्धान्तानुसार गोपियों ने पाप कर्मों को अपने परम प्रिय के दुःसह विरह से उत्पन्न तीव्र अग्नि में जला दिए क्योंकि करोड़ों ब्रह्मा के कल्पों में कुम्भीपाकादि नरकों में जितना दुःख होता है, उतना दुःख भगवान् के क्षण मात्र विरह में हुआ, जिससे सर्व पापों के फल का भोग समाप्त हो गया । श्लोक के उत्तरार्ध में पुण्यों के फल भोग का प्रकार कहते हैं—जब पाप क्षय हो गए, तब ध्यान करते





हुए भगवान् के दर्शन हुए। वे परमात्मा अच्युत थे। ध्यान समय, गोपीजनों को जार भाव से भगवान् का दर्शन नहीं हुआ था (यदि जार भाव से होता, तो कर्म शेष रह जाते) जिससे भगवान् से उस समय हुए आलिङ्गन से, सर्व पुण्य फल भोग हो गया। करोड़ों ब्रह्मा के कल्पों में जो स्वर्गादि लोकों में पुण्य फल के सुख भोगे जाते हैं, उतने सुखों का भगवदालिङ्गन से क्षण मात्र से, अनुभव हो गया अतः पुण्य कर्म भी क्षय हो गए ॥१०॥

गोपियों को ध्यान में भगवान् के जब दर्शन हुए तब सुख भोगने के लिए उन्होंने भगवान् का आलिङ्गन किया था। पुण्यों के फल रूप सुख का उपभोग हो गया तो भी, उनको भगवान् से पृथक् करने वाला कोई पाप कर्म नहीं रहा था, जो उनको भगवान् से अलग कर सके, इसलिए वे (जीव) भगवान् से ही मिले रहे, शेष कर्मों से बने हुए उनके गुणमय देह नष्ट हो गए। जो जीव भगवान् से मिले हुए नहीं होते तो, अन्य किसी देह में जीव का प्रवेश होता तो उस देह से सम्बन्धी धर्म तथा अधर्म के फल उनको भोगने पड़ते, किन्तु भगवान् से आश्लिष्ट होने से, अन्य देह की प्राप्ति न हुई, किन्तु मुक्ति हो गई। इसलिए श्लोक में 'तं एवं परमात्मान' कहा है उस ही (जिसको ध्यान में देखा अथवा जिसमें जार बुद्धि थी) परमात्मा से मिल कर मुक्त हुए। यद्यपि पहले जार बुद्धि से ही मिले थे किन्तु कर्म बन्धन के क्षीण होने से गुणमय देह को छोड़ दिया। तब जो अज्ञान अथवा अन्यथा ज्ञान रहता है, वह तो तीन क्षण ही रहता है अतः वे प्रतिबन्धक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि वे न भगवान् से पृथक् कर सकते हैं और न दूसरी देह बना सकते हैं, शेष अविद्या रहती है, किन्तु वह भगवान् की शक्ति है जिससे जो भगवान् से मिले हुए हैं उनको मोह में नहीं डाल सकती है, अतः वह भी निवृत्त हो गई जिससे वे मुक्त हो गए अर्थात् उन्होंने सायुज्य मुक्ति प्राप्त करली ॥११॥

आभास—अत्र राजा श्रुतिविरोधमाशङ्कते कृष्णमिति ।

आभासार्थ—अब राजा इस विषय में श्रुति का विरोध दिखा कर शङ्का करता है।

राजोवाच—

श्लोक—कृष्णं विदुः परं कान्तं न तु ब्रह्मतया मुने ।

गुणप्रवाहोपरमस्तासां गुणधियां कथम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—राजा कहने लगे, कि हे मुने ! ये गोपियाँ कृष्ण को अपना जार मानती थीं, कृष्ण ब्रह्म है, इस प्रकार का ज्ञान उनको नहीं था, तो ऐसी दशा में, गुण बुद्धि वाले उनके गुण प्रवाह का उपराम<sup>२</sup> कैसे हुआ ॥१२॥



सुबोधिनी— 'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽप्यनाये'ति श्रुतौ ज्ञानमेव साधनत्वेनोक्तम् । तत्रैव पुनः 'भक्त्यैव विष्णुर्नान्येन केनचित् । स एव मुक्तिदाता च भक्तिस्तत्रैव कारणम्' । उभयोश्च निर्णयः, 'ज्ञानयोगश्च मन्त्रिष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः । द्वयोरप्येक एवार्थो भगवच्छब्दलक्षणः' इति । भक्त्या मामभिजानाती' त्यपि भगवतोक्तम् । ततो मर्यादाया ज्ञानेनैव मुक्तिः पुष्टौ भक्त्या ज्ञानेन वा । एतासां तु न द्वयम् । भक्तिरपि सगुणा, ज्ञानमपि

सगुणम् । उभयं च तामसम् । अतः कथं मुक्तिरिति । तदाह ताः कृष्णं कान्तं परं विदुः । कान्तः पतिर्जारी वा, न तु ब्रह्मतया विदुः । मुन इति सम्बोधनमत्र निर्णयपरिज्ञानार्थम् । विरोधस्तु स्पष्टः । तासां भगवति स्वस्मिन् गुणबुद्धिरेव । गुणबुद्धिश्च गुणप्रवाहस्य मूलम्, अन्यथा गुणबुद्धिनिवारकाणि सर्वाण्येव शास्त्राणि व्यर्थानि भवेयुः । वैदिकदक्षस्त्वसंभावित एव । अतो गुणधियां गुणबुद्धिमुक्तानां गुणप्रवाहोपरयः कथम् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—“उस (ब्रह्म) को जानकर ही, जीव मृत्यु को पार कर जाता है” इस श्रुति के अनुसार मृत्यु से पार जाने का अर्थात् मोक्ष होने का साधन ज्ञान ही है, किन्तु जब मुक्ति किन साधनों से मिल सकती है वैसा विचार किया जाता है, तब यह समझ में आता है, कि मुक्ति भक्ति से भी मिलती है, जैसे कहा है, कि विष्णु भगवान्, भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं अन्य किसी साधन से प्रसन्न नहीं होते हैं; वह (प्रसन्न हुआ भगवान्) ही मोक्ष देता है । मुक्ति मिलने में, भक्ति ही कारण है । इस प्रकार ज्ञान तथा भक्ति दोनों मुक्ति के साधन हैं और इन दोनों की एक निष्ठता भी बताई है जैसे कहा है कि—ज्ञान योग और निर्गुण भक्ति मार्ग दोनों मुक्त में स्थित हैं, अतः उनमें कोई दोष नहीं है, ज्ञान तथा भक्ति मार्ग का फल एक भगवान् ही है, अर्थात् भगवत्प्राप्ति (मुक्ति) ही है । गीताजी में भी भगवान् ने कहा है कि मनुष्य मुझे भक्ति से ही पूर्ण रीति से जान सकता है । इस प्रकार की शङ्का राजा ने जो की है उसके प्रमाण बताकर अब उनका स्पष्टीकरण करते हैं, मर्यादा मार्ग में तो, ज्ञान से ही 'मुक्ति' होती है और पुष्टि मार्ग में ज्ञान तथा भक्ति दोनों से मुक्ति मिलती है । किन्तु उन गोपियों में तो न ज्ञान है और न भक्ति ही है । जार भाव से जो भक्ति है, वह सगुण भक्ति है, और जो ज्ञान है, वह भी मोह युक्त होने से सगुण है, ये सगुण ज्ञान तथा भक्ति तामस है, तामस होने से मुक्ति कैसे हुई ? यह प्रश्न श्लोक में इस प्रकार किया है, कि गोपियों ने कृष्ण को पति वा जार माना था न कि उनको ब्रह्म समझ कर, उनसे प्रेम किया था, श्लोक में हे मुने ! शुकदेवजी को इसलिए कहा है, कि आपको इसके निर्णय करने का पूर्ण ज्ञान है, विरोध तो साफ है, क्योंकि उनकी भगवान् में तथा अपने में गुण बुद्धि थी । गुण बुद्धि, जन्म मरण अथवा संसार की जड़ है, यदि कहो कि, गुण बुद्धि आवागमन की जड़ नहीं है, तो जो शास्त्र गुण बुद्धि के मिटाने की शिक्षा देते हैं और उसके (मिटाने के) लिए उपाय बताते हैं वे सर्व शास्त्र व्यर्थ हो जाएंगे, और वैदिक पक्ष + तो

+ वेद में जो कहा कि 'ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवति' ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म होता है, यह वेद में कहा हुआ पक्ष तो गोपियों में सिद्ध नहीं होता है क्योंकि वे उपनिषद् ज्ञान से अनजान हैं ।



उन्होंने (गोपियों में) बनता नहीं, कारण कि उन्होंने उपनिषद् आदि शास्त्रों द्वारा ब्रह्म ज्ञान प्राप्त नहीं किया है, ऐसी दशा में गुण बुद्धि वालों के गुणों का प्रवाह कैसे नष्ट हुआ ? (वह समझा कर मुझे कहो) ॥१२॥

**आभास—**तत्रोत्तरमाह उक्तमिति चतुर्भिः ।

**आभासार्थ—**इस शङ्का का उत्तर शुकदेवजी निम्न श्लोकों से देते हैं ।

श्री शुक उवाच—

**श्लोक—**उक्तं पुरस्तादेतत्ते चंचलः सिद्धिं यथा गतः ।

द्विषन्नपि हृषीकेशं किमुताधोक्षजप्रियः ॥१३॥

नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिर्भगवतो नृप ।

अव्ययस्याऽप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः ॥१४॥

कामं क्रोधं भयं स्नेहमेक्यं सौहृदमेव वा ।

नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते ॥१५॥

**श्लोकार्थ—**शुकदेवजी कहने लगे, कि—यह मैं पहले ही आपको शिशुपाल के प्रसङ्ग में कह चुका हूँ कि शिशुपाल जो भगवान् का शत्रु था, वह भी सिद्धि को (भगवत्सायुज्य मुक्ति को) प्राप्त हुआ, तो ये जो भगवान् से प्रेम करने वाले गोपीजन हैं उनको भगवत्सायुज्य (मुक्ति) हो तो उसमें क्या आश्चर्य है ? ॥१३॥ हे नृप ! अव्यय, अप्रमेय, निर्गुण और गुणों के नियन्ता भगवान् का प्राकट्य मनुष्यों के कल्याण के लिए ही है ॥१४॥ काम, क्रोध, भय, स्नेह, भक्ति, ऐक्य तथा सौहृद आदि में से किसी प्रकार भी भगवान् में नित्य संबन्ध करने से (भक्तिमान् होने से) तन्मयता<sup>१</sup> होती है ॥१५॥

**सुबोधिनी—**एतत्सप्तमस्कन्ध एवोक्तं शिशुपालमुक्तौ । यथा शास्त्रद्वयं भक्तिज्ञानप्रतिपादकं साधनम्, तथा भगवत्स्वरूपमपि । भगवान् हि

मुक्तिदानार्थमेवावतीर्णः । सच्चिदानन्दरूपेण प्रकटः । अतो यः कश्चन येनकेनाप्युपायेन भगवति सम्बन्धं प्राप्नोति, स एव मुच्यते । ज्ञानभक्त्योस्तु

आविर्भावार्थमुपयोगः । आविर्भावश्चेदन्यथा सिद्धः, तदा न ज्ञानभवत्योरुपयोगः । अत्र तु भगवान् स्वतः एवाविर्भूतः मुक्तिदानार्थं सर्वसाधारण्येन, ईश्वरेच्छया अनिवार्यत्वात् । अतः आविर्भावः स्वेच्छया, भक्त्या ज्ञानेन वा । भगवदवतारातिरिक्तकाले द्वयमेव हेतुः । अवतारदशायां तु न तयोः प्रयोजकत्वम् । वर्षाकाले जलं सर्वत्र सुलभमिति न कूपनदीनामनुपयोगः शङ्कनीयः । तदाह पुरस्तात् सप्तमस्कन्धे यथा चैशः शिशुपालः सिद्धिं भगवत्सायुज्यं गतः । द्विषन्नपि द्वेषं कुर्वन्नपि । यद्यपि द्वेषकृतो दोषः प्रतिबन्धको भवति, तथापि स्मरणेन तदघं हत्वा तत्र सायुज्यं प्राप्तः किञ्च, नापि तस्य दोषोऽस्ति कश्चन । द्वेषादयोऽपि भगवतैवोत्पादिताः । तदाह हृषीकेशमिति । इन्द्रियप्रेरकोऽयं यथासुखं भावानुत्पादयति । यत्र द्वेषस्यापि मोक्षसाधकत्वम्, तत्र अधोक्षजप्रियाः किमु वक्तव्या मुक्तिं गच्छन्तीति ॥१३॥

अत्र मुख्यामुपपत्तिमाह नृणां निःश्रेयसार्थायेति । प्राणिमात्रस्य मोक्षदानार्थमेव भगवान् अभिव्यक्तः, अतः इयमभिव्यक्तिः निःश्रेयसार्थैव । अन्यथा न भवेत् । असाधारणप्रयोजनाभावात् । भूभारहरणादिकं च अन्यथापि भवति । अतो निःश्रेयसार्थमेव भगवतोऽभिव्यक्तिः प्राकट्यम् । नृपेति सम्बोधनं कदाचिद्राजा कथञ्चिद्गच्छति तद्वदिति ज्ञापयितुम् । प्रकारान्तरेण तादृशस्य नाभिव्यक्तिः सम्भवेतीति वक्तुं भगवन्तं विशिनष्टि । आदौ भगवान् सर्वैश्वर्यसम्पन्नः अपराधीनः कालकर्मस्वभावानां नियामकः सर्वनिरपेक्षः किमर्थमागच्छेत् । किञ्च, स्वार्थं गमनाभावेऽपि परार्थं वा स्यात्, तदपि नास्तीत्याह अव्ययस्येत्यादि-चतुर्भिः पदैः । अन्येषां कृतिसाध्यं ज्ञानसाध्यं वा यद्भवति तदुपयुज्यते । भगवांस्तु अव्ययत्वात्

अविकृतत्वात् न कृतिसाध्यः । अप्रमेयत्वात् ज्ञानसाध्योऽपि न । देहादिभजेनद्वारा भजनीयो भविष्यतीत्यपि न, यतो निर्गुणः, निर्गता गुणा यस्मात् । गुणेषु विद्यमानेष्वेवान्यस्य प्रतिपत्तिस्तत्र भवति, यथा क्षुधं सत्यामन्नदानम्, कामे सति स्त्र्युपयोगः, इन्द्रियेषु सत्सु तद्विषयाणाम् । अतो भगवतः सेवकपूरणीयांशः कोऽपि नास्तीति भजनीयोऽपि न भवति । किञ्च, लीलार्थं यद्यपेक्षेतापि, तथापि सर्वं तस्यैव यतः सर्वगुणानां स एवात्मा । अतः साधनप्रकारेण नान्यस्याप्युपयोगः । अतः स्वपरप्रयोजनाभावात् यदि साधननिरपेक्षां मुक्तिं न प्रतच्छेत्, तदा व्यक्तिः प्रयोजनरहितैव स्यात् ॥१४॥

एवं सति येन केनाप्युपायेन य एव सम्बध्यते, तस्यैवमुक्तिर्भवतीत्याह काममिति । कामादयः षट् साधनानि भगवत्सम्बन्धे । तत्र कामः स्त्रीणामेव, क्रोधः शत्रूणामेव, भयं वध्याणामेव, स्नेहः सम्बन्धिणामेव, एक्यं ज्ञानिणामेव, सौहृदं भक्तानामेव । सख्यं तेष्वेव सिध्यतीति । पूर्वसिद्धज्ञानभक्तयोः नात्रोपयोगः । तेषां मर्यादया स्वतन्त्राविर्भावस्य नियत्वात् । एकस्य तूभयद्वये संयोगपृथक्त्वन्यायेन निर्णयः । वेत्यनादरे । अन्यो वा कश्चनोपायो भवेत्, परं सर्वदा कर्तव्यः अन्यथा 'अन्ते या मतिः सा गति'रिति अन्यशेषतामापद्येत । कर्मवशात् नान्ते भगवतः स्मरणम्, अन्यस्येव, प्रपञ्चविरोधित्वाद्भगवतः । अतो नित्यं ये विदधते, ते तन्मयतामेव प्राप्नुवन्ति । ननु कामादिषु क्रियमाणेषु दुःखान्तराभिभवे कथं नित्यं करणं सम्भवति, तत्राह हराविति । स हि सर्वदुःखहर्ता, नित्यं तद्भावनायां जगदेव तदात्मकं स्फुरति । दृष्टिः कामेनानुरक्तेति किम्पुनः स्वात्मा । अतस्तदात्मका एव भवन्ति । सर्वत्र भगवदावेशात् ॥१५॥

व्याख्यानार्थ—शिशुपाल के मुक्ति प्रसङ्ग में आपको यह पहले ही कह चुका हूँ । जैसे मुक्ति के लिए शास्त्र में ज्ञान तथा भक्ति दो साधन कहे हैं, अर्थात् उपासना काण्ड में भक्ति का प्रतिपादन है और ज्ञान काण्ड में ज्ञान का प्रतिपादन है इन दो साधनों के अतिरिक्त भगवत्स्वरूप भी निःसाधन दीनात्मा जीवों के लिए साधन कहा है ।



कारण कि, भगवान् मुक्ति दान देने के लिए ही सच्चिदानन्द रूप से प्रकट हुए हैं, अतः जो कोई भी जिस किसी भी (काम, क्रोध आदि) उपाय से, भगवान् से सम्बन्ध जोड़ता है उसकी मुक्ति होती ही है।

ज्ञान और भक्ति का उपयोग, भगवान् को प्रकट करने के लिए किया जाता है, यदि भगवान् दूसरे प्रकार से (अपनी इच्छा से) प्रकट हुए हों तो पश्चात् ज्ञान भक्ति का कोई उपयोग नहीं रहता है। यहाँ तो भगवान् अपने आप ही अपनी इच्छा से सर्व साधारण निःसाधन दीन जनो को मुक्ति दान करने के लिए प्रकट हुए हैं। ईश्वर की इच्छा का कोई नियामक नहीं है, इसलिए भगवान् का प्राकट्य भक्ति से हो, वा ज्ञान से हो अथवा भगवान् अपनी इच्छा से प्रकट हो जावे। जब भगवान् सच्चिदानन्द रूप से प्रकट नहीं है तब उनका आविर्भाव ज्ञान अथवा भक्ति रूप साधन द्वारा कराया जा सकता है। प्राकट्य की दशा में अर्थात् जब वे स्वयं प्रकट विराजमान हैं तब उनको कोई प्रयोजन नहीं है, इस कहने का तात्पर्य यह नहीं समझना कि ज्ञान और भक्ति का कोई उपयोग नहीं है, जैसे वर्षाकाल में सर्वत्र जल सरलता से मिलता रहता है तो भी कूप और तालाब का भी उपयोग होता है इसी भाँति पुष्टि प्रभु के प्राकट्य समय में प्रभु की प्राप्ति, ज्ञान भक्ति के सिवाय तथा प्रभु प्राप्ति में प्रतिबन्धक कामादि से भी सरल रीति से प्राणि-मात्र की हो सकती है। यह बात पहले सप्तम स्कन्ध में बता दी है कि शिशुपाल ने भगवान् से द्वेष करते हुए भी सायुज्य मुक्ति प्राप्त की थी। भगद्द्वेष रूप पाप मुक्ति में प्रतिबन्धक है, किन्तु वह पाप, द्वेष से भी किए भगवत्स्मरण से नष्ट हो गया। शिशुपाल ने भगवान् से द्वेष किया, जिसमें उसका (शिशुपाल का) दोष नहीं, क्योंकि भगवान् इन्द्रियों के स्वामी हैं अतः द्वेषादि कराने वाले भी भगवान् हैं। भगवान् लीला में, जैसे भाव से जिस प्रकार सुख लेने की इच्छा करते हैं, वैसा ही भाव (द्वेष काम आदि) जीव के अन्तःकरण में उत्पन्न करते हैं, जहाँ द्वेष भी मोक्ष को सिद्ध करने वाला बन जाता है वहाँ अधोक्षज (भगवान्) के प्यारे मुक्त होते हैं इसमें क्या आश्चर्य ? कुछ भी नहीं ॥१३॥

भगवान् ज्ञान भक्ति साधनों के बिना स्वरूप से ही मुक्ति दान देते हैं इसके लिए मुख्य उपपत्ति बताते हैं—

भगवान् का प्राकट्य प्राणि-मात्र को मोक्ष दान देने के लिए ही हुआ है यदि यह कार्य (प्राणि-मात्र को मोक्ष देने का कार्य) नहीं होता तो भगवान् स्वयं सच्चिदानन्द रूप से प्रकट न होते, इसके सिवाय कोई अन्य असाधारण प्रयोजन नहीं था। भूभार हरण आदि कार्य तो साधारण कार्य है वे तो अंश रूप से भी हो सकते हैं। अतः भगवान् विशेष मोक्ष देने के लिए ही सच्चिदानन्द रूप से प्रकट हुए हैं।

हे नृप ! यहाँ परीक्षित को (नृप) संबोधन देकर यह बताया है कि आप पालक राजा हो इसलिए आपको विदित ही है, कि (कोई भी कार्य करने को) सदैव राजा नहीं जाता है साधारण कार्य अपने मन्त्री आदि से कराता है, जब कोई असाधारण कार्य होता है, तब कभी स्वयं जाता है। इसी प्रकार अब इस असाधारण कार्य के लिए आप पूर्ण पुष्टि स्वरूप से प्रकट हुए हैं।

वैसे आपका दूसरे प्रकार से प्राकट्य नहीं हो सकता है, इसको समझाने के लिए भगवान् के



विशेषण<sup>१</sup> दिखाकर सिद्ध करते हैं, कि मोक्ष देने के लिए स्व इच्छा से ही अथवा प्रकट हो सकते हैं अन्यथा नहीं, जैसे कि आप (भगवान्) जब सर्व प्रकार के ऐश्वर्य वाले हैं, स्वतन्त्र हैं, काल कर्म स्वभाव आदि के नियामक हैं किसी प्रकार की आपकी (भगवान् को) अपेक्षा नहीं है, तब किस लिए भूमि पर आवें<sup>२</sup> और यदि कहो कि, अपने स्वार्थ के लिए नहीं आवें, किन्तु दूसरों के लिए साधन सिद्ध कराने के वास्ते आवें, यों भी नहीं बन सकता है, जिसको, चार विशेषण (१-अव्यय, २-अप्रमेय, ३-निर्गुण, ४-गुणात्मा) देकर सिद्ध करते हैं।

अन्यों के लिए जो उपयोगी हो सके ऐसी वस्तु या तो ज्ञान अथवा क्रिया का विषय होती है। किन्तु भगवान् अव्यय<sup>३</sup> होने से क्रिया के विषय नहीं बन सकते हैं और अप्रमेय होने से ज्ञान का भी विषय नहीं हो सकते हैं, इसी प्रकार निर्गुण होने से देह आदि से सेवा का विषय भी नहीं बन सकते हैं, जिसमें गुण स्थित हों उसमें अन्य गुण उपयोगी हो सकते हैं जैसे भूख एक गुण हो तो उसमें भोजन (अन्नदान) समा सकता है, काम हो तो स्त्री का उपयोग बन सकता है, इन्द्रियाँ हों तो उनके विषयों का उपयोग हो सकता है। अतः भगवान् में इसी प्रकार का कोई अंश नहीं है जिसकी पूर्ति सेवा द्वारा सेवक कर सके। इसलिए वह भजनीय भी नहीं हो सकते हैं, और विशेष में यदि कहो कि लीला के लिए अपेक्षा होती है, तो भी जिस वस्तु की जो कुछ अपेक्षा मानी जाए वह भी आपकी ही है, जिससे भगवान् ही सर्व गुणों की आत्मा है, अर्थात् सर्व गुण आप से ही व्याप्त है; अतः साधन प्रकार से भी, दूसरों का कोई उपयोग नहीं है इसलिए यदि भगवान् अपने अथवा अन्य के प्रयोजन के अभाव से, साधन की अपेक्षा के बिना मुक्ति दान नहीं करे तो भगवान् का प्राकट्य निरर्थक<sup>४</sup> हो जाए ॥१४॥

उपर्युक्त १४ वें श्लोक में शुकदेवजी ने यह कहा है, कि भगवान् का प्राकट्य प्राणी-मात्र (साधन रहित जीवों) का उद्धार करने के लिए हुआ है, अतः किसी भी प्राणी का कैसे भी भगवान् से सम्बन्ध हो जाए तो उसकी ही स्वरूप द्वारा मुक्ति हो जाती है, जिसका वर्णन इस १५ वें श्लोक में शुकदेवजी करते हैं।

भगवान् के साथ सम्बन्ध करने के छः साधन हैं, १-काम, २-क्रोध, ३-भय, ४-स्नेह, ५-ऐक्य, ६-सौहृद। इन छः साधनों को कौन २ काम में लाते हैं, वह दिखाते हैं कि, १-‘काम’ स्त्रियों में होता है (स्त्रियाँ भगवान् से काम भाव से सम्बन्ध करती हैं), २-‘क्रोध’ शत्रुओं में होता है (शत्रु भगवान् से द्वेष भाव सम्बन्ध जोड़ते हैं), ३-‘भय’ वध्यों को होता है (जिसको वध किया जाता है उसमें भय होता है अर्थात् वध्य<sup>५</sup> भगवान् के साथ भय से सम्बन्ध करते हैं), ४-‘स्नेह’ सम्बन्धियों में होता है, (ज्ञानी भगवान् को अपनी आत्मा समझ उनमें ऐक्य भाव से सम्बन्ध जोड़ते हैं), ५-‘मित्रता’ भक्तों में होती है (भक्त ही भगवान् को अपना सुहृद<sup>६</sup> समझ उनसे मित्र सम्बन्ध जोड़ते हैं)। सच्चिदानन्द स्वरूप से प्रकट पुष्टि पुरुषोत्तम स्वरूप से इस प्रकार सम्बन्ध मात्र होने से ही,

१-गुण, २-प्रकट होवे, ३-अविकारी,  
४-व्यर्थ, ५-मारने के लायक, ६-सखा,



निःसाधन भक्तों को भगवत्प्राप्ति आदि आनन्द मिल जाता है। अतः यहाँ पूर्व सिद्ध किए हुए ज्ञान तथा भक्ति का कोई उपयोग नहीं है। उनका तो मर्यादा के अनुसार स्वतन्त्र पृथक् आविर्भाव में उपयोग होता है। अर्थात् यदि कोई भगवान् को प्रकट कराना चाहे तो, ज्ञान व भक्ति द्वारा करा सकता है। अब तो भगवान् पुष्टि स्वरूप से स्वयं अपने निःसाधन भक्तों को आनन्द देने के लिए प्रवृत्ता से प्रकट हुए हैं। अतः ज्ञान वा भक्ति की अब कोई आवश्यकता नहीं है।

शङ्का—भगवान् इस (पुष्टि) अवतार में ही मर्यादा भक्तों को ज्ञान भक्ति साधनों का फल देते हैं या उनके लिए पृथक् अन्य अवतार लेते हैं? इस शङ्का का समाधान पूर्व मीमांसा में कहे हुए न्याय के अनुसार यह है—कि जैसे एक वस्तु को दो पृथक्-पृथक् पदार्थ से सम्बन्ध हो तो, वह एक ही वस्तु दोनों का कार्य सिद्ध कर देती है, वैसे ही भगवान् दोनों से सम्बन्ध वाले दोनों से, मर्यादा मार्गीय को ज्ञान तथा भक्ति साधनों के अनुसार फल देते हैं उनके (मर्यादा मार्गीयों के) लिए पृथक् प्राकट्य की आवश्यकता नहीं है। अर्थात् एक ही अवतार में दोनों फल दे सकते हैं और दिए भी हैं, तथा नहीं भी दिए हैं क्योंकि आप स्वतन्त्र हैं। श्लोक में, शुकदेवजी ने (वा) शब्द दिया है, उसका आशय यह है, कि शुकदेवजी का केवल इन छः उपायों में आदर नहीं है, किन्तु अन्य कोई भी उपाय हो और वह भी भगवान् से नित्य सम्बन्ध कराता होवे तो, उससे भी सिद्धि हो सकती है यदि काम क्रोधादि से सर्वदा<sup>१</sup> सम्बन्ध न हो तो मुक्ति न होकर 'अन्ते या मतिः सा गतिः' इयं न्याय अनुसार अन्त में जैसी मति<sup>२</sup> वैसी गति होगी अर्थात् उसको भगवान् के सिवाय दूसरा ही फल मिलेगा। भगवान् प्रपञ्च के विरोधी हैं और जो प्रपञ्च में आसक्त है उसको कर्मों के कारण अन्त में भगवान् का स्मरण होगा ही नहीं, जिससे उसकी मुक्ति भी नहीं होगी। अतः जो भगवान् न किसी भी उपाय द्वारा नित्य सम्बन्ध जोड़ते हैं वे तन्मयता को प्राप्त होते हैं अर्थात् भगवन्मय हो जाते हैं।

शङ्का—जो कामादि भावना से सम्बन्ध करते हैं, उनको अन्य प्रकार के दुःख सताते हैं जिससे वे नित्य सम्बन्ध कैसे कर सकेंगे? अर्थात् दुःखों के बोझ से दब जाने से, नित्य स्मरण वा सम्बन्ध न हो सकेगा, इस सशय को मिटाने के लिए शुकदेवजी ने मूल श्लोक में भगवान् का नाम 'हृत्' दिया है, जिसका आशय है, कि वे (भगवान्) दुःख हर्ता हैं अतः सम्बन्ध जोड़ने वाले के सर्व दुःखों का हरण कर लेते हैं, जिससे उसका जब भगवान् से नित्य सम्बन्ध बन जाता है, तब उसको सर्व पदार्थ मात्र भगवद्रूप स्फुरित होते हैं, गोपीजनों का काम भावना से, भगवान् से जब सम्बन्ध हुआ, तब उनको जगत् भी भगवन्मय देखने में आया तो अपनी आत्मा भगवन्मय देखने में आवे, इसमें किसी प्रकार आश्चर्य नहीं करना चाहिए और न इसमें शङ्काशील होना चाहिए। कारण कि, सर्वत्र भगवान् के आवेश होने से, सर्व जगत् जैसे भगवन्मय हो जाता है वैसेही आप भगवन्मय हो जाते हैं ॥१५॥

कारिका—जीवेऽन्तःकरणे चैव प्राणेष्विन्द्रियदेहयोः ।

विषयेषु गृहेऽर्थे च पुत्रादिषु हरिर्यतः ॥१॥

तादृशी भावनां कुर्यात् कामक्रोधादिभिर्यथा ।

पूर्वपञ्चविलयो यथा ज्ञाने तथा यतः ॥२॥

कारिकार्थ — मनुष्य भगवान् की भावना करता है और वह भावना जब बढ़कर चर्म सीमा को पहुँचती है तब उसके (भावना वाले के) अपने जीव, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रिय, देह, विषय, गृह, अर्थ तथा पुत्रादि में भगवान् का आवेश होता है, अतः काम क्रोधादि से भी वैसी तीव्र भावना करनी चाहिए जैसे ज्ञानी का ज्ञान से प्रपञ्च लय हो जाता है वैसे ही भक्त का प्रपञ्च भी नष्ट हो जाए ॥१-२॥

आभास—किञ्च, आदावेव गेप्यो मुक्ताः किमाश्चर्यम्, बहव एवाग्रे मुक्ता भविष्यन्तीति ।

आभासार्थ—गोपियाँ मुक्त हुई हैं, इसने कौन सा आश्चर्य है आगे बहूँ हो इस प्रकार मुक्त होंगे—इसका वर्णन १६ वें श्लोक में करते हैं—

श्लोक—न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे ।

योगेश्वरेश्वरे कृष्णो यत एतद्विमुच्यते ॥१६॥

**श्लोकार्थ —** अजन्मा योगेश्वरो के ईश्वर, ऐश्वर्य आदि छ भगवाले भगवान् श्रीकृष्ण में आप किसी प्रकार का आश्चर्य मत करो क्योंकि इससे जगत् का (स्थावर-जगम सब का) मोक्ष होता है ॥१६॥

सुबोधिनौ—तदाह न चैवमिति । एवं असं-  
भवनारूपो विस्मयो न कार्यः । असंभावित-  
बुद्धीनां अन्यथा स्फुरणनियमात् । यतो भगवान् ।  
यत्किञ्चिन्मोक्षे ज्ञानादिकमुपयुज्यते, एतत्सर्वं  
भगवत्येवास्ति । यदि ज्ञानव्यतिरेकेण मोक्षो न  
भवेदिति ज्ञात्यति, तदा सिद्धत्वात् ज्ञानस्य,  
तदपि दास्यति । किञ्च, अन्यः सन्देहं कुर्यादपि,  
भगवतो माहात्म्यं न दृष्टमिति, भवता तु न कार्यः,  
गर्भं एव माहात्म्यदर्शनात् । किञ्च, निर्दुष्टे सर्वं  
संभवति । तत्र दोषाणां मूलं जन्म, तदशये  
दोषाभाव इति । तेन अजत्वात् निर्दुष्टः । अन्ये  
सर्वे हि जायन्ते, न तैस्तेषां मुक्तिः सम्भवति ।

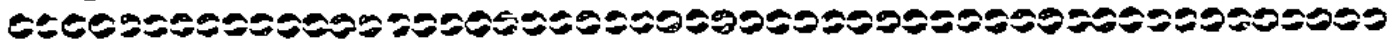
तुल्यत्वात् । किञ्च, यो हि साधनपरः, स मुच्यते । तत्र साधनं मनः सर्वतो निवृत्तम्, तथा योगेन भवति, तस्य योगस्य च नियामको भगवानेव । यद्यन्यस्यापि मोक्षो भवेत्, भगवदिच्छा यैव भवेत् । योगादिसाधनानां तन्नियम्यत्वात् । किञ्च, सदानन्दो भगवान् फलात्मा । यः कश्चिन्मुच्यते, स एतमेव प्राप्स्यति । अतः साधनं रूपायमेव प्राप्यः । सोऽत्र स्वयमेव सम्बध्यत इति न किञ्चिदनुपपन्नम् । किञ्च, एतत्परिदृश्यमानं सर्वमेव जगत् यतो विमुक्तिं यास्यति । भावनया गोकुले स्थित आह, ज्ञानदृष्ट्या वा । साक्षात्परम्परया वा सर्वानिव मोचयिष्यतीति । तदग्रे दृश्यते 'स्वपूर्वो'ति



श्लोकद्वयेन ।

(यद्वा, अत्र राजानुपपत्तिं जङ्घते कृष्णमिति । एताः कृष्णं कान्तं परं विदुः, न तु ब्रह्मतया, अतो गुणप्रवाहोपरमः कथं संगच्छते इति । अत्रायं भावः । ब्रह्मत्वेन विज्ञानं हि शास्त्रीयम्, तच्च सात्त्विकं भवितुमर्हति । 'सत्त्वात्सञ्जायते ज्ञान' मिति वाक्यात् । एतास्तु गुणातीतस्यानन्दमात्र-करपादमुखोदरादेः प्रकटस्यानन्तगुणपूर्णस्य सौ-न्दर्यादिगुणेषु परिनिष्ठितधियः । अतो निर्गुणत्वा-द्गुणप्रवाहोपरमः कथं संगच्छते । उपरमस्या-भावरूपत्वेन प्रतियोगिसापेक्षत्वाच्च च प्रतियोगिन एवाभावादिति । भुन इति सम्बोधनं शुद्धसत्त्वा-विभवि ज्ञानोदयस्यानुभवसिद्धत्वेन सम्वादाद्यम् । अत्रोत्तरमाह उक्तमिति । पुरस्तात्सप्तमस्कन्धे 'गोप्य कामा' दित्यादिना । अत्रायमर्थः । यथा भगवति गुणातीत एव परिनिष्ठितबुद्धित्वेऽपि द्वेषस्य तत्र प्रयोजकत्वात् चैद्यादीनां तामसत्वम्, तथैतासामपि निर्गुण एव परिनिष्ठितबुद्धित्वेऽपि जारत्वबुद्धेस्तत्र प्रयोजकत्वात् सगुणत्वमेवेति लक्ष्यते । अयं च रसः सर्वभावप्रपत्त्येकलभ्यः । न हि जारत्वबुद्धौ सर्वभावप्रपत्तिः । कामपूरकत्वेनैव तत्संभवनिय-मात् । अत्र च सगुणत्वस्य प्रतिबन्धकत्वाद्यथा चैद्यादीनां स्वाधिकारानुसारेण तादृशशरीरनाशे तत्पदप्राप्तिः स्वाधिकारानुसारेण, तथैतासामपि स्वाधिकारानुसारेण तथात्वे सगुणत्वोपरमेण सर्वभावप्रपत्त्यैव ततो निजपतिभजनमिति सर्वम-वदातम् । अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति मर्यादा भज्येत । एतदेव मनसि कृत्वाह उक्तं पुरु-स्तादेतत् इति । ननु तथापि तादृशप्रपत्तेरेव मूलत्वात्कथं सर्वभावप्रपत्तिसाध्यं फलं भविष्यती-त्यत आह द्विषन्नपीति । अयमर्थः । मोक्षसुखान-भीप्सुस्तद्विरुद्धद्वेषकर्ता च चैद्यः । तस्मै यथा ज्ञानिनामपि दुर्लभां पुक्तिं दत्तवान्, एवं तादृक्प्र-पत्तिमूलानामप्येतासां तादृशं फलं दत्तवानिति । एतेन यथा द्वेषभुक्त्योस्तारतम्यम्, तथान्यशेष-भजनैतद्वसयोरपीति सूचितम् । ननु गोकुलस्य भगवत्क्रीडोपयोगित्वेन सर्वथाङ्गीकृतस्य सर्वस्यैव

निर्गुणत्वे कथमेतासां सगुणत्वमुच्यते । किञ्च, अग्रेऽपि यदि सर्वभावप्रपत्तिलभ्यमेव फलं दित्सितं भगवतः, तदा पूर्वमेव स एव भावः किमिति नोत्पादित इति चेत् । अत्र वदामः । यासां साक्षा-द्भगवत्सम्बन्धस्तासां सर्वासामेव रासमण्डलमण्ड-नाना शरीरमपि गुणातीतमेवेति ज्ञापयितुं भग-वानेव कतिपयगोपीः सगुणदेहाः स्थापयित्वा, पूर्वोक्तानां भावोऽपि निर्गुण इति ज्ञापयितुमासां सगुणं भावमुत्पाद्य, एतन्निवर्तकोऽपि स्वयमेव, नान्य इत्यपि ज्ञापयितुं तन्निवृत्तिं विधाय, अग्रे भाविस्वविरहजदुःखस्वसङ्गमजसुखयोः कर्मजन्म-त्वमपि ज्ञापयितुं कर्मक्षयप्रकारेण स्वप्राप्तिं विधाय, मत्त्वाम्येव सर्वमिदं कृतवानिति निगमः । अत्र पुष्टिमार्गाङ्गीकारान्मर्यादाभार्गीयानुपपत्तयो-ऽनवसरपराहता इति सर्वमनवद्यम् । अत एव श्रीशुकोऽपि 'जहुर्गुणमयदेह' मितिसगुणदेहत्याग-मेवोक्तवान्, अग्रे गुणातीततत्प्राप्त्यभिप्रायेण, गोप्यत्वात्स्पष्टं नोक्तवान् । अन्यथा गुणमयपद-वैयर्थ्यं स्यात् । ननु पूर्वोक्तज्ञापनायैवेदं कृतवानिति कथं ज्ञेयम्, उपपत्त्यभावादित्याशङ्क्योपपत्तिमाह नृणामिति । अयमाशयः । लीलायां तत्स्थित-भक्तेषु च सुतरां रासस्थासु, या साधारणत्वबुद्धिः, सा सदोषत्वारोपापरपर्याया । तासामगुणत्वात्त-स्य दोषरूपत्वाद्भगवत्स्वरूपे लीलायां च सगुण-त्वप्रसङ्गकत्वाच्च । एवं सत्येतल्लीलाया मुक्तिप्रति-बन्धकत्वमेव स्यात्, न तु तद्धेतुत्वम् । तथा सत्य-वतारप्रयोजनं विरुध्येतेत्यन्यथानुपपत्त्यैव तथो-च्यते इति । ज्ञापनप्रयोजनमपीदमेवेति ज्ञेयम् । व्याख्यानं पूर्ववत् । नन्विदमवधि सगुणास्वेतासु कृताया लीलायाः पूर्वोक्तदोषप्रसङ्गकत्वं दुर्वार-मित्याशङ्क्य पूर्वलीलाकृतितात्पर्यमाह कर्ममिति । इदं हि साधारण्येनोच्यते । य एवं नित्यं विदधते, ते तन्मयतां यान्तीति, नत्वेतद्गोपभार्याविवक्ष-मेव । अत एव क्रोधाद्युक्तिरपि । अन्यथाऽप्रस्ता-वेनात्र तन्निरूपणमयुक्तं स्यात् । तथा च सगुणो-नापि भावेन भजते भगवान् स्वानुरूपमेव फलं ददातीति ज्ञापनाय पूर्वलीलेत्यर्थः । अन्यथा



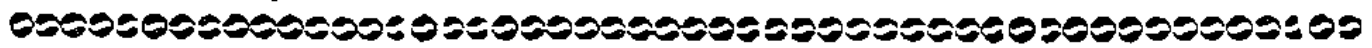
मुख्याधिकारिणामेव भगवत्प्राप्तिरिति ज्ञानेऽप्येषा-  
मप्रवृत्त्या मुक् च युच्छेदः स्यात् । एवं शास्त्रमप्रयो-  
जनकं च स्यात् । मुख्याधिकारिणां स्वत एव  
प्रवृत्तेः । स्वरूपलीलयोरनु न कदाचित्सगुणत्वम्,  
लीलाविषयाणां सगुणानामपि निर्गुणत्वापादक-  
त्वात् । न हि दोषनिवर्तकमौषधं रोगिसम्बद्धं  
सत् तद्वद्भवति । तथा सति तदनिवर्तकत्वापत्तेः  
लीलाया विषयसाजात्यनियमे सगुणनिर्गुणभक्त-  
योरेकया वेणुवादनादिलीलाया निरोधो नोप-  
पद्येत । क्रोधादिवत्कामोपाधिकभावस्यापि जघ-  
न्यत्वज्ञापनायापि क्रोधादिनिरूपणं ज्ञेयम् । तन्म-  
यतां निर्गुणतामित्यर्थः । ननु साक्षादङ्गसङ्गि-  
त्वेपि सगुणत्वस्थिति वस्तुशक्तिः कथं सहते ।  
वह्निसम्बन्ध इव तूलस्थितिमित्येको विस्मयः ।  
लौकिकरीत्या कामभाववतीष्वलौकिकस्य रमणं  
द्वितीयः । क्रोधादिभाववतां तत्फलमननुभूयैव  
भगवत्प्राप्तिश्चापरः । स्नेहवत् समानफलत्वं च ।  
यशोदानन्दने हि ता भाववत्यः तस्य च वनस्थित-  
स्यैतद्व्यानप्राप्तिश्चान्यः । एतासां तदैव निर्गुण-  
देहप्राप्तिर्विनैव तत्साधनमिति चेतारः । सर्वात्म-  
भाववत्स्वेव करिष्यमाणलीलाया अनुभवः । अन्य-  
स्यास्तु तद्रहितानामपीत्यनेक विस्मयाविष्टं  
राजानं ज्ञात्वा तन्निवारकं क्रमेण वदन् पूर्वश्लोको-  
क्तभाववतां भगवत्प्राप्तौ हेतूनप्याह न चैवमिति ।  
आद्यविस्मयाभावार्थमाह भवतेति । अत्रायं भावः ।  
पूर्वमनिवर्त्यब्रह्मास्त्रतोऽपि गर्भेऽपि रक्षितवान्  
भवन्तम्, प्रयोजनमस्तीति । अधुना तदभावा-  
द्वालबाध्यादपि न रक्षतीति भवतवानुभूयते न  
हि एतावता वस्तुशक्तौ काचिन्न्यूनता । इच्छा-  
शक्त्यधीनत्वात्सर्वासां शक्तीनाम् । तस्याः सर्वतो-  
ऽधिकत्वात् । न हि मन्त्रप्रतिबन्धदशायामग्नेरदाहक-  
त्वमिति तच्छक्त्यपगम एवेति वक्तुं युक्तम् ।  
प्रकृतेऽपि यासां साक्षादित्यादिनोक्तप्रयोजनार्थं  
भगवता तथा कृतमिति ज्ञात्वा भवता तु विस्मयो  
न कार्यः । अनुभावाननुभवेनान्यः कुर्यादपीति ।  
द्वितीयतृतीयादिकं परोहरति भगवतीति । तत्रै-  
श्वरो हि सर्वरसभोक्ता भवति । 'सर्वरस' इति

युतेः । कामरसो हि तादृशभाववतीषु विशिष्टोऽनुभूतो  
भवति । कामशास्त्रे तथैव निरूपणात् । तथा  
चैश्वर्यवत्ययं विस्मयो न कार्यः । तथा भगवद्दीर्य-  
स्येतरसाधनासाध्यसाधकत्वेनात्युग्रत्वात् क्रोधा-  
दिदोषमन्यानिवर्त्यमपि स्ववीर्येण हरिनिवारयितुं  
समर्थ इति तादृशे स विस्मयो न कार्यः । यशो  
ह्यसाधारणम्, असाधारणे कर्मणि सति भवति ।  
यदि स्नेहवत्स्वेव मुक्तिं दद्यात्, न द्विटु, तदा-  
न्यसाधारण्येनासाधारणं यशो न स्यात् । भव-  
द्वेषादिमत्स्वपि स्नेहादिमत्समानफलदाने ह्यसा-  
धारणत्वेनासाधारणं यशः स्यात् । तथा च  
तादृशयशसः सृजत्वेन तद्जापकधर्मा अपि हरो  
सहजा एवेति नायं विस्मयः कार्यः । श्रीलक्ष्मणोः ।  
सा चैतादृशस्नेहवती यद्वक्षसि स्थितिं प्राप्यापि  
चरणरजः कामयते, प्रत्यवतारं चावतरति ।  
सदा तद्वत्त्वेन हरिः स्नेहरसाभिज्ञ इति तद्वत्सु  
स्वरूपदानं युक्तम् । ऐक्यं हि ज्ञानमार्गं । हरेश्च  
ज्ञानवत्त्वेन तेषु तथा युक्तम् । सौहार्दं हि सख्ये  
सति भवति । तच्च समानशीलव्यसनेष्वेव । 'नाह-  
मात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना । श्रियं  
चात्यन्तिकीं ब्रह्मन् येषां गतिरहं परा । साधवो  
हृदयं मह्यं साधूनां हृदयं त्वहम् । मदन्यत्ते न जा-  
नन्ति नाहं तेभ्यो मनागपि' इत्यादिवाक्यैर्यथा  
भगवतो भक्तातिरिक्ते रागाभावो, भक्तेष्वेव च  
राग इति वैराग्यवत्त्वम् तथा भक्तानामपि  
भगवतीति सौहार्दयोग्येषु सौहार्दं ददातीति  
पूर्वोक्तवैराग्यवत्त्वात् तेषु तथा करणं युक्तमिति  
यशोदानन्दन इत्यादिनोक्तविस्मयाभावार्थमाह  
अज इति । यदि भगवतो जीववत् कुत्रापि जन्म  
स्यात्, तदान्यत्र बहिःस्थितोऽत्रान्तर्हृदि कथमा-  
गतः, तत्र सन्नवेति शङ्का स्यात् । तदभावात् ।  
स्वेच्छया यथा मायाजवनिकां दूरीकृत्य यशोदा-  
देहे प्रकटः, तथा वने, तथैवान्तर्हृदपीत्यजे नायं  
विस्मयः कार्यः । अग्रिमोक्ततदभावार्थमाह योगो-  
श्चरेति । योगिनो हि योगबलेन भोगार्थमनेकानि  
शरीराणि युगपत्क्षणमात्रेण सृजन्ति । तेषां च  
योग आगन्तुको धर्मः । भगवांश्च तादृग्धर्मसम्पा-



दकः फलदाता चेति तथामपोश्वर इति सहजानन्त-  
शक्तिमानिति तास्वलौकिकदेहसम्पादनमात्रं न  
विस्मयहेतुर्भवितुमर्हति । अग्रिमतदभावायाह  
कृष्ण इति । 'कृषिभूवाचक' इति वादयात् सदान-  
न्दस्वरूपो भगवान्, निर्दोषपूर्णगुण इति यावत् ।  
तेन कृष्णातिरिक्तस्य वस्तुमात्रस्यैव सदोषत्वात्त-  
त्रापि स्वास्थ्यहेतुत्वं जानतः सदोषत्वमेवेति  
निश्चयः । इयं च लीला स्वरूपानन्दरूपा तादृश्ये-  
वेति सर्वात्मभावरहितेष्वेतदनुभवायोग्यत्वान्नायं  
विस्मयः कार्य इत्यर्थः । किञ्च, एतासां तु स्नेहः  
पूर्वोक्तः साधनत्वेनासीत्, 'गोकुलं त्वह्मचापृतं  
निशि शयान'मिति वाक्यान् सर्वसाधनविमुख  
सदपि प्रतिक्षणं स्वरूपे लीयते, अग्रिमाग्रिमलीला-  
रसानुभवार्थम्, भगवान् परं पुनः पुनः पृथक्कृत्य  
तामनुभावयतीत्यचिन्त्यानन्तशक्तिमति न  
किञ्चिदाश्चर्यमित्याशयेनाह यत एतदिति ।  
शुक्लस्त्वधुना लीलेतराननुसधानाद्भावनाया तत्रैव  
स्थित इत्येतदित्युक्तवान्, वर्तमानप्रयोगं च  
कृतवान्, तामेव लीलामनुभवतीति सर्वमनन्दद्यम् ।  
नन्वेतद्वै परीत्यमपि सुवचम् । तथाहि । एता अपि  
पूर्वोक्तमध्यपातिन्य एव ! अत एव पूर्वश्लोके  
तासामनिवृत्तिमुक्त्वा सादृशी सा लोकेऽयसम्भा-  
वितेति सा कथमुपपद्यत इत्याङ्कानिरासायाह  
अन्तर्गृहेत्यादि । अत्रायं भावः । पूर्वं हि वचनेन  
निवर्तनम् । तथा सति निवृत्तिर्हि विपरीतस्व-  
क्रियया भवति । सा चातिदूरे, यतस्तत्सजातीयाः  
काश्चिद्भूतार्थदिकृते क्रियया प्रतिबन्धे तत्प्रतिबन्धं  
देहमपि त्यक्त्वा भगवत्सङ्गता जाताः । तथा  
चैतादृश्यः पूर्वोक्ताः सर्वा इति युक्तवानिवृत्तिः ।  
किञ्च, तद्भावनायुक्ता इति पदे तच्छब्दस्य  
पूर्वपरामर्शित्वेन पूर्वं च पूर्वोक्तानामेव भावस्योक्त-  
त्वादेतद्भावसजातीयभाववत्त्वं पूर्वोक्तानामपीति  
गम्यते । तेन तन्निष्ठाशेषधर्मवत्त्वं तत्रापि सिध्यति  
एतासां मुक्तिर्दत्तेति तन्निवृत्तिं विना न सेति  
तथोक्तम् । तासां न तथेति न तथोक्तमिति चेत् ।  
अहो शङ्काज्यमानिनो मोक्षदाज्यं तव । यस्मादा

लोचनलोचन राहित्येन बाहिर्मह्यसासः सङ्गाख्यगि-  
रिगतावातयातविवशाशयः परोक्तमपि नानुसंध-  
त्ते । तथा हि । यच्छङ्कानिरासायैतत्कथावतारि-  
ता, तद्भावश्च - वया वर्णितः, तत्र त्वां पृच्छामः,  
तदर्थमियं कथा कल्पिता, उत सिद्धे वा ज्ञेयता ।  
अन्त्य एव समतश्चेत्, तत्रापि त्वां पृच्छामः,  
एतासां प्रतिबन्धे को हेतुरिति । स्वप्रियास्वपि  
सगुणत्वं व्यापयितुमेतासां प्रतिबन्धो हरिणैव  
कुन इति चेद्ब्रवीषि, हन्त एवं विचारकस्य तव  
शतधा हृदयं नास्फुटत् कुतस्तन्न जानीमः । यतो  
मर्यादाभक्तिमार्गविलेखाविषयकश्रद्धाया अपि  
निर्गुणत्वम्, तत्र साक्षादङ्गसङ्गिनीषु सगुणत्वं  
ब्रवीषि । किञ्च, 'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे  
त्यक्तदेहिना' इत्यादिना प्रभुराव, 'एताः परं  
तनुभूत' इत्यादिनोद्धवेन, 'नोद्धवोऽप्यपि मन्व्यून'  
इत्यादिना भगवता स्तुतेनापि चरणरेणुप्रार्थना-  
पूर्वकं स्तुता इति वचनं तद्गन्धगङ्गावि । ननु  
कामोपाधिस्नेहवत्त्वेन तथोच्यत इति चेत् । न ।  
तथा स्नेहे भगवतोऽपि विषयान्तरतुल्यत्वेन  
'सन्ध्यञ्च सर्वविषया'मिति कथनानुपपत्तेः ।  
विषयार्थमेवागमनात् । न च भगवतो विषयत्वेऽपि  
तदतिरिक्तविषयाणां त्यागोऽनूद्यत इति वाच्यम् ।  
'तव पादमूलं प्राप्ता' इत्युक्तिविरोधात् । न हि  
कामिन्य एवं वदन्ति, किन्तु भक्ता एव । किञ्च,  
अतितोके पूतनासुस्यः पानानन्तरं रक्षाकरणे  
श्रीशुकेन हेतुरुक्त 'इति प्रणयबद्धाभिर्गोपीभि'-  
रिति । न हि तादृशे कामोपाधिकः स संभवति ।  
न वा तादृशीनामञ्जनादित्यागः संभवति, प्रत्युत  
तदादिसर्वं प्रसाध्यागमनम्, कुञ्जाद्यत् । तदनन्तरं  
यद्रमणम्, तत्तु 'रसो वै स' इति श्रुतेः स्वरूपस्य  
रसात्मकत्वादसरोत्या स्वरूपानन्ददानमेव ।  
'सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसं ।  
तामसं मोहर्दन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रय'मिति  
भगवद्वाक्यात् भगवत्सम्बन्धिसुखस्यापि गुणा-  
तीतत्वमेव ) ॥१६॥



व्याख्यार्थ - हे नृप ! आपको भगवान् में अर्सभावना बुद्धि रखकर ऐसा विस्मय नहीं करना चाहिए कि कामादि से भगवान् ने गोपियों को मुक्ति वा रसदान कैसे दिया होगा ? क्योंकि असम्भावना बुद्धि से सत्य की स्मृति न होकर असत्य विचार (भाव) उत्पन्न होते हैं । आपको यह विचारना चाहिए कि यह भगवान् हैं अर्थात् षड्गुणों से युक्त होने से, कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं ।

मोक्ष प्राप्ति के लिए जिस ज्ञानादि की आवश्यकता होती है, वे सब भगवान् के पास हैं ही, यदि आप समझते हो, कि ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होगी तो ज्ञान तो भगवान् के पास सिद्ध ही है वह भी दे देंगे और विशेष यह है कि आपके सिवाय कोई दूसरा जिसने भगवान् का माहात्म्य न देखा हो वह तो विस्मय कर सकता है आपको तो विस्मय करना ही नहीं चाहिए कारण कि आपने तो गर्भ में ही भगवान् का माहात्म्य देखा है ।

जो निर्दोष हैं, अर्थात् जिसमें कुछ भी दोष मात्र नहीं है वह सब कुछ कर सकता है, दोषों को जड़ 'जन्म' है, जिसमें वह नहीं है तो उसमें दोष भी नहीं है, इसलिए भगवान् अजन्मा होने से निर्दोष हैं, भगवान् के सिवाय दूसरे सब जन्म लेते हैं, वे (जन्म लेने वाले) उनकी (गोपियों की वा जन्म लेने वालों की) मुक्ति नहीं कर सकते हैं, कारण कि दोनों जन्म लेने से दोषी हैं अतः दोनों समान हैं ।

और विशेष यह है कि जो साधन करता है वह मुक्त होता है, मन सर्व पदार्थों में से आसक्ति को छोड़ निवृत्त हो जाय तब वह 'साधन' बनता है वैसा मन तो योग से बन सकता है उस योग का नियामक भी भगवान् ही है । किसी दूसरे का भी किसी भी साधन से मोक्ष होता है तो वह भी भगवान् की इच्छा से ही होता है कारण कि उनको भी नियम में चलाने वाले भगवान् ही हैं, किञ्च फलरूप तो सदानन्द भगवान् ही है । जो कोई प्रपञ्च से मुक्त होगा वह भगवान् को ही प्राप्त करेगा । अतः साधनों से भी ये (भगवान्) ही प्राप्त किए जाते हैं । वह भगवान् आप स्वयं ही यहाँ सम्बन्ध वाले (गोपियों के साथ सम्बन्ध वाले) हुए हैं इसलिए यहाँ कुछ भी अयोग्य नहीं हुआ है । जिस (कृष्ण) से यह सारा प्रपञ्च मुक्ति पाएगा तो उसमें असम्भावना कैसी ?

श्री शुकदेवजी, इस प्रकार भगवान् के माहात्म्य की भावना तीव्र होने से अपने को व्रज में स्थित समझकर कहने लगे, अथवा ज्ञान दृष्टि से कहने लगे, कि भगवान् कृष्ण साक्षात् स्वयं वा परम्परा से सबका मोक्ष करेंगे यह कथा आगे 'स्वमूर्त्या' इन दो श्लोकों से ११वें स्कन्ध अध्याय १ में शुकदेवजी कहेंगे अथवा 'कृष्णं कान्तं परं विदुः' इस श्लोक में राजा ने यह पूछा है कि गोपियों ने भगवान् कृष्ण को अपना श्रेष्ठ पति समझा था कि ब्रह्मा, तब उनका संसार कैसे नाश हुआ ? जिसका भाव यह है कि गोपियाँ सगुण<sup>१</sup> नहीं हैं, क्योंकि सगुण वे होते हैं जिनको शास्त्र पढ़ने से अन्तःकरण में सत्त्वगुण उत्पन्न होकर, ज्ञान पैदा हुआ हो, किन्तु गोपियाँ तो आनन्द स्वरूप, अनन्त गुण प्रकट पुरुषोत्तम के सौन्दर्यादि गुणों में आसक्त होने से निर्गुण हैं । जब वे निर्गुण हैं, तो उनके गुणनिधि प्रवाह (संसार) का नाश हुआ यह कहना असंगत है, क्योंकि नाश उसका होता है, जिस वस्तु का अस्तित्व है । जो वस्तु है ही नहीं, उसका नाश कैसे होगा ? गोपियाँ निर्गुण हैं, अतः उनमें सत्त्वादि-



गुण हैं ही नहीं, अतः उनका (उनके गुणों का) नाश भी नहीं हुआ है तो श्लोक में इस प्रकार क्यों कहा गया है ? राजा ने शुकदेवजी को 'मुने !' यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि स्वयं शुकदेवजी को यह अनुभव है, कि जब अन्तःकरण में सत्वगुण प्रकट होता है तब वह ज्ञान को उत्पन्न करता है सत्वगुण के अभाव में ज्ञान नहीं, जिसका आशय यह है, कि गोपियों में सत्वगुण नहीं था, अतः उनमें यह भी ज्ञान न जगा, कि कृष्ण ब्रह्म है इससे भी सिद्ध है, कि वे सगुण नहीं थीं किन्तु निर्गुण थीं ।

परीक्षित के इस प्रकार के प्रश्न का उत्तर १३ वें श्लोक 'उक्त' में शुकदेवजी देते हैं, कि, आपको सातवें स्कन्ध में इसका उत्तर दे चुका हूँ, कि शिशुपाल द्वेष से, गोपियाँ काम से भगवान् को प्राप्त हुईं ।

इस प्रकार कहने का भावार्थ यह है जैसे शिशुपाल की बुद्धि तो गुणातीत भगवान् में निष्ठ थी, किन्तु भगवान् से द्वेष करने के कारण, वह तामस (तमोगुण) वाला था, तो भी अपने अधिकार के अनुसार द्वेष करने वाले शरीर के पतन<sup>१</sup> होते ही अपने अधिकार के अनुसार भगवान् के चरणों में प्राप्त हुआ, वैसे (ही) अन्तर्गृह गत गोपीजन भी भगवान् में आसक्त चित्त होने से निर्गुण होते हुए भी जार बुद्धि के कारण, सगुण मानी जाती हैं, यह सगुणत्व सर्वात्म भाव होने में स्कावट डालता है, जिससे रस पाप्ति में विलम्ब होता है, किन्तु शिशुपाल की भाँति, अपने अधिकारानुसार सगुणत्व के नाश हो जाने से, सर्वात्म भाव प्रकट हुआ, जिससे वे अपने पति (भगवान्) का भजन करने लगीं, इसलिए इसमें किसी प्रकार की शङ्का करना व्यर्थ है, क्योंकि, इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है । यदि इसको निर्दोष नहीं माना जाएगा, तो भगवान् के 'ये यथा माँ प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इन वचनों की मर्यादा टूट जाएगी । शुकदेवजी ने इन सब विषयों को ध्यान में रखकर कहा है, नृप ! 'उक्त' पुरस्तात् मैंने आपको यह प्रथम ही कह दिया है ।

जब यह फल सर्वात्म भाव से शरण जाने पर मिलता है, तो इनको सर्वात्म भाव बिना यह फल क्यों मिला ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं, कि शिशुपाल भगवान् से मोक्ष फल नहीं चाहता था, किन्तु उनसे द्वेष ही करता था, जो द्वेष, मुक्ति का बैरी है, तो भी जानियों को भी कष्ट से मिलने वाली मुक्ति भगवान् ने शिशुपाल को जैसे दी, वैसे (ही) जार बुद्धि से भी अपने शरण आई हुई गोपियों को सर्वात्म भाव वाला फल दिया । जिससे यह समझाया है, कि जैसे मुक्ति तथा द्वेष में विषमता है वैसे (ही) जार बुद्धि से किए हुए भजन और भगवान् के रस में भी विषमता है, तो भी भगवान् ने अपनी इच्छा से शिशुपाल को मुक्ति गोपियों को अपने रस का दान दिया है ।

भगवान् ने अपनी क्रीड़ा के उपयोग में आने वाले गोकुल को अङ्गीकार किया है, जिससे गोकुल के सर्व, निर्गुण हैं तब इनको सगुण कैसे कहा जाता है ? और जब भगवान् आगे चल कर सर्वात्म भाव से शरणागत को मिलने वाला फल इनको देना ही चाहते थे, तब प्रथम ही उनमें (गोपियों में) वैसा ही भाव क्यों नहीं पैदा किया ?

इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि, जिन (गोपियों) का भगवान् से साक्षात् सम्बन्ध था, उन



समस्त गोपीजनों के शरीर भी निर्गुण थे, यह जताने के लिए ही स्वयं भगवान् ने कितनीक गोपियों की देहों को सगुण बनाया। पहली (साक्षात् सम्बन्ध वाली) गोपियों का भाव भी निर्गुण था अतः भगवान् ने इनमें (देह से सगुण गोपियों में) भाव भी सगुण स्थापित किए, और फिर उन सगुण देह तथा भावों का नाश करने वाले भी आप ही हैं, कोई दूसरा नहीं, यह बताने के लिए ही भगवान् ने सगुण भाव का नाश किया।

गोपियाँ को भगवान् के विरह से प्राप्त दुःख, तथा संयोग से मिला हुआ सुख कर्मों से नहीं हुआ है इसको समझाने के लिए कर्मक्षय की भांति अपनी प्राप्ति स्वयं कराई। (प्रभुचरण स्पष्ट कहते हैं कि) यह सब मेरे स्वामी ने ही किया है। यह लीला का विषय पुष्टि मार्गीय है। इसमें शङ्काओं का परिहार<sup>१</sup> भी पुष्टि मार्गीय रीति से किया गया है अतः मर्यादा मार्ग के अनुसार जो दोष देखने में आवे उनको यहाँ स्थान नहीं है। इसलिए श्री शुकदेवजी ने भी गोपियों के सगुण देह का त्याग ही कहा है। आगे गोपियों को गुणातीत देह प्राप्त हुई यह योग्य होने से, स्पष्ट नहीं कहा यदि निर्गुण देह की प्राप्ति गोपियाँ को आगे होने वाली न होती, तो श्री शुकदेवजी कहते, कि उनके देह नष्ट हो गए यों न कहकर गुणमय विशेषण देने का यही रहस्य है, कि गोपियों की सगुणता नाश कर उनमें निर्गुणता भगवान् ने स्थापित की अन्यथा 'गुणमय' पद जो शुकदेवजी ने दिया है वह निरर्थक हो जाता ॥१३॥

भगवान् ने यह समस्त लीला ऊपर कहे हुए कारणों के लिए ही की है, यह आपका कहना हम कैसे माने जबकि उसमें किसी प्रकार उपपत्ति नहीं दी गई है ?

इस प्रकार की शङ्का निवारण करने के लिये 'नृणां निःश्रेय सार्थाय' श्लोक कहा है।

जो भक्त भगवान् के साथ लीला में स्थित हैं, और विशेषतया रास क्रीड़ा करने वाले जो भक्त हैं, उनको तथा भगवान् एवं भगवान् की लीला को, सगुण समझना एक प्रकार से उन पर दोष मढ़ने के समान है। क्योंकि वे भक्त, भगवत् स्वरूप तथा लीला सब निर्गुण हैं, यदि वे सगुण होते तो मुक्ति में प्रतिबन्धक<sup>२</sup> हो जाते जिससे वे (स्वरूप तथा लीला) मुक्तिदायी नहीं हो सकते, यदि उन्होंने मुक्ति नहीं दी, सगुण होकर मुक्तिदान में असमर्थ हो गए तो, भगवान् के प्राकट्य का कोई प्रयोजन नहीं हुआ और भगवान् की ये लीलाएँ भी निरर्थक<sup>३</sup> हुई। भगवान् के प्रकट होने की इसके (स्वरूपबल से मुक्ति तथा रसदान करने के) सिवाय अन्य कोई उपपत्ति नहीं है, इस श्लोक का भावार्थ पहले के समान ही है ॥१४॥

अब तक भगवान् ने सगुण गोपियाँ से जो लीलाएँ की हैं वे लीलाएँ तो मुक्ति में प्रतिबन्धक हैं ही क्योंकि गोपियों को जार भाव था, इस प्रकार की शङ्का का उत्तर 'कामक्रोध' इस १५ वें श्लोक से देते हैं—

शुकदेवजी राजा को कहते हैं, कि यह तो साधारण सिद्धांत है कि जो कोई भगवान् में किसी भी प्रकार सम्बन्ध जोड़ता है और वह सम्बन्ध नित्य हो, तो सम्बन्ध जोड़ने वाला भगवन्मय हो जाता

है। केवल गोपियों की भांति काम से नहीं किन्तु क्रोध, भय और द्वेष अथवा स्नेह और ऐक्य से भी सम्बन्ध करे तो वह निर्गुण बनकर भगवान् को पा लेता है। यदि केवल काम से भगवान् की प्राप्ति होती है यह तात्पर्य होता, तो शुकदेवजी का क्रोध भय और द्वेष आदि का इस प्रसंग में कहना अयोग्य हो जाता। इसीलिए भगवान् को जो सगुण भाव से भजता है, भगवान् उसको अपने योग्य ही फल देते हैं यह जताने के लिए ही आपने यह लीला की है। यदि भगवान् इस प्रकार सगुण भाव से भजने वालों का संसार नष्ट कर, उनको अधिकारानुसार मुक्ति वा अपना रस दान नहीं करते, तो साधारण जनो को यह निश्चय हो जाता, कि मुक्ति आदि तो मुख्य उत्तमों को ही भगवान् देते हैं ! तो हम प्रयत्न क्यों करें ? जिससे साधारणों की भजन में प्रवृत्ति न होने से, मुक्ति मार्ग ही लुप्त हो जाता, तो शास्त्र की आवश्यकता ही नहीं रहती। क्योंकि उत्तमों की तो अपने आप उसमें प्रवृत्ति हो जाती है।

भगवान् का स्वरूप और लीलाएँ कभी भी सगुण नहीं होती हैं अपितु<sup>१</sup> सगुण भक्त भी जब लीलाओं से सम्बन्ध करते हैं तो वे भी निर्गुण हो जाते हैं कारण कि स्वरूप तथा लीलाएँ उनको निर्गुण बना देती हैं, जैसे रोग को मिटा देने वाली दवा रोगी से मिलाप करने से कभी भी रोगवाली व रोगरूप नहीं बन जाती है प्रत्युत उस रोगी के रोग को मिटाकर उसको निरोग बना देती है वैसे (ही) स्वरूप तथा लीलाएँ भी सगुण को निर्गुण बना देती हैं। भगवान् की लीलाएँ भक्तों के भावों के अनुसार उन जैसी न बनकर अपने समान उनको बना देती हैं अतः एक ही वेणुनाद लीला से, सगुण तथा निर्गुण दोनों प्रकार के भक्तों का निरोध होगया है। अन्यथा, यदि लीला सगुण के संग से सगुण हो जाती, तो सगुण भक्तों का निरोध सिद्ध न होता, जैसे क्रोध आदि से किया हुआ स्मृति, भजन साधारण कोटि है, वैसे (ही) काम से किया हुआ भजन भी निम्नकोटि वाला<sup>२</sup> है। इसको जताने के लिए श्लोक में क्रोध आदि का निरूपण किया है। मूल श्लोक १५ वें में जो 'तन्मयता' शब्द है, उसका भावार्थ है 'निर्गुणता' अर्थात् सगुण गोपियाँ भी, निर्गुण बन गईं एवं क्रोध आदि भाव वाले भी निर्गुण हो गए ॥१५॥

श्री शुकदेवजी जान गए कि राजा का अन्तःकरण विस्मय तथा सन्देहों से भर गया है, अतः उनको मिटाना आवश्यक है। उनको मिटाने के लिए १६ वे श्लोक में 'न चैवं विस्मयः कार्यो' कहकर उनके विस्मय तथा शङ्काओं को, हेतु देकर मिटाया है।

(१) राजा को प्रथम यह अचम्भा हुआ, कि जब गोपियों का निर्गुण भगवान् के साथ अङ्ग सङ्ग हुआ तो उस काल में वे सगुण कैसे रह सकीं। लोक में देखा जाता है, कि कपास का जिस वक्त अग्नि से संसर्ग होता है, उस समय उस (कपास) का वह स्वरूप नष्ट हो जाता है।

(२) गोपीजन लौकिक रीति से काम भाव वाली थीं तो उन (लौकिक भाववालिओं) से अलौकिक प्रभु ने रमण कैसे किया ?

(३) क्रोध आदि भाव वालों ने उनका फल भोगा ही नहीं और उनको भगवत्प्राप्ति होगई ?

(४) और वह भी स्नेह वालों के समान फल ?



(५) गोपियों का स्नेह यशोदानन्दन में था, यह तो वन में थे और गोपियाँ घर में थी घ में बैठी हुई गोपियाँ उनका ध्यान कर उनको कैसे प्राप्त कर सकीं ?

(६) उनको उस समय हो बिना साधनों के निर्गुण देह की प्राप्ति होगई, यह भी आश्चर्य जैसी बात है ।

(७) जो लीला आगे की जाने वाली है उसका केवल सर्वात्मभाववालिग्रों को ही अनुभव है जबकि अन्य लीलाओं का अनुभव बिना सर्वात्मभाव के भी ।

इत्यादि अनेक विस्मयों से युक्त राजा को देखकर श्री शुकदेवजी उनके विस्मय वा सदेहों को इस १६ वें श्लोक से मिटाते हैं ।

प्रथम विस्मय, भगवान् से अङ्गसङ्ग होते हुए भी सगुण देह कैसे रही ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि तुम्हारे सिवाय अन्य कोई वंसा सशय वा विस्मय करे, तो कर सकता है, तुम कैसे करते हो, जबकि तुमको इस विषय का अनुभव है, कि जो कुछ हो रहा है, वह भगवान् की इच्छा शक्ति से हो रहा है । भगवान् में सब प्रकार की शक्ति है, करने की न करने की, कराने की न कराने की, किन्तु कौनसी शक्ति से कब काम लेते है वह आपकी इच्छा शक्ति के आधीन है । जैसे कि भगवान् ने आपको गर्भ में ब्रह्मास्त्र से बचाया, क्योंकि उस समय तुमको वचाकर कार्य कराना था, किन्तु अब ऋषि वालक के शाप से तुम्हारी रक्षा नहीं करते है कारण, कि तुम से अब कार्य कराना नहीं है । जिसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिए, कि भगवान् में वह शक्ति नहीं है, शक्ति तो है, किन्तु आपकी (भगवान् की) तुमको वचाने की इच्छा नहीं है, जैसे अग्नि मन्त्रादि से प्रतिबन्ध होने से जलाती नहीं है इससे अग्नि में जलाने की शक्ति नहीं है क्या ? है, किन्तु मन्त्र से प्रतिबन्ध होने के कारण जलती नहीं है वैसे (ही) भगवान् में बचाने की वही शक्ति सदैव है, अब इस शक्ति से काम लेने की भगवान् की इच्छा नहीं है, तुमको भगवान् का इस प्रकार का अनुभव है अतः तुम्हें तो इस विषय में विस्मय नहीं करना चाहिए और समझना चाहिए कि जैसे मेरे साथ इच्छानुकूल कार्य किया है, वैसे ( ही ) अब भी इस विषय में भगवान् ने ऊपर कहे हुए प्रयोजनों के कारण साक्षात् अङ्ग सङ्ग के समय उन (गोपियों) की वह सगुण देह नाश नहीं की है ।

द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थ विस्मय—लौकिक काम वालियों के साथ अलौकिक भगवान् ने रमण कैसे किया ? क्रोधादि भाव वालों ने उनका फल भोगा ही नहीं और उनको भगवत्प्राप्ति हो गई ! और वह भी स्नेह वालों के समान फल !

श्री शुकदेवजी—इस विस्मय और क्रोध आदि करने वालों का भी उद्धार करते हैं, उनमें भी, जो विस्मय राजा को हुआ उन सब विस्मयों का निवारण एक ही 'भगवति' (भगवान् में) शब्द से करते हैं—कृष्ण को भगवान् कहकर यह बताया है, कि श्रीकृष्ण में ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान तथा वैराग्य छ गुण है, इन छ गुणों का प्रभाव प्रकट दिखाने के लिए इस प्रकार की कृष्ण ने लीलाएँ की है—जैसे कि आप (भगवान्) ऐश्वर्य युक्त होने के कारण सर्व रस भोक्ता हैं इसलिए श्रुति ने कृष्ण को 'सर्वरस' कहा है, काम शास्त्र ने सिद्ध किया गया है कि काम रस का अनुभव उनमें से किया जा सकता है, जो इस (काम) भाव वाली है, अतः सर्व रस रूप षड् ऐश्वर्य वाले भगवान् में इस प्रकार का विस्मय नहीं करना चाहिए क्योंकि श्रीकृष्ण ने यह लीला (अङ्ग सङ्ग लीला) कर अपने 'ऐश्वर्य' धर्म का प्रभाव प्रकट कर दिखाया है ।





क्रोध दोष, जिसको कोई भी नाश नहीं कर सकता है उसको भगवान् का सबसे उग्रवीर्य हो नाश करो में सार्थ है, अतः जिन्होंने भगवान् में क्रोध भाव से सम्बन्ध जोड़ा है उनके क्रोध को अपने वीर्य धर्म से नष्ट कर संबंध होने के कारण मुक्ति देकर अपने 'वीर्य' धर्म का प्रभाव प्रकट किया है। अतः इस विषय का भी भगवान् में विस्मय नहीं करना चाहिए।

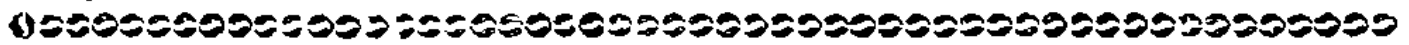
'यश' सामान्य धर्म नहीं है, अतः बहुतभी मित्रता है जब कोई महान् कर्म किया जाए। साधारण कर्म करने से यश नहीं बढ़ता है अतः यदि भगवान् से जो स्नेह करे उनको ही केवल मुक्ति देवे और द्वेष करे उनको मुक्ति नहीं दें, तो भगवान् का यह कर्म साधारण होने से आपका यश न बढ़े अतः भगवान् में जैसा फल स्नेह वालों को दिया है वैसा ही भय द्वेष आदि करने वालों को भी दिया है। इस प्रकार असाधारण कर्म करने से भगवान् ने 'यश' धर्म को प्रकट किया है। भगवान् का यह यश सहज ही है और यश को बताने वाले धर्म भी भगवान् में सहज ही हैं अतः विस्मय नहीं करना चाहिये।

स्नेह में क्या रस है इसको भगवान् जानते हैं, क्योंकि श्री (लक्ष्मी) को भगवान् ने अपने हृदय में विराजमान किया तो भी, लक्ष्मी स्नेह के कारण वक्षस्थल को न चाहती हुई, चरणों के रज की कामना करती हुई प्रत्येक अवतार में, अवतार लेकर चरणों की सेवा करती है, अतः भगवान् स्नेहो भक्तों को स्वरूपदान देते हैं यह योग्य ही है। वैसा कर 'श्री धर्म' दिखाया है।

ज्ञान मार्ग पर चलने वाले 'ऐक्य' चाहते हैं भगवान् उनको वैसा ही ऐक्य देते हैं, जिसमें अपना 'ज्ञान' धर्म प्रकट किया है।

सखा भाव में सौहार्द होता है, वह सखा भाव उनमें होता है, जिनका स्वभाव, व्यसन आदि समान होवे, भगवान् ने कहा है कि मेरे भक्त (साधुओं) के सिवाय मैं अपनी तथा लक्ष्मी की भी इच्छा नहीं करता हूं उनकी परा भक्ति आत्यक्तिक श्री मैं हूं, भक्तों का हृदय मुझ में है और मेरा हृदय भक्तों में है अथवा साधु मेरे हृदय हैं और मैं साधुओं का हृदय हूं वे मेरे सिवाय किसी को नहीं जानते हैं और मैं उनके सिवाय स्वल्प भी कुछ नहीं जानता हूँ। ऐसे अनेक वाक्यों से समझा जाता है, कि भगवान् का भक्तों में राग<sup>१</sup> है और भक्तों के सिवाय अन्यो में राग नहीं है, जिससे भगवान् ने अपना 'वैराग्य' धर्म प्रकट किया है और भक्तों ने भी इसी प्रकार वैराग्य दिखाया है। भगवान् में राग अन्यो में वैराग्य, अतः भगवान् सौहार्द<sup>२</sup> करने योग्य भक्तों को मित्रता का दान देते हैं, भक्तों में जैसे वैराग्य धर्म है वैसे (ही) भगवान् भी उनसे वैराग्य युक्त मित्रता करते हैं, वैसा करना योग्य ही है। पञ्चम विस्मय—गृह में स्थित गोपियाँ वन में स्थित कृष्ण को कैसे ध्यान में प्राप्त कर सकीं ? जिससे वे मुक्त हुईं, उनका प्रेम तो यशोदानन्दन में था।

इसका उत्तर श्री शुकदेवजी श्री कृष्ण को अज<sup>३</sup> कहकर देते हैं, अर्थात् भगवान् जीव के समान, जन्म नहीं लेते हैं वे तो सर्वत्र सदैव विद्यमान हैं; अतः वन में स्थित होते हुए भी गोपियों के ध्यान करते (ही) उनके हृदय में प्रकट हो गए, भगवान् का प्राकट्य केवल इतना ही है, कि जिस



माया के पर्दों के कारण हम आपका दर्शन नहीं कर सकते हैं उस माया के पर्दों को हटाना है। यशोदा के गृह में भी अपनी इच्छा से माया के आवरण<sup>१</sup> को दूर कर प्रकट हुए हैं, उसी प्रकार वन में और गोपियों के अन्तःकरण में भी प्रकट होगए है, अतः इसमें विस्मय नहीं करना चाहिए क्योंकि वह सर्वव्यापी तथा अजन्मा है। उनको उसी समय बिना साधनों के निगुंण देहकी प्राप्ति हो गई !

इस शब्दा का उत्तर श्री शुकदेवजी 'योगेश्वरेश्वरे' कहकर देते हैं, अर्थात् भगवान् योगी नहीं हैं किन्तु योग के जो ईश्वर हैं, उनके भी ईश्वर हैं अतः उसमें विस्मय नहीं करना चाहिए क्योंकि योगी भी योगबल से भोग के लिए क्षण मात्र में एक साथ ही अनेक शरीर धारण कर सकते हैं जबकि उनका यह योग धर्म आगन्तुक<sup>२</sup> है, भगवान् तो इन धर्मों की (योगों की) रचना करने वाले हैं और फलदाता हैं, जिससे वे योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं, इसलिये आप स्वाभाविक अनन्त शक्तिमान् हैं जिससे उन (व्रजभक्तों) की देह को अलौकिक बना देना भगवान् के लिए कोई बड़ी बात नहीं है अतः इसमें विस्मित होने का कोई कारण नहीं है।

जो लीला आगे की जाने वाली है उसका अनुभव केवल सर्वात्म भाव वालियों को ही है जबकि अन्य लीला बिना सर्वात्म भाव के भी अनुभूत होती है !

इसका समाधान योगेश्वरों के ईश्वर होने के साथ आप 'कृष्ण' भी हैं, अर्थात् सदा आनन्द रूप होने से, दोष रहित और गुणों से पूर्ण है जिसका भावार्थ है, कि कृष्ण के सिवाय अन्य वस्तु मात्र दोषवाली है, उन दोषवाली वस्तुओं से स्वास्थ्य<sup>३</sup> मिलेगा यों लोग समझते हैं वे भी दोषवाले ही हैं यह निश्चय से समझना चाहिए।

सर्वात्म भाव रहित गोपियाँ इस स्वरूप से आनन्द देने वाली लीला की अधिकारिणी न होने से, अनुभव नहीं कर सकती हैं तब भगवान् का उनसे रमण करना विस्मय कारक है, वैसा विस्मय तुमको नहीं करना चाहिए, क्योंकि इन (गोपियों) को तो पहले कहा हुआ स्नेह रूप साधन था ही, जो कि गोकुल के वासी दिन को काम में लगे रहते थे और रात्रि को सो जाते थे किसी प्रकार का साधन नहीं करते थे, तो भी हर एक क्षण में भगवान् के स्वरूप में ही लीन रहते थे (मुक्त होते थे) उनकी वैसी दशा भगवान् ने आगे की लीला रस का अनुभव कराने के लिए आप बार बार उनको पृथक् (अलग) कर (मुक्ति से निकाल कर) उस लीला का अनुभव कराते थे, भगवान् अचिन्त्य और अनन्त शक्तिमान् हैं अतः वे कुछ भी करे तो उसमें आश्चर्य नहीं है, इस आशय से शुकदेवजी कहते हैं, कि 'यत् एतद् विमुच्यते' जिससे यह गोकुल मुक्त होता है, श्री शुकदेवजी ने ये शब्द जो वर्तमान प्रयोग में किए हैं जिसका कारण यह है, कि इस समय अन्य लीला का अनुसन्धान<sup>४</sup> न होने से अपने को गोकुल वन में स्थित समझ कर ही कहे हैं और उस ही लीला का अनुभव कर रहे हैं, इससे यह वर्णन सर्व दोष रहित है।

१—पर्दा, २—नया आया हुआ,

३—सुख, शान्ति, ४—विचार

यहां गका हो सकती है, कि जैसा कहा जा रहा है उससे विपरीत भी हो सकता है। अर्थात् — ये अन्तर्गृह्यता गोपियाँ भी उन गोपियाँ जैसी ही हैं, जो रास में पहुँच सकी। अतएव ८ वें श्लोक में कहा गया कि “वे लौटी नहीं”, परन्तु ऐसा कैसे हो सकता था इसके समाधान के लिए ६, १०, ११ आदि श्लोक हैं। यहां आशय यह है, कि पहले तो केवल वचनों से ही रोका गया और इस तरह लौटना या नहीं लौटना यह स्वयं अपने पर निर्भर था। वह तो दूर रहा, क्योंकि, उनके जैसे ही (इन) गोपियों को तो पतियों ने जबरदस्ती से रोका और तब, जैसा कि, वे केवल देह को ही रोक सकते थे सो उस देह को त्याग कर वे भगवान् से जा मिली। इस तरह पहले कही गई सभी गोपियाँ इनके जैसी ही हैं, अतः उनका न लौटना ठीक था।

एक और बात यह है कि "तद्भावना युक्ता" इस पद में (तत्) पद से पहले कहे गए भाव को लेने पर पहले वाली गोपियों का भाव ही लिया जाएगा और तब इस तरह जो इनका भाव है वही पहले वाली गोपियों का भी भाव है यह मालूम होता है, और इस तरह जो भी गुण-धर्म यहां इनमें हैं वे वहां उनमें भी सिद्ध होंगे ही। इन अन्तर्गुह्यताओं को मुक्ति दी गई तो वह गुणमय देह की निवृत्ति के बिना ही नहीं सकती, अतः वर्णन भी वैसा ही किया गया कि इनको पतियों ने रोक लिया फलतः देह त्याग कर ही भगवान् से मिल पाई। उन्हें तब मुक्ति नहीं दी अतः न तो रुकावट हुई और न देह त्याग की ही अपेक्षा हुई ( अर्थात् इतना ही अन्तर है और इसके अतिरिक्त और कोई सगुण-निर्गुण का अन्तर नहीं है )।

परन्तु ऐसी शंका दुराग्रह एवं मूढ़ता मूलक है, क्योंकि यह विचार रहित बहिर्मुखता एवं असत्संग से बोझिल मन (जो परोक्ति का अनुसंधान नहीं कर सकता) में ही उठ सकती है। बात यह है कि जिस शंका को दूर करने के लिए यह कथा कही गई और जो उसका आशय शंका ने दिखलाया, वहां यह प्रश्न होता है, कि क्या उक्त भाव को समझाने के लिए यह कथा यों ही घड़ ली गई है या वस्तुतः ऐतिहासिक घटना का वर्णन है ? और वहां भी यह प्रश्न है कि इन अन्तर्गृह-गताओं को आखिर रोका क्यों गया ? ऐतिहासिक तालक यह कहा जाए कि वे भगवान् की प्रिया होते हुए भी सगुण थीं और यही जताने के लिए हरि ने उनके आगमन में एकावट उत्पन्न की तो वैसा विचार करते हुए तुम्हारा हृदय शतधा टूक-टूक क्यों नहीं होता ! जब मर्यादा भक्ति सम्बन्धी भजन भी निर्गुण है, तो जिन गोपियों का भगवान् के साथ अंगसंग हुआ है, वे सगुण कैसे होंगी और तुम उनको सगुण बताने की चेष्टा करते हो ।

और विशेष में प्रभु ने कहा कि ये गोपियां सदेव मुझ में मन से आसक्त हैं, प्राण भी उनके मुझमें हैं, मेरे लिए इन्होंने देहधर्म छोड़ दिए हैं। उद्धव भी 'एताः परं तनुभूत' इस श्लोक में गोपीकाओं की प्रशंसा करते हैं, जिस उद्धव के लिए भगवान् ने कहा कि "उद्धव अणुमात्र भी मुझसे कम नहीं" वह उद्धव जिनके चरणरज की अभिलाषा करता हो, ऐसी गोपियों में कामोपाधि समझना और उनको सगुण कहना अनुचित है। गोपियों में काम तो क्या काम के गन्ध की शंका भी अयोग्य है।

मेरे कहने का यह भाव नहीं कि वे कामवाली थी किन्तु उनका भगवान् में का स्नेह कामो-



पाधिवाला था, यदि तुम यों कहते हो, तो यह भी तुम्हारा कहना गोपियों के कहे हुए वाक्यों से असिद्ध होता है, कारण कि गोपियों ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि हम आपसे कामपूर्ति के लिए नहीं आई हैं, क्योंकि, हम तो सर्व विषयों को छोड़कर आते वरुणों के मूल में आई हैं अर्थात् आपके चरणों का आश्रय लिया है, काम की अभिलाषा वालों स्त्रियां कभी भी इस प्रकार नहीं कह सकती हैं यों कहना तो भक्त ही जानते हैं ।

और विशेष इसका भी तुमको विचार करना चाहिए कि श्रीकृष्ण ने बाल्यकाल में जब पूतना के प्राण रूप पय का पान किया था उस समय गोपियों ने जो भगवान् की गो पुच्छ आदि से रक्षा की थी, उसका वर्णन करते हुए श्री शुकदेवजी ने गोपियों को 'प्रणय बद्धभिः' विशेषण देकर सिद्ध किया है, कि वे भगवान् में भक्ति से उत्पन्न स्नेह वाली थीं इसके सिवाय जो कामवाली होती है वे जार वा पति के पास शृंगार से अपने को सजाकर जाती हैं जैसे कुब्जा पूर्ण शृंगार कर भगवान् के पास आई थी, किन्तु गोपियां तो इससे विपरीत उलट पुलट कपड़े आदि में आई थी ।

वहाँ गोपियों के आने के अनन्तर जो रमण हुआ है, वह भी 'रसो वै सः' इस श्रुति में, कहे हुए ब्रह्म के रस स्वरूप से भगवान् ने रसात्मक होने से रस रीति से रमण कर स्वरूपानन्द का ही दान किया है । जैसे कि कहा है कि—'आत्मा से जो सुख मिलता है वह सात्विक है, विषय भोग से जो सुख प्राप्त होता है वह राजस है, मोह और दैन्य से जो सुख मिलता है वह तामस है और मुक्त से (रस रूप कृष्ण से) जो सुख मिलता है वह निर्गुण है । (११ स्कन्ध) ॥१६॥

श्री प्रभुचरणों ने १२ से १६ श्लोकों में जो राजा परीक्षित ने शङ्काएं की हैं उनके स्वतन्त्र लेखों में विशेष स्पष्टीकरण कर उत्तर दिए हैं जिनके पूर्ण रीति से मनन करने से, ये शङ्काएं जिसके भी हृदय में होगी उसके हृदय से मिट जाएगी ।

इन स्वतन्त्र लेखों का अनुवाद यहां वैसे सरल स्पष्ट प्रकार से दिया गया है जैसे पाठकों को उनका भाव शीघ्र समझ में आ सके ।

**आभास—**एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य प्रस्तुतमाह तादृश्वेति

**आभासार्थ—**इस प्रकार परीक्षित ने जो इस प्रसङ्ग के विषय में शङ्का की थी उसको मिटाकर अब निम्न श्लोक से श्री शुकदेवजी फिर विषय का निरूपण करते हैं ।

**श्लोक—**ता दृष्टान्किमायाता भगवान् व्रजयोषितः ।

अवदददतां श्रेष्ठो वाचःपेशेविमोहन् ॥१७॥

**श्लोकार्थ—**बोलने वालों में श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण उन गोपियों को निकट आई



हुई देखकर वाणी के विलासों से उनको मोहित करते हुए बोले ॥१७॥

**सुबोधिनी**—यास्तु समाहृताः समागताः, ता न निवार्यन्ते, याः पुनः सगुणाः समागताः अन्य-सम्बन्धिन्यः, ता शब्दश्रवणात् समागता इति शब्देन निवारणीयाः । अन्यशेषतया भजनमयुक्तमिति । करिष्प्रमाणलीला तु सार्वभावप्रपत्ति-साध्या, अतो निवारणार्थं यत्नमाह । ता 'दुहन्त्य' इत्याद्याः अन्तिकमायाता दृष्ट्वा, स्वार्थमेवागता इति निश्चर्य, भगवान् सर्वज्ञः सर्वसमर्थोऽपि, ता अपि ब्रजयोषितः अपावृताः स्वकीयाश्च । अतः सर्वानुपपत्तिरहिता अपि दृष्ट्वा अवदत् । धर्मप्रबोधनार्थं वक्ष्यमाणमुक्तवान् । ननु ताः पूर्वं निवार्यमाणाः

समागताः, कथमेतद्वाक्येन निवृत्ता भविष्यन्ति, अतो व्यर्थं वाक्प्रयास इति चेत्, तत्राह वदतां श्रेष्ठ इति । ये केचिद्वदन्ति, तेषां मध्ये श्रेष्ठः । अतो हृदयनाम्नस्य वचनं भवति । अतो यावद्वचनेन निवृत्ता भवन्ति, तावन्न कृतौ योजनीयाः । किञ्च अलौकिकमप्यस्य निवर्तने सामर्थ्यमस्ति, तदाह वाचःपेशोऽविमोहयन्निति । वाचःपेशाः वाक्-सौन्दर्ययुक्ताः शब्दाः, तैर्विशेषेण मोहयन् । अथवा । ता दृढीकर्तुं मेव सम्यक् मोहनार्थं निषेधवाक्या-न्युक्तवान्, अन्यथा गच्छेयुरेव । अतः अर्थतो निवारयन् अपि पर्यवसानतो न निवारयति ॥१७॥

**व्याख्यानार्थ**—भगवान् के बुलाने से जो गोपियां आई थी, भगवान् उनको घर लौट जाने के लिए नहीं कहते हैं, किन्तु जो विवाहित सगुण थी और केवल नाद श्रवण से आई थी उनको शब्द से ही लौट जाने के लिए कहने लगे, कारण कि भक्ति मार्ग में उपाधि \* सहित भजन करना योग्य नहीं है । भगवान् को जो लीला करनी है उसका अधिकारी वह है जिसमें सर्वात्म भाव है कारण कि वह लीला सर्वात्म भाव से ही सिद्ध होती है । अतः जो गोपियां शब्द श्रवण मात्र कर दोहन आदि सर्वं कार्य त्याग कर अपने लिए ही आई थी ऐसा निश्चय करके सर्वज्ञ सर्व समर्थ भगवान् ने भी उनको लौटाने का निश्चय किया, वे ब्रजाङ्गनाएँ भी इधर उधर बाहर फिरने वाली एव निष्कपट थीं और अपनी थी, अतः उनमें कोई भी अनुपपत्ति नहीं थी फिर भी उनको मर्यादानुसार पातिव्रत्य धर्म का ज्ञान कराने के लिए उपदेश भी देना चाहिए था सो इनको देखकर भगवान् बोलने लगे । जो गोपियाँ अपने पति आदि के कहने को न मानकर यहां चली आई हैं वे इस कहने से कैसे लौट जाएंगी ? इस शङ्का का निवारण करने के लिए शुकदेवजी कहते हैं, कि भगवान् उनके पतियों जैसे बोलनेवाले नहीं हैं किन्तु जो भी बोलने वाले हैं, उनमें श्रेष्ठ हैं अतः भगवान् के वचन हृदय में जच जाएँगे, अतः जहां तक वचन से लौट जाने की हों तो कृति में नहीं लगाना चाहिए । भगवान् में उनको लौटाने के लिए अलौकिक सामर्थ्य भी है, यह बताने के लिए श्री शुकदेवजी ने कहा है, कि वाणी की सुन्दरता वाले शब्दों से अर्थात् शब्द सौन्दर्य से, विशेष प्रकार से, गोपियों को मोहित करते हुए लौटने के लिए कहने लगे, अथवा भगवान् ऐसी सुन्दर वाणी बोले, जिससे वे जावे नहीं किन्तु यहां दृढ होकर डटी रहें, यदि भगवान् की वाणी का वैसा भाव न होता तो वे लौट जाती । भगवान् के शब्दों का अर्थ ऊपर से तो जाने का समझ में आता था किन्तु उनका भीतरी भाव नहीं लौट जावे वैसा था ॥१७॥



**आभास—**भगवद्वाक्यान्वाह स्वागतमित्यादिदशभिः दशविधानां निवारकाणि ।

**आभासार्थ—**अब शुकदेवजी वे वचन दश श्लोकों में कहते हैं, जो भगवान् ने दश प्रकार की गोपियों को निवारण<sup>१</sup> के लिए कहे हैं ।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

**श्लोक —**स्वागतं वो महाभागाः प्रियं किं करवाणि वः ।

व्रजस्यानामयं कञ्चित् ब्रूतागमनकारणम् ॥१८॥

**श्लोकार्थ—**भगवान् कहने लगे कि हे बड़भागिनियों, आप भले आईं, मैं तुम्हारा क्या प्रिय करूं ? व्रज में कुशल तो है ? आने का कारण तो कहो ? ॥१८॥

**कारिका—**तमोरजःसत्त्वभेदाः स्वान्तर्पर्यवसानतः ।

निरूप्यन्ते स्त्रियस्तासु वाक्यान्यपि यथायथम् ॥१९॥

**कारिकार्थ—**तम रज और सत्त्व गुण के मिले हुए; जितने प्रकार होते हैं, उतनी (ही) ये स्त्रियां (गोपियां) हैं उनका वर्णन किया जाता है । गुणों के फल का अवसान भी बताया जाता है, जैसे कि तम का फल लय, रज का फल विशेष भाव का उत्पादन और सत्त्व का फल उस भाव का पालन, करना है—

तम—प्रभु से मिलाप कराने में जो पदार्थ विलम्ब करावे उसका लय<sup>२</sup> कर देता है ।

रज—प्रभु के मिलन में जो विलम्ब हो उसको (विलम्ब को) जिस भाव से सहन न किया जा सके वैसे विशेष भाव को उत्पन्न कर देता है ।

सत्त्व—रज द्वारा उत्पन्न किए हुए भाव की रक्षा करता है ।

उन (सगुण-निर्गुण भेद से दश विध) स्त्रियां जैसे ही भगवान् के दश वाक्य यथोचित हैं ।

**सुबोधिनी—**प्रथमतस्तामससात्त्विकयो निवार्यन्ते, ततस्तामसराजस्यः, ततस्तामसतामस्यः, एवमग्रेऽपि विभाज्याः । प्रथमं समागतानां लौकिकन्यायेनाह स्वागतमिति । कुशलप्रश्नोऽयम् । वो युष्माकमागमनं स्वागतं किमिति । स्तुतिमाह

महाभागा इति । भवतीनां महद्भाग्यम्, अतः स्वागमनमेव, तथापि पृच्छयत इति लोकोक्तिः । वस्तुतस्तु निष्प्रत्यूहं भगवत्सामीप्यमागता इति । समागतानामुपचारमाह प्रियं किं करवाणि व इति । किञ्चित्प्रार्थयितुमागता इति लक्ष्यन्ते, तथा

सति तद्वक्तव्यम् । अर्थात् एतासां नाहं स्वभावतः प्रियः, किन्तु कामतः प्रिय इति ज्ञापितम् । तत् प्रयोजनं त्रिविधं भवति । इष्टरूपमनिष्टनिवृत्तिरूपं देशकालव्यवहितं कामितं च । तत्रापि त्रिविध्यमस्तीति वाक्यत्रयं वा । यद्भवत्यो धावन्त्यः

समागताः, तत्र किं व्रजे कश्चन उपद्रवो जातः, यद्ज्ञापयितुं तेषां समागमनम्, पूर्वपूर्वानङ्गीकारे उत्तरोत्तरं वाक्यम् । यदि प्रियमपि न किञ्चित्कर्तव्यम्, व्रजे च न काप्यनुपपत्तिः, तदा आगमनकारणं ब्रूत ॥१८॥

**व्याख्यानार्थ—**भगवान् क्रमशः गोपियों को लौटाने के लिए कहते हैं, जैसे कि प्रथम तामस सात्त्विकीयों को, पश्चात् तामस राजसियों को, अनन्तर तामस तामसियों को, इस प्रकार आगे भी गोपियों के विभाग करने चाहिए ।

जो गोपियाँ भगवान् के पास आई हैं भगवान् प्रथम उनका स्वागत करते हुए उनको कहते हैं, कि 'भले पधारो' इस प्रकार कहने से समझना चाहिए कि भगवान् ने उनसे कुशल प्रश्न किए हैं । आप सबों का आना बहुत ही अच्छा है आप 'भले पधारो' यों कहकर स्तुति पूर्वक कहते हैं, कि आप का यहां आना बताता है कि आप 'बड़भागिनी' हो अतः आपका पधारना भाग्य का चिन्ह है । ऐसा होते हुए भी उनसे पूछते हैं कि क्यों आई ? यह लोक की नीति है । वास्तविक आपका भगवान् के समीप आना प्रतिबन्ध रहित हुआ है । आई हुई गोपियों का सत्कार करने के लिए भगवान् कहते हैं, कि जो आपको प्रिय लगे वैसा कौनसा कार्य मैं करूं ? आपके आने से जाना जाता है, कि आप कुछ माँगने के लिए आई हो, यदि वैसा हो (माँगने के लिए आई हो) तो वह माँगलो । भगवान् ने इस प्रकार के वचनों से यह बता दिया कि (आपको) मैं स्वभाव से सहज प्रिय नहीं हूँ किन्तु काम के कारण प्रिय हूँ । वह तीन तरह का हो सकता है १-इष्ट प्राप्ति<sup>१</sup>, २-अनिष्ट की निवृत्ति<sup>२</sup>, ३-देश तथा काल से दूर वैसे वस्तु की कामना । उन में भी तीन प्रकार है, इसलिए तीन वाक्य कहे हैं— आप दौड़ती हुई आई हो तो क्या व्रज में कोई उपद्रव हुआ है ? जिसको बताने के लिए आना हुआ है ? यदि पहली कही हुई बातों को स्वीकार नहीं करो, तो आने का कारण बताओ । प्रथम मैंने कहा कि आप पधारी हो आपका क्या प्रिय करूं, यदि प्रिय नहीं चाहती हो, अर्थात् उसके लिए नहीं आई हो तो, दूसरी बात स्वीकार करो, क्या व्रजमें कोई उपद्रव हुआ है, जिसको मिटाने के लिए दौड़ती (हुई) आई हो, यदि यों भी नहीं है तो तीसरा मेरा प्रश्न है कि आने का कारण बताओ ॥१८॥

**आभास—**तत्राप्यनुत्तरे स्वयमेव पक्षान्तरं कल्पयति । यथा भवन्तः समागताः, तथा वयमपीत्याशङ्क्याह रजनीति ।

**आभासार्थ—**भगवान् के इस प्रकार किए हुए प्रश्नों का जब गोपियाँ उत्तर न देकर मौन धारण कर रही, तब भगवान् को स्वयं यह विचार हुआ कि गोपियाँ कदाचित् यों कहें कि जैसे आप आए हो वैसे (ही) हम भी आगई हैं अतः भगवान् अन्य ढंग से (लौट जाने के लिए) कहते हैं—



श्लोक—रजन्येषा घोररूपा गोरसत्त्वनिषेविता ।

प्रतियत व्रजं नेह स्थेयं स्त्रीभिः सुमध्यमाः ॥१६॥

श्लोकार्थ—यह घोर रात्रि है और इसमें डरानेवाले भयंकर जन्तु रहते हैं अतः हे युवतियों ! व्रज को लोट जाओ । स्त्रियों को यहाँ ठहरना नहीं चाहिए ॥१६॥

सुबोधिनी—एषा रजनी, न तु दिनम् । दिवस एव ह्यरण्ये कार्यार्थं गम्यते, अयं तु चन्द्रः, न तु सूर्य इति भावः । नन्वस्तु रजनी, तथापि प्रकाशस्य विद्यमानत्वात् आगन्तव्यमेवेति चेत्, तत्राह घोररूपेति । प्रकाशयुक्ताप्येषा वस्तुतो घोररूपा भयजनिका । प्रकाशयुक्तायामपि रात्रौ गच्छन् पुरुषो विभेतीति । किञ्च, घोरसत्त्वनिषेविता । घोराण्येव सत्त्वानि रात्रि निषेवन्ते, नत्वघोराणि अतो रात्रौ अघोरो निर्गतो घोररूपहन्यते । अतः स्वभावधर्मसंसर्गिणां स्वरूपं ज्ञात्वा व्रजं प्रतियात ।

नन्वेवं सति तवैव स्वाने स्थास्यामः परिचितो भवानिति चेत्, तत्राह नेह स्थेयं स्त्रीभिरिति । वयं हि पुरुषाः, रात्रिश्चेयम् । अतोऽत्र स्त्रीभिर्न स्थातव्यम् । तथा सत्पुंभयोरपि विक्रिया स्यात् । किञ्च, भवत्यो यदि वृद्धा बाला वा भवेयुः तदा स्थीयेतापि । भवत्यस्तु सुमध्यमाः रसात्मिकाः । अतो देहाध्यासे विद्यमाने सर्वथैव गन्तव्यम् । स्थितिपक्षं नञ्प्रश्लेषो घोरपदयोर्ज्ञेयः, न प्रतियातेति च ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—यह रात्रि है, दिन नहीं है, यदि वन में काम हो तो भी लोक वहाँ दिन को जाते हैं इस समय आपके शरीर में ताप है इसलिए आपने समझा है कि आकाश में सूर्य हैं किन्तु यह सूर्य नहीं (यह) चन्द्रमा है ।

यदि गोपियां कहें कि भले रात्रि है किन्तु उजाला तो है इसलिए हमको आना ही चाहिए, इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि भले उजाला है किन्तु यह रात्रि होने से घोर रूप अर्थात् डराने वाली है पुरुष भी रात्रि के समय उजाला हो तो भी जाते हुए डरते हैं क्योंकि रात्रि के समय वन में घोर<sup>१</sup> पशु घूमते रहते हैं अतः यदि कोई साधारण प्राणी आजाता है तो उसको घोर प्राणी मारते हैं, इसलिए आप तीन बातों का विचार कर व्रज (में) चली जाओ । एक तो यह रात्रि है, दूसरा इसका स्वभाव ही घोर है, तीसरा इसमें घोर पशु फिरते हैं, इन तीनों का विचार करोगी तो आप ही समझ जाओगी कि हमको व्रज में लौट जाना चाहिए ।

ये तीन बातें हैं, तो भी हम व्रज को क्यों लौटें ? यहाँ ही आपके पास रह जायेंगी क्योंकि आप, हमारे परिचित ही हैं । इस प्रकार यदि गोपीजन कहें तो भगवान् उसका भी उत्तर दे देते हैं कि—यहाँ स्त्रियों को नहीं रहना चाहिए, पुरुष हो, तो वे रह सकते हैं कारण कि हम पुरुष हैं और यह रात्रि का समय है इसलिए स्त्रियों को पुरुष के पास नहीं रहना चाहिए । यदि रात्रि के समय पुरुष के पास रहें तो दोनों में अवश्य विकार<sup>२</sup> उत्पन्न होवे । किञ्च यदि आप वृद्ध होती वा बालिका





होती तो भी रहने में कोई अड़चन नहीं किन्तु आप तो सुमध्यमा<sup>१</sup> हो । अतः देहाभ्यास होने पर सर्वथा जाना ही उचित है ।

शुद्धदेवजी ने भगवान् को बोलने वालों में श्रेष्ठ कहा है, वह चातुर्य भगवान् ने इस श्लोक से प्रकट किया है—एषा रजनी अघोर रूपा—यह रात्रि डरावनी नहीं है एषा रजनी अघोर सत्त्व निषेविता— इस रात्रि में सात्त्विक प्राणी रहते हैं ।

ब्रजं न प्रतियात्—आप ब्रज को लौटकर मत जाओ ।

स्त्रीभिः इह स्थेयं—आपको यहां रहना चाहिए ।

सुमध्यमाः—क्योंकि आप रसात्मिका है । ॥ १६ ॥

आभास—अथ वयमभिसारिका एव त्वामुद्दिश्य समागताः किमिति प्रेष्यन्त  
इत्याशङ्क्याह मातर इति ।

आभासार्थ—भगवान् के मन में यह आया, कि यदि ये कहें कि हम अभिसारिकाएँ होकर आपके पास आई हैं आप हमको लौट जाने के लिए कैसे कहते हो तो उसके उत्तर में निम्न श्लोक से दूसरी युक्ति देते हैं।

श्लोक—मातरः पितरः पुत्रां भ्रातरः पतयथ वः ।

विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्तो मा कृद्वं बन्धुसाध्वसम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—तुम्हारे माता, पिता पुत्र, भाई और पति तुम्हें न देखकर हूँड रहे हैं, इन सम्बन्धियों को कष्ट मत दो ॥२०॥

सुबोधिनी—भवतीनां मातरो नियामिकाः,  
तास्तु नागताः, अतो भवतीनामन्वेषणमपि करि-  
ष्यन्ति । अतस्तासां साध्वसं भयं मा कृद्वम्, मा  
कुरुत । न च वक्तव्यं ता अपि तथा स्त्रीत्वाद्वा  
नागमिष्यन्तीति, तत्राह पितर इति । तेषां कुले  
कलङ्कशङ्कया ते समागमिष्यन्त्येव । तर्हि तै सह  
गन्तव्यमिति चेत्, तत्राह विचिन्वन्ति ह्यपश्यन्त  
इति । गोकुलान्निर्गतानां कृष्णस्थानागमने मध्ये

बहवो मार्गाः स्फुटिताः सन्ति, तत्र भगवन्माया तिष्ठति, यथा न कोऽपि भगवत्समीपं गच्छति, अतो मार्गान्तरेणैव गताः अपश्यन्तः सन्तः विचिन्वन्त्येव । अनेन स्थितौ शङ्काभावोऽप्युक्तः । बन्धुभ्यः साध्वसमिति च । तस्मात् सर्वा नागता इति नागन्तव्यम् । कुले च कलङ्को भविष्यतीति च । न च तेऽपि स्त्रीस्वभाव जानन्तीति नागमिष्यन्तीति चेत्, भगवदर्थं वा समागता इति, तत्राह पुत्रा इति ।



पुत्राणां सर्वथा रक्षकत्व महती लज्जेति तेषु दयया भयाभावार्थं गन्तव्यम् । ननु ते बालका इति चेत्, तत्राह भ्रातर इति । ते हि समर्था अन्वेषणे लज्जावन्तश्च, अतो लज्जया अदृष्ट्वा कदाचित् शरीरमपि त्यजेयुः । अतो भ्रातृस्नेहा-दगन्तव्यम् । ननु ते अपकीर्तिभयादन्वेषणे न गमिष्यन्ति, तरुणास्ते, तरुण्यो वयमिति चेत्, तत्राह वः पतय इति । तेषां भोगापेक्षाप्यस्ति,

तेषामेव चायं रसः, अतः परस्वं नान्यस्मै देयम् । भोगस्य ततोऽपि सिद्धिः । सर्व एवापश्यन्तः गृहे अदृष्ट्वा अवश्यं विचिन्वन्ति । ततो बहुकालम-दृष्ट्वा नाशशङ्कया अपहारशङ्कया च भयं प्राप्स्यन्ति न च वक्तव्यं किमस्माकं तैः, तत्राह बन्धुसाध्व-समिति । ते हि बान्धवाः, तैः सहैव स्थातव्यम् । अतो बलवद्वाधकस्य विद्यमानत्वात् व्यावृत्त्य गन्तव्यमिति ॥२०॥

**व्याख्यानार्थ—** तुम्हारी माताएँ तुम्हारी निगरानी करती हैं, वे तो तुम्हारे साथ नहीं आई हैं । तुम अकेली चली आई हों इसलिए वे तुमको ढूँढती होंगी, न मिलोगी तो उनको भय होगा ? अतः आप जाओ उनको भयभीत मत करो ।

यों भी आप मत समझो कि वे भी स्त्रियाँ हैं यहाँ तक न आँगी, यदि वे नहीं तो आपके पिता तो पुरुष हैं वे रात्रि की परवाह न कर आजाएँगे क्योंकि उनको यह विचार होगा, कि हमारे कुल को कलङ्क न लग जाए, यदि कहो कि वे आजाएँगे तो उनके साथ हम चली जाएँगी, तो उसका उत्तर देते हैं, कि गोकुल से निकले दुष्टों को कृष्ण स्थान में आने के लिए बीच में अंक मार्ग आते हैं वहाँ भगवान् की माया इसलिए खड़ी है कि जिससे कोई भी भगवान् के समीप न पहुँच सके, अतः माया उनको दूसरे रास्ते भेज देती है जिससे वे यहाँ पहुँच नहीं सकते हैं। इसी प्रकार आपके पिता भी यहाँ न पहुँच कर ढूँढते ही रहेंगे और वहाँ न देखकर भय युक्त होंगे । यों कह कर भगवान् ने गोपियों को बता दिया कि यहाँ रहने में इस प्रकार का विचार नहीं करना चाहिए कि पिता आवेंगे ।

माता पिता आदि की चिन्ता का विचार कर जैसा अन्य गोपियाँ यहाँ नहीं आई वैसे नहीं आना चाहिए था । इस प्रकार रात्रि में अकेली चल निकलने से कुल को कलंक लगेगा अतः नहीं आना चाहिए था ।

भगवान् ने सोचा कि हमारे पिता स्त्री स्वभाव को जानते हैं कि हम भगवान् के वास्ते आई हैं इसलिए वे नहीं आएँगे ऐसा उत्तर ये देदेवें तो आप कहते हैं, कि यदि पिता नहीं आएँगे तो 'पुत्र' तो आएँगे क्योंकि पुत्र को सर्व प्रकार से माता का रक्षण करना है, यदि माताएँ कहीं चली जाए तो उनको अत्यन्त लज्जा आती है, पुत्रों में माता के लिए प्रेम होने से, वे दया से माताओं के भय को सहन नहीं कर सकते, अतः आपके भय मिटाने के लिए पुत्र तो आएँगे, इतना कहने के अनन्तर भगवान् ने सोचा कि वे (पुत्र) बालक हैं अतः वे नहीं आएँगे यों गोपियाँ कह दें, तो आप कहते हैं, कि भ्राता आएँगे । वे तो बालक नहीं हैं किन्तु समर्थ हैं वे आएँगे, भ्राताओं को ढूँढने में लज्जा आती है, यदि आपको उन्होंने न देखा तो कदाचित् लज्जा के कारण शरीरों का भी त्याग कर दें, अतः भ्राताओं के स्नेह के कारण आपको लौट जाना चाहिए । फिर भगवान् को विचार आया कि यदि गोपियाँ



कहदे कि वे तरुण<sup>१</sup> हैं हम भी तरुणियां हैं अतः वे अपकीर्ति<sup>२</sup> के भय से दूढ़ने के लिए बाहर न निकलेंगे इस उत्तर का विचार कर भगवान् ने कह दिया कि यदि वे न आएँगे तो पति तो आएँगे कारण, कि उनको भोग के लिए तुम्हारी आवश्यकता है आपके सभोग से जो रस उत्पन्न होगा वह रस उन (पतियों) का ही है अतः पराया धन अन्य को नहीं देना चाहिए तात्पर्य यह है, कि अपना रस अपने पतियों को ही दो, आपको यदि भोग की इच्छा है तो वह उनसे भी सिद्ध<sup>३</sup> होगा । आप इस विषय को निश्चय समझलो कि आपको घर में न देखकर सर्व आपकी दूढ़ेंगे, दूढ़ते हुए बहुत समय बीत जाएगा और आप उनको देखने में न आएँगी तो वे समझेंगे, कि इनका नाश<sup>४</sup> हो गया है वा इनको कोई चुराके ले गया है । आप यों भी मत कहना, कि हम उनका त्याग कर आई हैं उनसे हमारा क्या सम्बन्ध है, चाहे कुछ भी समझे । यों समझना और कहना ठीक नहीं है कारण, कि वे सगे सम्बन्धी हैं, उनके साथ ही रहना है । आपके यहां ठहरने में बलवान् बाधाएँ<sup>५</sup> हैं अतः कैसे भी कर आपको जाना चाहिए और उनका भय तथा चिन्ता का निवारण करना चाहिए ॥२०॥

**आभास—**एवमुक्ते परितो विलोकयन्तीराह दृष्टं वनमिति ।

**आभासार्थ—**भगवान् के इस प्रकार कहने पर वे गोपियां वन की चारों तरफ से देखने लगी, इस प्रकार भगवान् निम्न श्लोक कहने लगे ।

**श्लोक—**दृष्टं वनं कुसुमित राकेशकररञ्जितम् ।

यमुनानिललीलैजत्तरुपल्लवमण्डितम् ॥२१॥

**श्लोकार्थ—**चन्द्रमा की किरणों से सुन्दर, कुसुमों वाले, और यमुनाजी के पवन की मन्द गति से कम्पित वृक्षों के पत्रों से शोभायमान वन को आपने देख लिया ॥२१॥

**सुबोधिनी—**एषा हि राजतराजमी, अग्रिमा राजसतामसी । यदि वनदर्थनार्थमागतम्, तदा दृष्टमेव वनम्, अतः प्रतियातेति । अर्थात् सर्वदा दृष्टमेवैतद्वनम्, नात्र भयमिति ज्ञापितम् । गृहे च न गन्तव्यमिति । यदि गृहगमनापेक्षा, तदैव गन्तव्यमिति वचनात् । तच्च वनं कुसुमितमिति वर्णयति, यथा तासामन्यासक्तिर्भवति । इदानीं पुष्पाप्येव जातानि, न फलानीति वा । कुसुमिते वने रतिः कर्तव्येति भावः । सर्वत्र मोहः प्रेषणं चानुस्यूतम् । किञ्च, राकेशश्च चन्द्रमस- करैः

रञ्जितम् । उद्दीपका एते । वनं तामसम्, पुष्पाणि राजसानि, चन्द्रकिरणाः सात्त्विका इति । अयं राकेश इति पूर्णचन्द्रः । अतः पूर्णत्वे स्यात्तव्यम् । पर्वादिबुद्धौ तु गन्तव्यमिति । वायुमपि तत्रत्यं वर्णयति यमुनेति । यमुनासम्बन्धिनानिलेन लीलया ये एजन्तः कम्पमानास्तरुपल्लवास्तैर्मण्डितमिति । जलसम्बन्धात् लीलया चलनान् तरुणां मुगन्धानां सम्बन्धात् त्रिगुणो वायुरुक्तः । वर्णनायां रसोद्बोधके चोपयुज्यते ॥ २१ ॥

भगवान् के अक्षरों में सर्वत्र दो बात मिली हुई दीखती है एक तरफ वन की शोभा कहकर गोपियों की स्थिति वन में करानी और दूसरी तरफ बाहर से यों देखने में आता है कि गोपियों को घर लौट जाने को कह रहे हैं। और विशेष, यह वन चन्द्रमा के किरणों से भी सुशोभित है, यह सर्व सामग्री उद्दीपक है।

वन तामस है. पुष्प राजस है और चन्द्र किरण सात्त्विक है यहां जो चन्द्रमा है वह षोडश कलाओं से पूर्ण है अतः तुमको भी पूर्ण भाव युक्त हो यहां ही ठहरना चाहिए। यदि तुम्हारी बुद्धि मर्यादावाली हो जिससे मन में यह भावना हो कि आज पूर्णमासी पर्व दिन है उस दिन रमण का निषेध है तो भले तुम घर लौट जाओ।

वन के वायु का भी वर्णन करते हैं, कि यमुना के जलयुक्त वायु द्वारा धीरे धीरे कम्पित वृक्षों के पत्तों से भी सुशोभित यह वन है, इस प्रकार कहकर वायु (को) तीन गुणों वाली सिद्ध किया है, जैसा कि १-जल से मिलने से ठण्डी, २-मन्द मन्द चलना और ३-वृक्षों की सुगन्ध वाली, वैसी तीन गुणों वाली वायु रस को जगाने में सहायता देती है ।

इस प्रकार कहने का तात्पर्य यह है, कि तुम यहां रहोगी तो रस प्राप्त कर सकोगी । अन्यथा (जो जाओगी) तो रस से वञ्चित<sup>२</sup> रहोगी ॥ २१ ॥

प्रभुचरण 'अपेक्षा' शब्द पर विशेष स्पष्टीकरण करते हुए आज्ञा करते हैं कि शास्त्रज्ञानुसार जो घर छोड़ वन को गया हो वह यदि घर की अपेक्षा से लौट कर घर जाना चाहे तो प्रायश्चित्त करे अर्थात् प्रायश्चित्त करने के बिना वह घर नहीं जा सकता है, तात्पर्य यह है, कि भगवान् भी गोपियों को कहते हैं कि यदि आपको घर जाने की अपेक्षा है तो प्रथम प्रायश्चित्त करो पश्चात् जाओ ।



आभास—एवं वनं वर्णयित्वा अन्यासक्तिमुत्पाद्य ततो गन्तव्यमित्याह तद्यातेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार वन के वर्णन से, अन्य में आसक्ति बढ़ाकर फिर इस निम्न श्लोक में कहते हैं, कि आपको जाना चाहिए,—वा मत जाओ ।

श्लोक—तद्यात मा चिरं गोष्ठं शुश्रूषध्वं पतीन् सतीः ।

क्रन्दन्ति वत्सा बालाश्च तान्पाययत दुह्यत ॥२२॥

श्लोकार्थ—इसीलिए तुम जाओ देरी मत करो, हे सतिओं ! जाकर पतिओं की सेवा करो, बछड़े और बालक पुकार रहे हैं उनको दूध पिलाओ और गोओं का दोहन करो ॥ २२ ॥

सुबोधिनी—तत्तस्माद्वनं दृष्टमिति कार्यस्य सिद्धत्वाद्यात । एतादृशं वनमिति मा यातेत्यपि ध्वनिः । चिरं मा विलम्बो न कर्तव्यः, चिरं मा यातेति च । न हि किञ्चिद्भूगवन्तं विहाय गोष्ठं गच्छति । किञ्च, गोष्ठं यात । तत्र गवां शुश्रूषणमपि भवति । किञ्च, तत्र गतानां धर्मः सिध्यतीत्याह शुश्रूषध्वमिति । पतिसेवा स्त्रीणां धर्मः, तत्रापि भवत्यः सतीः सत्यः । पतिविशेषणं वा । पूर्वजन्मनि ताः पतिव्रताः स्त्रियः स्थिताः, पुरुषभावनया पुरुषा जाताः, भवन्तश्च पुरुषाः विपरीता जाता इति, अग्रेऽपि वैपरीत्यं भविष्यतीति

दिचार्यं गन्तव्यमिति भावः । धर्मस्तत्र, रसस्त्वत्रैवेति । पतीनिति बहुवचनात् धर्माभावश्च । या भवतीनां मध्ये पतिव्रताः ता वा गच्छन्त्विति सर्वासामेवातथात्वे न गन्तव्यमेवेति । न हि पतिव्रताः समायान्ति, लौकिकधर्मपरायणाः । अतो भगवद्वाक्यं रसालत्वात् तदभावमेव सूचयति । किञ्च, वत्सास्तथैव बद्धाः, बालाश्च क्षुधिताः, ते क्रन्दन्ति । अतस्तेषां रोदननिवृत्त्यर्थं तान् पाययत स्तनम्, दुह्यत च गाः । परार्थं च भवतीनां जीवनम्, न स्वार्थम् । अतो दुःखितानां स्थाने सुखाकाङ्क्षिभिर्न गन्तव्यमिति ॥ २२ ॥

व्याख्यार्थ—वन देख लिया कार्य की सिद्धि हो गई है अतः तुम जाओ, भगवान् के इन वचनों का यह भी आशय समझा जाता है कि तुमने वन देखलिया कि ऐसा सुन्दर है, इसलिए ऐसे सुन्दर वन को (छोड़) कर 'मा यात' मत जाओ ।

'मा चिरं' जाने में देरी मत करो अथवा (चिरं मा यात) बहुत समय तक यहां ठहरो, जाओ नहीं, कारण कि कोई भी भगवान् को छोड़कर गोष्ठ (व्रज) में नहीं जाना चाहता है । भगवान् के कहने से यह भी बाहर से प्रकट होता है कि (गोष्ठं यात) व्रज में जाओ क्योंकि वहां गौओं की सेवा भी बड़ेगी, और विशेष यह है कि वहां जाओगी तो तुम्हारा पतिव्रत धर्म भी सिद्ध होगा, वहां जाकर पति सेवा करो, क्योंकि स्त्रियों का धर्म पति सेवा है, उसमें भी तुम पतिव्रताएं हो अथवा 'सतीः' (पतिव्रता) यह पतियों का भी विशेष मान लो, तो पूर्व जन्म में तुम्हारे पति पतिव्रता स्त्रियाँ थीं और तुम उनके 'पति' थीं अन्त समय में उनको पुरुष भाव का स्मरण हुआ, जिससे वे पुरुष रूप से जन्मे हैं तुम उनकी स्त्रियाँ हुई हो । अतः उनकी सेवा करो, और आगे भी इस प्रकार



विपरीतता होगी, इसलिए इस बात का विचार कर, पश्चान् ब्रज में लौटकर जाना, बिना विचार किए मत जाना, यह सोच लेना कि वहां जाने में तो मर्यादा धर्म की प्राप्ति होगी और यहां रहने में रस की प्राप्ति होगी। श्लोक में 'पतीन्' बहुवचन कहा है जिससे वहां जाना अधर्म है क्योंकि 'पति' एक होता है बहुत पतिओं का होना धर्म से विरुद्ध है।

अथवा जो तुममें अपने (आप) को पतिव्रता समझे वे जावें, जो तुम सब वैसी पतिव्रता नहीं हो तो मत जाओ, भगवान् इसका स्पष्ट करते हैं कि जो लौकिक (मर्यादा) धर्म परायण पतिव्रताएं हैं वे तो यहां आवे ही नहीं तुम वैसी नहीं हो, तब तो आई हो, इस प्रकार भगवान् रस से भरे शब्दों से उनको ब्रज में लौट जाने के निषेध की सूचना करते हैं।

और विशेष कहते हैं, कि बछड़े वैसे ही बन्धे हुए हैं एव बालक भूखे हैं वे पुकार रहे हैं, अतः उनका रोदन मिटाने के लिए जाकर स्तन्य (दूध) पिलाओ और गौओं का दोहन करो जिससे बछड़े बन्धन से छूटकर माता का दूध चूखें। तुम्हारा जीवन दूसरों के लिए है अपने लिए नहीं है अतः जिनको सुख की चाहना है उनको दुःखियों के स्थान में नहीं जाना चाहिए ॥ २२ ॥

**आभास—**एवमुक्ते याः स्निग्धदृष्टयो जाताः, ताः प्रत्याह अथवेति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार भगवान् के कहने से जिनके नेत्रों में प्रेम वृद्धि से आँसू आ गए, जिससे उनकी दृष्टि स्निग्ध होगई है, निम्न श्लोक (२३ वां) उनके प्रति कहते हैं—

**श्लोक—**अथवा मदभिस्नेहाद्भवत्यो यन्त्रिताशयाः ।

आगता ह्युपपन्नं तत् प्रीयन्ते मम जन्तवः ॥ २३ ॥

**श्लोकार्थ—**अथवा विशेष स्नेह से आपका अन्तःकरण मेरे में आसक्त हो गया है, जिससे आप मेरे लिए यहां आई हो, तब तो योग्य ही है, क्योंकि प्राणीमात्र मुझसे प्रेम करते हैं ॥ २३ ॥

**सुबोधिनी—**मया वृथैवंते पक्षाः कल्पिताः, वस्तुतस्तु मां द्रष्टुमेवागताः । स्नेहात् सिद्धान्तोऽयं पूर्वपक्षार्थमनूद्यते । निरुक्तो भावो गुणात्मको दोषात्मको वा न फलं प्रयच्छति, लौकिको भवति, अतः अनूद्यते । मयि योऽयमभितः स्नेहः सर्वभावेन तेन कृत्वा यन्त्रितः आशयो यासाम्, तादृश्य-श्चेद्भवत्यः इहागताः, तदुपपन्नमेव । तर्हि को विलम्ब इति चेत्, तत्राह प्रीयन्ते मम जन्तव इति । मम सम्बन्धिनः सर्व एव जन्तवः स्वयमेव

प्रीता भवन्ति । न तु मया किञ्चित्कर्तव्यम् । स्नेह एव मयि, न तु कृतिरिति । ततः साधारण-मिममर्थं ज्ञात्वा प्रतियात । स्थितिपक्षे तु स्पष्ट एवार्थः । तद्यात मेति फलिष्यति । न हि स्नेहादागतः प्रेयमाणोऽपि गच्छति । यन्त्रितो वशीकृतः । अन्तःकरणे अन्याधीने जाते न किञ्चिदवशिष्यते । निष्कपटा च प्रीतिः कर्तव्येत्यु-भयत्र भावः ॥ २३ ॥



**व्याख्यानार्थ—**मैंने इतने पूर्व पक्ष (शङ्काएँ) बूझा ही किए, आप तो मेरे दर्शन के लिए ही आई हैं तो यह सिद्धान्त क्योंकि स्नेह के कारण ही तो आगमन है (वन में भगवान् ने वेणुनाद किया अतः आई अर्थात् भगवान् के स्नेह के कारण आई हैं अन्यथा नहीं) किन्तु यहां उसके विषय में जो पूर्व पक्ष किया गया है वह केवल अनुवाद मात्र समझना चाहिए ।

भगवान् में शुद्ध स्नेहात्मक भाव होना चाहिए यदि वह भाव गुणरूप अथवा दोष रूप उपाधि वाला है, तो वह भाव शुद्ध नहीं होने से फल नहीं देता है क्योंकि वह उपाधिवाला भाव लौकिक भाव हो जाता है । इसलिए उसका (लौकिक भाव का) अनुवाद किया गया है ।

आपका मेरे में जो सर्वात्मभाव सहित स्नेह है जिससे आपका अन्तःकरण मेरी तरफ खिंच पाया है उस कारण से ही, आप यहाँ मेरे पास आई हो वह योग्य ही है । भगवान् के मन में विचार हुआ, कि मेरे इतने कथन पर गोपियाँ कहेंगी जब आप यों समझते हो कि वास्तव में हम स्नेह के कारण आई हैं, तो फिर आप विलम्ब क्यों कर रहे हो ? इसका उत्तर देते हैं कि मैं कुछ नहीं करता हूँ जो कुछ करते हैं वे मेरे सम्बन्धी प्यारे जीव स्वयं ही प्रेम करते हैं जिससे वे प्रसन्न होते हैं, क्योंकि मुझ में स्नेह ही है, क्रिया नहीं है, अर्थात् मैं स्नेहीओं से स्नेह ही करता हूँ क्योंकि मुझ में स्नेह के सिवाय अन्य किसी प्रकार की क्रिया नहीं है । इससे इस साधारण तात्पर्य को समझ कर लौट जाओ । गोपियाँ यहां रहें यह अर्थ तो स्पष्ट ही है । आप नहीं जाओगी, तो २२ वें श्लोक में 'मा यात' यह कहना सार्थक हो जाएगा । और जो स्नेह से आया है उसको यदि लौट जाने के लिए कहा जाए तो भी वह लौटकर नहीं जाएगा, कारण कि स्नेह ने उसको बशीभूत कर लिया है, जब अन्तःकरण दूसरे के (प्रेमी-भगवान्) के आधीन हो जाता है, तब शेष कुछ नहीं रहता है । दोनों तरफ निष्कपट<sup>१</sup> प्रेम करना ही कर्त्तव्य<sup>२</sup> है ॥२३॥

लालूभट्टजी 'योजना' में कहते हैं कि—आप तो स्नेह के कारण मेरे दर्शन के लिए आई हो किन्तु आप कहती नहीं हो कि हम दर्शन के लिए आई हैं, कारण कि आप समझती हैं कि यदि हम यों कहेंगी तो फल की प्राप्ति नहीं होगी, क्योंकि कहा है, कि 'धर्मः क्षरति कीर्तनात्' कहने से धर्म क्षीण हो जाता है वैसे (ही) पाप भी कहने से कम हो जाता है । इस भय से आप चुप हो । (अतः मैं ही आपके आने का वास्तविक कारण प्रकट कर देता हूँ)

गौ० पुरुषोत्तमजी महाराज 'प्रकाश' में कहते हैं कि लौकिक तथा वैदिक छोड़कर स्नेह भाव से भावपूर्वक भगवान् के पास आने पर भी यदि उस भाव में यह भावना है, कि भगवान् हमारी कामनाएँ पूर्ण करेंगे, तो वह भाव गुण रूप उपाधिवाला होता है और यदि उस भाव में यह भावना है, कि यह हमारा जार है अतः हमारी काम पूर्ति करेंगे तो वह भाव दोष रूप उपाधिवाला हो जाता है, इस प्रकार उपाधिवाला होने ने वह भाव लौकिक हो जाता है जिससे फल प्राप्ति नहीं होती है ।

तद्बन्धूनां च कल्याण्यः प्रजानां चानुपोषणम् ॥२४॥

**श्लोकार्थ—**हे कल्याणियों ! स्त्रियों का परम धर्म यही है, कि निष्कपट होकर पति की सेवा करना, तथा उनके वान्धवों की सेवा और बालकों को पालना धर्म है ॥२४॥

तत्राप्यमायया । कापट्ये तु न सेवायां फलम् ।  
अन्ये सर्वे धर्मा अवराः । तद्बन्धूनां स्वशुरादिनाम् ।  
कल्याण्य इति सम्बोधनात् भवतीनां सर्वेऽपि  
सन्तीति ज्ञापितम् । प्रजानां च पुत्रादीनामनु-  
पोषणं अन्नादिदानेन स्तनादिदानेन च । पित्रा-  
दिभिः पोष्यमाणानां स्वतोऽपि पोषणं वा ॥२४॥

व्याख्यार्थ--राजसी का निरूपण कर सात्विकी व्रज भक्तों का निरूपण करते हैं स्वभाव से भगवान् ही जीवों का पति है, उसमें भी जिन जीवों को स्त्री शरीर की प्राप्ति हुई है उनको तो भगवान् ही सेव्य है क्योंकि यदि वे भगवान् की सेवा नहीं करेंगे तो व्यभिचारी बनेंगे अतः वह दोष न लगे इसलिए उनको भगवान् की सेवा करनी योग्य हैं। लौकिक में तो लोकानुसार जिससे विवाह हुआ है, उसको पति मानकर उसकी सेवा करनी चाहिए वह ही स्त्रियों का उत्तम धर्म है, वह सेवा भी कपट रहित करनी चाहिए, यदि कपट से की जाएगी तो उसका कोई फल नहीं होगा। दूसरे सर्व धर्म स्त्री के लिए नीची कक्षा के हैं। वे धर्म बताते हैं पति के सम्बन्धी श्वशुर आदि बान्धवों की सेवा। गोपियों को कल्याणी सम्बोधन (विशेषण) देकर यह बताया है, कि आपके तो पति के सम्बन्धी श्वशुर, जेठ, बालक आदि सब हैं अर्थात् आप भाग्यशाली हो, अतः आपको कल्याणी कहा गया है। प्रजा का पोषण जैसे पिता, पितृव्य<sup>१</sup> आदि करते हैं वैसे (ही) आप (माताओं) को भी अन्नपान देकर और दूध पिलाकर प्रजा तथा पुत्रादिकों का पालन करना चाहिए ॥२४॥

आभास—तथापि सः पतिं समीचीनो न भवतीति चेत्, तत्राह दुःशील इति ।

**आभासार्थ—** यदि पति योग्य न हो तो? उसका उत्तर इस (२५) वे श्लोक में देते हैं।

पतिः स्त्रीभिर्नहातव्यो लोकेऽसुभिरपातकी ॥२५॥

**श्लोकार्थ—**पति दृष्ट स्वभाव वाला, भाग्यहीन, वृद्ध, मूर्ख, रोगी और निर्धन हो

१—काके, या चाचे (पिता का छोटा भाई)



तो भी, जिन स्त्रियों को इस लोक में कीर्ति और परलोक में सुख की इच्छा है, तो उनको इस प्रकार के पति का भी त्याग नहीं करना चाहिए केवल यदि पति पतित धर्म आदि के कारण जाति बहिष्कृत है, तो उस पति का त्याग करे ॥२५॥

**सुबोधिनी**—दुष्टं शील यस्य । द्यूतादिदुर्व्य-  
सनवान् । दुर्भगो दरिद्रः । वृद्धः इन्द्रियविकलः ।  
जडो मूर्खः । रोगी महारोगग्रस्तः । अधनो वा ।  
अधनोऽपि भाग्यवाँश्चेत्, तदा संभावनया स्त्री-  
भिर्न त्यज्यते । एवं षड्दोषयुक्तोऽपि स्त्रीभिर-  
नन्यगतिकाभिः पतिर्न हातव्यः । स्पष्ट एव विरोधः ।

षड्गुणो भगवान्, षड्दोषः स इति । पातकी तु  
हातव्य एव । 'भजेदपतितं पति'मिति वाक्यात् ।  
किञ्च, तत्रापि लोकेप्सुभिः । येषामिह लोके पर-  
लोके च कीर्त्यादिपेक्षा, तैर्न हातव्य एव, अन्यथा  
अपकीर्तिभवेत् ॥२५॥

**व्याख्यानार्थ**—जुवा आदि व्यसन वाले, दरिद्र, वृद्ध (जिसकी इन्द्रियां अशक्त हैं), मूर्ख, रोगी (असाध्य रोग वाला), दीन (गरीब) पति में ये छः दोष हों तो भी उस पति का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि स्त्री का आधार पति ही है । स्त्रियाँ तो निर्धन पति को जड़ भाग्यवान् देखती हैं, तब इसी आशा से, कि धनी बन जाएगा इसका त्याग नहीं करती हैं ।

भगवान् ६ गुणो वाले हैं और पति छः दोषवाला है, यह स्पष्ट विरोध देखने में आता है । शास्त्र कहता है कि 'भजेदपतितं पतिम्' जो पति पतित नहीं है उस पति का त्याग न करे किन्तु उसकी सेवा करे वह कैसा भी हो और जिनको लोक और परलोक में कीर्ति आदि की अपेक्षा है वे तो पति का त्याग न करे । यदि त्याग करेगी तो अपकीर्ति<sup>१</sup> को पाएगी ॥२५॥

अपकीर्ति मरण से भी विशेष दुःखदाई है । 'अपकीर्ति मरणादतिरिच्यते'

**आभास**—ननु कामरसे निविष्टमनसा न धर्मो बाधकः परस्मिन्नेव रसोत्पत्तिरिति, तत्राह अस्वर्ग्यमिति ।

**आभासार्थ**—जो काम-रस लेना चाहती हैं उनके लिए धर्म बाधक नहीं है, क्योंकि पर पुरुष से ही रस की प्राप्ति होती है, इसके उत्तर में निम्न श्लोक कहते हैं ।

**श्लोक**—अस्वर्ग्यमयशस्यं च फल्गु कृच्छं, भयावहम् ।

जुगुप्सितं च सर्वत्र ह्यौपपत्यं कुलस्त्रियः ॥२६॥

**श्लोकार्थ**—कुल की स्त्रियों के लिए जार पुरुष का संग स्वर्ग का नाश करनेवाला



यश को मिटाने वाला, तुच्छ, कष्ट देने वाला, भय देने वाला और सब प्रकार निन्दा कराने वाला है ॥२६॥

**सुबोधिनी**—हे कुलस्त्रियः, औपपत्यं जार-सम्बन्धः तद्रसालमपि बहुदोषग्रस्तम् । तत्रत्यान् षड् दोषानाह । अस्वर्ग्यं परलोकनाशकम् । पूर्व धर्मेण सिद्धोऽपि स्वर्गः तस्मिन् अपगच्छति । किञ्च, इह लोकेऽपि यशो दूरीकरोति । चकारात् नरकोऽपि । नापि तत्र रसभोगो महानित्याह फलिवति । अल्पमेव तत्सुखं क्षणमात्रसाध्यम्, स्वरूपतो महदपि कालतः परिच्छिन्नमपि । कृच्छ्र-मिति । कष्टसाध्यम्, नाल्पेन प्रयासेन सिध्यति ।

अतो बलवदनिष्टानुबन्धि । किञ्च, अनुभवकालेऽपि न रसमुत्पादयति । यतो भयजनकम् । शृङ्गार-विरोधी भयानकरतः । अत एव व्यभिचारशब्द-वाच्यः । मुख्यतया भयानकरसमुत्पादयेत् विशेषतः प्रथमतः । किञ्च, सर्वत्रैव जुगुप्सितम् । सर्वदेशेषु सर्वकालेषु तत्कृत्वा यदि सत्कर्मापि कुर्यात् ततोऽपि जुगुप्सितो भवेत् । धर्मबुद्धिस्तत्र विचिकित्सैव भवति । अतो बहुदोषग्रस्तत्वात् उत्तमाया नैतद्युक्तम् ॥२६॥

**व्याख्यार्थ**—हे कुल की स्त्रियाँ ! आपको समझना चाहिए कि यद्यपि जार से सम्बन्ध रसाल<sup>१</sup> है तो भी उसमें बहुत दोष<sup>२</sup> हैं, उनमें से छः दोषण बताते हैं—

१—परलोक का नाश करनेवाला है, यदि सत्कर्मों से स्वर्ग मिलने वाला हो तो भी इस दोष से स्वर्ग प्राप्ति रुक जाती है ।<sup>३</sup>

२—इस लोक में यश का नाश करता है ।

३—नरक की प्राप्ति कराने वाला है ।

४—क्षण मात्र सुख देने वाला है—(यद्यपि पर पुरुष से भोग महान् रस देता है किन्तु वह भोग पूर्णतया नहीं हो सकता है क्योंकि समय की सीमा है इसलिए पूर्ण रस की प्राप्ति नहीं होती है)

५—कष्ट से मिलता है, अर्थात् स्वल्प<sup>४</sup> प्रयास करने से उसकी (जार से भोग करने की) प्राप्ति नहीं होती है और अन्त में उससे बहुत खराबियाँ उत्पन्न होती है ।

६—निन्दनीय, निन्दा कराने लायक है ।

इस प्रकार ६ दोष वाला तो है किन्तु साथ में अनुभव (भोग) के समय में भी रस उत्पन्न नहीं कर सकता है, क्योंकि उस समय दोनों के अन्तःकरण में भय बना रहता है, भयानक रस, शृङ्गार रस का विरोधी है अर्थात् जिस समय भय होता है उस समय आनन्द की प्राप्ति नहीं होती है अतः इसको (जार से किए हुए भोग को) वास्तविक भयानक रस माना जाता है जिससे उसको 'व्यभिचार' कहा जाता है । यह जार भोग कर्म, प्रारम्भ से ही भय उत्पन्न करता है (जैसे कि दोनों नायक (पुरुष) और नायिका (स्त्री) के मन में यह भय रहता है कि कोई देख न ले, किसीको इस बात का पता न पड़ जाए, हमारी निन्दा न हो जाए आदि भय बना रहता है) जिससे भोग समय में भी डर के कारण स्वल्प काल लेने से, रस



की पूर्ण प्राप्ति नहीं होती है इत्यादि कारणों से यह रस आनन्द देने वाला शृंगार रस नहीं है, किन्तु वास्तविक भयदाई भयानक रस है और विशेष में यह जार कर्म सर्वत्र निन्दनीय है । कोई पुरुष श्रेष्ठ धर्म दानादि कर्म करने वाला है किन्तु यदि वह सर्वथा सदैव व्यभिचारी (जारकर्म करने वाला) है तो उसका यश न होकर निन्दा ही होती है ।

इस कर्म को धर्म कहना यथार्थ नहीं है । इस प्रकार विचार पूर्वक देखने से, यह सिद्ध होता है कि इस कर्म में बहुत दोष हैं अतः उत्तम कुल वाली स्त्रियों को यह व्यभिचार कर्म करना योग्य नहीं है ॥२६॥

• आभास—एवं सगुणाः प्रबोध्य गुणातीताः प्रबोधयति श्रवणादिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उपरोक्त श्लोक से सगुणों को उपदेश देकर भगवान् अब निर्गुणों को निम्न श्लोक से उपदेश देते हैं—

श्लोक—श्रवणाद्दर्शनाद्भ्यानान्मयि भावोऽनुकीर्तनात् ।

न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान् ॥२७॥

श्लोकार्थ—जैसा भाव मुझ में श्रवण दर्शन, ध्यान और कीर्तन से रहता है वैसा भाव पास रहने से नहीं होता है इस कारण से तुम घर लौट जाओ और वहाँ परोक्ष में भक्ति करना ॥२७॥

सुबोधिनी—ननु लौकिकदृष्टावेते दोषाः, न तु भक्तिमार्गे, परमार्थदृष्टौ वा, भवांस्तु पुरुषोत्तम इति चेत्, तत्राह श्रवणादिति । न हि भक्तिमार्गे सम्बन्ध एव कर्तव्य इति शास्त्रमस्ति । भक्तिर्हि नवविधा श्रवणादिरूपा । प्रेमरूपा च । स्वतन्त्र-पक्षे तु सुतरामेव नापेक्षा । स्नेहस्तु भगवद्विषयकः अलौकिकः । स एव सर्वाधिको भवति । लौकिकस्तु कामशेषतां प्राप्तः हीन एव भवति । तस्यालौकिकस्य कारणानि त्रीणि । श्रवणं दर्शनं ध्यानमिति । आदौ श्रवणं, भगवद्वाचकानां पद-वाक्यानां भगवति शक्तितात्पर्यावधारणम् । तथा सति विषयो व्यावर्तितो भवति, अन्यथा अन्य-

त्रापि स्नेहः स्यात् । तदनु दर्शनं, तदर्थस्यानुभवः कृपया भगवत्साक्षात्कारो वा भगवत्कामार्थं नारदादेरिव । ततो ध्यानं, योगेन चिन्तनम् । एतैरेव मयि भावो भवति । स चोत्पन्नो भावः अनुकीर्तनात् स्थिरो भवति । यथायमुपायः शास्त्रीयः साधोयान्, न तथा निरन्तरसानिध्येन जातो लौकिकः । स हि कामशेष इत्यवोचाम । अतो गृहान् प्रतियात । अतः परमार्थविचारेऽपि न स्थातव्यमिति । तथेत्यत्र प्रकार एव निषिद्धः, न स्वरूपतो महत्त्वं निषिद्धम् । गृहस्थितानां च विहितं भवतीति गृहगमनमाज्ञापितम् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—आपने जो दोष बताए हैं वे लौकिक दृष्टि में हैं किन्तु भक्ति मार्ग व परमार्थ की दृष्टि से देखा जाए तो ये दोष नहीं हैं क्योंकि आप तो 'पुरुषोत्तम' हैं, इस प्रकार गोपियाँ कहें तो



उसके उत्तर में कहते हैं कि—शास्त्र में यों नहीं कहा है, कि भक्ति मार्ग में सम्बन्ध ही करना चाहिए। भक्ति तो श्रवण आदि नव प्रकार (श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, संख्य और आत्म समर्पण) की है और दसवीं प्रेम रूपा है। स्वतन्त्र (प्रेम मार्ग के) पक्ष में तो सम्बन्ध की निषट<sup>१</sup> अपेक्षा नहीं है, भगवान् में जो स्नेह होता है वह तो अलौकिक है। वह अलौकिक ही सब से उत्तम है, लौकिक संबन्ध तो काम का अंग बनने से हीन ही है। उस अलौकिक के तीन कारण हैं,—  
१—श्रवण, २—दर्शन और ३—ध्यान।

१—श्रवण—जो पद अथवा वाक्य भगवान् का वर्णन करते हैं, उनकी (पद तथा वाक्यों की) शक्ति वा तात्पर्य भगवान् में ही है, ऐसी धारणा करने को श्रवण कहा जाता है जब इस प्रकार का श्रवण किया जाता है तब लौकिक पदार्थ तथा विषय निवृत्त हो जाते हैं भगवान् ही विषय आदि बन जाते हैं, यदि वैसा श्रवण नहीं हो, तो भगवान् के सिवाय अन्य लौकिक पदार्थों में भी स्नेह रहता है। अतः इस प्रकार श्रवण करना चाहिए।

२—दर्शन—जो श्रवण किया है उसके अर्थ<sup>२</sup> को अन्तःकरण में अनुभव करना दर्शन है अथवा जैसे भगवान् ने कृपा कर नारदजी को दर्शन देकर अपने में स्नेह कराया था, इसी प्रकार जिस कृपा-पात्र जीव को, भगवान् दर्शन कराके, अपने में स्नेह उत्पन्न कराते हैं वह साक्षात्कार दर्शन है।

३—ध्यान—योग की रीति से मन को स्थिर कर भगवान् के चिन्तन करने को ध्यान कहा जाता है।

इस प्रकार इन तीन श्रवण, दर्शन और ध्यान से ही मुक्त में भाव<sup>३</sup> उत्पन्न होता है, वह उत्पन्न हुआ भाव अनुकीर्तन<sup>४</sup> से दृढ होता है।

यह शास्त्र में कहा हुआ उपाय जैसा उत्तम है भगवान् के पास निरन्तर रहना वह उपाय वैसा श्रेष्ठ नहीं है, क्योंकि वह लौकिक स्नेह है और वह (लौकिक स्नेह) काम रूप बन जाता है अतः उसको श्रेष्ठ नहीं कहा जा सकता है। यह हमने पहले कह दिया है। इस सिद्धान्त को, समझकर तुम घर लौट जाओ। अतः परमार्थ विचार करने पर भी यहां ठहरना नहीं चाहिए।

श्लोक में दिए हुए 'तथा' शब्द का इतना ही तात्पर्य है, कि लौकिक स्नेह नहीं करना चाहिए, स्नेह स्वरूप से महान् है, उसका निषेध नहीं किया है। घर में रहने वाले शास्त्रीय विहित भक्ति कर सकते हैं इसीलिए भगवान् ने गोपियों को घर जाने की आज्ञा दी है।

(घर जाने की आज्ञा देकर यह कहा, कि वहां विहित भक्ति (मर्यादा भक्ति) कर सकेंगी स्वतन्त्र (प्रेमलक्षणा) भक्ति तो वहां न हो सकेगी, अतः जिनको स्वतन्त्र भक्ति करनी है वे घर न जावें, इस गूढाभिसन्धि<sup>५</sup> को आचार्य श्री ने स्पष्ट कर दिया है) ॥२७॥

१—विलकुल, २—तात्पर्य वा भाव, ३—रति, स्नेह, ४—बार बार करना,

५—गूढ़ आशय,



आभास—एवं तासां गृहगमने बोधिते तत्परित्यागानन्तरं पुनर्ग्रहणं वांताशनमिव मन्यमानाः, भगवद्वाक्यं चानुल्लङ्घयमिति विचार्य, अतिविरोधे उभयानुरोधिशरीरपरित्यागः कर्तव्य इति निश्चित्य, तत्रापि भगवत्सम्बन्धानन्दाभावादितिकर्तव्यतामूढा जाता इत्याह इति विप्रियमिति ।

आभासार्थ—भगवान् की इस प्रकार की आज्ञा सुनकर गोपियाँ कर्तव्य विमूढ़ हो गई । हमको अब क्या करना चाहिए जिसको समझ न सकी । गोपियाँ विचार करने लगीं कि हम घर आदि छोड़ आई हैं, अब फिर घर जावें यह तो वमन<sup>१</sup> कर फिर खाने के समान है और यहाँ भगवान् की आज्ञा भी उल्लङ्घन कैसे की जाए, दोनों तरफ कठिनाई है, तो शरीर त्याग दें ? यह किया जाएगा तो भगवत्सम्बन्ध से प्राप्त आनन्द नहीं मिलेगा, इसी चिन्ता में मग्न हो गई ।

श्रीशुक उवाच

श्लोक—इति विप्रियमाकर्ण्य गोप्यो गोविन्दभाषितम् ।

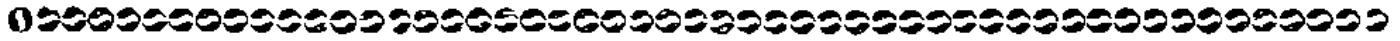
विषण्णा भग्नसङ्कल्पाश्चिन्तामापुर्दुरत्ययाम् ॥ २८ ॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि—गोपियाँ श्रीकृष्ण के वैसे विप्रिय<sup>२</sup> वचन सुन कर विषाद<sup>३</sup> को प्राप्त हुई, संकल्प<sup>४</sup> नष्ट हो जाने से अपार चिन्ता में पड़ गई ॥ २८ ॥

सुबोधिनी—विगतं प्रियं यस्मादिति, उभयथापि प्रियाभावः । किं परीक्षार्थमाह, आहोस्विदभिप्रेत तएवायमर्थ इति । आ समन्तात् श्रुत्वा, वाक्यतात्पर्यं निर्धार्य, सत्यं गमनमेव वदतीति निश्चित्य, अनभिप्रेतत्वेऽपि तत्प्रसवहेतुमलभमानाः, गोप्यो नैपुण्यरहिताः, गोविन्दस्य स्वामिनः देवभाषितत्वेन अनृतशङ्कारहितमीश्वरवाक्याच्च निर्धाररहित—

माकर्ण्य, विषण्णा जाताः, मनसि परमं विषादं प्राप्ताः । तत्र हेतुर्भग्नसङ्कल्पा इति । तदा परां चिन्तां प्रापुः । कथमस्मद्विचारितं भगवद्वाक्यं चकमुखं भवतीति । सा चिन्ता त्रिलोक्यं व्याप्य चेदं जन्मजन्मान्तराणि च निर्द्वारिमलभमाना दुरत्यया पयंवसानरहिता जाता ॥ २८ ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के शब्द और उसका अर्थ दोनों गोपियों को कड़े लगे, मन में विचार करने लगीं कि हमारी परीक्षा लेने के लिए वैसे शब्द कहे हैं वा आपकी हमको घर लौटाने की इच्छा है । भगवान् के शब्द पूर्ण रीति से सुनकर उस वाक्य के तात्पर्य का निर्णय कर कहने लगीं, कि भगवान् हमको सचमुच जाने को ही कहते हैं, भगवान् के कहने का यह (हम घर लौट जावें) तात्पर्य न भी हो, किन्तु वैसे शब्द क्यों कहे उसका क्या कारण है जिसको गोपीजन समझ न सकी क्योंकि भोली



हैं हमारे स्वामी गोविन्द की वाणी देव भाषा है अतः उसमें अनृत<sup>१</sup> की शङ्का भी नहीं की जा सकती है और ईश्वर वाक्य हैं इस पर निर्णय देना भी अयोग्य है, अतः गोपियाँ मन में अत्यन्त विषाद को प्राप्त हुई। विषाद का विशेष कारण यह था कि उनको ( गोपियों को ) अपने मन के सङ्कल्प नष्ट हो गए देखने लगे। तब अत्यन्त चिन्ता को प्राप्त हुई।

गोपियाँ सोचने लगी कि भगवत् वाक्य सुनकर हम जो उनका तात्पर्य समझ रही हैं और भगवान् ने वे वाक्य किस आशय से कहे हैं यह भी समझ में आना कठिन है, अतः इसका निर्वारण<sup>२</sup> जन्मजन्मान्तर में भी मिलना दुर्लभ है जिससे उनकी चिन्ता इतनी बढ़ गई जिसका अन्त ही नहीं है ॥ २८ ॥

**आभास—**ततः चिन्तया यज्जात तदाह कृत्वेति ।

**शाभासार्थ—**गोपियों की चिन्ता से जो दशा हुई उसका वर्णन निम्न श्लोकों में करते हैं—

**श्लोक—**कृत्वा मुखान्यवशुचः श्वसनेन शुष्यद्-  
बिम्बाधराणि चरणेन भुवं लिखन्त्यः ।  
अस्त्ररूपात्तमषिभिः कुचकुङ्कुमानि  
तस्थुर्मृजन्त्य उद्दुःखभराः स्म तूष्णीम् ॥ २९ ॥

**श्लोकार्थ—**शोक के निःश्वास से जिनके बिम्ब फल जैसे अधर सूख रहे हैं वैसे मुखों को नीचे कर चरणों के अंगूठों से पृथ्वी को लिखती हुई काजलयुक्त अश्रुपात से स्तनों के केसर को धोती हुई दुःखी गोपियाँ मौनकर खड़ी रही ॥ २९ ॥

**सुबोधिनी—**चिन्तया प्रथमं मूर्छिता जाताः । ततः मुखान्यव अवाङ्मुखानि कृत्वा, कमपि स्व-मुखं न प्रदर्शयिष्याम इति अवाङ्मुखानि कृतवत्यः । अवगताः शुचः याभिस्ताः, शोकसम्बन्धिन्यो वा जाताः । शुचः श्वसनेन शोकसम्बन्धिना श्वास-वायुना शुष्यन्ति बिम्बवदधराणि येषाम् । तादृ-शानि मुखानि कृत्वा, चरणेन च भुवं लिखन्त्यः, तथैवावस्था भवतीति । भूमिविवरमिव प्रार्थय-

न्त्यः, उपात्तमषिभिः अस्त्रैः कुचकुङ्कुमानि मृज-न्त्यः, तूष्णीं तस्थुः । मुखस्य अवाक्त्वेन भक्ति-तिरोभावः । श्वसनेन प्राणपीडा, शोकेनान्तःकरणस्य, बिम्बाधरशोषेण कामरसस्य, पदा भूमिलेखनेन शरीरस्य, अस्त्रैरिन्द्रियाणाम्, कुङ्कुमाभावेन कान्तेः, दुःखभरेण आनन्दस्य, तूष्णीं स्थित्या चैतन्यस्य तिरोभावो निरूपितः । केवलं स्थाणुवत् स्थिताः ॥ २९ ॥

व्याख्यार्थ—पहले चिन्ता से मूर्छित हो गई, पश्चात् इसलिए मुख नीचे कर लिए कि किसीको भी अपना मुख दिखाने जैसी हम नहीं रही हैं। भगवान् के वचनों से जिन्होंने शोक प्राप्त किया है वैसी गोपियाँ शोकवाली होगईं, उनके जो श्वास चलते थे वे (श्वास) शोक से मिने होने से ताप वाले थे जिनसे गोपियों के विम्ब फल जैसे लाल स्निग्ध भी अधर सूख रहे थे और इससे वे (गोपियाँ) चरणों से पृथ्वी को लिख रही थीं, वैसी दशा में इस प्रकार की अवस्था हो जाती है। गोपियाँ इसी प्रकार पैरों से पृथ्वी को लिख रही थी मानो पृथ्वी को प्रार्थना करती हैं कि आप हमको रहने के लिए कोई विवर दो जिसमें हम छिप जाएँ क्योंकि अब हम किसीको भी मुख दिखाने जैसी नहीं रही हैं।

काले अश्रु बिन्दुओं से स्तनों की केसर को धोती हुई चुपचाप खड़ी रहीं।

मुख नीचे करने से भक्ति का तिरोभाव हुआ, (दिखाया) ठंडी श्वास लेने से प्राणों की पीड़ा प्रदर्शित की, शोक से अन्तःकरण का दुःख दिखाया, विम्ब समान लाल तथा स्निग्ध अधर शुष्क हो जाने से कामरस का अभाव दिखलाया, पादों से भूमि खनन करने से शरीर की पीड़ा बताई आँसु बहाने से इन्द्रियों का दर्द प्रकट किया, केसर धुप जाने से कान्ति का तिरोहित होना बताया, शोक से आनन्द का तिरोभाव बताया और मौन धारण करने से बता दिया कि हम में चैतन्य भी नहीं है। केवल स्थाणु के समान खड़ी रही है ॥२६॥

आभास—एवमपि स्थितौ तूष्णीं स्थितं भगवन्तमालक्ष्य किञ्चिद्विज्ञापयामासुरित्याह प्रेष्टमिति ।

आभासार्थ—गोपियाँ शोकाकुल हो नीचे मुख कर, मौन धारण कर शान्त रही, उनकी यह दशा देखकर भी जब भगवान् ने कुछ भी न कहा तब वे कुछ प्रार्थना करने लगीं जिसका वर्णन शुकदेवजी इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक—प्रेष्ठं प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं

कृष्णं तदर्थविनिवर्तितसर्वकामाः ।

नेत्रे विमृज्य रुदितोपहृते स्म किञ्चित्

संरम्भगद्गदगिरोऽब्रुवतानुरक्ताः ॥ ३० ॥

श्लोकार्थ—जिसके लिए सर्व कामनाओं का त्याग किया है वैसे अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को बिना प्रेम वालों के समान बोलते देख, रोने से फूली हुई आँखों को पोंछ कर, उनको गद्गद् वाणी से रोष के साथ कुछ प्रार्थना करने लगीं ॥३०॥



सुबोधिनी—भाषणं पूर्वोक्तमेव । अथवा । तस्यामप्यवस्थाया किमिति रोदनं क्रियते, स्वस्था भवत, रूहे गच्छतेत्येव वदति, परं हसन्मुखः, तदा तासां हृदये वाक्यामृतानि प्रविष्टानि सजातीयानि वाक्यान्युत्पादितवन्ति, तदा भगवदुद्बोधिता एव ताः भगवद्वाक्यानि पूर्वपक्षयितुमारेभिर इत्याह प्रेष्टमिति । प्रेष्ठो भवत्येव । स्वसामग्र्या तथा सम्पादितत्वात्, परं वदत्यन्यथा, तथाप्यप्रियमिव प्रतिभाषणमिति नोक्तम् । न हि कदाचिदपि भगवानप्रियवद्भवति, किन्तु प्रियो भवति, इतरोऽपि भवति, सर्वभवनसामर्थ्यात् । इतरत्वे न प्रियत्वं बाध्यते । यथा जगज्जगदतिरिक्तरूपश्च तदाह प्रियेतरमिव प्रतिभाषणमिति । यः प्रियोऽशः तं न तिरोधारयति । किन्तु वाक्यं न तेन रूपेण वदति, किन्तु रूपान्तरेण, तदा तेन सह वादः कर्तुं शक्य इति । न हि फल क्वचित्साधनं भवति, मा वृणुतेति वा वदति, परं वलादपि प्रतिबन्धनिराकरणं कृत्वा स ग्राह्य एव । तदाह कृष्णं सदानन्दमिति । ननु कोऽयं

निबन्धः, स एव काम्य इति, महाश्वेत् मन्यते, तदा अल्पतरा अपि काम्या इति, तत्राह तदर्थविनिवर्तितसर्वकामा इति । तदर्थं भगवदर्थं विशेषेण निवर्तिताः सर्वे कामा याभिः । अयमेव काम्य इति निश्चित्य पूर्वमेव सर्वे कामास्त्यक्ताः । 'काममयश्चायं पुरुषः' । यदि त्यक्तोऽपि गृह्येत, तदा भगवदुक्तमेव गृह कथं न गृह्येत । तस्मादयमेव कामः अवशिष्यते । स चेन्न भवेत्, स्वरूपहानिरेवेति निश्चित्य, फले मानमकृत्वा दृढीभूय, रुदितोपहृते नेत्रे विमृज्य, यथास्थानं सर्वं प्रापयित्वा, किञ्चित्संरम्भेण, वादार्थमुद्यमः संरम्भः । भगवान् हि वाक्येन निराकरोति, न तु स्वरूपतः । वाक्यं तु निराकार्यमिति तदर्थं संरम्भः । सर्वोऽप्यन्तं गत्वा परावर्तते, परं संरम्भेण गृह्यता गीर्घासाम् । वर्णानां न स्फुटनिर्गमनम्, ईश्वरवाक्यनिराकरणे यतो वाणी विभेति । एतासां तु न भयम् । यतः अनुरक्ताः । रागो हि भयप्रतिपक्षः यत्र रागः स्वल्पोऽपि, न तत्र भयम् । अतः अब्रुवत उक्तवत्यः ॥ ३० ॥

व्याख्यानार्थः—श्रीकृष्ण ने जो पहले शब्द कहे हैं वे ही शब्द इस दशा में भी कह रहे हैं कि 'तुम रुदन क्यों कर रही हो' ? स्वस्थ हो जाओ और घर जाओ, किन्तु कहते हुए हंस रहे हैं जिससे (हंसने से) वे वचन अमृत जैसे होकर (गोपियों के) हृदय में प्रविष्ट हुए, तब उन्होंने भी वैसे ही वाक्य कहने के लिए बनाए और भगवान् द्वारा उद्बोधित<sup>१</sup> उन्होंने (गोपियों ने) भगवान् के कहे हुए वाक्यों को पूर्वपक्ष बना दिया अर्थात् भगवान् के कहे हुए वे वाक्य सिद्धान्त रूप से नहीं हैं, क्योंकि 'प्रेष्ठ' हैं । प्रियतम हैं इसीलिए सर्व सामग्री (चन्द्र, मन, पुष्प, फल आदि) आपने ही नवीन उत्पन्न की है । यद्यपि अन्य प्रकार से<sup>२</sup> बोलते हैं किन्तु स्वयं अप्रिय नहीं है, भगवान् कभी भी अप्रिय तो नहीं हो सकते हैं प्रिय ही बने रहते हैं, साथ में इतर<sup>३</sup> भी हो जाते हैं कारण कि आप सर्व भवन सामर्थ्यवान् हैं । इतर<sup>३</sup> होते हैं तो भी उनके प्रियत्व में किसी प्रकार बाधा नहीं आती है । जैसे आप जगत् रूप (आधि-भौतिक-सत्त्व) हैं उस रूप से अन्य सच्चिदानन्द रूप भी उस समय ही हैं, जगद् रूप उस सच्चिदानन्द रूप में बाधक नहीं होते हैं । वैसे ही यहां इतर भी बाधक नहीं है, इसलिए शुकदेवजी ने कहा है कि 'प्रियेतरमिव प्रतिभाषमाणं' भगवान् अपने प्रिय स्वरूप का तिरोधान नहीं करते हैं किन्तु जो कुछ कहते हैं जिससे समझ में आता जाता है कि ये शब्द उस प्रिय फलात्मक स्वरूप से न कहकर इतर स्वरूप से कह रहे हैं, अतः इस इतर<sup>४</sup> स्वरूप से तो वाद किया जा सकता है ।





फल कभी साधन नहीं हो सकता है, 'मुझे वरो' वैसा भी वह (फल) नहीं कहते हैं, अतः हमको उस फल रूप की प्राप्ति में जो प्रतिबन्ध है उनका निराकरण<sup>१</sup> कर उसको प्राप्त ही करना है। यदि कहा जाए कि तुम इसको प्राप्त करने के लिए इतना आग्रह क्यों कर रही हो? इसके उत्तर में कहती हैं कि वह 'कृष्ण' सदा आनन्द स्वरूप है, आनन्द प्राप्ति के लिए तो आग्रह करना ही चाहिए। यदि कहो कि वे महान् हैं मानने नहीं इसलिए किन्हीं छोटों की कामना करो, इसके उत्तर में कहती हैं कि छोटों की कामना करो, यह कहना अब निरर्थक<sup>२</sup> है कारण कि हमने छोटों की कामनाएँ जो सिद्ध थीं उन सब कामनाओं का त्याग कर एक कृष्ण की ही दृढ़ कामना की है 'सब जाय कृष्ण पाय' यह निश्चित मत बना लिया है कारण कि भगवती श्रुति 'काममयश्चायं पुरुषः' कृष्ण के लिए ही कहती है अतः हमने कृष्ण के पाने के लिए जब सर्वस्व का त्याग किया है तो अब छोटों की कामना हम कैसे कर सकते हैं, यदि घर लौट जाना होता तो कृष्ण के कहने से घर चली जातीं। किन्तु हमने जो कृष्ण प्राप्ति का निश्चय किया है उससे अभी हटेंगी नहीं। हमारे अन्तःकरण में भगवत्सम्बन्धी काम के सिवाय कुछ कामना नहीं है, यदि भगवद्विषयक काम सिद्ध न हुआ तो 'स्वरूप की ही हानि हुई, इस प्रकार निश्चय कर, फल प्राप्ति के लिए मान नहीं करना चाहिए। वैसा दृढ़ संकल्प कर रोने से अश्रुपूर्ण नेत्रों को पोंछ के, सब की पूर्ण व्यवस्था कर कुछ क्रोधपूर्वक वाद करने के लिए तैयार हुई। गोपीजनों ने समझ लिया कि भगवान् जो कुछ कह रहे हैं वह स्वरूप से नहीं, किन्तु केवल वाणी से कहते हैं, अतः जो वाणी से कहा गया है उसका खण्डन करना ही चाहिए, जिसके लिए गोपीजन प्रयत्न करने लगे, बहुत कर के लोक में मनुष्य उपाय कर अन्त तक पहुँच लौट आते हैं, किन्तु ये क्रोध के आवेश से स्पष्ट न बोल सकीं अर्थात् गदगद् वाणी होगई, क्रोध के सिवाय वाणी के अस्पष्ट होने का दूसरा कारण यह भी है कि वाणी को भगवान् के वचनों के निराकरण<sup>३</sup> करने में भय होता था किन्तु गोपीजनों को तो भय नहीं है क्योंकि इनका भगवान् में अनुराग<sup>४</sup> है, प्रेम भय का विधातक<sup>५</sup> है, जहाँ स्वल्प भी प्रेम है वहाँ भय नहीं होता है अतः अनुरक्त<sup>६</sup> गोपियाँ कहने लगीं ॥ ३० ॥

यहाँ तो एक ही स्वरूप देखने में आते हैं दूसरे स्वरूप से यों कहते हैं यह शुकदेवजी कैसे कहते हैं? इसके उत्तर में कहते हैं कि कृष्ण ने पहले 'प्रियं किं करवाणिवः' आपका क्या प्रिय करूँ? वैसा कहकर जो पुनः अप्रिय वाक्य कहे हैं वे प्रिय प्रेष्ठ स्वरूप के नहीं हैं अतः शुकदेवजी ने 'इतर' शब्द दिया है, प्रकाश का सार। (मर्यादा स्वरूप से)

**कारिका—वाक्यानां वाधवाक्यानि तावन्ति प्रार्थनाधिका ।**

**एकादशविधास्तेन तासां वाचो जयन्ति हि ॥ ३१ ॥**

**कारिकार्थ—भगवान् के गोपियों को दिए हुए उपदेश के वाक्य दश हैं उन दशों**

१—नाश, २—बिना अर्थ वाला-फिजूल, ३—खण्डन, ४—प्रेम

५—नाश करने वाला, ६—प्रेमवाली



को बाध<sup>१</sup> करने वाले गोपियों के भी उतने (दश) ही हैं, एक प्रार्थना का विशेष है जिससे गोपियों के वाक्यों की जय<sup>२</sup> है ॥१॥

**आभास—**यद्भगवता प्रथममुक्तं 'स्वागतं वो महाभागा' इति, यद्यपि भगवता वयं स्तुताः, तथापि प्रेषणाभिप्रायेण, न तु स्वस्मिन्नागता इति । तथा सति नेयं स्तुतिः, किन्त्वतिक्रूरं वचनम्, अनिष्टपर्यवसानात् । नन्वशक्ये किं कर्तव्यम्, तत्राह मैवं विभो इति ।

**आभासार्थ—**गोपियाँ कहने लगीं, कि जब हम आईं तब भगवान् ने हमारे आने का स्वागत करते हुए जो कहा कि 'स्वागतं वो महाभागाः' है बड़भागिनिओं ! आप भले आईं । यह हमको घर लौट जाने के अभिप्राय से भगवान् ने कहा था न कि 'आप मेरे पास आई हैं' इस वास्ते कहा था ।

ऐसा आशय प्रकट होने पर, समझा जा सकता है कि वह कहना हमारी स्तुती नहीं थी किन्तु हमारे लिए वे वचन अति क्रूर<sup>३</sup> थे क्योंकि उनका फल अनिष्ट निकला है—यदि आप (कृष्ण) कह दो कि 'मैं क्या करूँ' जो आप चाहती हैं वह अशक्य<sup>४</sup> है तो हम क्या करें ?

यदि भगवान् ! आप यों कहते हैं तो हमारी प्रार्थना सुनो ।

श्रीगोप्य ऊचुः—

**श्लोक—**मैवं विभोर्हति भवान् गदितुं नृशंसं  
संत्यज्य सर्वविषयांस्तव पादमूलम् ।  
प्राप्ता भजस्व दुरवग्रह मा त्यजास्मान्  
देवो यथादिपुरुषो भजते मुमुक्षून् ॥ ३१ ॥

**श्लोकार्थ—**हे विभु ! आपको वैसे क्रूर वचन नहीं कहने चाहिए ? हम सर्व प्रकार से सर्व विषयों को छोड़कर, आपके चरणमूल में आई हैं, हे दुराग्रही ! आप हमको छोड़ो मत आपके पास प्राप्त हुई हमको वैसे भजो जैसे आदि पुरुष देव मुमुक्षुओं<sup>५</sup> को भजता है ॥ ३१ ॥

**सुबोधिनी—**भवान् सर्वमेव कर्तुं समर्थः । समर्थश्चेदन्यथा वदेत्, नृशंसमेव भवति, दयायां विद्यमानायां न वदेदिति । यच्च भगवतोक्तं । 'व्रजस्यानामय' मिति, तदस्माकं नोद्देश्यम्, यतः सर्वविषयानेव संत्यज्य तव पादमूलं प्राप्ताः । अनेन त्यक्तार्थपरिग्रहः अनुचितः । नापि जारत्वेन

समागतमिति निरूपितम् । एकादशेन्द्रियाणामपि विषयास्त्यक्ताः सवासनाः । तत्र विनिगमकं तव पादमूलं प्राप्ता इति । अन्यथा पादमूलप्राप्तिरेव न स्यात् । यदुक्तं 'ब्रूतागमनकारण' मिति, तत्राहुः भजस्वेति । अन्यत् कर्तव्यमिति चेत्, तत्राहुः हे दुरवग्रहेति । दुष्टोऽयमवग्रहः आग्रहः यद्भजनं न कर्तव्यम्, अन्यत्कर्तव्यमिति । यथा जीवानाम् । ते हि सर्वे कर्तुं वाञ्छन्ति, न भगवद्भजनम् । यथायमाग्रहो जीवानां दुष्टः, तथात्रापि भवितुमर्हति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति तु नास्ति । यदि तदभिप्रायेणैव तथा, तदा मां त्यजास्मान् । अस्माभिर्न त्यज्यत इति । एतच्च भजनं न विषयवत्, किन्तु प्रकारान्तरेणेति विशेषतो वक्तुमशक्ताः दृष्टान्तेनाहुः देवो यथेति । देवो हि सर्वानेव भजते, अन्यथा शास्त्रं व्यर्थं स्यात् । तत्राप्यादिपुरुषो देवः । पूर्वकाण्डेऽपि भजनं सार्थकम्, सुतरां उत्तरकाण्डे । आदिपुरुषस्तु सेव्य एव भवति, देवश्च । न हि देवभजनं व्यभिचारजनकं भवति । पुरुषान्तरभजनेऽपि प्रथमभर्ता । विवाहितः अभ-

जनीयो भवति । अनङ्गोकारस्तूचितः, न त्वभजनम् । एतेन स यथा स्वातिरिक्तभजनं न सहते, तन्नित्यपूर्वकमेव स्वभजनं संपाद्य स्वयं भजते, तथा त्वयापि कार्यम् । अतस्तत्र प्रेषणं तवाप्यनुचितमिति ज्ञाप्यते । किञ्च, यथा मुमुक्षून् भजते भगवान् । आत्मीयत्वेन परिगृह्णाति, आत्मतया स्फुरति, स्वानन्दं तेभ्यः प्रयच्छति । 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेः । 'स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हो'ति न्यायेन भगवान् तदर्थमात्मानं प्रकटीकरोतीति मुमुक्षून् भजत इत्युक्तम् । अन्यथा मुमुक्षव एव भगवन्तं भजन्ते, न तु भगवान्, अतः फलद्वारा भजनम् । यथा तेषां पुनः पूर्वावस्थां न सम्पादयसि, सततं स्वस्मिन्नेव स्थापयसि, तथा अस्मदर्थमाविर्भूय स्वानन्देन वयं योजनीया इति एतत्कर्तव्यमित्यर्थः । ( एतेन प्रार्थनया सकृदङ्गीकृत्य तुष्णींभावपक्षो निरस्तः । अग्रे गृहगमनाज्ञापनगृहस्थितिसम्पादजादिकं तु रसपोषायैव, न तु गृहार्थमिति ज्ञेयम् ) ॥ ३१ ॥

**व्याख्यानार्थः—**आप सब कुछ करने में समर्थ<sup>१</sup> हैं, समर्थ होकर भी यदि कोई कहे कि हम क्या करें, यह कार्य करना (होना) कठिन है तो यह उसका कहना दया रहित<sup>२</sup> है, जिसमें दया विद्यमान होती है वह वैसे क्रूर वचन नहीं कह सकता है । और जो आपने पूछा कि वज्र में तो सर्व कुशल है न ? तो उससे हमारा कोई सम्बन्ध ही नहीं है क्योंकि हम सब विषयों (वज्र का सर्व प्रकार से सम्बन्ध) को त्याग कर आपके चरण मूल में प्राप्त हुई हैं, विषयों के त्याग के बिना आपके चरणों की प्राप्ति नहीं होती है । इसलिए जिसका त्याग किया उसका पुनः ग्रहण करना योग्य नहीं है, यों भी आप मत समझना कि हम आपके पास जार भाव से (अर्थात् काम विषय भोगने के लिए) आई हैं क्योंकि जो वासना सहित सर्व इन्द्रियों के विषयों को त्यागते हैं उन को कामभोग की इच्छा भी नहीं रहती है उसका प्रमाण यह है, कि हम आपके चरण में प्राप्त हुई हैं । आपने हमसे आने का कारण पूछा है ? इसका उत्तर यह है कि 'भजस्व' आप हमको भजो, यदि कहो कि भजन तो हम नहीं करेंगे दूसरा कोई कर्त्तव्य कहो तो वह किया जाए, इसके उत्तर में गोपियाँ आवेश में आकर कहती हैं कि ऐसा कहना 'दुष्ट आग्रह' है यह आपका आग्रह जीवों के समान है जीव अन्य सर्व कर्म करते हैं तब नहीं कहते हैं कि यह वा वह कार्य कठिन है किन्तु यदि भगवद्भजन के लिए कहा जाए तो शीघ्र कह देते हैं यह तो कठिन है हमसे कैसे होगा हम नहीं कर सकते हैं आदि, इसी प्रकार आप भी जीव की भांति अब दुराग्रही हुए हैं, आप अपने गीता वाक्य का अनुसरण तो यहां नहीं करते हो कि 'जो



जैसे मेरा भजन करता है मैं भी उसी प्रकार उसको भजता हूँ' क्या यह भूल गए हैं यदि नहीं भूले हैं तो जैसे हम भजती (त्याग नहीं करती) हैं वैसे आप भी हमको भजो और हमारा त्याग मत करो।

हम जो भजन चाहती हैं वह लौकिक काम विषय भोग के समान नहीं हैं किन्तु अन्य प्रकार का (अलौकिक की भांति) है। उसको विशेष समझाने में अपने को असक्त समझकर दृष्टान्त से समझाती हैं कि, जैसे देव सर्व को भजता है सर्व को फल देता है नहीं तो शास्त्र का कहना निरर्थक<sup>१</sup> है (हो जावे)। जब पूर्व काण्ड में (कर्म मार्ग में यज्ञ द्वारा) देव का भजन किया जाता है तब भी देव द्वारा फल प्राप्त होता है। वहाँ भी (कर्म मार्ग के पूज्य देवों में भी) आदि पुरुष विराजमान है, वह (आदि पुरुष ही) फल देता है। इसी प्रकार उत्तर काण्ड (ज्ञान-भक्ति प्रतिपादक काण्ड) में तो भगवान् स्वयं उनका उचित फल देते हैं आदि पुरुष (भगवान्) तो सर्वथा सर्वदा सेव्य<sup>२</sup> है ही, क्योंकि वह देव भी है, देव के भजन को कोई भी (लोक वा शास्त्र) व्यभिचार (पर पुरुष वा पर स्त्री से विषय भोग) नहीं कहता है। यदि कोई स्त्री पर पुरुष से व्यभिचार करती है तो भी वह क्या विवाहित प्रथम पति से भोग नहीं कर सकती है? कर सकती है यद्यपि पति वैसी स्त्री का त्याग कर सकता है किन्तु पति से तो भोग कर सकती है, जिसका निषेध नहीं है, लोक में जैसे पति अपनी स्त्री का पर-पुरुष से सम्बन्ध सहन नहीं कर सकता है इसलिए उस सम्बन्ध को छुड़ाकर उससे रमण करता है वैसे ही आपको भी करना चाहिए वहाँ उनके पास (जो पर पुरुष है) भजना योग्य नहीं है। सर्व जीवों का (हमारा भी) प्रथम सद्वा पति तो आप (भगवान्) ही हैं फिर आप देव भी हैं, भगवान् को 'देव' इसलिए कहा है कि वह सदैव क्रीड़ा ही करते हैं 'दिव' धातु का अर्थ रमण करना है जिससे 'देव' बना है अतः यथा योग्य अधिकारानुसार भगवान् सबसे रमण करते हैं। जिससे जीव का भगवान् के साथ रमण करना व्यभिचार नहीं है।

भगवान् ने कहा है कि 'प्रिय कि करवाएँ वः' आपका प्रिय क्या करे? इसलिए कहती हैं कि जैसे मुमुक्षुओं को आप अपनी आत्मा समझ उनको भजते हो जिससे वे भी आपको अपनी आत्मा समझते हैं, ऐसी अवस्था बनाके अपना आनन्द उनको देते हैं इसीलिए भगवति श्रुति भी कहती है कि 'एष ह्येवानन्दयाती' यह (परमात्मा) ही आनन्द देते हैं। 'स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षयाविष्कृतं ही' इस ब्रह्मसूत्र में कहा है कि १—मुमुक्षु, २—भुक्ति इनमें से किसी अवस्था में पर भगवान् प्रकट होते हैं, अतः इस सूत्र के अनुसार सिद्ध है कि भगवान् मुमुक्षु जनों के लिए प्रकट होकर उनको भजते हैं<sup>३</sup> यदि वैसा न हो तो मानना पड़े कि मुमुक्षु भगवान् को भजते हैं: किन्तु भगवान् मुमुक्षुओं को नहीं भजते हैं। अतः भगवान् फलदान कर उनका भजन करते हैं जिससे उनकी (मुमुक्षुओं) की फिर प्रथम अवस्था नहीं करते हैं, और सदैव अपने में स्थापित करते हैं, उसी प्रकार हमारे लिए प्रकट होकर हमको भी अपने आनन्द से युक्त करो अर्थात् स्वरूपानन्द देकर हमारा भी भजन करो, यही हमारा प्रिय करो।

गोपियों ने प्रार्थना से यह कहा अतः एक बार अङ्गीकार कर फिर चुप रहकर अपरिचित जैसे शान्त हो जाओ यह भी योग्य नहीं है। आगे जो घर जाने की आज्ञा की है और गृहस्थिति वह वियोग में रहकर 'रस का पोषण करे' इसीलिए दी है ॥ ३१ ॥

१—व्यर्थ, २—भजन करने योग्य, ३—आनन्द दान देते हैं।



श्लोक—यत्पत्यपत्यसुहृदामनुवृत्तिरङ्ग

स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वयोक्तम् ।

अस्त्वेवमेतदुपदेशपदे त्वयोशे

प्रेष्ठो भवांस्तनुभृतां किल बन्धुरात्मा ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! धर्म को जानने वाले आपने जो कहा कि पति, सन्तान और सुहृदों की सेवा करनी स्त्रियों का स्वधर्म है, यह आपके उपदेश के वचन आप ईश में ही चरितार्थ हो, क्योंकि देहधारियों के आप ही प्रेष्ठ प्रिय बन्धु तथा आत्मा हैं ॥ ३२ ॥

सुबोधिनी—यदपि भगवतोक्तं 'स्त्रीणां स्वधर्मपरित्यागोऽनुचित' इति, अतः 'एषा रजनी घोररूपा, नेह स्त्रीभिः स्थेय' मिति । तत्राप्याहुः यत्पत्यपत्येति । पतिरपत्यानि सुहृदश्च । एषामनुवृत्तिः स्त्रीणां स्वधर्म इति धर्मविदा त्वया उक्तम् । बहिर्मुखा हि धर्मशास्त्रज्ञाः, शारीरमेव धर्म स्वधर्ममाहुः । नत्वात्मधर्मं भगवद्धर्मं वा । यतस्ते अनात्मविदः । तथा धर्मविदैव त्वया, नत्वंस्मान् विचार्य, आत्मानं वा, त्वयोक्तम् । तस्याप्यस्माभिविषयनिर्धारः क्रियते, न तु दूष्यते तदाहुः अस्त्वेवमेतदिति । स्त्रीभिः स्वधर्मः कर्तव्य इति यदुक्तम्, तदेवमेवास्तु । नहि पत्यादयः धर्मस्वरूपम्, नाप्याधारः, किन्तु निमित्तम् । स च धर्मः अनुष्ठीयमानः प्रमीयमाणश्च भवति । अनुष्ठीयमाने पुत्रादयो निमित्तम् । प्रमीयमाणे गुरुः । अतः सा अनुवृत्तिः प्रथमतो गुरावस्तु, अन्यथा स्वधर्मा ज्ञात एव न स्यात् । न च भगवद्भावमनुवादकम् । पूर्वमस्माकं धर्मज्ञानाभावात् । अन्यथा तदेव क्रियेत । नापि सेवाव्यतिरेकेणायं धर्मः स्फुरति । अन्यथा वचनमात्रेणैव गतं स्यात् । अत उपदिष्टस्य सिद्धचर्यं सेवां कारय उपदेशस्य पदमाश्रयः कर्तव्यं भवति । अङ्गेति

कोमलसम्बोधनात् नास्माभिः प्रतिकूलतया निरूप्यते । किञ्च, स्वधर्मा अनेकविधाः, स्वापेक्षयोत्कृष्टविषयाः, समानविषयाः, हीनविषयाश्च । तत्र पूर्वपूर्वधर्मप्राबल्यम् । यथा स्त्रीणां पतिपुत्रादीनां स्वसमानानां सेवा धर्मः । एवं स्वनियामकस्येश्वरस्यापि अनुवृत्तिर्मुख्यो धर्मः । अन्यथा तत्प्रेरणाभावे पतिसेवादौ न प्रवर्तते । अतः प्रकृतेऽपि भवानीश्वरः अन्तर्यामी । तादृशोऽपि भूत्वा पतिपुत्रादयः न प्रवर्तयसे, किन्तु स्वसेवार्थमेव प्रेरयसि, अतो वाक्योक्तधर्मं सिद्धचर्यमपि भवानादौ सेव्यः । किञ्च, धर्मो धर्मिमूलः, तदविरोधेन कर्तव्यः, फलार्थं च कर्तव्यः, अन्यथा चेत्, अनिष्टेऽपि पुरुषं प्रवर्तयन् अनाप्तः स्यात् । अत एव धर्मशास्त्रे प्रियत्वात् शरीरस्य तदनुरोध उक्तः । 'द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीय' इति न्यायाच्च । तत्कस्यचित् प्रियो देहः, कस्यचिदात्मा, कस्यचित् परमात्मा, कस्यचिन्निर्वाहकः भवांस्तु सर्वरूपो भवति, यतः अत्यन्तं प्रेष्ठः परमप्रेमास्पदमानन्दः । बन्धुर्देहनिर्वाहकश्च । किञ्च, न केवलमस्माकम्, किन्तु तनुभृतां सर्वेषामेव देहधारिणाम् । ( 'भवाय नाशाय' त्यत्र त्वया दत्तमेव शरीरं त्वद्विचारितप्रयोजनार्थं जीवो



गृहीत्वा तिष्ठतीति निरूपितम् । अतः स देहः भगवदीयः भगवत्तैव स्थापितः, तस्मै निवेद्य, तदनुपयोगे जाते, पश्चादन्यस्मै देयः । चेतनो हि प्रेयः । अतः यावद्भूगवदुपयोगं ज्ञास्यति, तावन्नान्यस्मै दास्यति, बोधितोऽपि । ) यतस्तनुभृतां त्वमेव प्रेष्ठः । प्रेष्ठाय च देयं प्रियं वस्तु । अत्रार्थं किलेति प्रसिद्धिरेव प्रमाणम् । किञ्च, न केवलं देहदाता, किन्तु बन्धुरपि, येन प्रयत्नेन शरीरं विभर्ति स बन्धुः, आत्मा धारकश्च । अतः अन्तरङ्गबहिरङ्गन्यायेन नित्यानित्यन्यायेन वा भ (ग) वत्सेवैव मुख्या । यदा पुनस्त्वदनुपयोगः,

तत्रापि चेत्तथा प्रेरणम्, तदान्यस्मै दास्यामो, नान्यथेति । धर्मविचारो धर्मादप्यधिकः । एतच्च त्वदवङ्गीकृतं सर्वमेव विरुद्धं भवतीति प्रार्थ्यते अस्त्विति । सर्वरूपत्वाच्च त्वमेव सेव्य इति वा । अन्यत्र एकदा सर्वसेवा प्राप्ता, अंशतो वाधिता स्यात्, विनिगमनाभावाच्च । अनेन स धर्मोऽपि न भवति, यः कालादिना बाध्यते, अशक्यश्च भवति । न हि प्रमाणं विरुद्धं विधत्ते । अतः पत्यादिसेवाविधायकं च शास्त्रं त्वत्सेवामेव विधत्ते । अतः अनुवादपक्षे स्वतन्त्रविधानपक्षे वा भवत्सेवैवोचितेति भावः ॥ ३२ ॥

**व्याख्यानार्थ—**जो कि आपने (भगवान् ने) कहा 'स्त्रियों को अपना धर्म नहीं छोड़ना चाहिए', इसलिए यह घोर रात्रि है, यहाँ (वन में पर पुरुष के पास) आप को नहीं रहना चाहिए' इस पर गोपियाँ कहती हैं कि, पति सन्तान और सम्बन्धी इनको सेवा स्त्रियों के लिए स्वधर्म<sup>१</sup> है, यह जो धर्मज्ञ आपने धर्म शास्त्र जानने वालों का मत कहा है, वे धर्मशास्त्र जानने वाले बहिर्मुख है वे शरीर सम्बन्धी धर्म को ही धर्म कहते हैं, आत्म धर्म और भगवद्धर्म का वर्णन नहीं करते हैं, कारण कि वे आत्म ज्ञानी नहीं हैं । धर्मज्ञ आपने भी यों ही कह दिया है, हमारा वा आत्मा का विचार कर के नहीं कहा है ।

हम इस विषय का निर्णय करती हैं उसको दूषित नहीं करती हैं, आपने जो कहा कि स्त्रियों को अपने धर्म का पालन करना चाहिए, हम भी इन वचनों को मानती हैं कि वैसे ही करना चाहिए ।

पति आदि धर्म के स्वरूप नहीं हैं और न धर्म के आश्रय हैं, केवल निमित्त हैं । वह धर्म दो प्रकार का है, एक जो कार्य में लाया जाए वह अनुष्ठीयमान धर्म है, उस धर्म में पुत्र आदि निमित्त हैं, और दूसरा जानने योग्य वह प्रमीयमाण धर्म है, उस धर्म में निमित्त गुरु है । अतः प्रथम गुरु की सेवा करनी चाहिए, यदि प्रथम गुरु की सेवा कर, ज्ञान की प्राप्ति नहीं की जाएगी तो धर्म का ज्ञान कैसे होगा ? धर्म के ज्ञान के बिना उसका आचरण कैसे होगा ? भगवान् के वचन अनुवादक<sup>३</sup> नहीं हैं, मुख्य हैं किन्तु भगवान् के इस उपदेश से पहले हमको (गोपियों को) धर्म का ज्ञान नहीं था, यदि होता तो उसके अनुसार हम धर्म का पालन करती । किन्तु वह धर्म जो आपने (भगवान् ने) अब कहा है उस धर्म की स्मृति भी सेवा के बिना नहीं होती है, यदि सेवा के सिवाय, केवल शब्द सुनने से स्मृति होती, तो हम घर लौट जाती, इसलिए जो उपदेश मिला है उसकी सिद्धि के लिए प्रथम आप (गुरु) अपनी सेवा कराओ । उपदेश का आश्रय कर्ता ही होता है अर्थात् जो उपदेश करने वाला है उपदेश उसमें ही रहता है अतः उनकी (गुरु की) सेवा से उपदेश सफल होगा ।



हे अङ्ग ! यह प्रेमयुक्त कोमल सम्बोधन देकर, गोपियों ने यह बताया है, कि हम जो कुछ कहती हैं वह उपदेश के प्रतिकूल<sup>१</sup> नहीं है, किञ्च स्वधर्म अनेक प्रकार का है, कोई अपने से उत्तम विषय के है, कोई समान विषय के हैं और कोई हीन विषय के हैं। इन तीन प्रकार के धर्मों में तीसरे (हीन) से दूसरा (समान) उत्तम है, दूसरे (समान) से प्रथम उत्तम है। अपने समान पति पुत्रादिकों की सेवा स्त्रियों का धर्म है इस प्रकार अपने नियामक ईश्वर की सेवा भी सब के लिए मुख्य धर्म है। वह मुख्य धर्म है क्योंकि ईश्वर उत्तम है, इसलिए यह मुख्य है, यदि ईश्वर प्रेरणा न करे, तो पति सेवा आदि धर्म में प्रवृत्ति ही न होवे, अतः इस समय आप प्रकट हो, तो भी आप ईश्वर तथा अन्तर्यामी हो, वैसा होते हुए भी पति पुत्रादि के लिए प्रेरणा नहीं करते हो, किन्तु अपनी सेवा के लिए प्रेरणा दे रहे हो, इसलिए आपके वाक्यों में कहे हुए धर्म की सिद्धि के लिए प्रथम आपकी सेवा करनी चाहिए। किञ्च<sup>३</sup> धर्म की जड़ धर्मों है, इसलिए धर्मों से जो विरुद्ध न हो, वैसा धर्म पालना चाहिए और वह ( धर्म ) फल प्राप्ति के लिए पालना चाहिए, यदि इस प्रकार नहीं किया तो अर्थात् धर्मों से विरुद्ध धर्म का पालन करने से परिणाम वह निकलेगा कि वेद जो आप्त<sup>३</sup> है वह पुरुष को अनिष्ट में (जिसका कोई फल नहीं है उसमें) प्रवृत्ति कराता है जिससे वह (वेद) अनाप्त<sup>४</sup> बन जाएगा। इसी कारण से धर्म शास्त्र में शरीर ही प्रिय समझ, उसके (शरीर के) धर्म का अनुरोध<sup>५</sup> किया है।

‘द्रव्य संस्कार विरोधे द्रव्यं बलीय’ अर्थात् द्रव्य (धर्मों) और संस्कार (धर्म) इन दोनों का जहां विरोध देखने में आवे वहां द्रव्य (धर्मों) को बलवान् मानना चाहिए। लोक में किसी को देह प्रिय है, किसी को आत्मा प्यारी है, किसी को परमात्मा प्यारे लगते हैं, किसी को निर्वाहक<sup>६</sup> प्यारा लगता है, किन्तु आप तो ‘प्रेष्ठ’ अर्थात् परम प्रेमी आनन्ददायक हो, कारण कि आप सर्व रूप हो, अतः बन्धु भी हो, आत्मा भी हो निर्वाहक भी हो, और विशेष में आप केवल हमारे ही प्रेष्ठ नहीं हो, किन्तु सकल देहधारियों के परम प्रेम का आश्रय स्थान भी आप ही हो ( “भवाय नाशाय” यहाँ यह दिखलाया था कि आपका दिया हुआ शरीर ही जो प्रयोजन आपने विचार्य हो उसके लिए जीव गृहण कर रखता है। अतः उस भगवदीय देह को भगवान् ने ही स्थापित किया है, भगवान् को ही निवेदित करना चाहिए, भगवान् के लिए अनुपयोगी होने पर, अन्य को दिया जा सकता है। चेतन को प्रेरणा होती है, अतः जब तक भगवान् के लिए उपयोगी दीखता हो तब तक अन्य को नहीं दिया जाएगा, चाहे कोई कितना भी समझाये या बहकाये ) प्रेष्ठ को ही प्रिय पदार्थ देना चाहिए, इसमें अन्य प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि श्लोक में ‘किल’ शब्द देकर कह दिया है, कि इसकी सर्वत्र ‘प्रसिद्धि’ ही प्रमाण है। आपने केवल देह दी है यों नहीं है, किन्तु उसका (देह का) प्रयत्न<sup>७</sup> कर पालन भी करते हो, अतः आप बन्धु भी हैं, उसका धारक<sup>८</sup> होने से ‘आत्मा’ भी आप ही हैं, अतः ‘अन्तरङ्ग बहिरङ्ग न्याय’ तथा ‘नित्य अनित्य न्याय’ के अनुसार, भगवान् की सेवा ही मुख्य है। जब वह आपके उपयोग की नहीं रहेगी और तब भी जब आप प्रेरणा करोगे तो दूसरे को देगे ! नहीं तो (आप प्रेरणा न करोगे चाहे आपके उपयोग में न भी आवे, तो भी) नहीं देगे। धर्म से धर्मों का विचार विशेष है, अर्थात् धर्म न रहे तो परवाह नहीं होनी चाहिए। किन्तु धर्मों तो किसी भी अवस्था में आपके पास होना ही चाहिए। आपके अङ्गी-

१—विरुद्ध, २—कुछ और, ३—प्रमाण रूप, ४—अप्रमाण, ५—आग्रह, ६—पालक, ७—कोशिश, ८—धारण करने वाले,

कार न करने से सर्वनाश हो जाएगा इसलिए हम प्रार्थना कर रही हैं, आप सर्व रूप हो अतः आप सेव्य हो ।

सर्व रूप होने से, पति आदि की सेवा भी आपकी सेवा से सिद्ध हो जाती है, दूसरे (पति आदि) में एक ही समय सर्व सेवा प्राप्त हो तो भी, वह पूर्ण हो नहीं सकती है, कारण कि उसमें बाध आता है जैसे कि पति की सेवा के समय में पुत्र आदि की सेवा नहीं हो सकती है, वैसे (ही) पुत्र की सेवा के समय में अन्य की सेवा नहीं बनती है, इस विषय में कोई नियम में रखने वाला प्रमाण नहीं है । अतः जिसका काल आदि बाध कर सकते हैं वह 'धर्म' नहीं है, तथा जो अशक्य है वह भी धर्म नहीं है, प्रमाण कभी भी विरुद्ध नहीं कहता है, इसीलिए पति आदि की सेवा का विधान करने वाला शास्त्र आपकी सेवा का ही विधान करता है, अतः अनुवाद पक्ष में अथवा स्वतन्त्र पक्ष में भगवान् (आप) की सेवा करनी ही उचित है ॥ ३२ ॥

स्त्री पति की सेवा स्वतः करना चाहती है उस सेवा का शास्त्र में विधान किया है उस (विधान) को अनुवाद कहते हैं, अतः वह अनुवाद पक्ष है ।

स्त्री पति की सेवा शास्त्र में आज्ञा होने से करती है, इसे नियम विधि कहते हैं । अतः वह शास्त्र का विधान स्वतन्त्र होने से स्वतन्त्र पक्ष कहा जाता है । इसे अपूर्वविधि कहते हैं । यहां यह आशय है कि पति आदि की सेवा का विधान जो नियमविधि हो तो भी सेवा अंशतः बाधित होने के कारण और लौकिक स्वभाववस भी स्वतःसिद्ध होने के कारण विधान का विषय नहीं बनती अतः सेव्य भगवान् ही रह जाते हैं । यदि पति आदि की सेवा के विधान को अपूर्व विधि माना जाए तो इस अपूर्व धर्मोपदेश के कारण भी गुरु के रूप में पहले भगवान् की ही सेवा होनी चाहिए तभी धर्मज्ञान स्थिर होगा ।

**आभास—**एवं राजसीनां निरूप्य सात्त्विकीनां निरूपयति कुर्वन्ति हीति ।

**आभासार्थ—**शुकदेवजी इस प्रकार राजसी गोपियों ने जो कुछ कहा उसका निरूपण कर अब सात्त्विकीओं के वचनों का निरूपण 'कुर्वन्ति हि' श्लोक से करते हैं—

**श्लोक—**कुर्वन्ति हि त्वयि रति कुशलाः स्व आत्मन्  
नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम् ।  
तन्नः प्रसीद वरदेश्वर मः स्मः छिन्द्या  
आशां घृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥ ३३ ॥

**श्लोकार्थ—**सब के आत्म रूप हो इसी कारण से कुशल<sup>१</sup> पुरुष, निरन्तर प्रिय





तथा अपने आत्म रूप आप में प्रीति करते हैं, पीड़ा देने वाले पति पुत्र में प्रेम करने से क्या लाभ हैं ? अतः हे वर देने वालों के ईश्वर ! हे कमल नयन ! आप हमारे ऊपर प्रसन्न हो जाओ और कृपा करो, जिससे आप में बहुत समय की धरी हुई आशा सफल हो जाए दूटे नहीं अर्थात् हमारी इस आशा को तोड़ो नहीं ॥ ३३ ॥

**सुबोधिनी—**यद्यप्युक्त 'मातरः पितर' इति, 'मा कुद्वं बन्धुसाध्वस'मिति, तत्किमिदं प्रथमतयास्माभिरेव क्रियते, आहोस्विदन्त्येऽपि कुर्वन्ति । तत्रापि किमधमाः मात्राद्यनुवृत्तिं कुर्वन्ति, आहोस्विदुत्तमाः । उत्तमा अपि त्वत्सेवायामशक्ताः, आहोस्वित् शक्ता इति विचारणीयम् । अस्मिन्नर्थे निर्णायकं महतां चरित्रमाहुः । ये त्वात्मनि कुशलाः आत्महितार्थिनः, न तु देहेन्द्रियाणाम्, ते त्वग्येव रतिं कुर्वन्ति । स्नेहेन हि क्रिया भवति । भगवत्कृतमेव जीवगामि भवतीति । तदुपपादितम् 'तद्वात्मने प्रतिमुखस्येत्यत्र । प्रीत्या च सेवा भवति । यदि पुत्रादिसेवापि धर्मः स्यात्, तदा पुरुषार्थत्वेनात्मपर्यवसायिनी स्यात् । 'कुशला' इत्यनेन तेषां कौशलमेतत्, प्रवृत्त्यपेक्षया निवृत्तिरुत्तमा । इन्द्रियदमनसामर्थ्याभाव एव अन्यगामि कर्तव्यम्, 'यतो यतो निवर्तेते'त्यत्र निरूपितम् । निरुद्धान्द्रियाण्यात्मगामीनि भवन्ति । तत्राप्यात्मगामिनी तदैव भवन्ति, यदि त्वदर्थमुपयुक्तानि भवन्ति । अतः केवलनिग्रहकर्त्रपेक्षया ये त्वयि रतिं कुर्वन्ति, ते कुशला इति हिशब्दार्थः । त्वयीत्येकवचनेन च पूर्ववदेकत्र सर्वसंभवो निरूपितः । किञ्च, भवान् स्वात्मा स्वरूपभूतः, न त्वध्यासन्यायेन तथा जातः । किञ्च, प्रियस्य हि सेवा कर्तव्या, स चेत्प्रियः कालपरिच्छेद्यो न भवति, स भवानेव, अन्यथा जारसेवापि धर्मः स्यात्, जन्मवत् दिनस्यापि परिच्छेदकत्वान् । किञ्च, पतिसुतादयश्च न धर्महेतवो भवितुमर्हन्ति । यतः आर्तिदाः । न हि धर्मनिमित्तानि कदाचित् दुःखदानि भवन्ति अन्यथा संसारो न स्यात् । अतस्तैः किम् । तेषां भयमस्तु, अन्यद्वा, न तैः किञ्चित्प्रयोजमित्यर्थः ।

परमेकमेव प्रार्थनीयम्, यदभावे सर्व शास्त्रं युक्तिश्च व्यर्था स्यात् । तदाहुः, तत्तस्मात् प्रसीद, त्वं प्रसन्नो भव । त्वदप्रसादादेव लोका भ्रान्ताः दुःखहेतुष्वपि प्रयतन्ते । ननु किं साधनं प्रसादे भवतीनामिति चेत्, तत्राहुः वरदेश्वरेति । ये हि वरान् प्रयच्छन्ति, ते लोकानां क्लेश ज्ञात्वा, यतो दयालवः, अन्यथा तपसि क्रियमाणे वर न प्रयच्छेयुः । तेषामपि त्वमोश्वरोऽतिदयालुः । तद्भारापि सर्वेषां दुःखशमनं करोषि । अतो वयं क्लिष्टाः । क्लेश एव साधनम्, ततोवत् । निषिद्धप्रकारस्तु यद्यत्र कश्चन भविष्यति, स न कर्तव्यः । ननु यथैतावन्तं कालं पतिसेवा कृता, एवमेवाग्रेऽपि कर्तव्या, प्राप्तत्वान् । गौणमपि कर्म समारब्धं समापयेदिति, तस्मादविचार्यैव पतिसेवां कुरुतेति चेत्, तत्राहुः मास्म छिन्ना अंशां धृतामिति । नास्माभिः पतिसेवा कृता, तदर्थं वा स्थितम्, त्वदाशया स्थितम्, मध्ये स्थितिनिर्वाहार्थमेव तदङ्गीकारः । इदानीं चेत् समागतानामभिलशितार्थो न सिध्येत्, तदा आशा भग्ना भविष्यति । तस्यां गतायां प्राणा एव गमिष्यन्तीति । अत एव केनचित् स्त्रीहृदयज्ञेन निरूपितम्, 'आशाबन्धो हृदयं रुण्ढी'ति । एतस्य मूलमपि स्त्रीशास्त्रे भविष्यति । चिरात् त्वग्येव धृतम्, तस्यां छिन्नायां अवलम्बनाभावात् अधः पतिष्याम इति । स्मेत्ययमर्थः प्रसिद्धः । अरविन्दनेत्रेति सम्बोधनं दृष्ट्यैवाप्यायकत्वं निरूपयति । (आशाहेतुरप्यनेनोक्तः, तापहारकदृष्ट्या दर्शनात् । भावोद्गारिण्या एव तथात्वात् । इषदवधि जीवनमप्यत एवेति भावः ।) ॥ ३३ ॥

**व्याख्यानार्थ—**जो कि आपने हमको कहा कि माता-पिता आदि तुमको हूँ ढेंगे, अतः लौट जाओ



उनको दुःखी भयभीत मत करो, क्या इस प्रकार प्रथम हमने ही किया है, या दूसरे ने भी किया है ? उसमें भी आप बताइये कि माता आदि की सेवा अधम जन करते हैं, वा उत्तम करते हैं, वे उत्तम आपकी सेवा करने में समर्थ हैं वा असमर्थ हैं, इस पर विचार कर निर्णय करना चाहिए । इस विषय का निर्णय करने वाला, महापुरुषों का चरित्र होता है उसको गोपियां कहती है—कि जो कुशल महापुरुष हैं, वे आत्मा के ही हित को चाहते हैं न कि देह और इन्द्रियों के सुख की इच्छा करते हैं अतः वे तुममें ही प्रेम करते हैं । स्नेह से ही क्रिया (भगवान् की सेवा) होती है । भगवान् में का स्नेह ही लौट कर जीवात्मा में हो जाता है । इसको 'तच्चात्मने प्रतिमुखस्य' श्लोक में सिद्ध किया है और सेवा प्रीति से होती है, जो पुत्र आदि की सेवा भी धर्म होती, तो उससे पुरुषार्थ सिद्ध होकर आत्मा रूप फल की प्राप्ति होनी चाहिए वह नहीं होती है, इसलिए महापुरुष पुत्रादि की सेवा न कर आपकी प्रेम से सेवा करते हैं यही उनमें चातुर्य है, वे समझते हैं कि प्रवृत्ति से निवृत्ति उत्तम है, पुत्रादि सेवा प्रवृत्ति धर्म है, उससे पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है, भगवत्सेवा निवृत्ति धर्म है उससे पुरुषार्थ सिद्ध होता है । मनुष्य भगवत्सेवा न कर पुत्रादि की सेवा अपना कर्तव्य समझते हैं उसका कारण यह है, कि उन मनुष्यों ने इन्द्रियों को अपने दश में नहीं किया है किन्तु स्वयं इन्द्रियों के वश होने से आत्म धर्म को भूल जाते हैं, देह धर्म को मुख्य धर्म समझते हैं, अपने वश में की हुई इन्द्रियां ही भगवान् की तरफ जाती है, इसलिए 'यतो यतो निवर्तते' इस श्लोक में कहा है, कि मनुष्य जहां जहां से निवृत्त होता है वहां २ से बन्धन से छुट जाता है । वे वश की हुई इन्द्रियां भी, जब आपके उपयोग में आती हैं तब आत्म गामिनी बनती हैं, अतः केवल इन्द्रियों को वश करने वालों से भी जो आप से रति करते हैं वे कुशल<sup>१</sup> हैं इसलिए श्लोक में 'हि' शब्द दिया है । श्लोक में 'त्वयि' यह एक वचन देकर यह आशय प्रकट किया है, कि पूर्व की भांति आप में ही सर्व (पति आदि) का संभव (उत्पत्ति) है, किञ्च आप ही स्वरूप भूत अपनी (सबकी) आत्मा हैं, आप अध्यास न्याय से हमारी (सब की) आत्मा नहीं हो, किन्तु वास्तविक आत्मा हो । प्रिय की ही 'सेवा' करनी चाहिए किन्तु वह प्रिय काल सेपरिच्छिन्न<sup>३</sup> होवे, अर्थात् वह नित्य हो वैसे आप ही हैं नही तो जार की सेवा भी धर्म हो जाएगी जैसे जन्म वैसे ही दिन भी परिच्छेदक है, पति आदि में जन्म परिच्छेदक है और जार में दिन परिच्छेदक है अतः वे काल परिच्छिन्न होने से अनित्य हैं उनसे प्रेम तथा उनकी सेवा 'धर्म' नहीं है और पति पुत्र आदि धर्म के कारण नहीं बन सकते हैं, क्योंकि धर्म के कारण वे होते हैं, जो अनन्द प्राप्ति करावें, वे तो दुःख देने वाले हैं, यदि ये धर्म के कारण होते तो इनसे प्रीति करने से एवं इनकी सेवा करने से संसार<sup>४</sup> न होना चाहिए, किन्तु होता है, इसलिए इन (पति आदि) से क्या लाभ है ? इनसे तो भय अथवा कोई दुःख हो । अतः इनसे कोई प्रयोजन नहीं है, चाहे इनको भय दुःख आदि कुछ भी हो ।

हम तो एक ही वस्तु चाहती हैं वह वस्तु ऐसी है जिसके होने से सर्व शास्त्र तथा युक्तियां सार्थक हैं, यदि वह नहीं है, तो सकल शास्त्र एवं सर्व युक्तियां व्यर्थ हैं, उस वस्तु को देने के लिए भगवान् की प्रार्थना करती हैं, कि आप हम पर प्रसन्न हो, अर्थात् कृपा करो, आप की कृपा के बिना



ही लोक भ्रम में पड़ कर दुःख के देने वाले कार्यों में प्रवृत्ति करते हैं, हमारी यह दशा न होवे, इसी-लिए हम पर प्रसन्न हो कृपा करो । यदि आप कहो, कि आपने वैसा कौनसा साधन किया है ? जिससे मैं प्रसन्न हो जाऊँ, कृपा करूँ ? इस पर गोपियाँ कहती हैं, कि हमने कोई साधन नहीं किया है, हम निःसाधन हैं किन्तु आप 'वरदेवेश्वर' हो, वर देने वालों के भी स्वामी हो, वर देने वाले दयालु होते हैं, दुःखियों के दुःख को जानकर उनको मिटाने के लिए स्वयं वर दे देते हैं यदि उनमें दया न हो तो तपस्या करने पर भी वर न देवे, उनके भी आप ईश्वर हैं अतः आप तो महा दयालु हैं अतः उन वर दाताओं के द्वारा भी आप ही सर्व का क्लेश नष्ट करते हो, अतः हम बहुत क्लिष्ट हैं यों तो हम अन्य साधन हीन हैं किन्तु हमारा क्लेश ही तपस्या की भांति साधन समझलो, हमारा क्लेश लौकिक क्लेश नहीं है किन्तु आपके लिए जो ताप है वही हमारा क्लेश है । हमारे क्लेश में, किसी प्रकार का निषिद्ध भाव है ऐसा आप मत समझो । गोपियाँ कहती हैं कि आप यों कह दो कि जैसे आपने इतने समय तक पति सेवा की है वैसे ही अब भी करती रहो, गौण कर्म भी यदि प्रारम्भ किया जाए तो आपके में उसका त्याग नहीं करना चाहिए इसलिए कोई विशेष विचार न कर पति सेवा करती रहो, इसका उत्तर यह है, कि हमने जो पति सेवा की है वह भी आपकी आशा से की है, कि जब तक आप न मिलें तब तक की स्थिति का निर्वाह होता रहे इसलिए ही वहाँ रही थीं, अब तो यहाँ आपके चरण मूल में प्राप्त हो गई हैं अभी जो हमारी अभिलाषा पूर्ण न होगी, तो इतने दिनों से जिस आशा को धारण कर रक्खा, वह टूट जाएगी तो उसके टूट जाने पर प्राण ही चले जाएँगे, अतः हमारे इतने दिन की धारण की हुई आशा को मत टालो, अतः किसी स्त्री-हृदय को जानने वाले अनुभवी विद्वान ने कहा है कि 'हृदय की गति बन्ध न हो जाए उसको रोकने' वाली आशा ही है' इस विषय की जड़, स्त्री शास्त्र में मिलेगी, यह आशा अभीभी नहीं है, बहुत समय की धारण की हुई है यदि वह टूट गई, तो आश्रय<sup>२</sup> चले जाने से, हम नीचे पड़ जाएँगी, इस प्रकार आशा टूट जाने से पड़ जाना प्रसिद्ध है, श्लोक में 'स्म' शब्द देकर इस विषय के प्रसिद्धि की सूचना दी है, गोपियाँ ने भगवान् को 'अरविन्द नेत्र !' यह सम्बोधन देकर यह भाव प्रकट किया है, कि आपके नेत्र कमल जैसे हैं अतः कमल के सदृश आप भी भक्तों के ताप को शान्त कर आनन्द दे तृप्त करते हैं इसी से ही हम अब तक जीवित रह सकी हैं, क्योंकि आपकी इस प्रकार की दृष्टि से आशा टूट हो जाती है, कि आप हमारा त्याग न कर अवश्य रस दान करेंगे ॥ ३३ ॥

**आभास—**यदुक्तं 'वनदर्शनार्थं किमागता' इति, ततश्च वनवर्णना कृता, तत्राहुः चित्तं सुखेनेति ।

**आभासार्थ—**आपने हमको कहा, कि क्या वन देखने आई हो ? यों कहकर वन की शोभा का भी वर्णन किया, इसके उत्तर में हम निम्न श्लोक कहती हैं ।

**श्लोक—**चित्तं सुखेन भवतापहतं गृहेपि यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।

पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥ ३४ ॥



**श्लोकार्थ—**हमारा जो चित्त अब तक घर में लगता था उसको आपने हर लिया है, और जो हाथ, घर का काम करते थे, वे भी आपने वहां से हटाकर अपने पास खेंच लिए हैं, शेष जाने वाले पैर, वे भी आपके चरण कमल को छोड़ना नहीं चाहते हैं, तो आप बताईये कि व्रज को किस प्रकार जावे, वा व्रज करें ॥ ३४ ॥

**सुबोधिनी—**वनदर्शनेच्छा तदा भवति, यदा चित्तं स्वस्मिन् तिष्ठेत् । तत् त्वयैवापहृतम् तत्रापहारे न तव प्रयासः, तथा सति सर्वं नापहृतं स्यात्, तदाह मुखेनेति । भक्ता वा आनन्दरूपेणापहृतम् । न हि साक्षात् परमानन्दे सति कश्चित् परम्परया पाक्षिकं साधनं गृह्णाति । वनदर्शनं दूरे, गृहेऽपि यद्विदितं निविशति । अनेन ज्ञानशक्तेरपहार उक्तः । नापि मन्तव्यं वनं किञ्चित् कार्यार्थमागता इति । तदर्थं क्रियाशक्तेरप्यपहारमाह उत कशचपीति । यो गृह्यकृत्ये निविशतः, दूरेणापास्तं वदकृत्यम्, कामेन बलस्य हृतत्वात् । त्वत्स्पर्शेनैव करौ सजीवौ भवतः । नो चेन्मृतौ । अतः सेवाविधिरपि हस्ताभावात् कुण्ठितः । न हि कररहितं कर्मणि कश्चिन्नियुक्ते । किञ्च, यत् व्याघुट्य गन्तव्यमित्यभिप्रायेण वनदर्शनं जातमित्युक्तम्, तदप्यसम्भावितम् । यतोऽस्मात् पादौ द्वावपि तव पादमूलादस्मात् स्थानात् एकमपि पदं

न चलतः, नान्यत्र गच्छतः । पादानां गतियुक्तानां मुजभूतौ त्वत्पादौ, तस्यापि चेन्मूलं गताः, तदा कथमन्यत्र गच्छेयुः, अन्यथा वृक्षाणामपि गतिः, स्यात्, मूलं गतानाम् । 'अस्मात् स्थाना'दिति वक्तव्ये, यत् 'तव पादमूला'दित्युक्तम्, तत् त्वद्गमनेन सर्वत्र गन्तुं शक्यते, न तु त्वद्व्यतिरेकेणेति ज्ञापितम् । अतः कथं यामः । शकटादिना प्रषणीया इति चेत्, तत्राहुः । अथो अथ तत्र गत्वा किं वा करवामः । यथा शकटादिकं गृहे यातनार्थं साधनमस्ति, न चैवं हस्तयोः कार्यकरणे किञ्चित् लोकसिद्धम् । न केवलं गमनेन प्रयोजनम्, किन्तु पित्रादिसेवार्थं गमनम्, तद्भावाद् व्यर्थमेव गमनमिति भावः । तदाहुः । अथो अथ किं वा करवामेति । हस्तनिरपेक्षा कृतिः भिन्नप्रक्रमेण भगवद्भावेन भवतीति तथोक्तम् । अनेन स्तनपानमप्यशक्यं निरूपितम् । आशाऽभावे सर्वत्रैव शोषात् ॥ ३४ ॥

**व्याख्यार्थ—**चित्त अपने में हो, तो वह (चित्त) वन के दर्शन की इच्छा कर सकता है, चित्त को तो आपने अपने पास हरण कर लिया है, आपको चित्त चुराने में किसी प्रकार प्रयास करना भी नहीं पड़ा, यदि प्रयास होता तो, समग्र चित्त आप नहीं हरण कर सकते, किन्तु परिश्रम बिना सुख पूर्वक हरण हुआ इसीलिए सम्पूर्ण चित्त आपने चुरा लिया है अतः जब चित्त रहा ही नहीं तो वन के देखने की इच्छा कौन करे ? जिससे हम वन देखने नहीं आई हैं, आप आनन्दरूप हैं इसलिए चित्त भी आनन्द देते हुए हरण कर लिया है, जब हरण में, साक्षात् परमानन्द कारण है, तब कोई भी पाक्षिक साधन को कारण नहीं मानता है । आपके द्वारा चित्त हरण हो जाने पर, वन देखने के लिए इच्छा तो दूर रही, किन्तु घर के कामों में भी रुचि नहीं होती है । यह (चित्त हरण) कहकर गोपीजनों ने बताया, कि आपने चित्त मात्र नहीं हरण किया है, किन्तु ज्ञान शक्ति का हरण किया है ।

वन में किसी काम के लिए (वस्तु आदि ले जाने के लिए) हम आई हैं यों भी नहीं है, कारण,



कि कोई भी काम क्रिया शक्ति से होता है, उस क्रिया शक्ति के आश्रय स्थान करें (हाथों) का भी आपने हरण कर लिया है, इसलिए जब हाथ घर का भी काम नहीं कर सकते हैं तो वन में कार्य के लिए हम क्यों आवें ? काम ने (आप से मिलने की इच्छा ने) बल का हरण कर लिया है, जिससे हस्त निर्जीव<sup>१</sup> हो गए हैं, अब आपके स्पर्श होने पर भी वे सजीव<sup>२</sup> होंगे, नहीं तो मरे हुए हैं, अतः हस्तों के अभाव से सेवा का करना भी रुक गया है । कोई भी, बिना हाथ काम नहीं कर सकता है ।

आपने जो कहा, कि वन देख लिया अब लौट कर ब्रज में जाओ, वह भी होना असम्भव है, कारण कि हमारे दो पैर भी आपके चरण मूल में प्राप्त हुए हैं, वहाँ से एक पैर भी नहीं चल सकते हैं अर्थात् दूसरी जगह नहीं जा सकते हैं, कारण, कि गमन करने वाले हमारे पैरों के मूलभूत<sup>३</sup> आपके चरण हैं उन आपके चरणों की मूल में ये हमारे पैर प्राप्त हो गए हैं अर्थात्, हम जब पैरों से हीन होगई हैं तब दूसरी जगह कैसे जावें ? बिना पैर वाली हम जा सकती हैं, तो वृक्ष भी इधर उधर चल सकें, अतः हम इस स्थान से तो, तब चल सकती है जब आप यहां से चलें । आपके सिवाय हम चल ही नहीं सकती हैं इसी कारण से, लौट जाना भी असम्भव है । यदि आप कहो, कि पैरों से नहीं जा सकती हो तो रथ में बैठकर जाओ, इसके उत्तर में हमारा कहना है, कि रथ से जावे भी किन्तु वहाँ जाकर करें क्या ? जाने के लिए तो रथ साधन है, किन्तु कार्य करने के लिए हाथ का प्रतिनिधि कोई साधन नहीं है, केवल जाने से कोई प्रयोजन नहीं है । प्रयोजन तो यह है कि वहाँ जाकर पिता आदि की सेवा करें वह तो हो नहीं सकती, अतः जाना व्यर्थ<sup>४</sup> है, यह तारा भाव गोपी-जनों ने 'अथो कि करवाम' पङ्क्ति से कहा है । यहाँ तो भगवद्भाव के आवेश से दूसरे प्रकार से भी (हाथों के बिना भी) कार्य हो सकेगा । यों कहकर यह भी कह दिया, कि बालकों को स्तन पान कराना भी कठिन है, कारण, कि जब हम आपके (भगवान् के) बिना वहाँ जाएंगी तो हमारी आशाएँ नष्ट होने से, हम सर्व प्रकार से शुष्क हो जाएंगी, तो बच्चों को भी, दूध सूख जाने से नहीं मिलेगा अतः हमारा वहाँ जाना व्यर्थ ही होगा ॥ ३४ ॥

**आभास—**यद्भागवता शीघ्रं गच्छतेत्युक्तम्, तत्राहुः सिञ्चाङ्गेति ।

**आभासार्थ—**भगवान् ने गोपियों को कहा 'शीघ्रं गच्छत' जल्दी जाओ, इसके उत्तर में निम्न 'सिञ्चाङ्ग' श्लोक कहती हैं ।

**श्लोक—**सिञ्चाङ्गः नस्त्वदधरामृतपूरकेण हासावलोककलगीतजहृच्छयाग्निम् ।

नो चेद्वयं विरहजाग्न्युपभुक्तदेहा ध्यानेन याम पदयोः पदवीं सखे ते ॥ ३५ ॥

**श्लोकार्थ—**हे प्रिय ! आपके हास्य पूर्वक अवलोकन<sup>५</sup> से और मधुर गीत से पैदा हुई हमारी कामाग्नि को, आप अपने अधरामृत के पूर<sup>६</sup> से सिञ्चन कर शान्त



करो, हे सखा ! नहीं तो हम विरह से उत्पन्न अग्नि से, देह को दग्ध<sup>१</sup> कर, ध्यान द्वारा आपके चरणों की पदवी को प्राप्त करेंगे ॥ ३५ ॥

सुबोधिनी—वयं शीघ्रमेव गमिष्यामः, यदि त्वं प्रतिबन्धं न करिष्यसि । अनेन तूष्णीभावेऽपि मरणम्, परावृत्तौ तु न किञ्चिद्वक्तव्यम् । हे अङ्ग ! त्वदधरामृतपूरकेण त्वदधरामृतप्रवाहजलेन नो हृच्छ्याग्निं सिञ्च । स चाग्निः त्वयैवोत्पादित इति । तत्कारणमाहुः हासावलोककलगीतजेति । तव योऽयं हासपूर्वकः अवलोकः कलगीतं च, ताम्यां जातो यो हृच्छयः कामः, स एवाग्निः । हासः कामजनकः, अवलोकः सन्धुक्षणकर्ता । गीतं वायुरिव, तत्रापि कलगीतं सर्वतो वायुः । सोऽपि जातो हृदये । हृदयगामि च त्वदधरामृतमेव । पूरो हि वस्तु प्रवाहयति, तस्यात्र सिञ्चनकरण-त्वेनोक्त्याऽग्नेरतिमहत्त्वं ध्वन्यते । अतो युक्ता सिञ्चनोक्तिः । अलौकिकश्चाग्निः अलौकिकेनैव शाम्यति । कन्दर्पो हि मृतो ज्वलति, स हि जीवन् अग्न्यवस्थां त्यजति, नान्यथा, अमृतेनैव च जीवति, तत्रापि न देवभोग्येन, अन्यथा तैरेव जीवितः स्यात्, सृष्टिकारणत्वात् नास्य मोक्षः । अतोऽतिगुप्तेनैवाधरामृतेन तस्य जीवनम् । अतः सिञ्चनमेवोक्तम् । अन्यथा निर्वापणमेव प्रार्थयेयुः । कामे जीवति जीविष्यामः, अन्यथा स

स्वयं ज्वलन् अन्यानपि ज्वालयिष्यति । तदाहुः नो चेदिति । सिञ्चनेन यदि मन्त्रवादीव न जीवयिष्यसि, तदा विरहेण जनितो योऽग्निः, तेनोपभुक्तदेहाः ध्यानेन ते पदयोः पदवीं यामः । स्वयं स्वतन्त्रमार्गाज्ञानात्, त्वं च सखा येन मार्गेण गमिष्यसि, तेनैव वयमपि यास्यामः (यथा त्वमधुनास्मभ्यमातिप्रदः, तथा वयमपि तथाभूतास्तुभ्यं पश्चात्तापादिहेतवो भविष्याम इति गूढाभिसन्धिः 'ते पदयोः पदवीं यामे'ति वक्त्रीणामिति ज्ञेयम् ।) देहे गते त्वन्तर्यामिणा कुचिदगन्तव्यम् देहान्तरस्य तु नोत्पत्तिः, बीजस्य दग्धत्वात् । हरेणैव दग्धो न कामः प्ररोहति, स विपरितो रहो भवति । तत्रापि विशिष्टो विरहः एका-न्ताभावरूपो वा । अनेन त्वया सह एकान्ताभावे विरहत्वम् । यद्यपि पूर्वोक्ताग्निनैव दाहः सम्भवति, तथापि भस्मसात् करणे न तस्य सामर्थ्यम्, यावत् सर्वाङ्गेषु सूक्ष्मावयवेष्वप्यग्निः प्रविश्य नोद्बुद्धो भवति । यथा वह्निसम्बन्धेन शुष्कं काष्ठं ज्वलति तत उपाधेरत्यन्तं गतत्वात् ते पदयोगमनम् । अतो गमनं दूरापास्तम्, प्रत्युत मरणमुपस्थित-मिति शीघ्रं प्रतीकारं कुरु ॥ ३५ ॥

व्याख्यार्थ—जो आप प्रतिबन्धन करोगे तो हम शीघ्र ही (आपके पास) जाएंगी, वहां भी यदि आप मौन धारण कर बैठेंगे बुलावेंगे नहीं तो ? निश्चय हमारा मरण ही होगा । घर लोट जाने में तो कुछ भी कहना नहीं है ।

हे अङ्ग ! जिस अग्नि को आपने पैदा किया है उस अग्नि को आप अपने अधरामृत रूप जल के प्रवाह से सिञ्चन करो,<sup>३</sup> इस कामाग्नि को कैसे उत्पन्न किया उसका प्रकार कहती हैं कि आपके हास्य<sup>४</sup> ने काम को उत्पन्न किया, कटाक्षों ने उस (काम) को तेज किया और कलगीत रूप वायु ने उसको चारों तरफ सकल अङ्गों में फैला दिया है तो भी वह हृदय में ही पूर्ण रूप से रहा है अतः उसको शान्त करने के लिए वह वस्तु चाहिए जो हृदय में पहुँच सके, वह हृदय में पहुँचने वाली वस्तु तो आपका अधरामृत पूरा ही वस्तु को खेंव ले जाता है, गोपियों ने उस अधरामृत पूरा के सिञ्चन



करने का कहकर अग्नि का महत्व बताया है, अतः सिञ्चन की उक्ति<sup>१</sup> योग्य है, कारण, कि अलौकिक अग्नि अलौकिक भगवान् के अधरामृत से (न कि देवों के अमृत से) शांत होती है।

मरा हुआ काम, अग्नि का रूप धारण कर जलाता रहता है वह (काम) जब जीवित होता है, तब अग्नि रूप का त्याग करता है, अन्य प्रकार से अग्नि रूप को नहीं छोड़ता है। वह अमृत से ही जीवित होता है, किन्तु वह अमृत देवों का अमृत नहीं, यदि उस अमृत से जीता होता तो, देव ही उसको जिला देते। (काम) सृष्टि उत्पन्न करने में कारण है अतः उसका मोक्ष नहीं होता है, जब उसका मोक्ष नहीं होता है तब उसका अति गुप्त, आपके अधरामृत से उसको जिला दो इसीलिए सिञ्चन कहा, नहीं तो मार डालने की प्रार्थना करती, मार डालने की प्रार्थना इसलिए नहीं की, कि गोपियों को यह निश्चय था कि काम के जीने से हम जीवित रहेंगी, नहीं तो मरा हुआ, वह स्वयं जलता हुआ दूसरों को भी जलाएगा।

हे सखे ! यदि आप मन्त्र जानने वाले के समान अधरामृत का सिञ्चन कर उसको जीवित न करोगे, तो विरह से उत्पन्न अग्नि से अपनी देह को जला कर ध्यान पूर्वक आपके चरणों का अनुसरण करेंगी। हमको तो यह ज्ञान है ही नहीं, किस मार्ग से जाना चाहिए अतः आप सखा हैं, आप जिस रास्ते से चलेंगे हम भी वह ही रास्ता स्वीकार करेंगी<sup>२</sup>। गोपियाँ के इस कथन के अभिप्राय को प्रभुचरण ने यों स्पष्ट किया है कि गोपियाँ भगवान् को कहती हैं कि जैसे अब हमको आप दुःख दे रहे हैं, वैसे ही हम भी वैसी ही बन कर, आपके पश्चात्ताप का कारण बनेंगी अर्थात् आपको आर्ति (मरकर आपको विरह दुःख) देंगी।

गोपियाँ कहती हैं, कि यह देह चली जाएगी, तब अन्तर्यामी भी कहा चला जाएगा, हमारे कर्म बीज, तो विरहाग्नि से जल गए हैं, दूसरी देह की प्राप्ति तो होगी नहीं। महादेवजी ने काम को जला दिया जिससे वह उत्पन्न तो नहीं होता है, किन्तु महादेवजी से विपरीत होता है, जैसा कि महादेवजी 'हर' कहलाते हैं यह 'रह'<sup>३</sup> कहलाता है, उसमें भी विशेषता यह है, कि जहाँ एकान्त का अभाव है वहाँ रहता है जिससे 'विरह' कहलाता है, इससे गोपियों ने यह भाव बता दिया, कि आप से एकान्त में न मिलने से 'विरह' ही रहेगा। प्रथम विरह को अग्नि कहा है, उससे दाह तो हो सकता है किन्तु वह जलकर भस्म नहीं कर सकती है जब तक कि वह सब अङ्गों में और सूक्ष्म अवयवों में भी फैलकर जागृत नहीं होती है। जैसे अग्नि के सम्बन्ध से, शुष्क काठ ही जलता है, सर्व उपाधियों के चले जाने पर ही, आपके चरणों में जाना होता है, किन्तु यहां तो हम में आपका स्नेह (उपाधि) रह गया है, जिससे वह (विरह) भी जल्दी हमको जला नहीं सकता है, अतः आप जल्दी अधरामृत सींचकर जिलादो, नहीं तो, मरण का समय आगया है तो, ब्रज में कौन लौट जाएगा और हमारा मरण होगा तो, हमारी भांति आपको भी आर्ति भोगनी पड़ेगी ॥ ३५ ॥

आभास—किञ्च, यदप्युक्तं 'अथवा मदभिस्नेहात् आगता' इति, यदस्माकं स्नेहः स्तुतः, तत्र याथार्थ्यं शृण्वित्याहुः यहीति ।



**आभासायं—**आपने, 'मेरे में स्नेह होने से आप आई हो', यह कहकर जो हमारे स्नेह की प्रशंसा की है उस विषय की सत्यता सुनो, वह सच्चाई इस श्लोक में वर्णन करती है ।

**श्लोक—**यह्यम्बुजाक्ष तव पादतलं रमाया

दत्तक्षणं कचिदरण्यजनप्रियस्य ।

अस्माक्ष्म तत् प्रभृति नान्यसमक्षमञ्जः

स्थातुं त्वयाभिरमिता ब्रत पारयामः ॥ ३६ ॥

**श्लोकार्थ—**हे कमल नेत्र ! वन में रहनेवालों के प्रिय, आपके चरणारविन्द की सेवा, लक्ष्मीजी को भी किसी समय मिलती हैं । उनका जब से हमने स्पर्श किया है और आप से आनन्द की प्राप्ति हुई है तबसे दूसरों के सामने स्थित रहने में हम सर्वथा असमर्थ हैं ॥ ३६ ॥

**सुबोधिनी—**हे अम्बुजाक्ष, दृष्ट्यैव तापनाशक, यहि यस्मिन् क्षणे तव पादतलं अस्माक्ष्म, तत्प्रभृति नान्यसमक्षं अञ्जः सामस्त्येनापि स्थातुं पारयामः । साक्षात् चरणस्पर्शो दुर्लभः । यत्र पुनः पादः प्रतिफलितः, तत्पादतलमुच्यते । रमापि तेनैव जीवति । तदुक्तं नागपत्नीभिः । 'तवाग्निरणु-स्पर्शाधिकारः यद्वाञ्छये'ति । अतस्तत् फलस्थानीयम् । 'रमायाः क्षणं सुखं तेनैव दत्तम्, वचिद् हृदये समागतम्, सुखं तत्रैव भवतीति तत्र स्पर्श एवास्माकं भूमिष्ठस्य, न तु लक्ष्मीवत् हृदये तत्तल-मायाति । अस्माभिविचारितम्, लक्ष्म्या चेदेत-त्प्राप्तम्, तपसा चाञ्चल्यपरिहारेण तदास्मा-भिरपि चाञ्चल्यपरिहारेण तन्निष्ठतया स्था-तव्यम् । किञ्च, अरण्यजनाः प्रियाः यस्य । तेनापि सर्वसङ्गपरित्यागेन स्थातव्यम् । सङ्गा-भाव एव भगवत्तोषहेतुरिति । अरण्यं हि सात्त्विकं वैष्णवं च । (एतेन पुलन्दीस्मारणं वा । पादतल-सम्बन्धिकुङ्कुमसम्बन्धेनैव ता अपि प्रिया आस-

न्निति । तेन पादतलस्य फलपर्यवसायित्वं प्रभु-प्रीतिसाधकत्वं च सहजमिति वयमप्यात्मनि तथैव जानीम इति भावः । स्फुटमिदं न वक्तुं शक्य-मित्येवमुक्तम् ।) अतः त्वत्प्राप्त्यर्थं नान्यसमक्षं स्थातुं शक्नुमः । सर्वथा त्वां यो न प्रपन्नः, शक्त्य-भावः तद्धर्मप्रवेशात्, यो हि यस्य घातकः तद्भा-वापत्तौ तस्मादेव स्थातुं न शक्तो भवति । यथा व्याघ्रादे देहाभिमानी, तथा भगवदीयः, भगवद्-व्यतिरिक्तो हि तद्भावं नाशयिष्यतीति । यत्रैवं सूक्ष्मेक्षिका, तत्रान्यस्य स्थाने गमनं, तस्य च देवतात्वेन भावनं दूरापास्तम् । अतः प्रीतिमात्र-स्तुतिर्यासा अल्पीयसी । अनन्यभावा एव वयं लक्ष्मीवत् । किञ्च, यथा सर्वपरित्यागेन लक्ष्मीः चेत् त्वां शरणं गता, तदा त्वया अभिरमिता जाता, तथा वयमपि जाताः । सर्वदैव स्वप्ने त्व-त्सम्बन्धं प्राप्नुमः । अन्यथा जीवनमेव न स्यात् । एवं भुक्तपूर्वा वयं नान्यत्र प्रेषयितुमुचिता इति ॥३६॥

**व्याख्यार्थ—**हे प्रिय ! आप कमल जैसे नेत्र वाले होने से, दृष्टि से ताप को नाश करते हैं । जिस समय से आपके चरण तल का स्पर्श किया है, उस दिन से लेकर दूसरे के सामने हम पूर्ण रूप से ठहर नहीं सकती हैं । आपके चरण का साक्षात् स्पर्श दुर्लभ है, जहां आपके चरणों के चिन्ह पड़े हैं, उस आकृति को पादतल कहते हैं, लक्ष्मीजी भी इस पादतल से ही अपना जीवन धारण करती है,





और नागपत्नियों ने भी कहा है, कि जिस पाद रेणु की अभिलाषा से लक्ष्मीजी तपस्या करती है, उस रज के स्पर्श करने का अधिकार कालीय को प्राप्त हुआ है इसलिए यह चरण रज फल रूप है। लक्ष्मीजी को भी उस रज ने क्षणिक सुख दिया, वह पाद कभी लक्ष्मीजी के हृदय पर आता है, मुख, हृदय में ही होता है।

हमको तो पृथ्वी पर पड़े हुए चरणातल का स्पर्श ही प्राप्त होता है, लक्ष्मीजी के समान हृदय पर चरण तल का स्पर्श नहीं हुआ अतः हमने विचारा कि जब लक्ष्मीजी को तपस्या तथा चञ्चलता छोड़ने से इस पाद तल की प्राप्ति हुई है, तब हम भी इस प्रकार करें तो हमको भी प्राप्त होंगे, यों विचार कर चञ्चलता (गोप आदि में मन आदि का जाना) त्याग आपके चरणों में निष्ठा<sup>१</sup> करली, अर्थात् लौकिक काम त्याग किया, और आपको अरण्यवासी<sup>२</sup> प्रिय हैं इसलिए हमको भी सर्व त्याग कर आपके पास रहना चाहिए, सङ्ग का अभाव ही, आपके प्रसन्न होने का कारण है इसलिए हम सर्वसङ्ग छोड़, इस अरण्य में आपके पास आई हैं जिससे हम पर प्रसन्न हो जायें। अरण्य सात्विक और वैष्णव है अतः अरण्य में रहने वाले सतोगुणी एवं वैष्णव होते हैं जिससे वे आपको प्रिय हैं। अतः आपकी प्राप्ति के लिए दूसरे के पास हम स्थित रह नहीं सकती हैं। अन्य के पास वह स्थित हो सकता है, जिसने आपकी शरण नहीं ली है। हम आपकी शरण आई हैं जिससे आपके धर्मों ने हममें प्रवेश किया है; अतः आपके अथवा आपके सेवकों के सिवाय दूसरों के यहां स्थिति करने की हममें अब शक्ति का अभाव है।

जो जिसका घातक<sup>३</sup> है उस (मारने वाले) के पास वह ठहर नहीं सकता है, जैसे देह का अभिमानी वाघ के पास ठहर नहीं सकता है क्योंकि बाघ उसका नाश करेगा, इसी प्रकार भगवान् का भक्त अभक्त<sup>४</sup> के पास नहीं ठहरना चाहता है, कारण कि वह अभक्त भक्त के भाव को नष्ट कर देता है जहां वैसी सूक्ष्म दृष्टि (विचार) है वहां अन्य के स्थान में जाना और उसको देव मानना तो दूर ही रहा।

आपने जो हमारे स्नेह की स्तुति की है वह कुछ नहीं है, हम तो लक्ष्मी के समान अनन्य भाव वाली हैं और जब लक्ष्मी सर्व त्याग कर आपके शरण आई हैं तो आपने आनन्द देकर उनसे रमण किया, वैसे ही हम भी सब छोड़कर आपके पास आई हैं, तब आपने हम से भी रमण किया है और हम सर्वदा ही स्वप्न में आपसे सम्बन्ध प्राप्त करती हैं, यदि यों सम्बन्ध न होवे तो हमारा जीवन ही न रहे। इस प्रकार जिनसे आपने पहले रमण किया है उनको दूसरे स्थान भेजना योग्य नहीं है ॥३६॥

(गो० विठ्ठलनाथजी प्रभुचरण स्वतन्त्र लेख में 'अरण्य जन प्रिय का भाव' अथवा कहकर इस प्रकार समझाते हैं, कि उस समय गोपियों को पुलिन्दीओं की स्मृति हो आई, पुलिन्दीओं को भगवान् के साक्षात् चरणों की प्राप्ति तो नहीं हुई थी, किन्तु भगवान् के चरण तल का कुंकुम जो घास पर लगा हुआ था, उस प्रसादी कुंकुम को उन्होंने हृदय पर लगाया, जिससे वे प्रभु की प्रियाएं बनी, इससे यह सिद्ध है, कि पादतल सहज<sup>५</sup> फलदाता फल रूप है एवं प्रभु में प्रीति का साधन भी है, हम भी अपने को पुलिन्दी के समान मानती हैं, यह भाव विशेष स्पष्ट कहा नहीं जा सकता है, इसलिए इतना ही कहा)

१—विश्वास, २—सर्व त्याग कर अरण्य में रहने वाले, ३—मारनेवाला

४—लौकिक—लोक में आसक्त—भगद्विमुख, ५—स्वभाव से,



**आभास—**ननु तस्या दैवगत्या सम्बन्ध आसीत्, स च प्राथमिकः, भवतीनां तु प्रथमतोऽन्यत्रैव सम्बन्धः, अतो वैषम्यमिति चेत्, तत्राहुः श्रीरिति ।

**आभासार्थ—**गोपियों के चित्त में यह शङ्का हुई कि भगवान् यों कह दें, कि तुम लक्ष्मी से अपनी समानता मत करो, कारण, कि लक्ष्मीजी का तो दैव गति से प्रथम ही मेरे साथ सम्बन्ध हुआ है और तुमको प्रथम दूसरों (गोपों) से हुआ है जिससे आप लक्ष्मी की समानता मत करो, इसका उत्तर इस 'श्री' श्लोक में कहती हैं—

**श्लोक—**श्रीर्यत्पदाम्बुजरजश्चकमे तुलस्या  
लब्ध्वापि वक्षसि पदं किल भृत्यजुष्टम् ।  
यस्याः स्ववीक्षणकृतेऽन्यसुरप्रयास-  
स्तद्वद्वयं च तव पादरजः प्रपन्नाः ॥३७॥

**श्लोकार्थ—**जिस लक्ष्मीजी के कटाक्ष अपने पर पड़ने के लिए अन्य देवता प्रयास करते हैं, वह (लक्ष्मी) स्वयं आपके वक्षः स्थल में सौत रहित स्थान पाकर भी, आपके चरण रज की इच्छा करती है, जिस रज में सौत तुलसी का भी भाग है और जिस रज का सेवन सर्व, दास भी करते हैं, वह रज लक्ष्मीजी के समान हमने भी प्राप्त करली है ॥३७॥

**सुबोधिनी—**लक्ष्मीरपि न दैवगत्या भवन्तं प्राप्तवती, किन्तु त्वच्चरणारविन्दार्थं महत्तपः कृतवती । सा न स्त्रीत्वेन त्वदीया, किन्तु भक्त-त्वेन, अन्यथा वक्षसि स्थलं प्राप्य स्वतन्त्रम्, तुलस्या सह सापत्न्यमप्यङ्गीकृत्य, चरणरजो न कामयेत् । चरणरजस्तुलस्या भवति, भक्ता हि भक्तेः । तदुपपादितं प्रथमस्कन्धे । तस्य रजसः माहात्म्यमाह भृत्यजुष्टमिति । तद्रजसैव भृत्यानां शरीरोत्पत्तेः । किलेति प्रसिद्धिः । सर्व एव भक्ताः त्वच्चरणरजसैव सम्पादितदेहवन्तः । अतस्तुलसी तत्र भक्तिरूपा प्रतिष्ठिता । तद्रजः-प्राप्तिर्येषाम्, ते त्वत्सेवका एव भवन्ति । अतो लक्ष्मीः, अन्तःकरणे स्थानं प्राप्यापि, अन्यः-स्पर्क्ष्यतीति चिन्तया, रजश्चकमे । तस्मिन् प्राप्ते तु न शङ्कापि । ननु किमेतावद्भयं लक्ष्म्याः, तत्राहुः । यस्याः स्ववीक्षणकृते अन्यसुरप्रयासः ।

अन्ये सर्व एव ब्रह्मादयो देवाः तपः कुर्वन्ति, 'लक्ष्मीरस्मान् पश्य'त्विति । अन्यथा तेषां कोऽपि पुरुषार्थो न सिध्येदिति । अतो बहुभिः प्रार्थ्यमाना भीता जाता । कश्चिदत्यन्तमपि तपःकुर्यात्, स, को वेद, किं कुर्यादिति । रजःकामनायां तु नेयं शङ्का । प्राप्तौ तु सन्देह एव न भवति । एवं चरणरजसः प्राप्तौ अनन्यगामित्वं निरूप्य स्वस्य तथात्वमाहुः तद्वद्वयं चेति । अस्मानपि बहवः प्रार्थयन्ति, तद्भयादेव पूर्वं चरणरजः स्पृष्टम्, ततो देहोऽपि तच्चरणरजसा समुद्भूत इति सर्वथा तव पादरजःप्रपन्नाः । चकारात् या अपि साम्प्रतं नागताः । या वा महिष्यः, ता एतादृशशरीर युक्ता एव । अतोऽस्मदर्थ एव समागतो भवान् । नात्मानं गोपय । नापि गुप्तः स्थास्यसि । तस्मान्नाग्रहः कर्तव्य इति भावः ॥३७॥

**व्याख्यानार्थ**—लक्ष्मीजीने आपको देवगति से नहीं पाया है किन्तु आपके चरणारविन्द की प्राप्ति के लिए महती तपस्या की है, वह तपस्या स्त्री सम्बन्ध करने के लिए नहीं की है किन्तु भक्त बनने के लिए की है, यदि तपस्या वैसे (भक्त बनने के लिए) न होती तो स्वतन्त्र वक्षःस्थल<sup>१</sup> प्राप्त कर के भी तुलसी से सापत्य<sup>२</sup> भाव होते हुए चरण रज की कामना नहीं करती, चरण रज पर तुलसी का अधिकार है वह तो प्रसिद्ध ही है, और लक्ष्मीजी चरण रूप भक्ति की भक्त है यह प्रथम स्कन्ध में कहा ही है।

भगवान् के चरण रज का माहात्म्य वर्णन करती हुई गोपियाँ कहती हैं कि आपकी चरण रज सेवकों ने सदा सेंवन की है और यह प्रसिद्ध ही है कि सेवकों के शरीर रज से ही बने हैं, सब भक्त आपके चरण रज से देह वाले हुए हैं, अतः चरण रज में एवं चरण रज से बने हुए शरीरों में, तुलसी भक्ति रूप में स्थित रहती है, जिनको वह रज प्राप्त हुई है, वे ही आपके सेवक बनते हैं और आपकी सेवा करते हैं, अतः लक्ष्मी अन्तःकरण में स्थान प्राप्त कर के भी जो आपकी चरण रज चाहती है उसका कारण यह है, कि लक्ष्मीजी को भय<sup>३</sup> था कि दूसरे मुझे चाहेंगे, अतः रज पाकर निश्चिन्त बन जाऊँ, जिससे वे मुझे न चाहें और न पा सकें।

लक्ष्मीजी को इतना भय इसलिए है कि ब्रह्मादिक 'लक्ष्मी हमको देखे' इसलिए तपस्या कर रहे हैं क्योंकि लक्ष्मी की कृपा के बिना कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं होता है, बहुतों ने इस प्रकार लक्ष्मीजी के मिलने के लिए प्रार्थनाएँ की, जिससे वह डर गई। कोई अत्यन्त तपस्या करे, उस तपस्या से न जाने कौन क्या कर डाले. भगवान् के चरण रज की कामना करने पर यह शङ्का (किसी प्रकार भय) न रहेगी। चरण रज की प्राप्ति हुई तो, कोई मेरा स्पर्श मात्र कर सके, वैसी शङ्का भी न रहेगी। इस प्रकार चरण रज की प्राप्ति जिनको हुई वे अनन्य हो जाते हैं जैसे लक्ष्मीजी अनन्य होने से निर्भय बन गई, वैसे ही हम भी आपके चरण रज प्राप्ति से अनन्य हो, निर्भय होगई है। यों तो, हमको भी बहुत चाहते हैं उनके भय से, हमने भी प्रथम ही चरण रज का स्पर्श कर लिया जिससे देह भी, उस चरण रज से बन गया है, इस प्रकार सर्वथा आपके चरण रज की शरण ली है। श्लोक में 'च' शब्द आया है, उसका भाव बताती हैं कि जो अब नहीं आई है अथवा जो महीषीएँ हैं वे भी इस प्रकार के शरीर वाली ही हैं अर्थात् उनके शरीर भी रज से बने हैं। अतः आप हमारे लिए ही आए हो, अपने को छुपाओ मत, और आप छिप भी न सकोगे, इसलिए आप आग्रह मत करो ॥३७॥

**आभास**—एवं स्वस्य भगवदेकभोग्यशरीरत्वमुपपाद्य प्रार्थयन्ति तन्न इति ।

**आभासार्थ**—इस प्रकार अपने शरीर का उपभोग करने वाले एक भगवान् ही है और अन्य कोई नहीं हो सकता है यह सिद्ध कर अब 'तन्नः प्रसीद' इस श्लोक में प्रार्थना करते हैं—

**श्लोक**—तन्नः प्रसीद वृजिनार्दन तेंद्रिमूलं

प्राप्ता विसृज्य वसतीस्त्वदुपासनाशाः ।

त्वत्सुन्दरस्मितनिरीक्षणतीव्रकाम-

तप्तात्मनां पुरुषभूषण देहि दास्यम् ॥३८॥



**श्लोकार्थ—**हे दुःख दूर करने वाले ! हम पर कृपा करो, कारण कि आपके चरणों की सेवा की आशा से घर बार छोड़ कर आपके चरणों की मूल में आकर हम पड़ा हैं । हे पुरुष भूषण ! आपके सुन्दर मन्द मुसकान सहित निरीक्षण से उत्पन्न काम ने हमको संतप्त किया है अतः आप हमारे लिए दास्य का दान कजिए ॥३८॥

**सुबोधिनी—**पूर्वश्लोकेनैव भर्तृशुश्रूणविधिनिराकृतः । तदपरित्यागः सुतरामेव तेनैव निराकृतो भवति । अनेनापि निराकरणं प्रार्थयन्ति । भगवत्कृपाभावे तादृशेनैव सम्बन्धो भवेदिति, कृपा हि सर्वतोऽधिका, तत्तस्मात्कारणात् प्रसीद, प्रसन्नो भव, त्वयि प्रसन्ने सर्वे सेतस्यतीति । ननु भवतीनां प्रतिकूलमदृष्टदुःखप्रापकमस्ति, अतः कथं प्रसाद इति चेत्, तत्राहुः वृजिनादनेति । वृजिनं दुःखजनकं पापम्, स्वभावत एव सर्वेषां येन केनापि सम्बन्धेन तदर्दयसि । प्रसादे हेतुमाहुः तैर्घ्रिमूलं प्राप्ता इति । यस्तु चरणतलं प्राप्नोति, स प्रसादमपि । स च प्रसादः पशुपुत्रादिरूपो मा भवत्विति स्वाधिकारमन्येभ्यो ध्यावर्तयन्ति विसृज्यवसतीरिति । गृहस्थाश्रमस्त्यक्तः न तु गृहमात्रमिति वसतीरिति बहुवचनम् । परित्यागेऽपि हेतुमाहुः त्वदुपासनाशा इति । त्वत्सेवां करिष्याम इति आशामात्रणं पूर्वसिद्धं त्यक्तम् । तत्र समागतानां पुनर्गृहसम्बन्धे किं वक्तव्यमिति । अतो देयं प्रार्थयन्ति त्वत्सुन्दरेति । तव सुन्दरं यत्स्मितं मोहकमप्यानन्दजनकं त्वत्सम्बन्धात् परमानन्दरूपं तादृशस्मितपूर्वकं यन्निरीक्षणं, तेन जातः तीव्रो यः कामः, तेन तप्ता-

न्तःकरणानां अस्माकं, पुद्गलाणां भूषणरूप, अनन्तकोटिकन्दर्पलावण्यरूप, स्वतः पुरुषार्थरूपमेव दास्यं देहि । (अधिकारिभेदेन दास्यस्यानेकविधत्वाद्देयं रूपं त्वतापोक्त्या व्यज्यते । उक्ततापविशिष्टानां यदेतत्तापनिवर्तकं तदिति । किञ्च, प्रभो-तरपेश्वस्तुसमर्पणे हि दास्यं भवति, न त्वन्यथा । एवं सति यथास्माकमुक्ततापेन प्रचुरा त्वदपेक्षा, तथा तवास्मदपेक्षायां स्वयमुद्यम्यास्मदुपभोगः कार्यं इत्ययः पर्यवस्यति । अन्यथा दास्यस्य कृति-साध्यत्वेन दानोक्तिरनुपपन्ना स्यात् । अत एव तथा सम्बोधनं पुरुषो भूत्वा भूषणरूपेति । तद्वि कण्ठादिषु सर्वेष्वङ्गेषु भवति । त्वमपि तथा भूत्वा दास्यं देहीति वाक्यैकवाक्यतया प्राप्यते । भूषणत्वोक्त्यैव स्वतन्त्रपुरुषार्थताप्युक्ता । मणिलखिततद्विभूषणत्वसम्पत्त्यर्थे मध्ये लाक्षावदपि भवति । तेन महानपि तद्धारणार्थं लाक्षामपि धारयति, तुच्छामपि, तथा मध्ये कामोपयोगः इति न तदुपाधिकृतं दास्यवरणम्, अपि तु तद्विपरीतमिति भावः ।) अतो दास्यार्थिन्य एव वयम्, न तु विवाहार्थिन्यः । अत उपनयनाद्यपेक्षापि न लोकव्यवहारेण कर्तव्येति भावः ॥ ३८ ॥

**व्याख्यार्थ—**आपने हमको पति सेवा करने की जो विधि बताई थी, उसका खण्डन हमने प्रथम श्लोक से ही कर दिया है, और उनका (पतियों का) त्याग नहीं करना चाहिए इसका भी पूर्ण रूप से खण्डन उस श्लोक से ही हो गया है, इस श्लोक में भी उनके (पतियों के) त्याग न करने के पक्ष का खण्डन प्रार्थना रूप से करती हैं । वैसे (लौकिक) पतियों से सम्बन्ध तो तब होता है, जब आपकी कृपा नहीं होती है, जिन पर आपकी कृपा नहीं है, वे ही उनसे सम्बन्ध रखना चाहती हैं । हम तो समझती हैं, कि आपकी कृपा सबसे अधिक है क्योंकि आपकी कृपा संसार छुड़ाती है और अन्य प्रमाण संसार में पटकते हैं, अतः हम पर कृपा करो । आपकी कृपा हुई आप प्रसन्न हुए तो सर्व की सिद्धि हो जाएगी ।



हम कृपा करें, किन्तु आपका अदृष्ट<sup>१</sup> प्रतिकूल<sup>२</sup> है जो आपको दुःख दे रहा है, जिससे हम प्रसन्न होकर कृपा क्या करें ? यदि आप यों कहो तो उसका उत्तर यह है, कि भने हमारा भाग्य उलटा हो, वह हमें दुःख दे, किन्तु मनुष्य को किसी भी पाप से दुःख प्राप्त होता है तो, उसको आप नाश करते हो इसीलिए आपका नाम वृजिनादन है, अतः आप प्रसन्न हो कृपा करो ।

हम आप पर प्रसन्न हो कृपा करें, उसका कोई कारण होना चाहिए, कारण बिना कार्य नहीं बनता है यदि आप कारण मांगते हैं तो प्रसन्न होने का प्रबल कारण हम बताती हैं, कि हम आपके चरण मूल में प्राप्त हुई है, जो चरण मूल को पाता है, वह प्रसाद को भी पाता है । वह कृपा वंसी नहीं चाहिए जैसी अन्य लौकिक मनुष्य, पशु पुत्र धन आदि को मांगते हैं, क्यों हम उन जैसी नहीं हैं, वे तो गृहस्थ में आसक्त हैं हम तो वासना सहित गृह से सम्बन्ध रखने वाले सर्व पदार्थों की आशा त्याग कर आपके पास आई हैं अर्थात् केवल गृह नहीं किन्तु गृहस्थाश्रम भी छोड़ दिया है अतः हमारा अधिकार उन लौकिकों जैसा नहीं है । यदि आप (भगवान्) पूछें कि घर क्यों छोड़ा ? क्या कोई घर में दुःख था ? इसके उत्तर में कहती है, कि हमने घर किसी प्रकार के लौकिक दुःख होने के कारण से नहीं छोड़ा है, किन्तु आपकी सेवा प्राप्त हो इसी आशा मात्र से, पहले बना हुआ गृहस्थाश्रम त्याग दिया है ! गृह सर्व प्रकार से छोड़ कर जिन्होंने आपके चरण कमल पा लिए हैं उनको फिर घर से सम्बन्ध करने को कहना बृथा है । अब गोपियाँ उसकी प्रार्थना करती हैं, जिसकी उनको कामना है, वे कहती हैं कि हे प्रभु ! आप पुरुषों में भूषण रूप हो, क्योंकि आपका स्वरूप अनन्त कोटि<sup>३</sup> कामदेवों के समान सुन्दरता वाला है, और ऐसे सुन्दर लावण्य वाले स्वरूप के मन्द मुसकान से उत्पन्न परम आनन्द रूप कटाक्षों ने जो हमारे अन्तःकरण में तीव्र ताप पैदा किया है उसकी शान्ति के लिए स्वतः पुरुषार्थ रूप दास्य दो । श्री प्रभु चरणों के यहां दिए हुए रत्न लेख का भावानुवाद<sup>४</sup>—

गोपियाँ भगवान् से जिस दास्य का दान मांगती हैं, उसका स्वरूप, अपने अन्तःकरण में भगवान् के लिए उत्पन्न काम को कह कर बता दिया है, अर्थात् हमको वह दास्य दो, जिससे हमारा काम शान्त हो जावे, और वह दास्य सिद्ध तब होता है, जब प्रभु को जिस वस्तु की अपेक्षा हो, वह प्रभु को अर्पण की जावे, अन्य प्रकार सिद्धी नहीं होती है । अतः उस ताप को शान्ति के लिए हमको आपकी आवश्यकता है । वैसे आपको हमारी अपेक्षा हो तो आपको स्वयं प्रयत्न कर, हमारा उपभोग करना चाहिए, नहीं तो, दास्य जीव की कृति से सिद्ध हो सकता है वैसे मानने पर हम जो दास्य का दान आपसे मांग रही हैं, वह हमारा कथन अयोग्य हो जाएगा । इसलिए ही भगवान् को पुरुष भूषण संबोधन दिया है जिसका भावार्थ है कि आप पुरुष होकर भूषण रूप हो, वह (भूषण) कण्ठ आदि सर्व अङ्गों में धारण किया जाता है । आप भी इस प्रकार भूषण हो हमारे अंग अंग में व्याप्त<sup>५</sup> हो जाओ वंसा दास्य दो । भूषणों में मणियों के जड़ाव से भूषणों की शोभा बढ़ती है, वैसे सुन्दर आभूषण महान् पुरुष धारण करते हैं किन्तु उनके धारण करने के लिए तूच्छ लाख को भी धारण करते हैं उसी प्रकार (लाख के समान) यहां काम है वह दास्यवरण कामोपाधिकृत नहीं है इसीलिए स्त्रीत्व से वरण का दान न मांग कर, दास्य से जो वरण मांगा है वह शुद्ध



स्नेहात्मक काम है। हे प्रेष्ठ ! हम दास्य हो चाहती हैं, आपसे विवाह करना नहीं चाहती हैं, अतः जनोई आदि संस्कारों की अपेक्षा भी लोक व्यवहारा के समान नहीं करनी चाहिए ॥३८॥

**आभास—**ननु भवतीनां सर्वाणामेव दास्यवरणे को हेतुः, सालोक्यादेरपि फलस्य विद्यमानत्वात्, तत्राहुः वीक्ष्यालकावृतमिति ।

**आभासार्थ—**सालोक्य आदि मुक्तियाँ फलरूप विद्यमान हैं तब आप सब दास्य से वरण क्यों मांग रही हो ? उसका क्या कारण है ? इसके उत्तर में 'वीक्ष्यालकावृत' श्लोक कहती हैं—

**श्लोक—**वीक्ष्यालकावृतमुखं तव कुण्डलश्चि  
गण्डस्थलाधरसुधं हसितावलोकम् ।  
दत्ताभयं च भुजदण्डपुगं विलोक्य  
वक्षः श्रियंकरमणं च भवाम दास्यः ॥३९॥

**श्लोकार्थ—**अलकों से आच्छादित कुण्डलों से सुशोभित गण्डस्थलों पर, रस वाले तथा अधर में सुधावाले हास्य युक्त दृष्टि वाले आपके श्रीमुख को, तथा आपके अभय देने वाले भुजदण्ड को एवं लक्ष्मीजी के ही रमण स्थली आपकी छाती को देख कर, हम आपकी दासियाँ हुई हैं ॥३९॥

**सुबोधिनी—**अनेन लोकेप्सायां पतिर्न त्यक्तव्य इत्यत्रोत्तरमुक्तम् । लोके हि पुरुषार्थत्रयम् । चतुर्विधो मोक्षः । इन्द्राद्यैश्चर्यभावेन स्वर्गप्राप्तिः । इहलोके परमा लक्ष्मीः । तदत्र त्रयमपि दास्ये सर्वोत्कृष्टमस्तीति तदुपपादयन्ति । प्रथमं सारूप्यं सालोक्यं सामीप्यं सायुज्यमिति मोक्षभेदाः ते दास्याग्रे अप्रयोजकाः । यतो मुखारविन्ददर्शनेन ते कामा निवर्तन्ते इति भक्तिरूपमुखारविन्दस्य तदपेक्षयोत्कृष्टधर्मवत्त्वं निरूप्यते । अलकाः सारूप्यमिव प्राप्ता भ्रमराः । ते बहव एवात्र आवृत्य मुखं तिष्ठन्ति । अतः सारूप्यं गतानामपि यदि भक्तिशेषत्वम्, तदा किं सारूप्येण । किञ्च, मुखं कुण्डलश्चि, कुण्डलाभ्यां श्रौर्यस्य, कुण्डलयोर्वा श्रौर्यस्मात् । सामीप्ये हि नैकद्वयं भवति । अत्यन्तसामीप्यं जायमानमपि कुण्डलादप्यधिकं न भविष्यति । ते चेत्सांख्ययोगरूपे भगवत्प्रमाणवलम्बिनी भगवदधीनगतिमिता पुनर्भगवन्मुख-

निरीक्षके, तदा किं सामीप्येन । किञ्च, गण्डस्थलाधरसुधमिति । गण्डी स्थलरूपौ विशालौ । स्थले हि रसः पातुं शक्यत इति । अधरे च सुधा यस्मिन् । गण्डस्थले स्थित्वा अधरसुधा पातुमत्र शक्येति । सालोक्ये हि आनन्दमात्रमक्षरामृतपानं च । अक्षरापेक्षयापि गण्डस्थले स्थितिः चुम्बनाद्यर्थमुत्तमा । अधररसश्च अक्षररसादुत्तम इत्युक्तम् । कुण्डलश्रीयुक्तं गण्डस्थलमित्यस्मिन् पक्षेऽपि सामीप्यात् भक्तौ शास्त्रीयो रसः अधिको निरूपितः, परस्परं त्वद्गुणवादरूपः । अक्षरादाधिवयं तु अधररसे स्पष्टमेव । किञ्च, हसितावलोकमिति । हसितपूर्वकमवलोकौ यस्मिन् । ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानां न भक्तिविलासः । हासो हि सर्वरसोद्बोधरूपः । ज्ञानं चाविर्भूतम् । ब्रह्मानन्दे तु द्वयमप्यव्यक्तम् जले निमग्नस्य जलपानवत् । अनुभवरसो हि भिन्नतया स्थितौ भवति । अतो भक्तिरूपमुखस्य



दृष्टत्वात् दास्यमेव फलम्, न मोक्षः भुजदण्डयुगं च विलोक्य इन्द्रादिभावेनापि स्वर्गो न प्रयोजक इति निरूपयन्ति दत्ताभयमिति । स्वर्गो इन्द्रः परमकाष्ठा प्राप्तः । तेऽपि दैत्येभ्यो निरन्तरं भीताः इन्द्रादयः । तेषामप्यभयदातृ भगवतो भुजदण्डयुगलम् । तच्चेदत्रैवास्ति, तत्परित्यज्य किमिन्द्रत्वेन । चकारात् न केवलमभयमात्रं प्रयच्छति, किन्तु क्रियाशक्त्या यज्ञादिना हविरपि प्रयच्छति । यथाग्रे इन्द्रः स्वाधिकारसमाप्तौ मुक्तो भवति । दण्डपदेनानुल्लङ्घ्यशासनत्वमुक्तम् । उभयत्र च दण्डो युगपदेन निरूपितः । ततो हि सर्वथा दैत्य-

नाशो भवति । किञ्च, वृक्षोऽपि विलोक्य । लोकानां श्रिया रक्षणं भवति । श्रीरपि तत्र रमते चकाराद्धर्मस्यापि । अतो दास्य एव भवामः । (अत्र वीक्षणस्य दासीभवनहेतुत्वोक्त्या यत्रायं भावो नास्ति, तेषां नैतद्वीक्षणमस्ति, विधिपुक्तत्वाभावेन तद्विपरीतविध्यनङ्गीकारश्च युक्त इति ज्ञाप्यते । यदप्युक्तं भगवता 'अस्वर्ग्य'मित्यादि स्वभजने दोषषट्कम्, तदपि षड्भिर्गुणैर्निवारितम् । न हि परमपुरुषार्थसाधकं पापं भवति । फलत एव पापस्य निन्द्यमानत्वात्) ॥३६॥

व्याख्यायं—भगवान् ने गोपियों को कहा था, कि जिनको इस लोक एवं परलोक में कीर्ति तथा सुख की इच्छा है, उनको पतिश्री का त्याग नहीं करना चाहिए उसका उत्तर इस श्लोक में देती है—

लोक में तीन पुरुषार्थ है—१-चतुर्विध<sup>१</sup> मोक्ष, २-इन्द्र आदि ऐश्वर्य भाव से स्वर्ग की प्राप्ति, ३-इस लोक में अतिशय धन, ये तीन ही दास्य में विशेष रीति से और उत्तम मिलते हैं, जिनको गोपियाँ इस श्लोक में सिद्ध करती है ।

पहले, जो मोक्ष के चार प्रकार सारूप्य, सालोक्य, सामीप्य और सायुज्य कहे हैं, वे दास्य के आगे व्यर्थ हैं, कारण कि भगवान् के मुखारविन्द के दर्शन करने से मोक्ष की कामना ही नष्ट हो जाती है, क्योंकि भक्ति रूप मुखारविन्द में मोक्ष से भी उत्तम धर्म<sup>२</sup> है, जिसका वर्णन गोपियाँ इस प्रकार करती हैं कि १—सारूप्य मुक्ति से भी मुखारविन्द में उत्कृष्ट आनन्द होने से ही जिन भक्तों ने सारूप्य मुक्ति पाई थी, तो भी उनके अन्तःकरण में भक्ति रस की इच्छा रह जाने, से वे भगवान् के अलक रूप बनकर मुखारविन्द का आनन्द ले रहे हैं, जैसे भ्रमर कमल रस पीने के लिए कमल को आच्छादित कर देते हैं, वैसे ही ये भक्त भी अलक रूप भ्रमर बन कर, भगवान् के मुखारविन्द का रसपान कर, सारूप्य मुक्ति से विशेष आनन्द प्राप्त कर रहे हैं । इससे जाना जाता है कि जब जीव को मुक्त होने पर भी, भजनानन्द के रस प्राप्ति की कामना शेष रूप से रह जाती है, तो वंसी सारूप्य मुक्ति की प्राप्ति से क्या लाभ ? अतः हम सब दास्य माँगती हैं ।

२—सामीप्य मुक्ति से भी दास्य की विशेषता बताती हैं, कि भगवान् के मुख से कुण्डलों से (सांख्य योग) की शोभा है अथवा कुण्डलों से मुख की शोभा हो रही है, दोनों प्रकार से अर्थ करने से, यही भाव प्रकट होता है, कि सामीप्य मुक्ति में भी, जीव को इतनी भगवान् की समीपता नहीं मिलती है, कि, जितनी कुण्डलों को कान में स्थिति करने से मिली है, यों कहने का स्पष्ट आशय यह है, कि सांख्य और योग भागवत, भगवद्गीता आदि प्रमाणों का आश्रय करते हैं और भगवान्

की आज्ञानुसार कार्य करते हैं फिर यहाँ कुण्डल रूप से भगवान् के मुख का निरीक्षण करते हैं, इसी प्रकार जो जीव भागवतादि शास्त्रों का आश्रय कर उनमें की हुई भगवान् की आज्ञा के अनुसार चलते हुए भगवान् के मुखारविन्द का दर्शन करते हैं, उनको सामीप्य मुक्ति से विशेष समीपता कुण्डलों के समान मिलती है, जिससे वे दास्य प्राप्त कर अत्यन्त समीप रहते हुए मुखारविन्द का आनन्द लूटते हैं और फिर सामीप्य मुक्ति की लेश भी उनको इच्छा तो रहती ही नहीं, किन्तु उसको इस आनन्द के आगे तुच्छ समझते हैं।

३—सालोक्य मुक्ति से भी दास्य की विशेषता प्रकट करती हैं— भगवान् के मुखारविन्द में जो कपोल हैं वे विशाल हैं और अधर है उसमें 'सुधारस' भरा हुआ है, सालोक्य मुक्ति में तो केवल आनन्द और अक्षर के गणितानन्द रूप अमृत का पान मिलता है, किन्तु यहाँ तो भगवान् के विशाल गण्डस्थलों में स्थित रहकर कपोल दुम्बनादि रस की प्राप्ति के साथ अधर सुधा का रस पान किया जाता है, जो अधर सुधा रस अक्षर रस से उत्तम है, क्योंकि अक्षर रस गणित आनन्द वाला है और अधर सुधारस अगणित (अनन्त) आनन्ददाई है, श्लोक ने कुण्डलश्चि, गण्डस्थलाधर सुध. दोनों पृथक् है किन्तु यदि इसको साथ में लेकर इस प्रकार अर्थ किया जाए कि कुण्डलों की शोभा से युक्त गण्ड-स्थल है, तो भी कुण्डल, गण्डस्थल के अंग होते हैं जिससे सामीप्य मुक्ति भक्ति का अंग हो जाती है, अतः सामीप्य मुक्ति से भी भक्ति में शास्त्रीय रस अर्थात् भगवद्गुणगान रूप रस अधिक कहा गया है, अधर रस, तो अक्षर के रस से विशेष है यह तो स्पष्ट ही है । अब सायुज्य से उत्तमता बताती है—

भगवान् के मुखारविन्द में हास्य युक्त अवलोकन है अर्थात् भगवान् के मुख के जब दर्शन करते हैं तब आपकी मन्द मुस्कान वाले कटाक्ष से जो अनुपम आनन्द प्राप्त होता है, वह सायुज्य में नहीं है, कारण कि, ब्रह्मानन्द में जो लीन हो जाते हैं उनको भक्ति में जो विलास है उसकी प्राप्ति नहीं होती है, भगवान् की मन्द मुस्कान ही सर्व रसों को जानूत करती है और ज्ञान को भी प्रकट करती है। ब्रह्मानन्द में तो दोनों ही (रस तथा ज्ञान) छिपे रहते हैं जैसे जल में डूबा हुआ, न जल का पान कर सकता है और न उसको उस जल के रस का ज्ञान हो सकता है। सायुज्य मुक्त को भी न ब्रह्म के आनन्द का ज्ञान होता है और न उसके रस का स्वाद प्राप्त होता है। ब्रह्म के स्वरूप के ज्ञान का तथा उसके रस का अनुभव उस अक्षर में मिल जाने पर नहीं होता है किन्तु अलग स्थिति में ही होता है, अतः भक्ति रूप मुख का जिसमें दर्शन होता है वंसा दास्य ही फल है और मोक्ष फल नहीं है। इस प्रकार लोक के तीन फलों में से, एक मुख्य फल मोक्ष का निराकरण कर (भक्ति से हीनता दिखाकर), अब दूसरे स्वर्ग फल की हीनता सिद्ध करती हैं, स्वर्ग में परमफल 'इन्द्र' पदवी है, वे इन्द्र आदि देव भी स्वयं निर्भय नहीं हैं, उनके भय को मिटानेवाली भगवान् की भुजाएँ हैं, वे भुजाएँ इस दास्य में स्वतः प्राप्त होती हैं, तो फिर उनको (भुजाओं को) छोड़कर इन्द्रादि पद के लिए स्वर्ग से क्या लाभ अर्थात् उसकी कौनसी आवश्यकता है ? किसी प्रकार भी नहीं है।

श्लोक में जो 'च' शब्द दिया है उसका आशय यह है, कि भगवान् देवों को केवल अभय दान नहीं देते हैं किन्तु क्रिया शक्ति (यज्ञ आदि) से 'हवि' भी देते हैं जिससे इन्द्र अधिकार पूर्ण होते ही मुक्त हो जाए । श्लोक में भुजाओं के लिए केवल 'भुज' नहीं कहा है, किन्तु 'भुजदंड' कहा है जिसका





भावार्थ यह है कि भुजाएँ दण्ड के समान हैं जिससे इन्द्रादि को भयभीत करने वाले दैत्य भी भगवान् की आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकते हैं तथा यदि ब्राह्मण भी वेद की आज्ञानुसार यज्ञ नहीं करें तो उनको भी उनसे शिक्षा करते हैं, इस प्रकार भुजदण्डों से भगवान् एक तरफ ऐहिक दुःख दूर करते हैं, दूसरी तरफ पारलौकिक सुख देते हैं। जिससे सर्व प्रकार से दैत्यों का नाश होता है।

तीसरे पुरुषार्थ (उत्कृष्ट लक्ष्मी) की भी तुच्छता बताती है—

जिस लक्ष्मी के प्राप्त होने से, मनुष्य आनन्द भोग सकते हैं, जो लक्ष्मी लोकों के रमण का साधन है, वह लक्ष्मी जिस आपके वक्षस्थल को अपने रमण का स्थल बना रही है और जिस वक्षस्थल में लक्ष्मी की प्राप्ति का साधन धर्म विराजता है, उस वक्षस्थल को देखकर, हम आपकी दासी बनी हैं, अतः वैसे वक्षस्थल के दर्शन करने वाली हमको न लक्ष्मी की और न धन की आकांक्षा है। उपरोक्त विवेचन से यह बताया कि हम तीनों पुरुषार्थों को दास्य से अल्प फल समझती हैं, अतः दास्य की प्रार्थना की है।

श्री प्रभुचरण श्री विदुःनाथजी इन श्लोक पर निचे हुए स्वतन्त्र लेख में आज्ञा करते हैं— जनमें प्रेम है उनको भगवान् के रसात्मक अलौकिक<sup>१</sup> श्री अंगों का दर्शन होगा और श्री अङ्गों के वैसे दर्शन होने से ही, दास्य भावना जागृत होगी जिससे दास्य ही माँगेगी। यह इस प्रकार अलौकिक वेदाज्ञा के पालन करने से नहीं हुआ है जिससे गोपियों ने घर लौट जाने की (विधि) (शास्त्राज्ञा) को माना नहीं वह योग्य ही है। स्त्रियों के लिए पति का त्याग कर अन्य का (मेरा—प्रभु का) भजन व्यभिचार है, जिसमें छ दोष हैं वे दोष भी भगवान् के दर्शन से प्राप्त छ गुणों से निवारण हो गए। वह कार्य कभी भी पाप नहीं हो सकता है, जो परम पुरुषार्थों को सिद्ध कर सकता है। पाप वह होता है जिसका फल दुःख होता है, दुःख रूप फल होने के कारण ही, पाप की निन्दा की जाती है, दास्य से तो परम आनन्द फल मिलता है जिससे उसकी निन्दा तो नहीं होती है, किन्तु प्रशंसा होती है। अतः दास्य ही परम फल है हम उसको ही चाहती हैं ॥३६॥

आश्रय का तात्पर्य यह है कि ये शास्त्र सांख्य और योग का माहात्म्य दिखाते हुए कहते हैं, कि इनके करने से मोक्ष आदि की प्राप्ति होगी, जो जीव सांख्य और योग का सेवन करते हैं, उन जीवों को वे (सांख्य तथा योग) संसार से छुड़ा कर उच्च पद दिलाते हैं इस प्रकार जब सांख्य और योग में दी हुई आज्ञा का पालन करते हैं, तब भगवान् ने इनको अपने कुण्डल बनाकर यह आनन्द दिया।

**आभास—**ननु तथापि लोकविद्विष्टं स्त्रीणामभिसरणम्, अतः सन्मार्गरक्षणार्थं प्रमाणसिद्धमप्येतन्न कर्तव्यम्, अतः श्रवणदर्शनादिकमेव कर्तव्यमिति चेत्, तत्राहुः का स्त्रीति।

**आभासार्थ—**गोपियाँ भगवान् को कहती हैं, कि यदि आप यह कह दो, कि सन्मार्ग की रक्षा के लिए आपने जो कहा वह प्रमाण से सिद्ध भी है, तो भी आपको यों नहीं करना चाहिए कारण कि



जो स्त्रियाँ अपने जार के पास रमणार्थ जाती हैं, उनकी लोक में निन्दा होती है, अतः आपको हमारा श्रवण दर्शन आदि ही करना चाहिए, इस पर हमारा यह उत्तर है, जो, हम इस (का स्वयं) श्लोक में कहती हैं।

**श्लोक—**का स्वयं ते कलपदामृतवेणुगीत-

सम्मोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम् ।

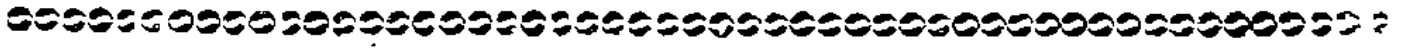
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं

यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन् ॥४०॥

**श्लोकार्थ—**हे अङ्ग ! आपने जिन स्त्रियों को अव्यक्त मधुर अमृत से भरे हुए वेणु गीत से मोहित कर लिया है, वे तो सब आर्यचरित से डिगेगी ही, जब कि आपके त्रैलोक्य स्वरूप को देखते ही पक्षी, वृक्ष और गृह भी पुलकित हो जाते हैं ॥४०॥

**सुबोधिनी—**अयं धर्मः पुरुषाणां वक्तव्यः, न तु स्त्रीणाम्, असंभावितत्वात् । नह्यसंभावितो धर्मो भवति । एवं धर्मनाशे धर्मस्थापकं स्वरूपमेव हेतुः, अङ्गुतकर्मत्वात् । (वस्तुतस्तु स्वरूपसम्बन्धिनां भक्तानां धर्म स्वरूपेणैव रक्षति । तद्वान्यभावेभ्यो रक्षणमेतद्भावोपपन्नं च । ये स्वरूपधर्मसम्बन्धिनस्तांस्तैरेवेति न किञ्चिदनुपपन्नमिति भावः । अत एवैवं स्वरक्षणेन स्वान्तरङ्गत्वज्ञापनाय) अङ्गेति सम्बोधनम्, अप्रतारणाय च । या स्त्री लोके स्त्रीशब्दवाच्या सा कथमार्यचरितान्न चलेत् । त्रिलोक्यां सत्त्वरजस्तमः कार्यरूपायाम् । तामसीनां मौढ्यात् आर्यचरिते स्थितिं मत्वा तन्निराकरणम् । राजसीनां स्वभाव एव । सात्त्विकीनां सत्त्वाद्धर्मबुद्धिमाशङ्क्य तन्निराकरणम् । आर्यमार्गपरित्यागे हेतुः ते कलपदामृतवेणुगीतसम्मोहितेति । सम्मोहिता आर्यचरितावृतत्येव । सम्मोहः पञ्च पर्वाविद्यास्थानीयः । भगवत्सम्बन्धात् अविद्या तु न बाधते, परमन्य एव बाधकाः । तेषां बल ते

इति, त्वदीया इति । कलान्यव्यक्तमधुराणि यानि पदानि तत्राविर्भूतं यदमृतं तदेव वेणुद्वारा गीतं तेन संमोहः । गीतं देहमोहजनकम्, 'गायन्तं स्त्रियः कामयन्त' इति । स्त्री तु देह एव । इन्द्रियाणां व्यामोहको वेणुः, रसात्मकत्वात् । अमृतं प्राणानाम् । पदान्यन्तःकरणस्थ । अव्यक्तता आत्मन इति सम्यग्विमोहिताः । आर्याः प्रमाणबलविवेकिनः । प्रमाणे हि इन्द्रमहेन्द्रयोरपि भेदस्वीकारः । पृथगुपस्थिताः सर्व एव भिन्ना इति । अन्यथा इन्द्रयाजिनोऽग्रे सम्बत्सरान्ते प्रायश्चित्तश्रवणं न स्यात्, 'सम्बत्सरस्य परस्तादग्नये व्रतपतये पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपे' इति । अतो देहव्यतिरिक्तः स्वरूपेणोपस्थितोऽपि प्रमाणबले विरुध्यते । वस्तुविचारस्तु प्रमेयबलमाश्रित्य अन्यथा विधिनिषेधविधयो व्यर्थाः स्युः । तदुत्तरत्र वक्ष्यति एकादशे । अतो मार्गान्तरविरोधो मार्गान्तरे नोपयुज्यत इति मर्यादाभङ्गोऽत्र न दूषणम् । एतस्योत्तरमग्रे शुकश्च वक्ष्यति, रासानन्तरम्, 'धर्मव्यतिकरो दृष्ट' इति । तस्मादत्र फलस्य



सिद्धत्वात् साधनदृष्ट्या अपकीर्तिः नास्मप्रति-  
बन्धिका । किञ्च, न केवलं नाम्ना मर्यादाभङ्गः,  
किन्तु स्वरूपेणापि, तदाहुः त्रैलोक्यसौभगमिति ।  
त्रैलोक्यस्यापि सुभगत्वं यस्मात् । यथा सूर्येण  
दिनम्, चन्द्रमसा रात्रिः, तथा त्रैलोक्यमेव भग-  
वद्रूपेण सुन्दरतां याति । इदमिति प्रत्यक्षसिद्धम् ।  
चकारादनुभावांश्च । तच्छ्रुत्वा एतद् दृष्ट्वा का  
वा आर्यचरितान्न चलेत् । अस्त्वियं प्रमाणवार्ता  
दुर्वला, प्रकारान्तरेणापि चलति, भगवतो रूपेण  
प्रमेयमर्यादाप्यपगच्छति । या कथमपि नान्यथा

भवति । तदाह यद्गोद्विजद्रुममृगा इति । गावो  
हि प्रमाणवार्तानभिज्ञाः मातरमपि गच्छन्ति, द्विजाः  
पक्षिणः सर्वभक्षाः, द्रुमाः स्थावराः, कदाचिदपि  
वाहिः सम्बेदनरहिता, निरिन्द्रिया एवेति केचित् ।  
मृगाः सर्वतोभयाः । तेऽपि चेद्भगवद्रूपेण गीतेन  
वा आभिलष्टरसाः पुलकानि धारयन्ति, रसिक-  
मनुष्यधर्मानाविष्कुर्वन्ति । ये भगवता अन्यथैव  
सृष्टाः । स्त्रियस्तु स्वभावतोऽप्यन्यथाभवन्तीति  
नाश्चर्यं किञ्चिदत्र ॥४०॥

व्याख्यानार्थ—हे प्रिय ! आपने जो हमको उपदेश दिया है, कि धर लौट जाओ वहा रहकर ही  
मेरा श्रवण आदि करना, यह धर्मोपदेश पुरुषों को करना चाहिए स्त्रियों को वैसा उपदेश सार्थक  
नहीं है । क्योंकि स्त्रियो से वह धर्म पालन होना असम्भव है, जो असम्भव है वह धर्म नहीं कहा  
जाता है । आपका दास्य स्वीकार करने से जो पातिव्रत्य धर्म का नाश हुआ है, उसमें कारण, धर्म की  
स्थापना करने वाला आपका स्वरूप ही है, क्योंकि आपका स्वरूप अद्भुत कर्म का कर्ता है (प्रभुचरण  
यहा स्वतंत्र लेख में विशेष स्पष्टीकरण करते हैं, जिन भक्तों का सम्बन्ध भगवान् के स्वरूप के साथ  
है उनके धर्मों की रक्षा स्वरूप से करते हैं । और वह रक्षण है, अन्य भावों से रक्षण एवं इस भाव  
का पोषण । जिन भक्तों का सम्बन्ध भगवान् के धर्मों से है उनकी रक्षा धर्मों से ही करते हैं इसमें सर्व  
उचित ही है यही भाव बताया है, इस प्रकार अपने रक्षण से यह बताया है कि भगवान् सर्व के अन्त-  
रङ्ग हैं) अतएव गोपियों ने अङ्ग, इस संबोधन से भगवान् को यह भी बताया कि हम आपको ठगती  
नहीं हैं ।

गोपियों ने श्लोक में 'त्रिलोक्यां' तीन लोक में कह कर यह बताया है कि तमोगुण, रजोगुण  
तथा सतोगुण से बने हुए इस लोक में तीन प्रकार की स्त्रियाँ हैं, तमोगुणी, रजोगुणी, और सतोगुणी,  
ये तीनों ही आर्य पथ से विचलित हो जाती हैं, तमोगुणी मूढता से विचलित हो जाती हैं रजोगुणी  
स्वभाव से चञ्चल होने से विचलित होती हैं और सतोगुणी यद्यपि धर्म में बुद्धि वाली होती हैं किन्तु  
वे भी विचलित हो जाती हैं, कारण कि आपके अव्यक्त मधुर पदों में स्थित अर्थ रूप अमृत को वेणु  
द्वारा गाए हुए गीत से (पान कर) सब मोहित हो गई हैं इस प्रकार मोह को प्राप्त हुई सब प्रकार  
की स्त्रियाँ आर्य पथ से अवश्य विचलित होती हैं । यों तो साधारण रीति से मोह को  
अविद्या के पांच पर्व+ उत्पन्न करते हैं किन्तु गोपियों को तो, भगवान् के सम्बन्ध के  
कारण अविद्या के पंच पर्वों ने मोहित नहीं किया है । अपितु (बल्कि) भगवान् के वेणु, अमृत,  
पद, गीत और कल इन पाँचों ने मोहित किया है, क्योंकि इन पाँचों में भगवद् बल है उस बल ने  
मोह उत्पन्न किया है । इन पाँचों ने किस प्रकार किस किस अङ्ग में मोह को जागृत किया है उसका  
वर्णन करते हैं, कि गीत ने देह में मोह जगाया, श्रुति कहती है कि 'स्त्रियाँ जाने वाले को चाहती हैं,  
स्त्री तो देह ही है । वेणु ने इन्द्रियों को मोहित किया क्योंकि वह रसमय है, अमृत ने प्राणों में मोह

उत्पन्न किया, पदों ने अन्तःकरण में मोह को पैदा किया और अव्यक्त ने आत्मा में मोह को जागृत किया इस प्रकार गोपियाँ सम्पूर्ण रीति से मोहित हो गई ।

वस्तु का विचार दो प्रकार से करने में आता है, एक प्रमाण बल से दूसरा प्रमेय बल से, इनमें आर्य पुरुष प्रमाण बल से विचार करते हैं जैसे कि इन्द्र और महेन्द्र एक है, तो भी प्रमाण बल से आर्य यज्ञ में इन्द्र और महेन्द्र को पृथक् मानते हैं तथा अलग अलग स्थित देवों को भी भिन्न समझते हैं, यदि भिन्न नहीं माने जाय तो भेद के कारण, केवल इन्द्र के लिए यज्ञ करने वालों को वर्ष के अन्त में (इसके लिए) प्रायश्चित्त करना न पड़े ।

देह से अतिरिक्त, स्वरूप से उपस्थित आत्मा के धर्म में प्रमाण बल से विरोध होता है, जिससे धर्म का पूर्ण रीति से वे (प्रमाण बल वाले) निर्णय नहीं कर सकते हैं, वस्तु का सत्य एवं पूर्ण विचार तो प्रमेय बल से ही होता है, नहीं तो विधि<sup>१</sup> और निषेध<sup>२</sup> दोनों व्यर्थ हो जावें, जिसका निर्णय एकादश स्कंध में होगा, अतः एक मार्ग से (प्रमाण मर्यादा मार्ग से) यदि किसी कार्य में विरोध हो तो वह विरोध दूसरे मार्ग (प्रमेय मार्ग) में नहीं माना जाता है जैसा कि प्रमाण मार्ग में स्त्री पति का त्याग करे यह कार्य धर्म विरुद्ध है किन्तु प्रमेय<sup>३</sup> मार्ग में शुद्ध ब्रह्मवादानुसार भगवान् सर्व के आत्मा हैं, सर्व रूप हैं अतः भगवान् ही वास्तविक नित्य पति हैं जिससे सर्व त्याग कर (कल्पित अनित्य पति आदि का त्याग कर) भगवान् को ही पति मान उससे प्रेम करना धर्म के विरुद्ध नहीं है, इसलिए प्रमेय मार्ग में लौकिक मर्यादा को तोड़ना दोष<sup>४</sup> नहीं है । इसका उत्तर देकर विशेष स्पष्टीकरण श्री शुकदेवजी रास हो जाने के अनन्तर 'धर्म व्यतिक्रमो दृष्टः' श्लोक में करेंगे । इससे यहाँ हमको फल की प्राप्ति हो गई है, जिससे साधन दृष्टि से जो हमारी अपकीर्ति होती है, वा होगी, वह हमारे इस कार्य में प्रतिबन्ध<sup>५</sup> नहीं कर सकती है और यह मर्यादा भङ्ग न केवल नाम से किया, किन्तु स्वरूप से भी किया है, जिसको गोपियाँ 'वैलोक्य सोभग' पद से कहती हैं कि जैसे सूर्य से दिन में सुन्दरता आती है, चन्द्रमा से रात्रि की सुन्दरता होती है वैसे ही भगवान् के रूप से त्रिलोकी सुन्दर बनी हुई है, वैसे भगवान् के सुन्दर रूप और रस को जागृत करने वाले कटाक्षों को मुनकर तथा देखकर कौनसी स्त्री है जो आर्य पथ से विचलित न हो ।

प्रमाण बल की मर्यादा, भगवान् के स्वरूप के आगे निर्बल है केवल इसीलिए स्त्रियाँ आर्य मार्ग से विचलित नहीं होती है, किन्तु दूसरे प्रकार से भी विचलित हो सकती है, भगवान् का ऐसा अनुपम सुन्दर रूप है जिसके दर्शन से जहाँ प्रमेय मार्ग की मर्यादा भी नहीं रह सकती है वहाँ मर्यादा मार्ग की मर्यादा कैसे रहेगी ? इसको स्पष्ट समझाने के लिए 'यद्गोद्विजद्रुममृगा' पद दिया है जिसका आशय है, कि, जो गो (वैल) शास्त्र के प्रमाण की वार्ता भी नहीं जानते हैं, जिससे माता से भी संभोग करते हैं, पक्षी सब कुछ खा लेते हैं, पेड़ चल नहीं सकते हैं, कोई कहते हैं कि उनको (वृक्षों को) इन्द्रियाँ नहीं हैं, इसलिए वे दुःख का अनुभव नहीं करते हैं, मृग सबसे सदा डरते हैं, ऐसे ये भी, भगवान् के अद्भुत सुन्दर स्वरूप से तथा उनके गीत से रस मग्न हो पुलकित<sup>६</sup> हो जाते हैं अर्थात् जिस

१ - यह करना चाहिए वंसी आज्ञा, २ - यह नहीं करना चाहिए, ३ - पुष्टि, ४ - दूषण,

५ - रुकावट, ६ - रोमाञ्च वाले,



प्रकार भगवान् के स्वरूप एव गीत से रसिक मनुष्यों के शरीर में रोमाञ्च होते हैं वैसे उनके शरीरों में भी मनुष्य धर्म प्रकट हो जाते हैं, जिन गौ आदि को दूसरे प्रकार से बनाया है, स्त्रियाँ तो स्वभाव के कारण ही अन्यथा<sup>१</sup> होती हैं, अतः इसमें किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं है, कि हम आपके स्वरूप मौन्दर्य तथा गीत से अपने मर्यादा धर्म से विचलित हुई हैं ॥ ४० ॥

**आभास—**एवं भगवदुक्तानां वाक्यानां निवारणार्थं पुष्टिसिद्धान्तं निरूप्य एतद्भगवत्कृपेकसाध्यमिति भगवत्कृपां प्रार्थयन्ति व्यक्तमिति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार भगवान् ने जो वचन (प्रमाण-मर्यादामार्गानुसार) कहे थे उनका खण्डन पुष्टिमार्ग<sup>२</sup> के अनुसार दश श्लोक में किया, अब यह पुष्टि मार्ग का सिद्धान्त जीव के अन्तःकरण में तब स्थिर होता है और उसमें तब विश्वास होता है जब भगवान् की कृपा होवे, क्योंकि यह मार्ग कृपा साध्य है न कि साधन साध्य है, अतः गोपियाँ इस (व्यक्त भवान्) श्लोक में भगवान् की कृपादान करने के लिए प्रार्थना करती हैं—

**श्लोक—**व्यक्तं भवान् ब्रजभयातिहरोऽभिजातो  
देवो यथादिपुरुषः सुरलोकगोप्तृ ।  
तन्नो निधेहि करपङ्कजमार्तबन्धो  
तप्तस्तनेषु च शिरस्सु च किङ्करीणाम् ॥४१॥

**श्लोकार्थ—**जैसे आदि पुरुष नारायण देव, देवताओं की रक्षा करता है वैसे ही आप ब्रज के भय तथा आर्ति को हरण करने के लिए प्रकट हुए हैं, अतः हे आर्तों के बन्धु ! हम दासियों के तप्त स्तनों पर और मस्तकों पर अपने कर कमलों को धरो ॥४१॥

|                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                 |                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                           |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी—</b>नापि त्वदुक्तमस्मदुक्तं वा किञ्चित्साधकं बाधकं वा तथापि स्वावतारप्रयोजनं विचार्य अस्मासु कृपा कर्तव्या । तत्प्रयोजनमाहुः । भवान् ब्रजभयातिहर एव व्यक्तमभिजातः ब्रजस्य आर्तिः पीडा भयं च त्वया दूरीकर्तव्यम् । अन्यथा साक्षाद्भगवतोऽवतारे प्रयोजनं न पश्यामः । भूभारहरणं तु सङ्कर्षणांशेन । वसुदेवादिप्रियं पद्मस्नेहं । धर्मरक्षा त्वनिरुद्धेन । यदि ब्रजभयातिनिराकरणं न क्रियेत, तदा किमवतारान्तरकार्यं</p> | <p>स्यात् । अतो व्यक्तं भवान् ब्रजभयातिहरः । इदानीं यथातिरस्माकम्, तथा न कदापि । अस्मदपगमे तु सर्वस्यापि ब्रजस्य महती आर्तिः । अत आर्तिनिवृत्तिः कर्तव्या । ननु मर्यादयैव निवृत्तिकरणमुचितम्, न तु अमर्यादया, तथा सति भवतीनां कामशान्तिः, ज्ञानं वा, भवत्विति चेत्, तत्राहुः देवो यथादिपुरुष इति । भगवान् ब्रह्मरूपः सर्वसमः, तथापि इन्द्रादिषु कृपां कुर्वन् दैत्यान् मारयन् विषमतामङ्गीकरोति । न तु देवेभ्यो ज्ञानं</p> |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|



प्रयच्छति । यत्र स्वरूपमेवान्यथाकरोति, तत्र । तन्नो निधेहीति । आदावस्माकं शिरसि हस्तं स्था-  
वाचमन्यथाकरोतीति किं वक्तव्यम् । अतो यथा-  
दिपुरुषोऽपि देवो भूत्वा सुरलोकगोप्ता जातः, हृदयतापनिवृत्त्यर्थं स्तनेषु च करपङ्कजममृतस्रावि  
तथा भवानपि धर्ममर्यादारक्षकः, अस्मत्सम्बन्धं तापनाशकं निधेहि । अनौचिती तु नास्ति । यतो वयं  
करोद्विति भावः । तदेव रसपोषणार्थं व्याजेनाहुः किङ्कर्यः । परीक्षार्थं वा एतत् द्रष्टव्यमिति रसोक्ति ४१

व्याख्यार्थ—आपने जो वचन (पति आदि की सेवा और घर लौट जाना) कहे और उनके जो  
उत्तर हमने दिए उनमें कोई वचन साधक वा बाधक नहीं है, इन दोनों पर ध्यान न देकर आपको  
हम पर कृपा करनी चाहिए । भगवान् के प्राकट्य के कारण स्पष्ट कर बताती है, कि आप ब्रज के  
भय और आर्ति<sup>१</sup> को हरने के लिए ही प्रकट हुए हो, अतः आपको ही ब्रज की आर्ति तथा भय दूर  
करना चाहिए, यदि वह न हुआ अर्थात् आपने ब्रज की आर्ति और भय दूर नहीं किया, तो भगवान् के  
साक्षात् स्वयं प्रकट होने का कोई अन्य कारण हम नहीं देखती हैं । अन्य कार्य तो आप अपने अश-  
रूप व्यूह द्वारा करते हैं । जैसे पृथ्वी का भार सङ्कुर्षण अंश से, वसुदेवादिकों का प्रिय प्रद्युम्न अंश  
से और धर्म की रक्षा अनिरुद्ध अंश से करते हो, यदि आपने स्वयं साक्षात् प्रकट होकर भी ब्रज की  
आर्ति तथा भय का निवारण नहीं किया तो आप पुरुषोत्तम स्वरूप से दूसरा कौन सा कार्य करोगे ?  
जिससे समझ में आता है, कि आप ब्रज के भय और आर्ति के हर्ता रूप से ही प्रकट हुए हैं ।

इस समय जैसी आर्ति हमको हो रही है, वैसी आगे कभी भी नहीं हुई है, अतः इस आर्ति को  
नाश करो, यदि यह हमारी आर्ति नाश नहीं करोगे, तो हम नाश हो जाएँगी जिससे ब्रज को अत्यन्त  
दुःख होगा ।

गोपियाँ विचार करने लगी, कि भगवान् यों कह दें कि आपकी आर्ति का नाश, मर्यादा से  
करना योग्य है, न कि मर्यादा का त्याग कर आर्ति का हरण करना योग्य है । मर्यादा से करने पर,  
आपके काम की भी शान्ति होगी और आपको ज्ञान भी हो जाएगा, इस प्रकार कह दें, तो कहने से पूर्व  
ही उसका उत्तर दे देती हैं, कि 'देवोयथादिपुरुषः' जैसे आदि पुरुष देव हैं, भगवान् (आप) ब्रह्म रूप  
हैं इसलिए ब्रह्म सब को समान दृष्टि से देखते हैं, तो भी इन्द्र आदि देवों पर कृपा कर देत्यों का नाश  
करते हैं, जिससे आप विषमता<sup>२</sup> को अङ्गीकार करते हो, न कि देवों को ज्ञान देते हो । जहाँ स्वरूप की  
समानता का त्याग कर सकते हो, तो अब वाणी<sup>३</sup> को बदलने में आपको कौनसी बड़ी बात है इस-  
लिए जैसे क्रीड़ाशील आदि पुरुष ने क्रीड़ा के लिए देवलोकों की रक्षा की है, वैसे ही आप भी धर्म  
मर्यादा के रक्षा करने वाले हो, तो भी हमारे साथ आत्म सम्बन्ध करो, क्योंकि अब भी आप क्रीड़ा  
शील हो और क्रीड़ा के लिए ही तो प्रकट हुए हो ।

वही बात रस के पोषण के लिए बहाने से कहती हैं कि 'तन्नो निधेही' 'इसलिए हमारे पर  
धरो' प्रथम हमारे शिर पर हाथ धरो, जिससे हमको अभय की प्राप्ति हो जाए अर्थात् हम निडर बन  
जाएँ, पश्चात् हृदय के ताप को मिटाने के लिए स्तनों पर अमृत वर्षानेवाला और तापनाशक करकमल



धरो, इसमें किसी प्रकार अयोग्यता नहीं है, क्योंकि हम आपकी दासियाँ हैं, अथवा स्तनों पर हाथ धरकर हमारी परीक्षा ले लो कि ताप है वा नहीं, और हम सम्बन्ध योग्य हैं वा नहीं, यह रस की उक्ति है, अर्थात् यह (इस प्रकार) कहना रस को प्रकट करता है ॥ ४१ ॥

**आभास—**एवं प्रार्थनायां भगवान् यत्कृतवान् तदाह इतीति ।

**आभासार्थ—**गोपियों ने जब इस प्रकार भगवान् को प्रार्थना की, तब भगवान् ने जो कुछ किया वह श्री शुकदेवजी निम्न श्लोकों में वर्णन करते हैं—

**श्री शुक उवाच**

**श्लोक—**इति विक्लवितं तासां श्रुत्वा योगेश्वरेश्वरः ।

प्रहस्य सदयं गोपीरात्मारामोऽप्यरीरमत् ॥ ४२ ॥

**श्लोकार्थ—**श्री शुकदेवजी कहते हैं कि, इस प्रकार गोपियों के घवराहट वाले वचन सुनकर योगेश्वरों के ईश्वर आत्माराम होते हुए भी हंस कर दयायुक्त हो गोपियों को रमण कराने लगे ।

**कारिका—**षड्गुणैश्वर्यभावेन षोढा रेमे हरिः स्वयम् ।

स्वरूपेणापि शृंगारो द्विविधोऽपि निरूपितः ॥ १ ॥

सामान्यरमणं पूर्वं विशेषे मेलनं पुरा ।

बाह्येन रमणं पश्चात् आन्तरं च ततः परम् ॥ २ ॥

ततो नानाविलासेन जातकेलिविभेदतः ।

विप्रलम्बस्य सिद्धचर्यं तासां मानुमुदीर्यते ॥ ३ ॥

तिरोभावस्ततश्चापि नायं लौकिककामुकः ॥

**कारिकार्थ—**(आचार्य श्री कारिकाओं में भगवान् ने जिस प्रकार गोपियों से रमण कर उनको रस दान दिया उसका स्पष्टीकरण करते हैं ।

भगवान् षड् गुण वाले हैं अतः छ गुणों द्वारा साधारण रमण किया, जिस समय जिस गुण से रमण कराना था उस समय उस गुण को प्रकट कर रमण किया, इस प्रकार स्वयं हरि ने छ गुणों द्वारा संयोगात्मक शृंगार रूप से छ प्रकार का

रमण किया, और विप्रयोगात्मक शृंगार स्वरूप से भी रमण किया, इसी भांति दो प्रकार से रमण इसलिए हुआ क्योंकि भगवान् द्विविध शृंगार रूप हैं ॥ १ ॥

प्रथम सामान्य रमण का वर्णन ४२ वें श्लोक में किया है । विशेष रमण बाह्य और आन्तर भेद से दो प्रकार का है । विशेष रमण के लिए प्रथम ४३ वें श्लोक में गोपियों का भगवान् से मिलन हुआ, जिसका वर्णन है । पश्चात् ४४ वें श्लोक में भगवान् ने बाह्य रमण<sup>१</sup> गति, कटाक्षादि क्रिया से गोपियों में काम को जागृत कराके जो रमण किया उसका वर्णन किया है । उस बाह्य रमण के अनन्तर ४५ वें श्लोक में आन्तर रमण का वर्णन है ॥ २ ॥

पश्चात् केलि<sup>२</sup> दो प्रकार की होती है एक वह जिसमें, काम क्रीड़ा नहीं होती है उसको अजातस्मर केलि कहते हैं दूसरी जिसमें काम क्रीड़ा होती है उसको जातस्मर केलि कहते हैं । भगवान् ने अनेक विलासों से केलि क्रीड़ाएँ की जिसका वर्णन ४५ वें व ४६ वें श्लोकों में किया है, ४७ वें श्लोक में विप्रलम्भ शृंगार के सिद्धार्थ गोपियों के मान का वर्णन है ॥ ३ ॥

४८ वें श्लोक में यह वर्णन है, कि भगवान् तिरोहित हो जाते हैं, क्योंकि भगवान् लौकिक पुरुषों के समान कामी नहीं हैं,

टिप्पणी का सारांश—यदि उनके समान कामी होते तो लौकिक पुरुषों के समान झूठे प्यार के वचनों से उनका मान छुड़ा देते । ऐसा न कर जो आप छिप गए उसका कारण यह है, कि जैसे लौकिक पुरुषों में स्त्रियों को देखकर काम उत्पन्न होता है, जिससे शरीर के अङ्गों में विकार होता है वैसे आप में नहीं हुआ, यदि होता तो आपका भी लौकिक पुरुषों के समान पतन<sup>३</sup> हो जाता वह नहीं हुआ, अतः आपने छिपकर अपना श्रुति सिद्ध, 'रसो वैसः' मैं पुरुषोत्तम स्वरूप हूँ, यह बता दिया, अर्थात् रसस्वरूप आप में, रस शास्त्र में जितने रस के भेदों का वर्णन है, वे सब आपके स्वरूप के रूप ही हैं, अतः इसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है, जैसे दैत्यों के लिए वीर्य रूप से प्रकट होते हैं क्योंकि उनका (दैत्यों का) वैसा अधिकार है, वैसे ही यहां भी जैसा अधिकार वैसे गुण स्वरूपों से आविर्भूत होकर रमण किया है, यह भाव है ।





सुबोधिनी—प्रथम तासां तापापनोदनार्थं सामान्यलीलामाह । इति तासां विक्लवितं परम-वैक्लव्यभाषितं श्रुत्वा प्रहस्य अरीरमत् । ननु निरिन्द्रियः कथं रेमे, तत्राह, योगेश्वराणामपीश्वर इति । योगादिषु सर्वे पदार्थाः स्फुरन्ति, अणिमा-दयोऽपि, तथा तदैव स्वरूपमेवेन्द्रियादिभावेन प्रकटीकृतवान् । न तु स्वस्य कामेन । तथा सति

बीजनिवृत्तौ कामो निवर्तते । नासां यथा न कदा-चिदपि स भावो गच्छति, तदर्थं प्रहस्य प्रकर्षेण हास्यं कृत्वा, तासामुद्धरणार्थं, न तु भिन्नगणनया मर्यादयां पातयित्वा नाशनार्थमिति । तदाह सद्यमिति । गोपीरेवारमयन्, स्वयं त्वात्माराम एव । तासां रसाधारत्वाय वा सद्यम् ।

व्याख्यानार्थ—शुकदेवजी प्रथम गोपीजनों के ताप को मिटाने के लिए भगवान् ने जो सामान्य लीला की उसका वर्णन करते हैं—

इस प्रकार गोपीजनों के घबराहट बाने दीन वचन सुनकर हँसे, हँसकर गोपियों से रमण करने लगे ।

भगवान् के इन्द्रियां तो हैं ही नहीं, तो बिना इन्द्रियों के कैसे रमण किया ? इस शङ्का को मिटाने के लिए भगवान् को 'योगेश्वरेश्वरः' विशेषण दिया है, कि जो योगेश्वर है उनके भी ईश्वर है, योगादि जिनके सिद्ध हैं जैसे उनके यहां सर्व पदार्थ स्वयं प्रकट दीखते हैं और अणिमा आदि सिद्धि भी सामने खड़ी हो जाती है, जिनसे बिना इन्द्रियों के सर्व क्रियाएँ वे सिद्ध कर लेते हैं वैसे ही उसी रमण समय में, भगवान् ने स्वरूप को इन्द्रियादि भाव में प्रकट कर दिया, यह इन्द्रिय रूप से भगवान् का प्राकट्य अपने काम के वास्ते नहीं है, किन्तु गोपियों को अपने रस स्वरूप के रस का दान करने के लिए है, यदि भगवान् कामी पुरुषों के समान अपनी काम तृप्ति के लिए बैठा (इन्द्रियों का प्राकट्य) करते तो रमण करते ही वीर्य पतन हो जाता और काम की शान्ति हो जाती, यों तो हुआ नहीं है, क्योंकि भगवान् में लौकिक काम नहीं है जिससे वीर्य पतन हो और काम शान्त हो जावे । गोपियों के जो भाव हैं भगवान् के रस प्राप्ति के भाव तो कभी भी जाने वाले नहीं हैं इसलिए भगवान् खूब हँसने लगे यह अच्छी तरह हँसना उनके (गोपियों के) ताप को मिटाने के लिए था, न कि, गोपियों को अपने से पृथक् समझकर उनको मर्यादा में डालकर उनके प्रेम मार्ग के भावों को नाश करने के लिए था । अतः दया युक्त होकर भगवान् गोपियों को रमण कराने लगे, आप (भगवान्) तो आत्माराम हैं अर्थात् भगवान् अपने स्वरूप से ही रमण करने वाले हैं, अतः उनको (भगवान् को) रमण करने की अपने लिए आवश्यकता नहीं थी, अथवा भगवान् ने दयाकर गोपीजनों को अपने रस का आधार बनाया जिससे उनका (गोपियों का) नायिका भाव सिद्ध हुआ ।

कारिका—क्रिया सर्वापि सेवात्र परं कामो न विद्यते ।

तासां कामस्य सम्पूर्तिर्निष्कामेनेति तास्तथा ॥ १ ॥

कामेन पूरितः कामः संसारं जनयेत् स्फुटः ।

कामाभावेन पूरणंस्तु निष्कामः स्यात् न संशयः ॥ २ ॥

अतो न कापि मर्यादा भग्ना मोक्षफलापि च ।

अत एतच्छ्रुतौ लोको निष्कामः सर्वथा भवेत् ॥ ३ ॥

१—सब, २—नमूने, ३—समाप्ति, ४—लौकिक काम रहित, ५—काम



**आभास—**एवं सामान्यलीलामुक्त्वा विशेषलीलामाह ताभिरिति त्रिभिः ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार सामान्य लीला का वर्णन कर अब निम्न तीन श्लोको से विशेष लीला का वर्णन करते हैं ।

**श्लोक—**ताभिः समेताभिर्हृदारचेष्टितः प्रियेक्षणोत्फुल्लमुखोभिरच्युतः ।

उदारहासद्विजकुन्ददीधितिव्यरोचतेऽङ्क इवोडुभिर्वृतः ॥ ४३ ॥

**श्लोकार्थ—**प्रिय के दर्शन से जिनके मुख खिल गए हैं ऐसी आई हुई गोपियों से घिरे हुए, जिनके उदार हास से युक्त दांत कुन्द पुष्पवत् शोभा दे रहे हैं वैसे अच्युत भगवान् नक्षत्रों से वेष्टित चन्द्रमा की भांति सुशोभित हो रहे थे ।

**सुबोधिनी—**अजातस्मरकेलिभिः प्रथमतः ताभिः समेतो जातः मिलितः । पूर्व भयात् प्रथक् स्थिताः । तत उदारारणि चेष्टितानि यस्य । अत्र औदार्य रसविषयकम् । यथा तासां महानेव रस आविर्भवति, तथा कामशास्त्रसिद्धलीलाः सर्वा एव कृतवान् । ततस्ता अन्तःपूर्णरसाः । प्रियस्य भगवत ईक्षणार्थमुत्फुल्लानि मुखानि यासां तादृश्यो जाताः । प्रियेक्षणेन वा सूर्यकिरणैरिव उत्फुल्लानि मुखानि । वस्तुतो लोभस्थितरसार्थमेव तथाकरणम् । एतावति कृते रसो निवर्तते, तदभावायाह अच्युत इति । तासामपि रससमाप्त्यभावाय उदारेति । उदारो यो हासः पूर्णकामप्रदः, कामार्थमेव यो मोहः तेनैव स्नेहः सम्बधितः । तदाह ।

हाससहिता ये द्विजाः त एव कुन्दपुष्पाणि, आरक्तान्यपि हासेन शुभ्राणि, तेषु दीधितिर्यस्य । कुन्दत्वं स्नेहस्यैतन्मात्रपर्यवसानार्थम् । (पूर्व निरूपधिरेव स्नेहः स्थितः, भगवता परं रत्नशास्त्रोक्तरीत्या स्वरूपानन्दं दातुं तत्सजतीयः कामोपाधिकः स्नेहोऽधुना जनित इति ज्ञापनाय स्नेहरूपरदानां द्विजपदेन कथनम् ।) तथा सति फलभोगात् कान्त्यभावंमाशक्य तत्र दीधितिरुक्ता । यद्यपि भगवान् तन्निबन्धेन रेमे, जगद्दोषनिराकरणार्थं च, न तु स्वयम्, तथापि न पूर्णमनोरथ इव किन्तु यथा लौकिकः, तदाह दृष्टान्तेन । एणाङ्क उडुभिः नक्षत्रैः सह यथा व्यरोचतेति । बन्धातिरिक्ताः सर्वा ब्राह्मा एव लीला उक्ताः ॥४३॥

**व्याख्यार्थ—**जिन गोपियों को अब तक काम क्रीड़ा का अनुभव नहीं हुआ है, वैसे गोपियों का भगवान् के साथ यह पहला समागम हुआ है, इसलिए पहले तो भय के कारण, भगवान् से दूर अलग खड़ी रही, पश्चात् भगवान् ने जब रस विषयक उदार चेष्टाएँ की, अर्थात् काम शास्त्र में रस उत्पन्न कराने के लिए जो क्रियाएँ लिखी हैं, वे सब भगवान् ने की, उनसे उनके अन्दर पूर्ण काम रस जागृत हुआ जिससे वे रस से पूर्ण हो गई, अतः प्यारे (भगवान्) के दर्शन के लिए उनके मुख कमल ऐसे खिल गए, जैसे सूर्य दर्शन से कमल खिलते हैं, वास्तव में उनके मुख कमल, अधरामृत रस पान करने के लिए खिल गए थे, यदि गोपियों के मुख कमल अधरामृत रस पान के लिए खिल गए है तो



भगवान् के रस को ये पान कर लेगी, तो भगवान् से रस की निवृत्ति हो जाएगी, भगवान् नीरस हो जायेंगे ? ऐसी शङ्का का निवारण करने के लिए शुकदेवजी ने भगवान् का नाम 'अच्युत' दिया है जिसका भावार्थ यह है, कि भगवान् सदैव सर्व रसादि से पूर्ण हैं उनकी 'च्युति' होती नहीं है, गोपी-जनों ने अधरामृत के रस का पान अपनी, हृदय में प्रज्वलित, कामाग्नि को शान्त करने के लिए किया है, इतना ही नहीं, किन्तु भगवान् का हास्य उदार है, जिसका भी भाव यह है, कि आपके हास्य से गोपियों में से भी रस की समाप्ति नहीं होगी । वे भी पूर्ण काम ही रहेंगी, तो भगवान् का रस कैसे कम हो जाएगा ? कभी नहीं, क्योंकि वे तो अच्युत ही हैं ।

भगवान् ने हास पुक्त कुन्द के समान अपने दाँत खोलकर उनकी किरणों से गोपियों में मोह उत्पन्न कर अपने में दृढ स्नेह इसीलिए कराया, कि मेरे साथ सम्पर्क होने से, मेरा माहात्म्य देखकर मुझसे गोपियों को भय न हो जाए, यदि भय हुआ तो, रस के रंग में भंग हो जाएगा, मुझमें मोह होने से यों नहीं होगा । (श्रीगुसांईजी का लेख—पहले तो उपाधिरहित स्नेह था परन्तु भगवान् ने रस-शास्त्र में कही गई शीत के अनुसार स्वरूपानन्द का दान करने के लिए तत्सजातीय कामोपाधिक स्नेह उत्पन्न किया यही जताने के लिए जो स्नेहरूप दाँतों के लिए "द्विज" पद का प्रयोग किया गया)

दाँतों को जब कुन्द पुष्प जैसे कहा है तो फल भोग से उनकी कान्ति चली जाएगी ? इस प्रकार की शङ्का न हो इसलिए शुकदेवजी ने श्लोक में 'दीधिति' पद दिया है, जिसका भाव है, कि उनमें किरणें हैं जिससे उनकी शोभा नष्ट न होगी ।

यद्यपि भगवान् ने जगत् के दोषों का निवारण करने के लिए तथा गोपियों के आग्रह के कारण ही रमण किया है, न कि अपने आप ही अपने स्वार्थ वा इच्छा के लिए रमण किया है, तो भी भगवान् ने लौकिक नायक के समान पूर्ण रीति से रमण किया, दृष्टान्त समझाते हैं कि जैसे नक्षत्रों से चन्द्रमा शोभता है वैसे ही भगवान् गोपियों से शोभा पाने लगे, इस श्लोक में बन्ध के प्रतिरिक्त की हुई सब बाह्य लीलाएँ कही हैं ॥ ४३ ॥

प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि चन्द्रमा जैसे पूर्ण होकर अपूर्ण होता है पश्चात् पुनः पूर्ण होजाता है सदा पूर्ण रूप नहीं रहता है वैसे पूर्ण भगवान् भी लीलार्थ अपूर्ण बने हैं पुनः पूर्ण हो जाएँगे किन्तु भगवान् सदा पूर्ण है ।

**आभास—**एषा विशेषतः प्रथमलीला बाधककामनिवारिका । द्वितीयलीलाया उद्बोधार्थं पूर्वसामग्रीमाह उपगीयमान इति ।

**आभासार्थ—**इस प्रथम की हुई विशेष लीला ने गोपियों के बाधक काम को निवृत्त कर दिया अब दूसरी विशेष लीला के उद्बोधार्थ जो पूर्ण सामग्री चाहिए उसको इस श्लोक में वर्णन करते हैं ।



श्लोक—उपगोषमान उद्गायन् वनिताशतयूथपः ।

मालां बिभ्रद्वैजयन्तीं व्यवरन्मण्डयन् वनम् ॥ ४४ ॥

**श्लोकार्थ—**सैंकड़ों स्त्रियों के यूथपति, गोपीजन जिनका गान कर रही हैं और जिनके कण्ठ में वैजयन्तीमाला धारण की है वैसे भगवान् ऊँचे स्वर से गान करते और अपनी गति से वन की शोभा बढ़ाते हुए फिरने लगे ।

**सुबोधिनी—**ताभिरुपगोषमानः निकटे गीयमानः स्वयमप्युद्गायन् जातः । ततः वनिताशतानामनेकविधस्त्रीणामनेकविधानेव यूथान् पातीति तथा जातः । यावतीभिर्मिलितो रसहेतुर्भवति, तावतीनामेक यूथम् । एवमनेकरूपाणि कृतानि । तेषामत्र रक्षणं दूरादेवाश्वासनेन च । तदा गायतो गच्छतः रूपमाह मालामिति । वैजयन्तीं नवरत्न-लक्षित्वा स्वाभाविकीमैश्वर्यप्रबोधिका कीर्तिमयीं मालां बिभ्रत्, वनमेव सर्वं मण्डयन् अलंकुर्वन्, व्यचरत् लीलागतिं कृतवान् । एषा हि गतिः तासां कामोद्बोधिका । स तासां कामपूरकः । एकस्मात् वनात् वनान्तरं वा गत इति ॥ ४४ ॥

**व्याख्यार्थ—**गोपियों ने भगवान् के निकट उनका गान<sup>१</sup> किया तो भगवान् भी उसी समय जोर से गान करने लगे, पश्चात् अनेक यूथों के रक्षक हुए ।

भगवान् ने उन स्त्रियों के स्वयं के, अनेक यूथ बनवाए, प्रत्येक यूथ में, इतनी वनिताएँ साथ में ली जितनी से रस प्राप्त हो सके अर्थात् रस उत्पन्न हो सके । भगवान् ने इनकी रक्षा, आश्वासन देकर दूर से ही की है, भगवान् गाते हुए जब गति विलास करते थे, उस समय के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि नवरत्नों से जटित, ऐश्वर्य प्रकट करने वाली, कीर्तिमयी वैजयन्ती माला आपके गले को सुशोभित कर रही थी, आप समस्त वन को सुशोभित करते हुए वंसी गति से विचरने लगे जिससे गोपियों में काम की जागृति होने लगी, और उनके काम की पूर्ति करने वाले भी वे ही भगवान् हैं, भगवान् इस गति से वन वन में फिरने लगे ।

**आभास—**एवमुद्बुद्धे कामे ताभिः सह बन्धादिभिः रेम इत्याह नद्या इति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार जब गोपियों में काम जग गया तब भगवान् ने रस शास्त्रानुसार बन्ध आदि प्रकार से गोपियों के साथ रमण किया, जिसका वर्णन इस निम्न श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं ।

श्लोक—नद्याः पुलिनमाविश्य गोपीभिर्हिमवालुकम् ।

रेमे तत्तरलानन्दिकुमुदामोदवायुना ॥ ४५ ॥



**श्लोकार्थ—**ठंडी बालु के रेत वाली तरङ्गों से आनन्द देने वाली और कुमुद के पुष्पों के सुगन्धयुक्त वायुवाली श्री यमुनाजी के तट पर पधारकर भगवान् ने गोपियों से रमण किया ॥ ४५ ॥

**सुबोधिनी—**नद्याः पुलिनमच्छं कोमलमाविश्य, स्तरङ्गाः ताभिः कृत्वा आनन्दयुक्तं पुलिनमेव ।  
 आसमन्तात् प्रविश्य, रमणे बन्धादिभिरतिकोमलं आनन्दयुक्तो वायुर्वा । कुमुदानां चानन्दयुक्तसुगन्धः ।  
 कृत्वा, गोपीभिरनेकविधाभिः रेमे । हिमाः शीत- तस्यानन्दजनकत्वेनैव मान्यं निरूपितम् । शैत्यं  
 लाः बालुका यत्रेति अन्तरूपमा निवारितः । वहिः च कुमुदानां जलसम्बन्धात् । तादृशवायुना सहितं  
 शैत्यं चाह तत्तरलानन्दीति । तस्या नद्यास्तरला- पुलिनम् । महाबन्धेषु वायोरप्यपेक्षा ॥ ४५ ॥

**व्याख्यार्थ—**श्री यमुनाजी के स्वच्छ तथा कोमल तट पर पूर्णतः प्रवेश कर, भगवान् ने रम-  
 णार्थ उस तट को रेत के बन्धों से कोमल बनाकर अनेक प्रकार की गोपियों से वे रमण करने लगे ।  
 वह रेत वैसी ठंडी थी जो उसके नीचे भी ठंडक थी, बाहर ठंडक होने का कारण बताते हैं कि श्री  
 यमुनाजी के चञ्चल तरङ्गों के संसर्ग से रेत ठंडी होने से तट आनन्द देने वाला होगया था, और वायु  
 भी तरंगों के कारण ठंडी तथा कुमुदों के सुगन्ध से युक्त होने से सुगन्धवाली आनन्ददाई थी, वायु के  
 आनन्ददाई होने में अन्य कारण यह था, कि वह मन्द मन्द चलती (लग रही) थी । रमण के समय  
 जब महाबन्ध होता है तब वायु की भी अपेक्षा रहती है । अतः सर्वभाव से (सर्व सामग्री सिद्ध कर)  
 गोपियों की दूसरी विशेष काम क्रीड़ा (जातस्मर केलि) पूर्ण की ॥ ४५ ॥

**आभास—**एवं सर्वभावेन तासां जातस्मरकेलित्वां सम्पादितम् । अतः परं अष्ट-  
 विधालिङ्गनादिपूर्वकं चेष्टितकामादियुक्तं रसविलासचरित्रमाह बाहुप्रसारेति ।

**आभासार्थ—**भक्तों से की हुई विशेष केलि के अनन्तर आठ प्रकार के आलिङ्गन तथा काम  
 की चेष्टा से युक्त जो भगवान् ने रसविलास चरित्र किए उनका वर्णन इस 'बाहुप्रसार' श्लोक में  
 करते हैं—

**श्लोक—**बाहुप्रसारपरिरम्मकरालकोहलीवीस्तनालभननर्मनखाग्रपातैः ।

क्ष्वेत्यावलोकहसितैर्व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन् रतिर्पति रमयांचकार ॥ ४६ ॥

**श्लोकार्थ—**भुजाओं को पसारना, आलिङ्गन करना, हाथ, अलक, जांघ, नीवी  
 और स्तन इनका स्पर्श, हास्य वचन, नखों के अग्र भाग चुभोना, क्रीड़ा, देखना और  
 हंसना आदि लीला करने से व्रज भक्तों के काम का उद्दीपन कर भगवान् उनको  
 (गोपियों को) रमण कराने लगे ॥ ४६ ॥



सुबोधिनी—दूरे स्थितामवयव वा स्पष्टं बाहु-  
प्रसारणम् । ततो वलादपि परिरम्भः । ततः करा-  
लकोरुनीवीस्तनानामालम्भनानि । करालभनं हस्ते  
ग्रहणम् । पुरुषायितलीलासम्बन्धे । एव  
कचोन्नमनार्थं अलकानां स्पर्शः । ऊरुस्पर्शो बाहु-  
बन्धार्थः । नीवीस्पर्शः पुष्टे रसे मोचनार्थः ।  
स्तनयोस्तु रसोद्गमनार्थः । एवं पञ्चस्पर्शावि-  
हिताः । नर्म परिहासवचनानि कामस्तम्भनार्थम् ।  
ततो नखाग्रपाताः नखक्षतदन्तक्षतताडनादयः  
कामयुद्धनिरूपकाः । तत्तत्स्थाने स्थितः कामः

तदुद्बोध्यते, यथा सेनावधे राजा समायाति ।  
क्ष्वेलिः क्ष्वेलिका प्रस्तोभनादिः, तत्पूर्वकान्येवाव-  
लोकनानि । हसितानि रसस्थापकानि । एवं  
द्वादशविधोऽपि कामः द्वादशाङ्गेषु स्थितः प्रबुद्धो  
भवति, तदाह व्रजसुन्दरीणामुत्तम्भयन्निति ।  
संयुक्तः कामोरतिपतिः विद्युत्तस्त्वग्निरूपः । एव-  
माधिदैविकं काममुद्बोधयन् रमयांचकार ।  
गोपीनां सुखमेव प्रकटितवान्, न तु कामान्तेन  
विरतिमुत्पादितवान् ॥ ४६ ॥

व्याख्यानार्थ—दूर खड़ी हुई गोपी वा उसके अङ्ग का स्पर्श करने के लिए भगवान् ने अपनी  
बाहु<sup>१</sup> को पसारा<sup>२</sup>, पश्चात् भगवान् ने वलपूर्वक<sup>३</sup> गोपी को आलिङ्गन किया, अनन्तर<sup>४</sup> गोपी के हाथ,  
अलक, जांघ, नीवी और स्तनों का हाथ से स्पर्श किया । हाथ से हाथ को पकड़ना इसको पुरुषायित  
लीला अथवा सम्बन्ध कहा जाता है, इस प्रकार बालों को ऊपर करने के लिए अर्थात् ठीक करने के  
लिए अलकों का स्पर्श किया बाहु बन्ध के लिए जंघाओं का स्पर्श किया, रस के पुष्ट होने पर नीवी<sup>५</sup>  
की गांठ खोलने के लिए उसका (नीवी का) स्पर्श किया, रस बढ़ाने के लिए स्तनों को छू आ अर्थात्  
मर्दन किया, इस प्रकार काम शास्त्र में कहे हुए पांच स्पर्श किए पश्चात् काम के स्तम्भन के लिए  
कोमल वचन<sup>६</sup> कहने लगे, उसके बाद काम की लड़ाई हो रही है वैसा दिखाने के लिए नख तथा  
दान्तों से ताड़ना करने लगे, यों ताड़ना करने से जहां जहां अर्थात् जिस जिस अङ्ग में काम शान्त  
हो वह काम जागृत हो जाए जैसे सेना के वध होने पर, राजा स्वयं लड़ाई के मैदान में आता है  
वैसे ही यहाँ भी नख तथा दन्तों से ताड़ित हुए अङ्ग शिथिल हो जाते हैं तब काम राजा स्वयं प्रकट  
होता है । क्ष्वेलि<sup>७</sup> पूर्वक अवलोकन<sup>८</sup> तथा हास्य करते थे, इस प्रकार की लीला (क्रीड़ा कृति) से  
द्वादश<sup>९</sup> अङ्गों में स्थित द्वादश प्रकार का काम जागृत होता है, इसलिए श्लोक में 'व्रजसुन्दरीणा-  
मुत्तम्भयन्' पद दिया है जिसका भावार्थ है कि व्रज की सुन्दरियों के काम को बढ़ाते थे ।

संयोग दशा में जो काम होता है वह 'रतिपति' कहलाता है, और वियोग दशा वाला काम  
'अग्नि' कहलाता है, इस प्रकार आधिदैविक काम को जागृत कर भगवान् ने गोपियों को रमण  
कराया । जिससे भगवान् ने गोपियों को आनन्द की प्राप्ति कराई न कि काम के अन्त में वैराग्य  
(संभोग के इच्छा का नाश) कराया ॥ ४६ ॥

**आभास—**एवं संयोगशृंगारमुपपाद्य विप्रयोगमुपपादयितुं तासां मानमाह एवमिति

**आभासार्थ—**इस प्रकार संयोग शृङ्गार की सिद्धी कर अब विप्रयोग शृङ्गार की सिद्धि के

१—हाथ, २—लम्बा किया, ३—जबर्दस्ती से, ४—पीछे, ५—नाड़ा,

६—परिहास के वचन, ७—रस को स्थापित करने वाली क्रीड़ा, ८—देखना, ९—बारह



लिए भगवान् ने उनमें (गोपियों में) अहङ्कार उत्पन्न किया जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी इस निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—एव भगवतः कृष्णल्लिब्धकामा महात्मनः ।

आत्मानं मेनिरे स्त्रीणां मानिन्योऽभ्यधिकं भुवि ॥ ४७ ॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार महात्मा श्रीकृष्ण से गोपियों ने अपने मनोरथ पूर्ण किए जिससे उनको अहङ्कार हुआ, कि हम पृथ्वी पर जो स्त्रियाँ हैं उन सबसे अधिक (उत्तम) हैं ॥ ४७ ॥

सुबोधिनी—पूर्वोक्तप्रकारेण भगवतः सर्वरस-  
दानसमर्थात्, कृष्णात् सदानन्दात् फलरूपात्,  
लब्धकामाः प्राप्तमनोरथाः सत्यं आत्मानमेव  
पूर्ण मेनिरे, न तु भगवन्तं पूर्णम्, तेन वा स्वपूर्ण-  
ताम् । ननु भगवानेवं कथं कृतवान्, न्यूना एव  
कथं न संरक्षिताः, तत्राह महात्मन इति । भगवान्  
महानेवात्मा । न ह्यगाधे जले प्रविष्टः अमग्नो  
भवति, घटो वा अपूर्णो भवति । किञ्च, आत्मानं

स्त्रीणां मध्ये अभ्यधिक मेनिरे, भुवि चाभ्यधिकम्  
भुवि स्त्रीणां मध्ये वा । अत एव मानिन्योऽपि  
जाताः । न ह्यस्मत्सदृशोऽन्याः सन्ति । अतोऽस्-  
मान् यदि प्रार्थयिष्यति, तदा रस दास्याम इति  
मानयुक्ता जाताः । भगवद्धर्मास्तासु समागताः ।  
तथा सति यथा प्रार्थनया पूर्वं भगवान् वशे जातः,  
एवं वयमपि भविष्याम इति । रसार्थमेवेवं भावः,  
न तु दोषरूपः, भगवद्भावात् ॥ ४७ ॥

व्याख्यार्थ—आगे कहे हुए प्रकार से सदानन्द फलरूप सर्व रस देने में समर्थ भगवान् कृष्ण से अपनी कामना पूर्ण कर लेने से अपने को ही पूर्ण समझने लगीं, भगवान् को भी पूर्ण नहीं समझा और हम उनके द्वारा ही पूर्ण हुई हैं यों भी नहीं मानने लगी ।

भगवान् ने उनको पूर्ण क्यों बनाया ? क्यों नहीं उनमें कुछ कमी रखी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कृष्ण को 'महात्मा' कहा है, भगवान् महती आत्मा हैं, जो अगाध जल में प्रवेश करता है वह गीला हो जाता है शुष्क नहीं रहता है अथवा डूब जाता है एवं जो घट उसमें पड़ता है वह पूर्ण होकर ही बाहर आता है । और उन्होंने अपने को पृथ्वी पर तथा समस्त स्त्रियों से उत्तम माना, इसलिए वे अहङ्कारिणी<sup>१</sup> हो गईं, जिससे समझने और कहने लगी कि हमारे समान दूसरी कोई नहीं है, अतः भगवान् जब प्रार्थना करेंगे तब हम उनको रस देंगी, इस प्रकार मान करने लगीं, भगवान् के धर्म उनमें आगए, इसलिए जैसे प्रथम हमने प्रार्थना की तब भगवान् वश हुए वैसे हम भी तब वश होंगी जब भगवान् हमको प्रार्थना करेंगे, इस प्रकार उनका कहना रस के लिए ही था अतः दोष रूप नहीं था, क्योंकि उनमें यह मान भगवद्भाव के कारण हुआ है ॥ ४७ ॥

आभास—भगवांस्तु ऐक्येनैव रसं प्रयच्छन् बहिस्तिरोहिता जगत् इत्याह तासमिति





आभासार्य—भगवान् की इच्छा हुई कि गोपियों से एक होकर ही रसदान दूँ अतः बाहर से तिरोहित होगए<sup>१</sup> जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तासां तत्सौभगमदं वीक्ष्य मानं च केशवः ।

प्रशमाय प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४८ ॥

श्लोकार्थ—गोपियों का वह सौभाग्य मद देखकर उसको (मद को) शान्त करने के लिए तथा उन पर (गोपियों पर) कृपा करने के लिए भगवान् वहाँ ही अन्तर्हित<sup>१</sup> हो गए ॥ ४८ ॥

सुबोधिनी—मानः पूर्णता च न दोषाय । स्त्रीषु भूमौ च यदाधिक्यज्ञानं स दोषो भवति । तन्नूय तत्परिहारार्थं तिरोहित इत्याह । तासां तत्प्रसिद्धं पूर्वोक्तं सर्वोत्तमत्वलक्षणं सौभाग्यमदं वीक्ष्य, तस्य मदस्य प्रशमाय अन्तरधीयत । ननु भगवद्रमणेन हि तासामेवं भावः, अतः स्वकृत एवेति कथं तिरोधानं कृतवानित्याशङ्क्याह । वीक्ष्य मानं च प्रसादाय तत्रैवान्तरधीयतेति । मानापनोदनं कर्तव्यम् । मानस्त्वान्तरः । अशक्तो हि बहिरपनोदनार्थं यत्नं करोति । चकारात् स्व-

धर्म च । अतः प्रसादाय, प्रथमतस्तासाम्, पश्चात् स्वस्य च । तत्रैव गोपिकासु यूथमध्ये वा अन्तर्धानं प्राप्तवान् । नन्वेतत् द्वयमपि न कर्तव्यम्, उपेक्षिताः कुतो नेति चेत्, तत्राह केशव इति । यथा रजोगुणं ब्रह्मणो निवार्य, तस्मै मुक्तिं दत्तवान्, यथा वा शिवस्य तमोगुणं निवार्य, एवमेतासामपि मदं मानं च निवार्य, मुक्तिं दातुं तथा कृतवानित्यर्थः । कायिकतिरोभावोऽयम्, प्रथमाधिकारित्वाद्गोपीनाम् ॥ ४८ ॥

व्याख्यार्थ—गोपियों ने अपने को पूर्ण समझा, जिससे उनमें जो मद उद्भव<sup>२</sup> हुआ वह दोष रूप नहीं था किन्तु अपने को स्त्रियों तथा पृथ्वी पर श्रेष्ठ समझने लगी वह (अभिमान) दोषरूप था, शुकदेवजी ने श्लोक में इस दोषरूप अभिमान का अनुवाद किया है अतः इस दोष रूप मद को नाश करने के लिए भगवान् तिरोहित होगए जिसका वर्णन करते हैं—उनका वह प्रसिद्ध पहले कहा हुआ हम सबसे उत्तम हैं वैसा सौभाग्य मद (अभिमान) देखकर उसको शान्त करने के लिए भगवान् तिरोहित हो गए ।

भगवान् ने गोपियों से रमण किया जिससे ही उनमें इस भाव<sup>३</sup> की उत्पत्ति हुई, अतः भगवान् ने स्वयं वैसा भाव पैदा किया फिर आप उस भाव को शान्त करने के लिए कैसे तिरोहित हुए ? इस शङ्का के उत्तर में शुकदेवजी ने श्लोक में कहा है कि मान देकर उन पर कृपा करने के लिए वहाँ ही (गोपियों के अन्तःकरण में अथवा गोपियों के यूथों के मध्य में) अन्तर्हित हो गए, अभिमान का तो नाश करना ही चाहिए, क्योंकि वह रमण में प्रतिबन्धक होता है, मान तो आन्तर धर्म है, अतः भगवान् बाहर से अन्तर्धान होकर अन्तःकरण में प्रविष्ट हो गए, जो अशक्त<sup>४</sup> होते हैं वे बाहर से ही मान



को मर्दन करने का प्रयत्न करते हैं, भगवान् सशक्त हैं अतः अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर उनका मान मर्दन करने लगे अर्थात् अन्तः प्रविष्ट होकर उनको वश करने लगे और उन पर कृपा भी की। इस प्रकार भगवान् ने अपने धर्म को प्रकट किया। पश्चात् आप भी उनके वश होंगे।

भगवान् ने गोपियों के अभिमान, और मान की उपेक्षा क्यों नहीं की? इसके उत्तर में शुक-देवजी ने भगवान् का नाम 'केशव' देकर समझाया है कि भगवान् ने जैसे ब्रह्मा के रजोगुण को मिटाकर उसको मुक्ति दी है और शङ्कर के तमोगुण को नाश कर उसको मुक्ति दी है वैसे ही इनका भी मददि मिटाकर इनको मुक्ति दान देने के लिए तिरोहित हुए हैं अतः उपेक्षा नहीं की है।

भगवान् का यह तिरोभाव कायिक है अर्थात् भगवान् ने अपने श्री अङ्ग को छिपा लिया, कारण कि गोपियां अभी तक प्रथम कक्षा की अधिकारिणियां हैं क्योंकि तामस है जिससे उनको विरहानुभव काया के तिरोधान से ही होने वाला था अतः भगवान् बाहर से तिरोहित होकर गोपियों के अन्तःकरण में रस स्वरूप स्थित हो गए ॥ ४८ ॥

योजना में लालू भट्टजी कहते हैं—अन्तःकरण में लीला सहित प्रभु क्रीड़ा, अलौकिकी लीला है।

योजना में लालू भट्टजी कहते हैं—यूथ के मध्य में छिप जाना यह लौकिक प्रकार है।

तीसरा पक्ष कहते हैं कि भगवान् जब तक छिपे थे तब तक छिपे तब तक व्यापि वैकुण्ठ में लक्ष्मीजी के साथ रमण करते थे,

विप्रयोगात्मक शृङ्गार रस का अनुभव ही गोपियों के लिए 'मुक्ति' है।

इति श्रीमदभागवत् महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्ध के २६ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तामस फल अवान्तर प्रकरण के ऐश्वर्य निरूपक पहले अध्याय के हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण



**महारास—गौडौ**

कर गहि अधर धरी मुरली ।

देखहु परमेशुर की लीला ब्रजबनितानि की मन-चुरली ॥

जाको नाद सुनत गृह छांड़्यो

प्रचुर भयो तन मदन बली ।

जिनि सनेह सुत-गति बिसराए

हा हरि ! हा हरि ! करति चली ॥

बिहंसित वदन प्रफुलित लोचन

रवि-उद्योत जनु कमल-कली ।

'परमानन्द' प्रीति पद-अंबुज कृष्ण-समागम वात भली ॥



### महारास—आसावरी

मोहन ! आजु नीकौ जम्यो राग आसावरी ।

मदन गोपाल बेनु नीकौ बाजे नाद सुनत भई वावरी ।

कमल नयन सुन्दर ब्रज नाइक सब गुन-निपुन कथा है रावरी

सरिता थगित ठगे मृग पंछी

खेवट चकित चलति नहि नाव री ॥

बछरा खीर पिबत थन छांड्यो

दन्तनि तृन खण्डति नहि गाव री ।

‘परमानन्द’ प्रभु परम विनोदी इहै मुखली-रस को प्रभाव री ॥

### महारास—गौरी

आई हम पाँइनु परत ।

सोई करहु जैसे संग न छूटै राखहु सरन ॥

नव तुम बेनु बजाइ बुलाई अब कैसे चतुराई ।

तुम्हारौ भजन पाप को कन्दन इहि तो निगम बताई ॥

चलत नहीं जु चरन गति थाकी मन न चलै ब्रज-वासा ।

“परमानन्द” प्रभु हों उदार तुम छाँडहु वचन उदासा ॥

### महारास—टोडी

वन्यो रास मण्डल में माधौ गति में गति उपजावै हो ।

कर कंकन भनकार मनोहर प्रमुदित बेनु बजावै हो ।

स्याम सुभग तन पर दच्छिन कर पूजत चरन सरोजै हो ।

अवला-वृन्द अवलोकत हरि-मुख नयन-विकार मनोजै हो ।

नील पीत पट चलत चारु नट रसना नूपुर कूजै हो ।

कनक कुम्भ-कुच बीच पसीना मानों मोतिनि पूजै हो ।

हेम-लता तमाल अवलंबित सीस-मल्लिका फूली हो ।

कुञ्चित केस-बीच अरुमाने जानों अलि-माला भूली हो ।

सरद विमल निसि चन्द विराजित क्रीडत जमुना-कूले हो ।

“परमानन्द” स्वामी कौतुहल देखत सुर-नर भूले हो ॥

### रास-गौरी

गोपाललाल सों नीके खेली ।

विह्वल भई संभार न तन की सुंदरि छटे बाल संकेली ।

टूटत हार कंचुकी फाटत फूटत चुरी खसत सिर फूल ।

बंदन मितत सरस उर चंदन देखत मदन महीपति भूल ।

बाहु-बंध परिरंभन चुंदन महा महोत्सव रास विलास ।

सुर-त्रिमान सब कौतुत भूले कृष्ण-केलि ‘परमानन्ददास’ ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वासुदेवचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका ( हिन्दी अनुवाद सहित )

दशम स्कन्ध ( पूर्वार्ध )

### तामस-फल-अवान्तर प्रकरण

‘द्वितीयो अध्याय’

स्कन्धानुसार सप्तविंशो अध्याय

श्रीकृष्ण के विरह में गोपियों की दशा

—•—

कारिका—स्वानन्दस्थापनार्थाय लीला भगवता कृता ।

स बाह्यो जनितः पुष्टो यथान्तनिविशेत्पुनः ॥ १ ॥

तदर्थं भगवांस्तासु लीलया सहितोऽविशत् ।

चत्वारोऽत्र निरूप्यार्थाः रसासक्तिर्हरेः क्रियाः ॥ २ ॥

गर्वाभावश्च तत्रादौ निरूप्यन्ते क्रमात्त्रयः ।

उद्देशतो लक्षणतः फलतश्च यथायथम् ॥ ३ ॥

सप्तविंशे तिरोधानाल्लीलान्वेषणतत्पराः ।

रसमन्तर्गतं चक्रुर्गोपिका इति रूप्यते ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—भगवान् ने अपने आनन्द की स्थापना गोपीजन में करने के लिए



(२६ वें अध्याय में) लीला की है, जिस लीला से वह आनन्द (रस) बाहर प्रकट हुआ, यह देखकर भगवान् उस रस को अन्दर\* पुष्ट करने के लिए, लीला सहित गोपीजन के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो गए ॥ १३ ॥

इस लीला में चार अर्थ अर्थात् विषय निरूपण करते हैं १-रस में आसक्ति, २-हरि की क्रिया, ३-गर्व का अभाव, ४-भगवद्गुणगान । इन चारों में से प्रथम, उद्देश्य, लक्षण और फल ये तीन क्रम से जैसे हैं, वैसे वर्णन किए जाएंगे ॥ २-३ ॥

सताईसवें अध्याय में रसासक्त गोपियों में भगवान् के तिरोहित हो जाने से, उनकी खोज करने में तत्पर होकर उस रस को भीतर स्थित करने लगी, इसका वर्णन किया जाता है ॥ ४ ॥

कारिका व्याख्या—२६ वें अध्याय में, भगवान् ने जो काम लीला गोपियों के साथ की है, वह लौकिक काम लीला के समान नहीं है । लौकिक काम लीला, अनित्य तथा विकार वाली है किन्तु भगवान् द्वारा की हुई यह लीला, नित्य एवं अविकृत तथा रसरूपा है, क्योंकि भगवान् नित्य एवं अविकृत तथा रसरूप हैं अतः उनसे की गई लीला भी वैसी ही है, और गोपियां भी श्रुति रूपाएं हैं, संयोगावस्था में वह रस (आनन्द) बाहर आनन्द देता है किन्तु विरह अवस्था में भीतर सर्व इन्द्रियादि में प्रविष्ट होकर सबको आनन्द देता है अथवा आनन्द रूप बना देता है ।

इस २७ वें अध्याय के प्रथम तीन श्लोकों में रसासक्ति, हरि की क्रिया और गर्व का अभाव इनके उद्देश्य संक्षेप में कहे हैं, किन्तु गुणगान के स्वरूप तथा लक्षण नहीं कहे हैं ।

गोपियों ने भगवान् की खोज की है, यह उनके १-रसासक्ति का लक्षण है, २-हरि की क्रिया अर्थात् गोपियों ने कृष्ण की लीलाएं स्वयं की है, यह हरि की क्रिया का लक्षण है, ३-गर्वाभाव का लक्षण यह है कि गोपियों ने अपनी सौतिन की बड़ाई की है ।

उपरोक्त तीनों का फल-भगवान् की खोज का फल-चरणारविन्दों के दर्शन हुए । हरि की लीला करने का फल-गोपियों में भगवान् की लीलाओं के आवेश होने से, लक्ष्मी आदि से की हुई लीलाओं का वर्णन करना और उनमें (भगवान् में) दोष दृष्टि का अभाव होता है ।

सबको भूल कर भगवान् की खोज में ही प्रयत्नशीला होना गर्व के अभाव का फल है ।

गुणगान का साधारण वर्णन इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में है तथा विशेष वर्णन २८ वें अध्याय में किया हुआ है ।

**आभास—**पूर्वाध्यायान्ते भगवतस्तिरोभाव उक्तः, ततस्तदनन्तरं प्रथमतः तासां रसासक्तचित्तानामापाततो महांस्तापो जात इत्याह अन्तर्हिते भगवतोति ।

**आभासार्थ—**२६ वें अध्याय के अन्त में, भगवान् तिरोहित हो गए यों कहा गया है, जिसमें रस में आसक्त चित्त वाले गोपीजनों को, भगवद्दर्शन न होने से महान् ताप' हुआ, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी इस श्लोक से करते हैं ।

**श्लोक—**अन्तर्हिते भगवति सहस्रं व्रजाङ्गनाः ।

अतप्यंस्तमचक्षाणाः करिण्य इव यूथपम् ॥ १ ॥

**श्लोकार्थ—**श्री शुकदेवजी कहते हैं कि अचानक भगवान् के अन्तर्हित होने पर व्रजाङ्गनाएं वैसे ताप को प्राप्त हुईं जैसे हथनियां यूथपति गजराज के बिना संतप्त होती हैं ॥ १ ॥

**सुबोधिनी—**भगवति अन्तःप्रविष्टे षड्गुणै-  
स्वर्यसहिते यावदन्तरनुसंधानं न कृतवत्यः, तावत्  
सहस्रं व्रजाङ्गनाः इति । तापे हेतुः तमचक्षाणा इति ।  
तापः सहज एव स्थितः कामात्मा तद्दर्शनस्पर्शा-  
दिभिः शान्तो भवति । यदा पुनः पूर्वसिद्धं बहि-

दर्शनं न जातम्, तदा तत्ताप उचित एव । तासां  
स्पर्श एव मुख्य इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह  
करिण्य इवेति । यूथपो महामत्तगजः । 'रतिं गज  
एव जानाती'ति वात्स्यायनः । 'रत्यां विमर्दे गज'  
इति विवृतश्च । सन्ति च सिंहाः, तथात्र कालः ।  
अतः करिणीनां यूथपादर्शने महानेव क्लेशः ॥१॥



व्याख्यानार्थ—षड् ऐश्वर्यादि गुण सहित स्वरूप से, श्रीकृष्ण गोपियों के अन्दर प्रविष्ट हो गए, जिससे बाहर प्रत्यक्ष दर्शन आदि गोपियों को न होने लगा, उससे उनको अचानक ताप हुआ, कारण कि इन व्रज की स्त्रियों के लिए भगवान् का बहिःप्रकट रूप ही मुख्य है इसलिए इनको आन्तर रूप का विचार ही नहीं अतः भगवान् ही आन्तर स्थिति से सन्तुष्ट हो जाएँ ऐसी ये गोपीजन नहीं हैं। फलतः वैसी दृढ़ आग्रही गोपियाँ उस वही प्रकट स्वरूप को न देखकर, यह विचार भी न कर सकीं, कि वे हमारे भीतर होंगे, अतः वे सतप्त होगईं, उन लोगों में सहज काम रूप ताप, जो सदैव रहता है, उसकी शान्ति भगवान् के इस स्वरूप के दर्शन और स्पर्श आदि से होती थी, अब उनको यह विचार हुआ, कि अब हमारे इस ताप को कौन शान्त करेगा? जब तक यह स्वरूप प्रकट न होगा, तब तक हमारे ताप की शान्ति नहीं होगी। उनका यों ताप करना योग्य ही है। कारण कि उनके लिए भगवान् का स्पर्श ही मुख्य है, यह जताने के लिए श्री शुकदेवजी ने हथिनियों का दृष्टान्त दिया है। हथिनियों के यूथ के पति हाथी के चले जाने पर, जैसे हथिनियाँ दुःखी होकर डरती हैं, क्योंकि वन में सिंह रहते हैं, किसी ने हस्ती को मार तो नहीं दिया है? उसके जाने पर हमारी रति का मर्दन कौन करेगा? इससे वे हथिनियाँ संतप्त होती हैं। वात्स्यायन ने कहा है कि 'रति करना हाथी ही जानता है' और 'रति' का मर्दन भी हाथी करता है'। इसी प्रकार हथिनियों की भाँति गोपियों को भी इसी विचार से बहुत ताप हुआ कि कृष्ण के बिना हमारे सहज ताप को शान्त करने वाला अन्य कोई नहीं है, क्या वह काल आगया है? जिससे अवतार लीला सम्पूर्ण हुई? इसी चिन्ता से वे (गोपियाँ) :खी होने लगीं ॥ १ ॥

आभास—यदा पुनः स तापः अन्तःप्रवेष्टुमैच्छत्. तावता भगवल्लीला अन्तःप्रविष्टा तापं दूरीकृत्य स्वयमेवाविर्भूतेत्याह गत्येति ।

आभासार्थ—गोपियों का वह ताप फिर भीतर प्रवेश करने की इच्छा करने लगा इतने में अन्तः प्रविष्ट भगवान् की लीला ताप को दूर कर स्वयं प्रकट होगई जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—गत्यानुरागस्मितविभ्रमेक्षितैर्मनोरमालापविहारविभ्रमैः ।

आक्षिप्तचित्ताः प्रमदा रमापतेस्तास्ता विचेष्टा जगृहुस्तदात्मिकाः ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् की गति, अनुराग, मन्द मुसकुराहट, विलास सहित ईक्षण, मनोहर भाषण, वन के विहार और विलासों से जिनके चित्त का हरण हो गया है वैसी गोपीजन भगवद्रूप बनकर उनकी (भगवान् की) लीलाओं का अनुसरण करती हुई वैसी क्रीड़ा करने लगी ॥ २ ॥







न भगवद्धर्म में और न भगवत्स्वरूप में स्थिर निष्ठा रही कारण कि उस समय मध्य में गोपोजन अन्तःकरण में स्फुरित भगवान् में तथा उसके धर्म में पहुँच गई थी।

‘श्री शुक्रदेवजी ‘मनोरमालाप’ आदि शब्दों से कहते हैं कि भगवान् ने वाणी से भी गोपियों को विमोहित किया है, मन को जो आनन्द देता है वा मन में जो रमण करता है उसको मनोरम कहते हैं। ‘वैसा मनोरम आलाप’ अर्थात् भगवान् के गुप्त भाषण हैं, किन्तु केवल वाक्यों से चित्त का आकर्षण नहीं होगा। और स्त्रियां भगवान् के वचन प्रमाण हैं इसे अन्य प्रकार से समझ न सकेंगी इसलिए ‘मनोरम’ शब्द से प्रथम आलाप का फल बता दिया है, कि भगवान् के वाक्य सुख<sup>२</sup> उत्पन्न करने के लिए हैं भगवान् के वचन उसी वक्त ही (कहने के समय ही) आनन्द उत्पन्न करते हैं।

‘विहार’ शब्द से यह आशय प्रकट करते हैं कि वे आलाप<sup>३</sup> लीला के उपयोगी कभी बन्ध आदि का बोध कराते हैं, उसमें भी ‘विभ्रम (विलास)’ शब्द से बन्ध आदि के अवान्तर भेद भी बताते हैं जैसे उत्तानक बन्ध में ग्राम्य आदि बन्ध होते हैं। वे बन्ध तीन प्रकार के (सात्विक, राजस और तामस) हैं जो प्रथम भगवान् ने भक्तों से किए हैं, जिनसे गोपियों के तीनों प्रकार के चित्त भगवान् में खिच गए हैं अर्थात् आसक्त हो गए है अतः गोपीजनों को अब ताप नहीं रहा है।

गोपियों को प्रमदा कहा, उसका आशय (प्रभुरचण के अनुसार) यह है, कि मद यहां कोई लौकिक मद नहीं किन्तु आन्तर एवं बाह्य अनुसंधान को भुला देने वाला अति उत्कृष्ट एक विलक्षण रसभाव यहां मद पद से कहा जा रहा है। इसी से प्रभु की लीला का अनुकरण जो गोपियों ने किया वह भी संगत हो जाता है। दूसरी बात यह भी है कि इनका यह विलक्षण-प्रकृष्ट मंद स्वभाव भी है (अर्थात् चित्ताक्षेप एवं स्वभाव दोनों कारणों से वे प्रमदा थीं) अन्यथा दास्यभाव से कैसे अलग हो पाती ! तब केवल भगवान् की लीला (गो चारणादिरूपा) जो इनके लिए उपयोगिनी नहीं थी सो उसका अनुभव नहीं हुआ अतः लक्ष्मी सहित भगवान् की लीला का अनुभव हुआ अर्थात् लक्ष्मी के सहित जो भगवान् का विलास है उसका अनुकरण करने लगीं।

एक ही (लक्ष्मी अथवा लीला) की भी अनेक चेष्टा है अतः उन सभी चेष्टाओं का निरूपण किया गया। ईश्वर-स्वामी के धर्मों का अनुकरण करना तो दासियों के लिए निषिद्ध है, इसके उत्तर में शुक्रदेवजी कहते हैं कि ‘तदात्मिकाः’ भगवान् उनके आत्मा में प्रकट हो गए हैं अर्थात् गोपियां उनका ही रूप हो गई हैं अथवा भगवान् ही अन्दर स्थित होकर उन लीलाओं को कर रहे हैं अतः यह लीला ताप मिटाने के उद्देश से यहां कही गई है। और इसका विस्तार आगे कहेंगे। उन लीलाओं के क्रम का कारण कहा जाएगा ॥ २ ॥



**आभास —** ततो भगवतः स्वरूपपरिग्रहो जात इत्याह गतिस्मितेति ।

**आभासार्थ—**गोपियों ने भगवान् के धर्मों को ग्रहण करने के अगन्तर भगवत्स्वरूप को भी ग्रहण कर लिया, उसका वर्णन 'गतिस्मित' श्लोक से करते हैं ।

**श्लोक—**गतिस्मितप्रेक्षणभाषणादिषु प्रियाः प्रियस्य प्रतिरूढमूर्तयः ।

असावहं त्वित्यबलास्तदात्मिकाः न्यवेदिषुः कृष्णविहारविभ्रमाः ॥ २ ॥

**श्लोकार्थ—**प्यारे श्रीकृष्ण की गति<sup>१</sup> स्मित<sup>२</sup> प्रकृष्ट रीति से ईक्षण<sup>३</sup> और भाषण आदि में गोपियों ने अपने स्वरूप का आरोपण कर दिया अर्थात् तद्रूप हो गई थीं, तद्रूप बनी हुई गोपियाँ अबलाएँ थी, तोभी प्रियाएँ होने के कारण कृष्ण की भाँति विहार तथा विलास करती हुई कहने लगी कि मैं श्रीकृष्ण हूँ ॥ ३ ॥

**सुबोधिनी—**धर्माश्चेत् स्वस्मिन् समागताः, तदैकत्रोभयधर्मा विरुद्धा इति भगवति स्वधर्माना-  
रोपितवत्यः । कायवाङ्मनसां दृष्टेश्च चत्वारः  
प्रधानधर्माः । तेषु सर्वेष्वेव प्रतिरूढा मूर्तिर्यासाम् ।  
भगवद्धर्मेषु स्वमूर्तिरारोपिता । अन्यथा अन्योऽन्य-  
धर्माभिनिवेशाभावे सम्यक् विलासो न स्यात्,  
तदाह । गतिः कायिकी, स्मितं मानसम्, प्रेक्षण-  
मैन्द्रियकम्, भाषणं वाचिकम्, तदादयो यावन्तो  
विभ्रगाः बन्धादयः रतिरूपा एव । तेषु सर्वेष्वेव  
प्रियस्य सम्बन्धिषु स्वयं प्रियाः भोगवस्थामेव  
प्राप्ताः विपरीता जाताः । 'रसाधिक्ये स्त्रियः  
पुरुषत्वमापद्यन्त' इति वात्स्यायनः । अत एव  
स्वयं प्रियायोग्याः प्रतिरूढाः विपरीततया आरूढा

मूर्तयः स्वरूपाणि यासामिति । तत्र यासां भग-  
वान्स्वव्यवहितः पूर्वमासीत्, ताभिर्भगवत्प्रशने  
कृते, अन्तर्हिताज्ञानान् तत्रोत्तरवक्त्रयो भवन्ति ।  
'असौ कृष्णः' 'अहं कृष्ण' इति । अथवा ।  
योऽन्विष्यते, सोसावहमिति । अन्यासां प्रतीत्यर्थं  
नटः कपटवेषं कृत्वापि वदति क्रीडायाम्, तथा न,  
किन्तु स्वत एवेत्याह अबला इति । अबलाः  
स्त्रियः भगवद्रूपाविष्कारे च बलरहिताः ।  
स्पष्टवैलक्षण्यं च स्त्रीपुरुषयोः । तथा कथने  
प्रतारकत्वमालक्ष्याह तदात्मिका इति । न  
केवलं धर्म्यापत्तिः, किन्तु तद्धर्माणामपीत्याह ।  
कृष्णवत् विहारः कायवाङ्मनोव्यापारः,  
विभ्रमाः तत्रत्या विलासाः यासाम् ॥ ३ ॥

**व्याख्यानार्थ—**भगवान् के धर्म और गोपीजनों के धर्म परस्पर विरुद्ध हैं अतः जब भगवान् के धर्म भी गोपीजनों में आए तो इस विरुद्धता को समझकर गोपियों ने अपने धर्मों को भगवान् में स्था-  
पित कर दिया जिससे विरोध नष्ट हो गया । शरीर, वाणी, मन और ईक्षण इन के चार मुख्य धर्म हैं उन सभी में गोपियों ने अनेक स्वरूप की स्थापना की और भगवान् के धर्मों में अपने स्वरूप का आरोप कर दिया । यदि गोपीजन इस प्रकार न करते तो विलास<sup>४</sup> पूर्ण रीति से नहीं हो सकता था क्योंकि एक दूसरे के धर्मों के आग्रह के बिना भलि भाँति विलास नहीं हो पाता अतः शुकदेवजी ने 'गति, स्मित आदि' शब्दों से इन मुख्य चार धर्मों का वर्णन किया है जैसे कि 'गति' शब्द से शरीर के





‘गायन्त्यः’ श्लोक से वर्णन करते हैं—गोपियों का यह गान मिश्रभाव से है।

श्लोक—गायन्त्य उच्चैरमुमेव संहता विचित्रयुग्मस्तकवद्वनाद्वनम् ।

पप्रच्छुराकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—सब गोपीजन मिलकर उच्च स्वर से भगवान् के गुणों को गाते हुए उन्मत्त की भांति एक वन से दूसरे वन में श्यामसुन्दर प्यारे को ढूँढने लगीं । आकाश की तरह सर्व भूतों में भीतर और बाहिर व्यापक पुरुष के लिए वनस्पतियों से पूछने लगीं ॥ ४ ॥ ॥

कारिका—शब्दो हि धूमवल्लके बाह्याभ्यन्तरयोगतः ।

विराजते विनिर्गच्छन् तारतम्यं च गच्छति ।

अतोऽत्र धर्मिधर्माणामाधिव्याज्ज्ञानमुत्तमम् ॥ १ ॥

यथा भगवतो गानात् स्वयमागत्य संगताः ।

एवं स्वयं भगवत आगत्यर्थं जगुः स्फुटम् ॥ २ ॥

कृत्रिमत्वात् भावस्य मिलिताश्च स्वतोऽन्यतः ।

ततो विशेष विज्ञानात् तिरोभावोऽस्फुरत् स्फुटः ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—जैसे लोक में गोली लकड़ियों के भीतर रही हुई अग्नि को बाहर की अग्नि स्पर्श करे, तो भी वह उन लकड़ियों से अग्नि को प्रकट न कर, धूम को प्रकट करती है, वैसे ही गोपीजनों की विरहाग्नि भी हृदय स्थित वियोग स्वरूपात्मक आनंदाग्नि को प्रकट न कर, बाहिर जगत् के संवेदन<sup>१</sup> रूप आर्द्रता<sup>२</sup> के कारण, गुण-गान रूप धूम को प्रकट करती है, वह गुणगान धूम्रवत् भीतर और बाहर व्याप्त हो जाता है और उस गुणगान में उसी की तरह तात्तम्य भी रहता है, अर्थात्, गोपियों को एक क्षण में भीतर का भान और अन्य क्षण में बाहर की सुधि होती है, जिससे वह

• गोपीजनो को कभी जगत् का ज्ञान होता था कभी नहीं होता था, तात्पर्य यह है कि गोपियाँ उस समय संयोग (संगम) और वियोग दोनों का क्रमशः क्षण क्षण में अनुभव करती थीं ।



शब्द जब बाहर आता है, तब विविध भावों को प्रकट करता है और गान का रूप धारण कर लेता है । धर्मी स्वरूप भगवान् तथा, उनके धर्म रसात्मक हैं अतः वे (भगवान् तथा उनके धर्म) जीव तथा उसके धर्मों से उत्तम हैं, किन्तु गोपियाँ अब तदात्मिकता होगई हैं, अतः गोपियाँ को जो यह कृष्ण, मैं कृष्ण, इस प्रकार का ज्ञान हो गया था वह उत्तम ज्ञान था, कारण कि, यह ज्ञान साधन साध्य नहीं हैं, किन्तु भगवान् की कृपा से प्राप्त होता है ॥ १ ॥

गोपीजन ने यह गान इसी भाव से किया कि जिस प्रकार हम भगवान् के गान को श्रवण कर उनके पास आ गई हैं वैसे ही वह भी गान को सुनकर हमारे पास आ जावे ॥ २ ॥

गोपीजन में तो तदात्मिकता (मैं कृष्ण हूँ इस प्रकार का भाव आदि) उत्पन्न हुई थी वह केवल विरह के कारण उद्भूत<sup>१</sup> हुई थी जिससे वह कृत्रिम<sup>२</sup> थी, उसके तिरोहित<sup>३</sup> हो जाने पर जब वे आपस में मिलने लगी तब विशेष ज्ञान होने से उन को भगवान् तिरोधान हो गए यह भान हुआ जिससे दूँढने लगी ॥ ३ ॥

सुबोधिनी—तदा विचिक्वुः क्व भगवानस्तो-  
त्यन्वेषणं कृतवत्यः । तत्रापि न सर्वात्मना तिरो-  
भावः स्फुरित इति अन्वेषणेऽपि अनियतवृत्तयो  
जाता इत्याह उन्मत्तकवदिति । अज्ञात उन्मत्त  
उन्मत्तकः, कुत्सितो वा । स यथा स्वपरविवेकं न  
जानाति, वस्त्रादिरहितश्च भवति । एवमवस्थां  
प्राप्ताः । एकस्माद्वनात् वनान्तरं गताः । किञ्च,  
न केवलमन्वेषणमात्रम्, किन्तु उन्मत्तकवत्  
पृच्छन्ति स्मेत्याह पप्रच्छुरिति । शुको हि भग-  
वत्स्वरूपाभिज्ञः आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि  
कृष्णं सर्वत्रैव विद्यमानं पश्यति । यदि भक्तिसहितं

ज्ञानमाविर्भवति, तदा अन्योऽपि पश्यति । सर्व-  
त्रैव तिरोधाननाशात् । तादृशमेताः परिच्छिन्नं  
मत्वा पृच्छन्तीति । तासामज्ञानकथनार्थमाह  
आकाशवदन्तरं बहिर्भूतेषु सन्तमिति । बाह्या-  
भ्यन्तरविवेकहेतुराकाश इति पूर्वं निरूपितम् ।  
तद्देवायमपि । अत एवाकाशस्य ब्रह्मलिङ्गत्वम् ।  
एतादृशं सर्वत्रैव विद्यमानदृष्ट्वा, आत्मनि विचारं  
त्यक्त्वा, चेतनांश्चापृष्ट्वा, स्थावरान् पृच्छन्ति ।  
वनस्पतीन् प्रपच्छुरिति । ते हि वैष्णवा इति ।  
मूढा अपि वैष्णवा एव हि विष्णुर्गतिं जानन्ति,  
न त्वत्यन्तं निपुणा अप्यवैष्णवाः ॥ ४ ॥

व्याख्यानार्थ—गोपीजन भगवान् कहां चले (छिप) गए इसकी पूछताछ करने लगीं, किन्तु अभी तक गोपीजनों को भगवान् के छिप जाने की सम्पूर्ण स्फूर्ति नहीं हुई थी, जिससे दूँढने में भी उनकी एक सी वृत्ति नहीं होने पाई, इसलिए श्री शुकदेवजी कहते हैं कि पागल की तरह दूँढने लगीं, जैसे पागल को अपने गराए का ज्ञान नहीं रहता है, और अपने शरीर पर वस्त्र हैं या नहीं, इसकी भी



सुधि नहीं रहती है, वैसी दशा इनकी भी हो गई है वैसी ही दशा में, पागलों की तरह एक वन से दूसरे वन में भटकती हुई न केवल ब्रह्म के कार्य करने लगी किन्तु उन्मत्तों की तरह पूछने लगी ।

श्री शुकदेवजी भगवान् के स्वरूप को जानने वाले थे, अतः आनन्द मात्र कर पाद मुख उदर आदि वाले श्रीकृष्ण को, सर्वत्र विद्यमान देखते हैं, यदि भक्ति सहित ज्ञान, दूसरे में प्रकट हो, तो वह भी इस प्रकार दर्शन कर सकता है, क्योंकि उनकी दृष्टि में तिरोधान का नाश हो जाता है । गोपियाँ वैसे सर्वत्र व्यापक अपरिच्छिन्न आनन्द रूप भगवान् को परिच्छिन्न समझ कर उनके लिए पूछती हैं । इससे श्री शुकदेवजी कहते हैं कि जैसे आकाश भीतर बाहर सर्वत्र व्यापक है, श्रीकृष्ण भी वैसे ही सर्वत्र व्यापक हैं । आकाश को इस लिए ही ब्रह्म का लिङ्ग कहा गया है । वैसे (ही) सर्वत्र विद्यमान कृष्ण को न देखकर और आत्मा में भी विचार न कर तथा चेतनों में न पूछकर स्थावरों<sup>२</sup> से पूछने लगी । गोपियों ने जो वनस्पतियों से पूछा उसका कारण यह है कि शास्त्रों में कहा है कि 'वैष्णवाः वै वनस्पतयः' वनस्पति<sup>३</sup> वैष्णव हैं, मूल्य हो तो भी, वैष्णव ही निश्चय से विष्णु की गति को जानते हैं, किन्तु अवैष्णव विद्वान् हो तो भी उनकी गति को नहीं जानते हैं ॥ ४ ॥

**आभास—**तत्रापि प्रथमं विष्णुब्रह्मशिवतां लोके प्राप्ताः अश्वत्थप्लक्षवटास्तान् पृच्छन्ति दृष्ट इति ।

**आभासार्थ—**उनमें भी प्रथम, उन पीपल, पाकुर और बड़ नाम वाले वृक्षों से पूछती है जो ब्रह्मा विष्णु और महादेव के रूप हैं ।

**श्लोक—**दृष्टो वः कस्मिदश्वत्थ प्लक्ष न्यग्रोध नो मनः ।

नन्दसूनुगंतो हृत्वा प्रेमहासावलोकनैः ॥ ५ ॥

**श्लोकार्थ—**हे पीपल ! हे पाकुर ! हे बड़ ! प्रेम और हास से विलसित अवलोकन से, हमारे मन को चुराकर जा रहे, नंद के पुत्र को आपने देखा ॥ ५ ॥

**सुबोधिनी—**अश्वत्थो हि वैष्णवो वृक्षः, विष्णुवत् लोके सन्मानमर्हतीति प्रायेणायं ज्ञास्यति, तथाप्ययं स्तब्धः स्वोत्तमभावनया न ज्ञास्यतीति तदर्थं हेतुभूतं नामाह । अश्वस्तिष्ठ-त्यस्मिन्निति अश्वत्थः । लोकास्त्वश्वे तिष्ठन्ति, अस्मिन्स्त्वश्वस्तिष्ठतीति । 'अश्वो रूपं कृत्वा यद-

श्वत्थेऽतिष्ठत्' इति श्रुतेः । तर्हि प्राजापत्योऽश्वत्थ इति तदपेक्षया प्राजापत्यो वृक्षः प्रष्टव्य इति प्लक्षं पृच्छन्ति प्लक्षेति । तत्रापि तस्याज्ञानं नाम्ना वदन्ति । अयं हि मनुष्याणामज्ञानार्थं पावित्र्यक्षारणा-दुत्पन्नः अपवित्रः लोकानामज्ञानहेतुरेव । अतः कथं वक्ष्यतीति । 'पशुना वै देवाः स्वर्ग लोक-



मायन्, तेऽमन्यन्त मनुष्या नो त्वा भविष्यन्तीति, तस्य शिरश्छित्त्वा मेधं प्राक्षारयन्, स प्लक्षोऽभव' दिति श्रुतेः । तर्हि कर्मसम्बन्धरहितः वैष्णवधर्मो- पदेष्टा शिवः प्रष्टव्य इति तद्रूपं न्यग्रोधं पृच्छन्ति न्यग्रोधेति । तस्यापि दूषणम् । नितरामग्राण्यधो यस्येति । अतोऽन्ते हीनभावं गच्छतीति अग्रे गमने हेतुर्भविष्यति । वः युष्माकं सम्बन्धी भवद्भिः किं दृष्टः । प्रश्नसम्भावनायां कश्चिदिति दृष्टोऽस्माभिः पूर्वम्, सर्वदैव वा, ततः किं भव- तीनामिति चेत्, नो मनः हृत्वा गतइति । ननु स विष्णुः कथं चौर्यं करिष्यतीति, तत्राहः

नन्दसूनुरिति । नन्दस्य चेत् पुत्रो जातः, तदा तत्कार्यं कर्तव्यम् । ते हि दधिदुग्धादिचौर्यं कुर्वन्ति । अतो मनश्चौर्यमपि नात्यन्तं विरोधि । भर्तृनामाग्रहणं वा । अत एव हरणपर्यन्तं प्रभुपुत्र इति न ज्ञातः । अन्यथा भोगं परित्यज्य कथं गच्छेत् । नन्वन्तःस्थितं मनः कथं गृहीत- मित्याशङ्क्य, त्रिविधं मनः त्रिभिरपि धर्मैर्गृही- तवानित्याह प्रेनहासावलोकनेरिति । प्रेमपूर्वक- हास्यसहितान्यवलोकनानि मनोहराणि । तमो- रजः सत्त्वभावा उक्ताः । प्रेम्णा अन्तःप्रवेशः, हास्येन ग्रहणम्, अवलोकनेन हरणमिति ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ— गोपीजन उत्तम दशा में भगवान् की पूछताछ करने के लिए चली तो प्रथम उनकी दृष्टि पीपल वृक्ष पर पड़ी उनके मन में विचार हुआ कि यह पीपल वैष्णव है, इसका देवता विष्णु है इसलिए यह नन्द सूनु' को जानते होंगे कि कहां है ? किन्तु यह तो स्तब्ध' है, कुछ उत्तर नहीं देता है, इसको अभिमान है कि मैं उत्तम हूं, क्योंकि वैष्णव हूं, इस अभिमान के कारण इसको पता नहीं होगा । अभिमानी को भगवान् अपना ज्ञान नहीं कराने दे और इसके अभिमान का कारण इसके नाम से भी प्रकट होता है । 'अश्वत्थ' नाम का अर्थ है कि घोड़ा इसमें स्थिति करता है, जगत् में मनुष्य घोड़े पर स्थिति करते हैं किन्तु यहां उससे विपरीत घोड़ा इसमें स्थिति करता है, जिस बात की पुष्टि श्रुति भी करती है, भगवान् अश्वत्थ' रूप धारण कर पीपल में स्थिति करते हैं इसलिए पीपल को 'अश्वत्थ' कहा जाता है ।

जब यह उत्तर नहीं देकर स्तब्ध हो के खड़ा है तो चलें प्लक्ष से पूछें जो सामने बाजू में ही खड़ा है जिसका देव प्रजापति है, प्रश्न करने पर भी, जब उससे भी कोई उत्तर नहीं मिला तब कहने लगीं कि, यह कुछ जानता ही नहीं है, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति अज्ञान से हुई है, वह अज्ञानी कैसे जानेगा ? जैसा कि कहा है 'मनुष्य को मूर्ख बनाने के लिए, उसमें जो पवित्रता थी उसको निकाल ली अनन्तर यह पाकुर वृक्ष बना, जिसका विशेष वर्णन यों है कि 'पशु से देव स्वर्ग में गए उनको विचार हुआ कि जैसे हम स्वर्ग में जा रहे हैं, वैसे ही मनुष्य भी आ जाएंगे, इधी भाव से देवों ने पशु का शिर काट लिया जिसमें लोह की धारा बहने लगी, उससे यह 'पाकुर' बना है अतः पाकुर अपवित्र और अज्ञानी है, वह क्या उत्तर देगा ? अपवित्र एवं अज्ञानी को भगवान् का ज्ञान होता ही नहीं है, इसकी आशा छोड़ अब कर्म से जिसका सम्बन्ध नहीं है और जो वैष्णव धर्म के उपदेशक, महादेव हैं, उस महादेव का रूप यह 'बड़' का पेड़ है, इससे पूछना चाहिए, हे न्यग्रोध ! यों पुकारकर

१ 'अश्वो रूपं कृत्वा यदश्वत्थेऽतिष्ठन्' अतिः



पूछने लगीं किन्तु वहां भी स्तब्धता पाई, तब समझ गई कि, इसमें भी कोई दोष है, विचार करने पर समझ गई कि यह 'बड़' ऊंचे जाने वाली शाखाओं का अधःपात करता है, अर्थात् अन्त में इसकी गति नीचे की ही है, जो अन्त में उत्तम<sup>१</sup> की गति नीची करदे वह, स्वयं कैसे जानी होगा ? जो भगवान् को जानकर क<sup>२</sup> सके, वास्तव में भगवान् तो आगे ही पधारे हैं ।

फिर भी पूछने लगी, कि आपका जो सम्बन्धी भगवान् है उनको आपने देखा ? श्लोक में 'कश्चित्' यह शब्द प्रश्नार्थक है ।

यदि वृक्ष कहदे, कि हमने भगवान् को कितनी ही बार देखा है और देख रहे हैं, इस विषय में आप क्यों पूछती हैं ? जिसके उत्तर में गोपियाँ कहती हैं, कि हम इसलिए पूछती हैं कि वह हमारा मन चुराके ले गए हैं, यदि वृक्ष कह देवे, कि विष्णु कभी भी चोरी नहीं करता है, जिसके उत्तर में कहती हैं, कि विष्णु चोरी करते हैं, हम कहती हैं, कि जो चोरी कर गया है, वह नन्दजी का सूनु<sup>३</sup> है इसलिए वह चोर है, क्योंकि जैसे कुल में उत्पन्न है, वह कुल ग्वालों का है । ग्वाले सदैव क्षीर आदि की चोरी करते हैं, इसने तो हमारे मन को चुराया है इसमें किसी प्रकार विशेष विरोध नहीं है, वे दूध दही चुराते हैं यह मन चुराते हैं, चौर्य कर्म तो वे भी करते हैं, तो इनने भी उस कार्य (चौर्य कार्य) में कमी नहीं की है । अथवा शास्त्रानुसार पति का नाम नहीं लेना चाहिए इसलिए 'नन्दसूनु' कहा है, जिससे यह निश्चय हो जाता है, कि गोपियाँ भगवान् को अपना पति ही मानती हैं । और साथ में राजा का पुत्र भी मानती हैं, चोर नहीं समझतीं, क्योंकि राजा का पुत्र कभी चोरी नहीं करेगा, वैसा उनको निश्चय था, जब वे मन चुराके गए तब उन्होंने भगवान् को चोर समझा, यदि चोर न हो, तो भोग का त्याग कर, क्यों भाग जावे ? अतः यह भगवान्, चोर हैं ।

मन तो भीतर रहता है उसको कैसे चुराके ले गए ? उत्तर में कहती हैं, कि मन को तीन प्रकार अपने प्रेम, हास और अवलोकन, इन तीन धर्मों से चुराया, जैसा कि, प्रेम से अन्तःकरण में प्रविष्ट हुए, हास्य से मन को पकड़ लिया और अवलोकन से चुराके ले गए । यों करने से सात्त्विक (प्रेम से अन्तःकरण में प्रवेश) राजस (हास्य से मन को पकड़ना) और तामस (अवलोकन से चुराना) ये तीन भाव प्रकट किए ॥ ५ ॥

**आभास—**तेषामनुत्तरं मत्वा, एते अमुख्यफला महान्तोऽपि काकसेव्या एवेति, ये महान्तः पुष्पवन्तः सुगन्धाः तान् पृच्छाम इति कुरवकादीन् पृच्छन्ति कश्चिदिति ।

**आभासार्थ—**गोपीजन को जब पीपल, पाकर और बड़ से उत्तर नहीं मिला तब वे समझ गई कि इनके जो फल हैं, वे श्रेष्ठों के लिए उपयोगी नहीं है, अतः वायस<sup>३</sup> ही उनको खाते हैं यद्यपि ये वृक्ष बड़े हैं किन्तु काम के नहीं हैं इसलिए अपन उन बड़े पृक्षों से पूछें, जो फल पुष्प वाले हैं वैसे पेड़ कुरवक आदि हैं यों विचार कर पूछने के लिए उनके पास गईं जिसका वर्णन 'कश्चित्कुरवक' श्लोक में करते हैं—





श्लोक—कञ्चित् कुरवकाशोकनागपुत्रागचम्पकाः ।

रामानुजो मानिनीनां गतो दर्पहरस्मितः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ—हे कुरवक ! हे अशोक ! हे नाग केशर ! हे पुत्रांग ! हे चम्पक !  
जिनका मन्द हास्य<sup>१</sup> मानवतियों के मान को हरण करता है वैसे राम के छोटे भाई  
को यहाँ से पधारते हुए आपने देखा ?

सुबोधिनी—कुरवकाशोकी कामोद्दीपकौ  
एते कामवाणपुष्पाः । नागो नागकेशरः, पुत्राग-  
चम्पकश्च अतिमुगन्धपुष्पाः । ते हि कामिनं व्याव-  
र्तयन्ति । अतः पञ्चाप्येते ज्ञास्यन्तीति । रामानुजः  
कञ्चिद्भ्रुवद्भिर्दृष्ट इति पृच्छन्ति । पूर्ववदेव  
प्रयोजनकथनम् । मानिनीनां दर्पहरं स्मितं यस्य ।  
व्यर्थमेव गतो भगवान्, स्मितमात्रेणैव दर्पो  
गच्छति, किं गमनेन । भयं तु नास्त्येव, यतो

रामानुजः बलभद्रभ्राता, भर्तृनाम न ग्राह्यमिति ।  
वयं सर्वा एव मानिन्यः स्थिताः । अतोऽस्मद्वर्पद-  
मनार्थं गतः । प्रायेणैतैर्न दृष्टः । कुत्सितरवात् कं  
सुखं यस्य । रोदनप्रियोऽग्रम् । अशोकश्च शोक-  
नाशक एव, न तु कस्यचित् सुखं प्रयच्छति ।  
नागोऽयं नाम्नैव भयानकः । गजपक्षेऽपि पुसामपि  
नागः । चम्पकोऽपि परिणामविरसः । अफला-  
श्रुते ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ -- कुरवक और अशोक ये दोनों वड़े वृक्ष काम को उद्दीपन करने वाले हैं । ये काम-  
देव के वाण के पुष्प हैं, नागकेशर, पुत्रांग और चम्पक के वृक्षों के पुष्पों की जो भी कामी सुगन्धि  
लेते हैं उनका चित्त दूसरी वस्तुओं से हट जाता है, अतः ये पाँच पेड़ इस बात को अवश्य जानते होंगे  
कि भगवान् कहां पधारे हैं ? इसलिए उनसे पूछती हैं, हे कुरवक ! हे अशोक ! हे नाग ! हे पुत्रांग !  
हे चम्पे ! बताओ तो सही, कि राम के छोटे भाई को आपने देखा है ? आप क्यों पूछती हैं ? यदि  
वैसा प्रश्न करें तो प्रथम ही उसके उत्तर में पहले की तरह वे सब कारण बता देती हैं और विशेष में  
यह भी कहती हैं कि भगवान् तो व्यर्थ ही चले गए ? यदि हमने मान<sup>२</sup> किया तो आप उसको वहां  
ही उतार सकते थे, इतने परिश्रम की आवश्यकता ही नहीं थी, भगवान् की मन्द मुस्कान में मानि-  
नियों के मद को चूर करने की शक्ति है, केवल हमारे सामने वह मन्द मुस्कान करते तो, हमारा गर्व  
कपूरवत् उड़ जाता । इस परिश्रम करने से वे दूट जाते, वे बलराम के भ्राता है अतः निर्भय तो हैं ही,  
यहां भी बलराम के भ्राता कहने से यह बताया है, कि हम पत्नियाँ हैं वह भर्ता हैं, हम सब अब भी  
मानवाली हैं अतः हमारे अभिमान को नाश करने के लिए गए हैं ।

गोपियाँ पुनः कहती हैं, कि हम समझती हैं, कि इन वृक्षों ने भी भगवान् के दर्शन नहीं किए  
हैं कारण कि, इनके गुण वैसे ही हैं अर्थात् भगवद्दर्शन के योग्य नहीं है, जैसे कि कुरवक, नाम से ज्ञात  
हो जाता है, कि इस वृक्ष को नीच रव<sup>३</sup> से आनन्द आता है, 'नाग' से तो स्पष्ट अर्थ निकलता है कि  
यह भय देनेवाला है क्योंकि नाग<sup>४</sup> है, अथवा नाग का अर्थ हस्ती लिया जाए तो भी भयानक है,  
पुत्रांग पुरुष नाग भी भयप्रद है, चम्पक भी परिणाम में रस प्रद नहीं है वे वृक्ष भी दोष वाले हैं तथा  
फल रहित हैं ॥ ६ ॥



**आभास—**पूर्वोक्तास्त्वपुष्पाः, एते अफलाः । फलपुष्पाभ्यां नानाविधविनियोग-संभवादज्ञानं मत्वा, तुलस्यास्तदुभयं नास्तीति भगवदीयत्वेन प्रमिष्टां पृच्छन्ति कच्चिदिति ।

**आभासार्थ—**प्रथम कहे हुए ( पांचवें श्लोक में कहे हुए ) वृक्ष पुष्प रहित हैं और ये (छठे श्लोक में कहे हुए) वृक्ष फल रहित हैं, अतः दोनों को भगवान् का ज्ञान नहीं है, कारण कि इनके फल और पुष्प अनेक प्रकार के विनियोग में आते हैं, इसलिए अब जो भगवदीया हैं तथा जिसके फल तथा पुष्पों का विविध विनियोग अथवा दोनों प्रकार से विनियोग (अन्यत्र) नहीं होता है और वह चरण सेविका होने से, भगवदीया है, चाहे उसने हम जैसा रस ग्रहण नहीं किया है तो भी यह जानती होगी इससे पूछना चाहिए, इस प्रकार विचार कर निम्न 'कच्चित्तुलसि कल्याणि' श्लोक से पूछती हैं ।

**श्लोक—**कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये ।

सह त्वाऽलिकुलैर्बिभ्रत् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः ॥ ७ ॥

**श्लोकार्थ—**हे कल्याणी ! हे तुलसी ! हे गोविन्द के चरणों में प्रेम करने वाली ! भ्रमरों के साथ तुम्हें धारण करने वाले तेरे, अतिप्रिय अच्युत को तुमने देखा ? ॥ ७ ॥

**सुबोधिनी—**तुलसीति संबोधनं सखीमिव मत्वा । सा चेत् पूर्वसम्बन्धस्मरणेन भक्तेव भगवन्तं भजेत्, तदा रसो न पुष्ट इति तां भगवत्पत्नीं मन्यमाना आहुः कल्याणीति । एवमपि सति भक्तिप्रधानेत्यस्मदाद्यपेक्षया उत्कृष्टेत्याहुः गोविन्दचरणप्रिय इति । किञ्च, तव दर्शने उपायोप्य-

स्ति । त्वत्सजातीयस्य तत्र विद्यमानत्वात् । सजातीयो हि सजातीयं मार्गस्थं दृष्ट्वा गच्छति । तदाहुः । अलिकुलै, सह त्वा त्वां बिभ्रत् दृष्ट इति । किञ्च, ते भगवानत्यन्तं प्रियः, यद्यनेन मार्गेण गतः स्यात्, अवश्यं त्वया दृष्टः स्यादिति ॥ ७ ॥

**व्याख्यानार्थ—**गोपियां तुलसी को अपनी सखी समझ कर हे तुलसी ! इस प्रकार संबोधन करती हैं, और दूसरा संबोधन हे कल्याणि । कहने का भावार्थ यह है कि गोपियां तुलसी को भगवान् की पत्नी समझती हैं, यदि प्रथम संबन्ध स्मरण करे, तुलसी भगवान् की केवल भक्त ही है, माना जाए तो, रस पुष्ट न होवे, अतः पत्नी समझ यह (हे कल्याणि) विशेषण वा संबोधन दिया है । पत्नी भाव होते हुए भी उसमें भक्ति भाव विशेष है इसलिए हमसे यह (तुलसी) उत्कृष्ट<sup>१</sup> है, जिसको (उत्कृष्टता को) वताने के लिए 'गोविन्द चरणप्रिये' विशेषण दिया है अर्थात् तुलसी भगवान् के चरणों में प्रेमवाली होने से हमसे विशेष है, मन में विचारती है कि तुलसी कह दे कि मुझ से क्यों पूछती हो, तो उसका उत्तर स्वयं दे देती हैं, कि आपकी जातिवाली (तुलसी) प्रभु के चरणों में,



सदैव रहती है उसको देख आप भी वहां जाने की इच्छा करती है, क्योंकि एक जातिवाला कहीं भी अपनी जाति वाले को देखता है, तो उससे मिलने की चाहना करता है और इसके सिवाय, भगवान् भ्रमरों के कुलों को भी, आपके साथ ही धारण करते हैं, इसलिए भी आपने उनको (भगवान् को) देखा होगा। तथा आपको भगवान् बहुत प्रिय हैं, अतः यदि भगवान् इस मार्ग से पधारे होंगे, तो निश्चय आपने दर्शन किए होंगे ॥ ७ ॥

**आभास—**तत्राप्यरुचि मत्वा, इयं सपत्नीवत् स्वोत्कर्षं ख्यापयन्ती कथमन्याभ्यो वक्ष्यतीति, साधान्ण्यः स्त्रिय एवास्माकमुपकारिण्य इति, ताः पृच्छन्ति मालतीति ।

**आभासार्थ—**तुलसी से भी कुछ उत्तर न मिलने पर, गोपियों ने समझा, कि यह सौति की तरह अपना उत्कर्ष जताने के लिए अन्यो को कैसे बताएंगी ? अतः अपने लिए तो साधारण स्त्रियाँ ही उपकार करने वाली बनेगी, इसलिए उनसे पूछना चाहिए यह निर्णय कर निम्न 'मालत्यदर्शि' श्लोक से साधारण वनस्पतियों से पूछती है—

**श्लोक—**मालत्यदर्शि वः कञ्चित् मल्लिके जाति यूथिके ।

प्रीतिं वो जनयन् यातः करस्पर्शेन माधवः ॥ ८ ॥

**श्लोकार्थ—**हे मालति ! हे मल्लिके ! हे जाति ! हे यूथिके ! हस्त स्पर्श से प्रीति को उत्पन्न करते हुए माधव इस मार्ग से पधारे थे उनको आपने देखा ?

**सुबोधिनी—**हे मालति, वः युष्माभिः प्रत्येकं नानारूपाभिः दृष्टः कञ्चित् । तथैव मल्लिके, हे जाति, हे यूथिके । एत श्रुतस्त्रो लताः अतिमुगन्धपुष्पाः भगवत्प्रियाः । अतः वः युस्माकं करस्पर्शेन प्रीतिं जनयन् पुष्पावचयं कुर्वन् माधवो लक्ष्मीसहितः । लक्ष्म्या सह तिष्ठति, अतस्तस्याः चूडाबन्धनार्थं पुष्पावचय आवश्यक इति ॥ ८ ॥

**व्याख्यार्थ—**हे मालति ! हे मल्लिके ! हे जाति ! हे यूथिके ! अनेक रूप वाली आप सबने भगवान् को देखा ? ये चार लताएँ अत्यन्त सुगन्धिवाले पुष्प उत्पन्न करती हैं एवं भगवत्प्रिय भी हैं, अतः भगवान् अपने कर कमलों से पुष्प चयन<sup>१</sup> करते हुए आपका स्पर्श कर प्रेम को उत्पन्न करते हैं । उनको (भगवान् को) पुष्प चयन इसलिए आवश्यक था, कि उस समय आपके साथ लक्ष्मीजी थीं उनकी (लक्ष्मीजी की) चोटी<sup>२</sup> गूँथने के लिए पुष्प चाहिए थे ।

**आभास—**ननु यद्यप्येताः स्त्रियः, तथाप्यफला इति, अल्पा इति, स्वार्थपरा इति, लक्ष्मीपक्षपातिन्य इति न वदिष्यन्तीति ज्ञात्वा आम्रादीनत्युत्तमान् वृक्षान् पृच्छन्ति चूतेति ।



आभासार्थ—ये लताएँ स्त्रियाँ हैं और निष्फल है अर्थात् इनसे कोई लाभ नहीं है, ये न छाया कर सकती हैं और न फल खिला सकती हैं केवल लक्ष्मी का पथ करती है, उनकी चोटी गूथने के लिए पुष्प दे सकती हैं, अतः ये भी भगवान् का पता अपन को नहीं बताएँगी, इसलिए इन अल्पो को छोड़ो, चलो तो महान् आम्नादि वृक्षों से पूछो, यह विचार कर निम्न श्लोक 'चूत प्रियाल' में उनसे पूछती है ।

श्लोक — चूतप्रियालपनसाशनकोविदारजम्बकंबिल्वबकुलाम्रकदम्बनीपाः ।

येऽन्ये परार्थभवका यमुनोपकृताः शंसन्तु कृष्णपदवीं रहितात्मनां नः॥६॥

श्लोकार्थ—हे चूत<sup>१</sup> ! हे प्रियाल ! हे पनस ! हे अशन ! हे कोविदार ! हे जामुन ! हे अर्क<sup>२</sup> ! हे बिल्व ! हे बकुल ! हे आम्र हे कदम्ब ! हे नीप ! और अन्य जो यमुनाजी के तट पर परोपकार के लिए उत्पन्न हुए हो अतः हम, जो श्रीकृष्ण के बिना आत्मा रहित बन गई हैं, उनको श्रीकृष्ण का पता बताओ ॥ ६ ॥

सुबोधिनी—चूताम्रौ मनुराम्लप्रकृतिकौ । कालभिन्नफलौ वा । प्रियालस्तु बीजेष्वधिकरस-युक्तः । पनसो महाफलः । अन्ये चाशनादयो वृक्षाः पुष्पफलप्रधानाः । किं बहुना । अन्येऽपि ये मधूकादयः । परार्थगेव जन्म येषां ते परार्थभवकाः । किञ्च, यद्यपि सर्व एव वृक्षाः परार्थजन्मानः, तत्रापि ये यमुनोपकृताः, यमुनाया उपकृते तप-

स्विन इव तिष्ठन्ति, ते ह्यवश्यं भगवन्तं पश्यन्ति बोधयन्ति च । अतः सदानन्दस्य पदवीं शंसन्तु । यथास्मद्गुह्ये समायाति । दयार्थमाहुः रहितात्मनामिति । केचित् गृहरहिताः धनरहिताः देहरहिता वा । वयं त्वात्मरहिता एव । अतः सर्वापेक्षया वयं दीनाः । अतः कृष्णपदवीमस्मदर्थं शंसन्तु ॥ ६ ॥

व्याख्यानार्थ—ग्राम दो प्रकार के होते हैं एक मीठे और दूसरे खट्टे, मीठे ग्राम को चूत कहते हैं, जो रस वाले होने से चूसे भी जाते हैं और दूसरे जो साधारण तथा मीठे न होकर खट्टे होते हैं, उनको आम्र कहते हैं, अथवा अलग २ समय से उत्पन्न होने से एक को चूत दूसरे को आम्र कहते हैं । 'प्रियाल' के बीजों में भी अधिक रस भरा रहता है, 'पनस' के फल बड़े होते हैं, अन्य अशन आदि वृक्षों में पुष्प तथा फल मुख्य हैं, विशेष क्या कहें । अन्य भी जो मधूक आदि वृक्ष हैं, वे सब परोपकार के लिए ही उद्भूत हुए हैं, किञ्च, यद्यपि सब वृक्ष परोपकार के लिए ही जन्मे हैं तो, भी जिनका जन्म, श्री यमुनाजी के तट पर हुआ है, वे तपस्वियों के समान वहाँ रहते हैं, वे अवश्य भगवान् को देखते हैं और अन्यो को भी ज्ञान कराते हैं, अतः हे वृक्षों ! सदानन्द भगवान् का पता बताओ, कि भगवान् किस मार्ग से गए हैं, जिससे हम उनको पा सकें, गोपियाँ वृक्षों को अपनी दीन स्थिति बताती हैं, कि हे वृक्षों ! हम आत्मा से रहित हैं, जगत् में कितने बिना गृह के, वा बिना धन के अथवा बिना देह के होंगे, किन्तु हम ही हैं, जो आत्मा के बिना हैं अतः हम सर्वथा दया के पात्र हैं इसलिए हमको कृष्ण का पता बताओ ॥ ६ ॥



ग्रामास—एवमतिविलापे दीनतायाम्। विष्कृतायां भूमौ भगवच्चरणारविन्दानि दृष्टानि, तद भूमिं स्तुवन्ति किं ते कृतमिति ।

ग्रामासार्थ—इस प्रकार जब गोपियों में दीनता प्रकट हुई, तब उन्होंने पृथ्वी पर भगवान् के चरण चिन्ह देखे, देखते ही निम्न श्लोक 'किं ते कृत' से पृथ्वी की स्तुति करने लगी—

श्लोक—किं ते कृतं क्षिति तपो बत केशवांघ्रिस्पर्शोत्सवोत्पुलकिताङ्गरुहैर्विभासि ।

अप्यंघ्रिसंभव उरुक्रमविक्रमाद्वा आहो वराहवपुषः परिरम्भणेन ॥ १०॥

श्लोकार्थ—हे पृथ्वी ! तू ने कौनसा तप किया है ? जिससे, भगवान् के चरण स्पर्श होने से, तेरे रोमांच (खड़े) हो गए हैं और तू अत्यन्त शोभा पा रही है, क्या अभी (इस समय हुए) भगवान् के चरण स्पर्श से यह आनन्द हुआ है ? या वामनावतार में नापने के समय जो चरण स्पर्श हुआ उसका आनन्द है, अथवा वराह अवतार के समय पाताल से लाते हुए जो तुमने भगवान् से आलिङ्गन किया उस समय का आनन्द है, यह स्पष्ट बता द । १० ॥

सुबोधिनी हे क्षिति । ते त्वया किं वा तपः कृतम् । अस्माभिरपि तपः कृतमेव, परं नैव फल-मनुभूतम् । सर्वथा पुण्यव्यतिरेकेण नेष्टसिद्धिः । सुतरां भगवद्वक्षणा । स्वस्य तदभावमाशङ्क्य वतेति क्षेदे । न केवलं तव पादसम्बन्धमात्रम्, किन्त्वन्येऽपि भावा दृश्यन्त इत्याहुः । केशवस्य ब्रह्मादेरपि मुक्तिदातुः ब्रह्मप्रार्थितचरणारविन्दस्य अंघ्रिस्पर्शेन उत्सवो यस्याः । स्वेदो दृश्यत एव, अन्यथा पदानि स्पष्टानि न भवेयुः । अन्योप्युत्सवो दृश्यते, उत्पुलकिता च । सर्वत्र दूर्वाङ्कुरा उद्विगता इति अङ्गरुहैः रोमाञ्चैः कृत्वा विशेषेण भासि । उत्पुलकिताङ्गरुहैर्वा । अघ्रिस्पर्शोत्सवा

विभासि । ननु सर्वत्रैव पुलको दृश्यते, यदि केश-वांघ्रिस्पर्शेन स्यात्, तत्रैकदेशे स्यात्, स्वदेवदि-त्याशङ्क्य हेत्वन्तरमुत्प्रेक्षन्ते अप्यंघ्रिसंभव उरुक्रम-विक्रमाद्वेति । अपीति संभावनायाम् । अनेन चरणस्पर्शेन पूर्वास्थितचरणस्पर्शः स्मृतः । स तु सर्वत्र भूमौ व्याप्तः । अतस्तेन अंघ्रिणा संभवो यस्य उत्सवस्य । उरुक्रमः त्रिविक्रमः । तस्य विक्रमान् पदन्यासाद्वेति तत्राप्यनिर्धारः । न हि चरणसंबन्धमात्रेण संभोगरहितेन सात्त्विकभावरूपः उत्सवो रोमाञ्चो भवितुमर्हति । तदर्थं पक्षान्तर-माशङ्क्ये आहो वराहवपुषः परिरम्भणेनेति । अने स्वसमानता च वर्णिता ॥ १० ॥

व्याख्यानार्थ—हे पृथ्वी ! तुमने किस प्रकार तप किया है ? हमने भी तो तप किया है, किन्तु जिस फल का अनुभव तू ले रही है, उस प्रकार के फल का अनुभव हम नहीं कर रही हैं । हां हमने समझ लिया कि पुण्य के बिना इष्ट की सिद्धि नहीं होती है, उसमें भी भगवत्सम्बन्धी इष्ट सिद्धि



जिससे भगवान् का पता लग जावे, वह तो विशेष पुण्य के बिना नहीं हो सकती है, गौपियों ने इस प्रकार के फल का अनुभव न होने से, अपना खेद प्रकट करने के लिए मूल में खेद वाचक 'वत' शब्द दिया है, हे पृथ्वी ! तुमने केवल चरण स्पर्श का अनुभव नहीं किया है, किन्तु उस स्पर्श से उत्पन्न अन्य पुलक आदि विकारों का भी अनुभव लिया है, 'केशव' नाम का भावार्थ, यह है कि श्रीकृष्ण ब्रह्मा और महादेव को भी मोक्ष देने वाले हैं, उनकी प्रार्थना से, आप पृथ्वी पर पधारे हैं, जिससे उनके चरणारविन्द के स्पर्श का आनन्द तुमने प्राप्त किया है, उस आनन्द के उत्सव को मनाते हुए तुमको प्रस्वेद<sup>१</sup> हुआ जिससे तू बेसी आर्द्र हो गई है कि प्रभु के चरणारविन्द के चिन्ह तुम पर अङ्कित होगए हैं अन्यथा यदि तुम्हें पसीना न आया होता, तू शुष्क रहती तो ये चरण चिन्ह अङ्कित न होते, यह तुम्हारी आर्द्रता सात्विक भाव को प्रकट करती है, और इसके अतिरिक्त तुम्हें उस आनन्द से पुलक हुए वे (पुलक) दूर्वा रूप में प्रत्यक्ष देखने में आते हैं उनसे तुम्हारी शोभा विशेष बढ़ रही है, अथवा चरण स्पर्श से उत्पन्न आनन्द से, ये सब विकार हुए हैं, जिनसे तुम्हारी शोभा हो रही है । पृथ्वी में यह पुलक तो सर्वत्र देखने में आती है, यदि अवके चरण स्पर्श से हुई होती तो पसीने की तरह एक स्थान पर होती, सर्वत्र न होती, इस शङ्का के निवारण के लिए अन्य कारण कहती हैं कि वामनावतार में भगवान् ने पृथ्वी नापते हुए अपने चरण का समग्र पृथ्वी को स्पर्श कराया था इस समय चरण स्पर्श से यह स्मृति हो गई है, जिससे पृथ्वी में सर्वत्र पुलक रूप दूर्वा उद्भूत हुई है, केवल चरण स्पर्श से तो इतना आनन्द नहीं होता है जिससे पुलक हो जाए, किन्तु वह तब होता है, जब आलिङ्गन और चुम्बन आदि क्रिया पूर्वक भोग होता है इसका उतर देती हैं, कि जब वराह रूप धारण किया था तब आलिङ्गन आदि हुए थे, जिससे पुलक आदि होने में किसी प्रकार संशय नहीं है और वे प्रत्यक्ष देखने में आ रहे हैं । इन कारणों से हे पृथ्वी ! तुम और हम दोनों समान हैं ॥ १० ॥

**आभास—**एवं स्थावरान् पृष्ठा जङ्गमान् पृच्छन्ति अपीति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार स्थावरों से पूछकर अब चेतन प्राणियों से पूछती हैं—जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'अप्येण' श्लोक से कहते हैं—

**श्लोक—**अप्येणपत्न्युपगतः प्रिययेह गात्रैस्तन्वन् दृशां सखि सुनिर्वृतिमच्युतो वः ।  
कान्ताङ्गकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुलपतेरिह वाति गन्धः ॥ ११ ॥

**श्लोकार्थ—**हे हरिणी ! हे सखी ! किसी प्यारी के साथ घूमते हुए और अपने अवयवों से तुमको आनन्द देते हुए भगवान् को इस मार्ग जाते हुए तुमने देखे ? उनके गले में वह कनेर के फूलों की माला है, जिसमें प्रिया के अङ्ग सङ्ग करते समय उसके कुचों का चन्दन लग रहा है यहां उनकी सुगंध युक्त वायु आ रही है ॥ ११ ॥



सुबोधिनी-हे एणपत्ति, कृष्णसारपत्ति, प्रियया कयाचित् लक्ष्म्या अन्यया वा उपगतः मिलितः स्त्रीसहितः, अनेन मार्गेण गच्छन्, स्वगार्वं स्वावयवं, भवतीनां दृशां सुनिर्वृति तन्वन् दृष्टः कश्चिन् । अनेनैव मार्गेण गत इति चरणारविन्ददर्शनात् निश्चीयते । यदि दृष्टो भवेत्, तदा अस्माभिरपि द्रष्टुम शक्यत इति । त्व त्वन्यस्य पत्नी अस्माक च सखी भवसि । अत आहुः हे सखीति । (सखित्वं कृष्णानुरक्त्या, नेत्रतुल्यत्वेन

भीरुत्वादिधर्मः । अन्यथा भवतीनां विकसितनयनानि न भवन्तीति । ननु कृतलीलः किमिति प्रार्थ्यते, तत्राहुः अच्युत इति । ननु कथं ज्ञायतं प्रियया उपगत इति, तत्राहुः कान्तेति । कान्ताया अङ्गसङ्गे य-कुचयोः कुङ्कुमं तेन रञ्जितायाः कुन्दस्रजः कुन्दपुष्पमालायाः गोकुल पतेः सम्बन्धिन्या इह गन्धो वाति । आद्रंश्च गन्धः आद्रं कुङ्कुमं ज्ञापयति । सात्त्विकभावादेवार्द्रता । अतो ज्ञायते प्रियया सङ्गत इति ॥११॥

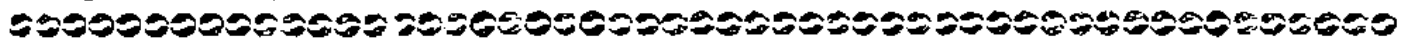
व्याख्या—हे कृष्णसार मृग की पत्नी ! हे सखी ! अपनी प्रिया (लक्ष्मी अथवा अन्य) के साथ, इस इस मार्ग से जाते हुए अपने श्री अङ्गों के अवयवों से, तुम्हारी दृष्टि को आनन्द देते हुए क्या तुमने भगवान् को देखे ? इस मार्ग से ही पधार रहे है इसका निश्चय भगवान् के चरण चिन्ह देखने से हुआ है । यदि देखे हो तो हमको भी बतादो, तो हम भी देख सकें, तू तो अन्य की पत्नी है और हमारी सखी है, सखी होने के कारण बताती हैं, जैसी हमारी कृष्ण में प्रीति है, वैसे तेरी भी है, तेरे नेत्र भी हमारे नेत्रों के समान है तथा जैसे तू डरपोक है वैसे हम भी डरपोक हैं, तू ने भगवान् के दर्शन किए हैं इसका प्रमाण यह है, कि तेरे नेत्र प्रफुल्लित हो रहे हैं यदि दर्शन न किए होते तो, कदाचित् वैसे नेत्र नहीं होते । वे अकेला तो नहीं थे स्वामिनी के साथ थे, अतः लीला भी अवश्य की होगी, ऐसा कहने पर गोपियों के मन में शङ्का हुई, कि हरिणी कह देगी, कि जब उन्होंने लीला करली है, तो फिर उनसे मिलने के लिए क्यों पूछती हो ? इसके उत्तर में कहती है, कि जिसके लिए हम पूछ रही हैं, वह 'अच्युत' है अर्थात् वह रमण कर लेने पर च्युत नहीं होते हैं अतः रमण करने के अनन्तर, फिर भी रमण कर सकते हैं । यदि हरिणी पूछले, कि वे स्त्री के साथ थे, यह कैसे कहती हो ? (तो) इसके उत्तर में कहती हैं, कि—यहां उस माला की सुगन्धि आ रही है, जिस कुन्दमाला में प्रिया के स्तनों पर चचित् चन्दन लगा हुआ है, क्योंकि वह गीला है, वह माला आपने कण्ठ में धारण की है, जिसमें जाना जाता है कि आपके साथ प्रियाजी भी हैं ॥ ११ ॥

आभास—एवं हरिणपत्नीं पृष्ट्वा इयं भर्तृसमीपे वक्तुमशक्तेति पूर्वं भगवत्स्तुतान् वृक्षान् पृच्छन्ति बाहुमिति ।

गोपियों ने जान लिया, कि यह हरिणी पति के साथ होने से, हमारे प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकेगी, अतः हमको उन वृक्षों से पूछना चाहिए जिनकी स्तुति स्वयं भगवान् ने की है, यह निश्चय कर 'बाहुं प्रियांस' श्लोक से उनसे पूछती हैं—

श्लोक—बाहुं प्रियांस उपधाय गृहीतपद्मो रामानुजस्तुलसिकालिकुलमर्मदाधैः ।

अन्वीयमान इह वस्तरवः प्रमाणं किं वाभिनन्दति चरन् प्रणयावलोकंः ॥१२॥



**श्लोकार्थ—**हे वृक्षों ! एक हाथ प्यारी के कन्धे पर धर, दूसरे हाथ में कमल लिए हुए यहां विचरते हुए और जिनके पीछे तुलसी की गन्ध से मत्त भ्रमर जा रहे हैं वैसे राम के छोटे भ्राता ने स्नेह पूर्वक अवलोकनों से तुम्हारे प्रणाम को स्वीकार किया व नहीं ? ॥ १२ ॥

**सुबोधिनी—**प्रियाया असे बाहुमुपधाय द्वितीयेन हस्तेन गृहीतपदाः रामानुजो निर्भयः तुलसिकायाः सम्बन्धिनो येऽलयः तेषां कुलं कृत्वा अन्वीयमानः पश्चाद् गम्यमानः । हे तरवः । पूर्व भगवता भक्तत्वेन स्तुताः, अतो भगवद्भिः कृतं प्रणाममिहैव किमभिनन्दति, न वेति प्रश्नः । प्रियासे बाहुमुपधायेति समतया गमनेन लक्ष्यते । उभयोः पदानां पङ्क्त्याकारेण गमनात् । कदाचित्पदानां चाञ्चल्येन भ्रमरोपरुद्धगत्या तन्निवार-

णार्थं यत्नो लक्ष्यते । तरवश्च नम्राः, नमस्कारार्थमेव कलोपहार कृत्वा भूमिसम्बद्धशिरसो जाताः । अतो ज्ञायते प्रणामः कृत इति । अनुत्थानात्सन्देहः अभिनन्दति न वेति । अनभिनन्दने हेतुः चरन्निति यो हि गच्छति, सः अनवहितोऽपि भवति । ननु निकट एव स गच्छति । यद्यभिनन्दनं कृतं स्यात्, तद्वै श्रूयेत, कथं सन्देह इति चेत्, तत्राहुः प्रणामावलोकैरिति । प्रणामपूर्वकमवलोकैः, न तु वाचा । अतो ये निकटस्थाः, त एव जानन्ति नान्ये ॥ १२ ॥

**व्याख्यार्थ—**वलदेवजी के अनन्तर प्रकट होने के कारण जो निर्भय है, तुलसी के सम्बन्धी भ्रमर जिनके पीछे आ रहे हैं, वैसे भगवान् प्यारी के कन्धे पर एक हस्त को धर, दूसरे हस्त में कमल को लेकर जो विचरण कर रहे हैं, हे वृक्षों ! जिन्होंने आपके भक्त होने के सम्बन्ध से, पूर्व स्तुति की है, जिससे तुमने भगवान् को, जो अब प्रणाम किया उसको उन्होंने स्वीकृत किया वा नहीं ? वह बताओ;

भगवान् एवं प्रिया की पद पंक्ति साथ साथ इसलिए जा रही है, जो भगवान् ने अपने श्री हस्त को प्यारी के कन्धे पर धरा है जिससे निश्चय है, कि दोनों मिलकर इकट्ठे ही साथ में जा रहे हैं, कहीं कहीं भगवान् के चरण की गति टेढ़ी देखने में आती है, उसका कारण यह है, कि १—चञ्चल गति से चलना, २—भ्रमरों के उपद्रव से उनको दूर करना, अन्यथा तो दोनों की चाल समान है ।

वृक्ष नम्र स्वभाव वाले होते हैं, अतः इन्होंने भेट के लिए फल लेकर पृथ्वी तक नत मस्तक होके भगवान् को प्रणाम किया है, किन्तु वे (भगवान्) तो चले गए हैं, अब तक इनके मस्तक पृथ्वी पर क्यों हैं ? जिससे संशय उत्पन्न होता है, कि यह पृथ्वी पर मस्तक प्रणाम के कारण से है वा अन्य किसी कारण से है, अर्थात् इन्होंने (वृक्षों ने) प्रणाम किया है वा नहीं ? प्रणाम के अनन्तर तो मस्तक, अपने स्थान पर होना चाहिए, वह नहीं होने से, प्रणाम के विषय में शङ्का होती है और इनका प्रणाम भगवान् ने बाणी से वा इङ्गित से स्वीकार किया या नहीं ? भगवान् जा रहे थे इसलिए इन्होंने प्रणाम किया यह ध्यान में न भी आया हो, हम उस समय पाम तो थी नहीं जो जान सके, पास वालों ने जाना होगा । हे वृक्षों ! इत्यादि कारणों से सन्देह होने से, हम आप से पूछती हैं ॥ १२ ॥





आभास—वे जानिनो वृक्षाः स्त्रिभिः सह सम्भाषणं न करिष्यन्तीति तत्पत्नय एव प्रष्टव्या इत्याहुः पृच्छतेमा लता इति ।

आभासार्थ—वृक्ष तो जानी हैं, वे स्त्रियों से सम्भाषण नहीं करेगे, अतः इनकी स्त्रियों से 'पृच्छतेमा' श्लोक में पूछती है—

श्लोक—पृच्छतेमा लता बाहुनप्याश्लिष्टा वनस्पतेः ।

नूनं तत्करजस्पृष्टा बिभ्रत्पुलकान्यहो ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—ये लताएं वृक्ष के डालियों रूप भुजाओं को आलिङ्गन कर रही हैं तो भी, भगवान् के नख स्पर्श से इनमें पुलक हो गई है, जिससे ये भगवान् का पता बता सकेंगी अतः इनसे पूछें ॥ १३ ॥

सुबोधिनी—वनस्पतेर्बाहुनाश्लिष्टा अप्येताः, जायते 'सर्वोपमदी भगवत्सम्बन्धी रस' इति । पृच्छत । यद्यपि तासामप्यनवसरः, ताश्च पुनर्भर्तुः, एवं सर्वोपामेवावचने मूर्छिता इव जाता इति । भुजालिङ्गिता अपि भगवत्करजरेव नखः स्पृष्टाः, एतदन्ता प्रश्नकथा । नवविधा एता गोप्यो निरु- सत्यः उत्पुलकानि बिभ्रति । न हि रसान्तरा- पिताः । दशमी तु भगवता नीयते । एवमन्वेषणेन विद्यानां रसान्तरार्थं स्पृष्टा भवति । अत एव, रसस्थैर्यं निरूपितम् ॥ १३ ॥

व्याख्यानार्थ—यद्यपि ये बेल वृक्षों के बाहु से आश्लिष्ट हैं तो भी, इनसे पूछो, जो कि इनको भी उत्तर देने का अवसर तो है नहीं, कारण कि एक तो ये पतिश्री से आलिङ्गित हैं, और दूसरे पुष्पा चयन करते हुए भगवान् के नख स्पर्श से इनके रोमांच खड़े होगए हैं, उस रस में ये, छकी हुई हैं अतः एक रस में मग्न, दूसरे रस ग्रहण करने की इच्छा नहीं करते हैं, जिससे जाना जाता है, कि भगवान् का रस सब रसों का मर्दन करने वाला होने से, सब से उत्तम, श्रेष्ठ है ।

इस प्रकार सब से पूछने पर किसी ने भी कोई उत्तर नहीं दिया, तब वे मूर्छित सी हो गई, इसी तरह प्रश्न करने वाली नौ प्रकार की गोपियाँ थीं, दशमी तो भगवान् के साथ गई हुई थी, यहाँ तैके प्रश्न की वार्ता हुई, जो कि प्रश्नों का उत्तर गोपियों को नहीं मिला किन्तु इस भाँति प्रश्न करने से इनको (गोपियों को) यह फल मिला कि उनमें रस स्थिर हो गया ।

आभास—एवं तिरोधानेन जाततापनिवारणार्थं यत्नो निरूपितः । एतदुपमदिका भगवल्लीला प्रादुर्भूता । तस्या विलासं वक्तुं पूर्वोपसंहारपूर्वकमुपक्रमते इतीति ।





गोपियां भगवान् का अन्वेषण करती करती कायर<sup>१</sup> बन गईं। भगवान् की स्वाभाविकी छ प्रकार की लीलाएं हैं, उनमें भी, अनेक प्रकार<sup>२</sup> है, इसलिए मूल में 'ताः ताः' 'वे वे' शब्द देकर उनकी विविधता प्रकट की है। इसी भांति अर्थ करना योग्य है। गोपियों के हृदय में भावात्मक भगवान् अकेले नहीं पधारे, किन्तु लीला सहित पधारे हैं। जब जब भगवान् अवतार लेते हैं, तब तब, पूतना के प्राण सहित पयः पान आदि लीलाएं करते हैं, वैसे ही पुरुषोत्तम मास में और सवत्सर लीलाओं में ये सब उत्सव किए जाते हैं यह प्रसिद्ध है :

भगवान् ने गोपीजनों के मन में प्रकट होकर जो-जो लीलाएं की हैं, उनका साक्षात्कार दर्शन होना अशक्य है: इसलिए वे भावना से ही, आविर्भूत हुए हैं जिससे गोपियों ने लीलाओं का अनुकरण मात्र किया है अर्थात् जैसे लोक में कोई कुछ कार्य करता है, उसको देखकर अन्य वही कार्य उसी प्रकार करने लगे, तो कहा जाता है कि इसने उसका अनुकरण किया है, वैसे ही यहां गोपियां ने जो लीलाएं की हैं, वे भी अनुकरण मात्र है, कारण कि भगवान् गोपियों में भावना से ही प्रकट हुए ॥ १४ ॥

जब कि, सब गोपीजनों का भगवान् में समान प्रेम था, तो सब गोपियों में एक ही समय समान लीलाओं का प्रादुर्भाव न होकर, पृथक् क्यों हुआ ? इस शङ्का की निवृत्ति आचार्य श्री निम्न तीन कारिकाओं द्वारा करते हैं ।

कारिका—भवत्यातिमत्तास्तद्भावमीषन्मत्तास्तु रोषतः ।

द्वेषभावं समाश्रित्य क्रीडन्त्यो जातमत्सराः ॥ १ ॥

सत्त्वादिगुणभावेन नवलीलाः प्रपेदिरे ।

अतो न न्यूनभावोऽत्र ह्याविष्टाः शकटादिभिः ॥ २ ॥

सर्वत्र हरिबुद्ध्या वा पादस्पर्शच्छया पुनः ।

उलूखलादिभावोऽपि तत्सम्बन्धप्रसिद्धये ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—भगवान् में समान प्रेम होते हुए भी, भाव के भेद से, लीला में भेद की प्रतीति होती है, जो गोपी भक्ति से अतिमत्त हो गई है, उसमें केवल भगवद्भाव (ज्ञान) ही रहता है, और जो गोपी भक्ति से स्वल्पमत्त हुई है, उसमें भगवद्भाव के साथ उनके सम्बंध वाले पदार्थों का भी भाव (ज्ञान) रहता है, अतः भगवान्, भगवल्लीला तथा भगवत्सम्बंधी पदार्थ इन तीनों में से जिसका भाव हृदय में उद्भूत होता है, उस समय वह गोपी तद्रूप बन जाती है, इसलिए भक्ति से, जो अतिमत्त हो



गई थी, जिसको भगवान् के सिवाय अन्य किसी का ज्ञान न रहा था, उसको भगवद्भाव प्राप्त हुआ अर्थात् उसने अपने को मैं कृष्ण हूँ यों समझा, और जिसको स्वल्पमत्तता के कारण, अन्य का भी ज्ञान रहा था, उसको पूतना आदि भाव जगा, जिससे उसने अपने को पूतना समझा इसलिए क्रोध आदि धारण क्रीड़ा करने लगी। सत्त्व, रज और तम गुण के कारण, गोपियां ने नौ लीलाएँ की हैं जिनका वर्णन १५ से २३ श्लोकों में पृथक् २ प्रकार से किया गया है ॥ १॥ ॥

जिन गोपियों को भगवद्भाव न होकर, पूतना भाव हुआ, वे भगवद्भाववालियों से न्यून कक्षा की गिनी जाएंगी वैसी शङ्का हो तो उसका समाधान यह है कि उनको न्यून कक्षा वाली नहीं समझना चाहिए कारण कि, भगवान् और भगवान् की लीला से सम्बंधित पदार्थ सब समान ही हैं, अतः पूतनादि भाव वाली तथा शकटादि भाव वाली गोपियाँ भगवद्भाव वाली गोपियाँ से न्यून नहीं हैं सब समान हैं। केवल वर्णन करने में अन्तर देखने में आता है कारण कि, जहाँ एक लीला का प्राकट्य होता है; वहाँ उस समय दूसरी लीला के दर्शन नहीं होते हैं, जिससे प्रकट लीला का ही वर्णन किया जाता है, अतः इन सब लीलाओं में समान भाव ही है; कहीं भी किसी में भी (लीला में वा लीला कर्ता में) भेद वा न्यूनता नहीं है ॥ २ ॥

यद्यपि सब गोपियाँ समान हैं, तो भी जिनमें पुनः भगवान् के चरण स्पर्श करने की अत्यन्त आर्ति जागृत हुई है, जिससे उन्हींमें, उलूखल, शकट आदि होने का भाव उत्पन्न होते ही, वे उलूखलादि बन, भगवान् के चरणारविंद का इस प्रकार स्पर्श करती हैं, वे भगवद्भाववालियों से उत्तम हैं ॥ ३ ॥

**श्लोक—कस्याश्चित्पूतायन्त्याः कृष्णायन्त्यपिबत्स्तनम् ।**

**तोकायित्वा रुदत्यन्या पदाहन् शकटायतीम् ॥ १५ ॥**

**श्लोकार्थ—**जो गोपी कृष्ण बनी, उसने पूतना रूप बनी गोपी का स्तन पान किया और जो गोपी, बालक बनी, उसने रोते हुए शकट रूप गोपी को लात मारी जिससे वह उलट गई ॥ १५ ॥



सुबोधिनी—प्रथमतो भगवच्चरित्रं पूतनासृप-  
यःपानमिति, काचित्पूतना भूता जाता, अन्या  
'अहं कृष्ण' इत्युक्तवती, तदा तामङ्गे भगवद्-  
बुद्ध्या अगृह्णात् । ततस्तस्याः पूतनायन्त्याः  
कृष्णायन्ती स्तनमपिवन् । तस्यास्तु मरणभावना  
न स्थितेति, सा न मृता । नाप्यनुकरणं कृतवती ।

कृष्णायन्ती च स्तनमात्रमेव पिबति । अलौकिक-  
सामर्थ्याभावात् इति स्तनपानमात्रमुक्तम् । अ-  
मङ्गलतानिवृत्तये च शकटभङ्गलीलामाह तोका-  
यित्वेति । तोकवदाचरति, आत्मानं तोक मन्यते  
वा, तोकवदाऽत्मानं कृत्वा वा । शकटायतीं शकट-  
वत् स्थितां, अहन् ताडितवती ॥ १५ ॥

व्याख्यानार्थ - भगवान् ने पूतना का दूध पीते हुए प्राण चूस लिए । भगवान् का यह चरित्र पहला है, कोई गोपी पूतना बनी दूसरी गोपी 'मैं कृष्ण हूँ' यों कहने लगीं, तब जो गोपी पूतना बनी थी उसने दूसरी गोपी को कृष्ण समझ कर गोद में ले लिया, गोद में लेते ही कृष्ण रूप गोपी पूतना हुई गोपी का स्तन पान करने लगी, उस समय पूतना बनी गोपी को यह भावना नहीं हुई, कि मैं मरी, अतः मरी नहीं, ओर पूतना के समान मरने का अनुकरण भी नहीं कर सकी तथा कृष्ण बनी हुई गोपी ने भी केवल स्तन पान करने की क्रिया मात्र की, कारण कि उसमें कृष्णवत् कोई अलौकिक सामर्थ्य तो नहीं थी, इसलिए यहां केवल स्तन पान कहा है, असुपान<sup>१</sup> नहीं कहा है, यदि असुपान हो तो, मृत्यु हो जावे जिससे अमङ्गल होवे अतः अमङ्गलता को निवृत्ति के लिए केवल स्तन पान कहा गया है ।

शकट भङ्ग लीला—एक गोपी बालक वन शकट बनी हुई गोपी को लात मारने लगी जिससे वह ओंधी होकर गिर गई ॥ १५ ॥

आभास—तृणावर्तलीलामाह दैत्यायित्वेति ।

आभासार्थ—इस 'दैत्यायित्वा' श्लोक में तृणावर्त की लीला कहते हैं—

श्लोक—दैत्यायित्वा जहारान्यामेका कृष्णार्भभावनाम् ।

रिङ्गयामास काप्यंग्नी कर्षन्ती घोषनिःस्वनः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ—एक बालकृष्ण बन बैठी, दूसरी अपने को दैत्य (तृणावर्त) बनाकर उसको (बालकृष्णवाली को) हर ले गई, कोई कटिमेखला के किकिणियों की ध्वनि करती दोनों पैरों को घसीटती हुई घुटनों से रेंगने लगी ॥ १६ ॥

सुबोधिनी—दैत्यवदात्मानं कृत्वा कृष्णस्यार्भ-  
वात्यं भावयन्ती, कृष्णार्भभावनां तामेका  
आत्मानं दैत्यायित्वा जहार । काऽपि अंग्नी

कर्षन्ती घोषनिः स्वनः रिङ्गयामास चलितवती ।  
यथा बाल्ये पुग्धप्रभीतवत् घोषप्रघोषरुचिरं भगवान्  
गच्छति । पूर्वश्लोके चतत्र उक्ताः लीलाद्वयेन,

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १३१ ॥

तास्तामसतामस्यः । अत्र तिस्र एव राजसतामस्य गुणातीता त्वेका । पुनः प्रकारान्तरेण बह्व्यः इति । चरित्रलीलायामुक्ता विशेषा अत्राप्यनु- एकभावमापन्नाः भगवदिच्छया प्रधानगुणभावं प्राप्य संधेयाः । अथवा । युगलास्तिस्रो निरूपिताः । रजसा अनेकधा विक्षिप्ताः बहुरूपा जाताः ॥ १६ ॥

व्याख्यानार्थ—कोई कृष्ण को बालक समझ, अपने को दैत्य जान कर, बालकृष्ण रूप बनी हुई गोपी को हरण कर गई, कोई गोपी करधनी की घूमरियों की ध्वनि करती हुई दोनों पैरों को घसीटती हुई, घुटनों से रेंगने लगी, इस प्रकार एक गोपी ने मुग्ध और भीत कृष्ण की रिंगणलीला का अनुकरण किया ।

पूर्व श्लोक में दो लीलाएँ कही, उनमें जो लीला करने वाली चार गोपियाँ थीं, वे 'तामस तामसी' थीं, इस श्लोक में लीला करने वाली जो तीन गोपियाँ हैं, वे राजस तामसी हैं ।

श्रीकृष्ण की लीलाओं में जो विशेष भेद हुए हैं, उनको भी यहां जान लेना चाहिए, अथवा दोनों श्लोकों में लीला करने वाली गोपियाँ सात हैं, उनमें से एक तो गुणातीत है, जिसने एक रिंगण लीला की है, शेष छ रही, उनके तीन युगल<sup>१</sup> हुए, एक युगल वह जिसने पूतना और कृष्ण बन कर लीला की, दूसरा युगल वह जिसने बालक और शकट दन कर लीला की और तीसरा युगल वह जिसने दैत्य (तृणावर्त) और बालक बन कर लीला की है ।

फिर प्रकारान्तर<sup>२</sup> से एक भाव वाली अनेक गोपियाँ भगवदिच्छा से प्रधान गुण को प्राप्त कर रजोगुण से उत्पन्न विक्षेप के कारण अनेक रूप बन गईं ॥ १६ ॥

तीनों युगलों का विवेचन और प्रधान से अनेक रूप बन गई तक का स्पष्टीकरण योजनाकार प० लालू भट्टजी ने किया है, जिनमें से युगलों का विवेचन अनुवाद में दिया है शेष—'प्रधान अनेक रूप बन गई का स्पष्टीकरण यहां दिया जाता है—'प्रधान गुण भाव' दो गोपियाँ श्रीकृष्ण तथा बलदेव भाव को प्राप्त हुई, शेष शृङ्गार रस के सम्बन्ध वाले रजोगुण रूप भाव विशेष से विक्षिप्त<sup>३</sup> होने से अनेक रूप हो गई, अर्थात् श्रीकृष्ण रूप, बलदेव रूप, गोप बालक रूप भेद से अनेक गोप रूप हो गई ।

**आभास—**वृन्दावनक्रीडायां वत्सपालकरूपा जाताः । तत्र प्रकारमाह कृष्णोति ।

आभासार्थ—गोपियाँ वृन्दावन की क्रीड़ा का अनुकरण करते समय, कोई वत्स बनीं और कितनीक गोप बनी, जिसका वर्णन 'कृष्णरामायिते' निम्न श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**कृष्णरामायिते द्वे तु गोपायन्त्यश्च काश्चन ।

वत्सायतीं हन्ति चान्या तत्रैका तु बकायतीम् ॥ १७ ॥



**श्लोकार्थ—**दो गोपियों ने तो राम और कृष्ण का रूप धारण किया, कितनीक गोप बनीं, एक गोपी ने वत्स बनी हुई गोपी को मारा तो दूसरी ने बक बनी हुई को मारा ॥ १७ ॥

**सुबोधिनी—**द्वे कृष्णरामायिते, कृष्णरामवत् जाते । काश्चन गोपायन्त्यः । गोपा अत्र बालकाः । जातिशब्दोऽयम् । वत्सरूपाश्च काश्चन जाताः । चकारेण समुद्धिताः । अन्या पुनर्वत्सायिता, वत्सासुरवदाचरति । तां धनती च जाता । कृष्णा-

यिता अर्थात् चकारात् फलानि पातयन्ती च । अन्या पुनः वकायन्ती धनती जाता । वत्सवधो लोके बलभद्रकृत इत्यपि प्रसिद्धः । 'प्रलम्बो निहतोऽनेन वत्सको वेनुकादयः ।' अत उभयोर्मध्ये एका वकायतीम्, अन्या वत्सायतीम् ॥ १७ ॥

**व्याख्यानार्थ—**दो गोपियाँ राम और कृष्ण बनीं, श्लोक में गोप शब्द जाति वाचक है अतः कितनीक गोप जाति के बालक बन गई और कितनी वत्स रूप हो गई 'च' का अर्थ समुद्धय है, अर्थात् बहुत गोपियाँ बछड़ों का रूप धारण कर इकट्ठी हो गई, इसमें से जिसने वत्सासुर का रूप धारण किया उसको एक गोपी कृष्ण बनी हुई ने मारा और जो गोपी बक बनी थी, उसको दूसरी गोपी जो बलराम बनी उसने मारा, दूसरे 'च' का आशय है, कि एक (कृष्ण बनी गोपी) ने ताड़ के फल भी गिराए । लोक में, यों भी प्रसिद्ध है, कि वत्सासुर को बलभद्रजी ने मारा, इसलिए एक ने वत्सासुर को दूसरी ने वकासुर को मारा, इस प्रकार अर्थ कर लेता ॥ १७ ॥

**आभास—**ततः परं गोपरूपेण वृन्दावनलीलामाह आहूयेति ।

**आभासार्थ—**इसके पश्चात् वृन्दावन में जो गोप रूप से लीलाएँ की, उनका वर्णन 'आहूय' इस श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**आहूय दूरगा यद्वत् कृष्णस्तमनुकुर्वतोम् ।

वेणुं कणन्तीं क्रीडन्तीमन्याः शंसन्ति साध्विति ॥ १८ ॥

**श्लोकार्थ—**जिस प्रकार श्री कृष्ण दूर से गौओं को बुलाते थे, वैसे ही जब एक गोपी भी, उनका अनुकरण करती हुई वेणु बजाती हुई गौओं को बुलाती थी, तब उसकी अन्य सखियाँ वाह वाह कर उसकी प्रशंसा करती थी ॥ १८ ॥

**सुबोधिनी—**गोरूपाः काश्चन जाताः, गोपाल-रूपाः काश्चन । तत्र यद्वत् कृष्णः दूरगाः गाः आहूय वेणुक्वणनं करोति, एवं दूरगा गोपीराहूय

तं कृष्णमनुकुर्वती काचित् जाता ताम् । वेणुं क्वणन्तीम्, ततो नानाविधक्रीडां कुर्वती अन्याः गोपायिताः साधुसाध्विति शंसन्ति ॥ १८ ॥

व्याख्यानार्थ—कितनी गोपियों ने गौ रूप धारण किया, कितनीक गोप रूप बनीं । जैसे कृष्ण, दूर गई हुई गोओं को बुला कर, वेणु बजाते हुए क्रीड़ा करते थे, वैसे ही कृष्ण रूप बनी हुई गोपी, दूर गई हुई गोपियों को बुला कर, वेणु बजा के नाना विध क्रीड़ा करने लगी, जिसको देखकर गोप रूप बनी गोपियों ने वाह वाह कर उसकी प्रशंसा की ॥१८॥

आभास—एका पुनः क्रीडायां कृतापि लीला भागवते अनुक्ता तां भावयित्वा तादृशीं लीलां कृतवती, तदाह कस्याश्चिदिति ।

आभासार्थ—जिस लीला को भगवान् ने क्रीड़ा करते हुए किया था, उसका भाव जागृत होने से, एक गोपी ने लीला की, यद्यपि भागवत में कही हुई लीलाओं में इस लीला का वर्णन नहीं है, जिसका वर्णन निम्न 'कस्यांचित्' श्लोक में करते हैं—

श्लोक--कस्याश्चित् स्वभुजं न्यस्य चलन्त्याहापरा ननु ।

कण्ठोऽहं पश्यत गतिं ललितामिति तन्मनाः ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ— किसी एक (निर्गुण) गोपी के कन्धे पर गोप रूप दूसरी गोपी ने अपनी भुजा को रखा और चलते चलते अन्य गोपियों से कहने लगी, कि मैं 'कृष्ण हूँ' मेरी सुन्दर गति को देखो । इस प्रकार का कहना तन्मयता के कारण था ॥१६॥

सुबोधिनी—अत्रापि पूर्ववत् युगलास्तिस्रः । ननु हे गोप्यः अहं कृष्णः मे ललितां गतिं पश्य-  
चतुर्थ्येषा । कृष्णरामायिते द्वे युगले । साध्वाश-  
नसहिता वेणुनादनपरा च तृतीया । एषा तु तेति । दोषाभावार्थमाह तन्मना इति । पूर्व  
निर्गुणा । कस्यांचित् गोपरूपायां स्वभुजं स्थाप-  
यित्वा चलन्ती, अपरा गोपरूपा, अतोऽन्या । कायिकीं चेष्टां केवलां कृतवती । इदानीं वाचा  
सहिताम् ॥ १६ ॥

व्याख्यानार्थ— इन तीन (१७-१८-१९) श्लोकों में वर्णन की हुई वृन्दावन की लीला में भी, तीन युगल हैं, शेष चौथी यह एक है, कृष्ण और राम के बने हुए दो युगल तीसरा युगल वह है, जिसमें एक गोपी वेणु बजाती हुई क्रीड़ा करती है, अन्य उसकी प्रशंसा करती हैं, यह चौथी निर्गुण है, उसने किसी गोप रूप गोपी के कन्धे पर हाथ धर कर चलते चलते दूसरी को कहा कि 'मैं कृष्ण हूँ' मेरी सुन्दर गति को देखो, शुकदेवजी 'तन्मनाः' (कृष्ण में आसक्त चित्तवाली) कह कर बताते हैं, कि यह निर्दोष है, अतः 'मैं कृष्ण हूँ' यों कहने में कोई दोष नहीं है, इस गोपी ने प्रथम केवल शरीर की चेष्टा की थी, अब वाणी के साथ काया की चेष्टा भी करती है ॥१९॥

श्रीमान् लालू भट्टजी इन तीन युगनों को स्पष्ट कह कर समझाते हैं—

१-एक यूगल-एक गोपी 'कृष्ण' और एक गोपी 'वक्' बनी ।





२-दूसरा युगल-एक गोपी बलराम रूप और एक गोपी वत्सासुर रूप बनी ।

३-तीसरा युगल-एक गोपी कृष्ण रूप बनी और एक गोपी वाह वाह करने लगी ।

४-निर्गुण-एक, जिसने किसी गोप रूप के कन्धे पर भुजा धरी वह कृष्ण रूपा एक गोपी 'निर्गुण' थी ।

**आभास—**पुनः प्रकारान्तरेण चातुर्विध्यमाह मा भैष्टेति ।

**आभासार्थ—**शुकदेवजी प्रकारान्तर' चार प्रकार की गोपियों का निम्न श्लोक में वर्णन करते हैं—

**श्लोक—**मा भैष्ट वातवर्षाभ्यां तत्त्राणं विहितं मया ।

इत्युक्त्वंकेन हस्तेन यतन्त्युन्निदधेऽम्बरम् ॥ २० ॥

**श्लोकार्थ—**पवन और वर्षा से मत डरो, उनसे तुम्हारी रक्षा मैंने की है, यों कहकर प्रयत्न पूर्वक अपने एक हस्त से वस्त्र को ऊँचा उठाया ॥ २० ॥

**सुबोधिनी—**एषैव निर्गुणा । काश्चन गोगो-  
पगोपीरूपा जाता वृष्टिभीता इव । तदा वात-  
वर्षाभ्यां हेतुभूताभ्यां मा भैष्ट, मया तत्राणं विहित इत्युक्त्वा एकेन हस्तेन अम्बरं नयन्ती,  
पर्वतवत् स्थापयन्ती, ऊर्ध्व निदधे । गोवर्धनवत्  
धारितवती, यतन्ती प्रयत्नं कुर्वन्ती वा ॥ २० ॥

**व्याख्यानार्थ—**इस श्लोक में कही हुई लीला में वस्त्र को पर्वत के समान ऊँचा करने वाली गोपी निर्गुणा है ।

कितनी गोपियाँ गौ बनी, और कितनी गोप रूप बनीं तथा कुछ गोपी रूप में ही रही, इस प्रकार की तीनों ने वायु और वर्षा से डरने का स्वांग किया तब कृष्ण रूप बनी गोपी ने उनको कहा कि पवन वर्षा से डरो मत मैंने तुम्हारा रक्षण कर लिया है, यों कहकर प्रयत्न पूर्वक एक ही हाथ से गोवर्धन के समान वस्त्र को ऊपर ऊँचा धारण कर गोवर्धन धारण लीला का अनुकरण करने लगी ॥ २० ॥

**आभास—**सात्त्विकत्याश्रयेष्टामाह आरुह्यैति ।

**आभासार्थ—**सात्त्विकी गोपी ने जो चेष्टा (लीला) की, जिसका वर्णन 'आरुह्यैकां' श्लोक में करते हैं ।

दुष्टाहे गच्छ जातोऽहं खलानां ननु दण्डधृक् ॥ २१ ॥

श्लोकार्थ—एक गोपी दूसरी के शिर पर चढ़ पैर से दबा कर कहने लगी कि हे दुष्ट सर्प ! चला जा, समझले कि दुष्टों को दण्ड देने वाला मैं प्रकट हो गया हूँ ॥२१॥

सुबोधिनी—एकामारुह्य, पदा च आक्रम्य, शिरसि पादाघातं कृत्वा । नृपेति सम्बोधनं विश्वासाय । एषा लीला कठिना । उपरि वृक्षशाखामवलम्ब्य वा तथा कृतवती । (वस्तुतस्तु या लीला यथा प्रभुरा कृता, सा तथैवात्राविर्भवति इति निरालम्बनत्वेऽपि नानुपपत्तिः ।) हे दुष्टाहे कालिय । इतो गच्छ । यतोऽहं खलानां दण्डधृक् जातः । ननु इति सम्बोधनं अमारणार्थम् ॥ ३१ ॥

व्याख्यानार्थ—एक गोपी दूसरी पर चढ़, पैर से उसके शिर पर प्रहार करने लगी और कहने लगी, कि हे दुष्ट सर्प ! यहां से चला जा, कारण कि दुष्टों को दण्ड देने वाला मैं प्रकट हो गया हूँ । श्लोक में जो 'ननु' शब्द है वह यहां शङ्का अर्थ में नहीं है किन्तु सम्बोधन में है, जिसका आशय है कि मैं तुझे मारूंगा नहीं केवल यहां से निकालूंगा । यहां परीक्षित को हे नृप ! इस प्रकार संबोधन करने का आशय यह है, कि शुकदेवजी के वचनों में परीक्षित की श्रद्धा है, अतः शुकदेवजी कहते हैं ।

यह लीला कठिन जैसी लगती है अतः कदाचित् किसी वृक्ष की डाली को पकड़ के दूसरी के मस्तक पर पैर धरा हो अथवा जिस प्रकार भगवान् ने की थी वैसे ही की हो (श्री प्रभुचरण यहां ग्राज्ञा करते हैं—यथार्थ तो यह है कि यह लीला वैसे ही की गई है जिस प्रकार प्रभु ने की थी, वृक्ष के आश्रय की कोई आवश्यकता नहीं थी)

श्राभास—तत्रैकोवाचेति ।

आभासार्थ—‘तत्रैकोवाच’ श्लोक में दावाग्नि लीला के अनुकरण को कहते हैं—

श्लोक—तत्रंकोवाच हे गोपा दावाग्निं पश्यतोल्बणम् ।

चक्षुंष्याश्चपिदध्वं वो विधास्ये क्षेमनञ्जसा ॥ २२ ॥

श्लोकार्थ—वहां एक गोपी कहने लगी, कि हे गोप ! भयंकर दावाग्नि को देखो ।  
जल्दी आँखों को बन्द कर दो, मैं तुम्हारी रक्षा शीघ्रता से करूँगा ॥ २२ ॥



सुबोधिनी—राजसी पुनस्तत्रंका जाता । सर्वापि क्रीडा भगवद्रूपा तत्र तत्राविशतीति  
उवाच च वक्ष्यमाणम् । गोरूपाः काश्चन । गोप-  
रूपास्तथापराः । एका तु कृष्णरूपा आह । हे दावाग्नेरपि दर्शनम् । अन्यासां विशेषाकारेण  
गोपा उत्वण दावाग्निं पश्यतेति । विरहेण तस्यां भगवद्भावाभावात् न तत्प्रार्थना । एवमेव  
दावाग्निं दृष्टवती, भावनया वा तथा भानम् । तत्त्वलोलावेशात् तस्य एव दर्शनमिति निष्कर्षः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—वहाँ एक राजसी गोपी बनी, कितनीक गोपी गौरूप बनीं, गोप रूप वाली गोपियों को कृष्ण रूप बनी हुई गोपी कहने लगी, कि हे गोपी ! इस भयकर दावाग्नि को देखो, यह दावाग्नि किनको देखने में आई, जिसका स्पष्टीकरण यह है कि जिन गोपियों के अन्तःकरण में उत्कट विरह भाव था, उनको यह दावाग्नि देखने में आई थी, और जिनमें पूर्ण लीला भावना जागृत थी उनको भी देखने में आई थी अन्यो को नहीं आई ।

भगवान् की सकल लीलाए जो भगवद् रूपा हैं वहाँ प्रवेश करती हैं, अर्थात् उनको देखने में आती है, जहा सच्ची पूर्ण भावना होती है जैसे दावाग्नि का भी उसको (पूर्णभाव वाली को) दर्शन हुआ है ।

जिन ग्रन्थों को, उस गोपी में भगवद्भाव नहीं था, उन्होंने अपनी रक्षा के लिए प्रार्थना नहीं की है, इस प्रकार २० श्लोक में वायु और वर्षा से भी उन्होंने प्रार्थना नहीं की थी ।

सारांश यह है कि जो भगवद्भाव से अतिमत्त हैं उनमें ही लीला का आवेश होता है जिससे उनको ही दर्शन होते हैं ॥२२॥

अभास—तामसीमाह बद्धेति ।

अभासार्थ—तामसी की हुई लीला का वर्णन इस 'बद्धाऽन्यथा' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—बद्धाऽन्यथा सजा काचित् तन्वी तत्र ह्युलूखले ।

भीता मुहक् पिधायःस्यं भेजे भीतिविडम्बनम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—वहाँ एक तन्वी गोपी को दूसरी गोपी ने पुष्प माला से ऊखल में बान्ध दिया तब वह डरकर अपने मुख को बन्द करने लगी जिससे उसने भय का पूर्ण अनुकरण कर दिखाया ॥२३॥

सुबोधिनी—उलूखले कयाचिद्बद्धा सजा युक्ता आस्यं पिधाय, हस्तेन सम्पूर्ण मुखमाच्छाद्य,  
मालया, उलूखलस्थानीयापि काचित् । अन्या तु भीत्यनुकरणं भेजे । अत्र क्रमे गुणा एव प्रयो-  
यशोदारुणा । तदा भीता सती मुहक् उत्तमदृष्टि- जकाः । तत्तदधिकारानुसारेण तत्तल्लीलाः प्रादु-



भवन्ति । भगवद्वशीकरणान्ता च लीला । अन्य-  
थान्ते उलूखललीला न कृता स्यात् । नातः परं  
वर्तव्यमस्तीति लीलाया विरतिः एवं लीलाभाव-  
मुपपाद्य भगवद्भावे वक्तव्ये भगवतो भीतिविड-

म्बनलीलायां सर्वा लीलास्तिरोहिताः । ततः  
पूर्ववत् पुनः प्रश्न एव स्थितः । तस्य संवेदन-  
पूर्वकत्वात् । एतत्त्वावेशेन जातमिति संवेदन-  
राहित्यम् । अतस्त्वस्य नोपसंहारः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—इस लीला को करने वाली तीन गोपियां थी, एक वह गोपी जो कृष्ण रूप बनी, दूसरी वह जिसने ऊखल का रूप धारण किया और तीसरी यशोदा का रूप बनी, इस प्रकार बनने के अनन्तर एक गोपी ( यशोदा रूप गोपी ) ने दूसरी गोपी ( कृष्ण रूप बनी हुई गोपी ) को ऊखल रूप गोपी के साथ पुष्प माला से बान्ध दिया, तब बन्धी हुई कृष्ण रूप गोपी ने भयभीत होने का स्वांग रचा । उनकी दृष्टि सुन्दर थी इसलिए अपने मुख को आच्छादित कर दिया और भयभीत होने का अनुकरण कर दिखाया ।

ये जो लीलाएं गोपियों ने की है, उनका प्रेम्क गुण है, अतः अधिकारानुसार, वे वे लीलाएं होती हैं, लीलाएं तब तक होती ही रहती हैं जब तक भगवान् वश में नहीं होते हैं, कारण कि भगवान् लीलाओं द्वारा ही वश में होते हैं, भगवान् के वश में हो जाने के अनन्तर, लीला करने की आवश्यकता नहीं रहती है, अतः यह लीला अन्त में हुई है कारण कि इस लीला में भक्ताधीन भगवान् ने भक्त द्वारा अपने को बन्धन में डलवाकर अपनी भक्तवश्यता सिद्ध कर दिखाई है । भीति से, भगवद्भाव का प्राकट्य दिखाकर सब लीलाएं उसमें तिरोहित करली, जिससे लीलाओं का जो आवेश हुआ था वह वन्द हो गया ।

अनन्तर पहले की भांति, गोपियों को प्रश्न करना ही रहा क्योंकि वह क्रिया ज्ञान पूर्वक होती थी, मध्य में जो ये लीलाएं हुईं वे आवेश से हुई थी, अतः इनमें बाहर का ज्ञान नहीं था, इसलिए वृक्षों से पूछने की क्रिया रूप शोधन लीला का तिरोधान नहीं हुआ है जिससे वहां ही स्थित थी और पुनः पूछने लगी ॥२३॥

आभास—पूर्व तु 'इत्युन्मत्तवच' इति वचनमेवोपसंहृतम्, न तु प्रश्न उपसंहृतः । अत इदानीं मध्ये लीलामुक्त्वा तस्यास्तिरोधाने पुनरेव वृन्दावनलतास्तरून् कृष्णं पृच्छमाना जाता इत्याह एवमिति ।

आभासार्थ—“इत्युन्मत्तवचः” श्लोक में वचनों का ही उपसंहार किया प्रश्न का नहीं अतः मध्य में लीला का वर्णन करके गोपियां आवेश वाली लीलाओं के तिरोधान हो जाने से, पुनः निम्न 'एवं कृष्णं' श्लोक में बेल और वृक्षों से पूछने लगी ॥२३॥

श्लोक—एवं कृष्णं पृच्छमाना वृन्दावनलतास्तरून् ।

व्यचक्षत वनोद्देशे पदानि परमात्मनः ॥२४॥



**श्लोकार्थ—**इस प्रकार वृन्दावन की लता और वृक्षों से, कृष्ण संबन्धी प्रश्न पूछती पूछती आगे गई, तो गोपियों ने वन में परमात्मा के चरणों को देखा ॥२४॥

**सुबोधिनी—**तदा पुनरनुत्तरे प्राप्ते भगवाना-  
विशन् मोहं दूरीकृत्य सर्वं ज्ञापितवानित्याह  
व्यचक्षतेति । तापापनोदार्थ एव त्रयम् अन्वेषणं  
लीलावेशो भगदावेशश्चेति । तत्र प्रश्नोऽन्तरङ्ग  
इति स एव सर्वत्रानूद्यते । वृन्दावनलताः तरून्  
कृष्णं पृच्छन्माना जाता इति । ततो वनोद्देशे

वनभूमौ भगवतः पदानि दृष्टवत्यः । परमात्मन  
इति । पदानां परमपुरुषार्थता सूचिता । भगवदा-  
वेशे हि सर्वज्ञता भवति । तेषां च कार्यं भगवत्प-  
ददर्शनम् । 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति  
सूरयः' इति श्रुतेः ॥२४॥

**व्याख्यार्थ—**मूल श्लोक में जो 'व्यचक्षत' पद दिया है, उसका आशय यह है कि गोपियों ने वृन्दावन के पेड़ और लताओं से कृष्ण के संबन्ध में जो प्रश्न किए उनका उन्होंने जब कुछ भी उत्तर नहीं दिया तब भक्त वत्सल भगवान् स्वयं गोपियों में आविष्ट होकर उनका मोह दूर कर उनको सबका ज्ञान कराने लगे,

विरह ताप मिटाने के लिए तीन उपाय हैं—

१—भगवान् को ढूँढना, २—लीला का आवेश और ३—भगवदावेश, इन तीनों में प्रश्न करना अन्तरङ्ग उपाय है, इसलिए उसका सर्वत्र अनुवाद किया जाता है । वृन्दावन की लताओं और वृक्षों से पूछती पूछती आगे गई, तो वन की भूमि पर भगवान् के चरण देखे ।

मूल में दिए हुए 'परमात्मन' पद से यह भाव प्रकट होता है, कि भगवान् के पदारविन्द परम पुरुषार्थ रूप हैं,

जब जीव में, भगवान् का आवेश<sup>२</sup> होता है, तब वह सर्वज्ञ हो जाता है । जब जो जीव आवेश से सर्वज्ञ होते हैं, तब वे भगवान् के चरणों का दर्शन कर सकते हैं अन्यथा नहीं ! इस विषय में श्रुति का प्रमाण देते हैं 'तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः' श्रुति का भावार्थ—ज्ञानी और भक्त, विष्णु के परम पद का सदा दर्शन करते हैं ॥२४॥

**आभास—**एता अपि पूर्ववत् दशविधाः । तथैव तासां वचनानि । पदानि प्रत्यक्ष-  
योग्यानि सर्वैरेव दृश्यन्त इति तेषां याथात्म्यज्ञानं साध्यम् । अतः प्रथमं आहुः पदानि  
व्यक्तमेतानीति ।

**आभासार्थ—**वे गोपियां भी पहली की भांति, सगुण निर्गुण भेद से दश प्रकार की हैं, उनके वचन भी उतने ही प्रकार के हैं । चरण तो सब देख सकते हैं, किन्तु वे यथार्थ भगवान् के हैं वा नहीं, यह सिद्ध करना है, अतः प्रथम 'पदानि व्यक्त' इस श्लोक में उसकी सिद्धि करते हैं—

श्लोक—पदानि व्यक्तमेतानि नन्दसूनोर्महात्मनः ।

लक्ष्यन्ते हि ध्वजांभोजचक्रांकुशयवादिभिः ॥२५॥

श्लोकार्थ—ये चरण तों स्पष्ट<sup>१</sup> महात्मा नन्दजी के पुत्र ( श्रीकृष्ण ) के ही हैं, कारण कि इनमें ध्वज, कमल, वज्र, अङ्कुश और यव आदि सब चिन्ह देखने में आते हैं ॥२५॥

सुबोधिनी—एतानि पदानि नन्दसूनोरेव ।  
व्यक्तं सत्यम्, नात्र संदेहः चिन्हैः पदानां विशेष-  
ज्ञानम् । चिन्हान्येव कथं भवन्तीत्याशङ्क्य,  
तत्रोपपत्तिमाहुः महात्मन इति । महतामप्यात्मा  
महान् वा ब्रह्मरूपः । तस्य तत्तत्कार्यार्थं पदे  
चिन्हानि भवन्ति, प्रकृतेऽपि तेषामुपयोग इति  
तदभिव्यक्तिः क्रियते । तानि चिन्हान्याह लक्ष्यन्त

इति । अनुमीयन्ते पदानि । असाधारणधर्मः ।  
लोकेऽप्येतादृशोऽर्थः प्रसिद्ध इति सम्मतिः ।  
ध्वजस्य स्थापनं भक्तानां निर्भयवासार्थम् ।  
अम्भोजस्थापनं सुखसेव्यत्वाय । चक्रस्थापनं  
रक्षायै । मनोनिग्रहार्थं शङ्कुस्थापनम् । कीर्ति-  
सिद्धयर्थं यवः । वज्रादयोऽप्यादिशब्देनोच्यन्ते,  
पापपर्वतादिनिराकरणार्थः ॥२५॥

व्याख्यानार्थ - ये चरण नन्दजी के पुत्र के ही हैं, इसमें किसी प्रकार संशय नहीं है, क्योंकि स्पष्ट, उनके चरण देखने में आते हैं अतः हमारा यों मानना सत्य है, इन चरणों में वे चिन्ह देखे जाते हैं, जिनसे विशेष निश्चय पूर्वक हम कहती हैं वां समझती हैं, वैसे चिन्ह साधारणों के पैरों में नहीं होते हैं केवल महानों की भी आत्मा वा ब्रह्म रूप हैं उनके ही चरणों में होते हैं ।

वे, वैसे चिन्ह क्यों धारण करते हैं ? उसके उत्तर में कहते हैं, कि, वे जो जो कार्य उनको करने हैं उन उन कार्यों का इन चिन्हों द्वारा संकेत करते हैं जैसे कि, ध्वज से भक्तों को संकेत करते हैं कि हे भक्तगण ! तुम निर्भय रहो, कमल के चिन्ह से कहते हैं, कि जैसे कमल ताप निवारक एवं सुख तथा आनन्ददाई है, वैसे ही, मेरी सेवा करने से सुख की ही प्राप्ति होती है, तथा ताप निवृत्त हो जाते हैं, चक्र चिन्ह से यह सूचित करते हैं कि यह मैंने भक्तों की रक्षा के लिए धारण किया है, भक्तों के मन मातङ्ग<sup>२</sup> का निरोध करने के लिए अंकुश का चिन्ह रखा है, यव का चिन्ह भक्त के यश विस्तार के लिए है, आदि शब्द से वज्र आदि चिन्ह समझने चाहिए, वज्र का चिन्ह भक्तों के पाप रूप पर्वतों को तोड़ने के लिए है इसी प्रकार अन्य भी हैं। इन चिन्हों को प्रकट इसीलिए किया है कि उपरोक्त कार्य अब भी (इस लीला में-अवतार में) भगवान् को करने हैं, इन असाधारण धर्मों (चिन्हों) से ही भगवान् के ये चरण हैं, यह निश्चित सत्य अनुमान हमारे विचारों को पुष्ट करते हैं, लोक में भी इन धर्मों की प्रसिद्धि है कि भगवान् के चरणों में ये चिन्ह इसलिए हैं ॥२५॥

आभास—एवमसाधारणधर्मैः पदानि निश्चित्य, तन्मार्गेण गता इत्याह तैस्तैरिति ।



आभासार्थ—इन असाधारण घर्मों से ये चरण भगवान् के ही हैं यह निश्चय होने से समझ गई, कि भगवान् इस मार्ग से ही पधारे हैं जिसका वर्णन 'तैस्तैः पदैः' निम्न श्लोक से करती है—

श्लोक—तैस्तैः पदैस्तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः ।

वध्वाः पदैः सुपृक्तानि विलोकयार्ताः समब्रुवन् ॥ २६ ॥

श्लोकार्थ—उन उन चरणों के पीछे चलती आगे भगवान् के मार्ग को ढूँढती हुई गोपियों ने एक वधु (स्त्री) के चरणों के साथ भगवान् के चरण देखे, जिससे दुःखी हो बोलनी लगी ॥ २६ ॥

|                                                                                                                                                                                                                                                                                           |                                                                                                                                                                                                                                         |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>सुबोधिनी—ज्ञानं क्रियापर्यवसायीति क्रिया निरूप्यते । तत्पदवीमन्विच्छन्त्योऽग्रतोऽबलाः जाताः पदान्यन्विष्य तत्पदवीं गता इत्यर्थः । मध्ये तासां प्रतिबन्धमाह वध्वा इति । यदि तासां मत्सरदोषो न स्यात्, गच्छेयुरेवान्तिकम् । दोषवशाच्च परं कुण्ठिता भवन्ति । तदाह । वध्वाः कस्याश्चि-</p> | <p>दगोपिकायाः पदैः सुपृक्तानि पंक्त्याकारेण गतानि भगवत्पदानि दृष्ट्वा तानि विलोक्य च आर्ता जाताः । तदा अन्योऽन्यमेवाब्रुवन् । ज्ञानक्रिय-योरुपसर्जनं कृत्वा वाचि प्रतिष्ठिता जाताः । अन्यथा शीघ्रगमने भगवान् प्राप्तः स्यात् ॥ २६ ॥</p> |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

व्याख्यार्थ—ज्ञान हो जाने के अनन्तर क्रिया का प्रारम्भ होता है, अर्थात् जिस वस्तु की चाहना होती है उस वस्तु का जब पता लग जाता है, कि यह वस्तु यहां है, तब उसको पाने के लिए प्रयत्न प्रारम्भ किया जाता है, अतः गोपियों को, अब यह ज्ञान हुआ, कि भगवान् इस मार्ग से पधारे हैं हम भी इस पथ से जाएँगी तो भगवान् मिलेंगे, यह निश्चय कर गोपियों ने, उस रास्ते से भगवान् से मिलने के लिए जाने की क्रिया प्रारम्भ की, अर्थात् भगवान् से मिलने के लिए आगे चलने लगीं, किन्तु मध्यमें उसमें (जाने में) प्रतिबन्ध पड़ा, कारण कि गोपियों में अभी तक मत्सर दोष विद्यमान था उस दोष के कारण ही यह एकावट आई, भगवान् से मिल न सकी, यदि यह दोष न होता, तो उसी समय भगवान् के पास पहुँच जाती, श्री शुकदेवजी उस प्रतिबन्ध का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जब वे ढूँढने की क्रिया प्रारम्भ कर आगे चली तो उन्होंने भगवान् के चरण एक वधु के (स्त्री के) पैरों के साथ मिलकर जाते हुए देखे, उनको देखते ही, उनमें मत्सर दोष जागृत हुआ जिससे वे दुःखी हुई और उनके ज्ञान और क्रिया दोनों का साथ छोड़कर वाणी का सहारा लेते हुए परस्पर बातें करने लग गईं, नहीं तो शीघ्र जाकर भगवान् से मिल जाती ॥ २६ ॥

आभास—तासामसूयावाक्यान्याह कस्याः पदानीति ।

आभासार्थ—'कस्या पदानि' इस निम्न श्लोक में गोपियों ने जो मत्सर के कारण वचन कहे श्री शुकदेवजी उनका वर्णन करते हैं—

श्लोक—कस्याः पदानि चंतानि यत्ताया नन्दसूनुता ।

अंसन्यस्तप्रकोष्ठायाः करेणोः करिणा यथा ॥ २७ ॥



**श्लोकार्थ—**नन्दजी के पुत्र के साथ जाने वाली, यह स्त्री कौन है ? जिसके ये पैर हैं. जिस प्रकार हस्ति हथिनी पर अपना हाथ<sup>१</sup> रखता है वैसे ही भगवान् ने इसके कन्धे पर अपना प्रकोष्ठ<sup>२</sup> धरा है ॥ २७ ॥

**सुबोधिनी—**पुरषोऽत्र न संभाव्यते, नापि ग्रामान्तरस्त्रियः, अतोऽस्मन्मध्य एव कस्याश्चिद्-विष्यन्तीति । अयं प्रश्न इतरपरिच्छेदेन विशेष-ज्ञानार्थः । न त्वत्र पदे लक्षणानि सन्ति । चकाराद्भगवतः तस्याश्च चेष्टाज्ञापकानि चिह्नान्यप्युच्यन्ते । सा हि नन्दसूनुना सहैव याता । अन्यथा भगवान् न गच्छेत् । तयैव प्रायेण नीतः । स्वापेक्षया तस्या महद्भाग्यमाहुः । असे न्यस्तः प्रकोष्ठभागो यस्याम् । प्रकोष्ठभागो भगवदीयः कर-

तलादर्वाचीनभागः । तावता करेण क्वचित्सम्बन्धः सूचितः । तावदेव नैकस्य पदयोरिति । किञ्च, मध्ये तयोः रसाविर्भावोऽपि जायत इति दृष्टान्ते-नाहुः करेणोः करिणा यथेति । करेणोरसे करिणा यथा हस्तः प्रसारयति इति । करेणुः स्त्री, तस्या असे यथा करी हस्तं प्रसारयति, तदा पदानि मिलन्ति, संमुखश्च भवति, उद्धृष्टकण्ठा वा भवति । स्पर्शमुखमेव प्रधानमिति गजो दृष्टान्तीकृतः । एवं त्रिविधा गोपिका उक्ताः ॥ २७ ॥

**व्याख्यार्थ—**यहां ( वृन्दावन में ) भगवान् के सिवाय अन्य पुरुष होने की संभावना नहीं है तथा अन्य ग्राम की स्त्रियां भी यहां हो, वैसी भी संभावना नहीं है, इस प्रकार प्रश्न पूर्वक पूछने का तात्पर्य यह है कि निश्चय हो जावे कि यह स्त्री कौन है ? अनुमान से हम तो समझती हैं कि हममें से ही कोई होनी चाहिए, कारण कि ये पैरों के जो चिन्ह दीखते हैं, वे हमारी सखियों में से ही, किसी स्त्री के हैं, और ये चिन्ह बताते हैं कि यहां भगवान् तथा उस स्त्री के आपस में चेष्टा<sup>३</sup> भी हुई है, इस आशय को बताने के लिए श्लोक में 'च' है ।

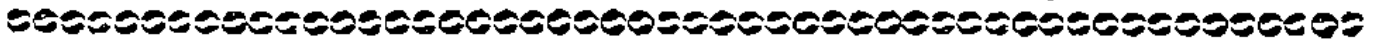
वही नन्दजी के सुत को साथ लेकर गई होगी, नहीं तो भगवान् हमको त्याग कर नहीं जाते, बहुत कर, वह ही समझाबुझाकर उनको ले गई है, इससे निश्चय, वह हमसे विशेष भाग्यवती है । विशेष भाग्य की पुष्टि में कारण बताती है, कि भगवान् ने उसके कन्धे पर अपने प्रकोष्ठ को धरा है, जिससे श्री हस्त का किसी अंग से सम्बन्ध होना भी बताया है, इसलिए ही दोनों के पाद भी परस्पर<sup>४</sup> मिले हुए हैं, किञ्च<sup>५</sup> मध्य में उनमें (भगवान् और सखी में) रस का भी आविर्भाव<sup>६</sup> हुआ है, जिसको हाथी के दृष्टान्त से समझाते हैं, हस्ति जब हस्तिनी के कन्धे पर अपना हाथ<sup>७</sup> धरता है तब दोनों के पैर मिल जाते हैं, दोनों परस्पर सामने आ जाते हैं । हाथी के गले को हथिनी रगड़ती है, इस प्रकार स्पर्श से परस्पर रस उत्पन्न होता है, स्पर्श सुख हस्ती ही लेना जानता है, इसलिए हस्ती का दृष्टान्त देकर गोपियों ने दिखाया है कि इस सखी ने भी इस समय भगवान् के स्पर्श होने से परस्पर सुखलिया है, अतः यह हमसे विशेष भाग्यवाली है, इस प्रकार तीन प्रकार की सात्त्विक प्रधान गोपियों का वर्णन कहा ॥२७॥

**आभास—**गुणातीताया वाक्यद्वयमाह । दोषाभावप्रतिपादकं गुणप्रतिपादकं च ।

१—सूँड, २—कोहनी से नीचे का भाग, ३—क्रीड़ा, ४—आपस में, ५—कुछ और,

६—प्राकट्य, ७—सूँड





तामसतामसी भगवदाविष्टा न भवतीति । अनयाराधित इति द्वाभ्याम् ।

**अभासार्थ—**अब दो श्लोकों में गुणातीता<sup>१</sup> के दोषाभाव एवं गुण का प्रतिपादन करनेवाले दो वाक्य कहते हैं, तामस तामसी में भगवान् का आवेश नहीं होता है ( इसलिए उसका कोई वचन नहीं है ) यह 'अनयाराधित' इस श्लोक से कहते हैं—

**श्लोक—**अनयाराधितो नूनं भगवान् हरिरोश्वरः ।

यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो यामनयद्रहः ॥ २८ ॥

**श्लोकार्थ—**भगवान्, हरि ईश्वर का आराधन निश्चय से इसने ही किया है यों जाना जाता है, जिससे हमको छोड़कर उसको एकान्त में ले गए हैं ॥ २८ ॥

**सुबोधिनी—**तत्र प्रथमं तथा सह विशेषरमणे तस्या भाग्यं तस्याः पुण्यं हेतुत्वेनाहुः । अनया हरिर्नूनमाराधितः । यद्यप्यस्माभिरप्याराधितः, तथापि नूनं नाराधितः । भगवदनाराधकैरपि फलत्वात् भगवतः सम्बन्धसम्भवात् । आराधिते तु फलं स्ववशे भवति । तत्रापि तारतम्यम् । ननु तुल्यकर्मणां मध्ये कथं अवान्तरभेदः, तत्राह भगवानिति । सामग्रीभेदात् कर्माणि सर्वत्र विलक्षणानि भवन्ति । तदवान्तरवैलक्षण्यं स एव जानाति । अतस्तथा फलनिरूपको जातः । ननु तथापि वयं तथा न ज्ञापनीयाः, दुःखसाधकत्वादिति चेत्, तत्राहुः हरिरिति । स हि सर्वदुःखहर्ता

वैलक्षण्यज्ञापनार्थं तथा बोधितवान् । ननु भक्तिः तुल्येति कथं भक्त्यनुसारेण तुल्यं फलं न कृतवान् तुल्यफलत्वेन कर्म कुतः स्वीकृतवान्, तत्राहुरीश्वर इति । कदाचिद्भक्तिमुररीकरोति, कदाचित्कर्म, कदाचित् स्वेच्छाम् । न होश्वरो नियन्तुं शत्रयः । अस्मान् भक्तिमार्गं योजयति, न कर्ममार्गं इति । अत एव नः अस्मान् विहाय गोविन्दः साधारणो-न्द्रोऽपि रहः एकान्ते प्रीतः सन् तामेवानयत् । कामरसः स्त्रीसमूहापेक्षयाप्येकस्यामेव मुख्यतयो-त्पद्यते । तथा करणे प्रीतिर्हेतुः, प्रीतौ भक्तिः, कर्म वा ॥ २८ ॥

**व्याख्यानार्थ—**गोपियां प्रथम यह सिद्ध करती हैं, कि उसके साथ जो एकान्त में विशेष रमण किया है, उसका कारण उसका भाग्य तथा उसके पुण्य हैं, जैसा कि उसने भगवान् की आराधना निश्चित सच्ची की है, यद्यपि हमने भी सेवा की है, किन्तु वंसी साक्षात् नहीं की है ।

भगवान् फल रूप हैं, किन्तु जो भक्त भगवान् की साक्षात् आराधना<sup>२</sup> नहीं करते हैं, दूसरे की आराधना द्वारा उस फल को चाहते हैं, उनको भी भगवान् से सम्बन्ध तो होता है, अर्थात् भगवान् मिल तो जाते हैं, बल्कि जैसे साक्षात् सेवा करने वालों को प्राप्त होकर वश होते हैं, उस प्रकार वश नहीं होते हैं ।

उसमें (साक्षात् आराधन करने पर भी फल में) तारतम्य<sup>१</sup> है, जब कर्म<sup>२</sup> समान हैं फिर फल में भेद क्यों ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वह 'भगवान्' हैं, सामग्री के भेद से सर्वत्र कर्म<sup>३</sup> विलक्षण<sup>४</sup> होते हैं जिससे फल में तारतम्य होता है, इसको (तारतम्य-भेद वा विलक्षणता को) भगवान् ही जानते हैं अतः वे (भगवान्) ही कर्म अनुसार फल देते हैं, जब यों है, तो उनको (भगवान् को) इसका ज्ञान हमको नहीं कराना था, जिससे हम दुःखी हुई हैं, इसका समाधान करने के लिए कहा है, कि वे 'हरि' दुःखों के हरने वाले हैं अतः आपको जो (मत्सर \* दोष के कारण) दुःख हुआ है उसको वे मिटा देंगे, यह ज्ञान इसलिए कराया है, कि भक्ति में विलक्षण है अतः जो भक्त, जिस प्रकार के कर्म से भक्ति करता है, उस भक्त को उसी प्रकार का फल मिलता है। तुम लोगों की भक्ति और जो मेरे साथ गोपी है उसकी आराधना में, कर्म से भेद है, जिससे वह मेरे साथ रह (एकान्त में) रस प्राप्त्यर्थ आई हैं, तुम रह गई हो।

जब भक्ति तुल्य<sup>५</sup> है तो भक्ति के अनुसार फल भी समान क्यों नहीं दिया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि (वे) ईश्वर है, ईश्वर स्वतन्त्र होते हैं, अतः वे अपनी इच्छानुसार कभी भक्ति से, कभी कर्म और कभी तो दोनों का विचार न कर स्वेच्छा से जो चाहे वह फल दे देते हैं—सारांश यह है, कि गोपियाँ कहती हैं, कि हमारा अङ्गीकार भक्ति मार्ग में किया है, न कि कर्म मार्ग में, इसलिए हमको छोड़ कर साधारण (सब का) इन्द्र होते हुए भी प्रेम युक्त होकर उसको ही ले गए।

काम रस बहुत स्त्रियों की अपेक्षा एक स्त्री में विशेष उत्पन्न होता है, यों करने का (ले जाने का) मुख्य कारण प्रेम है और प्रेम में भक्ति का कर्म कारण हैं ॥ २८ ॥

**आभास**—एवं तस्या भाग्यमभिनन्द्य मात्सर्येऽपि गूढे तथा वचनम् भवतीति स्व-भाग्याभिनन्दनमप्याहुः धन्या इति ।

**आभासार्थ**—इस प्रकार गोपियों ने भगवान् के साथ गई हुई गोपी के भाग्य की बखान की, हृदय में मत्सर छिपा हुआ हो तो भी कभी कभी अभिनन्दन करना पड़ता है अतः मात्सर्य से हमने यों कहा है इस शङ्का को मिटाने के लिए अपने भाग्य का भी अभिनन्दन करती हैं—

**श्लोक**—धन्या अहो अमी आल्सो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः ।

यान् ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्धन्यधनुत्तये ॥ २९ ॥

**श्लोकार्थ**—हे सखियों ! ये भगवान् के चरण कमल के रजकण, धन्य हैं, जिनको ब्रह्मा, शिव और लक्ष्मी देवी अपने पाप मिटाने के लिए शिर पर धारण करती हैं ॥ २९ ॥

\* भक्त को 'मत्सर' नहीं करना चाहिए जिससे भगवान् के दर्शन में विलम्ब हो —अनुवादक



सुबोधिनी—अहो आश्चर्य, हे आल्यः सख्यः, अमी अधिरेणयो धन्याः । मात्सर्याभावार्थं चेत-  
दुच्यते । यथा रेणवः, तथा सेति । विश्वासार्थं  
अप्रतारणार्थं च सम्बोधनम् । अने रेणूत्कर्षेण  
रेणव एव धार्याः स्वदोषनिवृत्त्यर्थमित्युक्तं भवति ।  
पूर्वमत्रैव ते रेणवः स्थिताः न तदा तेषामुत्कर्षः,  
यदा पुनश्चरणसम्बद्धाः, तदा धनमहन्तीति । धन  
कृष्णः, यथेन्द्रो देवानाम् । यथा धनेन सर्वविषय

प्राप्तिः, एवं प्रभुणापि । तेषां धन्यत्वमुपपादयन्ति  
यानिति । ब्रह्मा ईशो रमा च देवतारूपा पालिका  
शक्तिः । तेषां स्वस्वाधिकारे दोषसंभवान् तन्नि-  
वृत्त्यर्थं मूर्ध्नि दधुः । ब्रह्मानन्दरूपाया निवृत्त्यर्थं  
देवतापदम् । अतः कारणादेतद्वारणेन वयमपि  
निर्दुष्टाः नीयमानगोपिकातुल्या भविष्याम इति  
॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ - श्लोक में 'अहो' शब्द आश्चर्य की सूचना करने के लिए दिया गया है । हे सखियों ! ये भगवान् के चरण कमल की रेणु धन्य ( भाग्यवाती ) हैं । रेणु का अभिनन्दन कर अपने मात्सर्य दोष के अभाव को प्रकट किया है, कि जैसे रेणु भगवान् के चरण के संसर्ग से धन्य हुए हैं, वैसे ही वह गोपी भी भगवान् के संसर्ग से धन्य हुई है, यह ( निर्गुण ) गोपी अन्य गोपियों को 'आल्य हे सखियों ! इस प्रकार संबोधन देकर कहती हैं, कि मैं जो कुछ कह रही हूं वह सत्य कहती हूं आपको धोखा देने के लिए नहीं कह रही हूं, क्योंकि तुम मेरी सखियां हो और सखियों को कोई धोखा नहीं देता है इसलिए मेरे वचनों पर आपको विश्वास करना चाहिए । इसलिए हम लोगों को भी ये रेणु दोष निवृत्ति के लिए मस्तक पर धारण करने चाहिए, ये रेणु आगे भी यहां स्थित थे, तब इनका यह उत्कर्ष इतना नहीं था, कारण कि तब भगवान् के चरण का इनको स्पर्श नहीं हुआ था, अब भगवत् चरण कमलों के स्पर्श से इनका उत्कर्ष हो गया है, अर्थात् ये रेणु धनवान् हो गए हैं, वह धन श्रीकृष्ण हैं जो हमारे हैं, जैसे इन्द्र देवों का है, वैसे ही कृष्ण हमारे हैं, धन से तो केवल सर्व वस्तु प्राप्त हो सकती है किन्तु इस कृष्ण रूप धन से तो लौकिक ही नहीं किन्तु पारलौकिक अलौकिक गुप्त सर्व पदार्थ प्राप्त किए जा सकते हैं । इसको समझाने के लिए ( सिद्ध करने के लिए ) कहती हैं, कि जिन रेणु को ब्रह्मा, शिव और लक्ष्मी, देवता रूप पालिका शक्ति भी अपने अधिकार से उत्पन्न दोषों के निवारण के लिए मस्तक पर धारण करते हैं, यहां जो लक्ष्मी शब्द है वह ब्रह्मानन्द रूप लक्ष्मी नहीं है, इसका ज्ञान कराने के लिए लक्ष्मी का विशेषण देवता दिया है । अतः हम भी इस रेणु को मस्तक पर धारण करें, तो निर्दोष होकर उस गोपी के समान हो जावे ॥२६॥

**आभास —**अन्या रजःप्रकृतय आहुः तस्या इति

**आभासार्थ —**रजोगुण वाली गोपियां अपने विचार इस निम्न 'तस्यो अमूनि' श्लोक में कहती हैं—

**श्लोक—**तस्या अमूनि नः क्षोभं कुर्वन्त्युच्छं पदानि यत् ।

यैकापहृत्य गोपीनां रहो भुङ्क्तेऽच्युताधरम् ॥३०॥

**श्लोकार्थ—**उसके ( जो भगवान् को साथ ले गई है ) ये पैर हमको बहुत दुःख देते हैं, कारण कि वह अकेली, जो भगवान् सब गोपियों के हैं उन ( भगवान् ) को



उड़ा ले गई है और लेजाकर एकान्त में अच्युत का अधरामृत जो सबका है, उसका भी अवे ली पान कर रही है ॥३०॥

सुबोधिनी— भगवच्चरणारविन्दरजस्तथैव, परमस्याः गोपिकायाः अमूर्ति पदानि सङ्गे गच्छन्त्याः नोऽस्माकं क्षोभं कुर्वन्ति । तत्राप्युच्च-रत्यर्थम् । नन्वेकाकी भगवान् गच्छेत्, तदपेक्षया ससहायो भक्तिमार्गे युक्त इति चेत्, तत्राहुः । यद्यस्मात् गोपिकानां सर्वासामेव भागरूपमच्यु-

ताधरं ता विहाय एकैवोपभुङ्क्ते । तत्रापि रहः एकान्ते तासामनुज्ञाव्यतिरेकेण । ननु विरतो भगवान् बहुस्त्रीसम्बन्धाद्भविष्यति, कुतः सा भोक्ष्यते, तत्राहुः अच्युतेति । स हि पूर्णकाम एव, न तस्य च्युतिरस्ति ॥३०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के चरण रज की महिमा तो वैसी ही है, किन्तु उस गोपी के चरण भगवान् के साथ देखकर हमको बहुत क्षोभ होता है, वह दुःख भी स्वल्प नहीं, किन्तु अत्यन्त हो रहा है,

गोपी भगवान् के साथ गई, जिससे दुःख करने का कोई कारण नहीं है, क्योंकि भगवान् के साथ एक सहायक अवश्य होना चाहिए, अतः तुमको तो भक्तिमार्ग के अनुसार प्रसन्न होना चाहिए क्षोभ क्यों करती हो ? इसके उत्तर में कहती है, कि वह भगवान् के साथ गई है, इसलिए हमको ध्वराहट वा दुःख नहीं है, किञ्च सब गोपियों का जो धन है, जिसमें सबका समान भाग<sup>१</sup> है, उस अधरामृत धन के रस को हमारी सम्मति लिए बिना अकेली एकान्त में स्वयं पान कर रही है, उससे हमको अत्यन्त क्षोभ है ।

भगवान् तो बहुत स्त्रियों से भोग करने के कारण अब भोग से उदासीन हुए होंगे, वह इससे भोग कैसे करेंगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए, भगवान् का नाम 'अच्युत' दिया है जिसका तात्पर्य यह है, कि वह कितनी भी स्त्रियों से भोग करें तो भी वे विरत नहीं होते हैं । अतः यह शङ्का करनी व्यर्थ है, क्योंकि उदासीनता अपूर्ण में होती है भगवान् अच्युत होने से, विरत नहीं होते हैं । क्योंकि भगवान् पूर्णकाम हैं । अतः वे गोपी को रसदान करते हैं, जिससे हमको बहुत क्षोभ हो रहा है ॥३०॥

आभास—अन्याः पुनस्ततोऽपि खेदं कृतवत्य इत्याह न लक्ष्यन्ते इति ।

आभासार्थ—फिर अन्य गोपियां उससे भी विशेष खेद प्रकट करने लगी जिसका वर्णन 'न लक्ष्यन्ते' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक— न लक्ष्यन्ते पदान्यत्र तस्या नूनं तृणाङ्कुरैः ।

खिद्यत्सुजाताङ्घ्रितलापुन्नित्ये प्रेयसीं प्रियः ॥ ३१ ॥



**श्लोकार्थ—**यहां तो उसके चरण देखने में नहीं आते हैं उसका कारण यह होगा कि तृण के अङ्कुरों से उसके चरण कमल पीड़ित हुए हैं जिससे प्यारे भगवान् ने उसको उठा लिया है क्योंकि उनकी प्रेयसी<sup>१</sup> है ॥३१॥

**सुबोधिनी—**अहो किमिति विचार्यते । अध-  
रामृतं पिबतीति । एतावद्दूरे समागतानि तस्याः  
पदानि अग्रे न लक्ष्यन्ते । न च वक्तव्यं समीचीनं  
जातमिति, तत्राहुः । तस्याः तृणाङ्कुरैः खिद्यत्  
पादतलं जातम् । तदा तादृशीमुन्निन्ये, ऊर्ध्व  
नीतवान् । कटिभागे स्कन्धभागे वा । वस्तुतस्तु

हस्ताभ्यामेवोद्धृतवानिति सुतरां खेदे हेतुः ।  
ननु कथमेवं करिष्यतीत्याशङ्क्याहुः प्रेयसीमिति ।  
साप्यत्यन्तं प्रिया, स्वयमपि तस्याः प्रियः । अतो  
ज्ञायते न सा स्कन्धमारुढा, किन्तु केवल-  
मुन्निन्ये ॥३१॥

**व्याख्यार्थ—**ये गोपियां अन्य गोपियों को कहती हैं कि, अरे ! वह गोपी अधरामृत का पान करती है, जिसका खेद क्यों करती हो ? यह तो साधारण है किन्तु खेद तो विशेष का करना चाहिए, देखो तो सही, इतने तक तो पैर देखने में आते थे, अब तो वे भी देखने में नहीं आते हैं, अनुमान से जाना जाता है, कि इस गोपी के चरणों में तृण के अङ्कुरों के चुभने से पीड़ा हुई होगी, जिससे भगवान् ने उसको कटि वा कन्ये पर उठा लिया होगा, वैसा हो, तो भी महान् खेद न होवे, किन्तु भगवान् ने उसको हाथों से ऊपर उठा लिया है जिससे हमको महान् खेद होता है ।

भगवान् ने उसको हाथों से कैसे ऊपर उठाया होगा ? इस पर कहती हैं, कि निश्चय है कि हाथों से ऊपर ले लिया है, कारण कि वह प्रेयसी है और आप प्यारे हैं इससे जाना जाता है, कि उसको कन्ये पर नहीं किन्तु हाथों से उठाया है ॥३१॥

**आभास—**किञ्च । तेन प्रकारेण न बहुदूरे गमनं सम्भवति । अतः क्वचिद्विश्रम्य पुष्पावचयमपि तदर्थं करोतीत्याहुः अत्रेति ।

**आभासार्थ—**भगवान् ने हाथों से ऊपर ( हाथों पर ) ले लिया है जिससे इस प्रकार बहुत दूर तक लेजाना नहीं बन सकता, अतः मध्य में विश्राम किया है और उस समय प्रेयसी के लिए पुष्पों का भी चयन किया है--जिसका वर्णन 'अत्र' इस निम्न श्लोक में करती हैं--

**श्लोक—**अत्र प्रसूनावचयः प्रियार्थं प्रेयसा कृतः ।

प्रपदाक्रमणे एते पश्यतासकले पदे ॥३२॥

**श्लोकार्थ—**यहां प्यारे ने प्यारी के लिए फूल चुने हैं देखो, एड़ी को उंचे करने से, भगवान् के पैर पृथ्वी पर आधे ही देखने में आते हैं ॥३२॥



सुबोधिनी—प्रसूनानामवचयो वृक्षादुत्तार-  
सम् । न च स्वार्थं भविष्यतीति शङ्कनीयम् ।  
सा हि श्रान्ता । अतः प्रियार्थ एव । सा तु कर्तु-  
मशक्तं व । तदाहुः प्रेयसा कृत इति । सा हि  
भगवदपेक्षया खर्वा प्रपदाभ्यामुत्थातुमप्यशक्ता ।

अतः प्रेयसंव कृतः । यतः प्रपदाक्रमणे पात्रादा-  
भ्यामेवाक्रमणं ययोः । अत एवासकले, पार्श्व-  
भागो नाभिव्यक्त इति । पश्यतेति सन्देहाभावार्थं  
वचनम् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने वृक्षों से पुष्पों को उतारा, अर्थात् पुष्पों को चुना, यह कार्य  
( फूलों का चुनना ) भगवान् ने प्यारी के लिए किया है, क्योंकि भगवान् ने विचारा, कि प्यारी  
एक तो छोटे कद की है और थकी हुई है, अतः वह इतना परिश्रम नहीं कर सकेगी, इसलिये, मैं ही  
उतार लेता हूं, जिससे भगवान् को पैरों के अग्र भाग पर खड़ा रहना पड़ा है, इसी कारण से पृथ्वी  
पर पैरों के एड़ी का भाग देखने में नहीं आता है । जिसका प्रमाण यह है, कि पृथ्वी पर भगवान् के  
समग्र पैर नहीं है, तुम देखकर निर्णय करलो । देखने से संशय होगा तो मिट जाएगा ॥३२॥

आभास—ततोप्यन्या अधिकमेव सूचयन्त्य आहुः केशप्रसाधनमिति ।

आभासार्थ—दूसरी इससे भी विशेष 'केशप्रसाधन' श्लोक में कहती है—

श्लोक—केशप्रसाधनं त्वत्र कामिन्याः कामिना कृतम् ।

तानि चूडयता कान्तामुपविष्टमिह ध्रुवम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—यहां कामी ने ( भगवान् ने ) कामिनी की चोटी गूँथी है, उसमें  
( चोटी में ) फूल गूँथने के लिए भगवान् को यहाँ अवश्य बान्ता के पास बैठना  
पड़ा है ॥३३॥

सुबोधिनी—नखैरेव केशानां प्रसाधनम्,  
वेण्याकारेण आपीडाकारेण वा । तुशब्दोऽन्यथा-  
पक्षं व्यावर्तयति । न ह्यत्र ज्ञानोपदेशः सम्भवति  
तदाहुः कामिन्या कामिना कृतमिति । एतत् उत्था-  
यापि भवति । चूडायां पुष्पप्रवेशनं तु उत्थिते न

भवति । कोडे पुष्पाणि स्थापयित्वा क्रमेण तानि  
निवेशनीयानि । अतः तानि चूडयता इहोपविष्टम् ।  
ध्रुवमिति सत्यम् । कान्तामुप कान्तासमीपे ।  
कान्तामुद्दिश्य वा । तथैवाकृतिर्हस्यत इति ॥३३॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने यहां प्रथम प्रत्येक केश को नखों से पृथक् पृथक् कर अनन्तर उनको वेणी<sup>१</sup>  
के आकार में वा आपीडा<sup>२</sup> के आकार में गूँथा है वा सजाया है, यदि कोई कहे कि चोटी गूँथने के  
लिए वा उसमें पुष्प लगाने के लिए नहीं विराजे हैं, किन्तु ज्ञान देने के लिए विराजे हैं, इस शङ्का के  
मिटाने के लिए मूल श्लोक में 'तु' शब्द दिया है, जिसका आशय है, कि ज्ञान के वास्ते नहीं किन्तु



चोटी में फूल गूँथने के लिए बैठे हैं, यहां इस समय ज्ञान का उपदेश बन नहीं सकता है, क्योंकि एकान्त में कामी और कामिनी मिलें, वहां ज्ञान की वार्ता असम्भव है। इस समय काम सम्बन्धी विषय होते हैं, अतः यहां कामी ने कामिनी का केज प्रमाधन<sup>१</sup> किया है, यह कार्य खड़े रह कर भी किया जा सकता है बैठने की आवश्यकता नहीं है, वहां कहती हैं, कि केवल चोटी गूँथने का कार्य तो खड़े होकर किया जा सकता है, किन्तु उसमें फूल लगाने का कार्य बैठे बिना नहीं हो सकता है, कारण कि उस कार्य के लिए फूल अपने पास गोद में रखने पड़ते हैं, उनमें से एक एक फूल लेकर उसमें लगाया जाता है, यह इतना कार्य खड़ा रहकर नहीं हो सकता है, अतः उन पुष्पों को लगाते समय आप कान्ता को पास लेकर विराज हैं, यह निश्चय सत्य है, आकृति से पहचान हो जाती है ॥ ३३ ॥

**आभास—**एवं रसार्थं तस्यानयनं सामग्रीसम्पादनमलङ्करणं चोक्तम् । यदर्थमेता-  
वत्तदाहुः रेम इति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार रस सिद्धि के लिए उस गोपी को साथ ले जाना रमण की सर्व सामग्री को सिद्ध करना तथा चोटी गूँथ उसमें पुष्प सजाना आदि से प्रेयसी को सुशोभित करना आदि कार्य भगवान् ने जो किए उनका वर्णन ऊपर के श्लोक में कर, अब जिस कार्य के लिए इतने कार्य किए उसका वर्णन 'रेमे तथा' इस निम्न श्लोक में करती हैं—

**श्लोक—**रेमे तथा चात्मरत आत्मागमोऽप्यखण्डितः ।

कामिनां दर्शयन् दैन्यं स्त्रीणां चैव दुरात्मताम् ॥ ३४ ॥

**श्लोकार्थ—**भगवान् आत्माराम होने से, आत्मा में ही अनुरक्त हैं, स्त्रियों के विलास उनको खण्डित<sup>२</sup> नहीं कर सकते हैं, तो भी कामी पुरुषों की दीनता और स्त्रियों की दुष्टता दिखाने के लिए उस गोपी से रमण करने लगे ॥ ३४ ॥

**सुबोधिनी—**पुष्टत्वात् कामस्य आत्मरतः  
तथा च सह रेमे । चकारात् लक्ष्या च । अन्तः-  
प्रविष्टाभिर्वा । सापि रेम इति वा । आत्मन्येव  
रतिर्विद्यते । तेन निष्काम एव तस्या यथेच्छं कामं  
पूरितवान् । अस्यापि दशायामात्मरत एव,  
रसाधारत्वाय तस्यामात्मानं स्थापितवान् ।  
आत्मन्येव मुख्या रतिः आत्मन्येव रमणं कीडा च  
यस्य । यतः अखण्डितः इन्द्रियैरन्तःकरणैर्विषयैर्वा ।  
यदि स्वानन्दोऽन्यत्र गच्छेत्, तदान्यत्र रतो भवेत् ।  
ननु कथमेवमसमीचीनस्थाने एतावता प्रयासेन

एवं रमणं कृतवानिति, तत्र प्रयोजनमाहुः कामिनां  
दर्शयन् दैन्यमिति । कामिनस्त्वेवमेव दीना  
भवन्ति । 'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणा' इति  
तेषामनुकरणं करोति । अन्यथा तेषां निरोधो न  
स्यात् । प्रयोजनान्तरमप्यस्तीत्याहुः स्त्रीणा-  
मिति । स्त्रीणां च दुरात्मता प्रदर्शिता । न तासां  
काचिदशक्तिरस्ति, नापि सौकुमार्यम्, किन्तु  
वशीकृते पुरुषे दौष्ट्यमेव कुर्वन्ति । 'शालावृकाणां  
हृदयान्येता' इति । अत उभयबोधनार्थमेवं  
रेमे ॥ ३४ ॥

=====

व्याख्यान—तब भगवान् आत्मा में ही रमण करने वाले होते हुए भी उस गोपी से रमण करने लगे, मूल श्लोक में 'च' कहने के ये भाव हैं, उस समय १--लक्ष्मी से भी रमण किया अथवा २--अन्तर्गृहगता जिनका भगवान् के साथ सायुज्य हुआ था, वे भगवान् के हृदय में स्थित हैं, उनसे भी रमण किया, अथवा गोपी ने भी रमण किया। जिनकी भगवान् में रति थी उनकी उस रति की पूर्ति के लिए स्वयं निष्काम रहकर उनसे रमण किया है अर्थात्, इस रमण दशा में भी आप आत्मरत अर्थात् अपनी आत्मा में अनुरक्त हैं, केवल उसकी उस रति को आधार बनाकर उसमें आत्मा \* को स्थापित किया है, जिस भगवान् की अपने में ही मुख्य रति है और अपने में ही रमण है, अतः इन्द्रियों से अन्त करणों से अथवा विषयों से आप अखण्डित रहते हैं, यदि भगवान् का आनन्द अपनी आत्मा के सिवाय अन्यत्र चला जाए तो उसमें (दूसरे में जहाँ आनन्द गया हो उसमें) रत हो जाना चाहिए, वह तो हुआ नहीं है अतः आप रमण करते हुए भी अखण्डित, आत्माराम तथा आत्मरत हैं।

यदि यों है, तो इतना परिश्रम कर, वैसे असमीचीन स्थान में रमण क्यों किया ? जिसका कारण बताते हैं, कि भगवान् को यह काम लीला कर लोक में कामियों की दीनता दिखलानी थी, कि काम से पीड़ित मनुष्य, इस प्रकार प्रकृति के वश हो दीन बनते हैं अर्थात् उनके ( स्त्रियों के ) आधीन बन जाते हैं इसलिए भगवान् ने उनका अनुकरण कर दिखाया है, यदि भगवान् यों अनुकरण न करें, तो उनका ( कामियों का ) भगवान् में निरोध नहीं होवे, इसके सिवाय दूसरा प्रयोजन भी है, वह यह है कि स्त्रियों की दुष्टता दिखाना, जैसा कि कोई भी क्रूर कर्म हो, तो भी वे कर सकती हैं, तथा वे इस काम विषयक कार्यों में सुकोमल चित्तवाली नहीं हैं, उसकी पूर्ति के लिए वे हर प्रकार के साहस करने से चूकती नहीं है श्रुति में इनको 'गीदड़ का हृदय' कहा है ॥ ३४ ॥

आभास—एवं सर्ववस्तुयाथात्म्यस्फुरणं भगवदावेशात्तासां निरूपितमुपसंहरति  
इत्येवमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार जब हृदय में भगवान् पधारते हैं, तब सर्व वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप की स्फूर्ति होती है। गोपियों के हृदय में भगवान् पधारे जिससे उनको भी सर्व लीलाओं के स्वरूप की वास्तविक स्फूर्ति हुई, उसका वर्णन कर अब इस लीला का संवरण करते हैं, अर्थात् लीला को समेटते हैं, जिसका वर्णन 'इत्येव' आधे श्लोक में करते हैं।

## શ્રીશુક ઉવાચ

श्लोक—इत्येवं दर्शयन्त्यस्ताश्चेरुर्गोप्यो विचेतसः ।

\* टिप्पणीजी का आशय है—रति वाली गोपी शृङ्गार का आधार होने से उसमें अपनी आत्मा (शृङ्गार स्थायी भाव) को स्थापित किया। अन्यथा इस भगवद् रस का अनुभव नहीं हो सकता है।

२-स्वरूप २-ग्रासक्त ।

वी.पी. द्वारा पुस्तक मँगाने का पता :  
**सीताराम पुस्तकालय**  
 विश्राम बाजार, मथुरा मो. : 09837654007



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३४ ॥

**श्लोकार्थ—**इस प्रकार अचेत वे गोपियां, भगवान् को लीलाएँ दिखलाती हुई घूम रही थी ॥ ३४ ॥

**सुबोधिनी—**एवप्रकारेण भगवल्लीलाः प्रदर्शयन्त्यः चेरुः गतिं कृतवत्यः । तासामनेकविधत्वे हेतुमाह गोप्य इति । न हि ताः शास्त्रेण भगवदीया जाताः, किन्तु स्वभावेन । स्वभावस्त्वेनेकविध इति सर्वमुपपद्यते । किञ्च, नहीं ताः

किञ्चित् ज्ञात्वा वदन्ति, किन्तु विचेतस एव । अथवा । एवं दर्शयन्त्यो विचेतसो जाताः । प्रकारत्रयस्यापि समाप्तत्वात् । अतस्तासां नाग्रे गतिर्न वचनानि ।

**व्याख्यानार्थ—**इस प्रकार वे गोपियाँ भगवान् की लीलाएँ दिखलाती अचेत विचरती थी, वे गोपियाँ अनेक प्रकार की थीं इसलिए मूल श्लोक में 'गोप्यः' बहुवचन में दिया है, वे गोपियाँ शास्त्र पढ़कर भगवदीया नहीं बनी थीं, किन्तु सहज स्वभाव से ही भगवान् की सेविकाएँ थीं । स्वभाव एक प्रकार का नहीं होता है, अतः गोपियाँ भी स्वभावानुसार अनेक प्रकार की थीं, यों होना उपपन्न ही है, ये गोपियाँ जो कुछ बोल रही हैं, वह ज्ञान प्राप्त कर समझ में नहीं बोल रही हैं, किन्तु अस्थिर\* वित्त से कह रही हैं, अथवा यों लीलाओं को दिखलाते हुए पागल सी हो गई हैं, क्योंकि तीनों\*\* कारणों की समाप्ति हो गई है, जिससे बोलने की शक्ति तथा चलने की गति रुक गई है ॥ ३४ ॥

**आभास—**एवमेतासां स्वरूपनिरूप्य, तस्याः स्वरूपं निरूपयति यां गोपिमिति सार्धं त्रिभिः ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार जिनको वन में छोड़ आए थे उन गोपियों के चरित्र (स्वरूप) का वर्णन कर अब जिस गोपी को भगवान् स्वयं ने आए थे उसके स्वरूप तथा कार्य वर्णन ॥ श्लोकों में करते हैं—

**श्लोक—**यां गोपीमनयत् कृष्णो विहायान्याः स्त्रियो वने ॥ ३५ ॥

सा च मेने तदात्मानं वरिष्ठं सर्वयोषिताम् ।

हित्वा गोपीः कामयाना मामसौ भजते प्रियः ॥ ३६ ॥

ततो गत्वा वनोदेशं दृष्ट्वा केशवमब्रवीत् ।

न पारयेऽहं चलितुं नय मां यत्र ते मनः ॥ ३७ ॥

\* १—रसासक्ति, २—भगवत् क्रिया, ३—गर्वाभाव ।

१—उचित-भुनासिव, २—पागल-विक्षिप्तं

एवमुक्तः प्रियामाह स्कन्धमारुह्यतामिति ।

ततश्चान्तर्दधे कृष्णः सा वधूरन्वतप्यत ॥३८॥

श्लोकार्थ—भगवान् अन्य स्त्रियों ( गोपियों ) को वन में छोड़, जिसको साथ ले गए, वह तब अपने को सब स्त्रियों में 'वरिष्ठ' मानने लगी, क्योंकि जो स्त्रियां भगवान् को चाहती थीं, उनको छोड़कर ये प्यारे मेरा भजन करते हैं ( मुझसे रमण करते हैं ) इसलिए वह गर्वयुक्त हुई, और आगे वन प्रदेश में जाकर कहने लगी, कि मैं चलने में असमर्थ हूँ, अतः आपको जहां ले जाना हो, मुझे उठाकर ले चलो । इस तरह कहे जाने पर, भगवान् ने प्रिया को कहा—'कन्धों पर चढ़ो' और इसके अनन्तर वे अन्तर्हित हो गए और वह वधु अनुताप करने लगी ॥३५-३६-३७-३८॥

कारिका—दोषोऽभिमानवचनं वचनोत्तरमेव च ।

पूर्ववच्च तिरोभावो विज्ञेयं दोषदर्शने ॥१॥

कारिकार्थ—(१) दोष (२) अभिमान वचन (३) वचन का उत्तर और पहले की तरह (४) तिरोभाव, जिससे सभीको अपने दोषों का दर्शन हो । अर्थात् इस गोपी के त्याग से अन्य सभी गोपिकाओं को अपने दोषों की स्फूर्ति होगी कि हमको भी भगवान् ने हमारे दोषों के कारण ही छोड़ा । इसके लिए प्रथम मूल में श्लोक पंक्ति 'यां गोपीम्' से 'भजते प्रियः' तक 'दोष' का वर्णन है । 'ततो गत्वा' अर्थात् ३७ वें श्लोक में 'अभिमान वचन' का वर्णन है । ३८ वें श्लोक के पूर्वार्ध में, वचनोत्तर का वर्णन है । एवं उत्तरार्ध में 'तिरोभाव' का वर्णन इस तरह चारों बातों का वर्णन यहां हुआ ।

सुबोधिनी—यां गोपीं पूर्वमजातदोषां अनयत् । अतस्ता वने विहाय तामनयत् । वनस्थानां विवेको यतः कृष्णः सदानन्दः, तस्यामानन्दं स्थापयितुम् । भवतीति ॥ ३५ ॥  
अन्यास्तु स्त्रियो जाताः । सा तु मुग्धैव गोपी ।

व्याख्यानार्थ—वह गोपी जिससे, कोई भी दोष नहीं हुआ अतएव उसे भगवान् ले गए । भगवान् उसे इस लिए ले गए, क्योंकि वे कृष्ण-सदानन्द हैं और उस गोपीमें भी उन्हें आनन्द स्थापित करना था । अन्य जिन्हें साथ नहीं ले गए वे तो स्त्रियां हुई अर्थात् स्त्री स्वभाववाली थीं । जबकि यह जिसे लाए वह मुग्धा ही है । अतः उनको वन में छोड़कर इसे ले आए क्योंकि वन में रहने वालों को विवेक उत्पन्न होता है ॥ ३५ ॥



मान को दोष माना क्योंकि मान के कारण प्रियतम के साथ बहिसम्बन्ध में, अन्तराय उपस्थित होता है। परन्तु दोनों—इस गोपी के एवं पहले वाली गोपियों के—उदाहरण में रस तो समान ही है, फिर उनको पहले मान हुआ और इसे नहीं, और अब इसे भी हुआ यों इस विषमता का कारण समझते हैं—

**कारिका—**स्वयं त्वयुक्तकरणात् प्रकृत्याधिकारिणः ।

**बुद्धिं स्म नाशयामासुः साप्यन्येवाभवत्ततः ॥१॥**

**कारिकार्थ—**नायिकाओं की प्रकृति सदा मानिनी होने की रहती हैं। प्रकृत में अभी तक इस नायिका ने नायक के अधीन होना स्वीकारा अतः वह नायिका की प्रकृति (स्वभाव) की जो रीति होती है उसके योग्य नहीं था कि नायक के अधीन रहे अतः नायिका के स्वभाव-व्यवहार के नियामक जो प्रौढ़ भाव है उन्होंने पहले के कोमल भावों का नाश कर दिया। तो पहले ही इस स्वामिनी को भी मान क्यों नहीं हुआ? कहते हैं—भगवान्—भक्तों को भजनानन्द के लिए लीला करते हैं और उसी में स्वयं भी रसानुभव करते हैं। यों बहुतसी प्रियाओं के रहते हुए भी एक के साथ, अलग ले जाकर विशेष रमण में जो रसानुभूति है वह समूह में नहीं। और यह मान भी तो भगवदभावात्मक है अतः कोई अनुपपत्ति नहीं। और पहले मान नहीं हुआ इसका कारण तो स्वामिनियों ने ही बता दिया था “अनयाराधितो नूनम्” स्थल पर यों फिर यह स्वामिनी भी अन्यो की तरह हो गई।

**सुबोधिनी—**तदाह । सा च तदा सर्वयोषितां मध्ये वरिष्ठं मेन इति । चकारः पूर्वसमुच्चयार्थोऽप्यर्थः । तदेति । पूर्व तस्यास्तथात्वं न जातमिति अनेन समुदायदोषेण न भगवांस्त्यजति, किन्तु प्रत्येकदोषेणेति ज्ञापितम् । तस्यास्तथा दोषे हेतुः हित्वेति । कामयाना अपि सर्वाः गोपीः हित्वा असौ मां भजत इति । तत्रापि प्रियः, यथैव मम प्रीतिर्भवति, तथैव करोति । न तु क्वचिदप्यप्रिय-विषयः । अतोऽहं वरिष्ठा । अन्यथानुपपत्त्या तथात्वं कल्प्यते ॥ ३६ ॥

**व्याख्यानार्थ—**उस मान का वर्णन करते हैं—तब उसने भी सभी स्त्रियों में अपने आपको ‘वरिष्ठ’ माना। यहां ‘सा च मेने’ में ‘च’ आता है जिसका अर्थ है “पहले जो कहा उसके साथ” अर्थात् ‘भी’ के अर्थ में। पहले उसमें अभिमान नहीं था अर्थात् अब ही हुआ, इससे सिद्ध हुआ कि समुदाय के दोष से भगवान् त्याग नहीं करते, किन्तु व्यक्तिगत दोष से। उसके अभिमान का कारण यह है, कि भगवान् को चाहने वाली सभी गोपियों को छोड़कर, भगवान् इसी का भजन करने लगे, और वह भी प्रिय होकर अर्थात् जैसे इसे प्रिय लगे वैसे ही सब कुछ करने लगे। कहीं भी कुछ भी, अप्रिय नहीं किया। अतः उसे प्रतीत हुआ, कि मैं वरिष्ठ हूं अन्यथा इन सारी बातों की अन्य क्या व्याख्या हो सकती है ॥ ३६ ॥

सुबोधिनो—दोषाभावेनैवोत्तमता, न तु धर्मान्तिरेण, अतस्तस्या भ्रमः भ्रान्ताया वाक्य-माह ततो गत्वेति । ततो भोगस्थानादग्रे गत्वा । वनोद्देशमतिरमणीयम् । स्वार्थमयं गच्छति, न तु मदर्थम् । ततश्चान्यार्थं मया कथं खेदः प्राप्तव्यः इति दृप्ता । तादृशभगवत्कृपायामनधिकारिणी प्राप्तप्रसादेन जाताजीर्णा ब्रह्मादिभ्योऽपि मोक्ष-दातारं देहेन्द्रियादिसर्वरहितं परमानन्दरूपं केशव-मब्रवीत् । तस्या वाक्यमाह न पारय इति । अहं चलितुं न पारये । तथापीष्टदेशं गन्तव्यमिति चेत्, तत्राह । यत्र ते मनः, तत्र मां त्वमेव नय ॥३७॥

व्याख्या—दोष न होने से ही उत्तमता है। अन्य किसी धर्म के कारण नहीं। अतः अन्य कारणों से अपने आप को यह वरिष्ठ मानना भ्रम है। इसी भ्रम के कारण इसने कहा उसको 'ततो गत्वा' में वर्णन करते हैं। वहां भोग स्थान—रमण स्थल से आगे जाकर अब अति सुन्दर वन प्रदेश आया तो विचार उठा कि "प्रिय अपने कार्य के लिए जा रहे हैं मेरे कार्य के लिए नहीं, तो फिर अन्य के लिए मैं क्यों खेद-भ्रम करूँ" यह भाव अभिमानिनी का है। यह गोपी अन्यो को जो कृपा प्राप्त हुई वैसी कृपा की अधिकारिणी नहीं है (अर्थात् उनसे विलक्षण कृपा की अधिकारिणी है) और जो प्रसाद अब तक प्राप्त हुआ उसी का पचना इतना कठिन है कि मानों अधिक कृपा के भोग के कारण अजीर्ण सा होगया हो ऐसी होगई। ब्रह्मा शिव आदि को भी मोक्ष देने वाले देह, इन्द्रिय आदि सभी से रहित परमानन्द रूप केशव को कहने लगी—“मैं चलने में समर्थ नहीं”। तो भी जहां जाना है वहां तो चलना ही पड़ेगा—“तो जहां मन हो वहां आप ही मुझे उठाकर ले चलेंगे” ॥३७॥

यहां प्रिया को भ्रम हुआ है, परन्तु यह भ्रम क्या है ? प्राकृत कामी पुरुष की तरह क्योंकि प्रभु ने भी अलौकिक काम को उत्पन्न किया है अतः वे भी कामाधीन होकर सामान्य कामी पुरुष की तरह नायिका के अधीन हैं यह लोला भी करेगे । अतः शक्ति रहने पर भी अशक्ति जताऊं तो अपने कन्धों पर उठा के ले चलीं । यह जो भाव उदित हुआ वह भ्रम है । भगवद् रमण में कोई भी दोष (लौकिक रमण की तरह) नहीं होता, अपने सौभाग्य के बारे में मद-मान जो भी होते हैं वे भगवद्भावात्मक ही हैं । इसका निरूपण 'तासां तत्सौभगमिदं' किया है । वैसे ही यहां भी अभी तक जो रसदान प्रभु ने किया, वह नायिका के अधीन होकर, अतएव भाव भी वैसे ही उदित हो रहे हैं, कि 'प्रभु मेरे अधीन हैं' यह दोषरूप नहीं है । "हित्वा गोपीः" में इसी भाव प्रतिबिम्ब का वर्णन है (पहले गर्व हैं पश्चात् अशक्ति यों दोनों भगवान् से यहां आए हैं) ।

अभिमान दर्प यहां मर्यादा रहित होने के अर्थ में हैं। अर्थात् जैसाकि कहा गया निरवधि रस के दाता प्रभु की रसदान में संकोच की इच्छा रस मर्यादा से मेल नहीं खाती और वैसे भाव का उदय जब प्रिया में भी हुआ तो उसे दृष्टा-अभिमानिनी कहा जा रहा है।

राजस् एवं तमस् के अधिष्ठाता ब्रह्मा शिवादि के भी राजस तामस भाव दूर करके मोक्ष-अमृत को देने वाले ये भगवान् हैं । यों यहां भी पूर्णरस के दान के लिए ही प्रिया में वैसे भाव उत्पन्न कर रहे हैं और फिर स्वयं तिरोहित हो गए । यही दिखलाने के लिए यहां भगवान् का 'केशव' पद से शुकदेवजी वर्णन करते हैं । यों अन्ततः विचार करने पर यह फलित होता है कि दर्प जगाना, एवं तिरोहित हो जाना इन सबका लक्ष्य है तो पूर्ण रसदान ही अतः इस ऐसी संयोग रसदान के संकोच की इच्छा का रसमर्यादा में होना भी सिद्ध हो सकता है ।



विप्रयोगात्मक रस का अनुभव जब तक न हो जाए तब तक रसदान की पूर्णता नहीं बन पाती, अतः प्रभु ने संयोग रसदान की इच्छा संकुचित की। "न पारदेहं" में इसी क्रिया शक्ति के संकोच का भाव है। अन्यथा यह मिथ्याभाषण हो जाएगा। जब कि भगवदियों का भगवान् से मिथ्याभाषण संभव नहीं है। पूर्ण रस के अत्यन्त आविर्भाव से भी यद् चलने में असामर्थ्यरूप— स्तम्भरूप सात्त्विक भाव उदित हो सकता है।

स्वामिन्यामपि संयोगजनक भाव दूरी करणाय दृष्टाय दोष भावजननम् अर्थान् जिन भावों के कारण संयोग रस प्राप्त होता है, वे भाव यदि बने रहें, तो संयोग रस भी निरन्तर रहे, फलतः उत्तर दल—विप्रयोगात्मक रसदान न हो पायेगा। इसलिए स्वामिनी में भी, संयोगरसदानेच्छा के संकोच के भाव जो प्रभु में थे, सो एकान्त हुए। फलतः स्वामिनी भी विप्रयोगाभिनय चाहने लगी कि प्रभु मेरा विप्रयोगानुभव करें।

**सुबोधिनी**—तदा भगवानतिचतुरः तद्वाक्य-  
स्योत्तरमाह एवमुक्त इति। प्रियेति कृत्वा उत्तर-  
मुक्तवान्। उत्तरमाह स्कन्धमारुह्यतामिति।  
एषा हि नृत्यं कर्तुं वाञ्छति। स्वातन्त्र्यं रसम-  
भिनेतुम्। तद्भूमौ पदस्थापने ऊर्ध्वभावाभावात्  
रसः च्युतो भवेत्। अतः स्वस्कन्धमेवारुह्यता-  
मिति। स एवात्यन्तं नटवदुः यः स्वस्कन्धमारुह्य  
नरीनति। अशक्यं ह्युपदिशति। प्रार्थितं तथेति।  
भगवतो हि मनः अलौकिकरसाभिनयने, तद्भूमौ  
पदस्थापने न भवति। अशक्ता चेत् कथं वदेत्।

अतो मम तत्रैव मनः। यदि तथा करिष्यति, तदा  
नेष्यामीति। नह्यनधिकारी नेतुं योग्यः। भग-  
वांस्तु नान्यथा वदतीति न स्वस्कन्धसम्भावना।  
तथा तु मोहवशात् तथैव बुद्धम्। ततो मोहवशात्  
तथा चिकीर्षमाणां तां दृष्ट्वा ततोप्यन्तर्दधे।  
यतोऽयं कृष्णः सदानन्दः। ततः पूर्ववदेव सापि  
जातेत्याह सा वधूरन्वतप्यतेति। वधूरिति सा  
अनन्यपूर्वा व्रतमध्यस्था। तत्रापि गुणतीता।  
अतः अन्वतप्यत, अनुतापं कृतयती ॥३८॥

**व्याख्यानार्थ**—भगवान् तो अति चतुर हैं और ये भगवान् की प्रिया हैं, सो भगवान् ने उत्तर दिया—“कन्धों पर चढ़ो।” अपने में समागत रस को अभिनीत करने के लिए प्रिया नृत्य करना चाहती हैं! इस नृत्याभिनय से आन्तर अनुभव के रस समुद्र के लहराने के बजाय सूखने की संभावना अधिक, यदि रसामृत को आन्तर भूमि से बाह्य भूमि पर लाया गया तो। अतः यह अशक्य कार्य तभी हो सकता है जब अपने कन्धों पर चढ़ने का अशक्य कार्य करो। निश्चयेन जो अपने कन्धों पर चढ़कर नाचता हो वह कुशलतम नर्तक होगा! यह अशक्त कार्य का विधान इसलिए किया कि अशक्य वस्तु के बारे में ही प्रार्थना की गई। भगवान् का मन (लौकिक नायक की तरह नायिका के अधीन होकर वियोग रसानुभव का नहीं किन्तु) अलौकिक रसाभिनय में है। यह अलौकिक रसाभिनय यदि नायिका लौकिक रीति से नायक को अपने अधीन बना कर स्वयं का वियोगानुभव कराना चाहे तो संभव नहीं है (यदि अभिनय करना भी हो तो अलौकिक रस का ही करना चाहिए अर्थात् प्रभु के अधीन होकर विरहानुभव करते हुए आति आदि को प्रकट करना न कि लौकिक रीति से नायक को विरहार्त देखने का)। परन्तु यदि स्वतः इतनी अशक्त होती तो न तो यह कहती कि “विप्रयोगाभिनय मुझे करने दो” और न यह कि “चलना हो तो गोद में उठाकर चलो फिर जहां भी आप का मन हो चलने को तैयार हूं!” (क्योंकि दोनों कल्पों में एक जगह अभिनय के कारण प्रभु से दूर होना है तो दूसरी जगह स्वयं प्रभु की विप्रयोगदान की इच्छा के कारण ही। यों



दोनों विकल्प में स्वतः अशक्त होती तो कहने का अवसर नहीं आता परन्तु प्रिय की इच्छा के अनुरूप ही अशक्ति हुई है) अतः मेरा मन तो विप्रयोग के अनुभव कराने में ही है—जिसका मेल स्वामिनी-वचन से स्वस्कन्धारोहण की तरह अशक्त है। यदि स्वस्कन्धारोहण का अशक्त कार्य स्वामिनी कर दिखलाये तो प्रभु भी स्वामिनी को अभिनय के धरातल पर जाने देंगे या ले जायेंगे अथवा गोद में लेजाते हुए भी अपने मन के अनुसार अन्तर्हित भी हो जायेंगे। अन्यथा विप्रयोग रस के अभिनय की अनधिकारिणी को प्रभु वशों अभिनय भूमि पर जाने दे और क्यों स्वयं वियोगानुभव करें। इसी तरह संयोग रस को निरन्तर रखने के कल्प में भी दर्प, क्रियाशक्ति के संकोच आदि को उत्पन्न करके जब अनधिकारिणी बनाया ही है तो गोद में लिए हुए चलने के साथ-साथ स्वयं भी अन्तर्हित हों ऐसी अशक्त लीला में क्यों स्वामिनी को ले जायें ?

भगवान् कोई मिथ्या भाषण तो करते नहीं हैं, कि अपने कन्धों पर चढ़ने को कहें और प्रिया वैसा करने जाये, तब तिरोहित हो जाये अतः यहां भगवान् ने अपने कन्धों पर चढ़ने को कहा इस अर्थ की संभावना नहीं है। हां स्वामिनी ने मोह-भगवान् ने प्रार्थना या आग्रह स्वीकार लिया यों समझ करके कारण समझा कि प्रियतम के कन्धों पर चढ़ना है, और वैसा ही करने जा रही थी कि प्रिय अन्तर्हित हो गए क्योंकि ये “वृष् + ण = सत् + आनन्द” है। तब वह भी अन्य गोपिकाओं की तरह हो गई। यह अनन्यपूर्वा एवं व्रत करने वालियों में से है और उनमें भी गुणातीत अतः अनुताप करने लगी ॥३८॥

नट नृत्यमें के अभिनय की चेष्टाओं द्वारा अपने अन्दर रहे हुए रसका अनुभव दर्शक को कराता है। इसी समानता को लेकर यहां नृत्य का कथन है। इससे पहले प्रभु ने प्रिया के अधीन होकर रस दान किया और वह रस प्रिया में अवस्थित हुआ तो अब स्वयं उस रसका अनुभव प्रभु को कराने के लिए वचन एवं व्यवहार द्वारा प्रिया प्रकृत हो रही है यहां प्रथम प्रभु ने रसाभिनय किया जिसका रसानुभव प्रिया ने किया। अब प्रिया रसाभिनय करके प्रिय को रसानुभव कराना चाहती है। यह रस शृंगार है जिसके पूर्वदल का अभिनय प्रभु कर चुके हैं और प्रिया अनुभव। अतः जो उत्तर दल का अभिनय प्रभु करना चाहते हैं, सो वह भाव भी प्रियामें प्रतिबिंबित हुआ और उसके अनुसार ही प्रियामें प्रथम अपने आपको वरिष्ठ भावना, दूसरे प्रभु को अपने अधीन मानना और तीसरे प्रभु को अपना विप्रयोगानुभव कराने की इच्छा यों क्रमशः जो प्रभु के भाव थे वे प्रतिबिंबित हुए।

यहां (१) अपने आपको वरिष्ठ मानना अर्थात् गर्व तो अग्रिम विप्रयोगात्मक रसदान में निमित्त है सो हुआ ही किन्तु शिष्ट दो अर्थात् (२) लौकिक कामी पुरुष की तरह प्रभु का कामवश नायिका के अधीन बनना तथा (३) नायक का दर्शक (अनुभव करने वाला) बन कर स्वामिनी का रसाभिनय करना और वह भी रस के अन्तर दल का अभिनय ये दो अशक्य हैं (१) स्वस्कन्धारोहण की तरह। (२) इसलिए अशक्य है कि प्रभु भक्त स्नेह वश ही भक्तों के वशीभूत होकर रमण करते हैं कामाधीन होकर नहीं। अतः प्रकृत में नायिका का “न पारयेह” कहना स्नेह की रीति के विरुद्ध है। नायक का कामवश नायिका के अधीन होना तो रसमार्ग से विरुद्ध नहीं है तब फिर क्या आपत्ति है? इसका उत्तर यह है कि प्रभु को लौकिक नायक की तरह अपने अधीन मानने का (जो प्रभु के अब तक अधीन होकर रसदान करने से) भाव जो उत्पन्न हुआ है उसकी परिणति



होगी प्रभु के स्वामिनी को विप्रयोग रसदान के भाव का भी स्वामिनी में प्रतिबिम्ब, अर्थात् प्रभु को अपना विप्रयोगरसानुभव कराना तथा स्वयं विप्रयोग रसाभिनय करना। यही (३) भाव है। किन्तु अनुभव एवं अभिनय के धरातल परस्पर भिन्न-भिन्न हैं। अनुभव आन्तर है जबकि अभिनय बाह्य। अनुभव के धरातल पर बने रहने से रसामृत का समुद्र अन्दर उत्तरोत्तर भाव तरंगों द्वारा लहराता रहता है। इसे 'ऊर्ध्व भाव' कहते हैं। जबकि अभिनय के धरातल पर रस को लाने की चेष्टा में रस स्वभाव के कारण अन्तःस्थित रस के डुलक जाने की सम्भावना है। और यदि आन्तर रस समुद्र बाहर डुल जाये तो प्रिया किस का तो अभिनय करेगी और प्रभु किस का अनुभव? रसामृत के समुद्र में न तो वह अर्ध्वभाव ही रह पायेगा और न वह स्वयं ही। अर्थात् रस के स्वरूपतः नष्ट होने की सम्भावना है। और ऐसा होने पर प्रभु को जो आगे चलकर स्वयं विप्रयोग के दान से स्वामिनी के रसानुभव को पूर्णता तक पहुँचाना है उसमें भी प्रतिबन्ध उपस्थित हो जायेंगे। प्रभु भी विप्रयोगरसाभिनय चाहते हैं और स्वामिनी भी, अब दोनों की इच्छाओं का सवाद कैसे संभव है? एक को तो रसानुभव के धरातल पर रहना ही पड़ेगा। अब यदि (२) भाव के कारण अर्थात् प्रोढ़ी-भाव से लौकिक नायिका की तरह प्रभु-नायक को अपने अधीन बनाकर स्वयं रसाभिनय में प्रवृत्त होने का भाव रखे तो वह तो सम्भव नहीं है, यह बता ही दिया है। और कोई तो उपाय ही नहीं है।

यहां यह ज्ञातव्य है कि स्वयं प्रिया यह चाहती है कि प्रभु संयोग रस दान में संकोच की इच्छा नहीं करे। क्योंकि ये अपने आपको विप्रयोग रस दान की कृपा की अधिकारिणी नहीं मानती है। किन्तु जब भगवान् ने पूर्ण अपने रस का दान किया ही है जिसके कारण सारे भगवन्निष्ठ भाव हृदय में स्फुरित हो रहे हैं तो सर्वतः अपना आधिक्य-वरिष्ठता, विप्रयोग रस दान की इच्छा आदि सभी यहाँ भी प्रतिबिम्बित हुए हैं। किन्तु पूर्व दल की गरिमा के कारण अब रस उच्छ्वलित होने की अवस्था में है। आन्तर रसानुभव का बाह्य रसाभिनय करना चाहती है। अतएव ऐसे भाव उदित हुए कि ऐसे सुन्दर वन में प्रिय यदि मुझे दूढ़ें तो रस की चमत्कृति कैसी हो इसी भाव को दर्प कहा गया है।

यों "नय मां यत्र ते मनः" से दो तरह की भावना व्यक्त हो रही है—(१) क्रियाशक्ति-संयोग रस (पूर्वदल के नैरन्तर्य) की अथवा (२) विप्रयोगात्मक रसाभिनय की अर्थात् रसानुभव की नहीं। यह स्वामिनी का विप्रयोग रसाभिनय लौकिक रीति के बिना संभव नहीं है। लौकिक रीति नायक के अलौकिक होने से संभव नहीं है। जैसे अपने कन्धों पर चढ़ना अशक्य है वैसे ही प्रभु के सामने से प्रिया का अन्तर्हित होना भी अशक्य है। पूर्णज्ञान शक्तिवाले प्रभु के लिए कौनसी वस्तु ज्ञान-परिधि के बाहर हो सकती है? यद्यपि विरुद्धसर्वधर्माश्रय होने के कारण एवं रसात्मक होने के कारण जानते हुवे भी अनजान बन सकते हैं। परन्तु सर्वसमर्थ प्रभु अपनी प्रिया-अत्यन्त प्रिय स्वामिनी को—एक क्षण भी बिन देखे रहने में असमर्थ हैं। यही तो कारण है कि उत्तर भी दिया अन्यथा चुप रह जाते या चुपचाप अन्तर्ध्यात हो जाते। प्रिया होने के कारण स्वामिनी का भगवान् के सामने से छुप सकना कठिन है अतः प्रभु को ही अन्तर्हित होना पड़ेगा। इस तरह प्रिया की प्रार्थना क्योंकि प्रिया ने की है इसीलिये स्वीकृत न हो पायी। और जहाँ तक (१) विकल्प का प्रश्न है तो क्रिया शक्ति की स्वीकृति भी स्वस्कन्धारोहण की तरह अशक्य ही है क्योंकि अन्यथा रसानुभव की पूर्णता नहीं होगी। स्वामिनी को यह वृत्तान्त की सुध नहीं है सो पहले की तरह अब



भी क्रियाशक्ति देकर संयोग रसाभिनय निरन्तर रखेंगे यों सोचकर प्रार्थना की "नय मां" किन्तु अनजाने यह भी कह दिया कि "यत्र ते मनः" प्रभु का मन विप्रयोग दान में है अतः दोनों का सवाद पुनः स्वस्कन्धारोहण की तरह अशक्य है। जो रस आगे देना है उसका ख्याल करके प्रभु ने अपने आशय को चतुराई से ढक दिया कि "कन्धों पर चढ़ो" किन्तु किसके यह खुलासा नहीं किया। स्वामिनी ने विचारा कि संयोग रस के दान को निरन्तर रखने की बात मान ली गयी और अपने कन्धों पर चढ़ने को प्रभु कह रहे हैं परन्तु बंसा करते समय प्रभु अन्तर्हित हो गए। ऐसा क्यों किया इसका कारण प्रभु के नाम में ही निहित है यह सुबोधिनी ने कृष्ण का अर्थ सच्चिदानन्द देकर दिखलाया है। यह आशय है, कि प्रभु आनन्दात्मक रूप में प्रकट रहते हैं अब यह प्राकट्य के दो भेद हैं, आन्तर एव बाह्य, आन्तर लीला अब करनी है सो बाह्य में तिरोहित हुए। इसी तरह अब इस दशा में रस पोषण करना है।

**आभास—**न केवलमन्तरनुतापः, किन्तु तज्जनितो बहिरपि विलापो जात इत्याह हा नाथेति।

**आभासार्थ—**इस गोपी को केवल भीतर अनुताप नहीं हुआ किन्तु उनसे बाहिर भी हुआ जिससे विलाप करने लगी, उसका वर्णन 'हा नाथ' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**हा नाथ रमण प्रेष्ठ क्वासि क्वासि महाभुज।

दास्यास्ते कृपणाया मे सखे दर्शय सन्निधिम् ॥३६॥

**श्लोकार्थ—**हा नाथ ! हा रमण ! हा प्यारे ! हा महाभुज ! तुम कहाँ हो ? कहाँ हो ? हे सखा ! मैं जो आपकी दोन दासी हूँ उसको सन्निधि में दर्शन दीजिए ॥३६॥

**सुबोधिनी—**हा इति पश्चात्तापे । अयुक्तं कृतमिति । तथापि हे नाथ, त्वमेव स्वामी । अतो दोष एवं दूरीकर्तव्यः, न तु त्यक्तव्या । ननु दूरे स्थित्वा पालनं करिष्यामीति चेत्, तत्राह रमणेति । त्वमेव रतिवर्धको भोक्ता, भोग्यरूपाश्च वयम् । अतो निकट एव स्थातव्यमिति भावः । नन्वनुरोधेन केवलं पालनं करिष्यामि, भोक्तु-रिच्छाभावात् । न हि भोग्येच्छया भोक्ता भुङ्क्ते, तत्राह प्रेष्ठेति । न ह्यन्यः प्रीतिविषयोऽस्ति येन जीविष्यामि । अत्यन्त व्याकुलाया वचनमाह क्वासि क्वासीति । मोहवशात् अन्धा पतिता च

जाता, तत उत्थापनार्थं संबोधयति महाभुजेति । महान् भुजो यस्य । महती क्रियाशक्तिः । अतो दोष एव दूरीकर्तव्यो, न त्वहम् । यतोऽहं दासी, तत्रापि ते तवैवाहं दासी, स्वभावत एवाहं कृपणा, अनालोचितयाचिका, अतो मद्वचनान्ना-न्यथाभावः कर्तव्यः । एवं प्रार्थनायां परमकृपालु-स्तामुत्थाप्य स्वस्थां कृतवान्, अदृश्यरूपेणैव । तदा पुनराह । हे सखे, स्पर्शनं स्वचर्मरोपात्स्व-सन्निधिं दर्शय । वर्तसे निकटे, तथापि यथा सान्निध्यं दृष्टं भवति, तथा कुरु । एवमेव वदन्ती स्थिता । भगवानपि तत्रैव स्थितः ॥३६॥





**व्याख्यान्यर्थ—**गोपी ने 'हा' शब्द कहकर अपना पछतावा प्रकट किया है, कि मैंने जो किया वह अयुक्त है तो भी हे नाथ ! आप स्वामी हैं, अतः मेरा किया हुआ दोष नष्ट कीजिए न कि मेरा त्याग करना चाहिए, यदि भगवान् कह दें, कि विचार मत करो, मैं तुम्हें छोड़ूंगा नहीं, दूर से ही पालन करता रहूंगा, जिसके उत्तर में प्रथम ही कह देती हैं, कि हे रमण ! आप रति को बढ़ाने वाले भोक्ता हैं और हम आपकी भोग्य रूप हैं अतः आपको निकट ही रहना चाहिए ।

और यदि भगवान् कह दे, कि मुझे भोग की इच्छा नहीं है । भोग्य की इच्छा से भोक्ता भोग नहीं करता है अपनी ही इच्छा से करता है, तो भी यदि तुम्हारा अनुरोध<sup>१</sup> है तो केवल पालन करता रहूंगा, इसका उत्तर प्रथम ही दे देती हैं, कि आप हमारे 'प्यारे' प्रीति के विषय हैं अन्य कोई प्रीति का विषय नहीं है, जिससे हम जीवन धारण कर सकेंगी, यों कहते कहते वह अत्यन्त व्याकुल हो गई<sup>२</sup> तब कहने लगी, कि कहां हो ? कहां हो ? मोह वश होने से देख न सकी एवं गिर गई । अनन्तर उठाने के लिए प्रार्थना करती हुई कहती है कि हे महाभुज ! हे महाभुजा<sup>३</sup> वाले आप सर्व शक्तिमान हैं अतः दोष को ही दूर करना चाहिए, मुझे तो अपने पास ही रखिए, कारण कि मैं दासी हूं, उनमें भी आपकी ही दीन दासी हूं, वह दासीपन वैसा है, जो बिना कुछ विचार किए जो जचे वह मांग लेती हूं, अतः मेरे वचन का अन्यथा<sup>४</sup> भाव न समझाना चाहिए । इस प्रकार जब उसने प्रार्थना की, तब परम कृपानु ने अदृश्य रूप से<sup>५</sup> उसको उठाकर सावधान किया, जब भगवान् ने उठाकर सावधान किया तब पुनः प्रार्थना करने लगी, कि हे सखा ! आप मेरे सखा हो, सखा के शील व्यसन आदि समान होते हैं, अतः स्पर्श से अपने धर्मों का मुझ में आरोप<sup>६</sup> कर अपनी सन्निधि से दर्शन दो, आप निकट तो हैं, तो भी जैसे सामीप्य में दर्शन हो, वैसा करने की कृपा करो, इस प्रकार ही कहती हुई वहां खड़ी रही, भगवान् भी वहां ही स्थित हो गए ॥ ३६ ॥

**अभास—**ततो यज्ज्ञातं तदाह अन्विच्छन्त्य इति ।

**अभासार्थ—**अनन्तर जो हुआ उसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'अन्विच्छन्त्यो' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**अन्विच्छन्त्यो भगवतो मार्गं गोप्यो विचेत्तसः ।

ददृशुः प्रियविश्लेषमोहितां दुःखितां सखीम् ॥४०॥

**श्लोकार्थ—**भगवान् के मार्ग को ढूंढती हुई, उन विह्वल चित्तवाली गोपियों ने प्यारे से वियोग हो जाने के कारण, मूर्छित तथा दुःखी हुई सखी को देखा ॥४०॥

- 
- |            |                      |            |                |
|------------|----------------------|------------|----------------|
| १—पास में, | २—आग्रह व प्रार्थना, | ३—घबरा गई, | ४—क्रियाशक्ति, |
| ५—उल्टा,   | ६—दर्शन न देते हुए,  | ७—मान,     |                |



सुबोधिनी—पूर्वोक्ता गोप्यः भगवन्मार्ग-  
मन्विच्छन्त्यः अविदूरत एव तां ददृशुः तासां  
क्रोधाभावायाह दुःखितामिति । न हि दुःखितायां  
क्रोधो भवति । दुःखे हेत्वन्तरनिराकरणायाह

प्रियविश्लेषमोहितामिति । भगवत एव विश्लेषेण  
परममोहं मूर्च्छां प्राप्ताम् । सापि तासां सखी ।  
अतः सख्यभावेन बह्वचः तांप्रबोधितवत्यः । 'न  
दुःखं प्रञ्चभिः सहेति' ॥४०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के जाने वाले मार्ग को ढूँढती हुई गोपियों ने निकट ही, जो भगवान् के साथ गई थी, उस गोपी को देखा, देखने पर उस पर क्रोध करना चाहिए था, किन्तु उनमें क्रोध उत्पन्न न हुआ, कारण कि देखने से उनको मालूम हो गया, कि यह भी हमारे समान दुःखी हैं, दुःखी पर क्रोध नहीं होता है । क्रोध करने का अन्य भी कारण था, वह कहते हैं, कि वह भी हमारी भाँति प्यारे के बिछुड़ने से मूर्च्छित है, इस पर क्रोध क्या करें ? और फिर उनकी सखी थी, जिससे भी उस पर क्रोध करना योग्य नहीं था । अतः सख्य भाव से बहुत गोपियों ने उसको जगाया, जगने पर, अपनी सखियों के मिलने से, उसका दुःख कम हो गया, क्योंकि जास्व ने कहा है, कि ' न दुःखं पञ्चभिः सह' पाँचों के साथ मिलने से दुःख नहीं रहता है ॥४०॥

ग्रामास—पूर्वमेताः भगवानेवमेव कौतुकार्थं गतः, न त्वस्मदोषेणेति ज्ञातवत्यः ।  
अन्यथा दोषनिराकरणार्थमेव यत्नः कृतः स्यात् । स्वदोषापरिज्ञानं च भगवत्कृपयैव  
भवति, न स्वत इति ज्ञापयितुं सा नीता, पश्चात् त्यक्ता कथनार्थमेव, अतो भगव-  
दिच्छया सर्वं कथितवती । तत्र वक्तव्ये यत्प्रयोजकं तदाह तथा कथितमिति । ।

आभासार्थ—जो गोपियां भगवान् को ढूँढ रही थीं, उन्होंने प्रथम यों समझा था, कि भगवान् कौतुक के लिए अन्तर्द्धान हुए हैं, हममें दोष देखकर अन्तर्हित हुए हैं ; यों नहीं समझा था, यदि यों समझती, तो उस दोष के निवारण के लिए प्रयत्न करतीं, अपने दोष का भान भगवत्कृपा से होता है, भगवान् को यह बात उनको समझानी थी, कि तुम में दोष देखकर ही हम अन्तर्द्धान हुए हैं, इसके जताने के लिए उस ( मुग्ध ) गोपी को साय ले गए थे, पुनः उसका त्याग भी दोष जताने के लिए हुआ, जिससे, यह उनको बता देवे, अतः भगवान् की इच्छा से, उसने सब बता दिया, इस प्रकार कहने में जो प्रयोजक वाक्य है वे ' तथा कथित' श्लोक से कहे हैं—

श्लोक—तथा कथितमाकर्ण्य मानप्राप्तिं च माधवात् ।

अवमानं च दौरात्म्याद्विस्मयं परमं ययुः ॥४१॥

श्लोकार्थ—उस गोपी ने जो कुछ कहा, वह सुनकर इन गोपियों ने निश्चय पूर्वक जान लिया, कि भगवान् के गुणों से, मान मिलता है और यदि अहङ्कार से अपना दौरात्म्य प्रकट किया जाता है तो भगवान् सहसा त्याग कर देते हैं, इस प्रकार ज्ञान होने पर, अत्यन्त आश्चर्य को प्राप्त हुई ॥४१॥



सुबोधिनी—मानप्राप्ति च माधवात्, अवमान च दौरात्म्यादिति । तथा कथितं यद्यपि बद्धेव श्रुतम्, तत्र तावानर्थो निर्धारितः । सम्माननं यत्प्राप्तम्, नन्न स्वगुणैः, किन्तु लक्ष्मीपतेरेव गुणैः, लक्ष्म्यशा एता इति । दौरात्म्यात्स्वधर्मा-

देव अवमानम् । चकारात् खेदभ्रमादयः । एवं भगवतः अलौकिक सामर्थ्यं दृष्ट्वा परमं विस्मयं प्राप्ताः । एव तद्वाक्यैः पदार्थनिर्धारो जातः । अन्वेष्ट्यादिना भगवान् न प्राप्तव्य इति ॥४१॥

व्याख्यानार्थ—मान की प्राप्ति तो भगवान् माधव से है । यह उनके स्वकीय गुणों से होती है, हमारे गुणों के कारण मान नहीं मिलता है । ये गोपियां लक्ष्मी की अश हैं भगवान्, लक्ष्मी पति हैं इस कारण से, मान मिला है, किन्तु अब मान<sup>१</sup> तो हमारे दौरात्म्य<sup>२</sup> से प्राप्त होता है, और उस दौरात्म्य<sup>३</sup> के कारण खेद और भ्रम आदि की भी प्राप्ति होती है, इस प्रकार भगवान् का अलौकिक सामर्थ्य देखकर, अत्यन्त विस्मय को प्राप्त हुई, वैसे उसके वाक्यों से पदार्थ का निर्णय हुआ, क्या निर्णय हुआ उसको स्पष्ट करते हैं, कि गोपियों को निश्चय हुआ, कि हम जो बूढ़ने का प्रयत्न कर रही हैं उससे भगवान् की प्राप्ति नहीं हो सकती है, अर्थात् भगवान् जब कृपा कर अपने को जनावे<sup>३</sup> तब प्राप्त होते हैं ॥४१॥

आभास—अतः परं भगवत्प्रसादे को हेतुरिति विचार्य, सर्वपरित्यागेन देहपरित्यागपर्यन्तं साधनमिति निश्चित्य, तथा कृतवत्य इत्याह तत इति ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर विचार करने लगीं, कि भगवान् के अनुग्रह होने में हेतु क्या है ? । अर्थात् भगवान् के दर्शन, क्या करने से मिलते हैं, विचार से यह निश्चय किया, कि, देह त्याग तक सर्व का त्याग ही साधन है अर्थात् देह से लेकर सब का प्रभु में समर्पण कर देना ही साधन है इस निश्चय को कार्य रूप में लाने के लिए वैसा करने लगीं—

श्लोक—ततोऽविशन् वनं चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते ।

तमः प्रविष्टमालक्ष्य ततो विनवृत्तुर्हरेः ॥ ४२ ॥

श्लोकार्थ—उसके पश्चात् जब तक चांदनी रही तब तक वे सब वन में जाती रही, अन्धकार होता देख, ये हरि की प्रियाएँ पीछे लौट आईं ॥ ४२ ॥

सुबोधिनी—ततो वनमविशन् । मोहनिवृत्त्यर्थं वनप्रवेशः । वनं गतानामपि चेन्मोहः, तदा किं वनप्रवेशेनेति । चन्द्रज्योत्स्ना यावद्विभाव्यते, तावद्दूरमेव गताः । अतिनिविडवनं तु न प्रविष्टाः यदा पुनर्गडि वने अन्तश्चन्द्रकिरणा न प्रतिशान्ति, तदा तत्र तमः प्रविष्टमालक्ष्य, ततो निवृत्तुः

निवृत्ता जाताः । ननु प्रथमं यदुद्योगेन वनं गताः, तदकृत्वा कुतो वा निवृत्ता इत्याशङ्क्याह हरेरिति । हरेः सकाशात् हरेः सम्बन्धिन्यो वा । ततः अन्धकारान्निवृत्ताः । न हि भगवदीया अन्धकारं प्रविशन्ति । भगवतैव निर्वर्तिताः ॥४२॥



**व्याख्यार्थ—**पश्चात् उन्होंने मोह की निवृत्ति के लिए वन में प्रवेश किया, यदि वन में गए हुए मनुष्यों को मोह होवे तो वन में जाने से क्या लाभ ? अर्थात् जाना ही निरर्थक है, जब तक वहां चन्द्रमा की चांदनी खिल रही थी, तब तक वे दूर दूर चली गईं। अत्यन्त घने वन में तो प्रविष्ट नहीं हुई, जब देखा कि यह वन वैसा है जिसमें भीतर चन्द्र की किरणों का प्रवेश नहीं हो सकता है, वहां अन्धकार है यों जानकर वहां से पीछे लौट आईं। प्रथम, जिस उद्योग से वन में गईं, वह (उद्यम) न कर, क्यों लौट आईं ? जिसके उत्तर में कहा है, कि ये हरि की सम्बन्धिनी हैं, इस कारण से लौट आईं, जो भगवदीय होते हैं वे अन्धकार (अज्ञान) में प्रवेश नहीं करते हैं उनको भगवान् ने ही लौटाया है ॥ ४२ ॥

**आभास—**निवृत्ताः चेत्, गृहं गताः भविष्यन्तीत्याशंकायामाह तन्मनस्का इति ।

**आभासार्थ—**वन से लौट आने पर घर गई होगी ? इस शङ्का के निवारण के लिए 'तन्मनस्का' श्लोक कहते हैं—

**श्लोक—**तन्मनस्कास्तदालापास्तद्विचेष्टास्तदात्मिकाः ।

तद्गुणानेव गायन्त्यो न त्मागाराणि सस्मरुः ॥ ४३ ॥

**श्लोकार्थ—**उनको घर की स्मृति नहीं हुई, क्योंकि उनका मन भगवान् में ही लग रहा था, भगवत्सम्बन्धी ही भाषण करती थीं, शरीर की क्रिया भी भगवन्मय, थी, कृष्ण को ही अपनी आत्मा समझती थीं और उनके गुणों को गाती हुई अपनी आत्मा तथा घरों को भूल गई थीं ॥ ४३ ॥

**सुबोधिनी—**ता नात्मागाराणि सस्मरुः । आत्मानं देहम् । अगारं गृहम् । तत्सम्बन्धीनि च वस्तूनि स्मृतवत्य एव न, कुतो गमिष्यन्ति । अस्मरणे हेतवः । तन्मनस्का इत्यादिभिः पञ्चभिः पदैः पञ्च निरूप्यन्ते । स्मृतिर्मनसि जायते, तन्मनस्तु केवलं भगवत्येव, अतस्तन्मनस्काः भगवन्मनस्का न सस्मरुः । अन्यद्वाराप्यस्मरणार्थमाह तदालापा इति । अन्या अपि चेदन्यवार्ता कुर्युः, तदा तत्प्रसङ्गात् गृहादिस्मरणं भवति । सर्वा एव तस्मिन् भगवत्येवालापो यासाम् । अतोऽन्यतोऽपि न स्मरणम् । ननु दैहिकी क्रिया क्षुत्पिपासाकृता आवश्यकी, तथा देहादिस्मरणं भविष्यतीति चेत्, तत्राह तद्विचेष्टा इति । तस्यैव

भगवतः पूर्ववच्चेष्टाविष्टाः । ननु तथापि सर्वज्ञानेष्वात्मांशः स्फुरति, घटमहं जानामि, पटमहं जानामीति । अतः कथमात्मास्फूर्तिः, तत्राह तदात्मिका इति । स एवात्मा यासाम् । सर्वदा कृष्णात्मभावनेव चित्ते सहजा तासाम् । अत आत्मत्वेन भगवानेव स्फुरति इति न देहादिस्फुरणम् । ननु 'सहशादृष्टचिन्ताद्याः स्मृतिबीजस्य बोधका' इति अदृष्टवशात् कथं न स्मृतिः तत्राह तद्गुणानेव गायन्त्य इति । यदि तूष्णीं तिष्ठेयुः, भवेदपि स्मृतिः, अन्यासक्तास्तु ताः कार्यान्तरपराः । यतस्तस्य भगवतो गुणानेव गायन्ति । गुणैः कृत्वा दुरदृष्टं च नश्यति । अतो नादृष्टद्वारापि स्मृतिबोधः ॥ ४३ ॥



**व्याख्यान्यर्थ** — वे अपनी देह को तथा अपने घर को भूल गई थीं, उनसे सम्बन्ध वाली वस्तु तो याद ही नहीं थी तो वहां किस कारण जाएगी, उनको ( देह, घर और सम्बन्धी वस्तुओं को ) इस प्रकार असल भूल जाने के ५ कारणों को कहते हैं—

१—किसी की भी स्मृति मन से होती है वह मन तो केवल भगवान् में ही लग गया था, तो अन्य को (उनकी) स्मृति कैसे होगी ? अतः भगवान् में मन परो जाने से देह, घर आदि को याद ही न करती थी ।

२—मन से नहीं तो अन्य किसी के द्वारा दातृलाप से स्मरण हो जायेगा, तो कहते हैं कि मभी की वाणी भी भगवान् में आसक्त हो जाने से उससे भी कभी उनका प्रसंग ही न होता था जिससे वाणी द्वारा स्मरण हो जाए, उन सबकी वाणी द्वारा भगवत् सम्बन्धी चर्चा के सिवाय अन्य कोई चर्चा हो नहीं सकती थी ।

३—क्षुधा<sup>१</sup> और तृष्णा<sup>२</sup> से देह सम्बन्धी क्रिया तो अवश्य होती होगी, जिससे देहादिक स्मरण भी तो होता होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वे गोपियां पहले की भांति भगवान् की चेष्टाओं से, आविष्ट<sup>३</sup> थीं, अतः देहादिक क्रिया करने का अवसर ही नहीं है ।

४—देह आदिक का स्मरण, इस प्रकार से भी तो होता है, जैसे सब प्रकार के ज्ञानों में आत्मा का अंश 'मैं' का स्फुरण होता है, 'मैं' घड़े को जानता हूं, 'मैं' पट को जानता हूं, अतः आत्मा की स्फूर्ति कैसे ? अर्थात् नहीं होगी, इस पर कहते हैं कि 'तदात्मिकाः' जिनका (गोपियों का) वह ही आत्मा है, अर्थात् उनके चित्त में सर्वदा स्वाभाविक कृष्ण ही हमारी आत्मा है वैसी भावना रहती है, अतः आत्मापने से उनको भगवान् की ही सर्वत्र सर्वदा स्फूर्ति होती है जिससे देहादि का स्फुरण नहीं होता है

५—स्मृति होने के कारण सदृश पदार्थ, अदृष्ट और चिन्तन आदि हैं इस न्याय सिद्धान्त के अनुसार अदृष्ट से इनको गृहादि की स्मृति होनी ही चाहिए अदृष्ट तो इनके साथ भी है तो स्मृति क्यों न हो ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'तदगुणानेवगायन्त्यः' भगवान् के गुणों को ही गान कर रही थी, जिससे उनका बुरा प्रारब्ध नाश हो गया है । इसलिए अदृष्ट से भी इनको देहादि की स्मृति नहीं हुई है, और वे यदि चुप कर बैठ अन्य कार्य में निरुद्ध न हो, तो स्मृति हो सकती है, किन्तु वे तो अन्य कार्य (भगवद्गुणगान) के परायण हैं, इसलिए उनको देहादि का भान नहीं हुआ है ॥४३॥

**आभास**—तर्हि कि जातमित्याकाङ्क्षायामाह पुनः पुलिनमागेत्तेति ।

**आभासार्थ**—जब वे घर नहीं गईं, तब क्या हुआ ? अर्थात् उन्होंने क्या किया ? जो किया उसका वर्णन 'पुनः पुलिन' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—पुनः पुलिनमागत्य कालिन्ध्याः कृष्णभावनाः ।

समवेता जगुः कृष्णं तदागमनकाङ्क्षिताः ॥४४॥

श्लोकार्थ—जहाँ प्रथम श्री यमुनाजी के तट पर थी, फिर वहाँ ही आकर, कृष्ण में भावना वाली और भगवान् के पधारने की आकाङ्क्षावाली वे गोपियाँ आपस में सब मिल कर कृष्ण का गान करने लगीं ॥४४॥

सुबोधिनी—पूर्वं पुलिने स्थिता यत्र, तत्रैव पुनरागताः । ननु विवेकरहिताः कथं तत्रागताः, तत्राह कृष्णभावना इति । कृष्ण एव भावना यासां । तेन भगवदिच्छया भगवत्प्रेरणया तत्रैव स्थाने भगवान् रतिं करिष्यतीति निश्चित्य, तत् स्थानमस्माकं हितकरमिति तत्रैवागताः । ततः कस्या वा भाग्यात् स्नेहेन कृपया वा आगच्छेदिति सदेहात् समवेता जाताः । तदा साधनान्तरमलभमानाः कृष्णं सदानन्दं जगुः । दोषनिवारणे हरिगुणगानमेव साधनमिति । निवृत्ते पुनर्दोषे स्वमेवायास्यतीति तदागमनकाङ्क्षया जगुः ॥४४॥

व्याख्यार्थ—जहां पहले श्री यमुनाजी के पुलिन पर स्थित थी वहां ही फिर आ गई, उनमें विवेक तो था नहीं, फिर वहां कैसे आई ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वे कृष्ण में भावनावाली थी, जिससे भगवान् की इच्छा से, वा प्रेरणा से, उनके मन में स्फूर्ति हुई, कि भगवान् वहां ही रति करेंगे, ऐसा निश्चय कर जाना, कि वह ही स्थान हमारा हित करने वाला है, इसलिए वहां आई पश्चात् यह संदेह हुआ, कि न जाने, भगवान् किसके भाग्य से, अथवा स्नेह या कृपा के कारण पधारेंगे ? जिससे सब साथ में मिल गई । मिलकर विचार करने लगीं, कि क्या साधन करें जिससे प्यारा शीघ्र पधारे । दोष नाश करने के लिए कृष्ण के गुणगान करने के सिवाय, अन्य कोई साधन नहीं है, यों समझ, निश्चय कर 'कृष्ण का गुणगान' करने लगीं, उन्होंने समझा कि गुणगान से हमारे दोष नष्ट होंगे तब स्वतः स्वयं पधारेंगे ॥ ४४ ॥

कारिका—श्रीकृष्णगोपिकास्तत्र द्विविधा नवधा गुणैः ।

समुदायेन भिक्षा वा गतगर्वा असाधनाः ॥ १ ॥

हरेर्गनिं प्रियं कृत्वा जीवन्मर्त्यमपि प्रियाः ।

स्वसंदेहात्तु मिलिता जगुर्नावाविधैर्गुणैः ॥ २ ॥

कारिकाथ—वहां (श्री यमुनाजी के पुलिन में) जो आकर मिली, वे श्रीकृष्ण को गोपियां दो प्रकार की हैं—

१—अन्यपूर्वा—(जिनका विवाह हुआ है)

२—अनन्यपूर्वा—(जिनका विवाह नहीं हुआ है—कृमारिकाएँ हैं)



१—अन्य पूर्वा-सात्विकादि गुणों के कारण नौ प्रकार की हैं ।

२—अनन्यपूर्वा भी सात्विकादि गुणों के कारण नौ प्रकार की हैं ।

इस प्रकार गोपियों के १८ भेद हुए और १ भेद उपलक्षण विधि से माना जाता है, जिससे १९ भेद हुए ।

यह भेद एक एक से भी है, अथवा यूथ से भी सम्भूत चाहिए, अर्थात् यूथ भी १९ प्रकार के हैं—

अन्य पूर्वा-विवाह की हुई—१-सात्विक, २-राजस, ३-तामस

एक प्रकार की तीन—सात्विक-सात्विकी, सात्विक-राजसी, सात्विक-तामसी

दूसरे प्रकार की तीन—राजस-सात्विकी, राजस-राजसी, राजस तामसी

तीसरे प्रकार की तीन—तामस-सात्विकी, तामस राजसी, तामस-तामसी

अनन्य पूर्वा जिनका विवाह नहीं हुआ है, वे भी इसी प्रकार (९) नौ भेद वाली हैं, अतः दोनों मिलकर १८ प्रकार की हुई और एक भेद उपलक्षण विधि से है जिससे गोपियां १९ प्रकार की सम्भूत जाती हैं ।

विशेष भिन्न प्रकार का वर्णन २८ वे अध्याय की कारिकाओं में स्पष्ट किया जाएगा । भगवान् के अन्तर्हित होने से गोपियों का गर्व तो नष्ट हो गया और भगवान् के पुनः दर्शन के लिए जो साधन (ढूँढना, वृक्षादि से पूछना) किए उनसे, भगवान् के दर्शन हुए, तब दोन और निःसाधन हो गई ॥ १ ॥

तब विचार करने लगीं, कि यदि प्यारे के दर्शन नहीं होंगे, तो हमारे प्राण नहीं रहेंगे, अतः प्यारे के दर्शन होवे तो हमारा जीवन टिक सके, इसका एक ही साधन प्यारे के गुणों का गान करना है, यह निश्चय कर, सब इकट्ठी होके भगवान् के अनेक प्रकार के गुणों को गाने लगी । इकट्ठी इसलिए हुई, कि उनको अपने में संदेह था, कि न जाने किसको भगवान् दर्शन दें । यदि साथ में होंगी तो भगवान् के प्रकट होते (ही) सब दर्शन कर लेंगी ॥ २ ॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वाध्याय, के २७ वे अध्याय की श्रीमद्बलभावाय वरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के तामस फल अवान्तः प्रकरण का दूसरा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका ( हिन्दी अनुवाद सहित )

दशम स्कन्ध ( पूर्वार्ध )

### तामस-फल-अवान्तर प्रकरण

‘तृतीयो अध्याय’

स्कन्धानुसार अष्टाविंशो अध्याय

गोपिका गीत

—♦—

कारिका—अष्टाविंशे हरेर्गनिं स्वभावादपराधतः ।

कृतावज्ञा गोपिका हि स्तोत्रं चक्रुरितोर्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ—इस २८ वें अध्याय में प्रथम गोपियों ने जो, गुणगान रूप स्तोत्र किया है, उसका कारण बताते हैं पहला कारण है, स्वभाव-गोपियां सहज स्वभाव से भगवान् में प्रेमवाली थीं; अतः भगवान् के वियोग में, उनका गुणगान ही जीवन है; जिससे उन्होंने गुणगान किया, तथा शृंगार रस मार्ग में नायिका ही आलंबन विभाव होती है यहां गोपियां आलंबन विभाव हैं अतः आलंबन विभाव में, जो मान होता है, वह इन गोपियों को भी हुआ है, जिससे नायक (कृष्ण) अप्रसन्न हुए हैं उनको प्रसन्न करने का उपाय प्रीतम का गुणगान करना ही है, इसलिए भी उन्होंने गुणगान करना योग्य समझा ।





दूसरा कारण, अभिमान रूप अपराध है गोपियों को (अन्तःकरण में) यह अभिमान हुआ कि हमारे समान अन्य कोई नहीं है, अतः हम प्यारे को रसदान तब करेंगी, जब वह हमको प्रार्थना करेंगे। इस प्रकार गोपियों का दर्प देख, दर्पहारी दामोदर, अन्तर्हित हो गए, जिससे उनको दुःख हुआ, उसको मिटाने के लिए साधन किए। साधनान्तर उनको ज्ञान हुआ कि साधनों से प्रीतम को प्राप्ति नहीं होगी वे तो स्वयं जब प्रसन्न होंगे तब कृपा कर दर्शन देंगे, उनको प्रसन्न करने का एक ही साधन, जो गुणगान है इसलिए हमको मिलकर उनको जो स्तुति प्यारी है, वह करनी चाहिए।

इस प्रकार विचार पूर्वक निश्चय कर अपराध से की हुई, अवज्ञा के निवारणार्थ और स्वभाव से गुणगान रूप स्तुति करने लगीं ॥ १ ॥

कारिका—एकोनविंशतिविधा गोप्यः स्वस्याधिकारतः ।

एकोनविंशतिविधां स्तुतिं चक्रुर्हरेः प्रियाम् ॥ २ ॥

कारिकार्थ—उन्नीस प्रकार की गोपियां हैं, प्रत्येक ने अपने अपने अधिकार के अनुसार, जिस प्रकार की स्तुति भगवान् को प्रिय थी, वैसी ही की है। गोपियों के स्वभाव उन्नीस प्रकार के थे अतः स्तुति भी उन्नीस प्रकार से हुई है, जिससे इस अध्याय में १६ श्लोक हैं ॥२॥

कारिका—राजसी तामसी चैव सात्विकी निर्गुणा तथा ।

एवं चतुर्विधा गोप्यः पतिमत्यो निरूपिताः ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—जिन गोपियों का विवाह हुआ, उनको अन्य पूर्वा कहते हैं, वे गोपियां: १-राजसी, २-तामसी, ३-सात्विकी और ४-निर्गुण होने से ४ प्रकार की हैं, उन्होंने सात्विक क्रम पूर्वक उत्तम गुण गान किया है, जैसे कि—

पहला श्लोक गाने वाली गोपियाँ अथवा उनका यूथ सात्विक-राजस है;

दूसरा श्लोक गाने वाली गोपियाँ अथवा उनका यूथ सात्विक-तामस हैं;

तीसरा श्लोक गाने वाली गोपियाँ अथवा उनका यूथ सात्विक-सात्विक है और



चौथा श्लोक गाने वाली गोपियां अथवा उनका यूथ निर्गुण है ॥३॥

कारिका—तथैवानन्यपूर्वाश्च प्रार्थनामाहुरुत्तमाम् ।

गुणातीताः सात्त्विकीश्च तामसी राजसीस्तथा ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—इसी प्रकार जिनका विवाह अन्य किसी से नहीं हुआ है, जो कुमरिकाएं हैं उनके भी गुणातीता, सात्त्विकी, तामसी और राजसी भेद से ४ प्रकार हैं । उन्होंने भी अन्यपूर्वा गोपियों के समान सात्त्विक क्रम से उत्तम गान किया है, जैसे कि—

पाचवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ सात्त्विक-सात्त्विक है,

छठवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ सात्त्विक-तामस है ।

सातवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ सात्त्विक-राजस है ।

आठवां श्लोक गानेवाली गोपियां तथा उनका यूथ निर्गुण है ॥४॥

कारिका—कृष्णभावनया सिद्धा विशेषेणाह ताः शुकः ।

अनन्यपूर्विका एव पुनस्तिस्रो मुदा जगुः ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—शुकदेवजी कहते हैं, कि फिर राजस क्रम से तीन श्लोक विशेष प्रकार से अनन्य पूर्वा ही प्रसन्नता से गाती हैं, कारण कि वे, कृष्ण की भावना से सिद्ध हो गई हैं ।

नवां श्लोक गाने वाली गोपियां तथा उनका यूथ राजस-सात्त्विक है,

दसवां श्लोक गाने वाली गोपियां तथा उनका यूथ राजस-तामस है ।

ग्यारहवां श्लोक गाने वाली गोपियां तथा उनका यूथ राजस-राजस है ॥ ५॥ ॥

कारिका—सत्त्विकी तामसी चैव राजसी चेति विश्रुताः ।

सपूर्वाश्च ततस्तिस्रः तामसी राजसी परा ॥ ६ ॥

कारिकार्थ—पश्चात् अन्य पूर्वा १२ वें से १४ वें तक के श्लोकों में राजस क्रम से गान करती हैं और १५ वें से १७ वें तक तामस क्रम से गाती हैं ।

इस प्रकार के गान में १२ वां श्लोक गाने वाली गोपियां तथा उनका यूथ



राजस-तामस है, १३वां श्लोक गाने वाली गोपियां राजस-राजस हैं और १४ वां श्लोक गाने वाली गोपियां तथा उनका यूथ राजस-सात्विक है ॥ ६॥

कारिका—पुनस्ता एव त्रिविधा अटतीत्यादिभिस्त्रिभिः ।

राजसी तामसी चैव सात्विकीति विभेदतः ॥ ७ ॥

कारिकार्थ—पुनः वे ही अन्य पूर्वा जो १५ वें श्लोक से १७ वें श्लोक तक तामस क्रम से गान करती हैं उनका प्रकार सुबोधिनी के आभास के अनुसार यह है कि—

पंद्रहवां श्लोक गाने वाली गोपियां तथा उनका यूथ तामस-सात्विक है ।

सोलहवां श्लोक गाने वाली गोपियां तथा उनका यूथ तामस-तामस है ।

सतरहवां श्लोक गाने वाली गोपियां तथा उनका यूथ तामस र त्रस है ॥७॥

सुबोधिनी—आभास के अनुसार १५ वां श्लोक 'अटति' यह कहने वाली (गोपियां) देव निन्दक तामस-सात्विकी हैं, १६ वां श्लोक 'पति सुतान्वये' कहने वाली ब्रज भक्त भगवान् की निन्दा करने वाली तामस-तामसी हैं, और १७ वां श्लोक 'रहसि सविद' गाने वाली गोपियां अपनी निन्दा करने वाली तामस-राजसी है,

कारिका से क्रमानुसार १५ वां श्लोक कहने वाली देवनिन्दक राजस-तामसी हैं, १६ वां श्लोक कहने वाली भगवन्निन्दक यहां भी तामस-तामसी हैं और १७ वां श्लोक कहने वाली अपनी निन्दा करने वाली हैं जैसा कि कारिका में कहा है कि 'राजसी-तामसी चैव सात्विकीति विभेदतः'

आभासानुसार कारिका क्रम यहां अविवक्षित है, कारिका में इस प्रकार कहने का कोई अन्य तात्पर्य होगा । यों समझ दोनों पक्षों की व्यवस्था करना चाहिए । (प० भ० निर्भयरामजी भट्ट के कारिकार्थ व्याख्या से)

लेखकार गो० बल्लभजी महाराज कहते हैं कि—

राजसीति—'अत्र सत्वादि क्रमो न विवक्षितः' इति ज्ञेयम्,

७ वीं कारिका में 'राजसीति' कहकर जो क्रम दिया है वह यहां विवक्षित नहीं है ।

कारिका—अनन्यपूर्वा द्विविधा राजसी सात्विकी तथा ।

तमसा तामसी तत्र नास्तीत्येकोनविंशतिः ॥ ८ ॥

कारिकार्थ—अन्य-पूर्वा गोपिकाओं ने १७ वें श्लोक में अपने कथन का उपसंहार कर लिया, अतः अब तामस क्रम से १८ वां श्लोक और १९ वां श्लोक अनन्य-

पूर्वा गाती हैं कारण कि, इनमें तामस-तामसी गोपियां तथा वैसा यूथ नहीं है, जिससे दो श्लोक कहे हैं—

अठारवां श्लोक गाने वाली ( अनन्य पूर्वा ) गोपियां तथा उनका यूथ तामस-सात्विक है ।

उन्नीसवां श्लोक गाने वाली वे गोपियां तथा उनका यूथ तामस-राजस हैं ।

अतः उन्नीस श्लोक गाने वाली सर्व गोपियां तथा उनके यूथ भी उन्नीस प्रकार के हैं ॥८॥

कारिका—अथवा प्रार्थनाद्यायाः सप्तान्ते द्विविधा पुनः ।

चतुर्थ्यस्तु समास्तत्र तत एकोनविंशतिः ॥ ९ ॥

कारिकार्थ—उपरोक्त प्रकार से अन्य पूर्वा गोपियों ने दश श्लोक गाए हैं, जिनमें नव श्लोक सगुणों ने गाए हैं और एक चतुर्थ श्लोक गुणातीता ने गाया है, अनन्य पूर्वा ने ९ गाए हैं उनमें ८ सगुणों ने और एक अष्टम श्लोक गुणातीता ने गाया है । इस प्रकार की गणना से विषमता देखने में आती है क्योंकि अन्य-पूर्व गोपियों ने दस गाए और अनन्य पूर्वा ने नव गाए हैं इस विषमता को मिटाने के लिए ९ वीं कारिका में दूसरा पक्ष कहते हैं ।

प्रारम्भ में जो प्रार्थना के ( १, २, ३, ५, ६, ७, ८ ) सात श्लोक कहे हैं और अन्त में आए हुए दो श्लोक ( १३ व १४ ) मिलाकर नव श्लोक अनन्यपूर्वा अर्थात् कुमारिकाओं ने गाए हैं, तथा अन्य-पूर्वा अर्थात् विवाहिताओं ने ( ९, १०, ११, १२, १५, १६, १७, १८, १९ ) ये नव गाए हैं, शेष चतुर्थ श्लोक का गान दोनों ने किया है, इस प्रकार की गणना से विषमता मिट जाती है ॥९॥

कारिका—तत्तद्वाक्यानुसारेण तासां भावो निरूप्यते ।

अन्यथाऽनेकता स्त्रोत्रे प्रकारैर्नोपयुज्यते ॥ १० ॥

कारिकार्थ—प्रत्येक गोपी के भाव पृथक् पृथक् हैं, अतः जिसके भाव जैसे थे, उसने अपने-२ अधिकार के अनुसार वाक्य कहे हैं, यदि यह प्रकार न हो तो स्तुति में जो 'तव' और 'कुहक' आदि शब्द कहे गए हैं उनका कोई स्वारस्य नहीं रहता है ।



इनके अधिकार के कारण ही, 'कितव' 'कुहक' जैसे शब्दों को भी भगवान् ने अपनी स्तुती समझी और भगवान् को इससे परम संतोष हुआ। उन्होंने भी यह स्तुति भगवान् के आने के ( प्रकट हो जाने के ) लिए ही की है। यह स्तुति अन्य सामान्य स्तुतियों के समान नहीं है किन्तु भाव भरित है अतः 'उपालब्ध' आदि देने से; इसमें अनेकता भी आई है, यह प्रकार तो भाव भरित स्तुति में ही होता है, अपने अधिकार के कारण, जैसे शब्द गोपियों ने स्तुति में कहे हैं, वैसे ब्रह्मादि भी नहीं कह सकते हैं ॥१०॥

॥ कारिका सम्पूर्ण ॥

आभास—तत्र प्रथमं राजस्यः काश्चन गोप्य आहुः जयतीति ।

आभासार्थ—गोपियां जब इस प्रकार गुणगान का निश्चय कर गान प्रारम्भ करने लगीं, तब उनमें से, प्रथम श्लोक कोई राजसी गोपियां गाने लगीं—

श्रीगोप्य ऊचुः ।

श्लोक—जयति तेऽधिकं जन्मना व्रजः श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हि ।

द्विपत दृश्यतां दिक्षु तावकास्त्वयि धृतासवस्त्वां विचन्वते ॥ १ ॥

श्लोकार्थ—वे गोपियां (सात्विक-राजसी) कहने लगीं कि आपके जन्म से व्रज का अधिक उत्कर्ष<sup>१</sup> हुआ है क्योंकि (आपके जन्म के कारण) लक्ष्मी भी यहां निरंतर विराजती है (व्रज का ही आश्रय ले रही है) हे ध्यारे ! आपके लिए ही जिन्होंने प्राण धारण कर रखे हैं वे आपको दिशाओं में (सर्वत्र) ढूंढ रहे हैं, उनको देखो ॥ १ ॥

सुबोधिनी—मङ्गलार्थोऽत्र जयशब्दः । यथा फलं साधयेत्स्तोत्रम्, तथा निर्विघ्नार्थः । अन्यथा क्रियामादौ न प्रयुज्यात् । त्वदवतारेण व्रजः । सर्वोऽपि कृतार्थः वयमेव परमकृतार्था एवेति । यथा वयमपि कृतार्था भवामः, तथा यत्नः कर्तव्य इति वक्तुं व्रजस्य तवावतारेण सर्वोत्कर्षो जात इत्याहुः । ते जन्मना व्रजः अधिकं जयतीति ।

सर्वोत्कर्षेण स्थितिः जयः, अधिकजयो वैकुण्ठा-  
दप्युत्कर्षः । न हि वैकुण्ठे भगवानेवंविधां  
लीलां करोति । यद्यपि मथुरायां जन्म  
जातम्, तथापि तेन जन्मना न मथुरा  
सर्वोत्कर्षेण स्थिता, किन्तु व्रज एव । ननु भग-  
वज्जन्मनः सर्वोत्कर्षहेतुत्वं न लोके प्रसिद्धम्,  
अनन्यत्वेनैकत्वात्, अतस्तादृश उत्कर्षहेतुर्वक्तव्यः,



यो लोके प्रसिद्ध इति चेत्, तत्राह श्रयत इन्दिरा शश्वदत्र हीति । अत्र व्रज इन्दिरा सर्वदा श्रयते । हीनभावेनाश्रयं कुरुते । वैकुण्ठे तु सैव नियता भायेंति न तस्याः सर्वदा श्रयणं कर्तव्यं भवति । इह तु तादृश्यो वयमनेका इति तस्याः स्वास्थ्या-भावात् कदा वा मभावसरो भविष्यतीति निरन्तरं सेवते । अतो लक्ष्मीस्थित्या लोका उत्कर्षं मन्यन्ते । सा पुनर्लक्ष्मीः गोकुलाश्रया जाता । हि युक्तश्चायमर्थः । पतिव्रता हि सा । यत्र पनिः स्वयमन्याधीनतया तिष्ठति, भक्तेषु कृपां ख्यापयितुम्, तदुक्तमुल्लखलप्रकरणे, तत्र तद्भार्या सुतरामेवाश्रयत इति किमाश्रयम् । तव जन्मना व्रजस्य सर्वोत्कर्षः सर्वजनीनः । अतस्तव रमणे न कापि न्यूनता, न वा लक्ष्म्या मनसि विषादः, अङ्गीकृतत्वात् । अतः कारणादर्थमागतेन त्वया दृश्यतामिदं गोकुलमेकदा द्रष्टव्यम् । वाक्यार्थो वा कर्मणि वक्ष्यमाणः । तावकास्त्वयि घृतासवः दिक्षु त्वां विचिन्वत इति दृश्यताम् । एतादृशोऽर्थोऽनुचित इति अनुचितप्रदर्शनेन बोधयन्ति ।

लोका हि ब्रह्मादयः त्वमवतीर्णो व्रजे वर्तस इति निश्चित्य समाधान्ति । व्रजस्थाः पुनरस्मदादयः दिक्षु विचिन्वन्ति । इयं महत्यनौचितो । ननु व्रजस्थानां भक्तिर्नास्ति, अन्यथा विरहे श्रियेरन्, अतः अभक्ता न पश्यन्तीति युक्तं इति चेत्, तत्राहुः त्वयि घृतासव इति । त्वदर्थमेव घृता असव, प्राणा यैः । यदैव त्वदनुपयोगं ज्ञास्यन्ति, तदैव त्यक्ष्यन्तीति भावः । अत एव त्वां विचिन्वते, प्राणानाश्वासयितुम् । अल्पविलम्बेऽपि प्राणा गमिष्यन्तीति । अन्यथा व्रजे गच्छेयुः, प्रातस्त्वमेवायास्यतीति अन्वेषणं व्यर्थमेव स्यात् । दिक्षु त्वदीयाः त्वयि सतीति महद्दैन्यम् । अत एकवारं त्वदीयाः पश्येति प्रार्थना । एवमेकया दर्शनं प्रार्थितम् । दयितेति सम्बोधनात् भर्तृदर्शनेन स्त्रीणां जीवनं न युक्तमिति निरूपितम् । यद्यपि भगवांश्चेत् पश्येत्, तदा न कोऽपि पुरुषार्थः सिध्येत् । तथापि दैन्यं दृष्ट्वा आत्मानमपि प्रदर्शयेदिति तथा प्रार्थना ॥१॥

**व्याख्यार्थः**—इस प्रथम श्लोक में आदि में क्रिया दी गई है, वह काव्य (छन्द) शास्त्र के सिद्धांत के अनुकूल नहीं है, तो भी जो दी गई है, उसका रहस्य यह है, कि यह क्रिया 'जय' धातु की है । 'जय' शब्द मङ्गल करने वाला है । इस भाव से गोपियों ने दी है, कि हमारे इस स्तुति गान में कोई विघ्न नहीं होवे तथा जिस फल प्राप्ति (भगवान् के दर्शन) के लिए हम स्तुति करती हैं, वह फल सिद्ध होवे । यह भाव न होता, तो क्रिया पहले नहीं दी जाती । आपके प्राकट्य से समस्त व्रज कृतार्थ हो गया है, किन्तु हम ही भ्रूतार्थ रह गई हैं, अतः आप कृपा कर वैसा प्रयत्न कीजिए, जिससे हम भी कृतार्थ होवें । आपके अवतार लेने से व्रज का अधिक उत्कर्ष हुआ है, कारण कि, यद्यपि वैकुण्ठ का उत्कर्ष है, किन्तु इसका (व्रज का) उससे (वैकुण्ठ से) भी विशेष उत्कर्ष हम इसलिए कहती है कि भगवान् जैसी लीला यहां करते हैं, वैसी वहां (वैकुण्ठ में) भी नहीं करते हैं ।

यद्यपि भगवान् का प्रकट दर्शन (प्राकट्य मथुरा में हुआ है, तो भी उसका (मथुरा का) सर्व प्रकार से उत्कर्ष न होकर, व्रज का ही अधिक उत्कर्ष हुआ है ।

भगवान् का प्रकट होना किसी स्थल की सर्वश्रेष्ठता में हेतु नहीं बन पाता अतः लोक प्रसिद्ध हेतु नहीं है । क्योंकि भगवान् का प्राकट्य अनन्यत्रतया केवल व्रज में ही तो हुआ है और अतएव यह एक ही तो प्राकट्य है ऐसी स्थिति में ("जहां भगवान् का प्राकट्य होता है वह स्थल सर्वश्रेष्ठ है" इस नियम का लोक में अन्यत्र उदाहरण ही नहीं है, जिसकी समानता के तर्क पर व्रज की सर्वश्रेष्ठता का अनु-



मान संभव हो) अतः सर्वश्रेष्ठता को सिद्ध कर पाये, ऐसा कोई अन्य हेतु देना चाहिए जो लोकसिद्ध हो। अतः कहती है कि जो लक्ष्मी वैकुण्ठ में नियत भार्या होकर रहती थी और जिसको किसी का कभी भी वहां आश्रय लेना नहीं पड़ता था वह लक्ष्मी यहां (व्रज में) हीन भाव से अन्यो का आश्रय लेकर रहती है, कारण कि वहां तो एक वही थी, यहां तो वैसी (भार्याएं) हम ही हैं, जिससे उसके चित्त में सन्तोष नहीं है, क्योंकि मुझे सब अवसर मिलेगा यह चिन्ता उसको दुःख देती रहती है अतः निरन्तर यहां ही रह कर सेवा करती है। लोक में मनुष्य, जिस लक्ष्मी के पास आने के कारण अपनी बड़ाई समझते हैं, उस लक्ष्मी ने गोकुल का आश्रय लिया है। इस अर्थ को योग्य बताने के लिए, अर्थात् लक्ष्मी ने गोकुल को अपना निवास स्थान बना लिया है, इसलिए निश्चय-वाचक 'हि' शब्द श्लोक में दिया है। वहां किसलिए आकर निवास किया है? इस पर कहते हैं कि वह पतिव्रता है, पतिव्रता वहां ही रहने में अपना सुख, सौभाग्य समझती है जहां उसका पति रहता है। जब पति, भक्तों पर प्रसिद्ध रीति से कृपा करने के लिए, उनके आधीन होकर जहां रहता है (यह भक्ताधीनता उलूखल प्रकरण में दिखाई है) वहां उसकी भार्या का निवास अतिशय ही योग्य है, अतः वह यहां आकर रही है इसमें क्या आश्चर्य है? आपके प्राकट्य से व्रज का सब में उत्कर्ष हुआ है, यह बात सर्वत्र प्रसिद्ध है अतः यदि आप रमण करेंगे तो किसी प्रकार उसमें न्यूनता नहीं है और लक्ष्मीजी के मन में भी खेद न होगा, कारण कि पतिव्रता स्त्री पति के किए हुए कार्य से सहमत रहती है। वह जानती है, कि मेरे पति ने व्रज को अङ्गीकार किया है अर्थात् व्रजजन मेरे हैं, इस कारण से हमारे लिए पधारें हुए आपको यह गोकुल किसी समय देखना चाहिए, अर्थात् हमको दर्शन दो।

अथवा आगे कहा जाने वाला वाक्यार्थ "दृश्य तां-देखो" का कर्म है, इस पंक्ति का भावार्थ यह है कि आप देखो, कि जो आपके भक्त (हम) आपको यहां न देखकर दिशाओं में ढूँढ़ रहे हैं यह अनुचित है, अतः हमको देखो। यदि भगवान् कह दें कि इसमें अनुचितता कैसे है, तो उसके उत्तर में कहती है अन्य लोक वासी ब्रह्मादिक यह जानकर कि आप गोकुल में विराजते हैं अतः आपके दर्शन के लिए यहां आते हैं और हम आपकी जो यहां रहने वाली हैं, वे दिशाओं में ढूँढ़ती फिरे इससे विशेष अनुचितता क्या होगी? तुम इसको अनुचितता कहती हो, वह सत्य नहीं है, क्योंकि अभक्तों को दर्शन नहीं होते हैं, यदि कहो, कि व्रजस्थ भक्त हैं तो वह भी सत्य नहीं है, कारण कि यदि वे भक्त होते तो विरह में उनके प्राण निकल जाते। इसके उत्तर में कहती है कि आपका कहना सत्य है कि विरह में प्राण निकल जाने चाहिए, किन्तु ये प्राण आपके मिलने की आशा से धारण कर रहे हैं। जिस समय यह मालूम होगा कि वे प्राण आपके उपयोग में आने वाले नहीं हैं, उस समय वे स्वतः ही छूट जाएगा। प्राणों के आश्वासन के लिए आपको व्रज भक्त ढूँढ़ रहे हैं। अब यदि आप थोड़ा भी विलम्ब करेंगे तो प्राण चले जाएंगे। अन्यथा यदि हम आपको न ढूँढ़कर व्रज में चली जाएं, तो आप प्रातः काल होते ही पधारेंगे ही, और यों तो हमारा यह आपको ढूँढ़ना व्यर्थ होता (परन्तु यह व्यर्थ नहीं है क्योंकि भक्तों के ढूँढ़ने पर आप मिलेंगे ही इसी आशा से हमारे प्राण टिके हुए हैं और हम आपको ढूँढ़ रही हैं) हम आपकी हैं और आपके होते हुए भी इधर-उधर हम दिशाओं में ढूँढ़ रही हैं। यों करना गोपियों की महती दीनता है, अतः गोपियों कहती है कि आग एक बार, आपकी जो हम हैं, उनको देखो। यह प्रार्थना है। इस प्रकार एक ने दर्शन देने के लिए प्रार्थना की है। श्लोक में 'दयित' इस संबोधन देने से यह भाव प्रकट



किया है, कि भर्ता का यदि दर्शन न होवे तो पत्नी का जीवन व्यर्थ है। अगर भगवान् हमको देखलें तो उससे किसी प्रकार का पुरुषार्थ सिद्ध न होगा फिर भी, देखेंगे तो हमारी दीनता देख अवश्य हमको भी अपने दर्शन कराएंगे ही। हमारी यही प्रार्थना है ॥ १ ॥

**आभास—**एवं स्वदैव्यानीचित्यादिनिरूपणेन तस्या राजसत्त्वं निरूपितम् । तामसी तु वधाभावं प्रार्थयितुमदर्शनस्य वधसाधकत्वमाह शरदुदाशय इति ।

**आभासार्थ—**प्रथम श्लोक में जिस गोपी ने अपनी दीनता और भगवान् के दर्शन न देने को अनुचित कहा है जिससे मात्तूम हो जाता है कि वह गोपी सात्त्विक-राजसी थी, अब 'शरदुदाशये' श्लोक में सात्त्विक तामसी गोपी कहती है कि आपका दर्शन न देना यह हमारे वध का साधक<sup>१</sup> है अतः प्रार्थना करती है कि, जैसे हमारा वध न हो वैसे करो अर्थात् दर्शन दो,—

**श्लोक—**शरदुदाशये साधु जातसत्सरसिजोदर श्रीमुषा दृशा ।

सुरतनाथ ते शुल्कदासिका वरद निघ्नतो नेह किं वध ॥२॥

**श्लोकार्थ—**हे सुरतनाथ ! शरद ऋतु के समय वाले सरोवर में, सुन्दर प्रकार से उत्पन्न कमल के उदर में स्थित शोभा को भी हरण करने वाली अपनी दृष्टि से जो हम आप की कुत्सित<sup>२</sup> दासियां अथवा धर्म दासियां हैं उनको मारते हैं हे वरद ! क्या यह वध नहीं है ॥२॥

**सुबोधिनी—**शरत्कालीनो योज्यमुदाशयः पुष्करिणी, तत्र साधु सम्यक् प्रकारेण जातं यत्सरसिजं कमलं, तदन्तर्वर्तिनी या श्रीः, तामपि मुष्णातीति तादृग्रूपया दृशा दृष्ट्या, हे वरद, यो निहन्ति तस्य किं वधो न, अपि तु वधदोषो भवत्येव । येनैव साधनेन परस्य प्राणा गच्छन्ति तत्सम्पादनसाधको घातकः दोषभागभवति । अनेन भगवद्दृष्टिः सर्वघातुका निरूपिता । 'आयुर्मनांसि च दृशा सह ओज आर्च्छ' इति वाक्यात् । तथास्मानपि प्रायेण क्रूरदृष्ट्या पश्यसि । अन्यथा कथं प्राणबाधा स्यात् । रूपं त्वानन्दमयमिति तद्दृष्टौ तदेव जीवयेत् । अतस्तदभावात् केवलं घातयस्येव । किञ्च, न वयं वधार्हाः, यतो दासिकाः, कुत्सिता दास्यः । न हि स्त्रियः अप्रयोजिकाश्च हन्यन्ते । किञ्च, वयं शुल्कदासिकाः, त्वं च सुरतनाथः । सर्वपुरुषार्थसाधकत्वेन तव सम्बोधनानि यथाधिकारं

नियतानि । यथा धर्ममार्गं, हे धर्मपालक, हे ब्रह्मण्य, हे यज्ञेश्वरेत्यादीनि । अर्थं, हे लक्ष्मीपते, सर्वसिद्धिदेत्यादीनि । तथा मोक्षे, हे मुकुन्द, हे योगेश्वर, हे ज्ञाननिधे इत्यादीनि धर्मार्थमोक्षाधिभिरुच्यन्ते । एवमस्माभिरपि सुरतनाथेत्युच्यते । सुरतं सम्भोगः जगति यावा नस्ति तस्य भवान् नाथः । त्वदाज्ञाव्यतिरेकेण सुरतं जगति न प्रवर्तते । अतो ब्रह्मणा कामेन वा लोके सुरतप्रत्यर्थं वयं शुल्करूपा दासिका दत्ताः । शुल्कं मार्गनिवाहिकं द्रव्यं प्रतिबन्धनिवर्तकम् । सुरतं चेत् भगवत्येव निरुद्धं तिष्ठेत्, तदा लोके रसो न भविष्यतीत्यस्मद्द्वारा त्वतः तल्लोके प्रसृतं भवत्विति वयमागताः । तत् कार्यं दूरत एव स्थितम्, प्रत्युतास्मान्मारयसि । एवं सति सर्वमेव कामशास्त्रं व्यर्थं स्यात् । तृतीयः पुरुषार्थश्च न भवेत् । अतः सर्वथा यदर्थं वयं प्रेषितास्तत्कर्तव्यम् । अथवा । यदा कदाचित्कर्तव्यम्, इदानीं





जीवयितव्या रूपप्राकट्येन । दृशो मारकत्व-  
मुपपादयन्ति श्रोमुपेति । यस्तु चोरो भवति, स  
घातकोपि भवति । यथा यथा चौर्यं नैपुण्यम्,  
तथा तथा घातकत्वम् । तदर्थमाहुः उदरश्रीमु-  
पेति तत्रापि ये दुर्गजाताः, ते अतिनिपुणाः ।  
तत्रापि जलदुर्गजाः । तत्सरसिजम् । तत्रापि ते  
दुर्ग एव तिष्ठन्ति । तत्रापि ते साधुजाताः  
प्रभवः । तत्रापि प्रकाशवति काले शीताद्युपद्रव-  
रहिते । एवं देशकालस्वरूपादिभिः अशक्यचौर्या-  
दपि । पुरुषात् तदुदरवतिसर्वस्वनेता अन्तःस्थित-  
प्राणान् साधारणगोपिकादीनां नेष्यतीति किमा-  
श्चर्यम् । चौर्यं हि क्रियते बलिष्ठेनापकोर्त्य-  
भावाय । तदत्र तु न भविष्यतीत्युक्तं किं वधः न  
इति । अथवा । अदृशा अदर्शनेन दर्शनमदत्त्वा  
निध्नतः किं वधो न । सुरतार्थमागताः, तद्गतं

दूरे, अन्तरा मरणमुपस्थितम् । तथा सति, सुरत-  
स्याप्रकटितत्वात् नाथत्वमपि न स्यात् । न हि  
योगी अश्वनिर्माणसमर्थोऽप्यश्वपतिरुच्यते ।  
प्रकटयति चेत्, तदा तथा । किञ्च, अस्मद्वये  
किमाश्चर्यम् । तत्रादर्शने लक्ष्मीरपि न तिष्ठेत् ।  
तदाहुः श्रोमुपेति । उदरस्थिता श्रीश्चेद् वहिरा-  
नीता, तदैव क्रियते. अपुष्टत्वात् आमगर्भवत् ।  
यद्यपि तस्याः जीवने कालद्रव्यदेशवस्तूनि बहून्वेव  
सन्ति, तथापि त्वददर्शने न जीवति, तथा वयमपि  
किञ्च । त्वं सर्वेषां वरान् प्रयच्छसि, अस्मास्तु  
मारयिष्यसीति महदाश्चर्यम् । वरदाता हि  
प्रत्यक्षो भवति । अथवा । ते वयममूल्यदासिकाः,  
घमंदासिकाः । अतो न हन्तव्याः । एवमनेक-  
विधकौर्यं भावनया काश्चिद्भगवन्तं उपालभन्ते ।  
॥ २ ॥

व्याख्यानार्थ—शरद् ऋतु के समय वाले सरोवर में सुन्दर प्रकार से उत्पन्न कमल के उदर में  
स्थित शोभा को भी हरण करने वाली आपकी यह दृष्टि है, जिससे आप हमको मारते हो । हे  
वरद ! क्या यह वध नहीं है ? वास्तव में, वह वध ही है, इससे वध का दोष लगता ही है । जिस साधन  
से, दूसरे के प्राण जावें, उस साधन को तैयार करने वाला घातक<sup>१</sup> दोषी होता है, इससे बताया, कि  
भगवान् की यह दृष्टि सबको मारने वाली है, जैसे कहा भी है, कि 'आयुर्मनांसि च दृशा सह ओज  
आच्छेत्' भगवान् की दृष्टि, आयु, मन और बल को हरण कर लेती है, वैसे (ही) हमको भी अधिक-  
तर क्रूर दृष्टि से देखते हैं, यदि आनन्द मय दृष्टि से देखते होते, तो प्राण बाधा कैसे होवे ? यह हम  
मानती हैं, कि आपका रूप आनन्दमय है और दृष्टि भी आनन्दमय ही है, किन्तु उस दृष्टि से देखो तो  
प्राण बाधा न होवे, प्राण बाधा होने से, हम समझती हैं, कि उस आनन्दमय दृष्टि के होते हुए भी  
हमको क्रूर दृष्टि से देख कर हमारा तो केवल घात हो करते हैं । एक तो हम स्त्रियों का वध और  
फिर वह भी निष्प्रयोजन ही ! ऐसा तो कोई भी नहीं करता । और हम वध के योग्य नहीं हैं, कारण  
कि कुदासियां<sup>२</sup> हैं, जिसमें भी हम मोल ली हुई दासियां हैं और आप सुरत नाथ हैं । आप सब प्रकार  
के पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाले हैं । इसलिए ही आपके सम्बोधन अधिकार के अनुसार नियत किए  
हुए हैं । जैसे कि धर्म मार्ग में, आपको हे धर्मपालक ! हे ब्रह्मण्य ! हे यज्ञेश्वर ! आदि देते हैं ।  
अर्थ के संदर्भ में—हे लक्ष्मीपति ! हे सर्वसिद्धियों के दाता ! इत्यादि वैसे ही मोक्ष मार्ग में, हे मुकुन्द !  
हे योगेश्वर ! हे ज्ञाननित्रे ! आदि सम्बोधन देते हैं वैसे (ही) हम भी आपको इस काम  
मार्ग में, वैसे ही सम्बोधन देना उपयुक्त<sup>३</sup> समझती हैं इसलिए हमने आपको 'सुरतनाथ' कहा है ।  
जगत् में, जितने भी भोग हैं, उनके नाथ आप हैं । आपकी आज्ञा के बिना जगत् में 'सुरत'भोग की



प्रवृत्ति ही नहीं होवे अतः ब्रह्मा ने वा कामदेव ने लोक में सुरत की प्रवृत्ति कराने के लिए हम शुल्क रूप दासियाँ आपको दी है। 'शुल्क का तात्पर्य यह है कि स्वरूपानन्दानुभव के मार्ग को प्रशस्त-प्रवृत्त करने में गोपिकाएँ शुल्क हैं। इनके कारण इस मार्ग की सारी रुकावटें दूर हो गई। सु+रत=सुन्दर अलौकिक शोभावहरत यह भगवद् भाव है संभोग नहीं। मार्ग में किसी प्रकार की रुकावट न हो, यदि हो तो उस रुकावट को मिटाने वाला द्रव्य-शुल्क- है। यदि सुरत भगवान् में ही निरुद्ध<sup>१</sup> रहे तो लोक में रस नहीं होगा, इसलिए वह (सुरत) आपसे हमारे द्वारा<sup>२</sup> लोक में प्रवृत्त होगा<sup>३</sup> ! अतः हम आई हैं। जिस कार्य के लिए हम आई हैं, वह कार्य करना तो दूर रहा, प्रत्युत<sup>४</sup> हमको आप मारते हैं। यदि यों आप करोगे, तो समय काम शास्त्र व्यर्थ हो जाएगा, जिससे पुरुषार्थों में, जो तोसरा पुरुषार्थ 'काम' को गिना जाता है, वह रहेगा ही नहीं, इस लिए जिस वास्ते हम भेजी गई हैं, वह कार्य सर्वथा करना ही चाहिए। यदि आपकी इच्छा अब करने की नहीं होवे, तो जब भी इच्छा हो तब करना, किन्तु करना आवश्यक है, और वह कार्य जब भी करो, परन्तु हमको जीवित रखने के लिए दर्शन दो, अर्थात् रूप को प्रकट कर, हमको जीवन दान दो।

आपकी दृष्टि मारने वाली है: उसका 'श्रीमुषा' पद से समर्थन करती हैं, कि वह कमल की शोभा को चुराने वाली हैं। जो चोर होता है वह घातक भी होता है। चोर जितना भी चोरी करने में विशेष निपुण होता है वह मारने में भी वैसा ही चतुर होता है, इसलिए कहती है, कि 'उदर श्रीमुषा', जो चोर किले से चोरी कर सकता है, उसे अति चतुर कहते हैं, किन्तु उसमें भी, जल के बीच में बने हुए किले से चोरी कर आवे, वह उस अति चतुर से भी 'चतुरतम' होता है। यहां जल-दुर्ग<sup>५</sup> में रहने वाला कमल है, सूर्य के कारण विकसित भी है। शीतादि उपद्रव न होने से खिले हुए वैसे कमलों के उदर की शोभा को भी आपकी दृष्टि चुरा लेती है जिसका वहां से चुराना अशक्य है, तो भी जब चुरा लेती है, तो साधारण गोपीकादिकों के अन्तः स्थित प्राणों को चुरा लेगी उसमें क्या आश्चर्य है? जो बलिष्ठ है, वह, ( जो चाहिए ) यों ही ले सकता है फिर चोरी क्यों करता है, उसके उत्तर में कहती हैं, कि चोरी इसलिए करता है, कि बल पूर्वक लेलूंगा, तो मेरी अपकीर्ति होगी। मेरी अपकीर्ति न होवे, इसलिए चोरी करता है। यदि आप यों समझते हो, तो वह बात यहां सिद्ध न होगी, क्योंकि यहां तो आप जो वध करते हो, वह तो प्रकट हो जाएगा। अथवा 'अदृशा' दर्शन न देने से भी, यदि हम मरी तो क्या वह वध नहीं है? वह भी वध है, हम सुरत के लिए आई हैं, वह तो सिद्ध न हुआ, किन्तु मरण प्राप्त हुआ। यदि यों हुआ, तो सुरत का प्रकट होना बन्द हो जाएगा जिससे आपका नाथत्व भी नहीं रहेगा क्योंकि योगी में अश्व बनाने की सामर्थ्य ही किन्तु वह जब तक अश्व बनाकर तैयार नहीं करता है तब तक वह 'अश्वपति' नहीं कहलाएगा। और हमारे वध में तो क्या आश्चर्य है, किन्तु आप प्रकट न होओगे, तो शोभा (लक्ष्मी) भी नहीं रहेगी। इसको कहते हैं 'श्री मुषा' उदर में स्थित श्री<sup>६</sup> यदि बाहर आगई, तो वह उसी समय नष्ट हो जाएगी जैसे अपुष्ट<sup>७</sup> आम गर्भ नाश होता है, यद्यपि उसके (शोभा के) जीवन के लिए काल, द्रव्य, देश, वस्तु आदि अनेक पदार्थ हैं, तो भी आपके दर्शन के बिना वह भी नहीं जीएंगी वैसे ही हम भी नहीं जीएंगी।

१—रुका हुआ, २—जरिये, ३—फैलेगा, ४—बल्कि, ५—किला

६—शोभा, ७—कच्चा,



यह तो अत्यन्त आश्चर्य है, कि आप सकल जनों को वर देते हैं और हमको मारते हैं, वरदाता तो प्रत्यक्ष होता है, अथवा हम आपकी बिना मोल की दासियाँ हैं तथा धर्म दासियाँ हैं, इसी से हम मारने योग्य नहीं हैं, अतः हमको मत मारो, इस प्रकार, अनेक विध क्रूर भावना ने कितनी ही गोपी-जन भगवान् को उलाहना देती हैं ॥ २ ॥

रत लौकिक होता है, इसे भोग कहते हैं । यह भोग तो प्रवृत्त ही है सृष्टि के आरम्भ से अद्यावधि वहाँ भगवान् के आज्ञा की अपेक्षा नहीं है। सृष्टि के समान वह भी स्वतः चलता रहता है । अतः 'सुरत' का अर्थ है सम्यक् भोग अर्थात् अलौकिक शोभा वह सुन्दर रत=सुरत । यह गोपिकाओं में ही है और भगवदाज्ञा से ही । इसे अलौकिक कहा इसका अर्थ है स्वरूपानन्दरूपता । इस स्वरूपानन्द के दान में समर्थ नाथ केवल आप ही हो । यदि आप दान न करो तो भक्तों के हृदय में आनन्दाविर्भाव न होने से शून्यता ही रह जायेगी ।

कारिका—अन्तःस्थितो रसः पुष्टो बहिर्चेन्न विनिर्गतः ।

तदा पूर्णो नैव भवेदिनि वाग्निर्गमस्तथा ॥१॥२॥

कारिकार्थ—अन्तःकरण में रहा हुआ रस पुष्ट हो जाने पर, यदि बाहर न निकले, तो पूर्ण नहीं होता है, अर्थात् बाहर आ जाने से ही पूर्णता को प्राप्त होता है, इसी प्रकार गोपीजनों के भीतर जो भाव भर कर पुष्ट हो गया था वह भी वाणी द्वारा जब बाहर निकला तब पूर्ण हुआ है—

आभास—अन्याः पुनः कोमलाः बहुधा त्वया रक्षिताः, इदानीमपि पालयेत्याहुः विषजलाप्ययादिति ।

आभासार्थ—फिर दूसरी सात्विक-सात्विकी गोपीजन इस 'विषजला' श्लोक से कहती हैं, कि आपने हमारी बहुत प्रकार से रक्षा की है, अब भी हमारा पालन करो ।

श्लोक—विषजलाप्ययाव्यालराक्षसात् वर्षमारुताद्विद्युतानलात् ।

वृषमयात्मजाद्विश्वतो भयादृशभ ते वयं रक्षिता मुहुः ॥३॥

श्लोकार्थ—हे ऋषभ ! विष के जल पीने से हुई मृत्यु से, कालीय सुदर्शन आदि सर्पों से, तृणावर्त आदि राक्षसों से इंद्र द्वारा की हुई वर्षा तथा वायु से और बिजली तथा अग्नि से, व्योमासुर से एवं सर्व प्रकार के जो भी भय आए उन सबसे, आपने हमारी रक्षा की है ( अतः अब भी पालन करो ) ॥३॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १७७ ॥

सुबोधिनी—विषजलं कालीयहृदजलम्, तत्पो-  
त्वा सर्व एव बालकाः गावश्च मृताः, ते पुनर्जी-  
विताः । व्यालाः सर्पाः कालियसुदर्शनादयः,  
राक्षसाः तृणावर्तादयः, तेषामेकवद्भावः । तस्मा-  
दपि रक्षिताः वर्षमास्तादिन्द्रकृतात् । तत्रैव वैद्यु-  
तानि अनलो दवाग्निश्च, तयोरप्येकवद्भावः ।  
वृषो योऽयं मयात्मजः व्योमासुरः, तस्मादपि

रक्षिताः । न तासां भूतभविष्यद्विषयकपदार्थज्ञान-  
निर्वन्धोऽस्ति, सर्वज्ञत्वात् । किम्बहुना विश्वत  
एव भयात् । पालने हेतुः ऋषभेति । भर्ता हि  
पालयत्येव । अतः सर्वदा पालक इति इदानीमपि  
पालयेत्यर्थः । ते च मारका बाह्याः, इदानीन्त-  
नस्त्वान्तर इति सर्वथा पालनीयाः ॥ ३ ॥

व्याख्यानार्थ—‘विष जल’ कालीय सर्प श्री यमुनाजी के जिस हृद में आकर रहा था, उसका  
जल विष पूर्ण हो गया था उस विष वाले जल को पीने से, बालक और गाएं मर गई थीं उन सबको  
आपने जीवित किया । कालीय सुदर्शन आदि सर्प और तृणावर्त आदि राक्षसों से भी बचाया ।  
इन्द्र द्वारा की हुई वर्षा, वायु और विजली से तथा दवाग्नि से रक्षा की, एवं मय के पुत्र व्योमासुर के  
भय को मिटा दिया । गोपियां सर्वज्ञ हैं इसलिए उनको यह आग्रह नहीं है, कि जो लीलाएं हो गई हैं  
वा जो होने वाली हैं हम किसको कहें वे तो सारांश में कहती हैं, कि बहुत क्या कहें, आपने तो  
चारों तरफ के भय से हमारी रक्षा की है । आपने इस प्रकार हमारी रक्षा इसलिए की है, कि  
आप हमारे ‘ऋषभ’ भर्ता हैं, भर्ता पालता है ही, अतः (आप) सर्वदा पालक है जिससे अब भी  
पालन करो । पूर्व में तो मारने वाले बाहर के थे, अब तो भीतर के हैं, इसलिए आपको सर्वथा  
हमारा पालन करना चाहिए ॥ ३ ॥

आभास—अन्याः पुनः भगवतो महानुभावत्वं ज्ञात्वा तस्य स्वरूपं कीर्तयन्ति ।  
ततश्च ज्ञानिभ्यो यथा मोक्षं प्रयच्छतिः तथास्मभ्यमपि अस्मदुचितं मोक्षं दास्यतीति,  
तं स्तुवन्ति न खल्विति ।

आभासार्थ—दूसरी गोपियां, जो गुणातीता हैं, वे भगवान् का महा प्रभाव जानकर, उनके  
स्वरूप को गाती हैं, भगवान् जैसे ज्ञानियों को मोक्ष देते हैं, वैसे ही हमको भी हमारे योग्य मोक्ष  
देंगे इसलिए ‘न खलु’ श्लोक से उनकी स्तूति करती हैं—

श्लोक—न खलु गोपिकानन्दनो भवानखिलदेहिनामन्तरात्महृक् ।

विखनसार्थितो विश्वगुप्तये सख उदेयिवान्सात्त्वतां कुले ॥४॥

श्लोकार्थ—हे सखे ! आप कोई यशोदा के पुत्र नहीं हैं, आप तो सर्व प्राणियों  
के अंतर्धामी हैं, जगत् की रक्षा के लिए जब ब्रह्मा ने प्रार्थना की, तब यादवों के  
कुल में आप उदय हुए ॥४॥

सुबोधिनी—भगवतो नन्दसूनुत्वे सर्वे उपालम्भा युक्ता भवन्ति । तदेव नास्ति इति सर्वमपुक्तमुपालम्भनम् । खल्विति निश्चये । नात्र तिरोहितमिव । गोपिकायाः यशोदाया नन्दनः पुत्र इति न । तथा सति यथा तथा स्वाधीनः कृतज्ञातो वा, तथा गोपिकानामपि भवेत् । गोकुलस्वामिपुत्रत्वात् । तुल्यतायामेव हि विद्यायोनि-सम्बन्धः । किञ्च, न केवलं भवान् वैकुण्ठाधिपतिः पुरुषोत्तमः, किन्तु अखिलदेहिनां सर्वेषामेवास्मदादीनामन्तरात्मानं अन्तःकरणं पश्यतीति । यद्यस्मद्वदये तादृशं तापं पश्येत्, तदा प्रसन्न एव भवेत् । अतो नास्मिन्वक्तव्यं किञ्चित् । किञ्च आगतश्चास्मदादीनां परिपालनार्थमेव । यदि जानीयात् एता नश्यन्तीति, तदा परिपालयेत् । रक्षणार्थं च प्रार्थितं गेहं, न तु स्वेच्छया समागतः, तदाह

विखनसाथित इति । विखना ब्रह्मा, विशेषेण खनतीति सर्वथा वेदार्थविचारकः । अत एव वैखानसं मतं ब्रह्मणा कृतं भगवद्भजनप्रतिपादकम् तेनैव मार्गेण पूजां भगवान् गृह्णातीति वेङ्कटादौ तथैव पूजा । अतः सर्वेषां पूजामपि ग्रहीतुं ब्रह्मणा प्रार्थितो विष्णुस्तथे इति मुख्यं प्रयोजनम् । एवमन्तरात्मत्वात् सर्वेषामेव जीवानां भवान् सखा । तादृशं लोके सख्यं प्रकटयितुं सात्वतां यादवानां वैष्णवानां वा कुले उदेयिवान्, प्रादुर्भूतः । अत एतदर्थमेवागतः । पूर्वमपि सखा यथेच्छमेव प्रेरयामि, आगतस्य पुनर्विशेषो वक्तव्यः । स चात्मनिवेदनरूपो भवति । अतो वयं किं विज्ञापयामः । यथोचितमेव कर्तव्यमिति भावः ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ—निर्गुण गोपियां कहती है कि यदि भगवान् नन्द के पुत्र होवे, तो उनको उपालम्भ देने भी योग्य है, वह तो है ही नहीं, अतः उपालम्भ देने सब प्रकार से, अयोग्य हैं, यह छिपी हुई बात नहीं है किन्तु निश्चय है, जिसको स्पष्ट शब्दों से श्लोक में कहती है, कि 'न खलु गोपिकानन्दनो भवान्' निश्चय से आप यशोदाजी के पुत्र नहीं है, यदि मान लिया जाए, कि यशोदाजी ने उनको पुत्र मान कर अपने वश कर लिया है, तो गोपिया भी उनको वश कर सकती है, क्योंकि गोकुल के स्वामी नन्दजी का पुत्र है । जहां बराबरी होती है, वहां ही विद्या और योनि का सम्बन्ध होता है, और विशेष में आप केवल वैकुण्ठ के अधिपति पुरुषोत्तम नहीं हैं किन्तु सकल देहधारियों के (जिनमें हम भी आ गई हैं) अन्तःकरणों के द्रष्टा हैं, अतः जब हमारे भीतर वैसे ताप देखेंगे तब प्रसन्न होंगे, इसलिए हमको इस विषय में कुछ कहना नहीं चाहिए । और पधारे तो हमारे जंसी के परिपालन के लिए ही हैं, जब जानोगे ये नष्ट होती है तो बचालोगे । रक्षा के लिए तो प्रार्थना की हुई है । आप अपनी इच्छा से तो पधारे नहीं हैं । सर्वथा वेद का विचार करने वाले ब्रह्माजी ने जगत् की रक्षा के लिए भक्तों की पूजा को ग्रहण करने के लिए पधारने की जब प्रार्थना की, तब आप पधारे हैं जिसमें भी विशेष विश्व की रक्षा के लिए पधारे हैं । ब्रह्माजी ने, भगवान् की पूजा भजन कैसे करना चाहिए, यह समझाने के लिए वैखानस मत प्रकट किया है । उस मत के अनुसार की हुई पूजा को भगवान् स्वीकार करते हैं । वेङ्कटादि तीर्थ स्थलों में उसी प्रकार पूजा होती है । भगवान् सबके अन्तरात्मा होने से, सबके सखा हैं । लोक में सख्य प्रकट करने के लिए यादवों के अथवा वैष्णवों के कुल में प्रकट हुए हैं अतः इसलिए ही पधारे हैं । पहले भी सखा है ही, क्योंकि श्रुति कहती है, कि 'सयुजौ सखायौ' साथ रहने वाले दोनों ईश्वर और जीव आपस में मित्र हैं । जंसी इच्छा होती है वैसी (ही) प्रेरणा करते हैं । अब तो आए हैं, तो विशेष ही करना चाहिए, वह विशेषता 'आत्मनिवेदन' रूप होनी चाहिए अतः हम क्या प्रार्थना करे, जैसे योग्य समझो वैसे करना चाहिए यों भाव है ॥ ४ ॥



भगवान् का नन्दगृह में पादुर्भाव हुआ है यह पहले बता ही दिया, अतः वहाँ जो अब गोपिका उसका निवेद्य कर रही है उसका तात्पर्य यह है, कि जैसे मथुरा में वसुदेव से देवकी में आकर प्रादुर्भाव हुआ वैसे यहाँ नन्द से यशोदा ने नहीं आए क्योंकि गर्भ में तो माया थी और तब तक भगवान् हृदय में रहे और प्रावृत्त्य के समय माया से आवृत्त होकर प्रादुर्भूत हुवे । अतः लीलार्थ केवल नन्द के भी पुत्र हैं एवं केवल यशोदा के भी किन्तु नन्द-यशोदा के पुत्र भगवान् नहीं हैं ।

**आभास—**अन्याः पुनः सात्विकसात्विक्यः राजसप्रधानाभ्यां विशिष्टाः, अप्राथित च भगवान् न दास्यतीति भगवत्करस्य स्वशिरःसम्बन्धं प्रार्थयन्ति विरचिताभयमिति ।

**आभासार्थ—**राजस प्रधान गोपियां से, ये दूसरी सात्विक-सात्विकी अद्वय पूर्वाणि उत्तम है, उन्होंने विचार किया, कि प्रार्थना करने के सिवाय भगवान् नहीं देगे अतः इस (विरचिताभय) श्लोक में प्रार्थना करती हैं, कि आप अपने कर कमल को हमारे शिर पर धरो—

**श्लोक—**विरचिताभयं वृष्णिधुर्यं ते शरणमीयुषां संसृतेर्भवात् ।

करसरोरुहं कान्त कामदं शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥ ५ ॥

**श्लोकार्थ—**हे वृष्णिकुल में श्रेष्ठ ! हे कान्त ! संसार से डर कर जो आपके शरण आते उनको अभय देने वाला, सकल जीवों की कामनाओं को पूर्ण करने वाला तथा श्री लक्ष्मीजी का पाणिग्रहण करने वाला जो आपका हस्त कमल है, वह हमारे शिर पर धरो ॥ ५ ॥

**सुबोधिनी—**हे स्वामिन्, हृदयं स्फुटति । अतः यथा सर्वाङ्गे आप्यायनं भवति, तथा शिरसि करसरोरुहं धेहि । शीतलं हि कमलं भवति । तत्रापि सरसि जातम् । तत्रापि कर एव सरःस्थानं सरसिजस्थानं च । अत उद्धारणादिना न रसालतापगमः । कान्तेति संबोधनम् । प्रथमतः शिरसि हस्तस्थापनेन स्वाधीनीकरणं द्योतितम् । किञ्च, न केवलं हस्तस्थापमेव दूरीकरोति, किन्तु कामदं च । अभिलषितं कामं प्रयच्छति । ननु भगवान् पुरुषोत्तमः, योगिष्ठेयः, कथं स्त्रीणां स्पर्शं करिष्यति इति चेत्, तत्राह श्रीकरग्रहमिति । श्रियाः करस्य ग्रहो ग्रहणं येन । अतो भगवान् गृहस्थ इति । यत्र लक्ष्म्या हस्तं गृह्णाति, तत्रास्मच्छिरोग्रहणे किं भविष्यतीति भावः । ननु लक्ष्मीविवाहितेति विधिवशात् तस्या

हस्तग्रहणम्, भवतीनां ग्रहणे को हेतुरिति चेत्, तत्राहुः संसृतेर्भवात् शरणमीयुषां विरचिताभयमिति । यथा विधिविवाहे, तथैव शरणागतपालनेऽपि । विवाहापेक्षया शरणागतरक्षा महती स साधारणधर्मः, अयमीदवरधर्म इति । नन्वयं निषिद्धः प्रकार इति कथं पालनमिति चेत्, तत्राहुः हे वृष्णिधुर्येति । वृष्णिहि यदुर्वशोद्भवः बहुस्वीकः बहुवंशकर्ता । तद्वंशेऽपि भवान् धुर्यः श्रेष्ठः । तत्रापि स्त्रियः संसारभयात् समागताः । न हि संसारः स्वभावत एव दुष्टः, किन्त्वसह्यदुःखहेतुरिति । तथा वयमपि महत् दुःखं प्राप्नुम इति दृष्टादृष्टद्वारा भवांस्तान्निवर्तक इति । अनेनैव निर्भयतापि सूचिता । अतः कान्तसम्बोधनात् भवानेव भर्ता । अतः स्त्रीणां व्रतमनुस्मरन् वाञ्छितं कुवित्यर्थः ॥५॥

**व्याख्यार्थ—**हे स्वामी ! हमारा हृदय वियोग की उल्लासता से फटता है उससे बचाने के लिए आप अपने कर कमल को हमारे शिर पर धरो, जिससे हमारे सर्व अङ्ग में व्याप्त उल्लासता मिटकर शीतलता का प्रसार होवे, कारण कि यों ही कमल शीतल होता है, फिर यदि वह सरोवर में उत्पन्न



हुआ होवे. तो विशेष शीतल होता है, आपका कर, सरोवर का स्थान है और कमल का भी स्थान है अतः सदैव शीतल रहते हैं। अन्य कमलों की सरोवर से बाहर आने के कारण शीतलता कम हो जाती है किन्तु यह कमल तो सदैव कर रूप सरोवर में निरन्तर वाम करता है, अतः अति शीतल रहता है। इसका मस्तक को स्पर्श होते ही, हमारे सर्व अङ्ग शीतलता से व्याप्त हो जाएंगे, जिससे ताप मिट जाएगा। 'कान्त' यह भगवान् के संबोधन के रूप में कहा है। शिर पर हाथ धरने से पहले शरणागति का स्वीकार होगा और दूसरे फिर यह हस्तकमल केवल ताप ही दूर करना हो यह बात नहीं किन्तु कामनाओं को पूर्ण करने वाला भी है। जो कुछ अभिलषित है उसे देने में समर्थ हैं। भगवान् पुण्योत्तम, योगियों से ध्येय हैं, वे स्त्रियों का स्पर्श कैसे करेंगे? इस शङ्का का उत्तर देती हैं, कि योगिध्येय होते हुए भी वे गृहस्थ हैं, उन्होंने जब श्री लक्ष्मीजी का हस्त ग्रहण किया है, तो हमारे शिर पर कर कमल धरने में क्या होगा? कुछ नहीं होगा। यदि कहो कि लक्ष्मी का हस्त, शास्त्र विधि के अनुसार विवाह में पत्नी का पाणी ग्रहण करने के कारण स्वपत्नी समझ कर किया है। आपका कौनसा सम्बन्ध है: जो आपके शिर पर हस्त धरें? इसके उत्तर में कहती हैं, कि हम संसार के भय से आपके शरण आई हैं, अतः हमको निर्भय करो, जिस प्रकार विवाह में स्त्री के हाथ ग्रहण की शास्त्र विधि है, उसी प्रकार शरण में आए हुए के पालन करने की विधि है: विवाह की अपेक्षा, शरणागत की रक्षा विशेष है, क्योंकि वह (विवाह-ग्रहस्थधर्म) साधारण धर्म है, किन्तु यह (शरणागत रक्षण) महान् धर्म होने से ईश्वर धर्म है।

शरणागत रक्षण धर्म महान् है, ईश्वर धर्म है, किन्तु जो प्रकार आप कह रही हो, वह प्रकार निषिद्ध है अर्थात् पुरुष होकर स्त्रियों के शिर पर कर धरना निषिद्ध है, वह निषिद्ध धर्म हम कैसे करें? इसके उत्तर में कहती हैं, कि आपका यह कहना आपके वंश की मर्यादा के अनुकूल नहीं है। आप वृष्णिधुर्य हो, 'वृष्णि' यदुवंश में (एक) राजा उत्पन्न हुआ है। उसके बहुत स्त्रियाँ थी और बहुत सन्तानें उसने उत्पन्न की थी। उस वंश में आप उत्पन्न हुए हैं। केवल इतना ही नहीं है किन्तु उस वंश में आप श्रेष्ठ हैं, अतः जो प्रकार हम कहती हैं वह बहुत स्त्री वाले, यदुवंश में श्रेष्ठ आपके लिए निषिद्ध नहीं है। उसमें भी जो स्त्रियाँ आपकी शरण में आई हैं वे संसार के भय से आई हैं। संसार स्वभाव से ही दुष्ट नहीं है, किन्तु असह्य दुःख के कारण ही। वैसे (ही) हम भी अत्यन्त दुःख पा रही हैं। इस दुःख का कारण दृष्ट है वा अदृष्ट है, उस कारण के मिटाने की शक्ति आप में ही है अतः आपही उसको मिटावोगे। इस प्रकार कहने से, गोपियो ने यह सूचित किया, कि इसलिए हम निर्भय हैं। हे कान्त ! यह संबोधन देकर बताया है, कि आप हमारे भर्ता<sup>१</sup> हैं: अतः आपका स्त्रियों की रक्षा करने में जो व्रत अर्थात् शास्त्रीय नियम<sup>२</sup> है उनको स्मरण करते हुए जो योग्य समझो वह करो ॥१॥

**आभास—**ततः तामसी किञ्चिद्वैलक्षणेन धाष्ट्येन तमेवार्थं प्रार्थयति व्रजजनाति-हन्निति ।

**आभासार्थ—**पश्चात् तामसी॥ कुछ विलक्षणता से धृष्टता<sup>३</sup> पूर्वक उसी ही अर्थ की प्रार्थना करती हैं अर्थात् दुःख की निवृत्ति और मनोरथ की पूर्ति की प्रार्थना 'व्रजजनातिहन्' श्लोक से करती हैं—



श्लोक—व्रजजनातिहन् वीर योषितां निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।

भज सखे भवत्तिकरीः स्म नो जलरुह ननं चारु दर्शय ॥६॥

श्लोकार्थ—हे व्रजजनों के आति को हरण करने वाले ! हे स्त्रियों के वीर !  
हे मन्दहास्य से अपने भक्तों के गर्व को तोड़ने वाले ! हे सखे ! अपनी सेविकाओं को  
भजिए, अपना सुन्दर मुख कमल दिखाइए ॥६॥

सुबोधिनी—हे भगवान्, एता वक्तुं न जानन्ति । मया तु निर्धारितमुच्यते । हे सखे इति अप्रतारणार्थं संबोधनम् । नः अस्मान् भजन्ति हितोपदेशं ननु कथमेव धाष्टर्यं निषिद्धं च बोध्यते, तत्राहुः भवत्तिकरीरिति । 'ये यथा मा प्रपद्यन्ते' इति हि तव प्रतिज्ञा । अतो यथा किकर्यो वयं भवन्तं भजामः, तथा भवानपि भजतु । किकरीत्वं तव प्रतिज्ञा च प्रसिद्धेत्याहुः स्मेति । न केवलमस्मद् भजने तव संबोधा प्रतिज्ञा हेतुः, किन्तु अन्येऽपि हेतवः सन्ति । प्रथमं अवतारप्रयोजनम् । व्रजजनातिहन्ति । व्रजजनानां आतिं हन्तीति तथा । नातः परमन्या आतिरस्ति । सामान्यप्रयोजनमेतत् । विशेषप्रयोजनमाहुः योषितां वीरेति । कृष्णो भगवान् । वीरं हि शूरा निराकरणीयाः, अन्यगतकामादयः । तत्र मुख्यः कामः । स च बहुविधः । अन्तर्बहिःपदार्थेन पूर्णेन पूरयित्वाश्रयाभावात्निवारणीयः । अत एव लोके दातारः कीर्तिमन्तो भवन्ति वीरेभ्यः । अतो भवान् महावीरः । अन्तःस्थितेनानन्देन अतिदरिद्राणां ब्रह्मणापि पूरयितुमशक्यानामिच्छापुरकः । अयं चार्थस्तव संबोधिनीनः । अतः योषितां वीरेति सम्बोधनम् । न हि कृष्णादन्यो जगति कश्चिदेवं सम्बोधनमर्हति, अपूर्णकामत्वात् । अतोऽवतारसामान्यविशेषप्रयोजनाभ्यां च नो भज । ननु सत्यम्, तथापि भवतीनाम-

भिमानदोषनिवृत्त्यर्थं भजनं न क्रियते इति चेत्, तत्राह निजजनस्मयध्वंसनस्मितेति । निजजनाः सेवकाः तेषां स्मयो गर्वः, नस्य ध्वंसनार्थं स्मितं यस्य । निजजनानां स्मयदूनीकरणार्थं परित्यागो नोपायः, किन्तु तदर्थं स्मितमेव कर्तव्यम् । स्मितं हि मन्दहासः । 'हासो जनोन्मादकरो च माया' । तस्या मन्दस्व भक्तेष्वप्रवर्तनम् । नहि मायामोहव्यतिरेकेण कस्यचित्स्मयो भवति । अत एव हास्यसंकोच एव साधनम् । निजजनानामपि धर्म एव दुष्टः, न तु धर्मो । अन्यथा निजजनत्वमेव न स्यात् । इत्यलौकिकोपायः । लौकिकेऽपि तव हास्येन ता अपि आत्मानं तुल्य मन्यन्ते । यदा पुनर्हास्ये संकोचः, तदैव तासां गर्वो निवर्तते । किञ्च, अभिमानो हि दोषः । स तावदेव तिष्ठति, यावत्तव स्मितयुक्तमाननं न पश्यति । नहि काचित्तादृशमप्याननं दृष्ट्वा स्वाभिमानं पालयितुं शक्ता । नन्वेतल्लोके अप्रसिद्धं साधनत्वेनेति कथं ज्ञातुं शक्यत इत्याशङ्क्याहुः जलरुहाननं चारु दर्शयेति । जलरुहं कमलम्, तत्सदृशमाननममृतस्त्रावि । नह्यमृते पीते कस्यचिदोषस्तिष्ठतीति युक्तिः । साधनत्वे चेत्संदेहः, एकवारं प्रदर्श्य पश्येत्यर्थः । किञ्च, अभिमानो हि मनोधर्मः, तव आननं तु चारु मनोहरम् । नहि धार्मिणि हृते धर्मस्तिष्ठति । सत्सुः सखिभजनं युक्तमेव ॥६॥

व्याख्यार्थ—वह तामसी व्रज भक्त कहती है, कि हे भगवान् ! ये बोलना नहीं जानती हैं, मैं तो निर्णय किए हुए सिद्धान्त को कहती हूँ । भगवान् को फिर, हे सखे ! सम्बोधन से कहती है, कि जो कुछ मैं कहती हूँ, वह आपको ठगने के लिए नहीं, कहती हूँ, इसका आप विश्वास करें, आप मेरे





सखा हैं, सखा से वंचनः<sup>१</sup> नहीं की जाती है। अतः आप हमको भजो, यह आप के लिए हित<sup>२</sup> का उपदेश है। यदि आप कहें कि यह कंसी धृष्टता है कि मैं तुमको भजुं ? और स्वामी का सेवक को भजना निषिद्ध है। तो इसके लिए हमारा उत्तर है, कि यह कार्य न निषिद्ध है और न धृष्टतापूर्ण है, कारण, कि हम आपकी दानियां हैं, आपकी प्रतिज्ञा है कि 'ये गथा मां प्रचक्षन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्' 'जो मेरी शरण जिस भावना से आते हैं मैं भी उनका उसी भाव से भजन करता हूँ' और वह प्रतिज्ञा डंके की चोट से सर्वत्र प्रसिद्ध है, अतः जैसे हम दासियां आपका भजन करती हैं, आप भी उसी प्रकार हमें भजो, हम किकरी<sup>३</sup> हैं और आपकी (यह) प्रतिज्ञा, ये दोनों प्रसिद्ध हैं।

हमारे भजन करने में, आपकी केवल एक वह प्रतिज्ञा, ही हेतु नहीं है किन्तु दूसरे भी कारण हैं, १—हमारे भजन में प्रथम कारण आपका अवतार है, आप ने अवतार इसीलिए ही लिया है कि व्रजजनों की आर्ति<sup>४</sup> दूर हो। हम व्रजजन हैं और हमको जो यह आर्ति है इसमें बढ़कर दूसरी कोई आर्ति नहीं है। यह प्रयोजन तो सामान्य है।

अत्र गोपीजन भगवान् के अवतार का विशेष प्रयोजन बताती हैं कि भगवान् योषित्-स्त्रियों के लिए वीर हैं, स्त्रियों को अपने आनन्द का दान करनेवाले सदानन्द एवं ऐश्वर्य आदि छह गुणों से युक्त हैं। वीर पुरुष—दानवीर पुरुष—दूसरों में रहे हुए काम<sup>५</sup> अभिलाषा आदि शूरों को दूर करते हैं (दान वीर अन्न या धन के उन-उन दान द्वारा अभिलाषा पूर्ण करके उसे निवृत्त कर देता है, युद्धवीर गर्व आदि को युद्ध से दूर करता है) काम बहुत प्रबल शूर है, और वह अनेक प्रकार का है। यह आनन्द के बारे में है अतः स्वरूपानन्द के दान से भीतर-बाहर अब कुछ आनन्द परिपूर्ण हो जाए तब भगवान् की दानवीरता सिद्ध होगी। सामान्य वीरों की अपेक्षा अतएव लोक में दानवीर की हो अधिक कीर्ति होती है। और फिर भगवान् तो महान् दानवीर हैं क्योंकि—जो ब्रह्मा भी नहीं कर सकते हैं वैसी अर्ति दरिद्रों के मुख्य काम की इच्छा को आप ही अपने अन्तः<sup>६</sup> स्थिति आनन्द के दान से पूरण करते हैं इसीलिए आप महावीर हैं। इस बात को जानते ही हैं अतएव 'योषितां वीर' यह संबोधन किया गया है। कृष्ण (आप) के सिवाय किसी दूसरे को लोक में यह 'योषितां वीर' विशेषण नहीं दिया जा सकता है, क्योंकि अन्य सब अपूर्ण काम हैं। आप एक ही पूर्ण काम हैं, अतः अन्यो की अशक्य कामनाओं की पूर्ति भी आप ही कर सकते हैं, इसीलिए अवतार के साधारण एवं विशेष दोनों प्रयोजन वश हमको भजो ही।

यदि आप कहो, कि तुम्हारा यह कहना सत्य है, किन्तु मैं तुम्हारा भजन इसलिए नहीं करता हूँ, कि तुम्हारा अभिमान दोष मिट जाए, इसके उत्तर में, मेरा कहना है, कि हम आपकी सेविकाएँ हैं, अतः अभिमान दोष से उनका त्याग करना, कोई गर्व नाश करने का उपाय नहीं है, किन्तु उसका उपाय आपका मन्द हास्य है। आप केवल मन्द हास्य करदो, तो हमारा अभिमान नष्ट हो जावे, कारण कि आपका हास्य जनों में, उन्माद करने वाली 'माया' हैं। उस हास्य रूप माया के कारण ही हम लोगों में गर्व की उत्पत्ति हुई है अतः आप अब उसको मन्द करदो, तो हमारा गर्व नाश हो जावेगा।

१—ठगाई, २—लाभ, ३—दासियाँ, ४—दुःख, ५—कामना,  
६—भीतर.



इसलिए ही आपकी मन्द मुस्कान ही गर्व तोड़ने का साधन<sup>१</sup> है ।

आपके जो जन हैं, उनका धर्म ही दुष्ट है, स्वयं वे धर्मी तो दुष्ट नहीं हैं, यदि वे धर्मी ही दुष्ट हों तो वे निज जन ही न रहेंगे । यह अलौकिक उपाय अपने अहंकार को नाश करने के लिए कहा है ।

लौकिक में भी, आपके हास्य<sup>२</sup> से वे (दासियाँ) भी अपने आप को, आपके समान समझती हैं । अतः जब उस हास्य का संकोच होगा, तब ही उनके गर्व का नाश होगा । माना कि अभिमान भी दोष है, किन्तु वह तब तक रह सकता है, जब तक आपके मन्द मुस्कान वाले मुख का दर्शन न होगा । कोई भी धँसी नहीं है, जो स्मित वाला मुख देखकर, अभिमान की रक्षा कर सके । यदि आप कहो, कि तुम, इसको जो साधन कहती हो, वह साधन के ढंग से लोक में प्रसिद्ध नहीं है, तो उसको साधन कैसे समझा जाए, इसके उत्तर में कहती हैं, कि आपका मुख, कमल जैसा है, अतः उससे अमृत का स्वरण<sup>३</sup> हो रहा है उसका दर्शन कराओ । उसके दर्शन से, जो स्रवित अमृत का पान होगा, उस पान के अनन्तर, किसी प्रकार का दोष किसीमें भी न रहेगा, यह युक्ति है । यदि आपको, इसके साधन होने में संशय होए तो, एक बार दर्शन कराके अनुभव करलो, कि वह दोष नष्ट हुआ वा नहीं ! अभिमान मन का धर्म है और आपका मुखारविन्द सुन्दर है जिससे वह मन का हरण कर लेता है, धर्मी (मन का) हरण हो जाने पर, उसका धर्म (अभिमान) रहेगा नहीं और फिर सखा को अपने सखा का भजन करना योग्य ही तो है ॥ ६ ॥

**आभास—**राजसी तु तत उत्तमा तमेवार्थं प्रकारान्तरेण प्रार्थयते प्रणतदेहिना-मिति ।

**आभासार्थ—**तामसी से राजसी उत्तम हैं, अतः वह उसी ही प्रकार की प्रार्थना अन्य ढंग से 'प्रणत देहिना' श्लोक में करती है—

**श्लोक—**प्रणतदेहिनां पापकर्षणं तृणचरानुगं श्रीनिकेतनम् ।

फलफलापितं ते पदाम्बुजं कृणु कुक्षेषु नः कृन्धि हृच्छयम् ॥७॥

**श्लोकार्थ—**आपका चरण कमल, जो प्रणाम करने वाले प्राणियों के पापों का नाश करने वाला है, जो गौश्रों के पीछे फिरने वाला है, लक्ष्मी का निवास रूप है और जो कालीय नाग के फणों पर धरा हुआ है, उसको हमारे स्तनों पर रख कर, हमारे काम को शान्त करो ॥ ७ ॥

|                                                                                                                                                   |                                                                                                                                                |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी—</b>ते पदाम्बुजं नः कुक्षेषु कृणु कृणुष्व । छान्दसो लोपः । स्थापय । तस्य प्रयोजनं कृन्धि हृच्छयमिति । हृदये चौरवत् स्थितं कामं</p> | <p>कृन्धि । कुक्षेष्विति समुदायाभिप्रायेण बहुवचनम् । विरहेण भिन्नान् वा मन्यन्ते । शिरसि हस्तदानेन निकटे समानयनमुक्तम् । ततो भजनेन सम्बन्ध</p> |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|



उक्तः । अनेन विपरीतरस उच्यते, वधविशेषो वा तिर्यग्भेदः । एकवचनात् । तावता हि हृदयस्थितः कामो गच्छति । स्त्रीणां समूहे लीलाशयने परितः स्थितानां तथा सम्बन्धो भवतीति वा । ननु कर्कशेषु स्तनेषु कथं कोमलचरणस्थापनमिति चेत्, तत्राहुः फणिकणापितमिति । नहि कालिय फणात् क्रूरा अस्मत्स्तनाः । तत्र यथा चरणस्थापनं कृत्वा तदन्तर्गतो दोषो दूरीकृतः, एवमत्रापि कर्तव्यः । अम्बुजपदेन च प्रत्यक्षतस्तापहारकत्वम् । ननु तथापि स्त्रीणां वक्षसि चरणस्थापनमयुक्तमिति चेत्, तत्राहुः श्रीनिकेतनमिति । लक्ष्म्याः स्थानं तत् । लक्ष्मीः किल तत्र स्पर्शमर्हति, अग्न्यासु कं सदेह इति । ननु भवत्यो मूढाः, कथं भवतीनां हिनं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राहुः तृणचरानुगमिति । तृणचरा गावः, तेषामप्यनुग

पश्चाद्गच्छति तद्वितार्थम्, ते किं भगवता प्रेर्य-  
माणा इति तृणं परित्यज्यामृतं भक्षयन्ति तेषां  
तृणमेवामृतम्, तथास्माकमपि काम एवामृतम् ।  
नतावता परमकृपालोः कश्चनार्थः क्षेप्यते । ननु  
भवतीनां जितेन्द्रियत्वाद्यभावात् पापमस्ति, तद-  
पगमे पश्चात्पदं स्थापयिष्यामीति चेत्, तत्राहुः  
प्रणतदेहिनां पापकर्षणमिति । वयं प्रकर्षेण नता  
नास्माभिः प्रकारान्तरेण निवर्तयितुं शक्यते,  
किन्तु तव चरणप्रसादादेव न आणां पापं गच्छति  
तत्रापि देहिनः । प्रकर्षेण नतत्वेन धर्ममार्गादिप-  
रित्याग उक्तः । देहाभिमानस्य विद्यमानत्वात् न  
ज्ञानमपि । प्रणतानां हि नाप्यधोगतिः । अतस्तव  
पदमेव तेषां पापनाशकम्, चिन्तितम्, दृष्टम्,  
स्पृष्टम्, आलिंगितं वा ॥ ७ ॥

व्याख्यानार्थः--आपके चरण कमल को हमारे स्तनों पर स्थापन करो, कारण कि वह हमारे हृदय में चोर के समान छिप कर बैठे हुए काम को नाश करने वाला है, मूल श्लोक में 'कुक्षेषु' बहुवचन इसीलिए कहा है, कि न केवल मेरे जो मैं प्रार्थना कर रही हूँ, किन्तु जितनी भी हम हैं उन सबके स्तनों पर चरण कमल धरो, जिसमें सब के हृदय से काम का नाश हो जाए अथवा विरह वश गोपिकाएँ अपने स्तनों को अपना मानने में उद्यत नहीं हैं (संयोग रस में तो उन स्तनों का भगवदर्थ उपयोग है, किन्तु विप्रयोग रस में भगवदुपयोग कुछ भी नहीं, तो फिर उन्हें अपना भी क्यों माना जाए ? प्रार्थना का आशय यह है, कि हम पर यदि चरणारविन्द धरना नहीं चाहते हो तो मत धरो, परन्तु इन पर, जहाँ हूँ मैं ममत्व नहीं, है ( वहाँ ) धरने में क्या आपत्ति है ? अतः उन पर चरण कमल के स्थापन से उनमें रहे काम को दूर करो ) शिर पर हस्त कमल धरो की प्रार्थना करने का आशय निकट बुलाने का था । पश्चात् भजन करने की जो प्रार्थना की है, वह सम्बन्ध हो जाने के लिए की है । अब इस श्लोक में, विपरीत रस अथवा तिर्यक् बन्ध का कोई भेद है, जिसकी प्रार्थना की है । एक चरण कमल के स्पर्श करने की प्रार्थना से, अनुमान होता है, कि वैसा कोई बन्ध विशेष होगा, जिसमें स्तनों से एक चरण का स्पर्श होता होगा, जिससे काम की शान्ति होती होगी, अथवा भगवात् जब अनेक स्त्रियों से लीला करते हुए शयन करते होंगे, तब सब स्त्रियाँ चरण के पास स्थित होने से, चरण का सब के स्तनों से संबन्ध होकर, प्रत्येक के भावानुकूल रस की प्राप्ति होने से काम की शान्ति हो जाती होगी । यों भी आप मत कहना, कि आपके स्तन कठोर हैं उन पर अपना कोमल चरण कैसे धरें ? आप यह निश्चय जानो, कि कालिय के फणों से, हमारे स्तन कठोर नहीं हैं, अतः जैसे उसके फणों पर चरण धर, उसके दोष नाश किए हैं, वैसे (ही) हमारे स्तनों को चरण स्पर्श कराके हमारे काम को नाश कीजिए । आपका चरण, कमल है अतः ताप नाशक है, अथवा कोमल के समान भी हो, तो भी ताप नाशक ही है । इसलिए, अर्थात् ताप नाश के लिए, अवश्य हमारे स्तनों को चरण स्पर्श कराने की कृपा करो । आप का



यह कहना हम कैसे मानें ? क्योंकि स्त्रियों की छाती पर पाद रखना पुरुष के लिए योग्य नहीं है, इसके उत्तर में कहती है, कि आप का चरण लक्ष्मीजी का स्थान है अर्थात् लक्ष्मीजी आपके चरणों का स्पर्श करती है, उसमें आप अयोग्यता नहीं देखते हैं, तो लक्ष्मी की अंश रूप हमको स्पर्श कराने में क्या अयोग्यता है ? किसी प्रकार अयोग्यता नहीं है । लक्ष्मी चतुर है, आप मूढ़ हैं मूढ़ों का हित कैसे विद्या जाए ? उसके उत्तर में कहती है कि गायें मूढ़ हैं, उनके हित के लिए जैसे उनके पीछे २ जाकर उनका हित करते हैं । वे क्या आपकी प्रेरणा से तृण को छोड़कर अमृत खाती हैं ? उनके लिए जैसे तृण ही अमृत है, वैसे ही हमारे लिए काम ही अमृत है । हमारा अमृत काम है और हम मूढ़ हैं, जिससे परम कृपालु के किसी भी अर्थ की हानि नहीं होती है । तुम्हारी सब बातें हमने मानी, किन्तु तुम जितेन्द्रिय नहीं हो अतः तुम में पाप रहा हुआ है, वह जब नष्ट होगा, तब मैं चरण धरूंगा, जिसके उत्तर में कहती है, कि आप शरण में आए हुए प्राणियों के पापों का नाश करनेवाले हैं, हम तो धर्म मार्ग आदि का त्याग कर, शरण में आकर प्रणाम करती हैं । हमारे पास आपको प्रणाम करने के सिवाय कोई साधन नहीं है, अतः आपके चरणों के प्रसाद से ही, हम नम्रों के पाप नष्ट होते हैं और फिर हम तो देह धारी हैं । प्रणत—अत्याधिक नम्र हैं अर्थात् धर्म मार्ग आदि सभी साधनों के त्याग पूर्वक शरणागत हुई हैं । देहाभिमान के बने रहने से ज्ञान भी तो हममें नहीं है । प्रणत जीवों की अधोगति भी नहीं होती ( इस उभयतः पाश में अतः आप जब तक चरण स्पर्श न दें, तब तक पाप नाश नहीं हो सकता है अतः पाप नाश के लिए भी आप का मिलना आवश्यक है क्योंकि आपके चरणारविन्द ही चिन्तन, दर्शन, स्पर्श वा आलिंगन से पाप के नाशक होते हैं ॥३॥

**आभास—**इममेवार्थं ततोऽप्युत्तमा प्रकारान्तरेण प्रार्थयते मधुरया गिरेति ।

**आभासार्थ—**उसी ही आशय वाली प्रार्थना, अन्य प्रकार से, उससे भी उत्तम अर्थात् गुणातीत ! गोपी 'मधुरया' श्लोक से करती हैं ।

**श्लोक—**मधुरया गिरा वल्गुवाक्यया बुधनननोज्ञया पुष्करेक्षण ।

**विधिकरोरिमा वीर मुह्यतोरघरसीधुनाप्याययस्व नः ॥ ८ ॥**

**श्लोकार्थ—**हे कमल नयन ! हे वीर ! आपकी सुन्दर वाक्य वाली, ज्ञानियों के मन को आनन्द देने वाली, तथा मधुर वाणी से मोहित हुई हैं, जो आपकी दासी हम, उनको अधरामृत पिलाकर जीवनदान दीजिए ॥ ८ ॥

**कारिका—**हस्तेन च स्वरूपेण पदा चोपकृतिर्मता ।

**मुखेन चोपकारो हि कर्तव्य इति ता जगुः ॥ १ ॥**

**कारिकार्थ—**गोपियों ने ऊपर के ५, ६, ७ श्लोक में, हस्त, स्वरूप तथा चरण से उपकार की प्रार्थना की थी । इस ८ वें श्लोक में प्रार्थना करती हैं, कि आपके

मुखारविन्द में अधरामृत है, अतः अब उम (मुख) से आपको हमारा उपकार करना चाहिए, इस प्रकार की प्रार्थना करने लगी ॥ १ ॥

कारिका—पूर्वोक्तमपि सर्वं हि यावत्स्पष्टं न भाषते ।

तावत्सरसतां याति न कदाचिदिति स्थितिः ॥ २ ॥

कारिकार्थ—जो कुछ पहले कहा गया है वह रस भरित तब होगा, जब भगवान् मुख से स्पष्ट कहेंगे, जब तक स्पष्ट नहीं कहते हैं, तब तक उनमें सरसता नहीं होती है, यह रस की मर्यादा है ।

तात्पर्य यह है, कि रस शास्त्रानुसार भगवान् को रस उत्पन्न करने के लिए बोलना ही चाहिए इसलिए मुख की (वाणी की) प्रार्थना की है ॥ २ ॥

सुबोधिनी—हे स्वामिन्, मधुरया गिरा मुह्यतीरिमा गोपीराप्याययस्व । मोहो हि मरण-पूर्वावस्थारूपः । तासामाप्यायने हेतुः विधिकरीरिति । आज्ञाकारिणीः सेवाकारिणीर्वा । असा-मर्थ्य तु तव नास्त्येत्याहुः हे वीरेति । शौर्यं हि आर्तानामार्तिनिराकरणार्थम् । इमा इति प्रदर्शनेन क्षणमात्रविलम्बेन मरिष्यन्ति इति सूचितम् । ननु वाङ्मात्रेण कथं मोहनिवृत्तिरिति चेत्, तत्राहुः मधुरयेति । मोहो हि मायारूपः । स भवत्स्वरूपेणैव निवर्तते सच्चिदानन्दरूपेण । तत्र तव वाणी आनन्दरूपेत्याह मधुरयेति । मध्वसाधारणो रसः । तद्युक्ता मधुरा । वल्गु मनोहरं वाक्यं यत्र । वाक्यस्य मनोहरत्वं सत्य-प्रियप्रतिपादकत्वेन । अतः सद्रूपता निरूपिता ।

बुधानां मनोज्ञा आह्लादकारिणी । अनेन ज्ञान-रूपा निरूपिता । ते हि ज्ञानेनैव रता भवन्ति । मुखे नयने वर्तते इति तयोरपि व्यापारं कृत्वैव वक्तव्यमित्याहुः पुष्करेक्षणेति । कमलवत् परता-पापहारके ईक्षणे-यस्य । किञ्च, अधरसीधुना अधरामृतेन च आप्याययस्व । वक्तव्याः द्रष्टव्याः पाययितव्या इति । मूर्च्छितानां हि मूर्च्छानिवारणार्थं महामन्त्राः पठ्यन्ते कमलादीनि च शीत-लद्रव्याणि स्थाप्यन्ते । सर्वथा असाध्ये अमृतमपि पाय्यते । अतिगोप्यान् वा रसान् पाययन्ति । इयं तु मूर्च्छा नाल्पेन निवारयितुं शक्येति वीरेति सम्बोधनम् । अनेनान्तिमावस्था प्रदर्शिता । पूर्वप्रार्थिताश्चार्थाः स्मारकत्वेनाधिकमूर्च्छहितवो जाताः ॥८॥

व्याख्यानार्थ—हे स्वामी ! आपकी मधुर वाणी से, मूर्च्छित इन गोपियों को जीवन दान दो । 'मूर्च्छा' मरने की पूर्व अवस्था<sup>१</sup> है, गोपियों को जीवदान आपको देना ही चाहिए कारण, कि वे आपकी आज्ञाकारिणी वा सेवा करने वाली दासियां हैं । यों भी नहीं है कि आपमें जीवन दान देने की सामर्थ्य नहीं है, वह तो आप में ही क्योंकि आप 'वीर' हैं । वीरों में जो शौर्य<sup>४</sup> है, वह दुःखियों के दुःख को मिटाने के लिए ही होता है । 'इमा' शब्द कहने से यह संकेत किया है, कि यदि आप जीवदान में क्षण मात्र भी विलम्ब करोगे, तो वे मर जायेगी अतः देर मत करो ।



केवल वाणी से, मोह की निवृत्ति कैसे होगी, यों आप का कहना भी ठीक न होगा, क्योंकि मांह जो है वह माया का रूप है, अतः आप के सच्चिदानन्द स्वरूप के दर्शन से ही वह चला जाता है, तो आप की आनन्द रूप वाणी से तो वह निवृत्त होगा ही। यों कहकर अब वाणी के गुणों का वर्णन करती हूँ, आपकी वाणी असाधारण रस वाली है, तथा सत्य एवं प्रिय का प्रतिपादन करने वाली होने से मनोहर है, जिससे वाणी की सत् रूपता का वर्णन हुआ। ज्ञानियों के मन को आनन्द देने वाली होने से, ज्ञान रूपा है। वे ज्ञानी इसी कारण मे 'वाणी मे ही रत' हैं। इसके सिवाय आपके मुख पर जो नेत्र हैं वे कमल की भांति अन्य के ताप को मिटाने वाले हैं अतः नेत्रों के व्यापार पूर्वक ही हमें वचनां का अमृत पिलाओ इसलिए 'पुष्करेक्षण' कहा। और अधरामृत से हमें तृप्त भी करो। अर्थात् हमारे सामने आकर हमसे योलो, हमारी ओर देखो और हमें अधरामृत का पान कराओ। जो मूर्च्छित हो जाते हैं, उनकी मूर्च्छा दूर करने के लिए (१) बड़े-बड़े मंत्र पढ़े जाते हैं (२) कमल या ऐसे शीतल पदार्थ उन पर रखे जाते हैं (३) असाध्य हो तो अमृत भी पिलाना पड़ता है, ऐसी-ऐसी रसौपधियां जिनका रहस्य चिकित्सक जल्दी किसी को बताते नहीं ! ऐसी ही यह गोपियों की भी मूर्च्छा है जो सामान्य या अल्प उपचारों से दूर नहीं होता ! इसके लिए तो किसी 'वीर' की अपेक्षा है और वह तो आप (कृष्ण) स्वयं ही हैं (क्योंकि सारे उपाय भगवान् के पास है यथा (१) भगवान् का सामने आकर बोलना महामंत्र का काम करेगा (२) गोपीजनों पर दृष्टिपात कमल जैसे शीतलता का काम करेगा उनके लिए (३) अधर रस तो अमृत है ही, जिसके बीना असाध्य मूर्च्छा दूर नहीं होगी) यह अन्तिम अवस्था है, क्योंकि इससे पहले जो कुछ कहा, उनका भी स्मरण हो आना है, अतः और गहराई मूर्च्छा<sup>२</sup> न आ जाती है ॥८॥

आभास—एवं पदार्थचतुष्टयं संप्रार्थ्य तददाने स्वयमेव हेतुमाशङ्क्य परिहरन्ति तव कथेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार गोपियाँ ने ऊपर के श्लोक में ४ पदार्थों के देने की प्रार्थना की थी, जब वे भगवान् ने नहीं दिए, तब उन्होंने मन में समझा, कि कदाचित् भगवान् ने हमको अयोग्य (अभक्त) समझ कर नहीं दिए हैं, जिस कारण से, भगवान् की दृष्टि में हम अयोग्य देखने में आई हैं, उस कारण का परिहार कर दिखाना चाहिए, यह विचार कर अनन्यपूर्वा राजस-सात्विकि कुमारिका 'तब कथा' इस श्लोक में सिद्ध करती हैं, कि हम अभक्त नहीं हैं—

श्लोक—तत्र कथामृतं तस्य जीवनं कविमिरीडितं कल्मषापहम् ।

श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं भुवि गृणान्ति ते भूरिदा जनाः ॥ ६ ॥

श्लोकार्थ— आपका कथा रूप पियूष<sup>३</sup> संसार से तृप्तों का जीवन है, शब्द के अर्थ के रस को जानने वालों ने उसकी स्तुति की है, पाप नाशक है, श्रवण से ही मङ्गल





व्याख्यार्थ—गोपी प्रथम मन से कल्पित, वह कारण कहती है, यदि भगवान् कहें कि यह सब जो आपने मांगा है, वह तो भक्तों को देना योग्य है, न कि अभक्तों को देना चाहिए, आप विरहावस्था में जीवन धारण कर रही हैं अतः अभक्त होने से, उनके लेने के योग्य नहीं है। आपका जीवन रहे, इसकी भगवान् को कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भगवान् सर्व निरपेक्ष<sup>१</sup> हैं। भगवान् के पास लक्ष्मी जैसी अनेक दासियां हैं। अतः आपका यह 'त्वयि धृतासवः' आदि कहना व्यर्थ ही है, इसलिए की हुई प्रार्थना निरर्थक ही है। इस प्रकार भगवान् के दृष्टिकोण का निराकरण करती है, कि हम विरह होते हुए भी जीवित हैं जिससे हम अभक्त और अयोग्य हो सकती थी किन्तु यह जीवन धारण करना हमारे प्रयत्न से नहीं है। विरह से हमारे प्राण तो कभी के निकल जाते, किन्तु आपकी कथा उनके जाने में रुकावट है, कारण, कि जैसी आपकी सामर्थ्य है, वैसी ही कथा की भी सामर्थ्य है। वह भी आपके समान ऐश्वर्य आदि छ गुणों वाली, मोक्ष देने वाली और परमानन्द दायिनी है। मूल श्लोक में दिए हुए 'कथामृत' पद ने इसका समर्थन किया है। 'कथा' अमृत के समान है किञ्च यह अमृत भगवद् रस रूप है, जिससे सदेव के लिए जन्म मरण के चक्कर से जीव छूट जाता है अतः मोक्ष दातृत्व तथा परमानन्दरूपता प्राप्ति कराने वाला यह भगवद् रस रूप कथामृत है।

जैसे आप में ऐश्वर्य आदि छ गुण हैं वैसे कथा में भी है जिसके लिए छ (६) विशेषण पद दिए हैं।

१—तप्त जीवन—आप का कथा रूप पियूष संसार से तप्त जीवों के ताप को नाश कर उनको जीवन देता है। अमृत, ताप को नाश करता है यह तो प्रसिद्ध ही है। सर्व प्रकार के ताप को भगवान् का वैराग्य अथवा भगवान् का ज्ञान नाश करता है। जो संस्कार करने योग्य है, वह ताप ज्ञान से नाश होता है और जो उसके (संस्कार के) योग्य नहीं है वह परित्याग<sup>२</sup> से नाश होता है। इसलिए ही संस्कार करने में अशक्त स्मार्त परित्याग का ही उपदेश देते हैं। अतः ज्ञान और वैराग्य, ताप के नाश करने वाले हैं।

ज्ञान और वैराग्य ताप नाश करने वाले हैं इसमें क्या विशेषता हुई? ताप को तो जल भी नरुश करता है यह प्रत्यक्ष प्रसिद्ध ही है। इस पर कहती हैं, कि जल विरह के ताप को नाश करता है यह किसी विद्वान ने नहीं कहा है, किन्तु कथामृत के श्रवण से उत्पन्न, ज्ञान तथा वैराग्य, ताप नाशक है, यह शब्द एवं अर्थ के रस को जानने वाले कवियों ने माना है।

कवियों ने तो स्त्रियों के लिए भी कहा है, कि वे ताप नाशक हैं, तो फिर कथामृत में कौनसी अधिकता रही? इसके उत्तर में कहती हैं, कि स्त्रियों द्वारा लौकिक ताप के नाश का आभास कुछ समय होता भी है, किन्तु कथामृत में न केवल विरह ताप को समूल नष्ट करने की शक्ति है, किञ्च पापों को भी नाश करने का पूर्ण बल है। अतः स्त्रियां कथामृत की समानता कभी भी नहीं कर सकती हैं। यह तीसरा विशेषण (कल्मषापहम्) कथा के गुण (धर्म) का वर्णन करता है। छ गुण—'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः त्रियः। ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णा भग इतीरना' इस श्लोक में ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य ये छ गुण कहे हैं। छ गुण बताने वाला श्लोक





दूसरे प्रकार से भी पढ़ा जाता है जिसमें 'धर्म' के स्थान पर 'वीर्य' शब्द है। धर्म तथा वीर्य शब्द का तात्पर्य एक ही है, कारण कि अलौकिकता की सिद्धि वीर्य<sup>१</sup> से ही होती है अतः वीर्य धर्म का ही रूप है। धर्म पाप का नाश करने वाला है और अलौकिक को भी सिद्ध करता है। कथा पाप नाश करती है तथा अलौकिक भी सिद्ध करती है यह सर्वत्र प्रसिद्ध है।

प्रायश्चित्त आदि भी पापों के नाशक हैं, यह भी प्रसिद्ध है तो इसके उत्तर में कहती है, कि कथा तो केवल श्रवण करने से ही मङ्गल करती है। उसने कुछ भी वैसा नहीं है जिससे घोरता<sup>२</sup> व ग्लानि उत्पन्न होवे, किन्तु प्रायश्चित्त करने में, जो प्रथम क्रियाएँ की जाती हैं, वे ही घोर तथा ग्लानि वाली हैं। जैसे शरीर पर गोमय का लेप करना, उपवास करना आदि सर्व अमङ्गल जैसे देखने में आते हैं, वे क्रियाएँ घोर होने से, श्रवण समय भी मन में आनन्द उत्पन्न नहीं करती हैं, यह अनुभव से ही सिद्ध है। अतः कहा है, कि 'श्रवण मङ्गलम्'। इस चतुर्थ विशेषण से कीर्ति रूप गुण का वर्णन कर बताया है, कि भगवान् तथा उनकी कथा का यश गुण समान ही है।

पुत्र जन्म आदि कार्य भी, श्रवण से आनन्द देने वाले हैं। कुछ धर्म की समानता भी है, अतः ये भी कथा जैसे ही हैं। इसका निराकरण करती हुई कहती है, कि कथा 'श्रीमत्' लक्ष्मी वाली है। कथा से श्रोता तथा वक्ता को उसकी सिद्धि प्राप्ति होती है और लक्ष्मी भी कथा रूप अमृत की अपेक्षा करती है, उससे (कथा श्रवण से) लक्ष्मी भी कीर्ति प्राप्त करना चाहती है।

राज्य प्राप्ति भी, आनन्द और यश वाली है, अर्थात् जिसको राज्य मिलता है, वह प्रसन्न होता है तथा उसका यश भी होता है। इसके उत्तर में कहती है, कि 'कथामृत' चारों तरफ फैला हुआ रहता है, अर्थात् सब लोक उसको सुनते तथा पान करते हैं अतः वह भीतर, बाहर अपना सामर्थ्य संपादन करता है। राज्यादि तो परिच्छिन्न<sup>३</sup> हैं, कथामृत अपरिच्छिन्न होने से उसका आनन्द और कीर्ति भी अनन्त है इस विशेषण से बताया है कि जैसे भगवान् का ऐश्वर्य गुण अपरिमित है वैसे ही कथा का ऐश्वर्य गुण भी सीमा रहित है।

इसी कारण से आपकी कथा भी स्वरूप तथा धर्म से आपके समान ही है, उससे ही हमारा जीवन रहा हुआ है, न कि स्वतः<sup>४</sup> रहा है। आप तो कभी मारते भी हो, किन्तु मरने के समय भी, कथामृत मृत्यु से बचा लेता है। जिससे कथामृत आपसे भी विशेष हो सकता है। किञ्च आप स्वतन्त्र हैं, कथामृत पराधीन है यही आप में और कथा में अन्तर है।

ब्रह्मादि प्रार्थना करते हैं तब उनकी प्रार्थना से अवतार लेकर, आप आते हैं आए हुए भी छिप जाते हैं, कथा आई, तो फिर तिरोहित नहीं होती है। अतएव<sup>५</sup> वैसे कथामृत जो प्रसिद्ध व्यासादि महर्षि भूमि पर कहते हैं, वे ही बहुत अर्थ देने वाले हैं। वे व्यासादि, केवल बहुत अर्थ देने वाले नहीं हैं किन्तु जन्म रहित भगवद्रूप ही हैं, अथवा उनके जन्म मरण<sup>६</sup> दोष नष्ट हो गए हैं।

१—पराक्रम, २—भयंकरता अर्थात् डर, ३—सीमावाले, ४—अपने आप,  
५—इसी कारण से, ६—इस प्रकार अर्थ करने के समय 'भूरिदाजनाः' साथ पढ़ना चाहिए  
जिसे अजन शब्द बन सके।



कथामृत के स्वरूप तथा भगवत्स्वरूप में क्या भेद है ? उसको दृष्टान्त द्वारा समझाते हैं, जैसे एक वस्तु होते हुए भी जल और बर्फ में भेद है: जल प्रवाही है और बर्फ घन है। इसी प्रकार कथा प्रवाही रस स्वरूप है और आप घन स्वरूप हो। कथा रस, विरह में मरण आने पर उसको निवृत्त कर देता है, किन्तु एक स्थान पर इकट्ठा होकर रस जनक नहीं है। आप रस पिण्ड होने से एक स्थान पर रसदान दे सकते हैं, यह ही आप और कथा में भेद है। यह भेद नहीं हो तो, केवल कथा के लिए ही प्रयत्न किया जाता किन्तु इसी भेद के कारण आपके मिलने के लिए प्रयत्न किया जाता है। विरह के कारण आने वाली मृत्यु को रोकने के लिए कथा का उपयोग किया जाता है, अतः उसकी स्तुति, भगवत्स्वरूप से की जाती है। इसीलिए कहा जाता है, कि भगवान् की कथा कहने वालों ने बहुत दिया जिससे जीवन टिक रहा है यह राजस-सात्विकी व्रज भक्त का कथन है ॥६॥

गो० बल्लभलालजी लेख में कहते हैं कि—भगवान् की कृपा से जब जीव में भगवत् धर्म रूप ज्ञान प्रवेश करता है तब वह ताप नाश हो जाता है इसी भांति कथा रूप अमृत रस जब कर्ण द्वारा हृदय में जाता है तब भी जीव का ताप नाश हो जाता है,

संसार के विषय के नाश हो जाने के पश्चात् ताप की निवृत्ति होती है, विषय भी दो प्रकार के हैं—एक संस्कार के योग्य, दूसरे संस्कार के योग्य नहीं है। जो संस्कार के योग्य हैं उनसे उत्पन्न ताप ज्ञान से नाश हो जाता है। जब तक भगवत्कृपा से भगवत् ज्ञान का अन्तःकरण में प्रवेश नहीं हुवा है, तब तक भगवान् से वह अन्य है, वैसी प्रतीति होती है जिससे उस प्रकार के सम्बन्ध द्वारा जीव को ताप होता है,

जब संस्कारों ( सत्कर्म, सत्सङ्ग आदि साधनों ) द्वारा भगवत्कृपा से भगवत् ज्ञान प्राप्त होता है, तब सर्वत्र भगवद् दृष्टि से सर्व ब्रह्म रूप है। वैसा निश्चित ज्ञान हो जाने से, अन्य प्रतीति से जो ताप होता था, वह नष्ट हो जाता है।

जो स्त्री आदि वस्तु हैं, जिनके सङ्ग से ज्ञान भी नष्ट हो जाता है वह संस्कार के योग्य नहीं है, अतः उनसे उत्पन्न वैराग्य धारण कर, उनका जब परित्याग किया जाता है, तब ताप नष्ट होता है।

**आभास—**तामस्याः वचनमाह प्रहसितमिति ।

**आभासार्थ—**‘प्रहसितं’ इस श्लोक में राजस-तामसी के वचन कहते हैं।

**श्लोक—**प्रहसितं प्रिय प्रेमवोक्षितं विहरणं च ते ध्यानमङ्गलम् ।

रहसि संविदो या हृदिस्पृशः कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि ॥१०॥

**श्लोकार्थ—**हे प्रिय ! आपका प्रकृष्ट हंसना, प्रेमसहित देखना ध्यान मङ्गल, वेगुवादन करते हुए चलना, हृदय को स्पर्श करने वाली एकान्त की वाणी, ये सब



हे कपटी ! हमारे मन को क्षोभ<sup>१</sup> करते हैं ॥१०॥

**सुबोधिनी**—यद्यपि कथया स्थातुं शक्यते, यदि त्वदीयैर्धर्मैः क्षोभो नोत्पादितः स्यात् । यथा भगवति पङ्क्त्याः सन्ति, तथा षट् व्यामोहका अपि गुणाः सन्ति । अन्यथा कथयैव चरितार्थता स्यात् । तदर्थं भगवान् मायया कुहकलीलामपि करोतीति स्वस्वभावदोषात् भगवति तथा स्मृतिरिति । यथा ज्वरितस्य अन्ने विरसताप्रतीतिः । अत आह । तव प्रहसितादिकं नो मनः क्षोभयतीति । प्रकर्षेण हसितम् । स्वभावत एव खिन्ना तां त्यक्त्वा अन्यया सह स्थित इति । ततश्चेत् समागत्य प्रकर्षेण हसति, सुतरां क्षोभं प्राप्नोति । प्रियेति सम्बोधनात् तव सम्बन्धोऽपि स्मृतः क्षोभजनको जायते । अत एव यासां न सम्बन्धः, तासां न क्षोभः । किञ्च, तव यत्प्रेमवीक्षितं प्रेम्णा वीक्षितं तदपि क्षोभयति । स्मृतं सत् । अन्यविषयकं वा विश्वासजनकत्वाद्वा अन्तः कपटरूपमिति क्षोभजनकम् । अन्यथा कार्ये विसंवादो न स्यात् । मनस उत्तोलकं वा । आशाजनकम् ।

आशयाच्च श्रमः । तव विहरणमपि क्षोभजनकम् विहरणं यच्चलनं वेणुवादनादिना । रसो भगवदीय आकाराद्बहिः स्थाप्यत इति विशेषेण हरणं यस्मादिति त्रिभङ्गललितादिकं भवति । तत्पूर्वमस्माभिर्ध्यातमिति ध्यानं एव मङ्गलं त्वल्लक्षणं शुभफलं प्रयच्छतीति । तदपीदानीं क्षोभजनकम्, तिरोहितत्वान् । न इति सर्वत्र सम्बन्धः । अन्यन्माययापि करोतीति मुख्यतया अत्रोक्तिः । एवं रूपसम्बन्धे चतुष्टयं क्षोभकमुक्तम् । नामसम्बन्धि द्वयमाह रहसि संविद इति । वा हृदिस्पृश इति । रहसि एकान्ते सविदो ज्ञानरूपाः भगवद्वाचः । ज्ञानान्येव वा शास्त्रजनितानि बन्धाद्यभिज्ञारूपाणि । तत्रापि या वाचो हृदिस्पृशः हृदयगामिन्यो भवन्ति । अस्मदनुगुणा एव बन्धसंविदो वा । न तु केवलं नायकानुगुणाः । अत एवमेते सुखहेतवोपि, भवान् वञ्चयति चेत्, तदा क्षोभं जनयन्ति । अयमर्थः सर्वानुभवसिद्ध इत्याह हीति ॥१०॥

**व्याख्यानार्थ** -यद्यपि कथा के सहारे हम जी सकती थी, परन्तु फिर आपके गुण-धर्मों से अत्यन्त क्षोभ उत्पन्न होता है । जैसे भगवान् में ६ गुण हैं, वैसे ही, ६ मोह उत्पन्न करने वाले भी गुण हैं । अन्यथा कथा से काम चल सकता था । इसलिए भगवान् माया द्वारा कपट लीला भी करते हैं, तो अपने स्वभाव के कारण, भगवान् में भी दोष दिखाई पड़ने लगते हैं । जिस प्रकार, ज्वर पीड़ित<sup>२</sup> को अन्न में कड़वास आदि की प्रतीति होती है, जो वास्तविक अन्न में नहीं है, उसी प्रकार गोपियों को भी अपने दोषों से, भगवान् में दोष की प्रतीति होती है, जो वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो भगवान् में नहीं है । इसी कारण से कहती हैं कि आपका विशेष हँसना आदि हमारे मन में क्षोभ उत्पन्न करता है ।

अपने तामस स्वभाव के कारण खिन्न गोपी को छोड़कर अन्य गोपी के साथ भगवान् का जाना और फिर सामने आकर हँसना, यह सब नितान्त क्षोभ उत्पन्न करता है । हे प्रिये ! इस संबोधन देने का तात्पर्य कहते हैं, कि यह सम्बोधन देकर गोपी बताना चाहती है, कि आपका सम्बन्ध जब याद आता है, तब वह भी क्षोभ उत्पन्न करता है, अतः जिनका आप से सम्बन्ध नहीं है, उनको क्षोभ भी नहीं है ।



आपका प्रेम से देखना जब याद आता है तब वह भी क्षोभ उत्पन्न करता है । अन्य गोपी को आपने प्रेम से देखा उसकी जब स्मृति होती है, तो भी क्षोभ होता है । अथवा आप कपट रूप से (केवल ऊपर ऊपर से) प्रेम दिखाकर विश्वास उत्पन्न कराते हैं, इस बात की स्मृति होती है तब भी क्षोभ होता है यह जो न हो तो फिर कुछ भी विसवाद कार्य में नहीं होता । अथवा यदि हमारे मन की परीक्षा के लिए आप यों करते हैं, तो भी हमारे मन में क्षोभ होता है, कारण कि हमारा प्रेम तबीन वा बनावटी नहीं है, किन्तु सहज एवं प्रसिद्ध है तो भी उसकी परीक्षा की जाए तो उससे भी क्षोभ उत्पन्न होता है ।

आपका प्रेम से देखना आशा को उत्पन्न करता है, आशा से श्रम होता है और श्रम करने से क्षोभ होता है ।

आप जब वेणुनाद आदि करते हुए चलते हैं, जिससे आपका स्वरूप त्रिभङ्ग ललित आदि बन जाता है वह 'विहरण' भीतर रहे हुए रस को बाहर निकाल नेता है, अतः वह भी क्षोभ जनक है ।

उस त्रिभङ्गललित स्वरूप का जब हम पहले ध्यान करती थी, तब ध्यान करने से हमारा मङ्गल होता था, अर्थात् उससे शुभ फल की प्राप्ति होती थी, किन्तु अब वह भी क्षोभ उत्पन्न करता है, क्योंकि आप तिरोहित हो गए हैं ।

मूल श्लोक में, जो 'ते' पद है उसका सम्बन्ध चारों 'प्रहसित', 'प्रेम वीक्षित', 'विहरण' और 'ध्यान मङ्गल' से है, किन्तु मुख्यतया 'विहरण' और 'ध्यान मङ्गल' पद से है, कारण, कि 'प्रहसित' तथा 'प्रेमवीक्षित' ये माया से की हुई लीला में भी होते हैं । ये चार, रूप के सम्बन्ध से क्षोभ जनक होते हैं ।

भगवान् के चार रूपों को क्षोभ जनक बताकर दो प्रकार से नाम भी क्षोभ जनक बनते हैं यह 'रहसि सविद' से दिखलाया जा रहा है । एकान्त में ज्ञानरूप भगवान् की चाणी अथवा बन्ध इत्यादि का व्यावहारिक ज्ञान जो शास्त्रीय ज्ञान से उत्पन्न होता है और फिर वह चाणी, जो हृदय में पैठती हो और फिर वह बन्ध आदि का ज्ञान जो हमारे लिए उपयोगी है न कि केवल नायक के लिए । यों ये दोनों सुख देने वाले पदार्थ भी यदि भगवान् ठगार्ई करें तो क्षोभ ही उत्पन्न करते हैं । यह सभी कोई मान एवं जान सकता है इसलिए 'हि' देकर बात की प्रसिद्धि दिखलाई ॥१०॥

**आभास—**राजस्या वचनमाह चलसोति ।

**आभासार्थ—**राजस-राजसी के वचन 'चलसि' इस श्लोक में कहते हैं ।



श्लोक--चलन्ति ब्रह्मजाच्चारयन्पशून् नलिनसुन्दरं नाथ ते पदम् ।

शिलतृणाङ्कुरैः सीदतीति नः कलिलतां मनः कान्तं गच्छति ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ-- हे नाथ ! आप पशुओं को चराते हुए ब्रज से वन में जाते हैं, और वहाँ कमल से भी कोमल आपके चरण, कंकर, वास और दर्भ के कोनों से जब दुःख पाते हैं तब हे कान्त ! हमारा मन दुःखी होता है ॥ ११ ॥

सुबोधिनी—अस्माकं तु स्नेहवशान् त्वद्विषयिकासमीचीनेऽपि स्नेदबुद्धिर्जायते, तत्र तु नास्मद्विषयिणो सत्यवेदेऽपि जायत इति न्यायविरोधमिवाह । यत् ब्रजात्पशून् चारयन् चलन्ति । तत्र चलनं नलिनापेक्षयापि सुन्दरं कोमलं, हे नाथ, ते पदं मार्गस्थितैः शिलतृणाङ्कुरैः, शिला, पाषाणाः तृणानि, अङ्कुराः दर्भादीनाम्, तामसानि सात्विकानि राजसानि । अथवा शिलारूपं यत्तृणं शिलतृण कठिनतृणम्, तस्याङ्कुरैः अतिपशुपतीक्ष्णैः सीदतीति क्लेशं प्राप्नोतीति, वस्तुतो न प्राप्नोत्येव, तथापि हे कान्त भर्त, मनः कलिलतां गच्छति । ब्रजादिति प्रातरारम्भे स्नेदः सूचितः । चलनादेव च स्नेदः । अतः प्रथमतस्तदेवोक्तम् । वस्तुतस्तु तव पदे अस्मत्स्थानं विहाय न गच्छतः, तथापि भवानेव तथा चालयति । किञ्च, इजस्थिता गावः अरण्ये

नीयन्ते, तासां चारणं न मार्गगमनेन भवति । अतः अमार्गोऽपि गन्तव्यम् । भूम्यादीनां अनुग्रहार्थं न पादुकाग्रहणम्, पात्वाणां चर्म च न परिधेयम् । अतो नलिनसुन्दर पदमेव शिलतृणाङ्कुरैः सीदति । जले एव स्थातुं योग्यम्, जलपूर्णं वा । नलिनादपि सुन्दरं चेत्, लक्ष्म्यामस्मासु वा स्थातुं योग्यम् । नाथेति सम्बोधनात् बहव एवात्रार्थे नियोज्याः सन्ति, तथापि स्वयमेव गच्छसीति । वने हि त्रिविधा भूमिः, पर्वतरूपा अरण्यरूपा कच्छरूपा च । तत्र क्रमेणैकमेकत्र भवति, सर्वं वा सर्वत्र । अवसादः अशक्त्या एकत्र स्थितिः । तदा चिन्ता भवति । स्वयं गत्वा स्वहृदये स्थापनीयमिति । मनःकान्तेति च । तेन मनः स्थापितमपि न तिष्ठतीति ॥ ११ ॥

व्याख्यान्य—आपमें हमारा वैसा स्नेह है, जिससे आप स्वस्थ हैं, तो भी मन में यों होता है, कि प्यारे को कष्ट हुआ है और इससे मन दुःखी होता है । किन्तु यदि हम सचमुच दुःखी होवे तो भी आपको उस विषय की चिन्ता नहीं होती है । यह तो अन्याय जैसा है । इस श्लोक में गोपी इस अन्याय का वर्णन करती है—जब पशुओं को चराते हुए ब्रज से जाते हैं, तब हे नाथ ! वहाँ चलते चलते कमल से भी कोमल, आपके चरण, मार्ग में पड़े हुए कठिन तृणों के बहुत तोड़े अङ्कुरों से, अथवा कंकर, तृण दर्भ आदि के अङ्कुरों के कोनों से दुःख पाते हैं, इन तीनों में कंकर तामस, तृण सात्विक और दर्भ राजस है, वास्तव में दुःख नहीं पाते हैं, तो भी हमारी वैसी भावना होने से, हे कान्त ! मन दुःख पा रहा है । अब नहीं, किन्तु ब्रज से पधारने के समय से, इस प्रकार का विचार करते हुए मन में स्नेद बुद्धि उत्पन्न हो रही है । चरणों के चलने से ही स्नेद हुआ है, अतः प्रथम उसका वर्णन किया है । वास्तव में तो आपके चरण, जो हमारे हृदय में रहते हैं, वे इस स्थान को छोड़कर कहीं नहीं जाते हैं, तो भी आप ही उनको इस प्रकार चलाते हैं । आप ब्रज में स्थित गौओं को वन में चराने के लिए ले जाते हैं, उनका चराना केवल सीधे रास्ते पर नहीं होता है, किन्तु जहाँ भी जावें, सर्वत्र साफ रास्ता नहीं होता है, जहाँ कंकर आदि होते हैं वहाँ भी जाना पड़ता है । आपको गौ चारण लीला से भूमि पर भी अनुग्रह



करना है, वह तब हो. जब आप नंगे पैर पधारो, जिससे भूमि आपके चरणों को स्पर्श कर, आनन्द प्राप्त करे : इसलिए आप पादुका<sup>१</sup> धारण नहीं करते हो, अथवा चर्म पादुका न पहनने का यह भी कारण है, कि जिसका पालन करते हो उनका चर्म धारण नहीं करना चाहिए, जिससे आपके चरण नंगे हों और वे चरण कमल से भी कोमल हैं फलतः कंकर, तृण और दर्भों के अंकुरों से दुःख पा रहे हैं। ये चरण कमल, जल में अथवा जल पूर्ण सरोवर में रहने योग्य हैं अथवा कमल से भी सुन्दर हैं तो लक्ष्मीजी में वा हमारे हृदय सरोवर में स्थित होने योग्य हैं। गोपी भगवान् को “नाथ !” सुबोधन देकर यह सूचित करती है, कि नाथ के पास काम करने वाले बहुत सेवक होते हैं आपके पास भी बहुत हैं उनको इससे उस कार्य में लगाना चाहिए था, किन्तु यों न कर आप स्वयं (अकेले) ही गौश्यों को चराने के लिए जा रहे हैं।

हे नाथ। वन की भूमि एक प्रकार की सरल नहीं होती है, किन्तु तीन प्रकार की होती है, १-पर्वत रूप, २-अरण्य रूप और ३-कच्छ रूप है। वहां क्रम से एक में एक होता है जैसे पर्वत रूप भूमि में कंकर, अरण्य रूप भूमि में तृण और कच्छ रूप भूमि में दर्भ आदि होते हैं, अथवा सर्व (कंकर, तृण और दर्भ) सर्वत्र होते हैं। अचानक कही भगवान् कंकर व अंकुर आदि के चुभ जाने से चलने में असमर्थ होकर एक स्थान पर ठहर जाते हैं, गोपी कहती है कि तब हमको चिन्ता होती है और यों मन में विचार आता है कि स्वयं जाकर अपने हृदय में स्थापना कर लेवे, ‘मनः कान्त’ में ‘मनः’ और ‘कान्त’ पद को साथ लेकर उसका भाव बताते हैं, गोपी कहती है, कि हमारे मन के आप कान्त है, इसलिए आपने मन की रक्षा की, अर्थात् मन को यहां स्थापित अथवा स्थिर कर दिया है, तो भी, मन चाहता है, कि जहां आपको चरणों में पीड़ा होती है वहां चल् ॥

आभास—एवं सप्तविधा अनन्यपूर्वा निरूपिताः। चतस्रश्च ताः। अतः परं क्रमेण षट् ता एव निरूप्यन्ते। तत्र प्रथमं राजसतामस्या वचनम्। ता हि बहि-गत्वा द्रष्टुमशक्ताः। अतो यदा संव्यायां भगवानायाति तदा भगवन्तं दृष्ट्वा मनसि कामो भवति। ततो बन्धप्रार्थना अधरामृतप्रार्थना च राजसा सत्त्वेन च भविष्यतः। अनन्यपूर्वाणां तु नित्य एव कामः। दिनपरिक्षये इति।

आभासार्थ—अब तक के ११ श्लोकों में से पहले के चार श्लोक अन्यपूर्वा<sup>३</sup> गोपियों ने कहे हैं, १-पहला श्लोक सात्विक-राजस गोपी ने कहा है, २-दूसरा श्लोक सात्विक-तामसी ने कहा है, ३-तीसरा श्लोक सात्विक-सात्विकी ने कहा है, और ४-चौथा श्लोक गुणातीता ने कहा है, पश्चात् ५ से ११ तक सात श्लोक अनन्य पूर्वाओं<sup>४</sup> ने कहे हैं, ५ वां श्लोक सात्विक-सात्विकी ने कहा है, ६ वां श्लोक सात्विक-तामसी ने कहा है, ७ वां श्लोक सात्विक-राजसी ने कहा है, ८ वां श्लोक निर्गुणा ने कहा है, ९ वां श्लोक राजस-सात्विकी ने कहा है, १० वां श्लोक राजस-तामसी ने कहा है, ११ वां श्लोक राजस-राजसी ने कहा है-

१—पगरखी, २—नदी के तट वाली, ३—विवाहित,  
४—जिन्होंने विवाह नहीं किया है, कुमारिकाएँ



अब १२ वे श्लोक से क्रम पूर्वक वे अन्य पूर्वा कहती हैं, उनमें से यह श्लोक प्रथम राजस-  
तामसी ने कहा है, अन्य पूर्वाएँ विवाहित है अतः वज से बाहर वन में जाने में असमर्थ हैं, जिससे  
सन्ध्या के समय जब भगवान् पधारते हैं तब प्रभु के दर्शन से उनके मन में काम उत्पन्न होता है,  
पश्चात् रजोगुण के उदय होने से, बन्ध की प्रार्थना करती है और सतोगुण के उदय होने से अधरामृत  
की प्रार्थना करती हैं ।

अन्य पूर्वा (कुमारिकाओं) को तो रात्रि दिवस भगवान् के पास रहकर रमण होता ही है,  
जिससे उन को तो नित्य काम है; अतः उनको भगवान् काम दान नहीं करते हैं केवल व्रज में पधारते  
समय, अन्य पूर्वाओं को काम का दान करते हैं, जिसका वर्णन 'दिन परिक्षये' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—दिनपरिक्षये नीलकुन्तलवनरुहाननं बिभ्रदावृतम् ।

धनरजस्वलं दर्शयन् मुहुर्मनसि नः स्मरं वीर यच्छसि ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—हे वीर ! सन्ध्या के समय काले केशों से आच्छादित और गोरज से  
भरा हुआ मुख कमल पुनः पुनः दिखाकर आप हमारे मन में काम को उत्पन्न करते  
हैं ॥ १२ ॥

सुबोधिनी—दिनपरिक्षये संध्याकाले । क्षयो-  
क्त्या दिने दृश्यत्वं ज्ञाप्यते । रजोगुणस्यायं  
समयः, कामस्य च कालः । नीलकुन्तला भ्रमरा  
इव रत्नबोधकाः । ये हि मुखकमललावण्यामृतं  
पिबन्ति, ते उद्बोधका भवन्ति । अतस्तैरावृतं  
वनरुहवत् कमलवत् आननं बिभ्रत्, हे वीर, नः  
मनसि स्मरं यच्छसि । ( सन्ध्यायां नीलवर्णरा-  
वृतत्वे तत्प्रभाव्याप्तत्वं भवतीति तदुक्त्या वन-  
रुहोक्त्या च कुलव्याप्तत्वं ज्ञाप्यते । तथा च  
प्रियामुखेन्दुदर्शनेनोत्तरोत्तरमधिकविकासवत्त्वगितः  
पूर्वमतादृशत्वं च ज्ञाप्यते । तेन प्रियस्य सर्वा-  
स्वासक्तिः सूचिता भवति । अत एव जलपदं  
विहाय वनपदमुक्तम् । तेन वने यावस्था तां  
ज्ञापयितुं तान् धर्मान् बिभ्रदेवाननं दर्शयतीति  
ध्वन्यते । ) धनेन गोभिः रजस्वलम् । मुहुश्च  
प्रदर्शयन् । मध्येमार्गं गच्छन् उभयतः स्थिता  
गोपीः पर्यायेण पश्यति । अतो मुहुः प्रदर्शनम् ।  
अग्रे गच्छन् पुनः पुनर्व्याप्त्यं पश्यतीति वा तथा ।

तादृग्दर्शनं स्वापेक्षाज्ञापकमिति स्मरजनकम् ।  
निरन्तरदर्शनेन तत्रैव रसास्वादनमिति न स्मरो-  
त्पत्त्यवसरः स्यात् । अतो वारवारं प्रदर्शनं  
स्मरान्नेः संधुक्षणमिव भवति । तादृशं कृत्वा  
तत्पूरणार्थं तन्निराकरणार्थं वा युद्धमवश्यं  
कर्तव्यम् । तत्सूचयन्ति वीरेति । धनेन रजस्वलं  
च श्रमसूचकं भवति । श्रमनिवृत्तिश्चास्माभिरेव ।  
वनरुहमिति । वन एवैतत्सर्वथा भोग्यम् ।  
अतोऽत्रैव समागमनम् । अनेन गृहे रतिं दास्यामीति  
पक्षो व्यावर्तितः । बिभ्रदिति बलात्कारेण तामे-  
वावस्थां स्थापयति । यदि मुखसंमार्जनं कृत्वा  
समागच्छेत्, तदा प्रसन्नमुखदर्शनात् ज्ञानं वा  
भवेत् । धनसम्बन्धि रज इति काम एव, न तु  
क्रोधः । यथा पात्रं धृत्वा तत्स्थितमन्नं भोगार्थं  
दीयते, तथा मुखं धृत्वा तत्रत्यो रसः कामात्मा  
मनसि स्थाप्यत इति मुखधारणस्य हेतुत्वम् ।  
अतो भोगार्थं दत्त इति भोगः करणीयः । अयं  
काम आगन्तुक इति नास्यान्येन पूरणं भवति । १२।



**व्याख्यान्य**—गोपी ने मूल में 'दिनपरिक्षये' शब्द में क्षय शब्द देकर दिन से अपना द्वेष प्रकट किया है। यह सन्ध्या का समय रजोगुण तथा तमोगुण दोनों का मिश्रित समय है। रजोगुण के कारण, यह समय गोदोह आदि प्रवृत्ति कराता है, जिससे गोपियों का चित्त उसमें व्यग्र रहता है और तमोगुण के कारण काम को उत्पन्न करने वाला है, अतः यह समय रजो-तमोगुण वाला होने से, उस समय की लीला का वर्णन करने वाली गोपी भी 'राजस-तामसी' है।

जैसे अमर, रस को प्रकट करने वाले होते हैं, वैसे ही भगवान् के काले केश भी, रस को जगाने वाले हैं। जो मुख कमल के लावण्यामृत का पान करते हैं, वे रस को जगाने वाले होते हैं। आप भी, रस को जगाने वाले केशों से आवृत मुख कमल को धारण करते हैं। अतः हे वीर ! आप हमारे मन में काम को देते हैं अर्थात् हमारे मन में काम को जगाते हैं। श्री प्रभुचरण स्वतन्त्र लेख में आज्ञा करते हैं—गोपी भगवान् के मुखारविन्द की उसी अवस्था का वर्णन करती है, जो अवस्था वन में थी, उस अवस्था में, मुख में दो प्रकार की आभा थी, एक काले केशों से आच्छादित होने से, मुखारविन्द पर उन काले केशों की प्रभा हो रही थी। दूसरी प्रभा रात्रि के कमल जैसी थी, क्योंकि जैसे चन्द्र दर्शन से रात्रि का कमल खिलता है वैसे ही भगवान् का मुख कमल रात्रि के समय प्रियाओं के मुखचन्द्र से अधिकाधिक विकसित होने लगा है। जिससे समझा जाता है, कि पहले वैसा विकसित नहीं था। उससे यह भाव भी प्रकट होता है, कि प्रिय की समस्त गोपियों में आसक्ति थी, अतः जलरूह न कहकर वनरूह कहा है। कमल जल में उत्पन्न होता है यह न कहकर 'वनरूह' कहा उसका आशय यह है कि भगवान् के मुख कमल का विकास वन में गोपियों के मुखचन्द्र के दर्शन से हुआ है।

जब आप पधारते समय मार्ग से जाते हैं, तब मार्ग के दोनों ओर खड़ी हुई, गोपियों को क्रम पूर्वक बार-बार देखते हैं, जिससे वे केशों से आवृत तथा गोरज से भरे हुए मुख कमल का बहुत बार दर्शन करती हैं अथवा भगवान् जाते समय फिर पीछे देखते हैं, जिससे भी बहुत बार दर्शन हो जाते हैं, इस प्रकार जो भगवान् बार बार देखते हैं, जिससे गोपियां जान जाती हैं कि भगवान् को भी हमसे मिलने की इच्छा है, वैसा ज्ञान गोपियों में काम बढ़ाता है, यदि भगवान्, इस प्रकार ठहर ठहर कर मुख दर्शन न करावें और निरन्तर दृष्टि से दृष्टि मिलाते रहते, तो वहां ही रस का आस्वादन हो जाता था, जिससे काम को जगने का अवसर न मिलता था। अतः बार बार देखना कामाग्नि को प्रज्वलित करने में वायु के कार्य के समान है। इस प्रकार कामाग्नि को पूर्ण रीति से पूर्ण प्रज्वलित करने के अनन्तर, उसकी पूर्ति के लिए अथवा उसका निराकरण करने के लिए भगवान् को वैसा युद्ध अवश्य करना पड़ेगा, जिसकी सूचना देने के लिए भगवान् को 'हे वीर' विशेषण देती हैं।

गौओं के रज से मुखारविन्द भरा हुआ होना यह सूचित करता है कि भगवान् ने बहुत श्रम किया है। उस श्रम की निवृत्ति हमसे ही होगी। और फिर आपका श्रीमुख तो 'वनरूह' वन में ही खिलनेवाला कमल है। अतः इसका आस्वाद वन में ही संभव है यही तो कारण है कि अभी भी





आप वन में ही पधारे हो । गोपी जनों का भगवान् के श्रीमुख को 'वनरूह' कहना घर में ही रतिदान के अनपेक्षित आश्वासन का खण्डन है ।

'विभ्रत' पद से यह ध्वनित होता है, कि भगवान् अपने मुख को दृढात् वाले केशों एवं गोरज से ढके रखना चाहते हैं, अन्यथा श्रीमुख धोकर पधारें, तो वैसे प्रसन्नमुख के दर्शन से ज्ञान उत्पन्न हो जाए (अर्थात् काम न उत्पन्न होने पाए और श्रीमुख भक्तिरूप होने के कारण केवल स्नेह रस ही उत्पन्न हो किन्तु) गोधन की रज काम की द्योतक है क्रोध की नहीं । अतः जैसे पात्र में रखकर अन्न भोजन के लिए दिया जाता है वैसे ही श्रीमुख में रहा हुआ रस काम आप मन में भर रहे हो । और इसका प्रयोजन तो भोग ही है सो वह करना ही चाहिए ।

यह हमारा कामभाव आपका दिया हुआ है सो आपसे ही इसकी पूर्ति संभव है अतः आपके भोग बिना यह तृप्ति भी प्रकार पूर्ण नहीं होता ॥१२॥

**आभास—**तत उत्तमा अनन्यपूर्वावस्त्वनयोश्चरणधारणं प्रार्थयन्ति प्रणतेति ।

**आभासार्थ—**राजस-तामसी गोपीजन के कहने के अनन्तर राजस-राजसी अन्यपूर्वा गोपी भी भगवान् को उसी प्रकार 'प्रणत कामद' श्लोक से अपने वक्षस्थल पर चरणारविन्द को पधराने के लिए प्रार्थना करती है, जैसे कि 'प्रणत देहिना' श्लोक में अनन्य पूर्वा कुमारिका ने प्रार्थना की थी—

**श्लोक—**प्रणतकामदं पद्मजाचितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि ।

चरणपङ्कजं शन्तमं च ते रमण नः स्तनेष्वर्पयाधिहन् ॥ १३ ॥

**श्लोकार्थ—**हे रमण ! हे मन की पीड़ा को मिटाने वाले, ब्रह्माजी से पूजित, पृथ्वी के मण्डन शरणागतों के मनोरथों को पूर्ण करने वाला, आपदा में ध्यान करने योग्य, कल्याण रूप जो आपका चरण कमल है, उसको हमारे स्तनों पर पधराओ ॥ १३ ॥

**सुबोधिनी—**अत एव पौनरुक्त्यम् । परं पूर्वा-  
पेक्षयात्र चरणमाहात्म्यमधिकम् । गुणाधायक-  
मेतत् । पूर्वं तु दोषनिवर्तकम् । हे रमण रतिकर्तः ।  
नः स्तनेषु चरणपङ्कजमर्पय । प्रयोजनमाहुः  
आधिहन् इति । आर्तिहन् इति वा । हृदहतापः  
चिन्ता च निवारणीया । दृष्टोपकारेणैव

तापो गमिष्यति । अस्माभिर्हृदये स्थापितं न  
बहिः समायाति । अतस्त्वया बहिः स्थापनीयम् ।  
चरणपङ्कजस्यापि भगवत इव षड्गुणानाह ।  
तत्र प्रथममैश्वर्यम् प्रणतकामदमिति । प्रकर्षेण  
ये नता अनन्यशरणाः तेषां कामदमभिलषितार्थ-  
दातृ । ईश्वर एव तथाविधो भवति । तत्रत्यः कामः

ददाति । तत्पूर्वमुक्तं 'मनसि नः स्मरं वीर  
यच्छसी'ति । प्रकर्षेण नम्रेषु वा कामं द्यति  
खण्डयति । पद्मजेन पद्मजया वा अर्चितम् ।  
ऐश्वर्यार्थं कामार्थं वा पद्मजैः अर्चितम् । तत्तुल्यं  
वा । अन्यथा तानि चरणपङ्कजजन्म कथं प्राप्नुयुः  
धरण्यपि स्त्री अनलङ्कृता न भुज्यत इति तस्यां  
पदस्थापनम् । भगवदपेक्षयापि चरणो महान् ।  
आपदि ध्यानमात्रेणैवापदं दूरीकरोतीति । यथै-  
तेषां सर्वोपकारकर्तृ, तथास्माकमपि करोत्विति  
प्रार्थना । अनेन सर्व एव मुरतबन्धा आक्षिप्ताः  
॥ १३ ॥

हे रमण ! हे रति का दान करने वाले ! हमारे स्तनों पर चरण कमल को पधराओ, क्योंकि वह हृदय के ताप एवं चिन्ता को मिटाने वाला है । वे दोनों आपको मिटाने चाहिए, आपका चरण, कमल है तथा कमल ताप को मिटाता ही है, यह तो प्रत्यक्ष प्रमाण है, अतः प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्ध यह उपकार आप करेंगे तो हमारा ताप नाश हो जाएगा । यदि आप कहो, कि हमारे चरण तो आपके पास है, तो उसका उत्तर देती है, कि हमारे पास है, किन्तु हृदय के भीतर हैं, वे बाहर नहीं आ सकते हैं जो ताप को नाश करें, अतः आप अब चरणों को बाहर छाती पर पधराओ, तो ताप मिटे । जैसे आप में ऐश्वर्य आदि छः गुण हैं वैसे ही आपके चरण भी छः गुण वाले हैं, उनका स्पष्टीकरण करती है ।

१—ऐश्वर्य गुण बताता है, 'प्रणत का भद' पद क्योंकि शरणागतों के अभिलषित अर्थों का देने वाला है। शरणागतों की कामनाओं को ईश्वर ही पूर्ण करते हैं, ईश्वर के पास दान के लिए जो काम रहता है, वह अभिमानी को भगवान् नहीं देते हैं, इसलिए कहा है, कि चरण कमल भी प्रणतों को काम देने वाला है, अतः चरण कमल में भी प्रभु के समान 'ऐश्वर्य' गुण है।

२—वीर्य (धर्म) गुण बताता है—‘पद्मजार्चित’ पद क्योंकि भगवान् के चरण की पूजा, ब्रह्माजी धर्म भावना से करते हैं, उनकी प्रार्थना से ही यहां पधारें हैं।

३—‘यश’ गुण बताता है ‘धरणि मण्डन’ पद क्योंकि भगवान् का चरण कमल पृथ्वी का आभूषण है, जिससे कीर्ति गुण दिखाया है ।

• स्तनों पर चरण कमल का पधराना, जो शरण नहीं आए हैं

१—दोबारा वही बात कहना



४—'श्री' गुण बताता है 'ध्येय मा पदि' पद क्योंकि आपदा में ध्यान करने योग्य है, जिस ध्यान करने से, आपदा निवृत्त होती है 'श्री' की प्राप्ति होती है अतः श्री गुण है।

५—'ज्ञान' गुण बताता है 'शान्तम' पद क्योंकि चरण कमल भी भगवान् के समान कल्याण रूप है, अतः उसमें ज्ञान गुण है।

६—'वैराग्य' गुण बताता है, 'आर्त्तिहन्' पद क्योंकि इसका 'ते चरण पङ्कज' पद के साथ सम्बन्ध दिखाया है, जिससे यह दिखाया है, कि भगवान् से सम्बन्ध होने से ही 'चरण कमल' में वैराग्य है।

भगवान् को 'रमण' विशेषण देकर यह बताया है, कि वे इष्ट का दान करने वाले हैं, और 'आर्त्तिहन्' विशेषण से बताया है, कि वे अनिष्ट का नाश करने वाले हैं अतः उनका ही आश्रय करना चाहिए। अथवा लोक में आपके चरण पांच (पांच प्रकार के उपाकार—१—लौकिक कामना का नाश, २—ऐश्वर्य का दान, ३—शरणागत को इच्छा पूर्ण करना, ४—शोभा करना, ५—दुःख मिटाना) प्रकार के उपकार करते हैं, किन्तु हमारा एक ही उपकार (आर्त्ति—हृदय के ताप को मिटाने का उपकार।) करे, इस प्रकार की प्रार्थना भगवान् से की है।

शरण आई हुई दासियों को आप काम का दान करते हैं यह १२ वें श्लोक में 'मनसि न स्मरं वीर यच्छसि' पंक्ति से पहले ही कहा है, जिससे भोग की प्रार्थना तो हो गई है अतः इस श्लोक में 'प्रणत कामदं' पद का अर्थ अन्य प्रकार से करते हैं। आपका चरण कमल, जो अत्यन्त नम्र दीन भक्त है, उनके काम को नाश करता है, वह, ऐश्वर्य के लिए ब्रह्माजी से पूजित है और काम के लिए लक्ष्मीजी से पूजित है, अथवा 'पद्मजा' पद का अर्थ 'नख' भी है उनसे भी भगवान् का चरण कमल संवित है, वा. वे नख अन्यो के नखों के समान पृथक् होने वाले नहीं हैं क्योंकि वे भी भगवान् के समान सच्चिदानन्द रूप हैं, यदि वे सच्चिदानन्द रूप नहीं होते, तो उनका जन्म भगवान् के चरण कमल से भी न होता। धरणी स्त्री है, स्त्री, भोग योग्य तब होती है जब अलङ्कार धारण करती है, अतः उसको अलंकृत करने के लिए भगवान् ने उस पर अपना चरण धरा है, जिससे भगवान् का चरण पृथ्वी का अलङ्कार है।

भगवान् की अपेक्षा उनका चरण महान् है, क्योंकि आपदा में केवल ध्यान करने से उसको हटाता है। जैसे आपका चरण, शरणागत, ब्रह्मा, लक्ष्मी, पृथ्वी और ध्यान करने वाले इन संमस्तों का उपकार करने वाला है, वैसे ही हमारे हृदय का ताप दूर कर, हमारा भी उपकार करे। गोपी कहती है कि यह हमारी प्रार्थना है, इस प्रकार के कथन से सुरत के सर्व बन्ध कहे गए हैं। १३

**आभास — तदनन्तरं तत उत्तमाः प्रार्थयन्ते सुरतेति ।**

• आचार्य श्री कहते हैं, कि इन दोनों 'धरणिमण्डन' और 'ध्येयमापदि' से एक आशय लो, धरणिमण्डन से कीर्ति लो 'ध्येयमापदि' से श्री लो।



आभासार्थ—इसके पश्चात् उससे उत्तम राजस-सात्विकी गोपियां 'सुरत' इस श्लोक से प्रार्थना करती हैं—

श्लोक—सुरतवर्धनं शोकनाशनं स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।

इतररागविस्मरणं नृणां वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—हे वीर ! 'सुरत' को बढ़ाने वाला, शोक को मिटानेवाला, नाद पूर्ण बंसी से चुम्बित, अन्य प्रकार के रागों को भुलाने वाला, आपका अधरामृत है, वह हमको दान करो ॥१४॥

सुबोधिनी—अधरामृतं वितरेति । अत्राप्य-  
धरामृतं गुणाधायकम् । एतस्य चतुर्गुणत्वमेव  
विवक्षितम् । ज्ञानवैराग्ययोरवानुपयोगात् । तस्यै-  
श्वर्यमाह सुरतवर्धनमिति । गोपिकासु परिच्छिन्नः  
कामः अपरिच्छिन्नेन सह संयोगे क्लिष्टो भवति ।  
यथा रसाः क्षुब्धबोधका भवन्ति, तथायं रसः  
कामोद्बोधकः किञ्च, न केवलमयं काममेव पोष-  
यति, किन्तु सवनिवान्तःकरणदोषास्त्रिवारयति ।  
अतः शोकनाशकत्वं ज्ञानवैराग्यरूपता च निरू-  
पिता । ऐश्वर्यधर्मरूपता च । यशोरूपतामाह ।  
स्वरितो नादयुक्तो यो वेणुः, तेन सुष्ठु चुम्बित-

मिति । यशो हि नादज्ञः कीर्त्यते । वेणुश्च परम-  
भक्त इति तेनापि चुम्बितमेव । न तु पीतम् ।  
इतररागविस्मरणमिति श्रियो रूपम् । सा हि  
सर्वं विस्मरयतीति । स्वतः पुरुषार्थत्वेन प्रमेय-  
बलमुक्तम् । पूर्वेण प्रमाणबलम् । शोकनाशन-  
मिती फलबलम् । सुरतवर्धनमिति साधनबलम् ।  
एव चतुर्विधपुरुषार्थप्रदं स्वतः पुरुषार्थरूपम् ।  
नृणामस्माकमधिकारिणां दुर्लभपुरुषार्थानां वा ।  
यद्यपीदं देयं न भवति, तथापि वितरणगुणेन  
दातुं शक्यत इति वितरेत्युक्तम् । वीरेति सम्बो-  
धनात् शौर्यं नान्यथा संभवतीति निरूपितम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—हे वीर, अधरामृत का दान दो । यह अधरामृत, जिसकी हम याचना कर रही हैं,  
गुण करने वाला है । आगे जो मांगा गया था, वह दोष दूर करनेवाला था, अतः पुनरुक्ति दोष  
नहीं है । इस अधरामृत में चार गुण हैं, क्योंकि यहां ज्ञान तथा वैराग्य का उपयोग<sup>१</sup> नहीं है । अब  
'सुरत वर्धन' पद से ऐश्वर्य गुण सिद्ध करते हैं । यह आप (भगवान्) का अधरामृत 'सुरत' को  
बढ़ानेवाला है,<sup>२</sup> गोपियों में जो काम है वह परिच्छिन्न<sup>३</sup> है और भगवान् में अपरिच्छिन्न<sup>४</sup> है अतः  
वह संयोग<sup>५</sup> के समय क्लिष्ट<sup>६</sup> होता है । अतः जैसे आयुर्वेद विद्या के अनुसार, रस औषधि भूख  
बढ़ाती है, वैसे ही यह अधरामृत, गोपियों के काम की परिच्छिन्नता को मिटाकर, उसको असीम  
बना देगा, जिससे संयोग के समय में होनेवाली क्लिष्टता मिट जाएगी । अधरामृत का यह गुण,  
ऐश्वर्य प्रकट करता है, किञ्च वह न केवल काम को ही बढ़ाने वाला है किन्तु सर्व दोषों को भी  
मिटाने वाला है ।

१—अलौकिक काम, २—आवश्यकता वा काम, ३—हृदवाला, ४—अनन्त, ५—मिला  
६—तकलीफ वाला ।



‘शोक नाशन’ पद से धर्म गुण सिद्ध करते हैं। यह अधरामृत, शोक को नाश करता है, जिससे ज्ञान और वैराग्य भी बता दिए। क्योंकि ज्ञान और वैराग्य से जो शोक नाश होता है, वह इससे हो जाता है, इसलिए वह धर्म रूप है। ‘स्वरित वेणुना सुष्ठु चुम्बितम्’ पद से कीर्ति गुण सिद्ध करते हैं। नादयुक्त वेणु ने उसका (अधरामृत का) केवल सुष्ठु चुम्बन किया है, पान नहीं। लोक में गश फैलाने वाले गायक ही होते हैं, वेणु परम भक्त है, इसलिए उसने भी चुम्बन किया है और गान द्वारा कीर्ति बढ़ाई है।

भुला  
है।

‘इतर राग विस्मारणं’ पद से ‘श्री’ गुण सिद्ध करते हैं, जैसे ‘श्री’ अन्य सर्व पदार्थों को देती है, वैसे ही यह अधरामृत सब रागों\* को भुला देता है, जिससे इसमें ‘श्री’ गुण का निश्चय होत

भगवान् का अधरामृत स्वयं पुरुषार्थ रूप होने से चतुर्विध पुरुषार्थों को देने वाला है।

धर्म  
है।  
इस  
मोरथ  
प्राप्त  
आप  
दिया  
शूर

स्वतः पुरुषार्थ रूप होने से अधरामृत में ( प्रमेय ) बल है। ‘स्वरित वेणुना सुष्ठु चुम्बितम्’ पद से बताया है, कि उसमें ( अधरामृत में ) प्रमाण बल है। ‘शोकनाशन’ पद से सिद्ध कि उसमें फल बल भी है तथा ‘सुरत वर्धन’ पद से जताया है, कि उसमें साधन बल भी है। प्रकार प्रमाण, प्रमेय, साधन और फल चारों ही जिसमें हैं, उसकी प्राप्ति से सर्व प्रकार के म स्वयं सिद्ध होंगे। अतः हम प्रार्थना करती है, कि, यद्यपि हम अनधिकारिणियां हैं और ये पु दुर्लभ हैं—देने जैसे नहीं हैं—तो भी हमारी प्रार्थना स्वीकार कर उल्लास दान करो, कारण कि बांट रहे हैं अतः इसे बांटने के गुण से, हमको भी दे सकते हैं। इसलिए श्लोक में ‘वितर’ पद है, जिसका भावार्थ है बांट दो, और आप वीर है बांट देने में ही वीरता है, जो नहीं बांटोगे त वीरता न रहेगी ॥१४॥

का:  
ते।

आभास—एवं त्रिविधा निरूप्य, पुनस्तामस्यः त्रिविधा निरूप्यन्ते। देवनिन्दि सात्त्विकतामस्यः। भगवन्निन्दिकाः तामसतामस्यः। स्वनिन्दिका राजसतामस्य इ अटतीति।

कहे,  
लोक

आभासार्थ—१२वां १३वां तथा १४वां श्लोक, राजसी गोपियों के तीन प्रकार के वचन अब तामसी गोपियां भी सात्त्विक, तामस और राजस हैं उनके वचन १५वें, १६वें और १७वें ३ में कहते हैं अब ‘अटति’ श्लोक में तामस-सात्त्विक गोपियों के वचन कहते हैं—

श्लोक—अटति यद्भवानल्लि काननं व्रुट्युर्गायते त्वामपश्यताम्।

कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद् दृशाम् ॥१५॥

ना,  
पके

श्लोकार्थ—जब आप, दिन के समय, वन में पधारते हैं, तब आपके दर्शन बि हमारा एक क्षण युग के समान बीतता है, फिर जब आप लौटते हैं, तब आ



घूंघर वाले केशों में युक्त श्रीमुख का दर्शन करती हैं, उस समय प्रतीत<sup>१</sup> होता है कि आँखों में पलक बनाने वाले ब्रह्मा जड़ हैं ॥१५॥

**सुबोधिनी**—भवान् अह्नि काननं यदटति, तत्र दिवसे त्रुटिः युगायते । तत्र निर्मितं स्वाम-पश्यतामिति यदा पुनः, पश्यामः, तदा कुटिल-कुन्तलं श्रीमुखं ते उदीक्षतां नोस्माकं यः पक्ष्मकृद् ब्रह्मा स जडः । यथा देवानां पक्ष्म न करोति, अलौकिकद्रष्टृत्वात्, तदपेक्षयाप्यलौकिकद्रष्टृत्वादस्माकमपि पक्ष्मकरणमनुचितम् । अतो-

नुचितकरणात् जडः । देवा हि बहु कालं जीवन्ति, तथा वयमपि । त्रुटिर्युगायत इति । त्रुटिशब्दो-स्त्रियाम् । यदि सार्थकं गमनं भवेत्, तथापि न काचिच्चिन्ता । परमह्नि काननमेवाटति, न तु कानने कश्चन पुरुषार्थः । अस्माकं च न वहिर्गमनं संभवति । एवं देवत्वं भगवता संपादितम् । मूर्खो ब्रह्मा तादृशीनां पक्ष्मकृद् ॥ १५ ॥

**व्याख्यानार्थ**—आप दिन में वन में फिरते हैं तब एक पलक गिरने का समय भी आपके देखे बिना युग के समान हो जाता है, जब फिर<sup>२</sup> घूंघर वाले केशों से युक्त मुख का दर्शन करती हैं, उस समय हम समझती हैं, कि आँखों में पलक बनाने वाले ब्रह्मा जड़<sup>३</sup> हैं । देव अलौकिक देखते हैं इस-लिए उनके नेत्रों में पलक नहीं बनाई है । हम तो उनसे भी अलौकिक वस्तु को देखने वाली हैं अतः हमारे नेत्रों पर पलकें बनाकर अपनी अयोग्यता प्रकट की है, अतः अयोग्य करने से भी जड़ हैं । यदि कहो, कि देव बहुत काल जीने वाले हैं इसलिए उनके आँखों में पलक नहीं लगाए हैं, तो उसके उत्तर में हम कहती हैं, कि हम भी बहुत समय जीने वाली हैं, जैसे कि श्लोक में कहा है 'त्रुटिर्युगायते' यह 'त्रुटि' शब्द स्त्रीलिंग का नहीं है, त्रुटि का अर्थ है 'पलक गिरने का समय' जब भगवान् को उतना समय भी नहीं देखती हैं, तो वह समय हमारे लिए युग के बराबर है, जिससे समझ लीजिए, कि हम कितना अधिक समय जीने वाली हैं अतः नयनों में पलक लगाने से उनका<sup>३</sup> जड़पन प्रकट ही है ।

जो भगवान् का वन में जाना किसी प्रयोजन को सिद्ध करने वाला होता, तो कुछ चिन्ता नहीं होती, किन्तु दिन के समय, बिना किसी पुरुषार्थ की सिद्धि के वन में फिरना, चिन्ता का कारण है, यदि कहो, कि आपको दर्शन की अभिलाषा है, तो वहां आकर दर्शन करो, इसके उत्तर में कहती हैं, कि हम घर से बाहर नहीं निकल सकती हैं, तो वन में कैसे आ सकेंगी ? भगवान् ने हमको इस प्रकार देव बनाया है और मूर्ख ब्रह्मा ने वैसी स्त्रियों को भी पलक दे दिए हैं । इस श्लोक में देव की निन्दा हुई है, अतः यह श्लोक कहने वाली गोपियां 'तामस-सात्विक' हैं ॥१५॥

**आभास**—तदपेक्षया हीना आहुः पतीति ।

**आभासार्थ**—उन गोपियों से हीन श्रेणी वाली 'तामस-तामसी' गोपियां कहती हैं ।

\* भगवान् के मुख के दर्शन से जो रस प्राप्त होता है उस रस को नहीं जानता है अतः पलकें बनाई है इसीलिए मूर्ख है ।

श्लोक—पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवानतिविलङ्घ्य तेऽन्त्यच्युतागताः ।

गतिविदस्तवोद्गीतमोहिताः कितव योषितः कस्त्यजेन्निशि ॥१६॥

श्लोकार्थ—पति, पुत्र, वंश, भाई, बन्धु इन सब की आज्ञा अथवा संबन्ध का उल्लङ्घन कर, हे अच्युत ! हम आपके पास आई हैं, आप सब के मन की गति<sup>१</sup> को जानते हैं, आपके गीत से मोहित होकर अरण्य में आई हुई स्त्रियों को, हे कितव ! आपके सिवाय रात्रि के समय कौन त्याग करे ॥१६॥

सुबोधिनी—हे अच्युत, स्वतः कामनिवृत्ति-भयरहित । पतिः, सुताः, अन्वयो वंशः, भ्रातरः, बान्धवाः संबन्धिनः, एते सर्वथा अविलङ्घ्याः, तानप्यतिविलङ्घ्य ते अन्ति समागताः । त्वं सर्वेषां गतिं जानासीति गतिवित् । सर्वैर्यावती गतिः संपाद्यते, तां भवानेन दास्यतीति । वयं वा गतिविदः । तेषां भजने भगवद्भजने च तारत-

म्यविदः किञ्च, तव उद्गीतेन च मोहिताः । अतो मोहयित्वा समानीय उभयभ्रंशार्थं अरण्ये निशि योषितः कस्त्यजेत् । सर्वदैव स्त्रियो न त्याज्याः । सुतरामरण्ये । सुतरां निशि । यदर्थं वा समाहूताः, तदप्यदत्वेत्यभिप्रायेण सम्बोधनम् । कितवानां वयं संबन्धिन्यः । अतोस्माकं तेषु न प्रवेशः ॥१६॥

व्याख्यान—हे अच्युत, लोक से सब को अपनी काम-निवृत्ति हो जाने का भय रहता है । क्योंकि संयोग के पश्चात् उनका काम समाप्त हो जाता है, किन्तु आप का काम समाप्त न होकर सदैव वैसा ही जागृत रहता है इसलिए आपका अच्युत नाम है जिससे आप काम की निवृत्ति के भय से रहित हैं ।

पति, पुत्र, वंश, भाई और सम्बन्धी ये सब सर्व प्रकार उल्लङ्घन के योग्य नहीं हैं, तो भी उनका तिरस्कार कर, आपके पास आई हैं । आप गतिविद<sup>२</sup> हैं जिससे आप सभी की गति को जानते हैं, और सब जो करनी करते हैं उस प्रकार की बुद्धि आप ही की दी हुई है, वा जैसी बुद्धि आप देंगे उसके अनुसार उनकी करनी होगी । अथवा गोपियां कहती हैं, कि हम गति को जानती हैं, अर्थात् उनके<sup>३</sup> भजन और भगवान् के भजन में क्या तारतम्य<sup>४</sup> है जिसको हम जानती हैं । किञ्च<sup>५</sup> हम आपके नाद से मोहित हो गई हैं, इस प्रकार मोहित कर, वन में लाकर अब आप त्याग करेंगे, तो हम दोनों तरफ से भ्रष्ट हो जाएंगी, क्योंकि यहां बुलाकर, आप त्याग देते हैं, वहां, जिनका तिरस्कार कर, यहां आई हैं, वे कैसे रखेंगे ? अतः आप हमारा त्याग न करो, सर्वदा ही स्त्रियों का त्याग नहीं करना चाहिए, उसमें भी वन में और वह भी रात्रि में, वह भी त्याग कैसा ! जिसके लिए बुलाया, वह भी न देकर त्याग देना, तो प्रमाणित करता है कि आप कितव<sup>६</sup> हैं ।

१—करनी, २—सबके मनकी करनी को जानने वाले हैं, ३—पति पुत्रादि के,  
४—भेद वा फरक, ५—कुछ और, ६—ठग



यदि आप कहें, कि हम आपका त्याग इसलिए करते हैं, कि तुम गोपों की स्त्रियां हो, पर-स्त्री का तो त्याग हो करना चाहिए, इसके उत्तर में कहती हैं, कि हम गोपों की वास्तव में स्त्रियां नहीं हैं, उनसे केवल नाम मात्र विवाह सम्बन्ध हुआ है, अतः हमारा उनमें प्रवेश नहीं समझना चाहिए, अर्थात् उनसे स्त्री के समान भोग आदि कभी नहीं हुआ है, भगवान् की माया से मोहित होकर हमको अपनी पत्नियां समझ बैठे हैं, अतः हम सर्वदा आपकी ही हैं, इसलिए हमारा त्याग न कीजिए ॥१६॥

**आभास—**तत उत्तमाः आत्मानमेव निन्दन्ति रहसीति ।

**आभासार्थ—**अन्य-पूर्वा तामस-तामसी से उत्तम तामस-राजसी गोपियों 'रहसि संविदं' श्लोक में अपनी ही निन्दा करती हैं—

**श्लोक—**रहसि संविदं हृच्छयोदयं प्रहसिताननं प्रेमवीक्षणम् ।

बृहदुरः श्रियो वीक्ष्य धाम ते मुहुरतिस्पृहं मुह्यते मनः ॥१७॥

**श्लोकार्थ—**काम वो जगाने वाला, एकान्त में कहा हुआ आपका वाक्य, प्रेम पूर्वक ईक्षण और हास्य युक्त आपका मुख और लक्ष्मीजी का स्थान तथा विशाल आपका वक्षः स्थल, इनको अच्छी तरह देख, अत्यन्त इच्छा वाला, हमारा मन बार-बार मोहित हो जाता है ॥१७॥

**सुबोधिनी—**नो मनः अतिस्पृहं सत् मुह्यत इति । तत्र कारणत्रयं गुणत्रयसहितम् । वाक्यं हास्यमुरश्चैव कामानन्दाधिकारिणः ।

रहसि एकान्ते या संविद् ज्ञानं वा । पूर्ववत् हृच्छयस्य कामस्य उदयो येन तादृशम् । प्रहसितयुक्तमाननं प्रेमपूर्वकं वीक्षणं च यस्मिन् । श्रियो धाम बृहदुरः । भगवद्रूपस्य वा षडगुणत्वमुच्यते । रहसि संविदो यस्मादिति । एतादृशं त्वाम् । हृच्छयस्य उदयो यस्मात् । प्रहसितमाननं यस्य । प्रेमपूर्वकं वीक्षणं यस्य । बृहदुरः श्रीधाम

च वीक्ष्य । प्रमाणादिबलरूपता भगवद्रूपे निरूपिता । वक्षसि च स्वस्थित्यर्थं यशः श्रीश्च निरूपिता । मुखदर्शनेनैव प्रहसितयुक्तत्वात् पूर्वस्थित्यभावः । ततः कामः । प्रेमवीक्षणेन च तस्य स्थिरीकरणम् । ततः स्वयोग्यता । ततो भोग-चातुर्यं प्रथमविशेषणेन । एवं सर्वं भविष्यतीति अतिस्पृहायुक्तं मनः मुह्यते, केवलं मोहं प्राप्नोति, पदार्थालाभात् मुहुर्मूर्च्छा समायातीति जीवन-मरणान्यतराभावान् धिग्जीवनमित्यर्थः ॥ १७ ॥

**व्याख्यार्थ—**हमारे मन में आपके दर्शन आदि की बहुत लालसा है, जिससे वह मोह को प्राप्त होता है, अर्थात् मूर्च्छित हो जाता है, यों होने में तीन गुण वाले तीन कारण कहते हैं—

‘वाक्यं हास्य मुरश्चैव कामानन्दाधिकारिणः’

१—वाक्य, २—हास्य तथा ३—वक्षस्थल ये तीन कारण हैं और उनके क्रमशः एक एक गुण





बताते हैं, १—'काम' यह 'वाक्य' गुण का है, अर्थात् वाक्य से काम बढ़ता व जागृत होता है। 'आनन्द' यह 'हास्य' का गुण है, भगवान् के हास्य से आनन्द आता है। 'अधिकारियों का बोध' यह वक्षस्थल का गुण है, वक्षस्थल में श्री का निवास है, जिससे बोध होता है कि अधिकारी ही इसको प्राप्त कर सकते हैं।

एकान्त में कहा हुआ वाक्य' अथवा उससे उत्पन्न<sup>१</sup> ज्ञान जिससे पहले के समान काम का उदय होता है, जिसमें प्रकृष्ट<sup>२</sup> हास्य और कटाक्ष युक्त ईक्षण<sup>३</sup> है, वैसा मुख, लक्ष्मी का स्थान, महान् वक्षस्थल<sup>४</sup> हमारे मन को मोहित करने में, ये तीन ही कारण हैं।

अथवा ४ विशेषणों में और २ गुण, बड़ी छाती और श्री का धाम, से भगवान् के छ गुण कहे हैं, जैसे कि—

- (१) जिससे एकान्त में ही प्रेम की वातचीत होती है वैसे आपको,
- (२) जिससे काम उदय होता है, वैसे आपको,
- (३) जिसका प्रकृष्ट हास्य से युक्त मुख है वैसे आपको,
- (४) जिसका कटाक्षों वाला ईक्षण<sup>५</sup> है वैसे आपको,
- (५) जिसको छाती बड़ी है वैसे आपको,
- (६) जो श्री का धाम है वैसे आपको,

देखकर हम मोह को प्राप्त हो रही हैं।

उपरोक्त छ गुण भगवान् के बताए, जिससे भगवान् के रूप में प्रमाण, प्रमेय, साधन तथा फल रूपता भी कही है। जैसे कि 'रहसि संविद' एकान्त में कहे हुए भगवान् के वाक्य और उससे उत्पन्न ज्ञान, प्रमाण रूप है। 'हृच्छयोदय' काम की वृद्धि भी भगवान् के एकान्त में कहे शृङ्गारात्मक रसवर्द्धक वाक्य से होती है अतः यह प्रमेय रूप है। 'प्रहसितानन' भगवान् के हास्य युक्त मुखारविन्द से सर्व प्रकार के कार्य सिद्ध होते हैं अतः यह साधन रूपता भी आप में है। 'प्रेम वीक्षणम्' भगवान् का कटाक्ष पूर्वक प्रेम से देखना ही फल है जिससे आप फल रूप भी हैं।

वक्षस्थल में अपनी स्थिति करने को इच्छा प्रकट करने से यश और श्री गुण भी भगवान् में सिद्ध किए गए हैं इस प्रकार, षड्गुणयुक्त भगवान् पुरुषार्थ रूप भी हैं।

भगवान् का मुखारविन्द प्रकृष्ट हास्य युक्त है, उसके दर्शन से, पहली मानवाली स्थिति अब नहीं रही है, अर्थात् मुख कमल के दर्शन मात्र से गोपियों में जो अहङ्कार उत्पन्न हुआ था, वह नष्ट हो गया, जिससे गोपियों ने 'हृच्छयोदय' पद कहकर काम का वर्णन किया। प्रेमवीक्षणम् पद कहने से

१—जिसने बहुत पद होवें जिनसे पूरा भाव समझ में आ जावे उन पदों के समूह को 'वाक्य' कहते हैं, २—पैदा हुआ, ३—श्रेष्ठ, ४—अवलोकन या देखना, ५—छाती,



उस काम को अपने में स्थिर किया। 'बृहदुरः श्रियो धाम' पदों से अपनी वहां ( छाती में ) स्थिति करने की योग्यता कही है। प्रथम विशेषण 'रहसि संविद' से बताया है, कि हम भोग करने में भी चतुर हैं।

इस प्रकार हमारे सर्व मनोरथ पूर्ण होंगे वैसी अतिशय स्पृहा होने से, मन मूर्च्छित होता है। केवल मूर्छा को प्राप्त होता है। जिसकी इच्छा है, वह मिलता नहीं है, अतः फिर मूर्छा आ जाती है, यों कहकर अन्त में कहते हैं, कि हम न अच्छी तरह से जीवन को धारण कर सकती है और न मरती हैं वैसे हमारे जीवन को धिक्कार है ॥१७॥

**आभास—**पुनरनन्यपूर्वा एतावत्कालं मनोरथाभिनिविष्टा किञ्चित्प्राथ्यते व्रजव-  
नौकसामिति ।

**आभासार्थ—**इतने समय किन्हीं मनोरथों में खोई हुई अनन्यपूर्वा पुनः इस 'व्रजवनौकसां' श्लोक में प्रार्थना करती हैं—

**श्लोक—**व्रजवनौकसां व्यक्तिरंग ते वृजिहन्त्र्यलं विश्वमङ्गलम् :

त्वज मनाक् च नस्त्वत्स्पृहात्मनां स्वजनहृद्गुजां यन्निषूदनम् ॥ १८ ॥

**श्लोकार्थ—**हे अंग ! आपका यह स्वरूप, जगत् का मङ्गल करने वाला है और व्रजवासियों के पापों का नाशक है, अपने जनों के हृदय रोग को नाश करने वाली जो स्वरूप रूप औषधि आपके पास है, वह औषधि आपमें ही इच्छा वाला है अन्तः-  
करण जिनका, वेसी जो हम हैं, उनको थोड़ी सी दो ॥ १८ ॥

**सुबोधिनी—**इयं ते व्यक्तिः व्रजवनौकसां वृजिहन्त्री पापनाशिका । विश्वस्याप्यत्यर्थं मङ्गलरूपम् । दोषनिर्तकं विशेषाकारेणास्माकमेव । गुणाधायकं सर्वेशम् । अत एतादृशं मनाक् त्यज । त्यागावश्यकत्वे हेतुः त्वत्स्पृहात्मनः-मिति । त्वय्येव स्पृहायुक्त आत्मा अन्तःकरणं

यासाम् । किं त्यक्तव्यमित्याशङ्कयामाह स्वज-  
नेति । स्वजनानां गोपिकानां हृद्गुजां हृदयरोगाणां  
यदेव निषूदनं भवति, नितरां सूदनं नाशनं  
यस्मात् । केषाञ्चित्पापनाशकः, केषाञ्चित्फलदाता,  
तादृशोस्माकं रोगनिवर्तको भवत्विति ॥ १८ ॥

**व्याख्यानार्थ—**आपका यह स्वरूप, व्रजवासियों के पापों का नाशक है और विश्व का भी बहुत मङ्गल करने वाला है। विशेष कर हमारे ही दोषों का नाशक है। सभी के लिए गुणकारी है, अतः वैसा आपका स्वरूप थोड़ा सा हममें स्थापन करो। अपने में स्वरूप स्थापन करने की आवश्यकता का हेतु कहती है, कि, हम गोपीजनों के अन्तःकरण में आपके लिए इच्छा है, अतः हमारी प्रार्थना है, कि आपका स्वरूप हमारे अन्तःकरण में स्थापित करो।

गोपी ने कह भी दिया, कि स्वरूप स्थापन करो, किन्तु भगवान् हम से पूछे, कि मैं क्या स्थापन



कहूँ ? वेंसी शङ्का के उत्तर में, गुप्त रूप से कहती है, कि जिससे गोपियों के हृद्भोग रूप काम का समूल नाश हो जावे, वह स्थापित करो । वह जैसे किसी के पायों का नाश करने वाला है, किसी को फल देता है, वैसे ही हमारे रोग को मिटाने वाला होवे ॥ १८ ॥

**आभास—**काचिद्राजसतामसी सखेदमाह यत्त इति ।

**आभासार्थ—**कोई राजम-तामसी 'यत्तो' इस श्लोक में खेद के साथ कहती हैं—

**श्लोक—**यत्ते सुजातचरणाम्बुरुहं स्तनेषु भीताः शनैः प्रिय दधोमहि कर्कशेषु ।

तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न कस्वित् कूर्पादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ॥

**श्लोकार्थ—**हे प्रिय ! आपके जिस सुकोमल सुन्दर चरण कमल को हमारे कठिन स्तनों पर (हम) डरती हुई धीरे-धीरे पधराती हैं, उस कोमल चरण से आप जब वन में फिरते हैं, तब वहाँ कंकड़ आदि से आपको कितनी पीड़ा होती होगी ? वेंसा विचार आने से, जिन ( गोपियों ) का जीवन ही आप है, उनको बुद्धि भ्रमित हो जाती है ॥ १९ ॥

**सुबोधिनी—**सुजातं यच्चरणाम्बुरुहं चरण-  
कमल भीताः सत्यः स्तनेषु शनैर्दधोमहि ।  
शनैर्धारणे हेतुः कर्कशेष्विति । प्रियेति सम्बोध-  
नात् स्नेहाद्वारणम् । सुजातमिति तथा महत्  
सम्यक्प्रकारोत्पन्नं शीतलं सुगन्धि तापनाशकं  
भवति । अतः स्तनेषु स्थापनम् । प्रियत्वात्  
धाष्ट्र्येन स्थापनम् । तेनैवातिकोमलेन अस्मान्  
त्यक्त्वा अस्मद्दोषेण इदानीमटवीमटसि । स्वयम-  
दुःखेन स्थित्वा यद्यन्प्रस्मे दुःखं दातुं शक्नुयात्  
तर्हि प्रयच्छेत्, न तु स्वयमपि दुःखं प्राप्य ।  
तत्रास्माकं संदेहः, किं व्यथते, न वेति । स्विदि-  
त्युत्प्रेक्षायाम् । किं न व्यथते, अपि तु व्यथत एव ।

कूर्पादिभिः शर्करादिभिः । कृपणशब्देन विषमाः  
शर्करा उच्यन्ते । तर्हि व्यथत एव, कथमुत्प्रेक्ष्यते,  
तत्राह भ्रमति । धीरिति । बुद्धिः केवलं परि-  
भ्रमति । यदि व्यथत इति निश्चयः स्यात्, तदा  
बुद्धिः शान्तैव भवेत् । पुनर्यदायाति तेन संदेहः ।  
तत्र हेतुः भवदायुषामिति । भवलीलार्थमेवायुष्य-  
षाम् । पूर्वं तु खेदेन मनःपीडा निरूपिता, इदानीं  
तु मूर्च्छा निरूप्यत इत्यन्तस्थितिः । एवं सर्वासां  
मूर्च्छापर्यन्तं स्थितिर्ज्ञातिव्या । पुनर्लीलाप्रवेगे  
प्रलापः, पुनः स्वरूपस्थितौ गानमिति । एवं  
साधनपरोक्षयोगवित्, तावत्तासां तापो  
निरूपितः ॥ १९ ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मज श्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशम-  
स्कन्धविवरणेऽष्टाविंशाध्यायविवरणम् ॥

**व्याख्यानार्थ—**सुकोमल, शीतल, सुगन्धिवाने और तापनाशक होने से, आपके चरण कमल को हम डरती हुई, स्तनों पर धीरे धीरे पधराती हैं, क्योंकि हमारे स्तन कठोर हैं और आपके सुजात चरण कमल कोमल हैं । जो हमारे चरण कोमल हैं आपके स्तन कठोर हैं, तो पधराने का क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहती हैं, कि आप हमारे प्यारे हैं, अतः स्नेह के कारण पधराती हैं । आप प्यारे हैं, इसलिए धृष्टता से आपके चरण स्तनों पर स्थापन करती हैं ।

१-ठीठपन से, अथवा प्यारे के प्रेम से उनके चरण स्तनों पर रखने में हमको लज्जा भी नहीं आती है,



हमारे दोष से हमको त्याग कर उसी ही अति कोमल चरण से अब आप वन में फिर रहे हैं ।

जो स्वयं को दुःखी न कर, अन्य को दुःख दिया जा सके, तो देने में विचार नहीं, किन्तु स्वयं दुःखी होकर अन्य को दुःख देना योग्य नहीं है । इस विषय में हमको सज्ज है, कि आपको वन में फिरते हुए दुःख होता है, वा नहीं होता है ? मूल में 'स्वत्' शब्द है उसका भावार्थ यह है कि हम कल्पना करती हैं, कि वन में आपको दुःख होता है, कारण कि वन में तीखी धारवाले ककड़ होते हैं वे आपके चरणों में चुभते होंगे, जिससे आपको अवश्य कष्ट होता होगा । यदि आप कहो, कि तुम वैसी कल्पना कैसे करती हो ? इसके उत्तर में कहती है, कि हमारी बुद्धि इस विषय के विचार में घूम रही है अर्थात् निश्चय नहीं होता है । यदि यह एक ही निश्चय हो जावे, कि पीड़ा होती है, तो बुद्धि शान्त हो जावे, किन्तु वह निश्चय नहीं होता है, कारण कि आपको यदि पीड़ा होती हो, तो आप फिर वन में नहीं पधारत । आप तो फिर पधारे हैं । जिससे सदेह होता है, कि आपको वहाँ पीड़ा नहीं होती है । हमको पीड़ा हो, या न हो, इसकी चिन्ता तुम क्यों करती हो ? इसके उत्तर में कहती है, कि हमारा जीवन जब आपके साथ लीला कर, आनन्द लेने के लिए ही है, तब कैसे इसका विचार नहीं करें पहले तो खेद प्रकट कर, मन को पीड़ा बताई, अब यों कहने से मूर्च्छा की स्थिति कही है, जो अन्तिम स्थिति है । जिससे समझना चाहिए, कि इस प्रकार सर्व प्रकार की गोपियों की मूर्च्छा पर्यन्त स्थिति हुई है । जब विरहावस्था में भगवत्लीला में प्रवेश होता है, तब प्रलाप प्रश्न करती है, जिससे २७वें अध्याय में कहे हुए रसासक्ति, भगवान् जैसी क्रिया (लीला) का करना और गर्व का अभाव भी कह दिए हैं । जब भगवत्स्वरूप में स्थिति होती है तब २८वें अध्याय में कहा हुआ गीत गाती है :

इस प्रकार साधन और परीक्षा के अन्त तक गोपियों के ताप का निरूपण किया है । सारांश यह है, कि जिससे भगवान् की प्राप्ति के लिए, जो साधन भक्त करते हैं उनको पराकाष्ठा तथा भक्तों के स्नेह की परीक्षा के अन्त का भी वर्णन कर दिया है ॥१६॥

इति श्री मद्भागवत् महापुराण दशमस्कन्ध पूर्वार्व, २८वें अध्याय की श्रीमद्भक्तभाचार्य

चरण कृत श्री सुबोधिनी ( संस्कृत ) टीका, तामस फल अवान्तर प्रकरण, -

'पश' धर्म निरूपक तृतीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥  
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥  
॥ श्री यावपतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

५  
२

## ● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका ( हिन्दी अनुवाद सहित )

दशम स्कन्ध ( पूर्वार्ध )

### तामस-फल-अवान्तर प्रकरण

‘चतुर्थो अध्याय’

स्कन्धानुसार एकोनत्रिंशो अध्याय

भगवान् का प्रकट होकर गोपियों को सान्त्वना देना

—\*—

कारिका—एकोनत्रिंशकेऽध्याये प्रसादं भगवत्कृतम् ।

रोदनात् प्राप्य तुष्टास्ता निर्णयज्ञा इतोयंते ॥ १ ॥

कारिकायं—उन्तीसवें अध्याय में गोपियों के रोदन से भगवान् ने प्रसन्न होकर, उन पर कृपा की, जिससे वे (गोपियाँ) प्रसन्न हुई और मन में रही शङ्का को मिटाने के लिए गोपियों ने प्रश्न कर, निर्णय जानना चाहा है, यह कथा इस अध्याय में वर्णन की हुई है ॥ १ ॥

कारिका—नहि साधनसम्पत्त्या हरिस्तुष्यति कस्यचित् ।

भक्तानां दैन्यमेवंकं हरितोषणसाधनम् ॥ २ ॥

कारिकायं—हरि, साधनों की सम्पत्ति से किसी पर भी प्रसन्न नहीं होते हैं, भगवान् को प्रसन्न करने का साधन, भक्तों के लिए एक दीनता ही है ॥ २ ॥



कारिका—सन्तुष्टः सर्वदुःखानि नाशयत्येव सर्वतः ।

अतो निर्णयवाक्यानि भजनार्थं न्यरूपयत् ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—भगवान् प्रसन्न होकर सर्व दुःखों को सर्वथा नाश करते हैं, अतः भजन के लिए निर्णय के वाक्यों का वर्णन करते हैं ॥ ३ ॥

आभास—एवं पूर्वाध्यायान्ते तामां स्तुतिमुक्त्वा, उतः पूर्वाध्याये तासां प्रलाप-मुक्त्वा, उभयमप्युपसहरन् तयोरसाधनतायां जातायां रोदनं कृतवत्य इत्याह इतीति ।

आभासार्थ—गोपियों ने भगवान् के अन्तर्हित होने पर, उनको प्राप्त करने के लिए २६ वें अध्याय में प्रयत्न रूप साधन किए जिसमें प्रत्येक चेतन जड़ादि से पूछने लगी, कि क्या आपने प्यारे को देखा ? जब उससे भगवान् का पता न मिला तब २७ वे अध्याय में उनको प्रतन्न करने के लिए स्तुति करने लगी, जिससे भी भगवान् प्रकट न हुए, तब समझ गई, कि साधनों से भक्ति मार्ग में भगवान् का मिलना असंभव ही है, अतः अपने को असमर्थ दीन समझ खूब रोने लगीं, जिसका 'इति गोप्यः' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा ।

रुदुः सुस्वरं राजन् कृष्णदर्शनलालसाः ॥१॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! इस प्रकार अर्थात् जैसे आगे वर्णन किया है उसी भांति गोपियाँ गाती तथा विचित्र प्रकार से विलाप करती हुई, श्रीकृष्ण के दर्शन की इच्छा वाली, वे ऊँचे स्वर से रोने लगीं ॥१॥

सुबोधिनी—पूर्वाक्तप्रकारेण सर्वा एव गोप्यः | जाताः । यदा तयोरसाधनत्वं जातम्, तदा सर्वाः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च जाताः । अस्माभिरेकः | सम्भूय महद्रोदनं कृतवत्यः । रोदने निमित्तमाह प्रकार उक्तः । तास्तु चित्रवा विलापयुक्ता | कृष्णदर्शनलालसा इति । न तु स्वदेहरक्षार्थम् । १।

व्याख्यार्थ—पहले कहे हुए प्रकार से सब गोपियाँ गाने तथा प्रलाप करने लगीं । गोपियाँ गान तथा प्रलाप बहुत प्रकार से करती थीं, किन्तु हमने यहां एकही कहा है । इनको करते हुए, जब भगवान् प्रकट न हुए तब गोपियों को ज्ञान हुआ, कि ये गान और प्रलाप दोनों, भगवान् की प्राप्ति कराने में असमर्थ हैं, तब सब मिलकर ऊँचे स्वर से रोदन करने लगीं । रोदन किस लिए किया ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि गोपियों को कृष्ण के दर्शन की बहुत चाह थी, इसके लिए रोदन किया, न कि अपनी देह की रक्षा के लिए रोई थीं ॥१॥

आभास—ततो भगवान् ब्रह्मा विष्णु रुद्रश्च भूत्वा पुनः कृष्ण एव जात इत्याह तासामाविरभूदिति ।



आभासार्थ—पश्चात् भगवान् ‡ ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र होकर फिर कृष्ण ही हुए, जिसका वर्णन 'तासामाविरभूत' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तासामाविरभूत् शौरिः स्मयमानमुखाम्बुजः ।

पीताम्बरधरः सखी साक्षान्मन्मथमन्मथः ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—'जब वे दीन होकर ऊँचे स्वर से रोने लगीं' तब मन्दहास्य सहित मुखारविन्द वाले, कामदेव के मन को मंथन करने वाले, वनमाला धारण किए हुए, पीताम्बरधारी, शूरवंश में उत्पन्न श्रीकृष्ण गोपियों के मध्य में प्रकट हुए ॥ २ ॥

|                                                                                                                                                                                                      |                                                                                                                                                                                                                  |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>सुबोधिनी—तासां मध्य एव भगवानाविर्भूत ।<br/>मायाजवनिकां दूरीकृत्य भगवान् प्रकटो जातः ।<br/>यतः शौरिः । शूरस्य पौत्रः । शौर्यमत्र प्रकटनीय-<br/>मिति । सर्वेषां दुःखनिवारणार्थमेव यदुवशेऽवतीर्ण</p> | <p>इति । तदा तासां दोषनिवृत्त्यर्थं स्मयमानं मुखा-<br/>म्बुजं यस्य । ईषद्वसन्मुखः । तासां वैकल्येन<br/>सन्तुष्टः । स्मितयुक्तं स्मयमानम् । स्मयमानाभ्यां<br/>वा सहितं मुखाम्बुजं यस्य । भक्तानां दोषः भक्ते-</p> |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

‡आद्य ब्रह्मा के कल्प में भगवान् ही (१) चतुर्मुख ब्रह्मा बने तथा (२) तप किया (३) शब्द एवं अर्थ के रूप में "भगवान् ब्रह्मा का रूप लेकर नाम-रूप-क्रिया का धारण करते हैं" इस वाक्य के अनुसार तथा "जिसे शब्द ब्रह्मा माना जाता है" इस वाक्य के अनुसार शब्दसृष्टि तथा अर्थ सृष्टि उत्पन्न करके, अन्तर्यामी रूप से उसमें प्रविष्ट होकर स्वयं भगवान् रजो रूप से सारे कार्य करते हैं। प्रकृत संदर्भ में भी पहले (१) राजस मान का रूप भगवान् लेते हैं (२) फिर ताप वनते हैं। पश्चात् (३) विविध गान प्रलाप एवं विविध लीलाओं के रूप में भगवान् ही हैं अतः उनका ब्रह्म होना कहा गया है।

विष्णु-विक्षेप रहित शुद्ध सत्त्वात्मक रूप में जिसका जैसे पालन हो, करते हैं। प्रकृत संदर्भ में भी सखी के वचन सुनकर जब यह समझ में आया कि प्रिय हमारे अपराधों के कारण ही हमें छोड़ गये हैं तो चित्र विक्षेप दूर करके अपनी-अपनी जगह अपने-अपने भाव स्वजीवनार्थ प्रकट करने लगी मूलतः यह भाव भी भगवान् का विष्णु रूप था।

"क्योंकि वे रो दिए अतः रुद्र हुए" इस श्रुति के अनुसार रुद्र होना तो स्पष्ट ही है। देवताएं अपना घन अग्नि में रखकर संग्राम के लिए गए, उसे लेकर अग्नि भाग गया, तब बलात् उन देवताओं ने अपना छीनलिया, तब वह रो दिया यह कथा श्रुति में आती है। प्रकृत संदर्भ में भगवान् ने स्वीय भोग्य रस स्वामिनियों में स्थापित किया और स्वामिनियों ने मानवश उसे अपने में ही निरुद्ध कर लिया और तब मानके अपहरण होने पर दैत्य प्रकट हुआ और तब रुरुदुः सुस्वरं हुआ। यों यह भगवान् की ही लीला थी सो भगवान् का रुद्र होना कहा जाता है।

रुद्र होने के बाद भी यदि भगवान् बाह्य रूप में प्रकट न हों तो देहादि की सीमा ही न रही अतः बाह्यरूप में आविर्भाव कृष्ण स्वरूप है।



भ्यो निर्गतः भक्तौ समायातीति ज्ञापनार्थम् । तदानीन्तनं रूपं वर्णयति पीताम्बरधर इति । पीताम्बरं हास्यसङ्कोचार्थं हस्ते धृत्वा तिष्ठति । अथवा । व्यापिवैकुण्ठरूपेण एतावत्कालं लक्ष्म्या सह रमणं कृत्वा तैनेव रूपेण प्रादुर्भूतः । त्र्यम्बी वनमालायुक्तश्च । मध्ये ब्रह्मादिपूजां च गृहीतवान् । लक्ष्म्या वा । अतो विलम्ब इत्यपि सूचितम् । अत एव प्रथमं श्लोके पूर्वाध्याये 'श्रयत इन्दिरा' त्युक्तम् । इदानीं तु उपेक्षा कर्तुं मयुक्तति प्रादुर्भूतः । अत आगमनमुक्तमग्रे । (यद्वा । तत्र हेतुमाह विशेषणद्वयेन । इदानीमनाविभवि तु न रमो, न वा कीर्तिः । स्वयं त्वाच्छादनेन रसत्व-

साधकपीताम्बरधरः कीर्तिमयस्त्रयोंश्च । अतः प्रकट इत्यर्थः । अन्यथा तु भक्तानां स्वरूपतिरोधाने उक्तोभयाभावः स्फुट इति भावः ।) ननु कन्दर्पेण कथं न वशीकृतः, स्वपूतना खिन्नेति, तत्राह । साक्षान्मन्मथस्यापि मन्मथः । आधिभौतिको मन्मथः देवतारूपः । तत आध्यात्मिकः सर्व हृदयेषु साक्षान्मन्मथः । तस्याप्ययं मन्मथः आधिदेविकः । सर्वस्यापि सर्वत्वात् । अतः कन्दर्पोपि मुग्धः । कन्दर्पस्याप्यशक्यमोहः । कन्दर्परूपश्च । अतस्तासां दैन्ये प्रादुर्भूते तन्निवारणार्थं कामरूपमेव प्रकटीकृतवान् । अतस्तेन पूर्ववत् कामसम्पन्नाः ताः कृताः ॥ २ ॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् शूर के पाँत्र हैं, अतः यहां शूरवीरता\* प्रकट दिखानी है, और समस्त जनों के दुःखों को नाश करने के लिए यदुवंश में प्रकट हुए हैं, इन सब कार्यों को करने के लिए आप माया के पड़दे को हटाकर गोपियों के बीच में ही प्रकट हो गए, उनकी (गोपियों की) दीनता से आप प्रसन्न हुए हैं, अतः उनके दोषों को निवृत्त करने के लिए उस समय आपका मुख कमल मन्द मुसकान वाला था अथवा मन्द मुसकराहट+ तथा मान वाला था, वैसे मन्द मुसकराहट वाले भगवान् के मुख कमल के दर्शन से गोपियों का तो दोष निवृत्त होगया, किन्तु भक्तों का दोष भक्तों में से निकलकर, भगवान् के मुख कमल में प्रवेश कर गया, जिससे ही भगवान् को मान\* होगया ।

जिस समय आप प्रकट हुए, उस समय का भगवान् का स्वरूप किस प्रकार का था जिसका वर्णन करते हैं, 'पीताम्बर धरः' । आपने हास्य को कम करने के लिए पीताम्बर के छोर को हाथ में पकड़ कर मुख के आगे धर लिया था । अथवा व्यापी वैकुण्ठ में जो आपका स्वरूप है, उसी स्वरूप से इतना समय लक्ष्मी के साथ रमण कर, अब यहां प्रकट हो गए हैं । प्राकट्य के समय में, भगवान् के कण्ठ में वनमाला थी, जिससे भगवान् को विलम्ब हुआ, कारण कि मार्ग में ब्रह्मादिकों की पूजा को ग्रहण कर पधारें हैं अथवा श्री लक्ष्मीजी ने माला धराई, जिससे विलम्ब हुआ है, इसी कारण से ही २८ वें अध्याय के प्रथम श्लोक में 'श्रयत इन्दिरा' श्लोक में, लक्ष्मीजी का यहां आकर विराजना कहा

\* दान वीरता, भगवान् गोपियों को सुरत दान करने में वीर हैं यह यहां प्रकट दिखाने के लिए आप प्रकट हुए हैं ।

+ श्री प्रभुचरण टिप्पणी में, 'स्मय', अर्थात् मन्द मुस्कराहट का भाव प्रकट करते हुए आज्ञा करते हैं कि, भगवान् इसीलिए मन्द मन्द हँसने लगे, कि वैंसा अन्य कोई नहीं है, जिसके गोपी-जन जैसे भक्त हों ।

\* अब 'मान' होने का भाव बताते हैं, अर्थात् मान किसलिए किया ? कहते हैं, कि भगवान् ने यह निश्चय किया, कि गोपियाँ जब प्रार्थना करेंगी, तब दूसरे मेरे भक्त को भी यह रस दूँगा, नहीं तो मुक्ति दूँगा ।





है। जब वह यहां बिराज रही है, तब उसकी उपेक्षा<sup>१</sup> करनी योग्य नहीं है, इसीलिए आप अब लक्ष्मीजी के साथ रमण में जिन धर्मों को धारण करते हैं, उनको धारण कर प्रकट है, जिससे लक्ष्मीजी भी प्रसन्न हो, यही कारण है, कि आगे श्लोक में भगवान् का आगमन कहा है। (श्री प्रभु-चरण इस प्राकट्य वा आवागमन का भाव इस प्रकार समझाते हैं, कि यदि, भगवान् इस रूप से यहाँ अब प्रकट न होते, तो भक्तों द्वारा जो रस आपको ग्रहण करना था, उसकी प्राप्ति न होती, क्योंकि आपके विरह में कदाचित् उनके देह छूट जाते और उससे अपकीर्ति होती और न रस की प्राप्ति होती, अतः प्रकट होना आवश्यक समझ आप प्रकट हुए हैं, रस गुप्त ही रसदायी होता है, अतः उसकी गुप्तता के लिए आपने पीताम्बर धारण किया है, और कीर्ति रूप माला धारण की है।)

स्त्रियां कामदेव की सेना है, सेना दुःखी हो, तो वह विजय नहीं कर सकती है, अतः कामदेव को अपनी विजय करने के लिए भगवान् को अपने वश करना योग्य था, अर्थात् भगवान् को कामी बना लेना चाहिए था ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् स्वयं मन्मथ<sup>२</sup> के भी मन्मथ हैं जिससे उनको यह कामदेव वश करने में असमर्थ है। काम के तीन रूप हैं, एक आधिभौतिक काम जो देवरूप है, दूसरा काम जो सब के हृदय में व्यापक आध्यात्मिक काम है वह साक्षात् मन्मथ है, उसके भी मन को मथन करने वाले आधिदैविक काम आप हैं, कारण, कि सर्व के भी सर्व आप ही है अतः देव रूप आधिभौतिक काम, भगवान् को तो वश में न कर सके, किन्तु आधिदैविक काम रूप भगवान् के दर्शन कर स्वयं मोहित होगए। भगवान् ने गोपियों में दैन्य का प्राकट्य देखकर, उसको मिटाने के लिए आप आधिदैविक काम रूप से प्रकट हुए, अतः उस रूप से पहने की भांति गोपियों को कामयुक्त किया।

**आभास—**ततो यज्जातं तदाह तं विलोक्येति ।

**आभासार्थ—**भगवान् के प्राकट्य के अनन्तर, जो कुछ हुआ उसका वर्णन श्री शुकदेवजी इस 'तं विलोक्य' श्लोक में करते हैं।

**श्लोक—**तं विलोक्यागतं प्रेष्ठं प्रीत्यत्फुल्लदृशोऽवलाः ।

उत्तस्थुर्युगपत् सर्वास्तिन्वः प्राणनिवागतम् ॥ ३ ॥

**श्लोकार्थ—**उस प्राण प्रिय को पधारे हुए देख सब स्त्रियाँ प्रीति से प्रफुल्लित दृष्टि वाली हो गईं और एक साथ वैसे उठ खड़ी हुईं, जैसे प्राण के आने पर कर चरणादिक इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं ॥ ३ ॥

**सुबोधिनी—**तमागतं विलोक्य युगपत् सर्वा उत्थिताः । पूर्वमाविर्भविमुक्त्वा अधुना यदागमनमुक्तम्, तद्विलोकेन समये स्वामिनीभावानुवाद-  
रूपम् । पूर्वमन्तःस्थितोऽधुना बहिरागत इति वा जापनाय तथोक्तिः । ननु किमाश्चर्यं भगवत्यागते उत्थिता इति । तत्र न होताः सजोवाः स्थिताः,



किन्तु निर्जीवा इति वक्तुं दृष्टान्तमाह । तन्वः  
करचरणायवयवाः । प्राणमागतमिवेति । प्रयत्ने  
हि एकमेवाङ्ग व्यापृतं भवति, प्राणे तु सर्वाणि  
सम्भूय । अतो बहुवचनं युगपदुत्थानार्थम् ।  
उत्थानं पाञ्चनां भाव्यम्, देहेन्द्रियप्राणान्तःकरण-  
जीवानाम् । तत्र जीवस्यान्याधीनमुत्थानं । परं  
तस्मिन्नागते सर्वाण्युत्तिष्ठन्ति । स तु भगवति  
प्रविष्टः, भगवत्सङ्गे समागतः, भगवत्युत्थित एवो-  
त्थितः । अन्तःकरणं न उत्थितमित्यत्र हेतुमाह  
प्रेष्ठमिति । अत्यन्तं प्रियो भगवान् । तं दृष्ट्वा  
उत्थितम् । भगवति या प्रीतिस्तया कृत्वा  
उत्फुल्ला हृक् यासाम् । अनेन प्रीत्या इन्द्रियाणा-

मुत्थानम् । (एतासां विलोकनार्थमेवागमनमित्या-  
गमनमात्रेण विलोकनमादौ सम्पन्नम् । उत्फुल्लता  
तु ततो भिन्ना । तस्याः पुष्पधर्मत्वेन तदुक्त्या  
दृशां कमलत्वं व्यज्यते । तत्र प्रीतेर्हेतुत्वोक्त्या  
इयदवधि तत्कार्याभावेनाधुनैव तत्प्राकट्यं  
ज्ञाप्यते रवेरिव । विरहे सर्वतिरोधानादेतत्ति-  
रोधानमप्यासीत् । अत एवाबलात्वमुक्तम् ।  
कार्यमात्रे स्वसामर्थ्याभावज्ञापनार्थम् । दृष्टान्तेनैव  
प्राणानामुत्थानम् । प्राणानां भगवान् प्राण  
इति । शरीरं तु पूर्वोक्ताभिलषितपदार्थत्वेन  
निरूपणात् उत्थितमित्यत्र तमिति हेतुः ) ॥३॥

व्याख्यानार्थ — भगवान् को आते हुए देख, तब गोपियां एकही समय में उठ खड़ी हो गईं, श्लोक १ व २ में भगवान् का गोपियों के बीच में प्रकट होना कहा, अब इस ३ रे श्लोक में जो भगवान् का आगमन कहा उसका स्पष्टीकरण करते हैं, कि स्वामिनियों को दर्शन के समय जसा जसा भाव उत्पन्न हुआ, उस उस भाव का श्री शुकदेवजी ने अनुवाद किया है, अर्थात् प्रथम जो प्रकट होना कहा उसका आशय यह है, कि भगवान् गोपियों के अन्तःकरण में प्रकट होकर, स्थित हुए तथा अब बाहर आए, इसलिए पहले प्रकट होना कहा है और अब आना कहा है ।

भगवान् के पधारने पर खड़ी हो गई इसमें क्या आश्चर्य है ? यह तो साधारण विषय है, जिसके उत्तर में कहते हैं, कि आश्चर्य का विषय इसलिए है, कि ये उस समय जब भगवान् पधारे तब निर्जीव थीं, और निर्जीव एक साथ खड़ी नहीं हो सकती थीं, इसलिए दृष्टान्त देकर समझाया है, कि जैसे हस्त चरण आदि अङ्ग, प्राण रहित हो तो उठ नहीं सकते हैं किन्तु जब प्राण आते हैं तो सब साथ में स्वयं चलने लगते हैं । प्रयत्न करने पर अर्थात् चलाने से एकाध अंग चलता है सब नहीं चलते परन्तु प्राण आने पर तो सभी अंग चलने लग जाते हैं इसी प्रकार गोपियां भी भगवान् के तिरोहित हो जाने से, निर्जीव हो गई थीं, कारण, कि जीव भगवान् के पास चला गया था, भगवान् के आने पर जीव भी उनके साथ आ गया, जिससे सजीव होकर, सब सशरीर साथ ही उठ खड़ी हो गईं, इसलिए बहुवचन दिया है । अन्तःकरण के उठने का कारण देते हैं, कि भगवान् अत्यन्त प्रिय हैं, उस प्रिय को देखकर अन्तःकरण भी साथ में उठ खड़ा हो गया एवं इन्द्रियों के भी उठने का कारण कहते हैं, कि भगवान् में जो गोपियों की प्रीति थी जिससे भगवान् को आए हुए, देख नेत्र प्रफुल्लित हो गए, नेत्र से, सब इन्द्रियां समझनी चाहिए ।

श्री प्रभुचरण यहां स्वतन्त्र लेख में आज्ञा करते हैं, कि भगवान् गोपियों को दर्शन देने के लिए पधारे थे, आते ही दर्शन तो हो गए, किन्तु नेत्रों का प्रफुल्लित होना तो, उससे भिन्न है । प्रफुल्लित होना यह पुष्पों का धर्म है, जिससे जाना जाता है, कि गोपियों के नेत्र कमल हैं, अब तक उनका कोई कार्य नहीं था, इसलिए वे प्रफुल्लित नहीं हुए थे, अब कार्य है, अतः उनका प्रफुल्लित होना आवश्यक है । प्रफुल्लित होने में, हेतु प्रीति है, अभी तक नेत्रों में प्रफुल्लता नहीं थी, सो अब



यहां आकर उसका प्राकट्य हुआ है। कमल खिलने पर, जैसे रवि के उदय का अनुमान किया जा सकता है, वैसे ही प्रीति के प्राकट्य का अनुमान अब होता है। विरह में तो सभी कुछ तिरोहित हो जाते हैं, यह भी तिरोहित हो गई थी। अतएव इन्हें 'अबला' कहा गया, अर्थात्, किसी भी कार्य के करने की सामर्थ्य ही इनमें नहीं रह गई थी।

श्लोक में 'प्राणमिवागतम्' दृष्टान्त से, यह बताया है कि भगवान् प्राणों के भी प्राण हैं, अतः उनके आने से प्राण उठ खड़े हो गए।

श्लोक में 'तं' पद का भाव बताते हैं, कि प्रथम जिनके दर्शन की इच्छा की थी, वे भगवान् शरीर धारण कर आए तो शरीर भी उठ खड़े हो गए इसलिए 'तं' जिसकी इच्छा थी 'उसको' देखकर खड़ी हो गई, (ऐसा) कहा है ॥३॥

**आभास—**एवमुत्थितानां भगवता सह स्थितानां कार्यमाह काचिदिति पञ्चभिः ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार भगवान् के साथ स्थित, गोपियों के जो उत्थित जीव सहित प्राण, देह, इन्द्रिय और अन्तःकरण थे, उन्होंने जो कार्य किए उनका वर्णन श्री शुकदेवजी निम्न पाँच श्लोकों में करते हैं।

**श्लोक—**काचित् कराम्बुजं शौरेर्जगृहेऽञ्जलिना मुदा ।

काचिद् दधार तद्बाहुमसे चन्दनरुषितम् ॥४॥

**श्लोकार्थ—**किसी गोपी ने भगवान् का कर कमल हर्ष से अपनी अञ्जली में धारण कर लिया, किसी ने भगवान् की चन्दन से सुशोभित बाहु को अपने कन्धे पर धर लिया ॥४॥

**श्लोक—**काचिदञ्जलिनागृह्णात्तन्वो ताम्बूलचवितम् ।

एका तदङ्घ्रिकमलं सन्तप्ता स्तनयोरधः ॥५॥

**श्लोकार्थ—**किसी गोपी ने अञ्जली में भगवान् से चबाया हुआ ताम्बूल लिया, काम ज्वर से पीड़ित किसी ने भगवान् के चरण कमल को अपने स्तनों पर धरा ॥५॥

**श्लोक—**एका भ्रुकुटिमाबध्य प्रेमसंरम्भविह्वला ।

घनन्तीवैक्षत् कटाक्षपैः\* सन्दष्टदशनच्छदा ॥६॥

\* श्लोक ६—कटाक्षः, इस पद में 'क्ष' का लोप कर दिया है, वास्तव में 'कटाक्षक्षपै' है, जिसका अर्थ होता है कटाक्षों को फेंकना अर्थात् मारना। 'क्ष' के लोप करने का कारण संस्कृत के व्याकरण का नियम है।



श्लोकार्थ—कोई एक भ्रुकुटी चढ़ा, प्रणय कोष के आवेश से विह्वल हो, होंठ काट, मानो कटाक्षों से मारती होवे वैसे देखने लगी ॥६॥

श्लोक—अपराऽनिमिषहृग्भ्यां जुषाणा तन्मुखाम्बुजम् ।

आपीतमपि नातृप्यत्सन्तस्तच्चरणं यथा ॥७॥

श्लोकार्थ—दूसरी (निर्गुण) गोपी निमिष रहित दोनों नेत्रों से भगवान् के मुख कमल के रस का पान करती हुई भी वैसे तृप्त नहीं हुई जैसे सन्त पुरुष भगवान् के चरण के ध्यान से तृप्त नहीं होते हैं ॥७॥

श्लोक—तं काचिन्नेत्ररन्ध्रेण हृदि कृत्य निमोत्प च ।

पुलकाङ्गचुपगूह्यास्ते योगीवानन्दसम्प्लुता ॥८॥

श्लोकार्थ—कोई गोपी नेत्र के छिद्र से भगवान् को हृदय में पधराकर, आँखें मूंद कर, पुलकित अङ्ग वाली हो, भगवान् का आलिङ्गन कर योगी के समान आनन्द में मग्न हो गई ॥८॥

सुबोधिनी—पूर्वमनेकविधा अपि भगवत्या-  
विभूते सप्तविधा एव जाताः । एको भगवान्  
सर्वार्थ प्रकटीभूतः । तत्र या अग्रे स्थिताः, ता  
अपि निकटस्थिता एव पूर्वमुच्यन्ते । शुद्धसा-  
त्त्विक्यः शुद्धरजोयुक्ता रजःसात्त्विक्यश्च, निर्गु-  
णाश्च, शिष्टाः सप्तविधा गण्यन्ते । काचिदत्र शौरेः  
कराम्बुजं मुदा अञ्जलिना अगृह्णात् । एक एव  
हस्तो भगवता प्रसारितः । पीताम्बरधर इति  
द्वितीयेन हास्यनिवारणार्थं पीताम्बरग्रहणात् ।  
बहुमानेन ग्रहणमञ्जलिना भवति । शौरेरिति  
वीरत्वज्ञापनाय । मुदेति पूर्वोक्तक्लेशव्यावृत्त्यर्थम् ।  
अन्या पुनस्ततोप्यन्तरङ्गा भविष्यामीति तद्वाहु-  
मंसे दधार । यथा लिङ्गितं भवति । अग्रे एतस्या  
विनियोगो वक्तव्यः । 'भुजमगरुसुगन्धं मूढन्य-  
धास्यत् कदा नु' इति । अत एव तदीयो धर्मोन्तः-  
स्थितस्तस्या निरोधं साधयिष्यतीति चन्दनरूपित-  
मित्युक्तम् । चन्दनेन रूषितं लिप्तम् । चन्दने हेतुः  
पूजा लक्ष्मीर्वा पूर्वोक्ता । तथा ताम्बूनेपि । एव

सामग्रीप्रकटनेन तासां देवोत्तमानां च कृत्यं  
प्रदर्शितम् । एता आरोढुकामाः, देवोत्तमास्तु  
पूजका इति । अतः काचित्ताम्बूलचवितमञ्जलिना  
अगृह्णात् । तस्याः ताम्बूलयोग्यतामाह तन्वीति ।  
कोमलाङ्गी । एका पुनर्बहिःस्थिता साक्षात्सम्बन्ध-  
मलभमाना, उत्थातुं वा अशक्ता, उपविश्यैव  
तदङ्घ्रिकमलं स्तनयोरधात् । अनुत्थाने धारणे  
च हेतुः सन्तप्तेति । सा ह्यत्यन्तं विरहातुरा  
एकेति । अन्य पुनर्दूरस्था तामसी तमसा भ्रुकुटि-  
माबध्य कटाक्षेपैः घ्नन्तीव ऐक्षत् । अत्र सवर्णं  
वर्णलोपः । कटाक्षेपैरित्यर्थः । प्रेम्णा सहितो  
यः संरम्भः क्रोधः तेन विह्वला । सम्यक् दष्टः  
दशनच्छदो यथा । तादृशी च जाता । भ्रुकुटि-  
बन्धनेन चित्तकौटिल्यम् । प्रेमसहितसंरम्भेण  
इन्द्रियवैकल्यम् । सन्दर्शने देहक्षोभः । घ्नन्तीवेति  
प्राणैर्बलस्फूर्तिः ज्ञानसाधनमपि तस्या विकृतम् ।  
प्रान्तदृष्टिः कटाक्षः । तत्रापि आक्षेपभावः । यथा  
वाचावगुरणम्, तथा कटाक्षा एव आक्षेपरूपा



निरन्तरं प्रवृत्ताः । तादृशभावस्य पूर्णत्वाय कालनियमनार्थं वा भ्रुकुटिभङ्गः । स्वभावनियमनार्थं च संरम्भः । लोभनाशार्थं दशः । मोक्षभावार्थं ज्ञानवक्रता । प्रमाणनिराकरणार्थं हननमिति । यतो लौकिकी भक्तिः पुष्टा भवति । एतदर्थमेवा निरूपिता ।

एवमतिपुष्टां निरूप्य अत्युत्तमां निरूपयति अपरेति । एषा हि भगवद्दर्शनेन गतदोषा, अतो ध्यानेन भगवन्तं हृदये स्थापयितुकामा नेत्राभ्यां नेत्रद्वारा भगवन्तं हृदि स्थापितवती । अत्र लावण्यामृतं पेयम्, मुखस्याम्बुजत्वोक्तेः । अनिमिषदृग्भ्यामिति पानकरणम् । द्रवद्रव्यस्यान्तर्निवेशनं पानम् । मध्ये रसविच्छेदो भविष्यतीति अनिमिषदृग्भ्यां पानम् । नेत्रयोरञ्जलित्वं लावण्यामृतस्य विरलत्वात् । प्रीतिसेवनमत्राभिप्रेतम् । यद्यपि आसमन्ताद्वर्मसहितं सर्वमेवाभिनिविष्ट स्वाधीनं जातम् । यदवेच्छति तदैव हृदये पश्यतीति तथापि नातृप्यत् अलंभावं न कृतवती । तत्र हेतुविषयसौन्दर्यम् । न तु प्रयोजनाभावप्रतिबन्धकः । एतदर्थं दृष्टान्तमाह सन्तः तच्चरणं पथेति । सन्तो हि जातकार्याः । तथापि चरणारविन्दे सहजो रसः । न तु किञ्चित् प्राप्तव्यं निवर्तनीयं वा ।

एका पुनर्दूरस्था अनया तुल्यशीला योगानुसारेण भगवन्तं गृहीतवतीत्याह तं काचिदिति । पूर्वं लौकिकी पश्चाद् भक्तिमार्गानुसारिणी निरू-

पिता । इयं योगानुसारिणी । अतोऽस्याः सर्ववयवे दृष्टिः । उभयोरेकीकरणम्, अन्यथा दृष्टिभेदः स्यात् । पूर्वस्यास्तु दर्शनमेव प्रयोजनम् । एषा विरलेति काचिदित्युक्तम् । तं पूर्वोक्तम् । 'न खलु गोपिकानन्दनो भवानिति यथा निरूपितम् । नेत्ररन्ध्रेणेत्येकवचनं रूपप्रवेशार्थम् हृदि कृत्येति । हृदि कृत्वा । असमासेऽपि त्यप् । हृदिकृत्येत्यलुक्समासो वा । ततोऽन्तःप्रविष्टो बहिर्मा गच्छत्विति निमीलनं कृतवती । न हि तस्या बुद्धौ भगवान् बहिरवशिष्टोऽस्ति । स्वकीयो वा भागस्तया गृहीत इति । चकारान् सर्वेन्द्रियनिवर्तनम् । ततोऽन्तरानन्दे पूर्णं पुलकाङ्गी जाता । केवलानन्देन पुलके गोपीत्वं न भविष्यतीति तदर्थं विशेषमाह उपगूह्यास्त इति । अयं रोमाञ्चः सात्त्विकभावे प्रविष्टः । अत एवान्तरूपगूह्यालिङ्ग्य आस्ते । तामेव स्थितिं धारितवती अवस्थान्तराभावाय । ननु तस्या उत्तरत्र कार्यम्, भगवता सह सम्भोगः कर्तव्यः, आलापा एहे च गन्तव्यमिति कथं तामेवावस्थां स्थापितवती, तत्राह योगीवेति । योगी हि तथैवाग्रे सर्वं कार्यं साधयति, तथेयमपि, तथैवावस्थया सर्वं साधनीयमिति स्थिता । किञ्च । आनन्दसम्प्लुता । आनन्दे निमग्ना । अत एव बहिःसंवेदनरहिता । संवेदनायामेव सत्यां कार्यानुसन्धानम् । न हि पूर्णं आनन्दे कश्चन कामोस्ति ॥ ८ ॥

**व्याख्यानार्थ—**यद्यपि गोपियाँ पहले अनेक\* प्रकार की थीं तो भी जिस समय भगवान् प्रकट हुए उस समय सात प्रकार की हो गईं ।

\* श्री प्रभुचरण टिप्पणी में इसका स्पष्टीकरण करते हैं—कि पहले गोपियों के अनेक प्रकार, इसलिए हुए थे, जो भगवान् के प्रकट होने से जो चित्त में विक्षेप हुआ था, जिससे वह विक्षेप प्रत्येक गोपी ने पूर्व अध्याय में वृक्षादि से पूछते हुए वचनों से बता दिया है, जिससे सिद्ध होता है, कि गोपियाँ सत्त्व आदि प्रकार से अनेक प्रकार की थीं, अब प्रभु षड् धर्म और सातवें धर्म स्वरूप से प्रकट हुए जिससे गोपियाँ भी प्रकट स्वरूप में एक निष्ठा वाली होने से, तद्रूप हो गईं अर्थात् धर्म और धर्मों रूप होने से सात प्रकार की हो गई हैं । स्वरूप रसात्मक होने से, उसके धर्म भी वैसे ही होने के कारण से भ्रुकुटि बंधन आदि भाव भी गोपियों में वनते हैं, इस प्रकार के भाव बताए हैं—

एक ही भगवान् समस्त गोपियों को रसदान करने के लिये प्रकट हुए हैं, अतः गोपियों के यूथ में जो दूर स्थित थी, वह भी भगवान् के नभीय हो गई है, क्योंकि, भगवान् ने समस्त गोपियों के रसदानार्थ प्रकट होने के कारण सर्वत्र (प्रत्येक गोपी के पास) ही प्रकट होकर सब को अपना सान्निध्य दिया था। गोपियों + के सात प्रकार हैं। भगवान् ने अपना एक हस्त गोपियों के निकट किया, तब किसी ने हर्ष (वियोग मिट जाने के कारण हर्ष हुआ) से उसको अपने दोनों हाथों से ले लिया, दोनों हाथों की अञ्जलि बनाकर हस्त को क्यों लिया ? इसका भाव प्रकट करते हैं, कि इस प्रकार लेना बहुत आदर का सूचक है। भगवान् ने एक हाथ इसलिए आगे किया कि दूसरे हस्त से हास्य को रोकने के लिए पीताम्बर को धारण कर रखा था। भगवान् का शौरि नाम इसलिए कहा है, कि यहाँ भगवान् को अपनी वीरता प्रकट करनी है।

दूसरी ने विचारा, कि मैं इससे भी अन्तरङ्ग वनूँ, अतः भगवान् की चन्दन चर्चित भुजा को इस प्रकार अपने कन्धे पर धारण किया, जिससे यों देखने में आया, कि भगवान् ने इसका मानो आलिङ्गन किया है। भ्रमर गीत में 'भुज-मगरु मुगन्धं मूर्ध्न्यधास्यत् कदा नु' इस श्लोक में इस गोपी का अङ्गीकार हुआ है यह बताएँगे।

भगवान् के श्री हस्त का मुगन्ध रूप धर्म इसमें जो रहा हुआ है, वह इस गोपी का निरोध सिद्ध करेगा, इसलिए हस्त को 'चन्दन रुषितम्' विशेषण दिया है। यह चन्दन ब्रह्मादि देवों की पूजा अथवा लक्ष्मी की सेवा का है। ताम्बूल में भी यही भाव समझना चाहिए ॥ ४ ॥

भगवान् ने माला चन्दन आदि सामग्री सहित प्रकट होकर, गोपियों को देवों में उत्तम ब्रह्मादि द्वारा की हुई पूजा तथा लक्ष्मीजी के रमण का कार्य स्पष्ट दिखाया। देवोत्तमों का कार्य और गोपियों का कार्य पृथक् पृथक् है, जैसे कि गोपियाँ आरोहण की इच्छा वाली हैं और देवोत्तम पूजा करने वाले हैं। अतः किसी ने अञ्जलि में चबाया हुआ ताम्बूल ग्रहण किया कारण कि वह कोमलाङ्गी होने से ताम्बूल लेने के योग्य थी। कोमल अङ्ग वाली की त्वचा<sup>१</sup> भी सूक्ष्म<sup>२</sup> होती है जिससे ताम्बूल चबाने से उसकी विशेष शोभा को देख प्रभु उस पर अति प्रसन्न होंगे।

दूसरी एक गोपी जो बाहर दूर खड़ी थी जिससे, भगवान् से साक्षात् सम्बन्ध प्राप्त न कर सकी अथवा वियोग संतप्त होने से उठ नहीं सकती थी अतः वहाँ ही अपनी विरह की अत्यन्त तपन को बुझाने के लिए उसने भगवान् के चरण कमल को अपने दोनों स्तनों पर पधराया : ॥ ५ ॥

+ (१) शुद्ध सात्त्विक, (२) शुद्ध राजस, (३) राजस सात्त्विक (४) सात्त्विक राजस तथा (५) निर्गुणा (६) शुद्ध तामस तथा (७) तामस के मिश्रण से चार प्रकार की अन्य गोपियाँ यों सात प्रकार की यहाँ गिनी गई हैं। गोपियों के सात प्रकार एक ऊपर दिखाया है वह है, जिसका वर्णन २८ वे अध्याय में हो गया है, और दूसरा इस २६ वे अध्याय में धर्म और धर्मो स्वरूप में एक रूप होने से, जो कहा गया है वह है। गोपियों ये ही हैं किन्तु भाव विशेष से दो प्रकार कहे २।



फिर दूसरी जो दूर खड़ी थी वह तामसी थी, तमोगुण के कारण भृकुटी को चढ़ा कटाक्षों से भानों मार रही हो इस प्रकार देखने लगी। वह विह्वल हो गई थी, क्योंकि उसके अन्तःकरण में भगवान् के लिए प्रेम से उत्पन्न क्रोध था। जिससे वह घबरा गई थी, अतः उसने अपने होंठ को दान्तों से काट लिया था। भृकुटी चढ़ाने से उसके चित्त की कुटिलता<sup>१</sup> प्रकट होती है। प्रेम युक्त क्रोध से इन्द्रियों को घबराहट समझी जाती है, होंठ के काटने से देह में क्षोभ प्रतीत हो रहा है। कटाक्षों से भानों मार रही हो, जिससे जाना जाता है, कि उसके प्राणों में बल की स्फूर्ति हो गई है। उसका ज्ञान साधन भी विकार वाला हो गया है, जैसे कोई किसी को वाणी से धमकाता है वैसे ही यह कटाक्षों से निरन्तर मार कर रही है, वह भाव पूर्ण हो जाए, उसके लिए काल का नियमन करना चाहिए, अतः इसने भृकुटी को भङ्ग<sup>२</sup> कर काल का नियमन किया है। स्वभाव को नियम में रखने के लिए क्रोध किया है, लोभ को नाश करने के लिए होंठ को काटा है, मोक्ष न मिले, इसलिए ज्ञान में विकार उत्पन्न किया है प्रमाण के निराकरण के लिए कटाक्ष मारे हैं, जिससे लौकिकी भक्ति पुष्ट होती है, इसके लिए अर्थात् इस भाव को दिखाने के लिए इस गोपी का यहां वर्णन किया है ॥६॥

श्री प्रभुचरण टिप्पणी में इस श्लोक में तामसी सखी के किए हुए कर्तव्य के भीतरी भावों को प्रकट कर समझाते हैं—

मान दो प्रकार के होते हैं (१) साधारण मान, जो प्रियतम के वचनों से अथवा विशेष काल होने से मिट जाता है, (२) गाढ़ मान होता है, जो मिटना असंभव होता है, तामसा को साधारण मान तो प्रथम था, किन्तु अब उसने गाढ़ मान किया है, उसने यह निश्चय कर लिया है, कि शतधा भी प्यारे प्रयत्न करेंगे तो भी मैं मान नहीं छोड़ूंगी।

समय पाकर मेरा मान शिथिल न हो जाए इसलिए भृकुटी भंग से काल को अपने वश में कर लिया, प्यारे के वचनों से नायिका मान छोड़ देती है, क्योंकि नायिका का स्वभाव ही वैसा होता है, अतः क्रोधकर उस स्वभाव को वश कर लिया, जिससे मान सदा बना रहे, क्रोध के सिवाय स्वभाव का नियमन नहीं हो सकता है।

मान करने से, प्यारे से संगम होने में विलम्ब होगी, वह विलम्ब दुःख देगी। फिर भी जो मान किया जा रहा है उसका हेतु यह है, इस विचार का उदय ही नहीं। विचारोदय नहीं है इसका कारण यह है, कि वे विह्वल हो गईं। यदि प्रथम प्यारे के हुए संगम के सुख की स्मृति से पुनः उस सुख का लोभ हो जाए और जिससे मान छूट जाए, तो उसके लिए लोभ रूप होंठ को दान्तों से काट लिया है, वैसे करने से लोभ नहीं होगा। इस प्रकार मान त्याग का अत्याग्रह होते हुए भी यदि प्यारे में मान लीन हो जाए तो उसके लिए ज्ञान में कुटिलता करदी है, जिससे ज्ञान के अभाव में यों नहीं होगा। प्यारे में लीन तब हो जब यह ज्ञान उदय हो, कि प्यारा हृदय में स्थित है और मान भी अन्तःकरण में रहता है तब कदाचित् मान प्यारे में लीन हो जाए। भावार्थ यह है, कि



मुक्ति तब होती है, जब निर्दोषता हो। धर्मों की मुक्ति भी निर्दोष होने पर होती है, भाव, दोष वाला है उस (दोष वाले भाव) से सम्बन्ध होने से, जब धर्मों की भी मुक्ति नहीं हो सकती है, तो धर्म (मान) की मुक्ति (लीनता) कैसे होगी? भगवान् की आज्ञा का उल्लङ्घन आदि तब हो सकता है, जब प्रमाण बल का निराकरण किया जाए अतः कटाक्षों से प्रमाण बल का हनन किया है, जिससे यह लौकिकी भक्ति है, अर्थात् यह भक्ति (स्नेह) लौकिक रीति का अनुगामी है।

**व्याख्यानार्थ—**इस प्रकार अति कृपा पात्र तामसी का निरूपण कर श्री शुकदेवजी अति उत्तम अर्थात् निर्गुण का निरूपण करते हैं—

यह (निर्गुण गोपी) भगवान् के दर्शन से निर्दोष हो गई, अतः भगवान् को हृदय में स्थापन करने की इच्छा से नेत्रों द्वारा ध्यान से उन्हें हृदय में स्थापित करने लगी। किस प्रकार स्थापित किया, वह प्रकार<sup>१</sup> बताते हैं, भगवान् के मुख रूप कमल में रहा हुआ लावण्यामृत रस ❀ पान करने योग्य है, रस द्रव पदार्थ है वह बीच में ही ढुल कर वह न जाए इसलिए गोपी ने अपने नेत्र रूप अञ्जलि को निमिष रहित बनाकर उससे पान किया, जिससे वह मध्य में ढुला नहीं। यहां प्रेम से पान करना अभिप्रेत है। यद्यपि सम्पूर्ण धर्म सहित सभी कुछ भीतर स्थित हो गया है अर्थात् सभी कुछ गोपी के आधीन हो गया, जब भी चाहे तब, हृदय में दर्शन कर सकती है तो भी तृप्त न हुई, फिर भी इच्छा करती ही रही, कारण कि विषय के सौन्दर्य से प्रयोजन के अभाव ने भी इच्छा करने में रुकावट नहीं की, जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जैसे सन्तजनों को कुछ प्राप्त करने की वा त्याग की इच्छा वा आवश्यकता नहीं है क्योंकि वे प्राप्त काम हो गए हैं तो भी भगवान् के चरणारविंद में जो सहज रस है, उसकी चाह उनको भी सदैव बनी रहती है, वैसे ही इस गोपी को भी मुखाम्बुज के लावण्यामृत रस के पान में तृप्ति न होने से चाह बनी रहती है ॥७॥

फिर एक दूसरी गोपी जो दूर खड़ी थी, वह भी निर्गुण गोपी के समान थी, किन्तु वह भक्ति मार्गीया थी वह योग का अनुसरण करने वाली है, जिससे योगानुसार भगवान् को हृदय में स्थापित करने लगी, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी निम्न प्रकार से करते हैं।

पहले छ श्लोकों में लौकिक भाव वाली गोपी का वर्णन किया, फिर सातवें श्लोक में भक्ति मार्ग पर चलने वाली गोपी का वर्णन किया, अब इस श्लोक में जिसका वर्णन है वह योग मार्ग का अनुसरण करने वाली है। अतः इस गोपी की भगवान् के अवयवों में दृष्टि है। इसने दोनों को एक कर दिया है, अन्यथा दृष्टिभेद हो जाता। पहले वाली गोपी का तो दर्शन में ही प्रयोजन है। जब कि यह, इसके जैसे गोपी, तो विरल है अतएव शुकदेवजी “काचित्” कहते हैं। मूल श्लोक में जो ‘तं’ पद दिया है उसका आशय है, कि जिसको इस गोपी ने गोपीगीत में ‘न खलु गोपिका नन्दनो भवान्’ कहकर वर्णन किया है, उस भगवान् को नेत्र रन्ध्र से हृदय में पधराकर, नेत्र मूंद लिए, जैसे वह बाहर नहीं जा सके। उस ही बुद्धि में तो यह भाव है, कि भगवान् बाहर हैं ही नहीं, समस्त को

❀ रस, द्रव द्रव्य है, उसका भीतर प्रवेश करना पान है।





मैंने हृदय में धारण कर लिया है। अथवा जो उसका भाग था वह उसने ले लिया, यह मेरा भाग बाहर न चला जाए इसलिए नेत्र मूंद लिए।

मूल श्लोक में 'च' आता है उसका तात्पर्य यह है, कि भगवान् को हृदय में बन्द करने के साथ अन्य सभी इन्द्रियों के कार्य बन्द हो गए, अर्थात् वे निवृत्त हो गई और फिर आन्तर आनन्द परिपूर्ण हो गया और वह रोमांचित हो गई। यह रोमांच केवल आनन्दानुभव के कारण नहीं था, अन्य था, तो आत्मानन्द (केवलानन्द) के कारण तो वह गोपी भी न बनी रह पाती, इसी को स्पष्ट करने के लिए आनन्दानुभव की विशेषता 'उपगूह्यास्ते' से दिखलाते हैं। यह रोमांच सात्विक भाव का ही एक प्रकार था, अतएव आन्तर आलिंगन में रत हो गई। इस स्थिति से अन्य कोई अतिरिक्त अवस्था अपेक्षित ही नहीं थी सो इसी स्थिति को दृढ़तर धारण कर बैठी।

यदि गोपी इस स्थिति में रह रही हो तो अन्य कार्य भगवान् के साथ सम्भोग, आलाप और घर जाना आदि कैसे सिद्ध होंगे? इसके उत्तर में कहते हैं, कि योगी के जैसे सिद्ध होते हैं, वैसे ही सिद्ध हो जाएंगे। जैसे योगी, उसी स्थिति में रहते हुए भी सर्व कार्य सिद्ध करते हैं, वैसे ही यह भी इसी स्थिति में रहते हुए भी सिद्ध करेगी और विशेष कहते हैं, कि 'आनन्दमग्न' है अतः बाहर का कोई ज्ञान नहीं है, ज्ञान होए, तो कार्य का ध्यान आवे, पूर्ण आनन्द की प्राप्ति होने पर कोई काम उसके लिए शेष नहीं रहता है ॥८॥

यहां आशय यह है :

छठे श्लोक में, तामस भाववाली गोपी का लौकिक रीति से स्नेह दिखलाया, कि गाढमान के कारण, वह आन्तर बाह्य सबका विचार छोड़कर केवल भगवान् के ऊपर खीज जता रही है कि क्यों इस तरह अन्तर्ध्यान होगए। जबकि सातवें श्लोक में निर्गुण भाववाली भक्तिमार्ग के अनुसार वहिःप्रकट मुखारविन्द को, स्नेह से निहारकर, इतनी मग्न होगई, कि भगवान् के अन्य अंगों पर उसकी दृष्टि ही नहीं गई। अब यहाँ इस आठवें श्लोक को गोपी योगियों की तरह, भगवान् के स्वरूप को लेकर मानों ध्यान-धारणा कर रही है। क्योंकि ध्यान में, प्रत्येक अंग का चिन्तन करके धारणा में उनको समुचित रूप में एक करके हृदय में स्थापित किया जाता है। अब प्रत्येक अंग के चिन्तन में, उन अंगों के परस्पर सम्बन्ध का चिन्तन न करें, तो वह उचित नहीं और यदि करें तो प्रकृत में भगवान् का स्वरूप रसात्मक होने के कारण भावात्मक है और विभिन्न स्वामिनियों के (यथा तामसी बिना कुछ विचारे विरहदायक मान में लगी हुई है जिससे कि, अनपेक्षित भी, स्वरूप विप्रयोगात्मक बन सकता है। ऐसे ही निर्गुणा मुखदर्शन के आन्तर अनुभव एवं बाह्य अनुभव के बीच भूल रही है अतः विप्रयोग, आन्तर संयोग एवं बाह्य संयोग आदि के भेद से भावों में भेद आता है) अतः एक-एक अंग के बारे में भी विभिन्न भाव संभव हैं। फलतः स्वरूप में भी भेद की संभावना है। वह भेद यहाँ आकर मिट जाता है, क्योंकि यह गोपी सभी भावों एवं सभी अवयवों का योग कर देती है—एकीकरण कर देती है, अन्यथा (क्योंकि भगवान् प्रत्येक के लिए प्रत्येक के भाव के अनुसार स्वरूप लेकर रसदान करते हैं इसलिए) प्रत्येक को दृष्टि-भाव के अनुसार स्वरूप में भी भेद हो जाएगा। वह इसकी योग प्रक्रिया के कारण नहीं होता, अर्थात्, भगवान् अनेक रूपों में भी स्वरूपतः एक ही हैं। ऐसा टिप्पणीजी को देखने से स्पष्ट होता है। (अनुवादक)





करने पर भी संसारी जीव या मनुष्य फिर लौट आते हैं । इसी तरह यहां भी ये लौट आवेंगे यह आशय है । जन का अर्थ ही है—“जो होता रहे” वे मुक्ति के उत्तम अधिकारी नहीं हैं । परन्तु इनसे तो अपना सम्बन्ध जताने के लिए ही भगवान् प्रकट हुए हैं ॥ ९ ॥

‘केशव’ का तात्पर्य लालु भट्टजी, “क + ईश + व = केशव अर्थात् क—ब्रह्मा, एव ईश—शिव को, व—मोक्ष देने वाले” यों लेते हैं और तदनुरूप ही “वल्लिष्ठरजरजस्तमोभ्यां व्याप्तयोरपि फल संपादकः” का अर्थ भी ब्रह्मा एवं शिव ही करते हैं ।

इनके या भगवान् के सभी गुण महान् ही हैं । किन्तु सामान्य संसारी जीव जैसे सुषुप्ति में ब्रह्मानन्द का अनुभव करके भी पुनः लौट आता है अविद्यावासनावशात् एवं यहां अज्ञान नहीं है, किन्तु भगवान् के अन्तर्हित होने पर भी भगवान् इनके साथ ही थे यह इन गोपियों ने नहीं जाना सो इस क्षुद्र गुण के कारण दुःख हुआ और इस विरह दुःख की निवृत्ति या इस दुःख से उद्धार केशव भगवान् ने किया । यहां दुःख दूर हुआ एवं आनन्द की प्राप्ति हुई तो भी मोक्ष नहीं होता क्योंकि यह प्राप्ति सुषुप्ति में प्राज्ञ प्राप्ति जैसी है जहां मुक्ति नहीं होती किन्तु केवल आनन्दानुभव हो जाता है । वही यहां भी होगा क्योंकि न तो ये गोपिया सामान्य अज्ञानी लौकिक जीव हैं और न प्रसिद्ध मुक्ति मार्ग की अधिकारी । इन्हें तो केवल अपने प्रियतम के बाह्य संगम की अभिलाषा है और यह मनोरथ इनका भगवान् को पूरा करना ही पड़ेगा अतः प्राज्ञ का उदाहरण दिया गया, जहां आनन्द है किन्तु मुक्ति नहीं । किन्तु इतना अन्तर भी है कि प्राज्ञ के आनन्दानुभव करने वाले लौकिक जीवों की तरह इन्हें लौकिक वासना नहीं है । दृष्टान्त भी तो कुछ समानता एवं कुछ असमानताओं के रहते हुए दिया जाता है ।

**आभास—**एवं तासां कृत्यमुक्त्वा ताभिर्भगवत्कृत्यमाह ताभिरिति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार गोपियों ने जो कृत्य भगवान् के लिए किया उसका वर्णन कर, अब भगवान् गोपियों के लिए जो कृत्य करते हैं, उसका वर्णन श्री शुकदेवजी ‘ताभिर्विधृत’ श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**ताभिर्विधृतशोकाभिर्भगवानच्युतो वृतः ।

**व्यरोचताधिकं तात पुरुषः शक्तिमिर्यथा ॥ १० ॥**

**श्लोकार्थ—**हे तात ! शोक रहित उन गोपियों से आवृत, अच्युत भगवान् अधिक सुशोभित हुए, जैसे पुरुष शक्तियों से शोभता है ॥ १० ॥

|                                                                                                                                                                                                                                              |                                                                                                                                                                                                                                                |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी—</b>तासां सम्बन्धे प्राकृतीनां भगवतोऽप्यथात्वं शङ्क्यते, तन्निवर्त्यते । अन्यथा स्वार्थमेव भगवत्तिरोधानं स्यात् । ‘स नैव व्यरमत्, तस्मादेकाकी न रमत्’ इति श्रुतेः । लोकोपि केवलं भगवन्तं पश्यन् न निर्वृत्तो भवति, किन्तु</p> | <p>सर्वशक्तियुक्तं परम् । ‘पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न’ति वाक्यात् । पूर्ववत् । ता दुःखिताश्चेत्, तदोत्तमता न भवतीत्याह विधृतशोकाभि-<br/>रिति । ताः पूर्वोक्ताः । गुणास्नासामुक्ता एव । सर्वथा प्रपन्ना इति । मध्ये शोकः समजनि ।</p> |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

तस्मिन्निवृत्ते यथापूर्वमेव ताः । भगवांश्च षड्गुणै-  
श्वर्ययुक्तः । तथापि प्राकृत इव यदि परिच्छिन्न-  
कामः स्यात्, तथापि विलक्षण्यात् न रोचेत् ।  
भगवांस्तु पूर्णकाम इत्याह अच्युत इति । अतः  
ताभिर्वृतः अधिकं व्यरोचत सहजपेक्षया ।  
उक्तार्थविश्वासेन हि श्रोता वक्तारं पुष्पातीव  
पितेव पुत्रं स्वार्थम् । अत एवाग्नेऽतिगुप्तार्थकथनेन  
वक्ता श्रोतारं सुखयति । अन्यथानधिकारिण  
मत्वा न वदेदलौकिकमर्थम् । प्रकृते चास्मिन्नर्थे  
राज्ञो विश्वासं दृष्ट्यातिसन्तोषेण स्नेहेन च पितृत्वेन

सम्बोधयति तातेति । नन्वेवं सति भगवत्कान्तेः  
तारतम्यात् सहजत्वं न स्यात् । अत आह पुरुषः  
शक्तिभिर्यथेति । यथायं प्राकृतोपि पुरुषः सर्व-  
सामर्थ्येषु लीनेषु लोकप्रतीत्या न रोचत इव, स  
चेत् क्रियाज्ञानादिशक्तीराविष्करोति, तदाधिको  
रोचते, तथा अयमपि भगवान् रोचमान एव  
प्रकटामु शक्तिषु गोपिकामु सर्वप्रतीत्या भावुका-  
नामप्यन्तःकरणेन अधिकं व्यरोचत । अतिसौन्दर्य  
प्राप्तवान् । ततो भगवान् परमानन्दयुक्तः स  
एव । 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेः ॥ १० ॥

**व्याख्यानार्थ—**जो गोपियां प्राकृत होती, तो उनके सम्बन्ध से भगवान् भी प्राकृत बन जाते  
जिससे भगवान् की अलौकिक शोभा छिप जाती, किन्तु यों नहीं है, अर्थात् गोपियां प्राकृत नहीं थीं,  
अतः उनके सम्बन्ध से भगवान् की अलौकिक शोभा भी तिरोहित नहीं हुई है । यदि गोपियां प्राकृत  
होती तो भगवान् उनसे सम्बन्ध ही न करते अथवा भगवान् का तिरोहित होना, प्राकृत गोपियों के  
सम्बन्ध से अलौकिक शोभा के नष्ट होने के भय से, मानना पड़ेगा । परन्तु इस प्रकार मानना भी  
श्री शुकदेवजी के 'भगवान् गोपियों के साथ अधिक शोभा पाने लगे' इन वचनों के विरुद्ध होंगे,  
श्री शुकदेवजी ने ये वचन कहकर सिद्ध किया है, कि गोपियां प्राकृत नहीं हैं । इसलिए 'स नैव व्यरमत्'  
'तस्मादेकाकी न रमते' इन श्रुतियों की सफलता तब होती है, जब भगवान् गोपियों को निर्दोष  
समझ उनके साथ रमण करते हैं ।

भगवान् गोपियों को प्राकृत समझ 'उनके सम्बन्ध से मैं भी प्राकृत बन जाऊंगा' इस भय  
रूप स्वार्थ सिद्धि के लिए तिरोहित नहीं हुए थे, किन्तु उनको विशेष आनन्द देने के लिए अन्तर्ध्यान  
हुए थे ।

लोक भी केवल\* भगवान् को देखकर प्रसन्न नहीं होते हैं किन्तु सर्व शक्तियों के साथ भगवान्  
के दर्शन से आनन्द मग्न होते हैं ।

शास्त्र में कहा है, कि 'पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुख दुःखि नोर्न' पुरुष सुखी हो, स्त्री दुःखी हो,  
तो उनका समागम आनन्द वाला नहीं होता है, तथा यदि स्त्री सुखी हो और पुरुष दुःखी हो, तो भी  
उनका समागम आनन्द वाला नहीं होता है, अर्थात् समागम आनन्ददाता तब बनता है, जब दोनों  
शोक रहित हों, अतः कहा है, कि 'विधूत शोकाभिः' जिन गोपियों का शोक अर्थात् दुःख मिट गया  
है, वैसी गोपियों से समागम करने से, भगवान् अधिक शोभा पाने लगे । उनके (गोपियों के) गुण तो  
पहले कहे हुए ही हैं, कि सर्वथा शरण आई हुई हैं, मध्य में शोक हुआ था, उसके नष्ट हो जाने से,  
वे पहले जैसी हो गईं । भगवान् तो ऐश्वर्य आदि षड्गुणों से युक्त ही हैं, तो भी यदि प्राकृत की  
भांति परिच्छिन्न काम वाले बनें तो, गोपियों से विलक्षणता होने से शोभा को नहीं पावे ।

\* शक्तियों के सिवाय एकाकी 'अकेले'

‡ गोपियां अप्राकृत आप प्राकृत काम वाले यह विलक्षणता 'अन्य प्रकार'



श्लोक में, श्री शुकदेवजी ने भगवान् का 'अच्युत' नाम देकर यह बताया है, कि प्रभु पूर्णकाम अतः गोपीजनों से आवृत<sup>१</sup> स्वाभाविक स्वरूप की अपेक्षा से भी, विशेष शोभित होने लगे ।

श्लोक में 'तात' यह संबोधन दिया है जिसका आशय यह है कि, जिस प्रकार पिता अपने स्वार्थ\* के लिए पुत्र का पोषण करता है और श्रोता भी अपनी स्वार्थ‡ सिद्धि के लिए वक्ता में विश्वास प्रकट कर पोषण करता है । जब वक्ता श्रोता के विश्वास से प्रसन्न होता है, तब उसको अधिकारी समझ, अति गुप्त अर्थ भी बताकर, श्रोता को आनन्दित करता है, नहीं तो अनधिकारी समझ अलौकिक अर्थ न बतावे ।

श्री शुकदेवजी इस प्रसंग में राजा का विश्वास देखकर अति सतोष तथा स्नेह से पिता के समान 'तात' यह संबोधन देते हैं ।

यदि, भगवान् गोपियों से अधिक शोभा पा रहे हैं यह माना जाय, तो उसमें तारतम्य<sup>२</sup> होने से, भगवान् का सहजपन न रहेगा और भगवान् विकारी बन जाएंगे, इस शंका के मिटाने के लिए शुकदेवजी ने श्लोक में 'पुरुषः शक्तिभिर्यथा' कहा है । लोक में भी शक्तिहीन पुरुष की शोभा नहीं होती है । जब वह भी अपनी ज्ञान आदि शक्तियों को प्रकट कर दिखाता है तब शोभा पाता है और अन्यो को ज्ञान आदि से आनन्द देता है, उसी भांति भगवान् भी जब अपनी गोपिका रूप शक्तियों को प्रकट करते हैं, तब उनके साथ अधिक शोभा पाते हैं, जिससे सर्व आस्तिक जनों के तथा भावुक भक्तों के अन्तःकरण में तो विशेष शोभते हैं, जिससे सब समझने लगते हैं, कि यह भी भगवान् हैं और यह ही परमानन्द रूप हैं । इससे आनन्द की प्राप्ति होती है, जैसा कि भगवती श्रुति भी कहती है, कि 'एष ह्येवानन्दयति' इति श्रुतिः' ये ही सबको आनन्दित करते हैं ॥१०॥

**आभास—**तासामानन्दजननार्थं यत् कृतवांस्तदाह ताः समादायेति ।

**आभासार्थ—**भगवान् ने गोपीजनों में आनन्द उत्पन्न करने के लिए जो कुछ किया, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी इस 'ताःसमादाय' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

**श्लोक—**ताः समादाय कालिन्द्या निविश्य पुलिनं विभुः ।

विकसत्कुन्दमन्दारसुरभ्यनिलषट्पदम् ॥ ११ ॥

**श्लोकार्थ—**उनको (गोपियों को) साथ में लेकर, कालिन्दी के तीर पर विराजमान होकर, आप विभु बन गए, वह तीर उस समय प्रफुल्लित कुन्द और मन्दार के पुष्पों से सुगन्धित वायु वाला तथा अमरों वाला हुआ था ॥ ११ ॥

\* बड़ा होगा कमा के खिलाणा, आद्धादि क्रिया कर नरक से बचाएगा

‡ वक्ता गुप्त रहस्य भी प्रसन्न होकर बतावे,



सुबोधिनी—ताः सम्यक् आदाय समीचीने पुलिने निर्विश्योपविश्य विभुर्जातिः । कालिन्दी कलिन्दकन्या । कलिं ह्यतीति कलिन्दः । अतस्तस्याः पुलिने तासामन्योन्य भगवता वा कलहो न भविष्यतीति ज्ञापितम् । पुलिनं वर्णयति क्रीडा-योग्यत्वार्थं सार्धेन । सर्वतः उपरि अधश्चेति । प्रथमतः सर्वतः सौभाग्यमाह । विकसन्ति कुन्द-मन्दारपुष्पाणि तेषां सुरभ्यनिलः षट्पदा भ्रमराश्च यत्र । वायोस्त्रयो गुणाः स्पष्टाः । मकरन्दोपि पुष्पेष्वधिकः । तेन मत्ता भ्रमरा अपि नादसाद-कत्वेन गानादाबुपयुज्यन्ते । विकासो वाय्वर्थ एव । कुन्दगन्धः शान्तः । मन्दारगन्धः पुष्टः । तेन गुप्तागुप्तकामयोद्बोधको निरूपितः । (गत्रन्तो-क्त्या प्रभुनिवेशनसमये एव विकासारम्भो, न

तु पूर्वमपीति ज्ञाप्यते अन्यथा विकासितेति वदेत् । एवं सति यस्मिन् क्षणे यम्यार्थस्योपयोगः, तस्मिन्नेव क्षणे तत्कार्यं भवति, नान्यदेति लीला-मात्रोपयोग्येवात्रत्यं सर्वमपि इति ज्ञापितं भवति । अन्यथा सार्धाध्यायत्रयोक्तलीलायां क्रियमाणायां भूयस्येव रात्रिरतीतेत्यधुनैव विकासे हेत्वन्तरा-भावात् स न भवेत्, अत एव न वदेदपि । एवं सत्येतादृक्कुन्दादिसम्बन्धित्वेनोक्तत्वादनिलादयो-ऽप्यधुनैव प्रवृत्ताः न पूर्वमपीति ज्ञेयम् । स्वतन्त्र-तयापि सौरभ्यप्रतीत्यर्थं सुरभिरनिल उक्तः । एव परितो जलं, परितः सुगन्धः, परितः पुष्पाणि, परितो वायुः, परितो नाद इति निरू-पितम् ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ—उन गोपियों को भली भांति साथ लेकर, सुन्दर तीर पर प्रभु पधारे और वहां विराजमान होकर व्यापक बन गए अर्थात् प्रत्येक गोपी के पास हो गए ।

२६वें अध्याय में लीला करते हुए जब यमुनाजी के तीर पर पधारे तब वहां श्लोक में 'नद्याः पुलिन-माविश्य' नदी के तीर पर पधार कर कहा और अब 'कालिन्द्याः पुलिनं निर्विश्य' कालिन्दी के तीर पर पधार कर कहा है, जिसका स्पष्टीकरण यह है कि यहां कालिन्दी शब्द इस लिए दिया है कि यहां गोपियों का न तो आपस में कलह होगा और न भगवान् से ही, क्योंकि, यहां इस पुलिन में श्री यमुनाजी का कलह का नाशक धर्म प्रकट है, इसलिए श्री शुकदेवजी ने 'कालिन्दी' नाम दिया है, जिसका अर्थ है, 'कलिञ्चति कलिन्दः' कलह को नाश करने वाला कलिन्द' उसकी कन्या कालिन्दी उसका यह पुलिन है, अतः यहां कलह नहीं होगा । वहां यह धर्म प्रकट नहीं था, जिससे 'नदी' कहा है इसलिए गोपियों में मद 'अहङ्कार' उत्पन्न हुआ था ।

अब यह पुलिन क्रीड़ा के योग्य है, इसलिए चारों तरफ, ऊपर और नीचे, यों तीन प्रकार से वर्णन करते हैं ।

प्रथम श्री यमुनाजी के चारों ओर के सौभाग्य का वर्णन करते हैं, जहां कुन्द और मन्दार के पुष्प प्रफुल्लित हो रहे हैं । उनकी सुगन्धियुक्त वायु लग रही है और भ्रमर भी हैं । ऐसा यह श्री यमुनाजी का तट, वायु के शीत, मन्द और सुगन्धि इन स्पष्ट तीन गुणों वाला भी है । पुष्पों में मकरन्द भी अधिक है, जिससे भ्रमर मत्त होकर गुञ्जार कर रहे हैं, अतः वे गान क्रिया में उपयोगी बन सकते हैं । फूल वायुको अपनी सुगन्धि देने के लिए प्रफुल्लित हो रहे हैं । कुन्द पुष्पों की गन्ध शान्त है और मन्दार पुष्पों की गन्ध पुष्ट है, इस प्रकार गन्धों का भेद कह कर यह बताया है,

कि ये क्रमशः गुप्त तथा अगुप्त कामों को जगाने वाले हैं, अर्थात् कुन्द की शान्त गन्ध गुप्त काम को जगाती है और मन्दार की पुष्प गन्ध अगुप्त (प्रकट) काम को जगाती है । ( यहां 'विकसत्' में 'शत्' प्रत्यय का अर्थ यह होता है कि पुष्प उस समय विकसित हो रहे थे, अर्थात् जब प्रभु का निवेश हुआ, तभी पुष्पों में भी विकास आरम्भ हुआ इससे पूर्व नहीं । अन्यथा 'विकसित' न कह कर 'विकसित' कहा होता । यों इससे यह प्रकट होता है, जिस क्षण में जिस वस्तु का उपयोग रहता है उसी क्षण में वह कार्य होता है, अन्य समय नहीं । यों सभी वस्तुएँ जो यहाँ हैं, वे लीला में उपयोगी ही हैं यह सिद्ध होता है । अन्यथा साढ़े तीन अध्यायों की लीला के होते-होते काफी रात बीत चुकी होगी, अतः अब ही जाकर इन पुष्पों के खिलने का कोई हेतु नहीं है और न इनके वर्णन का कोई हेतु है । यों इन कुन्द आदि पुष्पों से टकराकर वायु भी अभी ही बहने लगी हैं इससे पूर्व नहीं बह रही थी यह फलित होता है । )

सुगन्धि, स्वतन्त्र प्रकार से भी जानने में आवे इसलिए मूल श्लोक में 'सुरभि' 'अनिल' पृथक् पद दिए हैं, इस प्रकार के वर्णन ने यह बताया है, कि चारों तरफ 'जल' चारों तरफ 'वायु' चारों तरफ पुष्प और चारों तरफ 'नाद' है ।

**आभास—**उपर्युत्तमतामाह शरदिति ।

**आभासार्थ—**श्री यमुनाजी का पुलिन ऊपर से भी उत्तम है, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'शरद्वन्दा' श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक—**शरद्वन्दांशुसन्दोहध्वस्तदोषातमःशिवम् ।

कृष्णाया हस्ततरलाचितकोमलशालुकम् ॥ १२ ॥

**श्लोकार्थ—**शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरणों के समुह से, रात्रि का अन्धकार मिट गया, जिससे रात्रि कल्याणमयी होगई, श्री यमुनाजी ने अपने तरंगों को हस्त बनाकर तीर पर कोमल शालुका को बिछाकर उसको सीधा बना दिया है ॥ १२ ॥

**सुबोधिनी—**शरत्कालीना ये चन्द्रांशवः, तेषां ये सन्दोहाः समूहाः, तैर्ध्वस्तं दोषाया रात्र्यास्तमो यत्र । तेन अत्यन्तं शिवं कल्याणरूपम् । अन्धकारे गतेपि यदि भूताद्यभिनिविष्टं भवेत्, तथापि तदाप्यसमञ्जसमिति कल्याणरूपता निरूपिता । निर्विघ्नमग्निमेष्टकार्यसम्पादकत्वज्ञापनाय च । परितश्च निकृष्टाः पदार्थाः नोपर्यधश्च । अघस्तस्य पुलिनस्य गुणानाह कृष्णेति । सापि भगवत्स-

नाम्नी भूतस्कारं कृतवती भगवद्रमणार्थम् । कृष्णाया हस्तरूपाः तरलास्तरङ्गाः तैः आचिताः कोमलशालुका यत्र । अन्यथा हस्तरूपताभावे समता न स्यात् । तेन शैत्यं कोमलत्वं समता चोक्ता । तादृशं पुलिनं निर्विघ्नं तत्र गत्वा वा स्थितः । उपवेशनमग्रे वक्ष्यति । भावेनैवोपवेशनम् ॥ १२ ॥

**व्याख्यानार्थ—**वह पुलिन कल्याण रूप हो गया है, क्योंकि शरद् ऋतु के चन्द्रमा की किरणों के समुह से रात्रि का अन्धकार मिट गया । अन्धकार मिटने से, उसके आश्रित भूत भी नाश हो गए,

जिससे कल्याण रूप तीर पर इष्ट कार्य निर्विघ्नता से सिद्ध होंगे, यह बता दिया है । श्री यमुनाजी के तीर के चारों तरफ तथा ऊपर एवं नीचे भी कोई निन्दित पदार्थ नहीं है । अनन्तर उनके ( श्री यमुनाजी के ) निम्न किनारे के भाग के गुणों का वर्णन करते हैं, वह ( श्री यमुनाजी ) भी भगवान् के समान 'वृष्ण' नाम वाली है, अतः उनसे भगवान् के रक्षण के लिए पृथिवी का संस्कार किया, वह संस्कार कैसे किया ? उसको बताते हैं, कि यमुनाजी ने अपने तरङ्गों को हस्त बनाकर, उनसे तीर पर, कोमल, शीत और एक सी रेत को बिछा दी । प्रभु वैसे तीर पर जाकर खड़े हो गए, भगवान् के बैठने का वर्णन आगे करेंगे अब तो भाव से ही बैठे हैं ॥१२॥

**आभास—**ततो गोपिकानां कृत्यमाह तद्दर्शनाह्लादेति ।

**आभासार्थ—**अनन्तर श्री शुक्रदेवजी गोपियों के कार्य का वर्णन 'तद्दर्शना' श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक—**तद्दर्शनाह्लादविधूतहृद्गुजो मनोरथान्तं श्रुतयो यथा ययुः ।

स्वेत्तरीयः कुचकुङ्कुमाङ्कितरचोक्लृपन्नासनमात्मबन्धवे ॥१३॥

**श्लोकार्थ—**वैसे प्रभु के दर्शन से, उत्पन्न आनन्द द्वारा, गोपियों के हृदय के दुःख नाश हो गए, जैसे श्रुतियां मनोरथों के अन्त को प्राप्त हुई, उसी भांति गोपीजनों ने भी, अपने मनोरथ पूर्ण किए, उन्होंने अपनी आत्मा के बन्धु भगवान् के विराजमान होने के लिए, स्तनों के कुङ्कुम से अङ्कित अपने उत्तरीय वस्त्रों के आसन बनाए ॥१३॥

**सुबोधिनी—**शोके गतेपि कामस्तापात्मको वर्तत एव, सम्बन्धस्याजातत्वात् । यदा पुनस्तादृशस्थाने तदर्थं गतः, तदा तद्दर्शनेन तस्य तदवस्थामापन्नस्य दर्शनेन योज्यमाह्लादः भाव्यर्थनिश्चयात् तेन विधूताः हृद्गुजो यासाम् । एवं निवृत्ते दोषे तासां यज्जातिं तदाह मनोरथान्तं ययुरिति । ताभिर्यथाकथञ्चित् सम्बन्धोऽभिलषितः । जातस्तु ततोऽनन्तगुणसामग्रीसहितः । अतो मनोरथस्याप्यन्तो यत्र तादृशं ययुः । नन्वनभिलषितं कथं प्राप्नुयुः, तत्राह श्रुतयो यथेति । श्रुतयो हि निरन्तरं भगवद्गुणवर्णनपराः । तेन धर्मेण, वाचः पूर्वरूप यन्मनः, तस्यापि यदगम्यं भगवत्-

स्वरूपं, तत् प्राप्तव्यम् । 'यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सहे'ति भगवदानन्दो मनोरथान्तो भवति । तत्प्रतिपादिकाः श्रुतयो जाताः । सर्वे च मन्यन्ते । 'तं त्वीपनिषद पुरुषं पृच्छामि', 'अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तम' इति, 'सर्वे वेदा यत्पदमात्मनन्ति' इत्यादिवाक्यैः ब्रह्मणि श्रुतयः प्रमाणमित्यध्यवसीयते । 'सर्ववेदान्त प्रत्यय'मिति न्यायाद्व । अलौकिको वेदार्थः । अलौकिको वेदशब्दः । लोके च न सङ्केतः । तथापि निरन्तरं भगवत्कार्यं कथयन्तीति लोकाः तच्छ्रवणेन शुद्धान्तःकरणाः स्वयमेवालौकिकविषये सामर्थ्यं मन्यन्ते । श्रुतिश्च तत्प्रतिपादिका





भगवदिच्छया । नात्र लौकिकं साधनमपेक्षते, युक्ति वा । तथा एतासामपि मनोरथान्तः प्राप्तिः । एव परमपुरुषार्थदातुर्भगवतोऽन्यत्राभिनिवेशे आधारधर्मसम्बन्धात् स्वस्य कृतार्थता न भविष्यतीति पूजार्थमात्मनिवेदनार्थं च आसनं चक्रुरित्याह स्वंस्तरीयैरिति । तद्देशस्थानां स्त्रीवस्त्राणि त्रीणि भवन्ति । परिधानीयं, कुचपट्टिका, उपरिवस्त्रं च । सर्वाभिरेव स्वोपरिवस्त्राणि आसनार्थं दत्तानि । उपरिवस्त्राण्यपि द्विविधानि भवन्ति । सर्वदा परिधेयानि, भोगसमये च ।

तानि सूक्ष्माणि भवन्ति । तान्येव भगवते दत्तानीति ज्ञापयितुमाह कुचकुङ्कुमाङ्कितैरिति । गुष्काण्यपि कुङ्कुमानि क्रीडायाः मार्दाणि भवन्ति । अतस्तेनाङ्कितानि उत्तरीयाणि, अचीवलूपन् कल्पयामासुः । ननु स्वोपरिवस्त्रेयं कथमधः कल्पयाञ्चक्रुरित्याशङ्क्याह आत्मबन्धव इति । आत्मनः स एव बन्धुः, रक्षित आत्मा, तदर्थमेव देहः स्वात्मा च । अतः उपर्याच्छादनमपि तदर्थमिति तस्यासनवलुप्तिरुचिता ॥ १३ ॥

**व्याख्यानार्थ—**यद्यपि दशम श्लोक के अनुसार गोपियों का शोक निवृत्त हो गया है, किन्तु हृदय का रोग, जो तापात्मक काम है, उसकी निवृत्ति नहीं हुई है, क्योंकि अब तक भगवान् से सम्बन्ध नहीं हुआ है । किन्तु जब भगवान् वैसे स्थान में इनके (गोपियों के) लिए पधारे है, तब आप के वैसे स्वरूप के दर्शन से, यह निश्चय हुआ, कि अब हमारी भगवान् से सम्बन्ध को अभिलाषा पूर्ण होगी, जिससे उत्पन्न आनन्द से हृदय का तापात्मक काम भी निवृत्त हो गया । श्लोक में 'मनोरथान्तः' कहा है, जिसका आशय है, कि गोपियों ने किसी न किसी प्रकार से, भगवान् से सम्बन्ध होने की अभिलाषा की थी, किन्तु भगवान् ने तो उनको अनन्त गुण और सामग्रियों सहित पूर्ण अभिलषित का दान किया, अतः मनोरथ के अन्त को प्राप्त हुई, अर्थात् इसके अनन्तर कोई मनोरथ शेष नहीं रहा । गोपियों ने जो नहीं चाहा था उसको भी कैसे प्राप्त किया ? इस शङ्का का उत्तर श्रुतियों के दृष्टान्त से देते हैं, श्रुतिग्रन्थ निरन्तर भगवान् के गुणगान में लगी रहती हैं । गोपियों ने भी, इसी गुणगान धर्म का सहारा लिया और उन्हें भगवान् मिल गए ! मन वाणी का पूर्वरूप है ( क्योंकि मन में बात आने पर वाणी से उसकी अभिव्यक्ति होती है ) परन्तु भगवान् तो वाणी तथा मन से भी अगम्य हैं, जैसा कि "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" अर्थात् मन सहित वाणी वहाँ जाकर लौट आती है यों भगवदानन्द को मनोरथान्त-जहाँ से आगे मनोरथ न दौड़ पाये-पान ना चाहिए । ( उसे गोपियों ने गुणगान से प्राप्त कर लिया ) । उस ब्रह्म का प्रतिपादन श्रुतियों ने किया और यह सब मानते भी हैं । उपनिषदों में वर्णित उस पुरुष को पूछता हैं, 'इस कारण से लोक और वेद में पुरुषोत्तम<sup>१</sup> नाम से प्रसिद्ध हैं' 'सर्व वेद<sup>२</sup> जिसके पद का वर्णन करते हैं । इत्यादि वचनों से प्रमाणित होता है कि श्रुतिग्रन्थ ब्रह्म स्वरूप में प्रमाण हैं, 'सर्व वेदान्त<sup>३</sup> से ब्रह्म का ही ज्ञान होता है, क्योंकि विधि वाक्य समान ही हैं ।

वेद का अर्थ अलौकिक है, वेद के शब्द अलौकिक हैं, लोक में वेद के शब्दों का कोई संकेत नहीं है, तो भी वे सदा ही भगवान् के कार्य का वर्णन करते रहते हैं, जिसके श्रवण से लोगों के

१—तं त्वोपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, २—अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः, ३—सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति, ४—सर्ववेदान्त प्रत्ययम्,



अन्तःकरण शुद्ध होते हैं, शुद्ध अन्तःकरण होने से, लोक स्वयं ही अलौकिक विषय में वेद की सामर्थ्य मानते हैं और श्रुति भी उसका प्रतिपादन भगवान् की इच्छा से करती हैं। वेद के विषय में श्रुतियों को किसी लौकिक साधन वा युक्ति की अपेक्षा नहीं है, 'वैसे गोपियों को भी मनोरथान्त की प्राप्ति हुई है।

श्लोक में श्री शुकदेवजी 'स्वैस्तरीयं' पद से यह बताया कि भगवान् के विराजने के लिए गोपियों ने अपने उत्तरीय वस्त्रों से आसन बनाए, इस पद का भाव यह है कि गोपियों के मन में यह शङ्का हुई, कि यदि परम पुरुषार्थ देने वाले भगवान् अन्यत्र विराजमान होंगे, तो उस अन्य आधार के सम्बन्ध होने से, हमारी अपनी कृतार्थता नहीं होगी, अतः भगवान् की पूजा के लिए तथा आत्म-समर्पण करने के लिए अपने उत्तरीय वस्त्रों से आसन बिछाए।

उस देश की स्त्रियों के वस्त्र तीन होते हैं, एक वस्त्र पहनने के लिए दूसरा वस्त्र स्तनों को कस कर बान्धने के लिए और तीसरा वस्त्र ऊपर डालने का होता है, सब गोपीजनों ने अपने ऊपर के वस्त्रों के आसन बनाए। ये ऊपर के वस्त्र भी दो प्रकार के होते हैं, एक सदा पहनने के लिए दूसरा भोग के समय पहनने के लिए होता है। भोग के समय वाले वस्त्र सूक्ष्म<sup>१</sup> होते हैं, वे ही भगवान् के विराजने के लिए आसन बनाए थे, वे वस्त्र स्तनों पर लगी कुङ्कुम के रंग से अंकित थे, यद्यपि कुङ्कुम शुष्क हो गए थे, किंतु क्रीड़ा करते हुए, वे आर्द्र हो गए जिससे वस्त्रों में उसके चिन्ह हो गए थे। अपने पहनने का ऊपर वाला वस्त्र नीचे क्यों बिछाया? इसके उत्तर में शुकदेवजी ने 'आत्मबन्धवे' पद दिया है जिसका आशय यह है, कि जिसके लिए अपने उत्तरीय वस्त्र दिए हैं, वह अपने ही बन्धु हैं, उनके लिए ही यह देह और आत्मा धारण कर रखी है, अतः यह उत्तरीय भी उनके लिए ही है इसलिए उत्तरीय से आसन बनाना योग्य ही है ॥१३॥

**आमास—**ततो भगवान् तासु सर्वत्र निविष्ट इति ख्यापयितुं तद्भासन उपविष्ट इत्याह तत्रोपविष्ट इति।

**आभासार्थ—**अनन्तर भगवान् ने गोपियों में सर्वत्र प्रवेश किया, यह जताने के लिए गोपीजनों के उत्तरीय वस्त्रों से बने आसन पर विराजे, जिसका वर्णन 'तत्रोपविष्टः' श्लोक से करते हैं।

**श्लोक—**तत्रोपविष्टो भगवान् स ईश्वरो योगेश्वरान्तर्हृदि कल्पितासनः।

**चकास गोपीपरिषद्गतोऽचितस्त्रैलोक्यलक्ष्म्येकपदं वपुर्दधत् ॥१४॥**

**श्लोकार्थ—**योगेश्वरों के हृदय में जिनके आसन का होना माना जाता है, वह भगवान् वह ईश्वर, तीनों लोकों की लक्ष्मी की शोभा को एकत्रित करके एवं गोपियों की परिषद् में उनके द्वारा की गई पूजा से सुशोभित होकर वहां उन वस्त्रों पर विराजे ॥१४॥



सुबोधिनी—भगवानिति तेषां कार्यसाध-  
कत्वम् । ननुत्तरीयवस्त्रापगमे सभायां रसाभासो  
भवेत्, अतः कथमुपविष्ट इति चेत्, तत्राह स ईश्वर  
इति । सः पूर्वं प्रार्थितः । ईश्वरः सर्वकरणात्मर्थः ।  
अतस्तामां दिव्यानि वस्त्राणि सम्पन्नातीति  
बोधितम् । येषां जलक्रीडाया न वापसामाद्रता ।  
अतः सर्वकरणात्मर्थः लक्ष्मीपविष्टः सः प्रार्थितः ।  
(यद्वा । पूर्वं वरदानसमये वस्त्रापगमहेतुषु सर्वथा  
तदभावे यस्य रसाभासो न जातः, तस्य केवल-  
मुत्तरीयाभावे कथमधुनापि न भवेदिति वक्तुं स  
इत्युक्तवान् । ननु तदानीमपि कथं न रसाभास  
इत्यत आह ईश्वर इति । कर्तुं सामर्थ्यवत्त्वात् ।  
यदि स भवेत्, तदा तथा न कुर्वदेव । अकर्तुं  
सामर्थ्यवत्त्वेन रसाभासहेतुत्वोपि तदुत्तमासनं  
त्यक्तुमशक्यमेव । अन्यथाकर्तुं सामर्थ्यवत्त्वेन  
रसाभासप्रकारेणापि रसमुत्पादयितुं शक्तः ।

अतस्तादृशे न किञ्चिदनुपपन्नमिति भावः । )  
ननु भगवान् अपवित्र भोगादिभोग्युक्ते कथमुपविष्ट  
इति चेत्, तत्राह योगेश्वरान्तर्गुं दि कल्पितस्तन  
इति । योगेश्वराणां हृदयं शुद्धम् । तत्राप्यस्त-  
हृदयम् । तत्रापि कल्पितमेव भगवदासनम्, न  
तु कल्पितम् । मानसो मूर्तिस्तिष्ठति, न तु कदा-  
चिदपि स्वयनुपविष्ट इति मुख्यमासनमेतदेव ।  
अतश्च जातः, परमशोभां प्राप्नवान् । पूर्ववद्  
गोपीनां परिषदं गतश्च जातः । परितो गोपिका  
उपविष्टा इत्यर्थः । सभापतिर्भगवान् । अतस्ता-  
भिरर्चितः । ततो भगवान् तासामर्थं त्रिलोक्ये  
यावन्ति लक्ष्मीरूपाणि इन्द्रपदादीनि, तासां यदेकं  
पदं, यस्यांशविलासाः तत्तल्लक्ष्मीभोक्तारः, तादृश  
वपुर्भूतवान् । अस्मिन्नर्थे देशकालादिभेदेन यावन्त  
उत्कृष्टा अर्था अपेक्ष्यन्ते, तान् प्रकटितवान्,  
तादृशवपुर्भाष्येन ॥ १८ ॥

व्याख्यानार्थ—सूत्र श्लोक में 'भगवान्' और 'ईश्वर' दो नाम दिए हैं, उनका आशय यह है,  
भगवान् नाम इसलिए दिया है, कि गोपियों के कार्यों को सिद्ध करने वाले हैं, और 'ईश्वर' नाम देने से  
यह बताया है, कि आप कर्तुं, अकर्तुं तथा अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं । जिसने गोपियों के शरीर पर उत्त-  
रीय वस्त्र न होने से सभा में रसाभास होना चाहिए वह न हुआ कारण कि समर्थ होने से उनको दिव्य  
वस्त्र पहना दिए, दिव्य वस्त्र जल क्रीडा के समय भी आद्र नहीं होते । यों सभी तरह के सामर्थ्य  
वाले वहाँ प्रार्थना करने पर विराजे ।

भगवान् भोगादि भोग देने अपवित्र वस्त्रों से बने आसन पर कैसे विराजे ? इस शङ्का के  
उत्तर में कहते हैं कि योगेश्वरों का हृदय शुद्ध है उसमें भी भीतर का हृदय और शुद्ध होता है । उस  
भीतर के शुद्ध हृदय में भी भगवान् के विराजने के लिए आसन की कल्पना मात्र की जाती है किन्तु  
आसन बनाया नहीं जाता है, अतः वहाँ योगेश्वरों के हृदय में प्रभु की मानसी मूर्ति केवल खड़ी रहती  
है, किन्तु कभी भी वहाँ स्वयं स्वरूप से विराजमान नहीं होते हैं । जिससे सिद्ध है कि भगवान् के  
विराजमान होने का यह ही मुख्य आसन है । उस पर विराजमान होकर गोपियों की परिषद् में  
परम शोभा को प्राप्त हुए । आपके चारों तरफ गोपियाँ बैठ गई । उस समा के सभागति भगवान्  
बने, अतः गोपियों ने उनकी पूजा की । इसके बाद तीनों लोक में लक्ष्मीरूप जितने भी पद हैं, यथा  
इन्द्र का पद, उन सारे पदों को मिलाकर जो एक पद बनता हो कि जिसके अंशों का विलास तत्तद्  
लक्ष्मी का भोग करनेवाले बनते हैं, ऐसा वपु धारण कर विराजे । इसलिए देश काल आदि के  
प्रभेदों में जो भी कुछ उत्कृष्ट पदार्थ अपेक्षित हैं, उन्हें प्रकट करता हो ऐसा वपु भगवान् ने धारण  
किया ॥ १४ ॥

• श्री प्रभुचरण टिप्पणी में आज्ञा करते हैं, कि, जो वस्तु लोक वेद में अपवित्र मानकर



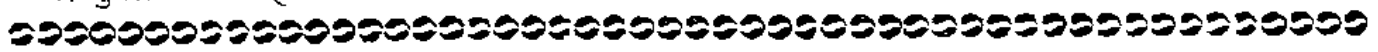
ग्रहण करने योग्य नहीं होती है, वह भी गोपियों के सम्बन्ध से भगवान् के लिए योगेश्वरों के शुद्ध अन्तःहृदय से भी अधिक उपयोगी हो जाती है, तो लोकवेद में जो उपादेय मानी जाती हो, ऐसी वस्तु यदि इन गोपियों से सम्बन्ध रखने वाली हो, तो उसकी उपयोगिता के बारे में क्या कहा जाय?

(‘रसाभास’ पर श्री प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि, जब गोपियों ने कात्यायनी व्रत कर वरदान लिया, उस समय उन्होंने अपने सर्व वस्त्र उतार दिए थे, तो भी रसाभास जब न हुआ तो अब केवल उत्तरीय वस्त्रों के उतारने से रसाभास कैसे होगा ? उस समय जो प्रभु थे वे ही अब भी हैं, इसलिए श्लोक में ‘सः’ (वह) कहा है। उस वक्त रसाभास क्यों न हुआ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि ‘ईश्वरः’ है, ईश्वर होने से कर्तुं, अकर्तुं, और अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं अतः जब कर्तुं समर्थ हैं तो रसाभास होता तो यों करने ही नहीं देते, अर्थात् वस्त्र उतारने नहीं देते। अकर्तुं समर्थ होने से उत्तरीय वस्त्र से वने आसन को छोड़ नहीं सकते हैं, दूसरी तरह करने में समर्थ होने से ‘रसाभास’ होते हुए भी रस उत्पन्न कर सकते हैं, अतः वैसे सर्व समर्थ ईश्वर में कुछ भी असंभव अथवा अयोग्य नहीं है)

श्री प्रभुचरण ने टिप्पणी में ‘अपने अन्तःकरण के दोष’ का विवरण ‘स्वकृतघ्नता’ पद से किया है। परोक्ष में भी भजन करने के कारण प्रभु ने विप्रयोग रस का दान किया ही किन्तु इस रसदान का ज्ञान इन गोपीजनों को नहीं हुआ यही इनकी कृतघ्नता है। प्रभु में तो कोई दोष है ही नहीं, अतः आरोप करने पर ही वह दोष संभव है। अन्यत्र भासित होने वाली वस्तु का कहीं अन्यत्र आरोप होता है या फिर स्मृति में जो कोई बात आ जाए उसका आरोप हम दिखलाई देती वस्तु पर कर देते हैं। स्वामिनियों को प्रिय के अलावा और किसी धर्म की स्फूर्ति ही नहीं है अतः अपने में रहे हुए धर्म का ही आरोप यहां किया जा रहा है। यद्यपि यह भी रसमध्यपाती भाव है अतः दोष रूप नहीं है तथापि भगवान् में किसी भी दोष का न होना शास्त्र सिद्ध है इसलिए आरोप तो भ्रममूलक ही है परन्तु रसशास्त्र की रीति के अनुसार ही।

**आभास—**एवं प्रसन्नं भगवन्तं दृष्ट्वा स्वान्तःकरणदोषदूरीकरणार्थं स्वकृतघ्नतां पूर्वं भगवति कल्पितवत्य इति तन्निराकरणार्थं लोकदृष्ट्या भगवति कृतघ्नतालक्षणो दोषोऽस्ति न वेति निर्णयार्थं किञ्चित् प्रष्टुमुद्यता इत्याह सभाजयित्वेति।

**आभ.सार्थ—**गोपीजनों ने भगवान् का दर्शन कर, उनके स्वरूप से मन में समझा, कि अब भगवान् प्रसन्न हैं अतः वास्तव में जो भगवान् निर्दोष हैं उन्हें अपने अन्तःकरण के दोष के कारण हमने कृतघ्नी समझ लिया था, क्योंकि उनसे हम शरणागतों का त्याग किया, जिससे भगवान् दोषी हैं वैसे भाव हमारे हो गए थे। अब भगवान् ने प्रसन्न होकर प्रकट दर्शन दे दिए हैं अतः हमारे लिए अपने अन्तःकरण के दोषों को दूर करने का यह उचित अवसर है। गोपियां यह निश्चय कर, लोक दृष्टि से भगवान् में कृतघ्नता दोष है अथवा नहीं, जिसके निर्णय के लिए कुछ पूछने को तैयार हो गईं, जिसका वर्णन श्री शुक्देवजी ‘समाजयित्वा’ श्लोक से करते हैं।



श्लोक—सभाजयित्वा तमनङ्गदीपनं सहासलोलेक्षणविभ्रममद्भुवा ।

संस्पर्शनेनाङ्ककृताङ्घ्रिहस्तयोः संस्तुत्य ईषत्कुपिता बभाषिरे ॥ १५ ॥

श्लोकार्थ—गोपियों ने हास्य एवं लीला सहित दर्शन से तथा विलास युक्त भृकुटी से, अनङ्ग को उद्गमन करने वाले भगवान् को स्तुती की और अङ्ग में पधराए हुए चरणों का हस्तों से स्पर्श करती हुई, अर्थात् उनको प्रेम पूर्वक चाँपती हुई गोपियाँ स्तुति कर कुछ क्रोध से बोलने लगीं । १५ ॥

सुबोधिनी—प्रश्नार्थ प्रथमतः सभाजनं स्तोत्रं कृत्वा । ननु किमनेन विचारेण साम्प्रतम्, जातं फलं भुज्यतामिति चेत्, तत्राह अनङ्गदीपनमिति । अनङ्गं दीपयति निरन्तरमेव । अङ्गाभावं सम्पादयतीति च ध्वनिः । अतो नैकेन भोगेन कार्यनिष्पत्तिः । पुनस्तेनापि भोगेनाग्रे अधिक एव खेदः स्यात् । स चेत् स्वदोषेण, तदा दोषो दूरीकर्तव्यः । भगवद्वर्णने चेत्, वाङ्निर्बन्ध कारयित्वा प्रार्थयित्वा वा फलानुभवः कर्तव्य इति भावः । अनङ्गदीपने साधनमाह सहासेति । साधनाभावार्थं वा प्रार्थनीय इति साधनकीर्तनम् । हासपूर्वकं यल्लीलेक्षणं, तेन विभ्रमन्ती या भ्रूः तया अनङ्गं दीपयति । पञ्चात्र साधनानि । हासो लीला ईक्षणं विलासाः भ्रूश्चेति । पञ्च

चेद्वेतवः कार्यमप्रतिहतं भवति । माया व्यामोहिका स्वरूपविस्मरणार्थम् । लीला स्वासक्ति साधयति । ईक्षणं तत्र ज्ञानजनकम् । अन्यथा ज्ञानान्तरेण तन्निराकरणं स्यात् । विलासाः पोषकाः । भ्रूयमः नियन्ता काल इति । यावत्प्रसाददाता वा तत्रैव । ततः प्रश्नार्थ उपद्वीकनं कुर्वन्ति संस्पर्शनेनेति । अङ्गो कृतः स्थापितो यो भगवदङ्घ्रिः, तत्सम्बन्धिनौ यौ हस्तौ, तयोः सम्यक्संस्पर्शनेन संलालयन्त्य इत्यर्थः । संस्पर्शनेन सहिताः । तत आभिमुख्यार्थं संस्तुत्य । एवं सर्वभावेन प्रपन्नानपि त्यजतीति भगवति दोष-दृष्ट्या ईषत्कुपिताः । साधननिवर्तितोऽपि दोषो न सम्यक् निवर्तते, यावद् भगवान्न निवर्तयतीति । अतो विवादमिव कुर्वन्त्यो बभाषिरे ॥ १५ ॥

व्याख्यार्थ—गोपियों को भगवान् से प्रश्न करने थे, इसलिए प्रथम भगवान् की स्तुति की ।

भगवान् निर्दोष हैं किन्तु उनमें कृतघ्नता रूप दोष उत्पन्न हुआ है वा नहीं ? इस प्रकार विचार करने की क्या आवश्यकता है ? अब तो फल प्राप्त हो गया है, उसका उपभोग करना चाहिए, यदि यों कहा जाए तो उसके उत्तर में 'अनङ्गदीपनं' पद दिया है । जिसका भावार्थ है, कि यह फल अनङ्ग (काम) को सदैव प्रज्वलित करता ही रहता है जिससे यह ध्वनि निकलती है कि यह शरीर का भान भुला देता है, अतः एक बार भोग करने से, कार्य की पूर्णता नहीं होती है । जिससे फिर वैसे एक भोग से आगे, अधिक खेद होमा । वह खेद, यदि अपने दोष से होवे, तो दूर करना चाहिए और यदि भगवान् के धर्म से हुआ हो, तो भगवान् से बोलचाल कर अथवा उन्हें प्रार्थना कर, यह निश्चय करा लेना कि पुनः खेद जनक लीला न करे, अनन्तर फल का अनुभव करना चाहिए । इनने समग्र कहने का यह ही भाव है ।



भगवान् जिन साधनों से अनङ्ग<sup>१</sup> को प्रज्वलित<sup>२</sup> करते हैं, श्रीशुकदेवजी उन साधनों का वर्णन करते हैं, अथवा तो अनङ्ग को दोष करनेवाले साधन भगवान् को रखने नहीं चाहिए यह प्रार्थना करनी चाहिए। इस आशय से अनङ्गोद्दीपक साधनों का वर्णन है। (१) हास्य (२) लीला (३) ईक्षण (४) विलास एवं (५) भ्रूयों ये पाँच अनङ्गवर्धन साधन हैं। हास्य पूर्वक जो लीलायुक्त ईक्षण, उस ईक्षण के कारण जो भ्रुकुटि का विलास, यह विलास ही अनङ्ग को उद्दीप्त करता है। पाँच हेतुओं के जुटने पर कार्य निर्विघ्न संपन्न होता है। भगवान् का हास माया है, जिससे स्वरूप विस्मरण रूप मोह उत्पन्न होता है। भगवान् की लीला आपके स्वरूप में आसक्ति सिद्ध करती है। ईक्षण वाँछित लीला के स्वरूप का ज्ञान प्रकट करता है। यदि ईक्षण वह ज्ञान प्रकट न करे, तो अन्य पदार्थों के ज्ञान होने से, आसक्ति का नाश हो जावे। विलास उस ज्ञान का पोषण करने वाले हैं। भगवान् की भ्रुकुटि यम<sup>३</sup> है, अतः जैसे यम नियम में रखनेवाला है वैसे यह भ्रुकुटि रूप यम भी भाव का नियामक है, जिससे भाव नाश नहीं होता है। अथवा (क्योंकि फलका नियमन भ्रुकुटि द्वारा होता है अतः) इस अनङ्गभाव के होने पर ही, अर्थात् देहानुसंधान के हटनेपर ही, भ्रुकुटि भगवान् की आदी वृत्तियों का दान करती है, अर्थात् स्वरूपानन्द का दान करती है।

गोपियों को भगवान् से प्रश्न करने हैं, अतः भगवान् को प्रसन्न करने के लिए उन्हें दुलारती है, इसलिए मूल श्लोक में 'संस्पर्शनेन' पद<sup>१</sup> दिया है। गोपियां प्रथम भगवान् के चरण गोद में पधरा के अनन्तर दोनों हस्तों से चरणों को इस प्रकार स्पर्श करने अथवा चाँपने (दाबने) लगी जिससे प्रभु को आनन्द प्राप्त हो। इसी भाँति की क्रिया करती हुई गोपियां, भगवान् का ध्यान अपनी तरफ आकर्षित करने के लिए स्तुति करने लगीं।

गोपियों को कुछ रोस भी चढ़ी क्योंकि गोपियों के मन में आया, कि, हम सर्व-भाव से जो क्षरण आई हुई हैं उनको भी छोड़ते हैं। इस प्रकार भगवान् में दोष दृष्टि हुई, जिससे थोड़ी कुपित हो गई।

गोपीजनों ने दोष निवारण के लिए जो संस्पर्शन आदि साधन किए, उनसे दोष नाश हुए, तो भी, जब तक भगवान् स्वयं दोषों को नाश न करेंगे तब तक जड़ सहित दोष नाश नहीं होंगे, अतः भगवान् से विवाद सा करती हुई बोलने लगीं ॥१५॥

**आभास—**तासां प्रश्नमाह भजत इति ।

**आभासार्थ—**श्रीशुकदेवजी 'भजतोऽनु' श्लोक में गोपियों ने जो प्रश्न किए हैं, उनका वर्णन करते हैं।

**श्लोक—**गोप्य उचुः—भजतोऽनुभजन्त्येक एक एतद्विपर्ययम् ।

नोऽप्यंशं भजन्त्येक एतन्नो गूहि साधु भोः ॥१६॥

**श्लोकाथं—**गोपियां कहने लगी, कि, कितने एक तो भजन करने वालों को स्वयं भी भजते हैं, कितने एक, भजन न करने वालों को उनके भजन की परवाह न कर भी भजते हैं, कितने एक, भजन करने वाले तथा भजन न करने वाले, दोनों को नहीं भजते हैं। इन तीन प्रकार के पक्षों का स्पष्ट वर्णन कीजिए ॥६६॥

सुबोधिनी—त्रयः पक्षाः सन्दिग्धाः, फलतः, स्वरूपश्च, भजनाभजनाभ्याम् । तत्रैके ये यथा भजन्ति, ते तथा तानपि भजन्ति । एके पुनरभजतोऽपि भजन्ति । अन्ये तु उभयानपि न भजन्ति । तेषां त्रयाणां उभयोरपि प्रतियोगिनोः फलं वक्तव्यम् । ये भजनानुसारेण भजन्ति, ते किं कृतधनाः, आहोस्वित् धूर्ताः आहोस्वित् समीचीना इति । केनचित् पादप्रक्षालनं कृतम्, सोऽपि चेत् करोति, तदा किं स्यात् । फलार्थकरणे फलं देयम् । तेनापि तदेव कर्तव्यमिति करणे तदेव कर्तव्यम् । निरपेक्षकरणे तु सन्देह एव । अभजतो भजने क्वचिदोपः स्यात् । यथा निष्कामे

कामिनी । क्वचिदुपकारः, अपेक्षितश्चेदर्थः ।  
क्वचित् स्नेहः । क्वचिद्धर्म इति । एकं फलं  
निर्धारितं वक्तव्यम् । यो वा न भजति पूर्वः,  
तस्य वा किं फलमिति । ये वा नोभयविधान्  
भजन्ति, तेषामुभयविधानां वा किं फलमिति ।  
कृतस्य साधनस्य कुत्र वा उपयोगः । एतत् सर्वं  
ब्रूहि । साधु यथा भवति तथा । भो इति सम्बो-  
धनं सावधानार्थम् । भजतः पुरुषाननु तदनुसारेण  
भजन्ति । एके पुनः भजनव्यतिरेकेणैव भजन्ति ।  
इत्युभये भजनकर्तारः । अन्ये तु भजनरहित  
एव ॥१६॥

व्याख्यान—लोक में, फल और स्वरूप तथा साधन से तीन पक्ष संदिग्ध हैं अर्थात् स्पष्ट नहीं हैं, पहला पक्ष, कुछ जो जंसे भजन करते हैं उनका स्पष्ट रीति से वैसे ही भजन करने वाले होते हैं। दूसरा पक्ष, कुछ जो भजन नहीं करते हैं उनके भजन की परवाह न कर उन्हें भी भजते हैं। तीसरा पक्ष, कुछ भजन करने वाले और भजन न करने वाले दोनों का भजन नहीं करते हैं। इन तीनों का एवं दूसरे और तीसरे में जो दो प्रतियोगी + हैं प्रथम उनका फल कहिए।

जो भजन करने वाले का वैसा ही भजन करते हैं वे कृतघ्न \* हैं ? वा धूर्त ● हैं ?  
अथवा श्रेष्ठ 卐 हैं ?

**योजनाकार लालूभट्टजी:—**

+ दो प्रकार भजन के हैं तथा एक प्रकार अभजन का यों कुल तीन प्रकार हैं । (१) जैसे 'क' 'ख' का भजन करता हो वैसे ही 'ख' 'क' का भी भजन करता है (२) 'क' 'ख' का भजन नहीं करता परन्तु 'ख' 'क' का भजन करता है (३) 'क' 'ग' का भजन करता है परन्तु 'ख' 'ग' का भजन नहीं करता परन्तु 'ग' तो 'क' या 'ख' किसी का भी भजन नहीं करता है ।

यहां (२) कल्प में 'क' प्रतियोगी है तथा (३) कल्प में भी 'क' प्रतियोगी है। इन तीनों कल्पों का एवं उक्त (२) एवं (३) कल्प के दो प्रतियोगी 'क' के लिए क्या फल है यह जानना है।

✱ भजन के उपकार को नहीं मानना एवं प्रत्युपकार में समर्थ होते हुए भी भजन का जो योग्य फल हो, उसे न देकर केवल व्यवहार निभाने के लिए उसका भी उसी प्रकार से भजन कर देना, यहां कृतघ्नता की संभावना है ।



● यदि कोई हमें धन की प्राप्ति के लिए भजता है तो उसे धन तो नहीं देता किन्तु बुरा न गये एतदर्थ जैसे वह हमें भजता हो ऐसे ही हम यदि उसे भजे तो यह एक धूर्तता का ही शिष्ट प्रकार कहलायेगा ।

॥ जो जैसा हमारा भजन करे उसे उसी तरह भजना इससे अधिक उचित एवं सभव क्या है अतः श्रेष्ठता की भी संभावना है ।

प्रकाशकार पुरुषोत्तमजी:—

✽ भजन को देखकर भजन करना और जिसने पहले किया उसके उपकार को नहीं मानना, इस पर भी खुद के किए हुए को उसके किए हुए से अधिक मानना कृतघ्नता है ।

● पहले जिसने भजन किया उसका उपकार तो माने परन्तु स्वयं आप ( उसे देखकर कर रहे होने पर भी ) अपने कार्य को पहले वाले के समान माने या उसका उत्कर्ष न माने यह धूर्तता है ।

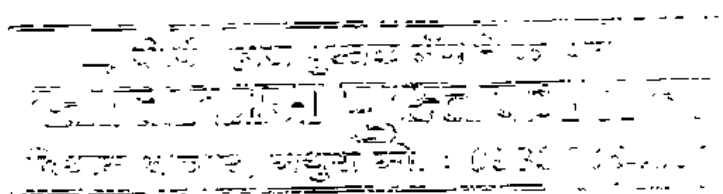
॥ पहले वाले ने फलाशा से किया या बिना किसी फल की आशा के इसका निर्णय न हो पाने से जैसे वह भजन करता हो कम से कम उतना या वैसा तो उसका भी भजन कर ही देना चाहिए, यह भाव श्रेष्ठता का है ।)

कोई एक पुरुष, दूसरे के पैरों को इस आशा से धोता है, कि जिसके पैर मैं धोता हूँ वह मेरे भी पैर धोवे तो सभीचीन पुरुष को वैसा ही करना चाहिए, यदि वह किसी आशा के बिना पैर धोता है, तो सामने वाला क्या करे इसमें सन्देह रहता है, अतः इस प्रथम पक्ष के सन्देह का निर्णय करना चाहिए ।

जिसको भजन करने की इच्छा नहीं है, उसका यदि कोई भजन करना चाहे, तो कहीं दोष भी होता है । जैसे कोई निष्काम  $\Delta$  पुरुष है, उसके साथ कोई कामातुर कामिनी भोग की इच्छा करती है, तो वहां दोष होता है, कभी उससे उपकार  $\gamma$  भी हो जाता है, यदि उस अर्थ की अपेक्षा हो, तो कहीं स्नेह  $\circ$  और कहीं धर्म  $\asymp$  भी होता है । एक निर्धारित फल कहना चाहिए । जो पहले भजन नहीं करता उसके लिए क्या फल है और जो भजने या न भजने वाले अर्थात् किसी को भी नहीं भजता उसके उदाहरण में भजने और न भजने वालों का क्या फल है, उनके किए हुए साधनों का उपयोग कहाँ होगा ? यह आप बताओ और वह साधु रीति से यहां सम्बोधन में 'भो' पद सावधान करने के लिए दिया है । कितने ही भजन करने वालों के अनन्तर वैसे ही भजन करते हैं और फिर कई भजन नहीं करने वालों को भी भजते हैं, वे दोनों भजन करने वाले हैं इनके सिवाय दूसरे भजन रहित हैं ॥१६॥

$\Delta$  कश्यप ऋषि निष्काम थे उनको दिति ने सन्ध्या समय वश किया जिससे वहां दोष उत्पन्न हुआ है—भा० तृ० स्कन्ध

◉ अग्निध्र को पितृलोक की इच्छा थी इसलिए ब्रह्माजी ने पूर्वचिन्ति अप्सरा को अग्निध्र के







पास भेजा जिससे उसको नौ पुत्र उत्पन्न हुए । इस कार्य से ब्रह्मा का आग्निघ्न पर उपकार हुआ, इस प्रकार कभी उपकार भी होता है ।

≡ उर्वशी चरित्र से, स्नेह देखने में आता है— भा० नवम स्कन्ध

५ महाभारत में आए हुए सुदर्शनोपाख्यान से जाना जाता है, कि कभी इससे 'धर्म' भी होता है ।

→ इस प्रकार अभजन करने वालों के भजन का एवं भजन करने वालों के अभजन का क्या फल है ? कौन कब कृतघ्न, धूर्त या समीचीन माना जाता चाहिए इसका खुलासा अपेक्षित है । यथा— उर्वशी अर्जुन के पास इच्छा से आई थी, किन्तु अर्जुन ने उसकी इच्छा पूर्ण नहीं की, जिससे उसने अर्जुन को शाप दिया और निन्दा भी की अतः अर्जुन कृतघ्न है ।

जरा नारदजी के पास भोग की आशा से आई, किन्तु नारदजी ने उसकी अभिलाषा पूर्ण नहीं की, जिससे उसने नारदजी को शाप दिया अतः नारदजी धूर्त है ।

वरुथिनी यद्यपि भजन की इच्छा से आई, किन्तु मार्कण्डेय को जितेन्द्रिय जान, उसने वह इच्छा छोड़ दी, जिससे मार्कण्डेय ने वरुथिनी का भजन नहीं किया, अतः मार्कण्डेय समीचीन है ।

इस प्रकार जो भजन नहीं करते हैं उनमें भी कृतघ्न, धूर्त और समीचीन के विषय में संदेह देखने में आता है ।

**आभास—एतेषा भेदान् फलं चाह भगवान् मिथो भजन्तीति त्रिभिः ।**

**आभासार्थ—**‘मिथो भजन्ति’ से लेकर तीन श्लोकों में भगवान् इनके भेद और फलों का वर्णन करते हैं ।

एक भजन करने वाले का जो भजन करता है, दूसरा न भजन करने वाले का भी भजन करता है, तीसरा किसी का भी भजन नहीं करता है, इन तीनों के ।

**श्लोक—श्रीभगवानुवाच—मिथो भजन्ति ये सख्यः स्वार्थकान्तोद्यमा हि ते ।**

**न तत्र सौहृदं धर्मः स्वार्थार्थं तद्धि नान्यथा ॥१७॥**

**श्लोकार्थ—**भगवान् कहने लगे, कि हे सखियों ! जो आपस में एक दूसरे का भजन करते हैं, वहां कोई सुहृदपन वा धर्म नहीं है, क्योंकि वह भजन केवल स्वार्थ सिद्धि के लिए किया जाता है, दूसरा कोई कारण नहीं है ॥१७॥



सुबोधिनी—तत्रापक्षस्य निर्धारमाह । ये मिथो भजन्ति, ते स्वार्थैकान्तोद्यमाः । स्वार्थ एव एकान्तः एकं फलमुद्यमस्य । ते हि ज्ञात्वैवान्योन्यं भजन्ते । तरतमभावेन च भज्जनमनुवर्तयन्ति । अतो न तेष्वन्योन्यं वञ्चनापि सम्भवति । अतः स्वार्थमेव लौकिकार्थमेव तेषामुद्यमः । ननु उभये ब्राह्मणाः, अतोऽन्योन्यभजनेन धर्मः स्नेहो वा भवेत्, कथं स्वार्थ एवेत्याशङ्क्याह न तत्र सौहृदमिति । अणुनैव द्वितीयस्याभजनं ज्ञात्वा क्रोधकरणात् । अतो न सौहार्दम् । नापि धर्मः । 'सम्भोजनी नाम पिशाचभिक्षा नैषा पितृन् गच्छति नोत देवान् । इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव नष्टवत्से'ति । गुरुसेवायामपि यदि दृष्टार्थ-तोभयोः, तदापि न धर्मः । शास्त्रानुसारी चेत्,

मिथोभजनाभावः । विद्या तु फलरूपा । सख्य इति सम्बोधनादप्रतारणा । य प्रसिद्धास्ते वणिज इव । स्वार्थ एव तेषां प्रवृत्तिः । यद्यपि धर्मादयोपि स्वार्था एव, तथाप्यन्योन्यभजने न ते सिध्यन्ति । तथा सौहार्दमपि, यद्यन्यमपेक्षेत । तस्य साधनस्य विनियोगमाह स्वार्थाथिमिति । अन्यार्थमपि प्रतीयमान स्वार्थमेव । एवं सेवादिदानेष्वपि : दुःखनिवृत्तिस्तत्र फलम् । अत्रार्थ सर्वोपि लोकः प्रमाणमिति हिशब्दः । अन्यथा परोपकाराय न । अन्यस्य हृदये तत्प्रतीकारार्थं चिन्ताजननात् । अतः फलं स्वार्थसिद्धिः लौकिकी । नाममात्रमेव तेषां धर्मत्वम्, न तु वस्तुतः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—गोपियों ने जो तीन पक्ष ऊपर कहे हैं उनमें से पहले पक्ष का निर्णय करते हुए, भगवान् ब्राह्मण करते हैं, कि जो परस्पर भजन करते हैं अर्थात् भजन करने वाले का ही भजन करते हैं वे केवल अपने अर्थ को सिद्ध करके का ही उद्यम करते हैं अर्थात् इस प्रकार के उद्यम का फल केवल स्वार्थ की सिद्धि करना ही है । वे (भजन करने वाले) आपस के भावों को जानकर ही परस्पर भजन करते हैं । कम-ज्यादा भाव से एक दूसरे का भजन करते ही रहते हैं, अतः उनमें परस्पर कभी धोखा भी नहीं होता है जिससे जाना जाता है, कि उनका यह उद्यम अपने लौकिक वा स्वार्थ के लिए ही है । परस्पर भजन करने वाले दोनों ब्राह्मण हैं तो आपस में, भजन करने से, स्नेह वा धर्म ही होगा, आप कैसे कहते हो, कि स्वार्थ ही है ? जिसके उत्तर में कहते हैं, कि वहां मित्रता नहीं रहेगी, कारण कि जिस समय दूसरे ने भजन नहीं किया तो उस समय भजन करने वाले में क्रोध उत्पन्न होगा, और वह कहने लग जाएगा, कि अरे देखो तो सही, मैंने इतना भजन किया और उसने कुछ नहीं किया ! अतः वहां मैत्री न रहेगी, और न धर्म रहेगा । धर्म क्यों न रहेगा, उसके स्पष्टीकरण के लिए आपस्तम्ब के वचन का प्रमाण देते हैं । \*ब्राह्मण इकट्ठ बैठकर जो भोजन करते हैं वह पिशाच भिक्षा है अतः वह न पितरों को पहुँचती है और न देवों को मिलती है, जैसे बिना बछड़े वाली जो गौ, दूसरी शाला में वान्धने पर कृश होकर, नष्ट हो जाती है, वैसे ही यह पिशाच भिक्षा भी लोक में क्षीण पुण्य होकर नष्ट हो जाती है' । अतः परस्पर भजन धर्म नहीं है । यदि गुरु सेवा भी, वृत्ति\* अथवा प्रतिष्ठा के लिए की जाती है, तो वह सेवा, धर्म नहीं है जब गुरु और शिष्य शास्त्र

### १—आजीविका वा स्वार्थ

\*'सम्भोजनी नाम पिशाच भिक्षा नैषा पितृन् गच्छति नोत देवान् । इहैव सा चरति क्षीणपुण्या शालान्तरे गौरिव' ॥ आपस्तम्ब

इस प्रकार यदि गुरु भी विद्या वा उपदेश स्वार्थ अथवा प्रतिष्ठा के लिए देते हैं तो वह भी धर्म नहीं है ।

के अनुसार परस्पर भजन करते हैं, तब वह धर्म है, जिससे शिष्य को जो विद्या प्राप्त होती है, वह फलीभूत होती है। श्लोक में भगवान् ने गोपियों को 'सख्यः' संबोधन देकर बताया है, कि मैं जो कह रहा हूँ वह तुमको ठगने के लिए नहीं है, किन्तु सत्य निर्गुण है। इसका भावार्थ यह है, कि जो परस्पर भजन करते हैं, वे वैश्यों जैसे लेन देन करने वाले हैं उनकी प्रवृत्ति स्वार्थ में ही है। यद्यपि धर्म आदि भी स्वार्थ ही है, तो भी परस्पर भजन से वे (धर्म आदि) सिद्ध नहीं होते हैं। उसी भांति मित्रता भी सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि जिससे अन्य की (फल की) अपेक्षा रहती है, उससे मित्रता की सिद्धि भी नहीं हो सकती है। उनके<sup>१</sup> साधन<sup>२</sup> का प्रयोग<sup>३</sup> भी स्वार्थ के लिए ही है, यद्यपि वह अन्य के लिए किया हुआ देखने में आता है, तो भी स्वार्थ ही है। इस प्रकार सेवा आदि दोनों में भी समझना चाहिए। वहां दुःख की निवृत्ति फल इस विषय में सर्व लोक प्रमाण है, इसलिए श्लोक में 'हि' शब्द दिया है।

श्लोक में 'अन्यथा' पद है, उसका आशय है, कि वह भजन परोपकार रूप धर्म भी नहीं है, कारण, कि दूसरे के हृदय में अर्थात् जिसका भजन किया जाता है, उसके हृदय में उस भजन का प्रतीकार<sup>४</sup> करने की चिन्ता रहती है, इस कारण से, इसका फल लौकिकी स्वार्थ सिद्धि है, यह<sup>५</sup> नाम मात्र ही धर्म कहा जाता है वास्तविक वह धर्म नहीं है ॥१७॥

**आभास—**ये पुनः अभजतोऽपि भजन्ति, ते द्विविधा इत्याह भजन्तीति ।

**आभासार्थ—**भगवान् 'भजन्त्य' इस श्लोक में कहते हैं कि जो भजन न करने वाले का भी भजन करते हैं वे दो प्रकार के हैं ।

**श्लोक—**भजन्त्यभजतो ये वै करुणाः पितरौ यया ।

धर्मो निरपवादोऽत्र सौहृदं च सुमध्यमाः ॥ १८ ॥

**श्लोकार्थ—**जो भजन न करने वालों को भजते हैं वे दो प्रकार के हैं, एक दयावाले, दूसरे माता पिता, हे सुमध्यामाओ ! यहां किसी भी अपवाद से रहित धर्म और सौहार्द है ॥ १८ ॥

**सुबोधिनी—**ये अभजतोऽपि तृष्णीस्थितान् भजन्ति, तत्र निमित्तद्वयम्, लौकिकं वैदिकं वा, स्नेहो विधिश्च । तत्र सौहार्दं धर्मश्च फलं कमेणैव । यः पूर्वः तस्य सौहार्दं अवसरे कर्तव्य एवोपकारः । अन्यथा कृतघ्नः स्यात् । धर्मशेषश्चेत्, प्रायश्चित्तं । विधेयम् । तदीय एव धर्मः तद्द्वारा तेषु गच्छतीति तत्र धर्मो यत्र कर्म प्रधानम्, यत्र वा देवता, तदुभयं न विवक्षितम् । प्रतियोगिनि भजनशङ्काभावात् । यत्र वा असमानता, गोः पङ्क्तोद्धारणवत्, तत्रापि तथा । यत्र पुनराधारे प्रत्युपकारः सम्भव-

१—परस्पर भजन करने वालों के, २—परस्पर भजन, ३—करना,

४—बदला, ५—परस्पर भजन

ति, तत्र प्रवृत्तौ, पूर्वस्याभजने, निरपवादो धर्मः, सौहृदं च फलम् । अधिकारिविशेषणं तु एकत्र करुणा, अपरत्र दैहिकः सम्बन्धः । तदाह करुणाः पितराविति । अन्यत्रापि दृश्यत इति तद्वर्माति-देशमाह यथेति । ये ससारिणः क्रूराः, तेऽपि कदाचिद्दीनेषु भजनं कुर्वन्ति, स्निग्धा इव च भवन्ति । तेषां सङ्ग्रहार्थं यथेति । सम्बन्धस्तु जन्मान्तरोयोऽपि भवतीति उपमानोपमेययोरभेदा-

देकविधा एव । निरपवाद इति । एतदुपकारेण हि तस्यापवादः । तदभावान्निरपवाद एव । अत्र तादृशेऽर्थे । अनेन यत्र प्रत्युपकारसम्भावनापि न, तत्र धर्म इति सूचितम् । अत एव केचित् कियमाणमपि नाङ्गीकुर्वन्ति । सौहार्दं वि धर्मोस्तीति चकारः । नुमध्यमा इति सम्बोधनमुक्त-विश्वासाय । धर्मोऽयं उत्तममध्यमता ॥ १८ ॥

**व्याख्यानार्थ —** जो लोक भजन न करने वालों और चुप रहने वालों का भी भजन करते हैं उसमें दो निमित्त हैं: एक लौकिक, दूसरा वैदिक, जिनमें लौकिक, स्नेह है, और वैदिक विधि है । वहां लौकिक निमित्त स्नेह का फल सौहार्द है और वैदिक निमित्त विधि का फल धर्म है । जो पहला स्नेह है जिसके फलरूप सौहार्द में अवसर आने पर उपकार करना ही चाहिए, अर्थात् भजन करने वाले की कुछ भी भलाई करना योग्य है, जो नहीं करता है वह कृतघ्न है ।

कोई एक मनुष्य धर्म के लिए जिसका भजन करता है उसे धर्म-शेष<sup>१</sup> कहा जाता है अतः भजन करने वाले में जो पाप आदि धर्म रहता है वह धर्म उस अंगरूप में चला जाता है अतः उस पापादि की निवृत्ति के लिए उसको प्रायश्चित्त करना आवश्यक है । जिस धर्म में कर्म वा देवता प्रधान है वह धर्म यहां नहीं कहा गया है क्योंकि कर्म अथवा देवता प्रधान धर्म के कर्ता का पाप देवता अथवा कर्म को नहीं जाता है क्योंकि प्रतियोगी में भजन करने की शक्का ही नहीं होती है । गाय यदि कीचड़ में फंस गई होतो उसे निकालना भी धर्म है, परन्तु इस तरह का धर्म यहां विवक्षित नहीं, क्योंकि परस्पर भजन यहां संभव नहीं है गाय एवं पक्षसे उसे निकालने वाला मनुष्य समान नहीं है ।

जहाँ फिर, आधार पर प्रत्युपकार वन सकता है, वहाँ प्रवृत्ति में, प्रथम पुरुष भजन न करे, दूसरा भजन करे, तो उसका फल निरपवाद धर्म और स्नेह है ।

जिस भजन में भजन करने वाले को धर्मरूप फल प्राप्त होता है, वहां भजन करने वाले में दया होती है, और जिस भजन में, भजन करने वाले को स्नेह सौहार्द फल मिलता है, वहां भजन करने वाले में देह सम्बन्ध होता है, यह बताने के लिए श्लोक में, 'करुणाः पितरौ' कहा है । श्लोक में 'यथा' शब्द का गूढ आशय है, कि इस शब्द से यह बताया है, कि दया तथा सम्बन्ध केवल दयालु और माता पिता में नहीं रहता है, किन्तु उनके सिवाय अन्यो में भी रहते हैं, जैसे क्रूर पुरुष भी कभी दीनों पर दया करते हैं, दयालु जैसे वन जाते हैं । इस प्रकार का देह सम्बन्ध जन्मान्तरीय भी हो सकता है । उपमान और उपमेय का भेद नहीं है, अतः यहां केवल 'करुणा' और 'पितरौ' का उदाहरण दिया है ।

श्लोक में 'धर्म' के लिए 'निरपवाद' कहा है, यों कहने का भावार्थ है, कि जहाँ उपकार नहीं होता वहाँ तो धर्म निरपवाद है ही बल्कि जहाँ उपकार की संभावना भी नहीं है वहाँ भी 'धर्म' है इसलिए कितने एक कोई उपकार करना चाहें, तो वह स्वीकार नहीं करते हैं । श्लोक में 'च' शब्द



कहने का भावार्थ है, कि सौहार्द में भी 'धर्म' है। 'सुमध्यमा' सन्निधन से गोपियों को अपने वचनों में विश्वास करने के लिए कहा है। क्योंकि धर्म से ही उत्तमता और मध्यमता होती है। १८ ॥

**आभास—**ये तु पुनः सर्वथैव न भजन्ति, भजनार्थं भजतः, सौहृदेन वा भजतः। धर्मार्थं तु न शङ्का। तानुभयविधानपि केचिन्न भजन्ति। अभजतो दीनान् धर्माधि-कारिणश्च। तानपि न भजन्ति। तेषां स्वरूपमाह भजतोऽपि।

**आभासार्थ—**सामने वाला मेरा भी भजन करे, इसलिए जो भजन करता है, वैसे भजन करने वाले को तथा जो भजन नहीं करता है, इन दोनों को जो नहीं भजते हैं, और जो दीन होने के कारण भजन नहीं कर सकते हैं एवं जो धर्म के अधिकारी हैं उन दोनों को भी नहीं, जो नहीं भजते हैं, उनके स्वरूप का 'भजतोऽपि' श्लोक में वर्णन करते हैं, धर्म से भजन करने वालों के लिए तो शङ्का ही नहीं है—

**श्लोकार्थ—**भजतोऽपि न वै केचिद् भजन्त्यभजतः कुतः।

आत्मारामा ह्याप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रोहः ॥ १९ ॥

**श्लोकार्थ—**जो भजन करने वालों को भी नहीं भजते हैं, वे भजन नहीं करने वालों का भजन कैसे करेंगे ? इस प्रकार के लोग आत्माराम, आप्तकाम, कृतघ्न और गुरुद्रोही इनमें से कोई एक होते हैं ॥ १९ ॥

**सुबोधिनी—**केचिन्महापुरुषा भजतोऽपि न भजन्ति, अभजतः कुतो भजिष्यन्ति। ते पूर्वोक्त-न्यायेन चतुर्विधाः। तन्मध्ये उभये समीचीनाः, उभये न। ये धर्माधिकारिणस्ते अधमाः। ये लौकिकनिमित्तास्ते उत्तमा इति। तान् गणयति साङ्कर्षाभावाय। आत्मारामा इति। आत्मन्येव रमन्त इति। अन्येन भजनीयो देहादिनपिक्षित इति भजनमेव न मन्यन्ते। तेषां भजनार्थं च साधनत्वेन स्वदेहादिकमपि न मन्यन्ते। तथा अन्ये आप्तकामाः। आप्तः प्राप्तः कामो यैः। यो भुक्तवन्तं ब्रूयात्, त्वं भुङ्क्ष्व, मा भुङ्क्ष्वेति वा।

एकत्राप्रवृत्तिः। अपरत्र सिद्धसाधनत्वेनानुवादः। उभयथापि वैयर्थ्यम्। प्रवर्तमानस्य धर्मः सेत्स्यति। अज्ञानं वा। उभये तु अधमा इत्याह। ये कृतं न जानन्ति तदुपकारम्, ते प्रत्युपकारसमर्था अपि उभयविधानपि न भजन्ति। तेषामज्ञानमेव हेतुर-भजने। ज्ञात्वा चेदभजनम्, गुरुद्रोहः। यः कश्चित् स्वस्य पुरुषार्थसाधकः स गुरुः, स पूज्यः तस्यापि स्वशक्तौ सत्यां तदुपेक्षायां तद्द्रोहः अनेनैव कृत इति गुरुद्रोहकर्ता भवति। एवं सर्वेषां गुणदोषा निरूपिताः ॥ १९ ॥

**व्याख्यानार्थ—**जो महापुरुष, भजन करने वालों का भी भजन नहीं करते हैं तब भजन न करने वालों का भजन कैसे करेंगे ? वे आगे कहे हुए न्याय के अनुसार चार प्रकार के हैं, उनमें दो समीचीन हैं और दो श्रेष्ठ नहीं अर्थात् अधम हैं।



अधम पुरुष के लक्षण कहते हैं कि, जो दया या धर्म से प्रेरित होकर भजन करते हैं उनका प्रतिभजन न करने वाले अधम है और जो लौकिक स्नेह के कारण भजन करते हैं, उनका भजन नहीं करते हैं, वे उत्तम हैं ।

इन चारों स्वभावों को परस्पर विभेदपूर्वक समझाने के लिए चारों तरह के व्यक्तियों की परिगणना करते हैं । अब प्रथम आत्माराम के लक्षण कहते हैं, जो आत्मा में ही रमण करते हैं, आत्मा के सिवाय अन्य कुछ भी उनकी दृष्टि में है ही नहीं, अतः कोई दूसरा जिस देह का भजन करे, उस देह की अपेक्षा ही नहीं करते हैं इसलिए देह के भजन को भजन ही नहीं मानते हैं । भजन करने वालों के भजन का साधन जो देहादिक है उनका अस्तित्व ही नहीं मानते हैं; जिनमें वैसे लक्षण हैं वे आत्माराम हैं ।

भजन न करने वाले दूसरे 'आप्तकाम' है । आप्तकाम उनको कहा जाता है, जिन्होंने अपनी कामनाएँ पूर्ण करली है अर्थात् जिनको अब किसी प्रकार की कामना अन्तःकरण में नहीं रही है, जैसे किसी भोजन किए हुए पुरुष को कोई कहता है कि 'भोजन करो' तो भी भोजन किए हुए पुरुष को भोजन करने में प्रवृत्ति नहीं होगी अन्यथा भोजन किए हुए पुरुष को कोई कहता है कि आप 'भोजन मत करो', तो यह कहना सिद्ध हुए साधन का अनुवाद मात्र है अर्थात् जिसने भोजन कर उदर भर लिया है उसको भोजन तो करना ही नहीं है अतः केवल नाम मात्र को कहना हुआ कि भोजन मत करो । दोनों प्रकार से कहना व्यर्थ है । किन्तु, कहने वाला यदि सौजन्य से कहता है तो धर्म की सिद्धि होगी अन्यथा उसका अज्ञान प्रकट होता है कि खाये हुवे को दोबारा खिलाना चाहता है । यों दो प्रकार से समीचीन अभजन के हुवे ।

अब दो प्रकार के असमीचीन-अधम अभजन के भी बताते हैं, जो व्यक्ति अन्य द्वारा किए गए उपकार को नहीं जानता या मानता वह कृतघ्न है । वह प्रत्युपकार करने में समर्थ होने पर भी किसी का उपकार नहीं करता चाहे कोई उसका कुछ उपकार करे या न करे । यह अज्ञानमूलक व्यवहार है । किन्तु, यदि जानकर भी भजन नहीं करता तो वह गुरुद्रोह सदृश है । जो हमारा कुछ भी उपकार करता है वह हमारे लिए गुरु ही है अर्थात् गुरु की तरह ही पूजनीय है । वह ऐसा व्यक्ति यदि कुछ आपत्ति में पड़े और हम समर्थ होते हुवे भी उसको उस आपत्ति से न छुड़ाये तो यह उसके प्रति हमारा द्रोह है । यह हमारा गुरुद्रोह सदृश व्यवहार कहलायेगा ।

इस तरह सारे गुण दोषों का विवेचन हो जाता है ॥ १६ ॥

**श्रीभास—**गोपिकानां हृदये भगवानेतन्मध्ये क इति जिज्ञासायां अभजनकर्तृत्वाद् भजनसामर्थ्यस्यापि विद्यमानत्वान्मिथोभजनपक्षः अभजनभजनपक्षश्च व्यावर्तितः । ननु द्वितीये पक्षे गोपिकानां भजने स्नेहाद् भजनमस्तु, अतो भगवान् निरूपकत्वेन नैषामन्तर्भूतः । ईश्वरश्च नैषामन्तर्भवतीति कथमेवं विचार इति चेत्, मैवम् । गोपिका भोग्या इत्यविवादम् । ताश्च भोग्यसमर्पकत्वं एवोपक्षीणाः । अतो भगवत एव विचारः



कर्तव्यः । ईश्वरोऽपि फलार्थं सेव्यश्चेत्, न विचार्यः । व्यवहारे दृष्टार्थश्चेद्, नोपमानग्रहणा-  
ग्रहणाभ्यां विचार्य एव । पूर्वं गृहीतत्वात् नात्मारामता, नापि पूर्णकामता । प्रथमप्रवृत्त्या  
तृप्तावपि परित्यागो नोचितः । ततस्तृतीयपक्ष एवाभिनिवेश उचितः तदपि सर्वज्ञस्यानु-  
चितम् । ईश्वराणां फलदात्कृपां कदाचिदेवं भवतीति शङ्कायाः परिहारमाह नाहं तु  
सख्य इति ।

**आभासार्थ—**इन सारे प्रकारों में से भगवान् कौनसे प्रकार के है यह जिज्ञासा गोपिकाओं के  
हृदय में उठ रही है ।

(१) भगवान् ने तो गोपिकाओं का भजन किया ही नहीं है अतः परस्पर भजन का प्रथम पक्ष  
यहां लागू नहीं होता ।

(२) समर्थ होते हुए भी भगवान् ने भजन तो किया ही नहीं अतएव न भजनेवाले को भी  
भजने का द्वितीय पक्ष भी यहां भगवान् पर लागू नहीं होता ।

(३) भगवान् ईश्वर है अतः आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ अथवा गुरुद्रोही इन चारों में से  
भी कुछ नहीं हैं ।

यहां द्वितीय पक्ष में गोपिकाओं के भजन को स्नेह प्रेरित भजन मानने पर, भगवान् का, इन  
भजन करने या न करने वालों में समावेश है, कि नहीं, यह विचार ही व्यर्थ हो जाता है । क्योंकि  
भगवान् तो भजन के निरूपक है ( अर्थात् विषय हैं—भजन करने या न करने वालों में नहीं ) अतः  
यह विचार क्यों किया जा रहा है + ?

यह विचार इसलिए आवश्यक है क्योंकि गोपीजन भोग्य हैं निर्विवाद रूप से । अतएव  
भोग्य समर्पण करते ही इन गोपिकाओं का कार्य समाप्त हो जाता है ; अब ऐसी स्थिति में भगवान्

(+ शंका के अनुसार यहां भगवान् किसी का भजन करते हैं, या नहीं, यह विचार व्यर्थ ही  
है; क्योंकि स्वयं गोपिकाओं का समावेश यहां दूसरे पक्ष में हो जाता है । क्योंकि ( जैसे कि वहां  
(१) धर्म प्रेरित एवं (२) स्नेह प्रेरित भजन ये दो कल्प ये उनमें से दूसरे कल्प के अनुसार ) गोपि-  
काओं ने भगवान् का, जो गोपिकाओं का भजन नहीं करते, तो भी, स्नेह से प्रेरित होकर भजन  
किया है । अतः भगवान् का, भजन करने या न करने वालों के रूप में, विचार करना व्यर्थ है ।  
क्योंकि, वे तो गोपिकाएं जो भजन कर रही हैं, उस भजन के ऐसे निरूपक-विषय हैं, जिसके कारण  
गोपिकाओं का भजन दूसरे प्रकार का बनता है । यदि कहा जाए, कि इसीलिए भगवान् को तीसरे  
प्रकार के चार अवान्तर प्रकारों—आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ अथवा गुरुद्रोही में से किसी एक  
प्रकार का मानना चाहिए तो वह इसलिए संभव नहीं है क्योंकि भगवान् ईश्वर होने के कारण,  
आत्माराम, आप्तकाम, अकृतज्ञ या गुरुद्रोही कुछ भी नहीं माने जा सकते हैं । अतः यह विचार  
व्यर्थ ही है, कि भगवान् उक्त तीन पक्षों में किस कोटी के हैं, क्योंकि स्वयं गोपिकाएं द्वितीय कोटी  
में इसलिए आ जाती हैं, क्योंकि भगवान् उनका प्रति भजन नहीं करते हैं, प्रत्युत गोपिकाओं के  
भजन को अपने आचरण से दूसरे प्रकार का बना देते हैं ।)



के भजन का विचार न करें तो किसका करें ? भगवान् ईश्वर हैं तो भी फल के लिए यदि उनकी सेवा की गई होती तो विचार की अपेक्षा न रहती । जब कि दृष्ट फल के लिए भी यदि भगवान् का भजन किया गया हो, तो जो कुछ हम उन्हें देते हैं उसे भगवान् स्वीकारते हैं या नहीं इसका विचार व्यवहार में करना ही पड़ेगा ।

इससे पहले, गोपिकाओं ने जो कुछ समर्पण किया उसे भगवान् ने स्वीकारा है, अतः आत्माराम तो वे नहीं है और न पूर्णकाम । पहले जो कुछ समर्पण किया गया है, उसी से यदि तृप्त भी हो गए हों, तो परित्याग तो उचित नहीं था । इसलिए, यदि भगवान् को अकृतज्ञ मानें, परन्तु सर्वज्ञ<sup>१</sup> को अकृतज्ञ<sup>२</sup> मानना भी तो विरोधाभास है । ईश्वर होने के कारण, सर्वज्ञ होने पर भी, फलदान के अवसर पर कभी कभी अकृतज्ञ बनना पड़ता है, इस शंका का परिहार “नाहं तु सख्य” में करते हैं ।

श्लोक—नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून् भजाम्यमीषामनुवृत्तिवृत्तये ।

यथाधनो लब्धधने विनष्टे तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे सखियों ! मैं तो भजन करने वालों का भी भजन इसलिए नहीं करता हूँ, कि उनके मन की वृत्ति मुझ में सदा बनी रहे, जैसे निर्धन को धन मिले और वह धन यदि चला जाए तो, उस निर्धन का मन धन की चिन्ता में रम जाता है, जिससे धन के सिवाय अन्य पदार्थों को वह भूल ही जाता है, केवल धन ही उसके प्रत्यङ्ग में व्याप्त हो जाता है ॥२०॥

सुबोधिनी—तुशब्दस्तं पक्षं व्यावर्तयति । नापीश्वरभजनपक्षः शङ्कनीय इत्याह सख्य इति । गोपिकास्तु सख्यः । रसे तुल्याः । एकार्थानि निवेशाश्च । सहमिति भगवान्, न तु जीवः । तेन आत्मारामादिपक्षा व्यावर्तिताः । अहं राम एव, न त्वात्मारामः । ममात्मव्यतिरिक्तपदार्थाभावान्न व्यावर्त्यमस्ति । कामाभावादेव नाप्तकामत्वम् । अतो मम भिन्नैव व्यवस्था, न तु जीवतुल्यता । नाहं तु सख्य इति तामेव व्यवस्थामाह । भजतोऽपि जन्तून् अहं न भजामि । तत्रान्य एव हेतुः । अमीषामनुवृत्तिवृत्तये इति । अमीषां जीवानाम् । जन्तुपदेन प्राणिमात्रम् । भगवतो न केनाप्युप-

योगः । भगवान् फलरूप इति सर्वेषामेवोपयोगः । तथा सति तेषां भजनमेव इष्टमिष्टसाधनं वा । तत्राहं चेन् साधनत्वेन प्रविशामि, तदा भजनमेव नाशयामि । अग्रे भजनस्य प्रतिबन्धात् पूर्वभजनस्य च वैयर्थ्यापादनात् । चतुर्धा हि भगवदुपयोगः । भगवान् भोग्यो, भोक्ता वा । भोग्यपक्षे कामनापूरकत्वेन, स्वातन्त्र्येण वा । भोक्तापि भक्त्या भक्तदत्तपदार्थस्वीकाराद्, विषयत्वेन भोगाद्वा । आद्ये भजनं नश्येत् । अल्पफलदानात् । स्वरूपतो महत्वेऽपि कालपरिच्छेदात् । द्वितीये तु तथात्वमतिभजनेन भवति । तद् गोपिकानां नास्तीति तत्सिद्धचर्यमभजनम् । अपेक्षाभावात् ।





नाहं विषयन्यायेन भोक्ता । भक्त्यर्थं तु अभजन-  
मेवेति सिद्धान्तसङ्ग्रहः । यथा अभजने अनुवृत्तिः  
सिध्यति, तथा प्रकारमाह यथाधन इति । पूर्व-  
मधनः, पश्चात्तलब्ध धनं, तच्चेद्विनष्टं, तदा  
तच्चिन्तया व्याप्तः, निभृतः तदेकनिमग्नः सन्, अन्यत्र वेद । एतत् लोकप्रसिद्धम् । तथा गोपि-  
कानामपि पूर्वमप्राप्तो भगवान् प्राप्तश्चेत्तिरो-  
भवति, तदा निभृताः, तत्रैव मग्नचित्ताः न  
प्रपञ्चं स्मरिष्यन्ति । निभृतानां प्रयोजनं  
पूर्वमुक्तमेव ॥२०॥

व्याख्यार्थ—‘तु’ शब्द पूर्वोक्त चारों प्रकारों से भगवान् को अलग करता है । ईश्वर गोपि-  
काओं का प्रति भजन करेंगे । इसकी संभावना ‘सख्य’ पद देकर मिटा दी । क्योंकि गोपिकायें तो  
सखियाँ हैं—रस में तुल्य हैं तथा उनका ऋ भिनिवेश आग्रह एक ही पदार्थ में है । ‘अहं’ शब्द से  
बताया, कि मैं जीव नहीं हूँ, अपितु भगवान् हूँ । यों न तो भगवान् आत्माराम हैं न आप्तकाम, न  
अकृतज्ञ और न गुरुद्रोही । भगवान् तो राम हैं आत्माराम नहीं, क्योंकि, देह एवं आत्मा जिनमें  
अलग-अलग हों, वे देह रमण से हटकर आत्माराम बन सकते हैं, भगवान् में तो देह देही भाव है ही  
नहीं, अतः केवल राम हैं । जिसे कुछ कामनाएं हों और वे पूर्ण हो गई हों, तो वे आप्तकाम कहलाते  
हैं, भगवान् में तो काम है ही नहीं, उन्हें आप्तकाम भी नहीं कहा जा सकता । अतः भगवान् की  
बात ही और ढंग की बनेगी, जीव की तुलना या व्यवस्था भगवान् पर लागू नहीं हो सकती ।

उसी व्यवस्था को समझाते हैं, कि मैं—भगवान् भजन करने वालों का भी भजन नहीं करता,  
क्योंकि इससे प्राणि मात्र की चित्तवृत्ति भुक्त में लगी रहती है । भगवान् के लिए किसी का भी कुछ  
भी उपयोग नहीं है, जबकि, भगवान् फलरूप हैं, अतः सभी को भगवान् का उपयोग तो है ही । अतः  
उन्हें, या तो भजन इष्ट है अथवा इष्ट साधन । अब यदि मैं ही वहां साधन के रूप में प्रवेश करूं,  
तो भजन ही नष्ट हो जाएगा और आगे चलकर यदि भजन में प्रतिबन्ध उत्पन्न होना ही है, तो  
पहले किए गए भजन की सार्थकता नहीं रह जाती ।

भगवान् का उपयोग चार प्रकार से संभव है : (१) भगवान् हमारी कामना पूर्ण करते हैं,  
अतः भोग्य के रूप में (२) स्वतंत्र रूप में भी, हम भगवान् को भोग्य बना सकते हैं ✽ (३) भगवान्  
का उपयोग भोक्ता के रूप में भी संभव है क्योंकि भक्त भक्ति सहित जो भी निवेदन करता है उसे  
भगवान् स्वीकारते हैं अतः भोक्ता हुए (४) सभी व्यक्ति या वस्तु भगवान् के लिए विषय हैं अतः  
भोग्य हैं और भगवान् उनके भोक्ता हैं । यों दो तरह भोग्य एवं दो तरह से भोक्ता के रूप में भगवान्  
का उपयोग हो सकता है ।

प्रथम पक्ष में भजन नष्ट हो सकता है, क्योंकि अल्प फल का दान है क्योंकि स्वरूपतः फल  
महान् है, तो भी काल में सीमित-परिच्छिन्न है ० ।

द्वितीय पक्ष में, अति भजन द्वारा भगवान् को भोग्य बनाया जा सकता है परन्तु वह अति  
भजन गोपिकाओं ने नहीं किया और इसे कराने के लिए ही भगवान् प्रति भजन नहीं करते हैं ।

तृतीय पक्ष में भक्ति के लिए, तो प्रति भजन अपेक्षित ही नहीं है ● ।

चतुर्थ पक्ष में भी, विषय न्याय के अनुसार भगवान् भोक्ता नहीं बनते, क्योंकि भगवान् को  
कुछ भी अपेक्षित ही नहीं है ।



भजन न करने से, जैसे चित्त भगवान् में लगा रह सकता है उसका उदाहरण बताते हैं, 'यथावन' से। पहले कोई निर्धन हो, फिर उसे धन मिले और फिर नष्ट हो जाए, तो वह व्यक्ति उस धन की चिन्ता में डूब जाता है और सारी सुध बुध खो बैठता है। यह लोक प्रसिद्ध है, इसी तरह, गोपिकाओं को भी भगवान् मिलें और मिलकर तिरोहित हो जाए, तो वे फिर ऐसी खो जाएंगी भगवान् में, कि फिर कभी प्रपंच की सुध नहीं आएगी। इसका प्रयोजन तो पहले ही बता चुके हैं ॥२०॥

**योजनाकार लालुभट्टजी—**

ईश्वर भी तो फलदान आदि से प्रति भजन कर सकता है, अतः गोपियों की प्रति भजन की अपेक्षा उपयुक्त नहीं हैं, इस आशंका का समाधान यह है, कि गोपियों ने फल के उद्देश्य से तो भजन किया नहीं है, किन्तु पुष्टि की रीति से किया है अतः भगवान् ने भी फलदान नहीं किया। अन्य एक यह बात भी है, कि गोपिकाओं की भगवान् में ईश्वर होने की बुद्धि नहीं है, किन्तु सख्य बुद्धि से ही रमण किया है अतः प्रति भजन की अपेक्षा भी नहीं ठहरती।

✽ कभी संयोग तो कभी विप्रयोग यों अहर्निश भगवान् का भजन करते रहने से स्वतंत्रतया हम भगवान् को भोग्य बना लेते हैं। इस अहर्निश भजन को ही 'अति भजन' भी कहा गया है।

○ कामना पूर्ण होते ही भोग्य के भजन का कोई प्रयोजन नहीं रहता अतः भजन नाश होता है। स्वरूपतः भगवान् अनन्त है फिर भी कामना पूरक भोग्य के रूप में जो भी फलदान करेंगे वह कामना के स्वभाव वश सीमित काल में ही होगा।

● 'भक्ति के लिए' यानि निरन्तर भक्ति की सिद्धि के लिए भगवान् ने प्रति भजन नहीं किया, अतः जब निरन्तर भक्ति हो जाएगी, तब भगवान् भोक्ता बन जायेंगे, अर्थात् भक्ति पूर्वक दिए हुए पदार्थ के भोक्ता बन जायेंगे। अतः अभजन ठीक ही है और विषय न्याय से, तो अपेक्षा रहित होने के कारण भगवान् भोक्ता बनते ही नहीं, यह चतुर्थ पक्ष में कहा जाएगा।

**आभास—**एवं स्वस्याभजने हेतुमुक्त्वा प्रकृते तदभावमाह एवमिति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार भगवान् ने गोपीजनों को अपने भजन न करने का मर्यादानुसार जो कारण था वह बताया, चलते प्रसंग में बताते हैं, कि मैं आपका भजन कर रहा हूँ जिसका स्पष्टीकरण "एवं मदर्थो" श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**एवं मदर्थोजिह्वतलोकवेदस्वानां हि वो मय्यनुवृत्तयेऽबलाः ।

मया परोक्षं भजता तिरोहितं मासूयितुं माहृत्य तद्विषयं प्रियाः ॥२१॥

**श्लोकार्थ—**हे अबला गोपिकाओं इस प्रकार मेरे लिए लोक वेद और स्वजनों का त्याग करने वाली जो तुम हो, उनकी वृत्ति मुझ में लगी रहे, जिसके लिए परोक्ष भजन करता हुआ, मैं अन्तर्द्वान हो गया हूँ, इसीलिए प्रिया का प्रियतम से ईर्ष्या करना योग्य नहीं है ॥२१॥



सुबोधिनी—यदुक्तं ताभिरप्ये स्त्रियो रात्रौ कथं त्यक्तव्याः । तदर्थमेवमुच्यते । द्वयमत्र कर्तव्यम् । भजनानुव्यावृत्त्यर्थमभजनम्, रात्रौ रक्षार्थं भजनं च । तत् परोक्षभजनेन सिध्यतीति मया परोक्षं भजता तिरोहितम् । भजने हेतुमाह एवमिति । मदर्थमेव उज्झिता लोकवेदस्वायाभिः । वृथापरित्यागव्यावृत्त्यर्थं मोक्षार्थपरित्यागव्यावृत्त्यर्थं च मदर्थमुज्झितेत्युक्तम् । आद्ये त्यागोनिष्ठहेतुः । द्वितीये न मम भारः । त्रयः पदार्थास्त्यक्तव्याः । लोको दुस्त्याज्यः । आर्यमार्गो वैदिकः । प्रकारस्तादृश इति । मयैव लोके तथैव प्रतीतिजननात् । पतिपुत्रादयो दुस्त्याज्याः । तत्रापि न मयि प्राप्ते, किन्तु मदर्थं मत्कामनायामेव । तदा मे विचिकीर्षितो भवतीति । 'सर्वधर्मान् परित्यज्ये'ति तादृश एव मम भाव इति त्रितयपरित्यागे मया भजनं कृतम् । (वस्तुतस्तु स्वपदं स्वात्मपरम् । अन्यथा पतिपुत्रादीनामपि लोकवेद-

मध्यपातात्तेनैव तत्प्राप्तेः स्वपदमनर्थकं स्यात् । तथा च स्वात्मत्वेन स्नेहविषयत्वाभाव एव तत्यागः । एतासां भगवदर्थत्वेन प्रीतिविषयत्वादात्मादीनामिति सारम् ।) युक्तश्चायमर्थः । अनन्याः पालनीया इति । वःयुष्मान् । मय्यनुवृत्तय इत्येकं फलम् । अबला इति सम्बोधनात् न सतामिव प्रत्यक्षेण भवतीनां भजनं सिध्यतीति ज्ञापितम् । परोक्षं भजता अतिरोहितं वा । भजनं भोगो वा । भोक्त्रैव मया भोगं कुर्वता तिरोहितम् । भवती भिर्न दृष्ट इत्यर्थः । अनेनाभजनपक्षो व्यावर्तितः । तस्मिन् सत्यसूया सम्भवति । अकृतज्ञत्वादोषारोपणेन मा मां असूयितुं नार्हथ । यतः प्रियम् । प्रिये दुष्टे स्वस्यापि तथात्वस्यावश्यकत्वात् त्यक्तुमशक्यत्वात् । किञ्च, प्रिया यूयम् । कृतज्ञत्वादयो हि धर्मा न प्रीतिविषये भवन्ति । औदासीन्यसामनाधिकारण्यात् ॥२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् गोपी जनो के ( अरण्य में रात्रि के समय स्त्रियों को कैसे त्यागते हैं ? वे रात्रि के समय रक्षा के योग्य हैं, न कि, त्यागने के योग्य हैं ) इन शब्दों के उत्तर में यह श्लोक कह रहे हैं, तुमने जो कहा है, उसके लिए दो कर्तव्य हैं, एक तुम्हारा भजन मुझ में प्रतिक्षण बना रहे, जिसके लिए अभजन ही कर्तव्य है, और दूसरा रात्रि के समय, रक्षार्थं भजन कर्तव्य है, रात्रि के समय की रक्षा तथा मुझमें वृत्ति बनी रहे, ये दोनों परोक्ष भजन करने से सिद्ध होते हैं । इसलिए मैं परोक्ष भजन कर रहा हूँ, मेरे इस अन्तर्हित होकर भजन करने का ज्ञान तथा यों छिपकर परोक्ष भजन किसलिए कर रहा हूँ उसका भी ज्ञान तुमको नहीं है, यदि कहो, कि हमारा भजन आप क्यों करते हैं ? जिसके उत्तर में भगवान् कहते हैं, कि तुमने मेरे लिए लोक, वेद और आत्मा का भी त्याग कर दिया है, अतः मैं तुम्हारा भजन करता हूँ, तुम्हारा यह परित्याग वृथा नहीं है तथा मोक्ष प्राप्ति के लिए भी नहीं है, किन्तु विशेषतया मेरे लिए ही है । यदि यह त्याग वृथा होवे, तो उसका परिणाम अनिष्ट होवे, और यदि यह त्याग मोक्ष के लिए किया गया है, तो मुझ पर भार नहीं, किन्तु त्याग उन दोनों प्रकार का नहीं है, मेरे लिए है, अतः मुझ पर भार है । गोपीजनों का यह तीन प्रकार का त्याग है, जो अति कष्ट साध्य है, कारण कि इस प्रकार का ज्ञान मैंने ही उत्पन्न किया है । लोक में आसक्ति, वेद धर्म में श्रद्धा से उनका पालन तथा देह पुत्रादि की रक्षा करना धर्म है, उसका भी मेरे लिए, मुझको प्राप्त करने के लिए त्याग किया है । इस प्रकार त्याग करने वाले भक्त ही, सबसे अधिक प्रिय हैं, उनके लिए, मैं लीला करता



हैं। 'सर्व धर्मान् परित्यज्य' श्लोक के कहने का यह ही आशय है, अतः लोक, वेद और आत्मा तीनों का परित्याग करने वाले इन गोपीजनों का मैंने भजन किया। मूल श्लोक में 'हि' शब्द इसलिए है, कि यह अर्थ योग्य है, अर्थात् जो इस प्रकार सर्व त्याग कर एक भगवान् को ही चाहते हैं, वैसे अनन्य भक्त भजनादि से पालन के योग्य हैं। 'वः' पद का भावार्थ है, कि तुम लोगों ( गोपियों ) के चित्त की वृत्ति मुझ में लगी रहे, यह एक फल है, 'अबला' यह सम्बोधन देकर गोपियों को सावधान किया है, कि आपका जो भजन मैं कर रहा हूँ, वह सत्पुरुषों के समान प्रत्यक्ष नहीं देखने में आया अथवा श्लोक में 'भजता तिरोहितम्' वहाँ 'भजता अतिरोहितम्' पदच्छेद कर अर्थ करो, मैं परोक्ष भजन करते हुए, तिरोहित नहीं हुआ हूँ। किन्तु भजन का अर्थ यहाँ भोग है, मैं भोक्ता हूँ अतः भोग करते करते तिरोहित हुआ हूँ, वह तुमने देखा नहीं, यों कहकर भगवान् ने गोपियों को यह समझाया है, कि मैं तुम्हारा भजन कर रहा हूँ। यों भजन करते हुए भी, मुझ पर कृतघ्न आदि दोष क्रोध से लगा रही हो। यह मत लगाओ, कारण, कि मैं तुम्हें प्रिय हूँ, यदि प्रिय दोषी है, तो तुम्हारा भी वैसा होना आवश्यक है, समान में ही मैत्री रहती है। प्रिय का त्याग नहीं हो सकता है, तुम प्रियाएँ हो, प्रीति के विषय में कृतज्ञत्व आदि धर्म नहीं देखे जाते हैं, प्रेम सम्बन्ध में, जैसे उदासीनता नहीं की जाती है, वैसे ही कृतज्ञता आदि की आवश्यकता नहीं है, वहाँ निरुपाधि प्रेम के सिवाय किसी प्रकार का अन्य धर्म नहीं है ॥२१॥

**आभास—**एवं तासां मनोमार्जनमुक्त्वा भक्तिमार्गविरोधं परिहर्तुं ताः स्तौति न पारयेऽहमिति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार गोपियों के मन का भ्रम मिटाकर, भक्ति मार्ग के विरोध को मिटाने के लिए ( न पारयेऽहं ) श्लोक में स्तुति करते हैं--

**श्लोक—**न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुवायुषापि वः ।

या माभजन् दुर्जर्गोह शृङ्खलाः संवृश्य तद्वः प्रतियातु साधुना ॥२२॥

**श्लोकार्थ—**तुम उपाधि रहित भजन कर मेरे साथ मिली हो, जिस उपकार का प्रतिकार मैं ब्रह्मा की आयु से भी नहीं कर सकता हूँ, तुम लोगों ने गृह की कठिन शृङ्खला को तोड़कर मेरा भजन किया है, जिसका प्रत्युपकार तुम्हारे से ही संभव है ॥२२॥

|                                              |                                              |
|----------------------------------------------|----------------------------------------------|
| सुबोधिनी—निरवद्यसंयुजां निर्दुष्टभजनयुक्ता-  | वा । विशेषेण बुधानां ज्ञानिनामनन्तायुषा वा । |
| नाम् । स्वसाधुकृत्यं स्वप्रत्युपकारकरणम् ।   | न पारये । भजनप्रत्युपकारयोर्वैसादृश्यात् ।   |
| विबुधायुषा ब्रह्मायुषा । मन्वन्तरपरिमितायुषा | भवतीनां भजनं निष्कपटम् । अस्मद्भजनं          |

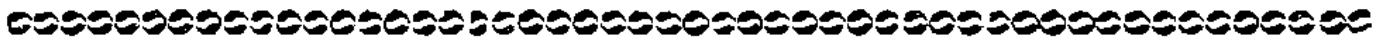
सकपटमिति । न ह्यल्पजलस्यापि तुल्यं बह्वपि मरुमरीचिकाजलं भवति । सत्यभजनं तु ब्रह्मणोऽशक्यमेव, जीवधर्मत्वात् । तत्रापि विशेषमाह या माभजन्निति । दुर्जरा हि मेहशृङ्खला, या जीर्यतोऽपि न जीर्यत इति । तां संवृश्म्य छित्त्वा । याः भवत्यः प्रसिद्धाः । मा मामभजन् । यैः पूर्व बद्धाः स्थिताः स्वार्थं तेषामर्थमात्मानं च मय्येव समर्पितवत्यः । बहिःशृङ्खला त्यक्तुमपि शक्या । न तु सर्वत आवृते गृहं शृङ्खला । एवमलौकिक-कर्त्रीणां यद् भजनं तद् भवतीनामेव । साधुना ।

भावप्रधानो निर्देशः । साधुत्वेन प्रतियातु, प्रत्युपकृतं भवतु । साधवो हि महन् कर्म कृत्वा स्वयमेव तुष्यन्ति, न तु प्रत्युपकारमपेक्षन्ते । अतो मयि भजनं नास्ति । भजनस्य जीवधर्मत्वात् । अतोऽपि यदि स्वत एव सन्तुष्टाः, तदा भजत, नो चेत्, यथासुखं विधेयमिति भावः । न ह्यशक्यं कश्चित् कर्तुं शक्नोतीति ॥२२॥

इति श्रीभागवतसुबोधिण्यां श्रीमद्वल्लभमण भट्टात्मज श्रीमद्वल्लभदीक्षित विरचितायां दशमस्कन्धविवरणे एकोनविंशोऽध्यायविवरणम् ॥

व्याख्यानार्थ—निर्दोष भजन कर तुमने मुझे प्राप्त किया है, और इस उपकार का प्रत्युपकार मैं ब्रह्मा की आयु, वा मन्वन्तर की आयु अथवा अनन्त आयु वाले ज्ञानियों की आयु पा लूँ तो भी नहीं कर सकूँगा, कारण कि तुम्हारे भजन और प्रत्युपकार में समानता नहीं है । तुम लोगों का भजन बिना कपट के है जब कि मेरा कपट वाला है । मरु मरीचिका का बहुत जल भी स्वल्प सत्य जल की समानता नहीं कर सकता है । भजन करना जीव का धर्म है, अतः ब्रह्मा सत्य भजन नहीं कर सकता है । उस भजन में भी विशेषता बताते हैं कि गृह की शृङ्खला<sup>१</sup> जो पुरानी होने पर तोड़ने पर भी नहीं टूटती है, वैसी कठोर शृङ्खला को तोड़कर मेरा भजन तुमने किया है । प्रथम स्वार्थ के लिए जिनसे बद्ध हो बैठी थी उन सब को मुझमें विनियोग कर मेरे लिए भजन करने लगी, बाहर की जंजीर तोड़नी वा निकाल देनी सरल है, किन्तु गृह के चारों तरफ की शृङ्खला को तोड़ना महा कठिन है, उनको जिन्होंने तोड़ दिया है वैसी अलौकिक कार्य करने वालियों का भजन तुम्हारा ही है । अतः तुम्हारा यह भजन साधु पुरुषों जैसा हो, अर्थात् जैसे साधु पुरुष भजन कर उसका प्रत्युपकार नहीं मांगते हैं, भजन से ही स्वयं प्रसन्न हो जाते हैं । वैसे ही तुम भी, भजन से प्रसन्न चित्त होकर अपने को कृत कृत्य समझो । यदि तुम चाहती हो, कि मैं भजन करूँ वह नहीं होगा, कारण, कि मैंने कह दिया है, कि भजन करना जीव का धर्म है अतः जीव ही सत्य भजन कर सकता है । अतः तुम यदि आगे भी भजन करने से सत् पुरुषों की भांति प्रसन्न चित्त रह सको, तो भजन करो, नहीं तो जैसे तुम्हारा जी चाहै वैसे करो, जगत् में कोई भी जो अशक्य है, वह करने में समर्थ नहीं है ॥२२॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण, दशमस्कन्ध ( पूर्वार्ध ) २६ वे' अध्याय की श्रीमद्वल्लभभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी ( संस्कृत टीका ) 'तामस फल' अवान्तर प्रकरण, का "श्री" धर्म निरूपक चौथा अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण



इस अध्याय में वर्णित भगवल्लीला का सारांश, भक्त शिरोमणि श्री नन्ददासजी कृत रास पंचाध्यायी के चतुर्थ अध्याय का अवलोकन कीजिए :-

यह विधि प्रेम सुधानिधि मग्न हूँ करत कलोलें । विह्वल हूँ गई बाल लाल सों अलवल बोलें ॥१॥  
 तब तिनही में प्रकट भये नंदनंदनपिय यों । दृष्टि बंधकर दुरे बहुर प्रकटे नटवर ज्यों ॥२॥  
 पीतवसन वनमाल धरे मंजुल मुरली हथ । मंद मधुर मुसकाय निपट मन्मथके मन्मथ ॥३॥  
 पियहि निरख त्रिय वृंद उठी सब एक वेर यों । फिर आवे घट प्राण बहुरि इन्द्री उभक्त ज्यों ॥४॥  
 महाक्षुधितकों जिमि भोजनसों प्रीत सुनी हे । ताही ते सतगुणी सहस्र किधों कोटि गुनी हे ॥५॥  
 कोउ चटपट सों कर लपटी कोउ उरवर लपटी । कोउ गरे लपटी कहत भले जु भले कान्हूर कपटी ॥६॥  
 कोउ नागर नग धर की गहि रहि दोउ कर पटकी । जानो नव घन ते सटकी दामिनी दामिनी अटकी ॥७॥  
 दोर लपट गई ललित लाले सुख कहत न आवे । भीन उछर कें पुलिन परे पुनि पानी पावे ॥८॥  
 कोउ पिय भुज गहि लटक रही नव नार नवेली । मानो सुंदर शृङ्गार विटप लपटी छवि वेली ॥९॥  
 कोउ कोमल पदकमल कुचन पर राख रही यों । परम कृपन घन पाय छाती सों लाय रही ज्यों ॥१०॥  
 कोउ पिय रूप नयन भर उरमें धरधर आवत । मधुर मिष्ट जों वृष्ट दशों दिश अति छवि पावत ॥११॥  
 कोउ दशन दिये अधर त्रिय गोविंद हि ताडत । कोउ एक नयन चकोर चारु मुखचंद निहारत ॥१२॥  
 बैठे पुनि तिहि पुलिनमांभ आनंद भयो है । छवीली अपनी छालन छविसों विछाय दयो है ॥१३॥  
 एक एक हरिदेव सबे आसन पर बेसे । किये मनोरथ पूरन जिनके उपजे जेसे ॥१४॥  
 जो अनेक योगेश्वर हिय में ध्यान जु धरही । एकही बेर एक मूरत सवनकों सुख विस्तरही ॥१५॥  
 कहूँ कज्जल कहूँ कुकुम कहूँ पीकलीक वर । जहां राजत नंदनंद कोटि कंदर्प दर्प हर ॥१६॥  
 योगीजन वन जाय यत्न कर कोटि जन्म पचि । अति निर्मल कर राखे हियमें आसन रचि रचि ॥१७॥  
 कछु छिन तहां नहि जात नवलनागर सुन्दर हरि । युवतिन के आसन पर बैठे सुन्दर रुचि करि ॥१८॥  
 कोटि कोटि ब्रह्मांड यद्यपि इकली अकुराई । प्रजदेविनकी सभा सांवरे अति छवि पाई ॥१९॥  
 ज्यों नवदल मंडल मवि कमल करणिका भ्राजे । यों सब त्रियनके सनमुख सुन्दर श्याम विराजे ॥२०॥  
 बूझन लागी नवलवाल नंदलाल पियहि तब । प्रीतिरीत की बात मन में मुसकात जात सब ॥२१॥  
 एक भजते को भजे एक बिन भजते भज ही । कहो कान्हू ते कवन आहि जो दोहुन त्यजही ॥२२॥  
 यद्यपि जगत गुरु नागर नगधर नंद दुलारे । तदपि गोपिनके प्रेमबिबश अपने मुख हारे ॥२३॥  
 तब बोले ब्रजराज कुंवर हों रिखी तिहारो । अपने मन ते दूर करो यह दोष हमारो ॥२४॥  
 कोटि कल्प लग तुम प्रति अति उपकार करूँ जो । हे मन हरणी तरणी भवनि अरुणी न होऊ तो ॥२५॥  
 सकल विश्व आप बस कर मोहि माया सोहत हे । प्रेम मई तिहारी माया सो मोहि मोहत हे ॥२६॥  
 तुम जो करी सो कोउ न करे सुन नवल किशोरी । लोक वेदकी सुदृढ शृंखला तृण सम तोरी ॥२७॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका ( हिन्दी अनुवाद सहित )

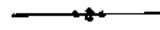
दशम स्कन्ध ( पूर्वार्ध )

तामस-फल-अवान्तर प्रकरण

‘पञ्चमो अध्याय’

स्कन्धानुसार त्रिशतमो अध्याय

महा-रास



कारिका—त्रिशत्तमे हरिः प्रीतो लीलां कामकृतामपि ।

इन्द्रादिदुर्लभां चक्रे स्वानन्दार्थमितोर्यते ॥ १ ॥

कारिकार्थ—प्रसन्न हरिने इस तीसवें अध्याय में जो, कामकृत लीला इन्द्र आदि देवों को भी दुर्लभ है, वह अपने आनन्द लेने के लिए प्रकट की है, इस कारण से यहां उसका वर्णन किया जाता है ॥ १ ॥

कारिका—अस्याः सर्वोपकाराय फलश्रुतिरुदीर्यते ।

लौकिक्यपि यदा दृष्टिस्तदा सिद्धान्त ईर्यते ॥ २ ॥

कारिकार्थ—अध्याय के अन्त में इस लीला के श्रवण से जिस फल की प्राप्ति होगी उसका वर्णन किया गया है, क्योंकि यह लीला सर्व प्रकार के मनुष्यों का



उपकार करने वाली है, जब इस लीला में लौकिकी दृष्टि हुई तो सिद्धान्त भी कहा गया ॥ २ ॥

कारिका—रसात्मकस्तु यः कामः सोत्यन्तं गूढ एव हि ।

अतः शास्त्रं प्रवृत्तं हि तृतीयं भारतं तथा ॥ ३ ॥

कारिकार्थ—यहां जिस काम की लीला का वर्णन है वह काम 'रसात्मक' है और अत्यन्त गूढ है, अतः तीसरा काम शास्त्र भरत मुनि ने बनाकर प्रवृत्त किया है ॥ ३ ॥

कारिका—अतोत्र भगवांश्चक्रे नृत्यं कारितवांस्तथा ।

सर्वाङ्गेषु तु यो लीनः स यथा व्यक्ततां व्रजेत् ॥ ४ ॥

कारिकार्थ—इस कारण से भगवान् ने सर्व अङ्गों में छिपे हुए गूढ रसात्मक काम को प्रकट करने के लिए स्वयं नृत्य किया और गोपियों से करवाया ॥ ४ ॥

कारिका—जलं वायुश्च सामग्री श्रमात् शीताच्च जायते ।

अत्रैव लोके प्रकटमाधिदैविकमुत्तमम् ॥ ५ ॥

कारिकार्थ—नृत्य से श्रम तथा गरमी होती है जिनके निवारण के लिये जल तथा वायु की सामग्री प्रकट हुई, इस पृथ्वी लोक पर ही सब आधिदैविक उत्तम कामादि प्रकट हुए हैं ॥ ५ ॥

कारिका—कामाख्यं सुखमुत्कृष्टं कृष्णो भुङ्क्ते न चापरः ॥

कारिकार्थ—वह प्रकट उत्तम आधिदैविक काम का उपभोग कृष्ण के सिवाय कोई अन्य नहीं कर सकता है ॥ ५३ ॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि यह काम लीला प्रकट नहीं करनी चाहिए, किन्तु प्रभु ने प्रकट होकर जिस लीला का प्राकट्य कर दिखाया है अतः उसको यहां ( ३० अध्याय में ) वर्णन किया जाता है । इस अध्याय में काम लीला का वर्णन है वहां फल श्रुति क्यों कही गई है ? इस शङ्का को मिटाने के लिए दूसरी कारिका में कारण बताया है कि यह लीला, सर्व प्रकार के ज्ञानी, भक्त और विषयी आदि मनुष्यों का उपकार करने वाली है अर्थात् इसके श्रवण से ज्ञानी तथा भक्तों का तो हृद्रोग नाश होगा ही किन्तु विषयी जनों की भी काम वासना नष्ट हो जाएगी, इसलिए प्रत्येक को निशङ्क होकर सुननी चाहिए, जिसके श्रवण से किसी प्रकार की भी हृदय में दुर्वासना उत्पन्न हो तो वह भी अवश्य नष्ट होगी ।





यदि किलो मनुष्य की बुद्धि लीला के श्रवण से भगवान् में विपरीत भावना वाली हो जाय तो प्रश्नोत्तर द्वारा सिद्धान्त समझा कर उसका निवारण किया है, तीसरी कारिका में काम का 'रसात्मक' स्वरूप समझाकर कहा है कि भगवान् सर्वोद्धार प्रयत्नात्मा है अतः दोष बुद्धि वालों की बुद्धि को भी बदल कर इस प्रकार अलौकिक कर देते हैं, भरत मुनि कृत तथा वात्स्यायन मुनि कृत काम शास्त्र की सार्थकता के सिद्धार्थ उसकी अलौकिक गूढता को प्रकट करने के लिए उसमें कहे हुए नृत्यादि कर और गोपियों से करा के गूढ़ रसात्मक काम को प्रकट किया है तदनन्तर स्वयं उस रस का गोपी पात्र द्वारा पान किया है क्योंकि आपके सिवाय उस उत्कृष्ट आधिदैविक रस का भोक्ता अन्य कोई नहीं है ।

विशेष टिप्पणीजी का अवलोकन कीजिए ।

**आभास—**एवं पूर्वाध्याये तासां सर्वभावेन प्रमाणेन प्रमेयेन दुःखं दूरीकृतवान् । तद् दुःखमज्ञानतश्चेत्, तदैव दूरीकृतं भवति । अन्यथा भगवतैव दुःखं दत्तं स्यात् । अतो भगवता त्यक्त्वा न गतमिति न भगवान् दुःखे हेतुः, किन्त्वज्ञानमेव । अतो भगवद्वाक्यादज्ञाने गते तन्मूलकं दुःखमपि गतमित्याह इत्थमिति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार २६ अध्याय में भक्तों में सर्वात्म भाव सिद्ध कर, प्रमाण तथा प्रमेय से उनके दुःख दूर किए, वह दुःख यदि भगवान् ने दिया होता तो इस प्रकार दूर न होता किन्तु यह दुःख अज्ञान के कारण था इसलिए मिट गया । भगवान् तो गोपियों को त्याग कर नहीं गए थे, अतः भगवान् दुःख का कारण नहीं थे, अतः भगवद्वचनों से अज्ञान के नष्ट होने पर उससे उत्पन्न दुःख भी नाश हो गया, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'इत्थं' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**श्रीशुक उवाच—इत्थं भगवतो गोप्यः श्रुत्वा वाचः सुपेशलाः ।

जह्विरहजं तापं तदङ्गोपचिताशिषः ॥१॥

श्री शुकदेवजी कहते हैं कि—इस प्रकार भगवान् के श्री अंग के स्पर्श से पूर्ण मनोरथ वाली गोपियों ने, भगवान् के सु मधुर वाणी को सुनकर, विरह से उत्पन्न ताप का त्याग किया ॥१॥

**सुबोधिनी—**भगवतो वाचः श्रुत्वा विरहजं तापं जहुः । अमादेवास्माकं विरहो जात इति । ननु वचनमात्रेण कथमज्ञाननिवृत्तिः, तत्राह भगवत इति । गोप्य इति विपरीतभावनानि-वृत्त्यर्थम् । ननु ता वाचः कथं न मनसि सन्देह-मुत्पादितवत्यः, तत्राह सुपेशला इति । अतिमनोहरा इति । मनसि विचिकित्सायामेव सन्देहः । शब्दस्वाभाव्यादेव मनसि सन्देहो न जातः । अतो विरहजं तापं जहुः, नास्माकं विरहो जात इति ज्ञातवत्यः । यथा स्वप्नादुत्थितः स्वापिकं दुःखं



न मन्यते । तस्य भगवत अङ्गैरुपचिता आशिषो | सर्वमनोरथाः पूरिताः ॥१॥  
यासाम् । भगवत्कार्यव्यतिरेकेणैव भगवदवयवैरेव

**व्याख्यानार्थ—**भगवान् के वचन सुनकर गोपियों ने विरह से उत्पन्न दुःख का त्याग किया कारण कि उन्होंने समझ लिया कि भगवान् तो कहीं गए नहीं थे हमारे पास ही थे अज्ञान से हमने समझ रखा था कि भगवान् हमको छोड़ गए हैं । केवल वचन से अज्ञान की निवृत्ति कैसे हो गई+ ? इस शङ्का के मिटाने के लिए कहते हैं, कि वचन बोलने वाला साधारण मनुष्य नहीं था किन्तु षड् ऐश्वर्य आदि गुण वाले प्रभु थे □ । अतः मूल में 'भगवान्' नाम दिया है । वचन सुनने वाली भी गोपियाँ थीं, अतः कहने वाले सर्व शक्तिमान् और सुनने वाली योग्य पात्र, इसलिए विपरीत भावना नष्ट हो गई । भगवान् के वचनों से मन में सन्देह क्यों उत्पन्न नहीं हुए ? जिसके उत्तर में कहा गया है कि वे वचन 'सुपेशलाः' अर्थात् अति मनोहर थे, मन में दो बातें हों तो संदेह होता है, शब्दों के अपने स्वभाव से ही संशय उत्पन्न नहीं हुवा । अतः विरह से उत्पन्न दुःख को गोपियों ने त्याग दिया अर्थात् गोपियाँ समझ गई कि हमको विरह था ही नहीं तो दुःख काहे का ? दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे स्वप्न से जागृत पुरुष जागृत अवस्था में स्वप्न के दुःख को दुःख नहीं मानता है वैसे गोपियों ने अज्ञान से उत्पन्न दुःख को दुःख ही न समझा । भगवान् के कुछ भी करने के सिवाय उनके अवयवों के स्पर्श मात्र से गोपियों के सर्व मनोरथों की पूर्ति हो गई ॥१॥

**आभास—**एवं दुःखाभावसुखयोः प्रतिबन्धकं रूपेण वाचा च निवार्य स्वकर्तव्य-  
मारभते तत्रारभतेति ।

**आभासार्थ—**दुःख दूर होकर सुख मिलने में जो कुछ प्रतिबन्ध थे उन्हें भगवान् ने स्वरूप-दर्शन तथा वाणी से मिटाकर अपना कर्तव्य प्रारम्भ किया, जिसका वर्णन 'तत्रारभत' श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक—**तत्रारभत गोविन्दो रासक्रीडामनुव्रतः ।

स्त्रीरत्नरन्वितः प्रीतरन्योन्याबद्धबाहुभिः ॥२॥

**श्लोकार्थ—**जिस रस को भगवान् चाहते हैं उसको चाहने वाली स्त्री रत्न गोपियाँ वहाँ प्रसन्न चित्त से परस्पर हाथ मिलाकर जोड़ी बन के खड़ी थी, उनसे मिलकर भगवान् ने रासक्रीडा के रमण का प्रारम्भ किया ॥२॥

+ विरह का न होना अनुभव विरुद्ध है (टिप्पणी)

□ आप्त वचन प्रमाण होता है तथा भगवान् आप्ततम हैं (टिप्पणी)





यदि कहो कि यह रस अलौकिक है जिससे लौकिक स्त्रियों में उत्पन्न नहीं होगा इसलिए आपका यह कार्यारम्भ व्यर्थ है, क्योंकि बालू से तेल नहीं निकलता है, तो इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि ये साधारण स्त्रियाँ नहीं हैं बल्कि स्त्रियों में रत्न हैं। लोक के स्वभावानुसार स्त्रियाँ तीन प्रकार की होती हैं, उसमें भी मनुष्य जाति की स्त्रियों के पद्मिनी आदि चार भेद हैं, अश्व प्रकृति वाले वासना भेद से चौदह भेद हैं। इन सर्व प्रकार की स्त्रियों में से ये गोपियाँ स्त्री रत्न हैं, अपने असाधारण धर्मों से उन धर्मों को प्रकाश करने वाली हैं अतः उनमें सर्व भाव से रस की उत्पत्ति की योग्यता है। वैसी स्त्री रत्न गोपियों में आप युक्त हुए हैं। आप स्वयं नायक मण्डित हैं और ये सकल गोपियाँ भगवान् के योग्य मण्डित हैं। एक ही रस के लिए परस्पर मिले हैं, इस प्रकार आपस में मिलने से उस कथन को भी सार्थक बनाया जो आगे कहा गया है कि काम ने रस प्रकट करने के लिए खरीदी हुई दासियाँ भगवान् को दी हैं।

यदि कहो कि ये गोपियाँ जीव हैं और भगवान् आनन्दमय हैं अतः दोनों में वैषम्य है अतः विषमता में रस की उत्पत्ति कैसे होगी? इस शङ्का को मिटाने के लिए श्लोक में कहा है कि 'प्रीतैः' ये गोपियाँ भी सर्वतः प्रेम युक्त होने से भगवान् के समान स्वरूप वाली—आनन्दमय होगई हैं। परस्पर आग्रह पूर्वक मिलन का प्रकार बताते हैं। उन्होंने परस्पर हाथों को जोड़कर अपनी जोड़ियाँ बना दी हैं ये जोड़ियाँ परस्पर गोपियों की बनी थीं न कि भगवान् से मिलकर बनी थीं।

**आभास—**भगवान् पुनः हस्तमण्डलाद्बहिःस्थितो यथा सम्बध्यते, तथा सन्निवेश-  
माह रासोत्सवः सम्प्रवृत्त इति ।

**आभासार्थ—**भगवान् उस मण्डल से बाहर स्थित होते भी उनसे संबन्धित हो रहे थे जिसका वर्णन 'रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डलमण्डितः ।

योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः ।

प्रविष्टेन गृहीतानां कण्ठे स्वनिकटं स्त्रियः ॥ ३ ॥

यं मन्येरन्, नमास्तावद्विमानशतसङ्कुलम् ।

दिवौकसां सदारानामौत्सुक्यापहृतात्मनाम् ॥ ४ ॥

**श्लोकार्थ—**गोपियों के मण्डल से मण्डित रासोत्सव प्रारम्भ हुआ, दो दो गोपी-  
जनों के बीच प्रविष्ट योगेश्वर कृष्ण ने उनके गले में अपने हस्त डाले, जिससे प्रत्येक  
गोपियाँ समझने लगी कि कृष्ण मेरे पास है, उस समय उत्सुकता से अपहृत चित्त  
वाली देवताओं एवं उनकी स्त्रियों के सैकड़ों विमानों से आकाश भर गया था । ३-४।



सुबोधिनी—सर्वेषामेव गुणभावात् रसप्राधान्यात् रासोत्सव एव सम्यक् प्रवृत्तः । उत्सवो नाम मनसः सर्वविस्मारक आह्लादः । उत्सवत्वसम्पादनाय सजातीयानेकरसोत्पादनार्थं विशेषमाह गोपीमण्डलमण्डित इति । गोपीनां मण्डलैरनेकविधैर्मण्डितः । उत्तयोऽप्यनेकविधैर्ब्राह्मणादिमण्डलैर्मण्डितो भवति । अत्रापि तुल्यस्वभावाः रसार्थमेकीकृताः पृथङ्मण्डलभाजः । तैरपि मण्डितः । पोषकाश्च रसास्तत उत्पादिता इति उत्तरोत्तरमण्डलैः पूर्वपूर्वरसः पोष्यत इति नायं रसोन्यत्र भवितुमर्हति । सम्यक्प्रवृत्तिनिरन्तरमाविर्भावः । ननु कालकर्मस्वभावानां प्रतिबन्धकत्वादनेकत्र जायमानो रसः कथमेकीभवति, तत्राह योगेश्वरेणेति । स हि सर्वोपायवित् । सर्ववस्तुषु विद्यमानं भगवदैश्वर्यादिकं योग एवोद्घाटयतीति साधनेषु योगः प्रधानम् । तत्रैश्वर्यं सर्वत्रैव मूलभूतो रस उत्पादयितुं शक्यत इति सिद्धमेव । किञ्च । कृष्णोऽयमिति । स्वयमेव सदानन्दः । उद्गतोऽग्निः सर्वत्रैवाग्निं लीनं जनयितुं शक्नोति । तस्य भगवतस्तामु सन्निवेशप्रकारमाह तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोरिति । मण्डलीकृता यावद्यो गोप्यः तासां द्वयं द्वयं भिन्नतया भावनीयम् । द्वित्वद्वयस्य नैकाधिकरणता भाव्या । अतो मण्डलमध्ये यत्र हस्तद्वयग्रन्थिः, तत्र भगवदुदरं यथा भवति, तथा भगवानुत्थितो जातः । तथोद्गतस्योभयत्र सम्बन्धमाह, द्वयोर्द्वयोर्मध्ये प्रविष्टेन भगवता कण्ठे गृहीतानामिति । हस्तद्वयेन पार्श्वस्थितयोः कण्ठे ग्रहणम् । एवं षोडशगोपिकानामष्ट कृष्णा भवन्ति । अन्यथा रसाभासः स्यात् । कृष्णाद्वै विध्यप्रतीतेः । इममेवार्थमाह स्वनिकटं स्त्रियः यं मन्येरन्निति । स्वस्यैव निकटे, न त्वन्यासाम् स्वसम्मुखस्थितगोपिकाकण्ठालिङ्गितभगवद्दर्शनमपि भगवदिच्छया

तासां न जायत इति । प्रयोजनार्थं हि रूपकरणम् । तदर्थं तद्व्ययैव प्रयोजनं भवतीति न समसङ्ख्या मृग्या । 'धावतीर्गोपयोषित' इत्यग्रे समसङ्ख्यां भगवतो वक्ष्यति । यत्पुनः कैश्चिदुक्तं 'अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधव' इति, तत्रापि सविसर्गः पाठो ज्ञेयः । द्विवचने बहुवचनप्रयोगश्च । अन्यदेव वा तन्मण्डलम्, न भागवतोक्तम् । मध्ये वेणुनादस्योक्तत्वात् । अत्र तु रसार्थं नृत्यमिति । गानार्थमपेक्षायामपि देवैरेव तत्सिद्धिः । 'मध्ये मणीनां हैमाना'मित्यत्र तु दर्शनार्थमुक्तत्वात् गोपिकानां देवानां च दर्शनं तथैवेति नानुपपन्नं किञ्चित् । एवं रसार्थं सर्वसामग्र्यामुक्तायां स रसः प्रादुर्भूतः सर्वेषां भविष्यतीति देवादयः सर्वे अलौकिकज्ञानयुक्ता दर्शनार्थमागता इत्याह नभस्तावदिति । तावन्नभो विमानशतसङ्कुलमासीत् । मण्डपे हि नृत्य रसजनकम् । अन्यथोपरि वैचित्र्यं न स्यात् । तदर्थमपि विमानशतेन सङ्कुलम् । यथा रसोत्पादनार्थं स्त्रियः पुरुषाश्च सम्बद्धाः नानाबन्धयुक्ताः चित्रस्थाप्यन्ते । तदर्थं भगवता ते चित्रप्रायाः स्थापिताः । अत एवाग्रे 'औत्सुक्यापहृतात्मना'मिति वक्ष्यति । स्वनीलार्थं सर्वं तथा प्रेरयतीति न औत्सुक्येनान्यथासिद्धिः । तासां रसग्रहणार्थमागमनम्, भगवदिच्छा तु चित्रार्थम् । विमानस्थितान् तत्सम्बन्धिनी वरुणयति दिवौकसामिति । स्वर्गं एव स्थानं येषाम् । सदाराणामिति तेषां भावान्तरव्युदासार्थम् । स्त्रीणामुपसर्जनत्वं तासां भावार्थम् । स्वर्गस्थिता रसाभिज्ञा रसयोग्याश्च भवन्तीति । नन्वीश्वरलीला न द्रष्टव्येति कथं तेषां दर्शनार्थं प्रवृत्तिः, तत्राह औत्सुक्यापहृतात्मनामिति । औत्सुक्येन विचाररहितलोलाक्षिप्तमनसा अपहृत आत्मा स्वरूपं बुद्धिर्वा येषाम् । अतः स्वधर्मादेव प्रवृत्ताः, न तु भगवद्धर्म विचारितवन्तः ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ—रामलीला में रस ही प्रधान है अन्य सर्व वस्तु अर्थात् मिलन आदि क्रियाएँ गौण हैं, वैसा रस प्रधान रासोत्सव श्रेष्ठ प्रकार से प्रारम्भ हुआ । केवल रास न कहकर उसके साथ 'उत्सव' शब्द दिया है, जिसका तात्पर्य है कि वैसा रास हुआ कि जिससे अन्य सर्व विषयों को भुलाने



वाला आनन्द उत्पन्न हुआ । उत्सव को पूर्ण रीति से सम्पादन करने के लिए, सजातीय<sup>१</sup> अनेक रस उत्पन्न करने के कारण अनेक प्रकार के गोपियों के मण्डलों से रासोत्सव को मण्डित बनाया, जैसे उत्सव भी अनेक प्रकार के ब्राह्मणादि के मण्डलों से शोभित होते हैं, यहां भी समान स्वभाववाली अनेक गोपियां रस के लिए इकट्ठी की गई हैं जिन्होंने जुदे जुदे मण्डल बना लिए हैं, उन मण्डलों से यह रासोत्सव शोभायमान हो रहा है । रासोत्सव को पोषण करने वाले रस भी रासोत्सव से उत्पन्न किए गए हैं, इस प्रकार उत्तरोत्तर<sup>२</sup> क्षण में आने वाले मण्डलों से, पूर्व क्षण वाले मण्डल के रस का पोषण होता है वैसे रस दूसरे स्थान पर अर्थात् अन्य उत्सव में हो नहीं सकता है । रासोत्सव की प्रवृत्ति श्रेष्ठ हो रही है जिसका आशय है कि उसका सदैव आविर्भाव है अर्थात् रासोत्सव सदा ही होता रहता है । यहां काल, कर्म और स्वभाव ये तीन रुकावट करने वाले हैं अतः बहुत स्थलों पर उत्पन्न 'रस' एक कैसे हो सकेगा ? इस शङ्का का निवारण करने के लिए श्री शुक-देवजी ने भगवान् को योगेश्वर कहकर यह वता दिया है कि वह निश्चय ही समस्त उपायों को जानने वाले है । योग ही है जो समस्त वस्तुओं में मौजूद ऐश्वर्यादिक को प्रकट करता है अतः साधनों में 'योग' ही प्रधान है, योग में भी ऐश्वर्य द्वारा सर्वत्र ही मूलभूत रस उत्पन्न किया जा सकता है यह बात तो सिद्ध ही है । यह योगेश्वर कृष्ण स्वयं ही सदानन्द<sup>३</sup> स्वरूप हैं, प्रकट हुई अग्नि छिपी हुई आग को प्रकट करने में समर्थ होती है ।

भगवान् ने गोपियों के मध्य में स्थिति किस प्रकार की जिसका वर्णन करते हैं कि दो दो के मध्य आप विराजें थे । मण्डल हो के खड़ी हुई जितनी गोपियां थी उनमें दो दो जुदी हैं वैसे भावना करनी । दो की दो जोड़ियों में भगवान् एक हैं यों न समझना चाहिए\* किन्तु एक जोड़ी में एक भगवान् है । वह किस प्रकार है जिसका स्पष्टीकरण करते हैं कि मण्डल के मध्य में जहां दो गोपियों के हस्त मिले हुए हैं वहां भगवान् इस प्रकार खड़े हो गए जैसे आप श्री का उदर दोनों के हस्तों को स्पर्श करता रहे, इस प्रकार प्रभु ने दो दो के गले में अपनी बाहु डाल दी जिससे १६ गोपियों में आठ कृष्ण होगए । अतः प्रत्येक गोपी अपने २ पास एक कृष्ण देखने लगी । यदि यों नहीं होता अर्थात् दो दो कृष्ण देखती तो रसाभास हो जाता था । इस भाव को प्रकट करने के लिए कहते हैं कि प्रत्येक गोपी समझने लगी कि कृष्ण मेरे पास ही है दूसरे के पास नहीं है । अपने सामने गोपियों से गलबाहु होकर खड़े हुए कृष्ण का दर्शन भी भगवान् की इच्छा से न कर सकी थी । भगवान् एक निश्चित प्रयोजन के लिए निश्चित स्वरूप धारण करते हैं, वह प्रयोजन अष्ट स्वरूप प्रकट करने से सिद्ध हो जाता है तो गोपियों की संख्या १६ के समान १६ कृष्ण ढूंढने की यहां कोई आवश्यकता नहीं है । श्री शुकदेवजी 'जितनी गोपियां उतने कृष्ण स्वरूप हैं' यह आगे कहेंगे ।

यह जो किन्होंने कहा है कि जितनी गोपियां थी उतने, १६, कृष्ण थे वह मण्डल दूसरा कोई होगा भागवत का नहीं है तथा वहां जो 'अङ्गनामङ्गनामन्तरे माधवः' पाठ दिया है वह प्राचीन नहीं

\* अर्थात् चार गोपियों के बीच में एक हैं यों नहीं, किन्तु दो के बीच में यहां (○ △ △ ○ △ △ ○) यह प्रकार है, न कि (○ △ △ △ △ ○ △ △ △ △) और न (○ △ ○ △ ○ △ ○) ये दो प्रकार ।



है उसमें फेर है शुद्ध पाठ “अंगना अंगना अन्तरे माधवः” यों है । तथा बहुवचन का अभिप्राय भी द्विवचन में ही है । उसके सिवाय वहां मण्डल के मध्य भगवान् वेणुनाद कर रहे हैं किन्तु भागवत में कही हुई लीला में यों नहीं है । यहां तो रस के लिए नृत्य किया गया है, गाने के लिए अपेक्षा मानने पर भी वह काम देवताओं से चलाया जा सकता है । “मध्ये मणीनां” इस ७ वें श्लोक में जो वर्णन श्रीशुकदेवजी ने किया है वह तो जैसे कि गोपियों एवं देवों को दर्शन हुए उसका है न कि वस्तुस्थिति का । इस तरह सारी रस सामग्री के संपन्न होने पर वह रस भी प्रादुर्भूत होगा यह अलौकिक बात जानने वाले देवताओं ने समझ लिया अतः वे भी दर्शन के लिए दौड़ आए । यों आकाश सैकड़ों विमानों से भर गया ।

मण्डप में नाचने से रस उत्पन्न होता है और मण्डप में ऊपर का भाग ही यदि आकर्षक न हो तो मण्डप ही क्या ? और वह विचित्रता यहां देवताओं के आने से हुई, अतएव विमानों से आकाश भर दिया गया । मण्डप में जैसे रस उत्पन्न करने के लिए स्त्री पुरुषों के युगल नाना बन्धों में चित्रित किए जाते हैं, वैसे ही भगवान् ने उन देवों को चित्र प्रायः अवस्था में वहां स्थापित किया । अतएव आगे चलकर “औत्सुक्यापहृतात्मनाम्” कहा जाएगा । भगवान् अपनी लीला के लिए सभी में यथायोग प्रेरणा कर देते हैं अतः उत्सुक होने पर भी वे दौड़कर यहां नीचे नहीं आ पाए । वे उत्सुकतावश रसग्रहणार्थ आए थे परन्तु भगवान् की इच्छा उनके चित्र के रूप में उपयोग की थी । विमान में स्थित मिथुन रस के संबन्धी देवताओं का “दिवौकसां” में वर्णन है । देवताओं का स्थान स्वर्ग ही है । “सदाराणां” पद से देवपत्नियों की गौरवता दिखलाई गई क्योंकि देवों में यहां भगवान् की लीला के दर्शन से अतिरिक्त अन्य कोई भी भाव नहीं है । स्वर्ग में रहने वाले रस को जानते हैं और रस के योग्य भी हैं ।

यह लीला साधारण मनुष्य की नहीं है किन्तु स्वयं ईश्वर की लीला है अतः वह नहीं देखनी चाहिए, तब देवों को देखने में प्रवृत्ति कैसे हुई ? इस शङ्का का उत्तर श्री शुकदेवजी ने यह दिया है कि उत्सुकता के कारण लीला में मन आसक्त होने से देवों की बुद्धि वा आत्मा का अपहरण हो गया जिससे अपने धर्म से ही इसमें प्रवृत्त हुए हैं अर्थात् लीला देखने आए हैं, भगवान् के धर्म का विचार, बुद्धि के हरण हो जाने से नहीं कर सके थे, अतः आगए भूलतः यहां भी कारण तो भगवान् ही हैं (अनुवादक) ॥ ३-४ ॥

योजना:—देवताओं को गोपिकाओं के मण्डल के बीच में नाचते हुए एक ही स्वरूप के दर्शन हुए । मानों चारों ओर बिखरे हुए सोना के मोतियों के बीच में एक मरकतक-मणि रख दी गई हो । उन्हें केवल इतने ही दर्शन हुए और अन्य कुछ भी दिखलाई नहीं पड़ा अर्थात् गोपिकाओं के साथ की अन्तरंग लीला के दर्शन देवों को नहीं हुए । जबकि गोपिकाओं में से प्रत्येक को भगवान् उसी के साथ हैं यह बोध हुआ ।

प्रकाश:—“जिस उत्सुकता के कारण उन्हें भगवान् के दर्शन हो रहे हैं उसी उत्सुकता के कारण आत्मापहार कैसे संभव है ?” इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं ।

आभास—ततो नृत्यारम्भे यद भाव्यम्, तज्जातमित्याह तत इति ।

आभासार्थ—नृत्य आरम्भ करने पर जो कुछ होना था वह हुआ जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'ततो दुन्दुभयो' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—ततो दुन्दुभयो नेदुर्निपेतुः पुष्पवृष्टयः ।

जगुर्गन्धर्वपतयः सस्त्रीकास्तद्यशोऽमलम् ॥५॥

श्लोकार्थ—अनन्तर दुन्दुभि बजने लगे, फूलों की वर्षा हुई स्त्रियों सहित गन्धर्व-पति भगवान् का निर्मल यश गाने लगे ॥५॥

सुबोधिनी—आदौ दुन्दुभिवादनम् । 'परमा वा एषा वाग् या दुन्दुभा'विति श्रुतेः । ततः प्रथमतः पुष्पवृष्टिमङ्गलार्था । पुष्पाञ्जलिः प्रसिद्धः आगतो रसः तदधिष्ठाता वा पूज्यत इति । नाना-विधानां पुष्पाणां भिन्ना वृष्टय इति बहुवचनम् । ततो गानं साधारणं जातमित्याह जगुर्गन्धर्वपतय इति । भगवान् श्रोष्यतीति उत्तमैरेव गानम् । गन्धर्वपतयो विश्वावसुप्रभृतयः । ते ह्यधिकारिण

इति नटानामिव तेषां दर्शनं न दोषाय । अन्यथा भगवद्वस्तस्थितेन्द्रादीनामपि दोषत्वं स्यात् । 'अर्थद्रव्यविरोधेऽर्थो बलीया'निति न्यायात् । तथापि तेषामन्यथाबुद्धिः सम्भाव्येतेति विशेषण-माह सस्त्रीका इति । वैषयिकदोषव्यावृत्त्यर्थमाह अमलं तद्यश इति । तद्वि मलनिवर्तकम् । अतो न तासां तेषां वा तत्कालोपयोगिपदार्थादितिरिक्तो भाव उत्पद्यते ॥५॥

व्याख्यार्थ—आदि में दुन्दुभि बजने लगे, 'दुन्दुभि' में जो यह वाणी है वह शुभ है, अतः प्रारम्भ में शुभ शब्द हुए, अनन्तर पहले पृथक् पृथक् अनेक प्रकार के पुष्पों की वृष्टि हुई । 'पुष्प-वृष्टयः' श्लोक में बहुवचन देने का भाव यह ही है कि वर्षा में विविध पुष्प बरसाए गए । पुष्पों की वर्षा करने का कारण यह है कि शस्त्रानुसार देव को पुष्पाञ्जलि दी जाती है, यह प्रसिद्ध ही है अतः यहां भी प्रकट होने पर रस अथवा रस के अधिष्ठाता को पुष्पाञ्जलि देकर पूजा गया है । उसके बाद साधारण गान हुआ । वह गान भगवान् सुनेंगे अतः उसको उत्तम गायकों को ही करना चाहिए, वे उत्तम गान करने के अधिकारी, विश्वावसु प्रभृतिगन्धर्व पति ही हैं । वे भगवान् की लीला के दर्शन करे जिसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है जैसे नट नृत्य आदि सीखने वाली स्त्री का नृत्य देखे तो उसमें कोई दोष नहीं है । वैसे गान करने वाले लीला के दर्शन करे तो दोष नहीं है । यदि गान करने वाले गन्धर्व देवों को लीला के दर्शन करने में दोष होता है तो भगवान् के श्री हस्त में स्थित इन्द्रादि देवों + को भी दोष लगेगा । "अर्थ द्रव्य विरोधे अर्थो बलीयान्" □ इस न्याय से भी यह सिद्ध होता है कि गन्धर्व भगवान् की लीला के दर्शन करें तो कोई दोष नहीं है । तो भी यदि लीला देखने से उनकी विपरीत बुद्धि हो जाए तो ? इस शंका का निवारण करने के लिए श्री शुकदेवजी 'सस्त्रीका' विशेषण देकर बताते हैं कि वे अकेले नहीं थे जो उनकी बुद्धि विपरीत होवे किन्तु स्त्रियां भी साथ में है । स्त्रियों को साथ में लाने का आशय यह है कि जैसे हम लीला के दर्शन करते हैं ये वैसे भी दर्शन करे, जिससे हमारी भांति इनका भी भगवल्लीला में उपयोग हो । इस प्रकार का भाव भक्ति मार्गीय के सिवाय अन्य के मन में कभी नहीं स्फुरते हैं अतः वैसे भक्ति मार्गीय भक्तों के हृदय में विपरीत भावना का उदय हो नहीं सकता है । उनमें ( स्त्री और पुरुषों में ) परस्पर विषय सम्बन्धी दोष का जाना असम्भव दिखाने के लिए श्री शुकदेवजी 'अमलं तद्यशः जगुः' कहते हैं ।





वे भगवान् का यह यश गाने लगे थे जिससे मल की निवृत्ति हो जावे, उस प्रकार के यश गान से देवों में अथवा देव स्त्रियों में उस समय में उपयोगि पदार्थ से अतिरिक्त कोई अन्य भाव उत्पन्न हो नहीं सकता है, अर्थात् दोनों में भगवद्भाव ही उद्भूत हो रहा है ॥५॥

+ टिप्पणीजी में प्रभुचरणः—भगवान् की एकान्त लीला मात्र में उपयोगी एवं क्रिया शक्ति वाले इन्द्र आदि दिक्पालों से भिन्न हैं, वे तो भगवान् के भुज दण्ड ही अवलम्बन करते हैं। भगवान् के भुजदण्ड रसरूप हैं अतः रसात्मिका क्रिया शक्ति इन लीला-इन्द्रों का प्रधान रूप है, अतः इनकी उपस्थिति दोषावह नहीं है, जैसे वैसे ही विश्वावसु प्रभृति की भगवान् की लीला में उपयोगी नट हैं, अतः इनकी भी उपस्थिति में दोष नहीं।

△ सभी क्रियाएं किसी न किसी साधन या द्रव्य से संपन्न होती हैं। कभी-कभी क्रिया में उपयोगी द्रव्य एवं स्वयं क्रिया में विरोध उठ जाता है, जैसे जलपान की क्रिया में उपयोगी पात्र टूटा हुआ या इतना गन्दा हो कि जल पिया ही न जा सके तो ऐसी स्थिति में हम जलपात्र का त्याग करते हैं न कि जलपान की क्रिया का। यहां पात्र द्रव्य है तथा पान अर्थ। स्पष्ट ही अर्थ बलवान होता है, द्रव्य की अपेक्षा। यहां अर्थ है भगवल्लीला तथा द्रव्य हैं विश्वावसु, इन्द्र आदि। अब यदि इनमें परस्पर विरोध होता तो इन इन्द्र आदि का ही त्याग होता न कि लीला का परन्तु इन्द्र आदि का त्याग नहीं हुआ अतः विरोध भी नहीं है। जैसे इन्द्र का अत्याग उसकी लीला में अविरोधिता का हेतु बनता है वैसे ही विश्वावसु का अत्याग भी अविरोध में हेतु है। (अनुवादक)

आभारा—एवं बाह्यगीतवाद्यादिकमुक्त्वा नृत्यमध्ये रसोपयोगिवादित्राण्याह वलयानामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार बाह्य गीत और वाद्य आदि का वर्णन कर श्री शुकदेवजी 'वलयानां' इस श्लोक में नृत्य के मध्य जो वादित्र रस में उपयोगी हैं उनका वर्णन करते हैं।

श्लोक—वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम् ।

सप्रियाणामभूत् शब्दस्तुमुलो रासमण्डले ॥६॥

श्लोकार्थ—रास मण्डल में, श्रीकृष्ण सहित स्त्रियों के कंकण, नूपुर और किंकिणियों का भारी शब्द हुआ ॥६॥

सुबोधिनी—स्थानत्रये हि वादित्राण्यपेक्षन्ते । नीचस्थाने भूमाविव मध्ये उपरि च । तथैव तालभेदाः । अतोऽत्रापि उपरि वलयानां शब्दः । अधो नूपुराणाम् । मध्ये किङ्किणीनाम् । अन्यो-न्यावद्बाहव एव मध्ये मध्ये हस्तद्वयं योजयन्तीति वलयानां शब्दः । अथवाग्रे शब्दोत्पत्त्यर्थं प्रकारं वक्ष्यति 'पादन्यासै' रिति । सप्रियाणां कृष्ण-

सहितानाम् । अत एव सर्वलास्यसम्पत्तिः सर्वासां भगवत्सम्बन्धार्थम् । चकारात् अन्येऽपि कूजित-शब्दा मुखशब्दाश्चोक्ताः । सर्वः एकीभूय तुमुलो भूत्वा यथा दूरस्थानामवान्तरग्रहणं न भवति । तथा सति किं स्यात्, अत आह रासमण्डल इति । रसानां समूहमण्डले । यथानधिकारित्वेन शूद्रस्य वेदश्रवणो तदध्येतुर्मन्त्रस्य च शक्तिहासः, शूद्रे च



पापसम्भवः, तथैतद्भूतातिरिक्तानामेतच्छ्रवणोऽप्य-  
नधिकारादस्य रसस्यालौकिकत्वादेतच्छ्रवणो  
मण्डले सर्वेषां रसो गच्छेत् । श्रवणे सति तदन्वे-

षणपरत्वं स्यात् । तत्तेषामेवानिष्टकरमिति तदेव  
पापरूपम् ॥६॥

**व्याख्यानार्थ—**रास में तीन स्थानों पर नीचे, मध्य में और ऊपर वाद्यों के शब्द की आवश्यकता रहती है, इस प्रकार ताल के भी तीन निम्न, मध्य और उच्च भेद होते हैं, अतः यहां भी ऊपर कङ्कणों का शब्द, नीचे नूपुरों की ध्वनि तथा मध्य में किकिरियों की धुनि हो रही है । वहां गोपियां परस्पर हाथ मिलाकर खड़ी थी, कभी कभी बीच में दो हाथों को मिलाती थी जिससे कङ्कणों का शब्द होता था, अथवा आगे शब्दोत्पत्ति का प्रकार 'पादन्यास' (श्लोक ८) में कहेंगे । वे गोपीजन अकेली नहीं थी किन्तु उनके साथ श्रीकृष्ण भी थे, इस कारण से ही सभी प्रकार की सभी के पास लास्य की सम्पत्ति थी, कारण कि यदि सर्व के पास सर्व सम्पत्ति न होती तो भगवत्सम्बन्ध प्रत्येक के साथ कैसे होता ?

श्लोक में 'च' शब्द देने का भाव बताते हैं कि ऊपर कहे हुए तीन प्रकार के सिवाय अन्य भी मधुर कृजित शब्द तथा मुख से शब्द होते थे । ये सभी प्रकार के शब्द मिलकर तुमुल ध्वनि होने लगी, जिससे जो दूर खड़े थे उनको पूरी तरह समझ में न आवे । यों होने का क्या भावार्थ है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'रासमण्डले' यह वाद्य आदि की ध्वनि रासमण्डल' वाले ही सुने क्योंकि उसके सुनने के अधिकारी वे ही हैं । जैसे शूद्र वेद के श्रवण के अधिकारी नहीं है यदि वह सुने तो उसको पाप लगता है और सुनाने वाले तथा मन्त्र में जो शक्ति है वह उनकी चली जाती है, अर्थात् सुनाने वाले में जो विद्या का तेज है वह उससे लोप हो जाता है, तथा मन्त्र में जो सिद्धि देने की शक्ति है वह तिगोहित हो जाती है । इसी भांति भक्तों के सिवाय इस के श्रवण का किसी को अधिकार नहीं है कारण कि यह रस अलौकिक है अतः इसको अनाधिकारी सुनें तो मण्डल में से सबों का रस चला जावे, और सुनने वाले उसको ढूँढ़ने लगे, वह ढूँढ़ना उनके लिए अनिष्ट करने वाला है, वह ही उनके वास्ते पाप रूप है ॥ ६ ॥

**आभास—**एवं नृत्यमध्ये प्रविष्टो भगवान् गुणभावात् कदाचिन्न भासेतेत्याशङ्क्य सर्वजनीना भगवच्छोभा तदा जातेत्याह तत्रेति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार रास में प्रविष्ट भगवान् गौर हो जायेंगे, जिससे कदाचित् वे जानने में नहीं आवे वा न शोभें ? इस शङ्का निवारण के लिए श्री शुक्लदेवजी 'तत्राति' इस श्लोक में वर्णन करते हैं कि जब भगवान् रास के मध्य प्रविष्ट हुए उस समय भगवान् की शोभा सर्व जनों को जानने में आई, कोई रुकावट नहीं हुई ।

**श्लोक—**तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकीसुतः ।

मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा ॥ ७ ॥

१—'रसाना समूहो रास' जहां रसों का समूह है वह रास है उस मण्डल में जो स्थित हैं ।

**श्लोकार्थ—**सुवर्ण की मणियों के मध्य जैसे महान् नीलम मणो शोभती है वैसे भगवान् देवकी पुत्र गोपियों के बीच शोभा पाने लगे ॥ ७ ॥

**सुबोधिनी—**स्वभावशो भातोऽप्यतिशयेन शुशुभे । तदुक्तं 'शक्तिभिः सहितोऽधिकां शोभां प्राप्नोती'ति । कदाचित् खत एव शोभां प्रकटयेदिति तन्वावृत्त्यर्थं ताभिरित्युक्तम् । ननु सहज-शोभायुक्तस्य कथं ताभिरतिशोभा, तत्राह भगवामिति । यथा गुणैः । ननु गुणाः सर्वोत्तमाः, न तथैता इति चेत्, तत्राह देवकीसुत इति । भक्त्या

यथा देववया अपि पुत्रो जातः । स्वोणामेवोप-कारायाविर्भूतः । अतस्तास्वपि स्वसामर्थ्यमेव दत्त्वा शोभां प्राप्तवान् । सहजस्य कृत्रिमैः शोभा न भविष्यतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह मध्ये मणो-नामिति । महामारकतो गरुडोद्गारी स मणिः सहजः । सुवर्णमणयः कृत्रिमाः । तथापि ते परितः क्लृप्ताः सहजमणिमप्यतिशोभयन्ति ॥७॥

**व्याख्यान—**भगवान् स्वभाव से ही शोभित हैं तो भी अब विशेष शोभा पाने लगे । यदि कहो कि यह अधिक शोभा स्वयं आपने ही बढ़ाई है, तो उसके निवारण के लिए श्री शुकदेवजी ने मूल श्लोक में कहा है कि 'ताभिः अति शुशुभे' अर्थात् यह अधिक शोभा आपने नहीं प्रकट की है किन्तु आपकी शक्तियां जो गोपियां हैं उन्होंने प्रकट की है । जो सहज शोभा से युक्त हैं वह दूसरों से शोभित कैसे होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि आप भगवान् हैं, अतः जैसे गुणों से आपकी अधिक शोभा प्रकटती है वैसे ही इन शक्तियों से भी अधिक शोभा होती है । वे गुण तो सर्वोत्तम हैं जिससे शोभा को बढ़ाते हैं ये तो वैसे नहीं हैं, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'देवकी सुतः' जैसे भक्ति से देवकी के भी पुत्र बने हैं, वैसे यहां भी भक्ति के कारण गोपियों के उपकार के लिए ही प्रकट हुए हैं अतः उनको भी अपनी सामर्थ्य दी है जिससे अधिक शोभा प्राप्त की है । यदि कहो कि जिसमें स्वाभाविक अपनी शक्ति से शोभा है उसमें कृत्रिम पदार्थों से शोभा न होगी, तो दृष्टान्त देकर इस शङ्का को मिटाते हैं, जैसे गरुडोद्गारी महा मरकतमणि में स्वाभाविक शोभा है तो भी सुवर्णकार से बनाई हुई सुवर्ण की मणियों के मध्य में जब वह आती है तब अधिक सुशोभित होती है वैसे भगवान् भी शक्तियों से अधिक सुशोभित होते हैं ॥ ७ ॥

**आभास—**एवं पूर्वपीठिकामुक्त्वा मुख्यं नृत्यमाह पादन्यासैरिति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार रास क्रीड़ा की पूर्व पीठिका का वर्णन कर अब श्री शुकदेवजी 'पादन्यासैः' श्लोक से मुख्य नृत्य का वर्णन करते हैं—

**श्लोक—**पादन्यासंभुजविधुतिभिः सस्मितभ्रूविलासैः

भज्यःमध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्डलोलैः ।

स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाऽग्रन्थयः कुक्ष्यवध्वो

गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघन्नक्रे विरेजुः ॥८॥

**श्लोकार्थ—**सकल गोपियों के प्रत्येक चरण को एक ही समय साथ में रखने से, तथा हाथ को हिलाने से, स्तनों के वस्त्रों की चञ्चलता से, कपोलों पर चंचल कुण्डलों

की चमक से श्रीकृष्ण की गोपियां जिनके मुख पर स्वेद बिन्दु शोभा दे रहे हैं, जिनकी चोटी और नाड़े की ग्रन्थियां शिथिल हो रही हैं, वे भगवान् के गुणों को गाती हुई ज्यों मेघ मण्डल में बिजली शोभती है त्यों रास मण्डल में शोभा देने लगी ॥८॥

सुबोधिनी - पादन्यासाः सर्व एव चारीकरणा-  
रूपाः । भुजानां विधुतयश्च सर्वहस्तकभेदाः ।  
एकेनावयवेन शिष्टावयवाः तथा संविधानयुक्ता  
इति ज्ञेयम् । मन्दहाससहिताः सर्व एव कटाक्षा  
उक्ताः । भ्रूभेदाश्च । तत्तद्रसे हृदयाविष्टे तथैव  
भवन्तीति । भज्यद् भङ्गयुक्तानि मध्यानि उप-  
रिभागपरिवर्तनात्मकानि । रसाभिनिविष्टानां  
तासां सर्वावयवातिभ्रमणेन रस एकीभवतीति ।  
परिवर्तनादिभिरेव वा चलेषु कुचेषु पटा इति  
सर्वाण्येव कम्पनान्युक्तानि । कुण्डलैर्गण्डलोलै-  
रिति । सर्व एव शिरोभेदा उक्ताः । शिरोभे-  
देष्वेव वक्तव्येषु कुण्डलानां यच्चलननिरूप-  
णम्, तद्विद्युतामिव शोभार्थम् । गण्डलोलै-  
रिति सर्वा कान्तिस्तत्रोपक्षीण्येति ज्ञापनार्थम् ।  
गण्डे हि केवलो रसः । पेयो रसस्तत एव पीयत  
इति । विद्योतनं तस्यैवाभिव्यक्त्यर्थम् । ततोऽन्तः  
स्थितो रसः पुष्टोऽभित्यक्त इति व्यापनार्थमाह

स्विद्यन्मुख्य इति । स्विद्यत् स्वेदयुक्तानि मुखानि  
यासामिति । कवररशनासु च अग्रन्थयो जाताः ।  
रसेन सर्वावयवस्थेन एकीभूतेन देहः सूक्ष्मतामा-  
पन्नः । अतः केशपाशे रशनायां च ग्रन्थिः शिथिलः,  
नन्वेवं कथं श्रमः, तत्राह कृष्णवध्व इति । सदा-  
नन्दस्य हि फलस्य ता उपभोक्तव्यः । अतः क्रियायां  
श्रमो भवत्येव । एतादृश्योऽप्यन्तःसन्तोषेण गाय-  
न्त्यो जाताः । एव कायादिश्रमैरपि ता विरेजुः ।  
अतिशोभायुक्ता जाताः । ननु लोकानां दर्शन-  
सापेक्षा शोभा, तास्तदा कथं सर्वैर्दृष्टा इति,  
तत्राह तडित इव ता इति । नहि तडित् बहुकालं  
दर्शनयोग्या भवति । मेघचक्रे शोभामेव परं  
सम्पादयति । तथा कृष्णसमूहे भगवता आच्छा-  
दिताः । परितः कदाचिदेवोदृताः केनचिदशेन  
दृष्टा भवन्ति । अतस्तासां शोभा न दोषावहा  
जाता, किन्तु विशिष्टैव जाता ॥८॥

नृत्य समय में चरणों का पृथ्वी पर रखना, इतना कहने से समझ  
क, वे जो  
जाग्र का एक अवयव से  
स्वतः

कारण  
जब उस

+ नृत्य के समय पैर कैसे धरने जिसके लिए नाट्य शास्त्र में दो 'प्रकार' बताए हैं, धरने के समय एक पैर को फिराया जाय तो उसको 'चारी' कहते हैं, यदि दो पैरों को धुमाना पड़े तो उसको 'करण' कहते हैं ।



जब गोपीजन नृत्य करती हुई अपनी कटि को मोड़ कर टेढ़ी करती हैं तब शरीर के ऊपर के भाग को चारों तरफ फेर सकती है, इस प्रकार सर्व अवयवों को बहुत घुमाने से रसाभिनिविष्ट गोपियों का अवयवों में रहा हुआ रस एक हो जाता है। अथवा गोपियों के शरीर के ऊपर के भाग के घूमने से स्तनों पर जो वस्त्र थे वे भी कम्पन के कारण स्तनों से उड़ जाते थे।

नृत्य करने के समय में वे शिर के फिराने को भी सर्व कियाए करती थी, किन्तु मूल श्लोक में शिर के घुमाने को न कहकर 'कुण्डलैर्गण्डलोलैः' पद में कपोलों पर कुण्डलों के भ्रमण को कहा है जिसका भाव यह है कि यहां श्री शुकदेवजी को भगवान् के कपोलों की शोभा दिखानी है, भगवान् के कपोल श्याम हैं और कुण्डलों की चमक का तेज गौर है जब वे दोनों परस्पर मिलते हैं अर्थात् जब कुण्डलों का गौर तेज और भगवान् का श्याम स्वरूप मिलता है तब वहां मेघों में बिजली के समान शोभा होती है, जिससे कुण्डलों की शोभा से कपोलों की शोभा बढ़ जाती है, और अन्य सर्व शोभा कम हो जाती है। उस शोभा का कारण यह है कि कपोलों में सभी के लिए पान करने योग्य जो रस है वह प्रकट होता है। जिस रस का पान पिता आदि भी बिना संकोच करते हैं, कपोलों से जो रस प्राप्त होता है वह शुद्ध प्रेमात्मक रस है तथा अधर के रस के समान कामात्मक स्त्री पेय नहीं है।

गोपीजनों के मुख पर मुक्ता समान पसीने की बूंदें शोभा देने लगी, जिसका कारण बताते हैं कि अन्दर जो गुप्त रस स्थित था वह पुष्ट होकर प्रकट हुवा है। सर्व अवयवों में रहा हुवा रस उनमें से निकलकर जब एक स्थान पर इकट्ठा हो गया तब शरीर सूक्ष्म हो गया जिससे चोटी तथा नीची की ग्रन्थियां ढीली पड़ गई।

रस क्रीड़ा करने से इतना श्रम क्यों वा कैसे हुआ? इस प्रश्न का उत्तर शुकदेवजी देते हैं कि 'कृष्ण वध्वः', ये गोपीजन तो कृष्ण की पत्नियां हैं, जिससे वे सदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण के आनन्द रस का भोग करनेवाली हैं, अतः इस क्रिया में श्रम होता ही है, श्रम होते हुए भी अन्तःकरण में सन्तोष होने से गान करती रहती थी, इस पर कायादि से श्रमित होते हुए भी गोपियां अतिशय शोभा युक्त देखने में आती थी।

गोपियां सुशोभित हो रही थी, जब कोई मनुष्य देखकर कहे तो माना जाय जबकि इस लीला को तो किसी ने देखा नहीं है, इस शङ्का को मिटाने के लिए श्री शुकदेवजी ने श्लोक में कहा है कि 'तडित इव ताः' वे गोपियां बिजली के समान हैं अर्थात् जैसे बिजली स्वल्प काल ही दिखती है किन्तु मेघों के चक्र में शोभा ही बढ़ाती है, वैसे कृष्ण रूप मेघ के समूह में भगवान् से अच्छादित होने से कभी ही देखने में आती है अतः उनकी शोभा दोष युक्त नहीं हुई बल्कि विशेष ही हुई है। ८।

**आभास—गाढनृत्यमुक्त्वा मध्यनृत्यमाह उच्चैर्जंगुरिति ।**

**आभासार्थ—**ऊपर के ८ श्लोक में गाढ नृत्य कहने से नृत्य की मुख्यता कही, जिससे गान की गौणता हुई है, अब इस 'उच्चैर्जंगुः' श्लोक से मध्य गान कह कर यह बताया है कि गान तथा नृत्य दोनों समान हैं।



श्लोक—उच्चैर्जगुर्नृत्यमाना रक्तकण्ठ्यो रतिप्रियाः ।

कृष्णाभिमर्शमुदिता यद्गीतेनेदमावृतम् ॥६॥

श्लोकार्थ—जनता को आनन्द देने वाले सुरीले स्वर वाली तथा रति से ही प्रेम करने वाली, श्रीकृष्ण के स्पर्श से मोद युक्त गोपियां नृत्य करती हुई उच्च स्वर से गाने लगी जिससे यह जगत् व्याप्त हो गया ॥६॥

सुबोधिनी—नृत्यमाना नृत्यं कुर्वन्त्य एव उच्चैर्गनयुक्ता जाताः । अथवा आदावुच्चैर्जगुः । ततो नृत्यमाना नृत्यन्त्यो जाताः । उभयत्र हेतु-माह रक्तकण्ठ्यो रतिप्रिया इति । रक्तः रञ्जक-स्वरेण युक्तः कण्ठो यामामस्तीति । रतिरेव प्रिया यासामिति । गानेन व्यामोहनं नृत्येन च तासां प्रसिद्धम् । ननु पूर्वनृत्येन जातश्रमाः कथ-मेवं कृतवत्य इत्यत आह कृष्णाभिमर्शमुदिता

इति । भगवतः अभितोमर्शः प्रोञ्छनादिविशेष-रूपः, तेन मुदिताः अन्तःपूर्णानन्दाः । इतर-विस्मारणार्थं नादाधिक्यमाह यद्गीतेनेदमावृत-मिति । यासां गीतेनेदं जगद् व्याप्तम् । अथवा । यदर्थमेतन्नृत्यादिकम्, तत् सफलं जातमित्याह यद्गीतेनेति । लोकैः क्रियमाणेन गीतेन एतत्प्र-काशकेन एतज्जगद् रसेन व्याप्तमित्यर्थः ॥६॥

व्याख्यार्थ—गोपियां नृत्य करती हुई जोर से गाने लगी, अथवा प्रथम ऊँचे स्वर से गाने लगी, पश्चात् नृत्य करने लगी, दोनों प्रकार में हेतु कहते हैं कि वे सुरीले स्वर वाली थी तथा रति भी उनको प्रिय थी, + अतः दोनों साथ भी किया हो अथवा पृथक् पृथक् भी किया हो । यह तो प्रसिद्ध ही है कि उनका गान तथा नृत्य दोनों व्यामोह करने वाले हैं । जब गोपियां प्रथम नृत्य से ही श्रमित हो गई थी तब फिर इस प्रकार नृत्य तथा गान दोनों कैसे किए ? इसके उत्तर में श्री शुकदेवजी कहते हैं कि 'कृष्णाभिमर्शमुदिता' श्रीकृष्ण ने हस्त से जो उनका प्रोञ्छन किया जिससे हस्त स्पर्श के कारण गोपियां प्रसन्न हुई अर्थात् अन्तःकरण में पूर्ण आनन्द युक्त हो गई जिससे उनका वह श्रम शान्त हो गया और पुनः नृत्य तथा गान करने में विशेष रुचि हुई जिससे ऊँचे स्वर से गाने लगी । जोर से इसलिए गाने लगी कि भगवान् दूसरी नायिकाओं का नाद भूल जावे । यह गान ऐसा किया जिससे यह जगत् व्याप्त हो गया, अथवा यह जो हमने नृत्यादिक जिस फल के लिए किया वह फल मिल गया, इसलिए श्लोक में 'यद्गीतेन आवृतम्' कहा है । यह रस भक्त कवियों के इसी रसका प्रकाशन करने वाले गीतों द्वारा लोक में भी व्याप्त हो गया है ॥६॥

+ लेखः—गोपिकाओं को रति प्रिय है अतएव रतिकर्ता भगवान् के व्यामोहनार्थं नृत्य किया ।

आभास—लोके रसप्राकट्यार्थमेवैतत् कृतमिति । उत्पन्नस्य नादस्यामृतमयत्वाय भगवतापि नादः कृतः । स च मधुर एव कर्तव्यः । तेन च जगत् पूरणीयम् । ततोऽवट-मानमेतदिति तदर्थमाह काचिदिति ।

आभ.सार्थ—लोक में रस को प्रकट करने के लिए ही यह सब किया गया है अतः (स्वामिनियों



द्वारा) उत्पन्न किए गए नाद को अमृत मय बनाने के लिए—भगवान् ने भी नाद किया। अब जब करना ही है तो वह नाद मधुर ○ ही करना पड़ेगा और फिर उस मधुर नाद से जगत को भर भी देना है, △ परन्तु यह संभव कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं “काचित्” से।

सप्रकाशटिप्पणीजी:—नाद के दो भेद होते हैं। (१) आहत एव (२) अनाहत। अनाहत नाद प्राणधोष रूप होता है तथा आल्हादक भी नहीं होता। आत्मा, मन, देहस्थ ब्रह्म एवं वायु की क्रमिक प्रेरणा की प्रक्रिया से आहत नाद की अभिव्यक्ति होती है। प्रक्रिया की अन्तिम कड़ी वायु ब्रह्मग्रन्थी से नाभि में अभिव्यक्त होने पर अति सूक्ष्म ध्वनि, हृदय में सूक्ष्म, कण्ठ में अपुष्ट, मूर्धा में पुष्ट एवं मुख में कृत्रिम ध्वनि कहलाती है। किन्तु व्यवहार में हृदय में मन्द, कण्ठ में मध्य एवं मूर्धा में तार ध्वनि भी कहा जाता है। ये क्रमशः उत्तरोत्तर द्विगुणित होती जाती हैं। इस ध्वनि के बाईस भेदों को श्रुति कहा जाता है। इन्हीं रूपों में अभिव्यक्त नाद आल्हादक बनता है। वैसे तो यह नाद आसन्न प्राण का अंश ही है अतः लौकिक है और अतएव अमृत प्रचुर भी नहीं, फिर भी जब वह अंशी का रूप ले लेता है तो मूल रूप में आ जाने के कारण वह अपहतपाप्मा तथा पूर्ण होकर अमृत प्रचुर भी हो जाता है।

यहां “स्वामिनियों द्वारा उत्पन्न किए गए नाद अर्थात् गानकी अमृतमयता भगवान् के नाद से होती है” का प्रभु चरण ने यह तात्पर्य दिखलाया है। यह नाद न तो लौकिक है और न पूर्व सिद्ध। इस नाद की अलौकिकता इसके कार्य को देखने पर समझ में आती है। इसके दो अलौकिक कार्य हैं (१) भगवान् के अन्य भावों को दूर करना एवं गान करने वाली स्वामिनियों में भगवान् के भावों को केन्द्रित करना (२) स्वकेन्द्रित भगवान् के भाव के अनुरूप स्वयं स्वामिनियों के सारे भावों को भगवान् में केन्द्रित कर देना। इन दो कार्यों को उत्पन्न करने के लिए प्रत्येक स्वामिनी ने गान किया और जब ये दो कार्य उत्पन्न होंगे तो रसानुभव तो होना ही है। इसके अलावा भगवान् के गान का कारण भी यही स्वामिनीगान है। यों इन दो कार्यों को उत्पन्न करने के कारण ही इसे ‘अमृतमय’ कहा गया है। यों दो कार्यों से कारण नाद की अलौकिकता का अनुमान होता है।

‘अमृतमयत्व’ की व्याख्या के अनुसार भगवान् के नाद की प्रधानता सिद्ध होती है अतः स्वामिनी के गान की अमृतमयता या प्रधानता नहीं रहेगी, यह शंका उठ सकती है अतः प्रभुचरण इसका समाधान करते हैं।

स्वरजाति विस्तार के उन्नयन (तारसप्तक तक ले जाने) में स्वामिनी की प्रधानता कही जाती है, जहां कि प्रभु का तो केवल साथ देना मात्र अपेक्षित है। यों उसके कारण इसका माधुर्य लक्षित होता है। अन्यथा प्रभु स्वयं यदि तारसप्तक तक प्रथम पहुँच जायें तो स्वामिनी का नाद अभिभूत होकर गान में रसाभास एवं व्यर्थता ला देगा। समान भी मानने पर दोनों के स्वर स्वतंत्र होकर एक दूसरे के पूरक न हों तो परस्पर अनुपयोगी बन सकते हैं। यदि स्वामिनी स्वयं नादस्वरूप को न जानती हों और केवल भगवन्नाद सुनकर उसका अनुकरण करें तो भी वही गति होगी। अतः भगवान् के विचारित क्रम के अनुसार स्वयं स्वामिनी ने स्वरोन्नयन किया। नायिका की प्रधानता तो इस रसका स्वभाव ही है अतः भगवान् में भी यहां पूर्ण रस का प्रादुर्भाव हुआ है, और यों वे स्वामिनी के अधीन हो गए हैं, यह दिखलाना ही इस सारी बात का आशय है (अर्थात् ऊँचे स्वर न लगाकर मधुरवाद ही प्रभु ने किया इस तथ्य का)।



यों नायिका-स्वामिनी के नाद की प्रधानता सिद्ध होती है अतः उसी के कार्य पूर्वोक्त दोनों भाव हैं ।

सप्रकाश एवं सलेख टिप्पणीजी:—अब प्रभु के गान का मुख्य कार्य क्या है, यह प्रभु चरण बताते हैं : अमृतमयता के लिए भगवान् ने जो नाद किया वह तो स्वामिनियों को रसानुभव कराने के लिए ही अतएव वह नाद मधुर ही करना पड़ा । अब मधुर नाद से जगत् को कैसे व्याप्त किया—भर दिया— जा सकता है, अर्थात् भगवान् को तो साथ देने के लिए मधुर नाद ही करना है तो फिर कवियों को कैसे सुनायी देगा, और उनके न सुनने पर यह रस जगत् में व्याप्त कैसे हो पाएगा, यों यह असंभव बात हो गयी ! अन्य धर्म निवृत्त होने पर ही इससे जगत् व्याप्त हो सकता है । अतः जगत् को इससे व्याप्त करने के लिए इस स्वरूप के रस को जानकर निरूपण कर सकने वाली ये गोपिकाएं ही हैं । जैसे “तत्त्वोपनिषदं पुरुषम्” कहा अर्थात् उपनिषद् में वर्णित ही ब्रह्मस्वरूप ज्ञातव्य है— यथार्थ है, उसी तरह इन स्वामिनियों ने जो रूप गुण या धर्म दिखलाए हैं, वे ही पुरुषोत्तम के ज्ञातव्य एवं यथार्थ रूप हैं । अतः इनका गान उपनिषद्-वाक्य रूप है । इनके वाक्यों को सुनने से जाना जा सकता है कि भगवान् ये प्राकृत धर्म नहीं हैं और उन ऐसे भगवान् से संबन्ध होने पर श्रोताओं का भी अन्य विषयों में भटकना बन्द हो जाता है, (यह, कवियों से इस रस के जगत् में व्याप्त होने पर इस रस के कीर्तन के श्रोताओं को ज्ञान हो तथा अन्य विषयों में उनका भटकना बन्द हो एतदर्थ है ) तब फिर भगवदानन्द का अनुभव होता है । यह सब प्रभु के गान का कार्य है । इस तरह इस रस से जगत् व्याप्त कर दिया जाएगा ।

श्लोक—काचित् समं मुकुन्देन स्वरजातीरमिश्रिताः ।

उन्निन्ये पूजिता तेन प्रीयता साधुसाध्विति ॥

तदेव ध्रुवमुन्निन्ये तस्यै मानं च बह्वदात् ॥ १० ॥

श्लोकार्थ—किसी गोपी ने भगवान् के नाद के साथ मेरे स्वर तथा जाति का मेल न होवे इस प्रकार स्वर को ऊपर ले गई जिससे भगवान् ने प्रसन्न होकर उसकी पूजा की दूसरी ने उसी ध्रुव स्वर को ऊँचे ले नाद में मिला दिया, भगवान् ने उसका भी बहुत आदर किया ॥ १० ॥

सुबोधिनी—मुकुन्देन समं अमिश्रिताः स्वर-जातीः काचिदुन्निन्ये । काचित् सम्यग् भगवद्भावं प्राप्ता । भगवतो नादकरणे हेतुः मुकुन्देनेति । मोक्षदानार्थमेव उपनिषदि स्वनादं पूरितवान् । उभयोरेकता । नादे तुल्यता । मोक्षे कार्यद्वयम् । पूर्वसङ्घातान्निवर्तनं ब्रह्मप्रापणं च । तदर्थमितर-निवारणार्थमुपनिषदामुपयोगः । स्वराः षड्जादयः । तेषां जातिभेदाः यथा मयूरः षड्जं वदति । तथा अन्येऽपि पक्षिणः मनुष्या अन्येऽपि जीवाः षड्जं

वदन्ति । तथापि तेषामवान्तरजातिरस्ति । ते चेद्यथाक्रमेण यथारसाभिव्यक्तिः यदभिप्रायेण सृष्टावुत्पादिताः तथैव योजिताश्चेत्, तदा स्वरजातयः अमिश्रिताः भवन्ति । तद्भगवता कर्तुं शक्यम्, नान्येन । तासां चेदुन्नयनम्, तदा युक्त एव सन्तोषः । तदाह पूजिता तेन भगवतेति । स्वस्य ब्रह्मत्वात् स्वविचारितानुपूर्वीति स्वस्य तथा गानं नाश्चर्यहेतुः । अन्ये तु तत्स्वरूपमेव न जानन्ति, कुतः पुनः करिष्यन्तीति तेनैव पूजिता ।





किञ्च, कार्यमपि उन्नयनेन जातमिति । साधुसां-  
ध्विति । प्रीयता प्रीति कुर्वता भगवता । स्वरूपतः  
फलतश्च साधुत्वाय द्विरुक्तिः । प्रीतिश्च तुल्यत्वात्  
सर्वथा कार्यानुगुणत्वात् । अन्या पुनः उन्नोतमेव  
यावद् भगवता पुनर्गृह्यते, तावत्तथैवोन्नयनं  
कृतवतीत्याह तदेवेति । तदेवोन्नोतं ध्रुव निश्चलं  
यथा भवति, तथा उन्निये । तं नादं ध्रुवनादे  
योजितवति । ध्रुवनादः कारणनादः  
स्थायी स्वरः । 'यन्नोपविशते रागः स्वरः स्थायी

स कथ्यते' । भगवन्नाद एव वा । भगवता तथैव  
गीतमिति । ध्रुवतालादिषु योजितवतीति  
केचित् । तन्न विचारक्षमम् । एवं ध्रुवयोजनायां  
भगवांस्तस्यै बह्वैव सन्मानमदात् । चकाराद-  
भीष्टमपि । एवं तासामन्तःसामर्थ्यं जातमिति  
बहिःसामर्थ्यं किं वक्तव्यमिति भावः । बह्विति  
सर्वगोप्यधिकम् । ऐश्वर्यवीर्यरूपे चैते निरूपिते ।  
अन्याश्चतस्रः क्रमेण बोद्धव्याः । १० ॥

**व्याख्यानार्थ-** जो गोपी श्रेष्ठ प्रकार से भगवद्भाव को प्राप्त हुई थी उसने समझ लिया था कि  
भगवान् की इच्छा इस स्वर जाति को ऊँचे करने की है अतः वह गोपी भगवान् के साथ शुद्ध स्वर  
के भेदों को ऊँचा करने लगी ।

भगवान् ने नाद किस हेतु से किया है जिसको स्पष्ट समझाने के लिए मुकुन्द का नाम दिया  
है । भावार्थ यह है कि भगवान् ने मोक्ष दान देने के लिए ही उपनिषद् रूप गोपीजनों के नाद में  
अपना नाद भर दिया है । दोनों<sup>१</sup> में एकता है, दोनों नाद मोक्ष रूप कार्य करते हैं अतः दोनों नाद  
तुल्य हैं । मोक्ष में दो कार्य होते हैं, पूर्व देह<sup>२</sup> से छुटकारा और ब्रह्म की प्राप्ति करानी । भगवान् के  
सिवाय अन्य पदार्थों का निवारण कर के भगवान् की प्राप्ति करानी यह उपनिषदों का उपयोग है  
अर्थात् उपनिषद्रूप गोपिकाओं के नाद रूप वचनों की आवश्यकता है । सारांश यह है कि गोपीजनों  
के नाद से संघात की निवृत्ति हो जाती है और ब्रह्म की प्राप्ति होती है ।

गान में सात स्वर और उनके जाति भेद होते हैं—१-षड्ज्, २-ऋषभ, ३-गान्धार, ४-मध्यम,  
५-पंचम, ६-धैवत और ७-निषाद है, इनके १८ जातियाँ हैं उनमें से ७ शुद्ध हैं और ११ मिश्र हैं ।  
ये सात पृथक् पृथक् जातियों के स्वरों के समान होते हैं जैसे मोर की केकावाणी का स्वर षड्ज् है,  
रस प्रकार अन्य भी पक्षी आदि बोलते हैं, किन्तु उनमें थोड़ा सा भेद रहता है, जिससे उनके अवान्तर  
भेद अन्य भी प्रतीत होते हैं ।

इन स्वरों का ब्रह्मा ने रस उत्पन्न करने के लिए जिस क्रम से गाने का ढंग रचा है यदि उस  
तरीके से गाए जाय तो स्वर तथा उनकी जाति शुद्ध रहे, किन्तु इस प्रकार शुद्ध गाने की शक्ति  
भगवान् के सिवाय अन्य में नहीं है । गोपीजन इन स्वरों को यथाक्रम ऊँचे से गा सकी हैं इसलिए  
भगवान् उन पर प्रसन्न हुए हैं यह योग्य ही है । जिसकी सत्यता श्री शुकदेवजी ने 'पूजिता तेन' कह  
कर प्रकट की है । भगवान् ने उस गोपी का सन्मान किया, कारण कि भगवान् ने देखा कि मैं ब्रह्म  
हूँ यदि मैं इस प्रकार गान करूँ तो कुछ भी आश्चर्य नहीं है किन्तु अन्य तो जिसके स्वरूप को भी  
नहीं जानते हैं वे कैसे कर सकेंगे ? यदि उन्होंने किया है तो पूजा के योग्य है यों समझ विचार कर  
उसका पूजन किया । ऊँचे स्वर से गोपीजनों का कार्य भी सिद्ध हो गया इसलिए श्री शुकदेवजी ने  
'प्रीयता साधु साध्विति' कहा है । वह स्वरोन्नयन अपने आपमें तथा अपने फल के विचार से यों दोनों

१—भगवान् के नाद और गोपीजनों के नाद में अभेद है (कोई भेद नहीं है) २—पंचभूतों से बनी देह



तरह श्रेष्ठ था अतः भगवान् ने भी प्रेमपूर्वक दो बार उसकी 'वाह-वाह' की । गोपियां तुल्य हैं और कार्य के लिए सर्व प्रकार योग्य हैं अतः गोपियों पर भगवान् का प्रेम हुआ है ।

दूसरी गोपी जो पास में खड़ी थी उसने क्या किया कि जब तक भगवान् उस ऊँचे स्वर को ग्रहण करे जिससे पहले उसने वहाँ से ही उस नाद स्वर को ऊँचे ले लिया अर्थात् वह स्वर ध्रुव स्थान पर स्थित हो वैसे उनको ऊँचा लेकर उसको ध्रुव नाद में मिला दिया । नाद का कारण जो स्थायी स्वर है उसको 'ध्रुवनाद' कहते हैं, जहाँ राग और स्वर जाकर ठहरता है उसको 'स्थायी' कहा जाता है अथवा भगवान् का नाद ही स्थायी स्वर है । भगवान् ने इस प्रकार गान किया । कोई कहते हैं कि गोपी ने अपना स्वर ध्रुव ताल आदि से मिला दिया, उनका यह वहना विचार में लाने लायक नहीं है । जब गोपी ने अपने ऊँचे स्वर को स्थायी स्वर वा उस भगवान् के नाद में मिला दिया, तब भगवान् ने उसको बहुत मान दिया और अभीष्ट भी दिया, इस प्रकार गोपियों में जब अन्तः सामर्थ्य होगया तब बाहर के सामर्थ्य का क्या कहना है । बहुत मान दिया कहने का भाव यह है कि यह गोपी सर्व गोपियों से अधिक है, ये दोनों गोपियां ऐश्वर्य तथा वीर्य रूप है दूसरी चार क्रम से समझनी, भगवान् के छः धर्मों में से ऐश्वर्य और वीर्य ये दो धर्म इन दो गोपियों में स्थापित किए शेष ४ धर्म अन्य ४ गोपियों में स्थापित करेंगे वे आगे के श्लोकों में जानने ॥१०॥

**ग्रामास—**कीर्तिहि भगवन्तमेवावलम्बते । अतः कायिकं व्यापारं द्वयोराह काचिदिति ।

**ग्रामासार्थ—**कीर्ति निश्चय से भगवान् का ही आश्रय लेती है अतः दो गोपियों का काया से की हुई क्रिया का वर्णन ११-१२ श्लोक में करते हैं, उनमें से एक कोई स्कन्ध पर हस्त रखती है जिसका इस ११ श्लोक में वर्णन करते हैं—

**श्लोक—**काचिद्रासपरिश्रान्ता पाद्वस्थस्य गदाभृतः ।

जग्राह बाहुना स्कन्धं श्लथद्वलयमल्लिका ॥११॥

**श्लोकार्थ—**रास में रमण करने से श्रान्त कोई गोपी, जिसकी कंकण सम मल्लिका की माला शिथिल हो गई है उसने बाजु में स्थित गदाभृत भगवान् के कन्धे को बाहु से ग्रहण किया अर्थात् अपनी भुजा कन्धे पर धर दी ॥११॥

**सुबोधिनी—**रासेन परितः श्रान्ता स्वस्येकस्मिन् पाद्वे विद्यमानस्य स्कन्धं स्वबाहुना जग्राह, गदाभृत इति भगवतः स्थिरत्वाय । अधिकप्रयत्ने अन्यथा क्रियमाणे रासो भज्येत । परिश्रमो रसाधिक्यात् । अन्यथा रसार्थं प्रवृत्तिर्न स्यात् ।

मण्डलपरिस्थाने मण्डलसिद्धयर्थं भगवतापि हस्तग्रहणं सम्भवति । अतः एकस्मिन् पाद्वे भगवानेव । पार्श्वभागे विद्यमानस्य भगवतः कण्ठग्रहणं वृक्षाधिरूढालिङ्गनं भवति । भगवता पूर्वं कण्ठे सा गृहीता, तथापि भगवान् गृहीत इति



मित्रवत् स्थितिः स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थमाह । माला वद्धा । सा च शिथिला जातेति वैकल्यं  
 श्लथद्वलयमल्लिकेति । भ्रूयन्ती वलयाकारा प्रदर्शितम् । आप्तता च प्रदर्शिता ॥११॥  
 मल्लिका यस्याः । कवरे वलयाकारेण मल्लिका-

व्याख्यार्थ — रास से परिश्रान्त किसी एक गोपी ने अपने पार्श्व में एक और स्थित भगवान् का कन्धा अपनी बाहु से थाम लिया ।

भगवान् गदाधारी हैं अतः गोपी के कन्धा थामने पर भी अर्थात् कन्धे का सहारा लेने पर भी स्थिरता से मण्डल एवं नृत्य यथावत् बनाए रख सकते हैं ( स्वभावतः ) । अन्यथा कन्धे का सहारा लेने के कारण अधिक प्रयत्न करना पड़ता होता तो रास बन्द हो जाता ।

यह परिश्रम दैहिक नहीं है किन्तु रस के वृद्धिगत होने के कारण दुःप्रा है । यदि यह परिश्रम दैहिक होता तो गोपिका की रस के लिए प्रवृत्ति नहीं रह जाती + मण्डल छोड़कर भगवान् का कन्धा पकड़ने पर मण्डल तूट न जाए इसलिए अर्थात् मण्डल को बनाए रखने के लिए भगवान् को भी अन्य स्वामिनी का हाथ पकड़ना पड़ा हो यह संभव है । अतः एक और भगवान् ही रह जाते हैं ( अर्थात् गोपी नहीं ) । अपने पार्श्व भाग में खड़े हुए भगवान् के कण्ठ में हाथ डालकर जो गोपी आलिंगन कर रही है ऐसे आलिंगन को शास्त्र में 'वृक्षाधिरूढालिंगन' कहा जाता है । भगवान् ने पहले गलबाही दी और बाद में गोपी ने भी वैसे ही किया तावता दोनों की केवल मित्रवत् स्थिति का बोध होता है, किन्तु वस्तुतः केवल इतना नहीं है यह "श्लथद्वलयमल्लिका" से दिखलाते हैं । गोपी ने अपने जुड़े में जो बेनी लगायी थी वह शिथिल हो गई, यों उसकी विकलता यहां दिखलाई गई है । ऐसे आप्तता भी यहां दिखलाई गई है ।

प्रकाशः—दैहिक परिश्रम होने पर भगवान् के कन्धे का सहारा लेने के बजाय बैठ जाना और अधिक उचित होता किन्तु रस ग्रहण की इच्छा से वैसे न करके कन्धे को थाम लिया ।

लेख, प्रकाश एवं योजना क्रमशः— (१) रसातिमाद में कभी-कभी जुड़े पर हाथ रखकर भी चुंबन किया जाता है और यों अंगुलियों के स्पर्श से बेनी के फूलों का शिथिल होना स्वाभाविक ही है यों रसदान के कारण आप्तता दिखलाई (२) यथा दृष्ट लोला का वर्णन के कारण शुकदेवजी अपनी आप्तता दिखला रहे हैं (३) आप्तमिन्न को गलबाही दी जाती है अतः गोपी गलबाही से भगवान् की आप्तता दिखला रही है ।

श्लोक—तत्रैकासंगतं बाहुं कृष्णस्योत्पलसौरभम् ।

चन्दनालिप्तमाघ्राय हृष्टरोमा चुचुम्ब ह ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—मण्डल में उसी समय किसी एक गोपी ने अपने कन्धे पर धरे हुए कमलों की सुगन्धि वाले और चन्दन से लिप्त बाहु की सुगन्ध ली, जिससे रोमांच खड़े होते ही उसने भगवान् के बाहु को चूम लिया ॥ १२ ॥



सुबोधिनी—अन्या पुनः स्वस्य एकांसगतं बाहुं उत्पलापेक्षया अधिकपरिमलयुक्तं चन्दनेनालिप्तं बाहुमाघ्राय अन्तःप्रविष्टमोदा पुर्णानन्दासती हृष्टरोमा बाहुमेव चुचुम्ब । रूपस्पर्शो पूर्वमेव स्थितौ । गन्धरसयोरप्यनुभवं कृतवतीति । हेत्याश्चर्यं । तत्रेति । तस्मिन्नेव समये, तत्रैव भगवति वा । उभयपाद्वत्स्ययोगोपिकयोस्तथा सति विनियोग उक्तो भवति । एकांसगतमिति वा । सैव तथा कृतवतीति केचित् । सदानन्दत्वात्

सर्वत्रैव समरसता । उत्पलं हि रात्रिविकासि । तत् स्त्रीणां मनोज्ञम् । आघ्राणे चन्दनजसौरभमेव न हेतुः, किन्तु ततोऽपि विलक्षण साधारण-जनावेद्यं तदपेक्षयापि सौरभयुक्तत्वेनात्यलौकिक-भाववतीनामेव वेद्यम् । सहजसौरभमित्यपि ज्ञापनायेद विशेषणम् । चन्दनालेपः विवेकधैर्यनाशनार्थः । घ्राणेनान्तःप्रवेशनमस्या विशेषः । एषा श्रीरूपा ॥१२॥

व्याख्यानार्थ—दूसरी गोपी ने अपने एक कन्धे पर धरे हुए, कमल से भी विशेष सुगन्धि वाली, और चन्दन से लिप्त भगवान् के बाहु को सूंघने से उसमें आमोद भर गया तथा पूर्ण आनन्द से युक्त होने से उसके रोमाञ्च खड़े हो गए जिससे उसने बाहु का ही चुम्बन किया । भगवत्स्वरूप का दर्शन तथा स्पर्श तो गोपियों को प्रथम ही था अब गन्ध और रस का भी अनुभव कर लिया । श्लोक में 'ह' आश्चर्य अर्थ में दिया है । श्लोक में 'तत्र' शब्द का अर्थ दो प्रकार से होता है । (१) उसी समय में और (२) 'भगवान्' में । इस प्रकार कहने से दोनों बाजुओं में स्थित+ गोपियों का विनियोग सिद्ध हुआ समझा जाता है ।

श्लोक में 'एकांसगत' पद का अर्थ दो तरह संभव है (१) एक कन्धे पर धरी हुई बाहु को, तथा (२) एक अन्य गोपी ने कन्धे पर धरी हुई बाहु को । जिससे स्पष्ट हो जाता है कि पहले ११ श्लोक वाली गोपी से यह अन्य है वह कीर्ति रूप थी और यह श्री रूप है । अतः अन्य कोई जो कहते हैं कि इस श्लोक वाली गोपी भी वही है वह उनका कहना असंगत है ।

रस तो अधर में रहता है तो गोपी ने बाहु का चुम्बन क्यों किया ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'सदानन्द' होने से भगवत्स्वरूप में सर्वत्र जो रस है वह समान है ।

मूल में 'उत्पल' शब्द दिया है उसका भावार्थ यह है कि 'उत्पल' रात्रि में विकसित होता है अतः वह स्त्रियों के मन को हरण करने वाला है । गोपी के बाहु को सूंघने में चन्दन की सुगन्धि कारण नहीं थी, किन्तु जिसको साधारण जन नहीं जान सकते हैं उससे भी विशेष सुगन्ध, जिसको अतिशय अलौकिक भाव वाली ही पहचान सकती है वह हेतु है ।

यह विशेषण इसलिए भी दिया है कि भगवान् के श्री अंग में स्वाभाविक सौरभ है । चन्दन का लेप तो विवेक और धैर्य के नाशार्थ किया गया है क्योंकि चन्दनादि के लेप से भगवान् में विशेष भाव बढ़ने से विवेक धैर्य नाश होने से गोपी को यह ध्यान न रहा कि अन्य सखियों के सामने बाहु का चुम्बन कैसे करूँ ?

बाहु सूंघने से वह घ्राण गोपी के अन्तःकरण में प्रविष्ट हो जाती है यह इस गोपी में विशेषता है । यह गोपी श्री रूप है ॥१२॥



+ गो० वल्लभलालजी लेख में इस विषय को समझाते हैं जिससे सब शङ्काएं मिट जाती हैं, यद्यपि भगवान् गोपियों के बाजू में स्थित थे किन्तु दोनों का विनियोग पृथक् पृथक् काल में हुआ है, अतः भगवान् पार्श्व में थे उससे कोई विरोध नहीं है, और यदि एक ही समय में दोनों का विनियोग है तो भी भगवान् के प्रभाव से एक दूसरे को किसी ने नहीं देखा जिससे भी दोनों का विनियोग सिद्ध है ।

**आभास—**कयाचिद्भगवद्गृहीतताम्बूलं ज्ञानवद्गृहीतमित्याह कस्याश्चिदिति ।

**आभासार्थ—**भगवान् ने, जो ताम्बूल ग्रहण किया वह चर्चित ताम्बूल किसी गोपी ने वैसे ग्रहण किया जैसे शिष्य प्रथम सेवा कर पुनः गुरु से ज्ञान ग्रहण करता है, अर्थात् जिस गोपी ने प्रथम भगवान् को ताम्बूल अर्पण कर सेवा की उस गोपी को भगवान् ने अनुग्रह कर ज्ञान रूप चर्चित ताम्बूल देकर ज्ञानवती अर्थात् ज्ञान रूपा बना दिया जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'कस्याश्चित्' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**कस्याश्चिन्नट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितम् ।

गण्डं गण्डे सन्दधत्या अदात्ताम्बूलचर्चितम् ॥१३॥ \*

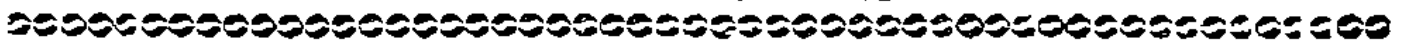
**श्लोकार्थ—**नृत्य से चलित कुण्डल की चमक से भूषित अपने कपोल को भगवान् के कपोल पर धर, बाजू में खड़ी हुई किसी गोपी को भगवान् ने अपना चबाया हुआ ताम्बूल मुख में दिया ॥१३॥

**सुबोधिनी—**कस्यैचित् ताम्बूलचर्चितमदादिति । स्वगण्डं भगवद्गण्डे सन्दधत्या इति तस्या अपेक्षा लाघवं च सूचितम् । सम्मुखत्वाभावेऽपि लाघवेनैव प्रादात् । अनेन तस्यै स्वविद्या दत्तेति ज्ञापितम् । तेनेयमेवोपदेष्टुं भगवदसन्निधाने सर्वासां भविष्यति । तस्याः विद्यायोग्यतां वक्तुं लौकिकक्रियाज्ञानशक्तिमत्वमाह नाट्यविक्षिप्तकुण्डलत्विषमण्डितमिति । नाट्येन विक्षिप्तस्य कुण्डलस्य त्विषा मण्डितं गण्डम् । नाट्ये क्रिया-

शक्तिः प्रतिष्ठिता । कुण्डले ज्ञानशक्तिः । क्रियाशक्त्या विक्षेपोऽत्यभ्यासः । योगात्मकत्वात् साधनानि वा । तस्य कान्तिरनुभवः । तेनालङ्कृता भक्तिः । भगवत्प्रेम्णा सम्बद्धा । यथा सा भगवति रता, एवं तस्यामपि भगवान् रतः । तत्रापि गण्डमिदं साध्यरूपा भक्तिरुच्यते । तां लक्ष्मीं प्रति मूलपर्यटनमिति । लक्ष्मीवन्तं प्रति पुनः पुनरावर्तत इति ज्ञानताम्बूलयोस्तुल्यता । चर्चितमिति साधनप्रयासाभावेन सिद्धदानम् ॥१३॥

**व्याख्यार्थ—**किस गोपी को भगवान् ने चर्चित ताम्बूल दिया, जिस गोपी को भगवान् को

\* मूल श्लोक में 'अदात्ताम्बूलचर्चितम्' पाठ छपा है किन्तु श्री सुबोधिनीजी में 'प्रदात्' तथा 'अदात्' दोनों पाठ लिए हुए हैं, अतः गोलोकवासी प० गोविन्द भट्टजी ने मूल में 'प्रादात्' पाठ लिया है, लेखकार ने लेख में 'प्रदात्' और 'अदात्' दोनों दिए हैं—अनुवादक



आकाङ्क्षा' थी उसने अपना कपोल भगवान् के कपोल से लगाया, जिससे भगवान् ने सम्मुख न होते भी सरलता से उसको चबित ताम्बूल दे दिया, 'प्रादात्' शब्द का विशेष भाव यह है कि भगवान् ने ताम्बूल द्वारा अपनी विद्या का दान किया है। विद्या दान करने का आशय यह है कि जब गोपियां मेरे विरह में संतप्त हो तब यह गोपी उनको ज्ञानोपदेश देकर शान्ति कराने के साथ उनके जीवन की भी रक्षा करेगी तथा ब्रह्मविद्या+ के समान मेरी प्राप्ति भी कराएगी। अन्य को विद्यादान न कर इतको विद्यादान इसलिए किया है कि यह ज्ञान ग्रहण करने के योग्य है, क्योंकि इसमें लौकिक क्रिया और ज्ञान शक्ति दोनों हैं जिनको श्री शुकदेवजी 'नास्त्यविक्षिप्त कुण्डलत्विषमण्डितम्' पद से सिद्ध करते हैं। नास्त्य से उसका कुण्डल विक्षिप्त हो रहा था और अतएव कुण्डल की कान्ति से उस गोपिका के कपोल शोभित हो रहे थे।

यहां तीन बातें कही गई हैं।

- (१) नृत्य से कुण्डल का विक्षिप्त होना।
- (२) कुण्डल की कान्ति।
- (३) उस कान्ति से कपोल की शोभा।

(१) नृत्य में क्रिया शक्ति प्रतिष्ठित है तथा कुण्डल में (यदि उसे सांख्यरूप माना जाए तो) ज्ञान शक्ति प्रतिष्ठित है। अतः "नृत्य से कुण्डल के विक्षिप्त होने" का तात्पर्य होगा : क्रिया शक्ति से ज्ञान शक्ति का खूब अभ्यास। परन्तु कुण्डल योगात्मक भी हो सकता है अतः तब अर्थ होगा : क्रिया शक्ति से योग साधन-शम दम आदि का खूब अभ्यास।

(२) "कुण्डल की कान्ति का अर्थ होगा : ज्ञान का प्रकाश अथवा योग के फल चित्त की एकाग्रता का अनुभव।

(३) "इस कान्ति से कपोल की शोभा" अथवा कपोल का शृङ्गार का तात्पर्य होगा : उक्त प्रकाश अथवा अनुभव के शृङ्गार में सजी हुई भक्ति (क्योंकि कपोल भक्तिरूप है)।

यों कुल मिलाकर संपूर्ण वाक्य, "नृत्य से विक्षिप्त हो रहे कुण्डल की कान्ति से शोभित, गोपी ने अपने कपोल को भगवान् के कपोल से जोड़ दिया" का तात्पर्य होगा : क्रिया शक्ति से अत्यधिक अभ्यास पूर्वक ज्ञान के; अथवा शमदम आदि के अत्यधिक अभ्यास पूर्वक साधित योग के, शृङ्गार से अलंकृत गोपिका की भगवद् भक्ति भगवान् के अपने ऊपर के स्नेह से मिल गई। अर्थात् जैसे भगवान् में गोपिका अनुरक्त है वैसे ही भगवान् गोपिका में अनुरक्त हो गए हैं। भक्ति में भी भगवान् का यह कपोल साध्यरूपा भक्ति है। उस चंचल कुण्डलों की कान्ति से युक्त कपोल की लक्ष्मी के शोभा के प्रति भगवान् के स्वामिनी प्रेम रूप कपोल ने (मूल ने) खूब पर्यटन किया। ज्ञान जैसे लक्ष्मीवान की ओर पुनःपुनः आवृत्त होता ही रहता है ऐसे ताम्बूल भी होता रहा अतः ज्ञान एवं ताम्बूल की समानता सिद्ध होती है। चबित ताम्बूल देकर भगवान् ने यह दिखलाया कि साधन प्रयास के बिना ही सिद्धदान किया गया है ॥१३॥



टिप्पणीजी:—सारे वेदान्त वाक्यों का निचोड़ ब्रह्म विद्या हैं ' उपनिषद् आदि सारी वाणियों के अधिपति रक्षात्मक भगवान् ने अपने भक्तों के स्नेह वश निचोड़ कर जो चरित ताम्बूल रखा था वह इसे दिया । देने का प्रयोजन यह था कि विरह दशा के असह्य होने पर ब्रह्मविद्या रूप इस चरित ताम्बूल को लेनेवाली यह गोपिका अपनी सखियों का जीवन निर्वाह कर पाएगी । ब्रह्मविद्या से ब्रह्म की प्राप्ति होती है । यहां भी यह स्वामिनी अपने प्रियतम को पाएगी ।

**आभास—**अपरा पुनः वैराग्यात्मकं किरारूपमच्छिद्रं ज्ञाने सहायर्थं भगवद्धस्तं स्वहृदये स्थापितवतोत्याह नृत्यतीति ।

**आभासार्थ—**भगवान् की दूसरी बगल में स्थित अन्य गोपी ने वैराग्य और क्रिया रूप तथा छिद्र रहित भगवान् के श्री हस्त को अपने हृदय पर धरा जिसका वर्णन 'नृत्यती' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**नृत्यती गायती काचित् कूङ्गनूपुरमेखला ।

पार्श्वस्थाच्युतहस्ताज्जं श्रान्ताधात् स्तनयोः शिवम् ॥१४॥

**श्लोकार्थ—**जिसके नूपर तथा मेखला से झनकार ध्वनि आ रहा है वैसी भगवान् के पार्श्व में स्थित एक अन्य गोपी ने नृत्य एवं गान से श्रमित होने से भगवान् के वलयाण स्वरूप हस्त कमल को अपने स्तनों पर धरा ॥१४॥

**सुबोधिनी—**सा नृत्यं गानं च कुर्वती स्थिता । तत्राभिनये यथान्यहस्तः स्थाप्यते, स्वहस्तो वा, तथा भगवद्धस्तमेव स्थापितवती । शाब्दं ज्ञानं तदर्थानुष्ठानं च तस्या वर्तत इति ज्ञापनार्थं नृत्यगानयोः कथनम् । कूङ्गती नूपुरे मेखला च यस्याः । उपरि गानाभिनयनम् । पादयोर्नृत्यम् । अत एव नूपुरयोर्मखलायाश्च शब्दः । स च भावोद्दीपकः अनेन तस्याः पूर्वस्थिता सर्वेव क्रियाशक्तिः सफलेति सूचितम् । एकस्मिन्नेव पार्श्वे विद्यमानस्य भगवतः श्रान्ता सती तत्ताप-

हरणार्थं स्तनयोरधात् । तापहारकत्वमब्जस्य प्रसिद्धम् । श्रमो निर्वृत्तिसूचकः । स्वस्याः पूर्व-क्रियापरित्यागः बाह्यत एवेति भगवत एकस्मिन् भागे स्थितिरुक्ता । भगवत्क्रियाशक्तेरक्षयत्व-सूचनायाच्युतेति । अग्रे सम्बन्धस्यापि करिष्य-माणत्वात् तदविघातार्थं च । तस्य पुनः कामाद्युद्बोधकत्वेन तापनाशकत्वमाशङ्क्याह शिव-मिति । तदेव कल्याणरूपम्, आनन्दरूपत्वाच्च भगवतः ॥१४॥

**व्याख्यानार्थ—**वह गोपी नृत्य तथा गान करती हुई स्थित थी, नाट्य क्रिया के समय छाती पर अपना वा दूसरे का हस्त रखा जाता है वैसे ही इसने भगवान् का हस्त कमल छाती पर धरा । नृत्य के अवसर कौनसे गीत को गाना चाहिए एवं गान के अनुरूप कैसे नाचा जाता है यह इस गोपी को बराबर मालूम है । ऊपर के अंग से गान का अभिनय करती थी और पैरों से तदनुकूल नृत्य क्रिया करती थी जिससे उसके नूपर तथा मेखला की झनकार ध्वनि हो रही थी । उसका यह नृत्य और गान तथा नूपर एवं मेखला की ध्वनि रस को उद्दीप्त करती थी, जिससे यह सूचित हुआ कि उसकी प्रथम की हुई सर्व ही क्रिया शक्ति सफल हो गई है ।



नृत्य तथा गान करते हुए गोपी को श्रम हुआ अर्थात् रस के उद्दीप्त होने से मिलने की चाह बढ़ी जिससे विरह ताप हुआ, अतः पार्श्व में स्थित भगवान् के हस्त कमल को अपने छाती पर धरा, हस्त में कमल जैसी ताप हारक क्रिया शक्ति है जिससे ताप की शान्ति हुई। गोपी ने जो नृत्यादि क्रिया वन्द की वह केवल बाहर से थी अन्दर तो उसके करने की इच्छा थी इसलिए ही भगवान् एक बाजू में स्थित थे। यहाँ मूल श्लोक में भगवान् को 'अच्युत' कहा है जिसका तात्पर्य यह है कि भगवान् की क्रिया शक्ति अक्षय है। आगे सम्बन्ध करना है और वह कदापि दूटे नहीं, भगवान् का श्री हस्त काम को उत्पन्न करने वाला है अतः वह ताप को शान्त कैसे करेंगे? इस शङ्का के निवारणार्थ 'शिवम्' विशेषण दिया है जिसका आशय है कि भगवान् आनन्द रूप हैं जिससे उनके सर्व अङ्ग आनन्द रूप होने से ताप को मिटाने में समर्थ हैं। यह गोपी वैराग्य रूपा है ॥१४॥

श्री प्रभुचरण टिप्पणीजी में आज्ञा करते हैं कि—भगवान् के हस्त कमल को छाती पर धरा जिससे इसमें (गोपी में) वैराग्य उत्पन्न हुआ और प्रथम दिए हुए ज्ञान के कार्य की सिद्धि के लिए अक्षय क्रिया शक्ति का संचार हुआ एवं फल सिद्धि हुई। यदि वैराग्य उत्पन्न न होता तो विरह ताप को सहन नहीं कर सकती थी। उसको न सहन करने पर अन्यो को आश्वासन कैसे देती? अतः वैराग्य तथा क्रिया शक्ति से ज्ञान का उपयोग करने में समर्थ हुई, अन्यो को उपदेश दे सकी, और फल भी प्राप्त किया, इसलिए हस्त को छाती पर धरा जिससे अपने सर्व कार्य सफल किए।

धर्म से गोपियों में भेद है किन्तु धर्मी स्वरूप से भेद नहीं है कारण कि ऐश्वर्यादि षड् धर्म युक्त स्वरूप ही तो भगवान् है अतः यहाँ कुछ भी अयोग्य नहीं है, कि ज्ञानरूपा गोपी अन्य है और वैराग्य रूपा अन्य है तो दोनों के बारे में एक बात कैसे संभव है।

**आभास—**एवं षण्णां स्वरूपमुक्त्वा स्वरूपेण सर्वासां साधारणीं लीलामाह गोप्य इति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार छ गोपियों के स्वरूपों का वर्णन कर अब समस्त गोपीजनो की भगवान् के साथ की हुई साधारण लीला का वर्णन 'गोप्यो लब्ध्वा' श्लोक से करते हैं।

**श्लोक—**गोप्यो लब्ध्वाच्युतं कान्तं श्रिय एकान्तवल्लभम् ।

गृहीतकण्ठ्यस्तद्गोम्यां गायन्त्यस्तं विजह्तिरे ॥१५॥

**श्लोकार्थ—**गोपियों ने लक्ष्मीजी के अतीव वल्लभ अच्युत प्रभु को कान्त रूप में प्राप्त किया: भगवान् ने गोपियों के कण्ठ में अपनी भुजा धरली, इस प्रकार गल-बाहीं बनकर गोपियां प्रभु का गुणगान करती हुई क्रीड़ा करने लगी ॥१५॥

|                                                                                                                                         |                                                                                                                                              |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी—</b>अच्युतः कान्तो भगवानेव भवति । अन्तर्बहिश्च नित्यानन्ददायी । अत एव सर्वस्त्रीणां मूलभूतायाः श्रिय एकान्ततो वल्लभः</p> | <p>परमः प्रियः । तादृशं लब्ध्वा तमेव गायन्त्यो विजह्तिरे । ननु परमानन्दे प्राप्ते क्रियाया अप-गम एवोचितः, न तु पुनः क्रिया, तत्कथं विहार</p> |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|





इति चेत्, तत्राह तद्गोम्यां गृहीतकण्ठ्य इति । सम्भवतः । इयं क्रिया शक्तिरूपेति स्वातन्त्र्यं  
भगवत्क्रिययैव ध्याप्ताः, न तु स्वक्रिया काचित् । तासां निरूपितम् ॥१५॥  
कण्ठे क्रियायाः स्थापितत्वाद्गानं क्रिया च ।

व्याख्यार्थ—एक भगवान् ही अच्युत कान्त हैं, प्रभु अन्दर और बाहर नित्य आनन्द देने वाले हैं, इस कारण से ही सर्व स्त्रियों की मूलभूत लक्ष्मीजी को एकान्त. प्रिय है परन्तु प्रिय हैं । जैसे पति को प्राप्त कर गोपिकायें उनका ही गुणगान करती हुई झीड़ा करने लगी । जब परमानन्द प्राप्त होता है तब क्रिया का बन्द करना ही उचित है, नहीं कि फिर क्रिया करनी योग्य है तब विहार कैसे करने लगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि भगवान् ने स्वयं कण्ठ में अपनी भुजा डाल इनको स्वक्रिया शक्ति से युक्त कर दिया है अतः यह क्रिया भगवान् की क्रिया शक्ति है, नहीं कि गोपियों की वह क्रिया भी कण्ठ में स्थापित की है अतः गान एवं क्रिया दोनों होती है, इसलिए इनको स्वतन्त्रता है ॥१५॥

आभास—अतः परं राधादामोदरवदुभयोर्नृत्यमाह कर्णेति ।

आभासार्थ—इसके बाद भगवान् और गोपियों ने जो राधा दामोदर नृत्य के समान नृत्य किया, उसका वर्णन कर्णोत्पलालक' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—कर्णोत्पलालकविटङ्ककपोलघर्मववत्रश्रियो वलयनूपुरघोषवाद्यैः ।

गोप्यः समं भगवता नृत्यः स्वकेशस्तस्त्रजो भ्रमरगायकरासगोष्ठ्याम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—कर्ण में धरे हुए कमल तथा अलकों से सुशोभित कपोल एवं पसीने की बूंदों से जिनके मुखारविन्द की श्री वृद्धिगत हो रही है, और अपने केशों में लगाई हुई माला के पुष्प जिनके गिर रहे हैं वैसे गोपियां, जिस रास गोष्ठी में भ्रमर गान कर रहे हैं, वङ्कण तथा नूपुरों के शब्द रूप वाद्य बज रहे हैं उसमें भगवान् के समान नाचने लगी ॥१६॥

सुबोधिनी—रासार्थमेवैतदपि, परं प्रत्येकं रस उत्पद्यत इति गोष्ठीमात्रमुक्तम् । उभयोर्गाननृत्ये विनियोगात् । भ्रमरो गायकः । वाद्यं तु पूर्ववदेव भविष्यति । तदाह वलयनूपुरघोषवाद्यैरिति । वलयानां नूपुराणां घोषशब्देन किङ्किणीनां शब्दा एव वाद्यशब्दाः । अत्यन्तं नृत्याभिनिवेशार्थं स्वकेशात् तस्त्रजः सज्जो यासामित्युक्तम् । ( यद्वा । गायकास्तु भ्रमरा निरूपिताः, ते च मकरन्दार्थिनः । स च पुष्पेष्वेव तिष्ठति ।

तानि च वियुक्तानि तद्रहितानि च भवन्तीति स्वनृत्यानुरूपगानकरणादतिप्रसन्नास्तेभ्यः सज्ज एव दत्तवत्यः । अन्यथा रसार्थं स्वकेशेषु शोभाहेतुत्वेन घृतानां तासामुपेक्षा न भवेत् । तेन भ्रमराणां गाननृत्यं प्रभुप्रियाणां च तदभिज्ञत्वं च ध्वन्यते । ) नृत्यारम्भे तासां शोभामाह कर्णेति । अन्यथा पूर्वोक्तनृत्येन श्रान्तानां पुनर्नृत्यमनुचितमेव स्यात् । न वा रसालम् । कर्णे उत्पलस्थापनं तस्य अपातने चातुर्यार्थम् ।



तत्सहिता अलकाः भ्रमरा इव रसपातारः ।  
 तेषां विटङ्कः अलङ्काररूपं स्थानम् । एतादृशौ  
 कपोलौ । तत्र यो धर्मः अन्तरुदतश्रमजलं नृत्या-  
 भिनिवेशाज्जातम् । तैः कृत्वा वक्त्रे श्रीरलौकिकी  
 काचित् सम्पन्ना । यथा मुक्ताभिर्मण्डितं भवति  
 कपोलद्वयम् । अनेन मुखे श्रमो निवारितः ।

ताभिः सह भगवतो नृत्ये अनुभावकश्च भवति ।  
 स्वतो वा क्रीडानिवृत्तिरनेन सूचिता । गोप्य  
 इति । भगवत एव तासामेतावत्त्वम् न स्वत इति  
 ज्ञापितम् । अतो भगवता समम्, यथा यथा  
 भगवान् नृत्यति, तथा तथा ता अपि  
 नृत्यन्तीति ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—यह नृत्य + भी रस के समूह को उत्पन्न करने के लिए किया गया है, किन्तु इस नृत्य में प्रत्येक गोपी को रसदान मिला है, इसलिए यहां विहार वा क्रीडा न कहकर मूल श्लोक में 'गोष्ठी' पद दिया है, जिसका आशय है कि इस गाढ नृत्य में भगवान् और गोपी साथ में हैं, पूर्व किए हुए नृत्य में दो दो गोपिकाओं के बीच में कृष्ण एक ही थे इस नृत्य में भ्रमर गायक हैं, बाद्य तो पहले की भांति होगा, जिसका वर्णन 'वलय नूपर वाद्य शब्दैः' पङ्क्ति से किया है । कङ्कण और नूपरों के शब्द ही वाद्यों के शब्द हैं, इस प्रकार वादन एवं गायन करते हुए जो नृत्य हुआ उसमें अत्यन्त आसक्ति के कारण अपने (गोपियों के) केशों से मालाएं गिरती जा रही हैं ।

( श्री प्रभुचरण यहां स्वतन्त्र नेत्र में आज्ञा करते हैं । गोपियां गाने के रस की जानकार थी इसलिए भ्रमरों की गान में निपुणता देखकर पुष्पों के मकरन्द रस को चाहने वाले भ्रमरों को रस पानार्थ पारितोषिक रूप में अपनी मालाएं अर्पित करने लगी, अन्यथा शोभा के लिए धारण की हुई मालाओं की उपेक्षा कभी भी नहीं करती । )

नृत्य के समय गोपीजनों की शोभा का वर्णन करते हैं कि यदि गोपीजन इस प्रकार सुशोभित नहीं होती तो पहले किए हुए नृत्य से श्रमियों का पुनः नृत्य करना अनुचित ही होता । अथवा रस जनक न होवे, कान पर शोभार्थ कमल इस प्रकार घरा जैसे वह गिरे नहीं जिससे अपनी चतुराई प्रकट की है, कमल के ऊपर जो भ्रमर रूप अलकें लटक रही हैं वे मानो रस पान कर रही हैं । केशों को भी शोभा देने वाले अलङ्कार रूप कपोल हैं, जिन पर नृत्य के समय उनमें आसक्ति होने से नृत्य करते रहने के हठ से अन्तर में उत्पन्न श्रम जल स्वेद<sup>१</sup> रूप में कपोलों पर आके अलौकिक कोई शोभा दिखाने लगे, मानो मोतियों से दोनों कपोल सजाए गए हैं, जिससे श्रम की निवृत्ति हो गई है यों दीखता है । उनके साथ नृत्य करते समय यह रसानुभावक बन जाता है । स्वामिनी अपने सामर्थ्य से क्रीडा को निवृत्त नहीं कर सकती यह सूचित होता है ।

गोपीजनों ने जो इतना वैसा नृत्य किया है, वह भगवान् साथ में थे उनके प्रभाव से ही उनके तुल्य नृत्य कर सकी हैं, अर्थात् जैसे जैसे भगवान् नृत्य करते हैं वैसे वैसे वे भी नृत्य करती हैं ॥१६॥

+ १४ वें श्लोक में किए हुए नृत्य और इस नृत्य में भेद है अतः पुनरुक्ति दोष नहीं है, विशेष टिप्पणीजी देखिए ।

लेख:- पहले समुदाय नृत्य था और अब प्रत्येक नृत्य है। प्रत्येक गोपी के साथ एक एक भगवान् ने नृत्य किया यही इसकी समुदाय नृत्य से पृथक्ता है।

अभास—एवं प्रादुर्भूते रमे अत्यन्तोद्गमनार्थं साक्षात्कामशास्त्रोक्ताश्चेष्टा  
निरूपयति एवमिति ।

आभासार्थ—इस उपरोक्त प्रकार के विलासों से जो, रस प्रकट हुआ उसको विशेष अवस्था में पहुचाने के लिए अर्थात् अत्यन्त बढ़ाने के लिए भगवान् काम शास्त्र में कही हुई सब चेष्टाएँ करने लगे जिसका वर्णन 'एवं परिष्वङ्ग' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—एवं परिषद्भङ्गकराभिर्मर्शस्त्रिग्वेक्षणोद्दामविलासहासः ।

रेमे रमेशो त्रजसुन्दरोभिर्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बवतिभ्रमः ॥१७॥

श्लोकार्थ—जैसे बालक अपने प्रति बिम्ब' के साथ खेलता है वैसे लक्ष्मी के पति भगवान् आलिङ्गन, हस्त स्पर्श, स्नेह युक्त कटाक्ष, स्वतन्त्र विलास और हास्य आदि चेष्टाओं को करते हुए गोपीजनो के साथ रमण करने लगे ॥१७॥

सुबोधिनी—आलिङ्गनादयस्तत्र निरूपिताः ।  
एवमेव रसोद्गमनार्थं परिष्वङ्गः, आलिङ्गनम् ।  
ततः कराभिमर्शः, तत्तदवयवेषु भगवद्धस्तस्पर्शः ।  
ततः स्निग्धेक्षणं भावोद्गारि । तत्र उद्गामो  
विलासः, अमर्यादो भोगः । ततो हास्यानि पूर्णम-  
नोरथानाम् । एवं परिष्वङ्गादिहासान्ताः सर्वासु ।  
ननु प्राकृतीभिः कथं रेमे, तत्राह रमेश इति ।  
रमाया ईशः । सर्वत्र तासु रमापि भगवदाज्ञया  
निविष्टा । ता अपि अधिष्ठानयोग्या इत्याह  
ब्रजसुन्दरीभिरिति । नन्वात्मारामः कथमेताभी  
रेमे, लक्ष्मीस्तु ब्रह्मानन्द इति रमणमुचितमपि ।  
एतास्वावेशोऽप्यनुचितः, ब्रह्मभावाभावादिति  
चेत्, तत्राह यथार्थक इति । बालको हि दर्पण-  
जलादिकं पुरतः स्थापयित्वा, तत्र तत्रात्मानं  
पश्यन् रमते । तथा भगवानपि स्वसामर्थ्यं स्वरूपं  
वा तत्र स्थापयित्वा, ब्रह्म ब्रह्मानन्दं चाविभवि-

यित्वा रेमे । नन्वेतदप्यनुचितम्, किमनेनेति चेत्,  
तत्राह यथार्भकः । यथा बाललीलां कृतवान्,  
तथैतदपि कृतवानित्यर्थः । (यद्वा । कदाचित्प्रकार-  
साम्येऽपि नैतद्रसानुभवो लक्ष्म्यां भवितुमर्हति,  
किन्त्वेतास्वेवेति ज्ञापयति पदद्वयेन, रमेशो व्रज-  
नुन्दरोभिरिति । रमाया ईशः स्वामी भर्तेति  
यावत् । एतास्तु व्रजसम्बन्धिन्योऽन्यसम्बन्धिन्यः  
सुन्दर्यो, न तु विवाहिता इति । रमारमणदशायां  
एतादृशसानुभवो नोभयोरपि सम्भवति । रसस्व-  
रूपस्यैव तादृशत्वादिति भावः । नन्वीश्वरे नेद-  
मुचितमित्यत आह यथार्भक इति । 'सम्पुष्पान्  
नवनीतमन्तिकमणिस्तम्भे स्वबिम्बोद्गम दृष्ट्वे'-  
त्यादिवाक्यनिरूपितमुग्धलीला वान्यथा निरूप्यते  
पूर्णज्ञानोऽपि तद्रसस्वरूपस्य तथात्वात् । तथेहापि  
'रसो वै स' इति श्रुतेरिदं सर्वं रसमध्यपातित्वेन  
स्वरूपात्मकमेवेति तदुच्यत इति नानुपपत्तिः



काचित् । शङ्काया एवानुदयादिति भावः । ) रमणं वह्नामप्येकदा भवति द्वयोश्च । अग्रे तु एतेन यथा प्रभुस्तद्भवो वा, तथैता एतद्भावोपीति प्रत्येकपर्यवसानं वक्ष्यति ॥ १७ ॥  
ज्ञापितं भवति । तथा प्रतिबिम्बस्वभावात् । अत्र

**व्याख्यानार्थ—**कामशास्त्र में रस को बढ़ाने के लिए आलिङ्गन आदि क्रियाओं का निरूपण है, इसलिए प्रभु ने प्रथम आलिङ्गन ही किया । पश्चात् श्री हस्त से उन उन अवयवों का स्पर्श किया । भाव को उद्बुद्ध करनेवाले स्नेह युक्त कटाक्ष किए । पुनः उदाम विलास अमर्यादित भोग किया । मनोरथ पूर्ण होने पर हास परिहास का क्रम है । आलिङ्गन से लेकर हास पर्यन्त की क्रिया सभी के साथ प्रत्येकतया की । प्राकृत स्त्रियों के साथ रमण कैसे संभव है ? उत्तरः क्योंकि भगवान् रमा के पति हैं अतः सर्वत्र उन गोपिकाओं में भगवान् की आज्ञा के अनुसार रमा ने भी प्रवेश किया । अतः स्वरूपानन्द के रसकी पात्रता उनमें आ गई यह “व्रज सुन्दरी” कह कर दिखलाया गया है । लक्ष्मी तो ब्रह्मानन्द का रूप है अतः भगवान् आत्माराम होने पर भी उससे रमण करते हैं जब कि इनमें तो ब्रह्मरूप न होने के कारण आवेग भी अनुचित है, इसका उत्तर देते हैं “यथार्थक” से । बच्चे जल या काच में अपने प्रतिबिम्ब को देखकर खेलते हैं ऐसे ही भगवान् भी उनमें अपना सामर्थ्य अथवा स्वरूप स्थापित करके, ब्रह्म और ब्रह्मानन्द को आविर्भूत करके रमण करने लगे । यदि कहो कि फिर भी यह है तो अनुचित ही तो उसका उत्तर भी “यथार्थक” से ही मिल जाता है । जैसे भगवान् ने बाललीला की वैसे ही यह लीला भी की । ( अथवा—गुंसाईजी के अनुसार—प्रकार समान होते हुए भी यह रस लक्ष्मी के अनुभव में नहीं आया किन्तु इन गोपिकाओं के अनुभव में ही आया । यह ‘रमेश’ और ‘व्रजसुन्दरीभिः’ इन दो पदों से स्फुट होता है । रमा के तो भगवान् ईश स्वामी या पति ही हैं जब कि ये तो व्रज-अन्यो से विवाहित सुन्दरियां हैं, कम से कम नन्दनन्दन से तो विवाहित नहीं हैं । रमा के साथ रमण में यह रस न तो रमा और न रमेश ही अनुभव कर सकते हैं क्योंकि रस स्वरूप ही ऐसा है । यदि कहो कि ईश्वर के लिए इस स्तर पर आना उचित नहीं तो उसका उत्तर “यथार्थकः” से दिया गया है । “सम्पुष्पान् नवनीतमन्तिक मणिस्तम्भे स्वविबोद्धं दृष्ट्वा” अर्थात् माखन चोरते हुए मणिमय खंभे में अपनी परछाईं देखकर—यहां मुग्ध लीला का वर्णन पूर्ण ज्ञान स्वरूप से विपरीत भी उपलब्ध होता है क्योंकि रस-बाललीलारस-का स्वरूप ही ऐसा है । इसी तरह “रसो वै स” इस श्रुति के अनुसार सभी कुछ रस मध्यपाती होकर स्वरूपात्मक ही ठहरता है तो फिर अनुपपत्ति किस बात की ? शंका ही उदित नहीं हो सकती यह आशय है ) इस तरह जैसे प्रभु अथवा प्रभु के भाव हैं वैसे ये और इनके भाव भी हैं यह सिद्ध होता है; प्रतिबिम्ब का स्वभाव ही वैसा है । यहां बहुतों के साथ रमण एक ही साथ किया हुआ है और दो के साथ भी । आगे चलकर प्रत्येक में रमण पर्यवसित होगा ॥१७॥

**लेखः—**जैसा कि पहले कहा गया यहां नृत्य तो प्रत्येक के साथ ही है किन्तु रमण समुदाय के साथ है । परन्तु आगे चलकर रमण भी प्रत्येक के साथ किया जाएगा, यह वर्णित होगा ।

**आभास—**एवं सर्वभावेन भगवद्धर्मावेशे तासां देहादिविस्मरणपूर्वकं महारसाभिनिवेशमाह तदङ्गंति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार गोपियां भगवान् के स्वरूपानन्द तथा धर्मों के आवेश से जब देहादि



को भूलकर महारस में लबालब होगई तब जो फल उनको मिला, जिसका वर्णन 'तदङ्ग सङ्ग' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तदङ्गसङ्गप्रमदाकुलेन्द्रियाः केशान् दुकूलं कुचपट्टिका वा ।

नाञ्जः प्रतिव्योढुमलं व्रजस्त्रियो विस्वस्तमालाभरणाः कुरुद्वह ॥ १८ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् से अङ्गसङ्ग होने के कारण बड़े हुए मद से व्याकुल इन्द्रियों वाली, तथा जिनकी मालाएँ एवं आभरण खसक गए हैं वैसी गोपियां अपने केश, वस्त्र तथा कंचुकिओं को अपने स्थान पर संभाल न सकीं ॥ १८ ॥

सुबोधिनी—तस्य भगवतः अङ्गसङ्गेन यः प्रकृष्टो मदः देहादिविस्मारको भाव उत्पन्नः । तेन आकुलानीन्द्रियाणि यासाम् । सर्वा इतिकर्तव्यतामूढा जाताः । ततः केशपाशं परिहितदुकूलं कुचपट्टिकां वा स्वयमञ्जसा सामस्येन प्रति सम्मुखतया विशेषेण वोढुमलं न जाताः । पुनरल्पेनैव तथाविधा जाता इत्यत्र हेतुमाह

व्रजस्त्रिय इति । श्रमोऽपि जात इत्याह विस्वस्तमालाभरणा इति । आकुलेन्द्रियत्वान्न विचारो लौकिकः । गोपिकात्वान्न पारमार्थिकः । श्रमान्न दैहिकः । अत आद्यन्तमध्ये तासु युक्ता भगवतंव धृताः, न ताभिरित्यर्थः । यद्यप्यन्यप्रतीत्या ध्रियमाणा इव, तथापि न स्वतो धारणम् । कुरुद्वहेति सम्बोधनमभ्रमाय विश्वासार्थं च ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—गोपियों में भगवान् के अङ्ग सङ्ग से वह भाव जागृत हुआ जिससे गोपियां अपने देह आदि को भूल गईं । उससे ऐसी व्याकुल हुईं जो अपना कर्तव्य करना भी भूल गईं, जैसे केशपाश, शरीर पर पहने हुए वस्त्र और कंचुकिओं को खुद बराबर स्थान पर धारण करने में असमर्थ हो गई थी ।

फिर श्रीकृष्ण के अल्प स्पर्श से ही गोपियों की इन्द्रियां आकुल हो गईं जिससे उनमें विवेक शक्ति न रह सकी कारण कि वे व्रज की स्त्रियां हैं । श्रम से मालाएँ तथा आभरण खिसक गए । इन्द्रियों की घबराहट से लौकिक विचार भी नहीं किया । गोपियां थी अतः परमार्थ का विचार भी वे न कर सकी तथा श्रम के कारण देह का ध्यान भी न रहा । वैसी स्थिति में भगवान् ने ही उनके चोटी, वस्त्र तथा कंचुकियों को यथास्थान धारण करा रखा था, गोपियों ने स्वयं नहीं । यद्यपि अन्यो को यही प्रतीत हो रहा था की गोपियों ने ही धारण किये हैं वास्तविकतया भगवान् ने ही भेल लिए थे ।

राजा परीक्षित को 'कुरुद्वह' संबोधन देने का श्री शुकदेवजी का आशय यह है कि, हे परीक्षित तू कुरुकुल में श्रेष्ठ है अतः मेरे कहने में कोई भ्रम न करना मुझे विश्वास है कि तू योग्य है इसलिए यह लीला तुझे सुनाई है ॥ १८ ॥

आभास—एवं समुदायलीलां निरूप्य तस्याः परिज्ञानं केषामपि न जातमिति वक्तुं देवस्त्रीणां चन्द्रस्य च विस्मयमाह कृणोति ।



आभासार्थ— इस प्रकार समुदाय लीला का निरूपण कर अब 'कृष्ण विक्रीडितं' श्लोक में कहते हैं कि इसका ज्ञान किसी को भी नहीं हुआ यों कहने के लिए देवस्त्रियों के एवं चन्द्रमा के विस्मय का वर्णन करते हैं —

श्लोक—कृष्णविक्रीडितं वीक्ष्यमुमुहुः खेचरस्त्रिहः ।

कामादिताः शशाङ्कुश्च सगणो विस्मितोऽभवत् ॥ १६ ॥

श्लोकार्थ— श्रीकृष्ण की विशेष समुदाय की क्रीड़ा देखकर देवस्त्रियां कामातुर हो गई और चन्द्रमा नक्षत्र मण्डल सहित विस्मित हो गया ॥ १६ ॥

सुबोधिनी—नहि कस्याश्चित् पतिः परमानन्दो भवति । नहि निरानन्देनानन्दो दातुं शक्यते । 'एष ह्येवानन्दयाती'ति श्रुतेः । एवकारेणोत्तर-निपेधश्च । तत्रापि विशेषेण क्रीडा । नहि जीवो विशेषक्रीडां जानाति । खेचराणां स्त्रिय इति तासां सर्वदर्शनार्थं भगवद्भक्तो वरो निरूपितः । स्त्रीणां च दर्शनं न दोषाय । तासां मोह एवोत्पन्नः । न तु परिज्ञानम् । रसो वा । लौकि-कोऽपि चन्द्रो दृष्टवान् सोमात्मकत्वात् देहस्य । सोमः प्रथम इति श्रुतेश्च । साधारण्यश्च स्त्रियः । तथापि तस्य दर्शनं तस्यैव हितकारि न भवतीति निरूपयितु माह शशाङ्कु इति । स हि कलङ्की । आनन्दमयोऽपि । सगणो नक्षत्रसहितः । तेनोद्दीपने-

ऽपि न तस्यान्यासु चित्तसम्भवः । चकारात् सोऽपि मुमुहे । यथा पुनरेताः मोहनानन्तरं पुनः पुनर्दर्शने उद्बुद्धकामा जाताः । गत्वास्माभिरपि कामरूपतया क्रीडा कर्तव्येति कामादिता जाताः । तथा चन्द्रोऽपि भगवति निवेशनार्थं यत्नं कृतवान् । अतः कामादितो जातः । अनेनाग्रे निसर्गात् सुखमिति पक्षे उपपत्तिरुक्ता । अस्यैव चन्द्रस्य शशास्ततो निवर्तिष्यन्त इति । अन्यथा 'सहस्र-दर्शनान्नुक्तिरित्येतत्सूत्रं विरुध्येत । सहस्रवर्णा-भावात् । किञ्च, सगणः स्वस्त्रीसहितोऽपि विस्मितो जातः । विस्मयरस एवोत्पन्नः, नान्यो रस इति ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—किसी का भी पति परमानन्दरूप नहीं हो सकता । अब जो स्वयं आनन्दरहित हो वह आनन्द का दान क्या कर सकेगा ? 'एष ह्येवानन्दयाति' यहां श्रुति में 'एव' लगाकर परमानन्द परब्रह्म के सिवाय अन्य कोई आनन्द दे ही नहीं सकता यह सिद्ध किया गया । और वहां भी विशेष क्रीड़ा के द्वारा तो जीव आनन्द दे ही नहीं सकता क्योंकि वह एसी क्रीड़ा जानता ही नहीं है । नभोगामी देवताओं में भी जो स्त्रियां थीं वे देख पाईं क्योंकि उन्हें सब कुछ देख पाने का भगवान् ने वरदान दिया । स्त्रियों का इस लीला को देख पाना दोषावह नहीं है । देखकर भी देवस्त्रियों में मोह उत्पन्न हुआ परिज्ञान अथवा रस नहीं । "सोमः प्रथमः विविदे" इस श्रुति वचन के अनुसार क्योंकि देह स्वयं सोमात्मक है अतः लौकिक चन्द्र भी देख पाया और साधारण स्त्रियां + फिर भी उसका लीला दर्शन उसी के हित में नहीं होता यह दिखलाने के लिए "शशाङ्कः" कहा । उस चन्द्र में कलंक भी है ।<sup>१</sup> वह आनन्दमय भी है ।<sup>२</sup> चन्द्र अपने गण नक्षत्रों के सहित था, फिर भी उसका

+ यह पृष्ठ २८५ पर पढ़ें ।

२—यह अलौकिक चन्द्रमा के बारे में है ।

१—यह लौकिक चन्द्रमा के बारे में है ।

३—यह लौकिक चन्द्रमा के बारे में है ।



चित्त अन्यो में नहीं लगा ।<sup>१</sup> 'च' का आशय है कि वह चन्द्र भी मोहित होगया । जैसे ये मोहित होगया । जैसे ये मोहित होकर पुनः पुनः दर्शन करने के कारण अपने अन्दर काम को उद्बुद्ध कर बैठी अर्थात् हमें भी जाकर कामरूपतया क्रीड़ा करनी चाहिए यों सोचती हुई कामादित होगई, वैसे ही चन्द्र भी हो गया । (अलौकिक चन्द्र ने) भगवान् में निविष्ट होने का यत्न किया अतः कामादित हुआ । इससे आगे चलकर "निसर्ग से सुख होता है" इस पक्ष की उपपत्ति भी दिखला दी कि इसी चन्द्र के अंश वहां से निःसृत होंगे । अन्यथा 'सहस्रवर्ण' से आनन्द का प्रतिपादक "सहस्रदर्शना-न्मुक्तिः"<sup>२</sup> "इस सूत्र का विरोध होगा क्योंकि (स्वर्ण ही न हो तो) सहस्रवर्ण कैसा ? इसके अलावा यद्यपि चन्द्र अपनी पत्नियों के सहित था तो भी केवल निश्चित हुआ न कि शृंगार रस में प्रवृत्त हुआ और न अन्य किसी रस में ॥१६॥

+ यहां दो तरह के अनुवाद की संभावना है । "लौकिक चन्द्र भी देख पाया" के संदर्भ में लें तो अर्थ होगा—"और साधारण स्त्रियां भी देख पायीं" 'साधारण स्त्रियों' से तात्पर्य देवस्त्रियों में लेखकार वल्लभजी मानते हैं "खेचर स्त्रियोपि दृष्टव्य इत्यर्थः" । योजनाकार ब्रह्मवैवर्त पुराण के आधार पर रास में भाग लिए बिना केवल दर्शनार्थ जो अन्य स्त्रियां रास में आई थी उनका देह सोमात्सक हैं नकि उन गोपिकाओं का जो रास में भाग ले रही है, यह अर्थ करते हैं । किन्हीं लोगों का कहना है कि ये वृद्धाये है, किन्तु यह अर्थ ठीक नहीं क्योंकि "रजन्येषा घोर रूपा" तथा "मातरः पितरः पुत्राः" श्लोक की सुबोधिनी में सुस्पष्टतया "भवत्यो यदि वाला वृद्धा वा भवेयुः तदा स्थीयेतापि, भवत्यस्तु सुमध्यमाः" तथा "तरुणास्ते तरुण्यो वयमिति" यहां वृद्धा होने का निषेध मिलता है । यों "साधारण स्त्रियां देख पाईं" यह एक अर्थ तथा दूसरा अर्थ "स्त्रियां साधारण हैं" यह भी हो सकता है अर्थात् एक जगह "दृष्टव्यः" का अध्याहार है और दूसरी जगह "भवन्ति" का, किन्तु दूसरे के अनुसार किसी ने व्याख्या नहीं की है अतः अनुवाद अध्याहार रहित ही किया है (अनुवादक )

टिप्पणीजी—एक वाक्य में शब्दतः प्रतिपादित जिन २ धर्मों वाली वस्तु के समान जिस शब्दतः उक्त अथवा अनुक्त अथवा दोनों तरह की वस्तु का समुच्चय हो तो उस या उन वस्तुओं में भी उन सारे धर्मों का होना आवश्यक है । अतः चन्द्र का भी कामादित होना मूल में समुच्चय-वाचक 'च' के आधार पर सिद्ध होता है । यों इस वाक्य में नहीं कहे गए अकलंक-अलौकिक चन्द्र का भी समुच्चय इसी 'च' के बल पर होगा यह सुबोधिनी में, "वह आनन्दमय भी है" से दिखलाया । इसके बाद लौकिक चन्द्र का निरूपण है । सुबोधिनी की " 'च' का आशय यह है कि वह चन्द्र भी मोहित हो गया" में लौकिक एवं अलौकिक दोनों चन्द्रों का वर्णन है । "भगवान् में निविष्ट होने का यत्न किया" में अलौकिक चन्द्र है । यदि इसे अलौकिक न माने तो इससे पहलेवाली पंक्ति "इसी तरह चन्द्र भी कामादित हुआ" से जो कुछ कहना था कहा जा चुका अतः पुनः कहने की आवश्यकता नहीं थी । उक्त व्याख्यान के समर्थन के लिए सुबोधिनी में "आगे चलकर निसर्ग से सुख होता है" इत्यादि ग्रन्थांश है । "एवं परिपवंग" श्लोक में रसशास्त्रोक्त

१—यहां दोनों चन्द्र हैं, २—मूल में 'सहस्र दर्शन' पाठ है किन्तु वह असंबद्ध प्रतीत होता है स्वयं सुबोधिनी एवं टिप्पणीजी के आधार पर । 'सह स्रवण' पाठका सुभाव श्री नागरदास शास्त्रीजी का है और यही उचित भी प्रतीत होता है ।



रीति से रमण का वर्णन किया गया है अतः सहस्रवर्ण आदि क्रियाएं भी प्राप्त ही हैं क्योंकि रमण इन्हीं सब रूपों में तो निष्पन्न होता है । परन्तु अखण्ड स्वरूप भगवान् में स्वबुद्ध्या किसी भी रूप का प्रतिपादन करना सहसा उचित नहीं और गोप्य होने के कारण भी प्रकट नहीं कहा जा सकता अतः इस प्रकार का सहारा लेकर प्रतिपादन किया गया है । सोम की रेतोरूपता श्रुति सिद्ध है अतः कुछ अंशों के निःसरण से कोई अनुपपत्ति नहीं आती । यहां यह शंका उठ सकती है कि स्वरूप को रसात्मक मानने से ही सारी उपपन्न हो सकती थी तो फिर इस चन्द्र प्रवेश की कल्पना से क्या लाभ ? इसका यह लाभ है कि यह चन्द्र रेतोरूप है और वह आध्यात्मिक रूप होने से स्वरूपान्तर्गत है अतः उस रूप से प्रवेश आवश्यक है । लीला का प्रयोजन प्रकार बोधन होने से वहीं रहने पर बोध नहीं हो पाता अन्यथा यह लीला दिन में भी तो की जा सकती थी परन्तु प्रकारबोधन के लिए रात्रि में ही की ॥१६॥

**आभास —** एवमाधिभौतिकानामाधिदैविकस्य च भगवदुत्पादितरसाभिनिवेशमुक्त्वा 'नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुर्वि'ति प्रत्येकप्रार्थनया व्रतं कृतमिति प्रत्येकं रेम इत्याह कृत्वेति ।

**आभासार्थ—** इस प्रकार स्वामिनियों के देहों में स्थिति आधिभौतिक चन्द्रात्मक भावों का तथा भगवद्भाव रूप अलौकिक चन्द्र का भगवान् ने अपने उत्पन्न किए हुए काम रस में प्रवेश कराया; यह बताकर अब साधन प्रकरण में जो गोपियों ने कात्यायनी से मांगा है कि 'हे देवि ! नन्दगोप के पुत्र हमारे पति हों,' जिसको सफल करने के लिए भगवान् ने वर दिया है उस वर को पूर्ण करने के लिए अब प्रत्येक गोपी से रमण करते हैं जिसका वर्णन 'कृत्वा तावन्त' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—** कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः ।

रेमे स भगवाँस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ॥२०॥

**श्लोकार्थ—** जितनी गोपियां थी भगवान् ने भी उतने अपने स्वरूप प्रकट किए, वह भगवान् आत्माराम होते भी उनसे लीला करते हुए रमण करने लगे ॥२०॥

**सुबोधिनी—** गोपजातीया योषितो यावत्य-  
स्तावन्तमात्मानं कृत्वा तत्र तत्र मायोद्धाटनेन  
तथा तथा प्रकटो भवति । एतन्महासौरतम्,  
एवं करणे सामर्थ्यम्, यतः स भगवा-  
निति । स इति तदर्थमेवावतीर्णः । अत्र  
तामां व्रतार्थं ताभिः सहैव रेमे । न त्वात्मारामता  
पूर्ववत् । इममर्थमाह आत्मारामोऽपीति । न

त्वात्माराम एव चन्द्रप्रवेशाद् रमणं सम्भवति ।  
अस्यामपि दशायामात्मारामत्वमेव । 'अधिकं  
तत्रानुप्रविष्टं न तु तद्धानि'रिति । तत्रापि  
आत्मारमण एव मुख्यतेत्याह लीलयेति । यथा  
महानपि लीलया विसदृशं करोति ! स्वयं पदा-  
तिरिव भृगयायां गच्छति । यथा अन्या अपि  
अवतारलीलाः, तथैतामपि कृतवानित्यर्थः ॥ २० ॥

**व्याख्यार्थ—** गोप जाति की जितनी स्त्रियां थीं उतने अपने स्वरूप, वहां वहां माया का पर्दा



दूर कर प्रकट किए। यह महासीरत<sup>१</sup> है स्वयं भगवान् है अतः आप में यां करने की सामर्थ्य है। 'सः' वह कहने का आशय यह है कि जिसने रमण का वरदान दिया था वही स्वरूप उस कार्य को करने के लिए आए हैं। यहां उनके व्रत के फलदानार्थ उनके साथ रमण करने लगे। अपनी आत्मारामता पहले की भांति नहीं रखी है इसलिए मूल श्लोक में 'आत्मारामोऽपि' पद दिया है। भावार्थ यह है स्वयं आत्माराम है तो भी आत्माराम ही ने रमण नहीं किया, यह रमण चन्द्रमा के प्रवेश से रमण हुआ है। यद्यपि चन्द्रमा के प्रवेश से रमण हुआ है, तो भी उस दशा में भी आत्मारामत्व ही है, अर्थात् आत्मारामत्व में कोई कमी नहीं हुई है। 'अधिकं तत्रानुप्रविष्ट न तु तद्धानिः' अर्थ 'उसमें अधिक प्रवेश हुआ तो भी उसकी हानि नहीं हुई', इस न्यायानुसार आत्माराम में अधिक चन्द्र ने प्रवेश किया तो भी आत्मारामत्व की कोई हानि नहीं हुई, अतः वहां भी मुख्यता से आत्मरमण ही है, इसलिए कहा है कि 'लीलया' लीला की तरह जैसे राजा महान् है किन्तु शिकार रूप खेल के समय पैदल चलते है सवारी साथ हो तो भी त्याग देते हैं। भगवान् ने जैसे अन्य अवतार लीलाएं की है वैसे यह भी की है ॥२०॥

**आभास—**ततस्तासां सुरतान्तो जात इत्याह तासामिति ।

**आभासार्थ—**पश्चात् गोपियों के रमण का अन्त हुआ जिसका वर्णन 'तासामिति' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**तासामतिविहारेण श्रान्तानां वदनानि सः ।

प्रामृजत् करुणः प्रेम्णा शन्तमेनाङ्ग पाणिना ॥ २१ ॥

**श्लोकार्थ—**हे अंग ! अति विहार करने से जब वे गोपियां थक गई, तब दयालु भगवान् ने अपने सुखकारी हस्त से उनके मुख पोंछे ॥ २१ ॥

|                                                                                                                                                                                                                                     |                                                                                                                                                                                                               |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी—</b>अतिविहारेणानेकवन्धः सम्यक् श्रान्ता जाताः । ततोऽग्रिमलीलार्थं तासां वदनानि स्वहस्तेन प्रामृजत् । यतः स कृष्णः । तदर्धमेवावतीर्णः । सर्वत्रैव तथाविधं जातमिति ज्ञापयितुं बहुवचनम् । तथा करणे हेतुः करुण इति ।</p> | <p>करुणायुक्तः सा करुणा उदासीना न भवतीत्याह प्रेम्णेति । मार्जने क्लेश एव निवर्तत इति ज्ञापयितुं शन्तमेनेत्युक्तम् । अङ्गेति सम्बोधनमप्रतारणाय । एवं तासां दुःखनिवारणपूर्वकं परमानन्दं स्थापितवान् ॥ २१ ॥</p> |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यानार्थ—**अति विहार से जो अनेक प्रकार के बन्ध करने पड़े जिससे (गोपियां) अत्यन्त श्रमित हो गई अनन्तर आगे जो लीला करनी है उसके लिए आपने उनके मुखों को अपने हस्त से पोंछा, क्योंकि वे कृष्ण हैं, उनके लिए ही प्रकट हुवे हैं। श्लोक में 'श्रान्तानां' बहुवचन देकर श्री शुकदेवजी ने यह बताया है कि सकल गोपियां थक गई थी अतः सबों के मुखों को भगवान् पोंछते हैं कारण कि आप दयालु हैं। प्रभु केवल दयालु नहीं है किन्तु प्रेम भाव वाने भी हैं अतः प्रेमपूर्वक



अपने आनन्ददायी हस्त से पोंछा जिससे यह दिखाया कि पोंछने में किसी प्रकार का भी क्लेश किसी को भी नहीं हुआ । अङ्ग संबोधन देकर यह बताया कि इसमें कुछ भी प्रतारणा<sup>१</sup> नहीं है इस प्रकार उनका दुःख निवारण कर उनमें परमानन्द स्थापित किया ॥ २१ ॥

**आभास—**ततोऽतिमुदितानां कृत्यमाह गोप्य इति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार की लीला से गोपीजन अति आनन्दित होकर जो कुछ करने लगी उसका वर्णन 'गोप्यः' श्लोक में करते हैं -

**श्लोक—**गोप्यः स्फुरत्पुरटकुण्डलकुन्तलत्विङ्गण्डश्रिया सुधितहासनिरीक्षणो न ।

मानं दधत्य ऋषभस्य जगुः कृतानि पुण्यानि तत्कररुहस्पर्शप्रमोदा ॥ २२ ॥

**श्लोकार्थ—**भलकते सोने के कुण्डल व केशों की कान्ति से कपोलों की शोभा के कारण, तथा प्रभु के अमृत भरित हास्य पूर्वक निरीक्षण से गोपियों ने मान धारण किया और प्यारे के नख स्पर्श से आनन्द को प्राप्त कर भगवान् के किए हुए पुण्य कर्मों को गाने लगी ॥ २२ ॥

**सुबोधिनी—**गोप्यो मानं दधत्यः तत्कृतानि जगुः । गाने हि रजोगुणाभिनिवेशो हेतुः । तदर्थं सहजमेकं भगवत्कृतं च हेतुद्वयमाह । तत्र प्रथमं सहजं निरूपयति । स्फुरद्यत् पुरटं सुवर्णं दाहोत्तीर्णमुज्ज्वलीकृतं च, तस्य ये कुण्डले कुन्तलाश्च, तेषां त्विषा सहिता या गण्डश्रीः । उज्ज्वला गण्डश्रीः पीता वा । उज्ज्वला नीला चेतरे । एवं कान्तित्रयं मूलभूतगुणकार्यरूपम् । तेनासां सर्वोत्कर्षयोग्यता । सुधितं सुधामिव प्राप्तं यद्वासपूर्वकं निरीक्षणम् । अत्राप्यन्तःस्थितो रागः निरीक्षणं हासश्चेति त्रितयमुक्तम् । भगवदीय-

मेतत् । अत उभाभ्यां सन्माननमभिमानं वा दधत्यः स्वहृदयकृतविपरीतबुद्ध्या जातदोषनिराकरणार्थं तत्कृतानि जगुः । तेषां न केवलं पापनिवर्तकत्वम्, किन्तु पुण्यरूपत्वमपीत्याह पुण्यानीति । भगवता कृतानि पापनिवर्तकानि पुण्यजनकानि च । अतस्तासां दोषाभावः । अग्रिमलीलायां पुण्योपचयश्चोक्तः । पूर्वक्लेशविस्मरणार्थमानन्दाविर्भावमाह । तस्य भगवतः कररुहा नखाः, तेषां स्पर्शेन जातपीडया स्मृतसम्भोगाः प्रमुदिताः जाताः । अन्तःपूर्णनिन्दा गानेनापि जाता इति अन्ते विशेषणम् ॥ २२ ॥

**व्याख्यार्थ—**गोपियां मान धारण करती हुई भगवान् के कर्मों का गान करने लगी । गान करने का कारण यह था कि उस समय उनमें रजोगुण ने प्रवेश किया था । श्री शुकदेवजी रजोगुण के प्रवेश के दो कारण बताते हैं, एक सहज<sup>२</sup> और दूसरा भगवत्कृत<sup>३</sup> उनमें प्रथम सहज का वर्णन करते हैं । अग्नि में तपाकर शुद्ध किए हुए चमकीले सुवर्ण के दो कुण्डल, केश और उनके प्रकाशवाली जो कपोलों की त्रिविध<sup>४</sup> शोभा है वह रजोगुण के मूलभूत स्वरूप के कार्य का रूप है, उससे इनकी योग्यता सर्व से उत्कृष्ट है ।

१—ठगी, २—अपने स्वभाव के कारण, ३—भगवान् के कर्म से उत्पन्न, ४—तीन प्रकार की (१—उज्ज्वल, २—पीत और ३—उज्ज्वल तथा नील)



गोपियों ने जो अमृत के समान, भगवान् के हास्य पूर्वक निरीक्षण का पान किया, जिससे यहां भी अन्तःस्थित प्रेम, निरीक्षण और हास यों तीनों प्राप्त हुए । ये तीन भगवत्कृत हैं, अतः इन दोनों हेतुओं से सम्मान अथवा अभिमान के कारण अपने हृदय में जो विपरीत बुद्धि हुई और जिससे जो दोष उत्पन्न हुए उनको मिटाने के लिए उनके ( भगवान् के ) किए हुए कर्मों<sup>१</sup> को गाने लगी । भगवान् के कर्म केवल दोषों<sup>२</sup> को मिटानेवाले नहीं हैं किन्तु पुण्य रूप भी हैं अर्थात् पुण्य प्रद भी हैं, इसलिए श्लोक में 'पुण्यानि' विशेषण दिया है । तात्पर्य यह है कि भगवान् ने जो कर्म अर्थात् लीलाएं की हैं वे पापों को मिटानेवाली और पुण्य जनक हैं अतः उनमें<sup>३</sup> दोष का अभाव है और आगे की लीला से पुण्य संचित<sup>४</sup> होंगे । श्री शुकदेवजी अन्त में 'कर रूह स्पर्श प्रमोदाः' पद से सूचित करते हैं कि गोपीजनों ने पूर्व क्लेश को भुला दिया जिसके दो कारण हैं १—नखों के स्पर्श से पीड़ा होते ही संभोग का स्मरण हो आया जिससे प्रमुदित<sup>५</sup> हो गई और २—दूसरा भगवान् के गुणों के गान से अन्तः करण आनन्द से पूर्ण हो गया जिससे और भी विशेष आनन्दित होने लगी ॥२२॥

**आभास**—ततस्ताभिस्तुल्याभिर्भगवान् जलक्रीडां कृतवानित्याह ताभिर्युत इति ।

**आभासार्थ**—प्रभु ने लीला कर गोपियों को रस से परिपुष्ट करते हुए अपने समान निर्दोष पूर्ण गुण तथा आनन्द रूप बनाया, पश्चात् अपने समान उनसे आप जल क्रीडा करने लगे, जिसका वर्णन 'ताभिर्युतः' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक**—ताभिर्युतः श्रममपोहितुमङ्गसङ्गघृष्टस्रजः खकुचकुङ्कुमरञ्जितायाः ।

गन्धर्वपालिभिरनुद्रुत आविशद्वाः श्रान्तो गजीभिरिभराडिव भिन्नसेतुः ॥२३॥

**श्लोकार्थ**—जैसे कोई श्रमित हस्तिराज सेतुओं को तोड़ कर हथिनियों के साथ श्रम को मिटाने के लिए जल में प्रवेश करता है, वैसे उन सर्व गोपीजनों के साथ श्रम को दूर करने के लिए, अङ्गसङ्ग से मर्दन की हुई मालावाले तथा जिनके पीछे गन्धर्वोत्तम रूप भ्रमर जा रहे हैं वैसे श्रान्त प्रभु ने गोपियों के कुच कुङ्कुम से रञ्जित<sup>६</sup> हुए श्री यमुनाजी के जल में प्रवेश किया ॥२३॥

**सुबोधिनी**—ताभिः सर्वाभिरेव युतः । महा-  
रात्रसमये यमुनायां जलक्रीडार्थं प्रविष्टः । तत्र  
प्रयोजनं श्रममपोहितुमिति । तासां सर्वाङ्गश्रमं  
जलक्रीडयैव दूरीकुर्वन् । भगवतस्ताभिः सह गमने

जायमानां शोभां वर्णयति स्रजः गन्धर्वपालि-  
भिरनुद्रुत इति । यमुनाया वा विशेषणानि ।  
गन्धर्वाणां रक्षकाः गन्धर्वपाः गन्धर्वोत्तमाः । ते  
च ते अलयश्च तैरनुद्रुतः । सङ्गे शीघ्रं गतः वाः

१—गुणों को-लीलाओं को, २—पाप, ३—गोपियों में, ४—इकट्ठे, ५—आनन्द से युक्त,  
६—रंगे हुए,



आविशन् । आमोदस्य निवारणार्थं च तथा-  
करणम् । मन्मथेन भ्रमोदके पद्मिनीनां कमल-  
रूपो गन्धो भवति । तदुपरोधेन च द्रुतपदविन्यास  
इत्यनुद्रवणम् । ते च भ्रमरा भगवदीया एवेत्याह ।  
अङ्गयोः सङ्गेन धृष्टा सा सक् तस्यास्ते । यस्यां  
वा सक् तादृशी । स्या चासौ कुचकुङ्कुमरञ्जिता  
च । भगवत एव माला । कालिन्दी च कुचकुङ्कुम-  
रञ्जिता । तत्र देहामोदः पुष्पामोदः कुङ्कुमामोद-  
श्चेति । स्वकीयत्वेनासाधारण्यं च । आधिदै-  
विकास्ते भ्रमरास्तद्गन्धभोक्तार इति विशेषणं  
गन्धर्वपेति । भ्रान्तः इभराडिवेति अविचारे हेतुः ।  
भ्रान्त इति विशेषणं लीलया गमनार्थम् । प्रत्येक-

सम्भोगावधि भगवतोऽन्यो भावो निरूपित इति  
तदपगमात् भ्रमनीत्याप्याविष्कृता । गजीभि-  
रित्यन्यभ्रमो निवारितः । सेतवो बध्यन्ते  
जलरक्षार्थम् । ते सर्वे भिन्ना तादृशागजेन  
भवन्ति । भगवतापि ब्रह्ममर्यादा आत्मारामत्व-  
रूपा जीवानां च मर्यादा तथा सति निवृत्ता ।  
कामरूपस्पर्शान् परदारागामभिमर्षणाच्च । पूर्वं  
तासां भगवत्स्पर्श एव स्थितः, न तु भगवता ताः  
स्पृष्टा इति । कामाभावान् । देशकालमर्यादा च  
भग्ना । अतो हस्तिश्रेष्ठ इव जलक्रीडार्थं जलदेवतां  
दूरीकृत्य, स्वयं तत्र प्रविष्ट इत्यर्थः ॥ २३ ॥

**व्याख्यानार्थ—**भगवान् ने उन सर्व गोपियों को साथ में ले कर अर्ध रात्रि<sup>१</sup> के समय जलक्रीडा करने के लिए श्री यमुनाजी के जल में प्रवेश किया, कारण की भगवान् की इच्छा थी कि गोपियों के सकल अङ्गों के भ्रम को मिटाऊं । वह कार्य जल क्रीडा से हो सकता है, अतः जल में प्रवेश किया । जिस समय भगवान् गोपियों के साथ जल में प्रवेश करने के लिए पधार रहे थे उस समय की शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि, एक तो भगवान् की माला गोपियों के कुच कुङ्कुम में रंगी हुई थी जिससे भगवान् विशेष सुशोभित हो रहे थे और दूसरा उस माला की सुगन्धि पान करने के लिए आए हुए श्रेष्ठ गन्धर्वों के समान भ्रमर गान करते हुए भगवान् के पीछे जल्दी २ चल रहे थे जिससे भी शोभा बढ़ रही थी । इस प्रकार की शोभा के साथ भगवान् ने शीघ्र ही जल में प्रवेश किया, जल में शीघ्र अर्ध रात्रि के समय ही प्रवेश करने का कारण बताते हैं कि सम्भोग करने से जो भ्रमोदक<sup>२</sup> होता है उसमें पद्मिनी रूप नायिकाओं का कमल रूप गन्ध रहता है वह गन्ध प्रातःकाल तक नहीं रहना चाहिए अतः रात्रि को ही जल में प्रवेश कर उस स्वेद को मिटा दिया जिससे दिन को वह गन्ध न रहा ।

अथवा कालिन्दी गोपियों के कुच कुङ्कुम से रञ्जित हो गई थी, वह कुङ्कुम भगवान् की माला के सङ्ग से तीन प्रकार की सुगन्धि वाला हो गया था, १—भगवान् के श्री अङ्ग की गन्ध, २—पुष्पों की गन्ध और ३—कुङ्कुम की गन्ध, जिसमें भी विशेषता यह है कि माला भगवान् की है जिससे उसमें असाधारणत्व है ही ।

श्री शुकदेवजी ने भ्रमरों को गन्धर्व श्रेष्ठ कहा जिसका कारण यह है कि ये भ्रमर आधि-भौतिक साधारण भ्रमर नहीं हैं, किन्तु आधिदैविक हैं अतः भगवान् के माला की गन्ध लेने तथा अन्तरंगलीला के दर्शन के अधिकारी हैं ।

भगवान् जब इस प्रकार की उच्छ्रृङ्खल लीला करते हैं उस समय किसी प्रकार की भी मर्यादा

१—रमण के दो प्रकार हैं— १—स्थल रमण, २—जल रमण, स्थल रमण, रात्रि के पूर्वार्द्ध में हो गया. अननिवृत्ति के लिए जल रमण उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुआ । २—भ्रम से पसीना,

इस अध्याय में की हुई उच्छृङ्खल लीला में भगवान् ने सब प्रकार की मर्यादा तोड़ी है जैसे— १—ब्रह्मस्वरूप मर्यादा, २—जीव मर्यादा, ३—देश मर्यादा और ४ लोक मर्यादा जिसका स्पष्टीकरण लालूभट्टजी ने योजना में इस प्रकार किया है १—ब्रह्म स्वरूप में किसी प्रकार का विकार नहीं होता है उस आत्माराम स्वरूप में शृङ्गार रसात्मक अनेक भाव विकार उत्पन्न कर ब्रह्ममर्यादा तोड़ी है, और जब रस पूर्ण पुष्ट न हुआ तब तक भगवान् ने ब्रजस्त्रियों को अपने से पृथक् ही माना उनसे क्रीड़ा नहीं की आत्मारामत्व में ही स्थित थे, जब फिर शृङ्गार रस अतीव पुष्ट हुआ तब गोपियों में से जानाश की निवृत्ति हुई और आनंदांश प्रकट होकर आत्मत्व की स्फूर्ति न होने से केवल नायिका भाव जगा, इस प्रकार आत्मारामत्व मर्यादा तोड़ दी २—जीव मर्यादा, जीव में दासत्व धर्म रहता है वह भी यहां न रहने दिया, ३—देशमर्यादा—देश का अर्थ यहां स्वामिनियों के अवयव है रस शास्त्रानुसार अवयवों के स्पर्श का जो नियम है उनको तोड़ स्वच्छन्दता से स्पर्श करने लगे । ४—काल मर्यादा—रस शास्त्र में लिखा है कि इस प्रहर में इस नायिका को उस प्रकार प्रसन्न करना यह भी नहीं किया, स्वच्छन्दता से इच्छानुसार काल में क्रिया की जिससे काल मर्यादा भी तोड़ दी ।

आभासार्थ—जल में प्रवेश कर 'जलक्रीड़ा' करने लगे जिसका वर्णन 'सोऽम्भस्यल' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—सोऽम्भस्थलं युवतिभिः परिषिच्यमानः  
 प्रेम्णोक्षितः प्रहसतीभिरितस्ततोऽङ्ग ।  
 वैमानिकैः कुसुमवर्षिभिरीड्यमानो  
 रेमे स्वयं स्वरतिरत्र गजेन्द्रलीलः ॥२४॥



**श्लोकार्थ—**हे अङ्ग ! बहुत हास्य करती तरुण ब्रजाङ्गनाएं जल में स्थित हो चारों तरफ जल उछाल उछाल कर भगवान् का अभिषेक करने लगी, तथा हास करती हुई प्रेम से प्रभु का ईक्षण करने लगी, उस समय विमानों में बैठे हुए देवगण पुष्पों की वर्षा के साथ आपकी स्तुति करने लगे, वैसे अपने में ही रतिवाले आत्माराम भगवान् ने, गजेन्द्र की लीला का स्वीकार कर, जल रमण किया ॥२४॥

**सुबोधिनी—**स पूर्वोक्तः स्त्रीसहितः । अम्भसि अलं युवतिभिः परिषिच्यमानो जातः । ततः प्रेम्णा ईक्षितश्च । प्रहसतीभिः कौतुकाभिनिविष्टाभिः । इतस्ततः सिच्यमानः, यदभिमुखमेव व्रजति, तथैव सह रेमे इति । एवं सर्वाभिः । यथा स्वयं माहात्म्यज्ञानपूर्वकं निर्भरस्नेहेन निर्दोषभावेन वदति शुकः तथैव राजाणि शृणोतीति ज्ञात्वा स्नेहेन स्वमध्यपातित्वं सूचयन् सम्बोधयति अङ्गेति । अत एव नुभ्यमिमां लीलां वदामीति भावः । ननु देवैः कथं न निषिध्यते, तत्राह

कुसुमवर्षाभिर्वैमानिकैरोड्यमान इति । सर्वे देवा अभिनन्दनमेव कुर्वन्ति, न तु निवारणमिति । अन्यथा लोके कामरसो न व्यक्तो भवेदिति । युवत्य इत्यविचारे । परिपेके वीररसो मा भवत्विति प्रेम्णैव ईक्षितः । स्वयमिति पदेन वलात्कारेणापि तथेति सूच्यते । तदापि स्वस्मिन्नेव रतिर्यस्य । परं स्वीकृता गजेन्द्रलीला येन । यथायथा जलेनोक्षणम्, तथातथा सुखमिति गजदृष्टान्तः । महासौरत च ॥२४॥

**व्याख्यार्थ—**जिसका प्रथम वर्णन किया है वे भगवान् स्त्रियों सहित जब जल में विराजमान थे तब तरुण ब्रजाङ्गनाओं ने आपका जल से अच्छी तरह अभिषेक किया अर्थात् खूब जल उछाल उछाल कर आपको भिगो दिया । अनन्तर प्रेम से देखने लगी और हंसती हुई चिनोद युक्त हो गई । जब युवतियां जल छिड़क रही थी उस समय जो युवती सामने मिलती थी उससे ही रमण करते थे, इस प्रकार सब के साथ रमण किया ।

इस लीला का वर्णन जैसे श्री शुकदेवजी, माहात्म्य ज्ञान पूर्वक, अत्यन्त स्नेह तथा शुद्ध भाव से करते हैं वैसे राजा भी स्नेह एवं शुद्ध भाव से सुन रहा है यह जानकर, श्री शुकदेवजी अपने समान लीला सुनने के योग्य समझकर राजा को 'अङ्ग' संबोधन दिया है । इस संबोधन से बता दिया कि इसलिए ही तुम्हें यह लीला कह रहा हूँ ।

वैसी लीला करने के लिए देवों ने भगवान् को क्यों नहीं रोका ? इसके उत्तर में श्री शुकदेवजी कहते हैं कि—देवगण तो विमान में बैठकर पुष्प वृष्टि के साथ स्तुति कर इस कार्य का अभिनन्दन करते हैं, वे रोकेंगे कैसे ? यदि देव उनको निषेध करे और भगवान् यह लीला न करे तो जगत् में काम रस की प्रसिद्धि कैसे हो ?

'युवती' शब्द देकर बताया कि युवावस्था में किसी प्रकार का विचार नहीं रहता है, इसलिए भगवान् पर खूब उछाल उछाल जल सिञ्चन किया, जल अभिषेक करने से भगवान् में वीर रस प्रकट न हो जावे, तदर्थ भगवान् को प्रेम दृष्टि से देखने लगी । श्लोक में 'स्वयं' और 'स्वरतिः' शब्द दिए हैं, उनका तात्पर्य है कि भगवान् ने अपनी उच्छ्रा से बलात्कार से भी रमण किया तो भी



भगवान् की 'रति' स्वयं में ही रुकी हुई थी परन्तु गजेन्द्र की लीला स्वीकारि है और इससे ज्यों ज्यों जल का सिञ्चन होता है त्यों त्यों रस की वृद्धि होती है और जिससे महा सौरत भी सिद्ध हुआ ॥ २४ ॥

**आभास—**ततः पुष्पावचयक्रीडामाह तत इति ।

**आभासार्थ—**पश्चात् भगवान् ने श्री यमुनाजी के उपवन में पुष्पों को चुनते हुए फिरने की क्रीड़ा की, जिसका वर्णन 'ततश्च कृष्णोपवने' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**ततश्च कृष्णोपवने जलस्थलप्रसूनगन्धानिलजुष्टदिक्ते ।

चचार भृङ्गप्रमदागणावृतो यथा मदच्युद् द्विरदः करेणुभिः ॥२५॥

**श्लोकार्थ—**पश्चात्, जैसे जिसका मद जल भर रहा है वैसा गजराज अपनी हथिनियों के साथ वन में क्रीड़ा करता हुआ घूमता है, वैसे भगवान् भी जल तथा स्थल के पुष्पों की सुगन्धित वाले वायु से सेवित श्री यमुनाजी के उपवन की सर्व दिशाओं में चारों तरफ फिर रहे हैं उस समय भगवान् चारों तरफ भ्रमर तथा व्रजयुवतियों के यूथ से घिरे हुए थे ॥२५॥

**सुबोधिनी—**जलक्रीडानन्तरं कृष्णायाः यमुनाया उपवने जलस्थलप्रसूनानां ये गन्धाः तत्सम्बन्धिना वायुना जुष्टाः दिक्तेः सर्वदिग्भागा यस्मिन् वने तत्र पुनश्चचार । भृङ्गैः प्रमदागणैश्चावृतः । पुनर्भृङ्गाणां गमने हेतुं दृष्टान्तेनाह । यथा मदच्युत् मदस्त्रावी गण्डयोरन्यत्र च । द्विरदो हस्ती करेणुभिः सहितो भवति, भ्रमरैश्च

सहितः । सहज एवान्तःस्थितो रस आविर्भूत इति भ्रमराणामनुद्रवणम् । चचारेति सर्वत्र नानाविधलीला निरूपिता । क्वचिल्लतानां भृङ्गः, क्वचिद् वृक्षशाखानाम् । तथा मर्यादामार्गः लौकिकश्चान्यथाकृत इति । एषा त्रिविधा लीला अत्यलौकिकी । तत अविचारेण रमणमिति ॥२५॥

**व्याख्यार्थ—**जल क्रीड़ा सम्पूर्ण कर लेने के पश्चात् यमुना के जिस वन की सब दिशाएं जल तथा स्थल के पुष्पों की सुगन्धित वाले वायु से सेवित हो रही हैं, उस वन में भ्रमर तथा व्रज युवतिओं के साथ घिरे हुए भगवान् फिरने लगे । जब जल क्रीड़ा करने से सुगन्ध वाले पदार्थ कुङ्कुम तथा पुष्प मालाएं धुप गए, तब भ्रमर पुनः भगवान् के पास क्यों आने लगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए दृष्टान्त देते हैं कि जैसे मद का भरण करने वाले हाथी के पीछे भ्रमर तथा हस्तिनियां फिरती हैं, वैसे भगवान् के अन्तःकरण में स्थित स्वाभाविक रस भी भरने लगा, जिससे ही भ्रमर पुनः भगवान् की तरफ दौड़ने लगे । 'चचार' पद जो श्लोक में आया है उसका भावार्थ है कि भगवान् ने सर्व स्थलों पर अनेक प्रकार की लीलाएं की हैं ।



जैसे गजराज कहीं लताओं को तोड़ता है, और कहीं वृक्ष की शाखाओं को भङ्ग करता है, वैसे भगवान् ने भी मर्यादा मार्ग तथा लौकिक मार्ग को तोड़ डाला, वह जो तीन प्रकार की लीला की वह अलौकिक प्रकार से की है अर्थात् जिसमें मर्यादा तथा लोक का विचार ही नहीं किया गया है, साराज की उच्छृङ्खला ने यह लीला की है ॥२५॥

**आभास—**एवं लोलामुक्त्वोपसंहरति एवमिति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार लीला का वर्णन कर अब 'एवं शशाङ्कांगु' श्लोक में उस विषय की समाप्ति करते हैं—

**श्लोक—**एवं शशःङ्कांगुविराजिता निशाः ससत्यकामोऽनुरताबलागणः ।

सिषेव आत्मन्युपरुद्धसौरतः सर्वाः शरदकाव्यकथा रसाश्रयाः ॥२६॥

**श्लोकार्थ—**सत्य काम गोपियों के साथी, अबलागणों से अनुरक्त भगवान् ने, अपने में सौरत को रोक कर, लौकिक चन्द्रमा के किरणों से सुशोभित रात्रियों का, जो रात्रि रस के आश्रय वाली है तथा जो शरद् काव्य में कही हुई कथाओं को वर्णन करती हैं, उनका सेवन किया ॥२६॥

**सुबोधिनी—**शशाङ्कांगुभिः चन्द्रकिरणैः लौकिकैः वा विराजिता निशाः ता एवं रेमे । पूर्वोक्तप्रकारस्तु सर्वदा लीलारूपः । स केनापि न विरुध्यते । नन्वेव रमणे को हेतुरिति चेत्, तत्राह ससत्यकाम इति । सत्यः कामो यासां ताः सत्यकामाः । ताभिः सहित इति ससत्यकामः । स इति तथा प्रार्थितो वा । एवमपि क्रीडायां कामः सत्य एव स्थितः, न तु क्षीणः, असद्विषयको वा जातः । अनुरता अबलागणा यस्य । सर्वथा रतासु नित्यसम्बद्धासु स्वविवाहितासु न कापि शङ्का, सर्वथा प्रपन्नासु च । अग्रे मर्यादा-भङ्गो रसपोषाय । तदुक्त 'शास्त्राणां विषय-स्तावद् यावद् मन्दरसा नराः । रतिचक्रे प्रवृत्ते तु नैव शास्त्रं न च क्रम' इति । तथापि तासु सत्य एव कामः स्थापितः । यो मोक्षपर्यवसायी ।

स कामो भगवन्तं प्रापयिष्यत्येव । एवं निशाः सिषेवे । तदनन्तरमात्मन्येव उपरुद्धं सौरतं यस्य तथा जातः । न तु तासु रति स्थापितवान् । तथा सति तासु स्वस्मात् पुत्रा भवेयुः । सर्वा एव निशा एवं नीताः । शरदपि नीता । काव्यकथा अपि नीताः । काव्योक्तप्रकारेण गीतगोविन्दोक्तन्यायेनापि रति कृतवान् । तत्र हेतुः रसाश्रया इति । कामरसस्तेष्वेव प्रसिद्धः । यावत् पुरुषो रसे गौणभावं न प्राप्नोति, तावन्न रसिको भवतीति । शरद्वर्णनायां वा यत् काव्यम्, तत्र याः कथाः, तासां रसाश्रया इति । निशा एता न लोकप्रसिद्धाः, किन्तु काव्योक्ता एव । तत्र हि नियतिकृत्यादिराहित्यं ह्लादैकता अनन्याधीनता, तथा अन्येऽपि गुणाः । तथा भगवल्लीलारात्रयो जाता इत्यर्थः ॥२६॥

**व्याख्यार्थ—**लौकिक चन्द्रमा की किरणों से शोभित हो रही रात्रि में भगवान् ने इस तरह विहार किया । लीला का जो प्रकार पहले कहा गया वह 'सर्वदा लीला रूप' है । इस प्रकार में कुछ भी और किसी से भी विरोध नहीं रहता । इस तरह के रमण में हेतु क्या है ? इसका उत्तर 'सस-





त्यकाम' से दिया गया है । जिन गोपियों का काम सत्य है ऐसी सत्यकामा गोपिकाओं के सहित होने से भगवान् 'ससत्यकाम' हुए । अथवा 'सत्यकाम' भगवान् का विशेषण माने तो 'स' का तात्पर्य होगा "वह भगवान् जिनसे रमण की प्रार्थना को गई थी" । यों भी काम तो क्रोड़ा में सत्य ही ठहरता है, क्योंकि न तो वह क्षीण होता है और न असद्विषयक । इसका कारण यह है कि संपूर्ण अवलागण भगवान् में अनुरक्त है । (१) जो सर्वथा रत है (२) जिनका भगवान् से नित्य सवन्ध है (३) जो स्वविवाहित है, उनके बारे में तो अनुरक्त होने में शंका का स्थान ही नहीं और न जो (४) सर्वथा प्रपन्न हैं उनके बारे में । आगे चलकर जो मर्यादा भंग है वह तो प्रत्युत रस के पोषण के लिए ( अतः काम को असद्विषयक नहीं माना जा सकता ) जैसा कि "शास्त्रों का क्षेत्र वहीं तक है जहां तक पुरुषों में रस मन्द रहता है, एक बार रतिचक्र के चल पड़ने पर तो, न शास्त्र और न क्रम किसी का कुछ भी विषय या क्षेत्र रह जाता है" में यही दिखलाया गया है । फिर भी उनमें सत्य ही काम स्थापित किया, जिसका पर्यवसान मोक्ष में होगा । इस काम से उन्हें भगवान् की प्राप्ति निश्चित हो जाएगी । इस तरह निशा का सेवन किया । इसके बाद अपने आप में ही सौरत को प्रभु ने उपरुद्ध कर लिया । उनमें रति की स्थापना नहीं की अन्यथा पुत्रोत्पत्ति इनमें होती । संपूर्ण निशा इस तरह बिताई कि शरद् भी बीत गई और काव्यकथा भी ! काव्योक्त प्रकारों से भी रति की जैसा कि गीत गोविन्द में वर्णन मिलता है । इस सब में हेतु है "रसाश्रया" । कामरस इन्हीं में प्रसिद्ध है । जब तक पुरुष गौण नहीं बनता तब तक रसिक भी नहीं बन पाता । शरद् के वर्णन में जो काव्य हैं, उनमें जो कथा हैं, उन कथाओं की रसाश्रय ये रात्रियाँ लोक में प्रसिद्ध नहीं किन्तु काव्य में प्रसिद्ध हैं । इन रात्रियों में नियति के नियमों का बन्धन नहीं, ये रात्रियाँ ह्लादक-मयी हैं, ये रात्रियाँ अनन्याधीन हैं और भी सारे गुण इन्हीं रात्रियों में हैं ! ऐसी भगवान् के लीलाओं की रात्रियाँ थी, यह अर्थ है ॥२६॥

लेख—पहले एक रात्रि में रमण कहा, अब इस श्लोक में सभी रात्रियों में रमण का अतिदेश करते हैं अर्थात् लौकिक रात्रि में अलौकिक रात्रि के स्थापन के प्रकार से सभी रात्रियों में भगवान् ने रमण-कामलीला किया । नृत्य से अन्तर्भाव को उद्बुद्ध करने का जो प्रकार है उसे 'आन्तर रमण' कहते हैं । जो भाव जिसमें वहां स्थापित किया गया वह गोपिका उस भाव का सर्वदा अनुभव करती रहेगी । अतएव ज्ञानात्मक ताम्बूलवाली गोपी का सभी को उपदेश देना, भगवान् की असन्निधि में, यह कार्य वहां दिखलाया है । इस लीला में गृहगमन या अन्य किसी भी क्रिया का विरोध उपस्थित नहीं होता ( क्योंकि अनुभव बाह्य नहीं किन्तु आन्तर है, बाह्य लीलानुभव के साथ गृह गमन संभव नहीं परन्तु आन्तर में संभव है ) अतएव "स्त्रीषु रेमेह्यहानिश" कहा । यह आन्तर लीलानुभव दिन में भी संभव है अतः अलौकिक रात्रि की अपेक्षा नहीं है । इस कामलीला में हेतु है "ससत्य-काम" । कुमारिकाओं ने तो "पति मे कुरु" में अपनी अभिलाषा व्यक्त की ही है । श्रुतिरूपाओं की भी "कामिनीभावमासाध" यही अभिलाषा प्रकट होती है अन्तर्गृहगताओं का काम तो स्पष्ट ही है । परन्तु तीनों के कामभाव सत्य हैं अतः पूर्ण करने के लिए इस तरह रमण किया । 'सत्यकामा' के पहले अर्थ में गोपिकाएं आती हैं और दूसरे अर्थ में भगवान् । सत्यकाम चाहे दोनों में से कोई भी हो, काम तो सर्वथा सत्य ही है । लोक दृष्टि में पर दारा होने के कारण भी काम की असद्विषयता नहीं मानी जा सकती क्योंकि वे सभी भगवान् में अनुरक्त थी । श्रुतिरूपा का अनुरक्त होना तो प्रमाण का प्रमेय में अनुरक्त होने से स्पष्ट ही है, प्रमेय को छोड़कर प्रमाण अन्यत्र नहीं जा सकता ।

कुमारिकाओं के व्रत का तो फल ही रमण है ( और वे पर दारा भी नहीं ) । यद्यपि भगवान् से उनका विवाह लोक प्रसिद्ध नहीं फिर भी “पति मे कुरु” की प्रार्थना एवं वरदान के आधार पर उनको भगवान् से विवाह मानना चाहिए, चाहे वह विवाह लोक समक्ष न हुआ हो । कुल मिलाकर इनके साथ तो रमण दोषःवह हो ही नहीं सकता । ( अन्तर्गृह्यता तो लौकिक देह प्रयुक्त पतिपत्नी संबन्ध को छोड़कर भगवान् से जा मिली सो वहां भी असद्-विषयता नहीं मानी जा सकती, लोक-दृष्टि से ) । यह तो प्रत्येक के बारे में विशेष हेतु है, वैसे भी ( सत्यज्य सर्व विषयान् तव पादमूल प्राप्ताः ” के अनुसार ) ये तीनों ही सर्वथा प्रपन्न है अतः इस दृष्टि से भी विचारने पर असद्-विषयता नहीं आती । जहां तक अमर्यादित रमण का प्रश्न है तो उसकी उपपत्ति मूल में ही दे दी है ।

**प्रकाश—**(१) कुमारिका हैं (२) श्रुतिरूपा एवं अन्तर्गृह्यता हैं (३) द्वारकालीला वाली हैं एवं (४) गोपगृह संबन्धिनी अन्य स्त्रियां हैं । कुमारिकाओं का सर्वथा अनुरत होना स्पष्ट ही है तथा श्रुति रूपा एवं अन्तर्गृह्यताओं का भी प्रमाण प्रमेय की सहज अनुरति-नित्य अनुरति; एवं अपने मे आ जाने से, नित्य संबन्ध के कारण स्पष्ट ही है ।

**योजना—**यहां मोक्ष का अर्थ नित्यलीला प्रवेश है । ब्रह्मसूत्र भाष्य के तृतीयाध्याय में पुष्टि-मार्गियों की मुक्ति नित्यलीला प्रवेश है यह दिखलाया गया है ।

**आभास—**एवमेतां लीलां श्रुत्वा राज्ञः सन्देह उत्पन्नः । तन्निवारणार्थं शङ्कते संस्थापनायेति त्रिभिः ।

**आभासार्थ—**यह लीला सुनकर राजा को सन्देह हुआ, उसके निवारण के लिए श्री शुकदेवजी प्रथम उन शङ्काओं का वर्णन तीन श्लोको में करते हैं—

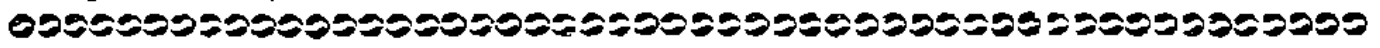
**श्लोक—**राजोवाच—संस्थापनाय धर्मस्य प्रशमायेतरस्य च ।

अवतीर्णो हि भगवानंशेन जगदीश्वरः ॥२७॥

**श्लोकार्थ—**धर्म की स्थापना करने के लिए तथा अधर्म का नाश करने के लिए जगत् के ईश्वर भगवान् बलदेवजी के साथ प्रकट हुए हैं ॥२७॥

**सुबोधिनी—**अवतारविरुद्धं लोकवेदविरुद्धं प्रमेयविरुद्धं चेति । तादृशकरणे अवश्यं हेतुर्वक्तव्यः । तदभावेऽपि लीलायाः सिद्धत्वात् । तत्र प्रथममवतारविरोधमाह । धर्मसंस्थापनाय भगवदवतारः । ‘धर्मसंस्थापनाय चे’ति वाक्यात् । अधर्मनिवृत्तये च । तदुभयार्थमेव भगवदवतारः । दैत्यादिवधो भूभारहरणं च अधर्मनिवृत्तये ।

एतदर्थमेवावतारः, नान्यार्थमिति हिशब्द आह । भगवानिति तस्य साधनम्, अन्यथा पूर्णकामस्यावतारो न घटेतेति । लोकोपकारश्च एताभ्यामेव । अंशेन बलभद्रेण । आगत्य तथाकरणे हेतुः जगदीश्वर इति । स हि सर्वरक्षकः । अतः पालनार्थमेव कृतवान् ॥२७॥



**व्याख्यार्थ—**भगवान् ने जो यह लीला की है वह अवतार के विरुद्ध, लोक और वेद से विरुद्ध, तथा प्रमेय के भी विरुद्ध है अतः इस प्रकार की लीला करने का अवश्य कोई हेतु होना चाहिए वह हेतु कृपाकर कहिए । इस प्रकार यदि लीला न कर दूसरे प्रकार करते तो भी भगवान् की लीला सिद्ध हो सकती थी । अब प्रथम यह लीला अवतार विरुद्ध क्यों है वह बताते हैं कि 'धर्म संस्थापनाय' इस वाक्य से भगवान् ने अवतार धर्म की स्थापना के लिए धारण किया है ।

दैत्य आदि का वध कर भूमि का भार उतारना जिससे अधर्म की निवृत्ति हो, इन दोनों कार्यों के वास्ते भगवान् का अवतार है । श्लोक में 'हि' शब्द देकर यह बताया है कि इनके सिवाय दूसरे कार्य के लिए भगवान् का अवतार नहीं है । उन दोनों के साधन परमेश्वर के 'भग' हैं भग में धर्म भी आ जाता है, इसीलिए यहां भगवान् भी कहा है, यदि धर्म रक्षा और अधर्म नाश का कार्य न हो, तो भगवान् जो कि पूर्ण काम हैं उनको अवतार लेने की क्या आवश्यकता है । इन दोनों कार्यों के सिद्ध हो जाने से लोकोपकार+ भी होता है ।

आप जगदीश्वर है अतः जगत् की रक्षा करने के लिए अपने साथ बलभद्रजी को भी लाए हैं क्योंकि वह ही सर्व की रक्षा करने वाला है अर्थात् बलभद्र स्वरूप से रक्षा कार्य करते हैं अतः उनको भी ले आए हैं । जगत् की पालना करने के लिए यों किया है ॥२७॥

**आभास—**किमतो यद्येवम्, एवमेतदित्याह स कथमिति ।

**आभासार्थ—**आप बलदेवजी को भी जगत् पालनार्थ ले आए उससे क्या हुआ ? इस शङ्का पर परीक्षित इस 'स कथं' श्लोक में कहता है—

**श्लोक—**स कथं धर्मसेतूनां कर्ता वक्ताभिरक्षिता ।

**प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदारामिमर्शनम् ॥२८॥**

**श्लोकार्थ—**हे ब्रह्मन् ! धर्म की मर्यादाओं के कर्ता, वक्ता और रक्षा करने वाले उन भगवान् ने पर स्त्री से सङ्ग करने जैसा अधर्म रूप कार्य कैसे किया ? ॥२८॥

**सुबोधिनी—**धर्ममर्यादापालकानां निर्माता । प्रतीपाचरणमयुक्तम् । तत्र हेतुर्वक्तव्य इति स्वयं वक्ता च । उपधातेऽभिरक्षिता च । तादृशः ब्रह्मन्निति सम्बोधनम् । ये पञ्चपदार्था उक्ताः, प्रतीपं प्रतिकूलमाचरत् । धर्मो नष्टः, अधर्मः तेषां स्वरूपमेकत्रैवेति तन्निर्दिशति परदाराभि- स्थापितः । अधर्मः कृतः उक्तः रक्षितश्च । अतः मर्शनमिति ॥२८॥

**व्याख्यार्थ—**धर्म की मर्यादा के रक्षक मनुआदिकों का कर्ता तथा स्वयं<sup>१</sup> वक्ता, एवं जब भी

+ अधर्म के नाश, धर्म की स्थापना से, लोक, धर्म ज्ञान प्राप्त कर उस पर आचरण करने से मोक्ष भी प्राप्त कर सकते हैं, अतः लोकोपकार भी हुआ ।

१—आप भगवान् कहने वाले अर्थात् उपदेश देने वाले,



जहां भी धर्म का नाश होवे वहां प्रकट हो सर्व प्रकार रक्षा करने वाले, वैसे भगवान् ने यह विपरीत कार्य कैसे किया ? धर्म का नाश एवं अधर्म की स्थापना । अधर्म किया, कहा और उसकी रक्षा की । अतः जो यह उल्टा कार्य किया है वह अयोग्य है । ऐसे विपरीत कार्य करने का क्या कारण है, वह कहिए, क्योंकि आप इस तत्त्व को जानने वाले हैं । इसी आशय को प्रकट करने के लिए परीक्षित ने श्री गुरुदेवजी को 'ब्रह्मन्' संबोधन दिया है । परीक्षित ने जो पांच पदार्थ कहे उन पांचों का समावेश एक में ही दिखाते हैं कि 'परदारा भिमर्शनम्' पर स्त्री सङ्ग एक ही ऐसा है जिसमें वे उपरोक्त पांच आ जाते हैं ॥२८॥

**आभास—**ननु कामात् करणमिति चेत्, तत्राह आप्तकाम इति ।

**आभासार्थ—**यदि कोई इसका उत्तर यह दे दे कि भगवान् ने यह लीला काम से की है तो यह उत्तर भी ठीक नहीं है क्योंकि भगवान् तो पूर्ण काम हैं जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं

**श्लोक—**आप्तकामो यदुपतिः कृतवान् वं जुगुप्सितम् ।

किमभिप्राय एतं नः संशयं छिन्धि सुव्रत ॥२९॥

**श्लोकार्थ—**हे सुव्रत ! मुझे यह बताइए कि पूर्ण काम यदुपति ने वैसा निन्दनीय कार्य किस अभिप्राय से किया ? मेरे इस संशय को निवृत्त कीजिए ॥२९॥

**सुबोधिनी—**स्वत एवाप्ताः कामा येन । यदुपतिरिति विद्यमानायामपि कामनायामनेक-स्त्रीप्राप्तिः । तादृशोऽपि भूत्वा जुगुप्सितं लोक-निन्दितं कृतवान् । तत्र करणो कोऽभिप्रायः । परस्परविरोद्धार्थत्वादुभयोर्ग्रहणं न सम्भवति । नैकतापि विरोद्धानाम् । विरोद्धसर्वधर्माश्रयत्वेऽपि प्रयोजनं वक्तव्यम् । नैतत् कर्म लोकहितम्, नापि स्वहितम् । स्वस्य पूर्णत्वात् । लोकस्य मर्यादैव

हितकारिणी । तथा गोपिकानामपि । अन्तर्या-मिण ईश्वरस्य न किञ्चिदसाध्यम् । अत एव सति किमभिप्राय एतत् कृतवान् । कः अभिप्रायो यस्येति । एतं नोऽस्माकं सर्वेषामेव संशयं छिन्धि । किञ्च, सुव्रत हे सदाचारलक्षणव्रतयुक्त । यदीद-मसङ्गतमिव स्यात्, त्वया नोक्तं स्यात् । यदि वा अधर्मः स्यात्, तव रुचिर्न स्यात् । प्रतीयते च विपरीतम्, अतो निर्णयो वक्तव्य इत्यर्थः । २९॥

**व्याख्यार्थ—**जिसने स्वतः ही सर्व कामनाएं पूर्ण की है जिससे आप आप्तकाम हैं । तथा यादवों के पति होने से भी यदि कामनाएं हो तो अनेक स्त्रियां विवाहार्थ उनको मिल सकती हैं वैसा होके भी लोक में निन्दित कार्य किया, उस निन्दित कार्य करने में भगवान् का क्या अभिप्राय था ? धर्म तथा अधर्म परस्पर विरोद्ध अर्थ वाले हैं अतः दोनों का ग्रहण बन नहीं सकता है, जो परस्पर विरोद्ध कार्य हैं उनकी आपस में एकता नहीं हो सकती है । यदि कहो कि भगवान् परस्पर विरोद्ध सर्व धर्मों का आश्रय है अर्थात् परस्पर विरोद्ध धर्म आप में रहते हैं इसलिए यह शङ्का व्यर्थ है तो भी उसका प्रयोजन कहिए । यह कर्म लोक का हितकर नहीं है और न आपका हित करने वाला



है क्योंकि आप पूर्ण काम हैं और लोगों की हित करने वाली मर्यादा ही है। वैसे गोपियों का हित भी मर्यादा पालन में है। जो ईश्वर है तथा अन्तर्यामी भी है उसके लिए कुछ भी असाध्य नहीं है अर्थात् वह सब कुछ स्वयं सिद्ध कर सकते हैं वैसी अवस्था में इस कार्य करने का आशय क्या है? किस प्रयोज्य के लिए वैसा निन्दित कार्य किया? इस हमारे तथा सर्व का संशय नष्ट करिए और विशेष यह भी है कि आप सदाचार जिस व्रत के लक्षण हैं वैसे व्रत धारी हैं, अतः यदि यह कार्य असङ्गत होता तो आप कहते नहीं, यदि अघर्म होता तो भी आपकी इसके कहने में रुचि नहीं होती, लेकिन देखने में तो विपरीत आता है तो भी आपने उसका कथन किया है इसलिए इसमें कोई रहस्य अवश्य है अतः आप निर्णय कर बताइए तो क्या है? ॥२६॥

**आभास—**प्रथमतः अवतारविरुद्धं कृतवानिति यदुक्तम् तत्रोत्तरमाह धर्मव्यतिक्रम इति ।

**आभासार्थ—**यह कार्य अवतार विरुद्ध है, जिसका उत्तर 'धर्मव्यतिक्रमो श्लोक में देते हैं—

**श्लोक—**श्रीशुक उवाच—धर्मव्यतिक्रमो दृष्ट ईश्वराणां च साहसम् ।

तेजोयसां न दोषाय बह्वैः सर्वभुजो यथा ॥३०॥

**श्लोकार्थ—**ऐश्वर्य धर्म धारण करनेवाले जो समर्थ ईश्वर हैं उनमें धर्म का उल्लङ्घन तथा साहस के कार्य करना देखा गया है वैसे तेजस्वियों में वैसे अधर्म आवि कार्य दोष उत्पन्न नहीं करते हैं जैसे अग्नि सर्व का भोग करती है तो भी अग्नि पवित्र निर्दोष ही रहती है ॥३०॥

**सुबोधिनी—**किमेतदीश्वराणां चरित्रं न भवतीत्युच्यते । आहोस्विदन्यार्थमागतोऽन्यत् करोतीति । नहि किञ्चिद् घटनार्थमागतः किञ्चिन्न विघटयति । न ह्यन्यार्थमप्यागतः स्वधर्म परित्यजति । प्रकाशनार्थमागतो दीपः गृहेण स्पृष्टश्चेत् दहत्येव । अत ईश्वरधर्मोऽयम् । अन्यथा ईश्वर एव न भवेत् । नहि वणिजामिव प्रभोर्नियमोऽस्ति सर्वकर्मसु । ईश्वरधर्माश्चैते इति तान् गणयति धर्मव्यतिक्रमः साहसमित्यादयः । धर्मव्यतिक्रमो विद्यमानोऽल्लङ्घनम् । साहसमविद्यमानकरणम् । एतदुभयमीश्वरे दृष्टम् । 'नहि दृष्टे अनुपपन्नं नाम' । चकारादीश्वरसेवकानामपि, वीर्यादिमतां वा । एतदेव वा साहसम्, सहसा क्रियमाणत्वात्,

नन्वेवं सति तत्कर्मफलं कथं न भवेदित्याशङ्क्याह तेजोयसामिति । अतितेजस्विनामेतन्नाधर्मजनकम् । विधिनिषेधवाक्यानां नियोज्यविषयत्वात् । यथा लोके, तथा वेदेषु । अतितेजस्विनां सर्वकर्मदहनसमर्थानां न दोषजनकं भवतीत्यत्र दृष्टान्तमाह बह्वैः सर्वभुज इति । नहि सर्वान् दहन् बह्विर्वधभाग् भवति । सर्व भक्षयन् अभक्ष्यभक्षको वा । तथा सर्वं पिवन् सर्वत्र प्रविशन् सर्वसम्बद्धः तत्तत्कारी भवति । मिथ्याज्ञानसलिलावसिक्तायामेवात्मभूमौ कर्मबीजं धर्माधर्माङ्कुरतामारभते, न तु तत्त्वज्ञाननिदाघनिष्पीतसलिलतयोषरायाम् ॥३०॥



**व्याख्यान**—तुम्हारे कहने का यह तात्पर्य है कि इस प्रकार के चरित्र ईश्वरों के नहीं होने चाहिए। अथवा एक कार्य के लिए जो आता है वह दूसरा कार्य कैसे करता है वह भी न करना चाहिए। आपकी इस शङ्का का उत्तर यह है कि, वैसे कोई नियम नहीं है कि कोई एक कार्य के लिए आए दूसरे का नाश न करे। दूसरे कार्य के लिए आया हुआ भी अपना धर्म नहीं छोड़ता है, जैसे दीपक दूसरे कार्य के लिए अर्थात् प्रकाश करने के लिए आता है किन्तु अपने दाह के कार्य रूप स्वरूप का त्याग नहीं करता है यदि कोई वस्तु गृह आदि स्वयं उसका स्पर्श करता है तो उसको जलाता ही है। इस प्रकार यद्यपि भगवान् धर्म की मर्यादा रखने के लिए प्रकटे हैं तो भी जो प्रेम से आपका स्पर्श करता है अर्थात् आपका प्रेम पूर्वक भजन करता है तो उसमें भजनानन्द सिद्ध कर उसके लौकिक स्वरूप को नष्ट कर देते हैं क्योंकि यह ईश्वर धर्म है, यदि यो नहीं करे तो ईश्वर ही न रहे।

व्यापारियों के समान प्रभु का सर्व कर्मों में कोई नियम नहीं है। धर्म का उल्लङ्घन और साहस इत्यादि ईश्वर के धर्म हैं। धर्म का उल्लङ्घन अर्थात् जो विद्यमान नियम हैं उनका उल्लङ्घन करना, और साहस, अर्थात् जो विद्यमान नहीं है उनको कर दिखाना, ये दोनों कार्य ईश्वर में देखे जाते हैं, जो कार्य आम्त्रों से देखा गया है उसमें किसी प्रकार की असभावना नहीं है। श्लोक में 'च' देने का आशय है कि ईश्वर के सेवक तथा पराक्रम वालों में भी इस प्रकार 'धर्म व्यतिक्रम और साहस' देखा जाता है। जो जल्दी में बिना विचार के किया जाता है उसको साहस कहा जाता है, यदि यों है तो उनको वैसे कर्मों का फल क्यों नहीं मिलता है? इस शङ्का के निवारण के लिए शुक्रदेवजी श्लोक के उत्तरार्द्ध में—'तेजीयसां न दोषाय बह्वः सर्व भुजो यथा'—कहते हैं कि, जो तेजस्वी हैं उनको अधर्म स्पर्श नहीं कर सकता है। जैसे अग्नि सबको भस्म करती है तो भी उसको जलाने का दोष नहीं लगता है। जिसका स्पष्टीकरण करते हैं कि शास्त्रों के विधि और निषेध के वाक्य उनसे सम्बन्ध रखते हैं जो वेद के नियमों के आधीन है। जो अति तेजस्वी है अर्थात् जिन पर वेद के नियम लागू नहीं होते हैं उनके लिए मर्यादा का उल्लङ्घन तथा साहस से किए हुए कर्म अधर्म जनक नहीं है। जब अति तेजस्वियों के लिए यों है तो जो भगवान् वेद के भी नियामक है और जो भगवान् अति तेजस्वियों को भी तेज तथा ज्ञान आप देने वाले हैं वैसे को विधि निषेध स्पर्श कैसे कर सकेंगे अर्थात् उनको किसी प्रकार भी अधर्म नहीं लगता है। कारण कि जो कर्म रूप बीज बोया जाता है उसके जो धर्म अथवा अधर्म रूप अङ्कुर निकलते हैं वे उस भूमि में निकलते हैं जो भूमि अज्ञान रूप जल से सिञ्चित की हुई होती है, परन्तु तत्त्वज्ञान रूप उष्णता ने जल पीकर जिस भूमि को शुष्क ऊपर भूमि बना दिया है उसमें डाला हुआ कर्म रूप बीज भस्म हो जाता है जिससे उस भूमि में धर्म अथवा अधर्म रूप अङ्कुर फूटते ही नहीं हैं, सारांश यह है कि भगवान् को धर्म वा अधर्म स्पर्श नहीं करते हैं ॥३०॥

**आभास**—ननु 'तेजीयसामपि ह्येतन्न सुश्लोक्य'मिति न्यायाद् 'यद्वृत्तमनुतिष्ठन् वे लोकः क्षेमाय कल्पत' इति विरोधाच्च कथमेतत् कर्तुं शक्यत इति चेत्, तत्राह नैतत् समाचरेदिति ।

\*( भगवान् का प्राकट्य मनुष्यों के कल्याण (मोक्ष) के लिए है, अतः भगवान् ने इस लीला द्वारा गोपियों को वह आनन्द दिया है जो ज्ञानमार्गीय मोक्ष से भी विशेष है इसलिए इसमें कुछ भी अयोग्य वा अधर्म नहीं है किन्तु ईश्वरत्व का प्रकाश है—



आभासार्थ—‘अति तेजस्वी पुरुषों को भी यह परस्त्री गमन रूप कार्य यशदाना नहीं है’ इस कथन के अनुसार तथा जिन अति तेजस्वी पुरुषों के आचरणों को देखकर अन्य पुरुष भी उनका अनुकरण कर कल्याण प्राप्त करते हैं इन वचनों से विरोध होने के कारण भगवान् ने वैसा कार्य करने का साहस कैसे किया ? जिसका उत्तर शुकदेवजी ‘नैतद् समाचरेत्’ श्लोक में देते हैं

टिप्पणीजी—यहां इस श्लोक में “तेजस्वियों के लिए भी इस तरह के आचरण कीर्तिकर नहीं होते” इसका समाधान नहीं है, वह तो ३४ वें श्लोक में जाकर मिलता है, फिर भी यहां इस आक्षेप को देने का प्रयोजन यही है कि श्लोक के उत्तरार्ध में “इस तरह के आचरण से अन्य व्यक्तियों का विनाश हो जाता है” यह उल्लेख आया है। इस संदर्भ में ईश्वरों का तो नाश नहीं होता चाहे वे कुछ भी करें ! यह एक कीर्ति ही तो है अर्थात् अपकीर्ति नहीं। अतः यहां भी अपकीर्ति का समाधान हो जाता है इसलिए “तेजोयक्षामपि ह्येतन्न सुश्लोक्य” यहां भी दिया गया है। वैसे इसका समाधान “अन्तरंग भक्त ही इस लीला को जान पाते हैं” से आगे दिया जाएगा।

श्लोक—नैतत् समाचरेज्जातु मनसापि ह्यनीश्वरः ।

विनश्यत्पाचरन्मौढ्याद्यथा रुद्रोऽब्धिजं विषम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—जो ईश्वर नहीं है उसको ईश्वर के किए हुए कर्म कदाचित् मन से भी न करने चाहिए, जैसे रुद्र के सिवाय कोई अन्य पुरुष यदि समुद्र से उत्पन्न विष का पान करे तो नाश हो जाय वैसे यदि ईश्वर के सिवाय अन्य कोई पुरुष ईश्वर जैसे कर्म को मूर्खता से करे तो वह नाश हो जाता है ॥३१॥

सुबोधिनी—एतदीश्वरकृतमनीश्वरो न समाचरेत् । ऐश्वर्यसमानाधिकरणमेवैतत् नानिष्टं करोति । अतः जातु कदाचिदपि अतिसुक्यादपि न समाचरेत् । किं बहुना मनसापि । ऐश्वर्यतुल्यमेव तेषां तत्कर्म । यथैश्वर्यकामनायामपि अनीश्वरो वधमर्हति । यथा महाराज्यानधिकारी तदिच्छां कुर्वन् । अतो मनसापि न समाचरेत् । विपरीते बाधकमाह विनश्यतीति । मौढ्यादैश्वर्यसहभावं तस्य कर्मणः अज्ञात्वा केवलं तत् कर्म

आचरन् तेनैव कर्मणा नष्टो भवति । नन्वेकमेव कर्म कथं धर्मान्तरसहितं न नाशकम्, इतरथा नाशकमिति चेत्, तत्राह । अरुद्रः रुद्रव्यतिरिक्तः रुद्रसमानपराक्रमरहितः अब्धिजं विषं कालकूटमाचरन् आसमन्ताद् भक्षयन् विनश्यति तथेत्यर्थः, निन्दितं कर्मापि कालकूटवन्नाशकम् । तदीश्वरस्यैव शोभाकरम्, येन नीलकण्ठो भवति । तथैव गोपीजनवल्लभ इति ॥३१॥

व्याख्यार्थ—ईश्वर की इन कृतियों का आचरण अनीश्वर को नहीं करना चाहिए । ऐश्वर्य के रहने पर ही ऐसा आचरण अनिष्टकारक नहीं होता । अतः उत्सुकतावश भी कभी ऐसा आचरण नहीं करना चाहिए । और तो और मन में भी ऐसी बात नहीं लानी चाहिए । ईश्वरों के लिए तो

इस तरह का आचरण भी एक ऐश्वर्य ही है। अनीश्वर जब ऐश्वर्य की कामना भी करता हो तो उसका वध कर दिया जाता है, जैसे महाराज्य के अनधिकारी की महाराज्य की कामना करने पर गति होती है। अतः मन में भी ऐसे आचरण की बात नहीं लानी चाहिए। विपरीत आचरण का दुष्परिणाम बताते हैं "विनश्यति" से। ऐसे आचरण ऐश्वर्य के साथ तो हो सकते हैं, परन्तु इसे समझे बिना केवल आचरण करने पर तो स्वयं अपने कर्मों से ही व्यक्ति नष्ट हो जाता है।

वही कर्म ऐश्वर्य रहने पर नाश नहीं करता और ऐश्वर्य न रहने पर कैसे नाश कर देता है सोदाहरण समझते हैं "अरुद्र" द्वारा। जो रुद्र नहीं जिसमें रुद्र के समान पराक्रम नहीं वह व्यक्ति समुद्र से उत्पन्न विष-कालकूट पीकर नष्ट ही होगा अन्य कुछ नहीं। निन्दित कर्म भी कालकूट की तरह व्यक्ति को नष्ट कर देते हैं।

यह तो ईश्वर की शोभा है कि वे विष पीकर 'निलकण्ठ' बन गए; इसी तरह यह पुरुषोत्तम की शोभा है कि वे 'गोपीजनवल्लभ' हैं ! ॥३१॥

**आभास—**नूक्तं 'यद्वृत्तमनुतिष्ठ'न्निति, तत्राह ईश्वराणामिति ।

**आभासार्थ—**इस चरित्र के करने से 'तेजस्वी पुरुषों के चरित्रों का अनुकरण कर लोक कल्याण प्राप्त करते हैं, इस वाक्य का विरोध आता है, इसका उत्तर 'ईश्वराणां वचस्तथ्यं' ओक में देते हैं—

**श्लोक—**ईश्वराणां वचस्तथ्यं तथैवाचरितं क्वचित् ।

तेषां यत् स्ववचो युक्तं बुद्धिमांस्तत् समाचरेत् ॥३२॥

**श्लोकार्थ—**ईश्वरों के वाक्य सत्य हैं वैसे उनके चरित्र कहां कहां सत्य हैं, बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि जो योग्य समझ में आवे वैसा आचरण करे ॥३२॥

|                                                                                                                                                                                                |                                                                                                                                                                |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी—</b>ईश्वराणां वच एव तथ्यम्, न त्वाचरितम् । क्वचिदाचरितमपि वचनानुगुणं चेत् । ईश्वराणां बहवो धर्माः । यथैश्वर्यम्, तथा धर्मात्मत्वम्, तथा दया । तत्रैश्वर्यज्ञानवैराग्यैर्यत्</p> | <p>करोति, तत् स्वच्छन्दचरितमित्युच्यते । बुद्धिमान् तन्न समाचरेत् । ते ह्यन्यथा न वदन्ति । अन्यार्थं कथनमन्याधिकारेणेति । अतस्तद्विरुद्धं न कथयन्तीति ॥३२॥</p> |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यार्थ—**ईश्वरों-समर्थ पुरुषों के वचन तथ्यात्मक होते हैं न कि आचरण भी। आचरण को तभी तथ्यात्मक मानना चाहिए जब वह उनके वचनों के अनुसार हो। अन्यथा ईश्वरों में तो अनेक धर्म रहते हैं, जैसे उनमें ऐश्वर्य है वैसे वे धर्मात्मा भी होते हैं, उनमें दया भी रहती है। इन सब में ऐश्वर्य ज्ञान या वैराग्य से जो उनका आचरण होता है वह (स्वभावतः) स्वच्छन्द आचरण कहलाएगा। बुद्धिमान व्यक्ति इस तरह के स्वच्छन्द आचरण का अनुकरण नहीं करते। परन्तु समर्थ ईश्वरों के वचन कभी भी अन्यथा नहीं होते, क्योंकि कहने में सुनने वाले की अपेक्षा है (स्वयं अपनी नहीं) अतः सुननेवाले के विरुद्ध जाए ऐसी बात वे नहीं करते। अर्थात् जिसमें सुननेवाले का अहित होता हो ऐसी बात वे नहीं करते ॥ ३२ ॥





**आभास—**ननु यथान्यस्मै न कथयन्ति, तथा स्वयमपि कुतो न कुर्वन्ति, तत्राह कुशलाचरितेनेति ।

**आभासार्थ—**जैसे दूसरों को वे असत्य नहीं कहते हैं वैसे आप भी सत्य क्यों नहीं करते हैं जिसका उत्तर शुकदेवजी 'कुशला चरितेन' श्लोक में देते हैं—

**श्लोक—**कुशलाचरितेनैषामिह स्वार्थो न विद्यते ।

**विपर्ययेण वानर्थो निरहङ्कारिणां प्रभो ॥३३॥**

**श्लोकार्थ—**निराभिमानी, इनको, अच्छे चरित्रों के करने से कोई लाभ होगा वैसा स्वार्थ नहीं है, बुरे कर्म करने से इनकी कोई हानि नहीं होती है ॥३३॥

|                                                                                                                                                                                                                                   |                                                                                                                                                                             |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी—</b>एषामीश्वराणां कुशलाचरितेन अर्थः प्रयोजनं न विद्यते, ततोऽप्यनन्तफलस्य प्राप्तत्वादेव । विपर्ययेण अकुशलाचरितेन अनर्थोऽपि न विद्यते । ईश्वराणामेव निषिद्धकर्मणा अनिष्टाभाव इति न, किन्तु ज्ञानिनामपीति ज्ञान-</p> | <p>वैराग्योऽस्तुल्यं स्वरूपमाह निरहङ्कारिणामिति । अहङ्काररहितानाम् । न केनापि किमपि, कर्तृ-त्वाभिमानाभावात् । प्रभो इति सम्बोधनमीश्वरस्य लोकविलक्षणत्वज्ञापनार्थम् ॥३३॥</p> |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यानार्थ—**इन ऐश्वर्य युक्त ईश्वरों को अच्छे कर्म करने से कोई प्रयोजन<sup>१</sup> नहीं है, कारण कि अच्छे कर्म करने से जो फल मिलता है उससे भी अनन्त फल तो उनको आगे ही प्राप्त हैं । बुरे कर्म करने से उनका कोई अनर्थ<sup>२</sup> नहीं हो सकता है । निषिद्ध कर्म करने से केवल ईश्वरों को ही हानि नहीं होती है, यों नहीं है, किन्तु जो ज्ञानवान् हैं उनकी भी कोई बुराई नहीं होती है, कारण कि दोनों अहङ्कार रहित हैं, यों ज्ञान तथा वैराग्य दोनों का स्वरूप समान है । अतः ज्ञानी तथा विरक्त दोनों को किसी कर्म से भी कुछ भी लाभ व हानि नहीं है कारण कि उनमें कर्तापन का अभाव है । जिनमें ऐश्वर्य होता है वे जगत् से विलक्षण होते हैं इसको बताने के लिए परीक्षित<sup>३</sup> को 'प्रभो' संबोधन किया है जिसका भावार्थ है कि तुम राजा हो जिससे तुममें ऐश्वर्य है और प्रजा में ऐश्वर्य नहीं है इसलिए दोनों में<sup>३</sup> विलक्षणता है दोनों के धर्म जुड़े हैं ॥३३॥

**आभास—**यत्र ज्ञानसहकृतमेव तत्कर्म नानिष्टजनकम्, किं वक्तव्यमैश्वर्यसहकृतमित्याह किमुतेति ।

**आभासार्थ—**ज्ञान के साथ रहने पर भी जब निषिद्ध कर्म कुछ अहित नहीं कर पाता तो ज्ञान ऐश्वर्य आदि सभी रहने पर तो वह क्या अहित करेगा ? यह "किमुताखिल" से समझाते हैं—



श्लोक—किमुताखिलसत्त्वानां तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसाम् ।

ईशितुश्चेशितव्यानां कुशलाकुशलान्वयः ॥३४॥

श्लोकार्थ—सर्व जीव, पशु पक्षी, मनुष्य तथा देवताओं के ईश्वर कृष्ण को, अपने सेवकों के साथ ऐश्वर्य से किए हुए कर्मों का इष्ट वा अनिष्ट फल का सम्बन्ध कैसे हो सकता है जब कि जानों का भी इष्ट वा अनिष्ट फल से सम्बन्ध नहीं होता है ॥३४॥

सुबोधिनी—ईश्वरस्य सेवकमारणं सेवकानामन्यथाकरणं च न काचित् शङ्का भवति । यथैहिकी, तथा पारलौकिकी । नियामकाद्वि शङ्का । भगवतो न नियामकोऽन्योऽस्तीत्याह । अखिलसत्त्वानां सर्वजीवानाम् । तिर्यङ्मर्त्यदिवौकसां गुणत्रयकार्याणां जीवजडानामप्राकृतानां वा सर्वेषामेव ईशितुः प्रभोः कृष्णस्य । चकारादा-

त्मनश्च । ईशितव्यानां सेवकानां सम्बन्धी । तत्कृतगुणदोषाभ्यां कुशलाकुशलयोरन्वयः कुतः । नहि दासीभिः स्वात्मभूताभिः सम्बन्धे अनियम्यस्य ऐहिके पारलौकिके वा कश्चनापकारः सम्भवति । अन्तरङ्गैरेव तथा ज्ञायत इति न सुश्लोक्यतानिवृत्तिः ॥३४॥

व्याख्यार्थ—ऐश्वर्य धर्म युक्त स्वामी अपने सेवक को दण्ड दे अथवा एक स्थान से दूसरे स्थान पर तबदीली कर दे तो उसमें वह स्वतन्त्र है, जिसके लिए किसी<sup>१</sup> प्रकार भी शङ्का नहीं होती है । जिस प्रकार लौकिक विषय में यह नियम है ऐसे ही परलोक के विषय में भी समझना चाहिए । किसी नियम के कारण अथवा चलानेवाले हेतु के रहने पर शंका होती है सारे नियमों के स्वामी<sup>२</sup> का कोई अन्य नियामक<sup>३</sup> नहीं होता है वह अपना आप नियामक है । श्रीकृष्ण तो पशु पक्षी, मनुष्य तथा देवताओं के तीन गुणों के कार्य जो जीव, जड़ या प्राकृत, अप्राकृत आदि सर्व वस्तु मात्र के स्वामी हैं । श्लोक में 'च' है जिसका आशय है कि आत्मा के भी स्वामी हैं । सर्व सेवकों के संबन्धी हैं । उनके<sup>४</sup> किए हुए अच्छे बुरे कर्मों के इष्ट वा अनिष्ट फल से उनका<sup>५</sup> सम्बन्ध कैसे हो ? अर्थात् नहीं है । अपनी आत्मरूप दासियों के साथ सम्बन्ध होने से, जिसको कोई नियम में रखने वाला नहीं है वैसे स्वच्छन्द ईश्वर श्रीकृष्ण का इस लोक अथवा परलोक में किसी प्रकार का अपकार नहीं हो सकता है ।

इस विषय के तत्व का ज्ञान केवल अन्तरङ्ग भक्तों को ही है अतः जगत में भगवान् की निन्दा नहीं हो सकती है ॥३४॥

( लेखकार कहते हैं कि—ईश्वर होने से इस लोक में श्रीकृष्ण का कोई नियामक नहीं है, आत्मा अर्थात् ब्रह्म रूप होने से परलोक में भी इनके कोई भी नियामक नहीं है, अतः इनका कहीं भी अपकार नहीं हो सकता है । )

१—लोक और परलोक की, २—ईश्वर, ३—मालिक-नियम में चलाने वाला, ४—सेवकों के, ५—श्रीकृष्ण का,



आभास—नापि कर्ममार्गविचारेण कर्मप्राधान्यपक्षेऽपि दोषः शङ्कनीयः । यथा 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसोत्' 'ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्' 'स आत्मानमेवावैत्' इत्यादिश्रुतिषु यथा ज्ञानकर्मभ्यामुत्कर्षः, एवमपकृष्टज्ञानकर्मभ्यामपकर्षोऽपि सम्भाव्यत इति तत्राह यत्पादेति ।

आभासार्थ—कर्म मार्ग के विचार से, कर्म की मुख्यता से भी ईश्वर में दोष नहीं लगता है । "ब्रह्मा का यह यज्ञ पहले था", "यह प्रथम ब्रह्म ही था", उसने आत्मा को ही जाना", इन श्रुतियों में जैसे कर्म तथा ज्ञान से उत्तमता दिखाई है, वैसे बुरे कर्म और ज्ञान से पतन भी हो सकता है इसका उत्तर 'यत्पाद' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—यत्पादपङ्कजपरागनिषेवतृप्ता योगप्रभावविधुताखिलकर्मबन्धाः ।

स्वैरं चरन्ति मुनयोऽपि न नह्यमानास्तस्येच्छयात्तवपुषः कुत एव बन्धः ॥३५॥

श्लोकार्थ—भगवान् के चरण कमल की रज के सेवन से जो तृप्त है, योग के प्रभाव से जिनके सम्पूर्ण कर्म बन्धन टूट गए हैं, और जो मुनि हैं वे भी स्वैर' आचरण करते हैं, तो वे भी जब बन्धन में नहीं फसते हैं तब अपनी इच्छा से शरीर धारण करने वाले भगवान् को बन्ध कैसे होगा ? अर्थात् नहीं होगा ॥३५॥

सुबोधिनी—नहि सर्वेषामेव जीवानां समान-कर्मणा समानं फलमुपलभ्यते । अन्यथा शास्त्रवै-फल्यापत्तिः । उत्कृष्टकर्मादौ प्रवृत्तो नापकृष्टकर्मणा कादाचित्केन अपकृष्टो भवति । तत्र मार्गत्रयम् । त्रिष्वपि प्रवृत्तो नापकर्ष यातीत्याह । तत्र प्रथमं भक्तिमार्गं प्रवृत्तस्य, तत्र पुष्टस्य, न केनाप्यपकर्ष इत्याह । यस्य भगवतः पादपङ्कजस्य परागभूता ये सेवकाः तेषां निषेवो न निषेवणं तेन तृप्ताः । भगवद्भक्तैः सह भगवद्गुणस्मरणेनैव विस्मारितदृष्ट-श्रुतसुखलेशाभासाः स्वैरं चरन्ति । न तेषां कर्मो-त्कर्षापकर्षौ साधकबाधकौ । तथा कर्ममार्गोऽपी-त्याह योगप्रभावेति । योगो हि महान् धर्मः । 'अयं हि परमो धर्म' इति स्मृतेः । तस्य प्रभावः अणिमार्गं श्वर्यसम्पत्तिः । ज्ञानादयश्च । तेनैव

विशेषेण धृताः । पूर्वकर्मजनिता अपि अखिल-कर्मबन्धाः विशेषेण धृता भवन्ति । तेऽपि स्वैरं चरन्ति । ज्ञानमार्गोऽप्याह मुनयोऽपि स्वैरं चर-न्तीति । सर्व एव न नह्यमानाः अवध्यमानाः । एतद् बन्धने । सर्वत्रैव असम्बध्यमानाः । यत्र भगवत्प्रवर्तितमार्गोऽवप्येषा व्यवस्था, तत्र भगवतः किं वक्तव्यमित्याह तस्येच्छयात्तवपुष इति । इच्छया भोगार्थं आत्तानि वपूषि 'यावतीर्गोप-योषित' इति तावन्ति येन । तस्य कुत एव बन्धो भवेत् । यो ही तावद्रूपो भवति, कार्यं कृत्वा च तान्याच्छादयति, तस्य केन कर्मणा बन्धो भवेत् । कर्म हि प्रतिनियतं व्यवस्थितम् । तत्र यदि भिन्नो भिन्नो जीवः स्यात्, तदा तेन कर्मणा बन्धो वा भवेत् । आकाशवद् भगवद्रूपाणि प्रतिपद-



मन्यान्वेव भवन्ति । यथात्रभेदेनाप्येकदेहव्यवहारः, वा वपूषि । अतः सर्वथा प्रमाणप्रमेयविचारेणापि  
एवं देशभेदेनापि भगवतः सर्वतः पाणिपादान्तस्य न बन्धः सम्भवति ॥३५॥  
तावत्परिच्छेदेन प्रादुर्भाव इच्छयेति । स्वामिनीनां

व्याख्यानार्थ—सब जीवों को समान कर्म करते हुए भी समान फल नहीं मिलता है, यदि सब को समान फल मिले तो शास्त्रों की विफलता + हो जाय । उत्तम कर्म करने वाले मनुष्य से यदि अचानक कोई निन्दित कर्म हो जावे तो उससे वह नीच नहीं होता है । जिसका कारण तीन मार्ग हैं, इन तीनों में से किसी पर भी चलने वाले का पतन नहीं होता है ।

(१) उनमें से प्रथम, जो भक्ति मार्ग में पूर्ण रीति से स्थित है उसका अपकर्ष नहीं होता है उसको बताते हैं कि जो भगवान् के चरण कमलों की रज से शुद्ध हुए भक्तों की सेवा से तृप्त हो गए हैं, तथा भगवान् के भक्तों के साथ भगवद्गुणों के स्मरण करने से देखे और सुने जाने वाले सुख मात्र को जिन्होंने भुला दिए हैं, जिससे वे स्वेच्छा से कर्म करते हैं । उनको कर्मों के उत्कर्ष<sup>१</sup> और अपकर्ष<sup>२</sup> साधक वा बाधक नहीं हान्ते हैं ।

(२) इस प्रकार कर्म मार्ग में भी होता है जिसको समझाते हैं कि 'योग महान् धर्म है' यों स्मृति शास्त्र में कहा है । उसका प्रभाव अर्थात् फल अणिमादि ऐश्वर्य की सम्पत्ति तथा ज्ञानादि की प्राप्ति है । उससे पूर्व तथा अब के किए हुए सर्व कर्म बन्धन छूट जाते हैं जिससे वे भी स्वतन्त्र हो सर्व कर्म करते हैं ।

(३) अब ज्ञान मार्ग के विषय में कहते हैं कि मुनि भी जो कर्म बन्धन से मुक्त हैं वे स्वतन्त्रता से कर्म करते हैं । जहां भगवान् के प्रवृत्त किए हुए मार्गों में भी यह मर्यादा है तो गोपियां जिन भगवान् की 'इच्छा शरीर' हैं अर्थात् जितनी गोपियां हैं भोगार्थ उतने स्वरूपों को स्वेच्छा से भगवान् ने धारण किया है । ऐसे स्वतन्त्र भगवान् को बन्ध कैसे हो सकता है ? जो सर्व समर्थ प्रभु उतने रूप प्रकट कर कार्य करने के बाद उन रूपों का तिरोधान कर देते हैं उनको किस कर्म से बन्धन हो सकता है ?

सभी के लिए स्व स्व कर्म नियत हैं । वहां जीव भिन्न-भिन्न हों  $\Delta$  तो उन-उन विहित अथवा निषिद्ध कर्मों के करने या न करने से जीव कर्म बन्धन में पड़ते हैं । भगवान् के रूप तो आकाश की तरह पद-पद पर विभिन्न हैं । जैसे अन्न भेद के रहते भी देह के बारे में एक होने का व्यवहार चलता है इसी तरह देश भेद होने पर भगवान् जिनके कर, चरण आदि सर्वत्र व्याप्त हैं, अपनी इच्छा से अनेक परिच्छिन्न आकारों को लेकर प्रादुर्भूत हो जाते हैं । स्वामिनीयों के देह के रूप में अथवा प्रादुर्भूत हो जाते हैं । अतः प्रमाण अथवा प्रमेय किसी का भी विचार करने पर भगवान् को कर्म-बन्धन नहीं होता । ३५॥

+ जैसे कि साधारण मनुष्य निषिद्ध कर्म करता है तो उसका अनिष्ट न हो तदर्थ शास्त्रानुसार

वह प्रायश्चित्त करता है तो उसको अनिष्ट फल नहीं मिलता है । वैसे ही ज्ञानी योगी तथा भक्त से भी निन्दित कर्म हो जावे तो उसका भी अनिष्ट नहीं होता है, कारण कि ज्ञान रूप अग्नि से ज्ञानी के कर्म जल कर भष्म हो जाते हैं, योग से भी पापों का दहन होता है, भगवन्नाम में पापों को भस्म करने की जितनी शक्ति है पापी उतने पाप नहीं कर सकता है । जो साधारण, ज्ञानी भक्त आदि सर्व को समान फल मिले तो इन सर्व शास्त्रों की व्यर्थता हो जाय ।

△ ब्राह्मण को इस समय यह कर्म करना चाहिए, क्षत्रिय को यह, इस तरह इस अधिकारी को यह करना चाहिए वह नहीं इस तरह के कर्मों का विधान या निषेध सभी के लिए रहता है । ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि भेद देह के कारण जीव में आता है और उसके आने पर कर्मों का अधिकार और उसके बाद उन-उन कर्मों के करने या न करने पर कर्म बन्धन होता है । भगवान् में तो देह देही भाव है ही नहीं अतः भेद मूलक कर्माधिकार भी नहीं आता फलतः भगवान् विधिनिषेध के दायरे में नहीं आते । यह प्रमाण-विचार से सिद्ध होता है, प्रमेय विचार से भी स्वामिनीयों के देह के रूप में भगवान् ही तो आविर्भूत हुये हैं अतएव भी विधिनिषेध एवं कर्मबन्धन की कल्पना भगवान् के बारे में नहीं की जा सकती है ।

आभास—ननु तथापि लोकमर्यादाया भग्नत्वात् 'यद्यदाचरति श्रेष्ठ' इति न्यायेन शब्दबल-विचारेण बन्धो भवेत् । ते ह्यवधूतास्त्रयोऽपि, न ते व्यवहारनियामकाः । अतो विषमो दृष्टान्त इति चेत्, तत्राह गोपीनामिति ।

आभासार्थ—ऐश्वर्य के कारण उनको बन्ध नहीं है तो भी यों करने से 'लोक मर्यादा' का तो भङ्ग हुआ और 'यद्यदाचरति + श्रेष्ठः लोकस्तदनुवर्तते' इस न्यायानुसार यदि शब्द बल का विचार किया जाय तो बन्ध होना चाहिए । आपने जो तीन दृष्टान्त दिए वे तो तीनों ही योगी हैं, वे व्यवहार के नियामक नहीं हैं, ईश्वर तो व्यवहार के स्वयं नियामक हैं, अतः यह दृष्टान्त विषम है । यदि यों कहो तो उसका उत्तर यह है जो 'गोपीनां' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं ।

श्लोक—गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामपि देहिनाम् ।

योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहमाक् ॥३६॥

श्लोकार्थ—गोपियों के, उनके पतियों के तथा सब जीवों के जो अन्तर्यामी हैं वह ही लीला से क्रीड़ा के लिए देह धारण कर प्रकट हुए हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—नहि स्वस्पर्शः स्वस्य क्वापि । उभयमपि न भगवति । यतः भगवान् गोपीनां निषिद्धः । परा चासी स्त्री च परस्य च स्त्री । तत्पतीनां च आत्मा । बान्धवाः सर्वे लौकिकाश्च

+ श्रेष्ठ पुरुष जैसे जैसे कर्म करते हैं उनको देखकर अन्य भी वैसे कर्म करते हैं—

१—असमान,



न मन्यन्त इति चेत्, तत्राह । सर्वेषामपि देहि-  
नामयमात्मेति । यो भगवान् अन्तश्चरति ।  
आसन्यो जीवो वा । सर्ववासिद्वान्तसङ्ग्रहाय  
सामान्यवचनं योज्यन्तश्चरतीति । स एवायं भग-  
वानध्यक्षः प्रत्यक्षः क्रीडनेन कृत्वा नटवत् पुरुषदेहं

भजते । वस्तुतस्तु नायं पुमान्, न च स्त्री,  
नाप्यन्यः कश्चित् । 'न स्त्री न षण्डो न पुमा'  
निति श्रुतेः । अतः केनापि विचारेण नास्य  
दोषसम्भवः ॥३६॥

**व्याख्यानार्थ—**यह तो माना हुआ सिद्धान्त है कि स्वयं यदि अपने को स्पर्श करे तो उसका कहीं भी निषेध नहीं । यह स्त्री मुझसे अन्या है और यह पराई स्त्री है, ये दोनों बातें भगवान् पर लागू नहीं होती, कारण कि भगवान् गोपियों के तथा उनके पतियों की आत्मा है, यदि कहो कि इस बात को, बान्धव और सर्व लौकिक पुरुष, नहीं मानते हैं तो उसके उत्तर में कहते हैं कि न केवल गोपियों तथा उनके पतियों की आत्मा है किन्तु सकल देहधारी जीव मात्र की आत्मा है । जो भगवान् आसन्य<sup>१</sup> रूप से अथवा जीव रूप से अन्तःकरण में रहते हैं । सर्व वादियों का सिद्धान्त बताने के लिए कहते हैं कि 'अन्तःकरण में रहते हैं' अर्थात् वह ही भगवान् क्रीड़ा के लिए नटवत् पुरुष देह धारण कर प्रत्यक्ष हुए हैं । वास्तविक तो यह न पुरुष है, न स्त्री है न अन्य कुछ भी है, जिसमें प्रमाण यह श्रुति<sup>२</sup> है + अतः सर्व प्रकार विचार करने से यह सिद्ध है कि भगवान् को दोष नहीं लगता है ॥३६॥

**आभास—**ननु तथापि एवंकरणे कोऽभिप्राय इति चेत्, तत्राह अनुग्रहायेति ।

**आभासार्थ—**मान लिया जाय कि भगवान् को दोष स्पर्श नहीं करते हैं, तो भी इस प्रकार के मर्यादा भङ्ग करने वाला निन्दित कार्य क्यों किया ? उसके करने का अभिप्राय क्या है ? यह बतलाइए, जिसके उत्तर में निम्न 'अनुग्रहाय' श्लोक श्री शुकदेवजी कहते हैं—

**श्लोक—**अनुग्रहाय भक्तानां मानुषं देहमास्थितः ।

भजते तादृशीः क्रीडाः याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् ॥३७॥

**श्लोकार्थ—**भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए मानव देह धारण कर, भगवान् ने इस प्रकार की लीलाएं की, जिनको सुनकर श्रोता भगवान् में तन्मय हो जावे ॥३७॥

**सुबोधिनी—**भक्तानामनुग्रहार्थमेव भक्तसमान-  
रूपं देहमास्थितः । विजातीयै तेषां विश्वासो न  
भवेदिति । ततो यथा मनुष्यानुग्रहाय मानुषो देहः  
प्रदर्शितः, एवं गोपिकानामप्यनुग्रहाय स्वानन्दं

गोकुले दातुं तादृशीः क्रीडाः भजते । तत्तद्धर्म-  
प्रवेशव्यतिरेकेण तस्य तस्य दोषस्यानिवृत्तत्वात् ।  
यद्वा । भक्तानां मानुषं देहं प्रति आस्था सञ्जाता-  
स्मिन्निति स तथा । तत्रापि महान् पूर्णकामः सर्व

+ टिप्पणीजी—देह प्रयुक्त पुरुषत्व का निषेध है न कि स्वाभाविक पुरुषत्व का ।

१—मुख्य प्राण रूप जीवात्मा, २—'न स्त्री न षण्डो न पुमान्' इति श्रुतिः



दातुं शक्तः । न त्वेवं निषिद्धप्रकारेणात्मानं  
दातुमिति । अत एतां लीलां निरोधपूर्वकादेय-  
दानरूपां यः श्रोष्यति, सः सर्वथा भगवत्परो

भविष्यतीति भगवता तथाचरणं कृतम् । तदाह  
याः श्रुत्वा तत्परो भवेदिति ॥३७॥

**व्याख्यानार्थ—**भगवान् ने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए ही उनके समान मनुष्य देह धारण किया है यदि मनुष्येतर देह धारण करते तो उनका विश्वास न होता । इसलिए मनुष्यों पर अनुग्रह के लिए मनुष्य रूप धारण किया । वैसे ही गोपियों पर अनुग्रह के लिए, गोकुल में अपने स्वरूप का आनन्द दान करने के लिए उसी प्रकार क्रीड़ा करते हैं । भक्तों के दोष जुदे जुदे प्रकार के हैं अतः उन पृथक् पृथक् दोषों को नाश करने के लिए भगवान् ने विविध क्रीड़ाएं कर उनमें अपने जुदे जुदे धर्म प्रवेश किए जिससे उनके सर्व प्रकार के दोष नष्ट हो गए ।

अथवा भक्तों की मनुष्य देह में श्रद्धा रखकर ही भगवान् ने भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए इस प्रकार की लीलाएं की हैं । तो भी पूर्ण काम और महान् हैं जिससे सर्व रसदान करने में समर्थ हैं, किन्तु निषिद्ध प्रकार से अपने स्वरूप का आनन्द नहीं देते हैं, यह लीला विशुद्ध अलौकिक प्रकार से की हुई है अतः यह अदेय दान लीला जो निरोध पूर्वक की हुई है उसका जो श्रवण करेगा वह सर्वथा भगवत्परायण होगा कारण कि भगवान् ने वैसे ही आचरण किया है, इसलिए श्री शुकदेवजी ने भी मूल श्लोक में कहा है कि 'याः श्रुत्वा तत्परो भवेत् अर्थात्' जिन लीलाओं को सुनकर श्रोता भगवत्परायण हो जाता है ॥३७॥

श्री प्रभुचरण टिप्पणीजी में आज्ञा करते हैं कि, श्रोताओं के भी दोष जब इन लीलाओं के श्रवण से नष्ट हो जाते हैं तब भगवल्लीलामध्यपाती भक्तों का दोष नाश होवे जिसके लिए कहना ही क्या है ?

**आभास—**ननु तथापि लोकव्यवहारे स्त्रियोऽन्याधीना इति अदत्तोपादानं गोपानां मनसि खेदः तैः क्रियमाणा अपकीर्तिश्च भवेदित्याशङ्क्याह नासूयन्निति ।

**आभासार्थ—**जैसा आपने कहा वैसा है तो भी लोक व्यवहार से स्त्रियां अन्य ( पति ) के आधिनि हैं, अतः जो वस्तु वस्तु के मालिक से मिली नहीं है उसका उपभोग करने से मालिक के मन में खेद पैदा होता है । वैसे यहां गोपों के मन में खेद हुआ होगा तथा इसलिए मालिकों के द्वारा की हुई अपकीर्ति भी होगी, इस प्रकार की शङ्का का उत्तर 'नासूयन्' श्लोक में देते हैं—

**श्लोक—**नासूयन् खलु कृष्णाय मोहितास्तस्य मायया ।

मन्यमानाः स्वपाश्वस्थान् स्वान्स्वान्दारान् व्रजौकसः ॥३८॥

**श्लोकार्थ—**उनकी माया से मोहित गोपों ने, अपनी अपनी स्त्रियों को अपने पास ही स्थित मानी, अतः कृष्ण से उन्होंने ईर्ष्या नहीं की ॥३८॥



सुबोधिनी—ते भगवन्तं नासूयन्, असूयया न दृष्टवन्तः । प्रथमतः प्रवृत्तिं ज्ञात्वापि भगवन्मायया मोहिता नासूयन् । अग्रे तु स्वपार्श्वस्थानेव स्वान् स्वान् दारान् मन्यमाना जाताः यतो ब्रजौ कस्यः पूर्वापरानुसन्धानरहिताः । सर्वथाङ्गीकृता इति वा । एतादृशानां प्रभौ दोषारोपासम्भवादिति

भावः । अयमर्थः सर्वजनीन इति खल्वित्युक्तम् । भगवत्सान्निध्येऽपि मोहार्थं तस्येति । बुद्धिरेव तेषां भ्रमात् । शिष्टं भगवत एवेति । मननमात्रेणैव सर्वदोषपरिहारः । अनेन तास्वपि दोषारोपो निवारितः ॥३८॥

व्याख्यानार्थ—गोपों को प्रथम यह मालूम था कि हमारी स्त्रियां कृष्ण के पास गई हैं तो भी भगवान् की माया से मोहित हो गए जिससे भगवान् को ईर्ष्या से नहीं देखने लगे अर्थात् भगवान् से ईर्ष्या नहीं की । कारण कि बाद में अपनी स्त्रियों को उन्होंने अपने पास ही हैं यो समझा । क्योंकि गोप होने से उनको आगे पीछे का विचार नहीं रहता है । श्लोक में गोप न कह कर जो उनके लिए 'ब्रजौकसः' कहा है उसका दूसरा आशय प्रकट यह है कि इससे यह जाना जाता है कि गोप ब्रजवासी हैं अतः सर्व प्रकार अङ्गीकार किए हुए हैं । इसलिए सब जानते हैं कि उनकी बुद्धि भगवान् में दोषारोपण करने जैसी नहीं थी । शुकदेवजी ने भी इसकी निश्चयता बताने के लिए निश्चयवाचक 'खलु' पद दिया है ।

गोपियां भगवान् के पास थी फिर भी गोप सब यही समझते रहे कि वे हमारे पास हैं । यह मोह भगवान् की माया के कारण हुआ । उन्हें तो भ्रम वश गोपिकाओं के पत्नी होने का तथा अपने पार्श्व में होने का भान ही केवल है और अवशिष्ट □ सभी कुछ भगवान् का है तथा भगवान् के समीप ही है । ऐसे भान के कारण उन्हें भगवान् में दोष बुद्धि नहीं हुई सो उनके दोष भी निवृत्त हो गए । इससे गोपिकाओं में भी दोषारोपण का निवारण हो गया ॥३८॥

□योजना—गोप के पास तो केवल माया मोहवश भान ही था बाकी अवशिष्ट देह इन्द्रिय प्राण अन्तःकरण जीव सगे सम्बन्धी घरबार आदि सभी कुछ भगवान् का ही है भगवदीय ही है । गोपियों का सभी कुछ भगवदीय ही है परन्तु बीच में उनके पतियों के रूप में प्रसिद्ध गोपों का भी निवेदन हो गया अतः भगवान् में दोष बुद्धि जगना उनके स्वयं के लिए दोष रूप था, वह अपने पार्श्व में मानने के कारण दूर हो गया अतः सारे दोष दूर हो गए । गोपों के दोष दूर होने पर निर्दोष गोपों की संगत से संसर्ग दोष की संभावना गोपिकाओं में से भी हट जाती है ।

आभास—एवं प्रासङ्गिकं परिहृत्य उक्तां लीलामुपसंहरति ब्रह्मरात्र इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार इस लीला में जो शङ्काओं अथवा दोषों की प्रतीति होने लगी उसका परिहार कर अब इस 'ब्रह्मरात्र' श्लोक में लीला की समाप्ति करते हैं ।

श्लोक—ब्रह्मरात्र उपावृत्ते वासुदेवानुमोदिताः ।

अनिच्छन्त्यो ययुर्गोप्यः स्वगृहात् भगवत्प्रियाः ॥३९॥

श्लोकार्थ—ब्रह्ममुहूर्त होते ही भगवान् की प्यारी गोपियां, इच्छा न होते हुए भी भगवान् की आज्ञा मान कर अपने अपने घर गई ॥३९॥





सुबोधिनी—अरुणोदयो ब्रह्मरात्रम्, तस्मिन् उपावृत्तं सम्यक् जाते । तदन्तर्गमितया प्रविष्टो भगवान् गृहे गन्तव्यमितीच्छामुत्पादितवान् । ततः भगवतानुज्ञाताः । यतो भगवान् मोक्षदाता । ताश्चेत् आसन्ध्यमन्तःस्मरणं करिष्यन्ति, तदा मोक्षाधिकारिण्यो भविष्यन्तीति वासुदेवेनानु-

मोदिताः यद्यपि तासामिच्छा न स्थिता, सर्व-परित्यागेन भगवद्भजनस्य कृतत्वात्, किं गृहेण लोकैर्वेति, तथापि गोप्य इति, विपरीतबुद्धिर्हठ-बुद्धिश्च तासां नास्तीति, स्वगृहान् ययुः । तथापि तासां न गृहाः प्रियाः, किन्तु भगवानेव । नापि संसारभयम्, यतो भगवतः प्रियाः ॥३६॥

व्याख्यानार्थ—‘ब्रह्मरात्र’ शब्द का अर्थ ‘अरुणोदय’ है । जब अरुणोदय पूर्ण रूप से हो गया, तब हृदय में अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट प्रभु ने भीतर यह इच्छा प्रकट की कि घर जाना चाहिए । पश्चात् भगवान् ने भी प्रत्यक्ष आज्ञा की कि ‘घर जाओ’ कारण कि भगवान् किसी को भी बन्धन में रखना नहीं चाहते हैं । क्योंकि आप मोक्ष देने वाले हैं तथा गोपियां यहां रहेंगी तो मेरा स्मरण पूर्ण रीति से न कर सकेगी और घर जायेंगी तो परोक्ष होने से जब सन्ध्यापर्यन्त अन्तःकरण से मेरा स्मरण करेंगी तब मोक्ष की अधिकारिणियां बनेगी । अतः मोक्ष दाता ने इस प्रकार आज्ञा दी । यद्यपि गोपीजनों के मन में यह विचार था कि जब सर्व का त्याग कर भगवान् का भजन करना ही हमने स्वीकार कर लिया है तब हमारा घर से अथवा लोगों से क्या लेन देन है, जो हम घर जावें, तो भी गोपियां थीं उनको किसी प्रकार का हठ अथवा उनमें भगवान् के लिए कोई विपरीत बुद्धि भी नहीं थी जिससे भगवान् की आज्ञा न माने । उनको यह निश्चय था कि यह भगवान् है, अतः संसार का भय भी नहीं था । निर्भय होने में विशेष कारण यह था कि वे भगवान् की ‘प्यारियां’ थीं ॥३६॥

आभास—मोक्षार्थमिदं चरित्रमिति ज्ञापयितुं एतदुपाख्यानश्रवणस्य फलमाह विक्रीडितमिति ।

आभासार्थ—यह चरित्र भगवान् ने मोक्ष के लिए किया है अतः इसके श्रवण का फल ‘विक्रीडित’ श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदं च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽनुशृणुयादथ वर्णयेद्यः ।

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥४०॥

श्लोकार्थ—व्रजवनिताओं के साथ की हुई भगवान् की इस क्रीड़ा का श्रद्धायुक्त हो श्रवण करे वा वर्णन करे वह भगवान् में पराभक्ति को प्राप्त कर शीघ्र हृदय के रोग रूप काम को नाश करता है और तत्क्षण धीर बन जाता है ॥४०॥

सुबोधिनी—व्रजवधूभिः सह भगवत इदं मानमुपशृणुयात् । अथवा वर्णयेत् । श्रवणान-विशेषेण क्रीडितं श्रद्धान्वितो भूत्वा सम्यक् कथ्य-न्तरमेव कीर्तनमित्यथशब्दः । य इति नात्र



वर्णादिनियमः, किन्तु यः कश्चन । भगवतो  
माहात्म्यश्रवणादेवमपि मोचयतीति । भक्तानां  
च सर्वथा प्रतिपत्तिश्रवणाच्च । भगवति परां  
भक्तिमुपगतः । ततो भक्त्या अन्तः स्थिरीभूतया  
हृदयस्य रोगरूपं काममाशु शीघ्रमेवापहिनोति ।  
यः पूर्वं हृदयबाधकत्वेन स्थितः, शीघ्रमेव च  
बाधकर्ता, तमाश्वेव दूरीकरोति । श्रवणमात्रेणैव ।

ततः पूर्ववासनया पुनरुद्गमे प्रचिरेणैव धीरो  
भवति । अत इदं साभिप्रायं श्रोतव्यमिति फल-  
प्रकरणत्वात् फलमुक्तम् ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीमल्लक्ष्मण-  
भट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशम-  
स्कन्धविवरणे त्रिंशोऽध्यायविवरणम् ।

**व्याख्यानार्थ—**गोपियों के साथ भगवान् ने जो यह विशेष प्रकार से रमण किया है उसको श्रद्धा पूर्वक श्रेष्ठ प्रकार की हुई कथा द्वारा सुने और सुनने के अनन्तर स्वयं उसका वर्णन करें अर्थात् अन्यो को सुनावे । श्लोक में 'यः' शब्द आया है जिसका आशय यह है कि इस लीला का श्रवण तथा कीर्तन कोई भी मनुष्य कर सकता है, इसमें वर्ण वा आश्रम का कोई नियम नहीं है । यह वर्ण करे यह वर्ण न करे, ब्रह्मचारी करे गृहस्थ न करे वैसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है । जिसमें कोई गुण नहीं है वह भी केवल भगवान् के माहात्म्य श्रवण से ही मुक्त हो जाता है । भक्त तो सर्वथा भगवान् की शरण वाले हैं वे तो श्रवण करने से भगवान् में शीघ्र ही परम भक्ति को प्राप्त कर लेते हैं । अन्तःकरण में स्थिर हुई उस भक्ति से हृदय के रोग रूप काम को शीघ्र ही भगा देता है अर्थात् नाश कर देता है । तात्पर्य यह है कि जो काम प्रथम हृदय में स्थित होकर भक्ति में बाधक था, और जल्दी ही भक्ति के आने में विघ्न करता था उसको शीघ्र ही केवल श्रवण से दूर फेंक देता है । पश्चात् रही हुई वासना से यदि काम का उद्भव हो भी जाय तो भी, यह श्रवण से धीर हो जाने से उसका कोई प्रभाव इस पर नहीं पड़ता है । जिससे वह स्वयं हार कर चला जाता है । अतः यह फल प्रकरण, भावार्थ के साथ सुनना चाहिए । इस श्लोक में लीला के श्रवण का 'फल' कहा है क्योंकि यह फल प्रकरण है ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) के ३० वें अध्याय की

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) के 'तामस

फल' अवान्तर प्रकरण का "श्री" धर्म निरूपक पांचवा अध्याय

हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण



इस अध्याय में महारास का वर्णन है ।

अष्ट सखाम्रो की वाणी का महारास निम्न पदों से पान करें—

मोहन रच्यो अद्भुत रास ।

संग मिलि वृणभान तनया गोपिका चहुँ पास ॥

एक ही सुर सकल मोहे मुरलि सुधा प्रकास ।

जलहु थल के जीव थकि रहे मुनिन मनहि उदास

थकित भयो समीर सुनिके जमुन उलटी धार ।

सूर प्रभु ब्रज बाम मिलि बन निशा करत विहार ॥

रास रच्यो वन कुंदर-किसोरी ।

मंडप विपुल सुभग वृन्दावन, जमुना पुलिन श्यामघन-गोरी ॥

बाजत वेनु रवाब किन्नरी, कंकन नूपुर किकिनी-सोरी ।

ततथेई ततथेई शब्द उघटत पिय, भले बिहारी-बिहारिनि-जोरी ॥

चरहु मुकट चरन तट आवत, गहै भुजनि मैं भामिनि-भोरी ।

आलिगन चुंबन परिरंभन 'परमानन्द' डारत विनु तोरी ॥

रास-रस गोविंद करत विहार ।

सूर-मुता के पुलिन मधि मानों फूले कुमुद कल्हार ॥

अद्भुत सतदल विकसित मानों, जाही जुही निवार ।

मलय पवन वहै सरद-पूरन चंद, मधुप-भंकार ॥

शुषरराइ संगीत कला-निधि मोहन नंद-कुमार ।

ब्रज-भामिनि-संग प्रमुदित नाचत, तन चरचित घनसार ।

उभय सुरूप सुभगता-सीवां कोक-कला सुख-सार ।

'कुंभनदास' प्रभु स्वामी गिरधर पहिरें रसमय हार ॥

जीत्यौ माई ! मदन रास-मंडल हरि ।

जो न जीत्यौ सतमरव पसुपति अज,

जोग समाधि नेम तप व्रत धरि ॥

जमुना पुलिन जुबति-समूह में,

कमल नयन बर कूजत बेनु कल ।

राकापति-कर रंजित कानन,

मंद सुगंध बहै मलयानिल ॥

करज-परस नीबी-बंद मोचन,

कुच जुग सरस आलिगन, बाहुबल ।

"कृष्णदास" प्रभु सब विध समरथ,

गोवर्द्धनधर रसिक नट नवल ॥



नाचत लाल गोपाल रास में सकल ब्रज बधु संगे ।  
 गिडि गिडि तत थुग तत थुग थेई थेई भामिनी रति रस रंगे ॥  
 सरद विमल उडुराज विराजत गावत तान तरंगे ।  
 ताल मृदंग भांभ अरु भालरि वाजत सरस सुधंगे ॥  
 सिव विरंचि मोहे सुर सुनि सुनि सुर नर मुनि गति भंगे ।  
 'गोविन्द' प्रभु रस रास रसिक मनि मानिनी लेत उछंगे ॥

मुकुलित बकुल मधुप-कुल कूजे, प्रकुलित कमल गुलाब फूले ।  
 मंगल गान करत कोकिल-कुल नव मालती लता लगि झूले ॥  
 आइ जुवति-जूथ रास-मंडल खेलत स्याम तरनिजा-कूले ।  
 'छीत-स्वामी' बिहरत वृंदावन गिरिधरलाल कल्पतरु-मूले ॥

देखो देखोरी नागर नट नर्तत कालिंदी तट  
 गोपिन के मध्य राजे मुकुट लटक ।  
 काछिनी किकणी कटि पीतांबर की चटक  
 कुंडल किरण रवि रथकी अटक ॥ १ ॥  
 ततथेई ताताथेई शब्द सकल घट  
 उरप तिरप गति पगकी पटक ।  
 रास में श्री राधे राधे मुरली में एक रट  
 नन्ददास गावें तहां निपट निकट ॥ २ ॥

अद्भुत नट-भेखु धरें जमुना तट स्याम सुंदर  
 गुन निधान गिरिवरधर रास-रंगु नाचे ।  
 जुवति-जूथ संग मिलि गावत केदार रागु  
 अधर बेनु मधुर-मधुर सप्त सुरनि सांचें ॥  
 उरप-तिरप लाग-डाट तत-तत-तत-थेई-तथेई-थेई  
 उघटत सब्दावलि गति भेद कोउ न बांचे ।  
 'चतुर्भुज' प्रभु बन बिलास, मोहे सब सुर अकास  
 निरखि, धक्यो चंद-रथ हि पच्छिम नहि खांचें ॥

रास रमि श्रमित भई ब्रज बाल ।  
 निसि सुख दै जमुना जल लैगए भोर भयो तेहि काल ।  
 मन कामना भई परि पूरन रही न एकौ साध ।  
 षोडस सहस नारि संग मोहन कोन्हो सुख आगाध ।  
 जमुना जल बिहरत नंद नन्दन संग मिली सुकुमारि ।  
 सूर धन्य धरनी वृन्दावन रवि तनया सुखकारि ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥  
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥  
॥ श्री वासुपतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका ( हिन्दी अनुवाद सहित )

दशम स्कन्ध ( पूर्वार्ध )

### तामस-फल-अवान्तर प्रकरण

‘४४० अध्याय’

स्कन्धानुसार एकत्रिंशो अध्याय

सुदर्शन और शंखचूड का उद्धार



इस फल उप प्रकरण में भगवान् ने रूप और नाम भेद से दो प्रकार की लीला की है । प्रथम पांच अध्यायों में स्वरूप से पांच प्रकार की लीला का वर्णन आया है अतः वह रूप लीला प्रकरण है । इन दो अध्यायों में नाम लीला प्रकरण प्रथक् है । स्वरूप लीला का जब भक्त अनुभव करते हैं, तब उनसे अन्य वैष्णव धर्म स्वतः छूट जाते हैं, उनके छूटने से कोई दोष नहीं, क्योंकि, वह स्वरूप लीला के अनुभव का अंग है । नाम लीला, प्रमाणलीला है, अतः उसमें वैष्णव धर्मों का त्याग नहीं है, किन्तु, अन्य देवों के भजन का त्याग आवश्यक अंग है । यदि भक्त उस अंग का पालन नहीं करता है, तो दुःख भोगता है जिससे उसको भगवान् छुड़ाते हैं । इस विषय का स्पष्टीकरण निम्न ४ कारिकाओं में किया गया है—

कारिका—एवं रूपप्रपञ्चस्य पञ्चधा रसवर्णनम् ।

निरूप्य नामलीलातो रसार्थमिदमुच्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस प्रकार, पांच अध्यायों में भगवान् ने मन वाक्, प्राण, इन्द्रिय



और शरीर से पांच प्रकार से रसदान देकर भक्तों को जो आनन्दित किया, उसका वर्णन कर, अब नाम लीला द्वारा रसदान के लिए यह प्रकरण कहते हैं ॥१॥

कारिका—एवमुद्धृतभक्तास्तु यद्यन्यं समुपासते ।

दुःखभाजो भवन्त्येव मुच्यन्ते हरिणैव तु ॥२॥

कारिकार्थ—जिन भक्तों का अन्याश्रय छोड़ाकर भगवान् ने उद्धार किया है, वे यदि अन्य की उपासना कर, अनन्यता धर्म त्याग करते हैं, तो वे दुःखी होते हैं, फिर भी दुःख हर्ता हरि ही उनका वह दुःख मिटाते हैं ॥२॥

कारिका—एकत्रिंशे सर्वभावान्निवृत्तानां तु पूर्ववत् ।

गानेन रमणं चक्रे प्रमाणानन्दसिद्धये ॥३॥

बलभद्रेण सहितो वेदरूपेण सर्वथा ।

तद्दोषं नाशयामास हरिरित्युच्यते स्फुटम् ॥४॥

कारिकार्थ—इस इकतीसवें अध्याय में जब वे अन्य सर्व भावों से छुटकारा पाते हैं, तब पूर्व की भांति, प्रमाणानन्द की सिद्धि के लिए वेदरूप, बलदेव जी के साथ, भगवान् उस सिद्धि में विघ्न रूप रहे हुए दोष को नाश करने के लिए गान पूर्वक रमण करने लगे, जिसका वर्णन यहां प्रकट कहा जाता है ॥३-४॥

टिप्पणीजी का सारः—इकतीसवें अध्याय का विवरणः—इससे पहले जिस लीला का वर्णन किया गया, उसके बाद तो कुतुहल वश भी ब्रजवासियों का अन्य भजन करना उपपन्न नहीं होता, यह शंका उठ सकती है परन्तु यह प्रकरण पूर्व प्रकरण के बीच में आता ही नहीं है, पूर्व प्रकरण में रूप लीला का वर्णन था, यहां नामलीला का वर्णन किया जाता है। नामलीला से जो रस प्राप्त हो सकता है, वह अन्य भजन के त्याग के बिना नहीं हो सकता यह दिखलाना इस प्रकरण की संगति है। जैसे रूपलीला स्वतंत्र है, वैसे ही नामलीला भी स्वतंत्र है, अतएव एक भिन्न प्रकरण का ही प्रारंभ यहां से होता है। नामलीला के दो अंग हैं (१) अन्य भजन का त्याग और (२) भगवन्माहात्म्यज्ञान। अन्य भजन से छोड़ाकर जिन्हें भगवान् अपनी शरण में लेते हैं, यथा इन्द्र भजन छोड़ने से स्पष्ट है, वे पुनः अन्य भजन करें तो दुःखी ही होंगे या भगवान् ही फिर उस दुःख से भी छुटकारा दिलाते हैं। यहां यह ज्ञातव्य है, कि रूपलीला के रसानुभव में वैष्णव धर्मों का भी त्याग अंग बनता है, जब कि नामलीला के रसानुभव में केवल अन्य देवताओं के भजन को छोड़ना पड़ता है, न कि भगवद् धर्मों को भी। विधियां भी नामलीला के अन्तर्गत आती हैं, अतः मर्यादा एवं पुष्टि के प्रभेद



से दो तरह की होती हैं अतः मर्यादा मिश्रित पुष्टि मार्गियों का पूर्वाध्याय में उल्लेख है तथा शुद्ध-पुष्टि मार्गियों का द्वितीयाध्याय में । तथा मर्यादा मार्ग की सदोषता शस्त्र चूड़ के प्रसंग में दिखलाई गई है ।

**आभास—**शब्दतोऽप्यानन्दं निरूपयितुं प्रथमं गोकुलवासिनामभ्यासक्तिं निवारयति एकदेति विशत्या ।

**आभासार्थ—**शब्द द्वारा आनन्द देने की लीला का वर्णन करने से प्रथम गोकुलवासियों में अब अन्य भजन रूप जो दोष है उसका निवारण, 'एकदा देवयात्रायां' श्लोक से २० श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—श्रीशुक उवाच—**एकदा देवयात्रायां गोपाला जातकौतुकाः ।

अनोभिरनडुद्युक्तः प्रययुस्तेऽम्बिकावनम् ॥१॥

**श्लोकार्थ—**एक दिन देवयात्रा में कुतुहल वश वे ग्वाल बैलों से जुड़े हुए गाड़ों में बैठकर अम्बिकावन की ओर चल निकले ॥१॥

**सुबोधिनी—**लोकन्यायेनाप्यन्यत्र गमनेऽनिष्टं भवतीति तेषां यात्राप्रसङ्गो निरूप्यते । एकदा शिवरात्रि समये । प्रतिवर्षं न गच्छन्तीत्येकदेत्युक्तम् । देवयात्रा हि नित्या । गोपालाश्च साधारणधर्म एवाभियुक्ता इति । तत्रापि धर्म-बुद्धिः प्रासङ्गिकी । वस्तुतस्तु जातकौतुकाः ।

अत एव न पद्धत्यां गमनम्, किन्त्वनोभिः शकटैः । तत्रापि नाश्रयोजनम्, किन्तु अनडुद्युक्तः प्रकर्षेण ययुः । महता समारम्भेण गृहे पुरुषानभिनिवेश्य । अम्बिकालयं मथुरातः पश्चिमे देशे अबुंदाचल-निकटे स्थितं तीर्थविशेषं ययुः ॥१॥

**व्याख्यानार्थ—**दुनियाँ में भी ( घर छोड़कर ) अन्यत्र जाने पर सारी कठिनाईयाँ आ पड़ती हैं अतः उनके यात्रा प्रसंग का निरूपण करते हैं ।

शिवरात्री के अवसर पर एक दिन वे अम्बिका वन की ओर चल निकले । वे हर साल नहीं जाते थे अतः 'एक दिन' कहा । देवयात्रा + तो नित्यकर्म है । परन्तु, गोपालों का संबन्ध तो साधारण धर्म ॥ से रहता है और उसमें भी उनकी धर्मबुद्धि प्रसंगोपात्त ही होती है । वस्तुतः तो वे कुतुहल वश ही जा रहे थे, अतएव पैदल न जाकर गाड़ियों में गए । घोड़ों का तो उन्हें कुछ काम ही नहीं था किन्तु बैलों का अवश्य था सो उन्हें जोतकर जोरशोर से चल निकले । बड़े समारंभ के साथ पुरुषों को घर में नियुक्त कर चले । अम्बिकालय मथुरा से पश्चिम में अबुंदाचल के निकट एक तीर्थ है वहीं पहुँचे ॥१॥

+लेख का आशयः—देवयात्रा तो नित्यकर्म है, अर्थात् किसी भी कामना के बिना करते ही रहना चाहिए । भक्ति मार्ग में अन्याश्रय त्याग तो प्रथम कर्तव्य है, फिर चाहे वह नित्य कर्म के अन्तर्गत करना पड़ता हो, अथवा काम्य कर्म के । परन्तु गोपों को लगा, कि नित्यकर्म होने के कारण अन्या-



अथ भी हो, तो दोष रूप नहीं होता अर्थात् ऐसे केवल काम्य-कर्म का ही त्याग होता है न कि नित्य-कर्म का । वस्तुतः तो नित्यकर्म में भी अग्न्याश्रय होता हो तो छोड़ना ही चाहिए कम से कम शरण मार्गियों को तो अवश्य । वेद के मंत्रों में जो इतर देव आते हैं वे तो "देवानारायणांगजः" वचन के अनुसार भगवान् के अंग हैं । वेदोक्त कर्म भी भगवान् की क्रिया शक्ति का एक रूप है । अतः काम्य कर्म वैदिक छोड़ देना चाहिए । स्मृति प्रोक्त अन्य देवों से संबंधित कर्म चाहे नित्य अथवा काम्य दोनों छोड़ देने चाहिए । श्राद्ध, तीर्थ स्नान, दान इत्यादि "विष्णु प्रीयतां" के सकल्प के साथ करने चाहिए । जिन कर्मों में यह संकल्प न हो पाए, वे सारे कर्म शरण मार्गीय जीव को छोड़ देने चाहिए ।

✽ यह प्रकरण गोपिकाओं का है फिर भी गोपों का निरूपण, धर्मतः जो समान प्रसंग बनता है उसके आधार पर किया गया है । गोपों का संबन्ध मुख्य स्वामिनियों की तरह असाधारण प्रमेय धर्म के साथ नहीं है किन्तु साधारण प्रमाण धर्म के साथ है अतः निरूपण किया है ।

**आभास—**तत्र गतानां पूजाप्रकारमाह तत्र स्नात्वेति ।

**आभासार्थ—**वहां गए हुए गोपों ने जिस प्रकार पूजा की उसका वर्णन 'तत्र स्नात्वा' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**तत्र स्नात्वा सरस्वत्यां देवं पशुपतिं प्रभुम् ।

अनर्चुरहंणैर्भक्त्या देवीं च नृपतेऽम्बिकाम् ॥२॥

**श्लोकार्थ—**हे राजन् ! वहां सरस्वती नदी में स्नान कर पशुपति महादेव और अम्बिका माता की पूजा के द्रव्यों से श्रद्धापूर्वक पूजा की ॥२॥

|                                                                                                                                                                                               |                                                                                                                                                          |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी—</b>सरस्वती तत्र प्रादुर्भूता । अतः स्नात्वा पशुपाशविमोक्षणार्थम् । स्वयं पशुपालका इति पशूनामधिपतिं पशुपालने फलदातारं प्रभुं सर्वदानसमर्थमहंणैः पूजाद्रव्यैरानर्चुः । न तु</p> | <p>पामरवद् गमनमात्रम् । देवीं च अम्बिकां पार्वती-मानर्चुः । चकारात्तदावरणदेवताः । नृपते इति सम्बोधनं यात्रायां तथाकरणे परिज्ञानाद्वि-श्वासार्थम् ॥२॥</p> |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यानार्थ—**वहां सरस्वती प्रकट हुई है । पशु के पाश से मुक्त होने के लिए उसने प्रथम स्नान किया । अनन्तर गोप स्वयं पशुपालक हैं । इसलिए पशुपति जो कि पशु पालने का फल देने वाले हैं और प्रभु होने से सर्व प्रकार के दान देने में समर्थ हैं, उनकी पूजा के द्रव्यों से पूजा की । पूजन करने से यह बताया, कि हम यहां मूर्खों की भांति नहीं आए हैं किन्तु शास्त्र में कही हुई विधि के पालनार्थ भी आए हैं । अम्बिका देवी, पार्वतीजी, का भी पूजन किया । श्लोक में 'च' शब्द दिया है जिसका आशय है कि पार्वती देवी के आस पास जो अन्य देवता थीं उनकी भी पूजा की । परीक्षित को, हे राजन् ! संबोधन इसलिए दिया है, कि परीक्षित को सावधान करते हैं कि तुम राजा हो तुम्हें इसका ज्ञान तो पूर्व ही है, किन्तु इस चरित्र के सुनने से, उसमें हठ विश्वास करना ॥२॥



१—शहद, २—तीर्थपर,



श्लोक— ऊषुः सरस्वतीतीरे जलं प्राश्य धृतव्रताः ।

रजनीं तां महाभागा नन्दसुनन्दकादयः ॥४॥

श्लोकार्थ—महाभागवान् नन्द सुनन्द आदि गोप व्रत धारण कर केवल जल-पान कर वह रात्रि उस तीर पर रहे ॥४॥

|                                                                                                                                                                                                                                    |                                                                                                                                                                                                                              |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>सुबोधिनी—सरस्वतीतीर एव अन्तःशुद्धयर्थ जलमेव प्राश्य तां रजनीमूषुः । न तु रजन्यां किञ्चित् कृतमिति । एतावान् धर्मः सिद्धः । अग्रि-मानिष्टं निवृत्तिष्यत इति महाभागा इत्यनेन द्योतितं श्रोतुः सन्देहाभावाय । नन्दः सुनन्दकश्च</p> | <p>प्रधानभूतौ येषाम् । नन्द इति प्रधाननाम्ना वा सर्वे व्यपदिष्टाः । सुनन्दक आदिर्येषामिति सर्वेषा-मेव सन्दतुल्यता । भगवत्सम्बन्धादत्यानन्दयुक्तः सुनन्दको भवति । उपनन्दोऽन्यो वा । नन्द एव वा धर्मप्राधान्येन गृहीतः ॥४॥</p> |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

व्याख्यार्थ—अन्तःकरण की शुद्धि के लिए जल पान कर वह रात्रि सरस्वती के किनारे पर रहे । रात्रि में किसी प्रकार का कोई अन्य कार्य नहीं किया । इतना धर्म तो सिद्ध हो गया । गोपों को श्लोक में 'महाभागा' विशेषण इसलिए दिया है, कि आगे, जो इनका अनिष्ट होने वाला है, उसकी निवृत्ति भगवान् स्वयं कृपा कर करेगे जिससे श्रोताओं को संदेह न हो । गोपों में नन्द और सुनन्द मुख्य थे । नन्द प्रधान है, जिसके नाम लेने से सब गोप आ गए : सुनन्दक आदि जिनको यों कहने से सर्व गोपों को नन्द से समानता बताई है । सुनन्दक पद का भावार्थ यह है कि जिससे भगवान् का सम्बन्ध होता है, वह विशेष आनन्दवाला होता है उसको सुनन्दक कहा जाता है, उपनन्द दूसरे गोप का नाम है, अथवा धर्म प्राधान्य से नन्द का ही इस प्रकार वर्णन किया है ॥४॥

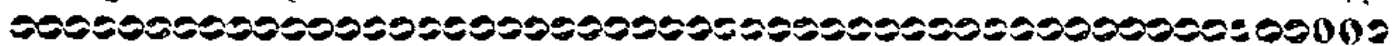
आभास—एवं सर्वतो धर्मसम्पत्तिपुक्तानां भगवद्भावे तिरोभूते निरोधस्य क्तव्यात् शकटाक्षेपवत् सर्पणं नन्दग्रासमपि भगवान् कारितवानित्याह कश्चिदिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार जब कर्म निष्ठ गोपों में से भगवद्भाव तिरोहित हो गया किन्तु भगवान् को उनका निरोध करना था अतः भगवान् ने कृपा कर, शकट गिराकर यशोदा आदि का मन अपनी तरफ खेंच लिया था, वैसे ही यहां भी गोपों का निरोध करने के लिए भगवान् ने नन्द को सर्प से ग्रसने की लीला की, जिसका वर्णन 'कश्चिन्महानहि' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—कश्चिन्महानहिस्तस्मिन् विविनेऽतिबुभुक्षितः ।

यदृच्छयागतो नन्दं शयानमुरगोऽग्रसी । ॥५॥

श्लोकार्थ—बहुत भूखा महान् अजगर उस वन में अचानक आ गया, उसने सोए हुए नन्द को ग्रस लिया ॥५॥



सुबोधिनी—महानहिरजगरः । स हि क्षुधित एव तिष्ठति । कदाचिदेवान्नं प्राप्नोति । तत्र दैवगत्या तस्मिन् विपिने आहाराभावाद् अति-बुभुक्षितो जातः । यदृच्छया कस्मिन् विधिना तेन नन्दः प्राप्तः । यदृच्छयैव नन्दसमीपमागतः । नन्दोऽपि दैवगत्या निद्राणो जातः । वस्तुतस्तु जाग्रता स्थातव्यम् । अतः शयानं नन्दं मुख्यमेव । उरगः आगमने ज्ञातुमशक्यः । अग्रसीत् जग्रास ॥५॥

व्याख्यार्थ—बड़ा सांप अर्थात् अजगर, उसको भोजन कभी कभी मिलता है प्रायः वह भूखा ही रहता है । वन में भोजन न मिलने से उस बहुत भूखे अजगर को, भोजन के लिए नन्द मिले, अकस्मात् ही वह नन्दीजी के समीप भी आ गया । दैवगति से नन्दजी भी उस समय निद्रा में थे । वन में जो जागते रहना चाहिए यों न करने से, सोये हुए गोपों में मुख्य, नन्दजी को ही ग्रस लिया । पेट के बल सरकनेवाले का आगमन जाना नहीं जा सकता ॥५॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह स चुक्रोशेति ।

आभासार्थ—नन्द के ग्रस जाने के अनन्तर जो कुछ हुआ उसका वर्णन 'स चुक्रोश' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स चुक्रोशाहिना ग्रस्तः कृष्ण कृष्ण महानयम् ।

सर्पो मां ग्रसते तात प्रपन्नं परिमोचय ॥६॥

श्लोकार्थ—अजगर से ग्रसित नन्दजी ने क्रन्दन किया, अनन्तर श्रीकृष्ण को प्रार्थना करने लगे, हे कृष्ण, हे कृष्ण ! यह बड़ा सांप मुझे ग्रस रहा है, हे तात ! मैं आपकी शरण हूँ, शरणगत मुझे बचाइए ॥६॥

सुबोधिनी—कण्ठादधोभागेऽहिना ग्रस्तः । पूर्वं केवलं चुक्रोश । पश्चात्माहात्म्यं स्मृत्वा 'कृष्ण कृष्णे' त्यादरेण भयाद्वा सम्बोधनं कृत्वा, स्वानिष्टं निवेदयति महानयं सर्पो मां ग्रसत इति । तातेति सम्बोधनं स्नेहाद्वैकलव्यात् । परिमोचने हेतुं वदन्नेव प्रार्थयते प्रपन्नं परिमोचयेति ॥६॥

व्याख्यार्थ—अजगर ने नन्दजी का कंठ से नीचे का भाग अब तक ग्रस लिया था, अतः प्रथम तो केवल क्रन्दन किया, पश्चात् कृष्ण का माहात्म्य स्मरण कर कृष्ण को प्रार्थना करने लगे, हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! यह महान् सांप मुझे ग्रस रहा है । आदर से पुकारने अथवा भय से पुकारने में 'कृष्ण' शब्द संबोधन में दिया है, और 'तात' शब्द का संबोधन 'स्नेह' अथवा घबराहट प्रकट करने के लिए दिया गया है, छुड़ाने का कारण बताते हैं, कि मैं आपकी शरण आया हूँ अतः मुझे छुड़ाइए ॥६॥

आभास—ततो भगवन्मोचनात् पूर्वमेव अन्ये गोपालाः प्रतिक्रियार्थमुद्यता जाता इत्याह तस्य चेति ।



आभासार्थ—इस श्लोक में कहते हैं कि भगवान् छुड़ावें, जिससे पहले गोपालों ने छुड़ाने का उद्यम किया ।

श्लोक—तस्य चाक्रन्दितं श्रुत्वा गोपालाः सहसोत्थिताः ।

ग्रस्तं च दृष्ट्वा विभ्रान्ताः सर्पं विव्यधुरुल्मुकैः ॥७॥

श्लोकार्थ—उसका आक्रन्दन सुनकर, विना विचारे सहसा गोपाल उठ खड़े हुए नन्द को ग्रसा हुआ देख घबरा गए और जलती हुई लकड़ियों से सर्प को मारने लगे ॥७॥

सुबोधिनी—नन्दस्य विज्ञतां बोधयितुमन्येषा-  
मविज्ञतां च प्रार्थनाप्रतिक्रिययोर्निरूपणम् । तस्य  
नन्दस्य आक्रन्दितं श्रुत्वा । सहस्रं विचारम-  
कृत्वा भगवन्तमपृष्टुं स्वयमेवोत्थिताः । नन्दं  
च ग्रस्तं दृष्ट्वा विशेषेण भ्रान्ताः सन्तः शीतार्थं  
ज्वालितैरुल्मुकैः सर्पं विव्यधुः । अनेनोपायेन  
नन्दोऽपि म्रियेत, तथाप्यज्ञानाद्भगवति विद्यमाने  
यात्रावदिदमपि कृतवन्तः ॥७॥

व्याख्यार्थ—नन्दजी ने छुड़े श्लोक में अपनी रक्षा के लिए भगवान् की प्रार्थना की है, क्योंकि, वे भगवान् के माहात्म्य को जानते थे, किन्तु गोप उनके माहात्म्य को नहीं जानते हैं, इसीलिए उन्होंने नन्दजी को बचाने के लिए प्रतिक्रिया की, जिसका वर्णन इस ७ वें श्लोक में करते हैं ।

गोप नन्द का आक्रन्दन सुनकर, विना विचारे तथा भगवान् से पूछे बिना उठे । नन्दजी को साँप से ग्रसित देख घबरा गए । शीत के लिए जलाई हुई आग से जलती हुई लकड़ियों को उठाकर सर्प को जलाकर मारने लगे, किन्तु यह विचार नहीं किया कि इस उपाय से तो नन्द भी जल जायेंगे, जिससे गोपों की अज्ञानता प्रकट बताई है । गोपों ने जैसे अज्ञान से यात्रा की है, वैसे ही भगवान् जैसे सर्व समर्थ के विद्यमान होते हुए, यह कार्य भी अज्ञान से किया ॥७॥

आभास—तथाप्यनुपायत्वाच्च फलितमित्याह अलातैरिति

आभासार्थ—नन्द को सर्प से छुड़ाने का यह उपाय नहीं था इसलिए वह व्यर्थ हुआ जिसका वर्णन अलातैः श्लोक में करते हैं—

श्लोक—अलातैर्दह्यमानोऽपि नामुञ्चत्तमुरङ्गमः ।

तमस्पृशत् पदाभ्येत्य भगवान् सात्वतां पतिः ॥८॥

श्लोकार्थ—जलती हुई लकड़ियों से जलते हुए भी साँप ने नन्दजी को नहीं छोड़ा, तब वैष्णवों के पति भगवान् ने आकर पैर से उसका स्पर्श किया ॥८॥

सुबोधिनी—स हि भक्षयितुमेव जानाति, न  
त्यक्तुम्, अतो नामुञ्चत् । ततो यदुचितं तमुपायं  
भगवान् कृतवानित्याह तमस्पृशदिति । स्वयम-  
भ्येत्य पदा तमस्पृशत् । तस्य हि कर्मक्षयः



कर्तव्यः । स ज्ञानेन भक्त्या वा । ज्ञाने त्वधिका-  
रिशरीरमपेक्ष्यते । भक्तिरप्यत्र प्रमेयत्वम्यैव ।  
अतस्तस्य भक्तिसिद्धयर्थं भगवदीयशरीरप्राप्त्यर्थं  
पदा अस्पृशत् । स्वयमागत्येति तस्यापि साधना-  
पेक्षाभावात् । तस्य तथाकरणसामर्थ्यावश्य-  
कत्वाय सात्वतां पतिरिति । वैष्णवानामय  
पतिः । अतो वैष्णवहितार्थं तथा कृतवान् ॥८॥

**व्याख्यार्थ—**सांप को भक्षण करना ( पकड़ना ) आता है, छोड़ना नहीं आता है अतः छोड़ा नहीं । पश्चात् भगवान् ने जो योग्य था, वह उपाय किया । वह उपाय था भगवान् के चरण का स्पर्श, अतः भगवान् ने स्वयं आकर अपना चरण स्पर्श कराया, जिससे उसके कर्म नष्ट हुए तथा सर्प योनि से वह मुक्त हो गया । कर्मक्षय तो ज्ञान अथवा भक्ति से होते हैं । ज्ञान प्राप्त करने के लिए अधिकारी शरीर की आवश्यकता होती है, सांप का शरीर ज्ञान अधिकारी नहीं इसलिए वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है, भक्ति की प्राप्ति भी यहां प्रमेय बल से ही हुई है, जैसा कि भगवान् ने अपने प्रमेय बल से उसकी भक्ति की सिद्धी के लिए और भगवदीय शरीर की प्राप्ति के लिए चरण से उसका स्पर्श किया । भगवान् ने उसके साधनों की अपेक्षा नहीं की, स्वयं आकर चरण स्पर्श से उसके कर्म क्षय किए, 'सात्वतां पतिः' पद से यह बताया है कि भगवान् में यों करने की सामर्थ्य है, भगवान् वैष्णवों के रक्षक हैं अतः वैष्णव हित के लिए वैसा किया ॥८॥

लेखकार का आशय—भगवान् के चरण में उत्तम देह करने का सामर्थ्य है, आप वैष्णवों के पति हैं अतः आपको उसकी उत्तम देह बनाना आवश्यक था—

**आभास—**ततो यज्जातं तदाह स वा इति ।

**आभासार्थ—**चरण स्पर्श जो हुआ, उसका वर्णन 'स वै' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**स वै भगवतः श्रीमत्पादस्पर्शहताशुभः ।

भेजे सर्पवपुर्हित्वा रूपं विद्याधराचिंतम् ॥९॥

**श्लोकार्थ—**भगवान् के श्री वाले चरण स्पर्श से उसके सर्व अशुभों का नाश हो गया, जिससे उसने सर्प शरीर का त्याग कर विद्याधरों से पूजित रूप को धारण किया ॥९॥

**सुबोधिनी—**वै निश्चयेन स सर्पवपुर्हित्वा विद्याधररूपं भेजे । परं पूर्वस्माद्विशिष्टम्, भगवदीयत्वात् । तदाह, विद्याधरैरचितमिति । विद्याधराणां देवरूपो जातः । सर्वापकृष्टा सर्पयोनिः । सर्वोत्तमा भगवदीया । एवं चरणप्रभावः । तस्य सर्वावमस्य सर्वोत्तमत्वप्राप्तये प्रमेयबलमेव हेतु-  
रित्याह भगवत इति । देहमात्रे उपपत्तिरुक्ता । तस्य लोके सर्वोत्तमत्वाय चरणं विशिनष्टि श्रीमत्पादेति । तस्य स्पर्शेन हतमशुभं यस्य । सर्पवपुः परित्यागे पापनाशो हेतुः । गुणाधानेऽपि तत्स्पर्श एव हेतुः । यथायोग्यं पदार्थाभिनिवेशः कर्तव्यः । चरणरज एव सामग्रीसम्पादकम् ॥९॥

**व्याख्यार्थ—**निश्चय से उसने सांप का शरीर त्याग, विद्याधर का रूप धारण किया । वह रूप, पूर्व रूप से विशेष था कारण कि अब वह रूप चरण स्पर्श से भगवदीय हुआ है । पहले भगव-



दीय नहीं था, उसकी पुष्टि के लिए मूल श्लोक में इसको विद्याधरों से पूजित कहा है। विद्याधरों में (भी) देवरूप हुआ। सर्प योनि सब से नीच योनि है, भगवदीय योनि सबसे उत्तम योनि है। सबसे नीच योनि से छुड़ाकर सबसे उत्तम योनि देना यह चरण का प्रभाव है, जिसका कारण भगवान् का प्रमेय बल है।

सभी तरह के देहों के बारे में (अर्थात् यथायोग अधमता से उत्तमता तक पहुँचने के बारे में) यही उपपत्ति है अथवा ये ही हेतु हैं। साँप की देह टूटने का कारण चरण स्पर्श से पापों का नाश होता है, और विद्याधरों के भी देव बन जाना यह गुण भी चरण स्पर्श से आया है। पदार्थों का अभिनिवेश यथा योग्य करना चाहिए, चरण रज ही सर्व प्रकार की सामग्री सिद्ध करती है ॥६॥

**आभास—**एवमुपकारमयुक्ते कृतवानिति शङ्कां वारयितुं तस्य भगवत्कृतोपकार-ज्ञानमप्यस्तीति ज्ञापयितुं भगवांस्तं पृच्छतीत्याह तमपृच्छदिति ।

**आभासार्थ—**भगवान् ने इस प्रकार का उपकार अयोग्य में कैसे किया ? इस शङ्का को मिटाने के लिए, यह बताते हैं, कि उसको भगवान् के किए हुए उपकार का ज्ञान भी है, जिसको प्रकट कराने के लिए भगवान् उससे पूछते हैं, जिसका वर्णन 'तमपृच्छद्' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**तमपृच्छद् हृषीकेशः प्रणतं समवस्थितम् ।

दीप्यमानेन वपुषा पुरुषं हेममालिनम् ॥१०॥

**श्लोकार्थ—**सुवर्ण की माला वाले, दीप्यमान शरीर वाले नम्रता पूर्वक सामने स्थित उस पुरुष से भगवान् ने पूछा ॥१०॥

|                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                |                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                             |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>भुविधिनी—</b>यद्यपि स्वयं तस्यान्तःकरणं सर्वमेव जानाति । यतो हृषीकेशः । तथापि तत्र शास्त्रीयं सामर्थ्यं स्थापयितुं परिभाषणपूर्वकं तस्यान्तःकरणं बोधयतीत्याह हृषीकेश इति । तथाकरणे हेतुः प्रणतमिति । तर्हि पूर्व कथमन्यथाकृतवानित्याशङ्क्याह समवस्थितमिति । पूर्वं तु न सम्यगवस्थितः, इदानीं तु नम्रभावेन स्थित इति । आन्तरमप्यस्य स्वरूपं समीचीनमिति</p> | <p>ज्ञापयितुं बहिःकान्तिं वर्णयति दीप्यमानेन वपुषेति । यथा भगवदीयस्य तेजोवच्छरीरं भवति, तथा दीप्यमानेन वपुषा उपलक्षितः । उत्कृष्टयोनावपि भगवदीयत्वेऽपि तरतमभावोऽस्तीति कदाचित्तिर्यङादिरूपं स्त्रीरूपं वा प्राप्नुयादिति शङ्कां वारयितुमाह पुरुषमिति । तत्रापि सर्वगुण-पूर्णतां ज्ञापयितुमाह हेममालिनमिति । महाने-वालङ्कृतो भवतीति ॥१०॥</p> |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यानार्थ—**यद्यपि आप उसके सर्व अन्तःकरण को जानते हैं, कारण आप इन्द्रियों के ईश हैं, तो भी उसमें शास्त्रीय सामर्थ्य स्थापन करने के लिए, वचन द्वारा उसके अन्तःकरण को जगाते हैं, इसलिए आपको हृषीकेश कहा है। पहले यों अन्तःकरण को न जगाकर, अब क्यों जगाते हैं, जिसके उत्तर में कहते हैं कि पहले वह इस प्रकार नम्र होकर सम्यक् प्रकार से स्थिति नहीं था। इसका



भीतरी स्वरूप भी सुन्दर है, यह जताने के लिए बाहर की कान्ति का वर्णन करते हुए कहते हैं, कि जैसे भगवदीय का शरीर तेजस्वी होता है, वैसा यह भी तेजस्वी दीखने लगा। उत्तम योनि में भी साधारण तथा विशेष भाव होते हैं अतः कदाचित् पशु पक्षी आदि का शरीर अथवा स्त्री योनि मिले, तो इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि 'पुरुष' अर्थात् उसको पुरुष शरीर मिला है उस पुरुष शरीर में भी सर्व गुणों की पूर्णता दिखाने के लिए 'हेममालिन' पद से कहा है, कि वह विशेष ही अलङ्कृत था, अर्थात् सर्व गुणों से सुशोभित था ॥१०॥

**आभास—**प्रश्नमाह को भवानिति ।

**आभासार्थ—**'को भवान्' इस श्लोक में भगवान् ने उससे उसके परिचय का प्रश्न किया है—

**श्लोक—**को भवान् परया लक्ष्म्या रोचतेऽद्भुतदर्शनः ।

कथं जुगुप्सितामेतां गतिं वा प्रापितोऽवशः ॥११॥

**श्लोकार्थ—**उत्तम कान्ति से सुशोभित, अद्भुत दर्शन तू कौन है ? और यह निन्दित योनि किसके वश होने से प्राप्त की है ॥११॥

**सुबोधिनी—**क इति जातिनाम्नोः प्रश्नः । स्वभावतोऽप्यमहतः सहस्रैव साधने न महत्वमापद्यत इति भगवानपि तं वर्णयति परया लक्ष्म्या रोचते भवानिति । किञ्च, देवादयः सर्व एव समागताः, बहुधा दृष्टाः, परं भवानद्भुतदर्शनः । अद्भुतं दर्शनं यस्येति । नैवंविधः कश्चित्तेजस्वी

दृष्टपूर्वं इत्यर्थः । इदं पूर्वपुण्यनिचयव्यतिरेकेण न भवति, तस्मिंश्च सति कथं जुगुप्सिता योनिरिति । अवश्यं केनचित् प्रापित इति शाप एव किञ्चित्कारण भविष्यतीति तथोच्यते । तत्रापि वनं केन वा प्रापित इति ॥११॥

**व्याख्यार्थ—**'कः' इस पद से उसकी जाति और नाम पूछे हैं अर्थात् तेरा नाम क्या है और तेरी जाति क्या है ? जो स्वभाव से भी महान् नहीं वह साधन से सहसा महान् नहीं बन सकता है । भगवान् भी उसका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि परम कान्ति से तू सुशोभित हो रहा है, और यहां देव आदि सब आए तथा बहुत प्रकार देखे, भी लेकिन तू अद्भुत दर्शन है अर्थात् तेरे समान आगे कोई तेजस्वी नहीं देखा । इस इस प्रकार का तेजस्वी स्वरूप पुण्य समूह इकट्ठे होने से ही प्राप्त होता है और पुण्यों के रहते हुए निन्दित योनि नहीं मिल सकती अतः अवश्य किसी न किसी शाप के कारण यह गति हुई है और यहां वन में किसने भेजा है यह ज्ञातव्य है ॥११॥

**आभास—**अयं पूर्वमपि सर्प एव स्थितः । भगवत्कृपया विद्याधरत्वं प्राप्त इति ।

**पुनः** सर्प एवायं जातः अतः सर्प उवाचेति । स्वस्य पूर्ववृत्तान्तमाह अहमिति श्लोकद्वयेन ।

**आभासार्थ—**यह पहले भी सांप था, भगवत्कृपा से विद्याधर बना, यह फिर सांप ही हो गया, अतः 'सर्प उवाच' कहा है अर्थात् सांप अपनी आगे की जीवनी निम्न दो श्लोकों से कहने लगा —



श्लोक—सर्प उवाच—अहं विद्याधरः कश्चित् सुदर्शन इति श्रुतः ।

श्रिया स्वरूपसम्पत्त्या विमानेनाचरन् दिशः ॥१२॥

ऋषीन् विरूपानाङ्गिरसः प्राहसं रूपदपितः ।

तैरिमां प्रापितो योनिं प्रलब्धैः स्वेन पाप्मना ॥१३॥

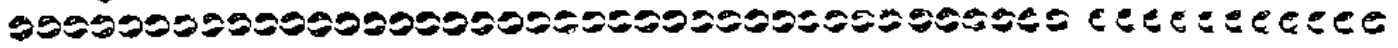
श्लोकार्थ—सर्प कहने लगा कि, मैं सुदर्शन नाम से प्रसिद्ध कोई विद्याधर था, मेरा रूप सुन्दर था और मेरे पास धन आदि भी था जिससे विमान में बैठ दिशा में घूम रहा था, वहाँ मैंने कुरूप आंगिरस ऋषियों को देख, अपने सुन्दर रूप से गर्वित मैंने उनकी हंसी (मजाक) उड़ाई, मजाक से क्षुब्ध उन ऋषियों द्वारा इस योनि को प्राप्त हुआ हूँ, यह मेरे पापों का ही फल है ॥ १२-१३ ॥

सुबोधिनी—विद्याधरा देवविशेषाः । कश्चिदित्य प्रसिद्धः । सुदर्शन इति विश्रुतः प्रसिद्धः । अनेनैव वैष्णवनाम्ना अग्रे भगवत्कृपा जातेति ज्ञापयितुं विश्रुतत्वकथनम् । तस्य देहकान्तिः धनं अद्भुत-सामर्थ्यं चेति पूर्वमपि गुणत्रयं स्थितमित्याह श्रिया स्वरूपसम्पत्त्या विमानेनेति । दिशः दश आसमन्ताच्चरन् । सर्वत्राप्यप्रतिहतगतिः । एवं स्वरूप-मुक्त्वा अपराधफले निरूपयति ऋषीनिति । अङ्गिरसगोत्रे उत्पन्ना ऋषयः अष्टावक्रवद् विरूपाः स्थिताः ।

स्वयं तु रूपेण दपितः प्राहसम् । यथा बालः प्राकृतो हसति । पश्चात् तच्छापेन इमां सर्पयोनिं प्राप्तः । सर्पयोनिप्राप्तौ विशेषहेतुमाह प्रलब्धैरिति । प्रलब्धा वक्रोक्त्या वञ्चिताः उद्वेजिताः । स्वरूपतो निष्कारणमुद्वेजकः सर्प एव भवति । अतः इमां योनिं प्राप्त इति । नन्वल्पेऽपराधे कथं महान् दण्डस्तैः कृत इत्याशङ्क्याह स्वेन पाप्मनेति । पूर्वं हि ब्रह्मवृत्तिरपहृता । अतस्तेन भाव्यमेव ऋषिभिः केवलं प्रकटितमित्यर्थः ॥१३॥

व्याख्यानार्थ—विद्याधर एक प्रकार की देव योनि है उस योनि में यह अप्रसिद्ध कोई विद्याधर था । सुदर्शन नाम से सर्वत्र पहचाना जाता था, जिस नाम से इसकी प्रसिद्धि थी वह नाम वैष्णव था, इस कारण से ही, आगे भगवत्कृपा हुई । इसमें देह की कान्ति<sup>२</sup> धन और अद्भुत सामर्थ्य ये तीन गुण पहले भी थे जिसका वर्णन श्लोक में 'श्रिया'<sup>३</sup> 'स्वरूपसम्पत्त्या'<sup>४</sup> और 'विमानेन'<sup>५</sup> इन तीन पदों से किया है । दश दिशाओं में घूमने से उसकी गति भी बिना रुकावट वाली बताई है । इस प्रकार स्वरूप कहकर अब किया हुआ अपराध और उसके फल का वर्णन करता है । अङ्गिरस गोत्र में उत्पन्न ऋषि अष्टावक्र के समान कुरूप थे, मैं स्वयं सुन्दर रूप होने से अभिमानी था अतः उन पर हंसा जैसे प्राकृत बालक हसता है । पश्चात् उनके शाप से इस सर्प योनि को प्राप्त हुआ । सर्प योनि को प्राप्ति का कारण, ऋषियों का मेरे हंसने से एवं विशेषतः वक्रोक्तियों से क्षुब्ध होना है । बिना कारण अपने स्वरूप मात्र से लोगों को उद्विग्न कर देने वाला सर्प ही होता है । अतः बिना कारण ऋषियों को क्षोभित करने का फल इस सर्प योनि की प्राप्ति है । इस स्वरूप अपराध का इतना महान् दण्ड क्यों दिया ? जिसके उत्तर में कहता है, कि मेरे पाप से महान्





दण्ड मिला है, मैंने पूर्व जन्म में ब्राह्मण की वृत्ति का अपहरण किया था, उसका फल होने वाला ही था केवल ऋषियों ने प्रकट किया है ॥ १२-१३ ॥

**आभास—**एवमपराधशापो निरूप्य तस्य वैष्णवत्वसिद्धयर्थं निर्मत्सरतामाह शापो म इति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार अपराध और शाप का निरूपण कर, वह वैष्णव था जिसको सिद्ध करने के लिए, उसकी निर्मत्सरता + निम्न श्लोक 'शापो मे' से बताते हैं—

**श्लोक—**शापो मेऽनुग्रहार्थं कृतस्तैः करुणात्मभिः ।

यदहं लोकगुरुणा पदा स्पृष्टो हताशुभः ॥१४॥

**श्लोकार्थ—**उन दयावानों ने, भगवान् का इस पर अनुग्रह हो, इसलिए ही मुझे शाप दिया है, जिस शाप के कारण, लोक गुरु के चरण से मैं छूँआ गया जिससे मेरे पाप नष्ट हुए ॥१४॥

**सुबोधिनी—**पूर्व विद्याधरत्वेन कदापि मुक्तिः स्यात्, अतोऽयं शापोऽनुग्रहार्थ एव । यद्यपि लोकेऽनिष्टरूपः, तथापि मेऽनुग्रहार्थ एव जातः । यतस्ते करुणावन्तः नहि करुणावतां शापोऽन्यथा भवति । तत्रापि प्रसिद्धानाम् । तदाह तैः करुणात्मभिरिति । तस्यानुग्रहरूपत्वमाह यदहं लोकगुरुरेति । ननु शापः पूर्वसिद्धः, स दोषात्मक एव, तेन कथमिष्टसिद्धिः, तत्राह कृत इति । अयं शापः तैरेवापूर्वं कृतः । भगवद्दर्शनं ऋषीणामनु-

ग्रहाद् भवति, तदत्र शापादेव जातमिति तस्यानुग्रहत्वम् । किञ्च, लोकगुरुणा त्रैलोक्यस्यैव ज्ञानोपदेशकर्त्ता पादेन स्पृष्ट इति । गुरुसेवया हि ज्ञानं सिध्यति । सा सेवा तदा पुष्टा भवतीति निश्चीयते, यदि स्वयं पदा स्पृशति गुरुः । अति-विश्वस्त प्रीतिमन्तमेव स्वयं पदा स्पृशति । तेनैवापराधः पूर्वपापमपि गतमित्याह हताशुभ इति । हतमशुभं यस्य ॥१४॥

**व्याख्यार्थ—**विद्याधर योनि से न जाने कब मुक्ति मिलती ? अतः यह शाप कृपा के लिए ही है, यद्यपि लोक में अनिष्ट रूप है, तो भी मेरे अनुग्रहार्थ ही हुआ है, कारण कि वे दयावान हैं, दयावानों का शाप अनुग्रह के सिवाय अन्य ( दुःख आदि देने ) के लिए नहीं होता है । वे शाप देनेवाले साधारण नहीं थे, किन्तु प्रसिद्ध अंगिरस कुल में उत्पन्न होने से कृपायुक्त गुण वाले थे, उनका वह शाप अनुग्रह रूप फलदाता हुआ है, जैसे कि लोक गुरु ने स्वचरण स्पर्श कराकर मेरे पाप नाश किए ।

दोष रूप शाप से, इष्ट फल की सिद्धि कैसे हुई ? जिसके उत्तर में कहता है कि उन दयालुओं ने ही शाप को अपूर्व प्रकार का किया है अर्थात् शाप सदैव अनिष्ट करता है, किन्तु यह शाप इष्ट

+ वैष्णव का गुण निर्मत्सरता है, अतः वैष्णवों को निर्मत्सर होना चाहिए— अनुवादक



करेगा वैसी अद्भुतता इसमें धर दी है, जिससे भगवान् के दर्शन हुए, जो भगवान् के दर्शन ऋषियों के अनुग्रह से होते हैं वे शाप से हुए हैं, यह ही उनका अनुग्रह है। तीन लोकों के ज्ञानोपदेशक गुरु के चरण स्पर्श हुए। गुरु सेवा से ही ज्ञान सिद्ध होता है। वह सेवा तब पुष्ट होती है जब गुरु स्वयं चरण से स्पर्श करते हैं। जो दृढ विश्वास वाला तथा अति प्रेमी होता है, उसको ही गुरु स्वयं चरण से स्पर्श करते हैं। 'हताशुभ' पद से कहता है कि गुरु के चरण स्पर्श से ही अपराध<sup>१</sup> तथा पूर्व जन्म कृत पाप<sup>२</sup> दोनों नष्ट हो गए ॥१४॥

**आभास—**एवं भगवच्चरणस्पर्शाभिनन्दनं कृत्वा, तेनैव जातं फलं प्रार्थनामिषेण कीर्तयति तं त्वाहमिति सार्धैस्त्रिभिः ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार भगवच्चरण के स्पर्श की प्रशंसा कर, उससे ही मिले हुए फल का प्रार्थना के मिष से निम्न साढ़े तीन श्लोकों से सर्प वर्णन करता है—

श्लोक —तं त्वहं भवभोतानां प्रपन्नानां भयापहम् ।  
 आपृच्छे शापनिर्मुक्तः पादस्पर्शादमोवहन् ॥१५॥  
 प्रसन्नोऽस्मि महायोगिन् महापुरुष सत्पते ।  
 अनुजानीहि मां देव सर्वलोकेश्वरेश्वर ॥१६॥  
 ब्रह्मदण्डाद्विमुक्तोऽहं सद्यस्तेऽच्युत दर्शनात् ।  
 यन्नाम गृह्णन्नखिलान् श्रोतृनात्मानमेव च ॥१७॥  
 सद्यः पुनाति किं भूयस्तस्य स्पृष्टः पदा हि ते ।

**श्लोकार्थ—**संसार से डर कर शरण आए हुए जनों के भय को मिटानेवाले उन आपके पाद स्पर्श से पाप मुक्त हुआ मैं, हे पापनाशक ! आप से सम्भाषण करता हूँ ॥१५॥

हे महायोगी ! हे महापुरुष ! हे सत्पते ! मैं आपकी शरण हूँ, हे सर्व लोकेश्वरों के ईश्वर ! हे देव मुझे आज्ञा दीजिए ॥१६॥

हे अच्युत ! आपके दर्शन से मैं अभी ब्राह्मणों के शाप से छूटा हूँ, जो मनुष्य आपका नाम लेता है, वह अपने को और जिनको सुनाता है, उन सुनने वालों को भी उसी समय पवित्र करता है, फिर उस आपके चरण से स्पृष्ट हुआ मैं पवित्र हो जाऊँ, जिसमें कहना ही क्या है ? ॥१७॥

१—आङ्गिरसों पर हसना, २—ब्राह्मण वृत्ति का अपहरण,



सुबोधिनी—आदौ फलानुज्ञां प्रार्थयति । तं सर्वफलदातारम् । तुशब्देन कर्मणापि फलमित्यादिपक्षं व्यावर्तयति तं त्विति । त्वा त्वां वा । पूर्वार्थे आङ्मध्ये । आसमन्ताद् भवभीतानामिति । ये केचन दुर्लङ्घ्यादपि संसाराद् भीताः, तेषामपि भवान् भयं दूरीकरोति प्रपत्तिमात्रेणैव । भगवत्सेवार्थं हि संसारे उत्पाद्यन्ते । ते सर्वे संसारगतमायया विपरीता एव भवन्ति । तथापि 'कृष्ण तवास्मी'त्युक्तः सर्वमेव भयं दूरीकरोति । अतोऽस्माकमपि । वयं सापराधाः, नन्दस्य आसं कृतवन्तः । किं करिष्यतीति शङ्का निवर्तिता । अतः आपृच्छे आसमन्तात् पृच्छामि सम्भाषणं करोमि । मध्ये समागतोऽप्युपद्रवो नष्ट इति । आगन्तुकोऽपि दोषो नास्ति, तदाह आपनिर्मुक्त इति । पादस्पर्शादित्युभयत्र हेतुः । तथापि सहजपापस्य विद्यमानत्वात् कथं सम्भाषणयोग्यतेत्याशङ्क्याह अमीवहसिति । अमीवं पापं हन्तीति । तथाप्यन्यप्रेरणया दण्डं मा कुर्यादिति भीतः सन्, शीघ्रं गमनं प्रार्थयन्, पुनर्विज्ञापयति प्रपन्नोऽस्मीति । पुनः शरणागतः । शरणागतस्य सर्वे अपराधा निवृत्ता भवन्तीति : महायोगिन्निति तव नैते पित्रादयः, किन्त्वतियोगेन तथा विडम्बयसीति । केऽपि त्वां न जानन्तीति ज्ञापयितुं महायोगित्वमुक्तम् । किञ्च, अल्प एव क्षुद्रस्यापराधं मन्यते । त्वं तु महापुरुषः । किञ्च, सतां पतिः । सन्तो हि तितक्षवः । तेषां पतिः सुतराम्, अतः सर्वप्रकारेण मदपराधसहनं युक्तमिति भावः । अत एव मामनुजानीहि । सेवकत्वेन जानीहि । देवेति सम्बोधनाद्देवयोनिविद्याधरपक्षपातो युक्तो, न तु मानुषपक्षपात इति । ननु मदननुज्ञापितोऽपि कथं यमादिभिर्न पीडितो

भविष्यसि, कालादयो हि मद्भक्तापराधे दण्डं करिष्यन्त्येवेति चेत्, तत्राह । सर्वलोकानां ये ईश्वराः, तेषापपि त्वमीश्वर इति । अतस्त्वत्कृपायां जाताया न कापि चिन्ता भविष्यतीति भावः । नन्वहमुदासीनः सर्वत्र, 'न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय' इति, अतो निषिद्धाचरणे कालादयो बाधका एवेति चेत्, तत्राह ब्रह्मदण्डादिति । भवदर्शनादेव ब्रह्मदण्डाद्विमोक्षः प्रत्यक्षसिद्धः । यद्यपि त्वमुदासीनः, तथापि त्वद्धर्मा नोदासीनाः । अन्यथा ते दर्शनादेव ब्रह्मदण्डाद्विमोक्षो न स्यात् । तत्रापि सद्यः । तत्रापि दर्शनादेव । अच्युतेति सम्बोधनात् भगवद्धर्माणां कादाचित्कत्वम् । तेन ये निवर्तिताः, ते निवर्तिता एव । ननु यावदुपयोगमेव निवर्तताम्, कथं सर्वानिष्टनिवृत्तिरिति चेत्, तत्राह यन्नामेति । मम सर्वपापनिवृत्तौ न सन्देहः । यस्य नामग्रहणमात्रेणैव श्रोतृकृणात्मानं च निष्पापान् करोति । तत्रापि नाधिकारिविशेषः, किन्तु सर्वानेव । एवेत्यनेन आत्मशब्दः जीवपरो ज्ञायते । न केवलं दैहिका दोषा निवर्तन्ते, किन्त्वज्ञानप्रभृति सर्वमेव निवर्तते । चकारात् श्रोतृकृणामपि तथा समुच्चयार्थः । सद्यः शुद्धिरिति शुद्धिहेतूनां देशादीनां निरपेक्षतामाह । तत्रापि भूयो वारंवारमुच्चारयन् पुनातीति किं वक्तव्यम् । यत्र नाम्न एवेतादृशं माहात्म्यम्, तस्य स्वरूपमाहात्म्यं किं वक्तव्यमित्याह तस्य पदा स्पृष्ट इति । पादस्पर्शः सुतरां दुर्लभः । तत्रापि भगवत्कर्तृकः । तत्रापि चरणकर्तृकः । यतश्चरणे तादृशो रेणुः गङ्गादितीर्थानि, अमृतरसः भक्ता इति सर्वसामर्थ्याद् युक्तमेव सर्वदोषनिवर्तकत्वमिति ह्यर्थः । तत्रापि तस्य ते सर्वदोषनिवारणार्थमेवावतीर्णस्य ॥१७॥

व्याख्यार्थ—प्रारम्भ में भगवान् से फलानुज्ञा के लिए प्रार्थना करता है । वह भगवान् कैसे हैं ? जिनके लिए कहता है, कि वे सर्व प्रकार के फलों को देनेवाले हैं, और दुःख से पार करने योग्य संसार से डरे हुए जो कोई आपके शरण आए हैं, आप उनके भय को भी दूर करते हैं । यद्यपि भगवान् सेवा के लिए ही, वे जगत् में उत्पन्न हुए हैं, किन्तु वे सब सांसारिक माया से भगवत्सेवा से विमुख हो जाते हैं, तो भी 'कृष्ण तवास्मि' इस प्रकार जिसने कहकर आपकी शरण ग्रहण की, उसके सर्व



ही भय आप दूर करते हैं। हम अपराधी हैं, कारण कि नन्द जी को अस गए थे तो भी, आपकी शरण लेने से, हमारा भय भी निवृत्त हो गया है। आपके चरण स्पर्श से वह शङ्का भी निवृत्त हो गई कि आप क्या करेंगे ? इसलिए आप से सम्भाषण करता हूँ। शाप के दूट जाने से, मध्य में उत्पन्न हुआ उपद्रव तथा दोष दोनों नष्ट हो गए हैं, वे तो नष्ट हो गए, किन्तु सहज पाप जो विद्यमान हैं, उनके होते हुए सम्भाषण की योग्यता कैसे होगी ? इसके उत्तर में कहता है, कि आपके दर्शन पाप को नष्ट करने वाले हैं, जिससे सम्भाषण की योग्यता मुझे प्राप्त है। साप के मन में यह विचार हुआ, कि किसी दूसरे की प्रेरणा से दण्ड करदे तो ? इस भय से जाने की प्रार्थना शीघ्र करता हुआ फिर प्रार्थना करता है, कि मैं आपकी शरण आया हूँ। शरण आए हुए के सर्व पाप अपराध नष्ट हो जाते हैं। आप संसारी नहीं हो, किन्तु महान् योगी हो अतः ये नन्दादि आपके पिता आदि नहीं हैं, परन्तु आप योग के महान् प्रभाव के कारण, यह पिता है, मैं पुत्र हूँ वंसा दिखावा करते हैं। आपको कोई नहीं पहचान सकता है, क्योंकि आप महान् योगी हैं। जो तुच्छ होता है, वह छोटे के अपराध पर ध्यान देता है, आप तो महान् पुरुष हैं, सन्तों के भी स्वामी हैं, जब सन्त सब कुछ सहन करते हैं, तो सन्तों के प्रति आप कौन सा अपराध है, जिसको सहन न कर सको ? अतः सर्व प्रकार मेरे अपराधों को सहन करना ही योग्य है, इसलिए मुझे सेवक जानकर जाने की आज्ञा दीजिए। आप भी देव है अतः देवयोनि विद्याधर का पक्षपात करना आपको योग्य है, यह पक्षपात मनुष्य का पक्षपात नहीं है। यदि आप कहो, कि मैं तो सर्व सहन कर आज्ञा दे भी दूँ तो क्या यमादिक पोड़ा न करेंगे ? मेरे भक्तों के अपराधी को कालादिक तो दण्ड करेंगे ही। इस पर मैं कहता हूँ, कि आप जो सर्व लोकों के ईश्वर हैं उनके भी आप ईश्वर हैं, अतः आपकी कृपा होने से अन्य किसी की भी चिन्ता न है न होगी।

यदि भगवान् कह दे, कि मैं उदासीन हूँ, मेरा न कोई शत्रु है और न कोई प्यारा है अतः जिन कर्मों के करने का शास्त्र निषेध करते हैं, उनके करनेवालों को कालादिक बाध ही करनेवाले हैं। इस पर कहता है, कि हे अच्युत ! आपके दर्शन से ही मैं अभी ब्रह्म दण्ड से मुक्त हुआ हूँ यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। यद्यपि आप उदासीन हैं तो भी आपके धर्म उदासीन नहीं है। यदि वे उदासीन होते तो आप के दर्शन मात्र से ब्रह्म दण्ड से छुटकारा न हो जाता, उसमें भी तत्काल ही छुटकारा हो गया, जिससे निश्चय है कि आप चाहे उदासीन ही हो, तो भी आप के धर्म उदासीन नहीं हैं और आप अच्युत हैं इसलिए आपके धर्म सर्वदा जागरूक हैं उनमें अनित्यता नहीं है, अर्थात् आपके धर्म अपना कार्य सदैव करते रहते हैं, यों नहीं है, कि कभी करे, कभी न करे, अतः जो ब्रह्म दण्ड आपके दर्शन धर्म से नाश हुआ सो ही हो गया है। यदि यों कहा जाए, कि, जितने अनिष्ट निवृत्ति की आवश्यकता थी उतने की निवृत्ति हुई, शेष रहा है—सर्व की निवृत्ति नहीं हुई है, इस पर सर्प कहता है, कि मेरे सर्व पाप निवृत्त हो गए हैं, वंसा मुझे पूर्ण निश्चय है किसी प्रकार का भी उसमें संशय नहीं रहा है। मनुष्य, जिस (आप) के केवल नाम ग्रहण से अपने को और जिनको सुनाता है उन सुनने वालों को भी निष्पाप करता है, उसमें भी खास अधिकारियों को ही नहीं किन्तु सभी को निष्पाप करता है।

श्लोक में 'एव' पद आया है जिसका आशय यह है, कि भगवान् के नाम ग्रहण से केवल देह के दोष का ही नाश नहीं होता जीव के अज्ञान आदि सभी दोष नष्ट हो जाते हैं। और 'च' का तात्पर्य है कि नाम श्रवण करने वालों के भी, देह के तथा जीव के दोष नष्ट हो जाते हैं। नाम लेने से उसी वक्त पाप नाश होकर शुद्धि हो जाती है। जिसका आशय है कि देश और काल कैसा भी हो तो भी नाम से शुद्धि हो जाती है अर्थात् नाम लेने में देश और काल पवित्र होने चाहिए उसकी अपेक्षा नहीं है। एक वक्त एक नाम ग्रहण का इतना महान् फल है तो जो सदैव नाम रटता ही रहता है नाम उसको पवित्र करे इसमें कहना ही क्या है? जहां केवल नाम का ही इतना माहात्म्य है वहां उसके स्वरूप के माहात्म्य की क्या महिमा होगी? उसको बताते हुए सर्प कहता है, कि मैं उसके चरण से स्पृष्ट हूं, चरण स्पर्श अतिशय दुर्लभ है उसमें भी भगवान् स्वयं चरण स्पर्श करावे यह तो अत्यन्त ही दुर्लभतम है। चरण का स्पर्श तो सर्व स्पर्शों से विशेष स्पर्श है, कारण कि चरण में रज, गङ्गा आदि तीर्थ, अमृत रस तथा भक्त रहते हैं, इसलिए उसके स्पर्श से सर्व दोष नाश हो जाते हैं वह योग्य ही है, श्लोक में आए हुए 'हि' शब्द देने का यह आशय है, उसमें भी सर्व से विशेषता यह है कि सर्व दोषों के निवारण के लिए ही आप अवतीर्ण हुए हैं यह आशय 'तस्य' और 'ते' शब्दों से निकलता है ॥ १७ ॥

**आभास—**भगवतो वक्तव्याभावात् तूष्णीम्भावेऽप्यङ्गीकारस्य सिद्धत्वाद्भगवन्त-  
मनुज्ञाप्य स्वयमेव गत इत्याह इत्यनुज्ञाप्येति ।

**आभासार्थ—**भगवान् को इससे विशेष कुछ भी कहना नहीं था, अतः आपने मौन धारण करली, जिसका आशय है कि प्रार्थना की स्वीकृति अर्थात् सर्प ने जाने के लिए जो आज्ञा प्रदान करने की प्रार्थना की थी वह भगवान् ने स्वीकार करली है, यों समझ कर, वह स्वयं चला गया जिसका वर्णन 'इत्यनुज्ञाप्य' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं—

**श्लोक—**श्रीशुक उवाच—इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं परिक्रम्याभिवाद्य च ।

सुदर्शनो दिवं यातः कृच्छ्रान्नन्दश्च मोचितः ॥१८॥

**श्लोकार्थ—**इस प्रकार सुदर्शन ने सेव्य प्रभु से आज्ञा लेकर, उनको परिक्रमा तथा अभिवादन कर, स्वर्ग में गया और नन्दजी दुःख से छूटे ॥१८॥

**सुबोधिनी—**यतो दाशार्हः सेव्यः । एवम्भाव एव स्वामी सेव्यो भवतीति । सर्वपुरुषार्थसिद्धयर्थं साधनमपि कृतवानित्याह परिक्रम्येति । परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य । सर्वपुरुषार्थस्तेन वेष्टिता इति तत्सिद्धिः स्वाधीना । अभिवादानेन स्वतन्त्रतया यत्रोपसर्जनत्वेन पुरुषार्थानामत्यागित्वं सूचितम् । चकारात् स्तुत्वा, भगवता च अनुज्ञातः, तथे-

त्युक्तो वा । 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति न्यायेन सर्वपुरुषार्थस्तिस्मै दत्तवानिति वा । अतः सुदर्शननामत्वाच्च दिवं यातः । विद्याधरलोकमेव गतः । कृच्छ्रात् सर्वदोषाद् यतो मोचितः । नन्दश्च तथा कृच्छ्रान्मोचितः । चकाराद् वैभवं च ज्ञातवान् ॥ १८ ॥



व्याख्यार्थ—भगवान् दाशार्ह है, अर्थात् इस प्रकार के भाव वाले से ही स्वामी सेव्य है। सुदर्शन ने सर्व पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए जो साधन किए उनको कहते हैं।

१—प्रदक्षिणा करने से उसने चारों पुरुषार्थों को अपने घेरे में ले लिया, जिससे सिद्धि उसके आधीन हो गई, और अभिवादन से आशीर्वाद प्राप्त करली, जिससे फल प्राप्ति में भी उसको स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई। यों होने से पुरुषार्थ अंग हो गए, और सुदर्शन अंगी हो गया जिससे सुदर्शन की अधिकता प्रकट हो गई। श्लोक में आए हुए प्रथम 'च' का आशय यह है कि, सुदर्शन ने केवल नमन नहीं किया, किन्तु स्तुति करके नमन किया है, अथवा यह भी आशय हो सकता है—भगवान् ने जाने की आज्ञा दी, अथवा भगवान् ने सुदर्शन को 'तथा' कहा अर्थात् भगवान् ने कह दिया, कि जो जिस प्रकार मेरी शरण आता है, मैं भी उसकी कामना उस प्रकार पूर्ण करता हूँ यों 'तथा' कहने से सर्व पुरुषार्थ उसको दे दिए अतः सुदर्शन नाम होने से, वह अपने विद्याधर लोक में गया। कारण, कि सर्व दोषों से वह मुक्त हो गया था और वैसे नन्दजी भी दुःख से छूट गए। दूसरे 'च' का आशय है कि भगवान् का वैभव भी जान लिया ॥ १८ ॥

आभास—ततस्ते गोपाः सर्वथा भगवत्परायणा जाता इत्याह निशाम्येति ।

आभासार्थ—इस लीला से सर्व गोप सर्व प्रकार भगवत्परायण हुए जिसका वर्णन शुकदेवजी 'निशाम्य' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—निशाम्य कृष्णस्य तदात्मवैभवं व्रजौकसो विस्मितचेतसस्ततः ।

समाप्य तस्मिन्नियमं पुनर्व्रजं नृप ययुस्तत्कथयन्त आहता ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! श्रीकृष्णचन्द्र के इस स्वरूप वैभव को देख व्रजवासी मन में आश्चर्य करने लगे पश्चात् जो नियम लिया था उसे समाप्त कर, आदर सहित उन्हीं चरित्रों का गान करते हुए व्रज में लौट आए ॥ १९ ॥

सुबोधिनी—कृष्णस्य तद्वैभवं निशाम्य ज्ञात्वा सर्व एव व्रजौकसो विस्मितचेतसो जाताः अलौकिकसामर्थ्यस्य प्रकटितत्वात् । नात्र कृति-साध्यं किञ्चिद्, येन पूर्वेण गतार्थता स्यात् । अयं त्वनुभावरूपो वैभवः । अन्यथा पादस्पर्शः अलातहननापेक्षया सूक्ष्मत्वात् तेन कथं कार्यं स्यात् । कृष्णस्येति । परमानन्दः स्वानुभवसिद्ध इति धर्म्युत्कर्षः । आत्मन एवायं वैभवो, न तु शक्तेः । अनेन स्वरूपमेव तथाविधमङ्गीकर्तव्यम्, यत्र क्रियाज्ञानादीनामभावः । व्रजौकस इति

दृष्टप्रत्यय एवातिभरः । अत्यन्तविश्वसिताः । अतः क्रियया विस्मिता अपि, पुनरनुभावेनापि विस्मितचेतसो जाताः । ततः तस्मिन् भगवति नियमं समाप्य पुनर्व्रजं ययुः । तत् समारब्धं कर्म कृष्ण एव निवेदितवन्तः । अन्यथा तेन बन्धः स्यात् । पुनर्व्रजमेव ययुः । तत्रैव सर्वसिद्धिरिति मनसाप्यन्यत्र गमनेच्छां न कृतवन्तः । नृपेति सम्बोधनं विश्वासार्थम् । दृष्टे हि राज्ञां विश्वास इति । आहताः सन्तः तदेव कथयन्त इति चित्ते भगवदनुभावाभिनिवेश उक्तः ॥१९॥



**व्याख्यार्थ—**कृष्ण के उस वैभव को समझकर, सब ही व्रजवासियों के चित्त अचम्भे में पड़ गए, कारण कि भगवान् ने अपना अलौकिक सामर्थ्य प्रकट किया । यहां जो कुछ हुआ वह साधन से साध्य नहीं था, जिससे पहले में ही इसकी गिनती की जावे, किन्तु यह तो प्रमेय रूप वैभव है । यदि यह प्रमेय रूप प्रभाव न होवे तो केवल पाद स्पर्श जैसा सूक्ष्म कार्य इस बड़े कार्य को कैसे सिद्ध कर सकता जिसको जली हुई महान् लकड़ियों भी नहीं कर सकी । अतः निश्चय है, कि यह प्रमेय रूप वैभव ही है । श्लोक में 'कृष्णस्य' पद से स्पष्ट कर दिया है, कि अपने अनुभव से सिद्ध है कि ये परमानन्द रूप हैं अर्थात् धर्मों रूप हैं जिससे इस कार्य को सिद्ध कर अपना उत्कर्ष प्रकट किया है । यह प्रभाव भगवान् कृष्ण के अपने स्वरूप का ही है, न कि उनकी शक्ति का । इससे स्वरूप ही वैसा है, यों स्वीकार करना चाहिए । जिसमें ज्ञान और क्रियादिकों का अभाव है, अर्थात् यह कार्य भगवान् ने स्व स्वरूप से किया है, न कि ज्ञान क्रिया आदि शक्तियों से किया है । 'व्रजौकस' पद से यह बताया है, कि यह प्रत्यक्ष प्रमाण है । इस स्वरूप वैभव से गोपों को श्रीकृष्ण में पूर्ण विश्वास हो गया है क्रिया से विस्मित थे फिर भी इस स्वरूप वैभव से विस्मित चित्त वाले हो गए । पश्चात् उन भगवान् को अपना कर्म समर्पण कर फिर व्रज को गए । यदि अपना कर्म भगवान् को अर्पण नहीं कर जाते, तो फिर कोई विघ्न हो जाता । फिर व्रज में इसलिए गए जो वहां ही सर्व सिद्धि की प्राप्ति होनेवाली है, अतः मन से भी अन्यत्र जाने की इच्छा नहीं की । परीक्षित को 'नृप' कहने का शुकदेवजी का यह भाव था, कि परीक्षित इस पर विश्वास करे । राजाओं का विश्वास प्रत्यक्ष पर ही होता है । आदर से भगवान् के चरित्र गाते हुए व्रज में जाने लगे, जिससे यह ज्ञात होता है कि गोपों के अन्तःकरण में भगवान् का प्रभाव जम गया है ॥१६॥

**आभास—**एवमनन्यभजनार्थं भगवदनुभावं निरूप्य शब्दब्रह्मानन्दं गोपिकाद्वारा सर्वेषु पूरयितुं पुनर्गोपिकाभिः सह शब्दात्मकेन बलभद्रेणापि सह क्रीडां निरूपयति कदाचिदिति त्रयोदशभिः ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार भगवान् ने गोपों को अपने अनन्य भजन की सिद्धि के लिए जो अपनी सामर्थ्य दिखाई, उसका शुकदेवजी ने वर्णन कर, अब शब्दात्मक ब्रह्मानन्द को गोपिकाओं द्वारा सर्व में भरने के लिए, भगवान् ने शब्दात्मक बलभद्रजी को अपने साथ ले, पुनः गोपियों से क्रीड़ा की, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी निम्न १३ श्लोकों से करते हैं—

**श्लोक—**कदाचिदथ गोविन्दो रामश्चाद्भुतविक्रमः ।

विजह्नुर्वने रात्र्यां मध्ये गोव्रजयोषिताम् ॥२०॥

**श्लोकार्थ—**कभी अद्भुत पराक्रम वाले गोविन्द और बलदेवजी व्रजाङ्गनाओं के मध्य, रात्रि के समय, वन में क्रीड़ा करते थे ॥२०॥

**सुबोधनी—**इयं हि लीला कालप्रधाना । मर्थेन तन्निराकरणे कृते शब्दस्यैव माहात्म्यं अतोऽत्र दैत्यानां बाधकत्वम् । बाधने भगवत्सा- निरूपितं भवतीति मणिदानमग्रजायैव । लौकि-



कालौकिकमाहात्म्ये ज्ञात एव वेदानां स्वतः प्रामाण्यं सिध्यति । अन्यथा भ्रान्तमीमांसकानामिव सर्वो वेद उत्प्रेक्षापरः स्यात् । कदाचिदशीतकाले । अथ भिन्नोपक्रमेण । पूर्वोक्तगोपिकाव्यतिरिक्ताभिः सह क्रीडा । याः पूर्वं शास्त्रपरा लौकिकधर्म-पराश्च स्थिताः, तासामप्यनुभावदर्शनात् सर्व-स्यापि तदधीनत्वज्ञानाद् भगवता बलभद्रेण च सह रमणार्थमिच्छा जाता । भगवांश्च गोविन्द इति तासामपीन्द्र इति क्रियाशक्तिप्रधानो रेमे । रामश्च । तेनापि सह रमणे चित्तप्रसादार्थमद्भुतो विक्रमः पराक्रमो यस्येत्युक्तम् । चकारस्त्वावेश-

समुच्चयार्थः । अनेन मध्यमाधिकारिणां वेदपरत्वं न दोषार्थेति निरूपितम् । अन्यथा प्रमाणपराणामनन्यभावो भज्येत । अद्भुतः पराक्रम इति केवलार्थपराणामेतस्योपयोगः सूचितः । अन्यथा इतरनिराकरण स्वार्थनिरूपणं चेति भगवति वेदे वा द्विगुणा वृत्तिः स्यात् । अर्थवदेव शब्द-स्यापि लीलेति वने रात्र्यामित्युक्तम् । उभावपि विजहतुः । उभयो रमणार्थं पूर्वगोपिकापेक्षया हीना इति गोब्रजयोषितां मध्य इत्युक्तम् । गोप्रा-धान्यो ब्रजः, तत्सम्बन्धिन्यो योषित इति ॥२०॥

व्याख्यार्थः—( यह लीला शब्द ब्रह्म की लीला है, उसमें काल मुख्य है, अर्थात् जिस कर्म के लिए जो काल नियत हुआ है उसमें ही वह किया जाता है । जैसे कि कहा है 'उदिते-जुहोति' सूर्योदय में, होम करता है अतः कहा जाता है, कि शब्द ब्रह्म की ) इस लीला में काल प्रधान है, जिससे उसमें दैत्य बाधा कर सकते हैं । जिन बाधाओं को भगवान् अपनी सामर्थ्य से दूर करते हैं उससे शब्द ब्रह्म का माहात्म्य प्रकट होता है, इसलिए इस लीला प्रसङ्ग में भगवान् शङ्खचूड़ दैत्य से प्राप्त की हुई मणि को लाकर अपने बड़े भ्राता बलदेवजी को देते हैं ।

जब लौकिक तथा अलौकिक माहात्म्य का ज्ञान होता है, तब वेद स्वतः प्रमाण है, यह स्वयं सिद्ध हो जाता है, यदि यों न होवे, तो भ्रान्त हुए मीमांसकों के समान, समग्र वेद उत्प्रेक्षा पर हो जाएगा । श्लोक में 'कदाचित्' शब्द आया है, जिसका तात्पर्य है जब शीत काल नहीं था, उस समय, और 'अथ' शब्द आया है जिसका तात्पर्य यह है, कि अब यह लीला उस लीला से पृथक् प्रकार की है । कारण, कि ये गोपियां पूर्व क्रीड़ा में जो गोपियां थीं, वे नहीं हैं, अन्य प्रकार की हैं । पहले जिन गोपियों ने यों समझा था कि, यों क्रीड़ा करना शास्त्र के अनुसार नहीं है, इसलिए क्रीड़ा से दूर रही थी तथा जो पति आदि के भय से सम्मिलित नहीं हुई थी वे दोनों, शास्त्र और लौकिक परायण रह गई थीं, अब वे भी भगवान् का अनुभाव देख समझने लगीं, कि सब कुछ भगवान् के आधीन है, जिससे उनको बलभद्र तथा भगवान् के साथ रमण करने की इच्छा उत्पन्न हुई । भगवान् गोविन्द होने से उनके भी इन्द्र हैं अतः क्रिया शक्ति बलरामजी को मुख्य बनाकर, रमण करने लगी । अद्भुत पराक्रमी बलरामजी के साथ रमण से चित्त प्रसन्न होगा अतः उनसे भी रमण की गोपीजनो को इच्छा हुई, श्लोक में 'च' शब्द आया है उसका आशय यह है कि उस समय श्री बलरामजी में भगवान् का आवेश भी हो गया था । इससे यह ज्ञात होता है कि जो मध्यमाधिकारियों का वेद निष्ठ होना दोष नहीं । अन्यथा जो प्रमाण पर ( वेद अथवा बलरामजी में निष्ठावाले हैं ) हैं उनकी अनन्यता का भंग हो जाएगा । "रामश्चाद्भुत विक्रमः" अर्थात् राम का अद्भुत पराक्रम है । यों कहने से, जो केवल अर्थ पर हैं ( अर्थात् वेद के कल्प में जो बिना खींचतान किए जो अर्थ निकलता हो उसे अनुसरण करते हो एवं भगवान् के कल्प में जो अपनी रक्षा एवं काम सुख के प्रयोजन में लगे हुए हों अर्थात् भगवान् में जिनकी निष्ठा सोपाधिक हो, ऐसे ) उनके लिए इनकी उपयोगिता



टिप्पणीजी का आशय:—लौकिक एवं अलौकिक माहात्म्य के न जानने पर फलश्रुति अर्थात् किस कर्म को करने से क्या फल होगा यह बताने वाले वचनों की संगति यदि प्रत्यक्ष से न बैठे तो उसे उत्प्रेक्षा परक मानना यह आधुनिक मीमांसकों का स्वभाव है। जैसे “यजमानः प्रस्तरः” यहां प्रत्यक्ष में यजमान प्रस्तर—याग में उपयोग आनेवाली दर्भमुष्टि—नहीं है अतः यजमान को प्रस्तर कहने का तात्पर्य यही है कि वह भी प्रस्तर की तरह याग में अत्युपयोगी है। अर्थात् यह आलंकारिक प्रयोग हुआ। वस्तुतः तो बात यह है, कि लौकिक प्रमाणों के आधार पर वेद के अर्थ से खिलवाड़ करने वाले भ्रान्त ही हैं क्योंकि लौकिक प्रमाण अलौकिक अर्थ के बारे में कुछ भी ज्ञान उत्पन्न करने में असमर्थ हैं, अतः श्रुति का प्रमाण होना इसी में निहित मानना चाहिए कि जैसे श्रुति कहती है वही वस्तु का अलौकिक स्वरूप है।

आभासार्थ—इस लीला में शब्द की मुख्यता निरूपण करने के लिए निम्न 'उपगीयमानौ' श्लोक कहते हैं—

अलङ्कृतानुलिप्ताङ्गौ स्रग्विणौ विरजाम्बरौ ॥२१॥

श्लोकार्थ—स्नेहवाली स्त्रियां आपकी लीला मनोहर रीति से गा रही थी, दोनों भ्राताओं ने सुन्दर आभूषण पहने थे, शरीर पर चन्दन का लेप किया था, वनमाला पहनी थी तथा सुन्दर वस्त्र धारण किए थे ॥३९॥



**सुबोधिनी**—सर्वाः स्त्रियः अन्तःस्नेहसम्बद्धा भगवतो गुणगानपरा जाताः । तासामभ्यन्तरो बाह्यश्च भावो निरूपितः । एवं युक्ताभिः सह स्वस्य सर्वोत्कृष्टस्यैव भावो युक्त इति उभयोः षड्गुणान् निरूपयति अलङ्कृतेति सार्धैस्त्रिभिः । आदावलङ्कृतौ सर्वाभरणभूषितौ । शब्दे शिक्षा-दयः, अर्थे देशादयश्चोत्कृष्टा अलङ्काराः । तदभावे

तत्र रतिर्न स्यात् । ततः अनुलिप्ताङ्गौ चन्दना-दिभिः । सद्वासनाव्यतिरेकेणोभयत्रापि रतिर्न स्यादिति । अङ्गेष्वपि सर्वेषु सद्वासनार्थ-मङ्गपदम् । स्रग्विणौ मालायुक्ता । कीर्तिरपि सहायत्वेनोभयत्राप्यपेक्ष्यत इति । विरजेऽम्बरे ययोरिति । सर्वदोषाभावः शुद्धा माया चापेक्ष्यत इति ॥२१॥

**व्याख्यानार्थ**—सकल स्त्रियों के अन्तःकरण भगवान् के स्नेह से सम्बद्ध हो गए थे, जिससे वे भगवान् के गुणगान में परायण हो गई थी । इससे उनका भीतर और बाहर का भाव वर्णन किया है । इस प्रकार से योग्य स्नेहवालिओं के साथ अपना भाव भी सर्वोत्कृष्ट प्रकट कर दिखाना योग्य है, इससे दोनों के षड्गुणों का वर्णन साढ़े तीन श्लोकों में करते हैं ।

सर्व प्रथम अलङ्कृत होने का अर्थात् सर्वाभरणों से भूषित होने का वर्णन करते हैं । शब्द के कल्प में शिक्षा, कल्प, व्याकरण निरुक्त आदि वेद के अलङ्कार हैं । तथा अर्थ के कल्प में देश आदि उत्कृष्ट अलङ्कार हैं । यदि इस तरह अलङ्कृत न हों तो उनमें रति उत्पन्न न होती । वे दोनों ( रामकृष्ण ) अंगो पर चन्दन का लेप लगाए हुवे, जिससे उनमें से सद्वासना प्रकट हो रही थी । सद्वासना से रति उत्पन्न होती है । श्लोक में “अंग” पद से यह प्रकट होता है कि, सकल अंगो से सद्वासना प्रकट हो रही थी । जब तक कीर्ति न हो, तब तक भी रति उत्पन्न नहीं होती, अतः दोनों ने माला धारण कर कीर्ति प्रकट की । रति वृद्धि के लिए सभी तरह के दोषों का न होना भी आवश्यक है और इसी तरह शुद्ध माया का होना भी अतः रज रहित शुद्ध वस्त्र धारण कर अपने दोषाभाव प्रकट किए ॥२१॥

**श्लोक**—निशामुखं मानयन्तावुदितोडुपतारकम् ।

मल्लिकागन्धमत्तालिजुष्टं कुमुदवायुना ॥२२॥

**श्लोकार्थ**—चन्द्र तथा तारों के उदय वाले, मल्लिका की गन्ध से मद में भरे भ्रमरों के नाद से सेवित और कमलों की सुगन्धवाली वायु वाले, उत्तम सन्ध्या काल का दोनों सन्मान करते थे ॥२२॥

**सुबोधिनी**—कर्मणां रात्रिरेव प्रधान-मिति सन्ध्यायामेव सन्ध्याग्निहोत्रादिकमिति निशामुखस्य सन्माननम् । तं कालं गुणवन्तं वर्णयति प्रकृतोपयोगाय उदितोडुपतारकमित्यादिना । उदित उडुपः तारकाश्च यस्मिन् । चन्द्रो-दयः पर्वसूचकः । नक्षत्रोदयो मेघाभावसूचकः ।

प्रमाणं चन्द्रः, फलं नक्षत्राणीत्यपि । पुण्यो वायुः फलसूचक इति तं वर्णयति कुमुदवायुना जुष्टमिति । कुमुदसम्बन्धी वायुः शीतलो मन्दश्च भवति । निशामुखस्य विशेषणम् । उत्तमाधिका-रिभिरपि सेवितमित्याह मल्लिकागन्धमत्तालि-जुष्टमिति । मल्लिकागन्धः शोभनवासनारूपः ।



तेन च मत्ता इतरविस्मारकाः । तादृशा अलयः । मानयन्तौ, समीचीनोऽयमिति स्तुवन्तौ । अने-  
षट्पदत्वात् सर्वज्ञाः । तैः सेवितमिति । एवं नाङ्गोऽपि फलश्रुतिर्युक्तेति निरूपितम् ॥२२॥  
त्रिधाकाल उत्तमो निरूपितः । तादृश कालं

व्याख्यार्थ—निशामुख अर्थात् सन्ध्या काल का दोनों ने सन्मान किया, कारण कि कर्म करने में रात्रि की प्रधानता है जिससे सन्ध्यावन्दन अग्निहोत्र आदि कर्म सन्ध्या के समय किए जाते हैं, यह काल गुणवाला होने से, चालू प्रसङ्ग में उपयोगी है अतः शुकदेवजी उसके गुणों का वर्णन करते हैं । उस समय चन्द्रमा तथा तारे उदित हो गए थे । चन्द्रमा के उदय के वर्णन से ज्ञात होता है, कि वह दिन पूर्णिमा का था क्योंकि पूर्णिमा में ही चन्द्रमा का उदय सन्ध्या काल में हो जाता है, और नक्षत्र भी चमक रहे थे, जिससे प्रकट होता है, कि आकाश निर्मल है अर्थात् मेघाच्छन्न नहीं है । इसमें प्रमाण चन्द्रमा है और फल नक्षत्र है यह भी सूचित हुआ । उस समय जो कमलों की गन्ध वाली पुण्य वायु चल रही थी वह फल की सूचना करने वाली थी । मल्लिका की गन्ध से मत्त भ्रमरों से सेवित कहने से बताया है, कि इस काल का सेवन करने वाले उत्तमाधिकारी भी हैं । मल्लिका पुष्पों की गन्ध उत्तम महकवाली है उससे जो मत्त होते हैं वे दूसरे सबको भुल जाते हैं । भ्रमरों के छ पंर होते हैं, जिसका आशय है वे सर्वज्ञ हैं वैसे भ्रमरों से सेवित यह काल है । इस प्रकार काल की तीन तरह की उत्तमता वर्णन की है, वैसे काल के लिए दोनों भ्राता 'यह काल सुन्दर है, यों कहते हुए उसकी स्तुति करते थे । काल कर्म का अङ्ग है, उसकी स्तुति कर दोनों ने यह बताया है कि वेद में जो काल की फल श्रुति है वह योग्य है ॥२२॥

श्लोक—जगतुः सर्वभूतानां मनःश्रवणमङ्गलम् ।

तौ कल्पयन्तौ युगपत्स्वरमण्डलमूर्च्छितम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—सर्व प्राणियों के मन और कानों के मङ्गलकारी जैसे हो, वैसे एक साथ स्वर के मण्डलों की मूर्च्छना करते हुए दोनों भ्राता गान करने लगे ॥२३॥

सुबोधिनी—तदा सर्वप्राणिनामेव मनः- समूहस्य मूर्च्छितं, मूर्च्छनां कल्पयन्तौ इति द्वयो-  
श्रवणयोः मङ्गलं जगतुः, गानं कृतवन्तौ । पर्यव- रेकमुखता निरूपिता । मूर्च्छनाव्यतिरेकेण न  
सानोत्तमत्वान्मनोमङ्गलम्, स्वरूपोत्तमत्वात् मनो लीनं भवति । लयव्यतिरेकेण च सर्वात्मना  
श्रवणमङ्गलमिति । तत्र गाने विशेषमाह तौ तत्परता न भवतीति तथाकरणम् ॥२३॥  
कल्पयन्ताविति । युगपदेव स्वरमण्डलस्य स्वर-

व्याख्यार्थ—तब दोनों ने सर्व प्राणियों के मन और कानों के लिए मङ्गल कारक गान किया । यह गान अन्त में अर्थात् फल रूप में उत्तम होने से मन के लिए मङ्गल रूप था स्वरूपतः उत्तम होने से श्रवण मङ्गल था । गान की विशेषता बताने के लिए शुकदेवजी कहते हैं, कि वे दोनों एक ही समय में साथ ही स्वर समूह की मूर्च्छना करते थे, यों कहने का भावार्थ यह है, कि बलरामजी और श्रीकृष्ण का मुख एक है अर्थात् उनमें भेद नहीं है । वे दो दाँखते हुए भी एक हैं, वनदेवजी वेद रूप हैं तो श्रीकृष्ण वेद के अर्थ रूप हैं । जब तक गान में मूर्च्छना प्रकट नहीं होती है तब तक मन लीन



नहीं होता है, और लय के सिवाय सर्वात्मभाव से तत्परता भी नहीं होती है, इसलिए गान इस प्रकार किया, जैसे मूर्छना तथा लय प्रकट देखने में आवे ॥२३॥

**आभास—**ततस्तस्य फलमपि जातमित्याह गोप्य इति ।

**आभासार्थ—**पश्चात् उसका (गान का) फल भी हुआ, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'गोप्यः' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**गोप्यस्तद्गीतमाकर्ण्य मूर्च्छिता नाविदन् नृप ।

स्वसद्गुलमात्मानं स्वस्तकेशस्रजं ततः ॥२४॥

**श्लोकार्थ—**हे नृप ! गोपियाँ वह गीत सुनकर मूर्छित हो गईं, जिससे उनका अपने वस्त्रों के गिरजाने का और केशों में गूँथे हुए फूलों के गिरने का भी भान नहीं रहा ॥२४॥

|                                                                                                                                                                                            |                                                                                                                                                               |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी—</b>तयोगीतं तादृशमाकर्ण्य मूर्च्छिताः सत्य आत्मानं नाविदन् । मूर्च्छयामपि वासना तिष्ठतीति नाविदन्निति तदभावायोक्तम् । नृपेति सम्बोधनं गीतरसाभिज्ञत्वाय । यो भावः सर्वथा</p> | <p>न विस्मृतो भवति तं वर्णयति स्वसद्गुलमिति । दुःकुलमधोवस्त्रम् । तदप्यधः पततीव । स्वस्ताः केशाः तेषु स्रजश्च यासाम् । देहे आन्तं विस्मरणं निरूपितम् ॥२४॥</p> |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्या—**उन दोनों का इस प्रकार से किया हुआ गान सुनकर, गोपियाँ अपने को भूल गईं । यहां 'आत्मानं' अर्थात् अपने को कहने का भाव बताते हैं कि मूर्च्छा में भी वासना रहती है, किन्तु इनको वैसी मूर्च्छा न थी जिसमें वासना हो । वासना रहित थी जिससे अपने को भी भूल गईं इसलिए श्लोक में 'आत्मानं' पद दिया है । परीक्षित को नृप विशेषण इसलिए दिया है, कि वह गीत रस को जानता है । गोपियों में गान सुनने से वैसा गूढ़ भाव उत्पन्न हुआ, जो भाव कभी भी विस्मृत होने वाला नहीं है जिसका वर्णन करते हैं, उस भाव में ऐसे मग्न हो गईं कि उनको अपने अधोवस्त्र जो गिरने जैसे हो गए उनका भी ध्यान नहीं रहा । तथा केशों से पुष्प गिर रहे थे, उनका भी ज्ञान नहीं रहा । इससे प्रमाणित होता है कि गोपियों को देह की अत्यन्त विस्मृति हो गई ॥२४॥

**आभास—**अवश्यं प्रमाणबले मार्गे दैत्योपद्रवो भवतीति तन्निरूपणार्थं लीला-मुपसंहरति एवं विक्रीडतोरिति ।

**आभासार्थ—**जहां प्रमाण का बल होता है, वहां दैत्य उपद्रव करते ही हैं, उसके निरूपण के लिए 'एवं विक्रीडतोः' श्लोक में लीला का उपसंहार करते हैं—

**श्लोक—**एवं विक्रीडतोः स्वरं गापतोः सम्प्रसृतवत् ।

शङ्खचूड इति ख्यातो धनदानुचरोऽभ्यगात् ॥२५॥



**श्लोकार्थ—**इस प्रकार स्वेच्छा के अनुसार मदोन्मत्त की भांति दोनों भ्राताओं के गाते और क्रीड़ा करते समय शङ्खचूड़ नाम वाला कुबेर का सेवक आगया ॥२५॥

**सुबोधिनी—**स्वैरं यथा भवति तथा विशेषेण क्रीडतीरिति । मूर्च्छिताभिरिव प्रमत्ताभिरिव क्रीडा अत्यन्तं स्वच्छन्दा भवतीति । मध्ये क्रीडा, मध्ये गानमिति द्वयं निरूपयति । क्रीडतोर्गयितोः सतीरिति । स्त्रीभिः सह समानधर्मतासिद्धयर्थं सम्प्रमत्तवदिति । आवेशावतारयोः आवेशद-  
शायां तुल्यतेति ज्ञापयितुं द्वयोः सामान्येन निरू-  
पणम् । एवं सर्वस्मिन्नेव विकले शङ्खचूड़नामा कश्चिद् धनदस्य कुबेरस्यानुचरः स्त्रीकामो

भगवन्तं प्राकृतं मत्वा स्वयं ता नेतुमागत इत्याह शङ्खचूड़ इति । शङ्खनिधिश्रूडायां वतंत इति । अनेन नारदस्यापि दोषः परिहृतः । यथा तौ पूर्व धनमतौ, एवमयमपि प्राप्तनिधिरिति सम्प्रमत्तः । धनद इति नाम्ना च सर्वैव सामग्री श्रीमदरूपा निरूपिता । यत्र धनम्, तत्रैव स्त्रिय उचिता इति । सर्वा एव श्रुतयो लौकिकाः कर्तव्या इति पापण्डिनां बुद्धिः ॥२५॥

**व्याख्यानार्थ—**दोनों भ्राता स्वच्छन्द होकर विशेष प्रकार से क्रीड़ा करने लगे । स्वच्छन्दता का कारण कहते हैं कि जिनसे क्रीड़ा कर रहे थे, वे गोपियां मूर्च्छित जैसी एवं प्रमत्त जैसी थीं इसलिए वे भी प्रमत्त जैसी क्रीड़ा करने लगे । गान करते हुए बीच में क्रीड़ा करते थे, फिर क्रीड़ा आवेश में छोड़ गान करते थे इस मदोन्मत्त जैसे बनकर गान और विशेष क्रीड़ा में मग्न थे । वैसे प्रमत्त बन जाने का कारण यह था, कि जिनसे क्रीड़ा कर रहे थे वे प्रमत्त थी अतः इनको भी वैसे ही बनना पड़ा । समान धर्म होने पर ही रस की अभिव्यक्ति होती है । दोनों को इस क्रीड़ा में समान दिख-  
ताया गया है जिसका तात्पर्य यह है, कि इस क्रीड़ा में बलदेवजी में श्रीकृष्ण का आवेश है अतः दोनों की समानता कही है ।

इस प्रकार क्रीड़ा तथा गान करते हुए जिस समय, सर्व की अवस्था उन्मत्त जैसी हो गई, उस समय स्त्रियों की कामना वाला कोई शङ्खचूड़ नाम कुबेर का सेवक भगवान् को प्राकृत पुरुष जानकर स्वयं उन स्त्रियों को लेने के लिए आया, उसका नाम शङ्खचूड़ इसलिए पड़ा था जो इसके मस्तक में शङ्खनिधि<sup>१</sup> थी, इस नाम से यह बताया गया है, कि धन जिनके पास होता है वे धन के मद से मर्यादा रहित होकर अनुचित कार्य करते हैं, जिससे उनको शिक्षा देने के लिए महान् पुरुषों को दण्ड देना पड़ता है, दण्ड देने में उन महापुरुषों का कोई दोष नहीं है । जैसे कि नलकुबेर और मणिग्रीव धन मद से उन्मत्त हो, निर्लज्ज बन क्रीड़ा करते थे, उनके मद को नाश करने के लिए नारदजी ने उनको शाप दिया, जिसमें नारदजी का कोई दोष नहीं है, यहां शङ्खचूड़ भी धन मद से उन्मत्त हो भगवान् को प्राकृत पुरुष जान स्त्रियों को लेने के लिए आया है, इस अपराध से भगवान् इसका नाश करेंगे जिसका दोष भगवान् को भी नहीं लगेगा । कुबेर का नाम धनद कहकर यह समझाया है कि वहां सर्व सामग्री मदरूप है और जहां धन है वहां ही स्त्रियां हो यह उचित है ।



पाखण्डियों की बुद्धि<sup>१</sup> सर्व श्रुतियों का अर्थ लौकिक पदार्थों पर लगाती है ॥२५॥

**आभास—**ततो यत् कृतवांस्तदाह तयोर्निरीक्षतोरिति ।

**आभासार्थ—**पश्चान् शङ्खचूड़ ने जो कृत्य किया, उसका वर्णन 'तयोर्निरीक्षतो' श्लोक में करते हैं।

**श्लोक—**तयोर्निरीक्षतो राजन् तन्नार्थं प्रमदाजनम् ।

क्रोशन्तं कालयामास दिश्युदोच्यामशङ्कितः ॥२६॥

**श्लोकार्थ—**हे राजन ! उन दोनों के देखते हुए तथा वे दोनों जिन स्त्रियों के नाथ हैं ऐसी उन आक्रोश करती हुई स्त्रियों को उठाकर निःशंक होकर उत्तर दिशा की तरफ चल पड़ा ।

**सुबोधिनी—**राजन्निति सम्बोधनं शत्रूणां स्त्रीहरणं स्वाभाविकमिति तत्र सहजदोष इति व्यापनार्थम् । तावेव नाथो यस्य । प्रमदाः स्त्री-विशेषाः । तेषां जनः समूहः । सामान्यशब्दः समूहाची भवतीति । विशेषपराश्रये गच्छेयुरिति जापयितुं सामान्यवचनम् । क्रोशन्तमिति ।

तासामनिच्छा तस्य च भयाभावः सूचितः । कालयामास । यथा कालः अप्रतिहतबलः सर्वानेव कालयति हरति, तद्वदित्यर्थः दी । उदीच्यां दिशोति । स्वगृहे बलाधिक्याय । अत एव अशङ्कितः, किं करिष्यति भगवानिति ॥२६॥

**व्याख्यार्थ—**श्लोक में परीक्षित को हे राजन् ! संबोधन देने का आशय, आचार्य श्री प्रकट करते हैं, कि शत्रुओं को स्त्रियों को हरण करना, यह राजाओं का स्वाभाविक धर्म है उनमें यह सहज + दोष है । शङ्खचूड़ भी राज सम्बन्धी है अतः उसमें भी यह दोष सहज ही है ।

वे दो भ्राता जिनके नाथ हैं, वैसी चिल्लाती हुई विशेष स्त्रियों के समूह को, जैसे काल के बल को कोई भी रोक नहीं सकता है, वैसे शङ्खचूड़ भी अपने को वैसा समझ, निडर हो, उनको उत्तर दिशा की तरफ ले जाने लगा, कारण कि अपने घर में अधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है इसलिए भी उसको डर न हुआ वह समझने लगा कि भगवान् अब क्या करेंगे ? ये गोपियां रास पञ्चाध्यायी वाली गोपियां नहीं थीं यदि वे होती तो शङ्खचूड़ को लेने की शक्ति न होती ( रासस्थ गोपियां तो पुष्पोत्तम स्वरूप में आसक्त थीं और ये साधारण गोपियां वेद रूप बलराम और अर्थ रूप कृष्णचन्द्र में आसक्त थीं ) इसलिए, इनके लिए सामान्यवाचक जन शब्द दिया है ॥२६॥

**आभास—**ततो भगवद्भ्यां यत् कृतं तदाह क्रोशन्तमिति ।

+ अपने जन्म के साथ वह दीप भी जन्मा है— अनुवादक

१—तामसी बुद्धि सदैव विपरीत अर्थ करती है—अनुवादक



तं शङ्खचूडम् । तरसाऽविचार्यैव । देवो मनुष्या- | मध्येऽधमः । आगमने यक्षत्वं प्रयोजकम्, पलाय-  
पेक्षया महाबलो भवतीति विचार प्राप्तिः । | नेऽधमत्वम् ॥२८॥  
त्वरितं पलायनार्थं । यतो गुह्यकानां यक्षाणां

व्याख्यार्थ—‘मत डरो’ यह वचन भय को दूर करने वाला है । दोनों भ्राताओं के हाथों में शाल के वृक्ष थे जिससे उनकी महती समर्थता प्रकट हो रही थी । उस वृक्ष का उनको किसी प्रकार प्रयोग करने का नहीं था केवल अपनी सामर्थ्य दिखानी थी । बहुत वेग से, जल्दी इसलिए जाने लगे जैसे वह एक स्त्री को भी ले न जा सके और न किसी को स्पर्श भी कर सके, अतः जल्दी से उसके पास पहुँच गए । यदि श्लोक में ‘आसेधतुस्त’ इस प्रकार पाठ माना जाए तो उसका अर्थ होगा, ‘त’ उसको (शङ्खचूड़ को) ‘आसेधतु’ रोक रखा अर्थात् पकड़ लिया । यह विचार नहीं किया कि देवता मनुष्य से बलवान् होते हैं । जल्दी क्यों की ? भाग न जावे इसीलिए जल्दी की, कारण कि यक्षों में यह नीच है भागने में इसको लज्जा न होगी, स्त्रियों के ले जाने के लिए आने में यक्षत्व प्रेरक था, भागने में इसकी अधमता प्रेरक थी ॥२८॥

आभास—पूर्वं ताभिः सहितः शीघ्रं गच्छन् स्थितः, इदानीं स्वयमेव पलायितुं विचारितवानित्याह स वीक्ष्येति ।

आभासार्थ—प्रथम गोपियों को साथ ले, जल्दी जाने की इच्छा वाला था, किन्तु अब इनके पहुँचने पर आप अकेले भागने का विचार करने लगा, जिसका वर्णन ‘स वीक्ष्य’ श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स वीक्ष्य तावनुप्राप्तौ कालमृत्यू इवोद्विजन् ।

विसृज्य स्त्रीजनं मूढः प्राद्रवज्जीवितेच्छया ॥२९॥

श्लोकार्थ—काल व मृत्यु के समान उन भ्राताओं को ‘यहां आया हुआ देख वह मूढ स्त्रीजनों को छोड़ अकेला ही जीने की इच्छा से भाग गया ॥२९॥

सुबोधिनी—अनुप्राप्तौ भगवन्तौ वीक्ष्य, सोऽत्माबुद्धिः स्त्रीजनं विसृज्य, प्राद्रवदिति सम्बन्धः । तस्य तथाकरणे या बुद्धिरासीत्, तामाह कालमृत्यू इवोद्विजन्निति । एकः कालः स्वस्य नाशसमयः । अपरो मारक इति । एकोऽ-  
प्यनिवार्यः, तत्रोभयोः किं वक्तव्यमिति पलायने जीवितेच्छैव हेतुः । सति जीवने भोग इति । ननु शरणं कुतो न गतः, जीवेत्, न तु पलायनं जीवनसाधनमिति चेत्, तत्राह मूढ इति । इममर्थं न जानातीति ॥२९॥

व्याख्यार्थ—वलरामजी और श्रीकृष्णचन्द्र को अपने पास पहुँचा हुआ देख, वह अल्प बुद्धि-वाला स्त्रीजनों को छोड़ दौड़ गया । उस (शङ्खचूड़) को यों करने की बुद्धि इसलिए हुई कि उसको यह ज्ञान हो गया कि एक काल है अर्थात् मेरे मरने का समय सिद्ध करने वाला है और दूसरा मारने वाला है । एक को भी हटा नहीं सकता है तो दोनों को हटाने के लिए क्या कहना है ? इसलिए यदि जीना है तो भागना ही अच्छा है, जीता रहूंगा तो भोग भोग सकूंगा, यों निश्चय कर,





भाग गया। यदि जीने की ही इच्छा थी तो भागने के बदले शरण आ जाता, तो सत्य जीवन हो जाता, भागजाना कोई जीने का साधन नहीं था इसलिए ही श्लोक में 'भूढः' कहा है। यह शंखचूड़ मूर्ख है, इस आशय को नहीं जानता है, अर्थात् भगवान् के शरण जाने से मेरा जीवन सुरक्षित रहेगा इस भाव का उसको अज्ञान है ॥२६॥

**आभास—अनुपाये प्रवृत्तस्य न कार्यं सिध्यतीत्याह तमन्वधावदिति ।**

**आभासार्थ—**जो साधन नहीं है, उसको साधन समझ यदि कोई भी करता है, तो उसका कार्य पूर्ण नहीं होता है इसका वर्णन 'तमन्वधावत्' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—तमन्वधावद् गोविन्दो यत्र यत्र स धावति ।**

**जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नं तस्थौ रक्षन् स्त्रियो बलः ॥३०॥**

**श्लोकार्थ—**जहां जहां वह दौड़ता हुआ जा रहा था, वहां वहां गोविन्द भी उसको पकड़ कर उसकी मणि लेने की इच्छा से उसके पीछे दौड़े, और बलरामजी वहां ही स्त्रियों की रक्षा के लिए खड़े रहे ॥३०॥

**सुबोधिनी—**गोविन्द इति । तेषां रक्षार्थं विनियोग आवश्यकः । स्वक्रियाया अन्यथेन्द्रत्वं न स्यादिति । रक्षा च दोषस्य भूलोच्छेद एव, न तु तस्मिन् कथमपि विद्यमाने । अतो यत्र यत्रैव स पलायते, तत्रैव तमन्वधावत् । ननु दूरादपि मारणे सम्भवति भगवान् किमिति धावनं कृतवान्, तत्राह जिहीर्षुस्तच्छिरोरत्नमिति । दूरान्मारणे यक्षास्तदीयास्तं नयेयुः । अमारितश्च

स्यात् । मणौ विद्यमाने मणिरिव शस्त्रैरप्यवध्यः । अतः स्वस्यैव गमनम् । जीवानामवध्य इति । स्त्रियो रक्षन् बलः जातः । अन्यथा ततोऽन्यो हरेत् । तदीया हि बहवः, ते धातयेयुरेव । अत एकेन रक्षितव्याः बल इति बहूनामप्यागमने रक्षार्थमुक्तम् । स्त्रियो हि रक्षणीया एव ॥३०॥

**व्याख्यान—**श्रीकृष्ण गोविन्द हैं अतः उनकी अपनी क्रियाशक्ति का भक्तों के लिए उपयोग करना आवश्यक है, यदि भगवान् अपनी क्रिया शक्ति भक्तों की रक्षा के कार्य में न लगावें तो आपका इन्द्रपन सिद्ध न होवे । दोष किसी प्रकार अंश रूप भी न रहे, जड़ से कट जावे जिसको 'रक्षा' कहा जाता है । अतः जहां जहां वह भागता था वहां वहां कृष्ण भी उसके पीछे जाते थे । यदि कहो, कि भगवान् दूर से भी मार सकते हैं तो पीछे पीछे दौड़ने की क्या आवश्यकता थी, इसके उत्तर में कहते हैं, कि केवल वध नहीं करना था किन्तु उसके शिर में जो मणि थी वह भी लेनी थी, यदि भगवान् उसको दूर से मार देते तो वह मणि उसके सम्बन्धी यक्ष ले जाते, और जब तक उसके मस्तक में मणि रहती है, तब तक वह मरता नहीं, मणि के होते हुए शस्त्रों से भी उसका वध नहीं हो सकता । दूसरे किसी जीव से भी वह मारा नहीं जाता, इसलिए अपना जाना ही आवश्यक था, बलरामजी स्त्रियों की रक्षा करते थे । यदि वहां स्त्रियों की रक्षा के लिए बलरामजी न रहते, तो वहां से कोई दूसरा यक्ष ले जाता, उस शङ्खचूड़ के अन्य बहुत साथी थे जो स्त्रियों का वध भी शायद



करदे अतः रक्षा के लिए एक का वहाँ ठहरना आवश्यक था बलरामजी बलवान हैं, बहुत आवे तो उनसे भी रक्षा करने में शक्तिमान हैं, कारण, कि स्त्रियां तो रक्षा करने के ही योग्य है ॥३०॥

**आभास—**ततो भगवान् यत् कृतवांस्तदोह अविदूर इवेति ।

**आभासार्थ—**पश्चात् भगवान् ने जो कुछ किया जिसका वर्णन 'अविदूर' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**अविदूर इवाभ्येत्य शिरस्तस्य दुरात्मनः ।

जहार मुष्टिनैवाङ्ग सहचूडामणिं विभुः ॥३१॥

**श्लोकार्थ—**हे अङ्ग ! समीप हो, इस प्रकार उसके पास जाकर, उस दुष्ट का शिर चूडामणि के साथ प्रभु ने एक मुक्की से तोड़ दिया ॥३१॥

**सुबोधिनी—**कियद्वावनेनैव स प्राप्तः । अविदूरे निकट एव । वस्तुतस्तु दूरे गतः, परं कालविलम्बाभावाद् अविदूर इवाभ्येत्य निकटे गत्वा, तस्य शिरो जहार । ननु पलायितवधो निषिद्धः, किमिति भगवान् विलष्टं कृतवानित्याशङ्क्याह दुरात्मन इति । स हि दुरात्मा वध्य एव । त्रयीद्विषो हि हन्यन्त एव । निमित्तं तु दारापहारित्वं जातमेव । अन्यथा पूर्वमेव हन्यात् । अधुना परित्यागे पुनरागच्छेत् । केवलनलभद्र-क्रीडायां वा समागत्योपद्रवं कुर्यात् । यतो दुष्टान्तःकरणः, अतो वध्य एव । अतस्तस्य शिर एव

ज्ञानशक्तिप्रधानं मुष्टिनैव जहार । न तु भेदनं कृतवान् । किन्तु यथा राशेः सकाशात् मुष्टिना तन्दुला ह्रियन्ते, तथा राशीभूतास्तस्यावयवा मुष्टिनैवाहताः । यदैव स गोपिकाहरणार्थमुद्यमं कृतवान्, तदैव सयोजका देवा अवयवैर्म्यो निर्गताः । केवलं मणिप्रभावादवयवी स्थितः । भगवान् पुनः चूडामणिसहितं तच्छिरो जहार । स्वकर्मणैव विशकलित इति भगवान् अक्लिष्ट-कर्मैव । किञ्च, विभुः समर्थः, मणोरपि सामर्थ्यं दूरीकर्तुम् ॥३१॥

**व्याख्यार्थ—**कुछ दौड़ने के बाद भगवान् ने उसको पकड़ लिया । भगवान् ने उसको ऐसे पकड़लिया, जैसे कोई पास में खड़ा हो यद्यपि वह बहुत दूर चला गया था । पकड़ते ही उसके शिर का हरण कर लिया । जो भाग जावे उसके मारने का शास्त्रों ने निषेध किया है तो भगवान् ने वैसा निषिद्ध कार्य कैसे किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि वह दुष्ट था, दुष्ट मारने के ही योग्य है, चाहे वह भाग भी गया हो । त्रयी-वेद के शत्रु + मारने योग्य हैं । और स्त्रियों को चुरा ले जाने से शङ्खचूड़ का शत्रु होना स्पष्ट हो गया अतः उसको मारने में कोई दोष नहीं है । इस समय मारने का कारण स्त्रियों का हरण है, नहीं तो भगवान् इसको पहले ही मार देते । यदि अब इसको छोड़ दें तो फिर आकर, उपद्रव करें । जब अकेले बलभद्र क्रीड़ा करें, तब आकर उपद्रव कर सकता है कारण इसका अन्तःकरण दुष्ट है । अतः यह मारने के ही योग्य है छोड़ने योग्य नहीं है । इसलिए

+ वेद से द्वेष करने वाला मारने के योग्य है शङ्खचूड़ वैसा था अतः उसको मारने में कोई दोष नहीं है—



इसके ज्ञान प्रधान शिर को ही मुठ्ठी से हरण कर लिया, किन्तु तोड़ा नहीं। जैसे धान के ढेर से मुठ्ठी द्वारा चावल ले लिए जाते हैं उसी प्रकार ढेर बने हुए इसके अवयवों से मुठ्ठी से इसका शिर ले लिया। सर्व अवयव आपस में जुड़े हुए रहते हैं उसका शिर मुठ्ठी में अलग कैसे आ गया? इसका उत्तर देते हैं, कि जिस समय शङ्खचूड़ ने गोपियों को चुराने का उद्यम किया उस समय ही अवयवों को परस्पर जोड़कर रखने वाले देव, शरीर के अवयवों से निकल गए थे, यह शरीर जो जुड़ा हुआ देखने में आता था वह केवल मणि के प्रभाव से दीखता था इसलिए भगवान् ने चूड़ामणि सहित इसके शिर का हरण किया। शङ्खचूड़ के अवयव तो, उसके अपने कर्म से छिन्न भिन्न हो गए, भगवान् तो जैसे सदैव अविलष्ट कर्मा हैं, वैसे अब भी रहे। भगवान् को किसी कर्म करने में परिश्रम नहीं होता है, कारण, कि समर्थ हैं अर्थात् मणि के सामर्थ्य को भी मिटा देने में समर्थ हैं ॥३१॥

**आभास—**एवं कृते स हतो जात इत्याह शङ्खचूडं निहत्येति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार कार्य करने से अर्थात् चूड़ामणि वाले शङ्खचूड़ के मस्तक को हरने से, वह मर गया, जिसका वर्णन 'शङ्खचूड़ निहत्य' श्लोक में करते हैं।

**श्लोक—**शङ्खचूडं निहत्यैवं मणिमादाय भास्वरम् ।

अग्रजायाददत्प्रोत्या पश्यन्तीनां च योषिताम् ॥३२॥

**श्लोकार्थ—**इस प्रकार शङ्खचूड़ का वध कर उसको चमकती हुई मणि लेकर स्त्रियों के देखते हुए प्रेम से बड़े भाई बलदेवजी को दो ॥३२॥

**सुबोधिनी—**एवं प्रकारेण तस्य हननम्, न तु प्रकारान्तरेण । तस्य मुक्तिनिराकरणार्थं निहत्यैवेत्युक्तम् । मृतद्रव्यं न ग्राह्यमित्यत आह भास्वरमिति । 'अस्थानान्मण्युत्तम' मिति वाक्यात् । मणिग्रहणेन मणिगता देवता । ताः कामयतीति पक्षे कामना सफला कृता । मणिग्रहणेन तस्य मुक्तिर्देयेति शङ्कां वारयितुं अग्रजायाददत् । तत्रैव स्थित्वा देवताया अप्युपभोगो भवत्विति प्रीत्यैव अददत्, न तु याचितः । स्त्रीणां प्रार्थनाभावायाह पश्यन्तीनामिति । चकारात् सर्वाभ्यः

प्रदर्श्य तासां स्पर्शान्तरं योषितामन्येषां च देवानां पश्यतामिति । प्रमाणसिद्धयर्थं यत् किञ्चित् करोति, तत्सर्वं तदधिष्ठातार्यैव प्रयच्छतीति ज्ञापितम् । प्रमाणबलमेवात्र मुख्यमिति न प्रमेयविचारेण कोऽप्यर्थः शङ्कनीयः ॥३२॥

इति श्रीभागवतसुबोधिण्यां श्रीमल्लक्ष्मण-भट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्धविवरणे एकत्रिंशाध्यायविवरणम् ।

**व्याख्यार्थ—**इसी प्रकार, भगवान् ने शङ्खचूड़ का वध किया अन्य प्रकार से नहीं। श्लोक में श्री युक्तदेवजी ने 'निहत्यैव' इसलिए कहा है कि भगवान् की इच्छा थी, कि इसकी मुक्ति न हो। 'भास्वरम्' कहने का तात्पर्य यह है कि मृतक का पदार्थ नहीं लेना चाहिए, क्योंकि वह अशुद्ध होता है किन्तु चमकवाला पदार्थ अपवित्र नहीं होता है, कारण, कि प्रकाश वाले पदार्थ में अधिष्ठाता देव

रहता है । अतः भगवान् ने मणि को शुद्ध + जानकर, ही लिया था । मणिग्रहण से मणिगत देवता समझना चाहिए । गोपियों की इच्छा थी, कि मणि लेनी चाहिए, अतः भगवान् ने मणि लेकर उनकी कामना पूरण की है । मणि लेकर उसको मुक्ति देनी चाहिए यों कोई कहे, तो उस शङ्का का निवारण करते हैं, कि भगवान् यदि अपने पास रखते वा अपने लिए ली होती, तो मुक्ति भी देते किन्तु अन्य के लिए ली थी अतः अन्य को ( बड़े भाई को ) दे दी । वह मणि प्रेम से बलरामजी को इसलिए दी, कि बलदेवजी मणि में स्थित देवता का भी स्वतन्त्रता से उपभोग करें । बलरामजी ने मांगी नहीं थी और स्त्रियों ने भी प्रार्थना नहीं की थी, किन्तु भगवान् ने स्वयं उन सबके देखते हुए मणि बलरामजी को दी । श्लोक में 'च' शब्द आया है जिसका अर्थ है 'और' उस और का आशय यह है, कि भगवान् ने बलदेवजी को मणि देने से, प्रथम सबको मणि दिखाई तथा उनको मणि का स्पर्श कराया, बाद में, उनको मणि दी । इस प्रकार करने का कारण प्रमाण की सिद्धि थी । भगवान् प्रमाण की सिद्धि के लिए जो कुछ करते हैं, वह सब प्रमाण के अधिष्ठाता को ही देते हैं । यों करने से, भगवान् ने यह समझाया है, कि मैं प्रमाण की सिद्धि के लिए जो कुछ करता हूँ, वह प्रमाण के अधिष्ठाता को ही देता हूँ । इस प्रकरण में, प्रमाण वल ही मुख्य है इसलिए यहां प्रमेय बल से किसी भी प्रकार की शङ्का नहीं करनी चाहिए ॥३२॥

+ 'अस्थानात् मणिमुत्तमम्' अपवित्र स्थान में भी मणि पवित्र रहती है ।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण, दशमस्कन्ध ( पूर्वार्ध ) के ३१ वे अध्याय की

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी ( संस्कृत टीका ) के 'तामस

फल' अवान्तर प्रकरण का "श्री" धर्म निरूपक छठा अध्याय

हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनबल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका ( हिन्दी अनुवाद सहित )

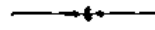
दशम स्कन्ध ( पूर्वार्ध )

तामस-फल-अवान्तर प्रकरण

‘सप्तमो अध्याय’

स्कन्धानुसार द्वात्रिंशो अध्याय

युगल-गीत



कारिका—द्वात्रिंशोऽन्तर्गोपिकानां स्वानन्दं भगवान् हरिः ।

पूरयामास येनैव पूरणानन्द इतीर्यते ॥६॥

कारिकार्थ—इस ३२ वें अध्याय में भगवान् ने गोपियों के अन्तःकरण में अपना आनन्द स्थापित किया जिसके कारण आपको पूर्णानन्द कहा जाता है ॥१॥

कारिका—अन्तःप्रविष्टो भगवान् मुखादुद्धृत्य कर्णयोः ।

पुनर्निवेश्यते सम्यक् तदा भवति सुस्थिरः ॥२॥

कारिकार्थ—गोपीजनों के अन्तःकरण में प्रविष्ट भगवान् को मुख से बाहर लाकर पुनः कानों द्वारा अन्दर पधराया जा रहा है कि वे भलि भांति अन्दर सुस्थिर हो जाएं ॥२॥



कारिका—शब्दार्थयोर्मुख्यतात्र युग्माः श्लोकास्ततोऽत्र हि ।

सर्वेषु चैव मासेषु यत् करोत्युच्यते हि तत् ॥३॥

कारिकार्थ—इस अध्याय में शब्द एवं अर्थ की प्रधानता है अतएव दो-दो श्लोक यहां आते हैं (परस्पर संबद्ध होकर) वर्ष के सभी महिनो में जो कुछ भगवान् करते हैं उनका वर्णन यहां है ॥३॥

कारिका—अतोऽत्र मासयुग्मा हि प्रक्रमः फलमेव च ।

आद्यन्ते चापरं युग्मं त्रयोदश भवन्ति तत् ॥४॥

कारिकार्थ—अतः प्रत्येक मास के बारे में दो-दो श्लोक यों २४ श्लोक वर्णन तथा एक श्लोक उपक्रम एवं एक श्लोक उपसंहार यों कुल तेरह श्लोक युग्म होते हैं ॥४॥

टिप्पणीजी का सार—आनन्द की अनुभूति यद्यपि सर्वत्र आन्तरिक ही होती है फिर भी बाह्य रमण में शरीर एवं चेष्टाओं की प्रधानता है और इसके अलावा स्वरूप जब मूर्त है तो स्वरूपात्मक आनन्द भी मूर्त ही होना चाहिए यों मानना पड़ेगा फलतः शरीर एवं इन्द्रियों आदि में भी स्वरूपतः स्थापित आनन्द का मन द्वारा अनुभव होता है । यहाँ इस प्रसंग में आन्तर सयोग द्वारा प्रकट हुए आनन्द द्वारा शरीर इन्द्रिय आदि में बाह्य रमण की तरह धर्म होते हैं, इसी अभिप्राय से प्रथम कारिका में कहा कि गोपिकाओं के अन्तःकरण में भगवान् ने अपना आनन्द स्थापित किया । यहां यह शंका उठ सकती है, कि गोपिकाओं को जो इस प्रसंग में विरह है, वह तो धर्मस्वरूप का है, धर्म का नहीं, तब गुणगान-धर्म से, वह विरह कैसे दूर होगा ? इसका समाधान यह है कि जैसे स्वरूप पूर्णानन्दात्मक है वैसे ही नामलीला भी, अतएव विरह निवृत्ति हो सकती है । भक्तों की जितनी तीव्रतर से तीव्रतम आसक्ति भगवान् अपने में पाते हैं, उतने ही प्रसन्न होते हैं, इस संदर्भ में दिन भर के विरह से आर्त भक्तों को जो साथ भगवान् मिलते हैं और उसमें जो रस उत्पन्न होता है वह दिन में मिलने पर नहीं आता, अतः जिस आनन्द से स्वयं भक्तों को भगवान् पूर्णानन्द समझ में आते हैं उसी तरह के आनन्द से भक्तों को परिपूर्ण कर दिया ।

यद्यपि गुणगान तो स्वभाव वश ही होता है, न कि, प्रयोजनान्तर वश, फिर भी गुणगान से प्रथमानुभूत भाव की स्थिरता तो होती ही है । अतः कारिका (२) में गुणगान का प्रयोजन भाव स्थिरता जो दिखलाया गया है वह इसी आशय से है न कि अन्यथा ।

भगवान् भावात्मक हैं तथा पहले जो सुधा नाद द्वारा गोपिकाओं में प्रविष्ट हुई वह भगवदात्मिका थी । इसका निरूपण “रन्ध्रान्वेणोरधर सुधया पूरयन्” यहां किया गया । फल का अनुभव बाह्य हो न जाए तब तक वह सुधा पूर्वोक्त प्रकार के अनुसार पुष्ट होती रही परन्तु अपने पोषक तथा विषय वहिःसंबन्ध को न पाकर उसे पाने के लिए स्वयं गुणगान के रूप में प्रकट हुई, परन्तु अपने बाहर होने के साथ ही, अन्तःकरण में प्रिय का साक्षात् प्राकट्य हो जाने से तथा बाहर प्रकट होने के बावजूद भी, अपना विषय बाहर न पाने के कारण वहीं स्वयं अपने या अन्यो के कानों द्वारा



पुनः अन्दर प्रविष्ट हो गई, जहां उसे अपना विषय एवं पोषक मिल जाने से वह सुस्थिर हो गई। यही दूसरी कारिका का आशय है।

तीनरी कारिका में इस गीत को दो-दो श्लोकों के युग्म से क्यों गान किया इसका हेतु दिखलाते हैं।

पहले केवल नाद का अनुभव हुआ, अतएव नाद की प्रधानता को लेकर “अध्वतां” का गान किया, परन्तु अब तो स्वरूप का अनुभव भी साक्षात् हो गया है अतः दोनों ही महारस हैं यह जताने के लिए दो श्लोकों से, किन्तु दोनों एक रूप हैं एतदर्थ एकवाक्यता से गान किया जा रहा है। यहां वर्ष में जितनी लीला प्रभु करते हैं उन सभी लीलाओं को स्वामिनियों ने क्रमशः गा दिया, यह जताने के लिए पूर्ण वर्ष के बारह महिनों के हिसाब से चौबीस श्लोकों के बारह युग्म कहे हैं। उपक्रम एव उपसंहार के दो श्लोकों का युगल अधिकमास में भी भगवान् की जो लीलाएं हैं वे यहां स्वामिनियों द्वारा गा दी गई हैं।

**आभास—**एवं भगवता सह रात्रौ क्रीडामुक्त्वा, दिने तासां संसारप्रवृत्तिर्भविष्य-  
तीत्याशङ्क्य, दिवसेषु भगवद्गुणवर्णनपरा जाता इति वदन्, गुणवर्णनाया आवश्यक-  
त्वाय आरम्भे दुःखं, पर्यवसाने सुखमिति निरूपयन्, प्रथम प्रथमप्रवृत्तावपि गोपिकानां  
दिवसेषु परमं दुःखं जातमित्याह गोप्य इति।

**आभासार्थ—**इस तरह भगवान् के साथ रात्रि के समय जो क्रीड़ा हुई, उसका वर्णन करके एक शंका का समाधान करते हैं और वह शंका यह है, कि दिन में उन गोपियों की संसार में पुनः प्रवृत्ति हो गई होगी। परन्तु बात यह नहीं है, क्योंकि दिन में वे गोपियाँ भगवान् के गुणों के वर्णन या गान में लगी रही, संसार में नहीं। गुणों की स्मृति के लिए आरम्भ में, विरह वेदना या दुःख आवश्यक है। इसी तरह अन्त में यह दुःख गुण वर्णन से दूर न होता हो तो कोई भी गुण वर्णन में प्रवृत्त नहीं होगा। गान के आरम्भ में भी + महान् दुःख हुआ यह “गोप्यः” इस श्लोक में दिखाते हैं।

**श्लोक—श्रीशुक उवाच—गोप्यः कृष्णे वनं याते तमनुद्भुतचेतसः।**

**कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो निन्युर्दुःखेन वासरान् ॥१॥**

**श्लोकार्थ—**श्री शुकदेवजी कहने लगे कि, भगवान् जब वन में पधार जाते तब जिनका चित्त भगवान् में लीन हो गया था, वे कृष्ण की लीलाओं को गाती हुई दुःख से दिवस काटती थी ॥१॥

+ गान के आरम्भ में भी महान् दुःख है तो यदि गान न करती तो कितना दुःख बढ़ जाता !



सुबोधिनी—केवलपदात् पूर्वोक्ता ग्राह्याः । सदानन्दे वनं गते तमन्वेव द्रुतं चित्तं यासाम् । वस्त्वन्तरग्रहणाक्षमं नित्तं जातम् । द्रुतशब्दाद्विलय उक्तः । ततः सर्वतः प्रसृतं सूक्ष्मभावापन्नं सदानन्दस्य लीलां गृहीतवत् । अतः कृष्णलीलाः प्रगायन्त्यो जाताः । यथा स्वरूपं सदानन्दरूपम्, तथा तल्लीला अपीति तदात्मकत्वं च लीलानां ज्ञापयितुं पुनर्नामग्रहणं कृतम् । अन्यथा तत्पदमेव वदेत् । तथा सति तत्सम्बन्धित्वमात्रं

प्राप्येत, न तूक्तरूपत्वम् । अवश्यं वाच्यं चेत् । यतः स्वरूपवियोगे तदतिरिक्तस्य न जीवनहेतुत्वम्, ततो हीनत्वात् । ततो यथाकथञ्चिन्महता मानसदुःखेन वासरान् निन्युः । यदा पुनस्तच्चित्तं प्रकीर्णं भगवच्चरित्रे विलीनं सद् एकभावं प्राप्स्यति, तदा पूर्णमनोरथा भविष्यति । इदानीं सर्वा सामग्री विशकलितेति दुःखेन दिननयनम् । वासरपदाद् रात्र्यर्थं कथञ्चित् प्राणानां धारणं लक्ष्यते ॥१॥

व्याख्यानार्थ—मूल श्लोक में केवल 'गोप्यः' कहा जिसका तात्पर्य यह है कि ये राममण्डल वाली ही गोपिका हैं। अर्थात् ३१ वें अध्याय वाली ये गोपियां नहीं हैं। कृष्ण के वन में पधार जाने पर इनकी स्थिति कैसी होती है, जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं, कि गोपियों का चित्त उनमें ऐसा लीन हो गया, कि उनके सिवाय दूसरी वस्तु को ग्रहण करने में, असमर्थ हो गया है। और ऐसा सूक्ष्म हो गया है, कि जिससे चारों तरफ व्याप्त होकर भगवान् की लीलाओं को ग्रहण करने लगा, अतः कृष्ण की लीलाओं को गाने लगीं। जिस प्रकार स्वरूप सदानन्द रूप है, वैसे ही उनकी लीलाएं भी सदानन्द रूप ही हैं, इसलिए श्लोक में 'तल्लीला' उनकी लीला न कहकर 'कृष्णलीला' कहा है। यदि वे लीलाएं कृष्णवत् सदानन्द रूप न होती, तो 'तल्लीला' कहते। यों कहने पर लीलाओं का केवल भगवान् से सम्बन्ध समझा जाता परन्तु वे सदानन्द रूप हैं वैसे ज्ञान न होता। इसलिए यह कहना आवश्यक था, कारण, कि स्वरूप के वियोग में, उनके सिवाय अन्य कोई भी वस्तु गोपियों के जीवन को टिका कर रखने में समर्थ नहीं है, क्योंकि उससे अतिरिक्त सभी कुछ हीन है। इस कारण से, गोपीजन जैसे तैसे महान् मानसिक दुःखों को सहन करते हुए, दिन बिताने लगीं। पुनः जब गोपियों का चित्त भगवान् के पृथक् चरित्रों में लीन होकर एकी भाव को प्राप्त करेगा, तब उनके मनोरथ पूर्ण होंगे। अभी तो सभी सामग्री इतस्ततः हो गई है, इसलिए दुःख से दिन पूरा करता है। श्लोक में 'वासर' पद कहने का भाव यह है, कि गोपियों के मन में यह आशा है, कि रात्रि को भगवान् का मिलन होगा, जिससे प्राणों को धारण कर रही है ॥१॥

कारिका—सर्वोत्तमा हरेर्लीला वेणुनादपुरःसरा ।

हेतुः सर्वत्र वाच्येऽर्थे प्रथमेषु निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—गोपीजनों ने युगल गीत के श्लोकों में जो कुछ जैसा वर्णन किया है, उसका आशय इन कारिकाओं में वर्णित होता है।

भगवान् ने वेणु नाद (बजा) कर, जो सर्वोत्तम लीला की है, जिसका कारण प्रत्येक युगल के दूसरे श्लोक में कहा है, तथा उस लीला का वर्णन प्रत्येक युगल के प्रथम श्लोक में किया है ॥१॥



~~~~~

कारिका—देवस्त्रिषस्तथा गावः सरितः पादया लताः ।

पक्षिणश्च तथा मेघा ब्रह्माद्या गोपिकास्तथा ॥२॥

हरिण्यो देवगन्धर्वा द्विधा च भगवान् हरिः ।

उत्तरेषु निरूप्यन्ते रसज्ञा वेणुवादने ॥३॥

कारिकार्थ—अप्सराएं, गौ, नदियां, वृक्ष, लताएं, पक्षीगण, मेघ, ब्रह्मा आदि देव, गोपियां, हरिणियां। देव गन्धर्व और दो प्रकार से दो युगल में वर्णित भगवान् हरि, ये सर्व वेण्णवादन में जो रस है उसको जानते हैं, जिसका वर्णन हर एक युगल के दुसरे श्लोक में किया गया है ॥२-३॥

वारिका.—जानाति भगवानेव जानात्येव हरिः स्वयम् ।

अतोऽन्ते भगवानुक्तो वारद्वयमनन्यधोः ॥४॥

कारिकार्थ—चतुर्थ कारिका में अन्तिम दो युगलों का आशय स्पष्ट करते हैं—
वेणुनाद के वास्तविक रस को तो भगवान् ही जानते हैं, स्वयं हरि ही जानते हैं, अतः
अन्त में अनन्य भक्तों की बुद्धि जिसमें है वैसे भगवान् का दो बार वर्णन किया है ॥४॥

कारिका—अनुभावस्तु नादस्य स्त्रीषु पूर्वमुदीर्यते ।

त्रिविधासु ततः पुंसु ब्रह्मा गोपी तथा मृगी ॥५॥

त्रयोऽत्र त्रिविधाः प्रोक्ताः प्रकीर्णाः सकलाः सुराः ।

सर्व एवानभिज्ञा हि वस्तुसामर्थ्यसंग्रुताः ॥६॥

एवं वेणुर्द्रदिशधा फलतीति निरूपितः ॥

कारिकार्थ—नाद का प्रभाव तो प्रथम तीन प्रकार की स्त्रियों में हुआ जिसका वर्णन पहले किया जाता है, पश्चात् तीन प्रकार के पुरुषों में वर्णन किया जाता है, तथा ब्रह्मा, गोपी और हरिणिद्यां इन तीनों का भी वर्णन करने में आता है । ये तीन यहां तीन × प्रकार के कहे हैं, सभी देवों का साथ ही वर्णन करने में आया है । यद्यपि ये सर्व नाद रस को नहीं जानते हैं, तो भी वस्तु सामर्थ्य से, अर्थात् नाद के प्रभाव से, उनको भी फल की प्राप्ति हुई है ॥५-६॥

× देव स्त्रियां राजस हैं, पुरुष वृक्ष, पक्षी और मेघ ये सात्विक हैं और ब्रह्मा गोपी और हरणियां तामस हैं ।



इस प्रकार वेणु १२ प्रकार से फलती है इसी प्रकार इसका वर्णन इस गीत में करने में आया है ॥ ६३ ॥

लेख में गो० श्री वल्लभलालजी महाराज कहते हैं कि भगवान् में दो दो प्रकार के भी नियम है, एक षड् गुण ऐश्वर्य है अतः वे भगवान् कहे जाते हैं और दूसरा ताप को हरण करते हैं अतः वे 'हरि' हैं—

भगवान् ही इस रस को जानते हैं अतः गोपीजनों को जो दिवस में ताप होता था, उसका निवारण कर, रसदान भगवान् ही करते हैं, इस ताप को चन्द्र आदि नहीं मिटा सकते हैं, इसलिए भक्तों को सर्व प्रकार की आशीर्वाद देने की इच्छा से आप स्वयं पधारते हैं, कारिका में 'एव' शब्द से यह स्पष्ट कर बताया है, कि चन्द्रमा आदि यहां कुछ नहीं कर सकते हैं, अर्थात् उनमें इस ताप के निवृत्ति की शक्ति नहीं है ।

भगवान् तो बालक हैं, वह इस साधरण लीला को समझकर कैसे कर सकेंगे ? इस शङ्का का निवारण 'यदुपति' इस २५ वें श्लोक में किया गया है, अतः कारिका में कहा है, कि 'जानात्येव' जानते ही है, यहां 'एव' शब्द देकर, यह बता दिया है, कि भगवान् बालक होते हुए भी उनमें बालक-पन का अज्ञान नहीं है, दोनों प्रकार के नियम भगवान् में हैं अतः दो बार 'भगवान्' शब्द दिया है, अर्थात् भगवान् का वर्णन २३ वें तथा २५ वें श्लोक में पृथक् पृथक् प्रकार से किया है ।

आभास—तत्र प्रथमं स्त्रीप्राधान्याद् देवस्त्रियो मुख्या इति तासु वेणुनादप्रभावं वक्तुं येन प्रकारेण वेणुनाद उत्तिष्ठति, तं प्रकारमाहुः वामबाहुकृतवामकपोल इति ।

आभासार्थ—इनमें प्रथम स्त्रियों की प्रधानता है, जिससे देव स्त्रियां मुख्य हैं, अतः उनमें वेणुनाद का प्रभाव बताने के लिए जिस प्रकार वेणुनाद उत्पन्न होता है, वह प्रकार 'वाम बाहु कृत' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—वामबाहुकृतवामकपोलो वलितभ्रुरधरापितवेणुम् ।

कोमलाङ्गुलिमिराश्रित मार्गं गोप्य ईरयति यत्र मुकुन्दः ॥२॥

ध्योमयानवनिताः सह सिद्धेविस्मितास्तदुपधार्य सलज्जाः ।

काममार्गणसमपितचित्ताः कश्मलं ययुरपस्मृतनीव्यः ॥३॥

श्लोकार्थ—हे गोपियों ! बाएं कंधे पर बायां कपोल रखकर चंचल भौंह वाले, मुकुन्द भगवान्, वेणु को अपने अधर पर रख, जिस समय उसके स्वरों के छिद्रों पर कोमल अङ्गुलियों को फिराकर बजाते हैं, उस समय, विमान में बैठी हुईं सिद्ध लोगों की स्त्रियां अपने पतियों के पास होते हुए भी, उस गान को सुनकर, विस्मय



युक्त हो, कामदेव के वाण से परवश होकर, उस वेणुनाद के भाव को जानकर, लज्जा के साथ मोह को प्राप्त हुई हैं और उनका नीवी बन्धन छूट जाने का भी उनको भान नहीं रहा है ॥२-३॥

सुबोधिनी—यत्र मुकुन्दः अधरापितवेणुमीरयति, तत्र तस्मिन् क्षण व्योमयानवनिताः कश्मल ययुरिति सम्बन्धः । वेणुनादः पञ्चधा भवति । मुखस्य परितः समतया उपर्यधश्च धारणेन । तत्र स्त्रीणां कामोद्बोधकः वामपरावृत्तः । स्त्रीणां पुरुषाणां च दक्षिणः । देवानामुच्चैः अधस्तिरश्चाम् । समतया सर्वेषामचेतनानां च । तत्र देवस्त्रीणां कामोद्बोधको वामपरावृत्त एवेति तथा निरूप्यते । मानुषभावाद्देवभावो महानिति मानुषनादेन देवस्त्रीणां भ्रमो न भविष्यतीत्याशङ्क्य, 'तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिभिष्य' मिति वाक्याद्, भ्रूविलासं नादे योजितत्वात् । तदाह । वामबाहौ कृतो योजितो वामकपोलो येन । वलिगता भ्रूर्यस्येति । भ्रूत्र दक्षिणा । तथैवाभिनयभावात् । वलिगता उच्चैर्गन्तियुक्ता । अधरः पूर्व वर्णितः लोभात्मकः । तत्र चेत्समर्पितः, परमानन्दं न प्रयच्छति । काममेवोद्बोधयति । यतः श्रुत्वापि विरहजनितक्लेशमेव प्राप्नुवन्ति, न तु परमानन्दम् । तत्रापि क्रियाशक्तिः पुष्टा चेद् भवेत्, तदा लुब्धादपि फल सिध्येत् । तदपि नास्तीत्याह । कोमलाङ्गुलिभिराश्रितो मार्गो यस्य । आदौ मन्दप्रकारेणैव वेणुनादस्योचितत्वात् । मार्गस्तस्य रन्ध्राः । तेषां

गाढभावेन निष्पीडने तारो नादो भवति । मध्यभावे मध्यमः । कोमले मन्द इति । गोप्य इति सम्बोधनं सर्वानुभवसाक्षिकमेतदिति ज्ञापयितुम् । ईरणमत्र वादनम् । प्रयोजनमाह मुकुन्द इति । वेणुनादेन शुद्धं चेत् जगत्, तदा मोक्षं दास्यामीति । एवं हितार्थेऽपि वेणुवादने, ये मोक्षानधिकारिणः, तेषां काम एव जात इत्याहुः व्योमयानवनिता इति । व्योमयानाः विमानयानाः सर्वे देवयोनयः तेषां वनिताः । अधिकारित्वात् स्त्रीत्वाद् भोग्यत्वाच्च न मुक्त्यधिकारिण्यः । सिद्धैः सहिता अपि । भगवद्व्यतिरिक्तं सर्वमेव दातुं समर्थाः । स्वयमत्यन्तं गाने निपुणाः । आदौ वेणुनाद श्रुत्वा विस्मिता जाताः । ततोऽल्पकामोदके तद्वेणुनादमुपधार्य सलज्जा जाताः । भर्तारो ज्ञास्यन्तीति । ततोऽत्यन्तमुदके स्वात्मरक्षार्थं कामेन मरणशङ्कया काममार्गलोभ्यः समर्पितं चित्तं याभिस्तादृश्यो जाताः । यथा मारकाय मारणात् पूर्वं स्वयमेव समर्प्यते भीरुभिः । ततः कामेन पीडिताः कश्मलं मूर्च्छाययुः । सा मूर्च्छा अत्यन्तविस्मारिकेत्याह । अपस्मृता नीवी कटिवस्त्रं याभिरिति । एवं वेणुनादोऽत्यन्तं कामबोधक इत्यस्माकं मूर्च्छादौ किमाश्चर्यमिति भावः ॥ २ ॥ ३ ॥

व्याख्यानार्थ—जिस समय मुकुन्द भगवान् अधर पर धरे हुए, वेणु को बजाते हैं, उसी क्षण में, विमान में बैठी हुई देव स्त्रियां मूर्च्छा को प्राप्त हो गईं, इस प्रकार शब्दों का सम्बन्ध है ।

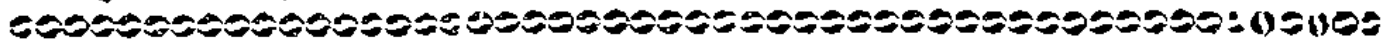
वेणु का नाद पांच प्रकार से होता है—मुख के (१) दाहिने और (२) बाएँ दोनों तरफ (३) मुख के सामने, (४) मुख के ऊपर की तरफ और (५) मुख के नीचे की तरफ । बाएँ धारण किया हुआ वेणु स्त्रियों में काम को जागृत करता है । दाहिनी तरफ धारण किया हुआ वेणु, स्त्री तथा पुरुष



दोनों में काम को उत्पन्न करता है। ऊपर की तरफ वाला वेणु देवों में काम को जगाता है। नीचे की तरफ वाला वेणु, पशु पक्षियों में काम को उत्पन्न करता है। सीधा धारण किया हुआ वेणु, सब चेतनों और जड़ों में भी काम को उद्भूत^१ करता है। इस पांच प्रकार से धारण किए हुए वेणुओं में से, जो वेणु वाए धारण किया हुआ है वह वेणु स्त्रियों के काम को जागृत करता है, इसलिए उसी प्रकार वर्णन किया जाता है। मानुष भाव से देव भाव महान् है, इसलिए मनुष्य के नाद से देव स्त्रियों को भ्रम नहीं होगा, इस प्रकार की शङ्का निवृत्त करने के लिए श्लोक में 'तद्भ्रूविजृम्भः परमेष्ठिधिष्ण्यम्' पद दिया है, जिसका भाव यह है, कि भगवान् ने अपना भ्रू विलास जो कि ब्रह्मा का स्थान है, उसके साथ अर्थात् नाद के साथ मिला दिया। यही वर्णन इस श्लोक में किया गया है। भगवान् ने अपनी वामबाहु पर अपना वाम कपोल रखा और फिर दायीं ओर की भौंह चंचल हो उठी। 'वलिगता' यानि ऊपर की उठ गई। पूर्व वर्णित लोभात्मक अधर पर घरा हुआ वेणु परमानन्द न देकर काम को ही प्रबुद्ध करता है। जैसे लोभी, परमानन्द रूप धन के मिलने पर उसे किसी को नहीं देता है किन्तु कामनाओं को ही जगाने के लिए संभालता है, वैसे लोभात्मक अधरों ने वेणुनाद को सुनकर वे गोपीजन विरह से उत्पन्न क्लेश को ही पाती हैं न कि परमानन्द को, यदि क्रिया शक्ति बलवती होवे, तो लोभी से भी फल प्राप्ति^२ हो सकती है। वहां वह क्रिया शक्ति भी बलवती नहीं है, अर्थात् वेणु को उच्च स्वर से बजाया जाए तो उस वेणु से भी परमानन्द की प्राप्ति हो सकती है परन्तु यहां वह भी नहीं हो सकता है, क्योंकि कोमल अङ्गुलियों ने नाद प्रकट होने के मार्ग में जो छिद्र हैं उनको रोक रखा है। आरंभ में वेणुनाद मन्द प्रकार से करना ही उचित है। नाद के निकलने के मार्ग, जो छिद्र हैं उनको गाढ़ भाव से दबाने पर ध्वनि जोर से ऊंची निकलती है, मध्य प्रकार से दबाने पर मध्य ध्वनि निकलती है, कोमलता से अङ्गुलियों चलावे तो नाद मंद मंद प्रकट होता है।

हे गोपियों ! तुमने वह नाद सुना है, जिससे तुमको इसका पूर्ण अनुभव है, इसलिए तुमको साक्षी रूप में रखकर हम वर्णन करती हैं। 'इरण' यानि वेणु वादन इस वेणु नाद का प्रयोजन बताने के लिए भगवान् का नाम 'मुकुन्द' दिया है अर्थात् भगवान् की इच्छा है, कि वेणुनाद से जगत् शुद्ध हो जाए तो उसको मोक्ष दे दूँ।

भगवान् वेणु का नाद जगत् के हितार्थ करते हैं, किन्तु जो मोक्ष के अधिकारी नहीं हैं, उनका चित्त शुद्ध नहीं होता है जिससे उन अनाधिकारियों में, काम ही प्रकट हुआ है। विमानस्थ सभी देवों की स्त्रियां वैसे ही अधिकारिणी हैं, कारण कि स्त्रियां हैं भोग्य हैं जिससे मुक्ति की अधिकारिणी नहीं हैं, किन्तु काम की ही अधिकारिणी हैं। वैसे तो वे स्त्रियां अपने पति देवों के साथ थी परन्तु वे पतिदेव सभी कुछ दे सकने में समर्थ थे सिवाय भगवान् के। स्वयं गान में अत्यन्त निपुण हैं अतः प्रथम यह वेणुनाद सुनकर, आश्चर्य में पड़ गई, कि इस प्रकार सुन्दर नाद मनुष्य लोक में किसने किया है ? उस नाद से जब थोड़ा सा काम बढ़ा, तब फिर उस नाद को पूरी तरह ध्यान देकर सुनने लगी, जिससे समझ गई, कि यह नाद किसका है और कैसा है, अतः वे लज्जित होने लगीं। क्योंकि हमारा काम बढ रहा है पति समझ जाएंगे तो बग़ा कहेंगे ? किन्तु अन्त में विचार कर समझ



गई, कि यह काम तो हमारा नाश ही करेगा, अतः जैसे डरपोक मारने वाले की शरण लेता है वैसे ही इन्होंने भी कामरूप भगवान् की शरण ले ली। काम के वेग से, वे मूर्च्छित हो गईं। मूर्च्छा में सर्वं विस्मृति हो जाती है, भान नहीं रहता है, जिससे उनको अपने नीची बन्धन के टूट जाने का भी ध्यान न रहा अर्थात् नीचे का वस्त्र भी गिर गया।

इस प्रकार वेणुनाद काम को अत्यन्त जागृत करने वाला है जिससे हम (अपन) गोपीयों को मूर्च्छा प्राप्त हो तो उसमें कौनसा आश्चर्य है ! ॥२॥३॥

आभास—गवामपि वेणुनादेन तथा जातमिति वक्तुं प्रकारान्तरेण वेणुरवोद्गम-
माहुः हन्त चित्रमिति ।

आभासार्थ—गौश्री की भी वेणुनाद के सुनने से वही दशा हुई जैसी देव स्त्रियों की हुई थी अतः वेणुरव के उद्गम का ही वर्णन अब अन्य प्रकार से 'हन्तचित्रं' इस श्लोक युग्म में करती हैं—

श्लोक—हन्त चित्रमबलाः शृणुतेदं हारहास उरसि स्थिरविद्युत् ।

नन्दसूनुखमार्तजनानां नर्मदो यहि कूजितवेणुः ॥४॥

वृन्दशो व्रजवृषा मृगगावो वेणुवाद्यहतचेतस आरात् ।

दन्तदष्टकवला धृतकर्णा निद्रिता लिखितचित्रमिवासन् ॥५॥

श्लोकार्थ—(युग्मार्थ) हे अबला ! यह अचम्भा तो सुनो, हार के समान उज्ज्वल हास्य वाले, आर्तजनों को आनन्द देने वाले, वक्षस्थल पर जिनके विद्युत् स्थिर है ऐसे नन्द पुत्र जब वेणु बजाते हैं, तब उसकी ध्वनि से, भुण्ड के भुण्ड व्रज के बैल, मृग और गायों का चित्त हरण हो जाता है जिससे वे सब, दांतों से चबित कौल (कवल) को यों ही रख, कान ऊंचे कर, मानों नींद लेते हों और चित्र में लिखे हुए हो ऐसे हो जाते हैं ॥४-५॥

सुबोधिनी—हे अबलाः, इदमाश्चर्यं शृणुत । यहि नन्दसूनुः कूजितवेणुः, तर्हि वृषा गावो दन्तदष्टकवला निद्रिता आसन्निति सम्बन्धः । कामः पशुषु सजातीय एव, नोत्कृष्टे नापकृष्टे । अश्वतरे त्वन्यैव व्यवस्था । हीनेषु महतो रम-	णार्थं सम्बन्धोऽपि रसाभासजनकः । अतः सम्भोगलक्षणं कामं निराकृत्य पशुष्वत्यावश्यकं भक्ष्यं निरुणद्धि । पूर्वोक्तं वामबाहुकृतवामकपो-लत्वमनुवर्तते । तत्रैवावान्तरभेदो वक्तव्यः । हन्तेति श्लेदे । यत्र गवामपि सर्वक्रियानिवृत्तिः,
---	--

टिप्पणीजीः—यह परोक्षवाद है क्योंकि यहां संदर्भ गोपिजनों का है। अतः शुद्धि का मतलब है भगवद्-भाव के अलावा अन्य किसी भी भाव का न रहना। इसी तरह मोक्ष का मतलब है भजना-नन्दानुभव।



तत्रास्माकं न निवर्तते इति चित्रम् । पूर्वपिक्ष-
याप्युत्कृष्टम् । देवस्त्रियो हि पुरुषोत्तमे कामुक्यो
भवन्त्येव । इदं त्वत्याश्चर्यमिति । अबला इति
सम्बोधनं गत्वा दर्शनाभावाय । इदं मया प्रोच्य-
मानं शृणुत । अत्र गोपिका नवविधाः । गुणा-
तीते प्रकारत्रयमिति । कर्मज्ञानभक्तिभिः । वक्तृ-
व्यवस्थेषा । प्रथमा राजस्यः । इयं राजसरजसी ।
अपेक्षितं पूर्वं सर्वमेवानुवर्तते सर्वत्र । आदौ
भगवतः स्वरूपं शृणुतेति । तं चतुर्धा वर्णयति ।
हारवत् हासो यस्य । उरसि स्थिरा विद्युद् यस्य ।
नन्दस्य च सूनुः । आर्तजनानां सर्वेषामेव नर्मदः ।
तत्र हेतुरयमिति । अन्यथेदानीमग्रे प्रकटो न
भवेत् । द्वितीये मुहूर्ते निर्गच्छन्तं बालक्ष्याह ।
तदा प्रतिमुहूर्तं युगलानि भवन्ति । सन्ध्यासन्ध्या-
शयोरन्तरेण द्वादशैव मुहूर्ता इति सोमोत्पत्तौ
निर्णयः । अन्येषां हास्यं किर्मीरितं भवति, रज्जु-
वत् । भगवतस्तु दन्तानां कान्त्या विभक्तो हासः
मुक्ताहारवद् भवति । यथा रत्नैर्व्यवहिता मुक्ता
इति । अनेन जगतः प्रपञ्चे मोहजनकत्वं स्थिरी-
कृतम् । स्नेहकलाभिर्माया विभक्तेति श्रुतार्था-
पत्तिरर्थनिरूपणे मूलं सर्वत्र । यथा दृष्टे नानुप-
पत्तिः । दृष्टानुसारेणैव सर्वं व्यवस्थाप्यते । 'नहि
दृष्टे अनुपपन्नं नाम व्याघाता'दिति । लौकिका-
नामेषा व्यवस्था । सर्वथा दृष्टविरोधो नाङ्गीक्रियत
इति । तथा वैदिकानां श्रुतिः । यावत्तत्र बोध्य-
मानः पदार्थः स्थिरीभवति, तावास्तदनुगुण
उच्यत इति सर्वत्र वैषा व्यवस्था । न केवलं
संसारे पुत्राद्यासक्तिमेव स्थिरीकरोति, किन्तु
धनासक्तिमपीत्याह । स्थिरा लक्ष्मीर्यत्रेति । एवं
प्रमाणबलनिराकरणार्थं द्वयं विधाय प्रमेयबल-
निराकरणार्थं द्वयं कृतवानित्याह । यतोऽयमेव
नन्दस्य सूनुर्जातिः । आर्तानां च स्वयमागत्य सुखं
प्रयच्छति । परिदृश्यते च तथेति च प्रमाणम् ।

नहि महानेवं करोति । अतः इदमाश्चर्यम् । एत-
मेवार्थं प्रकटीकुर्वन् कूजितवेणुर्भवति । अथवा ।
पूर्वपिक्षया अधोवक्त्रलीलया वेणुवर्चिते । हार-
वद्धासो यस्मिन् उरसि । तस्य स्थिरता विभाग-
स्थैर्यं चाश्चर्यम् । श्रीवत्सोप्युत्कृष्ट इति शोभार्थं
तस्य स्थिरत्ववर्णनम् । तादृशस्य नन्दसूनुत्वे
स्नेहो वर्धते । तत्रापि स्वोपकारक इति । कूजि-
तत्वं वादनविशेषधर्मः । सर्वेषामान्तरं प्राणधर्म-
मप्याकर्षति । यत्र पशूनामपि प्राणादिधर्महारी,
तत्रान्येषां किं वक्तव्यमिति पशूनां निरूपयति ।
एकस्य तथात्वं हेत्वन्तरसिद्धमपि भवेत् । अत
उक्तं वृन्दश इति । समूहशः । यत्रैव वेणुनादः
प्रविष्टः, तेषां सर्वेषामित्यर्थः । व्रजस्थिता वृषाः
ककुद्मिनो मत्ताः । उत्सृष्टवृषा इव शकटादिने-
तारः । ते व्रजसमीप एव तिष्ठन्तीति ग्राम्यपशू-
पलक्षणार्थं व्रजपदम् । मृगा गावश्चारण्ये मिलिता
भवन्ति । आरण्या ग्राम्याश्चैव भवन्तीति ज्ञाप-
नार्थं मृगपदम् । किं बहुना सर्व एव पशवो वेणु-
वाद्येन कृत्वा हृतचेतसो भवन्ति । नापि भगव-
त्समीपगमने समर्थाः । किन्तु हृतचेतसो दूरादेव
भवन्ति । अनेन वेणुनादस्य स्वाभाविक एवायं
धर्मो, न तु भगवत्समीपकृत इति । कवलास्तृण-
रूपाः, केवलं दन्तैर्दण्डाः, न त्यागे, न च भक्षणे
समर्थाः । दन्तदंशमात्रेण प्रयत्नो निवृत्त इति
नादस्येतरकार्यनिवर्तकत्वमुक्तम् । पूर्वक्रियाया
अत्यावश्यकत्वाय कवलपदम् । देवस्त्रीवन्मूर्च्छा-
निवृत्यर्थमाह धृतकर्णा इति । अन्यत् सर्वं परि-
त्यज्य कर्णमेव साधनं धृतवन्तः । ततो बाह्यान्नि-
वृत्ता इत्याह निद्रिता इति । ततो नादेन सर्वतो
व्याप्ताः । लिखितं गवादीनां चित्रमिव पश्चात्ते
जाताः । स्थावरापेक्षयापि स्थिरा जाताः ।
पूर्वोक्तार्थादधिकोर्थ इति चित्रता ॥५॥

व्याख्यानार्थ—ओ अबलाओं ! यह आश्चर्य सुनो । जब नन्द के पुत्र वेणु वजाते हैं, तो बैल और
गायों के दाँतो में दबाए हुए तृण कवल यून ही रह जाते हैं, और वे निद्रा मग्न हो जाते हैं । पशुओं को
अपनी खुद की जाति में ही काम उत्पन्न होता है, अपने से उत्तम अथवा निम्न जातियों में नहीं ।

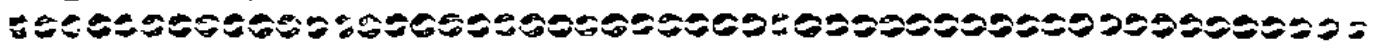
•••••

संसार में जिन्हें पुत्र आदि में आसक्ति है, उनकी आसक्ति को अपने में केवल स्थिर करते हों यह बात नहीं है, किन्तु जिन्हें धन में आसक्ति है उनकी आसक्ति भी भगवान् अपने में स्थिर कर लेते हैं, यह "उरसि स्थिर विद्युत्" अंश कहा जा रहा है। अर्थात् (विद्युत् जैसी चंचला) लक्ष्मी भी जहाँ स्थिर अचंचल होकर रहती है।

इस तरह प्रमाण बल के निराकरण के लिए "हारहासः" एवं "स्थिर विद्युत्" ये दो विशेषणों के वर्णन के बाद, प्रमेय बल के निराकरण के लिए जो दो कार्य किए उन्हें दिखलाते हैं।

अर्थात्, यही भगवान् नन्द के पुत्र हुए हैं तथा आतों को भी स्वयं आकर सुख प्रदान करते हैं यहाँ भी वही श्रुतार्थापत्ति प्रमाण है, क्योंकि वैसा ही यहाँ भी दिखलाई पड़ रहा है। महान् पुरुष कभी ऐसा नहीं करते, अतः यह आश्चर्य है। इसी अर्थ को प्रकट करते हुए भगवान् वेणुवादन करने हैं। अथवा पहने की अनेका मुखारविन्द को नीचे झुका कर वेणु बजाते हैं और तब ऐसे दर्शन होते हैं, कि भगवान् के वक्षस्थल पर हार की तरह हास्य शोभायमान होता है। इसकी स्थिरताएवं विभाग स्थैर्य आश्चर्य है। श्रीवत्स भी अत्यन्त उत्कृष्ट है, अतः शोभा के लिए उसकी स्थिरता का वर्णन है। इस तरह के भगवान् जब नन्द के पुत्र बनते हैं, तो उनमें स्नेह बहुत बढ़ जाता है। और वहाँ भी अपने पर उपकार करते हों तो पूछना ही क्या? सभी के आन्तर प्राण धर्म को भी यह आकर्षित करता है। कृजन् एक बजाने का प्रकार है। जब यह वेणु कृजन् पशुओं के प्राणादि धर्म का हरण करता है, तो फिर, अन्यो को तो बात ही क्या है। यह दिखलाने के लिए पशुओं को निरूपण करते हैं। एकाध के तो किसी अन्य कारण से, हो सकते हैं परन्तु यहाँ तो यह स्थिति समूह के समूह की है। जहाँ-जहाँ वेणुनाद प्रविष्ट सभी की यह दशा हो गई। बज में रहने वाले बैल तो झुले भटकने वाले बड़े ककुद्म वाले मत्त बैल के जैसे होते हैं, जिन्हें गाड़ी में जोता जाता है। वे ब्रज के समीप ही रहते हैं, अतः गांव के पशुओं को लेने के लिए 'ब्रज' पद कहाँ है। मृग एव गाय अरण्य में मिल जाते हैं। यह स्थिति ग्राम्य एवं आरण्य पशुओं की हो जाती है, यह जताने के लिए 'मृग' पद है। कहाँ तक कहा जाए सभी पशु वेणुवादन से 'हृतचेतसः' हो जाते हैं। यहाँ तक भगवान् के समीप जा नहीं पाते। दूर ही खड़े-खड़े अपने चित्त को खो बैठते हैं।

यह वेणुनाद का स्वाभाविक धर्म है, न कि भगवान् के समीप होने से चित्त का हरण हुआ है चित्त हरण से क्या हुआ? वह बताते हैं कि पशुओं के मुख में जो तृण रूप कौल (पास) था उसको केवल दान्तों से चबाया था अब चित्त हरण हो जाने से न उसको छोड़ सके और न खा सके। नाद, श्रवण से चबाया हुआ कौल, वहाँ ही रह गया, मुख खुल गया कोई भी कार्य न कर सके। पूर्व क्रिया अर्थात् मुख में आए पदार्थ को चबाना अत्यावश्यक है, इसलिए पशुओं ने तृण को चबाया था जिससे तृण न कह कर श्लोक में 'कवल' अर्थात् कौल कहा है। जैसे देव स्त्रियों को मूर्च्छा आई, वैसे इनको मूर्च्छा नहीं आई थी इसलिए श्लोक में 'धृतकर्णा' कहा है अर्थात् अन्य सर्व विचार छोड़ कर केवल वेणुनाद सुनने की इच्छा की, जिससे कानों को ऊँचा कर लिया। उस श्रवण से बाह्य वृत्ति उनकी मिट गई, नीन्द शैते हों वैसे देखने में आए जब नाद सर्वत्र शरीर में फैल गया, तब चित्र में चित्रित जैसे बन गए यों दीखने में आए, मानों स्थावर से भी विशेष स्थावर बन गए। वेणुनाद के प्रथम प्रभाव से भी यह प्रभाव जो पशुओं पर पड़ा वह विशेष था अतः कहा कि आश्चर्य है ॥४-५॥



टिप्पणीजी का आशय—भगवान् में हमारा स्नेह हो जाए तो माया अपने सभी रूपों में दूर हो जाती है, यह प्रमाण बल की व्यवस्था है। और इसी मायाकार्य - प्रपंच मोह के स्थिर होने पर, भगवत्स्नेह नहीं रह पाता। परन्तु प्रमेय बल से भगवान् भगवत्स्नेह एवं प्रपंच मोह दोनों साथ-साथ चला रहे हैं। अतएव भगवान् में स्नेह रखने वाले ब्रज मण्डल के जीवों का जगत् भी विषय रूप प्रपंच में मोहित है। यह भी एक आश्चर्य है। और इस बात को कहते हुए खेद होता है, जिसे मूल में 'हन्त' से ध्वनित किया। भगवान् में जिन्हें राग है उनका अन्यत्र राग दिखलाई पड़ने पर भक्तों को खेद होना आवश्यक है। परन्तु भगवान् यह मोह उत्पन्न न करें, तो भक्त स्नेह वश सभी कुछ छोड़-छाड़ कर भगवान् के पास पहुँच जाएं तो उनके साथ लोक में लीला असंभव हो जाएगी अतः भगवान् का द्विविध राग उत्पन्न करना आश्चर्य है।

टिप्पणी जी का आशय—विद्युत् एवं लक्ष्मी दोनों ही चंचल होने के कारण 'विद्युत्' पद से धन में तात्पर्य है। ऐसी विद्युत् को अपने में स्थिर रख कर प्रपंच में आसक्ति रखने वाले को भी भगवान् अपने में वरवस आसक्त कर लेते हैं। इस तरह प्रपंच में प्रपंच विषयक मोह को स्व विषयक बनाना भी एक आश्चर्य है।

आभास—वेणुनादेन नदीनामतिजडानामपि स्पृहा जायत इति वक्तुं पुनर्वेणुनादं वर्णयन्ति बहिरा इति।

आभासार्थ—वेणु के नाद से बहुत जड़ + नदियों को भी इच्छा Δ होती है, यह बताने के लिए फिर वेणुनाद का वर्णन 'बहिराः' श्लोक में करती हैं—

श्लोक—बहिराः स्तवकधातुपलाशैर्बद्धमल्लपरिबर्हविडम्बः।

कहिचिद् सबल आलि सगोपर्गाः समाह्वयति यत्र मुकुन्दः ॥६॥

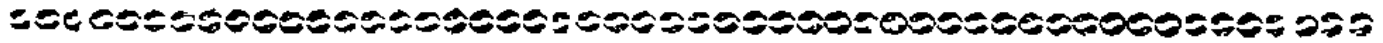
तर्हि भगवतयः सरितो वं तत्पदाम्बुजरजोऽनिलनीतम्।

स्पृहयतीव्यमिवाबहुपुण्याः प्रेमवेपितभुजाः स्तिमितापः ॥७॥

श्लोकार्थ (युग्मार्थ)—हे सखि ! किसी समय जब मुकुन्द भगवान् मोर पिच्छ के गुच्छ, धातु तथा पत्तों से मल्ल का शृङ्गार कर, बलभद्र, गोप और गोपियों के साथ मिल गायों को वेणुनाद से बुलाते हैं तब नदियां पवन की प्रेरी हुई भगवान् के चरणारविन्द के रज की इच्छा करती हैं, जिससे उनकी गति बन्द हो जाती है, किन्तु वे भी अपनी तरह कम पुण्य वालियाँ हैं, उससे रज को प्राप्त नहीं कर सकती हैं, केवल प्रेम से तरंग रूप हस्तों की चलाती हुई स्तब्ध जल वाली हो जाती हैं ॥६-७॥

+ प्रथम कहे हुए पशु जड़। मूर्ख। है क्योंकि उनको लीला का विशेष ज्ञान नहीं है किन्तु नदियां उनसे भी विशेष जड़ हैं कारण कि जिनको कुछ भी ज्ञान नहीं है।

Δ भगवान् के चरणारविन्द के रज की इच्छा।



सुबोधिनी — आवेशो देववेशश्च पूर्वं निरूपितो । लीलावेशोऽधुना निरूप्यते । निम्नरक्रिया हि नदीनाम् । चेतनानां तु निद्रामूर्च्छादौ क्रिया-निवृत्तिरपि दृष्टा । नदीनां न कदापि निवर्तते इति । तत्रापि महतीनाम् । बन्धोऽपि न तासां भवति । सापि वेणुनादेन निवृत्ता । वह्निणो मयूरस्य । स्तवकाः गुच्छकाः पिच्छगुच्छानि । धातवो गेरिकादयः । पत्राणि च । धातूनां वा पत्राकारेण लेखाः । कमलपत्राण्यपि आकारार्थं बध्यन्ते इति । तैः कृत्वा मल्लानां परिवर्हः अलङ्करणं वेश इति यावत् । स्वयं स्तवकादिभिः बद्धो योऽयं मल्लपरिवर्हः तं विडम्बयति । विडम्बो वा बद्धः । अस्वाभाविक विडम्बनमेव भवति । नटमल्लवत् । अनेनायं नादो नृत्योपयोग्येव निरूपितः । तेन क्रियाशक्तिरुद्गता नादस्या निरूपिता नदीनामाकर्षणं हेतुर्भवति । कर्हिचिदिति । यदोत्साहः क्रियाशक्तौ । अत एव सबलः बल-भद्रसहितः । अजोति सम्बोधन गोप्यतयायमर्थो निरूपितः, अप्रतारणार्थं च । प्रायेणैषा तदा दर्शनार्थं गतवती स्नानादिव्याजेन । एव सामग्रीं विधाय सोऽस्माकं भोक्ता वस्तुतो वा जातो वा, तादृशो गोपैः सहितः । अनेनात्र वैकुण्ठस्थितलीला सूचिता । अत्रापि लक्ष्मीरस्माभिः सहिता रात्रौ, गोपैः सहिता दिवसे तिष्ठतीति । अत एव सम्बोधनं रहस्यसूचकम् । तदा गाः समाह्वयति, वेणुनादेनैव, प्रकरणत्वाद् । वेणुनाह्वयतीत्यग्रे वक्ष्यति । वेणुतुल्यतया निरूपणार्थं वा वेणोर-ग्रहणम् । गवामाह्वाने हेतुः मुकुन्द इति । मोक्षो हि ताभ्यो देय इति स्वतस्तासां साधनाभावादाकार्यं प्रयच्छति । स्वरसं वा तत्र स्थापयितुम् ।

उद्गता क्रियाशक्तिर्महदेव कर्म करोतीति गवामाकारणमुक्तम् । तत्र योगार्थं ज्ञात्वा नद्योऽपि नित्यं गच्छन्तीति ताः स्थगिता जाता इत्याह तर्हीति । तत्क्षणमेव भग्नगतयो जाताः । नहि भगवदाज्ञा केनाप्युत्तङ्घया भवति । सरित इति प्रवाहैकस्वभावत्वं निरूपितम् । तासां वंशवत्प्रकामना । तासां हि समुद्रोऽधिपतिः । यथा भगवान् पतिर्भूयात्, तदर्थं तत्पदाम्बुजरजः स्पृहयतीर्जिताः । स्पृहयन्त्यः । रजसः सम्बन्धार्थमुपायमाह अनिलनीतमिति । अनिलेन वायुना स्वार्थं नीतम् । तेन सह प्रत्यासत्तिः । जलार्थी सः । भगवदीया एव भगवत्सम्बन्धं प्राप्नुवन्तीति रजःकामना दूराभिप्राया । काम एवात्रोद्देश्यः देवतात्वान्नदीनाम् । अत एवाग्रे कालिन्दी तथा भविष्यति । इदानीं तथाभावे भाग्यं नास्तीत्याह अबहुपुण्या इति । न बहु पुण्यं यासाम् । यथा शीघ्रमेव गोरूपत्वम्, गोपालरूपत्वं दिवसे, रात्रौ स्त्रीरूपत्वमिति । पुण्यैर्विना समीहितार्थसिद्धयभावात् । कथं ज्ञायते तासामेवंगभाव इति तत्राह वयमिवेति । यथा वयं अबहुपुण्याः । अन्यथा दिवसे गावो गोपा वा भवेम । अतः स्वहृष्टान्तेन ज्ञायते स्पृहामेव कुर्वन्ति, न तु तासां कार्यं सिध्यतीति । किञ्च तासां सात्त्विकभावादपि हृद्गतो भावो लक्ष्यत इत्याहुः प्रेमवेपितभुजा इति । प्रेमणैव भुजानां वपेनम्, न तु वायुवशात् । अतो विरहसन्तापयुक्ता इव लक्ष्यन्ते । किञ्च । स्तम्भोऽपि जात इत्याहुः स्तिमिताप इति । स्तिमिताः स्तब्धा आपो यासाम् । एवं रजोभेदास्त्रिविधा निरूपिताः ॥७॥

व्याख्यार्थ—पहले आवेश और फिर देववेश का वर्णन किया गया, अब लीलावेश का वर्णन किया जा रहा है । नदियों की क्रिया सदा-सर्वदा चलती ही रहती है क्योंकि निद्रा, मूर्च्छा आदि में चेतन प्राणियों की क्रिया तो बन्द होती देखी जा सकती है, परन्तु नदियों की क्रिया तो कभी भी बन्द नहीं हो सकती और उसमें भी बड़ी नदियों की क्रिया तो कभी बन्द हो ही नहीं सकती है और न उन्हें बाँधा जा सकता है । परन्तु ऐसी नदियों की क्रिया भी वेणुनाद से बन्द पड़ गई । मोर के पूँछ के गुच्छ, गेरूँ आदि धातु और पत्ते अथवा पत्तों की आकृति जो इनसे लिखी गई होती है



क्योंकि कमल के पत्ते भी इस तरह के वेश के लिए बांध लिए जाते हैं। इन सारे पदार्थों से मल्लों का परिवर्ह या नि अलंकार वेश बनाया गया है। मधुरपिच्छ के गुच्छ से जो यह मल्लवेश होता है उसका भगवान् स्वयं अनुकरण करते हैं, अथवा मल्लोंका अनुकरण किया जा रहा है, क्योंकि, नाटक के मल्ल की तरह अनुकरण अस्वाभाविक होता है। इस तरह नृत्य के वेश के अनुकरण का जो वर्णन किया उससे नृत्य में उपयोगी नाद का ही वर्णन हुआ। 'कहिचित्' यानि कभी, जब कि क्रिया शक्ति में उत्साह होता है। इसीलिए भगवान् को 'सबल' कहा गया है अर्थात् भगवान् बलभद्र के साथ हैं। यह बात गुप्त रखने की है और किसी को भ्रान्ति भी न हो जाए इसलिए 'आलि' यह संबोधन किया गया है। + प्रायः यह युगल कहनेवाली गोपी नहाने के बहाने गई होती है। इस तरह सामग्री संपन्न करके भगवान् स्वयं जो हमारे भोक्ता हैं या हो जाते हैं ऐसे कभी ही गोपों के साथ होते हैं। इससे यहां वैकुण्ठ स्थित लीला की सूचना मिलती है। यहां भी लक्ष्मी हमारे साथ रात्रि में अन्तरंग गोपों के साथ साथ दिन में रहती है अतएव 'आलि' संबोधन रहस्य सूचक है।

बाद में भगवान् वेणुनाद द्वारा गायों को बुलाते हैं। आगे भी कहा जाएगा, कि "वेणुना ह्वयति" अर्थात् वेणु से गायों को बुलाते हैं। परन्तु यहां 'बुलाते हैं' कहा, न कि 'वेणुनाद द्वारा बुलाते हैं' यों कहा, उसका कारण यह है, कि भगवान् वेणु के समान ध्वनि से बुलाते हैं अतः वेणु-द्वारा बुलाते हैं यों नहीं कहा। गायों को भगवान् बुलाते हैं, क्योंकि स्वयं मुकुन्द हैं—उन्हें मोक्ष तो देना ही है*१ परन्तु उनके पास साधन नहीं है अतः उन्हें बुलाके दे देते हैं। अथवा अपना रस वहां भोः स्थापित करना है इसलिए बुलाते हैं।२ जब क्रियाशक्ति प्रकट होती है, तो बड़े-बड़े कार्य ही करती हैं एतदर्थ कहा, कि गायों को बुलाते हैं। 'गो' शब्द की रूढ़ी गाय में है, परन्तु यह शब्द वनना है 'गच्छति' से अतः नदियों ने रूढ़ीवाले अर्थ के बजाय यौगिक अर्थ को लेकर यद्यपि स्वयं के अहनिश चलते रहनेवाली होने पर भी भगवान् बुला रहे हैं यों सोचकर स्थगित हो गई क्योंकि भला भगवान् बुलाते हों, तो फिर कौन जा सकता है? 'सरित' पद से उनका चहते रहना यह स्वभाव है यह सूचित किया। परन्तु अब इन्हें वेणुव होने की कामना हुई है। इन नदियों का पति समुद्र है इसलिए बहती रहती हैं, परन्तु अब इन्हें भगवान् को अपना पति बनाना है, भगवान् के चरण कमलों को रज ही अब इन्हें चाहिए इसलिए रुक गई। परन्तु वह रज कैसे मिल सकती है? उसके मिलने का उपाय यही है, कि वायु जिस चरण-रज को अपने स्वार्थ से लेकर उड़ती है और जिस वायु को जल की कामना है, उससे संबंध स्थापित किया जाए। भगवदीयों का ही भगवान् से संबंध हो पाना है तथा भगव-

+ लेख का आशयः—अर्थात् बलभद्र के साथ तो भगवान् कभीकदास ही होते हैं और इसी तरह कभी कदास गोपों के साथ भी, परन्तु वैसे तो, एकान्त में जब भी होते हैं तो अपने साथ ही हैं। इस तरह रमण सामग्री का सूचन किया गया है।

* टिप्पणीजी का आशय—(१) यहां मोक्ष अन्य कुछ नहीं, केवल भगवान् के दर्शन का सुख जो मिलता है, उसे मोक्ष कहा जाता है।

(२) स्वरूप के रस का ज्ञान पशुओं को स्वतः संभव नहीं है, अतः भगवान् अपने प्रयत्न से कराते हैं।



दीयता आती है चरणरज की प्राप्ति से । अतः बड़ी दूर की बात सोचकर नदियों को “रजःकामना” हुई है । नदी भी तो देवता हैं, अतः इनका यहां उद्देश्य काम ही है । अतएव आगे चलकर कालिन्दी भी वैसी हो जायगी । किन्तु अभी तो ऐसा लाभ हो जाए ऐसे भाग्य नहीं है यह “अव ह्युपया” से बताते हैं । भगवत्कृपास्वी पुण्य का संचय इनका अभी पर्याप्त नहीं हुआ है । पुण्य ऐसे, कि दिन में शीघ्र ही ये गाय, गोपाल बन जायें और रात्रि में स्त्री बन जायें । और पुण्य बिना, इच्छानुसार सारे कार्य सिद्ध नहीं हो पाते । परन्तु नदियों की यही इच्छा है, यह कैसे जाना जा सकता है ?

गोपीजनों का उत्तर है—जैसे हम अपने स्वयं के बारे में, जान पाती हैं । जो हमारा पुण्य संचय बहुत होता, तो, दिन में हम गाय या गोपाल बन सकती थी और रात्रि में स्त्री । अतः जैसे हमारे पुण्य पर्याप्त नहीं हैं, वैसे ही इन नदियों के भी पर्याप्त नहीं हैं, अतः बड़ी-बड़ी स्पृहा करती रहती हैं परन्तु उनसे कार्य कुछ भी सिद्ध नहीं होता ।

इसके अलावा इनके सात्विक भाव से भी हृद्गत भाव समझे जा सकते हैं, जिस सात्विक भाव से उत्पन्न प्रेम से इनकी भुजाएं कांप रही हैं यह कम्पन, वायु के कारण नहीं है, अतः विरह ताप से युक्त दीखने में आती है, और जल भी स्थगित हो गया है, इस प्रकार रजोगुण के तीन भेद वर्णन किए हैं ॥६-७॥

आभास—सत्त्वभेदान् निरूपयितुं भगवन्तमपि तथा वर्णयन्ति अनुचरैरिति त्रिभिः लताविहङ्गममेघाः सात्विकाः । एते वेणुनादेन भक्तिपूर्णा जाताः । तत्र प्रथमं वृन्दावनस्था लतास्तरवश्च वैष्णवाः वेणुनादेन उद्गतप्रेमरसा जाता इति तदर्थं प्रकारान्तरेण वेणुनादमाह । तदर्थं प्रकारान्तरेण भगवानपि वर्णनीयः । स च भक्त्यनुसारेण, लोकवेदानुसारेण च वर्णनीयः । तत्र भक्त्यनुसारेण प्रथममाह ।

आभासार्थ—‘अनुचरैः’ इन तीन श्लोकों से लता, पक्षी और मेघ इन तीन सात्विकों का वर्णन करती हैं, तथा भगवान् के भी पृथक् पृथक् लीला करने योग्य रूप तथा नाद का उसी प्रकार वर्णन करती हैं । ये तीन^१ वेणुनाद सुनकर भक्ति से पूर्ण हो गए । उनमें भी प्रथम वृन्दावन में स्थित लता तथा पेड़ वैष्णव हैं, जिससे वेणुनाद सुनते ही उनमें प्रेम रस उद्भूत हुआ अतः उनके लिए वेणुनाद दूसरे प्रकार से हुआ एवं इसीलिए भगवान् का भी प्रकारान्तर से वर्णन करना चाहिए । वह वर्णन भक्ति, लोक तथा वेद के अनुसार होना चाहिए, उनमें प्रथम भक्ति के अनुसार वर्णन करती हैं—

श्लोक—अनुचरैः समनुवर्णितवीर्य आदिपूरुष इवाचलभूतिः ।

वनचरो गिरितटेषु चरन्तीर्वेणुनाह्वयति गाः स यदा हि ॥८॥

वनलतास्तरव आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य इव पुष्पफलाढ्याः ।

प्रणतभारविटपा मधुधाराः प्रेमहृष्टतनवः ससृजुः स्म ॥९॥



श्लोकार्थ—युग्मार्थ-सेवकों ने जिसके वीर्य का श्रेष्ठ प्रकार से वर्णन किया है और जो आदि पुरुष नारायण के सदृश अचल लक्ष्मीवाले हैं एवं जो वन में फिर रहे हैं वैसे भगवान् जब पर्वतों के तटों में चरती हुई गायों को बन्सी की ध्वनि सुनाके बुलाते हैं, तब वन की लता तथा वृक्ष अपने अंदर विष्णु विराजते हैं, यह प्रकट करने के लिए, अपने को फल तथा पुष्पों से भरपूर करते हैं, जिससे उनकी शाखाएं भार से बहुत नम जाती हैं और प्रेम से जब वे रोमांचित हो जाते हैं तब उनमें से मकरन्द की धाराएं बहने लगती हैं ॥८-९॥

सुबोधिनी—अनुचरैः सेवकैर्गोपैः सम्यगनु-
वर्णितानि वीर्याणि यस्य । आदिपुरुष इव
पुरुषोत्तम इव च अनुचरैर्वदैः सम्यक् सर्वोत्तम-
त्वेन वर्णितानि जगत्कर्तृत्वादीनि वीर्याणि
यस्य । लोकानुसारेण महात्म्यमाह सर्वोत्कृष्टं
आदिपुरुष इवाचलभूतिरिति । अचला विभूति-
लक्ष्मीर्यस्य । अनुचरैः सर्वैरेव देवादिभिस्तथोक्तः ।
लौकिकाः स्वव्यवहार्यत्वात् पुरुषोत्तमतुल्यता-
मेवाहुः । अतो दृष्टान्तभावः । भिन्नतया वर्णनायां
हेतुमाह धनचर इति । वृन्दावनचरः सात्त्विक-
भावापन्नः सत्त्वभूमौ प्रतिष्ठित इति, गिरितटेषु
गिरिप्रान्तेषु चरन्तीः विषमस्थानात् समदेशे पशु-
हिते स्वयं तत्रत्यो भूत्वा समाह्वयति, लौकिक-
त्वाभावाय वेणुनैवाह्वयति । वेणुद्वारा तत्र
प्रविष्ट इति अपिमचरित्रेण ज्ञायते । अन्यथा
वृक्षाणां तथात्वं न स्यात् । स इति येषु वनप्रदे-
शेषु रेमे, यदैवाह्वयत्, तदैव मधुधाराः ससृजुः
स्मेति सम्बन्धः । युक्तश्चायमर्थः । अन्यथा वेणु-
नादाभिज्ञता तत्र च स्वनामसङ्केतो न स्यात्
अतस्तद्द्वारा भगवान् प्रविष्ट इत्यग्रेऽपि तथात्वं
युक्तमेव ।

वनस्था लताः अस्मन्निकटे भगवांश्चरति
स्वकीयांश्चाकारयतीति ज्ञात्वा तेषां भोगसिद्धयर्थं
स्वस्मिन् विद्यमानमानन्दं प्रकटितवत्यः । तथा
तरवश्च । यथा स्त्रियः पुरुषाश्च भगवदीयाः
भगवति भगवदीयेषु च समागतेषु आनन्दयुक्ता
भवन्ति, भोगार्थं स्वकीयं च प्रयच्छन्ति, तद्वदे-

तेऽपि । नन्वयं धर्मो जङ्गमानाम्, न स्थावराणा-
मिति चेत्, तत्राह आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य
इति । चेतनेष्वेव भगवतः क्रियाज्ञानशक्त्योरा-
विर्भावः । सच्चिदानन्दरूपता च क्रमेणाविर्भ-
वति । एतत् सर्वं भगवति निदिष्टे भवति ।
सोऽपि निविष्टश्चेत् प्रकटीभवति तदैव युज्यत
इति । ते वृक्षादयः पञ्चधर्मयुक्ताः आत्मनि विष्णुं
व्यञ्जयन्त्य इव जाताः । तत्र प्रथमं क्रियाशक्त्या-
विर्भावमाह पुष्पफलाढ्या इति । यत्र हि भगवान्
निविशते, तत्रावान्तरफलं परमफलं च भवति ।
अतः कार्याद्व्यञ्जयन्त्य इव जाताः । पुष्पाण्यवा-
न्तरफलरूपाणि । परमफलानि तु फलानि । तैः
सर्वैराढ्या जाताः । भगवदर्थं सदाधिक्रियमाह
प्रणतभारविटपा इति । भारेणापि नमनं सम्भव-
तीति तन्निरासायादौ प्रणतत्वमुक्तम् । प्रकर्षेण
नताः भारेण विटपाः शाखा येषाम् । प्रेमहृष्टतनव
इति चिदुत्कर्षो ज्ञानरूपो निरूपितः । भक्ता एव
हि प्रेम्णा हृष्टरोमाञ्छा भवन्ति । (पूर्वमहरिता-
नामपि तदा हरितत्वं, पूर्वस्मात् स्थूल्यं प्रत्यवग-
वमुच्छ्रान्तत्वं प्रभाविशेषश्चात्र प्रेमहृष्टतनूत्वम् ।
अपरं च । वेणुनादनिष्ठमुधास्वादवत्यः स्वाग्निन्य
इति तद्धर्मं परिविन्वन्ति ता एवेति तदुक्तावन्य-
विचाराक्षमत्वं युक्ततरमिति नाधिकं लेखनीय-
मत्र ।) मधुधाराः स्वस्मिन् विद्यमानानन्दं भगव-
दर्थं वहिः प्रकटितवत्यः । एतत्सर्वपरिज्ञानमेव
ज्ञानशक्तिः ॥ ९ ॥



व्याख्यानार्थ—वेदों ने आदि पुरुष पुरुषोत्तम के रूप में भगवान् के जगत् को रचने आदि के महान् वीर्य का वर्णन किया है।^१ वैसे ही गोप बालक जो यहां भगवान् का अनुचरण कर रहे हैं, भगवान् के वीर्य का अनुवर्णन करते हैं^२। लोक के अनुसार माहात्म्य दिखलाती^३ हैं “आदि पुरुष इवाचलभूतिः” अर्थात् आदि पुरुष की तरह जिनके पास चंचला-लक्ष्मी अचल हो जाती है। जिन्होंने भगवान् का अनुचरण किया है, ऐसे सभी देवता आदिश्री ने भगवान् का वर्णन इसी रूप में किया है। लोक में भगवान् के बारे में व्यवहार संभव हो एतदर्थ पुरुषोत्तम से समानता ही बता रहे हैं (न कि ये स्वयं ही पुरुषोत्तम हैं यह) अतः पूर्ण पुरुषोत्तम नन्दराय कुमार की चर्चा में भी पुरुषोत्तम का दृष्टान्त संगत हो जाता है। पुरुषोत्तम एवं नन्दराय कुमार में जो भेद जैसा मानकर वर्णन किया जा रहा है उसका कारण बताते हैं, कि पुरुषोत्तम ही यहां, क्योंकि वनचर-वृन्दावन विहारो* हो गए हैं अतः सात्विक भाव वाले एवं सत्व भूमि पर प्रतिष्ठित हो गए हैं। किन्तु तावता लौकिकता नहीं समझनी चाहिए क्योंकि वेणुद्वारा भगवान् पर्वतों पर धूमती हुई गायों को नीचे शमतल भूमि पर बुला रहे हैं। वेणुद्वारा भगवान् वहां प्रविष्ट हो गए हैं, यह आगे वर्णित होनेवाले चरित्र से जाना जा सकता है। क्योंकि वेणुद्वारा भगवान् यदि वहां प्रविष्ट न हुए हों, तो वृक्षों की यह स्थिति संभव न हो पाती, कि वे अपने में विष्णु का भान करा पाए। जिन वनों में भगवान् ने रमण किया वहां जैसे ही भगवान् ने बुलाया वैसे ही उन्होंने मधु धाराएं बहाई। यह बात ठीक ही तो है, क्योंकि अन्यथा वेणुनाद को जान पाना और फिर उसमें भी अपने नाम को पहचान सकता संभव न हो पाता। अतः वेणुनाद द्वारा भगवान् वहां प्रविष्ट हुए हैं यह बात माननी चाहिए, अतएव आगे भी इसी तरह के वर्णनों की संगति बैठ जाती है।

वन की लताएँ हमारे निकट भगवान् विचरण कर रहे हैं तथा अपनों को बुला रहे हैं यह जानकर उनके लिए भोग सिद्ध करने के लिए अपने में रहा हुआ आनन्द प्रकट करने लगी। इसी तरह वृक्षों ने भी किया। जैसे भगवदीय स्त्री पुरुष उनके पास भगवान् या भगवदीयों के पहुँचने पर प्रसन्न होते हैं तथा सभी कुछ अपना उन्हें निवेदित कर देते हैं वैसे ही, इन्होंने-वृक्षों ने भी किया। यदि कोई कहे, कि यह तो जंगम प्राणी कर सकते हैं, स्थावर प्राणी नहीं, तो उसका उत्तर देते हैं “आत्मनि विष्णुं व्यञ्जयन्त्य” अर्थात् वे लताएँ अपने में विष्णु को अभिव्यक्त कर रही थी। चेतन प्राणियों में ही भगवान् की क्रिया शक्ति एवं ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होता है, पश्यान् क्रमशः सच्चिदानन्द भी वे ही बनते हैं। यह अभी कुछ भगवान् के निविष्ट होने पर होता है और वह भी निविष्ट होकर जब भगवान् प्रकट होते हैं तभी। वे वृक्ष आदि पांच घर्मों का Δ साथ पाकर अपने में भगवान् विष्णु को प्रकट करनेवाली जैसे हो गए।

इनमें प्रथमतया क्रियाशक्ति का आविर्भाव “पुष्पफलाढ्या” से कहते हैं। जहां-जहां भगवान्

१ वेदानुसारी वर्णन २ भक्ति के अनुसार वर्णन ३ लोक के अनुसार वर्णन। “लेख”

* टिप्पणी जी का आशय—वृन्दावन रसोद्दीपक है, अतः रस-शास्त्रीय स्तंभादि सात्विक भाव यहां संभव हैं जब कि आदि पुरुष के रूप में वह संभव नहीं अतः भेद मानकर भी वर्णन हो सकता है।

निविष्ट होते हैं, वहां-वहां अवान्तर फल और परम फल उपलब्ध हो ही जाते हैं, अतः कार्य से कारण को जताने लगी। पुष्प अवान्तर फल हैं तथा फल परम-फल हैं। इन सभी से वे भरपूर हो गई। भगवदर्थ इनमें "सदाधिक्य" + है यह "प्रणतभारविटपा" से दिखलाया जा रहा है। भुक्ता तो भार के कारण भी संभव है, किन्तु प्रणत होने के लिए भार आवश्यक नहीं है। वृक्ष प्रणत थे तथा उनकी शाखाएं भारावनत थी। इनके शरीर प्रेम के कारण हृष्ट हो रहे थे। यह "चित् का उत्कर्ष" दिखलाया क्योंकि भगवद्ज्ञान ही चित् का उत्कर्ष है। भक्त प्रेमवश हृष्ट एवं रोमांचित होते रहते हैं (पहले ये हरे हरे नहीं थे किन्तु बाद में हुए, कुछ स्थूल भी हो गए, इनके प्रत्येक अवयव फूल से गये, एक चमक सी आ गई, यही बातें इनके शरीर प्रेमहृष्ट हो गए इसका लक्षण है। दूसरी बात यह है कि वेणुताद में जो सुधा है उसका स्वाद तो स्वामिनियां ही जानती हैं अतः उन धर्मों को ढूंढनेवाली वे ही हो सकती हैं अतः उनकी उक्तियों का विचार अन्य नहीं कर सकते अतः अधिक कहां तक लिखा जाये? मधुधारा अपने में विद्यमान आनन्द है तथा उसे भगवान् के लिए बाहर प्रकट किया। इस सबका परिज्ञान ही ज्ञानशक्ति है ॥ १ ॥

आभास—पक्षिणामपि वेणुनादकार्यं जातमिति तत्रोपयोगिरूपं वेणुनादं च वर्णयन्ति दर्शनीयतिलक इति । यद्यपि पक्षिणो मुनयः, न तेषां गीतादिना भगवद्भावो भवति, किन्तु स्वभावत एव, तथापि लोकदृष्ट्या कदाचिदन्यथाबुद्धिर्भवेत्, अतो रूपनादाभ्यां तेषां भजनसिद्धितिरूप्यते । तत्र रूपं वर्णयति दर्शनीयतिलक इति ।

आभासार्थ—पक्षियों पर भी वेणुनाद का प्रभाव पड़ा यह दिखाने के लिए उनको उपयोगी जो वेणुनाद का रूप है उसका वर्णन करती हैं “दर्शनीयतिलक” से। पक्षी यद्यपि मुनि हैं अतः गीता आदि से उन्हें भगवद्भाव नहीं अपितु स्वभाव से ही है, फिर भी लोकदृष्टि से कभी अन्यथा बुद्धि हो सकती है अतः रूप एवं नाद द्वारा उनकी भजन सिद्धिका निरूपण करते हैं, वहां रूपवर्णन “दर्शनीय तिलक” में किया गया है—

श्लोक—दर्शनीयतिलको वनमालादिव्यगन्धतुललीमधुमत्तः ।

अलिकुलैरलघुगौतमभीष्टमाद्रियन् यहि कुजितवेणुः ॥१०॥

सरसि सारसहंसविहङ्गाश्चाङ्गीतहतचेतस एतय ।

हरिमुपासत ते यतचित्ता हन्त मीलितदृशो धृतमौनाः ॥११॥

श्लोकार्थ—युग्मार्थ सुन्दर रूप वालों के मुकुट रूप भगवान्, वनमालाओं में दिव्य-गन्धवाली तुलसी के मकरन्द से मत्त भौरों के ऊँचे तथा अनुकूल गान को मान देते

+ लेख--सत्पुरुष हरि के दर्शन होने पर प्रणत हो जाते हैं।

△ इस तरह (१) सदाधिव्य (२) चिदुत्कर्ष (३) आनन्द प्रकट करने से सच्चिदानन्दता दिखलाई ।

८—यह गुसाईजी का लेख है।



हुए, जब मुरलीनाद करते हैं, तब तलाव में सारस, हंस और अन्य पक्षी उस सुन्दर गान से मोहित चित्त होके वहां आकर आंखों को मूंद कर, मौन धारण कर, चित्तको नियमित कर, भगवान् की सेवा करते हैं ॥१०-११॥

सुबोधिनी—दर्शनीयानां मध्ये तिलकरूपोऽति-
सुन्दरः । पक्षिणश्च रूपप्रधानाः, रूपभेदविदः ।
किञ्च । यो वेणुनादः स स्वहितकारी, स्वकीया-
नामपराधमपि न मन्यते । तदाह । वनमालादि-
व्यगन्धतुलसीमधुमत्तैरलिकुलैः कृतमलबुगीत-
मपि आद्रियन् आदरं कुर्वन्नेव क्लृप्तवेणुर्यतः ।
यथैव भ्रमरा भङ्गारं कुर्वन्ति, तथैव तन्नादमनु-
कुर्वन्नेव अनुरणनवदेव वेणुनादं करोति ।
पक्षिणां मध्ये अलयो हीना निरुशश्च । तेषामपि
कुलानि समूहाः नानाविधजातिभेदाः । तैरप्यलबु
यथा भवति तथा गीतम् । तस्याप्यादरं कुर्वन् ।
तत्राप्यलयो मत्ताः । मदोऽपि येनानुचितः । नहि
तुलसी पुष्पान्तरवन्मादहेतुः । तत्रापि दिव्यगन्धा ।
तत्रापि भगवद्वनमालागता । तेषामप्यादरं चेत्
कुर्यात्, तदा सरोवरादिषु ये सरसा रसिकाः
क्षीरनीरविवेकिनश्च तेषामादरं कथं न कुर्यादिति ।
वनमालायाः या दिव्यगन्धतुलसी तस्या मकरन्देन
मत्तः । किञ्च । आदरोऽपि भ्रमराणां यथाभीष्टं
भवति, तथा वनमालायां समागतान् भ्रमरान्
दूरीकरोति । किन्तु ते यथा नोपद्रुता भवन्ति,
तथैवादरं करोति । अतो यथैव आदरं कुर्वन्नेव
क्लृप्तवेणुः, तदेव सरसि विद्यमानाः जलवासिनः
सारसाः सरसानां भक्तानां सम्बन्धिनः, हंसाः
क्षीरनीरविवेकिनः ते च विहङ्गा उत्कृष्टगतियुक्ताः,
पुरुषापेक्षया ते पुनर्भगवद्भजनाधिकारिण इति
तान् विशिनष्टि चारुगीतहृतचेतस इति । चारु
यथा भवति निःकामार्थं भगवद्गीतेनैव हृतं वशी-
कृतं चित्तं येषाम् । तदपि भजनं भक्तिमार्गानु-
सारेण । न तु स्थानस्थितानामन्तर्यामिरूपे ज्ञान-
रूपे वा । तदाह । एतय आगत्य हरि उय समीपे
सेवमाना जानाः । यतस्ते भगवदुक्ता मुनयः ।
भजने भ्रमराद्विशेषमाह यतचित्ता इति । यतं

नियतं चित्तं येषाम् । चित्तानैयत्येन भगवद्भजनं
मुख्यम्, न तु विक्षिप्तचित्तातया । किञ्च । हन्त
इति हर्षे । एतद्भाग्यमेतेषामेव भवतीति । वहि-
र्व्यापाररहिता भजने सर्वोत्तमाः । बहिर्व्यापारेषु
च नेत्रे वाक् च नियम्याः । यस्यैतद्वयं नियतम्,
वाक् नान्यं वदति, चक्षुश्च नान्यत् पश्यति, तदाह
मीलितदृशो धृतमौना इति । मीलिता दृग् येषाम् ।
धृतं मौनं व्रतं यैः । साम्प्रतमेते नादपराः । अतो
दृष्ट्या अन्यचित्ताता भविष्यतीति नेत्रनिमीलनम् ।
एवमेतेषां भाग्यं सात्त्विकत्वान्निरूपितवत्यः ।

(अथवा । दर्शनीयतिलक इति । इदमत्रा-
कृतम् । अतिरसिका एते मुनयः, स्वस्य पुरुषत्वेन
लीलायामनुपयोगं मत्वा, पक्षीभूय, विविधस्व-
क्लृप्तभगवतो भक्तानां च रसोद्दीपनं कुर्वन्तः,
स्वकृतार्थतां मन्वानाः, शब्दमेवाधिकमभीष्टं
मन्यन्ते । अतः शब्दप्रधानकीर्तिरूपवनमालाधर्मा-
णामेवात्रोपयोग उच्यते । 'यथा वृक्षस्य सम्पु-
ष्पितस्य दूरादगन्धो वात्येवं पुष्पकर्मणो दूरादगन्धो
वाती'ति श्रुत्या कीर्तनगन्धसाम्येन निरूपणं कृतम् ।
वनमालायाः कीर्तिरूपत्वात् तन्निरूपकाणि
गीतान्यावश्यकानि । तानि च तद्रसास्वादं विना
न सम्भवन्त्यतो गुणातीतभक्तिरूपवक्ष्यमाणरूप-
गन्धवती तुलसी, तन्मध्वत्यलौकिकभक्तिरसात्मक-
मितरविस्मारकम् । अतोऽतिमत्ताः स्वदेहाद्यनु-
सन्धानरहिता ईश्वरधर्माननुसन्धाना अपीति
तन्निकट एवालबु गायन्ति । वस्तुतस्त्विदमेव
महत्तमं समाराधानं प्रभोरलिभिः क्रियते । अत
एव प्रभोरभित इष्टं तदेव गीतम् । अपरं च ।
चार्वादिपदानि विहाय तत्र भवनार्थकप्रत्ययवत्य-
दोवत्या भगवद्वनमालास्थतुलसीगन्धस्य दिविभव-
त्वस्य बाधितत्वादग्रे स्वामिनीषु व्रजदेवीत्वस्य



वक्ष्यमाणत्वाद् दिवुधातोः क्रीडावाचकत्वाच्च स्वामिनीभिः सह क्रीडाजनितोऽयं गन्ध इति समभिग्राहारादवगम्यते । एतेन यथा दिविभवोऽर्थो नेतरलोकस्थजनविषयः, तथायमन्तरङ्गतमलीलाप्रपञ्चस्थभक्तकगम्य इति ध्वन्यते । अत एव प्रभोरपि भावोद्बोधस्तेनासीदिति ज्ञापनाय क्लृप्तमुक्तम् । किञ्च, वनमालास्थपुष्पमध्वनुक्त्वा तुलस्या एव तद्युक्तं 'दधितगन्धतुलस्या' इति वाक्याद् 'वाहुं प्रियांस' इत्युपक्रम्य 'तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैरन्वीयमान' इति वाक्याच्च तद्गन्धमध्वादिस्वरूपं प्रभुरेव वेतीति नान्यगम्यः स विशेषः । तदुभोक्तारोऽपि न साधारणः, किन्तुवतरेभ्यो विजातीया अत्युत्तमा इति ज्ञापनार्थमेव कुलपदमुक्तम् । अत एवाल्लिपदमुक्तम् । अलंशब्दो हि पूर्णतावाची । तथा च तद्वानलिरित्यत्रोच्यते । रसो न लीयते, न नश्यति यत्र येन वा सोऽलिरित्युच्यते । यद्यप्यत्र दीर्घः सम्भवति, तथापि 'दशहृतो ह वै नामैषः । तं वा एतं दशहृतं सन्तं । दशहृतेत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवा' इति श्रुतिन्यायेन 'परोक्षं च मम प्रियमिति भगवद्वाक्याच्च स्वप्रियार्थस्य गोपनं प्रभोः प्रियमिति ज्ञायते । प्रकृते च स्वान्तरङ्गरसपोषकता एतेषु गोप्येति परोक्षेण ह्रस्वान्तं पदं प्रभु प्रकटितवान् । एवं सत्येत एवाल्लो-ज्ये तु भ्रमरा एव । क्वचिदेतेष्वप्यन्यनामप्रयोगस्तात्पर्यविशेषेणेति ज्ञेयम् । तारत्वं बहुत्वं चानुक्त्वा लघुत्वाभाव एव य उक्तस्तेन तद्गीतरसभरं वोढुं नान्यः शक्तः प्रभुं विनेति ज्ञाप्यते । महत्त्वे इयत्ता नास्त्येवेत्यपि ज्ञापनाय तथोक्तिः । एवं सति तदादरं कथं न कुर्यात् । यहीति पदात्तद्गीतरसपानपरवशश्चिरं तूष्णीमेव तिष्ठति; कदाचित्तरसभरेणैव क्लृप्तवेणुर्भवतीति ज्ञाप्यते । अग्रे

गीतोक्त्या पूर्वं तद्गीतोद्बुद्धभावेन स्वप्रियाणां भावोद्बोधनाय तथैवाकरोत् । ततो यदा पूर्णरसोऽभूत्, तदा जगाविति ज्ञाप्यते । अतिसुन्दरत्वनिरूपणे तिलकत्वोक्त्या तद्यथा भाग्यस्थाने भाले तिष्ठति, तथेदमपि स्वरूपं परमभाग्यवतोष्वेव तिष्ठतीति ध्वन्यते । अत्र कर्मधारयो ज्ञेयः । स्वामिनीनां हृदि प्रियातिरिक्ते दर्शनीयत्वास्फूर्तेः । अत्र यद्यप्युभयं मुख्यम्, तथापि नादे विशेषो निरूप्यते । अन्यथा मीलितदृक्त्वं नोच्येत । तत्र हेतुः । सरसि विद्यमानैरेव तैर्वेणुगीतं श्रुतम् । तच्च चाहत्वेन मनोहरणैकस्वभावम् । अतो नादाधीना एव निकटे समागताः । आदावेव नादहेतुभूतस्वरूपसौन्दर्यनिरूपणान्नादरस एव स्वरूपरसमप्यनुभवन्तीति ज्ञाप्यते । इदमप्यतिचित्रं यन्मत्तानां गीतानुरागनरूपेण गीतेन यत्चित्तत्वं सर्वेन्द्रियवृत्तिनिरोधश्चेति । एतेषामियं गीतरसपानदशेत्येवंरूपतर्कोपपद्यतेपि । एतज्जन्यत्वेनैतदुत्तरकालीनत्वान्नादस्य । अलीकुलानामपि तुलसीगन्धमधुपानदशा पक्षितुल्येव । पश्चात्तत्स्वभाववशादुक्तस्वरूपं परमिति ज्ञायते । मुनित्वात् पक्षिणामग्रेऽप्यन्तरेव निरन्तरमेतद्रसमग्नतंवेति न मत्ततोक्ता । अथवा । प्रभुरसस्वभावादनुक्तसिद्धं वाग्रिमा सेति नोक्ता । तदेतेषामप्यलिकुलवद्दशा भविष्यति । वस्तुतस्तु उक्तरूपरसगतालिकुलालघुगीतमभीष्टत्वेन अतिचित्तानेयत्येनैवानुभवन् प्रभुर्वेणुकुजनगाने करोतीति तच्छ्रवणे पक्षिणामपि तथात्वमेवोचिततरमावश्यकत्वादिति युक्तमुत्पश्यामः । तथाप्यादौ स्वरूपसौन्दर्यमेवोक्तमिति स्वस्थ तद्दिदृक्षातिभरेण पक्षिणां तत्प्राप्तिदशायां तत्प्रतिबन्धस्मरणेन कश्चिन् खेदोऽभूदिति हन्तेत्युक्तम्) ॥११॥

व्याख्यानार्थ—जो सुन्दर देखने योग्य हैं उनमें भी भगवान् अति सुन्दर हैं । पक्षी रूप प्रधान होते हैं, अर्थात्, पक्षियों में रूप की प्रधानता होती है अतः वे रूपों के भेद को जानने वाले होते हैं । और यह जो वेणुनाद है वह अपना हितकारी है, कारण, कि वह स्वकीयों के अपराध को भी नहीं गिनता है । अपराध को कैसे नहीं गिनता उसको बताती हैं, कि वनमाला की दिव्य गन्धवाली तुलसी



के मकरन्द से मत्ता भ्रमरों ने जो ऊँचे स्वरों में गीत गाए उनके भी आदर में वेणु बजाया, ज्योंही भ्रमर गुंजार करते हैं, त्योंही उनके नाद का मानों अनुकरण करते हुए वैसा ही वेणुनाद करते हैं। पक्षियों में भ्रमर हीन और निन्दित हैं वे भी अनेक प्रकार के भेद वाले समूहों में होकर अविवेक से, ऊँची ध्वनि से गुंजार कर रहे हैं उस ऊँची ध्वनि का भी भगवान् आदर करते हैं। और वह भी तब, कि जब ये भ्रमर मत्त हैं। यह मद भी तो उचित नहीं क्योंकि तुलसी अन्य पुष्पों की तरह मादक नहीं हो सकती क्योंकि उसकी तो गन्ध भी दिव्य है और वह भी फिर जब भगवान् की वनमाला में लगी हुई हो तब भी जब उनका आदर करते हैं तब सरोवर आदि में रहनेवाले जो रसिक हैं, क्षीर नीर को पृथक् कर सकते हैं अर्थात् गुण दोष को पहचानने वाले विवेकी हैं, उनका आदर कैसे नहीं करेंगे? तुलसी के दिव्य गन्ध से मत्त भ्रमरों का आदर भी इच्छानुकूल कर रहे हैं, जैसा कि आपके कण्ठ में पड़ी वनमाला पर आके बैठते हैं तो वहाँ से उनको हटाते भी नहीं हैं। जैसे भ्रमरों को किसी प्रकार कष्ट न होए, वैसे उनका आदर करते हैं। इस प्रकार आदर करते हुए, जब वेणु बजाते हैं, तब ही तलाव में बैठे हुए भक्तों के सम्बन्धी, क्षीर नीर विवेक वाले हंस और उत्कृष्ट गति वाले वे पक्षी, पुरुषों से भी विशेष भगवान् के भजन के अधिकारी हैं अतः उनके चित्तों का भगवान् के गीत से हरण हो गया है। वह हरण भी निष्काम भावना से हुआ है, कारण, कि उनका वह भजन भक्ति मार्गानुसारी है, न कि, स्थान में स्थित अन्तर्यामी रूप में अथवा ज्ञान रूप में है। उसको स्पष्ट सिद्ध करने के लिए कहा है, कि भगवान् के पास आकर सेवा करने लगे, कारण, कि भगवान् ने कहा है कि ये पक्षी मुनि हैं। ये भजन के भौरे हैं अतः इनकी विशेषता बताते हैं कि इनका चित्त संयम में है, संयम चित्त से जो भजन किया जाता है वह मुख्य है। विक्षेप वाले चित्त से जो भजन होता है, वह मुख्य नहीं है। यहां श्लोक में 'हन्त' शब्द हर्ष प्रकट करने के लिए दिया है। ऐसा उत्तम भाग्य इनका (पक्षियों का) ही है, जिनमें बाहर का कोई व्यापार नहीं है, अतः ये भजन में सर्वोत्तम हैं। बाहर का व्यापार न हो, इसलिए इन्होंने बाणी और नेत्र बन्द कर लिए हैं, जिससे न बाणी कुछ अन्य बोल सकती है और न नेत्र अन्य को देख सकते हैं। अब तो ये नाद के ही परायण हैं, ये शुद्ध सात्विकी हैं इसलिए इनका ऐसा उत्तम भाग्य है, गोपियों ने इस युग्म में इस प्रकार निरूपण किया है।

अथवा यहां इस युग्म में यह भाव प्रदर्शित किया गया है, कि ये पक्षी अति रसिक मुनि हैं उन्होंने देखा कि पुरुष रूप से लीला में, हम उपयोगी न हो सकेंगे अतः पक्षी रूप धारण कर, अनेक प्रकार के अपने अस्फुट शब्दों से भगवान् तथा भक्तों में रस का उद्दीपन करने^१ लगे, जिससे अपनी कृतार्थता मान शब्द को ही अधिक प्रिय समझने लगे। इस कारण से यहां शब्द प्रधानवाली कीर्ति रूप वन माला के घर्मों का ही उपयोग^२ किया गया है। श्रुति कहती है कि जैसे^३ पुष्पों वाले वृक्ष की गन्ध दूर तक जाती है वैसे ही पुण्य कर्म से उत्पन्न कीर्ति की गन्ध भी दूर तक फैलती है, इस प्रकार कीर्ति की गन्ध से समानता बताई है। वनमाला कीर्तिरूप है, अतः उसका निरूपण करने वाले गीत गाने आवश्यक हैं, वे गीत तब गाए जाते हैं, जब उसके रस का आस्वादन किया हो, गुणातीत भक्ति रूप गन्धवाली तुलसी है, उसका मधुर रस, अति अलौकिक रस वाला होने से, अन्य सर्व रसों को

१—जगाने, २—काम में लाया गया है, ३—'यथा सम्पुष्पितस्य वृक्षस्य दूराद्गन्धोवात्येवं पुण्य कर्मणो दूराद्गन्धो बहति' श्रुतिः।



भुला देता है, अतः उस अलौकिक रस से मत्त अलिंगण अपनी देहादिकों को भी भूलकर एवं भगवान् के धर्मों का भी अनुसंधान रखे बिना ऊँचे स्वरों में भगवान् के निकट ही गाने लग गए। वस्तुतस्तु यही भगवान् की बड़ी में बड़ी सेवा है, जो ये भ्रमर कर रहे हैं। अतएव जो प्रभु को सर्वथा अपेक्षित था, वही इन्होंने भी गाया। यहां “चारुगन्ध” न कहकर “दिव्यगन्ध” कहा जब कि दिव्य का अर्थ होता है स्वर्गादि में जो उत्पन्न होता हो, और जैसा कि स्पष्ट है, भगवान् की धारण की हुई वनमाला में जो तुलसी है स्वर्गादि लोकों में उत्पन्न नहीं हुई है अतः “दिव्य” का अर्थ क्या लेना चाहिए? आगे चलकर स्वामिनियों का व्रजदेवी होना कहा जाएगा तथा “दिवि” धातु का अर्थ क्रीड़ा भी माना गया है तदनुसार यह गन्ध स्वामिनियों के साथ क्रीड़ा करने के कारण, उत्पन्न हुई है ऐसा दिव्य एवं गन्ध पदों के जुड़ने से मतलब निकलता है। इस तरह गन्ध की दिव्यता सामान्य लोक नहीं जान सकते किन्तु अन्तरंगलीला प्रपंचस्थ भक्त ही केवल जान सकते हैं, यह ध्वनित होता है। अतएव प्रभु में भावोद्बोध उसी के द्वारा हुआ यह बताने के लिए कृजन का वर्णन किया।

एक और बात यह है, कि वनमाला के पुष्पों के मधु के बारे में, न कहकर, तुलसी के बारे में जो कहा “दयितगन्धतुलस्या” इस वाक्य तथा “बाहुँप्रियांस” से प्रारंभ करके “तुलसिकालिकुलैर्मदान्धैरन्वीयमान” तक के वचनों के अनुसार, उस गन्ध एवं मधु के स्वरूप को प्रभु ही जानते हैं, अन्य नहीं, यह भी सूचित होता है। उसके भोक्ता भ्रमर भी अतएव साधारण नहीं हैं किन्तु इतर भ्रमरों से, अलग-जाति के अति उत्तम भ्रमर हैं यह ‘कुल’ पद के द्वारा ज्ञापित हुआ। अतएव ‘अलि’ पद का प्रयोग किया। ‘अलं’ का अर्थ होता है पूर्णता, वह पूर्णता जिसमें हो उसे ‘अलि’ कहा जाता है। अथवा जहां रस लीन न होता हो नष्ट न होता हो उसे ‘अलि’ कहा जाता है। यद्यपि इस व्युत्पत्ति के अनुसार शब्द ‘अली’ होना चाहिए था तो भी “दशहूतो हवै नामेषः तं वा एतं दशहूतं सन्तं दश-होतेत्याचक्षते परोक्षेण। परोक्षप्रिया इव हि देवा” इस श्रुति के अनुसार तथा “परोक्षं मम च प्रियं” इस भगवद् वचन के अनुसार अपने प्रिय अर्थ को गुप्त रखना प्रभु प्रिय है यह सिद्ध होता है। यहां अपने अन्तरंग रस की पोषकता इनकी गुप्त रखनी है अतः ह्रस्वान्त पद का प्रयोग किया गया है। यों अलि तो ये ही हैं, अन्य तो सारे भ्रमर हैं। कहीं-कहीं परन्तु प्रयोजन विशेष वश इनका भी अन्य नामों से उल्लेख किया जाता है। तार स्वर में गा रहे थे या बहुत गा रहे थे यों न कहकर ‘अलघुगीत’ कहा उसका तात्पर्य यह है कि प्रभु के बिना उस गीत के रस का भार कोई भी वहन नहीं कर सकता है। महत्ता की इयत्ता-सीमा नहीं होती यह भी जताने के लिए ‘अलघु’ कहा। ऐसी स्थिति में भला उनका आदर कैसे नहीं होता?

‘यहि’ का तात्पर्य यह है कि गीत के रस का पान करके बड़ी देर तो ऐसे खो गए कि चुपचाप ही खड़े रहे और फिर उसी रस के छलकने से वेणुवादन करने लगे। आगे चलकर “चारुगीत” वें ‘गीत’ पद आता है अतः प्रथम भ्रमरों के गीत से जाग्रत हुए भाव द्वारा भगवान् अपनी प्रियाओं में भी भाव जाग्रत करने के लिए वेणुवादन करते हैं। इससे यह सिद्ध होता है, कि जब रसोद्बोध पूर्ण हो गया तब भगवान् ने वेणुकृजन किया। भगवान् अत्यन्त सुन्दर हैं यों कहने के लिए जो उन्हें ‘तिलक’ कहा उसका तात्पर्य यह है, कि तिलक जैसे भाग्यस्थान कपाल पर होता है वैसे ही यह स्वरूप भी परमभाग्यवालों को मिला है। यहां कर्मधारय समास है, अर्थात् भगवान् दर्शनीय हैं तथा तिलक हैं। क्योंकि स्वामिनियों के हृदय में प्रिय भगवान् के बिना दूसरा कोई दर्शनीय सुन्दर पदार्थ है ही नहीं।



यहां यद्यपि रूप एवं नाद दोनों ही मुख्य हैं, तो भी नाद रूप की अपेक्षा अधिक है। क्योंकि नाद रूप की अपेक्षा अधिक न हो, तो नेत्रों को बन्द रखने का उल्लेख न होता। इसका कारण यह है, कि सरोवर में रहनेवाले उन पक्षियों ने ही वेणुगीत सुना। यह गीत इतना सुन्दर था, कि इसका केवल एक ही स्वभाव था और वह यह, कि मन को हर लेना। अतः वेणुनाद के अधीन हो कर ही, वे भगवान् के समीप आए। नाद के कारण, स्वरूप सौन्दर्य का आरंभ में ही निरूपण कर दिया था, अतएव नाद रस में ही स्वरूप रस का भी अनुभव होने लगा। यह भी तो एक अत्यन्त विचित्र ही बात है, कि मत्त भ्रमरों के गीतों की संगत करने के लिए गाए गए गीतों द्वारा पक्षियों के चित्त को वश में कर लेना तथा उनकी सभी इन्द्रियों की वृत्ति को निरुद्ध कर लेना। यह इनकी गीत रस पान की दशा है, अतः इनका ऐसे ही होना उपपन्नतर है। क्योंकि, यह वेणुनाद भ्रमर गीत से जन्य है, तथा भ्रमरों के गान करने के बाद हुआ है। अलिकुल-भ्रमरगण की भी तुलसी की गन्ध के मधुपान से जो दशा हुई वह ऐसी ही अर्थात् पक्षियों जैसी ही है। किन्तु पश्चात् मधु के स्वभाव से वे मत्त हो गए यह अधिक प्रभाव था। जबकि पक्षीगण सब मुनि हैं अतः आगे चलकर भी अपने अन्तर में उन्हें यह इस रस में अपने निमग्न होने की अनुभूति निरन्तर बनी रहती है अतः उनके मत्त होने का वर्णन नहीं किया जाता। अथवा, तो प्रभु के रस के स्वभाव के कारण ही, प्रभु के रस में मग्न रहने की स्थिति का वर्णन न भी करें तो भी स्वतः सिद्ध है अतएव वर्णन नहीं किया। क्योंकि तब इनकी भी, अर्थात् पक्षियों की भी, अलिकुल जैसी दशा हो जाएगी।

वस्तुतः तो यहां वर्णित स्वरूप के रस में मत्त हुए भ्रमरों के अलघुगीत अति प्रिय हैं, अतः भगवान् ने अपने चित्त को वश में रखकर उन्हें सुना और फिर सुनकर वेणुकूजन किया, गान किया। और इस ऐसे कूजनगान को सुनकर पक्षियों का भी अपने चित्त को वश में रखना आवश्यक है (कारणानुरूप कार्य होता है के नियमानुसार) यही विवेचन ठीक जचता है। फिर भी आरंभ में "दर्शनीयतिलक" के रूप में स्वरूप सौन्दर्य का ही वर्णन किया और उस स्वरूप सौन्दर्य को देखने की स्वयं उत्कट अभिलाषा होने से ऐसे लाभ के अवसर पर उन्होंने आंखें मीच ली तो उस प्रतिबन्ध का स्मरण करने से एक खेद सा उत्पन्न हुआ अतः "हन्त" कहा) ॥१०॥११॥

आभास—मेघः सर्वहितकारी, तस्यापि वेणुनादजनितभावमाह पूर्ववत् । सहबल इति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—मेघ सर्व का हितकारी है, उसको भी वेणुनाद श्रवण से जो भाव उद्भूत हुआ, उसका वर्णन 'सहबलः' युग्म में करती है।

श्लोक—सहबलः स्रगवतंसविलासः सानुषु क्षितिभृतो व्रजदेव्यः ।

हर्षयन् यहि वेणुरवेण जातहर्ष उपरम्भति विश्वम् ॥१२॥

महदतिक्रमणशङ्कितचेता मन्दमन्दमनुगर्जति मेघः ।

सुहृदमभ्यवर्षत्सुमनोभिश्छायया च विदधत्प्रतपत्रम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—युग्मार्थ—हे व्रज देवीओं ! पुष्प गुच्छों से बने कर्णाभरण से विलसित

सुबोधिनी—हे ब्रजदेव्यः, गोप्यः, ब्रजदेवता-
रूपाः । अनेन विश्वासो भविष्यतीति निरूपितम् ।
यहि वेणुरवेण विश्वमुपरम्भति पूरयति, तर्हि
महदतिक्रमेण शङ्कितचेताः सुहृदं भगवन्तमभ्य-
वर्षत् । स्वदेहच्छायया च आतपत्रं विदधत् जातः ।
तद्वा कुर्वन् अभ्यवर्षत् । अयं नादो महाबलपुक्तः ।
विश्वगतान् सर्वानेव धर्मान् दूरीकृत्य स्वयमेव
पूर्णः । तदाभासरूपोऽपि मेघः धूमादिसमूहात्मा
विश्वं भगवत्तैव कृतार्थीभूतमिति स्वयमुपचरित-
ार्थोपि स्वजन्मसाफलया भगवन्तमेव अवर्ष । तत्र
यादृशेन वेणुनादेनैतदभवति, तादृशकर्तारं भग-
वन्तं वर्णयति विशेषणचतुष्टयेन । अन्यथा उप-
रम्भणमर्थवादरूपं स्यात् । तत्र क्रियाशक्तिः
सम्पूर्णोति वक्तुं सहबलो बलभद्रसहित इति
उक्तम् । सृष्टिकरणक्रियापेक्षयापीयं महती क्रियेति
ज्ञापयितुम् । स्रूपो योऽयमवतंसः कर्णाभरणं
तत्र विलासो यस्येति लीला निरूपिता । माला
कीर्तिमयी । दश दिशः श्रोत्रम्, कीर्तिदिक्षु पूरिता
यया सा भवत्येव सर्वोत्तमा । भगवत्कीर्तिप्रति-
पादकं वा भागवतादिशास्त्रं सर्ववेदेष्वाभरणरूपं

तत्र विलासयुक्ता तत्प्रतिपादिका च । एवं क्रियायाः स्वरूपतो गुणतश्च माहात्म्यं निरूपितम् । तस्याः सहकारिण्या इच्छाया माहात्म्यमाह । स्वयं जातहर्षः सर्वमेव च हर्षयन्निति । एवं वेणुनादस्य कारणभूतक्रियोत्कर्षमुक्त्वा देशतोऽप्युत्कर्षमाह क्षितिभृजः सानुञ्जति । सर्वाधारभूतां पृथिवीं ये बिभ्रति, तेषामप्युच्चस्थानेषु स नादो जायते इति कथं न विश्वं पूरयेत् । रवः अनुरणनमतिगम्भीरं उपरम्भति नादेन पूरयतीति मेघादप्यधिका, क्रिया निरूपिता । तदैव मेघः महतो वासुदेवस्य उपरि गच्छन् भगवदतिक्रमणे शङ्कितचित्तो भूत्वा उपर्येव तिष्ठन् अग्रे गमनार्थमुद्यतः नीलमेघस्यामं विश्वजीवनं भगवन्तं स्वमित्रं ज्ञात्वा सुहृदगम्यवषंत्सुमनोभिः पुष्परूपैः स्वबिन्दुभिः । अर्थात् पुष्पैः पूजितवान् । न केवलं पूजामेव कृतवान्, किन्तु राज्यमपि दत्तवानित्याह आतपत्रं दधदिति । न केवलं राज्यमेव दत्तवान्, किन्तु आत्मनिवेदनमपि कृतवानित्याह छाद्यपेति । सूर्ये अघःस्थिते उपरिस्थितेन न ज्ञाया भवतीति पृथक् छायानिर्देशः ॥ १२ ॥ १३ ॥

भगवान् जब वेणुनाद से विश्व को भर देते हैं, तब महापुरुष के अतिक्रम से शङ्कित^१ चित्त-वाला मेघ अपने मित्र भगवान् पर वर्षा करने लगा और उसने अपनी देह की छाया का छाता बनाकर धूप से बचाने की सेवा की ।



यह वेणु का नाद महा बलिष्ठ है, विश्व के सर्व धर्मों को हटाकर स्वयं ही सर्व में पूर्ण भर गया। मेघ ने सोचा कि मेरा जो काम, ताप नाश कर सबको शीतलता देना है वह तो भगवान् ने कर ही दिया। अतः अब मैं जो धूमादि समूहात्मा आभास रूप ही हूँ सो अपने जन्म को सफल करने के लिए भगवान् पर अपनी पुष्प जैसी बूंदों से वर्षा करता रहूँ।

अब गोपीजन यह वर्णन करती हैं, कि जिस प्रकार के वेणुनाद से यह कार्य हुआ है उस प्रकार के नाद को करनेवाले भगवान् कैसे हैं? यदि उनमें विशेष गुण नहीं है, तो यह कहना केवल अर्थवाद^१ है इसलिए चार विशेषण देकर भगवान् का माहात्म्य सिद्ध करती हैं।

१-सहबलः—भगवान् ने इस समय अपनी पूर्ण क्रियाशक्ति अपने यहां प्रकट कर रखी है, इसलिए 'सहबलः' यह विशेषण दिया है। बलरामजी को साथ लिए हैं, कारण, कि बलरामजी पूर्ण क्रियाशक्ति स्वरूप हैं। जिस क्रियाशक्ति से सृष्टि की जाती है उससे भी यह क्रिया बड़ी है यह जताने के लिए बलरामजी सहित कहा है।

२-स्रगवतं स विलासः—इस विशेषण से यह कहा है, कि भगवान् ने पुष्प गुच्छों की माला रूप आभरण से कानों को सुशोभित किया है, जिसका आशय है, कि भगवान् ने कीर्ति रूप माला को दश दिशाओं में इस लीला से व्याप्त^२ कर दिया है, यह लीला सर्वोत्तम है कारण कि इससे कीर्ति चारों ओर फैल गई है, अथवा भगवान् की कीर्ति का वर्णन करने वाले भागवत आदि शास्त्र सर्व वेदों में आभरण रूप हैं, कारण, कि वे शास्त्र भगवान् के विलासों^३ से भरे पड़े हैं और उनका^४ प्रतिपादन करते हैं, इस प्रकार क्रिया शक्ति का स्वरूप तथा गुण से माहात्म्य निरूपण किया है,

३-जातहर्षः—इच्छा के सिवाय कोई भी कार्य नहीं होता है, अतः उसकी सहकारिणी इच्छा का माहात्म्य कहा है, प्रसन्नता का धर्म इच्छा है, इसलिए भगवान् स्वयं प्रसन्न हों, अर्थात् हर्ष युक्त होकर सबको हर्ष से भरने लगे, इस प्रकार इस विशेषण से वेणुनाद की कारणभूत^५ क्रिया का उत्कर्ष कहा है।

४-क्षितिभृतः सानुषु—इस विशेषण से जिस स्थान पर यह लीला की है, उस देश का भी उत्कर्ष बताया है, पृथिवी सबका आधार है, उस पृथ्वी को जो धारण करते हैं, उनके भी उच्च स्थानों में वह नाद जब पहुँचता है तो विश्व को कैसे न पूर्ण कर देगा।

यहां नाद न कहकर 'स्र' कहा है जिसका आशय है कि, यह शब्द अति गम्भीर है, अतः अपनी ध्वनि से सर्व जगत् को भर देता है। जिससे मेघ से भी यह क्रिया अधिक है, यह सिद्ध किया है।

जब मेघ ने भगवान् की यह क्रिया देखली तब भगवान् के ऊपर जहां था वहां ही ठहर गया, भगवान् का अतिक्रमण कर आगे न बढ़ा, क्योंकि मन में शङ्कित हुआ, कि अतिक्रमण कर जाना विफल है मेरा कार्य तो भगवान् ने प्रथम ही कर दिया है जिससे वे हमारे मित्र हैं अतः नील मेघ



सदृश रूपः, विश्व जीवन आने मित्र भगवान् पर पुष्प रूप प्रयत्न बूंदों से वर्षा करने लगा, अर्थात् पुष्पों से भगवान् की सेवा करने लगा, केवल सेवा ही नहीं की, किन्तु ऊपर छत्रधर राज्य भी दे दिया, इतना ही नहीं, किञ्च आत्मनिवेदन भी किया, सूर्य नीचे स्थित हो और मेघ ऊपर स्थित हो, तब वह छाया नहीं कर सकता है, इसलिए श्लोक में 'छायया' यह पद पृथक् दिया है ॥१२-१३॥

आभास—उत्तमांस्त्रिविधान् वक्तुं तेषामपि वेणुनादेन विशिद्धं जातमिति वक्तुं वेणुनादं वर्णयति, भगवन्तं च, विविधगोपचरणेष्विति युग्मत्रयेण । सन्देहो मोहः सर्व-पशित्यागश्च ज्ञानिनां श्रुतीनामरण्यवासिनां वेणुनादेन कृतः । तत्र ये विश्वगुरवो ब्रह्मादयस्तेषामपि सन्देहार्थं भगवतो वेणुनादं वर्णयति त्रिविधेति ।

आभासार्थ—तीन प्रकार के उत्तम अधिकाग्रियों पर भी वेणुनाद का पृथक् पृथक् प्रभाव पड़ा, जैसे कि ज्ञानियों के मन में संदेह उत्पन्न हुआ, श्रुतिरूपा गोपियों को मोह हुआ और अरण्यवासियों ने सर्व त्याग किया । यह वेणुनाद का तथा भगवान् का कार्य 'विविध गोप चरणेषु' से लेकर तीन युग्मों में वर्णन करती हैं । उनमें विश्वगुरु ब्रह्मादिकों को भी संदेह हुआ तदर्थ भगवान् ने जैसा वेणुनाद किया उसको 'विविध गोप चरणेषु' युग्म में वर्णन किया है—

श्लोक—युग्म-विविधगोपचरणेषु विदग्धो वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षाः ।

तव सुतः सति षडधरबिम्बे दत्तवेणुरनयत् स्वरजातीः ॥१४॥

सवनशस्तदुपधार्य सुरेशाः शक्रशर्वपरमेष्ठिपुरोगाः

कवय आनतकन्धरचित्ताः कश्मलं ययुरनिश्चिततत्त्वाः ॥१५॥

श्लोकार्थ—युग्मार्थ—हे यशोदा ! गोपों की अनेक प्रकार की कीड़ाओं में चतुर तेरा पुत्र, सूर्यवत् प्रकाश कर अरुण अधर पर वेणु को धारण कर, अपनी ही नवीन उत्पन्न की हुई स्वरों की अनेक प्रकार की जातियां प्रकट करता है, तब इन्द्र, शिव, ब्रह्मा आदि सर्व देवता उस गान का शब्द जहां से आता है, उसी दिशा में अपनी गर्दन और चित्त को झुकाकर उसे सुनते हैं, यद्यपि वे विद्वान हैं, तो भी उस अलौकिक गान के भेद को न समझ मुग्ध हो जाते हैं ॥१४-१५॥

सुबोधिनी—लोके जायमानः अलौकिकप्रकारः सन्देहमुत्पादयति । ननु न तद्रूपमोश्वरे यन्न वेदे श्रुतमस्तीति सर्वविद्यास्थानानां ब्रह्मा अभिज्ञ इति कथं तस्य सन्देह इत्याशङ्क्याह वेणुवाद्य उरुधा निजशिक्षा इति । सुशिरभेदो वेणुः । तस्यापि प्रकाराः शास्त्रे निरूपिताः । ते ब्रह्मणा जायन्ते ।

एते तु प्रकाराः उरुधानेकधा । निजशिक्षाः निजे-नैव शिक्षा शिक्षणं अभिव्यक्तिप्रकारा यासु । अनेन नादब्रह्म नित्यमिति निरूपितम् । तत्र क्रियाशक्तिः साधनमिति तस्य लौकिकत्वे कथं नादः अलौकिको भविष्यतोत्पादकश्च तस्याप्य-लौकिकत्वायाह । दिविषेषु गोपचरणेषु गोपाना

सञ्चारविशेषेषु विदग्ध इति । गोपसञ्चारा न वेदोक्ताः, किन्तु लौकिकाः । ब्रह्माण्डान्तरस्थिता अपि भवन्ति । ते न लोकेऽप्यत्र प्रसिद्धाः, नापि वेदे । भगवांस्तु सर्वत्रैव विदग्धः । अतोऽप्य ब्रह्मा यं प्रकारं न जानाति, तमेव प्रकारं कृतवान् । ननु ब्रह्मसृष्टावाविर्भूतः कथं ब्रह्माण्डोऽप्यज्ञातः करो-
तिति चेत्, तत्राह तव सुत इति । यशोदां प्रति वदन्ति, स्त्रीमण्डले समागताम् । अत एवात्र न कामादिवार्ता, किन्तु अतिषिद्ध एवोत्कर्षो निरु-
पितः । यथा तव पुत्रोऽपि सन् तव मनसाप्याकल-
यितुमशक्यं करोति, तथा ब्रह्माण्डोऽपि ब्रह्माण्डे जातः । सतीति सम्बोधनं विश्वासार्थम् । अज्ञाने हेतुमाहुः अधरबिम्बे दत्तवेणुरिति । लोभात्म-
कोऽधर इति पूर्वमुक्तम्, अतो न लोके प्रसिद्धः । तस्य रसो भगवता न दत्त इति । तत्रापि बिम्ब-
रूपः सूर्यवत् प्रकाशकः । न हि प्रकाश्याः प्रकाश-
कस्वरूपं विदुः । तत्र च स वेणुः स्थापितः, ततोऽप्युत्तमत्वस्यापनाय । स्वरजातोः पङ्जादि-
स्वरजातिभेदान् । अनयद् नूतनत्वेनोत्पादितवान्

यहि, तदा तत्परिज्ञानार्थं त्रिगुणप्रधाना अपि देवाः कालत्रयेऽपि समागत्य । सोऽपि कालः आधिदैविक इति ख्यापयितुं सवनपदम् । तं वेणुनादं सवनश उपचार्य । शक्रः सात्विकः, शर्वस्तामसः, परमेष्ठी राजस इति ते पुरोगमा येषां देवानाम् । सर्वं एव देवास्त्रिगुणात्मका भवन्ति । कवयो निपुणा अपि नादे । इन्द्रो हि त्रैलोक्याधिपतिः सर्वदा नादपरः । सर्वस्तु नाद-
शास्त्रकर्ता । परमेष्ठी तयोरपि गुरुः । अत एव परमेष्ठिपदम् । तेषामन्यचित्तताभावायाह आन-
तकन्धरचित्ता इति । आसमन्तान्नता कन्धरा बाह्याभिनयार्थं चित्तं च येषाम् । ग्राहकं चित्तम् । नमनमत्र सर्वतः । तेऽप्यनिश्चिततत्त्वा जाताः । नाप्यौदासीन्येन कियत्कालं विचार्य अज्ञाने तूष्णी-
म्भूता इति मन्तव्यम् । यतः कश्मलं ययुः, चिन्तया मूर्च्छिताश्च जाताः । वेणुनादेन वा मोहिताः । अत एव आभासत्वपक्षोऽपि निराकृतः । अलो-
किकरसोत्पादकत्वात् ॥ १४ ॥ १५ ॥

व्याख्यानार्थ—अलौकिक प्रकार जब लोक में उत्पन्न होता है तो सन्देह होता है । जिस रूप का वर्णन वेदों में नहीं मिलता तो उस रूप का ईश्वर में होना भी नहीं माना जा सकता तथा ब्रह्माजी तो सभी विद्यास्थानों के जानकार हैं अतः उनको सन्देह हुआ यह बात भी बराबर समझ में नहीं आती, अतः इसका समाधान करती हैं “वेणुवाद्य उरुधा निज शिक्षा” द्वारा । वेणु सुषिर वाद्य के अन्तर्गत आती है । इसके भी अनेक प्रकार शास्त्र में दिखलाए गए हैं । और ब्रह्माजी को वे सब मालूम नहीं हैं । किन्तु भगवान् जिस वेणु को बजा रहे हैं उसके तो कई प्रकार हैं । ‘निजशिक्षा’ यानि स्वयं अपने शिक्षणस्वराज्यो जन को अभिव्यक्ति के प्रकार जिनमें हैं ऐसे स्वरों को भगवान् अभिव्यक्त कर रहे हैं । एतावता नाद ब्रह्म नित्य है यह निरूपण हुआ । इस नाद ब्रह्म की अभिव्यक्त का साधन क्रिया शक्ति है और वह यदि लौकिक हो तो नाद कैसे अलौकिक हो पाएगा ? इसके समाधानार्थ साधन की भी अलौकिकता दिखलाते हैं “विविधगोप चरणेषु विदग्ध” द्वारा । गोपों के विविधसंचारों में भगवान् विदग्ध हैं । गोपसंचार वेदोक्त नहीं होते, किन्तु लौकिक ही होते हैं । न केवल इतना अपितु अन्यान्य ब्रह्माण्डों में अनेक प्रकार के हो सकते हैं । वे अपने ब्रह्माण्ड के अलावा अन्यत्र न तो लोक और न वेद में ही प्रसिद्ध हो पाते हैं । किन्तु भगवान् तो सभी जगह की सारी बातें जानते हैं अतः जो प्रकार इस ब्रह्माण्ड के ब्रह्मा नहीं जानते थे वही प्रकार भगवान् ने अपनाया । यहां एक शंका उठती है, कि ब्रह्मा की सृष्टि में जब आविर्भूत हुए ही हैं तो उसी ब्रह्मा से अज्ञात रहने का प्रयोजन क्या ? इसका उत्तर “तत्र सुता” द्वारा दिया गया है । इन स्त्रियों के मण्डल में यशोदाजी आई हैं और तब उनसे यह बात कही जा रही है । अतएव यहां काम आदि की चर्चा नहीं है किन्तु



अनिषिद्ध उत्कर्ष का ही वर्णन किया गया है। यशोदाजी को कहती है कि आपके पुत्र होने पर भी आप के मन से अगोचर ऐसे अशक्य कार्यों को जैसे करते हैं वैसे ही ब्रह्माजी के साथ भी उन्हीं के ब्रह्माण्ड में घट गया है। 'सति' कहकर सबोधन करने का प्रयोजन विश्वास है। ब्रह्मा इत्यादि न जान पाए उसका कारण 'अधरबिम्बे दत्तवेणु' द्वारा कहा जा रहा है। अधर लोभात्मक है यह पहले कहा ही है, अतः लोक में यह प्रसिद्ध नहीं है अर्थात् इससे रसको भगवान् ने किसी को भी नहीं दिया है। इसके अलावा यह अधर बिम्ब है सूर्य की तरह प्रकाशक है अब भला स्वयं उससे प्रकाशित हो रहे हों वे अपने प्रकाशक का रूप कैसे जान सकते हैं? ऐसे अधर पर भगवान् ने वेणु रखकर यह दिखलाना चाहा है कि यह वेणु उससे भी उत्तम है।

भगवान् के उन नवीन प्रकार के स्वरों को समझने के लिए त्रिगुण प्रधान भी देव तीन वालों से आकर सुनने लगे। वह काल भी आधिदैविक हैं इसलिए मूल श्लोक में 'सवन' पद दिया है, जिसका आशय है कि यह लीला मध्यान्ह काल की है कारण कि यह सप्तम युगल है। सप्तम युगल में जो लीला कही है वह मध्यान्ह काल की लीला है, अतः यह 'सवन' पद मध्यान्ह सवन दिखाने के लिए दिया है। इस सवन से प्रातः तथा सायं तृतीय सवन नहीं समझना चाहिए। वे देव तो वेणुनाद के स्वरों का तीनों सवनों में विचार करने लगे क्योंकि, शक्र^१ सात्विक है, शर्व^२ तामस है, परमेष्ठी^३ राजस है ये तीन सर्व देवों के नेता हैं अतः सर्व ही देव त्रिगुणात्मक हैं। ये देव नाद में निपुण होते हुए भी समझ न सके। इन्द्र त्रैलोक्य का अधिपति, सर्वेश नाद के परायण है। महादेव तो नाद शास्त्र का कर्ता है और ब्रह्मा दोनों के गुरु हैं। इसलिए ब्रह्मा को 'परमेष्ठी' पदवी प्राप्त है। गोपीजन कहते हैं कि इन देवों का चित्त अन्य किसी में नहीं था इसलिए सर्वदेव नीची गर्दन कर नमन कर खड़े थे, जिससे उनकी एकाग्रता प्रकट होती है। किन्तु तो भी उन स्वरों के तत्त्वों को नहीं जान सके, यों भी नहीं समझना चाहिए कि-कुछ समय उनका विचार किया जब वे समझ में नहीं आए तब उदासीन होने से अज्ञान के कारण चुप हो गए हैं, किन्तु चिन्तन करते हुए मूर्च्छित हो गए। अथवा वेणुनाद से मोह को प्राप्त हुए, इस कारण से ही आभासपक्ष का भी निराकरण किया, अर्थात् यह नाद नहीं है किन्तु नाद का आभास है, इस पक्ष का भी निवारण किया है, यह नाद का आभास नहीं है, कारण कि यह नाद अलौकिक रस को उत्पन्न करता है ॥ १४-१५ ॥

आभास—अस्त्वन्येषां वार्ता । वेणुनादोऽस्माकमेवान्यथात्वं सम्पादयतीत्याहुर्द्वयेन पूर्ववत् निजपदाब्जदलैरिति ।

आभासार्थ—दूसरों की कथा का त्याग कर दो, किन्तु वेणुनाद ने हमको ही अन्य प्रकार की बनादी है, जिसका वर्णन आगे की तरह 'निजपदाब्जदलैः' इस युग्म से गोपीजन करते हैं—

श्लोक—निजपदाब्जदलैर्ध्वजवज्रनीरजाकृतिविचित्रललामैः ।

वज्रभुवः शमयन् खुरतोदं वर्ष्मधुर्यगतिरोरितवेणुः ॥१६॥

व्रजति तेन वयं सविलासवीक्षणपितमनोमववेगाः ।

कुजगतिं गमिता न विदामः कश्मलेन कब्जरं वसनं वा ॥१७॥

श्लोकार्थ—युग्मार्थ—ध्वज, वज्र, कमल तथा अंकुश के विचित्र चिन्ह वाले आपके चरण रूपा कमल पत्रों से ब्रजभूमि की खुर लगने से हुई पीड़ा को शमन करते हुए हूँ हूँ वाले महान् वृषभ के समान गति से चलती गायों की व्यथा को मिटाते हुए और वेणुवादन से गोपियों की व्यथा को शांत करते हुए जब पधारते हैं, तब अपने विलास वाले दृष्टि पात से हमारे शरीर के अङ्ग अङ्ग में काम अर्पण करते हैं जिससे वृक्षवत् स्तब्ध हुई हम वैसी हो जाती हैं जो हमको अपने वस्त्र तथा केशों का भी भान नहीं रहता है ॥ १६-१७॥

सुबोधिनी—यहि ईरितवेणुः सन् व्रजति, तदा तेन नादेन कुजगतिं स्थावरत्वं गमिता वयं गोप्यः सर्वा एव, कश्मलेन मूच्छंया वसनं परिहितं केशपाशं वा न विदाम इति सम्बन्धः । अयं वेणुनादोऽस्मदर्थमेव जायत इति तस्य चेष्टया अनुभवाच्च ज्ञायते । तत्र चेष्टाया गोकुलनिवासिनामेवार्थे जायते, तया व्याप्तः कथमन्यकार्यं कुर्यात् । अतः प्रथमं भगवतो गोकुलहितकर्तृत्वमाहुः । निजस्य स्वस्यैव यत्पदाब्जद्वयं तस्य दलैः दशाङ्गुलीभिः तलभागैर्वा । व्रजभुवः निरन्तरं पश्वाक्रमणेन जातव्यथायाः व्रजभूमेः खुरंजातिं तोदं शमयन्निति शनैः शनैर्लीलया भगवद्गतिनिरूपिता । क्षतांशः गतिविलासेन पादस्पर्शेन निराकृतः । आध्यात्मिकाद्यं शस्तु ध्वजादिना । तामसः भौतिकः ध्वजेन निराक्रियते । राजस आध्यात्मिको वज्रेण । सात्त्विक आधिदैविकः नीरजाकृति-चिह्नेन । तान्येव विचित्राणि ललामानि पदेषु । तेन लौकिकालौकिकप्रकारेण व्रजभुवः खुरतोद-

प्रशमनम् । ब्रजे तिस्रः प्रधानभूताः । भूमिः गावो
गोप्य इति । तत्र भूमेर्दुःखनिवृत्तिं गत्या निरूप्य,
गत्या कृत्या च गवां दुःखं निवारयतीत्याह
वर्ष्मधुर्यगतिरिति । वर्ष्मधुर्यो महावृषभः ककुब्धी,
स यथा लीलया मन्थरगतिः, तथा गच्छन् गवा-
मपि दुःखहारीव निरूपितः । ईरितवेणुर्व्रजतीति ।
गोपिकानां तदास्माकं वेणुनादेन जाते कामे
स्थावरत्वमधिकं जातमित्याहुः तेनेति । स्वभावत
एव वेणुनादेन जातः कामः । तत्रापि सविलास-
वीक्षणेन अपितो मनोभववेगो यासु । अतो वेगेन
स्तम्भे जाते कुञ्जगति वृक्षगतिं गमिता जाताः ।
तेषामन्तर्ज्ञानिगस्तीति तदर्थमाहुः न विदाम इति ।
सुषुप्तावपि न जानन्तीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह
कश्मलेनेति । कश्मलेन मूर्च्छया । स्त्रीणामत्या-
वश्यकं वसनज्ञानं कबरज्ञानं च । वेणुनादप्रस्तावे
एवैतज्जातमिति गतिदृष्ट्यादिभिरपि कृतमत्र
निरूप्यते ॥१६॥१७॥

व्याख्यानार्थ—जब भगवान् बंशी बजाते हुए चलते हैं, तब उस नाद से वृक्ष की सी गति को प्राप्त हग सर्व गोपियां ऐसी मूर्च्छित हो जाती हैं, कि जिससे हमको अपने शरीर पर पहना हुआ वस्त्र है, वा नहीं, तथा केश पास का भी ध्यान नहीं रहता है। इस प्रकार अन्वय है। यह वेणुनाद हम लोगों के लिए ही होता है, यों उसकी चेष्टा से और अनुभव से जाना जाता है। उसमें जो चेष्टा है, वह गोकुलवासियों के लिए ही होती है। जब भगवान् के अन्तःकरण में यही इच्छा व प्रयत्न है, कि



इस नाद से गोपीजनों में मेरे लिए प्रेम उत्पन्न होवे, तब वे भगवान् दूसरा कार्य कैसे करेंगे ? अतः प्रथम भगवान् ने जो गोकुल का हित किया है उसका वर्णन करती हैं ।

भगवान् लीला पूर्वक धीरे धीरे चलते हुए अपने दो चरण कमलों की दश अङ्गुलियों से अथवा चरणों के अधो भाग से सर्वदा पशुओं के आक्रमण के कारण उनके खुरों से जो व्रजभूमि को पीड़ा होती थी उसको मिटाकर उसका हित करते हैं । किससे कौनसी पीड़ा मिटाई जिसका स्पष्ट वर्णन करते हैं कि अपनी गति विलास वाले पाद स्पर्श से, खुरों से क्षत अंश की पीड़ा मिटाई । चरण में स्थित ध्वजादि चिन्हों के स्पर्श से आध्यात्मिकादि पीड़ा नष्ट की है । जैसे कि तामस भौतिक पीड़ा को ध्वज के चिन्ह से राजस आध्यात्मिक पीड़ा को वज्र के चिन्ह से और आधिदैविक सात्विक पीड़ा को कमलाकृति चिन्ह से मिटा दिया है । चरणों में जो ये विचित्र चिन्ह हैं उनसे लौकिक तथा अलौकिक प्रकार से व्रज भूमि का खुरों से उत्पन्न दुःख दूर किया । व्रज में भूमि, गौ और गोपियाँ ये तीन मुख्य हैं, उनमें भूमि का दुःख अपने चलन से दूर किया, और गौओं का दुःख हुड्डु वाले महान् वृषभ जैसी धीमी चाल से चलने से नष्ट किया तथा हम गोपियों का दुःख वेणुनाद से उत्पन्न किए हुए काम द्वारा मिटाया ।

वेणुनाद से तो स्वभाव से ही काम उत्पन्न हुआ पुनः उस काम में वेग उत्पन्न करने के लिए, विलास से दृष्टिपात किया, इस प्रकार उस काम में वेग आ जाने से, हम वृक्ष जैसी स्तब्ध गति को प्राप्त हो गई । बाहर तो वृक्ष समान गति हुई, किन्तु भीतर तो ज्ञान रहा होगा ? इसके उत्तर में कहती हैं, कि 'न विदामः' हम यह भी नहीं जानती हैं कि भीतर ज्ञान था वा नहीं था, तो क्या आपकी दशा सुषुप्ति समान हो गई थी ? इसका निराकरण करती हुई कहती है कि हमारी यह दशा सुषुप्ति समान नहीं थी, किन्तु मूर्च्छा से हुई थी । स्त्रियों को दो विषयों का ज्ञान रखना अत्यन्त आवश्यक है—१-वस्त्र हमारे शरीर पर यथा स्थान हैं वा नहीं, २-चोटी का ज्ञान, वेणुनाद के आरम्भ में भी यों हुआ था और पुनः यहां गति और दृष्टि से भी वैसा ही किया है ॥१६-१७॥

आभास—हरिणीनां वेणुनादेन यथा जातं तद्वक्तुं पूर्ववद्वेणुनादं वर्णयन्ति मणिघर इति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—वेणुनाद के श्रवण से हरिणियों को जो भाव हुआ उसका पहले की भांति 'मणिघर' इस युग्म में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—मणिघरः कचिदागणयन् गां मालया दयितगन्धतुलस्याः ।

प्रणयिनोऽनुचरस्य कदांसे प्रक्षिपन् भुजमगायत यत्र ॥१८॥

क्वणितवेणुरववञ्चितचित्ताः कृष्णमन्वासत कृष्णगृहिण्यः ।

गुणगणार्णमनुगत्य हरिण्यो गोपिका इव विमुक्तमृहाशाः ॥१९॥

श्लोकार्थ—युग्मार्थ—मणियों की माला धारण करने वाले भगवान्, कभी उन मणियों से गौओं की संख्या गिनते हैं, और अपने को प्रिय जो तुलसी, उसकी माला



पहने हुए, अपने प्रिय अनुचर के कन्धे पर हाथ रखकर, जब गान करते हैं, जब बजती हुई वेणु के शब्द से जिनके चित्त हरण हो गए हैं, वैसी काले हरिणों की वधू अर्थात् हरिणियां, गोपियों की भांति घर की आशा का त्याग कर, अनेक गुणों के समुद्र भगवान् के पास जाकर, उनका अनुसरण करती रहती हैं ॥ १८-१९॥

सुबोधिनी—गवामाधिदैविकानि रूपाणि मणयः । तान् स्वस्मिन् बिभर्तीति मणिधरः । अभिज्ञानार्थं वा । स्वप्रियाणामभिज्ञापका मणयः । अतस्तैः कदाचिद् गाः आसमन्ताद् गणयन् जातः । अनेन ताः तद्गतधर्माश्च भगवत्येव प्रतिष्ठिता इति तासां संसाराभावः सूचितः । अत एव गोपिकानामपि । अत एव हरिणीनामपि । पशुत्वाविशेषाद् ग्राम्याणां चेदुद्धारकः, विशेषत आरण्यानां भविष्यतीति युक्ता कृष्णपरता । मालया दयित-गन्धतुलस्या उपलक्षितः । यथा भगवतो नीलं रूपं प्रियम्, स्पर्शः स्त्रीणाम्, शब्दो वेणोः, रसो नवनीतस्य, तथा गन्धस्तुलस्याः । तद्गतोत्तमता सात्त्विकानां केषाञ्चिदनुभवसिद्धा । तादृशी तुलसी । अतस्तस्या मालां बिभर्ति । अतो यदा वयमपि प्रिया भविष्यामः, तदा अस्मानपि अस्मद्वर्मान् वा धारयिष्यतीति कृष्णसार-स्त्रीणां प्रवृत्तिः । कृष्णसारस्तु वेदे नियुक्त इति भक्तो तासां विनियोगार्थं प्रवृत्तिः । किञ्च । प्रणयिनोऽतिप्रेमवतः, अनुचरस्य गोपस्यासे भुजं प्रक्षिपन्निति । कदा कदाचित् । 'आशंसायां भूत-वच्चे'ति वा कदा अगायतेति मध्ये गानाशंसा यथा गोपालस्य तथा स्नेहसेवाधर्मयोः सद्भावे एवं भविष्यतीति गोपिकानामिव हरिणीनामपि तथात्वाय स्नेहभजनम् । देहास्फुरणात् न विजातीयत्वेन कामाभावः । तदैव क्वणितो यो वेणुः । आकस्मिकः शब्दविशेषो मनोहारो ववणनात्मकः ।

स चेद्वेणोनिगतः, तत्सम्बन्धान्वयेऽपि शब्दाश्चित्तवञ्चका इति स्वपदम् । शब्देन भृगाणां वशीकरणं सिद्धमेव । इदानीमेवोपयोगो भविष्यतीति प्रतीतिजननाद्वञ्चकत्वम् । अतो रवेण वञ्चित-चित्ताः कृष्णमन्वासत । कृष्णसमीपे आसत उपविष्टा जाताः । यथा प्रायमुपविशति, एवं कृष्णमनूपविष्टाः । ननु स्त्रियोऽन्यस्य कथमन्यस्य गृहेऽन्यस्य समीपे उपविष्टा इति, तत्राह कृष्णस्य कृष्णसारस्य गृहिण्य इति । कृष्ण इति तास्तस्य गृहिण्यो जाताः । वञ्चितचित्तत्वाद्वा रूपं विस्मृत्य शब्दमात्राभिनिविष्टा जाताः । वेणुनादेन वा सानुभावेन कृष्णसारेऽपि कृष्णमत्या कृष्णमेवा-न्वासत । ननु कृष्णसारेऽपि कृष्णभ्रमात् शब्दोऽपि वर्तत इति तं परित्यज्य कथमागता इत्यत आह गुणगणार्णवमिति । कृष्णसारे एको द्वौ वा गुणौ । अतो यत्रैव भगवान् गच्छति, तत्रैव तम-नुगत्य सर्वा एव हरिण्यो विमुक्तगृहाशा जाताः । गृहं गमिष्याम इत्याशामपि त्यक्तवत्यः । (सान्निध्येन भगवद्रसः पीत इति लब्धस्वादुभावाः गोपिका इव तदेकपरा जाताः । एतन्नयनेषु स्वप्रियानयन-सादृश्यदर्शनेन यादृशेन भावेन ताः पश्यति, तादृशेनैवैता अपि पश्यन्तीति, एतासामपि तत्स-जातीयभावोत्पत्तिः, तथैव वेणुक्वणनं च । अत एवाग्निबीजामृतबीजात्मकं स्वपदमुक्तम् । यत-स्तच्छब्दवशेऽत्यातिस्तत्तापशमनं च सम्पद्यते । अतः स्वदृष्टान्तोक्तिर्युक्ता ॥ १८ ॥ १९॥)

व्याख्यानार्थ—भगवान् ने जिन मणियों को धारण किया है, वे मणियां गायों के आधिदैविक रूप हैं । अतः आप 'मणिधर' हैं । अथवा ये मणियां भगवान् को जो प्रिय हैं, उनकी स्मृति बनाए रखने के लिए भगवान् ने धारण की हैं । गायों के जैसे पृथक् पृथक् रंग होते हैं, वैसे ही उन मणियों के रंग भी अलग अलग हैं, जब कभी भगवान् की इच्छा होती है, कि गायों की गणना करूं, तब



भरिणियों की गणना करते हैं, जिससे उनको मालूम हो जाता है कि इतनी गाएँ हैं। इस तरह गणना का यह भी आशय है, कि भगवान् बताते हैं कि गाएँ और उनके धर्म मुझमें ही हैं, अतः गाधों में संसार का अभाव है। जिससे गोपियों में, हरिणियों में, भी संसार का अभाव बताया है। पशु तो पशु ही हैं, चाहे घाम्य या आरण्य। भगवान् जब ग्राम में रहने वाले पशुओं का उद्धार करते हैं तो आरण्य में रहनेवाले पशुओं का भी अवश्य करेंगे ही, अतः उनकी भगवान् कृष्ण में तत्परता योग्य ही है।

अपने को प्रिय गन्धवाली तुलसी की माला धारण की हुई है, जिससे यह भगवान् हैं यों जानने में आ जाता है, जैसे भगवान् को श्याम रंग प्रिय है, स्त्रियों का स्पर्श प्रिय है, वेणु का नाद प्रिय है, और मक्खन का रस प्यारा है उसी प्रकार तुलसी की गन्ध भी प्यारी है, उस तुलसी गन्ध में जो उत्तमता है वह कुछ सात्विक पुरुषों के अनुभव से सिद्ध है, वैसी तुलसी है, अतः उसकी माला को आप धारण करते हैं।

हम भी जब वैसी प्रिय बनेंगी तब हमको भी अथवा हमारे धर्मों को धारण करेंगे, इस कारण से कृष्ण सार हरिणों के स्त्रियों की प्रवृत्ति हुई है, कृष्णसार का उपयोग तो वेद में हुआ है और उसकी स्त्रियाँ अपना विनियोग भक्ति में करने के लिए, इस प्रकार की प्रवृत्ति करती हैं।

और अतिशय प्यारे सेवक गोप के कन्वे पर जब भुजा धरते हैं तब गोप, भगवान् गान करे, वैसी इच्छा करते हैं उन प्रिय सेवकों को भगवान् इच्छा पूर्ण करने के लिए कभी गान करते हैं। इस प्रकार के स्नेह तथा सेवा धर्म के होने से गोपों का मनोरथ पूर्ण होता है तथा गोपियों की तरह हरिणी भी चाहती हैं, कि हम भी वैसी होवें, तदर्थ स्नेह से वे भी भजन करती हैं। जब विजातीय के साथ काम की इच्छा नहीं होती है, तब हरिणियों को मनुष्य रूपवारी विजातीय भगवान् में काम की इच्छा कैसे हुई? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं, कि हरिणियों को अपने देह की स्मृति ही न रही, कि हम हरिणियाँ हैं, अतः उन्हें भगवान् में काम भोग करने की इच्छा हुई। उसी समय भगवान् वेणु बजाने लगे। 'क्वणित' शब्द कहने का आशय यह है, कि मन को हरण करनेवाला शब्द, यदि अचानक हो, तो उसको क्वणन संज्ञा दी जाती है, वह मनोहारी क्वणन, यदि वेणु से निकलता है, तो उसके सम्बन्ध से अन्य शब्द भी चित्त को हरण करनेवाले उसमें से निकलते हैं, जिससे उसको 'रव' कहा जाता है। यह तो प्रसिद्ध ही है, कि मृग जाति गान से वश में आ जाती है, हरिणियों को उस नाद से यह प्रतीति हुई, कि अब ही हमारा उपयोग होगा अर्थात्, हमारी कामना भगवान् इस समय ही पूर्ण करेंगे, इस विचार के कारण, शब्द श्रवण से ये हरिणियाँ ठगी गई हैं। इस प्रकार, नाद से ठगे जाने के कारण, हरिणियाँ श्रीकृष्ण के पास बैठ गईं। जिस प्रकार कोई मनुष्य मरण पर्यन्त उपवास कर, शान्त होकर बैठ जाता है, वैसे ही ये भी कृष्ण के पास बैठ गईं। अन्य की स्त्रियाँ, अन्य के गृह में और पर पुरुष के पास कैसे बैठी? इस शङ्का के उत्तर में कहा गया है, कि ये हरिणियाँ कृष्ण (कृष्णसार) की स्त्रियाँ हैं ये भी कृष्ण ही तो हैं यों सोचकर वे यहाँ इस कृष्ण की गृहिणी हो गईं। अथवा वेणुनाद सुनकर ठगी सी रूप को भूलकर केवल शब्द मात्र में तत्पर हो गईं। अथवा प्रभावशाली वेणुनाद के कारण कृष्णसार भी कृष्ण ही तो हैं यों मान कृष्ण के ही पास बैठ गईं।

कृष्णसार भी कृष्ण है, इस भ्रम के होने से जब उसमें भी कृष्ण नाम है, तो उसको छोड़कर



यहां कैसे आ गई ? इस शङ्का के निवारणार्थ कहा गया है, कि 'गुणगणार्ण' कृष्णसार में तो एक वा दो गुण हैं, किन्तु कृष्ण तो गुणों का समुद्र है, अतः गुणों से आकृष्ट होकर, जहां भी भगवान् जाते हैं, ये भी उनके पीछे जाती हैं, इन्होंने घर में लौटकर जाने की आशा का त्याग कर दिया है (हरिणीश्रीं ने भगवान् की सन्निधि में रहकर भगवद्रस का पान किया, जिससे उनकी भी गोपियों की भांति भगवान् में आसक्ति हो गई । हरिणियों के नयन भगवान् को भी प्रियाओं जैसे प्रतीत हुए, जैसे गोपिकाएं भगवान् को निहार रही हैं वैसे ही ये भी निहार रही थी अतः इन्हें भी वैसे ही भाव उत्पन्न हुए और प्रभु ने भी वैसे वेणु क्वणन किया । यहां नाद शब्द न कह कर 'रव' कहा है, जिसका आशय यह है कि इस पद में 'र' अक्षर अग्नि अर्थात् ताप उत्पन्न करने वाला बीज है, और 'व' अक्षर ताप का शान्त करनेवाला अमृत का बीज है, सारांश यह है कि यह रव प्रथम भगवान् के लिए अन्तःकरण में आर्ति अर्थात् मिलने की उत्कट इच्छा उत्पन्न करता है, पीछे भगवन्मिलन रूप भावा-मृत का सिञ्चन कर, उस ताप को मिटा देता है, अतः गोपियों ने जो अपना दृष्टान्त दिया है, वह योग्य ही है ।)

आभास—एवं नवप्रकारेण वेणुनादं निरूप्य, गुणातीतप्रकारेण त्रिधा निरूपयन् वेणुनादेन भगवान् जगदेव वशीकृतवानित्याह कुन्ददामेति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इस प्रकार वेणुनाद का नव भांति निरूपण कर अब गुणातीत प्रकार से, तीन तरह वर्णन करती हैं, जिसमें कहती हैं, कि भगवान् ने वेणुनाद से, जगत् को ही वश में कर लिया है वह वर्णन 'कुन्ददाम' इस युग्म में करती हैं—

श्लोक—कुन्ददामकृतकौतुकवेशो गोपगोधनवृतो यमुनायाम् ।

नन्दसूनुरनघे तव वत्सो नर्मदः प्रणयिनां विजहार ॥२०॥

मन्दवायुरुपवात्पनकूलं मानयन् मलयजस्पर्शेन ।

बन्दिनस्तमुपदेवगणा ये बाद्यगीतबलिभिः परिवव्रुः ॥२१॥

श्लोकार्थ—युग्मार्थ—कनेर के फूलों की माला से कौतुक वेश धारी, ग्वाल तथा गौश्रीं के गण से वेष्टित तथा स्नेहियों को आनन्द देनेवाले तुम्हारे पुत्र नन्द के कुमार जिस समय श्री यमुनाजी में विहार करते हैं, तब अपने स्पर्श से भगवान् को मान देते हुए दक्षिण का वायु, अपने मन्द, शैत्य तथा सुगन्धि इन तीन गुणों को प्रकट करता है, इसी प्रकार गन्धर्वादिक देव गण भी बंदीजनों के सहस्र स्तुति करते हुए, बाजा बजाते, गान करते तथा भेटें अर्पण करते भगवान् को चारों तरफ घेर लेते हैं ॥२०-२१॥

सुबोधिनी—यहि भगवान् यमुनायां विजहार, तत्रापि पूर्वोत्तरदशायामपेक्षितो वेणुनादः परि-
गृह्यते, प्रकरणित्वात्, प्रकारविशेषाभावाच्च न । पृथगुक्तः, तदा उपदेवगणाः परिवव्रुरिति सम्बन्धः । यमुनायागिति सामीप्यसप्तमी । अधिकरणसप्तमी वा । धर्मे गवां गोपालानां च जले स्थितिः सम्भ-

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२० ॥ १२१ ॥

वति । तत्र विहारो गोपैः सह जलक्रीडा । गवां प्रक्षालनादिः । सर्वत्रोद्देशान्त्यर्थं वेणुनादः सहकारी । तदानीमनलङ्कृतत्वमाशङ्क्य अलङ्कारमाह कुन्ददामेति । वस्त्राभरणाद्यलङ्कारा भविष्यन्त्येव, पुष्पालङ्कारा न भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तदेव निरूप्यते । कुन्ददाम्ना कृतः कौतुकवेशो यस्य । दामान्यनेकप्रकाराणि । तैस्तथा वेशो निर्मायते । यथा अत्यद्भुतो भवति । अत्र तु यथैव हास्यरस उत्पद्यते, तथैव निर्मायत इति । नन्वेतादृशीं प्राकृतलीलां भगवान् कथं कृतवानित्याशङ्क्यामाहुः नन्दसूनुस्तव वत्स इति । यया लीलया नन्दपुत्रो भवति, तथैव लीलया प्राकृतलोलामपि सम्पादयति । अनघ इति सम्बोधनं क्रोधाभावाय विश्वासार्थं च । तव च वत्सो जातः । अनेन त्वं गोरूपेति सर्वगुप्तरसानभिज्ञत्वं सूचितम् । अन्यथा उलूखलबन्धनलीलां न कुर्यात् । मध्ये निर्दोषत्वेन सम्बोधनादुभयोनिर्दोषत्व ज्ञाप्यते । तादृश्या वत्सत्वेन भगवत्यपि तथा । पूर्णगुणत्वलक्षणमाधिक्यं चोच्यतेऽग्रिमविशेषणेन । किञ्च, प्रणयिनां नर्मदः । ये केचन स्नेहयुक्ताः, यथैव ते स्निग्धा भवन्ति, तथैव लीलां करोतीति । अनेन सर्वत्रैव हेतुरुक्तः । यत्रैव

लीलासक्त्या क्रीडा, स विहारः । सोऽत्र जलक्रीडा नृत्यक्रीडा वेणुवादनक्रीडा च ज्ञेया । अन्यथा वाद्यादीनामुपयोगो न स्यात् । विद्यावन्तो हि वशीकर्तव्याः । तत्र विद्योत्पादको वायुः । देवाश्च तदाधारभूताः । तत्राप्युपदेवगणा बन्दिनश्च बहिर्विद्याप्रकटनपराः । अतोऽन्यापेक्षया तेषु विशेष उक्तः । प्रथमतः कारणभूतं वायुं निरूपयन्ति । मन्दो वायुः अनुकूलं यथा भवति, तथा उपवातीति । अनुकूलं कुलसमीपे हितं च । अनेन शैत्यं निरूपितम् । मलयजस्पर्शेन सहित इति सौरम्यम् । अनेन दाक्षिणात्योऽयं वायुरिति निरूपितम् । भगवत्स्वरूपे दत्तं वा मलयजेन सहभावादधिकशैत्यनिरूपकत्वेन अनुकूलत्वम् । मलयजस्पर्शः मलयजस्येव वा स्पर्शः । तथा सति तत्रत्यानां सर्वेषामेव भगवद्भावं सम्पादयिष्यतीति । मानयन्निति । स्वकीयैस्त्रिभिर्गुरौः यथैव सन्माननं भवति, तथैव वातीत्यतिवश्यता । उपदेवगणाश्च गन्धर्वादयश्च बन्दिनः कीर्तिनिरूपका जाताः । गायकाश्च सन्तः । य इति भगवदीयाः । वाद्यगीतपूजासाधनैः तामसराजससात्त्विकैः सहिताः परिवव्रुः । सर्वत्रैवापेक्षितं कृतवन्तः ॥२०॥२१॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् जब श्री यमुनाजी में विहार करते थे, उस समय वहाँ भी कौतुक वेश घरके और जल विहार करते हुए वेणुनाद करने लगे, कारण कि, यह वेणुनाद का ही प्रसंग है । यह देख गन्धर्वादि, उपदेव गणों ने भी भगवान् को चारों तरफ घेर लिया । यमुना शब्द की सप्तमी विभक्ति देने के दो भाव हैं, एक सामीप्य का विहार, जैसे गौओं को तट पर ही खड़ी कर स्नान आदि कराना, और दूसरा, जल में विहार अर्थात् गरमी में गोप तथा गौओं को जल में लेजाकर खड़ा करना और वहाँ उनसे विहार करना । यों विहारादि करने में भी विक्षेप की शान्ति के लिए वेणुनाद सहायता देनेवाला होने से, भगवान् उस समय भी वेणुनाद करते थे । वेणुनाद तब होता है, जब भगवान् अलङ्कृत हों इस समय कैसे नाद किया ? इस शङ्का के उत्तर में कहती हैं, कि 'कुन्ददाम कृत कौतुक वेशः' भगवान् ने कनेर के फूलों की माला से कौतुक वेश धारण कर लिया था, अर्थात् भगवान् उस समय अलङ्कृत थे । यों भी न समझना, कि पुष्प अलङ्कार नहीं होते हैं, अलङ्कृत नहीं करते हैं, अलङ्कृत तो वस्त्र आभूषण ही करते हैं, इन फूलों से अनेक प्रकार की मालाएं बनती हैं,



जिनसे भगवान् ने अपना एक अति अद्भुत वेष धारण किया था। भगवान् होकर वैसी प्राकृत लीला कैसे की? इस पर कहती है, कि नन्द का पुत्र तेरा बालक है, अतः जिस लीला से नन्द का पुत्र हुआ है, वैसे ही लीला से प्राकृत लीला को भी करते हैं। यशोदा को यहां 'अनघे' इसलिए दिया है, तू अघ रहित है, जिससे तुझे इस पर विश्वास भी होगा और क्रोध भी न होगा। और यह तेरा वत्स' हुआ है, इससे तू गो रूप है, जिससे यह सूचन किया है, कि सर्व गुप्त रसों को तुम नहीं समझ सकती हो। यदि जानती होती, तो भगवान् को उलूखल में न बान्धती। श्लोक में "नन्दसूनुः" और "तव वत्सः" इन दो पदों के मध्य में यशोदा का विशेषण 'अनघे' दिया है, जिसका भाव यह है, कि जैसे यशोदा निर्दोष है, वैसे नन्दजी भी निर्दोष है, निर्दोष के यहां, प्रकट प्रभु भी निर्दोष है, किन्तु प्रभु में पूर्ण गुणता है, यह दिखाने के लिए आगे के विशेषण दिए हैं। 'प्रणयिनां नर्मदः' स्नेहवालों को आनन्द देनेवाले हैं, जो कोई भी, स्नेहवाले हैं, वे जैसे जैसे स्नेह युक्त हो जायें भगवान् भी वैसी ही स्नेहमयी लीला करते हैं। इससे सर्वत्र स्नेह ही हेतु है, यह वता दिया। जहां ही लीला की आसक्ति से क्रीड़ा होती है, वह क्रीड़ा विहार है। यहां जल क्रीड़ा, नृत्य क्रीड़ा और वेणु वादन क्रीड़ा को विहार जानना चाहिए। यदि ये क्रीड़ाएं न हों, तो वाद्य आदिकों का उपयोग यहां न होता। विद्यावालों को ही वश करना चाहिए, विद्या को प्रकट करनेवाला वायु है, देव उसके आधार भूत हैं। उनमें भी, उपदेवगण और बन्दी बाहर विद्या प्रकट करनेवाले हैं, अतः अन्यो की अपेक्षा, उनमें विशेषता कही है। पहले कारण भूत वायु का निरूपण करती हैं, वायु जैसे अनुकूल हो वैसे मन्द-मन्द चलता है, अनुकूल का आशय यह है, कि श्री यमुनाजी के तट के पास हित करनेवाला है अर्थात् यह वायु शीतलता देता है और यह वायु दक्षिण की दिशा से आने से, वहां की चन्दन की गन्ध ले आता है, अर्थात् सुगन्धि भी देता है वह सुगन्धि युक्त वायु भगवान् के श्रीअङ्ग के स्पर्श होने से, अधिक शीतलता देनेवाला बन जाता है। यों होने से, वहां जो भी रहते हैं, उन सबको यह वायु भगवद्भाव सम्पादन करेगा। अपने इन तीन गुणों से, जैसे ही भगवान् का सम्मान होता है, वैसे ही बहता है। इस प्रकार वायु, भगवान् के अतिशय वश में है, यह प्रकट कर दिखाया। गन्धर्व आदि उपदेवगण तथा बन्दीजन गान करते हुए भगवान् की कीर्ति निरूपण करनेवाले हुए। श्लोक में 'ये' पद देकर यह भाव प्रकट किया है, कि गन्धर्व आदि सब भगवदीय हैं उन्होंने तामस वाद्य, राजस गीत और सात्विक पूजादि साधन सहित भगवान् को चारों तरफ घेर लिया, सर्वत्र जो अपेक्षित था वह करने लगे ॥२०-२१॥

आभास—एवं गुणातीते प्रकीर्णतां निरूप्य युगलद्वयेन केवलं भगवत् एव चरित्रमाहुः वत्सल इति ।

आभासायं—इस प्रकार, गुणातीत के तीन प्रकारों में से एक धुटक प्रकार का वर्णन कर, अब वत्सल आदि दो युगलों से केवल प्रभु के चरित्र का वर्णन करती हैं—

श्लोक—वत्सलो व्रजगवां यदगध्रो वन्द्यमानचरणः पथि वृद्धः ।

कृत्स्नगोधनमुपोह्य दिनान्ते गीतवेणुरनुगेडितकीर्तिः ॥२२॥

उत्सवं श्रमरुचापि दृशीनामुन्नयन् खुररजश्छुरितस्रक् ।

दित्सयेति सुहृदाशिष एष देवकीजठरभूरुडुराजः ॥२३॥

श्लोकार्थ—युगमार्थ—गोवर्द्धन पर्वत को धारण कर, व्रज तथा गौघ्रों पर प्रेम प्रकट करनेवाले, मार्ग में वृद्ध जनों से वन्दित चरण वाले, सेवकों से स्तुति किए हुए, गायों के खुरों से उड़ी हुई रज से संलिप्त माला वाले, देव की जठर में रहे हुए, ये चन्द्र, सांभ के समय बंशी बजाते हुए, सकल गोधन को अपने पास लाकर, श्रम की कान्ति से भी गोपियों की दृष्टि को आनन्द देते हुए, मित्रों को आशीर्वाद देने की इच्छा से पधारते हैं ॥२२-२३॥

सुबोधिनी—भगवान् यद् गोकुलं गोष्ठे समा-
नयति, तत् कृपया । अन्यथा एकस्यामपि लीलायां
व्यापृता गावो मुच्येरन् । तथा गोपिकाः । परं
कृपयैव भजनानन्दानुभवार्थं तथा करोति । अत्र
हेतुः षडगध इति । यद् यस्मात् कारणात् अगं
पर्वतं धारयतीति । यदि भजनानन्दं न दद्यात्,
तदा गोवर्धनोद्धरणं न कुर्यात् । एतद्भगवन्माहा-
त्म्यं सर्वजनीनमिति ज्ञापयितुमाह पयि वृद्धैर्वन्द्य-
मानचरण इति । वृद्धाः सर्वतो निपुणाः । बहु-
ज्ञैरेव भगवान् सेव्यो भवति । अतः कृत्स्नमेव
गोधनमुपोह्य, ततः पृथक्कृत्य, उप समीपे समा-
हृत्य वा । दिनान्त इति । अग्रे वनस्थितेरयुक्त-
त्वात् । लीलान्तरस्य च चिकीर्षितत्वात् । गीत-
वेणुर्जातः । श्रमापनोदनार्थं व्रजस्थानां ज्ञापनार्थं
च । अस्य नादस्याग्रे कार्यं वक्तव्यम् । गोपिका
एव कृतार्थाः करोतीति न, किन्तु गोपानपीति
ज्ञापयितुं तत्कृतस्तोत्रमाह अनुमेडितकीर्तिरिति ।
अनुगैः सेवकैरीडिता कीर्तिर्यस्य । अनेन रात्रौ
तेषामपि गानमुक्तं भवति । यथा दिवसे गोपिका-
नाम् । अन्यथा सर्वेषां निरोधो न भवेत् । एतादृ-
शस्य कार्यं स्वयमेव जानातीति स्वयमेव करो-
तीत्याहुः उत्सवमिति । श्रमरुचा व्रजस्थदृशां
उत्सवमुन्नयन् आशिषो दित्सया एतीति सम्बन्धः ।
श्रमयुक्ता रुक् कान्तिः । भगवतः श्रमाभावपक्षे
प्रदर्शनमात्रपरत्वम् । अस्ति श्रम इति सिद्धान्तः ।

‘भर्ता सन् भ्रियमाणो विभर्ति’ ‘एको देवो बहुधा
निविष्टः’ ‘यदा भारं तन्द्रयते स भर्तुं निधाय
भारं पुनरस्तमेतीति’ श्रुतेः । सर्वधर्माश्रयत्वाच्च ।
विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वादश्रान्तोऽपि । न तु केवलम-
श्रान्त एव । श्रमः सुखकारक इत्यपरे । तत्सम्ब-
न्धिनी रुक् श्रमरुक् । सा नायकगता स्त्रीणां न
हितकारिणी । तथाप्यस्माकं हितकारिण्येव जाते-
त्याहुः दृशीनामुत्सवमुन्नयन्निति । दृशिर्दर्शनम् ।
यदि भगवान् श्रान्तो न भवेत्, तदा शीघ्रं
गच्छेत् । तदा दृष्टीनां परमानन्दसन्ततिर्न स्यात् ।
ऊर्ध्वं नयन्निति संघाते दृष्टीनां य आनन्दः स्थितः
यावान्, तदपेक्षयाधिकं कृतवानित्यर्थः । भगव-
त्कीर्तेः सर्वपुरुषार्थदातृत्वाय प्रकारं वदन् श्रम-
मुपपादयति खुररजश्छुरितस्रगिति । गोखुररजो-
भिश्छुरिता व्याप्ताः स्रजो माला यस्य । वायु-
वशादुदगतो रेणुः न स्थिरो, नापि नियतः ।
खुरजातस्तु तथा । खुराणामेव गोत्वात् प्रकृत-
त्वाच्च न गोग्रहणम् । ‘पशवो वा एकशफा’ इत्यत्र
तथा निर्णयात् । अनेन धर्मोऽयमिति निरूपितम् ।
रजोऽर्थः । व्याप्तिः काम इति । आगमनस्य तु
यत् कार्यं तदाहुः । सुहृदां सर्वेषामेव सम्बन्धिना-
माशिषः सर्वा एव देया इति । उक्तं गोपिकाद्वारा
सर्वेष्वानन्दप्रवेश इति । एष इति प्रदर्श्याहुः ।
यतः स्वस्मिन् लीला ज्ञापिता भवति । तावदारभ्येन
सर्वेषां तापनाशकत्वाय भगवद्गतमसाधारण

धर्ममाहुः देवकीजठरभूरुद्रराज इति । 'अदिति-
देवकी अदितिद्यौरदीतिरन्तरिक्ष' मिति श्रुतेः
अदित्यवतारत्वात् द्युरूपा सा । तस्यामवश्यं
चन्द्रोदयोऽपेक्षित एव । सा पुनर्विशेषरूपं गृहीत-
वतीति चन्द्रोऽपि विशिष्टकार्यं करोति । लौकि-
कस्तापस्त्रिविधो भगवद्विरहजश्च । अयं त्रिवि-
धमपि नाशयतीति पूर्वोक्तमानन्ददातृत्वमुपपादि-
तम् । देवकीजठरे भवतीति देवकीजठरभूः । स
एव उडुराजः । जायते, यथा उदयाद्रौ । पतिस्तु
नक्षत्राणामेव भवति । तथा देवक्यां जातः, परं
सुखदोऽस्माकमेव ॥

(अथवा, एतास्तु भगवद्विरहेणार्ता इति
स्वाभिलषितप्रकारेण तदङ्गसङ्गव्यतिरेकेण नैता-
सामुत्सवो भवतीत्यार्ता एव स्थिताः । परं दृशीनां
दर्शनं मुख्यमिति तेनैवोत्सवोन्नयनमुच्यते । तथा
च आर्तानामस्माकं दृशीनामिति समासो ज्ञेयः ।
आर्तशब्दस्य ह्रस्वोऽपि छान्दसः । नहि दृशीना-
मेवार्तत्वमत्र विवक्षितम् । प्रकारान्तरेणापि
तत्स्वरूपरसास्वादवत्यः स्वामिन्य इति सर्वेन्द्रि-
याणामेवार्तत्वसम्भवात् । तदैव सर्वत्रोत्सवे पुन-
राशिषोऽनभीप्सितत्वेनाग्रे तद्वित्सोक्तिरप्यनुपपन्ना
स्यात् । दृशीनामुत्सवो बहिरेव । अन्तर्हृत्सवस्य
त्वधिकरणं मनः, तस्यातृप्तत्वान्न स इदानीम्,
परमग्रे सम्भोगसामयिकदर्शने भविष्यतीति ज्ञाप-
नायोर्ध्वमित्युक्तम् । यथा गोप्यो 'दिदक्षितदृशोऽ-
म्यगमन् समेता' इत्यत्र दर्शनानन्तरमपि दृशां
दिदक्षितत्वम्, एवमत्रापि ज्ञेयम् । अत एव दृशी-
नामिति । सम्बन्धषष्ठ्याप्युत्सवस्य तत्सम्बन्धि-
त्वमेव प्राप्यते । तत्रापि भगवत्कर्तृकनयनोक्त्या
तासां बहिर्हृत्सवोऽपि प्रियप्रापित इति तद्दर्शनस्व-
भावान्न स्वत इति बोध्यते । अत एवोत्सवकर-
णत्वं श्रमरुचोऽपि युज्यते । अन्यथा चिरादुत्क-
ण्ठितानामासां प्रियतमागतश्रमनिरोक्षणेनाग्रिम-
रसप्रतिबन्धशङ्कया न उत्सवः स्यात् । प्रत्युत

पूर्वपिक्षयाधिकतरः खेद एव स्यात् । किञ्च,
विनास्माभिरन्येन प्रियः श्रमापनोदनं न कारयति,
वयमतः परं करिष्याम इति श्रमरुनस्तथात्वं
युक्तमेव । श्रमस्य कान्तित्वनिरूपणेनापि स्वम-
नोरथाप्रतिबन्धकत्वात्तथेति ध्वन्यते । श्रमोऽप्य-
न्यनायिकाविषयकश्चेत्, कथं दृशामुत्सव इति
चेत्, तथा नेत्याहुः खुररजश्छुरितस्त्रगिति । यद्य-
प्यन्यनायिकाविषयकः स्यात्, तदा सजि तदङ्गराग
एव स्यात्, न तु खुररजः । रजोऽप्यागमनसाम-
यिकं चेत्, सम्भवेदपि तथा, परं चिरकालीनमिति
ज्ञापनाय छुरितत्वमुक्तम् । अल्पकालेन तथात्व-
स्यासम्भवात् । किञ्च, तथा चेत्, स्रगपि न स्यात्,
क्रीडान्तरायत्वात् । अतो जायते सुहृदामस्माक-
माशिषो दित्सया एतीति । एतीत्यागमनक्रियायां
कर्मानुक्त्यापि तथेति ज्ञाप्यते । अयं भावः ।
'कर्तुं रभीप्सिततमं कर्म' भवति । तेनात्र भगव-
त्कर्तृत्वात्तदभीप्सिततमत्वमस्माकमेव, नान्यस्य ।
अन्यथा व्रजमेतीत्युक्तं भवेत् । यद्यपि सर्वेषामेव
निरोधश्चिकीर्षतो भगवत इति व्रजस्याप्यभीप्सि-
तत्वम्, तथाप्यभीप्सिततमत्वलक्षणोतिशयोऽस्मा-
स्वेवेति तथोक्तम् । तन्निदर्शनमेवाहुः एष इति ।
अन्यथा कथमात्मानं प्रदर्शयेत् । दक्षिणनायक-
त्वेनान्तर्भाववैषम्याभावायाहुः देवकीजठरभूरिति ।
सर्वथा निर्दुष्टा हि देवकी । तदुदरे प्रकटस्तथे-
त्यर्थः । तादृशस्य भवतीषु को विशेष इत्यत
आहुः उडुराज इति । यथा चन्द्रः सर्वेषां तापहा-
रको दूरादेव, परं पतित्वेनातिनिकटे नक्षत्राणा-
मेव, तथायमपि सर्वेषां तथा दूरादेव, परं पति-
त्वेनास्माकमेव तथेति भूयान् विशेषः सम्पद्यते ।
स यथा नक्षत्रमण्डले तिष्ठन्तरेव राजमानः
सर्वतापनिवर्तकः, तथायमप्यस्मन्मण्डले तिष्ठन्न-
स्माभिरेव राजमानस्तथेत्युडुराजपदेन द्योत्यते ।)
इदं सर्वं कार्यं वेणुनादसाध्यमिति प्रकरणीत-
त्वात् ज्ञेयम् ॥ २२ ॥ २३ ॥



व्याख्यानार्थ—भगवान् दिन के अन्त में^१ जो गायों को गोष्ठ में ले आते हैं, उसका कारण कृपा है। यदि कृपा न होती, तो नहीं लाते, न लाने से एक ही लीला में व्यावृत्त^२ गएँ मुक्त हो जातीं। जिससे, भजनानन्द के अनुभव से वंचित रहती थी, अतः भजनानन्द के अनुभवार्थ कृपा कर, उनको गोष्ठ में ले आए। भगवान् की प्रीति जैसी गायों से थी, वैसी गोपियों से भी थी। इसलिए गायों को गोष्ठ में ले आए, कारण कि रात्रि को गोपियों को भजनानन्द का दान करना था। (मूल श्लोक में 'व्रजगवां' पद में व्रज शब्द गोपियों का सूचक है, गोपियों तथा गायों दोनों पर प्रेम होने से, भजनानन्द रस दोनों को मिले, तदर्थ शाम को गोष्ठ में पधारे हैं) आप को भजनानन्द रस का दान करना था, इसीलिए ही, आपने गोवर्द्धन पर्वत को धारण किया था, यदि भजनानन्द का दान न करने की इच्छा होती, तो गोवर्द्धन को न उठाते। गोवर्द्धन धारण से, जो माहात्म्य हुआ, वह प्रसिद्ध ही है, अतः मार्ग में आते समय वृद्धों ने आपको वन्दन किया है, वृद्ध पद का आशय है, कि वे अनुभवी निपुण होते हैं। इस प्रकार जो बहुत जानकार चतुर होते हैं, वे ही भगवान् की सेवा कर सकते हैं। अतः भगवान् गौओं को वन से पृथक् कर, अपने पास लाके सायं को खिड़क में ले आए, कारण कि सायं काल के अनन्तर गौओं का वन में रहना ठीक नहीं है और यह भी दूसरा कारण है, कि भगवान् की इच्छा दूसरी लीला करने की थी। इसलिए वेणु बजाया, वेणु बजाने का हेतु यह है, कि एक तो वेणु नाद से श्रम मिटेगा और दूसरा व्रजस्थों को भगवान् पधार गए हैं, यह सूचित हो जाएगा। इस नाद का आगे का कार्य कहना चाहिए। भगवान् गोपियों को ही केवल कृतार्थ करते हैं यों नहीं है, किन्तु गोपों को भी कृतार्थ करते हैं, जिसका प्रमाण यह है, कि जैसे गोपियां दिन को भगवद् गुण गान करती हैं, वैसे ही गोप रात्रि को भगवान् की कीर्ति का गान करते हैं, यदि इस प्रकार न होवे, तो सर्व का निरोध न होवे।

इस प्रकार के भक्तों का कार्य आप ही जानते हैं तथा आप ही करते हैं यह 'उत्तमं' पद से इस भाव को दृढ़ करती हैं, कि भगवान् श्रम की कान्ति से व्रजवासियों के नेत्रों के आनन्द को बढ़ाते हुए, उनको आशीर्वाद देने की इच्छा से पधारे हैं।

श्लोक में 'श्रमरुचा' पद है, जिसका अक्षरार्थ 'श्रमयुक्त कान्ति' है। भगवान् को लीला करते हुए, श्रम हुआ था क्या ? इसके उत्तर में, कहते हैं, कि भगवान् विरुद्ध धर्माश्रयी हैं, उनको श्रम होता भी है, नहीं भी होता है, यदि श्रम नहीं हुआ यों माना जाए, तो 'श्रमरुचा' का भावार्थ इस प्रकार समझना, कि भगवान् का श्रम केवल दिखावा मात्र है। किन्तु भगवान् को श्रम हुआ यह सिद्धान्त है, क्योंकि श्रुति कहती है कि 'भर्ता सन् भ्रियमाणो बिभर्ति,^३ 'एको^४ देवो बहुधा निविष्टः' (यदा^५ भारं तन्द्रयते स भर्तुं निधाय भारं पुनरस्तमेतीति श्रुतेः' इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध है कि भगवान् सर्व घमों के आश्रय हैं, जिससे निश्चित सिद्धान्त यह है, कि आप विरुद्ध धर्माश्रयी हैं इसलिए आपको श्रम नहीं होता है, यों भी नहीं है। कितनेक कहते हैं, कि 'श्रम' सुखकारक है उस सुख कारक श्रम की कान्ति भगवान् पर थी। गोपियां कहती हैं, कि नायक के श्रम की कान्ति साधारण स्त्रियों को

१-शाम को, २-आसक्त ३-भर्ता होकर भरण किया हुआ पालता है, ४ एक देव अनेक प्रकार से प्रविष्ट है, ५-जब भार से तन्द्रा होती है तब भार धारण के लिए किसी को रखकर आप अदृश्य हो जाते हैं,

हितकारिणी नहीं है, तो भी, हमारे लिए वह श्रम युक्त कान्ति हितकारिणी ही हुई है, क्योंकि भगवान् यदि श्रमित^१ न होते, तो शीघ्र पधार जाते, तो अब जो श्रमित होने से आप यहां रुक गए हैं, जिससे हम आपके दृष्टि के परम आनन्द समुद्र के विस्तार को पाकर आनन्द मग्न हो सकी हैं, नहीं तो, न हो सकती। भगवान् तो देह में नेत्रों को जो आनन्द प्राप्त है, उससे भी विशेष आनन्द दे रहे हैं, अतः कहा है, कि ऊपर ले जाते हुए आनन्द दे रहे हैं।

भगवान् की कीर्ति सर्व प्रकार के पुण्यार्थों को देने वाली है, जिसका प्रकार बताते हुए श्रम का उपपादन करती हैं। भगवान् की मालाएं गौओं के खुरों से उड़ी हुई रज से भरी हुई है। यह रज, वायु से उड़कर आपके पड़ी हुई रज के समान अस्थिर नहीं हैं, किन्तु स्थिर हैं और वायु से उड़ी हुई रज एक स्थान पर नहीं पड़ती है, वैसे भी नहीं है, क्योंकि एक ही स्थान पर मालाओं पर है। श्लोक में 'गो' शब्द न देकर, केवल 'खुररजः' कहा है, खुर शब्द से 'गौ' समझना चाहिए कारण कि गौओं का ही प्रकरण है और पशु खुर वाले होते हैं यह श्रुति में निर्णय है। इससे यह धर्म है यह निरूपण किया, 'रज' अर्थ है और 'व्याप्ति'^२ काम है, व्रज में पधारने का कार्य कहती है, कि सकल सुहृद तथा सन्धन्धियों को सभी प्रकार के आशीर्वाद देने हैं। तात्पर्य यह है, कि गोपीजनों द्वारा सकलों में आनन्द का प्रवेश कराने के लिए पधारे हैं। 'एष' पद से गोपियां कहती हैं, कि यह जो इस प्रकार लीला करने वाले जो सामने दर्शन दे रहे हैं, जिससे अपने अन्दर भगवल्लीला चल रही हैं यह सिद्ध हुआ।

भगवान् साधारण रीति से, सकल जीवों के ताप को नाश जिस धर्म के कारण करते हैं, भगवान् के उस असाधारण धर्म का वर्णन करती हैं। 'देवकी जठर भूछुराजः' द्वारा देवकी के जठर से उदय हुआ यह चन्द्रमा है, "अदितिर्देवकी अदितिर्द्यौरदिति रन्तरिक्षम्"^३ इस श्रुतिके अनुसार देवकी अदिति का अवतार होने से आकाश रूप है, आकाश में चन्द्रमा का उदय होना आवश्यक, अपेक्षित है। देवकी ने जब फिर एक विशिष्ट रूप ग्रहण किया है तो चन्द्रमा भी विशिष्ट रूप लेकर देवकी से उदित हुआ है अतः वह कार्य भी विशेष प्रकार का करेगा। लौकिक ताप तो एक ही तरह का होता है किन्तु भगवान् से उद्भूत ताप तीन प्रकार का होता है, आधिभौतिक^४ आध्यात्मिक^५ और आधि-देविक^६, इन तीन तापों को वह चन्द्र नाश करता है। इससे प्रथम कहा हुआ भगवान् का आनन्ददाता होना सिद्ध किया। देवकी के जठर में रहे "देवकी जठर भूः" कहा। ये ही नक्षत्रों के स्वामी चन्द्र हैं, तात्पर्य यह है, कि जैसे चन्द्रमा उदय गिरि पर उदित होता है, किन्तु पति तो नक्षत्रों का ही होता है, उसी प्रकार यद्यपि यह चन्द्र देवकी से उदित हुआ है, किन्तु हमको ही सुख देनेवाला है।

ये गोपियां भगवान् के विरह से पीड़ित थीं, यह पीड़ा इनकी तब निवृत्त होगी जब भगवान् के अङ्गों का सङ्ग होगा। तब तक ये पीड़ित ही रहेगी, परन्तु नेत्रों का दर्शन मुख्य काम है इसीलिए ही नेत्रों के दर्शन से उत्सव का वर्णन किया है। "आर्तदृशीनां" पाठ मानने पर केवल नेत्र ही आर्त हैं, यह विदक्षित नहीं किन्तु हम आर्तों के नयनों का उत्सव नन्दनन्दन का आगमन है, यह अर्थ होगा।

१-थके हुए, २-फँलाव, ३-अदिति देवकी है, अदिति आकाश है, अदिति अन्तरिक्ष है

४-देह में रहता है, ५-इन्द्रियों में उत्पन्न होता है, ६-आत्मा में होता है



स्वामिनियों को अन्य प्रकार से भी स्वरूप रस का आस्वाद ज्ञात है अतः सभी इन्द्रिय आर्त हो सकती हैं। यहां 'आर्त' न होकर 'आर्त' प्रयोग छान्दस है।

भगवान् यदि वन से पधारते समय यदि दृष्टि से सम्पूर्ण इन्द्रियों को रसदान करें तो, भगवान् यहां हमको सभी तरह की आशिषों देने के लिए पधार रहे हैं, यह इच्छा गोपियों को न रहे अतः इस समय तो केवल नेत्रों को ही रसदान हुआ है, जिससे उत्सव माना गया है। यह रसदान तो बाहर का है। अन्दर के रस का अधिकरण^१ मन^२ है, वह अभी तृप्त नहीं हुआ है। इसकी^३ तृप्ति तो भोग समय में जो दर्शन होगा उससे होगी, इसलिए "उन्नयन्" पद कहा। जैसे प्रथम दर्शन के अनन्तर भी, गोपियों को नेत्रों के दर्शन की इच्छा रही थी, वैसे ही यहां भी पुनः भोग समय में इच्छा है। इस समय जो बाहर उत्सव^४ हुआ है, वह भी भगवान् द्वारा हुआ है, भगवद्दर्शन का स्वभाव ही आनन्द उत्पन्न कराने वाला है, नेत्र स्वतः तृप्त नहीं हुए हैं। श्रमकान्ति भी इ-लिए उत्सव का कारण^५ है। यदि श्रम कान्ति उत्सव का साधन न होती तो, बहुत समय से उत्कठावाली इन गोपियों को प्यारे को श्रमित देखकर, मन में यह शंका होती, कि अब हमको रस की प्राप्ति नहीं होगी तथा इस शंका से गोपियों में उत्सव न होता बल्कि पहले से भी अधिक खेद ही उत्पन्न हो जाता। वैसी शंका न हुई, कारण कि श्रम कान्ति देखकर भी, प्रसन्नता इसलिए हुई, कि यह जो श्रम है उसका निवारण प्यारा हमसे ही करावेगा। हमारे सिवाय अन्य से नहीं करायेंगे। इसके अनन्तर हम ही श्रम को उतारेंगी इसलिए यह श्रम कान्ति हमारे मनोरथ में प्रतिबन्धक नहीं है अतः श्रम कान्ति योग्य ही है, श्रम का कान्ति के रूप में निरूपण भी अपने मनोरथ में विघ्न करनेवाला नहीं है अतः किया गया। यदि श्रम भी अन्य नायिका सम्बन्धी होता तो हमारे नेत्रों को उत्सव कैसे कराते? अतः यों नहीं है, जिसकी पुष्टि में कहती हैं, कि 'खुररजञ्छुरितस्रग्' यदि यह श्रम अन्य नायिका के सम्बन्ध से हुआ होता, तो भगवान् की माला में उनके अङ्गों का राग लिपा हुआ होता, वह तो है नहीं, बल्कि गायों के खुरों से उड़ी हुई रज से व्याप्त है और वह रज भी अभी की नहीं है, पहले की है जिससे माला रज से लिप्त हुई दिखती है, अतः अन्य नायिका सम्बन्धी श्रम नहीं है और यदि अन्य से सम्बन्ध हुआ होता, तो यह गले में माला भी न रहती, कारण कि माला क्रीड़ा में रुकावट होती है, इन सब हेतुओं से जाना जाता है, कि भगवान् हम मित्रों को आशिष देने के लिए ही पधार रहे हैं। यहां श्लोक में 'एति' किया का कर्म स्पष्ट नहीं कहा गया है, जिससे समझा जाता है, कि आपके पधारने का कारण हमको आनन्द देना है, क्योंकि वही आपका अत्यन्त इच्छित कार्य है। कर्ता के इच्छित कार्य को 'कर्म' कहा जाता है अतः यह ही कर्म है, इसलिए गोपियां उदाहरण देती हैं, कि 'एष' अर्थात् ये जो हमको सामने दर्शन दे रहे हैं, जिससे बताती हैं, कि हम आपको प्रिय हैं तथा हमारा मनोरथ पूर्ण करने के लिए ही दर्शन दे रहे हैं।

आप दक्षिण नायक^६ हैं, अतः आपके भीतर किसी प्रकार की विषमता^७ नहीं है, कारण कि आप निर्दोष देवकी के जठर^८ से उत्पन्न हुए हैं। भेद भाव रहित भगवान् आपके साथ क्या विशेष-

१-स्थान, २-मन सर्व इन्द्रियों का दर्शन है, ३-मनकी, ४-आनन्द को उत्पन्न करनेवाला कार्य, ५-साधन, ६-सर्व नायिकाओं में एक जैसी प्रीति दिखानेवाला चतुर नायक ७-असमा-
चता, ८-कुल।

षता वरतते हैं। यह कहती हैं कि जैसे चन्द्रमा नक्षत्रों का पति होने से अन्यो का ताप तो दूर से ही हरण करता है, किन्तु नक्षत्रों का तो अत्यन्त समीप में जाकर ताप हटाता है, वैसे ही भगवान् भी सर्व का निरोध करनेवाले होने पर भी, पति हमारे ही हैं अतः अन्यो का ताप तो दूर से मिटाते हैं और हमारा तो हमारे मण्डल में स्थित होकर वैसे ताप को मिटाते हैं जैसे चन्द्र नक्षत्र मण्डल में रहकर उनका ताप मिटाते हैं, यही विशेषता है। ये सारे कार्य वेणुनाद द्वारा सिद्ध होते हैं अतः प्रकरणानुरोध से निरूपण किया ॥२२॥२३॥

आभास—साधारणीं लीलामुक्त्वा गोपिकास्वेव वेणुकृतां भगवतैव जनितां लीला-
माह मदिति ।

आभासार्थ—साधारण लीला का वर्णन कर, अब इस युग्म में वेणु ने जो गोपिकाओं में ही लीला की, उसका तथा भगवान् ने जो लीला उत्पन्न की, दोनों का वर्णन करती हैं—

श्लोक—मदविधूणितलोचन ईषन्मानदः स्वसुहृदां वनमाली ।

बदरपाण्डुवदनो मृदुगण्डं मण्डयन् कनककुण्डललक्ष्म्या ॥२४॥

यदुपतिद्विरवराजविहारो यामिनीपतिरिवैष दिनान्ते ।

मुदितवक्त्र उपयाति दुरन्तं मोचयन् व्रजगवां दिनतापम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—युग्मार्थ—मद से घूणित नेत्रवाले, अपने मित्रों को अल्प मान देनेवाले, बेर सदृश पाण्डु वर्ण जैसे मुख वाले, वनमाला धारी, सुवर्ण के कुण्डलों की शोभा से कोमल गण्डस्थल को सुशोभित करनेवाले, गजराज के समान विहार करनेवाले, ये यदुपति श्री कृष्ण सांभ के समय, हंसते मुख, जब व्रज में पधारते हैं, तब व्रज तथा गायों के अन्तरहिन दिन के ताप को चन्द्रमा की तरह दूर करते हैं ॥२४—२५॥

सुबोधिनी—यदुपतिः मुदितवक्त्र उपयातीति । पूर्वोक्ता एव वेणुनादा अत्र ग्राह्याः । दश लीलाः पूर्वं निरूपिताः, ताः सर्वा अस्मदर्थमेवेति दशधा भगवन्तं विशेषयन्ति । एक एव भगवानुभयत्रेति युगजत्वेऽपि नात्यन्तं विभागः । सर्वत्रैव वेणुनादे रजोगुणो मुख्य इति सोऽस्मदर्थं फलित इत्याहुः । मदेन विधूणिते लोचने यस्येति । मदोऽत्र स्वानन्दस्थित्या पूर्णविबोधः । स ज्ञानमार्ग एवेति प्रकटयितुं सर्वविषयान् व्यावर्तयितुं विधूणितलोचनत्वमुक्तम् । अयं धर्मो भगवन्निष्ठो निरूपितः । स्वरूपस्थित्यर्थं तादृशोऽशोभमानः, मानं

प्रयच्छति । सन्माननां करोति । तेनास्माकं गम्यो भवतीति ज्ञायते । मानमभिमानं वा रजोगुण-प्राकट्यात्, प्रयच्छति, सण्डयति वा, ज्ञानप्राकट्यात्, प्रयच्छति मानं द्यति खण्डयति त्रिव्वपी-षदेव तत्तत् कार्यम् । ननु पूर्णस्य भवतीष्वेवंकरणो को हेतुस्तत्राहुः स्वसुहृदामिति । स्वपदादसाधारण्यम् । तेन स्वस्यैव सुहृदस्ताः । महतोऽपि सुहृत्कार्यं कर्तव्यमिति । साधारणं कार्यमाह वनमालीति । कीर्तिमयीं वनमालां प्रकटयतीति । बदरवत् पाण्डुवदन इति । बदरोऽत्र फलवाचकः । स हि धर्मेण प्रतिक्षणं विसदृशीं कान्तिं करोति ।



तत्राप्यर्धपक्वः पाण्डुराणो भवति । अग्रे त्वारक्तः । तथेदानीमर्धरतः, अग्रे त्वत्यन्तं रतो भविष्यतीति ईषन्मानदत्वाद्द्विशेषः । साधनं कीर्तिरिति मध्ये विशेषणान्तरम् । अथवा । अत्र पाण्डुशब्देन आरक्त एव गुण उच्यते । तदा वदनं वक्त्रं अधरामृतपानं लक्षितं भवति । वनवासिनां वा एतदुपभोग्यमिति वने गत्वा एतदुपभोग्यमिति सर्वाः ज्ञापयन्ति । ततोऽपि विशेषमाहुः कनक-कुण्डललक्ष्म्या मृदुगण्डं मण्डयन्निति । इमश्रूदग-माभावादानन्दनिधानत्वाच्च मृदुत्वं भोगार्थमुप-पाद्यते । गण्ड एव रससमाप्तिमिति । कनकपदं वर्णान्तरज्ञापनायम् । उत्कृष्टेनापि परमानन्देनापि अस्मदर्थं कामरस एवोद्बोध्यत इति सर्वथा-स्मदर्थमेव भगवदागमनमिति निश्चीयते । अन्यथा शिरोभेदानस्मत्समक्षं न कुर्यादिति । ननु यद्यपि महान्, तथापि बाल इति, नन्दसुनुरिति, कथम-साधारणीं लीलां करिष्यतीत्याशङ्कां वारयन्ति

यदुपतिरिति । अयं यादवानां पतिः । ते हि बहुस्त्रीका भवन्ति । अमर्यादार्यं विशेषणान्तर-माहुः द्विरदराजविहार इति । महासुरते गजेन्द्र इव महान् । तेन विना न पूतिरिति । तदपेक्षया-प्यादौ पूर्वतापं दूरीकरिष्यतीत्याहुः यामिनी-पतिरिवेति । सम्पूर्णया यामिन्या अयं पतिः । अतस्तदगतानां विशेषेण सुखदः । नन्वहर्पतिरपि, कथमुच्यते यामिनीपतिरिवेति, तत्राहुः एष इति । सर्वालङ्कारभूतस्तत्र तिष्ठति । अधुना तु श्रान्त इव । दिनान्ते एष यामिनीपतिरिव चन्द्र इव दूरादेव तापनाशकः साम्प्रतम् । अग्रे तु यामिनी-पतिरिव । इममर्थं ज्ञापयतीति लक्ष्यते, यतो मुदितवक्त्रः प्रसन्नवदनो भूत्वा उपयाति, समीप-मागच्छति । अयं भावस्तासामेव हितकारीति पूर्वं साधारण्यमुक्तम्, उपसंहारे पुनराह मोचयन् व्रजगवामिति । व्रजस्य गवां च सम्पूर्णं दिवसे यावांस्तापः, तं सर्वमेव मोचयतीति ॥२४॥२५॥

व्याख्यार्थ—गोपियां कहती हैं, कि भगवान् आनन्दयुक्त मुख वाले होकर पधार रहे हैं । वेणु-नाद जो प्रथम कहे हुए हैं, उनको ही यहां ग्रहण करना चाहिए० । भगवान् की दश लीलाओं का वर्णन पहले किया गया है, वे सब लीलाएँ हमारे लिए ही की हैं इसलिए भगवान् का दश प्रकार से वर्णन करती हैं । दोनों स्थान पर^१ भगवान् एक ही हैं, युगल जुड़े होते हुए भी उनमें विशेष भेद^२ नहीं है । सर्वत्र ही वेणुनाद में रजोगुण मुख्य है, कारण कि रजोगुण उद्दीप्त रस भाव है, उसका फल हमको ही प्राप्त हुआ है, जिसका वर्णन भगवान् को दश विशेषण देकर करती हैं ।

१—प्रथम विशेषण “मदविधूरितलोचनः” है अर्थात् भगवान् के नेत्र मद से घिरे हुए हैं । यह मद पूर्णज्ञानरूप है, जो पूर्णज्ञान अपने में पूर्वानुभूत आनन्द की स्थिति के कारण है । वह पूर्णज्ञान

○ लेख का आशय—वेणुनाद ने अन्यो में जो कार्य किया, अर्थात् अन्यो पर जो प्रभाव डाला, उसका वर्णन पहले कहा गया है, नाद ने जो गोपियों पर प्रभाव डाला हैं, वह यहां कहा जाता है ।

१—दोनों युगलों में अर्थात् आगे के युगलों में और अब इस युगल में,

२—भगवान् तथा हरि शब्द में जितना भेद है, केवल उतना भेद है—लेखकार



ज्ञान मार्ग—भगवान् के नेत्रों में ही प्रकट होता है, यह दिखलाने के लिए अन्य सारे विषयों को दूर करने के लिए भगवान् 'विघूर्णितलोचन' बन गए। यह धर्म भगवान् में रहता है।

।भगवान् के नेत्रों में इस समय पूर्व अनुभव किए हुए विविध लीला विलासों से प्राप्त आनन्द की स्थिति है। जिससे आप गोपीजनों को बताते हैं, कि जैसे तुमने सर्व विषयों को भुलाकर केवल मेरे सम्बन्ध वाले ज्ञान को अपनाया है, वैसे ही मुझे भी तुम्हारा ही केवल स्मरण ज्ञान है। उस लीला रस में छके हुए होने के कारण, मेरे नेत्र मद से घिरे हुए हैं अतः वन में भी मोद^१ है इन विशेषणों से यह भगवान्निष्ठ धर्म है ऐसा निरूपण किया गया)

२—दूसरा विशेषण है “ईषन्मानदः” भगवान् अल्प मान देने वाले हैं। यद्यपि भगवान् के नयन मद से घिरे हुए हैं, तो भी गोपिकाओं का अपनः स्वरूप बना रहे एतदर्थ भगवान् अल्प ही मान देते हैं। अर्थात् भगवान् मान देते हैं सन्मान करते हैं अतः हम भगवान् के पास पहुँच सकती थी (किन्तु अल्प मान दे रहे हैं तावता अभी ही पहुँचना ठीक नहीं) अथवा मान का अर्थ 'अभिमान' लेना चाहिए, क्योंकि रजोगुण प्रकट हुआ है। उस अभिमान का दान करते हैं या खण्डित कर देते ज्ञान को प्रकट करके। चाहे (१) मान देते हों या (२) अभिमान पैदा करवाते हों या (३) अभिमान खण्डित करते हों तीनों पक्ष में क्रिया अल्प ही है।

(भगवान् अल्पमान देते हैं क्योंकि यदि विशेष मान दें तो गोपियां जो प्रेम पूर्ण हैं और समग्र दिन के विरह से क्लेश युक्त हैं, वे भगवान् के दर्शन होते ही उनमें अपनी आत्मा का प्रवेश करा दें, यों होना भगवान् को अभीष्ट नहीं इसलिए, (अर्थात्) गोपियां अपने ही गोपी स्वरूप में स्थित रहें। अतः अल्पमान देते हैं। जिससे गोपियां भगवान् से दूर ही रहती हैं, भगवान् मान देते हैं तथा सन्मान भी करते हैं जिससे समझा जा सकता है, कि हम भगवान् के समीप जा सकती हैं। अथवा रजोगुण जो उद्दीप्त रस भाव है, उसके प्राकट्य से हममें अभिमान उत्पन्न करते हैं वा उसका नाश करते हैं, भगवान् अपने नेत्रों में मद दिखाकर हमारे में भी मान उत्पन्न करते हैं अथवा नाश करते हैं, इन तीन प्रकारों में वह वह कार्य अल्प ही करते हैं।

जब भगवान् पूर्ण हैं तो तुममें इस प्रकार करने का क्या कारण है? जिसके उत्तर में कहती हैं कि 'स्वसुहृदां' भगवान् की हम असाधारण मित्र हैं अतः महान् को भी अपने मित्रों का कार्य तो करना ही पड़ता है।

३—'वनमाली' विशेषण से भगवान् का साधारण धर्म प्रकट किया है, अर्थात् वनमाला से अपनी कीर्ति प्रकट की है इसलिये ही पूर्ण भगवान् ने गोपियों को अल्पमान दिया है। यदि पूर्ण

ॐभगवान् ने गोपियों को अल्पमान देकर आश्वासन दिया है कि आपके मनोरथ हम पूर्ण करेंगे, यह आश्वासन देना 'असाधारण' कार्य है।



सन्मान करते तो मार्ग में अन्य देखे तो अयोग्यता प्रकट हो जिससे अपकीर्ति होवे अतः भगवान् ने अल्पमान दिया है ।

४—‘वदरवत् पाण्डुवदनः’ इस विशेषण से गोपियाँ कहती हैं, कि जैसे बेर जो एक प्रकार का फल है, वह धूप के ताप से क्षण क्षण में पृथक् पृथक् कान्ति धारण करता है । जब अर्ध-पक्व होता है, तब पाण्डु वर्ण वाला होता है, आगे पककर सम्पूर्ण लाल बन जाता है । उसी प्रकार भगवान् भी जब अर्द्ध रमण करते हैं, बाद में पूर्ण रमण करेंगे, इसलिए ही अब अल्पमान देते हैं, पश्चात् पूर्ण मान देंगे । ‘कीर्त्ति’ साधन है इसलिए ‘ईषन्मानदः स्वसुहृदाम्’ और ‘वदरपाण्डुवदनः’ इन दो विशेषणों के बीच में ‘वनमाली’ विशेषण दिया है । अथवा यहां ‘पाण्डु’ शब्द से स्वल्पलाली गुण कहा है, इस कथन से यह समझा जाता है, कि वदन, वस्त्र तथा अधरामृत का पान होता है, अथवा इस कहने का भाव यह है, कि गोपियाँ अन्य गोपियों को कहती हैं, कि इस अधरामृत के रस का पान वन में जाकर करना चाहिए, कारण कि यह अधर रस का पान वनवासियों के करने योग्य है ।

५—गोपियाँ ‘कनक कुण्डल लक्ष्म्या मृदुगण्डं मण्डयन्’ में अन्य विशेषणों से भी कुछ विशेष कहती हैं । भगवान् का गण्डस्थल भोग के लिए उपयोगी है, क्योंकि कोमल है । कोमलता का कारण बताती हैं, कि एक तो भगवान् को ‘दाढी’ नहीं है और दूसरा आनन्द का स्थान है, अर्थात् आनन्द रस इसमें ही रहता है, रस की समाप्ति गण्ड में ही होती है, भगवान् का रंग श्याम है जिससे गाल का रंग भी श्याम है किन्तु कनक पद कहकर बताया है, कि अब गाल का रंग अन्य है जिससे आपको विशेष रस की प्राप्ति होगी । अतः आप उत्कृष्ट परमानन्द स्वरूप है, तो भी हमारे लिए तो काम रस को ही प्रबुद्ध करते हैं, जिससे यह निश्चय हो जाता है, कि भगवान् हमारे लिए ही पधारे हैं । यदि हमारे लिए पधारे न होते, तो हमारे समक्ष शिर को यहाँ वहाँ हिलाते नहीं ।

६—गोपियाँ ‘यदुपति’ विशेषण देकर इस शङ्का को मिटाती है कि कृष्ण नन्द के सूनु महान् होने पर भी है तो बालक अतः वह असाधारण लीला कैसे करेंगे ? यादव हमेशा बहु स्त्री वाले होते हैं, यह तो उनका भी ‘पति’ है अतः असाधारण लीला कर सकते हैं ।

७—गोपियाँ ‘द्विरदराजविहारः’ इस विशेषण से बताती हैं, कि भगवान् महासुरत में गजेन्द्र के समान महान् हैं, अतः उनके सिवाय लीला में रम की पूर्णता नहीं होती है, इससे यह सिद्ध किया है, कि भगवान् की लीला में किसी मर्यादा का प्रतिबन्ध नहीं है ।

८—गोपियाँ ‘यामिनी पतिः’ विशेषण से बताती हैं, कि इसकी अपेक्षा से भी भगवान् में यह विशेषता है, कि वह पूर्व ताप को भी दूर करेंगे जैसे चन्द्रमा दिन के ताप को भी मिटाता है, यह भगवान् सम्पूर्ण रात्रि का पति है, अतः जो उनके पास उस समय जाती हैं, उन सब का विशेष प्रकार से ताप दूर कर सुख देने वाले हैं ।

भगवान् तो दिन के भी पति हैं, उनको रात्रि के पति चन्द्र के समान कैसे कहा ? चन्द्र दिन



को सुख नहीं देता है, भगवान् तो दिन को भी सुख देते हैं, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहती हैं, कि 'एष' यह सकल का शृंगार रूप है, जो अब यहाँ स्थित हैं, वह श्रान्त जैसे दीखते हैं, सायंकाल में चन्द्रमा की तरह दूर से ही अब ताप को नाश करते हैं। आगे तो रात्रि के पति चन्द्रमा के सदृश होकर विशेष सामिप्य में आनन्द देगे। जिससे ही आप 'प्रसन्नवदनः' हंसमुख होकर समीप में आ रहे हैं, यह भाव उनके ही हितकारी है, प्रथम इस प्रकार साधारणता से कहा है, अन्त में फिर कहती हैं कि 'मोचायन्^३ व्रजगवां^४ व्रज^५ को और गायों^६ को सम्पूर्ण दिवस का जो ताप रहा है उस सर्व ताप को ही नाश करते हैं ॥२४-२५॥

आभास—एवं निरोधं निरूप्य स्त्रीणामुपसंहारं प्रकरणस्थानामेव तद्धारोप-
'हरति' एवमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार स्त्रियों के निरोध का निरूपण कर, अब उसका उपसंहार करने के साथ, जिन अन्यो का इस प्रकरण में निरोध हुआ है, उनका भी 'एवं व्रजस्त्रियो' इस श्लोक में श्री शुकदेवजी उपसंहार करते हैं,—

श्लोक—श्री शुक उवाच—एवं व्रजस्त्रियो राजन् कृष्णलीलानुगायती ।

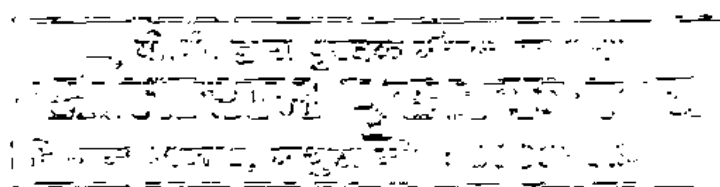
रेमिरेऽहःसु तच्चित्तास्तन्मनस्का महोदयाः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! जिनका ज्ञान की प्रधानता वाला चित्त तथा कर्म की प्रधानता वाला मन, केवल कृष्ण में ही है, वैसी बड़े भाग्य वाली गोपियाँ भगवान् की लीलाओं को गाती हुई, दिन में प्रसन्न चित्त रहती थीं ॥२६॥

सुबोधिनी—राजन्निति सम्बोधनं विश्वासा- र्थम् । व्रजगता अपि स्त्रियः एवं प्रकारेण ग्रहस्तु भगवत्सम्बन्धरहितदशायामपि कृष्णलीला एव आनुपूर्व्येण बहुकालानुवृत्त्यर्थमनुगायतीः अनु-	क्रमेण गायतीः रेमिरे । स्वत आनन्दरूपा कीर्ति- स्ताः प्रति जातेति तासां क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिश्च भगवन्निष्ठैव जातेत्याह तन्मनस्काः तच्चित्ता इति । चित्तं ज्ञानप्रधानम्, मनः कर्मप्रधानमिति । एवं
---	---

• गायें तो दिन को भगवान् के साथ वन में जाती थीं उनको दिवस का ताप कैसे ? इस शङ्का का निवारण श्री प्रभुचरण करते हैं, कि जो गायें प्रसन्न होने के कारण वन में नहीं गई थीं, उन गायों का ताप मिटाया है ।

१-यह नवम विशेषण है, २-गोपियों को, ३-यह दसवां विशेषण है, ४-गोपियों के ।





सर्वप्रकारेण प्रपञ्चविस्मृतिर्भगवदासक्तिश्च निरू- | तत्रोपपत्तिमाह महोदया इति । महानेवाभ्युदयो
पिता । नन्वेवं कथं तासां निरोधः फलित इति, | भाग्यराशिर्यासामिति सर्व सुस्थम् ॥२६॥

इति श्री भागवतसुबोधिनीयां श्रीमल्लक्ष्मण भट्टात्मज श्री मदल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे द्वात्रिंशाध्यायविवरणम् ।
इति दशमपूर्वार्धतामसफलप्रकरणम् ।

व्याख्यार्थ—परीक्षित को 'राजन्' यह विशेषण देकर बताया है, कि इस पर विश्वास करो । भगवान् जब दिन को वन में पधार जाते, तब उस विरह शान्त्यर्थ तथा बहुत समय तक उनकी स्मृति बनी रहे, तदर्थ कृष्ण को सभी लीलाएँ सारा दिन क्रम पूर्वक गाती रहती थीं । जिससे, वे दिन में भी कृष्ण के आनन्द में रमण कर रही थी । भगवान् की कीर्ति अपने आप आनन्द रूप है, वह गोपियों में प्रकट हुई है, इससे सिद्ध होता है, कि गोपियों की क्रिया शक्ति तथा ज्ञान शक्ति भगवान् में ही स्थिर हो गई है, जिससे उनके ज्ञान की प्रधानता वाला चित्त एवं कर्म की प्रधानता वाला मन दोनों भगवान् में ही लगे रहे । यों सर्व प्रकार से गोपियों की प्रपञ्च की विस्मृति और भगवान् में आसक्ति का निरूपण हुआ । उनको यह निरोध कैसे सिद्ध हुआ वह कहते हैं कि इनका बड़ा भाग्य है, जिससे निरोध सिद्ध हुआ है ॥२६॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण दशमस्कन्ध (पूर्वार्ध) ३२ वें अध्याय की श्री मदल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का तामस फल अवान्तर प्रकरण, ज्ञान धर्म निरूपण, सातवां अध्याय (हिन्दी अनुवाद सहित) सम्पूर्ण ।



युगल गीत

राग : देव गंधार

को विसरै उह गाँइ चरावनि ।

वाम कपोल वाम भुज पर धरि दच्छिन भौह उचावनि ॥
 कोमल कर अंगुलि गहि मुरली अधर-सुधा-बरसावनि ।
 चढि बिमान जे सुनत देव त्रिय तिननि मोह-उपजावनि ॥
 हार-हास अरु थिर चपला उर रूप-दुखित मुख-लावनि ।
 दंत धरें तृन रहत चित्र ज्यों गाँइनि-सुधि विसरावनि ॥
 मोर-मुगट सवननि पल्लव कटि कटि मल्ल-स्वरूप-बनावनि ।
 चरन-रेनु बाँछत कपित भुज सरितनि गमन धँभावनि ॥
 आदि पुरुष ज्यों अचल भूत ह्वै संग सखा गुन गावनि ।
 बन बन फिरत कवहुँ मुरली कर गिरी चढि गाँइ-बुलावनि ॥
 लता-बिटप मनु माँझ प्रनत ह्वै फल-भर भूमि नचावनि ।
 ततछिन हरित होइ प्रति अवयव मधु-धारा-उबटावनि ॥
 सुंदर रूप देखि बनमाला मत्त मधुप-सुर गावनि ।
 आदर देत सरोवर सारस हंस-निकट-वैठावनि ॥
 बल-सँग सवन पुहुप-शोभा गिरी-शिखर नाद पुरवावनि ।
 विविध भाँति बन-गमन विचच्छिन नूतन तान बनावनि ॥
 सुनत नाद ब्रह्मादिक सुर-गन अधिक चित्त-मोहावनि ।
 चलत लालित गति हरप ताप ब्रज-भूमि-सोक-बिनिसावनि ॥
 ब्रज-जुवति-मन मैन उदित करि हरनी-भवन-छिडावनि ।
 कुंद-दाम-शृंगार सकल अंग जमुना-जल-उछरावनि ॥
 मुदित सकल गंधर्व-देवगन सेवा उचित करावनि ।
 आरत द्रग ब्रज-गाँइनि के मन अति आनंद-बढावनि ॥
 गो-रज-रंजित नव बन-माला सुख दैवे ब्रज-आवनि ।
 घूमत-द्रिग मदमान देत कुंडल स्रुति-जुग-भलकावनि ॥
 बदर-सदृस आनन सूचत सब बिधि ज्यों अंग-सिरावनि ।
 जुग-जुग गोपी रजनी-मुख सब अति पुनीत जस-गावनि ॥
 इहि लीला चित वसौ लसौ नित गोपीजन-सुख-पावनि ।
 'परमानंददास' को दीजै ब्रज-जन-पद-रज-धावनि ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला का षष्ठं पुष्प

राजस 'प्रमाण' अवान्तर प्रकरण

● सामग्री ●

दो शब्द			गो० श्री ब्रजभूषणलालजी महाराज; अध्यक्ष गहोदय
निवेदन			श्री नन्ददास (रामचन्द्र वर्मा); प्रधान मन्त्री
श्री सुबोधिनी पुष्प घाटिका में से चुनी हुई कुछ सौरभपूर्ण कलियाँ			
श्री भागवतार्थ प्रकरण (तत्त्वार्थ दीप निबन्ध)	...	श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण	
श्री राजस 'प्रमाण' अवान्तर प्रकरण की भूमिका		प म श्री हरदत्तजी दवे	

श्री सुबोधिनी प्रनुसार
अध्याय

श्रीमद्भागवतानुसार
अध्याय

३३

३६

—अरिष्टासुर का उद्धार और कंस का
श्री अक्रूरजी को ब्रज में भेजना

३४

३७

—केशी और व्योमासुर का उद्धार तथा
नारदजी द्वारा भगवान् की स्तुति

३५

३८

—अक्रूरजी की ब्रज यात्रा

३६

३९

—श्रीकृष्ण बलराम का मथुरागमन

३७

४०

—अक्रूरजी द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति

३८

४१

—श्रीकृष्णजी का मथुरा में प्रवेश

३९

४२

—कुब्जा पर कृपा, धनुष गङ्गा और
कंस की घबराहट

शुद्धि पत्र

....

....

मनुक्रमणिका

....

....

चित्र सूची

तिरङ्ग चित्र:—

१-श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण

....

२-अरिष्ट, केशी और व्योमासुर का उद्धार

....

३-श्री अक्रूरजी का प्रेम

....

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ३६ वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ३३वां अध्याय

राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण

‘प्रथम अध्याय’

अरिष्टासुर का उद्धार और कंस का श्री अक्रूरजी को व्रज भेजना

कारिका—गुणातीतस्वरूपेण तामसत्वाद् व्रजस्थिताः ।

निरुद्धास्तत्त्वसङ्ख्यातैरध्यायैरिति वर्णितम् ॥१॥

कारिकार्थ—व्रजवासी तामस थे । इसलिए उनके गुणातीत स्वरूप से तत्त्व-संख्याति—अठ्ठाईस अध्यायों में निरोध का वर्णन हो चुका (निरोध सिद्ध किया—यह वर्णन कर दिया) ।

लेख—इस अध्याय से आगे का (भिन्न) प्रकरण प्रारम्भ होता है । इसलिए पहले प्रकरण की इसी के साथ संगति प्रदर्शित करने के लिए—‘गुणातीत’—इत्यादि कारिका से पूर्व प्रकरण (तामस) का अर्थ कहते हैं ।

तामस भक्तों ने तत्त्वों का उल्लङ्घन कर दिया—यह बात कहनी चाहिए, इसलिए तामस प्रकरण पहले कहा है। फिर क्रम से तामस के बाद, राजस प्रकरण आता है। इससे दोनों की सङ्गति होती है। तामस प्रकरण के द्वारा तामस भाव को दूर करके, उन भक्तों को राजस भाव प्राप्त कराया। राजस प्रकरण से राजस भाव को निवृत्त करके सात्विक भाव प्राप्त करावेंगे और फिर उन सात्विक भक्तों के सात्विक भाव को भी दूर करके, उन्हें निर्गुण बनाकर ग्यारहवें स्कन्ध में मुक्ति प्राप्त करावेंगे। यह क्रम निबन्ध (भागवतार्थ-प्रकरण) में बतलाया है। इसलिए यहाँ हेतु और सङ्गति कही गई है। तामस भक्तों के द्वारा तत्त्वों का उल्लङ्घन कर देने के कारण ही वह प्रकरण (तत्त्वों की संख्या) अठारह अध्यायों में वर्णित है।

वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध क्रम से गुणातीत तामस, राजस तथा सात्विक हैं। इनमें वासुदेव तामस भक्तों का, प्रद्युम्न राजसों का, अनिरुद्ध सात्विकों का और गुणातीत वासुदेव में स्वरूप से विराजमान भगवान् ने वासुदेव व्यूह को आगे करके तामसों का निरोध किया है—यह तात्पर्य है। यह अर्थ तामस-प्रमाण प्रकरण के उपोद्घात के आधार से निरोध शब्द की व्युत्पत्ति से होने वाले अर्थ के अनुसार इस निबन्ध में दशम स्कन्ध के प्रारम्भ में उस योगिक, व्यूह कृत निरोध का वर्णन है। केवल पुरुषोत्तम का कार्य रूप निरोध तो—“निरोधोऽस्यानुशयनम्”—(२-१०-६) सङ्कर्षण का चरित्र ग्यारहवें स्कन्ध में कहा गया है। इस प्रकार दशवें तथा ग्यारहवें—इन दो-स्कन्धों में चार व्यूहों का चरित्र कहा है। यह स्थूल विचार से निर्णय है, सूक्ष्म विचार के अनुसार तो वहाँ वैसे-वैसे स्वयं ही निर्णय कर लेना चाहिए ॥१॥

कारिका—प्रद्युम्न रूपो भगवान् वसुदेवहिताय हि ।

रजोलीलां तथा चक्रे राजसानां निरोधकृत् ॥३॥

असम्बद्धाः पूर्वमुक्ताः सम्बद्धा राजसाश्च हि ।

उमयेषां निरोधोतः सर्वान्ते फलितो भवेत् ॥३॥

कारिकार्थ—बिना सम्बन्ध वालों को पहले कह दिया है और राजस सम्बन्ध वाले हैं। इसलिए सब के अन्त में दोनों को निरोध फलदायक हो—इस उद्देश्य से राजसों का निरोध करने वाले प्रद्युम्न रूप भगवान् ने वसुदेवजी के हित के लिए उसी प्रकार तत्त्वों का उल्लङ्घन करा कर लीला की।

लेख—कारिका में ‘असम्बद्धाः’—पद का अर्थ कुल तथा देह का सम्बन्ध रहित। क्योंकि प्रज में ऐसा सम्बन्ध करने वाले प्रद्युम्न व्यूह का अवतार तब तक नहीं हुआ था। ‘सर्वान्ते’—सबके अन्त में अर्थात् १०-८७-४८ श्लोक में ‘व्रजपुरवनितानां’—(व्रज तथा पुर की वनितार्यों के) इस शब्द से ऐसा अर्थ है। ‘वसुदेवहिताय’—वसुदेवजी के हित के लिए प्रद्युम्न व्यूह को आगे करना योग्य ही है; क्योंकि कुल तथा देह का सम्बन्ध कराने वाला प्रद्युम्न व्यूह ही है। इस अर्थ को कारिका में स्थित ‘हि’ शब्द सूचित करता है। ‘तथा’ अर्थात् तत्त्वों को लांघ कर अर्थ है।

अध्यायों से किया है। इनको भगवत प्राप्ति विवाह के द्वारा ही हुई। इसलिए साधन प्रकरण में विवाह-साधन- का वर्णन है।

‘अन्ये फलांशे प्रविशन्ति’—अन्य विवाहों का फल भाग में प्रवेश-समावेश- है। इसलिए राजस फल प्रकरण में उनका वर्णन किया गया है। ‘इति शेषः’—यह अध्याहार है। इनकी विशेषता यथा स्थान निरूपण की जाएगी।

कारिका—न कालनियमोऽन्यत्र सात्त्विके नापि च क्रमः ।

क्रमः पूर्वत्र संसिद्धः सात्त्विका विरला यतः ॥८॥

कारिकार्थ—सात्त्विक में काल की मर्यादा नहीं होती है और पहले जैसा (छ धर्म, सातवें धर्मों) क्रम भी नहीं होता; क्योंकि सात्त्विक विरले ही होते हैं।

लेख—प्रसङ्गात्—इत्यादि— सात्त्विक प्रकरण इक्कीस अध्यायों में कहा गया है। इसका कारण प्रसङ्ग से जाना जाता है। सात्त्विकों को काल की मर्यादा नहीं है—यह सिद्ध करना है। काल (परमास) हेमन्त शिशिर को एक मानकर, ५ ऋतुएँ, ३ लोक और आदित्य, इक्कीस प्रकार का है। इसलिए सात्त्विक प्रकरण इक्कीस अध्यायों से कहा गया है—ऐसा अर्थ है।

‘नापि च क्रमः’—सात्त्विक प्रकरण में छ धर्म और सातवें धर्मों—इस प्रकार प्रत्येक अवान्तर प्रकरण में होने का क्रम भी नहीं है। यहाँ तो छ धर्मों का निरूपण करने वाले छ छ अध्यायों को पहले कह कर अन्तिम तीन अध्यायों को धर्मों का निरूपण करने वाले कहे हैं; क्योंकि सात्त्विक तो विरले ही होते हैं। उनका उस प्रकरण में स्पष्ट रीति से वर्णन किया गया है।

कारिका—नारदो द्विविधो ह्यत्र प्रमाणे विनिरूप्यते ।

कर्मज्ञानविभेदेन ह्यक्रूरो भक्तिबोधकः ॥९॥

कारिकार्थ—यहाँ “प्रमाण” उप प्रकरण में कर्म और ज्ञान के भेद से नारदजी— का दो प्रकार से वर्णन किया है और अक्रूरजी भक्ति का बोध कराने वाले हैं।

लेख—प्रथम (प्रमाण) प्रकरण के अध्यायों का विभाग करते हैं। पहले तेतीसवें अध्याय में कर्ममार्गीय नारद और दूसरे चौतीसवें अध्याय में ज्ञानमार्गीय नारद कहे गए हैं। विशेषणों के भेद से ऐसा भेद है। पहले तेतीसवें अध्याय में कंस को नारदजी से यह ज्ञान होता है, कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं। धनुर्याग के दहाने से भगवान् को मथुरा बुलाना चाहिए, ऐसा कंस को भान हुआ। इसलिए धनुर्याग का बोध कराने वाले नारदजी कर्ममार्गीय हैं—यह स्पष्ट समझ में आने जैसा है— यह अभिप्राय है। दूसरे—आगे के— चौतीसवें अध्याय में भगवान् की भावी (आगे की) लीलाओं का वर्णन करने वाले नारदजी ज्ञानमार्गीय हैं जो स्पष्ट ही है।

‘अक्रूरो भक्ति बोधकः’—भक्ति का बोध कराने वाले अक्रूरजी हैं; क्योंकि भगवान् के अतिरिक्त

किसी अन्य में इस प्रकार से भक्ति नहीं करायी जाती है। इसलिए अक्रूरजी जिनकी भक्ति करते हैं; वे भगवान् हैं—ऐसा ज्ञान इस अध्याय के सुनने वालों को हो जाता है।

कारिका:—प्रेमार्थबोधिका गोप्यो भगवद्धोधकश्च सः । कार्यं च ज्ञापयामास कंसः सम्भृतिबोधकः ॥१०॥

कारिकार्थः—प्रेमरूपी पदार्थ का बोध करानेवाली गोपियां हैं। उनके प्रेम से—श्रीकृष्ण भगवान् हैं—यह ज्ञान होता है। अक्रूरजी भगवान् का बोध कराने वाले हैं; क्योंकि उनकी की हुई स्तुति श्रीकृष्ण, भगवान् हैं—यह प्रकट करती है और उन्होंने अपना श्रीकृष्ण को गोकुल से मथुरा ले आना रूपकार्य तथा भगवान् का मथुरा देखना आदि कंस को बतला दिया। कंस अपनी मृत्यु की तैयारी करना, बतलाने वाला है। इस प्रकार नवीं, दशवीं कारिकाओं में इस राजस-‘प्रमाण’ उप-प्रकरण के सात अध्यायों का विभाग किया है।

कारिका:—एवं सप्तभिरध्यायैः प्रमाणमिह रूप्यते । तत्रार्थः कर्ममार्गस्य ततो मक्त्या विरुद्धयते ॥११॥

कारिकार्थः—इस प्रकार यहां सात अध्यायों में ‘प्रमाण’ उप-प्रकरण का निरूपण किया गया है। उनमें पहला अध्याय कर्म मार्ग का है, जो भक्ति मार्ग के विपरीत है, क्योंकि कंस को यह ज्ञान होते हुए भी—कि श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् हैं—वसुदेवजी व देवकी आदि-भक्तों को उसने दुःख दिया। अतः यह कार्य भक्ति विरुद्ध है—ऐसा अर्थ है।

कारिका:—साधनं च फलं तस्य त्रयमत्र निरूप्यते । लौकिकीरिष्टगमने कर्ममार्गः प्रवर्तते ॥१२॥

कारिकार्थः—भगवान् का ज्ञान, भगवान् के ज्ञान का साधन और ज्ञान का फल—इन तीनों का यहां निरूपण किया गया है। लौकिक अरिष्टासुर के आने से कर्म मार्ग की प्रवृत्ति होती है।

लेखः—भगवत्प्रसा अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान् हैं—ऐसा ज्ञान, ऐसे ज्ञान का साधन-अरिष्ट का वृज में आना, मारा जाना आदि साधन है; क्योंकि इसके बाद में नारद जी ने आकर कंस को श्रीकृष्ण का साक्षात् भगवान् होना बतलाया है। तथा फल अर्थात् केशी और अक्रूरजी को व्रज में भेजना, मंत्रणा करना ये सब कंस के उद्यम उसको-श्रीकृष्ण, भगवान् हैं—ऐसे ज्ञान होने के फल हैं।

कारिकाः—कलामिः साधिकेराद्यः साधभ्यां वचनं तथा । त्रयोविंशतिभिः शिष्ट-
विद्याः प्राकृतिकास्तथा ॥६६॥



कारिकार्थः—साढे पन्द्रह श्लोकों से पहला, ढाई श्लोकों से वचन और तेबीस श्लोकों से उसी तरह प्रपञ्च की शेष विद्याओं का वर्णन किया है ।

लेखः—श्लोक शब्द पुल्लिङ्ग है । इसलिए श्लोक शब्द का विशेषण होने के कारण—‘साधिकः’—पुल्लिङ्ग दिया है क्योंकि विशेषण के विभक्ति, लिंग तथा वचन विशेष्य के अनुसार ही है । इस प्रकार इस अध्याय में १५३+२३+२३=४१ श्लोक हैं । किन्तु नवें और सतरहवें श्लोकों में आधे-आधे श्लोकों की संख्या अधिक लगा देने के कारण एक श्लोक कम हो जाता है । अतः इस तैंतीसवें अध्याय में कुल चालिस श्लोक हैं ।

॥ श्री शुक उवाच ॥

श्लोक—अथ तर्ह्यगतो गोष्ठमरिष्टो वृषभासुरः ।

महीं महाककुत्कायः कम्पयन् खुरविक्षताम् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं,—हे राजन, इसी अवसर में अरिष्ट नाम का एक असुर बैल के रूप से धरती को खुरों से खोदता और कंपाता हुआ ब्रज में आकर उपस्थित हुआ । उसके पीठ के ऊपर कूबर-कांघ-और (वह) बहुत ऊँचा और लम्बा चोड़ा था ॥१॥

सुबोधिनीः—पूर्व ष गोपिकादीनां निरोध उपपादितः, अधुनान्येषां निरोधं वक्तुं प्रक्रिया-न्तरमारभते अथेति, यदेव भगवता निरोधो जात इति ज्ञातवान् तर्ह्येव तदेवारिष्टः समागत इत्यर्थः वृषो हि गोष्ठमायातीति नाश्चर्यं तथाप्ययमरिष्टो	वृषभाकृतिरसुरः महीं कम्पयन्/समागत इति राजसे सागर्यविशेषो निरूपितः, महान् ककुत्कायश्च यस्य, अदृष्टद्वारा कम्पकत्वाभावायाह खुरविक्षतामिति, खुरैर्विक्षतं यथा भयति तथा वा ॥१॥
---	--

व्याख्यानं—प्रथम तामस प्रकरण में ब्रज गत गोपीजन प्रभृति को निरोध सिद्धि का वर्णन करके अब इस राजस प्रकरण में भगवान् के द्वारा अन्य जीवों को निरोध सिद्धि का वर्णन करने के लिए राजस प्रकरण का प्रारम्भ-अर्थ-इत्यादि प्रथम श्लोक से करते हैं । अरिष्टासुर ने जब ही यह जाना, कि भगवान् ने ब्रज भक्तों को निरोध सिद्ध कर दिया है, तब उसी समय वह ब्रज में आ गया । बैल का ब्रज में आना कोई आश्चर्य जनक नहीं होता, किन्तु यह तो बैल का रूपधारी अरिष्ट नाम का असुर पृथ्वी को फँपाता हुआ आया । इस कथन से राजसों में विशेष सागर्य होती है, इसका निरूपण किया गया है । उसकी कांघ बड़ी गोटी और देह बड़ी विशाल थी । वह पृथ्वी को अदृष्ट द्वारा-अभाव से-केवल कम्पित नहीं कर रहा था, किन्तु उसके विशाल खुरों से धरती को क्षत विक्षत करता खोदता हुआ भी वहाँ आया ॥१॥

श्लोक—रम्भमाणः खरतरं पदा च विलिखन् महोम् ।

उद्यम्य पुच्छं वप्राणि विषाणाग्रेण चोद्धरन् ॥२॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२ ॥

श्लोकार्थः—वह कानों को फोड़ देना जैसा कठोर शब्द करता हुआ पैरों से पृथ्वी को खोदता और पूँछ को उठाकर सींगों की नोक से (अथ भाग से) दीवारों और कंगारों को तोड़ रहा था ॥२॥

सुवोधिनी—सार्धाभ्यागागमनं निरूप्यत इति तस्य चेष्टामाह खरतरमत्यन्तं निष्ठुरं यथा भवति तथा रम्भमाणः रम्भणं तज्जातीयगत-शब्दः । पदा च एकेन विशेषेण महीं लिखन् चिन्ताशमये ह्येवं कथेति पश्चात् पुच्छमुद्यम्य मध्ये पशुत्वात् पशुचेष्टां करोतीत्याह, वप्राणि

विषाणाग्रेण चोद्धरन्निति, गोकुलनिकटे स्थिताः प्राकारा उभाभ्यां भेदने बलमत्यन्तं न निविष्टं भवतीति एकेनैव शूलवत् प्रविष्टेन उद्धरणं करोति, चकारात् परिवृत्त्या अपरेण द्वाभ्यां च ववचित्, अशतः पृथक्करणमुद्धरणम् ॥२॥

व्याख्यानार्थः—ढाई श्लोकों से उसका आना कहते हैं, जिनमें पहला श्लोक कह दिया । अब अगले डेढ़ श्लोक से उसकी चेष्टा का निरूपण करते हैं । उसकी चेष्टा को बतलाते हैं, कि वह अत्यन्त कठोर जैसा रांभने लगा (जैसी कि बैल मस्त होकर कणों कटु शब्द किया करते हैं) और किसी एक पांव से धरती को खोद रहा था । पशु प्रायः कुछ अगला काम सोचने लगते हैं, तब अपने खुर से भूमि को खोदा करते हैं, फिर पूँछ उठाकर (सींग की नोक से तीखें) शूल की तरह तीखी सींग की नोक से गोकुल के निकट की दीवारों को उखाड़ने लगा । वह बैल रूप से आया था इसलिए पशु जैसी चेष्टा करने लगा । दोनों सींगों से एक साथ दीवारों तथा किनारों को उखाड़ने में पूरी पूरी शक्ति का प्रयोग अत्यधिक नहीं हो पाता । इसलिए वह क्रम से, एक से, फिर दूसरे सींग से किनारों और दीवारों को तोड़ रहा था और कहीं दोनों ही सींगों से थोड़ा थोड़ा उखाड़ने का काम कर रहा था ॥२॥

श्लोकः—किञ्चित् किञ्चिच्छृक्नु मुञ्चन् मूत्रयन् स्तब्धलोचनः ।

यस्य निर्हादितेनाङ्गं निष्ठुरेण गवां नृणाम् ॥३॥

पतन्त्यकालतो गर्माः स्रवन्ति स्म मयेन वै ।

निविशन्ति घना यस्य ककुच्चलशङ्कुया ॥४॥

श्लोकार्थः—बीच बीच में वह थोड़ा मल मूत्र त्याग करता जाता था । वह लाल लाल डरावनी आंखें फैलाकर गरज रहा था । महाराज, उसकी कठोर गंजनों की सुन कर गावें और ब्रज के गोपी ग्वाल अत्यन्त भयभीत हो गए । असमय में ही उनके गर्भ गिर गए और बहने लगे । उसकी बांध इतनी ऊंची थी कि बादल, पर्वत के घोखे से, उस पर ठहर जाते थे ॥३॥

सुवोधिनी - गतस्वभावमाह किञ्चित् किञ्चि-
च्छृक्नु मुञ्चन् गोमयं त्यजन् गोमूत्रं च, स्तब्ध-
लोचनश्च जातः, अनिवृत्तक्रोधत्वज्ञापनाय राज-
सत्त्वाद् विचारे प्रवृत्तः, न सहसा प्राविष्टः, भगव-

दिच्छया गोष्ठाधिष्ठातृदेवेन निरुद्धानामनुभावेन
च न प्रविष्टः तस्य क्रियया यज् जातं तत्
स्पष्टमेवेति रम्भणस्यैव कार्यमाह यस्य निर्हा-
दितेनेति, निष्ठुरेण अन्तः प्रविश्यापि गारयतीति

तेन गवां नृणां च अकालतोपि कालस्य निमित्त-
त्वाभावेपि गर्भाः पतन्ति स्रवन्ति च भयेन, तृतीये
चतुर्थे स्रावः, पातः पञ्चमपञ्चयोर्भासयोः, तत्र
हेतुर्मयं न तु तस्य नादः गन्धारिष्टवददृष्टद्वारा,
तथा सति लौकिकोत्कर्षो न स्यादिति तस्य
शरीराधिक्यमाह निषिगन्तीति, यस्य ककुदि
पर्वतबुद्ध्या मेघा उपविशन्ति, अनेन देहमत्त्वं
व्याख्यातम् ॥३-४॥

व्याख्यायः—वह थोड़ा थोड़ा मल मूत्र-गोमय, गोमूत्र-का त्यागकर अपने उन्मत्त स्वभाव को प्रकट कर रहा था। उसकी आँखें टिठक रही थीं, जिनसे ऐसा प्रकट हो रहा था मानों अत्यन्त क्रोधी वह रजोगुण के कारण किसी विचार-सोच-में पड़ रहा है, अर्थात् कुछ भी सोच रहा हो। इस कारण से और भगवान् की इच्छा तथा व्रज के अधिष्ठाता प्रभु के द्वारा निरोध प्राप्त व्रज भक्तों के माहात्म्य (प्रभाव) से भी वह गोष्ठ में एका एक घुस नहीं सका। उसके आकर खुरों से पृथ्वी खोदने सींगों से दीवारों और कंगारों को तोड़ने आदि से हुए उपद्रव तो स्पष्ट ही थे। इसलिए उनका वर्णन न करके उसके रांभने से होनेवाले उत्पात को बतलाते हैं, कि कानों के छिद्रों से हृदय में घुस कर भी मार देनेवाला उसकी कठोर गर्जना से भयभीत गायें और गोपियों के तीसरे चौथे मास के गर्भों का स्राव तथा पाँचवे छठे महीनों के गर्भ गिर जाते थे। भय से ही उनके गर्भ स्राव और पात होने लगे थे, मंत्र जनित अदृष्ट के द्वारा होनेवाली किसी उपद्रव की तरह उसकी गर्जना गर्भ स्राव पात का कारण नहीं थी। यदि मंत्र जनित उपद्रव की तरह-मारण उच्चाटन के मंत्रों से होने वाले विघ्नों की तरह-गर्भपात गर्भस्राव को दैविक आपत्ति मान लें तो उसके लौकिक शरीर की ऊँचाई, लम्बाई, चौड़ाई तथा शक्ति का प्रभाव ही घट जाएगा। यहाँ तो उसकी ऊँचाई का वर्णन करते हैं कि बादल उसकी काँध पर पर्वत के धोखे से ठहरने लगते थे। इस कथन से उसके देह की विशालता की व्याख्या की गई है ॥३-४॥

श्लोकः—तं तीक्ष्णशृङ्गमुदीक्ष्य गोप्यो गोपाश्च तत्रसुः ।

पशवो दुद्रुवुर्भीता राजन् सन्त्यज्य गोकुलम् ॥५॥

श्लोकार्थ—बड़े पैने सींग उठाए हुए उस असुर को व्रज में आते देख कर गोप और गोपीजन बहुत ही भयभीत हो उठे। सारे पशु भी रस्सियां तुड़ाकर व्रज से इधर उधर दौड़ने लगे ॥५॥

सुबोधिनीः—एवं तस्य शरीरक्रियाशब्दानामन्तःकरणस्य च कीर्यं निरूप्य ततो यज् जातं तदाह तं तीक्ष्णशृङ्गमिति, तीक्ष्णे शृङ्गे यस्य, ऊर्ध्वं दृष्ट्वा अत्युच्चरिति उदीक्षणात् गोपा गोप्यः पशवश्च तत्रसुः, निरुद्धा इति कदाचिद् देहागि-
मानाभावात् भयं न भविष्यतीत्याशङ्क्य निरूपितम्, पशुषु विशेषमाह, भीताः सन्तो दुद्रुवुरिति, सावधानार्थं सम्बोधय, गोकुलं सन्त्यज्येति पुनरागमनापेक्षा त्यक्तं हि भावः ॥५॥

व्याख्यायः—इस प्रकार उस असुर के शरीर, कार्य, गर्जन और हृदय की क्रूरता का निरूपण करके इन सबके द्वारा उत्पन्न हुई स्थिति का वर्णन करते हैं। अपने दोनों तीखे सींगों को खूब ऊँचा उठाए उस असुर को देखकर गोप, गोपियों और पशु सब भय से व्याकुल हो उठे।



भगवान् के द्वारा निरोध प्राप्त ब्रजवासी जीव कदाचित् देहाभिमान के नष्ट हो जाने से भयभीत नहीं होंगे ? इस प्रकार की शंका करके उनका मूल में भयभीत होने का निरूपण किया गया है । वहाँ के पशुओं में भय के कारण उत्पन्न हुई विशेषता यह थी, कि वे (पशु) बन्धनों को तोड़कर गोकुल को छोड़कर इस प्रकार भाग पड़े मानों वे फिर गोकुल में लौट आने की अपेक्षा छोड़ चुके हों । सावधान रहने के लिए 'मूल' में राजा को-राजन्-कह कर सम्बोधित किया है ॥५॥

श्लोक—कृष्ण कृष्णेति ते सर्वे गोविन्दं शरणं ययुः ।

भगवानपि तद्दीक्ष्य गोकुलं मयविह्वलम् ॥६॥

मा भैष्टेति गिराश्वास्य वृषासुरमुपाह्वयत् ।

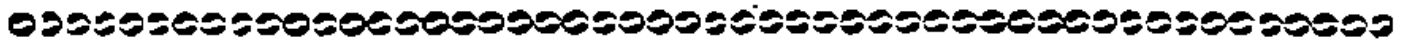
गोपालंः पशुभिर्मन्द त्रासितंः किमसत्तम ॥७॥

श्लोकार्थः—गोकुल में रहने वाले लोग—“हे कृष्ण, हे महायोगेश्वर ! बैल का रूप रख कर आए हुए इस असुर से हमारी रक्षा करो —” यह कहते हुए गोविन्द भगवान् की शरण में आए । भगवान् कृष्ण चन्द्र ने सब गायों और गोप गोपियों को भय और व्याकुलता के मारे प्राणों की रक्षा के लिए इधर उधर दौड़ते हुए देखकर—अभयवाणी से—“मत डरो, मत डरो”—कह कर उनको आश्वासन दिया । फिर वृषभासुर को ललकार कर बोले—“अरे कायर, महा-दुष्ट, इन गीपों और पशुओं को वृथा क्यों डरा रहा है ॥ ६-७ ॥

सुबोधिनी—तदा सर्वभयेषु भगवान् शरण-मिति ज्ञात्वा ते सर्वे कृष्ण कृष्णेति शरणं गताः, स तस्य स्वाभाविको हृदि स्थितो धर्मः, यो महा-भये मुखान् निःसरति, ब्रजस्थानां पुनः कृष्ण एव निविष्ट इति कृष्ण कृष्णेत्येवाहुः, किञ्च गोविन्दो यः स्वेन्द्र इति न केवलं तेषां वचनं किन्तु भगवानपि तन्निरीक्ष्य वृषासुरमुपाह्वयदिति सम्बन्धः, भयेन विह्वलमिति, मा भैष्टेत्यादी गोकुलगाश्वास्य मनसा तद्वधं प्रतिज्ञाय पश्चादु-पाह्वयत् न तु समाधानार्थं, वृष इति दैत्यांशाः सर्व एव वध्याः यथा ब्रह्मणः पीत्रादयः तथा वृषादयोपि, देवांशाभावेव वधे दोष इति धर्म-

मर्यादा तदाह वृषासुरमिति, असुरा वध्या एव रोगमलप्रायाः, राजैस्तत्त्वादीदौ वचनमाह गोपाल-रिति, गोपालाः पशवश्चाल्पसत्त्वाः सजातीयास्त-त्पालकाश्च, न हि महान् अल्पैः सह युध्यति सजातीयैर्वा अत एव विचारामावान् भन्देति सम्बोधनम्, मारयितुं त्वमेव न शक्यते तथा सति शत्रुपक्षापकर्षोपि भवेत् केवलं त्रासितैः किं कार्यं, अत एव वृथैव सद्भयजनको मारणीय इति ज्ञापयितुं सम्बोधयति असत्तमेति, क्रियया दुष्टोऽसन् अन्तःकरणेऽज्ञासत्तमः स्वरूपतोऽपि क्रूरस्तथा ॥६-७॥

व्याख्यानार्थ—तब सारे गायों में भगवान् ही रक्षक हैं—यह जानकर, वे सब—हे कृष्ण, हे कृष्ण कहते हुए भगवान् की शरण में गए रक्षा करना, भगवान् के हृदय में रहने वाला सहज धर्म है, जो भक्तों पर अत्यन्त भग-उपास्थित होने-आने-पर भगवान् के मुखारविन्द से निकल पड़ता है । और फिर



इन ब्रज वासियों के तो भगवान् कृष्ण ही सब प्रकार से रक्षक हैं। इसलिए वे सब-हे कृष्ण, हे कृष्ण—कह कर अपने स्वामी गोविन्द की शरण गए। ब्रजवासियों के इस प्रकार कातर वचन सुन कर, स्वयं भी उस असुर को देख कर (गत डरो—कह कर) भय से व्याकुल हुए गोकुल को-डरो नहीं—ऐसा आश्वासन दिया और मन से उस वृषासुर के वध की प्रतिज्ञा करके फिर उसको ललकारा, मित्रता के लिए। यह तो बल रूप में असुर था, दैत्यांश था। दैत्यांश ब्रह्माजी के पौत्र हिरण्यकशिपु आदि की तरह, सभी मार देने योग्य है। देवांशों को मारने में ही दोष है, दैत्यांशों का वध कर देने में कोई दोष धर्म मर्यादा के अनुसार नहीं होता। इसलिए दैत्यांश बल को मार देने में कोई दोष नहीं है। जनता के रोग, मल रूप असुर तो मार डालने योग्य ही है।

यह राजस लीला है, इसलिए मार डालने से पूर्व भगवान् उससे बोले—गोपाल और पशु तेरी अपेक्षा निर्बल हैं। पशु तेरी जाति के हैं और गोपाल पशुओं का पालन करने वाले हैं। बलवान् निर्बलों के साथ तथा अपनी ही जाति वालों के साथ युद्ध नहीं किया करते हैं। तुम्हको इस प्रकार का विचार नहीं है। इस कारण तू मूढ़ है। तू इन्हें यदि मार भी सकेगा तो निर्बल शत्रु पक्ष को मारने से पातकी होगा। केवल इन्हें डराने से भी कोई फल नहीं है। प्रत्युत, सज्जन, प्राणियों को व्यथे ही भयभीत करने वाला मार देने योग्य होता है। इसीलिए मूल में—असत्तम—अत्यन्त दुष्ट-पद से सम्बोधित किया गया है। बुरे कर्म करने वाला—असत्-दुष्ट और अन्तःकरण तथा स्वरूप से भी क्रूर कर्म करने वाला—असत्तम-अत्यन्त दुष्ट कहा जाता है ॥६-७॥

श्लोकः—बलदर्पहाहं दुष्टानां त्वद्विधानां दुरात्मनाम् ।

इत्यास्फोट्याच्युतोरिष्टं तलशब्देन कोपयन् ॥८॥

श्लोकार्थः—“तुम सरीखे दुरात्मा दुष्टों के बल के घमंड को चूर्ण करने वाला मैं यहां खड़ा हूँ। इधर आ” यों कह कर श्रीकृष्ण ने ताल ठोककर उस असुर को और भी उत्तेजित और क्रोधित किया ॥६॥

सुबोधिनी—तनु दुष्टानां कार्यमेवमेवेति चेत् तत्राह बलदर्पहाहमिति, बलं तज्जनितं दर्पं च हन्तीति तथा, बहुलं छन्द-सीति ब्रह्मभूणवृत्ते-ष्वेवोपपदेषु न नियमः, अहमित्यात्मानं प्रदर्शयति स्वर्णीकं स्थापयन्निव दुष्टानामेवाहं सामान्यतो दर्पहा, तत्रापि त्वद्विधानामुद्देजकानां दुरात्मना-	मित्यन्तःकरणदोषयुक्तानां क्रियया अन्तःकरणेन स्वरूपतश्च दुष्टा वक्ष्या एवेति, एवमुक्त्वा आस्फोट्य बाहुस्फोटनं गल्लवत् कृत्वा आस्फोटनतलशब्देनैव तं कोपयन् हीनोक्तिं त्वमिति ज्ञापनेन कोपं जनयन् अच्युतत्वात् स्वयं निर्भयः ॥८॥
--	---

व्याख्यान—सत्पुरुषों और भगवद्भक्तों को भय तथा पीड़ा पहुँचाया ही दुष्ट पुरुषों का कार्य ही होता है, जिसे वृषासुर कर रहा था तो इसके उत्तर में—बलदर्पहाहं—श्लोक कहते हैं। भगवान् अपने पुरुषार्थ को प्रकट करते हुए बोले, कि मैं साधारणतया सभी दुष्टों के बल और बलवान् होने के गर्व को चूर्ण करने वाला हूँ। फिर तुम जैसे लोकों को पीड़ा देने वाले, अन्तःकरण से, कर्म से और शरीर से भी दुष्टों को तो मैं नष्ट कर ही देता हूँ। यों कह कर अच्युत-निर्भीक भगवान् ने गल्ल

की तरह भुजाओं को ठोक कर ताल की फटकार से, उसे नगण्य और हीन दिखा कर क्रोध दिलाया ।
(बलदर्पणा—यह 'क्विप्प्रत्ययान्त' पद है, क्योंकि 'बहुलं छन्दसि'—सूत्र के अनुसार—ब्रह्मभूणवृत्र
शब्दों के उपपद होने पर ही क्विप् प्रत्यय लगने का नियम नहीं रहा) ॥८॥

श्लोकः—सख्युरंसे भुजामोगं प्रसार्यावस्थितो हरिः ।

सोप्येवं कोपितोरिष्टः खुरेणावनिमुल्लिखन् ।

उद्यत्पुच्छभ्रमन्मेघः क्रुद्धः कृष्णमुपाद्रवत् ॥९॥

श्लोकार्थः—भगवान् अपने एक मित्र के कन्धे पर हाथ रखे हुए खड़े थे । भगवान्
के द्वारा इस प्रकार उत्तेजित और कुपित किया गया वह वृषासुर भी खुरों से धरती
को खोदता और पूछ ऊँची तान कर बादलों को चक्र सा घुमाता हुआ क्रोध से
भगवान् की ओर बढ़ा ॥९॥

सुबोधिनीः—प्रवगाणनया लीलां कृतवानि-
त्याह सख्युरंस इति, भुजाभागं महान्तं भुजं
प्रसार्यावस्थितो जातः, एवं करणे हेतुगाह हरि-
रिति, यथा सोप्यरिष्टो लीलासहितं भगवन्तं
पश्यन् अन्ते तमेव ध्यायन् गुक्तो भवति, तस्यापि
वृत्तान्तमाह सोपीति, एवमाक्षेपः कोपितः स्वभाव-

तोप्यरिष्टरूपः खुरेण अवनि भूमिमुल्लिखन् पूर्व-
वन् गारणप्रकारं विचारयन् पश्चादुद्यत्पुच्छो
भूत्वा तेनोर्ध्वपुच्छेन भ्रमन्तो मेघा यस्य पुच्छा-
घातेन मेघा इतस्ततो विक्षिप्ताः, ततः क्रुद्धः सन्
अयुक्तं करोतीति जापयितुं कृष्णं सदानन्दमुप
समीपपर्यन्तमाद्रवत् ॥९॥

व्याख्यानार्थः—उसको नगण्य और तुच्छ समझकर, भगवान् क्रीड़ा करने लगे—यह सख्युरंसे-
श्लोक से कहते हैं । भगवान् अपनी विशाल गुजा को मित्र के कन्धे पर फैलाकर खड़े हो गए, क्योंकि,
आप हरि-जैसे दुष्टों के प्राणों को हर लेने वाले हैं । और गुक्ति देने वाले हैं, वैसे ही यह वृषासुर
अन्त समय में लाला मुक्त भगवान् का दर्शन तथा ध्यान करता हुआ मुक्त होगा ।

आक्षेपों से उत्तेजित और कुपित किया हुआ, जन्म जात अरिष्ट-विघ्न रूप वह असुर खुर से
पृथिवी को खोदने लगा मानों भगवान् पर आक्रमण करना सोच रहा हो और फिर ऊँची तानी
हई अपनी पूंछ की चपेट से बादलों को इधर उधर तितर बितर करता हुआ सदानन्दपन भगवान्
कृष्ण की ओर भगटा । क्रोध में आकर ऐसा अनुचित कार्य करने लगा ॥९॥

श्लोकः—अग्रन्यस्तविषाणायः स्तब्धासृगलोचनोच्चुतम् ।

कटाक्षिप्याद्रवत् तूर्णमिन्द्रमुक्तोशनिर्यथा ॥१०॥

श्लोकार्थः—यह असुर अपने तांखे सींगों को आगे किए, क्रोध से लाल लाल आँखें
निकाले और कृष्ण पर वक्र दृष्टि डालता हुआ इन्द्र के हाथ से फेंके गए वज्र की
तरह वेग से आगे बढ़ा ॥१०॥



सुबोधिनी:—आद्रवणे प्रकारमाह अग्रन्य-
स्तेति, अग्रे प्रथमतो न्यस्ते स्थापिते विषाणाग्रे
येन, स्तब्धे असृग्धर्णे लोचने यस्य, बहिरन्तर्मा-
रणसाधनपरिग्रह उक्तः, तयोरसाधनत्वसूचनायाह
अच्युतमिति, आदौ दृष्टिवेधार्थं कटाक्षीकृत्य
वस्तुतस्तु कटाक्षेनापि भगवान् न विद्धः तथापि

अकटाक्षमपि कटाक्षीकृत्य तूर्णमाद्रवत्, अविचा-
रेण समागमने दृष्टान्तमाह इन्द्रमुक्त इति, यथा
पर्वतपक्षछेदने दुष्टानामेन छेदनार्थं प्रवृत्तः, अग्र-
न्य-
त्रापि गतः, एवं अयं भगवत्समोपमप्यागतः अत्रैव
वा अविचारदशायामिन्द्रेण मुक्तः नमुचिप्रस्तावे
वा ॥१०॥

व्याख्यानार्थ—उसकी भग कर भगवान् के निकट आने की रीति—“अग्रन्यस्त” इत्यादि श्लोक
से बतलाते हैं। उसने अपने सींगों की तीखी नोक को आगे करके बाहर से और लाल लाल नेत्रों
को टेढ़े करके भीतर मन में मारने के उपाय किए और सोचे किन्तु अच्युत भगवान् पर उसके वे
उपाय व्यर्थ हो गए। पहले उसने भगवान् पर भौंहें टेढ़ी करके दृष्टि से ही प्रहार किया। जब उसका
यह दृष्टि वेध व्यर्थ हुआ-कटाक्ष से भी भगवान् प्रहत नहीं हो सके तो भी वह कटाक्ष रहित निर्भय
भगवान् को कटाक्ष का लक्ष्य बना कर उन पर वेग से झपटा : बिना सोचे समझे, उसके भगवान् के
आगे बढ़ने, और निष्फल होने में, उदाहरण देते हुए, बतलाते हैं, कि जिस प्रकार दुर्दान्त, पंखधारी
उड़कर प्रजाओं का नाश कर देने वाले दुष्ट पर्वतों के पंखों का काटना और वृत्रासुर आदि दैत्यों को
नाश कर देने वाला भी वज्र और भी कई जगह सफन होकर वैसे ही नमुचि नामक असुर पर
इन्द्र के द्वारा बिना सोचे समझे फेंका जाकर निकम्मा और व्यर्थ सिद्ध हो गया। इसी तरह इस
असुर के अच्युत भगवान् कृष्ण पर सारे आक्रमण निष्फल और निरर्थक रहे ॥१०॥

श्लोकः—गृहीत्वा शृङ्गयोस्तं वै अष्टादशपदानि सः ।

प्रत्यपोवाह भगवान् गजः प्रतिगजं यथा ॥११॥

श्लोकार्थः—जैसे कोई मस्त हाथी अपने से भिड़ने वाले दूसरे हाथी को रेल कर
पीछे धकेल देता है, वैसे ही श्रीकृष्ण चन्द्र ने दोनों सींग पकड़कर उस असुर को
अठारह पेंड पीछे धकेल दिया ॥११॥

सुबोधिनी:—तदा भगवता यत् कृतं तदाह
गृहीत्वेति, लोकेतिसहसं शृङ्गयोरेव धृत्वा तं
प्रसिद्धमरिष्टं वै निश्चयेन, अष्टादशविद्यास्थानेषु
वृषो न वध्यत इति पश्चाद्भागे अष्टादशपदानि
प्रत्यपोवाह यथा महान् छान् नवति तथा करणे

सामर्थ्यं भगवानिति ज्ञाने च, ननु भगवांश्चेत्
स्वबलं प्रदर्शितवान् तथा कथं पुनरागत इत्या-
शङ्कया विशेषतो न जापितवानिति वक्तुं दृष्टा-
न्तमाह गजः प्रतिगजं यथेति, तद्वलापेक्षया अल्प-
मेवाधिकं बलं प्रकटितवानित्यर्थः ॥११॥

व्याख्यानार्थ—जब वह असुर अनिष्ट करने की इच्छा से आरोप पूर्वक भगवान् के सम्मुख
झपटा, तब उस समय उस पर भगवान् का कर्तव्य-गृहीत्वा-इत्यादि श्लोक से वर्णन करते हैं।
भगवान् ने उसे सींगों में पकड़कर अठारह पेंड पीछा धकेल दिया; क्योंकि लोक में बैल, भैंसा आदि
सींग वाले पशुओं का अत्याधिक साहस सींगों में ही होता है और पशु (बैल) पशु विद्या के अठारह
स्थानों में नहीं मारा जा सकता है। इसलिए पूर्ण पराक्रम और पूर्ण ज्ञानशाली भगवान् श्रीकृष्ण ने

जैसे बलवान् महा पुरुष एक बकरी को बिना किसी परिश्रम के धकेल देता है, उसी तरह उस असुर को अठारह पैड पीछा धकेल दिया । ज्ञान की पूर्णता से ही, अठारह विद्या स्थानों में, पशु असुर नहीं मारा जा सकता—यह ज्ञान और पशुओं का बल, सींगों में होता है, इसलिए सींगों में पकड़ कर उसे सहज पीछा धकेल देना—यह पूर्ण पराक्रम दिखलाया ।

शङ्का:—भगवान् ने यदि अपना बल प्रदर्शित करके उस असुर को पीछे धकेल दिया तो फिर वह लौटकर श्रीकृष्ण के सामने कैसे आ गया ? इसके उत्तर में दृष्टान्त देते हैं, कि जैसे एक बलवान् हाथी अपने साथ गिड़ने वाले कुछ कम बल शाली हाथी को टक्कर मार कर पीछा धकेल देता है, वैसे ही भगवान् ने उस असुर को पीछा धकेलने में अपनी पूरी सामर्थ्य नहीं दिखाई, किन्तु उसकी शक्ति की अपेक्षा कुछ ही अधिक शक्ति प्रदर्शित की । यदि भगवान् पूर्ण शक्ति प्रदर्शित करते, तो वह फिर कर वापस आ ही नहीं सकता था ॥११॥

श्लोकः—सोपि विद्धो भगवता पुनस्तथापि सत्वरः ।

आपतत् स्वन्नसर्वाङ्गो निःश्वसन् क्रोधमूर्च्छितः ॥१२॥

श्लोकार्थः—भगवान् श्रीकृष्ण ने उसे धकेल दिया था, परन्तु वह फिर सम्भलकर झपटा । उसका शरीर पसीना पसीना हो गया था, तो भी वह लम्बी २ सांसे छोड़ता हुआ क्रोधान्ध होकर दौड़ा ॥१२॥

सुबोधिनी—न केवल भगवाता नीत एव तावद्दूरं किन्तु भूमौ त्यागसमये निक्षिप्तः, तादृशोऽपि पुनरागत इत्याह सोपीति, महतो भूमौ पतितस्य गात्रभङ्गसम्भवात् कथमागत इत्याशङ्क्य भगवता विद्ध इति, तथैव विद्धः यथा पुनः आयाति, यतीर्य वध्य एव, अतः पुनस्तथापि पूर्वपेक्षयापि सत्वरः आपतत् आगत एव भगव-

त्समीपं, अधुनायं मारणीय इति ज्ञापयितुं विशेषणद्वयमाह स्वन्नानि सर्वाङ्गानि यस्य, अनेन देहाभावार्थं मारणपर्यन्तं तेनैव प्रयत्नः कृत इति मारितो वा मारयित्वा वा निवर्तते नान्यथेति ज्ञापितं क्रोधेन मूर्च्छित इत्यन्तःकरणप्रवृत्तिरनिवर्त्या निरूपिता ॥१२॥

व्याख्यानार्थः—भगवान् उसको पकड़ कर केवल इतनी दूर पीछा ले ही नहीं गए; किन्तु छोड़ते समय, उसे पृथिवी पर दे भी मारा था, तो भी पछाड़ा गया वह (लीट) संभल कर फिर लौट आया—यह—'सोपि'—इत्यादि श्लोक से कहते हैं । भगवान् ने उसे यों घीरे से ही पछाड़ा था, जिससे विशाल काय भी उसके अङ्ग भङ्ग नहीं हुए थे । इस कारण से वह फिर संभल कर पहले की अपेक्षा भी बड़े वेग से झपटा; क्योंकि अब उसकी गृत्यु निकट आ गई थी और वह स्वयं भी मरने के उपाय ही कर रहा था । उसके सारे अङ्गों से पसीना निकल रहा था और उसकी वंसी क्रोधान्ध दशा से जान पड़ता था कि वह बिना परे या मारे नहीं रहेगा । तात्पर्य यह है, कि अन्तःकरण की दुष्ट प्रवृत्ति मरने तक भी नहीं बदलती है ॥१२॥

श्लोकः—तमापतन्तं स निगृह्य शृङ्गयोः पदा समाक्रम्य निपात्य भूतले ।

निष्पीडयामास यथाद्रमम्बरं कृत्वा विषाणो जघान सोपतत् ॥१३॥



श्लोकार्थः—तव भगवान् ने उसके दोनों सींग हाथों से पकड़ लिए और उसे पृथिवी पर गिरा दिया । फिर उसके शरीर को पाँव से दबाकर—जैसे गीले कपड़े को निचोड़ते हैं, इस तरह मरोड़ डाला । उसके सींग उखाड़ लिए और सींग के प्रहार से ही उसे मार डाला ॥१३॥

सुबोधिनीः—तदा भगवता मारित इत्याह तमापतन्तमिति, उपरि पतन्तमरिष्ठं शृङ्गघोर्त्वा तस्य बलं निगृह्य यथा बलक्षीणो भवति तथा कृत्वा पश्चाद् भूमौ पातयित्वा पादेनाक्रम्य यथा यज्ञे पशुनिष्पीड्यते तथा निष्पीडयामास, तथा क्षताभावेऽपि रोमकूपद्वारा रुधिरं निःसारितवानित्यर्थे दृष्टान्तमाह यथाद्रुमम्बरमिति, तदपि हस्तेन निष्पीडितमम्बरं न सर्वं जलं विमुञ्चति यथा

रजकादिभिः काष्ठखण्डेनिष्पीडितं तदाह विषाणेन कृत्वेति, विषारीतनिर्देशः अधिमराम्बन्धार्थः; विषाणेन च तं जघान, येनैव मारणार्थं स प्रवृत्तः तेनैव स मारित इति, 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इत्यर्थे उक्तो भवति, विषाणद्वयमेकं वा तदुदरे निवेशितवानित्यर्थः, ततः स अपतत् पुनस्तथान् प्रयत्नं न कृतवानित्यर्थः ॥१३॥

व्याख्यानः—इस-तमापतन्त-श्लोक से भगवान् के द्वारा उसके मरण का वर्णन करते हैं । ऊपर गिर कर दबाने की इच्छा वाले उस अरिष्ट को, भगवान् ने उसके सींगों को पकड़ कर उसे बलहीन कर दिया और फिर पृथिवी पर गिरा कर यज्ञीय पशु की तरह पाँव से दबाकर मरोड़ डाला । यद्यपि उसके हाथ पाँव आदि अङ्ग क्षत विक्षत नहीं हुए थे, ज्यों के त्यों ही थे, तो भी उसके रोमकूपों से इस तरह खून बह रहा था जैसे घोड़ी लोगों के द्वारा डंडे में लेकर कपड़े को—उनके स्वरूप को न धिगाड़ कर ही—निचोड़ दिया जाता है । भगवान् ने उसके सींगों को जिनसे वह मारने आया था—उखाड़ लिए और दोनों अथवा एक ही सींग को उसके पेट में घुसेड़ दिया । तब तो, वह असुर गिर पड़ा और फिर नहीं उठ सका । सींग से मारने, आने वाले उस असुर को सींग से ही मार कर—“ये यथा”—भगवान् ने जो मुझे जैसे भजता है, मैं भी, उसे वैसे ही भजता हूँ—अपनी सत्य प्रतिज्ञा प्रदर्शित की ॥१३॥

श्लोकः—असृग् वमन् मूत्रशकृत समुत्सृजन् क्षिपंश्च पाद्राननवस्थितेक्षणः ।

जगाम कृच्छ्रं निऋतेरथ क्षयं पुष्पैः क्रिरन्तो हरिमोडिरे सुराः ॥१४॥

श्लोकार्थः—उस अरिष्टासुर की आंखें बाहर निकल आईं, मुँह से रुधिर बहने लगा, मल मूत्र एक साथ निकल पड़ा । वह बार बार पैर पटक कर बड़े धष्ट से यम लोक की गया । तब देवगण भगवान् पर पुष्प वर्षा कर उनकी स्तुति करने लगे ॥१४॥

सुबोधिनीः—अन्तस्तु प्राणोद्गमनरूपः असृक्, मूत्रं मध्ये, शकृद् अन्ते, एवं सर्वतः सर्वं प्रयत्नो जात इत्याह असृग् वमन्निति, गुह्यद्वारा निःसृतगतिं महान् प्रयत्नो मरणात्मकः सूचितः,

गच्छतः प्राणस्य चेष्टामाह त्रिषंश्च पादानिति, न अवस्थिते ईक्षणे यस्य नेत्रे विपरीते जाते, अनेन नेत्रद्वारा प्राणगमनमिति निरूपितम्, प्रथमतः कृच्छ्रं मुच्छ्रं जगाम, ततो न पुनरावृत्तः किन्तु अयं निच्छ्रंतेः क्षयं मृत्युमेव जगाम, अथवा प्रथमतो निच्छ्रंतेः क्षयम्, अथ तदनन्तरं क्षयं स्वस्थानगाभयभूतं जगाम, मुक्तिप्रकरणे गणितत्वात् वृषभगवधः आकृतिसाग्यादयुक्त इव भविष्यतीत्याशङ्क्य देवानुमोदनेन तद्युक्तमिति समर्थयति पुष्पैः किरन्त इति, पुष्पवृष्टिं कृत्वा स्तोत्रमपि कृतवन्तः यतः स्वदुःखं दूरीकृतवान्, तदर्थपरिज्ञानाय सुरा इति ॥१४॥

व्याख्यानार्थः—‘असृग् वमन्’—इस श्लोक से उसके प्राण निकलने तक का प्रकार बतलाते हैं। वह मरते समय मुँह से खून बहा कर, बीच में मूत्र और अन्त में मल का त्याग करके अपने मरने के लिए बड़े भारी प्रयत्न करने को सूचित कर रहा था। अर्थात् उसके प्राण बड़े कष्ट से निकल रहे थे। वह पंरों को पीट रहा था। उसकी निकली हुई निश्चल आंखें अपने मार्ग से अपने प्राणों का निकलना बतला रही थीं। गहने वह मूर्च्छित होकर रावेत नहीं हुआ, किन्तु यमराज के लोक को (मृत्यु को) ही प्राप्त हो गया। अथवा पहले यमलोक को जाकर फिर अपने स्थान मोक्ष को प्राप्त हो गया।

यद्यपि आकार की सम्पन्नता से बेल को मारना अवोग्य-अनुचित सा-दिखाई देता है; किन्तु उसके वध से प्रसन्न होकर देवों के द्वारा पुष्पों की वृष्टि और स्तुति किए जाने पर उस बेल रूप धारी भी असुर का वध करना उचित ही था, क्योंकि असुर को मारकर भगवान् ने सुरों-देवों-का दुःख दूर कर दिया था। ‘मोदेत साधुरपि वृश्चिक सर्पं हत्या’ अर्थात् असाधु को मृत्यु से साधु प्रसन्न ही होते हैं। देवता होने के कारण काम की आज्ञा से इस अरिष्ट के बेल के रूप में व्रज का अनिष्ट करने के लिए खिरक में आने को वे जान ही रहे थे ॥१४॥

श्लोकः—एवं ककुद्मिनं हत्वा स्तूयमानः स्वजातिभिः ।

विवेश गोष्ठं सबलो गोपीनां नयनोत्सवः ॥१५॥

श्लोकार्थः—इस प्रकार उस वृषभासुर को मार कर गोपों के मुख से अपनी प्रशंसा सुनते हुए, गोपिकाओं के नेत्रों को आनन्द देने वाले नन्दनन्दन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र बनरागजी के साथ व्रज में आए ॥१५॥

सुबोधिनी—उपसंहरति एवमिति, सजातीया अपि जातिना इति स्वजातिभिरपि गोपैः स्तूयमानः, अथ एव जातिपदम्, ततो गोष्ठशत्रुं हत्वा गोष्ठं प्रविवेश, सबलो बलभद्रसहितोपि जातः, प्रमाणरहितत्वात् तस्य गोष्ठे प्रवेशस्य कारणं गोपीनां नयनोत्सवरूप इति, अनेन निरोधतया सिद्धत्वात् नातः परं सम्बन्ध इति सूचितम् ॥१५॥

व्याख्यानार्थः—इस लोला का—एवं-इत्यादि श्लोक से उपसंहार करते हैं। ‘जातिश्चेदननेनकिं’—के अनुसार समान जाति वाले लोग उत्कृष्ट गुण वाले अपनी जाति के पुरुष की स्तुति नहीं किया करते हैं, बड़े निहुर होते हैं; किन्तु अरिष्ट रूप अरिष्ट का वध करने पर स्वजाति के भी गोपजन भगवान् की स्तुति करने लगे।

गोष्ठ-वज्र-के शत्रु असुर को मार भगवान् राक्षिभूत बलरामजी के साथ वज्र में पधारे । श्री कृष्ण के दर्शन से वज्र भक्त गोपीजनों के नेत्रों को बड़ा उत्सव आनन्द और सुख मिलता था । उनको वह निरोध-सर्वात्मभाव-सिद्ध हो गया था, जिसके पश्चात् अन्य कोई सम्बन्ध शेष नहीं रह गया था अर्थात् निरोध ही सर्वोत्कृष्ट सम्बन्ध है ॥१५॥

लेखः—‘एवं-ककुद्मिनं’ - श्लोक की व्याख्या में-अनेन-पद से यह अभिप्राय कहा है, कि निरोध सिद्धि का सम्बन्ध फल रूप नहीं है किन्तु नित्यलीलात्तिष्ठ सार्वदिक सम्बन्ध ही फलरूप है ॥१५॥

श्लोक—अरिष्टे निहते दंत्ये कृष्णेनाद्भुतकर्मणा ।

कंसायायाह भगवान् नारदो देवदर्शनः ॥१६॥

श्लोकार्थः—अद्भुत कर्म करने वाले भगवान् ने जब अरिष्टासुर को मारकर यम लोक भेज दिया; तब दिव्य दृष्टि रखने वाले देवर्षि नारदजी ने, भगवान् की इच्छा के अनुसार कंस से जाकर कहा ॥१६॥

सुबोधिनी-एवं हेतुभूते अरिष्टवधे जाते तत्फलं अग्रे निरूपयिष्यन् प्रथमं कार्यमाह सार्धाभ्यां गोष्ठे अरिष्टे निहते नातः परं गोष्ठे कार्यमस्ति सर्वमेव दुःखमेतन्मूलकमिति, ननु सदानन्दोप्यपेक्षित इत्याशङ्क्याह कृष्णेनेति, साधनत्वमापन्नः सदानन्द एवेति न तदर्थमन्यत्वायम्, अद्भुतकर्मणेति, भगवता अरिष्टो न हतः किन्तु गोकुले स्थापितः यतः तत्प्रभृति गोकुले दुःखमेवेति विपरीतक्रियैव अद्भुतकर्मता, तदा भगवानागमिष्यतीति ज्ञात्वा रथादिप्रेषणाय नारद उपायं कृतवानित्याह

कंसायायाहेति, अथ तदनन्तरमेव यदेव भगवान् गन्तुमियेष तदेव देववद् दर्शनं यस्येति भगवत इव तस्य ज्ञानं निरूपितम्, लोकविरुद्धस्यापि कारणे दोषाभावाय देववद् वा आराधितप्रत्यक्षे यथेष्टं भवति तथा नारदस्य दर्शनेन सर्वेष्ट जातमिति ज्ञापितम्, अथवा यो देवः पूर्वमाह ‘अरयास्त्व मष्टगो गर्भं’ इति तस्मिन् दृष्टे यथा भवति सर्वसन्देहनिवृत्तिः तथा नारदे दृष्टे जातेति ॥१६॥

व्याख्यानार्थः—इस प्रकार अरिष्ट वध-जिसके लिए ही भगवान् अब तक वज्र में विराजते रहे—को कह कर आगे इस वध से होनेवाले फल का निरूपण करते हुए पहले—“अरिष्टे निहते”—इत्यादि ढाई श्लोकों से उसके कार्य का वर्णन करते हैं । वज्र में आए हुए सभी दुःखों का मूल कारण यह अरिष्ट ही था । अतः इसका नाश कर देने के पश्चात् वज्र में अब भगवान् का कोई कर्तव्य कार्य अवशिष्ट नहीं था । और अद्भुत कर्म करने वाले भगवान् कृष्ण—“कृषिभूर्वाचिकः शब्दो एव निर्वृति वाचकः । तयो रैवयं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते”—के अनुसार अरिष्ट वध के-कृष्णेन साधनरूप हुए सदानन्द ही हैं । इस कारण से अपेक्षित सदानन्द की प्राप्ति कराने के लिए भी वज्र में धरने का कोई अन्य कार्य शेष नहीं रह गया था । भगवान् ने अरिष्ट का वध करके उसे गोकुल में ही रहने दिया, क्योंकि उसके पश्चात्-भगवान् के मथुरा पधार जाने पर-तभी से-वज्र में दुःख ही दुःख बना रहा । इस लिए वध करके भी, गोकुल में उसका स्थापन कर देना—(यह भगवान् की विपत्ति



कर्म वाली अद्भुत कर्मता का वर्णन किया) भगवान् की यह विपरीत क्रिया वाली अद्भुत कर्मता है ।

भगवान् ने जब कंसदि के वध के लिए मथुरा जाने का विचार किया, तभी-भगवान् मथुरा पधाय आवेंगे- ऐसा जानकर नारदजी कंस के पास गए और भगवान् को बुलाने के लिए रथादि भेजने का उपाय करने लगे । इस कारण से,—अर्थात् भगवान् की मथुरा आने की इच्छा को जान लेने से-नारदजी को 'देवदर्शन'— भगवान् के तुल्य जानवान् कहा है । अथवा देवदर्शन-विशेषण का दूसरा तात्पर्य यह है, कि कंस के वध के लिए ही, उसके ही द्वारा रथादि भेजकर भगवान् को बुलाना यद्यपि लोक विरुद्ध काम किया गया, तो भी ऐसा करने में कोई दोष नहीं है, क्योंकि, जैसे आराधना किए हुए देव का साक्षाद् दर्शन हो जाने पर आराधक की इच्छाएं पूर्ण हो जाती हैं, वैसे ही नारदजी के दर्शन से सारी जनता के सारे ही मनोरथ सिद्ध हो गए । 'देवदर्शन'—पद का तृतीय तात्पर्य यह भी बताते हैं कि—'अस्यास्त्वामष्टमो गर्भः'—भा. १०-१-३४ । यहां देवकी के आठवें गर्भ को कंस के लिए मृत्यु बतलाने वाले देव का दर्शन हो जाने पर जैसे सारे सन्देह दूर हो जाते हैं, वैसे ही नारद जी के दर्शन होने पर सभी सन्देहों की निवृत्ति हो गई ॥१६॥

श्लोकः—यशोदायाः सुतां कन्यां देवक्याः कृष्णमेव च ।

रामं च रोहिणीपुत्रं वसुदेवेन बिभ्यता ॥

न्यस्तौ स्वमित्रे नन्दे वं ग्राम्यां ते पुरुषा हताः ॥१७॥

श्लोकार्थः—कि "देवकी के आठवें गर्भ से कन्या नहीं हुई, वह कन्या तो यशोदा की थी । कृष्ण, देवकी के और बलराम रोहिणी के पुत्र हैं । वसुदेवजी ने तुम्हारे भय से अपने मित्र नन्द के यहां उनको रख दिया है । उन्हीं ने तुम्हारे भेजे हुए अनुच असुरों को मारा है" ॥१७॥

सुबोधिनोः—नारदस्य वाक्यान्याह यशोदायाः सुतागिति, दैवमप्यनृतं वदतीति तस्य या विपरीतबुद्धिः सा प्रथमतः अपोह्यते कन्या न देवक्याः नापि यशोदायाः पुत्रः, किन्तु यशोदायाः कन्या देवक्यास्तु पुत्रः सर्वत्राहेति सम्यन्धः, यशोदायाः सुताग्राह कन्यां, कृष्णं तु देवक्याः पुत्रमाहेति रामं च देवक्याः पुत्रं रोहिणीपुत्रमपि, एवकारस्तद्व्यावृत्त्यर्थः, यथा देवक्या रोहिणीश्च रामः पुत्रः एवमेव देवक्याः यशोदायाः पुत्रो न

भवतीति कथमेवं व्यत्यासो जात इति चेत् तत्राह, वसुदेवेन बिभ्यता न्यस्तौ स्वमित्रे नन्द इति, एतावत्यर्थे नारदोपि न जानाति यथा नन्दोपि न जानाति तथा भगवांस्तत्र तिष्ठतीति परमार्थतो वा न्यासः मित्रपदं ज्ञात्वाप्यन्यथा न करिष्यतीति ज्ञापनार्थः, वै निश्चयेन ग्राम्यां कृष्णरामाभ्यां, ते पुरुषाः सर्व एव प्रलम्बादयो हता इति, अन्यथा नान्यो गारयितुं शक्नुयात्, एतावदुक्तत्वा तूष्णीं तत्रैव स्थितः ॥१७॥

व्याख्यार्थः—"यशोदायाः सुतां-इत्यादि श्लोक से नारदजी के वचन कहते हैं । पहले यह कह कर, कि"—कन्या न देवकी की है, और न यशोदा का पुत्र है"—कंस की इस विपरीत बुद्धि को- कि "देव-आकाशवाणी-भी मिथ्यावादी होता है"—दूर किया गया है । नारदजी ने कन्या को यशोदा

की पुत्री और कृष्ण को देवकी का पुत्र कहा । इसी तरह बलरामजी को देवकी और रोहिणी का पुत्र भी बतलाया । बलरामजी की तरह कृष्ण भी देवकी और रोहिणी के पुत्र तो हैं ही, किन्तु देवकी और यशोदा के पुत्र नहीं हैं । इन दोनों का गोकुल में रहने का कारण तो यह है, कि तुम्हारे (कंस के) भय से डरकर वसुदेव ने अपने मित्र नन्द के यहां रख छोड़ा है । किन्तु वास्तव में, यहां यह धरोहर साक्षात् भगवान् ही हैं—इस बात को न नारदजी और न नन्द जी जानते थे । लोक में जैसे मित्र अपने मित्र की किसी बात को यथार्थ जानकर के भी उसे प्रकट नहीं करता, वैसे ही वसुदेव के मित्र नन्द, भगवान् के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भी, प्रकट नहीं करेंगे—इस अग्निप्राय से गूल में 'मित्र' पद का प्रयोग है । उन साक्षात् भगवान् कृष्ण बलराम ने तेरे (कंस के) अनुयायी प्रलम्ब आदि असुरों को—जिन्हें अन्य कोई भी नहीं मार सकता था—मार गिराया है । इतना कह कर नारद जी चुप होकर कंस के निकट ही बंठे रहे ॥१७॥

श्लोकः—निशम्य तद्भोजपतिः कोपात् प्रचलितेन्द्रियः ।

निशातमसिमादत्त वसुदेवजिघांसया ॥१८॥

श्लोकार्थः—नारद जी के यह समाचार सुनकर, कंस क्रोध से विह्वल हो उठा । वह एक तीक्ष्ण तलवार लेकर सभा में उपस्थित वसुदेव को मारने के लिए उद्यत हो गया ॥१८॥

सुबोधिनीः—ततो यज् जातं तदाह निशम्येति, अकरमाज्जातेन कोपेन प्रवर्षेण चलितानीन्द्रियाणि नारदोक्तं तत् प्रमेयं निशम्य अन्यथाकरणे जातानि, अन्यायो वसुदेवस्येति ज्ञात्वा तज्जि- सामर्थ्यार्थमाह भोजपतिरिति भोजानां पतिः, घांसया निशातं तीक्ष्णं खड्गमाददे ॥१८॥

व्याख्यानः—निशम्य-इस श्लोक से कंस का कर्त्तव्य वर्णन करते हैं । नारद जी के कथनानुसार—'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' प्रमेयं हरिरेवैकः—साक्षात् प्रमेय स्वरूप भगवान् को वस्तुतः सुनकर भी वह भोज-पति कंस अपने तथा अपने अनुयायियों के-जिनका वह स्वामी था—बल पर क्रोध से चंचल इन्द्रियों वाला हो गया और उसने वसुदेवजी का अन्याय और अपराध समझकर, उन्हें मारने की इच्छा से अपनी तेज तलवार उठाई ॥१८॥

श्लोकः—निवारितो नारदेन तत्सुतो मृत्युमात्मनः ।

ज्ञात्वा लोहमयैः पाशैर्वबन्ध सह भार्यया ॥१९॥

श्लोकार्थः—परन्तु नारद जी ने सगम्भा बुझाकर उसे रोक दिया । उन्होंने कहा, कि वसुदेवजी तुम्हें (कंस को) कुछ हानि नहीं पहुंचा सकते; उनके दोनों पुत्र ही तुम्हारे (कंस के) काल है । तब कंस ने वसुदेव के प्राण तो नहीं लिए, किन्तु देवकी सहित उन्हें (वसुदेव को) फिर लोहे की वेड़ियों से बान्धकर कारागार में डाल दिया ॥१९॥



सुबोधिनी—प्रागेण वसुदेवः सभायामेवास्ते तदा भीतो नारदो निवारयामासेत्याह निवारित इति, ननु तन्निवारितः कथं कंसो न मारयेदित्या- शङ्क्याह नारदेनेति, स हि तेषां मान्यः, तुल्यो देवेषु तेषु च, तथापि शत्रुरिति बद्ध इत्याह तत्सुतावात्मानो मृत्युरिति देवकीवसुदेवौ बन्ध- भ्रातृणामपि स्वमध्यपातात् सेवकानां च, सुता-

विति द्विवचनं अविशेषकथनात् सन्देहाद् वा लोहमयः पाशैरिति न पादे शृङ्खला किन्तु सर्वा- वयवेषु शृङ्खलाभिरिव बन्धनम्, एतावदुक्त्वा नारदो निर्गतः केचित् तु बन्धनगपि नारदेनो- क्तगित्याहुः, मारणे तत्सुतो पलायनं करिष्यत इति, तदुपेक्षणीयमनृतवादप्रसङ्गात् ॥१६॥

व्याख्यानः—सम्भवतः वसुदेवजी, वहाँ कंस की सभा में ही मौजूद थे । दुष्ट कंस कहीं उन्हें मार न डाले,—इस भय से भयभीत हुए नारदजी का उसे रोकना—‘निवारितः’—इत्यादि श्लोक से कहते हैं । नारदजी के रोकने से उस दुष्ट कंस ने भी वसुदेव जी को जीवित ही रहने दिया; क्योंकि देवों की तरह असुरों में भी, नारदजी का पूर्ण गौरव और सम्मान है । उनके कथन को देवों की तरह, असुर भी वैसे ही शिरोधार्य तथा मानते हैं । तथापि, उसके काल कृष्ण व राम, के पिता होने के कारण, उन्हें (वसुदेवजी को) शत्रु मान कर कारागार में डाल दिया । उनके हाथों पावों में ही बँडियाँ नहीं डाली गईं; किन्तु उनका सारा ही शरीर बँडियों से जकड़ दिया गया था । यद्यपि शत्रु के सम्बन्धी सारे ही शत्रु गिने जाते हैं, तो भी वसुदेवजी के भाईयों तथा सेवकों को कारागार में नहीं डाला गया; क्योंकि वे तो कंस के मध्यपाति-अनुयायी-ही थे । वसुदेव के दोनों पुत्र कंस का काल है—‘तत्सुतो-गूल’ में यह द्विवचन दोनों के लिए साधारणतया दिया है, अथवा दोनों में से न जाने किसके हाथ से कंस मारा जाएगा—इस सन्देह से दिया है, यों कह कर नारदजी वहाँ रो चले गए ।

कोई यहां यह कहते हैं, कि नारदजी ने ही-यों कह कह कर कि वसुदेव को मार देने पर तो उसके पुत्र इधर उधर कहीं भाग जाएंगे—वसुदेव को कारागार में बन्धन कर देने की सम्मति कंस को दी थी—इत्यादि कथन मिथ्यावाद के प्रसङ्ग-दोष-के कारण माननीय नहीं है ॥१६॥

लेखः—‘निवारितः’—इस श्लोक की व्याख्या में-भ्रातृणा-इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है कि वसुदेवजी के ‘देव’, ‘भाग’ आदि नौ भाई और उनके सभी सेवक भी, शत्रु पक्ष के शत्रु के सम्बन्धी ही थे; कि वे सारे ही कंस के मध्यपाती-अनुयायी थे । इस कारण से उन्हें कारागार में नहीं डाला । केवल देवकी और वसुदेवजी को बन्धन में डाला ॥१६॥

श्लोकः—प्रतिघाते तु देवर्षी कंस आभाष्य केशिनम् ।

प्रथयामास हन्येतां भवता राममाधवौ ॥२०॥

श्लोकार्थः—नारदजी के चले जाने पर कंस ने केशी नाम के असुर को बुलाया । उसको आज्ञा दी, कि तুম ध्रज में जाकर कृष्ण और बलदेव को मार डालो ॥२०॥

सुबोधिनी—ततो देवर्षी प्रतिघाते पुनस्तस्या- | वारयति यतोयं देवानामपि मन्त्रद्रष्टा तदा कंसः
त्यथाबुद्धिः पूर्ववद् भविष्यतीत्याशङ्क्य तुशब्दो | स्वनिकटे स्थितं स्वस्य पट्टाश्वरूपं केशिनमाभाष्य

हे केशिन्निति रामबोध्य गानुले प्रेषयामसत्वं गच्छ, गोकुलगिति, अर्थसिद्धत्वात्तोरुग, गतस्य कृत्य- माह हन्येतामिति, गत्यर्थोपि हनवातुरिति, मानयनायमेव घोटकः प्रेष्यत इति लक्ष्यते,	सुखासनं तत्र भवतीति पश्चाद्वयप्रेषणम्, तस्य तथा सामर्थ्यमग्रे वक्ष्यति 'तस्य हेषितसंश्रुता' इति, माघवपदं मधुवंशोत्पन्नामिप्रायेण, रामस्तु प्रसिद्धः ॥२०॥
---	---

व्याख्यानार्थः - यहां मूल श्लोक में स्थित 'तु'-शब्द यह बतलाता है, कि पहले नारदजी के कहने से वसुदेवजी का वध करने से एके हुए कंस ने उन (नारदजी) के वहां से चले जाने के बाद भी फिर उन (वसुदेव) पर अपनी विपरीत बुद्धि करके वसुदेवजी का वध नहीं किया; नारदजी की आज्ञा को उनके सामने की तरह उनके पीछे भी मानता रहा और उसने वसुदेवजी का वध नारदजी के वहां से चले जाने के बाद भी नहीं किया; क्योंकि, नारदजी देवशि-दयों के भी मंत्र दृष्टा-ऋषि हैं ।

तब कंस ने निकट बैठे हुए, घोड़े के रूपधारी केशी को सम्बोधित करके गोकुल भेजा और कहा, कि वहां जाकर राम, कृष्ण-दोनों-को मार आओ। हन हिंसागत्योः-‘हन’ धातु का गभन- (जाना) अर्थ भी है। घोड़ा किसी को बुलाने के लिए ही भेजा जाता है; किन्तु घोड़े की सवारी सुखकर नहीं होती। इस कारण से कृष्ण, राम को लिवाने के लिए फिर रथ भेजा जाएगा। घांड़े के रूप में गए हुए उस केशी असुर की शक्ति का वर्णन यहां अगले अध्याय में नारदजी ने किया है, कि-यस्य ह्लेषित संव्रस्तास्थजन्त्यनिगिषादिवग्-उसकी कण कटु हिनहिगाने को सुनकर डरे हुए देवगण देव लोक को खाली करके भाग निकले-इस तरह किया है। मूल में वहां-राम माधवी-राम-बलराम तो प्रसिद्ध हैं ही और मधुवंश में उत्पन्न होने के अभिप्राय से माधव-श्री कृष्ण-के लिए कहा गया है ॥२०॥

श्लोक,—ततो मुष्टिकचाणूरशलतोशलकाटिकान ।

अमात्यान् हस्तिपांश्चैव समाहूयाह भोजराट् ॥२१॥

श्लोकार्थः—इसके बाद, भोजराज कंस ने मुष्टिक, चाणूर, शल, तोशलक आदि अपने महाबली पहलवानों को कुबलयापीड़ हाथी के महावतों को और अपने सभी मंत्रियों को बुलाकर कहा ॥२१॥

सुबोधिनीः--सोऽपि भक्तो भविष्यतीति । न्त्रिणः हस्तिपाः युद्धकुशलाः चकारादन्याश्च साक्षाद्भगवन्नाम न भुञ्जानिःसृतम् । हृदये तेन कार्यं वन्तून् । एवकारेण न विपक्षान् । समाहूय गृहस्थ-रोत्स्यतीति ज्ञान्वा । सार्धनिवाहूय मन्त्रयामासेत्याह । तामाकारयित्वा, आगमनार्थं हेतुमाह । भोजानां तत इति, मुष्टिकाः यो मत्लाः अमात्या गृहम-राजंति ॥२१॥

व्याख्यायः—एक बार भी भगवान् का नाम लेलेने पर कहीं वह भक्त हो जाए—इस कारण से कस के मुख से भगवान् कृष्ण का नाम न निकल सका हृदय में चर भाव से—रहने वाले भगवान् कार्य सिद्ध कर देगे—इस प्रकार जानकर उसके मुख से मधुवंश में उत्पन्न-गाधव-ही निकला । कस ने

सारे ही मंत्रियों को बुलाया—गृह-‘ततः’-इत्यादि श्लोक से कहते हैं । मुष्टिक, चाणूर आदि नाम के मल्लों को गृह मंत्रियों को, युद्ध में अतिनिपुण महावतों को, अन्य सगे सम्बन्धियों को तथा श्रीकृष्ण के विरोधियों को सभी को उनके घरों से बुलवाया । भोजतड़ यादवों के राजा कंस की आज्ञा पाकर वे राव दरबार में उपस्थित हो गए ॥२१॥

श्लोकः—भो भो निशम्यतामेतद् वीरचाणूरमुष्टिकी ।

नन्दव्रजे किलासाते सुतावानकदुन्दुभेः ॥२२॥

श्लोकार्थः—हे चाणूर, मुष्टिक आदि वीर बली पहलवानों गुनो । वसुदेव के लड़के कृष्ण और बलदेव नन्द के व्रज में रहते हैं ॥२२॥

मुहोधिनीः—सन्नागतेषु तेषु स्ववृत्तान्तमाह भो भो इति, सामान्यसम्बोधनद्विरुक्त्या सर्वेषामेव सम्बोधनं लक्ष्यते, तेन प्रत्येकं नाम गृहीत्वा कथयतीति ज्ञापितम्, एतन्निशम्यतामिति सावधानीकरणम्, वीरेति विशेषणं प्रकृतोपयोगित्वात् सर्वेषां, चाणूरेति भिन्नतया निरूपणे तस्यैव

वा वीरो वा कश्चित् मुष्टिकादीनां प्रधानेन ग्रहणात् बहुवचनं वा, प्रज्ञातं वृत्तान्तमाह नन्दव्रज इति, मन्त्रे वक्तुर्नाम न ग्राह्यमिति किलेत्याह प्रसिद्ध एवायमर्थः, आसाते किल, नन्दव्रजे किल, आनकदुन्दुभेः सुतो किल ॥२२॥

व्याख्यानः—बुलाने से, उनके वहाँ आ जाने पर, कंस-‘भो भो’- इस श्लोक से अपना वृत्तान्त कहने लगा—‘भो भो’-इस (दो बार कहे गए) साधारण सम्बोधन से प्रत्येक से उनका अलग अलग नाम लेकर उन्हें सुनने में सावधान करता हुआ बोला, कि—सुनिए । वीर पद चाणूर का विशेषण है । यह युद्ध के समय में उचित ही है । अथवा वीर नाम का एक कोई और मल्ल मान लिया जाए तो-वीर चाणूर-मुष्टिकाः—ऐसा बहुवचन का प्रयोग करना उचित है । इन मल्लों में चाणूर मुष्टिक प्रधान मल्ल होने से उनके नाम ही लिए हैं । जिस बात को वे लोग नहीं जानते थे, उसे उनसे कहने लगा । मन्त्रणा (गुप्त बात) में कहने वाले का नाम नहीं लेना चाहिए कि अमुक ने ऐसा कहा है । इसलिए (कहने वाले) नारदजी का नाम न लेकर अर्थात्, नारदजी ने ऐसा कहा है ।—यों न कहकर मूल में ‘किल’ कहा है । ये सभी बातें प्रसिद्ध ही हैं कि, रहते हैं, नन्द के व्रज में हैं और आनक दुन्दुभि वसुदेव के बेटे हैं ॥२२॥

श्लोकः—रामकृष्णौ ततो मह्यं मृत्युः किल निदर्शितः ।

भवद्भ्यामिह सम्प्राप्तौ हन्येतां मल्ललीलया ॥२३॥

श्लोकार्थः—(नारदजी ने) मुझे बतलाया है कि उनके हाथ से मेरी मृत्यु है । मैं उन्हें यहाँ बुला लेता हूँ । तुम अपने दाव पेंच की चतुराई से उन्हें मार डालना ॥२३॥

सुबोधिनीः—नाम्ना प्रसिद्धयर्थं नामाह
 रामकृष्णाविति, किमतो यथेवमित्याशङ्क्याह
 ततो मह्यमिति, मृत्युमरणं अत्रापि पूर्ववत्
 किलेति, निदर्शित इति नितरां दर्शितः प्रत्यक्षतया
 सर्वेकतः, तहि कि कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह
 भवद्भूयामिति, इह सम्यक् प्राप्तौ भवद्भूयां

चारगूरमुष्टिकाभ्यां मल्ललीलया हन्येतामिति
प्राप्येतामित्युक्तं भवति, यदि लौकिकभाषया स
विरुद्धं न वदेत् तदा भगवानपि लोकोत्तया तं न
गारयेत्, लीलयेति पद भागिनेयाविति प्रवृत्तया
तथाकरणमनुचितमिति, अत एव भगवतापि
तथैव कृतं न तु शस्त्रेण नापि गुष्टिभिः ॥२३॥

व्याख्यान :- रागकृष्णो-इस श्लोक से उनका प्रसिद्ध नाम लेकर भी कहता है । उन-दोनों को सबही ने स्पष्ट रूप से मेरी मृत्यु (मेरा काल) बतलाया है । इसलिए गली भाँति-हृणं पूर्वक-यहां आए हुए उन दोनों को आप-चारणूर और मुष्टिक-दोनों ही गल्ल की लीला (खेल) ही में मार डालना । हन्येतां-इन घातु गमनार्थक भी है-हन्येतां-भगवान् के हाथ से आप मर कर-ये ये हता-श्चक्र धरेण के अनुसार-उत्तम गति को प्राप्त कर लो-ऐसा भी कंस के कथन का तात्पर्य होता है ।

यहां यह अग्रिम्राण है, कि यदि कंस- 'हृग्येतां'—रामकृष्ण को मार डालने का लौकिक शब्द के द्वारा उन्हें आदेश नहीं देता, तो भगवान् कृष्ण भी, कंस का लोक रीति से वध नहीं करते । लौकिक विरोध की भाषा से बोलने के कारण ही भगवान् ने कंस को मारा था । राम कृष्ण-कंस की वहनि-देवकी के पुत्र-मानेज—हैं । मानेज को प्रकट रूप से अस्त्र शस्त्रों से मारना देना उचित नहीं है । इसलिए- 'मत्तलीलया'-पहलवानों के दाव पेचों से ही-खेल में ही उन्हें मार देने का उनको आदेश दिया । इसी कारण से ही, भगवान् ने भी कंस को शस्त्र और मुक्कों से न मारकर लीला (क्रीडा) पूर्वक ही आगे मारा है ॥२३॥

श्लोकः—मञ्चाः क्रियन्तां विविधाः मल्लरङ्गपरिभिताः ।

पौरा जानपदाः सर्वे पश्यन्तु स्वैरसंप्रुगम् ॥ २४॥

श्लोकार्थः—भाति भाति के मञ्चों की रचना करो और उनके बीच में एक भारी अखाड़ा बनाओ । पुगों और गांवों में रहने वाले लोग उन मञ्चों पर बैठकर इस दंगल को देखें ॥२४॥

सुबोधिनीः—अयं भावः भगवता तद्बुद्धये
स्थापित इति बालकवञ्चनायं मल्लरङ्गप्रकार-
माह मञ्चाः क्रियन्तामिति, विविधा इति मनो-
हरत्वाय येनान्यचित्तत्वे मारयितुं शक्येत,
मल्लानां रङ्गनाश्रित्य परितस्तिष्ठन्तीति मञ्चानां
रावेताः करणं येनैव तुल्येन मल्लैः सह युद्धं तथैव

सुबोधिनीः—अयं भावः भगवता तद्बुद्धये स्थापित इति बालकवञ्चनार्थं मल्लरङ्गप्रकार-
माह मञ्चाः क्रियन्तामिति, विविधा इति मनो-
हरत्वाय येनान्यचित्तत्वे मारयितुं शक्येत,
मल्लानां रङ्गनाश्रित्य परितस्तिष्ठन्तीति मञ्चानां
सावेतः कारणं येनैव सुखेन मल्लैः सह युद्धं तथैव
अगार्थं केवलभ्रंशो न भविष्यतीति तत्र लोकानां
निवेशनमाह पौरा जानपदा इति, पुरवासिनो
जनपद-वासिनश्च पृथक् पृथक् मञ्चे स्थिताः,
स्वैरसंयुगं स्वेच्छया युद्धं पश्यन्त्विति तेषां कोला-
हलेन वा अन्यचित्ततेति अपकीर्त्यभावश्च कलि-
प्यतीति ॥२४॥

व्याख्यानार्थः—कंस के हृदय में जो बात बुद्धि प्रेरक भगवान् ने उत्पन्न की, वही, वह चाणूर मूढिक को बुलाकर—‘मध्वाः क्रियन्तां’—इस श्लोक में उनसे बालकों को ठगने के लिए कहने लगा,

कि अखाड़े के चारों ओर भांति भांति के अनेक मनोहर-ऐसे सुन्दर-गंजों की सजावट करो कि उन्हें देखकर रामकृष्ण का भी मन आकर्षित हो जाए और तब, अन्य मनस्क-मंचों की शोभा देखने में संलग्न मन वाले, उनको तुम सहज ही में मार सको । अखाड़े के निकट सब तरफ मंच बना देने से, मल्लों के साथ युद्ध आसान हो जाता है और दाव पेंच भी अखाड़े में ही उनके किए जा सकते हैं । पुर और प्रान्त के निवासी लोग उन (मंचों) पर बैठ कर, अलग अलग, उक्त स्वेच्छा युद्ध-दंगल-को देखें ।' उनके कोलाहल (शोरगुल) से रामकृष्ण का भी चित्त बट जाएगा, वे अन्य मनस्क हो जाएंगे । तब वे सहज ही में मार दिए जा सकेंगे और दंगल में उनके मारे जाने पर अपकीर्ति भी नहीं होगी ॥२४॥

श्लोक;— महामात्र त्वयामदं रङ्गद्वयं पनीयताम् ।

द्विपः कुबलयापोडो जहि तेन समाहितौ ॥२५॥

श्लोकार्थः—हे महावत, तुम गो उस दिन रंग भूमि (अखाड़े) के दरवाजे पर कुवल्यापीड़ हाथी को लाकर खड़ा कर देना और जब मेरे शत्रु वे दोनों भाई, अखाड़े में आने लगें; तब वहीं पर ही, पहले ही तुम उनको मार देना ॥२५॥

सन्बोधिनीः—भगवदयमेवंतज् जातम्, तत्रापि सन्देहे उपायान्तरमह महामात्रेति, महामात्रो महाहस्तिपः कुवलयपीडस्य पट्टहस्तिनो यन्ता तस्य सम्बोधनं प्रोत्साह्य त्वया कुवलयपीडो रङ्गद्वारि नेतव्यः, न त्वन्येन नाप्यन्यः, भद्रेति सम्बोधनं तव कापि चिन्ता न भविष्यतीति ज्ञापनार्थं, सरस्वतीसंवादात् अभद्रेति ज्ञानं, कुः पृथिवी तस्या बलपस्य आपीडं मुकुटरूपं, ततः विमत ग्राह, मम ग्रहीतो कामकोधो जहीति, न त्वन्यः ग्रहीतः ॥२५॥

व्याख्यानार्थः—यद्यपि भगवान् कृष्ण का अनिष्ट करना सोचकर ही, कंस ने मल्लों को आदेश दिया था; किन्तु उस उपाय में संदेह करके “महामात्र” —इत्यादि श्लोक से फिर दूसरा उपाय कहता है। कंस के सबसे प्रधान हाथी का नाम कुवलयापीड था। उसके सबसे मुख्य बालक (यन्त्रा) को प्रोत्साहन करता हुआ सम्बोधित करके कहता है. कि हे महामात्र, हे महावत, हे भद्र, निश्चिन्त होकर, तुम ही कुवलयापीड को ही अखाडे के द्वार पर ले जाकर खड़ा करो। कोई दूसरा महावत किसी दूसरे हाथी को वहां खड़ा न करे।

सरस्वती के संवाद से महावत अगांगलिक माने जाते हैं, यह जानकर कंस ने उसे-अभद्र (अगांगलिक) पद से भी सम्बोधित किया है। यह हाथी कु (पृथिवी) 'वलय, आषोड' (मण्डल का मुकुट रूप) है।' इसलिए इस हाथी के द्वारा मेरे दोनों शत्रु (काम क्रोधों) को गार गिराओ। क्योंकि इन दोनों के अतिरिक्त अन्य कोई शत्रु मनुष्य का नहीं होता। ये दोनों काम क्रोध ही सबके, सबसे बड़े शत्रु हैं। इनके भार दिए जाने पर, ही केवल कंस का ही नहीं, मनुष्य मात्र का कल्याण है ॥२५॥

श्लोकः—आरभ्यतां धनुर्यागश्चतुर्दश्यां यथाविधि ।

विशसन्तु पशून् मेध्यान् भूतराजाय मोदुषे ॥२६॥



श्लोकार्थः—चौदस के दिन तन्त्रोक्त विधि के अनुसार शिव की प्ररान्नता के लिए धनुषयज्ञ का आरम्भ किया जाए और आशुतोष वरदानी भूतनाथ शिव की पूजा में अनेक पशुओं का बलिदान किया जाए ॥२६॥

सुबोधिनी—एवं लौकिकमुपायमुक्त्वा अलौकिकमाह आरभ्यतामिति, अयं विष्णुश्च इति तस्य प्रतीतिः अतः शिव आराध्यः स एव तत्प्रतिबलो भवितुमर्हतीति तत्रापि तस्य यागा बहवः तन्मध्ये युद्धजयोगिकाङ्क्षित इति धनुर्याग एव कर्तव्यः, यत्र धनुषि शिवः पूज्यते स शैवतन्त्रे धनुर्यागः प्रसिद्धः चतुर्दश्यां स कर्तव्यः, यतश्च-	तुदंशी शिवतिग्निः, यथाविधौति अधिवासनादि-पुरःसरं तत्तन्त्रोक्तन्यायेन हिंसाप्रचुरश्च यागः कर्तव्यः, शैवतन्त्रे शिवभेदा बहवः सन्तीति तदर्थं हिंसाप्रचुरश्चेत् क्रियते तदा तादृश एव देवो भवतीति तदाह भूतराजायेति, मीढुषे कामपूरकाय सर्वथा फलदात्रे ॥२६॥
---	---

व्याख्यानार्थ - इस प्रकार कंग लौकिक उपायों द्वारा कृष्ण का अनिष्ट करने का आदेश देकर—‘आरभ्यतां’ इस श्लोक से अलौकिक उपाय करने को भी कहता है। वह कृष्ण को विष्णु का अंश मान रहा था और इसलिए शिवजी ही कृष्ण का प्रतिद्वन्दी बलवान्-समान बलवाले-हो सकते हैं, उनकी ही आराधना करनी चाहिए। शिव याग अनेक हैं, जो भिन्न भिन्न कामना से किए जाते हैं। उनमें से युद्ध में विजय की आकांक्षा से ‘धनुर्याग’ ही किया जाता है। इसलिए धनुर्याग करने का ही वह आदेश देता हुआ कहता है कि धनुर्याग का आरम्भ किया जय।

जिस ‘याग’ में धनुष में शिवजी की पूजा की जाती है, वह शिवतंत्र में धनुर्याग नाम से प्रसिद्ध है, और वह चतुर्दशी (चौदस) के दिन किया जाता है, क्योंकि, वह शिवजी की तिथी है। उस दिन शिवतंत्र में बताई हुई विधि के अनुसार अधिवासनादि पूर्वक अत्यन्त हिंसात्मक-धनुर्याग किया जाय। शैवतन्त्र में शिवजी के बहुत भेद बतलाए हैं। उनमें भूतनाथ भेद ही प्रचुर हिंसा प्रिय रूप कहा है। इसलिए ऐसे प्रचुर हिंसात्मक धनुर्याग में वैसे ही प्रचुर हिंसा प्रिय देव भूतनाथ के लिए बलि दी जाय। वे कामना पूर्ण करने वाले और अवश्य ही फल देने वाले हैं ॥२६॥

श्लोकः—इत्याज्ञाप्यार्थतन्त्रज्ञ आहूय यदुपुङ्गवम् ।

गृहीत्वा पाणिना पाणिं ततोऽक्रूरमुवाच ह ॥ २७॥

श्लोकार्थः—स्वार्थ साधने में कुशल, कस ने इस तरह पहलवानों और महावत को आज्ञा देने के अनन्तर यादवों में श्रेष्ठ अक्रूर को बुलाया और एकान्त में ले जाकर अपने हाथ में उनका हाथ लेकर उनसे वह कहने लगा ॥२७॥

सुबोधिनी—एवं दृष्टादृष्टोपायमुक्त्वा समानयनोत्तर-कालमेतदिति समानयनार्थं अक्रूरं प्रषयितुं तमाकारितवानित्याह इत्याज्ञाप्येति,	अर्थतन्त्रज्ञः कार्यपरिकराभिज्ञः अक्रूरं विना नान्येन कार्यं सिद्धयतीति ज्ञात्वा, यदुपुङ्गवं यादवश्रेष्ठं गृहादाहूय पाणिना तस्य पाणिं
--	--



गृहीत्वा सन्माननार्थं परिगृह्य ततः प्रीतं ज्ञात्वा । एवं कार्यार्थं प्रेषयितुमुचित इति ॥२७॥
स्वभावतोप्यक्रूरमुवाच, हेत्याश्चर्यं न हि भगवद्भक्तः

व्याख्यान—इस प्रकार महायत और गहलों से दृष्ट, अदृष्ट-लौकिक, अलौकिक उपाय करने का आदेश देकर ये उपाय तो कृष्ण के यहां आने पर ही किए जा सकेंगे - इसलिए गोकुल से कृष्ण को लिवा लाने के लिए अक्रूर को भेजने की इच्छा से 'इत्याज्ञाप्य'—इस श्लोक में कंस का अक्रूर को उसके घर से बुलाने का वर्णन करते हैं। कार्य सिद्धि के उपायों को जानने में निपुण कंस ने यह जानकर कि एक अक्रूर ही कृष्ण को यहां मथुरा ला सकता है, दूसरा कोई भी इस काम को सिद्ध नहीं कर सकता—यादवों में श्रेष्ठ अक्रूर को—जो स्वभाव से ही सोम्य (क्रूर नहीं) थे—उसके घर से बुलवाकर आदर पूर्वक हाथ से उसका हाथ पकड़ कर—अक्रूर को प्रसन्न जानकर—उससे कहा। मूल में—'ह' इस आश्चर्य बोधक अव्यय का यह तात्पर्य है कि अक्रूर जैसे भगवद्भक्त को कृष्ण का अनिष्ट करने के विचार से उन्हें लिवा लाने के लिए कंस का शिजवाना उचित नहीं है। यह आश्चर्य है ॥२७॥

श्लोकः—भो भो दानपते मह्यं क्रियतां मंत्रमाहृतः ।

नान्यस्त्वत्तो हिततमो विद्यते भोजवृष्णिषु ॥२८॥

श्लोकार्थः—हे दानाध्यक्ष अक्रूरजी आप मेरे परम मित्र और हितैषी हैं। यादवों में किसी अन्य का मैं आप से बढ़ कर आदर नहीं करता। आपसे बढ़कर हितैषी मेरा कोई नहीं है। इसीलिए आपको मेरा एक काम अवश्य करना होगा।

सुबोधिनीः—भो भो इति सम्बोधने द्विरुक्ति-
रत्यादरसूचिका, दानपते इति तद्वर्णकोर्तनं स
हि दानमात्रस्याधिष्ठाता द्वादशसंवत्सरपर्यन्तं
प्रत्यहं गोदाने क्रियमाणे जातः, तन्मातापि तथा
गान्दिनी, यथा आर्तम्योन्यदानं तथा मह्यमार्ताय
भगवान् देय इत्यर्थः, मह्यं मंत्रं मित्रकार्यं
क्रियताम्, अनेन त्वयि मंत्री स्थाप्यते, यथा मित्र-
स्योचितं तथा कुर्वित्यर्थः, तत्राप्याहृतः आदरयुक्तः

कर्तरि क्तः मया वा आहृतः आहृतो यतः, एतादृशं
कर्म अन्येन कारणीयमित्याशङ्क्याह नान्य इति,
त्वत्तः अन्यः मे हिततमो नास्ति, अनुवृत्त्या
ज्ञायते, भोजः पितृवंश्या वृष्णयो यादवाः,
सामान्यविशेषभावे तद्वद्वयमाह, अतः सामान्यतो
वा विशेषतो वा नान्यो हिततमो वर्तते
इत्यर्थः ॥ २८ ॥

व्याख्यान—सम्बोधन में—'भो भो' यह दो बार कथन अक्रूरजी में कंस का आदर सूचित करता है। दानपते-सम्बोधन से उनके दान धर्म का कीर्तन किया। बारह वर्षों तक प्रति दिन गोदान करते रहने से अक्रूर जी सभी दानों के अधिष्ठाता हो गए थे। उनकी माताजी गान्दिनी-गोदान करने वाली थी। अक्रूरजी जैसे आप दुःखियों के लिए उनकी अभिलषित वस्तु देते हो, वैसे ही पीड़ित मेरे (कंस के) लिए भगवान् कृष्ण को दान करो। तुम मेरा (मित्र का) काम करो। तुम मेरे मित्र हो। जिसमें मित्र का हित हो, वैसा आदर पूर्वक करो। मैं आपका सम्मान करता हूँ। यह एक ऐसा काम है जिसे तुम ही कर सकते हो, तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई भी इस काम को नहीं कर सकता है,



बयोकि, गितावंशज भोजों में और यदुवश में उल्लास होने वाले वृष्णि वंशी यादवों में सामान्य रीति से, अथवा विशेष प्रकार से, एक आप ही मेरे परम हितधी है । दूसरा कोई भी मेरा हितू नहीं है ॥२८॥

श्लोकः—अतस्त्वामाश्रितः सौम्य कार्यगौरवसाधनम् ।

यथेन्द्रो विष्णुमाश्रित्य स्वार्थमध्यगमाद्विभुः ॥२९॥

श्लोकार्थः—जैसे शक्तिशाली इन्द्र ने विष्णु का आश्रय लेकर अपने सब काम सिद्ध कर लिए वैसे ही, मैं भी अपने एक बड़े भारी काम को साधने के लिए आपका सहारा लेता हूँ ॥२९॥

सुबोधिनी—ततः किमत्र आह अतस्त्वामाश्रित इति, एतावत् कालं मां त्वमाश्रितः, अधुना तु त्वामहमाश्रितः, सौम्येति सम्बोधनं आश्रययोग्या-
श्रम, कार्यस्य महद्गौरवं तस्य साधनं प्रति तत्सा-
धयितुं साधने वा साधनार्थं, ननु विधेयस्याश्रयः
न य युक्त इति चेत्तत्राह यथेन्द्र इति, इन्द्रो ज्येष्ठः

विष्णुरूपेन्द्रः कनिष्ठः तथापि दैत्यैस्त्रैलोक्ये हते तत्सिद्धयर्थं विष्णुमाश्रित्य कार्यं साधितवान् एवमहमपि साधयितुमुद्युक्तः स्वार्थं गमिष्यामि विभुरपीन्द्रः अतः कार्यार्थं समाश्रयणं न निन्दितमिति भावः ॥२९॥

व्याख्यान - इस कारण से—“अतस्त्वामाश्रितः” इस श्लोक से आगे की बात बतलाता है । कंस ने अक्रूर से कहा, कि अब तक तो तू (अक्रूर) मेरे आश्रित था और अब मैं तुम्हारे आश्रित हूँ । कार्य-जिसे कंस अक्रूरजी से कराना चाहता है—अत्यन्त गौरव पूर्ण है । उसके उपाय के प्रति, उसको सिद्ध करने के लिए अथवा उसको पूरा करने में अक्रूरजी आश्रय सहारा-लेने के योग्य हैं—यह बात-‘सौम्य’ (अक्रूरजी) पद से उनको सम्बोधित करके, स्पष्ट की है, स्वामो (किसी काम में) कभी सेवक का आश्रय ले, (सहारा चाहे) यह तो अनुचित है । इसलिए दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं, कि जैसे शक्तिशाली (विभु) और बड़े इन्द्र ने भी असुरों के द्वारा त्रिलोकी, (स्वर्ग) को हर लेने पर, अपने से छोटे-उपेन्द्र (विष्णु) का आश्रय (सहारा) लेकर अपना कार्य सिद्ध किया था । वैसे ही कार्य सिद्धि के लिए मुझ बड़े (कंस) का अक्रूर का जो छोट्टा और सेवक है—आश्रय लेना अनुचित एवं निन्दनीय नहीं है । इसी अभिप्राय से, मूल श्लोक में, इन्द्र उपेन्द्र का दृष्टान्त देकर, स्पष्ट किया है । असुरों के स्वर्ग को हर लेने पर, जैसे इन्द्र ने उपेन्द्र का आश्रय लेकर, कार्य सिद्धि प्राप्त की थी, वैसे ही कार्य सिद्धयर्थ, बड़े (कंस) को छोटे (अक्रूर) का आश्रय चाहना अनुचित तथा निन्दनीय नहीं है ॥२९॥

श्लोकः—गच्छ नन्दव्रजं तत्र सुतावानकदुन्दुभेः ।

आसाते ताविहानेन रथेनानय मा चिरम् ॥३०॥

श्लोकार्थः—हे तात, आप आज ही नन्द के व्रज में जाईए । वहां वसुदेव के दो पुत्र कृष्ण और बलराम रहते हैं । उनको इस रथ पर बिठाकर शीघ्र यहां ले आईए, देर न कीजिए ॥३०॥



सुबोधिनी:—तत्कार्यमाह गच्छ नन्दव्रजमिति, आसाते, ततः किमत ग्राह ताविहानेन रथेनानप
ततः तत्रानकदुन्दुभेः जन्मकालेपि भगवदधिष्ठा- चिरं मा विलम्बो न कर्तव्यः ॥३०॥
नत्वेन प्रपिद्वस्य सुतो रागकृष्णौ तत्र व्रजे

व्याख्यानार्थः—‘गच्छ’ इत्यादि श्लोक से अक्रूर के करने का काम कहता है। कंस ने कहा, कि हे अक्रूर, तुम शीघ्र नन्द के व्रज में जाओ और वहां-जिनके जन्म काल में देवों ने दुन्दुभि बजाकर यह प्रसन्नता प्रकट की थी कि इनके यहां साक्षात् भगवान् अवतरित होंगे उन आनक दुन्दुभि नाम से प्रसिद्ध वसुदेवजी के राम और कृष्ण-दो पुत्र रहते हैं। उन दोनों को इस रथ पर बिठाकर यहां शीघ्र ले आओ, विलम्ब मत करो ॥३०॥

श्लोकः—निसृष्टः किल मे मृत्युर्देवैर्वंकुण्ठसंश्रयः ।

तावानय समं गोपैर्नन्दाद्यैः साम्युपायनैः ॥३१॥

श्लोकार्थः—विष्णु का आश्रय लेकर रहने वाले देवों ने, उन्हें मेरी मृत्यु के लिए सिरजा (उत्पन्न किया) है; यह निश्चित है। नन्द आदि गोपों को भी तरह तरह की भेंटें लेकर यहां आने के लिए कहो और उनके साथ ही आप कृष्ण और बलदेव को भी लेते आवें ॥३१॥

सुबोधिनी:—प्रयोजनाकाङ्क्षायामाह निसृष्ट इति, किलेति प्रसिद्ध्या पूर्ववन् नारदगोपनं उभा- मृत्युः, देवैर्निसृष्ट इत्यनुल्लङ्घ्यः, ननु
वेव मृत्युः, देवैर्निसृष्ट इत्यनुल्लङ्घ्यः, ननु दैत्यानां देवा वध्या इति किं तैरिति चेत् तत्राह
वंकुण्ठसंश्रयैः वंकुण्ठो विष्णुः स एव सम्यगाश्रयो येषाम्, अतो भगवदाश्रयेण देवैः क्रियत इति
नान्यथा सोयः शेत्यति, पूर्व रथेनानयेत्युक्त्वापि मृत्युत्वेन निर्देशेनानेष्यतीति पुनराह तावानयेति,
विशेषेमाह समं गोपैरिति, सर्वैः सहैव कदाचिदा-
यास्यतीति बालकत्वाद्वा नायास्यतीति पित्रा
सखिभिः सहानयेति नन्दाद्यैरित्युक्तम्, व्याजार्थ-
माह साम्युपायनैरिति, अभ्युपायनं गृहीत्वा
सगागन्तव्यमिति वक्तव्यम् ॥३१॥

व्याख्यानार्थः—“निसृष्टः”—इस श्लोक से राम कृष्ण को बुलाने का प्रयोजन कहता है। कंस पहले की तरह नारदजी का नाग न लेकर कहता है कि उन दोनों राम और कृष्ण को विष्णु भगवान् का दृढ आश्रय रखने वाले और दैत्यों के शत्रु देवों ने मेरा काल रूप उत्पन्न किया है। भगवान् के आश्रय से देवों का यह कार्य विपरीत नहीं होगा। यद्यपि कंस ने अक्रूर को पहले रथ में बिठाकर, राम कृष्ण को लिवा लाने का आदेश दे दिया है, किन्तु फिर भी—यह सोचकर कि वे दोनों मेरी मृत्यु है—इस कथन से अक्रूर उन्हें अवश्य ले आवेगा, लिवा लाने का आदेश दे रहा है, कि उन दोनों को यहां लिवा लाओ। यदि अकेले नहीं आवें तो गोप लोगों के साथ ही लाओ और बालक स्वभाव से यदि गोपों के साथ भी न आवें, तो उनके पिता नन्दजी और उनके मित्रों के साथ ही लाओ तथा भेंट लेकर आने के बहाने से ले आओ। किसी भी प्रकार से छल पूर्वक भी भेंट लाने के बहाने से ही बुलाने का आदेश देता हुआ कहता है कि ॥३१॥

व्याख्यान—तदनन्तर, वह जो कार्य करना चाहता था, उनको 'तयो' इस श्लोक से प्रकट करता है। उन राम कृष्ण का अनिष्ट मृत्यु के पश्चात् उनके शोक से सन्तप्त तथा युद्धादि करने में



शक्ति हीन वसुदेव आदि प्रधान २ तथा उनके बन्धुओं और धृष्टिण, भोज आदि शाखा के यादवों को सहज ही में मार दूंगा ॥३३॥

श्लोक—उग्रसेनं च पितरं स्थविरं राज्यकामुकम् ।

तद्भ्रातरं देवकं च ये चान्ये विद्विषो मम ॥३४॥

श्लोकार्थ—इसके बाद, बूढ़े होने पर भी, राज्य करने की लालसा रखनेवाले, अपने पिता उग्रसेन को, उनके भाई देवक को और अपने अन्य शत्रुओं को भी मार डालूंगा ॥३४॥

सुबोधिनी—तत उग्रसेनोपि यद्यपि पिता तथापि सा दुष्ट इति वक्तुं तस्य दोषमाह स्थविरं राज्यकामुकमिति वृद्धोऽपि भूत्वा राज्यं कामयत इति, य एव शत्रुषु त्यास्यति स एवापकरिष्यतीति तद्भ्रातरं देवकं च मारयिष्यामि, किञ्च ये केचन मम विद्विषः बान्धवाः अन्ये च तान् सर्वानेव हनिष्यामि, तेषां हनने हेतुः विद्विष इति ॥३४॥

व्याख्यान—यद्यपि उग्रसेन मेरे पिता हैं, तो भी वे दुष्ट हैं; क्योंकि, अत्यन्त वृद्ध भी वह राज्य करने की लालसा रखता है। उस दुष्ट पिता उग्रसेन को, जो मेरे शत्रुओं में मेरा अपकार कर सकेगा, उनके भाई-मेरे काका-देवक को और जो कोई भी मुझसे बैर रखने वाले हैं, उन सबको ही मार दूंगा तथा मरवा डालूंगा ॥३४॥

श्लोक—ततश्चैषा मही मित्र मवित्रो नष्टकण्टका ।

जरासन्धो मम गुह्यद्विविदो दयितः सखा ॥३५॥

शम्बरो नरको बाणो मध्येव कृतसौहृदाः ।

तेरहं सुरपक्षीयान् हत्वा भोक्ष्ये महीं नृपान् ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे मित्र, तब इस पृथिवी पर मेरा कोई शत्रु शेष नहीं रह जाएगा। मैं निष्कण्टक होकर राज्य करूंगा। मेरे श्वसुर जरासन्ध, प्रिय मित्र द्विविद वानर, शम्बरासुर, नरकासुर और बाणासुर आदि अपने हितकारियों की सहायता से देवों का पक्ष करनेवाले राजाओं को मार कर सम्पूर्ण पृथ्वी का चक्रवर्ती राजा बन एकछत्र पृथ्वी को भोगूंगा ॥ ३५-३६ ॥

सुबोधिनी—ननु सर्वेषु हतेषु भोगो न भविष्यतीति किं हननेनेति चेत् तथाह ततश्चेति, एषा मही नष्टकण्टका भविष्यति, ये केचन राजानः भूमौ चरन्ति पथिका इव तत्र ये प्रति- बन्धकाः ते कण्टकाः तेषु गतेषु नष्टकण्टका भवति, अनेनास्याभिनिवेशवर्णनेन यदा भगवान् स्मं मुक्तिं दास्यति तदास्य मनोरथः कर्तव्य इति भक्तहितार्थं निष्कण्टकं कृतवानिति निरूपितम्,



अन्यथास्य मनोरथवर्णनं व्यर्थं स्यात्, विपरी-
तोक्तिरिति विपरीता गतिरग्रे वक्ष्य्या, निष्कण्टक-
भूमी भोगः सिध्यति, सहायारुध वर्तन्त इत्याह
जरासन्धो मम गुरुरिति, गुरुः स्वशुरः हितोपदेश-
च, द्विविदो वानरः, स दयितः प्रियः, स्वभाव-
तोपि सखा च ॥३५॥ शम्बरदयश्च तथेत्याह
अथैव नान्यस्मिन्, अन्यथा दैत्येष्वपि परस्पर-
विसम्मतौ भोगो न सेत्स्यतीति तदर्थमेवकारः,
कृतं सौहृदं यैरिति, पूर्वमपि तैरुपकारः कृत इति
अग्रेपि कर्तव्य इत्यर्थः । ननु बहवो देवपक्षाः कथं
स्वयंकाकिना निवार्या इत्याशङ्क्याह तैरहमिति,

भोगेपि तेषां सहभावः शत्रुनिवारणेपि, पूर्व
दैत्यानामेव भूमिः राज्यं स्वर्गश्च, अत एव
पूर्वदेवास्ते, ब्राह्मणा इव स्थिता देवाः पुरोहिता
इव, पृथ्वाद् यज्ञादिभिः तान् निवार्य भगवान्-
माराध्य नित्यसृष्टिप्रकारेण वेदं दृष्ट्वा ततो
देवा जाता इति कृत्रिमा एव ते न तु सहजा इति,
अत एव कालः तेषामपि पक्षपातं करोति तथाघु-
नापि करिष्यतीति तस्य मनोरथः, नृपा युधिष्ठि-
रादयः, अतः सान्तमेव विरोधकार्यं सेत्स्यतीति
न भयं त्वया कर्तव्यम् ॥३६॥

व्याख्यानार्थ — भोग तो, सभी के जीवित रहते ही भोगे जाते हैं । राव ही के मर जानें, अथवा
मार दिए जाने पर, भोग ही नहीं भोगे जा सकते, भोग भोग ही नहीं रह सकते । तब सबको मार
देने से, क्या लाभ है ? इस शंका के उत्तर-ततश्च-इस श्लोक से देता है, कि यह पृथिवी निष्कण्टक हो
जाएगी । पृथिवी पर पथिकों की तरह घुमने वाले राजाओं में जो प्रतिबन्धक, भोग में विघ्न रूप-हैं,
उन कण्टकों के न रहने पर, यह पृथिवी निष्कण्टक होती है ।

कंस के इस अत्यन्त आग्रह के वर्णन से इस बात का निरूपण किया है, कि जब भगवान्
कंस के लिए भोक्ष प्रदान करेंगे, तब उसका मनोरथ भी सिद्ध करेंगे । इसलिए उसके मनोरथ के
अनुसार-भक्तों का हित करने के लिए कंस को मार कर भगवान् ने पृथिवी को निष्कण्टक कर दिया
उसके मनोरथ को व्यर्थ नहीं होने दिया । आगे अध्याय में स्वयं कण्टक रूप कंस का वध कर देने
पर, यह पृथिवी निष्कण्टक हो जाएगी—इस विपरीत कथन का यह अभिप्राय है ।

ध्रियते पावदे कोपि रिपुस्तत्र कुतः सुखं-के अनुसार एक शत्रु-(कण्टक) के रहते हुए भी सुख
भोग सुलभ नहीं है । निष्कण्टक पृथिवी पर सुख भोग सिद्ध होता है । इसी प्रकार सुख भोग में
सहायकों का होना भी अपेक्षित है । अतः अपने सहायकों का वर्णन करता है । जरासन्ध मेरे
स्वशुर हैं, जो मुझे सदा हित का उपदेश देते रहते हैं । द्विविद नाम का बन्दर मेरा या स्वभावं वाला
होने के कारण "समानशील व्यसनेषु मैत्री" मेरा प्यारा मित्र है ।

दैत्यों में भी परस्पर विरोध होने पर भोग सिद्ध नहीं हो सकती । इसलिए कहता है, कि
शम्बर, नरक, बाण आदि धसुर एक गुप्त (कंस) पर ही प्रीति रखते हैं । उन्होंने मेरा पहले भी
उपकार किया है और आगे भी करेंगे । उनके द्वारा ही एकाकी भी मैं असंख्य देव पक्षों का निरा-
करण (नाश) कर दूंगा क्योंकि, वे सुख भोग में ही मेरे (कंस के) साथी हैं और देव पक्ष (शत्रु)
का नाश करने में भी सहायक हैं ही ।

कंस का मनोरथ था, कि पहले यह पृथिवी, सारा राज्य और स्वर्ग, ये सभी दैत्यों ही के थे
और इसी कारण दैत्यों को पूर्व देव कहा जाता था । देव तो ब्राह्मण पुरोहित की तरह दैत्यों के
पुरोहित से थे । फिर उन ब्राह्मण पुरोहित के समान स्थित वे देवपण, नित्य-सर्वदा-सृष्टि के क्रम से



वेद का अध्ययन करके वेदोक्त विधि से यज्ञ और भगवान् की आराधना करके देवता बन गए हैं। इसलिए वे कृत्रिम देव हैं, सहज नहीं हैं और इसी कारण से, काल, दैत्यों का भी पक्षपात (राहायता) करता आया है और अभी भी पक्षपात करेगा ही। इस प्रकार, हे अक्रूर ! युधिष्ठिर आदि देव पक्षीय विरोधी राजाओं और विरोध कार्य पूर्णतया समाप्त हो जाएगा। तब मैं (कंस) निष्कण्ठक पृथिवी का भोग कर सकूंगा। तुम इस विषय में कोई प्रकार का भय मत करो ॥ ३५-३६ ॥

लेख—“तैरहं सुर पक्षीयान्” ३६ वे श्लोक के द्वितीय चरण की सुबोधिनी में ‘नित्यसृष्टि प्रकारेण’ इत्यादि पंक्तियों का तात्पर्य यह है, कि पहले पुरोहित की तरह रहने वाले देवों ने विचार किया कि अभी तो दैत्य लोगों का राज्य है; किन्तु सर्वदा सृष्टि के क्रम से देवों ने वेदों में यज्ञों के द्वारा दैत्यों का पराजय देखकर यज्ञों से दैत्यों का पराजय करके देव हो गए, आसुर कल्प में दैत्यों का ही राज्य था। असुर होने से स्वयं कंस ने आसुर मत का अनुवाद किया है। इसलिए काल, दैत्यों का ही पक्ष लेता है ॥३७॥

श्लोक—एतत् ज्ञात्वा नय क्षिप्रं रामकृष्णविहारभकी ।

घनुर्मखनिरोक्षार्थं द्रष्टुं धदुरभ्रियम् ॥३७॥

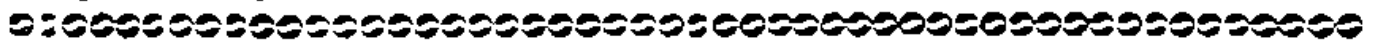
श्लोकार्थः—यह जानकर हे अक्रूरजी ! आप शीघ्र ही कृष्ण और बलराम को घनुषयज्ञ और मथुरापुरी की शोभा दिखाने के बहाने से यहाँ ले आईए ॥३७॥

सुबोधिनी—किन्वेतत् ज्ञात्वा क्षिप्रमानय, ननु समर्थो रामकृष्णौ कथं मया आनेतुं शक्या-
विति चेत् तदाह अर्भकाविति, बालकौ हि कोतु-
कार्यं यत्र वचनान्गच्छतः तयोः स्वाने नास्मद-
भिप्रेतं वक्तव्यं किन्तु घनुर्मखनिरोक्षार्थं धदुरभ्रिय-
मथुरायाश्च श्रियं द्रष्टुमिति, मित्रभेदं न करिष्य-

तीति सर्वमेव तदुक्तवान्, अक्रूरोयं द्विस्वभावो
जोवः सात्त्विकः कार्यार्थं दैत्याविष्टश्च, अन्यथा
तं प्रति कंसो न वदेत्, नापि दैत्यैः सह प्रीतिः
स्यात्, तदुक्तविषयान् वा अनुभूयात्, एवं राति
तस्य कार्यकर्तृत्वमपि न विरुद्धं भवति, स्वमन्त-
कादिप्रसङ्गश्च न विरुद्धो भवति ॥३७॥

व्याख्यायः—“एतत् ज्ञात्वा” यह जानकर, उन्हें यहां शीघ्र ले आओ, यद्यपि, वे दोनों बल-
शाली हैं। उनका सहज लिवा लाना साधारण नहीं है, किन्तु वे बालक हैं। बालक खेल कूद क्रीड़ा
को देखने के उत्साह से चाहे जहां आ ही जाते हैं। इसलिए धनुर्याग और मथुरा की शोभा देखने के
बहाने ले आओ। उनसे वहां मेरे मन की बात प्रकट मत करना। तुम मित्रभेद नहीं करोगे, यह जान-
कर, मैंने अपने मन की बात तुमसे कह दी है।

यह अक्रूरजी दो स्वभाव वाले जीवात्मा, सात्त्विक हैं, और कार्य के लिए दैत्य के आवेश
वाले हैं : दैत्याविष्ट जोव होने के कारण ही, कंस ने इनके आगे अपने सारे दुर्भाव प्रकट कर दिए,
भगवान् कृष्ण को लिवाने गेजा और दैत्यों के साथ इनकी प्रीति थी तथा दैत्य कंस की प्रदत्त जीवि-
का का उपभोग करते थे। ऐसी स्थिति में कंस के आदेश के अनुसार कार्य करना और स्वमन्तक
मणि आदि का प्रसङ्ग अक्रूर के लिए अनुचित नहीं है ॥३७॥



अक्रूर उवाच ।

श्लोक—राजन् मनीषितं सम्यक् तव स्ववद्यमार्जनम् ।

सिद्धयसिद्धयोः समः कुर्याद् देवं हि फलभावनम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—अक्रूर ने कहा कि—महाराज ! आपका विचार बहुत ही अच्छा है । अपने शत्रु को मारना, अपने अमंगल को मिटाना मनुष्य का पहला कर्त्तव्य है । परन्तु उस उद्योग का पूरा होना अथवा पूरा न होना मनुष्य के (अपने) वश की बात नहीं है । फल देनेवाला देव ही है ॥३८॥

सुबोधिनी—सन्दिग्धं तं प्रत्युत्तरमाह द्विरव-
भावत्वात्, राज्ञिति सम्बोधनं आज्ञाकरणा-
वश्यकत्वार्थं स्नेहसूचनार्थं, मनीषितं विचारितं
सम्यगेव, तदपि तव न तु गम, विचारस्य सम्यक्त्वे
हेतुः स्थावद्यमार्जनमिति, येन स्वस्य लौकिक-
प्रतीत्यापराधो न भवति, अनेन कालो राजा त्वं
तु सेवक इति निरूपितम्, अन्यथा कथमयं भीतो
भवेत्, भ्रगात् लोकानामन्यथाप्रवृत्तौ कालस्तानेव
दुष्टान् जानीयादिति न तव दण्डः स्यात्, दैत्य-
सिद्धान्तश्चावलम्बित इति न शास्त्रद्वारापि
विरोधः, देवानामेव हि राज्ये तेषामधिकारात्
तदुक्तरीत्या नरकस्वर्गौ न तु दैत्यानामधिकारे,
अन्यथा दैत्यैर्देवपराजयो न स्यात् ग्रहास्तु साधा-
रणाः अतो मनीषितं सम्यगिति न विरुद्धयते.
अयं च सर्वसिद्धान्ताभिज्ञः, कालस्यैषा व्यवस्था
भगवान् सर्वप्रकार इति न भगवच्छास्त्रविरोधः,
अन्यथा वाचनिकी दैत्यानां मुक्तिर्बाधिता स्यात्,
विरुद्धेष्वपि मतेष्वनुभावश्च न स्यात्, कालग्रहे
प्रविष्टश्च भगवान् स्वकीयान् कालस्थानुद्धृत्य
नयतीति भगवत्लक्षणो देशः कालादतिरिच्यते,

अतो व्यवहारार्थं सर्व एव कालात् विभ्यति,
भगवांश्च कालं वञ्चयित्वैव भक्तान् नयति काल-
रूपश्च भवति, अतो भगवदवतारः कालाति-
क्रमार्थं एवेति प्रमेयबल सिद्धिः, प्रमाणबलं
सर्वजनीनम्, अन्यथा देवा ब्राह्मणा धर्मश्च
प्रतिष्ठिता न भवेयुः, मध्यगकालो द्विविधाविति
देवदैत्यविभागः, मूलभूतस्तु समः अतः प्रमाणबलं
मध्यभाव एव प्रमेयबलं तु मूलोल्लङ्घनमपि
कारयतीति सिद्धान्तरहस्यम्, यतो दैत्यानां
सिद्धान्तोनेनावलम्बितः, अतः सिद्धान्तानुसारेण
सम्यगेवावलम्बितं, अतः पक्षद्वये सम्बन्धात् मूल-
कालः किमनुगुण इति ज्ञानुमशयत्वात् नैकतर-
सिद्धान्तः सिध्यतीति तं प्रति सिद्धान्तमाह
सिद्धयसिद्धयोः समः कुर्यादिति, प्राणिना सर्व-
सिद्धान्ताभिज्ञेन यत् कर्त्तव्यं तत्राग्रहो न कर्त्तव्यः,
यतो द्वैषस्य विद्यमानत्वात् प्रयत्न एव स्वस्य न
तु फलं, फलं दैवाधीनमित्याह देवं हि फलभावन-
मिति, फल देवमेव भावयति, अनेन पक्षद्वयं
संगानमुक्तम् ॥३८॥

व्याख्यार्थ—सात्त्विक और दैत्यादिष्ट भेद से दो प्रकार के स्वभाव वाले अक्रूरजी 'राजन्' इस श्लोक से सन्देह-संशयात्मा-कंस के प्रति उत्तर देते हैं । राजन्-इस सम्बोधन से आज्ञापालन की अवश्य कर्त्तव्यता और स्नेह की सूचित करते हुए अक्रूरजी ने कहा कि आप (कंस) का विचार ठीक ही है; क्योंकि, घनुर्याग और गथुरा की शोभा को देखने के बहाने से बुलाए गए और उत्पाह पूर्वक स्वयं भी यहाँ आए हुए उन दोनों का अगिष्ट (मरण) करवा देने पर भी लौकिक जनता की दृष्टि में



आप (कंस) अगराधी नहीं माने जाओगे । इस निरपराधी माने जाने के विचार को कह कर, यह निरूपण किया है, कि काल राजा है, और कंस उस काल का सेवक है, क्योंकि यदि कंस राजा होता तो, काल से वह क्यों डरता । फिर भी, यदि जनता भ्रम से, कंस को ही राजा समझती रहें तो, काल, जनता को ही दुष्ट (दोषी) जानकर, उसे ही दण्ड देगा, तुम (कंस) को काल दण्ड नहीं देगा ।

तात्पर्य यह है, कि जो लोग सेवक कंस को राजा और राजा काल को सेवक-भूत से-समझने वाले हैं, काल उन्हें ही दोषी समझ कर, दण्ड देगा-तुम (कंस) तो निरपराधी ही हो । इस प्रकार से, दैत्य सिद्धान्त के अवलम्बन से, दैत्य-शास्त्र द्वारा भी विरोध की निवृत्ति की है, क्योंकि देवों के अधिकार में ही, देवों का राज्य रहता है और तब ही उनके कथनानुसार स्वर्ग, नरक की व्यवस्था है । दैत्यों के अधिकार में, ऐसी व्यवस्था कुछ नहीं है और यदि दैत्यों के अधिकार में भी, देवों का राज्य ही मानें तो, दैत्य देवों को जीत ही नहीं सकें । ग्रह तो साधारण ही हैं । इस कारण से भी आप (कंस) का विचार उचित ही है ।

अक्रूरजी सारे ही शास्त्र-सिद्धान्तों के ज्ञाता हैं । इस प्रकार से दैत्य सिद्धान्त के अनुसार काल की व्यवस्था का वर्णन द्वारा विरोध परिहार करके, भगवान् की सर्व प्रकारता के वर्णन-अर्थात् भगवान् सर्वरूप हैं-के द्वारा भागवत सिद्धान्त के द्वारा भी विरोध का परिहार करते हैं । यदि भगवच्छास्त्र से विरोध हो तो, दैत्यों की मुक्ति का कथन न हो और विरोधी सिद्धान्तों में भागवत सिद्धान्त का माहात्म्य भी न हो ।

भगवान्, काल ग्रह में प्रवेश करके, काल में रहने वाले, सभी भगवदोषों को काल से उद्धार करके निकाल लेते हैं । इसलिए भगवत्सम्बन्धी देश (स्थान) काल से अतिरिक्त ही है, वहां काल का प्रभाव नहीं है । काल से सब डरते हैं-यह कथन तो व्यवहारिक है । भगवान् तो काल को ठग कर ही, भक्तों का काल से उद्धार कर लेते हैं और काल के-कालः कलयतामहं-कालरूप भी हो जाते हैं । इसलिए भगवान् का अवतार, काल के अतिक्रमण के लिए है । यह प्रमेय बल-स्वरूप बल की सिद्धी है । प्रमाण बल तो सबके लिए सामान्य और हितकर है । प्रमाण बल की सर्व साधारणता के कारण ही देव, ब्राह्मण और धर्म की प्रतिष्ठा चली आ रही है । यदि प्रमाण बल सर्व साधारण न हो तो, देवादि भी यथावस्थित प्रतिष्ठित न रहें ।

देव-काल और दैत्य-काल के भेद से मध्यम काल दो प्रकार का है । मूल भूत काल तो सगान ही है । इस कारण प्रमाणबल मध्यम-सर्व सामान्य-ही है और प्रमेय बल तो मूल भूत का उत्तलंघन भी करा देता है । यह देव-भगवत्-सिद्धान्त का रहस्य है । कंस ने तो दैत्यों के सिद्धान्त के आश्रय से अपने विचार कहे हैं । इसलिए दैत्य सिद्धान्त के अनुसार ठीक ही कहा है । मूल भूत काल का देव और दैत्य दोनों कालों के साथ समान सम्बन्ध होने के कारण दोनों कालों में मूल भूत काल किस काल के अनुकूल है--यह नहीं जाना जा सकता है । इसीलिए किसी एक पक्ष का निर्णय सिद्ध नहीं किया जा सकता ।

इस कारण से, अक्रूरजी कंस से कहते हैं, कि प्रयत्नशील पुरुष को कार्य की सफलता अथवा असफलता में समान रहना चाहिए । किसी प्रकार का आग्रह (हठ) नहीं करना चाहिए; क्योंकि, सिद्धि अथवा असिद्धि मनुष्य के वश की बात नहीं है । प्रयत्न करना मात्र, मनुष्य का कर्तव्य है



और फल देना तो देवाधीन ही है। इस प्रकार फल प्राप्ति को देवाधीन कहकर दोनों-सिद्धि और असिद्धि-पक्षों की समानता का निरूपण किया है ॥३८॥

श्लोक—मनोरथान् करोत्युच्चैर्जनो देवहतानपि ।

युज्यते हर्षशोकाभ्यां तथाप्याज्ञां करोमि ते ॥३९॥

श्लोकार्थः—गनुष्य बड़ी ऊंची २ अभिलाषाएं करता है । देव यद्यपि उनमें प्रतिबन्धक होकर उनको पूरी नहीं होने देता । तथापि वह वाञ्छित कामना के पूरा होने पर आनन्द प्राप्त करता है और पूर्ण न होने पर दुःखित भी होता है । तो भो, मैं अपनी ओर से, आपकी आज्ञा का पालन करूंगा ॥३९॥

सुबोधिनीः—तदन्यदा भवति इदानीं तु भगवानवतीर्णं इति द्वितीयः पक्ष एव मुख्यः, अतोनेन विचारितमनोरथः वृथेवेतिविशेषमाह मनोरथान् करोतीति, उच्चैः स्वयोग्यैः, इदं हि सर्वेश्वरेण विचारयितुं शक्यते, अल्पोपि मनोरथस्तस्य न सिध्यतीत्याह देवहतानपीति, यदेव भगवानवतीर्णः तदैव कंसादयो मारणीया इति अतो भगवता हता एव मनोरथास्तान् करोतीति भ्रान्त एवायम्, यतो जनः स्वयमेव जातः, यद्यस्य

मनोरथः सिध्येत् कदाचिदपि तदा परगमें कथं जायेत कस्यचिद् वा मनरूपं रेतः कथं समाश्रयेत, अतो यो मनोरथः कर्तव्यः स आत्मानं विचार्य कर्तव्यः, अन्यथा चेत् हर्षशोकाभ्यां युज्यते, कदाचिद् भगवान् किञ्चित् करोति किञ्चित् च न करोतीति, यद्यप्येवं जायते तथापि ते आज्ञां करोमीति, अन्यथा स्वस्य तव च कार्यं न सेत्स्यतीति ॥३९॥

व्याख्यानार्थः—किसी मनोरथ की सिद्धि होने अथवा असिद्धि होने में, संशय तो, भगवान् के अनवतार दशा में ही हो सकता है। इस समय भगवान् की अवतार दशा में तो, अल्प बुद्धि से किए हुए जीव के मनोरथों की असफलता ही निश्चित है। इस कारण से, तेरा (कंस का) विचार हुआ मनोरथ व्यर्थ ही है। यह-‘मनोरथान्’-इस श्लोक से कहते हैं। सर्वेश्वर के ही सारे विचार पूरे हो सकते हैं। जीव का तो छोटा सा भी मनोरथ पूरा नहीं हो पाता। पुरुष, देव के रोके हुए बड़े २ मनोरथ करता है। भगवान् ने अवतार लेते समय ही, कंसादि का वध सोच लिया था। इस कारण, कंस का मनोरथ देवहत ही था। ऐसे देवहत मनोरथों का करनेवाला कंस भ्रम में पड़ा हुआ था। हां यदि जीव स्वेच्छा से स्वयं ही उत्पन्न हुआ हो तो, कदाचित् जीव का मनोरथ पूरा भी हो सकता है। जीव स्वयं जात तो नहीं है। स्वयं जात होता तो, किसी के गर्भ में रजोवीर्य रूप का आश्रय क्यों करता। इस कारण से, अपनी स्थिति पर, विचार कर ही मनोरथ करना चाहिए। अपनी स्थिति पर विचार न करके, मनोरथ करने पर सिद्धि में प्रसन्न और अपूति में दुःखित होना पड़ता है। सिद्धि और असिद्धि रूपफल भगवान् (देव) के अधीन ही जान पड़ता है तो भी मैं (अक्रूर) आप (कंस) की आज्ञा का पालन करूंगा। आज्ञा पालन न करने से तो तेरा (कंस का) मरण और मेरा (अक्रूरजी का) भगवद्दर्शन रूप कार्य सिद्ध ही नहीं होगा। इसलिये अवश्य जाकर राम कृष्ण को ले आऊंगा ॥३९॥



श्रीशुक उवाच ।

श्लोक—एवमादिश्य चाक्रूरं मन्त्रिणश्च विसृज्य सा ।

प्रविवेश गृहं कंसस्तथाक्रूरः स्वमालयम् ॥४०॥

श्लोकार्थः—श्री शुकदेवजी कहते हैं—महाराज, अक्रूर को इस प्रकार आज्ञा देकर, कंस ने अपने मन्त्रियों को, मल्लों को और महावत को विदा किया और स्वयं अपने भवन में गया । इधर अक्रूरजी भी अपने घर को गए ॥४०॥

सुबोधिनी—एवमन्योन्यपरिभाषणभुक्त्वा उभयोः स्वस्थानगतिमाह एवमिति, अक्रूरोक्तं तेन न विचारितमेव कार्यवैयर्थ्यात्, अतस्तस्यैव कृतमनूद्योपसंहरति एवमादिश्येति, चकारात् केशिनं हस्तिपांश्च जनपदाकारणार्थं प्रवृत्तांश्च मन्त्रिणश्च विसृज्य तान् बहिरेव स्थापयित्वा

स्वयमन्तःपुरं गतः, तथा अक्रूरः स्वस्थालयं गत इति न तस्मिन् दिवसे गृहात् निगंगनम्, सोन्तःस्थितः तमर्थं चिन्तयिष्यति, अयमपि स्वगृहं गतः, गमनोपायं प्रकारं च ग्रन्थस्थतृतीयाध्याये कृत्यं वक्तव्यं विचारितं च ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीमत्तत्त्वप्रमाणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां दशमस्कन्ध
विवरणे अष्टाविंशोऽध्यायविवरणम् ॥३३॥

व्याख्यानार्थः—इस प्रकार कंस और अक्रूर की वार्तालाप का वर्णन—'एवं'—इस श्लोक से दोनों का अपने २ स्थान पर जाने का निरूपण करते हैं । अक्रूरजी के कथन पर कंस ने कार्यों की व्यग्रता के कारण विचार नहीं किया । इसलिए उसके कृत कार्य का अनुवाद करके उपसंहार करते हैं कि अक्रूर से यों कहकर, कंस केशी, मल्लों, महावत और पुरवासियों और प्रान्त निवासियों को बुलाने में लगे हुए मन्त्रियों को बाहर सभा भवन में ही छोड़ कर स्वयं अपने भवन में चला गया । अक्रूरजी भी अपने घर चले गए । उस दिन भवन से बाहर नहीं निकला । भीतर बैठा ही विचार करता रहा । अक्रूरजी के जाने का प्रयत्न, रीति, कर्तव्य, वक्तव्य और विचार आदि का वर्णन यहीं पैंतीसवें अध्याय में करेंगे ॥४०॥

इति श्री मद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध) ३६ वें अध्याय की श्री महत्त्वभाचार्य
चरण कृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का ३३ वां अध्याय, राजस-प्रमाण-
अवान्तर प्रकरण 'ऐश्वर्य निरूपक' प्रथम अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णन की गई लीलाओं के कुछ पद

१ यहि अन्तर वृषभासुर आयो ।
 देखे गन्द सुवन बालक संग इहै घात ही पायो ॥
 गयो समाइ धेनुपति ह्वं कै मन में दाउं बिचारै ।
 हरि तब ही लखि लियो दुष्ट को डोलत धेनु बिडारै ॥
 गैयां बिडारि चलीं जित तित को सखा जहां तहां घेरै ।
 वृषभ शृंग सौ घरणि उकासत बल मोहन तन हेरै ॥
 आवत चत्थो श्याम के सन्मुख निदरि आप अंग सारी ।
 कूद पर्यो हरि ऊपर आयो कियो युद्ध अति भारी ॥
 धाइ परे सब सखा हांक दै वृषभ श्याम को मार्यो ।
 पाउं गकरि भुज सों गहि फेर्यो, भूतल माहि पछार्यो ॥
 पर्यो असुर पवंत सगान ह्वं चकित भये सग ग्वाल ।
 वृषभ जान के हम सब धाये यह कोऊ विकराल ॥
 देखि चरित्र यशुगति सुत के, मन में करत विचार ।
 सूरदास प्रभु असुर निकन्दन सन्तन प्राण अधार ॥

२ तेरो माई गोपाल रण सूरौ ।
जहं तह भिरत प्रचारि पैज करि तहीं परत है पूरौ ॥
वृषभ रूप दानव इक आयो, सो क्षण गांहि संहारघो ।
पांव पकरि भुज सों गहि वाको भूतल गांहि पछारघो ॥
कहति ग्वाल यशुमति धनि गैया, बड़ो पूत तें जायो ।
यह कोउ आदि पुरुष अवतारी, भाग्य हगारे आयो ॥
चरण कमल पै वन्दित रहिये ग्रनुदिन सेवा कीजं ।
वारंवार सूर कहै प्रभु की हरषि बलैया लोजं ॥

३ अहो नृप द्वै अरि प्रगट भये ।
बसे नन्द गृह गोकुल धानक दियो सुदिन न गए ।
तुमहूँ को दुःख बहुत जनम को रथ मारग पारोए ।
ता दिन ते शिशु सप्त देवकी तेरे ही कर सोए ॥



जो परि राज काज सुख चाहै बेग बुलाइ न लीजै ।
हारि जीति दोउन की विधि रह जैसे होइ सो कीजै ॥
ऐसी कहि बँकुठ सिधारे कष्ट निशा विकराय ।
सूर श्याम कृत की वे इच्छा मुनि मन इहै उपाय ॥

राग सौरठ

- ४ नृपति मन इहै विचार परो ।
वयों मारों दोउ नन्द ढोटोना ऐसी अरनि अरो ॥
कबहुँ कहत आपु उठि घावों यहै विचार करो ।
सात दिवस में बघी पूतना यह गुनि मनहि डरो ॥
पुनि साहस जिय जिय करि गवों, ताको काल सरो ।
सूर श्याम बलराम हृदयते नेक नहि विसरो ॥

राग रामकली

- ५ नंद सुत सहज बुलाइ गठाऊँ ।
श्याम राम अति सुन्दर कहियत देखन काज मगाऊँ ॥
जैहै कौन प्रेम करि ल्यावै भेद न जानै कोई ।
महर महरि सों हित करि ल्यावै महाचतुर जो होई ॥
इहि अंतर अक्रूर बुलायो, अति आतुर महाराज ।
सूर चलो मन सोच बढ़ायो, कौन है ऐसी काज ॥

राग मारू

- ६ सुनो अक्रूर यह बात सांची करौ, आज मोहे भोर ते चेत नाहीं ।
श्याम बलराम यह नाम गुनि तामे मोहि काहि पठवहुँ जाइ तिनहि पाहीं ॥
प्रीति करि नन्द सों सहज बातें कहै तुरत ले आइ दुहै नृपति बोलै ।
देखिये की साध बहुत सुनि गुण विपुल अतिहि सुन्दर सुने दोउ अमोलै ॥
कमल जवते उरग पीठि ल्याये सुने वहे बकशीरा अब उर्नाहि देहै ।
सूर प्रभु श्याम बलराम को डर नहीं, वचन इनके सुनत हरष पैहै ॥

राग बिलावल

तब अक्रूर कहत नृप आगे, धन्य धन्य नारद मुनि जानी ।
बड़े शत्रु व्रज में दोउ हमको सुनहु देव नीकी चित आनी ॥
महाराज तुग सरि को ऐसी जाते जगत यह चलत कहानी ।
अब नहि वचै क्रोध नृप कीन्हो जैहै छनकि तवा ज्यों पानी ॥
यह सुनि हर्ष भयो गर्वानो, जबहि कही अक्रूर सयानी ।
कालि बुलाइ सूर दोउ मारों, बार बार यह भाषत बानी ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ३७ वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ३४वां अध्याय

राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण

‘द्वितीय अध्याय’

केशी और व्योमासुर का उद्धार तथा नारदजी के द्वारा भगवान् की स्तुति ।



कारिका—चतुस्त्रिंशे प्रेषितस्य तामसस्य निरूप्यते ।

कार्यं वाक्यानि च ऋषेर्लीलां काञ्चित् हरेः प्रियाम् ॥१॥

कारिका—३४ वें अध्याय में कस के भेजे हुए तामस (केशी-राक्षस) का कार्य, ऋषि के वाक्य और हरि की प्रियलीला कर कुछ निरूपण है ॥१॥

कारिका---हेतुकार्यफलान्यत्र पूर्ववद् बोधितानिहि ।

केश्यागमनकार्यं तु ऋषिवाक्यात् न चान्यथा ॥२॥



कारिकार्थ—इसमें हेतु (केशीवध) कार्य (ऋषिका आगमन) फल (आगे कही हुई लीला) पूर्व की तरह समझाये हुए हैं—ऋषि के कहने से ही कंस ने केशी को भेजा—यदि ऋषि न कहते तो केशी न आता, इसका आशय यह है कि ऋषि ने ही वह अनर्थ कराया है, यदि भगवान् के द्वारा केशी का वध न होनेवाला होता तो ऋषि आते ही नहीं ॥२॥

कारिका—वधेन जातेनागच्छेदनर्थं कृतवानिति ।

वधो निदर्शनं तस्मात् अतो वाक्यानि बोधने ॥३॥

कारिकार्थ—अतः ऋषि के आने में केशी का वध ही हेतु (कारण) है, कंसादि के मारने में भी सागर्थ्य यह केशी का वध निदर्शन है, इसलिए भगवान् सामर्थ्यवान् हैं यों जानकर ही ऋषि ने ऐसे बोधप्रद वाक्य कहे ॥३॥

कारिका—बोधितश्चेत् हरिलोलां न कूर्यात् स्वेच्छया मुदा ।

तवा प्रेमयरीतिहि दुर्बलं भवेत् सदा ॥४॥

कारिकार्थ—यदि बोधित हुए हो तो, हरिस्व (अपनी) इच्छा से प्रसन्नता पूर्वक लीला न करते, तब प्रेमय की रीति सदा दुर्बल ही हो जाती ॥४॥

कारिका—अतः फलार्थं लीला हि पूर्वजाता निरूप्यते ।

सिंहावलोकनं चापि करिष्यति हरिः स्वयम् ॥५॥

कारिकार्थ—अतः पूर्व की हुई लीला फलार्थ ही निरूपण की जाती है । इसका सिंहावलोकन भी हरि स्वयं ही करेंगे ॥५॥

कारिका—अतो न गोकुले चिन्ता कापीत्यपि निरूप्यते ।

केशी हतो गुणैः कृत्वा तथा व्योम ऋषिः पुनः ॥६॥

कारिकार्थ—अतः (इसलिए) गोकुल में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं हुई यों निरूपण है, केशी अपने गुणों से गरा, व्योम पद से क्रम न समझना, व्योम से जैसे पृथ्वी में विल कर प्रवेश किया वैसे यह (केशी) भी पृथ्वी को फोड़ता हुआ आ गया ॥६॥

कालमात्र मुवाचेति नव षोडश च नव—

काल मात्र कहा, यो 'नव षोडश' इति मूल में कहा हुआ कम जानना चाहिए—



में चीतीरा भ्रोक है। उनमें आदि के नौ श्लोकों में केशी के और अन्तिम नौ श्लोकों में व्योमासुर के वध का वर्णन है और मध्य के १० वें श्लोक से २५ वें श्लोक तक सोलह श्लोकों में नारद कृत भगवत्स्तुति और कार्य का वर्णन है।

श्लोक—विशालनेत्रो विकटास्यकोटरो बृहद्गलो नीलमहाम्बुदोपमः ।

दुराशयः कंसहितं चिकीर्षुर्व्रजं स नन्दस्य जगाम कम्पयन् ॥२॥

श्लोकार्थः—उसकी आंखें बड़ी मोटी मोटी और मुख गुफा की तरह भयङ्कर था। उसका कण्ठ विशाल था और वह बड़े विशाल काले बादल के समान दिखाई देता था। कंस का हितैषी वह दुष्ट बुरे विचार से नन्दरायजी के व्रज में गया। उसके चलने पर पृथ्वी थरथराती (थरथर कांपती) थी ॥२॥

सुबोधिनी—तस्य क्रियाव्यतिरेकेणापि रूपं दृष्ट्वैव सर्वे विग्न्यतीति ज्ञापयितुं रूपं वर्णयति विशालनेत्र इति, विशाले नेत्रे यस्य, इयं विशालता प्रकरणवशात् भयानका ज्ञातव्या, विकटमास्यकोटरं यस्य, बृहद् गलो यस्य, नीलो यो महान् धनः तस्योपमा यस्य, नीलधनापेक्ष-

याप्यधिक इति उपमानत्वनिरूपणार्थमुपमापदं, रूपमेकेन, गुणत्रयं मुखे वर्तत इति तज्ज्ञापनार्थं नेत्रे आस्थं कण्ठश्च वर्णितः, अन्तर्दोषानाह दुराशय इति, स्वभावतोप्यन्तःकरणं दुष्टमिदानीं तु सुतरामित्याह कंसहितं चिकीर्षुरिति, ततो नन्दस्य व्रजं जगाम उपद्रवार्थमेव ॥२॥

व्याख्यानार्थ—आगे चलकर व्रज में उसके कार्य तो भयङ्कर थे ही, किन्तु उन कार्यों के किए बिना भी, उसका केवल रूप भी बड़ा डरावना था—यह "विशाल नेत्र" इस श्लोक से कहते हैं। उसकी आंखें बड़ी मोटी २ डरावनी थीं। उसका मुख गुफा जैसा और कण्ठ बड़ा विशाल था। उसका शरीर दूर तक फैले हुए बादल के समान काला था। यही नहीं; किन्तु काले और विशाल बादल की उसके शरीर से तुलना की जाती थी। तात्पर्य यह है, कि काले और दूर तक फैले हुए बादल की अपेक्षा भी उसका रूप अधिक काला और भयङ्कर था। इस प्रकार इस एक विशेषण से उसके रूप का वर्णन किया है और पहले तीन विशेषणों से नेत्र, मुख और कण्ठ का वर्णन है; क्योंकि मुख में तीन गुण हैं। इस प्रकार उसकी बाहरी भयङ्करता और दुष्टता का वर्णन करके भीतरी दोषों का करते हैं कि वह जन्म जात दुष्ट तो था ही, किन्तु इस समय कंस का हित करने की इच्छा से ही आया था, इसलिए अत्यन्त ही दुष्ट हृदय वाला वह केशी भारी उपद्रव करने के लिए ही नन्दरायजी के व्रज में उपस्थित हुआ ॥२॥

लेखः—विशाल नेत्रः—इस श्लोक की व्याख्या में-उपमानत्व निरूपणार्थं उपमापदं-इत्यादि पंक्ति का तात्पर्य यह है, कि मूल में उपमा-नीलमहाम्बुदोपमः—पद केशी को नीलधन का उपमान सूचित करने के लिए है; क्योंकि उपमान चन्द्रादि में उपमेय मुखादि से अधिकता होती है; किन्तु यहां उपमान नील मेघ को उपमेय और उपमेय उसके शरीर को उपमान बताया है। अर्थात् केशी काले बादल के समान नहीं; प्रत्युत काला बादल केशी के शरीर सा था। चन्द्रादि में जैसे मुख से अधिक गुण दिखाई देते हैं वैसे ही बादल की अपेक्षा केशी का शरीर अधिक भयङ्कर था।



श्लोक—तं त्रासयन्तं भगवान् स्वगोकुल तद्धेषितं बालविघूर्णिताम्बुदम् ।

आत्मानमाजौ मृगयन्तमग्रणीरुपाह्वयन् स व्यनदत् मृगेन्द्रवत् ॥३॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने देखा कि वह अग्रुर अपने शब्द से गोकुल को भयभीत बनाता हुआ युद्ध करने के लिए उन्हीं को खोज रहा है, और उसकी पूंछ के बालों से विदीर्ण भेषसमूह इधर उधर बिखर रहे हैं। तब श्रीकृष्ण ने सामने आकर उसे ललकारा। कृष्ण को देखकर केशी भी सिंह की तरह गरजा ॥३॥

सुबोधिनी—स तु शीघ्रमेव कार्यं करिष्यतीति भगवान् प्रथमत एवाभिज्ञाय तत्कार्यान् पूर्वमेव तमाकारितवानित्याह तं त्रासयन्तमिति, तस्मिन्नागत एव रूपं दृष्ट्वैव त्रासः, मारणपरिज्ञानयोः सामर्थ्यज्ञापनार्थम् भगवानिति, प्रकलिष्टकार्येपि तथा कृतवानित्यत्र हेतुमाह स्वगोकुलमिति, स्वस्य गोकुलमिति, स्वा गावश्च तेषां कुलमित्यपि, तं प्रसिद्धं हेषितं यानि देवानागपि भयजनकानि, शीघ्राकारणे हेतुमाह बालविघूर्णिताम्बुदमिति, पुच्छभ्रामणेन विशेषेण घूर्णिता मूर्च्छिता अम्बुदा यस्य, पुच्छभ्रामणमात्रेण यद्वै महाननर्थः तदा किञ्चि-

द्विलम्बेपि महानन्यायो भवेदिति, नन्वकस्मादागत्य कथं न गोकुलं मारितवान् तत्राह आत्मानमाजौ मृगयन्तमिति, न स गोकुलमारणार्थमागतः किन्तु भगवता सह युद्धं कर्तुम्, आजौ संग्रामे, आत्मानं भगवन्तं, मृगयन्तमन्वेषयन्तं ववास्ति कृष्ण इति, नन्वेव कथं धाष्टर्यं कसो यस्माद् विभेति, तत्राह स प्रसिद्धः केशी, अत एव मृगेन्द्रवत् सिंहवत् व्यनदत्, स ह्यन्यान् गजानिव मन्यते, बलभद्रं कथं न प्रेषितवान् इत्यत्र हेतुरग्रणीरिति, भगवानेवाग्रणीः, भगवान् अग्र एव उपद्रवान् दूरीकरोतीति ॥३॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने पहले ही यह जान कर—कि केशी आते ही जल्दी से गोकुल का अनिष्ट रूप अपना कार्य पूरा कर लेगा, उसको पहले ही से ललकारा-यह- "तं त्रासयन्तं-श्लोक से कहते हैं। उसके आते ही उसके रूप को देखकर ही सब भयभीत हो गए। श्रीकृष्ण भगवान् हैं-इस कारण से केशी के बुरे बिचारों को जान लेने और उसको गार देने की शक्ति चर्चों थी। भगवान् अविलष्ट-कर्ता है। आपको किसी भी कार्य को करने में-लोकवत्तु लीला केवल्यम्-इस ब्रह्म सूत्र के अनुसार परिश्रम नहीं होता। आपने अपनी बन्धु बान्धवों तथा अपनी गोओं के कुल को डराने वाले केशी को ललकारा, क्योंकि वह देवों को भी भयभीत कर देने वाले अपने कर्णकटु हींसने से भगवान् के गोकुल को डरा रहा था।

वह अपनी पूंछ के घुमाने मात्र से जब बादलों को तितर बितर और व्याकुल कर रहा था और डेर करने पर तो न जाने क्या २ अभय कर डालेगा-इस विचार से भगवान् ने उसे महान् अनर्थ करने से पहले ही ललकार दिया। वह गोकुल का नाश करने का विचार लेकर नहीं आया था, गोकुल को तो वह अचानक ही गार देता। वह तो भगवान् के साथ युद्ध करना चाहता था। इस कारण से वह तो संग्राम में श्रीकृष्ण को ढूँढ रहा था कि कृष्ण कहाँ है? यद्यपि कृष्ण से बस भी भयभीत था; तो भी वह अपनी घृष्टता से कृष्ण को-युद्ध की इच्छा से इधर उधर देख रहा था। वह प्रसिद्ध केशी अन्य बीरों को हाथी सा मानता था। इस कारण वह सिंह के समान दहड़ाने लगा।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १४ ॥

भगवान् अग्रणी हैं विघ्नों को उनके आगे के पहले ही दूर कर देते हैं । इसलिए बलरामजी को आगे भेजकर, स्वयं ने ही सागने जाकर, भगवान् ने ही, उसको ललकारा ॥३॥

श्लोक—स तं निशम्याभिमुखो मुखेन खं पिबन्निवाम्यद्रवदत्तमर्षणः ।

जघान पदम्यामरविन्दलोचनं दुराशयश्चण्डजवो दुरत्ययः ॥४॥

श्लोकार्थ—वह प्रचण्ड वेग वाला था, इसीलिए उसे कोई वश में नहीं कर सकता था और न उसके पास जा सकता था । वह बड़ा क्रोध करके-मानों आकाश को पी जाएगा इस तरह मुंह फैलाकर कृष्ण के ऊपर भपटा और पास में आकर उनपर उसने पीछे की दुलती चलाई ॥६॥

सुबोधिनी—भगवदाह्वानं श्रुत्वा यत् कृतवांस्तदाह स तमिति, उपाह्वयन् वा स भगवानेव व्यनदत्, अथवा पूर्वं भगवन्तं दृष्ट्वा गजं कृतवान्, पश्चात् वाक्यं श्रुत्वा यत् कश्चिदिति तदग्रे निरूप्यते स केशी तद् भगवद्वाक्यं निशम्य मुखेनाकाशं पिबन्निव व्हात्ताननः अभिमुखः अम्यद्रवत् ग्रासार्थीव शीघ्रमागमने आकाशो निविशतीव दृष्ट इति पिबन्निवेत्युक्तम्, यत्राकाशमेव ग्रसति तत्र तन्मध्यपातिनः सुखग्रासा इति बहिःचेष्टा निरूपिता, अत्यमर्षण इत्यान्तरी, तदा निकटे समागत्य परावृत्त्य पदम्यां जघान धेनुकवत्, ननु संमुखमागत्य मुखेनैव मारणसम्भवेपि किमिति परावृत्त इति चेत् तत्राह अरविन्दलोचनमिति,

कमलनयनो भगवानिति, भगवतः परमसौन्दर्यं दृष्ट्वा साक्षादतिक्रमासमर्थः परावृत्त्य अपश्यन्नतिक्रमः कृतवानित्यर्थः, ननु पदम्यामपि भगवद्रूपं स्मृत्वा कथमतिक्रमः सम्भवतीत्याशङ्क्याह दुराशय इति, दुष्टान्तःकरणत्वात् तथा कृतवान्, दुरासद इति पाठे कथं रामादिभिः अतिक्रमो न निवारित इत्याशङ्क्याह दुरासद इति, दुःखेनासादो यस्येति, न कोपि तन्निकटे गन्तुं शक्नोतीत्यर्थः, तत्र हेतुमाह चण्डजव इति, प्रतिशीघ्रमागच्छति, तस्य प्रतीकारो वूरे तस्मिन्नागते पलायनमप्यशक्यमित्याह दुरत्यय इति दुःखेनात्ययो यस्येति ॥४॥

व्याख्यान—भगवान् की ललकार को सुनकर केशी ने जो कुछ किया, उसका वर्णन—“स तं”—इस श्लोक से करते हैं । उसको ललकार के भगवान् ने गर्जना की । अथवा भगवान् को देखकर ही पहले केशी ने गर्जना की और फिर भगवान् का वचन सुनकर मुख को फैलाकर आकाश को लीनता सा भगवान् के सामने बड़े वेग से भपटा । वह भगवान् को निगल लेना चाहता था । क्योंकि आकाश को भी लीन लेने पर, उस आकाश में स्थित पदार्थ तो सहज ही निगले जा सकते हैं ही । यह कर केशी की बाहरी चेष्टा का वर्णन किया । उसकी भितरी चेष्टा का वर्णन करते हुए कहते हैं, कि वह बड़ा क्रोधी था । उसने अत्यन्त क्रुद्ध हो और गुड़ कर अपने पीछे की दुलती का धेनुकासुर की तरह भगवान् पर प्रहार किया ।

कमल से नेत्र वाले भगवान् की कोटि-काम-लजावन सुन्दरता को देखते हुए उस केशी की भगवान् पर सामने से प्रहार करने की सामर्थ्य नहीं हुई । और तब दुष्ट हृदय वाला वह फिर कर उनको बिना देखे ही उन पर पीछे की दुलती चला सका । बलरामजी आदि कोई भी उसको न रोक

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥

राकते ये और न उराके पास ही जा सताते ये । यह बड़े वेग से भपटता था । उसको रोक देने की बात तो कौन करें, उसके निकट आने पर उससे अपने प्राण बचाकर कोई भाग भी नहीं सकता था ॥४॥

श्लोकः—तद् वञ्चयित्वा तमधोक्षजो रुषा प्रगृह्य दोर्म्या परिविध्य पादयोः ।

सावज्ञमुत्सृज्य धनुःशतान्तरे यथोरगं ताक्ष्यमुतो व्यवस्थितः ॥५॥

श्लोकार्थः—भगवान् कृष्ण ने सहज ही में उस प्रहार से अपने आप को बचा लिया और उसके दोनों पिछले पैर पकड़कर गरुड़ जैसे किसी साधारण साँप को भिटक देता है, वैसे ही—केशी को उपर घुमाकर चार सौ हाथ दूरी पर फेंक दिया और आप जहाँ के तहाँ खड़े रहे ॥५॥

सुबोधिनी—भगवानतिचतुरः स सुरासुरैः शस्त्रैश्चावध्य इति तस्य प्रकारान्तरेण समाधानं कृतवानित्याह तद् वञ्चयित्वेति, तत् पादप्रहरणं तिर्यग्भूत्वा वञ्चयित्वा मोघत्वं सम्पाद्य ततः दोर्म्यां तस्य पादद्वयं घृत्वा परिविध्य भ्रामयित्वा उत्तोल्य धनुःशतान्तरे सावज्ञमुत्सृज्य व्यवस्थित इति सम्बन्धः, ननु शीघ्रमागतो मारयितुं पादप्रसारणं कृतवान् यथा न प्रतिहतो भवति साधनवेगः तत् कथं प्रतिहतो जात इत्याशङ्क्यामाह अधोक्षज इति इन्द्रियजन्यं तस्य ज्ञानं क्रिया वा तं न विषयीकरोति, अतो युक्त एव तस्य पादासम्बन्ध इति, वञ्चनमपि भगवतो लौकिकसामर्थ्याद् युक्तमिति न किञ्चिदनुपपन्नम्, संमुखमागतः किमिति परावृत्त इति रोषेण दोर्म्यां गृहीतः, कदाचित् तस्य हृदये भीतः सन् वञ्चनं कृतवानिति शङ्का स्यात् ततो भगवान् निःशङ्क-

माप्तमिव दोर्म्यां परिगृहीतवान्, तत उत्तोलनं च कृतवान्, यो पादो भगवते चिक्षेप तत्रैव स्थाने स गृहीत इति दत्तमेव गृह्णातीत्यपि सूचितम्, उत्तोलनादिकं सर्वं यथा पुनर्नायाति तथा ज्ञापनार्थम्, महान् देवलब्धवर इति तस्य गर्वनाशार्थं सावज्ञगवज्ञापूर्वकमुत्सर्गः, शतशब्दोपरिमितवाची, धनुःपदं वीरत्वज्ञापनार्थम्, ननु देहेन महान् सः, बालकश्च भगवान्, अलौकिकं च सामर्थ्यं न प्रकटितवान्, तत् कथं तस्योत्तोलनादिकमित्याशङ्क्य दृष्टान्तगाह पथोरगमिति, गरुडो यथा महान्तमप्युरगं भक्ष्यत्वात् क्लृप्तत्वात् भक्ष्यमाणः, बले विद्यमाने पराक्रमं करिष्यतीति बलक्षयार्थं तथा क्रियते, तथा भगवानपि, असुरो निवार्य एवेति बलक्षयार्थं तथा करणम्, एवं कृत्वा न महत् कर्म कृतमिति मेने किन्तु पूर्ववदेव विशेषेणैव लीलयैव स्थितः ॥५॥

व्याख्यानं—परग चतुर शिरोमणि भगवान् ने यह जानकर कि यह केशी देव और असुरों से तथा किन्हीं शस्त्रों के द्वारा भी नहीं मारा जा सकता, तब उसका समाधान जिस प्रकार से किया उस प्रकार को “तद्वञ्चयित्वा” इस श्लोक से बतलाते हैं ! भगवान् ने स्वयं झुककर उसकी उस दुलत्ती के प्रहार को निरर्थक बनाकर अपने आप को उससे बचा लिया और उराके पिछले दोनों पैरों को अपनी दोनों भुजाओं से पकड़ कर ऊँचा उठा और घुमाकर चार सौ हाथ ही नहीं हजारों हाथ दूरी पर अनायास फेंक दिया ।

यद्यपि केशी बड़े वेग से दौड़ कर भगवान् को मारने के विचार से ही आया था और उसने इसी लिए ही किसी से भी न रुकने वाली दुलत्ती को मारने का साधन बना कर ही भगवान् पर



चलाई थी, तो भी वह व्यर्थ ही हो गई; क्योंकि, भगवान् अधोक्षज हैं। इन्द्रियों का ज्ञान तथा कार्य उन तक नहीं पहुँच सकता। इसी कारण से वह दुलत्ती भगवान् को स्पर्श नहीं कर सकती। यह उचित ही है, तथा अपने अलौकिक सामर्थ्य से भगवान् का अपने आप को उसके आघात से बचा लेना भी उचित ही है।

उसने पहले रामने आकर और फिर पीछे फिर कर, भगवान् पर दुलत्ती चलाई। इस कारण से क्रुद्ध हुए निर्भीक भगवान् ने गिडर केशी के पिछले पैरों को दोनों श्री हस्तों से पकड़ लिया और ऊँचा उठाकर घुमाकर, अनादर पूर्वक दूर फेंक दिया। उसने देवों से वरदान प्राप्त किया था। उसका उसे बड़ा गर्व था। उस गर्व का नाश करने के लिए ही सारे बलों के बल भगवान् ने अनायास घुमाकर हजारों हाथ दूर फेंक दिया, जिससे वह फिर लौट कर वापस न आ सके।

वह असुर तो बड़ा विशालकाय था और भगवान् बालक थे। उस समय भगवान् ने अपनी अलौकिक सामर्थ्य को भी प्रकट नहीं किया था। तब बालक श्रीकृष्ण ने उस लम्बे चौड़े और मोटे ताजे प्रचण्ड शरीर वाले असुर को क्यों कर ऊँचा उठा लिया? इस शंका के उत्तर में दृष्टान्त देते हैं। जैसे गरुड़जी बड़े भारी साँप को-जो उनका सहज भोजन है-पछाड़ कर बलहीन कर देते हैं। वैसे ही, भगवान् ने भी उसे निर्बल करने के लिए घुमाकर फेंक दिया; क्योंकि बल के रहने पर तो फिर भी पराक्रम कर सकता है। उसे बहुत दूर फेंककर और इस काम को कोई बड़ा काम न मानकर भगवान् श्रीकृष्ण पहले की तरह ही जहाँ के तहाँ ही खड़े रहे। ५।

श्लोक—स लब्धसंज्ञः पुनरुत्थितो रुषा व्यादाय केशी तरसापतत् हरिम् ।

सोप्यस्य वक्त्रे भुजमुत्तरं स्मयन् प्रवेशयामास यथोरगं बिले ॥६॥

श्लोकार्थ—पहले तो वह असुर मुच्छित हो गया। फिर होश आने पर, मुँह फँलाकर बड़े वेग से कृष्ण की ओर भपटा। श्रीकृष्ण ने हंसते हंसते अपनी भुजा उसके मुँह के आगे कर दी। जैसे साँप बिल में चला जाता है, वैसे ही श्रीकृष्ण की भुजा उस केशी के मुख में चली गई ॥६॥

मुबोधिनी—प्रक्षिप्तस्य वृत्तान्तमाह स लब्ध-
संज्ञ इति, पूर्व मुच्छितः पश्चात् लब्धसंज्ञस्तथापि
न निवृत्तः किन्तु पुनरुत्थितः, ततो मुखं व्यादाय
यतः केशी तरसा शीघ्रमेव हरिमभ्यापतत्, ततो
भगवानपि भोजनार्थमिव व्यात्तमुखं भोजित-

वानित्याह सोपीति, भगवानप्यस्य वक्त्रे उत्तरं
वामभुजं स्मयन् हसन् भक्षणार्थमायासि चेत्
भक्षयेति वदन्निव भुजं प्रवेशयामास, वामो हि
भुजो दैत्वानामेवेति, स निःशङ्कं प्रविष्ट इति
यक्तुं दृष्टान्तमाह यथोरगं बिले इति ॥६॥

व्याख्यान—“स लब्धसंज्ञः”—इस श्लोक से फेंक दिए जाने के बाद का वृत्तान्त कहते हैं। पहले तो वह मुच्छित-अचेत-हो गया और फिर सचेत होकर-होश में आकर-भी पीछा नहीं लौटा, किन्तु फिर खड़ा होकर खा जाने के अभिप्राय से मुँह को फँला कर वेग से भगवान् पर भपटा। खाने के लिए ही मानों मुँह फँलाकर आये हुए उसके मुँह में-भगवान् ने यों कहकर मानों-खाने के लिए



आया है तो ले लाले-अपनी बाईं भुजा हँसते २ रख दी; क्योंकि, भगवान् की बाईं भुजा दैत्यों की ही है। वह भगवान् की बाईं भुजा उसके मुख में इस प्रकार प्रवेश कर गई; जैसे साँप बाँबी में निःशङ्क घुस जाता है ॥६॥

श्लोक—दन्ता निपेतुर्भगवद्भुजस्पृशस्ते केशिनस्तप्तमयःस्पृशो यथा ।

बाहुश्च तद्देहतो महात्मनो यथामयः संवृधे उपेक्षितः ॥७॥

श्लोकार्थ—भगवान् की भुजा के छू जाते ही, केशी के सारे दांत इस तरह गिर गए जैसे तपा हुआ लोहा लगने से लोगों के दांत गिर पड़ते हैं। जैसे उपेक्षा करने से शरीर में रोग बढ़ने लगता है, वैसे ही भगवान् की भुजा उस असुर के शरीर में घुसकर (पहुँच कर) क्रमशः बढ़ने लगी ॥७॥

सुचोषिनी—भुजप्रवेशनं कथं गारणोपाय इति शङ्कायां प्रकारमाह दन्ता निपेतुरिति, स भक्षणार्थं प्रवृत्तः दन्तसम्बन्धं कारितवान् तदा भगवद्भुजस्पृशो भगवद्भुजं स्पृशन्तीति तथा-भूता दन्ता निपेतुः, ते प्रसिद्धा यैर्देवा अपि हन्यन्ते तत्रापि केशिनः अतिप्रसिद्धस्य अलौकिकप्रकारेणोषधादिस्पर्शनेव दन्ताः पतिता भवित्यन्तीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह तप्तमयःस्पृश इति, तप्तमयः अग्निवर्णं ये स्पृशन्ति ते तप्तमयःस्पृशः तप्तमयो वा तत्पलोहम्, स्पृशः षष्ठ्यर्थे द्वितीयेति, ततो बाहुरपि तद्देहान्तःप्रविष्टः संवृधे तस्य वृद्धौ

साधनं नापेक्ष्यत इत्यत्र दृष्टान्तमाह, यथामय इति, यदेव किञ्चित् करोति पुरुषस्तद्रोगप्रतीकारमकुर्वन्, तेनैव स वर्धते, न हि देहवृद्धाविव रोगवृद्धौ साधनमपेक्ष्यते। ननु वृद्धौ विकारित्वं स्यात् तथा चानुभवो न स्यात् दोषश्च स्यात् इति चेत् तत्राह महात्मन इति, स हि व्यागकः सर्वतः पाणिपादान्तः यावत् दूरे मायामुद्घाटयते येन तेनैवावयवेन वृद्ध इत्युच्यते, महान् आत्मा स्वरूपं यस्य, अस्य च उपेक्षा प्रणिपाताकरणं पलाय्यागमनं वा ॥७॥

व्याख्यान—उस असुर के गुँह में अपनी भुजा प्रविष्ट (घुसकर) भगवान् ने जिस प्रकार उसका नाश किया—उस प्रकार को ‘दन्ता निपेतुः’ इस श्लोक में बतलाते हैं। वह खाने के लिए ही आया था। इसलिए उस कुख्यात केशी ने जब भगवान् की भुजा को दांतों से, जिनसे वह देवों को भी मार देता था,—काटने लगा, तब तो भगवान् की भुजा को छूते ही उसके दांत इस तरह से गिर गए जैसे आग की तरह लाल अत्यन्त तपे लोहे को छू जाने पर लोगों के दांत गिर पड़ते हैं। उसके वे दांत किसी अलौकिक रीति से, ओषधि आदि के खाने से, जैसे नहीं गिरे थे।

भगवान् की भुजा भी उसके शरीर में घुसकर वैसे ही बढ़ने लगी, जैसे आलस्य करने से, रोग निवृत्ति का उपाय न करने से रोग बढ़ता ही जाता है, क्योंकि देह की वृद्धि में जैसे व्यायाग, संयम, पौष्टिक पदार्थ सेवन आदि साधनों की अपेक्षा रहती है। इस तरह रोग की वृद्धि में किसी साधन की अपेक्षा नहीं होती। रोग जैसे क्रमशः बढ़ता रहता है, वैसे ही भगवान् की भुजा उसके शरीर में घुस कर बिना किसी साधन के ही बढ़ने लगी ॥७॥



शङ्का—उत्पन्न होना, ठहरना, बदलना, बढ़ना आदि छे विकार तो माया से प्रतीत होते हैं, और मायिक मृगमरीचिका में जैसे जल का स्पर्श नहीं होता, उसी प्रकार माया से होने वाले बढ़ने रूप विकार वाली भुजा का अनुभव केशी को कैसे हुआ ? और हुआ तो दोष युक्त हुआ ? इसका निवारण मूल में आगे 'महात्मनः' इस पद से करते हैं । भगवान् की आत्मा-स्वरूप-महान् है । वह व्यापक और सब ओर पाणि, पाद और अन्त वाले हैं । वे अपने जिस अवयव में जितनी सी जगह में माया का उद्घाटन करने देते हैं, उसी अवयव से वे बढ़ गये—ऐसे कहे जाते हैं । इस कारण से भुजा के बढ़ने में मायासम्बन्ध हूँ कोई दोष नहीं है और केशी के दांतों तथा शरीर को उसके बढ़ने का अनुभव भी हुआ ही, क्योंकि भगवान् शुद्ध-माया सम्बन्ध-रहित हैं । मनुष्य के शरीर में रोग जैसे उपेक्षा-लापरवाही-करने से बढ़ता है, वैसे ही केशी की-भगवान् को प्रणाम न करना और भगवान् पर भ्रष्ट कर आना रूप-लापरवाही-उपेक्षा-के कारण भगवान् की भुजा उसके शरीर में पंथ कर बढ़ने लगी ।

लेख—'दन्ता निपेतु'—इस श्लोक की व्याख्या में-षष्ठ्यर्थ-पद का अर्थ है कि यह द्वितीया षष्ठी के अर्थ को बताती है अर्थात् तपे हुए लोहे का स्पर्श करने से जैसे लोगों के दांत गिर पड़ते हैं; वैसे ही भगवान् की भुजा का स्पर्श करते ही केशी के सारे दांत गिर पड़े । "विकारित्वं"—इसी की व्याख्या में "विकारित्वं"-का तात्पर्य यह है कि शरीर के छः विकारों में बढ़ना चौथा विकार है । ये सारे विकार माया से प्रतीत होते हैं, इस सिद्धान्त के अनुसार बढ़ना रूप माया का विकार वाली भगवान् की भुजा का-मायामरीचिका में जल की तरह-दांतों से छूने का अनुभव केशी को होना अनुचित है और मायिक स्पर्श के कारण, दोष युक्त भी है । नट विद्या इन्द्रजाल में जैसे मायिक पदार्थों का स्पर्श होता है, उसी प्रकार माया विकार से बढ़ने वाली भी भगवान् की भुजा का केशी के दांतों से स्पर्श सम्भव मानकर इस ग्रन्थ में दूसरा दूषण देते हैं, कि इस प्रकार मायिक पदार्थों का स्पर्श सब जगह नहीं हो सकता । इसलिए इसमें हेत्वाभासरूप दोष है ।

इन दोनों प्रकार की शङ्का की निवृत्ति 'महात्मनः' भगवान् की सर्वव्यापकता बतला कर की गई है ॥७॥

श्लोक—समेधमानेन स कृष्णबाहुना निरुद्धवायुश्चरणांश्च विक्षिपन् ।

प्रस्विन्नगात्रः परिवृत्तलोचनः पपात सेण्डं विसृजन् क्षितौ व्यसुः ॥८॥

श्लोकार्थ—लगातार बढ़ रही भगवान् की भुजा से केशी के सांस का आना जाना रुक गया और दम घुटने लगा । वह पृथ्वी पर गिर पड़ा और पैरों को पछाड़ने लगा । उसकी आंखें बाहर निकल आईं । शरीर से पसीना वह चला और गल के साथ ही उसके प्राण भी निकल गए ॥८॥

सुबोधिनी—ततो यत् जातं तदाह समेधमाने— बाहुश्च क्रियाप्रधानः अतोसमीचीने बाहुप्रक्षेपणा-
नेति, सम्यक् परितः एधमानेन वर्द्धमानेन, स दिक् न विरुध्यते, वक्त्रविवरस्य बाहुना पूर्णत्वात्
केशी, कृष्णपदमेतदयं मेवावतीर्णं इति ज्ञापनायं, निरुद्धवायुर्जातः, तदा व्याकुलः चरणांश्च विक्षि-



पन् विशेषेण क्षिणन् दुरात्मभिरेवाहमानितो
मारणायमिति क्षिणन्निय, चकारान् कसं च,
प्रन्तः प्रयासान् प्रस्विन्नगाधो जयतः, परिवृत्ते
लोचने यय, अन्तर्वहिः क्रियागमः जानापगमश्च

सूचितः, तदा पपात लेण्डं विसृजन् इति, पायुद्वारा
मलं विसृजन्, लेण्डशब्देन शकृदुच्यते, क्षितायग-
तदिति न पातेन कश्चिदुपद्रुत इति सूचितम् ॥८॥

व्याख्यान्य—'समेधमानेन'—इत्यादि श्लोक से आगे की बात का वर्णन करते हैं। भगवान् कृष्ण दैत्यों के नाश के लिए ही अवतरित हुए हैं। भुजा कर्मप्रधान हैं। कर्म करना भुजाओं का कर्तव्य है। बढ़ती हुई कर्म प्रधान श्रीकृष्ण की भुजा से केशी का मुँह भर गया और वायु के रुकने से श्वास प्रश्वास का आना जाना बन्द हो गया। पाँवों को पटकने लगा तथा मरने के लिए यहाँ कृष्ण के पास लाने वाले अपने दुष्ट गैरों को और यहाँ भेजने वाले कस को भी अत्यधिक बुरा-भला कहने लगा। परिश्रम से उसका शरीर पसीने से भीग गया, आँखें बाहर निकल आईं, उसके बाहरी और भीतरी ज्ञान तथा क्रिया का नाश हो गया; तब तो लीद करता हुआ वह पृथ्वी पर गिर पड़ा और मर गया। वह पृथ्वी पर गिर पड़ा—इस कथन से-सूचित किया कि उसके गिरने पर कोई उपद्रव नहीं हुआ ॥८॥

श्लोक—तद्देहतः कर्कटिकाफलोपमाद् व्यसोरपाकृष्य भुजं महाभुजः ।

अविस्मितोऽत्यन्तहृत्तारिरुत्समयैः प्रसूनवर्षेर्वर्षद्भिरीडितः ॥९॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने पकी हुई फूट की तरह बिखरे हुए केशी के मृत शरीर से अपना हाथ निकाल लिया। भगवान् ने उस शत्रु को अनायास-बिना परिश्रम-ही मार डाला, इसका उन्हें कुछ भी विस्मय नहीं हुआ, किन्तु देवता लोग-जो यह सब चरित्र देख रहे थे-बहुत ही विस्मित हुए। वे नन्दनन्दन के ऊपर फूल बरसाने लगे और उनकी स्तुति करने लगे ॥९॥

सुबोधिनी—ततः कार्यं सम्पन्ने भगवान् सर्वैः
पूजितो गृहे गत इत्याह तद्देहत इति, समारब्धा
वृद्धिः ततो न निवृत्ता गतेष्वपि प्राणेषु वर्धमाना देहं
पवककर्कटिकाफलवत्, विदीर्णं कृत्वा विदीर्णद्वारा
हस्ते निगंते निवृत्ता मुखतो हस्तनिःसारणे क्रिया
परिवृत्ता भवतीति तदर्थं देहविपाटनम्, व्यसो-
रिति निष्कासने हेतुः, त्यक्तप्राणो देहः, अशु-
चिर्भवतीति कृतकार्यत्वं च ज्ञापितं, अपाकयणं
ततो निःसारणं पूर्ववत् करणं च, महान् भुजो
यत्येति भुजेनापि मुक्तिं दातुं शक्यत इति तस्य
मुक्तावपि न सन्देह इत्यर्थः, महती तस्य क्रिया-
शक्तिरिति च ज्ञापितम्, एवमपि कृत्वा अविस्मितः,

न हि तृणे छिन्ने कस्यचिदभिमानो भवति, तदेव
ज्ञापयति अत्यन्तहृत्तारिरिति, न कोपि भगवता
प्रयत्न कृतः अनायासेन हत इति, केचित् गाया-
पगमः स्वाज्ञयेति न प्रयत्नः, ऊर्ध्वस्मयैः हसद्भिः
सर्वैरेव देवैः प्रसूनवर्षैः पुष्पवृष्टिभिः सहितं भं-
गवानीडितः तत्र स्थितवाग्यानि न सन्ति किन्तु
पुष्पवृष्टिरेव, तदाह वर्षद्भिरिति, वर्षणमिव
स्तोत्रमिति प्रसूनानां वर्षों वर्षां इति पुष्पवृष्ट्य-
धिकारिणो देवाः त्वं वर्षद्भिरीडितात् पूर्णरेव ईडित
इति स्तोत्रं गिन्नमेव, एवं हेतुत्वेन केशिवधो
निरूपितः ॥ ९॥



व्याख्या— तदनन्तर केशी का वधरूप कार्य के सिद्ध हो जाने पर, सब देवताओं ने भगवान् का पूजन किया और भगवान् घर पर पधारे यह तद्देहतः श्लोक से कहते हैं। केशी के प्राणों के निकल जाने पर भी भगवान् की भुजा तो बढ़ती ही रही और पकी फूट की तरह उसके शरीर को विदीर्ण करके बाहर निकली। जब हाथ केशी के मुँह से बाहर निकाला तब उसका बढ़ना रुका और उसे पहने जैसा था, वैसा ही भगवान् ने साधारण सा हाथ कर लिया।

वह असुर गर चुका था। मृत शरीर अपवित्र हो जाता है, इस कारण से तथा असुरवधरूप कार्य के पूरे हो जाने से श्रीकृष्ण ने अपनी भुजा को उसके मृतशरीर से बाहर निकाल लिया। भगवान् महाभुज-बड़ी भुजा वाले हैं, वे भुजा से भी मुक्ति दे सकते हैं। इसलिए केशी की मुक्ति में भी सन्देह नहीं है। महाभुज कह कर, यह भी बतलाया कि भगवान् की भुजा की क्रिया-शक्ति बहुत बड़ी है।

केशी को मार देने पर, श्रीकृष्ण को कुछ भी विस्मय नहीं हुआ; क्योंकि घास को तोड़ने में किसी गनुष्य को, मैंने घास तोड़ दिया, ऐसा अभिमान नहीं होता है, वैसे ही केशी तो भगवान् के आगे घास के बराबर नहीं था। उसको मारने के लिए भगवान् ने जरा भी प्रयत्न नहीं किया, अनयिंरा ही मार डाला। कोई टीकाकार कहते हैं, कि अपनी आज्ञा से ही भगवान् ने माया को दूर कर दिया। इसलिए उन्हें माया को हटाने में कुछ प्रयत्न नहीं करना पड़ा। तब सारे देवों ने प्रसन्न होकर पुष्पों की वर्षा के साथ २ भगवान् की स्तुति की। मूल में स्तुति के वचन नहीं हैं, किन्तु पुष्पों की वर्षा का ही वर्णन है। वह स्तुति पुष्पों की वर्षा की तरह थी। इसलिए पुष्पों की वर्षा करने के अधिकारी देवों ने पुष्पों से ही भगवान् की पूजा और स्तुति की। इस प्रकार कंस वध का हेतुरूप से केशी के वध का निरूपण किया। ॥६॥

श्लोक—देवषिरुपसङ्गम्य भागवतप्रवरो नृप ।

कृष्णमल्लिकार्जुनं रहस्ये तदभाषत ॥१०॥

श्लोकार्थ—इस अवसर पर भगवद्भक्तों में श्रेष्ठ नारदजी एकान्त में सर्वशक्तिमान् भगवान् के निकट उपस्थित हुए और कहने लगे ॥१०॥

सुबोधिनी—ततो नारदस्य स्वापराधक्षमाप-
नार्थं वाक्यानि निरूपयन् पञ्चदशभिः प्रथमतः
तस्य समागमनमाह देवषिरिति, यदेव भगवता
केशी हतः तदा भगवत्समीपे न कोपि स्थित इति
तदेव समागतः निकटे भक्तवन् नमस्कुर्वन्, तदाह
उपसङ्गम्येति, देवषित्वाच्च तदर्थपरिज्ञानं,
भगवान् कथं तमनुज्ञातवानित्याह भागवतप्रवर
इति, भागवतानां मध्ये प्रवरः श्रेष्ठः भागवत-
मार्गोपदेष्टृत्वात्, नृपेति सम्बोधनगनभिप्रेतोप्या-

गच्छतीति राजलीलायाः परिज्ञानार्थं, उच्यमानः
कथञ्चिद् अनभिप्रेतो नारद इति भगवान् मार-
येत्, अतः कथं निर्भयो भूत्वा तथा वदतीत्या-
शङ्क्याह अविलम्बकर्मणमिति, स्वतोप्यागमनं
परमानन्दरूपत्वात् सम्भवति तदाह कृष्णमिति,
रहसीति, उभयोरदृश्यत्वे एकान्ते वा गत्वा उभ-
योरपि तथा सामर्थ्यसम्भवात् नानुपगच्छति,
इदं वक्ष्यमाणं स्तोत्रपूर्वकं निवेदनात्मकम-
भाषत ॥१०॥

व्याख्यान—आगे नारदजी के अपने अपराध की पंद्रह श्लोकों से अनायाचना पूर्वक आगमन का वर्णन पहले ‘देवपि’ इस श्लोक से करते हैं। भगवान् ने जब केशी देव्य का वध किया। उस समय उनके पास कोई भी गोप खाल आदि नहीं था। इस बात को नारदजी ने, देवपि होने के कारण, जान लिया और उसी समय भगवान् के समीप जाकर परम भक्त की तरह नमस्कार किया। नारदजी भक्त शिरोमणि है, भक्ति मार्ग के उपदेशक है। इस कारण वे, अनभिप्रेत भी भगवान् की इच्छा को न जानकर भी आए हुए अपराधी नारदजी अविलम्ब कर्मा सर्व-शक्तिमान्, परमानन्दधन श्रीकृष्ण के निकट स्वयं भी निर्भय होकर चले गए और स्तुति करते हुए एकान्त में निवेद्यात्मक वचन कहने लगे। भगवान् की तरह नारदजी भी स्वतः अदृश्य ही है। स्वेच्छा में ही दिखाई देते हैं। इसलिए एकान्त में दोनों की ही निवेदन करते, सुनते कोई नहीं देख सका। राजलीला में अनभिप्रेत को देखना और उसकी बात को सुनना पड़ता है। इस अभिप्राय से भूल में नृप यह सम्बोधन किया है ॥१०॥

लेख - ‘देवपि’ इस श्लोक की व्याख्या में ‘वावयानि’ पद का भाव यह है, कि पंद्रह श्लोकों से नारदजी के वाक्यों का निरूपण करते हुए पहले प्रथम एक श्लोक से उनके आने का वर्णन करते हैं। इस प्रकार से १५ + १ मिलकर सोलह श्लोक होते हैं।

आगे इसी व्याख्या में उच्चमानः—इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है, कि नारदजी का आगमन बलह कारक होने से किसी की अच्छा (प्रिय) नहीं लगता। फिर भी, नारदजी आ गए। तब सब भक्त मिलकर भगवान् से प्रार्थना करने लगे तो, भगवान् नारदजी का अनिष्ट कर दें। इस बात का भय नारदजी को नहीं हुआ और वे सर्व शक्ति मान तथा परमानन्दधन श्रीकृष्ण के निकट निर्भयता पूर्वक जाकर कहने लगे। ‘स्वतोपि’ का अभिप्राय यह है, कि भगवान् की अविलम्ब-कर्मता और परमानन्द-रूपता का विचार न करके भी स्वतः ही, नारदजी भगवान् के निकट चले गए ‘अदृश्यत्वे’ पद का अर्थ यह है, कि योग बल से दोनों ही (श्रीकृष्ण और नारदजी) किसी की दृष्टि में नहीं आए उन्हें कोई नहीं देख सका, क्योंकि ‘इन्द्रियाणान्तु सामर्थ्याददृश्य स्वेच्छया तु तत्’ वह स्वेच्छा से ही दर्शन देते हैं, इन्द्रियों की शक्ति से वह अदृश्य है इन्द्रियां उसको नहीं देख सकती हैं।

श्लोक—कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन् योगीश जगदीश्वर ।

वासुदेवाखिलावास सात्वतां प्रवर प्रभो ॥११॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हे सच्चिदानन्द ! हे अखण्ड स्वरूप ! हे योगेश्वर ! हे जगन्नाथ ! आप सब प्राणियों में व्याप्त हैं। आप सब का आश्रय हैं। हे यादव देव ! आप सर्व शक्तिमान् हैं ॥११॥

सुबोधिनी—प्रथमं भगवन्तं नवगा सम्बोधयति कृष्ण कृष्णेति, मूलरूपं निरूपयन् कृष्णेति सदानन्दो मूलमन्यथा जगतस्तदात्मत्वं फलरूपता च न त्यात्, तत्र प्रमाणद्वयमाह अनुभवं वेद चाग्रिमाभ्याम्, पुनः कृष्णेति द्विरुक्तिरादरे, परमानन्द एवादरणीयो भवतीति, यद्यपीदमन्यतया नानुभूयते तथापि वस्तुस्वाभाव्यात् तत्रादर उत्पद्यते, अत्रार्थे प्रमाणं वदन् वेदानां गम्य



इति तदर्थं वेदोपातिरिति, द्वितीयं प्रमाणमाह
अप्रमेयात्मन्निति, न प्रमातुं योग्यः केनाप्यात्मा
वस्य, सर्वथा प्रमाणाभावे नास्तीति न मन्तव्यं,
आत्मत्वात्, अतो भगवतैव स्वरूपकथनं चोप-
पद्यते, एव द्वाभ्यां प्रमाणरूपतां निरूप्य साधन-
रूपतां निरूपयति द्वाभ्याम् योगीश जगदीश्वरेति
बह्मियोगः अन्तरीश्वरत्वेन नियमनं तदर्थं मारा-
धना च यथा सम्यगेव प्रेरयतीति, ईश्वरत्वाद्
वावश्यं रोध्य इति, फलरूपत्वमाह द्वयेन वासुदेवा-

खिलावासेति, वासुदेवो मोक्षदाता, अखिलावा-
सेति तस्य दाने परिजान, भोक्तृरूपश्च स भोग्य-
रूपश्चेति फलत्वं च सम्पद्यते, प्रमेयरूपत्वेन
निरूपयन् भगवत्सिद्धान्तसिद्धमेव प्रमेयमिति
ज्ञापयितुं द्वयमाह सात्वतां प्रवरः प्रकर्षेण त्रियत
इति प्रवरः, प्रकृष्टो वा वरः भर्ता, सात्वतैः यो
त्रियते स एव प्रमेयमिति, यश्च परिपालयितुं
शक्तः स एव च पतिः, एवमुपास्योपासकयोः
निरूपको घर्मो निरूपितः ॥११॥

व्याख्यार्थ—नारदजी प्रथम तो भगवान् को “कृष्ण कृष्ण” इस श्लोक में नौ प्रकार से सम्बो-
धित करते हैं। “कृष्ण” इस पद से मूलरूप का निरूपण करते हुए “कृषिभूवानक शब्द” के अनु-
सार सदानन्द कृष्ण ही मूलरूप हैं? यदि सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण मूलरूप न हो तो, जगत् की
तद्रूपता और फलरूपता नहीं हो। इस विषय में अगले दो सम्बोधनों से अनुभव और वेद का प्रमाण
देते हैं। कृष्ण-यह पुनरुक्ति (दो बार कथन) आदर सूचक है; क्योंकि, परमानन्द का ही सब
आदर करते हैं। यद्यपि उस परमानन्द स्वरूप का यह ऐसा और इतना है—इदमित्यतया (ज्यों का
ज्यों) वास्तविक अनुभव नहीं होता है, तो भी, उस परमानन्द रूप वस्तु का यही स्वभाव “इदमि-
त्यतया” (अनुभव में न आना ही) होने के कारण आदर होता ही है।

वह परमानन्द कृष्ण अनुभववेद्य नहीं है, किन्तु वेदगम्य है। इसीलिए वेदों की रचना है।
यह ‘अप्रमेयात्मन्’ इस सम्बोधन से प्रमाणित करते हुए कहते हैं, कि परमानन्द कृष्ण का स्वरूप
किसी प्रमाण से जानने योग्य ‘न तत्र वाग गच्छति न मन यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह’
नहीं है। यद्यपि वह किसी प्रमाण से सर्वथा जानने योग्य नहीं है, तो भी वह सबकी आत्मा है, इस
कारण उसकी मत्ता में सन्देह नहीं है। इस कारण से वह स्वयं ही—“स्वयं मेवात्मनाऽऽत्मानं वेत्थ
त्वं, अहमात्मात्मनां धात” गीता भागवत् के अनुसार-अपने स्वरूप का वर्णन कर सकता है।

इस प्रकार दो विशेषणों से श्रीकृष्ण की प्रमाण रूपता-स्वतः प्रमाणता का निरूपण करके
साधन रूप भी वही है यह अगले ‘योगीश’, ‘जगदीश्वर’ इन दो विशेषणों से कहते हैं। क्योंकि जब
वह योग का ईश्वर होने के कारण बाह्य इन्द्रियों का और जगत् का ईश्वर होकर अन्तः इन्द्रिय
गते का नियमन करता है, तब ही आराधना साधन ठीक बन सकती है। अथवा वह सारे ही जगत्
का ईश्वर होने से, सबका ही सेव्य-आराध्य-है। आगे वासुदेव, अखिलावास इन दो विशेषणों से
कहते हैं, कि फलरूप भी यही श्रीकृष्ण ही है। आप वासुदेव मोक्ष देने वाले हैं और अखिलावास
सब प्राणियों में व्याप्त होने के कारण मोक्ष प्राप्ति के योग्य जीवों को जानने वाले हैं। भोक्ता,
जीवरूप और भोग्य-मोक्ष रूप आप ही हैं। इसलिए फलरूप, आप श्रीकृष्ण हैं। इस प्रकार मर्यादा
गाय के अनुसार भगवान् को फलरूप वर्णन करके अगले ‘सात्वतां प्रवरः प्रभो’ इन दो विशेषणों के
द्वारा भागवत् सिद्धान्त सिद्ध फलरूपता का निरूपण करते हैं। भक्तों के आप प्रकृष्ट वर-वरने के
योग्य हैं अथवा सर्वोत्तम भर्ता-भक्तों के द्वारा वरण किए होने से, आप ही प्रमेय हैं। आप प्रभु सबका



लेखः—ततः "सामान्यकृति द्वाभ्यां" फिर "यानि नान्यानि" "अथ ते कालरूपस्य" इन २१ वें व २२ वें दो श्लोकों से आपके तथा अन्य के द्वारा होने वाले कार्य का वर्णन करके "विशुद्ध विज्ञान-घनं" इस श्लोक से ज्ञान का और "त्वामीश्वरं" इस २४ वें श्लोक से भक्ति का निरूपण किया है। आदि में "देवपिरूप-सगम्य" इस १० वें श्लोक से उपक्रम और "एवं यदुपति कृष्णं" इस अन्तिम नारदजी के विदा होने का वर्णन है। इस प्रकार से ये सब सोलह श्लोक हैं ॥ का. ३ ॥

कारिकाः—आनन्दचित्सतां रूपं ज्ञाने भक्ताविहोदगतिः ।

कार्यार्थमवतीर्णत्वात् भक्तिमार्गे न दूषणम् ॥४॥

कारिकार्थः—ज्ञान मार्ग में ज्ञानियों को आनन्दात्मक चित्स्वरूप का ज्ञान होता है और भक्ति मार्ग में भगवान् का प्राकट्य होता है। भगवान् (आपका) का कार्यार्थ भूभारहरणार्थ अवतार हुआ है। इस कारण से मेरा (नारद का) कंस को बोध करना रूप कार्य भक्तिमार्ग दूषण नहीं है ॥४॥

लेखः—इस उपयुक्त कारिका से "विशुद्ध विज्ञानघनं" इस ज्ञान का निरूपण करने वाले श्लोक का विवरण किया है। तदनन्तर भक्ति होने पर भगवान् का प्राकट्य होना "त्वामीश्वरं" वर्णित है। आप भगवान् का अवतार कंसवधादि कार्य करने का साधक होने से मेरा (नारद का) कंस को बोध करा देना रूप दोष नहीं है—यह भक्ति का निरूपण करनेवाले अन्तिम 'त्वामीश्वरं' श्लोक में निरूपण है ॥ का. ४ ॥

कारिकाः—कृतं तु भगवानेवेत्येवं सप्तमिरीयंसे .

कर्ममःगोप्यदोषाय सामान्यद्वयमीर्यते ॥५॥

कारिकार्थः—धर्म धर्मी भेद से भगवान् के चरित्र का वर्णन सात श्लोकों (१६ वें से २२ वें तक) से किया है। कर्म मार्ग के अनुसार भी नारदजी का कंस को बोध कर देना रूप दोष नहीं है। इसलिए सामान्य चरित्र का वर्णन है ॥का. ५॥

लेखः—"कृतं तु" इस कारिका से चरित्र को सामान्य विशेष भेद से सात श्लोकों से वर्णन करने का कारण कहते हैं। भगवच्चरित्र भगवद्रूप ही है। सामान्य चरित्र के वर्णन करने का कारण यह है, कि सामान्य रूप से असुरों का नाश करनेवाले भगवान् ही हैं। इसलिए कर्ममार्गानुसार भी मेरा कोई दोष नहीं है। इस बात को दोषाभाव को सूचित करने के लिए कर्म का निरूपण करनेवाले श्लोकों में सामान्य चरित्र का वर्णन करने वाले श्लोकों में सामान्य चरित्र का वर्णन किया है ॥ का. ५ ॥

कारिकाः—ततोन्ते ज्ञानमक्ती च स्वापरोधो यतो न हि ।

उपक्रमगतिभ्यां च षोडशात्मा निरूपितः ॥६॥



यद्यपि 'आत्मा' शब्द का अर्थ जीव भी होता है; किन्तु इस श्लोक में सब भूत प्राणियों की प्राण एक ही आत्मा है—'आत्म' शब्द एक श्रीकृष्ण भगवान् का वाचक ही है; क्योंकि जीव तो प्रत्येक देह में अलग २ होने से, असंख्य है।

यह "आत्म" शब्द ब्रह्मवादे परमात्मवाचक है, योगशास्त्र में, 'आत्म' शब्द का अर्थ विभूति है। भागवत शास्त्र में गंगा के अधिदैविक स्वरूप की तरह "आत्मा" की आत्मा अधिदैविक श्रीकृष्ण मूलरूप का बोधक "आत्म" शब्द है। सांख्य सिद्धान्त में, तो जीव, ब्रह्म का विभाग नहीं है क्योंकि "गुरुष्वेश्वरयोः" इत्यादि श्लोक से विभाग का निषेध किया है। इन चारों पक्षों में भगवान् के रूप की विलक्षणता (भेद) नहीं है, एक रूपता ही है। भिन्न २ प्रतीति तो उपाधि के कारण गौण है। इस विषय को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं कि सारे काष्ठों में (सब लकड़ियों में) जैसे अग्नि एक ही है, वैसे ही, सब प्राणियों में आत्मा एक आप ही हो। काष्ठ के वर्ण के अनुसार अग्नि भी भिन्न २ रंग सी दिखाई देती है। इसलिए अग्नि सारे काष्ठों में एक है। वर्गान्तर (विभिन्न वर्गों) की प्रतीति काष्ठानुसार होने से औपाधिकी (गौण) है।

जैसे अंगारे ही लकड़ी के वर्ण के अनुसार रंग विरंगें दिखाई देते हैं। अग्नि तो सब में एक रूप से ही व्याप्त रहती है, वैसे ही प्राणियों में रहने वाले गुरुत्व लघुत्व, ह्रस्वत्व दीर्घत्व आदि विकार अंशी भगवान् में नहीं हैं। इस सम्बन्ध से अग्नि का दृष्टान्त मूल में दिया है।

इस प्रकार भगवान् को सब भूतप्राणियों की आत्मा कहकर दृष्टान्त में भी 'अग्नी' अग्नि को सब लकड़ियों की आत्मा बतलाई है। अर्थात् लकड़ी अग्नि ही है। जब तक लकड़ी है, तब तक अग्नि है। लकड़ी के जल जाने पर स्वरूप से अग्नि ही रह जाती है। इसलिए भगवान् को मूल में 'गूढ' कहा है। सब काष्ठों में छिपी हुई अग्नि की तरह सब प्राणियों में विद्यमान (स्थित) भी आप को कोई नहीं जानता है। काष्ठ स्थित वह अग्नि जैसे जल से काष्ठ के बुझा देने पर, अथवा दाह्य (जलाने) की कोई वस्तु के न रहने पर अपने आप ही शान्त होकर अग्नि के स्वरूप को प्राप्त कर लेती है। वैसे ही दृश्य के न रहने पर सब जगत् भगवद्रूप ही हो जाता है। किन्तु जैसे वह काष्ठ स्थित अग्नि काष्ठ रूपी उपाधि से आवृत (घिरी) है, तब तक वह न तो जल से बुझती है और न किसी निकटस्थ काष्ठ को जला ही सकती है। इसी प्रकार जगत् में संघात के रहते हुए जीवात्मा साधन ज्ञानादि के द्वारा तथा बाधक अविद्या के द्वारा अपने स्वरूप (भगवत्स्वरूप) की प्राप्त नहीं हो सकता है। इसी समानता के कारण अग्नि का दृष्टान्त दिया है।

दूध में जैसे छिपा हुआ घृत गधन के द्वारा प्रकट होता है। इसी तरह गूढ़ भी वह परमात्मा विद्यमान है। "हृदि हृदि धिष्ठित मात्मकल्पितानां" हृदयाकाश में स्थित है। उसकी सत्ता से ही उस सर्वात्मा से ही सब प्रकाशित हैं। वह सबका साक्षी है, सबके कर्मों को देखता है, क्योंकि यदि वह अच्छे बुरे सब कर्मों का साक्षी-देखने वाला न हो तो, यह मैं हूँ, वह सबका दृष्टा है—ऐसे बोध और यमनुसार फल की प्राप्ति भी नहीं हो सकती। वह सर्वात्मा महापुरुष परमकाष्ठापन्न है, महा-महिम है। जीव ऐसा नहीं हो सकता है। उक्त चारों पक्षों में ऐसे धर्म से युक्त भगवान् ही हैं। आप ईश्वर सबके नियन्ता हो। जीव नियम्य (आपके आधीन-वशीभूत) है। जीवों को तो जैसी प्रेरणा आप देते हो, वैसे ही वे करते हैं। आप प्रेरक हो इस सर्व साधारण नियम के अनुसार मेरे (नारद



के) भी प्राग प्रेरक हैं । आपकी प्रेरणा से प्रेरित होकर ही मैने (नारद ने) कंस को बोध कराया है । इसलिए इसमें मेरा कोई दोष नहीं है । १२ ।

लेख:- च्चमात्मा-इत श्लोक की व्याख्या में ‘दृष्टान्त’ पद का तात्पर्य अनेक भूतों में सर्व भूता-न्तरात्मा-सारे काष्ठों में एक अग्नि की तरह आप एक ही हैं । ‘काष्ठानां’ मध्ये एक एव’ प्राग के अग्न भूत अंगारों के अनेक होने पर भी, अंशी अग्नि जैसे सब में एक ही है-वैसे ही अंशी नाना-व्यपदेशात्-अंश रूप अनेक प्राणियों में सर्वान्तिगता आप एक ही है । ‘वर्णान्तर प्रतीतिस्तोषाधिकी’ का अभिप्राय यह है, कि एक ही अग्नि के खैर आदि लकड़ी के अंगारों में लाल-गोल आदि भिन्न २ वर्णों तो काष्ठ आदि के कारण दिखाई देने लगते हैं । इसलिए वह विभिन्न की प्रतीति तो गौण है । ‘न तु तत्तेवेति’ अर्थात् लकड़ी के अनुसार अंगारे विभिन्न वर्णों के दिखाई देने लगते हैं । अंशी अग्नि जैसे एक ही है, वैसे ही नाना प्राणियों में स्थित (दिखाई देने वाला ह्रस्वः दीर्घत्वादि विकार अंशी भगवान् में नहीं है । इसी प्रकार ईंधन अंशभूत अंगारों का और भूत प्राणी अंश रूप जीवों का आधार है, अंशी प्राग का आधार ईंधन जैसे नहीं हो सकता, वैसे ही भूत प्राणी अंशी भगवान् का आधार नहीं है, क्योंकि सारे आधेय जगत् और जगत् के सारे दृष्टश्रुत पदार्थ भगवद्रूप आधेय हैं, ऐसे ही, सबका आधार रूप भी भगवान् का ही धर्म है, अर्थात् श्रोकृष्ण ही आधेय और वे ही आधार रूप हैं ।

‘तत्ता नास्ति, सम्बन्धो निरूपितः’ -इत्यादि व्याख्या के पदों का आशय बतलाते हैं, कि अंशी अग्नि में विभिन्न वर्णता नहीं है, वैसे ही अंशी भगवान् में विकार नहीं है । इसी सम्बन्ध के लिए यहां अग्नि का दृष्टान्त दिया गया है । अर्थात् दार्ष्टान्तिक में भगवान् को सर्व भूतात्मा कहकर दृष्टान्त में भी अग्नि को सब काष्ठों की आत्मा बतलाया है । ‘काष्ठता परमार्थेर्लभ्य प्रतिबन्धिका’ इन पदों के कहने का यह अभिप्राय है, कि जब तक लकड़ी में काष्ठता रहती है, तब तक काष्ठस्थित अग्नि न जल से बुझ सकती है और न एक काष्ठ के निकट को अन्य लकड़ियों को दाह्य के रहते हुए भी जला ही सकती है । वह काष्ठस्थित अग्नि अरणि आदि के द्वारा मंथन करने पर प्रकट होकर काष्ठाकार से दृष्टिगोचर हो जाती है । उभयथा स्वरूपं-प्राप्नोति-पदों से यह स्पष्ट करते हैं, कि अग्नि अतृव्य - शत्रु - जल से बुझजाने पर अथवा दाह्य अन्य काष्ठ आदि के न रहने पर अंशभूत अंगारों के रूप को त्यागकर अंशी अग्नि रूप में ही स्थित रहती है । यहां काष्ठता उपाधि है । जब (तक) वह काष्ठता लकड़ी में है, तब तक वह काष्ठस्थित अग्नि पानी से नहीं बुझ सकती है, और निकटस्थ दाह्य पदार्थों को जला भी नहीं सकती है ।

‘न साधनैर्नापिबाधकैः’ का स्वारस्य यह है, कि ज्ञान आदि साधनों के द्वारा तथा पंचपर्वरूप-अविद्या के बाधकों के द्वारा आत्मा संघात के रहते हुए स्वरूप को प्राप्त नहीं कर सकता है । ‘अन्यथा सर्व प्रकाशो न स्यात्’ अर्थात् यदि वह परमात्मा हृदयाकाश में स्थित न हो तो, सबको सब पदार्थों का ज्ञान ही न हो सके । इसलिए हृदयाकाश में परमात्मा स्थित है वह गुहाशय है । ‘अन्यथा फल भोगोपि न स्यात्’ इस कथन में यह गुहाभिसन्धि है, कि यह परमात्मा सबके कर्मों का साक्षी देखने वाला नहीं हो तो तत्कृत कर्मों का फल भी न हो और उनका भोग भी जीवों को न हो । इसलिए ‘फलमत उपपत्तेः’-ब्रह्मसूत्र के अनुसार वह सब कर्मों का साक्षी द्रष्टा भी है और इसीलिए जीवों को कर्मानुसार फल भी देता है । जीव व्यावृत्त्यर्थं आह महापुरुष इत्यादि पदों का स्पष्टीकरण

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २० ॥

यह है, कि वह महागुण परम बाष्ठापन्न वस्तु है । एक जीव, अथवा सारे जीव रूप अ शाकार नहीं है, किन्तु सबका प्रणी है ॥१२॥

श्लोकः—आत्मनात्माश्रयः पूर्वं मायया ससृजे गुणान् ।

तैरिदं सत्यसङ्कल्पः सृजस्यत्स्ववसीश्वरः ॥१३॥

श्लोकार्थ—आप सर्वतन्त्र स्वतन्त्र और सत्य संकल्प हैं । आपने किसी अन्य साधन की अपेक्षा न रख कर अपनी शक्ति माया के द्वारा गुणों की सृष्टि की है और उन गुणों के द्वारा ही आप जगत् की सृष्टि पालन और संहार करते हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—किञ्च उत्पत्तिविचारेणापि त्व-
येव भिन्नतया सृष्टा इति न कंसस्य नापि मम
दोष इत्याह आत्मेति, त्वं कर्ता, आत्माश्रयस्त्व-
मेवाधिकरणं, स्वरूपस्थितावपि त्वमेव करण-
मिति प्रथमतः करणनिर्देशः, आत्मना मायया
सर्वभवनसागर्थ्यमप्यात्मैव, उभयेनेत्येके, मायया
लोकानामन्यथाप्रतीत्यर्थं वा, उत्पादितारस्तु
सच्चिदानन्देभ्यः सत्त्वरजस्तमांसि, लोकानां
प्रतीतिस्तु प्रकृतिरिति, अन्यथा भगवतः कर्तृ-
त्वमेव न स्यात् स्वातन्त्र्याभावात्, स्वातन्त्र्ये तु
उभयोः स्वतन्त्रता न सम्भवतीति प्रकृतिस्तद-
घोना मन्तव्या, अत आत्मनैव गुणान् सृजन्
मायामपि कणत्वेन स्वीकृतवान्, गुणानामु-

पादानमात्मैव स्वरूपं च, अन्यथाप्रतीत्यर्थमेव
भगवद्रूपा भगवच्छक्तिर्व्यापिप्रियत इति पश्चात्
तैरेव इदं सर्वं जगत् सृजसि अस्मि भक्षयसि
अवसि पालयसि, ननु किमर्थमेवं करोषीत्या-
शङ्क्याह ईश्वर इति, ईश्वरेच्छाया नियन्तुम-
शक्यत्वात्, अन्यथा स्वविचारेण प्रयोजनस्या-
भावात् लीलायामपि प्रयोजनासम्भवः, अत
ऐश्वर्यमेव नियामकमिति, अतस्त्वयैव सृष्टिमिति
त्रिभिर्गुणैरपि अग्निमकार्यं च विचारितमिति
न कस्यचित् दोषः, साक्षात् भगवतः सर्वं जायत
इति पक्षः प्रकृते न सम्भवति, तथा सति वैलक्षण्ये
नियामकाभावात् स्वापराधरितंष्टेदेव, स्वकृत-
वैयर्थ्यं च रमादतो न्य एव पक्ष आश्रितः ॥१३॥

व्याख्यानार्थ—उत्पत्ति-शक्ति-द्वारा नारदजी अपना दोषाभाव बतला कर, उत्पत्ति के अनुसार भी अपने आप को कंस को भी निर्दोषी आत्मनात्माश्रय इस श्लोक से कहते हैं । आपने (हे श्रीकृष्ण) सारे जीवों को भिन्न २ उत्पन्न किया है । इस कारण से न कंस का दोष है और कंस को बोध करने पर भी, न मैं (नारद) ही दोषी हूँ । आप ही जगत् के कर्ता हैं । आप ही इसके तथा अपने आप के आश्रय हैं । आप स्वयं ही स्वरूप से जगद्रूप से विराजमान हैं । इस कारण-करण-जगत् के साधक-तम भी आप ही हैं । माया एवं भवन सागर्थ्य रूप आपकी आत्मशक्ति माया के द्वारा और स्वयं आत्मा के दोनों के द्वारा पहले गुणों को उत्पन्न करते हो । माया से तो, लोकों को विपरीत ज्ञान होने के लिए कहा है । आपने ही अपने सच्चिदानन्द-सत्चित्, आनन्द-रूप से सत्त्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण की सृष्टि की है । लोक तो प्रकृति को जगत्कर्त्ता मानते हैं । प्रकृति को जगत् का कर्त्ता मानने पर भगवान् का कर्त्तृत्व नहीं माना जावेगा और 'स्वतन्त्रःकर्त्ता'-कर्त्ता स्वतन्त्र होता है । इसलिए भगवान् की स्वतन्त्रता में बाधा आ पड़ेगी । भगवान् और प्रकृति दोनों को ही कर्त्ता माने जाने पर तो दोनों की ही स्वतन्त्रता बाधित हो जाती है । इस कारण आप भगवान् जगत् के कर्त्ता हैं और प्रकृति आपके आधीन है । यह मानना उचित है ।

आपने अपने आप स्वयं ही गुणों की सृष्टि करते हुए माया को भी करण रूप से पहचान कर लिया है। उन गुणों का उपादान (संगव्यवहार) आत्मा आपका स्वरूप ही है। भगवत्स्वरूप भगवान् की शक्ति, माया का व्यापार तो केवल विह्वल प्रतीति-मायिकत्वभान के लिए है। फिर आप इन गुणों से इस जगत् को उत्पन्न करते हो-इसका पालन और सहार करते हो, क्योंकि ईश्वर-कर्तु, अकर्तु, अन्यथाकर्तु-सर्व शक्तिमान् है। आपकी इच्छा नियन्त्रण किसी से भी नहीं किया जा सकता। यदि ईश्वर की इच्छा भी सीमित (बाधित) कर दी (हो) जाए तो अपने विचार से, और लीला से भी, सृष्टि करने का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता। इसलिए आपका ऐश्वर्य ही नियामक है। इस कारण से आपने ही गुणों की सृष्टि करके गुणों के द्वारा ही जगत् की रचना की है और अगले कर्तव्य का भी निर्णय सोच लिया है। इस प्रकार किसी का भी दोष नहीं है।

साक्षात् भगवान् रो ही सबकी उत्पत्ति हुई है, यह पक्ष यहां सङ्गत नहीं है; क्योंकि, तब तो जगत् की विलक्षणता का कोई कारण न रहने से अपना (नारदजी का) अपराध ज्यों का त्यों बना रहेगा और अपने कृत (किए) कार्य की व्यर्थता भी हो जाएगी । इस कारण से गुणों के द्वारा सृष्टि करने का पक्ष ही स्वीकृत किया (माना) है । १३॥

श्लोक—स त्वं भूधरमूतानां वैत्यप्रमयरक्षसाम् ।

अवतीर्णो विनाशाय साधूनां रक्षणाय च ॥१४॥

श्लोकार्थ—वही विशुद्ध सत्त्वस्वरूप परम काष्ठापन्न आप रजोगुणी राजाश्रों के रूप से पृथ्वी पर अत्याचार करने वाले तमोगुणी दानव दैत्य, असुरगणों का संहार और सज्जनों की रक्षा के लिए मनुष्य लोक में प्रकट हुए हो ॥१४॥

सुखोघिनीः— एतस्मिन्नर्थे हेतुं वदन् एतदर्थ-
मेव त्वमवतोर्ण इति सेवकंरपि तदनुगुणमेव
कृतं व्यगिति न ममापराध इति वक्तुमाह स
त्वमिति, भूधरा राजानः ते भूभारका एव भूपाल-
कत्वेन जाताः, वस्तुतो दैत्याः तेषु सात्त्विकाः
प्रमथाः यक्षा राजशाः रक्षांसि तामसानि एते
त्रयोऽपि सर्वेन शकाः, न हि नाशकैः पालनं
सम्भवति अतः केवलं पर्वतभूताः भाराय जाताः,
तेषां नाशाय अवतोर्णो भगवान्, तेन शुमेभारो

गच्छति, साधवश्च परिपालनीयाः, अराजके राज्ये साधूनां परिपालनं न सम्भवति, अरक्ष्यमाणा सर्वे एवासाधवश्च भवन्ति, अतः प्रकारान्तरेण दैत्यवघेषि न कार्यं सिध्यति, सर्वेषां वघे प्रलय एव स्यात्, अतो राजानं विधायैव दैत्या हन्तव्याः, अतो भगवान् स्वयमवतीर्णः साधूनां रक्षणार्थं च, चकारात् भक्त्यर्थं च, अतस्तदनुगुणं तेवकैरपि कर्तव्यमिति मयापि कर्तव्यमिति भावः ॥१४॥

व्याख्यातः—आप भगवान् ने अवतार लेने के कारण को बतलाते हुए कहते हैं, कि जब आपने दैत्यवधार्थ ही अवतार लिया है, तब आपके सेवकों (हग नारदादिकों) को भी आपके अवतारानुकूल ही कार्य करना चाहिए । इसलिए कंठ को आपके स्वरूप का ज्ञान करा देने में मेरा अपराध नहीं है । यह इस 'स त्व' श्लोक से कहते हैं । भूधर-राजा लोग ही (भूधर) पर्वत रूप पृथ्वी पर भार बनकर पृथ्वी का पालकपने का स्वांगधारी हो रहे हैं । वास्तव में तो, ये दैत्य ही हैं । इनमें



प्रमथ, सात्त्विक है और यक्ष राजस तथा राक्षस तामस है। ये तीनों ही सबका नाश कर देने वाले हैं। भक्षकों (नाशकों) से पालन की आशा नितान्त असम्भव ही है। इसलिए जो (भूधर) राजा लोग केवल (भूधर) पर्वत रूपी भारभूत ही पृथिवी पर हो रहे हैं। उन ऐसे दुष्ट राजाओं का नाश करने को ही आपका अवतार है; क्योंकि उनके नाश कर देने पर पृथ्वी का भार हलका हो जाता है।

आपके अवतार का दूसरा प्रयोजन साधु पुरुषों की रक्षा करना है। जिस राज्य में जहाँ कोई राजा नहीं होता है, वहाँ साधु पुरुषों की रक्षा नहीं हो सकती और वहाँ सारी प्रजा असाधु (दुष्ट) बन जाती है। ऐसी दशा में केवल दैत्यों का वध कर देने मात्र से शान्ति स्थापित नहीं हो सकती और सबका ही नाश कर देने पर तो प्रलय ही निश्चित है। इसलिए राजा का निर्माण करके ही दैत्यों का नाश करना चाहिए। इसी कारण से साधु पुरुषों तथा भक्ति की रक्षार्थ भगवान् ने स्वयं अवतार धारण किया है। अतः आपके सेवकों को भी आपके अवतारानुकूल कार्य करना उचित है। इस मैंने (नारद ने) भी जो कुछ किया उचित ही किया है ॥१४॥

श्लोक— दिष्ट्या ते निहतो दैत्यो लीलायां हयाकृतिः ।

गस्य हेषितसंत्रस्तास्त्यजन्त्यनिमिषा दिवम् ॥१५॥

श्लोकार्थः— बड़े सौभाग्य की बात है कि उस केशी असुर को जिसके प्रचण्ड शब्द को सुनकर ही भयभीत हुए देवता स्वर्ग को छोड़ कर भाग निकलते थे—आपने लीला पूर्वक यमलोक का अतिथि बना दिया ॥१५॥

सुबोधिनी— एतन्निदर्शनं वदन् भगवता साम्प्रतं कृतमनुमोदति दिष्ट्येति, त्वया अयं महान् नितरां हतः, हय इत्याकृतिमात्रं वस्तूतो दैत्यः लीलयेति स्वयं पीडां च नाप्नुवन्, अन्यथा पीडायामपि सेवकस्यापराध एव स्यात्, अत एव दिष्ट्या मम महद्भाग्यम्, ननु तुच्छोनायासेनैव मायंते किमाश्चर्यमित्याशङ्क्याह यस्येति, हेषितेन संत्रस्ताः अनिमिषा अपि दिवं त्यजन्ति,

ज्ञानशक्तिः स्थिरा अनिमिषाणां तेषामपि भयेन तन्नाशो निरूप्यते, किञ्च, निमिषोपि येषां नास्ति तेषां मूर्च्छादिकमसंभावितमिति भयं सर्वथा अयुक्तं, तेषामपि हेषितमात्रेण भयं जनयति, तदपि भयं महत्कार्यं करोतीत्याह दिवमपि त्यजन्तीति, अत आशासः कृतो भवेत् स न कृत इति महद्भाग्यम् ॥१५॥

व्याख्यान— 'दिष्ट्या' इस श्लोक से दृष्टान्त पूर्वक भगवान् की कृति का नारदजी अनुमोदन करते हैं। हे प्रभो ! केवल आकार मात्र से घोड़ा सा दिखाई देने वाले इस बड़े भारी दैत्य केशी को लीला मात्र से (अनायास) ही मार डाला। यह मेरा (नारद का) बड़ा सौभाग्य है। यदि भगवान् को इस केशी वध में तनिक भी परिश्रम होता तो वह सेवक का अपराध ही समझा जाता। इसलिए मैं बड़ भागी हूँ, कि इस गहान् दैत्य को मारने में आपको तनिक भी परिश्रम नहीं आया, खेल में, सहज में, ही मार दिया।

तुच्छ तो सहज ही, मार दिया जाता ही है। तुच्छ केशी को भगवान् ने बिना परिश्रम ही-खेल में ही-मार दिया इसमें आश्चर्य की बात क्या हुई ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं, कि वह केशी



कोई छोटी गो बला नहीं थी; किन्तु उसके शब्द (हिनहिनाने) मात्र से ही देवगण भयभीत हो, अपना स्वर्ग छोड़कर, भागते थे। वे अनिमिष अर्थात् दृढ़ ज्ञान-शक्ति वाले हैं, तो गो उनकी स्थिर ज्ञान शक्ति का भय से नाश हो जाता था। वे देवगण अनिमिष हैं, उनको एक क्षणमात्र मूच्छादि होना असम्भव है, उनका भयाकुल होना तो नितान्त अनुचित है, वे ऐसे गो देवगण जिसके शब्द मात्र से ही डर जाते थे, वे केवल डर ही नहीं जाते थे; किन्तु डरकर अपने समृद्धिशाली, सर्वोत्कृष्ट स्थान स्वर्ग लोक को जिसकी धार्मिक लोग यज्ञादि करके कामना करते हैं-छोड़कर भाग जाते थे। ऐसे महान् दैत्य का बध करने में भगवान् को परिश्रम उठाना ही पड़ता। इसलिए मेरा बड़ा भाग्य है, कि ऐसे महान् दैत्य को भी आपने बिना परिश्रम के अनायास ही मार दिया ॥१५॥

श्लोक—चाणूरं मुष्टिकं चैव मल्लानन्यांश्च हस्तिनम् ।

कंसं च निहतं द्रक्ष्ये परश्वोहनि ते विभो ॥१६॥

श्लोकार्थः—अब मैं परसों शीघ्र ही आपके द्वारा होने वाले-चाणूर मुष्टिक आदि पहलवानों का, कुवल्यापीड हाथी का और कंस के नाश को भी देखूंगा ॥१६॥

सुबोधिनीः—अन्यदप्यग्रे भविष्यतीति तदहं सर्वं द्रक्ष्यामीति मया ग-सुखार्थमेवैतत्कृतमिति स्वीत्सुक्यं प्रकटयन् स्वस्यापि दोषं स्वयमेव निवेदयन् आह चाणूरगिति, योगजधर्मज्ञानं न सर्वात्मना सर्वं विषयीकरोतीति ज्ञापनार्थं व्युत्क्रमेण वर्ण्यते, अन्यथा हस्तिपः प्रथमं हतः नृगः पश्चात् प्रथमं च स्यमन्तकः ततोपि पूर्वं मृतपुत्रोपादानं, मुष्टिकचाणूरयोः प्रधानत्वात् कीर्तनम्, बलभद्रेणापि भारितो योगजधर्मात् भगवदावेशाच्च

भगवत्कृत एवेति जायते, निहतं युद्धं चेति चकारार्थः, अद्य सन्ध्यायामक्रूरः समायास्यति श्वो गन्तव्यं मथुरायां परश्वो हन्तव्या इति, तदप्यहन्त्येव न तु रात्रिपर्यन्तगपि विलम्बः, उपलक्षणमेतत्, पूर्वाह्ण एव मल्लाः शलादयः, अन्ये च धनूरक्षकाः चकारात् कंसभ्रातरश्च, नारदत्वात् समनोरथः, विभो इति सम्बोधनं सर्वथा तथा भविष्यतीति निश्चयार्थम् ॥१६॥

व्याख्यानार्थः—इसके आगे होने वाली और भी आपकी सारी क्रीडा-सभी चीजों-को मैं देखूंगा। इसलिए मैंने अपने आनन्द के लिए ही यह कंस वध की सारी योजना बनाई है। इस प्रकार से, नारदजी अपनी उत्कण्ठा को प्रकट करते हैं और अपने दोष का स्वयं निरूपण करते हुए-चाणूर-इस श्लोक से कहते हैं, कि मैं अपने योगजन्य ज्ञान से कहता हूँ, कि परसों मैं इन चाणूर आदि सबको आपके द्वारा मार दिए गए को देखूंगा। योगजन्य ज्ञान से त्रिकाल (भूत, भविष्यत्, वर्तमान) की सारी बातें क्रम से नहीं जानी जा सकती हैं। यही कारण है, कि इस श्लोक में आगे का चरित्र पीछे और पीछे होनेवाली लीला का पहले वर्णन किया है। मुष्टिक और चाणूर दोनों कंस के सेवकों में प्रधान थे। इसीलिए यहां इनका नाम लिया गया है। यद्यपि मुष्टिक वध बलभद्रजी ने किया था, तथापि योगजज्ञान की अयथार्थता और भगवान् के आवेश से ही किया था। इसलिए उसे भी भगवान् का कार्य ही कहा है। कंस के साथ आपके युद्ध को और उसकी मृत्यु को देखूंगा। आज रात्रिकाल क्रूरजी आयेंगे। कल आप मथुरा जायेंगे और परसों वहां ये सब मार दिए जायेंगे। परसों दिन में ही सब मारे जायेंगे। रात्रि तक का विलम्ब नहीं होगा। और परसों दिन में ही यह कथन भी गीए



हैं; क्योंकि दिन तो धारह घंटों का होता है और शल आदि मत्स्यों को, धनुष के रक्षकों को तथा कंस के भाईयों को परसों सुबह ही मार दिया था। ये नारदजी हैं। इसलिए इनकी ऐसी कामनाएँ हैं। भगवान् सर्व शक्तिमान् हैं। इस-विभो-सम्बोधन से यह गुचित किया है कि सर्वव्यापक भगवान् निश्चय ही यह सब कुछ कर देंगे ॥१६॥

श्लोक—तस्यानु शङ्खयवनमुराणां नरकस्य च ।

पारिजातापहरणमिन्द्रस्य च पराजयम् ॥१७॥

श्लोकार्थः—कंस वध के बाद शंखासुर, कालयवन, मुरदानव, नरकासुर आदि को भी आप मारेंगे। इन्द्र को जीतकर आप स्वर्ग से कल्पवृक्ष को ले आवेंगे ॥१७॥

सुबोधिनीः—न केवलं कंसं हत्वा निवृत्तो भविष्यसि किन्तु अन्यानपि मारयिष्यसीति तान् गणयति तत्त्वं कसस्य वधमनु शङ्खः पञ्चजनः, यवनः कालयवनः, मुरो नरकमित्रं एतेषां वधं द्रक्ष्यामीति सम्बन्धः, एते त्रयः सात्त्विकराज-सत्तामसभेदाः, नरकस्य च तथा वधं द्रक्ष्यामीति

सम्बन्धः, अयं भगवत्पुत्रो विशिष्ट इति, प्रथमं निरूपितः, चकारादन्येपि तत्सेवकाः पीठादयः, ततो वधं परित्यज्य केवलं जयं वक्तुं निमित्त-फलान्याह, पारिजातस्य हरणं निमित्तं, इन्द्रस्य पराजयः ॥१७॥

व्याख्यानार्थः—कंस का वध कर देने के बाद भी, आप अन्य राक्षसों को मारेंगे। उनकी 'तस्यानु' श्लोक से नाम लेकर बतलाते हैं। कंस के वध के पीछे शंखासुर (पञ्चजन), कालयवन और नरकासुर का मित्र गुरदित्य और नरकासुर का भी वध देखूंगा। नरकासुर भगवान् का पुत्र होने के कारण अलग गिनाया है और यह शंखादि की अपेक्षा उच्च कोटि का है। इसी प्रकार कंस के अन्य पीठ आदि सेवकों का नाश भी देखूंगा। इन असुरों के वध को देखने के अतिरिक्त स्वर्ग से कल्प वृक्ष को लाने के लिए इन्द्र के-आप से युद्ध में-पराजय को भी देखूंगा ॥१७॥

श्लोक—उद्वाहं वीरकन्यानां वीर्यशुल्कादिलक्षणम् ।

नृगस्य मोक्षणं पापाद् द्वारकायां जगत्पते ॥१८॥

श्लोकार्थः—अपना पराक्रम ही मूल्य देकर आप भीमासुर के यहां से १६००० कन्याओं को मुक्त करके उनके साथ विवाह करोगे। इसी प्रकार रुक्मिणी आदि आठ पटराणियों को भी पराक्रम से जीतकर उनके साथ भी व्याह करोगे। द्वारका-पुरी में राजा नृग को शांति से छुड़ाओगे ॥१८॥

सुबोधिनी—वीरकन्यानामुद्वाहः विवाहः फलम्, ननु गृहीतानां तत्रापि वन्द्या गृहीतानां कथं विवाह उचित इति चेत् तत्राह, वीर्यशुल्क एव आदिर्यस्य मनस्तोषादिः गान्धर्वादिर्वा, तदेव

लक्षणमताधारणो धर्मो गस्थोद्वाहस्य, विवाहे वीर्यमेव प्रयोजकं, मूल्यक्रीते यथा न काचि-च्चिन्ता 'सर्वं पण्यगतं शु' चीति वाक्यात्, तथापि वीर्यशुल्कमपि क्षत्रियकन्यानामेवोचितम्,



न तु यस्य कस्यचित्, तत्राह वीराणामेव याः कन्याः, दानमेव प्रयोजक चेत् तदा नृगस्य दानात् न विश्वित् सिद्धमिति, पापात् ब्राह्मणगोहरणात् वृकलासरूपाद् वा, द्वारकायामिति तस्योद्वारे भक्तत्वे च हेतुः, ननु ब्राह्मणगोहरणमक्षय्यं भवति तत् कथमुद्धार इति चेत् तत्राह जगत्पति इति, स एव पतिनियामकः ॥१८॥

व्याख्यान्य—भीमासुर के द्वारा रोकी हुई कन्यायें विभिन्न जाति की (चाहे जिसकी) नहीं थी, किन्तु वे सब वीर क्षत्रियों की कन्यायें थीं । उनको आप पराक्रम का मूल्य देकर खरीद लेंगे और फिर उनकी इच्छानुसार उन सबों के साथ विवाह करोगे । वित्त की प्रसन्नता अथवा गान्धर्व विधो से विवाह करोगे । वे तो वीरों की कन्यायें ही थीं, बाजार में बिकती वस्तु तब गवित्र होती है— इस न्याय से पराक्रम का मूल्य देकर खरीदी हुई उन कन्याओं के विजातीय होने पर भी, उनके साथ विवाह कर लेना अनुचित नहीं था । उत्तम फल की प्राप्ति का कारण केवल दान ही नहीं है अर्थात् केवल दान करने से ही उत्तम गति नहीं होती, क्योंकि दानी शिरोमणि नृग राजा को दान देने का ब्राह्मण की गाय ले लेना रूप पाप, अथवा गिरगिट की योनि में गिर जाने के अतिरिक्त क्या फल मिला । राजा नृग भगवान् का भक्त था । इसी कारण से उसका द्वारका में उद्धार किया । यद्यपि ब्राह्मण की और गाय को चुरा लेने का पाप रो, कभी किसी प्रकार भी छुटकारा नहीं हो सकता, किन्तु आप जगत्पति, जगत् का नियमन करने वाले, सर्व सगर्भ हैं । इसी कारण ऐसे अमिट पाप से भी नृग को छुटकारा मिल गया ॥१८॥

श्लोक—स्यमन्तकस्य च मणोरादानं सह भार्यया ।

मृतपुत्रप्रदानं च ब्राह्मणस्य स्वधामतः ॥१९॥

श्लोकार्थ—जाम्बवती और सत्यभामा के साथ ही स्यमन्तक मणि को प्राप्त करोगे । यमलोक से गुरुजी के मरे हुए पुत्र और अपने मूल स्थान से ब्राह्मण के मृत पुत्रों को लाकर दोगे ॥१९॥

सुबोधिनी—सत्राजितप्रसंगे स्यमन्तकमणोर-
प्यानयनम्, जाम्बवता हि नीतः पश्चात् ज्ञात्वा
कन्यामपि दत्तवानिति भार्यया सह गयनम्, मृत-
पुत्रोपादानं गुरोः, चकारात् मृतपुत्राणां ब्राह्म-
णस्य उपधानम्, स्वधामतो मूलस्थानात्, योगज-
धर्मात् ते सर्वे स्फुरिताः तिरोहिता अपि, योगज-
धर्मस्यंतावदेव बलं न त्वविद्यमानमपि पश्यति,
अत एव वेनाशिकप्रक्रिया असङ्गता ॥१९॥

व्याख्यान्यः—सत्राजित के प्रसंग में, स्यमन्तक मणि का लाना, फिर जाम्बवान् का (सत्राजित के) भाई को मारकर उस मणि का ले जाना, और आपका उसकी गुफा में जाकर उसको युद्ध में जीतना और फिर उस जाम्बवान् के द्वारा उसकी कन्या जाम्बवती के साथ मणि का ले आना आदि आपके चरित्रों को मैं देखूंगा । तदनन्तर यमलोक से गुरुजी के मरे हुए पुत्र को तथा अपने धाम (मूल स्थान) से ब्राह्मण के मृत पुत्रों को आप ले आओगे । यह सब मैं देखूंगा । यह पहले कह आइ हैं, कि योगी को योगजन्य ज्ञान से विद्यमान (गोजूदा) पदार्थ ही दिखाई देते हैं । जो पदार्थ मूल में नहीं है ? जिनका अस्तित्व नहीं है । वे पदार्थ योगज धर्म से दिखाई नहीं दे सकते । इस

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २१ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३० ॥

कारण से आविर्भाव और तिरोभाव ही जगत् का मानना उचित हैं । आविर्भाव में पदार्थ दृष्टि गोचर होने लगता है और तिरोभाव में किसी रूपान्तर में कभी-कभी स्वरूप में रहकर भी दिखाई नहीं देता । जैसे महाभारत में प्रसिद्ध है । अतः उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया असंगत है । इसीलिए नियन्त्र में श्रीमदाचार्य चरणों की आज्ञा है कि—आविर्भाव तिरोभावो शक्ति वे मुरवरिणः आविर्भावे प्रतीयेत् तिरोभावे तु नेच्छया-आविर्भाव और तिरोभाव नाम वाली गुरारि भगवान् की शक्तियाँ हैं, आविर्भाव में पदार्थ की प्रतीति होती है और तिरोभाव में भगवान् की इच्छा से वही पदार्थ दिखाई नहीं देता है ॥१९॥

श्लोक—पौण्ड्रकस्य वधं पश्चाद् काशिपुर्याश्च दीपनम् ।

दन्तवक्रस्य निधनं चैद्यस्य च महाक्रतो ॥२०॥

श्लोकार्थ—आप पौण्ड्रक को मारेंगे, सुदर्शन चक्र के तेज से काशीपुरी को जला-येगे और युधिष्ठिर के महा यज्ञ में शिशुपाल तथा दन्तवक्र को मारेंगे । ये सब चरित्र मैं देखूंगा ॥ २०॥

सुबोधिनीः—पश्चात् पौण्ड्रकस्य वध इति । रीतकमः, पूर्वजन्मद्वये हिरण्याक्षः कुम्भकर्णश्च स्वदर्शनापेक्षया पौण्ड्रको मिथ्यावासुदेवः, चकारात् काशिराजस्यापि, काशीनगर्या दीपनं ज्वाल-प्रथमं हत इति तथैव मारयिष्यतीत्युक्तवान् । महाक्रतो राजसूये, चकारात् सर्वत्र तत्सम्बन्धि-नम्, दन्तवक्रस्य शिशुपालस्य च ततो वधः, विप-पदार्थो ग्राह्यः ॥२०॥

व्याख्यानार्थः—फिर मैं पौण्ड्रक-मिथ्या वासुदेव-और काशीराज के वध को भी देखूंगा । आप अपने सुदर्शन चक्र से काशीपुरी को जलायेंगे । तदनन्तर आप धर्मराज युधिष्ठिर के राजसूय नामक महायज्ञ में शिशुपाल को मारेंगे तथा दन्तवक्र का वध वैसे ही करोगे जैसे बाराह और रागावतार में हिरण्याक्ष और कुम्भकर्ण को उनके सब सम्बन्धियों-असुरों-सहित मारे थे । यह सब मैं देखूंगा ॥ २०॥

श्लोकः—यानि चान्यानि वीर्याणि द्वारकामावसन् भवान् ।

कर्ता द्रक्ष्याम्यहं तानि नेषानि कविभिर्भुवि ॥२१॥

श्लोकार्थ—द्वारका में रहकर आप और भी जो जो पराक्रम के चरित्र करेंगे, उन्हें भी मैं देखूंगा । उन पवित्र चरितों को कविजन पृथिवी पर गाएंगे ॥२१॥

सुबोधिनी—एवं विशेषतो निरूप्य सामान्यतो । स्वस्याप्रदर्शनं सूचितम्, ननु दर्शनेन किं स्यादि-निरूपयति, यानि चान्यानि चेति शाल्ववधादीनि । त्याशब्दव्य वीर्याणां भाहात्तय माह नेषानि कविभि-वीर्याणि, स्त्रीणां गृहेषु नानाविधा लीलाश्च, रिति, अथवा मयोपदेष्टव्यानीति तदर्थं गया-अन्यानि जीवसाधारणानि, द्वारकायां वसन्निति द्रष्टव्यानि, भुवीति अग्रिमाणां मुक्त्यर्थानीति प्रासंगिकानि तानीत्युक्तम्, भवानिति सम्मुखतया सूचितम् ॥ २१॥



व्याख्यानार्थः—इस प्रकार विशेष चरितों का वर्णन करके, सामान्य लीलाओं का निरूपण 'यानि' इस श्लोक से करते हैं। आप द्वारका में रहकर शात्ववध आदि पराक्रम के चरित्रों को, पट-राणिनों सहित सोलह हजार पानियों के महलों में लीलाओं को तथा जीवों के से अन्य कार्यों को आप करेंगे। उनको मैं इसलिए देखूंगा कि कवि लोगों ने उन चरितों की महिमा गाई है और मैं भी उनकी साक्षात् प्रत्यक्ष देखकर जनता को उगदेश करूंगा, जिनके सुनने और गान करने से भूमि पर उत्पन्न होने वाली भावी जनता मोक्ष प्राप्त कर सकेगी (मुक्त हो सकेगी) ॥ २१ ॥

श्लोकः—अथ ते कालरूपस्य क्षपयिष्णोरमुष्य वै ।

अक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्याम्यर्जुनसारथेः ॥२२॥

श्लोकार्थः—फिर काल रूप आप भूमि का भार उतारने की इच्छा से महाभारत संग्राम में अर्जुन के सारथि बनकर असंख्य कई अक्षौहिणी सेनाओं का संहार करेंगे। यह सब भी मैं देखूंगा ॥२२॥

सुबोधिनीः—एवं साक्षात् स्वकृतमुक्त्वा कारितमाह अथेति, परम्परया करणे हेतुः सामर्थ्यं चाह कालरूपस्येति, अनेन कालरूपो भूत्वा भाग्यकार्यं कृतवानिति ज्ञातव्यम्, न तु 'कालोऽस्मी'ति वाक्यात् कालरूप एव भगवान् इति, कालस्य नियन्ता भगवानिति तथाकरणे हेतुमाह, अमुष्य भूभारस्य, क्षपयिष्णोः, वै निश्चयेन, कालो हि निमित्तत्वमेवापद्यते, अक्षौहिणी-नामष्टादशपरिमितानां, अक्षौहिणीपरिमाणं च एकेभंकरथा त्र्यश्वपत्तिः पञ्चपदातिका पत्य-

र्जुंस्त्रिगुणैः सर्वैः क्रमादाख्या यथोत्तरम् । सेना-मुखं गुन्मगणी वाहिनी पृतना चमूः । अनीकिनी दशानीकान्यक्षौणीत्येकविंशतिशाहस्रो सप्तत्यष्ट-शताधिका । सङ्ख्या रथाश्विनोः प्रोक्ता नराणां लक्षमुच्यते । तथा नवसहस्राणि त्रीणि चैव शतानि च । पञ्चाशच्च तथाश्वानां पञ्चषष्टि-सहस्रकम् । दशाधिकसहस्राणि षडेवेत्येष सङ्ग्रहः । एवं स्वरूपाणामक्षौहिणीनां निधनं द्रक्ष्यामि भगवता कारितमित्यत्र लौकिकं निद-शंनमाह अर्जुनसारथेरिति ॥२२॥

व्याख्यानार्थः—इस प्रकार के साक्षात् भगवान् के चरित्रों का वर्णन करके भगवान् के द्वारा अर्जुन से कराए गए चरितों को 'अथ ते' इस श्लोक से कहते हैं। साक्षात् स्वयं ने न करके, भूमि का भार हरने की इच्छा वाले काल रूप आपने अर्जुन के हाथों कई अक्षौहिणी सेना का नाश करवाया। इस कथन से यह जाना जाता है, कि कालरूप होकर भगवान् ने महाभारत संग्राम किया था। 'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्'—इस वाक्यानुसार आप केवल कालरूप ही नहीं हैं, किन्तु काल के काल-नियन्ता भी हैं। काल तो केवल भूभार को हरने की इच्छा वाले आपका निमित्तमात्र है। सेना के—१ पत्ति, २ सेनामुख, ३ गुल्म, ४ गण, ५ वाहिनी, ६ प्रतना, ७ चमू, ८ अनीकिनी और ९ अक्षौहिणी-भी भेद हैं। इनमें प्रथम पत्ति नाम की सेना में एक रथ, एक हाथी, ३ घोड़े पांच पैदल होते हैं। इसके आगे सेनामुख भेद से लगा कर अनीकिनी सेना के पाठवें भेद तक पत्ति सेना के भेद की आगे त्रिगुनी त्रिगुनी संख्या होती रहती है और अक्षौहिणी सेना में तो अनीकिनी भेद वाली सेना की संख्या से दशगुनी संख्या हाथी, रथ, घोड़े, और पैदलों की होती है। ऐसी एक अक्षौहिणी की संख्या है। निर्णय के लिए चक्र लिखते हैं।

स्वतेजसा नित्यनिवृत्तमायागुणप्रवाहं भगवन्तमीमहि ॥२३॥

श्लोकायः—हे श्रीकृष्ण ! केवल विशुद्ध ज्ञान ही आप का स्वरूप है । आपको अपने परमानन्दमय रूप से ही सारे अर्थ प्राप्त हैं । इसलिए आप पूर्ण काम हैं । आपकी इच्छा शक्ति अमोघ है । माया का कार्य गुणों के प्रवाह को आप अपने तेज से, आपसे अलग रखे हुए हो । हे परमेश्वर ! मैं आपको शरण हूँ ॥२३॥

सुबोधिनीः—एवं चरित्रनिरूपणेन लौकिक-
दृष्टिप्रधानानां स्वदृष्टान्तेन भगवतोपि लौकि-
कत्वं मत्वा ब्रह्मात्मा लीलयैवैतत् कृतमिति गत्वा
स्वरूपमाह द्वाभ्यां ज्ञानभक्तिसिद्धान्तनिरूपकाभ्यां,
विशुद्धेति, त्वं स्वरूपतः ज्ञानरूपः तत्त्वं ज्ञानं न-
जन्यं नापि सविषयं, तदाह विशुद्धेति, ज्ञानशक्ति-
स्त्वजन्यापि सविषया भवति, तदेव विशिष्टा
शुद्धिर्भवति, तत्त्वं वितानं ब्रह्मरूपमिति वक्तुं
घनगित्याह, घनमेव हि बृहत् बृंहितं च भवति,
एतादृशस्य ब्रह्मणः सर्वा सामग्री जगत्कारणे
प्राधारादिभूतां फलं च स्वरूपमेव, अन्यथा अस-
ङ्गत्वमङ्गप्रमङ्गः स्यात्, विकारित्वं च स्यात्,
स्वरूपपक्षे तु तथैव प्रादुर्भवतीति न कोपि दोषः
सिध्येत्, तदाह स्वसंस्त्रयेति, स्वस्मिन्नेव सम्यग्-
या स्थितिः तथैव कृत्वा समाप्तसर्वार्थः, समाप्ताः
सर्वे अर्था यस्य, बोध्यमानाशेषपुरुषार्थस्वरूप-
मेव तस्य स्वरूपं, तत् स्वरूपस्थित्यैव भवति,

बहिर्मुखत्वे न भवतीति नित्यं स्वरूपे भगवानेव
स्थितो न स्वल्प इति तस्यैव सिद्धाः सर्वेः कामाः,
न केवलमिष्टसिद्धिरेव स्वरूपस्थित्या किन्त्व-
निष्टमेव निवर्तत इति तदाह स्वतेजसेति, स्वस्य
यत्तेजः कोटिसूर्याधिकप्रकाशं चेतन्यं स्वप्रकाशं
तेनैव नित्यनिवृत्ता ये मायागुणाः सत्त्वादयः,
तेषां प्रवाहः कार्यपरम्परा यस्य, एते हि दोषा-
स्तम इव सर्वदा सर्वत्र भवन्ति, सूर्यमण्डले तु
यथा न तमः तथा भगवति न भवन्ति, तत्र हेतु-
रवश्यं वक्तव्यः, हेतुवशादेव नित्यनिवृत्तत्वम्,
अन्यथा सर्वत्र प्रवर्तमाना दोषास्तत्र गता न
निवृत्ता भवेयुः, सच्चिदानन्दगुणास्तु पयोगिनः
इति, तन्निवारणार्थं मायेति, एतादृशमपि ओङ्कु-
लोमिमत्तवत् न निर्गुणं निराकारं किन्तु भगवन्तं
षड्गुणैश्वर्यसंपन्नं त्वां ईमहि शरणं व्रजामः,
प्रार्थनायां लिङ् ॥२३॥



व्याख्यान्यः— इस प्रकार नारदजी भगवान् के जकटासुर, पूतना, अरिष्टासुर आदि का वध रूप भूत और कंसादि दैत्यों का वधरूप भावी चरित्र का निरूपण करके अवतारी भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पर ब्रह्म हैं और आपने ये सब चरित्र लीला मात्र से हो किए हैं। इसलिए ज्ञान और भक्ति के सिद्धान्त का निरूपण करने वाले दो श्लोकों से भगवान् के स्वरूप का वर्णन करते हैं क्योंकि लौकिक दृष्टि से ही देखने वाले लोग अपने आप की तरह भगवान् को लौकिक गुण ही समझते हैं। इसलिए पहले ‘विशुद्ध विज्ञानघन’ इस श्लोक से श्रीकृष्ण की ज्ञान स्वरूपता का वर्णन करते हैं। आप स्वरूप से ज्ञान रूप हैं। और वह ज्ञान अन्य से उत्पन्न हुआ-अन्य-नहीं है और न सविषय-आपके स्वरूप से भिन्न जानने योग्य-वेद्य-पदार्थ वाला ही है। वह ज्ञान तो विशुद्ध आपका स्वरूप ही है; क्योंकि ज्ञानशक्ति विशुद्ध (विशेष शुद्ध) तब ही होती है, जब वह अन्य जन्य न होकर भी सविषय होती है। वह विज्ञान ब्रह्म रूप है। इसीलिए मूल श्लोक में ‘घन’ पद का प्रयोग है, क्योंकि घन ही बृहत्वान्, (व्यापकावाद) ब्रह्म-ब्रह्मरूप होता है।

इस प्रकार के विशुद्ध विज्ञानघन ब्रह्म का स्वरूप ही जगत् का कारण होने में जगत् को उत्पन्न करने में सारी आधार, आधेय भूत सामग्री रूप और फलरूप है; क्योंकि यदि स्वरूप को ही सामग्री और फल रूप न मानेंगे तो असंगोऽयं पुरुषः—ब्रह्म असंग नहीं रहेगा, तथा विकारी हो जाएगा। इसलिए सबको ब्रह्मरूप मानने के पक्ष में तो आप भगवान् सारी सामग्री रूप और फलरूप से प्रकट होते हैं। इसमें तो कोई असंगादि दोष सिद्ध ही नहीं होता। इसी अभिप्राय को मूलस्थस्वसंस्थया (अपने आप में ही अन्धेरी तरह अवस्थिति से) पद सूचित करता है। स्वरूप से ही संम्यक् स्थिति के कारण ही आपके सारे ही अर्थ परिरामाप्त हैं; क्योंकि बार २ और अतिशय रूप से उत्पन्न होनेवाले सभी पुरुषार्थ रूप ही आपका स्वरूप है। यह स्वरूप में स्थिति से ही हो सकता है, बाह्य स्थिति होने पर नहीं हो सकता। इसलिए भगवान् ही सदा स्वरूप में स्थित हैं—द्वारा कोई नहीं है और इसी कारण से उसके सारे काम पुरुषार्थ सिद्ध हैं।

स्वरूप स्थिति से केवल इष्ट की सिद्धि ही नहीं होती, किन्तु अनिष्ट की निवृत्ति भी होती है। इसीलिए मूल में ‘स्वतेजसा’ इत्यादि विशेषण जोड़ा है। आप ने करोड़ों सूर्यों से भी अधिक प्रकाश वाले, स्वतः प्रकाश अपने तेज के द्वारा ही माया के सत्त्व, रज, तम-गुणों के प्रवाह को (कार्य परम्परा को) आपसे निवृत्त (दूर) कर दिया है। माया के ये गुण और इन गुणों का कार्य आप में नहीं है। अन्धकार की तरह ये माया जन्य दोष सदा सब जगह होते हैं; किन्तु सूर्य गण्डल में जैसे अन्धेरा नहीं रह सकता है, वैसे ही भगवान् में ये दोष नहीं होते हैं। भगवान् ने अपने तेज से इन दोषों को सदा अपने स्वरूप से हटाकर (दूर कर) रखा है। यदि अपने तेज से भगवान् इन मायागुणवृत्त दोषों को अपने आप से नहीं हटाते तो, सब जगह ही फैले हुए ये दोष भगवान् में भी होते; निवृत्त नहीं होते। भगवान् के तेज से ही ये दोष वहां तक नहीं जा सकते हैं। ‘रात्’ ‘चित्’ और ‘आनन्द’ गुण तो भगवान् में नित्य स्थित हैं। ये गुण तो जड़, जीव और अन्तर्यामी स्वरूप जगत् को उत्पन्न करने में उपयोगी हैं; किन्तु माया के गुण उनमें नहीं हैं। इसी अभिप्राय से अर्थात् यहां गुण पद से सच्चिदानन्द गुणों का भगवान् में अभाव है—ऐसा अर्थ नहीं है; किन्तु माया के गुण उनमें नहीं हैं—मूल श्लोक में ‘माया’ शब्द दिया है। इस प्रकार ज्ञान स्वरूप भी आप (श्रीदुर्लभि ऋषि ब्रह्म को निगुण, निराकार गानते हैं) श्रीदुर्लभि ऋषि के मतानुसार निगुण, निराकार



से दिखाई देते हैं। परन्तु सबमें होते हुए भी सबसे अलग (असम्बद्ध) ही हैं। इसीलिए-यः पृथिव्यां शिष्टन्-वेद में उनको पृथिवी में रहते हुए पृथिवी उनको नहीं जानती-पृथिवी से अलग कहा है। आप सब में मिले होने पर भी-असंयुक्त-नहीं मिले हुए हो।

वास्तव में तो आपके साथ साक्षात् संयोग भी नहीं है। क्योंकि, विपरोत बुद्धि को उत्पन्न करने वाले सारे विकल्पों को आप-भगवान्-ने अपनी आत्म माया के द्वारा ही रचे हैं, वे सारे सम्बन्ध विकल्प आत्म माया से ही दिखाई देते हैं। स्वरूप तो आपका षडगुणेश्वर्य संपन्न ही है और असङ्ग भी है। यद्यपि अवतार दशा में, भगवान् में देह इन्द्रियादि के धर्म दिखाई देते हैं, तथापि वे सब धर्म क्रीड़ा के लिए ही ग्रहण किए हुए हैं। जैसे क्रीड़ा में कोई मनुष्य लूला, लगड़ा, कूबड़ा बन जाता है; किन्तु वास्तव में वह वैसा नहीं होता, वे लूला आदि धर्म उरा मनुष्य के सहज वास्तविक धर्म नहीं होते, केवल दिखावटी ही होते हैं, वैसे ही, परमानन्द भगवान् में, देह, आकार, स्वभाव आदि मनुष्यों के से धर्म क्रीडार्थ मान लिए जाते हैं। वे धर्म वास्तव में भगवान् के सहज धर्म नहीं हैं। भगवान् में दिखाई देनेवाले वे मनुष्य साधारण धर्म उनके स्वभाविक (सहज) धर्म नहीं हैं, तो भी उन धर्मों का कार्य तो मनुष्य धर्मों का जैसा ही होता है। इसीलिए वह व्यक्ति फल देने वाला होता है। यदि उन बनावटी फर्मों को भगवान् के सहज धर्म ही मान लेंगे, तो वे भगवान् में दोष रूपा हैं। और दोष रूप होने से फल साधक भी नहीं होंगे। इसीलिए यादवों, वृष्णियों और सात्त्वतों के अथवा यादव, वृष्ण भक्तों के धुर्य सबही भार को (योग क्षेम को) वहन करने वाले, निर्दोष पुर्णगुण विश्रह और सारे भक्तों का उद्धार करने वाले आप भगवान् को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२४॥

लेख:- स्वामीश्वर इस श्लोक की व्याख्या में कुब्जत्वादय इत्यादि पदों का तात्पर्य यह है कि क्रीड़ा में जैसे कोई पुरुष कुबड़ा बनकर कूबड़े की तरह चलने लगता है, किन्तु वास्तव में वह कूबड़ा नहीं होता है। क्रीड़ा में कोई गाय बैल सा बनकर उनका सा व्यापार करने लगता है। वास्तव में तो न वह कूबड़ा ही होता है और न गाय बैल ही होता है। केवल जैसे दिखावा मात्र होता है। वैसे ही अवतार दशा में भगवान् में भी मनुष्य के से धर्म केवल प्रदर्शनार्थ ही हैं। वे सहज भगवद्धर्म नहीं हैं ॥ २४ ॥

श्रीशुक उवाच

श्लोकः—एवं यदुपति कृष्णं भागवतप्रवरो मुनिः ।

प्रणिपत्योभ्यनुज्ञातो ययौ तद्दर्शनोत्सवः ॥२५॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् ! श्रीकृष्ण के दर्शन से परम आनन्दित हुए भागवत श्रेष्ठ नारद मुनि ने इस तरह स्तुति करके प्रणाम किया और भगवान् से आज्ञा लेकर चले गए ॥२५॥

सुबोधिनीः—एतावदुक्तेऽपि न भगवान् किञ्चिदुवाच भ्रान्तोऽयमिति केवलं गगनार्थमनुज्ञा दत्त-वानित्याह एवमिति, एतदुक्तमवश्यं करिष्यतीति | ज्ञापनार्थं यदुपतिमिति, तेषां पतिर्हि तत्कार्यं करिष्यतीति, कृष्णं सदानन्दम्, किञ्चिदप्यकरणे स्वतः पुरुषारूपम्, अवश्यं स्वज्ञातं स्वकृतं च

व्याख्यायः—इस प्रकार बीच में नारदजी का आगमन तथा भगवान् की स्तुति करके चले जाने का सोलह १० से २५ श्लोकों तक से कहकर केशि बध के बाद नहीं बताया गए भगवान् के गोकुल में पधार जाने का 'भगवानपि' इस श्लोक से उपसंहार करते हैं। आप गोविन्द हैं। इसलिए गोकुल में आपका पधारना उचित ही है। जैसे नारदजी चले गए वैसे ही भगवान् भी गोकुल में पधार कर चले गए। युद्ध में केशि को मार कर भगवान् प्रसन्न चित्त वाले गोपों के साथ पहले जैसे ही, पशुओं का पालन करने लगे, क्योंकि, नारदजी के कथन तथा स्तुति से भगवान् को जो कुछ गर्व तथा खेद नहीं हुआ। केशि को भगवान् ने युद्ध में मारा था। इसलिए इस राजस प्रकरण में इसका वर्णन



किया है। अपनी मन चाही बात ही नारदजी के मुख से सुनकर, गोप लोग बहुत प्रसन्न हुए। भगवान् स्वयं भी रात दिन सदा ब्रज को सुखदानी है। यह तो गोप जनों की प्रगल्भता का कारण था ही ॥२६॥

श्लोकः—एकदा ते पशून् पालाश्चारयन्तोद्विसानुषु ।

चक्रुर्निलायनक्रीडाश्चौरपालावदेशतः ॥२७॥

श्लोकार्थः—एक दिन सब गोप पर्वत के शिखर पर पशुओं को चराते चराते आपस में चोर और पशुपाल बनकर छिपने का खेल खेलने लगे ॥२७॥

सुबोधिनी—यद्यप्यग्निकथा तस्मिन्नेव दिवसे न कृता तथापि सिंहावलोकनन्यायेन कथां निरूपयति, इतो गतोपि भगवान् गोकुलं पालयिष्यतीति ज्ञापनार्थम्, एकदेति नवभिः, पूर्वमस्याः कथायाः प्रकरणं न स्थितमिति स्वकाले नोक्ता तदाह, कदाचित् ते सर्वे एक गोपालाः अद्विसानुषु पशून् चारयन्तः गोवर्द्धनोच्चप्रदेशेषु स्थिताः

दूरादपि द्रष्टुं शक्नुवन्तीति, निलायनक्रीडां चक्रुः, तत्र निलायनं पासु क्रीडासु ये क्रीडन्ति तन्मध्य एव केचन लीना भवन्ति, केचनान्वेषणार्थं प्रवृत्ता भवन्ति, तत्रापि विशेषमाह चौरपालावदेशत इति, एवमपि केचन निलीनाः चौरा एव भवन्ति, अन्वेषकाः पाला एव ॥२७॥

व्याख्यानार्थः यद्यपि प्रागे की कथा उसी दिन नहीं की गई थी, तो भी सिंहावलोकन के न्याय से उसका निरूपण करके यह सूचित करते हैं, कि यहां से जाकर भी भगवान् गोकुल का पालत करेंगे। यह 'एकदा' इत्यादि नौ श्लोकों से कहते हैं। इस कथा का प्रकरण पहले नहीं होने से, इस कथा का वर्णन समय पर, वर्णन न करके, यहां कही गई है। कभी कभी दिन के सारे गोप गोवर्द्धन पर्वत के ऊचे शिखर पर जहां से दूर से भी देखा जा सके, पशुओं को चराते हुए निलायन (छिपने) का खेल खेलने लगे। इस खेल में कुछ बालक छिप जाते हैं और कितनेक, उन छिपने वालों को ढूँढते हैं। उनमें भी जो छिपते हैं, वे चोर होते हैं और उनको ढूँढने वाले बालक पाल कहे जाते हैं। २७ ॥

श्लोक—तत्रासन् कतिचित् चौराः पालाश्च कतिचिन् नृप ।

मेषायिताश्च तत्रैके विजहुरकुतोभया ॥२८॥

श्लोकार्थः—हे राजन् ! उनमें कुछ चोर, कुछ भेड़ और कुछ चरवाहे बने। उनमें चोर बनने वाले, भेड़ बनने वाले को चुराकर ले जाने लगे। इस तरह वे निधडक खेलने लगे ॥२८॥

सुबोधिनी—चौराणां विषयसिद्धयर्थं विशेषमाह तत्रासन्निति, सर्वे गोपालास्त्रिविधा जाताः, प्रयत्नाधिकात् प्रथमतश्चौराः चकारात् सर्वे परावृत्त्य सर्वे भवन्तीति, नृपेति सम्बोधनं लीलामात्रत्वज्ञापनार्थं मेषा नीयमानास्तूष्णीं तिष्ठन्तीति

न छायादिरूपा निरूपिताः, एक इत्यशक्ताः, भगवता कृत्वा न कुतश्चिद् भयं येषां, प्रागेण भगवान् बलभद्रश्च तस्मिन् दिवसे न गोचारणार्थं गतौ, अन्यथा समागमनमात्रेणैव स हतो भवेत्, गोकुले स्थित एव तत्र गत्वा मारितवानिति विमर्शः ॥२८॥



व्याख्यानार्थ—चोरी के विषय की सिद्धि के लिए 'तत्रासन्' इस श्लोक से कुछ विशेष बातें बताते हैं। ये सारे ही गोप-कुछ चोर, कुछ चोरी का विषय वस्तु आदि भेड़ रूप और कुछ उनको दूढ़ने वाले पालरूप इस प्रकार से अपने २ प्रयत्नों की अधिकता से तीन प्रकार के हो गए, और फिर खेल पूरा हो जाने पर, सबके सब बदल कर वापस अपने वास्तविक (असली) रूप में ही आ जाते हैं। यह एक लीला क्रीडा-मात्र है, जैसे राजा लोग शिकार खेलना आदि स्वेच्छा से ही किया करते हैं। इस अभिप्राय से, भूल में 'नृप' यह सम्बोधन पद दिया है। भेड़ों को कोई कहीं ले जाता है, तो वे चुप चाप उसे ले जाने वाले के साथ बिना कुछ बोले - शब्द किए - चुपचाप ही चले जाते हैं। बकरे, बकरी की तरह वे चिल्लाते नहीं हैं। इस कारण से, ये कुछ असमर्थ गोपों को मेषायिन भेड़ों का सा, आचरण करने वाले कहा है। भगवान् के भरोसे वे सब व्रजवासी निर्भय थे और निर्भय होकर ही 'खेल खेलते थे। ऐसा ज्ञात होता है, कि उस दिन भगवान् कृष्ण और बलभद्रजी गोचारण के लिए नहीं गए होंगे; क्योंकि, यदि गोपों के साथ ही भगवान् होते तो, व्योमासुर को देखते ही मार देते। अथवा गोकुल में ही यह सगाचार सुनकर वहां जाकर उसे मार दिया।। ऐसा भी उचित ही है। २८॥

श्लोकः—मयपुत्रो महामायो व्योमो गोपालवेषधृक् ।

मेषायितानपोवाह प्रायश्चौरायितो बहून् ॥२९॥

श्लोकार्थः—इसी अवसर में, मयासुर का पुत्र महामायावी व्योमासुर, गोप रूप को धारण करके उन गोपों (बालकों) में मिल गया और भेड़-पशु बने हुए बहुत से बालकों को उठा ले गया ॥२९॥

सुबोधिनीः—दैत्यांशत्वात् कंसस्य तद्धितकारी मयपुत्रः स्वयमागत्य गोपानामुपद्रवं कृतवानित्याह मयपुत्र इति, महती माया यस्येति, गोपालान् वञ्चयितुं मारयितुं च शक्तिरुक्ता, ते पलायनं करिष्यन्तीति व्योमासुरो गोपालरूपो जातः, चौरायितवति-	च्छायरूपः, मेषायितान् मेषवत् पतित्वा स्थितान् यथान्ये गोपाला नयन्ति, परं तेषु नीयमानेषु पालायिता जाग्रति, अस्मिन्स्तु नीयमाने नयति सति मायया कृत्वा न कस्यापि जागरणमिति बहूनेव नीतवान् ॥२९॥
--	--

व्याख्यानार्थः—कंस भी दैत्यांश ही था। इसलिए उस कंस का हितैषी मयासुर का पुत्र व्योमासुर वहां उनके खेल में मिलकर गोपों का उपद्रव करने लगा—यह 'मयपुत्रः' इस श्लोक से कहते हैं, वह बड़ी माया जानता था, बड़ा मायावी था। इस कारण से, वह उन गोपों को ठगने में तथा मार डालने में समर्थ था। वह, यदि असुर के भयानक रूप में ही वहां आता तो, वे गोप लोग डर कर भाग जाते। इसलिए वह उन्हें चुराकर ले जाने वाले गोपों का सा, गोपाल रूप धारण करके 'मेषायित-गिर कर पड़े हुए भेड़ रूप गोप बालकों को अन्य चुरा कर ले जाने वाले गोपों की तरह चुराकर ले जाने लगा। परन्तु खेल में, जब चोर बने गोप, पशु भेड़ बने हुए ग्वाल बालकों को ले जाते थे, तब तो अन्य चोर बने हुए पालक बालक उसको ले जाता देखते ही थे, सब जगते ही रहते थे; किन्तु जब वह महामायावी व्योमासुर अपने लिए (आत्मनेपद) अथवा कंस के हितार्थ (परस्मैपद) पशु रूप गोपों को ले जाता था, तब उसे उसकी माया के कारण, कोई नहीं देख पाता था कोई भी जगता नहीं था। इस प्रकार, वह बहुत से अकर्मठ पशुरूप गोपों को उठा (चुरा) ले गया ॥२९॥

लेखः--'मयपुत्र' इस श्लोक की व्याख्या में 'नीयमाने नयति सति, पदों का अग्निप्राय यह है कि जब वह असुर उन गेड़ रूप गोल बालकों को स्व अर्ध उठाकर ले गया तो किया फल, स्वार्थ-गामी, होने से, आत्मने पद में शानच् प्रत्यय लगा-तब नीयमाने कथन साभिप्राय है और जब कंस के हितार्थ पशुभूत गोलों को ले जाना अर्थ करने पर तो किया फल परगामी होने से, नयति यह शब्द प्रत्ययान्त प्रयोग उचित है। अपने हित तथा कंस के हित के लिए उन पशु रूप गोल बालकों को चुराकर ले गया।

श्लोकः—गिरिदर्यां विनिक्षिप्य नीतं नीतं महासुरः ।

शिलया पिवधे द्वारं चतुःपञ्चावशेषिताः ॥३०॥

श्लोकार्थः—वह असुर जिन बालकों को ले जाता, उनको एक पर्वत की कन्दरा में डालकर उसका दरवाजा भारी पत्थर (शिला) से बन्द कर आता था । इस तरह घटते २ मैदान में चार पांच बालक ही बच गए, और सबको वह ले गया ॥ ३० ॥

सुबोधिनीः— क्रीडार्थं न नयनं किन्तु मारणार्थं गित्यग्निमकृत्यमाह गिरिवर्यागिति, बहून्पथे क्वारं नयति, बहुवारं च नीतवान्, गुहाद्वारमति सूक्ष्ममिति ज्ञापयितुं नीतं नीतमित्येकवचनम्, ननु बालाः दयापात्रं कथमेवं गुहायां प्रक्षिपित्याशङ्क्याह गहामुर इति, अत्यन्तमासुरस्वभावः,

अत एव न गुहाप्रवेशनमात्रमेव कारितवान् किन्तु शिलया द्वारमपि पिदधे, एवं मेषायिताः क्षीणाश्चेत् चौरायिताः पालायिताश्च मेषायिता एव क्रमेण भवन्तीति चत्वारः पञ्च वा अवशिष्टाः तदानीं नीयमानेन सह पञ्च नो चेत् चत्वारः । ३०।

व्याख्यानार्थः—“गिरिदर्या” इस श्लोक में प्रदर्शित (दिखाई जाने वाली) उसकी आगे की करतूत से जाना जाता है, कि वह उन्हें उनके साथ खेलने के लिए उठाकर नहीं ले जा रहा था किन्तु उन्हें मारने के लिए ही ले जाता था । बहुतों को एक बार में ही उठा कर ले गया अथवा एक एक को एक एक बार में गुफा में ले जाता रहा । ‘नीतं नीतं’-एक एक को ले गया—इस कथन से जान पड़ता है, कि उस पर्वत की गुफा का दरवाजा बहुत सुक्ष्म (संकड़ा) होगा । वह महासुर-अत्यन्त आसुर स्वभाव वाला व्योमासुर-सहज दयनीय (दया के पात्र) बालकों को भी, अपने निर्दय स्वभाव के कारण, पर्वत की कन्दरा में फेंक आता था और इतना ही नहीं; किन्तु बड़ी शिला से उसका द्वार भी मून्द आता था । इस प्रकार इस क्रीड़ा में, जब पशु भूत गोपों की घटते २ कगी होती जाती है, तब तो वे चोर बने, और ढूँढने वाले-पाल बने हुए गोप भी क्रम से भेड़ पशु रूप बनते जाते, इस तरह ले जाते, ले जाते, उस उठाए हुए मेषायित गोप बालक सहित पांच अथवा केवल चार बालक ही जब शेष रह गए ॥३०॥

श्लोकः—तस्य तत्कर्म विज्ञाय कृष्णः शरणदः सताम् ।

गोपान् नयन्तं जग्राह धृक् हरिरिवौजसा ॥३१॥

इतिोकार्थः—साधू (सज्जनों) की रक्षा करने वाले कृष्णचन्द्र ने जान लिया, कि

यह काम इस गोप रक्षाधारी असुर का ही है। वह असुर अब की बार, जब फिर बालकों को उठा ले चला, तब श्रीकृष्ण ने भ्रष्ट कर, उसे वैसे ही दवा लिया जैसे महाबली सिंह किसी भेड़िए को दबोच लेता है ॥३१॥

सुबोधिनी:- तदा अन्यत्र स्थितो भगवान् व्योमस्य कमं ज्ञात्वा समागत्य यत् कृतवांस्तदाह तस्येति, तत्कमं गुहायां निक्षिप्य शिलापिधान-लक्षणम्, विशेषेण ज्ञात्वा प्रत्यक्षदर्शयेव, तथा जाने हेतुः, कृष्ण इति, सदानन्दो हि सः, यदेन स्वानन्दस्तेभ्यः तिरोभूतः सद्रूपाश्च ते, अतो ज्ञातवान्, तथापि अक्लिष्टकर्मा भगवान् सर्वसमः किमिति तं जगृह इत्याशङ्क्याह सतां शरणव इति, यदि भगवान् शरणागतान् सर्वाविस्थामु न

पालयेत् तदा न कोपि शरणं गच्छेत्, ततः शरण-दानमेव न स्यात्, सतां च मनसि तद्दुःखं भवेदि-त्यापि, शास्त्ररीतिरपि नश्येदित्यपि, गोपान् बहूनेव नयन्तं पालायित इव तत्रैव प्रादुर्भूतः आगतो वा जग्राह, तस्यैकदेशग्रहणव्यावृत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह, वृकं हरिरिवेति, स हि सर्वाङ्गे तं व्याप्य आच्छाद्य गृह्णातीति, तथा सर्वाङ्गे गृहीत इत्यर्थः ॥३१॥

व्याख्यानार्थः—जब वह एक एक करके सारे गोप बालकों को उठाकर ले जाता रहा और पर्वत की गुफा में फेंक कर बड़ी शिला से उस गुफा के द्वार को बन्द कर देता रहा, उस समय भगवान् वहां उस किड़ा में शामिल नहीं थे। कहीं दूसरे स्थान पर थे। किन्तु भगवान् कृष्ण सदानन्द हैं। इस कारण से, व्योमासुर के इस प्रकार के कार्य को जान गए यह 'तस्य तत्कमं' इस श्लोक से कहते हैं। भगवान् ने उस असुर के इस प्रकार के कार्य को प्रत्यक्ष सा देख लिया। वे गोप लोग, धर्मी सदानन्द रूप भगवान् के धर्मिरूप सदात्मक केवल गणितानन्द ही थे—इस कारण से वे सद्रूप ही थे; क्योंकि धर्मी रूप आनन्द का उनमें तिरोभाव था। और इसी कारण से वह असुर उन बालकों को उठा कर ले जा सका था।

सर्वान्तिर्यामी, सबके रक्षक भगवान् ने, उसके इस काम को जान वहीं प्रकट होकर अथवा वहां जाकर बहुत से गोप बालकों को ले जाने वाले, उस व्योमासुर को इस तरह सभी अङ्गों से घेर कर पकड़ लिया, जैसे सिंह किसी भेड़िए के सारे अङ्गों को दबाकर पकड़ लेता है। भगवान् यद्यपि अक्लिष्ट कर्मा और शत्रु मित्र राव में समान हैं, तो भी उस व्योमासुर को दबोचने का कारण यह है, कि वे सज्जनों के रक्षक हैं; क्योंकि, वे शरणागत भक्तों की सभी दशा में, पालन न करें तो कोई भी उनके शरण में नहीं जाए। उनके शरण में जाना छोड़ दे, और शरणदान ही न हो। तब तो सज्जनों के मन में भी बड़ा दुःख हो जाए और शास्त्र की मर्यादा भी नष्ट हो जाए। इसलिए इन सब मर्यादाओं की रक्षा के लिए ही शरणागत पालक भगवान् ने रामदर्शी होते हुए भी, उस असुर को दबोच दिया ॥३१॥

लेखः—'तस्य तत्कमं'—इस श्लोक की व्याख्या में 'सद्रूपाश्चते' इन पदों का तात्पर्य यह है, कि उन सद्रूप गोपों को भगवान् से ही आनन्द की प्राप्ति हुई थी। वे स्वयं तो धर्मि सद्रूप और गणितानन्द ही थे। क्योंकि आनन्द तो प्रधान प्रभु का है 'पूर्णानन्दो हरिः' ॥३१॥

श्लोकः—स निजं रूपमास्थाय गिरीन्द्रसदृशं बली ।

इच्छन् विमोक्तमात्मानं नाशक्नोद् ग्रहणातुरः ॥३२॥

श्लोकांथः—तव उस महावली असुर ने एक बड़े पहाड़ जैसा अपना असली रूप प्रकट कर लिया । उसने छूटने का बहुत प्रयत्न किया, पर वह न छूट सका ॥३२॥

सुबोधिनी-—ततः स विचारितवान् यद्यपि भगवान् महान् तथापि रूपान्तरं गृहीतवानिति मया स्वरूपे गृहीते भगवान् स्वल्परूपः इति न मारयितुं शक्यति, भगवानपि चेत् स्वरूपं गृही-
यात् तदावतारसमाप्तिरेव भविष्यतीति कंसादी-
नामस्माकं चामारणमेव स्यात् इत्यभिप्रेत्य
स्वरूपं गृहीतवानित्याह स निजमिति, निजमासुरं

रूपं, ग्रहणायोग्यत्वायाह गिरोन्द्रसदृशमिति,
पराक्रमोपि वर्तत इति जापयितुमाह बलीति,
एवमपि कृत्वा आत्मानं मोक्तुमिच्छन्नपि अत्यन्त-
प्रयन्तं कुर्वन्नपि आत्मानं विमोक्तुं नाशक्नोत्,
दूरापास्तं विमोचनं ग्रहणेनातुर एव जातः,
अन्तिमावस्था ग्रहणमात्रेणैव जातेति ॥३२॥

व्याख्यायः—तब उस व्योमासुर ने विचार किया, कि यद्यपि भगवान् मेरी ओर सारे जगत् की भी अपेक्षा महान् तो हैं, किन्तु इस समय तो, मनुष्य के अवतार में छोटे ही हैं । इसलिए मैं यदि अपना असली रूप ग्रहण कर लूँगा तब तो, भगवान् मेरे सामने छोटे से दिखाई पड़ेगे और मुझको मार नहीं सकेंगे । यदि भगवान् ने भी अपना वास्तविक रूप धारण किया, तब तो अवतार की समाप्ति हो जाएगी और कंसादि तथा हमारी मृत्यु भी नहीं हो सकेंगी—इस अग्निप्राय-से उसने अपना असली रूप धारण कर लिया—यह 'स निजं' इस श्लोक से कहते हैं । बलवान् उस व्योमासुर ने बड़े भारी पहाड़ के समान—जो किसी के पकड़ में न आ सके—अपना असली आसुरी रूप प्रकट कर लिया । तब ही वह अपने आप को भगवान् के पंजे (हाथों) से छूटने का भारी प्रयत्न करने पर भी युक्त नहीं हो सका । छूटने की तो बात दूर रही, वह तो भगवान् के द्वारा पकड़े जाने पर ही मरनासन्न हो गया । पकड़ने से ही उसकी अन्तिम मरणावस्था हो गई ॥३२॥

श्लोकः—तं निगृह्याच्युतो दोर्म्यां पातयित्वा महीतले ।

पश्यतां दिवि देवानां पशुमारममारयत् ॥३३॥

श्लोकायः—भगवान् ने उस दुष्ट दैत्य को दोनों हाथों से पकड़कर, पृथिवी पर पटक दिया और आकाश में देवों के देखते देखते पशुओं की सी मार से मार डाला ॥३३॥

सुबोधिनीः—तथापि मुख्यदेत्यत्वात् लीनो न भविष्यतीति स्वयं गारितवानित्याह तं निगृह्येति, दोर्म्यां निग्रहं कृत्वा स्वयं भयरहितः अच्युतः महीतले सं पातयित्वा यथा भूमिष्ठा देवास्तं न त्यजन्ति तथा कृत्वा यज्ञार्थं तस्य वधो

भवत्विति घर्मनिरूपणार्थं पश्यतामेव सर्वेषां
देवानां पशुमारं यथा भवति तथा अमारयत्.
मुखगुद्वर्णं कृत्वा गलमोडनं कृतवानित्यर्थः. देवानां
दर्शनं सुखार्थम्, अन्यथा भगवानवितष्टकर्म
तथा न कुर्यात् ॥३३॥



व्याख्यानः—इतने पर भी, वह दुष्ट लीन तो होगा नहीं, इस विचार से, भगवान् ने स्वयं उसे मार डाला, यह इस 'तं निगृह्य' श्लोक से कहते हैं। भूमि पर रहने वाले देवता उसको न त्यागे, इस अभिप्राय से भगवान् ने उसको भूमि पर गिरा कर और उसका वध यज्ञ के लिए हो—इस प्रकार से धर्म के निरूपण के लिए देवगणों के देखते देखते पशुओं की सी मौत से मार डाला। उसके मुख को पून्द कर गर्दन को मोड़ दिया, इस असुर की गृत्यु से देवता सुखी हुए। इसलिए वे देखने लगे। यदि देवों को मुख नहीं होता और वे नहीं देख सकते तो, अविलष्ट कर्मा भगवान् उसको इस प्रकार से नहीं मारते। उन्हें सुख हुआ इसलिए उनके देखते दुष्ट असुर का वध कर दिया ॥३३॥

श्लोकः—गुहापिधानं निर्भिद्य गोपान् निःसार्य कृच्छ्रतः ।

स्तूयमानः सुरैर्गोपैः प्रविवेश स्वगोकुलम् ॥३४॥

श्लोकार्थः—उस दुष्ट दैत्य को इस प्रकार से मार देने के बाद भगवान् उस कन्दरा के पास पहुंचे और उसके शिला से बन्द दरवाजे को खोलकर उसमें बन्द गोप बालकों को कष्ट से मुक्त किया। तदनन्तर गोपगण और देवगण के मुख से अपनी स्तुति सुनते हुए श्रीकृष्ण ब्रज में पधारे ॥३४॥

सुबोधिनी—ततो यत् कृतवांस्तदाह गुहापि- तरेव सुरैर्गोपैश्च स्तूयमानः भगवत्कृतमुपकारं ते
घानमिति. मायया स्थापितं निर्भिद्य नितरां भित्त्वा जानन्तीत्युक्तं, ततस्ततः सह स्वगोकुलं प्रविवेश,
यथा पुनरन्योपि न प्रवेशयेत् तथा गुहात्वमेव सर्वत्र प्रत्यापत्तिर्निरूप्यते, अग्रे लीलापराणामपि
दूरीकृतवान्, कृच्छ्रतः संकटात् गोपान् निःसार्य तथात्वाय ॥३४॥

व्याख्यानः—उसके वध के बाद, भगवान् ने जो वहां किया—उसका वर्णन 'गुहापिधानं' इस श्लोक से करते हैं। उस असुर के द्वारा माया से बनाए हुए उस गुफा की शिला के किवाड़ को तोड़कर उन गोप बालकों को वहां से बाहर निकाल कर उन्हें संकट से मुक्त कर दिया। कन्दरा को—इसको इस तरह नष्ट भ्रष्ट कर दिया, कि वह फिर कन्दरा ही नहीं रहने दी। जिसमें कोई और भी किसी को नहीं छिपा सके ॥३४॥

इति धीमद्भागवत महापुराण, दशम स्कन्ध (पूर्वाध्याय), ३७ वें अध्याय की धीमद्वल्गुभावांश

चरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का ३४ वां अध्याय राजस-प्रमाण-

अवान्तर प्रकरण बीर्य निरूपक द्वितीय अध्याय हिन्दी अनुवाद

सहित सम्पूर्ण ।

१ अध्याय में वर्णन की गई लीलाओं के निम्न पदों का पाठ कीजिएगा

राग मारू

अनुर पति अतिहि गर्व धरयो ।
सभा गाँझ बैठो गरजत है, बोलत रोष भरयो ॥
महा महा जे सुभट दैत्य बल बैठे सब उमराउ ।
तिहुं भुवन भर गमि है मेरो मो सन्मुख को आउ ॥
मो सगान सेवक नहि मेरे जाहि कहौ कछु दाव ।
काहि कहौ को ऐसो लायक ताते मोहि पछताव ॥
नृपति राइ आयसु दे मोको ऐसो कवन विचार ।
तुम अपने चित सोचत जाको असुरन के सरदार ॥
जो करि क्रोध जाहि तन ताको तिनको है संहार ।
मथुरा पति यह सुनि हरिपत भयो मनहि धरयो अति भार ॥
इवैत छत्र फहरात शीश पर ध्वज पताक बहु बान ।
ऐसो को जो मोहि न जानत तिहुं भुवन मेरी आन ॥
असुर वंश जे महाबली सब कहौ काहि ह्वा जान ।
तनक तनक रो महर ढिटोना करि आवे बिन प्रान ॥
यह कह कंस चितै केशीतन व ह्यो जाइ करि काज ।
तृणावत शकटा अरु पूतना उनके कृत सुनि लाज ॥
तोते कछु ह्वै है यों जानत, धरि आने ज्यों बाज ।
छलकं बलकं मारु तुरत ही लै आवहु अब आजु ॥
अति गवित ह्वै कह्यो असुर भट, कितिक बात यह आहि ।
कह मारीं जीवत धरि लावौ एक पलक में ताहि ॥
आज्ञा पाइ असुर तब घायो मन में यह अवगाहि ।
देखौ जाइ कोन वह ऐसे कंस डरत है जाहि ॥
माया चरित करि गोप पुत्र भयो, ब्रज सन्मुख गयो धाइ ।
बल मोहन ग्वालन बालक संग खेलत देखे जाइ ॥
धाय गिल्यो कोउ रूप निशाचर हल धर सैन बताइ ।
भन मोहन गन में मुत्तुकाने खेलत फलनि जनाइ ॥
द्वे बालक बँठारि सयाने खेल रच्यो ब्रज खोरि ।
और सखा सब जुड़ जुड़ ठाडे, आपु दनुज संग जोरि ॥



फल को नाम बुझावन लागे हरि कह दियो अमारि ।
 कांथ चढ़े जिनि सिंह महाबल, तुरतहि भींच गरोरि ॥
 तब केशो ह्वै वर वपु कञ्चयो, ने गयो पोठि चढाई ।
 ऊपर परे हरि ता ऊपर ते कोन्हों युद्ध अपाइ ॥
 दाउ पाउ सब भांति करन है तब हरि बुद्धि उपाइ ।
 एक हाथ गुल भीतर भाग्यो, पथरि केश धरि जाइ ।
 चहुंधा फेरि असुर गहि पटक्यो शब्द उठयो आघात ।
 चीकि परयो कंतामुर सुनके, भीतर चल्थो परात ॥
 यह कोइ नहीं भजो ब्रज जन्म्यो, या ते बहुत डरात ।
 जान्यो कंस असुर गहि पटक्यो, नन्द महर के तात ।
 और सखा रोवत सब धाये, आइ गए नर नारि ।
 ग्वाल रूप संग खेलत हरि के, लै गए कांथे डारि ॥
 धाए नन्द यशोदा धाई, नित्य प्रति कहा गुहारि ।
 ना जानिए आहि धौं को यह, कण्ठ रूप वसु धारि ॥
 यशुमति तब अकुलाइ परी गिरि तनु को सुधि न रहाइ ।
 नन्द पुकारत आस्त व्याकुल टेरत फिरत कन्हाइ ॥
 दैत्य संहारि कृष्ण तहं आए ब्रजजन मरत जिवाइ ।
 दौरि नन्द उर लाय लियो सुत मिली यशोदा माइ ॥
 खेलत रह्यो संग मिली भेरे ले उड़ गयो अकास ।
 आपुन हि गिरि परयो धरणि पर मैं उबर्यो तेहि पास ॥
 उर डरात जिय बाते कहत उहि आए हैं करि नाश ।
 सूर श्याम घर यशुमति ले गई, ब्रज जन मनहि हुलास ॥

— —

राग बिलावली

हरि ग्वालन मिलि खेलन लागे वन में आंखि मिचाई ।
 शिशु होय भोमासुर तहें आयो, काहू जान न पाई ॥
 ग्वाल रूप होइ खेलन लाग्यो, ग्वालन को लेजाइ चुराइ ।
 धरे दुहाइ कंदरा भीतर, जानी बात कन्हाइ ॥
 गुदी चांपि कै ताहि निपात्यो परयो धरणि गुरछाइ ।
 सूर ग्वाल मिलि ह्वि गृहआए देव दुंदभी बजाइ ॥

— —

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ३८ वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ३५वां अध्याय

राजस-प्रमाण-अवन्तर प्रकरण

‘तृतीय अध्याय’

अक्रूरजी की व्रजयात्रा



कारिका:—पञ्चत्रिंशे भक्तिमार्गस्थापनाय निरूप्यते ।

अक्रूरागमनं भक्तिः फलं चैव हि मानसम् ॥१॥

कारिकार्यः—इस पैंतीसवें अध्याय में-भक्ति मार्ग' की स्थापना (प्रतिष्ठा) के लिए-अक्रूरजी के गोकुल आने का और मानसिक भक्ति का फल निरूपित किया जा रहा है ॥१॥

कारिका:—सात्त्विकश्चेदभिमुखः तदा भवति भक्तिमान् ।

अन्यथा दैत्यसंसर्गे स्तब्धो भक्तिर्भवेत् ॥२॥

શ્રીશુક ઉવાચ ।

उषित्वा रथमास्थाय प्रघवौ नन्दगोकुलम् ॥१॥

गेव समीचीनमिति ज्ञात्वा प्रचलित इत्याह महा-
मतिरिति, अयमुपायः सर्वेषामेव हितकारी, अतो
गत्वा समानेय इति, ततः कंसदत्तं दिव्यं रथमा-
स्याय स्वयमेकाकी सारथिरूपः नन्दस्य गोकुलं
प्राति प्रकर्षेण बहिरन्तः सन्तोषपूर्वकं गृहे च
सम्भति कृत्वा ययावित्यश्वः ॥१॥

श्लोकार्थः—मार्ग में जाते समय बड़े भाग्यशाली अक्रूरजी के हृदय में कमल से

नेत्र वाले भगवान् की परा (परम) भक्ति का उदय हो गया और (वे गदगद होकर) इस प्रकार यह सोचने लगे ॥२॥

सुबोधिनीः—सात्त्विकस्य भगवदाभिगुरुये भक्तिर्भवतीति ज्ञापयितुं तस्य भगवद्विषयको मनोरथो जात इत्याह गच्छन्निति; पथि गच्छन्निति मार्गगन्तुर्भक्तिरुचितैव, पथि गच्छन्निति रथप्रेरणं नापेक्षत इति सूचितम्, ननु दुष्टसंसर्गं प्राप्य स्थितो दुष्टप्रेरितः कथं भक्तो जात इत्याशङ्क्याह महाभाग इति, पूर्वसञ्चितपुण्यराशिः, सर्वमेव भाग्यमद्य फलोन्मुखं जातमित्यर्थः, तत्फलमाह भक्ति परानुपगत इति, परां प्रेमलक्षणाम्, विषयो न विभूतिरूप इत्याह भगवतीति, अम्बुजवदी-क्षणे यस्येति, दृष्ट्यैव सर्वतापनाशकत्वं निरूपितम्, अतः फलदातरि पुरुषोत्तमे भक्तिर्गुक्ता, सापि भक्तिः पूर्वं जाता, मध्ये गता तिरोहिता, पुनरुपसमीपे स्वयमेवागता, एतद् वक्ष्यमाणमेवं प्रकारेणाचिन्तयदिति, गता भक्तिः समागता स्वतः प्रवेशमलभमाना कामनाद्वारा प्रविष्टेति भगवतो महत्त्वं ज्ञात्वा तेन स्वस्योत्कर्षं यथा कामयते तथा चिन्तायुक्तं कृतवतीत्यर्थः ॥२॥

व्याख्यार्थः—सात्त्विक पुरुष यदि भगवान् के अभिमुख होता है, तब उसके मन में भक्ति का उदय होता है। यह-इस ‘गच्छन् पथि’ श्लोक से कहते हैं। जब अक्रूरजी मार्ग में गोकुल की तरफ जा रहे थे, उनका भगवत्सम्बन्धी मनोरथ हुआ; क्योंकि, सन्मार्ग में चलने वाले की भगवान् में भक्ति होना उचित ही है। उन्मार्ग (कुपथ) गागी दुष्ट पुरुष भक्त नहीं हो सकते हैं। इसीलिए मार्ग में चलने वाले अक्रूरजी की भगवान् में भक्ति उत्पन्न हुई। इस कथन से यह सूचित किया, कि उन्हें रथ हांकने की अपेक्षा नहीं रही थी। रथ स्वयं चल रहा था।

अक्रूरजी महाभाग थे, जो दुष्ट कंस के संसर्ग में रहते हुए और उस दूष्ट की प्रेरणा से ही जाने वाले होकर भी, भगवान् के भक्त हो गए। पहले का सञ्चित पुण्य पुञ्ज सारा ही आज फली-भूत हो गया। उनकी साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान् में (किसी विभूति रूप में नहीं) परा (प्रेम) लक्षणा भक्ति उत्पन्न हो गई। उन कमल नयन दृष्टि से ही सन्ताप को मिटाने चले, फल का दान करने वाले, भगवान् में भक्ति हो जाना उचित ही है।

उनकी पहले भगवान् में भक्ति थी तो सही किन्तु बीच में उसका तिरोभाव हो गया था। अब वह गई हुई भक्ति, स्वयं आई और अपने आप प्रवेश न पाकर, भगवान् के साहाय्य ज्ञान पूर्वक (कामना द्वारा) प्रविष्ट हुई। इससे जैसे अपना उत्कर्ष चाहता हो, वैसे भक्ति ने अक्रूरजी को चिन्ता युक्त कर दिया। वे इस प्रकार रों विचार करने लगे ॥२॥

श्लोकः—किं मयाचरितं भद्रं किं तप्तं परमं तपः।

किं वायाप्यर्हते दत्तं यत् द्रक्ष्याम्यद्य केशवम् ॥३॥

श्लोकार्थः—किं मैंने कौनसा ऐसा पुण्य अथवा उत्कृष्ट तप किया है, अथवा किसी सत्पात्र को दान दिया है, जिसके फल से आज मैं गोविन्द (केशव) भगवान् के दर्शन करूँगा ॥३॥

सुबोधिनीः—प्रथमतो भगवद्दर्शनां माहा-
त्म्यमाह भक्तिदाढ्याय, तथापि दर्शनस्य नवी-
रुष्टत्वमाह किं मयाचरितं भद्रमिति, त्रयो-
विभागाः स्वयं भगवानन्ये सर्वे च, तेषामुत्कृष्ट-
धर्मोः सहजैरागन्तुकैर्वा सर्वात्मको भगवांस्तुष्य-
तीति ज्ञायते, तस्मिस्तुष्ट एव तस्य दर्शनं भव-
तीति यतो ब्रह्मेशयोरपि सुखमोक्षदाता भगवा-
निति, तत्र स्वधर्मं आचारः, भगवद्धर्मस्तपः,
सर्वलोकोपकारी दानमिति, 'आचारप्रभवो धर्मः'
इति तदुक्तं किं मयाचरितमिति, भद्रं कल्याण-

हपण्, 'तपो मे हृदयं साक्षा'दिति वाचयान्
भगवच्छक्तिस्तपः अत उक्तं किं तप्तमिति, जीव-
धर्मतपोव्यावृत्त्यर्थं परममिति, सर्वोपकारी धर्मो
दानं सुपात्र एव महाफलं राघयतीति अर्हते
दत्तमिति, अथेति भिन्नप्रक्रमे, किं वेत्याकाङ्क्षा-
याम्, अत्यन्तं भगवत्पराय भगवदर्थमेव सर्व-
विनियोगाय श्रद्धया दत्तमिति धर्मशास्त्राद् भिन्नः
प्रक्रमः, अन्यथा अद्यैव भगवद्दर्शनं न भवेदतो
ज्ञायते त्रयाणामन्यतरत् कृतमिति ॥ ३॥

ध्याख्याः--भक्ति दृढ़ हो इसलिए पहले भगवद्धर्मों का माहात्म्य, 'किं मया' इस श्लोक से
बतलाते हैं। उन सारे ही भागवत धर्मों में भगवान् का दर्शन सब धर्मों से उत्कृष्ट है। स्वधर्म,
भगवद्धर्म तथा अन्य सभी धर्म इस प्रकार से धर्म के तीन विभाग हैं। इन विभागों के सहज अथवा
आए हुए (आगन्तुक) उत्कृष्ट धर्मों से सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं। यह जाना जाता है और
उनके प्रसन्न होने पर ही, उनका दर्शन हो सकता है; क्योंकि, वे भगवान् ब्रह्माजी को सुख और
शिवजी को भी मोक्ष देने वाले हैं।

प्रथम, स्वधर्म सदाचार, दूसरा, भगवद् धर्म तपस्या और सारे लोकों का उपकार करनेवाला
दानधर्म सर्वधर्म है। उनका अक्रूरजी वर्णन करते हैं कि—आचार प्रभवो धर्मः—के अनुसार मैंने कौन
परम पवित्र सदाचार का पालन किया है, अथवा 'तपो मे हृदयं साक्षात्' इस वाच्य के अनुसार मैंने
कौनसा भगवान् की शक्ति रूप तप ही किया है, जो जीव साध्य नहीं; किन्तु परम उत्कृष्ट तप है,
अथवा सर्वोपकारी दान धर्म ही किसी पूज्य सत्पात्र, भगवान् के भक्त के लिए, भगवान् के लिए ही
सब अर्पण हैं। इस भगवद्बुद्धि से, श्रद्धा पूर्वक दिया ही दान है, कि जिसका फल रूप आज ही मैं
भगवान् के दर्शन करूंगा। इस कथन से जान पड़ता है, कि उन उक्त तीन धर्मों से अतिरिक्त कोई
अन्य पुण्य धर्म का ही आचरण अक्रूरजी ने किया था; क्योंकि, इन उक्त धर्मों के आचरण से तो
इतना शीघ्र फल-आज ही भगवान् का दर्शन-नहीं मिलता ॥ ३॥

श्लोकः—ममैतद् दुर्लभं मन्य उत्तमश्लोकदर्शनम् ।

विषयात्मनो यथा ब्रह्मकीर्तनं शूद्रजन्मनः ॥ ४॥

श्लोकार्थः—मैं अत्यन्त विषयाराक्त हूँ। इसलिए मुझे तो पुण्य (पवित्र) कीर्ति
वाले भगवान् का दर्शन मिलना वैसा ही दुर्लभ जान पड़ता है जैसा शूद्र के लिए
वेदों का पढ़ना दुर्लभ है ॥ ४॥

सुबोधिनीः—एषं कार्यावश्यकतां ज्ञात्वा
कारणं परिकल्प्य तत्र बाधकमाशङ्क्य परिहरति

द्वाम्याम्, ममैतद् दुर्लभं मन्य इति, एतद् दर्शनं,
मम साधने विद्यमानेपि दुर्लभं, तत्रोपपत्तिर्मन्य



इति, युक्त्यैव निश्चीयते । मम दर्शनं न भविष्य-
तीति, अयं च तर्कः भगवतः अलौकिकत्वशापकः ।
लौकिकत्वे इति शङ्कैव नोदेतीति, दर्शनाभावे
हेतुद्वयमाह भगवन्निष्ठं स्थगिष्ठं च धर्मद्वयं,
भगवन्निष्ठमाह उत्तमश्लोकरय दर्शनमिति,
उत्तमैरपि श्लोचयत एव न च दृश्यते, उत्तमाः
सर्वज्ञा भक्ताः, स्वनिष्ठमाह विषयात्मन इति,
किञ्च, विषयाणां न केवलं प्रतिबन्धकत्वं तथा
सति कदाचिन् अनित्यत्वात् विषयाणां दर्शनमपि
भवेत्, कित्वाधिकारनिवर्तकत्वगपि, यतः सिद्धेऽपि
मुलभेऽपि विषये स्वस्य न योग्यतेति तदाह पर्येति,
ब्रह्मकीर्तनं वेदोच्चारणं, पूर्वजन्मनि ब्राह्मणोऽपि
सर्वज्ञोऽपि वेदोच्चारणसमर्थोऽपि शूद्रबीजात् चेदु-
त्तमः तदा नार्हति कीर्तनं कर्तुं ॥४॥

व्याख्यानार्थः—इस प्रकार पूर्व श्लोकानुसार कार्य की आवश्यकता को जानकर और कारण को कल्पना सहित बाधक की शंका करके, "ममैतद्" इत्यादि दो श्लोकों से उसका निराकरण करते हैं । युक्ति द्वारा यह निश्चित होता है, कि मुझे भगवान् के दर्शन नहीं होंगे । इस तर्क से भगवान् की अलौकिकता सूचित होती है; क्योंकि भगवान् को अक्रूरजी लौकिक जानते तो उनके मन में दर्शन न होने की शंका ही नहीं होती । (लौकिक अक्रूरजी लौकिक भगवान् को देख लेते) ।

भगवान् का दर्शन न होने के दो कारण हैं । एक तो भगवान् की अत्यन्त उत्कृष्टता और दूसरा अपनी (अक्रूरजी की) अत्यन्त अधमता । पहला कारण तो यह है, कि वे भगवान् स्वयं उत्तम श्लोक हैं, उत्तम सर्वज्ञ की भक्त केवल स्तुति ही कर सकते हैं । दर्शन तो उन्हें भी नहीं मिलते हैं । दूसरा कारण दर्शन न होने का यह है, कि मैं अत्यन्त विषयात्मा हूँ । विषयों से केवल दर्शन ही नहीं रुकता; क्योंकि विषयों की अनित्यता (सदा स्थिति न रहने) के कारण कभी दर्शन हो भी जाए किन्तु वे (विषय) तो दर्शन की योग्यता (अधिकार) को भी नष्ट कर देते हैं । इस कारण से, भगवान् का दर्शन सिद्ध और मुलभ हो जाने पर भी, अधिकार हीन विषयासक्त मुझे दर्शन दुर्लभ ही हैं, क्योंकि मैं दर्शन कर सकूँ—इस योग्य ही नहीं हूँ । इसमें दृष्टान्त देते हैं, कि शूद्र का वेदोच्चारण में अधिकार ही होता, यदि वह पूर्व जन्म में ब्राह्मण भी हो, सर्वज्ञाता भी हो और वेदोच्चारण करने में समर्थ भी क्यों न हो; किन्तु यदि यहां अभी शूद्र के बीज (वीर्य) से उत्पन्न हुआ हो, तो वह वेदों के उच्चारण का अधिकारी नहीं है । इसी तरह विषयों में आसक्त मैं (अक्रूर) भी भगवान् के दर्शन का अधिकारी कदापि नहीं हूँ ॥४॥

श्लोक—ममैवाधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनम् ।

ह्रियमाणः कालनद्या ववचित् तरति कश्चन ॥५॥

ममाधामङ्गलं नष्टं फलवाञ्छेव मे भवः ।

यन् नमस्ये भगवतो योगिध्येयाङ्घ्रिपङ्कजम् ॥६॥

श्लोकार्थ—अथवा मेरा यह सोचना भूल है कि मैं अधम हूँ, तो भी भगवान् के दर्शन मुझे मिल भी सकते हैं, क्योंकि जैसे नदी में बहते तृणों में से कोई कोई तृण किनारे भी लग जाता है, वैसे ही काल के प्रवाह में कर्म वश बहने वाले जीवों में से कितनेक जीव संसार के पार भी पहुँच जाते हैं ॥५॥



निश्चय हो आज मेरे सारे पातक मिट गए मेरा जन्म तफल हो गया; क्योंकि मैं ब्रज में जाकर श्रीकृष्ण के उन चरण बगलों को प्रणाम करूंगा, जिनका ध्यान योगी-जन सदा किया करते हैं ॥६॥

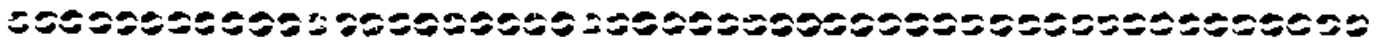
सुबोधिनो:—एवं प्रतिकूलतर्क निरूप्य अगु-
कूलेन तस्य पराहतिमाह मंवमेवेति, मेति निगे-
धार्ये, यदुक्तं त्वया विषयित्वात् नाधिकारो
विषयाश्च बाधका इति महतामपि केवलं स्तुत्य
एव न तु दृश्य इति च, एतन् मा किन्तु एवमेवै-
तत्, उभयत्रापि साधकधर्मद्वयमाह, अधमस्यापि
अच्युतदर्शनं स्यादेवेति, विषयाणां अधगाधि-
कारित्वसम्पादकत्वमेव न त्वधिकारनिवारकत्वं,
आसुरत्वमेव तथा, 'असुर्यः शूद्र' इति श्रुतेः, नापि
प्रतिबन्धकत्वं, विषयैरपि भगवद्भजनस्य शास्त्रे
निरूपितत्वात्, 'यद्यदिष्टतमं लोक' इति, किन्त्व-
धमत्वमेव सम्पादयति, सर्वथा निर्विषय उत्तमः,
बहिर्निर्विषयः मध्यमः, उभयत्रापि सविषयोधम
इति, अधमस्यापि स्यादेवाच्युतदर्शनं, अन्यथा-

धमोधिकार एव न स्यात्, किञ्च, भगवानच्युतः
सर्वथाच्युतिरहितः स्वरूपतो धर्मतश्च, यदि
संकीर्तितः तत्कीर्तनं न व्यर्थमिति भवानेन फल-
मिति दर्शयेदेव कदाचित्, अतः स्यादेव, ननुक्तो
दृष्टान्तो बाधक इति चेत् साधकोपि दृष्टान्तो-
स्तीत्याह ह्रियमाण इति, कालनद्या ह्रियमाणः
क्वचित् कदाचित् कश्चित् तरतीति, यथा तृणं,
दृश्यते च नौका जले पतिता स्वयमेव कूलात्
कूलान्तरं गच्छति, कालोपि नदीरूपः भगवन्तं
जीवसमूहं चान्तरा प्रवहति विषयमायाजलात्मा,
तत्र तीरस्थान् कदाचित् मध्ये पातयित्वा उत्तर-
कूले नयेत्, अनेन कालवशादपि मोक्षः सिद्ध्य-
तीति केषांचित् मतमुक्तम्, अत्र नियामकं
भगवदवतारः ॥५-६॥

व्याख्यानार्थः—ऊपर के श्लोक में अक्रूरजी अपने को भगवान् के दर्शन का सकारण अनधिकारी बतला कर उस तर्क का इस, 'मंवमेव' श्लोक से खण्डन करते हुए कहते हैं। अक्रूरजी का ऊपर के श्लोक में अपने को विषयासक्त होने से भगवद्दर्शन का अनधिकारी कहना, विषयों को भगवद्दर्शन में बाधक बतलाना और महा पुरुषों को भी भगवान् का दर्शन तो दुर्लभ ही है, केवल वे उनकी स्तुति ही कर सकते हैं, (करते रहते हैं) इस प्रकार अक्रूरजी का विचार करना अनुचित ही है; क्योंकि, अधम को भी भगवान् दर्शन दे ही देते हैं। इन्द्रियों के विषय, पुरुष को केवल अधमाधिकारी बना सकते हैं, उसके भगवद्दर्शन के अधिकार को दूर नहीं कर सकते। विषयासक्त मनुष्य भी भगवद्दर्शन का अधिकारी तो है ही। हां 'असुर्यः शूद्र' इस श्रुति के अनुसार आसुरी जीव को दर्शन का भी अधिकार नहीं होता।

विषय, विषयासक्त मनुष्य के भगवद्दर्शन में बाधक भी नहीं हो सकते, क्योंकि, 'यद्यदिष्टतमं लोके-प्यारी से प्यारी वस्तु तथा विषयों के द्वारा भगवान् का भजन, दर्शन शास्त्र में बतलाया गया है। इसलिए विषय न तो मनुष्य के भगवद्दर्शन के अधिकार को ही छीन सकते हैं और न उसके भगवद्दर्शन में बाधक हो (रोड़ा ही अटका) सकते हैं। विषय तो केवल उसको अधगाधिकारी ही बना सकते हैं।

उत्तमाधिकारी-भगवद्दर्शन का वह है जिसके मन में भीतर तथा बाहर विषयों का लेश भी कभी न हो, जिसके हृदय में विषयेच्छा है; किन्तु बाहर विषयासक्ति नहीं दिखाता हो वह मध्यगाधि-



जाती है और जो बाहर भी, भीतर मन में भी, विषयों ने आसक्त, मनुष्य अधमाधिकारी माना जाता है। ऐसे अधम को भी कभी अच्युत-स्वरूप में (धर्म से भी च्युति रहित) भगवान् का दर्शन हो ही जाता है यदि अधमाधिकारी दर्शन सर्वथा नहीं कर सकता हो, तो फिर अधिकार का तृतीय भेद अधमाधिकारी होवे ही नहीं, भगवान् का यदि कीर्तन किया जाता है तो वह भगवान् का नाम संकीर्तन भी व्यर्थ (निष्फल) नहीं होता है। कीर्तन का भगवान् ही फल है और वे कभी दर्शन दे ही देते हैं। इसलिए भगवान् का दर्शन होवेगा ही। ऊपर दर्शन नहीं हो सकने में, जैसे-शूद्र का वेदोच्चारण का बाधक दृष्टान्त दिया गया था, वैसे ही दर्शन हो सकने में साधक दृष्टान्त देते हैं, कि काल रूपी नदी के द्वारा बहाया गया तृण कभी, अथवा स्वयं पड़ो हुई नाव भी एक किनारे से दूसरे किनारे पर लग ही जाती है। इसी तरह नदी रूप काल-जो भगवान् और जीवों के बीच में बहता है और जो विषय पाया के जल से पूर्ण है—विषय रूप जल से पूर्ण वह नदी रूप काल किनारे पर बैठे हुए जीवों को प्रवाह में डालकर कभी दूसरे किनारे पर पार लगा ही देता है। इस दृष्टान्त से किसी २ के मत से, यह भी सिद्ध होता है, कि काल भी मोक्ष प्राप्ति का साधक है। किन्तु भगवान् का अवतार इस कथन में नियामक है, भगवान् के अवतार में ही काल मोक्ष प्राप्ति का साधक हो सकता है अन्यथा नहीं ॥५-६॥

श्लोकः—कंसो बताद्याकृत मेत्यनुग्रहं द्रक्ष्येङ्घ्रिपद्मं प्रहितोगुना हरेः ।

कृतावतारस्य दुरत्ययं तमः पूर्वतरन् यन्नखमण्डलत्विषा ॥७॥

श्लोकार्थः—अहो ! कंस ने आज मुझ पर बड़ी ही कृपा की। उसीके भेजने से, मैं पृथिवी पर अवतरित हुए भगवान् के चरण कमलों के दर्शन करूंगा, जिनके नख मण्डल के प्रकाश में अम्बरीष, प्रह्लादादि भक्त इस घोर, अन्धकारमय संसार सागर को पार कर गए हैं ॥७॥

सुबोधिनीः—ननु बाधकस्य कालस्य कथं ! यथा कथञ्चित् सम्बन्ध एवात्र प्रयोजक इति मोक्षसाधकत्वमिति चेत् तत्राह कंस इति, कदा-जापयितुमाह कृतावतारस्येति, एतदर्थमेव भगवद-चिद्बाधकान्येव साधकानि भवन्ति, विषं भक्षयित्वा-वतार इति, तथात्वे प्रमाणमाह पूर्वतरन्निति, जीवति अन्यथा म्रियेतेति लोकप्रसिद्धिः, तदाह-यस्य नखमण्डलत्विषापि पूर्वं भगवदीयाः अतरन् संसारं, भावितो हृदये प्रकाशमानश्चरणः मुक्तिं ददातीति अविद्यान्धकार निराकरणार्थं कान्ति-कंस इति, बनेति हर्षो, यः सर्वथा बाधकः स एव-निरूपिता, मण्डलपदं सूर्यादिरिव निवारकत्वं मे अद्यानुग्रहमकृत, य एव हि भगवद्दर्शनं कारयति जापयति न तु दीप इव, एकेनापि सूर्येणान्धकारो तस्यैव जापयति न तु दीप इव, एकेनापि सूर्येणान्धकारो निवार्यते किं पुनर्दर्शभिरिति स्थापयितुं नखेति, स एवानुग्रहं करोतीति, कदाचिदनुग्रहं करोति तरणं पादपोतेनैवेति अर्थात् पादयोः, अतो यत्र प्रेषितवान् ततः कथागष्टसिद्धिरिति चेत्, तत्राह-चरणसम्बन्धमात्रेणैव ध्यानप्राप्तेन सर्वं तीर्णं हरेरिति, स हि सर्वदुःखहर्ता सम्बन्धमात्रनपेक्षते, तत्र दर्शनवतो मम तरणे कः सन्देहः ॥७॥

व्याख्यानार्थः—काल-जो मोक्ष प्राप्ति का बाधक है—वह मोक्ष का साधक कैसे हो सकता है ?



इस शक्ति का उत्तर-कंशोद्यत-इस श्लोक ने देते हैं, कि बाधक भी कभी साधक हो जाते हैं । विष खा लेने पर नृत्य निश्चित ही हो जानी चाहिए, किन्तु विष खा कर जीवित रहता है—ऐसा लोक में प्रसिद्ध है । अकरजी सहर्ष कहते हैं, कि जो भगवद्दर्शन का ही नहीं, भगवन्नामस्मरण तक में बाधक था, उसी कम ने मेरे ऊपर आज अनुग्रह किया है । साधारण अनुग्रह तो अन्न, वस्त्र, जीविका आदि लौकिक वस्तु के द्वारा भी किया जा सकता है, किन्तु वास्तविक अनुग्रह को तो, भगवान् के दर्शन कराने वाला ही करता है । इसलिये कंश ने मुझ पर बड़ी दया की है, क्योंकि इसके द्वारा भेजा हुआ मैं, सबके सब दुःखों को हरने वाले भगवान् के चरण कमलों का दर्शन करूंगा । कम ने अपने दूषित विचार से श्रीकृष्ण को, मधुरा में बुला लाने के लिए मुझे भेजा है, तो भी, मुझे तो यह यात्रा क्लेश-यिका ही है; क्योंकि, भगवान् के साथ कोई सा भी सम्बन्ध होना चाहिए । वह भगवद्दर्शन-सम्बन्ध कंश ने कराया है, यह उसका ही मुझ पर अनुग्रह है ।

भगवान् के साथ भय, द्वेष-स्नेह आदि कोई सा भी (गोप्यः कामाद्वयात् कंश) सम्बन्ध जोड़ लेना ही परम फल है और जीवों का अपने साथ-कोई सा भी सम्बन्ध जुड़ाने के लिए ही, भगवान् का अवतार है—भगवान् अवतार लेते हैं—इस कथन की पुष्टि के प्रमाण देते हैं, कि जिस प्रकार एक ही सूर्य गण्डल सारे विश्व का अन्वकार दूर कर देता है, उसी प्रकार, असंख्य भक्त उनके दोनों चरणों को अपने हृदय में स्थापित करके और उनके दश नख मण्डल की कान्ति से अज्ञान रूपी अन्धकार के रावंधा नष्ट हो जाने से, संसार को पार कर गए हैं । चरणों के जहाज के बल से संसार-सागर को पार किया जा सकता है । और जब जिनके चरणों का ध्यान करके केवल ध्यान के द्वारा हुए चरण सम्बन्ध से असंख्य भक्त संसार से पार हो चुके, तो फिर, उनके साक्षात् दर्शन कर लेने वाले मेरे संसार के पार लग जाने में सन्देह ही क्या है ? अर्थात् उन भगवान् का साक्षात् दर्शन करके मैं भी संसार से पार हो ही जाऊंगा ॥७॥

श्लोकः—यदर्चितं ब्रह्मशिवादिभिः सुरैः श्रिया च देव्या मुनिभिश्च सात्वतैः ।

गोचारणायानुचरैश्चरद् वने यद् गोपिकानां कुचकुङ्कुमाङ्कितम् ॥८॥

श्लोकार्थः—शिव, ब्रह्मा आदि देवता, लक्ष्मी देवी, मुनिगण और भक्तजन जिनकी सदा पूजा करते हैं; गाएं चराते समय, जो सेवक ग्वाल बालकों के साथ, वन में चलते हैं और जो गोपीजनों के वक्षःस्थल पर लगे हुए कुंकुम से अनुरञ्जित रहते हैं भगवान् के उन चरणों के आज मैं दर्शन करूंगा ॥८॥

सुबोधिनीः—एवं स्वस्य फलमधिकारं च निश्चित्य बहुवादिविप्रतिपन्नत्वाद् भगवतो मोक्ष-दातृत्वं साधयति यदर्चितमिति, अवश्यं मोक्षो-स्तीत्यभ्युपगन्तव्यं स च किञ्चिदधीन इति च, तत्र सन्मार्गे ब्रह्मा लोके महान्, लक्ष्मीश्च विषय-त्वेन, ज्ञानशास्त्रे मुनयः, भगवच्छास्त्रे सात्वताः,

एतदवतारे चतुर्धा अवतीर्णस्य दिनरात्रिभेदेन गोपा गोप्यश्च सेवकाः ये धृष्टाः अज्ञाश्च न कञ्चन मन्यन्ते, तत्रापि स्थियः, तत्रापि तेन प्रकारेणेति, सर्वत्र भक्तिप्राधान्यार्थं पदग्रहणम्, जगति त्रयो मुख्याः ब्रह्मविष्णुशिवाः, तत्र ब्रह्मा शिवश्च आदि भूतो येषां, सात्त्विककल्पे विष्णुर्भगवानिति,

गुणावज्ञारेपि विशेष उक्ताः, तैः सर्वैरेवेन्द्रादिभिः
स्वेष्टसिद्धचर्यमचितं, स्यामित्वाद् वा श्रिया
चाचितं प्रथमतोपि तस्याः परिज्ञाने सामर्थ्यमाह
देव्येति, मुनिभिश्चेति चकारान् वर्गिभिरपि
फलाधिभिः, सात्वतैरिति वैष्णवभेदा उक्ताः,
ये सत्त्वंकनिष्ठाः, गोपानामर्चनपरिज्ञानार्थमाह

व्याख्यानार्थः - अक्रूरजी इस प्रकार अपने (भगवद्दर्शन रूप) फल और अपने दर्शनाधिकार का निश्चय करके 'यदर्चित' इस श्लोक से भगवान् मोक्ष के देने वाले हैं अनेक वादियों के द्वारा स्वीकृत किए हुए भगवान् के मोक्षदातापन को सिद्ध करते हैं । मोक्ष कोई वस्तु है और वह किसी के वश में है ऐसा अवश्य मानना चाहिए ।

सन्मार्ग के अनुसार, लोक में ब्रह्माजी बड़े हैं, लक्ष्मीजी विषय रूप से बड़ी हैं, ज्ञान मार्ग में मुनि जन और भक्ति मार्ग में भक्त श्रेष्ठ हैं। इस कृष्णवतार में चतुर्व्यूह युक्त अवतारी श्रीकृष्ण के ये चारों ब्रह्माशिवादि, लक्ष्मी, मुनिजन और सात्त्वत्-श्रेष्ठ भक्त हैं। यहां ब्रज में दिन और रात के सेवक गोप और गोपी जन हैं। धृष्ट और अज्ञानी तो किसी को मानते ही नहीं हैं। उनमें स्त्रियां और स्त्रियों में भी ब्रजरमणियों की जैसी सेविका और नहीं हैं। भगवान् के चरणों में भक्ति का निवास है इसलिए सब में भक्ति की प्रधानता के कारण, चरण शब्द कहा गया है। जगत् में ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनों मुख्य देव हैं। ब्रह्मा और शिव सभी देवों के आदि (प्रथम) हैं। सात्त्विक कल्प में, सत्त्व गुणावतार विष्णु को भगवान् कहा गया है। ये सारे ही इन्द्रादि देवगण अपने मनोरथों की सिद्धि के लिए जिन चरणों का पूजन करते हैं। देवी लक्ष्मीजी पहले से ही अपना स्वामी को जानकर जिनके चरणों का सेवन करती है। मुनि जन, कर्मठ लोग, अपने मनोरथ-सिद्धि के लिए और 'सात्त्वत्' सात्त्विक वैष्णव जन जिन चरणों की अर्चना करते हैं। भगवान् से अलौकिक गोचारण सीखने के लिए अनुचर (पहले से ही सेवक) गोपों के द्वारा बन में वन्दना पूजे गए और स्त्रियों-ब्रजवनिताओं के द्वारा हृदय में और बाहर अपने वक्षःस्थलों पर भी स्थापित करके सेवन किए गए उन भगवच्चरण युगल का मैं दर्शन करूंगा। ८॥

कारिका:— ऐश्वर्यं श्रीस्तया ज्ञानं कोतिर्धर्मो विरागता ।

षड्गुणास्त्वत्र निदिष्टाः क्रमो नात्र विवक्षितः ॥९-८॥

कारिकायः—इस आठवें श्लोक से भगवान् के चरणों के ऐश्वर्य, श्री, ज्ञान, कीर्ति, धर्म और वैराग्य-छ गुणों का निर्देश किया गया है, अर्थात् सुर, श्री, मुनि, सात्वत, गोप और गोपी जन-इन छहों के द्वारा अर्चित भगवच्चरण उक्त इन ऐश्वर्य आदि छः गुणों से युक्त हैं; किन्तु यहां क्रम विवक्षित नहीं है ।

लेखः—यदचित्तम्—इस श्लोक की व्याख्या में एतदवातारे चतुर्धा-पदों का अभिप्राय यह है कि घर्गाथी ब्रह्मादि देवों ने धर्म प्रवर्तक अनिरुद्ध व्यूह की, पंचम स्कन्ध में लक्ष्मी के द्वारा कामदेव



की पूजा के निरूपण में श्री के द्वारा प्रद्युम्न व्यूह की अविद्या (अज्ञान) का नाश चाहने वाले होने के कारण, मुनिजनों के द्वारा अविद्या नाशक संकर्षण व्यूह की और एक मात्र सत्त्वनिष्ठ सात्वत भगवद्भक्तों के वामुदेव व्यूह की पूजा की जाती है इसलिए इस कृष्णावतार में चारों ही हैं ।

(सात्विक कल्पे) इस कथन का तात्पर्य यह है, कि उस सात्विक कल्प में विष्णुरूप होकर सृष्टि करते हैं । और ब्रह्मा तथा शिव को उन (ब्रह्मा) उन (शिव) दोनों के कल्पों में सृष्टि करने की आज्ञा देते हैं । १-८१।

श्लोकः—दृश्यामि नूनं मुकपोलनासिकं स्मितावनोकारुणकज्जलोचनम् ।

मुखं मुकुन्दस्य गुडालकावृतं प्रदक्षिणं मे प्रचरन्ति वं मृगाः ॥६॥

श्लोकार्थः—मेरे अहो भाग्य ! सुन्दर कपोल, नासिका, मन्द मुसकान, कृपापूर्ण दृष्टि अरुण कमल से लाल नेत्र और घूँघरवाली अलकों से सुशोभित (उन मुकुन्द भगवान्) के) मनोहर मुखारविन्द को मैं अवश्य देखूँगा; क्योंकि, हरिण मेरे दाहिने ओर जा रहे हैं। यह शकुन मुझे इसी शुभ की सूचना दे रहा है ॥६॥

सुबोधिनी:—एवं सर्वनिर्धारं कृत्वा ब्रजन् शकुनं दृष्ट्वा प्रोत्साहेन इष्टरूपं दर्शनं भविष्यतीत्याह द्रक्ष्यामीति, यतो मृगाः दक्षिणं प्रचरन्ति अतो नूनं द्रक्ष्यामि, कसभृत्यत्वात् भगवान् न सम्मुखो भविष्यतीत्याशङ्क्य मुखारविन्दमेव द्रक्ष्यामीत्याह मुखमिति, तथापि क्रुद्धः कदाचिद् भवेत् अपकारं वा विचारयन् तिष्ठेत् तदा कपोलो नासिका च वक्रा विषगा च भवेत् तन्निवारणार्थमाह सुकपोलनासिकमिति सुष्ठु कपोलो नासिका च यस्मिन् इति शक्तिः तद्वशाच्च निरूपितो, ननु तथाप्यपकारार्थं समागच्छन्तं कथमङ्गीकुर्यात् तत्राह स्मितवलोकारणकञ्जलोचनमिति, स्मितमल्पहासस्तेत ज्ञानेर्ध्व्यामोहंस्तेनैव व्यामोह इति न ममापराधः, युक्तार्थं चैतत्कृतयानिति ज्ञानाधारभूतक्रियायागरणकमलसादृश्यं निरूपितं,

प्रक्षणोररुणता युद्धं सूचयति, मुखदर्शनेन सर्वं
फलं सेतस्यतीत्याह मुकुन्दस्येति, ननु वादिविप्र-
तिपत्त्या कथं भगवानेवं मुखदर्शनेनैव मोक्षं
प्रयच्छतीति चेत्, तत्राह गुडालकावृतमिति,
अलकाः तत्त्वविद इति पूर्वं निरूपितम्, ते चेत्
कुण्डलाकाराः प्रपन्नाः, ते च पुनर्भतिसर्यं परित्यज्य
सर्वे सम्भूय भगवन्तमाश्रयन्ति तदा न विवाद
इति, गुडशब्देन परावर्तनमुच्यते, सर्वतः प्रसरण-
स्वभावाः पिण्डीभावं प्राप्नुवन्तीति, प्रकर्षो यथा-
भिलषितार्थः, यदिच्छयैव वा तथा भवन्तीति
मदर्यमेव शकुनं कुर्वन्तीति ज्ञायते, प्रकर्षेण च
चरन्ति न तु पलायन्ते, अयमुक्तः सर्वोप्यर्थः न
सन्दिग्धो नापि भ्रान्तिप्रतिपन्न इति वं निश्चये-
नेत्युक्तम् ॥६॥

व्याख्यानार्थः—इस तरह सारा निश्चय करके गोकुल जाते हुए अक्रूरजी ने मार्ग में शुभ शकुन देख कर यह निश्चय कर ही लिया कि मैं अवश्य ही (निश्चय रूप से) भगवान् के मुखारविन्द के दर्शन करूंगा ही; क्योंकि ये हरिण मेरे दाहिनी तरफ निश्चिन्त होकर घूम रहे हैं । भय से भाग नहीं रहे हैं । मुझको कंस का सेवक समझ कर भगवान् मेरे लिए, अपने मुखारविन्द के दर्शन नहीं देंगे, ऐसी कोई बात नहीं है; क्योंकि, मैं तो उनके मुख कमल को देखूंगा । यह भी सम्भव है, कि मेरे



अपराध का विचार करके रुष्ट हो सामने विराजे रहे, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि, क्रोध ग तो कपोल और नासिका टेढ़ी हो जाती है। भगवान् के कपोल तथा नासिका तो बड़े सुन्दर, भक्ति और भक्ति रस को सूचित करने वाले हैं। इस मुखारविन्द के विशेषण से ज्ञात होता है, कि भगवान् रुष्ट नहीं, बड़े प्रसन्न है।

यद्यपि मैं अपकार (अनिष्ट) करने के लिए भगवान् को लिखाने जा रहा हूँ तो भी वे मुझे अङ्गोक्त (अपना लेंगे ही) कर ही लेंगे; क्योंकि, उनका मुखारविन्द-हासो जनो-गादकरी च माया' व्यामोहक मन्द मुस्कान से युक्त है। उम मन्दस्मित से व्यामुग्ध होकर ही मैं उन्हें अपकारार्थ बुलाने जा रहा हूँ। अतः इसमें मेरा अपराध नहीं है। वह मुख कमल-केवल चाक्षुषज्ञान ही नहीं—सारे ही ज्ञानों का आधार भूत लाल कमल सी आंखों से सुशोभित है। नेत्रों की लालिमा से युद्ध सूचित होता है।

मोक्षदाता भगवान् मृकुन्द के ऐसे मुख कमल के दर्शन से सभी फल सिद्ध हो जाएगा। यद्यपि भगवान्, मुख कमल के दर्शन मात्र से मुक्ति प्रदान कर देते हैं—इस सिद्धान्त को कुछ वेदान्ती लोग नहीं मानते हैं तो भी घुंघराली अलकों से अलङ्कृत मुखारविन्द का दर्शन मोक्ष दायक है—इसमें कोई विवाद नहीं है, क्योंकि अलकें तत्त्वज्ञानी है—यह पहले ध्यान के प्रसङ्ग में कह चुके हैं। वे भी अलकें (तत्त्वज्ञानी) जो स्वभाव से ही फैलने (लम्बी लटकने वाली है) ईर्ष्या छोड़कर गोलाकार होकर सभी मिलकर भगवान् का आश्रय कर लेते हैं, तो फिर, उनके मोक्ष प्रदान कर देने में किसी को कोई सन्देह ही नहीं हो सकता। ये यहां बताई हुई सारी बातें मेरी इच्छा से ही हो रही है, अथवा मेरे लिए ही शुभ शकुन कर रही हैं। इसमें (वे) कोई सन्देह नहीं है ॥६॥

श्लोक—अप्यद्य विष्णोर्मनुजत्वमीषुषो भारावताराय भुवो निजेच्छया ।

लावण्यधाम्नो भवितोपलम्भनं मह्यं न न स्यात् फलमञ्जसा दृशः ॥१०॥

श्लोकार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी इच्छा से ही—भूमि का भार उतारने के लिए नर रूप धारण किया है। उनके उस त्रिभुवन कमनीय परम मनोहर श्याम शरीर के दर्शन क्या मैं आज कर सकूँगा ? यदि दर्शन कर पाया तो अवश्य ही मेरे नेत्र सफल हो जाएंगे ॥१०॥

सुबोधिनी:—एवं शकुनेनापि दर्शनं निर्घायं अद्यैव भविष्यतीति मनोरथं करोति अपोति, दुर्लभं दिनमेतदिति सम्भावना, विभूतिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह विष्णोर्मोक्षदातुः लीलया मनुजत्वं मनुष्यत्वमीषुषः स्वोक्तवत्, उपलम्भनं भविता एतदपि किं सम्भावितमिति, प्रयोजनगाह भारावताराय भुव इति, तत्रापि नियतं हेतुगाह निजेच्छयेति, भक्तानां ब्रह्मादीनामिच्छया, फल-

दानं कालान्तरेस्तु मा वा इदानीमेव दर्शनमात्र एव परमानन्द इति तदर्थमाह लावण्यधाम्न इति, सौन्दर्यमात्रस्यैव स्थानभूतस्य उपलम्भनं निकटे दर्शनं यदि भविष्यति तदा मह्यमेव भविष्यति, गदर्थमेव भयः दृशः दृष्टीनां अञ्जसा फलं च भविष्यति, आत्मा तु मुक्त एव भविष्यति न सन्देहः जन्मापि सफलं भविष्यति इन्द्रियाणां साफलयात् ॥१०॥



ध्याख्याय—इस प्रचार में अक्रूरजी भाग में शुभ शकुन को भी देख कर भगवद्दर्शन का निर्धार करके 'अप्यय' इस श्लोक से आज ही होने का मनोरथ करते हैं । यह दिन मेरे लिए बड़ा ही दुर्लभ होगा जब कि लीला करने के लिए अपनी और अपने भक्त ब्रह्मादि की इच्छा से नर देह धारण करने वाले, तथा सुन्दर्या के एक मात्र स्थानभूत और मोक्ष दाता भगवान् विष्णु का, (किसी विभूति रूप का नहीं) में निकट में (शीघ्र) दर्शन कर सकूँगा । तब वह मेरे लिए ही होगा और मेरे नेत्रों का परम (सहज) फल भी मेरे लिए ही होगा । मेरी आत्मा तो अवश्य ही मुक्त हो ही जाएगी तथा इन्द्रियों की सफलता होने से, मेरा जन्म भी सफल हो जायगा ॥१०॥

श्लोक—य ईक्षिताहंरहितोप्यस्तसतोः स्वतेजसापास्ततमोभिदाभ्रमः ।

स्वमाययात्मत्रचितंस्तदीक्षया प्राणाक्षधीभिः सद्नेष्वमीयते ॥११॥

श्लोकार्थ—जो गर्व द्रष्टा है, कार्य कारण के कर्ता होकर भी, जो अहंकार से रहित है । जिन्होंने अज्ञान से उत्पन्न भेद भाव के भ्रम को अपने तेज से ही दूर कर रखा है; किन्तु उग गेद (भ्रम) को देखने की इच्छा से अपनी माया के द्वारा प्राण, इन्द्रिय, बुद्धि से युक्त देहधारी होकर जो अपने रचे हुए जीवों के साथ ब्रज भक्तों के घरों में क्रीड़ा करते हुए संसारी जीव जैसे प्रतीत होते हैं ॥११॥

सुबोधिनी—एवं शीघ्रदर्शनं सम्भाव्य अवतारे अन्य-धर्मसम्बन्धमाशङ्क्य तथा सति सर्वमेवान्यथा भाविष्यतीति तन्निवृत्त्यर्थं भगवति प्रापञ्चिकधर्म-सम्बन्धाभावमाह य ईक्षितेति भगवतोऽन्यधर्म-सम्बन्धः अहङ्कारे गुणेषु तत्कार्यं चेन्द्रियादी वर्तमाने भवति, अहङ्कारादीनां तु कार्यं दृश्यमानमपि स्वरूपेणैव भवतीति न भगवतोऽन्यधर्म-सम्बन्धः, तत्र प्रथमं अहङ्काराभावेऽपि तत्कार्यमाह अहंरहितोऽपि असत्सतोऽर्थ ईक्षितां, द्रष्टा लौकिकः साहङ्कारो भवति, इन्द्रियेष्वहमध्यासव्यतिरेकेण द्रष्टृत्वाभावात्, ममतायां वा, तथात्वे वदिकाति-रिक्तसिद्धान्तेऽपि स्मार्तेषु पौराणिकेष्वपि अध्यासो मूलमिति ममतापक्षेऽप्यहङ्कारापेक्षा, भगवांस्तु आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिरिति 'नक्षुषश्चक्षु-रिति अहंरहितोऽपीक्षिता भवति अनेन भगवज्ज्ञानं निर्विषयमेवेत्युक्तं दीपवदेव सर्वं प्रकाशयति तदा विषयदोषसम्बन्धाभावात् सतः असत्तत्त्वापीक्षिता भवति, कार्यकारणयोर्वा, 'सत्यं चामृतं चे'ति श्रुतेः कार्यमेव सर्वं, गुणकृतदोषसम्बन्धाभावमाह

स्वतेजसेति, भगवत्तेजसेव अपास्ता दूरीकृताः तमस्तामसगज्ञानं भिदा भेदस्तत्कृतो राजसस्ततो भ्रमः सात्त्विकोऽपि विश्वप्रतीतिरूपः, न हि तमसि दूरीकृते तत्कृतचोरभयादयो वा सम्भवन्ति, भगवतीन्द्रियादिसम्बन्धप्रतीतिर्मयि यं न तु वस्तुत इत्याह स्वमाययेति, स्वाज्ञाकारिणी या सर्वं भव-नसमर्था माया तथा कृत्वा आत्मनि स्वस्मिन्नेव रचितं प्राणाक्षधीभिः प्राणेन्द्रियान्तःकरणैः सहि-तेषु सर्वेष्वेव देहेषु गृहेषु अभीयते प्रकाशते भग-वान्, स्वाधीनया स्वकीयानां देहेन्द्रियान्तःकर-णानि प्रतीयन्ते, तेष्व्वात्मप्रतीतिसिद्ध्यर्थं आत्मनि रचितं, तेष्व्वात्मप्रतीतिर्भवत्विति, वस्तुतः सर्वत्रायमेव प्रतीयते, यत्रान्यत्रापि स्थितो भगवान् न तद्वर्गैर्युज्यते तदा केवलः कथं युक्तो भवेत्, अन्यत्रापि ते सर्वे धर्माः भगवदिच्छयैव भगवद्रूपाः माययान्यथा प्रतीयन्ते तत्र भगवत्येव किं वक्तव्यं, अथवा, लोकप्रीत्यर्थं सद्नेषु गोपि-कागृहेषु यथा भगवानतत्रत्योऽपि तत्रत्य इव प्रती-यते, एवं प्राणाक्षधीभिः सहितोऽप्यधीयते, आत्म-



स्थान एव मायया तथा प्रतीत्युपपत्तेः, उभयोस्तु- | द्वयमपि, विमर्शं त्वयमेवान्गा सर्वत्रेति कस्य दोषे-
त्यत्वात्, न दृष्टान्ताभाव उक्तः, अर्थतस्तु साधनीय | एतत् संयुक्तो भवेदित्यर्थः ॥११॥

व्याख्यार्थः—इस प्रकार अकूरजी ने हेतु तथा शुभ शकुन के द्वारा भगवान् के दर्शन शीघ्र हो जाने की सम्भावना की । किन्तु यदि अवतार दशा में प्राकृत धर्मों का सम्बन्ध हो, तो वह पूर्व कथित सम्भावना विपरीत हो जाती है । इस लिए सम्भावना की यथार्थता के लिए अवतार दशा में भी उनमें प्राकृत धर्मों के सम्बन्ध का निषेध 'य ईक्षिता', इस श्लोक से करते हैं । भगवान् में प्राकृत धर्म इस लिए नहीं हैं, कि अहंकार, गुण, गुणों का कार्य तथा लौकिक परिमित शक्ति वाली इन्द्रियाँ उनमें नहीं हैं । जहाँ अहंकारादि नहीं होते, वहाँ प्राकृत धर्म भी नहीं होते । उनमें तो दिखाई देने वाले अहंकार के कार्य लौकिक धर्म भी स्वरूप से अभिन्न ही हैं । स्वरूप से ही, वे धर्म भगवान् में दृष्टि-गोचर होते हैं । उनका प्राकृत धर्मों से अल्प भी सम्बन्ध नहीं है ।

भगवान् में कर्तृत्व दृष्टत्व आदि का अभिमान न होने पर भी, वे असत् सत्-कार्य कारण-के दृष्टा हैं । लौकिक दृष्टा अहंकार युक्त होता है; क्योंकि इन्द्रियों में अहं भाव के अध्यास के बिना दृष्टा हो नहीं बन सकता । इन्द्रियों में अहं भाव का अध्यास अथवा ममता होने पर ही अहंकार होता है । इस लिए वैदिक सिद्धान्त में तथा तदतिरिक्त स्मार्त तथा पौराणिक सिद्धान्तों में भी अविद्या कृत-स्वरूपाज्ञानमेक हि पदं देहेन्द्रियासवः अन्तःकरणमेषां हि चतुर्धा-ध्यास उच्यते-प्रध्यास ही अहम्भाव का मूल कारण है । ममता के पक्ष को स्वीकार करने पर भी अहंकार की अपेक्षा है ही, अर्थात् अहंकार होने पर ही, अन्य (लौकिक) धर्म का सम्बन्ध हो सकता है । भगवान् तो आनन्द मात्र करपादमुखोदरादिः चक्षुषश्चक्षु-आ पाद नख श्री मस्तक सर्वाङ्ग-आनन्दमय हैं और सर्वथा अहंकार रहित होकर भी 'सतां-वानृत'-सत् असत् का कार्य कारण का सर्व दृष्टा है और यह सब उसका ही कार्य है । उनका ज्ञान निविषय है, जो दीपक की तरह है । जैसे घर के एक कोने में धरा हुआ दीपक सारे भवन में प्रकाश कर देता है उसी तरह से भगवान् के ज्ञान से सभी लोक प्रकाशित हो रहे हैं और प्रकाश्य पदार्थ गत दोषों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है ।

उन भगवान् में जैसे विषय दोष सम्बन्ध नहीं है, वैसे ही गुणों के द्वारा होने वाले दोषों का सम्बन्ध भी नहीं है, क्योंकि, उन्होंने अपने तेज से ही सारे अज्ञान तथा अज्ञान जनित राजस और विश्व की प्रतीति रूप सात्विक भेद के भ्रम को अपने से दूर कर दिया है । अज्ञान-अन्धकार के दूर कर देने पर अन्धकार का तथा चोर आदि का भय फिर नहीं हो सकता है । (अवतार दशा में) भगवान् का स्वांशभूत जीवों की देह इन्द्रियादि का सम्बन्ध उनकी आज्ञा कारिणी, 'गच्छ देवि ब्रजं भद्रं'-सर्व भवन समर्था माया से ही प्रतीत होता है वास्तविक नहीं है । उस अपनी माया के द्वारा ब्रह्मरूप अपने में ही रचित प्राण, इन्द्रिय, अन्तःकरणों से युक्त सारे ही शरीर रूपी घरों में वह भगवान् प्रकाशित हो रहा है । स्ववशीभूत माया से ही जीवों के देहादि की प्रतीति होती है और वह-इनमें आत्म प्रतीति हो-ऐसी इच्छा से आत्म प्रतीति की सिद्धि के लिए ही वे-आत्म रचित-अपनी आत्मा में ही-भगवान् ने निमित्त किए हैं । "तत्सृष्ट्वा तदेवानु प्राविशत्" ।

वास्तव में तो, सभी जगह सब में भगवान् ही प्रतीत हो रहे हैं । इस प्रकार से जब सभी शरीरों में (शरीर रूप घरों में) विराजमान भी वे भगवान् उन देहादि के धर्मों से सम्बन्ध नहीं



रखते हैं तो केवल वे न्यून गायिक धर्मों के सम्बन्ध वाले क्यों कर हो सकते हैं। तात्पर्य यह है, कि जीवों में भी भगवान् की इच्छा से ही भगवद्रूप अलौकिक वे धर्म माया के द्वारा लौकिक से दिखाई देते हैं तो फिर साक्षात् भगवान् में वे लौकिक कभी नहीं हो सकते हैं। सदनों में विभिन्न (अनेक) देहों में जैसे उनके धर्मों का उससे सम्बन्ध न होते हुए भी, माया से सम्यक् से दिखाई देते हैं, वैसे ही सदानु-गोपीजनों के घरों में नहीं रह करके भी वहां स्थित से दीख पड़ते हैं, क्योंकि, माया में ही माया से ऐसी प्रतीति हो रही है। शरीर और घर की समानता प्रत्यक्ष ही है। इसलिए 'इवादि' पदों से दोनों का दृष्टान्त भाव मूल नहीं बतलाया है। अर्थ के द्वारा तो दोनों (देह और घरों) में समानता ही है। वास्तव में विचार करने पर तो यह आत्मा-आत्मैवेद सर्व ही-यह सब जगत् है तब फिर वह किसके दोष से युक्त हो। उससे भिन्न यहां कुछ भी नहीं है ॥११॥

लेखः—'य ईक्षिता' इस श्लोक की व्याख्या में-ममत्तायां-पद का तात्पर्य यह है कि मेरी आंख से मैं देखता हूँ-इस प्रकार से ममता में भी अध्ययन ही मूल कारण है; क्योंकि अहन्ता ही-ममता को उत्पन्न करती है, ममता की जननी है। वैदिकेपि अर्थात् वैदिक पक्ष में तो सर्वमात्मैवाभूत्, तत्केन कंपयेत्-वस्तुतः सब स्थानों में आत्म बुद्धि ही है, वहां अध्ययन नहीं है। निर्विषयमेव भगवान् के ज्ञान को निर्विषय बतलाने का आशय यह है कि वह सबका आत्म रूप से ही ग्रहण करता है, विषय पदार्थ-रूप से ग्रहण नहीं करता। प्रकाशते-अर्थात् प्रकाश भगवद्धर्म होने से सभी शरीरों में वही प्रकाशित हो रहा है। विभिन्न देह धारी जीवों की सृष्टि करके सबमें वही प्रविष्ट है। इसीलिए इनमें प्रविष्ट हुए भगवान् ही प्रकाशित हो रहे हैं। जड़ देहेन्द्रियादि का अपना प्रकाश नहीं है।

उस प्रकाश में, एक मात्र आश्रय भगवान् में देहादि का भान, माया कृत ही है; क्योंकि असल में सब में अनुप्रविष्ट हुए भगवान् ही उस जगत् के रूप से प्रकाश का आधार भूत हैं। देह और प्राणादि समान ही हैं। इसलिए देह को प्राणादि से अलग कथन से उत्पन्न हुई अर्वाच से 'सदन' का दूसरा अर्थ गोपीजनों का घर किया है। अर्थात् गोपीजनों के घरों से सम्बन्ध नहीं रखने वाले भी सम्बन्ध रखने वाले से प्रतीत हो रहे हैं। उभयोस्तुल्यत्वात्-इसी तरह प्राणादि भी भगवत् स्वरूप ही हैं तब प्राणादि सहित कहना उचित नहीं हो सकता; क्योंकि, साथी तो स्वरूप से भिन्न होने पर ही कहा जा सकता है। तात्पर्य यह है, कि जैसे गोपिकाओं के घरों में नहीं रहते हुए भी भगवान् उनके घरों में स्थित से प्रतीत होते हैं। इसी तरह प्राणादि से असम्बद्ध भी प्राणादि वालों से प्रतीत हो रहे हैं। मूल में इवादि पदों के न होने पर अर्थ के द्वारा देहों और गोपीजनों के घरों की समानता है। इसीलिए दोनों का दृष्टान्त भाव परस्पर में अर्थ से सूचित होता है ॥११॥

श्लोक—यस्याखिलामोवहभिः सुमङ्गलैर्वाचो विमिश्रा गुणकर्मजन्मभिः ।

प्राणन्ति शुम्भन्ति पुनन्ति वै जगत् यास्तद्विरक्ताः शवशोभना मताः ॥१२॥

श्लोकार्थ—जिन श्रीकृष्ण भगवान् के गुण कर्म और जन्म की मंगलमय कथाएं सब पापों को नष्ट कर देती हैं, तथा जगत् को पवित्र और सुशोभित करती हैं; वे ब्रज में विराजमान हैं। जिन कथाओं में भगवान् की चर्चा नहीं रहती है, वे अलंकारों से पूर्ण होने पर भी वस्त्र आभूषणों से युक्त शव शरीर की तरह व्यर्थ ही है ॥१२॥

भवन्ति. ततः सानुभावा अपि भवन्ति जगत्
पुनन्तीति, यथा देहे प्राणा अन्नं धर्मश्च, एवं
वाशि भगवद्गुणजन्मकर्माणि तथैव मनस्यपि
अयो ज्ञातव्याः, 'मनः पूर्वरूपं वागुत्तररूपमिति
श्रुतेः न पृथगुभयोर्निर्देश उक्ताः, आधिव्यप-
र भविष्यतीति सिद्धे साध्ययावयं तदाधिवयं बोध-
यतीति न्यायात् इत्याशङ्क्य विपरीते बाधकमाह
यास्तद्विरक्ता इति, यथा शवानां शोभा वस्त्रा-
भरणैः क्रियते तथाप्यगङ्गलरूपैव प्राणाभावात्
तत्पोषकाभ्राभावात् प्राणकार्यधर्मोभावाच्च, अतो
भगवति शतांशेनापि प्राकृतधर्मसम्बन्धो भवेत्
तदेतन् न स्यादिति भावः ॥१२॥

शरीर में जैसे प्राण, धर्म और अन्न हैं, वैसे ही वाणी और मन में, भगवान् के गुण, जन्म और कर्म ये तीनों प्राण, अन्न तथा धर्म रूप हैं। उनके गुण, जन्म, कर्म तो इन प्राणादि तीनों से भी अधिक हैं; क्योंकि, सिद्ध वस्तु में, फिर भी साध्य वाक्य बोलने से उस सिद्ध वस्तु की अधिकता ही बोधित होती है। अर्थात् प्रमाण-सिद्ध वस्तु को फिर प्रमाणान्तर से सिद्ध करें, तो उस वस्तु की हृदता-उत्कर्ष ही जाना जाता है और जो वाणियाँ भगवान् के नाम गुणादि का कीर्तन नहीं करती, वे जैसे निर्जीव शरीर को फिर वस्त्र, आभूषणों से अलङ्कृत करने पर भी अगंगल ही रहता है, वैसे ही वे वाणियाँ भी अमंगलरूप ही हैं; क्योंकि न तो भगवान् के गुण रूप प्राण है, न उन प्राणों का पोषक भगवज्जन्म कीर्तन रूप अन्न है, और न उनके कर्म रूप प्राण कार्य धर्म ही है। इससे यह सिद्ध है कि भगवान् में प्राकृत धर्मों का किञ्चिन्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है ॥१२॥

यशो वितन्वन् व्रज भ्रास्त ईश्वरो गायन्ति देवा यदशेषमङ्गलम् ॥१३॥

श्लोकार्थः—जो अपनी बनाई हुई वणश्रिम धर्म की मर्यादा के पालक देवों का



कल्याण करने वाले है, जिनके परम भङ्गलमय यश का देवगण गान करते हैं, वही परमेश्वर यदुवंश में अवतार लेकर अपने पवित्र यश को फैलाते हुए इस परम व्रज को सुशोभित कर रहे हैं ॥१३॥

सुबोधिनी:—एतादृश एवायमवतीर्णो न तु धर्मातिरोभावेनेति वक्तुमाह सचावतीर्ण इति, चकारात् अवत्यर्पितयावतीर्णोऽपि पुनर्वहिरप्यवतीर्ण इति, अकाराद् बलभद्रे वा शेषरूपः, किलेति प्रसिद्धिः प्रमाणं, महतो यत्र क्वाप्यवतारो न भवतीति सात्वसान्ध्या इत्युक्तम्, यादवाः सर्वे वैष्णवाः तेषां वंशप्रसिद्धिर्यं वा, अवतारप्रयोजनमाह स्वस्य सेतुपालाः भगवता कृता जगति या मर्यादा तस्याः पालका देवा इति तेषामवताराणां शर्म सुखं यथैव भवति तथैव करोति, अवतारेणैव भवतीति अवतारं करोतीत्यर्थः, मुख्यं प्रयोजनमाह यशो वितन्वन्निति, अग्रे जनिष्यमाणानां मोक्षार्थं, यावत् तानि कर्माणि सिद्धानि न भवन्ति तावद् व्रज आस्ते, ननु व्रजे स्थितौ किं प्रयोजनं उत्कृष्टस्थाने स्थितेनैव तथा कर्तुं मुचितमिति चेत् तत्राह ईश्वर इति, अपकृष्टे स्थाने स्थित्वा तादृशं कर्म कुर्वन् सर्वेषां मोक्षं साधयतीति रहस्यसिद्धान्ते चेतत् साधितम्, अत एव यद् भगवतश्चरित्रं सर्वे गायन्ति विशेषतो देवाः यस्मादशेषस्यापि मङ्गलभूतं भवतीति ॥१३॥

व्याख्यानः—वहीं यह भगवान् अपने ऐश्वर्य वीर्यादि सकल दिव्य घमों सहित अवतीर्ण हुए हैं -यह-'स चावतीर्णः'- इस श्लोक से कहते हैं । वह भगवान् ही अन्तर्यामी रूप से हृदय में, फिर बाहर भी, अथवा बलदेवजी में शेषजी के रूप से अवतीर्ण हुए हैं । 'किल' इस में लोक वेद प्रमाण है । वह भगवद्भक्त (वैष्णव) यादवों के वंश में -वंश की प्रसिद्धि के लिए- अवतीर्ण हुए हैं; क्योंकि ऐसे महतो महीयान् का अवतार चाहे कहीं साधारण वंश में नहीं होता ।

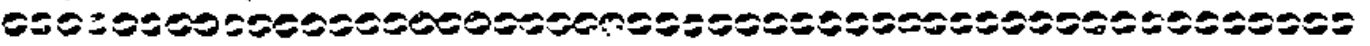
उन (भगवान्) के अवतार लेने के दो कारण हैं । एक तो यह है कि जगत् में उनकी बनाई हुई मर्यादा की रक्षा करने वाले देवों को सुख देना है । उन देवों को जिस प्रकार से सुख हो, वैसा ही करते हैं । वह देवसुख अवतार के द्वारा ही होता है । इसीलिए अवतार धारण करते हैं । अवतार का दूसरा मुख्य प्रयोजन अपने यश का विस्तार करना है । जिससे उस यश का गान करके आगे उत्पन्न होने वाले जीवों को भी मोक्ष प्राप्ति हो जावे । वे भगवान् अपने उन कर्मों के सिद्ध होने तक व्रज में विराज रहे हैं ।

किसी उत्कृष्ट (तीर्थादि) स्थान में न विराज कर व्रज में विराज कर, विचित्र चरित करने का कारण यह है, कि वह ईश्वर (सर्व समर्थ) है । रहस्य सिद्धान्त में सिद्ध कर दिया गया है, कि हीन स्थान में रह कर भी, वे ऐसी क्रीड़ा लीला करते हैं, जिससे, रावको मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है । इसीलिए उनसे चरित्रों को सारे जीव और सभी देवगण भी गाते हैं; क्योंकि वे देव, तिर्यङ्, नर, देवादि सभी का मङ्गल करते हैं ॥१३॥

श्लोकः—तं त्वद्य नूनं महतां गतिं गुरुं त्रैलोक्यकान्तं दृशिमभहोत्सवम् ।

रूपं दधानं श्रिय ईप्सितास्पदं द्रक्ष्ये ममासन्नृषसः सुदर्शनाः ॥१४॥

श्लोकार्थः—उनके त्रिभुवन सुन्दर रूप को देखकर सभी नेत्र वाले प्राणी परम



आनन्दित होते हैं। महात्मा पुरुषों के एक मात्र रक्षक तथा गुरु श्रीकृष्ण का वही मनोहर रूप, आज मैं देखूंगा, जिसको लक्ष्मीजी बड़ी प्रीति से चाहती है; क्योंकि आज सवेरे ही सवेरे मुझे अच्छे-अच्छे शकुन दिखाई दे रहे हैं ॥१४॥

सुबोधिनी:—एवं भगवतो माहात्म्यगुक्त्वा सम्यग-
लौकिकत्व सम्पाद्य तद्दर्शनं पुरुषार्थो भवतीति
कामयते, तं त्वद्येति, तं पूर्वोक्तं, तुशब्देन प्राप्तीति
पक्षं व्यावर्तयति, अथैव ब्रक्ष्यामि, भूतं नात्र सन्देहः
किन्तु निश्चितमेवेतत्, भगवतः पुरुषोत्तमत्वप्रति-
पादनाय सर्वफलरूपत्वमाह, महत्तामेव फलं
भवतीति तेषां गतिः गम्यः प्राप्यः फलमिति
यावत्, साधनमपि स एवेत्याह गुरुमिति, उपदे-
ष्टापि स एव, ज्ञानं ज्ञानोपदेश वा, एवं वैदिक-
प्रकारेणोत्तमत्वमुक्त्वा लौकिकप्रकारेणाह श्रौ-
त्यकान्तमिति, कान्तः पतिः सुन्दरश्च, किञ्च,

विशेषतो दृष्टिमतां ज्ञानवतां वा महानुत्सवो
भवति उत्सवः फलं भवतीत्यविवादम्, सर्वेषामेव
पतिरोक्ष्यत इति लौकिकं द्वयमपि फलम्, एवं
लौकिकवैदिकफलरूपं प्रधानगतिं दर्शनं महा-
फलमिति सूचितम् किञ्च, लोके सर्वपुरुषार्थरूपा
लक्ष्मीः 'तथा विनावद्य देवत्व' मित्यादिवाक्यान्,
तस्या अपि ईप्सिनगास्पदं स्थानम्, दर्शने आव-
श्यकं लक्षणमाह ममासन्नुषसः सुदर्शना इति,
एते प्रातःकालाः अद्यतनाः प्रतिक्षणं सुष्ठु दर्शनं
येषां तथाविधाः प्रतिक्षणमानन्दजनका दृश्यन्ते
॥ १४ ॥

व्याख्यानार्थः—इस प्रकार से भगवान् की महिमा कह कर, उनकी अलौकिकता सिद्ध की। उन का दर्शन स्वतः पुरुषार्थ रूप है। इसलिए -तं त्वद्य- इस श्लोक से अकूरजी भगवान् के दर्शन की कामना करते हैं। मैं आज ही उन भगवान् के निश्चय ही दर्शन करूँगा। वे महापुरुषों के प्राप्तव्य अथवा ज्ञान रूप और उपदेशक हैं। ज्ञान प्राप्ति के साधन रूप गुरु हैं। इस प्रकार वैदिक रीति से उनकी पुरुषोत्तमता का वर्णन करके लौकिक रीति से भी वे पुरुषोत्तम हैं, यह सिद्ध करते हैं। वे त्रिभुवन में सुन्दर अथवा त्रिभुवनों के पति हैं। वे -चक्षुष्मतां फल मिदं- नेत्र धारियों (ज्ञान नेत्र वाले) के परम फल हैं। भगवान् के दर्शन करके उन्हें बड़ा आनन्द होता है। वे त्रिभुवन सुन्दर और सबके पति होने से, लौकिक फल रूप हैं; क्योंकि, लोक में सब को ही उत्सव और पति की अपेक्षा होती है। इस तरह लौकिक तथा वैदिक रीति से फल रूप वर्णन करके, यह सूचित किया कि उनका दर्शन परम फल रूप है।

इस लोक में -तथा विनावद्य देवत्वम्-लक्ष्मी राकल पुरुषार्थ रूप है। ऐसी लक्ष्मी के भी वे एक मात्र मनोनीत आश्रय हैं, निवास स्थान अभिलषित है। वे मेरे लिए आज अवश्य दर्शन देवेंगे ही; क्योंकि आज ये प्रमात शुभ शकुन दिखाकर मुझे क्षण-क्षण में आनन्दित कर रहे हैं ॥१४॥

श्लोकः—अथावरूढः सपदीशयो रथात् प्रधानपुंसोश्चरणां स्वतन्त्रये ।

धिया धृतं योगिकिरणं ध्रुवं नमस्य आम्नां च सतीन् वनौकसः ॥१५॥

श्लोकार्थः—उन त्रिभुवन कमनीय भगवान् के दर्शन करते ही मैं रथ से उतर जाऊँगा। योगी जन अपने लाभ के लिए प्रधान पुरुष श्रीकृष्ण बलदेव, के जिन



चरणों को केवल बुद्धि (भावना) के द्वारा हृदय में स्थापित करते हैं—साक्षात् दर्शन नहीं पाते—उनका प्रत्यक्ष दर्शन करके मैं प्रणाम करूँगा । तदनन्तर उनके सखा गोपों को भी प्रणाम करूँगा ॥१५॥

सुबोधिनी:— एवं दर्शनमनोरथमुक्त्वा दर्शना-
नन्तरमनोरथमाह अथावरूढ इति, रथावरूढः
उत्तीर्णः भगवद्दर्शनानन्तरं सम्भावितदर्शने वा,
ईशयोः चरणं नमस्ये इति आवेशावतारयोः
चरणभेदो नास्तीत्येकवचनम्, ननु बालकयोः
कथं नमस्कार उचित इति चेत् तत्राह प्रधान-
पुंसोरीशघोरिति, मातापित्रोरपि स्वामिनोरिति
भावः, अतो गर्भदासाः सर्व एवेत्युक्तं भवति,
ननु नमस्कारे किं प्रयोजनं दर्शनेनैव सर्वगुणार्थ-

सिद्धिरिति तत्राह स्वलब्धये योगिभिरपि धिया
धृतमिति, आत्मप्राप्त्यर्थं यत्पदं बुद्ध्या मानसिक
ध्रियते तत्साक्षात् नमस्कृतं किं किं न करोतीति
नमस्कारमनोरथोपि युक्त इत्यर्थः, तद्व्यानेन नम-
स्कारेण मोक्षः प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थं
भक्तिरेव सिध्यत्वित्यभिप्रायेणाह आम्नां सह
एतत्सखीन् गोपालानपि नमस्य इति, ततो व्रजो-
क्त एव सर्वान्नमस्य इति भगवद्दर्शनां सर्वेषा-
मेव सर्वोत्कृष्टत्वज्ञानं भक्तिहेतुरिति ॥१५॥

व्याख्यानार्थः— इस प्रकार अक्रूरजी भगवद्दर्शन के मनोरथ को कहकर, 'अथावरूढः' इस श्लोक से दर्शन के बाद का मनोरथ करते हैं । मैं सम्भावित भगवद्दर्शन करते ही, रथ से उतर जाऊँगा और उनके चरणों को प्रणाम करूँगा । वे बालक नहीं हैं । वे तो प्रधान पुरुष और ईश्वर हैं, माता पिता के भी स्वामी हैं । उनके अतिरिक्त सभी जीव गर्भ से ही दास हैं । केवल वे ही सारे गर्भ दासों के स्वामी हैं । आवेशावतार बलभद्र और साक्षात् अवतारी श्रीकृष्ण के चरणों में भेद न होने के कारण मूल गे-चरण-एक वचन का प्रयोग किया गया है ।

शङ्का:—जब उनका दर्शन मात्र ही सारे पुरुषार्थों को सिद्ध करने वाला है, तब फिर नमस्कार करने का प्रयोजन क्या है ? इसका समाधान 'स्वलब्धये' इत्यादि चार पदों से करते हैं । जिस चरण-रविन्द का योगी लोग आत्म प्राप्ति के लिए बुद्धि से मानसिक ध्यान धरते हैं । जब भावना से हृदय में धारण किया हुआ भी वह भगवच्चरणरविन्द योगियों को आत्मगति दे देता है, तो फिर साक्षात् नमस्कार किया गया वह चरण कगल क्या क्या नहीं कर सकेगा ? इसलिए भगवच्चरण कमल को नमस्कार करने का मनोरथ भी उचित है ।

भगवान् के चरण में नमस्कार करने का मनोरथ करके अक्रूरजी, योगियों की तरह मोक्ष की प्रार्थना न करके, चरण से भक्ति की ही सिद्धि चाहते हैं । वे आगे कहते हैं, कि भगवान् रामकृष्ण के साथ साथ उनके सखा गोपालों को तथा सभी व्रजवासियों को नमस्कार करूँगा । इस प्रकार भगवान् के सारे ही धर्मों का सबसे उत्कृष्ट ज्ञान होना भक्ति का कारण है । भक्ति को सिद्ध करने वाला है ॥१५॥

श्लोकः—अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्य मे विभुः शिरस्वधास्यन्निजहस्तपङ्कजम् ।

दत्ताभयं कालभुजङ्गरहसा प्रोद्वेजितानां शरणं विना नृणाम् ॥१६॥

श्लोकार्थः—मैं उन सर्व शक्तिमान् भगवान् के चरणों में गिर पड़ूँगा, तब वे

वेगशाली काल रुपी गर्प से घबराए हुए, धरम चाहनेवाले प्राणिमों को अभय कर देने वाले अपने हस्त कमल को क्या मेरे शिर पर धरेंगे ? अवश्य ही धरेंगे ॥६६॥

सुबोधिनोः - ततो भगवत्प्रसादरूप मनोरथ-
गाह अप्यङ्घ्रिमूले पतितस्येति, भयव्युद्वेकात्
शनर्न नगरकारः किन्तु चरणमूले पातः, नन्व-
दृष्टपूर्व त्वयि कथं भगवान् कृपां कारिष्यतीति
चेत् तत्राह विभुरिति, स हि ज्ञाने प्रयादे च
समर्थः, अप्यघास्यत् 'आशंसायां भूतवच्ची'ति,
अपिति सम्भावनायां प्रायेण हरतं धास्यतीति,
घारणेनैव महत्सुखं भविष्यतीति अन्यदापि ततः
फलं भविष्यतीति हस्तपङ्कजं वर्णयति दत्ताभय-
पिति, पङ्कजं हि जलकार्यं करोति, विषे हि जलेन
प्रतीकारः तागरूपत्वाच्च, अत्रापि काल एव

भुजङ्गः तस्य रहसा वेगेन प्रोद्वेजितानां, दंशे तु
गन्वाश्लेषा, केवलं दृष्ट्वैव भीताः पलायिताः
कालो ग्रसिष्यतीति व्यतपरिग्रहाः सन्त्यासिनः
विधेकिनो वा गृहस्थाः, ते च ते भगवच्छरणा-
न्वेषिणः, अन्ये पुनर्देवाश्रयोनयः साधनं वक्तुं
शक्ताः, पश्चादयस्त्वज्ञा एव, अत उक्तं नृणां गतिः,
अभयं प्रपच्छति, पङ्कजमिति, जले स्थिते कमले
यः प्रविशति तस्य न भवत्येव सर्पभयं, जले
विषस्य न पराक्रमः नापि कमले सर्पः प्रविशति
॥ १६ ॥

ध्याख्यायः—अब अक्रूरजी इस-अप्यंघ्रिमूले-श्लोक से भगवान् की कृपा रूप मनोरथ करते हैं। प्रेम-भक्ति-के अतिशय से नमस्कार न करके, पहले चरणों में गिर जाऊंगा। वे ज्ञान तथा कृपा करने में समर्थ हैं। इसलिए चरणों में पड़े हुए, अपरिचित भी, मेरे शिर पर अपना श्री हस्त कगल रख ही देंगे। श्री हस्त के मेरे मस्तक पर रखने से ही मैं परम सुखी हो जाऊंगा। श्री हस्त को कमल सदृश कहने का तात्पर्य यह है कि कगल भी वही कार्य कर सकता है, जो जल से हो सकता है। विष ताप रूप है। ताप की शान्ति जैसे जल से होती है, वैसे ही, हरत कमल भी ताप को शान्त (दूर) कर देता है।

यहां तो काल ही महा सर्प है, जिसके वेग से, दूर से देख कर ही, मयभीत हुए, काल ग्रस लेगा,—ऐसा समझकर घर कुटुम्ब को छोड़ देने वाले, सन्यासी, ज्ञानी तथा गृहस्थी लोग भगवान् की शरण खोजते हैं। उनको भगवान् का वह श्री हस्त कमल, अभय प्रदान करने वाला है। कारण यह है, कि जल में रहे कमल में प्रवेश करने वाले को, सांप का भय नहीं रहता, क्योंकि, कमल में सांप प्रवेश नहीं करता। इसीलिए श्री हस्त को कमल सदृश बतलाया है। देव आदि योनिवाले तो अन्य साधन भी कर सकते हैं। पशु पक्षी योनि अज्ञानी ही हैं। इसीलिए मूल में मनुष्यों के लिए ही केवल भगवान् की शरण में जाना कहा है ॥१६॥

श्लोकः—समहंणं यत्र निधाय कौशिकस्तथा बलिश्चाप जगत्त्रयेन्द्रताम् ।

यद्वा विहारे व्रजयोषितां श्रमं स्पर्शेन सौगन्धिकगन्ध्यपानुदत् ॥१७॥

श्लोकार्थः—उरा कर कमल में केवल जल तथा साधारण पूजा सामग्री अर्पण करके ही राजा बलि श्रीर इन्द्र को त्रिभुवन का राज्य प्राप्त हुआ है । भगवान् श्रीकृष्ण ने उत्तम कमल गन्ध से युक्त अपने उसी कर कमल से ब्रज रमणियों की विहार को थकावट दूर की है ॥१७॥



सुबोधिनी.—एवमनिष्टनिवारकत्वेन चरणं संस्तूय इष्टदातृत्वेनापि स्तोति समर्हणमिति, यत्र हरते समर्हणं निधाय देवं किञ्चित् समर्थं कौशिकः इन्द्रः बलिश्च जगत्त्रयेन्द्रतामवाप, अयमिन्द्रः पूर्व-जन्मनि कौशिकगोत्रं उत्पन्नः बलिरिव भगवद्वस्ते सर्वं निवेदितवान्, तस्य कथा क्वचित् प्रसिद्धा भविष्यति, बलेरतु प्रसिद्धैव, अवापेति प्रवाह-नित्यत्वात् पूर्वमपि बलिरिन्द्रपदं प्राप्तवानिति, छन्दसि लुङ् लङ् लिट् इति भविष्यदर्थे वा लिट्, एवं प्रभुत्वेन अनिष्टनिवारकत्वमिष्टदातृत्वं

चावत्वा मित्रयदपि कार्यं करोतीत्याह यद्वा विहार इति, ब्रजघोषितां सम्बन्धिनं विहारे तासां श्रमं सौगन्धिकगन्धिः सौगन्धिकपुष्पवत् गन्धयुक्तं श्रमजलगणानुदत्, वायुना हि श्रमो गच्छति त्रिगुणेन, तद्वत् हस्तेनापि गतमिति सूचितुं श्रमजलसम्बन्धः, मान्यं च सिद्धमिति शौरभ्यार्थं तथोक्तवान्, अनेन नित्यं सा भगवच्चरित्रा-नुसन्धानं करोतीति सूचितम्, वेति बह्वर्थसूचनार्थं, अनेन सर्वेषामेव धर्मान् करोतीति सर्वफलदातृत्वं सूचितम् ॥१७॥

व्याख्यायं—इस प्रकार भगवान् के चरणारविन्द की अनिष्ट निवारक रूप से स्तुति करके, 'समर्हणं यत्र' इस श्लोक से उनके कर कमल की इष्ट दाता रूप से अक्रूरजी स्तुति करते हैं। भगवान् के श्री हस्त में थोड़ी सी देने की वस्तु (पूजा सामग्री) समर्पण करके इन्द्र ने श्रीर बलि राजा ने भी त्रिलोकी का राज्य प्राप्त कर लिया है। यह इन्द्र पूर्व जन्म में कौशिक गोत्र में उत्पन्न है और राजा बलि की तरह इसने भी भगवान् के श्री हस्त में सर्वस्व निवेदन कर दिया था। उसकी कथा कहीं प्रसिद्ध होगी। बलि राजा की कथा तो प्रसिद्ध ही है।

अवापः—इस मूलस्थ अनद्यतन परोक्ष भूत काल के प्रयोग से ज्ञात होता है, कि इस सृष्टि प्रवाह के सदा इसी प्रकार चलते रहने (नित्य होने) के कारण पहले भी बलि राजा ने इन्द्र पद को प्राप्त कर लिया होगा।

अथवा—'छन्दसि लुङ्, लङ्, लिट्':—इस पाणिनीय सूत्र के अनुसार यह-अवाप-लिट् भविष्यत् अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्रकार-सर्वं शक्तिमान् भगवान् का चरण कमल अनिष्ट को दूर करने वाला है और श्री हस्त कमल वाञ्छित मनोरथ को देने वाला है-अनिष्ट निवारक तथा इष्ट दायकता का वर्णन करके आगे—'यद्वा विहारे-इत्यादि गूलस्थ गदों से बतलाते हैं कि आपका हस्त कमल एक मित्र की तरह भी कार्य करता है। सुगन्धित श्वेत पुष्प की सी गन्ध वाले उस श्री हस्त कमल ने स्पर्श मात्र से ही, ब्रज सीमन्तिनी सम्बन्धी विहार में, उनके सहज सुगन्धित श्रम जल को दूर कर दिया है।

सुगन्धित, शीतल, मन्द-इन तीन प्रकार की वायु से यकान दूर होती है। भगवान् के, पवन जैसे मन्द, सुगन्धित और शीतल, श्री हस्त स्पर्श से ही उनकी षकावट (श्रमजल) को दूर करने वाला है। इस कथन से यह सूचित किया गया है, कि अक्रूरजी सदा ही भगवान् के चरितों का अनु-सन्धान (चिन्तन) करते थे। और दूसरी बात यह भी सूचित की गई है कि वह कर कमल सभी लोगों को उनके मनोरथानुसार सारे ही फल देने वाला है। मोक्ष की इच्छा रखने वालों को मुक्ति, सकाम जनों को अम्युदय और भक्तजनों को परमानन्द देने वाला है ॥१७॥

लेखः—'यद्वा विहारे' इस श्लोक की व्याख्या में सौगन्धिक-गन्धि-यह प्रथमान्त पद श्री हस्त कमल का विशेषण है। यह पद गदां कर्तृपद है और श्रम यह कर्म है। गत मिति-पद का तात्पर्य-

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १३ ॥

अम जल चला गया है, जो श्री हस्त को वायु के तुल्य सूचित करने के लिए कहा है। मान्ध च सिद्ध-पदों का अभिप्राय यह है, कि अम जल का श्री हस्त से पोंछना न कहकर केवल स्पर्श मात्र से ही दूर कर देना कहने से श्री हस्त की गन्धता सिद्ध होती है ॥१३॥

श्लोकः— न मय्युपैष्यत्यरिबुद्धिमच्युतः कंसस्य दूतः प्रहिनोपि विश्वदृक् ।

योन्तर्बहिश्चेतस एतदीहितं क्षेत्रज्ञ ईक्षत्यमलेन चक्षुषा । १८॥

श्लोकार्थः—अकूरजी आगे मन ही मन में सोचते हैं कि यद्यपि मैं कंस का दूत बन कर उसके भेजने से ही जा रहा हूँ तो भी वे सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्ण मुझे अपना शत्रु कभी नहीं समझेंगे। वे अपनी ज्ञान दृष्टि से केवल मेरे मन की ही नहीं, सारे ही जगत् की बाहरी तथा भीतरी चेष्टाओं को भी देखते रहते हैं ॥१८॥

सुबोधिनीः—ननु शत्रुरेव भवान् शत्रुकार्यं च साधयतीति केश्यादेरिव तवापि वधमेव करिष्यति न तु प्रसादमित्याशङ्क्याह न मय्युपैष्यतीति, मयि अरिबुद्धि नोपैष्यति शत्रुरयमिति नाङ्गीक-रिष्यति, तत्र हेतुरच्युत इति, अच्युतत्वात् तस्य न कुतश्चिद् भयं, अतः स्वापकारकत्वेन न कोपि भगवतः अरिः, दैत्यानां गारणं तु तेषां लोकानां चोपकाराय, यद्यप्यहं कंसस्य दूतः तेनैव प्रेषितः मां प्रति यावदुक्तं तावच्च करिष्यामि, ततो लोक-दृष्ट्या अरिबुद्धिः कतंव्या, तथाप्यच्युतत्वात् न करिष्यति, मारणनिमित्तं तु मयि नास्तीति भावः, किञ्च, विश्वदृक्, व्याजेन अपकारार्थं प्रवृत्त इति ममेव हितार्थं वधं कुर्यात्, तद् भगवति व्याजो न सम्भवति यतो विश्वमेव पश्यति, इदं च ज्ञायत इति न व्याजं च करिष्यामि नाप्यतिक्रमं, अस्मि-

अर्थे प्रमाणमाह योन्तर्बहिरिति, चेतसोन्तर्बहिश्च ईहितं भगवानोक्षते, कदाचिदपि चित्तवृत्तिरेता-दृशी भवेत् तदा मारणमेवोचितमन्यथा तु न मारयिष्यति, किञ्च, एतदपि चित्तेहितं विश्वास-रूपं भगवान् जानाति, स्वरूपे स्थित एव जानाति, प्रकारान्तरेणापि जानातीत्याह क्षेत्रज्ञ इति, सर्व क्षेत्रं जानातीति, शरीरं क्षेत्रम्, 'महाभूतान्यह-ङ्कार' इत्यादिना निरूपितं 'सर्विकारं', क्षेत्रदर्श-नेपि विशेषमाह अमलेन चक्षुषेति, चक्षुषः चक्षुषा, तदमलमेव भवति, अमलं चक्षुर्वस्तुयाषात्म्यमेव गृह्णाति, अतः सर्वमेष भगवतः प्रत्यक्षमिति मद्-वृत्तान्तं जानातीति न मय्यरिबुद्धिः, चित्तस्य बहिः कार्यमान्तरमिच्छा ज्ञानं च, इच्छामध्य इति केचित्, एवं सति चित्तस्य चिदानन्दसद्रूपता भवति ॥१८॥

व्याख्यानार्थः—शङ्का-शत्रु का कार्य सिद्ध करने वाला भी तो शत्रु ही होता है। इसलिए अकूरजी आप तो भगवान् के शत्रु ही हो। अतः वे श्रीकृष्ण केशी आदि की तरह आपका भी वध ही करेंगे। उनसे आप कृपा की आशा क्यों कर रहे हो? इसका उत्तर वे स्वयं, 'न मय्युपैष्यति' इस श्लोक से दे रहे हैं। भगवान् श्रीकृष्ण मुझ पर शत्रु बुद्धि नहीं करेंगे। वे मुझे शत्रु नहीं मानेंगे; क्योंकि वे तो अच्युत हैं। उन्हें तो किसी से भय नहीं है। इसलिए अपकारक रूप से उनका कोई भी बेरी नहीं है। दैत्यों का वध तो उन्होंने उन दैत्यों के और लोकों के उपकार के लिए किया है।



यद्यपि मैं कंस का दूत हूँ, कंस ने ही मुझे भेजा है, और जितना उसने कहा है, उतना ही सन करूँगा। इसलिए लोक दृष्टि से तो, मुझ पर शत्रु बुद्धि करना चाहिए, तो भी वे अच्युत भगवान् मुझको शत्रु नहीं समझेंगे। मार देने की तो आशंका ही नहीं है। क्योंकि मैंने कोई ऐसा भारी अपराध ही नहीं किया है। कदानिन् यही अपराध मान कर कि मैं मुख दर्शन के बहाने से, उनका अपकार कराने में जाऊँगा—वे मेरा बध भी कर देंगे तो वह मेरे ही हित के लिए करेंगे, क्योंकि वे सारे विश्व के दृष्टा हैं। उनके साथ छल की सम्भावना नहीं है। वे यह जानते हैं, कि यह मैं उनके साथ कपट नहीं कर रहा हूँ और न उनका अतिक्रमण ही कर रहा हूँ।

वे तो स्वरूप से स्थित रह कर ही चित्त की बाहर की ओर भीतर की सारी चेष्टाओं को देखते हैं। यदि कभी चित्त की वृत्ति अहित करने की हो जाए तो बध कर देना ही उचित है। चित्त में अहित की भावना नहीं है। तो वे नहीं मारेंगे। केवल यह ही नहीं; वे तो क्षेत्रज्ञ भी हैं। 'गहाभूतान्यहंकारः' इस वाक्यानुसार वे सारे शरीरों को जानते हैं। वो भी निर्मल चक्षु से देखते हैं। चक्षुषश्चक्षुः—आंख से भी आंख निर्मल होती है। और निर्मल आंख ही वस्तु की वास्तविकता देख सकती है। इसलिए जब सारा वृत्तान्त उनके प्रत्यक्ष (सामने) है तो मेरे वृत्तान्त को भी वे जानते हैं। इसलिए मुझ पर वे शत्रु बुद्धि नहीं करेंगे। चित्त के तीन रूप हैं—बाहरी कार्य, भीतरी इच्छा और ज्ञान। इस प्रकार से जानेच्छा प्रयत्न के कारण चित्त की सच्चिदानन्द रूपता होती है ॥१८॥

लेखः—न मय्युपैष्यति—इस श्लोक में-चेतसोऽन्तर्बहिरीहितं-मूलरथ पदों की व्याख्या में—चित्तस्य बहिः कार्यम्-इत्यादि पदों का अमिप्राय यह है कि चित्त की बाहरी चेष्टा कार्य करना और भीतरी चेष्टा इच्छा और ज्ञान है। ज्ञानचिद्रूप है, इच्छा-सुख का धर्म है इसलिए-आनन्द रूपा है और कार्य सद्रूप है। इस प्रकार चित्त चिद्रूप, आनन्द रूप और सद्रूप है ॥१८॥

श्लोकः—अप्यह्निमूले ब्रहितं कृताञ्जलि मामोक्षिता सस्मितमाद्रया दृशा ।

सपद्यध्वस्तसमस्तकिल्बिषो वोढा मुदं वीतविशङ्क ऊजिताम् ॥१९॥

श्लोकार्थः—उनके चरणों में प्रणाम करके हाथ जोड़कर जब मैं उनके आगे खड़ा हो जाऊँगा, तब क्या वे मन्द मुस्कान के साथ दया दृष्टि से मेरी ओर देखेंगे ? यदि ऐसा हुआ तो उसी समय मेरे समस्त पातक नष्ट हो जायेंगे और निःशङ्क होकर परम आनन्द को पाऊँगा ॥१९॥

सुबोधिनोः—ननु तथापि संसर्गदोषात् अत्रादिदोषाच्च त्वां नाङ्गीकरिष्यतीत्याशङ्क्य तत्परिहरन् मनोरथमाह अप्यह्निमूले ब्रहितमिति, पूर्वपुण्यवशात् अहं पादयोः पतिष्यामि, ततः अपराधे गते मयि दया उत्पत्त्यते नष्टो जायत इति, तदा दयादृष्ट्या सपद्यध्वस्तसमस्तकिल्बिषो भूत्वा मुदं परमानन्दं वोढा ब्रहिष्यामि, वीतविशङ्कश्च ततः प्रभृति भविष्यामि, ऊजितश्च चरणमूले

पतितो वश्यं दृश्यते, अन्यथाग्रे गमनं न भवेत्, कदाचिदाक्रम्योल्लङ्घ्य वा अन्यचित्तो गच्छेत्-याशङ्क्याह अवहितं इति, अहं सावधान आत्मानं ज्ञापयिष्यामि प्रपन्नो ह्यमिति, नान्यथा बुद्धिर्भविष्यतीत्येतदर्थमाह कृताञ्जलिमिति, अत एव मामोक्षिता अवश्यं दृश्यति, तत्र प्रमाणमाह असाविति, इदानीमेव भावनायामेव प्रत्यक्षो जातः तदा किं वक्तव्यमिति, गम प्रवृत्ति पूर्वदोरात्म्यं च स्मृत्वा

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १०१ ॥

सस्मिनोपि भविष्यति, ततः प्रवृत्तिं ज्ञात्वा सन्तोषं च प्राप्स्यामि, पुर्य यावानपराधः कृतः आद्रीणि दृष्टिर्भविष्यति, एवं भगवतः दृष्टिगन्धहा- तावानप्रे न भविष्यतीति पुनश्च चेत् भगवान् सस्नेहेषु जातेषु देशकालकर्माणि क्षायः निवृत्तत्वात् निवारको जातः अग्रे कः सन्देहो भविष्यतीति सपर्वं च मतपापो भविष्यामि, वासनाणि न भविष्यति चोत्तविशङ्कः शङ्कं च न भविष्यति, ततो भगवद्भक्तेषु भा परिश्रय्य अधस्तादेव गतिष्यति, भगवता भगवद्दीयकार्येषु वा ऊजितः समर्थश्च भविष्यामि, भगताधानुपकारः कृत इति फलसिद्ध्या निरन्तर एतस्य सर्वस्यापि पूज दर्शनमेव ॥१६॥

व्याख्यानः-- फिर भी दुष्ट कंस का संसर्ग दोष तथा कंस के द्वारा गिरे हुए अन्न का भक्षण करने के दोष से भगवान् अक्रूर को अहोकार नहीं करेंगे--ऐसी आशका को दूर करते हुए अक्रूजो अध्यह्निगूले इत श्लोक से मनोरथ कहते हैं। मैं अपने पहिले किए हुए गुणों के कारण भगवान् के दर्शन करते ही उनके चरणों में गिर पड़ूंगा। तब मेरा सब अपराध नष्ट हो जायगा और मुझ पर भगवान् की दया आ जावेगी। उनकी दया दृष्टि से मेरे सारे पाप नष्ट हो जायेंगे और निभय होकर परम आनन्द को प्राप्त करूंगा। तभी से मैं निःशङ्क तथा शक्ति सम्पन्न हो जाऊंगा। ऊजित (शक्ति शाली) हुए बिना भगवान् के आगे जाया ही नहीं जाता है।

मैं अन्य मनस्क की तरह से आक्रमण अथवा उत्प्लेखन करके नहीं जाऊंगा; मैं तो सावधान होकर सावधानी से ही उनके अनन्य शरणागत हो जाऊंगा। हाथ जोड़कर खड़े हुए गुफ पर उनकी शत्रुवृद्धि नहीं रहेगी। इसीलिए ये भावना में ही प्रत्यक्ष हुए--भगवान् मेरी ओर अदृश्य देखेंगे और फिर सामने चला जाऊंगा तब तो अवश्य ही देखेंगे ही। मेरे व्यवहार तथा पहले के दुराग-भाव का स्मरण करके वे मुस्करायेंगे और उनकी दृष्टि प्रेमाद्र हो जावेगी। इस प्रकार से भगवान् की दया दृष्टि, मन्द हारा और स्नेह-इन तीनों के युक्त हो जाने पर पापों के नाश होने में देश, काल तथा कर्म की अपेक्षा ही नहीं रहेगी। और मैं शीघ्र ही निष्पाप हो जाऊंगा। मेरी पापों की वासना भी दूर जा गिरेगी। इस तरह (भगवान् ने मुझ पर बड़ा ही उपकार किया है) फल की सिद्धि से मुझे अत्यन्त सन्तोष मिलेगा। पहले जितना अपराध आगे नहीं होवेगा और प्रथम का अपराध क्षमा कर दोगे तो आगे के अपराध की क्षमा में भी कोई सन्देह नहीं है। इस प्रकार से मैं सभी प्रकार से शङ्कारहित तथा भगवान् के भक्तों में तथा भगवत्-सम्बन्धी कार्यों को करने में मैं समर्थ हो गया। इन सभी बातों का मूल कारण भगवान् का दर्शन है। उनके दर्शन से ही मैं सब प्रकार से आनादित, निष्पाप, सन्तुष्ट, निःशंक तथा समर्थ हो जाऊंगा ॥१६॥

श्लोकः—सुहृत्तमं ज्ञातिमनन्यदेवतं दोर्भ्यां बृहद्भ्यां परिरप्स्यतेथ माम् ।

आत्मा हि तीर्थोऽक्रियते तदैव मे बन्धश्च कर्मात्मक ऊच्छ्वसित्यतः ॥२०॥

श्लोकार्थः—मैं श्रीकृष्ण का परम मित्र और सजातीय हूँ। उनके सिवाय कोई और इष्टदेव नहीं है। यदि वे अपनी विशाल भूजाओं के द्वारा मुझे अपने हृदय से लगा लेंगे तो मेरी आत्मा-देह-तीर्थ के समान अत्यन्त पवित्र हो जायगी और इस देह के सारे कर्म बन्धन ढीले पड़ जायेंगे ॥२०॥



सुबोधिनोः—ततो मनोरथान्तरमाह सुहृत्तम-
मिति, भगवान् बृहद्व्यां दोष्यां मां परिरक्ष्यते
किम्, तथा चेदात्मा मे देहः तीर्थीक्रियते, अतीर्थ-
भूतमपि तीर्थं भविष्यति, लोकानामप्युद्धारं
करिष्यति किं पुनर्ममेति, आलिङ्गनं त्रयाणां
भवति, अन्तःकरणसम्बन्धिनं देहसम्बन्धिनं
शास्त्रो भक्तानां च, ग्रह तु त्रिरूपोपीति ममा-
लिङ्गनं करिष्यत्येव, सुहृत्तमोतिस्निग्धः, ज्ञाति-
गोत्रजः, न विद्यते अन्यत् देवता यस्य, सुहृत्तमत्वं
लोके सन्दिग्धमपि स्वानुभवात् निर्णीतमिति
सिद्धवत्कारेणोक्तं, हेतुत्रयं बाधाभावाय आव-

श्यत्त्वाय कार्याय च, देहे आत्मपदप्रयोगः भग-
वत्स्पर्शान् स्पर्शं वा तस्योत्तमत्वख्यापनाय, युक्त-
श्रायमर्थः, सर्वाङ्गे चरणो हीनः, तत्र चेद् गङ्गा-
दितीर्थान्युपपद्यन्ते तत उत्तमाङ्गेषु ततोपि बहू-
न्येव तीर्थानि निर्गच्छन्तीति परिरम्भणान्तरं
निर्गतो देहः गङ्गाद्यपेक्षयापि महानेव भवति,
तदेवेत्यङ्गैव सम्बन्धः, तदेव जातोऽप्यनुवर्तत
इति वा, तदेव कर्मात्मकश्च बन्ध उच्छ्वसिति
विदीर्णो भवति, अनेन स्वपरोपकार उक्तः, अतो-
स्माच्छरीरात् मत्तो हेतोर्वा ॥२०॥

व्याख्यानः—सुहृत्तम—इस श्लोक से अक्रूरजी फिर अन्य मनोरथ करते हैं। वे कहते हैं कि भगवान् अपनी विशाल भूजाओं से क्या 'उनका' मेरा आलिङ्गन करेंगे? यदि ऐसा किया तो मेरा शरीर जो अभी तीर्थ नहीं है—तीर्थ रूप हो जायगा। तीर्थ तो दूसरों का भी उद्धार कर देता है, तो फिर मेरा उद्धार तो निश्चित ही है।

आलिङ्गनः—अन्तःकरण सम्बन्धियों का, देह सम्बन्धियों का तथा भक्तों का शास्त्रानुसार तीनों का होता है। मैं भगवान् का अत्यन्त स्नेही (सुहृत्तम) उनके गोत्र (ज्ञाति) का तथा भक्त एक मात्र उन्हीं को देवता मानने वाला हूँ। यद्यपि लोक में मेरी उनके साथ घनिष्टता प्रसिद्ध नहीं है तो भी वे अपने अनुभव से स्वयं को दृढता पूर्वक भगवान् का सुहृत्तम बतलाते हैं। इस प्रकार से भगवान् के साथ ये तीनों सम्बन्ध रखनेवाले मेरा आलिङ्गन वे अवश्य ही करेंगे।

मूल में आलिङ्गन करने के सुहृत्तम, ज्ञाति, अन्यदेवत-ये तीन कारण बाधक न होने, आवश्यक होने और कार्य के लिए लिखे गए हैं। यहां देह को आत्मा कहना अक्रूरजी की मनुष्य बुद्धि के अनुसार कहा गया है। अथवा भगवान् का स्पर्श होने पर देह की उत्तमता को विख्यात करने के लिए देह को आत्मा कहा है। और यह कहना उचित ही है। अक्रूरजी की मनुष्य बुद्धि का अनुरारण करके व्याख्या में लिखा गया है कि श्री अङ्ग में अन्य कर मस्तकादि अंगों की अपेक्षा हीन अङ्ग है। ऐसे भगवच्चरण से भी सारे त्रिगुणों को पवित्र करने वाले गङ्गादि तीर्थों का उद्गम होता है। तो चरण से उत्तम अन्य भगवान् के अन्य अङ्गों से असंख्य तीर्थ उत्पन्न होते हैं। तब तो उनके आलिङ्गन कर लेने पर देह गङ्गादि तीर्थों से भी उत्तम और माहात्म्य युक्त हो जाता है; तथा शरीर के अथवा मेरे (अक्रूर के) कर्म बन्धन उसी क्षण कट जाते हैं ॥२०॥

श्लोकः—लब्धाङ्गसङ्गं प्रणतं कृताङ्गलि मां वक्ष्यतेकूर तत्तयुश्रवाः ।

तदा वयं जन्मभृतो महोयसा नैवाहतो यो धिगमुष्य जन्म तत् ॥२१॥

श्लोकार्थः—इस प्रकार श्री अङ्ग स्पर्श का सुख पाकर हाथ जोड़कर जब मैं नम्र भाव से उगरे रामने खड़ा होऊंगा, तब सहायशस्वी श्रीकृष्ण "हे तात ! हे अक्रूर !"



कहकर मुझसे संभाषण करेंगे । तब मेरा यह मानुष जन्म सफल हो जावेगा । जो जन परम पूज्य श्री हरि के आदर का पात्र नहीं है, उनके जन्म को धिक्कार है ॥ २१ ॥

सुबोधिनी:—एवं मनःशरीरसम्बन्धो प्रार्थयित्वा वाचनिकं प्रार्थयति लब्धाङ्गसङ्गमिति, पूर्वधर्माणामनुवृत्त्यर्थमनुवादः, अन्यथा विकल्पो भवेत्, लब्धः अङ्गसङ्गो येन, एतावता गर्वो भवेदित्यत आह प्रणतमिति, पूर्वधर्माश्चायं, ततः कृताञ्जलिः पुनर्विज्ञापकः, तदा हे अक्रूर हे तातेति मां वक्ष्यति किं, नाम्ना सम्बोधनं महत्वरूपापकम्, पितृतुल्यत्वेन बन्धुत्वं स्नेहित्वं च ख्यापयति, इतिशब्दः प्रकारवाची, एवं सम्बोधने फलमाह तदा वयं जन्ममृत इति, स्वभावतः कुलतश्च,

अन्यथा महत उत्पत्तिस्तादृशे कुले चोत्पत्तिर्न स्यात्, ननु भगवान् किमित्येवं प्रतिष्ठां दद्यात् तत्राह उरुश्रवा इति, यस्य गृहे यदधिकं भवेत् तदेवान्यस्मै च दद्यात् उरु अधिकं श्रवो यस्येति, ननु स्वभावतो महान् भगवता चेत् नाङ्गीकृतः तदा किं स्यादित्याशङ्क्याह महीयसा यो नाहतः अमुष्य जन्म धिगिति, सर्वदा आदराभावेऽपि कदाचिदप्यादरोपेक्ष्यते, तदभावे जन्मवैयर्थ्यमेव, तेन जन्मना लौकिकमपि कार्यं न भवतीति ज्ञापनार्थं धिगित्युक्तम् ॥ २१ ॥

व्याख्यानार्थः—इस प्रकार गत दो श्लोकों से मन और शरीर के सम्बन्ध की प्रार्थना करके अक्रूरजी लब्धाङ्गसङ्ग—इस श्लोक से वाणी के सम्बन्ध की प्रार्थना करते हैं । पहले कहे हुए धर्मों का पुनः अनुवाद अनुवृत्ति का सूचक है, विकल्प का सूचक नहीं है । भगवान् के श्री अङ्ग का स्पर्श करके तीर्थ रूप हुए, नम्र 'तो भी गर्व नहीं करने वाले', और हाथ जोड़कर खड़े हुए मुझसे-वे हे अक्रूर ! हे तात !' मेरा नाम लेकर सम्भाषण करेंगे; क्योंकि नाम लेकर सम्बोधित करना महत्व, पिता की समानता तथा स्नेह का सूचक होता है । भगवान् का सभी जगह सम्मान, कीर्ति और प्रतिष्ठा होती है । इसलिए ये सांगी वस्तुएं (उरुश्रवा) उनके पास अत्यधिक हैं । जिसके पास जो वस्तु अधिक होती है, वह उसके पास आने वालों को वही वस्तु देता है । इस सर्व साधारण नियम से भगवान् मेरा सम्मान करेंगे ।

अक्रूरजी तो स्वभाव से और कुल से भी महा पुरुष ही हैं । तब ही तो इनका पादव कुल में जन्म हुआ । इसलिए श्रीकृष्ण ने यदि इनका अङ्गीकार-सम्मानादि-नहीं किया तब भी इनकी क्या हानि होगी ? क्या बिगड़ेगा ? इस शङ्का के उत्तर में स्वयं कहते हैं कि—'महती महीयान्'-भगवान् जिसका आदर न करें, उस मनुष्य के जन्म को धिक्कार है । यद्यपि सदा सम्मान की अपेक्षा नहीं होती, तो भी समय पर सम्मानित नहीं हुए पुरुष का जन्म व्यर्थ ही है; क्योंकि उसके ऐसे जन्म से कुछ लौकिक कार्य भी सिद्ध नहीं होता है । इसी बात को बतलाने के लिए मूल में धिक् शब्द कहा है ॥ २१ ॥

श्लोकः—न तस्य कश्चिद्विदितः सुहृत्तमो न चाप्रियो द्वेष्य उपेक्ष्य एव वा ।

तथापि भक्तान् सज्जते यथा तथा सुरदुसो यद्वदुपाश्रितोर्ध्वः ॥ २२ ॥

श्लोकार्थः—वास्तव में भगवान् समदर्शी हैं उन्हें न कोई प्रिय है न शत्रुप्रिय है,



न शत्रु है और न कोई अपेक्षा का ही पात्र है । फिर भी जैसे कल्प वृक्ष अपने पास आनेवाले की कामना को पूरी करता है, वैसे ही उनको जो जिस भाव से भजता है, उसको वे भी उसी भाव से भजते हैं ॥२२॥

सुबोधिनी:—ननु पुरुषोत्तमो भगवान् त्वम-
त्यन्त हीनः कथमेवं तवादर करिष्यति, तस्य
बन्धुत्वादि तु नापेक्ष्यत एवेति चेत्, सत्यं, तथापि
मन्मनोरथः सेत्स्यतीत्याह न तस्येति, वास्तुतो
भगवान् सर्वेषामेव स्वरूपं, अन्तराग्यथाभावे तु
पञ्च भगवता सह व्यवधानानीति, लोके जीवानां
परस्परं पञ्च सम्बन्धा भवन्ति, बुद्धिस्त्रिविधा
अपेक्षोपेक्षाद्वेषभेदात्, अपेक्षा द्विविधा, देहसम्ब-
न्धात् मित्रभावाद् वा, द्वेषश्च द्विविधः, स्वस्य
द्विष्टतया तत्कृतापकारेण वा, तत्र दयितः देह-
सम्बन्धी स्निग्धः, सुहृत्तमोतिमित्रं, भगवान्
सर्वसख इति तद्व्यावृत्त्यर्थं तमप्रत्ययः, अप्रियः
स्वस्य द्वेषविषयः, द्वेष्यः द्वेषहेतुः, विपरीतं वा,
भगवांस्तु कस्यापि किमपि न भवति यतो देह-
धर्मा इवैते, तथाच लौकिकन्यायेन पुरस्कारः
अपकारो वा न भवति दृष्टान्तायं द्वितीयमुक्तम्,
तथापि भक्तिशास्त्रात् तथा करिष्यतीत्याह तथा-

पीति, अन्यथा 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति प्रतिज्ञा
विरुद्धा स्यात्, तेषां भगवन्तं भजन्त इति भक्तान्
भजते, यथा भक्तास्तथा, नन्वेवं सत्यनर्थ एव
स्यात्, प्रयोजनाभावश्च, भक्तो नमस्करोति पाद-
संवाहनं च करोति तथा चेत् कुर्यात् जीवानां
कार्यमेव नश्येत्, तुलसी हि समर्प्यते भगवते
भगवानपि चेत् तुलसीमेव दद्यात् किं स्यादित्या-
शङ्क्याह सुरद्रुमो यद्वदिति, भजनाथमेव हि
तथाकरणं, भगवांस्तु तदनुसर्गपेक्षितमेव फलं
प्रयच्छति, नापि तत्कृतं नापि स्वेच्छया, यथा
कल्पवृक्षः निकटे गत एव कार्यं साधयति, अनेन
सर्वार्थकत्वेपि भगवतः भक्तेभ्य एव दानमिति
वैषम्यं परिहृतम्, नह्यपेक्षितं प्रयच्छन् कल्पवृक्षो
विषमो भवति, अन्यथा व्यवस्थितिनं स्यादिति,
कर्मफलं तु तुच्छम्, तथा सति भगवत उत्कर्षोपि
न स्यात्, अत उपाश्रितायैव पुरुषार्थदः, नत्व-
नुपाश्रितायेति सर्वं सुस्थम् ॥२२॥

व्याख्यार्थः—यद्यपि यह सार है कि वे भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम हैं, उन्हें जाति, गोत्र तथा बन्धु की अपेक्षा नहीं है । मैं तो अत्यन्त हीन हूँ, तो भी वे मेरा आदर करेंगे ही, मेरा मनोरथ सिद्ध ही होगा—यह न तस्य-इत्यादि श्लोक से कहते हैं । वास्तव में भगवान् सबके ही स्वरूप हैं, तो भी बीच में भगवान् के साथ पांच व्यवधान होने से वे सर्वरूप प्रतीत नहीं से हो रहे हैं । लोक में जीवों के आपस में एक-दूसरे के साथ पांच सम्बन्ध होते हैं । अपेक्षा, अपेक्षा और द्वेष भेद से बुद्धि तीन प्रकार की है । देह सम्बन्ध और मित्र भाव भेदों से अपेक्षा दो प्रकार की है । स्वयं बँर करने अथवा किसी के अपकार करने पर-द्वेष भी दो प्रकार का होता है । उनमें अत्यन्त प्रिय देह सम्बन्ध से होता है और अत्यन्त सुहृत्-मित्र भाव से होता है । भगवान् सबके मित्र हैं, यही नहीं, वे तो सबके घनिष्ठ मित्र हैं, सुहृत्तम हैं ।

भगवान् का कोई अप्रिय-द्वेष पात्र तथा द्वेष्या-द्वेष का हेतु तथा विपरीत भी कोई नहीं है । वे तो किसी के कुछ भी नहीं हैं । क्योंकि ये सारे शत्रु मित्रादि देह के ही धर्म हैं । इसलिए आनन्द मात्र आकार भगवान् से लोक रीत्यानुसार न कोई आदर पाता है और न कोई तिरस्कार ही; क्योंकि कि वे किसी का अथवा कोई उनका अपकार तथा द्वेष पात्र नहीं है । यद्यपि यह सब सत्य है, तो भी वे मेरा भक्ति शास्त्र के अनुसार सब प्रकार आदर करेंगे ही; क्योंकि 'ये यथा मां' अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार भक्तों को वैसे ही भजते हैं; जैसे भक्त उनको भजते हैं ।



शङ्का:—भक्त तो भगवान् को नमस्कार करता है। उनके पाद-मवाहन-पाव दवाना है। श्री ५ तुलसी पत्र अर्पण करता है। बदले में भगवान् भी भक्त के साथ देमा ही भजने-करने-लग जाय, तब तो बड़ा ही अनर्थ होगा ? इस शंका की निवृत्ति यहाँ कल्प वृक्ष के दृष्टान्त से की है। जैसे कल्प वृक्ष उसके निपाट जाने वाले को ही उस जाने वाले का बाञ्छित ही प्रपेक्षित ही फल देने से विगम नहीं होता, वैसे ही सर्वांगक भी भगवान् सदा निकट-भजने-वाले भक्तों को ही उनका प्रपेक्षित ही देते हैं उनकी कृति अथवा अपनी इच्छा से नहीं देते और विषम भी नहीं होते। "वैषम्यमर्धुणे न, राणेक्षत्वात्" निकटस्था को भक्तों को प्रपेक्षित का दान करने से विषमता मान ली जायगी तो कोई व्यवस्था ही नहीं रहेगी। कर्मानुसार फल देते हैं उनका आश्रय करने से क्यों ? यह कहना तो तुच्छ है; क्योंकि कर्मानुसार फल देने से तो भगवान् का कुछ उत्कर्ष ही नहीं रह जाता। इसलिए कल्प वृक्ष की तरह वे उनके आश्रितों के लिए ही पुरुषार्थ देते हैं, उनका आश्रय नहीं करने वालों को नहीं देते हैं। इस प्रकार से सारी व्यवस्था ठीक हो जाती है ॥२२॥

श्लोक:—किं वाग्रजो मायनतं यदूत्तमः स्मयन् परिव्रज्य गृहीतमञ्जली ।

गृहं प्रवेश्याप्तसमस्तसत्कृतं सम्प्रक्ष्यते कंसकृतं स्वबन्धुषु ॥२३॥

श्लोकार्थ:—मैं जब शिर भुकाये और हाथ जोड़कर सामने खड़ा होऊंगा, तब प्रसन्न मुख बलदेवजी मेरा आलिङ्गन करेंगे और मेरा हाथ पकड़कर घर के भीतर लिवा ले जायेंगे। वहाँ भोजन आदि से मेरा सत्कार करके माता, पिता, बन्धु बान्धवों की कुशल तथा उनके साथ कंस के व्यवहार को भी पूछेंगे ॥२३॥

सुबोधिनी—एवं भगवद्विषयकं कायवाङ्मनोरूपं मनोरथमुक्त्वा बलभद्रविषयकं मनोरथमाह किं वेति, अग्रजो ज्येष्ठभ्राता, अनेन मया सर्वोपि वृत्तान्तो ज्ञायत इति मयि कृपां करिष्यतीति भावः, तस्याप्यहमवनतः ज्येष्ठस्यापि कनिष्ठावगतौ उत्तमत्वं प्रयोजकमिति यदूत्तम इत्युक्तम्, स्मयन्निति, सम्यक्त्वगागतः कंसं घातयितुमिति,

बन्धुत्वात् परिव्रज्य महत्त्वपूर्वकं मागञ्जली गृहीत्वा अतिनिकटत्वात् गृहं प्रवेश्य भोजयित्वा गृहगतमिव कृत्वा ततोऽप्यधिकं वा आप्ता समस्ता सत्कृतिर्येन तादृशं पश्चाद् विश्रान्तं स्वबन्धुषु कंसकृतं सम्प्रक्ष्यते किमिति लोके सिद्धमिति, भगवान् गृहानिति मनोरथः ॥२३॥

व्याख्यानार्थ:—इस प्रकार अक्रूरजी देह, वाणी और मनरूप अपना भगवान् सम्बन्धी मनोरथ का वर्णन करके अब 'किं वाग्रजो' इस श्लोक से बलदेवजी सम्बन्धी अपना मनोरथ कहते हैं। वे भगवान् के बड़े भाई हैं। मैं उनके सारे ही वृत्तान्त को जाननेवाला हूँ। इसलिए वे प्रणाम करने वाले गुण पर कृपा करेंगे। वे यादवों में उत्तम हैं। अतः गुप्तसे आयु में छोटे होने पर भी वे मेरे प्रणाम्य हैं। कंस का बध कराने के लिए मैं उन्हें लिवाने जाऊंगा—यह अपनी अलीकिक दृष्टि से जानकर तथा मैं उनका अत्यन्त निकट सम्बन्धी बन्धु हूँ—इस कारण वे हँस कर मेरा आलिङ्गन करेंगे और बड़े सम्मान के साथ मेरा हाथ पकड़कर मुझे घर के भीतर ले जावेंगे। वहाँ भोजनादि सब विधो से सत्कार ग्रहण करके विश्राप्त करनेवाले मुझसे अपने बन्धु बान्धवों की कुशल तथा उनके साथ कंस के व्यवहार को पूछेंगे। भगवान् गृहतो महीयान् हैं। इसलिए अक्रूरजी ऐसे मनोरथ करते जा रहे हैं ॥२३॥

मुकुटम्वन्धि भवति तद्व्यावृत्त्यर्थं रजसो विशेषण-
गमलमिति, एतादृशश्चरणरेणुर्यस्येति भगवत्स-
म्बन्धादेव तस्य माहात्म्यं न तु मृगमदवत् स्वरू-
पतो रेणुमहान्, तादृशस्य पदानि ददर्श इति
निघानप्राप्तिरिव सूचिता, ननु कथं ज्ञातवानेतानि
भगवत्पदानि इति तत्राह विलक्षितानीति, सुख-
रोव्यत्वाय फलदानाय चाब्जेरेखा, कीर्तिप्रकटनाय
पद्माकृतिः, मनोजनिवारणार्थमङ्कुशरेखा, आदि-
शब्देन ध्वजादयोपि, ननु भगवानेवं दुर्लभानि
किमिति प्रकटितवानित्यत आह क्षितिकौतुका-
नीति, क्षितौ कौतुकरूपाणि, भूमौ रसप्रकटनार्थं
कौतुकत्वेन प्रकटितवान्, भूमिष्ठानां भजन-
सिद्ध्यर्थं यत्राल्पस्थानेषु महाफलान्येवं प्रयच्छ-
तीति ॥२५॥

व्याख्यायः--यहां मध्य में अक्रूरजी की भगवद्भक्ति की उत्कृष्टता तथा लोक प्रसिद्धि के लिए उनका कायिक व्यापार का निरूपण भी आवश्यक है। इसलिए हेतु क्रिया और फल का निरूपण करनेवाले पदानि इत्यादि तीन श्लोकों से अक्रूरजी के देह सम्बन्धी व्यापार का वर्णन करते हैं। जिन भगवान् की भावना वे हृदय में फल रूप कर रहे थे, भक्तों के शरीरों को भगवदीय बना देनेवाली घूल में दिखाई देनेवाले उनके चरणों को देखा। उस रेणु को-भगवान् के द्वारा ही महान् ऐश्वर्य और उन्नत पद प्राप्त किए हुए बड़े २ देव तथा दैत्य आदि लोकपाल-अपने किरीट मुकुटादि सभी आभूषणों से सज्जोभित मस्तकों पर धारण करते हैं, वह रज ग्रहण करने योग्य ही है।

वे देव दैत्य आदि लोक पाल उरा रज को धर्म बुद्धि से शीश पर नहीं चढ़ाते हैं, क्योंकि धर्म-बुद्धि वाला तो शरीर से ही नमस्कार करता है। सम्पूर्ण आभूषणों से भूषित हुआ तो ईश्वर को ही नमस्कार करता है, धूलि को नहीं। गह्र वह रास्ते की धूलि नहीं है, जो मार्ग में चलनेवाले लोगों के किरौटों पर-पैरों के आघात से उड़कर जा लगती है। यह तो परग पवित्र (पावन) रज है। भगवान् के चरणों के सम्बन्ध से ही इस धूलि की गहिगा है। कस्तुरी की तरह इस केवल रज का स्वरूप से कोई महत्व नहीं है। उनके चरणों (चिन्हों) को अक्रूरजी ने ऐसे देखा मार्गों उन्हें कोई निधि मिल गई हो।

भगवान् के उन चरणों को अक्रूरजी ने पद्म, यव, अङ्गुश आदि अनाधारण रेशमों से पहचान लिया। भगवान् की सेवा आसानी से की जा सकती है और फल देनेवाले हैं। यह चरण में



सम्भाव्यकर रेखा में मुद्रित होना है। जो की रेखा कीर्ति को प्रकट करती है। उस सभी मदीयभक्त श्राव्यी को वश में करने के लिए अङ्कुश की रेखा है। इसी प्रकार व्यवसाय आदि की रेखाएँ भी प्रभु के चरणों में हैं। ऐसे अपने दुर्लभ चरणों को भगवान् ने पृथिवी पर रम्य को प्रकट करने-क्षिति कीवृत्त-के लिए और यहाँ रहनेवाले जीवों के हृदयों में भक्ति की सिद्धि के लिए प्रकट किया है। जो यहाँ बाँधे में रजःरूप स्थान में स्थित रहकर भी बड़े से बड़े फलों को देने वाला है ॥२५॥

लेखः—पदानि-इत्यादि श्लोक की व्याख्या में-निधान प्राप्ति—पद का अभिप्राय यह है कि जैसे पृथिवी पर चरण धरे, वैसे मुक्त-अक्रूर- पर भी स्थापन करेंगे ॥२५॥

श्लोक—तद्दर्शनाह्लादविवृद्धसम्भ्रमः प्रेम्णोर्ध्वरोमाश्रुकलाकुलेक्षणः ।

रथादवस्कन्द्य स तेष्वचेष्टत प्रभोरमून्यङ्घ्रिघरजांस्यहो इति ॥२६॥

श्लोकार्थः—उन चरण चिन्हों को देखते ही दर्शन के आनन्द की उमड़ से अक्रूरजी रथ से उतर पड़े और झपटकर—“अहो” ये मेरे प्रभु के चरणों की रज है”—यह कहते हुए उसी भक्ति से गद्गद होकर उसी स्थान पर लौटने लगे। प्रेम के प्रभाव से अक्रूरजी के शरीर में रोमाञ्च हो आए और आँखों में आनन्द के आँसू भर आए ॥२६॥

मुनीश्वरीः—भक्तस्य दर्शने यदुचितं तत् कृतवानित्याह तद्दर्शनेति, भगवदीयशरीरजन-कायते रेणवः, तेषां दर्शने पूर्वस्थितदेहादीनां निवृत्तिर्वक्तव्या, तत्र भक्तिरसस्तस्मिन् निविष्टः स्वधर्मप्राकट्येन तद्धर्मान् दूरीकृतवान्, तदाह तेषां पदानां दर्शनेन यो जातो महाह्लादः तेन विवृद्धः सम्भ्रमो यस्य, मानसो धर्मो व्याकुलता निरूपिता, प्रेम्णा ऊर्ध्वानि रोमाणि यस्य, दंहिको धर्मो निरूपितः, अश्रुकलाभिराकुले ईक्षणो यस्ये-तोन्द्रियधर्मा निरूपिताः, ततः पूर्वधर्माणां गत-त्वात् संघातस्तेषु पतित इत्याह रथादवस्कन्द्येति, अवस्कन्दनमचेतनानां, तथा स पतित इत्यर्थः, ततो रजःप्रभावत् सः प्रसिद्धः अक्रूरो जातः, अन्तर्देहो भगवदीयो जातः, बहिर्देहस्यापि तथा-त्वाय तेषु रेणुषु अचेष्टत लुठनं कृतवान्, बहि-स्तथा सवेदनाभावात् चेष्टामात्रमाह, ननु लुठने को हेतुर्वारंवारं तत्राह तद्गतमभिप्रायं प्रभोरिति, एतावत्कालं शास्त्रार्थत्वेन ईश्वरत्वेन महत्त्वेन सम्बन्धित्वेन वा ज्ञातवान्, इदानीं शुद्धः स्वयं सेवको जातः, भगवांश्च प्रभुः, तथा सति तस्य परगदुलंभान्यङ्घ्रिघरजांसि कथमेवं भूमौ स्थातु-मुचितानि भवन्तीति स्वशरीरे तानि सर्वाण्येव योजयितुं यावत् तानि रजांसि सर्वाणि प्रवि-शन्ति तावत् लुठनं कृतवान् किञ्च, आश्रय-रसाविष्टोपि जातः, अहो इति, महात्म्यमनेन सूचितम् ॥२६॥

व्याख्यानः—भगवान् के चरणों का दर्शन होने पर भक्त की जैसी दशा होगी चाहिए, अक्रूरजी की वैसी ही स्थिति का वर्णन-इस 'तद्दर्शनाह्लाद' श्लोक से करते हैं। शरीर को भगवदीय बना देनेवाली उस रेणु के दर्शन होते ही शरीर की पूर्व स्थिति-लौकिकता-दूर होकर उनमें भक्ति रस प्रविष्ट हो जाता है। उस भक्ति रस ने अक्रूर की देहादि में अपने-भक्ति रस के धर्मों को प्रकट करके प्राकृत देह के धर्मों को दूर कर दिए। यह ही बतलाते हैं कि उन श्री चरणों के दर्शन से उत्पन्न हुए परम आह्लाद से उत्कण्ठा रूप गानसिक धर्म बढ़ गया, प्रेम से रोमाञ्चित रूप दंहिक धर्म तथा नेत्रों

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १०६ ॥

यथा अध्यात्मयोग ने भर आना रूप इन्द्रिय धर्म के निरूपण में मन देह अन्द्रिय के पक्ष धर्म दूर होकर सुगन्ध-स्पर्शका वृद्धि, रोगाश्च और प्रमाद्य रूप धर्म प्रकट हो गए ।

तब तो वे अचेतन में हो रथ में पृथिवी पर गिर पड़े और भगवन्तर रज के प्रभाव में वे प्रविष्ट अक्रूर बन गए । उनका आसनरगत आस्थन्तर शरीर भगवदीय बन गया और अपने बाह्य शरीर को भी भगवदीय करने के लिए वे श्री हरि के उस चरण रज में बाध धार लोटने लगे । उन्हें यह हृद्देहानुसन्धान नहीं रहा, केवल चिह्ना मात्र करते रहे । अब तब तो वे भगवान् को शास्त्रार्थ रूप से ईश्वर, महा पुरुष अथवा अगना सम्बन्धी बान्धव ही जान रहे थे; किन्तु अब वे अपने को शुद्ध सेवक और श्रीकृष्ण को अपना रत्नामो मानने लगे । इस स्वामी सेवक भाव के उदय होने पर वे सोचने लगे कि यह परम दुर्लभ चरण रज यों पृथिवी पर ही क्यों पड़ी रहे ? उनके मन में यह भावोदय हुआ कि यह सारी धूल मेरे शरीर में प्रविष्ट हो (समा जाय) इसीलिए वे उनमें तब तक लोटते ही रहे, जब तक वह सारी रज उनके शरीर में प्रविष्ट नहीं हो गई । वे चरण रज का माहात्म्य जानकर आश्चर्य रस में गगन भी हो गए ॥२६॥

श्लोक—देहं भूतामियानयो हित्वा दम्भं भयं शुचम् ।

सन्देशाद् यो हरेर्लिङ्गवशनश्रवणादिभिः ॥२७॥

श्लोकार्थः—प्राणियों के देह धारण करने की सफलता इसी में है कि वे छल, भय, शोक आदि को छोड़कर अक्रूरजी की तरह स्वाभाविक निष्काम भक्ति से आनन्द पूर्वक-सन्देश, दर्शन, श्रवण आदि के द्वारा श्रीहरि का भजन और सेवा करे ॥२७॥

सुबोधिनीः—एवं तस्य कृतमुक्त्वा फलमाह देहं भूतामिति, यदस्य जात इयानेव देहं भूतामर्थः पुरुषार्थः जन्मसाफल्यम्, उत्पन्नेन हि परमः पुरुषार्थः साधनीयः स च भगवदीयभावः, तथा यतः कर्तव्यः यथा स भवति, ज्ञानादिस्तु अवा-न्तरफलरूपः, मोक्षादपि स्वभावत एवायं भावो-धिकः, तदुपपादित 'भगवदीयत्वेने'त्यत्र, अत इयानेव पुरुषार्थ इति युक्तामिति हि-शब्दः, देह-सङ्ग्रहणं क्लेशात्मकं तदपि कृत्वा यदि परम-पुरुषार्थं न साधयेत् तदा वेयथ्यमिति, त कोथं इत्याकाङ्क्षायागाह सन्देशादिति, सन्देशमारम्य हरेर्लिङ्गवशनश्रवणादिभिर्योर्था जातः अगोवाथः सन्देशानन्तरमेव तस्य चित्तं भगवन्तरं जातं तदर्थमानं भगवदीयत्वं च सम्पाद्य माहात्म्यज्ञानं कारितवत्, लिङ्गानां चिह्नानां भगवत्पदानां प्रथमतो दर्शनं, ततः स्पर्शनं ततस्तत्तायुज्य-

मिति, ततो भगवदीयत्वं माहात्म्यज्ञानं च, सर्वे च भगवदीया धर्मा सन्देशादिति हेतोर्वा, अन्यार्थमपि प्रयुक्तं वाक्यं एतावत्फलं साधयतीति अल्पप्रसङ्गेनाप्येतावत्त्वं महाफलमित्यर्थः, परं तत्र दोषत्रयं परित्यज्येतत् कर्तव्यमित्याह हित्वेति, दम्भो राजसः, भयं सात्त्विकं, शोकस्तामसः, दम्भो बाह्यः, भयं शारीरम्, शोकोन्तःकरणस्य, एतत् सर्वथा त्यक्तव्यम्, अनेनापि त्यक्तमिति, दम्भं कापट्यं त्यक्तवान्, यथा कंसोक्तं भयं च त्यक्तवान्, भगवान् किं करिष्यतीति, शोकं च त्यक्तवान्, भगवति तत्र गते कंसः किं करिष्य-तीति, भयानन्तरं चैतद्भवतीत्युक्तम्, भगवतो माहात्म्यज्ञानाभावे शोको भवति नान्यथा, एव-मन्येऽपि लोकिना प्रलीकिकाश्चन्ते भावाः त्यक्त-व्याः, अथवा एतावत्त्वं न भवेदिति ॥२७॥



व्याख्यान— इस प्रकार अक्रूरजी का भगवान् के चरण बिन्ही में चिन्हित रेणु में लोटने का वर्णन उनके इस-देहभूत-इलाक में ऐसा करने के फल को वर्णन करते हैं, जो अक्रूरजी को हुआ। वस देहधारियों का यही पुरुषार्थ-जन्म की सफलता है। देहधारी को उत्पन्न होकर जन्म ग्रहण करके परम पुरुषार्थ प्राप्त करना चाहिए। वह भगवदीय भाव ही परम पुरुषार्थ है। इसलिए भगवदीय भाव की सिद्धि के लिए नदगुक्त-बंवा ही-प्रयत्न करना ही चाहिए, जिससे उक्त भाव की सिद्धि हो सके। ज्ञानादि की प्राप्ति तो योग्य फल है। मोक्ष की अपेक्षा भी-मोक्ष से भी-भगवदीय भाव-भगवदीय-त्वेनैव परिसमाप्त सर्वायुः- के अनुसार उत्तम है। इसलिए इसी में जन्म की सफलता है, केवल यही पुरुषार्थ की सिद्धि है। वनेशमय देह को प्राप्त करके यदि परम-पुरुषार्थ का लाभ नहीं किया तो जन्मग्रहण व्यर्थ ही है।

अक्रूरजी को भगवदीय भाव की प्राप्ति में सन्देश ही कारण है; क्योंकि सन्देश लेकर जाने के बाद ही उनका चित्त भगवत्परायण हुआ और बढ़ते बढ़ते उसने आगे भगवदीय भाव को उत्पन्न करके भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान करा दिया। अर्थात् प्रथम भगवान् के चरणों का दर्शन फिर उनके स्पर्श से सायुज्यप्राप्ति और उस स्पर्श से भगवदीय भाव तथा माहात्म्य ज्ञान इस क्रम से ये सब सन्देश के कारण हुए। किंगी अन्य के लिए भेजा गया वाक्य भी इतना फल सिद्ध कर देता है। अर्थात् सहज में ही बड़ा भारी फल देनेवाला हो जाता है।

परन्तु मनुष्य को इस भगवदीय भाव रूप परम फल की प्राप्ति में बाधक दोषों-दम्भ, भय, शोक-का सर्वथा त्यागकर देना चाहिए। इनमें दम्भ राजस तथा बाह्यदोष है, भय सात्त्विक तथा शरीर सम्बन्धी और शोक तामस तथा अन्तःकरण का दोष है। अक्रूरजी को भी इन तीनों दोषों का त्याग करने पर ही भगवदीय भावरूप परम पुरुषार्थ सिद्ध हुआ था। उन्होंने कंस के वाक्य को यथावत् कहकर दम्भ (कपट) को सुनकर भगवान् मेरे साथ क्या करेंगे? ऐसे भय का और भगवान् को लेकर मथुरा जाऊंगा तब कंस क्या करेगा? इस प्रकार के शोक को भी त्याग दिया था; माहात्म्य ज्ञान न होने तक ही शोक रह सकता है; माहात्म्य ज्ञान हो जाने पर शोकादि कुछ नहीं रहते। इसी तरह परम पुरुषार्थ को पाने के लिए औरों को भी लौकिक तथा अलौकिक ये सारे ही दोष छोड़ ही देने चाहिए ॥२७॥

श्लोकः—ददर्श कृष्णं रामं च व्रजे गोदोहनं गतौ ।

पीतनीलाम्बरधरौ शरदम्बुरुहेक्षणौ ॥२८॥

श्लोकार्थः—व्रज में पहुंचकर अक्रूरजी ने पीताम्बर तथा नीलाम्बर पहने हुए कृष्ण बलदेव को गोदोहनार्थ खिरक-गोशाला-में विराजमान देखा। उनके नेत्र शरत्काल के कमल के समान शुशोभित हैं ॥२८॥

सुबोधिनीः—ततो योग्यशरीरं प्राप्य भग-
वन्तं दृष्टवानिन्याह ददर्शति, यादृशः सेवकः
तादृशं वर्णयित्वा यादृशो भगवान् तादृशं वर्ण-
यति पङ्क्तिः, स्वरूपं च वयश्चैव देहेन्द्रियविचे-
ष्टितम् । शोभास्वरूपं च तथा शोभा तस्याप्य-
लौकिकी ॥१॥ तत्र प्रथमं परिदृश्यमानं स्वरूपं

नमोऽयि, भक्त्यात् प्रथमं कृष्णं ददर्श भक्तः ।
 रागमानादिना, चकारादाविष्टः, वजे प्रविष्टः ।
 तत्रापि गोदोहनं गतौ गोदोहनस्थाने स्थितौ तावत् ।
 दृष्टान्ते अस्मिन्निति, देवमुक्त्वा आचरणमाह ।
 पीतनीलाम्बरधराधिति, भगवान् पीताम्बरधरः ।
 रामो नीलाम्बरधर इति, तादृशमेव वस्त्रद्वयं ।

पांशुनगमनीति जायमानः अन्वयधराश्चिन्तयन् ।
 शरत्काले वे अम्बुस्ते गमन्तुं जाते तद्गदीक्ष्यते ।
 यथा अग्नेन गुणा जला, देशकालयो, यथाभावि-
 कयो विपरीतविविधं तत्र समीचीनं विधातुं ।
 ज्ञानादिनक्षत्रपुष्पाथान् प्रयच्छन्तीति तथोक्तम् । ॥ २८ ॥

व्याख्यानार्थः— अकूरजी ने भगवद्दर्शन के योग्य उत्तम शरीर हो जाने पर भगवान् के दर्शन लिए । यह 'ददर्श' इस श्लोक से कहते हैं । इस प्रकार सेवक के स्वरूप का बहवार अगले छ श्लोकों से भगवान् के स्वरूप का-जिसका अकूर को दर्शन हुआ-वर्णन करेंगे । पहले उनके दृश्यमान स्वरूप का वर्णन करते हैं । आगे के पांच श्लोकों से अवस्था, देह इन्द्रिय की चेष्टा, शोभास्वरूप तथा उनकी अलौकिक शोभा का वर्णन किया जायगा । अकूरजी भक्त थे, इसलिए पहले उन्हें श्रीकृष्ण के दर्शन हुए । तदनन्तर आवेशायतार बलदेवजी को देखा । वे दोनों भाई व्रज में और व्रज में भी गोदोहन-जहां गाये दोही जाती है-खिरक-स्थान में विराजमान हुए देखे । श्रीकृष्णजी पीताम्बर और बलदेवजी नीला धीत वस्त्र धारण किए हुए थे । उनके नेत्रों ने शरत्काल के कमलों की शोभा को हर लिया था । दोनों भाईयों के नेत्र शरद् ऋतु के कमलों से सुशोभित थे । तात्पर्य यह है कि वे भगवान् देश काल के विपरीत होने पर भी ज्ञानेन्द्रियादि को अनुकूल शक्ति प्रदान करके ज्ञान आदि सकल पुरुषार्थ का दे देते हैं; क्योंकि कमल शरद् ऋतु में तथा जल में ही सुशोभित रहते हैं; किन्तु यहां भाद्रपद मास में काल की विपरीतता और नेत्र कमल में देश-जल-भी-विपरीत है । तथापि भगवान् ने नेत्र कमल को सुशोभित ही कर दिया ॥ २८ ॥

श्लोकः— किशोरो श्यामलश्वेतौ श्रीनिकेतौ बृहद्भुजौ ।

सुमुखौ सुन्दरवरो बालद्विरदविक्रमौ ॥ २९ ॥

श्लोकार्थः— उनकी किशोर अवस्था है, श्याम और श्वेत वर्ण है, बड़ी बड़ी विशाल भुजाएँ हैं । दोनों भाई लक्ष्मी के निवास स्थान और त्रिभुवन सुन्दर हैं । उनका विक्रम विचित्र बाल गजराज से भी अधिक है और अत्यन्त मनोहर मुखारविन्द है ॥ २९ ॥

सुबोधिनीः— वयमाह किशोराविति, किशोरे वयसि विद्यमानौ, एकादशवर्षाधिकौ, नववर्षोद्ध्वं षोडशवर्षपर्यन्तं किशोरावस्था, गोकुलवासिषु विद्यमानः कालः स्वस्मिन् गृहीत इति तं प्रकटयितुं तथावस्थो जातः, अग्रे प्रयोजनाभावात् कालावस्थां न वक्ष्यति, अत एव ध्याने भक्तकृपया तामवस्थां गृह्णातीति 'शन्तं वयसि किशोर' इत्युक्तम्, एकः श्यामलः अपरः श्वेतः, किशोरे वयसि रूपमभिव्यक्तं भवतीति वयःकार्यत्वेन रूपमुक्तम् ।

श्रीनिकेतौ श्रीवत्साङ्कितौ, असाधारणं भगवच्चिह्नमेतत्, भगवत्स्वज्ञापकं तदपि तदेव प्रकटयति, भगवतो महती क्रियाशक्तिरिति बृहद्भुजावित्युक्तम्, अव्यग्रत्वाय सुमुखाविति, भक्तदर्शनावस्थायां सुगुह्यत्वे तस्य सर्वपुरुषार्थाः सिध्यन्तीति, सुन्दरवराविति, सुन्दरश्रेष्ठौ, यथाकृतिस्तत्र गुणा वशन्तीति सर्वगुणनिधानावित्यर्थः, बालौ यो द्विरदः हरतौ तद्वद्विक्रमौ ययोरिति भ्रमानुपपराकम्पौ निरूपितौ,

व्याख्यानार्थः—'किशोरो' इयं श्लोक ने उनके प्रयत्न आदि स्वरूप का वर्णन करते हैं। नव वर्ष व्रज प्रांगे की ओर (पाटल) सोलह वर्ष तक की किशोर अवस्था है। वे दोनों ग्याह्न वर्ष के हैं। गोकुल वाशियों ने रहे हुए काल को उन्होंने अपने में ले लिया था, उसे प्रकट करने के लिए भगवान् ग्याह्न के हो रहे हैं। इसके आगे प्रयोजन के न होने के कारण अवस्था काल का वर्णन नहीं किया जायगा। भक्तों पर कृपा करके श्री प्रभु-सन्त व्यक्ति बंशोरे-किशोर अवस्था को आङ्गीकार करते हैं। उसी अवस्था में रूप प्रकट होता है। इसलिए एक श्याम है और एक श्वेत है। भगवान् का असाधारण चिन्ह श्रीवत्स - जो वस्त्र से ढका नहीं था, उसी समय प्रकट हुआ था—से सुशोभित हैं। उनकी विशाल भुजाएं उनकी क्रियाशक्ति को प्रकट कर रही हैं। दोनों का भुलारविन्द परम सुन्दर और सुशान्त है, जिसका दर्शन करते ही भक्तों के सब पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं।

'यत्राकृतिरतत्र गुणा वसन्ति' सुन्दर आकार वालों में अत्यधिक गुण होते हैं - इस नियम से परम सुन्दर वे गुणों के निधि हैं और बाल गजराज के समान पराक्रमी अर्थात् मनुष्यों से अत्यधिक पराक्रम वाले हैं। आपश्री ने यहां व्याख्या में बाल गजराज की समानता चोतक दो कारिकाएं दी है:—

कारिका:—सौन्दर्यं च तथा पुष्टिः प्रदृश्यत्वमसृण्यता ।

निर्भयत्व स्वतः सिद्धसाधनत्व च रूप्यते ॥२॥

अरण्य एव तद्वृद्धिः सुखं तस्य गृहं पुनः ।

नान्यत्रेति च बोधाय विदेशक्लेशबाधने ॥२॥

कारिकाथः—सुन्दरता, स्वानन्दतुन्दिलता, मनोहरता, निरङ्कुशता, निर्भयता, परमुखापेक्षा का अभाव, वन में ही बढना और सुखदायक वन ही घर, ये सारी वस्तुएं अन्यत्र उपलब्ध नहीं होती हैं। उनका यहां वर्णन भगवान् को गोकुल रूप विदेश में विराजने से उत्पन्न हुए विदेश क्लेश की निवृत्ति के लिए किया गया है। १-२

सुबोधिनी:—तद्वत् पराक्रम इति कीतुकार्थं । पितम् ॥२६॥
सर्वानिव गोपालान् दूरादेव प्रक्षिपतीति निरु-

व्याख्यानार्थः—ऐसे बाल गजराज के समान पराक्रमी वे दोनों भाई सारे गोप ग्वालों को अपने पास नहीं फटकने देते हैं ऐसा निरूपण किया गया है ॥२६॥

श्लोकः—ध्वजवज्राङ्कुशाम्भोजंश्चह्रितैरङ्घ्रिभिर्व्रजम् ।

शोभयन्तो महात्मानो सानुक्रोशस्मितेक्षणी ॥३०॥

श्लोकार्थः—महापुरुष वे दोनों भाई ध्वजा, वज्र, अङ्कुश आदि चिन्हों से माहात्म्य प्रकट करनेवाले चरणों के चिन्हों से व्रज को सुशोभित कर रहे हैं। उनकी दृष्टि से अनुग्रह और मुसकान से प्रसन्नता प्रकट हो रही है ॥३०॥



सुबोधिनी- भगवतो नमन् विष्णुपद्म-
वाह्यानि निरूपयति ध्वजवज्रं च, ध्वजादि-
भिश्चतुर्भिश्चिह्नैः पुरुषार्थचतुष्टयरूपं चिह्निता
ये अङ्घ्रय-संभूमाबुद्गताः व्रजं शोभयन्ती
शोभायुक्ता कुर्वन्ती, ये सर्वपुरुषार्थदाताः ते यत्र
शोभाकरा जाताः भगवत्कृपया इतोऽधिकं भगवान्
व्रजस्य किं कुर्यात्, महानात्मा स्वरूपं ययोः,
अयं धर्मनिर्देशः धर्माणामुत्कर्षस्थापक, तयो-

महात्म्यमुक्त्वा कृपानुगमाद् मानुकोशस्मितेक्ष-
णाविति, दयापूर्वकः स्मितपूर्वकमोक्षणं यया,
दीनेषु दया संगेषु स्मितमूलमेषु ज्ञानमिति, समारे
विलम्बेषु दया, ततः कर्मणा परित्यागेन वा
विलम्बेषु अल्पमोहनेन सुखदानम्, ततो भक्तेषु
ज्ञानस्थापनमिति गर्ववशान्नया दयया सुखदान
प्रत्यक्षत एव स्मितेनैव परमानन्दज्ञानमिति ॥३०॥

व्याख्यार्थः - भगवान् धर्मों को कहकर अब उनके बाह्य चिन्हों का वर्णन 'ध्वजवज्राङ्कुश'
इस श्लोक से करते हैं। चारों पुरुषार्थों के देनेवाले ध्वज, वज्र, अङ्कुश, अम्भोज इन चारों चिन्हों से
चिह्नित तथा पृथिवी पर दिखाई देनेवाले वे उनके चरणारविन्द उन्हीं (भगवान्) की कृपा से व्रज की
शोभा बढ़ा रहें हैं। भगवान् व्रज का इससे बढ़कर और क्या हित करते। उनका स्वरूप परम महान्
है। यह धर्मी-भगवान्-का निर्देश उनके धर्मों के उत्कर्ष का बोधक है।

इस प्रकार उनकी महिमा का वर्णन किया गया। अब आगे उनकी दयालुता का वर्णन करते
हैं। उनकी चितवन-अवलोकन-दया और मन्दभुसकान से युक्त है। दीनों पर दया, समानों पर मन्द
हास और उत्तमों पर ज्ञानवर्षण करने वाली चितवन है। संसार में दुखियों पर ही दया की जाती
है, फिर कर्म से अथवा कर्म का परित्याग करके थोड़े से जगत् में मोह के कारण उन दुखियों को
सुख देना, उस सुखदान के द्वारा भक्त जीवों पर माहात्म्य ज्ञान को स्थित करना, इस प्रकार वे
प्रत्यक्षरूप से दया के द्वारा ही सुख प्राप्ति और मन्दस्मित के द्वारा ही भक्तों को परमानन्द का ज्ञान
का दान कर रहे हैं ॥३०॥

श्लोकः—उदाररुचिरक्रीडो स्रग्विणो वनमालिनो ।

पुण्यगन्धानुलिप्ताङ्गो स्नातो विरजवाससौ ॥३१॥

श्लोकार्थः—उनकी क्रीड़ाएं उदार और मनमोहक हैं। वे कण्ठ में मणियों की
माला और वनमाला पहने, अङ्गों में चन्दनादि अंगराग लगाए और स्नानान्तर निर्मल
नवीन वस्त्रों से सुशोभित हैं ॥३१॥

सुबोधिनीः—ततो लीलामाह उदारीति,
उदारा रुचिरा क्रीडा ययोः, भगवल्लीला पात्रा-
पात्रविचारव्यतिरेकेण सर्वेभ्य एव सर्वपुरुषार्थान्
प्रयच्छतीति उदारा रुचिरा मनोहरा च, स्वतः
फलरूपा क्रीडेति सामान्यापि लीला आभासरूपा
लीला न भवतीति, भगवन्तं वर्णयति स्रग्विणा-
विति, शिरसि कण्ठे नानाविधाः स्रजो ययोः,
वनमालायुक्तौ च, 'आपादावलम्बनी माला

वनमाले'ति, आगन्तुकैः सहजनिवृत्ति गत्वा वन-
माला पृथग् निरूपिता, विरतिवेलेति चन्दनपुष्प-
वस्त्राभरणान्येवोक्तानि, विरत्यनोदनत्वाद् वा,
पुण्ये न गन्धेन अनुलिप्तान्यङ्गानि ययोः, एते
अगिलेषा एव पुण्यगन्धाः स्नानाङ्गभूताः, ततः
स्नातो, ततो नूतननिर्मलवस्त्रपरिधानमिति
विरजवाससौ ॥३१॥

जगत्पती इति, यो गर्ता स एव स्रष्टा उत्पत्ति-
स्थितिलयानाभेककर्तृत्वात्, पालकत्वं तस्य सर्व-
जनीनं, अत एव साम्प्रतं रक्षामाशङ्क्य जगत्पत्ये
भूम्यर्थमवतीर्णो, स्वस्य निजांशेन आनन्दांशेन,
उभयोरानमने विशेषकार्यं नाम्नैव निरूपयति,
बलः क्रियाशक्तिप्रधानः उत्पत्तिस्थितिलयकर्ता,
केशवो मोक्षदाता ब्रह्मादीनामपि ॥३२॥

यथा मारुतः शैलो रोप्यश्च कनकाञ्चितौ ॥३३॥

श्लोकार्थः—ये दोनों भाई कृष्ण बलदेव अपने तेज के प्रभाव से दिशाओं के अन्धकार को दूर कर रहे हैं और सुवर्ण विभूषित नीलम तथा चाँदी के पर्वत जैसे सुशोभित हो रहे हैं ॥३३॥

नार्थम्, अभूतोपमागाह यथा मारकतः शैल इति,
गरकतमणिनिमितः शैलः भगवान्, रौप्यः
कलासतुल्यो बलभद्रः, उभावपि कनकमृङ्गाङ्घ्रितौ
चेत् उपमां प्राप्नुतः सर्वत्र भगवान् घराघरत्वेन
वर्ण्यते सर्वाश्रयत्वाय महत्त्वादिधर्मार्थं च ॥३३॥

व्याख्यानार्थः—इस 'दिशो विंतिमिरा' श्लोक से उन भगवान् के प्राकट्य की संतोषधारण सूचना का वर्णन करते हैं। वे दोनों अपनी लोकोत्तर दिव्य कान्ति से दशों दिशाओं के अन्धकार को दूर कर रहे हैं। उनकी उस सूर्य से भी अधिक अलौकिक कान्ति, जो न ठण्डी, न गरम है और सबके सन्ताप को दूर करके परम आनन्द देनेवाली है, से ही जाना जा रहा है कि ये साक्षात् परब्रह्म हैं। परीक्षित को अलौकिक वस्तु का ज्ञान कराने के लिए मूल में 'राजन्' सम्बोधन का प्रयोग है। उनका अभूत उपाग से वर्णन करते हैं। मरकत मणि का पर्वत भगवन् और कैलाश के सगान चोदी का पर्वत बलदेव, दोनों ही यदि सोने के शिखरों से युक्त हों तो उनकी सी शोभा को प्राप्त हों। भगवान् सबके आश्रय और परम महान् हैं। इसीलिए सभी जगह उनका शैल रूप से वर्णन किया जाता है ॥३३॥

पपात चरणोपान्ते दण्डवद् रामकृष्णयोः ॥३४॥

श्लोकार्थः—उम याम कृष्ण को देखते ही अक्रूरजी जल्दी ही रथ में उतर पड़े और स्नेह में विह्वल हो उनके चरणों में उन्होंने गिरकर दण्डवत प्रणाम किया ॥३४॥

सुबोधिनीः—एवं भगवान् वर्णयित्वा तादृशं स्वामिनि तादृशसेवकस्य कर्तव्यपूर्वकं भगवत्कार्यं-
माह दशभिः, तत्र द्वाभ्यां तस्य कृत्यगु, अष्ट-
भिर्भगवत्कृत्यमिति, भक्तिप्रपत्ती तस्य, अष्टैश्व-
र्यादिदान भगवतः, रथ इति, आदौ दृष्ट्वा रथे स्थित
एव तूर्णमवप्लुत्य, तत उच्चस्थागाद् भूमौ पतित्वा न तूर्तार्य, स प्रसिद्धः पूर्व चरणरजस्तु
यः पतितः, साक्षाद्दर्शनान्तरमप्युत्कटो यो जातः
स्नेहः तेनापि विह्वलः रामकृष्णयोश्चरणोपान्ते
निकट एव पपात, पाते देहादेरविचारार्थमाह
दण्डवदिति, अत्र ज्येष्ठानुकम उक्तः व्यवहारे
वयसो मुख्यत्वस्थापनार्थः ॥३४॥

व्याख्यानः—इस प्रकार से भगवान् का वर्णन करके उन ऐसे सर्वशक्तिमान् स्वामी के प्रति अक्रूर जैसे परम सेवक के कर्तव्य को बतलाते हुए आगे दश श्लोकों से सेवक के प्रति भगवान् के कर्तव्य को कहते हैं। इन दश श्लोकों में प्रथम दो श्लोकों से सेवक अक्रूर की भक्ति और शरणागति का तथा अगले आठ श्लोकों से अक्रूर के लिए भगवान् का आठ प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करने का वर्णन है। 'रथात्' इस श्लोक से कहते हैं कि अक्रूर ने रथ पर बैठे बैठे ही पहले दूर से ही दर्शन किए थे। अब वही अक्रूर-जो अभी पूर्व में भगवच्चरण रज में लीटे थे-ऊँचा स्थान-रथ से-उतरे नहीं, किन्तु उन भगवान् राम कृष्ण के चरणों के निकट ही भूमि पर गिर पड़े। भगवान् का साक्षात् दर्शन करके वे प्रेम से अत्यन्त विह्वल हो गए और देह की सुध भूल गए तथा काण्ठ दण्ड की तरह उनके चरणों में हठात् गिर पड़े। व्यवहार में आयु का विचार मुख्य रूप से रखना चाहिए, इसलिए वे पहले बलरामजी के और पीछे श्रीकृष्णजी के चरणों में गिरे ॥३४॥

श्लोकः—भगवद्दर्शनाह्लादबाष्पपर्याकुलेक्षणः ।

पुलकाश्रित ओत्कण्ठघात् स्वास्थ्याने नाशकन् नृप ॥३५॥

श्लोकार्थः—भगवान् के दर्शन से अक्रूरजी परम आनन्दित हो गए। उनकी आँखों में प्रेमाश्रु भर आए और उनका शरीर रोमाश्रित हो गया। उत्कण्ठा से उनका कण्ठ रुंध गया और थोड़ी देर तक तो वह अपना परिचय भी नहीं दे सके ॥३५॥

सुबोधिनीः—अकस्मात्पतिते शङ्का भवतीति कथं स्वनाम न गृहीतवान् तत्राह भगवद्दर्शनेति, भगवद्दर्शनेन योय गहानाह्लादो जातः तेनान्तः पूर्णेन वहिर्बाष्पतया निर्गतेन पर्याकुले ईक्षणे यस्य, आनफलेन आनं तिरोहितमिति तस्य न विचार उत्पन्न इत्यर्थः, नन्वग्यो मास्तु विचारः अयमहमिति अपूर्वदर्शनत्वात् कथं न स्वाभिधान-
मुक्तवान्, तत्राह पुलकाश्रित इति, सर्वाङ्गे रोमाञ्चः प्रेमातिभरात् जातः तेन विवशत्वात् स्वास्थ्याने अयमहमस्मीति कथनेपि नाशकत्, न समर्थो जातः, परिज्ञानार्थं सम्बोधनमादरार्थं वा ॥ ३५ ॥

व्याख्यानः—अक्रूरजी के अकस्मात् गिर पड़ने और अपना नाम भी न लेने के कारण उत्पन्न हुई शङ्का को निवारण करने के लिए -भगवद्दर्शन- यह श्लोक कहते हैं। भगवान् का साक्षात् दर्शन

अक्रूरजी को परम आनन्द प्राप्त हुआ । वह प्रसन्न हो आनन्द उनके हृदय में नहीं समाया और नेत्रों के मार्ग से प्रेमाश्रु हल से बाहर निकल गया । उनकी आँखें आँसुओं से भर आईं । ज्ञान का फल श्रीहरि को पाकर उनका ज्ञान स्थिर गया, उन्हें कुछ विचार नहीं रहा । उनका सारा शरीर उत्कट प्रेम के कारण रोगान्वित हो गया और उस आनन्द के अतिशय से वे इतने विवश हो गए कि अपना परिचय देना भी वे भूल गए । अपना परिचय भी नहीं दे सके । राजा इस उत्कट प्रेम की महिमा को जान सके - इसलिए अथवा आदर के लिए मूल में 'नृप' - सम्बोधन पद कहा है ॥३५॥

श्लोकः—भगवांस्तमभिप्रेत्य रथाङ्गाङ्कितपाणिना ।

परिरेभेभ्युपाकृष्य प्रीतः प्रणतवत्सलः ॥३६॥

श्लोकार्थः—तब भक्तवत्सल भगवान् ने अक्रूर के आने का अभिप्राय उसके न कहने पर भी स्वयं ही जान लिया और प्रसन्नता पूर्वक अपने रथाङ्ग-चक्रधारण करने वाले श्री हस्त से उठाकर उन्हें गले से लगा लिया ॥३६॥

सुबोधिनी—ततस्तस्य वचनव्यतिरेकेणैव भगवांस्तं ज्ञात्वा कर्तव्यं कृतवानित्याह भगवानिति, भगवत्त्वात् तमकूरोयमित्यभिप्रेत्य दुष्टसंसर्गजनितदोषनाशार्थं रथाङ्गेन चक्रेणाङ्कितेन कालात्मकेन तद्दोषं दूरीकृत्य पाणिना तमाकृष्य स्वसमीपे आनीय तस्मिन् स्वप्रवेशे लौकिकं कार्यं सेत्स्यतीति तमेव स्वस्मिन् आनीतवान्, ततः परिरेभे, उभयोरेवयं सम्पादितवान्, दण्डवत्पातेनैव प्रीतः, नन्वस्य बहवो दोषाः सन्ति संसर्गजाः तत् कथं प्रीत इति चेत् तत्राह प्रकर्षेण नतेषु वत्सलः, वात्सल्ययुक्तः, भक्तकृपालो प्रकर्षेण नतिमात्रेणैव कृपा अभिव्यक्ता भवति, अत आलिङ्गनमुचितमेव,

यो भगवता परिगृहीतः यः कृष्णपादाङ्कितेषु लोटनेन भगवदीयत्वं प्राप्तः स भगवति सायुज्यमेव प्राप्तवान्, न स पुनरुद्गतः, भगवता परित्यक्त इति वचनाभावात्, तस्य पूर्वकामितसिद्ध्यर्थं प्रतिकृतिमेव कृत्वा पृथक् कृतवानिति लक्ष्यते, न हि परमप्रेम्णा भगवत्सायुज्यं प्राप्तस्य पुनस्त्यानं सम्भवति, लौकिकस्यापि तु भक्तिवृत्त्यैव स्यात्, अतो बलभट्टालिङ्गनानुपपत्त्या भगवद्विष्टेषु तस्य कल्पयितुं शक्यः, एवं सति भक्तिमार्गः सफलो भवति, अन्यथा भावान्तरगुत्पादयन् पाक्षिकफलः स्यात् ॥३६॥

व्याख्यानार्थः—उनके अपना परिचय न देने पर भी भगवान् ने अक्रूरजी को पहचान लिया और उनके साथ उचित व्यवहार किया—यह इस "भगवान्" इत्यादि श्लोक से कहते हैं । श्रीकृष्ण भगवान् हैं । इसलिए अक्रूरजी को पहचान कर उनके दुष्ट कंस के संसर्ग से उत्पन्न हुए दोष को भगवान् ने काल रूप चक्र से अङ्कित अपने श्री हस्त के स्पर्श से दूर कर दिया और उनको अपने पास लाकर गढ़ आलिङ्गन किया । इस प्रकार आलिङ्गन करके अक्रूर में भगवान् प्रविष्ट हो गए और अपने में अक्रूर का प्रवेश कर लिया । दोनों की एकता प्राप्त कर ली । जिससे भगवान् लौकिक जैसा और अक्रूर अलौकिक जैसा कार्य करेंगे ।

अक्रूर में संसर्ग से होनेवाले दोष बहुत होने पर भी भक्तवत्सल भगवान् केवल प्रणाम करने मात्र से ही उन पर प्रसन्न हो गए, क्योंकि भक्तों पर कृपा करनेवाले उन परम कृपालु भगवान् को

नता-मनस्-अना-सत्के-अस्मा-न भक्त-को-प्रसाद-उत्पन्ने-ह्य-यन्ने-कम-पाना-ह-इति-उक्त-अक्रूर-या-आलिङ्गन-उत्पन्न-ह-। जिसको भगवान् ने अपना कर लिया और जो भगवान् ने लग्न किया, ग-अङ्गुल-येषु-ग-नाशन-गे-भगवदीय-हा-मा-ये-। यह अक्रूर भगवान् से सायुज्य को प्राप्त हो गया और फिर वह भगवान् से अलग नहीं हुआ; क्योंकि यहाँ भूल में भगवान् का उनको त्याग देना नहीं कहा है। ऐसा जान पड़ता है कि अक्रूर की पहली इच्छाओं को सिद्ध करने के लिए उसनी सी आकृति वाला गुरु भगवान् ने अपने से अलग कर दिया है, क्योंकि यह सम्भव ही नहीं है कि अत्युक्त प्रेम से भगवान् से सायुज्य पाकर फिर वह जीव उनसे अलग हो जाय और यदि अलग हो जाता है तो भक्ती ही व्यर्थ हो जायगी, किन्तु अलग हुए बिना बलदेवजी का आलिङ्गन नहीं हो सकता। इसलिए अक्रूर से भगवान् से अलग होने की कल्पना की जाती है। अक्रूर को सायुज्य-प्राप्ति होने पर ही भक्ती मार्ग सफल होता है। अन्यथा सायुज्य पाकर फिर लौकिक भाव हो जाने पर तो भक्ति मार्ग का परम मुख्य फल सायुज्य नहीं रहेगा अर्थात् पाक्षिक-गौण-फल ही रह जायगा ॥३६॥

लेख—भगवान्-इस श्लोक की व्याख्या में-तस्मिन् स्वप्रवेशे-का तात्पर्य यह है कि अक्रूर में भगवान् का प्रवेश होने पर अक्रूर की तरह उसमें प्रविष्ट भगवान् भी लौकिक कार्य और भगवान् में अक्रूर के प्रवेश होने पर वह भी प्रविष्ट हुए भगवान् की तरह अलौकिक कार्य करने लगेंगे। 'यो भगवता' इत्यादि व्याख्या के पदों का अभिप्राय है कि सारे हो जीव भगवान् में हैं ही। उनमें से किसी वैसे दो स्वभाव वाले जीव को अक्रूर जैसा शरीर धारी करके अलग कर दिया, ऐसा लक्षित होता है। यदि यह कहा जाय कि अक्रूरजी लौकिक प्रकार से आए थे। इसीलिए सायुज्य देकर भी अलग कर दिया; तब तो भक्ति व्यर्थ हो जायगी। इसलिए भक्ति की सार्थकता और अक्रूर की बलभद्रजी को आलिङ्गन करने की इच्छा की सी आकृति वाला करके भगवान् अपने से-भगवान् से-अलग कर दिया-ऐसी कल्पना की जाती है ॥३६॥

श्लोक—सङ्क्षर्षणश्च प्रणतमुपगुह्य महामनाः ।

गृहीत्वा पाणिना पाणि अनयत् सानुजो गृहम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—इसके बाद नम्रता पूर्वक हाथ जोड़े खड़े हुए अक्रूर को-महा मनस्वी बलभद्रजी-हाथ पकड़कर-अपने भाई श्रीकृष्ण के साथ घर ले गए ॥३७॥

सुबोधिनी—सङ्क्षर्षणेऽपि प्रणत इति भाव-
सङ्कुटात् सङ्क्षर्षणेऽपि तं तथा कृतवानित्याह
सङ्क्षर्षणश्चेति, अत्राणि प्रणतत्वमेव हेतुः, न तु
लौकिक इति चकारेणातिदिष्टोप्यर्थः कर्तृधर्मपर
इति पुनराह 'प्रणतमिति' महामना इति तस्य
लौकिकधर्माभिनिवेशः, ततोयं पितृव्यः समागत
इति पाणिना पाणि गृहीत्वा भगवत्सहितः तं
गृहमनयत्, कामनासिद्धेति कथनार्थमुच्यते ॥३७॥

व्याख्यार्थ—जब अक्रूर ने भगवान् श्रीकृष्ण के समान ही बलदेवजी को भी प्रणाम किया तब तो बलदेवजी ने भी उनका समान भाव देखकर श्रीकृष्ण की तरह ही अक्रूर का आलिङ्गनादि किया, यह 'सङ्क्षर्षणश्च' इस श्लोक से कहते हैं। बलदेवजी, महामना-उदार मन वाले हैं। लोक पर्यादा की रक्षा करने में उनका विशेष आग्रह है। इसलिए-ये काका अक्रूरजी आए-यों कहकर

अपने श्रीहस्त में उनका हाथ पकड़कर भक्तान् कृपा के साथ २ उन्हें अपने पृथक घर में बिठा के
अपने प्रकूर की भाँसे में की हुई कामना सिद्ध हो गई, यह इस श्लोक से कहा है ॥३७॥

श्लोक — पृथाय स्वागतं तस्मै निवेद्य च वरासनम् ।

प्रक्षाल्य विधिवत् पादौ मधुपर्कहिंगमाहरत् ॥३८॥

श्लोकांथं—बलदेवजी ने उन्हें घर में ले जाकर स्वागत-सत्कार के बाद उत्तम आसन पर बिठलाया । फिर यथा विधि उनके पांव धोकर मधुपर्क आदि से उनका पूजन किया ॥३८॥

सुखोषिनी—ततो लौकिकत्रैदिकमार्गेण तं शास्त्रानुसारेण अम्नागते यथा कर्त्तव्यं तथा पूजितवानित्याह पृष्ट्वेति, अनामयमारोग्यं पृष्ट्वा पादौ प्रक्षाल्य मधुपर्कसहितमर्हणं पूजां उत्कृष्टं तस्य गृहेषु दुर्लभं आसनं निवेद्य, ततः आहरत् ॥३८॥

व्याख्यान—सर में ले जाकर लौकिक वैदिक रीति से वहाँ उनका पूजन किया। यह इस 'पृष्ठाय' श्लोक से कहते हैं। वहाँ उनकी सकुटुम्ब कुशल मंगल पूछने के बाद उन्हें बड़े सुन्दर तथा बहुमूल्य आसन पर बिठलाया। फिर अभ्यागत के उचित शास्त्र विधि से उनके चरण धोकर मधुपर्क आदि उत्तम उत्तम वस्तुओं से पूजन किया। ३८।

श्लोक—निवेद्य गां चात्रियये संवाह्य आन्तमाहृतः ।

अन्नं बहुगुणं मेध्यं श्रद्धयोपाहरद् विभुः ॥३६॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण भगवान् ने फिर अपने अतिथि अक्रूर को एक सब गुणों से युक्त श्रेष्ठ गाय दान दो और तैलाभ्यङ्ग मर्दन आदि से उनके परिश्रम-थकान-को दूर किया । तब बलदेवजी ने अनेक गुणों से युक्त पवित्र अन्न लाकर बड़ी श्रद्धा से अक्रूरजी को भोजन कराया । ३६।

सुबोधिनी निवेद्येति, ततो पां निवेद्य,
'महोक्षं वा महाजं वे' ति स्मृतेः, उत्सर्गपक्ष एव
वाच्य, यक्षययगम्यागतः तथाप्यपूर्वं इत्यतिथिरेव,
धर्मार्थं च भगवान् करोति न तु सम्बन्धेनेति
ज्ञापयितुं च तथोक्तवान्, अतिथिस्तु गोघ्नो भव-
तीति हननार्थमेवेति केचित्, चकारात् महाजं च
वस्त्रादिकं च, ततः संवाह्य तैलाभ्यङ्गमर्दनादिना
सर्वाङ्गभ्रमं दूरीकृत्य श्राद्धतो जातः, संवाहे हेतुः

श्रान्तमिति, ततो बहुगुणगनेकव्यञ्जनयुक्तमश्रं
 ओदनं श्रद्धापूर्वमुपाहरत्, मेध्यमिति, तदानी
 शुद्धतया निमित्तं रोहिण्या गक्वमित्यर्थः, न तु
 यथाकथञ्चित् सम्पादितं, तथात्वे श्रद्धा हेतुः,
 अकालेपि गृहसा सर्वरामग्रोसिद्धौ हेतुः विभुरिति,
 अतिथिधर्म जानातीत्यक्रूरः सर्वं तथैव कृतवान्,
 उगावपि भिन्नभावापन्नाविति न किञ्चिद्
 विरुध्यते ॥३६॥

व्याख्यान - यद्यपि अकूरजी अभ्यागत ही थे, तो भी प्रथम आने के कारण भगवान् ने 'महोक्ष वा महोज वा'-इस स्मृति के अनुसार उन्हें अतिथि मानकर उनकी गाय का दान दिया। यह भेट भगवान् ने धर्म समझकर ही दी, उन्हें अपना सबंध मानकर नहीं दी। अन्य कोई व्याख्याकार कहते हैं कि अतिथि गोघाती होता है, इसलिए डमी अभिप्राय से गाय भेट में दी।

तदनन्तर तैल गर्दन उबटना आदि से उनकी थकावट को उनके मार्ग में यातायात के परिश्रम को दूर किया। फिर बलदेवजी ने अपनी माता रोहिणीजी से बड़ी पवित्रता से बनाए हुए, अनेक प्रकार के व्यञ्जनों से युक्त अन्न चावल आदि का भोजन किया। बलदेवजी सर्व समर्थ हैं, इसलिए असमय में भी सारी सामग्री का उसी समय सिद्ध हो जाने में कोई आश्चर्य नहीं है। अकूर और बलदेवजी दोनों ही अतिथि धर्म के सदाचार को जानने वाले हैं, अतः बलदेवजी ने धर्मानुकूल आदर सत्कार किया और अकूर ने भी अतिथि सत्कार ग्रहण किया। वे दोनों अतिथेय और अतिथि रूप से भिन्न २ भाव वाले हो गए। इसलिए सत्कार और सत्कार्य में कुछ विरोध नहीं रहा ॥३६॥

लेखः—“निवेश गां”—इस श्लोक की व्याख्या में 'उभावापि भिन्न भावापन्नौ'—पदों का यह आशय है कि बलदेवजी का लौकिक भाव में आग्रह है और अकूर प्रतिकृति रूप है। इसलिए दोनों के पृथक्-पृथक् भावापन्न होने के कारण कोई विरोध नहीं है ॥३६॥

श्लोक—तस्मै भुक्तवते प्रीत्या रामः परमधर्मवित् ।

मुखवासैर्गन्धमाल्यैः परां प्रीतिं व्यधात् पुनः ॥४०॥

श्लोकार्थ—जब वह भोजन कर चुके, तब उत्तम धर्म के जानने वाले बलदेवजी ने मुखवास-पान इलायची देकर इत्र फुलेल आदि सुगन्धित द्रव्य लगाया तथा सुरभित माला पहनाकर उन्हें अत्यन्त प्रसन्न किया ॥४०॥

सूबोधिनी—भोजनान्तमेवातिथिकृत्यमिति अग्रिमोपचारं न कुर्यादिति पुनराह तस्मा इति, भुक्तवते आतृप्तेः, ततः परमप्रीत्या मुखवासैः स्ताम्बूलादिभिः गन्धैश्चतुः समं माल्यैश्च राजवत् तस्मै परां प्रीतिं व्यधात्, अयमसाधारणो धर्मः,

अतिथिं स्वसदृशं कुर्यादिति, ततोप्यधिकं कृतवान्, यद्यपि पूर्वं मधुपर्कदिसमये माल्यं दत्तमेव तथापि प्रीत्यंतदानमिति पुनरित्यनेनास्य लौकिकत्व-मुक्तम् ॥४०॥

व्याख्यान - भोजन के पश्चात् किए जाने वाले अतिथि के उपचार, सेवादि सत्कार, का वर्णन 'तस्मै'-इस श्लोक से करते हैं। तृप्ति पूर्वक भोजन कर चुकने पर परम धर्मज्ञ बलदेवजी ने बड़े स्नेह से स्ताम्बूल, पान, इलायची तथा सुगन्धित द्रव्य, माला आदि से उनका राजा की तरह सत्कार करके उन्हें अत्यन्त प्रसन्न किया। अतिथि को अगनां सा बना देना, यह भी एक असाधारण धर्म है; किन्तु यहाँ तो उस असाधारण धर्म से भी अधिक सत्कार किया। यद्यपि पहले मधुपर्क आदि के द्वारा सत्कार करते समय माला पहनाना कह दिया है, तो भी प्रेम से फिर माला पहनाने का वर्णन इसके लौकिक भाव को सूचित करता है ॥४०॥

श्लोक—पशच्छ सत्कृतं नन्दः कथं स्य निरनुग्रहे ।

कंसे जीवति दाशार्हं सौनपात्ता इवावयः ॥४१॥

श्लोकार्थ— इस प्रकार सत्कार हो चुकने पर नन्दरायजी ने अक्रूरजी से पूछा—हे दाशार्ह अक्रूर निर्दयी कंस अभी जीवित ही है । इसलिए कसाई के घर में पली हुई भेड़ों के समान तुम लोगों को हर घड़ी ही अपने प्राणों का खटका लगा ही रहता होगा । तुम पर आजकल कैसी बातें होती हैं ॥४१॥

सुबोधिनी—ततो ग्रामप्रभुणा असम्मानितश्चेत् लोके बालकैः सम्मानितोऽपि न परितुष्टो भवेत् इति सम्भाषणात्मकं सम्माननं नन्दकृतमाह पप्रच्छेति त्रिभिः, पूर्वमेव सत्कृत इति पूजामकृत्वेव केवलं पप्रच्छ, प्रश्नमेवाह निरनुग्रहे कंसे तस्य समीपे कथं स्थेति, सम्भावितोपद्रवस्थानकुशलप्रश्नोऽयम्, कंसस्य न केऽपि गुणाः सन्तीति जीवनमेवोक्तम्, अपकीर्त्या व अजीवति, न हि मृतकस्थाने श्मशाने

कश्चित्तिष्ठतीति भावः, दाशार्हेति सम्बोधनं स्वतो वंशतश्च महत्त्वेन स्तोत्रार्थम्, सर्वत्र स्थितौ दोषाः सन्तीति जन्मभूमित्वात् स्थीयत इति चेत् तत्राह सौनपात्ता इति, सूनागरः सौनः नित्यशमिता मांस-विक्रयी, स एव पालो येषां ते च अवयः गतानु-गतिकाः, ते यथा अविचार्य तिष्ठन्ति तथा स्थीयत इति स्थितिरनुचितेति भावः ॥४१॥

व्याख्यान— लोक में कोई भी आगन्तुक बालकों के द्वारा किए गए सम्मान को पाकर भी तब तक सन्तुष्ट होता, जब तक ग्रामाधिपति अथवा घर का स्वामी उसका सम्मान नहीं करता । घर या गांव के स्वामी से आदर पाकर प्रतिथि परम सन्तुष्ट होता है । इस लोक सामान्य रीति के अनुसार—पप्रच्छ—इत्यादि तीन श्लोकों से नन्दरायजी के द्वारा किए गए सम्भाषण रूप—अक्रूर के—सम्मान का वर्णन करते हैं । पहले बालकों ने अक्रूर का यथा विधि भोजनादि पर्यन्त पूजन कर दिया होने से नन्दजी उनका पुनः पूजन न करके केवल उनसे पूछने ही लगे कि निर्दयी कंस के समीप में आप कैसे रह रहे हैं । उस सत् उपद्रव पूर्ण स्थान में कुशल मङ्गल की सम्भावना ही कंसे की जाय ? क्योंकि उस दुष्ट कंस में एक भी गुण नहीं है । वह तो अपकीर्ति पूर्वक जी रहा है, जो मरा हुआ ही है । मृतक—मुर्दे—के स्थान श्मशान में कोई नहीं रहता है । आप कैसे रह रहे हैं ?

यदि आप—जननी जन्म भूमिश्च—जन्म भूमि होने के कारण ही वहाँ रह रहे हैं तो आपका यह—भेड़ों की तरह बिना विचारे, गतानुगतिक—वहाँ रहना सर्वथा अनुचित ही है । जैसे किसी नित्य मांस बेचने वाले कसाई के पालन पोषण में पलने वाली और एक के पीछे दूसरी लगकर चलने वाली विचार हीन भेड़ें, एक दिन उसी कसाई के हाथ से मार दी जाती हैं । उन भेड़ों का उस कसाई के पालन पोषण में रहना जैसे सर्वथा अनुचित ही है, वैसे ही आपका भी कंस के पास रहना अनुचित है ॥४१॥

श्लोक—योषधीत् स्वस्वसुस्तोकान् क्रोशन्त्या असुतृप् खलः ।

किं नु सिवत् तत् प्रजानां वः कुशलं विमृशामहे ॥४२॥

श्लोकार्थ—वह दुष्ट कंस सदा अपने सरीर का ही पालन पोषण करने को चेष्टा में तत्पर रहता है । जिसने अपनी बिलखती हुई दीन छोटी बहिन के निरीह नन्हे बच्चों (पुत्रों) को उसके देखते देखते मार डाला, उसकी प्रजा की कुशल पूछना तो मेरी समझ में व्यर्थ ही है । उसकी प्रजा का तो जीवन भी दुर्लभ होगा ॥४२॥

सुबोधिनी—कंसस्य निन्दयत्वगाह योवधो- दिति, भागिनेयाः अतिगाय्याः, तत्रापि बालकाः, तत्रापि क्रोशन्त्याः स्वसुः सत्याः, क्रोशन्त्या कन्यया सह वा, ननु कुचित् कर्मविशेषे पुत्रादयोपि हन्यन्त इति किमाश्चर्यं भागिनेयहनने, तत्राह असुतृप्- केवलं प्राणपोषकः तेष्वमारितेषु स्वप्राणा गमिष्यन्तीति, तदपि न सर्वसम्मत्या नापि क्रिया-	दिना, किन्तु खलः दुष्टः, यत्रतादृशः प्रभुः तत्र प्रजानां तदधीनानां वो युष्माकं कुशलं किं विमृ- शामहे किं विचारयामः, अतः सन्देहे प्रश्नः, अत्र तु विपरीतभाव एव भिन्नतया कुशलप्रश्ने बन्धु- विरोधो दुष्टोयमक्रूर इत्युक्तं भवति, अतः कुशल- सम्भावनायागपि तथा नोक्तवान् ॥४२॥
--	--

व्याख्यानार्थ—‘योऽवधीत्’-इस श्लोक से कंस की निन्दयता बताते हैं । भानेज-बहिन के पुत्र-अत्यन्त आदरणीय होते हैं । वे भानेज भी अत्यन्त नन्हे बालक-जात मात्र-उनको अपनी बिल-बिलाती हुई छोटी बहिन सती देवकी के देखते जिस कंस ने मार डाला । यद्यपि कभी कहीं किसी विशेष कर्म से पुत्रादिक तक मार डाले जाते हैं; फिर भानेजों को मार डालने में आश्चर्य की कोई बात नहीं है; किन्तु उसने तो केवल अपने प्राणों का ही पोषण-रक्षा-करने के लिए भानेजों को मार डाला है, क्योंकि वे नहीं मारे जाते तो उसके अपने प्राण चले जाते । उनका बंध जो उसने किया है, वह किसी की सलाह-सम्मति से अथवा किसी कर्म विशेष से नहीं किया है । उसने तो केवल अपनी दुष्टता के कारण ही ऐसा किया है; क्योंकि वह तो महान् दुष्ट है ।

जहाँ ऐसा क्रूर स्वामी है, वहाँ उसके अधीन रहने वाली प्रजारूप आपकी कुशलता का क्या विचार किया जाय ? इस प्रकार यह सन्देह में प्रश्न है । यहाँ इस प्रकार के सन्देहात्मक प्रश्न से तो विपरीत भावना ही नन्दजी की सूचित होती है, क्योंकि भिन्न रूप से इस प्रकार कुशल प्रश्न में—“बन्धु विरोधी यह अक्रूर दुष्ट है”—ऐसा कहा जा सकता है । इसीलिए कुशल सम्भावना होने पर भी सन्देहात्मक कुशल प्रश्न ही किया । सीधे शब्दों में कुशल नहीं पूछा ॥४२॥

श्लोक—इत्थं सूनृतया वाचा नन्देन सुसभाजितः ।

अक्रूरः परिपृष्टेन जहावध्वपरिश्रमम् ॥४३॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार सत्कार के बाद नन्दरायजी ने गीठे वचनों से अक्रूर से उनकी कुशल पूछी । कृष्ण बलराम के सत्कार से अक्रूर के गार्ग का परिश्रम दूर हो गया और वे स्वस्थ हुए ॥४३॥

व्याख्यानार्थ—इस तरह नन्दरायजी के वात्यों को कहकर—इत्यं—इत्यादि श्लोक से उपसंहार करते हैं। इस प्रकार नन्दरायजी की वास्तविक-सच्ची-कीमल और मुख दायक वाणों के द्वारा भली भाँति पूजे गए अक्रूरजी के—अन्य किसी आग्रह से अथवा स्मरण से हटने वाले मार्ग में कायिक, धानिक, मानसिक—सारे परिश्रम दूर हो गए और वे सब प्रकार से स्वस्थ हो गए ॥४३॥

इति श्रीभङ्गावत महापुराण दशम स्कन्ध (पूर्वाध्याय) १८वें अध्याय की श्रीमद्वल्गुभाचार्य
वरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) का ३५वां अध्याय राजस-प्रमाण-
भवान्तर प्रकरण 'यश' निरुक्त तृतीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित
सम्पूर्ण ।

— — —

राण कल्याण

तुम बिन मेरे हितू न कोऊ ।

सुन अक्रूर तुरत नृप भाषत नंद महर सुत ल्यावहु दोऊ ॥
 सुनि रुचि वचन रोम हरषित गात, प्रेम पुसकि मुख कछु न बोले ।
 यह आयसु पूरव सुकृत वश, सो काहू पे जाई न तोल्यो ॥
 मोन देखि परिहेंसि नृप मोनो मनहु सिंह गो आय तुलानो ।
 वहि कम बिनु द्वे सुत अहोर के, रे कातर तक मन सकांनो ॥
 आयसु पाई सुष्ठ रथ कर गहि, अनुपम तुरंग राजि धृत जोह्यो ।
 सूरश्याग की मिलनि सुरति करि, मनु निरघन घन पाय विमोह्यो ।

राग कहान्तो

म्राजू जाई देखि ही वे चरण ।

शीतल सुभग राकल सुख दाता दुःसह दवन दुःख हरण ॥
 अंकुश कुलिश कमल ध्वज चिन्हित ग्रहण कंज के रंग ।
 गड चारता वन जाइ पाइहीं गोप सखन के संग ॥
 जाको ध्यान घरत मुनि नारद शिव विरंचि सब ईश ।
 तेई चरण प्रगट करि परसों इन कर अपने शीश ॥
 देखि स्वरूप रहि न सकिहीं रथते उतर हों घाय ।
 सुरदास प्रभु उभय भुजा भरि हंसा गेटि हैं उठाय ॥

मधुरा ने मधुकुल मीठा पद्विचे मुफलाय मुन की गाभा भई ।
हरि अनुगम देह युधि विसरी रथ वाहना की सुरति गई ॥
कहां जात नित मोहि पठायो, को ही मैं यहि लोच परचो ।
दसहं दिशा श्व म गरि पूरण हृदय हरष आनन्द भरयो ॥
हरि अन्तर्यामी यह जानी भक्त वछल वानो जिनको ।
सूर मिले जो भाव भक्त के गहर नहीं किन्हीं छिनको ॥

मुफलक सुत हरि दरशन पायो ।
रहि न सक्यो रथ पर सुख व्याकुल भयो उहै मन भायो ॥
भू पर दीरि निकट हरि आयो चरणनि चित्त लगायो ।
पुलक अंग लोचन जलधारा, श्री गृह शिर परसायो ॥
कृपा सिंधु करि कृपा मिले हंस लियो भक्त उरलाय ।
सूरदास यह सुख सोइ जाने कहीं कहां मैं गाय ॥

श्याम उहै कहिके उठे नृप हर्षे बोलाये ।
अतिहि कृपा हम पर करि जो कालि मंगाये ॥
संग सखा यह सुनत ही चकृत मन कीन्हो ।
कहा कहत हरि सुनत ही लोचन भरि लीन्हो ॥
श्याम सखन मुख हेरिके तब करि सधानी ।
कालि चलो नृप देखिए शंका जिय आनी ॥
हर्ष भए हरि यह कहे मन मन दुख भारी ।
सूर संग अक्रूर के हरि ब्रज पगु धारी ॥

कंस नृप अक्रूर ब्रज पठाए ।
गए आगे लेन नंद उपनंद मिलि श्याम बलराम उन हृदय लाए ॥
उतरि सादर मिल्यो देखि हरष्यो हियो सोच मन यह भयो कहां आयो ।
राज के काज को नाम अक्रूर यह किधी कर लेनको नृप पठायो ॥
कुशल तेहि बूझि लै गए ब्रज निज घाम श्याम बलराम मिल गये वाको ।
चरण पखराइ कै सुगम आसन विविध भोजन हरषि दियो ताको ॥
कियो अक्रूर भोजन दूहन संगलै नर नारि ब्रज लोग सब देखै ।
मनो आए संग देखि ऐसे रंग मनहि मन परस्पर करत भाषै ॥
सारि जेवनार अचवन कै भए शुद्ध दिया तंभोर नंद हर्षि आगे ।
सेज बैठारि अक्रूर सो जोरि कर कृपा करिके तब कहन लागे ॥
श्याम बलराम को कंस बोले मोहि नंद ले सुतन हम पास वेग आवैं ।
सूर प्रगु दरशन की साध अति ही मोहि कह्यो समुभाय जिन गहर लावैं ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ३६वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ३६वां अध्याय

राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण

‘चतुर्थ अध्याय’

श्रीकृष्ण बलराम का मथुरागमन



कारिका—षट्त्रिंशे भक्तकृपया हरिरूपमदर्शयत् ।

अत्यासक्तिं पूर्वसिद्धांत्यक्त्वापीति निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—३६वें अध्याय में पहले सिद्ध हुई अत्यासक्ति का त्याग करके भी भगवान् ने भक्त कृपा से अपने स्वरूप का दर्शन कराया ॥१॥

कारिका—अकूरेण च संवादो गमनोद्यम एव च ।

गोपिकानां विलापश्च भगवद्रूपवर्णनम् ॥२॥

कारिका—मनोरथस्य सिद्धयर्थं उद्यमस्य तथैव च ।

व्याख्यान—गत अध्याय में अक्रूरजी के मनोरथों का निरूपण किया जा चुका है। यद्यपि वे सभी अभिप्रेत तथा आवश्यक नहीं थे, तो भी, वे भक्तिगार्गीय भक्त के किए हुए मनोरथ थे। इस कारण से भगवान् ने सभी पूर्ण कर दिए, यह इस -‘सुखोपविष्टः’- श्लोक से कहते हैं, वहाँ से श्री नन्द के चले जाने के बाद श्रीकृष्ण और बलदेवजी ने उन्हें सम्मानपूर्वक पलङ्ग पर बिठलाया और वे बैठ गए। लोक संसार में बड़ा किसी छोटे का सम्मान करता है, तो यह निश्चित है कि वह महापुरुष उस

का स्वयं में कुछ लघु पुरुष का प्रवश्य ही हित करेगा। उस नियम के प्रकृति की क्रिया के मादरे ही मनोरथ पूरे कर दिए, जो उन्होंने आते सगय मार्ग में किए थे। यों तो-‘काममयावत्य पुरुषाः पुरुष का हजारों कामनाएँ होती हैं; किन्तु वे कामनाएँ जो -मार्ग में अक्रूरजी ने की थीं- सारी इनमें प्राप्त कर ली। आश्चर्य इस बात का है कि रास्ते में की गई किसी की कामना सिद्ध नहीं हुआ करता; किन्तु उन पूर्वसिद्ध अक्रूरजी के तो मार्ग में किए मनोरथ भी सिद्ध हो गए ॥१॥

श्लोक—किमलभ्यं भगवति प्रसन्ने श्रीनिकेतने ।

तथापि तत्परा राजन् न हि वाञ्छन्ति किञ्चन ॥५॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मी के स्वामी नारायण के प्रसन्न होने पर कोई भी पदार्थ अलभ्य या दुर्लभ नहीं होता, तो भी भगवान् के भक्त भगवान् से कुछ भी नहीं माँगते ॥२॥

सुखोषिनी—यद्येवं तर्हि सर्वेरेव भक्तं भगवत्समीपमेव गमने कामनैव कर्तव्या स्यात् कामनामेव प्रयच्छतीत्याशङ्क्य सकामा नोत्तमा इति शुको निष्कामः तं व्याजेन निन्दन्निवाह किमलम्यमिति, फलं द्विविधं नित्यमनित्यं च, नित्यं षड्गुणात्मकं, अनित्यं लक्ष्म्याधीनम्, कृष्णस्तु भगवान् लक्ष्मीपतिश्च, स चेत् प्रसन्नः सदधीनं किं वा अलम्यं भवेत्, प्रसादो हि प्रवृद्ध आत्मानमपि यच्छति, परं प्रसाद एव इतः प्रसन्नो किञ्चित्.

अप्रसन्ने तु न किञ्चित् फलं भवति, अतः प्रसाद-
हेतुं प्राप्य कामनां चेत् कुर्यात् तदा भ्रान्त एव स
इति वक्तुं तथाभूता न कामयन्त इत्याह तथा-
पीति, यतस्तत्पराः न तु विषयपराः, अयं तु मध्ये
संसर्गात् मध्यमाधिकारं प्राप्त इति कामनां कृत-
वान्, न तु सर्वैरेवोत्तमैः काम्यते, तथा तत्प्रयं
मार्गः नोत्तमो भवेत्, राज्ञिति स्नेहेनाप्रतारणार्थं
सम्बोधनम्, यतस्तत्पराः, अत एव किञ्चनापि न
वाञ्छन्तीति युक्तमेव । १॥

व्याख्यान—यदि भगवान् भक्तों की यात्रा में को हुई कामना को ही पूरा करते हैं, तो फिर, सब को, सब भक्तों को गगवान् के समीप जाते समय ही, रास्ते में कामना ही करनी चाहिए ।

ऐसी आशङ्का में निष्काम, उत्तम, भक्त श्री धुकदेव मुनि - 'किंगलम्यं' - इस श्लोक से हीन सकाम भक्त अक्रूर की व्याजपूर्वक निन्दा करते हुए कहते हैं। नित्य फल तो ऐश्वर्य, वीर्य आदि छ गुण रूप हैं, और नित्य फल अनित्य फल-भेद से दो प्रकार का है। उनमें अनित्य फल लक्ष्मी के आधीन है। श्रीकृष्ण तो भगवान् ब्रह्मण सम्पन्न तथा लक्ष्मी के पति हैं। इसलिए नित्य, अनित्य-सभी फल देने में समर्थ हैं। उनके प्रसन्न हो जाने पर-उनके अधीन सारी वस्तुएँ ही हैं-उनमें से कोई सी भी वस्तु अलभ्य नहीं है। अति प्रसन्न हुए श्रीकृष्ण तो अपने आपको भी भक्तों के अधीन कर देते हैं। अपने आपको भी दे देते हैं।

परन्तु उनकी प्रसन्नता ही दुर्लभ है, उनके प्रसन्न होने पर तो कुछ भी दुर्लभ नहीं है । उनके अप्रसन्न हो जाने पर तो कुछ भी फल नहीं मिलता है । इसलिए प्रसन्नता के कारण रूप भगवान् को प्राप्त करके यदि कोई शक्त उनसे कुछ मांगता है तो वह बड़ी भूल करता है । क्योंकि भगवत्परायण भक्त उनसे किसी प्रकार की कामना नहीं करता । कामना करने वाले शक्त तो, विषयपरायण ही होते

अन्तर ही, यत्नो के लिए ही हुआ है, इसलिए व्यासजी ने के बाद ही व्यवहार का प्रश्न किया । जब कभी काम को सम्पादन नहीं रहता है, तब उसका व्यवहार जाति भाई तथा परिवार के साथ अच्छा सुना जाता है । इसलिए सन्देह से प्रश्न किया है, अक्रूर को भी यह बात बनानी है कि भगवान् गर्वशून्य हैं । यह उनका मानुषभाव ही जान कर विगरीत न कह दे, इसलिए गोपिकाओं की जैसे परीक्षा ली वैसे ही इसकी भी परीक्षा लेने के लिए ही इस प्रकार सन्देहात्मक प्रश्न किया । इसी तरह अन्य उदासीन-साधारण जनता के साथ भी उसने जो कुछ किया अथवा अब वह करना चाहना है- सब पूछा । प्रश्न इसलिए किया गया कि कदाचित् आगन्तुक वह कहने में शङ्का (सङ्कोच) कर जाए अर्थात् बन्धुओं के बन्धन आदि को, जिसे वह कर चुका हो और आगे करने (मथुरा ले चलने) की बात को सङ्कोचवश न कहे, बिना पूछे स्वयं कहने में भक्त अक्रूर का दोष माना जाता । इसलिए श्री शुकदेवजी ने भक्तों की बुद्धि का प्रहण करने के लिए इस प्रकार से कहा है ॥३॥

श्रीभगवानुवाच—

श्लोक—तात सौम्यागतः कञ्चित् स्वागतं भद्रमस्तु वः ।

अपि स्वज्ञातिबन्धूनामनमोवमनामयम् ॥४॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा—हे सौम्य! चाचाजी! आप भले पधारे । आपका कल्याण हो । आपके यहाँ सब कुशल तो है न ? आप के सुहृज्जन, ज्ञाति वाले और बन्धु बान्धव तो सुखी हैं ? वे शरीर से तो निरोग हैं ? ॥४॥

सुबोधनी—भगवतो वाक्यान्याह चतुर्भिः, तस्य तत्सुहृदो च पश्चात्तापोऽनुमोदनम्, आदौ कुशलं पृच्छति तातेति, यः शब्दस्तेन मनोरथे निरुक्तः स एव भगवतोक्तः, सौम्येति तव न कोपि दोष इति दोषपरिहारार्थं सम्बोधनम्, स्वागतं यथा भवति तथा समागतः कञ्चित्, महोपद्रवे समागतः आहोस्वित् अनुपद्रव इति सन्देहात् क्रियाविशेषणम्, अन्यायार्थमागत इति स्ववृत्तान्तं न कथयेदिति तस्य निर्भयत्वाय समाश्रयः सनगाहं भद्रमस्त्विति, समागमनमात्रेणैव सर्वेषामेव भद्रं

भविष्यतीति बहुवचनेनोक्तम्, लोकवत् पृच्छति प्रपीति, स्वा भक्ताः, ज्ञातयो गोत्रजाः, बान्धवा संबन्धिनः, अक्रूर एव वा देहपुत्रादयः स्वशब्देनोच्यन्ते, स्वकीया वा ये भवन्त इति प्रश्ने हेतुर्निरुक्तः, त्वयं पृच्छति अनमोवमनामयमिति, कंसनिकटे स्थितानां ब्रह्महत्यादिपापानि प्रत्यहं सम्भवन्तीति अमीवानां पापानां अभावः प्रष्टव्यः, संसर्गमात्रेणापि चिरकालदुःखदा आविश्याधयो भवन्तीति आमयाभावोपि प्रष्टव्यः ॥४॥

व्याख्यान्यर्थ—इन आगे के चार श्लोकों से भगवान् के वाक्यों का वर्णन करते हैं । जिनमें कम से, तस्य तत्सुहृदो चैव पश्चात्तापोऽनुमोदनं- अक्रूरजी का, उनके मित्रों का कुशल प्रश्न पश्चात्ताप (कंस के कार्यों के लिए) और अक्रूरजी के आगमन का अनुमोदन किया गया है । उनमें इस 'तात'-प्रथम श्लोक से कुशल पूछने हैं, अक्रूरजी ने अपने मनोरथ के लिए जिस 'तात' शब्द का प्रयोग किया था, भगवान् भी उसी 'तात' शब्द को प्रयुक्त करके पूछते हैं, कि हे तात! हे निर्दोष! तुम, जैसे सुख-पूर्वक आया जाता है, उसी प्रकार सुख से आए हो न ? हे सौम्य! इस सम्बोधन से यह सिद्ध होता



है कि इसमें अक्रूर का कोई दोष नहीं है । निर्दोषता को सूचित करने के लिए यह सम्बोधन है । निष्पन्नपूर्वक आए हो अथवा बिना किसी निष्पन्न के ही आए हो ? इस प्रकार के सन्देह में 'स्वागतं' इस क्रिया विशेषण का प्रयोग किया है ।

उन्हें कंस ने किसी दूसरे काम के लिए भेजा हो, जिससे वे सङ्कोचवश सारी बातें न कह सकें । इसलिए उन्हें निर्भय करने के लिए भली-भाँति आश्वासन देते हुए भगवान् कहते हैं कि तुम्हारा कल्याण हो । श्लोक में 'वः' (तुम्हारा कल्याण हो) यह बहुवचन बतलाता है कि भगवान् के समीप केवल आ जाने मात्र से ही सब लोकों का शुभ मङ्गल हो जाएगा ।

इस श्लोक के उत्तरार्ध में भगवान् प्रश्न करते हैं कि स्व-भक्तों का, अक्रूरजी के देह पुत्रादिकों की, अथवा स्वकीय प्राण लोगों की जाति-सगेत्री-भाईयों की और बन्धु, सगे-सम्बन्धियों-की निष्पापता तथा निरोगता तो है न ? अर्थात् आप सब पापों से तथा रोगों से रहित हो न ? दो बातें -पापों का तथा रोगों का अभाव- पूछी हैं; क्योंकि दुष्ट कंस के पास रहने वालों के ब्रह्म हत्यादि पाप भी प्रतिदिन हो सकते हैं और दुष्ट के संसर्ग मात्र से ही सदा बने रहने वाले मानसिक (आधि) तथा शारीरिक (व्याधि) रोग भी हो ही सकते हैं । इसीलिए सबका पापाभाव और रोगाभाव पूछा है, जो दोनों ही पूछने योग्य हैं ॥४॥

श्लोक—किं तु नः कुशलं पृच्छे एधमाने कुलामये ।

कसे मातुलनाम्यङ्ग स्वानां नस्तत्प्रजासु च ॥५॥

श्लोकार्थ—अथवा रोग के समान यदुकुल को पीड़ा देने वाले हमारे मामा कंस का जब अभ्युदय है, तब आपकी, आपके आत्मियों की तथा उसकी प्रजा की कुशल पूछना व्यर्थ ही है ॥५॥

सुबोधनी—कथं द्वयमेव पृच्छयते कुशलादिकं कथं न पृच्छयत इत्याशङ्क्य तत्र विपरीत-निश्चय एवेत्याह किं तु न इति, तुशब्दः कुशलपक्षं व्यावर्तयति, नोस्माकं, सर्वेषामेव बन्धुत्वख्यापनाय पित्रादीनात्मत्वेनैव निरूपितवान्, सर्वतः अकुले कुलस्यैवामयरूपे सर्वप्रासकमहाव्याधी प्रत्यहमेधमाने सति प्रतीकारमकृत्वा किं कुशलं पृच्छे इत्यर्थः, रोगान्तरशङ्काव्यावृत्त्यर्थं नाग

गृह्णाति कंस इति, तर्हि कथमेतावत्कालं शात्वोपेक्षेति चेत् तत्राह मातुलनाम्यङ्गीति, अमारणार्थं रोगे मातुलसंज्ञा जाता, यथा शत्रुब्रह्मिण इति, अङ्गेति सम्बोधनप्रतारणार्थम्, अतः स एव चेदुद्यमं कुर्यात् तदा निवारणे न कोपि प्रयास इति सूचितम्, स्वानां नो बन्धूनां तत्प्रजासु च कुशलं चकारात् कंसप्रजासु ॥५॥

व्याख्यान—अक्रूर से सब की कुशल न पूछ कर केवल पापों, अभाव तथा निरोगता का ही प्रश्न करने का अभिप्राय यह है कि भगवान् को सारे बन्धुओं का कंस से अनिष्ट होने का तो निश्चय हो ही रहा था । इसी को -'किं तु नः'- इस श्लोक से कहते हैं । मूल में 'तु' शब्द का तात्पर्य यह है

आश्रय था यह ? कि अन्य एक के कारण से दूसरों को दुःख उठाना पड़ रहा है; क्योंकि मेरे कारण से ही माना-विना जो वास्तव में आर्य हैं, निरपराधी हैं, अत्यधिक दुःख उठा रहे हैं। इससे यही कहा जा सकता है कि मैंने ही उनका दुःख उत्पन्न किया। शब्दों के द्वारा सम्भावित वह अत्यधिक बड़बोड़ा सा ही होगा - यों न जान लिया जाए- इसलिए -'यद्धेतो पुत्र परणम्'- इन पदों से उसकी गणना करते हैं। इनका आठवाँ पुत्र मुझे मारेगा, इस प्रकार से मेरे गुण को सुन कर व्यर्थ में ही उनके पुत्रों को मार दिया। मैं उनका पुत्र हूँ, इसी कारण से पहले और अन्त में उन्हें बन्धन में डाल दिया गया ॥६॥

श्लोक—दिष्ट्याद्य दर्शनं स्वानां मह्यं वः सौम्य काङ्क्षितम् ।

सञ्जातं वर्ण्यतां तात तवागमनकारणम् ॥७॥

श्लोकार्थ—हे सौम्य! अहो भाग्य है, जो आज हमें अपने आत्मीय बान्धव आपके दर्शन हुए। मैं भी बहुत दिनों से दर्शन की अभिलाषा कर ही रहा था। हे तात! अब आप कृपा करके अपने आने का कारण कहिए ॥७॥

सुबोधिनी—एवगनुतापमुक्त्वा तस्यागमना-
भिनन्दनपूर्वकमागमनप्रयोजनं पृच्छति दिष्ट्येति,
स्वानां यदद्य दर्शनमकस्माज्जातं तद्दिष्ट्या भाग्येन
भक्तानां भगवद्दर्शनं भाग्येनेति, लौकिकभाषा
चेष्टा, यतः हे सौम्य मह्यं मर्मवोपकाराय मत्क-
लाप वा लोकोक्त्या मर्मव चिरकाङ्क्षितं कदा

त्रा दर्शनं मविष्यतीति, सौम्येति सम्बोधनात्
सत्त्वमुभयत्र हेतुरुक्तः, एवमभिनन्दनं कृत्वा पृच्छति
सञ्जातं वर्ण्यतामिति, यद्धृतं साम्प्रतं तद्वर्ण्यताम्,
तातेति सम्बोधनमभयत्वाय, तवागमने कि कारणं
तदपि वर्णय, द्वयं पृष्टम् ॥७॥

व्याख्यान—इस प्रकार शोक प्रकट कर के इस -'दिष्ट्याद्य'- श्लोक से उनके आने पर प्रसन्नता प्रकट करते हुए, भगवान् उनके आगमन का प्रयोजन पूछते हैं। आज सौभाग्य से ही अचानक आत्मीय आपके दर्शन हुए; क्योंकि भक्तों को भगवान् के दर्शन भाग्य से ही होते हैं। यह लौकिक भाषा है, (भागवत में समाधि भाषा ही प्रमाण है, यह ध्यान में रखना चाहिए) इसी लिए भगवान् लोक मत के अनुसार मेरे भाग्य से मुझे आप (अक्रूर) के दर्शन हुए, यों कह रहे हैं, किन्तु यह कहना कि भगवान् के भाग्य से भगवान् को किसी के दर्शन हो, तो, सर्वथा अनुचित ही है तो भी लौकिक भाषा होने के कारण लोक मत का अनुसरण करके ही ऐसा कहा गया है। वास्तव में तो भगवान् के दर्शन भक्तों को भाग्य से ही होते हैं, ऐसा कहना ठीक है और इसी लिए इस श्लोक के प्रथम चरण का अर्थ यहाँ उक्त प्रकार से सङ्गत किया गया है।

हे सौम्य! (सञ्जन) आपके दर्शन लोक रीति (लोक दृष्टि) से ही मेरा उपकार करने के लिए मुझे फल देने के लिए तथा जिसको मैं ही बहुत समय पहले से चाह रहा था कि कब दर्शन होंगे, आज सौभाग्य से प्राप्त हुए हैं। मूल में दिया है 'सौम्य' इस सम्बोधन से सूचित होता है कि दर्शन की इच्छा रखना और दर्शन होना दोनों का कारण सत्त्व है। इस प्रकार से अक्रूर का अभिनन्दन कर के

मैं जान पड़ते हैं। आप भी यह कि आजकल के माध्यम कहिए कि आप कहाँ क्या कर रहा है और इससे बात यह कि आपने यहाँ आने का प्रयोजन कहिए कि आप किस कारण से यहाँ (मोकुल में) आए हो ? ॥७॥

પ્રીશુક ઉવાચ -

श्लोक—पृष्टो भगवता सर्वं वर्णयामास माधवः ।

वैरानुबन्धं यदुषु वसुदेववधोद्यमम् ॥८॥

श्लोकार्थ—श्री शुक्रदेवजी कहते हैं, राजन्! भगवान् श्रीकृष्ण के यों पूछने पर मधुवंशी अक्रूर ने सारा वृत्तान्त कह सुनाया । उसने यह भी कहा कि कंस यादवों से घोर बैर बाँधे हुए है और अभी-अभी वह वसुदेवजी को मार डालने को भी उतारु हो गया था ॥८॥

सुबोधिनी—तदा आमूलं सर्वमेवोक्तवानित्याह पृष्ट इति. भगवता हि पृष्टं अन्तर्यामित्वाद् वक्तव्यगीश्वरत्वाद् वक्तव्यं सर्वज्ञत्वाद् वक्तव्यं आत्मत्वाच्च वक्तव्यमिति, यतोयं माधव इति मधुवंशो-

व्याख्यायं-- भगवान् के यों पूछने पर अक्रूर ने मूल से आरम्भ करके सभी सभाचार कह सुनाए, यह इस -'पृष्ठः'- श्लोक से कहते हैं । भगवान् ने पूछा है, जो अन्तर्यामी, सब ईश्वर, सर्वज्ञ तथा सब आत्मा है और इसलिए अक्रूर स्वयं मधुवंशी है, भक्त है तथा समान गोत्री है, इसलिए भी, सब कह देना ही चाहिए । इस कारण से, उसने कहा कि कंस का यादवों के साथ घोर विरोध और वसु-देवजी को मार डालने तक उद्योग करना भी कह सुनाया ॥८॥

श्लोक—यत्सन्देशो यदर्घं वा दूतः संप्रेषितः स्वयम् ।

यदुक्तं नारदेनास्य स्वजन्मानकद्वन्द्वमेः ॥६॥

श्लोकार्थ—नारदजी उससे कह गए हैं कि आप -श्रीकृष्ण- वसुदेवजी के ही पुत्र हैं । इसके बाद कंस का संदेशा, उसका बुरा विचार तथा इसीलिए कृष्ण, बलदेव और नन्द आदि को -उसकी आज्ञा से- अपने साथ लिवा ले जाने के लिए दूत बनकर व्रज में आना आदि सब बातें अक्रूर ने कह सुनाई ॥६॥

सुबोधिनी—स्वस्य प्रेरणे प्रकारश्च, य एव सन्देशो यस्य व्याजेनानेय इति यवयं वा स्वयं दूतः तेनैव संप्रेषितः अनिष्टभावनया सणाकारणार्थ-मिति, एतस्य सर्वस्यापि मूलं नारदवाक्यमित्याह यदुक्तमिति, नारदोक्तमेव यदति, आनकबुन्दुभेः सकाशात् स्वस्य भगवतो जन्मेति, अस्थ भगवतः

श्लोकार्थ—नन्दजी ने सभी गोपों को अपने गोपों को यह आज्ञा दी कि गोपना तथा भाँति-भाँति की भेंटें लेकर सब अपने-अपने झकड़े तैयार करो ॥११॥

सुबोधिनी—भगवदिच्छया पूर्वं शङ्कितोपि कृष्णतोत्साहं द्रष्टुं सामग्रीं च तम्पादयितुं गोपिनोऽपि गोपान् समादिशत्, अस्ति कश्चिद् रामे वाक्यवत्ता तद्द्वारा समादिशदित्यग्रिमवाक्यादवगन्तव्यम्, तस्याधोषवाक्याह षट्, गृह्यतामित्यादि, सर्वोपि गोरसः, दधिदुग्धात्मकः गृह्यतामिति, गयनार्थं पृथक् क्रियताम्, यत् प्रथमतः कर्तव्यं तदुच्यते, अन्यथा रात्रिशेषे दध्नो मन्थनं स्यात्, दुग्धानां च यथेष्टं विनियोगः, एते गोपालाः

प्रत्येकं सगर्थाः मण्डलाधिपतय इव महाराजाः, न केवलं गोरसमात्रं ग्राह्यं उपायनान्पि गृह्णीध्वमभीष्टानि वस्त्राभरणानि यानि भगवदर्थं युज्यन्ते, तान्येतद्द्वारा नीतानीति तदर्थमेवमुच्यते, एवं पदार्थसम्भृतिमुक्त्वा, साधनसम्भृतिमाह युज्यन्तो शकटानीति, यानि शकटानि गमनयोग्यानि स्वतः वाहनतश्च योजनं सज्जीकरणं चकारात् रथाश्वादिकं च ॥११॥

व्याख्यान—नन्दजी को पहले कंस की तरफ से शङ्का थी ही, किन्तु फिर भी भगवान् की इच्छा से उन्होंने भी कंस के उस खेल के आयोजन को देखने तथा सामग्री तैयार करने के लिए गोपों को आज्ञा दे दी अर्थात् व्रज की रखवाली करने वाले अधिकारी कोतवाल के द्वारा नन्दजी के छ वाक्यों की घोषणा करा दी । (१) सारा ही दूध दही रूप गोरस ले चलने के लिए अलग ले लो । यह पहली घोषणा इसलिए कर दी गई कि महान् राजा की तरह सभी गोप, प्रत्येक समर्थ तथा मण्डलाधिपति हैं । अतः बड़े सवेरे ही दही का मन्थन तथा इच्छानुसार सभी दूध का उपयोग न कर दें । (२) सारा गोरस ले लो, इतना ही नहीं किन्तु भेंटें भी लो । अत्यन्त सुन्दर प्यारे-प्यारे वस्त्रों तथा आभूषणों को, जो भगवान् के उपयोग में लिए जा सकें तथा जो मानों कंस के द्वारा भगवान् के लिए ही मँगाए हैं, भेंट रूप से ले चलने की नन्दजी ने घोषणा कराई । (३) इस प्रकार साथ ले चलने के पदार्थों को इकट्ठा करने की घोषणा के बाद इन पदार्थों को ले चलने के साधनों की भी घोषणा कराई कि सुन्दर तथा मजबूत गाड़े (झकड़े) तथा बड़े तेज चलने वाले वाहन, जो सब सामग्री को ले जा सके, तैयार करो, साथ ही रथ, घोड़े आदि को भी सजाओ ॥११॥

श्लोक—यास्यामः श्रो मधुपुरीं दास्यामो नृपते रसं ।

द्रक्ष्यामः सुमहत् पवं यान्ति जानपदाः किल ।

एवमाधोषयत् क्षत्रं नन्दगोपः स्वगोकुले ॥१२॥

श्लोकार्थ—नन्दरायजी ने अपने गोकुल गाँव में घोषणा करवा दी कि राजा कंस धनुष यज्ञ कर रहे हैं । उन्होंने उसमें हम सबको बुलावा भेजा है । सवेरे गोरस और भेंटें लेकर हम लोग वहाँ चलेंगे । धनुष यज्ञ का उत्सव देखने के लिए अन्य-अन्य गाँवों और प्रान्तों के लोग भी जा रहे हैं, हम लोग भी वहाँ चलेंगे ।

सुयोधितो—एवम्—सामान्य—प्रयोजनमात्र—
यास्याम इति, अ एव मथुरां यास्यामः, तर्हि स्व-
भोजनपर्याप्तमेव गोरसादिकं ग्राह्यमित्याशङ्क्याह
दास्यामो नृपते रसमिति, रक्षकाय ह्यवश्यं देयं
पशो भागस्तस्यैवेति, अतो नृपतेरित्युक्तम्, पूर्वा-
साध्यवृद्ध्या रसा न दत्ताः, अधुना तु कीर्य परि-
त्यज्य उत्सवार्थमाकारयतीति साध्यतापरिज्ञानम्,
ननु निर्बन्धाभावात् शङ्कायास्त्वविद्यमानत्वात्
किमिति गन्तव्यमिति चेत्तत्राह द्रष्टव्यः सुमहत्
पर्वति, इयं चतुर्दशी महत् पर्व, भाद्रपदकृष्णष्ट-
म्यामेकादशवर्षा जाताः, तत्र च धनुर्यागो जायत ।

तत्राह—नन्वाप्यहं, अत्र नान्यत्र जायतीति प्रमा-
णमाह यान्ति जानपदा इति, तत्रापि प्रमाण-
कितेति प्रमाद्वि, इदं सप्तमं वाक्यं प्रमाणत्वाद्
भिन्नमुक्तम्, प्रत्येकं गृहं यथेयं वार्त्ता श्रुता भवति
तथा अघोषयदित्याह एवमाघोषयदिति, क्षत्र-
प्रान्तपुराध्यक्षेण स हि रहस्यवेत्ता भवति, अथवा
गोपान् समीपे समागतानेवगादिशतु, स्वगोकुले तु
क्षत्रा समादिशदिति, एवं सर्वत्र श्रो भगवान्
गमिष्यतीति प्रकारान्तरेण जापनमुक्तम्, सर्वेषां
प्रीत्याधिकषाय ॥१२॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार सब सामग्री को एकत्रित करने और छकड़े, रथ, घोड़े आदि सजाने (तैयार करने) का प्रयोजन - यास्यामः— श्लोक से कहते हैं । (४) हग सब सवेरे ही मथुरा चलेंगे और वहाँ राजा कंस के लिए गोरस देंगे; क्योंकि राजा के लिए-जो रक्षा करता है-छठा भाग अवश्य देना चाहिए । इसलिए (५) भोजन के उपयोग में हम लोग जितना गोरस ले सकेंगे, उसकी अपेक्षा बहुत अधिक गोरस इकट्ठा करके ले चलें, जो राजा कंस के लिए भी भेंट कर सकें । इसी अभिप्राय से मूल श्लोक में नृपति पद कहा है ।

अब तक पहिले उसके लिए गोरस आदि न देने का कारण तो यह था कि वह हम लोगों से बँर करता था, किन्तु अब उसने क्रूरता का त्याग कर हमें भी उत्सव में बुलवाया है । इसलिए अब वह अपने अनुकूल हो गया है, ऐसा जान पड़ता है । (६) कंस ने कोई विशेष आग्रह तो किया ही नहीं है । साधारण बुलावा भेज दिया है, ऐसी दशा में उससे भय न रहने पर भी मथुरा कैसे चला जाय? इसके उत्तर में कहते हैं कि वहाँ चल कर बहुत बड़ा उत्सव देखेंगे । यह चौदस बड़ा पर्व है । भाद्रपद कृष्ण अष्टमी को भगवान् पूरे ग्यारह वर्ष के हुए हैं और वहाँ (मथुरा में) धनुष यज्ञ हो रहा है, तो हमें इस अवसर पर अवश्य चलना चाहिए । इसमें कंस का कोई छल-कपट नहीं है; क्योंकि सभी गाँवों और जनपदों के लोग (जनता) वहाँ जा रहे हैं । यह निश्चय ही प्रसिद्ध है, यह सातवाँ वाक्य प्रमाण रूप से कहा गया है, इसलिए इसको अलग कहा है ।

नन्दजी ने यह घोषणा इस तरह कराई कि हर एक घर में यह बात सुन ली जाए । यह घोषणा सारे रहस्य को जानने वाले, जनानी ढ्योढ़ी के दारोगा से करवाई अथवा सब गोप जनों को अपने पास बुलाकर स्वयं ने और अपने गोकुल में अन्तःपुर के अध्यक्ष के द्वारा घोषणा कर दी । भगवान् में सबकी अत्यधिक प्रीति है ही । इसलिए भगवान् सवेरे मथुरा पधारेंगे, ऐसी घोषणा न कर के, हग सब चलेंगे, ऐसी अन्य प्रकार से ही घोषणा करवाई ॥१२॥

श्लोक—गोप्यस्तास्तदुपश्रुत्य बभूवुर्व्यथिता भृशम् ।

रामकृष्णौ पुरीं नेतुमक्रूरं व्रजमागतम् ॥१३॥

श्लोकार्थ- जाम कृष्ण को मधुरता ही जाने के लिए अक्षर आता है । यह शीपणा नुमने ही मोमियाँ अत्यन्त व्याकुल हो उठी ॥१३॥

सुबोधिनो अतस्तथैव गोपिकानां जातमि-
त्याह गोप्य इति, ताः पूर्वोक्ताः तद् भगवान् गमिष्य-
तीति, यद्यपि लोकाणां स्थाने न कोऽप्युक्तवान्
तथापि लोकाणामेव घोषात् श्रुतमित्याह उपश्रु-
त्येति, श्रवणमात्रेणैव मृशं व्यथिता बभूवुः,
केवलं न निष्प्रपञ्चाः किन्तु भगवदर्थं, तद् भगवति
प्रचलिते स्वकृतं व्यर्थमिति युक्तमेवोक्तं बभूवुर्व्य-
थिता इति, यथा महति पीडायां प्राणस्य क्लेशेषु-
पस्थितेषु मूर्च्छिता भवन्ति तथा जाता इत्यर्थः,

ध्याह्यार्थ—उस घोरणा को सुनकर गोपी जनों की वही दशा हुई अर्थात् उनकी भगवान् में प्रीति अत्यधिक बढ़ गई, यह 'गोप्यः' इससे आरम्भ करके छ श्लोकों से कहते हैं। वे गोपियां—यह सुनकर कि भगवान् मथुरा जाएँगे—अत्यन्त दुःखित हो उठीं। यद्यपि उनके पास जाकर किसी ने उन से नहीं कहा था; क्योंकि उसके पास उस स्थान में उनसे कहने वाला नहीं था, तो भी लोगों की बातचीत से ही इसको सुनकर वे अत्यन्त व्यथित हो गईं। वे अभी पूर्ण रूप से प्रपञ्च का त्याग नहीं कर सकी थीं, केवल भगवान् के लिए ही उनने प्रपञ्च का त्याग किया था। इसलिए भगवान् के गोकुल से पधार जाने पर तो उनका किया प्रपञ्च त्याग व्यर्थ हो जाएगा। इसलिए उनका दुःखित होना उचित ही है। जैसे घोर क्लेशों के आ जाने पर भारी सन्ताप से प्राणों को अत्यधिक पीड़ा से कोई मुन्छित हो जाता है, वंसी ही उनकी दशा हो गई।

कंस ने उन्हें छल से बुलाया हो, यह सोचकर वे दुःखी नहीं हुईं, वे तो सारे ही राम कृष्ण दोनों का ही गोकुल से जाना सुनकर ही व्याकुल थीं; क्योंकि दोनों में से किसी एक (बलदेवजी) के गोकुल में रह जाने पर तो भगवान् का पीछा आ जाना सम्भव भी है, किन्तु दोनों को ही वह तो लिवाने आया है। इसलिए वे सबकी सब ही अत्यन्त व्यथित हो गईं, उनके शीघ्र वापस आ जाने की सम्भावना नहीं है; क्योंकि नगर में चले जाने वाले शीघ्र वापस नहीं आते हैं।

भगवान् के नोकुल से चले जाने की घोषणा भूडी तो नहीं हो सकती; क्योंकि उन्हें ले जाने के लिए अक्रूर आया है। वह अपने इस अक्रूर (क्रूर नहीं) गाम से ही व्रज में आ राका है, अन्यथा वह व्रज में प्रवेश ही न कर पाता। भगवान् के वहाँ से चले जाने की बात को सुनकर उनमें से एक प्रकार की गोपियाँ तो मूर्च्छित ही हो गईं अथवा पूर्णतया दुःखित हो गईं ॥१३॥

श्लोक—काश्चित् तत्कृतहृत्तापश्चात्सम्मानमुखश्रियः ।

स्व'सद्गुरुकुलवलयकेशग्रन्थयश्च काश्चन ॥१४॥

000

श्लोकार्थ—कई गोपियों के मुख कमल उम शोक से उत्पन्न हुए सन्ताप का गर्म साँसों से मुरझ गए । कई गोपियाँ ऐसी शिथिल हो गई कि उनको अपने हाट्टे और बाङ्गुणों के गिर जाने तथा बेरों के खुल जाने तक की भी सुध नहीं रही ॥१४॥

मुबोधिनी--अन्यासा वृत्तिमाह काश्चिदिति,
त्रिगुणा एताः गुणातीता ज्ञानप्रधाना भक्तिप्रधानाश्चेति पञ्चविधाः, तत्र राजस्यो व्यथां प्राप्तव-
त्यः, सात्त्विकप्रसु श्रवणकृतो योयं हृत्तापः तेन
सहितो योयं श्वासः तेन म्लाना मुखश्वोर्यासाम्,
यद्यपि पूर्णज्ञानाः तथापि रागगुणत्वान् बलिष्ठोयं
विषय इति हृत्ताप उत्पन्न एव, तस्यावान्तरकार्यं

श्यासः परमकार्यं मत्तान्तेति, ग्रन्थाः पुनः श्रुत्वा
क्षीणा एव जाताः, महाभये शुष्कदेहाः, अतः
स्वसद्गुफूला जाताः स्वराद्वलयाश्च, केशेषु ग्रन्थ-
योपि स्वसन्तो जाताः, एता ग्रन्थभयेनैव शुष्काः,
सर्वाङ्गे न त्वेकदेश इति, एता एव सात्त्विकव
इति केचित् ॥१४॥

व्याख्यायें--‘वाञ्छित’ इस श्लोक से अन्य गोपियों की दशा का वर्णन करते हैं। ये सारी गोपियाँ--(१) तामसी, (२) राजसी, (३) सात्त्विकी, (४) ज्ञान प्रधान गुणातीता तथा (५) भक्ति प्रधान गुणातीत भेदों से-पाँच प्रकार की हैं। उनमें राजसी (रजोगुणवाली) गोपियों को-जिनका वर्णन ऊपर के १३वें श्लोक में किया गया है-व्यथा हुई- सात्त्विक गोपी जनों की स्थिति का वर्णन इस श्लोक में करते हैं, उनमें सात्त्विक गोपी जनों के मुख कमल भगवान् के मथुरा जाने के समाचार सुन कर होने वाले हृदय के ताप के कारण गरम-गरम साँसों से मुरझा गए। यद्यपि ये पूर्ण ज्ञानवाली-ज्ञान प्रधाना-र्थी, तो भी ये थी तो (सात्त्विकी) गुण वाली ही। इसलिए भगवान् के पधार जाने की घोषणा से उत्पन्न हुए अत्यधिक (बलिष्ठ) हृदय के सन्ताप के कारण उनके साँस गरम हो गए और जिससे उनके मुखों पर म्लानता (मुरझाहट) छा ही गई।

कई अन्य गोपियाँ भगवान् का पधार जाना सुनकर अत्यन्त मयभीत हो गईं और भय के कारण उनके शरीर सूख गए । उनके मन में उत्पन्न हुए महान् भय से ही सारा शरीर क्षीण हो गया, ऐसा शिथिल हो गया कि उन्हें अपने वस्त्रों और कङ्कण आदि आभूषणों के गिरने तथा वेणियों की गाँठों के खुलने तक की भी सुधी नहीं रही ।

अन्य कई व्याख्याताओं के मत से ये गोपी जन सात्त्विकी हैं। श्रीमदाचार्यचरणों ने तो तमो-
गुण से होने वाले महा भय के कारण उनके देहों का सूखना वर्णन करके उनको तामसी गोपीजन
कहा है ॥१४॥

श्लोक—अन्याश्च तदनुष्ठाननिवृत्ताशेषवृत्तयः ।

नाभ्यजानन्निमं लोकमात्मलोकं गता इव ॥५॥

श्लोकार्थ—कई ब्रज बालाएँ भगवान् श्रीकृष्ण के ध्यान में ऐसी लवलीन हो गईं कि उनकी सारी इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो गईं, उनकी सारी क्रियाएँ रुक गईं। उन्हें आत्म

श्लोक में चले गए की तरह उन श्लोक का वाचिक भाव नहीं रहा ॥१५॥

सुबोधिनी- ज्ञाननिष्ठः अन्याश्चेति, तस्य । जानतु, आत्मैव लोकः अहरहर्ब्रह्मलोकः 'गच्छन्तीति' श्रुतेः वस्तुतस्त्वेता समाधिस्थिता इति । भगवतः अनुध्यानेन स्मरणानन्तर प्राप्तेन ध्यानेन निवृत्ताः अशेषाणामिन्द्रियान्तःकरणदेहानां असम्प्रज्ञातत्वं यक्तुं सुषुप्तिर्दृष्टांतीकृता ॥१५॥ वृत्तयो याताम्, ततः सुषुप्ता इव इमं लोकं नाम्ब-

व्याख्यानार्थ—'अन्याश्च' इस श्लोक से ज्ञाननिष्ठ-ज्ञान में श्रद्धा रखने वाली-ब्रजाङ्गनाओं का वर्णन करते हैं । उन्हें भगवान् का स्मरण हो आया और भगवान् के अत्युत्कट ध्यान से उनकी इन्द्रियों, अन्तःकरण तथा देहों के सारे व्यापार (सारी ही चेष्टाएँ) रुक गए । वे गाढ़ी निद्रा में सोई सी हो गई । उन्हें इस लोक का भान नहीं रहा । (अहरहर्ब्रह्मलोकं गच्छन्ति ८/३/२) (प्रतिदिन ब्रह्म लोक को जाते हैं) इस छान्दोग्य उपनिषद् की श्रुति के अनुसार आत्मा ही लोक है । वास्तव में ये गोपीजन समाधि में ही स्थित हैं । यह असम्प्रज्ञात समाधि है, जिसमें अपना भी भान (देहानुगन्धान) नहीं रहता है । इसलिए यहाँ (व्याख्या में) गाढ़ निद्रा का दृष्टान्त दिया गया है ॥१५॥

श्लोक—स्मरन्त्यश्चापराः शीरेरनुरागस्मितेरिताः ।

हृदिस्पृशश्चित्रपदा गिरः संमुमुहुः स्त्रियः ॥१६॥

श्लोकार्थ—कई गोपियाँ श्रीकृष्ण की अनुराग भरी मुस्कान के साथ कहे गए मन को हर लेने वाले मोठे प्रेम भरे शब्दों से युक्त वचनों को याद करके मोहित (अचेत) हो गईं ॥१६॥

सुबोधिनी—भक्तास्तु मूर्च्छिता जाता इत्याह । स्मरन्त्य इति, अपराः कदाचिदपि परभावं नापन्नाः । विचित्राणि पदानि यामु, कदापि न त्यक्ष्यामि । सेवकीभूताः, चकाराद्धदये पश्यन्त्योपि, अत एव त्वं प्राणभूतेत्यादीनि पदान्येव न तु वाक्यानि । अनुरागपूर्वकस्मितेन मन्दहासेन ईरिताः प्रेरिताः, वाक्यार्थाभावात्, तदानीं पदार्थस्मारकत्वेन पदान्येव तानि गिरः स्मृत्वा संमुमुहुर्मूर्च्छिताः, भगवान् गच्छतेति श्रुत्वा पूर्ववच्च न गमिष्यामीति स्मृत्वा उपायोविरोधे निर्धारार्थं यतमानाः अनिश्रयात् मूर्च्छिता एव जाता इत्यर्थः ॥१६॥ भक्तानां परमानन्दं दातुं महाननुरागः भेदेन रसग्रहणार्थं स्मितमिति तेन स्वस्थानात् चालिताः, भगवत एता हृदिस्पृश इति तथाकरणे हेतुः, गिरां वा विशेषणम्, पूर्वं भगवता परमसौख्यार्थं वा गिर

व्याख्यानार्थ—उनमें जो भक्त थीं, वे तो मूर्च्छित हो गईं । वह इस -'स्मरन्त्यः'- श्लोक से कहते हैं । अपर (अन्य) गोपीजन जिन्होंने किसी समय कभी दूसरे के साथ प्रेम नहीं किया था और जो भगवान् की सेवक ही रही थीं तथा अपने हृदय में भगवान् के दर्शन भी कर रही थीं, वे तो मूर्च्छित हो गईं; क्योंकि वे भगवान् के अनुराग भरे मन्दहासा से प्रेरित होकर अपनी वास्तविक स्थिति में विचलित हो गईं, अपने आपको भूल गईं । भगवान् का भक्तों में महान् अनुराग उनको परम आनन्द

सुबोधिनी—एक प्राज्ञस्य भगवद्विषयं यत्-
पिनि न पुनर्निहृत्यते, निरोधान्ते युगलक्षणा-
द्वारश निरूपिताः, तथैवैवा इति, तासां द्वादशधा-
वचनान्युच्यन्ते, अत्रोपात्मन्याः प्रथमतो ब्रह्मा-
वधानात् भगवान्वापनं तं भगवान्, तथाकृतं
साधारण्येन सर्वं, तत्ता बान्धवाः, नयः स्वात्मैर्
एव पञ्चविधाः, तत्र प्रथमा त्रिभिर्ब्रह्मणः उपात्त-
म्भमाहुः अहो इति ॥१६॥

व्याख्यानं—यहा इन गोपियों के वाक्यों से भगवान् का चरित स्पष्ट ज्ञात हो जाता है, इसलिए वह यहाँ दुबारा नहीं कहा गया। तामसों के निरोध की समाप्ति में, दशम पूर्वार्ध के वनोत्सवे अध्याय में दो-दो के रूप में बारह प्रकार के गोपीजन श्लोक बोलने वाली वतला आए हैं। ये भी वैसी ही हैं। इसलिए इनके वाक्य भी बारह श्लोकों में (१६ से ३० तक) कहे गए हैं। यहाँ उपात्मभ के पात्र छ गिनाए गए हैं। उनमें (१) पहला ब्रह्मा है; जिसके कहने से भगवान् भूतल पर पधारे, (२) भगवान्, (३) अक्रूर, (४) साधारण रीति से सारे ही, फिर, (५) रागे-सम्बन्धी, बन्धु-बान्धव और (६) स्वयं गोपीजनों की आत्मा। उनमें 'अहो' इस श्लोक से आरंभ कर तीन श्लोकों से ब्रह्माजी को उपात्मभ देती हैं ॥१६॥

कारिका—अविवेको दुरात्मत्वं दत्तापहरणं तथा ।

त्रिदोषं ब्रह्मणः प्राहुर्व्यवहाराद् यतः कृतम् ॥१॥

कारिकार्यं—(१) अविवेक (१६) और (२) दुष्टता (२०) और (३) दी हुई वस्तु को वापस ले लेना (२१) इसमें ब्रह्मा के तीन दोष गोपियों ने कहे हैं। इन दोषों को ब्रह्माजी ने अपने कर्त्तव्य से प्राप्त किए हैं ॥१॥

सुबोधिनी—आदावविवेकमाहुः अहो इत्या-
श्रयैः जगत्कर्तुर्वेदगर्भस्थाप्यविवेक इति, ननु मया
संयोजनमेव कृतं वियोगकर्ता त्वन्य एवेति चेत्
तत्राहुः विघातरिति, सर्वं विदधातीति अविशेषाद्
वियोजकोपि त्वमेव, तर्हि युक्तमेवेति चेत् तत्राहुः
तव न क्वचिद् दधेति, उत्पादितेषु स्वापत्यरूपेषु
शिक्षार्थं दण्ड्येष्वपि क्वचिद् दया भवति, कश्चित्
शरीरगेव छिनत्ति कश्चित् द्रव्यं कश्चिदिहलोकपर-
लोको कश्चित् विषयानिति, अस्माकं तु भगवान्
सर्वमेवेति केनाप्यंशेन दया चेत् तदंशस्थापनार्थं
वा भगवन्तं स्थापयेत्, तदभावात् क्वचिदपि न
दधेति, ननु भवददृष्टादेव भगवान् गितितः तदप-
गमे गच्छतीति चेत् तत्राहुः, संयोज्य मैत्र्येति,
भगवता सह जीवानां योगे नादृष्टं कारणं वियो-
गजनितत्वात्, सोऽन्तर्गम्यात्मा च, तं प्रार्थयित्वा

बहिराविर्भावयित्वा सहजसम्बन्धव्यतिरेकेणैव
मैत्र्या संयोज्य तान् पुनर्जीवान् भगवत्संयुक्तफला-
भावात् अकृतार्थान् विपुनङ्क्षि वियोजयसि, स
यदि 'पितृलोककामो भवती'त्यादिश्रुतौ सर्वका-
मनासिद्धिरुक्ता, पुनरावृत्त्यभावश्च, 'आनन्दगय-
मात्मानमुपसंकम्प्ये'त्यादावपि तथा, अत्र तु न
कोपि मनोरयोतः परं सेत्स्यति, आवृत्तिश्च भवि-
ष्यतीति सर्वप्रकारेणागिलपितभगवद्वियोगादकृ-
तार्थान् एव जीवानस्मान् विपुनङ्क्षि वियोजयसि,
भवेदप्येतदेवं यदि वियोजने तव वा कश्चित् पुरु-
षार्थः सिध्येत्, अतस्ते विक्रीडितं विशेषकोडारूप-
मेतत् अर्भकचेष्टितप्रायं जातम्, अलौकिकगपि
कृत्वा उत्तमामपि प्रतिगां मृदादिनिर्गितां क्षणा-
देव दूरीकुर्वन्तीति, ब्रह्मणोप्यविवेकः ॥१६॥

व्याख्यायें— ब्रह्मा जी केवल अव्यक्त ही नहीं है वह तो अयोग्य (दुष्ट काम) भी कर रहा है, यह इस 'वस्त्व' श्लोक से कहते हैं। व्याजी, तुमने ही हमारे ऊपर उपकार करने के लिए हमारे श्लोक को दूर करने तथा हमारा मोक्ष होने के लिए भगवान् के मुखारविन्द के दर्शन हम सब को कराए हैं; क्योंकि तुम्हारी प्रार्थना से ही भगवान् यहाँ भूतल पर पधारे हैं, किन्तु पहले जब तक उनके दर्शन नहीं हुए थे तो हमें थोड़ा सा ही शोक आदि था और अभी तो अत्यधिक शोक हो रहा है, इस लिए तुमने यह जो कुछ भी काम किया है, वह भी दुष्ट कार्य ही किया है। यह तुम्हारा कार्य तो मोह कराने वाले उरा नट के समान है, जो पहले तो मोह उत्पन्न कर देने वाली अच्छी-अच्छी वस्तुएँ दिखाता है, फिर अयोग्य कर देता है। तुमने भी हमारे साथ ऐसा ही अनुचित कार्य किया है।

देखिए, तुमने भी पहले तो मोक्षदाता मुख्य मृकुन्द कृष्ण का मुखारविन्द, जिम के दर्शन से मोक्ष प्राप्ति होती ही है और फिर वह भी अनेक सर्व शानियों से घिरे हुए काले-काले केशों (अलकों) से घिरे हुए का दर्शन कराया । काले केश काम रस को उत्पन्न करते हैं । इसलिए श्री मुख काली अलकों से घिरा होने पर इनके श्री मुख को प्राप्त करने का अधिकार नहीं होते हुए भी प्राप्त हो जाता है, यह सूचित किया है; क्योंकि चारों तरफ से मुखारविन्द को घेर कर के रहने वाली ये अलकें-केश-कामरस ही है ।

फिर जो मुखारविन्द सुन्दर नपोल वाला अर्थात् रस का अनुभव करने योग्य है और ऊँची नासिका से सुशोभित होने के कारण, रस से पूर्णतया भरा हुआ (परिपूर्ण) हो कर फूल रहा है। जिसके मन्द-स्मित-(हार्य) का लेश भी (थोड़ा सा गुण) शोक को दूर कर देता है और उस मन्दहार्य की परिसमाप्ति (सारा कार्य) भगवान् के जिस मुखारविन्द की शोभा को ही बढ़ाना है। उस सदा दर्शन करने के योग्य भगवन् मुखारविन्द को तुम ही पारोक्ष्य कर देते हो। भक्तों को सदा दर्शन देना ही एकमात्र स्वभाव वाला भगवन्मुखारविन्द अपने आप अदृश्य नहीं हो सकता है। अर्थात् जिस श्री मुख का भक्तों को सदा दर्शन देते रहना-यही एक स्वरूप (स्वभाव) है; वही अपने आप अदृश्य हो कर दर्शन न देने वाला कैसे बन जाएगा? इसलिए यह काम तो तुम्हारा ही है।

तुम ही अव्यक्त^३ को प्रकट करते हो और व्यक्त^३ को नहीं दिखाई देने वाला करते हो। तुम्हारा पहला काम, अप्रकट को प्रकट करना तो, सब पर उपकार करने वाला होने से अच्छा है; किन्तु यह भगवान् के मुखारविन्द को अहृदय कर देना रूप दूसरा काम तो दुष्टता पूर्ण ही है। ब्रह्माजी! हम अधिक क्या कहें ? देखो, यह कार्य तो तुम्हारे लिए भी दुष्ट ही है अर्थात् इस से आप का मनोरथ भी सिद्ध नहीं होगा, क्योंकि भगवान् भूतल से निज घाम में पधारे तब प्रभासीय लीला में पधारे हैं। ब्रह्मालोक के मार्ग से नहीं पधारे, जो भाग० ११/३१वें अध्याय के ६ से १० श्लोकों में स्पष्ट है, इसलिए ब्रह्माजी का भी मनोरथ सिद्ध नहीं हुआ यह भाव है ॥२०॥

श्लोक—क्रूरस्त्वमक्रूरसमाख्यया स्म नश्चक्षुहि दत्तं हरसे बतान्नवत् ।

येनैकदेशेखिलसर्गसौष्ठवं त्वदीयमब्राह्मणं वयं मध्वद्विषः ॥२१॥

इत्योक्तार्थ—तत्र कुरु श्रवणात् । तुम्ही प्रकृत के रूप में आया है और जिन में हम बुरागचन्द्र के शरीर के एक ही भाग में तेरी गारी मूर्ति की गुन्दरना को देख पाती थी, उन आँखों को मूर्त्ति की तरह हर रहा है ॥२१॥

सुबोधिनी— नन्वक्रूर एव नयति भगवन्तं किमित्यहमुपालम्भ इति चेत् तत्राहुः क्रूर इति, न हि त्वया समानीतः त्वद्वाक्येन समागतः अक्रूरेण नेतुं शक्यः, अतस्त्वमेव भगवन्नयनात् क्रूरात्मापि सन् अक्रूरोहमिति विपरीतं नाम धृत्वा भद्रामङ्गलवारवत्, अन्यथा प्रवेशो न भविष्यतीति, लोकापवादव्यावृत्त्यर्थं तेन रूपेण हरसे, 'चक्षुषश्चक्षुरिति' श्रुत्या भगवांश्चक्षुषश्चक्षुः, युक्तश्चायमर्थः प्रामाणिकत्वात्, इदं पुनश्चक्षुर्न सर्वजनोक्तं किन्तु त्वयैवास्मभ्यं विशेषाकारेण दत्तम्, न हि वत्तं चक्षुः देवादिभिरपि ह्रियते अन्येनापहृतं परं प्रयच्छन्ति, बतेति खेदे, एतदभावे सुतरामन्धत्वमेव, प्राकृतं चक्षुस्तु एतत्प्राप्त्या निवर्तितम्, अतोऽत्यन्तमपकाररूपत्वान्न हतव्यमिति भावः, ननु ये यत् कर्तुं प्रवृत्तास्ते तत् करिष्यन्त्येवेत्युपालम्भो निरर्थक

एवेति चेत् तत्राहुः अज्ञवदिति, अत्रार्थं विमर्शकारित्वाभावात् विवेको बोधनीय इत्युपालम्भ उचित इत्यर्थः, किञ्च, तवाप्यनेन चक्षुषा महानुपकारः सिध्यतीत्याहुः येनैकदेश इति, त्वया हि सौन्दर्यं गृष्टं कश्चित् प्रकाशनीयं, तत् समुदायेन सर्वस्यापि भगवदवयवे एव भवति, तन्मूलकत्वादेव तस्य सौन्दर्यस्य, 'विष्टम्याहमिदं कृत्स्नमिति' वाक्यात्, एकांश एव जगत् तत्राप्येकदेशे सौन्दर्यमिति, रूपग्रहणार्थमेव हि चक्षुषो निर्माणं, रूपं त्वत्त्वं, व्यवहारस्त्वन्धानामपि सिध्यति, अत एव येन चक्षुषश्चक्षुषा तवंवाखिलसर्गसौष्ठवं वयमद्वाक्ष्म, वयं च श्रुतिरूपाः, अन्यथा त्वत्कृतमप्रामाणिकमेव स्यात्, मधुद्विष इति, तवाप्युपकारकर्ता भगवान्, सोऽत्र रमते, तत्प्रतिबन्धोऽपि तवानुचित इत्यर्थः ॥२१॥

व्याख्यानार्थ— भगवान् को अक्रूर ही ले जा रहे हैं । मुझे-ब्रह्मा को-उपालम्भ देने (बुरा भला कहने) से क्या लाभ है ? इसके उत्तर में 'क्रूरस्त्वम्' यह श्लोक कहती है । ब्रह्माजी, भगवान् को तुम ही यहाँ भूतल पर लाए हो उन्हें क्रूर नहीं ले जा सकता । तुम ही भगवान् को ले जा रहे हो । तुम बड़े क्रूर हो । तुमने सोचा कि इस क्रूर नाम से मुझे कोई व्रज में (गोकुल में) नहीं आने देगा । इसीलिए क्रूर तुमने अपना विपरीत (अक्रूर) नाम बदलकर ही तुम यहाँ प्रवेश पा सके हो । अन्तःकरण तो तुम्हारा क्रूर है, फिर भी अक्रूर नाम धर कर ही बेरोक टोक यहाँ आ सकने के लिए ही आए हो और दूसरी बात यह भी है कि यह अक्रूर नाम धरकर इस रूप से भगवान् को ले जाने में लोक निन्दा से भी बच जाओगे; किन्तु तुम्हारा यह नाम तो भद्रा और मंगलवार की तरह सुनने में अच्छा-शुभ सा लगता है । वास्तव में तो जैसे भरणी और मंगलवार अपशुक्ल अनिष्ट कारक ही है, वैसे ही तेरा अक्रूर यह नाम भी सुनने में अच्छा (प्रिय) लगता है; किन्तु हो तुम बड़े दुष्ट हो ।

चक्षुषश्चक्षुः—भगवान् इस श्रुतिप्रमाण से आँख की आँख है । यह चक्षुः सब की आँख नहीं है; किन्तु तुम ने ही विशेष रूप से हमारे लिए दी है । अरे स्वयं दी हुई चक्षुः को तो छोटे देवता ही नहीं हरते हैं । वे तो किसी चीर के द्वारा छीनी हुई आँख को वापस दे देते हैं, परन्तु खेद है कि तुम अपनी दी हुई ही हमारी चक्षुः को स्वयं छीन रहे हो । देखो, इस आँख के न रहने पर तो हम लोग सर्वथा ही अन्धे हो जाएँगे; क्योंकि इस दिव्य आँख के मिल जाने से हमारी प्राकृत चक्षुः तो नष्ट हो ही गई है । इसलिए इस आँख को ले जाने पर तो हमारा बड़ा अपकार होगा । अतः इस हमारी

चक्षुः (अंगनाभू) को मन में जा, यह प्रमाण है। यदि यह प्रमाण नहीं होता तो हमें इस काम को करने लगते हैं वह तो उग को करते ही हैं। तब उपात्म-उपात्म-व्यर्थ ही है, तो उग के उत्तर में कहते हैं कि-अज्ञान-अज्ञानी की तरह बिना विचारे काम करने वाले को ज्ञान (भगवान्) समझ देना उचित ही होता है, इसलिए उपात्म देना अनुचित-विरथक नहीं है। देखो ब्रह्मा! इस आँख से तो तुम्हारा भी बड़ा उपकार सिद्ध होता है; क्योंकि जगत् में सारी सुन्दरता को रचने वाले तुम ही हो और उग को तुम ही कहीं-कहीं थोड़ी-थोड़ी ही प्रकट दिखाते हो। 'विष्ट-म्याहगिदकृत्तन' (मैं इस सारे जगत् को अपने एक भाग (अवयव) में धारण किए हूँ।) और इस गीतावाक्य के प्रमाण से उस सारी सुन्दरता का मूल भगवान् ही है और यह सारा जगत् भगवान् के एक ही अवयव में स्थित है। इस सारे जगत् में भी कहीं-कहीं रहने वाली उस सुन्दरता को अलग-अलग देखने के लिए जनता जगह जगह भटकती न फिरे। उस सारे सौन्दर्य को सभी लोग एक साथ ही भगवान् के एक अवयव में ही देख सकें, इसीलिए तू ने आँखें बनाई है, क्योंकि सौन्दर्य-रूप को देखना आँखों का ही काम है और तभी तेरा आँखें बनाना (रचना) भी सफल है; क्योंकि शरीर के अन्य व्यवहारों को तो अन्ये भी कर ही लेते हैं। रूप को तो केवल आँखें ही देख सकती हैं। इसलिए जिस "चक्षुषश्चक्षु" आँख को आँख से हग तेरी सारी सृष्टि की सुन्दरता को देख रही थी, उसी को तू ले जा रहा है।

देखो, हम श्रुतिरूपा गोपिकाएँ हैं। यदि हम श्रुतिरूप होकर भी, तुम्हारे बनाए कार्य (सौन्दर्य) को नहीं देख सकेंगी तो तुम्हारा यह सृष्टि की रचना करना आदि सारा काम अप्रामाणिक ही होगा। मधु राक्षस के मारने वाले वे भगवान् तुम्हें ब्रह्मा का भी उपकार करने वाले हैं और वे यहाँ ब्रज में रमण (विहार) करते हैं। उनके रमण में विघ्न करना भी (तेरा) अनुचित ही है, ऐसा अर्थ है ॥२१॥

श्लोक—न नन्दसुनुः क्षणमङ्गसौहृदः समीक्षते नः स्वकृतातुरा बत ।

विहाय गेहान् स्वजनान् सुतान् पतीन् स्वदा यमद्वोपगता नवप्रियः ॥२२॥

भ्लोकाथं—कई दिनों की गिब्रता को क्षण भर में तोड़ देने वाले और नवीन से प्रेम करने वाले वे गन्दनन्दन अपने लिए ही व्याकुल बनी हुई तथा अपने लिए ही घरबार, पति, पिता, पुत्र और सारे परिवार को छोड़कर अपनी ही दासों बनी हुई हमारी ओर देखते भी नहीं हैं ॥२२॥

सुबोधिनी—एवं ब्रह्मण उपालम्भमुक्त्वा स्वतन्त्रो भगवान् ब्रह्माणं न मन्यत इत्याशङ्क्य भगवत उपालम्भनमाहुः न नन्दमुनुरिति चतुभिः, यद्यपि भगवान् मार्गान् विधाय स्वयमुदासीन एव तिष्ठति, दूरे स्थित्वा च किञ्चित् करोति न तु सर्वथा, तथापि प्रपत्तिमार्गे न किञ्चित् कृतवान्

नापि शास्त्रं न वा साधनानि प्रमाणवान्येपि
'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि' इति प्रमेय-
बलमेवोक्तवान्. अत उपासकभ्यो भवत्येव, किञ्च,
नन्दसुनुः, भक्तकृपया भक्तिभागेऽपि नन्दस्य पुत्रो
जातः, यत्रैतावद् भवति अप्रयोजके तत्रास्मासु
मनोरथार्थमेव कथं न विलम्बं करोतीति, अतः

एव प्रायेणान्याभिनिवेशो आसिद्धमाहुः क्षणम-
ङ्गसौहृद इति, अनेनैव भङ्गो यस्य तद्वत् सौहृद-
यस्येति, अन्यथा विचार्येद् वा, अत एव न
समीक्षते सम्बन्ध पश्यत्यपि न, न हि गनसौहृदा
दृश्यन्ते, द्रष्टव्या इत्यत्र हेतुमाहुः स्वकृतातुरा इति,
स्वकृते भगवदर्थमेवातुरा दीनाः, बतेति खेदे,
कर्ममार्गेण लोकिकेण स्वकृतातुरेषु समीक्षा
क्रियते, ज्ञानमार्गे तु आत्मत्वेनैव नित्यप्रकाश
इति बहिराविर्भावान् सा पक्षो भगवत्तत्त्वं त्यक्तः,
स्वस्य प्रपत्यधिकारित्वमाहुः विहायेति, 'सर्वध-
र्मान् परित्यज्ये'त्यर्थः, गृहत्यागेन तद्धर्मत्याग उक्त
एव, बाह्याश्चत्वारः आन्तराश्च तथा, बाह्यानां

परित्याग एव, आन्तरस्या तु आन्तर्यामि स्वयम्भ-
विनि, बाह्यानि गन्धर्वनि स्वजना बान्धवाः,
गुप्ताः स्वस्मादुत्पन्नाः, पतयो नियामकाः, विशिष्ट-
त्वात् बाधकत्वात् स्वतन्त्रत्वात् स्वस्येव भोक्तृ-
त्वाभिमानाच्च आन्तरश्च नैषां दास्योपयोगः,
अतस्त्यक्तव्या एव, स्वदास्यमित्येकशब्दार्थ उक्तः,
न तु देशादिरहितस्य, तदप्यद्धा साक्षात् न तु
नागादिद्वारा, एवमुपगतानपि न समीक्षते विचा-
रयत्यपि न, अतः केवलं खेद एव कर्तुमुचितः,
असमीक्षायां हेतुं कल्पयन्ति नवप्रिय इति, अस-
मीचीनमपि नवमेव प्रियं मन्यते, अयमप्येकः
स्वभावः ॥२२॥

व्याख्यान—इस प्रकार ब्रह्मा को उपालम्भ' देकर वे गोपीजन यों सोच कर कि भगवान् तो
सर्वतन्त्र स्वतन्त्र हैं। वे ब्रह्मा की बात को नहीं मानते होगे, साक्षात् भगवान् को ही 'नन्द सूनुः'
इत्यादि चार श्लोकों में उपालम्भ देती है, भगवान् को उपालम्भ देना वे-स्वयं-अयोग्य मान कर
और शास्त्र रीति से उपालम्भ का दिया जा सकने को उचित समझ कर ही वे कहने लगीं।

यद्यपि भगवान् ने अपनी प्राप्ति के लिए अनेक मार्ग बनाए हैं और स्वयं तटस्थ ही रहते हैं।
दूर रह कर भी उनके लिए पूरा पूरा नहीं, किन्तु कुछ न कुछ करते तो रहते हैं। तो भी शरण मार्ग
में तो उन्होंने कुछ नहीं किया, न कोई शास्त्र ही किया और न कोई साधन ही बनाए। प्रमाण वाक्य
में भी सत्य ज्ञान कराने वाले प्रमाण मार्ग, गर्वादा भक्ति मार्ग में भी, "अहं त्वां सर्वं पापेभ्यो मोक्ष-
यिष्यामि" (मैं तुम्हें सब पापों से मुक्त कर दूँगा) केवल प्रमेय (भगवान् का बल) ही बतलाया है,
इस लिए वह उपालम्भ के पात्र है ही।

वे नन्द के पुत्र हैं, भक्त नन्द के ऊपर कृपा करके भक्तिमार्ग में भी नन्दराय के पुत्र हुए हैं।
जब प्रेम में प्रवृत्ति नहीं कराने वाले अप्रयोजक-नन्द पर इतना कर देते हैं। पुत्र तक बन जाते हैं,
तो फिर वे हग पर हगारे मनोरथ को सिद्ध करने के लिए ही गधुरा जाने में विलम्ब क्यों नहीं कर रहे
हैं? इनके यहाँ से शीघ्र चले जाने के लिए तैयार होने से ज्ञात होता है कि इनकी आसक्ति किसी
दूसरे में हो गई है। ये तो क्षण में भी भङ्ग हो जाने वाला प्रेम करते हैं। इनकी मित्रता तो क्षणिक
है। यदि टिकाऊ होती तो ये अपना कुछ विचार तो करते। ये हग लोगों को अब गली-भाँति देखते
भी नहीं हैं। यह ठीक ही है; क्योंकि जिस में रही हुई मित्रता का नाश हो जाता है, उसे फिर कोई
नहीं देखते।

भगवान् ने भी उन्हें विचारना ही था कि, 'कर्म' का क्या मतलब है? किन्तु ही अनुर (धीन) बनी हुई है। मूल में 'धन' शब्द खेद प्रकट करने के लिए कहा गया है।

तमःमार्गं ने भी और लौकिक में भी, अपने लिए व्याकुल रहने वाले भी और अच्छी तरह से ही देखा जाता है। ज्ञानमार्ग में तो भगवान् स्वयं की आत्मा होने से, सदा 'प्रकाश' ही रहते हैं और इस समय भगवान् का स्वयं बाहर प्राकट्य (आविर्भाव) हो रहा है, इसलिए इस पक्ष-मार्ग-का त्याग तो भगवान् ने कर दिया है।

'सर्वं धर्मान् परित्यज्य' (सब धर्मों को त्याग कर इस गीता १८/६६) में भगवान् की आज्ञा-नुसार घर-बार, सगे सम्बन्धी, पुत्र और पतियों का त्याग करके आने वाली ये गोपियाँ स्वयं शरण-मार्ग की अधिकारिणी हैं। घर का त्याग कहने से घर के सारे धर्मों का त्याग भी कह ही दिया गया। बाह्य धर्म और आभ्यन्तर धर्म भेद से धर्म दो प्रकार के हैं। उन में बाह्य धर्म चार प्रकार (गेह, स्वजन, पति और पुत्र) का है और आभ्यन्तर धर्म भी - देह इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण धर्म भेद से- चार प्रकार का है। इन में बाह्य धर्मों का तो त्याग कर देना ही आवश्यक है और आन्तर धर्मों की दास्य भाव के लिए रक्षा करना आवश्यक है।

उन बाह्य धर्मों के त्याग को गिनाती है। घर-बार और उन के धर्मों का छोड़ना ऊपर कह ही दिया गया है। स्वजन- सगे सम्बन्धी, पुत्र जो हम से ही उत्पन्न हुए हैं पति जो हमें अपने अधीन रखते हैं। इन चारों का दास्य भाव में आन्तर धर्मों के उपयोग की तरह उपयोग नहीं है; क्योंकि ये चारों क्रम से १. विशिष्ट, २. बाधक, ३. स्वतन्त्र और ४. अपने आप में भोक्ता होने का अभिमान रखने वाले हैं। इसी लिए इन का त्याग आवश्यक है।

यहाँ मूल में 'स्वदास्यम्' (आप का ही दास भाव) पद से 'मामेकं' (अकेला मुझ को ही) एक (अकेला) शब्द का अर्थ सूचित किया है। हमें तो केवल आप का ही दास भाव वाञ्छित है। देश-काल आदि सब बाधक सामग्री साथ में रखने वाले आप से काम नहीं है। केवल आप से ही काम है और वह भी अद्धा-साक्षात्-आप से ही काम है; क्योंकि हम साक्षात् भगवान् के स्वरूप के ही शरण आई हुई हैं। नाम मंत्रादि द्वारा हम शरण में नहीं आई हैं। इस कथन से गोपियों ने अपना अधिक अधिकार सूचित किया है। इस प्रकार दास भाव को प्राप्त करने वाली हम हैं। जिनका भी भगवान् कुछ भी विचार नहीं कर रहे हैं। इसलिए केवल खेद ही करना उचित है। वे उन की ओर (भगवान् के) नहीं देखने के कारण की कल्पना करती हैं कि भगवान् को नई वस्तु अच्छी (प्यारी) लगती है। अप्रोग्य भी हो, परन्तु नई हो, तो उसी को वे प्यारी समझते (मानते) हैं; यह भी एक प्रकार का स्वभाव ही है ॥२२॥

लेख-नन्दसूनु—इस श्लोक की व्याख्या में दिष्ट सभी वाक्यों का स्पष्ट अर्थ लेखानुसार भी अनुवाद में हो गया है। फिर भी यहाँ लिखा जाता है कि भगवान् को उपालम्भ देने की अनुचित मान कर वे स्वयं ही यद्यपि इत्यादि पदों से समर्थन करती हैं कि भगवान् ने लौकिक कर्म मार्ग, ज्ञान मार्ग आदि अपने बनाए हुए सभी मार्गों में शास्त्र, साधन आदि सब कुछ बतलाए हैं और भक्ति में तो कुछ भी नहीं बतला कर केवल एकमात्र प्रमेय वल ही बतलाया है, इसलिए वे उपालम्भ के पात्र हैं।

सिंघासनं दृष्ट्वा कथं प्रतियास्यति, न हि शयनं युक्तमेव नरकात्
उत्तमं गमनमार्गस्वापि विस्मृतत्वात् अमनसः ।

व्याख्यानार्थ — आज उन मयुरावासियों को भले ही सुख हो, कल या परसों, जब भगवान् वहाँ वापस पधारेंगे, तब हमें भी सुख हो जाएगा, ऐसी शंका में -'तासां'- यह श्लोक कहती है। भगवान् मुकुन्द मोक्ष देने वाले हैं, इसलिए वे हमें शास्त्रानुसार मुक्ति ही देवेंगे और उन नगर की स्त्रियों की तो भीठी-मीठी, मनोहर तथा अन्त में अच्छी उत्तम अनेक वाणियाँ होंगी; जिन की एक वाणी भी काम को पूरा कर सकती है, वहाँ तो बहुत सी वाणियाँ होंगी। वे भगवान् के चित को हर लेंगी और चित के आधीन ही पुरुष हो जाया करते हैं, इसलिए भगवान् वहाँ नगर में ही रहने लग जाएँगे।

यद्यपि नन्दरायजी भगवान् के साथ हैं, इसलिए वे पराधीन हैं। अर्थात् दूसरे की (स्त्री की) इच्छा से ही भोग में प्रवृत्ति करते हैं अथवा बालक होने के कारण नन्दरायजी के आधीन रह कर ही प्रवृत्ति करते हैं। किसी काम में लगते हैं और वे स्वयं भी चतुर तथा जितेन्द्रिय हैं, तो भी वे हमारे पास कैसे लौट आवेंगे, क्योंकि हम लोग तो पहले एक बार इस रस का भोग कर चुकी हैं और मोक्ष प्राप्त कर चुकीं जैसी हैं, अतः अब वे लौट कर हमारे पास नहीं आवेंगे। भगवान् भी जैसे अभी नन्दजी के आधीन हैं, वैसे ही किसी ओर के भी आधीन हो जाएँगे और इसी तरह हमारी जैसी भी बहुत सी स्त्रियाँ और भी हैं ही।

मूल गे-अबला-यह सम्बोधन सुनने वाली हमारी सब की इस विषय में सामति को अथवा इस विषय का हमारे पास कोई उपाय नहीं है, इन दोनों अर्थों को सूचित करता है, क्योंकि हम तो अबला हैं, कुछ कर ही नहीं सकती और हम तो ग्राम्या हैं, (गुंवारियाँ, गाँवाड़ियाँ) हैं। इस कारण से भी भगवान् फिर हमारे पास नहीं आएँगे।

यद्यपि ग्राम (गाँव) का रस मुख्य होता है। इस ग्राम्य रस के कारण भगवान् के पीछे पधारने की सम्भावना तो हो जा सकती है, तो भी सब को ही नगर की स्त्रियों का उपभोग करते हुए बहुत समय (कई दिन) बीत जाएगा। तब रस को छोड़ कर भगवान् पछे पधारेंगे या नहीं, ऐसी शङ्का के रहने से पीछे कैसे पधारेंगे, इस प्रकार पीछे आने के प्रकार संबन्धी प्रश्न किया है।

प्रेम में प्रथम प्रवृत्ति होने पर लज्जा होती है, फिर मन्द-मन्द मुसकराहट होती है और तदनन्तर विलास होते हैं। इन को पाने के लिए इनमें ही भ्रमण करता रहता है। अर्थात् नगर की स्त्रियों के गोल (मण्डल) में भ्रमण करते रहने वाले भगवान् फिर हमारे पास काहे-को आवेंगे, क्योंकि भ्रम उत्पन्न हो जाने पर बाहर निकलने का मार्ग ही नहीं सूझता। भ्रम शब्द से दो अर्थ हैं १. गोल मण्डल में फिरते रहना और (२) गन का स्थिर नहीं रहना-भटकते फिरना-। यहाँ इस-भ्रम-शब्द का इन दोनों अर्थों में ही प्रयोग है, जो भ्रम भगवान् के योग्य तो नहीं है, फिर भी वे भ्रमण करते हुए भगवान् हमारे पास क्यों आवेंगे? नहीं आएँगे, यह भाव प्रतीत होता है ॥२४॥

श्लोक—अद्य ध्रुवं तत्र दृष्टो मविष्यते दाशार्हभोजान्धकवृष्णिषात्वताम् ।

महोत्सवः श्रीरमणं गुणस्पर्शं द्रक्ष्यन्ति ये चाध्वत्ति देवकीसुतम् ॥२५॥

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८ ९ १० ११ १२ १३ १४ १५ १६ १७ १८ १९ २० २१ २२ २३ २४ २५ २६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

सर्वस्वभूत ताननाम्नास्य नयतीति, आश्वासनं हि भगवन्तमानीय केनचिद्रूपेण वा अत्र स्थापयित्वा समागमिष्यामीति वाग्वन्धं वा कारयित्वा पश्चात् नयनमुचितम् न तु धनादिदानं, यतो भग-

वान् प्रियान् प्राणादपि प्रिया आत्मयोगिण, नयनं धनं गोचारवन्धम्, किञ्चिद्व्यन, पारं, यय गतः तस्मिन् दिवसे नायाति ॥२६॥

व्याख्यान्य—इस तरह चार प्रकार से भगवान् को उपालम्भ देकर इस 'मत्तद्विघस्य'-श्लोक से अक्रूर की निन्दा करती हैं। नाम तो सब के अपने-अपने गुणों के अनुसार ही रखे जाने चाहिए। कठोर, निर्दयता आदि धर्म तो अन्तःकरण के हैं। इसलिए बिना विचारे ही इन का यह नाम रक्खा है। इसका अक्रूर नाम नहीं होना चाहिए था। अरी, जो सब को मारे डालता है, उस का नाम अक्रूर क्यों होना चाहिए? सब का संहार करने वाले का नाम तो "आक्रूर" (पूर्णतया क्रूर) होना ही उचित है; क्योंकि यह तो अत्यन्त ही दारुण है।

वह तो (बेचारा) काम के लिए आया है। इसलिए वह क्या करे? उसे तो अपने स्वामी कंस का काम करना ही चाहिए, ऐसी शंका के उत्तर में कहती हैं कि देखो, यह तो अत्यन्त दुःखी हम गोपीजनों को बिना किसी तरह का आश्वासन दिए ही, हमारे सर्वस्वभूत भगवान् को दूर ले जा रहा है। इसको तो भगवान् को पीछा लाकर किसी भी प्रकार से, मैं भगवान् को तुम्हारे पास रखूँगा, ऐसी प्रतिज्ञा, स्वयं करके अथवा मैं तुम्हारे पास पीछा लौट आऊँगा ऐसी प्रतिज्ञा भगवान् से वाणी द्वारा करा कर, फिर ले जाना उचित था। इसने तो ऐसा कुछ नहीं किया और बिना आश्वासन दिए ही, ले जा रहा है। गोपीजनों को धन आदि देने से आश्वासन नहीं मिल सकता; क्योंकि उन्हें तो भगवान् प्राण से ही नहीं, आत्मा से भी अधिक प्यारे हैं, भगवान् जैसे गोचारण-गाएँ चराने-को जाते हैं, वैसे अक्रूर का ले जाना नहीं है, यह तो भगवान् को इतनी दूर ले जा रहा है, जहाँ जाकर उसी दिन वापस नहीं आया जा सकता है! ॥२६॥

श्लोक—अनाद्रंधीरेष समास्थितो रथं तमन्वमो च त्वरयन्ति दुर्मदाः ।

गोपा अनोभिः स्थविरैरपेक्षितं दैवं च नोद्य प्रतिकूलमोहते ॥२७॥

श्लोकार्थ—देखो, पत्थर का सा कठोर हृदय वाला यह रथ पर चढ़ रहा है। साथ ही ये अज्ञानी गोप भी छकड़े जोतने की जल्दी कर रहे हैं और बूढ़े-बूढ़े लोग भी इनको जाने से नहीं रोक रहे हैं। आज हमारा दैव ही हमसे प्रतिकूल है ॥२७॥

सुबोधिनी—सर्वनिबोधात्तन्मते अनाद्रंधीरेष इति, गोपिकाव्यतिरिक्तानां सर्वेषामेव महानुत्साहः, अतः सर्वे प्रातरेव भुक्त्वा अक्रूरव्यतिरिक्ता रथारूढा जाताः, शकटारूढाश्च, भगवानपि यशोदादिगिरम्यनुज्ञातः सम्यगेवास्थितौ रथं, अस्मिन्नपि समये अस्मद्विचारं न कृतवानिति

अनाद्रंधीरेष कृष्णो दृश्यते, न तु सोऽस्मान् पश्यति किञ्च, तमनु यावन्तो गोपाः ते सर्वे दुर्मदाः विचाररहिताः, परधातेपि क्लेशरहिताः, अमी त्वरयन्ति यतस्तथैव दृश्यन्ते, चकारादक्रूरोपि, ते च शकटारूढा इति तेषां चलनक्लेशभावश्च, पश्चात् स्थितशकटानुरोधेन गन्तव्यं पततीति अनोभिः

नामार्थं वाच्यं न ह्यपि नान्दादयो कृद्वा जनादयो
इति चेत् तत्राह. स्थविररूपेक्षितगतिः. तथा
निचारेण तथा गोप्यमथवा नाग्यस्तथैव नान्दाद-
यस्तथैव वसुदेवादय इति, नन्वदृष्टं प्रार्थयन्तु यथा

व्याख्यानार्थ - 'अनाद्रीधी' इस श्लोक से सब को ही दोष देती है । गौणिकाओं के अतिरिक्त सब ही को मथुरा जाने का बड़ा उत्साह है । इसलिए सब ही राबरे ही भोजन कर के अक्रूर के बिना रथों और छकड़ों पर सवार हो गए हैं । भगवान् भी यशोदाजी आदि की मथुरा जाने के लिए अनु-मति पर रथ पर भली-भाँति विराज गए हैं । भगवान् ने इस समय भी हमारा कुछ विचार नहीं किया । इसलिए ये श्रीकृष्ण कठोर हृदय वाले मालूम पड़ते हैं, ज्ञात होता है कि हम लोगों को तो वे देखते भी नहीं ।

यहाँ जितने भी गोप हैं, वे सारे ही विचार हीन और दूसरों की हत्या होते देख कर दुःखित नहीं होने वाले ही दिखाई देते हैं; क्योंकि वे भी जाने की जल्दी मचा रहे हैं। वैसे ही अक्रूर भी जाने की जल्दी कर रहा है। पेंदल चलने के क्लेश से बचने और पीछे वचे हुए रथों, छकड़ों से पीछे जाना पड़ने के भय से ही सारे ही गोप सवार हो गए हैं। ये सब गाड़ों से-जाने के साधनों से-जाने की जल्दी कर रहे हैं। इस समय उपनन्द आदि वृद्ध गोपों से भगवान् को रोकने-मथुरा न जाने देने-की प्रार्थना करना अनुचित है। उन्होंने भी उपेक्षा कर ली है; क्योंकि उनकी दृष्टि में तो जैसी गोपियाँ हैं वैसी, ही मथुरा की स्त्रियाँ हैं और नन्द आदिक भी वैसे ही हैं जैसे वसुदेव आदि हैं। भगवान् के पधारने में विघ्न हो जाए, अथवा कोई अड़चन हो जाए इसके लिए अपने अदृष्ट से प्रार्थना करो, ऐसा कहा जाए तो इस के उत्तर में वे कहती हैं कि अपना देव तथा काल देश आदि आज अपने विपरीत काम करने वाले हैं ॥२७॥

श्लोक—निवारयामः सम्पुपेत्य माघवं किं नोकरिष्यन् कुलवृद्धबान्धवाः ।

मुकुन्दसङ्गात् निमिषाधंदुस्त्यजात् दैवेन विध्वंसितदीनचेतसाम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—चलो, हम सब मिलकर श्रीकृष्ण को न जाने दें (रोक दें), ये कुल के बड़े-बूढ़े और बन्धु-बान्धव हमारा क्या कर लेंगे ? हम आधे पल के लिए भी श्रीकृष्ण का साथ नहीं छोड़ सकतीं । दुर्देव के कारण आज वही हम से विछड़ रहे हैं ॥२८॥

सुबोधिनी - स्वप्रवृत्तिबन्धकत्वेन बान्धवानु-
पालगन्त्यः तानवगणयन्ति निवारयाम इति,
सर्वाभिः सम्भूय भगवान्निवारणीयः, तथा सति
वान्धवाः कोपं करिष्यन्तीति चेत् तत्राहुः कि
नोकरिष्यन्निति, नोस्माकं किमकरिष्यन्निति कि
पूर्वं कृतवन्तः, करिष्यन्ति वा, ते हि कुलस्यैव
वृद्धा बान्धवाः कुलापेक्षायां सत्यां कुले स्थापयन्ति
नत्वतिरिक्तं किञ्चित् कुर्वन्ति, भगवतः कुलस्य
च तारतम्ये विचार्यमाणे कुलं बन्धकं भगवान्
प्रकुन्दः, किञ्च, तस्य सङ्गं साक्षात् रा तु निमिषा-

धर्मणि दुस्त्वजः, तस्माद्विदो देवेनैव स्वायदेनैव
विध्वंसिताः अत एव दीनचेतसः, तेषां कुलरयैर्न
किञ्चित् कर्तुं शक्यते, यदि ते भगवते दद्युः तर्हि
कुर्युरेव, तय तु न कुर्वन्तीति, प्रतिबन्धकत्वात् न
तैः किञ्चित् कार्यं, अपकारश्चोऽस्माकं स्वतः
एव सिद्धः पिष्टपेषणं तैः किं कर्तव्यमिति, ननु
निवारणे किं भविष्यति यदि नागमिष्यति तत्राहुः

माधवमिति, नः । न लक्ष्मीपतिः बलान् त्वया गृही-
तमन्दीयो जातः एवमस्मदीयोऽपि भविष्यतीति,
यत्ने कृते तु नास्माकं बुद्धिदोषः अकृते तु पश्चा-
त्तापो भविष्यतीति भावः, पश्चात्तापाभावाद्यमेव-
मुच्यते न तु कार्यं भविष्यतीति, तथापि न
सर्वासां सम्मतिरिति लौकिकालौकिकपरमार्थ-
दृष्टियुक्ताभिरप्रवृत्तमिति ॥२८॥

ध्याल्यार्थ—‘निवारयामः’ इस श्लोक से अपने काम में बाधा करने वाले बन्धुबान्धवों को दोष
देती हुई उनकी अवगणना (अवहेलना) करती हैं कि हम सब मिल कर भगवान् को जाने से रोक दें,
चलो । यदि ऐसा करने से हमारे कुल के बड़े-बूढ़े रोष करेंगे भी तो वे हमारा क्या कर लेंगे ? उन्होंने
हमारा पहले क्या कर लिया और अब भी क्या कर लेंगे; क्योंकि वे तो अपने कुल के ही वृद्ध बान्धव
हैं । वे तो कुल की अपेक्षा होने पर हमें अपने कुल में ही रख सकते हैं, इस से अधिक कुछ नहीं
कर सकते ।

भगवान् तथा कुल की तुलना का विचार करने पर कुल तो बन्धन करने वाला है और
भगवान् मुकुन्द मोक्ष देने वाले हैं । यदि उनका साक्षात् सङ्ग होता है तो वह तो हम से आँख से
आधे पलक पर भी नहीं छोड़ा जा सकता है; क्योंकि मुकुन्द के संग के लिए ही हमारे दुर्देव ने हमें
कुल से नीचे गिरा दिया है । इसलिए मुकुन्द भगवान् के सङ्ग में विघ्न (विछोह) करने वाला अपना
देव (अदृष्ट) ही है और इसी से हम लोगों का चित्त दुःखित है । इसका कोई भी उपाय अपने
कुल में रहने वाले बन्धु बान्धव कोई करने वाले नहीं हैं; क्योंकि यदि वे हमारे लिए भगवान् को दें
तो कुछ किया भी माना जाए ।

परन्तु वे ऐसा नहीं करते हैं, वे तो उल्टे हमारी प्रवृत्ति को रोकने वाले हैं । हम से उनका
कोई प्रयोजन नहीं है : हम मरें या जीवें, वे तो हमारा अपकार करना चाहते हैं, जो उनके द्वारा ही किया
जा रहा है । अब फिर अपकार करना तो पीसे घान्य का दुबारा पीसना जैसा ही है । वह निरर्थक
है, इसलिए कुल के बड़े बूढ़ों से कुछ भी अच्छी आशा नहीं करनी चाहिए ।

यदि भगवान् हमारे पास नहीं आवेंगे तो यहाँ हमारा उनको रोकने से भी क्या लाभ है ?
ऐसी शंका के उत्तर में कहती हैं कि वे माधव हैं । उन लक्ष्मीपति भगवान् को लक्ष्मीजी ने बलपूर्वक
पकड़ लिया है और वे (भगवान्) उन (लक्ष्मीजी) के बन गए -आधीन हो गए- हैं । इसी तरह से वे
(रोकने पर) हमारे भी हो जाएँगे, उनको रोकने का प्रयत्न कर लेने पर हमारी बुद्धि का दोष मिट
जाएगा और प्रयत्न ही न करेंगे तो फिर पश्चात्ताप ही करना होगा, यह अभिप्राय है । पीछे पछ-
ताना न पड़े, इसीलिए यह साहस करना चाहती हैं । काम सिद्ध हो, इसलिए नहीं, यह तात्पर्य है । तो
भी भगवान् के रोकने में सबकी सम्मति न होने से लौकिक, अलौकिक तथा परमतत्त्व में दृष्टि वाली
गोपिकाओं ने भगवान् को नहीं रोका ॥२८॥

श्लोक—यस्यानुरागतललितस्मितवल्गुमन्त्रलीलावलोकपरिरम्भणरासगोष्ठ्याम् ।

नीताः स्म नः क्षणमिव क्षणदा विना तं गोप्यः कथं न्वतितरेम तमो दुरन्तरम् ॥२९॥

सुबोधिनी—रास-प्रसङ्गः ॥ १२६ ॥ रास-प्रसङ्गः ॥ १२६ ॥ रास-प्रसङ्गः ॥ १२६ ॥
तिरछे कटाक्ष और आलिङ्गन के मुख से इतनी बड़ी रात एक क्षण के सगान बान
गई, उन-अन्धकार-के बिना हम कैसे जी सकेंगी ? हे गोपियों ! उस अपार विरह के
दुःख को हम कैसे सहेंगी ? ॥२६॥

सुबोधिनी—ततो निराशा आत्मानमेवोपा-
लभन्ते द्वयेन, दुःखाभावं सुखं च स प्रयच्छतीति
तदभावे कथं दुःखनिवृत्तिः, कथं वा अनिवृत्ति
सत्यां जीविष्यामः गरणे वा भगवत्तं न प्राप्स्याम
इति किं वा भविष्यामः, यस्यानुरागेति, अनुरा-
गादयो भगवद्वेषः, अनुरागपूर्वकं यत् स्मितं
तत्पूर्वका ये वत्सुगमन्त्रा गुह्यभाषणानि तत्सहिता
लीला तत्पूर्वकोपगवलोकः ततोधिकरसोद्गमार्थं
परिरम्भो रासश्च एतेषां या गोप्त्रिसमूहः, अवसरो
देशकालसहितः, तस्यां क्षणदा रात्रयः क्षणमिव

नीताः, नात्र विविच्य प्रमाणं वक्तव्यं स्मेति
प्रसिद्धिः सर्वगोपिकानुभवसिद्धम्, या रात्रयः
अन्येभ्यः क्षणं प्रयच्छन्ति अतस्ता बहुक्षणा
भवन्ति, ता अपि क्षणमिव नीताः, अतः पर तं
बिना तदीयसर्वसामग्र्यपगमे चन्द्रादीनामप्यपग-
मात् तत्र एव निश्चलं स्थास्यति, तत् कथं तरे-
मेति एकापि रात्रिर्न गमिष्यतीति भावः, वस्तुतः
कृष्णत्रयोदशीयम्, अतोन्धकारः सिद्धः आन्त-
रोगि ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—दुःख का अभाव और सुख वे भगवान् ही देते हैं । इसलिए उनके बिना अपना
दुःख दूर कैसे होगा ? दुःख दूर-सुख नहीं हो; तो जीवन कैसे होगा ?-कैसे जीवेंगी अथवा भगवान्
के न मिलने पर अपनी कंसी दशा होगी ? इस प्रकार से निराश होकर वे अपने आपको 'यस्य' इन
दो श्लोकों से दोष देती हैं । वे कहती हैं कि अनुराग-प्रेम-आदिक भगवान् के हैं । प्रेम पूर्वक हास्य,
हास्य सहित गुह्य भाषण, गुह्य भाषणों के साथ भाँति-भाँति की विविध लीलाएँ, लीला पूर्वक सरस
चितवन और फिर अत्यधिक रस उदय होने के लिए आलिङ्गन तथा रास कोड़ा इन सबका समूह
एवं इन सबके साथ-साथ उस देश काल में भगवान् का पधारना इत्यादि अवस्था में क्षणदा-रात्रियाँ-
क्षण मात्र जैसी बिताई । इस विषय का विशेष विवेचन करके प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है;
क्योंकि मूल में 'स्म'-शब्द के द्वारा इसको प्रसिद्धि बतादी गई है अर्थात् 'स्म' शब्द इसका सूचक है,
यह सारी बात गोपिकाओं के अनुभव से सिद्ध हुई, हुई है ।

जो रात्रियाँ औरों को बहुत आनन्द (क्षण) देती हैं । इसी से वे 'बहुक्षणा' बहुत क्षण (सुख)
वाली होती हैं । वे ऐसी भी रात्रियाँ हम लोगों ने एक क्षण जैसी ही बिताई थीं । अब उन-भगवान्-के
बिना उनकी ऊपर कही सारी सामग्री के नले जाने पर चन्द्रमा आदि के भान रहने से अन्धकार ही
स्थिर रहेगा । उस घोर अन्धकार को हम लोग कैसे पार करेंगी ? अभिप्राय कहने का यह है कि एक
भी रात नहीं बीतेंगी, (भगवान् के बिना एक भी रात नहीं बीता सकेंगी) । वास्तव में तो उस दिन
कृष्ण पक्ष की तेरस थी । इसलिए अन्धकार हो ही रहा था और गोपीजनों के हृदयों में भी अंधेरा
ही गया ॥२६॥

श्लोक—यो ह्यक्षये व्रजमनन्तसखः परीतो गोपे विशत्खुररजश्चुरितालकस्रक् ।

वेणुं कृष्णन् स्मितकटाक्षनिरोक्षणेन चित्तं क्षणोत्पमुमृते न कथं भवेम ॥३॥

व्याख्यानार्थ—मित्रों के रुदन कथन से भगवान् मथुरा नहीं जाएंगे, ऐसा मानकर कृतमित्र हो जाने पर गोकुल से निकल नज्दने का समय हो गया, ऐसा जानकर वसुदेव आदि का कार्य सिद्ध करने वाले 'कृतमित्र' कंस का भी, मित्र का भी, कार्य करने की इच्छा वाले अथवा सन्ध्यावन्दन अथवा अवश्य करने के काम को पूरा कर लेने वाले अक्रूरजी रथ रथ को हाँकने लगे ।

'तिष्ठेदासूर्यं दर्शनात्' (याज्ञ. १-२५) सूर्योदय होने तक प्रातः सन्ध्या में पूर्व में मुख करके बैठे रहे, इस प्रमाण से यह भी जाना जाता है कि वह -अक्रूरजी- सूर्योदय होने तक कर्म ही करते रहे अथवा अग्निहोत्र आदि करने के समय में (जो अग्निहोत्रादि करने का शास्त्रोक्त समय है, उसमें) यात्रा नहीं करनी चाहिए । अतः अब दूसरे प्रकार से, गोकुल में रहने की वासना का त्याग करके अन्य, मथुरा जाने की वासना में चित्त लगा देने वाले अक्रूरजी रथ को हाँकने लगे ॥३२॥

लेख—'स्त्रीणां' इस श्लोक की व्याख्या में -'वा'- पद से सन्ध्यावन्दन का कार्य सर्वदा करने का नहीं होने से दूसरा पक्ष किया है । 'कृतमित्रः' गुदा इन्द्रिय का देवता मित्र है, इसलिए उस गुदेन्द्रिय का कार्य मैत्र अवश्य करने का है । वह मैत्र कार्य जिसने सबसे पहले कर लिया है, वह कृतमित्र शब्द का अर्थ है । ऐसा अर्थ प्रथम स्कन्द में -इस शब्द का- किया है । उसी के अनुसार मैंने (लेखकार ने) बतलाया है ।

श्लोक—गोपास्तमन्वसज्जन्त नन्दाद्याः शकटैस्ततः ।

आदायोपायनं भूरि कुम्भान् गोरससम्मृतान् ॥३३॥

श्लोकार्थ—नन्द आदि गोप भी उनके साथ ही अनेक तरह भेटों और गोरस के मटकों को छकड़ों में लाद कर चल दिए ॥३३॥

सुबोधिनी—ततो गमनोत्सवो जात इति | सम्मृतान् कुम्भांश्चादाय, अवश्यगमने अत्यासक्तौ वक्तुमाह गोपा इति, तं भगवद्वयं अनु प्रसज्जन्त, च तेषाः हेतुरुक्तः, भगवत्परिपातितानां रसो भग- तत एव हेतोः ततो गोकुलाद्वा, उपायनं गोरस- | वर्तव भोक्तव्य इति ॥३३॥

व्याख्यानार्थ—फिर मथुरा जाने का उत्सव हुआ, यह इस -'गोपाः'- श्लोक से कहते हैं । भगवान् के रथ के पीछे सब ही गोपों ने अपने-अपने रथ जोत दिए (ततः) इसी कारण से अथवा गोकुल से चलने लग गए । भेटों और गोरस से भरे हुए घड़ों-कलशों से छकड़े भर लिए । इस कथन से उनका मथुरा अवश्य चले जाना तथा भगवान् में अत्यन्त आसक्ति प्रदर्शित होती है; क्योंकि उन गावों के -जिनका भगवान् ने भली-भाँति पालन किया है- गोरस का भोग तो भगवान् को ही करना चाहिए, इस विचार से ही गोरस के कलश -भगवान् के भोग के लिए- साथ लेकर चले ॥३३॥

श्लोक—गोप्यश्च दयितं कृष्णमनुव्रज्यानुरञ्जिताः ।

प्रत्यादेशं भगवतः काङ्क्षन्त्यश्वावतस्थिरे ॥३४॥

श्लोकार्थ—दुःखित नायिका उस स्थान पर गई और प्रियतम आकुण्ठ की प्रेम भरी चितवन से अनुराग वाली होकर उनके सन्देश की प्रत्याज्ञा में खड़ी रहीं ॥३४॥

सुबोधिनी—ततो गोपिकारोदने पूर्ववद् भगवानन्तः प्रवृत्त इति विशेषमनुवत्त्वा पूर्ववदेव सिद्धत्वात् अग्रिमवृत्तः तमेवाह गोप्यश्चेति चतुर्गिः गोप्यश्च भगवत्सङ्गे गताः सूक्ष्मरूपाः स्थूलास्तु दधितं भर्तारं कृष्ण सदानन्दमनुस्रज्य कियद्दूरे सङ्गे गताः ततो भगवता अनुरक्षिताः स्वरागेण रक्ताः गन्धप्रदेशे प्रत्युत्तर भगवतः काङ्क्षन्त्यः किमस्माभिरागन्तव्य स्वामिना वा आगन्तव्यमिति नान्यः प्रकारोऽस्ति निस्तार इति अवतस्थिरे तथैव स्थिताः ॥३४॥

व्याख्या— गोपियों के रुदन करने पर भगवान् जैसे पहले अन्तर्गृहगता के प्रसङ्ग में हृदय में (अन्तः) प्रकट हुए थे, उसी प्रकार से भीतर हृदय में प्रकट हुए। भगवान् मे सूक्ष्म वज्र भक्तों का स्थूल गोपिकाओं से साधुज्य रूप विशेष भी यहाँ भी पहले जैसा ही सिद्ध है, इसलिए उस विशेष को न कह कर आगे का (रथ को हाँकने वा) वृत्तान्त ही - 'गोप्यञ्च' - इत्यादि चार श्लोकों से कहा जाता है। सूक्ष्म रूप गोपीजन तो भगवान् के साथ ही चली गई और स्थूल रूप तो स्वामी सदानन्द श्रीकृष्ण के पीछे-पीछे थोड़ी दूर तक गई। फिर वे भगवान् के प्रेम से अनुरक्त होकर, क्या हम लोग साथ आवें अथवा स्वामी ही वापस पधार आवेंगे? क्योंकि जीवन के निर्वाह का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इस प्रकार से भगवान् के उत्तर की आशा रखती हुई गोकुल और मथुरा के बीच के स्थान में उसी प्रकार (चित्र लिखी सी) खड़ी रहीं ॥३४॥

लेख—'गोप्यः' इस श्लोक की व्याख्या में -'पूर्ववत्'- पद का अर्थ अन्तर्गृह्यता के प्रसङ्ग की तरह का है। -'इति'- इस हेतु से पहले की तरह से ही सूक्ष्म गोपीजनों का सायुज्य प्राप्ति रूप विशेष स्थूल गोपियों से सिद्ध ही है, इसलिए उस सायुज्य प्राप्ति रूप विशेष पूर्व वृत्तान्त को न कह कर रथ को हाँकने के बाद वृत्तान्त ही कहा गया है, यह भाव है।

- 'गोप्यः' - (गोपियाँ) शब्द का सम्बन्ध - 'भ्रन्वसज्जन्त' - (पीछे तैयार हुई) शब्द के साथ है, यहाँ उसका विवरण करते हुए - 'च' - (और) शब्द से उन सूक्ष्म रूप और स्थूल गोपीजनों का - भेद - जो ऊपर बता दिया है का - विवरण - सूचित किया गया है । - 'भगवत्सङ्गे' - (भगवान् के सङ्ग चली गई) तात्पर्य यह है कि सूक्ष्म रूप गोपियों - जो दूसरा दल विरह का अनुभव करने में समर्थ नहीं थीं अर्थात् जिन्हें भगवान् ने अलौकिक सागर्य्य रूप मुख्य फल (प्राप्त नहीं कराया) नहीं दिया था - ने उनके भीतर हृदय में प्रकट हुए भगवान् में सायुज्य प्राप्त कर लिया और वे तो भगवान् पधारे तब उनके साथ ही चली गई । उनकी देह आदि में कोई प्रकार का अनिष्ट न हो, इसलिए और शरीर सम्बन्धी उनके सारे व्यवहार चलते रहे, इसलिए भी भगवान् ने उनके पाँच भौतिक शरीर में कोई दूसरा जीव स्थापित कर दिया था, ऐसा जान लेना चाहिए । 'स्थूलास्तु' और - जिनको भगवान् ने अलौकिक सामर्थ्य (प्रदान) दे दी थी, वे तो विरह का अनुभव करने (सहने) में समर्थ थीं, वे तो अपने प्रियतम के मार्ग में कुछ आगे तक चली गईं और उत्तर की आशा से बीच में खड़ी भी रह सकीं ।

श्लोक—तास्तथा तप्यतीर्वीक्ष्य स्वप्नस्थाने पट्टतमः ।

सात्वद्यामास सम्प्रेष्यरायास्थ इति दौत्यकः ॥३५॥

कहना भेजा कि "दुःखित मत होना, मैं जल्दी ही लौट आऊंगा" ॥३५॥

सुबोधिनी—ततो भगवता यत्कृतं तदाह ता इति, याः स्थिताः याश्चनाविर्भूतस्वरूपाः तासां भयं तथा सन्तापयुक्तावीक्ष्य स्वप्रस्थानमेव निमित्तागतिं यदुराजसिंहः यादवकार्यमपि कर्तव्यमिति सम्प्रेष्यैरुत्तमदूतैः ग्रहमेवायास्य इति दीत्यकंदूत-वाक्यैः, सान्त्वयामास, अत्र तासां वाक्ये भ्रमो

जातः भगवांस्तु दूतवाक्यद्वारा शब्दार्थरूपः ज्ञान-रूपो वा आगमिष्यामीत्युक्तवान् दीत्यकैराणां इति, ताः पुनः इदानीमेतदेव वचनं दूतकार्यमिति ज्ञातवत्यः, इदं भगवच्चरित्रमेव, अन्यथा न वक्तव्यं स्यात् ॥३५॥

व्याख्यान—तदनन्तर भगवान् ने जो कुछ किया, उसका वर्णन, 'तास्तथा' इस श्लोक से करते हैं। जो सन्देश चाहने के लिए वैसे ही खड़ी रहने वाली (स्थूल गोपीजन) तथा स्वाभाविक स्वरूप-सायुज्य में उपयुक्त स्वभाव वाली (सूक्ष्म गोपीजन) गोपियों के लिए अपने उत्तम दूतों के द्वारा कहलाया—कि "मैं ही आऊंगा" क्योंकि वे यदुराजसिंह हैं। अतः यादवों का काम भी करना ही चाहिए। इस कारण दूतों के वाक्यों से आने का आश्वासन देकर उन्हें अपने गोकुल से चले जाने के कारण ही अत्यन्त सन्तप्त देखा था। इसलिए—मैं दूत वाक्यों से आऊंगा—इस प्रकार उन्हें विश्वस्त किया; किन्तु उनको भगवान् के इस वाक्य में भ्रम हो गया। भगवान् ने तो दूतों द्वारा यह कहलाया कि—दीत्यकैः—दूत के वाक्यों से अर्थात् शब्दों के अर्थ रूप अथवा ज्ञानरूप मैं आऊंगा और वे समझी कि—'अभी' यह वचन कहा यही दूत का कार्य है तथा भगवान् स्वयं ही पधारेंगे। गोपियाँ विपरीत समझी, यह भगवान् का ही चरित्र है। यदि भगवच्चरित्र नहीं होता तो शुवःदेवजी के कहने योग्य नहीं होता ॥३५॥

श्लोक—यावदालक्ष्यते केतुर्यावद् रेणु रथस्य च ।

अनुप्रस्थापितात्मानो लेख्यानीवोपलक्षिताः ॥३६॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के साथ ही गोपियों के चित्त भी चले गए। वे जब तक उनके रथ की ध्वजा और पहियों की धूल के दर्शन होते रहे, तब तक चित्र लिखी सी वहीं खड़ी रहीं और उधर ही देखती रहीं ॥३६॥

सुबोधिनी—तास्तथोक्ता अपि भगवत्सम्बन्ध-दर्शनार्थं तथैव स्थिता इत्याह यावतेति, शब्दा-दर्शना महानिति अयं सम्बन्धार्थं तथा कथनम्, यावत्ता कालेन केतुर्ध्वजः लक्ष्यतेपि सम्भावनयापि दृश्यते यावद् वा रथस्य रेणुरपि तावत्पर्यन्तं

भगवत्सङ्गे अनुप्रस्थापितान्तःकरणाः प्राधिदैवि-करूपाः जीवस्वरूपा वा शरीरभात्रेण लेख्यानीव उपलक्षिताः प्रतिमायां चलनं भवतीति तद्व्यावृ-त्त्यर्थमुक्तम्, आकृतिमात्रं तत्र स्थितं स्वरूपं तु भगवता सह गतमिति वा ॥३६॥

संस्कृत की शिक्षा के लिए वे ही हैं। यह उनका वाक्य-रचना से कहते हैं। संस्कृत वाक्यों में भेजा है जो वाक्य मात्र है और शब्द की अपेक्षा अर्थ बहुमुख्य होता है। इसलिए सन्देशों में भगवान् के सम्बन्ध की विशेषता के कारण जब तक उनके रथ की ध्वजा के दर्शन तथा दिखाई देने की सम्भावना भी होती रही और जब तक रथ की उड़ती हुई धूल भी दीखती रही, तब तक अपने अन्तःकरणों को अथवा अधिदैविक जीव स्वरूपों के भगवान् के साथ ही भेज देने वाली वे केवल शरीर से ही चित्र लिखी रथी दिखाई दीं। हलन-चलन तो चेतन प्रतिभा (मूर्ति) में होती है। वे तो अचेतन सी ही गई थीं। इसीलिए मूल में—लेख्यानीव—चित्र लिखी भी—ऐसा कहा है। अथवा इस कथन से वह भी सूचित किया है कि वे केवल आकृति मात्र से वहां रही। उनका स्वरूप तो भगवान् के साथ ही चला गया था ॥३६॥

लेखः—इसी स्कन्ध के तीसवें श्लोक आरम्भ में दी हुई—अत्रैव लौके प्रकट माचि दैविक गुतामम् - कामाख्यं सुख-मुत्कृष्टं कृष्णो भुङ्क्ते न चापरः। (इसी श्लोक में ही प्रकट हुए उत्तम आधिदैविक-कामनाम के उत्तम सुख का भोग श्रीकृष्ण करते हैं, अन्य कोई नहीं करता) पांचवीं छठी कारिका के अनुसार इस श्लोक की व्याख्या में कहे गए आधिदैविक जीव स्वरूप है। जिन्होंने अपनी आत्मा को भगवान् के पीछे (साथ-माथ भेज दिया है, और ऐसी वे सूक्ष्म रूप गोपीजन ही बतलाई है। इसी को निश्चित किया हुआ विकल्प मानना चाहिए।

यद्यपि ऊपर सूक्ष्मरूप और स्थूलरूप गोपिकाओं का परस्पर भेद कहा गया है; किन्तु उस भेद प्रदर्शन का कोई प्रयोजन नहीं दिखाई देता है। सूक्ष्मरूप गोपियों को तो सायुज्य प्राप्त हो जाने से वे तो भगवान् में लीन हो गईं। इसलिए उन्हें तो दूत के द्वारा सन्देश भेजना ही नहीं था। स्थूल गोपियों को ही सन्देश कहलाना था। इसलिए उनकी ही स्थिति को इस श्लोक में बतलाया है। उनमें से कितनीक गोपिका ने अपने अन्तःकरण को और किन्हीं ने अपने आधिदैविक प्रकार के जीवों को भगवान् के साथ भेज दिया, तब वे चित्र लिखी सी खड़ीं रहीं, अर्थ प्रगीत होता है।

श्लोक - ता निराशा निवृत्तुर्गोविन्दविनिवर्तने ।

विशोका ग्रहणी निन्युर्गायन्त्यः प्रियचेष्टितम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—जब श्रीकृष्ण के पीछा पधार आने की आशा नहीं रही, तब वे अपने-अपने धर लौट आईं और अपने प्रियतम के चरितों को गा-गाकर शोक रहित होकर विरह के दिन रात बिताने लगीं ॥३७॥

मुद्योधिनी ततोपि दूरं गते निवृत्ता जाता इत्याह ता निराशा इति, निवृत्ता जाताः केनचित् निमित्तोपाद्यं भगवान् निवर्तिष्यत इति, ततः वय जीवितवत्य इत्याशङ्क्याह प्रियचेष्टितं गायन्त्यः, भगवद्गुणा अपि भगवानेवेति तेनैव

विशोकाः ग्रहणी निन्युः, रात्रिचरित्रगानेन रात्रि दिवसचरित्रगानेन दिनमिति विशेषं यत्तुं ग्रहणी इति द्विवचनेन निदेश उक्तः, अनेन भगवतः भक्तोपेक्षादोषोपि निवारितः, भगवदभागमोपि दोषाभावश्च, ग्रहणी इति जात्यभिप्रायः, गानेन-

व्याख्यान—जब भगवान् के रथ की ध्वजा तथा उड़ती हुई धूल भी नहीं दीखने लगी और वहाँ से भी बहुत दूर पधार गए, तब वे पीछी लौटी—यह—“ता निराशा” इस श्लोक से कहते हैं। किसी भी कारण से भगवान् आज ही वापस पधार आवेंगे—ऐसी आशा उनको नहीं रही। फिर वे कैसे जी सकें? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि प्रिय के चरित्रों को गाते हुई वे जीवित रहें, क्योंकि भगवान् के गुण भी भगवान् ही हैं। इसी से वे भगवान् के गुणों का ज्ञान करके शोक रहित होकर दिन रात विताने लगीं। उनके रात के चरित्रों को रात में और दिन के चरित्रों को दिन में गाकर दिन-रात काटने लगीं—इसी विशेषता को कहने के लिए मूल में—अहनी—दिवचन (वाले शब्द) का निर्देश किया है।

इस-विशोका—(शोक रहित हुई) कथन से—भगवान् भक्तों की उपेक्षा करते हैं, अर्थात् भक्तों की परवाह नहीं करते—यह दोष भी नहीं रहता और भगवान् के वापस न आने का भी उन्हें (भगवान् को) कोई दोष नहीं होता। भगवद्गुण गान से एक रात्रि की तरह सारी ही रात्रियाँ बीत गईं—ऐसा भी बतलाने के लिए (अहनी) रात्रि दिवस शब्द का जाति के अभिप्राय से (जाति को लक्ष्य में रखकर) प्रयोग किया गया है ॥३७॥

लेख—ता ‘विशोकाः’ इस श्लोक की व्याख्या में “अनेन भगवत उपेक्षादोषो निवारितः”—पदों का अर्थ यह है कि इस-विशोकाः—शोक रहित करने के कथन से भगवान् पर (गोपियों की उपेक्षा कर दी) ऐसा उपेक्षादोष नहीं रहता है; क्योंकि भगवान् ने तो उन्हें अलौकिक सामर्थ्य देकर शोक रहित किया तथा शृङ्गारस का द्वितीय दलविरह के अनुभव की शक्ति दी। इस प्रकार उनके लिए महान् फल का दान करने के बाद ही भगवान् वहाँ से पधारे।

श्लोक—भगवानपि सम्प्राप्तो रामाकूरयुतो नृप ।

रथेन वायुवेगेन कालिन्दीमघनाशिनीम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—इधर भगवान् श्रीकृष्ण भी बलदेवजी और अकूरजी के साथ हवा की तरह उड़ कर चलने वाले रथ से पापनाशिनी यमुना के किनारे पहुँच गए ॥३८॥

सुबोधिनो—यदा ता विशोका जाताः तदा भगवान् गोकुलवृत्तान्तमविचार्य अग्रे गत इत्याह भगवानपीति, यद्यप्यत्रैव स्थित्वा कंसं गारयितुं शक्तः गोपिकाश्च सङ्गे नेतुं, एकेन रूपेण स्थित्वा रूपान्तरेण वा गन्तुं, तथापि मथुरामेव गत इत्य-पिशब्दः, रामाकूरभ्यां सहित एकस्मिन् रथे स्थितः, तयोरप्रधानत्वाय तथोक्तिः, नृप इति सम्बोधनं राजलीलेयमिति ज्ञापयितुं, वायुवेगेन

रथेनेपि योजनत्रयं चतुष्टयं वा घटिकामात्रेण समागत इति, सर्वे गोपाला नन्दादयः पश्चादेव स्थिताः, किञ्चित् प्रदर्शयितुं परं भगवानेव समा-गतः, अन्तर्वेद्यां गोकुलं वृन्दावनं गोवर्द्धन इति विगर्शः, कल्पादौ तदीया भागाः सांप्रतमन्यत्र जाता इति न प्रत्यक्षविरोधः, अन्या तु कल्पना न युक्ता, सारस्वतकल्पानुसारिणी चैवं कथा, एता-वद्दूरमन्तर्वेद्यामेवागत्य मथुरानिकटे मथुरातः

कोशस्थे सर्वत्रानिम्ना नमुना हृदेष्वयं यन्मरिचः वा कालिन्दी विमेषनाम् । अक्षय्यं यत्नेन यदा
अघनाशिनीतीर्थं गमागन् इति साधारण्येन सर्वत्र भगवन्स्वरूपदर्शनयोग्यतासिद्धयर्थम् ॥३७॥

व्याख्यार्थ - जब वे शोक रहित हो गईं, तब भगवान् ने गोकुल का निचार-गुलाम-छोड़ दिया और वे आगे पधारे-यह इस-भगवानि-श्लोक से कहते हैं । यद्यपि वहां गोकुल में विशाखे विराजे ही कस का बध कर सकते हैं, गोपिकाओं को मथुरा भी ले जा सकते हैं अथवा एक रूप से गोकुल में रहकर दूसरे रूप से मथुरा भी जा सकते थे तो भी आप मथुरा ही पधारे-यह श्लोक में दिए गए-अणि-शब्द के प्रयोग से ज्ञात होता है ।

बलदेवजी और अक्रूरजी के साथ भगवान् एक ही रथ में विराजे । वे दोनों मुख्य नहीं थे । मथुरा जाने में प्रधानता भगवान् की थी । वे दोनों तो गोए-ये; क्योंकि 'सहार्थोऽप्रधाने'-व्याकरण के नियमानुसार-रामा कुर्यात् (राम और अक्रूर के साथ) यह तृतीया विभक्ति अप्रधान (गोए) में ही होती है । इसलिए पधारने के काम को करने वाले भगवान् मुख्य थे, वे दोनों गोए थे-ऐसा बतलाने के लिए ही मूल में-राम और अक्रूर के साथ यह कहा गया है । यह राजलीला है-ऐसा प्रदर्शित करने के लिए मूल में नृप (हे राजन्) यह सम्बोधन किया है ।

भगवान् एक घड़ी में ही तीन अथवा चार योजन (१२ अथवा १६ कोस) पहुँच गए, यह इस-वायु का वेग वाले रथ से-रथ के विशेषण से ज्ञात होता है । नन्दजी आदि शारे गोप पीछे ही रह गए, परन्तु अक्रूर को कुल्ल चमत्कार दिखाने के लिए केवल भगवान् ही कालिन्दी पधारे । गोकुल, वृन्दावन और गोवर्धन ये गंगा, यमुना के बीच में थे-ऐसा निर्णय होता है । अब कलियुग के आरम्भ में उनके भाग दूसरे स्थानों में भर गए हैं । इसलिए इस समय प्रत्यक्ष देखकर पहले के-पुराने-कथन से विरोध नहीं है; क्योंकि यह कथा सारस्वत कल्प के अनुसार कही गई है । दूसरा-इसे भिन्न निर्णय (कल्पना) करना उचित नहीं है । गंगा और यमुना के बीच में ही इतनी दूर पधार कर मथुरा के समीप, मथुरा से दो कोस कालिन्दी के किनारे पहुँचे । यमुनाजी सब जगह गम्भीर, (गहरी) नहीं है, किन्तु जहाँ दह है, उसी जगह गहरी है । अक्रूर के पापों का नाश होकर वह मेरे स्वरूप के दर्शन कर सकने की योग्यता प्राप्त करले, इसीलिए भगवान् "अघनाशिनी" के तीर्थ पर पधारे अथवा "अघनाशिनी-(पापहारिणी) यह कालिन्दी का विशेषण-जहाँ-जहाँ भी कालिन्दी बहती है, वहाँ-वहाँ कालिन्दी का सामान्य विशेषण है ॥३८॥

श्लोक—तत्रोपस्पृश्य पानीयं पीत्वा मृष्टं मणिप्रभम् ।

वृक्षखण्डमुपस्रज्य सरामो रथमाविशत् ॥३९॥

श्लोकार्थ—वहाँ दोनों भाईयों ने स्नान करके मोती जैसा निर्मल और मीठा पानी पीलिया फिर वृक्षों की छाया में खड़े (ठहरे) हुए रथ पर जाकर विराज गए ॥३९॥

सुबोधिनी--ततः प्रातःकाले भुक्तमिति तत्रा- त्वा पानीयं पीत्वा मृष्टमुज्ज्वलं विरजत्वात् स्वा-
गत्य यत् कृतवांस्तदाह तत्रोपस्पृश्येति, तत्र न्तःस्थितगप्यक्रूरं पावयित्वा अन्यानप्यपेक्षितान्,
कालिन्द्यां स्वयमुत्तीयं लीलया उपस्पृश्य स्नान- मणिप्रभमिति, इन्द्रनीलश्यामं सर्वप्रकाशकमन्तः

तत्रैव तान्ति यथा नानुबुध्यन् आनन्ति ननय- तत्रैव तान्ति यथा नानुबुध्यन् आनन्ति ननय-
तीति जापयितुम्, ततो वृक्षखण्डं वृक्षसमूहं वेणु- उगविष्टं इत्यर्थः ॥३६॥
वच्छायां समाश्रित्य बलभद्रसहितः पुनः रथारूढो

व्याख्यानार्थ—भगवान् ने सवेरे ही भोजन (गोकुल में) कर लिया था । यमुना के तट पर पहुँच कर उनके कार्य का वर्णन इस -'तत्रोपस्पृश्य'- श्लोक से करते हैं । वहाँ कालिन्दी के जल में भगवान् ने स्वयं उतरकर लीलापूर्वक स्नान किया और उसका निर्मल जल पी लिया । उस जल में रज मिली हुई नहीं थी, स्वच्छ था । इसलिए उसे पीकर अपने भीतर रहने वाले ही अक्रूर को तथा औरों को भी, जिनको पवित्र करने की इच्छा थी, भगवान् ने पवित्र किया । इन्द्रनीलमणि की तरह इषाम और सबका प्रकाश कर देने वाले वह जल भगवान् के उदर में प्रवेश करके वहाँ रहने वाले सारे ही जीवों को जैसे शुद्ध करता है, वैसे ही ज्ञान भी उत्पन्न करता है । इसी अभिप्राय से मूल में -'पणिप्रभं'-मणि जैसी कान्ति वाला -यह जल का- विशेषण दिया है । फिर वृक्षों के समूह में छाया का -'वैष्णवा वै वृक्षाः'- वैष्णवों का आश्रय लेकर फिर भी भगवान् बलदेवजी के साथ रथ पर विराज गए । यहाँ भविष्य में कुछ करना है, इसलिए छाया में ठहरे हुए रथ पर बैठ गए, यह अर्थ है ॥३६॥

श्लोक—अक्रूरस्तावुपामन्त्र्य निवेश्य च रथोपरि ।

कालिन्या हृदमागत्य स्नानं विधिवदाचरत् ॥४०॥

श्लोकार्थ—अक्रूरजी दोनों भाईयों को रथ पर बिठाकर फिर उनसे आज्ञा लेकर यमुना के तट पर आए और वहाँ उन्होंने विधिपूर्वक स्नान किया ॥४०॥

सुबोधिनी—ततोक्रूरः प्रत्यहं नद्यामागन्तुम-
समर्थः दुर्लभत्वाद् 'यमुनायाः तत्र स्नात्वा गमि-
ष्यामीति स्नानार्थं प्रवृत्त इत्याह अक्रूर इति, तो
रामकृष्णो आमन्त्र्य स्नानार्थं गमिष्यामीति प्रार्थ-
यित्वा बालकाविति इतस्ततः क्रीडन्ती रथोपरि

निवेश्य उपवेश्यवात्र स्यात्तद्व्यमित्युक्त्वा कालि-
न्यास्तीरे पुनःसमागत्य विधिवत् मृत्तिकास्नानं
पुनः कर्तुं प्रवृत्तः, प्रातःकाले मृत्तिकास्नानस्य
निषिद्धत्वात् ॥४०॥

व्याख्यानार्थ—प्रतिदिन नदी में स्नान करने में असमर्थ अक्रूरजी ने यमुना को 'दुर्लभ गान कर उसमें स्नान करके आगे जाऊँगा-इस विचार से वहाँ स्नान करने की प्रवृत्ति की । -यह- 'अक्रूरस्ती' इस श्लोक से कहते हैं । उन दोनों -बलदेवजी और श्रीकृष्ण- को यह सोचकर कि दोनों बालक हैं, कहीं इधर-उधर खेलते फिरेगे, इसलिए, रथ पर बिठला कर और उनसे यह कह कर कि रथ में ही विराजे रहना, 'मैं (अक्रूर) स्नान करने जाता हूँ', ऐसी उनसे प्रार्थना करके फिर कालिन्दी के तट पर आए । प्रातःकाल में मृत्तिका स्नान का शास्त्र में निषेध होने से फिर दुवारा वहाँ आकर उन्होंने मृत्तिका स्नान विधिपूर्वक किया ॥४०॥

श्लोक—निमज्ज्य तस्मिन् सलिले जपन् ब्रह्म सनातनम् ।

तावेव ददृशेक्रूरो रामकृष्णौ समन्वितौ ॥४१॥

होवार्थ—स्नान करने मध्याह्न मध्या को । अक्रूरजी जब जल के भीतर डूब कर सनातन ब्रह्म का—नाथजी मन्त्र का—जप करने लगे तब उनको जल के भीतर वे दोनों भाई साथ-साथ रथ पर बैठे हुए दिखाई पड़े ॥४१॥

सुबोधिनी— तत्राघमर्षणजपः जले निमज्ज्य तावपि दृष्टवान्, तस्मिन् स्थाने माया उद्घाटितेति
वर्तव्यः 'हिरण्यशृङ्ग' गित्यादि, जले निमज्ज्य सानुभावं भवति स्थानं, भगवांश्च पुनः सर्वत्रैव
तस्मिन् सलिले सनातन वेदात्मकं ब्रह्म जपन् तेन व्रतं देशादिदोषात् न प्रतीयते, प्रदर्शितत्वाच्च
शुद्धान्तःकरणः तावेव रामकृष्णौ दृश्ये, समन्वितौ तस्य सन्देहव्यावृत्त्यर्थम् ॥४१॥
मिलितौ, यथा जलमध्यस्थाः पदार्थाः दृश्यन्ते तथा ।

व्याख्यायं—'हिरण्यशृङ्गम्' इत्यादि (नारायणोपनिषद्) सुवर्ण के सींग वाले वरुण के में शरण जाता है, इत्यादि धर्ममर्षण-पाप दूर करने वाले-मंत्रों का जप वहां जल में डूब कर करना चाहिए । इसलिए उस जल में डूबकी लगाकर वहां सनातन वेदात्मक ब्रह्म का अक्रूरजी जप करने लगे । जप करने से उनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया । तब उन्होंने जल के भीतर उन दोनों भाई राम कृष्ण को एक साथ देखा । जल में रहने वाले पदार्थ जैसे दीख पड़ते हैं । वैसे उनको भी देखा । उस स्थान से भगवान् ने अपनी माया दूर कर दी थी, इसलिए वह स्थान दिव्य प्रभावशाली हो गया था । भगवान् तो सदा ही सब ही स्थान में विराजते ही हैं, किन्तु देश, काल आदि के दोष से सब जगह उनके दर्शन नहीं होते हैं । अतः अक्रूर के सन्देह को दूर करने के लिए भगवान् ने उसे वहां भी अपने दर्शन कराए ॥४१॥

श्लोक—तौ रथस्थौ कथमिह सुतावानकदुन्दुभेः ।

तहि स्विच् स्थन्दने न स्त इत्पुनमज्जय व्यचक्ष सः ॥४२॥

श्लोकार्थ—उन्होंने अपने मन में विचारा कि वसुदेवजी के दोनों पुत्र तो रथ पर बैठे हैं, फिर यहाँ कैसे आए ? और यदि यहाँ आए हैं तो रथ पर नहीं होंगे । तब उनने (जल से ऊपर आकर) रथ की ओर देखा ॥४२॥

सुबोधिनी— तत्र तौ दृष्ट्वा सन्देहात् विचारयति केनचित् प्रकारेण मध्यम्यचित्ते समागती तर्हि
तौ रथस्थाविति, भगवतः सर्वात्मत्वं भगवत्त्वं च स्थन्दने न भविष्यतः, इति विचार्य उन्मज्ज्य
विस्मृत्याह आनकदुन्दुभेः सुतौ तौ मया रथस्थौ व्यचक्ष दृष्टवान् द्रष्टा स एवेति अभिज्ञानार्थमाह
कृतौ कथमिह दृश्येते, कथं वा समागताविति, यदि ॥४२॥

व्याख्यायं—वहाँ जल में दोनों भाईयों को देख कर अक्रूरजी को सन्देह हो गया और विचार करने लगे, यह इस 'तौ रथस्थौ' श्लोक से कहते हैं । भगवान् सबकी आत्मा हैं तथा पदंश्वर्य सम्पन्न सर्वशक्तिमान हैं । अक्रूरजी भगवान् के इन धर्मों को भूल कर गन ही मन कहने लगे कि आनक दुन्दुभि (वसुदेवजी) के दोनों पुत्रों को तो मैं रथ पर बिठाकर आया हूँ । वे यहाँ जल में कैसे दीख

पड़ते हैं अथवा यहाँ के जिन प्रकार के जल हैं, वे जहाँ भी मिलेंगे वहाँ जल है, यहाँ किन्हीं दूसरों जगह जल नया है और मेरा ध्यान न रहा हो, तब यहाँ आ गए होंगे तो अब रथ पर नहीं होंगे, ऐसा सोच कर वे जल से ऊँचे उठकर उन्हीं रथ पर देखने लगे । अक्रूरजी स्वयं ही देखने वाले थे, इसलिए देख भाल करने के लिए (यद्यपि वे ही) मूल में—तात् शब्द का प्रयोग है ॥४२॥

श्लोक—तत्रापि च यथापूर्वमासीनौ पुनरेव सः ।

न्यमज्जद् दर्शनं यन् मे मृषा किं सलिले तयोः ॥४३॥

श्लोकार्थ—अक्रूर ने रथ की ओर देखा तो वहाँ तो दोनों भाई पहले जैसे बैठे हुए देख पड़े । उन्होंने यह विचार किया कि क्या उनको जल के भीतर देखना मेरा भ्रम था ? यह सोच कर फिर उन्होंने जल के भीतर डूबकी मारी ॥४३॥

सुबोधिनी—ततोत्रापि दृष्टवानित्याह तत्रापि | निमज्ज्य मे सतः यत् भगवतोः दर्शनं तत् किं चेति, यथापूर्वं यथा स्थापितौ तथैव दृष्टवान् तस्य | मृषेति, अर्थाद् विमर्शोयम् ॥४३॥ पुनरेव जिज्ञासा उत्पन्नेत्याह पुनरेव स इति, |

व्याख्यान—फिर अक्रूरजी ने वहाँ रथ में भी दोनों को बैठे देखा, यह इस 'तत्रापि' श्लोक से कहते हैं । यथापूर्वं अक्रूरजी उनको जिस तरह से रथ में बिठला गए थे, वैसे ही उन्हें रथ में बैठे देखा । उनके मन में फिर जानने की ईच्छा हुई और उन्होंने फिर जल में डूब कर सोचा कि मैंने—जब मैं जल में पहले डूब रहा था, तब—भगवान् के दर्शन जल में किए थे, क्या वह असत्य दर्शन था ? वास्तव में उन्हें इस प्रकार का सन्देह हुआ ॥४३॥

श्लोक—भूषस्तत्रापि सोद्राक्षीत् स्तूयमानमहीश्वरम् ।

सिद्धचारण गन्धर्वैरसुरैर्नतकन्धरैः ॥४४॥

सहस्रशिरसं देवं सहस्रफणमौलिनम् ।

नीलाम्बरं विसृजेतं शृङ्गैः श्वेतमिव स्थितम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—फिर जल में देखा । अब की बार उनको जल के भीतर विचित्र ही दृश्य देख पड़ा । वहाँ शेषनाग विराजमान हैं । सिद्ध, सर्प और असुर गण सिर झुकाए हुए उनकी स्तुति कर रहे हैं ॥४४॥

शेषनाग के हजार सिर थे । हजार फणों में हजार मुकुट और कमल नाल के समान श्वेत शरीर में नीलाम्बर शोभायमान है । हजार शिखर वाले कैलाश के समान अगन्त देव का श्रीअङ्ग (कलेवर)—देख पड़ता था ॥४५॥

॥४५॥ तस्योत्सङ्गः श्रुत्वा न भङ्गोपमा आसीत् तस्मात् तस्य पुनश्चैव तस्य विपत्त्यस्य । तस्मात्
हाने से ज्ञान दृढ नहीं होता है, इसलिए अपना रूप ही प्रकट किया । वह रूप एक हजार गिर वाला
था । देव्य भी उनकी इच्छानुसार रूप धारण कर लेने है, उनमें से वह एक हजार माथ वाला वह
निमी देव्य का रूप नहीं था, वह तो देव का रूप था । उनके प्रत्येक मस्तक पर फण और मुकुट थे ।
ऐसा रूप शेषजी का ही होता है । ध्यान करने के लिए (नीलाम्बर, काले वस्त्र वाले) विशेषण देते
हैं कि उनका वस्त्र-आवरण- श्याम रङ्ग का है । आवरण से पदार्थ छिपा दिया जाता है । वह
सङ्कर्षण का आवरण-ढक देने वाला- काल रूप है, जो उनका दर्शन नहीं होने देता, ऐसा अर्थ प्रतीत
होता है ।

(विराश्वेत) फिर वह रूप तमोरूप होने से कमल की नाल की तरह श्वेत, शीतल और चिकना
था; क्योंकि कमल की उण्डी ठण्डी, चिकनी और सफेद होती है और वह आधिदैविकतम सफेद होता
है, इसलिए सङ्कर्षण का स्वरूप भी सफेद था । इसलिए शीतलता अपि अन्य गुणों को बतलाने के
लिए ही श्वेत रूप कहा है और यहाँ फणों से शिखरों सहित श्वेत पर्वत कंलास की तरह वह रूप
बतलाया है, यह तो वर्णन के लिए कहा गया है । स्थितम् (रहा हुआ) शब्द से यह कहा गया है कि
फणों के भाग के ऊँचे होने के कारण वह भाग अक्रूर ने ऊँचा उठा हुआ सा देखा ॥४५॥

लेख—‘विश्वन्तं’ की व्याख्या में ‘पुनस्तम्’ पदों का वह स्वरूप तमोरूप था, यह अर्थ है । तम
का आधिदैविक रूप सफेद होता है, इसलिए सङ्कर्षण का सफेद स्वरूप है, जिसका वर्णन शीतलता
आदि दूसरे धर्मों को कहने के लिए किया है ।

श्लोक—तस्योत्सङ्गे घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।

पुरुषं चतुर्भुजं शान्तं पद्मगर्भाक्षणम् ॥४६॥

इलोकार्थ—उन शेषजी की गोद में एक पीताम्बरधारी पानो भरे मेघ के समान
श्याम शरीर वाले चतुर्भुज पुरुष की शान्त मूर्ति विराजमान थीं । उनके नेत्र कमल
दल के समान अरुण और विशाल थे ॥४६॥

सुबोधिनी—ततो दृष्टं भगवन्तं वर्णयति
तस्योत्सङ्ग इति, उत्सङ्गे काये कोमलत्वात्
समत्वात् क्रमेण वर्तुलत्वेन सूक्ष्मत्वात् सर्वस्यैव
शरीरस्योत्सङ्गतुल्यता, मुखशयनार्थं तथोक्तवान्,
अन्यथा सर्पे शयनं भयानकं भवतीति उत्सङ्गपदं,
घनश्याममिति, तप्तानां तापनाशकं, यथा आकाशे
मेघः स्वाधार एव भवति तथा भगवानपि, पीतं
यत् कौशेयं पट्टाम्बरं तदेव वस्त्रं यस्य, एतेषां
स्वरूपं प्रयोजनं च पूर्वमुक्तं, पुरुषं पुरुषाकारं,
चत्वारो भुजा यस्य, शान्तं गुणातीत, उत्पत्ति-

स्थितिनयानां तदंशैरेव सिद्धत्वात्, पद्मगर्भवत्
अरुणे ईक्षणे गम्य, मेघतुल्यतया प्रयोजनं निरू-
पित, वासः प्रमाणं, पुरुष इति मूलरूपता, ‘पूर्वमे-
वाहमिहास’मिति निरुक्त्या, पुरुषार्थचतुष्टयं दातुं
चतुर्भुजाभिव्यक्तिः, अन्तःकरणादिदोषाभावाय
शान्तिः, दृष्ट्यैव तापहारित्वाय अरुणवर्णोक्षण-
त्वं, कंसवधार्थं च, गर्भपदेन व्याजेनैव मारयिष्यति
न प्राकट्येनेति निरूपितं, एवं षड्गुणा
निरूपिताः ॥४६॥

व्याख्या—‘तस्योत्सङ्गो’—इस शब्द का अर्थ है ‘उत्सङ्ग’ अर्थात् ‘अपेक्षा’। भगवान् का वर्णन करते हैं। उनकी काया पर शयन करते हुए भगवान् के दर्शन किए। शेषजी का सारा शरीर अत्यन्त कोमल, एक समान, बौरे-बौरे कुण्डलाकार-गोल-होता हुआ मूक्य हो गया था। इसलिए यह पलङ्ग सा था। सुख से पोढ़ने के लिए शेषजी के शरीर को पलङ्ग के समान कहा है। ऐसा-पलङ्ग के तुल्य-नहीं कहते तो सांप पर शयन करना तो भय दायक होता है। इसीलिए उत्सङ्ग-गोद-पद मूल में कहा है।

मेघ के समान श्याम अर्थात् सन्तप्त—दुःखितों के ताप-दुःख-को दूर करने वाले तथा आकाश में जैसे मेघ अपने ही आधार वाला होता है, वैसे ही भगवान् भी अपने आप पर ही आधारित रहने वाले तथा पीला रेशमी वस्त्र धारण किए हुए भगवान् के दर्शन किए। इन घनश्याम तथा पीताम्बर का स्वरूप तथा प्रयोजन पहले १०/३/६ की (श्री सुबोधिनी) व्याख्या में कह दिया गया है। भगवान् पुरुष-पुरुष का सा आकार वाले-चतुर्भुज तथा परम शान्त हैं; क्योंकि जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा संहार तो उनके अंशों से ही होता है (वे तो गुणातीत हैं)।

कमल के मध्य भाग की तरह लाल नेत्र वाले भगवान् के दर्शन किए। यहां (१) घनश्याम पद से प्रयोजन-फल-का वर्णन किया है, (२) वस्त्र वेद रूप होने से प्रमाण है (३) पुरुष-पहले ही मैं यहां था, ऐसी व्युत्पत्ति वाले शब्द से मूलरूपता (प्रमेयरूपता) कही है। (४) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पुरुषार्थ का दान करना बतलाने के लिए चतुर्भुज रूप से प्रकट हैं। (५) भगवान् के दर्शन से अन्तःकरण आदि के दोष दूर हो जाते हैं, इसलिए ‘शान्त’ विशेषण दिया है। (६) वे अपनी दृष्टि से ही दुःखों का नाश करने वाले तथा आगे कंस का वध करेंगे, यह बतलाने के लिए लाल रङ्ग के नेत्र वाले कहे गए हैं। यहां गर्भ शब्द कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् किसी उपाय से बालक रूप से ही कंस का वध करेंगे, परन्तु प्रसिद्ध मूलरूप से प्रकट होकर नहीं मारेंगे। इस प्रकार से इस श्लोक में दिए गए छः विशेषणों से भगवान् के छः गुणों का निरूपण किया है ॥४६॥

लेख—‘तस्योत्सङ्गो’—श्लोक की व्याख्या में ‘मेघतुल्यता’ (मेघ की समानता से) इत्यादि पदों का अभिप्राय कहते हैं कि भगवान् को मेघतुल्य कहने से फल, वस्त्र-वेदरूप-होने से प्रमाण, मूल-रूप-प्रमेयरूप और चतुर्भुज पद से चारों पुरुषार्थ के देने वाले कह कर साधन रूप है। इस प्रकार से फल, प्रमाण प्रमेय तथा साधन रूप भगवान् ही हैं। (गर्भ पदेन) गर्भ पद का तात्पर्य यह है कि अपने मूलरूप से प्रकट होकर कंस को नहीं मारेंगे, बालक के रूप से ही मारेंगे।

श्लोक—चारुसन्नवदनं चारुहासनिरीक्षणम् ।

सुभ्रूषसं चारुकर्णं सुकपोलाहणावरम् ॥४७॥

श्लोकार्थ—उनका मुख प्रसन्न भाव से युक्त तथा परम सुन्दर था। मन्द हँसी से युक्त चितवन अत्यन्त मनोहर थी। नाक और भीहें ऊँची और सुडौल थी। सुवर्ण के कुण्डल कानों की अपूर्ण शोभा बढ़ा रहे थे। सुन्दर गोल कपोल और लाल-लाल होंठ दर्शनीय थे ॥४७॥

सुबोधिनी—कल कपोल प्रसन्न चरन् गताः । यद् भगवान् कपोलः ।

स्य कपोलः फलवत् सवसुखदाय चारु योय हासः । चारु कपोल यस्य, सर्वत्र भगवानुत्तम उक्तः । सुष्ठु तत्पूर्वक निरीक्षणं यस्या, भक्तिज्ञानयोर्लक्ष्यः । कपोलो अरुणधर्णी अयरो यस्येति कामलोभाद्यु- सफलो निरूपितः । योगने अयरो यस्य, ऊर्ध्वी । तमो निरूपितो ॥४७॥ नासिका च, कालावयवोः बहिरस्तकायो निरु-

व्याख्यार्थ—सुन्दर और प्रसन्न अर्थात् स्वरूप से और फल से भी, सबको सुखदाई मुखारविन्द वाले तथा मनोहर हास्य से युक्त चितवन वाले, भगवान् के दर्शन किए । इस विशेषण से भक्ति (हास्य) और ज्ञान (दृष्टि) की उत्तमता को फल सहित सूचित किया है । वे भगवान् सुन्दर भी हैं और ऊँची नासिका वाले हैं । काल रूपी भौहों से बाहर का और आसन्य-प्राण-रूपी नासिका से भीतर के कार्य का निरूपण किया है । ये सब भगवान् में स्थित हैं, यह बतलाने के लिए इस प्रकार निरूपण करते हैं । उनके सुन्दर कान हैं । इस कथन से भगवान् की सारे श्रीअंग में उत्तमता प्रदर्शित की । वे सुन्दर गोल कपोल और लाल-लाल होंठ वाले हैं, इस विशेषण से उत्तम काम (कपोल) और लोभ (अधर) का निरूपण किया गया है ॥४७॥

श्लोक—प्रलम्बपीवरभुजं तुङ्गांसोरःस्थलश्रियम् ।

कम्बुकण्ठं निम्ननाभिं वलिमत्प्रलवोवरम् ॥४८॥

श्लोकार्थ—उनकी भुजाएँ लम्बी और मोटी थीं । दोनों कन्धे ऊँचे थे । वक्षस्थल में लक्ष्मी देवी का निवास था । शङ्ख के समान सुन्दर कण्ठ, नाभि गम्भीर और उदर त्रिवलि से युक्त तथा पीपल के पत्ते के समान आकार वाला था ॥४८॥

सुबोधिनी—प्रकर्षेण प्रलम्बाः पीवराः स्थूला भुजा यस्य, दूरस्थाः स्थूलदृष्ट्योपि पुरुषार्थान् प्राप्स्यन्तीति ज्ञानयुतं तुङ्गावसावुरःस्थलं च तत्र श्रीर्यासां सर्वपात्रेव सर्वं भारगूढ्वा सर्वं प्रयच्छ-तीति, सर्वविद्यात्मकं त्रिवलीयुक्तं कण्ठस्थानमिति । कम्बुवत् कण्ठो यस्य, निम्ना नाभिर्यस्येति जगत्क- तृत्वमस्य गूढमिति सुलक्षणत्वं च निरूपितं, त्रिवलीयुक्तं पत्रवदश्वत्थपत्रवत् उदरं यस्य कोम- लता किञ्चिदुन्नतत्वं च निरूपितं, येन तद्वर्तिनः सर्वं सुस्था इति ॥४८॥

व्याख्यार्थ—बड़ी लम्बी और मोटी भुजाएँ वाले भगवान् के दर्शन हुए । लम्बी और मोटी भुजाओं के कहने का तात्पर्य यह है कि वे दूर रहने वालों तथा मन्द बुद्धि वालों को भी भगवान् अपने पास से चारों पुरुषार्थ प्राप्त करा देंगे । ऊँचे दोनों कन्धे और उन्नत वक्षःस्थल जिसमें लक्ष्मीजी विराजमान हैं, उन्नत स्कन्ध के कहने से सब का सब भार सहन करने तथा लक्ष्मी युक्त वक्षःस्थल के कथन से सब पदार्थों का दान करते हैं, यह सूचित किया है ।

सारी विद्याओं का मूल तथा त्रिवलि से युक्त (भगवान् का) शङ्ख की तरह श्री कण्ठ है । नाभि को नीची तथा गम्भीर विशेषण से यह सूचित किया है कि भगवान् का जगत् का कर्तापि अत्यन्त गूढ़ है तथा वे सुन्दर शुभ लक्षणों से परिपूर्ण हैं, भगवान् के उदर का निरूपण त्रिवलि से सुशोभित

यथा वीर्यं च दत्तं तां यद्वाजिरां पुनर्युगलं यथा अन्तर्हस्तैः सुखितं च । उक्तं तस्मात्
वतलाया भगवान् के उदर मे रहने वाले सभी सुखी हैं ॥४८॥

लेख-प्रलम्ब-इत्यादि इस श्लोक की व्याख्या में सर्व भारमुद्रा-इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है कि कन्धों को ऊंचा वर्णन करके सब के सारे भार की राह न शीलना तथा लक्ष्मी सहित कहकर दानशीलता का वर्णन किया है ।

श्लोक—बृहत्कटितटश्रोणिकरभोरुद्वयान्वितम् ।

चारुजानुयुगं चारुजङ्घायुगलसंयुतम् ॥४९॥

श्लोकार्थ—कमर और नितम्ब विशाल थे । ऊरुयुगल हाथी की सूंड जैसे थे ।
दोनों घुटने और जाँघें सुन्दर थीं (भगवान् के दर्शन किए) ।

सुबोधिनी- बृहत् स्थूलः कटितटो यस्य, श्रोणिरपि तथा, ततोघोमागः स्त्रीणां नितम्ब-स्थानीयः, ततोप्यधस्तात् करभवत् ऊरुद्वयेनान्वितमिति, अनेकपादत्वं व्यावर्तयति, भूमिः कटितटरूपेति आधारबाहुल्यं निरूपितं, ततोघस्तात्	सर्वाङ्गेषु सौन्दर्यं निरूपयन् तथा वर्णयति, सर्वाङ्गेषु तस्य दृष्टिः पतितेति, चारु जानुयुगं यस्य, तथा जङ्घायुगेन च संयुतमेकस्यां जङ्घायागपरा स्थाप्य तिष्ठतीति, अन्यथा विश्रुते भक्तानां गतिभिन्ना भवतीति ॥४९॥
---	---

व्याख्यार्थ—कटि (कमर) प्रदेश और श्रोणि (नितम्ब) भाग, जो स्त्रियों की कमर के नीचे नितम्ब भाग होता है, दोनों बड़े विशाल थे । श्रोणि भाग के नीचे हाथी की सूंड जैसे ऊरुयुगल वाले भगवान् थे । इस कथन से अनेक (दो से अधिक) चरणारविन्द न होना सूचित किया है । भूमि भगवान् का कटि प्रदेश रूप है, इसलिए आधार की बहुलता-विशालता-(भगवान् सबके आधार हैं) बतलाई है ।

अक्रूरजी की दृष्टि भगवान् के सभी अङ्गों पर गिर गई थी । उन्होंने भगवान् के सारे ही गात्र के दर्शन कर लिए थे । इसलिए नितम्ब-श्रोणि-के नीचे सारे अङ्गों की सुन्दरता का निरूपण करते हुए वंसा वर्णन करते हैं । दोनों घुटने बड़े सुन्दर थे । (दोनों घुटनों के नीचे का भाग) दोनों जङ्घाएँ बड़ी मनोहर थीं । भगवान् एक जङ्घा पर दूसरी जङ्घा को रखकर खड़े रहते हैं, क्योंकि यदि भगवान् दोनों जङ्घाओं को अलग-अलग रखते हों तो भक्तों की गति जुदी-जुदी हो जाए । इसलिए सभी भक्तों को एक ही गति प्रदान करने के लिए भगवान् दोनों जङ्घाओं को (ऊपर नीचे) गिलाकर ही खड़े रहते हैं ॥४९॥

श्लोक—तुङ्गगुल्फारुणस्रवातदीधितिभिवृतम् ।

नवाङ्गुल्यङ्गुदलविलसत्पादपङ्कजम् ॥५०॥

श्लोकार्थ—दोनों चरणतल कुछ ऊँचे थे । गुल्फ (पैरों के गट्टे), नई कलियों की

१॥ अंगुलियां, अंगूठे और मुट्ठी के अङ्गुली के समान हैं दोनों चरणार्थिद्वय परम मनोहर थे ॥५०॥

सुबोधिनी—तुङ्गो गुल्फी अरुणा नखास्तेषां : अङ्गुलयः अङ्गुष्ठौ च कमलदलप्रायाः तैर्विलसत्
व्रातः समूहः तस्य दीवितिभिः कान्तिभिर्वृतं, शोभायुक्तं पादपङ्कजं यस्य, सुमेव्यत्वाय चरणौ
नखकान्तयः सर्वाङ्गं व्याप्य तिष्ठन्तीति, नवा तथा निहपितौ ॥५०॥

व्याख्यान—पादों की दोनों ऊँची गाँठें—(गुल्फ), लाल-लाल सारे नखों की कान्ति जो भगवान् के सारे श्रीअंग में फैल रही थीं तथा कमल के पत्तों के समान नई अङ्गुलियां और अंगूठों से सुशोभित हुए चरणकमलवाले भगवान् के दर्शन अकूर को हुए। भगवान् के चरण सुमेव्य-सहज-सेवा किए जाने योग्य हैं, यह प्रदर्शित करने के लिए चरणों को कमल दल सा कहा है ॥५०॥

श्लोक—सुमहार्हमणिव्रातकिरीटकटकाङ्गदेः ।

कटिसूत्रब्रह्मसूत्रहारनूपुरकुण्डलैः ॥५१॥

भ्राजमानं पद्मकरं शङ्खचक्रगदाधरम् ।

श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभं वनमालिनम् ॥५२॥

श्लोकार्थ—उनके अङ्गों में किरीट, कटक (कड़े), भुजबंध, करधनी, जनेऊ, हार, नूपुर, कुण्डल, अंगूठी आदि अनेक आभूषण शोभायमान थे और उनमें बहुमूल्य मणि, माणिक जड़े हुए थे। चारों कमल से कीमल श्री हस्तों में शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म और वक्षःस्थल में श्रीवत्स तथा कौस्तुभमणि और श्रीकण्ठ में वनमाला विराजमान थी ॥५१-५२॥

सुबोधिनी—एवं सर्वाङ्गवर्णनमुक्त्वा आभरणाणां वर्णनमाह कटिसूत्रेति, कटिसूत्रं काञ्चिदागरूपमर्यादानिगितं, ब्रह्मसूत्रं यज्ञोपवीतं नामगर्वादानिगितं, हारो मुक्तानां हृदये शोभाकरः, मुक्तान् जीवान् हृदये स्थापीयतीति ज्ञापयितुम्, नूपुरं पादे, कुण्डले कर्णयोः, भक्तिसास्त्रं योगज्ञाने च समलङ्कृते, एतद्भ्राजमानं, आयुधानि वर्णयति पद्मकरमिति, एकास्मिन् करे पद्ममेतत् सर्वायुध-

सम्, अतः सर्ववृद्धिभ्रामकं इति, ततः शङ्खः अणो तत्त्वं, पृथ्वी पद्ममिति, तेजश्चक्रं, गदा आतन्त्र्यरूपेति, एतानि विभर्तीति तथा, लक्षणाः न्तराण्याह श्रीवत्सो दक्षिणावर्तरोगरेखा वक्षसि यस्य, इदमसाधारणं लक्षणं, भ्राजत् कौस्तुभरत्नं यस्य, शुद्धा जीवाः कण्ठे स्थिता इति, वनमाला-युक्तं इति कीर्तियुक्तम् ॥५१-५२॥

व्याख्यान—इस प्रकार भगवान् के सारे अङ्गों का वर्णन करके, कटिसूत्र इत्यादि श्लोक से उनके आभरणों का निरूपण करते हैं। कटिसूत्र—सुवर्ण की करधनी—जो रूप की परीकाष्ठा का



किन्तु वचोभिः पूर्वसिद्धैः गद्यपद्यादिरूपैः, ननु । अमलात्मभिरिति, निर्मलान्तःकरणास्ते भगव-
 वैकुण्ठे भगवत्सन्निधाने वा परमानन्दानुभवोस्तीति । त्वराः न तु भोगवराः ॥५४॥
 भोगं विहाय किमिति स्तोत्रं कुर्वन्तीत्याशङ्क्याह ।

व्याख्यार्थ—इस प्रकार से भगवान् के दिव्य चिन्हों का निरूपण करके -‘सुनन्दनन्द प्रमुखः’-
 इन दो श्लोको से सेवकों का वर्णन करते हैं । सुनन्द नन्द आठ, द्वारपाल, तनक सनन्दन आदि आधि-
 दैविक भक्त, इंद्र आदि आठ लोक पाल तथा ब्रह्मा शिव आदि प्रधान देवगण उनका गुणगान कर रहे थे ।

मनुष्यों और देवों का वर्णन करके ऋषियों का निरूपण करते हैं । निरन्तर ही भगवान् के
 कार्य में तत्पर रहने वाले मरीचि आदि नौ उत्तम ब्राह्मण(ऋषि)भगवान् की स्तुति कर रहे थे ।

भगवान् की स्तुति करते हुए आधिदैविक भगवद्भक्तों को भी अक्रूरजी ने देखा । उनमें दैत्यों
 में मुख्य प्रह्लाद, देवों में श्रेष्ठ नारद और मनुष्यों में उत्तम भक्त भीष्म थे । तीन ही प्रकार के जीव
 हैं और उनमें भी भगवद्भक्त ही होते हैं । इस लिए प्रह्लादादि श्रेष्ठ भगवद्भक्तों के द्वारा स्तुति किए
 जा रहे भगवान् के दर्शन अक्रूर को हुए । वे भगवद्भक्त अपने भिन्न-भिन्न सात्त्विक, राजस, तामस
 भावों से स्तुति करते हुए देखे गए । वे स्तोत्र भी जिन से वे भगवद्भक्त भगवान् की स्तुति कर रहे थे;
 उनके उसी समय जोड़ कर-कल्पना करके-कहे हुए नहीं थे; किन्तु पहले से ही निश्चित किए हुए गद्य
 पद्य रूप वाणी से कहे गए थे ।

शङ्का—वैकुण्ठ में अथवा भगवान् के सानिध्य (पास) में तो परम आनन्द का अनुभव है,
 फिर वे उस परमानन्द के भोग को छोड़कर स्तुति करने में ही क्यों लगे रहे ? इसके उत्तर में कहते
 हैं कि (अमलात्मभिः) निर्मल अन्तःकरण वाले उन भक्तों की भगवान् में ही आसक्ति थी, भोग में
 नहीं थी, इसलिए वे परमानन्द के अनुभव को भी त्याग कर उनकी ही स्तुति करते रहे ॥५३-५४॥

श्लोक—श्रद्धा पुष्ट्या गिरा कान्त्या कीर्त्या तुष्ट्येलयोजया ।

विद्ययाविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम् ॥५५॥

श्लोकार्थ—श्री,पुष्टि, वाणी, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा,विद्या,अविद्या,शक्ति
 और माया, ये बारह शक्तियाँ उनकी सेवा कर रहीं थीं ॥५५॥

सुबोधिनो—ततो भगवतः सर्वकार्यसाधिका
 द्वादशः शक्तयः ता अपि दृष्टवानित्याह श्रियेति,
 श्रीर्लक्ष्मीः, ध्यादिभिर्निषेवितम्, पुष्टिर्नाम यया
 सर्वं पुष्टा भवन्ति सा यत्र न प्रविशति ते बह्मा-
 हारा अपि न पुष्टा भवन्ति, एवं सर्वत्र, गीः सर-
 स्वती प्रसिद्धा, कान्तिः काचित् प्रभा राज्याभिषे-
 कादिषु प्रकटा जायते,अलङ्कुरणानि तच्छेषाण्येव,

कीर्तिः प्रसिद्धाः, सा यत्र न प्रविशति तत्र रागान-
 कर्मणापि न कीर्तिर्भवति, तुष्टिः सन्तोषात्मिका,
 यदभावे महानपि तृणवद् भवति, इला भूमिः,
 ऊर्जा सर्वसामर्थ्यरूपा, विद्या ज्ञानरूपा मोक्षदा-
 यिनी, अविद्या बन्धिका,निद्रादयोपि तद्भेदा एव,
 केचन मायाभेदा इत्याहुः, शक्तिः इच्छाशक्तिः,
 एषा सर्वनियामिका, माया सर्वभवनसामर्थ्य व्या-

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १५६ ॥

ग्रांसू भर आए और भक्ति भाव से हृदय गद्गद हो गया ॥१५६॥

सुबोधनी—एवं दृष्टवतो यत् जातं तदाह | ततः परमया भक्त्या युतः, ततो हृष्यन्तनूरुहः ॥१५६॥
विलोक्येति, आदौ तादृशं दुर्लभं दृष्ट्वा सुभृशं प्रीतः

व्याख्यान—इस प्रकार के दर्शन करने वाले अक्रूर की उम्र समय की दशा का वर्णन इस 'विलोक्य' श्लोक से करते हैं। इस प्रकार भगवान् के दुर्लभ दर्शन करके अक्रूर अत्यन्त प्रसन्न होकर परम भक्त भाव से पूर्ण हो गए और हर्ष के मारे उनका सारा शरीर रोमाञ्चित हो गया ॥१५६॥

कारिका—अन्तस्तोषस्तया भक्तिर्भक्तिचिह्नानि चैव हि ।

दृष्टे भगवति ह्यासन् भक्तस्येति निरूपितम् ॥१॥

कारिकार्थ—भगवान् के दर्शन करके भक्त (अक्रूर) के हृदय में प्रसन्नता, भक्ति के चिन्ह भी प्रकट हो गए, यह निरूपण किया है ॥१॥

सुबोधनी—भावेन विलसन्तःकरणं लोचने | दुक्तं भवति ॥१५६॥
च यस्य, प्रेमोद्गमलक्षणमेतत्, ततो वैकल्यमर्था-

व्याख्यान—भक्ति भाव से उनका हृदय प्रेमाद्रं हो गया और नेत्र प्रेमाश्रुओं से भर आए। ये सब प्रेम के उत्पन्न होने के चिन्ह हैं। ऐसी दशा हो जाने के बाद विकल होना तो सहज ही कहा जा सकता है।

श्लोक—गिरा गद्गदवास्तोषीत् सत्त्वमालम्ब्य सात्वतः ।

प्रणम्य सूर्धावहितः कृताञ्जलिपुटः शनैः ॥१५७॥

श्लोकार्थ—तब अक्रूरजी ने सात्त्विक भाव को धारण करके भगवान् को सिर झुका कर प्रणाम किया, फिर वे सावधान होकर हाथ जोड़ कर गद्गद वाणी से भगवान् की (यों) धीरे-धीरे स्तुति करने लगे ॥१५७॥

सुबोधनी—ततो यत् कृतवास्तदाह गिरेति, गद्गदवा वाण्या अस्तोषीत्, सत्त्वमालम्ब्येति निर्गुणावस्थां दूरीकृत्य सत्त्वावरधावलम्बनं कृतवान्, यतः सात्वतः वैष्णवः ततः साष्टाङ्गं प्रणम्य वैकुण्ठ एवाभिव्यक्त इति जलाद्यभावात् अवहितः सावधानो भूत्वा मनः सुस्थिरं विधाय कृताञ्जलिपुटो भूत्वा चिरकालं तूष्णीं स्थित्वा, अल्पोद्गमसामर्थ्येऽपि स्तोत्रं कृतवानिति वक्तुंगाह शनैरिति, स्तोत्रे हि कृते भगवता प्रदर्शितं तस्य हृदयारूढं जातमिति ज्ञायते नान्यथेति सर्वत्र स्तोत्रव्यवस्था ॥१५७॥



ध्यानार्थ—तदनन्तर अक्रूर जी के कर्तव्य का वर्णन इस 'गिरा' श्लोक से करते हैं। तब अक्रूर ने अपनी निर्गुण स्थिति को दूर करके सात्त्विक स्थिति का ग्रहण किया और गद्गद वाणी से भगवान् की स्तुति करना आरम्भ किया, क्योंकि वे वैष्णव (सात्वतः) थे। फिर उन्होंने भगवान् को साष्टाङ्ग प्रणाम किया। वहाँ भगवान् ने वेङ्कट के ही दर्शन कराए थे, इसलिए वहाँ जल आदि के न होने से वे और भी सावधान हो गए और अपने मन को ठीक स्थिर करके दोनों हाथ जोड़ कर बड़ी देर तक चुपचाप खड़े रहे। जब काग करों की थोड़ी सी शक्ति हुई, तब धीरे धीरे भगवान् की स्तुति करने लगे और सभी (स्तुति करने पर ही) उनके हृदय में भगवान् का वह स्वरूप (जो भगवान् ने उनको दिखलाया था) आरूढ़ हो गया, ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि स्तुति किए बिना भगवान् का स्वरूप स्थिर हृदयारूढ़ नहीं होता, इसीलिए सभी जगह स्तुति करने की व्यवस्था (नियम) है।

इति श्रीभट्टागवत महापुराण वराम स्कन्ध (पूर्वार्ध) ३६वें अध्याय की श्रीमद्वल्मीकि
धरणीकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण
ऐश्वर्य निरूपक चतुर्य अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित
सम्पूर्ण।

राग बिहागरी

व्याकुल भये ब्रज के लोग ।

इषाग गन नहि नेक आनन ब्रह्म पूरन जोग ॥

कौन माता पिता को है कौन है पति नारि ।

हसत दोउ अक्रूर के संग नवल नेह बिसारि ॥

कोउ कहति यह कहाँ आयो कूर याको नाम ।

सूर प्रभु लै प्रात जैहै और संग बलराम ॥

राग काहरो

चलत जानि चितवति ब्रज जुवती गानहु लिखी चितेरे ।

जहाँ गंध सुत तहाँ एक टक जोवति फिरत न लोचन फेरे ॥

बिसारि गई गति भांति देह की गुनत न श्रवणनि टेरे ।

मिलिजु गये मानो पय पानी निरवत नहीं निवेरे ॥

लागे संग मदोनमत के ज्यों धिरत न कैसे हूँ घेरे ।

दूर प्रेग अंकुश आता तजि बाहिन इत उत हैरे ॥



राग सौरठ

जशोदा वार वार यों भाषे ।

हे कोऊ ब्रज हितू हमारा चलत गोपाल हि राखे ॥

कहा काज मेरे छगन मगन को नृप मधुपुरी बुलाये ।

सुफलक सुत मेरे प्राण हरन को काल रूप ह्वे आये ॥

बरु यह गोधन कंस लेइ सब मोहि बंदि ले मेले ।

इतनो मांगति कमल नैन मेरी अखियनि आगे खेले ॥

को कर कमल मथानी गहि है को दधि माखन खेहे ।

बहुरयो इन्द्र बरषि है ब्रज पर कोन मेरु कर लेहे ॥

बासर रैन बिलोके जोऊं संग लागि हुलराऊं ।

हरि बिछुरत असु रहै कर्म बस तो किहि कंठ लगाऊं ॥

टेरि टेरि घर परति जशोदा अघर बदन बिलखानी ।

सूर सुदशा कहां लागे बरनौ दुखित नंद की रानी ॥

राग बिलावल

आतुर रथ अफूर चढ़े ।

तब रसना हरि नाम भाषिके लोचन नीर कढ़े ॥

महरि पुत्र कहि सोर लगायो तरु ज्यों घरनि लुढ़ाई ।

देखति नारि चित्रसी ठाढ़ी चितये कुंवर कन्हारी ॥

इतनेहि में कह दियो सबनिसों मिली हैं अवधि बिताई ।

तनक हंसे हरि मन जुवतिन को निठुर ठगोरी लाई ॥

बोलत नहीं रही सब ठाढ़ी श्याम ठगी ब्रज नारि ।

सूर तुरत मधुवन पगु धारे घरनी के हितकारी ॥

राग नट

तब न विचारी री यह बात ।

चलत न फेंट गही मोहन की अब कहरी पछतात ॥

निरखि निरखि गुख रही मोन ह्वे चकित भई बिलखात ।

जब रथ भयो दृष्ट आगोचर लोचन अति अकुलात ॥

सबइ अजान भई वहि ओसर अति ढिग गहि सुत गात ।

सूरदास स्वागी के बिछरे कौड़ी भरि न बिकात ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४०वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ३७वां अध्याय

राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण

‘पञ्चम अध्याय’

अक्रूरजी द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण की स्तुति

—•—

कारिका—सप्तत्रिंशे तु सन्तुष्टः स्तोत्रं चक्रे मनोहरम् ।

चतुर्धा ज्ञातमाहात्म्य इति सिद्धान्त ईर्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस सेतीसवें अध्याय में अत्यन्त प्रसन्न हुए तथा भगवान् के माहात्म्य से परिचित हुए अक्रूरजी नीचे बताए जाने वाले चार प्रकार से भगवान् की सुन्दर स्तुति करने लगे, यह सिद्धान्त कहा जाता है ॥१॥

=====

कारिका—स्वरूपेण प्रमाणेन युक्त्या वस्तुस्वरूपतः ।

अथतारफलंश्चैव सर्वस्यैव विनिर्णयः ॥२॥

कारिकार्थ—स्वरूप से, प्रमाण से, वस्तु के स्वरूपानुकूल युक्ति से तथा अवतारों और फल के द्वारा सब का ही निर्णय किया जाता है ॥२॥

लेख—‘स्वरूपेण’ पहले श्लोक से स्वरूप का, तीसरे से ग्यारहवें तक नौ श्लोकों से प्रमाण का, बारहवें से पन्द्रह तक चार श्लोकों से युक्ति का और सोलहवें श्लोक से अध्याय की समाप्ति तक अवतार तथा फल के निर्णय का विभाग है ।

कारिका—राजसे स्तोत्रकर्तायं मध्यमो विनिरूप्यते ।

उत्तमे नारदो वक्ता वसुदेवादयस्तथा ॥३॥

कारिकार्थ—राजस स्तुति में यह अक्रूरजी मध्यम स्तुति करने वाले का निरूपण है और उत्तम स्तुति में वक्ता (स्तुति करने वाले) नारदजी तथा वसुदेवजी आदि भी उत्तम स्तुति करने वाले हैं ॥३॥

कारिका—यस्य यस्य यथा भावस्तेन तादृक् निरूप्यते ।

सर्वं युक्तं भगवति न सर्वं सर्व एव च ॥४॥

कारिकार्थ—जिन जिन का जैसा जैसा भाव है, उन उन ने भगवान् का वैसा ही निरूपण किया है । भगवान् में सब ही उचित हैं; क्योंकि भगवान् सर्व रूप हैं, नहीं भी हैं और हैं भी (सर्व रूप) ॥४॥

लेख—‘यस्येति’ भिन्न भिन्न भक्तों की, की हुई स्तुति में इस प्रकार विभेद होने के कारण यह कहा है । भगवान् की स्तुति कोई अनुचित प्रकार से करे तो उसे दोष लगे क्या ? इस शङ्का के उत्तर में कहा है कि ऐसी शङ्का करना उचित नहीं है; क्योंकि भगवान् सबसे उत्तम हैं, इसलिए सर्व रूप नहीं भी हैं और सर्व रूप हैं भी । इस कारण से उनकी सब तरह की स्तुति निर्दोष ही है ।

अक्रूर उवाच—

श्लोक—नतोऽस्म्यहं त्वाखिलहेतुहेतुं नारायणं पूरुषमाद्यमन्ययम् ।

यन्नाभिजातादरविन्दकोशाद् ब्रह्माविरासीद् यत् एष लोकः ॥१॥

श्लोकार्थ—अक्रूर ने कहा—हे श्रीकृष्ण, मैं आपको प्रणाम करता हूँ । आप आदि पुरुष, सब कारणों के कारण, अविनाशी और नारायण हैं । आपकी नाभि से उत्पन्न कमल से जगत् की सृष्टि करने वाले ब्रह्माजी उत्पन्न हुए हैं ॥१॥



सुबोधिनो तत्र प्रथमं स्वरूपं कीर्तयन् नम-
स्करोति नतोऽस्यहमिति, त्वां साक्षादग्रे आवि-
र्भूतं, कनिष्ठशङ्का तु नास्त्येव, यतोऽखिललोक-
स्यापि जगतस्त्वं हेतुः, अखिलहेतुत्वे उपपत्ति
प्रमाणं चाह नारायणमिति; आदौ ब्रह्माण्डे
नारायणादेव सर्वं जातमिति सर्वलोकप्रसिद्धं
श्रुतिश्च, 'पुरुषो ह वै नारायणो कामयते'ति, तथा
पुरुषसूक्ते, तदयमेव पुरुषमित्याह, नैतावन्मात्रप-
रत्वमिति वक्तुमाद्यं पुरुषमिति, प्रकृतिभर्तारम्,
तस्यापि मूलमूलमिति वक्तुमध्यमक्षररूपं निरू-
पयति, अथवा, ब्रह्माण्डमध्यस्थितजगत एव

कारणत्वेन भगवान् निरूप्यते, तादृशमेव रूप
प्रकटितमिति, तत्रैवाद्यता व्यष्ट्यपेक्षया मूलरूपता
अविनाशित्वं च, लोके कर्तृत्वादिधर्माः तथा
भवन्तीति क्षीणत्वादिव्यावृत्त्यर्थं अक्षयबीजत्वार्थं
वा अव्ययपदम्, जगत्कर्तृत्वमेव येन प्रकारेण
तगाह यन्नाभिजातादिति, यस्य भगवतो नाभेर्जा-
तात् अरविन्दकोशात् कमलमुकुलात् पश्चाद् विक-
सितात् तत्र स्थितो भ्रमर इव आविरासीत् ब्रह्मा,
यतो ब्रह्मणः सकाशात् एष लोकः सर्वोऽपि प्रपञ्चः ।

॥१॥

व्याख्यान—उनमें से पहले भगवान् को (स्वरूप का वर्णन पूर्वक) -'नतोऽस्यहं'- इस श्लोक से
नमस्कार करते हैं । मेरे सामने साक्षात् प्रकट हुए, आपको मैं नमस्कार करता हूँ । मेरे सामने प्रकट
होने से आप मेरे से छोटे हैं, ऐसा प्रश्न हो ही नहीं सकता; क्योंकि आप तो सारे ही जगत् (लोक) के
भी कारण हैं । इसमें युक्ति और प्रमाण यह है कि आप नारायण हैं और यह सभी लोकों में प्रसिद्ध
है कि पहले नारायण से ही ब्रह्माण्ड में सब पदार्थ उत्पन्न हुए हैं । पुरुष (नारायण) ने कामना की
(नारायणोऽपनिषद्) श्रुति और नारायण में ही सब की उत्पत्ति हुई है (ऋग्वेद १०-६०) पुरुष सूक्त में
भी ऐसा ही कहा है कि सारा विश्व आपसे ही उत्पन्न हुआ है । इसीलिए -पुरुष- आप पुरुष हैं, ऐसा
मूल में कहा है । आप केवल पुरुष ही नहीं हैं; किन्तु मूल पुरुष हैं, प्रकृति के भर्ता हैं । आप अविकारी
अर्थात् विकार रहित, मूल पुरुष के भी मूल अक्षर ब्रह्म रूप हैं; इसी अभिप्राय को मूल में अव्यय
शब्द सूचित करता है ।

अथवा अक्षरजी यहाँ ब्रह्माण्ड के भीतर रहने वाले जगत् का कारण रूप से ही भगवान् का
वर्णन करते हैं; क्योंकि भगवान् ने वंसा ही रूप प्रकट किया है । वह रूप ही सब पदार्थों (व्यष्टि) का
मूल होने से मूल रूप, आदिम और अविनाशी है । लोक में तो कर्त्ता-किसी काम को करने वाला-क्रम
से धीरे धीरे क्षीण होता जाता है; किन्तु आप तो अव्यय-अक्षय बीज रूप हैं । जिस प्रकार से आप
जगत् के कर्त्ता हैं, उसे वर्णन करते हैं कि भगवान् की नाभि से उत्पन्न हुए और फिर विकास को
प्राप्त हुए कमल के अक्षर से -उत्तम में बँटे हुए गौरे के समान- ब्रह्माजी का आविर्भाव हुआ और उन
-ब्रह्माजी-से इस सारे ही लोक की उत्पत्ति हुई है ॥१॥

श्लोक—भूस्तोयमग्निः पवनः खमादिर्महानजनादिर्मन इन्द्रियाणि ।

सर्वेन्द्रियार्था विबुधाश्च सर्वे ये हेतवस्ते जगतोऽङ्गभूताः ॥२॥

श्लोकार्थ—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि, आकाश, महत्तत्त्व, प्रकृति और पुरुष, मन,

दसों इंद्रिणां, इंद्रियों के रूप रस आदि सारे विषय तथा इनके अधिष्ठाता सूर्यादि देवता, जिनको जगत् का कारण कहा जाता है, ये सब आपके अङ्ग में से उत्पन्न हुए हैं ॥२॥

सुबोधिनी— एवं जगत्कारणत्वमुपपाद्य कार्य-
कारणयोर्वैलक्षण्यसिद्धयर्थं भगवतो नित्यमुक्तत्वं
जीवानां तत्कृपया तथात्वमिति वक्तुं कार्यभूतप्र-
पञ्चस्य स्वरूपमाह भूस्तोयमिति, एतस्य वा मूल-
भूतत्वख्यापनाय तत्त्वान्येतस्मादेवोत्पन्नानीत्याह
भूस्तोषमिति, मूलभूतानि चेत् एवं परमिति ज्ञात-
व्यम्, एवं क्रमस्तत्र न विवक्षितः प्रथमपक्षे तु
विवक्षित इति गणनार्थं वा स्थूलात् सूक्ष्मे बुद्धि-
निवेशनार्थं स्वान्तानि पञ्चभूतानि, आदिरहङ्कारः,
महान् महत्त्वं, अजा प्रकृतिः, आदिः पुरुषः, ततो

मनः, मनसा पुरुषः सर्वं करोतीत्याधिदैविकमनो
विवक्षया व्युत्क्रमेणापि निरूपितम्, इन्द्रियाणि,
चकाराद् बुद्धिः प्राणश्च, ततः सर्वेन्द्रिदार्था गन्धा-
दयः वागादयश्च, चकारात् तदवान्तरभेदाः सूया-
दयश्च, किं बहुना सर्वं एव विषयाः घटादयः स्रगा-
दयश्च, चकारात्तत्त्वानि सुखादीनि, एते हि
सर्वे यद्यपि जगतो हेतवः तथापि ते अङ्गाज्जाताः,
अक्षरात्, तस्यैवाङ्गत्वश्रुतेः 'ब्रह्म पुच्छ'मित्यादौ,
अतः कारणात् त्वमेव जगद्धेतुरिति स्वरूपेण
माहात्म्यमुक्तम् ॥२॥

व्याख्यानार्थ—इस प्रकार से भगवान् जगत् के कारण हैं, यह सिद्ध किया। अब कार्य कारण के भेद को सिद्ध करने और भगवान् नित्य मुक्त हैं और जीव उनकी कृपा से मुक्त होते हैं, यह बतलाने के लिए 'भूस्तोयमग्निः' इस श्लोक से कार्य रूप जगत् के स्वरूप का वर्णन करते हैं। अथवा ये श्रीकृष्ण ही सबके वास्तविक मूल हैं, यह बतलाने के लिए -भगवान् श्रीकृष्ण से ही सारे तत्त्व उत्पन्न हुए हैं, ऐसा इस श्लोक से कहते हैं। जब जगत् के कारण भूत सारे ही तत्त्व भगवान् से उत्पन्न हुए हैं, तब तो इस रूप को सबसे उत्तम मानना ही चाहिए। इस प्रकार दूसरे -पक्ष- अर्थ में तो पहले पीछे का क्रम वाञ्छित नहीं है। प्रथम -पक्ष- अर्थ में क्रम बतलाने की इच्छा है, इसलिए अथवा तत्त्वों की गणना हो सकेगी, इसलिए और स्थूल तत्त्वों से सूक्ष्म तत्त्वों में बुद्धि स्थिर हो सकेगी, इसलिए भी आकाश पर्यन्त (तक) पाँच महा भूतों को पहले कहा गया है।

(आदि) अहङ्कार, (महान्) महत्त्व, (अजा) प्रकृति, (आदि) पुरुष और मन, यह कम मूल श्लोक से बतलाया है। पुरुष मन के द्वारा ही सब कुछ करता है। यहाँ आधिदैविक मन से तात्पर्य है और इसी अभिप्राय से मूल श्लोक में पहले मन को न लिखकर पुरुष को पहले कहा है अर्थात् मन को पहले लिखकर पीछे पुरुष को नहीं बतलाया; व्युत्क्रम से कहा है।

ज्ञानेन्द्रिया, कर्मेन्द्रियां, बुद्धि, प्राण और उन इन्द्रियों के भोगने योग्य रूप रसादि, वाणी आदि तथा स्त्री, माला, धट आदि सारे उपयोगी पदार्थ और उनसे उत्पन्न होने वाले ये सारे ही; जो जगत् के कारण हैं; आपके अङ्ग अक्षर ब्रह्म से उत्पन्न हुई हैं । 'ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा' (ब्रह्म का पिछला भाग प्रतिष्ठा है, तै. उप. २-४) श्रुति में अक्षर ब्रह्म को अङ्ग कहा है । इस कारण से आप ही जगत् के कारण हैं । इस प्रकार भगवान् के स्वरूप का वर्णन करके उनका माहात्म्य कहा है ॥२॥

लेख—‘भ्रूतयो’ इसकी व्याख्या में ‘मूल भूतानि चेत्’ इत्यादि पदों का अर्थ यह है कि यदि ये



सारे जगत् के मूल कारण भूत भगवान् से ही उत्पन्न हुए हैं तो यह रूप सबसे उत्तम ही है ॥२॥

श्लोकः—नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते ह्यजादयोनात्मतया गृहीताः ।

अजोनुबद्धः स गुणरजाया गुणात् परं वेद न ते स्वरूपम् ॥३॥

श्लोकार्थः—ये प्रकृति आदि सब जड़ तत्व आत्मा रूप आपके स्वरूप को नहीं जान सकते । जीव भी—चेतन होने पर भी माया के गुणों से आवृत होने के कारण आपके निगुण स्वरूप को नहीं जान पाता ॥३॥

सुबोधिनी—प्रमाणेन वक्तव्यमित्याकाङ्क्षायां वेदातिरिक्तं प्रमाण नास्तीति वक्तुं ब्रह्मादीनामपि इदमित्यतया ज्ञानामावमाह नैते स्वरूपमिति, अथवा, एते तव पुत्राः पौत्रा वा कथं न मुक्ताः, यद्येते एवामुक्ताः कथमन्यो मुक्तो भविष्यतीत्याशङ्क्य तेषाममुक्तो अभिमानादज्ञानं कारणमित्यभिप्रायेणाह नैते स्वरूपं विदुरिति, अवश्यं ज्ञातव्यमिति बोधनार्थं आत्मन इति, यद्यपि त्वमात्मा तथापि आत्मत्वेन त्वां न गृहीतवन्त इति अनात्मतया गृहीताः कर्तरि क्तः, ते वा त्वया कृपया आत्मत्वेन न गृहीता इति, अजादयः अक्षरादयः पुरुषादयो वा ते रूपं न विदुः, ब्रह्मा-

दयो हि प्रमाणपरा जास्यन्तीति विज्ञाय तेषामपि ज्ञानाभावमाह अजोनुबद्ध इति, अजो ब्रह्मा, अजायाः प्रकृतेः सृष्टिरूपायाः, गुणैः कर्तृत्वादिघर्भैः सत्त्वादिभिर्वा, अनुबद्धः स्वासक्त्या बद्धेऽपि भगवदिच्छया वा पुनस्तेरनुबद्धः, अतो गुणात् परं पृथग्भूतं गुणनियामकं वा ते रूपं न वेद, न हि गृहे बद्धः गृहादन्यत्र स्थितं परिपश्यति, अतः परिच्छिन्नमेव मन्यते तस्मान्न मोक्ष इति, यदि तेऽपि न जानन्ति कथमन्यो जास्यतीति, अतो यः कश्चनैवं भविष्यति स न जास्यति, यः पुनस्त्वत्कृपया त्वां जास्यति स एव कृतार्थो भविष्यतीति नालौकिकं किञ्चित् ॥३॥

व्याख्यानार्थः—भगवान् के स्वरूप का वर्णन प्रमाण पूर्वक करना चाहिए और वेद ही प्रमाण है; वेद से भिन्न और कोई प्रमाण नहीं है; क्योंकि ब्रह्मादि को भी जिन्हें प्रमाण रूप से माना जाए तो आपके स्वरूप का इदमित्यतया (यह ऐसा है) यथार्थ ज्ञान नहीं है, यह 'नैते स्वरूपं' इस श्लोक से कहते हैं ।

अथवा—ये आप—(भगवान्) के पुत्र पौत्र आदि भी मुक्त क्यों नहीं हुए और जब इनकी भी मुक्ति नहीं हुई तो दूसरों की मुक्ति कैसे होगी ? इस शङ्का के उत्तर में इस 'नैते स्वरूपं' श्लोक से जड़ की मुक्ति न होने का कारण स्वभाव विज्ञान अज्ञिति बताया है । इस अतिशय से गंदा श्लोक

नैते स्वरूपं विदुरात्मनस्ते ह्यजादयोनात्मतया गृहीताः (आत्मा अनात्मतया गृहीत होता है) अर्थात् आप भगवान् से जो भी संबंध अति अनात्मतया गृहीत) अर्थात् आपका स्वरूप ही नहीं जान रहे हैं। 'नैते स्वरूपं' श्लोक के अर्थ में नहीं है, न ही आपने कृत कर्मों के कारण इसकी आत्मा रूप से स्वीकार नहीं किया है, वह वाक्यार्थ है । अक्षर ब्रह्मा आदि अथवा पुरुष आदि कोई आपके स्वरूप को नहीं जानते हैं ।



इसी अभिप्राय से सारे ही अपने २ अधिकार के अनुसार भिन्न भिन्न रूपों की सेवा करते हैं। यह इस 'त्वां योगिनः' श्लोक से आरम्भ करके आगे के छः श्लोकों से विशेष प्रकार और आगे एक श्लोक से सामान्य प्रकार से, इस प्रकार विशेष तथा सामान्य रीति से सेवा करने का सात श्लोकों से वर्णन करते हैं। उन सब शेषकों में सारे ही जगत् से कुछ भी सम्बन्ध नहीं रखने वाले, केवल मोक्ष की कामना वाले योगी लोग हैं, इस लिए पहले उन्हें ही गिनते हैं। यद्यपि चित्त की वृत्तियों का निरोध (रोकना) रूप योग में आत्मा की स्फूर्ति होना फल है और उसका भगवान् के रूप का ध्यान में ही उपयोग किया जाता है, फिर भी (योगी) भगवान् के उपासक नहीं हैं। अथवा योग शास्त्र में ईश्वर के ध्यान की आवश्यकता नहीं है, तथा आत्मा की स्फूर्ति से विपरीत अंश को (योग में), छोड़ देना भी कहा है, तो भी योग में आत्मा की स्फूर्ति के अङ्ग (सहायक) रूप से ईश्वर का ध्यान करना कहा है। इस लिए योगी भी-प्रकारान्तर से-आपकी ही पूजा करते हैं। वे आपको अद्धा-साक्षात्-पूजते हैं; क्योंकि वे देह के भीतर उपासना करते हैं। इसलिए उनकी देह आदि भी आपसे व्यवहित-दूर-नहीं है।

उनके सिद्धान्त में, ईश्वर साकार और सारे जीवों से विलक्षण पुरुष विशेष है और ऐसा नहीं है। इसलिए यहाँ सांख्य और योग में ईश्वर साकार तथा निराकार है, ऐसा निर्णय किया है। यह महापुरुष और ईश्वर शब्द का अर्थ है, जिनका अभिप्राय भीतर से तथा बाहर से वश में रखने वाले हैं।

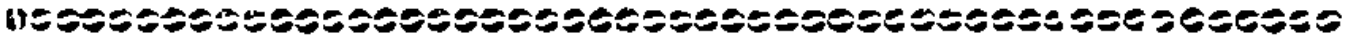
साधु-सदाचारी-पुरुष स्मार्त-स्मृतियों-में कहे हुए धर्मों का आचरण करने में तत्पर रहते हैं। वे भगवान् को ही अपना आश्रय मानते हैं और आध्यात्मिक आदि तीनों भेद भगवान् के ही आधीन हैं; इसलिए भगवान् इन तीनों-साध्यात्म (अर्थात् आत्मा में) 'साधिभूत' भूतों में और साधिदेव (देवों में) रूपों में रहने वाले हैं। यदि भगवान् इन तीनों रूपों के साथ रहने वाले न हों तो कर्म से बन्धन ही होता रहे। इस प्रकार इन तीनों रूपों के साथ कारण, कर्ता और प्रेरक रूप से भगवान् के रहने के कारण में तीनों ही भगवान् के आधीन हैं। भगवान् की आज्ञानुसार ही बर्ताव करते हैं, इसलिए जीव का कोई अपराध नहीं होता ॥४॥

इस प्रकार अत्यन्त आवश्यक अन्तर्बाह्य धर्मों में ही निरन्तर लगे रहने वाले स्मार्तों का निरूपण किया। अब इस 'त्रय्या च विद्यया' नीचे के श्लोक से श्रोतों (वेदिकों) का निरूपण कहते हैं—

श्लोक-त्रय्या च विद्यया वेदिकैश्चैव विद्वान् विद्वान्

मन्त्रैर्विद्वान् विद्वान् विद्वान् ॥५॥

श्लोकार्थ—जोई वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेदों के विद्वान् के द्वारा आदि अनेक रूपों और ऋषियों से इनके लम्बे २ यज्ञ करके आपका ही भजन-पूजन करते हैं ॥५॥



सुबोधिनी—एवमपेक्षितमान्तरबाह्याधर्मपरान् स्मार्तान् निरूप्य श्रोतान् निरूपयति त्रय्येति, श्रुती पक्षत्रयं काण्डत्रयभेदात्, तत्र कर्ममार्गं त्रयी प्रधानं, उपनिषदो ज्ञानमार्गः उपासनायां तु प्रणवादिमन्त्राः, तत्क्रमेण त्रयमाह, सर्वेषामेव भगवज्ज्ञानोपयोग इत्यवोचाम्, मन्त्रभेदेन वेदानां त्रैविध्यं ऋचः सामानि यजूंषीति, तदुपयोगि ब्राह्मणं च, बाह्यक्रिया वा यजुषा क्रियते आन्तरी साक्षाद्देवतार्थं द्रव्यसमर्पणादिरूपा ऋचा क्रियते, ततो देवतायाः फलदानार्थं हविर्ग्रहणार्थं च साम्ना स्तूयते, एवं प्रकारेण वेदानिकाः यज्ञ-वितानपराः यज्ञरूपं त्वां धिततः विस्तीर्णैः सहस्रसंवत्सरान्तैः नानाविधैर्मन्त्रैः यजन्त इति

सर्वत्र सम्बन्धः, चकारायङ्गोपाङ्गादिभिः सह, ज्ञानेनापि सहेति, केचिद् द्विजा इति जन्म-कर्मावदाताः श्रोत्रियाः न तु सर्वेषां तत्राधिकार इति, ननु तत्रेन्द्रादय एवेज्यन्ते न तु भगवानित्यभिप्रेत्याह नानारूपेति, नानाविधानि रूपाणि येषां गमराणामिन्द्रादीनां तेषामाख्यया, आधि-दैविकत्वात् भगवत एव तत्रामेति वा, तेषा-माख्यया भगवानेवेज्यते, वस्तुतस्तत्त्वङ्गप्रायास्ते, यथा राज्ञः मुकुटोष्णीषादिनिर्माता सेवक एव भवति यद्यपि शिरसि एव परिचर्यां करोति, एवं कर्णादिष्वपि, तथापि राजसेवक एवोच्यते न त्वङ्गसेवक इति, तथा प्रकृतेः, इन्द्रादयो बाहव इत्यादिभिरङ्गत्वश्रुतेः प्रतो भगवानेवेज्यते ॥१॥

ध्याख्यार्थ—वेद में तीन काण्ड होने के कारण तीन पक्ष हैं । उनमें कर्म मार्ग में तीनों ही वेद प्रधान हैं । ज्ञान मार्ग में उपनिषदों की और उपासना मार्ग में तो प्रणव आदि मन्त्रों की प्रधानता है । इस क्रम से तीन प्रकार के पूजा करने वालों-पूजकों-का वर्णन करते हैं, क्योंकि सब ही का भगवान् का ज्ञान प्राप्त करने में उपयोग है, ऐसा ऊपर के श्लोक की व्याख्या में कहा जा चुका है ।

मन्त्रों के भेद से वेदों के ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद ये मन्त्र, ब्राह्मण, उपनिषद, तीन प्रकार के हैं । उन मन्त्रों के उपयोगी-वेद के मन्त्रों का भिन्न २ यज्ञों में उपयोग करने की विधि को बताने वाले-वेद भाग को ब्राह्मण कहते हैं । अथवा बाहरी कार्य यजुर्वेद के और देवता को साक्षात् द्रव्य- (पदार्थ)-समर्पण करना आदि अन्दर का कार्य ऋग्वेद के मन्त्रों से किया जाता है । फिर देवता से फल देने तथा आहुति को ग्रहण करने की प्रार्थना करने के लिए सामवेद के मन्त्रों से देवता की स्तुति की जाती है । इस प्रकार से लम्बे समय तक चलते रहने वाले यज्ञों में आसक्त हुए याज्ञिक लोग विभिन्न-एक हजार वर्षों में पूरे होने वाले-लम्बे यज्ञों से यह रूप-आप (भगवान्)-की पूजा करते हैं । यह भगवान् की पूजा करने का सम्बन्ध सब जगह ही समझ लेना चाहिए । अर्थात् अङ्गों, उपाङ्गों तथा ज्ञान के भी सहित तीनों वेदों की विद्या और यज्ञों से आपकी ही पूजा करते हैं । मूल श्लोक में 'केचिद् द्विजाः' कितने ही ब्राह्मण, कहने का अभिप्राय यह है कि जन्म और कर्म से शुद्ध श्रोत्रिय ब्राह्मण ही ऐसा करते हैं, सभी ब्राह्मणों को ऐसा करने का अधिकार नहीं है । उन यज्ञों में भी इन्द्र, अग्नि आदि देवता ही पूजे जाते हैं । उनमें भगवान् की पूजा तो नहीं की जाती । इसके राजाभाषार्थ कहते हैं कि विभिन्न रूप वाले देवों के नाम से इत्यादि शब्दों का प्रयोग है । मनेक प्रकार के शब्दों वाले जो इन्द्रादि देव हैं, उन देवों के नाम से अथवा भगवान् ही आधिदैविक रूप से उन देवों को पूजते हैं । इस कारण से भी ये नाम भगवान् के ही नाम हैं, इसलिये इन्द्रादि के नाम से वे भगवान् का पूजन व यजन करते हैं ।

वास्तव में तो ये सभी देवता भगवान् के अङ्ग रूप हैं । जैसे राजा के मुकुट, पगड़ी, कुण्डल



बनाने वाले सेवक यद्यपि राजा के उत्तमाङ्ग की, कान आदि की भिन्न भिन्न सेवाएँ करते हैं, तो भी वे सिर, कान, आदि की सेवा करने वाले न कहलाकर राजा के सेवक ही कहे जाते हैं । इसी प्रकार जो यज्ञ यागादि के प्रसङ्ग में भी 'इन्द्रादयो वाहव' इन्द्रादि भगवान् की भुजाएँ हैं, इत्यादि वाक्यों से देव भगवान् के अङ्ग हैं, ऐसा ज्ञान होता है । इसलिए उनकी पूजा से भगवान् की ही पूजा होती है ॥५॥

श्लोक—एके त्वाखिलकर्माणि संन्यस्योपशमं गताः ।

ज्ञानिनो ज्ञानयज्ञेन यजन्ति ज्ञानविग्रहम् ॥६॥

श्लोकार्थ—इसी प्रकार कई एक ज्ञानी लोग कर्मों के त्याग से शान्ति को प्राप्त करके ज्ञान रूप विग्रह वाले आप की ही आराधना करते हैं ॥६॥

सुबोधिनी—एकेति, अन्ये पुनः सर्वकर्माणि त्यक्त्वा उपशमं गताः चित्तस्य परमां शान्तिं प्राप्य ज्ञानिनो भूत्वा ब्रह्मात्मत्वस्फूर्तियुक्ताः आत्मयाजिनो भूत्वा ज्ञानरूपमेव यज्ञं कुर्वन्तः ज्ञानयज्ञो नाम आत्मानमेव चिद्रूपं यज्ञरूपेण	परिकल्प्य भगवते समर्पयन्ति, भगवत्प्रीति-साधकत्वाद् वा ज्ञानमेव यज्ञशब्देनोच्यते, अथवा, जरामर्यादादिप्रकाराः ज्ञानयज्ञाः, तत्र इज्योणि ज्ञानरूप एवेत्याह ज्ञानविग्रहमिति ॥६॥
---	--

व्याख्यार्थ—कितने लोग कर्मों का त्याग करके चित्त की शान्ति को प्राप्त करते हैं । वे चित्त की अत्यन्त शान्ति को पाकर ज्ञानी आत्मा ब्रह्म ही है, ऐसी स्फूर्ति रख कर आत्मा का पूजन करने वाले—आत्मयाजी—बनकर ज्ञान रूप ही यज्ञ करते हैं । चिद् (ज्ञान) रूप आत्मा को ही—यज्ञ रूप से कल्पना करके—भगवान् के समर्पण करना, अथवा ज्ञान भगवान् की प्रसन्नता को प्राप्त कराने का साधन है, इसीलिए ज्ञान को ही यज्ञ शब्द से कहा गया है, अथवा जिनके करने से बुढ़ापा और मरण आदि न हो, ऐसे यज्ञों को ज्ञान यज्ञ कहते हैं । इन तीनों प्रकार के भी ज्ञान-यज्ञों में जिनका पूजन किया जाता है, वह भी ज्ञान रूप ही है, यह ज्ञान विग्रहम् (ज्ञान रूप विग्रह वाले) इस विशेषण से कहा है ॥६॥

श्लोक—अन्ये च संस्कृतात्मानो विधिनाभिहितेन ते ।

यजन्ति तन्मयास्त्वां वै बहुमूर्त्यैकमूर्तिकम् ॥७॥

श्लोकार्थ—पवित्र वेदान्तानुसरण वाले कई लोग वेदोक्त मार्ग के अनुसार तन्माय होकर गन्तव्य, कञ्छ्य, यागि अर्पण रूपों से एक ही स्वल्प वाले आप का ही पूजन करते हैं ॥७॥

सुबोधिनी—श्रीबुधोमिवत् उपाराकानाह अन्ये चेति, ते हि स्वात्मानं भगवन्तं च भिन्नमभिन्नं	च मन्त्रान्ते 'नाष्ट्रो रुद्रमर्चये' दित्यादिवाक्यैः अत आह अन्ये भिन्नाश्रवणरादभिन्ना अपि,
---	---

संस्कृततन्मात्रो दीक्षादिभिः आश्रितसङ्गानां, तुल्यं अभिहितं मार्गं, ते प्रसिद्धाः तत्तत्प्रका-
रेणैव तत्तद्देवतामन्त्रोपासकाः तत्तत्तन्मया भूत्वा
उपास्यदेवतया व्याप्तस्वरूपा भूत्वा त्वामेव, वं
निश्चयेन नात्र तिरोहितमिव, बहुमूर्त्या मत्स्यकू-
र्मादिरूपैः एकमूर्तिकं एकस्वरूपमेव यजन्ति, सर्वे

हि विष्णुप्रायसा इति, अथ अंशदयापि भगवन्प्रष्टा
एवेति आतथ्याः, उपासनायां हि मन्त्र एव प्रधानः,
स मन्त्ररूपः यज्ञवदेक एव इन्द्रादिवत् तत्तदभि-
मानिन्यां देवता इति, ततः पञ्चविधः अनेकविधैर्वा
मन्त्रैः उपासनामार्गसिद्धौ भगवानेव एवोपास्यते
क्षुद्रोपासकांश्चापि नक्षयते भिन्नप्रकारसिद्धांश्च ॥७॥

व्याख्यानं—‘अन्ये च’ इस श्लोक से श्रीडुलोमि ऋषि के मतानुसार उपासना करने वालों का वर्णन करते हैं। ‘नारुद्रोरुद्रमर्चयेद्’ जो रुद्र न हो, उसे रुद्र की पूजा नहीं करनी चाहिए, इत्यादि वाक्यानुसार वे श्रीडुलोमि के मतावलम्बी उपासक स्वयं को और भगवान् को भिन्न भी तथा अग्निर भी मानते हैं। दीक्षा संस्कार आदि के द्वारा शुद्ध की हुई देह वाले वे भी उनके गुरुओं के बतलाए हुए मार्गानुसार भिन्न-२ रीति से अलग-अलग देवों के मन्त्रों के उपासक नाम से प्रसिद्ध होकर, तन्मय बन कर तथा अपने उन उपास्य देवों का अपनी देह में आवेश करा कर आपका ही पूजन करते हैं, यह निश्चित तथा स्पष्ट ही है।

वे मत्स्य, कच्छप आदि अनेक रूपों से एक स्वरूप वाले आपका पूजन करते हैं; क्योंकि सारे ही विष्णु की उपासना करते हैं। इन उपासकों में शैव आदिकों को भी भगवान् में ही श्रद्धा वाले समझना चाहिए; क्योंकि उपासना में मन्त्र ही प्रधान है और यज्ञ में जैसे विभिन्न आकारवाले इन्द्रादि अभिमानि देवों के भिन्न-भिन्न होते हुए भी मन्त्र रूप भगवान् एक ही हैं, वैसे ही अनेक रूपों से भी एक रूप वाले आपका ही पूजन किया जाता है, (इसलिए पाँच प्रकार के अथवा अनेक प्रकार के मन्त्रों के द्वारा उपासना, मार्गानुसार प्रसिद्ध एक ही भगवान् की उपासना की जाती है। हीन तथा भिन्न प्रकार से प्रतिष्ठापित देवों के उपासकों का निरूपण आगे किया जाएगा ॥७॥

श्लोक—त्वामेवान्ये शिवोक्तेन मार्गेण शिवरूपिणम् ।

बह्वाचार्यविभेदेन भगवन् समुपासते ॥८॥

श्लोकार्थ—हे भगवान्! इसी तरह शैव लोग भी शिवोक्त विधि के अनुसार शैव, पाशुपत आदि सम्प्रदाय भेद से शिवरूप आप की ही भली-भाँति उपासना करते हैं ॥८॥

सुबोधिनी—किञ्च, शिवरूपोपि त्वमेवेति शैवा अपि त्वामेवोपासत इत्याह त्वामेवेति, अन्ये उपासकेभ्यो भिन्नाः शिवशास्त्रानुसारिणः तागरो कल्पे शिवरूपेण विष्णुस्तिष्ठतीति शैवास्तमेव पक्षमाश्रित्य स्वभावरूपा तथोपासते, शिवोक्तो मार्गः शैवपञ्चरात्रे पाशुपतादौ च प्रसिद्धः, तत्र

शिवरूपी विष्णुरेव, केचिदावेशिनमाहुः, तत्र बह्व-
वश्चाचार्याः गहापाशुपतपाशुपतादिभेदभिन्नाः,
भगवन्निति सम्बोधनात् यदा वैराग्यगुणप्राधान्येन
कार्यं करोषि तदा शिवरूपो भवसीति ज्ञापितं,
सम्यगेवोपासत इति ॥८॥

स्वाभावार्थ - शिवरूप भी प्राप्त ही है । इसलिये शिव भी प्राप्त की हो जासना करते हैं । वह हम 'स्वाभावार्थ' श्लोक से कहते हैं । ऊपर बताया हुआ उपासकी से अन्य उपासक शिव यास्व के अनुसार प्राप्त की जासना करते हैं; क्योंकि साधना कला में विष्णु शिव हो ने रहने है । इसलिये शिव उसी ऊपर के श्लोक में प्रदर्शित सवरूप के पक्ष का आश्रय करके अपनी स्वाभाविक कृति के अनुसार उस तरह से शिवरूप की उपासना करते हैं ।

शिवजी के द्वारा कहा हुआ शैव मार्ग शैव पञ्चरात्र और पाशुपत आदि में प्रसिद्ध है। उस मार्ग में शिवरूपी विष्णु ही है। कई एक विष्णु का शिव में आवेश हुआ कहते हैं। उस शैव मार्ग में महा-पाशुपत, पाशुपत आदि भेदों से भिन्न भिन्न बहुत आचार्य हैं। हे भगवन् ! इस सम्बोधन से वह बतलाया है कि जब आप अपने (श्रीकृष्ण) वैराग्य गुण को मुख्य रख कर कार्य करते हैं; तब आप शिवरूप होते हो। इसलिए वे शैव भी भलीभाँति आपकी ही उपामना करते हैं।

इलोकः-- सर्वं एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमपेश्वरम् ।

येष्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधिष. प्रभो ॥ ६ ॥

श्लोकार्थः— हे नाथ ! जो लोग अन्य अनेक देवताओं के भक्त हैं और सब देवताओं को अलग अलग समझते हैं; वे भी वास्तव में आप ही की पूजा करते हैं क्योंकि सर्व देवगण ईश्वर आप ही हैं । तात्पर्य यह है कि उनकी उपासना में केवल बुद्धि का ही भेद है, वस्तु का भेद नहीं है ॥६॥

सुवोचिनो—एवं षड्विधान् निरूप्य सागा-
न्येन क्षुद्रोपासकानाह सर्वं एवेति, किं बहुना क्षेत्र-
पालाद्युपासका अपि त्वामेवोपासते, यतस्त्वं
सर्वदेवमयः तेषामपीश्वरः, 'ग्रहं हि सर्वयज्ञानां
भोक्ता चे'ति दानयात्, सर्वदेवमयश्चासावीश्वर-
श्चेति, ननु बुद्धिरस्तेषां न भगवत्परेति कथं सर्वेषां
भगवदुपासकत्वमित्याशङ्क्याह येन्यदेवताभक्ता
इति, वयमात्मव्यतिरिक्तस्य विष्णुव्यतिरिक्तस्य च
देवतान्तरस्स्योपासका इति यद्यप्येषामन्यदुद्धिः
तथापि उपास्यो महानिति गत्वा हि तं उपासते
न त्वस्मदुपास्यो न किञ्चित्कर इति, अन्यथा
नोपासीरन्, न हि कश्चिद्दीनप्रयोजकं ज्ञात्वा
कञ्चनोपास्ते, परं भ्रमादुपासना भवति, भ्रमे तु
भगवद्भर्मा एव तत्पारोपिता इति भगवानेव सेव्यते,
आरोपनं तुल्यत्वात्, अदुद्धिपूर्वकोयमिति विशेषः,
योपि भ्रमाद् रजतं जानाति सोपि रजतज्ञानवा-
नेव, अन्यथा अनुव्यवसायोपि भ्रान्तः स्यात्,

यदुक्तं भगवता 'न तु मामभिजानन्ती'ति तद्विधि-
परत्वेन, 'अविधिपूर्वक' मिति वचनात्, प्रतिमा-
दावपि भगवानारोप्यते तद्विधिश्च. तथा तत्तदु-
पासका अपि स्वसेव्ये भगवत्त्वं तद्विधिमारोपयन्ति
परं विध्यभावात् न तस्य ज्ञानजनकत्वं किन्तु हेतु-
फलमेव, अतो भगवदज्ञानात् तेषां सत्तार एव
स्थितिरिति वदता भगवता विधिमार्गो गुरुवतया
स्थापितः न तत्रविहितो मार्गो निन्दितः, अन्यथा
'मामेव यजन्ति', 'ग्रहं हि सर्वयजानां', 'लगते च
ततः कामान् मयैव विहितान् हि तानि'ति न
वदेत्, तस्मात् विधिस्तुतिपरमेवैतद्विधानं, अतः
सुष्ठूक्तं येष्वन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः तथापि
त्वामेवोपाराते इति, नन्येवं भ्रमं भगवानुत्पाद्य
किमित्येवं फलं प्रयच्छति कथं सर्वानिव नैक-
विधानं करोतीत्याशङ्क्याह प्रभो इति, स हि
सर्वप्रकारसमर्थः, तथापि च करोत्येव च नाना
प्रकारान् ॥६॥

व्याख्या—इस प्रकार छ. प्रकार के विशेष उपासकों का वर्णन करके 'सर्व एव' इस श्लोक से सामान्य रीति से साधारण देवों की उपासना करने वालों का बतलाते हैं। इस विषय में अधिक क्या कहें ? क्षेत्रपाल आदि के उपासक भी आग ही की उपासना करते हैं; क्योंकि 'अहं हि सर्वज्ञानां भोक्ता', 'सर्वदेवमयश्नासावीश्वरश्च' (सारे यज्ञों का भोक्ता मैं ही हूँ) इस वाक्य से आप सर्व देव-मय और देवों के भी ईश्वर हो। जो सर्व देवमय और ईश्वर होता है, उसे ही सर्व देवमयेश्वर कहा जाता है।

उन विभिन्न देवों के उपासकों की ऐसी बुद्धि तो भी हम भगवान् की उपासना कर रहे हैं, नहीं होती, तब वे सारे ही भगवान् के ही उपासक कैसे कहे जा सकते हैं ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'ये प्यान्य देवता भक्ता' यद्यपि वे यह समझते हैं कि हम आत्मा तथा विष्णु से भिन्न किसी अन्य देवता की ही उपासना करते हैं; तो भी वे अपने उपास्य देव को सबसे बड़ा मान कर ही उसकी उपासना करते हैं। वे ऐसा मान कर कि हमारा उपास्य देव निर्बल है, कुछ नहीं करता है तो उसकी उपासना नहीं करते। यदि वे उसे ऐसा समझें तो उसकी उपासना करना ही छोड़ दें; क्योंकि दीन, निर्बल जान कर उसकी आराधना को भी नहीं करता। इसलिए निर्बल को बड़ा मान लेना रूप भ्रम से ही वे उन-उन की उपासना करते रहते हैं और भ्रम में भगवान् के धर्मों का ही उन क्षुद्र देवों में आरोप किया जाता है। इसलिए भगवान् की ही सेवा होती है; क्योंकि भगवान् की उपासना में और साधारण देव को भगवान् मानकर की जाने वाली (उसकी) उपासना में भगवान् के गुणों का आरोप तो समान ही होता है; किन्तु भेद इतना सा है कि क्षुद्र देव को भगवान् मान कर उसकी उपासना में किया जाने वाला आरोप अज्ञान से किया हुआ है।

जैसे जो कोई सीप को भ्रम से चांदी समझ लेता है, उसे चांदी का ज्ञान तो है ही। यदि वह कोई चांदी को ही नहीं जानता तो (वह वह चांदी है) उसका यह निर्णय भी भ्रमरूपक ही हो। चांदी का ज्ञान होना, चांदी का निर्णय नहीं कर सकता। 'वे मुझे तत्त्व से नहीं जानते' (गीता ६।२४) भगवान् ने जो यह कहा है, वह भी वे अविधिपूर्वक गेरा यजन करते हैं' (गीता ६।२३) इस वाक्य से विधि को लक्ष्य में रख कर ही कहा है, और जैसे प्रतिमा आदि में भगवान् का तथा उनके गुणों का आरोप किया जाता है, वैसे ही वे भिन्न भिन्न देवों के उपासक भी अपने अपने उपास्य देवों में भगवान् का और उनके गुणों का आरोप तो करते हैं; परन्तु (वेदोक्त) विधिपूर्वक नहीं करते। इसी लिए उन्हें उससे ज्ञान नहीं होता, केवल उनके अभीष्ट फल की प्राप्ति ही हो जाती है और भगवान् के स्वरूप का ज्ञान होने के कारण वे संसार में ही रहते हैं। ऐसी आज्ञा (गीता ६।२४) करके भगवान् ने मुख्य रीति से विधि मार्ग का ही स्थापन किया है। विधिहीन उपासना मार्ग की निन्दा नहीं की है। यदि विधि रहित उपासना की (भगवान्) निन्दा करते होते तो मेरा ही पूजन करते हैं, सब यज्ञों का मैं भोक्ता हूँ—(६।२३, २४) और उन देवों से वे मेरे द्वारा ही निर्माण किये हुए फलों (कामनाओं) को (७।२२) को प्राप्त करते हैं। भगवान् इस प्रकार नहीं कहते, इसलिए यह (६।२३) अविधि पूर्वक उपासना बतलाना केवल विधि की प्रशंसा के लिए ही है। इसलिए 'अन्य देवों के भक्त और अन्य में बुद्धि रखने वाले भी उपासक आपका पूजन करते हैं, यह जो कहा गया है, वह उचित-सात्य-ही कहा है।

भगवान् इस प्रकार भ्रम उत्पन्न करके इस तरह से फल कैसे देते हैं ? सभी जीवों को एक ही

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १० ॥

नदियों के समान ही हैं। नदियाँ जहाँ पर्वत, के स्वाभाविक जल से अथवा आकर गिरे हुए वर्षा के जल से उगाड़ जाती हैं, वैसे ही विधि से विधि बिना भी उपाराना करने वाले जीव करोड़ों जन्म लेकर भगवान् के सायुज्य को ही प्राप्त (होते हैं) करते हैं। ऐसे उपासक जीवों को भी आप फल प्रदान करते हैं, इस बात को धतलाने के लिए भूल में 'प्रभो' यह सम्बोधन दिया है। अन्त में वे आपमें ही प्रवेश रूप फलों को प्राप्त करते हैं ॥१०॥

श्लोक—सत्त्वं रजस्तम इति त्रयतः प्रकृतेर्गुणाः ।

तेषु हि प्राकृताः प्रोता ब्रह्मावधिस्थावरादयः ॥११॥

श्लोकार्थः—क्योंकि सत्त्व, रजस्, तमस् आपको माया के गुण हैं और ब्रह्मा से लेकर तृण तक सब जीव उन्हीं गुणों से ओत-प्रोत (युक्त) हैं। इस प्रकार उपाधि धारी सारे देवगण गुणों में, गुण प्रकृति में और वह प्रकृति आप में प्रविष्ट है ॥११॥

गुणोपनिषद्—किञ्च, उत्पत्तिविचारेणापि त्वत्त एवोत्पन्ना त्वय्येव विशन्ति त्वमेवेति कथं तेषां त्वत्सायुज्यं न भवेत्, न ह्यन्यः कश्चिदस्ति, तदाह सत्त्वमिति, त्वमेव प्रकृतिः अतो भवतः प्रकृतेस्त्वदीयाया वा सत्त्वं रजस्तम इति त्रयो	गुणाः तेषु सर्वे एव प्राकृताः प्रकृतिप्रकारेणोत्पादिताः तेषु गुणेषु प्रोताः ब्रह्मावधिस्थावरान्ताः, अतः सर्वेषामेव गुणो लयः गुणाः प्रकृतौ प्रकृतिस्त्वयि, त्वमेव वा ॥११॥
---	--

व्याख्यानार्थ—और सब पदार्थों की उत्पत्ति के विचार से भी वे सब आपसे ही उत्पन्न हुए हैं; आप में ही प्रवेश पाते हैं और आप ही हैं। तब वे फिर आपके सायुज्य को प्राप्त कैसे नहीं होते? क्योंकि आपके बिना कोई दूसरा है ही नहीं, यह इस "सत्त्वं" श्लोक से कहते हैं।

आप ही प्रकृति हो। इसलिए आप प्रकृति के अथवा आपकी प्रकृति के सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण हैं। इन तीनों गुणों में प्राकृत (प्रकृति के प्रकार से उत्पन्न हुए) स्थावर से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त सारे पदार्थ ओत-प्रोत हैं। इस कारण से सबों का गुणों में लय होता है। गुणों का प्रकृति में और प्रकृति का आप में लय होता है। अथवा आप ही प्रकृति हो ॥११॥

श्लोक—तुभ्यं नमस्तेस्त्वविषक्तदृष्टये सर्वत्मने सर्वधिषां च साक्षिणे ।

गुणप्रवाहोयमविद्यया कृतः प्रवर्तते देवनृतिर्यगात्मसु ॥१२॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार प्रकृति से सम्बन्ध होने पर भी आपकी दृष्टि किसी में आसक्त नहीं होती। आप सब की आत्मा हैं और सब की बुद्धियों के साक्षी हैं। आपको आपकी प्राप्ति के लिए नमस्कार हो ॥१२॥

अविद्यः ने बिना हृद्य प्रह गुणों का प्रवाह देना, मनुष्य को योग गुरु पक्षियों की देह को धारण करने सभी पर प्रवृत्त हो (गुरु) रहा है (आप गुणों से परे है, आप पर उनका प्रभाव नहीं है)।

सुवाधिनो - एवं सूपरिक्तं प्रमाणं भगवद् विषयकं तत्फलं निरूप्य प्रमाणतः प्रमेयतश्च महत्त्वं निरूप्य नमस्यति तुम्यमिति, अन्यथा महत्त्वं हृदयारूढं नेति शङ्का स्यात् तदर्थं गाहात्म्यमुक्त्वा नमस्कृत्य, तुम्यमेतादृशाय नमः, ते तुम्यं त्वदर्थमेव त्वमेव फलमित्यर्थः, एवं स्वप्नप्रकारे त्वमेव फलं भवतीति प्रार्थयति अस्त्विति, नन्ववतीर्णोहं तद्धर्मव्याप्ता इति किं गम नमस्कारेणेत्यत आह अविषक्तदृष्टय इति, न विषक्ता दृष्टिर्गम्य, यवापि धर्मेषु भगवद्दृष्टिर्न विषज्जते, तत्र हेतुः सर्वात्मन इति, अन्यस्मिन् हि आराक्तिर्भगवास्तु सर्व एव, आत्माशक्तिस्तमेव, अनेन स्वापराधोपि परिहृतः, प्रमाणं चाह

सर्वधियां च साक्षिण इति, सर्वबुद्धीनां द्रष्टा, अन्तर्बहीरूपत्वं चोक्तं, चकारादात्मनः प्राणादीनां च, यो हि सर्वात्मा भवति तस्याभ्याघ्रानो न भवति, यो वा सर्वसाक्षी स कर्ता न भवति, यस्त्वेतादृशः स विषक्तदृष्टिर्न भवति नवापि, अतो भगवात नान्यधर्मसम्बन्धः, अन्यधर्माभावाच्च, तर्हि कस्यापि न स्यादित्याशङ्क्य यस्याविद्या तस्य भवतीत्याह गुणप्रवाह इति, अयं गुणानां प्रवाहः अविद्ययैव देवनृतिपङ्गात्मसु त्रिविधेषु सात्त्विकराजसतामसेभ्येव प्रवर्तते न तु गुणातीते ब्रह्मणि, तेषां तु अतकृदेव यावदविद्या न निवर्तत इति ॥१२॥

व्याख्यानार्थः - इस प्रकार वृत्ति पूर्वक भगवत्सम्बन्धी प्रमाण का फल सहित निरूपण करके तथा प्रमाण और प्रमेय (स्वरूप) से भगवान् सबसे उत्तम है, यह सिद्ध करके इस श्लोक 'तुम्यनमस्ते' से उनके लिए नमस्कार करते हैं। यदि भगवान् को नमस्कार नहीं किया जाए तो ऐसी शंका हो सकती है कि भगवान् की उत्तमता का ज्ञान अकूर के हृदय में दृढ़ नहीं है। इसलिए (भगवान् की) उत्तमता बतला कर ही नमस्कार करना चाहिए। ऐसे सर्वरूप आपको नमस्कार हो। (गुणे) आपकी प्राप्ति हो, इसलिए आपको नमस्कार हो; क्योंकि आप ही फल है। इस प्रकार आपको नमस्कार करने से आप ही फल रूप हो जाते हो। इसलिए प्रार्थना करते हैं कि आपको नमस्कार हो।

भगवान् कदाचित् ऐसी आज्ञा करें कि मैंने तो प्रकृति के गुणों से प्राप्त होकर अवतार (धारण) लिया है, इसलिए प्राकृत गुणे नमस्कार करने से क्या लाभ है? तो इसके उत्तर में कहते हैं कि आप (भगवान्) की दृष्टि किसी भी पदार्थ में आसक्त नहीं है। भगवान् की दृष्टि सत्त्व आदि गुणों में किसी भी स्थान पर आसक्त नहीं होती है; क्योंकि वे तो सभी की आत्मा है। वे सर्वरूप सर्वात्मा हैं। इसलिए उनसे दूसरा कोई पदार्थ ही नहीं है, जिसमें उनकी दृष्टि-बुद्धि आसक्त हो। अपने (आत्मा) आपमें आसक्ति तो उत्तम ही है। इस कथन से अकूर ने अपना अपराध भी दूर कर दिया।

इसमें प्रमाण रूप से कहते हैं कि आप सब बुद्धियों के दृष्टा-देखने-(जानने) वाले हो। भगवान् सबकी बुद्धियों के जानकार है। इस प्रकार से सर्वात्मा और सबकी बुद्धियों के दृष्टा कह कर भगवान् के भीतरी और बाहरी रूप का वर्णन किया है। भगवान् सब की बुद्धियों और आत्मा तथा प्राणदिकों के भी दृष्टा (जानकार) हैं; क्योंकि जो सब की आत्मा होता है उसका किसी अन्य पदार्थ में अध्यास (मिथ्या-ज्ञान) नहीं होता, जो सबका साक्षी होता है, वह कर्ता नहीं होता और जो सबका साक्षी-दृष्टा-

श्लोक—रोमाणि वृक्षौषधयः शिरोरुहा मेघाः परस्यास्थितत्वात् तद्वयः ।

निमेषणं रात्र्यह्नो प्रजापतिमद्वस्तु वृष्टिस्तव वीर्यमिष्यते ॥१४॥

श्लोकांथ—वृक्ष और औषधियाँ आपकी रोगावलि रोंगटे हैं । गेध आपके केश हैं, पर्वत आपकी हड्डियाँ और नाखून हैं, रात-दिन आपकी पलकों खुलना, भूंदना है । सब प्रजापति परब्रह्म आपकी गुप्तेन्द्रिय हैं और वृष्टि आपका वीर्य है ॥१४॥

सुबोधिनी-रोमाणीति, वृक्षौषधपरते रोमाणि,
मेघाः शिरोरूहाः, ननु याधितोयमर्थः कथमुच्यते
इत्याशङ्क्य सर्वसमाधानार्थं च निरूपयति परस्य
त इति, त्वं परः स्वराट् परं ग्रहा वा, अद्वयस्ते
अस्त्यनखानि च, राज्यहनी तु प्रजापतेः सवत्स-
रात्मवस्य कालस्य ते निमेषणं निरीक्षणं, निगी-
लनं रात्रिरुन्मीलनमहरिति, प्रजापतिस्ते मेढं

गुह्यमिन्द्रियम्, वृष्टिस्तु तत्र बोधम्, तुशब्दस्तु
 केशाम्बुत्वं व्यावर्तयति, ननु कथं साध्यसाधनयो-
 विरुद्धरूपत्वमिह साध्यव्यतिरेकः प्रमाणमाह इष्यते
 इति, प्रागाणिकानां भिन्नमिष्टिः, दिवि चलन्तीति
 मेघानां केशत्वं, वृष्टिः सर्वात्पत्तिसाधनमिति रेत-
 रत्वं तस्य बोध्यते ॥१४॥

व्याख्यान— वृक्ष और औषधियाँ प्राणके रोम हैं। मेघ आपके केश हैं। यह कयन तो प्रमाण से विरुद्ध है, इसलिए यों नहीं कहना चाहिए। ऐसी शङ्का के तथा यहाँ किए गए सारे वर्णन के समाधान के लिए कहते हैं कि भगवान् पर हैं। आप अपने आप (स्वतः) प्रकाश तथा पर ब्रह्म हो।

पर्वत आपके अस्थि (हड्डियाँ) और नस है। रात-दिन सम्बत्सरात्मक कालरूप आपके नेत्रों के पलकों का बन्द करना और खोलना है। पलक का मूँदना रात और पलक का खोलना दिन है। प्रजापति आपकी गुप्त इन्द्रिय है और वृष्टि तो आपका वीर्य है। मूल में 'तु' शब्द से यह बतलाते हैं कि वृष्टि आपके केशरूप मेघों का जल नहीं है।

यद्यपि मेघों से ही वृष्टि होती है, वृष्टिरूप कार्य का मेघ ही कारण है और मेघ भगवान् के केश हैं, तब वृष्टि को केशों का कार्य कहना कैसे सम्भव है ? क्योंकि वृष्टि केश का जल है, यह कैसे हो सकती है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि प्रमाणिक लोगों की -इध्यते- ऐसी ही मान्यता है; क्योंकि मेघ आकाश में चलते हैं, इस कारण से मेघ भगवान् के केश हैं और वृष्टि को सबकी उत्पत्ति का साधन होने के कारण आपका वीर्य कहा है, सर्वथा उचित ही है ॥१४॥

लेख—'रोगाणि' इस श्लोक की व्याख्या में -केशामृत्यु- इस पद का तात्पर्य है कि केशों को मेष कहने से वृष्टि केशों का जल होना मांगी जा सकती है; किन्तु ऐसा नहीं। वृष्टि तो भगवान् का दीर्घ है।

श्लोक—त्वय्यव्ययात्मन् पुरुषे प्रकल्पिता लोकाः सपाला बहजीवसङ्ख्यताः ।

यथा जले सञ्छिहते जलौकसोष्णदुग्धरे वा मशका मनोमये ॥१५॥

हुए जावों के रहने से भी दुःख तो होता ही है ? ऐसी शङ्का करके दृष्टान्त के द्वारा समाधान करते हैं कि जैसे मनोरथ में जीव और विषय मन को सुख देने वाले ही हैं, कभी गार भूत नहीं होते, वैसे ही भगवान् में भी सुख के लिए रचना किए हुए वे लोक रह रहे हैं; किन्तु गार रूप नहीं होते ॥१५॥

श्लोक—यानि यानीह रूपाणि क्रीडनार्थं विभर्षि हि ।

तैरामृष्टशुचो लोका मुदा गायन्ति ते यशः ॥१६॥

श्लोकार्थ—पृथ्वी पर क्रीड़ा करने के लिए आप जिन-जिन रूपों से प्रकट होते हो, उनसे लोगों का कल्याण ही होता है । आपके उन अवतारों से लोगों के दुःख दूर हो जाते हैं और वे प्रसन्न होकर आपके पावन यश का गान करते हैं ॥१६॥

सुबोधिनी—एवं भगवदवयवानां सर्वाधारत्वं सर्वदेवतारूपत्वं च निरूप्य तादृशस्य महतः लोके जुगुप्सितरूपेणावतरणं न युक्तमित्याशङ्क्य अवतारप्रयोजनमाह यानि यानीति, हे भगवन् नाना-विधक्रीडार्थं जले स्थले अरण्ये सर्वत्र क्रीडनार्थं गत्स्वादिरूपाणि करोषि, तावतापि न तेषां रूपाणां लोके निन्दा, किन्तु यानि यानि रूपाणि	त्वं विभर्षि, क्रीडार्थं कृतत्वात् तव नास्तीवादरः, तथापि तैः रूपैः आमृष्टशुचः सर्वतो नाशितशोकाः सर्व एव लोकाः ते यशो मुदा गायन्ति, अतो लोकानां गानार्थं तव चरित्रं तेन च सर्वपुरुषार्थ-सिद्धिः, सर्वेषां दुःखनाशार्थमवताराणि चेत्पु-स्तम्, मुदा गायन्तीत्यनेन चरित्राणां स्वतः पुरु-षार्थता च निरूपिता ॥१६॥
---	--

व्याख्यान—इस प्रकार भगवान् के श्री अवयवों को सब का आधार और सारे देवता रूप धतलाकर ऐसे परम महान् भगवान् का लोक में निन्दनीय रूपों से अवतार लेना उचित नहीं है ? ऐसी शङ्का करके इस 'यानि यानीह' श्लोक से उनके अवतार लेने के प्रयोजन का वर्णन करते हैं । उद्धवजी कहते हैं कि हे भगवान् आप अनेक प्रकार से क्रीड़ा करने के लिए जल-थल और वन में सभी जगह गछली आदि के रूपों को धारण करते हो । आपके उस कार्य से लोक में उन रूपों की निन्दा नहीं होती है; किन्तु जिन जिन रूपों को आप धारण करते हो, उन्हें आप क्रीड़ा के लिए ही लेते हो । इस लिये यद्यपि उन रूपों में आप विशेष आदर नहीं रखते हो; तो भी उन रूपों के चिन्तन से लोकों के सभी शोक दूर हो जाते हैं और वे सारे ही लोक प्रसन्न होकर आपके यश को गाते हैं । इस लिये लोकों के गान करने के लिए ही आपके सारे चरित्र हैं और उन्हें आपके चरित्रों के गान से सारे पुरुषार्थ प्राप्त हो जाते हैं । आपके अवतार सब लोकों के सभी दुःखों का नाश करने के लिए हैं । आनन्द से गाते हैं इस कथन से दत्तलाया है कि आपके चरित्र स्वतः पुरुषार्थ रूप हैं ॥१६॥

श्लोक—नमः कारणमत्स्थाय प्रलयाब्धिचराय च ।

हृषीकेशं नमस्तुभ्यं मधुकंठनमृत्यये ॥१७॥

श्लोकार्थ—आप कारणवश मत्स्य रूप धारण करके प्रलय के समुद्र में विचरते रहे । आपने हयग्रीव रूप धारण किया और मधु तथा कैटभ नाम के राक्षसों को मारा । आपको बारम्बार प्रणाम है ॥१७॥

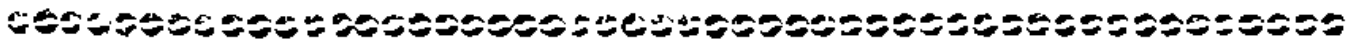
सुबोधिनी—यद्यप्यनन्तानि रूपाणि तथापि प्रसिद्धानि कानिचित् गणयन् महत्त्वस्थापनाय सर्वत्र नमस्यति नमः कारणमत्स्यादेति, मत्स्याय ते तुभ्यं नमः, ननु निन्दितो मत्स्यः किमिति भगवान् जात इत्याशङ्क्याह कारणेति, यदा मत्स्या जाताः तदा बीजत्वेन कश्चिन्मत्स्यः पूर्वसिद्धः कारणत्वेनाङ्गीकर्तव्यः अन्यथा मत्स्यानामुत्पत्तिर्न स्यात्, उदुम्बरादिषु गांसेषु वा जीवानामुत्पत्तौ कारणभूतरूपस्य तत्र स्थितिरवश्यमाङ्गीकर्तव्या, अन्यथा कारणता भज्येत, अनेन जगति यावन्ति रूपाणि तावन्ति रूपाणि भगवतः कारणरूपाणीति न भगवतः कस्मिंश्चिद्रूपे गृहीते विगान

भवति, कारणार्थं वा प्रलये सत्यव्रतरक्षा वेदोद्धारश्च कार्यं तदर्थं मत्स्य इति तस्मै नमः, तदपि रूपगुणास्यमिति, प्रत्येककालीनो योद्धिः तस्मिन्मरतीति चरित्रं सत्यव्रतरक्षात्मकं, वेदोद्धारः रूपद्वयेन कृत इति हयग्रीवरूपं च कृतवानित्याह हयशोणं इति, हयस्य शिर इव शिरोभाग एव, प्रज्ञं तु पुरुषरूपमेव, हयग्रीवावतारेण कृतं चरित्रमाह मधुकैटभयोः मृत्युरिति, मधुकैटभौ तेन रूपेण हताविति, मृत्युत्वात् स्वत एवोत्पन्नयोरपि वधे न कश्चिद्दोषः, अन्युपकारिन्वात् तस्मै ते तुभ्यं सर्वदा नमोस्तिवति प्राययति ॥१७॥

व्याख्यान—यद्यपि भगवान् के अनन्त रूप हैं, तो भी उनमें से कुछ प्रसिद्ध रूपों की गणना पूर्वक उतगता बतलाने के लिए 'नमः' इस श्लोक से उन्हें प्रणाम-नमन करते हैं । आप मत्स्य को नमस्कार हो । मत्स्य तो निन्दित है । भगवान् निन्दित ऐसे मत्स्य क्यों हुए ? ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् कारण मत्स्य है । जब मच्छ उत्पन्न हुए, तब उनका बीज रूप से कोई मत्स्य पहले कारण रूप से मानना ही होगा । यदि पहले बीज रूप किसी मत्स्य को आदि कारण नहीं मानेंगे तो मच्छलियों की उत्पत्ति ही नहीं होगी । गूलर के फलों में अथवा भात आदि में जहाँ जीवों की उत्पत्ति होती है, वहाँ भी उनकी उत्पत्ति के कारण से पहले रहने वाला कोई रूप अवश्य स्वीकार करना ही होगा । यदि ऐसा नहीं मानेंगे तो प्रत्येक कार्य का कारण अवश्य ही होना चाहिए, इस नियम का भङ्ग हो जायगा ।

इसलिए यह मान लेना चाहिए कि जगत् में जितने भी रूप हैं, उन सबका कारण रूप भगवान् है; क्योंकि श्रुति कहती है कि (स एव सर्वाणिरूपाणि विभक्ति) वही सब रूपों को धारण करता है । इन माना रूपों के धारण कर लेने में भगवान् का कुछ भी नहीं बिगड़ता है । अथवा भगवान् ने कारण वश मच्छ का रूप धारण किया है अर्थात् प्रलय में सत्यव्रत राजा की रक्षा और वेदों का उद्धार करना रूप कार्य के लिए मत्स्य बने भगवान् को नमस्कार करते हैं, क्योंकि वह रूप भी उपासना करने योग्य ही है । प्रलय काल के समुद्र में वह मत्स्य फिरता है, ऐसा उनका राजा सत्यव्रत की रक्षा रूप चरित्र है ।

वेदों का उद्धार दो रूपों से किया है । इस लिए हयग्रीवरूप—जिस में केवल शिर ही घोड़े का



ता था और दोष भारा प्रभु मनुष्य का ही आन्तर्ह भी आपने ही धारण किया है और इस हयग्रीव अवतार से आपने मधुकैटभ नाम के दैत्यो का नाश रूप चरित्र किया है । भगवान् मृत्यु (काल) रूप हैं, इस लिए भगवान् के ही काल से उत्पन्न होने वाले भी इन दोनों को मार देने में कोई दोष नहीं है । यह अवतार जगत् का अत्यन्त उपकारक है । इसलिए हयग्रीव रूप आपको सदा नमस्कार हो, प्रार्थना करते हैं ॥१७॥

श्लोक—अकूपाराय बृहते नमो मन्दरधारिणे ।

क्षित्युद्धारविहाराय नमः शूकरमूर्तये ॥१८॥

श्लोकार्थ—अत्यन्त विशाल कच्छप रूप को धारण करके अपनी पीठ पर मन्दराचल को धारण कर लेने वाले आपको प्रणाम हो । पृथ्वी का रसातल से उद्धार करने के लिए ही वराह रूप से क्रीड़ा करने वाले आपको प्रणाम हो ॥१८॥

सुभेधिनो—कूर्मं नमस्यति अकूपारायेति, अकूपाः अनिग्नाः आरा रेखा यस्येति कूर्मः, योग-प्राधान्यात् समुद्रवत् कूर्मस्यापि वाचकः अकूपारः शब्दः, समुद्रादप्यधिक इति जलधरत्वदोषपरिहारायार्थमाह बृहत इति, अतिस्थूलाय, चरित्रगाह

मन्दरधारिण इति, अमृतमयने मग्नं मन्दरं धृतवानिति क्षित्युद्धारार्थमेव विहारो यस्येति वरा-हरूपत्वेन न काचित् क्षतिः, अत एव रूपान् प्रथमतः चरित्रमुक्तम्, शूकररूपा मूर्तिर्यस्य ॥१८॥

व्याख्यानार्थ—‘अकूपाराय’ इस श्लोक में कच्छप और वराह को नमस्कार करते हैं (अकूपाः) ऊँची आराः) गतियों वाला अकूपार शब्द का व्युत्पत्ति से कच्छप अर्थ भी होता है और समुद्र अर्थ तो अकूपार शब्द का होता ही है । यह कच्छप तो समुद्र से भी विशाल था, अत्यन्त मोटा था । इस लिए जलचर होने का दोष उस में नहीं था । उसके चरित्र का वर्णन करते हैं कि अमृत के लिए समुद्र का मथन किया तब डूबते हुए मन्दराचल को इस कूर्म रूप ने पीठ पर धारण किया था ।

केवल पृथ्वी का उद्धार करने के लिए ही क्रीड़ा करने वाले भगवान् को वराह रूप धारण कर लेने में भी कोई हानि नहीं है । इसी अभिप्राय से मूल श्लोक में रूप का वर्णन पहले न करके चरित्र का वर्णन पहले किया है । वराह (शूकर) के आकार वाली मूर्ति वाले आपको नमस्कार हो ॥१८॥

श्लोक—नमस्तेद्भुतसिंहाय साधुलोकभयापह ।

वामनाय नमस्तुभ्यं क्रान्तत्रिभुवनाय च ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे सत्पुरुषों को निर्भय बनाने वाले भगवान्! आपने अद्भुत नरसिंह रूप धारण करके प्रह्लाद की रक्षा की है । आपको प्रणाम है । वामन अवतार लेकर तीन पैंड से त्रिभुवन को नाप लेने वाले आपको नमस्कार है ॥१९॥

सुबोधिनी—नमस्त इति, अद्भुतानहोर्ध्वोदह, नावताररूप किमृणुष्व एव, तत्रापि कार्यं न रूपेण कृतमिति वामनायेत्युक्तम्, कान्तानि त्रिभुवनानि पदकर्मैर्न, चेति बलिवन्धनादिकमपि कृतवान् ॥१६॥

व्याख्यान—अद्भुत सिंह (शरीर का ऊपर का सिंह का सा शरीर नीचे का भाग मनुष्य जैसा) रूप धारण करने वाले अथवा भक्त प्रह्लाद के वचन को सत्य करने के लिए स्तम्भ से प्रकट हुए अद्भुत सिंह रूप लेने वाले आपको प्रणाम है। 'साधु लोग भयावह' इस सम्बोधन पद से चरित्र का वर्णन करते हैं कि आप राज्यों के भय के दूर करने वाले हो।

अवतार लेने के समय में यद्यपि वागन रूप नहीं था, उपेन्द्र [इन्द्र के छोटे भाई] रूप ही था; तो भी अवतार का कार्य वामन रूप से ही किया था। इसलिए वामन रूप को नमस्कार करते हैं कि वागनजी को प्रणाम हो। उनके चरित्र का वर्णन करते हैं कि आपने तीन पेड़ में तीनों भुवनों को नाप लिया था और बलि राजा का बन्धन आदि भी किया था ॥१६॥

श्लोक—नमो भृगूणां पतये दृप्तक्षत्रवनच्छिदे ।

नमस्ते रघुवर्याय रावणान्तकराय च ॥२०॥

श्लोकार्थ—भृगुपति परशुराम के रूप से अहङ्कारी क्षत्रियों के वन को काटने वाले आपको नमस्कार हो और राक्षस रावण का संहार करने वाले रामचन्द्र आपको प्रणाम हो ॥२०॥

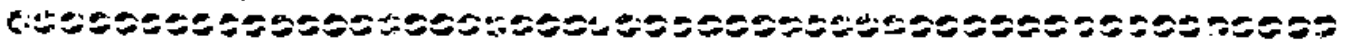
सुबोधिनी—नम इति, भृगूणां पतये भार्गवोत्तमाय परशुरामाय, चरित्रमाह दृप्तं यत् क्षत्रं तदेव दैत्यत्वादतिप्रवृद्धं वनरूपं जातं तत् छिन- तीति, रघुवर्यः रघुवंशोत्पन्नेषु श्रेष्ठो रामभद्रः, चरित्रमाह रावणस्य अन्तकरायेति, चकारादन्य- दप्यनन्तमेव चरित्रं गृह्यते ॥२०॥

व्याख्यान—भृगुओं के पति अर्थात् भृगुवंश में उत्पन्न होने वालों में श्रेष्ठ परशुराम रूप आपको प्रणाम हो। आप दैत्यों जैसे मदोन्मत्त क्षत्रियों के बढ़ते हुए कुल का नाश करने वाले हो और रघुवंश में उत्पन्न होने वालों में उत्तम रामचन्द्र रूप से अवतार लेकर रावण का संहार तथा अन्य अनन्त चरित्र करने वाले आपको प्रणाम हो ॥२०॥

श्लोक—नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च ।

प्रद्युम्नायानिरुद्धाय सात्वतां पतये नमः ॥२१॥

श्लोकार्थ—भगवान् वासुदेव को नमस्कार हो, संकर्षण को नमस्कार हो। प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा वैष्णवों के स्वामी के लिए नमस्कार हो ॥२१॥



सुबोधिनी- भगवांश्चातुर्मूर्तिरवतीरुं दांत, परिग्रहीत, चरित्रगाह सात्वतां पतय इति, तम-
भगवतः कृष्णस्यावतारे विशेषमाह नमस्ते वासु- स्तभक्तानां पतये सर्वथा रक्षकाय, प्रार्थनाव्यति-
देवायेति, अत्रादिमध्यवसानेषु नमनम्, सङ्कर्षण रेकेणापि स्वकीयानां सर्वगुरुपार्थसिद्धयर्थमवतार
आवेशमपि भगवान् करोतीति तदपि रूपं चकारेण इत्यर्थः ॥२१॥

व्याख्यान—भगवान् (श्रीकृष्ण) ने चार मूर्ति से अवतार लिया है । भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार के सम्बन्ध में 'नमस्ते' इस श्लोक से विशेष चिह्न का वर्णन करते हैं । इस श्रीकृष्णावतार के सम्बन्ध में पहले, बीच में और अन्त में भी नमस्कार करते हैं । भगवान् अपने आवेश को भी सङ्कर्षण रूप में करते हैं, इसलिए आपने आवेश वाला सङ्कर्षण रूप भी धारण किया है । इस रूप से आप अपने सभी भक्तों की रक्षा करते हो तथा उनकी प्रार्थना के बिना ही उन्हें सारे पुरुषार्थों की प्राप्ति कराने-प्रदान करने- के लिए यह अवतार है ॥२१॥

श्लोक—नमो बुद्धाय शुद्धाय दैत्यदानवमोहिने ।

म्लेच्छघ्नाय क्षत्रहन्त्रे नमस्ते कल्किरूपिणे ॥२२॥

श्लोकार्थ—दैत्यों और दानवों को अपने उपदेश से मोहित करने वाले शुद्ध बुद्ध रूप आपको प्रणाम हो, । म्लेच्छ प्राय कलियुगी क्षत्रियों का संहार करने वाले कल्कि रूप आपको प्रणाम हो ॥२२॥

सुबोधिनी—अग्रे जायमानगाह नमो बुद्धा- रक्षकत्वेन स्थितं हन्तीति क्षत्रघ्नः क्षत्रहन्ता, तदा
येति, आर्पणानेन यथा यथा पश्यति तथा तथा क्षत्रियाः म्लेच्छरूपा इति म्लेच्छघ्नायेत्युक्तं, द्वयं
निरूपयति, भगवान् वा तं प्रति तथा तथा आत्मानं भिन्नतया निरूपितवान् गुणदोषयोर्विपरीतत्वबो-
प्रदर्शयति, बुद्धो वेदादिनिन्दया विसदृशो भवि- धनाय, म्लेच्छा ये सहजदैत्याः ते गुणवन्तोऽपि
ष्यतीत्याशङ्क्याह शुद्धायेति, सर्वदोषरहिताय, हन्तव्याः क्षत्रियारतु दोषवन्त एवेति, एवं प्रयो-
तर्हि किमर्थं तथोक्तवानित्याशङ्कां परिहरन् चरि- जनमुक्त्वा पश्चात् स्वरूपगाह कल्किरूपिण इति,
त्रगाह दैत्यान् दानवांश्च मोहयतीति, दैत्यदानवानां कल्कस्येव निष्पीडितरसस्य चतुर्गुणात्मकस्य
यो मोहः तोरणं वर्तत इति, अयं चेत् न प्रकटी- कालस्य स्वरूपमस्मिन् वर्तत इति कल्की, न केवलं
कुर्यात् तदा मोहो न भवेदिति, भवत्यर्थः इन् तस्यैव रूपं स्वरूपम् प्रतिविम्बितं प्रतीयते किन्तु
प्रत्ययः, कल्किनं नमस्यति म्लेच्छघ्नायेति, क्षत्रं अस्यापि पृथग्रूपत्वनुक्तम् ॥२२॥

व्याख्यान—'नमो बुद्धाय' इस श्लोक से आगे होने वाले अवतार का वर्णन करते हैं । अक्षरों की शक्ति है । इसलिए आप (दिव्य) जल से वह जैसा जैसा (वहाँ जल के भीतर) देखते हैं, वैसा वर्णन करते हैं अथवा भगवान् अपने उस उस रूप के उन्हें दर्शन कराते हैं । वेद आदि की निन्दा करने वाले बुद्ध रूप की अवतारों में गणना करना तो अयोग्य ही होगा । ऐसी आशङ्का को दूर करने के अभिप्राय से मूल श्लोक में 'शुद्ध' शब्द दोष रहित, ऐसा विशेषण दिया है । इस बुद्धावतार का चरित्र वेद की निन्दा के वाक्यों से दैत्यों और दानवों को मोह उत्पन्न करता है । उनका यह मोह भगवान् (बुद्ध)

=====

का मोह है। यदि वे अपने मोह को प्रकट नहीं करते तो उन दैत्यों को मोह नहीं होता। [दैत्य दानव मोहिन्] यह अर्थ इस मत्वर्थक 'इन्' प्रत्यय से ज्ञात होता है। अब कल्कि रूप को नमस्कार करते हैं। 'क्षत्र' रक्षक रूप से रहने वाले क्षत्रियों का नाश करने वाले कल्कि अवतार को नमस्कार हो। उस समय क्षत्रिय म्लेच्छों के आकार वाले होंगे। इसलिए म्लेच्छों का नाश करने वाले, ऐसा विशेषण दिया है। क्षत्रिय, गुण वाले होने चाहिए, वे दोष वाले होंगे और म्लेच्छ, दोष वाले होने चाहिए, वे गुण वाले होंगे। इस प्रकार विपरीत भाव बतलाने के लिए दोनों को अलग-अलग (क्षत्रिय और म्लेच्छ) कहा है। म्लेच्छ जो स्वभाव से ही दैत्य है, वे गुण वाले हो, तब भी मारने योग्य है और क्षत्रिय जो दोषयुक्त हो, वे ही नाश करने योग्य होते हैं। दोष रहित क्षत्रिय मारने योग्य नहीं होते।

इस प्रकार से कल्कि अवतार का प्रयोजन कहकर 'कल्कि रूपवाले' शब्द से स्वरूप का वर्णन करते हैं। इस कल्कि में कल्क पीसे हुए रस जैसा चारों युग रूप काल का स्वरूप रह रहा है। इस लिए यह कल्कि कहलाता है। केवल उस (कल्क) काल का रूप ही अपने -कल्कि के- भीतर प्रतिबिम्बित हुआ नहीं दिखलाई देता है; किन्तु अपना कल्कि रूप उस अपने में प्रतिबिम्बित हुए कल्करूप काल से अलग भी है ॥२२॥

श्लोक—भगवन् जीवलोकोयं मोहितस्तव मायया ।

अहं ममेत्यसद्ग्राहो भ्राम्यते कर्मवर्त्मसु ॥२३॥

श्लोकार्थ—हे भगवान्! यह सारा जीव लोक आपकी माया से मोहित हो रहा है। इसी कारण 'मैं हूँ' 'मेरा है', ऐसा इन दुष्ट पदार्थों में आग्रह करके कर्म के मार्गों में भटक (भ्रमण कर) रहा है ॥२३॥

गुणोधिनी--एवं कियन्ति रूपाणि भगवतो नत्वा किञ्चित् प्रार्थयितुं सर्वेषामेव साधारणं दुःखं निवेदयति भगवन्निति, एतादृशेऽपि त्वयि सर्वदा जागरूके लोकाः त्वन्मायया मोहिता इति दुःखं प्राप्नुवन्ति, अन्यथा कथं दुःखं स्यात्. भगवन्निति सम्बोधनं सर्वसाधारण्यं, अयं सर्वोऽपि परिहृत्यमानो जीवलोकोऽतद्वद मायया अनुलब्ध-

प्यया मोहितः, अन्यथा अहं ममेति असति दुष्टे देहादी ग्राहः आपहो यस्य तादृशः कथं भवेत्. अत एव कर्ममार्गेषु उच्चावचेषु श्रयोऽन्यादिषु भ्राम्यते पुनः पुनः परिभ्रमति, यदि मायया मोहितो न स्यात् तदा सकृत् लेशं प्राप्य पुनरहनमाभिगमनं न कुर्यात् ॥२३॥

व्याख्यानार्थ— इस प्रकार भगवान् के कितने एक रूपों को नमस्कार करके कुछ प्रार्थना करने के लिए -'भगवन्'- इन श्लोक से सब के ही साधारण दुःख को निवेदन करते हैं। ऐसे महान् भी आप सदा सावधान रहते हो, तो भी लोक आपकी माया से मोहित होकर दुःख भोगते हैं। यदि यह माया से मोहित न हो, तो दुःख क्यों पावें? आप -कर्तुं अकर्तुं, अन्यथा कर्तुं- सब प्रकार की शक्ति वाले हैं। इस बात को बतलाने के लिए श्लोक में 'भगवन्' यह सम्बोधन कहा है। यह चारों तरफ दिखाई देने वाला सारा जीवलोक, नहीं लीधी जा सकने वाली -आपकी ही- माया से मोहित हो रहा है।

तथा आत्मा जान कर दुःख को सुख मान रहा है । नाथ! मैं सुख दुःख आदि द्वन्द्व धर्मों में रम रहा हूँ । इसीलिए अज्ञानी, मैं आत्मा के परम प्रिय, परमात्मा, जो आप हैं, उनको नहीं जानता (पहचानता) ॥२५॥

सुबोधिनी—ननु आत्माद् विवेक उत्पन्ने संसारस्यासारतां ज्ञात्वा स्वयमेव सर्वं त्यक्ष्यसि किं मया वर्तव्यमित्याशङ्कयामाह अनित्येति, शास्त्रमप्युल्लङ्घ्य मम बुद्धिविपरीता जाता, अनित्ये गवत्र नित्यबुद्धिः, देहे दैहिके च अनात्मनि आत्म-बाधके आत्मबुद्धिः, देहादावेव दुःखे विण्मूत्रपूय-स्थितौ सुखबुद्धिः, अतो ज्ञातमपि शास्त्रं नानुभवं बाधते, अतो द्वन्द्वेष्वेव सुखदुःखादिषु रागद्वेषादिषु वा आरामो यस्य तादृशो जातः, ननु कथमेव

भगस्तत्राह तमोविष्ट इति, तमो महामोहः अज्ञा-नमेव वा, तस्यैव निवृत्तिः कदेत्याशङ्कयां त्वयि ज्ञाते प्रकाशो भवतीति निश्चित्य त्वज्ज्ञानमेव चक्षुषि विद्यमानतमसा न जायत इत्याह न जान इति, न हि स्वप्रकाशगपि सूर्यमन्धः पश्यति, तथा त्वामपि आत्मानमपि प्रियं परमानन्ददातारं सुग-ममपि प्रत्यक्षसिद्धमपि तथात्वेन न जाने, आत्मनः परमिति वा नियन्तारम् ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—शास्त्र से ज्ञान के उत्पन्न होने पर जब संसार की असारता जान लेगा, तब तू (अक्रूर) स्वयं ही सब का त्याग कर देगा । इस में मुझे (भगवान् को) क्या करना है ? ऐसा सन्देह होने पर 'अनित्या' यह श्लोक कहते हैं । नाथ ! मेरी बुद्धि शास्त्र का भी उल्लङ्घन करके विपरीत हो गई है । यह तो अनित्य (नाश होने वाले) पदार्थ को भी नित्य-सदा रहने वाला मान रही है और देह तथा देह सम्बन्धी, जो आत्मा से भिन्न हैं, (आत्मा नहीं हैं) और आत्मा की प्राप्ति में बाधक हैं-विघ्नरूप हैं-उन्हें आत्मा समझ रही है । विघ्न, मूत्र, पूय आदि से भरी हुई दुःखदायी देहादिक में ही मैं सुख पान रहा हूँ । इसलिए उत्पन्न हुआ शास्त्र का ज्ञान भी अनुभव को नहीं देना रहा है । इसी कारण से मैं सुख, दुःख, राग, द्वेष आदि परस्पर विरोधी गुणों में ही सुख समझ रहा हूँ । मैं (तमोविष्ट) महामोह अथवा अज्ञान से भरा हुआ हूँ, इसीलिए मुझे ऐसा भ्रम हो रहा है । यह अज्ञान आपकी जान लेने पर ही गिट सकता है; क्योंकि आपका ज्ञान होने पर प्रकाश हो जाता है, तब तम, मोह, अज्ञान (अन्धेरा नहीं रहने पाता, दूर हो जाता है); किन्तु आँखों में अँधेरी छाई होने से आपका ज्ञान नहीं होता । जैसे अन्धा पुरुष स्वतः प्रकाशमान सूर्य को भी नहीं देख सकता, वैसे ही मैं आत्मारूप, परम प्रिय, परम आनन्द के देनेवाले, सहज प्राप्त हो जानेवाले और प्रत्यक्ष दर्शन देनेवाले आप को भी इस प्रकार (यथार्थ रूप से प्राण प्रिय) नहीं जानता हूँ, अथवा आप आत्मा से भी परे हो-वश में रखने वाले हो-ऐसे नहीं पहचानता हूँ ॥२५॥

श्लोक—यथानुधो जलं हित्वा प्रतिच्छन्नं तदुद्धवः ।

अभ्येति मृगतृष्णां च तद्वत् त्वाहं पराङ्मुखः ॥२६॥

श्लोकार्थ—जैसे थोड़ी मूख गनुष्य जल में ही उत्पन्न हुए घात फूस अथवा काई आदि से ढके हुए पानी को छोड़ कर मृग-मरीचिका के पीछे जल की आशा से भटकता फिरे, वैसे ही अपनी गाया के गुणों से छिपे हुए आत्मा रूप आप को छोड़ कर मैं मूढ़

सुख की आशा से देह आदि के लालन पालन में लग रहा हूँ, आपसे विमुख हो रहा हूँ ॥२६॥

सुबोधिनी— ननु श्रुत्यनुभवं परित्यज्य मुक्ति-
मान् विवेकी कथं न जानातीत्याशङ्क्य दृष्टान्तेन
स्पष्टयति यथेति, श्रुत्युधो मुखः जलार्थो सन् जला-
शयोपरि तिष्ठन् कमलपत्रादिभिः आच्छन्नं जलं
तृणपत्रादि समूहमेव ज्ञात्वा तददूरीकृत्य मध्य-
स्थितं जलमगृहीत्वा दूरे मरुमरीचिकाजल पश्यन्
तदर्थमभिधावति, तद्वदेवान्तःस्थित भगवन्तं अहं-
कारादिभिस्तदुद्ध्वंराच्छन्नं तददूरीकृत्य परमा-
नन्दमनुभूय दुःखात्मके वहिषिष्ये अभिधावति
तद्वदहं त्वां हित्वा विषयसुखार्थं गच्छामि, अत्र

हेतुमाह पराङ्मुख इति, पराक् वहिरेव मुख
यस्येति, मुखमत्र प्रवृत्तिस्वभाव आत्मा तस्य
प्रतिनिधिरूपमिदं मुखं यदभिमुखस्तदेव च करोति,
अतः शास्त्रादिद्वारा यदा अन्तर्मुखो भवति तदेव
निकटे भगवन्तं प्राप्नोति, नहिर्जलप्राप्तिस्तु भग-
वदिच्छया प्रलय इव सर्वत्र भगवदभिव्यक्तो
भवति यथैव वायं प्रदशयति तथैव स गम्यत इति
स्वयमपि तथैव तं प्रत्यभिव्यक्त इति न काप्यनु-
पपत्तिः ॥२६॥

व्याख्यानं— येद और अनुभव का आश्रय न लेकर भी तब शक्तिवाले और ज्ञानी अमूर्तजी
तुम मुझे (भगवान् को) कैसे नहीं जानते? ऐसी शङ्का में ‘यथाऽप्युधो’ इस श्लोक से भगवान् को न
जानने का कारण दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। जैसे जलाशय के किनारे खड़ा हुआ जल पीने की
इच्छा वाला कोई मूख कमल के पत्तों, काई आदि से ढके हुए जल को पास फूस का ढेर ही समझ
कर और उस काई को दूर करके वहाँ के जल को न लेकर (न पीकर) दूरी पर मृग-मरीचिका के
जल को देख कर उसे लेने के लिए उधर ही दौड़ता है, उसी प्रकार से शरीर के भीतर रहने वाले
और शरीर में ही उत्पन्न होने वाले अहंकार आदि से आच्छादित (ढके हुए) आप भगवान् को (यहीं
शरीर में ही विराजमान को) न जानकर उन अहंकार आदि को दूर न हटाकर परमानन्द का
अनुभव न करके दुःखरूप बाहरी पदार्थों की ओर सुख की आशा, अभिलाषा से दौड़ता हो, ठीक
वैसे ही मेरी दशा है। आप से बहिर्मुख मैं भी आपको छोड़कर विषय सुख के लिये दौड़ रहा हूँ।

यहाँ पराङ्मुख पद में मुख शब्द का अर्थ प्रवृत्ति स्वभाव वाला आत्मा (जीव) है। उसका
प्रतिनिधि रूप यह जिस तरफ मुख रखता है (जिधर देखता है), वहीं करता है। इसलिए शास्त्र
आदि के द्वारा जब यह (जीव) अन्तर्मुख होता है, तब ही भगवान् के निकट आता है। बाहर जल
तो तब मिल सकता है, जब भगवान् की इच्छा से प्रलय काल की तरह सब जगह जल ही जल हो
जाए। इसी तरह से भगवान् की बाहर प्राप्ति तो तब ही हो सके, जब वे अपनी इच्छा से सभी
स्थान पर प्रकट हो जायें।

अथवा भगवान् जिस रूप से (जैसे जैसे) दर्शन देते हैं, अमूर्तजी उन्हें वैसे ही मानते हैं।
इसलिए भगवान् स्वयं भी उसी रीति से उस (अमूर्त) के सामने प्रकट होते हैं। इसलिए इस
प्रकार के वर्णन में किसी प्रकार की अनुचितता नहीं है; सब उचित ही वर्णन है ॥२६॥

श्लोक— नोत्सहेहं कृपणधीः कामकर्महतं मनः ।

रोद्धुं प्रमायिभिश्चार्क्षिष्यमाणमितरततः ॥२७॥

भूतिकार्य— भगवन्! विषय वासनाओं से मेरी बुद्धि हीन (दीन) हो रही है, इस लिए काम्य कर्मों और कामनाओं से चञ्चल हुई तथा बलवान् इन्द्रियों के द्वारा उधर उधर चलायमान (भटकने वाले) मन का दमन करने में मैं असमर्थ हो रहा हूँ ।। २७॥

मुवोचिनी— ननु जाते विवेके कथं गोहं इति चेत् तत्राह नोत्सहेहमिति, मनो हि द्विस्वभावं क्रियाशक्तियुक्तं च, यथा विवेकेन शारत्रेण च ज्ञानशक्तिरुत्पद्यते एवं योगेन क्रियाशक्तिरपि चेदुत्पाद्यते तदेकमुखं मनो भवति, अन्यथा बलिष्ठा क्रिया ज्ञानं बाधित्वा स्वकार्यमेव करोति, अत एव केचित् ज्ञानापेक्षया योगमेव प्रशसन्ति, 'ज्ञानिन्योप्यधिको मत' इति भगवानप्याह, ज्ञानेच्छाप्रयत्नानामुत्तरोत्तरप्राबल्यं तथैव मनोवाक्यानामपि, तत्र कामादयो बाधकाः, तैः संसार एव मनः प्रवर्त्यते, योगादयस्त्वशक्याः, न ह्यन्धकारे महति धायो वृष्टौ च दोषः स्थापयितुं शक्यते ।

तत्राह कृपणधीरिति, कृपणा दीना बुद्धिर्वस्य, मनसो हि नियामिका बुद्धिः, संवादी कृपणा दीना विषय परा, न हि चोरेणान्यः सन्मार्गं स्थापयितुं शक्यः, किञ्च, मनः पुनः कामकर्मभ्यां हतं, उत्कटेच्छा कामः, तदनुगुणं च कर्म, ज्ञान तु दुर्बलमसहायं, कामकर्मभ्यां च हतं, न तु स्वच्छं, तद्भयेन तदनुगुणमेव भवति न त्वात्मानुगुणं, अतो रोद्धुमुत्साहमपि न करोमि अशक्यज्ञाननिश्रवात्, किञ्च, प्रमायिभिर्बलिष्ठैरिन्द्रियैः इतस्ततो ह्यिन्मार्गं, अतः सर्वत्रैवाशक्तः केवलं शरणं गच्छामि बलिष्ठास्तांश्च निवेदयामि स्वाशक्यत्वं च ।। २७॥

व्याख्यार्थ— जब नित्य और अनित्य पदार्थों का ज्ञान हो जाय तब मोह कैसे हो ? ऐसी आशङ्का में 'नोत्सहे' यह श्लोक कहते हैं । गगन दो स्वभाव वाला है । (१) क्रियाशक्तिवाला और (२) ज्ञानशक्तिवाला । जैसे नित्य अनित्य के ज्ञान की शक्ति से और शास्त्र के द्वारा ज्ञानशक्ति उत्पन्न होती है, वैसे ही योग से यदि क्रियाशक्ति भी मन में उत्पन्न करदी जाए, तब तो मन एक मुख-एक ही प्रयोजन वाला - हो जाता है और यदि ऐसा नहीं होता है तो, बलवती क्रिया ज्ञान को दबा (हटा) कर अपना ही कार्य करती है । इसी कारण से कई लोग ज्ञान की अपेक्षा योग की अधिक ही प्रशंसा करते हैं । भगवान् ने भी आज्ञा की है कि "ज्ञानिन्योप्यधिको मतः" (गीता ६/४६) योगी ज्ञानी की अपेक्षा भी अधिक माना गया है ।

जिस प्रकार ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न क्रम से एक से द्वितीय और दूसरे से तृतीय, अधिक बलवान् है, उसी प्रकार मन, वाणी और काया भी एक के बाद एक अधिक बलवान् है । उन में काम, क्रोध आदि विघ्न करने वाले हैं । वे मन को संसार में ही फँसाते हैं । अत्यन्त कठिनाता से होने वाले योगादिक किए नहीं जा सकते; क्योंकि अन्धकार में जोर की आँधी तथा वर्षा होने पर दीपक नहीं रक्खा जा सकता है । इसी लिए गूल में अकूरजी अपने आँखों को कृपणार्थ (दीन बुद्धिवाला) कहते हैं । मन के बश में रखने वाली तो बुद्धि ही है और वही मेरी बुद्धि दीन (विषयों में अत्यन्त आसक्त) हो रही है । इस लिए वह मन को धन में नहीं रख सकती; क्योंकि जोर दूरे किसी को अच्छे माग पर नहीं चला सकता है, फिर गेरा मन भी काम और कर्म के आधीन हो रहा है । उत्कट इच्छा काम है और इच्छा (काम) के अनुकूल ही क्रिया करना कर्म है । ज्ञान तो बेचारा बलहीन और असाहाय और काम तथा कर्म से दबा हुआ है, स्वच्छ नहीं है । इसीलिए यह

गलित ज्ञान भय से उन काम और कर्म के अनुकूल ही हो जाता है। वह (ज्ञान) स्वयं अपने अनुकूल नहीं रहता है। इसीलिये यही समझ और निश्चय कर कि मन को रोकना अशक्य है, मैं उसको रोकने का उद्साह (साहस) भी नहीं करता हूँ। वह मेरा मन बलवान् इन्द्रियों के द्वारा इधर उधर भटकता जा रहा है। इसलिये मैं मन, इन्द्रियों को रोकना आदि सभी विषयों में असमर्थ हूँ, केवल भगवान् की शरण जाता हूँ और उन से निवेदन करता हूँ कि ये इन्द्रियों, काम, कर्म आदि सब बड़े बलवान् हैं और मैं मन को वश में करने में असमर्थ हूँ ॥२७॥

श्लोक—सोहं तवाङ्घ्रिपुपगतोऽस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये ।

पुंसो भवेद् यद्दि संसरणापवर्गस्त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मतिः स्यात् ॥२८॥

श्लोकार्थ—हे प्रभो! आपके चरण कमल दुष्ट लोगों के लिए परम दुर्लभ हैं, तथापि मुझ जैसे अधम को आपके चरणों की प्राप्ति हो जाना मैं तो आपकी ही कृपा का फल मानता हूँ। हे पद्मनाभ! जब मनुष्य का अन्तिम जन्म होता है अर्थात् जीव के आवागमन का अन्त निकट आ जाता है, तभी सत्पुरुषों की सेवा सत्सङ्ग के द्वारा उसकी बुद्धि आपकी ओर झुकती है ॥२८॥

सुबोधिनी—एवं सति यत् कर्तव्यं भगवत्तैव तत् चेत् क्रियेत कृपया स्वव्रतविचारेण अरमद्भागेन तस्यैव वा कार्यार्थं तदेव निस्तारो नान्यथेत्यभिप्रायेणाह सोहं तवाङ्घ्रिपुपगतोऽस्मीति, सर्वथा अशक्यसाधनः सोहं तवाङ्घ्रिपुपगतः दीनतया शरणं प्रविष्टः इदानीमस्मि, एतदपि शरणागमनमपि असतां दुरापं, ये असन्तः पूर्वोक्ताः विवेकरहिता अपि विवेकेन त्वेतावत् सम्पाद्यत इति, किञ्च, भगवदनुग्रहेण तत् मन्ये अन्यथा शरणागतो न भवेत्, शरणागतो जात इति वा न भवेत्, यदि सङ्गातमनुगुणं कुर्यात् त्याजयेद् वा तदा शरणागतिः सिद्धेति शास्त्रव्यं, अनुगुणपक्षस्तु ज्ञातुं गुणमः, त्याजनपक्षस्तु दुर्ज्ञेयोपि अनुभावेन कृपाप्रकाशेन च ज्ञायते, अतः स्वरूपतो निष्पत्त्या वा शरणागमनमेव भगवतोऽनुग्रहः सात्सेवानुग्रह इति स्वरूपसत्त्वमेव नियामकं तथैव ते उत्पादिता इति मूलेच्छात्र नियामिका, ननु त्याजनमनुगुणं वा तस्यापि स्वार्थभावेऽप्यशक्यं भगवान् कथं करिष्यतीति चेत् तत्राह ईश इति, हे सर्वश-

मर्थ, अत्र मगानुभव एव प्रमाणमित्याह मन्य इति, अनेन भगवानेव यदि करोति तदेव निस्तारो भवति इति ज्ञापितं, नन्येवं सति शास्त्रं व्यर्थ स्यात् ज्ञानस्याप्यनुपयोगादिति चेत् तत्राह पुंसो भवेदिति, यद्दि पुंसः भगवदिच्छया संसरणापवर्गः स्यात्, सृष्टिसमये हि भगवान् सर्वानिव विचारयति इममित्थं करिष्यामीति, तत्र यं मोक्षायश्रमागीति मन्यते तत्र जन्मानि अवधिमन्ति करोति, तथा सति यदेवान्तिमं जन्म भवति स संसरणापवर्ग उच्यते अग्रे संसरणाभावात्, अत्रापपत्तिरूपं किञ्चिदाह पुंसो भवेदिति, अन्यथा तं पुण्यमेव न कुर्यात्, 'तासां मे दीयते त्रिये'ति भगवद्वाक्यात्, अतः पुंसां मुक्तिरस्तीति सम्भाव्यते, परं कालनियमे न श्रमाणं तदाह यहीति, यत्पुंसां नित्यं जन्म, तदा करिष्यतीत्यत्र नियामकमाह अब्जनामेति, अन्यथा स्वयमागत्य सृष्टिं नोत्पादयेत्, अब्जं नाभी यस्तेति स्वयमाविर्भूय यतः सृष्टिं कृतवान् न तु सेवकद्वारा, अतो ज्ञायते केषाञ्चित् मुक्तिस्तस्यां दृष्टी दात्यतीति, तदा तस्मिन्

एतावानर्थस्तुल्य इति अशक्ये भगवानेव वतंत
इति त्याजनपक्षेपि न काप्यनुपपत्तिः, अतः सत्से-
वारुचिः भगवत्स्वरूपज्ञानेच्छा भागवच्छाखपरत्वं
च अन्तिमजन्मज्ञापकम् ॥२८॥

अपने हित के विचार से समुल्लेख भी जिस तद्भुत को अनुकूल नहीं कर सकता और छोड़ ही सकता है, उसे भगवान् कैसे अनुकूल करा देगे अथवा छोड़ा देंगे ? ऐसी शङ्का के उत्तर में अक्रूरजी कहते हैं कि आप (ईश्वर) ईश सर्व-समर्थ-हैं, सब कुछ कर सकते हैं, ऐसा मैं मानता हूँ, मेरा अनुभव ही इस में प्रमाण है। इस कथन से यह बतलाया कि भगवान् ही कृपा करें, तब ही जीव का निस्तार-मोक्ष-प्राप्ति-हो। तब तो जीव का निस्तार-मोक्ष-होने में ज्ञान का भी कुछ

उपयोग न होने से शास्त्र व्यर्थ है ? ऐसी शङ्का का समाधान करते हुए कहते हैं कि पुरुष का जब भगवान् की इच्छा से अन्तिम जन्म होता है, भगवान् जब सृष्टि करते हैं तब विचार करते हैं कि अमुक जीव को ऐसा करूँगा । उस समय जिसका मोक्ष(करना) विचार लेते हैं, उसके जन्मों की अवधि-संख्या-कर देते हैं । ऐसा होने पर जब ही अन्तिम जन्म होता है, वही संसर्गापवर्ग कहा जाता है, क्योंकि इस जन्म के आगे फिर इसका जन्म नहीं होगा । इस कथन में 'पुंसः' (पुरुषका)-श्लोक में कहा गया पुरुष शब्द ही प्रमाण है । "तासां मे पौरुषी प्रिया" (उन सब योनियों में मुझे पुरुष जन्म प्यारा है) इस वाक्य से यदि पुरुष का जन्म अन्तिम भव-जन्म-नहीं होता तो भगवान् इसे पुरुष ही नहीं (उत्पन्न) करते । इस कारण से पुरुष की मुक्ति होना तो सम्भव है, किन्तु कितने जन्म अथवा कितने समय के बाद मुक्ति होगी, इस प्रकार की अवधि का नियम नहीं है । इसलिये अन्तिम जन्म होने पर ही भगवान् जीव की-सत्पुरुषों की सेवा के द्वारा - अपने में बुद्धि करेंगे - लगावेगे- इस नियम को हे कमलनाभ ! यह सम्बोधन सूचित करता है । भगवान् यदि जीव की बुद्धि को अपनी ओर लगाना नहीं चाहते तो स्वयं पधार कर सृष्टि नहीं करते । भगवान् की नाभि में कमल है । उग कमलनाभ भगवान् ने स्वयं प्रकट होकर ही सृष्टि की है, अपने किसी सेवक द्वारा नहीं की है । इससे यह जाना जाता है कि इस अपनी रची हुई सृष्टि में भगवान् जिन्हीं पुरुषों को मुक्त करेंगे । तब उस मुक्ति को प्राप्त करने योग्य अन्तिम जन्म में "उसको जागृत ही (मनुष्य) मृत्यु से पार होता है । मृत्यु को तरता है" इस नियम से जीव की बुद्धि भगवान् में लगती है ।" इस लिये "मुझे तत्त्व से जानने के बाद मेरे में प्रवेश करता है" (भगवद्गीता १८/५५) भगवान् के इस वाक्यानुसार अन्तिम जन्म में भगवान् का ज्ञान जरूरी है । उस होने वाले आवश्यक भगवज्ज्ञान में बोध करानेवाले के रूप से और उपदेश दिये जाने योग्य सत्पुरुषों के रूप से शास्त्रों का उपयोग है । भगवान् साधनों के द्वारा ही (जीव-से) सब कराते हैं-यह नियम-संघात को अनुकूल करना तथा सर्वथा त्याग करा देना, इन दोनों पक्षों में समान है । इस लिये जीव से अशक्य (नहीं किये जा सकने योग्य) संघात का त्याग के पक्ष में भी किसी भी प्रकार की अड़चन-अयोग्यता-नहीं है । इसलिये (१) सत्पुरुषों की सेवा करने में रुचि होना (२) भगवान् के स्वरूप के ज्ञान की इच्छा होना और (३) शास्त्र में तत्पर-श्रद्धा रखना-इन से पुरुष का अन्तिम जन्म जाना जाता है ॥२८॥

लेख - 'तोऽहं' इस श्लोक की व्याख्या में 'पूर्वोक्ताः' पद का अर्थ पहले 'भगवद्जीव लोकोयं'-इत्यादि श्लोकों में कहा हुआ है । 'विवेकेन तु' (इत्यादिका) और विवेक-यह ज्ञान-मुक्त को है कि मैं भगवान् के शरण जाऊँ, ऐसा अर्थ है ।

किञ्च-वास्तविक रूप से भगवान् की कृपा से ही ऐसा ऊपर कहा हुआ विवेक होता है । 'त्याजनेत्यादि' का भाव यह है कि संघात का त्याग करना तो देह के न रहने पर ही जाना जा सकता है; किन्तु देह के रहते हुए भी भगवान् की कोई महिमा और कृपा से वे स्वयं ही "मेरा (जीव का) संघात से छुटकारा हो गया" जीव को ऐसा प्रकाश करा देते हैं, सब देह पाश के पहले (देह के रहते हुए) भी जान सकता है । 'अनुग्रह' - अनुग्रह का कार्य है स्वरूपतः, जो स्वरूप से वास्तविक ही सज्जन है; सग दग आदि के द्वारा आगतुक सज्जन नहीं है । स्वस्था से ही कुछ सज्जन होते हैं और कुछ दुष्ट । 'शास्त्र' सायुज्य की प्राप्ति के लिये मन बुद्धि भगवान् में लग जाय, इसलिये शास्त्रों का उपयोग है, शारदाध्वजन व्यर्थ नहीं है ।

श्लोक—नमो विज्ञानमात्राय सर्वप्रत्ययहेतवे ।

पुरुषेशप्रधानाय ब्रह्मणेनन्तशक्तये ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे भगवान्! विज्ञान आपका वैभव है । सारे ज्ञानों का मूल कारण आप ही हैं । आप परिपूर्ण ब्रह्म हैं । आपकी शक्ति का अन्त नहीं है । काल, कर्म, स्वभाव आदि के नियामक आपको प्रणाम है ॥२६॥

सुबोधिनी—एवं विज्ञाप्य विज्ञापनासिद्धयर्थं नमस्यति नमो विज्ञानमात्रायेति, शास्त्रस्य सतां च तदेवोपयोगो भवति यदा भगवान् विशिष्टज्ञानमात्रमेव भवति, अन्यथा ज्ञाने सामान्यसिद्धिः मनननिदिध्यासादिना च विशेषसिद्धिरित्ययमर्थो नोपपद्येत, ज्ञानस्याङ्गत्वं च न स्यात्, शास्त्रेण हि ज्ञानमेवोत्पाद्यते न त्वन्यत्, तच्चेद् विज्ञानमन्यदेव रयात् किं भगवद्भूजनेन शरणागमनेन वा स्यात्, अतस्त्वं विज्ञानमात्ररूपः, किञ्च, यदि भगवान् आन्तरो न भवेत् आत्मा वा न भवेत् तदान्यत्रस्थितमन्यो न प्राप्नोति, अन्यश्चान्यो न गवतीति भुक्तिरेव न स्यात्, सर्वेषां प्रत्ययानां	ज्ञानानां हेतुः कारणमन्तर्यामी आत्मा वा स भवानेव, ननु तस्य ज्ञानैकरूपस्यात्मनः कथं जगत्कारणत्वमित्याशङ्क्याह पुरुषेशप्रधानायेति, पुरुषः प्रकृतिभर्ता, ईशः कालः गुणशोभकः, गुणात्मिका च प्रकृतिः, हेतुत्रितयरूपः, नन्वेकस्य कथमनेकरूपता तत्राह ब्रह्मण इति, बृहत्त्वात् बृहत्त्वात् सर्वभवनसमर्थं तदेव, ब्रह्मशब्दस्तादृश एव वर्तते इति प्रकारान्तरेणापि सर्वरूपत्वगुणपादयति अनन्तशक्तय इति, अनन्ताः शक्तयो यस्येति तत्तच्छ्रवत्या तथा तथा भवतीति न काप्यनुपपत्तिः, स्वरूपमेव वा तथेति पक्षद्वयमप्यविरुद्धम् ॥२६॥
--	--

व्याख्यार्थ—इस प्रकार विज्ञप्ति करके प्रार्थना की सफलता के लिये-‘नमो विज्ञानमात्राय’-इस श्लोक से भगवान् को प्रणाम करते हैं । भगवान् जब केवल उत्तम ज्ञान रूप ही हो, तभी शास्त्र और रात्पुरुषों का उपयोग हो सकता है । यदि ऐसा न हो (भगवान्) केवल ज्ञान रूप ही न हो) तो ज्ञान से साधारण लाभ ही हो सकेगा । मनन, निदिध्यासन से उत्तम सिद्धि मिल नहीं सकती और ज्ञान इनका अङ्ग भी नहीं; क्योंकि शास्त्र केवल ज्ञान को ही उत्पन्न करता है और कुछ नहीं करता । शास्त्र द्वारा उत्पन्न हुआ ज्ञान यदि भगवान् (विज्ञानरूप) से भिन्न ही हो तो भगवद्भूजन करने तथा उनके शरण जाने से कुछ लाभ नहीं हो (मुक्ति ही न हो) इस से आप केवल ज्ञान रूप ही हो ।

यदि हृदय में भगवान् न विराजते हों अथवा आत्मारूप होवे तो अपने से अलग रहने वाले को कोई प्राप्त नहीं करता है और न कोई दूसरा होता है । इस से मुक्ति भी नहीं हो सकेगी । इस लिये सारे (प्रत्ययों) को ज्ञानों का कारक (हेतु) जो अन्तर्यामी अथवा आत्मा है, वह आप ही हैं ।

केवल ज्ञान रूप आत्मा जगत् का कारण कैसे हो सकता है ? इस शङ्का के समाधानार्थ-पुरुष, काल और प्रकृतिरूप इन तीन शब्दों का श्लोक में प्रयोग है । (१) पुरुष (प्रकृति के भर्ता) (२) काल (गुणों में शोभ-हलचल करने वाला) और (३) प्रधान (गुणरूप प्रकृति) जगत् के कारण, ये तीनों आप ही हो ।

भगवान् तो एक है उन एक के अनेक रूप कैसे हो सकते हैं ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि आप ब्रह्मा हैं, ब्रह्मा सबसे महान् और सबका पोषण करने वाले होने के कारण से सर्वरूप होने की शक्तिवाले हो और इसी कारण मे आप (ब्रह्मा) अनन्त शक्तिवाले हो । जिनकी शक्तियाँ अनन्त हैं, वे आप अपनी भिन्न २ शक्ति से भिन्न भिन्न रूपवाले होते हो । इसलिये आप-भगवान्-के एक होने पर भी अनेक रूप होने में कोई विरोध-अनुचितता- नहीं है । अथवा भगवान् का स्वरूप ही अनेक रूप वाला है । इसलिये विभिन्न शक्तियों से तथा स्वरूप से ही अनेक रूप होने (दोनों पक्ष) में कोई विरोध (अड़चन) नहीं है ॥२६॥

श्लोक— नमस्ते वासुदेवाय सर्वभूतक्षयाय च ।

हृषीकेश नमस्तुभ्यं प्रपन्नं पाहि मां प्रभो ॥३०॥

श्लोकार्थ— आप वासुदेव -चित्त के अधिष्ठाता- है । सब प्राणियों का आश्रय भूत अहङ्कार के अधिष्ठाता -संकर्षण- भी आप ही हैं । हे हृषीकेश! सब प्राणियों के स्थान रूप आपको प्रणाम है । हे प्रभो! मुझ शरणागत की रक्षा कीजिए ॥३०॥

सुबोधिनी— पुनर्विज्ञापनार्थं नमस्यति नमस्ते वासुदेवायेति, मोक्षदात्रे, ननु तथाप्येतावत् कालं त्वमन्यत्र स्थितः कृतापराधश्च ततः कथं मोक्षो देय इत्याशङ्क्यामाह सर्वभूतानां क्षयाय स्थान-रूपायेति, तेन त्वय्येव स्थिताः भूतेषु स्थितावपि त्वय्येव स्थिताः, चकारात् सर्वभूतस्वरूपाय, किञ्च,

यदपि कृतं तत्रापि त्वमेव हेतुः, यतो हृषीकेशः इन्द्रियप्रेरकः, अतः सर्वापराधशान्त्यर्थं तुभ्यं नमः, विज्ञापनामाह प्रपन्नं शरणागतं मां पाहि पालय, यथा पुनः प्रवाहे न गतामीति प्रार्थना वाचनिकी, शरणागमनं प्रथमतो मानसं पश्चात् कायिकमिति तदुपपादितं शरणागतिप्रकरणे ॥३०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिण्यां श्रीमल्लक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभवीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे सप्तत्रिंशोऽध्यायविवरणम् ।

व्याख्यान— 'नमस्ते' इस श्लोक से फिर प्रार्थना करने के लिये प्रणाम करते हैं ।

अक्रूर, तुम मोक्ष देने वाले भी मुझ (भगवान्) से इतने समय तक अलग रहे तथा अपराधी हो । तुम्हें मोक्ष कैसे दे दिया जाय ? इस के उत्तर में कहते हैं कि सब प्राणिमात्र आप में ही रह रहे हैं, आप ही सब के एक मात्र स्थान हो । इसलिये महा भूतों में रहें हुए भी आप में ही सब रह रहे हैं । अतः सर्वभूत रूप आप को नमस्कार है । मैंने जो कुछ भी किया है, उसके कारण आप ही हैं; क्योंकि आप हृषीकेश हैं, इन्द्रियों को प्रेरणा करनेवाले हैं । इसलिये सारे अपराध की शान्ति के लिये आप को नमस्कार है ।

हे प्रभो, शरण में आये हुए मेरी रक्षा करिये, यह प्रार्थना है । फिर मैं प्रवाह में न पड़ूँ, इसलिये मेरी रक्षा करो । यह वाणी से प्रार्थना की है । भगवान् के शरण जाना पहले मन से होता है

और पीछे शरीर से होता है-यह सब गहने शरणागति के प्रकरण में-इसी अध्याय के अष्टादश
श्लोक में निरूपण किया जा चुका है ।

इति श्रीभद्रागवत महापुराण दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध) ४०वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरणकृत श्री सुबोचिनी (संस्कृत टीका) राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण
पञ्चम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित
सम्पूर्ण ।

छंदः—को जान तुम्हरो भेव हरि तुम सकल देव मयी प्रभो ।
आदि करण सबहि के तुम विश्व सब तुम्हरो विभो ॥
नाग नर सुर असुर अग जग दास सब तुम्हरो हरी ।
रहति माया सब तुम्हारी जाहि तुम ज्यहि विचिकरी ॥
योग यज्ञ अनेक कर्मन करि तुम्हें सब ध्यावहीं ।
जैरो जाको भाव तैसो तुमहि ते फल पावहीं ॥
अति अगाध अपार तुम गतिपार काहू नहि लह्यो ।
शम्भु शेष गरेश विधना नेति निगमनहू कह्यो ॥
भक्तहित धरि विविध तन तुम चरित अद्भुत विस्तरौ ।
गच्छ कच्छ वराह वपु ह्वै वेद गिरि तुम उद्धरी ॥
होय नरहरि भक्त प्रणकरि शरण हित बागन भये ।
भृगुवंशगणि अभिराग तनु धरि मानमय क्षत्री हये ॥
राग रूप निपात रावण अरु विभीषण नृप कियो ।
कंस अरि यदुवंश भूषण कृष्ण वपु छवि निधि लियो ॥
बोधराय दयाल कलकि हिरादि कर्म न भावहीं ।
निःकलंक मलेच्छहा दश रूप श्रुति तत्र गावहीं ॥

दोहाः—तव गुण रूप अनन्त प्रभु, हो अजान जगदीश ।
यों अस्तुति अक्रूर करि, नायो पदपर शीश ॥

ते०ः—तवहि श्याम मुखदाय, अन्तरहित जलते भये ।
निकरयो अति अकुलाय, तव जलते अक्रूरपुनि ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४१वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ३८वां अध्याय

राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण

‘षष्ठम् अध्यायः’

श्रीकृष्ण जी का मथुरा में प्रवेश

—४—

कारिका - - अदृष्टिं ज्ञातत्त्वं श्रुत्वात्तदं हरिः ।

विसृज्य मथुरामैक्षदुक्तो माहात्म्यबोधकः ॥१॥

कारिकार्थ—इस अदृष्टीतत्त्वं अध्याय में तत्त्वज्ञानी- भगवान् के वास्तविक रूप को जाने हुए श्रुत्वात् के पुत्र अक्रूरजी के लिए मथुरा में चले जाने की आज्ञा देकर भगवान् ने मथुरा का अवलोकन किया । अक्रूर ने कंठा से जाकर भगवान् का मथुरा

माना कहा और भगवान् ने ओंकार आदि के अर्थ से अपना माहात्म्य कंस को बतलाया, इत्यादि वर्णन है ॥१॥

कारिका—गोपनार्थं परीक्षोक्ता हृदयारूढबोधनम् ।

वाक्यैर्निरूपितं वर्ण्य प्रवेशे नगरो हरेः ॥२॥

कारिकाथं—गुप्त रखने के लिए परीक्षा के लिए वाक्य कहे गए हैं। हृदय में दृढ़ हुए ज्ञान के वाक्यों द्वारा बतलाया है कि नगरी में भगवान् का प्रवेश होने पर ही नगरी वर्णन करने के योग्य होती है ॥२॥

कारिका—उत्सवे तु यथा रोधः तथात्रापि चक्रार ह ।

माहात्म्यज्ञापनार्थं रजकं हतवान् स्वयम् ॥३॥

कारिकार्थ—उत्सव में जिस प्रकार निरोध किया जाता है, यहाँ भी भगवान् ने वैसा ही निरोध किया है। अपना माहात्म्य बताने के लिए स्वयं भगवान् ने रजक को मारा है ॥३॥

कारिका—अनिष्टेष्टप्रदो लोके महानिति निरूप्यते ।

दायकस्य सुदाम्नश्च वरदानं पथेप्सितम् ॥४॥

कारिकार्थ—यहाँ -लोक में- कंस की नगरी में रहनेवाले अयोध्या पुरुषों को भी उनका वाञ्छित फल देनेवाला महान् कहा जाता है। इसीलिए लोगों को भी अपना माहात्म्य ज्ञान कराने के लिए, महत्त्व बतलाने के लिए ही वस्त्र पहनानेवाले तथा सुदामा मालाकार को उनका चाहा हुआ वरदान देना कहा गया है ॥४॥

लेख— गोपनार्थ-इत्यादि कारिका के पदों का तात्पर्य है कि अकूर ने जल में देखा हुआ एक गुप्त वाक्यों से भगवान् को वक्तलाया । ऐसा वक्तलाने के लिये तूने जल में क्या विचित्र बात देती ? भगवान् ने यह पूछ कर अकूर की परीक्षा की है, फिर अकूर ने अपने हृदय में आरुढ़ हुए ज्ञान-शेष-को गुप्त वाक्यों के द्वारा निरूपण किया है ।

‘उत्सये’—इस कारिका में माहात्म्य इत्यादि पदों का भी अभिप्राय कंस को अपना महात्म्य का ज्ञान कराने के लिये ही भगवान् ने छूने के अगोप्य भी धोती का बंध किया। जिससे कंस को श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् ही, ऐसा ज्ञान हो जाए।

काम करने लगा। उस मत्स्य के बच्चे ने कहा कि श्रीकृष्ण भगवान् हैं। मत्स्यन्तः स्वतन्त्र हैं। अर्जुन उच्छ्वा के प्रभुगार ही बर्ताव करने वाले हैं। इसलिए उसी मा-अक्षरी मत्स्य में ही कार्य की सिद्धि-पूर्ति मान कर अपने स्वरूप को छिपा लिया; क्योंकि अत्यन्त दुर्लभ वहा का साक्षात्कार-दर्शन बहुत देर-समय तक नहीं होता रहता है। भगवान् इन्हे-अक्रूर को-वैकुण्ठ में तो भे ही नहीं गए थे, किन्तु जल के भीतर ही भगवान् ने इनको ब्रह्माण्डों से भरपूर अपने नारायण रूप से ही दर्शन दिए हैं।

जिस प्रकार आविर्भाव-प्रकट होना-कहा; उसी प्रकार तिरोभाव-अन्तर्ध्यानि-होना कहना भी उचित है। इसलिए भगवान् ने उस रूप का तिरोभाव कर लिया। इस कथन से यह बतनाया कि भगवान् में रहने वाले अनेक ब्रह्माण्डों से भरपूर इस जगत् को, जैसे किसी वस्तु को हाथ फेला-लंबा-करके खींच लेते हैं, वैसे ही खींच-समेट-लिया; किन्तु माया के पर्दे को हटा कर वही जल में विराजमान अपने स्वरूप के दर्शन भगवान् ने नहीं कराए। कारण यह है कि आप श्रीकृष्ण हैं और इसी लिए ही सदागन्ध रूप से आपने अवतार लिया है।

भगवान् अपने हृदय में ही रहे हुए प्रपञ्च के दर्शन उसी तरह से कराए जैसे नट अपने में ही रही हुई नट विद्या को अग्निव द्वाग प्रकट करता है। भगवान् भी नट जैसे ही हैं, यह बताने के लिए अक्रूर को अपने नारायण रूप के दर्शन कराए। यद्यपि नाट्य में तो नट जगका स्वाङ्ग लेता है, वह और नट दोनों अलग अलग होते हैं; किन्तु यह भगवान् का नाट्य है, अद्भुत नाट्य है। इसमें भगवान् दूसरे का रूप ग्रहण करते नहीं जाते होते हैं, किन्तु जो दूसरों का रूप दिखाते हैं, वे रूप भी भगवान् के ही रूप हैं ॥१॥

श्लोक—सोपि चान्तर्हितं वीक्ष्य जलादुन्मज्ज्य सत्वरः ।

कृत्वा चावश्यकं सर्वं विस्मितो रथमागमत् ॥२॥

श्लोकार्थ—भगवान् को जल में न देख कर अक्रूरजी भी जल में से बाहर आ गए और शीघ्र सन्ध्या वंदन आदि आवश्यक नित्यकर्म करके आश्चर्य चकित होकर रथ पर आ गए ॥२॥

सुबोधिनी—सोपि भगवर्तव्य कृतगति ज्ञात्वा । अन्यथाबुद्धिश्च स्यात्, अत एव जलादुन्मज्ज्य । ज्ञातत्त्वोन्तरङ्गः भगवत्तमीपमागतः इत्याह । स्नानविधिं त्यक्त्वा पूर्णो भूत्वा भगवदपराधः सोपोति, अन्तर्हितं स्वयमेव, अथवा चकारेण वा । सञ्चित्य सत्वरः अत्यावश्यकं कर्म शीघ्रं विधाया । अन्तर्हि मध्ये हृदये तं वीक्ष्य बहिर्दृष्टगन्तः रथा- । चकारादकृत्वापि, कथमेवं दुर्लभं प्रदर्शितवानिति । पयित्वा, युक्तश्रायमर्थः अन्यथा दर्शनं व्यर्थं स्यात्, । विस्मितः रथसमीपमागमत् न तु मननादिकं कृत्वा । धर्मान्तरप्रवेशश्च स्यात्, सतो गत्यं च न निवर्तते, । निवृत्तो जस्तः ॥२॥

व्याख्यार्थ—तत्त्वज्ञानी तथा अन्तरंग सेवक अक्रूरजी भी भगवान् के स्वरूप का जल में दर्शन नहीं होना तिरोधान होना-जान कर भगवान् के निकट आ गए, यह इस 'सोपि' श्लोक से कहते हैं।

मूल श्लोक में च) अन्तः समुच्चय बोधना है अर्थात् ये दोनों अर्थ ही करना चाहिये । इन दोनों अर्थों में भी भिन्नता अर्थ ही अधिक उचित है । अर्थात् यदि उस धातु दर्शन किये हुए भगवान् के स्वल्प को हृदय में स्थापित नहीं करे तो भगवान् के दर्शन करना व्यर्थ हो जाय, अक्रूर का अन्य भगवान् से भिन्न धर्म में प्रवेश हो जाय उसका भय दूर न हो और उसकी बुद्धि विपरीत हो जाय ।

इसीलिये अक्रूरजी जल से बाहर निकल कर स्नान की विधि का त्याग कर सज्ज-पूर्ण-हो कर, अपने किये-भगवान् के अपराध का विचार करके, अत्यन्त आवश्यक कर्म को शीघ्रता से करके, न भी करके रथ के समीप आ गये । वह मन में आश्चर्य कर रहे थे कि भगवान् ने मुझे ऐसे दुर्लभ दर्शन कैसे कराये, किन्तु फिर भी कंस की आज्ञा से भगवान् को पथुरा ले जाने को तत्पर रहे । भगवान् के ऐसे दुर्लभ दर्शन करके भी "दर्शन का" गन्तव्य न करके कंस की आज्ञा का ही ध्यान रखता ॥२॥

श्लोक — तमपृच्छत् हृषीकेशः किं ते दृष्टमिहाद्भुतम् ।

भूमौ विद्यति तोये वा तथा त्वां लक्षयामहे ॥३॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने अक्रूर से पूछा—अक्रूर! तुम ने पृथ्वी पर, आकाश में तथा जल के भीतर कोई अद्भुत बात देखी है क्या ? मुझे तुम्हारे मुख गण्डल पर कुछ विस्मय के चिन्ह दोख पड़ते हैं । इसी से ऐसा अनुमान होता है ॥३॥

गुणोद्दिनी —तदा भगवान् विरगयांशोनुचित इति तन्निवृत्त्यर्थं किञ्चित् पृष्टवानित्याह तमपृच्छदिति, यदि भगवत्पृष्ट वदेत् अन्यथापि वदेत् तदा न माहात्म्यं तस्य हृदयारूढं, भगवतोपि यदि न वदति तदान्यस्मै कथनरान्भावनेन न भवति, हृषीकेश इति, स्वयमेव तथा प्रेरितवान्, इच्छानिवर्तनार्थं पर पृष्टवानिति किं ते त्वया दृष्टमिति, इहादिगन् जलाशये जलादिकं बह्वेव दृष्टमिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह अद्भुतमिति, आलौकिकमदृष्टपू-

र्यमद्भुतं, दृष्टं वस्तु प्रत्याघारं जानाति न वेति तन्मनोनिश्चयार्थं स्थापयति निर्दिशति, भूमौ विद्यति तोये वेति, दर्शनसंगमे भूमिरिव दृष्टा युक्त्या गन्ध-वर्णगरादिवत् आकाशेऽपि दर्शनं सम्भवति निग-ज्ज्य पश्यतीति जल एव भवति, वेत्यनादरे यत्र क्वचित्, अवश्यं दृष्टमिति अनौकिकं ज्ञानं गोपयितुमाह तथा त्वां लक्षयामहे इति, अद्भुतदर्शनमिव, सा ह्याश्चर्याभिनिधिप्रः प्रपञ्चमपिगकार्यं च न स्मरतीति ॥३॥

व्याख्या —उस समय भगवान् ने अक्रूरजी को कुछ आश्चर्य में मग्न देखा, यह विस्मय का अंश रहना अनुचित जान कर उसे दूर करने के लिये भगवान् ने उनसे कुछ पूछा, यह इस 'तमपृच्छत्'-श्लोक से कहते हैं ।

यदि भगवान् के पूछने पर उनसे कह देता तो दूसरे के पूछने पर दूसरा भी कह देगा, तब तो यही जाना जायगा कि भगवान् का माहात्म्य उसके हृदय में दृढ़ आरूढ़ नहीं हुआ और यदि

सुबोधिनी - यत्कुरस्तु ज्ञातगाहार्थः तत्र न्यत उत्तरगाह अद्भुतानीति, स्वरूपगाधारः भगवत्तत्त्वमिति ईश्वरपुष्पं वक्तव्यमिति ज्ञात्वा सागान् वानेवेति प्रदेशान्तरप्रश्रुतगणन, सोपि वा प्रदेशः

स्वयंवायानि न त्वत्तोऽन्यथाज्ञापरितः, त्वद्दर्शनं तु अद्भुतमेवेति । चन्द्रमस्यव्यभिचारि, इहार्थिन् । समये देशे वा, भूमौ विपति जने वा यान्यद्भुतानि तानि त्वय्येव यन्तस्त्वं विश्वात्मकः, विश्वरिमन्नेव ह्यद्भुतानि भवन्ति, अतस्तानि किं मे मया न दृष्टानि यतस्त्वा विपश्यतः, अदृष्टस्तु त्वं केनापि, अत्राद्याद्भुतत्वमेव दामित् केनापि दृष्टत्वात् भगवास्तु सर्वोदृष्टः, तादृशमदृष्टं भगवन्त विपश्यतो मे किं तानि न दृष्टानीत्यर्थान्, तानीति पूर्ववत् वा अनुवादः, सर्वाद्भुताधारे दृष्टे तादृष्टं विश्वरिदवशिष्यत इति आशयोवृत्तः ॥४॥

व्याख्यायं—भगवान् के माहात्म्य को जानने वाले अक्रूर ने स्वयं देखा, उसे नहीं कहना चाहिये और भगवान् के पूछने पर तो कहना चाहिये । ऐसा रामभक्त कर इस 'अद्भुतानीह' श्लोक से साधारण रूप से अक्रूरजी उत्तर देते हैं । हे भगवान् ! सब का रूपवाले तथा सबके आधार आप ही हैं । इसलिये किसी अन्य स्थान में अद्भुत वस्तु के देखने का प्रश्न अनुचित है अथवा अन्य किसी स्थान पर देखा हो तो वह स्थान भी तो आप ही में है । आपके अतिरिक्त अद्भुत पदार्थों के रहने का कोई ठिकाना नहीं है । आप का दर्शन भी तो अद्भुत ही है । इसलिये इन सारे अद्भुत पदार्थों का आप में होना अपवाद रहित है । सभी अद्भुत पदार्थों का आप में रहना चिन्ह-होना-किसी भाँति भी दूषित नहीं है ।

इस समय में अथवा भूमि, आकाश और जल में जितने भी कहीं भी अद्भुत दृश्य हैं, वे सारे के सारे आप में ही हैं, क्योंकि आप विश्वरूप ही ठहरे और विश्व में ही सब विचित्र-अद्भुत-होते हैं, "हो सकते हैं" । तब आप के दर्शन कर लेने वाले मैंने क्यों से अद्भुत दृश्य न देख लिये अर्थात् सारे ही देख लिये । आपके दर्शन तो कोई कर ही नहीं सकता और आपके अतिरिक्त किसी अन्य दूसरे में अद्भुतता है ही नहीं, जो किसी ने देखी है आप भगवान् तो सबसे ही अदृश्य हैं "किसी से भी नहीं देखे जा सकते हैं" । तात्पर्य यह है कि उन किसी से भी नहीं देखे हुए भगवान् के दर्शन करने वाले मैंने तो वे पहले (उपर) कहे हुए सारे ही अद्भुतों को देख लिया है, क्योंकि सारे अद्भुतों का आधार "भगवान्" के देख लेने पर कोई अद्भुत शेष (बाकी) नहीं रहता है । इसलिये मैंने अद्भुत जैसा देखा है, वैसा अनुमान करना उचित नहीं है ॥४॥

श्लोक—यत्राद्भुतानि सर्वाणि भूमौ विपति वा जले ।

तं त्वानुपश्यतो ब्रह्मन् किं मेदृष्टमिहाद्भुतम् ॥५॥

श्लोकाथं—हे परमेश्वर! पृथ्वी, आकाश अथवा जल में होने वाली सारी अद्भुत बातों के एक मात्र आप ही आधार हैं । सर्वाधार उन -आप- के दर्शन करने वाले, मैंने अब कौनसा अद्भुत दृश्य नहीं देखा ? अर्थात् सारे ही अद्भुत दृश्य देख चुका हूँ ॥५॥

सुबोधिनी—कदाचिदपमुपचाराद् वदतीति । अद्भुतानि लोके दृश्यन्ते तानि स्वयमेव वस्तुतः, पुनः प्रशङ्गायानाह यत्राद्भुतानीति, यत्र क्वचित् । अतो येन केनचिदपि स्वयमेव येदद्भुतानि दृष्ट-

व्याप्ति तदा त्वां पश्यतो मे किं वा अद्भुतमदृष्टं । भगवन्तनायासवान् ।
अनेन तदपि स्वमेवादभुतो दृष्टः स्वयमेव च दृष्टः । निदिधितिं तं त्वेति । ब्रह्मज्ञानं तत्सम्बन्धनायोग-
स्वमेव वा । नयमेव तदिति सर्वाधारस्वमेवेत्याधा- । पतिः ॥१५॥

व्याख्यानार्थ—अकूर ये सब बातें उपचार-मग्यता-में कह रहा है, ऐसा मान कर भगवान् कदाचिन् फिर पूछेंगे, ऐसी श्रमा करके यह “अद्भुतानि” श्लोक कहते हैं । लोग जहाँ भी अद्भुत दृश्य देखते हैं, उन सभी स्थानों में वस्तुतः अद्भुतता आप में ही है । इसलिये जो कोई भी अद्भुत देखने वाले लोग आप में ही अद्भुत “दृश्यो” को देखते हैं, तब फिर आपके दर्शन कर लेने वाले मेरा कौन सा अद्भुत बिना देखा है ? इसलिये वहाँ जल में भी मैंने अद्भुत आप का ही दर्शन किया तथा आप में ही सारा अद्भुत को देखा । आप ही अद्भुत हैं, क्योंकि आप ही सब के आधार हैं । इसलिये आधार सम्बन्धी प्रश्न करना ही अनुचित है । उन आप भगवान् का श्लोक में ‘तत्त्वा’ (उन आपको) पदों से आधार रूप से निर्देश करते हैं और इस सर्वाधारता का अर्थन ‘ब्रह्मन्’ इस सम्बोधन से प्रदर्शित किया है ॥१५॥

श्लोक—इत्युक्त्वा नोदयामास स्यन्दनं गान्दिनीसुतः ।

मथुरामनसद् रामं कृष्णं चैव दिनात्यये ॥१६॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं—यों कह कर गान्दिनी के पुत्र अकूर ने रथ को हाँक दिया और सांयकाल होते होते श्रीकृष्ण तथा धनुरामजी को मथुरा में लिवा लाए ॥१६॥

सुबोधिनी—एवं परोक्षोत्तरमुक्त्वा भगव-
दिच्छां ज्ञात्वा रथं प्रेरितवानित्याह इत्युक्त्वेति,
भगवद्वाक्ये नावहेलेति उत्तरमुक्त्वा पश्चाद् रथं
नोदयामास, ननु कास्योत्तालता तथा ज्ञात्वा भग-
वान् सम्यक् प्रसादनीयः किं वा भगवतः कार्यं
तुच्छं हि तत् तत्राह गान्दिनीसुत इति, गोदामेन
चोत्पन्ना गोरूपेव भवति तस्याश्च पुत्रः सौरभेय
एव परं भगवन्तं मथुरां प्रापयन्, रामो हि रति-
कर्ता कृष्णश्च तत्पत्न्य सदानन्दः स चेत् नगर्वा

प्रतिष्ठितो भवति तदा तत्रत्यानां निरन्तरगेव सुखं
भवतीति, दिनात्यये सन्ध्याकाले, रा हि गोधूलि-
काप्रवेशे सुगुहृता भवति, चकारात् मध्ये स्थितान्
सर्वानेव, भगवदिच्छादेव सन्ध्याकालेपि अपराह्लो
भविष्यति, यावता च कालेन कार्यं भविष्यति
तावान् कालो ग्राह्यः, अन्यथा दिनात्ययपदं बाधितं
स्यात्, अक्षयारम्भे वा मध्याह्नोपरि, मध्याह्ने
अतिक्रान्ते दिनमतिक्रान्तगेवेति, मथुरास्थदिनानां
वा दुःखदानान्तर्यमे स्वत्य वा ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—इस प्रकार परोक्ष सूझ रीति से उतर देकर अकूर ने भगवान् की इच्छा जान कर रथ आगे हाका, यह इस “इत्युक्त्वा” श्लोक से कहते हैं । भगवान् के प्रश्न की अवहेलना नहीं की जा सकती, इसलिये “भगवान् के” प्रश्न का उत्तर देने के बाद रथ आगे हाँका । अकूर में ऐसी क्या उत्तमता थी कि वह इस तरह भगवान् की इच्छा जान कर उन्हें अच्छे, प्रकार से प्रसाद कर सके ? और भगवान् को ही आगे पधारने का ऐसा कौन काम था ? क्योंकि वह काम तो तुच्छ था,

स्थान स्थान पर अर्थात् वसुदेव पुत्र उन दोनों के दर्शन करने में किया। स्थान का गौरव-महत्त्व-महो या। वार्त्तिक और अर्वाञ्छित देश-स्थान में वे सब भगवान् के समीप आ गये। ये दोनों वसुदेव के पुत्र हैं, यह देख कर उनके सम्बन्ध और स्वरूप से वे प्रीतिपूर्वक उन दोनों भाईयों को निहारते रहे और उन्होंने अपना सर्वस्व भगवान् के समर्पित करके वापस नहीं लिया। इस कथन से मार्ग में रहने वाले लोगों का सामान्य रीति से निरोध सिद्धि का निरूपण किया है। प्रीति "प्रीति वाले" शब्द से दृष्टि को भगवान् के श्री अंग के अवलोकन में लगा कर पीछी 'आपस' न खींचने में कारण कहा है। दृष्टि के दान (लगाने) का फल प्रेम ही हुआ। इसलिये वे उस प्रीतिरूप फलवाली दृष्टि को वापस कैसे खींच हटा लेते? लोग सुख के लिये इन्द्रियों को रखते हैं और सुख मिल जाने के बाद इन्द्रियों की प्रवृत्ति ही नहीं होती है। श्रीकृष्ण और बलरामजी को देख कर उन लोगों की अधिकतर ये 'परब्रह्म पुरुषोत्तम है', ऐसी बुद्धि नहीं हुई, इसलिये 'वसुदेव पुत्र' ऐसा कहा है ॥७॥

श्लोक—तावद् व्रजौकसस्तत्र नन्दगोपादयोः ।

पुरोषवनमासाद्य प्रन्तीक्षन्तोवतस्थिरे ॥८॥

श्लोकार्थ—इस बीच में नन्दादि व्रजवासी गोप जन पहले ही पहुँच चुके थे। वे नगरी के बगीचा-उपवन-में ठहर कर कृष्ण बलदेव की आने की राह देख रहे थे ॥ ८ ॥

सुबोधिनी—भगवद्गमनात् पूयमेव नन्दादयः मधुरोपवनपर्वन्तं गताः अत्रे भगवति सगागते गन्तव्यमिति प्रतीक्षयैव स्थिता इत्याह तावदिति, यतस्ते व्रजौकसः अनावृत एव देशे स्यातु योग्याः अत एवाग्रेपि गताः, बह्व्यो बालकाः भगव-	न्मिश्राणि सहैव स्थिताः नन्दगोपादय एव परं बृद्धा पूर्व गता उपवनं नानाविधफलप्रदानं मधुरा निकटस्थं अवतस्थिरे केवलं स्थिताः न तु तस्थिति योग्यं साधनगपि सम्पादितवन्त इत्यर्थः, अनेन व्यवहार एव भगवतोपि प्राधान्य सूचितम् ॥८॥
--	--

व्याख्यान—भगवान् के मधुरा पहुँचने के पहले ही नन्द आदि वहाँ पहुँच गये और भगवान् पधारें तब आगे चलेंगे, इस विचार से उनकी राह ही देखते रहे। यह इस "तावद्" श्लोक से कहते हैं। वे व्रजवासी थे, इसलिये खुले स्थान में ही रहने योग्य थे और इसलिये वे भगवान् के पहले ही मधुरा पहुँच गये। अनेक गोपबालक जो भगवान् के (मित्र) सखा थे। भगवान् के साथ ही थे। केवल बयोवृद्ध नन्द आदि ही आगे गये थे और वे भी मधुरा के निकट अनेक प्रकार के फलों के कारण प्रसिद्ध बगीचे के पास जा कर खड़े ही रहे। उन्होंने भी वहाँ अपने रहने योग्य साधन एकत्रित नहीं किये थे। इस कथन से यह सूचित किया है कि व्यवहार में भी भगवान् ही मुख्य थे ॥८॥

श्लोक—तान् समेत्याह भगवान्कूरं जगदीश्वरः ।

गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रश्रितं प्रहसन्निव ॥९॥

श्लोकार्थ—भगवान् जगदीश्वर श्रीकृष्ण भी उन लोगों से आ कर मिल गये।

इसके अनन्तर श्रीकृष्ण ने तत्र भाव से खड़े हुए अक्रूर का हाथ अपने हाथ में लेकर पकड़ कर हंसते हुए कहा ॥६॥

सुयोधिनी—ततोक्रूरविशर्जनमाह तानसत्येति । इति, स एव हि जगतो नियन्ता स्वामी ऐश्वर्यं
अक्रूरे स्थिते लोवद्वयहारे गितृष्य इति स्वच्छन्द- गुप्तं कृत्वा सख्यवन्धुत्वादिप्रकटनार्थं पाणिना
लीला नोचितेति व्यवहारेपि निबन्धेन नागत इति पाणिं गृहीत्वा तेन तत्र प्रहसनं व्यागोहयन्
व्यापयितुं तान् नन्दादीन् समेत्य अक्रूरं प्रत्याह पूर्वावस्थां तस्य सम्पादयन् वक्ष्यमाणमब्रवीत्
भगवानिति, निःशङ्कः, बहिः स्थिते कस कदा- भगवद्वाक्ये चित्तदाढ्यार्थं गृथङ् निरूपणम् ॥६॥
चिदुपद्रव कुर्यादिति शङ्काभावायाह जगदीश्वर

व्याख्यान—तब भगवान् ने अक्रूर को मथुरा में जाने की आज्ञा दी जो “तावत्” इस श्लोक में कहते हैं ।

लोक व्यवहार में अक्रूरजी भगवान् के काका होते हैं । इसलिये उनके साथ रहने पर स्वच्छन्द रीति से लीला करना उचित नहीं, इसलिये तथा बहुत आग्रह करने पर भी भगवान् अक्रूर के साथ- साथ नहीं पधारे ऐसी बात को प्रसिद्ध करने के लिये भी भगवान् उन नन्द आदि गोपों के पास आकर अक्रूरजी से बोले—भगवान् निःशंक हैं, उन्हें यह शंका जरा भी नहीं थी कि बाहर रहने पर कस कुल अविष्ट कर देगा, क्योंकि सारे ही जगत् के स्वामी नियन्ता तो आप स्वयं ही हैं । फिर भी अपने ऐश्वर्य को गुप्त “छिपा” रख कर मिथता के साथ जातीय सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये भगवान् अपने श्रीहस्त से धिनीत अक्रूर का हाथ पकड़ कर हंसते हंसते अक्रूर को मोहित करते हुए और उसको पहले की यमुनाजी के जल में अद्भुत दर्शन की स्थिति में लाकर वहाँ अपने दसवें श्लोक में कहे प्रकार से कहने लगे : भगवान् के वचनमृत में चित दृढ़तापूर्वक लगने के लिये भगवान् के वाक्यों को प्रलग दसवें श्लोक में कहा गया है ॥६॥

श्लोक—भवान् प्रविशतामग्रे सहयानः पुरीं गृहम् ।

वयं त्विहावमुच्याथ तावत् वक्ष्यामहे पुरीम् ॥६०॥

श्लोकार्थ—आप रथ लेकर पहले नगर में चलिये और अपने घर में विश्राम करिये । हम लोग थोड़ी देर तक यहीं ठहरेंगे और फिर पुरी की ओर देखेंगे ॥६०॥

सुयोधिनी—वचनमेवाह भवानिति, अशम्बन्ध तवापराधो न भवति तदर्थं वदमिहेव प्रतिमुच्य
व्यापनार्थं भवानिति, अस्मत्प्रवेशात् पूर्वमेव शिविरं कृत्वा अथ मित्रप्रक्रमेण, तावत् तावत्
अन्यथा तव कार्यं कृतमपि उगद्वयादकृता गन्तेत कतः आकारमिष्यति तावत् पुरीं वक्ष्यामहे
कसः, ततो गृहेपि त्वया गन्तव्यं, अन्यथा कसः पुरीं सम्यक् स्थापिता न वेति ॥ ६० ॥
अस्मन्निषेधार्थं त्वां प्रेरयेत्, तच्चानुचितं, यथा ।

व्याख्यान—“भवान्” इस श्लोक से भगवान् के वचन का वर्णन करते हैं । अक्रूर और

जैसे आप (अक्रूर) को भगवान् के पास जाने का अधिकार देना में कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा बतलाने के लिये "आप पहले जाइये" गो कहा है । हमारे मथुरा में प्रवेश करने के पहले आप जाइये । यदि आप "अक्रूर" के पहले नहीं जायेंगे तो कस तुम्हारे लिये हुए काम को भी-खात्री आदि भावी उपद्रव के कारण नहीं किया हुआ मान लेगा । फिर आप अपने घर भी जाओ । यदि घर नहीं जायेंगे तो कस हमें रोकने के लिये आप को ही भेज देगा और यह अनुचित होगा । जैसा आप (अक्रूर) का अपराध न माना जावे, वैसे हम वहाँ ही विश्रान करके और फिर-प्रथ-भिन्न रीति से आरम्भ करके कस बुलावेगा, तब कस ने पुरी की सजावट-व्यवस्था-ठीक ठीक की है या नहीं पुरी को देखेंगे ॥१०॥

अक्रूर उवाच

श्लोक—नाहं मवदम्यां रहितः प्रवेक्ष्ये मथुरां प्रभो ।

त्यक्तुं नाहंसि मां नाथ भक्तं ते भक्तवत्सल ॥११॥

श्लोकार्थ—अक्रूर ने कहा—हे प्रभो, आप दोनों को यहाँ छोड़ कर मैं अकेला पुरी में नहीं जाऊंगा । हे भक्तों पर प्रेम रखने वाले नाथ मैं आपका भक्त हूँ, मुझे मत छोड़िये ॥ ११ ॥

सुबोधनी—भगवान् मध्ये उदासीनमिवोक्त-यानिति तदगहगानः किञ्चित् प्रार्थयति नाह-मिति षड्भिः, सर्वे हि भगवद्गुणास्तेन वर्णनीया इति, सद्भवे जातवान् यथा कंसादयस्तथाय-मिति ज्ञात्वा भगवान् मां दूरीकरोतीति, एवं सति भगवान् स्वच्छन्दलीलां करोतु नाम मयाप्य-त्रैव स्थातव्यं बबधित् न तु भगवद्दहितं पुरं गृहं वा प्रवेष्टव्यं, अत एव वैराग्यविधिः भगवदभावे गृहादिकं त्यक्तव्यमिति अतो, भगवद्म्यां रहितः शब्दब्रह्मपरब्रह्मभ्यां मधुदैत्ययुक्तां तत्साम्बन्धिनीं

मथुरां प्रवेक्ष्ये 'नंतमृषि विदित्वा नगरं प्रविशेद् यदि प्रविशेत् मिथो चरित्वा प्रविशे'दिति श्रुतेः, शङ्का तु तव नास्तीत्याह प्रभो इति, अतः परम-नागमने मत्स्यागो हेतुः, तत् न कर्तव्यमिति प्रार्थयति, त्यक्तुं नाहंसीति, नाथे त्यक्ते न कापि पात्यानां गतिर्भवतीति, तत्रापि भक्तं, तत्रापि ते, अवतारलीलाविशेषभक्तं, कार्यार्थं त्याग इति चेत् तत्राह भक्तवत्सलेति, भक्तेषु वात्सल्यं तिष्ठ-तीति न कदाचिदपि भक्तास्त्यक्तव्याः ॥११॥

व्याख्यान—भगवान् के बीच में अतमन्धी का व्यवहार दिखलाने के कारण उदासीन भाव को सहन नहीं कर सकने वाले अक्रूरजी "नाहं" इस श्लोक से आरम्भ करके छः श्लोकों से भगवान् की प्रार्थना-किस्ती प्रकार- करते हैं । भगवान् के ऐश्वर्य, वीर्य आदि छः गुणों का वर्णन करना चाहिये, इसलिये छः श्लोक हैं । अक्रूर और भगवान् के सगे सम्बन्ध को जान कर कस अक्रूर के साथ दुर्व्यवहार करे । इस अभिप्राय से सम्बन्ध का अभाव कहा गया है । अक्रूर ने यह विचारा कि भगवान् मुझे (अक्रूर) को भी वान की तरह पराया मान कर दूर करते हैं । यदि ऐसा हो तो भगवान् गले ही स्वेच्छानुसार स्वच्छन्द लीला करे, परन्तु मुझे भी यहीं वहीं रहना चाहिये । भगवान् के बिना (छोड़ कर) नगरी में अथवा घर में प्रवेश नहीं करना चाहिये । इसीलिये वैराग्य

का नियम है कि जहाँ भगवान् की प्राप्ति न हो, ऐसे स्थानों पर त्याग देने चाहिये। इसको "अग्नि ज्ञान का नगर में प्रवेश न करे जो प्रवेश करें तो दो भिल कर प्रवेश करे", इस श्रुति के अनुसार मैं मधुशब्दब्रह्म आप दोनों के बिना मधुर्दस्यवाली (मधुर्दस्य की सम्बन्धिनी) मथुरा में प्रवेश नहीं करूँगा।

आपको कोई भय तो है ही नहीं, क्योंकि आप तो प्रभु हैं, सर्वशक्ति मान है। इसलिये यहाँ बगीचे से आगे नहीं पधारने का कारण केवल मेरा त्याग करना ही है। हे प्रभो भक्तवरसल! मेरा त्याग करना (आपको) उचित नहीं है, क्योंकि मैं तो भक्त हूँ और भक्त भी आपका ही हूँ। स्वामी के त्याग करने पर सेवकों का कोई रक्षक नहीं है। कार्य विशेष के लिये त्याग भी कर देना पड़ता है, ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि आप तो भक्त धत्सल है। भक्तों पर आपका प्रेम रहता है। इसलिये भक्त का किसी समय में भी त्याग करना उचित नहीं है ॥११॥

श्लोक —आगच्छ दाम गेहान् नः सनाथान् कुर्वधोक्षज ।

सहाग्रजः सगोपार्तः सुहृद्भिश्च सुहृत्तम ॥ १२ ॥

श्लोकार्थ—हे अधोक्षज, हे परम मित्र, आप अपने बड़े भाई बलदेवजी, गोप बाल और मित्रों के साथ हमारे घर गधारो और हम लोगों को सनाथ बनावें (करो) ॥ १२ ॥

नगरेऽस्थान नास्तीति चेत् तत्राह आगच्छेति । भगवतो ज्ञानशक्तिर्निरूपिता, 'यस्यामतं तस्य मतमिति, तच्छोकाकी समागमिष्यामीत्याशङ्का-
यामाह सहाग्रज इति, तत्राप्यग्रजस्य सुतरामेव न भयं मान्दश्च, गोरक्षणधमति अत्रानुर्याचि गोपालानां भयशङ्कं नास्ति, त्वयि सति केषामपि न भयमिति वक्तुं सुहृद्भिः सहति, गोपाला एव सुहृदः नन्दादयो वा ब्रान्धवाः, चकारात् सर्वे सेवकाः अनांसि वृणभादयश्च, ननु कथमेतावद्भिः सह गन्तव्यमिति चेत् तत्राह सुहृदिभिश्च सुहृत्तमेति, स्वामी भवानत्यन्त सुहृत्, भवत्साम्बन्धिनः सुहृत्तराः, अन्ये सेवकादयः सुहृदः, अतः सर्वेऽप्येवागन्तव्यम् ॥१२॥

व्याख्यान—नगर में आपके विराजने का स्थान नहीं है। ऐसी शंका के समाधान में 'आगच्छ' यह श्लोक कहते हैं। आप सबको साथ लेकर गधारो। घर सब के लिये समान ही है। इसलिये याग "हम सब चले" सब का समान रीति से घर चलना कहा है। हमारे घरों को चलिये। इस कथन का अभिप्राय यह है कि हम बहुत भाई हैं और अनेक हैं। इसलिये स्थान की कमी (संकोच) नहीं है।

यह जानना कोई कारण नहीं होने से कहा था कि मैं रहना ही जीवन है । इसलिए कहते हैं कि नाथवाने-गनाथवाने-कोशिश, क्योंकि यनी-म्यामो-मगने ही घर रहता है। दूसरो के घर नहीं रहता । यदि आप हमारे घर नहीं रहोगे तो हमारे नाथ हो, यह कैसे जाना जायगा ? तब तो हम अनाथ ही हैं । इसलिए हमारे घर पर पधार कर हमें तनाथ करें ।

ऐसा करने (घर चलने) पर तेरे (अक्षर के) साथ भगवान् का सम्बन्ध जान कर कस तेरा (अक्षर) का कुछ अपराध समझेगा । इस वगोचे में ही ठहरना ठीक है, ऐसा शका के समाधानार्थ कहते हैं कि आप (भगवान्) तो अधोक्षज हैं । आप तो इन्द्रिय जन्य ज्ञान से बहुत ऊंचे (दूर) हैं । इन्द्रिया तो आप तक पहुँच नहीं सकती हैं, इसलिए आप किसी जीव के ज्ञान विषय नहीं, इसी तरह से क्रिया के विषय भी आप नहीं हैं, क्योंकि स्वरूप को जान कर ही प्रेम अथवा विरोध किया जाता है । क्रिया तो जान होने के बाद की वस्तु है । भगवान् को तो जाननेवाला नहीं जानता और नहीं जाननेवाला जानता है, इस श्रुति से भगवान् की ज्ञान शक्ति का निरूपण किया है ।

आप अकेले ही न पधारें, किन्तु बड़े भाई, वनदेवजी के साथ पधारें । वनदेवजी बलातिशय से निडर हैं और माननीय हैं । गोपालों का तो गाधो, पशुओं की रक्षा करने का धर्म होने से वे चतुर नहीं हैं । इसलिए उन्हें (गोपजनों को) तो भय की शका ही नहीं है । आप भगवान् के रहने पर किसी को भी कोई भय नहीं है । इसलिये मित्रों, गोपालों, भन्द आदि बान्धवों, सारे सेवकों और गाधे, बैलों के सहित ही पधारें, क्योंकि आप सुहृत्तम अत्यन्त प्रिय हैं, आपके सम्बन्धी नृहत्तर और अन्य सब तेवक आदि सुहृद हैं, इसलिये सब की ही साथ लेकर घर पधारिये ॥१२॥

श्लोक—पुनीहि पादरजसा गृहान् नो गृहमेधिनाम् ।

पच्छौचेनानुतृप्यन्ति पितरः साग्नयः सुराः ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे प्रभो! अपने चरणों की रज से हम गृहस्थों के घरों को पवित्र कीजिए । आपके चरणोदक से (गङ्गा जल से) अग्निगण सहित पितृगण और देवगण तृप्त हो जाते हैं ॥१३॥

गृहमेधिनी— यशोरूपं भगवन्तं निरूपयति पुनीहीति, अनेन सनाथत्वमात्रं चेत् वचनं नापि सनाथत्व सम्पद्यत इति किमागमनेनेत्याशङ्का परिहृता, यतो गृहपावित्र्यमाधिकं कर्तव्यमिति, पावित्र्योपायमाह पादरजसेति चरणरजो हि भगवदीयत्व सम्पादयतीति परगशुद्धयैव तथात्वं भवतीति पादरजसा गृहाणां पावनं कर्तव्यं, तत्रैतो गमने अल्पमेव रजो भवेत्, तत्र गमने तु तत्रैव नूनं चरणरजो भवतीति सर्वेषामेव गृहाणां पावनं भवति, ननु भगवदीया भवन्तः गृहाश्च तथा	सति का पावनापेक्षेति चेत् तत्राह गृहमेधिनामिति, गृहे मेधा हिता नित्यमुत्पद्यते, तथा सति य एव गृहस्थो भवति ज्ञाननिष्ठो भवति दाता एव लिप्यते कालगुणैरिव, ते चेद् गृहाः अपरुतवाप्तामी भवन्ति तदैव निस्तार इति, किञ्च न केवलं जीवतामेव भगवदागमने उपकारः किन्तु सदैवा-मेव पित्रादीनां परमा तृप्तिरित्याह पच्छौचेनेति, यस्य भगवतः शौचेन चरणोदकेन पितरः अग्नयो देवाश्च अनुतृप्ता भवन्ति, यतो ब्रह्मदण्डहता अपि मुच्यन्ते, अतस्तव चरणोदकं पितृणां परमान-
---	---

पर आगम करके आधिदैविकता प्राप्त की है । “शिवामृतं” इस श्लोक की मुखोधिनी में कल का विन्यासपूर्वक निरूपण किया है ।

आपके चरणोदक-गगाने वहाँ पृथ्वी पर आकर भी कणिकदेवजी के जाप से भस्म हुए यमर राजा के सठ हजार पुत्रों को स्वर्ग में भेज दिया । रागर के ये पुत्र प्रसिद्ध दुष्ट थे और इन्हें नष्ट करने के लिये प्रयत्न भी कर रहा था, तो भी भगवान् के चरणोदक ने उन दुष्टों तथा भस्म भूतों को भी इन्द्र के समान कर दिया ॥१५॥

श्लोक—देवदेव जगन्नाथ पुण्यश्रवणकीर्तन ।

यदुत्तमोत्तमश्लोक नारायण नमोस्तु ते ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे देवों के देव, हे जगत् के स्वामी! आपकी चर्चा करने और सुनने से पुण्य होता है । हे यदुश्चेष्ट, हे उत्तमश्लोक नारायण! आपको प्रणाम है ॥१६॥

मुखोधिनी—भगवत ऐश्वर्य कीर्तयन् नमस्वति, ऐश्वर्यं पद्मविध उपारम्यत्वेन, प्रभुत्वेन, दोषनिवारकत्वेन, गुणाधायकत्वेन, उत्तमस्तुत्यत्वेन, जगत्कारणत्वेन च, देवदेव, तत्र भगवान् देवानामपि देवाः उपारम्यानामप्युपास्यः, जगत् एव नाथः न त्वेकदेशस्य, पुण्ये पापनिवारके श्रवणकीर्तने परव, यथा श्रवण तथैव कीर्तनं पापनाशकम्, यदुत्तमेति,

यदोरपि गुणाधायकः, ‘अकर्मोच्चरितं पितु’रिति स्वायेन पितुः प्रतिकूलत्वात् न कस्यापि साध्यः, तस्यापि गुणान् वत्त इति, उत्तमैरपि व्यातादिभिः श्रुतयत इति, नारायणो जगत्कर्ता इति, एव पद्मगुणपूर्णं नमस्वति नमोस्तु त इति, नगस्कार-प्रार्थनया नित्यं नमस्कार उक्तः ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—“देव देव” इस श्लोक में भगवान् के ऐश्वर्य का कीर्तन करते हुए प्रकूरजी भगवान् को नमस्कार करते हैं । भगवान् का ऐश्वर्य १- उपासना करने योग्य, २- प्रभुरूप, ३- दोषों का निवारण करने वाला, ४- गुणों को प्राप्त कराने (देने) वाला, ५- श्रेष्ठ पुरुषों के द्वारा गाया गया और ६- जगत् का कारण, इन रूपों से छः प्रकार का है । उसका क्रम से छः विशेषणों द्वारा वर्णन करते हैं । (१) हे देवों के देव! उपासना करने के योग देवगण भी आपकी उपासना करते हैं । भगवान् उपास्यों के भी उपास्य हैं । (२) हे जगन्नाथ! आप जगत् के किसी एक भाग के साथ नहीं हो, किन्तु सारे ही जगत् के ईश्वर हो । (३) भगवान् का श्रवण कीर्तन लोगों के पापों का नाश करने वाले हैं, पुण्य वाला है । (४) यदुत्तम, पिता ययाति की आज्ञा न मानने वाला पिता का विरोधी तथा पिता का (अकर्मोच्चरितं पितु-६।१८।४४) मलमूत्र समान भी यदु-जिसके दोष किसी प्रकार भी दूर नहीं हो सकते थे-को (यदुकुल में अवतार लेकर) गुणोंवाला बना दिया । इसलिये आप यदुओं में उत्तम हैं । (५) हे उत्तम श्लोक! व्यास आदि उत्तम पुरुष भी आपके गुणों का गान-स्तुति-करते हैं । (६) हे नारायण! आप सारे जगत् की रचना-सृष्टि-करने वाले हैं । इस पदविधि-प्रकार-के ऐश्वर्य, गुणों से पूर्ण भगवान् आपको नमस्कार है । ‘नमोऽस्तु’ नमस्कार हो, इस प्रकार नमस्कार की प्रार्थना से सदा (नित्य) का नमस्कार करना कहा गया है ॥१६॥

॥३॥ श्री—श्री जुगुपश्वरः । नन्दः स—नन्दः । मम मरुतः । मम प्रसादः । के वचनं नुम
कर अकृपया ने उदास से होकर नगरी में प्रवेश किया और पड़ले कंस के पास जाकर
कृष्ण वन्देव सहित नन्द आदि गोपों के मथुरा आने के समाचार कहे । तदनन्तर वे
अपने घर को गए ॥३॥

सुबोधिनी - एवमागमन निर्धार्यं भगवदाज्ञया । प्रथमत एव पुरीं प्रविष्टः कंसाय भगवानानीत
एहे गत इत्याह एवमुक्त इति, भगवता अप्रतिहत- इति स्वकृत कमविद्य गृहं ययौ, शीघ्रमेव स्वगृहं
सागर्थ्येन एवमाज्ञप्तः, इदानीमेव नेष्ट सिद्धमिति गतः ॥ १८॥

व्याख्यानार्थ—इस प्रकार से भगवान् के पधारने का निश्चय करके अक्रूरजी भगवान् की आज्ञा में अपने घर पर गये, यह "एवमुक्तो" श्लोक से कहते हैं, जो नहीं रोकी जा सके, ऐसी सामर्थ्य वाले भगवान् की यों आज्ञा पाकर भगवान् को अभी अपने घर पर पधारने के मनोरथ में असफल हुए । अक्रूरजी निराश होकर नगरी में चले गये । आगे भविष्य में भगवान् का कार्य-आज्ञा पालन-वे करेंगे, ऐसा जान कर वे उदास जैसे हो मथुरा में चले गये । वहाँ जा कर उन्होंने पहले कस से श्रीकृष्ण की मथुरा ले आना रूप अपने सिद्ध काम की सूचना दी और फिर वे शीघ्र ही अपने घर को चले गये ॥६८॥

श्लोक—अथापराह्णे भगवान् कृष्णः सङ्कुर्षणान्वितः ।
मथुरां प्राविशद् गोपैर्दिदृक्षः परिवारितः ॥१६॥

श्लोकार्थ- -इधर दिन के पिछले भाग में श्रीकृष्णजी बलदेवजी और गोपजनों को साथ लेकर मथुरापुरी को सैर करने के लिए पूगे को देखने की इच्छा से पधारे । १६।

सूबोधिनी—एवं पूर्वसम्बन्धिनां निरोधमुक्तत्वात्
चातुर्येव पूर्वगपि निरोध सम्पाद्य स्वरूपेणापि
सम्पादयितुं स्वयं मयुरा दृष्टवानित्याह अथेति,
अथ भिन्नप्रक्रमेण मिथुभूतरेव गोपालः सहापराह
तृतीयं भागे भगवान् आविष्कृतसवधर्मा कृष्ण
एतदर्थमेवावतीर्णः कंसमारणार्थं यत्नः कर्तव्य
इति सङ्ख्येणसमन्वितः, अन्यथा उभयोरवतारो
न स्यात्, गोपं परिवृत्त इति, एतैः सह एताव-
त्कालं क्रोडां क्रुतेति आपनार्थं शोभार्थं मनसि
सङ्ख्याभावार्थं तेभ्यः, महासम्पन्नदशेनार्थं च मयुरां
स्वमगरी प्रकर्षणादिसङ्ख्यः, नागीष्वे सप्तमं, पुर-
द्वारनिकटे गत इत्यर्थः ॥५॥

व्याख्यानार्थ—इस प्रकार पहले सम्बन्धी मधुदेव आदि का निरोध करना प्रदर्शित करके प्रथम तो वातचीत के द्वारा ही मथुरावासियों का निरोध कराकर स्वल्प से भी उनको निरोध सिद्ध कराने के लिये गगवान् ने स्वयं मथुरा नगरी को देखा, यह उस "अथापराह्णं" श्लोक में कहते हैं। अथ-यह-भिन्न प्रकरण-दूसरे आरम्भ का सूचित करता है। अर्थात् अब यहाँ इस के आगे दूसरे प्रकरण का आरम्भ (किया जाता है) होता है।

अपनी मन्त्राणां गोपानों के साथ दिन के तीसरे भाग (अपराह्न) में अपने मन्त्रों, वीथ आदि सारे धर्मों को प्रकट करके भगवान् श्रीकृष्ण जिनका कसबध के लिये हो अवतार है और कसबध के लिये प्रवृत्त करना चाहते, इसलिये ब्रह्मदेवजी को साथ लेकर मथुरा पधारे, क्योंकि यदि स्वर्ण-राज्य को नाथ में न बना होता तो दोनों का अवतार नहीं होता । गोपों के साथ इतने समय तक क्रीड़ा की है, अपनी निभेयता, गोपा का अपना माहात्म्य आदि प्रदर्शित करने तथा अपनी शोभा के लिये भी गोपजनों के बीच में विराजमान भगवान् ने अपनी नगरी मथुरा में प्रवेश किया । समीप अर्थ में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग होता है । श्लोक में "मथुरां" द्वितीया विभक्ति-दिक्षु-सन्नत दृष्ट्वात् के योग से की है । तात्पर्य यह है कि भगवान् मथुरा नगरी के द्वार के निकट पधारे ॥१६॥

लेख—'अथापराह्णे' इस श्लोक की व्याख्या में "पूर्वसम्बन्धिनां" इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है कि प्रथम सम्बन्धी दमोदर आदि के सम्बन्धी अक्रूर और पाण्डव आदि का निरोध, जो अक्रूर को भोज कर पाण्डवों का मानसिक निरोध कहा है ।

श्लोक—ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुरद्वारां बृहद्धेमकपाटतोरणाम् ।

ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदापुष्टानरम्योपवनोपशोभिताम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण ने मथुरा नगरी को देखा, जिसमें स्फटिक मणि (यिल्लोर) के बने हुए ऊँचे दरवाजे, सोने के बड़े बड़े किवाड़ और तोरण, ताम्बे पीतल के भण्डार आदि थे । जिसके चारों ओर एक विशाल गहरी खाई है, जिससे शत्रु उस पर एकाएक आक्रमण नहीं कर सकता था । स्थान स्थान पर सुन्दर बाग बगीचों से अत्यन्त सुशोभित हो रही थी ॥२०॥

सुबोधिनो—ततो भगवान् दृष्टवानित्याह । पार्श्वचतुष्टयपूर्णा ॥२०॥
ददर्शति, भगवद्दृष्टां पुरीं वर्णयति चतुर्भिः, पुरु- ।

व्याख्यान—तदनन्तर भगवान् ने नगरी को देखा, यह दृष्ट 'ददर्श' श्लोक से वर्णन करते हैं । भगवान् के द्वारा देखी हुई चारों पुरुषार्थों से भरपूर मथुरा नगरी का चार श्लोकों से वर्णन करते हैं ।

कारिका—स्वरूपतो द्रव्यतश्च दैर्घ्येलेखतुत्तरां ।

अलङ्कृतां साम्प्रतं तु भगवद्दर्शनार्थिभिः ॥२१॥

कारिकार्थ—(१) स्वरूप से (२) द्रव्य से (३) विचित्रता के कारण से भी सबसे उत्तम और (४) इस समय तो भगवान् के दर्शन करना चाहनेवालों के द्वारा राजाई गई नगरी को भगवान् ने देखा ॥२१॥

भूमि आदि सब चीजों की वर्णन हुई थी। एक ही कारीगरी से जीविका करने वालों की दुकान, मनुष्यों के बैठने के स्थान, सब निवासियों के भवन (घर) सब ही सुवर्णमय थे। सभी एक से एक बट कर शोभा वाले थे। बंदूग, हीरा, निर्मल स्फटिक, नीलगंगा (नीलम) प्रवाल, पद्मा, माली आदि रत्नों से जड़े हुए देही लकड़ी के बने हुए (दरवाजों के आगे) बैठने के स्थानों (बेन, कुर्सियों) से वह नगरी सुशोभित हो रही थी ॥२१॥

श्लोक—जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमेष्वाविष्टपारापतवहिनद्विताम् ।

संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरं प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—उन रत्न जटित झरोखों और चबूतरों पर बंठे हुए कबूतर और मोर अपने अपने शब्दों से नगरी के यश को वृद्धित कर रहे थे। मुख्य और चौड़ी सड़क, (राजमार्ग) हाट, बाट, गली, कूँचे, चबूतरों और द्वारों के सामने छिड़काव किया हुआ था तथा सब जगह मालायें, कलियों, खीले और अक्षत बिखर रहे थे, ऐसी पुरी को भगवान् ने देखा ॥२२॥

सुबोधिनी—अत्रेपि तैर्जुष्टेषु योजितेषु जाला- मुखरन्ध्रकुट्टिमेषु गवाक्षरन्ध्रमध्यभूमिषु आविष्टा- ये पारापताः वहिणश्च तेषां नादयुक्ताः, एवमुपरि- रोभायमुक्त्वा मार्गादिसौभाग्यमाह सम्यक् सिक्ता- रथ्यादयो यस्यां, रथ्या राजमार्गः, आपणयः	पण्यवीथीमार्गाः अन्ये चत्वरण्यङ्गणानि, प्रकी- र्णानि सर्वत्र माल्यानि पुष्पाणि अङ्कुराः यवा- ङ्कुराः लाजाः अष्टधान्यानि तण्डुलाश्च, मङ्गला- यामेतेषां विकरणं भगवानायास्यतीति ॥२२॥
--	--

व्याख्यान—आगे भी मणियों से जड़ी हुई झालियों के छिद्रों के बीच की भूमि में बंठे हुए कबूतरों और मोरों की आवाज से गूँजती हुई उस नगरी को भगवान् ने देखा। इस प्रकार नगरी के ऊपरी भाग की सुन्दरता का वर्णन करके आगे उसके मार्गों के सौन्दर्य का निरूपण करते हैं। उस पुरी के राजमार्गों (मुख्य सड़कें) बाजारों, व्यापार के (मार्गों) तथा अन्यान्य चौराहे, आंगणों में जल का छिड़काव अच्छी तरह किया गया था और (भगवान् पधारेंगे इस कारण से) सभी जगह गंगल सूचक पुष्प, जो के अंकुर; भाड़ में लिके हुये धान्य, चावल 'खीले' आदि बिखरे जा रहे थे, पुष्पादि वर्षाये जा रहे थे ॥२२॥

श्लोक—आपूर्णकुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितः प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवः ।

सवृन्दरम्भाकमुकैः सकेतुभिः स्वलङ्कृतद्वारगृहां सपाटुकं ॥२३॥

श्लोकार्थ—दही, चन्दन से चर्चित, जलपूर्ण कलशों, पुष्पों और पल्लवों, दीपकों

की मालाओं, पके हुए केले वाले केल के वृक्षों और गुपारी के गुच्छों, ध्वजाग्रो और सुन्दर छोटी छोटी झण्डियों से भलि भाँति सजाए हुए द्वारवाले भवनों से अत्यन्त गुशोभित हुई मथुरा नगरी का भगवान् ने अवलोकन किया ॥२३॥

सुबोधिनो—आ सगन्तात् पूर्णकुम्भः दध्ना चन्दनेन च उक्षितः, दध्ना सहितश्चन्दनः उक्षितः पूर्णकुम्भः सहितामिति, प्रसूनानि दीपावलयः आरात्रिकाणि, पल्लवसहिताश्च ते. राघुन्वाः फल-सहिताः रम्भाः कदम्बः क्रमुकाश्च पूगपोताः ध्वज-सहिताः तैः सुष्ठु अलङ्कृताः द्वाराणि गृहाश्च

गस्या. सपट्टिकाः रम्भादयः अत्रैवं प्रक्रिया, द्वार-स्योभयपार्श्वे कुम्भद्वयं तदुपरि दधिपूर्णपात्रं तत्र निकटे दीपाः रम्भा क्रमुकश्च ध्वजः पताकाः च चन्द्रवर्णाश्चन्द्राकारा आदर्शश्च महोत्सवे सर्वत्र क्रियन्ते इति ॥२३॥

व्याख्यान—दधि और चन्दन से चर्चित (सने हुए) जल भरे कलशों, पल्लवों सहित गुप्पों, दीपकों की पातियों, आरात्रियों, पके हुए फलोंवाले केले के वृक्षों, गुपारी के गुच्छों और भाँति-भाँति की ध्वजा पताकाओं से गुशोभित द्वारवाले भवनों से सुसज्जित की गई-सजाई हुई-मथुरापुरी को भगवान् ने देखा। सजावट करने की रीति यह है कि दरवाजों के दोनों तरफ दो कलश, उन पर दही से भरा हुआ पूर्ण पात्र, उसके निकट दीपक, केले, गुपारी, ध्वजा, पताकाएँ, चन्द्रमा की तरह निमल तथा चन्द्रमा के आकारवाले कलश-आरती-आदि को महोत्सव में सभी जगह रक्खा जाता है ॥२३॥

श्लोक—तां सम्प्रविष्टौ वसुदेवनन्दनौ वृत्तौ वयस्येनरदेववर्त्मना ।

द्रष्टुं समीपुस्त्वरिताः पुरस्त्रियो हर्म्याणि चैवारुरुहर्तृपोत्सुकाः ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! पुरी मथुरा की ऐसी सुन्दर शोभा का अवलोकन करते हुए और गोप लोगों के गच्छ में पधारते हुए वसुदेवनन्दन भगवान् कृष्ण बलदेव ने राज-मार्ग में से होकर नगरी में प्रवेश किया। यह समाचार पाते ही पुरनारियाँ उनके दर्शन करने के लिए उत्कण्ठित होकर अपने अपने भवनों पर जल्दी से चढ़ गई ॥२४॥

सुबोधिनो—एवं पुरीं वर्णयित्वा तस्यां प्रविष्टावित्याह तां सम्प्रविष्टाविति, सर्वेषां भगवद्दर्शनार्थमेव तथा निर्माणमिति येषां बहिरागत्य दर्शनं सम्भवति ताननुक्त्वा यासां न सम्भवति तासां पुद्गोपाधिवयमाह द्रष्टुं समीपुरिति, नगरीं प्रविष्टौ वसुदेवस्य पुत्रौ गोपालवृत्तौ नरदेववर्त्मना राजमार्गेण सयुक्तौ गच्छन्तौ द्रष्टुं पुरस्त्रियः

समीपुः सागगानिगुह्येन मगन्ताः, याः साधारण्यः पुरस्त्रियः दूरस्थाश्च दहिनिर्गमनात्तर्थाश्च हर्म्याणि उच्चगृहान् आरुरुहन्, जगन्नात् सर्वत्र स्थिताः द्रष्टुं शक्नुवन्ति तमेवारुरुहन्ति, नृपेति सम्बोधनं राज्ञो गमनेष्वेव कुर्वन्तीति ज्ञापनार्थं, भगवति तु विशेषः उत्सुका इति ॥२४॥

व्याख्यानार्थ—इस प्रकार मथुरा पुरी का वर्णन करके उसमें भगवान् का प्रवेश तथा सम्प्रतिष्ठा। इस श्लोक से वर्णन करते हैं। भगवान् के दर्शन सब ही कर लें, इसी उद्देश्य से पुरी की राजावट की गई थी। इसलिये बाहर आकर भी दर्शन कर सकने वाले पुरुषों का वर्णन न करके बाहर आकर दर्शन में असमर्थ नारियों का दर्शनार्थ अधिक उद्योग का वर्णन उत्तरार्थ से करते हैं। गोपालों के साथ राजमार्ग नगरी में प्रवेश करने वाले दोनों वन्दुदेव कुमारों के दर्शन करने के लिये पुरी की स्त्रियां अच्छी तरह से सामने आईं।

जो शहर की स्त्रियाँ साधारण स्थिति की थीं, जो दूर रहने वाली थी और जो घर के बाहर निकलने में असमर्थ थीं, ऊँची ऊँची हथेलियाँ तथा ऊँचे पकानों पर जहाँ से भगवान् के दर्शन कर सकती थीं चढ़ गईं। राजा की सवारी निकलने पर भी स्त्रियाँ इसी प्रकार से करती हैं, इस बात को सूचित करने के लिये हे नृप! यह सम्बोधन पद का प्रयोग है, किन्तु राजा की अपेक्षा भगवान् के दर्शनों की विशेषता है कि वे थड़ी उत्कण्ठा से गहनों की छत्ता पर चढ़ीं ॥२४॥

श्लोक—काश्चिद् विषयं गृह्यतवस्त्रभूषणा विस्मृत्य चेकं युगलेष्वथापराः ।

कृतंकपत्रश्रवणंकनूपुरा नाड्यत्वा द्वितीयं त्वपराः स्वलोचनम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—जल्दी के कारण कोई उल्टे कपड़े और गहने पहन कर चल दी। कोई कोई कुण्डल आदि आभूषण जो दो दो पहने जाते हैं, एक एक ही पहन कर चली गई। कई तो अपने एक ही नेत्र में काजल लगा कर दीड गई ॥२५॥

सुबोधिनी—तासामोस्तुवयं वर्णयन् वस्त्राभरणानां विपर्यासमाह काश्चिदिति, भगवति भावो विशेषः, अन्यथा लोकिव्येव भागा भवति, काश्चित् त्रयः विपर्यक् विपरीततया धृतानि वस्त्राणि मूषणानि च याभिः, पादयोराभरणं हस्ते अधो-वस्त्राण्युपरि, एव सर्वत्र, किञ्च, न केवलं विपर्यासः अपि तु पुगलेषु एकं विस्मृत्य च एकमेवाभरणं धृत्वा गताः, अथ विपर्यग्धृतेभ्यः अपराः अन्याः, तत्र पूर्वपक्षस्याप्येता उत्तमा इति पुगला-

व्याख्यानार्थ—इत 'काश्चित्' में उनकी उत्कण्ठा का वर्णन करते हुए उनके वस्त्र आभूषणों के उलटे सीधे धारण करने का निरूपण करते हैं। स्त्रियों का भगवान् में अत्यधिक भाव है। यदि ऐसा न हो तो यह लौकिक भाषा ही गिनी जाती। कितनी ही स्त्रियाँ अपने वस्त्रों को और आभूषणों को उलटे-निपरीत-पहन कर के चली गईं। तात्पर्य यह है कि पावों के आभूषणों को हाथों में और हाथों के पावों में पहन कर तथा इसी प्रकार नीचे पहनने का धारण आदि वस्त्रों को ऊपर के अङ्गों में और ऊपर (पहनने) के अङ्गों के वस्त्रों को नीचे के अङ्गों में पहन कर ही दौड़ आईं।

इसका ही तरीका यह है कि यदि मैंने जाने कितने भी दूसरे सम्प्रदायों को भी पढ़ा है तो मैं पढ़ा कर आर उन्हीं भी उन्हीं (हाथों के पाँवों के तथा पाँवों के हाथों में) ही पहिन कर चर्चा करूँ। ये सिद्धियाँ उन पहले वर्णों की हुईं सिद्धियों से श्रेष्ठ है। कष्ट, कंकाण आदि तो दो दो में से एक भी पहिन लिये जाते हैं, किन्तु जिन अलंकारों का दो दो का ही धारण करना आवश्यक होता है, उन्हें एक एक ही धारण करना निम्नित तथा असंगत गिना जाता है। उन स्थितियों में जल्दी से ऐसा भी किया। जैसे कोई तो कान में एक ही वाली और पाँव में भी एक ही नूपुर अथवा एक ही नूपुर को कान में, पाँव में पहिन कर ही दीड़ गई। कितनी तो अपने एक ही नेत्र में और कितनी दूसरी स्थितियों के एक ही लोचन में कज्जल ग्राज कर बीच में उसी स्थिति में उठ कर जल्दी दीड़ आई ॥२५॥

स्वच्छन्द लीला बिलसने से पूर्ण है। अतः भगवान् ने तथा लक्ष्मी का आनन्द देने वाले अपने सुन्दर श्याम स्वरूप से पुर नारियों को आनन्द देकर उनके हृदयों को हर लिया ॥२७॥

सुबोधिनी--एव सर्वासिं भगवद्दर्शनार्थं प्रपञ्च-
विस्मृतिनिरूपिता, ततो निष्प्रपञ्चासु स्वासन्नव्यर्थ-
भगवच्चरित्रमाह मनांसि तासामिति, तासां पूर्वा-
क्तानां मनश्चेद् भगवदीयं जातं तदा स्वासक्तिः
सिद्धैव मनोमूलकत्वात् संसारस्य, मनसो हि
वशीकरणं द्वेषा भवति, वस्तुसामर्थ्यात् मन एव
वशे भवति यथोक्तविषये स्वधर्मश्च मोहकं भवति
गथा गन्त्रादिभिः, तत्रारविन्दलोचनः कमलनयन
इति स्वरूपसौन्दर्यं सर्वतापनाशकत्वेनोपकारित्व
च निरूपितम्, चमग्ं मोहकानाह प्रगल्भा या
लीला तत्सूचकं यद् हसितं तत्पूर्वकावलोकनैरिति,
अतिकामुकस्य तादृशचेष्टासूचकं हास्य भवति अव-
लोकनं च, पुरस्त्रीत्वात् तासां तत्परिज्ञानं तेनैव
ता व्यामुग्धा भवन्तीति, हसितं मन्त्रात्मकं दृष्टिः
पाशात्मिकेति, यस्याः मनः येनैव प्रकारेण याति
तादृशमेव हसितं प्रेक्षितं चेति ज्ञापयितुं बहुवचनम्
तत्र बाधिका बुद्धिदूरीकर्तृमाह मत्तद्विरदेन्द्रविक्रम
इति, भयं बाधकं लौकिकं तासां वैदिके आधिक्य-

रभावात् विचारे दोषाभावात्, तथायं यथा मत्तो
द्विरदः स्वार्थं सर्वानविचार्यं लौकिकालौकिकसाध-
नयुक्तो यथा मत्त गजः, राजातीयानामप्यतिक्रमाथ
इन्द्रपदं, तस्यापि सर्वथा कर्तव्यत्वेन धर्मः अत्य-
धिको भवतीति विक्रमपदं, तस्मादस्य एतत्प्रपत्तो
तासां च सर्वथा मयाभावश्च सूचितः, ननु दृष्टि-
द्वारा हि मनोग्राह्यमन्तःस्थित इन्द्रियान्तरव्या-
पारस्य तदानीमभावात्, दृष्टिः पुनः चञ्चला अन्यत्र
गच्छेद् यदि तदा तद्द्वारा ग्रहणं सर्वथा न सम्भ-
वतीति कथमेकान्ततो ग्रहणमिति चेत् तत्राह
तासां दृशां श्रीरमणात्मना लक्ष्मीरमणरूपेण
उत्सवं दददिति, उत्सवासक्तो हि नान्यत् किञ्चन
वेद सर्वस्वापहारेण, चञ्चलानां मध्ये लक्ष्मीः पर-
मकाष्ठाभापन्ना, तां चेद् रमयति अग्न्यासक्तां
करोति कथमन्यां न बुर्वात्, अतो निष्प्रत्यूहं तासां
मनोहरणमुपपद्यते, आत्मपदेन चावश्यकत्वं तत्प-
रत्वे सूचयति ॥२७॥

व्याख्या--इस प्रकार से भगवान् के दर्शन के लिये उन सब का प्रपञ्च का विरगरण-भूल
जाने-का निरूपण करने के बाद प्रपञ्चरहित हुई उनकी भगवान् से आसक्ति होने के लिये "मनांसि"
इस श्लोक से भगवान् के चरित्र का वर्णन करते हैं। उन ऊपर ब्रतलाई पुरवासिनीयों स्त्रियों के
मन भगवदीय हो जाने पर तो उनकी भगवान् में आसक्ति हो जाना सिद्ध (सहज) ही है, क्योंकि
संसार का मूल मन ही है, मन को वश में करने के दो प्रकार हैं। (१) जैसे किसी उत्तम विषय में मन
लग जाता है, वैसे ही किसी वस्तु की सामर्थ्य से ही (अपने आप) स्वयं वश में हो जाता है और
दूसरा यह है जैसे मंत्र आदि के द्वारा मन वश में होता है, वैसे ही मोह लेने अपने गुणों से ही वश
में हो जाता है। इन दोनों ही प्रकारों से उन के मन भगवान् के वश में हो जाने से भगवदीय हो गये थे
और उन पुरस्त्रियों की भगवान् में आसक्ति सिद्ध हो गई थी।

अरविन्दलोचन 'कमलनयन' पद से भगवान् के स्वरूप की सुन्दरता का और ताप
सन्तापों को दूर करनेवाले होने से उपकार करनेवाले रूप से निरूपण किया है, मोहित
करने वाले भगवान् के धर्मों का वर्णन करते हैं कि उनकी स्वच्छन्द लीला को सूचित

भगवान्ने अद्भुतमयं पूर्ण निरवयव-मनसं गन्तव्यं शीघ्रं धत्ते ह्येवम् । येन गच्छेत्ते जने काटे अन्धमनः प्रगी जार प्रपनी चेष्टा सूचक हास्यपूर्वक देखना है । ये नागरिक स्त्रियां श्री, यह मन कुछ नमस्करी थीं । इसीलिये वे अत्यधिक मोहित हो गईं । भगवान् की मन्द मुस्कान-मन्दहास्य-मन्त्र जसा और दृष्टि-चितवन-बन्ध कर देने वाली साकय जैसी है । इसलिये उन स्त्रियों ने अत्येक का मन जिय जिस प्रकार से मोहित होया था उसे उसी का हास्य और अवलोकन भगवान् करने थे । इसा अभि-प्राय से श्लोक में "प्रगल्भलोलाहसितावलोकनः" वह बहुवचन है ।

मन के भगवान् पर मोहित होने में रुकावट डालने-बाधक होने-वाली वृद्धि को दूर करने के लिये भगवान् का मस्त गजराज के समान पराक्रमी, यह विशेषण है । वैदिक में स्त्रियों का अधिकार गही होने से और विचार करने पर भगवान् पर मन के मोहित होने में कोई दोष न होने से ऐसा करने में केवल लौकिक भय ही रुकावट-बाधक बन रहा था, इस भय की निवृत्ति के लिये ही भगवान् को उन्मत्त गजराज की उपमा दी गई है । जैसे मस्त हाथी अपने कार्य में किसी का विचार न करके जोकिक अलौकिक उपायो से (जैसे वने वंसे ही) अपने कार्य को सिद्ध करता है और अपने जाति के दूसरे विधनकर्ता हाथियों को द्वारा-पराजित-करके अपनी शारी-हथिनियों के साथ विलास करना रूप-प्रथा को पूरी करता है, वैसे ही भगवान् मस्त गजराज के समान पराक्रम वाले है । इसलिये इस कथन से उन स्त्रियों को भगवान् के शरण में-आश्रय में-चले जाने पर किसी प्रकार का भी भय नहीं है, यह सूचित किया है ।

भगवान् उन स्त्रियों के मन को अपनी दृष्टि द्वारा ग्रहण कर लेते, क्योंकि दर्शन के समय जबकी दूसरी इन्द्रिया तो काम कर ही नहीं रही थीं और दृष्टि चंचल है । इसलिये दृष्टि के दूसरी जगह पर चले जाने पर दृष्टि के द्वारा मन का ग्रहण कर लेना निश्चय रूप से कैसे हो सकता है ? ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि उनकी दृष्टियों-नेत्रों-को भगवान् श्री लक्ष्मी के रमण रूप से उत्सव दे रहे थे । उत्सव में आतक्त हुए व्यक्ति को उत्सव के अतिरिक्त अपने सर्वस्व के हरण कर लेने तक का किसी भी पदार्थ का भान नहीं रहता है । लक्ष्मी तो सभी चंचलों में सबसे अधिक चंचल है । ऐसी लक्ष्मी को भी भगवान् एकमात्र अपने में ही आतक्त कर लेते हैं, तो फिर अन्य स्त्री की अपने में आसक्ति-(प्रीति)व्यों न करें । अर्थात् अवश्य ही कर देते हैं, इसलिये उनके मन का हर लेना तो सहज ही सिद्ध हो जाता है । "श्रीरमणात्मन" इस आत्मन् (रूप) शब्द से वह सूचित किया है कि उन स्त्रियों की दृष्टियों की भगवान् में आसक्ति होना आवश्यक हो था । वे अपनी दृष्टियों को किसी दूसरे पर डाल ही नहीं सकती थीं । ॥२७॥

श्लोक—दृष्ट्वा मुहुः श्रुतमनुद्भुतचेतसस्तं तत्प्रेक्षणोत्सितसुखोत्सृज्यमानः ।

आनन्दमूर्तिमुपगृह्य दंशात्मलब्धं हृष्यत्वंचो जहुरनन्तरिन्दमाधिम् । २८॥

श्लोकार्थ—हे अरिन्दम(शत्रुओं का दमन करने वाले)राजन्! बार बार श्रीकृष्ण की लीलाओं और चरितों को सुनने से पुर नारियों के सौभाग्य का उदय हुआ । उन्होंने श्रीकृष्ण के दर्शन करके अपने नेत्रों को कृतार्थ किया । भगवान् ने भी दया

किया । नेह दाग हृदय में गह्रेंवा हुई श्रीकृष्ण की आनन्दमयी मूर्ति को हृदय से लगा कर वे पुर नारियों को विरह की व्यथा से मुक्त हो गई और परम आनन्द प्राप्त होने में उनके धराने में रोमाञ्च हो आया ॥२८॥

सुबोधनी—ननु भगवान्प्रविष्टमार्गो नास्तीति मनः कथं गृहीतव्यमित्यादिब्रूमाह दृष्टुं यः आत्मानं साकारं ताभ्यो दत्त्वा तामा मनो गृहीत्वान् भगवत्स्वरूपग्रहणं तासां प्रकारमाह दृष्टुं इति, मुहुः पूर्व बारबार श्रुतो यो भगवान् सा इदानीं श्रुः, ततः प्रथमं चक्षुः प्रीतिरुत्था श्रवणव्यतिरेकेण प्रीतिर्न भवतीति, अन्यथा हृतस्य एवोत्पद्यते न प्रीतिः, सर्वबोधिकप्रीतिगिद्धचर्थं मुहुः श्रवणमपेक्ष्यते, ततस्तासां चित्ताशङ्कमाह श्रुतुतचेतस इति, दर्शनमनुदृतं चित्तं यासाम्, अत एव ध्रियभाणमपि स्वभावादिभिर्न स्थितम्, तस्मिन्, हतगनस तेन चित्तप्रतिबन्धकं मनोऽपि नास्ति प्रत्युत्तानुगुणमेवेति, तथाप्यपुनस्कृताः महान्तं ग्रहीन्मसमर्था इति पुरस्कारमाह तस्य प्रेक्षणपूर्वकं यदुत्तिष्ठतगूढंस्मितं सर्वप्रपञ्चाद् अधिकरत तद्विस्मारकं च, सैव सुधामिष्टवाय, स्मितं अलौकिकभावाय प्रेक्षणमिति द्वयं गितितममृततुल्यं भवति, आभासैरप्युपगोयते प्रकृतोपयोगाय, तथा यदुत्क्षणं सेचनं तेन लब्धो मानो याभिः, लताप्रारताः अमृतासिक्ताः भगवतोप्यानन्दरूपं फलं

फलित्व्यन्तीति, ततः सम्माननां प्राप्य आनन्दानुभवे योग्याः सत्याः भावलक्षणं वा ज्ञानं प्राप्य तदगनोदनार्थमिव समागतं भगवन्तं स्वतः पुरुषार्थरूपगानन्दरूपा मूर्तियस्येति, उपगुह्य अन्तरात्मना चित्तेन च समालिङ्ग्यान्तः पूर्णानन्दा जाताः, भगवत्प्रविष्टमार्गमाह दृष्ट्वा आत्मलक्ष्यमिति, दृष्टिद्वारा ज्ञानद्वारा च आत्मन्यतन्त्रत्वेन वा लब्धं, मनोन्तः पूर्णानन्दाः बहिरपि न प्रकटितवत्य इत्याह हृष्यत्वच इति, सर्वाङ्गेषु रोमाञ्चयुक्ताः, ततः पूर्णानन्दोऽप्य जाता इत्याह अगन्तभाधि जट्टरिति, भगवान्दर्शनाभिर्न प्राप्त इति पूर्णं मनःपीडा स्थिता, प्राप्तेऽपि भगवति यावन् निम्नप्राप्तो भगवान् न जायते यावद् वा नान्तः प्रविश्य स्थिरो भवति तावद् भूतभविष्यन्कालयोः भगवत्सम्बन्धाभावचिन्ता न गच्छतीति, अधुनान्तः प्रविष्टे भगवति तेनैव पूर्णाः मनःपीडायाः स्थानाभावात् तां जट्टः, अन्यथा नित्यमनोरथः क्षणमात्रदृष्टे न सिद्ध्यत्, अरिन्दमेति सम्बोधनं लौकिकालौकिकतुल्यतया स्त्रीपुंससङ्ग इति लौकिकभावेन कामादिर्भवेदिति तत्रादृत्यर्थं श्रीन् कामादीन् दगयति ॥२८॥

व्याख्यान्य—भगवान्-अविलष्टकर्मा-बलेश के बिना कर्म करने वाले हैं । उन्होंने उन पुरनारियों के हृदयों को कैसे हर लिया ? इसका उत्तर इस 'दृष्ट्वा मुहुः' श्लोक से देते हैं । भगवान् ने अपने कर्मों सहित स्वयं को उनको देकर उनके मन को ले लिया । पुर नारियों ने भगवान् के स्वरूप को जिस प्रकार से ग्रहण किया, उस प्रकार को इस श्लोक से बताते हैं । पहले जिनको बार बार सुना था, उन भगवान् के दर्शन किए । इस प्रकार पहले नेत्रों की प्रीति कही । सुनने के दिना प्रीति नहीं होती है, क्योंकि पहले नहीं सुना हुआ नवीन पदार्थ यदि देखने में आता है, तो उसमें अद्भुत रस ही उत्पन्न होता है, (उसमें) प्रीति उत्पन्न नहीं होती है । सबसे अधिक प्रीति होने में तो बार बार श्रवण करने की आवश्यकता होती है ।

भगवान् के दर्शन करते ही उनके चित्त संसार के बन्धनों से मुक्त होकर भगवान् के पीछे दीड़ (ने लग) गए । स्वभाव आदि के रोकने पर भी नहीं रुके । चित्त उन मन के हरने-भुराने-बाँधे के-सा-

श्लोकार्थ—महर्षि पर चढ़ाई हुई मनीषमत्त उन अश्वलाशो के कमल से नेत्र प्रसन्नता से खिल उठे और वे श्रीकृष्ण और बलदेव पर पुष्पों की वर्षा करने लगे ॥२६॥

सुवोधिनी—नयः पूर्णमनोरथानां वरदानाह प्रासादशिखराखटा इति । यवानां कृत्यं पुष्पवृष्टिः एतास्तु देवरूपा जाता अन्तः पूर्णमृतत्वात् । बहिरपि देवतुल्यत्व जानमिव्याह प्रासादशिखरेषु समारूढाः विमानेष्विव स्थिताः । अग्निमितत्वसिद्धयर्थमाह प्रीत्योत्फुल्लहस इति । स्नेहेन कृत्वा निनिगेषा । धिकमितनयना एव स्थिताः । अबलाः स्वभावतः गौन्दर्यमुन्नाः । अतः सर्वथा देवतुल्याः सीमनस्थं पुष्पस्तम्भभ्यवर्द्धनं निवृत्ते स्थिताः ।	वहपुष्प वर्षणे अतिकमजङ्गया कथं न भीता जाता इति चेत् तत्राह प्रमदा इति । प्रकृष्टो मदः कामात्मको यासु तदा आविर्भूतकामाः विचाररहिता जाता इत्यर्थः किञ्च, पुष्पवृष्ट्या न भगवतः काचित् अनुपपत्तिरिति नामविशेषमाह बलो बलभद्र बलाधिक्यादेव, केशवस्तु ब्रह्मेशयोः सुखदातेत सर्वदा पुष्पवृष्टिमनुभवति, मत्वर्थीये च वप्रत्यये पुष्पाणां केशेषु स्थापनं सर्वदेति नातिकमजङ्गया ॥२६॥
---	---

व्याख्या—अपने मनोरथ पूर्ण हो जाने पर उन पुरवामिनियों ने जो कुछ कार्य आने किया, उसका वर्णन इस 'प्रासादशिखराखटाः' श्लोक से करते हैं । पुष्पों की वर्षा करना देवताओं का कार्य है । यहाँ भगवान् पर पुष्प वरसानेवाली ये स्त्रियाँ भी -हृदय अमृत से भरपूर होने के कारण- देव रूप हो गईं । वे बड़े ऊँचे महलों पर चढ़ी हुई होने से विमानों पर बैठें हुईं तो दिव्याई दी । इसलिए वे बाहर भी देवता रूप हो गईं । देवता जैसे पलक नहीं गारते, वैसे ही ये स्त्रियाँ भी स्नेह से निगेष रहित-खुले नेत्र वाली-ही रह गईं । (अबलाः) स्वाभाविक गुन्दरता से युक्त वे सब प्रकार से देवता जैसी हो कर उत्तम उत्तम पुष्पों की वर्षा करना लगीं ।

पास रहनेवाली उनके मन में बहुत सारे पुष्पों के वरसाने पर अपराध की शङ्का क्यों नहीं हुई ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वे प्रमदा थीं, उनका कामात्मक मद प्रकट हो रहा था, इस कारण से वे विचार गून्ध हो गई थी, इसलिए अपने अपराध को नहीं सोच सकीं और इस पुष्प वर्षा से भगवान् की काई हानि-अड़चन भी नहीं हुई थी । इसलिए (यह प्रदर्शित करने के लिए) उनके विशेष नामों को कहते हैं । बलभद्रजी जिनको बल की अधिकता के कारण बल ही कहते हैं तथा केशव तो (क) ब्रह्मा (ईश) शिव दोनों को (व) अमृत तथा सुख देनेवाले हैं, जो सदा ही पुष्पों की वर्षा का अनुभव करते हैं अथवा केश शब्द से मत्वर्थ व प्रत्यय होने के कारण केशवाले तथा केशों पर सदा पुष्पों को धारण करनेवाले होने से दोनों पर इस पुष्पवृष्टि से कोई असुविधा होने का भय नहीं था ॥२६॥

श्लोक—दध्यक्षतः सोदपात्रैः स्वगन्धैरभ्युपायनैः ।

तावानर्चुः प्रमुदितास्तत्र तत्र द्विजातयः ॥३०॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण आदि द्विजातियों ने भी स्थान स्थान पर दही, अक्षत, जल पात्र, माला, चन्दन आदि सामग्रियों से प्रसन्नतापूर्वक दोनों भाईयों का पूजन किया ॥३०॥



सुबोधिनी—एवं स्त्रीणां सम्मानन विरूप्य
ब्राह्मणानां सम्बन्धि सम्माननमाह दध्यक्षतेरिति,
लोके स्त्रियः श्लोविके द्विजा इति द्वयमेव जगद-
न्तं, तेन भूयितो भगवान् निरूप्यते, देशाचारात्
तिलकार्थं दधि अक्षताश्च, तैः प्रथमतः अर्चन्तः, ततः
पादप्रक्षालनाद्यर्थं उदपात्राणि, बहुवचनमनेकधा
जलोपयोग इति नानाविधजलानि निरूपयति, ततः
उत्तमाः खजः, ततो गन्धः चन्दनकृतो धूपकृतश्च,

ततः अम्बुपायनानि मिष्टान्नादीनि फलादीनि वा,
एव चतुर्विधः साधनैः तौ रामकृष्णौ आनर्च्यः,
ततः प्रमुदिता अपि जाताः, द्विजातीनां पर्ययमा-
नेपि कचिदेव सुखं भवतीति पश्चात् प्रमोद उक्तः,
तत्र तत्रेति, ब्राह्मणानां सम्मदो निवारितः क्रम-
पूजा चाक्ता, द्विजातय इति सर्वे साधारण्येन
पूजार्थं प्रवृत्ता इति तेषामपि निरोध उक्तः ॥३०॥

व्याख्यान—इस प्रकार पुरवासिनी स्त्रियों के द्वारा किए गए सम्मान का वर्णन कर के
'दध्यक्षतेः' श्लोक से ब्राह्मणों के द्वारा किए सत्कार को कहते हैं। लौकिक में स्त्रियाँ और अलौकिक
में ब्राह्मण जगत् में दोनों ही रत्न हैं। इन दोनों के द्वारा आदर गत्कार तथा पूजा (विभूषित) किए
गए भगवान् का निरूपण किया जाता है। (१) देश की प्रथा के अनुसार दही और अक्षतों-जो तिलक
के लिए लाए गए थे-भे भगवान् के पहले तिलक फिर पूजन किया और (२) पाँच धुलाने के लिए जल
के पात्र लाए गए। जल का बहुत कार्यों में अनेक प्रकार से उपयोग होता है। इसलिए जल के पात्रों
में बहुवचन दिया गया है। (३) बड़ी सुन्दर मालाएँ, चन्दन, धूप आदि सुगन्धी पदार्थ, (४) भौंति
भौंति की भेंटें, मिष्ठान और फल आदि, इस प्रकार चार भौंति के साधनों (पदार्थों) से उन ब्राह्मणों
ने श्रीकृष्ण बलदेव दोनों का पूजन किया और वे अत्यन्त प्रसन्न भी हुए। ब्राह्मणों को अन्त में प्रस-
न्नता कहीं कहीं होनी है। इसलिए उनका सुखी होना पाँछे-पूजा के बाद-कहा गया है। जगह जगह
पर पूजा की गई। अर्थात् भोड़ न कर के सभी ने बारी बारी से पूजा कर ली। सारे ब्राह्मणों का
सामान्य रूप से पूजा करने में लग जाने के वर्णन से उनका भी निरोध कहा गया है ॥३०॥

श्लोक—ऊचुः पौरा अहो गोप्यस्तपः किमचरन् महत् ।

या ह्येतावनुपश्यन्ति नरलोकमहोत्सवौ ॥३१॥

श्लोकार्थ—पुर नारियाँ परस्पर में कहने लगों—अहो! गोपियों ने पूर्व जन्म में
कौन सी ऐसी भारी तपस्या की थी, जो इस मनुष्य लोक में महोत्सव रूप इन दोनों
को वे हर घड़ी देखती ही रहती हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—एव कायिकं मानसिकं सम्मान
नमुक्त्वा वाचनिकमाह ऊचुरिति, सर्व एव पुर-
वासिनः सकृत् भगवन्तं दृष्ट्वा अमितानन्दमनुभूय
विचारितवन्तः, ये सर्वदेव भगवन्तं पश्यन्ति तेषां
महद्भाग्यं तद्भाग्यं स्मृत्वा आश्चर्याविष्टा आहुः
अहो इति, गोप्यस्तपः किमचरन्ति, भगवन्तं
दृष्टुं स्त्रिय एव जानन्तीति तासां प्रशंसा, तपसैव

सर्वं सिध्यतीति ज्ञातेस्माभिरपि तद् कतंव्यमिति,
यत्र साधनेपि तत्रत्यानामिच्छा तत्र फले किं वक्त-
व्यमिति भावः, भगवद्दर्शनस्योत्कृष्टत्वायाह नर-
लोकमहोत्सवाविति, उत्सवः कदाचिदेव भवति
महोत्सवस्तु ततोपि दुर्लभः तथापि सर्वेषामुत्सवो-
त्तिदुर्लभः, एतावन्ति प्रदशनेनाद्भुतत्वे प्रमाण-
मुक्तम् ॥३१॥



व्याख्यान्य—इस प्रकार काया और मन के द्वारा सम्मान का वर्णन करके इस 'ऊचुः पौरा' श्लोक से वाणी के द्वारा किए (भगवान् के) सम्मान का निरूपण करते हैं। मथुरावासी सारे ही नर नारी भगवान् का एक बार दर्शन करके अपार आनन्द का अनुभव कर विचार करने लगे कि जो सदा ही भगवान् के दर्शन करते हैं, उनका तो बड़ा भाग्य है। प्रतिदिन-सदैव दर्शन करने वाले बड़-भागियों के भाग्य का स्मरण करके वे सब आश्चर्य मग्न होकर कहने लगे कि अहो! गोपीजनो ने कौन सी तपस्या की है? भगवान् का दर्शन करना तो स्थिर्या ही जानती है। इस प्रकार से उनकी प्रशंसा की है। तपस्या से ही सब प्राप्त होता है, ऐसा जान कर हमें भी तपस्या करनी चाहिए। इस प्रकार जब उन पुरवासियों की साधना-तपस्या-करने में भी इच्छा हुई, तो फल की प्राप्ति में भी इच्छा होना निश्चित ही है, यह तात्पर्य है। भगवान् का दर्शन सर्वोत्तम है, क्योंकि वह तो मृत्युलोक में महोत्सव रूप है। उत्सव तो कभी कभी होता है और महोत्सव तो उत्सव से भी दुर्लभ होता है, किन्तु यह तो सब ही का उत्सव होने के कारण अत्यन्त ही दुर्लभ है। एतो-इन दोनों राम कृष्ण को-यों सब को दिखलाकर पुरवासियों ने उनकी अद्भुतता में प्रमाण-प्रदर्शित किया-दिया है ॥३१॥

श्लोक—रजकं कश्चिदायान्तं रङ्गकारं गदाग्रजः :

दृष्ट्वायाचत वासांसि धीतान्यत्युत्तमानि च ॥३२॥

श्लोकांथ—जिधर से श्रीकृष्ण जा रहे थे, उसी रास्ते से कोई घोबी आ रहा था। वह कंस का घोबी था, जो उसके (कंस के) कपड़ों को धोता था और रङ्गता भी था। उसे देख कर गदाग्रज भगवान् ने उससे अति उत्तम और धुले हुए वस्त्र माँगे ॥३२॥

सुबोधिनी—एवं कायवाङ्मनोभिः सम्माननं निरूप्य ये सम्माननं न कुर्वन्ति ये वा कुर्वन्ति उभयोः फलं दर्शयितुं हीनजातीयानां अतिक्रमे नाशो निरूप्यते रजकमिति सप्तभिः, हीनः भगवन्तं न मन्यत इति ज्ञापयितुमेवं कथा, अन्यथा भगवान् हीनं न कुर्यात्, अन्यजेषु मुख्यो रजकः, 'रजक-श्रमकारश्चे'त्यादिवाक्यात्, अत एव रामावतारे रजकस्याधिक्षेपवाक्यं, अत एव इयं जातिरेव दुष्टा स वा अयं, कश्चिदिति महान्तं साभरणभुक्त-मवख्युक्तमायान्तं स्वसम्मुखं, रजका द्विविधाः केवलमलशोधकाः रङ्गकाश्च, तत्रायं रङ्गक इत्याह रङ्गकारमिति, ननु भगवान् राजवस्त्राणि किमिति

प्रार्थयति तत्राह गदाग्रज इति, गदो रोहिणीपुत्रो द्वितीयः, सोऽग्रे भविता, तस्मादग्रे जातो भगवान्, स चोत्पादनीयः, तत् कंसवधाभावे न भवतीति कंसे मारिते तानि वस्त्राणि स्वस्यैव, याचनं तु तं मेलयितुं, यथा पुरवासिनः तथा तद्भूत्या अपि चेत् न मारणीया इति, केचित्तु गदीयं भविष्यतीति मारणार्थं तथोक्तवानित्याहुः कृपादृष्टिस्तस्मिन् पतितेति तदुद्धरणार्थं याचितवान् तदाह दृष्ट्वायाचतेति, ननु विद्यमानेषु वस्त्रेषु किमिति याचितवास्तत्राह धीतानीति, साम्प्रतमेव प्रक्षालितानि स्वरूपतोऽप्युत्तमानि, चकारात् नानाविधानि ॥३२॥

व्याख्यान्य—इस प्रकार काया, वाणी और मन से किये गए भगवान् के सम्मान का वर्णन करने वालों तथा सम्मान न करने वालों को प्राप्त होने वाले फल को दिखाने के लिये 'रजक' इस श्लोक से आरम्भ करके सात श्लोकों से यह निरूपण करते हैं कि हीन जातिवाला यदि भगवान्

का अपमान करता है तो उसका नाश हो जाता है। हीन मनुष्य भगवान् की नहीं मानते हैं, यह धतलाने के लिये इस कथा का वर्णन किया है। हीन पुरुष यदि भगवान् का सम्मान करें तो भगवान् उनको हीन जाति में जन्म नहीं दे। धोबी और मोची 'रजकश्चर्मकारश्च' इस वाक्य के अनुसार अन्त्यजों में धोबी मुख्य है। इसी से रामावतार में धोबी ने ही अपमान कारक वचन कहे थे। इस-लिये यह जाति ही दुष्ट है अथवा रामावतार में अपमान जनक वाक्य बोलनेवाला धोबी ही यह (धोबी) था। भगवान् ने वस्त्र तथा आभूषणों से सुसज्जित किसी धोबी को उसी मार्ग से सामने आता हुआ देखा। धोबी दो काम करते है (१) मैले कपड़े धोना और (२) कपड़े रगना। उनमें यह रगरेज-रंगकार-था।

भगवान् ने उससे राजा के वस्त्र क्यों मांगे? इस के उत्तर में कहते है कि भगवान् गदाग्रज हैं। गद नाम का रोहणीजी का दूसरा पुत्र है, जिसका जन्म आगे होगा। इसलिये भगवान् गद से पहले प्रकट हुए है और अब गद को उत्पन्न करना है, जो कस का वध हुए बिना नहीं हो सकता है इसलिये कंस को मार दिये जाने के बाद ही ये सारे वस्त्र भगवान् के ही हैं। उससे याचना तो इस बात की जांच के लिये की कि साधारण पुरवासियों की तरह कंस के सेवक भी मारने योग्य नहीं हैं अथवा मार देने योग्य हैं। कितने ही टीकाकार तो ऐसा कहते है कि यह रगरेज ही आगे गद रूप से जन्म लेगा। इसलिये उसको मारने के अभिप्राय से ही उससे वस्त्र मांगे थे। उसके ऊपर भगवान् की कृपादृष्टि हुई और उसका उद्धार करने के लिये भगवान् ने उससे वस्त्र (उस को देख कर) मांगे।

भगवान् के पास वस्त्र तो थे ही, किन्तु फिर भी वस्त्र मांगने का कारण यह था कि उसके पास वे वस्त्र तत्काल धोये हुए उत्तम और रंग विरगे (भांति भांति के) थे ॥३२॥

श्लोक—देहावयोः समुचितान्यङ्ग वासांसि चाहंतोः ।

भविष्यति परं श्रेयो दातुस्ते नात्र संशयः ॥३३॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण ने कहा—हे सज्जन धोबी! हमारे अङ्गों में ठीक हो, वे वस्त्र हमारे लिए दे दो। तेरे पास के ये कपड़े हमारे ही पहनने योग्य हैं। हम को वस्त्र देने से अवश्य तेरा कल्याण होगा, इसमें सन्देह नहीं है ॥३३॥

सुबोधिनी—याचनमाह देहावयोरिति, गोपालेभ्यः पश्चात् देयमिति सङ्ख्योच्चादावयोरेवेत्युक्तम्, समुचितानि मह्यं पोतप्रधानानि वलभद्राय नीलप्रधानानि, अङ्गं इति सम्बोधनं तरिमन् स्नेहगूच-वगतिक्रमाभावाच्च, वासांसि परिधानयोग्यानि, चकारात् यदि तवाभरणानि भवन्ति, गोपालेभ्योपि वा, न ज्ञायत इति चेत् तत्राह अहंतोरिति,

आवां उत्तमवस्त्राण्यहंतो, दाने किं स्यादत आह भविष्यति परं श्रेय इति, अन्येभ्यो दानापेक्षयापि मह्यं दाने परमधिकमेव श्रेयो भविष्यति परं दातुरेव ते न त्वदाने, अन्यथा भगवद्वाक्यमन्यथा स्यात्, दानपक्षे पश्चात् राजत्वे वृत्तोपि दोषान्तर-शङ्कया श्रेयो न भवेदिति शङ्का वारयति नात्र संशय इति ॥३३॥

व्याख्यान्य 'देह्याययोः' इस श्लोक से वस्त्र मांगने का प्रकार का वर्णन करते हैं। नभो गोपालों को भी बाद में वस्त्र देना है, किन्तु प्रारम्भ में गङ्गोच्चयश दोनों के लिये ही वस्त्र मांगे हैं। हम दोनों को हमारे योग्य अर्थात् मेरे (श्रीकृष्ण के) लिये स्वप्न कर पीले और बलदेवजी के लिये मुख्यरूप से नीले वस्त्र देओ। हे अग! (हे सत्पुरुष!) यह मावोधन उस धोबी पर स्नेह भूचित करने के लिये तथा किसी प्रकार का दबाव नहीं है, यह बतलाने के लिये है। हमारे योग्य कपड़े, आभूषण हो तो आभूषण दो। अथवा इन गौण बालकों के लिये भी कपड़े देओ।

यदि धोबी इन को नहीं पहचानता हो तो भगवान् कहते हैं कि हम दोनों उत्तम से उत्तम वस्त्रों को पहनने के योग्य हैं। वस्त्रों के प्रदान करने से तेरा कल्याण होगा और मेरे (श्रीकृष्ण) को देगा तो बहुत बड़ा कल्याण होगा, परन्तु वस्त्र देगा तब ही कल्याण होगा, नहीं देगा तो नहीं होगा। यदि ऐसा अर्थ न हो तो भगवान् का वाक्य व्यर्थ होता है। इसका कपड़े देने पर ही कल्याण होना सम्भव है और यदि वस्त्र दे देता है तो भी राजा के वस्त्र दूसरों को दे देने के शय (अपराध) की शंका रहने पर भी कल्याण नहीं हो, इस सन्देह के (विषय में) सन्देह नहीं है, इन पदों से दूर किया है ॥३३॥

श्लोक—स याचितो भगवता परिपूर्णं सर्वतः ।

साक्षेपं रुषितः प्राह भृत्यो राजः सुदुर्मदः ॥३४॥

श्लोकार्थ—वह राजा कंस के कपड़े धोने वाला धोबी था। पूर्ण काम परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण के यों वस्त्र मांगने पर अत्यन्त घमण्डी वह राज नेवक क्रुद्ध होकर तिरस्कार करता हुआ बोला ॥३४॥

सुबोधिनी—एव व्यवहारसिद्धत्वात् तदुपकारार्थं याचनेपि कृते दुष्टो नाङ्गीकृतवानित्याह स याचित इति। अविद्यमानत्वात् याचनं व्यावर्तयति भगवानिति, समर्थस्यापि कदाचित् न भवेदिति तदर्थमाह परिपूर्णं सर्वत इति, सर्वदेशेषु सर्वकालेषु च परितः सर्वत्राणि सर्वफलानि सर्वतः पूर्णानि ततश्च तादृशाय वचनेनापि हित वक्तव्य-

मिति तत् नोक्तवानित्याह साक्षेपमिति, आक्षेप-पुत्रक रुषितः प्राह, अन्तर्द्विः तस्य दोषो निरूपितो, रोष अन्तरः साक्षेपं यथा भवतीति बाह्यः, तस्य तथात्वे हेतुमाह भृत्यो राज इति, कंसस्य भृत्यः, रवभावतोपि दुष्ट इत्याह सुदुर्मद इति, मुनरां दुष्टो यदो यस्येति ॥३४॥

व्याख्यान्य—इस प्रकार व्यवहार की रीति से उस धोबी पर उपकार करने के लिये वस्त्र मांगने पर भी उस दुष्ट ने वस्त्र देना स्वीकार नहीं किया यह इस 'स याचितो' श्लोक से कहते हैं। यह बात नहीं थी कि भगवान् के पास वस्त्र नहीं होंगे, इसलिये उससे वस्त्र मांगे हों, क्योंकि भगवान् सर्वशक्तिमान के पास कभी कोई वस्तु न हो, ऐसी शंका नहीं हो सकती है। इसी अभिप्राय से श्लोक में परिपूर्ण (सब प्रकार से पूर्ण) विशेषण है। सभी स्थानों में कालों में और सब ओर से भगवान् के पास सब फलों सहित सारे पदार्थ सदा भरपूर होते हैं। ऐसे सर्व समर्थ पुरुष का वचन मात्र से ही



हित करना चाहिये था, किन्तु उसने भगवान् को उत्तिन उतर नहीं देकर क्रोध में तिरस्कार पूर्वक कहा । उसने अपने-बोध के कारण भीतर के और तिरस्कार पूर्वक बोलकर बाहर के-दोषों को प्रकट कर दिया । वह राजा कस का तो गेयक था और स्वयं भी अत्यन्त दुष्ट, मदोन्मत था। इसलिये उसने भीतर और बाहर दोषों से भरपूर होना स्वाभाविक ही था ॥३४॥

श्लोक—ईदृशान्येव वासांसि नित्यं गिरिवनेचराः ।

परिधत्त किमुदृत्ता राजद्रव्याण्यभीप्सथ ॥३५॥

श्लोकाथ—वह दुष्ट बोला—रे पहाड़ों पर और वनों में भटकते फिरने वाले जङ्गलियों! हे उच्छृङ्खलों! क्या तुम सदा ऐसे ही वस्त्रों को पहनते रहते हो, जो आज राजा के वस्त्रों को पहनना चाहते हो? ॥३५॥

सुबोधिनी -आक्षेपमाह ईदृशान्येवेति यो हि सगीचीनवस्त्राणि परिधत्ते कदाचिदभावे याचयित्वापि परिधत्ते द्रव्यं दत्त्वा वा, तथा किं भवन्तः ईदृशान्येवात्युज्ज्वलानि नित्यं परिधत्त, तथैवेत्याशङ्कयामाह गिरिवनेचरा इति, गिरि वने च ये चरन्ति ते विद्यमानवस्त्रा अपि कुचला एव भवन्ति, नित्यं ये गिरिवनेचराः तेषामुत्तमवस्त्रपरिग्रहो व्यर्थ एव, नन्वपरिहितान्यपि ओत्सु-
 क्रान्तुव्ययाचने न राजकीयानि याच्यन्ते किन्तु साधारणानि, न त्वसाधारणान्यपि याच्यन्ते, का मर्यादेति चेत् तत्राह तर्हि किं भवन्त उदृत्ता इति, उदृग्त वृत्त मर्यादारूप येभ्यः, एतादृशोदृ-
 तता किमर्थं क्रियत इति वा, येन राजद्रव्याण्य-
 भीप्सथ, यस्तु मूर्धाभिषिक्तः तन्मात्रोपभोग्यानि पत्रप्रक्षालितानि वद्याणि, तान्यपि यतोभीप्सथ ।
 ॥३५॥

व्याख्या—इस 'ईदृशान्येव' श्लोक से उसके आक्षेप पूर्ण वाक्यों का वर्णन करते हैं, जो सदा उत्तम उत्तम वस्त्र पहनते हों, वे कभी वैसे वस्त्रों के न रहने पर औरों से मांग कर अथवा मूल्य से खरीद कर भी पहनते हैं । इसी तरह क्या आप भी नित्य अत्यन्त उज्ज्वल वस्त्र ही धारण किया करते हो ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ऐसे उत्तम वस्त्र सदा धारण कर लें, ऐसी मन में शंका करके वह स्वयं बोला कि पर्वत और वन में फिरने वाले भी तो वस्त्र तो पहनते हैं, किन्तु वे मलिन वस्त्र पहनते हैं, क्योंकि उन जंगलियों का उज्ज्वल वस्त्र धारण करना निरर्थक ही है ।

कभी नहीं पहने वस्त्रों को भी पहनने की तीव्र इच्छा किसी की होती है, तो भी वह राजा के वस्त्रों को अपने पहनने के लिये नहीं मांगा करता है । साधारण वस्त्र तो मांगे भी जा सकते हैं, किन्तु असाधारण वस्त्र (राजा के वस्त्र) नहीं मांगे जाते हैं । यह कहाँ लिखा है कि राजा के कपड़े नहीं मांगे जाते ? उसके उत्तर में वह रजक फिर पूछता है कि क्या आप लोग जंगली ही हो? मर्यादा हीन हो? जो राजा के उभोग के पदार्थों की इच्छा करते हो । देखो, मेरे घोड़े हुए वस्त्रों को तो केवल मूर्धाभिषिक्त राजा ही—जिस के मस्तक पर राज्याभिषेक होता है—धारण करता है । उन मेरे घोड़े हुए और केवल राजा के ही पहनने लायक उत्तम वस्त्रों को तुम इच्छा क्यों करते हो ? ॥३५॥



श्लोक—याताशु बालिशा सर्वं प्रार्थ्यं यदि जिजीविषा ।

बध्नन्ति त्रन्ति लुम्पन्ति हम् राजकुत्तानि वै ॥३६॥

श्लोकार्थ—अरे मूर्खों! अगर जीवित रहना चाहते हो तो वहाँ ने जल्दी भाग जाओ । देखो, तुम जैसे उन्मत्त लोगो को राजकर्मचारी बाँधते हैं, मार डालते हैं और उनका सर्वस्व हर लेते हैं ॥३६॥

सुबोधिनो—अज्ञात्वा याचितमिति चेत् तत्राह । याताश्विति, इतः शीघ्रमेव यात ग्रामान्तरं गच्छतः । यतोऽत्रत्यवृत्तान्तो न ज्ञायते भवद्भिः । हिदमाह । मैव प्रार्थयामिति, बाधकमाह । यदि जिजीविषेति । यतः प्रार्थयितारं राजकुत्तानि मर्यादार्य युक्ता राजभटाः अल्पापराधे बध्नन्ति, महत्यपराधे गृह-

स्थासम्पत्ते तमेव ध्नन्ति, अन्यथा लुम्पन्ति सर्व-
स्यलुण्ठन कुर्वन्ति, तथाकरणे दोषमाह । हम्पिति ।
अतो यावत् दृष्टतां न जानन्ति तानदन्यत्र यातेति
रोषवाक्यम् । एवं सर्वसाधारणं भगवन्त ज्ञात्वा
बहुवचनेन गवां प्रत्युक्तवान् ॥३६॥

व्याख्यान—यदि यह कहा जाय कि हमने बिना जाने राजा के कपड़े मांगे हैं, तो वह फिर कहता है कि 'याताशु' यहाँ से शीघ्र कहीं दूसरे गांव चले जाओ. यहाँ का वृत्तान्त तुम लोग नहीं जानते हो । इसलिये तुम्हारे हित की बात कहता है कि यदि जीना चाहते हो तो उस प्रकार आगे राजा के उपभोग में आने वाली उत्तम वस्तुओं को मत माँगना, क्योंकि ऐसे माँगने वाले को जनता को मर्यादा का पालन कराने के काम में नियुक्त किये हुए राजसेवक (सैनिक) थोड़े में अपराध के कारण बांध लेते हैं । गृहस्थियों के द्वारा निन्दा किया गया ऐसा बड़ा अपराध करने पर अपराधी को ही मार डालते हैं और साधारण सा अपराध हो जाने पर भी उसके सर्वस्व लूट लेते हैं । तुम तो बड़े उद्धत दिखाई देते हो । इसलिये इस तुम्हारी उद्धतता को सब लोग न जान सके, इसके पहले ही यहाँ से शीघ्र ही कहीं चले जाओ, यह उसने क्रोध में अशर कहा । उसने भगवान् को भी सब गोपों की तरह साधारण जान कर बहुवचन से सबसे वहाँ से शीघ्र कहीं अन्यत्र चले जाने को कहा ॥३६॥

श्लोक—एवं विकृत्यमानस्य कुपितो देवकीसुतः ।

रजकस्य करग्रेण शिरः कायादपातयत् ॥३७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार छोटे मुँह बड़ी बातें करने वाले उस धोबी को भगवान् ने कुछ कोप से एक तमाचा ऐसा मारा कि जिससे उसका सिर घड़ से अलग हो गया ॥३७॥

सुबोधिनो—तत्र बलभद्राक्षेपं असहमानः अग्रे । भगवन्माहात्म्यमज्ञात्वा स्वोत्कर्षभेदं वदतीति, । कार्यमपि कर्तव्यमिति तं मारितवानित्याह । एव-
मिति, विशेषेण कृत्यमानस्य असम्यग्भाषिणः । अत एव कुपितः । किञ्च देवकीसुत इति, देवकी तु
बद्धा तस्यां कृपया कंसो मारणीय इति तं मारि-

तवान्, अथवा, मानुषयो न मायणीय इति तं
ज्ञापयितुं स्वस्थं पीरुप्राकट्यार्थं रजकं भारित-
वान्; करधरेण चपेटेन नखेन वा, केचित् अष्ट
गुदर्शनं कल्पयन्ति, तस्य मूलमयं दोष इति शिर

कायात् दूरीकृतवान् उभावोः सम्बन्धो न युक्त
इति, तत्प्रक्षालितानि हि भगवता परिशोधनीति ।
॥३७॥

व्याख्यान—तब बलदेवजी के अपमान को गहन नहीं करने वाले और भविष्य में प्रागे भी
कोई काम करना का उच्छ्वास रखने वाले भगवान् ने उसको मार डाला, यह इस 'एवं विकल्पमानस्य'
श्लोक से कहते हैं। वह धोबी भगवान् के माहात्म्य को न जान कर केवल प्रपनी ही गड़ाई की डींग
हांक रहा था और वे सिर पर की असम्बद्ध बातें बक रहा था। तब भगवान् देवकीनन्दन ने कुछ
क्रोध करके उसको मार डाला, क्योंकि कंस के वधन में पड़ी हुई देवकीजी पर कृपा करके कंस का
वध करना है। कम भगवान् का भागा था और मामा को मारना उचित नहीं होता। इसलिये भी
भगवान् ने कंस को प्रपना पराक्रम दिलाने-प्रपना पुरुषार्थ प्रकट करने-के लिये रजक को थपड़-तमाचे-
तथा हाथ के नाखून से मार डाला। कई टीकाकार अष्ट गुदर्शन वक्र में उसको मार देने को कल्पना
करते हैं। मुख से अनुचित प्रलाप करने के कारण उसका मुख ही दोषोद्घुष्ट-या। इसलिये भगवान्
ने उसके सिर को काया से अलग कर दिया, क्योंकि उसके ऐसे दोषी सिर का और काया का
सम्बन्ध उचित नहीं था ॥३७॥

श्लोक—तस्यानुजीविनः सर्वे वास कोशान् विसृज्य वै ।

दुद्रुवुः सर्वतो मार्गं वासांति जगृहेच्युतः ॥३८॥

श्लोकार्थ—तब उस धोबी के साथी-अन्य धोबी-कपड़ों की गठरियों को वहीं पर
छोड़ कर चारों तरफ से रास्तों में अपने अपने प्राण बचाने के लिए भाग-दौड़- गए
और अच्युत भगवान् ने उन वस्त्रों को ले लिया ॥३८॥

सुबोधिनी—ततोऽप्ये ग्रहण्यगता अपि पला-
यिता इत्याह तस्यानुजीविन इति, तस्य मुख्यरज-
कस्य अनुजीविनः सेवकाः सर्वे एव रजकाः अत-
स्ते वासः कोशान् वस्त्रभारान् भण्डाररूपान् विसृ-
ज्य वै निश्चयेन पुनः प्राप्तिप्रत्याशां दूरीकृत्य यथा-
यथं दुद्रुवुः सर्वत एव मार्गो यथा भवति तथा।

भीतपलायने सर्वत्रैव मार्गो भवतीति, ततो भग-
वान् अप्रतिहतः स्वयं वासांसि जगृहे, क्षत्रियाणा-
मयं धर्मः हतस्य शत्रोः पदार्थाः स्वस्यैवेति, व्यु-
त्तिराहित्यगत्र कोलाहलादिना भयशङ्काव्यावृत्त्य-
र्यम् ॥३८॥

व्याख्यान—उस धोबी के धोवे हुए वस्त्रों को भगवान् को धारण करना-पढ़िना-है। इसलिये
उसको मार डाला। शेष धोबी प्राण बचाकर भाग निकले, यह इस 'तस्यानुजीविना' श्लोक से कहते हैं।
उस मुख्य धोबी के सेवक बाकी के सारे धोबी कपड़ों की भण्डार रूप गठरियों को फिर मिलने की आशा
को छोड़ कर जहां की तहां डाल कर ज्यों-त्यों चारों ओर दिशाओं में प्राण बचाने के लिये दौड़ पड़े,
क्योंकि डर कर भागने वालों के लिये सभी तरफ रास्ता हो जाता है, किसी भी बाजू से प्राण बचाने भाग
निकलता है, तब अच्युत भगवान् ने बिना किसी रोक टोक के वे सभी वस्त्र ले लिये, क्योंकि क्षत्रियों

का यह धर्म है कि मारे गये शत्रु का सारा वस्तु विजेता की होती है। अच्युत-किसी से भी नहीं रूकने वाले-भगवान् को उस कोलाहल से जरा भी भय नहीं हुआ ॥३८॥

श्लोक—वसित्वात्मप्रिये वस्त्रे कृष्णः सङ्खर्षणस्तथा ।

शेषाण्यदत्त गोपेभ्यो विसृज्य भुवि कानिचित् ॥३९॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण और बलदेवजी ने उनमें से मनमाने वस्त्र स्वयं धारण कर लिये। इसके बाद गोपों को भी उत्तम उत्तम वस्त्र बाँट दिए और बाक़ बचे वस्त्रों को वहीं पृथ्वी पर फेंक कर आगे बढ़े ॥३९॥

सुबोधिनी—अत एव निर्भयव्यवहारमाह वसित्वात्मप्रिये वस्त्रे इति, आत्मप्रिये पीते, सङ्खर्षणोपि तथा, तथा शेषाणि पुनर्वस्त्राणि गोपेभ्यः अदत्त भगवान् सङ्खर्षणश्च तेषां स्वतो ग्रहणमनुचितमिति, मारे उपरि यदि अनभिप्रेतं भवेत् तानि भुवि विसृज्य उत्तमान्येव दत्तवान्, प्रायेण बहून्पेव गृहीतानि त्यक्तानि तु बहूनि, वस्त्रे इति द्विवचन जात्याभिप्रायमुभयोर्वैजात्येन वस्त्रजातीयाः प्रिया इति न तु वस्त्रद्वयमेव, एतदर्थमेवावतीर्ण इति कृष्णस्योचित परिधानं, सन्यक् कर्षणीति द्रष्टृदृश्ययोर्मेलक इति सङ्खर्षणस्यापि परिधानमुचितम् ॥३९॥

व्याख्यान—इसीलिये इस 'वसित्वा' श्लोक से भगवान् के निःशंक व्यवहार का वर्णन करते हैं। तब भगवान् श्रीकृष्ण और बलदेवजी ने अपने अपने मन चाहे पीले और नीले वस्त्र स्वयं पहन लिये फिर बाक़ी के वस्त्रों में से श्रीकृष्ण बलदेवजी ने यथा योग्य साथ के सखा गोप जनों को बाँट दिये, क्योंकि उनका अपने हाथों से वस्त्र लेना अनुचित था। उनमें से गारी वस्त्रों को जिनको पहनने में शरीर में बोझा लगे पृथ्वी पर फेंक दिये, केवल अच्छे उत्तमोत्तम वस्त्र ही गोप लोगों में बाँट दिये। उन में से बहुत से वस्त्रों को लेलिया तथा बहुत सारे छोड़ दिये। वस्त्र जाति के पदार्थ दोनों श्रीकृष्ण और बलदेवजी को अलग अलग रंग के पीले तथा नीले-वस्त्र प्यारे थे इसलिये जाति के अभिप्राय से श्लोक में 'वस्त्रे' द्विवचन का प्रयोग किया गया है, किन्तु केवल दो वस्त्र ही दोनों ने पहने हों ऐसा नहीं है। श्रीकृष्ण (सदानन्द) का उत्तमोत्तम वस्त्र धारण करना उचित ही है, क्योंकि आपका अवतार सबको आनन्द देने के लिये ही हुआ है और संकर्षण-सं-अच्छी तरह-कषण-आकर्षण करने वाले अर्थात् देखने वालों का दर्शनीय पदार्थों से मेल कराने वाले हैं-अपने पहने हुए वस्त्र गूँथनों में दर्श करने वालों को आनन्द देते हैं। इसलिये बलदेवजी ने भी सबसे उत्तम वस्त्र धारण किये, यह भी उचित ही है ॥३९॥

श्लोक—ततस्तु वायकः प्रीतस्तयोर्वेषमकल्पयत् ।

विचित्रवर्णैश्च तेषां कल्पैरनुरूपतः ॥४०॥

श्लोकार्थ—आगे एक दर्जी मिला। वह श्रीकृष्ण बलदेवजी के अनूप रूप को देख

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १४० ॥

कर बहुत प्रसन्न हुआ । तब उसने कृष्ण बलदेव के पहने हुए उन छोटे बड़े वस्त्रों को काट छांट कर ठीक कर दिया ॥४०॥

सुबोधिनी—ततो यथाकथञ्चित् धन्वनार्थं प्रवृत्ती जानतस्त्वावपि गुणभावेन वायकपरितोषार्थं, तदा सन्तुष्टो वायकः वस्त्रपरिधानकारयिता यः प्रभुभ्योपि सम्यक् परिधानं कारयति स प्रीतः सन् मग्नं कार्यमेतदिति स्वकार्यं प्राप्ते सर्वोपि प्रीतो भवति, तत्राप्युत्कर्षो, तयोः रामकृष्णयोः यो वेष उचितः स्वयं पूर्वं ध्यातो वा तमकल्पयत्,

स्वयं विचार्य नानाविधवस्त्राणि गृहीत्वा कोशेभ्यः भगवतं वा पूर्णं गृहीतानि, विचित्रो वर्णो येषामिति, यस्मिन् भागे पादशो वर्ण उचितः, चलेयैस्तमवस्त्रैराकल्पैराभरणरूपैः, अनुरूपत इति यथा श्यामे यथा शुक्ले वेश उचितो भवति, एकत्रैव एकविषयक एव हिताहितसिद्धिरिति ज्ञापयितुं वायकनिरूपणम् ॥४०॥

व्याख्या—तदनन्तर तत्त्व-लोक व्यवहार को जाननेवाले भी दोनों भाई दरजी को सन्तुष्ट करने के लिये भोले भालेपन से वस्त्रों को उलटे सीधे पहनने लगे । उस समय दरजी, जो राजाओं को भी वस्त्र सुन्दर काट छांट कर के पहनानेवाला था । अपना वस्त्र पहनाने के काम का अवसर जान कर बड़ा प्रसन्न हुआ, क्योंकि अपने काम का अवसर आने पर सभी प्रसन्न होते हैं । फिर अधिकता यह है कि भगवान् राम कृष्ण का सुन्दर वेष, जिसका वह पहने ही ध्यान कर रहा था और जो उनके योग्य था, उन गठरियों में से भाँति भाँति के रंग बिरंगे वस्त्रलाकर अथवा भगवान् के द्वारा पड़ले लाये हुए, वस्त्रों को उचित रीति से जहाँ जैसा रंग फयता हो वहाँ उसी प्रकार के रंग का वस्त्र काट छांट के साथ आभूषणों की तरह सीं कर बना दिया । तात्पर्य यह है कि भगवान् के श्याम वर्ण में और बलदेवजी के श्वेत वर्ण में जिस जिस रंग के अनुकूल वस्त्र (वेष-भूषा) बनाने में बड़े सुन्दर दिखाई देते थे; उसी के अनुसार दरजी ने दोनों के मनोहर वेष की रचना कर दी ॥४०॥

श्लोक—नानालक्षणवेषाभ्यां कृष्णरामौ विरेजतुः ।

स्वलङ्कृती बालगजौ पर्वणोव सितेतरौ ॥४१॥

श्लोकार्थ—दरजी ने कपड़े के बनाए हुए रङ्ग बिरङ्गे हीरों और आभूषणों की सजावट से दोनों भाईयों के वेष को सँवार दिया । उस रङ्ग बिरङ्गे वेष में विराजमान वे दोनों ऐसे सुशोभित हुए जैसे उच्छ्रय के दिन विचित्र गेरू आदि धातुओं से सिंगारे हुए सफेद और काले दो बाल गजराज शोभित होते हों ॥४१॥

सुबोधिनी—तत्परिधापनेन भगवतः शोभा-
माह, अन्यथा तस्मै वरदानं सारूप्यलक्षणमयुक्तं

स्यात्, अतस्तत्क्रियया शोभा जातेत्याह नानाल-
क्षणेति, नानालक्षणानि वेशे यथोः कृतौ, तस्य

लेख—‘ततस्तु वायकः’ इस श्लोक की व्याख्या में एक विषय-के गदों का भाव यह है कि कपड़े का हो समान कार्य करनेवाले दोनों दरजी और धोबी को एक ही स्थान पर अपने अपने कर्त्तव्य के अनुसार अच्छा बुरा फल प्राप्त होता है, ऐसा बतलाने के लिये यह दरजी का निरूपण किया गया है ।



वैषम्यभावाय सदानन्दत्वं रतिजनकत्वं चोक्तम्, विवेकेण पूर्वापेक्षयापि रेजतुः, यतः स्वलङ्कृतौ भवतः, अतिमहत्ः स्वरूपेणैककृष्टस्यालङ्कारेण कौतुकमेव भवतीति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह बाल-

गजौ, अतिसुन्दरौ यथा पवणि नवम्यादावुत्सवे अलङ्कृतौ भवतः तथातिचपलाविव अतिसुन्दरौ सर्वेदृष्टावित्यर्थः ॥४१॥

व्याख्यानार्थ—उस दरजी के वस्त्र पहनाने पर भगवान् अत्यधिक सुशोभित हुए, इस 'नाग-लक्षण' श्लोक से शोभा का वर्णन करते हैं। यदि वह दरजी वेष रचना करके उनकी सुशोभित नहीं करता तो उसके लिए सायुज्य मुक्ति रूप वरदान देना अयोग्य हो जाता। इसलिए उसके काट छाँट कर कपड़े पहनाने से भगवान् की और भी अधिक शोभा हुई। उसने उनके वस्त्रों में भाँति भाँति के चिन्ह बनाए। उस दरजी के मन में विह्वलता न होने देने के लिए कृष्णरागो, सदानन्द रूपता तथा रति उत्पन्न करनेवाले रूप का वर्णन किया है। सिंगार करने से उनकी पहले से भी और विशेष शोभा हुई, क्योंकि उस दरजी ने उन दोनों का बड़ा मनोहर शृङ्गार किया था। स्वरूप से उत्तम महापुरुष की सुन्दर रचना द्वारा और अधिक शोभा बढ़ जाती है। इसे समझाने का दृष्टान्त देने हैं कि जैसे दो छोटे हाथी नवमी आदि उत्सवों पर मलङ्कारों से विशेष सुन्दर दिखाई देते हैं, वैसे ही अत्यन्त चपल तथा अति मनोहर भगवान् श्रीकृष्ण बलदेवजी के सब जनता ने दर्शन किए ॥४१॥

श्लोक—तस्य प्रसन्नो भगवान् प्रावात् सारूप्यमात्मनः ।

श्रियं च परमां लोके बलैश्वर्यस्मृतीन्द्रियम् ॥४२॥

श्लोकार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण प्रसन्न होकर उस दरजी को परलोक में सारूप्य मुक्ति-अपने जैसा रूप-और इस लोक में श्रेष्ठ लक्ष्मी, बल, ऐश्वर्य, स्मरण शक्ति और इन्द्रियों का कभी शिथिल न होना आदि अनेक दुर्लभ वर देकर वहाँ से आगे पधारे।

॥४२॥

सुबोधिनी—तदा सर्वेषामधिकसन्तोषे फलं देयमिति सन्तुष्टो भगवान् फलं दत्तवानित्याह तस्य प्रसन्न इति, मनसि रूपं भावयित्वा रूपं कृतवानिति सारूप्यमेव दत्तवान्, सामर्थ्यार्थं भगवानिति, मुक्तिः प्रसन्ने एव भवतीति प्रसन्न इत्याह, आत्मनः सारूप्यं व्यापिवंकुष्ठवासिनः, एतद्देहावसाने भविष्यतीति तदानीमनभिप्रेतमिति फलान्तरमप्याह लोके परमां श्रियमिति, इह लोके

धनादिसम्पत्ति, श्रीर्बाह्योत्पाम्यन्तरमप्याह बलैश्वर्येति, बलं देहस्य ऐश्वर्यं वाचनिकं, आज्ञासामर्थ्यमिति यावत्, स्मृतिर्मानसी भगवदनुसन्धानरूपा आत्मानुसन्धानरूपा, ऐन्द्रियमपि सर्वेन्द्रियसामर्थ्यं दत्तवान्, एवमन्तश्चतुर्धा ऐहिकं पारलौकिकं चेति षट्फलानि दत्तानि, धर्म एव तेन सम्पादित इति न स्वरूपदानम् ॥४२॥

व्याख्यानार्थ—दरजी के द्वारा मनोहर वेष भूषा बना देने पर सब सन्तुष्ट हुए। तब परम प्रसन्न भगवान् ने बड़ी उत्तम सेवा करनेवाले उसके लिए फल प्रदान किए, यह 'तस्य' इस श्लोक से कहते हैं। उसने अपने मन में रूप की भावना करके भगवान् का भेष (रूप) बनाया था। इसलिए भगवान् ने

उसे सारूप्य ही प्रदान किया । श्रीकृष्ण भगवान् हैं, इससे आप में सारूप्य देने की सामर्थ्य है । भगवान् प्रसन्न होवें, तब ही सारूप्य (अपना सा रूप) मुक्ति प्रदान करते हैं । अतः इलोक में प्रसन्न भगवान्-यह विशेषण दिया है ।

सारूप्य (व्यापि वेंकुण्ठ में विराजमान भगवान् के समान रूप) मुक्ति तो देह न रहने पर-परने बाद-होगी । वह सारूप्य मुक्ति तो अभी नहीं चाहिये । इसलिये इस लोक में पांच फलों का निरूपण करते हैं । भगवान् ने उस दरजी को अद्वैत लक्ष्मी दे दी, जो (१) इस लोक के बाहर का फल है और (२) बल-देहका धर्म-(३) ऐश्वर्य-आज्ञाशक्ति-वाणी का धर्म (४) स्मृति-भगवान् (आत्मा)का अनुगन्धान-रूप मन का धर्म तथा (५) इन्द्रियों की सामर्थ्य भी प्रदान की इस प्रकार से परलोक में मिलने वाला सारूप्य तथा इस लोक में मिलने वाले लक्ष्मी (बाह्य) और बल, ऐश्वर्य, स्मृति, इन्द्रिय सामर्थ्य प्रन्दर के भगवान् ने उसको छ वरदान दिये । उससे धर्म का ही सम्पादन किया । इसलिये उसे भगवान् ने स्वरूप का दान नहीं किया ॥४२॥

श्लोक—ततः सुदाम्नो भवनं मालाकारस्य जग्मतुः ।

तौ दृष्ट्वा स समुत्थाय ननाम शिरसा भुवि ॥४३॥

श्लोकार्थ—पश्चात् वहाँ से सुदामा नाम वाले माली के गृह को पधारे, राम और कृष्ण दोनों को पधारते देख, सुदामा ने उठकर और पृथ्वी पर सिर धर कर प्रणाम किया ॥४३॥

सुबोधिनी—भक्त्या सह स्वरूपदानार्थमुपाख्यानान्तरगाह ततः सुदाम्न इति, यो हि दाता स पूर्वं यद्देयं तत् दत्त्वं दुर्लभं प्रयच्छति, अतस्तदन्तरं उत्तममालाकर्तुः भवनं गती, प्रायेण तस्य भवनं न राजमार्गं, अन्यथा प्रामाणिकमेव स्यात्, विक्रयस्थाने तु नोत्तमाः पदार्था भवन्तीति भवनमेव जग्मतुः, सुदामपदं रूढं वा भवेदिति विशेषगाह मालाकारस्येति, असाधारण्येन मालाकर्तुः, नन्वक्लिष्टकर्मा भगवान् किमित्यल्पार्थं परगृहं गत

इति शङ्खाव्युदासाय तस्य भवत्यादिकं निरूपयति, तौ दृष्ट्वा इति सार्द्धः पङ्क्तिः षड्गुणोभ्योधिकं देयमिति भक्तिरर्धमिति, स ह्युत्तमां मालां विधाय किं कर्तव्यमिति तिष्ठति, तदेवागतौ रामकृष्णौ दृष्ट्वा स प्रसिद्धः पूर्वमपि भगवद्भक्तः समुत्थाय भुवि शिरसः साष्टाङ्गं ननाम, लौकिक्येषा भावेति यथा कृतमुक्तवान् निरोधार्हो भवतीति जापयितुं वा प्राकृतत्वाभावाय भक्तत्वाभावाय च मध्यभावं निरूपयन् निरूपयति ॥४३॥

व्याख्यानार्थ—भक्ति सहित स्वरूप का दान करने के लिये दूसरे उपाख्याय का वर्णन ततः सुदाम्नः' इस श्लोक से करते हैं । इस प्रकार दरजी के लिये मायुज्य फल देकर फिर अत्यन्त स्वरूप रूप फल को देने के लिये उत्तम मालायें बनाने वाले सुदामा नाम के मालाकार-माली-के घर पर पधारे । सम्भावतः उसका घर राजमार्ग में सड़क पर नहीं होगा । इसीलिये भगवान् का चल कर उस माली के घर पधारना हुआ, क्योंकि यदि रास्ते में ही (उसका घर) होता तो वहाँ जाने का प्रसंग स्वतः ही हो जाता । माला बेचने के स्थानों (दूकानों) पर अच्छी उत्तम वस्तुएँ नहीं होती इस कारण से भगवान् उसके घर पर ही पधार गये ।



उसका गुदामा-अच्छी सुन्दर माला बनाने वाला-यह नाग रुढ़ि से-केवल बोलचाल का ही हो और वह माला नहीं बनाना जानता हो-ऐसी आशंका को दूर करने के लिये श्लोक में मालाकार (माली) पद दिया है । भगवान् उस सुन्दर माला बनाने वाले सुदामा माली के घर पधारे ।

भगवान् बलेश रहित काम करने वाले है । आपने साधारण सी बात के लिये माली के घर पर पधारने का कष्ट क्यों किया ? इस शंका को दूर करने के लिये उसकी श्रद्धा भक्ति का निरूपण-इस श्लोक के उत्तरार्ध से लेकर आगे साढ़े छ श्लोकों से करते हैं । छ गुणों से अधिक फल भगवान् उसको देंगे और भक्ति आधा गुण है । वह सुन्दर माला बनाकर क्या करेगा चाहिये-ऐसा सोच ही रहा था कि उसी समय पधारे हुवे भगवान् के राम कृष्ण के दर्शन करके वह प्रसिद्ध जो पहले भी भगवान् का भक्त था, खड़ा हो गया और उसने पृथ्वी पर सिर झुका कर भगवान् को साष्टांग प्रणाम किया । यह लौकिक भाषा है । इस लिये जैसा माली ने किया, वैसा ही श्रीकृष्णदेवजी ने वर्णन किया है । अथवा यह निरोध रूप फल प्राप्त करने योग्य है अथवा यह प्राकृत भी नहीं है और भक्त भी नहीं है किन्तु प्राकृत तथा भक्त के बीच के मध्य भाग को बतलाने के लिये यह इस प्रकार से निरूपण किया है ॥४३॥

श्लोक—तयोरासनमानीय पाद्यं चायाहंणादिभिः ।

पूजां सानुगयोश्चक्रे सक्ताम्बूलानुलेपनैः ॥४४॥

श्लोकार्थ—फिर दोनों को सुन्दर आसन पर बैठाया । पाद्य, अर्घ्य, माला, पान, चन्दन आदि से श्रीकृष्ण, बलदेव और सब गोपों का उचित सम्मान तथा पूजन किया ॥४४॥

सुबोधिनी—एतावन् महत्युदासीनेषु कियत् इति विशेषतः पूजामाह तयोरासनमानीयेति, स्व-गृहे तादृशं योग्यं प्रायेण नास्तीति यत्रैवोत्तमं तदानीय दत्तवान्, अव्यवहार्यं वा तथा पाद्यं च चकारादन्येष्वुपचारास्तथैव कृताः, अहंणादिभि-श्चन्दनादिभिः, पाद्यान्ते उपचारे कृते सान्निध्यात् जातस्नेहः भवत्युत्तरं कृतवानिति ज्ञापयितुमथ-

शब्दः, अतः सानुगयोस्तयोः पूजां चक्रे इयं पूजा आकस्मिकीति लोकसाधारणीमाह सक्ताम्बूलानुलेपनैरिति, आदौ चन्दनानुलेपनं ततस्ताम्बूलं ततो मालेति, तथापि स्वघर्मो मालेति व्युत्क्रमेण निरूपितवान्, भक्तिवशात् वा पदेन यत् सम्पन्नं तदेवाग्रे कृतवानिति ॥४४॥

व्याख्यार्थ—इतना सा आदर तो महापुरुष के प्रति कोई उदासीन होकर भी कर देता है । इसलिये 'तयोरासनमानीय' इस श्लोक से विशेष सामग्री से भगवान् के पूजन का वर्णन करते हैं । उसके घर में उनके योग्य आसन बहुधा नहीं था । इसलिये जहाँ भी उत्तम अथवा नया आसन लाकर उस पर दोनों को विराजमान किये । भगवान् के पाद प्रक्षालन का जल तथा और भी उपचारों से माला, चन्दन, पान आदि सामग्रियों से उन दोनों का तथा सभी गोपों का सम्मान किया । चरणों को धोने के जल सहित सब उपचार करने पर भगवान् के अत्यन्त समीप में रहने के कारण उसका

भगवान् में स्नेह हो गया और फिर उगने भगवान् का सम्मान बड़ी थढ़ा भक्ति से किया—यह वन-साने के लिये श्लोक में 'अथ' शब्द का प्रयोग है

उसने अनुचरों सहित राम कृष्ण की भक्तिपूर्ण पूजा की यह पूजा अकस्मान् की गई होने से लोक में गाथागु पूजा की तरह माला तम्बूल और लेप शर्करों से नहीं गई है किन्तु पहले चन्दन का लेप, फिर ताम्बूल प्रपण करके पीछे माला धारण कराई। माला पहनाता इस गायत्री का अपना मुख्य धर्म था, जो अन्त में कहा जाता तो श्री श्रीशुकदेवजी ने विभिन्न क्रम से अथवा भक्ति के आधेश ने अब भी जैसे जो कुछ प्राप्त हुआ उसको ही उसके द्वारा पहले करने का वर्णन किया है ॥४४॥

श्लोक - प्राह नः सार्थकं जन्म पादितं च कुलं प्रभो ।

पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टा ह्यागमनेन वाम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—सुदामा गाली ने कहा—नाथ! आज यहाँ आपके पधारने से मेरा जन्म सफल हो गया। मेरा कुल भी पवित्र और धन्य हो गया। पितृदेव और ऋषिगण मुझ पर सन्तुष्ट हो गए, ऐसा जान पड़ता है ॥४५॥

सुबोधिनी—एवं कायिकमुक्त्वा तत्कृतां वाचनिकीं पूजागाहं त्रिभिः, प्राहेति, स्वकृतार्थः च भगवत्कृतस्य फलत्वाय भगवतो निर्दोषपूर्णगुणत्वं च निरूपयति, आदौ भक्तोद्धारको भगवानिति स्वकृतकृत्यमाह नः सार्थकं जन्मेति, पुरुषार्थपर्यवसायि जन्म सार्थकं, न इति गृहस्थानां सर्वेषां गेव, ये वा भगवत्तवं कृताः, श्लाघायां वा, यद्यपि जन्मकाल एव तादृशं फलं भविष्यतीति सर्वदेव सार्थकं तथापि फलोन्मुखता अर्थेति ज्ञानं वेति, प्रतिदिनं देहाद्युत्पत्तेर्वत्यस्त्युक्तं, प्राहेति पाठे तु न सन्देहः, न केवलं मग जन्म किन्तु मत्सम्बन्धिनां सर्वेषामेवेत्याह पादितं च कुलमिति, चका-

रात् कुलस्थाः सर्वे च, तथाप्ये सामर्थ्यं प्रभो इति, सर्वस्यापि स्वकृतस्य जन्मकोटिभिः सम्पादितस्य विनयोगोत्रं वेति वक्तुं पूर्वं स्वाराधितदेवादीनां प्रसादफलमेतदेवेत्याह पितृदेवर्षय इति, युवयोरागमनेन पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टा इति केचित्, वस्तुतस्तु पितृदेवर्षयो मह्यं तुष्टाः, युक्तश्चायमर्थः, युवयोरागमनेनेति फलकीर्तनं, करणता स्वर्गप्रम-फलार्थं, अथवा, नातः परं पित्राद्याराधनं कर्तव्यं यतस्त्वदागमनेनैव ते सन्तुष्टाः, मह्यमिति मदर्थं फलं दातुं मग वा, अनेन त्वय्येव पूजिते सुतरा ते तुष्टा भवन्तीति किं वक्तव्यमित्युक्तम् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार शरीर के द्वारा की हुई पूजा का वर्णन करके 'प्राह नः' इस श्लोक से लेकर आगे तीन श्लोकों से उसका वाणी से उनकी पूजा करना कहते हैं।

सुदामा अपनी कृतार्थता का तथा भगवान् के कार्यों की सफलतापूर्वक उनकी निर्दोष पूर्णगुणता का निरूपण 'प्राह नः' इस श्लोक से करता है। भगवान् भक्तों का उद्धार करने वाले हैं। इस लिये प्रारम्भ में वह अपने आप का कृतकृत्य होना वर्णन करता है कि मेरा जन्म सार्थक हो गया, पुरुषार्थ



मिद्ध हो गए । आप के द्वारा गृहस्थी बनाये हुए हुए सवों का अथवा भगवान् की अपने घर घर पधारने की कृपा के कारण अपने प्रशसा में 'नः' बहुवचन का प्रयोग हुआ ।

यद्यपि बालक के जन्म समय में ही भविष्य में मिलने वाले वैसे फल का निश्चय हो जाता है । इसलिये जन्म तो सदा ही सार्थक ही था, तो भी फल प्राप्ति की उन्मुखता (तैयारी) आज हुई अथवा जन्म आज भगवान् हुआ अथवा क्षणिक बाद के गतानुसार देहादि के प्रतिदिन उत्पन्न होने का लक्ष्य लेकर (आज)-अद्य-ऐसा कहा है । मूल श्लोक में 'अद्य' पाठ के स्थान में 'प्राह' ऐसा पाठ हो तब तो कोई प्रकार का गन्देह नहीं है ।

आप के पधारने से केवल मेरा ही जन्म सफल नहीं हुआ, किन्तु मेरे मेरे सम्बन्धियों का भी जन्म सफल हो गया तथा हमारा कुल और कुलके पुरुष भी सब पवित्र हो गये, क्योंकि आप प्रभु हैं, आप में सभी को पवित्र करने की सामर्थ्य है । करोड़ों जन्मों के किये गये अपने सारे कर्म का उपयोग भी इसी में हुआ है—यह कहने के लिये पहले मेरे द्वारा आराधना किये देवता आदि की प्रसन्नता का यह ही फल है अर्थात् पितर, देव और ऋषिगण गुणों फल देने के लिये प्रसन्न हुए वास्तव में यही अर्थ उचित भी है, किन्तु कई टीकाकार ऐसा अर्थ करते हैं कि आप दोनों के मेरे घर पधारने से पितर, देव और देवगण मुझ पर प्रसन्न हुए हैं । आपके आने से तो उनकी प्रसन्नता का फल कहा गया है, क्योंकि करण (तृतीया विभक्ति) तो आगे प्राप्त होने वाले फल को सूचित करती है ।

अथवा अब हमको देवता आदि की आराधना नहीं करनी चाहिये क्योंकि वे तो आपके पधारने से सन्तुष्ट हो गये हैं (गह्य) मेरे लिये फल देने को अथवा मेरा फल देने को, इससे यह कहा है कि आपकी पूजा करने पर वे अत्यन्त प्रसन्न (सन्तुष्ट) हो जाते हैं, फिर उनकी प्रसन्नता के विषय में कहने की कोई बात ही नहीं रह जाती ॥४५॥

श्लोक—भवन्तो किल विश्वस्य जगतः कारणं परम् ।

अवतीर्णाविहांशेन क्षेमाय च मवाय च ॥४६॥

श्लोकायं—आप अवश्य ही सारे जगत् के परम कारण, परब्रह्म हैं । जगत् के अम्युदय और कल्याण के लिए ही आप दोनों ने यहाँ अश से अवतार ग्रहण किया है ॥४६॥

सुबोधिनी—महत्यारोगन्यायेन स्तुतिरेवंविधा सम्भावतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं स्वरय भगवत्स्वरूप-ज्ञानगाविष्करोति भवन्ताविति, विश्वस्य सम्बन्धिनी भवन्तो किल प्रसिद्धी, विश्वस्मिन् भवन्तो प्रसिद्धावित्यर्थः, अनेन जगति यावन्तो महद्गर्हास्ते सर्वे निरूपिताः, कारणत्वं च निरूपयन्नाह जगतः कारणं परमिति, जगत् यत् जायते तस्य

मूलकारणं भवानेव, विश्वशब्दो वा सर्वशब्दवत् सामान्यविशेषवाची, उत्पादकत्वेन महत्त्वेन फलत्वेन च उत्पत्त्या चोपपत्त्या च ग्राहात्म्यं निरूपितं न तूत्पत्तिस्थितिलयः येन न्यूनता स्यात्, सर्वनिधानत्वेनेव वा सर्वप्रकारेण स्तुत्यता निरूपिता, साधारणकारणत्वं कालस्यापि वर्तत इति परमिति, अनन्तमूर्तिभगवानिति द्विवचनं न दोषाय



रूपद्वयेन चाविर्भूत इति माहात्म्यं परगुच्यते,
तादृशयोरवतारे प्रयोजनमाह अवतीर्णाविहांशे-
नेति, इह प्रपञ्चे अंशेन क्रियाशक्त्या अवतीर्णी,
ज्ञानांशेनाभ्य एव सृष्टा इति, पूर्ववदेवदेशेन वा,
एकवचनं तु तदेवान्यत्राविष्टमित्येकाग्रताराभि-
प्रायः अत एव क्रियाप्रयोजनमाह क्षेमाय च भवाय

चेति, स्थितस्य परिपालनार्थं, चकारादभेदव्या-
वृत्त्यर्थं, भवायोद्भवाय आधिनयार्थं, चकारात्
मोक्षाय च, आधिक्यमत्र भक्तिः, अतः कार्यनतुष्ट-
गार्थं भगवदवतार इत्युक्तं, सर्वदुष्टविराकरणार्थं
सतां रक्षणार्थं मोक्षार्थं भवत्यर्थं च ॥४६॥

व्याख्यार्थ—महापुरुषों की स्तुति, आरोप न्याय से उसमें वे गुण न होने पर भी उन गुणों से भी कही जाती है, किन्तु यह स्तुति वैसी नहीं है। यह कहने के लिये वह भक्तों इस श्लोक से स्वयं को भगवान् के स्वरूप का ज्ञान होना प्रकट करता है। आप दोनों इस विश्व के सच्चे-प्रसिद्ध हैं। तात्पर्य यह है कि आप दोनों विश्व में प्रसिद्ध हैं। इस कथन से यह सूचित किया है कि महापुरुषों में होने वाले सारे धर्म आप दोनों में है। जगत् की कारणता का निरूपण करते हुए कहते हैं कि उत्पन्न होते रहने वाले जगत् के मूल कारण आप ही हैं।

अथवा विश्वशब्द सवंशब्द की तरह सामान्य तथा विशेष दोनों अर्थों का द्योतक है। तात्पर्य यह है कि (विश्व) सामान्य सारे जगत् का तथा विशेष इस जगत् का मूल कारण आप भगवान् ही हैं। जगत् के उत्पन्न करने वाले के रूप से, माहात्म्य, फल देने वाले, उत्पत्ति और उपपत्ति (योग्यता) के रूप से सब प्रकार से सब का कारण रूप से भगवान् की स्तुति करने के योग्य है, यह माहात्म्य का निरूपण किया है। केवल उत्पत्ति, पालन और लय करने वाले के रूप से ही स्तुति करना तो सर्व समर्थ भगवान् में न्यूनता का द्योतक है।

कार्यमात्र-जगत्-का साधारण कारण काल भी है। इसलिये ‘पर’ मुख्य शब्द कहा है। जिस से यह स्तुति काल (साधारण कारण) की नहीं है। भगवान् अनन्त पूर्ति हैं, इसलिये ‘भवन्तो’ उनके लिये द्विवचन के प्रयोग में कोई दोष नहीं है और सभी (श्रीकृष्ण, बलभद्र) दो रूप से आविर्भाव हुआ है। इसलिये अंशिक माहात्म्य कहा गया है। उन सर्व शक्तिमान् भगवान् के अवतार के प्रयोजन को कहते हैं कि इस प्रपञ्च-जगत्-में आपने अंशक्रियाशक्ति से अवतार धारण किया है, क्योंकि ज्ञान (शक्ति) के अंश से सृष्टि करने वाले अन्य-ब्रह्मादिक-हैं।

अथवा अंश शब्द का अर्थ यहां भी वही है, जो पहले १०।१।२ पे किया गया है। अभिप्राय यह है कि जितने प्रदेश में भगवान् ने पाया को दूर किया, उतने प्रदेश में-अंश-ते आपने अवतार लिया। कारण, कारण पद में एक वचन का तात्पर्य यह है कि बलभद्रजी तो भगवान् के आवेशावतार हैं। इसलिये वास्तव में तो वह एक ही अवतार है और वही एक सारे जगत् का कारण है।

क्रियावतार से प्रकट होने के कारण बतलाते हैं कि जो उसका (१) परिपालन (२) दुःख दूर (३) उत्तमत्ता और (४) मोक्ष प्रदान करने के लिये यह अवतार है। उत्तमता-प्रधिकता-का अर्थ यहां भक्ति प्रदान करना है। इसलिये (१) सारे दुष्टों का विनाश (२) सज्जनों की रक्षा (३) मोक्ष और (४) भक्ति प्रदान करना, इन चार कार्यों के लिये भगवान् का अवतार है ॥४६॥



आत्मा और सब प्राणियों में समान है। इन तीनों कारणों से इन विषय पर गुक्ति और प्रमाण पूर्वक निर्णय किया जाय तो यह दोष श्रीकृष्ण में केवल कल्पनामात्र अथवा भ्रम से दिखाई देता है, जिसका भी दूसरे प्रकार से स्पष्टीकरण हो जाने पर किसी प्रकार की अङ्गन अथवा योग्यता (दोष) नहीं है, इसलिए ऐसा ही दोष उचित है और सब जगह पर भी ऐसा ही अर्थ करना चाहिये।

कोई पिता तो आपने पुत्र को पारता-दण्ड देता-है और कोई पुत्र भी स्तुति करता है, ऐसा करने से ये पिता पक्षपाती अथवा निर्दयी थोड़े ही हो जाते हैं, वे तो शिक्षा के लिये ही ऐसा करते हैं। इसी प्रकार से कोई हाथ में पाँव को धोने वाला, शिर को नहीं धोने वाला तथा कोई मुण्डन करने वाला पक्षपाती अथवा विषम नहीं होता, क्योंकि सबकी हित की दृष्टि से ही ऐसा करता है। उसी प्रकार भगवान् भी काल के पड़े वश हुए जीवों का उद्धार करने के लिये आये हैं और काल को ठग कर जीवों की रक्षा करने के कारण सबके मित्र ही होते हैं, क्योंकि वे तो सबके आत्मा, सखा तथा अत्यन्त दयालु हैं। इसलिये दिखाने के लिये पक्षपात करते जैसे दीखने पर भी पक्षपात करने वाले (विषम) नहीं हैं, वे तो बंशा ही करते हैं जिसके करने से मित्रता सिद्ध होती है।

जब भगवान् (श्रीकृष्ण, बलदेव) सारे जागत् के ही आत्मा हैं, तो फिर वे एक के ही पक्षपाती कैसे होंगे ? इसलिये जैसा करने से अपनी आत्मा को शुद्ध हो, बंसा ही करते हैं। अतः निर्धृणता-कृता-दोष का भी निरास-दूर-होना जान लेना चाहिये और उनका सब प्राणियों में समान होना तो जगत् का कारण होने से ही सिद्ध है। कितने ही टीकाकार श्लोक में दिये भूत पद से रोग आदि भूत आदि की तरह जो (मिटाने) दूर करने योग्य सहज असुर हैं, उनमें भगवान् सम नहीं है, ऐसा अर्थ करते हैं। वास्तव में तो (भूत) उत्पन्न हुए सभी प्राणियों में भगवान् समान हैं, ऐसा (भूत शब्द के प्रयोग करने का) अभिप्राय है। यदि ऐसा अभिप्राय नहीं होता तो भगवान् आत्मा ही है, ऐसा कहते, आत्मा के समान है, ऐसा नहीं कहते, क्योंकि समानता में भेद हो सकता है।

यह तो शिक्षा देने के लिये दण्ड देना सम्बन्धी स्थिति का वर्णन किया, वरदान देने आदि में तो भगवान् पक्षपात करते ही होंगे ? इस का निराकरण करने के लिये कहते हैं कि भगवान् कल्प-वृक्ष जैसा स्वभाव वाले हैं और उनकी ऐसी आज्ञा है, जो मुझे जैसे भजता है, मैं उसको उसी प्रकार से भजता हूँ। इस कारण से जो और जैसा मांगता है उसे वही वस्तु दे देते हैं और नहीं मांगने वालों को नहीं भी देते हैं। इसलिये सभी के लिये न देने पर भी (भगवान् में) कोई विषमता अथवा पक्षपात नहीं है ॥४७॥

श्लोक—तावाज्ञापयतां भृत्यं किमहं करवाणि वाम् ।

पुंसोत्पनुग्रहो ह्येष भवद्भूयन्तु निपुज्यते ॥४८॥

श्लोकार्थ—मैं तो आपका चरण सेवक हूँ। हे प्रभो! मैं आपकी क्या सेवा करूँ ? आज्ञा दीजिये। यदि गनुष्य आपकी आज्ञा पाने और पालन करने का अवसर प्राप्त करता है तो, यह उसके ऊपर आपकी परम कृपा है ॥४८॥



सुबोधिनो—एवं स्तुत्या स्वस्य मानसं निवे-
दयति तावाज्ञापयतामिति, अयं हि मनसा भगवते
सर्वं निवेद्य दासो जातः, स चेन् भगवन्ना दासत्वेन
स्वीक्रियते तदा दासः सम्पद्यते तस्य चाभिज्ञाप-
कमाज्ञापन अतस्तौ रथागिनो भृत्यं ज्ञापयतां, ननु
वेदे सर्वं एव जीवाः भूया अज्ञप्ताः तथा भवान-
पीति चेत् तत्राह किमहं करवाणि वामिति, युव-
योरर्थं किं विशेषेण करवाणि, अन्यथा विशेषतो
दासभावप्राप्तेः कः पुरुषार्थः स्यात्, ननु पूर्णकामा
वा वां नास्मभ्यं किञ्चित् कर्तव्यमिति चेत् तत्राह
पुंसोत्यनुग्रह इति, न ह्ययं नियोगः भवदुपकाराय

किन्त्वस्मदुपकाराय यथा वरदान, वरापेक्षयाप्य-
यमः अनुग्रहः, यत् भवकत्वेन स्वीकृत्य नियुज्यते,
युक्तश्रायमर्थः, वरः परिच्छिन्नः अपरिच्छिन्नं च
दासत्वमिति, तस्य हि सर्वं कार्यं स्वामिनेव कर्त-
व्यमिति, भवद्विरिति बहुवचनम् सरोवकाभिप्रायं,
एष इति भवत्वा भगवदाज्ञापन तस्य पुरस्कृति-
कमित्युक्तं, अत एवाग्रे अनुक्तोपि मालां दास्यति,
अनेन भगवत्प्रपत्तेः स्वतः सामर्थ्यं चोत्तितं, यथा-
त्रालौकिकदृष्टत्वं, भगवद्धर्मोपाज्ञा बोधितेति
वावधानेक्षाभावात् न किञ्चिदुक्तवन्तो ॥४८॥

व्याख्यानार्थः—इस प्रकार स्तुति करके वह मालाकार अगने गन का इच्छा 'तावाज्ञापयतां' इस
श्लोक में निवेदन करता है। यह सुदामा मन से भगवान् को अपना सर्वस्व निवेदन करके दास हुआ
है, किन्तु जब तक उसे दास रूप से स्वीकार नहीं कर लेते हैं, तब तक दास भाव प्राप्त नहीं होता।
भगवान् जब कुछ आज्ञा प्रदान करें तब ही दास रूप से अंगीकार कर लेना जाता है। इसलिये आप
स्वामी दोनों मुक्त सेवक के लिये आज्ञा करो, ऐसी प्रार्थना करता है।

वेद में सभी सेवकों को आज्ञा दे दी गई है और तुम भी सेवक ही हो, इसलिये तुम्हारे लिये
भी वही आज्ञा है। ऐसी शंका के उत्तर में कहता है कि वेद में कही हुई सामान्य आज्ञा से अधिक
आप लोगों के लिये क्या कहूँ? क्योंकि दास यदि विशेष आज्ञा का पालन नहीं करता है तो फिर
उसके मुख्य दास भाव से कौन सा पुरुषार्थ सिद्ध हो?

हम दोनों तो पूर्ण काम हैं, हमारे लिये कुछ करने का नहीं है, ऐसी शंका का इस इनको के
उत्तरार्ध में देते हैं कि यह आज्ञा की प्रार्थना आप पर उपकार के लिये नहीं है, किन्तु वरदान की
तरह यह तो मेरे ऊपर उपकार करने के लिये है और आप मुक्त को सेवक रूप से (समान) स्वीकार
करके आज्ञा करें। यह तो वरदान से भी बहुत बड़ा अनुग्रह है, क्योंकि वरदान तो सीमित ही होता है
और दास भाव तो—निःसीम—सीमा रहित—है। दास के तो सारे ही काग-योग क्षेम-स्वामी को ही
करने होते हैं। इसलिये दास को आज्ञा दीजिये कि दास सेवकों सहित दोनों आपकी क्या सेवा
करें? 'एष' पद से यह अभिप्राय है कि श्रद्धा भक्ति के कारण भगवान् का अनुग्रह उस सुदामा के
आगे प्रत्यक्ष रूप से प्रकट हुआ है। इसीलिये वह यहां अब आगे (भगवान्) की आज्ञा के बिना ही
दोनों को माला भेंट करेगा। इन कथन से यह सूचित किया है कि जैसे भगवान् में प्रलौकिक दृष्टा-
पन सामर्थ्य है वैसे ही उनकी शरणागति भी स्वयं सर्वं समर्थ है। इसीलिये भगवान् के कुछ न कहने
पर भी वह भगवान् के शरणरूप अलौकिक धर्म से ही उन दोनों की आज्ञा को जान गया ॥४८॥

श्लोक—इत्यभिप्रेत्य राजेन्द्र सुदामा प्रीतिमानसः ।

शस्तेः सुगन्धः कुसुमेर्मां विरचितां दधौ ॥४९॥

श्लोकार्थ—हे राजेन्द्र प्रसन्न मन वाले सुदामा ने इस प्रकार निवेदन करके दोनों भाईयो की इच्छा के अनुसार गुन्दर सुगन्धित पुष्पों की मालायें बना कर उनको पहनाई ॥४६॥

सुबोधिनी स्वयमेव ज्ञात्वा यत् कृतवान्-
राह इत्यभिप्रेत्येति, राजेन्द्रेति सम्बोधनान् केनन
सेवकाः अभिप्रेतार्थं जानन्ति इति नाश्चर्यमेतदिति
ज्ञापनार्थं, तादृशाः सेवकाः सार्वभौम एव भवन्ती-
तोन्द्रपदं, पदार्थो निश्चिते प्रीतिमानसो जातः
आज्ञा प्राप्नोति, ततः शस्तैः शास्त्रतः स्तुतैः स्व-

रूपतश्च सुगन्धं मल्लिकादिभिः कुसुमैर्विरचितामे-
कामेव मातां ददौ माला विरचिता इति वा
पाठः, एकवचने तु भगवति ददौ भगवानाविष्ट
इति तत्रापि बलभद्रेऽपि स्फुरति प्रतिविम्बयत्,
अन्या अपि माला दत्तवान् इति ज्ञातव्यम् ॥४६॥

व्याख्यान—सुदामा ने भगवान् की भावी आज्ञा को स्वयं ही जान कर आगे जो किया, वह इस 'इत्यभिप्रेत्य' श्लोक से कहते हैं, हे राजेन्द्र ! यह सम्बोधन इस बात को सूचित करता है कि कितने ही सेवक स्वामी की वांछित वस्तु को भी जान जाते हैं । इस लिये सुदामा ने भगवान् की इच्छा को जान लिया, इस में कोई आश्चर्य नहीं है, किन्तु ऐसे सेवक चक्रवर्ती राजा के ही होते हैं । इसलिये यह बात राजेन्द्र (राजाओं का इन्द्र) पद से कही है ।

भगवान् के अभिप्राय को निश्चय रूप से जान लेने पर उसी को आज्ञा हुई मान कर सुदामा मन में बड़ा प्रसन्न हुआ । तब उसने शास्त्री से सराहना किये हुए और स्वरूप में भी सुगन्ध से भरे हुए मोगरा आदि के पुष्पों से बनाई हुई एक ही माला भगवान् के अर्पण की अथवा अनेक मालाएँ अर्पण की, ऐसा बहुवचनान्त पाठ भी है । (माला) एक माला भगवान् के समर्पित की ऐसा एक वचन का पाठ करने पर तो बलदेवजी में भी भगवान् का आवेश होने के कारण प्रतिविम्ब की तरह बलभद्रजी में भी वह माला दिखाई दी और भी बहुत सी मालायें गोपों की दीं, ऐसा समझ लेना चाहिये ॥४६॥

श्लोक —तामिः स्वलङ्कृतौ प्रीतौ रामकृष्णौ सहानुगौ ।

प्रणताय प्रपन्नाय ददतुर्वरदो वरान् ॥५०॥

श्लोकार्थ—अपने साथी गोपों के साथ श्रीकृष्ण और बलदेवजी उन मालाओं को पहन कर बहुत सुशोभित और प्रसन्न हुए । दोनों वरदानी भाईयों ने प्रणत और शरणागत उस सुदामा को उसकी अभिलाषा के अनुसार मुँह माँगे वरदान दिए ॥५०॥

सुबोधिनी—ततो भगवान् वर दत्तवानिति
वक्ष्यन् तत्कृतं शोभातिशयं भगवति आह तामिः
स्वलङ्कृताविति, उत्कृष्टमालाभिः सुष्ठु अनङ्-
कृतौ ततः प्रीतौ जातौ सदानन्दरमणकर्ता
फलसाधनरूपी सर्वसेवकः सह प्रीतौ निविवादो,

प्रणताय नम्राय विनीताय कर्मज्ञानमार्गयोरपि
फलदानयोग्याय, प्रपन्नाय शरणागताय भक्तिमा-
र्गपि फलयोग्याय, यतो वरदौ अतो वरान् ददतुः,
वरदेश्वरत्वं नाविर्भावितं किन्तु वरदत्वमेव वरान्
दास्यावः प्रार्थयत्पुक्तयन्तावित्यर्थः ॥५०॥



व्याख्यानार्थ—तदनन्तर भगवान् ने उग (सुदामा) को वरदान दिये, यह वर्णन करते हुए श्रीशुकदेवजी उन मालाओं से भगवान् अत्यन्त सुशोभित हुए, वह इस 'ताभिः' श्लोक से कहते हैं। उन श्रेष्ठ मालाओं को धारण करके भगवान् अत्यधिक शोभायमान हुए। फिर फल तथा साधन रूप सदानन्द श्रीकृष्ण और रमणकारक बलरामजी सेवकों विना किसी विवाद के परम आनन्दित हुए और धरों के देने वाले दोनों भाइयों ने प्रणत तथा विनोत सुदामा के लिये कमभाग और ज्ञान मार्ग के अनुसार भी फल पाने के योग्य तथा (प्रपञ्चाय) शरणागत होने से भक्ति मार्ग के अनुकूल भी प्राप्त करने के योग्य सुदामा को वरदान दिये। वरदाताओं में श्रेष्ठ उन दोनों ने अपना वरदान देने वालों में ईश्वरपति (श्रेष्ठता) प्रकट न करके केवल वरदानों भाव ही प्रकट किया और बोले कि हम वर देंगे तू वर मांग अथवा उसके बिना मांगे ही वर दे दिये ॥५०॥

श्लोक—सोपि वद्रेचलां भक्तिं तस्मिन्नेवाखिलात्मनि ।

तद्भुक्तेषु च सौहार्दं भूतेषु च दयां पराम् ॥५१॥

श्लोकार्थ—उसने (सुदामा ने) भी उन्हीं अखिलात्मा में भक्ति, उनके भक्तों में स्नेह और भूतों पर विशेष दया हो, ऐसा वर मांगा ॥५१॥

सुबोधिनी—अथवा स्वयं वरान् दत्तवन्तावेव सोपि पृथग् याचितवानिति, तदाह सोपि वद्रे इति, भगवता दत्तवरोपि कृतार्थोपि अचलां भक्तिं वद्रे, विषये वैलक्षण्यभावात् तस्मिन्नित्येकवचनं, ज्ञानापरपर्यायरूपा सा भक्तिरिति ज्ञापयितुमाह अखिलात्मनीति, अनेन सर्वत्र विषया दृष्टिरपि परिहृता, तथापि भक्तेर्वैशिष्ट्यं वक्तुं भेदसहि-

ष्णुत्वाय सर्वोत्तमत्वं स्थापयितुमन्यद्वद्वयमाह तद्भुक्तेषु च सौहार्दमिति, चकारात् भगवदीय-व्यतिरिक्तेष्वोदासीन्यं भूतेषु दीनेषु सर्वेषु च परामुत्कृष्टां दयां लोकोत्तरां, यया ते कृतार्था एव भवन्ति, चकारात् प्रश्न्यादिकमपि स्वोत्कृष्टेषु प्राथितं भवति ॥५१॥

व्याख्यानार्थ—(सो अपि) इस श्लोक से सुदामा का भी अलग वर मांगने का वर्णन करते हैं। भगवान् के वरदान के देने और स्वयं कृतकृत्य हो जाने पर भी उसने अचल भक्ति मांगी। विषय (जिसमें भक्ति होने की प्रार्थना की) में भेद न हो, इसलिये (तस्मिन्—उसमें) यह एक वचन का प्रयोग किया है। उसके द्वारा गांगी हुई यह भक्ति ज्ञान का दूसरा रूप है, क्योंकि उसने अखिल की आत्मा अक्षर ब्रह्म में होने वाली भक्ति मांगी है। यद्यपि इस कथन से उसकी सब में भेद बुद्धि तो नष्ट हुई जानी गई, किन्तु फिर भी भक्ति की श्रेष्ठता तथा सर्वोत्तमता स्थापित (कायम) रखने के लिये और भेद सहिष्णु अभेद-भेद सहन न हो सकने के लिये वह दो वर और मांगता है (१) भगवद्-भक्तों के साथ स्नेह, मित्रता और जो भगवद्भक्त न हों, उनमें उदासीनता तथा (२) सारे गरीब प्राणियों पर—उन सब को कृतार्थ कर देने वाली-अलौकिक दया और जिनका भगवान् ने अपनी दया से उद्धार किया है, उन अपने से उत्कृष्ट प्राणियों में अपना विनम्रभाव बना रहने की याचना की ॥५१॥

लेख—'सोपि' इस श्लोक की व्याख्या में 'ज्ञानापरपर्यायरूपा' इत्यादि वदों का तात्पर्य यह है



इस अध्याय में वर्णित श्रीकृष्णचंद्र की लीलामृत के 'मधुर-घूँट'

राग पूर्वी

सुनि अति सघन कराल घोष में पायन तूपुर बाजत ।
उर अंचल नंचल अति राजत घागनि ध्वजा विराजत ॥
ऊँचे अटन नछत्रन की छवि जनु जुवती मगु फूली ।
कनक कलस कुच प्रकट देखियत आनन्द कंचुकि भूली ॥
विद्रुम फटिक पानची ऊपर जालरध की रेख ।
मगहु तुम्हारे दरशन कारन नयननि तजी निमेख ॥
अवलोकहु यहि भाँति रमापति पुरी परम रुचि रूप ।
सूरदास प्रभु कंस मारिके होहु यहाँ के भूप ॥

राग पूर्वी

मधुरा के लोगनि सचु पायो ।
नटवर भेष घरे नंदनंदन संग अक्रूर के आयो ॥
प्रथम हि रजक मारि कर अपने गोपवृन्द पहरायो ।
तोरि धनुष लाला नट नागर सब जग खेल खेलायो ॥
रण भुवि मुष्टि चारणूर बली अति मुज सों तार बजायो ।
नगर नारी गारि दे कहहीं अजगुत युद्ध बनायो ॥
बरषहि सुमन आकाश महा घुनि दूँदुभि देव बजायो ।
चढ़ि कर अमर बिमान परम सुख कौतुक इन्द्र आप आयो ॥
कंस मार सूर राजी करके उग्रोन सिर नायो ।
मात पिता बन्धन ते छोरे सूर सुजसु गायो ॥

राग सोरठ

मधुरा ऐसी आजु बनी ।
मानो पति को आगम जान्यो सजे सिंगार घनी ॥
भूषण चित्र विचित्र देखियत शोभित सुन्दर अंगनि ।
मान कोटिकसी कटि किकिनि उपवन बसन सुरंगिनि ॥



ॐ श्रीकृष्णाय नमः ॥
ॐ श्रीगोपीजनवल्लभाय नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्भगवत्पाद-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४२वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ३६वां अध्याय

राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण

‘सप्तमः अध्यायः’

कुब्जा पर कृपा, धनुष मङ्ग और कंस की घबराहट

कारिका—एकोनचत्वारिंशे तु हरेरद्भुतकर्मणः ।

स्वासक्त्यर्थं राजसानां वीर्यं तस्य निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस उगचालीसवें अध्याय में तो राजस भक्तों की भगवान् में आसक्ति सिद्ध होने के लिए अद्भुत कर्म करने वाले हरि के वीर्य का निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—अलौकिकं लौकिकं हि प्रसन्नः कुरुते फलं ।

नान्यस्तत्र फलं दातुं शक्नोतीति धनुःकथा ॥२॥

कारिकार्थ—भगवान् प्रसन्न होकर अलौकिक तथा लौकिक फल प्रदान करते हैं ।

कारिका—प्रमाणानां कलं ह्येतत् कार्यं चापि निरूपितं ।

कुब्जाप्यत्र धनूरूपा वायुना तु तथा कृता ॥५॥

वारिकार्थ—भगवान् का लौकिक तथा अलौकिक माहात्म्य को बतलाना ही प्रमाणों का फल है । इसलिए प्रमाण प्रकरण के अन्त में भगवान् के लौकिक अलौकिक माहात्म्य का निरूपण करना उचित है, यह 'हिं' शब्द का अर्थ है । प्रमाणों का कार्य कंस को अपनी मृत्यु का ज्ञान हो जाता है, इस प्रकार ये प्रमाणों का फल तथा कार्य का निरूपण किया है । कुब्जा भी धनुष के आकार वाली -कुबड़ो- है, जिसको वायु ने कूट वाली कर दिया था ॥५॥

कारिका—आध्यात्मिको रुद्ररूपः शिष्टौ धनुषि संस्थितौ ।

यत् पालकं तस्य खण्डौ साधनं नाशने मतम् ॥६॥

कारिकायं—काल के तीन रूपों में आध्यात्मिक काल एद्र रूप है और आधि-
भौतिक और आधिदैविक काल धनुष में निवास कर रहे थे। कंस जिस धनुष को
अपना पालन (रक्षक) मान रहा था, उसके दोनों खण्डों को भगवान् ने उस (कंस)को
मारने में साधन माना है ॥६॥

कारिका—कालोपि विपरोतोभूत् दुर्निमित्तैः पतिद्विषां ।

बुद्धिहि न हिता तस्य प्रतिकूलेखिलं'हरौ ॥७॥

कारिकार्थ—प्रसुरों का स्वामी काल भी बुरे बुरे निमित्त (शकुन) दिखाकर कंठ

धास्तव में तो लक्ष्मी का अंश रूप थी । इसलिए वह अत्यन्त सुन्दरी हो थी । अतः उसके शरीर के जितना सा भाग वायु ने कुक्ष्य बना दिया था, उतना ही भाग समान करना था, जिससे भगवान् उसे सम करेगे, क्योंकि जिस प्रकार लक्ष्मीजी के अन्य अंश भगवान् के भोग्य हैं, वैसे ही यह कुब्जा भी भगवान् के भोग करने योग्य है ।

लेख—‘आध्यात्मिक इति’ कंस का उपास्य देव भी उसके प्रतिकूल (उलटा) था, यह कहने के लिए असुररूप से उसके आराध्य देव काल के तीन रूपों का वर्णन करते हैं। काल का आध्यात्मिक रूप रुद्र है, जो रुलाने वाला है अर्थात् मरण काल आध्यात्मिक है, धनुष आधिभीतिक काल रूप है और बाहर धनुष पर स्थापित किया हुआ देव काल का आधिदैविक काल रूप है। यह सब, जिसको कंस अपना रक्षक मान रहा था, उसकी मृत्यु का भगवान् ने साधन बना लिया।



के विपरीत (विरुद्ध) हो गया था, क्योंकि उस कंस की बुद्धि उसका हित करने वाली नहीं थी। उसके आचरण भगवान् के प्रति विपरीत होने के कारण ही यह सब उसके विपरीत हो गया ॥७॥

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—अथ ब्रजन् राजपथेन माधवः स्त्रियं गृहीताङ्गविलेपभाजनाम् ।

विलोक्य कुब्जां युवतीं वराननां पप्रच्छ यान्तीं प्रहसन् रसप्रदः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा—तदनन्तर रस का दान करनेवाले भगवान् माधव राज मार्ग से होकर आगे बढ़े। आगे उन्हें एक सुन्दर मुसुवाली स्त्री दीख पड़ी, जो जवान थी और तीन जगह से कुबड़ी थी। श्रीकृष्ण ने उससे हँस कर पूछा ॥१॥

सुबोधिनी—पूर्वाध्यायान्ते सुदाम्नो भवतात् निर्गत इत्युक्तं, तत्र पुनरप्यस्य गृहे गमनं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं भिन्नप्रक्रमेण स्वपूर्वलीलयैव भगवान् प्रचलित इत्याह अथेति, राजमार्ग एव ब्रजन् स्त्रियं ददर्शति, स्त्रियो हि भगवाः कृपापात्रमिति तत्र भगवतो नात्यन्त प्रयासः, कालेनैव ताः भगवदीयाः क्रियन्ते 'तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रिय' इति वाक्यात्, अतः कुब्जा मध्ये मिलिता, अलीकिकं तत्समीकरणमिति अलीकिकसामर्थ्यज्ञापनाय चतुष्पथ एव तथा करणं, माधव इति, लक्ष्मीपतित्वात् तदंशभूता सेति तस्या उद्धारः वतव्यः, तस्या नागाप्रसिद्धमिति जात्यादिकोप निरूपितं, स्त्रियमिति विशिष्टां भोगयोग्यां, गृहीतमङ्गविलेपभाजनं यथा, सा हि स्वगृहे अङ्गविलेपनं सजीकृत्य कंसार्थं नयति, भगवति च प्रविष्टे ततो राजधर्मा निवृत्ताः भग-

वत्येव समागताः, अत एव वस्त्राणि चन्दन माला राजभोग्याः भगवतैव गृहीताः, तां कुब्जां निर्गतपृष्ठभागां युवतीं वयसोत्तमां, दर्शनेप्युत्तमामाह वराननामिति, भोगे परमयोग्या, मुख्ये उत्ताने असामर्थ्यात्, अतोर्धफलां तां मध्ये मार्गं दृष्ट्वा पप्रच्छ यान्तीमेव न तु सा भगवन्तं दृष्ट्वा स्थिरीभूता, भोगाभावनिश्चयात् भक्तिज्ञानादावनविकारान् दर्शने मनोगवपीडासम्भवात् गच्छन्तीव सा जाता, प्रहसन्निति, तस्याः सर्वमेव विवेकं दूरीकुर्वन् परिभाषणं कृतवान् यथा सा पश्यति, कृपापात्रं भगवान् स्वयमप्याकार्यं स्वस्मिन् प्रवर्तयतीति ज्ञापयितुमाभाषणं कृतवान्, कुञ्जेयमपूर्वा गच्छतीति लोकरीत्या प्रहसनं, ननु गच्छन्तीं किमित्याकारितवान् तत्राह रसप्रद इति, रसमात्मस्वरूपं कामरसं वा प्रकर्षेण वदातीति ॥१॥

लेख—काल उसके प्रतिकूल था, इसमें हेतु का वर्णन करते हैं कि अमुरों का स्वामी काल अपने तीनों रूपों से कंस के विपरीत था। इसलिए उसको वहाँ बुरे बुरे निमित्तों-चिह्नों-को दिखलाता था। कंस को उसकी मृत्यु का ज्ञान हो गया था, किन्तु फिर भी वह उस (भगवान्) के प्रति विपरीत आचरण करने में लगे रहने का कारण यह था कि उसकी बुद्धि ही उसके हित में आचरण नहीं करती थी, बुद्धि ही विपरीत हो गई थी। सब के विपरीत हो जाने का कारण यह है कि भगवान् के प्रति विरुद्ध आचरण करने पर सभी विपरीत हो जाते हैं।

व्याख्यान—गत अध्याय में भगवान् का सुदामा के घर से बाहर पधारने का वर्णन किया जा चुका है। अब किसी दूसरे के घर पर भगवान् का पधारना सम्भव नहीं था। इसलिये (अथ-भिन्न ऋग से) भगवान् पहले की तरह ही नगरी का अवलोकन करते हुए आगे पधारे, यह दृग ‘अथ व्रजन्’ श्लोक से कहते हैं। भगवान् ने राजमागं से ही पधारते समय स्त्री को देखा। स्त्रियां भगवान् की कृपा पात्र हैं। इसलिये भगवान् को सुदामा की तरह उनके घर जाने आने का परिश्रम नहीं करना पड़ता है। ‘तत्प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियाः’ (उनका प्रिय करने के लिये दोनों की स्त्रियों जन्म लो १०।१।२३) इस वाक्य के अनुसार स्त्रियों को तो भगवान् के अवतार के समय-काल-ने ही भगवदीय बना दिया है। इसलिये कुब्जा भगवान् के मार्ग के बीच में मिल गई। उसकी कृप को दूर करके सुन्दर सीधी ध्रुवती बना देना भगवान् का अलौकिक सामर्थ्य है। इस अपने अलौकिक सामर्थ्य को प्रकट करने के लिये भगवान् ने चौराहे में ही उसकी कृप निवाल (दूर कर) दी। भगवान् माधव लक्ष्मीजी के पति हैं और कुब्जा लक्ष्मीजी का भग्न है। इसलिये भगवान् को उसका उद्धार करना चाहिये।

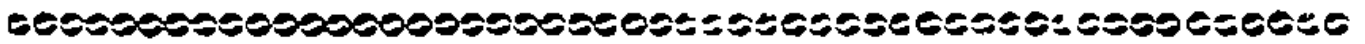
उसका नाम प्रसिद्ध नहीं होने से जाति आदि कहकर निरूपण किया है। उस भोग करने योग्य सुन्दर स्त्री को जो अपने घर पर सुन्दर चन्दन (अगविलेपन) तैयार (सिद्ध) कर के कंस के लिये ले जाने वाली थी, देखा। भगवान् ने जब मथुरा में प्रवेश किया उसी समय कंस राजा के धर्म (गुण) उससे निकल कर भगवान् में आ गये थे। इसीलिये राजा के भोगने योग्य वस्त्र, चन्दन और मालाओं को भगवान् ने ही अंगोकार किया था। भगवान् ने उस नई अवस्थावाली भी, बड़ी सुन्दर भी, किन्तु पीठ पर कूब होने के कारण भोगने के अयोग्य कुब्जा को देखा। पीठ में कूब के कारण भगवान् के दर्शन का पूरा फल नहीं पाने वाली बीच मार्ग में चलती हुई उस से ही भगवान् ने देख कर आगे श्लोक के अनुसार-पूछा। भगवान् को देख कर वह ठहरी नहीं, क्योंकि उसको यह निश्चय नहीं था कि भगवान् उसका भोग करेंगे, भक्ति ज्ञान में उसका अधिकार ही नहीं था और एक कर कोटिकन्दर्प लावण्य भगवान् के दर्शन करने पर कागदेव को पीड़ा देना सम्भव था। इसलिये वह न रुक कर चलती सी ही रही।

भगवान् अपनी अद्भुत हंसी के द्वारा कुब्जा की सारी रामभूष को हर नेते हुए और उसको इस बात का ज्ञान कराते हुए कि भगवान् कृपापात्र जीव को स्वयं ही बुलाकर अपनी ओर लगाते हैं, उससे बोले। उस विचित्र कुबड़ी को जाते देख भगवान् को (लोकरीति के अनुसार) खूब हंसी आई। भगवान् ने (चली) जाती हुई स्त्री को क्यों बुलाया? इस शंका का समाधान ‘रसप्रद’ इस विशेषण से करते हुए कहते हैं कि भगवान् अपने स्वरूप से रस का अथवा कामरस का अत्यन्त दान करने वाले हैं, इसलिये उसे ठहराकर भगवान् बोले (पूछने लगे) ॥१॥

श्लोक—क। त्वं वरोर्वेतदुहानुलेपनं कस्याङ्गने वा कथयस्व साधु नः ।

देहावयोरङ्गविलेपमुत्तमं श्रेयस्ततस्ते न चिरात् भविष्यति ॥२॥

श्लोकार्थ—हे सुन्दरी! तुम कौन हो? यह चन्दन अङ्गराग आदि अनुलेपन तुम किस के लिए ले जा रही हो? यदि उचित समझो तो हमको ठीक ठीक बतलाओ।



हमारी इच्छा है कि तुम यह उत्तम अनुलेपन हम दोनों के लिए देओ। ऐसा करने से तुम्हारा शीघ्र ही कल्याण होगा ॥२॥

सुबोधिनी— प्रश्नमाह का त्वमिति वरोदिति सम्बोधन भोगयोग्यतां सूचयति, उह अपि च एतदनुलेपनं कस्य त्वं वा कस्येति, अङ्गनेति पुनः प्रीत्या सम्बोधन तव विशेषप्रीत्या भोगयोग्यतां सम्पादयिष्यामीति ज्ञापनार्थं, वेत्तनादरे, नास्माकं सम्बन्धिगणितज्ञाने किञ्चित् प्रयोजनमिति साधु यथा भवति तथा नोस्मभ्यं कथयस्व, किञ्च, प्राय-

पोरेतदनुलेपन उत्तम प्रतीयत इति देहि, अङ्गविलेपने दत्ते अङ्गमेव दास्यामीति भगवदभिप्रायः, तदेवाह श्रेय इति, ततस्ते अचिरादेव श्रेयो भविष्यति, यद्यपि दानफल देशादीनां प्रशस्तत्वाभावात् शीघ्रं न भविष्यति तथापि दशानमपि दाने शीघ्रं सकलं भविष्यतीति तथोक्तिः ॥२॥

व्याख्यानार्थ— 'का त्वं' इस श्लोक से भगवान् के प्रश्न का निरूपण करते हैं। हे धरोरु ! हे सुन्दर जघन धाली ! इस सम्बोधन से यह सूचित किया कि वह भोग करने योग्य थी। 'उह अपिच' यह बता कि यह लेप किसका है ? अथवा तू किस की 'स्त्री' है ? हे गुन्दरी ! यह फिर किया हुआ सम्बोधन इस बात को सूचित करता है कि तुझ पर मेरा विशेष प्रेम होने से मैं तुझको भोग करने योग्य बनाऊंगा। वा यह अनादर अर्थ में प्रयोग है अर्थात् यह लेप अथवा तुम किस की हो, यह जान लेने से हमें कोई प्रयोजन नहीं है। जैसा उचित हो, वैसा हम से ठीक ठीक कहो।

देखो तो यह अंगविलेपन बड़ा उत्तम दिखाई देता है। इसे हमारे लिये दे दो। इस कथन से भगवान् का यह अभिप्राय है कि अंगविलेपन दे देने पर मैं अंग का ही दान कर दूंगा। इसी बात को श्लोक के चौथे चरण से कहते हैं कि इससे तेरा शीघ्र ही कल्याण होगा। यद्यपि देश आदि के यहां उत्तम न होने से उसे लेप के दान का फल तत्काल नहीं मिलेगा, तो भी हमारे लिये अनुलेपन देते समय हमारे दर्शन का फल तत्काल ही मिल जाएगा, इस अभिप्राय से ऐसा कहा है।

सैरन्ध्र युवाच—

श्लोक—दास्यस्म्यहं सुन्दरवर्यं सम्मता त्रिवक्रनामा ह्यनुलेपकर्मणि ।

मद्भावितं भोजपतेरतिप्रियं विना युवां कोन्यतमस्तदहंति ॥३॥

श्लोकार्थ— कुब्जा ने कहा—हे सुन्दर श्रेष्ठ ! मैं तीन जगह से कुबड़ी होने के कारण त्रिवक्रा और कुब्जा कहलाती हूँ। मैं कंस राजा की दासी हूँ। राजा के अंगों में चन्दन, अँगराग लगाना मेरा काम है। मैं अपने काम में बड़ी चतुर हूँ। इसलिए मेरे बनाए अँगराग और चन्दन पर राजा की बड़ी प्रीति है। पर आप पुरुषोत्तम हैं। आप के सिवा इस सुगन्धित अङ्गलेप के योग्य कौन है ? ॥३॥

सुबोधिनी—सा तु सैरन्ध्री अन्तःपुरदासिका बहिस्तिष्ठति अभर्तृका च, सा स्वस्वस्था निरूपयति दास्यस्मीति, स्वभावतो जात्येव दासी,

सुन्दरवर्येति सम्बोधनात् त्वं चेत् कृपां करिष्यसि तदेव भविष्यामीति, राजदास्योपि वेश्याप्रायाः गुणाः, परं अनुलेपकर्मणि चतुःसमन्निर्मणे सम्मतां



सर्वेषामेव, अस्मिन्नर्थं अनुलेपभाक्ता राजा प्रमा- कंसस्यातिप्रियं, अतः वां भवन्तो विना अन्यतमः
गमिति तस्यापि सम्प्रतिगाह मञ्जावितमिति, को वा अहंति, भोजपतेः प्रियमेव, न तु भोजपति-
मया भावितं न गतो निमित्तगङ्गाविलेपनं भोजपतेः रहंति ॥३॥

व्याख्यार्थ—वह कुब्जा तो अतः पुर (रगुवास) की दासी (खवासणी) महल के बाहर रहती थी और पातविहीन थी। वह 'दास्यस्म्यह' इस श्लोक में अगना स्वरूप बतलाती है कि मैं स्वभाव से जाति से ही दासी हूँ। हे सुन्दर पुरुषों मे उत्तम ! इस सम्बोधन से यह सूचित करती है कि आप (भगवान्) कृपा करेंगे तो मैं आपकी ही होजाऊँगी। राजा की दासियाँ भी प्रच्छन्न (छिपी) वेश्या जैसी ही हो जाती है। मैं हूँ तो दासी, परन्तु केसर कस्तूरी, अगर और तगर इन चार सुगन्धित द्रव्यों को समान भाग में डाल कर अनुलेप (चन्दन) बनाने में मैं सब ही की मानी हुई हूँ। सब की पसन्द की हुई हूँ। इस विषय में अनुलेप का भोग करने वाला राजा ही प्रमाण है। इसलिये वह राजा की सम्प्रति कहती है कि मेरे द्वारा समान सुगन्धी पदार्थों से सिद्ध किया अंगो गर लगाने का लेप (चन्दन) कंस को अत्यन्त प्रिय है। अतः आप दोनों के अतिरिक्त (सिवाय) दूसरा कौन इस अनुलेप के योग्य है ? भोजपति (कंस) को तो यह केवल प्यारा ही है, वह इस के योग्य नहीं है ॥३॥

श्रीशुकोवाच—

श्लोक—रूपपेशलमाधुर्यहसितालापवोक्षितः ।

धर्षितात्मा ददौ सान्द्रमुमयोरनुलेपनम् ॥४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं—महाराज! श्रीकृष्ण, बलदेवजी के रूप, सुकुमारता, माधुर्य रसिकता, मन्द मुस्कान से बातचीत और चितवन ने कुब्जा के मन को मोह लिया। इसलिए उसने उनको वह घना चन्दन और अनुलेपन दे दिया ॥४॥

सुबोधिनी—यद्यपि राजकीयं तत् ततो जीवति राज्ञि अर्हंतु वा मा वा, तथापि नान्यस्मै दातुमुचितं, तथापि कामेन भगवद्वशा भूत्वा दत्तवतीत्याह रूपेति, रूपं भगवतो नीलमेघश्याम, तस्य पेशलं कोमलता, अङ्गानां भोगयोग्यता, माधुर्यं तस्यैव कोमलताया अयगधिको गुणः, माधुर्यगुक्तं वा हसितं, हसितपूर्वकमालापश्च वोक्षितानि च, रूपं हसितं भाषितं वोक्षणमिति देहेन्द्रियान्तःकरणात्मनां वशीकरणसाधनान्येता- नीति, तर्धर्षितात्मा स्वरूपात् व्यावितदेहेन्द्रिया- दिरूपा सान्द्रं गाढं अन्तःस्थितमुमयोरनुलेपनं ददौ, उमयत्राणि मनःप्रीतिरिति भगवतापि तयं व याचितमिति ॥४॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि वह चन्दन राजा के लिए था। राजा उस लेप के योग्य हो या न हो, किन्तु राजा के होते हुए तो वह अनुलेप किसी अन्य के देने योग्य था ही नहीं, तथापि काम के द्वारा भगवान् के वशीभूत हुई उसने वह लेप भगवान् को दे दिया, यह 'रूपपेशल' इत्यादि श्लोक से कहते हैं। रूप-भगवान् का मेघ जैसा श्याम रूप-, स्वरूप की कोमलता, भोग की योग्यता-माधुर्य-, कोमलता का अतिशय गुण अथवा मधुरतापूर्ण हास्य, हास्यपूर्वक सम्भाषण तथा चितवन, ये सब क्रम से देह,

इन्द्रिय, अतःकरण और आत्मा को वश में करने के साधन है । इन के द्वारा स्वरूप से चलायमान किए हुए देह, इन्द्रियादि वाली उस कुब्जा ने वह गाढ़ा सुगन्धित लेप दोनों के प्रयण किया (लगाया)। श्रीकृष्ण और कुब्जा दोनों में मन की प्रसन्नता होने के कारण भगवान् ने भी वैसा ही गाढ़ा चन्दन चाहा था, जो कुब्जा ने दिया ॥४॥

श्लोक—ततस्तावङ्गरागेण स्ववर्णंतरशोभिना ।

सम्प्राप्तपरभागेन शुशुभातेनुरञ्जितो ॥५॥

श्लोकार्थ—गौरे बलदेवजी के श्याम और श्याम वर्ण श्रीकृष्ण के पीले अङ्गराग शरीर के ऊपर के भाग पर कुब्जा ने लगाया, जिससे उन दोनों की बड़ी शोभा हुई ॥५॥

सुबोधिनी—ततो भगवत्तखिविधोप्यलङ्कारो जात इत्याह ततस्ताविति, स्ववर्णात् शुक्लीलात् इतरो यः पीतो वर्णः तेन शोभिना शोभायुक्तेन अङ्गरागेण तावुभावपि शुशुभाते, स्वरूपतः शोभा-कर्तृत्वं वारयति सम्प्राप्तपरभागेनेति, सम्यक् प्राप्तिः परो नाभेरुर्ध्वभागो येनाङ्गरागेण, नाभे-

रुर्ध्वं सर्वत्रैव कण्ठपर्यन्तव्याप्तगनुलेपनम्, यथा वस्त्राणां मालादीनां वा शोभा नागता भवति तथा प्राप्तिः सम्यक् प्राप्तिः, ननु वस्त्रादिष्वर्णेन स्वतो वा तदपगमे कथं शोभा प्रतिष्ठिता स्यादत आह अनुरञ्जिताविति, माञ्जिष्ठादिना वस्त्रगिव तेन रागयुक्ती जाती प्रीती वा ॥५॥

व्याख्यान—तब इस प्रकार से भगवान् वस्त्रों, मालाओं और चन्दनादि तीन प्रकार के अलङ्कारों से अलंकृत हुए, यह 'ततः' इस श्लोक से कहते हैं । अपने श्वेत तथा श्याम रङ्ग से भिन्न श्याम तथा पीले रङ्ग के सुन्दर अनुलेप से बलदेवजी और श्रीकृष्ण अत्यधिक सुशोभित हुए । शरीर के ऊपर के भाग में लगाया हुआ वह अनुलेप, इस अनुलेप के विशेषण से यह सूचित किया है कि वह लेप वास्तव में भगवान् को शोभावर्धक नहीं था । नाभि के ऊपर श्रीकण्ठ तक सभी अङ्गों में चन्दन लगाया हुआ था । अनुलेप इस अच्छी प्रकार से किया था कि जिससे वस्त्रों और माला आदि की शोभा नष्ट नहीं हुई थी ।

वस्त्रों, मालाओं के साथ स्पर्श-रगड़-से अथवा अपने आप चन्दन पुंछ जाने पर उस लेप से हुई शोभा स्थिर कैसे रह सकती है ? ऐसी शङ्का की निवृत्ति के लिए 'अनुरञ्जितो' -प्रसन्न हुए- यह विशेषण दिया है । तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मंजीठ आदि से वस्त्र रङ्गे जाते हैं, उसी प्रकार उस अनुलेप से दोनों स्नेह वाले तथा प्रसन्न हुए ॥५॥

श्लोक—प्रसन्नो भगवान् कुब्जां त्रिवक्त्रां रुचिराननां ।

श्रज्ज्यो कर्तुं मनश्चक्रे दर्शयन् दर्शने फलम् ॥६॥

श्लोकार्थ—तब भगवान् ने अपने दर्शन का फल दिखाने के लिए उस गर्दन, छाती



और कगर से टेढ़ी सुन्दर मुखवाली कुब्जा को सीधा कर देना चाहा ॥६॥

सुबोधिनी- ततो भगवान् वाक्यं कृतमिति किञ्चिन् पल तदानीमेवाग्रिमफलसाधकं कर्तुमा-
रब्धवानित्याह प्रसन्न इति, तस्याः कृतं शोभाति-
शयं ज्ञात्वा प्रसन्नो जातः, भगवांश्च सर्वफलदान-
समर्थः तथाप्यादौ दोषो दूरीकृतव्य इति दोषमेव
दूरीकृतवान्, तदर्थमाह कुब्जामिति, न केवलं
कुब्जत्वमात्रं किन्तु त्रिवक्त्रां ग्रीवा पादौ मध्यमिति,
मुखे वक्रतामाशङ्क्य तदव्यावृत्त्यर्थमाह रुचिर-

माननं यस्याः, ऋज्वी कुब्जतां वक्रत्वं च दूरीक-
रिष्यामीति मनश्चक्रे, ब्रह्ममृष्टौ सा तथा भूतवेति
मूनेच्छाया अभावात् नूतन मनः कर्तव्यं, राजसा
ह्यतिकठिना इति तेषामर्थं नूतनमपि करोतीति
ज्ञापयति, नन्वेतदङ्गरागदानफल, तथा सति
शास्त्रविरुद्धमित्याशङ्क्याह दर्शने फलं दर्शयन्निति,
दर्शनस्यापि नैतत् फलं किन्तु दर्शनं कदेशस्येति
सप्तम्या निरूपितम् ॥६॥

व्याख्या:- कुब्जा ने भगवान् की आज्ञा मान कर अंगलेप दिया चन्दन लगाया । तब
भगवान् ने भावी (आगे का) फल प्राप्त करनेवाला कुछ फल उसी समय प्रदान करने का प्रारम्भ
किया, यह 'प्रसन्नो' इस श्लोक से कहते हैं । कुब्जा का (भगवान् की अतिशय शोभा-रूप) कार्य
जान कर भगवान् उस पर प्रसन्न हुए और भगवान् ने सारे फलों को देने में समर्थ होने पर भी
पहले दोष दूर करना चाहिए, ऐसा बतलाते हुए पहले तीन बांक वाली उसको सीधा किया, उसके
दोष को ही दूर करने का मन किया । वह शरीर में एक ही अंग में कूबवाली नहीं थी, किन्तु उसको
तो गला, पांव और छाती तीनों ही टेढ़े थे । उसके मुख में बांक नहीं थी । उसका मुख बड़ा सुन्दर
था । भगवान् ने प्रसन्न होकर इसके अंगों की बांक को दूर करूंगा, उसको एक सरीखा करने का-
मन में विचार किया ।

यद्यपि ब्रह्माजी की सृष्टि में वह शरीर में तीन स्थान में बांक वाली ही थी, इसलिए मूल
स्वरूप की उसको एक सरीखी सीधी करने की इच्छा नहीं थी, तो भी भगवान् को उसे सीधी करने
का अपना नवीन मन बनाना (करना) चाहिए । इस कथन से यह ज्ञात होता है कि राजस भक्त
अत्यन्त कठिन होते हैं और इसीलिए भगवान् नवीन मन भी (कार्य भी) करते हैं ।

कुब्जा को अंगराग लगाने का फल भगवान् ने उसी की बांक निकाल के दे दिया । यह तो
शास्त्र विरुद्ध बात है ? ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि अपने दर्शन होने पर भगवान् ने यह फल
दिखाया है और वह भी दर्शन के एक अंश का ही फल था । यह इस 'दर्शन' सप्तमी विभक्ति से
निरूपण है किया है ॥६॥

श्लोक—पद्म्यामाक्रम्य प्रपदे द्वयङ्गुत्पुत्तानपाणिना ।

प्रगृह्य चुबुकेध्यात्ममुवनो नमदच्युतः ॥७॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण ने अपने दोनों चरणों से कुब्जा के दोनों पैरों को आगे से
दबाया और दो अँगुलियाँ उसकी ठोड़ी में लगा कर ऊपर एक झटका दिया ॥७॥

सुबोधिनी—रामीकरणप्रकारमाह पद्म्यामा-
कथ्येति, तस्याः पादाग्रद्वयं स्वरयं पद्म्यामाकथ्य
पृष्ठभागे हस्तं दत्त्वा द्व्यङ्गुलीोत्तानपाणिना कनि-
ष्ठानामिके राङ्गोच्य मध्यमादेशिनीद्वयमुत्तान
विधाय चिबुकाघो गृहीत्वा अध्यात्मं तस्य शरीर
उदनीनमत् ऊर्ध्वं नीतवान्, ननु स्त्रीस्पर्शो भावा-
न्तरोत्पत्तोरावश्यकत्वात् कथमव्यय एवं कृतवानि-

त्याह अच्युत इति, अच्युतत्वादेव तामपि नावय-
यशः च्युतां कृतवान् विस्त्वपेक्षितप्रकारेणैव समा-
चक्रे, भगवान् प्रवारान्तरेणापि कृष्वी करोति
तथापि सा यान्ती स्थितेति तस्यै काममोक्ष देव
दातुं द्वे एवाङ्गुली उत्ताने कृते अङ्गुष्ठस्य तु
सर्वसमत्वात् न योजनम्, एवं कीदृशगिव वस्त्रपु-
तलिकागिव सञ्जीवकार ॥७॥

व्याख्यार्थः—‘पद्म्याम्’ इस श्लोक से कुब्जा को सीधी करने का प्रकार बतलाते हैं । भगवान् ने उसके दोनों पैरों के आगे के भागों को अपने चरणों से दबाकर उसकी पीठ पर एक श्रीहस्त रख दिया और दूसरे श्रीहस्त को कनिष्ठिका तथा अनामिका अंगुलियों को सिकोड़ कर देण मध्यमा, तर्जनी दो अंगुलियों को लम्बी करके उसकी ठोड़ी को नीचे पकड़ कर उसके शरीर को ऊँचा कर दिया ।

स्त्री का इस प्रकार स्पर्श करने पर मन में अन्य (काम) भाव अवश्य उत्पन्न हो जाता स्वामाविक है । फिर भगवान् ने व्यग्र हुए बिना ऐसा कैसे कर दिया ? इस शंका को दूर करने के लिए कहते हैं कि भगवान् स्वयं अच्युत है और इसलिए कुब्जा को भी किसी (शरीर के) अवयव से नहीं बिगाड़ा, किन्तु ऊपर बताए हुए अपेक्षित प्रकार से ही उसे एक सरीखी (सीधी) कर दिया ।

सर्वशक्तिमान् भगवान् उसकी दूसरी रीति से भी सीधी कर सकते थे, तथापि वह तो चली जा रही थी और उसी काम और मोक्ष दो ही पदार्थ देने थे इसलिए भगवान् ने अपनी दो ही अंगु-
लियों को ऊँचा उठाकर उसे सीधी कर दी । अंगूठा तो सभी अंगुलियों में समान है । इस कारण से अंगूठा नहीं गिलाया । इस प्रकार खेल में जैसे कपड़े की पुतली की तरह कुब्जा के शरीर की कृब निकाल कर एक समान कर दिया ॥७॥

श्लोक—सा तदर्जुसमानाङ्गी बृहच्छ्रोणिपयोधरा ।

मुकुवस्पर्शनात् सद्यो बभूव प्रमदोत्तमा ॥८॥

श्लोकार्थ—भगवान् के स्पर्श से तत्काल कुब्जा का शरीर सीधा हो गया, सब अङ्ग समान हो गए और उसी समय स्थूल नितम्ब तथा स्तनों वाली परम सुन्दरी श्रेष्ठ स्त्री हो गई ॥८॥

सुबोधिनी—भगवत्स्पर्शपर्यन्तमेव तथात्वमिति स्थितिस्थापकसंस्कारेण पूर्ववदेव मा भवत्विति भगवता परित्यक्तामपि तां वर्णयति सा तदेति, सा त्रिवक्त्रापि तदैव ऋजु समानं चाङ्गं यस्या-
स्तादृशी जाता, ननु कुब्जभागे ये अवयवाः बहुवः

स्थिताः ते चेत् तदुदरे प्रविशन्ति तदा कृशोदरी-
त्वं भज्येत अथापगच्छेद्युः तदंकदेशनाशात् अच्यु-
तस्पर्शः न युक्तो भवतीत्याशङ्क्याह बृहच्छ्रोणि-
पयोधरेति, श्रोण्योः पयोधरयोश्च ते भागाः प्रविष्टा
अतो भोगोपकारार्थं व जाताः, किञ्च, मुकुन्दो



मोक्षदाता सर्वेषामेव पूर्वावस्थां त्याज्यित्वा स्वा- | कृत्य लक्ष्मीममानामवस्थां प्रापितवान्, तदाह
नन्दं प्रापयति, तथा तस्या अपि पूर्वावस्थां दूरी- | मुकुन्दस्पर्शनात् सद्य एव प्रमदोत्तमा जाता ॥८॥

व्याख्यान्यः--भगवान् का स्पर्श करने तक तो वह श्रेष्ठ स्त्री बन गई किन्तु तदनन्तर पहले जैसी स्थिति को प्राप्त कराने वाले संस्कार के द्वारा पहले जैसी कूबड़ी न हो जाय (नहीं हुई) यह बतलाने के लिए भगवान् के छोड़ देने के बाद भी कुब्जा के स्वरूप का इस "शातदजु" श्लोक से वर्णन करते हैं । तीन अंगों से थाक वाली भी वह उसी समय सीधी समान शरीर वाली हो गई ।

उसकी कूब के बहुत से भाग यदि उसके पेट में चले गए होंगे तो वह कृशोदरी-पतले पेटवाली नहीं रही होगी और यदि उन अवयवों का नाश हो गया हो तो अच्युत (भगवान्) का स्पर्श करना गुणकारी नहीं रहता है, ऐसी शका करके कहते हैं कि वे कूब के अवयव उसके नितम्बों और स्तनों में प्रविष्ट हो गए, जिससे वह स्थूल नितम्बों और रतनों वाली भोग करने योग्य उत्तम स्त्री हो गई, क्योंकि उसका मुकुन्द (मोक्ष देने वाले) भगवान् ने स्पर्श किया था । मोक्षदाता भगवान् जैसे सभी मोक्ष प्राप्त करने वाले जीवों को उनकी पहले की स्थिति का त्याग करा कर अपने आनन्द का दान करते हैं, वैसे ही भगवान् ने उसकी पूर्व की अवस्था को दूर करके लक्ष्मीजी की सी अवस्था को प्राप्त कर दिया । वह मुकुन्द भगवान् के स्पर्श से उसी समय उत्तम स्त्री हो गई ॥८॥

श्लोक—ततो रूपगुणौदार्यसम्पन्ना प्राह केशवम् ।

उत्तरीयान्तमाकृष्य स्मयन्ती जातहृच्छया ॥९॥

श्लोकार्थ—तब कामदेव से उस रूप, उदारता आदि गुणवाली सुन्दरी का मन चञ्चल हो उठा । हँसती हुई वह दुपट्टे का छोर पकड़ कर भगवान् से कहने लगी ॥९॥

सुबोधिनी—ततो भगवान् स्वार्थमेव कृतवानिति भगवन्तमेव गृहीतवतीत्याह तत इति, ततः तस्या रूपं सम्पन्नं, गुणाश्च पद्मगन्धादयः पूर्णो रराः तस्य च दानार्थमौदार्यं च सम्पन्नं, औदार्यं च सर्वे गुणा इति आन्तराः सत्यादयः सर्वे निरुक्ताः, एवं सर्वगुणसम्पन्ना सती केशव ब्रह्मादिभ्योपि सुखदातार प्राह सा दासीति प्रमदा

जातेति भगवदङ्गस्पर्शोपि वृत्त इति निर्भया सती विटमिव कामरतिकमिव वा उत्तरीयान्तं भगवत आकृष्य तदानीमेव जातभावा स्वहृदयं बोधयन्तीव स्मयन्तीव वक्ष्यमाणमाह, गनु कथं सभायां चतुष्पथे तथा कृतवतीत्याशङ्क्याह जातो हृच्छयो यस्या इति ॥९॥

व्याख्यान्यः--भगवान् ने अपने लिए ही यह सब काम किया था । इसलिए उस (कुब्जा) ने भगवान् को ही ग्रहण कर (पकड़) लिया यह "ततो" इस श्लोक से कहते हैं । उसने सुन्दर रूप कमल जैसे गन्धादि गुणों को और पूर्ण रस को प्राप्त किया । उस अपने पूर्ण रस का दान करने की उदारता प्राप्त की । उदारता में सारे ही गुण रहते हैं । इसलिए सत्य दया आदि भीतरी सभी गुण उसमें आ गए थे । इस प्रकार सभी गुणों से भर पूर हुई वह ब्रह्मादि देवों को भी सुख देने वाले केशव भगवान् से कहने लगी जन्मजात दासी उत्कट मदवाली हुई और फिर भगवान् के श्रीअंग का स्पर्श

भी उसे मिल जाने से वह निर्भय हो गई और भगवान् को कामरसिक अथवा जार की तरह समझ कर उनके दुपट्टी के छोर को खींच कर उसी सगम प्रेम पूर्ण हुई वह अपने हृदय को प्रकट करती सी, हंसती सी, यों बोली-

घोराहं में सब के सागने सभा में उसने ऐसी चेष्टा क्यों की ? इस शका के उत्तर में कहते हैं कि वह कामार्थ हो गई थी । उसका काम भाव उत्पन्न हो गया था । इस लिए उसने किसी बात का विचार नहीं किया ॥६॥

श्लोक—एहि वीर गृहं यामो न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे ।

त्वयोन्मथितचित्तायाः प्रसीद पुरुषर्षभ ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे वीर! आओ मेरे घर चलो । मैं तुम को यहाँ छोड़ कर अकेला घर नहीं जा सकती । तुमने मेरे मन को मथ डाला है । हे पुरुष श्रेष्ठ! मुझ दासी पर आप प्रसन्न होवें ॥१०॥

सुबोधिनी—तस्या वाक्यगाह एहीति, खीणां रसान्तरं न रोचत इति गोपिकावदेषाणि काममेव पुरुषार्थं मन्यते तं दानु समर्थं इति वीरेति सम्बोधनं, गृहं रमणयोग्यमिति, आत्मानं भगवन्तं च आगतया सम्भाव्य याम इत्याह, सर्वेषां कार्यमस्ति चेत् त्वयावश्यमागन्तव्यमित्यभिप्रायेणाह न त्वां त्यक्तुमिहोत्सहे इति, अकृतकार्यत्वात् सम्भूतिरेव सम्पादिता न तु भोजितेति त्यागो दूरे तदर्थमुत्साहमपि न करोमि, नन्वेवं निबन्धे को

हेतुस्तत्राह त्वयोन्मथितचित्ताया इति, त्वया हि चित्तं मदीयमुन्मथितं येन चेतना गता, मथनं कृत्वा हि तत्फलं नवनीतमिव भोक्तव्यम्, अतो भोगार्थं निबन्ध इत्यर्थः, नन्वीश्वरे कथमेवं घाष्ट्यमिति शङ्कायामाह प्रसीदेति, प्रसन्नो भव स्वामिन् त्वयि प्रसन्न एव सर्वं भवतीति, तहि निष्कामां करिष्यामीति चेत् तत्राह पुरुषर्षभेति, हे पुरुषश्रेष्ठ, न हि पुरुषः स्त्रियं निष्कामां करोति अणि तु काण्णपूणमिव, सुतरामेव पुरुषर्षभः ॥१०॥

व्याख्यानः—“एहि वीर” इस श्लोक से कुब्जा के वाक्यों का वर्णन करते हैं । स्त्रियों को केवल कामरस ही सुहाता है, इसलिए यह कुब्जा भी गोपियों की तरह काम को पुरुषार्थ मानती है । भगवान् उस (काम) रस को देने के लिए समर्थ हैं, इसलिए हे वीर! यह सम्बोधन दे कर कहती है कि घर-रमण करने योग्य स्थान पर-चलिए । यह अपने (स्वयं) को और भगवान् को समान मानकर कहती है कि प्रपन्न (हंगा) चलें । इन सब गोपों को अन्य कार्य हो तो भले ही ये सब न चले, अपना अपना कार्य करें, किन्तु आप (श्रीकृष्ण) तो (मेरे साथ) अवश्य चलें, इस अभिप्राय से कहती है, कि मैं आपको यहाँ छोड़ नहीं सकती हूँ । मुझे अपने भोगने योग्य बना कर नहीं भोगा, तब तो मेरा कार्य ही सिद्ध नहीं हुआ, इसलिए आप का तो त्याग करना दूर रहा, मैं तो आपको त्यागने का विचार भी नहीं कर सकती ।

इस प्रकार मेरा आग्रह करने का कारण यह है कि आपने मेरे चित्त को उन्मथित कर (मथ) डाला है और इसीलिए मेरा ज्ञान नष्ट हो गया है । मन्थन करके मन्थन का फल नवनीत (मक्खन)

को तरह भोगना चाहिए । अतः आप मेरा भोग करे, यों भोग के लिए मेरा आग्रह है, यह तात्पर्य है ।

भगवान् से उसने ऐसी धृष्टता कैसे की ? इसके उत्तर में प्रार्थना करती है कि हे स्वामिन! मुझ पर प्रसन्न होवे, क्योंकि आपके प्रसन्न होने पर ही सब इच्छा सिद्ध होती है । आप मुझे अपने सामर्थ्य से निष्काम (कामना रहित) मत कर दीजिए, किन्तु काम पूर्ण (काम वाली) ही बनाइये, क्योंकि आग तो पुण्य अद्वय - श्रेष्ठ - है । पुरुष ही सभी को निष्काम (काम रहित) नहीं करता, काम से पूर्ण ही करता है, तो पुरुषों में उत्तम पुरुष को तो अत्यधिक ही काम पूर्ण करना चाहिए ॥१०॥

श्लोक—एवं स्त्रिया याच्यमानः कृष्णो रामस्य पश्यतः ।

मुखं च वीक्ष्यानुगानां प्रहसंस्तमुवाच ह ॥११॥

श्लोकार्थ—उस स्त्री की यह प्रार्थना सुन कर बलदेवजी के आगे ही अपने साथी अन्य गोपों की ओर देख कर श्रीकृष्ण ने हँस कर यों कहा ॥११॥

सुबोधिनी—एवं कामपीडितायां प्रार्थ्यमानायां सस्यां तदुल्लङ्घनं अनुचितमिति भगवान् कि कृत-वानित्याशङ्कामाह एवंगतिः, एवं निबन्धप्रका-रेण स्त्रिया याच्यमानः कृष्णः तासामेवार्थे अव-तीर्णः तथापि रामस्य पश्यतः सतः, सङ्कोचार्य साधनसिद्धयर्थं वा रामकीर्तनं, ततः अनुगानां च	मुखं निरीक्ष्य चकारात् बलभद्रस्यापि बालाः कोतुकचेतराः बलभद्रो युद्धाभिलाषी इयं च काम-परा एवं च यति सर्वानुरोधः कर्तव्य इति प्रहसन् प्रवर्षणं तां मोहयन् उवाच, हेत्याश्चर्यं, नहि स्त्रीभिः प्रापिताः कृष्णो विलम्बं करोतीति, अथवा, पूर्णानन्दः कथमेवमाह अहमागमिष्यामीति ॥११॥
---	---

व्याख्यान—काम से पीड़ित हुई स्त्री के इस प्रकार से आग्रह करने पर उसकी अवहेलना (उल्लङ्घन) करना अयोग्य होता है । तब भगवान् ने क्या किया ? ऐसी आशङ्का होने पर ‘एव स्त्रिया’ यह श्लोक कहते हैं । इस प्रकार स्त्री (कुब्जा) के आग्रहपूर्वक प्रार्थना करने पर भगवान् श्रीकृष्ण-जिनका स्त्रियों के उद्धार के लिए ही अवतार है-ने बलभद्रजी को देखते हुए, उससे कहा । बलदेवजी की उपस्थिति कहने का अभिप्राय यह है कि इस विषय को यही समाप्त कर दिया जाए अथवा उन (बलदेवजी) की अनुपस्थिति (गैर हाजरी) का चाहना ही जाना है ।

तदनन्तर सेवकों (गोपों) के ओर बलदेवजी के भी मुख की ओर देख कर अर्थात् गोप लोग आनन्द प्रिय हैं । बलदेवजी को युद्ध प्यारा लगता है और यह कुब्जा काम के वशीभूत है, इन सबकी इच्छाएँ पूरी करनी चाहिए, ऐसा विचार करके भगवान् श्रीकृष्ण हँसी से उसको शंका मोहित करते हुए यों कहने लगे । श्लोक में ‘ह’ यह आश्चर्य बोधक अव्यय है, जो यहाँ (१) स्त्रियों की प्रार्थना को पूरी करने में विलम्ब न करने वाले भगवान् का -कुब्जा की इच्छा को पूरी करने में- विलम्ब करना तथा (२) पूर्णानन्द भगवान् का -तेरे घर आऊँगा- इस प्रकार कहना, यों आश्चर्य को सूचित करने के लिए है ॥११॥

श्लोक—एष्यामि ते गृहं सुभ्रु पुंसामाधिविर्षणम् ।

साधितार्थगूहाणां नः पान्यानां त्वं परायणम् ॥१२॥

श्लोकार्थ — हे सुन्दर भौंहों वाली! मैं अपना काम पूरा करके पुरुषों के मानसिक ताप को शान्त करने वाले तुम्हारे घर अवश्य आऊँगा । हे सुन्दरी! बेचरबार वाले हंग जैसे पथिकों के लिए तुम परम आश्रय हो ॥१२॥

सुबोधिनो — भगवद्वाक्यमाह एष्यामि ते गृहमिति सुभ्रु इति सम्बोधन प्रार्थनायमेवेति सूचयति परिहासार्थं, यथा तस्याः अयं रसो गुप्तो भवति तदर्थं उगहासवदाह पुंसामाधिधिक्खणमिति, ये केचन गृह्याः तेषां मनःपीडा गुप्तार्था तां त्वद्गृहेव त्याजयति, अतः आधिविक्खणं, परमारब्धं समाप्य कर्तव्यमिति विलम्बः कर्तव्य इत्याह साधितार्थं इति, कंसं हत्वेत्यर्थः, ननु पश्चा-

दागमिष्यतीत्यत्र किं प्रमाणमित्याशङ्क्याह अगृहाणां न पान्थानां त्वमेव परायणमिति, परिहासोक्तिरेषा, स्वार्थमेवागमिष्याम इति नात्र सन्देहः कर्तव्यः, पान्थानामिति गृहार्थगत्यागगत कश्चित् स्थातव्यमिति, यदि कश्चित् प्रार्थयेत् तदा तत्र स्थितौ कः सन्देह इत्यर्थः, किञ्च, त्वमेव परमयनमिति, अस्माकं गुतरां स्वार्थमुत्पादिता परायण भवत्येव ॥१२॥

व्याख्यार्थः—“एष्यामि” इस श्लोक से भगवान् के वचन कहते हैं । हे सुन्दर भौंहें वाली! यह कुब्जा का विशेषण उस कुब्जा की की हुई काग प्रार्थना के परिहास-हंसी-को सूचित करने के अभिप्राय से दिया है । उसका यह काम रस गुप्त जिस प्रकार से रहे, इसलिए हंसी करते हुए से कहते हैं कि तेरा घर पुरुषों की मानसिक पीड़ा को मिटाने (दूर करने) वाला है । जो कोई पुरुष है, उसके मन की पीड़ा किसी गुप्त कारण से होती है, तो तेरा (कुब्जा का) घर ही उसकी उस मन की पीड़ा को त्याग कराता है । इसीलिए तेरा घर मानसिक पीड़ा को मिटाने वाला है, किन्तु मैं तो अपने आरम्भ किए हुए काम को पूरा करके ही आ सकता हूँ, इसलिए विलम्ब होना जरूरी ही है । अपना काम पूरा करके “साधितार्थ” कंस को मार करके मैं तेरे घर आऊँगा यह अभिप्राय है ।

इसमें क्या प्रमाण है कि आप अपना कार्य समाप्त करने के बाद पधार ही जाओगे ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि हम बिना घर वाले बटोहियों के तुम आश्रय का मुख्य स्थान हो । भगवान् के ये वचन परिहास के लिए हैं । हम अपने स्वार्थ के लिए ही आएँगे । इसलिए (हमारे आने में) इस विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए ।

पान्थनां (बटोहियों का) इस शब्द के कहने का अभिप्राय यह है कि कहीं पर तो रहना आवश्यक ही है । इसलिए निवास का स्थान (घर) पर भी आना आवश्यक ही है, तो फिर यदि कोई घर पर आने की प्रार्थना करे तो वहाँ रहने में फिर सन्देह क्या है ? और फिर तुम तो मुख्य आश्रय का स्थान हो, हमारे तो तुम खास कर आश्रय के स्थान हो, क्योंकि अपने लिए ही जिसे उत्पन्न किया हो, सुन्दरी बनाया हो, वह तो आश्रय का मुख्य स्थान होता ही है, इसलिए अवश्य आएँगे ॥१२॥

श्लोक — विसृज्य माध्व्या वाण्या तां व्रजन् मार्गे वरिणजनेः ।

नानोपायवताम्बूलस्रगन्धैः साग्रजोचितः ॥१३॥



श्लोकार्थ—इस प्रकार मधुर वचनों से कुब्जा को विदा करके श्रीकृष्ण राजमार्ग में और आगे पधारे । बाजार में दूकानदारों ने अनेक भेटें, पान, माला, सुगन्ध, इत्र, फुलेल आदि देकर दोनों भाईयों का पूजन सत्कार किया ॥१३॥

सुबोधिनी—एवमुक्त्वा प्रकृतायंगेय प्रवृत्त इत्याह विसृज्येति, बाणी च माध्वी अर्थस्तु विलम्बसाधकत्वात् न मधुरः, ताभिति सा एका स्त्री कृतोपकारा च एते तु तद्विपरीता इति एतेषां मनोरथसिद्धयर्थं मार्गं एव यजन् राजमार्गं गच्छन् तत्रत्यैवंलिग्जनैः नानाविधान्युपायनानि रिक्तहस्त-परिहाराय ताम्बूलस्रग्गन्धाः पूजासाधनानि, बलभद्रसहितः पूजितः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—कुब्जा से इस प्रकार भगवान् और आगे पधारे यह उस "सृज्य" श्लोक से कहते हैं । कुब्जा को विदा करने में भगवान् की बाणी तो मीठी थी, किन्तु वह विलम्ब करने वाली होने से उसका अर्थ मधुर नहीं था । उपकार करने वाली वह एक (अकेली) स्त्री थी, इसलिए श्लोक में "तां" उस एक स्त्री को विदा करके यों कहा गया है । ये बनिये दूकानदार लाग तो कुब्जा जैसे नहीं थे । इसलिए इन लोगों के मनोरथ सिद्ध हों, इसके लिए उन दूकानदार महाजन लोगों ने राज-मार्ग से पधारने वाले भगवान् की खाली हाथ बढ़ी के पास जाने के दोष को मिटाने के लिए-भांति-भांति की भेटें, ताम्बूल, माला, सुगन्धि आदि पदार्थों पूजा के साधनों से बलदेवजी सहित-पूजा की ॥१३॥

श्लोक—तद्दर्शनस्मरक्षोभादात्मानं नाविन्दन् स्त्रियः ।

विस्त्रस्तवासःकबरबलयालेक्ष्यमूर्तयः ॥१४॥

श्लोकार्थ—मार्ग में दोनों भाईयों के दर्शन करने वाली सभी स्त्रियों के मन काम के वेग से चलायमान हो उठे । विह्वलता के कारण उनकी वेणियों के बन्धन शिथिल हो गए । वस्त्र और कङ्कण खिसक खिसक कर गिर पड़े । वे चित्र में लिखी सी खड़ी रह कर भगवान् के दर्शन करतीं रहीं । उन्हें अपनी देह की सुध बुध नहीं रही ॥१४॥

सुबोधिनी—एवं साधारणपुरुषाणां विनियो-गमुक्त्वा साधारणस्त्रीणामाह तद्दर्शनेति, तस्य भगवतो दर्शनात् यः स्मरस्य क्षोभः तेन आत्मानं देहं नाविन्दन्, दृढा प्रपञ्चविस्मृतिरुक्ता, भगवद्दर्शनं हि स्मरं जनयति नूतनं, पूर्वगप्येकः स्मरः सहजः, उभो मिलितौ क्षुब्धौ जातौ, मुख्यतया दृष्ट्या जातः काम इति स एव क्षोभक उक्तः, यत्र देह-स्याप्यस्मरणं तत्रान्यस्मरणं दूरादपास्तमिति अत्यन्तविस्मरणं ज्ञापयितुमाह विस्त्रस्तेति, सर्वा-

भरणभूषिताः भगवद्दर्शनार्थमागताः, तत्र भगवद्दर्शनेन क्षोभे जाते आभरणानि स्वत एव विशकलितानि जातानि, उभयोरप्युपयोगाभावात् विशेषेण स्रस्तानि अथः पतितानि वासांसि कबरः केशपाशः बलयाः कङ्कणाद्याभरणानि, किञ्च, सर्वक्रियापि निवृत्तेत्याह आलेक्ष्य चित्रमिव मूर्ति-र्यासांगिति पूर्वपक्षिषयाप्येतासां सर्वक्रियाराहित्य-मविकमुक्तम् ॥१४॥



व्याख्यानार्थः—इस प्रकार साधारण पुरुषों का उपयोग कह कर इस 'तद्दर्शन' श्लोक से साधारण स्त्रियों के उपयोग का वर्णन करते हैं। उन भगवान् के दर्शन करके वे स्त्रियां कामदेव से उत्पन्न हुई विह्वलता के कारण अपनी देह का भान भूल गईं। इस कथन से दृढ़ता पूर्वक प्रणव की विस्मृति का वर्णन करते हैं, क्योंकि भगवान् के दर्शन ने नवीन काम उत्पन्न किया है। क्योंकि भगवान् के दर्शन नवीन काम उत्पन्न करता है। एक स्वाभाविक काम तो भगवान् के दर्शन करने के पहिले था ही और दर्शन करने के बाद यह नया काम उत्पन्न हो गया। इन दोनों कामों ने मिलकर खलबलाहट उत्पन्न कर दी। मुख्य रूप से काम भगवान् के दर्शन करने पर ही उत्पन्न हुआ। इसलिए उसको क्षोभ उत्पन्न करने वाला कहा गया है, जिसके कारण वे अन्य सारे पदार्थों को भूल जाने की तो बात ही क्या अपना देह का भी उन्हें स्मरण नहीं (भान नहीं) रह गया था। यह इस श्लोक के उत्तरार्ध से कहते हैं।

वे वस्त्रों तथा आभूषणों से सुसज्जित हो कर ही भगवान् के दर्शन करने आईं थीं, किन्तु भगवान् के दर्शन से उत्पन्न हुई काम जनित विह्वलता के कारण उनके सब आभूषण अपने आप खिसक खिसक कर पृथिवी पर गिर पड़े। वस्त्रों और आभूषणों दोनों का उपयोग न रहने के कारण वस्त्र, आभूषण, केशपास और कंकण आदि सारे आभूषण शिथिल हो गए, नीचे गिर गए। चित्र में लिखी सी मूर्ति वाली उन सबको सारी क्रियाएँ भी एक गईं। पहले कही गईं की अपेक्षा इन के सारे व्यापारों का बन्द हो (रुक) जाना अधिक कहा है ॥१४॥

श्लोक—ततः पौरान् पृच्छमानो धनुषः स्थानमच्युतः ।

तस्मिन् प्रविष्टो दृष्टो धनुरेन्द्रमिवाद्भुतम् ॥१५॥

श्लोकार्थः—तदनन्तर पुरवासियों ने धनुष भवन को पूछते हुए श्रीकृष्ण आगे पधारे और लोगों के द्वारा बताए हुए उस धनुष के स्थान में जाकर भगवान् ने वहाँ इन्द्र धनुष के समान एक बहुत बड़ा तथा विशाल विचित्र धनुष को देखा ॥१५॥

सुबोधिनी—एवमधिभूतरूपाणां प्रपञ्चविस्मृतिमुत्त्वा आधिदेविकानामपि तथा प्रेरणाभावाय मयं वा प्रपञ्चविस्मृति वा जनयन् धनुर्भङ्गाय प्रवृत्त इत्याह ततः पौरान् पृच्छमान इति, सन्ति तत्र द्रष्टुमप्यागता जानपदाः तद्व्यावृत्त्यर्थं पौरा विशेषं जानन्तीति पृच्छमानः, कुत्र धनुर्यागो जायत इति, ननु धनुर्यागि कथं गच्छति भयस्थानत्वादि-त्याशङ्क्याह अच्युत इति, तैरुक्त इत्यर्थसिद्धत्वात् नोक्तम्, अथवा लोकानां भ्रमसिद्धयर्थमेव प्रभः,

गुप्तयैव हि सर्वं कर्तव्यमिति, एवं पृच्छमान एव तस्मिन् यागस्थाने प्रविष्टः धनुर्वदृष्टो, प्रायेणेदं धनुः उपास्यदेवतया स्थापितं यावदिदं धनुः स्थास्यति तावत् न तव पराजय इति, अन्यथा भगवान् तद्भङ्गं न कुर्यात्, सोपि मरणसंशये तदाराधनं न कुर्यात्, यथा ऐन्द्रं धनुर्विचित्रं भवति महच्च तथैवेतदपि, ततोऽप्यद्भुतम्, तदेकविधमेव भवति इदमनेकविधमिति, तत् तस्य प्राणभूतमिति ।

॥१५॥

लेख—'तद्दर्शन' इस श्लोक की व्याख्या में पूर्वपेक्षिया पद का तात्पर्य यह है कि पहले श्लोक में कहे गए वनियों की अपेक्षा अथवा पहले अद्वितीयवैषम्याय में वर्णन की गई स्त्रियों की अपेक्षा इन स्त्रियों में यह अधिकता थी कि इन के तो सारे ही काम रुक गए।



व्याख्यानः—इस प्रकार से आधिभौतिक रूपवाले वनियों की तथा स्त्रियों की प्रपंच विस्मृति का वर्णन करके आधिदैविक रूप वाले धनुष के देवता तथा धनुष के रक्षकों को दिना किसी प्रेरणा के भय अथवा प्रपंचविस्मृति को उत्पन्न कराते हुए भगवान् धनुष को तोड़ने के लिए प्रवृत्त हुए। यह इस ‘ततः पौरान्’ श्लोक से निरूपण किया जाता है। यद्यपि वहां धनुषांग को देखने के लिए गांधी के बहुत से लोग इकट्ठे थे, किन्तु उनसे न पूछ कर, भगवान् ने पुरवासियों से ही धनुषांग जहां होगा, वह स्थान पूछा, क्योंकि पुरवासी ग्रामवासियों से ज्यादा जानते हैं। इसलिए उनसे ही धनुष का स्थान पूछ कर उसके भीतर पधारे।

धनुष की पूजा का स्थान तो भयानक होना चाहिए, भगवान् उसमें कैसे पधारे ? इस प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि भगवान् अच्युत हैं और निर्भर हैं। उन पुरवासियों का भगवान् को दिया हुआ— उत्तर अपने आप अर्थ से समझ में आ जाता है, इसलिए उनके उत्तर को यहां प्रलग नहीं कहा है।

अथवा सारे काम गुप्त रहें, अपनी ईश्वरता प्रकट न होने दें, ऐसा ही करना चाहिए। लोगों के इस भ्रम को बना रहने देने के लिए भगवान् ने उनसे सब जानते हुए भी ऐसा प्रश्न किया। इस प्रकार पूछते हुए भगवान् ने धनुष की पूजा के स्थान में प्रवेश किया और वहां धनुष को देखा। ऐसा प्रतीत होता है कि कंस के इष्ट ‘उपास्य-देवता’ ने ही कंस से यों कह कर कि जब तक यह धनुष, तेरे (कंस के) यहां रहेगा तब तक तेरी हार (पराजय) नहीं होगी, इस धनुष को कंस के यहां रक्खा होगा, क्योंकि ऐसा यदि होता तो भगवान् उस (धनुष) का भंग नहीं करते और कंस भी मरने के भय के समय उसकी पूजा नहीं करता।

यह धनुष इन्द्र के धनुष की तरह विचित्र और स्थूल (मोटा) था। इन्द्र के धनुष की अपेक्षा भी यह अद्भुत था, क्योंकि इन्द्र धनुष तो एक प्रकार का ही होता है और यह तो अनेक प्रकार का “अद्भुत” था ॥१५॥

लेखः—‘ततः पौरान्’ की व्याख्या में ‘अधिभूतरूपाणां’ इत्यादि पदों का अभिप्राय यह है कि केवल देह के उपयोगी पान आदि के देने से बनिए और देह की विस्मृति के कथन से स्त्रियां आधि-भौतिक हैं। देह की प्रधानता से ये आधिभौतिक हैं और इसीलिए श्लोक में “आत्मानं-आत्मा” शब्द की देह रूप से व्याख्या की है।

‘आधिदैविकानां’ आधिदैविकों का इत्यादि का तात्पर्य यह है कि जिस में देवता का आह्वान किया है, वह धनुष और हाथों में शस्त्र धारण करके उसकी रक्षा करने वाले धनुःरक्षकों तथा उन आह्वान किए हुए देवता जिन का आगे के ‘गुरुषः’ इस श्लोक में विचार किया जायगा, दोनों का ही भय तथा प्रपंच की विस्मृति दोनों उत्पन्न करने के लिए भगवान् ने धनुष तोड़ने के लिए प्रवृत्ति की।

‘तथेति’ यहां देवता और रक्षकों को भय तथा प्रपंच की विस्मृति कराने का प्रयोजन यह है कि भयभीत और प्रपंच को भूले हुए वे कंस को उसी समय भगवान् के साथ युद्ध करने के लिए प्रेरित न करें, क्योंकि यदि उसी समय कंस को युद्ध के लिए प्रेरित कर देते हैं तो भगवान् उसे उसी समय मार देंगे और तब तो कुबलयापोड़ और मल्लों के वध की लीला आदि न हो सकेगी।



श्लोकः—पुरुषेर्बहुभिर्गुप्तमर्चितं परमर्द्धिमत् ।

वार्यमाणो नृभिः कृष्णः प्रसह्य धनुराददे ॥१६॥

श्लोकार्थः—बहुत से सिपाही उस समय स्मृद्धिशाली पूजनीय धनुष की रक्षा कर रहे थे । वे रक्षक रोकते ही रहे, किन्तु भगवान् श्रीकृष्ण ने लीलापूर्वक उस धनुष को बलात् (जबरदस्ती) उठा लिया ॥१६॥

सुबोधिनी—पुरुषेर्बहुभिर्गुप्तं तद्रक्षकाः शस्त्र-
पाणयः देवताश्च दैत्यहितेषिण्यस्तदाह बहुभि-
रिति, किञ्च, तर्दचितं वस्त्रादिभिः अनेन देवता-
शान्निध्यमुक्तम्, अनुभावमप्याह परमर्द्धिमुक्त-
मिति, ततो दर्शनार्थं गतो भगवान् अदृश्यः अन्तः

प्रविष्टः सन् तद्धनुर्गृहीतवानित्याह वार्यमाणो
नृभिरिति, सर्वरेव नृभिर्ग्रहणे वार्यमाणः कृष्णः
तदर्थमेवावतीर्णः प्रसह्य बलात् तान् दूरीकृत्य
धनुराददे पूजास्थान पदम्यामाक्रम्य धनुर्गृहीत-
वान् ॥१६॥

व्याख्यानार्थः—वह धनुष कंस का प्राणरूप था । इसलिए उतारने बहुत से पुरुषों को उसकी रक्षार्थ नियुक्त कर रखे थे । वे रक्षक (सैनिक) लोग शस्त्रधारी तथा दैत्यों का हित चाहने वाले देवता थे । यह अर्थ बहुत से पुरुषों के द्वारा रक्षा किया गया “बहुभिः पुरुषेर्गुप्तं” इन पदों से प्रकट होता है । वह धनुष वस्त्र भूषणों से पूजा किया गया था इस विशेषण से उस [धनुष] में देवता की उपस्थिति और अलौकिक शक्तिवाला था, इस विशेषण से उस “धनुः” का अत्यधिक प्रभाव भी कहा गया है । फिर उस धनुष को देखने के लिए अदृश्य रूप से धनुर्गृह के भीतर पधारे हुए भगवान् ने कंस का वध करने के लिए ही जिनका अवतार है, सो सारे रक्षक पुरुषों के रोकने पर भी बल पूर्वक उन्हें हटाकर तथा अपने दोनों श्रीचरणों से उसकी पूजा के स्थान पर आक्रमण (चढ़) कर धनुष को उठा लिया (पकड़ लिया) ॥१६॥

श्लोकः—करेण वामेन सलोलमुद्धृतं सज्जं च कृत्वा निमिषेण पश्यताम् ।

नृणां विकृष्य प्रबभञ्ज मध्यतो यथेक्षुवण्डं मदकपुं रुक्मः ॥१७॥

श्लोकार्थः—महा पराक्रमी गजराज जैसे ईश्वर के दो टुकड़े वर डाले वैसे ही श्रीकृष्ण ने सब लोगों के सामने ही उस धनुष को लीलापूर्वक बाएँ हाथ से उठा लिया और उस पर डोरी चढ़ा कर खींच कर क्षण मात्र में बीच में से तोड़ डाला ॥१७॥

सुबोधिनी—ग्रहणे प्रकारं वदन् भङ्गमाह
करेणेति, धनुर्गृह वामकरेणैव स्थाप्यते दक्षिणे-
नापि गृहीत्वा अवहेलया दैत्यांशत्वाच्च वामेनैव
ग्रहणं लोत्थयेति तेषां युद्धार्थं प्रवृत्त्यभावायैव-
मपि पश्यन् यदि युद्धार्थं प्रवर्तते तदा भगवतो न
कोपि दोष इति ज्ञापयितुं सलोलमुद्धृतं सज्जं च

कृत्वा निमिषेण निमिषमात्रेण स्थितेव प्रत्यश्चा,
भङ्गभयावात् अग्रे नामितवान्, तथा करणमल्पे-
नापि कालेन भवति, अनिमिषेण वा पश्यतां
रतां, ततो मध्ये धृत्वा विकृष्य प्रबभञ्ज मध्य
एव यथा योजितं न भवति, हृदमुष्टि बद्धवा गाढ-
माकृष्य पश्चात् मुष्टिमध्यस्थित्ये धनुषो भङ्गो

भवति, प्रतस्तथा विकृत्य मध्यतः प्रवभञ्ज. प्रक-
पण भङ्गः नावयवशः किन्तु खण्डद्वयप्रकारेण,
आयासाभावाय दृष्टान्तमाह यथेक्षुदण्डमिति,
दण्डपदेन शुष्कताप्युक्ता, मवयुतश्च करो जाना-

व्यपि न, ननु दृष्टान्तगात्रेण न साध्यं सिध्यति
किन्तु दार्ष्टान्तिके युक्तेन, तन् कथं बालेन धनुषो
भङ्गोनायासेनेति चेत् तत्राह उरुक्रम इति ॥१७॥

व्याख्यानार्थः—“करेण वागेन” इस श्लोक से धनुष को पकड़ने का प्रकार बतलाते हुए उसका तोड़ना कहते हैं। धनुष जब चढ़ाया जाता है तब बाएँ हाथ में ही रक्खा जाता है। पिछले श्लोक १६ के अनुसार दाये हाथ से भी पकड़ कर धनुष का तिरस्कार प्रदर्शित करने तथा उसमें दैत्यों का अंश होने (रहने) के कारण से भी बाएँ हाथ से ही उसे पकड़ा। उसके रक्षक शिपाही युद्ध के लिए प्रवृत्त (तैयार) न होवे इस लिए उससे विशाल होने पर भी उसे लीला पूर्वक ही ऊंचा उठा लिया। उनके सामने ही यों लीला पूर्वक उठाने पर भी यदि कोई रक्षक युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है तो उसको मार देने में भगवान् का कोई दोष नहीं है, यह प्रदर्शित करने के लिए ही उसे क्रीडा पूर्वक उठाया और चढ़ा लिया।

भगवान् ने उसे धारभर (पल मात्र) में चढ़ा लिया। प्रत्यंचा (डोरी) उस में थी ही। डोरी को खींचते समय धनुष के टूट जाने के भय के न रहने के कारण उसे ऊपर के भाग से भुकाया जो थोड़े ही समय में भुकाया जा सकता है।

प्रथवा ‘अनिमिषेण’ मनुष्यों के एक टुकटकी से देखते हुए भगवान् ने उसे उठा कर चढ़ा लिया। फिर उसे बीच में से पकड़ कर खींच कर दुबारा न जुड़ सके, इस प्रकार बीच के भाग में से ही तोड़ दिया। भगवान् ने दृढ़ (मजबूत) मुठ्ठी से धनुष को खींच कर और फिर मुठ्ठी के बीच के भाग को ढीला करके जैसा कि धनुष को तोड़ने के समय किया जाता है। धनुष को मध्य भाग से तोड़ दिया। अच्छी तरह से तोड़ देने का तात्पर्य यह है कि उसके टुकड़े-टुकड़े न करके केवल दो भाग कर दिए। यह सब कुशल करने में भगवान् को कुछ परिश्रम नहीं हुआ, यह बतलाने के लिए दृष्टान्त कहते हैं कि जैसे गदोन्मत्त हाथी, बिना जाने ही सूखे ईख को सहज में तोड़ देता है, वैसे ही बिना परिश्रम ही तोड़ दिया (दो टुकड़े कर दिए)।

केवल दृष्टान्त देने से ही साध्य (सिद्ध की जाने योग्य) वस्तु की सिद्धि नहीं है, किन्तु दृष्टान्त के विषय (दार्ष्टान्तिक) में उचित घटने पर ही साध्य वस्तु की सिद्धि हो सकती है। इसलिए बालक श्रीकृष्ण ने बिना परिश्रम के ही धनुष को कैसे तोड़ दिया? ऐसी शंका में ‘उरुक्रमः’ लम्बी डग भरने (छलांग मारने) वाले ऐसा भगवान् का विशेषण दिया है। जैसा भगवान् ने वामन अवतार में किया था, वैसा ही यहां भी करके अनायास ही धनुष के दो टुकड़े कर दिए ॥१७॥

श्लोकः—धनुषो मज्यमानस्य शब्दः खं रोवसी दिशः ।

पूरयामास यं श्रुत्वा कंसस्त्रासमुपागमत् ॥१८॥

श्लोकार्थः—उस धनुष के टूटने का प्रचण्ड शब्द सारे आकाश में (अन्तरिक्ष में) और दशों दिशाओं में गूँज उठा। उस भयानक शब्द को सुनकर कंस का हृदय भय के मारे कोप उठा ॥१८॥



सुबोधिनीः—तर्हि देवगत्यैव भग्नमध्यं तद् भविष्यतीत्याशङ्क्य भङ्गस्य महत्त्वमाह धनुषो भज्यमानस्येति, शिथिलभङ्गे न महान् शब्द उत्तिष्ठति. ननु स शब्दः अन्यहेतुक एव तदानीं जातो भविष्यतीति तत्परिहारार्थमाह भज्यमानस्येति, वर्तमानप्रयोगेण तत एव शब्दोत्पत्तिरुक्ता, तेन सर्व एव स्वाश्रयः पूरित इति वक्तुं स्वं ब्रह्माण्डमध्यं रोदसी धावापृथिव्यौ चतस्रो दिशश्च

पूरयामास, धनुर्भङ्गशब्द एव सर्वत्र श्रूयते नाग्य-शब्द इति, एतदल्पकालेनैव कृतमिति तेषां निवारणसामर्थ्यं न कृत्वा, पश्चात् शब्देनैव कियत्काल व्यापृताः, अतो धनुर्भङ्गः निष्प्रत्यूहो जातः, अस्य प्रयोजनं कंसभयजननमिति तत् जातमित्याह यं नादं श्रुत्वा कंसस्त्रासं महाभयमुपागमत्. निकट एव फल प्राप्स्यामीति सन्वस्तो जातः ॥१८॥

व्याख्यानार्थः—तब तो वह देव गति से ही बीच में से दो टुकड़े होकर टूट गया होगा ? ऐसी शंका में उस धनुष के टूटने की महिमा का वर्णन इस 'धनुषो' श्लोक से करते हैं । वह धीरे से टूटता तो गम्भीर (भारी) शब्द नहीं होता । उस समय वह शब्द किसी दूभरे कारण से नहीं हुआ था, क्योंकि श्लोक में धनुष के टूटने से हुआ शब्द ऐसा लिखा है । "भाज्यमान" यह वर्तमान काल में होने वाला "शागच्" कृदन्त के प्रयोग से ज्ञात होता है कि वह भारी शब्द धनुष के टूटने से ही हुआ था । उस शब्द ने धनुष के रहने के स्थान को भर दिया ऐसा कहने के लिए आकाश ब्रह्माण्ड के बीच का भाग (रोदसी) पृथ्वी तथा स्वर्ग और चारों दिशाओं को भर दिया यह बतलाया है । इसलिए सभी जगह उस धनुष के टूटने का शब्द ही सुनाई पड़ता था, अन्य कोई सा भी शब्द नहीं सुनने में आता था ।

भगवान् ने इस धनुष को शीघ्र ही तोड़ दिया था—इसलिए वे धनुष के रक्षक लोग पहले रोक नहीं सके थे और तोड़ देने बाद तो उस शब्द से ही बहुत समय तक सन्न-आश्चर्य-में पड़ जाने के कारण ते नहीं रोक सके । इसलिए धनुष का भंग (टूटना) बिना किसी रुकावट के हो गया । धनुष के तोड़ने का प्रयोजन कंस को भय उत्पन्न करना था और वह "कंस को भय" हो भी गया कि उस प्रचण्ड शब्द को सुनकर कंस अत्यन्त भयभीत हो गया । अब मैं निकट भविष्य में ही अपने कर्मों का फल पाऊँगा—ऐसा विचार कर वह बड़ा भयभीत हुआ ॥१८॥

श्लोकः—तद्रक्षिणः सानुचराः कुपिता आततायिनः ।

ग्रहीतुकामा आघब्रुर्गृह्यतां बध्यतामिति ॥१९॥

श्लोकार्थः—उस धनुष की रक्षा के लिए वहाँ उपस्थित सेवकों सहित कंस के सैनिकों ने कुपित हो शस्त्रों को उठा कर श्रीकृष्ण को पकड़ने के लिए "पकड़ो मारो" कहते हुए चारों ओर से घेर लिया ॥१९॥

सुबोधिनीः—उभयत्र प्रतीकारार्थं प्रवृत्तानां निराकरणमाह तद्रक्षिण इति त्रिभिः, प्रथमं धनुःस्थान एव धनुरक्षकाः स्थिताः, ते भगवन्तं बलभद्रं गोपांश्च ग्रहीतुकामाः कुपिताः सन्तः अन्यथायः कृत इति मूर्खाः आततायिनः शस्त्रपा-

णयो जाताः, ततः आघब्रुः वेष्टितवन्तः, तेषां मानसं कायिकं च व्यापारमुक्त्वा वाचनिकमाह गृह्यतां बध्यतामिति, ये गृहीतास्तेषां बन्धनमादिशन्ति ॥१९॥

व्याख्यानः—‘तद्वक्षिणः’ इस श्लोक से आगे के तीन श्लोकों में भीतर धनुष की पूजा के स्थान में तथा बाहर पधारते समय दोनों स्थानों पर रोकने वाले रक्षकों को भगवान् ने हटा दिया, यह कहते हैं । पहले तो धनुष के घर में ही खड़े हुए धनुष के रक्षकों ने श्रीकृष्ण, बलदेवजी और गोप-जनों को पकड़ने की इच्छा की । वे कुपित हो उठे और श्रीकृष्ण ने धनुष तोड़ दिया, यह ग्रन्थ य किना, ऐसा मानकर गुस्से आततायी उन लोगों ने शस्त्र उठा लिए और श्रीकृष्ण आदि को चारों ओर से घेर लिया । इस प्रकार उन दुष्टों के मानसिक तथा शारीरिक बुरी चेष्टाओं का वर्णन करके वाणी से की हुई नीचता को कहते हैं । वे कहने लगे कि पकड़ो और पकड़े हुए को बाँध लो ॥१९॥

श्लोकः—अथ तान् दुरभिप्रायान् विलोक्य बलकेशवौ ।

क्रुद्धौ धन्वन आदाय शकले तांश्च जघ्नतुः ॥२०॥

श्लोकार्थः—उन लोगों के बुरे भावों को जानकर और अपने चारों ओर आते देख कर क्रोध भरे श्रीकृष्ण, बलदेव ने धनुष के दोनों टुकड़े उठा लिए और उनसे ही उन सैनिकों को मारने लगे ।

सुयोधिनीः—ततो भगवांस्तेषामतिक्रमं ज्ञात्वा नैतावतापि त्यक्ष्यन्तीति तेषां दुष्टमभिप्रायं ज्ञात्वा भिन्न प्रक्रमेण लीलां परित्यज्य आविष्कृतपौरुषी गोपानां रक्षार्थं कसं च ज्ञापयितुं प्रवृत्तावित्याह अथ तानिति, बलौ बलभद्रः ब्रह्मरुद्रयोरपि सेव्यः ततो महान् केशवः भक्तातिक्रमं ज्ञात्वा क्रुद्धौ जातौ, ततः साधनेनैव मारणीया इति तेषां शस्त्रपाणय इति यदेवंतावत्कालं पालितवन्तः तदेव तन्मारकं ज्ञातमिति ज्ञापयितुं धन्वनः शकले आदाय तान् चकारादन्यानपि दुष्टान् जघ्नतुः आधिदैविकदेवान् वा, धन्वन्शब्दोपि धनुर्वाचकः ‘धन्वना गा धन्वना जि जये’मेति प्रयोगात् देश-विशेषगपि वक्ति ‘धन्वन्निव प्रपा म’सीति ॥२०॥

व्याख्यानः—तब भगवान् ने उनके विरोध को सगम्भ कर और इतने होने पर भी ये नहीं मानेगे, ऐसे उनके दुष्ट अभिप्राय को जानकर अन्य प्रकार से क्रीडा का त्याग करके अपना पुष्पार्थ प्रकट किया और गोपों की रक्षा करने और कंस को अपना ऐश्वर्य बतलाने में प्रवृत्ति की, यह इस ‘अथ तान्’ श्लोक से कहते हैं । बलदेवजी तथा ब्रह्मा और शिव के भी आराध्य (उनसे भी बड़े) केशव भगवान् ने उन रक्षकों को भक्तों पर किए हुए विरोध को जान कर, उन पर दोनों कुपित हो गए । यह सोच करके कि साधन के द्वारा ही करना उचित है और वे शस्त्रधारी ही थे, इसलिए दोनों भाईयों ने धनुष के दोनों टुकड़ों को एक एक ने उठा लिया और यह बतलाते हुए कि जिसकी (तुम लोग) अब तक रक्षा कर रहे थे वह ही तुम्हारा नाश कर रहा है, उनसे ही उनको, दुष्टों को, श्रीरों को तथा आधिदैविक देवताओं को भी मारने लग गए । धन्वन् शब्द धनुष का पर्याय वाची भी है, क्योंकि “धन्वना” धनुष से हमने पृथ्वी तथा अन्य लड़ाईयां जीती हैं और “धन्वन्निव प्रपा म’सीति” रण में तू प्याऊ की तरह है, इस प्रयोग से धन्वन् शब्द देश विशेष वाचक भी होता है ॥२०॥

श्लोकः—बलं च कंसप्रहितं हत्वा शालामुखात् ततः ।

निष्क्रम्य चैरतुह्यौ निरीक्ष्य पुरसम्पदः ॥२१॥



श्लोकार्थः—यह सब सुनकर कंस ने उन दोनों को पकड़ने के लिए बहुत सेना भेजी । कृष्ण-बलदेव ने उस सारी सेना को मार डाला । फिर वे उस धनुष भवन से बाहर निकल कर प्रसन्नता पूर्वक इधर उधर घूम कर नगरी का वैभव और शोभा देखते हुए सैर करने लगे ॥२१॥

सुबोधिनीः—एवं रक्षकान् देवान् नरांश्च हत्वा गमनार्थमुद्युक्ता, तावता कोलाहले जाते कंसो बलं च प्रेषितवान्, एवहेत्या तं च हत्वा निर्गतावित्याह बलं चेति, हस्त्यश्वरथपदात्यात्मकं बलं सेनां हत्वा शालामुखात् निष्क्रम्य युद्धावेशं परित्यज्य क्षणात् मनोहररूपायेव जाती, अतः हृष्टौ सन्तौ पुरसंपदो निरीक्ष्य चेरतुः ययै- ताभ्यां धनुर्वार्तापि न ज्ञायत इति लोकप्रतीति- भवति, तत्र पूर्ववदेव स्त्रीणां पुरुषाणां च व्यव- हारो जात इति न विशेष उक्तः ॥२१॥

व्याख्यानार्थः—इस प्रकार उन धनुष की रक्षा करने वाले देवों तथा गनुषों को मार कर बाहर निकलने को तैयार हो गए । उसी समय इस कोलहाल को सुन कर कंस के द्वारा भेजी हुई सेना को भी सहज में मार कर दोनों ही बाहर निकले, यह इस 'बलं च' श्लोक से कहते हैं । हाथी, घोड़े, रथ और पैदल, इस प्रकार कंस की भेजी हुई चतुरंगिणी सेना को मार कर धनुष के घर के द्वार से बाहर निकले और युद्ध के आवेश को त्याग कर, वे दोनों ही क्षणमात्र में पूर्ववत् मनोहर रूप वाले हो गए । इसलिए मानों इनको युद्ध का कुछ समाचार भी मालूम न हो ऐसे प्रसन्न होकर नगरी का वैभव और शोभा को अवलोकन करते हुए घूमने (विचरने) लगे । वहां नगरी में पुरुषों और स्त्रियों के (उनके दर्शन करके) पहले जैसे ही व्यवहार होने लग गए, इसलिए इसके विषय में विशेष नहीं कहा है ॥२१॥

श्लोकः—तयोर्विचरतोः स्वैरमावित्योस्तमुपेयिवान् ।

कृष्णरामौ वृत्तौ गोपैः पुरात् शकटमोयतुः ॥२२॥

तयोस्तदद्भुतं वीर्यं निशम्य पुरवासिनः ।

तेजः प्रागल्भ्यं रूपं च मेनिरे विबुधोत्तमौ ॥२३॥

श्लोकार्थः—दोनों भाईयों के धनुष को तोड़ने के अद्भुत पराक्रम, तेज, ढिठाई और रूप को देख कर पुरवासियों ने समझा कि ये दोनों कोई श्रेष्ठ देवता हैं । कृष्ण और बलराम इस प्रकार गोपों के साथ स्वेच्छापूर्वक नगरी में घूमते फिरते रहे । इतने में सूर्यदेव अस्त हो गए और गोपों सहित दोनों भाई पुरी से लौट कर अपने डेरे में आ गए ॥२३, २३॥

सुबोधिनीः—एवं तयोर्महत्यानन्दे अग्रिमा- नन्दसिद्धयर्थं तयोर्विचरतोरेव सतोः सूर्योस्तंगत इत्याह तयोरिति, स्वैरं यथासुखं, अनेनामर्यादापि लीला निरूपिता, ये दैत्यांशास्ते मारिता, लुण्टि- ताश्च कंसहितैषिणः, स्त्रियश्चात्यन्तकामगीडिताः सन्तोषं प्रापिताः एवमनुग्रहनिग्रहात्मकं तु कुर्वाणौ विचरतुरिति, तदा आवित्योस्तं गतः, भीत इति केचित्, भगवानपि निवृत्त इत्याह कृष्णरामा- विति, अत्र मध्ये क्वचिदेकः श्लोकः अविगीत एव श्रूयते ॥२२॥

तदनन्तर -सूर्य को अस्त हुआ देख कर- गोपों के सहित श्रीकृष्ण बलदेव पुरी को देखना छोड़ कर छकड़ों के स्थान पर, जहाँ नन्दरायजी आदि ठहरे थे, पधार आए ॥२३॥

श्लोक---गोप्यो मुकुन्दविगमे विरहातुरा या आशासताशिष ऋता मधुपुर्यभूवन् ।

सम्पश्यतां पुरुषमूषणगात्रलक्ष्मीं हित्वेतरान् नु मजतश्चकमेयन् श्रीः ॥२४॥

श्लोकार्थ---श्रीकृष्ण की यात्रा के समय विरह से व्याकुल गोपियों ने मथुरावासियों के सौभाग्य के विषय में जो कुछ कहा था -आशिषें चाही थीं- वह सब सत्य ही हुआ, क्योंकि स्वयं (लक्ष्मी) को भजने वाले अन्य देवों को भी छोड़ कर लक्ष्मीजी, जिनको अनन्य भाव से भजती हैं, उन पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के मनोहर श्याम स्वरूप की शोभा को उन्होंने देखा ॥२४॥

सुबोधिनी—एवं भगवच्चरित्रगुणत्वा प्रमाण-प्रकरणत्वात् तत्र प्रमाणमतिदिशन् माहात्म्यमाह गोप्य इति, मथुरायां तावदेव जातं यावत् गोपी-गिरुक्तं, युद्धादिक तु दोषनिवर्तकमिति न तत् निष्पन्नत्वेनोच्यते; अनेन गोपिकाः परित्यज्य तासु क्लिष्टासु कथमन्यत् कृतवानित्यपि दूषणं निराकृतं; यतस्ता एव या आशिषः आशासत ता एव सत्याः कर्तव्या इति भगवांस्तया कृतवान् तासामेव वचनप्रामाण्यार्थं, यतो भगवान् मुकुन्दः असत्यवचने गोक्षोपि दातुमशक्य इति, तथापि मुकुन्दस्य विगमे वियोगे उपस्थिते विरहातुराः सत्यः भगवता निरुद्धा इति द्वेषादिकमकृत्वा आशिष एवाशासत, ताभ्यो हितमपि कर्तव्यं तदभावे वाक्यं वा कर्तव्यमिति, अतस्ता एवाशिषः मधुपुरि मथुरायां सत्या जाताः तदपि भगवता कर्तव्यमिति न कृतं

किन्तु अगुषङ्गादेव जातमित्याह सम्पश्यतामिति, पुरुषाणां मूषणरूपस्य मुकुटमणोर्भगवतः गात्र-लक्ष्मीं सम्पश्यतामिति; 'अथ ध्रुवं तत्र दृशो भविष्य'तीति 'सुखं प्रभाता रजनोय'गिति सामान्यविशेषाभ्यां ताभिर्यत् विचारितं तत् सत्यमेव जातमिति; ननु कथं स्त्रीणामेव वचनं सत्यत्वेन निरूप्यते नान्येषामित्याशङ्क्याह हित्वेति, आदौ वाक् स्त्री, स्त्रीणां मूलभूतया लक्ष्म्या च भगवान् परिगृहीतः, अतः परिग्रहदाढ्यात् ता एवात्र प्रमाणं, श्रीरितरान् ब्रह्मादीन् नु निश्चयेन भजतोपि सेवार्थमागतानपि हित्वा स्वास्थायनं स्थान-भूतं यं चकमे अयमेव मम स्थानं भवत्विति, सैव सर्वा गोप्यः तासां च वाक्यमत्र सिद्धं, न त्वतिरिक्तं किञ्चित् ॥२४॥

व्याख्यानार्थ— इस प्रकार भगवान् के चरित्र का वर्णन करके इस प्रकरण के 'प्रमाण' प्रकरण होने के कारण भगवान् के चरित्र में प्रमाण देते हुए भगवान् के माहात्म्य का निरूपण इस 'गोप्यः' श्लोक से करते हैं। वहाँ गोकुल में गोपियों ने जो कुछ जितना भी कहा था, उतना ही सब यहाँ मथुरा

लेख—'तयोस्तदद्भुतं' इस श्लोक की व्याख्या में 'तामसास्तृतीये' पदों का तात्पर्य यह है कि जन्म प्रकरण को लेकर तृतीय प्रकरण गिनने पर 'तामस प्रमेय प्रकरण' है।



में हुआ । युद्ध आदि तो दोग को दूर करने वाले हैं, इसलिए उनका वर्णन सिद्ध होना-रूप से नहीं मान कर नहीं किया है । इस कथन से इस दोष की भी निवृत्ति हो गई कि भगवान् ने गोपियों का त्याग करके और उनके दुःखित रहते हुए दूसरा काम क्यों किया ? क्योंकि गोपियों की ऐसी चाही हुई आशियों को सत्य करना ही चाहिए था । इसलिए उनके ही वचनों को सत्य करने के लिए भगवान् ने वैसा किया, क्योंकि भगवान् मुकुन्द (मोक्षदाता) हैं और यदि गोपियों के वचन सत्य न हो, तब तो उनको भगवान् मोक्ष, असत्यवादी होने के कारण नहीं दे सके । इसी कारण से गोपियों के दुःखित रहते हुए भी अन्य कार्य किए-हैं-थे ।

भगवान् ने उन गोपियों को निरोध सिद्ध कर दिया था । इसलिए उस समय भी (भगवान् मुकुन्द का विद्योग होने पर भी) उन्होंने मथुरा नगर की स्त्रियों के साथ ईर्ष्या, द्वेष न करके उनका हित चाह और साक्षात् हित करने में असमर्थ के कारण वाणी के द्वारा ही उनकी आशियाँ (मङ्गल कामनाएँ) चाहीं । वे आशियाँ ही उन पुरवासियों के लिए मथुरा में फलीभूत (सफल) हुई । उनकी वे आशियाँ भी भगवान् को ही सत्य करनी चाहिए थी, किन्तु भगवान् ने उन्हें सत्य नहीं किया । वे तो आगुषङ्गिक पुरुषों के भूषण (मुकुट मणि रूप) भगवान् के श्रीग्रन्थों की शोभा निखरने वाले उन लोगों के लिए ही फलीभूत हो गई । “आज वहाँ अवश्य [निश्चय] ही दृष्टि को बड़ा उत्सव होगा [१०।३६।२४], मथुरा नगर की स्त्रियों के लिए इस रात्रि का प्रभात अच्छा होगा” इस प्रकार से गोपियों ने सामान्य रीति और विशेष रूप से जो विचार किया था, वह सत्य-सफल-ही हुआ ।

औरों के वचन की सत्यता का वर्णन न करके स्त्रियों के ही वाक्यों का इस प्रकार सत्य होना कैसे निरूपण किया ? इसका उत्तर श्लोक के चौथे चरण से देते हुए कहते हैं कि पहले तो ‘वाणी’ शब्द ही स्त्रीलिंग है और स्त्रियों का मूल रूप ‘लक्ष्मीजी’ भगवान् की पत्नी हैं । इसलिए स्त्री पक्ष की दृढ़ता के लिए स्त्रियाँ ही इस विषय में मुख्य प्रमाण हैं । उन लक्ष्मीजी ने अपनी (लक्ष्मीजी की) सेवा के लिए निश्चय रूप से स्वयं आए हुए अन्य ब्रह्मादि देवों को छोड़ कर भगवान् को ही अपने रहने का स्थान बनाया है । यह ही मेरे रहने का स्थान हो, ऐसे चाहा है । वे लक्ष्मीजी ही सारी गोपियाँ हैं । उनके सारे ही वाक्य यहाँ सफल हुए हैं और कुछ नहीं हुआ है ॥२४॥

श्लोक—अवनित्ताङ्घ्रिपुङ्गवै भुक्त्वा क्षीरोपसेचनम् ।

अधस्तुतां सुखं रात्रिं ज्ञात्वा कंसचिकीषितम् ॥२५॥

लेख—‘गोप्यो मुकुन्दविगमे’ इस श्लोक की व्याख्या में ‘आदीवाक्’ इत्यादि का तात्पर्य यह है कि पहले तो वाणी शब्द ही स्त्रीलिंग है । इसलिए उन गोपीजनों की वाणी की ही सत्यता का निरूपण किया है । उनके कार्य की सफलता नहीं कही है, क्योंकि उन्होंने भगवान् को मथुरा जान में रोकना रूप कार्य किया था, यदि वह कार्य सत्य होता तो भगवान् मथुरा पधारते ही नहीं । इसलिए उनकी कृति सत्य नहीं होने से भगवान् स्के नहीं, मथुरा पचार ही गए । अतः उनकी वाणी ही सत्य हुई, अन्य उनका कार्य सत्य नहीं हुआ, ऐसा अर्थ है ।



श्लोकार्थ—वहाँ जाकर श्रीकृष्ण बलदेव दोनों ने हाथ पाँव धोए और दूध मिला अन्न, खीर आदि का भोजन किया । फिर कंस के वाञ्छित कार्य को -जिसे वह करना चाहता था- जान कर रात सुख पूर्वक बिताई ॥२५॥

सुबोधिनी--अवमोचनं गतस्य भगवतश्चरित्रमाह अवनिक्तमङ्घ्रियुगलयाभ्यां क्षीरमुपसिञ्च्यते अस्मिन्निति क्षीरोदनं पायसं वा पृथुका वा पक्कान्नविशेषे वा क्षीरस्योपसेचनं यथा भवति तथा वा, प्रथमतो नगरगमने क्षीरोदनभोजनं मुख्यमिति यथा गमने दध्योदनभोजनं, लघुपाकार्यं वेति केचित्, ततस्तां रात्रिं सुखमूषतुः अन्यत्रासुखं वक्तुं भगवति विद्यमानसुखस्यानुवाद उक्तः, ननु पितरौ बद्धौ अमोचयित्वा कथं सुखमूषतुस्त-

त्राह ज्ञात्वा कंसचिकीषितमिति कंसस्य चिकीषितं ज्ञात्वा, कस एव तत् करिष्यति किमित्यस्माभिः क्लिष्टं कर्तव्यमिति, यथंतावान् कालः वसुदेवपुत्रत्वं सङ्गोप्य नीतः एवगियगपि रात्रिः सङ्गोप्यान्यथा नन्दादीनां क्लेशो भवेत्, व्यवहारोपि शत्रुं हत्वं शत्रुपरिगृहीतं ग्राह्यं अन्यथा चौर्यं स्यात्, अतः स्ववचार्थं कंस एव यत्नं करिष्यतीति निश्चित्य सुखमूषतुः ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—डरे में पधार कर भगवान् ने जो कार्य किया, उसका वर्णन इस 'अवनिज्य' श्लोक से करते हैं । अपने दोनों चरणों को धो कर फिर उन दोनों भाईयों ने दूध मिला भात, दूध भात-क्षीर- यथा दूधपाक अथवा दूध और पूए अथवा दूध में सिद्ध-पका-हुआ विशेष प्रकार का अन्न अथवा दूध से सने हुए अन्न का भोजन किया । जैसे अन्य गांव जाते समय दही चावल खा कर जाया करते हैं, उसी प्रकार पहले पहल नगर में जाकर आने पर दूधभात का भोजन मुख्य होता है । कई टांकाकारों ने हल्का भोजन दूध भात का किया, ऐसा प्रथं किया है । फिर उस रात्रि को सुख पूर्वक व्यतीत किया । इस कथन से कंस में रहने वाली बेचेनी और भगवान् में विद्यमान आनन्द-सुख का अनुवाद किया है ।

माता पिता के बन्धन में पड़े रहते, उनको छुड़ाए बिना सुखपूर्वक कैसे रह सके ? ऐसी शंका के उत्तर में कहते हैं कि कंस के अमिप्राय को जानकर सुखपूर्वक रात बिताई ।

तात्पर्य यह है, कि भगवान् यह विचार कर-कंस ही ऐसा कार्य करेगा, क्लेशदायक काम हम क्यों करें? सुखपूर्वक रहे और जिस प्रकार इतना समय छिपा कर-अपने को वसुदेव देवकी का पुत्र प्रकट न करके बिताया, वैसे ही यह रात भी बिना वसुदेवपुत्रत्व प्रकट किये ही बिताई, क्योंकि ऐसा प्रकट कर देने पर नन्दरायजी आदि को क्लेश हो जाता और ऐसा व्यवहार (नियम) भी होता है कि पहले शत्रु को मार कर ही फिर अपने पदार्थ लोटाने चाहिए । यदि शत्रु को बिना मारे ही अपनी चीजें ले जाते हो तो वह चोरी मानी जाती है । इस लिए कंस ही अपने बंध के लिए स्वयं उपाय कर लेगा, ऐसा निश्चय करके कृष्ण बलदेव ने सुख से रात बिताई ॥२५॥

श्लोक—कंसस्तु घनुषो भङ्गं रक्षिणां स्वबलस्य च ।

वधं निशम्य गोविन्दरामविक्रीडितं परम् ॥२६॥



दीर्घं प्रजागरो भीतो दुर्निमित्तानि दुर्मतिः ।

बह्व्यचष्टोभयथा मृत्योर्दौत्यकराणि च ॥२७॥

श्लोकार्थ — कंस ने जब सुना कि श्रीकृष्ण ने लीला पूर्वक धनुष को तोड़ डाला, साथ ही धनुष के रक्षकों को और अपनी भेजी हुई सेना को भी मार डाला, तब उसे अपार भय और आशङ्का के कारण चिन्ता ने आ घेरा और दुर्बुद्धि के शिकार बने उसको रात भर नींद नहीं आई । उसको सोते और जागते में भी मृत्यु की सूचना देने वाले अनेक अशकुन दिखाई पड़ने लगे ॥२६, २७॥

सुबोधिनी — एवं भगवद्वरिषमुक्त्वा अग्रिम-
चरित्रसिद्धयं कंसस्य वृत्तान्तमाह कंसस्त्विति,
रात्रौ कंसस्य महती अनिवृत्तिर्जाता, आदौ निद्रा-
भावः, निद्रायामपि दुःस्वप्नादिकगिति, एवं मरण-
निश्चायकगणि ज्ञात्वा पुनः मरणार्थमेव प्रवृत्त इति
भगवतोक्लिष्टकर्मत्वायंगिदमुपाख्यानमुक्तवान्, आदौ
निद्राभावे हेतुमाह, तुशब्द सुखात्मकतां व्यावर्तयति
अग्रं कंसस्य दुःखमेवेति ज्ञापयितुं, धन्वनो धनुषो
भङ्गं श्रुत्वा रक्षिणां स्वबलस्य च वधं श्रुत्वा
एतदपि गोविन्दस्य रामस्य च विक्रीडितत्वमात्रं
श्रुत्वा परमुत्कृष्टं विक्रीडितं, परमित्यर्थविशेषे वा
॥२६॥ दीर्घप्रजागरो जातः, प्रकृष्टो जागरः बहि-
विशेषसाहितः, न केवलं प्रजागरणमात्रं किन्तु
भीतोपि जातः, अन्तःकरणमेव तस्यादौ मरणं

सूचयति, एवमपि न भगवन्त प्रपद्यत इति दुर्मति-
त्वात्, दुर्निमित्तानि दुष्टनिमित्तानि अवश्यंभावि-
मरणसूचकानि बह्व्येव व्यचष्ट, अनेन द्वेषेणापि
भगवन्तं चिन्तयन् कथं दुर्निमित्तानि दृष्टवानिति
परिहृतम्, यतो दुर्मतिः भगवत्यनिष्टं भावयति
तच्चात्मने फलतीति, बहूनि बहुविधानी, प्रकार-
बहुत्वमत्र विवक्षितं उभयथा यो मृत्युः स्वस्वकीय-
विषयः ऐहिकपारलौकिकविषयो वा, परलोकोपि
न भविष्यतीति, भयोत्पादनार्थं तथा दृष्टानि,
उभयथा स्वप्नजागरितानीति वा, नन्वेतानि
किमिति दृश्यन्ते तत्राह मृत्योर्दौत्यकराणीति,
मृत्युरत्रागास्यतीति दूतवत् बोधयन्ति चकारात्
स्वतोपि भयानकानि ॥२७॥

व्याख्यान — इस प्रकार भगवान् के चरित्रों का वर्णन करके उनके आगे के भावी-चरित्र की सिद्धि-हो सकने के लिए कंस के कृतान्त को 'कंसस्तु' इस श्लोक से आरम्भ करके कहते हैं । प्रथम तो कंस को रात में नींद ही नहीं आई और आई तो भी उसमें बुरे बुरे स्वप्न आए । इस प्रकार उसको बड़ी व्याकुलता हुई । मृत्यु का निश्चय करा देने वाले छोटे छोटे सपनों के आने पर भी वह मरने के लिए ही फिर प्रवृत्ति करने लगा, इस प्रकार के इस उपाख्यान को श्री शुकदेवजी ने भगवान् अविल-
ष्टकर्मा हैं, यह सूचित करने के लिए कहा है ।

पहले उसको नींद न आने का कारण कहते हैं कि आगे उसे दुःख ही दुःख होना है, यह श्लोक में 'तु तो' शब्द से सूचित होता है । धनुष के भंग को, धनुष के रक्षकों का और अपनी भेजी हुई भारी सेना के नाश को सुन कर तथा यह भी सुन कर कि ये सब काम श्रीकृष्ण-बलदेव ने खेल में ही किए हैं, कंस अत्यन्त भयभीत हो गया । पर यह सब उनका उत्तम खेल था । अथवा (परम्) यह पद (विशेष) अर्थ का सूचक भी है । ॥२६॥



यह सब सुनकर कंस को बाहर भारी व्याकुलता हुई और बड़ी देर तक नींद नहीं आई । केवल प्रजागरण ही नहीं हुआ, किन्तु वह भय से काँप ही उठा । सन्ध्या पहले तो उसके अन्तःकरण ने ही उसको उसके मरण की सूचना दे दी थी और फिर अनेक प्रकार के बुरे बुरे बहुतेरे सपने भी आने लगे थे, किन्तु फिर भी दुष्ट बुद्धिवाला वह भगवान् की शरण में नहीं गया । यद्यपि द्वेष से भी भगवान् का चिन्तन करने वाले का दुःस्वप्न नहीं आने चाहिए किन्तु वह तो दुष्ट बुद्धिवाला था । वह भगवान् का अनिष्ट चिन्तन करता (तोचता) था और वह अनिष्ट (बुरा) उसी का होता था । दोनों प्रकार की मृत्यु कहने का तात्पर्य यह है कि कंस की ओर उसके पक्षपाती साधियों की अथवा इसलोक और परलोक सम्बन्धी मृत्यु ने इस कथन से यह सूचित किया कि ऐसी मृत्यु जिसमें उसे परलोक भी मिलेगा । उसको डराने के लिए ही उसे वे बुरे बुरे सपने दिखाई देने लगे । उभयथा-दोनों प्रकार से अर्थात् सोते भी और जागते भी छोटे सपने आने लगे । ये छोटे सपने मृत्यु के दूतों की तरह थे, जो कंस को खबर देते थे कि तेरी मौत तेरे पास आगयी और उसको डराते भी थे ॥२७॥

श्लोक—अदर्शनं स्वशिरसः प्रतिरूपे च सत्यपि ।

असत्यपि द्वितीय च द्वैरूप्यं ज्योतिषां तथा ॥२८॥

श्लोकार्थ—कंस ने जागते में देखा कि जल आदि में उसकी परछाई तो दीख पड़ती है, किन्तु उसमें उसका सिर नहीं दीख पड़ता है । बीच में किसी की आड़ न होने पर भी दीपक, सूर्य, चन्द्र आदि एकाएक ज्योति के दो दो रूप उसे दीख पड़ने लगे ॥२८॥

सुबोधिनी—जागरितान्याह अवर्शनमिति, सप्तविधानि मृत्युरपि भगवानिति, प्रतिविम्बे दर्पणादौ स्वशिरसः अदर्शनं ग्रीवापर्यन्तमेव प्रतिरूपां दृश्यते चकारात् प्रत्यक्षेण, नागिकादिमुखभावो यो दृश्यते सोपि न दृश्यत इति, तद्व्यतिरिक्तस्यैवाभाव इति चेत् तत्राह सत्यपीति, स्पर्शादिना बहिर्गम्यते अन्यश्च प्रतिविम्बो दृश्यत इति, चक्षुर्हि ज्ञानात्मकं, तत् आत्मानमेव गृह्णाति स्वप्रकाशत्वात् विषयदोषराम्भवात् च, तथा सति भगवानेव दृश्यते सर्वत्र, यत्र पुनः येनांशेन तिरोघतो तत् क्रियया सदपि ज्ञानविषयत्वेन न सत् भवति, तत्र देहे ग्रीवान्तं

क्रियाप्रधानं ज्ञापनार्थं ज्ञानांशेनैव तिरोहितः न तु संदेशेन, अग्रे क्रियायाः कर्तव्यत्वात् अनेन मरणं निर्धारितं न तु कृतं इति बोधितं, द्वितीयमाह असत्यपि द्वितीये च द्वैरूप्यमिति, भगवानेक एव सर्वत्र, यदा प्राणो कालाभिमुखो भवति तदा द्वितीयः कालो भासते, तदत्र सूचयति द्वितीयः समागत इति, तृतीयमाह ज्योतिषां त्रयेति, ज्योतिषाणपि द्वैरूप्यं दृश्यते, दीपचन्द्रनक्षत्रादीनामेकस्मिन् दीपे अक्षिनिकोचनादिव्यतिरेकेणापि दीपद्वयप्रतीतिः, ज्योतिर्ह्याधिदैविकं रक्षकं तदपि कालव्याप्तं जातमिति ज्ञापितं अतिदेशेन ॥२८॥

व्याख्यानार्थः—जगते रहने की स्थिति में जिन बुरे शकुनों को कंस देखता था उनका वर्णन इस 'अदर्शनं' श्लोक से करते हैं । जागते में दिखाई देनेवाले अपशकुन सात प्रकार के हैं, क्योंकि मृत्यु भी भगवान् है, जो छः धर्म और सातवें धर्म रूप से सात प्रकार के हैं ।

कांच आदि में पड़ी हुई अपनी परछाया में अपने सिर का न दिखाई देना, केवल गर्दन तक

का ही सामने का भाग दिखाई देना, इसी तरह प्रत्यक्ष में भी नाक, कान आदि मुख भागों का, जो दिखाई देते हैं, न दिखाई देना, सिर के होते हुए भी स्पर्श आदि के द्वारा बाहर सिर के जाने जाने पर भी और दूसरे अंगों के दिखाई देने पर भी केवल सिर नहीं दिखाई पड़ना, नेत्र ज्ञान रूप और स्वयं ही प्रकाश वाले हैं, दूसरे पदार्थों में दोष होना सम्भव होने के कारण वे (नेत्र) अपने अपने को ही देखते हैं। इस प्रकार से सब जगह भगवान् के ही दर्शन होते हैं, किन्तु जहाँ कहीं भगवान् अपने जिस अंश से तिरोहित (छिपे) होते हैं, वहाँ क्रियारूप से उस अंश के रहते हुए भी वह अंश ज्ञान का विषय (प्रत्यक्ष नहीं होता) दिखाई नहीं देता है।

कंस के शरीर में मुख्य रूप से कण्ठ तक का भाग क्रिया वाला है, यह बतलाने के लिये ज्ञान का अंश कण्ठ से ही भगवान् तिरोहित होते हैं, किन्तु भविष्य में क्रिया करना है, इसलिये सत् अंश से तिरोहित नहीं होते हैं। इस कथन से यह प्रदर्शित किया है कि कंस का वध करना तो निश्चित कर रखा है, किन्तु अभी (वध) नहीं किया।

(२) मृत्यु का दूसरा स्वरूप यह है कि दूसरा रूप न होते हुए एक वस्तु के दो रूप दिखाई देना, यह दूसरा अपशकुन है। जब प्राणी काल (मृत्यु) की तरफ जाता है, तब उसको दूसरा रूप काल ही दिखाई देता है, क्योंकि भगवान् तो सब जगह एक रूप ही हैं। इस लिए कंस को दो रूप दिखाई पड़ने से यह सूचित किया है कि उसका काल आ गया है।

(३) इसी तरह से ज्योतिषों के भी दो रूप दिखाई देने लगने के कारण तीसरा अपशकुन कहा गया है। दीपक, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि भी कंस को दो दो दिखाई देने लगे। यद्यपि आंख के संकोच करने पर तो एक दीपक के दो दीपक और अधिक भी दिखाई दे देते हैं, किन्तु आंख के संकोच के बिना किये ही एक दीपक, चन्द्रमा आदि के दो दो दीपक, चन्द्रमा आदि दृष्टि में आने लगे। ज्योतिष गण आदि दैविक रक्षक (रक्षा करने वाले) हैं, किन्तु वे भी दूसरे अपशकुन की तरह तीसरा अपशकुन बन कर काल (मृत्यु) से व्याप्त हो गया। (घिर गया) ऐसा प्रतीत होने लगा गय ॥२८॥

श्लोक—छिद्रप्रतीतिः छायायां प्राणघोषानुपश्रुतिः।

स्वर्णप्रतीतिवृक्षेषु स्वपदानामदर्शनम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—(४) कंस को अपनी परछाई में छेद दिखाई देने लगे, (५) प्राणघोष भी, कानों में अँगुली डाल कर जो शब्द सुनाई देता है वह भी, उसको सुनाई नहीं पड़ने लगा, (६) कंस को सारे वृक्ष सोने के दिखाई देने लगे, (७) धूल, कीचड़ आदि में उसको अपने पैरों के चिन्ह नहीं दिखाई पड़ने लगे ॥२९॥

सुबोधिनी—तत्राप्येकदेशप्रतीतिरपि चतुर्थ-
माह छिद्रप्रतीतिरिति, छाया यां मध्ये छिद्रं प्रती-
यत इति पुरुषोऽयं भगवानिति ज्ञापयितुं, प्रति-
च्छाया भवति पुरुषाकृतिः, तं केचित् तेजोभाव-

माहुः, सर्वत्र विद्यमानं पुरुषव्यवधानात् तावद्दूरे
न दृश्यत इति, तथा राश्विदानन्दोऽपि तिरोहित
इति प्रपञ्च एव तत्तदाकारेण भासत इति, वस्तु-
तस्तु छायापुरुषो भिन्नो भगवद्रूपस्तत्र जीवं चेत्

निष्काशयेत् तदान्यत्रापि निर्गतो भविष्यति जीव इति ज्ञानवत् छायापुरुषेऽर्धतिरोधानं जीवांश-संघं, आध्यात्मिकी व्यवस्था त्रिविधा, आधि-भौतिकी पूर्वं निरूपिता, तत्रेयं तागसी, प्राण-घोषो राजसः, पीतप्रतीतिश्चाक्षुषी सात्त्विकीति, प्राणस्य क्रियैव प्रधानमिति तस्याः कार्यं निर-चितं, इतो भगवान् क्रमशो निवृत्तव्यापारो भवि-ष्यतीति ज्ञापनार्थं तामिकायां निरूप्यन्ते,

प्राणघोषस्य कर्णपिवागेऽपि अनुपश्रुतिः, शृङ्गेषु सर्वत्र स्पर्शप्रतीतिः वृक्षा हि दारुभावाः, अग्नेश्च रेतः सुवर्णं, तेषु यद्यग्निः तदा सर्वाभावः अग्नेः रेत एव तेषु दृष्टमित्यर्धनाश एव बोधितः, आधि-दैविकमाह स्वपदानामदर्शनमिति, स्वस्य पावानां भूमौ स्थापितानामदर्शनं, भूमिर्देवता तत्पत्न्य-तीति तत्पदानि भूमौ नाभिध्यक्तानि भवन्ति ।

॥२६॥

व्याख्यानार्थ—(४) परछाई में एक भाग का न दिखाई देना रूप चौथे बुरे शकुन का वर्णन इस 'छिद्रप्रतीति' श्लोक से करते हैं। कंस को उसकी परछाई में काला छेद दिखाई देने लगा। पुरुष भगवद्रूप है। ऐसा बताने के लिये परछाई पुरुष के आकार जैसी होती है। सब जगह रहने वाला तेज (प्रकाश) के बीच में आ जाने के कारण उतनी दूर तक नहीं दिखाई देता। इसलिए परछाई को कितने ही विद्वान् तेज का अभाव रूप मानते हैं। वैसे ही भगवत्स्वरूप पुरुष के सत्, चित, आनन्द धर्मों के भी छिप जाने से प्रपंच (जगत् के पदार्थ) ही भिन्न भिन्न आकार में दिखाई देते हैं, ऐसा उनका मत है।

वास्तव में तो छाया पुरुष एक भिन्न भगवान् का रूप है। यदि उस मूल पुरुष में जो जीव को बाहर निकाल दिया जाय तो परछाया में दिखाई देनेवाले पुरुष में से जीव निकल जाता है। इसलिए जिस प्रकार पुरुष में से जीव के निकल जाने से ज्ञान नष्ट हो जाता है उसी प्रकार परछाई में दिखाई देने वाले पुरुष का भी जीव का ही अंश रूप आधा शरीर का भाग छिप जाता है। यह आध्यात्मिक व्यवस्था तीन प्रकार की है। तीन प्रकार की आधिभौतिक व्यवस्था को ऊपर के श्लोकों में बुरे शकुन द्वारा कह आये हैं। तीन प्रकार की उस आध्यात्मिक व्यवस्था में यह चौथा अपशकुन, तामसी-व्यवस्था का है।

(५) प्राण का शब्द सुनने में नहीं आना, यह राजस है। प्राण में क्रिया ही मुख्य है, इसलिए उस क्रिया का कार्य प्राण के शब्द का सुनना बन्द कर (रोक) दिया। भगवान् कंस में से घीरे घीरे अपनी सारी क्रियाओं को रोकने वाले हैं और रोकेंगे ही यह बतलाने के लिए उसके सम्बन्ध में होने वाले आधे आधे कामों को निरूपण किया है।

बाहर के शब्द बाधक न हों, इसलिए दोनों कानों को दोनों हाथों की एक एक अंगुली से बन्द कर देने पर भीतर सुनाई देने वाला प्राणघोष-अनाहत (अनहद) नाद-कंस को अब सुनाई नहीं देता था। (६) कंस को वृक्षों में सब जगह सुवर्ण दिखाई पड़ता था। वृक्ष काष्ठरूप हैं और सुवर्ण अग्नि का वीर्य है। यदि वृक्षों में अग्नि दिखाई देने लगे, अग्नि का वीर्य सुवर्ण दिखाई देने लगे तो सब नाश ही समझना चाहिए; इस प्रकार के कथन से कंस का आधा नाश तो हो चुका, ऐसा सूचित किया है।

(७) अपने पाँवों के चिन्ह कंस को नहीं दिखाई देना कह कर आधिदैविक व्यवस्था का निरूपण किया है। भूमि पर घूल अथवा कीचड़ में पड़े हुए अपने पाँव कंस को नहीं दिखाई देने लगे



थे । भूमि देवता ने उसका त्याग कर दिया था, इसलिए उसके पैर के चिन्ह भूमि पर नहीं पड़ते थे ॥२६॥

श्लोक — स्वप्ने प्रेतपरिष्वङ्गः खरयानं विषादनम् ।

यायात् नलदमाल्येकस्तंताम्यक्तो दिगम्बरः ॥३०॥

श्लोकार्थ— सोते में स्वप्न में कंस ने देखा कि प्रेत उससे लिपट रहे हैं । वह गधे पर नङ्गा सवार है, सिर से पैर तक तेल से नहाया हुआ है, गले में दुपहरिया के फूलों की माला पहने है और विष खा रहा है । इस प्रकार के बुरे बुरे शकुन कंस को दिखाई देने लगे ॥३०॥

सुबोधिनी— एवं जागरितानि निरूप्य भव-
स्यान्तरेपि दुर्निमित्तानि निरूपयति, अन्यथा
मृतप्रायो व्याधितो वा जीवेत्, तान्यपि सप्तविधानि,
प्रेतस्य परिष्वङ्गः श्मशाने पतितः शवः कसे गते
तदालिङ्गनं करोति तस्य मित्रमयमपि भविष्य-
तीति, प्रेतानां वा मृतानां समालिङ्गनं साधु समा-
लिङ्गनं समागतोतीति, खरयानमिति, गर्दभारू-
ढमात्मान पश्यति, काली हि तामसी शक्तिः
मृत्युदेवता, तस्या वाहनं गर्दभः, सा स्वयानं
प्रेषितवतीति, 'रासभेन भ्रम'तीति वाक्यात्
विषभक्षणं आधिभौतिकं, एतत् त्रयं सत्त्वरजस्त-

गोरूपं, प्रेतानामालिङ्गनमेव न तु प्रेतत्वं, गर्दभेन
गमनमात्रं न तु यमपुरीप्रवेशः, विषस्य भक्षण-
मेव न तु मरणमिति, सामिकार्याणि पुनस्त्रिवि-
धान्युक्त्वा धर्मिणगणि चतुर्यमाह यायादिति,
नलदमालायुक्तमात्मानं दृष्टवान्, महाराजोप्ये-
काकी यायादिति, शोशंसितगेतदिति आपनार्थं
लिङ्प्रयोगः, तंताम्यक्तं चात्मानं पश्यति, एकत्वं
तामसमिति, दिगम्बर इत्यादिदेविकं, सर्वदेवता-
मयेन वासरा त्यक्त इति, 'सर्वदेवत्यं वास' इति
श्रुतेः, क्रिया पुनः या अन्ते निरूपिता सा तस्य
गमननिर्धारं कारयति ॥३०॥

व्याख्यान— इस प्रकार जगते रहने की स्थिति में देखे हुए खराब शकुनों को कह कर सोते समय स्वप्न में भी दिखाई देने वाले अपशकुनों का निरूपण इस 'स्वप्ने' श्लोक से करते हैं । जागते समय में दिखाई देने वाले बुरे शकुन जैसे घर्म और घर्मों रूप से सात प्रकार के बतलाए हैं वैसे ही सपने में दिखाई देने वाले अपशकुन भी सात प्रकार के ही हैं ।

(१) प्रेत का आलिङ्गन, श्मशान में पड़े हुए मुर्दे का आलिङ्गन, कंस जब वहाँ (श्मशान) पर जायगा तब कंस भी उनका मित्र बनेगा; इस विचार से करे अथवा मुर्दे मरे हुए कंस का (भले आए) कह कर स्वागत करके आलिङ्गन करे, तब सम्भव है । इस प्रकार कंस मुर्दों का कंस आलिङ्गन करते हुए उसको दिखाई देने लगे ।

(२) गधे पर सवार होना, कंस अपने आपको गधे पर बैठा देखता था । मृत्यु की देवी काली तामसी शक्ति है और गधा उस देवी काली का वाहन है । वह मृत्यु देवी कालिका गधे पर सवार हो कर सब जगह घूमती फिरती है, इस वाक्य के अनुसार मृत्यु देवी ने अपना वाहन गधा कंस के पास भेज दिया था, यह तात्पर्य है ।



(३) विष खातेना, ये तीन आधिभौतिक बुरे शकुन सात्विक राजस और तामस हैं। प्रेतों का प्रालिंगन ही देखता था, स्वयं प्रेत नहीं बना। स्वयं गंधे पर बैठा-सवार-ही देखा, यमपुरी में नहीं चला गया, स्वयं को विष खाता हुआ मात्र ही देखता था, मरा हुआ नहीं देखता था। इस प्रकार सपने में भी तीनों काम आधे आधे ही वह कर शेष चौथे से रातवे अपशकुन तक धर्मों का ही वर्णन करते हैं। ये सभी अपशकुन दर्शन रूप धर्म कंस के सम्बन्धी हैं, इस कारण से यहां कंस का धर्मोपेक्ष से वर्णन किया है।

(४) कंस अपने आपको गले में दुपहरिया के फूलों की माला पहने हुए देखता था। (५) राजाधियज होते हुए भी कंस अपने को अकेला ही देखता था। कंस अकेला ही यमलोक में जाए, इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिए हो'यायात्'श्लोक में यह विधिलिङ् का प्रयोग है।

(६) वह अपने आप को तेल से स्नान किया हुआ देखता था। स्वयं को अकेला देखना तामसी व्यवस्था है।

(७) दिगम्बर-दिशाश्रों रूपी वस्त्र वाला-होना यह आधिदैविक अपशकुन है। (वस्त्र सारे देवता रूप हैं) इस श्रुति के अनुसार सब देवता रूप वस्त्रों ने भी कंस का त्याग कर दिया था। यह अन्तिम सातवां अपशकुन है, जो आधिदैविक रूप बुरा शकुन है, यह निश्चित रूप से सूचित करता है कि कंस अवश्य ही यमपुरी में चला जाएगा, (मरेगा) ॥३०॥

श्लोक—अन्यानि चेत्यम्भूतानि स्वप्नजागरितानि च ।

पश्यन् मरणसन्त्रस्तो निद्रां लेभे न चिन्तया ॥३१॥

श्लोक—इस प्रकार सोते में और जागते में भी अनेक प्रकार के अशुभ सूचक मृत्यु की सूचना देने वाले बुरे बुरे शकुनों को देख कर कंस को बड़ी चिन्ता हुई। भयानक चिन्ता और मृत्यु के भय से उसे रात भर नींद नहीं आई। ३१॥

सुबोधिनी—एवं कानिचित् निरूप्य अन्या-
न्यपि कालेन सूचितानि दृष्टवानित्याह अन्यानि
चेति, चकारात् स्वप्नेपि, विशेषतः अनुक्तो हेतु-
माह इत्यम्भूतानीति, चकारादेतान्यपि पुनः पुन-
दृष्टानि, किञ्च स्वप्ने यन् जागरणं तत्राप्येतानि
दृष्टानीत्याह स्वप्नजागरितानीति, चकारात् स्वप्ने

यः स्वप्नः तत्र तदुपयोग्यानि दृष्टानीति, न केवल-
मेतानि दृष्टानि किन्तु स्वकार्यमपि चक्रुरित्याह
पश्यन् मरणसन्त्रस्त इति मरणात् सन्त्रस्तः मरणं
निश्चित्य त्रासं प्राप्तवानित्यर्थः, एतदध्वरात्रसमये,
ततः प्रभृति चिन्तया निद्रां न लेभे ॥३१॥

ध्याख्यार्थ—इस प्रकार कितने ही अशुभ शकुनों का निरूपण करके दूसरे समयों पर भी और स्वप्न में भी, कंस को दिखाई देनेवाले बुरे शकुनों को इस 'अन्यानि' श्लोक से कहते हैं। उन शकुनों का विशेष रूप से वर्णन न करके-इत्यम्भूतानि-ऐसे ऐसे और भी खराब शकुनों को कंस ने देखा, यों साधारण रीति से कहा है। इस प्रकार के बुरे बुरे शकुनों को वह सोते और जागते भी बार बार

देखने लगा था। केवल उसको ऐसे बुरे शकुन ही नहीं दिखाई दिये, किन्तु उन अपशकुनों ने कंस को यह भी निश्चित रूप से बतला दिया कि उसकी अवश्य मृत्यु होगी। इस बात को जान कर अपनी मौत का निश्चय करके कंस को भारी भय हो गया; ऐसा आधी रात के समय में हुआ। पीछे चिन्ता से उसे नीद भी नहीं आई ॥३१॥

श्लोक—व्युष्टायां निशि कौरव्य सूर्य चाद्भ्यः समुत्थिते ।

कारयामास वं कंसो मल्लक्रीडामहोत्सवम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—हे कुरुकुलभूषण! रात बीत गई, सवेरा हो गया। सूर्य भगवान् क्षितिज से ऊपर उठे। कंस ने उठ कर मल्लक्रीड़ा के महान् उत्सव का आरम्भ करने के लिए सेवकों को आज्ञा दी ॥३२॥

सुबोधिनी—एवमपि न निवृत्त इत्याह व्युष्टा-
यामिति, कौरव्येति विश्वसारथ्य सम्बोधनम्, निशि
व्युष्टायां प्रभातायां सत्यां दोषे अगते गुरोपि
जाते सूर्ये चाद्भ्यः समुत्थित इति, 'अद्भ्यः प्रातः-
रुदेत्यपः सायं प्रविशति', 'य उदगात् महतोर्णवा'-

दित्यादिश्रुतेः, चकारात् लोकेष्वप्युत्थितेषु त्रैव-
गिकानामावश्यककर्मानन्तरं च, मल्लक्रीडामहो-
त्सवं कारयामासेति, मल्लक्रीडाप्रधानीयं महो-
त्सवः, यस्मिन् महोत्सवे मल्ला क्रीडन्ति, लोकव्यञ्च-
नार्थं तमेकं परिकल्पितवान् ॥३२॥

व्याख्याय—इस प्रकार के बुरे बुरे लक्षणों से अपनी मृत्यु का निश्चय करके भी कंस अपने कर्तव्य से नहीं डिगा, यह इस 'व्युष्टायां' श्लोक से कहते हैं। इस कथा में गरीक्षित का विश्वास दृढ़ रहने के लिए 'कौरव्य' यह सम्बोधन श्लोक में दिया गया है। रात बीती, प्रातः काल हुआ, दोष (अन्धकार) गिरा और प्रकाश (गुण) के फल जाने पर, सूर्य प्रातः काल में जल से बाहर निक-
लेते हैं और राध्या के समय जल में प्रवेश करते हैं, महासागर से सूर्य निशलते हैं, इत्यादि श्रुति के अनुसार सूर्य भगवान् के जल से बाहर उदित हो जाने पर तथा सब लोगों के जाग जाने पर और सब विवर्णों के अपने अपने आवश्यक कार्य कर लेने के बाद कंस ने मल्लक्रीड़ा का महोत्सव करवाया। इस क्रीड़ा में मल्लों की ही प्रधानता होती है। लोगों को ठगने के लिए ही कंस ने यह मल्लक्रीड़ा की योजना की ॥३२॥

श्लोक—आनचुः पुष्प रङ्गं तूर्यमेयंश्च जघ्निरे ।

मञ्चाः स्वलङ्कृताः स्रग्मिः पताकाचलतोरणैः ॥३३॥

श्लोकार्थ—सेवकों ने रङ्ग भूमि (अखाड़े) की अच्छी तरह से सजावट की। तुरही, नगाड़े, बाजे आदि बजने लगे। पताकाएँ, झण्डियों तथा फूलों से सजाए गए (वहाँ के) फाटकों, तोरणों और पुष्प मालाओं से वहाँ के मञ्च सुसज्जित किए गए ॥३३॥



सुबोधिनी—तत्र सम्भारानाह आनर्चुरिति, पुरुषा अधिकारिणः, रङ्गं रङ्गप्रदेशं आनर्चुलं-पादिना पूजितवन्तः, तत् हि भूम्यन्तरिक्षाकाशा-त्गकं, तत्र भूमिप्रदेशस्य पूजोक्ता मध्यप्रदेशस्याह तूयं, तूयो वा मङ्गलवाद्यानि भेर्यश्च उत्सवसूच-कानि चकारादन्यानि जघ्निरे शब्दिताः, भेरीणां

हननाभावात् ङोल्लकापरपर्यायो वा भेरीशब्दः, विसर्गलोपः, तूयंशब्दो वा, तूर्पाणि भेर्यश्चेति, उपरि शृङ्गारमाह मञ्चा स्वलङ्कृताः इति, सर्वत्र मालाभिः स्वलङ्कृताः पताकादिभिश्च, वस्त्रम-यानि च तोरणानि वस्त्रंस्तोरणंश्चैवेति वा । ॥३३॥

व्याख्यान्य—‘आनर्चुः’ इस श्लोक से रंगभूमि में इकट्ठी की हुई सामग्रियों का वर्णन करते हैं । कंस के अधिकारी पुरुषों ने अखाड़े को लीपने, पोतने आदि के द्वारा पवित्र किया । अखाड़े का स्थान (भूमि) अन्तरिक्ष^१ और आकाश^२ का बना होता है । उन में से भूमि भाग की पूजा को लीपने, पोतने से कह कर मध्यभाग अन्तरिक्ष की पूजा का वर्णन करते हैं कि वहां भेरियां, नगाड़े आदि नाना भांति मांगलिक बाजे बजाए जाने लगे जो सब को इस प्रकार महान् उत्सव की सूचना दे रहे थे । यहां श्लोक में विविध बाजे और भेरियां (तूर्पाणि च भेर्यश्च ऐसा द्वन्द्व समास है) बजाए जाने लगे । मंचों की सजावट के द्वारा अखाड़े के आकाश भाग की पूजा का वर्णन करते हैं । वहां के सारे मंचों को अनेक भांति के पुष्पों की मालाओं से, पताकाओं और झण्डियों से सजाया गया । कपड़े के बने हुए तोरणों से अथवा कपड़ों से तोरणों आदि से मंचों का शृङ्गार किया गया ॥३३॥

श्लोक—तेषु पौरा जानपदा ब्रह्मक्षत्रपुरोगमाः ।

यथोपजोषं विविशु राजानश्च कृतासनाः ॥३४॥

श्लोकार्थ—उन मंत्रों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सब पुरवासी, जनपदों (प्रान्तों) के रहने वाले और प्रतिष्ठित राजा रईस लोग आकर अपने अपने यथोचित स्थान पर विराजमान हुए ॥३४॥

सुबोधिनी—एवमलङ्कृतस्य रङ्गस्थानस्य उपयोगमाह तेषु पौरा इति, आदावुपरि विनि-योगः तेषु मञ्चेषु पौराः पुरवासिनो जानपदा देश-वासिनश्च ब्रह्मक्षत्रो पुरोगमावग्रे उपविष्टी येषां

मञ्चानां, बहुत्वसूचनायाह यथोपजोषमिति, ये समाहूताः खण्डगण्डलाधिपतयो राजानः ते कृता-सनाः दत्तासनाः सन्मानार्थं युद्धार्थं चकारात् राजकीयाश्च कृतमासनं येम्य इति ॥३४॥

व्याख्यान्य—‘तेषु’ इस श्लोक से उस सजाये हुए अखाड़े के उपयोग का वर्णन करते हैं । पहले ऊपर के भाग का उपयोग बतलाते हैं कि उन मंचों पर ब्राह्मण और क्षत्रिय आगे बैठे, नगर निवासी, प्रान्तों की जनता सभी लोग सुख पूर्वक बैठे, क्योंकि मंचों की कमी नहीं थी, असंख्य मंच थे । सन्मान के लिए अथवा कृष्ण-बलदेव के साथ युद्ध करने की इच्छा से बुलाए हुए, कंस को कर देने वाले आधीन सामन्त और स्वतन्त्र राजा, महाराजा अपने अपने राजकीय अधिकारी वगैरह सहित यथा निर्दिष्ट आसनों पर बैठ गए ॥३४॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३५ ॥

श्लोक—कंसः परिवृतो मातृयं राजमञ्चमुपाविशत् ।

मण्डलेश्वरमध्यस्थो हृदयेन विदूषता ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ - कंस ने अपने लिए सब से अलग एक ऊँचा राजमञ्च बनवाया था । उसी मञ्च पर वह अन्यान्य सामन्त राजाओं को मण्डली में मन्त्रियों के साथ आकर बैठा । उस समय भी उसका हृदय भय और आशङ्का के कारण धड़क रहा था ॥ ३५ ॥

सुबोधिनी--कंसोऽप्युपविष्ट इत्याह कंस इति, अमातृयं परिवृतः राजमञ्चं मध्ये श्रेष्ठत्वेन विनिमित्तमुपाविशत्, तत्र मण्डलेश्वरा मध्युपवेशिता इत्याह मण्डलेश्वरमध्यस्थ इति, मण्डलेश्वराणां	मध्ये तिष्ठतीति वहिः शोभा निरूपिता, हृदयेन विदूषता उपलक्षितः सहितो वा तेनान्तः शोभाभाव उक्तः ॥ ३५ ॥
---	--

व्याख्या - 'कंसः' इस श्लोक से कंस का भी वहाँ प्रलाड़े में आ कर बैठना कहते हैं । अपने मन्त्रियों के मण्डल से घिरा हुआ कंस बीच में सब मन्त्रियों से उत्तम रीति से बनाये गए राजमंच पर सारे मण्डलेश्वरों के बीच में बैठ गया । मण्डलेश्वरों के मध्य में बैठने से उसकी बाहर तो शोभा हुई, किन्तु उसका हृदय भय से कांप रहा था । इसलिए उसकी भीतरी शोभा नहीं हो रही थी; ऐसा सूचित किया है ॥ ३५ ॥

श्लोक—वाद्यमानेषु तूर्येषु मल्लतालोत्तरेषु च ।

मल्लाः स्वलङ्कृता दृप्ताः सोपाध्यायाः समासतः ॥ ३६ ॥

श्लोकार्थ—नगाड़े आदि बाजे बज रहे थे और बीच बीच में मल्लों के ताल ठोकने के शब्द सुनाई दे रहे थे । इसी समय में अपने गुरु के साथ गुन्दर वस्त्रों और आभूषणों से सुशोभित, गर्वीले मल्लों ने रङ्ग भूमि में प्रवेश किया ॥ ३६ ॥

सुबोधिनी--वाद्यानां निमित्तत्वेन मध्यस्थानामुपयोगमाह वाद्यमानेष्विति, तूर्याणां वाद्यमङ्गलप्रतीत्या सर्वे मल्लाः समागताः, तत्र च मल्लानां तलशब्दाः आस्फोटनरूपाः उत्तराणि गेषाम्, तूर्यराकारिता इव मल्लाः आस्फोटनतलशब्दान् कृत्वा आगता एव वयमिद्युत्तरमिवोक्तवन्तः, एवमाकारणं प्रतिवचनं च सत्यवाक्यनामागमननिमित्तमुक्तं, ततस्ते समागता इत्याह, मल्लाः स्वलङ्कृता इति, अथ विद्याप्राकट्यमिति	गलरीत्या मलङ्कृताः, अथवा कटकादिभिरेव, यतो दृप्ताः केवल शोभार्थं गच्छामः, न तु कश्चिदस्माकं प्रतिपक्षं स्तीति, अथवा, भगवतो माहात्म्यं श्रुत्वा अभीताः कथमागता इत्याशङ्क्याह दृप्ता इति, विद्याबलमपि तेषां नास्तीति सूचयितुमुपाध्यायसहिता आगता इत्युक्तं, बुद्धिदोषाभावं शायितुं वा भगवता तथा कृताः, सम्यगेव पुरस्कारपूर्वकं रङ्गस्थानमाविशन् ॥ ३६ ॥
---	---



व्याख्यान्यर्थ—‘वाद्यमानेषु’ इस श्लोक में उस अखाड़े के बीच के भाग के उपयोग का बाजों के बजते रहने के निमित्त से वर्णन करते हैं। बाजों के शब्दों को सुनने पर मांगलिक कार्य का प्रारम्भ हो जाना जान कर सारे मल्ल अखाड़े में आ गए। उन वाद्यों के बीच में पहलवानों के ताल ठोंकने के शब्द इस तरह गुनाई दे रहे थे, मानो वे तालें ठोंक कर उन बाजों की ध्वनि का उत्तर दे रहे थे। इस प्रकार से मल्लों को वहां रंग भूमि में बुलवाना और सत्य बोलनेवाले प्राप्त मल्लों का प्रत्युत्तर वहां आ जाने के कारण रूप से कहा गया है। वहां अखाड़े में मल्लों को (दाव पेव वाली) विद्या दिखाना था। इसलिए वे पहलवानों जैसी वेपभूषा में सजधज कर आ आए। अथवा वे ऐसा समझते थे कि उन के समान कोई दूसरा प्रतिमल्ल दुनियां में ही नहीं, ऐसा मान कर वे केवल शोभार्थ ही कड़े गुण्डल आदि आभूषणों का शृंगार करके ही वहां आए। वे बड़े ही घमण्डी मल्ल थे, इसलिए भगवान् की महिमा को सुनकर भी निडर रूप से अखाड़े में आ गए। वे उन के गुरु लोगों को साथ लेकर वहां आए, इस कथन से सूचित किया है कि उन में विद्या का बल नहीं था अथवा अधूरी विद्या जानने वाले मल्लों को भगवान् मार गिराते हैं तो भगवान् का माहात्म्य पूर्णरूप से प्रकट नहीं होता। उसमें अशिक्षित मल्लों को हरा देना रूप दोष रह जाता है। भगवान् ने अपने पर इस दोष को दूर करने के लिए ही उन मल्लों को ऐसी बुद्धि करदी, जो वे उनके गुरुजनों को साथ लेकर ही वहां आए। वे बड़ी शान के साथ सम्मान पूर्वक रंगभूमि में आए।

श्लोक—चाणूरो मुष्टिकः कूटः शलस्तोशल एव च ।

त आसेदुरूपस्थानं वल्गुवाद्यप्रहर्षिताः ॥३७॥

श्लोकार्थ—चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल, तोशल आदि प्रसिद्ध और प्रधान मल्ल अखाड़े के आस पास आकर बैठ गए और कानों को प्रिय लगने वाले बाजों को सुनकर प्रसन्न होने लगे ॥३७॥

सुबोधिनी—ततः सर्वेष्वगत्येषु चाणूरादयो युद्धभूमिं युद्धावेशेन समागता इत्याह चाणूर इति, पञ्च ते दैत्यप्राणरूपाः पञ्चैव उपस्थानमागताः,	उपसमीपे स्थीयते अस्मिन्निति यत् युद्धस्थानं, चकारात् तत्सेवका अपि आसेदुः, आगतानामुत्साहमाह वल्गुवाद्येन प्रहर्षिता इति ॥३७॥
--	--

व्याख्यान्यर्थ—एक एक करके सारे मल्लों के आ जाने के बाद में युद्ध के जोश में भरे हुए चाणूर आदि मुख्य मल्ल रंगभूमि में आए, यह इस ‘चाणूर’ श्लोक से कहते हैं। ये चाणूर आदि पाँचों मल्ल पाँच दैत्यों के प्राणरूप थे और वे पाँचों ही युद्धभूमि में अपने अपने सेवकों के साथ उस अखाड़े के निकट आ बैठे। मनोहर बाजों के शब्द को सुन कर बड़े ठाट बाट से युद्ध के उत्साह से भरे हुए वे वहां युद्धभूमि में आये ॥३७॥

श्लोक—नन्दगोपादयो गोपा भोजराजसमाहताः ।

निवेदितोपायनास्ते एकस्मिन् मञ्च आविशन् ॥३८॥

श्लोकार्थ—इतने में नन्द आदि सब गोप भी आ गए । उन्होंने कंस को सब भेटें नजर की और कंस ने भी उनका अच्छी तरह सत्कार सम्मान किया । वे भी एक मञ्च पर जा कर बैठ गए ॥३८॥

सुबोधिनी -एव सर्वसामग्रोसम्पत्ती समाहृता नन्दादयः समागता इत्याह नन्दगोपादय इति, यतो गृहादेवोपायनानि गृहीतवन्तः, तदाह त इति, सर्वथा वा तद्वानाः, प्रसिद्धाः वा, प्रसिद्धैरुपायनं देयमिति, विजातीयैः सह कलहशङ्कया दुर्वलाः एकस्मिन्नेव मञ्चे आविशन्, अनेन मञ्चानां स्थूलता निरूपिता ॥३८॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीमद्भगवद्गीतासितधिरचितायां दशमस्कन्धविवरणे वीर्यं निरूपण
एकोनचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥३९॥

व्याख्यान—५१ प्रकार सब सामग्रियां तथा तैयारियों से अखाड़े की पूर्णरूप सजावट हो जाने पर अक्रूरजी को गोकुल भेज कर बुलाए हुए वे नन्द आदि गोप रंगभूमि में आकर एक मंच पर बैठे, यह इस 'नन्दगोपादयः' श्लोक से कहते हैं । उन नन्दादि गोपों के साथ मयुरा गए बालक(गोपबालक) तो भगवान् के साथ ही रंगभूमि में आवेंगे और नन्दरायजी के समान अन्य गोप, जो कंस के प्रताप से दबे हुए थे, कंस के बुलाने पर जो घर से ही भेटें ले लेकर आए । अथवा जो सब तरह से कंस के आधीन थे । अथवा जो स्वयं प्रसिद्ध थे, वे कंस को भेट देना उचित समझ कर अपनी अपनी भेटें अर्पित करके वहां आ बैठे । ये ब्रजवासी निबल होने के कारण राक्षसों के साथ कलह होने के भय से अलग ही एक मंच पर आकर बैठ गए, क्योंकि वहां अखाड़े में असंख्य मंच सजाए गए थे ॥३८॥

इति श्रीभगवद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध (पूर्वाध्याय) ४२वें अध्याय की श्रीमद्भगवद्गीतासितधिरचितायां

वरणकृत श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) राजस-प्रमाण-अवान्तर प्रकरण

सप्तमं अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित

सम्पूर्ण ।



इस अध्याय में वर्णित श्रीकृष्णचन्द्र की लीलामृत के कुछ मधुर-घूँट

राग शंकरा भरन

अति हित चंचल जानि लई ।
मन भाँवरि परि अति नागर बर रस बस मोल लई ।
परमानंद साँवरे ऊपर तन मन विस्तारि गई ॥
राधा श्याम प्रीति उर अन्तर सर्वस प्रीति हुई ।
आवन जान गवन कत कीन्हो हरि सब भाँति ठई ॥
गोपीनाथ प्राण के रस बस जानी जाय दई ।
गिरिघर लाल रसिक के ऊगर कुब्जा नारी गई ॥
गानत नहीं लई साँवर को सकल प्रीति छिन माँह गई ।
मानिन मान करत गोपी हमैं दुखु सब भाँति बई ॥
सूरदास चिन्तामनि चित्त धरि अब कित प्रीति गई ।
मेरे मन वच क्रम ही साँवरे और न मान मई ॥

रागनी भूपाली

आनंदेही हर्ष बढो अति ।
देव वृन्द चरणारविंद ज्यों गथुरा प्रकट मयो पति ।
गावत गन गंधर्व जु पुलकित रसिक सूर जो अति रति ॥
विद्या सुर घर कंठ कलति अति ताल उघट जतननि जति ।
शिव विरंची सनकादिक आगे चित न समान नह्यौ रति ॥
कमल नयन शशि बदन विलोचन देखि मदन जू विचित्र रति ।
श्याम सुभग जो पीत वसन दुति और आनि जोरे अति ॥
नख मणि मुकुट विभाव गुदित ज्यों चिते न मानति मनयति ।
सूरदास प्रभु कियो कृपा अति भुज के चिन्ह दुरावति ॥

॥ श्री हरिः ॥

राजस “प्रमाण” अवान्तर प्रकरण में वर्णित लीला-सार

ज्योमासुर केशी सब मारे, अरु अरिष्ट वध कीन्हो ।
 कीड़ा बहुत करी गोकुल में, भगतन को सुख दीन्हो ॥
 नारद आय कह्यो नृप से यह, कोन नीन्द तू सोवे ।
 तेरो शत्रु प्रकट गोकुल में, गुप्त न जानत को वे ॥
 ये सब द्वैत प्रकट भए ब्रज में, जँह तँह ठौर हो ठौर ।
 उग्ररोन, वसुदेव, देवकी, यादो जे सब और ॥
 नन्द गोप वृणभान यशोदा, सब ही गोप कुल जानो ।
 करो उपाय वचो जो चाहो, मेरे वजन प्रमानो ॥
 यह सुन बंग सब हि को बन्धन, दीनो है तहि काल ।
 श्री वसुदेव देवकी निज पितु, बन्धन दियो विशाल ॥
 फिर नारद गोकुल ही आये, हरि चरनन सिर नाये ।
 अस्तुति करी बहुत नाना विध, मधुरे वन बजाये ॥
 हरि कछु इन उत्तर नह्ये दीनो, फिर गये अपने धाम ।
 बल मोहन सब सखा वृन्द ले, कीड़त गोकुल धाम ॥
 बोल अक्रूर कंस यह भाष्यो, सुनु सुफलक सुत बात ।
 राम कृष्ण को लाओ मधुपुर, विलम करोजनि जात ॥
 तब रथ बैठे चले सुफलक सुत, सन्ध्या गोकुल आये ।
 पेड़े में हरि चरण धूली लै, अपने अङ्ग लगाये ॥
 मिले नन्द बलदेव रोहनी, और यशोदारानी ।
 पूजा करि पधराय सदन में, भोजन की विध ठानी ॥
 भोजन करि अक्रूर जो बैठे, तब वृत्तान्त सुनाये ।
 धनुष यज्ञ कीन्हो नृपजू ने, सब को बेग बुलाये ॥
 चले महार बजरज सोंज लै, कौतुक देखन घाज ।
 राम कृष्ण दौड़ आगे ले कं, सकल घोष सिरताज ॥
 मारग में कालिदी के तट, कीन्हों जल असनान ।
 निज वेंकुष्ठ दिखायो जल में, दीन्हों पूरन ज्ञान ॥
 करि बंदन हरि के चरनन को, पुन अक्रूर यह भाष्यो ।
 तुम यदुकुल प्रकटे पुरुषोत्तम, भक्तन को प्रन राख्यो ॥
 मथुरा आय रहे उपवन में, नन्दराज सब गोप ।
 राम कृष्ण के चरन परसते, भविक मधुपुरी ओप ॥

गये नगर को देखन मोहन, बलदाऊ ले साथ ।
 पुर कुल वधू भैरोखन भाँकत, निरष निरष मुसवयात ॥
 मारग में एक रजक संधारे व, सब हि वसन हरि लीन्हे ।
 बायक मिल्यो सब हि पहराये, सब हिन को मुख दीन्हे ॥
 आगे मिल्यो सुदामा माली, फूल भाल पहिराई ।
 निरभय दान दियो हरि तिनको, अविचल भक्ति दृढ़ाई ॥
 कुब्जा घसि चन्दन ले आई, मारग देखन आई ।
 हरि मांग्यो उन लेजु समर्थों, मन वाञ्छित फल पाई ॥
 दियो वरदान भवन आवन को, तहांते चले कन्हाई ।
 मथुरा नगर देख मन मोहन, फूले हैं दोउ भाई ॥
 रोभत नार कहत मथुरा की, आपस में दं संन ।
 कोमल गात कौन को ढोठा, सुन्दर राजिव नैन ॥
 यह बालक सुकुमार सरसवपु, असुर प्रबल अति मारी ।
 कैसे कै बाकी मारंगे, सोचत है पुर नारी ॥
 उपवन आय कियो हरि व्याखू, नन्दराय सुख दीनो ।
 मधुमेवा पकवान मिठाई, जो भायो सो लीनो ॥
 पोढ़े जाय दोउ सज्या पर, सोवत आई नीन्द ।
 सुपने में मथुरा फिरो देखी, जागे बाल गोविन्द ॥
 मयो प्रात नृप फेर बुलायो, धनुष यज्ञ को देखन ।
 मल्ल युद्ध नाना विध कीड़ा, राजद्वार को पेषन ॥
 गये ब्रजराज द्वार भूपति के, बहु उपहार दिवाये ।
 तब नृप कह्यो सब गोपन सो, मली करी तुम आये ॥
 बेठारे सब मंच आप सा, कोतुक देखन लागे ।
 राम कृष्ण संग ग्वाल मण्डली, नगर देख अनुरागे ॥
 खेलत तोरे व धनुष टूक करि डारे, दोउन आयुध कीने ।
 तासुं मार करी चूर पहरुमा, परम मोद रस भीने ॥

—“सूर सारवली”

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला

सप्तम् पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण (पूर्वाद्धं) एवं श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित

श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

श्रीमद्भागवतानुसार अध्याय—४३ से ४६

श्री सुबोधिनी अनुसार अध्याय—४० से ४६

राजस - प्रमेय - अवान्तर - प्रकरण अध्याय—१ से ७

श्री भागवत गूढार्थ प्रकाशन परायणः ।

साकार ब्रह्म वादैक स्थापको वेद पारगः ॥—(श्रीमद्वल्लभाचार्य)

श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण

सहायक ग्रन्थ—

टिप्पणी—श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण

लेख—नि.ली.गो. श्री वल्लभजी महाराज

प्रकाश—नि.ली.गो. श्री पुरुषोत्तमजी महाराज

योजना—गो.वा.प.म. श्री लालुमट्टजी

कारिकार्थ—गो.वा.प.म. श्री निर्भयरामजी भट्ट

हिन्दी अनुवादक :

गो.वा. प.म. श्री फतहचन्दजी वासु शास्त्री

जोधपुर (राज०)

प्रथम आवृत्ति — १०००

विठ्ठल जयंती पोष कृष्ण नवमी

दिनाङ्क २८ दिसम्बर'१९७२

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक :

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल

मानघना भवन, चौपासनी मार्ग,

जोधपुर, राजस्थान

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्यवति चरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

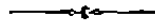
श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४३वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ४०वाँ अध्याय

राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

‘प्रथम अध्याय’

कुबलयापोड का उद्धार एवं रङ्ग मण्डप में प्रवेश



कारिका—शब्दस्य हि बलं पूर्णं सप्तभिर्विनिरूपितम् ।

अर्थस्यापि बलं रोधे तावद्भिर्विनिरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—जिस प्रकरण में शब्द का पूर्ण बल है, वह प्रमाण प्रकरण है; जिसका वर्णन सात अध्यायों में इसलिए किया है कि शब्द, ब्रह्म रूप हैं और ब्रह्म, षड् धर्म और सातवाँ धर्म होने से सात प्रकार के हैं । अतः एक एक अध्याय में एक एक का वर्णन हुआ है । अर्थ, अर्थात् प्रमेय रूप का वर्णन भी उस प्रकार निरोधार्थ सात अध्यायों में किया जाता है ॥१॥

कारिका—प्रपञ्चो विस्मृतः सर्वैरुत्सवाद्यैरनेकधा ।

माहात्म्यस्य परिज्ञानात्तदासक्तिर्निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—सर्व प्रकार के उत्सवादिकों से प्रपञ्च की विस्मृति हो गई और भगवान् के महात्म्य के अनेक विध पूर्ण ज्ञान होने से उनकी आसक्ति भी सिद्ध हुई । उस आसक्ति का भी निरूपण किया जाता है ॥२॥

कारिका—द्रष्टृणां च तथा पित्रोः सर्वेषामेव चैव हि ।
पूर्वोक्तानां तथान्येषां द्वाभ्यां द्वाभ्यस्तमुदीर्यते ॥३॥

कारिकायं—देखने वालों की, माता तथा पिता की एवं सबों की आसक्ति तो एक एक अध्याय से कही जाती है तथा प्रथम कही हुई तामस गोपियों की और दूसरों की आसक्ति का दो दो अध्यायों से वर्णन किया जाता है ॥३॥

कारिका—एवमासक्तिसिद्धौ हि तदेकपरता पुनः ।
वक्तव्येति ततो हेतोः फलं चापि निरूप्यते ॥४॥

कारिकार्थ—इस प्रकार प्रमेय प्रकरण में आसक्ति का वर्णन करने के अनन्तर फिर (साधन प्रकरण में) व्यसन की सिद्धि का वर्णन किया जाता है। व्यसन सिद्धि के पश्चात् फल प्रकरण में फल का निरूपण होता है।

कारिका—चत्वारिंशत्तमेऽध्याये कृष्णासक्तिर्निरूप्यते ।
दृष्ट्वा सामर्थ्यमतुलं विस्मितानामनेकधा ॥५॥

कारिकार्थ—अब इस ४० वें अध्याय में श्री कृष्ण ने अपने में राजसों की जो आसक्ति कराई है, उसका वर्णन है । राजस भक्त भगवान् का अनेक प्रकार से अतुल सामर्थ्य देखकर विस्मित होने से भगवान् में आसक्त हो गए हैं ॥५॥

आभास—पूर्वाध्याये भगवतो दोषाभावाय विशेषचेष्टाफलं साधारणचेष्टारूपस्य कालस्य च दुर्निमित्तप्रदर्शनलक्षणं निरूपितम्, तथाप्यनिवृत्तौ भक्तोपेक्षादोषो भगवतोपि भविष्यतीति अनाहूतयोरपि रामकृष्णयोर्दर्शनार्थं प्रवृत्तिनिरूप्यते । तत्र प्रथमं रङ्गदर्शनार्थं प्रवृत्तावित्याह अथ कृष्णश्च रामश्चेति ।

आमासायर्थ—पूर्व के ३६ वें अध्याय में भगवान् निर्दोष हैं, उसको प्रमाणित करने के लिए अलौकिक तथा लौकिक माहात्म्य का ज्ञान करवाया तथा साधारण चेष्टा रूप काल ने जो बुरे शकुन दिखाए, उनका भी वर्णन हुआ, तो भी कंस अपने दुष्कर्म करने से रुका नहीं। इस अध्याय में भगवान् ने विचारा कि, यदि मैं मथुरा देखते हुए रङ्गमण्डप में इसलिए नहीं जाऊँ कि मुझे किसी



ने बुलाया नहीं और मैंने भक्तों की उपेक्षा की है, यह दोष मुझे लगेगा यह विचार कर, इस भ्रम को मिटाने के लिए भगवान् राम कृष्ण दोनों दर्शन में प्रवृत्त हुए । जिसमें प्रथम रङ्ग-मण्डप देखने के लिए पधारे । जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'अथ कृष्णश्च' श्लोक में करते हैं—

श्रीशुक उवाच —

श्लोक—अथ कृष्णश्च रामश्च कृतशौचौ परंतप ।

मल्लदुन्दुभिनिर्घोषं श्रुत्वा द्रष्टुमुपेतुः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा हे परन्तप ! उसके अनन्तर जिन्होंने अपनी शुद्धि पहले दिन ही करली है वैसे श्रीराम और श्रीकृष्ण, दुन्दुभि की तथा मल्लों की की ध्वनि सुन कर समझ गए कि अब कार्य प्रारम्भ हुआ है । अतः देखने के लिए वहाँ उसके पास आये ॥१॥

सुबोधिनी—चकारद्वयं तदीयानां समुच्चयार्थम्, ससाधनं फलं च तत्र गच्छतीति निरोध न कोऽपि सन्देह इति भावः । अथेति प्रक्रियान्तरम्, प्रमेय-बलमारभ्यत इति । कृतशौचौ कृतावश्यकवति केचित् । पूर्वदिन एव कृतं शौचं स्वशुद्धता	याभ्याम् । परंतपेति संबोधनं गूढार्थपरिज्ञानाय । ब्रह्मधर्मा ह्येते नपसा ज्ञातव्या इति । तदा मल्लानां दुन्दुभीनां च नितरां घोषं श्रुत्वा सर्वसामग्री सिद्धेति स्वयमपि द्रष्टुमुपेतुः निकटे गतौ ॥१॥
---	--

व्याख्यानार्थ श्लोक में 'च' शब्द दो बार आया है; जिसका भावार्थ यह है कि जो तदीय हैं उनके संग्रह के लिए दिए हैं । अर्थात् सब का निरोध होगा, कारण कि साधन^१ सहित फल^२ पधार रहे हैं, अतः निरोध होने में किसी प्रकार का भी सन्देह नहीं है । 'अथ' शब्द कहने का कारण यह है कि अब अन्य विषय का प्रारम्भ होता है । अर्थात् प्रमाण बल, पूर्व प्रकरण में दिखाया । अब प्रमेय-बल दिखाते हैं । 'कृतशौचौ' पद का अर्थ कोई तो करते हैं कि राम कृष्ण ने अपने आवश्यक^३ कृत्य कर लिये थे, किन्तु आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि उन्होंने गत दिन ही अपनी शुद्धता करली थी । इस लिए 'कृत युगे च' पद है । राजा के लिए 'परन्तप' विशेषण देकर राजा को सूचित किया है कि आप गूढ अर्थ (तात्पर्य) को समझते हैं । कारण कि ये ब्रह्म-धर्मातिपत्त्या से ही जाने जाते हैं । मल्लों की तथा नगाड़ों की ध्वनि सुनकर समझा कि सब सामग्री सिद्ध हो गई है । अर्थात् अब कार्य प्रारम्भ होने वाला है, अतः आप भी देखने के लिए वहीं समीप पधारे ॥१॥

आभास—प्रमेयनिरोधे दृष्टं माहात्म्यं प्रयोजकमिति वक्तुं प्रथमं कुवलयपीडवधो निरूप्यते रङ्गद्वारमिति त्रयोदशभिः ।

आभासार्थ—प्रमेय में निरोध कराने वाला प्रत्यक्ष देखा हुआ माहात्म्य कारण है, यह बताने के लिए प्रथम 'कुवलयपीड के वध का' निरूपण 'रङ्गद्वार' श्लोक से १३ श्लोकों में करते हैं ।

उवाच हस्तिपं वाचा मेघनादगम्भीरया ॥३॥

CONFIDENTIAL

श्लोकार्थ — भगवान् कमर कसकर और टेढ़े बिखरे हुए केशों को इकट्ठाकर चोटी बनाके मेघ के नाद जैसे गम्भीर नाद से महावत को कहने लगे ॥३॥

सुबोधिनी - परिकरमुत्तरीयं वस्त्रं कटिसंबद्धं कृत्वा, कुटिलालकांश्च हस्तद्वयेन चूडाकारेण बद्ध्वा, कालमुभयतो निरुध्य, भ्रमनिवृत्त्यर्थं वाचा निर्भर्त्सनं कृतवानित्याह उवाचेति । हस्ती चेत् दुष्टः, हस्तिपेन वारणीयः । हस्तिपश्चेत्, स एव मारणीयः, अन्यथा उभावपि मारणीयाविति ।

तदधीनो हस्तीति तस्य निर्भर्त्सने यथा भयमुत्प-
द्यते, तथा सिंहसमानस्य मेघस्येव नादं कृतवानि-
त्याह मेघनादागम्भीरया वाचेति । मेघनादापेक्ष-
यापि गम्भीराः । अनेनान्तःस्थितानां तप्तानां वसु-
देवादीनां तापोऽपि निवारितः ॥३॥

व्याख्यानार्थ—उत्तरीय वस्त्र को कमर से बांधा और कुटिल केशों को दोनों हाथ से चोटी कर ली, यों करने से काल को दोनों प्रकार से रोक लिया, इस प्रकार की लीना से काल को रोक लिया, यह सत्य नहीं है, तो इस भ्रम का निवारण करने के लिये वाणी से उसका तिरस्कार करते हुए कहने लगे । हस्ती यदि दुष्ट है तो महावत का धर्म है उसको रोकना, यदि वह दुष्ट है, उसको नहीं रोकता है तो उस (महावत) को ही मारना चाहिए । यों न हो सके, तो दोनों को मारना चाहिए । हाथी तो महावत के आधीन है, अतः उसका तिरस्कार करते हुए जैसे भय पैदा होवे वैसी सिंह की गर्जना जैसी मेघ से भी गंभीर वाणी से कहने लगे, जिसको सुन कर वसुदेवादिकों के तप्त अन्तःकरण भी शान्त हो गए ॥३॥

आभास—निर्भर्त्सनमाह अम्बुषाब्बुषेति ।

आभासार्थ—भगवान् ने महावत का जिस प्रकार तिरस्कार किया, वह प्रकार 'अम्बष्ठाम्बष्ठ' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—अम्बष्ठाम्बष्ठ मार्गं नो देह्यपक्रम मा चिरम् ।

नोचेत्सकृञ्जरं त्वाद्य नयामि यमसादनम् ॥४॥

श्लोकार्थ—हे अम्बष्ठ ! हे अम्बष्ठ ! हमको भीतर जाने के लिए रास्ता दे, यहाँ से जल्दी हट जा, देरी मत कर; जो तू न हटेगा तो अभी तुझे हस्ती समेत यम के घर पहुँचा दूँगा ॥४॥

सुबोधिनी—निन्दायां वीप्सा । प्रतिलोम-
जोऽम्बुष्ठ इति तस्य सहजदोषकीर्तनेनैव तिर-
स्कारो भवति । प्रनवहितस्य श्रवणार्थं वा
द्विरुक्तिः । नो मार्गं देहीति । अयमस्माकमेव
मार्गः, उत्सवोऽस्मदर्थमेव कृतं इति । अस्मभ्यं मार्गं
देहीति च । कथं देयमिति चेत्, तत्राह अपक्व-

मेति । इतोऽन्यत्र गच्छ चिरं मा । अन्यथाज्ञो-
लङ्घने मदीयः कालोऽधिकारी मारयिष्यतीति ।
किञ्च । यदि केनापि प्रकारेण मार्गं न दास्यसि,
तत उभयोर्दोषे कुञ्जरसहितं त्वामद्यैव यमसादनं
नयामि प्रापयिष्यामि । मध्ये न त्यक्ष्यामीति ।
मृत्युरेव यमगृहम् । अन्यथा 'मल्लेभकसयवना'



इति गणना विरुध्येत । कदाचिद्वस्ती मम युद्ध-
साधनमिति न मन्तव्यमित्यभिप्रायेणाह सकुञ्जर-
मिति । अद्यैवेति । तव मारणेऽपि विलम्बो न

भविष्यतीत्यर्थः । अद्येति वर्तमानकालवाचकम्,
न तु दिनवाचकम् ॥४॥

व्याख्यार्थ—महावत का तिरस्कार करने के लिये 'अंबष्ठ' शब्द दो बार कहा है, कारण कि अंबष्ठ प्रति लोमज वर्ण संकर होता है । अतः जिसमें जो सहज दोष हो उसको प्रकट करने से उसका तिरस्कार होता है और दो बार इस लिए भी कहा है कि यदि एक बार कहने से ध्यान न दे तो दूसरी बार तो ध्यान देगा ही । हमें उत्सव में जाने के लिए मार्ग दो यह हम लोगों का ही मार्ग है, कारण कि हमारे लिए ही उत्सव किया गया है । जब प्रश्न हुआ कि किस प्रकार मार्ग दूँ ? तो उसके उत्तर में कहते हैं कि यहाँ से हट जाओ, देरी मत करो । यदि हटने में देरी करोगे और हटोगे नहीं तो मेरा अधिकारी काल अभी ही तुम्हें मार डालेगा और फिर विशेष में कहते हैं कि यदि किसी प्रकार भी मार्ग नहीं दोगे तो दोनों का दोष समझ कर दोनों को अभी यम के घर पहुँचा दूँगा बीच में नहीं छोड़ूँगा, यम के गृह कहने का तात्पर्य मृत्यु है । यदि मृत्यु यम का गृह न हो तो 'मल्लेभकंसयवना' यह कहना असत्य हो जाएगा । यों भी न समझना कि हस्ती तेरे युद्ध का साधन है, इसलिए इसके छोड़ दूँगा सो नहीं है, तेरे साथ उसके भा भा रहेगा । तुम पूछे कि कब ? तो उसके उत्तर में कहते हैं कि मारने में देरी भी न करूँगा अभी मारूँगा । यहाँ 'अय' शब्द वर्तमान काल बताता है, न कि आज का दिन बताता है ॥४॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह एवं निर्भर्त्सित इति ।

आभासार्थ—भगवान् का इस प्रकार अम्बष्ठ के तिरस्कार करने के बाद जो कुछ हुआ, उसका वर्णन 'एवं निर्भर्त्सितो' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—एवं निर्भर्त्सितोऽम्बष्ठः कुपितः कोपितं गजम् ।

नोदयामास कृष्णाय कालान्तकयमोपमम् ॥५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार अपमानित अम्बष्ठ को क्रोध हुआ । उसने गज को भी कुपित किया । वह गज काल, अन्तक तथा यम के समान था, ऐसे गज को कृष्ण के पास भेजा ॥५॥

सुबोधिनी—एवमित्यसह्यं निर्भर्त्सनम् । नितरां भर्त्सितः अम्बष्ठो हीनः, अत एव हितवाक्येऽपि कुपितः हस्ती पूर्वमेव तेन कोपितः कृतोऽस्ति, अतस्तत्कर्मनिपुणः मूर्खः कृष्णाय सदानन्दाय कालाय वा प्रेरयामास । ननूपद्रवार्थं प्रेरणम्, उपद्रवे हि कालो निमित्तम्, अन्यथा साधनानि विपरीतानि भवेयुः । अन्तको मृत्युः ।

स चेत् कुतश्चिज्जायेत, ततोऽनिष्टं भवेत् । अधिकारी यमो वा यद्याज्ञां दद्यात् । एवमङ्गं श्रुतिपुराणशास्त्रभेदेन । तेष्वसङ्गतेषु प्रयोजनाभावात् किं प्रेरणयेत्याशङ्क्याह कालान्तकयमोपममिति । त्रितयप्रतिरूपोऽयम् । यत्रैतदभावः, तत्र तेषामपेक्षा, न त्वस्मिन् विद्यमाने ॥५॥



व्याख्यार्थ—भगवान् ने महावत का जन्म से ही नीचपना प्रकट किया, जिससे उसने अपनी प्रतिष्ठा को धक्का लगा और मेरी इज्जत गई तथा अपमान हुआ, यों समझा। अतः वह गुस्से में आ गया और उसने हस्ती को तो पहले ही कुपित कर छोड़ा था। अतः इस कर्म में निपुण मूर्ख महावत ने हस्ती को सदानन्द रूप अथवा कालात्मा कृष्ण के पास जाने के लिए प्रेरणा दी।

महावत ने हस्ती को उपद्रव के लिए प्रेरणा दी है और उपद्रव होने में कारण काल ही है। यदि काल कारण न हो तो साधन विपरीत बन जावे। 'अन्तक' मृत्यु है। यदि वह कहीं से भी हो तो अनिष्ट हो जाए। आज्ञा करने वाला अधिकारी 'यम' है। वह जब आज्ञा दे तब वह कार्य (मृत्यु) हो सकता है, अन्यथा नहीं। इस प्रकार ज्योतिष शास्त्र, श्रुति, पुराण शास्त्रों में पृथक् पृथक् निमित्त कहे हैं। यदि वे नहीं मिले हुए हों, तो कोई प्रयोजन कार्य सिद्ध नहीं होता है। उसी की प्रेरणा से क्या लाभ? इस शङ्क के उत्तर में कहते हैं कि यह हस्ती काल, अन्तक और यम इन तीनों का प्रतिनिधि है। अर्थात् वे तीन ही इसमें है। अतः उनकी यहाँ आवश्यकता नहीं, जहां ये न हो, वहाँ उनकी अपेक्षा है ॥५॥

आभास—पद्मम्बुप्रेरितः हस्ती विशेषतो नापकुर्यात्, तदा न मारयेदिति तस्य विशेषापकारमाह करोन्द्रस्तमभिद्रुत्येति।

आभासार्थ—महावत से प्रचालित हस्ती यदि विशेष अपकार न करे तो भगवान् उसको मारे नहीं, इसलिए 'करोन्द्र' श्लोक से विशेष अपकार का वर्णन करते हैं—

श्लोक—करोन्द्रस्तमभिद्रुत्य करेण तरसाग्रहीत्।

कराद्विगलितः सोऽमुं निहत्यङ्घ्रिष्वलीयत ॥६॥

श्लोकार्थ—महावत से सञ्चालित उस कुपित करोन्द्र ने भगवान् के पास आकर शीघ्र ही उनको सूण्ड से पकड़ लिया। श्रीकृष्ण सूक्ष्म रूप से सूण्ड से निकल के उस हाथी को मार कर उसके पैरों में छुप गए ॥६॥

सुबोधिनी—ननु भगवत्समीपागमने देवैः कथं न निरुद्ध इत्याशङ्क्याह इन्द्र इति। क्रियाशक्ति-प्रधानः करो। क्रियायामधिपतिश्चेन्द्रः। अतो निष्प्रत्यूहं तं भगवन्तमभिप्रेत्य तरसा शीघ्रमेव करेण शुण्डादण्डेन भगवन्तमग्रहीत्। क्रिययापि भगवान् व्याप्तो भविष्यतीति बुद्ध्या तथा कृतवान्; भगवांस्तु भक्त्यैव वश्य इति कराद्विगलितो

जात इत्याह। विशेषेण गलितः। करो हि धर्तु-मेवाशक्तो जातः। स्थूलबुद्ध्या घृतः सूक्ष्मो जातः। यतः स प्रसिद्धः सर्वशक्तिः। ततः अमुं हस्तिनं निहत्य तस्याज्ञानार्थं अङ्घ्रिष्वलीयत, तस्यैव पादचतुष्टयमध्ये गुप्तो जातः। अनेन देवाद्विमोकः पलायनं च व्यावर्तितम्। तस्यान्तर्दृष्ट्यर्थं च जिज्ञासायामेव प्राप्यत इति ज्ञापनार्थम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—'इन्द्र' क्रिया का अधिपति है; जिससे देवों ने उसको रोका नहीं। अतः बिना रुकावट के उन भगवान् के पास पहुँचकर शीघ्र ही सूंड में भगवान् को पकड़ कर उससे लपेट लिया



भगवान् क्रिया से व्याप्त हों जाएँगे। अर्थात् बन्धन में आ जाएँगे, इस बुद्धि से यों किया था, किन्तु उसको यह ज्ञान नहीं था कि भगवान् तो भक्ति से वश में आकर अपना बन्धन भी करते हैं, अन्यथा उनको कोई साधन वश में वा बन्धन में नहीं ला सकता है।

अतः सूँड से भगवान् निकल गए। सूँड उनको पकड़ रखने में असमर्थ हो गई। हस्ती ने भगवान् को स्थूल देख बाँधा था, किन्तु वे सर्वशक्तिमान् होने से 'सूक्ष्म' हो के उससे निकल गए। निकलने के पीछे इस हस्ती को मार कर इसके चारों पैरों के बीच में, उदर के नीचे छिप गए, जिससे वह जान न सके। भगवान् प्रारब्ध से छूटे और भाग गए, इस प्रकार समझना अज्ञान है। भगवान् तो सर्वशक्तिमान् होने के कारण सूक्ष्म बनकर स्वयं बन्धन से निकल गए और छिपे, यह जताने के लिए कि मैं उसको मिलता हूँ; जिसको मेरे से मिलने की चाह है और अन्तर्दृष्टि होने पर मिलता हूँ ॥६॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह संक्रुद्ध इति ।

आभासार्थ—हस्ती के पैरों के मध्यमें छिप जाने के पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन 'संक्रुद्ध' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—संक्रुद्धस्तमचक्षाणो घ्राणदृष्टिः स केशवम् ।

परामृशत्पुष्करेण स प्रसह्य विनिर्गतः ॥७॥

श्लोकार्थ—सूँघने से ही जो वस्तु को देख सकता है, वैसा क्रोध से भरा हुआ वह हाथी भगवान् को न देखकर विचार करने लगा। अर्थात् भगवान् को ढूँढ़ने लगा कि इतने में कहाँ गए ? फिर सूँघते सूँघते भगवान् का पता लगाकर उनको सूँड से पकड़ लिया, किन्तु वे बलपूर्वक सूँड से निकल गए ॥७॥

सुबोधिनी—ताडनेन सुतरां क्रुद्धः । दृष्ट्वा हि प्रयत्नः कर्तव्य इति दर्शनार्थं यतमानोऽपि नापश्यदित्याह तमचक्षाण इति । भगवन्तमपश्यत् पशुत्वात् घ्राणदृष्टिर्जातः । घ्राणेन हि ते जानन्ति । यतः स प्रसिद्धः युद्धादौ समर्थः केशवं परामृशत् ।

स हि ब्रह्मादीनां सुखार्थमवतीर्णं इति तेनापि घृतो जातः । तत्रापि पुष्करेण धृतः । पुष्करं हस्तमुखम् । तदा भगवान् स्थूलो भूत्वा प्रसह्य बलात् पुष्कराद्विनिर्गतो जातः । न हि पुष्करनाभः पुष्करेण ग्रहीतुं शक्यः ॥७॥

व्याख्यानार्थ—पीटे जाने से हाथी को बहुत ही क्रोध आया देख कर, बदला लेने का प्रयत्न करूँ, किन्तु यहाँ वहाँ दृष्टि फिराते हुए भी भगवान् को नहीं देखा, तब पशु^१ - दृष्टि से ढूँढ़ने लगा, जिससे उसने भगवान् को देखा कि वे युद्ध आदि करने में शक्तिमान् हैं। अतः भगवान् ब्रह्मा आदि को भी सुख देने के लिए प्रकट हुए हैं तो मैं भी क्यों न वह सुख प्राप्त करूँ, इस इच्छा से भी भगवान्



को पकड़ा। हस्ती ने भगवान् को पुष्कर से पकड़ा। पकड़े जाने पर सकल विद्यानिपुण भगवान् अपने शरीर को बढ़ाकर बल पूर्वक सूँड से निकल गए। जिसके नाभी में पुष्कर (कमल) है, वह पुष्कर से कैसे पकड़ा जासकेगा ? ॥७॥

आभास—ततो भगवान् विशेषाकारेण कोपमुत्पादयितुं पश्चाद्गत्वा पुच्छं गृहीतवानित्याह पुच्छे प्रगृह्येति ।

आभासार्थ—उसके बाद भगवान् ने हस्ती को विशेष कुपित करने के लिए पीछे से जाकर उसकी पूँछ पकड़ली, जिसका वर्णन 'पुच्छे' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—पुच्छे प्रगृह्यातिबलं धनुषः पञ्चविंशतिम् ।

विचकर्ष यथा नागं सुपर्णं इव लीलया ॥८॥

श्लोकार्थ—भगवान् हस्ती की पूँछ को दोनों हाथों से मजबूत पकड़कर बिना श्रम मानो खेलते हुए २५ धनुष जितनी दूरी पर घसीट कर ले गए। जैसे गरुड़ महान् सर्प को घसीट ले जाता है ॥८॥

सुबोधिनी—प्रकर्षेण हस्तद्वयेन गृहीत्वा धनुषो मानेन चतुर्हस्तेन पञ्चविंशतिसङ्ख्या यावता भवति, तावद्दूर विचकर्ष । धनुषः पञ्चविंशतिर्यत्रेत्यलुक् समासः । ननु महान् सः, सूक्ष्मश्च भगवान्, कथमाकर्षणं कृतवान् इत्याशङ्क्याह यथा नागमिति । सुपर्णो हि महान्तमपि नागमाकर्षन्ति भक्षो हि निःसत्त्वः कर्तव्यः । अन्यथा भक्षणे प्रतिबन्धको भवेत् । तथा भगवानपि मारणार्थं

तस्य बलनाशं करोति । पञ्चविंशति तत्त्वानि हि तस्मिन् सन्ति तेषामनुरोधात् । धनुश्च रक्षकमिति तेन मिता भूमिः तदर्थमाकृष्टा । तावता मार्गो भवति । 'शतहस्ते तु करिण'मिति तावत् दूरे गते मार्गस्थानां नापकाराय भवतीति । धनुर्हस्तचतुष्टयम् । एतदपि लीलया । अनेन तस्य स्वबलमपि ज्ञापितवान् ॥८॥

व्याख्यार्थ—दोनों हाथों से दृढ़ पकड़कर २५ धनुष जितनी दूरी पर (एक धनुष ४ हाथ का होता है) घसीट कर ले गए, भगवान् छोटे और हस्ती इतना बड़ा उसको कैसे खींच कर इतनी दूर ले गए होंगे ? इस शङ्का को दृष्टान्त देकर मिटाते हैं कि जैसे गरुड़ महान् सर्प को खींच कर दूर ले जाता है, खींचकर दूर ले जाने का कारण बताते हैं, जिसको मारना है और जो भक्ष्य है उसको प्रथम कमजोर बनाना चाहिए, इसलिए ही दूर ले जाना आवश्यक था और हस्ती के लिए तो यों शास्त्रों में लिखा है कि हस्ती से २०० हाथ दूर रहना चाहिए इसलिए भी भगवान् इसको इतनी दूर ले गए। यदि भक्ष्य अथवा जिसको मारना है उसको निर्बल न किया जावे तो यह भक्ष्य में रुकावटवाला हो जाए और वह शीघ्र मरे नहीं। इस हस्ती में पचीस तत्व मौजूद हैं, इसलिए इसको २५ धनुष जितनी भूमि से घसीट कर ले गए, जिससे उतना मार्ग हो जाएगा। हस्ती २०० हाथ दूर होगा तो पथिकों का रास्ते में किसी प्रकार अपकार न कर सकेगा, यह सब भगवान् ने लीला (बिना श्रम) से किया, जिससे उसको अपने बल का ज्ञान करवाया ॥८॥



आभास—ततः स मोचयितुं समर्थः स्थिरीभवितुं च परावृत्त्या भगवान् धर्तव्य इति यत्नं कृतवानित्याह स पर्यावर्तमानेनेति ।

आभासार्थ—हस्ती भगवान् से छुड़ाने तथा स्थिर हो जाने के लिए अपने को समर्थ समझ कर, दायें, बायें, फिरते हुए भगवान् को पकड़ने का प्रयत्न करने लगा, जिसका वर्णन 'स पर्यावर्तमानेन' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—स पर्यावर्तमानेन सव्यदक्षिणतोऽच्युतः ।

बभ्राम भ्राम्यमाणेन गोपुच्छेनेव बालकः ॥६॥

श्लोकार्थ—वह (हस्ती) बायें दायें ज्यों ज्यों भ्रमण करने लगा, त्यों त्यों भगवान् भी, जैसे बालक गौ के बछड़े की पूँछ को पकड़ कर चक्कर काटता है, वैसे उससे उलटा घूमने लगे ॥६॥

सुबोधिनी—सव्यदक्षिणतः वामेन दक्षिणेन च भागेन परिवर्तमानेन कृत्वा स प्रसिद्धो घेना-कृष्टः । गयाभावायाह अच्युत इति । श्रोतुः शङ्का-निवृत्त्यर्थं सर्वत्रैव तथोक्तवान् । स्वयमपि भगवान् बभ्राम । स हि भगवदर्थं प्रयत्नं करोतीति ।

किञ्च । भगवतैव स भ्राम्यमाणो जातः । अतो भ्रामयन् स्वयं बभ्राम । ननु भगवान् सर्वसमर्थः किमिति बभ्राम, तत्राह गोपुच्छेनेव बालक इति । बालको हि लोलया परिभ्रमति, तथा लीलाप्रदर्शनार्थं तथा कृतवान् ॥६॥

व्याख्यानार्थ—वह हाथी कभी बायें कभी दायें क्रमशः फिरता हुआ भगवान् को खींचने लगा, जिससे भगवान् डरे नहीं, कारण कि आप 'अच्युत' हैं । आप में किसी प्रकार की भी कभी नहीं होती है । सदैव सर्वशक्ति पूर्ण होने से निभेय रहते हैं, इसलिए किसी भी भगवान् के चरित्र सुनने वाले को शङ्का न हो, तदर्थं भगवान् को अच्युत कहा गया है । निडर होने से भगवान् भी इस प्रकार चक्कर काटने लगे, जैसे वह भगवान् को पकड़ न सका । हस्ती तो भगवान् को पकड़ने के लिए प्रयत्न करता था, किन्तु भगवान् ने उसको भ्रमित कराने के लिए स्वयं भी घूमने लगे । यदि किसी को शङ्का होवे कि भगवान् सर्व समर्थ हैं, फिर वे कैसे फिरने या चक्कर काटने लगे, तो इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि जैसे बालक खेल करता हुआ गोवत्स की पूँछ को पकड़ कर उसके पीछे घूमता है वैसे ही भगवान् भी इस प्रकार खेल करने लगे ॥६॥

आभास—लीलार्थमेव तथा करणमिति पश्चाद्भीलां त्यक्त्वा प्रौढलीलाप्रदर्शनार्थं संमुखमागत्य युद्धं कृतवानित्याह तत इति ।

आभासार्थ—यों घूमना घुमाना तो भगवान् ने खेल के लिए किया, इस प्रकार बालक्रीड़ा दिखाकर अब प्रौढ़ लीला को प्रदर्शित करने के लिए हस्ती के सम्मुख आकर युद्ध करने लगे, जिसका वर्णन 'ततोऽभिमुखमभ्येत्य' इस श्लोक से करते हैं—



श्लोक—ततोऽभिमुखमभ्येत्य पाणिनाहत्य वारणम् ।

प्राद्रवत्पातयामास स्पृश्यमानः पदे पदे ॥१०॥

श्लोकार्थ—अनन्तर भगवान् ने हाथी के सामने आकर, उसके थप्पड़ मार कर दौड़ गए । जब हस्ती भगवान् को पकड़ने के लिए दौड़ा, तब दौड़ते दौड़ते पग पग पर गिरने लगा ॥१०॥

सुबोधिनी—पुच्छं विसृज्य अभिमुखमभ्येत्य हस्तिमुखे गत्वा सजातीयबालकसंमुखमिव पौरुषख्यापनार्थं पाणिना मुखे आहत्य प्राद्रवत् । स हि हस्ती वारणः सर्वानिव निवारयितुं शक्नोति । तादृशोऽप्यप्रयोजको जात इति वक्तुं तथोक्तवान् ।

किञ्च । तथैव प्राद्रवत्, यथा पदे पदे स्पृश्यमानो भवति । तथाभवनस्य प्रयोजनमाह पातयामासेति । सूक्ष्मो भगवान् स महानुच्चैः स्पृष्ट्वा धर्तव्य इति नीचो भवन् पतति । एवमनुलोमप्रतिलोमाभ्यां क्रीडां कृतवान् ॥१०॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् पूँछ को छोड़ कर हस्ती के सन्मुख आए और जैसे अपने जाति वाले बालक के सामने कोई बालक जाकर अपनी बहादुरी दिखाने के लिए उसको थप्पड़ मार कर भाग जाता है, वैसे ही भगवान् भी उस हस्ती को थप्पड़ मार कर भाग गए, वह हाथी सबको रोकने में समर्थ है, तो भी यहाँ उसका प्रयत्न तथा बल निरर्थक हो गया, कैसे व्यर्थ हुआ ? उसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि भगवान् ऐसे तरीके से दौड़े जैसे हाथी पग पग पर गिरने लगा । कारण कि हस्ती बड़ा था और भगवान् सूक्ष्म थे । इसलिए उसको पकड़ने के लिए भुक्कर पैर रखना पड़े तो नमते ही गिर पड़े, इस प्रकार भगवान् ने अपना स्वरूप अनुलोम, प्रतिलोम कर अर्थात् बड़ा तथा छोटा कर उसको बार बार गिराने की क्रीड़ा की ॥१०॥

आभास—ततो वञ्चनेन दैत्यांशः स इति, सोऽपि प्रकारो ज्ञायत इति ज्ञापयितुं लीलां कृतवानित्याह स धावन्निति ।

आभासार्थ—भुलावे में डालने से यह निश्चय हो गया कि यह दैत्यांश है, भगवान् ने (यह दैत्यांश) है इस को मैं जानता हूँ, यह बताने के लिए जो क्रीड़ा की उसका वर्णन 'स धावन्' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स धावन्क्रीडया भूमौ पतित्वा सहसोत्थितः ।

तं मत्वा पतितं क्रुद्धो दन्ताभ्यां सोऽहनत् भुवम् ॥११॥

श्लोकार्थ—वह भगवान् खेलते हुए, दौड़ते दौड़ते पृथ्वी पर गिर पड़ते और भटपट उठ जाते, किन्तु कुपित हस्ती उनको पृथ्वी पर पड़ा हुआ समझ, दाँतों से उनको मारने लगा । वे तो वहाँ थे नहीं, इसलिए उसके दाँत पृथ्वी में लगने से उसमें गड़ जाते, जिससे हस्ती को ही पीड़ा होती ॥११॥

सुबोधिनी—कीडया धावन् अनवहित इव
भूमौ पतितः । पतनपर्यन्तमेव स दृष्टवान् । भग-
वांस्तु पतित्वा सहस्रैवौत्थितः । ततस्तस्य भ्रम-
कार्यमाह तं मत्वेति । भगवन्तं तथा मत्वा पूर्व-

मपकृतः क्रुद्धः सन् भुवं दन्ताभ्यां पतितस्थानमह-
नत् । ततोतिव्यथा प्राप्तवान् । साधनत्रयमपि
तस्यैवं पराहतं जातम् ॥११॥

व्याख्यानार्थ — भगवान् क्रीड़ा करते हुए की तरह दौड़ते हुए असावधान के समान गिर पड़े, हाथी ने भगवान् को गिरते ही देखा किन्तु भगवान् भटपट उठ गए उसको वह न जान सका । पश्चात् उसने जो भ्रम से कार्य किया उसका वर्णन करते हैं । भगवान् को वहां ही पड़ा हुआ समझ भगवान् से अपकृत होने से कुपित हस्ती दोनों दाँतों से उस पृथ्वी को मारने लगा, जिससे आप ही पीड़ा को भोगने लगा । हस्ती ने इस प्रकार तीन बार किया, किन्तु तीनों साधन इस प्रकार व्यर्थ ही हुए॥११॥

आभास--ततः क्रुद्धो यत्कृतवांस्तदाह स्वविक्रम इति ।

आभासार्थ--पश्चात् क्रोध में आकर जो कुछ उसने किया, वह स्वविक्रमे श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स्वविक्रमे प्रतिहते कुञ्जरेन्द्रोऽत्यमर्षणः ।

नोद्यमानो महामात्रैः कृष्णमभ्यद्रवद्रुषा ॥१२॥

श्लोकार्थः—करीन्द्र अपने पराक्रम को असफल हुआ देख बहुत कुपित हो गया और फिर महावत ने प्रेरणा दी, जिससे क्रोध में आकर लड़ने के लिए श्रीकृष्ण पर चढ़ आया ॥१२॥

सुबोधिनी—स हि साधनबले क्षीणे संपूर्णैर्नव शरीरेण तदुपरि पतिष्यामीति बुद्ध्या प्रवृत्तः । यतः कुञ्जरेन्द्रः स्वरूपतो महान् । अतः साधने क्षीणोऽपि न निवृत्तः, किन्तु साधनक्षयः रोषहेतुरेव जात इत्याह अत्यमर्षण इति । अधिकममर्षण

क्रोधो यस्य तादृशो जातः तत्रापि महामत्रं. उपरि
पृष्ठतः परितश्च नोद्यमानः कृष्णं सर्वमारकं सुतरां
सांप्रतं दैत्यपक्षस्य । शुद्धभावेन चेद्वच्छेत्,
कृतार्थो वा भवेत्, किन्तु रूपा अभ्यद्रवत् ॥१२॥

व्याख्यानार्थ—हस्ती ने जब देखा कि मेरे किए हुए सब साधन व्यर्थ हुए, तब सारे शरीर से इसके उपर पड़े तो अच्छा, इस बुद्धि से प्रवृत्त हुआ। क्योंकि यह कुञ्जरेन्द्र है, जिससे ही इसका शरीर सबसे महान् है। अतः साधन क्षीण हो जाने पर भी रुका नहीं, बल्कि साधन की क्षीणता से उसमें विशेष क्रोध प्रकट हुआ और फिर महावत ने सर्व प्रकार से लड़ने के लिए प्रेरणा दी कि कृष्ण के पास जाओ, यदि कृष्ण के पास शुद्ध भाव से जाता तो कृतार्थ हो जाता, किन्तु क्रोध से गया, जिससे कृष्ण, जो सर्व मारक काल भी है, अब तो विशेष तया दैत्यपक्ष को नाश करने के लिए उद्यत है। अतः इसका भी नाश हुआ ॥१२॥

श्रीभास—तदा भगवान् सर्वात्मना समायातोति मारितवानित्याह तमापतन्तमिति ।

आसाभार्थ—भगवान् ने जान लिया कि यह सर्व प्रकार से मरना ही चाहता है, तब उसको मारा, जिसका वर्णन तमापतन्त श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तमापतन्तमांसाद्य भगवान्मधुसूदनः ।

निगृह्य पाणिना हस्तं पातयामास भूतले ॥१३॥

श्लोकार्थ—मधुसूदन भगवान् ने उसको सामने आता हुआ देख कर हाथ से स्रण्ड को पकड़ कर पृथ्वी पर गिरा दिया ॥१३॥

सुबोधिनी—उपरि पतन्तं तं आसाद्य स्वयमग्र
गत्वा । मारणप्रकारानभिज्ञः भगवान् शङ्का वा
अमारणं वा न संभावितमिति ज्ञापयितुमाह
मधुसूदन इति । यो हि मधुकैटभौ मारितवान्,

तस्याल्पसत्त्वस्यास्य हनने कः प्रयास इति । किन्तु
स्वपाणिना तस्य हस्तं प्रसार्यमाणं निगृह्य नितरां
लकुटवत् ग्रहीत्वा शाखामिव भूतले पातयामास
॥१३॥

व्याख्यानार्थ--ऊपर पढ़ने के लिए आते हुए हाथी के पास स्वयं भगवान् ने जा कर उसकी लम्बी की हुई सूड को हाथ से पकड़ लिया, भगवान् मारना जानते हैं वा नहीं अथवा मार सकेगे या नहीं वैसी शङ्का नहीं करनी, क्योंकि जो मधु - कैंटभ जैसे बलवान दैत्यों को मारने से 'मधुसूदन' कहलाए हैं, उनको इस अल्प बलवाले पशु को मारने में कौनसा प्रयत्न करना पड़ेगा ? कुछ भी नहीं, अतः जैसे कोई बालक लकड़ी से वृक्ष की डाल को पकड़कर भूमि पर गिरा देता है वैसे ही आपने भी उसकी सूड को हाथ से पकड़ कर उसको पृथ्वी पर पटक दिया ॥१३॥

आभास—स्थूलशरीरस्य पातनेनैव मूर्च्छा सम्पन्ना, ततो यत्कृतवांस्तदाह पतितं तं पदाक्रम्येति ।

आभासार्थ—हस्ती का शरीर भारी होने से गिरते ही उसको धूर्त्त आ गई। इसके बाद भगवान् ने जो कृच्छ्र किया जिसका वर्णन 'पतित' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—पतितं तं पदाक्रम्य मृगेन्द्र इव लीलया ।

दन्तमुत्पाद्य तेनैव हस्तिपांश्चाहनद्धरिः ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ-गिरे हुए हस्ती के ऊपर पैर धरकर, जैसे सिंह हस्ती के दाँत को निकालता है, वैसे आपने भी निकाल लिया; किन्तु सिंह को उसमें प्रयत्न करना पड़ता है, भगवान् ने लीला से बिना परिश्रम (खेल की तरह) निकाल दिया और उसी दाँत से उसको तथा महावत को मार डाला ॥१४॥

सुबोचिनो—प्रथमव्यापारेणैव पतितः । तादृशं
मस्तके पादं दत्त्वा दन्तमुत्पाद्य तेनैव दन्तेनाहनत्
। उत्पाटने प्रकारमाह मृगेन्द्र इति । स हि कुम्भ-
स्थलं विदार्य तत्र दन्तमूलं बन्धनेभ्यः पथक्कृत्य

पश्चाद्दन्तमेवोत्पाटयति । परं महता प्रयासेन ।
भगवांस्तु लीलयेति विशेषः । ततस्तेनैव दन्तेन
सर्वानिव महामात्रान् यैर्यैः प्रेरितः तानहनत् ।
चकारात् हस्तिनम् । ननु गजः किमिति हतः,



अर्द्धमृत एव त्यक्तुमुचित इति चेत्, तत्राह हरि-
रिति । सिंहो हि मारयत्येव । शाश्वतिको विरोध
इति । भगवांश्च हरिः सर्वदुःखहर्ता, अर्द्धमृतस्य

जीवने महान् क्लेश इति । वसुदेवादीनामपि
दुःखं दूरीकर्तव्यमिति ॥१४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् को पहली कृति से ही गिर पड़ा । वैसे ही गिरे हुए के मस्तक पर पैर रख कर दाँत को उखेड़ कर उसी ही दाँत से उन सब को मारा । दाँत को उखेड़ने का प्रकार बताते हैं कि जैसे पशुओं का राजा सिंह हस्ती के दाँत को उखाड़ता है । सिंह प्रथम हस्ती के गंडस्थल को चीर कर दाँत की जड़ को मांसादि से अलग कर पश्चात् उखेड़ के निकालता है, यों करने में सिंह को परिश्रम करना पड़ता है; किन्तु भगवान् ने बिना परिश्रम खेल की भाँति निकाल लिया । उस दाँत से उन सब महावतों को जिनने हस्ती को प्रेरणा दी थी मारा और हाथी को भी मार डाला । श्लोक में 'च' का आशय यह है कि यदि कोई शङ्का करे कि हाथी गिरने से अधमरा हो गया फिर उसको वहाँ ही छोड़ देना चाहिए था, उसको पुनः पूर्ण रीति से मारने की क्या आवश्यकता थी? इस शङ्का के निवारण के लिए भगवान् का नाम 'हरि' दिया है, जिसका भावार्थ है कि हरि अर्थात् सिंह और हाथी का सहज स्वभाव से विरोध है, इसलिए सिंह हस्ती को पूर्णतया मारकर छोड़ता है, अधमरा नहीं छोड़ता है । दूसरा 'हरि' शब्द का अर्थ है सर्व दुःख हर्ता, अतः यदि अधमरा छोड़ते तो हस्ती को क्लेश भोगते हुए जीवन काटना पड़ता, इसलिए वह इस प्रकार दुःख न भोगे, यह विचार कर उसको भी मार दिया । इसके शिवाय इसको मारने से वसुदेवादिकों की भी चिन्ता दूर करनी थी ॥१४॥

आभास—एवं हस्तिनं हत्वा प्रतिबन्धकापगमे तन्निवृत्तिं सूचयन् अन्तःप्रविष्ट इत्याह मृतकमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार हस्ती को मार कर रूकावट हटजाने से उसके नाश की सूचना देते हुए अन्दर रङ्ग मण्डप में प्रविष्ट हुए जिसका वर्णन 'मृतक' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—मृतकं द्विपमुत्सृज्य दन्तपाणिः समाविशत् ।

अंसन्यस्तविषाणोऽसृङ्मवबिन्दुभिरङ्कितः ॥

विरूढस्वेदकणिकावदनाम्बुरुहो बभौ ॥१५॥

श्लोकार्थ—हाथी का दाँत जिसके हाथ में है, वैसे भगवान् मरे हुए हस्ती को वहाँ ही छोड़ आप जब रङ्ग मण्डप में पधारे, तब उस दाँत को कन्धे पर धारण कर लिया । उस समय भगवान् का मुखकमल हस्ती के रक्त के बिन्दु तथा पसीने के कणों से सुशोभित हो रहा था ॥१५॥

सुबोधिनी—स हि पूर्वमेवासमर्थः अप्रयोजको दन्तपाणिर्भूत्वा सम्यगेवाव्यग्र आविशत् । तदा जीवः यतः पानेप्युभयसापेक्षः अतस्तं विसृज्य प्रविष्टस्य भगवतः स्वरूपं वर्णयति अंसन्यस्तविषा-



ए इति । लोकानां प्रतीत्यर्थं दन्तोऽयं महाभार
इति अंसे स्थापितवान् । साप्येका लीला । ततः
असृङ्मदयोः बिन्दुभिरङ्कितो जातः । सर्वाङ्गे
समाकर्षणेन दन्तस्य तत्र स्थितः मदः रुधिरं च
कणशो भगवति संबद्धः । यथा पूर्वदिवसे मालया
चन्दनैश्च शुशुभे, एवमिदानीमपि दन्तेन मदबिन्दु-
भिश्च शुशुभे । विषाणमिति । कदाचिद्वाद्यविपाण-

गोपालाः स्कन्धेऽपि बिभ्रति नापूर्वमिति ह्याप-
यितुं कुवलययापीडं च बलीवदंतुल्यं ज्ञापयितुम् ।
किञ्च । विरुद्धेति । विशेषेण रूढा याः स्वेदकणि-
काः ता वदनाम्बुरुहे यस्य । भक्तार्थं भगवानेवं
प्रयासं करोतीति ज्ञापयितुं कणिकोद्भेदः । एता-
दृशोऽपि बभौ । सर्वोत्कृष्टकान्तियुक्तो जात इत्यर्थः
॥१५॥

व्याख्यानार्थ—वह प्रथम ही निकम्मा व असमर्थ जीव था जिससे पाने में भी वह दो की अपेक्षा वाला था, इसलिए उसको वहाँ ही छोड़ हाथ में दाँत लेकर निडर हो भीतर पधारे, भीतर पधारने के समय का भगवान् का शरीर कैसा था, जिसका वर्णन करते हैं। लोकों की प्रतीति के लिए वह दाँत विशेष बोझ वाला है इसलिये उसको कन्धे पर धर लिया था । वास्तव में भगवान् को तो वह पत्ते जैसा लगता था, भगवान् को यह भी एक प्रकार की क्रीड़ा है । भगवान् रक्त तथा मद के बिन्दुओं से सुशोभित हो रहे थे । हस्ती के दाँत को उखाड़ने से हस्ती के अङ्ग में रहा हुआ रुधिर तथा मद कणों के रूप में भगवान् के मुखारविन्दपर आके पड़ा, जिससे जैसे पहले दिन माला तथा चन्दनों से सुशोभित थे, वैसे आज दाँत और मद कणों से सुशोभित हुए थे । कभी ग्वाले सींग के बाद्य के लिए कन्धे पर धरते हैं, अतः यह कोई नवीन कार्य नहीं है, यह कुवलययापीड हस्ती बैल जैसा है, यों बताने के लिए भी दाँत को सींग के बाद्यसमान कन्धे पर धरा था, भगवान् के मुख कमल पर जो पसीने के कण दीख रहे थे जिनसे भगवान् बताते हैं कि मैं अपने भक्तों के हितार्थ इतना परिश्रम करता हूँ, जिससे मेरे मुख पर पसीना आ जाता है, वह पसीना मेरी शोभा में वृद्धि करता है, यह शोभा भगवान् को विशेष कान्तिवान् करती है ॥१५॥

आभास—एवं भगवन्तं वर्णयित्वा सर्वेषां सुखेन रङ्गप्रवेशमाह वृताविति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के स्वरूप का वर्णन कर अब 'वृतौ गोपेः' श्लोक से वर्णन करते हैं, कि भगवान् ने सर्व सुख देने के लिए रङ्ग मण्डप में प्रवेश किया—

श्लोक—वृतौ गोपेः कतिपर्यैर्बलदेवजनार्दनौ ।

रङ्गं विविशतु राजन्गजदन्तवरायुधौ ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! हस्ती के दाँत रूप श्रेष्ठ आयुधवाले कितने ही गोपों से घिरे हुए बलराम और श्रीकृष्ण ने रङ्ग मण्डप में प्रवेश किया ॥१६॥

सुबोधिनी—केचन गोपाला इतस्ततः पला-
यिताः, केचानान्तःप्रविष्टाः, केचनैव च स्थिताः ।
अतः कतिपर्यैरेव गोपैर्वृतौ । बलभद्रेणापि
द्वितीयो दन्तो गृहीतः । हस्तिनः सर्वस्वं तदिति,
शत्रोर्द्धनं ग्राह्यमिति, अग्रे साधनस्याप्यपेक्षित-
त्वात्, तत्र प्रवेशे दैत्यवधार्थं सामर्थ्यं सहजद्वेषं

सूचयितुं बलदेव इत्युक्तवान् । जनार्दनः अविद्या-
मपि मारयतीति किं तस्य तद्गृहीतमारणे प्रयास
इति ज्ञापयति । रङ्गमिति । तादृशौ रङ्गं रङ्ग-
प्रदेशम्, गजदन्तावेव धरे उत्कृष्टे आयुधे ययोः
तादृशौ इदानीमेव मारयिष्याव इति बोधयन्ता-
विव विविशतुः । निःशङ्कतया प्रविष्टौ ॥१६॥



व्याख्यानार्थ—कितने ही गोप यहाँ वहाँ भाग गए, कितने ही प्रथम ही अन्दर चले गए, शेष जो बचे थे उन थोड़े से गोपों से भगवान् धिरे हुए थे, दूसरा दाँत, बलभद्र न ले लिया। दाँत ही हस्ती का सर्वस्व घन है, भगवान् और बलरामजी के लिए वह शत्रु का घन था, शास्त्र आज्ञा देता है कि शत्रु का घन ले लेना चाहिए, छोड़ना नहीं, अतः एक भगवान् ने तो पहले ही ले लिया था। अब दूसरा बलरामजी ने ले लिया; क्योंकि आगे के लिए भी लड़ाई का साधन चाहिए। राम को 'बलदेव' कहने का भावार्थ स्पष्ट करते हैं कि दैत्य वध का सामर्थ्य आप में है और राक्षसों से आपका सहज द्वेष है, इन दोनों भावों को बताने के लिए 'बलदेव' नाम कहा है। भगवान् का नाम 'जनार्दन' दिया है; जिसके देने का भावार्थ प्रकट करते हैं कि जो अविद्या को भी नष्ट कर देते हैं, उनको इस हस्ती के पकड़ने तथा मारने में क्या परिश्रम होगा? कुछ नहीं, इसलिए यहाँ 'जनार्दन' नाम कहा है। दोनों भाई श्रेष्ठ गज दाँत को आयुध रूप में ले के रङ्ग मण्डप में अब ही मार देंगे; यह प्रकट करते हुए निर्भीक हो के पधारे ॥१६॥

अभिभास—तादृशवेष्टेण प्रवेशस्य प्रयोजनं वदन् भगवतः स्वरूपः बलभद्रसहितं सर्वैर्दृष्टं यथाधिकारं नानाभावान् जनयतीत्याह मल्लानामशनिरिति ।

अभिभासार्थ—इस प्रकार के वेप धारण करने का प्रयोजन वर्णन करते हुए कहते हैं कि बलदेव के साथ भगवान् का स्वरूप भी सब ने देखा। वह स्वरूप अधिकार अनुसार सब को पृथक्-पृथक् रस प्रकट करते हुए भाव स्वरूप का दर्शन दे रहे थे, जिसका वर्णन 'मल्लानाम्' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—मल्लानामशनिरृणां नरवरः स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्,
गोपानां स्वजनोऽसतां क्षितिभुजां शास्ता स्वपित्रोः शिशुः ।
मृत्युर्भोजपतेर्विराडविदुषां तत्त्वं परं योगिनां,
वृष्णीनां परदेवतेति विदितो रङ्गं गतः साग्रजः ॥१७॥

श्लोकार्थ—रंग मण्डप में बड़े भ्राता के साथ पधारे हुए भगवान् के दर्शन देखने वालों को जिस प्रकार पृथक् भाव में हुए, उसको कहते हैं कि भगवान् ने मल्लों को वज्र रूप से, साधारण मनुष्यों को मनुष्यों में श्रेष्ठ अर्थात् राजा के रूप से, स्त्रियों को स्वरूपधारी काम रूप से, गोपों को स्वजन(बाँधव)रूप से, दुष्ट राजाओं को दण्डदाता शासक रूप से, माता-पिता को बाल रूप से, कंस को काल रूप से, मूर्खों को विराट् रूप से, योगियों को परम तत्त्व रूप से, यादवों को अपने देवता रूप से दर्शन दिए ॥१७॥

कारिका—प्रमेयेण निरोधोऽत्र कर्तव्यो हरिणा भृशम् ।

लोकाश्च दशधा भिन्नास्ततो दशविधोऽभवत् ॥१८॥



कारिकार्थ—इस प्रकरण में भगवान् को स्वरूप बल से ही भक्तों का निरोध करना है, अतः भगवान् यहाँ दस प्रकार के स्वरूप वाले होकर दर्शन देने लगे हैं, कारण कि लोक दस प्रकार के भिन्न-भिन्न भाव वाले होने से पृथक्-पृथक् अधिकारी हैं ॥१॥

कारिका—यस्य भावो यथा लोके तस्यानुसरणे कृते ।

निरोधो जायते सम्यक् अन्यथा बन्धनं भवेत् ॥२॥

कारिकार्थ—लोक में जिसका जैसा भाव हो, उसके अनुसार भाव स्वरूप से दर्शन देने से निरोध भली-भाँति हो जाता है, नहीं तो वह भाव लौकिक हो जाने से प्रतिबन्धक होता है ॥२॥

कारिका—गुणा नवविधाः प्रोक्तास्तदभावस्तथा परः ।

शृङ्गारादिरसाश्च तेषामेव निरूपकाः ॥३॥

कारिकार्थ—गुणों के नव भेद हैं और एक भेद निर्गुण का है, यों मिल कर दस भेद होते हैं, शृङ्गार आदि दस रस भी उनका ही निरूपण करने वाले हैं ॥३॥

कारिका—राजसास्त्रिविधाः पूर्वं सात्त्विकाश्च ततः पराः ।

आध्यात्मिकास्तथा पूर्वं दैविकास्तु ततः परम् ॥४॥

कारिकार्थ—प्रथम तीन प्रकार के राजस कहे हैं, आध्यात्मिक सात्त्विकों से प्रथम, आधिभौतिक तामस कहे हैं, उसके पश्चात् आध्यात्मिक सात्त्विक कहे हैं, अनन्तर आधिदैविक कहे हैं ॥४॥

कारिका—रौद्रोऽद्भुतश्च शृङ्गारो हासो वीरो दया तथा ।

भयानकोऽपि वीभत्सः शान्तो भक्तिरसस्तथा ॥५॥

कारिकार्थ—रौद्र, अद्भुत, शृङ्गार, हास, वीर, दया, भयानक; वीभत्स, शान्त और भक्ति रस इस प्रकार रस भी दस कहे हैं ॥५॥

१—गुणों के भेद से नव प्रकार के और एक निर्गुण,

२—निरोध से रुकावट करने वाला होता है।

वक्तव्याः भक्त्यधिकारिणः । ये च लौकिकाः
असन्तस्ते पामरा एव बीभत्सरसे वक्तव्याः । ये
पुनः राजसराजसा ते राजमभावसिद्धयर्थं क्षिति-
भुज उच्यन्ते । वीररसस्तेषामेव । भगवन्तं दृष्ट्वा
युद्धार्थं बुद्धिस्तेषामुत्पन्ना । परमय शास्तेति तेषां
न प्रवृत्तिः । वीररसस्तूत्पद्यत एवेति रसोत्तमत्वा-
र्थमेवमुक्तम् । यथा हीनस्यापि पुरुषस्य महाराजा-
वरोधे दृष्टं शृङ्गाररस उत्पद्यत एव, परं तासां
नोत्पद्यते, अधमबुद्धेर्वाधकत्वात् । स्वस्मात्तत्रोत्क-
र्षबुद्धिः सर्वत्र रसपोषिका । अतिवीराणामसतां
विचाररहितानां हृत्माना शास्तृत्वप्रतीतावपि वीर-
रसो युक्त एव । यथा स्त्रीणां स्नेहो भगवति,
तथैव ततोऽप्यधिको वसुदेवदेवक्योः स्नेहः, परं
तमः अज्ञानात्मकमिति कामस्तत्र प्रयोजकः । अत्र
तु मोह इति । मोहाशे राजसत्वम् । स्नेहांशस्तु
सर्वत्र सात्त्विक एव । लौकिकत्वाद्वाजसत्वं निषि-
द्धत्वात्तामसत्वं विदितत्वात् सात्त्विकत्वं चेति
स्नेहे त्रयो भेदाः । तत्तदधिकारिणां तथैव निरोध
उक्तः । स्वपित्रोर्वसुदेवदेवक्योः शिशुर्बालक एव ।
करुणापरपर्यायो दयारम उत्पन्नः । स हि स्नेह-
स्यान्तरङ्गं भवति । सा दया करुणारूपा । स्नेह-
धर्मा बालक एवेति तेषां शिशुरेवेति प्रतिभातः ।
सात्त्विकान् गणयति । ये हि भक्त्यधिकारिणः
अलौकिकाः, ते भयबीभत्सशान्तरसेष्वधिक्रियन्ते ।
तत्रानुपदमेव मुक्तिर्भविष्यतीति दुष्टकर्मकर्तेति
कंसः तामससात्त्विकः देहाधिष्ठात्रो देवतेव प्राज्ञ
इव निरूप्यते मृत्युर्भोजपतेरिति । मृत्युर्भयात्मकः ।
न हि ततोऽधिकं भयमस्ति । लोकन्यायेन नरका-
पेक्षयापि मृत्युरेव महान् । भोजानां पतिरिति
महत्त्वं सात्त्विकत्वार्थमुक्तम् । विराड्विंदुषामिति ।
ये हि भगवत्स्वरूपनिष्ठा भक्ताः राजससात्त्विकाः,



तेषां स्नेहवशात् रुधिरमदबिन्दुभिः कृत्वा बीभत्सरस उत्पद्यते । यथा स्वपुत्रादौ असद्द्रव्यसंबन्धे विचिकित्सा भवति । अन्यथा तद्दूरीकरणार्थं प्रवृत्तिर्न स्यात् । निन्दा तु भगवल्लीलापरिज्ञानात् । 'उत्कृत्योत्कृत्यकृत्ति'मित्यादिकमपि महतामेव बीभत्सरसजनकम्, न तु प्राकृतानाम्, अन्यथा निरोधे ते न वक्तव्याः स्युः । न ह्यतिप्राकृताः 'त्यक्तव्य एव भगवा'निति बुद्धियुक्ताः निरोधाधिकारिणो भवन्ति । विराट्शब्दः गोभाभाववाचकः विनतराजनरूपः, न तु प्रसिद्धः । अदृष्टत्वादसमतत्वाच्च । न हि तत्स्वरूपज्ञा अविदुषो भवति । परं योगिनो हि सात्त्विकसात्त्विकाः प्रवृत्तिस्वभावत्वान्न गुणातीताः । तेषां स्वेष्टसिद्धयर्थमात्मत्वेन च स्फुरणात्प्रकारद्वयेन च स्नेहः । अतो योगिनां परमेव तत्त्वं पुरुषोत्तमरूपम् । तेषां सर्वं तत्त्वात्मकमित्यात्मापि तत्त्वरूपो भवति । योगसाङ्ख्ययोरेषैव व्यवस्था । परत्वं परमकाष्ठापन्नत्वम् । वृष्णयो हि यादवा भगवदीया गुणातीताः, येषां सात्त्विकान्ते परमो निरोधो वक्तव्यः । 'शय्यासनाटनालापे'ति । तेषां भगवति परत्वं स्वामित्वं देवतात्वं च विदितं जातम् । दासस्य

हि स्वामी नियामकः । स लौकिकोऽपि भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं देवतापदम् । स्वस्मिन् अलौकिकबुद्धौ हीनत्वाभावान् दृढा भक्तिर्न भविष्यतीति स्वस्मिन् प्राकृतत्वबुद्धिरेव । अतः परदेवतात्वं भगवति युक्तम् भगवांस्तु यदृशस्तादृश एव सर्वविलक्षणः सर्वरूपश्चेति । अत उक्तमिति विदित इति । रङ्गस्थानं गतः यत्र सर्वेषामेव रसः पुष्टो भवति । यद्यपि शान्तरसस्य न विशेषाभिनयः, तथापि तत्रोपवेशनेन सामान्याभिनयोऽस्त्येव । 'अष्टौ नाट्ये रसा' इति विशेषाभिप्रायम् । भक्तिरसोऽपि रसदृष्टिवत् निपुणैरभिनेय इति । सर्वेषामेवार्थे रङ्गं गतः । साग्रजो बलभद्रसहितः । समानतया सर्वत्र निरूपयन् अत्र गौणत्वार्थं सहभावमेवोक्तवान् । अन्यथा द्विवचनेनैव वदेत् । वेदसहभावोऽपि भगवति वक्तव्यः, अलौकिकत्वाय । तत्रापि सर्वरससंबन्धे पित्रोरित्यादि न सामञ्जस्येन युक्तं भवेत् । गोपानामपि लीलाया अकृतत्वात् न हास्यरसत्वम् । तस्मादसर्वत्वात् सहभाव एवोक्तः । रसोत्पत्तौ तत्तद्बुद्धिर्योग्यत्वेन निरूपिता फलोन्मुखत्वाय ॥१७॥

व्याख्यानार्थः—वहां रंगमण्डप में प्रथम मल्ल देखे जो अपने से लड़ने वाले प्रतियोगी को दूँढ रहे थे, वे भगवान् को वज्र समान देख समझ गए कि ये तो हमारे मारने वाले हैं न कि प्रतिद्वंदी हैं, इसलिए श्लोक में कहा कि 'मल्लानामशनि' मल्लों को वज्र रूप से दर्शन दिए, जहां कड़ाके की विजली गिर रही हो तथा जोर से वर्षा हो रही हो वहां कुशल नहीं तथा भाग जाना भी वहां से कठिन होता है, इसलिए वे भाग जाने में भी असमर्थ हो गए । इस प्रकार रुद्र प्रकृति वाले मल्लों के स्वभावों का निरोध कर लिया है । २—'नृणां नरवर' कहकर बताया है कि जो साधारण राजस हैं उन्होंने भगवान् को नरश्रेष्ठ अर्थात् राजा के समान अद्भुत वेशधारी स्वरूप वाला देखा, जिससे भगवान् ने अद्भुत रस प्रकट कर दिखाया, कारण कि साधारण अद्भुत रस से ही वश होता है । ३—'स्त्रीणां स्मरो मूर्तिमान्' वहां जो स्त्रियां देखने के लिए आई थीं, वे राजस सात्विक थीं, अतः उनको तो भगवान् अपने इच्छित फल का रूप ही देखने में आए । वे काम की सेनाएँ हैं, उन्होंने अपने पति के दर्शन कभी भी नहीं किए थे 'स्मर' ही स्मरणात्मा है, वह आत्मा जब स्वरूप धारण कर अब प्रकट हुई है, तब हम नाथवाली हुई हैं । इस प्रकार मूर्तिमान होने से अब हम सकल इन्द्रियों से, शरीर से तथा अन्तःकरण से सेवा कर सकेंगी । वैसे तीनों का एक प्रकार कहा, सबसे अधम मल्ल हैं, क्योंकि तामस तामस हैं । उत्तम स्त्रियां हैं, कारण कि राजस सात्विक है, यह पुष्टिमार्गीय कम है, जो आधिभौतिक अभिमानी है, उनकी रीति यह है कि वे गोप है, जो भगवान् के इस प्रकार के



माहात्म्य देखकर भी देह अभिमान के कारण उनको अपना स्वजन बन्धु ही समझने लगे, 'अतः वे तामस राजस हैं।

हमारे बन्धु होते हुए भी इनका परम उत्कर्ष हुआ है। अतः भगवान् ने जो विलक्षण वेश धारण किया है, वह हास्य रस को उत्पन्न करने वाला है, इस प्रकार यहां हास्य रस प्रकट किया। भगवान् ने जिस प्रकार अब आध्यात्मिक वेद द्वारा आधिभौतिक द्रष्टाओं में रस उत्पन्न किया वैसे ही पश्चात् इन्द्रिय रूप राजाओं को उसके बाद आत्म रूप भक्तों में रस प्रकट करेंगे, राजा लोग दमन करने योग्य होने से इन्द्रिय रूप हैं। भगवान् को देखते ही उनमें वीर रस प्रकट हुआ, जिसका वर्णन 'अनतां क्षिति भुजां शास्ता' नीच राजाओं को शिक्षा देने वाले हैं, इस पद से किया है। दुष्ट राजाओं को भगवान् को देखने से भाव उत्पन्न हुए कि यह हमारा दमन करेंगे, अतः हम इनसे लड़ेंगे, जिससे हमारा दमन न कर सकेंगे, ऐसी बुद्धि नीचता के कारण इनमें हुई, जिससे भगवान् के सत्य रूप को न जान सके। जैसे इन्द्रियां विषयासक्त होने से भगवान् को नहीं देख सकती हैं, अतः इन्द्रियों का दमन जैसे आवश्यक है वैसे ही इनका दमन भी आवश्यक समझा। भगवान् ने इनको वीर रस से दर्शन दिया, किन्तु दर्शकों में जो सन्त थे, वृष्णि हैं और भक्ति के अधिकारी हैं, जो लौकिक असत् राजा थे वे पामर ही थे। उनको तो 'बीभत्स' रस स्वरूप के दर्शन हुए। जो राजस थे वे राजस भाव की सिद्धि करने के कारण राजा कहे जाते हैं, इस प्रकार क्षितिभुजों को ही वीर रस उत्पन्न हुआ था।

भगवान् को देख कर युद्ध करने की बुद्धि उनको उत्पन्न हुई थी; किन्तु उनको यह ज्ञान हो गया कि ये शास्ता हैं, अतः युद्ध में प्रवृत्ति न हुई वीर रस तो उत्पन्न हुआ ही, रसों में वीर रस भी एक प्रकार से उत्तम है, यों दिखाने के लिए उसको प्रकट किया है।

साधारण हीन पुरुष भी यदि राजा की स्त्री को देखे तो उसमें भी काम भावना उत्पन्न होगी ही, किन्तु वैसे पुरुष को देख कर रानी में काम भाव न प्रकटेगा। कारण कि रानी उसको अपने से कम दर्जे का समझती है। अपने से सामने वाला उत्तम है, वैसी बुद्धि रस की पोषक होती है। अतः जो वीर विशेष वीरता वाले हैं; वे असत् हों अथवा विचार हीन हों, अभिमानी हों तो भी सामने वाले में शास्ता की प्रतीति होने पर भी वीर रस उत्पन्न हो, यह योग्य ही है। भगवान् में जैसा स्नेह स्त्रियों का है, वैसा ही अथवा उस से भी विशेष स्नेह वसुदेव देवकी का है, किन्तु स्त्रियों में अज्ञानात्मक तम है, जिसका प्रयोजक काम है, यहां अर्थात् वसुदेव देवकी के स्नेह में प्रयोजक मोह है, इसलिए मोहांश के कारण इनमें राजस भाव है, स्नोहांश तो सर्वत्र सत्त्विक ही होता है।

स्नेह के तीन प्रकार हैं, जब लौकिक भाव वाला स्नेह होता है, तब वह स्नेह राजस कहलाता है। जब शास्त्र निषिद्ध भाव वाला स्नेह होता है, तब वह स्नेह तामस कहा जाता है और जब शास्त्र में जिसकी आज्ञा है इस प्रकार का स्नेह हो तो वह सात्त्विक गिना जाता है, अतः जैसा जैसा अधिकारी वैसा वैसा उसका निरोध कहा गया है।

अपने माता पिता, वसुदेव देवकी को बालक रूप से दर्शन दिया, शिशु रूप के दर्शन से उनके हृदय में कर्तव्य अर्थात् दया रस उत्पन्न हुआ, वह (दया रस) स्नेह का अन्तरङ्ग रूप है, बाल स्वरूप में ही स्नेह धर्म रहता है; अतः उनको भगवान् शिशु रूप से प्रतीत होने लगे। सात्त्विकों को



कहते हैं कि वे मुक्ति के अधिकारी हैं एवं अलौकिक हैं। ये भय, बीभत्स तथा शान्त रस के ही अधिकारी हैं। उनमें से जिसकी अबही मुक्ति होगी वह दुष्कर्म कर्ता कंस तामस सात्विक है, देह की अधिष्ठात्री देवता हो, जैसे प्राज्ञ हो, वैसे उसका निरूपण करते हैं। 'मृत्युः भोजपते' भोजपति को भगवान् मृत्यु रूप देखने में आया। 'मृत्यु' भयरूप है, जिससे विशेष भयानक अन्य कोई नहीं है। लोक न्याय के अनुसार नरक से भी मृत्यु महान् ही है। भोजों का पति कह कर इसका महत्व भी बताया, जिससे यह 'सात्विक' है, यह भी सूचित हो गया।

'विराट् अविवृषां' अनपढ़ों को विराट् स्वरूप का दर्शन हुआ। वे अनपढ़ होते हुए भी भगवान् के स्वरूप में निष्ठावाले भक्त होने से राजस सात्विक भक्त हैं, अतः भगवान् के स्वरूप में रुधिर तथा मद के बिन्दु देखकर स्नेह के कारण उनको भय हुआ। इस प्रकार यहां बीभत्स रस उत्पन्न किया है। जैसे अपने पुत्र का किसी बुरे पदार्थ से सम्बन्ध हो तो माता पिता को उससे पुत्र के अनिष्ट होने का संदेह तथा भय उत्पन्न होता है, जिससे वे उसकी निवृत्ति के उपाय करते हैं।

यदि इस प्रकार भय या संदेह न हो तो निवारण में प्रवृत्ति न हो, यह सब स्नेह के कारण होता है। दोष तो भगवान् की लीला के कारण पूरी तरह ज्ञान न होने से होता है। जहां 'उत्कृत्योत्कृत्य कृति' है। अर्थात् जहां विशेष से विशेष कृति है, वहां ही महान् पुरुषों में ही बीभत्स रस उत्पन्न होता है। जो प्राकृत हैं, उनमें बीभत्स रस उत्पन्न नहीं होता है, यदि ऐसों में भी यह रस उत्पन्न होवे तो यह रस निरोध जनक रसों में न गिना जाता। अति प्राकृत जिनकी बुद्धि है कि भगवान् त्यागने के योग्य है, वे निरोध के अधिकारी नहीं हो सकते हैं। 'विराट्' शब्द का अर्थ शोभा के अभाव वाला है, अथवा जिससे शोभा का भाव निकल गया है वे तो प्रसिद्ध नहीं हैं, कारण कि वैसा भाव देखा नहीं है और संमत भी नहीं है। उसके स्वरूप को जानने वाले मूर्ख नहीं होते हैं। अर्थात् विद्वान् ही उसके स्वरूप को जानते हैं। जो योगी हैं, वे सात्विक-सात्विकी हैं, किन्तु प्रवृत्ति स्वभाव वाले होने से गुणातीत अर्थात् निर्गुण नहीं हैं। उनको अर्थात् योगियों को अपने इच्छित फल की सिद्धि के लिए भगवान् की आत्मरूप से स्फूर्ति होती है और स्नेह दो प्रकार से होता है, अतः योगियों का परम तत्त्व पुरुषोत्तम स्वरूप है। उनकी दृष्टि में यह सब तत्त्व रूप है, अतः आत्मा भी तत्त्व रूप है, योग और साङ्ख्य का यह ही सिद्धान्त है।

'पर' शब्द का तात्पर्य परम काष्ठापन्न स्वरूप अर्थात् जिससे उत्तम अन्य कोई तत्त्व नहीं है, वृष्णी जो यादव हैं, वे भगवदीय होने से गुणातीत अर्थात् निर्गुण हैं। सात्विकों का निरोध वर्णन कर पश्चात् उनका परम निरोध 'शय्यासनाटनालापे' श्लोक में कहा जाएगा। उन यादवों को भगवान् सबसे उत्कृष्ट अपना स्वामी और देवता समझ में आया। दास का स्वामी ही नियामक है, वह अर्थात् स्वामी लौकिक भी होता है, यह हमारे स्वामी लौकिक नहीं है; यों बताने के लिए 'देवता' पद दिया है। यदि अपनी बुद्धि अलौकिक है, वंसा ज्ञान हो, तो भगवान् में दृढ भक्ति नहीं हो सकती है। अतः अपनी हीन प्राकृत बुद्धि रखनी चाहिए, जिससे भगवान् में भक्ति दृढ़ होवे। अतः भगवान् को परदेवता समझना योग्य ही है। यों तो भगवान् जिस प्रकार का कहो उस प्रकार का होते हुए भी सबसे विलक्षण तथा सर्व रूप हैं। अतः कहा है कि 'इति विदितः' जैसा जैसा अधिकारी वैसा वंसा दर्शन देकर तदनुकूल रस प्रकट किया।



‘रङ्गमण्डप’ में इसलिए ही पधारे थे कि सबका ही रस पुष्ट हो, हालांकि शान्त रस का विशेष अभिनय यहां नहीं किया है, तो भी उस प्रकार बैठने से साधारण अभिनय तो हुआ ही है। नाट्य में आठ रस हैं, यह विशेष अभिप्राय है। निपुणों को भक्ति रस का रस की दृष्टि के समान अभिनय करना चाहिए। भगवान् सर्व के हितार्थ रङ्ग मण्डप में पधारे। बलभद्रजी के साथ भगवान् ने सर्वत्र समभाव से निरूपण किया। बलभद्र को साथ में गौण भाव दिखाने के लिए लिया है। यदि गौण भाव प्रकट करना न होता, तो साथ में कहने के लिए द्विवचन कहा जाता, किन्तु यहां ‘साग्र-जोगतः’ इस प्रकार श्लोक में एक वचन ही कहा है। भगवान् से वेद का सहभाव है, यों अलौकिकत्व दिखाने के लिए कहना चाहिए।

इस प्रकार जहाँ सर्व रस सम्बन्ध है, वहाँ ‘पित्रोः’ यह कहना उपयुक्त नहीं है। गोपों ने भी लीला नहीं की है, उनके लिए हास्य रस कहना ठीक नहीं है। इस कारण से असर्वपन होने से सहभाव से ही कहा है; यों समझना चाहिए। रस को प्रकट करने में वैसी वैसी बुद्धि ही योग्यता से कही है, क्योंकि नहीं तो फल प्राप्ति न होगी; अतः फल की प्राप्ति के लिए वैसी बुद्धि होगी तो रस अवश्य प्रकट होगा ॥२७॥

आभास—प्रधानक्रमेण कंसस्यादौ भयमाह हतं कुवल्यापीडमिति ।

आभासार्थ—भगवान् को जो कार्य मथुरा में क्रमवार करने थे, उनमें मुख्य कार्य कंस को मारना था। अतः कार्य के क्रम में प्रथम क्रम यह होने से इसको प्रधान क्रम कहा है। जिसके कार्य का प्रारम्भ करते प्रथम वह कार्य करते हैं, जिससे कंस को भय उत्पन्न हो। जिसका वर्णन ‘हतं कुवल्या-पीडं’ श्लोक में करते हैं—

श्लोक—हतं कुवल्यापीडं दृष्ट्वा तावपि दुर्जयौ ।

कंसो मनस्व्यपि तदा भृशमुद्विजि नृप ॥१८॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! जिनने कुवल्यापीड को मारा, उन दोनों को देखकर कंस समझ गया कि ये दोनों कठिनाई से जीतने योग्य हैं, अतः मनस्वी होते हुए भी बहुत व्याकुल हो गया ॥१८॥

सुबोधिनी—स हि ज्ञातवान् वञ्चयित्वा समा-
यास्यतीति, तत्र मारयित्वा समागत इति, यद्यपि
महाशूरः राजापि, तथापि भृशमुद्विजि । यदि
गजो हतः अशस्त्रेण, तर्ह्यन्यानपि मारयिष्यतीति
‘युक्तिः’ । प्रमाणमाह दृष्ट्वा तावपि दुर्जेयाविति ।
‘मनसा दृष्ट्या च एतौ दुर्जेयाविति प्रतिभाति, मया

च यत्नः कर्तव्यः, कृतश्च भूयान्, अपकृतश्च पित्रा-
दिबन्धनेन; अतो मारयिष्यत्येव, नान्यथेति भृश-
मुद्वेगः । दुःखेन जयो ययोरिति नात्र योगो वक्त-
व्यः, किन्तु अजेयावित्येव रूढोर्थः । नृपेति संबो-
धन शत्रोस्तथात्वदर्शनात् विश्वासार्थम् ॥१८॥

व्याख्यार्थः—कंस ने तो यों समझ रखा था कि भगवान् छल करके रंग मंडप में आएंगे,



किन्तु वहां तो वे अन्दर न आ सकें, इसलिए जो शूर वीर पहलवानों सहित हाथी को द्वार पर खड़ा किया था। उसे मार कर चले आए, हालांकि राजा कंस महान् शूरवीर है, तो भी बहुत डर के कारण व्याकुल हो गया। वैसे हस्ती को जब बिना शस्त्र के मार डाला है, तो दूसरों को भी मार डालेंगे, इस युक्ति को कहकर और उनको देखकर प्रमाणित करता है कि वे दोनों कठिनाई से जीतने योग्य हैं। कंस कहने लगा कि ये मनसे अथवा देखने से दुर्जय मालूम होते हैं। मुझे तो यत्न करना चाहिए, किए भी बहुत हैं और इसके पिता आदि को बन्धन में डालकर अपकार भी किए हैं; अतः निश्चय है कि यह मारेंगे ही। मारने के सिवाय और कुछ नहीं करेंगे, इन विचारों से बहुत उद्वेग वाला हो गया। यहां 'दुर्जय' शब्द का अर्थ शब्दों के अनुसार योगिक नहीं लेना है, किन्तु उसका भावार्थ समझना चाहिए कि ये दोनों जीते न जाएंगे। अर्थात् इनको किसी प्रकार में जीत नहीं सकूंगा, 'नृपः' विशेषण इसलिए दिया है कि मैं जो कुछ कह रहा हूं उसमें आपको विश्वास हो कि यह मेरा शत्रु ऐसा ही अजेय है ॥१८॥

आभास—एवं प्रधानस्य रसाविर्भावमुक्त्वा मल्लानामतिकठिनानां भगवतो गुण-श्रवणमपि अधिकमपेक्ष्यत इति तान् परित्यज्य शिष्टानां रसाविर्भावो जात इत्याह तौ रेजतुः इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रधान रस का आविर्भाव हुआ, यह कह कर अब अति कठोर मल्लों को भगवान् के गुणों का श्रवण भी विशेष चाहिए, किन्तु उनको छोड़ कर वहाँ रङ्ग मण्डप में जो अन्य शिष्ट हैं; उनमें रस का आविर्भाव हुआ; जिसका वर्णन 'तौ रेजतुः' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तौ रेजतु रङ्गगतौ महाभुजौ विचित्रवेषाभरणस्त्रगम्बरौ ।

यथा नटावुत्तमवेषधारिणौ मनः क्षिपन्तौ प्रमथा निरीक्षताम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—आभूषण, माला और वस्त्रों से जिनने विचित्र वेष धारण किए हैं, वैसे महाभुजावाले रंगमण्डप में गए हुए वे दोनों सुशोभित होने लगे। नट की भाँति उत्तम वेषधारी अपनी कान्ति से द्रष्टाओं के मन को अपनी तरफ खींचते हुए शोभायमान हुए ॥१९॥

सुबोधिनी—तौ निरीक्षतां प्रमथा मनः क्षिपन्तौ रेजतु इति । मनो हि प्रतिबन्धकं क्षणेन रसान्तरमप्युत्पादयेत्, अतस्तस्याक्षेपो वक्तव्यः । यथा नोत्पादयेदिति । प्रतिबन्धकनिवृत्त्यर्थं प्रथमतो भगवच्छोभावर्णनम् । शोभायामुभयोस्तु-त्यता, यथा नीलमुक्तामणी । नटवदेव भगवन्तौ रूपान्तरं गृहीतवन्तौ । तौ चेद्रङ्गगतौ भवतः, वेशः सार्थको भवतीति परमार्थतः । लोकेऽपि रङ्ग-स्थान एव नटोत्तमता, नान्यत्र । अतो रङ्गगतौ

रेजतुः पूर्वापेक्षयापि । नन्वयं रङ्गः कृत्रिमः, कथमत्र रमणमिति चेत्; तत्राह महाभुजाविति । तथापि भुजाभ्यामेव सर्वे निराकर्तव्या इति युक्तैव शोभा । ननु तथापि ये रसानभिज्ञाः प्राकृताः शुद्धस्वाङ्गरसं न जानन्ति, तेषां कथं रसोत्पत्ति-रित्यत आह विचित्रवेषाभरणस्त्रगम्बराविति । विचित्रो वेषो यथा भवति; तथा आभरणानि स्रजः अम्बराणि च ययोः । त्रिविधान्वध्याभर-णानि वैचित्र्यं जनयन्तीति अन्येषामपि रसगो-



ग्यता । नन्वेतयोः नटवद्रूपान्तरग्रहणमिति हि महतां प्रतीतिः, न सर्वेषाम्; तत्कथं नटबुद्धयभावात् रसोत्पत्तिरिति चेत्, तत्राह यथा नटाविति । नटवदेव तदानीमभिनयं कुरुतः । अतः सर्वेषामेव नटप्रतीतिः । ननु स्वाभाविकमेव अपूर्वदर्शनात्त-

तयोः कथं न भवेदित्याशङ्क्याह उत्तमवेषधारिणाविति । उत्तमवेषं धारयत इति नटाभिनयो न स्वाभाविकः । अतः सर्वेषामेव स्वप्रभया मनोहरणं युक्तम् ॥१६॥

व्याख्यानार्थः—वे दोनों अपनी कान्ति से देखने वालों के मन को अपनी तरफ खेंचते हुए शोभायमान हुए । उनका मन अपनी तरफ इसलिए खेंचने लगे कि मन चञ्चल होने से क्षण में रसान्तर को उत्पन्न कर देता है । खेंचा हुआ (मन) रसान्तर उत्पन्न नहीं करेगा, मन ही रस को एक रस में रखने के लिए प्रतिबन्धक है । अतः उस प्रतिबन्धक की निवृत्ति के लिए प्रथम भगवान् की शोभा का वर्णन करते हैं । शोभा में दोनों रूपों की समानता है, जैसे नीलम और मोती समान हैं । नट की भांति ही दोनों भगवत्स्वरूपों ने रूपान्तर ग्रहण किया है । वे उस रूपान्तर से रङ्ग मण्डप में पधारे तब वेशधारण करना सचमुच सार्थक हो गया । लोक में भी नाटक में ही नटकी उत्तमता देखने में आती है, दूसरे स्थान पर नहीं दिखती है । पहले की उपेक्षा भी जब रङ्ग मण्डप में गए, तब सुशोभित हुए ।

यह रङ्ग मण्डप तो बनावटी है, यहां रमण कैसे होगा ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहते हैं कि 'महाभुजौ' बड़ी भुजा वाले हैं, अतः इन भुजाओं से सब कृत्रिमपन मिटा देंगे । इसलिए शोभित हुए यह कहना योग्य ही है, जिससे रमण अर्थात् रस का प्रकट हुआ है । यों मान भी लेवें, तो भी जो रस से अनजान हैं, प्राकृत है, शुद्ध स्वाङ्ग के रस को नहीं जानते हैं, उनमें रस की उत्पत्ति कैसे होगी ? उनमें रस की उत्पत्ति के लिए ही इस प्रकार की आभूषण माला और वस्त्रों से विचित्र वेष धारण किया है, जिससे उनमें भी रस की उत्पत्ति हो । तीन प्रकार के आभरण की विचित्रता उत्पन्न करते हैं, अतः अन्यो में भी रस की योग्यता होती है । इन दोनों ने जो नट की भांति रूपान्तर ग्रहण किया है, जिसकी प्रतीति महान् पुरुषों को होगी न सर्व को, तब नट के ज्ञान न होने पर रस की उत्पत्ति कैसे होगी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे नट अर्थात् नट को देख कर जैसे सबको रस आता है, वैसे ही वहां भी इन दोनों ने नट की भांति ही खेल किया है । अतः सबको ही नट की प्रतीति होती है, उनका अपूर्व दर्शन स्वाभाविक होता है । जिससे क्या रस का प्राकट्य नहीं हो सकता है ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि यहां उत्तम वेष धारण किया है, किन्तु यह नट का नाटक स्वाभाविक नहीं है, अतः सर्व के मन का हरण तो अपने वास्तविक प्रभाव से ही किया है, यह योग्य है ॥१६॥

आभास—ततस्तेषां रस आविर्भूत इति वक्तुं भगवति प्रेमपूर्वकमवलोकनमाह निरीक्ष्येति ।

आभासार्थ—रङ्ग मण्डप में स्थितों को उन स्वरूपों को प्रेमपूर्वक देखने से रस उत्पन्न हुआ, जिसका वर्णन 'निरीक्ष्य' श्लोक में करते हैं—



श्लोक—निरीक्ष्य तावुत्तमपुरुषौ जना मञ्चस्थिता नागरराष्ट्रका नृप ।

प्रहर्षवेगोत्कलितेक्षणाननाः पपुनं तृप्ता नयनैस्तदाननम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—साधारण तथा उत्तम पुरुष, जो मञ्च पर बैठे थे, एवं जो राष्ट्र के निवासी थे, उन सबको उन दोनों उत्तम पुरुषों को देखकर हर्ष के वेग से नेत्र तथा मुखारविन्द खिल गए, नेत्रों से उनके मुख रस का पान करते हुए वे तृप्त न हुए ॥२०॥

सुबोधिनी—पुरुषमात्रमपि सुन्दरं दृष्ट्वा प्रमोदो भवेत्; एतौ तु पुरुषोत्तमौ, 'उत्तमः पुरुषः परमात्मे'ति आत्मनोपि नियामकौ । जनाः सर्व एव प्राणिनः साधारणाः । ततो विशिष्टाः मञ्चस्थिताः । दर्शनयोग्यत्वाय वा मञ्चस्थितत्वम् । नागरराष्ट्रकाः नगरवासिनो देशवासिनश्च । नगरवासिनो रसाभिज्ञाः, देशवासिनो बहुज्ञाः । अत उभये विशिष्टा गणिताः । ततोऽपि नृपास्त्रिविधाः

चतुर्विधा वा । सर्वेषामपि नियन्तारं दृष्ट्वा मुदिता जाताः । न केवलं हर्षमात्रम्, किन्तु प्रहर्षस्य यो वेगः तेनोत्कलितं विकाशाभिमुखमाननं येषाम् । प्रथमदर्शन एवैतत् । अग्रे वाक्यविकाशं वक्ष्यति । अतस्तदाननं पपुः, तेन मार्गेणान्तः प्रवेशितवन्तः । नयनैरिति । नयनरूपाण्येव तानि । अतः मुखमपि नीतवन्त इति । इयमेव तदासक्तिः, यदन्तर्बहिः स एव दृश्यते ॥२०॥

व्याख्यार्थ—साधारण सुन्दर पुरुष को देख कर भी आनन्द उत्पन्न होता है, ये तो पुरुषों में उत्तम पुरुष हैं । उत्तम पुरुष अर्थात् परमात्मा, अतः ये आत्मा के भी नियामक हैं । श्लोक में 'जनाः' पद साधारण सकल प्राणियों के लिए दिया है, उन साधारणों से उत्तम वे थे, जो सभा में मञ्च पर बैठे थे । उनको मञ्च पर इसलिए बिठाया गया था कि वे देखने के योग्य थे । नगरवासी रस को जानते हैं और देश वासी अनुभवी होते हैं, अतः इनको वरिष्ठ अर्थात् उत्तम या विलक्षण कहा है । उनसे भी राजा लोग तीन चार प्रकार के थे वे सब, सबके नियन्ता को देख कर प्रसन्न हुए, वे केवल प्रसन्न ही न हुए, किन्तु प्रसन्नता के वेग से उनके मुख कमल विकसित हो गए । यह पहला ही दर्शन है, आगे शब्दों से खिलना कहेंगे, अतः नेत्रों से उनके मुख कमल का पान कर अन्तःकरण में उनको पधराया । नेत्रों को संस्कृत में 'नयन' कहते हैं । अर्थात् ले जाने वाले हैं, अतः मुख को भी अन्दर ले गए । यह लेना ही प्रकट करता है कि उनकी इनमें आसक्ति है, जिससे बाहर और भीतर वे स्वरूप ही उनको देख रहे हैं ॥२०॥

आभास—न केवलं योगिवदन्तः स्थापयित्वा चरितार्था जाताः, किन्तु भक्ता इव परमाकाङ्क्षायुक्ता इव, क्षुधिता इव, मुग्धा इव, प्रोष्यागता इव, परमस्निग्धा इव जाता इत्याह पिबन्त इवेति ।

आभासार्थ—वे योगी को भाँति अन्तःकरण में पधरा कर कृतार्थ नहीं हो गए, किन्तु भक्तों के, परम आर्काक्षावालों के, मुग्धों के, युवावस्थावाली सरल स्वभाववाली नायिका के, विदेश से आए हुए प्रीतम के और परम प्यारे के समान स्थितिवाले हो गए, जिसका वर्णन 'पिबन्त इव' श्लोक में करते हैं ।



श्लोकः—पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ।

जिघ्रन्त इव नासाभ्यां श्लिष्यन्त इव बाहुभिः ॥२१॥

श्लोकार्थः—रङ्ग में स्थित नेत्रों से मानो उनका पान कर रहे हैं, जिह्वा से मानो चाट रहे हैं, नासापुटों से मानो सूँघ रहे हैं और बाहुओं से मानो आलिङ्गन कर रहे हैं ॥२१॥

सुबोधिनीः—चक्षुर्भ्यां पिबन्त इव जाताः । प्रत्येकं चक्षुर्द्वयेनान्तर्दुःसहतापशान्त्यर्थं अन्तर्निवेशितवन्तः । यथा पानसमये जलमन्तर्वहिव्याप्तं तिष्ठति, तथा भगवान् जात इत्यर्थः । यथा गौर्वत्से जाते जिह्वया प्रेमपूर्त्यर्थं लेहन करोति, तथा ज्ञानानन्तरं भावमाविष्कृतवन्तः । यथा पिता तदर्थमेव सपादितपदार्थः प्रोष्यागतः मूघ्न

जिघ्रति जातं वा, तथा भगवति सर्वे जाताः । ज्ञानप्रमानन्तरं बहिरात्मत्वेन व्यवहृतवन्त इत्यर्थः । यथा वा मित्राणि स्त्रियो वा चिरागतं आलिङ्गन्ति, तथा भगवति सर्वे एव जातभावा जाताः । ज्ञानप्रेमात्मव्यवहारेषु सिद्धेषु सख्यान्तमात्मसमर्पणान्तं वा भक्तिसाधनानि क्रियन्ते, तथा कृतवन्तः ॥२१॥

व्याख्यानार्थ — आंखों से मानो भगवान् का पान कर रहे थे, कंसे पान करते थे ? उसकी व्याख्या करते हैं कि प्रत्येक दर्शक अपने भीतर के दुःसह ताप की निवृत्ति करने के लिए भगवान् को नेत्रों द्वारा भीतर पधराते हैं । जैसे पीने के समय जल भीतर तथा बाहर फँला रहता है, वैसे ही भगवान् भीतर तथा बाहर व्याप्त हो रहे हैं । जिस प्रकार गौ, बछड़े से प्रेम की पूर्ति के लिए उसको चाटती रहती है, वैसे ही दर्शक भी भगवान् के स्वरूप का ज्ञान होने के बाद अपना भाव प्रदर्शित करने के लिए अपना भाव प्रदर्शित करने के लिए मानो जिह्वा से चाट रहे हैं । जैसे पिता विदेश से आगमन के समय पुत्र के लिए अनेक पदार्थ लाता है और आते ही उस पुत्र के मस्तक को प्रेम प्रकट करने के लिए अथवा प्रेम पूर्ति के लिए सूँघता है । अथवा पुत्र के जन्म होने पर प्रेम से मस्तक सूँघता है, वैसे सर्व दर्शक भी मानो नासापुट से सूँघ रहे हैं । इस प्रकार ज्ञान तथा प्रेम होने के बाद बाहर भगवान् को अपनी आत्मा समझ व्यवहार कर रहे हैं । मित्र तथा स्त्रियां बाहर से बहुत समय से आए हुए अपने मित्र तथा पतियों का आलिङ्गन करती हैं, वैसे दर्शक भी इस प्रकार के भाव वाले होकर मानो आलिङ्गन कर रहे हैं । जैसे ज्ञान, प्रेम और आत्मपन के व्यवहार सिद्ध हो जाने पर सख्य पर्यन्त अथवा आत्मसमर्पण तक भक्ति के साधन किए जाते हैं, वैसे ही ये भी करने लगे ॥२१॥

आभासः—एवं ज्ञानक्रियाशक्तिविनियोगेन अन्तःकरणशरीरयोर्भगवति विनिवेशनमुक्तम्, लेहनाघ्राणभ्यामिन्द्रियप्राणयोरपि । एवं चतुर्धा क्रियाज्ञानशक्ती निरूपिते । अनेन तदासक्तिः सिद्धैव, तथापि स्थूणाखननन्यायेन यदि न स्थिरीक्रियते, रसस्तदा दृढो न भवतीति भगवति वाचनिकमाह ऊचुरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ज्ञान तथा क्रिया शक्ति के निवेदन से अपने अन्तःकरण एवं शरीर का पूर्णरीति से, भगवान् में प्रविष्ट कर दिया तथा चाटने और सूँघने से इन्द्रियों एवं प्राणों को भी



भगवान् में जोड़ दिया, वैसे चार प्रकार की ज्ञान शक्ति का निरूपण किया है। हालांकि इससे उनकी भगवान् में आसक्ति सिद्ध ही हो गई, तो भी स्थूणाखनन न्याय की भांति जो इसको स्थिर न किया जायगा तो रस दृढ़ न होगा, इसलिए वाणी से भगवान् के गुणों का 'ऊचुः परस्पर' श्लोक से वर्णन किया है।

श्लोकः—ऊचुः परस्परं ते वै यथादृष्टं यथाश्रुतम् ।

तद्रूपगुणमाधुर्यप्रागल्भ्यस्मारिता इव ॥२२॥

श्लोकार्थः—वे दर्शक उनकी रूप गुण, मधुरता और सामर्थ्य जैसी देखी थी और सुनी थी उनका मानो याद कर आपस में परस्पर कहने लगे ॥२२॥

सुबोधिनीः—यद्यपि सर्वे जानन्ति, तथापि वक्तारः श्रोतारश्च सर्व एव जाताः, दाढ्यकर-णस्यैव प्रयोजकत्वात्, अतः परस्परमेवोचुः, यतस्ते प्रसिद्धा निरुद्धाः, सर्व एव तथा जाता इति वक्तुं निश्चयमाह । तत्र भगवन्माहात्म्यं ज्ञात्वा वक्तव्यमिति ज्ञानार्थं दर्शनं श्रवणं चाह यथादृष्टं यथाश्रुतमिति । नतु कल्पनया । श्रुतं कीर्त्यत इति सिद्धम्, दृष्टमसंभावनादिनिराकर-णाय । ननु कः प्रसङ्गोऽत्र भगवद्गुणानिरूपणे,

तत्राह तद्रूपेति । तस्य रूपं गुणाः माधुर्यं कोम-लता च प्रागल्भ्यं सामर्थ्यं तैर्दृष्टं श्रुतं स्मारितं येषु । तेन संस्कारोद्बोधात् संयोगापेक्षया संस्कारस्य बलवत्त्वात् ऊचुरेव । अन्यथा अप्र-त्यक्षविषये परिदृश्यमाने अन्यचित्तता न स्यात् । वस्तुतस्तु भगवद्गुणाः स्वरूपं च भगवत्कृपया तेष्वविर्भूतमेव, तथापि स्मृता इव वदन्ती-तीवेत्युक्तम् ॥२२॥

व्याख्यार्थः—हालांकि सब भगवान् के रूप गुण आदि को जानते हैं, तो भी उनको दृढ़ करने के लिए सब ही वक्ता तथा श्रोता बन गए, इसलिए परस्पर अर्थात् आपस में कहने लगे । कारण कि ये प्रसिद्ध निरुद्ध थे, सब ही वैसे ही हो गए हैं, यों निश्चय बताने के लिए कहने लगे ।

भगवान् के महात्म्य का वर्णन तब करना चाहिए जब उसका ज्ञान होवे, अतः श्लोक में कहते हैं कि 'यथादृष्टं, यथा श्रुतम्' हम जो वर्णन करते हैं वह कल्पना से नहीं कहते हैं, बल्कि जैसा आंखों से प्रत्यक्ष देखा है और जैसा सुना है, वह कहते हैं, जो सुना जाता है उसको ही कहा जाता है । वह स्वयं सिद्ध है और फिर वह आंखों से देखा हुआ हो, तो उसमें असंभावना नहीं रहती है । यहां गुणों के निरूपण का कोई अवसर नहीं है फिर क्यों कहे जाते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि उनके रूप, गुण मधुरता और सामर्थ्य ऐसे हैं जो स्मरण कराने के लिए विवश कर देते हैं । अतः संस्कारों के जगने से संयोग की अपेक्षा से संस्कार बलवान् होते हैं, अतः कहना ही पड़ता है । यदि न कहा जावे तो चित्त के अन्यत्र जाने की संभावना हो सकती है । अतः गुणानुवाद कहने से परोक्ष होते हुए भी प्रत्यक्ष हो जाते हैं, जिससे अन्यत्र चित्त नहीं जाता है । यथार्थ में तो भगवान् के गुण तथा भगवान् का स्वरूप भगवान् की कृपा से उनमें (दर्शकों में) प्रकट ही है, तो भी मानो स्मरण हुआ है, वैसे कहते हैं, अतः श्लोक में 'इव' पद दिया है ॥२२॥

अभासः—तेषां वाक्यान्त्याह एतावित्यष्टभिः



अभासार्थः—उनने जो वाक्य कहे हैं वे “एतौ भगवतः” श्लोक से आठ श्लोकों में वर्णन करते हैं ।

श्लोकः—एतौ भगवतः साक्षाद्वरेनारायणस्य हि ।

अवतीर्णविहांशेन नसुदेवस्य वेश्मनि ॥२३॥

श्लोकार्थः—नारायण हरि साक्षात् भगवान् ही राम और कृष्ण इन दो स्वरूपों से वसुदेव के गृह में अंश से प्रकट हुए हैं ॥२३॥

सुबोधिनोः—अष्टैश्वर्याणि वक्तव्यानीति । गुणैः सह भगवान् प्रमाणं चेति वा । जन्मावधि सर्वमाहुः । तत्रोभयोरुत्पत्तौ तुल्यतामाहुः । एतौ कृष्णरामौ भगवतः पुरुषोत्तमस्य साक्षात्स्वयमागत्य सर्वदुःखनिवारकस्य । स एव स्वस्मिन् तानानीय स्वकीयान् देहादीन् तेषु संपाद्योद्धार कुर्वन् समागत इत्याह नारायणस्येति । अनेन मूलमध्यब्रह्माण्डभावा निरूपिताः । तस्यैतावान् समारम्भः सर्वमुक्त्यर्थः । स भगवदवतारव्यतिरेकेण न संभवतीति युक्त एव तस्यावतार इति हि शब्दः । अवतारो हि ये उद्धर्तव्याः तेषां मध्ये

अवतरणम् । कूपे पतितो हि गुणैः स्वयमागत्य बोद्धियते । तत्राज्ञेषु स्वागमनमेवोचितमिति अवतीर्णौ । इह प्रपञ्चे । यावतांशेन एते उद्धृता भवन्ति, तावन्तमेवांशं व्यापृतवानित्याह अंशेनेति । अंशत्वं स्वरूपत्वं च सर्वत्र पूर्णगुणके आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादावनन्तमूर्तौ पूर्णं न विरुध्येते । सर्वप्रसिद्धमेतादिति वदन् वसुदेवस्य वेश्मनि गृहे भार्यायां चेत्युक्तम् । अतो द्वयमपि समर्थितं गृहे ह्याविर्भाव एवेति । ‘यथाश्रुत’मिति वाक्याद्धा । तावदेव तैः श्रुतमिति ॥२३॥

व्याख्यार्थः—आठ ऐश्वर्य कहने चाहिए अथवा छ गुण, सातवें भगवान् और आठवें प्रमाण (बलराम) कहने चाहिए । जन्म काल तक सर्व कहते हैं, उसमें प्रथम दोनों के प्राकट्य में समानता बताते हैं । ये राम और कृष्ण सर्व दुःख निवृत्त करने वाले साक्षात् आप प्रकट भगवान् पुरु उत्तम के स्वरूप हैं । वह अपने में उनको पधराकर अपनी देह आदि का उनमें सम्पादन कर उद्धार करते हुए आए हैं, इसलिए कहते हैं, कि ‘नारायणस्य’ नारायण शब्द कह कर बताया है कि सर्व भाव अर्थात् मूल मध्य तथा ब्रह्माण्ड के भाव इनमें हैं । उनका इतना कार्य करना सर्व की मुक्ति के लिए है । श्लोक में आए हुए ‘हि’ शब्द का भाव प्रकट करते हैं कि सर्व की मुक्ति भगवान् के अवतार के सिवाय नहीं हो सकती है, इसलिए उनका अवतार होना योग्य ही है । इसलिए ‘हि’ शब्द दिया है, जिनका उद्धार करना है उनके यहां ही प्रकट होना ‘अवतार’ है । यदि कोई कूप में गिर पड़ा है तो उसको दो प्रकार से निकाला जाता है । एक रस्सी से और दूसरे स्वयं कूप में जा कर । यदि कूप में गिरा हुआ मूर्ख है, रस्सी पकड़ना नहीं जानता है, तो निकालने वाला दयालु स्वयं कूप में कूदकर उसको निकालता है । अज्ञों का भी उद्धार करता है, अतः उनमें प्रकट होना ही योग्य समझ आप दो स्वरूपों से

१—अंश से कहने का आशय यह है कि जितने अंश से उनका उद्धार हो, उतने से ही वहां व्यापारवाले हुए हैं । विशेष टीका में—अनुवादक



प्रपंच में प्रकटे है। जितने अंश से इनका उद्धार होता है उतना ही अंश फैलाया है। या काम में लिया है। अंशपन और स्वरूपपन दोनों का उसमें विरोध नहीं है। जो सर्वत्र पूर्ण गुण वाले हैं तथा आनन्द मात्र कर पाद, मुख, उदर, आदि वाले अनन्त मूर्ति पूर्ण हैं। यह प्राकृत्य सर्व में प्रसिद्ध है। यों कहते हुए कहते हैं कि वसुदेव जी के वेश्म^१ में प्रकट हुए हैं। अतः घर में वा स्त्री में दोनों का समर्थन किया है। 'यथाश्रुत' इस वाक्य से समर्थन किया है कि जैसा कि हमने सुना है, उन्होंने उतना ही सुना है ॥२३॥

आभास—एवमुभयोः सामान्यरूपमुक्त्वा भगवति विशेषरूपमाह एष इति ।

आभासार्थः—इस प्रकार दोनों के सामान्य स्वरूपों का वर्णन कर भगवान् के स्वरूप की विशेषता 'एष वै' श्लोक से प्रकट करते हैं।

श्लोक—एष वै किल देवक्यां जातो नीतश्च गोकुलम् ।

कालमेतं वसन्गूढौ ववृधे नन्दवेश्मनि ॥२४॥

श्लोकार्थः—प्रसिद्ध एवं निश्चय है कि यह कृष्ण देवकी के यहां प्रकटे और गोकुल पहुँचाए गए। जहां गुप्त रीति से इतने दिन रहे वहाँ ही नन्द के घर में बड़े हुए हैं ॥२४॥

सुबोधिनीः—एषः कृष्णः । वै निश्चयेन । किलेति प्रसिद्धौ । देवक्यां जातः गोकुलं च नीतो वसुदेवेन । चकारात् तत्प्रतिनिधित्वेन कन्या-प्यानीता । नारदवाक्यादेवा प्रसिद्धिः । ततः एतावत्कालं एकादशवर्षपर्यन्तं तत्रैव वसन् नन्द-

वेश्मनि ववृधे । तर्हि कथं सर्वैर्न व्यवहृत इति चेत्, तत्राह गूढ इति । गुप्त इति । गुप्तत्वार्थं गुप्तत्वे वा न व्यवहृत इत्यर्थः । वृद्धिर्जननव-प्राप्तीतिकी ॥२४॥

व्याख्यार्थः—यह कृष्ण देवकी के यहां प्रकटे; गोकुल में वसुदेव जी ले गए, यह बात निश्चित है और प्रसिद्ध है। श्लोक में 'च' दिया है जिसका आशय है कि कृष्ण को वहाँ छोड़ के उसकी प्रति-निधि रूप में कन्या ले आए। इस प्रकार जन्म होना और नन्द के यहां जाना यह बात प्रसिद्ध कैसे हुई? यह समग्र लीला गुप्त ही हुई थी। इस पर आचार्य श्री कहते हैं कि नारद के कहने से यह प्रसिद्ध हुई। वहां जाने के अनन्तर ग्यारह वर्ष नन्द के घर में रह कर आप बड़े तब सबने क्यों न पहचाना? इसके लिए श्लोक में कहा है कि 'गूढः' गुप्त होकर वहां रहे थे। अर्थात् किसी को तब तक मालूम न था कि यह वसुदेव के पुत्र हैं। भगवान् कृष्ण का बढ़ना केवल प्रतीति मात्र था। वास्तव में वे तो सदैव एक समरस रूप हैं ॥२४॥

आभास—न केवलं तुष्णीं वृद्धि गतः किन्तु चरित्राण्यपि कृतवानित्याह पूतने-त्यादि पञ्चभिः ।



अभासार्थः—केवल चुप चाप बैठ कर नहीं बढ़े, किन्तु चरित्र भी किए। जिसका वर्णन 'पूतनानेन' श्लोक से लेकर पाँच श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—पूतनानेन नीतान्तं चक्रवातश्च दानव ।

अर्जुनो गुह्यकः केशी धेनुकोऽन्ये च तद्विधाः ॥२५॥

श्लोकार्थ—इसने पूतना, बड़े दानव तृणावर्त, यमलार्जुन, केशी, शङ्खचूड़, धेनुक का तथा वैसे अन्यो का भी अन्त किया ॥२५॥

सुबोधिनीः—दुष्टनिग्रहः शिष्टदुःखदूरीकरणं तेभ्यः फलदानं चेति । तत्र दुःखं त्रिविध आधिभौतिकमाध्यात्मिकमाधिदैविकमिति । ततश्चरित्रं पञ्चविधम् । तत्र प्रथममाह : अनेन पूतना अन्तं नीता प्रथमम् । ततश्चक्रवातस्तृणावर्तः अन्तं	नीतः । स च दानवो महान् । ततोऽर्जुनो यमलो वृक्षो । ततो धेनुकः । ततः सांप्रतं केशी । गुह्यकः शङ्खचूडः । अन्ये चारिष्ठादयः तद्विधाः पूर्वोक्त-समानाः ।
---	--

व्याख्यानार्थः—दुष्टों का निग्रह, श्रेष्ठ पुरुषों का दुःख दूर करना और उनको फल देना ये तीन कार्य किए। इनमें दुःख तीन प्रकार के हैं, (१-आधिभौतिक २-आध्यात्मिक और ३-आधिदैविक) और चरित्र पाँच प्रकार के हैं, उनमें प्रथम प्रकार कहते हैं। इनने पहले पूतना का अन्त किया अर्थात् पूतना को मारा है। उसके पश्चात् महान् दैत्य तृणावर्तका नाश किया। उसके बाद यमलार्जुन वृक्षों को गिरा दिया। उसके अनन्तर धेनुक को, पोछे केशी और शङ्खचूड़ को मारा और जो दूसरे अरिष्ट आदि थे, उनका भी नाश किया ॥२५॥

कारिकाः—षडेते प्रतिपक्षास्तु इन्द्रियाणीव रूपिताः ।

अतिदिष्टास्तथाचान्ये सर्वतुल्या यतः परे ॥१॥२५॥

कारिकार्थ—ये छः इन्द्रियों के समान प्रतिपक्षी कहे हैं। दूसरे अतिदेश हैं क्योंकि वे सर्व समान हैं।

आभास—आधिभौतिकोपद्रवपरिहारमाह गावः सपाला इति ।

आभासार्थः—जो आधिभौतिक उपद्रव मिटाया, जिसको 'गावः' श्लोक में कहते हैं:

श्लोकः—गावः सपाला एतेन दावाग्नेः परिमोचिताः ।

कालियो दमितः सर्प इन्द्रश्च विमदः कृतः ॥२६॥

श्लोकार्थः—इनने गोपों सहित गायों की दावाग्नि से रक्षा की। कालिय नाग का दमन किया और इन्द्र का अहङ्कार नष्ट किया ॥२६॥



सुबोधिनी:—एतेन भगवता सपाला गावः
दावाग्नेः सकाशात् परितो मोचिताः । अचेतन-
बाधनिराकरणमुक्तम् । सचेतननिराकरणमाह ।
कालियः सर्पः दमितः । आधिदैविकोऽपि भूत-

तुल्यो जात इति वक्तुं सहकीर्तनम् । इन्द्रश्च
विमदः कृत इति । चकारात् ब्राह्मणाः वरुणा-
दयश्च ॥२६॥

व्याख्यार्थः—इन भगवान् ने गोपों सहित गायों का दावाग्नि से रक्षण कर जड़ अग्नि से हुए कष्ट को नष्ट किया । अब चेतन से जो कष्ट हुआ उसको मिटाने के लिए कालिय सर्प का दमन किया । इन्द्र का भी अभिमान निवृत्त किया । इन्द्रदेव होने से आधिदैविक हैं, किन्तु इस समय उसने कृत्य से अपने को भूत समान बना दिया है । अतः उनका वर्णन भी यहां किया गया है । 'च' शब्द से ब्राह्मण और वरुण आदिका भी मद उतारा है, यह भी बता दिया ॥२६॥

आभासः—आधिदैविकोपद्रवनिराकरणमाह सप्ताहमिति ।

आभासार्थः—आधिदैविक उपद्रवों का निराकरण इस 'सप्ताह' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोकः—सप्ताहमेकहस्तेन कृतोऽद्रिप्रवरोऽमुना ।

वर्षवाताशनिभ्यश्च परित्रातं च गोकुलम् ॥२७॥

श्लोकार्थः—इस बालकृष्ण ने एक ही हाथ से बड़ा गिरिराज सात दिन धारण किया । जिससे वर्षा, वायु और पत्थरों से गोकुल की रक्षा की और उपधर्म से भी बचा लिया ॥२७॥

सुबोधिनी:—एकहस्तेनाद्रिप्रवरो गोवर्धनः
कृत धारितः । अनायासार्थमेकहस्तेन कृत इत्यु-
क्तम् । सर्वत्राप्रयोजकव्यावृत्त्यर्थमुक्तिविशेषः ।
यथा कालियः सर्प इति, सर्पः हि दमने दुःसाध्य
इति । अमुना भगवतेति बालकत्वं प्रदर्शितवन्तः ।

किं धारणेन कृतमित्याशङ्क्यामाह वर्षवाता-
शनिभ्यश्चेति । अशनिप्रायाः पाषाणाः । यदि
वा क्षणं तिष्ठेयुः, तदाशनयोऽपि पतयुरिति
निर्धारितत्वादुक्तं अशनिभ्यश्चेति । चकारात्
इन्द्रयागादपि उपधर्मात् परिपालिता इति ॥२७॥

व्याख्यार्थः—एक हाथ से गोवर्धन धारण किया । जिसके धारण करने से इनको किसी प्रकार का भी परिश्रम न हुआ । जिससे कहा है कि सात दिन एक हाथ पर धारण कर रहे थे । एक हाथ से धारण की विशेष उक्ति का आशय यह है कि आपको सर्वत्र दूसरे की सहायता की आवश्यकता नहीं है ।

जैसे सूर्य का दमन दुःसाध्य है, तो कालिय का दमन करना अतिदुःसाध्य था उसमें संशय ही नहीं है । श्लोक में 'अमुना' पदका भावार्थ बताते हैं कि यह इस लीला करने के समय बालक ही थे । धारण कर कौनसा कार्य सिद्ध किया ? इसके उत्तर में कहा है कि वर्षा, वायु और पत्थरों से गोकुल की रक्षा की । श्लोक में आए हुए 'च' अक्षर का भावार्थ है कि गोकुल को न केवल इनसे बचाया किन्तु गोकुलवासी जो 'उपधर्म' गौणधर्म परदेवाश्रय कर रहे थे, जिससे भी उनको बचा लिया ॥२७॥



आभास—आध्यात्मिकपीडापरिहारमाह गोप्य इति ।

अभासार्थ —आध्यात्मिक पीडा के परिहार का वर्णन 'गोप्यो' श्लोक में करते हैं ।

श्लोकः—गोप्योऽस्य नित्यमुदित हसितप्रेक्षितं मुखम् ।

पश्यन्त्यो विविधास्तापांस्तरन्ति स्माश्रमं मुदा ॥२८॥

श्लोकार्थः—गोपीजन इनके नित्य आनन्दमय हर्षयुक्त मुखारविन्द को देखती हुई बिनाश्रम तथा आनन्द से अनेक प्रकार के तापों को पार कर गईं ॥२८॥

सुबोधिनीः—गोप्यो हि अस्य मुखं पश्यन्त्य विविधास्तापान् जहुः । नित्यमुदितं च तत् हर्ष-पूर्वकं प्रेक्षितं यत्र तादृशं च । नित्यमुदितत्वेन तत्र न किञ्चित्कर्तव्यम् । दृष्टिश्च स्वतः प्रवृत्ता भवति । विवेकेन ये क्लेशाः, ये वा अज्ञानेन, ते उभये हसितप्रेक्षिताभ्यां निराकृताः । मुखं हि

परमानन्दरूपम् । विविधास्तापाः कामादयः (अज्ञानादयः) विध्याद्यनुरोधादयश्च । तरणे प्रसिद्धिरेव प्रमाणम् । अश्रममिति । कर्मज्ञान-भक्तिमार्गेषु श्रमोऽप्यस्त्यन्ततः । अत्र तु श्रमा-भावः । किञ्च । नौकया नद्यादितरणे श्रमाभा-वोऽस्ति । अत्र तु मुदेत्यधिकम् ॥२८॥

व्याख्यानार्थः—गोपीजन इनके मुख को देखती हुई विविध तापों को पार कर गईं । अर्थात् ताप त्याग दिए । भगवान् के मुख का वर्णन करते हैं कि नित्य आनन्दमय तथा हर्ष पूर्वक जिसका देखना है, वैसे मुख कमल का गोपियों ने दर्शन किया । जिससे उनके ताप नष्ट हो गए । मुख नित्य आनन्दमय है ही, अतः आनन्द उत्पन्न करने के लिए कुछ भी कर्त्तव्य करना नहीं पड़ा । आनन्द युक्त मुख दर्शन के लिए दृष्टि स्वतः प्रवृत्त होती है । विवेक करने से अथवा अज्ञान से जो क्लेश होते हैं, उन दोनों क्लेशों का नित्य आनन्द रूप और हर्ष वाले ईक्षण से निराकरण कर दिया । मुख परमानन्दरूप है । जिससे ही काम आदि अज्ञान कार्य और शास्त्र विधि पूर्वक कर्म करने से रुकावटें नष्ट हो गईं । इसमें इसकी प्रसिद्धि ही प्रमाण है । कर्म, ज्ञान और भक्ति मार्ग में अन्त में श्रम भी है, किन्तु ये तो बिनाश्रम 'क्लेशों' को पारकर आनन्दस्वरूप को पा गईं हैं ।

हालाँकि नौका में बैठ कर समुद्र पार करते हैं, उसमें श्रम का अभाव है, किन्तु वहाँ प्रसन्नता नहीं, कुछ भय रहता है । यहाँ तो बिना श्रम तथा अधिक हर्ष से पार पहुँच गईं । इसलिए 'श्लोक' में 'अश्रम' और 'मुदा' दो पद दिए हैं ॥२८॥

आभास—एवं दुःखाभावमुक्त्वा सत्सु सर्वसुखप्रदानं भविष्यमाह वदन्त्यनेन वंशोऽयमिति ।

अभासार्थः—इस प्रकार दुःखका अभाव कहकर सत्पुरुषों को सर्व सुख का दान होगा, जिसका वर्णन 'वद' श्लोक से करते हैं ।

श्लोकः—वदन्त्यनेन वंशोऽयं यदोः सुबहुविश्रुतः ।

श्रियं यशो महत्त्वं च लप्स्यते परिरक्षितः ॥२९॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥

श्लोकार्थः—इस भगवान् के कारण से यह यदु का वंश अच्छी प्रकार से बहुत विशेष प्रसिद्ध होगा, इसकी रक्षा करने से 'श्री', व 'यश' और बड़ाई को प्राप्त करेगा ॥२६॥

सुबोधिनीः—अनेन भगवता कृत्वा यदोर्वशः विगीतोऽपि सुबहुविश्रुतो भविष्यति । दुष्टो हि न श्रूयते । दोषनिराकरणे तु श्रूयते । ततोऽपि गुणाधने विथुतं भवति । अलौकिके तु गुणे बहु-विश्रुतं भवति । मोक्षदानार्थं भगवति समानते सुबहुविश्रुतं भवति । किञ्च श्रियं च लप्स्यते पूर्वस्मादधिकाम् । यशश्च, श्रियो हि सांसिद्धिको

दोषो लोभ इति तन्निवृत्त्यर्थं यशसो निरूपणम् । बहिः शोभैषा । अन्तःशोभार्थमाह महत्त्वं चेति । महत्त्वेन सत्यादयः सर्वे गुणा उक्ताः । चकारा-न्मोक्षं च प्राप्स्यति । अनेनैव परिरक्षितश्च भविष्यतीति । न तु सन्निपातेन त्रियमाणः यथा गङ्गाया मुक्तः क्रियते । तथा सति न सर्वोत्कर्षो भगवति समायाति ॥२६॥

व्याख्यानार्थः—इस भगवान् के कारण से निन्दित भी यदु का वंश अच्छी प्रकार से बहुत विशेष प्रसिद्ध होगा, जो दुष्ट निन्दित है उसको कोई सुनना भी नहीं चाहता है । जब उसके दोष मिट जाते हैं, तब सुना जाता है । यदि उसमें गुण प्रकट होवे तो विशेष सुना जाता है । जो वे गुण अलौकिक होवे तो उसको बहुत सुनना चाहते हैं । यदि उस वंश में मोक्ष दान करने के लिए भगवान् पधारे हों तो उसको अच्छे प्रकार (बहुत विशेष तरीके) से सब सज्जन सुनना चाहते हैं । न केवल इतना ही, किन्तु पहले से अधिक 'श्री' को प्राप्त करता है । 'श्री' होने से लोभ रूप दोष की सिद्धि होती है । जिसको मिटाने के लिए यश का निरूपण किया है । यह वर्णन बाहर की शोभा का है । अब भीतर की शोभा का वर्णन करते हुए कहते हैं कि उसमें महत्ता भी आ जाती है । जिससे उसमें सत्य आदि सर्वगुण भी प्रकट हो जाते हैं । श्लोक में 'च' का भावार्थ बताते हैं कि इस 'च' कहने से यह प्रकट किया है कि इस वंश को मोक्ष भी प्राप्त होगा । इसे कर के ही यह वंश पूर्ण रीति से रक्षित होगा । न कि जैसे सन्निपात से भरे हुए की गङ्गा मुक्ति नहीं करती है, वैसे ही इसके निन्दित होने से भगवान् मुक्ति नहीं करेंगे । यों नहीं है, यों होवे तो भगवान् की सबसे उत्कृष्टता चली जाए । अतः वंश मनुष्य का कैसा भी हो, तो भी भगवान् उसको मुक्त कर सकते हैं ॥२६॥

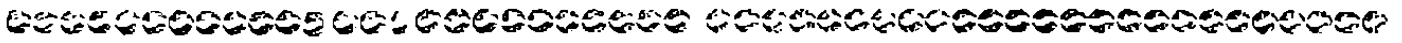
आभास—एवं भगवच्चरित्रमुक्त्वा प्रमाणबलमिव निरूपयन् बलभद्रचरित्रमाह अयं चेति ।

आभासार्थः—इस प्रकार भगवान् का चरित्र कहकर प्रमाण बल की भाँति बलभद्र के चरित्र 'अयं' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोकः—अयं चास्याग्रजः श्रीमान् रामः कमललोचनः ।

प्रलम्बो निहतो येन वत्सको धेनुकादयः ॥३०॥

श्लोकार्थः—ये श्रीमान्, कमल के समान नेत्रवाले राम, इनके बड़े भाई हैं, जिनने प्रलम्ब, वत्सासुर और धेनुक आदि दैत्य मारे हैं ॥३०॥



सुबोधिनी:—यथा भगवान् पङ्गुणैश्वर्य-
संपन्नः, एवमयमपीति चकारादितिदिश्यते । अनेन
तुल्यत्वनिरूपणेष्वपि उपदेशातिदेशकृतं विलक्षण्य-
मुक्तं भवति । अस्य भगवतः अग्रजो ज्येष्ठ-
भ्राता । तस्य ज्येष्ठत्वे च हेतुमाह श्रीमानिति ।
शोभातिशयवान् अधिकश्च दृश्यते । राम इति
प्रसिद्धः अनेन साधनरूपता तस्योक्ता कमललोचन
इति । दृष्ट्यैव सर्वतापनाशक इति । अस्य
पौरुषं तथा न प्रसिद्धमिति रूपमेव बहुवर्णित

पौरुषमप्याहुः प्रलम्बो निहतोज्जेनेति वत्सकः
लोके । बलमद्रेण हत इति प्रसिद्धत्वात् गणितः ।
धेनुकादय इति । तत्संबन्धिनः तालाश्च परि-
गणिताः भगवतापि धेनुको हत इति प्रसिद्धिः ।
अतः पूर्वमुक्तम् । ये बकादय इति वा पाठः ।
अप्रसिद्धत्वात् ददुरादयः आदिशब्देन ग्राह्याः ।
एवं सर्वे भगवद्गुणतत्पराः कायवाङ्मनोभिर्भग-
वत्प्रपन्ना जाताः ॥३०॥

व्याख्यानार्थः—श्लोक में 'च' अक्षर का भावार्थ बताते हैं कि जैसे भगवान् ऐश्वर्य आदि छः
गुणों से युक्त है वैसे ये भी हैं । इससे बरावरी के ऐसा निरूपण करते हुए भी भगवान् में उपदेश
के अति देश से जो विलक्षणता है, उसको निरूपण करते हैं । इनके बड़े भाई है, ये बड़े हैं और
इनमें भगवत्त्व भी है, जिसको प्रसिद्ध करने के लिए 'हेतु' देते हैं, कि ये 'श्रीमान्' है । अर्थात् सबसे
अधिक शोभा वाले हैं । ये 'राम' नाम से प्रसिद्ध हैं । यों कहने से उनका साधारण रूप बनाया ।
विशेषता बताते हुए कहते हैं कि ये कमल लोचन होने से दृष्टि से ही सबके ताप नाश करते हैं ।
अथवा सर्व प्रकार के तापों को मिटाते हैं । इतना वर्णन करने से इनका विक्रम प्रकट न हुआ, अतः
शौर्य का वर्णन करते हैं । इन्होंने प्रलम्ब को मारा । लोक में वत्सक को मारा, यह प्रसिद्ध है, तथा
धेनुक आदि भी मारे । उनके सम्बन्धी तालों को भी गिना, यह भी लोक में प्रसिद्ध है कि भगवान् ने
धेनुक को मारा । अतः पहले कहा है, अथवा ये 'बकादय' यों पाठ है । प्रसिद्ध न होने से आदि शब्द
से ददुर आदि असुर भी मारे, यह समझ लेना चाहिए । इस प्रकार सब भगवान् के गुण वर्णन में
तत्पर हो गए, जिससे काया, वाणी और मन से भगवान् के शरण हुए ॥३०॥

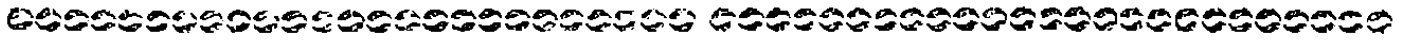
आभास—ततो गुणश्रवणे मल्लानामपि रस आविर्भूत इत्याह जनेष्विति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवद्गुणानुवाद श्रवण के अनन्तर मल्लों में भी रस का आविर्भाव
हुआ; जिसका वर्णन 'जनेष्वेवं' श्लोक में श्रीशुकदेवजी करते हैं ।

श्लोकः—श्रीशुक उवाच—जनेष्वेवं ब्रूवाणेषु तूर्येषु निनदत्सु च ।

कृष्णरामौ समाभाष्य चाणूरो वाक्यमब्रवीत् ॥३१॥

श्लोकार्थः—श्री शुकदेवजी कहने लगे—मनुष्य इस प्रकार गुणानुवाद कर ही रहे
थे कि तुरहैया बजने लगीं । वे बज ही रहीं थीं और चाणूर ने आकर राम कृष्ण से
कुशल प्रश्न किए । जिससे उनको प्रसन्न समझा । फिर चाणूर निम्न वाक्य कहने
लगा ।



सुबोधिनीः—अन्यथा भयात् रौद्ररस उत्प-
न्नोऽपि प्रतबिद्धः स्थितः । भीता एव रौद्ररसेन
जाताः । गुणश्रवणे तु रौद्रता गतेति इदानीं
संभाषणार्थं प्रवृत्ताः । एवं सर्वेष्वेव जनेषु प्रकर्षेण
गुणत्सु सत्सु तूष्णीं च निरन्तरं वाद्यमानानि
जातानि । चकारात् मल्लविस्फोटनानि । एवं

मङ्गलैः संपन्ने स्वस्य जयमाशङ्क्य कृष्णरामौ
समाभाष्य सम्यगाभाषणं कृत्वा कुशलप्रश्नादिकं
विधाय ततः प्रसन्नौ ज्ञात्वा चाणूरो वाक्यम-
ब्रवीत् । मुख्यत्वात्, पदार्थास्तदीया वाधितार्थाः
युद्धं कर्तव्यमिति वाक्यार्थः परमवाधितः । अतो
वाक्यमित्युक्तम् ॥३१॥

व्याख्यार्थः—मल्लों की प्रवृत्ति में रुद्र रस रहता है । प्रतियोगी को देखकर उनमें रौद्र रस
उत्पन्न होता है । यहां उत्पन्न हुआ भी, रौद्ररस भगवान् के गुणों के श्रवण से रुक गया । जिससे
सम्भाषण करने के लिए प्रवृत्त हुए । इस प्रकार जब सर्व मनुष्य जोर से भगवद्गुणगान कर रहे थे,
तब तुरही बाजे निरन्तर बजने लगे । 'च' कहकर यह बताया कि मल्लों का भी शोर होने लगा ।
इस प्रकार प्रारम्भिक मङ्गल पूर्ण होने पर, हमारी जीत होगी । इसमें शक समझ कर मल्लों में
मुख्य चाणूर भगवान् राम कृष्ण से कुशल प्रश्न कहने लगा । अर्थात् उनका वाणी से स्वागत किया ।
जिससे उनकी प्रसन्नता जानकर निम्न वाक्य कहने लगा ।

यह मल्लों में मुख्य होने से जो कुछ कहने लगा, उसके पदों का अर्थ तो बाधित है, किन्तु
समग्र वाक्य का भावार्थ युद्ध करना चाहिए यह निकलता है । अतः 'वचन' न कहकर मूल श्लोक में
'वाक्य' कहा है ॥३१॥

आभास—स हि चतुरः गोप्यं गोप्येनैव निरूपयन्नाह हे नन्दसूनो इति ।

आभासार्थ—निश्चय से वह चतुर है । अतः जो गुप्त कहने योग्य है, उसका गुप्त रीति से
निरूपण करता हुआ 'हे नन्दसूनो!' यह श्लोक कहता है, जिसमें गोप्य का संकेत कर देता है ।

श्लोकः—चाणूर उवाच—हे नन्दसूनो हे राम भवन्तौ वीरसंमतौ ।

नियुद्धकुशलौ श्रुत्वा राजाहूतौ दिदक्षुणा ॥३२॥

श्लोकार्थ—चाणूर कहने लगा कि हे नन्द पुत्र! हे राम! तुम दोनों की शूरवीरता
वीर पुरुष बखानते हैं । आप मल्ल युद्ध कर सकते हैं और उसमें दोनों कुशल हैं ।
यह सुनकर ही आपको चतुराई देखने की इच्छावाले राजा ने आपको बुलाया है ॥३२॥

सुबोधिनीः—वस्तुतो जानात्येव नायं नन्द-
सूनुरिति । तथा सति भ्रातरमिव भागिनेयमपि
युद्धेन युञ्ज्यात् कंसः । रामेति वचनं नाममा-
त्रेण संतोषार्थम् । उत्कर्षवाचकत्वात् बलभद्रेति
नोक्तम् । संकर्षणत्वं च गोप्यमेव । नामग्रहणा-
नन्तरं तत्स्तुतिमाह भवन्तौ वीर्यसम्पत्ताविति ।

पराक्रमे विषये सर्वेः स्तुतौ, न कोऽपि युवयोः
पराक्रमे विप्रतिपद्यत इति । अतः राजा आहूतौ ।
किञ्च । नियुद्धो कुशलौ मल्लानामिव बाहुयुद्धे
समर्थौ । राजा श्रुतं प्रामाणिकमेव भवति । अतो
दिदक्षुण अर्थात् बाहुयुद्धं राजा आहूतौ ॥३२॥



व्याख्यार्थः—यह नन्द का पुत्र नहीं है; यह अच्छी तरह से कंस जानता ही है, तो भी, भ्राता की तरह भानजे को भी युद्ध में लगाता है। 'राम' यों कहना तो नाम मात्र संतोष के लिए है। यदि 'बलभद्र' कहे तो उसकी बड़ाई देखने में आवे। राम मे जो सङ्कर्षणत्व है, वह गुप्त रखने योग्य ही है। इस प्रकार नाम लेने के अनन्तर उनकी स्तुति करता है कि आप वीरों में माननीय हैं। अतः आपके पराक्रम की सब वखान करते हैं। कोई ऐसा नहीं है कि जो कहे कि ये वीर युद्ध में कुशल नहीं हैं। अतः राजा ने आपको बुलाया है और विशेष आप कुशल लड़ाकू है। मल्लों के समान बाहु के युद्ध में भी शक्तिमान हैं। यह बात जो राजा ने सुनी है, वह प्रमाणित ही है। सुनने से राजा को आपकी कुशलता देखने की इच्छा हुई, इसलिए आपको बाहुयुद्ध करने के लिए बुलाया है ॥३२॥

आभास—ननु राज्ञो दर्शने सुखं भवति, अस्माकं कः पुरुषार्थ इति चेत्तत्राह प्रियं राज्ञ इति ।

आभासार्थ—राजा को तो देखने से आनन्द होगा, हमारा कौन सा प्रयोजन सिद्ध होगा ? यदि राम कृष्ण यों कह दें तो उसके उत्तर में चाणूर प्रियं राज्ञः' श्लोक कहता है ।

श्लोकः—प्रियं राज्ञः प्रकुर्वत्यः श्रेयो विन्दन्ति वै प्रजाः ।

मनसा कर्मणा वाचा विपरीतमतोऽन्यथा ॥३३॥

श्लोकार्थः—जो प्रजा मन, वाणी तथा कर्म से राजा का प्रिय करती है, वह सुखी रहती है और जो प्रिय नहीं करती है; वह दुःखी होती है ॥३३॥

सुबोधिनीः—राज्ञः प्रियं प्रकर्षेण कुर्वन्त्यः तदधीनाः प्रजा श्रेयः उत्तमफलं धनादिकं विन्दन्ति । परं कापथ्ये फलं न भवतीत्यभि- प्रायेणाह मनसा कर्मणा वाचेति । ये हि काय- वाङ्मनोभिः प्रियं कुर्वन्ति, ते श्रेयो वै निश्चयेन	विन्दन्ति । न केवलं प्रिये कृते श्रेयः प्राप्यते अन्यथा नेत्येतावदेव किन्तु विपरीतम् । यः प्रियं न करोति कायवाङ्मनोभिः सः अतः अस्मा- द्भेतोः अन्यथा अश्रेयो मारणादिकं च प्राप्नोति यतः प्रजानां अयं स्वधर्म इति ॥३३॥
--	---

व्याख्यार्थः—राजा का अच्छी तरह से जो प्रिय करती है, उसके अधीन वह प्रजा धन आदि उत्तम फल पाती है। वह प्रिय भी कपट से न करे। अर्थात्, शुद्ध मन, कर्म तथा वाणी से करेगी तो निश्चय से फल पाएगी। प्रिय करने से तो उत्तम फल प्राप्त करती है, किन्तु जो मन कर्म और वाणी से भी प्रिय नहीं करती है वह विपरीत फल; अर्थात् सर्व प्रकार की पीड़ा भोगती है। कारण कि प्रजा का धर्म है राजा का प्रिय करना ॥३३॥

आभास—नन्वस्माभिर्बलैर्वनस्थैः क्व मल्लयुद्धं शिक्षितमिति चेत्तत्राह नित्यं प्रमुदिता इति ।

आभासार्थः—वन में रहनेवाले हम बालकों ने मत्स्ययुद्ध की शिक्षा कहा से प्राप्ति की होगी । यदि ये यों कहें तो उसके उत्तर में 'नित्य प्रमुदिता' श्लोक कहता है ।

श्लोकः—नित्यं प्रमुदिता गोपा वत्सपाला यथा स्फुटम् ।

वनेषु मलययुद्धेन कीडन्तश्चारयन्ति गाः ॥३४॥

श्लोकार्थः—सदा ही आनन्द में रहने वाले ग्वाले वचपन में ही बछड़ों को चराने के लिए जब वन में जाते हैं, तब वहां वनों में मल्लयुद्ध की क्रीड़ा करते हुए गौवों को चराते हैं, यह सर्वत्र प्रसिद्ध है ॥३४॥

सुबोधिनीः—एके हि जीविकार्थं शिक्षन्ति, अन्ये तु बलार्थं (शिक्षन्ति) पुष्टाः सन्तः, शिक्षकाः परम्परया प्राप्ताः, परं ते लौकिका भवन्ति, अतः शास्त्रीयेभ्यः फलतो हीना अपि स्वरूपतः पुष्टा भवन्ति । तदाह नित्यमेव प्रसूदिता गोपाः

वात्येऽपि वत्सपालाः स्फुटमेव वनेषु मल्लयुद्धेन
क्रीडन्तः गाश्चारयन्ति । गोचारणो हि श्रमे
दुग्धपान स्वतः सिद्धम्, वृषभाणां निग्रहश्च
बलिष्ठैरेव भवति । अतः सर्वथा श्रुत सत्यम् । ३४।

व्याख्यानार्थः—मल्लयुद्ध सीखने के दो हेतु हैं । एक जीविका के लिए सीखना, दूसरे शरीर को पुष्ट बनाने के लिए सीखना । आपके सिखाने वाले वे हैं, जो परम्परा से सीखते व करते आए हैं, वे लौकिक कहे जाते हैं । अतः जो युद्ध शास्त्र की विधि के जानने वाले शिक्षको से सीखे हैं, उनसे वे फल से हीन हैं, तो भी स्वरूप से पुष्ट होते हैं । वह (चाणूर) कहता है गोप हमेशा प्रसन्न चित्त वाले होते हैं । वचन से ही बल्लुओं को चराने जाते हैं । वे वनों में मल्लयुद्ध की क्रीड़ा करते हुए उनको चराते हैं । गौओं को चराने में श्रम होने पर पीने के लिए दूध तो बिना बिलम्ब तैयार है । बैलों को पकड़ना बलिष्ठों का काम है । अतः ग्वाने मल्लयुद्ध की क्रीड़ा करते हुए दूध पीकर पुष्ट होते हैं । अतः जो राजा ने सुना है, वह सर्वथा सत्य है ॥३४॥

आभास—तस्माद्वाज्ञः प्रियं वर्तन्वमित्याह तस्मादिति ।

आभासार्थः—इसलिए हमको राजा का प्रिय करना चाहिए । जिसका वर्णन 'तस्माद्राजः श्लोक में करता है—

श्लोकः—तस्माद्वाज्ञः प्रियं यूयं वयं च करवामहे :

भूतानि नः प्रसीदन्ति सर्वभूतमयो नृपः ॥३५॥

श्लोकार्थः—इसी कारण से तुमको और हमको राजा का प्रिय करना चाहिए, क्योंकि राजा सर्व भूतों का रूप है, जिससे अपने ऊपर भूत प्रसन्न होते हैं ॥३५॥

सुबोधिनीः—राजा हि सर्वाराध्यः, अतो
पूयं लौकिका वयं च शास्त्रीयाः चकारात् एव-

मन्ये विद्यावन्तोऽपि प्रियं करवामहे । सवनीको-
कृत्य वदति, एकमार्गप्रवृत्तानां हि मुख्यानुसरणं



युक्तमिति, अस्माभिश्चेत्कर्तव्यं भवद्भिरपि कर्तव्यमेवेति । ततः किमत आह भूतानि नः प्रसीदन्ति इति । सर्वभूतमयः प्राणी, अतस्तेषां हितं कर्तव्यम्, अन्यथात्वे शापप्रसादे कृतघ्नता

भवेत् । फलदानार्थं यतः सर्वभूतमयो नृपः, भूतान्यत्र देवतारूपाणि तस्य विवक्षितानि । वस्तुतस्तु पाञ्चभैतिक एव ॥३५॥

व्याख्यार्थः—सबको राजा की सेवा करनी चाहिए । अतः तुम जो लौकिक हो और हम जो शास्त्रीय है और 'च' कहने से यह बताया है कि अन्य भी जो इस विद्या को जानने वाले है, वे सब मिल कर राजा का प्रिय कार्य करे । एक ही मार्ग पर चलने वालों को मुख्य का अनुसरण करना चाहिए । हम करते हैं तो आपको भी करना चाहिए । इस प्रकार करने से क्या होगा ? भूत हम पर प्रसन्न होंगे, प्राणी सर्वभूतों के रूप हैं । अतः उनका हित करना चाहिए । यदि हित नहीं किया तो शाप और प्रसाद में फलदान के लिए कृतघ्नता होगी, क्योंकि राजा सर्व भूतमय है । भूत राजा देवता रूप कहे हैं, वास्तविक तो वह भी भौतिक ही है ॥३५॥

आभास—ततो भगवान् युक्तियुक्तं ग्राह्यमिति, लौकिकमपि न बाधनीयमित्यक्लिष्टकर्मा उत्तरमाहेत्याह तन्निश्चयेति ।

आभासार्थः—पश्चात् अक्लिष्टकर्मा भगवान् कहने लगे कि जो युक्त से युक्त हो वह ग्रहण करना चाहिए और लौकिक का भी बाध न करना चाहिए । जिसका वर्णन 'तन्निश्चय' श्लोक में करते हैं—

श्लोकः—तन्निश्चयाब्रवीत्कृष्णो देशकालोचितं वचः ।

नियुद्धमात्मनोऽभीष्टं मन्यमानोऽभिनन्द्य च ॥३६॥

श्लोकार्थः—चाणूर के ये वचन सुनकर भगवान् कृष्ण उसके वचनों का अभिनन्दन कर अपने को भी युद्ध करना अभीष्ट है, यह मानते हुए देश और काल के अनुरूप योग्य वचन कहने लगे ॥३६॥

सुबोधिनीः—तद्युक्तियुक्तं वचः, कृष्णस्तदर्थमेवावतीर्णः समागतश्च, तथापि देशकालयोः यदुचितं तदाह । लौकिकत्वात् प्रश्नस्य, शस्त्रादियुद्धापेक्षया नियुद्ध मात्मनोऽभीष्टम् । क्षत्रियाणां

हि शस्त्रग्रहणं षोडशे वर्षे, उपनयनानन्तरं च शिक्षा, अत इदानीं बाहुयुद्धमेवाभीष्टं मन्यमानः देशकालावस्थानामनुगुणत्ववचनात् चाणूरमभिनन्द्य चकारात् राजानं च उवाच ॥३६॥

व्याख्यार्थः—युक्ति से युक्त जो वचन हैं, उनको कहने के लिए ही कृष्ण ने अवतार लिया है और यहां आए हैं, तो भी देश तथा काल के योग्य जो वचन हैं, वे कहने लगे । कारण कि यहां प्रश्न लौकिक का है । शस्त्र आदि से युद्ध करने की अपेक्षा मल्लयुद्ध ही अपने को अभीष्ट है । क्षत्रिय १६ वर्ष के जब होते हैं तब शस्त्र ग्रहण करते हैं । उपनयन के अनन्तर ही शिक्षा ली जाती है । अतः बाहुयुद्ध ही अभीष्ट मानते हुए देश काल के योग्य वचन कहने के कारण उस चाणूर का अभिनन्दन कर राजा को कहने लगे ॥३६॥



आभास—द्वयमत्र वक्तव्यम्, राज्ञः प्रियं कर्तव्यमेव, परं त्वया सह नियुद्धं न कर्तव्यम्, अतुल्यबलत्वादिति, तदाह द्वयेन प्रजा इति ।

आभासार्थः—यहां दो बात कहनी हैं । एक राजा का प्रिय कर्तव्य करना और दूसरी तेरे साथ लड़ाई नहीं करनी । कारण कि दोनों का बल समान नहीं है । जिसका वर्णन दो श्लोकों से करते हैं । जिनमें प्रथम 'प्रजा' इस श्लोक से कहते हैं—

श्लोकः—प्रजा भोजपतेरस्य वयं चापि वनेचराः ।

करवाम प्रियं नित्यं तन्नः परमनुग्रहः ॥३७॥

श्लोकार्थः—इस भोज पति कंस को हम और तुम प्रजा हैं । हम तो वनवासी हैं, तो भी इनका प्रिय करते हैं । वह आपका बड़ा अनुग्रह है ॥३७॥

सुबोधिनीः—अस्य भोजपतेः कंसस्य, प्रदर्शनेन तिरस्कृत इव, वयमिति प्रदर्शनेन कथं वा प्रजात्वमित्युपहसितः, वयं चकाराद्युं च, वस्तुतस्तु यूयमेव, चस्त्वर्थे, वयं तु वनेचरा इति, नास्माकं राज्ञा कृत्यम्, तथापि नित्यं करवाम,

फलं तु नापेक्ष्यत इत्याह तन्नः परमनुग्रह इति । मातुलो हि राजा, स चेद्भागिनेयगुणान् पश्येत्, तदा अनुगृहीयादेवेति युक्तत्वादभितुन्दनम् । एतावानर्थः साधारणः ॥३७॥

व्याख्यानार्थः—इस भोजपति कंस की हम वनवासी प्रजा हैं । यह उपहास की तरह कहा है, 'च' कहकर बताया है कि सचमुच तो तुम इसकी प्रजा हो । हम तो वन में रहने वाले हैं, अतः हमारा राजा से कोई काम नहीं है, तो भी उनका नित्य प्रिय करते हैं । हम फल की इच्छा नहीं रखते हैं, इसलिए कहते हैं कि इस प्रकार हमको मल्लयुद्ध करने का अवसर आपने दिया है । यह परम अनुग्रह है । राजा मेरा मामा है, वह यदि भानेजों के गुणों को देखे तो अनुग्रह करेगा ही, यह योग्य होने से हर्ष की बात है । इस प्रकार जो कहा है, वह साधारण है ॥३७॥

आभास—विशेषमाह बाला वयमिति ।

आभासार्थ—साधारण कह कर अब 'बालावयं' श्लोक में विशेष कहते हैं ।

श्लोकः—बाला वयं तुल्यबलैः क्रोडिष्यामो यथोचितम् ।

भवेन्नियुद्धं माऽधर्मः स्पृशेन्मल्लसभासदः ॥३८॥

श्लोकार्थः—हम बालक हैं, अतः समान बलवालों से योग्यता के अनुमार खेलेंगे । कुश्ती भले ही हो, पर इसी प्रकार हो कि जैसे मल्ल और सभासदों को अधर्म स्पर्श न करे ॥३८॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १० ॥

सुबोधिनोः—प्रदर्शनमेव ह्यत्र प्रयोजनम्, नत्वन्यत् चेत्, तदा बाहुयुद्धं शास्त्रानुसारेण कर्तव्यमिति तथैव करिष्याम इत्याह बाला वयमिति । नियुद्धशास्त्रे हि समानवयस्कैरेव समानबलदेहैः युद्धं कर्तव्यमिति हि स्थितिः अतः बालैः समानवयस्कैस्तुल्यबलैरेतैर्गोपैः सह क्रीडिष्यामः, तथासत्युचितं भवति, तदाह यथोचितमिति । नन्वाज्ञा प्रमाणम्, का औचित्येत्याशङ्क्याह भवेन्नियुद्धमिति । असमानैः क्रियमाणमेतद्यु-

द्धमधर्मो मा भवेत्, ततो द्रष्टृणांमल्ल सभासदां दोषोपि न भवेदित्याह मल्लसभासदः मा स्पृशेदिति । चाणूरुक्तो हि लौकिको धर्मः, तद्विरुद्धोऽयं शास्त्रीयो धर्म इति युक्तमुक्तं भगवतापि । चाणूरादयो दंत्या इति छलेनैवोक्तवान् । बलसंबन्धिनो वयं बालाः तुल्यबलाः प्रातोनिकाः सखित्वाद्गोपाः बलभद्रो वा, भवांस्तु न तुल्यबलः, किन्तु हीनबल इति अभिप्रायेण प्रत्युक्तम् ॥३८॥

व्याख्यार्थः—इस सभा में अपनी पहलवानी दिखाना ही प्रयोजन है, न कि दूमरा कोई मतलब है ? यदि यों है तो मल्लयुद्ध शास्त्रानुसार करना ही चाहिए । इसलिए हम वंसा ही करेंगे । जिसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि हम बालक हैं, युद्ध के प्रारम्भ में कहा है कि समान आयुवाले तथा समान देह और बलवालों में कुश्ती करनी चाहिए, यह मर्यादा है । इसलिए कहते हैं कि जैसे योग्य हो वंसा करना चाहिए । यदि कहो कि राजा की आज्ञा ही प्रमाण है, योग्यता क्या है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि कुश्ती भले हो, किन्तु असमानों में कुश्ती करने से यह हस्तयुद्ध अधर्म होगा, अतः वह नहीं होना चाहिए, जिससे मल्लयुद्ध लड़नेवालों को तथा सभासदों को अधर्म न लगे । चाणूर ने कहा कि वह लौकिक धर्म है और यह युग शास्त्रीय धर्म है, उससे विरुद्ध नहीं है । चाणूर आदि देत्य हैं, इसलिए उन्होंने जो कहा है वह छल से हो कहा है । यहां भगवान् ने 'बाला' शब्द अपने लिए कहा है, जिसका गूढ़ आशय आचार्य श्री प्रकट करते हैं कि भगवान् के इस शब्द का भावार्थ है हम बालक, सम्बन्धी होने से 'बाल' हैं । अर्थात् आयु करके प्रतीति बाल की होती है, किन्तु हम बलवाले हैं, गोप आदि भी प्रतीति से ही सखा हैं, अथवा बलभद्र तुम तो हमारे समान बलशाली नहीं हो, किन्तु कम शक्ति वाले हो । इस अभिप्राय से 'बाला' शब्द दिया है ॥३८॥

आभास—चाणूरस्तु विपरीतं ज्ञात्वा अनिष्टफलार्थं विपरीतत्वं संपाद्य युद्धार्थं प्रवर्तयते न बाल इति द्वाभ्याम् । उपपत्त्या बलं साधयति । न वा त्वं बालः, स्थूलाभिप्रायेण सूक्ष्मत्वमाशङ्क्य इष्टसिद्धिं मत्वा अङ्गीकारे तत्परिहारार्थमाह 'न बालो न किशोर' इति ।

आभासार्थः—चाणूर तो भगवान् के वचनों को विपरीत समझ कर अनिष्ट फल के लिए विपरीतता सम्पादन कर युद्ध में प्रवृत्त कराने के लिए 'न बालो' आदि दो श्लोकों में कहता है, हेतु देकर सिद्ध करता है कि आप बलवान् हैं, आप बालक नहीं हैं—

चाणूर उवाच—न बालो न किशोरस्त्वं बलश्च बलिनां वरः ।

लीलयेभो हतो येन सहस्रद्विपसत्त्वभृत् ॥३९॥

तस्माद्भुवद्भ्यां बलिभिर्योद्धव्यं नाऽनयोऽत्र वै ।

मयि विक्रम वाष्ण्येय बलेन सह मुष्टिकः ॥४०॥



श्लोकार्थः—चाणूर कहने लगा, कि तू न बालक है और न किशोर है और बलराम बलवानों में श्रेष्ठ है। हजार हस्तियों के समान बलवाले कुवल्यापीड़ को जिसने क्रीडा से मार डाला, अतः आप दोनों को बलवानों से ही कुश्ती करनी चाहिए, इसमें किसी प्रकार का अन्याय नहीं है। हे वृष्णि कुल में उत्पन्न कृष्ण, तू मेरे साथ मत्स्ययुद्ध कर और बलराम मुष्टिक के साथ कुश्ती करे ॥४०॥

सुबोधिनीः—वयस्तव बलादिनियामकं न भवतीत्यभिप्रायः। वस्तुतोपि तथा। बलश्चेति चकारात् सोऽपि न बालो न किशोरः, किन्तु बलिनां वरः, सोऽपि भवांश्च, उभयोर्बलमपि प्रतिज्ञाय अन्यतरबलसाधनं दृष्टान्तेनेतरत् साधयितुम्, सहस्रद्विपानां सत्त्व बिभर्ति इति तादृशरूपः कुवल्यापीडः। द्विपस्य बलं शास्त्रसिद्धं पुरुषाच्छतगुणं बलमिति, भारं वहति पुरुषशतभारं वहति गज इति। तादृशोऽपि लीलयव हतः, न ह्यसाधनेन, ससाधन इभः पुरुषेण बालेन वा हन्तुं शक्यः, अतोतिपुरुषकारस्त्वयि वर्तत इति न भवान् पुरुषैस्तुल्यः। एवं बलभद्रोऽपि। ततः किमत आह तस्मादिति। भवद्भ्यां सह गजादपि बलिष्ठैर्योद्धव्यम्। एवं युद्धे नानयः। शत्रुभि-

र्योद्धव्यमेव, न्यायविरोधोपि नास्ति। वै निश्चयेन। तर्हि गोपालास्तथाविधाः सन्ति, तैः सह युद्धं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह मयिविक्रमेति। बाष्णेयेति संबोधनं छलं दूरीकरोति। कपटं परित्यज्य स्पष्टं मया सह युद्धं कुरु, त्वं कंसस्य भागिनेयः, अतः किमिति छलवादः क्रियते, छलं परित्यज्य मया सह द्वेषिणा स्पष्टं युद्धं कर्तव्यम्, तदाह विक्रमेति। पराक्रमं कुरु, बलेन सह मुष्टिकः पराक्रमं करोतु, अनेन मुष्टिको हीनः बलः प्रबलः अहं महाबलस्त्वत्तोपीति निरूपितवान्। अत एव भगवता च णूरो हतः, अन्यथा अक्लिष्टकर्मा न हन्यात्। हननस्याप्रतिज्ञातत्वात्। एव वाग्वन्धावाध सर्वेषां द्रष्टृणां भगवत्यासक्तिनिरूपिता ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धपूर्वार्धे चत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४०॥

व्याख्यानार्थः—मैं बालक हूँ यह जो तू कहता है, वह ठीक नहीं है; क्योंकि तुम्हारी आयु बल आदि को नियंत्रण में रखनेवाली नहीं है। इस अभिप्राय से कहता है कि 'न बालो न' तू न बालक है और न किशोर है, आचार्य श्री कहते हैं कि वास्तव में यह कहना सत्य है। 'च' का तात्पर्य है कि बलराम भी न बालक है और न किशोर है; बल्कि बलवानों में श्रेष्ठ है, वह और आप दोनों ही बलवान् हैं, इस प्रकार दोनों बलवान हो, यह प्रतिज्ञा कर उसको सिद्ध करने के लिए दृष्टान्त देता है। कुवल्यापीड़ हस्ती में हजार हाथियों का बल है, एक साधारण हस्ती में बलिष्ठ मनुष्यों के समान बल रहता है और सौ मनुष्यों के समान बोझ भी उठाता है, वैसे बलिष्ठ कुवल्यापीड़ को लीला से मार डाला, बिना किसी शस्त्र आदि साधन के कोई बालक या पुरुष साधन वाले हस्ती को नहीं मार सकता है, अतः तू बहुत वीर है। इससे तू मनुष्य जैसा नहीं है, इस प्रकार बलभद्र भी मनुष्य के समान नहीं है। यदि यों है, तो क्या? इसके उत्तर में कहते हैं कि इसी कारण से आपके साथ तो उन योद्धों को लड़ना चाहिए जो कुवल्यापीड़ से विशेष बलवान् हों। इस प्रकार इस युद्ध में अन्याय नहीं है, शत्रुओं से तो युद्ध करना ही चाहिए, जिसमें न्याय से भी विरोध नहीं है, यह निश्चय ही है।



यदि कहो कि गोप वैसे ही हैं, उनसे हम युद्ध करें। उसके उत्तर में चाणूर कहता है कि नहीं। हे वाष्णेय ! तू मुझसे कुश्ती कर, तू युद्ध कला में उत्पन्न हुआ है, अतः मैं गोप हूँ, यह छत्र छोड़कर खुली तरह से मुझसे लड़ाई कर। तू कंस के बहिन का पुत्र है, अतः छल से वाद क्यों कर रहा है ? छल छोड़कर मुझ शस्त्र से, स्पष्ट लड़ाई कर, इसलिए कहता है कि विक्रम से आज्ञा अर्थ में लोहा दिया है कि लड़ाई कर, पराक्रम दिखा। बलराम के साथ मुष्टिक पराक्रम दिखावे, यों कहने का चाणूर का तात्पर्य है कि मुष्टिक में थोड़ा बल है, मैं तुमसे भी विशेष बलवाला हूँ, इससे ही कहा गया है कि चाणूर को भगवान् ने मारा, यों नहीं कहते, अर्थात् अहंकार प्रकट न करता, तो अक्लिष्टकर्मा भगवान् उसको नहीं मारते; क्योंकि मारने की प्रतिज्ञा नहीं की थी। इस प्रकार वाणी के बन्धन तक सब देखने लों की भगवान् में आसक्ति का निरूपण किया ॥४०॥

श्री मद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध (पूर्वाध) ४३वें अध्याय की श्रीमद्वत्सभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय
अवान्तर प्रकरण प्रथम अध्याय हिन्दी अनुवाद
सहित सम्पूर्ण

राग टोडी

हँसत हँसत श्याम प्रबल कुवलय संधारचौ ॥
तुरत दंत लये उखारि कंधनि पर धारचौ ।
निरखति नर नारि मुदित चक्रित गज मारयौ ॥
आति हि कोमल अजान सुनत नृपति जिय में संकारचौ ।
तनु बिन ज्यों भये प्राण मल्लानि प्रेम आये ॥
देखत ही संकित गए कालनिरखि भाये ।
कंस आनि घेरि लियो दोउ मन मुसक्याये ॥
असुर बीर चहुँ पास जिनके मुख अकाश मल्ल करत घास नास ब्रह्म को बिचारै ।
सब कहत मिरहु श्याम सुनत रहत सदा नाम हार जोत घर ही में कौन काहि मारै ॥
हँसि बोले श्याम राम कहा सुनत रहे नाम खेलन को हमहि काम बालक संग डोले ।
सूर नन्द के कुमार यहै राजसो विचार कहा कहत बार बार प्रभु ऐसे बोले ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्यति चरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४३वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ४०वाँ अध्याय

राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

द्वितीय अध्याय

~~प्रथम अध्याय~~

~~कुवलयपीडका-उद्धार-कथं कंस-मरण-प्रेम-वैश~~
चारूर, मुष्टिक आदि पहलवानों का तथा कंस का उद्धार

कारिका—एकचत्वारिंशत्तमे वधः कंसस्य रूप्यते ।

तदीर्यः सह तस्माद्धि पित्रोरोधश्च दीनयोः ॥१॥

बलक्षयाय लीलापि वाक्यान्धासक्तिबोधने ।

मक्तार्थे मारणं चास्य कंसस्यापि तथैव च ॥२॥

प्रतिबन्धनिवृत्त्यर्थमितावद्भूगवत्कृतम् ।

निरुद्धास्तेपि मुक्ता हि पूर्वस्माच्च विशिष्टता ॥३॥

बोधिता ज्ञानकथनादासक्तिश्च स्थितैव हि ।

त्रिविधाः सर्व एवैते गुणातीतोपि सात्विकः ॥४॥

[illegible]

अथवा ते पुनर्वाच्यास्तत्रैके मोचिताः स्वतः ।

निरुद्धाः सफलाः प्रोक्ताः पितरौ पूर्वतोधिकौ ॥५॥

कारिकार्य—इस इकतालीसवें अध्याय में साथियों के साथ कंस के वध का निरूपण किया जाता है, जिससे माता पिता की आसक्ति भी कही गई है ।

उनकी आसक्ति को जगाने के लिए नगर की स्त्रियों के वाक्य माता पिता को कहे गए हैं। कंस तथा मल्ल आदि का वध भक्तों के लिए ही किया है। यह सब भगवान् ने निरोध में जो प्रतिबन्ध थे, उनको निवृत्ति के लिए किया है और जिससे इस अध्याय में शत्रुओं की भी मुक्ति हुई है। इस अध्याय में भगवत्त्व (भगवान् पने) के ज्ञान कहने से प्रथम कहे हुए निरोध से यहाँ विशेषता बताई है। आसक्ति भी स्थित है ही उसका यों निरूपण है और यहां कोई नवीन आसक्ति नहीं कराई जाती है, इस कारण से भी विशिष्टता है। तामस भाव के समय भगवान्पन से ज्ञान नहीं था। अब भगवत्त्व का ज्ञान हुआ है। अतः आसक्ति नूतन कही जाती है। ये सब तीन प्रकार के हैं। ये कौन ? मल्ल, स्त्रियां और माता पिता। ये तीन क्रम से तामस^१, राजस^२ और सात्विक^३ हैं, यद्यपि वसुदेवजी को अन्यत्र गुणातीन कहा गया है, किन्तु यहां सात्विक हैं। यहां वैकुण्ठ लोक का फल कहा है। वह लोक ज्ञानियों को प्राप्त होता है और वह ज्ञान सतोगुण के उदय होने से ही होता है, इस कारण से वसुदेवजी को यहां सात्विक कहा है।

अथवा ये तीन गुण इस अध्याय के अनन्तर के प्रसंग में इस प्रकार समझने चाहिए, वे प्रकार बताते हैं—

१—जो यादव बाहर दुःखी थे, उनको उस दुःख से स्वतः छुड़ाकर यहाँ बुला लिया, यह बुलाना माता पिता के लिए नहीं था और सांदिपिनी को भी बुलालिया थे सत्त्विक है। इनके कथाओं के अध्यायों में हेमि।।

२—जिनका पहले निरोध हुआ है, वे तामस ब्रजस्थ हैं, जिनका वर्णन दो अध्यायों में किया है ।



३—जिनको फल प्राप्त हुआ है वे कुब्जा, अक्रूर आदि राजस; जिनका कि वर्णन पीछे दो अध्यायों में हुआ है। इस अध्याय में पूर्व निरोध से भी अधिक गुणातीत माता पिता का वर्णन किया है। उनके छुड़ाने के लिए अन्धों का वर्णन है ॥५॥

आभास—पूर्वाध्याये युद्धार्थं चाणूराकारणमुक्तम्, 'आहूतो न निवर्तते' शास्त्रात् हीनबलेनापि युद्धार्थं प्रवृत्तावित्याह एवमिति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय में युद्ध के लिए चाणूर ने बुलाया है, शास्त्र की आज्ञा है कि यदि कोई लड़ाई करने के लिए बुलावे तो लड़ाई करनी ही चाहिए। वहां से हटना योग्य नहीं है, चाहे वह लड़ने वाला कम बलवाला हो। अतः युद्ध करने को प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन 'एवं चर्चित' श्लोक में श्री भुकदेवजी कहते हैं—

श्लोक—श्रीभुक उवाच—एवं चर्चितसंकल्पो भगवान्मधुसूदनः ।

आससादाथ चाणूरं मुष्टिक रोहिणीसुतः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्रीभुकदेवजी कहते हैं—इस प्रकार जो करना है, उसका विचार करके मधुसूदन भगवान् चाणूर के पास जाकर उससे भिड़े और रोहिणी के पुत्र मुष्टिक से भिड़े ॥१॥

सुबोधिनी—चर्चितो विचारितः संकल्पो येन, यस्य वा । चर्चा हि विचारात्मिका, अविचार्य चेत् दुर्बलेन सह (महान्) युद्धं कुर्यात्, तदा दोषो भवेत् । किञ्च । भगवान् तद्दयमपि जानाति, युद्धाभावे न निवर्तत इति, शङ्का तु नास्तीत्याह मधुसूदन इति । यो मधुमपि हन्ति, तत्रायं को वा वराक इति, अत एव आससाद निकटे संबद्धो जातः । अथेति । प्रथमं चाणूरस्य,

पश्चाच्चाणूरः सः स्वस्मिन् योजितः, भिन्नपक्षे मारितो दूरीकृतो वा, अथ तदनन्तरं चाणूरमाससाद, मुष्टिकं तु रोहिणीसुत इति, मुष्टिको ह्यप्रयोजकः, विभेति च स्वतः, स्वयं च नोक्तवान्, तथापि चाणूरे संलग्ने तद्वाक्यात् स्वयमपि संलग्नः । तदनुचितमिति रोहिणीसुत इत्युक्तम् । ॥१॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् ने प्रथम इस कुश्ती करने के विषय में चाणूर से विचार विमर्श किया, अनन्तर तब हुआ कि कुश्ती करनी चाहिए, यदि परामर्श करने के सिवाय दुर्बल के साथ हस्त युद्ध किया जावे तो दोष है। अब विचार पूर्वक यह कुश्ती लड़ी जाती है। अतः इसमें किसी प्रकार दोष नहीं है। विशेष में भगवान् चाणूर के हृदय की बात भी जानते हैं कि यह युद्ध के सिवाय शान्ति न करेगा। लड़ने में भगवान् को तो कुछ संशय वा डर नहीं है, क्योंकि भगवान् 'मधुसूदन' हैं अर्थात् मधु दैत्य को मारने वाले हैं। जहां मधु दैत्य जैसे प्रबल का कुछ बल नहीं चला, वहां यह वेचारा



क्या है ? अतः इसके निकट जाकर इससे भिड़े, पहले चाणूर के पास गए, अनन्तर उस चाणूर^१ को अपने से मिला लिया । अनन्तर दूसरे पक्ष^२ में उसको मारा व दूर फेंक दिया और मुष्टिक को रोहिणी पुत्र ने इस प्रकार नष्ट किया । मुष्टिक तो डरता था, इसलिए स्वयं ने कुछ नहीं कहा । इसलिए उसकी कुश्ती प्रयोजनवाली नहीं थी । मुष्टिक ने देखा चाणूर भगवान् से कुश्ती^३ लड़ रहा है तब आप भी लड़ने लगे; वह अनुचित है, इसलिए बलराम न कहकर 'रोहिणी सुत' कहा है ॥१॥

आभास—मल्लयुद्धप्रकारेण प्रवृत्ताविति तदाह चतुभिः ।

आभासार्थ—मल्ल शास्त्र में जिस प्रकार मल्ल से लड़ने के लिए कहा है, वैसे ही लड़ने में प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन ४ श्लोकों में करते हैं—

कारिका—बलं शिक्षा च माया च प्रसादश्च गुरोस्तथा ।

चत्वारोपि निराकार्यास्ततः श्लोकचतुष्टयम् ॥१॥

कारिकार्थ—४ श्लोक क्यों कहे हैं ? उसका कारण आचार्यश्री इस कारिका में प्रकट करते हैं । ४ श्लोकों में बल, शिक्षा, माया और गुरु की कृपा; इन चार बातों को बतानी है, अतः ४ श्लोक हैं ॥१॥

श्लोक—हस्ताभ्यां हस्तयोर्बद्ध्वा पद्भ्यामेव च पादयोः ।

विचकर्षतुरन्योन्यं प्रसह्य विजिगीषया ॥२॥

श्लोकार्थ—हाथों से हाथ मिला कर और पैरों से दोनों पैर जोड़ कर, जीतने की इच्छा से बलपूर्वक आपस में खींचने लगे ॥२॥

सुबोधिनी—हस्ताभ्यामिति । हस्ताग्रे हस्ताग्रं घृत्वा पादाग्रे च पादाग्रं विचकर्षतुः । प्रथमं सम-
त्वायाह अन्योन्यं प्रसह्य विजिगीषया आकर्षणं

कृतवन्तौ । येनैवाकृष्टो परः आकृष्टो भवति स पराजितो भवति इति, अङ्गुलीनां बन्धनं परस्परमुभयोः अत्रेव । जये महाबलत्वम् ॥२॥

व्याख्यानार्थ—हाथों के अग्रभाग को हाथों के अग्रभाग से मिलाकर इस प्रकार पैरों के अग्रभाग को पैरों के अग्रभाग से मिलाकर दोनों एक दूसरे को खींचने लगे । जीत लेने की इच्छा से जबर्दस्ती से खींचने की क्रिया करने लगे । जिसके खींचने से दूसरा घसीटा हुआ आ जाता है, वह पराजित^१

१- आधिदैविक, २- चाणूर आधिभौतिक रहा उस पक्ष में,

३- घुटने, सिर आदि मिलाकर सम्मुख हो के लड़ रहे हैं ।

गिना जाता है। इस युद्ध में ही दोनों की परस्पर अङ्गुलियों का बन्धन होता है। जीतने में विशेष बल चाहिए ॥२॥

आभास—ततः साक्षात्सर्वाङ्गेषु संयोगेन युद्धमाह अरत्नी द्वे इति ।

आभासार्थ—पश्चात् सर्व अङ्गों से सामने परस्पर मिलकर जो युद्ध किया है, उसका वर्णन 'अरत्नी द्वे' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—अरत्नी द्वे अरत्नीभ्यां जानुभ्यां चैव जानुनी ।

शिरः शोष्णोरसोरस्तावन्व्योन्मभिजघ्नतुः ॥३॥

श्लोकार्थ—दोनों ने अपने हाथ की अङ्गुलियों को खोल कर परस्पर हाथ मिलाए और इस प्रकार घुटनों को घुटनों से, मस्तक को मस्तक से, छाती को छाती से मिला कर लड़ने लगे ॥३॥

सुबोधिनी—हस्तमध्ये उभयत्रापि हस्तसबन्धः तुष्टयं बोद्धव्यम् । शिरः शोष्णा उरस्ता उरः । अरत्नीवाच्यो भवति तथा जानुद्वयमपि अधो- एवं तौ अन्योन्यमाभिमुख्येन जघ्नतुः । बलशिक्षे भागसहितजानुद्वयेन संवेष्टित भवति, क्रमेणैतच्च- निरूपिते ॥३॥

व्याख्यार्थ—दोनों तरफ के खुले हुए हाथों के मध्यभाग के सम्बन्ध को 'अरत्नी' कहते हैं। इसी प्रकार दोनों घुटने भी नीचे के भाग सहित मिलाए तथा मस्तक मस्तक से छाती छाती से मिलाकर परस्पर सामना करने लगे। इस प्रकार बल और शिक्षा का निरूपण किया ॥३॥

आभास—मायया शास्त्रीयप्रकारमाह परिभ्रामणेति ।

आभासार्थ—माया से शास्त्र की परिपाटी 'परिभ्रामण' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—परिभ्रामणविक्षेपपरिरम्भावपातनैः ।

उत्सर्पणापसर्पणैश्चान्योन्यं प्रत्यरुन्धताम् ॥४॥

श्लोकार्थ—चारों तरफ घुमाना, दूर फेंकना, जोर से आलिंगन, फिर पृथ्वी पर पटकना, आगे बढ़ना, पीछे हटना; इस प्रकार एक दूसरे के बल को रोकने लगे ॥४॥

सुबोधिनी—परितो भ्रामणमेकस्यैकेन, ततो दूरे विक्षेपः, ततः पुनरागतयोः परिरम्भः गाढालिङ्गनम्, ततो मिलितेनैव भूमाववपातनम्, एवं चत्वारः एकक्रमेण, ततो विश्लिष्टयोः उत्सर्पण-मूर्ध्वप्रक्षेपः, अपसर्पणं हत्वा पश्चात्सर्पणमधः सर्पणं वा । पतितो मल्लः ऊर्ध्वं सर्पणेनापि उपरितनं जयति । उपरितनो वा अधस्तनम् । अन्योन्यं प्रत्यरुन्धताम् । अन्योन्यस्य बलं यथा प्रतिरुद्धं भवति ॥४॥



व्याख्यार्थ—प्रथम दोनों परस्पर एक दूसरे को चारों तरफ घुमाते हुए दूर फेंक देते थे, फिर दोनों आकर गाढ आलिङ्गन करते थे । पश्चात् मिलते ही भूमि पर पटक देते थे । इस प्रकार चारों ही एक क्रम से करते थे । अनन्तर जब दोनों छुट्टे हो जाते थे तब आगे धकेलते, तो वे पीछे पास आ जाते, जो कोई गिरा देता तो वह सरकता हुआ ऊपर आ जाता है । जिससे उसकी जीत हो जाती है । अथवा ऊपर वाला नीचे हो जाय तो फिर वह जीत जाता है; इस प्रकार जैसे एक दूसरे का बल रूक जावे ऐसी क्रिया कर अपना बल दिखाने लगे ॥४॥

आभास—ततः प्रसादेनापि प्राप्तैः प्रकारैर्युद्धमाह उत्थापनैरिति ।

आभासार्थ—पश्चात् अर्थात् बल, शिक्षा और माया के प्रकार से युद्ध कर अब गुरु कृपा से जो युद्ध करने के तरीकों का ज्ञान हुआ है, उन तरीकों से युद्ध करते हैं, जिसका वर्णन 'उत्थापनै' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—उत्थापनैरुन्नयनैश्चालनैः स्थापनैरपि ।

परस्परं जिगीषन्तावुपचक्रतुरात्मनः ॥५॥

श्लोकार्थ—जो घुटने और पैरों को समेट कर स्थिर जैसा बैठ जाता है, उसको वहाँ से खड़ा कर देना और जो एक स्थान पर सिमिट कर खड़ा रह जाता है, उसको वहाँ से सरकाकर ले जाना, जो स्थिर है, उसको हिला देना, जो हिलता एवं फिर रहा है, उसको एक स्थान पर स्थिर कर देना; इन चार प्रकारों से वे मल्ल अपनी अपनी जीत होने के लिए अपनी देह को दुःख देने लगे ॥५॥

सुबोधिनी—उपविष्टं स्थिरं प्रतिज्ञाय उत्थापनं करोति स जयति । यस्तूर्ध्वं तिष्ठति तं य उन्नमयति सोऽपि जयति । तथा यः स्थिरो भवति तं च यश्चालयति प्रतिज्ञया सोऽपि तथा, यश्चलतीतस्ततः तं यः स्थिरीकरोति सोऽपि । एवमेते-

ऽति चत्वारः प्रकाराः, तैः जिगीषन्तौ मल्लौ आत्मनः अपक्रमतुः देहस्यापकारं कृतवन्तौ । अत्र संघातः प्रत्यक्षः स्थूलः कार्पास इव चाणूरादेः, सूक्ष्मोऽतिनिष्ठुरः वज्रस्येव भगवतः ॥५॥

व्याख्यार्थ—जो प्रतिज्ञा कर, स्थिर होकर बैठे हुए को उठाता है, वह जीतता है । जो सीधा खड़ा हो जाता है; उसको नमाता^१ है वह भी जीतता है । जो स्थिर होकर खड़ा होता है, प्रतिज्ञा के साथ उसको वहाँ से हिलाता है, वह भी जीतता है । और जो इधर उधर घूम रहा हो, उसको एक स्थान पर स्थिर कर देता है, वह भी जीतता है । इस प्रकार ये युद्ध के जो चार प्रकार हैं, उनसे जो युद्ध करते हैं, वे जीतने की इच्छा से अपने शरीर का अपकार करते हैं । इस प्रकार के युद्ध में अङ्ग को चोट लगना तो प्रत्यक्ष ही है । यद्यपि चाणूर आदि स्थूल हैं, किन्तु वे कपास की भांति हैं और



भगवान् सूक्ष्म होते हुए भी वज्र के समान अति निष्ठुर है ॥५॥

आभास—एवं फलतः भगवज्जयेऽपि प्रतीत्या विपरीत इति ये पूर्वं स्वासक्ताः कृताः तत्रापि स्त्रियो मुग्धाः तास्त्वसहमानाः स्वहृदयस्थं भावं प्रकाशितवत्य इत्याह तदिति एकादशभिः । तत्र सप्तभिर्दृष्टवर्णनं भगवच्चरित्रत्वाय, चतुर्भिः स्वनिन्दार्थं गोपिकास्तोत्रमिति । तत्र प्रथमं युद्धं दृष्ट्वा खिन्नानां आक्रोशार्थं प्रवृत्तिमाह-तद्युद्धं बलाबलवत्, अतः परस्परं योषितः समेताः सानुकम्पाः स्वस्वदेशग्रामभेदेन वरूथशः समेताः वक्ष्यमाणमूचुरिति सम्बन्धः । तत्प्रसिद्धं वा बलाबलवद्युद्धमेवोचुः एतद्बलाबलयुद्धमिति ।

आभासार्थ—यद्यपि इस युद्ध का फल भगवान् की ही जय हुई, तो भी जो भगवान् में प्रेमासक्त थे, उनको विपरीत प्रतीति होने लगी । उनमें भी जो स्त्रियाँ थीं वे तो भोलीं थीं, जिन्हें वे उस प्रतीति को सहन न कर सकीं । अतः अपने हृदय में स्थित भावों को प्रकाशित करने लगीं, जिसका वर्णन 'तद्बलाबल' से ११ श्लोकों में करती है । उनमें सात श्लोकों में प्रत्यक्ष देखा हुआ भगवच्चरित्र वर्णन करती है और ४ श्लोकों में अपनी निन्दा के लिए गोपियों का स्तोत्र कहा है । जिसमें पहले युद्ध को देखकर जो खेद युक्त हो के चिल्लाने लगे, उनका वर्णन करती हैं । किस प्रकार कहने लगीं वह प्रकार कहते हैं । दया युक्त हृदयवाली सब स्त्रियाँ अपने अपने देश तथा ग्राम के भेद से रक्षित स्थान पर मिलकर परस्पर जो कहना है, वह कहने लगीं । सबल और निर्बल का युद्ध जो प्रत्यक्ष देखने में आ रहा था प्रथम उसका वर्णन करने लगीं—

श्लोक—तद्बलाबलवद्युद्धं समेताः सर्वयोषितः ।

ऊचुः परस्परं राजन् सानुकम्पा वरूथशः ॥६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! बलवान् और निर्बल का वह युद्ध देख, इकट्ठी हुई सब स्त्रियाँ करुणा सहित परस्पर कहने लगीं ॥६॥

सुबोधिनी—ततस्तस्य दोषा अप्यग्रे ऊचुरिति केचित्, तद्युद्धमालक्ष्य वा समेताः बलाबलवतो-युद्धम्, बलं चाबलं च, मतुबुभयत्र सम्बध्यते तयोर्बलाबलयुक्तं यथा भवति तथा वा युद्धम् । सर्वेषां योषित इति निरोध एव नियामको न संबन्धादिरित्युक्तम् । परस्परमिति समान-शीलव्यसनता सर्वेषामुक्ता । राजन्निति स्नेहा-

त्संबोधनमवधानाय । स्त्रीणां वचनमिति कदाचिदुपेक्षां कुर्यादिति, स्निग्धे स्नेहस्यायं गुणः यत्समर्थोऽप्यसमर्थबुद्धिरिति, समूहबाहुल्ये हि सम्यक् श्रवणं भवतीति । दशविधा वा लीलया, सगुणा नवविधा एकविधा निर्गुणा इति । एवं दशप्रकारसमूहाः ॥६॥

व्याख्यानार्थ—कोई कहते हैं कि वे उसके दोष भी आगे कहने लगीं । बलवाले और निर्बल*

* श्लोक में 'बलाबलवत्' पद में जो मतुप् प्रत्यय है, वह बल और अबल दोनों शब्दों के साथ जोड़ना है ।

को लड़ाई देखकर जो समान शील तथा व्यसन वाली थीं, वे परस्पर आके मिली। इन सब स्त्रियों के मिलाप का कारण निरोध है, न कि सम्बन्ध कारण है। राजन् ! यह सम्बोधन राजा को स्नेह से सावधान करने के लिए दिया है, क्योंकि कदाचित् राजा यों समझे कि स्त्रियों के वचन है वे कैसे होंगे उनको न सुना तो हानि नहीं, यों राजा न समझे, इसलिए इस प्रकार का सावधान करने के लिए सत्रोधन दिया है। स्नेह में यह गुण है कि समर्थ को असमर्थ समझा देता है, विशेष समूह में अच्छी तरह सुना जाता है अर्थात् करने वाले बहुत होते हैं तो बड़ी ध्वनि निकलती है, जिससे वह अच्छी तरह सुनने में आती है। लीला से वे दश प्रकार की थीं। सगुण से नव प्रकार की थीं और एक निर्गुण थी, इस प्रकार दश विध समूह थे ॥६॥

आभास—तत्रैका न्यायाभिनिविष्टाः अन्यायमसहमाना ग्राहुः महानयमिति ।

आभासार्थ—उनमें एक प्रकार का न्याय प्रिय था, वह अन्याय का सहन नहीं कर सकता था, वह कहने लगा—

श्लोक—स्त्रिय ऊचुः—महानयं वताधर्म एषां राजसमासदाम् ।

ये बालबलवद्गुहं राज्ञोऽन्विच्छन्ति पश्यतः ॥७॥

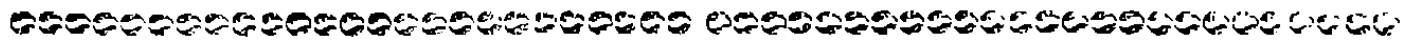
श्लोकार्थ—स्त्रियाँ कहने लगी—खेद है कि राज सभा के ये सभासद् राजा के देखते हुए बालक की बलवान् से कुस्ती करा रहे हैं, यह महान् अधर्म है ॥७॥

सुबोधिनी--इति खेदे । कथमेवमकस्मात्
अनर्थः प्रवृत्त इति, अयं महानेवाधर्मः एषां राज-
सभासदां भविष्यति । यद्यपि राजसंबन्ध एवा-
धर्मः तत्रापि सभासबन्धः, तत्राप्यधिकारः, सर्वा-
पेक्षया अयं महानेवाधर्मः, तमेवाह, निमित्तं वा ।
ये बालबलवद्बुद्धमिति । एको बालः, अपरो बल-
वानिति तयोर्युद्धं शास्त्रविरुद्धमिति, तत्रापि

राज्ञः पश्यतः । राजा हि धर्ममूर्तिः, तस्य दर्शने
मुतरामधिकृतैरन्यायो न कर्तव्य इति । अतः
राज्ञः पश्यतोऽपि सतः अन्विच्छन्तीति । अनेन
राजाप्येवं जास्यति एते सर्वत्रैवंभूता दुष्टा इति ।
ततो दृष्ट्वापकारोऽपि भविष्यतीति तासामा-
शयः ॥७॥

ध्याख्यार्थ—खेद है कि यह अचानक अधर्म कैसे हो रहा है ? यह बड़ा ही अधर्म है, जो राज सभा के सभ्यों को लगेगा । हालांकि अधर्म राजा से सम्बन्ध रखता है, तो भी उसका सभा से भी सम्बन्ध है । उनमें भी जो सभा के अधिकारी है अर्थात् सभा के अधिकारियों को वैसी सभा बन्द करने का अधिकार है । सब अधर्मों से यह महान् अधर्म है, जो एक बाल और दूसरा बलवाला अर्थात् पह-लवान, इन दोनों का युद्ध शास्त्र के विरुद्ध है । उस पर भी राजा के देखते हुए युद्ध हो रहा है । राजा धर्म की मूर्ति होता है, उसके सामने अधिकारियों को अन्याय नहीं करना चाहिए । अतः राजा के देखते हुए भी अधिकारी यों करना चाहते हैं, इससे राजा भी यों समझेगा कि ये सब ऐसे दुष्ट हैं, जो अधर्म करा रहे हैं । पश्चात् देख कर इसका दण्ड भी होगा, उनके कहने का यह ही आशय है ॥७॥

आभास—ननु भगवानपि सबलो बलिष्ठः, अतो नाधर्मो भविष्यतीति चेत्तत्राहुः
क्व वज्रसारसर्वाङ्गाविति ।



आभासार्थ—भगवान् भी बलवान-बलिष्ठ हैं। अतः कोई अधर्म नहीं होगा। इस पर 'क्वञ्ज सार' श्लोक कहती हैं—

श्लोक—क्व वज्रसारसर्वाङ्गौ मल्लौ शैलेन्द्रसंनिभौ ।

क्व चातिसुकुमाराङ्गौ किशोरौ नाप्तयौवनौ ॥८॥

श्लोकार्थ—वज्र के समान कठोर अंग वाले तथा पर्वतराज के समान थोड़ा कहीं? और अति कोमल अंग वाले, जो अभी युवावस्था को भी प्राप्त नहीं हुए हैं, वैसे किशोर अवस्था वाले बालक कहीं? ॥८॥

सुबोधिनी—न हि बाधितमर्थं वेदोऽपि बोध-
यति, भगवतोऽङ्गानि कोमलानीत्यनुभवसिद्धम् ।
मल्लानामप्यङ्गान्यतिकठिनानीत्यपि लोकप्रसिद्धिः ।
किञ्च । तावुच्चौ, एतौ च सूक्ष्मौ, 'यत्राकृतिस्तत्र
गुणा' इति न्यायविरोधोऽत्र प्रदर्शितः । तदाह ।
वज्र दपि सारभूतानि सर्वाङ्गानि ययोः । सुतरां
मल्लौ मल्लविद्यायां निपुणौ, तत्रापि शैलेन्द्रसंनिभौ

महामेरुतुल्यौ क्व, एतौ बालकौ वा अतिसुकुमारौ
क्व । अत्यन्तं सुकुमाराप्यङ्गानि ययोः । वयसा
तु किशोरौ, लोके किशोरावपि देहवशाद्बीजा-
दिवशाद्वा प्राप्तीयौवनाविव भवतः । तदपि नास्ती-
त्याहुः । न प्राप्तं यौवनं याभ्यामिति । नञ् समासः
स्पष्टतया प्रदर्शनार्थः । ८॥

व्याख्यार्थ—बाधित मर्थ को वेद भी बोध नहीं कराता है। भगवान् के अङ्ग कोमल हैं, यह अनुभव से सिद्ध है। मल्लों के अङ्ग बहुत कठोर होते हैं यह भी प्रसिद्ध है। और विशेष, वे मल्ल तो लम्बे हैं और ये बाल छोटे हैं। जैसी आकृति वैसे गुण होते हैं, यों कह कर बताया कि यहां न्याय के विरुद्ध कार्य हो रहा है जिसका वर्णन करती है। वज्र से भी मजबूत सर्व अङ्ग वाले, मल्ल विद्या में भी निपुण तथा महामेरु के तुल्य ये मल्ल कहां? और ये अति कोमलाङ्ग कुमार कहां? आयु से तो अभी किशोर ही है। कभी किशोर भी देह तथा बीज के कारण किशोर अवस्था में भी जवान जैसे हो जाते हैं, किन्तु ये वैसे भी नहीं हैं, यह स्पष्ट देखने में आता है। इसलिए श्लोक में न आप्तयौवनं याभ्यां तौ (नाप्तयौवनौ) यह नञ् समास से दिया है ॥८॥

आभास—एवमधर्मो हेतुभूतं न्यायविरोधं निरूप्य न केवलमधर्मः एषां भविष्यति,
किन्तु यस्य धर्मस्य प्रभावेन ऐश्वर्यादिकं भुञ्जते, तस्याप्यतिक्रमो भविष्यतीत्याहुः धर्म-
व्यतिक्रम इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार अधर्म करने में जो हेतु रूप न्याय का विरोध है, वह कहकर विशेष कहती हैं कि न केवल इनको अधर्म लगेगा, किन्तु जिस धर्म के प्रभाव से ऐश्वर्य आदि भोगते हैं उस धर्म का भी उल्लङ्घन होगा, जिसका वर्णन 'धर्मव्यतिक्रमो' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—धर्मव्यतिक्रमो ह्यस्य समाजस्य ध्रुवं भवेत् ।

यत्राधर्मः समुत्तिष्ठेन्न स्थेयं तत्र कहिचित् ॥९॥

श्लोकार्थ—इस सभा में धर्म का उल्लङ्घन अवश्य होगा, जहाँ अधर्म होवे, वहाँ कभी बैठना नहीं चाहिए ॥६॥

सुबोधिनी—अस्य समाजस्य ध्रुवं व्यतिक्रमो भवेत्, शुभफल धर्मादेवेति तदतिक्रमे नाश एव, ततः पूर्वं विषमनियोगेनाधर्मः । अन्येऽपि सहजा अधर्माः सन्त्येव, वस्तुतोऽपि धर्मस्य प्रभुरच्युत इति प्रभोरन्यथा विनियोगे लीलादर्शने वा धर्म-सेवकत्वेन सेवकसेवकानां भवत्येवातिक्रमः, सोऽप्य-

धर्मः धर्मं नातिक्रमेदिति निषेधात् । एवमधर्मः अस्मिन् समाजे सर्वत एवोद्गतः, अतो यत्र सम्य-गधर्म उत्तिष्ठेत्, तत्र दुःखस्यावश्यंभावात् कदा-चिदपि न स्थेयम् । यद्यपि दुःखसंभावना नास्ति, तथापि कारणोत्पत्तेर्विद्यमानत्वात् सर्पनिकटश-यनवत् न स्थेयमेव ॥६॥

व्याख्यानार्थ—इस समाज का निश्चय उलटा भाग्य होगा । कारण कि शुभ फल धर्म से ही होता है । उसके उल्लङ्घन से नाश ही होता है । प्रथम छाटे को बड़े से युद्ध कराके अधर्म किया है । दूसरे भी सहज^१ अधर्म हुए हैं । वास्तव में धर्म का स्वामी अच्युत है । उसका अन्य प्रकार विनियोग होने पर वा लीला दर्शन में अथवा धर्म सेवकान से सेवक सेवकों का अतिक्रम होता ही है । वह भी अधर्म है । शास्त्र में आज्ञा है कि धर्म का उल्लङ्घन न करे । इस प्रकार इस में चारों तरफ अधर्म प्रकट हो रहा है । इससे जहाँ सर्व प्रकार अधर्म देखने में आवे वहाँ दुःख (नाश) अवश्य होगा । अतः वहाँ कभी भी नहीं ठहरना चाहिए, जो कि यहाँ दुःख की संभावना प्रकट नहीं है, तो भी कारण की उत्पत्ति तो मौजूद है । इसलिए जैसे सर्प पड़ा हो वहाँ उसके निकट सोना नहीं चाहिए, क्योंकि नाश का कारण सर्प मौजूद है । इसी प्रकार यहाँ भी दुःख का कारण मौजूद है ॥६॥

आभास—नन्वेवं सति सर्वेषामेवाधर्मः, को विशेषः समाजस्येति चेत्तत्राहुः न सभां प्रविशेदिति ।

आभासार्थ—यदि यों है तो सर्व को अधर्म लगेगा, सभा की विशेषता क्या है ? जो उस को ही अधर्म लगे इस पर 'न सभां प्रविशेत्' श्लोक कह कर इसका समाधान करती हैं—

श्लोक—अपरा ऊचुः—न सभां प्रविशेत्प्राज्ञः सभ्यदोषाननुस्मरन् ।

अब्रुवन्ब्रुवन्नज्ञो नरः किल्बिषमश्नुते ॥१०॥

श्लोकार्थ—दूसरी कहती है—सभासदों के दोष जानने वाले बुद्धिमान् पुरुष को सभा में नहीं जाना चाहिए; क्योंकि वैसी सभा में जाकर न कहे, अथवा विरुद्ध कहे, अथवा कहे कि मैं नहीं जानता, तो वे तीन ही पाप के भागी होते हैं ॥१०॥



सुबोधिनी—अथवा किमित्युच्यते, निर्गन्तव्यं वा, तूष्णीं वा स्थातव्यमित्याशङ्क्य स्वार्थमप्याहुः न सभामिति । सभास्थैरवश्यं वक्तव्यम् अथासामर्थ्यं चेत्, प्रथमत एव प्राज्ञः अग्रिमार्थं सर्वं जानन् सभामेव न प्रविशेत् । 'सभायां न प्रवेष्टव्यं वक्तव्यं वा सम्मुखम् । अब्रुवन् विब्रुवन् वापि नरो भवति किल्बिषो'ति मनुवाक्यात् । एते हि सभ्यदोषा इत्याहुः अब्रुवन्निति । सभायां उपवि-

ष्टेनावश्यं वक्तव्यम्, पृष्ठः अपृष्ठो वा यथोचितं न वदेत्, तथापि नरकभागी स्यात्, यदि वा विरुद्धं वदेत्, अन्यायपृष्ठः अपृष्ठो वा, पृष्ठश्चेज्जानन्नपि नाहं जाने इति वदेत्, सोऽज्ञ इत्युच्यते । एव त्रिविधा अप्येते नरकभाजो भवन्ति । सभायां प्रविशन् सभास्मरणे तद्गतगुणदोषाणामपि स्मरणमावश्यकमिति तथोक्तम् । किल्बिषमावश्यकं नरकम् ॥१०॥

व्याख्या—अथवा क्या करना चाहिए ? सभा छोड़ कर बाहर आ जाना चाहिए वा चुप हो के बैठना चाहिए ? इस पर जो करना चाहिए वह 'न सभां' इस श्लोक में बताती है—जो सभा में बैठे हों उनको अवश्य कहना चाहिए, यदि कहने को शक्ति न हो, तो बुद्धिमान् को सभा में क्या होगा, इसको पहले ही समझ, सभा में ही न जाना चाहिए, मनु ने भी कहा है कि सभा में जाना ही नहीं चाहिए यदि जाए तो जो योग्य हो वह कहना चाहिए यदि न कहता है तो वह मनुष्य पापी होता है । ये सभासदो के दोष हैं— नहीं कहना सभा में बैठे हुए को पूछने अथवा न पूछने पर भी योग्य (उचित बात) नहीं कहे, तो वह नरक भागी होता है, अथवा विरुद्ध कहे तो भी नरक भागी होता है । अन्याय से पूछने पर, वा न पूछने पर या पूछने पर भी यदि कोई कह देवे कि मैं नहीं जानता हूं तो वह मूर्ख कहा जाता है । इस प्रकार के तीन ही सभा में बैठे हुए नरक भागी होते हैं । सभा में जाते समय सभा का स्मरण करते हुए उसके गुण तथा दोषों को भी स्मरण करना चाहिए, 'किल्बिष' शब्द का अर्थ यहां अवश्य नरक की प्राप्ति है ॥१०॥

आभास—ननु भगवतोपि बलमवश्यमस्ति 'कुवलयोऽपि डवधात्तत्राहुः वलगतः शत्रुमभित' इति ।

आभासार्थ—यदि कोई कहे कि भगवान् भी निश्चय बलवान् है जिसका प्रमाण कुवलापीड हस्ती का वध है इसके उत्तर में 'वलगतः शत्रु' श्लोक कहती है—

श्लोक—वलगतः शत्रुमभितः कृष्णस्य वदनाम्बुजम् ।

वोक्षतां श्रमवार्युप्तं पञ्चकोशमिदाम्बुभिः ॥११॥

श्लोकार्थ—अरी ! शत्रु के चारों तरफ मल्ल के शब्द कहते फिरते हुए कृष्ण के मुख कमल को देखो तो कैसा परिश्रम से उत्पन्न जल से अर्थात् पसीने से गीला हो रहा है ? यों दिखाई देता है, जैसा जल से व्याप्त कमल ॥११॥

सुबोधिनी—शत्रुं चाणूरमभितः वलगतः मल्लशब्दान्कुर्वतः कृष्णस्य सदानन्दस्य अस्माकं सर्वस्वस्य वा वदनाम्बुजं प्रस्वेदजलैर्व्याप्तं पश्यत ।

यद्यधिकबलः समबलो वा स्यात्, तदा शत्रोरिवास्यापि श्रमो न स्यात्, 'शब्दश्चासमर्थस्यैवे'ति लोकप्रसिद्धिः । श्रमवारिभिव्याप्तं न तु कणैः,



अनेनान्तःश्रमाधिक्यं द्योतितम् । ननु भवत्येव कर्मणा श्रमः, को दोष इति चेत्तत्राहुः पद्मकोश-मिवाम्बुभिरिति । पद्मकोशो हि जलाद्दुग्गतो भवति. न कदाचिज्जलं स्पृशति, यथा जलं वर्धते तथा तन्नालमपि वर्धते इति तस्य जलव्याप्तिरसं-

भावित्वा । तथा भगवतोऽपि श्रमजलसंबन्धोऽसंभावित इत्यर्थः । तासामासक्तिसिद्धयर्थं भगवता तथा प्रदर्शितं ग्रन्थासक्ता मा भवेयुरिति, कंसादीनां च प्रथमतः सुखं र्थम् ॥११॥

व्याख्यार्थ— शत्रु (चाणूर) के चारों तरफ, मल्लों के समान शब्द करते हुए, हमारे सबस्व सदानन्द कृष्ण के पसीने के जल से व्याप्त मुखकमल को तां देखो, यदि शत्रु से अधिक बल वाले अथवा समान बल वाले होते तो शत्रु की तरह इनको भी श्रम न होता, शब्द तो असमर्थ ही करते हैं, यह लोक में प्रसिद्ध ही है । श्रम से उत्पन्न जल ने मुख कमल भरा पड़ा है, नहीं कि बूंदों से । इससे मालूम होता है कि भीतरी श्रम की अधिकता है । कर्म करने से श्रम होता * ही है, इससे कौनसा दोष है ? इसके समाधान में कहती है कि जैसे पद्मकोश जल से उत्पन्न होता है, किन्तु उसको जल स्पर्श नहीं करता है । ज्यों जल बढ़ता है त्यों उसका नाला भी बढ़ता है, जिससे उसकी जल से आर्द्रता असंभव है । वैसे ही भगवान् को भी श्रम जल का स्पर्श हो नहीं सकता है । तब शङ्का होती है कि स्त्रियें जो कह रही हैं वह असत्य है क्या ? जिसका समाधान आचार्य श्री करते हैं कि ये स्त्रियां ग्रन्थ में आसक्त न होवे, उनकी आसक्ति मुझ में ही सिद्ध हो तदर्थ भगवान् ने उनको वैसी प्रतीति कराई है और यों करने से कंसादिक को भी प्रथम प्रसन्न किया है ॥११॥

आभास—एतत्सर्वेषां न प्रकटमिति वक्तुरपि कदाचिद्दर्शनाभावात् बलभद्रे सर्वजनीनं तदिति सापेक्षमाहुः किं न पश्यतेति ।

आभासार्थ—यह भगवान् के मुखारविन्द पर श्रम जल का दर्शन सब को न भी हुआ हो । कदाचित् कहने वाली को भी न हुआ हो । बलभद्र में जो दोख रहा है वह तो सब देख रहे हैं । अतः अपेक्षा से 'किं न पश्यत' श्लोक में उसका वर्णन करती है—

श्लोक— किं न पश्यत रामस्य मुखमाताम्रलोचनम् ।

मुष्टिकं प्रति सामर्षं हाससंरम्भशोभितम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—अरी ! राम का लाल शुर्ख नेत्रवाला मुख नहीं देखती हो क्या ? जो मुष्टिक के प्रति क्रोधपूर्ण है । इतना होते हुए भी वह हास के आवेश से सुशोभित है ॥१२॥

* टीका में 'भवत्येव' है, नीचे नोट में 'भवतु' पाठ दिया है । यदि वह हो, तो उसका अर्थ इस प्रकार होगा, कर्म से श्रम होने दो क्या दोष है ?

सुबोधिनी—रामस्य मुखमासमन्ताम् ताम्र-
लोचनं किं न पश्यत । भ्राता ज्येष्ठोऽयम् । अस्य
श्रमः सर्वजनीनः, अन्यथा क्रोधाविर्भावं न कुर्यात् ।
अशक्तस्यैव तथा करणात् । ननु स्वभावतोऽपि
ताम्रो भवेदित्याशङ्क्याह मुष्टिकं प्रति सामर्ष-
मिति । मुष्टिको मारणीय इति क्रोधाविर्भाव-
यति । स्वतो ह्यसमर्थानां कामादयः प्रवर्तका
भवन्ति । नन्वेतदपि सहजमिति चेत्तत्राह हास-

संरम्भशोभितमिति । हासेन यः क्रोधसंरम्भः तेन शोभितम् । अथवा पूर्वं हाससंरम्भेण हासपूर्वक-कामलीलया शोभितम्, पूर्ववचने अस्मान्निखन्ना-न्वा दृष्ट्वा हाससंरम्भाभ्यां शोभितम् । एता अस्मान् न जानन्तीति हास्यम्, दुःखं प्राप्नुवन्तीति शीघ्रं मारणोय इति संरम्भमपि करोति । उभाभ्यां वातिशोभितम्, अतो न सहजं किमपीत्यर्थः । १२।

व्याख्या—ताम्र जैसे सम्पूर्ण लाल नेत्र वाला राम का मुख क्या नहीं देखती हो ? यह बड़ा भाई है, इसका अर्थ सार्वजनिक है, नहीं होता तो क्रोध को प्रकट न करते, अशक्त ही यों करता है, लाल नेत्र स्वभाव से भी होते हैं, इस पर कहती हैं कि ये नेत्र स्वभाव से लाल नहीं हैं, किन्तु उस मुष्टिक को मारना हो है, इसलिए क्रोध का आविर्भाव होने से ये नेत्र लाल हुए हैं। जो स्वयं असमर्थ है, उनकी प्रवृत्ति कामादिक कराते हैं। यदि कहो कि यह भी सहज है तो इस पर कहती हैं कि हास से जो क्रोध उत्पन्न किया उनमें मुशोभित मुख है। जिससे ये नेत्र क्रोध के कारण ही लाल हुए हैं अथवा प्रथम हास पूर्वक की हुई कामलीला से यह मुख मुशोभित है। अथवा आगे कहे हुए वचन में हमको खिन्न (सखेद) देखकर हास और क्रोध से शोभित यह मुख है। ये स्त्रियाँ हमको नहीं जानती है, इस कारण हास्य किया है और ये दुख पारही है। इसलिए उसको (मुष्टिक करो) शीघ्र मारना चाहिए, अतः क्रोध भी करते हैं। दोनों (हास एवं क्रोध) से विशेष शोभित है, अतः कहने का यह तात्पर्य है कि कुछ भी सहज नहीं है ॥१२॥

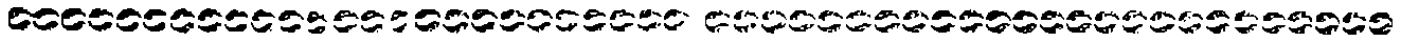
श्रीभास—एवं स्नेहवशादथान्तेपि भगवति श्रमं मत्मा अनवसरे भगवानस्माभि-
र्दृष्ट इति स्वभाश्यं विगर्हयन्त्यः गोकुलवासिनां भाग्यमभिनन्दन्ति पुण्या बत इति
चतुर्भिः ।

श्रीभाषार्थ—इस प्रकार अश्रान्त भी भगवान् को प्रेम से श्रमित समझकर कहने लगी कि हमने भगवान् के दर्शन अवसर पर नहीं किए । इससे अपने भाग्य को धिक्कारती हुई गोकुल वासियों के भाग्य की (पुण्या बत) श्लोक से लेकर ४ श्लोकों में सराहना करती हैं—

श्लोक—पूण्या बतं व्रजभुवो यदयं नृलिङ्गगूढः पुराणपुरुषो वनचित्रमालयः ।

गाः पालयन्सहबलः कुर्यान् वेणुं विक्रीडयाञ्चति गिरित्ररमाचिताङ्घ्रिः । १३ ।

श्लोकार्थ—अहो ! व्रज की भूमि धन्य है । जहाँ मनुष्य शरीर से गुप्त साक्षात् पुराण पुरुष परमात्मा बन के विचित्र पुष्प माला धारण कर, बलदेवजी के साथ गौश्रों को चराते, बंसी बजाते क्रीड़ा करते वहाँ बिराजते हैं, इस लीला समय में भी महादेवजी तथा लक्ष्मोजी इनके चरणों की सेवा करती है ॥१३॥



सुबोधिनी—आदौ भूमिमभिनन्दन्ति, पश्चात् स्त्रियः, आदौ ब्रजभुव एव धन्याः, यदयं नृलिङ्गेन कपटमानुषवेपेण गूढः सन् स्वयं पुराणपुरुषोपि वनचित्रमालायुक्तश्च तत्रत्या गाः पालयन् ससहा-योपि तत्परः बलभद्रसहितः विक्रीडयैव विशेषेण क्रीडार्थमेव अञ्चति ब्रजभुवम्, गच्छति वा, स्वयं तु गिरित्रेण रमया च अचितौ अङ्घ्रौ यस्य । भूमिः स्वभावतः पुण्या भवति, यद्यपि मथुरापि तथा गणिता, तथापि मथुरामण्डले ब्रजभुव एव पुण्याः, पुण्यं हि सुखफलं भवति, निरन्तरं तत्रत्यानां सुखानुभवात्, अत्र तु तद्विपरीता इति । बतेति हर्षे, एतादृशमपि लोके स्थानं भवतीति । गोप्यस्य हि क्रीडा सुखदायिनी । अतो भगवतोपि गुप्तक्रीडासाधनत्वात् सुखदा भूमिः । पुराणपुरुष इति तासां स्वरूपज्ञानं दृढमिति ज्ञापितम् । तथापि श्रमाविर्भावात् स्थलान्तरप्रशंसैव । गुप्तश्च सर्वैर्व्यवहर्तुं शक्यते । तथात्वे नियामकमप्याह । वनस्थानामपि चित्रमाल्यानां धारक इति । गाः पालयन्निति । सुतरां गौणभावाश्रयणात् स्वच्छन्दलीला सपद्यते । बाधकनिराकरणार्थं ससहा-योपि । रसोद्बोधनार्थं रक्षकदेवोद्बोधनार्थं वा

दिनेपि परमानन्दानुभवार्थं च वेणुवज्रणनम् । चकारात् नानाविधां च लीलां कुर्वन् । भूमेः पूजने तत्रत्यानपि पूजयतीति स्वच्छन्दलीलायामतिक्रमेपि नापराधो भवति । अन्यत्र गुप्तत्वाभावे स्वस्य नेष्टम्, गुप्तत्वे तु चाणूरादीनामतिक्रम इति उभयथाप्यत्र दुःखम् । न च गोकुले स्वरूपप्रच्युत एव तिष्ठतीति शङ्कनीयम् । यतस्तत्र स्थितमपि महादेवो लक्ष्मीश्च पूजयति । स हि पशुपतिः, तदीयानां पशूनां पालानां भगवान् रक्षक इति स्वयमपराधो च पूजनया स्वापराधं दूरीकरोति, महांश्चेत्स्वकार्यं करोति, तदा हीनो लज्जते, अतः पूजयति । अन्यथा गोवर्धनोद्धरणे इन्द्रस्यापकारं कुर्यात्, गोवर्धनं वा विशकलितम्, स हि यथास्थितान् पर्वतान् पालयति, सुदर्शनस्यापि मोक्षं नाङ्गीकुर्यात्, अतः सेवकत्वेनैव तस्य व्यवहारो दृश्यते । लक्ष्मीः पुनः सर्वस्त्रीमूलप्रकृतिः, तद्वैभवरूपा गोप्यः, तासामपि कृपां करोतीति । अथवा । महादेवो भगवति पशुपालने क्रियमाणे तस्य पालनं गमिष्यतीति, रमा च गोपिकासु स्थितासु आदरो गमिष्यतीति ॥१३॥

व्याख्यार्थ—प्रथम ब्रज की भूमि की सराहना करती है. पीछे स्त्रियों की पहले तो ब्रज की भूमियां धन्य है, कारण कि यह स्वयं पुराण पुरुष, कपट से मानुष रूप धारण कर, विचित्र वन की मालाओं को पहन कर, वहाँ की गायों को पालते हुए, सहायक बलभद्र के साथ विशेष क्रीड़ा करने के लिए ब्रज भूमि को पूजते हैं अथवा वहाँ जाते हैं, आपके चरण तो महादेव और लक्ष्मी पूज रहे हैं. भूमि यद्यपि स्वभाव से पुण्य वाली होती है, हालांकि मथुरा भी वैसी गिनी गई है तो भी मथुरा मण्डल में ब्रज की भूमियाँ ही पुण्य रूप हैं, पुण्य का फल सुख है, जिसका प्रमाण यह है कि ब्रजवासी निरन्तर सुख का अनुभव कर रहे हैं, यहाँ तो उससे विपरीत दुःख का अनुभव हो रहा है, श्लोक में (बत) शब्द से हर्ष प्रकट किया है कि लोक में ऐसा भी स्थान है, जो गोप्य है । उसकी ही क्रीड़ा सुख देने वाली होती है । अतः यह भूमि गुप्त क्रीड़ा का साधन होने से भागवान् को भी सुख देने वाली है । (पुराण पुरुष) कहकर यह बताया है कि इनको दृढ़ स्वरूप ज्ञान है, तो भी श्रम के आविर्भाव से दूसरे स्थल की प्रशंसा ही की है । सब कार्य गुप्त रूप से सब कर सकते हैं । इस प्रकार से है तो भी नियामक को भी कहती है, वन में स्थितों का भी नियामक, विचित्र वनमालाओं को धारण करने वाले हैं, (गायों का पालन करते हुए) यों कहने का आशय है कि बहुत ही गौण भाव के आश्रय से स्वच्छन्द लीला हो सकती है, अर्थात् पुराण पुरुषोत्तम होकर भी कपट मनुष्य वन गायों को चराना यह गौण भाव का आश्रय लेना है । वैसा करने से ही गोप आदि से स्वच्छन्द लीला हो



सकी है। उस लीला में कोई भी बाधक न हो तदर्थ अपने साथ सहायक (वलरामजी) भी लिया है। रस को जगाने के लिए, रक्षक देव को भी प्रबुद्ध करने के लिए अथवा दिन के समय में भी परमानन्द को अनुभव कराने के लिए, भगवान् वेणु बजाते हैं, और श्लोक में जो (च) शब्द दिया है जिसका आशय प्रकट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि केवल यह लीला नहीं करते थे, किन्तु अन्य भी अनेक प्रकार की लीलाओं को करते थे। भूमि का पूजन करते हुए वहाँवालों का भी समादर करते थे, यों कहने से यदि स्वच्छन्द लीला का उल्लङ्घन भी हो जाय तो कोई अपराध नहीं। अन्यत्र गुप्तत्व का यदि अभाव हो तो वह आपको प्रिय नहीं है, गुप्त होने पर चाणूर आदि का अति-क्रम होता है। इस प्रकार दोनों बातों में दुःख है। यह भी शङ्का न करनी कि ये गोकुल में अपने निज स्वरूप से च्युत हो गए हैं, जो कि वहाँ स्थित स्वरूप को भी महादेवजी तथा लक्ष्मीजी पूज रही हैं। महादेवजी इसलिए भी पूजा करते हैं कि स्वयं (पशुपतिः) पशुओं के स्वामी हैं। और यहाँ भगवान् उन पशुओं के रक्षक एवं पालक हैं और विशेष कारण बताते हैं कि एक तो वे पूजन करते हैं, जो अपराधी होता है पूजा से अपराध को दूर करता है और देखता है कि इतने यह महान् होकर मेरा कार्य कर रहे हैं, मैं नहीं करता हूँ, तब उसको लज्जा आती है, जिमने वह पूजा करता है, अन्यथा गोवर्द्धन के उद्धरण के समय इन्द्र का अपकार (बुरा) करे अथवा गोवर्द्धन दूक कर दे, वह तो यथा स्थित पर्वतों की पालना करते हैं। सुदर्शन का मोक्ष भी अङ्गीकार न करे, अतः देखा जाता है कि उनका व्यवहार सेवक की भाँति ही है। लक्ष्मीजी सकल स्त्रियों की मूल प्रकृति है। उनके वैभव का रूप गोपियाँ हैं। उन पर भी कृपा करते हैं। अथवा महादेवजी यो समझ पूजन करते हैं कि यदि इस प्रकार भगवान् पशु पालन करेंगे तो मेरा (पशुपालन) कर्म चला जाएगा और लक्ष्मी समझेगी कि इस प्रकार गोपियाँ सदैव भगवान् के पास रहेंगी तो मेरा आदर मिट जाएगा। अतः पूजाकर भगवान् को प्रसन्न करूँ; तो मेरा आदर बना रहे ॥१३॥

आभास—एवं भूमिमभिनन्द्य गोपिकाभिनन्दनमाह त्रिभिः । 'गोप्यस्तपः किमचरन्ति'ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भूमि का अभिनन्दन कर तीन श्लोकों में गोपियों का अभिनन्दन करती हैं 'गोप्यस्तपः किमचरन्ति'ति—

श्लोक—गोप्यस्तपः किमचरन्त्यदमुष्य रूपं

लावण्यसारमसमोर्ध्वमनन्यसिद्धम् ।

दृग्भिः पिबन्त्यनुसवाभिनवं दुराप-

मेकान्तधाम यशसः श्रियः ऐश्वरस्य ॥१४॥

श्लोकार्थ—ग्रहो ! गोपियों ने ऐसा कौनसा तप किया है, जो श्रीकृष्णचन्द्र का रूप जो कि लावण्य से श्रेष्ठ, नित्य प्रति नया, दुर्लभ, यश, लक्ष्मी और ऐश्वर्य का अविचल धाम तथा स्वतः सिद्ध और जगत् में उनके बराबर या उत्तम अन्य कोई नहीं है, वैसे को नेत्रों से देखती हैं, मानो पी रहीं हैं ॥१४॥



सुबोधिनी—भगवतो रूपं यादृशं ध्येयं तादृशं यतः पश्यन्ति, भगवन्तमेव च गायन्ति, तदासक्ताश्च नित्यं तिष्ठन्तीति, न ह्येतत्त्रयं स्वल्पतपसा प्रसिद्धतपसा वा भवति, अन्यथा अन्येषामपि स्यात्, अतो न ज्ञायते, किं वा तपस्ताभिः कृतमिति । यद्यप्यस्माभिरपि भगवद्रूपं दृश्यते, तथापि अमुष्यैतद्रूपं लावण्यमेव सारभूतं यत्र, केवलं लावण्यमेव तत्र प्रकाशते, लावण्यस्यापि वा सारम् । इदानीं तु क्रोधस्याविर्भावात् अवस्थया तिरोहितमिव प्रतिभाति । किञ्च । असमोर्ध्वं न समोर्ध्वं च यस्मात् । तासां हि दृष्टौ भगवानेक एवेति प्रतिभाति । अत्र तु दुष्टः संबन्धी चाणूरादिरपि दृश्यते, ऊर्ध्वता च कसादेः मञ्चस्थितत्वात् प्रतीयते । किञ्च । अनन्यसिद्धम् स लावण्यरसः केवलं भगवत्येव सिद्धः, अन्यथा भुव्यन्येपि भाग्ययुक्ता भवेयुः । अतस्तादृशामृतपानं तपसा विना न भवतीति अवश्यं तपस्तासु सिद्धम् । किञ्च ।

दृग्भिः पिवन्ति, दूरादपि पातुं शक्यते दृशा, तत्रापि नानाविधैः कटाक्षैः अलसवलितादिभिः पानम्, अनेन सर्वोपि रमणप्रकारस्तासां सूचितः । चञ्चितचर्वणव्यावृत्त्यर्थमाहुः अनुसवाभिनवमिति । अनुसव प्रतिक्षणं नूतनमेव भवति पूर्वानुभूतरसादुत्कृष्टम्, नापि तत्सर्वसुलभमित्याहुः दुरापमिति । सर्वेषामेव दुःखेनापि प्राप्तुमशक्यं तासां त्वयत्नसिद्धं जातमिति । ननु केवलं भोग एव भगवता सिद्ध इति कथं सर्वोत्कृष्टता यद्वि सर्वमेव फलं साधयति, तत्सर्वोत्तममिति चेत्तत्राह एकान्तधामेति । भोगस्त्वैहिकपारलौकिकसर्वोत्कृष्ट इति वीर्यस्य न पृथगुपयोग, ज्ञानवैराग्ययोश्च । अतस्त्रयमेवावशिष्यते यशः श्रीः ऐश्वर्यं चेति । तेषामेकान्ततः भगवत्लावण्यामृतमेव धाम, तस्मिन् प्राप्ते ऐश्वर्यादिकं सर्वं सिध्यतीति न भोगमात्रपरत्वम् ऐश्वर्यमितिभावे धत् । चकारादपेक्षितानामपि ज्ञानवैराग्यादीनां ग्रहणम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—ये गोपियो भगवान् के उस रूप को देख रही हैं जिसका भक्त ध्यान करते हैं, और गान भी भगवान् का ही गाती हैं, तथा नित्य उनमें ही आसक्त रहती हैं । ये तीन ही अल्प तपस्या अथवा प्रसिद्ध विशेष तपस्या से भी जब नहीं प्राप्त होते हैं, तब इन्होंने न जाने कौनसी तपस्या की है, जिससे इनको ये तीन ही प्राप्त हुए हैं । यदि बिना तपस्या के होते हैं तो अन्य को भी प्राप्त होने चाहिए, किन्तु होते नहीं ।

हालांकि हम भी भगवान् के रूप का दर्शन कर रही हैं, तो भी इनको जिस रूप का दर्शन होता है वह तो सारभूत लावण्य^१ ही है, अर्थात् उस रूप में केवल लावण्य ही प्रकाशित है अथवा सौन्दर्य का भी सार है, इस समय तो क्रोध के प्रकट होने से अवस्था बदलने से वह लावण्य तिरोहित सा हो गया है और विशेष में कहती हैं कि उनके समान अथवा उत्तम कोई नहीं है । उनकी दृष्टि में केवल भगवान् ही दीख रहे हैं । यहां तो हम लोगों को दुष्ट और सम्बन्धी^२ चाणूर भी दीख रहा है । कंस आदि उच्च आसन पर बैठे होने से उनकी उच्चता प्रतीत हो रही है । वह सौन्दर्य रस तो केवल भगवान् में ही सिद्ध^३ है । अतः वैसे अमृत का पान तपस्या के सिवाय नहीं होता है । जिससे निश्चय है कि उनकी पूर्ण तपस्या फली भूत है । यदि यों न हो तो पृथ्वी पर अन्य भी इसका पान कर भाग्य वाले हो सकें, जो नहीं होता है, और विशेषता यह है कि नेत्रों से पान कर रही हैं । नेत्रों से दूर होते हुए भी पान हो सकता है । उसमें भी कटाक्षों के अनेक प्रकारों से पान कर रही हैं । यों कहने से गोपियों के रमण के सर्व प्रकार बताए हैं । यदि

१- विशेष सौन्दर्य, खूबमूरती,

२- भगवान् से कुस्ती करने से सम्बन्धी,

३- सदा निश्चय से रहा हुआ है ।



कोई कहे कि ये चबाये हुए को फिर चबाने के समान क्रिया हुई। उसके उत्तर में कहती हैं कि नहीं, यह तो प्रतिक्षण नूतन ही नूतन बना रहता है। एक बार देखकर जो रस प्राप्त हुआ पुनः दूसरी बार देखने पर उससे भी उत्कृष्ट रस प्राप्त होता है। यह रस सर्व को सुलभ भी नहीं है। सब को ही दुःख से अर्थात् परिश्रम से भी मुश्किल से प्राप्त करने जैसा है, किन्तु इनको तो बिना यत्न प्राप्त हो गया है। यदि कहो कि इनको तो भगवान् से केवल भोग ही सिद्ध हुआ है, जिससे सर्व से उत्कृष्टता कैसे हुई? जब कि सर्व प्रकार के फल की सिद्धि होवे तब सर्वोत्तमता मानी जाए। इसके उत्तर में कहती हैं कि (एकान्त धाम) भगवान् सब के धाम है, अर्थात् भगवान् के रूप के लावण्य सार के पान से उनको न केवल भोग की प्राप्ति हुई है किन्तु ऐश्वर्य, यश, श्री की भी प्राप्ति हुई है। श्लोक में (च) शब्द से यह भी बता दिया कि ज्ञान, वैराग्य आदि भी प्राप्त हो गए हैं ॥१४॥

प्राभास—ननु सर्वोत्तमा भगवद्भक्तिः, तासां तु कामः प्रधानमिति का स्तुतिरिति चेत् तत्राहुः 'या दोहन' इति।

प्राभासार्थ—सब से उत्तम भगवान् की भक्ति है। इनमें तो काम की प्रधानता है, उनकी स्तुति कैसे करती हैं? जिसका उत्तर 'या दोहनेऽवहनने' श्लोक में देती हैं—

श्लोक—या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप-

प्रेङ्खेऽङ्गनाभं रुदितोक्षणमार्जनादौ।

गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो

धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचिन्तयानाः ॥१५॥

श्लोकार्थ—ग्रहो ! ये व्रजाँगनाएँ धन्य हैं; क्योंकि जो दुहतो, चावल आदि कूटती, दही विलोती, लीपती, भूलती, सींचती; रोते हुए बालकों को भूले में भुलाती और रमाती इत्यादि काम करती हुई भी भगवान् में अनुरक्त चित्त होने से उस समय भी भगवान् का ही चिन्तन करती हुई उनके गुणों को गाती थीं, जिससे प्रेम का उद्बोध हो गला भर जाता है ॥१५॥

सुबोधिनी—दोहनं सायं अतिप्रभाते वा, ततः अवहननम्, ततो मथनं दधनः, प्रातरेव लेपनं च, एतच्चतुष्टयं गृहकार्यं व्रजस्त्रीणां सहजं सर्वासाम्, ततः प्रेङ्खेऽङ्गनां दोलयांदोलनम्, विद्यमानबालकानामभंकरुदितं बालकरोदनम्, उक्षणं सेचनं वृक्षादिषु, सूक्ष्मेषु तुलस्यादिषु वा, मार्जनं प्राङ्गणादेः, एतेषु एतं भगवन्तं गायन्ति, चकारात् स्मरन्ति भावयन्ति, तदर्थमेव च कुर्वन्ति। धर्मपरा अपि

तत् कुर्वन्ति इति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह अनुरक्तधिय इति। अनुरक्ता धीर्यासाम्, अनुरागमात्रेण न भक्तिर्भवति उत्कटभावाभावात्, लौकिकप्रेमवतां धर्ममार्गोऽपि तथात्वादित्यत आह अश्रुकण्ठ्य इति। अश्रूणि नेत्रयोः, गद्गदकण्ठता च, तदुभयं निर्दिष्टम्। अथवा नेत्रयोः स्मरणाभावात् अन्तर्दृष्टीनामश्रूणि कण्ठ एव समागतानीति तथोक्तवत्यः। अतः सर्वभावेन प्रपन्नाः फलं च प्राप्नुवन्तीति



व्रजस्त्रियो धन्याः । किञ्च । उरुक्रमचिन्तयान्ताः । | देति वक्तुं सर्वदैवोरुक्रमं चिन्तयाना. उरुक्रम
न केवलं कदाचिदेव तासामेवंभावः, किन्तु सर्व- | चिन्तयन्ति ॥१५॥

व्याख्यानार्थ—व्रज की स्त्रियों के गृह के चार कार्य स्वाभाविक ही हैं—१-प्रातः और सायं गायों का दोहना, २-चावल आदि कूटना, ३-दही बिलोना, ४-घर में लेपन करना । उसके अनन्तर बालकों का रोना होता है तब उनको भूले में भुलाना, वृक्ष आदि में पानी देना तथा छोटे पेड़ तुलसी आदि में सींचना, आङ्गन को बुहारी से झाड़ना, इन कामों को करती हुई इस भगवान् के गुणों की गाती है । 'च'देकर यह बताया है कि न केवल गाती ही है, किन्तु स्मरण करती हैं तथा उनकी हृदय में भावना भी करती हैं, जो कुछ करती है वह उनके लिए ही करती हैं । धर्म (घर के काम काज) के परायण हो वे कर्म करती होंगी ? इस पर कहती हैं कि (अनुरक्त धियः) हालांकि गृह के परायण हो कर कर्म करती हैं, किन्तु उनकी बुद्धि भगवान् में अनुरागवाली है । अतः वे कर्म प्रनासक्ति से कर रहीं हैं। यदि कहो कि केवल अनुराग से भक्ति नहीं होती है, क्योंकि केवल अनुराग में उत्कट भाव अभाव है, लौकिक प्रेम वालों के धर्म मार्ग में भी यों है । इस पर कहती है कि 'अश्रुकण्ठ्यः' इनकी आंखों के आंसू कण्ठ में आ गए हैं जिससे कण्ठ गद्गद् हो गया है, अथवा श्रवण वा स्मरण के न होने के कारण अर्न्तदृष्टि होने से उनके आंसू कण्ठ में आ जाते हैं, इस प्रकार की अवस्था होने से निश्चय है कि ये सर्व भाव से भगवान् के शरणागत हुई हैं । जिससे फल पा रही हैं, अतः ये व्रज सीमन्तिनिये धन्य है, अर्थात् भाग्यवाली हैं । विशेष में कहती हैं कि इनको यह भाव केवल कभी कभी नहीं होता है, किन्तु सर्वदा भगवान् का ही चिन्तन करती रहती हैं । जिससे इस प्रकार का भाव भी सर्व काल में बना ही रहता है ॥१५॥

आभास—किञ्च । एतादृश्योपि न केवलं योगिवत् साक्षात्काररहिताः, किन्तु तप-
स्विन इव वरदानार्थमागतं भगवन्तं सर्वदैव पश्यन्तीत्याह 'प्रातर्व्रजाद्व्रजत' इति ।

आभासार्थ—वैसी होते हुए भी योगी के समान केवल साक्षात्कार से भी रहित नहीं है, किन्तु जैसे तपस्विओं को वरदान देने के लिए प्रकट होकर दर्शन देते हैं वैसे ये भी प्रकट भगवान् का सर्वदा दर्शन करतीं रहतीं हैं, जिसका वर्णन 'प्रातर्व्रजाद्व्रजत' श्लोक में करती हैं—

श्लोक—प्रातर्व्रजाद्व्रजत आविशतश्च सायं

गोभिः समं ववण्यतोऽस्य निशम्य वेणुम् ।

निर्गम्य तूर्णमबलाः पथि भूरिपुण्याः

पश्यन्ति सस्मितमुखं सदायावलोकम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—प्रातः काल जब भगवान् गायों को लेकर व्रज में से वन में जाते और सांझ समय, जब बंशी बजाते हुए गायों के साथ लौटते हैं, तब ये अबलाएँ जल्दी घर से निकल बहुत पुण्यवाली होने से मार्ग में इन भगवान् के दया दृष्टि सहित मन्द हास्य युक्त मुखारविन्द का दर्शन करतीं हैं ॥१६॥

भगवन्तं पश्यन्ति । योगिनो हि समागते भगवति पश्यन्ति, एतास्तु अर्धसमागत एवेति विशेषः । अतो भूरिपुण्याः अबला इति । तासां दोषाभावो भूरिपुण्यत्वे हेतूक्तः । किञ्च । सस्मितं मुखं पश्यन्ति । अन्तरानन्दमाविर्भावयत् । तेन यथा भक्तिप्रतिबन्धकमुत्पन्नमपि ज्ञानं निवृत्तं भवति, तादृशं प्रेमानन्द एव प्रयच्छतीति मोक्षादप्यधिकफलत्वमुक्तम् । किञ्च । सद्यावलोकमिति । दयापूर्वकमवलोकनं यस्मिन् । न च वक्तव्यं संसारो न निवर्तिष्यत इति, यतो भगवान् दयया पश्यति, कृतार्था एताः कर्तव्या इति दयया दोषनिवृत्तिः । अवलोकनेन सर्वस्वदानमिति द्वयमुक्तम् ॥१६॥

इस प्रकार के प्रेमानन्द को भगवान् इनको देते हैं, जो मोक्ष से भी अधिक फल वाला है। यों भी न कहना चाहिए कि इनका संसार निवृत्त न होगा, क्योंकि भगवान् इनको दया पूर्वक दृष्टि से देखते हैं, जिससे दया के कारण दोष निवृत्ति हो जाती है तथा अवलोकन से भगवान् इनको सर्वस्व दान करते हैं ॥१६॥

ग्राभासार्थ—मथुरा नगर की स्त्रियों ने इस भगवल्लीला में भगवान् को बहुत परिश्रम हुआ

है, यों कहा, भगवान् उनके वचनों को सहन नहीं कर सके, अतः उसके बाद जो किया वह 'एवं संभाषमाणासु' श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—एवं संभाषणासु स्त्रीषु योगेश्वरो हरिः ।

शत्रुं हन्तुं मनसिक्रे भयद्वान्धरतर्षभ ॥१७॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं—हे भरतर्षभ ! स्त्रियों के ऐसे वचन सुनकर योगेश्वर भगवान् हरि ने शत्रु को मारने का विचार किया ॥१७॥

सुबोधिनी—स्त्रीष्वेवं सम्यग्भाषमाणसु, कुर्यात्, ततः सम्यक् ताडिताः न प्रातरागच्छेयुः, अन्येन ह्यासक्तोपि सर्वात्मत्वात् शृणोत्येव. योगे- तथापि मारणार्थमेव नूतन मनः कृतवान् । ननु श्वरत्वादपि दूरश्रवणदर्शनादेस्तद्धर्मत्वात् दूरा- कथमेवं नूतनं पूर्वसिद्धादधिकं करोतीति चेत्, देव श्रुत्वा हरिस्तासां दुःखहृतां शत्रुं कंसमेव तत्राह भगवानिति । विश्वासार्थं भरतर्षमिति हन्तुं चाणूर तांसीं विषादं वा मनश्चेक्रे । स सेबाधनम् ॥१७॥ ह्यविलष्टकर्मा न मारयेत्, सन्ध्यापर्यन्तं युद्धं च

व्याख्यानार्थ—भगवान् अन्य कार्य में आसक्त थे तो भी सर्व की आत्मा होने तथा योगेश्वर हैं, इससे भी दूर से श्रवण दर्शन आदि उनके धर्म हैं। जिससे उन स्त्रियों ने जो मनोहर अच्छी तरह कहा वह दूर से ही सुन कर हरि होने से उनके दुःख हर्ता हैं। अतः शत्रु कंस को ही मारने के लिए तथा चाणूर को नष्ट करने के लिए अथवा यों करने में उनके (स्त्रियों के) विषाद को नाश करने के लिए विचार किया। वह तो अक्लिष्ट कर्मा हैं, अतः मारने की क्रिया कैसे करेंगे ? सन्ध्या पर्यन्त युद्ध ही करते रहे। युद्ध से अच्छी तरह पीटे हुए वे फिर दूसरे दिन आने की हिम्मत न करें, यों है तो भी मारने के लिए भगवान् ने दूसरा मन बना लिया। यदि पूर्व सिद्ध मन जो कार्य नहीं करता है तो नवीन मन उससे अधिक कैसे करेगा ? इसके उत्तर में शुकदेवजी कहते हैं कि 'भगवान्' ये भगवान् हैं, इनमें सर्व गुण हैं। अतः सब कुछ कर सकते हैं। इस पर विश्वास करने के लिए राजा को 'भरतर्षभ' कहा है ॥१७॥

आभास—ननु तथापि स्त्रीणां वाक्यात् सर्वात्मा कथं तान् मारयितुं प्रवृत्त इति चेत्, तत्राह 'उपश्रुत्ये'ति ।

आभासार्थ—भगवान् सर्व समर्थ हैं, तो भी स्त्रियों के वाक्य सुनकर उनको मारने के लिए कैसे प्रवृत्त हुए ? भगवान् (सर्वात्मा) होने से उनकी भी आत्मा है, अतः उनको मारना नहीं चाहिए, इस शङ्का का समाधान 'उपश्रुत्य' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—उपश्रुत्य गिरस्तासां पुत्रस्नेहशुचातुरौ ।

पितरावन्वतप्येतां पुत्रयोरबुधौ बलम् ॥१८॥

बलमुष्टिकावपि तेनैव प्रकारेण युयुधाते । अन्यो-
न्यमिति द्वन्द्वयुद्धता अनूपदेशश्चोक्तः ॥१६॥



व्याख्यार्थः—बाहु युद्ध के उन उन प्रसिद्ध प्रकारों से अथवा पहले कहे हुए प्रकारों से उससे भी अन्य अनेक भांति से जैसे कृष्ण चाणूर लड़ रहे हैं वैसे ही बल मुष्टिक भी उसी भांति ही लड़ते हैं, श्लोक में 'अन्योऽन्यं' पद से द्वन्द्व युद्ध करने का कहा है ॥१९॥

आभास—अग्रे चाणूरमारणं वक्तुं पूर्वकृतयुद्धस्य वैयर्थ्यं उत्तरत्रापि तथैव भविष्यतीति पूर्वकृतस्य फलमाह 'भगवद्गात्रे'ति ।

आभासार्थ—पहले की हुई युद्ध की व्यर्थता होने से दूसरी भी वैसी ही अर्थात् व्यर्थ होगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए पहले की हुई लड़ाई का फल चाणूर का वध है । जिसका वर्णन 'भगवद्गात्रे' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—भगवद्गात्रनिष्पातैर्वज्रनिष्पेषि-ष्ठुरैः ।

चाणूरो भज्यमानाङ्गो मुहुर्ग्लानिमवाप ह ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् के वज्र समान अवयवों के साथ बार बार रगड़ होने से और कठोर प्रहारों से चाणूर के सब अङ्ग टूट गए, जिससे वह बारम्बार ग्लानि पाने लगा ॥२०॥

सुबोधिनी—भगवतो गात्राण्यवयवाः तेषां निपातैः (निष्पातैः) उपरिपातैः वज्रनिष्पेषात् वज्रेण पेषणादपि पुनः पुनर्घर्षणादपि निष्ठुरैः अतिदुःसहैः चाणूरो भज्यमानाङ्गः मुहुर्वारिवारं	ग्लानिमवाप । हेत्याश्चर्यम् । स हि पूर्वमिन्द्रेण सह युद्धे वज्रे प्रक्षिप्ते वक्षःस्पर्शेनैव तं वज्रं दूरीकृतवान् । तादृशो हि चाणूरः कथं मूर्च्छामवापेति ॥२०॥
--	---

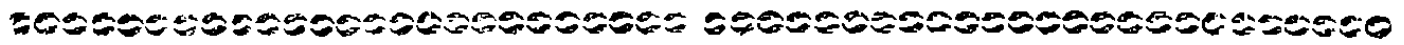
व्याख्यार्थ—वज्र सम अवयवों के साथ बार बार रगड़ने से जो कठोरता होती है, जिससे भी कठोर भगवान् के अवयवों के प्रहारों से जिसके अंग टूट गए हैं; वैसा चाणूर बार बार ग्लानि को प्राप्त हुआ । श्लोक में आया हुआ (ह) आश्चर्य वाचक है । आश्चर्य वाचक (ह) का स्पष्टीकरण करते हैं कि चाणूर का पहले जब इन्द्र से युद्ध हुआ था, जब इन्द्र ने जो वज्र फेंका था तो उस वज्र को छाती से स्पर्श होते ही चाणूर ने फेंक दिया था, वैसा चाणूर अब कैसे मूर्छित हो गया ? यह आश्चर्य है ॥२०॥

आभास—ततो मारणं वक्तुं भगवानक्लिष्टकर्मैति प्रथमं तस्यापराधमाह 'स श्येनवेग' इति ।

आभासार्थ—अक्लिष्ट कर्मा भगवान् चाणूर को मारेंगे, क्योंकि प्रथम चाणूर का ही दोष है, जिसका वर्णन 'स श्येनवेग' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—स श्येनवेग उत्पत्य मुष्टिकृत्य करावुभौ ।

भगवन्तं वासुदेवं क्रुद्धो वक्षस्यबाधत ॥२१॥



श्लोकार्थ—उसने (चाणूर ने) बाज के देग के समान उछल कर, दोनों हाथों की मुट्टी बाँध, क्रोध कर वासुदेव भगवान् के वक्षःस्थल में प्रहार किया ॥२१॥

सुबोधिनी—इयेनवेग इति इयेनादप्यधिको वेगो यस्य । इयेनो हि भ्रातृव्यं निपात्याधत्ते, इयेनःसर्वे सपश्चा विभ्यति, अतस्तत उत्तरय उभावपि करौ मुष्टिकृत्य गदावदेकीकृत्य पृथग्वा मुष्टिद्वयं संयोज्य सर्वेश्वरमगणयन्तं वासुदेव मोक्ष-
दातारम् । अन्यथा भुजाधिष्ठातेन्द्रो न प्रवर्तयेत् ।

मोक्ष दास्यतीति भगवदिच्छया अन्यथा कर्तुम-
शक्ताः कालादयस्तूष्णीं स्थिताः । नन्वन्तर्यामी
कथमेवं प्ररितवांस्तत्राह क्रुद्ध इति । क्रोधेन
व्याप्तस्तथा कृतवान्, न बुद्धिपूर्वक प्रेरितो वा ।
राज्याद्यर्थे लक्ष्मीनिवासभूतमिति संतुष्टात्कंसा-
लक्ष्मीं प्राप्स्यामीति वक्षःस्पर्शमात्रं कृतवान् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—वह बाज से भी अधिक वेगवाला है । बाज भ्रातृव्य (शत्रु) को गिराकर ले जाता है । बाज से सब पक्षी डरते हैं । अतः वहाँ से छलांग मार दोनों हाथों की मुट्टी बाँध कर गदा को भाँति एक कर अथवा अलग अलग एक एक हाथ की मुट्टी बाँध के मोक्षदाता सर्वेश्वर भगवान् का भी आदर न कर बाज की भाँति उनकी छाती पर भपटा यदि यों न होता तो भुजाओं का अधिष्ठाता इन्द्र कभी इस कार्य में प्रवृत्ति न करता । काल आदि देव भी चुप कर के स्थिर हो गए, क्योंकि भगवान् मोक्ष दने, इस भगवान् की इच्छा से अन्यथा करने में असक्त हो गए ।

भगवान् ने अन्तर्यामी होकर ऐसी प्रेरणा कैसे की ? जिसके उत्तर में कहा है कि 'क्रुद्धः' चाणूर ने क्रोध होने से यों किया है, न कि बुद्धि से और न प्रेरणा से कार्य किया है, तो किसलिए किया है ? राजा आदि के लिए अर्थात् यों करने से कस प्रसन्न होकर लक्ष्मी देगा; अतः लक्ष्मी के निवास स्थान भगवान् की छाती का ही स्पर्श किया ॥२१॥

आभास—सोपि स्पर्शस्तस्य द्वयर्थो जात इत्याह 'नाचलदि'ति ।

आभासार्थ—उसका वह स्पर्श दो अर्थ वाला हुआ, जिसका वर्णन 'नाचलत्' दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—नाचलत्तत्प्रहारेण मालाहत इव द्विपः ।

बाह्वोर्निगृह्य चाणूरं बहुशोभ्रामयद्धरिः ॥२२॥

भूपृष्ठे पोथयामास तरसा क्षीणजोवितम् ।

विस्त्रस्ताकल्पकेशस्त्रगिन्द्रध्वज इवापतत् ॥२३॥

श्लोकार्थ—जैसे माला के प्रहार से हाथी डिगता नहीं, वैसे ही भगवान् इसके प्रहार से नहीं डिगे, किन्तु भगवान् चाणूर की दोनों भुजाओं को साथ में पकड़ कर खूब घुमाने लगे, घुमाते हुए पृथ्वी पर पछाड़ दिया, तब उसी वक्त उसके प्राण निकल गए और

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १३० ॥

गहने वेश तथा माला आदि बिखर गए, पड़ते समय ऐसा मालूम हुआ कि इन्द्रध्वज गिरा ॥२२-२३॥

सुबोधिनी—तस्य प्रहारेण ईषदपि चलनं स्पन्दनमपि न प्राप्तवान् । दूरे स्पन्दनं ज्ञातवानपि नेति वक्तुं दृष्टान्तमाह मालाहत इवेति । हस्ती हि अङ्कुशप्रहारमपि न मन्यते का वार्ता माला-प्रहारस्य, ततो भगवांस्तं मारितवानित्याह बाहोनिगृह्येति । यौ बाहू मुष्टीकृत्य भगवति प्रक्षिप्तवान् तावेकहस्तेन गृहीत्वा यथा न मोचयति तथा निगृह्य बहुशो बहुवारमभ्राम्यत् भ्रामित-वान् । यथा क्षेपणीरज्जुः बहुधा भ्राम्यते ॥२२॥

ततः भूपृष्ठे पोथयामास पापाणे वस्त्रमिव पातितवान् । तस्य पुनरुत्थानाभावायाह तरसा क्षीणजीवितमिति । जीघ्रमेव भ्रामणसमय एव क्षीणं जीवित यस्य । भगवान् हि दूरादेव प्रक्षिप्त-वान् नत्वेकं भागं धृत्वा भूमौ ताडितवान्, अत-

स्तस्य भगवद्वस्ताद्विमुक्तस्य भूमौ पतने प्रकारमाह विस्त्रस्ताकल्पकेशस्रगिति । विस्त्रस्ताः इतस्ततः प्रक्षिप्ता आकल्पाः आभरणानि केशाः स्रजो मालाश्च यस्य तादृशो भूत्वा, लक्ष्मीस्थानप्रहारेण लक्ष्मीस्तस्य विमुखेति तत्सम्बन्धिनः पदार्था विशे-षेण स्रस्ताः । ततः इन्द्रध्वज इव । पूर्वमिन्द्रगर्व-नाशो भगवता कृत इति तद्वदस्यापि जातमिति ज्ञापयितुम् । पूर्वदेशे प्रसिद्धः इन्द्रध्वज उच्चैस्तम्भः परितो रज्जुनामाकर्षणेनोत्थापितः यथा रज्जूनां शैथिल्ये गलितवस्त्राद्याभरणाः पतति, तथा काला-दृष्टकर्मादीनां विशकलितत्वेन रक्षकाभावात् शरीरं तत्सम्भयितुमशक्तः भूमावपतत् । मल्ला हि पतन्तोपि स्वशरीरं धारणावशाद्वारयन्ति, तदत्र नाभूदिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तकथनम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—उसके प्रहार से भगवान् थोड़े भी न हिले और न चलायमान हुए । केवल हिलना भी समझ में न आया । इसमें दृष्टान्त देते हैं कि जो हस्ती अङ्कुश के प्रहार को भी नहीं गिनता है वहां माला के प्रहार की क्या बात है ? अर्थात् जिन भगवान् ने हाथियों के देवता इन्द्र का भी गर्व भजन कर दिया, वह भी कुछ न कर सका तो चारणूर के ये हाथ क्या कर सकेंगे ? कुछ नहीं ? अनन्तर भगवान् ने चारणूर की वे दो भुजाएँ जिनकी मुट्टी बांधकर भगवान् पर प्रहार किया था, उनको एक हस्त से इस प्रकार पकड़ लिया जैसे छुड़ा न सके । बाद में बहुत बार उसको ऐसे घुमाने लगे जैसे क्षेपणी रज्जु से बहुत बार घुमाई जाती है ॥२२॥

पश्चात् पत्थर की शिला पर जैसे वस्त्रों को पटकते हैं वैसे ही पृथ्वी पर पटका । पटका तो क्या हुआ फिर खड़ा हो जाएगा ? इसके उत्तर में कहते हैं 'तरसा क्षीण जीवितम्' । घुमाते समय ही जिसका जीवन क्षीण हो गया था, जिससे उठने की शक्ति ही न रही थी, भगवान् ने उसको दूर से ही फेंक दिया था न कि एक भाग को पकड़ कर भूमि पर मारा था । अतः भगवान् के हाथ से छूटकर पृथ्वी पर गिरने का प्रकार कहते हैं कि 'विस्त्रस्ताकल्प केशस्रग्' जहाँ तहाँ जिसके आभूषण, केश और मालाएँ बिखर गई हैं, यों क्यों हुआ ? जिसका कारण कहते हैं कि इसने लक्ष्मी के निवास स्थान पर प्रहार किया । जिससे लक्ष्मी इससे अप्रसन्न हो गई है, अतः लक्ष्मी सम्बन्ध वाले सब पदार्थ जहाँ तहाँ फैल गए । चारणूर कैसे पड़ा ? उसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं । 'इन्द्रध्वज इव' पहले जैसे भगवान् ने इन्द्र के गर्व का नाश किया था, वैसे ही इसका भी मद तोड़ा है । यों बताने के लिए 'इन्द्रध्वज इव' कहा है । पूर्व देश में प्रसिद्ध उच्च स्तम्भ है जिसको रस्सों से खींचकर खड़ा किया गया है । वह



जैसे रस्सों के ढीले हो जाने पर वस्त्र आभरणादिकों के गल जाने से गिर पड़ता है, वैसे ही यह भी काल, कर्म और अदृष्ट के नष्ट होने से तथा रक्षक के अभाव से पृथ्वी पर गिर गया। मल्ल लोग गिरते हुए भी धारणा के वश शरीर को धारण कर लेते हैं। अर्थात् खड़े कर सकते हैं, किन्तु यहां वह भी न हो सका। इसलिए 'इन्द्रध्वज' का दृष्टान्त देकर समझाया है ॥२३॥

आभासा—यथैतस्य भगवता मारणं कृतम् एवं मुष्टिकस्यापि बलभद्रेण कृतमिति वक्तुमाह तथैवेति ।

आभासार्थ—जैसे भगवान् ने इसको मारा, वैसे ही बलरामजी ने मुष्टिक को मारा। जिसका वर्णन 'तथैव' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—तथैव मुष्टिकः पूर्वं स्वमुष्ट्याभिहतेन वै ।

बलभद्रेण बलिना तलेनाभिहतो भृशम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—उसी प्रकार जिस मुष्टिक ने प्रथम बलदेवजी पर अपनी मुष्टिक का प्रहार किया था। जिससे बलशाली बलदेवजी ने भी उसको तल प्रहार से मार डाला ॥२४॥

सुबोधिनी—बलभद्रस्याप्यक्लिष्टकर्मत्वं बोधयितुं पूर्वं मुष्टिकस्यातिक्रम उच्यते । तथैवनेन स्त्रीणां वचनानन्तरं तद्दुःखदूरीकरणाय शत्रुहनेच्छा तथैव गात्रस्पर्शः शत्रोः सर्वाङ्गव्यथा । ततो मारणमिति सर्वमतिदिष्टम् । मारणे प्रकारं वक्तुं पुनर्निरूपणमाह स्वमुष्ट्या अभिहतेन बलेन तलेन चपेटेनाभिहतः भृशम् । प्रवेपित इति । मुखाद्रुधिरमुद्वमन् अत्यन्तमदितः व्यसुः सन् पपात । असावधानत्वाय दृष्टान्तः वाताहत इवेति । चपेटताडनेनैव क्रियाशक्तिस्तस्यापगता बलवता

सजातीयेनोपहतेति । स्वमुष्ट्येति । मुष्टिकनाम्ना तस्य मुष्टिरेव प्रसिद्धा, अत एव तेनाभितो हतः आभिमुख्येन वा । प्रथमपक्षे मुष्टिभिः सर्वाङ्गेषु हननं, द्वितीये तु मुखे वक्षसि वा सकृदेव हननमिति । ननु चपेटमात्रेण कथं हननमित्याशङ्क्याह बलिनेति । अनेन कर्णप्रान्ते मर्मस्थानमिति दैवगत्या हत इति पक्षो व्यावर्तितः । अभितो हत इत्यनेनापि यतो बलमस्य भद्रमेव उपकार्येवेति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—बलभद्र भी अक्लिष्ट कर्मा हैं; यह जताने के लिए कहते हैं कि यहां भी प्रथम मुष्टिक ने ही अतिक्रमण किया है। उसी प्रकार स्त्रियों के वाक्य सुनने के बाद उनके दुःखों को दूर करने के लिए बलभद्र ने भी शत्रु के मारने की इच्छा की। वैसे ही गात्र स्पर्श से शत्रु के सब अङ्गों में व्यथा पैदा कर दी, अनन्तर उसको मार डाला। यह सब समय तथा भाग्य की बात है। अब मारने के प्रकार का फिर वर्णन करते हैं। मुष्टिक ने जब प्रथम अपने घूँसे से बलरामजी पर प्रहार किया, तब बलरामजी ने जोर से थप्पड़ मारी। जिससे वह काँपने लग गया और मुख से रुधिर बहाता हुआ दुःख से प्राण हीन हो, जैसे वायु के झटके से पेड़ गिरता है वैसे ही गिर पड़ा। थप्पड़

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १०० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १०० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १०० ॥

लगनें से ही उसकी क्रिया शक्ति नष्ट हो गई, कारण कि सजातीय बलवान् मल्ल की वह थप्पड़ थी और उससे वह मारा गया ।

मुष्टिक के नाम से उसकी मुष्टि^१ ही प्रसिद्ध थी । इस कारण से ही चारों तरफ अथवा सामने बल को मारा । जिसके दो पहलू हैं, एक घूँसों से सर्व अङ्गों पर प्रहार, दूसरा मुख पर वा छाती पर एक ही बार प्रहार । बल ने केवल थप्पड़ से कैसे मार डाला ? जिसके उत्तर में 'बलिना' विशेषण दिया है । अर्थात् बलरामजी प्रसिद्ध बलशाली हैं । अतः एक ही थप्पड़ से मार डाला । इस विशेषण से थप्पड़ कर्ण के पास मर्म स्थान पर लगने से मरा अथवा प्रारब्ध वैसा ही थी इसलिए मरा । इन दोनों पक्षों का निराकरण किया है, वैसे ही 'अभिहतो' कहकर भी इन पक्षों का निराकरण किया है, कारण कि बलरामजी का नाम 'बलभद्र' इसलिए है कि इनका बल कल्याण करने वाला है । अर्थात् सब का हित ही करने वाला है, इससे थप्पड़ से मुष्टिक का हित ही किया है ॥२४॥

आभास—ग्राहननमात्रेण कथं प्राणोद्गम इति आशङ्क्य प्रकारमाह 'प्रवेपित' इति ।

आभासार्थ—केवल थप्पड़ लगने से कैसे प्राण निकल गए, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'प्रवेपितः' श्लोक कहा है ।

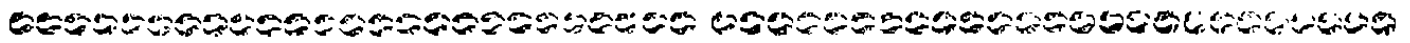
श्लोक—प्रवेपितः स रुधिरमुद्वमन्मुखतोऽदितः ।

व्यसुः पपातोर्व्युपस्थे वाताहत इवाङ्घ्रिपः ॥२५॥

श्लोकार्थ—उसके मुँह से रुधिर बहने लगा और वह काँपने लगा तथा दुःखी हुआ, प्राण निकल जाने से यों पृथ्वी पर गिर पड़ा, जैसे वायु के वेग से पेड़ गिरता है ॥२५॥

सुबोधिनी—प्रवेपित इति । प्रकर्षेणवेपित इति मूर्च्छया परितः कम्पितो जातः, ततोन्तः क्षोभात् आघातेन सर्वाङ्गे रुधिरमेकीभूतं मुखान्निर्गतम्, ततः पीडितो जातः यथा प्राणापगमो	भवति, ततः स्तम्भकस्याभावात् पतितः । बल-क्रियापतनपर्यन्तमपि व्यापृतेति ज्ञापयितुं दृष्टान्त उक्तः, नावयववियोगेन कारणनाशात् पतितः किन्तु बलमूलकारणवायोरेव सामर्थ्यादिति ॥२५॥
---	---

व्याख्यानार्थ—थप्पड़ लगने से ऐसा कम्पन हुआ जो मूर्च्छा आ गई । जिससे अन्तःकरण में क्षोभ हुआ । थप्पड़ की चोट से सकल अङ्ग में रुधिर एक स्थान पर इकट्ठा होकर मुख से बाहर



निकलने लगा । जिससे ऐसी पीड़ा होने लगी जो प्राण निकल गए । रोकने वाला कोई न होने से गिर पड़ा । इसके गिरने तक बलरामजी की क्रिया इसके साथ लगी रही । जैसे वायु का वेग पेड़ के गिरने तक पेड़ को नहीं छोड़ता है, वैसे ही बल की क्रियाशक्ति ने इसको गिरने तक नहीं छोड़ा ॥२५॥

श्लोक—ततः कूटमनुयासं रामः प्रहरतां वरः ।

अवधोज्जीलया राजन्सावज्ञं वाममुष्टिता ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ राम ने समीप आए हुए कूट नाम वाले मल्ल को अपमान के साथ बाएँ हाथ की मुक्ती से मार डाला ॥२६॥

सुबोधिनी—तस्मिन् हते कूटो नाम बहु- कपटाभिज्ञः युद्धे कूटवत् स्थितोपि बलभद्रं ताडितवान् । ततो बलेन लीलयैव हत इत्याह । अत्र न बलव्यापारः किन्तु मल्लरसस्योद्गमनार्थं रमणात्मक इति रसोद्गमार्थमेव, प्रहरतां वर	इति लोलप्रेति च पुरुषकारोपि निरूपितः । राज- न्निति विश्वासार्थं सम्बोधनमलौकिकत्वात् । क्रियाशक्तिप्रधान, राम इति बलनामवत् रामना- म्नोपि सामर्थ्यप्रतिपादकत्वं वक्तुमिदमुक्तम् । ॥२६॥
--	---

व्याख्यार्थ—मुष्टिक के मरजाने के अनन्तर बहुत कपट जानने वाला कूट नाम धारी मल्ल कूट की तरह खड़ा हुआ भी बलभद्र पर प्रहार करने लगा । तब बलरामजी ने लीला से ही उसको भी मार डाला । इसे मारने में बलरामजी का कोई व्यापार ^२ नहीं है, किन्तु मल्ल रस को उत्पन्न करने के लिए एक प्रकार का खेल ही है । 'प्रहरतां वरः' कह कर यह बताया है कि जो कुछ कार्य है, वह इसके लिए लीला है तथा पुरुषार्थ भी निरूपण किया है । हे राजन् ! यह सम्बोधन विश्वास के लिए दिया है, क्योंकि यह लीला अलौकिक है । विश्वास करने पर ही समझ में आती है । 'राम' यह नाम बल नाम की भांति क्रियाशक्ति की प्रधानता वाला है । यह 'राम' नाम सामर्थ्य को प्रति-पादन करने के लिए दिया है ॥२६॥

आभास—एवमुभयोर्वधो बलान्निरूपितः अवशिष्टयोर्वधं भगवतः सकाशादाह 'तह्यैवे'ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार दो का वध बलराम ने किया । शेष जो बचे उनका वध भगवान् ने किया । जिसका वर्णन 'तह्यैव' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तह्यैव हि शलः कृष्णपादापहतशीर्षकः ।

द्विधा विदीर्णस्तोशलक उभावति निपेततुः ॥२७॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२७ ॥

श्लोकार्थ—उसी क्षण शल नामक मल्ल श्रीकृष्ण के चरण प्रहार से भग्न शिर हो गया । जिससे तोशलक मल्ल के भी दो टुकड़े हो गए । इस भाँति ये दोनों ही गिर गए ॥२७॥

सुबोधिनी—न तु बलभद्रव्यापारानन्तरं शल-
तोशलौ हतौ किन्तु यदैव कूटो हतः तह्यैव शलोपि
चतुर्थः कृष्णपादापहतशोर्षको जातः । स हि पादं
धर्तुमागतः क्षिपता पादेन हतः । तस्मिन्नेव
समये तोशलकोपि समागतः । स तु द्विधा विदीर्णः
पदैव । उभयोरपि पदव्यापारः, साक्षाद्भगवता
हताविति वक्तुं एवं वचनमुचितम् । अत्र प्रका-

रान्तरादपि सम्भवति कृष्णपादापहतं दूरं प्रक्षिप्तं
शिरो यस्य तादृशः शलो जातः । तेन द्विधा
विदीर्णः । तस्य शिरसा तोशलको हतः । द्विधा
विदीर्णः प्रदरवत्, न तु भगवत्पदा हत इति ।
अर्थद्वयेपि उभावपि निपेततुः सकृदेव, एको
विदीर्णः, एकस्तिर्यक् द्विधा जात इति विशेषः ।
॥२७॥

व्याख्यानार्थ—वलभद्र के कार्य करने के अनन्तर शल और तोशल न मरे किन्तु जब ही कूट मरा तब ही चौथे शलका भी कृष्ण के चरणारविन्द के प्रहार से मस्तक गिरा । वह प्राणा तो था भगवान् के पैरों को पकड़ने के लिए, किन्तु पैर पकड़ते ही जो भगवान् ने पैर को उछाला तो उससे उसका शिर गिर गया । उसी समय तोशलक भी आ गया, वह तो भगवान् के पैर से दो टुकड़े में हो गया । दोनों के मरने में पाद का ही कार्य हुआ । ये वचन इसलिए कहे हैं कि इनकी मृत्यु साक्षात् भगवान् के द्वारा ही हुई है । इसका अर्थ दूसरे प्रकार से करते हैं कि भगवान् के चरणारविन्द के उछालने से शल का शिर दूर जाके गिरा । उसके शिर से तोशलक के प्रदर की भाँति दो टुकड़े कर दिये, तोशलक भगवान् के चरण से नहीं मरा । दोनों प्रकार के अर्थ का तात्पर्य यह है कि दोनों एकबार ही गिरे, एक चिर गया और एक टेढ़े बाँके दो टुकड़े होके गिरा । उनके गिरने में यह विशेषता थी ॥२७॥

आभास—एवं भगवतोक्लिष्टकर्मत्वं निरूपितम् । 'चाणूर' इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् का अक्लिष्ट कर्मपन बताया है—

श्लोक—चाणूरे सुष्टिके कूटे शले तोशलके हते ।

शेषाः प्रदुद्रुमुमल्लाः सर्वे प्राणपरीप्सवः ॥२८॥

श्लोकार्थ—चाणूर, मुष्टिक, कूट, शल और तोशलक के मर जाने पर शेष रहे सब मल्ल प्राण बचाने की इच्छा से भाग गए ।

सुबोधिनी—गणना हतानामभिज्ञानार्था ।
पञ्चानां मध्ये एकस्मिन्नपि प्राणे स्थिते यथा देहो
नापगच्छति, तथा शिष्टा मल्ला नापगच्छन्तीति ।

ततः सर्वे स्वप्राणरक्षकाः घनप्राप्त्याशां दूरीकृत्य
प्रकर्षेण दुद्रुवुः । अयुद्धे कंसाद्भयम्, युद्धे तु
भगवत इति पलायनमेव शरणम् । अन्येषां वीरा-



एवमपि पलायन मा भवत्विति मल्लग्रहणम् ।
सावशेषे शिष्टानां युद्धं कर्तव्यमिति सर्वग्रहणम् ।
ननु सर्वैरेव स्वपौरुषं प्रदर्शनीयम्, कथमतिक्रम
इति चेत्, तत्राह हतेषु प्राणपरोप्सव इति । यदि

चाणूरादीन् हन्यात्, तदा अन्येपि युद्धचेरन् । न
हि वीरा इव मल्लाः प्राणनिरपेक्षं यतन्ते । परि-
पालयितुमीप्सवः परोप्सवः ॥२८॥

व्याख्या—कितने वा कौन २ मरे यह जताने के लिए श्लोक में नाम देकर गणना की गई है। जो पांच मरे हैं, उनमें से यदि एक में श्वास होता तो जैसे श्वास रहने पर देह नहीं जाती है वैसे बचे मल्ल भी नहीं भागते। एक भी नहीं बचा, इस कारण से सब अपने प्राणों के रक्षक थे। अतः धन प्राप्ति की आशा छोड़ जोर से भाग गए। उन्होंने समझा कि लड़ेंगे नहीं तो कंस क्रोध करेगा और लड़ाई करेगे तो (भगवान् का भय) अर्थात् भगवान् मार डालेंगे। अतः भागजाना ही रक्षा का मार्ग है। श्लोक में 'मल्ल' शब्द इसलिए दिया है कि केवल मल्ल भाग गया अन्य दूसरे वीर नहीं भागे। यदि थोड़े मल्ल भागते, कुछ नहीं भी भागते तो बचे हुए मल्लों को भगवान् से युद्ध करना पड़ता; इसलिए कहा है कि सब मल्ल भाग गए। यदि यों कहो कि भागे क्यों? सब को अपनी २ शूरवीरता दिखानी चाहिए थी, इस कर्तव्य का उल्लङ्घन क्यों किया? इस शङ्का के निवारण के लिए कहते हैं कि उन्होंने देखा कि ये मारे गए हैं और यदि हम ठहरेंगे तो हम भी मरेगे, इसलिए प्राण बचाने की इच्छा में शेष रहे हुए सब भाग गये। जो चाणूरा आदि न मरे होते तो अन्य भी लड़ते। वीर प्राणों की परवाह नहीं करते हैं, किन्तु मल्ल वैसे नहीं हैं, मल्ल तो प्राणों की रक्षा के इच्छुक होते हैं, प्राण बचाना चाहते हैं; अतः भाग गए ॥२८॥

आभास—ततो भगवांस्तुल्यबलैः क्रीडिष्याम इति पूर्वमेव प्रतिज्ञानात् तेषु गतेष्वपि राजप्रीतिश्चिकीर्षितत्वात् गोपैः सह मल्लयुद्धं कृतवानित्याह 'गोपान्वयस्यानि'ति ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् ने, समान बलवालों से खेलूंगा, पहले ही यों कहा था। अतः शेष मल्लों के भाग जाने पर गोपों के साथ कुश्ती करने लगे, क्योंकि भगवान् को राजा का प्रसन्न करने की इच्छा थी। जिसका वर्णन 'गोपान्वयस्यानाकृष्य' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—गोपान्वयस्यानाकृष्य तेः संसृज्य विजह्लतुः ।

वाद्यमानेषु तूर्येषु वल्गन्तौ रतनूपुरौ ॥२९॥

श्लोकार्थ—तब अपने मित्र गोपों को खींच उनसे मिलकर खेलने लगे, उस समय बाजे बाजते थे और आपके कूदने से नृगर झनझनाहट करते थे। २९॥

सुबोधिनी—वयस्याः समानवयसा प्रीत्या कालकृततुल्यबलाः तेषु किञ्चिद्भ्रीता इत्यालक्ष्य आकृष्य स्वयं हस्ते धृत्वा समाकृष्य विजह्लतुः । ननु भगवान् न विहरणार्थं प्रवृत्तः, नापि कंसस्यै-

तदभिप्रेतमिति किमिति विजह्लतुः, प्रतिज्ञा तु पूर्व तैः सह युद्धनिषेधार्था, न तु बालैः सह युद्धार्थापि, उभयत्र तात्पर्यं वाक्यभेदप्रसङ्गात् प्रकरणं नियामकमिति इतरनिषेधो वक्तव्य एवेति चेत्,



तत्राह वाद्यमानेषु तूर्येष्विति । तेषु हतेष्वपि मल्लानां रसजनकानि तूर्याणि वाद्यपानान्येव जातानीति निमित्तस्य विद्यमानत्वात् लोकप्रतीत्यर्थं लीलया कस्यापि संतोषो न जात इति

लोकानां प्रीत्यर्थं तथा कृतवन्तौ । किञ्च । वलन्तौ शब्दं कुस्तः मल्लानां जयख्यापकम् । किञ्च । स्तनूपुरौ च जातौ । नूपुरयोरपि जयख्यापकत्वं लोकसिद्धम् ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—समान आयु से एवं प्रीति से मित्र काल ने जिनमें ममान बल किया है, वैसे गोपों ने उनको अपने हाथ से खींचा, क्योंकि वे भी कुछ डरे हुए थे । खींच आने के बाद दोनों खेलने लगे । भगवान् खेलने के लिए यहां नहीं आए थे और कस को भी यह अभिप्रेत^१ नहीं था, तो फिर क्यों खेलने लगे ? पहले उनके^२ साथ न लड़ने के लिए प्रण किया था न कि बालकों के साथ युद्ध के लिए भी, वाक्य के भेद के प्रसङ्ग से दोनों तरफ तात्पर्य होता है । यदि कहो कि प्रकरण ही नियामक है, इससे दूसरे का निषेध कहना ही चाहिए, जिसका उत्तर देते हैं कि उन मल्लों के मरजाने पर भी, मल्लों को रस उत्पन्न करने वाले बाजे बाजते हो रहे । यह फिर कुस्ती करने का निमित्त कारण लोगों के प्रतीति के लिए मौजूद हो था । अब तक जो कुस्ती का खेल हुआ, उससे किसी को भी सन्तोष न हुआ । अतः लोगों को प्रसन्न करने के लिए मल्लों के जीत के शब्द करने हुए खेलने लगे । भगवान् के नूपुरों की भनभनाहट भी जय को बताने वाली ध्वनि थी, यह लोक में प्रसिद्ध ही है ॥२६॥

आभास—एतद्यदर्थं कृतं तज्जातमित्याह ।

आभासार्थ—यह कार्य जिसलिए किया वह हुआ, जिसका वर्णन 'जनाः प्रजहृषुः' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—जनाः प्रजहृषुः सर्वे कर्मणा रामकृष्णयोः ।

ऋते कंसं विप्रमुख्याः साधवः साधुसाध्विति ॥३०॥

श्लोकार्थ—राम कृष्ण का चरित्र देख कंस के सिवाय सब लोग प्रसन्न हुए । मुख्य विप्र तथा साधु लोग धन्य-धन्य शब्द कहने लगे ॥३०॥

सुबोधिनी—जनाः प्रजहृषुरिति । जनाः प्रकर्षेण जहृषुः हर्ष प्राप्ताः । सर्व इति । अष्टविधाः मल्लकंसव्यतिरिक्ताः । रूपेण तथा जाता भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह कर्मणेति । रामकृष्णयोरुभयोरपि मल्लवधलक्षणेनालौकिकेन कर्मणा । सांप्रतं बालैः सह मल्लयुद्धलक्षणेन वा । पूर्वकर्म तूद्वेजकमिति न रसोत्पादकम् । कंसस्यापि सुखमाशङ्क-

याह ऋते कंसमिति तत्रापि ये विप्रमुख्याः, ये वा साधवः भगवत्पराः साधुसाध्विति वदन्तो जहृषुः । कायिकव्यापारो दर्शनमेव, हर्षो मानसः, वाचनिकी प्रशंसेति सर्वथा तेषां हर्षो निरूपितः । हीनानां प्रशंसाकरणमयुक्तमिति विप्रश्रेष्ठाः साधवश्च गणिताः ॥३०॥


~~~~~

व्याख्यानार्थ -- जनता अन्यन्त प्रसन्न हुई । वहाँ आठ प्रकार की जनता थी । कंस के सिवाय वह समग्र प्रसन्न हुई । भगवान् के रूप को देखकर जनता प्रसन्न हुई हांगी, यों कोई समझे तो उस भ्रम को मिटाने के लिए कहते हैं कि रूप से नहीं, किन्तु उन दोनों के मल्ल वध रूप अलौकिक कर्म से जनता प्रसन्न हुई, वा बालकों से युद्ध क्रीड़ा करते समय मल्ल-युद्ध के दाव पेच देखकर प्रसन्न हुई । चाणूर आदि से लड़ना तो मन को दुःखी करनेवाला था, जो रस को पैदा करने वाला नहीं था । कंस तो प्रसन्न हुआ होगा, ऐसी शङ्का किसी को हुई हो तो उसको मिटाने के लिए श्लोक में स्पष्ट कहा गया है कि 'ऋते कंसः' कंस के सिवाय अन्य सर्व प्रसन्न हुए । उनमें भी मुख्य ब्राह्मण और साधु अर्थात् भगवत्परायण जो थे, वे धन्य हैं, धन्य हो, यों कहते हुए अपनी प्रसन्नता प्रकट करने लगे । शरीर का व्यापार दर्शन ही है, मन का व्यापार हर्ष है, वाणी का व्यापार प्रशंसा है, यों कहकर यह बताया कि इनको सर्व प्रकार हर्ष प्राप्त हुआ । यदि कोई साधारण हीन प्रशंसा करे तो वह योग्य नहीं । अर्थात् उस प्रशंसा का कुछ आदर नहीं । अतः कहा है कि श्रेष्ठ ब्राह्मण और साधुओं ने प्रशंसा की है, जिससे उसकी योग्यता तथा महत्ता लोक में प्रसिद्ध हुई ॥३०॥

आभास—मध्ये कियत्कालं यावता गोपैः सह युद्धम्, तावच्चिन्ताकुलो विचारमूढः स्थितः, पश्चात्पुनर्देत्यावेशेन बहिर्मुखो जात इति निवारणादिकं कृतवानित्याह 'हतेष्व'ति ।

श्राभासार्थ— बीच में कितने ही समय तक जब कि गोपों से कुश्ती हो रही थी, तब तक कंस चिन्ताकुल तथा विचार मूढ़ हुआ बैठा था, पीछे फिर दैत्य के आवेश से वहिर्मुख हुआ, जिससे बाजे बजाना आदि सब बंद करा दिए, जिसका वर्णन 'हतेषु मल्लवर्षेष्ु' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—हतेषु मल्लवर्षेषु विद्रुतेषु च भोजराट् ।

निवारयत्स्वतूर्याणि वाक्यं चेदमुवाच ह ॥३१॥

**श्लोकार्थ—**कितने ही मल्ल मर गए और कितने ही भाग गए, तब कंस ने अपने बजते हुए बाजों को बन्द करा दिया और यह वाक्य कहने लगा ॥३१॥

सुबोधिनी—केचन हताः, केचन विद्रुताः, तथापि प्रसिद्धतयैव अपकारः कर्तव्य इति विचारितवान् । यतो भोजराट् । आदौ निमित्तं दूरीकृतवानित्याह निवारयत्स्वतूर्याणीति । न्यवारयदिति वा । इदमग्रे वक्ष्यमाणं बाक्यं चोवाच । चकाराद्युद्धार्य सावधानोपि जातः । कपटलीला स्वेनैव निराकृता, ईश्वरत्वं चाविष्कृतवान् ।

तथा सति यदि तयोर्वरं दद्यात्, तूष्णीं वा अन्त-  
र्गच्छेत्, तदा न काचिच्चिन्ता स्यात् । अक्लिष्टकर्मा  
हि भगवान्, वसुदेवं मोचयित्वा नयेत्, स्थाप-  
येद्वा । ‘भक्तद्रोहे वधः स्मृत’ इति भगवत्प्रतिज्ञेति  
अक्लिष्टतासिद्धयर्थं वक्ष्यमाणमुक्तवान् । हेत्या-  
श्रयः । एतावदपि दृष्ट्वा पुनर्निर्लज्ज आज्ञापयतीति ।

113911

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १०० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १०० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १०० ॥

व्याख्यानार्थ—कितने ही मरे और कितने ही भाग गए, यों देख कर भी कंस ने विचार किया कि अब तक तो कपट से अपकार कराया, किन्तु अब प्रसिद्ध रीति से इनका अपकार कराना चाहिए, क्योंकि यह भोजराज है। प्रसिद्ध अपकार में प्रथम जो बाजे बज रहे थे वे बंद करवाए तथा आगे के वचन कहने लगा। 'च' शब्द का आशय है कि युद्ध के लिए भी सावधान हो गया। कपट लीला आपने ही खतम कर दी और अपना ईश्वरत्व प्रकट कर दिखा दिया। वैसा होने पर यदि दोनों को प्यार करे, अथवा चुपचाप भीतर चला जावे, तब तो कोई चिन्ता नहीं थी। कारण कि भगवान् तो अलिकष्टकर्म है, वसुदेव को ले जावे अथवा वहां ही ठहरावे। भगवान् की प्रतिज्ञा है कि जो भक्त का द्रोह करे, उसका वध होना चाहिए। यह भगवान् की इच्छा बिना विलम्ब कर्म करने से ही सिद्ध हो जावे, अतः कंस स्वयं निम्न वचन कहने लगा। इसलिए 'ह' शब्द आश्चर्य अर्थ में दिया है। अर्थात् कंस स्वयं अपने वध के लिए ऐसे शब्द कहता है। जिससे उसका वध निश्चित होता है, अतः आश्चर्य है। इतना दोनों आताश्यों का पराक्रम देखकर भी निर्लज्ज होकर फिर भी आज्ञा देता है ॥३१॥

आभास—तस्यायुक्तवचनान्याह 'निःसारयते'ति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—उसने (कंस ने) जो अयोग्य वचन कहे, उनका 'निःसारयत' से दो श्लोको में वर्णन करते हैं—

श्लोक—कंस उवाच—निःसारयत दुर्वृत्तौ वसुदेवात्मजौ पुरात् ।

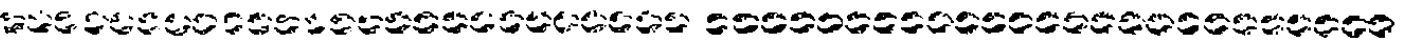
धनं हरत गोपानां नन्दं बध्नोत दुर्मतिम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—कंस ने कहा—वसुदेव के इन दुराचारी पुत्रों को नगर से बाहर निकाल दो, गोपों का धन लूट लो, दुर्बुद्धि नन्द को कैद करो ॥३२॥

सुबोधिनी—भगवति तत्संबन्धे च लोके दोष-प्रतीतिव्यावृत्त्यर्थं कपटेन वदति, यतो दुर्वृत्तौ वाली च । न हि मारणं उचितम्, युद्धदर्शनार्थमेव परमाकारितौ । वसुदेवस्यैवतौ । अतो भागिने-याविति निःसारणमेव कुर्वन्तु । गोपानां च धनं हरत । धनेन तैः पोषिताविति । नन्दः अस्मदी-योपि भिन्नपक्षो जात इति बध्नोत । ननु कोप-

राधो नन्दस्य, स हि स्वपुत्रत्वेन जानाति, नत्व-न्यथेति चेत्, तत्राह दुर्मतिमिति । दुर्बुद्धिरयम् । विलक्षणं पुत्रं दृष्ट्वा स्वस्माज्जातः कथमेवं भविष्यतीत्याशङ्कायां राज्ञे खलु निवेदनीयम्, विचारकाणां चतुराणामेषा रीतिरिति, तदकरणात् दुर्मतिः । अतस्तस्य बन्धनमेव दण्डः ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् तथा उनके सम्बन्धी लोक में जो दोष की प्रतीति हो रही है, उसको निकालने के लिए छल से कंस कहने लगा कि इन दोनों वसुदेव के पुत्रों को निकाल दो, क्योंकि ये दुराचारी हैं। इनको मारना उचित नहीं है, कारण कि मैंने युद्ध देखने के लिए बुलाए हैं और वसुदेव के पुत्र होने से मेरे भागिनी के पुत्र हैं। इसलिए इनको नगर से निकालना ही योग्य है। गोपों का धन छीन लो, उनके धन से ही ये दोनों पोषित हुए हैं। हालांकि नन्द अपना ही है; तो भी अन्य पक्ष में चले जाने के कारण इसको भी बांध लो। यदि कहो कि नन्द ने कौनसा अपराध किया है? वह



तो इनको अपना पुत्र जानता है, न कि पराया जानता है। उसके उत्तर में कहता है कि यह 'दुर्मति' है। इसकी बुद्धि श्रेष्ठ नहीं है, बल्कि दुष्ट है; क्योंकि जब नन्द ने देखा कि यह विलक्षण पुत्र है, मेरे जैसे लक्षणों वाला नहीं है, तो यह मुझ से पैदा हुआ पुत्र कैसा कैसे होगा? ऐसा विचार कर राजा को कहना था कि देखो यह विलक्षण बालक कैसे उत्पन्न हुआ है? जो विचार करने वाले है और जो चतुर पुरुष है, उनकी यह रीति है। जो न करने के कारण समझा जाता है कि यह दुष्ट बुद्धि वाला है, अतः इसको कैद करना ही दण्ड है ॥३२॥

**आभास—**वसुदेवस्तु मुख्योऽपराधी, अतोऽस्माद्विशेषमाह 'वसुदेव' इति ।

**आभासार्थ—**वसुदेव तो मुख्य अपराधी है, अतः इससे विशेष 'वसुदेव' श्लोक में कहते हैं—

**श्लोक—**वसुदेवस्तु दुर्मथा हन्यतामाश्वसत्तमः ।

उग्रसेनः पिता चापि सानुगः परपक्षगः ॥३३॥

**श्लोकार्थ—**अति नीच दुर्बुद्धि वसुदेव को शीघ्र मार डालो और अनुचरों सहित पिता उग्रसेन को भी मार डालो; क्योंकि यह भी शत्रु के पक्ष में हो गया है ॥३३॥

**सुबोधिनी—**तुशब्देन बन्धनपक्षं व्यावर्तयति दुर्मथा इति । स्वयमष्टमो मया आनेय इति प्रतिज्ञायापि नानोतवान् कंस एव मारणीय इति च कपटं कृत्वान्यत्र स्थापितवान् । अतो हन्यतामाश्वित्यविचारेण । सतां बन्धूनां हननं निषिद्धमिति चेत् तत्राह असत्तम इति । सर्वोपास्यराजहननार्थं

कृतप्रयत्न इति । नन्वेवं सति यादवाः सर्वे त्वां मारयेयुरिति चेत्, तत्राह उग्रसेन इति । यद्यपि पिता तथाप्युग्रसेनो हन्तव्यः, सानुगो देवकसहितः, स एव परपक्षग इति । अन्ये अराजकभयात्साधारणत्वाद्वा नापकरिष्यन्तीति भावः ॥३३॥

**व्याख्यानार्थ—**'तु' शब्द कह कर बन्धन का तरीका बतलाता है। यह वसुदेव दुष्ट बुद्धिवाला है; क्योंकि आठवाँ बालक मैं स्वयं ले आऊँगा, ऐसी प्रतिज्ञा कर के भी उसको नहीं लाया, उस (बालक) से कंस को ही मरवाना योग्य है; इस विचार से कपटकर बालक को दूसरे स्थान पर स्थापित कर दिया। अतः शीघ्र हो बिना कुछ विचार करने के, इसको मार डालो। सत्पुरुष बान्धवों को मारने की शास्त्र में आज्ञा नहीं है, बल्कि निषेध है। अतः इसको नहीं मारना चाहिए। यदि कोई यों कह दे उसका उत्तर स्वयं देता है कि 'असत्तम' बहुत ही नीच हैं। जिसमें हेतु यह है कि जिस 'राजा' को समग्र प्रजा पूज्य मानती है, उस राजा को मरवाने के लिए उसने यह प्रयत्न किया है। यदि तुम यों करोगे तो सर्व यादव मिल कर तुम्हें मारेंगे। इस पर कहता है कि उग्रसेन, जो कि पिता है, तो भी उसको देवक सहित मार डालो, वह भी शत्रु पक्ष में है। यों करने से दूसरे अराजक होने से डर जाँगे तथा दूसरे साधारण हैं, कोई अपकार न कर सकेंगे, कहने का यह तात्पर्य है ॥३३॥

अभास—स्वाग्रे स्वाधिकबलानां हननं दृष्ट्वापि दुर्बुद्धिः अनुनयं परित्यज्य विपरीतं वदति, अतो मारणोय इति तस्य दोषं त्याजयितुं मारणार्थं प्रवृत्त इत्याह । एवं विक-  
त्थमान इति ।

आभासायं—अपनी आँखों के सामने अपने से भी अधिक बलवालों का मरना देखकर भी दुष्ट बुद्धिवाला कंस विनय त्याग कर विपरीत कहने लगा, अतः यह मारने योग्य है । यों समझ भगवान् इसके दोष छुड़ाने के लिए इसके मारने में प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन 'एवं विकल्पमान' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—एवं विकथ्यमाने वै कंसे प्रकुपितोऽव्ययः ।

लघिम्नोत्पत्य तरसा मश्वमुत्तुङ्गमारुहत् ॥३६॥

**श्लोकार्थ—**इस प्रकार कंस के प्रलाप (ग्रण्ड-बण्ड बकने) करने पर भगवान् कोप कर, फूर्ति से क्रुद्ध, जल्दी ऊँचे मश्व पर चढ़ गए ॥३४॥

सुबोधिनी—रजकतुल्योयं कंसः । कं प्रति सः, न कमपीति । एवं वदतीति अधिक्षेपविषयत्वात्, अव्ययः स्वतो भयाभावात्, प्रकुपितः भक्तानाम-पकारश्रवणात्, लघिम्ना मल्लविद्यायामिवोत्पतनः, प्रकारेण उत्तुङ्गं स्थूलं मञ्चमारुहत् । यत्र कंस-स्तिष्ठति । अयं हि ततोऽधः पातनीयः, उच्चस्थानो-पवेशनाद्यतो वल्गति ॥३४॥

**व्याख्यानार्थ—**यह कंस रजक के समान है । अतः अप्रपञ्चबन्धन किसके प्रति बोलता है और किसके प्रति नहीं बोलता है ? इस प्रकार रजक के समान तिरस्कार के वचन कहते हुए कंस को देख, निर्भीक तथा भक्तों के अपकार श्रवण से कुपित अविकारी भगवान्, जैसे मल्ल विद्या में क्रुदन कहा है, वैसे क्रुद कर भारी मञ्च पर चढ़ गए, जहाँ कंस स्थित था, वहाँ क्रुद कर भगवान् इसलिए गए कि यह उच्च स्थान पर बैठा है, इसलिए यह बक-बक कर रहा है, अतः इसको नीचे पटकना चाहिए ।

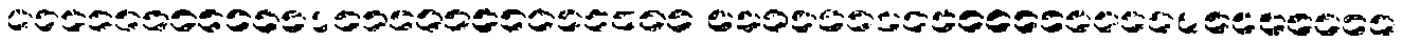
**आभास--**ततो यज्जातं तदाह 'तमापतन्तमि'ति ।

आभासार्थ—उसके अनन्तर जो कुछ हुआ, उसका वर्णन 'तमापतन्तमालोक्य' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तमापतन्तमालोक्य मृत्युमात्मन आसनात् ।

मनस्वी सहसोत्थाय जगृहे सोऽसिचर्मणी ॥३५॥

**श्लोकार्थ—**उसने अपनी मृत्यु को पास आते देख भट आसन से उठ वीर कंस ने ढाल और तलवार हाथ में ले ली ॥३५॥



सुबोधिनी—उपयगित्य पतन्तम्, तदानीमपि यदि प्रपन्नो भवेत् तदापि न मारयेदिति सूचयितुं तत्रापि तस्यातिक्रम उच्यते । स हि पूर्वमेव तमात्मनो मृत्युत्वेन श्रुतवान्, तथापि मनस्वी शूरः । शूराणामन्तकाले शौर्यमाविर्भवतीति, तदा

आसनात्सहस्रोत्थाय आसने उपवेशनमयुक्तमित्याशङ्क्य स्वधर्मविध्यर्थं युद्धे च मरणं क्षत्रियस्योक्तमिति । स्वधर्ममिव खड्गचर्मणी जगृहे निकटे तयोरेवोपयोगात् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—कंस ने देखा कि कृष्ण मुझे मारने के लिए यहां मेरे निकट आगया है, तो भी भगवान् की शरण नहीं ली । यदि तब शरण में चलाजाता तो न मारते, इससे यह सूचित होता है कि वहां उस समय भी कंस अतिक्रमण करने लगा । कंस ने पहले ही सुन लिया था कि यह मेरा काल है, तो भी डरकर शान्त हो, विनय नहीं की, क्योंकि शूर है, शूरवीरों के अन्दर अन्तकाल में भी शूरवीरता उत्पन्न होती है । तब आसन से उठा, क्योंकि समझा कि अब आसन पर बैठे रहना अयोग्य है । युद्ध में मरना क्षत्रिय के लिए धर्म की आज्ञा है ! अतः स्वधर्म के अनुसार तलवार और ढाल को ले लिया, क्योंकि समीप के युद्ध में तलवार और ढाल ही उपयोगी होते हैं ॥३५॥

आभास—ततो युद्धार्थं यतमानं तं विलोक्य अन्तरिक्षे च युद्धमयुक्तमिति भूमावुत्पन्नत्वात् भूमौ पातयितुं गृहीतवानित्याह 'तं खड्गपाणिमि'ति ।

आभासार्थ—पश्चात् लड़ाई का यत्न करते हुए उसको देख, ऊपर लड़ाई करना योग्य नहीं है, पृथ्वी पर ही योग्य है, अतः पृथ्वी पर गिराने के लिए उसको पकड़ा जिसका वर्णन 'तं खड्गपाणि' श्लोक में करते हैं—

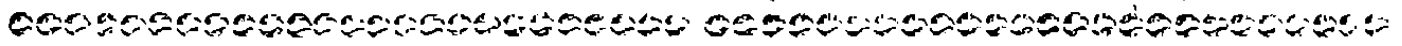
श्लोक— तं खड्गपाणिं विचरन्तमाशु श्येनं यथा दक्षिणसव्यमम्बरे ।

समग्रहीदुर्विषहोयतेजा यथोरगं ताक्ष्यसुतः प्रसह्य ॥३६॥

श्लोकार्थ—खड्ग हाथ में लेकर जैसे आकाश में बाज इधर-उधर घूमता है, वैसे घूमते हुए कंस को असह्य और उग्रतेजवाले भगवान् ने वैसे बलात्कार से पकड़ लिया, जैसे गरुड़ सर्प को पकड़ता है ॥३६॥

सुबोधिनी—तस्य महत्वाय युद्धकौशलमाह । आशु विचरन्तं श्येनमिव, अलौकिकी शिक्षा तदीयोक्ता, स ह्युपरि पतन्नेव दृष्टः अम्बरे च, अम्बर एव तं गृहीतवान् । ननु प्रहारात्कथं न भयं तत्राह दुर्विषहः दुःखेनापि विशिष्टं सहो यस्य, असह्यं वा उग्रं तेजो यस्य, अग्रे वा सवपिक्षया तेजो

यस्य, प्रभावसामर्थ्ययोर्विद्यमानत्वात् न भयम्, अत एव तेजःसामर्थ्यात् न शस्त्रप्रक्षेपः ग्रहणसिद्धिश्च । कालात्मा भगवान् तं मारणार्थमेव गृहीतवानिति दृष्टान्तमाह यथोरगं ताक्ष्यसुत इति । प्रसह्य बलात्, अनेन तस्य शरीरव्यापारः प्रतिक्लृप्तः सूचितः ॥३६॥



व्याख्यार्थ—उसकी महत्ता दिखलाने के लिए उसके युद्ध की कुशलता का वर्णन करते हैं—दाज के समान शीघ्र फिरने वाले यह उसकी अलौकिक शिक्षा कही, उसको ऊपर वा आकाश में कूदते देखा, भगवान् ने आकाश में ही उसको पकड़ लिया। कंस के हाथ में तलवार है; वह प्रहार करेगा, इससे क्यों नहीं डरे ? इसके उत्तर में 'दुर्विषहोग्रतेजा' दो विशेषण भगवान् के दिए हैं, भगवान् कंस भी प्रहार को सहन कर सकते हैं, तथा आपका सब से बड़ कर उग्र तेज है जिसको देख सामने वाले स्वतः डर जाते हैं। प्रभाव तथा सामर्थ्य दोनों के विद्यमान से आप निडर है। अतः तेज के सामर्थ्य के कारण कंस शस्त्र चला नहीं सका तथा भगवान् ने पकड़ लिया जिसमें कोई बाधा न हुई। इस वक्त भगवान् कालात्मा होकर उसको मारने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। अतः उसको बल से वैसे पकड़ लिया जैसे गरुड़ सर्प को पकड़ता है। इससे उसके शरीर के व्यापार को प्रतिकूलता की सूचना दी है ॥३३॥

आभास—तथापि गृहीत इति तस्याग्रेपि विनयार्थं सामर्थ्यं प्रदर्शितवान्, तथाप्य-  
विनीतं पातितवानित्याह 'प्रगृह्ये'ति ।

आभासार्थ—यद्यपि उसको पकड़ कर उसके आगे अपनी सामर्थ्य इसलिए दिखाई कि अब भी यह विनय करे तो ठीक है, किन्तु तो भी यह अनम्र ही रहा। अतः उसको मन्त्र से गिरा दिया जिसका वर्णन 'प्रगृह्य' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—प्रगृह्य केशेषु चलत्किरीटं निपात्य रङ्गोपरि तुङ्गमञ्चात् ।

तस्योपरिष्ठात्स्वयमब्जनाभः पपात विश्वाश्रय आत्मतन्त्रः ॥३७॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने मन्त्र पर चढ़ते ही इस प्रकार कंस के केशों को पकड़ लिया जिससे कि उसका मुकुट गिर गया। अनन्तर उसको ऊँचे मन्त्र में अखाड़े में पटका तथा आप, जो सर्व जगत् के आश्रय, स्वतन्त्र और कमलनाभ हैं, वे उसके ऊपर आ पड़े ॥३७॥

सुबोधिनी—स हि भगवता स्पृष्टोऽपि न किन्तु केशेषु गृहीतः । वैयग्र्यसूचनायाह चलत्किरीटं यथा भवतीति । ततः सर्वथा सञ्जीकृतं रङ्गस्थानमिति स्वपदेन पवित्रमिति भगवदीयरूपसिद्धयर्थं तुङ्गमञ्चात् रङ्गोपरि निपात्य स्वयमपि तदुपरि पतितः । यथा अनवहितौ ततः पतितौ भवतः तथा लोकप्रतीतिर्जनिता । तत्क्रियायां स्वयमपि व्यापृत इति न विलष्टकर्मत्वम् । नन्वेवं कथं पातलक्षणमपूर्वं साधनं कृतवान् । न हि शत्रुमारणे स्वयमात्मा साधनत्वेन नियुज्यते तथाह अब्जनाभ

इति । स हि कमलनाभो मूलकारणं स्वात्मानमेव सर्वत्र निशुङ्क्तं तथात्रापि । अनेनालौकिकपक्ष-करणदोषोपि निवारितः । सर्वेषां च पितृत्वेनोद्धारोपि कर्तव्य इति तथा कृतवानित्यर्थः । विश्वाश्रय इति । तस्य भारेणैव मारणं कृतमिति केचित् । वस्तुतस्तु तस्यापि भगवानाश्रय इति सोप्युद्धर्तव्य इति तस्मै स्वात्मानं दत्तवान् । आत्मतन्त्र इति स्वस्य शङ्काभावाय । स हि स्वतन्त्रः । उभयत्रापि हेतुरपीडायामनधिकारिणे स्वात्मानं प्रयच्छतीत्यत्रापि ॥३७॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् ने उसको स्पर्श भी न कर चोटी से पकड़ लिया तो उसका मुकुट गिर गया । जिससे वह व्याकुल हुआ तथा घबराया । पश्चात् सर्व प्रकार सजा हुआ तथा अपने चरणों से पवित्र किया हुआ जो रङ्गमण्डप है, उसमें ऊँचे मंश्र से इसलिए गिराया कि उसका भगवदीय रूप हो जावे, अतः आप भी उसके ऊपर पड़ गए । लोक को वंसी प्रतीति हुई, जैसे कोई अन जाने में गिरते हैं, वैसे ये दोनों गिरे हैं । उम क्रिया में आप व्यापारवाले होते हुए भी क्लिष्ट कर्मा नहीं हैं । शङ्का करते हैं कि गिराकर मारना यह नवीन लक्षणवाला ढंग है, जिसमें आप ही शत्रु को मारने में साधन बन गए हैं । यों तो कभी भी नहीं हुआ है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'अब्जनाभः' आप कमल नाम विष्णु हैं, अतः सर्व कार्य का मूल कारण जैसे आप हैं वैसे यहां भी आप कारण बन गए हैं । यह नाम देने से अलौकिक प्रकार से मारा, यह दोष भी मिटा दिया है । आप सबके पिता हैं जिससे सब का उद्धार भी आपको ही करना है; इसलिए इस प्रकार किया है । 'विश्वाश्रय' पद का भाव कितने ही यों कहते हैं कि आपके बोझ से मरा है, किन्तु आचार्य श्री इस पद का भावार्थ बतलाते हैं कि जैसे आप सर्व जगत् का आश्रय हैं, वैसे ही इसका भी आश्रय हैं । इसलिए उसका भी उद्धार भगवान् को ही करना चाहिए, जिससे उसकी अपनी आत्मा हो; अतः आप उसके ऊपर पड़े हैं । आपको कोई भी कार्य करने में शङ्का नहीं होती है; कारण कि आप 'आत्मतन्त्रः' स्वतन्त्र हैं, अतः आप ही पीड़ा न होने में तथा अनधिकारी को अपनी आत्मा देने में कारण हैं ॥३७॥

आभास—ततस्तस्मै स्वात्मदानेन कृतार्थं तं लोकप्रतीत्यर्थं कपटं कृत्वा तिष्ठतीति भ्रान्तानां प्रतीतिसिद्धयर्थं च सम्परेतमपि तं विचकर्षेत्याह 'तं सम्परेतमि'ति ।

**आभासार्थ—**भगवान् ने कंस को अपनी आत्मा का दान देकर कृतार्थ किया, किन्तु लोक प्रतीति के लिए कपट कर खड़े हैं, वैसे भ्रान्ति की प्रतीति की सिद्धि के लिए मरे हुए को भी आप अपने हाथ से घसीटने लगे, जिसका वर्णन 'तं संपरेतं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तं संपरेतं विचकर्ष भूमौ हरियंथेभं जगतो विपश्यतः ।

हा हेति शब्दः सुमहांस्तदा भूदुदोरितः सर्वजनैर्नरेन्द्र ॥३८॥

श्लोकार्थ—मरे हुए कंस को भगवान् ने जगत् के देखते हुए पृथ्वी पर वैसे घसीटा, जैसे सिंह मरे हुए हस्ती को घसीटता है । हे नरेन्द्र ! उस समय सब जनों के मुख से भारी हाहाकार शब्द निकला ॥३८॥

सुबोधिनी—सम्यक् परः इतः प्राप्तो येन भगवद्धस्ते वा सम्यक् मृत इति । नास्य प्राणा ह्युत्क्रान्ताः किन्तु मूर्च्छया अन्तर्दृष्टौ अन्तर्बहिर्यद्रूपं भगवदीयं सर्वदा दृश्यते तस्मिन् स्वयं

प्रविशन् प्राणानपि प्रवेशितवानिति साङ्ख्यपक्षे  
भवति । सायुज्ये तु अस्मिन्नेव शरीरे आत्मनि  
वा प्राणानां लयः इहैव समवनीयन्त इति 'मृत्यु-  
र्यस्योपसेचनमि'ति च श्रुती । ततस्तादृशस्य

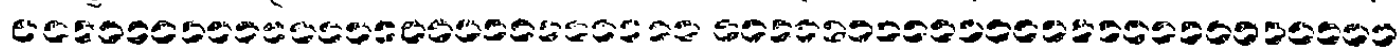


भगवदीयशरीरोत्पत्त्यर्थं विचक्षणं यत्र यत्राङ्घ्रि-  
रेणवः तत्र सम्बद्धं कृतवान् । अत एव भूमावि-  
त्युक्तम् । लोकप्रतीतौ तस्य निकृष्टत्वख्यापनाय  
विकर्षणम्, विशीर्णविवेकं च निकर्षणेन कृतवा-  
निति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह हरिर्यथेभमिति ।  
अल्पमूर्तिः सिंहः स्थूलमपि गजं हत्वा दैवादेवायं  
मृत इति शङ्का भविष्यतीति विशीर्णविवेकं यथा  
भवति तथा कर्षणं करोति, तथा दैवगत्या कदा-  
चिन्मृतो भवेदिति शङ्कापरिहारार्थम् । वस्तुतस्तु  
हरिः सर्वदुःखहर्ता यथा गजेन्द्रमुपरि नीतवान्,  
तथात्र कंसं भूमौ विशेषेण चकर्षति विशेषः ।  
अधिकः प्रयत्नो न कृत इति माहात्म्यार्थमक्लिष्ट-

कर्मत्वख्यापनार्थं च प्रमाणमाह जगतो विपश्यत  
इति । पितरौ क्लेशिताविति तयोः संतोषार्थं  
विकर्षणमिति केचित् । तत्र दृष्टान्तादिकं न  
सगच्छते । स यमुनां प्रापित इति पुराणान्तरम् ।  
तत्र विश्रान्त इति । किञ्च । सर्वेषामेव स मारित  
इति प्रतीतिर्जातेत्याह हाहेति शब्दः । सुमहानभू-  
दिति । अयुक्ते तथा शब्दः । पित्रोर्हितार्थे तथा-  
करणे सर्वजनानां हाहेतिशब्दो नोपपद्येत । राज-  
त्वाद्वा अकस्मात्तथा वचनम् । नरेन्द्रेति सम्बोधन  
लोकपीडकेषु रक्षकाणां तथा भवतीति ज्ञापना-  
र्थम् ॥३८॥

व्याख्यानार्थ—अच्छे प्रकार यहां से गया, अथवा भगवान् के हाथ से अच्छे प्रकार मरा : मुक्ति  
के दो तरीके हैं, एक सारूप्य, दूसरा सायुज्य । भगवान् के हाथ से मरने के कारण इसको सारूप्य  
मुक्ति मिली, अतः इसके प्राण निकल नहीं गए किन्तु मूर्च्छा से अन्तर्दृष्टि होने पर अन्दर और  
बाहर भगवदीय के जैसा रूप सदा देखने में आता है । वैसे रूप में स्वयं प्रवेश करते हुए प्राणों को भी  
उसमें प्रवेश कराया, यह सारूप्य मुक्ति का पक्ष है । सायुज्य पक्ष में इसी शरीर में वा आत्मा में  
प्राणों का लय यहां हो जाता है जैसा कि 'मृत्युर्यस्योपसेचन' श्रुति में कहा है । पश्चात् वैसे कंस का  
भगवदीय शरीर हो जाय तदर्थ उसको खींचा । खींचते २ जहाँ जहाँ भगवान् की चरण रज थी, वहाँ  
वहाँ लेकर उससे सम्बन्ध कराया । इसीलिए भूमि पर गिरा कर घसीटा है । घसीटने का वास्तविक  
आशय तो भगवान् का यही था, किन्तु लोक की प्रतीति में यों आया कि यह निकृष्ट है । इसलिए  
इसको घसीटते हैं । घसीटने से शरीर के अवयव वैसे विशीर्ण हो गए, जैसे सिंह हस्ती को जब घसीट  
कर ले जाता है, तब उसके शरीर के अवयव जैसे हो जाते हैं । सिंह छोटा है और हस्ती स्थूल देह-  
वाला है, तो भी उसको मार कर जब घसीटता है, तब उसके शरीर के अवयव फट जाते हैं । जिससे  
निश्चय होता है कि यह दैव से अकस्मात् नहीं मरा है, किन्तु इस छोटे सिंह ने ही इस स्थूल हस्ती को  
मारा है । वैसे यहाँ भी कंस को श्रीकृष्ण ने ही मारा है । यों घसीटने से लोगों को निश्चय हो गया  
कि भगवान् ने मारा, किन्तु आप 'हरि' हैं । अर्थात् सर्व दुःखहर्ता हैं । गजेन्द्र को ऊपर ले गए, किन्तु  
इसको पृथ्वी पर घसीटा, यह विशेषता है । भगवान् ने अधिक परिश्रम नहीं किया, जगत् के देखते  
हुए यह लीला की है । जिससे आपका माहात्म्य और अक्लिष्टकर्मा स्वतः सिद्ध है । कितने ही कहते  
हैं कि भगवान् का कंस को घसीटने का आशय दुःखी माता-पिता के संतोषार्थ था । इस आशय से  
दृष्टान्तादि का मेल नहीं होता है । अन्य पुराणों में यह कथा है कि भगवान् घसीट कर यमुना पर  
ले गए, वहाँ शान्ति ली और विशेष भगवान् ने इसको मार डाला, सबको ऐसी प्रतीति हुई । जिससे  
बड़ा भारी हाहाकार का शब्द हुआ । वैसा शब्द तब होता है जब कोई अयोग्य कार्य होता है ।  
माता-पिता के हित के लिए यों करने पर सर्व मनुष्यों का हाहाकार शब्द करना योग्य नहीं लगता  
है । अथवा कंस राजा था, इसलिए अचानक वैसे शब्द निकले हैं । राजा को 'नरेन्द्र' कहने का तात्पर्य  
यह है कि जो रक्षा करने वाले हैं, वे लोक को पीड़ित करने वालों से वैसा ही व्यवहार करते हैं ।





इसकी सूचना कर दी है कि आप राजाओं में श्रेष्ठ हैं, इसीलिए इस बात को आप समझते ही हैं ॥३८॥

**आभास—**एवं सर्वजनीने तस्य मारणे प्रवृत्ते प्रमेयबलमाश्रित्य तस्य परलोके किं जातमित्याकाङ्क्षायां सारूप्यं वा सायुज्यं वा जातमित्याह 'स नित्यदोद्विग्नधिषे'ति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार सर्व जन का हित हो. इसलिए उसको मारने में प्रमेय बल का आश्रय लेकर प्रवृत्त हुए हैं तो उसकी परलोक में क्या गति हुई ? सायुज्य या सारूप्य मुक्ति हुई ? उसका 'स नित्यदो' श्लोक में वर्णन करते हैं—

**श्लोक—**स नित्यदोद्विग्नधिषा तमोश्चरं पिबन्वदन्वा विचरन्स्वपन्श्चसन् ।

ददर्श चक्रायुधमग्रतो यत्तदेव रूपं दुरवापमाप ॥३९॥

**श्लोकार्थ—**वह कंस उद्विग्न बुद्धि से चक्रधारी उस ईश्वर को पोते, बोलते, घूमते, सोते; श्वास लेते सदा आँखों के सामने देखता था; अतएव दुर्लभ उसी रूप को प्राप्त हुआ ॥३९॥

**सुबोधिनी—**सर्वदैव भयेनोद्विग्नबुध्या तमेव भगवन्तं भयप्रत्यासत्या प्रदर्शितेश्वरस्वरूपं चक्रायुधं शङ्खचक्रगदापद्मधरं सर्वाविस्थासु पश्यन् तदेव रूपमवाप । सदा तद्भावभावितः । अन्ते तु तं दृष्टवानेव । पाने हि दुःखनिवृत्त्या सुखेन च विषयप्राप्त्यात् सर्वविस्मरणं सिद्धम् । तथा भोजने । विशेषेण चरणे आखेटकादावपि । स्वपन् निद्रायाम् । श्चसन् मूर्च्छायामपि । यत्र पञ्च-स्ववस्थासु दर्शनं तत्रोपवेशनादौ न सन्देह एव ।

किञ्च, न केवलं स्मरणमात्रं किन्त्वग्रतश्चक्रायुधं ददर्श । सर्वदैव भयजनको भगवानिति तस्य न भयं निवृत्तम्, अतोन्तेऽपि सुतरां भगवान्मारयितुं प्रवृत्त इति भयजननात् तदेवरूपं प्रकटीभूतं अन्तरेवेति विमर्शः, बहिः पक्षे उत्क्रान्तिरप्यपेक्षते । यद्यपि कालरूपसायुज्यं युक्तं योधानामिव तथापि भावनाया बलिष्ठत्वात् सर्वदा साक्षात्कृतमेव रूपमवाप । तद्वस्तुतः सर्वेषामेव दुरापम् ॥३९॥

**व्याख्यानार्थ—**हमेशा ही भय के कारण उद्विग्न बुद्धि से उसी भगवान् को भय से हुई आसक्ति से शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण किए हुए ईश्वर स्वरूप को सर्व प्रकार की अवस्थाओं में देखता हुआ उसी रूप को प्राप्त हुआ । कारण कि सर्वदैव उनके भाव से भावित था । 'यों भावना करते हुए अन्त में तो उनके दर्शन कर ही लिए । पान करने से दुःख को निवृत्ति हुई, जिससे सुख की प्राप्ति हुई । सुख सब विषयों से प्रबल है, अतः उसको सब अन्य विषयों की विस्मृति हो गई । भोजन में, शिकार आदि में फिरते हुए, निद्रा में, श्वास लेते, मूर्च्छा में भी इस प्रकार की पाँच अवस्थाओं में भी जब भगवान् के दर्शन उसको हो रहे थे, तब बैठते और उठते समय दर्शन होने में क्या सन्देह है ? कोई सन्देह नहीं है । इस प्रकार केवल स्वरूप का स्मरण ही नहीं हुआ, किञ्च आँखों के सामने चक्रधारी का साक्षात् दर्शन करता था । कंस को तो भगवान् सर्वदा भय उत्पन्न करने वाले हैं । अतः उसका भय



निवृत्त न हुआ। जिससे अन्त में भी यह विचार हो रहा था कि भगवान् मुझे मारने के लिए प्रवृत्त हुए हैं। इससे भय उत्पन्न हुआ कि भगवान् आ गए, अतः वही रूप प्रकट हो गया। अन्तःकरण में ही यह विचार हो रहा था, दूसरे बाहर के पक्ष में उत्क्रान्ति की भी अपेक्षा होती है। यद्यपि गुरवीरों के समान काल रूप से सायुज्य होना योग्य था, तो भी भावना की बलिष्ठता थी, जिससे जिस स्वरूप का भावना से साक्षात्कार करता था, उस स्वरूप को प्राप्त हुआ। वास्तव में सबको वह स्वरूप प्राप्त होना कठिन है ॥३६॥

**आभास—**एवं तस्य भगवदिच्छया तथात्वमापन्नस्य स्वतो दोषाभावात् गुणस्य च विद्यमानत्वात् सायुज्यमुक्त्वा व्यवहारे शिष्टं कृत्यं वदन् तद्भ्रातृणां वधमाह 'तस्यानुजा' इति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार भगवदिच्छा से वैसे स्वरूप को प्राप्त हुआ था। उसमें स्वन कोई दोष नहीं था, गुण ही विद्यमान थे। अतः उसकी सायुज्य मुक्ति का वर्णन कर, अब व्यवहारानुसार, जो योग्य कृत्य करना है, उसका वर्णन करते हुए उसके भ्राताओं का वध 'तस्यानुजा' श्लोक में कहते हैं—

**श्लोक—**तस्यानुजा भ्रातरोऽष्टौ कङ्कन्यग्रोधकादयः ।

अभ्यधावन्नतिक्रुद्धा भ्रातुर्निर्वेशकारिणः ॥४०॥

**श्लोकार्थ—**उसके आठ छोटे भाई, कङ्क और न्यग्रोधक आदि अति क्रोध करते हुए भाई का वर लेने के वास्ते दौड़ कर आए ॥४०॥

**सुबोधिनी—**तस्य कंसस्य भ्रातरः अष्टौ भ्रातरः कङ्को न्यग्रोध इति । सपक्षतामहत्वनिरूपणार्थं नामद्वयं निरूप्य तदादिभूता निरूपिताः । कंसे निहते भ्रातरि जीवति, भ्राता परेन हन्तव्य इति हते, पुनः 'जिघांसन्तं जिघांसीयादिति' न्यायात्, भ्रातुर्निवेशनं निष्कृति कुर्वन्तीति अतिक्रुद्धाः

सन्तः अभ्यधावन् । कपटेनाकस्मान्मारितवानित्यतिक्रोधः । एकः कथञ्चिन्मारितः वयमष्टावेकश्रमारक इति क्रुद्धबुद्धयः आभिमुख्येनैव धावनं कृतवन्तः । निर्वेशो ऋणशोधनम् । हन्यात् हतो वा भवेत् अन्यथा न निर्वेशः स्यादिति ॥४०॥

**ध्यायार्थ—**उस कंस के कङ्क, न्यग्रोध आदि आठ भाई कहे हैं, किन्तु आदि शब्द देकर यह बताया है कि इनके सिवाय अन्य भी इसके पक्ष वाले बहुत हैं। भ्राताओं के जीतेहुए कंस मारा गया, यह अयोग्य हुआ। इतने भाइयों के होते हुए शत्रुओं से भ्राता मारे जाने योग्य नहीं। यदि मारा गया है, तो 'जिघांसन्तं जिघांसीयात्' इस न्यायानुसार भ्राता का ऋण चुकाते हैं। अर्थात् बदला लेते हैं। अतः बहुत क्रोध में हो दौड़ते आए, बहुत क्रोध इसीलिए किया कि कृष्ण ने हमारे भाई को कपट से अचानक मारा है। मारने वाला एक है, हम आठ हैं। इसलिए क्रोध में आकर सामने ही दौड़ने लगे, जो मारे उसको मारना ही चाहिए, यदि वैसा नहीं किया जाता है, तो वह ऋण उतरता नहीं है ॥४०॥

प्राभास—अत्रापि भ्रातृव अष्टानामनुकल्प एक एव तान् मारितवानित्याह 'तथा-  
ति'भस्य नि'ति ।

आभासार्थ—यहाँ भी उन आए हुए कंस के आठ भाईयों को मारने में भगवान् का एक ही प्राप्ता समर्थ है । अतः उस एक ने आठों को मारा, जिसका वर्णन 'तथात्तिरभसान्' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तथातिरभसांस्तांस्तु संयत्तान्रोहिणीसुतः ।

अहन्परिध न्यन्य पशूनिव मृगाधिपः ॥४१॥

श्लोकार्थ— जैसे सिंह पशुओं को मारता है, वैसे ही बलरामजी ने शस्त्रादि से सज कर अति वेग से घ्राए हुए उन आठ भ्राताओं को मृदूर से मार डाला ॥४१॥

सुबोधिनी यथा कमः अतिथेगवान् एव ते सर्व एव अतिशिघ्रमागतास्तान् प्रसिद्धान् । तु इति भगवन्कः रक्षणपक्ष व्यावर्त्तयति । नाप्युपेक्ष्याः यतः संदत्ता अस्त्रपाणाय । ननु भगवानेव मारयेत् किमिति जलेन हतास्ते तत्राह रोहिणीसुत इति । देवकीभ्रातरस्ते । अतो मातुला भगवता न हन्तव्या इति । कसस्तु अन्येन वध नार्हतीति कथंचिद्धतः अदमृश्यकारित्वात् । अत एव सशस्त्रान् स्वयमपि परिध्वाय दन्तमेव गृहीत्वा

अन्यद्वा तत्र विद्यमानमायुधं अगंलामैव वा तेन  
अहन् मारितवान् । पशूनिवेत्यत्रापि सम्बध्यते ।  
यथा लकुटेन पशवो हन्यन्ते तथा सर्वे मारिताः ।  
तेषां ह्येदनं न भविष्यतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह  
मृगाधिप इवेति । सिंहो हि क्षुधितः भक्षणार्थमेव  
मारयतीति तथा सर्वे विशीर्णवियवाः कृता  
इत्यर्थः । अनायासेन मारणे सन्देहाभावे वा  
दृष्टान्तः ॥४१॥

व्याख्यान — जैसे कंस बहुत वेगवाला था, वैसे ये सब भी बहुत शीघ्र वेग से आए, उन प्रसिद्धों को बलरामजी ने मुद्गर से मार डाले। बलरामजी ने मारे, इसलिए श्लोक में 'तु' शब्द दिया है। जिसका भावार्थ है कि भगवान् ने नहीं मारे। भगवान् ने क्यों नहीं मारे? इसका कारण यह है कि भगवान् देवकीजी के पुत्र हैं और ये देवकी के भाई हैं, जिससे भगवान् के मामे हैं। इसलिए भगवान् ने नहीं मारे। यदि भगवान् को मारना नहीं था, तो उपेक्षा कर छोड़ देना था। तो कहते हैं कि छोड़ने के योग्य भी नहीं थे। कारण कि वे शस्त्र लेकर मारने आए थे, उनकी उपेक्षा करनी योग्य नहीं है। अतः बलरामजी रोहिणी के पुत्र है, उन्होंने मारे। जब उनको बलरामजी ने मारे, तो कंस भी भगवान् का मामा था। उसको क्यों मारा? इसके उत्तर में कहते हैं कि कंस दूसरे से मर नहीं सकता। इस विचार से और अपकारी होने से जैसे-तैसे लाचार हो मार डाला। वे भाई सशस्त्र थे, इसलिए बलरामजी ने भी मुद्गर जैसा दाँत ही लेकर अथवा वहाँ अन्य जो कुछ भी विद्यमान आयुध को लेकर या किवाड़ को ही लेकर उससे उन्हें मार डाले। जैसे लकड़ी से पशु मारे जाते हैं, वैसे ही वे भी पशुओं की भाँति मार डाले गए। उनको काट डाला गया तो नहीं कहा जायगा, क्यों? इस शङ्का पर दृष्टान्त देते हैं कि 'मृगाधिपः इव' सिंह की तरह मारे। भुखा सिंह खाने के लिए ही



पशु को मारता है। जिससे उस पशु के अवयव फाड़ डालता है, वैसे ही उनके अवयवों की भी परिध की चोट से वैसी ही दशा हो गई थी। अथवा सिंह का दृष्टान्त इसलिए दिया है कि सिंह को पशु मारने में कोई परिश्रम नहीं होता है और सिंह ने पशु को मारा, इसमें कोई संदेह भी नहीं होता है, वैसा यहाँ भी समझना चाहिए ॥४१॥

**आभास—**एवं सभ्रातरि हते देवानामपि परमानन्दो जात इति देवत्रिपक्षवधेन भगवतो धर्मस्थापनमेव जातमिति मातुलदोषपरिहारार्थं देवकृतं पुष्पवृष्ट्यदिकमाह 'नेदुर्दुन्दुभय' इति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार भ्राताओं सहित कंस के मरने से देव भी बहुत प्रसन्न हुए। देवों के शत्रुओं के नाश से भगवान् ने धर्म को स्थिर ही किया। मामे के वध के दोष को मिटाने के लिए देवों ने पुष्प वृष्टि आदि की, जिसका वर्णन 'नेदुर्दुन्दुभयः' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक—**नेदुर्दुन्दुभयो व्योम्नि ब्रह्मेशाद्या विभूतयः ।

पुष्पैः किरन्तस्तं प्रीताः शशंसुर्ननृतुः स्त्रियः ॥४२॥

**श्लोकार्थ—**उस समय आकाश में दुन्दुभि, बाजे बजने लगे और ब्रह्मा, महादेव आदि भगवान् की विभूतिएँ प्रेम से पुष्प-वर्षा करती हुई स्तुति करने लगीं तथा अप्सराएँ नृत्य करने लगीं ॥४२॥

**सुबोधिनी—**ब्रह्मा ईश्वरश्च आदौ येषाम् विष्णुर्भगवानेवेति द्वावेवावशिष्टाविति द्वयोर्गणना, प्रमेयप्रमाणभूतौ वा । तं भगवन्तं प्रीताः सन्तः पुष्पैः किरन्तः शशंसुः । दुन्दुभीनां नादं स्वतन्त्रं तत्प्रेरणया जातमिति कायिकं भिन्नकर्तृकमपि ब्रह्मादीनां मानसं भवति । पुष्पवृष्टिः कायिकी । शंसनं वाचनिकम् । तेषां तु स्त्रियः

पुरुषधर्मेस्तुत्या अपि एकशेषेणोक्ताः भगवति स्नेहविशेषात् ननृतुः । ननु ब्रह्मणः सर्वतुल्यत्वान्महादेवस्य च कंसो भक्त इति कथं सर्वेषामनुमोदनमिति चेत् तत्राह विभूतय इति । भगवतो विभूतिप्रायाः विभूतिमान् भगवान् प्रतः स्वामि-कृतं तेषामभिनन्द्यमेव ॥४२॥

**व्याख्यार्थ—**विष्णु तो भगवान् ही हैं, इसलिए शेष ( बाकी ) ब्रह्मा और महादेव दो रहे। उनकी विभूतियों में गणना की है। अथवा प्रमेय और प्रमाण रूप दोनों हैं। इसलिए ये दो कहे हैं। अर्थात् ये दोनों अन्य देवों के समान केवल विभूति रूप नहीं हैं। सर्व देवगण प्रसन्न हो प्रेम से पुष्प-वर्षा करते हुए स्तुति करने लगे। नगाड़े बिना किसी के बजाए उनकी प्रेरणा से स्वतन्त्र ही बजने लगे, जिससे ब्रह्मादि देवों ने कायिक प्रसन्नता प्रकट की। दुन्दुभि का बजना यह पृथक् कर्त्तापिन है, तो भी इससे ब्रह्मादि देवों के मन की प्रसन्नता प्रकट होती है। कारण कि उनकी प्रेरणा से वे बजने लगे



थे और पुष्प-वृष्टि कायिकी-सेवा तथा स्तुति, वाणी की सेवा है। देवों की स्त्रियाँ पुरुषों के धर्म के तुल्य होती हुई भी पृथक्, अकेली ही भगवान् के अधिक स्नेह के कारण नाचने लगीं।

ब्रह्मा सब को उत्पन्न करता है, इसलिए उसको सर्व समान है और कंस महादेवजी का भक्त है तो इन्होंने भी अन्यो के साथ कैसे प्रसन्नता प्रकट की है? यदि यों कोई शङ्का करे तो उसके उत्तर में कहा है कि 'विभूतयः' अर्थात् अन्य सब भगवान् की वे विभूतियें हैं, अतः स्वामी जो कार्य करे, उसका अभिनन्दन विभूतियों को करना ही चाहिए ॥४२॥

**आभास—**भगवान् स्त्रीणां सुखार्थं अवतीर्ण इति कथं तेषां स्त्रीणां सुतरां मातुला-नीनां वैधव्यं संपादितवानित्याशङ्क्य तासामतिदुःखं न जातं भर्तृदोषस्मरणात्, अन्यथा निर्वाहाभावात्, भगवत्यादरातिशयाच्चेति वक्तुम् तेषां स्त्रीणामुपाख्यानमाह 'तेषां स्त्रिय' इति।

**आभासार्थ—**जब भगवान् ने स्त्रियों के सुखार्थं अवतार लिया है तथा बहुत निकट सम्बन्ध-वाली स्त्रियाँ जो कि मामियें हैं उनको विधवापन कैसे दिया? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि उनको साधारण ही दुःख हुआ था, जिसके दो कारण हैं। एक तो वे अपने पतियों के दोषों को जानती थीं। उन दोषों के स्मरण से उनको दुःख कम ही हुआ। दूसरा भगवान् में उनका विशेष आदर था। इन दोनों कारणों से उनको विशेष दुःख नहीं हुआ, यह बताने के लिए उनके चरित्रों का 'तेषां स्त्रियः' श्लोक से वर्णन करते हैं—

**श्लोक—**तेषां स्त्रियो महाराज सुहृन्मरणदुःखिताः।

तत्रासीयुर्विनिघ्नन्त्यः शीर्षाण्यश्रुविलोचनाः ॥४३॥

**श्लोकार्थ—**हे महाराज ! उनकी स्त्रियाँ पति के मरण से दुःखित हो, सिर कूटती, आँखों से आँसू बहाती वहाँ आईं ॥४३॥

**सुबोधिनी—**मल्लादीनां कंसादिनवानां च। महाराजेति संबोधनमाश्चर्यमेतदिति ज्ञापनार्थम् प्रोत्साहनार्थं वा। लौकिकमिति कदाचिन्न शृणु-यात्। सुहृदां भर्तृणां मारणेन अतिदुःखिताः। अन्यायित्वेन पतितत्वात् भर्तृत्वमनुक्त्वा मित्र-त्वमेवाह—'पत्नी हि सर्वस्य मित्रमि'ति श्रुतेः।

मरणेनैव दुःखिताः। यदि भगवांस्तान् बन्दीकुर्यात् तदा दुःखमपि न भवेत्। अतः शीर्षाणि विनिघ्न-न्त्यः तत्रासीयुः। अस्त्राणि विलोचनयोर्थासाम्। अश्रूण्यन्तःकरणधर्माः, हननमिन्द्रियाणाम्। अभि-गमनं कायिकम्, शोककार्यं त्रयमपि, कुलस्त्रीणां सभास्वागमनं नान्यदा ॥४३॥

**व्याख्यानार्थ—**मल्ल आदिकों की तथा कंस आदि नवों भाइयों की स्त्रियाँ वहाँ आईं। हे महाराज ! यह संबोधन आश्चर्य प्रकट करने के लिए अथवा उत्साह बढ़ाने के लिए दिया है, क्योंकि यह विषय लौकिक है। उसको यदि राजा सुनना न चाहे, तो यह सम्बोधन देकर सुनने के

\*\*\*\*\*

लिए उत्साहित किया है । अपने पतियों के मरने से वे सब स्त्रियाँ अति दुःखित देखने में आई । पति शब्द न कह कर 'सुहृद' शब्द कहने का भाव बताते हैं कि वे अन्यायी थे, इस कारण पतित थे । अतः पति न कहकर सुहृद शब्द दिया है । अर्थात् पति ने कहा है कि 'पत्नी हि सर्वस्य मित्रं' सर्व मनुष्यों का मित्र अपनी पत्नी ही है, इसलिए यहां पति को भी सुहृद कहा है । मरने से दुःखी हुई थीं यदि भगवान् इनको न मारकर बन्दी बना देते तो ऐसा दुःख न करतीं । मरने के कारण जिनकी आँखों से आंसू गिर रहे हैं, वैसी वे शिर को कूटती हुई वहां आ गईं । शोक के तीन कार्य हैं । अर्थात् शोक होने पर ये तीन कार्य स्वतः हो जाते हैं । एक आंसू आने का, जो अन्तःकरण का धर्म है । शिर पीटना, इन्द्रियों का धर्म है । वहां ( मृतक के स्थान पर वा सभ्यों की सभा में ) जाना, देह का धर्म है । कुल की स्त्रियों का ऐसे समय ही सभाओं में आना होता है । दूसरे समय बाहर नहीं निकलती हैं ॥४३॥

श्रीभास—आगत्य यादृक् दृष्टवत्यन्तदाह शयानानि'ति ।

आभासार्थ—आकर जैसा देखा, उसका वर्णन 'शयानान्' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—अयानान्वोरशय्यायां पतोनातिङ्गय शोचतीः ।

विलेपुः सुस्वरं नार्यो विसृजन्त्यो सुहृः गुचः ॥४४॥

श्लोकार्थ—त्रीर शैया पर सोए हुए पतियों का आलिङ्गन कर, शोक करती हुई, बार-बार आँसू बहाती हुई स्त्रियाँ सुस्वर से विलाप करने लगीं ॥४४॥

सुबोधनी-- वीरशय्यायामितिरणाङ्गणे,  
शय्यायामेव शयने स्त्रीणामधिकार इति । पती-  
नालिङ्गयेति स्नेहोद्गम उक्तः । ततः शोचन्त्यो  
जाताः, त्रिलेपुः सुरदरं यतो नार्यः । अन्तःकरण-  
पूर्वकत्वायाह मुहुः शुचो विसृजन्त्य इति । लौकि-

क्येषा भाषा, यथा देवक्यादयः पुत्राद्यपाये रोदनं  
कृतवत्यः तथा तासामपि जातमिति भगवान्  
भक्तकृपया तथा कृतवानिति वक्तुमेव निरूप्यते ।

118811

व्याख्यान—यहां वीर शैया कहने का भावार्थ यह है कि रणाङ्गण में, शैया पर शयन स्त्रियां कर सकती हैं, यह उनका अधिकार है। पतियों को सोए हुए देख स्त्रियों में स्नेह प्रकट हुआ; अतः पतियों का आलिङ्गन करने लगीं। पश्चात् शोक करने लगीं और सुस्वर से विलाप करने लगीं, क्योंकि वे उनकी पत्नियां थीं। उनका दिखावटी विलाप नहीं था, किन्तु हृदय के आन्तरिक दर्द से विलाप करती थीं। जिसका चिन्ह है बार बार आंखों से आंसू टपकते थे। यह लौकिकी भाषा है, जिस प्रकार देवकी आदि ने पुत्रादिकों के नाश से रुदन किया



था वैसे ही इनका भी रोदन है । भगवान् भक्तों पर कृपा करने के लिए यों करते हैं । यह बताने के लिए इस प्रकार निरूपण किया है ॥४४॥

**आभास—**चतुर्भित्रिलापमाह 'हा नाथे'ति ।

**आभासार्थ—**स्त्रियों के विलाप का ४ श्लोकों में 'हा नाथ' से प्रारम्भ से होकर वर्णन हुआ है-

**श्लोक—**स्त्रिय ऊचुः—हा नाथ प्रिय धर्मज्ञ करुणानाथवत्सल ।

त्वया हतेन निहता वयं ते सगृहप्रजाः ॥४५॥

**श्लोकार्थ—**हा नाथ ! हा प्रिय ! हा धर्मज्ञ ! हा दयालु ! हा अनाथ वत्सल !  
आपके मरने से घर और प्रजा के साथ हम भी मरी हैं ॥४५॥

|                                                                                                                                                                                                                                                                                                                                       |                                                                                                                                                                                                                                                                                                                          |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p><b>सुबोधिनी -</b> आदौ तान् शोचन्ति ततः पुरीं ततस्तेषां दुर्दशां तत ईश्वरापराधेन परलोकेऽपि न सुखमिति । प्रथममात्मानं शोचन्ति हेति । महादुःखे संबोधनानि स्वस्य धर्मादिभक्त्यन्तपञ्चपुरुषार्थसाधकत्वेन । नाथत्वात् धर्मस्तस्य सेवया सिध्यति । प्रियत्वादर्थं साधयति । धर्मज्ञत्वात् कामम् । स्त्रीणां व्रतमनुस्मरन्निति । करुणेति</p> | <p>तत्कृपया मोक्षोऽपि भवतीति । अनाथवत्सलेति दीना वयं त्वच्छरणं गता इति भक्तिरपि सिध्यति । इदानीं तु त्वया हतेन ते वयं त्वदोयाः सगृहप्रजाः निहताः, त्वया निहतेन । कथावित्क्रियया व्याप्तो भवतु यथाकथञ्चिन्मरणहेतुः मारक एव भवति, शरीरेण गृहेण पुत्रैर्वा धर्मः सेत्स्यतीति पक्षो निराकृतः । यतो वयं सर्वे हता एव ॥४५॥</p> |
|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

**व्याख्यानार्थ—**प्रथम उनका शोक करती हैं । पश्चात् पुरीका, अनन्तर उनकी दुर्दशा का, बाद में ईश्वर के अपराध से परलोक में भी सुख न मिलेगा, यों कहकर प्रथम अपना शोक प्रकट करती हैं । 'हा' शब्द से महादुःख प्रकट करने में जो नाथ आदि पांच विशेषण कहे हैं वे पांच पुरुषार्थ के साधक हैं । जैसा कि 'नाथ' शब्द देकर यह बताया है कि आप 'नाथ' हैं, आपकी सेवा से हमारा 'धर्म' सिद्ध होता था । 'प्रिय' से बताया है कि आप प्रीतम हैं, इससे हमारा आप से अर्थ सिद्ध होता था । 'धर्मज्ञ' से बताया है कि आप धर्म को जानने वाले हैं, अतः हमारा 'काम' आप से सिद्ध होता था । 'करुण' से यह बताया है कि आप कृपालु हैं, जिससे हमारा मोक्ष भी सिद्ध होता था । 'अनाथ वत्सल' पद से यह बताया है कि हम दीन अनाथ आपके शरणागत हैं, यो भक्ति भी सिद्ध होती थी, ये पांच पुरुषार्थ आपके होते हुए ही हमारे सिद्ध हों जाते थे । अब आपके मर जाने से वे हम सब आपके घर सहित प्रजा समाप्त हो गई है । कोई भी किसी भी क्रिया से व्याप्त भले ही हो, वह जैसा कैसा भी प्रकार का मरण हेतु तो मारने वाला हो होता है । धर्म शरीर से, घर से वा पुत्रों से भी सिद्ध हो सकता है । इस प्रकार एक पक्ष का निराकरण किया है, क्योंकि हम सब मारे ही गये, अब धर्म की सिद्धि कैसे हो सकेगी ॥४५॥

**आभास—**ननु मथुरेयं तोर्यभूता अत्र जीवता मृतेन वा मोक्षः साधनीय इति किं भर्त्रपगमे शोकः क्रियत इति चेत्तत्राह 'त्वया विरहिते'ति ।



आभासार्थ—यह मथुरापुरी तोर्य है । इसमें जीते हुए वा मरने पर भी मोक्ष सिद्ध किया जा सकता है तो फिर भर्ता के मरने से शोक क्यों किया जाता है ? यदि यों कहो तो उसका उत्तर 'त्वयाविरहिता' श्लोक में देती हैं—

श्लोक—त्वया विरहिता पत्या पुरोयं पुरुषर्षम ।

न शोभते वयमिव निवृत्तोत्सवमङ्गला ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे पुरुष श्रेष्ठ ! आप इस पुरी के पति हैं, आपके बिना यह पुरी शोभा नहीं देती है, जैसे कि हम ( लोग ) कारण कि इसके उत्सव तथा मङ्गल सब नष्ट हो गए हैं ॥४६॥

सुबोधिनी—त्वया पत्या विरहिता इयं पुरी स्वयमेव न शोभते किमन्येषामुपकारं करिष्यतीति भावः । यतो निवृत्तानि उत्सवाः मङ्गलानि च यस्याम्, तस्मिन्विद्यमान एव उत्सवो मङ्गलानि च प्रवृत्तानि न तु निवृत्तो, तासां दृष्ट्या अमङ्गलमिव प्रतिभातीति । वाद्यानां निवृत्तत्वादुत्सवो निवृत्त इति तथोक्तम् । अत एव न शोभते, क्षणान्तरे शोभिष्यत इत्याशङ्क्याहुः वयमिवेति । यथा

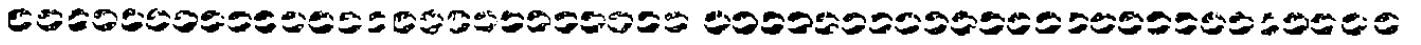
वयमतः परमशोभायुक्ता एव, तथा पुर्यपीति तासां प्रतिभा, यतः त्वया पत्या विरहिता । यद्यपि पुर्याः पतिर्भविष्यति यः कश्चित्तथापि त्यक्तो भविष्यतीति जीर्णपटमिव शोभाकरो भविष्यतीति भगवांस्तु पतिर्न भविष्यतीति तासां वचन सत्यमेव । त्यक्तव्या च ततः परम् । तदाह हे पुरुषर्षमेति ॥४६॥

व्याख्यार्थ—आप स्वामी के बिना यह पुरी स्वयं नहीं शोभती है, तो वह दूसरों का क्या उपकार कर सकेगी ? कारण कि उसके अपने उत्सव और मङ्गल नष्ट हो गए हैं ।

पति के मौजूद होने पर ही उत्सव और मङ्गल कार्य होते हैं, उसके जाने पर नहीं होते हैं । उनकी दृष्टि से अमङ्गलवत् दिखता है, वाद्य बजने बंद हो जाने से उत्सव बंद हो गए, अतः वह नहीं शोभती है । थोड़े दिन बाद शोभा देगी, इस पर कहती है कि नहीं, हमारी भांति वह कभी भी शोभित नहीं होगी । जैसे हम इसके बाद अशोभित ही रहेंगी वैसे ही यह पुरी भी । स्त्रियों की शोभा पति से होती है, पति के विरह में वे अशोभा वाली हो जाती हैं । यदि कोई कहे कि आप (रानियों) के समान तो पुरी नहीं है, क्योंकि पुरी, एक (पति) राजा के जाने पर दूसरे (पति) राजा वाली हो जाती है । इसके उत्तर में वे कहती हैं कि यद्यपि पुरीका कोई दूसरा भी पति होगा, तो वह त्याज्य पति होगा । जैसा कि धुले हुए पुराने कपड़े पहने जाने पर उनसे नवीन वस्त्रों के समान शोभा नहीं होती है वैसे ही यहां भी होगा और भगवान् तो पुरी के राजा नहीं बनेंगे, यह जो स्त्रियों ने कहा तो स्त्रियों के ये वचन सत्य ही हैं, किन्तु अब शंका यह उठी कि जब भगवान् पुरी के राजा नहीं बनेंगे तो वहां कैसे रहा जाएगा ? तो उसके लिये कहा गया है कि तब वह पुरी छोड़ दी जानी चाहिये । इस पर उन्होंने (बड़े आर्त कंठ से) कहा—हे पुरुषर्षम ! अर्थात् हे पुरुषों में उत्तम ॥४६॥

आभास—ननु स्त्रीणां भाग्ये अवैधव्ये विद्यमाने कथमेवं भवेत्, अतो भवतीनामेव





दुर्भाग्यान्मृत इति किमिति विलापः क्रियत इति चेत्तत्राहुः 'अनागसामि'ति ।

आभाषार्थ—यदि स्त्रियो के भाग्य में विधवापन न लिखा होता तो यह मरता नहीं, अतः तुम्हारे दुर्भाग्य से यह सरा है, तब विलाप क्यों करती हो ? यदि यों कहो तो उसका उत्तर इस 'अनागसां' श्लोक में देती हैं--

श्लोक—अनागसां त्वं भूतानां कृतवान्द्रोहमुत्बरणम् ।

तेनेमां भो दशां नीतो भूतध्रुक्को लभेत शम् ॥४७॥

श्लोकार्थ—आपने जो निष्पापी जीवों का घोर द्रोह किया, जिससे इस दशा को प्राप्त हुए हो, कारण कि जो जीवों से द्रोह करता है, उसको सुख नहीं मिलता है । अर्थात् भूत द्रोह कर कोई भी सुख नहीं पाता है ॥४७॥

|                                                                                                                                                                                         |                                                                                                                                                               |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|
| <p>सुबोधिनी--निरपराधानां प्राणिनां त्वमुत्बरणं पुत्रादिमारणरूपं द्रोहं कृतवान् तेनैवं दुर्मृत्युरूपां दशां नीतः । ननु धर्मोपि भूयान् कृत इति यथा धर्मफल न जातं तथैतदपि न भवेदित्या-</p> | <p>शङ्क्य द्रोहस्य विशेषमाहुः भूतध्रुगिति । अत्यन्तधर्मकर्तापि भूतद्रोहं चेत्कुर्यात् तदा शं न लभेतैव सर्व धर्म बाधित्वा द्रोहः स्वफलमेव प्रयच्छतीति ॥४७॥</p> |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|

व्याख्यार्थ—निर्दोष प्राणियों का तुमने पुत्र मारने आदि का बड़ा द्रोह किया है, उससे ही इस मृत्यु (रूप, दशा को प्राप्त हुए हो, मैंने यदि ये अपराध किये हैं तो धर्म भी बहुत किया है, तो जैसे उस धर्म का फल नहीं हुआ वैसे इसका भी फल नहीं मिलना चाहिए, इसके उत्तर में कहा है कि सब अधर्मों में विशेष अधर्म भूत (जीव) द्रोह है । बहुत धर्म करने वाला भी यदि भूतों का द्रोह करता है तो वह भी कल्याण को प्राप्त ही नहीं कर सकता है । द्रोह ऐसा जबरदस्त है जो सब धर्मों को दबा कर अपना ही फल देता है ॥४७॥

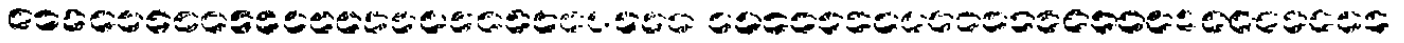
आभास—ननु राज्ञां द्रोहः स्वाभाविक एव भवतीति कथमन्यरीत्या फलमिति चेत्तत्र विशेषमाहुः 'सर्वेषामिह भूतानामि'ति ।

आभासार्थ—राजाओं का द्रोह करना स्वभाव सिद्ध है, यदि यों न करें तो किस रीति से फल (दंड) हो ? जो ऐसी शङ्का हो तो उसके उत्तर में इस 'सर्वेषामिह' श्लोक में विशेष कहते हैं—

श्लोक—सर्वेषामिह भूतानामेष हि प्रभाष्ययः ।

गोप्ता च तदवध्यायी न क्वचित्मुखमेधते ॥४८॥

श्लोकार्थ—यहाँ यह ही श्रीकृष्ण सकल प्राणियों को पैदा करने वाले तथा संहार



करने वाले हैं; इनसे द्रोह कर कोई भी वहीं भी क्या सुख प्राप्त कर सकता है ? कदापि नहीं ॥४८॥

सुबोधिनी—राज्ञोपि सर्वथा सर्वभूतद्रोहे भवत्येवानिष्टम् । ततोपि तव प्रकारान्तरेण महज्जातमिति तत्फलं तथा । यतः सर्वेषामेव भूतानामेव भगवान् प्रभव उत्पत्तिस्थानमप्ययो नावश्च । तेन मध्येपि स एव । युक्तश्चायमर्थः । यतो ब्रह्म भगवान् कारणत्वेनोक्तः, अतस्तदवधाने भूतसाध्यं

सुखमिति न क्वचिदपि सुखं भवेत् । भूतानां हि भगवानाराध्यः । मारकत्वाद्भयजनकश्च । गोप्ता च रक्षकः । अतस्तद्विरोधे तदात्मकमेव सर्वमिति न क्वचित्सुखम् । तस्मात्स्वदोषेणैव तवेयमवस्थेति ॥४८॥

व्याख्यानार्थ—राजा का भी सर्व भूतों से द्रोह करने पर अनिष्ट ही होता है । उससे भी तुमने अन्य प्रकार से जो महान् भूत द्रोह किया जिसका फल भी वंसा ही हुआ है, क्योंकि समस्त भूतों का यह भगवान् उत्पन्न होने का स्थान और नाश का स्थान है । इससे मध्य में भी अर्थात् पालने का स्थान भी वह ही है । यह अर्थ योग्य है, कारण कि ब्रह्म अर्थात् भगवान् ही शास्त्रों में कारण पन मे कहा गया है । अतः उसकी अवहेलना कर भूतों द्वारा प्राप्त सुख कभी भी नहीं होता है । कारण, भूतों के आराध्य भगवान् ही हैं । मारक होने से और भयजनक होने से, एवं पालन कर्ता भी वही है । अतः सब उसके ही रूप हैं, जिससे उनके द्रोह करने से कहीं भी कुछ भी सुख नहीं प्राप्त होता है । इससे यह अवस्था तुमने अपने दोषों से आप ही की है ॥४८॥

श्लोक—श्रीशुक उवाच—राजयोषित आश्वास्य भगवांल्लोकभावनः ।

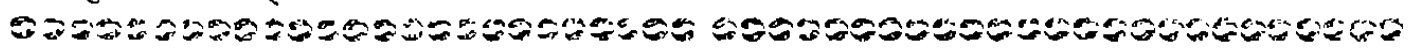
यामाहुर्लौकिकीं संस्थां हतानां समकारयत् ॥४९॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि लोकों के पालक भगवान् ने राजा की स्त्रियों को संतुष्ट करना दे, लोक रीति के अनुसार मरे हुए सबों की क्रिया करवाई ॥४९॥

सुबोधिनी—राजयोषित इति । एवं तासां सत्यवचन श्रुत्वा ताः आश्वास्य, भगवान् समर्थः, आश्वासनेनैव तासां परमानन्दो जात इति अलौकिकं सामर्थ्यं भगवच्छब्दादवगम्यते । लोकभावनति । न तरय शत्रुमित्रोदासीनत्वम् । अतः शत्रुस्त्रीणामपि कृतं एव भगवतोपकारः । तासु कृपयैव परलोकक्रियां कारितवानित्याह यामाहुर्लौ-

किकीं संस्थामिति । दाहादिरूपाम् । हतानामिति । तासां सहगमनम्, भगवता आश्वासनस्य कृतत्वात् । यद्यपि अस्तिप्राप्ती दुष्टे तथाप्यग्रे लीलायाः कर्तव्यत्वात् नानुमरणे बुद्धिर्दत्ता । सम्पन्नकारयत् तथा शब्दतो नियोग कृतवान् । ॥४९॥

व्याख्यानार्थ—इस प्रकार कहे [हुए उनके (स्त्रियों के) सत्यवचन सुनकर भगवान् ने उनको आश्वासन (धैर्य) दिया जिससे वे परमानन्दित हुईं, क्योंकि भगवान् शब्द कहने से कृष्ण में अलौकिक सामर्थ्य है । जिससे वचन मात्र से दुःख दूर कर आनन्द दान करते हैं और आप लोकभावन हैं ।



अर्थात् आपकी शत्रु अथवा मित्र में उदासीनता नहीं है दोनों में समान भावना है। अतः शत्रु की स्त्रियों को भी धैर्य देकर उनका उपकार किया है। उन पर कृपा करके ही परलोक की क्रिया आपने करवाई है। इसलिए श्लोक में 'यामाहु लौकिकीं संस्थां' कहा है। वह लौकिक क्रिया कौनसी? इसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'दाहादिक्रिया' दाह से लेकर पिण्ड आदि सर्व क्रिया करवाई। वे मित्र्याँ पतियों के साथ नहीं गईं, क्योंकि भगवान् ने उनका दुःख मिटाकर आनन्द दान दे दिया था। यद्यपि अस्ति और प्राप्ति दुष्ट थीं, तो भी आगे लीला करनी है, इसलिए पति के पीछे सती होने की बुद्धि नहीं दी। वचन से उनको इसी प्रकार समझाया जिससे वे उनके पीछे मरजाने से रुक गई ॥४६॥

**आभास—**एवं दुष्टमारणं तत्रातिसंनिहितप्रतिक्रियां च कृत्वा यदर्थमेतावत्कृतं तयोः  
पित्रोर्लौकिकनिरोधं त्याज्यित्वा स्वनिरोधं कृतवानित्याहु 'मातरं पितरमि'ति द्वाभ्याम्।

**आभासार्थ—** इस प्रकार दुष्ट का वध करके तथा मरने के अनन्तर की उस वक्त होने वाली क्रियाएँ करवाके, अनन्तर जिनके लिए इतना कार्य किया, उन माता पिता का लौकिक निरोध छुड़ाकर अपने में निरोध किया जिसका वर्णन 'मातरं पितरं' 'देवकी वसुदेवश्च' इन दो श्लोकों में कहते हैं।

श्लोक—मातरं पितरं चैव मोचयित्वाथ बन्धनात्।

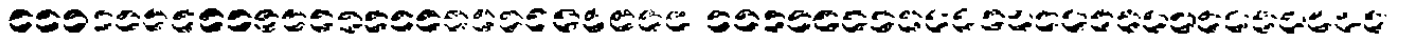
कृष्णरामौ ववन्दाते शिरसास्पृश्य पादयोः ॥५०॥

**श्लोकार्थ—**फिर माता-पिता को बन्धन से छुड़ाकर राम तथा कृष्ण दोनों ने उनके चरणों में सिर रखकर और उनके चरणों का स्पर्श कर वन्दन किया ॥५०॥

**सुबोधिनी—**मुख्य दुःखं मातुरेव, अतः प्रथमं निरूपिताः। यद्यपि बहव एव वद्धा उग्रसेनादयः तथापि प्रथमत एतावेव मोचितौ। चकारादेतन्निकटे सेवकाश्च। आदौ निरोधात् दूरीकृतवन्तौ। अथ बन्धनात्। प्रथमं मानसो विमोकः। द्वितीयः कायिकः। तयोर्वैलक्षण्यप्रतिपादनाय अथेति। नियोगानन्तरं वा कृतकार्यत्वेनाव्यग्रत्वाय। ततः

कृष्णरामौ फलसाधनभूतौ ववन्दाते अभिवादनं कृतवन्तौ, तथैव तौ निरुद्धौ भवत इति। शिरसा पादयोरास्पृश्य सत्यलोकादुपरि तौ नीतौ। फलं च तयोदयम् न तु दुःखनिवृत्तिमात्रम्। यत्र पुत्रस्य सत्यलोकप्रापणं तत्र पित्रोस्ततोधिकस्थानप्रापणं युक्तमेव, आसमन्तात्स्पर्शनिं तु सत्यमाक्रम्य यथा गच्छतः तथोपायं कृतवन्तौ ॥५०॥

**व्याख्यार्थ—**श्लोक में 'माता' शब्द पहले इसलिए दिया है कि मुख्य दुःख माता को ही था। यद्यपि उग्रसेन आदि बहुत कैद किए गए थे तो भी प्रथम इन दो को ही छुड़ाए। पीछे अन्य छुड़ाए तथा 'च' शब्द देकर यह बताया है कि निकट में जो सेवक थे, उनको भी मुक्त किया। पहले निरोध से दूर किए, अनन्तर बन्धन से। पहला छुड़ाना मानस था, दूसरा कायिक था। दोनों में विलक्षणता बताने के लिए 'अथ' शब्द दिया है। नियोग के बाद जब कार्य सिद्धि होने से व्यग्रता भी नहीं रही तब फल के साधन रूप राम तथा कृष्ण प्रणाम करने लगे। यों करने से वे दोनों ही निरुद्ध होंगे।



मस्तक से चरणों को छूकर उनको सत्यलोक से ऊपर पहुँचाया उनका केवल दुःख दूर नहीं करना था, किन्तु उनको फल देना है । जहाँ पुत्र को पितृभक्ति से सत्य लोक की प्राप्ति होता है: वहाँ माता पिता को तो उच्च स्थान प्राप्त कराना योग्य ही है । चारों तरफ स्पर्श करने से सत्यलोक का उल्लङ्घन कर जैसे ऊपर लावे वैसे उपाय दोनों ने किया ॥५०॥

**आभास—**एवमुत्कृष्टफलदानलक्षणस्वगृह्णयनेन निरुद्धौ तौ अनधिकारिणौ मा भवत इति लोके ज्ञापनार्थं तयोरधिकारमाह 'देवकी वसुदेवश्चे'ति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार उत्कृष्ट फल दान देकर, अपने घर ले जाने से, वे माता पिता निरुद्ध होते हुए भी अनधिकारी न होंवे, 'देवकी वसुदेवश्च' श्लोक में करते हैं--

**श्लोक—**देवकी वसुदेवश्च विज्ञाय जगदीश्वरौ ।

कृतसंवन्दनौ पुत्रौ सस्वजाते न शङ्कितौ ॥५१॥

**श्लोकार्थ—**देवकी तथा वसुदेव ने दोनों पुत्रों को जगदीश्वर जान कर नमस्कार किया, किन्तु उनका आलिङ्गन नहीं किया; क्योंकि शङ्काशोल हुए कि ये जगदीश्वर हैं, इनका आलिङ्गन कैसे करें ? ॥५१॥

**सुबोधिनी—**चकारस्तूक्तसमुच्चयार्थः । अन्य-तरस्यापि गौणत्वाभावाय । कंसादिकमारणेन वैकुण्ठप्रापणेन च प्रत्यक्षतोनुभाव दृष्ट्वा जगदीश्वरावेताविति विज्ञाय कृतसंवन्दनौ कृतनमस्कारौ भगवन्तौ न सस्वजाते नालिङ्गितवन्तौ । यतः

शङ्कितौ । ईश्वरे हि संबन्धिनामपि शङ्का भवत्येव । प्रपञ्चः कंसेनैव निराकृतः । आसक्तिः स्थितैव । फलं साधनं च परं कृतव्यम् । तत्र फलवैकुण्ठप्राप्तिः साधनं ज्ञानमिति तयोः पूर्णनिरोधो निरूपितः ॥५१॥

**व्याख्यानार्थ—**'च' समुच्चय अर्थ में है तथा एक भी गौण नहीं है । दोनों की समानता दिखाने के लिए भी 'च' है । कंस आदि को मारने से और वैकुण्ठ पहुँचाने से प्रत्यक्ष प्रभाव देखकर समझ गए कि दोनों जगदीश्वर हैं । यों जानकर प्रणाम करने लगे, किन्तु उनको पुत्र समझ आलिङ्गन नहीं किया, क्योंकि मन में शङ्का होने लगी । ईश्वर में संबन्धियों को भी शङ्का होती ही है । प्रपञ्च कंस ने ही नाश किया । आसक्ति तो थी ही, फल, और साधन करने थे । उनमें फल वैकुण्ठ की प्राप्ति और साधन ज्ञान है । इन दोनों की प्राप्ति होने पर पूर्ण निरोध का निरूपण हुआ ॥५१॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धपूर्वार्धे एकचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४१॥

श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध ( पूर्वार्ध ) ४४वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी ( संस्कृत-टीका ) राजस-प्रमेय

अवान्तर प्रकरण का वीर्य निरूपक द्वितीय अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपोजनवल्गुभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

## ● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध ( पूर्वार्ध )

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका ( हिन्दी अनुवाद सहित )

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४५वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ४२वाँ अध्याय

### राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

“तृतीय अध्याय”

श्रीकृष्ण, बलराम का यज्ञोपवीत और गुरुकुल प्रवेश



कारिका—साधारण्येन सर्वेषां द्विरूपोपि निरूप्यते ।

द्विचत्वारिंशे ह्यध्याये निरोधः सर्वसम्मतः ॥१॥

कारिकार्थ—साधारण रीति से इस ४२वें अध्याय में सर्व सम्मत निरोध, सबका १ प्रकार X का निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—पित्रो गजस्तथान्येषां स्वस्यापि च निरूप्यते ।

द्विरूपे मध्यमे रोधे यादवत्वं प्रयोजकम् ॥२॥

---

X भगवान् और भक्तों का परस्पर निरोध

कारिकार्थ—माता तथा पिता का, राजा का और अन्यो का एवं अपना भी निरोध कहा जाता है । इन दो प्रकार के मध्यम निरोध में यादवत्व प्रयोजक है ।२।

कारिका—स्वस्य शब्दात्मके रोधः स्वाज्ञायां निखिलस्य च ।

देवे दैत्ये च सर्वत्र कालादिष्वपि सर्वतः ॥३॥

**कारिकार्थ—**अपना निरोध शब्दात्मा में होता है और अपनी शब्दात्मक आज्ञा में सर्व का निरोध होता है । देव, दैत्य और कालादि में भी सब जगह चारों तरफ निरोध कहा जाता है ॥३॥

आभास—पूर्वाध्याये विशेषतो निरोध उक्तः पित्रोः, स चालौकिकः, लौकिकोऽपि कर्तव्य इति तयोर्बोधनेन तमाह 'पितरावि'ति एकादशभिः ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय में माता तथा पिता का विशेष प्रकार का निरोध कहा है, वह लौकिक है। लौकिक निरोध भी उन दोनों को समझा कर कराना चाहिए, उसका वर्णन 'पितरावुप-लब्धार्थौ' आदि ११ श्लोकों में श्री शुकदेवजी करते हैं—

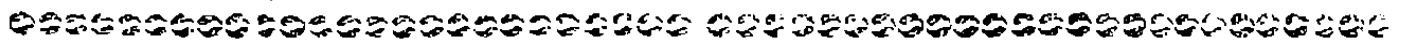
श्लोक—श्रीशुक उवाच—पितरत्तुपलब्धार्थं विदित्वा पुरुषोत्तमः ।

माभूदिति निजां मायां ततान जनमोहिनीम् ॥१॥

**श्लोकार्थ—**श्री शुकदेवजी कहने लगे कि श्रीकृष्ण ने समझ लिया कि मेरे माता-पिता को मेरे स्वरूप का ज्ञान हो गया है, यह ज्ञान इस समय नहीं होता चाहिए; इसलिए जनता को मोह में डालने वाली अपनी माया फैला दी ॥१॥

चेति । अन्यथा पूर्वस्मादपकर्षः स्यात्, लौकिको निरोधः अलौकिके बाधे विद्यमाने न भविष्यतीति तदाच्छादनार्थं मायां विस्तारितवानित्याह । उपलब्धार्थौ पितरौ विदित्वा, उपलब्धार्थता मा भवत्विति जनमोहिनीं निजां मायां ततान । प्रयच्छत्येव सर्वं निरोधे, किं बहुना व्यापिवैकुण्ठमपि दत्तवान् । तथापि वेशेन क्रीडतीति ज्ञानं न लीलौपयिकम्, अतो बाधकत्वात् सा मा भवत्विति मायाच्छादनम् । ननु को दोषः स्यात्तत्राह प्रहृषोत्तम इति । मूलभूतः, यदि कश्चिदंशः समा-

॥ १ ॥



व्याख्यान—यह निरोध मध्यम है, अतः गुणों से और ज्ञान तथा भक्ति द्वारा इसको सिद्ध किया है। यदि यों न करते तो प्रथम निरोध से इसका अपकर्ष\* हो जाए, अलौकिक निरोध लौकिक का बाधक है। वह जब तक रहेगा, तब तक लौकिक निरोध नहीं हो सकेगा; इसलिए उस अलौकिक निरोध के ज्ञान को छिपाने के लिए भगवान् ने अपनी माया फैलाई। जिससे माता-पिता को मेरे स्वरूप का जो ज्ञान हो गया है; उससे उनका अलौकिक निरोध सिद्ध हुआ है; वह ज्ञान (इस माया से) मिट जाए तो फिर लौकिक निरोध सिद्ध होवे। निरोध करने पर भगवान् सब कुछ देते ही हैं, विशेष तो क्या व्यापि त्रैकुण्ड भी दे दिया, तो भी कपट वेश से अर्थात् मनुष्याकृति से खेलते हैं। यह ज्ञान भी लीलोपयोगी नहीं है, अतः बाधक होने से वह बाधकता न होवे, इसलिए माया से उस ज्ञान का आच्छादन किया। यों समझने में क्या दोष है? इसके उत्तर में कहते हैं कि आप मूल स्वरूप पुरुषोत्तम हैं। यदि अंश रूप से आए हों और उसका लोक में ज्ञान भी हो जाए, तो अत्यन्त लज्जा की बात नहीं है, मूल स्वरूप महान् का ज्ञान हो जाना तो लज्जायुक्त ही है और उसका फल होगा ही। वह फल भक्ति है, वह परमानन्द के तुल्य ही है।

माया द्वारा मोह कराने से उससे भी कम होगा? इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं; क्योंकि वह माया अपनी (भगवान् की) है, अतः वह जैसे योग्य होगा वैसे करेगा।

भगवान् का अतिक्रम होना दोष है, जिससे माया अनिष्ट सिद्ध करने वाली होगी। इसके उत्तर में कहते हैं कि वह माया भगवान् का अतिक्रम नहीं कराएगी, किन्तु साधारण मनुष्यों में मोह कराएगी। भगवदीयों में मोह न कराएगी, जिससे भगवदोष भगवान् में वैसे ही निरुद्ध रहेंगे ॥१॥

आभास—ततः अलौकिकमुपायं विधाय लोकन्यायेन सापराधावेताविति एकस्मिन्कृते वसुदेवो दुःखं प्राप्नोतीति नालिङ्गनं कृतवानिति प्रतीतिमुत्पाद्य तद्दोषपरिहारार्थं तादृशानि वचनानि ग्राह्य 'उवाचे'ति।

आभासार्थ—पश्चात् अलौकिक उपाय कर अपनी निरपराधता सिद्ध की, किन्तु लोक न्याय से ये अपराधी हैं। यों दिखाने के लिए कहते हैं कि अपराधी होने के कारण ही वसुदेवजी ने इनके लिए दुःख भोगा है, अतः इनका आलिङ्गन नहीं किया है। इस प्रकार की प्रतीति पैदा कर उस दोष के निवारणार्थ उस प्रकार के वचन 'उवाच पितरौ' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—उवाच पितरावेत्य साग्रजः सात्वतर्षभः।

प्रश्रयावन्तः प्रीणन्स्व तातेति सादरम् ॥२॥

श्लोकार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण अपने बड़े भाई के साथ माता-पिता के समीप आ

\* माता-पिता का या इस निरोध का निरादर हो जाता।



कर विनय से नम्र हो माता-पिता को प्रसन्न करते हुए आदर से हे अम्ब ! हे तात ! कहने लगे ॥२॥

**सुबोधिनी**—नमस्कारं परित्यज्य एत्य निकटे समागत्य, बलभद्रस्तथा वक्तुं न जानातीति तस्यापि दोषः परिहर्तव्य इति तत्सहितः, सात्वतानामृषभः स्वामी भगवद्भक्तानां शिक्षकः सन्मर्यादां शिक्षयन् । प्रश्रयेण विनयेन नम्रो बाल इव प्रीणन् प्रीतिमुत्पादयन् आदरपूर्वकं अम्ब तातेति संबोधनमुवाच । लज्जा सापराधत्वं च लोकदृष्टौ संभवतः । तत्र प्रथमं लज्जा निवारणीया, पुत्रः

स्वात्मैवेति न तेन कृते मोचने लज्जा भवति । अतः पुत्रत्वं ज्ञापयन् अम्ब तातेति संबोधनं कृतवान्, उपचारव्यावृत्त्यर्थं सादरम्, कपट एवोपचारप्रयोगः । तथापि तद्दहदये पूर्वस्मृतिनाशेऽपि विपरीता बुद्धिः कथमुत्पद्येत तत्राह प्रीणन्निति । यथा प्रीतिर्भवति तथा मुखचेशं कुर्वन्, अवगणनया पुत्रत्वेऽपि संबोधिते प्रीतिर्नोत्पद्यत इति विनयप्रकाशनम् ॥२॥

**व्याख्यानार्थ**—श्रीकृष्ण नमस्कार का परित्याग कर अर्थात् नमस्कार न कर पिता के समीप आ गए । आप अकेले नहीं आए, किन्तु अपने बड़े भाई बलरामजी को भी साथ में ले आए थे, किन्तु बलरामजी को किस प्रकार बोलना चाहिए, यह वे नहीं जानते हैं । उनका दोष भी उतारना है, इस लिए साथ लाकर भी प्रथम आगे आप आए । आप भगवद्भक्तों के स्वामी एवं शिक्षक हैं, अतः सन्मर्यादा आपको सिखानी है; अतः विनय से नम्र हो जैसे बालक प्रेम व हर्ष उत्पन्न करता है, वैसे ही प्रीति उत्पन्न करते हुए आदर सहित हे अम्ब ! हे तात ! यों सम्बोधन कर कहने लगे । लज्जा और अपराधत्व लोक दृष्टि में होते हैं; उनमें प्रथम लज्जा का निवारण करना चाहिए । पुत्र अपनी ही आत्मा है, वह यदि बन्धन से छुड़ावे, तो उससे पिता को लज्जा नहीं आनी चाहिए । श्रीकृष्ण अपने को पुत्र प्रकट बताने के लिए कहते हैं कि हे अम्ब ! हे तात ! हे माता ! हे पिता ! मैं आपका पुत्र हूँ । कृष्ण माता-पिता को हे माता ! हे पिता दिखावटी रीति से नहीं कहते हैं । इस के लिए शुकदेवजी ने श्लोक में 'प्रयुक्त सादरम्' से कहा है कि कृष्ण ने आदरपूर्वक तथा नम्रता से ये शब्द कहे हैं, जिस से माता-पिता की पूर्व स्मृति का नाश हो और उनमें प्रेम उत्पन्न हो । इस के लिए फिर उन्होंने विशेष करके अपने मुख की चेष्टा भी वैसी ही की, जिससे प्रीति भी उत्पन्न हुई ॥२॥

**आभास**—एवं लज्जां दूरीकृत्य अपराधनिराकरणेनास्माभिरपराधः कृत इति वक्तुं तत्साधनाय तयोरपेक्षितत्वं ज्ञापयति 'नास्मत्त' इति ।

**आभासार्थ**—इस प्रकार अपराध के निराकरण से लज्जा को दूर कर कहने लगे कि हमने बराबर अपराध किया है; क्योंकि जो हमको करना चाहिए था, वह हमने नहीं किया है, जिसका वर्णन 'नास्मत्तो' श्लोक में करते हैं—

**श्लोक**—श्रीकृष्ण उवाच—नास्मत्तो युवयोस्तात नित्योत्कण्ठितयोरपि ।

बात्यपौगण्डकंशोराः पुत्राभ्यामभवन्वचित् ॥३॥



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १० ॥

**श्लोकार्थ—**श्रीकृष्ण ने कहा, हे तात ! आप दोनों हम दोनों के लिए नित्य उत्कण्ठित रहते थे, किन्तु हमारी बाल्य, किशोर और नव युवा अवस्था यों ही गई । हम दोनों से आपकी कुछ भी सेवा न हो सकी ॥३॥

**सुबोधिनी—**नित्योत्कण्ठितयोरपि, सर्वदा पुत्र-योर्वल्यपौगण्डकैशोरा द्रष्टव्या इति आकांक्षा, बाल्यावयो मुद इति सतोषे हि सर्वस्याकांक्षा भवति । पुत्राभ्यामिति पञ्चमी, आवाभ्यां (पुत्राभ्यां) हेतुभूताभ्याम्, आवयोः संबन्धिनः बाल्यादयः, अन्येषां च कीर्तिवत्प्रभृतीनां न जाताः, भगवानुत्पत्स्यत इति श्रवणाल्लोकोपद्रव इति स्वस्यैव

निमित्तता स्वस्यापि बाल्याद्यदर्शने, अक्लिष्टकर्मत्वाय स्वयमेवोक्तवान् मां गोकुले नयेति । अतः स्वयमेव निमित्तम्, समर्थानुपेक्षां कृतवन्तावित्यपि, स्वधर्मपरिपालनं हि गोप्यता । अक्लिष्टकर्मता (वा) स्वस्यैव रक्षणीया, पित्रोस्तु बाधिका, अतः स्वनिमित्तमेव बाल्यादीनामनुभव ॥३॥

**व्याख्यान—**आपको नित्य यह लालसा रहती थी, कि हम पुत्रों का सुख लें बालकों की बाल्य, किशोर और नव युवा अवस्था देखे क्योंकि बाल्यादि अवस्था आनन्द प्रद होती है, उससे प्रसन्न होने की सब को आकांक्षा रहती है । श्लोक में 'पुत्राभ्यां' पद पञ्चमी विभक्ति में कहा है जिसका अर्थ है कि हम दोनों पुत्रों से आप बाल्य आदि किसी अवस्था को भी सुख प्राप्त नहीं कर सके हैं, किन्तु कीर्तिमान् प्रभृतियों से भी सुख नहीं ले सके; उसका कारण भी मैं ही हूँ क्योंकि आपके यहाँ भगवान् का प्राकट्य होगा । यों सुनने से लोक में कंस द्वारा उपद्रव होने लगे । कीर्तिमान् तो पाँच वर्ष तक सुख दे सका, किन्तु मैं बाल्यादि का भी दर्शन मात्र न दे सका जिसका कारण भी मैं ही हूँ, जो 'अक्लिष्ट कर्म' होते हुए भी मैंने उसका उपयोग न कर आपको कह दिया कि 'मुझे गोकुल ले चलो' अतः आपको वह सुख न मिला, जिसका कारण मैं हूँ । अक्लिष्टकर्मत्व धर्म गोप्य रीति से पालन करना है, वह अपने लिए ही रक्षणीय है, माता पिता के लिए बाधक ही है अतः अपने लिए ही बाल्य आदि अवस्थाओं का अनुभव न कराया ॥३॥

**आभास—**यद्यपि भवतां सुखाभावः तथाप्यस्माकं भूयान् क्लेशो, भवतामल्प इति निरूपयति 'न लब्ध' इति ।

**आभासार्थ—**श्रीकृष्ण कहते हैं कि यद्यपि आपको हम से सुख की प्राप्ति न हुई, जिससे आपको क्लेश हुआ वह अल्प है, किन्तु उससे हमको जो दुःख हुआ वह विशेष है । क्यों वा कैसे महान् क्लेश हुआ ? जिसका वर्णन 'न लब्धो' श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक—**न लब्धो दैवहतयोर्वासो नौ भवदन्तिके ।

यां बालाः पितृगेहस्था विन्दन्ते लालिता मुदम् ॥४॥

**श्लोकार्थ—**हम दोनों मन्दभागियों को आपके निकट रहना भी प्राप्त न हुआ । माँ-बाप के पास घर में रहने से बालकों को लालन से जो आनन्द प्राप्त होते हैं, उनसे भी हम वञ्चित रहे ॥४॥

\*\*\*\*\*

सुबोधिनी—दैवहतयोः दैवं हतं याभ्याम् ।  
अर्थाद्भूवदीयम्, ब्रह्माणो हि नादृष्टम्, दैवप्रेरित-  
योर्वा, तथाप्यन्यथाप्रत्यायकः शब्दः मोहिकया  
मायया जनित इति न भगवद्वाक्ये बाधितार्थत्वं  
विरोधः । परोक्षता तु व्याख्यातैव, लौकिकीयं  
भाषा । अतो भगवान् गोप्य एव सर्वथा विज्ञैर-  
पीति फलिष्यति, भगवतापि बाल्यत्वमाविष्कृत-  
मिति, तद्यादृशं लोके प्रशस्तं भवति तादृशं प्रक-  
टीकर्तव्यम् । इदं त्वस्मिन्नंशे विकलमिति श्रुत्या  
यथार्थतापि भवति । आत्मत्वेन तद्धर्माः परिगृ-  
हीता इति ऐक्यनिरूपणमपि न दोषाय । स्ववा-

त्यस्य लोकप्रसिद्धत्वात् कथं विकलतेत्याशङ्क्याह  
यां बाला इति । लोकानां संतोषहेतुर्वात्यं यद्यप्य-  
स्मदीयं तथाप्यस्मत्संतोषहेतुर्न भवति, नन्दादिषु  
तथा हृदयं न प्रकटीकृतमिति सहजो धर्मस्तेषु  
नोत्पन्नः । कृत्रिमो हि न सुखदायी, अन्यथा बन्धन  
न कुर्यात्, भारे वा भूमौ न स्थापयेत् । तस्मा-  
त्सुष्ठूक्तं पितृगेहस्था एव बालाः पितृभ्यां लालिताः  
मुदं विन्दन्त इति । मुदमित्येकवचनं सर्वेषां  
बालानां तुल्यत्वाय । नान्ये उत्कर्षहेतवो धर्माः,  
स्थिता अप्यप्रयोजका इति निरूपितम् ॥४॥

व्याख्यानार्थ—जिन हम दोनों में दैवका हनन किया है अर्थात् आपका भाग्य बदल दिया है। सारांश यह है कि आपको जो पुत्रों के वात्सल्य सुख का आनन्द मिलना था, उसमें हम ही एक रुकावट रूप हुए, हमको तो अदृष्ट है ही नहीं, क्योंकि भगवद्रूप है, अथवा दैव से इस प्रकार प्रेरणा हुई है तो भी अन्यथा प्रतीति कराने वाले जो शब्द कहे हैं वे मोहिका माया से उत्पन्न किए हैं, इस लिए इस भगवद्वाक्य में न अर्थ का बाध है तथा न विरोध है परोक्षता तो कही ही है, यह भाषा लौकिकी है, अतः विद्वान् भगवान् को सर्व प्रकार से गुप्त ही रखते हैं। प्रभु गोप्य ही फलित होते हैं, अर्थात् पल रूप बनते हैं।

भगवान् ने भी जैसा लोक में प्रशंसनीय हो वैसा बाल्य भाव अपने में प्रकट कर दिखाया है, किन्तु यह बाल्य भाव का अंश विकल है, यों श्रुति कहती है। जिसका तात्पर्य है कि भगवान् में लोकवत् बालत्व नहीं है, कारण कि भगवान् ने यह बालत्व भी आत्म धर्म से ही धारण किया है। इससे यह रूप भी वही आत्मा है, इस प्रकार ऐक्य निरूपण में किसी प्रकार का दोष नहीं है।

अपने बालकपन की लोक में प्रसिद्धि है, फिर विकलता क्यों ? इसके उत्तर में कहते हैं कि हमारा बालकपन लोकों के संतोष का हेतु है अर्थात् लोकों को हमारे बालकपन से आनन्द की प्राप्ति हुई है, किन्तु वह हमको आनन्द दाता न हुआ है, क्योंकि नन्द आदि के यहां यह हृदय का सच्चा भाव प्रकट नहीं किया कृत्रिम भाव आनन्द नहीं देता है। यदि सहज सत्य भाव होता तो माता यशोदा मुझे बांधती नहीं और बोझ होने से गोदो से उतार कर पृथ्वी पर न पटकती, इसलिए यह कहना सत्य सुन्दर है कि पिता के घर में रहने वाले ही बालक, माता पिता से लाड लडाने से आनन्द लेते हैं, 'मुदं' एक वचन इसलिए कहा है कि सर्व बालक माता पिता के पास समान रीति से लालित होते हैं। बालकपन से उत्कर्षवाला कोई धर्म नहीं है, होए भी तो वह अप्रयोजक<sup>२</sup> है ॥४॥



**आभास—**उपेक्षाशङ्का तु न कर्तव्यैव, लोकतः स्वार्थमेवापेक्षितत्वात्, वेदे तु तस्य बाधकत्वात्तदाह 'सर्वार्थसम्भव' इति ।

**आभासार्थ—**उदासीनता की शङ्का तो नहीं करनी चाहिए; क्योंकि लोक में स्वार्थ ही अपेक्षित है, तो जहां स्वार्थ है वहां उपेक्षा हो नहीं सकती है, वेद में वह तो बाधक है, जिस का वर्णन 'सर्वार्थ' श्लोक में करते हैं ।

**श्लोक—**सर्वार्थसम्भवो देहो जनितः पोषितो यतः ।

न तद्योर्गति निर्वेशं पित्रोर्मर्त्यः शतायुषा ॥५॥

**श्लोकार्थ—**जिस देह से चार पुरुषार्थ सिद्ध किए जाते हैं, वैसे देह जिनसे मिली और पाली गई, उन माता-पिता के ऋण से मनुष्य शत वर्ष की आयु से सेवा करके भी उच्छ्रय नहीं हो सकता है । ५॥

**मुदोधिनी—**सर्वे अर्था धर्मादियः अस्मिन्नेव मानुषशरीरे सभवन्ति । तथा लीला अपि । सामान्योक्तेः नात्यन्त भगवत्स्पर्शता हि वक्तव्या । जनितः पित्रा, पोषितो मात्रा, आवश्यकरोपितो हि तयैव भवति । अथवा । उभाभ्यां जनितः पोषितश्च भवति यथोपयोगम्, यतो याभ्यां यस्माद्वा तयोर्निर्वेशं निष्कृतिं प्रत्युपकारं शतायुषापि न याति । मर्त्य इति । मरणधर्मा । स हि कालेनोपद्रुतः स्वयमेवासमर्थः जीवनेऽपि तयोः कमुपकारं करिष्यति । अथवा । नायमनृणः, यतो मर्त्यो म्रियते, नहि दोषाभावे म्रियते, वर्षाणां

शतेनाप्यानृण्यं न भवतीति । पूर्णमायुर्भुक्त्वापि म्रियते । अन्यथा अग्रेऽपि जीवेत् । पापेन हि दुःखमेव, अन्यथा पुण्यपापोपभोगः सर्वत्र नियत इति । एतच्छरीरत्याजनेन पुण्यपापयोः क उपकारः स्यात् आनृण्ये तु तावत्काल प्रतोक्ष्य तदधिकारिणः स्वसन्तानात्तं दूरीकुर्वन्ति, तस्मान्मर्त्यता युक्ता भवति । शतायुषेति परमावधिः, कालस्य शतावृत्तावप्यनुपयोगे अग्रे नोपयोग एवेति तन्निवृत्तिः । तत्रत्यानां देवानां पूर्वमेवाकाङ्क्षानिवृत्तौ शीघ्रं मरणम्, अन्यथा तु ततोप्यधिक जीवनमिति शतसंख्या उपलक्षिका ॥५॥

**व्याख्यानार्थ—**धर्म आदि सर्व पुरुषार्थ इस मनुष्य शरीर से ही सिद्ध होते हैं, वैसे ही लीला का भी, यहां सामान्य विषय की भांति वर्णन है, अतः भगवत्सम्बन्धी विषय के दर्शन की अत्यन्त आवश्यकता नहीं है । पिता ने पैदा किया, माता ने पालन किया, पालन करने में जो विशेष आवश्यकताएँ हैं वे माता ही पूर्ण करती है । अतः कहा है कि माता ने पालन किया, अथवा जैसा उपयोग है वैसा दोनों ने जन्म देने और पालन करने में योग दिया है । जिस कारण से उनके ऋण से पुत्र सौ वर्ष सेवा करने पर भी छुटकारा नहीं पा सकता है, कारण कि स्वयं मरणधर्मवाला है, काल के गाल में है; जिससे वह स्वयं ही जीने में असमर्थ है, वह उनका क्या उपकार कर सकेगा ? अथवा यह माता पिता के ऋण से मुक्त हो नहीं सकता है, क्योंकि यह मरण धर्म वाला है, दोष के बिना कोई नहीं मरता है । सौ वर्ष भी सेवा करने से ऋण से मुक्ति नहीं होती है । पूर्ण आयु भोग कर भी मरेगा ही, यदि मरणधर्म न हो तो आगे भी जीवित रहे । पाप से दुःख को हा भोगना है,

~~XXXXXXXXXXXXX XXXXX~~

नहीं तो पाप पुण्य दोनों का भोग तो सर्वत्र नियत ही है । इस देह के त्याग के बाद पाप तथा पुण्य का क्या उपकार होगा ? ऋण से मुक्त होने के विषय में कहते हैं कि उसके अधिकारी उस समय की प्रतीक्षा कर उस सन्तान से वह ऋण प्राप्त करेंगे, इससे मनुष्य मरण धर्मा है, यह कहना योग्य ही है । आयुष्य की विशेष अवधि सौ वर्ष की कही है, काल प्रति वर्ष आकर देखता है कि उसने अपना कर्तव्य पूरा किया वा नहीं ? यों देखते हुए जब वह देखता है कि सौ वर्ष हो गए, पूरे नहीं किए तब उसको ले जाता है । शेष ऋण आदि की वसूली उसकी सन्तान से करता है । वहाँ के देवों की आकांक्षा पूरी होने पर शीघ्र मरण होता है । यदि उनकी आकांक्षा पूरी न हुई तो सौ वर्ष से विशेष भी मनुष्य जीता है, अतः शत वर्ष कहना उपलक्षण मात्र है ॥५॥

प्राभास— तत्र विशेषमाह यस्तयोरात्मज इति ।

**आभासार्थ—**इस विषय में विशेष इस यस्तयो' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—यस्तयोरात्मजः कल्प आत्मना च धनेन च ।

वृत्तिं न दद्यात्तं प्रेत्य स्वमांसं खादयन्ति हि ॥६॥

**श्लोकार्थ—**जो पुत्र समर्थ होते हुए भी शरीर से और धन से माता-पिता का पालन-पोषण नहीं करता है, मरने के बाद उस पुत्र को परलोक में उसका मांस खिलाते हैं ॥६॥

सुबोधिनी--तयोः पित्रोः शरीराज्जातः न करोत्येव तयोनिष्कृति बुद्धिपूर्वकम्, तिष्ठत्वान्यत् यो वृत्तिं जीविकां न दद्यात् तं प्रेत्य परलोके मृत्वा स्थितं प्रकर्षेण एत्यागत्य वा स्वमांसं तस्यैव मांसं खादयन्ति । युक्तश्चायमर्थः । तदुद्धवेन शरीरेणोत्पादितं तदीयमेव भवति. यथा दासकृत स्वक्षेत्रोद्धव वा, तच्चेत् स्वार्थमेव नियोगं कुर्यात् शरीरं पोषयेत् परलोकं वा साधयेत् तदा अवि-

शेषात् शरीरेणापि तदुद्भवेन तत्साधयतु मुख्य-  
त्वाच्च । तस्मादयमेव दण्डो विहितः । निष्कृतिश्च  
भवति । तदोयमनेन भक्षितमिति परस्वभक्षक  
एव भवेत्, ननु तेन किञ्चित् कुर्यात् अतो देवा-  
स्तदुपकारार्थं वृद्धयभावाय निष्कृतेश्च संभावना  
नास्तीति तन्मांसमेव तं खादयन्ति । यो हि वृत्ति-  
मेव न ददाति स किमन्यत्करिष्यतीति ॥६॥

व्याख्यानार्थ - पुत्र, माता तथा पिता के शरीर से उत्पन्न हुआ है। उसका बदला बुद्धि पूर्वक नहीं देता है, विशेष कुछ न करे तो उनका पालन पोषण ही करे, यदि वह भी नहीं करता है तो मरने के बाद जब परलोक में स्थित होता है तो वहाँ उसको उसका ही मांस खिलाते हैं, यह कहना योग्य ही है। जिस प्रकार दास का कमाया हुआ द्रव्य तथा अपने क्षेत्र में उत्पन्न अन्न अपना है हम को ही उसके भोग का अधिकार है, वैसे ही पुत्र का शरीर माता पिता से उत्पन्न होने के कारण;



माता पिता का ही वह शरीर है, अतः उस शरीर द्वारा कमाए हुए धनादि पर माता पिता का अधिकार है। यदि पुत्र उस अधिकार का अनुपयोग करता है, तो उसको परलोक में इस प्रकार का दण्ड मिले वह योग्य हो है। किस प्रकार अनुपयोग करता है, वह बताते हैं कि माता पिता को न देकर अपने ही उपभोग आदि में निरङ्कुश व्यय करता है परलोक के सिद्ध करने में व्यय करता है। तात्पर्य यह है कि सब कुछ अपने स्वार्थ के लिए करता है तथा पिता माता का उपकार भूल जाता है। वास्तव में पुत्र का यह शरीर उनका ही है, तब इस शरीर से प्रथम उनका ही सर्व कार्य पूर्ण होना चाहिए, वह न हुआ, अतः यह दण्ड शरीर को ही मिला, वह योग्य है। उस कर्म का बदला लिया, उनका इसने जो खाया वह पराया द्रव्य खाया है। इस प्रकार जो इसने किया, उसका कुछ करना चाहिए, वहां कहते हैं कि देव; उसके उपकार के लिए उसके शरीर की वृद्धि न होने दे और अन्य कुछ देकर भी ऋण उतार नहीं सकता है अतः उसके मांस को ही ऋणदाना को खिलाते हैं, जो पुत्र माता पिता को भोजन वस्त्र नहीं दे सकता है, वह दूसरा क्या कर सकेगा ? ॥६॥

**आभास—**एवं सामान्यविशेषप्रकारेण पितृविषयकं दैविकबाधकमुक्त्वा प्रसङ्गात्सामान्यतस्तेषां पोषणाभावे जन्मैव निष्फलमिति मृत एवेति मृतवत् तादृश उपेक्षणीय एव स्वस्य जन्मवैयर्थ्यभयात् बुद्धिमांश्च नोपेक्षां करिष्यतीति, अपालने जन्मवैफल्यमाह 'मातरं पितरमि'ति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार ऊपर के श्लोकों में सामान्य तथा विशेष प्रकार से पितृ सम्बन्धी दैव के किए हुए प्रतिबन्ध को बताकर सामान्य रूप से यह भी बताया कि माता पिता का, जो पुत्र पालन पोषण नहीं करता है, उसका जन्म निष्फल अर्थात् वृथा है, इसलिए वह मृत के समान है। वैसे शरीर का त्याग ही करना चाहिए, क्योंकि वैसे शरीर का होना व्यर्थ ही है। इस प्रकार के भय से साधारण तो शरीर का त्याग भी कर दे, किन्तु बुद्धिमान इस प्रकार उपेक्षा कर शरीर त्याग नहीं करता है; किन्तु दैव से हुए प्रतिबन्ध को पूरा कर पुनः माता पिता की सेवा करता है और जो पुत्र यों नहीं करता है, उसका स्वरूप निम्न 'मातरं' श्लोक में बताते हैं—

**श्लोक—**मातरं पितरं वृद्धं भार्यां साध्वीं सुतं शिशुम् ।

गुरुं विप्रं प्रपन्नं च कल्पोऽबिभ्रच्छ्वसन्मृतः ॥७॥

**श्लोकार्थ—**वृद्ध पिता, माता, पतिव्रता स्त्री, अनुपनीत पुत्र, पुरोहित, ब्राह्मण और शरणागत के समर्थ होते हुए भी जो पुरुष पालन नहीं करता है, वह जीता हुआ भी मुर्दा है ॥७॥

**सुबोधिनी—**पितृविशेषणं वृद्धमिति । अन्यथा स एव समर्थः । माता त्वग्रिमविशेषणरहितापि पोषणीया । साध्वीति भार्या विशेषणम् । शिशु-

मिति सुतस्य, अनुपनीतम्, पश्चाद्भिक्षादिना स्वयमेव स्ववृत्तिं सम्पादयिष्यति । गुरुं विप्रं पुरोहितमिति यावत् । अयं धर्मः क्षत्रियाणाम्, तथैव

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १०२ ॥

प्रपन्नं च शरणागतम् । पृथगुपदेशात् शरणासा-  
हचर्याच्च विप्रपद उभयत्र सम्बध्यते । कल्पः अवि-

भ्रतु इव सन्नेव मृतो भवति । श्वासमात्र तस्य परं  
न तु जीवनोपायोऽन्यः कश्चन ॥७॥

**व्याख्यार्थ—**श्लोक में 'वृद्ध' पिता का विशेषण है, यों कहने का भाव यह है कि पिता वृद्ध न होगा तो अपना पालन स्वयं भी करेगा, किन्तु जब वृद्ध तथा अशक्त होने से कमाई न कर सके, तब पुत्र पर पिता के पालन करने का भार है इसी प्रकार माता तो सर्वथा पालनीया है। 'साध्वी' स्त्री का विशेषण है, जिसका भाव है कि पतिव्रता स्त्री पालन योग्या\* है, कुलटा नहीं। अनुपनीत पुत्र का पोषण, यज्ञोपवीत के बाद स्वयं भिक्षावृत्ति से उदरभरण\* कर लेगा, जो ब्राह्मण अपना पुरोहित है उसका पोषण करना, यह क्षत्रियों का धर्म है। इसी प्रकार शरण में आए हुए की रक्षा करना भी क्षत्रियों का धर्म है। ब्राह्मण पुरोहित हो अथवा शरण आया हो तो भी उसकी पालना तथा रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है। ऊपर कही हुई पालना तथा रक्षा प्रत्येक मनुष्य को करनी चाहिए। यदि समर्थ होते हुए भी इस धर्म का पालन नहीं करता है, तो वह जीता हुआ भी मृतक के समान है, क्योंकि वह केवल श्वास ले रहा है, अपना कर्त्तव्य पालन कुछ नहीं करता है; अतः वह मुर्दा ही है ॥७॥

**आभास—**अतो दोषत्रयेण स्वस्यैवायमपराधः तेन चाकार्यम् । न तु भवतां काचि-  
त्क्षतिरिति निरूपयति 'तन्नावकल्पयोरिति'ति ।

**आभासार्थ—**इन तीन दोषों के कारण मेरा ही दोष है, जिससे हम अपना कर्त्तव्य पालन नहीं कर सके। उससे आपकी कोई क्षति<sup>२</sup> नहीं हुई है, हमारी ही क्षति हुई है। जिसका वर्णन 'तन्नाव कल्पयोः' श्लोक में करते हैं।

**श्लोक—**तन्नावकल्पयोः कंसान्नित्यमुद्विग्नचेतसोः ।

मोघमेते व्यतिक्रान्ता दिवसा वामनर्चतोः ॥८॥

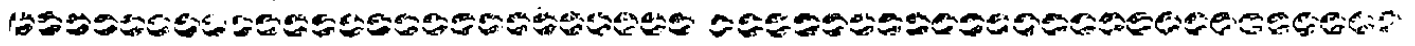
**श्लोकार्थ—**हम बालक होने के कारण असमर्थ थे और कंस से नित्य उद्वेग पा रहे थे। अतः आपकी सेवादि न करने से इतने दिन व्यर्थ गए ॥८॥

**सुबोधिनी—**तत् तस्मात्कारणात् बाधकज्ञान-  
स्य विद्यमानत्वात् । नौ आवयोरकल्पयोरेव बाध-  
कान्तराभावात् एते दिवसाः मोघं व्यतिक्रान्ताः  
पुरुषार्थसाधका न जाताः । तत्र हेतुः वामनर्चतो-

रिति । युवयोरर्चामकुर्वतोः । असामर्थ्यं लोकरी-  
त्या । देशान्तरे स्थितः असमर्थो भवत्येव, बालक-  
त्वाच्च । यद्यपि लीलयैवार्चा भवति तथापि कंसा-  
न्नित्यमुद्वेग इति न तत्संपन्नमित्याह कंसादिति ।

\* यह पति का धर्म है, १- बिना जनेऊ लिया हुआ,

\* यह उस समय की व्यवस्था है, अब जब तक विद्या पढ़े, तब तक पिता पोषण करे—अनुवादक  
२- हानि



स हि नित्यं पूतनादिदैत्यान्प्रेषयति ततोद्वेगः सर्व-  
दैव । वस्तुतस्तु युवयोनिमित्तम्, स हि कदा वा  
भवत्स्वरूप ज्ञात्वा उपद्रवं कारयिष्यतीति । अतः

एवान्ते तथैव जातम् । अत एवैते दिवसा भवदु-  
पयोगाभावात् मोघा जाताः । वां युवामनर्चतो  
नमस्कारादिना महत्वात् पूजादिना च ॥८॥

व्याख्यान—उस कारण से आपकी सेवा करने में बाधा करने वाला ज्ञान विद्यमान था, वह बाधक ज्ञान हमारी असमर्थता का ही था, अन्य कोई दूसरा नहीं था, जिससे इतने दिन व्यर्थ हो गए। कुछ पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हुआ, क्यों व्यर्थ गए ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आपने माता पिता की सेवा नहीं की इसलिए वे दिन व्यर्थ गए, श्रीकृष्ण ने यह कहा कि हम विदेश में रहने और बालक होने से असमर्थ थे, वह लोक दृष्टि से कहा है, अन्यथा आप तो सर्वथा समर्थ हैं, जो कि लीला से भी अर्चा हो सकती थी, किन्तु कंस के कारण चित्त में सदैव उद्वेग रहता था । जिससे वह भी न कर सके, नित्य उद्वेग इसीलिए रहता था कि कंस पूतना आदि दैत्यों को क्रमशः भेजता ही रहता था । जिससे मन में शान्ति न आती थी, सदैव उस ध्यान से मन में विक्षेप रहता था । यह उद्वेग जो कहा वह तो वास्तविक उद्वेग नहीं था । हमारे अन्तःकरण में वास्तविक उद्वेग तो आपके कारण था कि कब माता पिता के दर्शन कर उनकी सेवा करेंगे, यह उद्वेग था तो भी मैं न आया, जिसका कारण यह था कि कंस मुझे जानकर आपको जान जाएगा तो उपद्रव कराएगा । इसलिए मैं वहां रह गया, अतः अन्त में यों ही हुआ । कंस ने अक्रूर को भेज कर लीला स्थल में उपद्रव ही कराया । हम न आकर जितने दिन वहां रहे उतने दिन आपकी सेवा न होने से व्यर्थ ही गए, क्योंकि आप बड़े पूजनीयों को नमस्कार पूजादि न कर सके ॥८॥

आभास—ननु सामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् तदैव समागत्य कथं कंसो न हत इति चेत्तत्राह 'तत् क्षन्तुमर्हथ' इति ।

आभासार्थ—जब आप में सर्व प्रकार का सामर्थ्य है तो आप उस समय आकर कंस को मारकर हमारी सेवा करते, वैसा क्यों न किया ? इसके उत्तर में इस 'तत्क्षन्तु' श्लोक से क्षमा याचना करते हैं ।

श्लोक—तत्क्षन्तुमर्हथस्तात मातनो परतन्त्रयोः ।

अकुर्वतोर्वा शुश्रूषां क्लिष्टयोर्दुर्हृदा भृशम् ॥९॥

श्लोकार्थ—हे तात! हे माता! हम एक तो पराधीन<sup>१</sup> थे और दुष्ट कंस से दुःखित थे, इसलिए हम आपकी सेवा न कर सके, तो भी आप इस अवज्ञा को क्षमा कीजिए ॥९॥

सुबोधिनी—सत्यमपराधोऽस्ति परमर्धम् । स्वयमेकाकिना अलौकिकेन प्रकारेण समागत्य हन्तुमुचितो भवति । तथा सति अवतारवैयर्थ्यं हन्तुं च न शक्यते । अलौकिकात्तस्य वधो वरान्निषिद्ध इति । तथापीश्वरत्वात् पित्रोरनुरोधेन मारणीयो भवेत् तन्न कृतमित्यपराधः क्षन्तव्यः । क्षमायां तात मातरिति । मातृत्वं पितृत्वं च प्रयोजकम् । नौ आवयोरिति । उभयोरयं दोषः समानः । किञ्च । नैकान्ततोऽस्मद्दोषः यतः परतन्त्रावावां नन्दाधीनौ । तथा हि बुद्धिरुत्पादिता । तस्यातिक्रमे प्राणानेव त्यजेत् । अत एव कालीयावसरे परीक्षितः, तेन सहागमने परराष्ट्रवत्

युद्धेन मारणं प्रसज्येत । तत्तस्यैवानामिप्रेतम् ।  
एतच्च परीक्षितमिन्द्रयागभङ्गोपदेशेन अलौकिक-  
त्वात्तैरङ्गीकृतमपि । एतत्तु प्रजात्वादङ्गीकारमपि  
नार्हति । अतः परतन्त्रयोरशक्या सेवा । अपराध-  
माह अकुर्वन्तेर्वा शुश्रूषामिति । कंसादिमारणेन  
लोकेऽपि सामर्थ्यं प्रतीतमिति सेवायोग्यता ।  
स्वार्थं हि सर्वमिति पुत्रादपि सेवा मृग्यत एव ।  
दुर्हृदेति तस्य क्लेशदाने न कश्चित्पुरुषार्थः सिद्धः  
किन्तु हृदयदोषात् केवलं क्लेशः । तत्रापि भव-  
दादिबन्धने सुतरामेव क्लेशं प्रयच्छतीति भृशमि-  
त्युक्तम् ॥६॥

व्याख्यानार्थ—सचमुच यह अपराध मेरा है, किन्तु वह पूर्ण अपराध नहीं, आधा है। मैं समर्थ हूँ, स्वयं आकर अलौकिक प्रकार से उसको मारूँ, यह उचित था, किन्तु यों करने से एक मेरा अवतार लेना व्यर्थ हो जाता और दूसरा वह मरता भी नहीं, कारण कि अलौकिक प्रकार से उसकी मृत्यु वर से निषिद्ध है। अर्थात् उसको वरदान है कि तेरी मृत्यु अलौकिक प्रकार से न होगी। यों होते हुए भी यदि आप कहो कि तू ईश्वर है; कर्तुं अकर्तुं अन्यथा कर्तुं समर्थ है, अतः माता पिता के लिए वर के प्रभाव को मिटाकर तुम्हें उसको मारना ही चाहिए था, वह क्यों न किया? तो इस अपराध के लिए क्षमा मांगता हूँ। आप माता पिता हैं, वे बालक के अपराध को क्षमा करते हैं। अपराध क्षमा करो। दोनों के दोष समान हैं। किञ्च,<sup>१</sup> केवल मात्र हमारे दोष नहीं हैं कारण कि हम दोनों परतन्त्र थे, अर्थात् नन्द बाबा के आधीन थे। उन्होंने हमारी बुद्धि वैसी बना दी थी जो उनको छोड़ नहीं सकते थे। छोड़ने पर वे प्राण ही छोड़ देते, जिसकी परीक्षा कालीयदमन लीला के समय कर ली थी। यदि उनको साथ में लेकर आते तो एक प्रकार की दूसरे राज्य पर आक्रमण समान युद्ध दीखता। युद्ध से कंस मारा गया कहने में आता, यों करना नन्दजी को अभिप्रेत<sup>२</sup> न होता, यह इन्द्रयागभङ्ग के समय में देख लिया था। यद्यपि वह अलौकिक होने से मान लिया था, किन्तु यह लौकिक है और कंस की प्रजा होने से वैसा करना वह कभी भी नहीं मानते। अतः हम परतन्त्र होने से आपकी सेवा न कर सके। यह हम दोनों का अपराध है, अब कंसादि के मारने से लोक को सामर्थ्य का ज्ञान हो गया और सेवा की योग्यता भी हुई। इससे निश्चय हो गया कि लोक में सर्वत्र स्वार्थ ही है। पुत्र से भी सेवा प्राप्त हो, वैसी इच्छा रहती ही है। उसने<sup>३</sup> जो कुछ कष्ट दिए, उससे उसका कोई पुरुषार्थ तो सिद्ध नहीं हुआ। उसका हृदय दुष्ट था, जिससे उसने केवल दुःख ही दिए। उसमें भी आपको बन्धन में रखकर जो दुष्कर्म किया, वह कर्म तो अतिशय क्लेश देता है, इसलिए ही श्लोक में 'भृशम्' पद दिया है ॥६॥



ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १०५ ॥

**आभास—**नन्वीश्वरः कथमेवमनीश्वरवद्वदतीति चेत्तत्राह 'इती'ति ।

**आसभार्थ—**ईश्वर हो के यों अनीश्वर की भांति कैसे कहते हैं ? इसका उत्तर 'इति माय मनुष्यस्य' श्लोक में देते हैं—

**श्लोक—**श्रीशुक उवाच—इति मायामनुष्यस्य हरेर्विश्वात्मनो गिरा ।

मोहितावङ्कुमारोप्य परिष्वज्यापतुर्मुदम् ॥१०॥

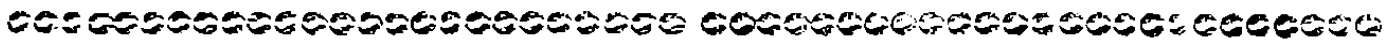
**श्लोकार्थ—**श्री शुकदेवजी कहने लगे कि माया से मनुष्य रूप हुए, जगत् को आत्मा हरि की वाणी से माता-पिता मोहित हो गए, गोद में लेकर आलिङ्गन कर आनन्द को प्राप्त हुए ॥१०॥

**सुबोधिनी—**मायया मनुष्यो, यथा कायिकं चेतमायिकं वाचनिकमपि तथैव कर्तव्यमिति । मनुष्यत्वमात्रप्रदर्शनं मायिकमिति न भगवति काचित्क्षतिः । मायिकेषु तु सर्वमेव मायिकम् । ननु कंसादिवधार्थं तथा कृतवान्, अत्र प्रयोजनाभावात् जातं ज्ञानं किमिति नाशयतीत्याह हरेरिति । अन्यथा तौ पूर्वमपि क्लिष्टौ, ज्ञानं च क्लेशात्मकम्, साधनमेव परं तत्पुरुषार्थस्य, चिन्ताद्यपगमात् तदानीमपि सुखमिव प्रतिभाति । अतो ज्ञानेन दुःखं प्राप्स्यन्तीति । नन्वत्यन्तीपकारी

फलाव्यभिचारिमार्गेण यतमानं किमिति व्यावर्तयति, नान्तरीयकं च दुःखं नात्यन्तं द्वेष्यमत आह विश्वात्मन इति । सहि परमदयालुः सर्वस्यात्मा यथासुखं सर्वान् प्रेरयतीति भक्त्यैव सः कृतार्थः कर्तव्य इति युवां मां पुत्रभावेनेति मुक्तेः सिद्धत्वात् सिद्धसाधनं ज्ञानमिति ज्ञाननिराकरणार्थं वाचा मोहनमुचितमेव । ततो मोहितौ तदानीमेव च परिष्वज्य मुदमापतुः । अन्यथा देहावसान एव सुखं स्यात् ॥१०॥

**व्याख्यार्थ—**माया के कारण मनुष्य देखने में आते हैं जिससे भगवत् रूप में आनन्दत्व की किसी प्रकार की क्षति नहीं हुई है । लीला के लिये जैसे मायावी आकृति दिखाई है वैसे ही वाणी की भी दिखानी चाहिए । लीलाओं में सर्व वस्तु मायावी ही होती हैं । कंस वध लीला में यों करना आवश्यक एवं उपयोगी था । अब उसका कोई प्रयोजन नहीं है । तब उत्पन्न ज्ञान को क्यों मिटाया जाता है ? इस शङ्का को दूर करने के लिये कहते हैं कि आप 'हरि' हैं, अतः यदि यों न करें तो माता पिता का जो क्लेश है, वह ज्ञानात्मक है, जिससे पुरुषार्थ सिद्ध होकर चिन्ता नष्ट होगी और सुख जैसा मान होगा, अतः भगवान् ने यों किया है, अन्यथा ज्ञान ही रहता तो क्लेश को प्राप्त होंगे, अतः अज्ञान ही रहने दिया ।

जो अत्यन्त उपकारी और उत्तम फल को देने वाले सीधे निश्चित मार्ग के लिए प्रयत्न करने वाले को क्यों वहां से हटाते हैं ? अन्तर दुःख अत्यन्त दुःखदायी नहीं होता है, वह तो सहना ही पड़ता है । इस पर कहते हैं कि भगवान् विश्व की आत्मा हैं वे परम दयालु हैं, सर्व की आत्मा होने से सब को सुख मिले वैसे ही प्रेरणा करते हैं । भक्ति से ही अर्थात् स्नेह से ही उसको कृतार्थ करते हैं, प्राकट्य के समय में भगवान् ने कहा था कि 'युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत' आप दोनों



मुझे पुत्र भाव वा ब्रह्म भाव से भजोगे तो आप कृतार्थ होंगे, जिससे मुक्ति तो सिद्ध ही है। जो विद्ध है उसका साधन ज्ञान था, उसकी आवश्यकता नहीं है, इसलिए उसके निराकरण करने के लिए बाणों से मोहित करना उचित ही है। इस प्रकार मोहित होने से उसी समय आलिङ्गन कर आनन्द को प्राप्त हुए, नहीं तो मरने के बाद सुख लेते ॥१०॥

**आभास—**ततो लौकिकसुखं महदेव जातमित्याह 'सिञ्चन्तावि'ति ।

**आभासार्थ—**उससे लौकिक सुख बड़ा ही हुआ इसको 'सिञ्चन्ता' श्लोक से बताते हैं ।

**श्लोक—**सिञ्चन्तावश्रुधाराभिः स्नेहपाशेन चावृतौ ।

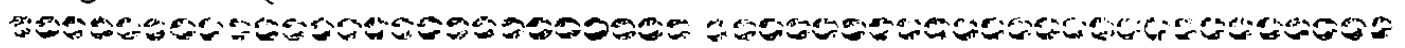
न किञ्चिद्वचतु राजन्बाष्पकण्ठो विमोहितौ ॥११॥

**श्लोकार्थ—**हे राजन् ! आँसूओं की धाराओं से सिञ्चन करते हुए स्नेह रूप पाश से बँधे हुए ऐसे मोहित हो गए कि कुछ न बोल सके; क्योंकि अश्रुओं से कण्ठ बन्द हो गए थे ॥११॥

**सुबोधिनी—**अश्रुधाराभिः पुत्रो कर्मसिञ्चन्तो जातो, अश्रूणां धाराभिः बहुकालवियोगस्मरणात्, स्नेहपाशेन च आवृतौ । पाशपदेनैव लौकिकत्वं पुत्रत्वं चोक्तम् । ततः न किञ्चिदुक्तवन्तौ, इदमप्येकं मोहकार्यं निर्भरतया पुत्रस्नेहप्लुतत्वम् । अन्यथा स्तुतौ अवश्यं गुणा वक्तव्या इति पुनरपि ज्ञानमुद्बोधितं स्यात् । राजन्निति संबोधनं श्रवणार्थम् । अवचने दृष्टं हेतुमाह बाष्पकण्ठाविति ।

सर्वथा भगवत्स्पर्शोऽपि मोहोऽनुवृत्त इति प्राद्यन्न-योर्दृढं मोहमुत्पाद्य निश्चिन्तो जात इति वक्तुमाह विमोहिताविति । अन्ते पुनर्विशेषणम्, मोहितौ यथा न कदाचिदपि आत्मज्ञानं भगवज्ज्ञानं वा तयोरुदेति, ततः प्रत्यापत्तिं वक्ष्यति ज्ञानाध्याये, अन्यथा भगवाननिष्टकर्ता स्यात्, अतो निरोधे समाप्त एव पश्चात्तनिरूपणम् ॥११॥

**व्याख्यानार्थ—**आँसूओं की धाराओं से पुत्रों को सींचने लगे, कारण कि बहुत दिन के वियोग के स्मरण से नेत्रों से सहज जल गिरने लगा तथा उससे स्नेह रूप पाश से आवृत हो गए। श्लोक में शुक्रदेवजी ने केवल स्नेह शब्द न देकर 'स्नेह पाश' कहा है, जिसके कहने का भावार्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि इससे यह बताया है कि वसुदेव देवकी का यह स्नेह लौकिक था, क्योंकि बलराम श्रीकृष्ण के स्वरूप को भूलकर उनको पुत्र समझने लगे, जिससे उनकी यह दशा हुई जो वे कुछ बोल न सके। यह भी एक मोह का ही कार्य है और उससे ही पुत्र स्नेह में डूब गए। यदि स्नेह में न डूबे होते तो स्तुति में अवश्य गुणों का वर्णन करते, जिससे पुनः ज्ञान प्रकट हो जाता। हे राजन् ! इस प्रकार संबोधन देने का आशय यह है कि जो मैं कहता हूँ वह ध्यान से सुनो। न बोलने में प्रत्यक्ष हेतु कहते हैं कि आँखों के आँसू कंठ में आ गए, जिससे कण्ठ रुक गया, अतः बोल न सके। सर्वथा भगवान् के श्री अंक के स्पर्श होने से भी मोह मिटा नहीं, इस प्रकार आदि तथा अन्त में दृढ़ मोह उत्पन्न कर दोनों आता निश्चिन्त हो गए। इसलिए श्लोक में मोहितौ न कह कर 'विमोहितौ'



कहा जिसके कहने का भावार्थ आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि विशेष मोहित इसलिए कराया कि कभी भी आत्मज्ञान वा भगवद्ज्ञान इनको न होवे, इस प्रकार मोहित करने से भगवान् पर 'अनिष्ट' कर्ता विशेषण लागू होगा अर्थात् भगवान् अनिष्ट कर्ता हैं, इस दोष की शङ्का न होवे, इसलिए ज्ञाना-  
'मुक्ति' कहेंगे, अतः लौकिक निरोध समाप्त होने के अनन्तर उसका निरूपण किया है ॥११॥

**आभास—**एवं पित्रोर्निरोधमुक्त्वा सर्वयादवानां निरोधं वदन् प्रथमतो राज्ञ उग्र-  
सेनस्य निरोधमाह 'एवमि'ति ।

**आभासार्थ—**इस प्रकार माता पिता का निरोध कह कर सकल यादवों का निरोध कहते हैं,  
जिसमें प्रथम उग्रसेन का निरोध इस 'एवं' श्लोक में कहते हैं—

**श्लोक—**एवमाश्वास्य पितरौ भगवान्देवकीसुतः ।

मातामहं तुग्रसेन यदूनामकरोन्मृपम् ॥१२॥

**श्लोकार्थ—**इस प्रकार माता-पिता को आश्वासन देकर देवकी के पुत्र भगवान् ने  
मातामह उग्रसेन को यादवों का राजा बनाया ॥१२॥

**बुद्धोदित्ति—**पितरावाश्वास्य मातामहं यदूनां  
नृपमकरोत् । मातामहत्वं स्पष्टयति । देवकीसुत  
इति भक्तहितकारित्वाय यतोवतारः, पितरि श्व-  
शुरे च राजनि दुहितुर्जामातुश्च चिन्तारहितो  
महान् भोगो भवतीत्यनुभवसिद्धम् । अतो न वसु-  
देवं राज्येभिषिक्तवान् । स च क्लिष्टो भवेत्  
पुत्रा हता इति, एवं च सति उग्रसेनार्थमेव कंसो

हत इति भवति । तेन गृहीतं राज्यं तस्मै दत्तं  
इति । तु शब्दः स्वपक्षं स्वसंबन्धिपक्षं च व्यावर्त-  
यति । नाम्ना तस्य सामर्थ्यमाह उग्रसेनमिति ।  
पूर्वं तु तस्य देशाधिपत्यं स्थितं यादवास्तु न  
मन्यन्ते । अधुना तु यदूनां नृपमकरोत् । यदूना-  
माधिदैविकरूप इति तदधीनाः सर्व भगवत्कृतं  
मन्यन्ते ॥१२॥

**व्याख्यानार्थ—**माता पिता को धैर्य देकर मातामह को यादवों का राजा बनाया । उग्रसेन मेरा  
नाना है, जिसको स्पष्ट सिद्ध करने के लिए यहाँ 'देवकी सुतः' नाम कहा है । आपने भक्तों के हित करने  
के लिए देवकी के अवतार लिया है । यह बात अनुभव से ही सिद्ध है कि जिसका पिता राजा होता  
है, उसकी पुत्री को निश्चित महान् भोग की प्राप्ति होती है और जिसका श्वसुर राजा होता है, उस जामाता  
को भी महान् भोग की प्राप्ति निश्चितता से होती है । अतः वसुदेव को राज्य न देकर उग्रसेन को  
दिया । जिससे जामाता वसुदेव और पुत्री देवकी को निश्चित महान् भोग प्राप्त होगा । वसुदेव को  
राज्य न देने का कारण यह भी था कि वह पुत्रों के मरजाने से दुःखी था । दुःखी मनुष्य राजा होने  
के योग्य नहीं होता है । यों कहने और करने का तात्पर्य यह है कि कंस के मारने का कारण यही

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ११२ ॥

था कि जिसका राज्य कंस ने छीन लिया है, इसको मारकर पुनः जिसका राज्य पर हक है, उसको राज्य दूं। तात्पर्य यह है कि कंस को उग्रसेन के लिए ही मारा है। श्लोक में 'तु' शब्द इसलिए है कि भगवान् ने कंस को अपने वा अपने सबन्धी के स्वाथ के लिए नहीं मारा, किन्तु न्याय की रक्षा के लिए कंस को मारा है। मातामह में राज्य करने की सामर्थ्य है, यह दिखाने के लिए उसका नाम उग्रसेन दिया है। अर्थात् जिसकी सेना बहुत क्रोध वाली है। पहले तो वह देश का अधिपति था, किन्तु यादव उसे ऐसा मानते नहीं थे। अब तो यादवों का राजा बना दिया, यादव पहले नहीं मानते थे तो अब उसको अपना राजा कैसे मानेंगे? यह शङ्का मन में ही न लानी चाहिए, क्योंकि भगवान् श्रीकृष्ण यादवों के आधिदैविक स्वरूप है, अतः यादव उस स्वरूप के ही आधीन है, अतः जो कुछ भगवान् करते हैं, उसको वे मान लेते हैं ॥१२॥

**आभास—**अत एव विश्वासार्थं कृत्यधिकं वाक्यमप्युक्तवानित्याह 'ग्राह चे'ति ।

**आभासार्थ—**उग्रसेन को राज्य देने के अनन्तर, विश्वास दिलाने के लिए भगवान् ग्राह' इस श्लोक से कहने लगे ।

**श्लोक—**ग्राह चास्मान्महाराज प्रजास्त्वाज्ञप्तुमर्हसि ।

ययातिशापाद्यदुभिर्नासितव्यं नृपासने ॥१३॥

**श्लोकार्थ—**हे महाराज ! हम आपकी प्रजा हैं। हमको आप आज्ञा दीजिए। ययाति के शाप के कारण यादवों को राज्यासन पर न बैठना चाहिए ॥१३॥

**सुबोधिनी -** चकारान्मनसापि तं राज्ये स्थापितवान् । यादवानां विधेयत्वार्थमाह हे महाराज अस्मान् प्रजाः आज्ञप्तुमर्हसि । वयमेव प्रजाः । तु शब्देन सन्ततिरूपां प्रजां वारयति । तह्यहमपि यादव इति प्रजास्वेवान्तर्भाव इति चेत्तत्राह महाराजेति । खण्डमण्डलाधिपतित्वं पूर्वमपि स्थितमिति यादृशी पूर्वमाज्ञापना तादृशी भविष्यतीत्याशङ्क्य महत्वमुक्तम् । राज्ञा ह्यवश्यमाज्ञापनीया इति विधिवशादेवाज्ञापनं बोध्यते नत्वाज्ञाप्यत इत्यर्थः । ननु किं स्वगृहीतं राज्यं दीयते आहोस्वित् पूर्वसिद्धमेव परिपाल्यते । आद्ये स्वयमादौ राज्यं गृहीत्वा पश्चाद्देयम्, अतस्त्वमादौ सिंहासने उपविश । द्वितीयः पञ्चस्तु कंसेन त्वया च निराकृतः, महाराजत्वं चाधिकं कस्य स्थम् प्रायेण, स तु तद्घातक एव भवति, नैकञ्च

एव तद्धर्मस्तस्मिन् प्रविशति, अतस्त्वयैव सिंहासने उपवेश्यमित्याशङ्क्यामाह ययातिशापादिति । यदुभिर्नृपासने नासितव्यम्, यदुहि ज्येष्ठ एवासीत्, सचेत्पित्रा निवारितः ततः प्रभृति न मर्यादारज्यम् । अर्जुनादयस्तु पुष्ट्या सार्वभौमा जाताः । अत एव हताः, कंसोऽपि, भगवता तु तन्न कर्तव्यं मर्यादार्थमवतीर्ण इति । ईश्वरत्वं ज्ञापयितुं कदाचित्परं पुष्टिमवलम्बते, राज्यं तु सर्वदा पुष्टिहेतुर्भवति, यो हि यद्वेशं करोति स तस्य सहजानेव घर्मान् गृह्णाति न तु केनचित्कदाचिदन्यथा कृतम्, अतोऽस्माभिः मुख्यशाखायामागतैः नासितव्यमेव । भोजत्वादयश्च प्रान्तशाखाः, अत एव विवाह उपपद्यते । भगवान् सर्वेश्वर इति चरणाधिपत्यं कस्मैचिद्दद्यादपि न तु स्वयं गृह्णीयात् वयथ्यादिनीश्वरत्वापत्तौ सिद्धत्वाच्च ॥१३॥



व्याख्यार्थ—भूक मे आये हुए 'च' का आशय प्रकट करते हैं कि भगवान् ने केवल देखा देखी 'उग्रसेन' को राजा नहीं बनाया है किन्तु मन से उसको राज्य गद्दी पर बिठाया है। जिसकी पुष्टि के लिए उग्रसेन को कहते है कि हे महाराज ! हम आपकी प्रजा हैं, अतः आप हमको आज्ञा दे सकते हैं। वह प्रजा भी सन्तान रूप प्रजा हम नहीं हैं, किन्तु 'रैवत' हैं। यदि उग्रसेन कह दे कि मैं भी यादव होने से प्रजा ही हूँ तो कहते है कि नहीं, आप तो 'महान् राजा' हैं। आप आगे भी खण्ड-मण्डल के राजा तो थे। इस कारण जैसे पहले आज्ञा होती थी, वैसी अब भी होगी। यह शङ्का मत कीजिये, अब वह बात नहीं है, कारण कि आगे आप खंड मंडल के राजा थे अब आप महाराजा हुए हैं, इसलिए आप विधिवश अर्थात् नियम के वश होकर आज्ञा देते है, न कि व्यक्ति विशेष से आज्ञा करते हैं।

शङ्का करते हैं कि कंस को मारकर उसका राज्य आपने लिया, वह लिया हुआ राज्य देते हो अथवा मैं पूर्व ही राजा था, उसकी पालना करते हो ? यदि कंस से लिया हुआ राज्य देते हो तो प्रथम लिए हुए राज्य पर आपका अधिकार है, उस पर आप पहले बैठें, पश्चात् इच्छा हो तो मुझे दे देना।

दूसरे प्रकार से शङ्का करते हैं कि यदि कंस ने और आपने त्याग किया है तो भी महाराजा के धर्म तो कंस में थे। वे धर्म उसके नाश करने वाले में आते हैं कारण कि वे धर्म जो निकट है, उसमें प्रवेश करते है। उसके नाशक होने से आप उसके निकट थे, अतः महाराजा के धर्म आप में आए; जिससे सिंहासन पर आपको बैठना चाहिए।

इन दोनों पक्ष की शङ्का का उत्तर देते हैं कि 'ययाति शापात्' ययाति के शाप से यादवों को राजगद्दी पर नहीं बैठना चाहिए। 'यदु' बड़ा था, उसको पिता ने राज्य से हटाया, उस दिन से मर्यादा पूर्वक राज्य नहीं चला है। अर्जुन आदि तो भगवत्कृपा से 'सार्वभौम' राजा हुए हैं, अतः वे मरे और कय भी मरा। भगवान् तो वैसा नहीं करेंगे अर्थात् मर्यादा भङ्ग नहीं करेंगे, क्योंकि मर्यादा की रक्षा के लिए तो आपने अवतार धारण किया है। अपना ईश्वरत्व दिखाने के लिए कभी अनुग्रह से कार्य करते है, राज्य तो सर्वदा अनुग्रह से ही प्राप्त होता है।

जो जिस प्रकार का वेश ग्रहण करता है, वह उसके अनुरूप धर्मों का पालन करता है। कोई भी उसके विपरीत नहीं करता है और न किसी सुज्ञ ने यों किया है। अतः हम जो यादवों की मुख्य शाखा में उत्पन्न हुए हैं इससे निश्चय किया है कि राज्य सिंहासन पर न बैठना। भोज आदि अन्तिम शाखा है, इसलिये उसमें विवाह आदि भी होते हैं। भगवान् सर्वेश्वर हैं, इसलिए भूमि का आधिपत्य किसी को भी दे, किन्तु स्वयं उसका ग्रहण नहीं करते हैं, क्योंकि भूमिका आधिपत्य उनके लिए वृथा है तथा उसको लेने से यों सिद्ध होगा कि प्रथम ये ईश्वर अर्थात् पृथ्वी के स्वामी नहीं थे, अब हुए है। अतः अनीश्वरत्व की आपत्ति न आवे, इसलिए आप स्वयं राज्य नहीं करते हैं, किन्तु ईश्वरत्व तो आप में सिद्ध ही है ॥१३॥

**आभास—**तर्हि मया कथं ग्राह्यं शापादीनां तुल्यत्वात् सामर्थ्याभावाच्चेति चेत्त-  
त्राह 'मयि भृत्य उपासीन' इति।



आभासार्थ—यदि ययाति के शाप से राज्य ग्रहण नहीं करना चाहिए तो मैं उसको ग्रहण कैसे करूँ ? मैं भी यादव हूँ; क्योंकि शाप सब के लिए समान है और मुझ में उतनी सामर्थ्य भी नहीं है, जो शाप को मिटा सकूँ। अथवा उसका दुष्परिणाम हटा सकूँ; इसके उत्तर में भगवान् यह 'मयि भृत्य' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—मयि भृत्य उपासीने भवतो विबुधादयः ।

बलि हरन्त्यवनताः किमुतान्ये नराधिपाः ॥१४॥

श्लोकार्थ—मुझ सेवक के उपस्थित होते हुए देवता आदि भी नम्र होके आपको भेंटें अर्पण करेंगे तो दूसरे राजाओं की तो बात ही क्या ? ॥१४॥

सुबोधिनी—अवश्यं हि साधारणत्वं भजता कश्चित्प्रभुः स्वीकर्तव्यः । स च कसः स्थितः, तस्य पुत्राभावात् पितापुत्रयोरैक्यात् अग्रे अनुवृत्त्यभावात् पितरि समागतः, अतः स्थित एवानुद्यते, अतो ग्रहणदाने नाप्यपेक्ष्यते । क्रौर्याभावे नाङ्गीकरिष्यन्तीति चेत्तत्राह मयि भृत्ये उप समीपे आसीने सति भवतः भवते विबुधादयोऽपि बलि हरिष्यन्ति । ये मेर्वादिभूसन्धेन भोग प्राप्नुवन्ति । अन्ये नराधिपाः ये केवलं भूसन्धिभोक्तारः ते किं वक्तव्याः, अवनता इति नम्रा न तु प्रसादरूपेण प्रसन्नाः सन्तः, नरास्तु भूमिष्ठा एव स्थूल-

संघाताभिमानिनः, देवास्तुः सूक्ष्मेन्द्रियाद्यधिकारिणः, भगवान् 'भर्ता सन् प्रियमाण' इति श्रुतेः भरणीयोऽपि भवति । साधारणयादवत्वस्य क्रीडायां स्वीकृतत्वात् राजनि भृत्यत्वमुपपद्यते । यतः पुत्रत्वं वसुदेवे, लौकिक्येषा भाषा सर्वथा भगवान् गोप्य इति फलिष्यति । मन्निमित्तं वा यो भृत्यः मदभिप्रेने स्थाने उपासीनो भवति तस्मै तुभ्यं विबुधादयोऽपि हरन्तीति वास्तवोर्थः । एवं स निरुद्ध एव, अन्यथा अतिविरक्तः कदाचित् जानार्थं वा प्रयत्नं कुर्यात् ॥१४॥

व्याख्या—साधारण जन को अवश्य किसी को भी अपना रक्षक करना आवश्यक है, वह अभी तक कस ही था, उसके पुत्र नहीं है, पिता पुत्र एक ही रूप है, अतः यदि पुत्र न हो तो पिता में वह रक्षकत्वं आता है, अतः जो राजापन आपमें स्थित है; वही हम कहते हैं इसलिए यहां यह शङ्का ही नहीं है कि मैंने राज्य लिया और आपको देता हूँ, वह तो आपका ही है। यदि उग्रसेन कह दे कि मुझे मैं क्रूरता नहीं है इसलिए मुझे राजा के रूप में नहीं मानेंगे, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि आप निश्चिन्त रहो मैं भृत्य आपके पास बैठा हूँ तो देवता भी आपको भेंटें देते रहेंगे, जो देव मेरु आदि के संसर्ग से भोग करते हैं दूसरे राजा लोग जो केवल पृथ्वी के सम्बन्ध से भोग भोगते हैं, उनकी तो बात ही क्या है ? वे तो नम्रतापूर्वक आकर भेंटें देंगे । यों भी न समझना कि वे प्रसन्न होकर भेंटें देकर आपके ऊपर अनुग्रह करते हैं । मनुष्य तो पृथ्वी पर रहनेवाले स्थूल शरीराभिमानो हैं, किन्तु देवता तो सूक्ष्म इन्द्रियों के अधिकारवाले हैं । यद्यपि भगवान् सर्व के आधार हैं, तो भी अन्य को आधार बनाते हैं, जैसा कि क्रीड़ा के लिए उन्होंने साधारण यादवत्व को आधार बनाया है । भगवान् भरण कर्ता होते हुए भी भरेण्य बनते हैं, जैसा कि श्रुति कहती है कि 'भर्तासन् प्रियमाणो

~~~~~

भवति' इति श्रुतिः जँसे साधारण पादवत्त्व स्वीकार किया है, वैसे ही यहां राजा का भृत्य बन जाना भी बन सकता है, जिससे वसुदेव का पुत्रत्व, यह लौकिको भाषा है । इस प्रकार क्रीड़ा करने से भगवान् स्वयं गोप्य रहेंगे । मेरे लिए जो भृत्य^२ बनता है, मेरे अभिप्राय के अनुसार जो उस स्थान पर बैठ कर सेवा^३ करता है, वैसे आप राजा को भी देव आदि सर्व भेट (कर) देंगे । इस प्रकार उग्रसेन का निरोध किया । यदि ऐसा न करते तो वह अति विरक्त होने से कदाचित् ज्ञान के लिए प्रयत्न करते ; इसलिए उनका भगवान् ने निरोध किया ॥१४॥

आमास—अतो भगवान् स्वार्थमेव तं स्थापितवानिति भगवदर्थमेवेति निरोधः सिद्धः । सर्वेषां साधारणं निरोधमाह 'सर्वानि'ति पञ्चभिः ।

आभासार्थ—भगवान् ने उग्रसेन को अपने स्वयं के लिए राजसिंहासन पर बिठाया, यह कार्य भगवान् के लिए ही है, इस प्रकार निरोध किया। सर्व का साधारण निरोध 'सर्वान्' इस श्लोक से पांच श्लोको में कहते हैं—

श्लोक — सर्वास्वाज्जातिसंबन्धान्दिगम्यः कंसमयाकुलान् ।

यदुवृण्यन्धकमधुदाशार्हंकुरादिकान् ॥१५॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने अपने भक्त, जातिवाले तथा सम्बन्धी, कंस के भय से व्याकुल होकर दूसरी दिशाओं में चले गए थे और इसी प्रकार जो यादव, वृष्णि, अन्धक, मधु, दाशार्ह और कुंकुर आदि कुल के थे, उन* सबको बुला कर मथुरा में अपने-अपने घरों में बसाया ॥१५॥

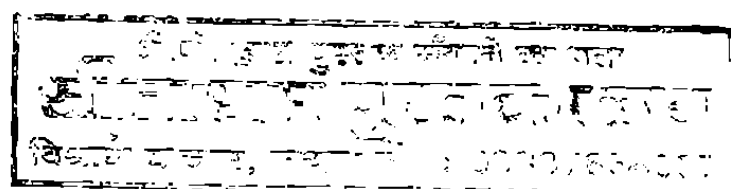
सुबोधिनी—स्वा भक्ता, ज्ञातयः गोत्रिणः,
संबन्धिनो विवाह्याः, स्वशब्देन भ्रातरो वा बहव
एव वसुदेवपुत्राः पित्रादयश्च, एते त्रिविधाः
सात्त्विकादयः दिग्भ्यः समाहूय स्वगेहेषु न्यवासय-
दित्युत्तरेण सम्बन्धः । दिक्षु वा कंसभयाद्गताः
दिग्भ्य इति चतुर्थी वा, भयेन दिश एवोद्देश्याः ।
अनेन पुनरागमनाभाव उक्तः । यत्र हेतुः कंसभ-

याद्गतानिति । कंसो ह्यतिक्रूरात्मा तथैव लोके
प्रसिद्धः । अत एव नन्द आह 'योवधोत्स्वस्वमु-
स्तोकानि'ति । सर्वेषामेकमेव भयम्, षड्विधा
यादवा अपि गणिताः । यदुवृण्यन्धकेति, आदि-
शब्देनान्येऽपि बहवस्तद्भेदाः सन्तीति ज्ञापितम् ।
तत्संबन्धिनो वा ॥१५॥

२- सैर आधिभौतिक सदरूप जगत् का मृत्य

३- मेरे सत् रूप जगत् की सेवा

* १६ श्लोक से ग्रन्थ है





व्याख्यार्थ—‘स्व’ शब्द से भक्त, ‘जाति’ शब्द से गोत्रवाले, कहे हैं। ‘सम्बन्धी’ शब्द से वे समझने जिनसे कन्या का लेनदेन का सम्बन्ध है। अथवा ‘सम्बन्धी’ शब्द भ्रातृगण समझने। कारण कि वसुदेव के बहुत पुत्र थे और पिता आदि भी बहुत थे। ये तीन प्रकार^१ के थे, पृथक् पृथक् दिशाओं में गए हुए थे। उनको वहां से बुलाकर अपने^२ घरों में ठहराया। कंस के भय से यह विचार कर चले गए कि पुनः यहां लौटना ही नहीं है। इसलिए देश का नाम न कहकर ‘दिक’ शब्द दिया है। वैसा विचार क्यों किया? तो कहते हैं कि यह लोक में प्रसिद्ध ही है कि कंस बहुत क्रूर स्वभाववाला है, अतः नन्दजी ने भी कहा है कि, ‘जिसने अपनी बहिन के छोटे बच्चों को भी मार डाला, इसी लिए सब को यह एक ही भय है। यादव छः प्रकार के गिने जाते हैं। जैसे यदु, वृष्णि, अन्धक आदि। आदि शब्द से दिखाया कि यादवों के अन्य भी बहुत भेद है अथवा उनके सम्बन्धी हैं ॥१५॥

आभास—न केवलमाकारणमात्रेण पूर्वसिद्धदानं किन्तु अधिकमपि दत्तवानित्यहं ‘सभाजितानि’ति :

आभासार्थ—बुलाकर केवल पूर्व सिद्ध ही नहीं दिया, किन्तु अधिक भी दिया जिसका वर्णन ‘सभाजितान्’ श्लोक में करते हैं।

श्लोक—सभाजितान्समाश्वास्य विदेशावासकशितान् ।

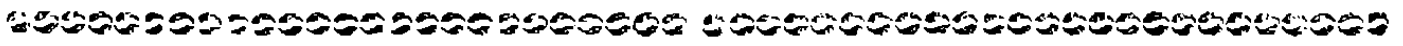
न्यवासयत्स्वगेहेषु वित्तैः संतर्प्य विश्वकृत् ॥१६॥

श्लोकार्थ—विदेश में रहने के कारण दुर्बल हुआओं को धन देकर प्रसन्न किया और आदरपूर्वक विश्वास कराके अपने घरों में लाकर निवास कराया ॥१६॥

सुबोधिनी—सभाजिताः सत्कारं प्रापिताः, अयं तेषां मानसो ह्यधिकः, ततः समाश्वासनं वाचनिकम्, ततः कायिकं वक्तुं तेषां श्रममाह। विदेशावासेन परदेशस्थित्या कशितान् दुर्बलान् धनान्नभावेन दीनान्वा। केवलश्लोकेस्थित्यापि सुखं न भाविष्यतीत्याशङ्क्य परदेशस्थित्या गतं धना-

दिकं ततोप्यधिकं सर्वेभ्यो दत्तवानित्याह वित्तैः संतर्प्येति। ननु राज्यस्थितं सर्वमेव द्रव्यं भक्षितं नाशितमिति कुत एतावद्दत्तवानित्याशङ्क्याह विश्वकृदिति। स विश्वमेव कर्तुं समर्थः किं तेभ्योऽल्पदाने वक्तव्यमित्यर्थः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—कंस के भय से विदेशों में गए हुए यादवों के तीन प्रकार के दुःखों को भगवान् ने निवृत्त किए, उनका सत्कार कर मानस दुःख दूर किए। आश्वासन देने से वाणी के दुःखों को मिटाया तथा विदेश में रहने से धन आदि से दुर्बल दीन बने हुए यादवों को आगे से भी विशेष धन देकर कायिक दुःख नष्ट कर अपने २ घरों में बसाया। राज्य में स्थित धन तो खाने से नष्ट हो गया फिर



कहां से इतना धन दिया ? यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि आप 'विश्वकृत' हैं, उनको थोड़ा सा, धन देने में क्या है ? कुछ नहीं, अर्थात् सब कुछ दे सकते हैं ॥१६॥

आभास—एवं भगवत्कृतं दुःखाभावसुखभेदेन द्वयं निरूपितम्, अधुना तेषां प्रपञ्च-विस्मृतिर्भगवदासक्तिश्च वक्तव्या, यतः स्वरूपे समागताः । स्वस्था हि सर्वे सर्वत्राधिकृता भवन्ति । एते गृहा भगवद्भक्ता इति पूर्वं संबन्धस्त्याज्यः, स तु चिन्तात्मक इति पूर्वं तदभावो निरूप्यते । राजसा हि विषयैरेव तदासक्ता भवन्ति । अतः प्रथमं तेषां भगवद्भक्तो विषयभोगो निरूप्यते । इयमेव प्रपञ्चविस्मृतिः, तस्य तथात्वं निरूपयता भगवदासक्तिस्ततो निरूप्यते । तस्य च फलं कालातिक्रम इति राजसत्वात् फलमपि निरूप्यते । परमैहिकम्, तत्र प्रथममाह 'कृष्णसंकर्षणभुजैरिति' ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने दुःख मिटाया और सुख दिया, इन दोनों का निरूपण हुआ । अब उनकी प्रपञ्च विस्मृति और भगवान् में आसक्ति कहनी है, कारण कि स्वरूप में आगे हैं अर्थात् वे अब सर्व प्रकार सुखी हो गए हैं । स्वस्थ ही सर्वत्र अधिकारी होते हैं । उनके ये घर अब आगे वाले लौकिक नहीं रहे हैं, किन्तु भगवान् के दिए हुए हैं, अतः अलौकिक हैं । वे लौकिक घर तो चिन्ता उत्पन्न करने वाले थे । अब इन घरों में चिन्ता नहीं, राजस विषयों से ही आसक्त होते हैं । अतः प्रथम उनको भगवान् के दिए हुए विषय भोग का वर्णन करते हैं । यह ही प्रपञ्च की विस्मृति है, उसका तथात्वं (वैसा ही पन) निरूपण करने के पश्चात् भगवदासक्ति निरूपण की जाती है और जिसका फल काल का अति क्रम है । यों राजस होने से फल भी निरूपण किया जाता है; किन्तु वह फल लौकिक है, जिसका प्रथम 'कृष्ण संकर्षण' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक— कृष्णसंकर्षणभुजैर्गुप्ता लब्धमनोरथाः ।

गृहेषु रेमिरे सिद्धाः कृष्णरामागतज्वराः ॥१७॥

श्लोकार्थ—बाहर से बुलाए गए यादव श्रीकृष्ण एवं बलरामजी से सुरक्षित होकर सर्व प्रकार से सिद्ध मनोरथ हुए । श्रीकृष्ण तथा राम के मिलने से उनके सब दुःख मिट गए, जिससे वे आनन्दित होकर घरों में रमण करने लगे ॥१७॥

सुबोधिनी—कृष्णसंकर्षणयोर्भुजाः, एकः फलात्मा, अन्यो जीवं ब्रह्मणि सम्यगाकर्षति इति साधनरूपः, तयोः क्रियाशक्तयः सर्वपुरुषार्थसाधिकाः, ता हि नियतफलाः, अतस्ते सर्वे गुप्ता लब्धमनोरथाश्च जाताः दुःखाभावपूर्वकं सुखं प्राप्तवन्तः । अग्रेपि भयाभावाय गोपनम् । अन्य-यानुभूतभयाः, कंससम्बन्धिनां जरासन्धादीनां

विद्यमानत्वात् । अतो निश्चिन्ता अन्तर्बहिःखेद-रहिता गृहेषु रेमिरे । इदं रमणं मुक्त्युत्तरकाली-नमिव । तदाह सिद्धा इति । तत्तत्कामनया पोडितास्तथा रमणं कृतवन्त इतिपक्षो निवारितः । चिन्ताभावायाह कृष्णरामाभ्यां सर्वतो विगतज्वरा आध्यात्मिकादितापा मुक्तानामपि भवन्तीति तदर्थमुक्तं सिद्धानां तापाभावलक्षणम् ।



कृष्णरामौ फलसाधनभूतौ । अथवा तेषां संसारे
भगवद्दत्ते आपाततो रमणमुक्त्वा निषेधति
निरोधार्थम् । कृष्णरामाभ्यां कृत्वा आगतः अगतो
वा ज्वरो येषाम्, गोपिकावत्सवं एवैते विरहा-

तुरा सर्वदा भवन्तीति, तासां तु गुणैरपि रमणं
भवति । एतेषां तु तदपि नास्तीत्युभयोर्ग्रहणम् ।

॥१७॥

व्याख्यानार्थ—कृष्ण फल रूप हैं और बलरामजी जीव को ब्रह्म की तरफ खींचते हैं । अतः वह साधन रूप हैं, उन दोनों की क्रिया शक्तिएँ सर्व फल को सिद्ध करने वाली होने से नियम से फल देने वाली हैं । अतः वे सब रक्षित तथा पूर्ण मनोरथ वाली हैं अर्थात् उनके दुःख मिट गए और उनको सुख की पूर्ण प्राप्ति हुई । आगे भी भय न हो, इसलिए रक्षण है । यदि रक्षण न किया जावे तो अब भी भय का अनुभव हो रहा है, क्योंकि कंस के सम्बन्धी जरासंध आदि विद्यमान^१ हैं ।

भगवान् से रक्षित होने के कारण निश्चिन्त^२ वन घरों में रमण करने लगे । यह रमण, मुक्ति मिलने के अनन्तर मिलने वाले सुख के समान है, इसलिए कहा है कि 'सिद्ध' है अर्थात् उनका यह रमण निष्काम है । कामनाओं से पीड़ित होकर रमण नहीं करते हैं । इनको सिद्ध इसलिए भी कहा है कि जो आध्यात्मिक ताप मुक्तों को भी होता है, वह भी इनको नहीं होता है, कारण कि इनके ये ताप कृष्ण तथा राम ने नष्ट कर दिए हैं । कृष्ण और राम फल तथा साधन रूप हैं, अथवा भगवान् के दिए हुए संसार में उनका रमण कह कर फिर निरोध के लिए उनका निषेध करते हैं । उनमें कृष्ण और राम के मिलने के लिए ज्वर^३ उत्पन्न हुआ है, शेष ज्वर नष्ट हो गए हैं । ये भी गोपिकाओं के समान विरह से सदैव आतुर रहते हैं । गोपिकाओं का तो गुणों द्वारा भी रमण होता है । इनको तो वह भी नहीं है, इसलिए दोनों का ग्रहण है ॥१७॥

आभास—एतदेव साधयितुं भगवदासक्तिमाह 'वीक्षन्त' इति ।

आभासार्थ—इसको सिद्ध करने के लिए भगवान् की आसक्ति का निरूपण 'वीक्षन्तो' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—वीक्षन्तोऽहरहः प्रीता मुकुन्दवदनाम्बुजम् ।

नित्यं प्रमुदितं श्रीमत्सदयस्मितवीक्षणम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—नित्य आनन्द से पूर्ण, शोभा युक्त, दया सहित मंद हास्यपूर्वक दृष्टि वाले श्रीकृष्णचन्द्र के मुख कमल को देखने से प्रसन्न हो गए हैं ॥१८॥

१- मौजूद, २- अन्दर और बाहर दोनों प्रकार से चिन्ता रहित,
३- ताप

सुबोधिनी—अहरहः प्रतिदिनं मुकुन्दवदनाम्बुजं वीक्षन्तः प्रमुदिता जाताः, प्रतिक्षणमपूर्वव प्रीतिः, अतः परमार्थज्ञानाभावेऽपि वस्तुसामर्थ्यादेव भगवन्मुखारविन्ददर्शनं नित्यमुदितं प्रीतिमुत्पादयति नित्यनूतनं नित्यनूतनाम् । वस्तुतस्तु रसस्यैवायं स्वभावः । आदौ प्रीतिस्तु आकाङ्क्षावशादिति वस्त्वरसभूतमेव विषयबलाज्जायमाना तु प्रीतिः सर्वदैव जायते अत एव लौकिकोपाख्याने सूपकारविद्यायां तथा रसः प्रसिद्धः, 'रसो वै सः रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दोभवती'ति श्रुतेश्च, हीति युक्तता लोकवेदसिद्धा । अन्यथा आनन्दमेव प्राप्नानन्दोभवतीति वक्तव्यं स्यात् । अत एव कामशास्त्रोपयोगश्च । सहजश्च कामः इन्द्रियवदाकाङ्क्षारूपः न पुरुषार्थसाधयति । ननु विषयत्वेनात्रासक्तौ बन्धः स्यात् इत्याशङ्क्य

मुकुन्द इति । तस्य रसरूपस्य मुखारविन्दस्य कदाचित्तिरोभावे प्रीता न भविष्यन्तीति आशङ्क्य नित्यप्रमुदितत्वमाह तर्हि ररुपुरस्सरमेवानन्द जनयतीति रूपाद्यपेक्षार्थमन्यासक्तिः स्यात् । यद्यपि विषया दत्ताः तथापि कामः समुद्र इति समुद्र इव हि कामः नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्येति श्रुतेः । अत आह श्रीमदिति । तल्लक्ष्मीयुक्तं सर्वविषयरूपम्, तथापि सर्वलौकिकसिद्धावपि धर्मार्थं भक्त्यर्थं ज्ञानार्थं च अन्यासक्तिरवश्यमपेक्षितेत्याशङ्क्याह सद्यस्मितवीक्षणमिति । दया धर्मस्थानीया तदात्मको धर्म इति, स्मितं भक्तिस्थानीयम्, वीक्षितं ज्ञानरूपम्, त्रितयमपि मुखारविन्दे वर्तत इति काण्डत्रयार्थमपि अन्यापेक्षा न युक्तेत्यर्थः ॥१८॥

व्याख्यानार्थ—प्रति दिन श्रीकृष्ण के मुख कमल को देखते हुए प्रसन्न होते हैं। कारण कि प्रतिक्षण नवीन आनन्द प्राप्त होता है, अतः वास्तविक ज्ञान के अभाव होते हुए भी वस्तु सामर्थ्य से ही भगवान् के मुखारविन्द का दर्शन नूतन नूतन रस उत्पन्न करता है। वह रस नित्य नूतन है, अतः प्रीति भी नित्य नूतन ही होती है। निःसन्देह रस का ही यह स्वभाव है। प्रथम तो चाह के कारण प्रीति होती है। वस्तु में कोई रस नहीं, विषय के बल से उत्तमन्न प्रीति सर्वदा ही होती है, इससे ही लौकिक में पाचक की विद्या में रस प्रसिद्ध हो है। 'रसो वै सः रस् ह्येवायं लब्धवानन्दी भवती' इति श्रुतेः वह निश्चय रस है, रस को प्राप्त कर आनन्दवाला होता है। श्रुति में 'हि' शब्द देने का भाव यह है कि लोक तथा वेद में यह बात सिद्ध ही है कि 'रस' से आनन्द प्राप्त होता है। यदि यों न हो तो जो श्रुति कहती है कि 'आनन्दमेव प्राप्य आनन्दी भवति' आनन्द को प्राप्त कर आनन्द वाला होता है, इस कारण से ही काम शास्त्र का उपयोग होता है। सद्गुरु काम तो इन्द्रियों के समान केवल आकाङ्क्षा वाला होता है, जो किसी प्रकार पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं कर सकता है।

यों भी शङ्का नहीं करनी कि यहां विषयपन के कारण आसक्ति होने से—वह बन्धनकारक होती है, इस पर कहते हैं कि बन्धन कारक नहीं होगी, क्योंकि 'मुकुन्दः' मुक्ति देने वाले हैं।

यह भी शङ्का नहीं करनी कि कदाचित् मुखारविन्द जो रस रूप है, वह रस रूप तिरोहित हो जावे तो फिर आनन्दित न होंगे, कारण कि वह (मुखारविन्द) नित्य रस से प्रमुदित रहता है, अतः रस पूर्वक आनन्द देता है, तो फिर रूप आदि की अपेक्षा से अन्य में आसक्ति होगी। यद्यपि भगवान् ने विषय दिए, किन्तु श्रुति कहती है कि काम समुद्र है। समुद्र के समान काम है, जिससे



जैसे समुद्र या अन्त नहीं होता है वैसे काम का भी अन्त नहीं होता है । जिसके उत्तर में कहते हैं कि रूप आदि की अपेक्षा से भी अन्यासक्ति न होगी, क्योंकि आप लक्ष्मी युक्त होने से सर्व विषय रूप है; जिससे अन्यासक्ति न होगी, सर्व लौकिक सिद्धि हो जावे तो धर्म, ज्ञान और भक्ति के लिए अन्य की आसक्ति की अवश्य अपेक्षा रहती है, इस प्रकार की शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि का मुखारविन्द सदा ही दया, मन्दहास्य, वीक्षण युक्त है । जिससे दिखाते हैं कि मुक्त में दया है; वह धर्म रूपा है, 'मन्दहास्य' भक्ति रूप है, 'वीक्षण' ज्ञान रूप है, ये तीनों मुखारविन्द में हैं । अतः कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों का सिद्धि के लिए भी दूसरे की अपेक्षा करने की आवश्यकता नहीं है । अर्थात् सर्व की सिद्धि मेरे मुखारविन्द से हो जाती है तो दूसरे की अपेक्षा क्यों की जावे ॥१८॥

आभास—एवं निरुद्धानां कालातिक्रममाह 'तत्र प्रवयस' इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार निरुद्धों के 'कालातिक्रमण' का वर्णन इस 'तत्र प्रवयसो' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तत्र प्रवयसोऽप्यासन्युवानोऽतिबलौजसः ।

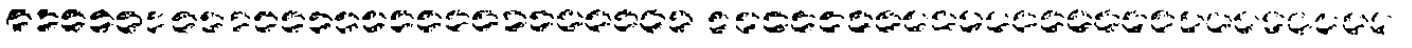
पिबन्तोऽक्षैर्मुकुन्दस्य मुखाम्बुजसुधां मुहुः ॥१९॥

श्लोकार्थ—वहाँ मुकुन्द के मुख कमल की सुधा को बार-बार आँखों से पीते हुए, बूढ़े भी जवान और अतिशय बलवान बन गए ॥१९॥

सुबोधिनी—अग्रे कालातिक्रमो न भविष्यतीति न वक्तव्यमेव, योऽपि विषयः कालेन भक्षितः सोऽपि तस्य मुखात् निष्कास्यते । तदाह ये प्रवयसः स्थिताः वृद्धाः, वार्धक्ये बहिः शरीरकान्तिः अन्तर्बलं च गच्छति, तदुभयमाह युवानोऽपि जाताः अतिबलोयसश्चेति । अलौकिकसामर्थ्यात् तथात्वमाशङ्क्याह पिबन्तोऽक्षैरिति । मुखाम्बुजसुधां पिबन्त एव तथा जाताः । ननु सुधाया अपि न तथा साधकत्वम्, यतस्त्रिदशाः कालेन च प्राप्तं

प्राप्नुवन्ति । अत आह मोक्षदातुर्मुकुन्दस्येति । यो हि आत्मस्वरूपं प्रपच्छति स कालातिक्रमं कारयत्येव, तत्रापि तस्य मुखं प्रधानभूतम्, तत्राप्यम्बुज परमशान्तं सर्वतापनाशकं स्वभावत एव तादृशधर्मयुक्तम्, तत्रत्या च सुधा अलौकिकी भवत्येवेति कालेन भक्षितपदार्थानामपि पुनरुद्गमन युक्तमेव, तत्रापि मुहुरिति । अनेन तेषाममृतमयत्वमेव युक्तं क्रियदेतद्यदतिबलिष्ठत्वादि । ॥१९॥

व्याख्यानार्थ—अग्रे काल का अतिक्रम न होगा, यों कहना ही नहीं चाहिए । जिस विषय को काल ने ग्रस लिया है; उसको काल के मुख से निकालते हैं, उसको कहते हैं कि जिन पुरुषों के अन्दर का बल और शरीर की कान्ति को काल ने ग्रस कर उनको वृद्ध बना दिया था उनको पुनः बल तथा कान्ति देकर युवा बना दिए । यों यह अलौकिक बल से किया होगा ? तो कहते हैं कि नहीं, वे बूढ़े से युवा कृष्णा के मुख कमल की सुधा को आँखों से पीकर हो गए हैं । इस पर यह शङ्का होती है कि सुधा भी काल से छुड़ा नहीं सकती है, क्योंकि अमृत पीने वाले देव गण भी काल के ग्रस होने ही हैं । इस शङ्का को भी मिटाने के लिए कहते हैं कि 'मुकुन्द' श्रीकृष्ण मुक्ति दाता है,



जो मुक्ति में अपने स्वरूप का दान करते हैं वह काल का अतिक्रम कराता ही है। उसमें भी आपका 'मुख' मुख्य है, उसमें भी वह अम्बुज^१ होने से सर्व तापों का नाशक है। स्वभाव से ही वैसे धर्म वाला है, वहाँ^२ रही हुई 'सुधा' अलौकिक ही है, इसलिए सुधा से काल ने जिनको ग्रस लिया है, उनका फिर उत्पन्न होना युक्त ही है। फिर उसमें भी उस सुधा का बार बार पान करना तो उनका अमृत मय बनाना योग्य ही है। जो सुधा अमृत मय बना देती है, वह सुधा अति बलिष्ठ युवा बना दे तो कुछ बड़ी बात नहीं है ॥१६॥

आभास—एवं सर्वेषां निरोधमुक्त्वा नन्दादीनां प्रस्थापनेन तामसानामप्युत्कर्षार्थं राजसप्रकरणे विशेषमाह 'अथ नन्दमि'ति षड्भिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार सर्व का निरोध कहकर नन्द आदि को ब्रज में रवाना करते, तामसों के भी उत्कर्ष कहने के लिए राजस प्रकरण में 'अथ नन्द' श्लोक से छः श्लोकों में विशेष वर्णन करते हैं।

श्लोक—अथ नन्दं समासाद्य भगवान्देवकीसुतः ।

संकर्षणश्च राजेन्द्र परिष्वज्येदमूचतुः ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! फिर भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजी नन्दरायजी के निकट आ, आलिङ्गन कर यह कहने लगे ॥२०॥

सुबोधिनी भगवतैव षड्गुणैस्ते व्यावर्तिताः । अतिबलेन । अन्यथा अव्यावृत्ता एव भवेयुरिति ।

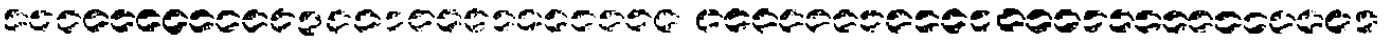
व्याख्यार्थ भगवान् ने ही छः गुणों से उनको जबर्दस्ती से रवाना किया, यों नहीं करते तो वे गोकुल नहीं जाते ।

कारिका—संभाषणार्थमुद्योगः पूर्वस्थापनमेव च

निराकृतिश्च बाधानां प्रेषणाज्ञापनं ततः ।

दानं च प्रीतिसंसिद्धयै गमनं चापि रूप्यते ॥

कारिकार्थ—संभाषण के लिए उद्योग, पुत्रत्व की स्थापना, दुःखों का निराकरण, जान की आज्ञा, प्रेम की सिद्धि के लिए दान और गमन; इनका निरूपण किया जाता है ॥१॥



सुबोधिनी—अथेति भिन्नप्रक्रमे, प्रामाणिक-
त्वं दासत्वं स्वामित्वं च निरूपितम् । पुनः संस्था-
नतासिद्धयं नन्दसमीप्यमागती । सम्यगासाद्य
पूर्ववदेव भगवदिच्छाया वलिष्ठत्वात् पुत्रप्रतीति-
दृढोत्पादितेति । अन्यथाशङ्काभावात् सम्यगेवा-
साद्य भगवान् सर्वसमर्थः प्रत्यक्षदृष्टमप्यन्यथाकर्तुं
समर्थः, प्रेषणार्थं संकर्षणश्च, उभौ मिलित्वेदमू-
चतुः । उभयोरप्यन्यपुत्रत्वेन तुल्यत्वात् समान-
भावं च ख्यापितवन्तौ । नन्वेवं किमिति कृतवान्

कथं गोकुलपर्यन्तं न गत इति चेत्तत्राह देवकीपुत्र
इति । तर्हि बलभद्रः कथं न गत इत्याशङ्क्याह
संकर्षण इति । चकारात्सोऽपि देवकीसुतः । तर्हि
कथं रोहिणीसुत इत्याशङ्क्य तदुदरापादक धर्म
सूचयितुं संकर्षण इत्याह । राजेन्द्रेति महामन्त्र-
युक्तानां राज्ञामयं धर्म इति बोधयति । परिष्वङ्गः
विरहाभावाय स्वधर्मस्थापनार्थः । बालो हि दूरा-
दागत्य पितरमालिङ्गते । इदं वक्ष्यमाणम् ॥२०॥

व्याख्यानार्थ—अन्य विषय का प्रारम्भ होता है, अतः 'अथ' शब्द श्लोक के प्रारम्भ में दिया है ।
पूर्व में प्रामाणिकत्व, दासत्व स्वामित्व का निरूपण किया, पश्चात् सम्यक् प्रकार से स्थान की सिद्धि
के लिए नन्द के समीप दोनों भाई आए । भगवान् की इच्छा बलिष्ठ होने के कारण, सुन्दर रीति से
आकर पूर्व की तरह पुत्र की प्रतीति दृढ़ बनाई, क्योंकि वैसा न करते तो नन्द के मन में शङ्का रह
जाती, वह न रहे, इस लिए यों मनहर ढंग से आकर पुत्र प्रतीति दृढ़ बनादी । प्रत्यक्ष देखते हुए भी
शङ्का कैसे मिटी ? तो कहते हैं कि 'भगवान्' अन्यथा करने में समर्थ है, अतः वसुदेव को पिता
समझ उसके पास जा रहे हैं । यह प्रत्यक्ष देखकर भी नन्द की शङ्का मिट गई । वही पूर्ववत् पुत्र की
प्रतीति होने लगी । नन्दराय जी को गोकुल खाना करना है, इसलिए संकर्षण को साथ लाए हैं । दोनों
अन्य के पुत्र होने से समान ही हैं अतः भाव भी समान ही दिखाने लगे । इस प्रकार क्यों किया ?
गोकुल पर्यन्त साथ क्यों न गए ? इस पर कहते हैं कि यह कृष्ण तो देवकी के पुत्र है वह कैसे जाए ?
बलभद्र क्यों न गया ? वह संकर्षण है अर्थात् देवकी पुत्र है, योगमाया देवकी के गर्भ से खींचकर
वहां स्थापित कर आई थी, इसलिए श्लोक में 'च' शब्द दिया है । इसको रोहिणी सुत क्यों कहा
जाता है ? इस पर कहते हैं कि रोहिणी के गर्भ में देवकी के गर्भ से खींचकर स्थापित किया गया
था । इस धर्म की सूचना करने के लिये 'संकर्षण' नाम यहां दिया गया है । राजा को 'राजेन्द्र' !
यह संबोधन यह जताने के लिए दिया है कि महती मन्त्रणा करने वाले राजाओं का यह धर्म है ।
आलिङ्गन करने का भाव कहते हैं १-विरह मिट जावे, २-अपने धर्म नन्द में स्थापित हो जावे,
बालक दूर से पिता को देखता है, तो त्वरा से आकर आलिङ्गन करता है, 'इदं' पद का जो आशय है,
वह आगे कहना है ॥२०॥

आभास—तदेवाह 'पितरि'ति त्रिभिः ।

आभासार्थ—वह ही 'पितर्युवाभ्यां' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—रामकृष्णवृचतुः—पितर्युवाभ्यां स्निग्धाभ्यां पोषितौ लालितौ भृशम् ।

पित्रोरप्यधिका प्रीतिरात्मजेष्व्वात्मनोऽपि हि ॥ २१॥



श्लोकार्थ—राम और कृष्ण कहने लगे कि हे पिता ! आपने स्नेह के साथ चिर काल तक हमें पाला और पोषा, अपने पुत्रों पर माता-पिता जैसी प्रीति रखते हैं, उससे अधिक प्रीति आपने हम पर रखी है ॥२१॥

सुबोधिनी—आदौ पूर्वकृतस्य परिपालनस्याभिनन्दनमाह । पितरिति संबोधनं पूर्ववत् तस्योपकारभनुवदति । स्निग्धाम्यां युवाम्यां यशोदानन्दाभ्यां भृशं पोषितौ लालितौ च प्रावां । यथा जनकः तथैव पोषकः । तद् वक्ष्यति । धर्मार्थमपि पालनं भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं स्निग्धाम्यामिति । पोषणमात्रं स्नेहेनापि भ्रात्रादिष्वपि संभवति एतदर्थमाह लालिताविति । अल्पलालनं वालत्वाद्भ्रातृपुत्रादावपि भवति ततः ग्राहं भृशमिति ।

स्वशरीरापेक्षयाप्यधिकं लालितौ, एतच्च लालनं पुत्र एव भवति । किञ्च, न केवलं लालनं बाह्य-मान्तरः स्नेहोप्यसाधारणः आवयोः कृत इति पित्रोरप्यधिका प्रीतिरिति, आत्मनोप्यधिकात्मजेषु पित्रोरेव भवति । क्षेत्रजादिव्यावृत्त्यर्थमात्मजेष्वन्युक्तम् । 'प्रजाह्यात्मनोन्तरतरे'पि श्रुतेः लोकेऽपि स्वानिष्टं पर वाञ्छन्ति न पुत्रस्य, तदाह होति ॥२१॥

व्याख्यानार्थ—प्रथम, जो पहले पालन किया है उसके लिए नम्र प्रार्थना पूर्वक प्रशंसा करते हैं । हे पिता ! इस प्रकार के संबोधन से पूर्व की तरह उपकार को प्रकट करते हैं । हम दोनों को आप दोनों (नन्द-यशोदाजी) ने अच्छी तरह से प्रेम पूर्वक पाला है और दुलार किया है, क्योंकि आप स्वयं प्रेमी हो । जैसा जन्म देने वाला वैसा ही पालन करने वाला पिता है । उसका विवेचन करते हैं कि धर्म के लिए भी पालन होता है अर्थात् मैं पिता हूँ; इसलिए मेरा धर्म है कि पालन करना; यों समझ पालन किया किन्तु आपने तो स्नेह पूर्वक पालन किया, धर्म समझकर नहीं किया । यदि आप कहो कि स्नेह से पालन तो भ्राता आदि का भी होता है, तो जिसके उत्तर में कहते हैं कि आपने केवल पालन नहीं किया; किन्तु पुत्र समझ लाड़ भी लड़ाया । लाड़ तो भ्राता के पुत्रों को भी लड़ाया जाता है, इस पर कहते हैं कि वह लाड़ लड़ाना अल्प होता है, हमको तो आपने बहुत दुलार से लाड़ लड़ाया है, यहां तक कि अपने शरीर से भी विशेष लाड़ हमको लड़ाया । इस प्रकार का दुलार वा प्यार पुत्र से ही होता है । किञ्च आपने यह लालन केवल बाहर दिखावटी नहीं किया है, किन्तु आन्तरिक प्रेम से पिता से भी अधिक लालन किया है । अपने से भी विशेष प्रीति (प्रेम), माता पिता की पुत्रों में ही होती है । श्लोक में 'आत्मजेषु' पद देकर यह बताया है । इसी प्रकार का प्रेम क्षेत्रज पुत्रों में नहीं होता है, कारण कि श्रुति कहता है कि 'प्रजा अन्तरतर आत्मा है' जिससे पिता माता अपना अनिष्ट हो उसको परवाह नहीं करते हैं, किन्तु प्रजा का किञ्चिन् मात्र अनिष्ट न हो यही चाहते हैं, इसलिए श्लोक में 'हि' शब्द देकर कहा है कि यह निश्चय ही है ॥२१॥

आभास—ननु सहजे पुत्रे एतदुचितं न तु कृत्रिम इत्याशङ्क्याह 'स पिता सा च जननी'ति ।

आभासार्थ—यदि आप कहो, कि जो कुछ कह रहे हो वह सहज पुत्र में स्नेह आदि होते हैं किन्तु 'कृत्रिम' में नहीं होते हैं, तो उसके उत्तर में मेरा यह कहना है, वह वर्णन 'स पिता सा च जननी' श्लोक में करते हैं—

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४२ ॥

श्लोक—स पिता सा च जननी यौ पुष्णीतां स्वपुत्रवत् ।

शिशून्बन्धुभिरुत्सृष्टान्कल्पेः पोषरक्षणे ॥४२॥

श्लोकार्थ—पालन करने में असमर्थ बान्धव^१, जिन बालकों का त्याग कर देते हैं, उन बालकों का जो प्रेम से पालन करते हैं, वे ही सच्चे माता-पिता हैं ॥४२॥

सुबोधिनी—पितृत्वं पुत्रत्वं वा अन्नविकार-त्वात् आत्मत्वेन परिगृहीतान्तःकोशो भवति । तदन्नं साधारणम्, तत्र यद्यन्य एवाभिमानं कुर्यात् तादृशं तदा तस्यैव भवति, अन्नस्य साधारण-त्वात्, अन्यथा अन्योद्भवे भर्तरि भार्यायां च स्वाधिकस्नेहो न स्यात् । स्नेहश्च कालीयप्रसङ्गे परीक्षितः । न हि दृष्टे अनुपपन्नं नाम । अतः सिद्धमेव पुत्रत्वं च स्नेहानुभवाभ्याम् । ननु लोके तथा न प्रसिद्धिः । पुत्र एव परं तथा स्नेहाभावेऽपि प्रसिद्धिः, तत्राह यौ स्वपुत्रवत् पुष्णीताम् ।

लोकेऽपि स एव पिता सैव जननी इति प्रसिद्धिः । एकेन परिपालने उपचारोपि भवेत् न तु उभाभ्याम्, बहुभिरप्युपचारः, तत्रापि पोषणे बाह्याभ्यन्तर्भावः पुत्र एव भवति चेत्तदा लोक इव स्वहृदयेऽपि सम्भवति । तत्रापि विशेषः बन्धुभिः सर्वैरेव उत्सृष्टान्पुष्णीतः, परित्यागेन दानरूपं परित्याजनं किन्तु पोषरक्षणे, पोषणं रक्षणं च एकवद्भावेन निरूपितम् । अन्यतरसामर्थ्यनिर्वाकरणाय, तत्रासमर्थः सर्वथा ॥४२॥

व्याख्यानार्थ—पितापन वा पुत्रपन ये दोनों अन्न के विकार हैं । आत्मापन से ग्रहण किया हुआ अन्नः कोश है । अन्न तो साधारण कारण है । उसमें^२ यदि दूसरा कोई अभिमान करे अर्थात् दूसरा कोई अपना अधिकार कहे तो वह उसका अन्न खिलानेवाले का हो सकता है । अन्न साधारण कारण है, यदि वैसा न होवे तो अन्य से उत्पन्न भर्ता में एवं पत्नी में परस्पर अपने से अधिक प्रेम न हो, किन्तु होता है । आपका मुँह में कितना विशेष स्नेह है, जिसकी परीक्षा कालीयदमन लीला में हो गई है । जो आँखों देखी है, उसमें कुछ भी शङ्का नहीं है । स्नेह तथा अनुभव से हम में पुत्रत्व सिद्ध ही है । शङ्का नहीं करनी कि यदि तुम पुत्र हो तो लोक में प्रसिद्धि क्यों नहीं है ? पुत्र की तो स्नेह के अभाव में भी प्रसिद्धि है, क्योंकि लोक में वह भी प्रसिद्ध है, जो स्नेह से स्वपुत्रवत् जिसका पालन करते हैं वे ही उसके माता तथा पिता हैं । एक पालन करे तो सेवा आदि कहा जावे, किन्तु दो या बहुत करे तो वह उपचार नहीं कहाता है । जिसमें भी पालना करते समय भीतर तथा बाहर का भाव, लोक जैसा पुत्र में ही देखता है, वैसा अपने हृदय में होता है । तात्पर्य यह है कि पोषण कर्ता जिस भीतर तथा बाहर के भाव से पालन करता है उसका प्रभाव पुत्र पर, लोक पर एवं पालन कर्ता के हृदय पर वैसा ही दीखता है । उसमें भी विशेषता यह है कि सर्व बान्धवों से हम त्यागे हुए हैं । उनका आपने पालन पोषण किया है, यह त्याग, दान रूप है । यहां पोषण और रक्षण साथ में ही कह दिए हैं । वे बान्धव एक भी करने में सर्वथा असमर्थ थे । न पोषणा और न रक्षण कर सकते थे, वैसी अवस्था में आपने दोनों किए हैं, अतः आप हमारे माता पिता हैं ॥४२॥

आभास—एवं पूर्वसिद्धं पितृत्वं स्थापयित्वा सर्वस्वं च निवेद्य आज्ञायति 'यात
यूयमि'ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार नन्दजो का पूर्व ही सिद्ध पितापन स्थापन कर और सब कुछ अर्पण कर पश्चात् इस श्लोक 'यात यूय' में जाने की आज्ञा देते हैं ।

श्लोक—यात यूयं व्रजं तात वयं च स्नेहदुःखितान् ।

ज्ञातीन्वो द्रष्टुं मेष्ट्यामो विधाय सुहृदां सुखम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—हे तात! आप सब ब्रज को पधारें, हम भी लोह से दुःखित जातिवालों को तथा आपको देखने के लिए इन बान्धवों को सुख देकर वहाँ आवेंगे ॥२३॥

सुबोधिनी—यूयं सर्वे गोपालाः व्रजं यात, वयं च कार्यार्थं यास्याम इति चकारार्थः । भवन्तः कुत्र गमिष्यन्तीत्याशङ्क्य देवगुह्यत्वात् परोक्षेणाह ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्याम इति । गोपेष्व्वात्मभावः प्रापित इति सर्वात्मकता तेषु सिद्धा, अतस्त एव ज्ञातयो भवन्ति ये यादवगोत्रजाः । अथवा । वयमिति अस्मत्संबन्धिनः पुत्रादयोऽपि सर्वे भवतामेवेति । वयं सर्वे भवतामेव ज्ञातयः । भवन्तश्चास्माकमयमधिको वरो दत्तः, अत एवाद्यापि गोकूलसम्बन्धेव भगवान् कीर्त्यते । विवा-

हादिष्वपि बलादेव विवाहः, भगवदिच्छयैव सर्व-
लोकानामपि तथा प्रतीतिः, अत एव रुक्मिवचनं
गोपाला इति, तथैव श्रुताबुधसनाकाण्डेऽपि
मन्त्राः । तस्माद्भवन्त एव ज्ञातयः, तथाप्येतेऽपि
सुहृदः, अतस्तेषां सुखं विधाय पश्चादागमिष्यामः,
ज्ञातीनेव द्रष्टुं न तु गोकुल इत्यपि, अत एव भग-
वान् वक्ष्यति 'गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षपणचे-
तस इति' । आगमने हेतुः स्नेहदुःखितानिति ।
नत्वन्यद्भयं भविष्यतीति भावः ॥२३॥

व्याख्यानार्थ—आप सब गोप व्रज में जाओ, हम कार्य के लिए अन्यत्र जावेंगे यह 'च' का आशय है। आप कहाँ जावेंगे वैसी शङ्का के उत्तर में गुप्त प्रकार से कहते हैं, क्योंकि देव सदा ही परोक्ष प्रिय होने से गुह्य ही कहते हैं। हमारे जो आप जातिवाले हो, उनको देखने के लिए आवगे, यों कहकर गोपों में आत्मभाव स्थापन किया है। जिससे उनमें सर्वात्म भाव की सिद्धि की है, अतः वे ही जाति वाले होते हैं; जो यादव कुल में जन्मे हैं, अथवा 'वयम्' कह कर यह बताया कि हमारे पुत्र आदि सब आपके ही हैं, हम आपके ही जातिवाले हैं, आप हमारी जाति के हैं, यह विशेष वर दिया। इस कारण से ही भगवान् आज तक 'गोकुल के' कहे जाते हैं। विवाहादि भी बल से ही होते हैं। भगवान् की इच्छा से सर्व लोक में भी इस प्रकार की प्रतीति हो रही है। रुक्मी ने भी हमारे लिए कहा है कि आप 'गोप' हैं, उपासना काण्ड में भी 'वैसे ही' मन्त्र हैं, इस कारण से आप ही जातिवाले हैं, तो भी ये भी सुहृद हैं, इसलिए इनको सुख देकर पीछे आऊंगा। जातिवालों को देखने के लिए ही आऊंगा, न कि गोकुल में आऊंगा जिसका वर्णन भगवान् 'गतांश्चिरायीतान् शत्रु पक्ष क्षपण चेतसः श्लोक में करेंगे। हमारे आने का कारण केवल यह है कि स्नेह से आपको मेरे विरह से दुःख होगा, जिसको मिटाने के लिए ही मैं आऊंगा, न कि अन्य कोई भय होगा, यह भाव है ॥२३॥

श्रामास—एवं त्रयमुक्तं अलौकिकम् । लौकिकमपि बहु दत्तवान् इत्याह 'एवं सान्त्वय्ये'ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार तीन अलौकिक कहे, लौकिक भी बहुत दिए। जिसका वर्णन 'एवं सान्तवय्य' श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—एवं सान्त्वय्य भगवान्नन्दं सत्रजमच्युतः ।

वासोलङ्कारकुप्याग्रैरहंयामास सादरम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार भगवान् ने ब्रज सहित नन्दरायजी को सान्त्वना दे, वस्त्र, आभूषण, काँसे-पीतल आदि के बर्तन देकर आदर सहित उनकी पूजा की ॥२४॥

सुबोधिनी—भगवानित्यङ्गीकारे सामर्थ्यम् । ननु कथमेवं पूर्वमर्थं स्थापितवान् । लीलार्थमेव हि तत्र गतः, सेवकाश्च ते, कस्तेषामनुरोध इति चेत्तत्राह अच्युत इति । स हि सर्वदा च्युतिरहितः, पूर्वधर्मपरित्यागे धर्मतश्च्युतिः स्यात् । न केवलं गोपालानेवार्हयामास किन्तु सत्रजमिति, स्त्रीणां पुरुषाणां च सर्वेषामेवार्थं वस्त्राण्याभरणानि च दत्तवान् । कुप्याग्राणि व्यवहारपात्राणि सुवर्ण-रजतातिरिक्तधातुमयानि । सादरमिति प्रत्येकं नामग्रहणेन गृहस्थवत्, न तु महाराजवत् ॥२४॥

व्याख्यानार्थ—‘भगवान्’ विशेषण देकर बताया है कि यह अङ्गीकार करने में समर्थ है। इतना जो द्रव्य दिया वह प्रथम कहाँ रखा था? वे तो खेल के लिए वहाँ गए थे, वे और सेवक साथ थे, उनके पास स्वामी की अभिलाषा पूरी करने की इच्छानुरूप सामग्री कैसे आई? इसके उत्तर में कहते हैं कि ‘अच्युतः। आप अच्युत हैं, आप में कभी भी, किसी धर्म को भी च्युति’ नहीं होती है। यदि आप पूर्व धर्म का त्याग करें तो धर्म से च्युत हो जावें। आपने केवल गोपों की पूजा नहीं की, किन्तु सारे ब्रज का सत्कार किया। स्त्री और पुरुष सब के लिए वस्त्र तथा आभरण दिए एवं सोने, चाँदी, पीतल आदि के पात्र जो घर के काम में आने लायक थे वे सब आदर के साथ एक एक का नाम लेकर दिए जैसे गृहस्थी दहेज में देते हैं वैसे दिए राजा की तरह नहीं दिए ॥२४॥

ग्राभास—दानानन्तरं गताविति शङ्कां वारयितुमाह 'इत्युक्त' इति ।

प्रासासार्थ—दान के पश्चात् वे चले गए ? इस शङ्का + को मिटाने लिए 'इत्युक्त' यह श्लोक कहा है ।

१- कमी

+ यों कहने का आशय यह है कि जनता इस प्रकार शंङ्काशील न होवे कि नन्दजी प्रेम के कारण नहीं रुके थे, किन्तु दान लेने के लिए रुके थे ।

श्लोक—इत्युक्तस्तौ परिष्वज्य नन्दः प्रणयविवहलः ।

पूरयन्नश्रुभिर्नत्रे सहगोपैर्व्रजं ययौ ॥२५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार के भगवान् के वचन सुनकर प्रेम से व्याकुल हुए नन्दरायजी नेत्रों से आँसूओं की धारा बहाते हुए उन दोनों को आलिङ्गन कर गोपों के साथ व्रज को पधारे ॥२५॥

सुबोधिनी—तौ कृष्णरामौ परिष्वज्य नन्दः ।
 प्रणयविह्वलः भगवद्भक्तसर्वार्थैः पूर्णः किञ्चिदपि
 वक्तुमसमर्थः, ततः अश्रुभिः नेत्रे पुरयन् गोपैः सह
 व्रजं गतौ । भगवता गोपाला अपि प्रस्थापिताः न
 तु मित्राणां केचित् स्थापिताः ॥२५॥

व्याख्यान—राम और कृष्ण दोनों का आलिङ्गन कर नन्दजी प्रेम विभोर हो गए । भगवान् के दिए हुए सर्व प्रकार के पदार्थों से पूर्ण होने से कुछ भी बोल न सके । पश्चात् आँसुओं से नेत्रों को भरते हुए गोपों के साथ व्रज को सिधारे । भगवान् ने गोपों को भी रवाना किया, किसी को भी मित्र की भाँति वहाँ नहीं रखा ॥२५॥

आभास—एवमेषां निरोधमुक्त्वा वेदेन भगवतोऽपि निरोधमाह 'अथे'ति ।

आभासार्थ—इस प्रकार इनके निरोध का वर्णन कर वेद से भगवान् का भी निरोध 'अथ' श्लोक में कहते हैं ।

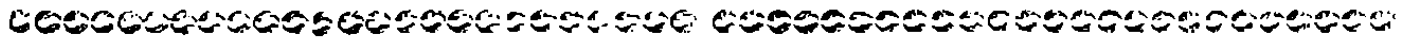
श्लोक—अथ शूरसुतो राजन्पुत्रयोः समकारयत् ।

पुरोधसा ब्राह्मणैश्च यथावद्विजसंस्कृतिम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! फिर वसुदेवजी ने पुरोहित और ब्राह्मणों को बुलाकर पुत्रों का वेद की विधि के अनुसार यज्ञोपवीत संस्कार कराया ॥२६॥

सुबोधिनी—यावदध्यायपरिसमाप्ति । तत्र प्रपञ्चविस्मृति पञ्चभिराह । शिष्टैर्वेदार्थासक्तिर्वक्तव्या । अथ सर्वकार्यसिद्धयनन्तरं शिशिरे शूरसुतो वसुदेवः । राज्ञश्चिति क्षत्रियाणामवश्यकर्तव्य इति ज्ञापनार्थम् । पुत्रयोः सम्यगकारयत्, पुरोधसा गर्गेण, अन्यैश्च ब्राह्मणैः । क्षत्रियाणां पुरोहित एवोपदेशः । उपनयने मातामहप्राधान्य-

व्यावृत्त्यर्थं शूरपदम् । यथावत् स्वगृह्योक्तानुसारेण । द्विजसंस्कृतिं येन द्विजो भवति, चूडाकरण-संस्कारः पूर्वमेव जातः 'काकपक्षघरावि'ति वचनात्, उपनयनसंस्कारस्त्वत्र कृतः । 'द्वादशे पशु-काममि'ति संवत्सरविचारेण तु एकादश एव भवति । काम्यपक्ष एवात्राश्रयणीयः, सप्रायश्चित्तमित्यन्ये ॥२६॥



व्याख्यान—उपनयन संस्कार का विषय सम्बन्धी वर्णन, अध्याय समाप्ति पर्यन्त चलेगा, जिसमें प्रपञ्च विस्मृति को पांच श्लोकों से कहते हैं, बाकी बचे हुए श्लोकों में वेदार्थ में आसक्ति कहनी चाहिये ।

सर्व कार्य सिद्ध हो जाने के बाद शूरसेन के पुत्र वसुदेवजी ने शिशिर ऋतु में पुत्रों का उपनयन संस्कार अच्छी तरह कराया; कैसे और किन से कराया ? वह कहते हैं कि अपने पुरोहित गर्ग और अन्य ब्राह्मणों से कराया । क्षत्रियों को उपदेश करनेवाला पुरोहित ही होता है । वसुदेव न कहकर 'शूरसुत' कहने का भावार्थ यह है कि 'शूरसेन' जो पितामह है, उसकी प्रधानता दिखाने से मातामह की प्राधनता कम कर दी है । यह संस्कार विधि के अनुसार अर्थात् अपने 'गृह्यसूत्र' में कही हुई विधि के अनुसार कराया । यज्ञोपवीत संस्कार को द्विज संस्कार कहा जाता है, क्योंकि इस संस्कार से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीन वर्णों को 'द्विज' पदवी प्राप्त होती है, जिससे वैदिक कर्म करने का अधिकार होता है । चूड़ाकरण संस्कार तो पूर्व ही हो गया है, यह 'काक पक्ष धरी' इस वचन से ज्ञात होता है । उपनयन संस्कार अब किया है, 'द्वादशे पशु कामं' इस वचनानुसार संवत्सर का विचार किया जावे तो एकादश ही होता है अतः यहां 'काम्य का अतिक्रम हो जाने के कारण से प्रायश्चित्त कराके 'संस्कार' कराया गया है, किन्तु प्रायश्चित्त कराके संस्कार कराया गया इसको आचार्य श्री स्वोकार नहीं करते हैं, क्योंकि श्रीकृष्ण भगवान् हैं ॥२६॥

आभास—ततस्तेभ्य उत्सवार्थं दक्षिणार्थं च दानानि दत्तवानित्याह 'तेभ्य' इति ।

आभासार्थ—इसके बाद ब्राह्मणों को उत्सव के कारण तथा कर्म की दक्षिणा के लिए दान दिया, जिसका वर्णन 'तेभ्योऽदादक्षिणा' 'याः कृष्ण' श्लोकों में करते हैं ।

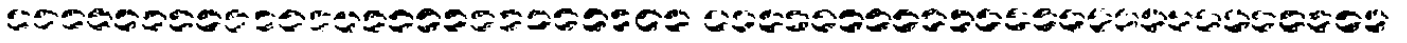
श्लोक—तेभ्योऽदादक्षिणा गावो रुक्ममालाः स्वलङ्कृताः ।

स्वलङ्कृतेभ्यः सम्पूज्य सवत्साः क्षौममालिनीः ॥२७॥

याः कृष्णरामजन्मर्क्षे मनोदत्ता महामतिः ।

ताश्चाददादनुस्मृत्य कंसेनाधर्मतो हृताः ॥२८॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों को अच्छी तरह से अलंकृत कर पूजन किया और उनको सुवर्ण की माला आदि से अलंकृत कर बछड़ों वाली रेशमी वस्त्र से आच्छादित गौ, जो वसुदेवजी ने श्रीकृष्ण तथा राम के जन्म के समय मन से सङ्कल्पित की हुई थी और जिनका कंस ने अधर्म से हरण किया था, उनको दक्षिणा के साथ दान में दे दीं ॥२७-२८॥



सुबोधिनी—गवादय एव दक्षिणा विहिता वा । स्वममालायुक्ताः सुष्ठु अलङ्कृताश्च । स्व-लङ्कृतेभ्यश्च विप्रेभ्यः सम्पूज्य विधानपूर्वकं अयुतद्वयम् ॥२७॥

भगवज्जन्मनि रामजन्मनि च तावदन्यथा वा

या मनोदत्ताः । महामतिरिति स्मरणे पूर्वमेव सेत्स्यतीति, दाने वा ताः अनुस्मृत्य ब्राह्मणेभ्यो-दात् । नन्वेतावत्यो गावः कुत्रत्या वसुदेवस्येति चेत्तत्राह कंसेन गृहलुण्ठनसमये हृताः ॥२८॥

व्याख्यार्थ — गौ आदि दक्षिणा दी अथवा जो दक्षिणा गौ दान करने पर दी जाती है वह भी दी, वे गौएँ सुवर्ण की मालाओं से तथा अन्य आभूषणों से एवं वस्त्रादि से अलंकृत की गई थीं । इसी प्रकार ब्राह्मण भी भूषण तथा वस्त्र आदि से सुशोभित कर पूजे गए । अनन्तर वे २०,००० बीस हजार गौएँ विधि पूर्वक देदीं । क्यों दी ? जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि राम और कृष्ण के जन्म समय में और दूसरे समय में भी जो गौ देने के लिए महामना वसुदेवजी ने मन से सङ्कल्प किया था, उसको स्मरण कर वे ब्राह्मणों को दान में दीं । वसुदेवजी ने इतनी गौएँ अब कहाँ से लाकर दीं? इसके उत्तर में कहते हैं कि कंस ने जब वसुदेवजी का घर लूटा था, उस समय वसुदेवजी को गौएँ भी ले गया था । अब कंस के नाश हो जाने पर फिर वे वसुदेवजी को मिल गई, अतः २०,००० बीस हजार गौएँ दे दीं ॥२७-२८॥

आभास—ततोऽन्येन निरोधे कारितेऽपि स्वतोऽपि कर्तव्यमिति व्रतात्मकं नियमं पूर्वसिद्धत्यागापरपर्यायं स्वयं कृतवन्तावित्याह 'ततश्चे'ति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—उसके बाद अन्य से निरोध कराया, तो भी स्वतः^१ भी करना चाहिए; इसलिए पूर्व जो सिद्ध उन सबका त्याग रूप व्रतात्मक नियम आप दो ही करने लगे, जिसका वर्णन दो श्लोकों से करते हैं—

श्लोक—ततश्च लब्धसंस्कारौ द्विजत्वं प्राप्य सुव्रतौ ।

गर्गद्यदुकुलाचार्याद्रायत्रं व्रतमास्थितौ ॥२९॥

श्लोकार्थ—दोनों भाई उपनयन संस्कार से द्विज बन कर यदुकुल के आचार्य गर्गजी से दीक्षा लेकर ब्रह्मचर्य नियम पालन के साथ गायत्री व्रत में स्थित हुए ॥२९॥

सुबोधिनी—ग्रहणसमर्थनभेदेन, तदनन्तरमेव संस्कारदिन परित्यज्य दिनत्रयं मासषट्कं संवत्सरमात्रं वा सुव्रतौ शोभनवेदव्रतयुक्तौ ब्रह्मचर्य-

नियमयुक्तौ वा । यदुकुलस्यैवाचार्यो गर्ग इति । गायत्रं व्रतं सावित्रापरपर्यायं व्रतमास्थितौ जातौ ॥२९॥



व्याख्यान—ग्रहण और समर्थन भेद से दो प्रकार के जो संस्कार हैं, उनको कर और उनके बाद संस्कार के दिन को छोड़, तीन दिन, छ मास अथवा संवत्सर पर्यन्त वेद व्रत का अथवा ब्रह्मचर्य नियमों का पालन करने लगे। यदुकुल के ही आचार्य 'गर्गजी' थे, इसलिए उनसे गायत्री व्रत की दीक्षा लेकर उसमें स्थित हुए। २६॥

आभास—नन्वेतस्य व्रतस्य काम्यत्वं यथा सरस्वतीस्फूर्तिर्भवति, तदत्र ऋते नोप-
युज्यत इति किमिति व्रतमास्थितावित्याशङ्क्यायामाह 'प्रभवो'ति।

आभासार्थ—यह गायत्री व्रत काम्य है, क्योंकि इससे सरस्वती की स्फूर्ति होती है, किन्तु यहां वह काम्यत्व अनुपयोगी है तो फिर व्रत में क्यों स्थित हुए? इस शङ्का के होने पर यह 'प्रभवो' श्लोक कहते हैं।

श्लोक—प्रभवौ सर्वविद्यानां सर्वज्ञौ जगदीश्वरौ।

नान्यसिद्धामलज्ञानं गूहमानौ नरेहितः ॥३०॥

श्लोकार्थ—दोनों भाई सर्व विद्याओं को उत्पन्न करने वाले तथा सर्वज्ञ एवं जग-
दीश्वर हैं, तो भी मनुष्य लीला करने के कारण स्वतः सिद्ध स्वच्छ ज्ञान को गुप्त
रखते थे ॥३०॥

सुबोधिनौ—यद्यपि सर्वविद्यानां प्रभवौ,
विद्यापेक्षाभावेऽपि स्वतोपि सर्वज्ञौ, मास्तु वा
ज्ञानं, जगदीश्वरौ कर्तुं मकर्तुं मन्यथा कर्तुं समर्थौ,
क्रियाशक्तिरेव सर्वोत्कृष्टेत्यर्थः। तथाप्यनन्यसिद्धं

स्वतः सिद्धमेव ज्ञानं नरेहितं पानुषलीलाभिः गूह-
मानौ गोप्यं कुर्वन्तौ गायत्री व्रतमास्थिताविति
पूर्वोक्तं सम्बन्धः। सर्वज्ञता ब्रह्मविदामिव कृत्रि-
मापि भवतीति नान्यसिद्धेत्युक्तम् ॥३०॥

व्याख्यान—यद्यपि 'दोनों भाई' समस्त विद्याओं के उत्पत्ति के स्थान हैं, अतः उनको विद्या
की अपेक्षा नहीं है, कारण कि स्वतः सर्वज्ञ हैं। ज्ञान न भी हो, तो भी ये जगदीश्वर हैं, कर्तुं, मकर्तुं,
तथा अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं। उनमें क्रिया शक्ति सब से उत्कृष्ट है। वैसे भी इनमें जो ज्ञान है, वह
दूसरों से सिद्ध नहीं है, किन्तु स्वतः सिद्ध हैं तो भी उसको गुप्त रखते हैं। कारण कि मनुष्य लीला
का नाट्य कर रहे हैं, जिससे ही गायत्री व्रत में स्थित हुए हैं। ब्रह्मचर्य के नियम पालते हैं। सर्वज्ञता
ब्रह्मज्ञानियों की तरह कृत्रिम भी होती है। इसकी निवृत्ति के लिए अर्थात् वह दिखाने के लिए कि
इन दोनों में सर्वज्ञता कृत्रिम नहीं है श्लोक में 'न अन्य सिद्धा' पद दिया है, जिसका भावार्थ है कि
इनमें जो सर्वज्ञता है वह दूसरों के द्वारा सिद्ध नहीं है, किन्तु सहज है ॥३०॥

आभास—एवं प्रपञ्चविस्मरणात्मकं निरोधमुक्त्वा आसक्त्यात्मकं निरोधमाह
'अथो' इति विशत्या। ततो द्वाभ्यां प्रत्यापत्तिर्वक्ष्यति। अन्यथाप्रे क्रियमाणो निरोधः
कर्तृरहितः स्यात्, आत्मैकविश इति नखस्थानीया एते धर्मा भगवतो निरूपिताः।



आभासार्थ—इस प्रकार प्रपञ्च की विस्मृति कराने वाला निरोध कह कर अब आसक्ति रूप निरोध 'अथो' इस श्लोक से लेकर बीस श्लोकों में कहते हैं ।

श्लोक—अथो गुरुकुले वासमिच्छन्तावुपजमतुः ।

काश्य सान्दीपनि नाम ह्यवन्तीपुरवासिनम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—अनन्तर गुरुकुल में वास चाहते हुए दोनों भाई उज्जैन के वासी सांदीपनि नाम गुरु के पास गए, जिसको काश्य भी कहते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—अवश्यं हि गुरुकुल एव विद्या-ग्रहणम्, अतो गुरुकुले वासमिच्छन्तौ जातौ, तत ईश्वरत्वात्कश्चिद्गुरुः स्वयमुपस्थितः भगवता वा कल्पित इति शङ्कां वारयितुं अथ जमतु काश्य-मिति । सान्दीपनिरिति । सन्दीपनस्यापत्यं सान्दीपनिः अत इत् । पितृनाम्नैव तस्य प्रसिद्धिः । काश्य इति एकदेशग्रहणेन काश्यपगोत्रजः काश्यो वा स्वतन्त्रः गोत्रप्रवर्तकः, 'काश्यः कुत्सो गृत्स-

मद' इति गृत्समदात् शौनकः, तथा काश्यस्यापि ब्रह्मवशजनकत्वम्, यद्यपि विशेषतो नोक्तं तथा-प्यवगम्यते । केचन ऋषयः पितृनाम्नैव प्रसिद्धा इति सन्दीपन एव निरुक्तः । मन्वग् दीपनं बुद्धे-र्यस्मादिति अवन्तीपुर तु शैवं महाकालस्थानम्, तत्रापि यथा मुक्तिर्भवति, सोऽपि तीर्थवासेन विरक्तो महान् ॥३१॥

व्याख्यानार्थ—गुरुकुल में रहकर अवश्य विद्या ग्रहण करनी चाहिए, अतः गुरुकुल में रहने की इच्छा वाले हुए । आप ईश्वर थे, इसलिए गुरु वहाँ आकर उपस्थित हो गए वा भगवान् ने किसी की कल्पना कर ली, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा कि 'काश्यं जमतुः' काश्य गोत्र में अथवा काश्यप गोत्र में उत्पन्न सन्दीपन ऋषि के पुत्र सांदीपनि के पास अवन्ती नगरी में गए । 'काश्य' को एक देश में ग्रहण करने से काश्यप गोत्र में उत्पन्न अर्थ होता है, अथवा 'काश्यः' स्वतन्त्र गोत्र प्रवर्तक ऋषि, 'काश्यः कुत्सो गृत्समदः' इससे गृत्समद शौनक है, वैसे 'काश्य' से भी ब्रह्मवश का जन्म हुआ है, जो कि विशेष स्पष्ट यहां नहीं कहा है तो भी विचार करने से यों समझा जाता है । कितने ही ऋषि पिता के नाम से प्रसिद्ध हुए हैं, अतः यहां सन्दीपन को निरुक्ति की गई है कि जिससे बुद्धि का दीपन अर्थात् उद्बोधन अच्छा होता है । 'अवन्तीपुरो' शैव है, क्योंकि यह 'महा-काल' भगवान् का स्थान है, अतः वहां भी काशी की तरह मुक्ति होती है । सांदीपनि उस तीर्थ पर रहने से महान् वैराग्य वाले हो गए थे ॥३१॥

आभास—तत्र गत्वा यथा गुरुवृत्तिः कर्तव्या तथैव कृतवन्तौ । नत्वैश्वर्येण धना-दिना वा विद्याग्रहणमित्याह 'यथोपसाद्ये'ति ।

आभासाथं—वहां जाकर जिस प्रकार गुरु के पास रहना चाहिए वैसे रहने लगे। ऐश्वर्यं अथवा धन देकर विद्या ग्रहण नहीं करनी चाहिए यह 'यथोपसाद्य' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—यथोपसाद्य तौ दान्तौ गुरौ वृत्तिमनिन्दिताम् ।

ग्राह्यन्तावुपेतौ स्म भक्त्या देवमिवाहृतौ ॥३२॥

श्लोकार्थ—योग्य रीति से गुरुजी के पास जाकर दोनों ने इन्द्रियों को संयम में रख, गुरु में अनिन्दित वृत्ति धारण की और देव की तरह भक्ति श्रद्धा से गुरुजी का आदर करते हुए विद्या ग्रहण करने लगे ॥३२॥

सुबोधिनी--अरिक्तहस्ततया, 'ब्रह्मचर्यमागामुपमानयस्वे'त्यादिवाक्यात्, उपसाद्य निकटे गत्वा, आवश्यकधर्मपरिग्रहणार्थमाह दान्ताविति। नन्वेव किमर्थं कृतवन्तौ तत्राह गुरौ वृत्तिमनिन्दितां ग्राह्यन्तौ। लोके गुरावेवं गुरुशुश्रूषयैव नीचतयैव विद्या ग्राह्येति शिक्षयितुम्, निन्दिता वृत्तिर्धनादिना, अत एव उपेतौ स्म, यतः उप-

नीतौ; गुरुणा समीपे आनीतौ, अत्र प्रमाणं न
वक्तव्यं, गुरुः कथमेवं धाष्ट्र्यं कृतवानित्यपि
नाशङ्कनीयम्, यतः स्मेति प्रसिद्धम्, भगवदिच्छा
तत्र युक्तिः । ततो ग्रहणानन्तरं विहितभक्त्या
परमादरयुक्तो, प्रेम बहिरपि, भक्तिधर्मोपि पदद्व-
येनोक्तः । देवमिव आराध्येष्टदेवतामिव उपेतौ
स्म । बहिरन्तश्च समीपं गतो स्मेत्यर्थः ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—शास्त्रों में 'ब्रह्मचर्यमागामुपमानयस्व' कह कर बताया है कि गुरु के पास खाली हाथ नहीं जाना चाहिए। गुरु के पास जाकर इन्द्रिय संयम धारण करते हुए आवश्यक धर्म की शिक्षा ग्रहण की। गुरु के पास से जो विद्या ग्रहण की वह अनिन्दित प्रकार की वृत्ति से ग्रहण की। वह प्रकार बताते हैं कि गुरु की सेवा कर, उनके पास दीन बन कर जो विद्या ग्रहण की जाती है, अर्थात् इस प्रकार ली हुई विद्या सफल और यशस्वी होती है। आपने इस प्रकार विद्या ग्रहण कर अन्यो को शिक्षा दी है और जो विद्या, धन आदि देकर ली जाती है, वह निन्दित है, वह न फलीभूत है और न यशस्वी बनाती है।

दोनों भ्राताओं ने यज्ञोपवीत धारण किया था, अतः दोनों ही गुरु के पास लाये गये और वहाँ रहने लगे । इसमें प्रमाण कहने की आवश्यकता नहीं है । गुरुजी ने वैसी धृष्टता क्यों की ? यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह प्रसिद्ध ही है । इसलिये श्लोक में प्रसिद्धि वाचक 'स्म' अव्यय दिया है । इसमें युक्ति यह है कि 'भगवान्' की इच्छा वैसी ही थी । पश्चात् विद्या ग्रहण के अनन्तर शास्त्र में कहे अनुसार श्रद्धा पूर्वक गुरु में अत्यन्त आदर करते थे, बाहर से भी प्रेम प्रकट दिखाया तथा भक्ति धर्म भी दिखाया । गुरु के पास इस प्रकार रहे और भक्ति की जैसे अपने इष्ट देव में भक्ति करने के लिये उसके समीप रहते हैं, बाहर तथा अन्तः करण से भी गुरु के समीप गये, अर्थात् वहाँ रहने लगे । ३२॥

आभास—ततो गुरुकर्तव्यमाह 'तयोरिति' द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—अनन्तर गुरु के कर्तव्य का निरूपण 'तयोः' श्लोक से लेकर दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—तयोद्विजवरस्तुष्टः शुद्धभावानुवृत्तिभिः ।

प्रोवाच वेदानखिलान्साङ्गोपनिषदो गुरुः ॥३३॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों में श्रेष्ठ गुरु शुद्ध भाव से की हुई उनकी सेवा से प्रसन्न हुए ।
जिससे छः ऋद्धों सहित सम्पूर्ण चारों वेद तथा उपनिषद् विद्या उनको पढ़ाई ॥३३॥

सुबोधिनी—स हि द्विजवरः ब्राह्मणश्रेष्ठः ताविति आदौ सर्वानिव वेदान् प्रोवाच, चत्वारो सर्वधर्मज्ञः प्रथमतस्तत्स्वरूपमज्ञात्वापि तयोरनुवृत्तिमेव दृष्ट्वा सन्तुष्टो जातः । तत्रापि शुद्धेन भावेन वेदा बहुशाखावितताः, ततो ज्ञानि षट्, उपनिषदश्च सहिता अनुवृत्तिः, अत्र भावशुद्धिः अलोलुपत्वादिः ब्रह्मप्रतिपादिकाः, यतो गुरुरूपदेशः, नत्वीश्वरः । ॥३३॥

व्याख्या—वह गुरु ब्राह्मणों में श्रेष्ठ थे तथा सर्व धर्मों को जाननेवाले थे । प्रथम उनके स्वरूप को नहीं जानते तो भी उनकी की हुई निष्कपट सेवा देखकर प्रसन्न हो गये । निष्कपट की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि किसी प्रकार का भी लोभ अथवा कामना रखकर सेवा नहीं की; किन्तु केवल सेवा से गुरु की कृपा हो इतना ही चाहते थे । गुरु ने समझ लिया कि ये यही कृपा चाहते हैं कि गुरु हमको विद्या पढ़ा दे । यों समझ छः अंगों सहित समग्र ४ वेद तथा ब्रह्म स्वरूप प्रतिपादन करने वाले उपनिषद् भी पढ़ा दिये । गुरु केवल उपदेश देने वाले हैं, ईश्वर नहीं हैं ॥३३॥

ग्रामास—अन्या अपि विद्या उक्ता इत्याह 'सरहस्यमि'ति ।

आभासार्थ—अन्य प्रकार की विद्याएँ भी पढाई, जिसका वर्णन 'सरहस्य' श्लोक में करते हैं

श्लोक—सरहस्यं धनुर्वेदं धर्मन्यायपथांस्तथा ।

तथा चान्वीक्षिकीं विद्यां राजनीतिं च षड्विधाम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—सांगवेद तथा उपनिषद् पढ़ाने के अनंतर रहस्य के साथ धनुर्वेद, धर्म शास्त्र; साम आदि न्याय के मार्ग, सांख्य योग आदि आत्म विद्या और छः प्रकार की राजनीति पढ़ाई ॥३४॥

सुबोधिनी—रहस्यमन्त्रसहितं धनुर्वेदं पाठितवान् । क्षत्रियाणामिदं दृष्टोपयोगि उपवेदेषु नान्ये, धर्मान् धर्मशास्त्रम्, न्यायपथान् न्याय-

। व्याख्यार्थ—मन्त्रों के रहस्यों को समझाकर धनुर्वेद पढ़ाया । क्षत्रियों के लिये यह वेद प्रत्यक्ष उपयोगी है; अन्य के लिये नहीं है । धर्मशास्त्र, साम आदि न्याय के मार्ग, साङ्ख्य योग आदि आत्म विद्या और छः * प्रकार की राजनीति भी सिखलाई ॥३४॥

आभास—एतावतीं विद्यां कियतो कालेन पठितवन्तावित्याह 'सर्वं तदमरश्रेष्ठा-
वि'ति ।

ग्राभासार्थ—इतनी विद्या कितने समय में पढ़ी जिसका वर्णन 'सर्व तदमरश्चेष्टौ' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—सर्वं तदमरश्रेष्ठौ सर्वविद्याप्रवर्तकौ ।

सकृन्निगदमात्रेण तौ सञ्जगृहतुर्नृप ॥३५॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! देवों में श्रेष्ठ, समस्त विद्याओं के प्रवृत्त करने वाले उन दोनों भ्राताओं ने गुरुजी के एक बार कहते ही वह सब ग्रहण कर लिया ॥३५॥

सुबोधिनी—यावद्गुरुणोक्तं तावत्सकृन्निग-
दमात्रेणैव एकवारश्रवणेन सस्त्रगृहतुः सम्यग्
गृहीतवन्तौ, यावता कालेनानध्यायादिपरिपाल-
नेन गुरुस्तावतीं विद्यां उच्चारितवान्, तावता
कालेन गृहीतवन्तौ । नृपेति सावधानार्थं संबोध-
नम् ॥३५॥

व्याख्यान—गुरुजी पढ़ाते समय एक बार ही बताते थे । गुरुजी एक बार जितना पढ़ाते थे, उसको ये भी उतने समय में याद कर लेते थे । गुरुजी अग्रध्याय^१ के दिन पढ़ाते नहीं थे, तो ये भी उन दिनों में पढ़ते नहीं थे । पढ़ने के दिनों में सुनते ही याद कर लेते थे । राजा को 'नृप' यह सम्बोधन ध्यान से सुनने के लिये दिया है ॥३५॥

श्लोक- अहोरात्रैश्चतुःषष्ट्या संयतौ तावतीः कलाः ।

गुरुवक्षिण्याचार्यं छन्दयामासतुर्नृप ॥३६॥

श्लोकार्थ—दिन तथा रात्रि को मिला कर 'अहोरात्र' कहते हैं । इस प्रकार ६४ अहोरात्र में ६४ कलाएँ सीख लीं थीं । उस समय में इन्द्रियों का संयम रखा था । हे नृप ! विद्या पढ़ने के अनन्तर गुरुजी की मनचाही दक्षिणा उनको (गुरुजी को) दी ॥३६॥

* १. सन्धि, २. विग्रह, ३. गान, ४. आसन, ५. द्वैधीभाव और ६. आश्रय ।

१- प्रतिपदा अष्टमी आदि तिथियें जिनमें पढ़ने पढ़ाने का निषेध है ।



सुबोधिनी — चतुःषष्टिसङ्ख्यायुक्तं रहोरात्रैः
संयतौ नियतौ तावतौः कलाः चतुःषष्टिकलाः
सञ्जगृह्णतुरिति संबन्धः । एकस्यां कलायां बहवः
प्रकारा बहवो ग्रन्थाः शिक्षा च महती, तथाप्येका
कला एकस्मिन्नेव दिवसे शिक्षिता, ताः कलाः
शैवतन्त्रोक्ता लिख्यन्ते । गीतं, वाद्यं, नृत्यम्,
नाट्यं, आलेख्यम्, विशेषकाद्यम्, तन्दुलकुसुम-
बलिविकाराः, पुष्पास्तरणम्, दशनवसनानां
गणाः, मणिभूमिकार्कम्, शयनरचनम्, उदकवा-
द्यमुदकाघातः, चित्रा योगाः, माल्यग्रगणविकल्पाः,
शेखरापीडयोजनम्, नेपथ्ययोगाः, कर्णपत्रभङ्गाः,
गन्धयुक्तिः, भूषणयोजनम्, ऐन्द्रजालाः, कौचुमा-
रयोगाः, हस्तलाघवम्, शित्रं शाकयूश्च, भक्षवि-
कारक्रियाः, पानकरसरागासवयोजनम्, सूचीवा-
नकर्म, सूत्रक्रीडा, वीणाडमरुकवाद्यानि, प्रहे-
लिका, प्रतिमाला, दुर्वाचकयोगाः, पुस्तकवाचनम्
नाटकाख्यायिकादर्शनम्, काव्यसमस्यापूरणम्
पत्रिकाचित्रवाचनविकल्पाः, तर्ककर्मणि, तक्षणम्,
वास्तुविद्या, रूपरत्नपरीक्षा, धातुवादः, मणिरा-
गज्ञानम्, आकरज्ञानम्, वृक्षायुर्वेदयोगाः, मेषकु-
क्कुटलावकयुद्धविधिः, शुकसारिकाप्रलापनम्
उत्सादनम्, केशमार्जनकौशलम्, अक्षरमुष्टिकाक-
थनम्, म्लेच्छितकलिकल्पाः, देशभाषाज्ञानम्,
पुष्पशकटिकानिमित्तज्ञानम्, यन्त्रमातृकाः, धार-
णामातृकाः, सम्पाद्यम्, मानसीकाव्यक्रिया, अभि-
धानकोशः, छन्दोज्ञानम्, क्रियाविकल्पाः, एताश्च-
तुःषष्टिकलाः । तत्र गीतं गानशिक्षा गीतकरणं
रागभेदाः तानमात्रादिरचनाप्रकाराः साधकबाध-
कतानानां परिज्ञानं च । एवमेकस्य गीतस्य ।
तथैव वाद्ये चतुर्विधे वादनसामर्थ्यं ज्ञानम्, तदा-
धाररचनम् । तद्भेदानां करणज्ञाने साधकबाध-
कज्ञानं च । पञ्च पञ्च प्रकाराः सर्वत्र । नृत्यम-
भिनयमात्रम् । नाट्यं ग्रन्थरूपम् । आलेख्यं
चित्रकर्म, तत्र ये विशेषाः के कुतिसता भ्रामकाश्च,
सर्वे कप्रत्ययेन सङ्गृहीताः, तेषां छेद्यं यथा छेद-
नप्रकारेण छिन्ने वैचित्र्यं भवति, तथा चरणक-
द्विदले हस्तिशतलेखनम् । तन्दुलानां कुसुमानां च

आरात्रिकाकारेण बलिविकाराः, पूजायां वा
स्थापनप्रकाराः । पुष्पास्तरणं स्पष्टं शय्यादी ।
दशनवसनानां गणा भेदाः । अचरोष्ठयोः लक्षण-
परिज्ञानम्, रसार्थमेषा परीक्षा । मणिभूमिका-
कर्म यथा मणयो यत्र यादृशा अपेक्ष्यन्ते, तत्र
यादृशी भूमिः तत्क्रियारचनम् । शयनं शय्यास्थानं
तस्य रचनम् । उदकवाद्यं यथा स्वत एवोदके
नाना शब्दा भवन्ति, उदकाघात उदकस्याघातो
यथा आहतमुदकमुपरि गच्छति अधो गच्छति
विपरीतं च गच्छति । चित्रा योगाः विचित्राः
प्रकाराः सर्वत्र । माल्यानां पुष्पाणां रचने विविधाः
प्रकाराः । शेखरस्य शिरसः केशबन्धस्थापीडयो-
जनं केशादीनां पुष्पाणां मुकुटस्य वा योजन-
प्रकाराः । नेपथ्ययोगाः । नटशालादिनिर्माण-
प्रकाराः । कर्णपत्राणां कर्णभरणपत्राणां भङ्गा
अनेके भेदाः । गन्धयुक्तिश्चन्दनादेः पुष्पवस्त्राद्या-
कारेण निर्माणं नानासुगन्धनिर्माणं वा । भूष-
णानां योजनप्रकाराः । ऐन्द्रजालाः मायादर्शन-
प्रकारा यासु मायासु कल्पिका युक्तिर्न संभवति ।
विशक्तिभेदा एते । कौचुमारयोगा बहुरूपप्रकाराः
हस्तलाघवं स्पष्टम् । शित्रं शाकयूश्चेति प्रायेण
स्थौल्यसङ्कोचौ । भक्षविकाराणां क्रिया । पान-
कानां ये रसाः रागाश्च तेषामासवता मादकता ।
भावप्रधानो निर्देशः । पानकानां रसानां आस-
वानां रागाणां योजनप्रकाराः । सूचीवानकर्म
सूच्या वानं सीवनमिव परिवयनम् । तत्र नाना-
प्रकाराः । सूत्रक्रीडा सूत्रैर्नानाविधा क्रीडा । यथा
भ्रमरादिभ्रामणं सूत्रोपरि चलनं च बन्धप्रकारो
वा । वीणाडमरुकवाद्यानां वादनप्रकाराः । प्रहे-
लिका कूटवाक्यपरिज्ञानम् । प्रतिमाला सर्ववस्तु-
नामनुकरणम् । दुर्वाचकयोगाः चतुरक्षरादिप्र-
काराः । पुस्तकवाचनं, अतिशीघ्रमविद्यमानानपि
वर्णान् योजयित्वा वाचनम् । नाटकाख्यायिकाद-
र्शनम् । दीपव्यवधायके पटे नाटकाख्यायिकाया
नाटकस्थितकथायाः प्रदर्शनम् । वस्त्रादिनिर्माणे
वा नाटकस्थकथायाः प्रदर्शनम् । काव्ये अविद्य-
माने पदे तस्यैव पदस्य पूरणं कविकर्मानुसारेण



वा समस्यापूरणम् । पत्रिकाचित्रवाचनविकल्पाः नानाविधाः पत्रिका व्यस्तसमस्ताः मेषयुद्धादिप्रकाराः तत्र विविधाः कल्पाः । तत्कर्मणि तर्केणैव सर्वपदार्थज्ञानं कृतिश्च । तक्षणं चन्द्रावर्तादिप्रकारेण शिल्पभेदाः । वास्तुनिर्माणं वास्तुविद्या गृहनिर्माणप्रकाराः । रूपरत्नपरीक्षा रूपाणां रत्नानां च परीक्षाः । इति विंशतिः । घातुवादः प्रसिद्धः । मणिरागज्ञानं मणेषु रागनिर्माणज्ञानम्, आकरज्ञानं राशि दृष्ट्वैव एतावदस्तीति । वृक्षाणामायुर्वेदयोगाः, वृक्षाणां जीवनप्रकारः, फले निर्वोजकरणम्, वृक्षान्तरात्फलान्तरोत्पादनमित्यादि । मेषाणां कुक्कुटानां लावकानां युद्धप्रकाराः । शुकसारिकादीनामशिक्षितानामपि प्रकर्षालापनप्रकाराः । उत्सादनं यस्य कस्यचिदुद्वेगोत्पादनेनान्यत्र गमनप्रकारः । केशमार्जनकौशलं स्पष्टम् । अक्षरमुष्टिकाकथनं अक्षराणां परदृष्टानां मुष्टिकादीनां च मुष्टिकास्थितपदार्थानां कथनम् । म्लेच्छितकलिकल्पाः म्लेच्छितकल्पाः कलिकल्पाश्च । यथा शत्रु म्लेच्छितो भवति, सर्वे सह कलिं च करोति, तथोपायाः । देशभाषाज्ञानं सर्वदेशेषु भाषापरिज्ञानम् । पुष्पशकटिका पुष्पैरेव शकटविमानादिरचनाप्रकारः । निमित्तज्ञानं काकादिभिरन्यैर्वा भाव्यर्थपरिज्ञानम् । यन्त्रमातृका प्रतिमादिचालनं भाषणादिप्रकाराः करप-

ल्वी वा । धारणामातृका वर्णादिपदार्थधारणमेव । आदिमध्यान्तवर्णभेदेन मातृकावर्णपरिज्ञानं भवति । संपाद्यमभेद्यस्यापि हीरकादेः द्वैधीकरणप्रकारः । मानसीकाव्यक्रिया मानसिकसमस्यापूरणम् । अभिधानकोशः अन्योच्चारितानां सर्वेषामेव पदार्थानां क्रमेण पुनरुच्चारणसामर्थ्यम् । पुरुषं दृष्ट्वैव तस्य छन्दोज्ञानमयमेवंवृत्त इति । कामिन्यादीनां मनोज्ञानं वा । क्रियाविकल्पाः सर्ववस्तुषु या प्रक्रिया पूर्वसिद्धा, तामनादृत्य अन्यैरेव प्रकारैस्तन्निर्माणम् । विंशतिः । कामादिसान्त्वनम्, उद्वुद्धानां शमनम्, तदुद्बोधः । शत्रुमित्रकरणम्, सर्ववस्तूनामन्यथा करणम्, प्रतिभानेन च तत्र उक्ताः । पूर्वोक्तेषु वा अवान्तरभेदाः क्वचिदुपाह्याः । ततो 'गुरवे तु वरं दत्वे'ति स्मृतेः गुरुदक्षिणा देयेति दक्षिणार्थं मनस्यभीष्टा दक्षिणा ग्राह्येति छन्दयामासतुः । स्वाच्छन्द्यं संपादयामासतुः । विद्यासमाप्त्यनन्तरं या दक्षिणा गुरवे दीयते, तया कृत्वा स्वाच्छन्द्यम् । 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः सरहस्यं तदङ्गं च तमाचार्यं प्रचक्षत' इति । यद्यप्युभौ वरद्वयं न दास्यतः, तथापि उभयोः कर्तव्यमिति स्वच्छन्ददानं निरूप्यते । नृपेति । तादृशा राज्ञः स्थाने समागत्य कृतार्था भवन्तीत्यनुभवार्थम् ॥३६॥

व्याख्यान—६४ अहो रात्र में इन्द्रियों का निग्रह कर विद्या ग्रहण करने लगे । जिससे उतनी ६४ कलाएँ सम्यक् प्रकार ग्रहण करलीं । एक एक कला में बहुत प्रकार हैं, बहुत ग्रन्थ हैं और महती शिक्षा है, तो भी प्रत्येक दिन में एक एक कला सीख गये । वे कलाएँ शिवतन्त्र में लिखीं हैं, जिसमें से यहां लिखी जाती हैं ।

१. गीत-गीत के अनेक भेद हैं, जैसे कि गीत बनाने, रागों के भेद, तान, मात्रा आदि रचने एवं कहने की रीति, साधक बाधक तानों का पूरा ज्ञान, वैसे एक गीत के भेद हैं ।

२. वाद्य-इसी प्रकार चार प्रकार के वाद्यों के; बजाने का ज्ञान प्राप्त करना, उनके आधार का ज्ञान, उनके भेदों के कारण का ज्ञान, साधक तथा बाधक का ज्ञान, इस प्रकार सब में पांच प्रकार सम्भने ।

७. चावल तथा पुष्पों की अनेक प्रकार से आरती बनानी तथा पूजा में स्वस्तिक आदि बनाने ।

६. दशन और बसन के रंगने आदि के भेदों का ज्ञान, एवं अधर तथा ओष्ठों के लक्षण का ज्ञान, यह परीक्षा रस के ज्ञान के लिये है ।

१०. मणियों से भूमि को सुन्दर बनाने के कर्म का ज्ञान, अर्थात् यहां इस प्रकार की मणियों के लगाने से यह स्थान विशेष सुन्दर होगा, इस प्रकार के कर्म का ज्ञान ।

१२. उदक वाद्य—जल का बाजा बजाना, जैसे जल में स्वतः अनेक शब्द होने लगे ।

१३. उदकाघात-उदक में इस प्रकार चोट लगाने की क्रिया करनी जिससे जल ऊपर आवे नीचे जावे, अथवा वक्र होकर जावे, इसका ज्ञान ।

१५. मास्य ग्रथन विकल्प-पुष्पों को गूँथने के अनेक प्रकार के ज्ञान ।

१६. शेखरापीडयोजनम्—शिर की भांति भांति की वस्त्र तथा पुष्पो की पगड़ी तथा टोपी बनाने की विद्या का ज्ञान एवं केशो में (चोटी में) फूलों को गूँथना तथा गालों पर पत्र रूप से चिपकाना आदि क्रिया का ज्ञान ।

१८. कर्णपत्र भङ्गा-कर्णफूल आदि कान के गहने को विद्या ।

१६. गन्ध युक्ति-अत्तर आदि सुगन्धी वाले पदार्थ बनाने की विद्या ।

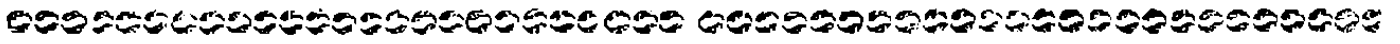
२०. भूषण योजनम्-गहने बनाने की विद्या ।

२१ ऐन्द्रजालाः—जादू के प्रयोग जिनमें बनावट वा युक्ति देखने में न आवे, ये बीस प्रकार के हैं।

२२. कौचुमार योग—अनेक प्रकार के रूप बनाने की तरकीबें अर्थात् बहुरूपिया बन जाने की विद्या ।

+ शरीर की चेष्टा द्वारा मन के भीतरी भावों को 'नृत्य' द्वारा प्रकट कर दिखाना ।

✱ जिन लक्षणों से मनुष्य के स्वभाव आदि पहचान लिये जाय ।



२३. हस्तलाघव-हाथ की चालाकी से वस्तुओं को छिपाना लाना आदि का ज्ञान ।
२४. शिब्रंशाक्यू-स्थूल और संकुचित करने का भेद जानना ।
२५. भक्ष विकार क्रिया-भक्ष विकारों की क्रिया, अनेक प्रकार की रसोई बनाने की विधि का ज्ञान ।
२६. पानकरसरागासव योजनम्-पानी के रस वाले पदार्थ बनाने, जिनको आसव कहते हैं और जिनमें मादकता^१ होती है ।
२७. सूचीवान कर्म-सिलाई के कर्म का ज्ञान, जिसके बहुत प्रकार हैं ।
२८. सूत्र क्रीड़ा-सूत्र की डोरी से अनेक प्रकार की क्रीड़ा, डोरी पर चलना और उसके बांधने के प्रकार आदि ।
२९. वीणाडमरुक वाद्यानि-वीणा डमरुक के बजाने के प्रकार की शिक्षा ।
३०. प्रहेलिका-पहेलियों की विद्या ।
३१. प्रतिमाला-सर्व वस्तुओं का अनुकरण करना ।
३२. दुर्वाचक योगाः चार+अक्षरों के समझ लेने का ज्ञान ।
३३. पुस्तकवाचनम्-प्रस्तक का शीघ्र और शुद्ध पाठ करना । जहाँ अक्षर टूटा हुआ हो, उसको भी मिलाकर शुद्ध पढ़ाना ।
३४. नाटकारव्यायिका दर्शनम्-नाटक में कहीं हुई कथा * को करके दिखाना ।
३५. काव्य समस्या पूरणम्-कविता की समस्या की पूर्ति करना ।
३६. पत्रिका चित्र वाचन विकल्पा-फटे हुए पत्रों के टुकड़ों को जोड़ कर उसको पूर्ण रीति से पढ़ने की कला, भेड़ आदि लड़ाने के प्रकारों का ज्ञान ।
३७. तर्क कर्माण-तर्क से ही सर्व पदार्थों का ज्ञान और कृति का ज्ञान ।
३८. तक्षणम्-बढ़ई आदि की शिल्प विद्या का ज्ञान ।
३९. वास्तु विद्या-गृह बनाने की विद्या ।
४०. रूप रत्न परीक्षा-रूप और रत्नों की परीक्षा करने की कला, ये दूसरी बीस तरह की कलाएँ हुई ।
४१. धातुवाद-पृथ्वी● में से धातुओं के निकालने का ज्ञान ।

+ गुप्त भाव वाले-वा मिट गये अक्षरों के,

* (१) अंधेरे में कपड़े पर नाटक की कथा को कर के दिखाना । सिनेमा कला ।

(२) वस्त्र आदि के बना के नाटक कथा दिखाना ।

● इस पृथ्वी में यह धातु है, उसको जानना ।



४२. मणिरागज्ञानम्—मणियों पर तरह-तरह के रंग लगाने की विद्या ।

४३. आकरज्ञानम्—खान की पहचान, मिट्टी का ढेर देख कर मिट्टी से पहचान जाना कि इस के भीतर यह वस्तु है, यह कला ।

४४. वृक्षायुर्वेद योगाः—वृक्षों के रोग मिटाने की कला तथा उसमें नवीन पत्ते आदि प्रकट करने की विद्या ।

४५. मेष कुक्कुट लावक युद्ध विधिः—भेड़, मुर्गी और लावा पक्षियों के लड़ाने की विधि का ज्ञान ।

४६. धुक सारिका प्रलापनम्—तोता और मैना को बोलना सिखाना ।

४७. उत्सादन—इस प्रकार के शब्द बोलने, जिससे श्रोता के मन में क्षोभ हो और उस क्षोभ से वह वहाँ से चला जावे, यह कला ।

४८. केशमार्जन कौशलम्—केशों को साफ कर उनको गूँथना आदि का ज्ञान ।

४९. अक्षरमुष्टिका कथनम्—एक अक्षर से उसमें छिपी हुई वस्तु को पहचान कर कहना, जैसे मुट्ठी में रखी हुई वस्तु बता देना ।

५०. म्लेच्छित कलिकल्पाः—जिससे शत्रु की बुद्धि भ्रष्ट हो और वह सबसे लड़ता ही रहे, ऐसे तरीकों का ज्ञान ।

५१. देशभ्रंषा ज्ञानम्—देश की भाषाओं का ज्ञान ।

५२. पुष्पशकटिका ज्ञानम्—फूलों से रथ आदि बनाने का ज्ञान ।

५३. निमित्त ज्ञानम्—काक आदि पक्षियों की भाषा आदि से भविष्य को जान लेने की कला ।

५४. यन्त्रमातृका—पृथक्-पृथक् यन्त्र बनाने, जिससे मूर्ति^१ चलने लगे अर्थात् एक स्थान से चलकर दूसरे स्थान पर पहुँच जावे । इसी प्रकार यन्त्र द्वारा शब्द^२ दूर तक पहुँच जावे आदि यन्त्र बनाने की कला ।

५५. धारणमातृका—दूसरे के कहे हुए विषय को सुनते ही स्मरण कर लेना, फिर वही अक्षरशः सुना देने की कला ।

५६. सम्पाद्यम्—जो हीरे आदि के दो टुकड़े नहीं हो सकते हैं तो उनके भी दो टुकड़े करने की कला ।

५७. मानसीकाव्य पूरणम्—दूसरे के मन^३ की बात बता देने की कला ।

५८. अभिधानकोषः—दूसरों से कही हुई सारी कहानी या पदार्थ क्रमपूर्वक फिर कहने की कला ।

५९. छन्दोज्ञानम्—पुरुष या स्त्री को देख कर ही बताना कि ये इस प्रकार की वृत्ति वाले हैं, इस प्रकार की कला का ज्ञान ।



६०. क्रिया विकल्पाः—सर्व वस्तुओं की क्रिया जो पहले ही सिद्ध है, उनका अनादार कर दूसरे प्रकार से उनका निर्माण करना, यह तीसरे बीस प्रकार हैं; अब ये ६० कलाएँ बताईं ।

६१. काम आदि को शान्त करने की कला, जगे हुए काम को शान्त करना ।

६२. शान्त हुए काम को जगा देने की कला ।

६३. शत्रु को मित्र बनाने की कला ।

६४. सर्व प्रकार की वस्तु के स्वरूप को बदल देने की कला ।

ये कलाएँ प्रतिमान से कही हैं, यहाँ जो कलाएँ कहीं हैं, वहाँ अवान्तर भेद भी लेने । इसके पश्चात् अर्थात् विद्याओं के पढ़ लेने के अनन्तर 'गुरुवे तु वरं दत्त्वा' इस स्मृति वाक्य के अनुसार गुरुजी को दक्षिणा देनी चाहिए, किन्तु वह दक्षिणा गुरु के मन की इच्छा के अनुरूप होनी चाहिए, अर्थात् गुरु जिस प्रकार की दक्षिणा माँगे, वह दक्षिणा दी जावे; इसलिए श्लोक में 'छन्दयामासतुः' कहा है । शिष्य गुरु को दक्षिणा देने के अनन्तर ही स्वच्छन्द हो सकता है, अतः गुरु की मन चाही दक्षिणा देने का निश्चय किया । आचार्य, गुरु उसको कहा जाता है, जो यज्ञोपवीत पहना कर शिष्य को अङ्गों सहित तथा रहस्यों सहित वेद पढ़ावे । जैसा कि कहा है 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापये द्विजः । स रहस्यं तदङ्गं च तमाचार्यं प्रचक्षते ।' हालांकि दोनों दो वर नहीं दे सकते हैं, तो भी दोनों का कर्त्तव्य है, इसलिए स्वच्छन्द दान का निरूपण है । हे नृप ! यह सम्बोधन देकर यह सूचित किया है कि वैसे लोग राजा के पास जाकर ही कृतार्थ होते हैं, जिसका आपको अनुभव है ॥३६॥

आभास—गुरुस्तु बहूनेवाध्यापयामास नैवंविधौ कदाचिद् दृष्टौ, अत एताभ्याम-लौकिकमपि दातुं शक्यत इति निश्चय कृतवान्, 'पत्नी च कदाचिद्वां दुहन्ती दोहनपात्रं विस्मृत्य सन्ध्यावन्दनार्थं नियमेनोपविष्टं भगवन्तं प्रार्थितवती तदा भगवान् नियमोल्लङ्घने गुरुपत्नीवाक्योल्लङ्घने च दोषं दृष्ट्वा उपविश्यैव हस्तं प्रसार्य दोहनपात्रं दत्तवान्, तदा अनुत्थितं भगवन्तं स्वनिकटे दोहनपात्रं च दृष्ट्वा विस्मिता आसीदिति पुराणान्तर-प्रसिद्धिः । अत उभयोरपि भगवन्माहात्म्यपरिज्ञानादलौकिकमेव याचनीयमिति निश्चित्य तथा याचितवानित्याह 'द्विज' इति ।

आभासार्थ—गुरुजी ने बहुत शिष्य पढ़ाए हैं, किन्तु इस प्रकार के शिष्य कभी नहीं देखे, अतः ये अलौकिक भी दे सकेंगे, यह मन में निश्चय किया । गुरु तथा गुरु पत्नी दोनों को आपके माहात्म्य का पूर्ण ज्ञान हो गया था । जैसा कि पुराणान्तर की कथा है कि एक दिन गुरु पत्नी गौ दोहने के लिए गौ के पास बैठ गई थी, किन्तु दोहिनी लेना भूल गई थी, तब उसको ले आने के लिए भगवान् को कहा । उस समय भगवान् सन्ध्यावन्दन कर रहे थे । यदि उठ कर दोहिनी लाते हैं तो नियम भङ्ग होता है और दोहिनी नहीं देते हैं तो गुरु पत्नी की आज्ञा का उल्लङ्घन होने का दोष लगता है । तब भगवान् ने अपनी अलौकिक शक्ति से बाहु को लम्बी कर दोहिनी गुरु पत्नी को दे दी । गुरु पत्नी ने देखा कि भगवान् यहीं बैठे हैं और दोहिनी मेरे पास आ गई है, यह देखकर विस्मित हो गई । इस प्रकार से दोनों को भगवान् की अलौकिक शक्ति का ज्ञान हो गया था, इसलिए दोनों ने निश्चय किया कि इनसे कुछ अलौकिक ही माँगना चाहिए । उस निश्चय को 'द्विजस्तयो' श्लोक में प्रकट करते हैं—

श्लोक—द्विजस्तयोस्तं महिमानमद्भुतं

संलक्ष्य राजन्नतिमानुषीं मतिम् ।

सम्मन्त्र्य पत्न्या स महार्णवे मृतं

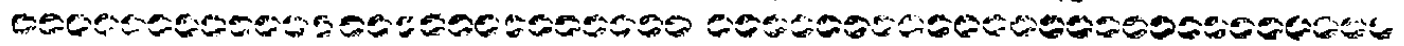
बालं प्रभासे वरयांबभूव ह ॥३७॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! ब्राह्मण (गुरु) उनकी इस अद्भुत महिमा को जानकर और मनुष्य बुद्धि से परे चमत्कारी बुद्धि देखकर पत्नी से सलाह करके प्रभास क्षेत्र में समुद्र के जल में डूब कर मरे हुए पुत्र को लाकर देने की वर रूप दक्षिणा माँगी ॥३७॥

सुबोधिनी—स हि यज्ञादीन् चिकीर्षुः, पुत्र-
वांश्चाधिकारी, तस्मिन्नुपहते स्थगितः विचार्य
च वंशकर्तृत्वेन तथोत्पादितः, ईश्वरकृपाव्यतिरे-
केण कालेन तदुपहतम्, तथापि वेदप्रामाण्यात्
ईश्वरेच्छामज्ञात्वा कालं प्रतीक्षन्नेव स्थितः ।
अतस्तस्य तदावश्यकमिति ज्ञापयितुं द्विज इत्यु-
क्तम् तृतीयजन्मापेक्षितम् । तयो रामकृष्णयोः
तेदलौकिकं महिमानं श्रुतं च दृष्टं च । अद्भुतश्च
महिमा दृष्टः ॥ तौ पाठयन् स्वयं ज्ञातवान्, न हि
पूर्वमयमेतादृशः स्थितः, अन्यथा ऋषिभ्योऽप्यधिकः
स्यात्, अतस्तौ पाठयन् स्वयमेव पठितवान्, गौप-
रीत्यमेवाद्भुतत्वं संलक्षयति । स ह्यूहापोहकुशलः
स्वस्य पश्चात् पूर्णज्ञानं भगवत्कृतमेवेति निश्चित्य
लौकिकन्यायेन भगवदिच्छयैव गुरु वं स्थापयितुं
महार्णवं एव मृतं पुत्रमयाचतेति सबन्धः । राज-
न्निति विलम्बत्वादादरेण सम्बोधनं विश्वासार्थं
च । किञ्च । मतिरप्यलौकिकी, नत्यलौकिक एव

भावः मन्त्रादिष्विव, अतः असाध्यमपि ज्ञास्यति
करिष्यतीति निश्चित्य दृष्टादृष्टस्य साधनस्य
विद्यमानत्वात् पत्न्या च यज्ञकर्मयोग्यया सम्मन्त्र्य
एतदेव प्रार्थनीयमिति । यतः स प्रसिद्धः तदाका-
ङ्क्षी तदुपपादितम् । महार्णवे न तु सागरे
मृतम् । ते प्रभासयात्रायां बहव एव गताः । तत्र
सकुटुम्बगमने अग्निकुण्डे बालको निमग्नः । ननु
कोऽयं निर्बन्धः, मृत्युकालादीनां सत्यतापि स्यात्,
तत्राऽऽह बालमिति । तत्रोत्पन्नः स्नेहः स न निवृत्त
इति । प्रभासे मृतः पुनर्नायातीति मन्त्रादिनापि
तदानयनमशक्यं वरयांबभूव वरत्वेन याचित-
वान् । 'गुरवे तु वरं दद्यादिति वरदानमावश्यक-
मिति । हेत्याश्चर्यम् । विदितसर्वतत्त्वः 'किं प्रजया
करिष्याम' इति श्रुतिषशात्प्रजाव्यतिरेकेणापि
कार्यसिद्धेः, तथापि याचितवानिति । निरोधो
भगवता तस्यापि कर्तव्य इति तथैव याचितवान् ।
॥३७॥

व्याख्यानार्थ—वह गुरु यज्ञ करने की इच्छावाला था, यज्ञ करने का अधिकार पुत्रवाले को है,
इसलिए पुत्र उत्पन्न किया था । अब उसके मरने से यज्ञ कर्म रोक दिया । ईश्वर की कृपा के सिवाय
कोई कार्य सिद्ध नहीं होता है, अतः काल ने पुत्र को छीन लिया, तो भी वेद के प्रमाण से ईश्वर की
इच्छा न जानकर समय की राह देखने लगा; क्योंकि उसने समझ रखा है कि यज्ञ करना आवश्यक
है, जिसके न करने से मेरा द्विजत्व व्यर्थ है और द्विज होकर तीसरा जन्म लेना है । अर्थात् यज्ञ से
शुक्लत्व प्राप्त होता है । यदि पुत्र न होगा तो वह तीसरा जन्म न हो सकेगा । राम और कृष्ण की
अलौकिक महिमा सुनी और देखी और अद्भुत महिमा देखी है । महिमा की अद्भुतता दिखाते हैं कि
इन दोनों को जब पढ़ाने लगे तब ही आप भी उसको समझने लगे; इससे पहले यह गुरु वैसा नहीं था



अन्यथा^१ ऋषियों से भी श्रेष्ठ हो जाता, अतः उनको पढ़ाते हुए स्वयं ही पढ़ता था। यह विपरीतता ही अद्भुतता प्रकट करती है। वह गुरु तर्क वितर्क करने में प्रवीण था, अतः समझ गया कि प्रथम मुझे पूर्ण ज्ञान नहीं था, अब जो मुझे पूर्ण ज्ञान हो गया है यह भगवान् ने ही कृपा की है। यह निश्चय कर लौकिक न्याय के अनुसार और भगवदिच्छा से ही उनमें गुरुत्व स्थापन किया। अर्थात् शिष्य के सत्य स्वरूप को समझ समुद्र में मरे हुए पुत्र को उनसे गुरु दक्षिणा में याचना की। हे राजन् ! क्लिष्ट होने से यह सम्बोधन आदर से और विश्वास के लिए दिया है और बुद्धि भी अलौकिकी है। जैसे मन्त्रादि में अलौकिक भाव होता है, वैसा ही केवल अलौकिक भाव नहीं है। मैं जो माँग रहा हूँ, वह असाध्य जानेंगे तो भी करेंगे। यह मन में निश्चय कर दृष्ट और अदृष्ट साधन के विद्यमान होने से यज्ञ कर्म के योग्य पत्नी से इस विषय की सलाह की। पत्नी ने भी कहा कि यही माँगना चाहिए; क्योंकि पत्नी ने समझा कि मेरा पति यज्ञ करने के लिए पुत्र को आकांक्षावाला है; अतः इसने भी यही राय दी। पुत्र महान् अर्णव में मरा है नहीं कि सागर में मरा। किस प्रकार मरा? उसका स्पष्टीकरण करते हैं कि वे कुटुम्ब सहित प्रभास क्षेत्र को यात्रा करने गए थे। वहाँ अग्नि-कुण्ड में बालक डूब गया। वह वहाँ से लाकर दो, इस प्रकार का आग्रह क्यों किया जाता है? मृत्यु और काल आदि की सत्यता मिटानी योग्य नहीं है। इस पर कहते हैं कि 'बालः' अल्प अवस्थावाला पुत्र था, अतः उसमें जो स्नेह स्थिर हो गया था, वह अब तक मिटा नहीं है, इसलिए यह आग्रह है, यद्यपि प्रभास में जो मरता है, वह लौटकर नहीं आता है। मन्त्र आदि से भी उसको लाना मुश्किल है, अतः वह वर रूप से दक्षिणा माँगे है। 'गुरवे तु वर दद्यात्' इस प्रमाण के अनुसार वरदान देना आवश्यक है। जिसने सर्व तत्त्व जान लिया हैं, उसको तो 'किं प्रजया करिष्यामः' इस श्रुति के अनुसार प्रजा के बिना भी कार्य की सिद्धि करनी चाहिए तो भी 'पुत्र' माँगा, यह आश्चर्य है, इसलिए श्लोक में 'ह' शब्द आश्चर्य प्रकट करने के लिए दिया है। भगवान् को इसका भी निरोध करना है, अतः गुरु ने 'पुत्र' माँगा है, वैसी बुद्धि भगवान् ने निरोधार्थ दी है ॥३७॥

आभास—भगवान् पुनः अलौकिके दत्ते स्वात्मानं ज्ञास्यतीति गोपनार्थं प्रवृत्तोपि कालादिमर्यादापि दूरोक्तव्येति कदाचिन्न करिष्यतीत्याशङ्क्याङ्गीकारमाह 'तथे'ति।

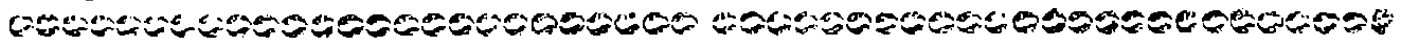
आभासार्थ—भगवान् ने सोचा कि इसने जो वर माँगा है, वह अलौकिक है। उसके देने से मेरे स्वरूप को गुरुजी जानेंगे, जिसको गुप्त करने का विचार किया, किन्तु उस वरदान के पूर्ण करने में कालादि मर्यादा तो दूर करनी पड़ेगी। वह कृष्ण करेगा या नहीं? वैसे शङ्का गुरु को न हो; तदर्थ 'तथेत्यथारुह्य' श्लोक में वरदान को अङ्गीकार करते हैं—

श्लोक—तथेत्यथारुह्य महारथौ रथं

प्रभासमासाद्य दुरन्तविक्रमौ ।

देलामुपव्रज्य निषोवतुः क्षणं

सिन्धुविदित्वाहंणमाहरत्तयोः ॥३८॥



श्लोकार्थ—गुरु की आज्ञा शिरोधारण कर कहने लगे कि आपको 'पुत्र' लाकर दक्षिणा के रूप में देंगे । यों कह कर दोनों महारथी और महापराक्रमी रथ में बैठकर प्रभास में आए । वहाँ समुद्र के किनारे पर क्षण मात्र बैठे । समुद्र को मालूम हुआ तो वह पूजा की सामग्री लेकर आया और पूजा की ॥३८॥

सुबोधिनी—ॐमिति वक्तव्ये आकृतिरेव तुल्येति समानरूपं सङ्घातान्तरमेवानेष्यतीति शङ्काव्यावृत्त्यर्थं य एव सङ्घातः यादृशस्तथैवानेतव्य इति तथेति प्रतिज्ञोक्ता । एतच्च शिष्यभावे न संभवतीति ऐश्वर्यं भावमाश्रित्य भिन्नप्रक्रमेण तदर्थं गतावित्याह अथेति । महारथं सर्वगामिनं स्वयमपि महारथी रथशिक्षायां निपुणो एकमेव रथं समारुह्य पयथिण सारथित्वं सम्पादयन्तौ शीघ्रमेव प्रभासमासाद्य । समुद्रादपि भयाभावा-

मुपव्रज्य ज्ञापयन्ताविव क्षणमुपसेदतुः । ततः सिन्धुर्भगवन्तं जामातरं गृहपति बन्धक च ज्ञात्वा अहंणं पूजां तयोराहरत् । त्रेधा हि तस्य बालक-विनियोगः, वियोजनं प्राणापानयोः समुद्रेण कृतम्, शरीरभागः पञ्चजनेन गृहीतः, अन्यश्च सङ्घातः कर्मवशात् पूर्वसूक्ष्मावस्थया सहितः सजीवः यमपुर्यां तिष्ठति, भगवता च तावती भूमिः समुद्रात् पृथक्कृतव्या च । लोलौपयिकं भवति न वेति विचारणीयम् ॥३८॥

याह दुरन्तो विक्रमो ययोरिति । ततः समुद्रवेला-

व्याख्यान—श्लोक में 'तथा' शब्द कहा है, जिसका भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि भगवान् गुरु को यह विश्वास दिलाते हैं कि आपने जो पुत्र खोया है, 'वही पुत्र लाकर दूंगा, नहीं कि वैसा कोई दूसरा लाऊंगा । वही देह और वही आयु रूप आकृति वाला आपका पुत्र लाता हूँ । इसके लिये केवल 'ॐ' वा 'अस्तु' स्वीकार वाचक शब्द नहीं कहे हैं, यह कार्य शिष्य भाव वाले से कैसे होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिये ऐश्वर्य भाव दिखाने के लिये 'अथ' शब्द से जुदा उपक्रम करते हैं । खुद महारथी हैं, रथ की शिक्षा में अर्थात् रथ चलाने में निपुण हैं, एवं रथ भी साधारण नहीं, किन्तु महारथ है, जो सर्व स्थानों पर जा सकता है । उसी एक ही रथ में बैठ कर प्रभास में आये । समुद्र से भयभीत होने वाले नहीं हैं क्योंकि आपका पराक्रम महा अनन्त है । पश्चात् समुद्र के तट पर आकर क्षण मात्र आराम करने लगे तथा समुद्र को अपने आने का ज्ञान कराया । उसके बाद समुद्र अपने घर भगवान् तथा जामाता, एवं मुझे बाँधने वाले गृह के मालिक आये हैं अतः उनकी पूजा करने आये और पूजा की । उस बालक का विनियोग^२ तीन प्रकार से हो गया था । (१) समुद्र ने प्राण और अपान वायु को पृथक् किया । (२) शरीर का भाग पञ्चजन दैत्य ने लिया । (३) दूसरा 'सङ्घात' कर्मवश पहली सूक्ष्म अवस्था सहित जीव के साथ यम के पुरी में थी, इतनी भूमि को भगवान् समुद्र से पृथक् करनी चाहिये, किन्तु वह लोलोपयोगी होगी वा नहीं, यह विचारणीय है ॥३८॥

आभास—अतः समुद्रं प्रति भगवान् किञ्चिदुवाचेत्याय 'तमाहे'ति ।

ग्राभासाथं—अनन्तर भगवान् ने समुद्र को कुछ कहा जिसका वर्णन तमाह श्लोक में करते हैं ।

श्लोक — तमाह भगवानाशु गुरुपुत्रः प्रदीयताम् ।

योऽसाविह त्वया ग्रस्तो बालको महतोमिणा ॥३६॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने समुद्र को कहा कि गुरु पुत्र शीघ्र दो, जिसको तू ने बड़ी लहरों से ग्रस लिया है; क्योंकि वह बालक था ॥३६॥

सुदोधिनी—ननु पूजया तत्सापेक्षः सङ्कोचः
 च प्राप्य कथमेवमाज्ञां दत्तवानित्याशङ्क्याह
 भगवानिति । स हि सर्वेश्वरः सेवके च कः सङ्कोचः
 इति तथैवाज्ञां दत्तवान् । आशु गुरुपुत्रः प्रदीयता-
 मिति । मम स्थाने क्वेति न वक्तव्यम्, आधि-
 दैविकं रूपं प्रदर्शयन्नाह योऽसाविति । असौ यः

अभिज्ञानार्थं प्रदर्शनेनम् । कया क्रियया मयि समा-
गत इत्याशङ्क्यायामाह त्वया ग्रस्त इति । ननु
ब्राह्मणः कथं ग्रासमर्हति तत्राह बालक इति ।
अनुपनीतः, ग्रासश्च न बुद्धिपूर्वक इत्याह महतो-
मिणेति । महता तरङ्गेण, तस्मान्न दण्ड्यः ।
॥३६॥

व्याख्यान—समुद्र ने भगवान् की पूजा की, फिर भी भगवान् ने विना संकोच के उसको आज्ञा कैसे की ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'भगवान्' है, वह सर्व का ईश्वर है । सेवक से आज्ञा करने में क्या सङ्काच है ? इसलिये आज्ञा दी है । आज्ञा को कहते हैं 'जल्दी गुरु पुत्र दो' मेरे स्थान में कहां है ? यों न कहता, आधिदैविक स्वरूप दिखाते कहते है कि 'यः असी' 'जो यह' है, इस प्रकार उसकी पहचान देते हैं । मैंने किस क्रिया से उसको लिया, वह कहते है कि 'त्वया ग्रस्त' तू ने उसको ग्रस्त लिया है । ब्राह्मण को कैसे ग्रसेगे ? इसलिए कहते है कि 'बालः' बालक है, उसका यज्ञोपवीत संस्कार भी नहीं हुआ है, तुमने बुद्धि से उसको नहीं ग्रसा है, किन्तु 'लहरो ने' उसको ग्रसा है, अतः तू दण्ड के योग्य नहीं है ॥३६॥

श्रीभास—प्रत्युत्तरमाह समुद्रो 'नैवाहार्षमि'ति ।

प्राभासार्थ—समुद्र 'नैवाहार्षम्' इस श्लोक में उत्तर देता है ।

श्लोक—समुद्र उवाच—नैवाहार्षमहं सैव दंत्यः पञ्चजनो महान् ।

अन्तर्जलचरः कृष्ण शङ्खरूपधरोऽसुरः । ४०॥

आस्ते तेनाहतो नूनं

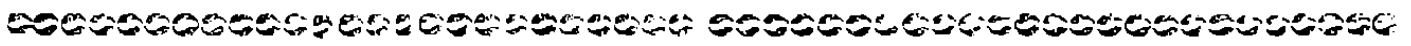
श्लोकार्थ—समुद्र ने कहा कि हे कृष्ण ! हे देव ! मैंने उसका हरण नहीं किया है । शङ्ख रूपी महान् असुर पञ्चजन नामधारी दैत्य जल के भीतर रहता है, सो निश्चय ही उसने उसको लिया है और वह उसके पास है ॥४०१॥



सुबोधिनी—शरणागतः पञ्चजन इति भगवता ऐक्यात्समुद्र एव निरुक्तः त्वया ग्रस्त इति । स तु स्थित्यर्थमेवाहं प्रयोजकः न तु तत्कृतगुणदोषयोरिति तं पृथक्कृत्य आत्मनो दोषाभावमाह त नाहमहार्षम् । ऊर्मयः कराः भवन्ति । न हि कराः हरणे साधनत्वेन समागताः । किन्तु स्वभावत एव निमित्तत्वं प्राप्ता इति भगवद्वाक्यम् । अन्यथा दूराजलचरं दृष्ट्वा बालकः पलायनमपि कुर्यात् । अर्थात्निमित्तत्वं जातमिति न दोष इति समुद्राभिप्रायः । साक्षात्कर्तारं निदिशति दैत्यः पञ्चजन इति । अत्र विश्वासार्थं देवेति संबोधनम् । प्रत्यक्षेणापि सर्वं पश्यति । स कथं न निराकृत इत्याशङ्काया दैत्य इत्याह दैत्या हि बहवो बलिष्ठाश्च । तत्राप्ययं पञ्चजनः, वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति पञ्चजनानामयमेक एवानुकल्प इति पञ्चजनरूपः । पञ्चसंवत्सरात्मको वा

दैत्यरूपः । पञ्चपर्वाऽविद्यारूपो वा । तत्रापि महान्, मयापि मारयितुमशक्यः, तमसाध्यं निरूपयितुं स्वरूपमुक्तवान् । स्थानं निरूपयति अन्तर्जलचर इति । जलमध्य एव चरति न कदाचिदपि बहिरायाति । रूपमात्रं दृष्ट्वा भीतः सन् परमन्यथा वदति, न तु स्वरूप जानातीति शङ्कां वारयितुमाह कृष्णेति । परिज्ञानार्थमाकृतिमाह शङ्खरूपधर इति । अन्यथापि स वध्य इति वक्तुं तद्दोषमाह असुर इति सुरप्रतिपक्षो । यदि पञ्चात्सोपि मृतः स्यात्तदापि व्याजत्व संभवेत् तन्निवृत्त्यर्थमाह आस्त इति । जीवतीत्यर्थः । तेनंवाहतः । तत्र प्रविश्याम्यो मारितवानिति शङ्काव्यावृत्त्यर्थमाह नूनमिति । नयनमात्रं निषिद्धमिति, संयोगविभागः अनेनैव कृत इति एतस्मात्संयोगः, बलं च गृहीतम् ॥४०॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् ने शरण आये हुए पञ्च जन और समुद्र का एकीकरण कर श्लोक में कहा है कि तू ने 'ग्रस' लिया है । जिसके उत्तर में समुद्र कहता है कि मैं उसको अपने पास रहने में ही प्रयोजक हूँ, उसके गुण तथा दोष का नहीं हूँ, इसलिये उसको अपने से अलग कर कहता कि मेरा दोष नहीं है, क्योंकि मैंने उसको नहीं ग्रसा वा नहीं लिया है । 'लहरें' हाथ हैं, वे भी स्वतः उसको लेने नहीं गईं, किन्तु स्वभाव से ही वे निमित्त बनी हैं, यह भगवान् के वाक्य हैं, नहीं तो दूर से जलचरों को देखकर बालक भाग कर भी जावे, अर्थात् लहरें निमित्त मात्र हुईं, जिससे हमारा दोष नहीं है । समुद्र के कहने का यह अभिप्राय है कि इसको साक्षात् लेजाने वाला 'पञ्चजन' दैत्य है । 'देव' संबोधन देकर सूचित किया है कि मेरे कहने पर आप विश्वास कीजिये । बालक को ले जाते तुमने देखा, तब उसको क्यों नहीं रोका ? जिसके उत्तर में समुद्र कहता है कि दैत्य महान् बलवान् होते हैं । उनको रोकना अशक्य है, फिर उनमें भी यह पञ्चजन है अर्थात् वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेवा और मरुत इन पाँचों के समान यह एक ही बलधारी है; अथवा यह पञ्चसंवत्सरात्मक^१ दैत्य रूप है, वा पञ्चविद्या रूप है । उनमें भी महान् है, अतः मैं इसके मारने में अशक्त हूँ । वह असाध्य है, यह बताने के लिये उसका स्वरूप बताया है । अब उसके रहने का स्थान बताता है । जल के भीतर ही रहता है । कभी भी बाहर नहीं निकलता है । यह भी शङ्का नहीं करनी कि मैं उसका केवल रूप देखकर डर कर अन्यथा कह रहा हूँ । हे कृष्ण ! वह शङ्ख के रूप वाला है जिसको देखने से भय उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु वह असुर है, देवताओं का शत्रु है, इसलिये भी यह वध के योग्य है । यों



भी नहीं विचारना कि वह पीछे मर गया है, किन्तु मैं अपनी रक्षा के लिये वह बध्म है यों कह रहा हूँ। वह असुर अभी तक जीवित है। उसने ही इस बालक को मारा है। वैसे भी नहीं समझना कि दूसरे किसी ने इसमें प्रवेश कर बालक को मारा है। मैं निश्चय से कहता हूँ कि इसी ने ही मारा है। बालक को केवल लेकर नहीं गया है, किन्तु संयोग का विभाग कर इसने ही शरीर का भाग ले लिया। अर्थात् संयोग तथा बल इसने ही लिये है ॥४०॥

श्लोक—श्री शुक उवाच—तच्छ्रुत्वा सत्वरं प्रभुः ।

जलं प्रविश्य तं हत्वा नापश्यदुदरेऽर्भकम् ॥

तदङ्गप्रभवं शङ्खमादाय रथमागमत् ॥४१॥

ततः संयमनीं नाम यमस्य दयितां पुरीम् ॥

गत्वा जनार्दनः शङ्खं प्रदध्मौ सहलायुधः ॥४२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि समुद्र के ये वचन सुनकर तुरन्त ही प्रभु ने जल के अन्दर घुस कर उसे मारा, उसका पेट फाड़कर देखा तो पेट में बालक नहीं है, तब उसका अङ्ग रूप शङ्ख लेकर जहाँ रथ था; वहाँ आ गए। पश्चात् यम की प्यारी संयमनीपुरी में जाकर बलराम के साथ भगवान् ने वह शङ्ख बजाया ॥४१-४२॥

सुबोधिनी—कालादीनां परिणामहेतूनां प्रतिलोमतया निवेशनार्थं उत्तरं कार्यं भगवान् गृह्णातीत्याह तच्छ्रुत्वा दूरे मा गच्छत्विति शीघ्रमेव समर्थत्वात्स्वयमेकाकी समुद्रजलं प्रविश्य पलायमानं तं शङ्खोद्धारे हत्वा तदुदरे तं बालकं प्राणोन्द्रियजीवसङ्घातरूपं नापश्यत् । ततः कर्मवशादन्यत्र गत इति । ननु गच्छत्येवान्यत्र किमिति जिज्ञासया दृष्टः हतो वेत्याशङ्क्याह अर्भकमिति । बालकत्वात् न कर्माधीनो भविष्यतीत्याशङ्क्य दर्शने हेतुः । मारणे तु तदङ्गप्रभवं शङ्खमादायेति । अत एव भगवतः शङ्खः पाञ्चजन्यः । तत्र स्थितान् सूक्ष्मानवयवान् प्रतिलोमतया मज्जनक्ष-

णस्थितपर्यन्तान्विधाय तान्पुनः यमलोके स्थितदेहे निवेश्य तत्र स्थितान् प्रतिलोमतया पुनस्तक्रमणावस्थास्थितान्कतुं रथमागच्छद् यत्र बलभद्रः ॥४१॥

ततः संयमनीं सम्यग्यमयति सवनिवेति मृत्युदेवतायाः पुरीं नामेति प्रसिद्धाम्, यद्भयात्सर्व एव सन्मार्गरता भवन्ति । यद्यपि यमस्य बहूनि स्थानानि सन्ति, तथापि सा दयिता । अभयार्थमाह जनार्दन इति, जनामविद्यामेव यत्रार्दयति, तत्र कान्यवार्ता, तत्रापि सहलायुधः पातालस्यापि पतिः ॥४२॥

व्याख्यानार्थ—वस्तु के परिणाम के कारण जो काल आदि हैं, उनको विपरीत क्रम से बनाकर सिद्ध करने के लिये भगवान् प्रथम उत्तम कार्य को ग्रहण करते हैं, जिसका वर्णन करते हैं ।

समुद्र के वचन सुनकर भगवान् ने विचारा कि वह (शङ्खामुर) दूर चला न जाए इसलिये शीघ्र ही समर्थ होने से अकेले प्रभु आप समुद्र के जल में प्रविष्ट हुए और देखा कि शङ्खामुर भागता



है । उसको पकड़ कर शङ्खद्वार में मारकर देखा कि उसके उदर में, प्राण, इन्द्रिय, जीव और सञ्ज्ञात रूप बालक नहीं था । तब समझ लिया कि कर्म वश से दूसरे स्थान पर गया होगा । शङ्खा-सुर भागने लगा तब उसको पकड़ कर मारा क्यों ? और उदर फाड़ कर क्यों देखा ? इस शङ्खा का उत्तर देते हैं कि भगवान् को उसके उदर में बालक को देखना था, बालक कर्माधीन नहीं होता है और शङ्ख को लेना था । इन दो कारण से पकड़ के मारा और उदर फाड़ा, अतः भगवान् का शङ्ख पाञ्चजन्य है अर्थात् पञ्चजन से प्राप्त होने से उसका नाम पाञ्चजन्य है । उसमें स्थित सूक्ष्म अवयवों को प्रतिलोम की भाँति डूबने के समय तक जैसे थे वैसे लिद्ध कर, उनको फिर यमलोक में स्थित देह में प्रविष्ट किये । फिर वहाँ (देह में) स्थितों को प्रतिलोम रीति से उत्क्रमण अवस्था में लाने के लिये, जहाँ बलभद्रजी बैठे थे, वहाँ रथ के पास आये ॥४१॥

पश्चात् जहाँ सब को दण्ड मिलता है, वैसी मृत्यु देव की प्रसिद्ध प्यारी संयमनीपुगी में जाकर बलदेवजी के साथ वह शङ्ख बजाया । जिस यम के भय से सर्वलोक धर्म में रत रहते हैं, हालांकि यम के बहुत स्थान हैं किन्तु यह पुरी यम की प्यारी है । भगवान् को वहाँ जाते कोई भय नहीं हुआ, क्योंकि स्वयं 'जनार्दन' है, अविद्या को भी जो पीड़ित करता है, अर्थात् नाश कर सकता है तो वहाँ दूसरों की बात ही क्या ? वे अविद्याग्रस्त भगवान् का क्या कर सकेंगे ? कुछ नहीं, विशेष साथ में 'हलायुध' बलरामजी हैं जो पाताल के भी पति हैं । ४२ ।

आभास—ततः समुद्रवद्यमस्यापि कृत्यमाह 'शङ्खनिर्हादमाकर्ण्य'ति ।

आभासार्थ—पश्चात् समुद्र की भाँति यम का भी कर्तव्य (शङ्खनिर्हाद) श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—शङ्खनिर्हादमाकर्ण्य प्रजासंयमनो यमः ।

तयोः सपर्या महतीं चक्रे भक्त्युपबृंहिताम् ॥४३॥

श्लोकार्थ—प्रजा को नियम में रखनेवाले यम ने शङ्ख की ध्वनि सुनते ही (वहाँ आकर) भक्ति युक्त हृदय से उन दोनों की महती पूजा की ॥४३॥

सुबोधिनी—शङ्खनादनं तु सर्वप्रबोधनार्थम्, तत्रत्यावयवानां प्रेरणार्थं च, प्रजानां संयमन इति । स्वाधिकारः यावत्त्यर्थं न भीतः सन् तयोः	महतीमेव सपर्या पूजां वैष्णवत्वात् भक्त्युपबृंहितां चक्रे ॥४३॥
--	--

व्याख्यानार्थ—शङ्ख तो सब को जागने के लिये बजाया तथा उसमें स्थित अवयवों को प्रेरणा देने के लिये बजाया । वह सुनकर यम डरे कि मेरा अधिकार चला न जावे, इससे उन दोनों की महती पूजा की । यम वैष्णव है इसलिये वह पूजा भक्ति बिना हृदय से की ॥४३॥

आभास—स हि कृतार्थः सन् आत्मानं कृतकृत्यं मन्यमानः सन् कार्यविशेषार्थमागत इति विज्ञाय स्वापराधनिवृत्तये तत् पूच्छति 'उवाचे'ति ।

[illegible]

आभासार्थ—यम भगवत्पूजा करने से कृतार्थ हो गया तथा अपने को धन्य समझने लगा । भगवान् किसी कार्यवश पधारे हैं, यों समझ प्रथम अपने अपराध की निवृत्ति के लिए 'उवाच' श्लोक से पूछता है ।

श्लोक—उवाचावनतः कृष्णं सर्वभूताशयालयम् ।

लीलामनुष्य हे विष्णो युवयोः करवाणि किम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—यम नम्र होकर सर्व भूतों के अन्तर्यामी श्रीकृष्ण को कहने लगा कि लीला-से मनुष्य रूप हे विष्णो ! मुझे क्या आज्ञा है ? मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?

118811

सुबोधिनी—नम्रः सन् कृष्णं सदानन्दं कार-
णार्थमागतं वा भयाभावार्थमुक्तम् । ज्ञात्वैव
पृच्छतीति शङ्काव्यावृत्त्यर्थमाह सर्वभूताशया-
लयमिति । सर्वभूतानामाशयेष्वन्तःकरणेषु आलयो

गृहं यस्य । अज्ञात्वा कथनं व्यावर्तयति लीला-
मनुष्येति । वस्तुतस्तु विष्णुरेव भवान् । एवं सति
युवयोरहं किङ्करः किं करवाणि । करवामेति वा
सर्वानात्मतया परिगृह्य ॥४४॥

व्याख्यानार्थ—यम नम्र होकर सदानन्द कृष्ण से पूछता है कि आप किस कार्य के कारण पधारें हो ? इस प्रकार पूछने का भीतरी कारण यह भी है कि श्रीकृष्ण मुझे दण्ड देने जैसे कार्य के लिए तो नहीं आए हैं ? यह शङ्का न करनी कि मैं जानकर भी पूछता हूँ । कारण कि आप सब जीवों के अन्तःकरण में विराजमान हैं । सबके चित्त में क्या है ? वह जानते ही हैं, जानने के सिवाय पूछता हूँ यों भी नहीं है । मैं जानता हूँ कि आप वास्तविक विष्णु सर्व व्यापक हैं, किन्तु अब लीला से मनुष्य रूप धारण किया है, इस प्रकार होने से मैं आप दोनों का किङ्कर हूँ । आप आज्ञा करें कि मैं क्या करूँ ? किसी पुस्तक में 'करवाम' बहुवचन है, तदनुसार अर्थ इस प्रकार होगा कि यम सबको अपना ही समझ कर बहुवचन से कहता है कि हम क्या करें ? ॥४४॥

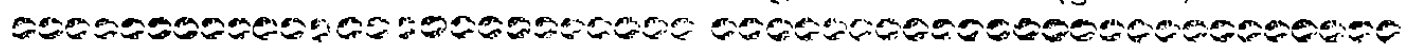
आभास—मयादां बाधकत्वेन वक्ष्यतीति भगवानीश्वरवाक्यमाह 'गुरुपुत्रमिहानीत-
मि'ति ।

आभासाय—यम को गुरु पुत्र ले आने के लिए कहूँगा तो यम के लिए मर्यादा बाधक होगी; इसलिए भगवान् ईश्वर रूप से 'गुरुपुत्र' श्लोक में आज्ञा देकर उस बाधक की निवृत्ति करते हैं।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच-गुरुपुत्रमिहानीतं निजकर्मनिबन्धनम् ।

श्रानयस्व महाराज मच्छासनपुरस्कृतः ॥४५॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि गुरु पुत्र को उसके कर्मानुसार आप यहाँ ले आए हैं । हे महाराज ! उसको हमारी आज्ञा मान कर हमारे पास ले आओ ॥४५॥



में आ गये थे जिससे अब किसी प्रकार का भेद न रहा है। अतः अलौकिक प्रकार के रूप आकृति वाला लाकर नहीं दिया, किन्तु जैसा पिता के पास था, वैसा ही लाकर दिया। राम कृष्ण यादवों में श्रेष्ठ हैं। यदु धर्मात्मा था, अतः ये भी उस कुल में उत्पन्न होने से धर्म परायण थे। जिससे गुरु ने जैसी आज्ञा दी वैसी आज्ञा का पालन कर अपनी धर्म परायणता तथा यदुश्रेष्ठता प्रकट कर दिखाई है। अपने गुरु को पुत्र देकर कहने लगे कि फिर भी चाहिये वह कहिये। यह तो आपका पुत्र है, अतः यह दक्षिण नहीं है। यह आपका ही आपको दिया है, आप से पृथक् कराने में जो रुकावट थीं उनको हटाकर आपको लाकर दिया है, इससे केवल आपकी आज्ञा का पालन करने वाले हुए हैं ॥४६॥

आभास—द्वितीयवारं वरो न याचनीय इति तस्य बुद्ध्या स एव वर इति लोक-बुद्ध्या अप्रार्थयन्निव प्रार्थयति 'सम्यक् सम्पादितो वत्सावि'ति ।

आभासार्थ—गुरु की बुद्धि में यह है कि दूसरी बार वर न माँगना चाहिये, अतः कहते हैं कि यह ही वर पर्याप्त है। लोक बुद्धि से मानो प्रार्थना नहीं करता है, किन्तु प्रार्थना है, जिसका वर्णन 'सम्यक्सम्पादितो' श्लोक में करता है।

श्लोक—गुरुवाच—सम्यक्सम्पादितो वत्सौ भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः ।

को नु युष्मद्विधगुरोः कामानामवशिष्यते ॥४७॥

श्लोकार्थ—गुरुजी कहने लगे कि हे वत्स ! आपने गुरु दक्षिणा बहुत अच्छी दी है। आपके समान जिसके शिष्य हैं उस गुरु को किस कामना की पूर्ति नहीं हो सकती है ? अर्थात् सब कामनाएँ पूर्ण हो सकती हैं ॥४७॥

सुबोधिनी—भवद्भ्यां गुरुनिष्क्रयः गुरोः प्रत्युपकाररूपो दक्षिणात्मकः भवद्भ्यामेव सम्यक् सम्पादितः न त्वन्यः असाध्यं कर्तुं शक्तः । एवं सति शास्त्रप्रामाण्यात् शिष्याद्गुरुर्महान् भवतीति ।	भगवत्कृपयैव महत्त्वे सिद्धे युष्मद्विधस्य गुरोर्मम कामानां मध्ये कः कामोवशिष्यते यः प्रार्थनीयः स्यात् ॥४७॥
--	--

व्याख्यानार्थ—आपने गुरु को प्रत्युपकार रूप दक्षिणा बहुत श्रेष्ठ दी है। वैसा असाध्य कार्य दूसरा कोई नहीं कर सकता है। यों तो शास्त्र प्रमाण से शिष्य से गुरु महान् है, परन्तु भगवत्कृपा से आप जैसे असाध्य को साध्य करने वाले शिष्य मिलने के कारण मेरा महत्त्व और भी बढ़ गया है। अतः मेरी कामनाओं में से कौनसी कामना अपूर्ण है, जिसकी याचना करूँ ॥४७॥

आभास—परमेतदेव कर्तव्यमिति अभ्यनुज्ञारूपं द्वयं प्रार्थयति 'गच्छती'ति ।

आभासार्थ—परन्तु इतना ही करना, इस प्रकार आज्ञा रूप दो बात की प्रार्थना करते हैं।

श्लोक—गच्छतं स्वगृहं वीरौ कीर्तिवर्मिस्तु पावनी ।

छन्दांस्यथातथामानि भवन्तिवह परत्र च । ४८॥

श्लोकार्थ—आप दोनों घर जाओ, वीर बनो, आपकी पवित्र कीर्ति हो, वेद सदैव इस लोक और परलोक में आपको स्मरण कर सफल हों ! ॥४८॥

सुबोधिनी—स्वगृहं गच्छतं वीरौ भवतम्, यथः । कीर्तिश्च सर्वलोकपावनी भवतु, आशीर्वादो
गार्हस्थ्येन स्थातव्यम्, सर्वदा जय एव भवत्विति वा वरो वा यथाधिकार ज्ञातव्यः ॥४८॥

व्याख्यानार्थ—अपने घर जाओ, वीर बनो, गृहस्थो हो के रहो, सर्वदा आपकी जय हो, और आपकी कीर्ति सर्व लोक को पवित्र करने वाली हो, यह आशीर्वाद है, जैसा अधिकार हो उसके अनुसार समझना ॥४८॥

आभास—एतदपि गुरुवाक्यं कृतवन्ताविति वदन् प्रत्यापत्तिमाह 'गुरुणैवमनुज्ञा-
तावि'ति ।

आभासार्थ—गुरु का यह वचन भी पूर्ण किया, यों कहते हुए कत'व्य का 'गुरुणिव' श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—गुरुणैवमनुजाती रथेनानिलरंहसा ।

आयातां स्वपुरं तात पर्जन्यानिनदेन वै ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे तात ! गुरु की इस प्रकार की आज्ञा पाकर, मेघ के समान शब्द करते, पवन के समान वेग वाले रथ में बैठ कर अपने पुर को लौटे ॥४६॥

सुबोधिनी—भगवदिच्छानुसारेणैव गुरुणा मुक्तम् । दूरादेव तापनाशकत्वाय पर्जन्यवन्निनदो
उक्तौ, क्षणमात्रेणैव अनिलरंहसा रथेन स्वपुरं यस्येष्टमुक्तम् ॥४६॥
पुनरायातां आगतौ वा, स्वपुरत्वेन प्रस्थापित्व-

व्याख्यान—गुरु ने जो कुछ कहा, वह भगवान् की इच्छा से ही कहा । क्षण मात्र में ही वायु वेग वाले रथ से अपने नगर में वापिस आये । अपना पुर कहने से प्रत्यापत्तित्व कहा है, मेघ के समान ध्वनि करते हुए आये, जिसका भावार्थ है कि जैसे मेघ गर्जना के अनन्तर वर्षा कर ताप मिटाता है वैसे ही मैं भी आपको संस्वना देता हूँ, मैं भी आपका ताप मिटाने के लिये आ रहा हूँ ॥४६॥

आभास—भगवन्तं पूर्ववदुक्त्वा तत्संबन्धिनोपि पूर्ववदेव जाताः भगवति निरुद्धा
षेत्याह 'समानन्दसि'ति ।

आभासार्थ — भगवान् को पूर्व जैसे कहकर उनके सम्बन्धी भी पूर्व जैसे हो गये, अथवा भगवान् मे निरुद्ध हुए, जिसका वर्णन 'समानन्दन्' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—समानन्दप्रजाः सर्वा दृष्ट्वा रामजनार्दनौ ।

अपश्यन्त्यो बह्वहानि नष्टलब्धधना इव ॥५०॥

श्लोकार्थ—राम और कृष्ण को देख कर सब प्रजा प्रसन्न हो अभिनन्दन करने लगी; क्योंकि बहुत दिनों से दर्शन नहीं हुए थे । अतः जैसे किसी मनुष्य को गया हुआ धन मिलने से प्रसन्नता होती है, वैसे ही समस्त प्रजा प्रसन्न हुई ॥५०॥

सुबोधिनी—सर्वाः विद्यानधिकारिणोपि, विद्यया तेजोनुभावो भगवता प्रकटिताविति तदर्थमाह दृष्ट्वा रामजनादनाविति । सामान्यतोपि दर्शनाकाङ्क्षामाह अपश्यन्त्य इति । बहून्येव दिनानि वर्षत्रयचतुष्टयात्मकानि अपश्यन्त्यः सत्यः दृष्ट्वा परमानन्दयुक्ता जाताः, पूर्वपेक्षया अधिक-

त्वमाशङ्क्य । तथा सति प्रमाणबलं भविष्यतीति
तन्निराकरणार्थं दृष्टान्तमाह नष्टं ग्रहष्टः क्वचित्
लीनः पुनर्लब्धश्चेत् धनादिश्चेत्तदा पूर्ववदेव
जायमानमपि सुखं विशिष्टमिव भवतीति भगव-
त्यपि तथा जातमित्यर्थः ॥५०॥

व्याख्यानार्थ—राम तथा कृष्ण को देखकर सब प्रजा परम आनन्द को प्राप्त हुई । जिनमें विद्या नहीं थी उनमें भी भगवान् ने विद्या से तेज और सामर्थ्य प्रकट कर दिया । सामान्य प्रकार से भी सब को दर्शन की चाह थी । कारण कि तीन चार वर्ष बिना देखे हो गए थे, अतः स्वाभाविक दर्शन की चाह होती ही है, जिससे देखकर परम आनन्द में मग्न हो गई । पूर्व की अपेक्षा से विशेष आनन्द हुआ होगा । यदि विशेष हुआ हो तो उसमें प्रमाण बल चाहिये । वह नहीं है, यह सिद्ध करने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि जैसे कहीं चला गया धन जो देखने में न आवे और वह किसी दूसरे के पास हो, अथवा किसी स्थान पर लीन हुआ हो, वह लौट कर फिर मिल जावे, तो उसके मिलने से जो विशेष प्रसन्नता होती है, वह भगवान् के मिलने पर प्रजा को भी विशेष प्रसन्नता हुई ॥५०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धपूर्वार्धे द्विचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४२॥

श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (पूर्वार्ध) ४२वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का वीर्य निरूपक तृतीय अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।



॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४६वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ४३वाँ अध्याय

राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

“चतुर्थ अध्याय”

उद्धवजी की व्रज यात्रा (भ्रमर गीत प्रारम्भ)



कारिका—त्रिचत्वारिंशकेध्याये स्वस्थित्यैव निरोधनात् ।

यशोदानन्दयोश्चैव ह्युक्तोऽपि विनिरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—भगवान् ने यशोदा व नन्द के यहाँ रहकर जो उनका निरोध किया है, वह पूर्व में कहा गया है फिर भी यहाँ ४३वें अध्याय में यशोदा, नन्द और गोपादि का आगे कहा हुआ निरोध निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—गोपिकानां ततो वाच्यस्तेनोक्तं च समथितम् ।

राजसत्त्वं च संसिद्धं गुणोत्कर्षश्च रूपितः ॥२॥

कारिकार्थ—इस अध्याय के आगे आने वाले ४४वें अध्याय में गोपिकाओं के

SECRET

निरोध कहने से 'ज्ञाति, बाँधव और तुमको देखने आऊँगा' इन वचनों का समर्थन हुआ है और राजसपन सिद्ध हुआ एव गुणों के उत्कर्ष का निरूपण भा हुआ है ॥२॥

प्रकाश तथा लेख के अनुसार कारिकाओं में कहे हुए पदों का भावार्थ -

नन्द यशोदा आदि का निरोध तामस प्रकरण में कहा गया है, फिर यहां क्यों कहते हैं ? 'स्वास्थित्य' कहकर इस शङ्का का निवारण करते हैं, तामस प्रकरण में जा निरोध किया है जिसके प्रकार श्रीर अब जो निरोध वर्णन करते हैं, उसके प्रकार में भिन्नता है । तामस प्रकरण में भगवान् ने बाहर प्रकट दर्शन देने, लीला करने का निरोध किया है, अब भगवान् व्यूह सहित मथुरा पधार गए हैं, अतः रसात्मा पुरुषोत्तम स्वरूप का आधार रूप वासुदेव व्यूह भी यहाँ नहीं है, जिसमें स्थित होकर बाहर भी दर्शन देंगे । इसलिए अब रसात्मा पुरुषोत्तम का आधार भक्त-हृदय ही ब्रज में है अर्थात् भगवान् अब ब्रज में भक्तों के हृदय में निराजमान होकर अनुभवानन्द देकर निरोध करते हैं, इस भेद के कारण यहां पुनः निरोध का वर्णन है । तामस का विषय राजस में क्यों कहा ? जिसका उत्तर 'तेनोक्त' पद से दिया है । भगवान् ने कहा है कि 'ज्ञाति बाँधव * तथा आपको देखने के लिए आऊँगा' ये वचन राज स्वभाव के हैं । उनका यहां समर्थन हुआ है, इसलिए यह निरोध लीला राजस होने से राजस प्रकरण में कही गई है तथा राजस भाव में विकलत्व, अस्वास्थ्य आदि भाव रूप विक्षेप होता है, वह अब सिद्ध हुआ है । ये आगे सिद्ध नहीं हुए थे, अतः यह निरोध राजस होने से राजस प्रकरण में कहा है । राजस प्रकरण में इस निरोध को कहने का दूसरा हेतु कहते हैं कि यहां यद्यपि भगवान् लौकिक रीति से पधारें हैं, तो भी उसका बीज भक्ति है । जिससे गुण, भगवदीय कृपा तथा उनके प्रेम का तामसत्व से विशेष उत्कर्ष है, अतः यहाँ राजस प्रकरण में फिर निरोध कहा है ।

इति कारिकाशयः

आभास—पूर्वाध्याये ‘ज्ञातीन्द्वा द्रष्टुमेष्यामो’ नन्दं प्रति भगवता निरूपितम्, तेषा-
मेव च सम्बन्धः पुत्रत्वादिरूपः स्थापितः, तत्र मध्ये विद्याग्रहणेन विलम्बो जात इति
स्वस्यापि गमनं कार्यस्यावश्यकत्वात् न संभवतीति विद्यातः समागत्य नन्दादीनां सान्त्व-
नार्थमुद्धवं प्रेषयतीति निरूप्यते । तत्र सन्ति त्रिविधाः, प्रकटसन्देशयोग्या यशोदानन्द-
प्रभृतयः, मित्रभूता गोपा अल्पगोप्याः, गोप्यस्त्वतिगोप्याः । अत एतादृशेर्था निपुणेन
दूतेन भाव्यमित्युद्धवं प्रेषणार्थं वर्णयति ‘वृष्णीनां प्रवर’ इति ।

आभासार्थ—भगवान् ने नन्दजी को 'ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्यामो' पिछले अध्याय के श्लोक २३ में कहा है कि मैं आपको तथा ज्ञाति वालों को देखने के लिए आऊँगा, यों कहकर भगवान् ने उनसे पुत्रत्व आदि सम्बन्ध स्थापना किया है। आप यहां विद्या ग्रहण करने लगे, जिससे आपको जाने में विलम्ब

* 'ज्ञातीन्वो द्रष्टुमेष्याम' 'आयास्य' इति

हो गया। पढ़ कर आने पर भी आपका जाना आवश्यक + कार्य हाथ में हो नहीं सकता था, अतः नन्दादि को सान्त्वना के लिए उद्धवजी को भेजते हैं। इसका निष्कर्षण करते हैं। जिनको सान्त्वना करानी है वे वही तीन प्रकार के हैं—(१) वे हैं, जिनको प्रकट रूप से सदेश कहा जा सकता है, नन्द यशोदा आदि (२) मित्र बने हुए गोप, जिनको सदेश जो भेजा जावे उस पर रह-य विषय प्रकट न हो, अतः वे अल्प गोप्य हैं। ३। गोपीजन, जिनको अति गोपनीय रह-य सदेश में कहना है, अतः वैसे कार्य के लिए दूत निपुण 'चतुर' होना चाहिए। वैसे उद्धवजी हैं, यों जानकर उनको भेजने के लिए उनके गुणों का वर्णन श्री धृकदेवजी 'वृष्णोना प्रवरो' श्लोक में प्रकट करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः पत्न्या ।

शिष्यो बृहस्पतेः साक्षाद्बुद्धो बुद्धिपत्तयः ॥५॥

श्लोकार्थ — श्री शुकदेवजी ने कहा कि वृष्णिणों के श्रेष्ठ मन्त्रो, अःकृष्णचन्द्र के प्यारे सखा, बृहस्पति के साक्षात् शिष्य, अत्यन्त श्रेष्ठ वृद्धि वाले उद्धवजा हैं ॥१॥

सुबोधिनी—कुलीनः सर्वकर्मसु प्रशस्तः । तत्रापि स्वगोत्रजः, तत्रापि महानिति प्रेषणे स्वरूपयोग्यता निरूपिता । दोत्यार्थं सहकारियोग्यतामाह मन्त्रोति । स हि मन्त्र न प्रकाशयति । तद्व्युचितमेव वदेन्नानुचितमिति भगवदुक्तमपि न वदेदतो गुह्यार्थं प्रेषणमयुक्तमित्याशङ्क्याय कृष्णस्य दयित इति । दयितात्यन्तं प्रियः, यद्यनभिप्रेतधर्मवान् भवेत् तद्व्यत्यन्तं प्रातिविषयो न स्यात् गुर्वादिरेष्येतादृशो भवतीति पितृव्यत्वाद् तथात्वे गुह्यं न वक्तव्यमित्याशङ्क्याह सखेति । भगवतः समानशीलव्यसनवान् । तथाप्यनीतिज्ञश्चेत् देशकालप्रकरणादिनिरपेक्षतया वदेत्, ततश्च यथाथ-

मपि भाषितं फलाय न भवेदित्यत आह बृहस्पतेः
देवगुरोः शिष्य इति । नोतिस्तत्रैव (प्रतिष्ठिता)
तिष्ठति । साक्षादिति न ग्रन्थद्वारा । साक्षादुद्धवो
वा उत्सवात्मकः, दूरे गतस्य बन्धोः पुनरागमन-
रुपापकः परस्परयोत्सवहेतुर्भवति अत्र तु स क्षात्रा
एनं दृष्ट्वैव जानन्ति भगवद्देशेनेव च सुखिता
भवन्ति, तथापि यावदुकायग्रहणसामर्थ्यं मृग्यत
इति तादृशं वक्तव्यं इत्यत आह बुद्धिसत्तम इति ।
बुद्ध्यात्यन्तं मन्, बुद्धिमत्त्वेऽपि कायसिद्धौ स्वतोपि
ह्यायया गोकुलवासिनां दुःखदूरीकरणसमर्थ इति
तथोक्तम् ॥१॥

व्याख्यानार्थ—जो श्रेष्ठ कुन में उत्पन्न हुआ है वही सर्व कर्मों में प्रशस्तोप होता है। उनमें भा यदि वह अपने गोत्र में उत्पन्न हुआ हो तो वह दीत्य कर्म करने में स्वरूप से भी योग्य जानना चाहिए। दात्य कर्म में पहनार करने का योग्यता वाला होना आवश्यक है। वह योग्यता भा इनमें

+ कृष्ण को मथुरा के निवासियों के उद्धार का कार्य आवश्यक था, यदि गोकुल ज वनों वृक्ष के अर्थात् गोकुल के निवासियों की दशा देखकर वही रुकना पड़े ता यह उद्धार का कार्य रुक जावे अतः उद्धव को भोजना योग्य समझा ।

१- दूत का काम

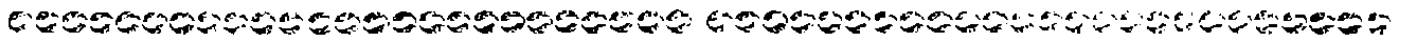
आभास थं - इस प्रकार दूत के गुणों को कहकर वैसे दूत को 'तमाह' श्लोक में भगवान् आज्ञा करने लगे ।

गृहोत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नातिहरो हरिः ॥२॥

श्लोकार्थ— शरणागतों की आति हरने वाले भगवान् ने हाथ से अपने प्यारे एकांत भक्त उद्धवजी का हाथ पकड़ कर एकान्त में इस प्रकार कहा ॥२॥

मुबोधिनी तेन कार्यं मेतस्यतीति ज्ञानार्थम-
त्यनुरोधेषु स्वागमनार्थं च प्रेष्ठोत्यन्तं प्रियः अतः
स्वसमान इति प्रतिनिधित्वात्प्रेषणीयः । तथापि

स्त्रोषु विक्रियां प्राप्स्यतीत्याशङ्क्याह भक्तमिति ।
स्त्राकृतस्तथा भविष्यतीत्याशङ्क्याह एकान्तिन-
मिति । एकान्ते स्थातुं योग्यम्, उभयेषां विका-



रानालम्बनमिति, क्वचिदेकान्ते यत्र कोपि न पश्यति तत्र पाणिना पाणि गृहीत्वा आहेति संबन्धः । एव निर्वन्धेन कथने को हेतुस्तत्राह प्रपन्नातिहर इति । शरणागता गोकुलवासिनः, तेषामातिर्हर्तव्येति सहज एव धर्मस्तस्य तादृश इति न तद्धर्मपरित्यागः ॥२॥

व्याख्यार्थ—उद्धव के गुणों से भगवान् ने निश्चय किया कि उससे यह कार्य पूर्ण हो सकेगा, अतः पूर्ण निरुद्ध व्रजवासियों को ज्ञान देने के लिए और अपने न जा सकने के कारण अपने प्रेष्ठ+ अत्यन्त प्रिय अर्थात् अपने समान उद्धवजी को अपना प्रतिनिधि कर भेजना चाहिए, यह पुरुष है, स्त्रियों में विक्रिया पैदा होगी, इस भ्रम को मिटाने के लिए कहते हैं कि यह 'भक्त' है । यह भक्त है, इसमें काम न भी हो, किन्तु स्त्रियों में तो काम होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि एकान्तिन' स्त्रियों के साथ एकान्त में बैठने योग्य है अर्थात् एकान्त में स्त्रियां भी बैठी हो तो यह ऐसा भक्त है जिससे दोनों में काम की इच्छा उत्पन्न न होगी । भगवान् उद्धवजी को एकान्त में जहां कोई भी न देखे वहां हाथ में हाथ लेकर कहने लगे, इस प्रकार आग्रहपूर्वक कहने का क्या कारण है ? इस पर कहते हैं कि भगवान् शरणागतों की आर्त्ति को हरणा करने वाले हैं, गोकुलवासी भगवान् के शरण आए हुए हैं, उनकी आर्त्ति हरण करनी चाहिए, आर्त्ति को हरण करना भगवान् का सहज स्वाभाविक धर्म है, जिसका त्याग भगवान् कभी नहीं करते हैं ॥२॥

आभास—भगवद्वाक्यान्याह चतुर्भिः 'गच्छोद्धवे'ति ।

आभासार्थ—'गच्छोद्धव' से लेकर चार श्लोकों से भगवान् के वाक्य कहते हैं ।

श्लोक—गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नो प्रीतिमावह ।

गोपीनां मद्वियोगाधि मत्सन्देशविमोचय ॥३॥

श्लोकार्थ—हे उद्धव ! हे सौम्य ! आप व्रज में जाओ, मेरे माता-पिता को प्रसन्न करो और गोपियों को जो मेरे वियोग का सन्ताप है, उनका वह सन्ताप मेरे सन्देशों से शांत करो ॥३॥

कारिका—'प्रमाणं च प्रमेयं च उपपत्तिश्च बाधकम् ।

चत्वारोत्रैव वक्तव्या अन्यथा प्रेषणं न हि' ॥१॥

+ उद्धव को 'प्रेष्ठ' कहने का तात्पर्य है कि वह अन्तरङ्ग ज्ञान देने के योग्य है; इसलिए ज्ञान देने वास्ते अपने प्रिय को भेजते हैं, वह कार्य सिद्ध कर सकेगा—लेखकार

१- भक्त काम रहित होते हैं

कारिकार्थ—प्रमाण^१, प्रमेय^२, उपपत्ति^३ और बाधक^४; ये चार यहाँ ही कहने चाहिए । यदि न कहे जावें, तो भोजना ही व्यर्थ है ॥१॥

सुबोधिनीः—आदौ नियोगमाह हे उद्धव ब्रजं गच्छ । सौम्येति सम्बोधनान्नान्यः प्रेषयितुमुचित इति सूचितम् । गःवा कर्तव्यमःह पित्रोः यशोदानन्दयोः नौ आवयोः उभाभ्यां तस्मिन्नेव पितृत्वं स्थापितमिति तदुपपादितम् । अतो यथैव प्रीतिर्भवति अस्मादागमनेनेव तथा प्रीतिमावह, अयं

प्रकटः सन्देशः । गुप्तमाह गोपीनां सद्वियोगाधि-
मिति । मम वियोगेन य आधिः मनःपीडा तां
मत्सन्देशैः मत्पत्रलिखितैः तत्र प्रकटीकृतैः विमो-
चय, आधिग्रस्तास्ताः यथा तद्ग्रासो गच्छति
तथोपायं कुरु ॥३॥

व्याख्यान—पहिले श्लोक में आज्ञा करते हैं । हे उद्धव ब्रज में जाओ उद्धवजी को 'सौम्य' विशेषण देकर यह सूचित किया कि दूसरा कोई इस कार्य करने के योग्य नहीं है । जाकर वहां क्या करना है । वह बताते हैं । यशोदा और नन्द जिनको हम दोनों ने माता पिता माना है, अतः जिससे वे प्रसन्न हों, वैसा कर्म करो । वे उस काम से ऐसे प्रसन्न होवे मानो हम उनसे आकर मिले हैं । यह सन्देश तो प्रकट है, अब गुप्त सन्देश देते हैं 'मेरे वियोग से उनको जो विरह आधि सता रही है उस मन की पीड़ा को मैंने जो पत्र में सन्देश लिखे हैं, वे वहां प्रकट करने से मिटाओ, 'आधि' मन की पीड़ा ने उनको ग्रस लिया है । वह ग्रसना जैसे मिट जावे वैसा उपाय करो ॥३॥

आभास—ननु तासु को विशेष इत्याशङ्क्य तासां स्वरूपमाह अस्मत्कथने प्रमेय-
बलत्वेन 'ता मन्मनस्का' इति ।

आभासार्थ—गोपियों में कौनसी विशेषता है ? जिसको बताने के लिए उनका स्वरूप 'तामन्मनस्का' श्लोक में कहते हैं । वह स्वरूप आप मेरे कहने से स्वरूप बल द्वारा समझ सकेंगे ।

श्लोक—ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदेहिकाः ।

ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान्बिभर्ष्यहम् ॥४॥

श्लोकार्थ—उनका मन सुभ में है, प्राण भी सुभ में है, मेरे लिए देह धर्म छोड़

- १- प्रथम श्लोक में 'व्रजं गच्छ' व्रज में जाओ ! यह आज्ञा भगवान् ने की है, अतः वेद रूप होने से 'प्रमाण' है ।
 २- द्वितीय श्लोक में 'ता मन्मनस्का' गोपियों का स्वरूप, यह 'प्रमेय' है ।
 ३- तृतीय श्लोक में 'मयिताः' यह उपपत्ति है, भेजने में हेतु है ।
 ४- चतुर्थ श्लोक में 'धारयन्त्यति' यदि न भेजा जावे तो बाधक हो; क्योंकि वे दुःखी हैं ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १४ ॥

दिए है तथा लोक धर्म एवं वेद धर्म को भी त्याग दिया है; वैंसी गोपियाँ हैं, जिनको मैं सर्व प्रकार पालता हूँ ॥४॥

सुबोधिनी—प्राणिनामात्मा मदीय एव सर्वसाधारणः स च सिद्धत्वात्, ज्ञातेऽपि तथा नादरणीयः किन्तु देहेन्द्रियमनांस्यन्यपराण्येवोत्पत्तिशिष्टानि तानि चेभ्यः पराणि स्पृष्टदा तत्सङ्घाता मदीया भवन्ति । तदाह 'मय्येव मनो यासां मय्येव प्राणा इन्द्रियाणि च मदर्थमेव जीवन्ति मय्येव सति जीवन्ति सर्वाणीन्द्रियाणि मद्विषयकमेव कुर्वन्ति, देहमपि मदर्थमेव कुर्वन्ती'-त्येतदर्थमाह मदर्थं त्यक्तदेहिका इति । दैहिका हि

देहोपयोगिनस्तेषु विद्यमानेषु न भगवदर्थमेव देहो भवेत् । अतस्ते त्यक्तव्याः । ननु तेषां त्यागे देहनिर्वाहो न भवेत् तत्राह ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थ इति । त्यक्तः लोकधर्मो वैदिकश्च यैः चकारात्सर्वे लौकिकधर्माः वेदैश्च परिणीताः, एतादृशानहं विभ्रमि यथा मद्वस्तुस्थितपदः । केनापि नोपहन्यते तथा त इत्यर्थः । अतः न कोऽप्युपद्रवः किन्तु मद्विरहः स संदेशनिराकृतः ॥४॥

व्याख्यानार्थ—यह तो सिद्ध ही है कि प्राणियों को सर्व साधारण आत्मा मेरी ही है । यह जानते हुए भी उसको उस प्रकार से आदर से देखते नहीं; कारण कि देह, इन्द्रियाँ मन उत्पन्न होते ही अन्य के परायण हो गए हैं । वे जब मेरे परायण बनें, तब सङ्घात मेरे होते हैं । इन्होंने मेरे परायण किए हैं, जिनको स्पष्ट कर कहते हैं कि उनका मन, प्राण और इन्द्रियाँ मेरे में है । तात्पर्य यह है कि वे मेरे लिए जीती है, मेरे रहते हुए जीती हैं, सब इन्द्रियों को मेरे सम्बन्ध की करती हैं, देह भी मेरी कर रखी है, इसलिए सर्व देह धर्म मेरे लिए ही त्याग दिए हैं । जब तक देह धर्म देह के ही उपयोग में आते रहते हैं, तब तक देह भगवदर्थ हो नहीं सकती है, अतः देह धर्म छोड़ने योग्य है । यह भी शङ्का नहीं करनी चाहिए; क्योंकि उनके त्याग से देह का निर्वाह कैसे चलेगा ? क्योंकि जिन्होंने लौकिक, वैदिक* आदि सर्व धर्म मेरे लिए छोड़ दिए हैं, उनका पालन-पोषण इसी प्रकार करता हूँ । जैसे मेरे हाथ में धरी हुई वस्तु को कोई भी नहीं छीन सकता या बिगाड़ सकता है अर्थात् मैं उनकी ऐसी रक्षा करता हूँ कि जिससे उनको किसी प्रकार का दुःख न हो, अतः इनको मेरे विरह के सिवाय अन्य कोई दुःख नहीं है । इसके लिए आप जाकर वह विरह दुःख मेरे संदेशों से मिटा दो ॥४॥

आभास—ननु फलसाधकत्वात् भक्तिमार्गे विरह एव पुरुषार्थ इति किमिति निराक्रियते तत्राह 'मयि ता' इति ।

आभासार्थ—भक्ति मार्ग में विरह ही फल को सिद्ध करने वाला पुरुषार्थ है, तब उसका निराकरण क्यों किया जाता है ? जिसके उत्तर में 'मयि ता' श्लोक कहते हैं ।

१- लौकिक सम्बन्ध वालों के

* वैदिक धर्म कहने का भाव है कि इन्होंने आत्मारामत्व और व्यापकत्व आदि धर्म छोड़ दिए हैं—प्रकाश



श्लोक—मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।

स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहोत्कण्ठ्यकातराः ॥५॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! गोकुल की स्त्रियों का प्यारे से प्यारा मैं दूर बैठा हूँ, अतः वे विरह के मारे उत्कण्ठित होती हुई दीन बन गई हैं, ऐसी अवस्था में मेरा स्मरण करते हुए मूर्च्छित हो जाती हैं ॥५॥

सुबोधिनी—ता विमुह्यन्ति क्षणे क्षणे मूर्च्छां प्राप्नुवन्ति कातरा दीनाश्च भवन्ति । प्राणरक्षा दैन्यं च दूरीकर्तव्यम् । ननु मूर्च्छायां को हेतुः ज्ञानस्य मानसव्यापारस्य वा घातकत्वाभावात् । प्राणघाते हि मूर्च्छा भवति तत्राह ता मयि दूरस्थे सति गोकुलस्त्रियः विचारचातुर्यादिरहिताः प्रेयसामतिप्रियाणां सर्वेषामेव मध्ये प्रेष्ठेतिप्रिये प्राणादप्यधिकप्रिये दूरे विद्यमाने सति स्मरन्त्य एव विमुह्यन्ति । स्मरणमात्रमेव मूर्च्छाहेतुः । अङ्गेति संबोधनं तासु स्नेहात् तदर्थं प्रेषणीयेऽपि स्नेहसूचकम् । मरणमनेनैव भवत्यनेन नेति

किञ्चिदुपपन्नमस्ति, यथा महाभयात्प्राणोत्क्रमणम्, अतिक्रूरदर्शनाच्च, यथा वा पुत्राद्यपगमश्रवणे तथा तासामपि प्राप्तिसंभावनारहिते मयि सति मत्स्मरणमात्रेणापि । न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम । भगवत्प्राप्तिसंभावनाभावसहिता भगवत्स्मृतिः महाप्रहार इव मूर्च्छाहेतुः । प्रेष्ठत्वात्स्मरणमावश्यकम्, अतोऽचिकित्स्यदोषात् निरन्तरं मूर्च्छैव । किञ्च, पूर्वमनुभूतस्यार्थस्य साम्प्रतमभावो विरहः तेन तासामुत्कण्ठा महती अत आत्कण्ठ्येन कातरा दीनाश्च मत्स्मरणे मूर्च्छा मद्धर्मस्मरणे तु कातरत्वमिति उभयं मत्सन्देशो निवारयिष्यति ॥५॥

व्याख्यार्थ—वे क्षण-क्षण में मूर्च्छित हो जाती हैं और विह्वल तथा दीन हो रही हैं, अतः उन के प्राणों की रक्षा करनी चाहिए तथा उनकी दीनता निवारण करनी चाहिए । ऐसा ज्ञान व मन का व्यापार भी नहीं है, जो प्राणों का घात कर सके, प्राणों के घात होने पर ही मूर्च्छा होती है, ऐसा न होते हुए भी मूर्च्छा क्यों होती है ? उसका क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि विचार तथा चतुराई से शून्य, गोकुल की स्त्रियों का प्रेमियों में भी अति प्रियों से श्रेष्ठ, सभी में जो प्राण प्रिय दूर बैठा है । उसके स्मरण करते ही मूर्च्छित होती हैं, तात्पर्य यह है कि उनकी मूर्च्छा का कारण मेरा स्मरण है । उद्धवजी को 'अङ्ग' विशेषण देने का हेतु यह है कि उनको जिनके पास (जहाँ) भोजना है, उनमें मेरा प्रेम है, जिससे वहाँ स्नेही ही भोजना चाहिए, इसलिए 'अङ्ग' विशेषण से बताते हैं कि उद्धवजी ! आप भी मेरे स्नेही हैं, अतः आपको भोजना ही योग्य तथा आवश्यक है । विरह में जो स्मरण होने पर मूर्च्छा होती है, जिससे मरण हो या न हो, यह कोई निश्चय नहीं है । जैसे महान् भय से, अति क्रूर के दर्शन से, पुत्रादि प्रिय के चले जाने के श्रवण से प्राण निकल जाते हैं या नहीं भी निकलते हैं, वैसे उनके प्राण भी मेरे वहाँ जाने की सम्भावना न जान, मेरे होते हुए भी मेरे स्मरण से कदाचित् प्राण निकल भी जाए । यों भी नहीं समझना चाहिए कि जिसका दर्शन हुआ है, उसके विरह में स्मरण से मूर्च्छा होने पर यों न होगा, अर्थात् प्राण नहीं निकलेंगे । यह भगवान् की स्मृति महान् प्रहार' जैसी होती है; क्योंकि भगवान् की प्राप्ति की सम्भावना न रहने से यह होता

है। भगवान् प्यारे हैं; इसलिए स्मृति अवश्य होगी। अतः भगवान् का न पधारना इसका कोई उपाय न देखने से निरन्तर^१ मूर्च्छा ही होती है।

जिस पदार्थ का प्रथम अनुभव किया है, वह पदार्थ अब प्रत्यक्ष नहीं है; जिसको 'विरह' कहते हैं। अर्थात् गोकुल की स्त्रियों ने भगवत्स्वरूप के आनन्द का अनुभव किया है। वह अब नहीं है, अतः उन को विरह है। जिससे उनको महती उत्कण्ठा^२ है, उससे वे कातर हैं और दीन हो गई हैं। मेरे स्मरण से मूर्च्छित होती हैं, मेरे धर्मों का स्मरण करती है, तब वे उससे कातर बन जाती हैं^३; मेरा सन्देश इन दोनों का निवारण करेगा ॥५॥

आभास—तर्ह्येवं मूर्च्छायां जीवने का प्रत्याशेत्याशङ्क्यामाह धारयन्त्यतिकृच्छ्रे-
णेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार मूर्च्छा होती है तो जीवित होने की आशा कैसे ? इसके उत्तर में 'धारयन्ति' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान्कथञ्चन ।
प्रत्यागमनसन्देशैर्वल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥६॥

श्लोकाथं—वे(गोपीजन) मुझ में ही आत्मा वाली होने से, मेरे आगमन के संदेशों के भरोसे से ही अति कष्ट से प्राणों को धारण कर रही हैं ॥६॥

सुबोधिनी — अतिकष्टेन प्राणान् धारयन्ति । बह्व्यो मृत्ता इति प्रायग्रहणम् । देहेन्द्रियान्तःकरणानि तु विकलान्येव प्राणान् केवल धारयन्ति । तत्र का उपपत्तिरित्याशङ्क्यामाह कथञ्चिदिति । न काप्युपपत्तिः प्रसिद्धा । वस्तुतस्तु मरणमेवोचितम् । जीवनमस्तीति । किञ्चित्साधनं परिकल्प्यते अप्रसिद्धत्वात्कथञ्चिदित्युक्तम् । प्रमेयबलेनेति । भगवदिच्छयेति जीवनमात्रम् । प्रमेयबलस्यापि दुःखदूरीकरणे न सामर्थ्यम् किन्तु धारणात्मकं भूत्वा कथञ्चिद्धारयति । तर्हि सन्देशेन किं कर्तव्यं तत्राह प्रत्यागमनसन्देशेरिति । भग-

वान् प्रत्यागमिष्यतीति यो ममैव सन्देशः आया-
स्य इति तज्जीवने साधनं तत् कालेन जीर्णं चेत्
मरणमेवेति तदर्थमुपायान्तरं कर्तव्यम् । स
उपायः पत्रे स्पष्टो भविष्यतीति भावः । ननु
स्त्रीणां स्थाने तत्रापि गुह्यसन्देशे कथं पुरुषाः
प्रेष्यन्ते तत्राह—बल्लव्यो मे इति । त्वयि न
सन्देहः ताः पुनः मे मदोयाः न हि मदोयानामन्यत्र
मनो भवति, मत्सम्बन्धस्यैव तथा सामर्थ्यात् ।
वल्लवीपदेन चतज् ज्ञापयति वल्लवानां गोपानां
स्त्रियः अहोरात्रं च गोपाः स्त्रीणां वलयप्राया इति
ता ग्रावेष्ट्यैव तिष्ठन्तीत्यतिकामुकाः नित्यं स्त्री-

१- लगातार । २- फ़िक्र अर्थात् प्यारा मिले, उसके लिए चिन्ता।

३- घबरा जाती हैं ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ११८ ॥

सुखदातारस्तादृशानामपि स्त्रियो भूत्वा तान्परि-
त्यज्य मत्पराश्रयेदन्यस्मिन् शङ्कैव नोदेति । ननु
ममैव यदि तास्वन्यथाबुद्धिर्भवेत् तदा का गतिः-

रित्याशङ्क्यामाह मदात्मिका इति । अहमेवा-
त्मा यासां मत्स्वरूपास्ता अस्तव तासु मद्बुद्धि-
रेव भविष्यतीति न काचिच्चिन्तेत्यर्थः ॥६॥

व्याख्यान—श्लोक में 'प्रायः' शब्द है, जिसका आशय कहते हैं कि बहुत तो मेरे विरह में मर गई हैं । शेष जैसे-तैसे केवल प्राणों को धारण कर रही हैं । उनकी देह, इन्द्रियाँ और अतःकरण तो धबराए हुए हैं । इसमें कौन सी हेतुपूर्वक युक्ति है ? युक्ति तो कुछ भी प्रसिद्ध नहीं है, वास्तव में तो मरण ही योग्य है । यदि जीवन है, तो कोई न कोई साधन किया जाएगा, यह अप्रसिद्ध होने से ही 'कथञ्चन' कहा है । अर्थात् भगवान् के प्रमेय बल से अथवा भगवान् की इच्छा से ही जैसे-तैसे कुछ गोपियाँ प्राणों को धारण कर रही हैं, उनका दुःख तो प्रमेय बल भी नहीं मिटा सकता है, किन्तु वह प्रमेय बल धारण कराने वाला होकर रहा है, जिससे किसी तरह कठिनाई से प्राणों को धारण कर रही हैं । जब यों हैं, तो सन्देश भेजने से क्या होगा ? भगवान् आयेंगे, इतना मेरा सन्देश ही उनके जीवन अर्थात् प्राण बचाने का साधन है । वह साधन यदि पुराना हो जाएगा, तो अवश्य मरण ही होगा, अतः यों न होवे; इसके लिए दूसरा उपाय करना चाहिए । वह उपाय पत्र में स्पष्ट होगा अर्थात् पत्र पढ़ कर वे उस उपाय को समझ जाएंगी, जिससे उनका दुःख दूर होगा तथा प्राण भी नहीं जाएंगे । स्त्रियों के पास और उसमें भी फिर गुप्त सन्देश कहना, वैसे कार्य के लिए पुरुष कैसे भंजे जाते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वे गोपियाँ मेरी हैं, तुझ में तो मेरा सन्देह नहीं है और वे भी जो मेरी हैं और मेरी होने से उनका मन दूसरे में कभी नहीं जाता है, कारण कि मेरे सम्बन्ध का यह ही सामर्थ्य है । ये मेरी जो हैं, वे गोपों की स्त्रियाँ हैं । गोप अत्यन्त कामो होते हैं, जिससे वे सदैव स्त्रियों को कङ्कण की तरह दिन रात चारों तरफ घेरा कर बैठते हैं । नित्य स्त्रियों को सुख देते हैं । वैसे गोपों को भी त्याग कर जो मेरे पास आई हैं, वे दूसरों के पास कभी जाने की इच्छा भी न करेंगी । इस प्रकार की शङ्का भी उदय नहीं होती है । ठीक है, वे वैसी हैं, किन्तु मेरी ही उनमें अन्यथा बुद्धि हो जावे तो फिर मेरी कैसी गति होगी ? जिसके उत्तर में भगवान् कहते हैं कि मैं ही जिनकी आत्मा हूँ, वैसी वे हैं । अर्थात् वे मेरा ही रूप है, अतः उनमें मेरी ही बुद्धि होगी अर्थात् उनको तू मेरा ही रूप देखेगा, इसलिए तुम पुरुष हो और वहाँ जाते हो तो कोई चिन्ता नहीं है ॥६॥

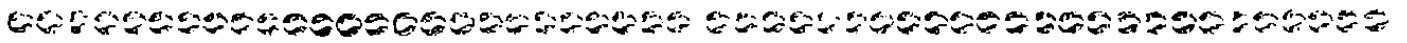
आभास—एवमुपपत्तिपूर्वकं व्रजगमनार्थमाज्ञप्तस्तथा कृतवानित्याह इत्युक्त इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने उद्धवजी को युक्ति पूर्वक व्रज जाने की आज्ञा दी, आज्ञा-नुसार उद्धवजी ने कार्य किया जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'इत्युक्त' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इत्युक्तं उद्धवो राजन्सन्देशं भर्तुरादृतः ।

आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥७॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा—हे महाराज ! भगवान् ने उद्धवजी को इस



प्रकार कहा । उद्धवजी ने स्वामी की आज्ञा को आदरपूर्वक मान लिया । तदनुसार रथ में बैठ कर नन्द के गोकुल को रवाने हुए ॥७॥

सुबोधिनी—राजन्निति । ईश्वराज्ञा सेवकं-
वश्यं कर्तव्येति ज्ञापनार्थम् । स हि उत्सवात्मकः
यत्रैव गच्छति तत्रैवोत्सवः । भर्ता हि स्वामी,
अनेन पातिव्रत्यं तस्योक्तम्, तेन निन्दास्तुतिः
लोकातिक्रमः परलोकादिबाधो वा सर्वमविगण्य

भर्तुः सन्देशमेवादाय नन्दस्य गोकुलं प्रययौ ।
तत्राप्यादरपूर्वकं परमपुरुषार्थं प्राप्त इव, भगव-
त्स्मरणेन मार्गं वैकल्ये गमनं बाधितं भविष्य-
तीति रथेन प्रययौ ॥७॥

व्याख्यान—शुकवदेजी ने परीक्षित को हे राजन् ! यह संबोधन देकर यह बताया है कि सेवकों को ईश्वर की आज्ञा अवश्य माननी चाहिए । वह^१ उत्सव रूप^२ हैं, जहां भी जाते हैं वहां उत्सव होता है । 'भर्ता'^३ कहते हैं स्वामी को यह पद देकर उद्धवजी का पतिव्रत धर्म सिद्ध किया है और उससे यह बताया है कि जिससे उद्धवजी निन्दा अंग स्तुति, लोकातिक्रम और परलोक की बाधा आदि की परवाह न कर स्वामी का सन्देश लेकर गोकुल गए । उसमें भी ऐसे आनन्द और आदर के साथ गए कि जैसे किसी को कोई परम पुरुषार्थ की ही प्राप्ति हुई हो । भगवत्स्मरण से विकलता के कारण मार्ग में जाते हुए कोई रुकावट हो जाए तो वहां पहुँच न सकूँगा, इसीलिए रथ में गए ॥७॥

आभास—गमनदिवसे सन्देशो वक्तुमशक्य इति आदौ नन्दश्च वक्तव्य इति स्मारकेण तासां विरहोधिको भविष्यतीति सन्ध्यायां गत इत्याह प्राप्त इति ।

आभासार्थ—जाने के दिन ही संदेश कहना अशक्य है और प्रथम नन्दजी को कहना अति-अशक्य है । उनको भगवत्स्मरण से विशेष विरह दुःख होगा, इसलिए सन्ध्या के समय गोकुल गए जिसका वर्णन 'प्राप्तो' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान्निम्लोचति विभावसौ ।

छन्नयानः निविशतां पशूनां खुररेणुभिः ॥८॥

१- उद्धवजी, २- सबका विस्मरण होकर आनन्द ही आनन्द हो ।

३- १. महान् होकर साधारण (दूत) कार्य करे, तो अज्ञ निन्दा करेंगे ।

२. अस्तुति—यह काम उद्धवजी के योग्य नहीं है, इस प्रकार 'अस्तुति' ।

३. लोकातिक्रम—यह उद्धव भी वैसा ही है, इस प्रकार लोक का किया हुआ ।

४. परलोक बाध—लोक भगवान् में दोषों का आरोपण करे, तो उन दोषों को सुनना, परलोक में रुकावट होए तथा आदि पद से यह भक्ति मार्ग में बाधा करे ।

यह सर्व उद्धवजी ध्यान में नहीं लाए; क्योंकि भगवान् स्वामी हैं, इसलिए उनकी आज्ञा में आदर होने से उद्धवजी गोकुल गए; ये आशय 'भर्ता' पद के हैं—'लेख'

श्लोकार्थ—सूर्यास्त होते ही श्रीमान् उद्धवजी नन्दजी के व्रज में पहुँचे। उस समय पीछे आते हुए पशुओं के खुरों की रज से उनका रथ आच्छादित हो गया था ॥८॥

सुबोधिनी—नन्दस्यैव व्रजं गतः, विशेषाकारेण कालस्य तथात्वात् अतिथिप्रकारेण गमन-माशङ्क्य निराकरोति श्रीमानिति सर्वसम्पत्ति-युक्तः। विभावसौ सूर्ये निम्नोचति अस्तं गच्छति सति, विशेषेण भाः कान्तिरेव धनं यस्येति योग-

प्राधान्यात् सूर्यवाचकोग्निवाचकश्च। अनेन सर्वेषां लौकिकवैदिककर्मणि वेद्यग्यात् स्वाज्ञानं सूचितम्। किञ्च। निविशतां पशूनां खुररेणु-भिश्छन्नयानः आच्छन्नरथः। प्रवेशे पशूनां वेगो भवति ॥८॥

व्याख्यानार्थ—नन्द के ही व्रज + में पहुँचे, विशेष आकार के काल* के कारण वैसी शङ्का हो सकती थी कि कोई अतिथि^१ आया है, किन्तु वह उस रूप^२ में नहीं है इसलिए श्लोक में 'श्रीमान्' विशेषण दिया है अर्थात् वह आने वाला सर्वसम्पत्ति युक्त है। जिससे सुन्दर वेशभूषा धारण किए हुए है। सूर्य के अस्त होते हुए वहाँ पहुँचे। 'विभावसु' शब्द का अक्षरार्थ होता है विशेष प्रकाश ही जिस पदार्थ का धन है, वह विभावसु हैं। अतः इस अर्थ से सूर्य वा अग्नि का ग्रहण किया जा सकता है, इससे यह बताया है कि गोकुलवासी अपने २ लौकिक और वैदिक* कार्य में लगे हुए हैं। अतः उद्धवजी ने बताया है, कि इस समय पहुँचने के कारण मेरे आने का ज्ञान किसी को भी न हुआ और विशेषतया इसलिए भी ज्ञान नहीं हुआ, जो मेरा रथ व्रज में आते हुए पशुओं के खुरों की रज से आच्छादित हो गया था। व्रज में आने के समय पशु वेग से आते हैं जिससे खुरों से रज जोर से उड़ती है, उस रज ने रथ को ढक दिया था ॥८॥

आभास—भगवद्रहितत्वात् पञ्चधा वर्णयति गोकुलम्। ऐश्वर्यरहिता अन्ये गुणाः सन्ति, वीर्यं कामे प्रतिष्ठितमिति। तत्र पशूनां कामलीलामाह वासितार्थ इति।

आभासार्थ—व्रज में भगवान् के प्रकट न रहने से ऐश्वर्य गुण* के सिवाय शेष पाँच गुण हैं, जिससे गोकुल का पाँच प्रकार से वर्णन करते हैं। वीर्य काम में स्थित है; अतः 'वासितार्थ' श्लोक से पशुओं की काम लीला कहते हैं।

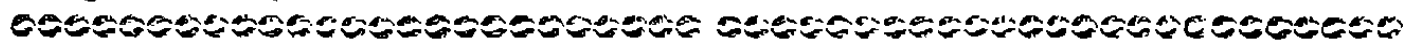
+ लेखकार कहते हैं कि सन्ध्या समय होने से नन्द के व्रज में जाना ही उचित था, कारण कि उस समय गोपियाँ मिलती नहीं; क्योंकि भगवान् के आने का समय है।

* प्रकाशकार कहते हैं कि विशेष आकार काल कहने का आशय है कि भगवान् के आने का समय था।

१- अभ्यागत; २- अतिथि रूप।

* लेखकार कहते हैं कि सूर्य अस्त के समय लोग अपने कार्य में व्यग्र होते हैं। यदि 'विभावसु' शब्द अग्निवाचक है; तो उस समय अग्निहोत्री वैदिक कर्म में व्यग्र रहते हैं।

* लेखकार कहते हैं कि गोकुल में भगवान् भक्तों के हृदय में विराजते हैं, इसलिए वहाँ ऐश्वर्य गुण प्रकट नहीं है।



श्लोक—वासितार्थेऽभियुद्धचङ्घ्रिर्नादितं शुष्मिभिवृषैः ।

धावन्तीमिश्र वास्राभिरुधोभारैः स्ववत्सकान् ॥६॥

इतस्ततो विलङ्घ्यङ्घ्रिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितं ।

गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च ॥१०॥

श्लोकार्थ—रज वाली गायों के वास्ते मदोन्मत्त बैल आपस में लड़ते हुए नाद कर रहे हैं । दूध से भर जाने के कारण भारी हुए थनों के भार से चलने में असमर्थ होते हुए भी गाय अपने बछड़ों को न देख, उनके लिए दौड़ रही हैं । इधर-उधर कूदते-फांदते गायों के सफेद बछड़ों से शोभित और गौश्रों के दोहन के शब्द की ध्वनि से तथा वेणु की ध्वनि से शोभित ॥६-१०॥

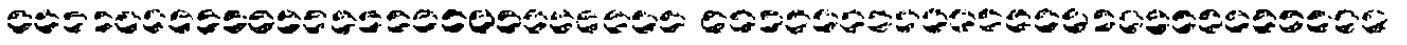
सुबोधिनी—शुष्मिभिर्मत्तवृषैर्नादितम् । तेन पितरोऽपि तृप्यन्तीति प्रसिद्धिः । स च नादो जयपूर्वक इति वक्तुं युद्धमाह युद्धचङ्घ्रिरिति । वासिता भोगयोग्या गौः यथा ऋतुकाले स्त्री, सा विरलैव भवतीति तदर्थं बहवो वृषा युद्धं कुर्वन्ति । वृषभाणामुक्त्वा गवामाह धावन्तीभिरिति । वास्राः सद्यःप्रसूता धेनवः स्ववत्साः ताः पुनः इतस्ततो धावन्ति वत्सादर्शनात् । अथवा वास्राभिर्धेनुभिश्च नादितं ऊधसो भारेण धावनमशक्यमिति, तथापि धावनं प्रेमाधिक्यात्, तद्वीर्यमेव

स्त्रीपुरुषैर्निरूपितम् । स्ववत्सकानन्यान् स्थूलांश्चिलङ्घ्यङ्घ्रिः गोवत्सैर्विशेषेण लङ्घ्यङ्घ्रिर्मण्डितम्, वत्सकान् प्रति धाव्यङ्घ्रिर्धेनुभिर्मण्डितम्, तानेव विलङ्घ्यङ्घ्रिः गोवत्सैश्च मण्डितम् । इतस्तत इति श्रीवर्णनम्, श्वेतगोवत्सैः शोभातिशयो भवतीति, गोदोहशब्देन अभितो रवो यत्र । वेणूनां निःस्वनेन च मण्डितम्, स्वरूपतः शोभा धनं श्रीकार्यं च वीणादिवादनवद् वेणुवादनमपि श्रीकार्यमेव । चकाराद्वीणादिवाद्यान्यपि ॥६-१०॥

व्याख्यानार्थ—मदोन्मत्त बैल नाद करते हैं, जिससे पितर भी तृप्त+होते हैं यों प्रसिद्धि है । वह नाद जय होने से करते हैं, अतः युद्ध का वर्णन करते हैं । जिस प्रकार ऋतुकाल में स्त्री भोग योग्य होती है वैसे भोग योग्य अर्थात् रज वाली गौ स्वल्प होती है, बैल बहुत होते हैं इस कारण से परस्पर लड़ते हैं इस प्रकार बैलों का वर्णन कर गायों का वर्णन करते हैं, ताजा ब्याई हुई बछड़े वाली गायें बछड़ों को न देखकर उनसे मिलने के लिए इधर उधर दौड़ती हैं और ध्वनि करती हैं, जिससे ब्रज नादित हो रहा है । यद्यपि थनों में भरे दूध के भार से दौड़ना अशक्य सा है तो भी बछड़ों में प्रेम होने से दौड़ रही हैं । स्त्री^१ और पुरुष^२ दोनों का वर्णन करने से 'वीर्य' गुण का वर्णन किया है ।

+ लेखकार का आशय—यह 'वृषोत्सर्ग' प्रकरण में कहा है । यह काम लीला धर्म से विरुद्ध नहीं है; क्योंकि धर्मानुकूल काम विभूती रूप है; जैसे कहा है कि 'धर्मा विरुद्ध' ।

१- गाय; २- वृष (साण्ड) ।



बछड़ों सहित अन्य स्थलों का भी उल्लङ्घन करने वाले बछड़ों से व्रज सुशोभित हो रहा है बछड़ों की तरफ दौड़ती गौओं से शोभित, उनका भी उल्लङ्घन करने वाले अन्य बछड़ों से गोकुल सुशोभित है। जहां तहां वैसी शोभा कहने से श्री गुण का वर्णन किया है। गौओं के सफेद बछड़ों से विशेष शोभा हो रही है। जिस गोकुल में चारों तरफ गौओं के दोहन की ध्वनि सुनी जाती है और वेणु का मधुर अव्यक्त स्वर सुनने में आता है, जिनसे गोकुल सुशोभित है। स्वरूप से जो शोभा है, वह धन तथा श्री का कार्य है। वीणा आदि वादन की भाँति वेणु का वादन भी श्री का कार्य ही है। यहां 'च' का आशय है कि यहां वीणा आदि वाद्य भी शोभाजनक बजते हैं ॥६-११॥

श्लोक—गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः ।

स्वलङ्कृताभिर्गोपिभिर्गोपैश्च सुविराजितम् ॥११॥

श्लोकार्थ—सुन्दर वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित गोपियाँ तथा गोप राम और कृष्ण के माङ्गलिक चरित्र गाते थे, जिससे भी गोकुल नगरी शोभा वाली हो रही थी ॥११॥

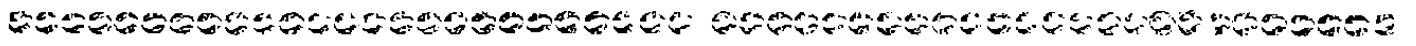
सुबोधिनी—गायन्तीभिश्चेति । बलकृष्णयोः शुभानि कौतुकलीलाकर्माणि, गोकुलवासिनामुत्सवनिरूपणार्थं कर्मणां शुभत्वं निरूपितम्, त्यक्त्वा गत इत्यपि कर्म भवति, तथापि स्वस्य हितकरं न भवति तद्व्यावृत्त्यर्थं वा, गानं च यशो-

रूपं स्त्रियश्चेद्गायन्ति । अन्यथा भगवद्गुणगानस्य विहितत्वात् धर्मत्वमेव स्यात् । अतो गोपा(न्) गोपीश्च वर्णयति, स्वलङ्कृताभिः गोपीभिः गोपैश्च स्वलङ्कृतैः सुष्ठु विराजितमिति ॥११॥

व्याख्यानार्थ—बलराम और श्रीकृष्ण के शुभ कर्म अर्थात् जो-जो कौतुक लीलाएँ उन्होंने की हैं; वे सब शुभ हैं। कारण कि गोकुलवासियों को ये आनन्द देने वाली हैं। गोकुल को छोड़ मथुरा गए, यह भी कर्म है; तो भी अर्थात् जाने से वियोग हुआ है; किन्तु वह कर्म जब गोपियाँ गाती हैं, तब परम आनन्द देता है और वह गान यदि स्त्रियाँ गाती हैं, तो यश रूप* हो जाता है। यदि स्त्रियाँ नहीं गावें, तो भगवद्गुणगान करना यह शाल की आज्ञा है; अतः वह धर्म रूप ही होता है। गोप और गोपियाँ जो गुणगान करती हैं; वे कैसे रूप से करती हैं? जिसका वर्णन करते हैं कि गोप-गोपी दोनों ने अपने को सुन्दर वस्त्र तथा अलंकारों से अलंकृत कर फिर प्रेम से भगवत् लीलाओं का गान करते थे। इस प्रकार गोकुल पाँच प्रकार से मण्डित हो रहा था, जिस समय कि उद्धवजी पधारे थे ॥११॥

आभास—ज्ञानार्थं धर्ममाह प्रवृत्तिस्वभावमेव ज्ञानं उपयोगीति, अन्यर्कातिथीति ।

* लेखकार कहते हैं कि स्त्रियाँ गाती हैं तो यश रूप होता है और पुरुष तो गुणगान धर्म बुद्धि से भी करते हैं। अर्थात् स्त्रियाँ धर्म समझकर नहीं गाती हैं; अतः वह यश रूप ही होता है—अनुवादक



आभासार्थ - ज्ञान के लिए धर्म को कहते हैं। ज्ञान वह उपयोगी + है, जो प्रवृत्ति स्वभाव वाला हो; जिसका वर्णन 'अग्न्यर्क' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—अग्न्यर्कतिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः ।

धूपदीपैश्च मात्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—गोकुल में अग्नि, सूर्य, अतिथि, गौ, ब्राह्मण, पितर और देवताओं का सम्मान हो रहा है तथा धूप, दीप, माला आदि से गोपों के घर मनोहर हो गए हैं ॥१२॥

सुबोधिनी—अग्नयः अग्निहोत्रादिना पूज्यन्ते । अर्कः सन्ध्यावन्दनादिभिः, अतिथयः पूज्यन्त एव, गावो व्रतादौ दाने च, तथा विप्राः, पितृवृणां देवतानां च नैमित्तिके अर्चनम्, अनेन श्रौतः स्मार्तश्च धर्मस्तत्र वर्तत इति निरूपितम्, देवता हविर्मन्त्राश्च श्रौते निरूपिताः । पितरो देवा स्मार्त

श्राद्धे होमे च । तान्त्रिकधर्मोपि तत्र वर्तत इति ज्ञापयितुमाह धूपदीपैश्च मात्यैश्चेति, अर्चनायामन्वितैर्धूपादिभिविराजितं मनोहरं वा, व्रजस्य गृहाः सुन्दरा न भविष्यन्तीति धर्मप्रस्तावे आघारत्वेन निरूपितम् । गोपानामावासैरुत्तमगृहैः मनोरमं सर्वेषामेव मनोरतिजनकम् ॥१२॥

ध्याख्यार्थ—अग्निहोत्र आदि से अग्नि का पूजन हो रहा है । सन्ध्यावन्दन आदि से सूर्य पूजे जाते हैं । अतिथियों की पूजा हो रही है, व्रत तथा दान के समय गौ पूजी जाती है । इस प्रकार ब्राह्मण भी पूजे जाते हैं । पितर और देवों की पूजा किसी निमित्त होने पर होती है । इससे सिद्ध होता है कि गोकुल में श्रौत और स्मार्त दोनों धर्म होते हैं । देवता, हवि और मन्त्र ये तीन श्रौत धर्म में निरूपित हैं । पितर तथा देवता, स्मार्त कर्म जो श्राद्ध और होम है; उसमें आते हैं । वहाँ तान्त्रिक धर्म भी है, जिसका निरूपण करते कहते हैं कि पूजन में धूप, दीप, पुष्प आदि लाए जाते हैं, जिनसे गोपों के घर मनोहर लगते हैं । साधारण रीति से गोपों के घर सुन्दर नहीं होते हैं, अतः वहाँ इस प्रकार धार्मिक प्रस्तावों के होने से वे गोप गृह भी सबके मन को रञ्जन करने वाले हुए हैं ॥१२॥

आभास—वैराग्यं निरूपयन् गृहे उद्वेगे बहिर्निर्गतस्य महत्सौख्यं तत्रेति वदन् आह सर्वतः पुष्पितवनमिति ।

आभासार्थ—वैराग्य का निरूपण करते हुए कहते हैं कि घर में उद्वेग होने पर जो बाहर निकल आता है, उसको वहाँ महान् आनन्द की प्राप्ति होती है; जिसका वर्णन 'सर्वतः' श्लोक में करते हैं ।



श्लोक—सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम् ।

हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मखण्डैश्च मण्डितम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—चारों तरफ फूल खिले हैं, जिनमें वैसे वन हैं; जिन वनों में पक्षी कूज रहे हैं और भ्रमर गुञ्जार कर रहे हैं और कमलों के वन में हंस और कारण्डव पक्षी व्याप्त हो रहे हैं, जिससे वह शोभित है ॥१३॥

सुबोधिनी—सर्वतः पुष्पितानि वनानि यत्र ।
अत्र वनशब्देन उपवनप्रायाणि वनानि जलानि
चोच्यन्ते । पुष्पाणामत्युत्कृष्टत्वाय तद्गन्धरसा-
भिज्ञानिरूपयति द्विजानामलीनां च कुलैर्नादित-

मिति, जलस्थानामुत्कर्षं वक्तुं विशेषमाह हंसैः
कारण्डवैराकीर्णमिति । मुख्यानि पद्मानि
पद्मखण्डैः पद्मसमूहैः मण्डितमिति ॥१३॥

व्याख्यार्थ—चारों तरफ फूलों से युक्त वन हैं यहाँ 'वन' शब्द से अधिक उपवन वाला और जल प्रायवन कहा है । वन के पुष्प बहुत सुन्दर तथा गन्धवाले हैं । जिनकी पुष्टि में कहते हैं कि उनके गन्ध के रस जानने वाले पक्षी वहाँ कलरव करते हैं तथा भ्रमर गूँज रहे हैं । जल के स्थानों की विशेषता दिखाने के लिए कहते हैं कि हंस और कारण्डव पक्षी वहाँ सर्वत्र व्याप्त हो रहे हैं । मुख्य पद्म से, पद्म खण्डों से और पद्म समूहों से वन सुशोभित हैं ॥१३॥

आभास—एवं व्रजं वर्णयित्वा तादृशे गतस्य पूजादिकमाह तमागतमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार व्रज का वर्णन किया, वैसे व्रज में गए हुए उद्धवजी का पूजादि से सत्कार किया जिसका वर्णन 'तमागत' श्लोक में करते हैं ।

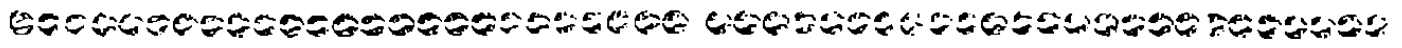
श्लोक—तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम् ।

नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत् ॥१४॥

भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपो सुखम् ।

गतश्रमं पर्यपृच्छत् पादसवाहनादिभिः ॥१५॥

श्लोकार्थ—नन्दजी श्रीकृष्ण के अनुचर तथा प्रिय उद्धवजी को आते देख, उनके सामने आए तथा प्रसन्न होकर उनका आलिङ्गन किया, अनन्तर वासुदेव मेरे घर पधारे हैं, इस बुद्धि से उनका पूजन किया । सुन्दर व्यंजन खिलाए, पश्चात् सुखपूर्वक पलङ्ग पर बैठाया । पाँव दाबने से जब उनकी थकावट दूर हुई, तब उनसे पूछने लगे ॥१४-१५॥



सुबोधिनो—सम्यगासाधायै गत्वा । तत्र हेतुद्वयं कृष्णस्यानुचरम् । पूर्वमपि प्रियमिति । अतो मन्दः आगमनेनैव प्रीतः अनेन स्वशेषस्वमुक्तम् । परिष्वज्येति स्वसमानत्वम् । वामुदेवधिया भगवत्सेवके भगवद्बुद्धिः कर्तव्येति तद्बुद्ध्या अर्चयति 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इति वाक्यात् ॥१४॥

विजातीयत्वात् परमान्नेन पायसेन भोजनमिति केचित् । वस्तुतस्तूत्कृष्टेनान्नेन । ततः कक्षिणौ पत्यङ्के नूलिकायां सुखमुपविष्टमित्युपलक्षणतया राजोपचारा निरूपिताः । ततो गतश्रमं स्वयमन्येन वा पादसंवाहनादिभिः कुशलं पर्यपृच्छत् तस्य तु कुशलं स्वामिकुशलेनैवेति भगवन्तं पृच्छन् आदौ स्वमित्रं वसुदेव पृच्छति, परिशब्दार्थः ॥१५॥

व्याख्यार्थ - नन्दजी उद्धवजी के आते समय उनके (आदरार्थ) स्वागत के लिए पास गए । उसके दो कारण हैं, एक वे श्रीकृष्ण के अनुचर^१ हैं और दूसरे उनके प्रिय मित्र हैं, अतः नन्दरायजी ने उनके आने की प्रसन्नता प्रकट करने से यह सूचित किया कि मेरे लिए पधारें हैं, जिससे समानता जानकर आलिङ्गन किया । उनकी पूजा वामुदेव की बुद्धि से करने लगे, कारण कि भगवान् के सेवक में भगवद्बुद्धि करनी चाहिए, इस शास्त्रीय सिद्धान्त को नन्दजी जानते हैं, जैसा कि कहा है (यो यच्छ्रद्धः स एव सः) जो जिसमें जैसी श्रद्धा रखता है, उसके लिए वह वैसा ही हो जाता है, इसलिए उद्धवजी में नन्दराय ने कृष्ण बुद्धि की, तो, उसके लिए वह कृष्ण ही हो गया, अतः पूजा की ॥१४॥

पूजा के बाद सुन्दर अन्नादि से बनाए पक्वान्नों का भोजन कराया । किसी की राय है कि उद्धवजी दूसरी जाति अर्थात् क्षत्रिय थे और नन्दजी वैश्य थे इसलिए दूध की बनी वस्तुओं से भोजन करवाया था । पश्चात् कोमल आस्तरण^२ किए हुए पलङ्ग पर बैठाया जिससे यह सिद्ध हुआ कि नन्दजी ने उद्धवजी का आदर राजाओं के समान किया है । अनन्तर स्वयं नन्दजी ने अथवा दूसरे के द्वारा पांव दाव कर उनकी थकावट दूर की, इत्यादि प्रकार से सत्कार कर पोछे कुशल पूछने लगे । उसका कुशल तो स्वामि के कुशल पूछने में ही पूछा माना जावेगा । भगवान् की कुशलता पूछने के पहले अपने मित्र वसुदेव को कुशल पूछते हैं । यह भावार्थ 'परि' शब्द का है, यदि केवल भगवान् को कुशल हो पूछनी होती तो श्लोक में 'अपृच्छत्' कहते किन्तु 'परि' शब्द से उनके सम्बन्धियों की भी कुशल पूछनी आवश्यक है ॥१५॥

आभास—तदेवाह कच्चिदङ्गेति ।

आभासार्थ—वही 'कच्चिदङ्ग' श्लोक से कहते हैं, अर्थात् वसुदेवजी की कुशल पूछते हैं—

श्लोक—कच्चिदङ्ग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः ।

आस्ते कुशल्यपत्याद्यर्थुक्तो मुक्तः सुहृदृतः ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे परम प्रिय ! हे महाभाग ! हमारे मित्र शूरसेन का पुत्र वसुदेव वहाँ रहता है, वह बन्धन से छूट पुत्र आदि बाँधवों के साथ कुशल तो है ? ॥१६॥

सुबोधिनी—हे श्रद्धा परमस्निग्ध भगवद्भक्त-
त्वात् महाभाग नः सखा शूरस्य नन्दनः वसुदेव
अपत्याद्यैर्युक्तः बन्धनान्मुक्तः सुहृद्भिश्च वृतः
कुशल्यास्त इति । अनेन रोहिण्याद्यास्तत्रैव गता
इति ज्ञापितम् । अन्यनोपि समागताः पुत्रादयश्चे-

त्यपि पृष्टम् । स्वस्य सलित्वेन पुत्रस्थापनकन्या-
नयनादिभिः वैमनस्यं परिहृतं परमानन्दः प्रापित
इति । शूरनन्दन इति पितृनाम्ना तस्य स्वतो
महत्त्वमुक्तम् । मुक्त इत्यनुवादोपि सर्वचिन्ताव्या-
वृत्त्यर्थः ॥१६॥

व्याख्यार्थ - नन्दजी कहते हैं कि हे उद्धवजी ! आप कृष्ण के परम प्यारे मित्र हो और भगवान् के भक्त हो अतः भाग्यवान् हो । बताइये, हमारे मित्र शूरसेन के पुत्र वसुदेवजी पुत्र आदि से युक्त बन्धन से छूटने के बाद बान्धवों के साथ कुशल तो हैं ? यो कहने से रोहिणी आदि वसुदेवजी के यहां गई है, यह बताया है । अन्य स्थानों पर जो पुत्र आदि सम्बन्धी थे वे भी आगए हैं, अतः उनकी भी कुशल पूछी है । वसुदेव अपना मित्र है, अतः यहाँ पुत्र को स्थापना करके और कन्या को ले जाने से मन की चिन्ता दूर कर मुझे परमानन्द दिया है । वसुदेव शूर का पुत्र है, इसलिए ही उसका महत्व है । बन्धन से 'मुक्त' हुए इसका पुनः कहना भी समस्त चिन्ता की निवृत्ति के लिए है ॥१६॥

आभास—अतः परं भगवत्कुशलं पृच्छन् आदौ प्रातीतिकं दोषं परिहरति दिष्ट्या
कंस इति ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर भगवान् की कुशल पूछने से प्रथम प्रतीत होने वाले दोष का निवारण 'दिष्ट्याकम्' श्लोक से करते हैं।

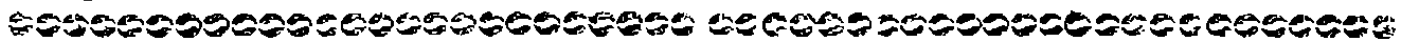
श्लोक—दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना ।

साधूनां धर्मशीलानां यद्वृत्तां द्वेष्टि यः सदा ॥१७॥

श्लोकार्थ—प्रमत्तता है कि पापी कंस अपने भाईयों के साथ अपने पाप से ही नाश हुआ, जो धर्मात्मा प्रादवों से सदा वैर रखता था ॥१७॥

सुबोधिनी—कंसो यो हतः सानुगो भ्रातृ-
सहितः तद्दिष्ट्या आमयरूप इत्यशक्य इति च
इन्द्रादीनामप्यशक्य इति । मातुलो भगवता हत
इति । तदर्थमाह स्वेन पाप्मना हत इति । भग-
वतापि मारणपक्षे दोषाभावाय पाप इति । तस्यो-
त्कटं पापमाह साधूनां धर्मशीलानां यदूनां
द्वेष्टीति । पण्ड्या तन्सम्बन्धि सर्वमेव द्वेष्टीति

निरूपितम् । साधूनामिति ज्ञानमार्गोत्कषः धर्म-
शीलानामिति कर्ममार्गो, यदूनामिति भक्तौ, अतः
सन्मार्गमात्र एव तस्य द्वेष्ट्य इति ! उत्कटं पापं
तद्वधश्च युक्त एवेति निरूपितम् । कार्यवशात्
कादाचित्को द्वेषः नात्यन्तं विगीत इति सदेति ।
॥ १७ ॥



व्याख्यानार्थ—कंस, जो भाईयों के साथ मरा, यह प्रसन्नता है। वह रोग के समान था, इस से भष्ट होना कठिन था। इन्द्र आदि से भी, जिसका मारना अशक्य था। भगवान् ने मामे को मारा, किन्तु वास्तव में वह अपने पापों से ही मरा है। भगवान् ने मारा इस पक्ष में भी दोष के अभावार्थ श्लोक में कंस का विशेषण 'पापः' देकर बताया है कि वह पापी होने से मरा है। भगवान् तो काकतालीयस्यापवत् मारक हुए हैं। साधारण पापी नहीं था, किन्तु महान् पापी था, क्योंकि साधु स्वभाव वाले, धर्मिमा और यादवों का शत्रु था, अर्थात् ज्ञान, कर्म तथा भक्ति तीनों का द्वेषी था। साधु कहने से ज्ञान मार्ग का उत्कर्ष बताया, ऐसे का शत्रु था। धर्म शील पद से कर्म मार्ग की श्रेष्ठता बताई, उसका भी द्वेषी था और यदु शब्द से भक्ति का गौरव कहा। वैसे भक्ति का भी बैरी था, जिससे यह प्रकट हुआ कि वह समस्त सन्मार्गों का ही शत्रु था। उत्कट पापी था, अतः उसका वध योग्य ही था, इसलिए वैसा निरूपण किया है। किसी कार्य से किसी समय किसी से द्वेष हो वह अत्यन्त निन्दनीय नहीं है किन्तु यह सदा ही सन्मार्गों का बैरी था जिससे निन्दनीय तथा भारणीय है ॥१७॥

आभास—एवं दोष परिहृत्य भगवद्गुणान्नवभिर्वक्तुं तस्य भक्तरक्षा तद्गुणानामाधिक्यं पराक्रमाश्चोच्यन्ते। एवं सति दशभिर्गुणातीतेन सह कुशलमुक्तं भवति। तत्र प्रथमं अस्माभिर्निरन्तरं स्मर्यते तत्स्मारकाणां बहूनां विद्यमानत्वात्तथापि किं स स्मरति न वेति स्मारकाभावात् पृच्छति अपीति।

आभासार्थ—इन दोषों का परिहार कर अब भगवान् के भक्तों की रक्षा, गुणों की उत्तमता और पराक्रम आदि गुणों का वर्णन भी श्लोकों में करते हैं। एक में दोषाभाव^१ का वर्णन किया, इस प्रकार दश श्लोकों से गुणातीत के साथ कुशल कहा है। उनमें प्रथम कहते हैं कि हम निरन्तर स्मरण कर रहे हैं क्योंकि यहाँ उनके स्मरण कराने वाले बहुत हैं। वह याद करता है या नहीं? क्योंकि वहाँ कोई भी ऐसा नहीं जो हमारी याद करावे, इसलिए पूछते हैं और उसका विवरण 'अपि स्मरति' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन्।

गोपान्नजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—भला कभी कृष्ण हमको याद करते हैं? तथा माता, सुहृत्, सखा, गोप, आप ही जिसके नाथ हैं, वैसे ब्रज, गौ, वृन्दावन और गोवर्द्धन पर्वत; उनको भी याद करते हैं? ॥१८॥

१- मुश्किल,

२- 'दिष्ट्या कंसो हतः' श्लोक में दोषा भाव का वर्णन है।



बुद्धोपनिषद्—अपि: सम्भावनायाम् न: अस्मान् ।
कृष्णेति स्नेहेन नामग्रहणम् । स्मारकाभावात्
कथं स्मरणमित्याशङ्क्य सम्बन्धानाह मातर-
मिति । आदिपदैश्चिन्तात्र संस्कारोद्बोधिका
निरूपिता । मातरं यशोदाम्, नः इति पूर्वं स्वा-
त्मानमुक्तवान्, बहुवचनं तु सर्वपेक्षम्, सुहृदः

अस्मानन्यांश्च उपनन्दादीन्, सखीन् मित्राणि
गोपालान्, व्रजं स्थानम्, तस्य स्मरणे हेतुः
आत्मनाथमिति । आत्मैव नाथो यस्येति । पाल्य-
मानत्वाद्गावः गा इत्यर्थः । क्रीडास्थानं वृन्दावनं
विशेषलीलाधारो गोवर्द्धन इति गिरिम् एवमष्टौ
स्मरणहेतवः ॥१८॥

व्याख्यानार्थ—यहां 'अपि' शब्द का अर्थ 'सम्भावना' में है कि शायद कृष्ण हमको याद करते हैं ? 'कृष्ण' यह नाम स्नेह से ग्रहण किया है । कृष्ण स्मरण करते हैं ? यों इसीलिए पूछा जाता है कि वहां कोई ऐसा नहीं है जो हमारा स्मरण करावे । स्मरण कराने वाले के सिवाय स्मरण नहीं होता है । यों कहकर फिर यहां वालों के साथ श्रीकृष्ण का तो सम्बन्ध है, वह बताते हैं । जैसे कि माता यहां है यह सम्बन्ध तो स्मारक है । सदृश, अदृष्ट और चिन्ता आदि की वस्तुएँ स्मारक होती हैं । उनमें से यहां सदृश का अभाव है । अदृष्ट भगवान् में होता नहीं है । शेष चिन्ता यहां स्मारक हो सकती है, कृष्ण हमारी याद करे, उसके आठ हेतु हैं । वे इस प्रकार दिखाये जाते हैं—(१) माता यशोदा, (२) हम, पहले अपने को कहा और बहुवचन कहकर सर्व की अपेक्षा कह दी, अर्थात् सब की तरफ से मैं कह रहा हूँ, इसलिए बहुवचन दिया है । (३) सुहृदः, (४) सखा गोप, (५) व्रज (रहने का स्थान), (६) गो, (७) वृन्दावन और (८) गोवर्द्धन पर्वत । व्रज के कहने से सर्व व्रजवासी का भाव प्रकट किया है । उसके स्मरण में यह विशेष हेतु हैं कि आप उसके स्वामी हैं । गायों के स्मरण में मुख्य कारण यह है कि उनके पालक आप हैं । वृन्दावन क्रीडा का स्थान है और गोवर्द्धन गिरि विशेष लीलाओं का आधार^३ है । ये सब कृष्ण के चिन्ता के पदार्थ हैं, इसलिए ये स्मारक हैं । अतः शायद वे याद करते होंगे, इसलिए 'अपि' संभावना में दिया है ॥१८॥

आभास—स्मरतीत्युत्तरं प्राप्याह अप्यायास्यतीति ।

आभासार्थ—उद्धवजी ने कहा कि याद करते हैं, इस पर यह श्लोक कहकर पूछते हैं कि 'अप्यायास्यति' ।

श्लोक—अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान्सकृदोक्षितुम् ।

तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—भला कृष्ण एक बार भी स्वजनों को देखने के लिए आवेंगे ? जो आवेंगे तो आपके सुन्दर नासिका वाले तथा सुन्दर, स्मित^४ एवं नेत्रों वाले मुखारविंद को देखेंगे ॥१९॥

१- हो सकता है, २- सम्बन्धी-उपनन्द आदि, ३- स्थान
४- मन्द हास्य ।



सुबोधिनी—यो हि यत्स्मरति सर्वदा स तद-
भिलाषी सन् तत्र गच्छति, अतोत्रापि सम्भावना।
नन्वत्र गुणभावः तत्र च राज्यमिति कथमागमन-
मिति चेत्तत्राह गोविन्द इति । देवादिभिः सर्वे-
रेवात्रेन्द्रत्वेन स्थापितः । किञ्च । स्वजनानिति ।
स्वजना हि द्रष्टव्याः, यद्यपि बहुधैवागमनमुचितं
सकृदध्यायास्यतीति परमोभिलाषो द्योतितः ।

आयास्यतीत्युत्तरे मनोरथमाह तर्हि द्रक्ष्याम
तद्वक्त्रमिति । ईश्वरप्रेरणाभावात् आज्ञाभावाच्च
गमनमसम्भावितम्, यतस्ते निरुद्धाः, आगमनमेव
हि निरोधज्ञापकम् । सुनसमिति सौन्दर्यं निरू-
पितम् । सुस्मितसहितमोक्षणं यत्रेति तस्य सर्व
कृपादिभावा निरूपिताः । नित्यं निरीक्षितमिति
प्रेमाधिक्यात् कामितमिव जातम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ— जो जिसको याद करता है, उसको उसकी अभिलाषा होती है । जिससे स्मरण कराने
वाला उसके पास जाता है अतः यहां भी ऐसी संभावना है, अर्थात् आवेंगे, यह शङ्का नहीं करनी
चाहिए कि यहां गुण भाव है । वहां तो राज्य है, इसलिए कैसे आना होगा ? यहां भी राज्य है,
वयोंकि समस्त देवों ने यहां आपको 'इन्द्र' पदवी दी है । जिससे आप 'गोविन्द' कहलाते हैं । इसके
अलावा यहां स्वजन रहते हैं, उनको देखना चाहिए । यद्यपि उन्हें कई बार आना चाहिए अन्यथा
एक बार भी आएंगे तो सही, इस प्रकार नन्दजी ने अत्यन्त अभिलाषा प्रकट की है । आवेंगे, ऐसा
उत्तर मिलने की आशा से अपने मन के भाव प्रकट करते हैं कि जब पधारेंगे तब उनके मुखारविन्द
के दर्शन होंगे ।

ईश्वर की प्रेरणा तथा आज्ञा के अभाव से गमन की संभावना नहीं दीखती है । कारण कि
वे निरोध किए हुए हैं । आगमन ही निरोध का ज्ञापक है, जो निरुद्ध हैं, उनको भगवदिच्छानुसार
ही सब कुछ करना चाहिए । 'सुनस' शब्द से भगवान् की सुन्दरता का वर्णन किया है । 'सुस्मिते-
क्षणम्' शब्द से सर्व कृपा आदि भाव बताए हैं' वैसे मुखारविन्द का अधिक प्रेम से नित्य देखने के
कारण कामित^२ के समान वे हो गए हैं^१ ॥१६॥

आभास—अस्माकं तु तत्स्मरणं सर्वदैव स्मारकाणां बहुत्वादिति वक्तुं भगवत्कृ-
तोपकारान्निदिशति दावाग्नेरिति ।

आभासार्थ—यहां स्मरण कराने वाले बहुत हैं, अतः हमको तो उनका सदैव स्मरण होता
रहता है । यह बताने के लिए भगवान् ने लीलाए कर जो जो उपकार किए उनको 'दावाग्नेः' आदि
श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः ।

दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना ॥२०॥

१- यहाँ गायों को चराता है, २- कामना से प्राप्त वस्तु ।

+ लेखकार 'नित्य' शब्द का भाव प्रकट करते हैं कि 'मुखारविन्द' में
निरीक्षित भी प्राप्त ही है ।



श्लोकार्थ—देखो महात्मा कृष्ण ने दावानल, वायु सहित वर्षा, अरिष्टासुर, सुदर्शन सर्प और अन्य अनेक दुरत्यय मृत्यु से हमारी रक्षा की है ॥२०॥

सुबोधिनी—साक्षान्नन्देन यावद्दृष्टं तावद्गणयति विशेषतः । दावाग्निः कालियन्हृदे । चातवर्षाद् गोवर्द्धनोद्धरणे वृषोरिष्टः सर्पः सुदर्शनः । चकारात्सर्वे श्रुताः सङ्गृहीताः । द्वितीयचकारेण वरुणाद्युपद्रवात् । किंबहुना दुरत्यये-

म्यो मृत्युभ्यः ये मृत्यवोऽप्रतीकार्याः कंसादयो दावानलादय एव वा । कृष्णेन सुमहात्मनेति फलरूपेण साधनरूपेण च, आत्मत्वादुपकारानपेक्षत्वं महत्वाद्वहूपकारत्वम् । एवमप्यप्रार्थितमपि सर्वमेव हितं करोतीति सुष्ठुत्वम् ॥२०॥

व्याख्यानार्थ—नन्दजी ने जो देखे बहुत कर उनकी गणना करते हैं । कालीय हृद पर दावाग्नि से, गोवर्द्धन के उठाने के समय, अरिष्ट, सुदर्शन सर्प और 'च' शब्द से अन्य जो भी सुने हैं वे भी ग्रहण कर लिए जाय, दूसरे 'च' शब्द से वरुण आदि के उपद्रव से, विशेष क्या कहें जो भी मृत्यु दुरत्यय है, अथवा कंस और दावानल आदि मृत्यु कर्ता हैं, उन सर्व संकटों से, महात्मा कृष्ण ने अपने फल रूप तथा साधन रूप से रक्षा की है । आप हमारी आत्मा ही हैं, उपकार की अपेक्षा नहीं की है तथा महान् हैं, जिससे बहुत उपकार किये हैं । महात्मा शब्द के पूर्व 'सु' शब्द का भाव प्रकट करते हुए कहते हैं कि प्रार्थना करने के सिवाय भी सर्व प्रकार हित ही करते हैं, इसलिये आप उत्तम हैं ॥२०॥

आभास—तहि कथं न गम्यत इत्याशङ्क्याह स्मरतामिति ।

आभासार्थ—जब इस प्रकार उन्होंने उपकार किये हैं, तब क्यों नहीं आप वहां जाते हैं ? यों शङ्का हो तो उसका उत्तर 'स्मरतां' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरोक्षितम् ।

हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः ॥२१॥

श्लोकार्थ—हम श्रीकृष्ण का पराक्रम, लीला से कटाक्ष सहित देखना, हंसना तथा भाषण आदि का स्मरण करते हुए क्रियामात्र करना भूल जाते हैं; अतः नहीं जा सकते हैं ॥२१॥

सुबोधिनी—कृष्णवीर्याणि स्मरतामप्यस्माकं सर्वाः क्रियाः शिथिला भवन्ति । भगवतः स्थाने गमनं प्रेम्णा भवति प्रस्मदीयो भगवान् किमिति

तत्र तिष्ठति गत्वा समीनेय इति, तत्र वीर्याणि स्मृत्वा एतावन्तमुपकारं भगवान् कृतवान् किमस्माभिः कृतं के वा वयं कथं चैतद् धात्र्यमिति



शैथिल्यं भवति । सुखार्थं चेत् कृष्णत्वात् सदानन्द इति स्मृत एव सुखं प्रयच्छति । अत उभयथापि गमन बाधितम् । अथेन्द्रियसुखार्थं भगवान् द्रष्टव्य इति चेत्तत्राह लीलापाङ्गनिरीक्षितमिति लीलया यदपाङ्गनिरीक्षणं तत् स्मरतामिति, भगवतो दृष्टिश्चेद्भाव्यते तावतं व पश्यतीति बुद्ध्या चक्षुः शाम्यति । लीलापूर्वकं पश्यतीति लीलादर्शनेन प्राणास्तृप्यन्ति, अपाङ्गेन यत्पश्यति

तेनैश्वर्यं प्रकटीभवद् धाष्ट्यं दूरीकरोति । हसितेन च मोहयति, भाषितेन श्रोत्रादि सुखं सम्पादयति, अतः सर्वार्थं प्रयत्नाद् दूरीकरोति नास्माकं गमनसामर्थ्यमिति भावः । चकारात्सर्वं भगवच्चरित्रम् । अङ्गैत्यप्रतारणाय, सर्वा देहिकयो मानसिकयो लौकिकयो वैदिक्यश्च, तदर्थमुद्योगे तत्स्मरणमावश्यकम्, स्मरणे च गमनासम्भवः ॥२१॥

व्याख्यानार्थ—कृष्ण के किये हुए पराक्रमों को केवल याद करते हुए भी हमारी सर्व क्रियाएँ शिथिल हो जाती हैं । भगवान् के पास जाने के लिये शिथिलता न हो तो प्रेम से जाना हो सकता है । मन में यह विचार होता है, कि भगवान् हमारे हैं, वहाँ क्यों रहते हैं ? चल कर वहाँ से ले आवें, किन्तु इस प्रकार विचार करते आपके पराक्रमों का जब स्मरण आता है तब विचार आता है कि भगवान् ने तो इतना उपकार किया है, किन्तु हमने क्या किया है? हम कौन हैं? और यह हमारी कैसी धृष्टता है, इस प्रकार के विचारों से शिथिलता आ जाती है । हम वहाँ जाकर उनको अपने सुख के लिये ले आवे । यदि आप यों कहो तो भी वहाँ जाना निरर्थक है, क्योंकि कृष्ण तो सदानन्द रूप होने से स्मरण मात्र करने से ही सुखदान कर देते हैं । अतः दोनों प्रकार गमन का बाध होता है । यदि कहो कि इन्द्रियों को सुख हो, तदर्थ वहाँ जाकर दर्शन करना चाहिये, तो यह कहना भी तत्त्व वाला नहीं है । कारण कि उनकी लीला से जो कटाक्ष द्वारा ईक्षण है, उसके स्मरण से ही इन्द्रियों को आनन्द प्राप्त हो जाता है ।

यदि बुद्धि से भगवान् के दृष्टि की भावना की जाए तो इससे चक्षु को आनन्द प्राप्त हो जाता है । भगवान् लीला कर रहे हैं, इस भावना से देखा जाए तो उस लीला के दर्शन से प्राण तृप्त हो जाते हैं । उस लीला में जब भगवान् अपाङ्गों^१ से देख रहे हैं और वैसे दर्शन होते हैं तब तो धृष्टता^२ दूर हो जाती है और सर्व मे ऐश्वर्य प्रकट हो जाता है । आपका हास्य मोहित करता है । आपका भाषण श्रोत्र आदि को सुख देता है, अतः सर्व प्रकार के अर्थ प्रयत्न से ही पूर्ण कर हमको दूर रखना चाहते हैं । जिससे हममें गमन की समर्थता नहीं रहती है । श्लोक में 'च' इसलिये दिया है कि यह सब भगवान् का ही चरित्र (लीला) है । हे अङ्ग ! यह सम्बोधन इसलिये है कि यह जो कुछ कहा जाता है वह प्रतारणा^३ के लिये नहीं कहा जाता है, किन्तु यह सत्य ही है । देह, मन, लौकिक और वैदिक सम्बन्ध वाली क्रियाएँ^४ हैं । उन सर्व के उद्योग करने में उनका स्मरण आवश्यक है । स्मरण होने से गमन असम्भव है, क्योंकि उससे सर्वथा आनन्द प्राप्त होने पर जाने की शक्ति ही नहीं रहती है ॥२१॥

१- कटाक्षों से,

२- मथुरा जाने की ढिठाई—ईश्वर की भाँति अपने घर में ही लीला रस का अनुभव लेना—लेखकाराः

३- धोखे



आभास—किञ्च । क्षणे क्षणे वयं मुक्ताश्च भवाम इत्याह सरिच्छैलेति ।

आभासार्थ—हम क्षण क्षण में मुक्त हो जाते हैं, जिसका वर्णन (सरिच्छैल वनोद्देशान्) श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—सरिच्छैलवनोद्देशान्मुकुन्दपदभूषितान् ।

आक्रीडानीक्षमाणानां मनो याति तदात्मताम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के चरण चिन्हों से अलंकृत नदी, पर्वत और वन के प्रदेश एवं जो उनके क्रीड़ा के स्थल हैं, उनको जब हम देखते हैं, तब हमारा मन तद्रूप हो जाता है ॥२२॥

सुबोधिनी—यत्र यत्र भगवता स्वानुगावः स्थापितः तद्दर्शनेनैव मनस्तदात्मतां भगवदावेशमेव प्राप्नोति तेन सुतरामेव गमनाभावः । सरिच्छमुना शैला गोवर्द्धनादयः, वनोद्देशाः वृन्दावनभूमयः । एतेषु भगवदनुभावार्थमाह मुकुन्दस्य मोक्ष-	दातुः पदभूषितानिति । अनभिप्रेतेष्वपि कदाचित्पदानि भवन्तीति तेषु भगवतस्तात्पर्यार्थमाह आक्रीडानिति आसमन्तात् क्रीडास्थानभूतान् । ईक्षमाणानामिति नैकव्यादर्शनमावश्यकम्, ईक्षणमेव च मनस्तदात्मकत्वे हेतुः ॥२२॥
---	--

व्याख्यानार्थ—जहां जहां भगवान् ने अपना समर्थ्य स्थापित किया है, उसके दर्शन से ही मन में भगवदावेश हो जाता है अर्थात् मन तद्रूप हो जाता है जिससे निपट ही जाने का अभाव हो जाता है । प्रभाव वाले स्थान कहते हैं, यमुना, गोवर्द्धन आदि पर्वत, वृन्दावन आदि वनों की भूमि । इनमें मुकुन्द भगवान् ने चरणों द्वारा, अपना प्रभाव स्थापित किया है । जिन स्थानों को पादों से प्रभावित करने की इच्छा नहीं थी, वे भी कभी पदारविन्दों से विभूषित हो गये, क्योंकि खेलते खेलते वहां चरण धरे गये अतः श्लोक में क्रीडास्थान भी कहे हैं । ये सब निकट हैं अतः दर्शन आवश्यक हैं अर्थात् दर्शन स्वतः भी हो ही जाते हैं, वह दर्शन ही मन के तद्रूप होने में हेतु है ॥२२॥

आभास—ननु कथमेवं सामर्थ्यमवगतं विपरीतबुद्धेर्दृढत्वादित्याशङ्क्याह मन्ये कृष्णं च रामं चेति ।

आभासार्थ—जब विपरीत बुद्धि भी दृढ है, तब रामकृष्ण के सामर्थ्य को आपने कैसे जान लिया? जिसका उत्तर 'मन्ये कृष्णं च रामं च' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ ।

सुराणां महदर्थं गगंस्य वचनं यथा ॥२३॥

श्लोकार्थ—गर्गाचार्यजी के वचनानुसार मैं मानता हूँ कि सुरों में उत्तम राम और



कृष्ण देवताओं के बड़े कार्य करने के लिए यहाँ पधारे हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—महत्वाद्वास्तुसामर्थ्येनैव मनस्तदा-
त्मकं भवतीति श्रुतमपि कदाचिदसम्भावनया
प्रतीतिं न गृह्णाति, ममत्वनुभवः प्रतीतिं गृह्णा-
तीति मन्य इत्याह कृष्णं च रामं चेति चकारद्वयं
सर्वदेवगणसमुच्चयार्थम् । ननु तादृशयोः सुरोत्तम-
योर्ब्रह्मादेरप्यधिकयोरिहागमने को हेतुरित्याश-

ङ्क्याह सुराणां महत्कार्यार्थमिह स्वयमेव समा-
गतौ नतूत्यत्रो येन विना तत्कार्यं न भवति । ननु
तर्को न प्रमाणमिति कथं निर्णेतुं शक्यते तत्राह
गर्गस्य वचनं यथेति । गर्गस्य तथैव वचनं अतः
प्रमाणानुभवाभ्यां देवोत्तमत्वं सिद्धमिति माहा-
त्म्यज्ञानं युक्तमेव ॥२३॥

व्याख्यार्थ—महान् होने से तथा वस्तु की सामर्थ्य से मन तद्रूप हो जाना है, वैसा सुना गया है तो भी कभी असम्भावना से वैसी प्रतीति को मन नहीं ग्रहण करता है: किन्तु नन्दजी कहते हैं कि मुझे तो अनुभव है, अतः मेरा मन प्रतीति को ग्रहण करता है । इसलिए मैं मानता हूँ कि राम और कृष्ण दोनों सर्व देवों से श्रेष्ठ हैं । इसलिये दो बार 'च' दिये हैं, यदि वे सर्व ब्रह्मा आदि देवों से भी उत्तम हैं तो उनके यहाँ आने का क्या कारण है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि देवताओं के महान् कार्य सिद्ध करने के लिए यहाँ स्वयं ही आए हैं न कि उत्पन्न हुए हैं, आपके आए बिना देवों का कार्य सिद्ध नहीं हो सकता था । यदि कहो कि यह आपका तर्क ही है, इसमें कोई प्रमाण नहीं है, प्रमाण के बिना कैसे निर्णय किया जावे ? इस पर कहते हैं कि प्रमाण है, गर्गाचार्य ने जैसा कहा है वैसा मैं भी मानता हूँ, अतः गर्गाचार्य के वचन प्रमाण और मेरा अनुभव दोनों, से सिद्ध है कि ये सकल देवों में उत्तम हैं, इनका माहात्म्य, ज्ञान योग्य ही है ॥२३॥

आभास—सामर्थ्येनापि तन्निश्चीयत इत्याह कंसमिति त्रिभिः ।

आभासार्थ—सामर्थ्य से भी उसका निश्चय किया जाता है जिसका वर्णन 'कंस' श्लोक से लेकर तीन श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपति तथा ।

अवधिष्टां लीलयेव पशूनिव मृगाधिपः ॥२४॥

श्लोकार्थ—जैसे सिंह पशुओं को मारता है, वैसे ही उन्होंने दस हजार हाथियों के बल वाले कंस को तथा दो मल्ल एवं कुबलयापीड हस्ती को लीला से ही मारा है ॥२४॥



सुबोधिनी—सात्त्विकी राजसी तामसी च लीला क्रमेण निरूपिता, नागायुतस्य हस्तिनां दशसहस्रस्य यावद्बलं तावान् प्राणो बल यस्य, मल्लावपि तथा चाणूरमुष्टिकौ नागायुतप्राणौ, गजपतिः कुवलयपीडस्तथा । वस्तुतोयमपि नागायुतप्राणः, चाणूरस्तु स्वापेक्षया हीनत्वं युद्धार्थं वदन् तथोक्तवान् । दशसहस्राणां वा द्विपानां सत्त्वं विभर्तीति तत्र योजनीयम् । अन्य-

थात्र तथेतिवचनमसङ्गतं स्यात् । ततश्चतुर्णां बलं चत्वारिंशत्सहस्रगजपरिमितं भवति, एतादृशानपि लीलयेवावधिष्टाम् । तर्हि मन्त्रादिसामर्थ्येन हतवानित्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह पशूनिव मृगाधिप इति । सिंहः स्वभावत एव पशून् हन्ति, गजो हि तस्य प्रतिपक्ष्यपि भवति न तु पशवो गवादयः, अतस्ततोऽनन्तगुणं सामर्थ्यं भगवतः सूचितम् ॥२४॥

व्याख्यानार्थ—सात्त्विकी, राजसी और तामसी लीलाएँ क्रम से कही । अब सामर्थ्य बताते हैं, हैं, जिस कंस में दश हजार हाथियों का बल है वैसे कंस को, वैसे चाणूर और मुष्टिक मल्ल भी दश हजार हाथियों समान बल वाले थे उनको, एवं दश हजार हाथियों के समान बल वाला एक कुवलया पीड हस्ती^१ था, जिसको भी, इन सब में चालीस हजार हाथियों का बल था, जिनको भी, लीला से ही नष्ट कर दिया, यों तो नहीं कि मन्त्र आदि के बल से नष्ट किया ? इस शङ्का के निवारण के लिये दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे सिंह पशुओं को स्वभाव से ही नष्ट कर देता है अर्थात् सिंह में वैसी शक्ति स्वभाव से ही है । उसी प्रकार भगवान् में भी स्वभाव से उससे अनन्त गुणा सामर्थ्य है । अतः मन्त्र आदि से वध नहीं, किन्तु स्वाभाविक शक्ति के कारण लीला से वध किया है, यह बताया है; सिंह का गज ही विरोधी होता है, गौ आदि पशु नहीं ॥२४॥

ग्रामास—राजसी लीलामाह तालत्रयमिति ।

ग्रामासार्थ—राजसी लीला का वर्णन 'तालत्रय' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेमराट् ।

बभञ्जं केन हस्तेन सप्ताहमदधाद्रिरिम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—तीन सौ हाथ लम्बे, तीन ताल वृक्ष के समान लम्बे, अनम्र तथा विस्तार वाले धनुष को जैसे हाथी गन्ने को तोड़ता है, वैसे ही एक हाथ से तोड़ दिया और एक हाथ से सात दिन तक गोवर्द्धन गिरि को धारण किया है ॥२५॥

१- यह आशय 'तथा' शब्द का है, नहीं तो 'तथा' शब्द निरर्थक हो जाता—श्री सुबोधिनी



सुबोधिनी—तालवृक्षस्य शतत्रयहस्तपरिमितस्य यावान् विस्तारः, तालानां त्रयं यत्रेति । महासारमिति । अतिदृढम् । धनुर्यष्टिमिति । धनुरेव यष्टिरूपमनम्रम् । अनम्रस्य भङ्गः सुतरामेवाशक्यः, अत्रापि प्रकारान्तरेण भङ्गाभावाय

दृष्टान्तः इवेभराडिति । यष्टिमिव वा इभराडिति । यष्टिरपि इक्षुः । 'यथेक्षुदण्ड मदकरी'ति वाक्येकवाक्यतया, तत्रापि एकेनैव हस्तेन बभञ्ज । एकेनैव हस्तेनेत्यग्रेऽपि सम्बध्यते । सप्ताहमदधाद्गिरिमिति ॥२५॥

व्याख्यार्थ—तीन सौ हाथ विस्तार वाले, तीन ताल वृक्ष के समान, अनम्र तथा महान् दृढ धनुष को एक लकड़ी समझ कर जैसे हस्तिराज गन्ने को तोड़ देता वैसे ही एक ही हाथ से तोड़ दिया, जैसे कहा कि 'यथेक्षुदण्ड मदकरी' इससे एक वाक्यता से सिद्ध कर दिखाई है तथा गन्ने के दृष्टान्त से यह भी सिद्ध किया कि भगवान् को यों तोड़ने में कुछ भी परिश्रम नहीं हुआ है । एक हाथ से इसका सम्बन्ध आगे से भी है, अतः कहा है कि 'सात दिन तक गोवर्द्धन गिरि' को भी एक हाथ से धारण किया है ॥२५॥

आभास—तामसीमाह प्रलम्ब इति ।

आभासार्थ—तामसी लीला का वर्णन 'प्रलम्ब' इस श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्तो बकादयः ।

दंत्याः सुराऽसुरजितो हता येनेह लीलया ॥२६॥

श्लोकार्थ—देव तथा असुरों को जीतने वाले, प्रलम्ब, धेनुक, अरिष्ट, तृणावर्त और बक आदि दैत्यों को जिसने लीला से मारा है ॥२६॥

सुबोधिनी—नात्र क्रमो विवक्षितः, आदिशब्देन वत्सादयः सर्व एव दंत्याः मानुषैरवध्या ! किञ्च । सुरासुरजितः, सुरा असुराश्च जिता यैः,

ते सर्वे अस्मत्समक्षमेव लीलयैव हताः । अतः सामर्थ्येनापि देवोत्तमत्वमेवेति निर्द्धारः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—यहां क्रम कहने की इच्छा नहीं समझी है । आदि शब्द कह कर जिनके नाम नहीं लिए गये हैं । वे वत्सादि सब दैत्य ऐसे हैं, जिनको मनुष्य मार नहीं सकते हैं । इतना ही नहीं किन्तु इन्होंने सुर और असुरों को भी जीत लिया है । वैंसों को भी हमारे सामने लीला से मारा, अतः वैंसी सामर्थ्य के कारण ये देवों में उत्तम है, वैंसा निर्णय है ॥२६॥

आभास—एवं स्निग्धस्य भगवद्रूपानुवर्णने यद्भाव्यं तज्जातमित्याह इतीति ।



आभासार्थ—इस प्रकार प्रेमी के गुणों के वर्णन करने से जो होता है वह नन्दजी को भी हुवा जिसका वर्णन 'इति संस्मृत्य' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः ।

अत्युत्कण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः ॥२७॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि श्रीकृष्णचन्द्र में प्रेमासक्त बुद्धि वाले नन्दजी इस प्रकार स्मरण करते-करते हृबहुत उत्कण्ठा से प्रेम बढ़ जाने से विह्वल हो गए, जिससे चुप हो गए अर्थात् आगे कुछ भी नहीं कह सके ॥२७॥

सुबोधिनी—अयमर्थः । नोद्वो बोधितः किन्तु पदार्थस्मरणाभिलाष एवेत्युत्तमाधिकार बोधयितुं संस्मृत्य संस्मृत्येत्युक्तम्, न तूक्त्वोक्त्वा । यत्रैव स्मरणानन्तरं वचने असामर्थ्यं बुद्धेरनुरागः मनस उत्कण्ठा तत्रैव तूष्णीं स्थित इति । स्मरणातूष्णीं भावयोर्मध्ये भावद्वयमवान्तरव्यापाररूपमुत्पन्नमित्याह कृष्णानुरक्तधोरत्युत्कण्ठ इति ।

चित्तस्य स्मरणं बुद्धेरनुरागः मनस उत्कण्ठा, मनश्च वाचः पूर्वरूपम्, तत्र अनुरक्तबुद्ध्या, औत्कण्ठ्येन च ज्ञानक्रियारूपाभ्यां शब्दोत्पत्तिप्रतिबन्धातूष्णीमभवत् । तर्हि तयोः प्रतिबन्धकत्वेन न पुरुषार्थपर्यवसायित्वमित्याशङ्क्य तयोः स्वतन्त्रकार्यमाह प्रेमप्रसरेण प्रेमप्रचारेण विह्वलो जात इति ॥२७॥

व्याख्यानार्थ—यह भाव उद्धवजी को भी मालूम नहीं कराया किन्तु 'संस्मृत्य' इन दो पदों को कहकर श्री शुकदेवजी ने यह बताया है कि भगवान् नन्दजी को याद करते हैं, अतः नन्दजी को भी उनके स्मरण की अभिलाषा हुई है । जिससे नन्दरायजी उत्तमाधिकारी हैं । यदि उत्तमाधिकारी नन्दजी न होते तो श्लोक में 'संस्मृत्य-२' के स्थान पर 'उक्त्वा उक्त्वा' कहते जहां स्मरण के अनन्तर कहने की सामर्थ्य न रहे, बुद्धि का अनुराग तथा उत्कण्ठा हो, वहां बोलना बंद हो जाता है । स्मरण तथा तूष्णी भाव के मध्य के समय में दो दूसरे भाव उत्पन्न हो जाते हैं । वे दो भाव कहते हैं, एक कृष्ण में प्रेमासक्त बुद्धि और दूसरी मिलने की चाहना । चित्त से स्मरण, बुद्धि से अनुराग और मन से उत्कण्ठा, और मन, वाणी का पूर्व रूप है । वैसी दशा में अनुरक्त बुद्धि तथा उत्कण्ठा से शब्द की उत्पत्ति में रुकावट उत्पन्न हो गई, जिससे नन्दरायजी बोल न सके । इस प्रकार प्रतिबन्ध होने से पुरुषार्थ की फल सिद्धि तो नहीं हुई ? इस शङ्का का समाधान करने के लिये कहते हैं कि अनुराग और उत्कण्ठा ने स्वतन्त्र कार्य किया जिससे प्रेम उत्पन्न हुआ और प्रेम से नन्दरायजी विह्वल हो गए । अर्थात् प्रेमानन्द रूप में मग्न हो गए । इस प्रकार पुरुषार्थ रूप फल की सिद्धि हो गई ॥२७॥

आभास—एवं यशोदापि जातेत्याह यशोदेति ।

आभासार्थ—यशोदाजी भी वैसी ही हुई जिसका वर्णन 'यशोदा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च ।

शृण्वन्त्यश्रूण्यवासाक्षोत्स्नेहसूतपयोधरा ॥२८॥

श्लोकार्थ—यशोदाजी ने ज्यों नन्द वर्णित पुत्र के चरित्र सुने, त्यों उसके आँसू बहने लगे और स्नेह से स्तनों से दूध टपकने लगा ॥२८॥

सुबोधिनी—नन्देनैव वर्ण्यमानानि भगवत-
श्रितानि शृण्वन्ती चकारात्स्मरन्ती च अन्तः जाता । अन्तर्भगवदावेशेन दृढप्रेमणा स्तुतपयोधरा
जाता । यथा नन्दे आवेशो विरहश्च एवमस्यामपि
प्रेमपूर्णा अश्रूणि नेत्रयोरस्त्राक्षीत् विरहव्याकुला द्वयं वर्णितम् ॥२८॥

व्याख्यानार्थ—नन्द द्वारा वर्णित पुत्र के चरित्रों को सुनने से और स्वयं स्मरण करने से यशोदा-
जी के अन्तःकरण में प्रेम उमड़ आया । जिससे नेत्रों में से आँसू बहने लगे एवं विरह से व्याकुल
हो गई । उस प्रेम के कारण अन्तःकरण में भगवदावेश से एवं दृढ प्रेम से स्तनों से दूध टपकने
लगा । जिस प्रकार नन्दजी में आवेश और विरह था, उसी प्रकार इनमें भी दोनों कहे हैं ॥२८॥

आभास—उभयेनापि अनुराग एव भगवति परमप्रेमात्मको निरूपितो भवति ।
परमयं लौकिकः, अयं च ज्ञानेनालौकिकः कर्तव्यः तत्कतुं प्रेषित उद्धव इति तदुपयोगि
सर्वमाहेत्याह तयोरित्यमिति ।

आभासार्थ—यशोदा और नन्दजी दोनों का भगवान् में परम प्रेम रूप अनुराग का वर्णन
किया, किन्तु यह अनुराग लौकिक था । भगवान् की इच्छा इस अनुराग को ज्ञान से अलौकिक बनाने
की थी । इसलिये उद्धवजी को भेजा, अलौकिक करने के लिए जो उपयोगी है, वह सर्व कहा, जिसका
क्रमशः वर्णन करते हुए 'तयोरित्यं' श्लोक में उद्धवजी नन्द यशोदाजी के स्नेह का अभिनन्दन
करते हैं ।

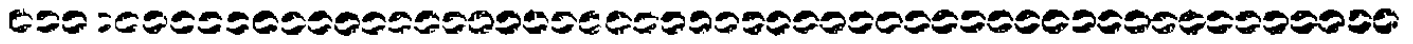
श्लोक—तयोरित्यं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः ।

वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा ॥२९॥

श्लोकार्थ—नन्द और यशोदाजी का भगवान् कृष्ण में इस प्रकार का प्रेम देख
उद्धवजी हर्ष से नन्दजी को कहने लगे ॥२९॥

सुबोधिनी—उभयोरपि, भक्तौ मुख्यत्वान्नन्द-
स्य प्रथमतो नन्दग्रहणम्, सहजः सम्बन्धो
लौकिको नास्तीति न यशोदायां विशेषः । नन्द-
यशोदयोः भगवति कृष्णे आविर्भूते सदानन्दे
परममनुरागं सर्वक्रियात्याजनपूर्वकसर्वभावभग-
वद्ग्रहणात्मकं वीक्ष्य, यशोदा कदाचिह्लज्जिता
भविष्यतीति नन्दमाह यतः स उद्धवः उत्सवात्मकः
तस्मिन्नागते शोकांशेन न भाव्यमिति मुदेति ।
भगवद्भक्तान् दृष्ट्वा सम्भाषणेनाहमपि कृतार्थो
भविष्यामीति वा ॥२९॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् में प्रेम दोनों का है, तो भी नन्दजी का नाम प्रथम इसलिये दिया है कि



भक्ति में नन्दजी की मुख्यता + है । भक्ति से जो सम्बन्ध होता है वह सहज अर्थात् स्वाभाविक होता है । लौकिक नहीं होता है, इससे यशोदाजी में कुछ विशेषता नहीं है । जब सदानन्द भगवान् कृष्ण प्रकट हुए, तब नन्द यशोदाजी दोनों सर्व कार्य छोड़ सर्व भाव से भगवान् को ही प्रेम करने लगे, अतः उद्धवजी इसका अभिनन्दन करते नन्दजी को कहने लगे, क्योंकि उद्धवजी ने सोचा कि यशोदाजी कदाचित् लज्जित हो जाए, अतः नन्द को कहना ही युक्त है । उद्धवजी उत्सव रूप है, उनके आने पर किसी प्रकार शोक का अंश भी न रहना चाहिए, इसलिए श्लोक में 'मुदा' पद दिया है । अर्थात् 'आनन्द' से कहने लगे, अथवा 'मुदा' का भावार्थ यह भी है कि भगवद्भक्तों के दर्शन तथा उनसे संभाषण करने से मैं भी कृतार्थ बनूँगा ॥२६॥

आभास—स्नेहमभिनन्द्य विषयस्यालौकिकत्वं बोधयति येन माहात्म्यज्ञानपूर्वकः सर्वतोधिकः स्नेहो भवति । युवामिति ।

आभासार्थ—स्नेह का अभिनन्दन' कर अब विषय की अलौकिकता का बोध कराते हैं, जिससे माहात्म्य ज्ञान पूर्वक सर्व से अधिक स्नेह होता है, जिसका वर्णन 'युवां' श्लोक से उद्धवजी करते हैं ।

श्लोक—उद्धव उवाच—युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानव ।

नारायणोऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरोदृशी ॥३०॥

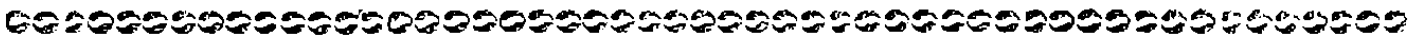
श्लोकार्थ—उद्धवजी ने कहा कि हे मान देने वाले ! आप दोनों निश्चय ही सब प्राणियों में सराहने योग्य है; क्योंकि समस्त जगत् के गुरु नारायण में आपने ऐसी दृढ़ अनुराग वाली भक्ति की है ॥३०॥

सुबोधिनी—प्रथमतोभिनन्दनं देहिनां मध्ये तत्रापीह भूमौ युवां यशोदानन्दौ श्लाघ्यतमौ; सत्कर्मणा श्लाघ्या भवन्ति । ततोपि ज्ञानेन ततोपि भक्त्या, भक्तावपि परमप्रेम सर्वोत्कृष्टम्, प्रमाणात् प्रमेयबलमधिकं तेन स्वतन्त्रभक्त्यपेक्षया-पीयं प्रमेयभक्तिः रसाला, अत आह नूनमिति । मानदेति सम्बोधनं मह्यं मानं प्रयच्छसीति मद्वाक्यमपि सत्यतया स्वीकुर्वित्यर्थः । ननु पुत्रस्नेहो-

ऽतिशयः कथं स्तूयते तत्राह नारायण इति, अयं हि नारायणो मूलपुरुषः । नारायणशब्दोत्र पुरुषोत्तमवाची । अखिलगुराविति, प्रमाणरूपोपि । सर्ववेदवक्ता नारायणः पुरुषोत्तम एवेति । अतः सर्वशास्त्रार्थरूपे प्रमेयबलवति यद्यस्मात्कारणाद् एतादृशी मतिः कृता । देवोत्तमत्वं तु नन्देनोत्कटकोटिकसम्भावनया ज्ञातमेव, तस्मादसम्भावना न भविष्यतीति तत्र पुरुषोत्तमत्वं बोधितवान् ॥३०॥

+ प्रकाश—वर नन्द ने माँगा था; इसलिए नन्द मुख्य है, जिससे समास में नियमानुसार यशोदा का नाम पहले चाहिए, तो भी पीछे इसलिए दिया है कि भक्तों में नन्दजी को वर लेने से मुख्यता है ।

१- प्रशंसा,



ध्यास्यार्थ—प्रथम उनको अभिनन्दन देते हुए कहते हैं कि इस पृथ्वी पर जितने देहधारी हैं, उनमें से आप ही दोनों अतीव बखाने के योग्य हैं। जो सत्कर्म करते हैं वे बखाने जाते हैं। उससे भी जो जानी हैं, वे विशेष बखाने जाते हैं। भक्ति में भी परम प्रेमी भक्त सब से ज्यादा अत्यन्त बखाने के पात्र हैं। प्रमाण से प्रमेय बल अधिक है, जिससे स्वतन्त्र भक्ति की अपेक्षा से भी यह प्रमेय भक्ति रसाल अर्थात् रसवती है। इसलिये श्लोक में 'नून' पद दिया है, नन्दजी को 'मानद' संबोधन देकर यह बताया है कि आप मुझे मान देते हो, इसलिये जो मैं कह रहा हूँ, वह सत्य समझ स्वीकार करो। नन्दजी कह दें कि यह अतिशय स्नेह पुत्र में है, इसलिये क्यों इतनी प्रशंसा कर रहे हो? जिसके उत्तर में कहते हैं कि आपका यह स्नेह जिसमें है वे मूलपुरुष नारायण हैं। यहाँ श्लोक में जो नारायण शब्द है, वह 'पुरुषोत्तम वाचक' है। इसलिये उसका विशेषण 'अखिन गुरौ' दिया है। जिसका भावार्थ है कि वह प्रमाण रूप भी है। सर्व वेदों को कहने वाले नारायण पुरुषोत्तम ही हैं। सर्व शास्त्रों के अर्थ रूप और प्रमेय बल वाले पुरुषोत्तम में आपने जिस कारण से ऐसी बुद्धि की है अतः आप अत्यन्त ही सब से विशेष अत्यधिक बखानने के योग्य हैं।

नन्दजी ने कृष्णाचन्द्र को उत्कट कोटि की संभावना से देवों में उत्तम जाना ही है, इससे नन्दजी को असम्भावना तो कभी न होगी, इसलिये उद्धवजी ने पुरुषोत्तमत्व का ज्ञान कराया है ॥३०॥

आभास—अतः परं तस्मादधिको विषयो नास्ति भक्तेरप्यधिकं कर्तव्यं नास्तीति वक्तव्यम् । तत्र प्रथमं भगवतः सकाशादन्यो महान्नास्तीत्याह एतौ होति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—ऊपर जो वर्णन किया गया है, जिससे अधिक कोई विषय नहीं है तथा भक्ति से अधिक अन्य कोई कर्तव्य नहीं है, जो कहा जाय। अब उद्धवजी यह कहते हैं कि भगवान् से अधिक कोई अन्य महान् नहीं है, जिसका वर्णन 'एतौ हि' श्लोक में उनके स्वरूप का वर्णन करते हैं और 'यस्मिञ्जनः' श्लोक से धर्म की उत्कर्षता का वर्णन करते हैं।

श्लोकान्तर्गतम्, हिन्ध्यन्त्र बोद्धव्यम्...

रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम् ।

अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य

ज्ञानस्य चेशात् इमौ पुराणौ ॥३१॥

श्लोकार्थ—ये राम और कृष्ण दोनों जगत् के बीज तथा योनि रूप हैं तथा प्रधान एवं पुरुष रूप भी ये ही हैं। भूतों में प्रविष्ट होकर विलक्षण ज्ञान के ईश हैं, तदपि ये दोनों पुराण पुरुष हैं ॥३१॥



सुबोधिनी—धर्म्युत्कर्षेण धर्मोत्कर्षेण च माहात्म्यं द्विविधमिति । तत्र प्रथमं स्वरूपोत्कर्षमाह । एक एव ताभ्यां ज्ञात इति आवेशिनमपि ज्ञापयितुं तुल्यतया सम्बन्धं च दूरीकृतुं कृष्णरामो निर्दिशति । एतौ हि निश्चयेन विश्वस्य बीजयोनी समवायिकारणं निमित्तकारणं च । बीजं हि समवायिकारणं, तत्र भगवत्सामर्थ्येन सजातीयत्वमापद्यमानाः भूम्यवयवाः पुष्णन्ति, ततो वर्धन्ते, सजातीयैव योनिरपि मृग्यते, विजातीयायां नोत्पद्यते, उत्पन्नमप्यन्यथा स्यात्, एतदुभयमेव दृष्टं कारणम् । अन्यत्तु जलान्नादिकं साधनपोषकत्वेन । तत्र यद्येकप्रकारेण भवेतां वृद्धिहासो आविर्भावतिरोभावो न सङ्गच्छेयताम्, ततो भगवानुभयात्मको भवति । लोके तु उभयोः साधका अन्येपि मृग्यन्ते, अत्र भगवानेवेति तदेकप्रयोजनाय च तथाजात इति न सहकार्यपेक्षा । अत एव ब्रह्म प्रथमं प्रकृतिपुरुषरूपेण भवति । एवं सति युक्तिब्रह्मणि सङ्गच्छते । ब्रह्मवादे तु तदेव सर्वशक्तियुतं क्रमेणैवाभिव्यक्तो भविष्यामीति प्रथमसृष्टौ तादृशमुत्पाद्य क्षयवृद्धचनपेक्षं वा तादृशमेवोत्पाद्य पश्चादलोके बहूपकारसिद्धयर्थमेवैकैकस्य बहुधोपयोगाय शक्तिसमूहं विभज्य, बीजयोन्यादिभावेन वस्तूनि परिकल्प्य स्थापितवानिति विशेषः । उभयथापि पश्चात्प्रकारद्वयं सिद्धमिति मन्तव्यम् । अनुभवसिद्धत्वात् । तथात्रापि मोक्षसृष्ट्यादिदत्तुविधपुरुषार्थान् साधयितुं सर्वस्यापि सर्वं मा भवत्विति स्वशक्तिं विभज्य मोक्षभक्तयोः स्वयं बीजं योनिश्च

रामः । सृष्ट्यादौ तु विपरीतमिति । उभावपि योनिबीजभावेन सर्वलोकानां हितार्थमवतीर्णौ । अत एकस्यैव हितार्थत्वेन ग्रहणे न कोपि पुरुषार्थः सिद्ध्येत् । अत एव सर्वत्राभ्युदयफलैषु रामस्य प्राधान्यम्, भगवतः सहभावमात्रम् । क्वचिद्रामस्य प्राधान्यं प्रथमनिर्देशेन । साक्षान् महती शक्तिः कृष्ण एवेति न क्वापि सहभावो निरूपितः । निश्चयेसे तु रामस्य सहभावः साधारण्ये द्वयोस्तुल्यतया निरूपणमिति सर्वत्रैव विमर्शः । अतो भगवतो जगत्कारणत्वं मोक्षदातृत्वं च निरूपयन् एव निरूपयति । एषा युक्तिर्हि शब्देनोच्यते । एतौ कृष्णरामौ विश्वस्य बीजयोनी उभावपि । तौ गणयति रामो मुकुन्द इति । नाम्नाभ्युदयनिःश्रेयसफलं ज्ञापितम् । एताविति भक्त्या प्रादुर्भूतो प्रदर्शयन्निवाह 'द्रष्टुमेष्याव' इत्यनेन सत्यं निरूपितम् । द्विरूपता किमर्थेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमिव वदन् स्वरूपद्वयं निर्दिशति पुरुषः प्रधानमिति । अनयोः प्रकृते विशेषमाह अन्वीय सर्वेषु भूतेषु विलक्षणस्य विः काल एव लक्षणं यस्य तस्याभ्युदयस्येशानो । तथा ज्ञानस्य च मोक्षसाधकस्य विलक्षणत्वं प्रापञ्चिकाद्विलक्षण्यं चकाराद्भक्तेरपीशाते समर्थो भवतः । एतदर्थमेवेतौ प्रादुर्भूतावित्यर्थः । एवं हि सति ब्रह्म भगवान् कार्यमिव एतत्प्रयोजनकावेतावाविर्भावताविति शङ्का स्यात् तद्व्यावृत्त्यर्थमाह इमौ पुराणाविति । एतावेवंभूतौ पूर्वसिद्धावेवानन्तमूर्तित्वाद्भगवतः ॥३१॥

व्याख्यार्थ - भगवान् का माहात्म्य दो प्रकार से जाना है । एक धर्म के उत्कर्ष से, दूसरा धर्म के उत्कर्ष से, उनमें प्रथम धर्म (स्वरूप) के उत्कर्ष का वर्णन करते हैं । नन्द यशोदाजी ने एक ही जाने, कारण कि राम भी आवेशी होने से वही है । यों जतानेके लिए दोनों को एक ही करके जाना । लौकिक पुत्रत्वादि सम्बन्ध की यहाँ गणना न कर दोनों को समान रूप समझ कृष्ण और राम कहे हैं । ये दोनों निश्चय जगत् के समवायी तथा निमित्त कारण हैं । बीज समवायी कारण है, उसमें भगवान् सामर्थ्य से सजातीय पन को प्राप्त हुए । भूमि के अवयव पुष्ट होकर बढ़ते हैं । योनि, भी



सजातीय होनी चाहिये विजातीय योनि होगी तो वृद्धि न होगी । यदि उत्पन्न हो भी जाय तो वह बीज के योग्य नहीं होती है । ये दोनों प्रत्यक्ष कारण हैं, दूसरे^१, जल और अन्न आदि पोषण आदि के साधन रूप हैं । यदि विश्व में एक प्रकार से होवे तो यह जो विश्व में आविर्भाव तथा तिरोभाव होता है, वह नहीं होगा । इस कारण से भगवान् उभयविध^२ होते हैं । लोक में तो दोनों^३ को सिद्ध करने वाले दूसरे भी पदार्थ खोजे जाते हैं वा माने-जाते हैं । यहां^४ तो भगवान् ही, अर्थात् भगवान् एक ही, उस प्रयोजन के लिये वैसे^५ हुए हैं । इसलिये दूसरे सहकारो की अपेक्षा नहीं है । इसलिये ही ब्रह्म प्रथम प्रकृति पुरुष रूप से प्रकट^६ हैं । यों समझने से युक्ति ब्रह्म वे ही बन सकती है । ब्रह्मवाद में तो वह ही सर्व शक्तिवान् है । क्रम से प्रकट हूंगा, इस इच्छा में प्रथम सृष्टि में वैया प्रकट कर, अथवा क्षय एवं वृद्धि की उस सृष्टि में अपेक्षा न कर सृष्टि प्रकट की, किन्तु पश्चात् लोक में बहुत उपकारों की सिद्धि के लिये ही एक एक का बहुप्रकार से उपयोग हो, इसलिये शक्ति समूह का विभाग कर बीज तथा योनि आदि भाव से वस्तुओं की कल्पना कर स्थापना की है इतना ही विशेष है । दोनों प्रकार से भी, दो प्रकार पीछे हुए हैं, यों मानना चाहिये, यह अनुभव से सिद्ध है, उसी प्रकार

मोक्ष, सृष्टि आदि चतुर्विध पुरुषार्थों को सिद्ध करने के लिये 'सर्वस्यापि सर्व मा भवतु' सब को भी सर्व न हो, इस इच्छा से अपनी शक्ति का विभाग कर, मोक्ष तथा भक्ति के आप स्वयं बीज^७ बने और राम रूप से योनि^८ हुए । सृष्टि आदि में उसमें विपरीत है, दोनों ने ही योनि बीज भाव से सर्व लोक के हितार्थ अवतार लिया है । अतः एक से ही हित होगा, यों मान लेने में कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध न होगा, इसलिये ही सर्वत्र अभ्युदय^९ के फलों में राम की प्रधानता है । भगवान् का केवल सहभाव है । कहीं कहीं इस प्रकार राम की प्रधानता है, यों राम का नाम प्रथम कहकर बताया है । साक्षात् बड़ी शक्ति तो कृष्ण ही है, इसलिये कहीं भी राम का सहभाव मिला, यों नहीं कहा है । निःश्रेयस^{१०} में तो राम का सहभाव जो कहा है, वह साधारणतया दोनों को समानता दिखाने के लिये है । यों सब जगह विचार करना चाहिये, अतः भगवान् का जगत् कारणत्व तथा मोक्षदातापन निरूपण करते हुए इस प्रकार निरूपण करते हैं । 'हि' शब्द से यह युक्ति कहीं जाती है कि ये दोनों विश्व के बीज और योनि हैं । उनके नाम राम और मुकुन्द कहकर यह बताया कि ये अभ्युदय और निःश्रेयस रूप फल हैं । यों कहने से यह दिखाया है कि ये दोनों भक्ति से प्रकट हो गये हैं । जिससे, 'द्रष्टुं एष्यामः' जो कहा था वह सत्य है । दो रूप से क्यों प्रकट है ? इस शङ्का का निवारण करते हुए दृष्टान्त की तरह दो स्वरूप बताते हैं । ये दो स्वरूप इसलिये प्रकट हैं, जो एक पुरुष दूसरा प्रधान रूप हैं । प्रकृत^{११} विषय में विशेष कहते हैं कि वे सर्व में अनुस्यूत होकर^{१२}, काल हा है । लक्षण जिसका वैसे अभ्युदय के स्वामी हैं, इसी प्रकार मोक्ष साधक ज्ञान भी प्रपञ्च के ज्ञान से विलक्षण है । उसके तथा 'च' से भक्ति के भी ईश हैं, अर्थात् ये दोनों इसलिये ही प्रकट हैं, जो यों है तो ब्रह्म भगवान् कार्य रूप हुए, जिसके प्रयोजक ये दो प्रकट हुए, वैसे शङ्का के निरास^{१३} के लिये ये दोनों सनातन हैं, इस प्रकार प्रकट हुए, ये दोनों पूर्व से ही सिद्ध है कारण कि भगवान् अनन्त भूति हैं ॥३१॥

१- अप्रत्यक्ष, २- बीज तथा योनि अर्थात् समवायो और निमित्त कारण

३- आविर्भाव तथा तिरोभाव, ४- सृष्टि में, ५- बीज और योनि रूप, ६- समवायो कारण,

७- निमित्त कारण, ८- उन्नति, ९- कल्याण, निःश्रेयस का अर्थ भक्ति भी है,

१०- स्वाभाविक, ११- मिलकर, १२- मिटाने ।

श्राभास—एवं स्वरूपोत्कर्षमुक्त्वा धर्मोत्कर्षमाह यस्मिञ्जन इति ।

आभासाय—इस 'यस्मिञ्जनः' श्लोक में धर्म से उत्कर्ष कहते हैं ।

श्लोक—यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले

क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम् ।

निहंत्य कर्माशयमाशु याति

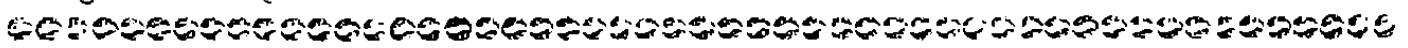
परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः ॥३२॥

श्लोकार्थ—मनुष्य प्राण त्यागने के समय क्षण मात्र भी अपना शुद्ध मन जिसमें रखकर कर्माशय को त्याग शीघ्र ही अर्क^१ समान वर्ण वाला ब्रह्म रूप हो, तो परम शक्ति को पाता है ॥३२॥

सुबोधिनी—यद्यपि परःसहस्रं भगवद्धर्माः सन्ति, तेषां माहात्म्यं च भगवत एव, धर्मधर्मिणोरभेदात् भगवानेव धर्मरूपेण भवतीति सिद्धान्तात्, सिद्धान् धर्मान् परित्यज्य प्रमाणबलेन भावकेन मनसा परिकल्पितं भगवद्रूपं सर्वेषां स्वाधीनं मत्वा तस्य माहात्म्यमाह । यस्मिन् मानसे रूपे जनः प्राणी प्राणवियोगकाले क्षणं मनो विशुद्धं समावेश्य कर्माशयं निहृत्य परां गतिं याति । साधनान्तरनिरपेक्षत्वज्ञापनाय यस्मिन् मानसे रूप इत्युक्तम् । जन इति सामान्यतः, न तु ब्राह्मण ऋषिर्वा । तत्रापि प्राणवियोगकाले सर्वेन्द्रियविकले अशुद्धावस्थायां क्षणं चित्तं समावेश्य, न तु बहुकालम्, नापि वाग्देहयोरनुवृत्तिः । तदपि रूपं सर्वफलसाधकमिति विशुद्धमित्युक्तम् । अन्यथा कामनायां तदेव फलिष्यतीति । विशेषेण शुद्धिः कामनाभाव एव । ननु 'यदा सर्वे प्रलीयन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः । अथ मर्त्योऽमृतो भव-

त्यत्र ब्रह्म समश्नुत' इति श्रुतेः कामनाभाव एव पुरुषार्थसिद्धौ निष्कामं सदात्मगात्म्येव भवतीति ज्ञानेपि सिद्धे किं भगवद्धर्ममाहात्म्यमिति चेत् । सत्यम् । नात्र निष्कामता साधनान्तरेण भवतीति निरूप्यते, येनान्यथासिद्धं स्यात्, किन्तु क्षणं सम्यगावेशनेनैव मनो विशुद्धमपि भवति । ततः कर्माशयं कर्माण्याशरतेस्मिन्निति बीजात्मकं सङ्घातं च निवर्त्य स्वाभिमानपरित्यागेन मृतमिव तदिति ज्वालनमिव तं कारणभूतमपि सङ्घातं दग्ध्वा उत्तरत्र गमने साधनान्तरमप्यनपेक्ष्य परां गतिं स्वरूपेणैव याति । तत्रापि न सायुज्यार्थं जीवभावेन गमनम्, किन्तु ब्रह्ममयः 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीत्येषागतिर्भवति । तत्रापि भगवद्धर्मिणामपि सर्वेषां स्फूर्तिर्भवतीति ज्ञापयितुं अर्कवर्ण इति । तस्माद्यावान् पुरुषार्थः सर्वैरेव ज्ञानादिभिर्भवति क्रमेणापि साध्यं सकृदेव च भवतीति भगवद्धर्मिणां माहात्म्यमुक्तम् ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—यद्यपि भगवान् के अनेक धर्म हैं, उनका माहात्म्य भी भगवान् का ही माहात्म्य है, कारण कि धर्म, तथा धर्मी में अभेद है। शास्त्र सिद्ध यह सिद्धान्त है कि भगवान् ही धर्म रूप



होते हैं। सिद्ध हुए धर्मों को छोड़ कर, प्रमाण के बल से अथवा भावना से मन में जिस स्वरूप की कल्पना साधक करता है, वह भगवद्रूप सब साधक भक्तों के स्वाधीन हो जाता है। यों मानकर, उसका माहात्म्य कहते हैं, प्राणी जिस मानसी मूर्ति में प्राण त्याग के समय क्षण मात्र भी, शुद्ध मन को स्थिर करता है, तो कर्म वासना को क्षय कर उत्तम गति को पाता है। मानसी मूर्ति में मन स्थिर करने वाले को दूसरे साधनों की अपेक्षा नहीं है। जन अर्थात् साधारण कोई भी प्राणी हो, ब्राह्मण हो वा ऋषि हो, जिसकी कुछ भी आवश्यकता नहीं है, उसमें भी प्राण निकलने के समय, जब कि सब इन्द्रियां विकल हो जाती हैं, अचेत होने से अशुद्ध अवस्था हो जाती है, उस समय एक क्षण चित्त को उसमें स्थिर कर न कि बहुत समय तक तथा देह वा वाणी योग की भी (उस समय) आवश्यकता नहीं है। वह भी रूप फल को देने वाला है, इसलिये कहा है कि 'विशुद्ध' केवल मन शुद्ध भाव वाला हो। उससे बीज रूप सङ्घात को नष्ट कर, स्वत्व का अभिमान त्यागने से, वह मानो मर गया अथवा जल गया, उसकी तरह, उस कारण रूप सङ्घात को भस्मकर उत्तरोत्तर जाने में दूसरे साधन की भी अपेक्षा नहीं है। इससे ही परागति को स्वरूप से ही पा लेता है। वहां भी सायुज्य मुक्ति के लिए जीव भाव से नहीं जाता है, किन्तु ब्रह्म रूप होकर जाता है। जैसा कि कहा है 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' ब्रह्मबन कर ब्रह्म को प्राप्त करता है ऐसी गति होती है। श्लोक में अर्कवर्णः कहा है जिसका भाव बताते हैं कि उस समय सर्व भववद्धर्मों की भी स्मृति होती है, जिससे उसका वर्ण सूर्यवत् प्रकाश वाला हो जाता है, जिससे यह भी बताया है कि सर्व ज्ञान आदि साधनों से क्रम से जो पुरुषार्थ सिद्ध होता है, वह इसको एक बार करने से ही हो जाता है, इस प्रकार भगवद्धर्मों का माहात्म्य कहा है ॥३२॥

आभास—एतादृशे च भगवत्स्वरूपे यैः सर्वात्मना सर्वदा सर्वभावेन मनो विहितम्, तेषां फले किं वक्तव्यमित्याह तस्मिन् भवन्ताविति ।

आभासार्थ— इस प्रकार के भगवत्स्वरूप में जिन्होंने सर्व प्रकार के बाहर तथा भीतर के साधनों से सर्वदा सर्व भाव से मन धारण किया है, उनके फल प्राप्ति के विषय में कहना ही क्या है ? जिसका वर्णन 'तस्मिन्' श्लोक में करते हैं।

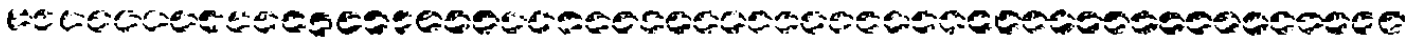
श्लोक—तस्मिन् भवन्तावखिलात्महेतौ

नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ ।

भावं विधत्तां नितरां महात्मन्

किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम् ॥३३॥

श्लोकार्थ— उन सर्व के आत्मा, कारण रूप और कारण से जिन्होंने मनुष्य शरीर धारण किया है, ऐसे नारायण भगवान् में आप दोनों ने निरन्तर भाव स्थापन किया है। हे महात्मन् ! अब आपको कौनसा कृत्य शेष रहा ? अर्थात् कोई नहीं ॥३३॥



सुबोधिनी—यादृश हि उपास्यं चिन्त्य ध्येयं वा तादृश एव भवतीति सर्वजनीनम् । भगवांश्च सर्वफलरूपः । अतो नावशिष्यत इति वक्तुं सर्व-हेतुत्वमाह अखिलात्महेताविति । अखिलानामा-हेतुश्च, 'सर्वस्यात्मा भवति सर्वमस्यान्न' भवतीति फल सिध्यति । किञ्च । विकृतेऽपि हेतुरात्मेति च वक्तुं नारायण इत्याह । अयं पुरुषो नारायणः । किञ्च । कारणार्थं सर्वेषामुद्धारार्थमेव कपटवेश-मपि कृतवान् । अनेन फलावश्यकत्वं द्योतितम् । प्रायिकत्वशङ्काव्यावृत्त्यर्थम्, यतः 'लोकस्य व्यस-

नापनोदनपरो दासस्य किं न क्षम' इति सिद्धान्तो भवति । तत्रापि नितरां भावं विधत्ताम्, रसत्व-व्यावृत्त्यर्थं भावपदम् । पुत्रत्वेऽपि देवत्वप्रतीतेः, तथापि फले स्वरूपयोग्यताप्यपेक्ष्यत इति यथा मर्यादायां ब्राह्मणानामेव मुक्तिः, पुष्टौ वा वैकुण्ठेषु पक्ष्यादिरूपत्वम्, तद्व्यावृत्त्यर्थमाह महात्म-न्निति । महात्मत्वं भगवदागमनान्निश्चीयते । अतः युवयोः कृत्यं नावशिष्यते । अनेनेयमेवावस्था पुरुषार्थ इति ज्ञापितम् ॥३३॥

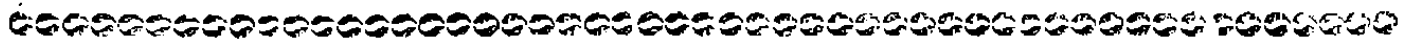
व्याख्यार्थ - जिस प्रकार के स्वरूप की उपासना की जाती है, वही स्वरूप चिन्तन तथा ध्यान में रहता है । जिससे वह चिन्तक एव ध्यान करने वाला उसका ही रूप बन जाता है यह लोक में प्रसिद्ध ही है । भगवान् तो सर्व फल रूप हैं ही, जब सर्वफल रूप भगवान् की प्राप्ति हो गई तब शेष कुछ पाने के लिये नहीं बचता है, कारण कि समस्तों की आत्मा तथा हेतु है । श्रुति कहती है कि 'सर्वस्य आत्मा भवति, सर्वमस्यान्न' भवति' आप सर्व की आत्मा हैं और सब इनका अन्न है, जिससे आप फल' सिद्ध होते हैं और विशेष कहते हैं कि विकारे^२ में भी कारण आत्मा है । यह बताने के लिये ही 'नारायण' नाम दिया है । यह पुरुष^३ नारायण है, किन्तु समस्तों का उद्धार करना है, इस कारण के लिये आपने मनुष्य का कपट* रूप भी धारण किया है, इस रूप के धारण करने से फल की आवश्यकता प्रकट की है, बहुत करके यों होगा । इस शङ्का को मिटाने के लिये कहे हैं कि 'जो समस्त लोकों के दुःखों को मिटाने में लगे हुए हैं, क्या वह दास के दुःख दूर करने में समर्थ नहीं है ? दासों के दुःख दूर करने में समर्थ है यह सिद्धान्त है । आप उसमें 'सदैव' भाव रखते हो, भाव शब्द से रसगन^४ को हटा दिया है, क्यों पुत्र होते हुए भी देवपन की प्रतीति हो रही है, तो भी फल प्राप्ति

प्रकाश—लौकिक विषय के चिन्तक को लोक में 'चिन्त्य' कहते हैं । योग में ध्यान को चिन्त्य कहते हैं । भ्रमरी ध्यान करते हुए वह रूप हो जाती है यह प्रत्यक्ष लोक में देखा जाता है ।

+लेखकार कहते हैं कि-प्रखिल शब्द से व्यष्टि रूप प्रपञ्च कहा है और विकार शब्द से समष्टि रूप विराट् कहा है, अर्थात् विराट् का तथा जीव मात्र का हेतु यह नारायण ही है ।

१-श्रुति में कहा हुआ फल, २-विकृत फल में, ३-मोक्ष तथा भक्ति का बीज रूप, ४-रस समानता में होता है । यहां पुत्र में देवत्व असमानता है, इसलिये रस को हटाकर भाव कहा है 'प्रकाश'

*लेखकार कहते हैं कि यदि आप मनुष्य रूप धारण न करते तो सेवा नहीं हो सकती । जिसके बिना फल की प्राप्ति न होती, फल की आवश्यकता होने से ही आपने यह रूप धारण किया है । पुत्र में देवत्व की प्रतीति न भी होवे केवल पुत्र की प्रतीति हो तो भी भाव पद रसत्व की निवृत्ति के लिये कहा है क्योंकि 'रतिर्देवादि विषया भावः' इसमें आदि शब्द से देव मुनि, गुरु, नृप और पुत्र आदि में जो रति है, वह भाव है, अतः यहां पुत्र में रति को भाव बताने के लिये रस का निवारण किया है ।



में स्वरूप की योग्यता भी चाहिये। जैसे मर्यादा में ब्राह्मणों की ही मुक्ति होती है, किन्तु पुष्टि (अनुग्रह) में वा वैकुण्ठों में पक्षी आदि रूपपन होता है। उस पक्षी आदि रूपपन की निवृत्ति के वास्ते कहते हैं कि हे महात्मन् ! भगवान् यहां पधारे हैं; इससे निश्चय होता है कि आप महान् आत्मा हैं। आपको पक्षी आदि रूप की प्राप्ति न होगी, अतः आप दोनों के लिये शेष कुछ कर्तव्य नहीं रहा है, इसलिये यह अवस्था ही पुरुषार्थ है, यों उद्धवजी ने बताया है ॥३३॥

आभास—एवं विषयं साधनं चाभिनन्द्य लौकिकभावेन खेदं वारयितुमाह प्रागमिष्यतीति ।

आभावार्थ—इस प्रकार विषय तथा साधन का अभिनन्दन कर, अब लौकिक रीति से खेद मिटाने के लिये 'प्रागमिष्यति' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—प्रागमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः ।

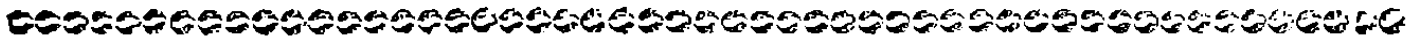
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः ॥३४॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णचन्द्र थोड़े समय में व्रज में पधारेंगे, यादवों के तथा भगवद्भक्तों के पति यहाँ आकर माता-पिता का प्रिय करेंगे ॥३४॥

सुबोधिनी—अदीर्घेणैव कालेन व्रजमागमिष्यतीति यतः अच्युतः स्वरूपतो धर्मतश्च, अन्यथा वाक्यतश्च्युतः स्यात् । लौकिकभाषया बोधनमिति केचित् । शास्त्रार्थतः समागमिष्यतीत्यन्ये । भगवद्वाक्यानुरोधेन भगवदीयानां च 'कुरुन्मधून्वे'ति वाक्याच्च 'पित्रो'रिति विशेषवचनाच्च 'गतांश्चिरायिता'नितिवाक्यविरोधाभावात् नन्द द्रष्टुं समागत एव भगवान्परं यथा न गोपीकाप्रतीतिस्तथेत्यर्थादवगम्यते । आर्थिके विरोधाभावादिममर्थ-

मेव ज्ञापयितुमाह प्रियं विधास्ते पित्रोरिति । यथैव प्रियं भवति, येन प्रकारेणागते, तथैव विधास्यति । एतादृशकरणे सामर्थ्यमाह भगवानिति । एवं गुप्ततयागमने हेतुमाह सात्वतां पतिरिति । यादवानां भगवद्भक्तानां च पतिः । यादवानुरोधान्मागानुरोधाच्च तथा समागमिष्यतीति भावः । 'प्रीतिमावहे'ति वाक्यादेवमुच्यते, अन्यथा शास्त्रार्थमात्रमेव कथयेत् ॥३४॥

व्याख्यानार्थ—थोड़े ही दिनों में व्रज में पधारेंगे कारण कि आप अच्युत हैं, जिससे धर्म तथा स्वरूप से आपकी कभी च्युति नहीं होती है। यदि न आवें तो, जो वाक्य आने के कहे हैं, उन से च्युत हो जावेंगे, अतः आवेंगे। किन्हीं का मत है कि आऊंगा यह भगवान् का कहना लौकिकी भाषा है। दूसरे कहते हैं कि यों कहना शास्त्रार्थ से है। भगवान् अपने कहे हुए वचनों के आग्रह से और



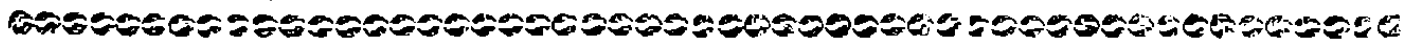
भगवदीयों के कहे हुए 'कुरुन्मधून् वा' 'पित्रोः' इस विशेष वचन से तथा 'गतांश्चिरायितान्' इत्यादि वचनों का विरोध भी न हो, तदर्थ नन्द को देखने के लिये पधारे ही हैं, किन्तु ऐसे पधारे हैं जैसे गोपियों को सुधि न हुई। यों अर्थ से जाना जाता है कि आर्थिक में विरोध न आए इसलिये इसी अर्थ को बताने के लिये कहते हैं कि भगवान् पधार कर माता पिता का प्रिय करेंगे। जिस प्रकार आने से उनको प्रिय अर्थात् आनन्द हो उसी प्रकार आकर कार्य करेंगे। अर्थात् भगवान् इस प्रकार पधारेंगे जैसे माता को प्रतीति हो कि आए हैं, जिससे वे प्रसन्न हों अपनी अभिलाषा पूर्ण करें, इस भांति करने की आप में सामर्थ्य है, क्योंकि 'भगवान्' षड्गुण सम्पन्न हैं। ऐसे गुप्त आने का कारण कहते हैं कि ये 'सात्वतां पतिः' यादव और भगवद्भक्तों के स्वामी हैं। यादवों के पति होने के अनुरोध से और भक्ति मार्ग के आग्रह से आवेंगे। कहने का भाव यह है कि प्रीतिभावह' वाक्य से यों कहा जाता है, नहीं तो शास्त्रार्थ मात्र हो जाता ॥३४॥

आभास—ननु भगवानेवमायास्यतीत्यत्रावश्यकत्वे च किं प्रमाणमिति चेत् तत्राह हत्वेति ।

आभासार्थ—भगवान् यहाँ इस प्रकार पधारेंगे, इसकी आवश्यकता में क्या प्रमाण है ? इस पर 'हत्वा' यह श्लोक प्रमाण में कहते हैं ।

इस पर श्री हरिरायजी विवेचन कर स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि वियोग दो प्रकार से होता है। एक धर्म स्वरूप से वियोग और दूसरा धर्म स्वरूप से वियोग। इनमें से धर्म रूप वियोग आगे आने वाले अध्याय में स्वामिनीओं को कहेंगे। इस अध्याय में धर्म रूप कहा जाता है। इसमें स्वरूप की रक्षा के लिये संयोगात्मक धर्मरूप का पधारना आवश्यक है। यदि इस रूप से न पधारे तो वियोग से देहादि का अन्यथा भाव हो जावे^१, जैसे अग्नि के सम्बन्ध से काष्ठ आदि पदार्थ जल जाते हैं, परन्तु यहाँ स्वरूप से ही पधारे हैं नहीं कि धर्म से इसलिये दर्शन नहीं हुए हैं, स्वामिनीओं को तो अलौकिक सामर्थ्य दान देकर उनके देह आदि विप्रयोग रूप बना दिये हैं, जिसको धर्म रूप वियोग कहते हैं इस प्रकार धर्मरूप वियोग होने से देहादि के वियोग से जलना अशक्य है। जैसे अग्नि से अग्नि का जलना असंभव है, इस कारण से स्वामिनियों की प्रतीति में भगवान् नहीं पधारे हैं। यदि संयोगात्मक प्रभु पधारे तो विरुद्ध फल हो जाए कारण कि स्वामिनियों को विप्रयोग होने से यदि पुनः सम्बन्ध होगा, तो सर्व दाह होगा। यह आगे के अध्याय में कहेंगे। पूर्वा पर प्रसंग को देखकर इस प्रकार व्याख्या की है।

+ लेखकार कहते हैं कि प्रकट रूप से नहीं पधारे, जिसका हेतु कहा और प्रकट में पधारे, जिसका भी कारण कहा है। यदि बिल्कुल न पधारते तो भक्त-रक्षा नहीं होती, जिससे भक्ति मार्ग की प्रवृत्ति रुक जाती, यों करने का यह भाव है।



श्लोक—हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम् ।

यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ॥३५॥

श्लोकार्थ—सर्व यादवों^१ के बैरी कंस को रङ्ग भूमि के मध्य में मार आपके पास आकर जो कृष्ण ने आपको कहा, वह सत्य करेंगे ॥३५॥

सुबोधिनी—कंसं हत्वा यदाह भगवान् धो युष्माकं स्थाने समागत्य तत्सत्यमेव करोतीति, कंसो व्याजेनैव मारणीय इति परोक्षवादेनापि सावत्पर्यन्तं वदति । अतो गोपिकाः प्रति समागमनकथा शास्त्रार्थत्वेनापि सङ्गच्छते । कंसमारणानन्तरं तु प्रयोजनाभावात् परोक्षकथायां निमित्तमस्ति । कापट्ये हि शीघ्रं हतो भवत्य-
क्लिष्टकर्मानान्यथेति । वधश्च शीघ्रमेव कर्तव्य इत्यत्र हेतुमाह प्रतीपं सर्वसात्वतामिति सात्वतां

भक्तानां सर्वथा प्रतीपं प्रतिकूलम् । पूर्वमन्यथा-
करणे ज्ञापकमाह रङ्गमध्ये इति रङ्गस्थानं हि लीलायाः, न तु वधस्य । तत्राप्यनुरोधात् युष्मा-
नागत्य तत्रापि कृष्णः फलरूपः सर्वनिरपेक्षः । अनेन हेतुवादे प्रयोजनाभाव उक्तः अतस्तत्सत्यं करोत्येव । वर्तमानप्रयोगेण साम्प्रतमपि तस्यागमनं सूचितम् । वर्तमानसमीपे वर्तमान प्रयोगः । अत आगमिष्यतीत्यप्याविरुद्धम् ॥३५॥

व्याख्यानार्थ—कंस को मारकर, भगवान् ने आपके स्थान पर आकर जो आपको कहा है, वह सत्य हो करेंगे । कंस किसी भी बहाने से मारने के योग्य था, इसलिये यहां आने का तब तक परोक्ष-
वाद से भी कहा है । अतः गोपिकाओं को आने का कहना तो शास्त्रार्थपन से भी हो सकता है । कंस के मारने के पश्चात् तो कोई प्रयोजन नहीं रहा है । परोक्ष कहने का कोई निमित्त कारण नहीं है । कापट्य होने पर ही कंस को जल्दी मारा । यदि वह कंस में न होता तो अक्लिष्ट कर्मा भगवान् उसको न मारते । उसका वध तो शीघ्र करना चाहिये, कारण कि वह संकल भक्तों का बैरी है । प्रथम मारने का कारण कहते हैं कि 'रङ्गमध्ये' यह स्थल क्रीड़ा का है, क्रीड़ा स्थान में वध नहीं होता है, किन्तु क्रीड़ा होती है, इसलिये वहां कंस का वध भी वध नहीं है, किन्तु एक वध क्रीड़ा है । यह क्रीड़ा से वध भी उपरोक्त वदन्त्या भक्तों से शत्रुता के कारण से हुआ है । वहां भी आपके पास आकर अनुरोध से कहा, वह रुहने वाले निरपेक्ष^२ फलरूप श्रीकृष्ण हैं । इससे यह बताया कि इस विषय में हेतुवाद^३ का प्रयोजन नहीं है । वह अपना वचन सत्य करते हैं, 'करोति' यह वर्तमान काल की क्रिया देकर यह बताया है कि अभी वे आये हुए हैं । समीप में वर्तमान काल का प्रयोग होता है, अतः 'आगमिष्यति' आदेंगे यह भी विरुद्ध नहीं है ॥३५॥

१- भक्तों के,

२- जिसको कोई अपेक्षा नहीं है,

३- तर्क आदि से बहस अथवा कपट से कहना ।



आभास—ननु यथेदानीमागतो न दृश्यते, तथाग्रेप्यागतो न द्रष्टव्य इति किमागम-
नेन सत्यवाक्येन वेत्याशङ्क्याह मा खिद्यतमिति ।

आभासार्थ—जैसे अब आए हुए नहीं दीखते हैं, उसी तरह फिर भी आये हुए दीखेंगे नहीं,
तो फिर आने से एवं सत्य वाक्य से क्या लाभ ? ऐसी शङ्का हो तो उसको 'मा खिद्यत' दो श्लोकों से
मिटाने हैं ।

श्लोक—मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके ।

अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि ॥३६॥

न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः ।

नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासमोऽपि वा ॥३७॥

श्लोकार्थ—हे बड़े भाग वाले ! आप खेद मत करो । कृष्ण को अपने पास जल्दी
देखोगे; क्योंकि काष्ठ में अग्नि के समान वे सर्व भूतों में विराजते हैं । वे अहंता रहित
सम दृष्टि वाले हैं, उनको न कोई प्यारा है, न कोई बुरा है, न उत्तम है; न अधम है
और न कोई विषम है ॥३६-३७॥

सुबोधिनौ—भगवद्दर्शनार्थं खेदं मा कुरुतम् ।
दर्शने स्वरूपयोग्यो हेतुर्गुणयोरस्तीत्याह । महा-
भागाविति प्रतीत्या, अनुमानेन च युवयोर्महद्भा-
ग्यं प्रतीयते, तदवश्यं दर्शयिष्यतीति दर्शने न
सन्देहः । योगज्ञानादिना दर्शनं वारयति अन्तिक
इति । लौकिकं भगवानेवापेक्ष्यत इति न रामग्र-
हणम् । तस्य प्रादुर्भावः सर्वत्रैव सुगम इति ज्ञाप-
यितुं अन्तर्निरूपयति अन्तर्हृदीति । अन्यो भवि-
ष्यतीत्याशङ्कां व्यावर्तयति स इति । यो भवद्भि-
रपेक्ष्यते, स एव सर्वेषामन्तर्हृदये वर्तत इति ।
तत्र प्रमाणमाह भूतानामिति । अन्यथा ते कथं
जाताः प्राणिनः । आधारव्यतिरेकेण अन्नादि-
क्रियाणां स्थित्यसम्भवात् । अतः सूत्रापेक्षयाप्या-

धारत्वेन सर्वत्रैव वर्तते । अन्तर्हृदीति प्रतीत्यर्थं
विशेष उक्तः । जीवासन्ययोर्व्यावृत्त्यर्थं दृष्टान्तमाह
ज्योतिरिवैधसीति भूहृत्त्राविशेषेऽपि यथा घटा-
दयो निमज्ज्यन्ते न ज्वलन्ति, तथा न काष्ठादयः,
उत्पत्तावपि भूम्यंशान् स्वसमानान् न गृह्णन्ति,
अतो ज्ञायते स्वभावत एव ते बन्धात्मकाः, जलेन
च पुष्टा भवन्ति, उभयोर्व्यवधायका मायेव सूक्ष्माः
पृथिव्यवयवाः, उभयोरप्यपगमे यावद्भूस्म ताव-
न्मात्राः, अतो भूयःशस्तेजस एव जलस्थानीयो
ह्यासन्यः, पृथिव्यंशस्थानीया जीव इति सर्वत्र
भगवान् चेतनेषु उत्तम्भनचलनादिना वर्तत इत्य-
व्यवसीयते । अन्यथा मथनेनेव योगादिना न
प्रादुर्भूतः स्यात् ॥३६-३७॥

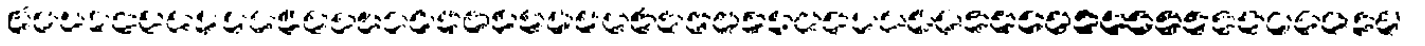
व्याख्यानार्थ—भगवान् दर्शन देंगे वा नहीं, इस प्रकार खेद मत करो । आपका स्वरूप ही दर्शन
देने में हेतु है, क्योंकि आप महान् भाग्य वाले प्रतीत हो रहे हैं, और अनुमान से भी जाना जाता है
कि आप भाग्य शाली हो, इसलिये अवश्य दर्शन देंगे । उसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है । योग



और ज्ञानादि से जैसे दर्शन होते हैं, वैसे नहीं होंगे, किन्तु आपके पास आकर दर्शन देंगे। यहां राम का नाम न लेकर केवल कृष्ण ही इसीलिये कहा है कि सर्व मनुष्य भगवान् के दर्शन की ही इच्छा करते हैं। उसका प्रादुर्भाव सर्वत्र ही सुगम है, कारण कि जिसके दर्शन की आपको इच्छा है वे सर्व प्राणिमात्र के हृदय में विराजमान हैं। यदि वे उनमें भीतर विराजमान नहीं है तो ये प्राणी कैसे उत्पन्न हुए? यदि कहो कि अन्न आदि से, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि आधार+के सिवाय किसी पदार्थ की स्थिति नहीं, अतः अन्नादि की क्रिया की स्थिति भी उस अन्तर्हृदय में स्थित हुए पर है। अतः सूत्र की अपेक्षा से भी सर्वत्र ही आधारपन से रहते हैं। कहां रहते हैं? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि हृदय के भीतर रहते हैं। यह विशेष कहना प्रतीति के लिये ही है। जीव अथवा आसन्न्य की व्यावृत्ति^१ के लिये दृष्टान्त देते हैं कि जैसे काष्ठ में अग्नि रहती है, पृथ्वी से घड़ा बनता है और लकड़ी भी पृथ्वी की ही पैदाइश है, दोनों पृथ्वी से उत्पन्न होते हैं, तो भी घड़ा जल में डूबता है और लकड़ी पानी पर तैरती रहती है। यह इसलिये कि दोनों उत्पन्न होते समय समान अंश ग्रहण नहीं करते हैं, अतः जाना जाता है कि वे अग्न्यात्मक हैं और जल से पुष्ट होते हैं। दोनों में अन्तर करानेवाली माया ही सूक्ष्म पृथ्वी के अवयव रूप है। दोनों के नष्ट होने पर भस्म^२ हो जाते हैं जितनी राख है उतने रूप में वे अवयव हैं। भस्म हो जाने से प्रथम काष्ठ है, दूसरा घड़ा है, यों कहा जाता है, अतः वे अधिकांश में उस प्रकाश के अंश हैं। विशेष अंश तेज का ही है, इस लिये यहां जल के स्थान पर 'आसन्न्य' है, पृथ्व्यंश के स्थान पर 'जीव' लिया है, इसी प्रकार सर्वत्र भगवान् सर्व चेतन पदार्थों में विद्यमान रहते हैं और खड़ा होने चलने आदि क्रिया कराते हैं, जिससे समझा जाता है कि भगवान् भीतर है। काष्ठ में जो अग्नि है, वह मथने से प्रकट होती है। वैसे ही भगवान् हृदयस्थ योग आदि से प्रकट हो^३ हैं, अन्यथा वे प्रकट नहीं होते ॥३६-३७॥

+लेखकार 'आधारव्यतिरेकेण' पंक्ति का स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि (अन्नाद्भुतानि जायन्ते) अन्न से भूत उत्पन्न होते हैं, इस सिद्धान्त में भी अन्न आदि से जनन आदि किया होती है वह बिना आधार के नहीं है, अन्न से उत्पन्न होने में भी उत्पन्न होना धर्म है; जिससे यह सिद्ध ही है कि धर्म से प्रथम धर्म होगा ही, अतः वह धर्मों का ही कारणत्व है, वह धर्मों भगवान् सर्वत्र सर्वदा ही सिद्ध है, जनन आदि धर्मों का वह आधार है।

प्रकाशकार—'आधार व्यतिरेकेण' पंक्ति कहने का आशय बताते हैं कि भगवान् के अभाव में भूतों का अभाव कैसे व क्यों होगा? इस शङ्का के उत्तर में यह पङ्क्ति आचार्य श्री ने कही है जिसका आशय है कि बिना आधार के कोई भी वस्तु कार्य नहीं कर सकती है, अतः अन्न का भी आधार होना चाहिये वह शास्त्र प्रमाणानुसार 'भगवान्' है, जो सर्व के भीतर विराजमान है, इसलिये कहा है कि 'ह्योवान्यात् कः प्राण्यात् यदेश आकाश आनन्दो न स्यात्' इत्यादि से इस विषय को समझाया है; विशेष प्रकाश देखिये।



आभास—एवं प्रादुर्भावे सुलभतामुक्त्वा तथापि दुर्लभ इति वक्तुं लौकिकप्रयोजकान् सवनेव सम्बन्धान् वारयति न मातेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् का प्राकट्य सुलभ होते हुए भी दुर्लभ है । यों कहने के लिये लौकिक को दिखानेवाले सर्व सम्बन्धों का निवारण 'न माता' इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः ।

नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥३८॥

श्लोकार्थ—उनके न माता, न पिता, न भार्या, न पुत्रादि, न अपना, न पराया, न देह और न जन्म है ॥३८॥

सुबोधिनी—अनेनासूयापि निवार्यते, न हि भगवान् कस्यचिदुपालम्भो भवतीति, तस्य सर्वान्तर्यामिणः कृष्णस्य यशोदाया मासृत्वेन प्रसिद्धा अपि ता न मातरः, तथा नन्दादयोपि न पितरः, न च सीताप्रभृतयो भार्याः । न वा कुशादयः सुताः, आदिशब्देन न भ्रातरः गदादयोपि, आत्मीयः

स्वसत्तात्मकः, परः शत्रुः परकीयोपि पर एवेति न सम्बन्धी निरूपितः । चकारान्नोदासीनः, अयमर्थो निर्वहिरितः इत्येवकारः, नापि देहः यदर्थमेतेऽपेक्ष्यन्ते, तस्य कारणं जन्मापि नास्ति । एवकारः पूर्ववत् । वेत्यनादरे । अनेन यत्किञ्चिदत्र सम्भावितं तदपि निषिद्धम् ॥३८॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कहने से यह सिद्ध करते हैं कि इनमें डाह भी नहीं है । जिससे भगवान् कृष्ण को कोई उपालम्भ^१ भी नहीं दे सकता है । कारण कि उनका किसी से भी किसी प्रकार का सम्बन्ध भी नहीं है, जिसको स्पष्ट कर बताते हैं । उस सर्वान्तर्यामी कृष्ण की जो यशोदा आदि माताएँ प्रसिद्ध हैं, वे भी माताएँ^२ नहीं हैं । वैसे ही नन्द आदि पिता भी पिता नहीं हैं, सीता आदि स्त्रियाँ नहीं हैं । कुश आदि पुत्र नहीं हैं । आदि शब्द से गद आदि भाई भी नहीं हैं । अपने व पराये^३ भी कोई नहीं है । 'च' से यह बताया है कि उदासीन भी नहीं है । 'एव' शब्द से इस विषय का निश्चित रूप से निर्णय किया है जिसके लिये इनको अपेक्षा होती है । वह 'देह' ही नहीं है, उस देह का कारण जन्म है, वह जन्म भी नहीं है । श्लोक में 'एव' पूर्व की भांति निश्चय वाचक है । 'वा' शब्द अनादर वाचक है । इससे जिसकी कुछ भी यह सम्भावना दीखती है, उसका भी निषेध कर दिया है ॥३८॥

आभास—ननु कर्मसु विद्यमानेषु जन्मानुच्छेदात् कर्मणां च प्रसिद्धत्वात् कथं जन्माद्यभाव इत्याशङ्क्याह न चास्येति ।



आभासार्थ—कर्मों के होते जन्म का अभाव नहीं होता है कर्म तो प्रसिद्ध हैं ही, फिर जन्म अभाव कैसे कहते हो ? जिसका उत्तर न चास्य कर्म' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु ।

क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥३६॥

श्लोकार्थ—इनका कोई भी वैसा कर्म नहीं है, जिससे जन्म लेवे; तो भी लोक में केवल भक्तों की रक्षा के वास्ते प्रकट होते हैं, यह प्रकट होना उनको क्रीड़ा है, वह क्रीड़ा ऊँच-नीच और मित्र योनि में प्रकट होकर करते हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—नापि अस्यान्तर्यामिणो निर्लेपस्य अग्निवत्सर्वदाहकस्य सदसन्मिश्रयोनिषु उत्कृष्टापकृष्टमध्यभावेषु देवतिर्यङ्मनुष्यरूपेषु अस्य कर्मापि न । तत्रापि वेत्यनादरे जातेऽपि तेन न किञ्चित्कर्तव्यमिति । तर्हि किमर्थमेतावत्करोतीत्याशङ्क्याह क्रीडार्थ इति अयं सर्वोपि भगव-

द्भावः क्रीडार्थः । सोऽपि क्रीडाभावः साधूनां परित्राणाय तदपि नोद्देश्य किन्तु कल्पते स्वयमेव समर्थो भवति । यथा सूर्यो समागते स्वयमेवान्धकारो नश्यति न तु तदर्थं प्रयत्नोऽपि कर्तव्यः । यथा महाराजे क्रीडार्थमप्यागते चौरभयनिवृत्तिः । ॥३६॥

व्याख्यार्थ—अन्तर्यामी, निर्लेप तथा अग्नि की भांति सर्वदाहक भगवान् का वैसा कोई कर्म नहीं है, जिससे देव, पशु, पक्षी एवं मनुष्य आदि रूपों में उन कर्मों के अनुसार जन्म लेवे । वहां भी 'वा' शब्द अनादर में कहा है । जन्म लेते हुए भी उनको कुछ कर्तव्य नहीं होता है, कारण कि उनको कर्म के अभाव से कर्म बन्धन नहीं है । यदि यों हैं, तो इतना करते क्यों है ? इसका उत्तर देते हैं कि क्रीड़ा के लिये । यह सकल भगवद्भाव क्रीड़ा के लिये है । उस क्रीड़ा से भक्तों की रक्षा स्वतः हो जाती है । जैसे सूर्य उदय से अन्धकार आप ही नष्ट हो जाता है । अन्धकार नाश करने के लिये सूर्य को कोई प्रयत्न करना नहीं पड़ता है । दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि राजा क्रीड़ा के लिये भी आते हैं तो चोरों का भय स्वतः मिट जाता है । इस प्रकार भगवान् भी क्रीडार्थ पधारते हैं, तब स्वयं भक्तों की रक्षा हो ही जाती है । तदर्थं भगवान् को कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है, क्योंकि भगवान् का उद्देश तो क्रीड़ा है, किन्तु लोक स्वयं वैसी कल्पना करते हैं कि भगवान् सर्व समर्थ होने से यों करते हैं ॥३६॥

अभास—एतदप्यङ्गीकृत्योच्यते मतान्तरे तु तदपि नास्तीति वदन् पूर्वोक्ते चोपपत्तिमाह सत्त्वं रजस्तम इति ।

आभासार्थ—यह भी अङ्गीकार करके कहा जाता है, किन्तु दूसरे मत में यह भी नहीं है । प्रथम जो कहा है उसमें हेतु सहित युक्ति बताने के लिये 'सत्त्वं रजः' श्लोक कहते हैं ।



श्लोक—सत्त्वं रजस्तम इति मजते निर्गुणो गुणान् ।

क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥४०॥

श्लोकार्थ—आप निर्गुण हैं, तो भी सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणों को धारण करते हैं । अक्रीडक होते हुए भी क्रीड़ा करते हुए गुणों से जगत् को रचते हैं, पालते हैं और संहार करते हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—स्वयं निर्गुण एव मूलभूतानेतान् । सृजत्यवति हन्तीति ॥४०॥
क्रीडन् भजते । तेषां विशेषप्रयोजनमाह तैः ।

व्याख्यान—स्वयं निर्गुण ही मूल भूत इन गुणों से क्रीड़ा करते हुए इनको धारण करते हैं । इन गुणों के धारण करने का विशेष प्रयोजन बताते हैं कि इन गुणों से जगत् की रचना करते हैं और उसका संहार भी करते हैं ॥४०॥

आभास—यथा स्वयमजः स्वरूपतो न जायते, अन्यथा तु कार्यरूपेण जननमावश्यकमेवमात्मसृष्ट्यभावे गुणैरेव सर्गे जीवानामपि औपाधिकभेदेनैव भेदसम्भवात् कुत्राप्यात्मनः कर्तृत्वं नास्तीति निरूपयन् अन्तःकरणाध्यासेनैव कर्तृत्वं न स्वत इति दृष्टान्तेनोपपादयन् कैमुतिकन्यायेन भगवति कर्तृत्वनिषेधमाह यथा अमरिकेति ।

आभासार्थ—भगवान् अज हैं, अतः आप स्वरूप से जन्म नहीं लेते हैं । यदि अज न होते तो स्वरूप से कार्य रूप जन्म अवश्य होता । जब आत्मसृष्टि + नहीं होती है, तब सृष्टि गुणों से ही होती है । उस सृष्टि में जीवों में भी औपाधिक भेद होने से वहां भी आत्मा का कर्तृत्व नहीं है, यह निरूपण करते हुए कहते हैं कि अन्तःकरण के अध्यास से ही कर्तापन है, स्वतः नहीं है । यों दृष्टान्त से सिद्ध करते हुए कैमुतिक न्याय से भगवान् के कर्तृत्व का निषेध 'यथा अमरिका दृष्ट्या' श्लोक से करते हैं ।

+ भगवान् ही सृष्टि रूप हैं । 'स आत्मानं स्वयं अकुरुत' श्रुतिः—

इस सिद्धान्त में जगत् गुणात्मक है, अर्थात् सत्त्वादि गुणों से बनने के कारण गुण रूप है । श्रुति सिद्धान्तानुसार ब्रह्म से उत्पन्न होने से ब्रह्म रूप जगत् माना जाता है, वह यहां नहीं है । जीव का ब्रह्म से अभेद है, अतः जीव के कर्तापन का निषेध करने से ब्रह्म के कर्तापन का भी निषेध किया गया है ।

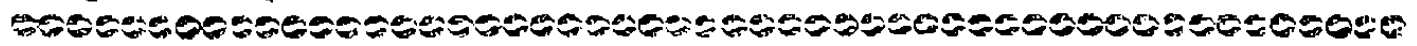
एकता सिद्ध करते हैं। सचमुच में तो ये दो दृष्टान्त अन्दर और बाहर के भेद समझाने वाले हैं। यदि यों न मानोगे तो 'इव' शब्द की कोई सङ्गति न बनेगी। दृष्टान्त और विषय में अन्यथा बुद्धि होगी, एवं दार्ष्टान्त और कर्ता में भी सामञ्जस्य न होगा और अर्थ उपयोगवाला न होगा। जब ये दृष्टान्त भगवान् में घटित हो सकते हैं, तब प्रासङ्गिकता से उनकी योजना करनी उचित नहीं है। उसमें भगवान् ब्रह्म रूप है, स्वयं जैसे हैं वैसे हो प्रकट हुए हैं, क्योंकि उनके स्वरूप गुण और क्रिया नित्य ही हैं, किन्तु उनको, पुरुष की दृष्टि + क्रम से ग्रहण करती है और वह ग्रहण करने वाली दृष्टि अपने धर्म को उनमें जोड़ती है। जिस कारण से ब्रह्मरूप ही वहां प्राकृत सम्बन्धी दीखने में आते हैं जिससे वैसी कल्पना करते हैं। इस कल्पना से ये धर्म भगवान् में नहीं हो जाते हैं, केवल अपने भ्रम से ही गच्छिदानन्द स्वरूप भगवान् में प्राकृतपन* की प्रतीति होती है और विशेष कहते हैं कि सांख्य के मत के स्मृति आदि शास्त्र में आत्मा का चित्त में अध्यास होने से आत्मा चित्त के कर्तापन से अपने को कर्ता समझती है। वैसे भगवान् में अपने सम्बन्ध के आरोप से वैसा भाव प्रतीत होता है। वास्तव में भगवान् वैसे नहीं हैं वे तो पूर्ण रूप से सर्वत्र व्यापक हैं। परिच्छिन्न दृष्टि से उन उन पदार्थों में अभिव्यक्ति से सूर्य की तरह सन्बद्ध हो वैसे ही दीखते हैं। अथवा अपने धर्म के आरोप से मनुष्य यों मानते हैं। वास्तव में तो इन नेत्रों से दर्शन भी नहीं देते हैं, अतः वे पूर्ण परमानन्द हैं, तो भी परिच्छेद करने वाली दृष्टि से अथवा उनकी इच्छा से कहीं दीखते हैं, कहीं नहीं दीखते हैं, जैसे अब मथुरावासी दर्शन कर रहे हैं, आप नहीं करते हैं, अथवा जैसे हम यहां भी देख रहे हैं, किन्तु आप कहते हैं कि भगवान् यहां नहीं हैं, मथुरा में ही हैं यह आपका भ्रम है, इससे यह भ्रम मिटाकर निश्चय करलो कि भगवान् सर्वत्र हैं। साक्षात्कार दर्शन तो उनकी इच्छा से होंगे ॥४१॥

आभास—ननु अस्माभिरयं पुत्रत्वेन एतावत्कालं व्यवहृतः कथमिदानीमपुत्रत्वं स्वस्य वा भ्रान्तत्वं मन्यामह इत्याशङ्क्याह पुत्रयोरेवेति ।

+ यदि भगवान् की बाल्य पौगण्ड आदि लोलाएँ नित्य हैं तो सर्वदा क्यों नहीं दीखती है ? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहा है कि क्रम से ग्रहण करती है, ज्यों ज्यों भगवत्कृपा आदि से योग्यता आती है त्यों त्यों दर्शन होते हैं ।

* जिस प्रकार फिरने वाले की फिरती हुई दृष्टि से भूमि फिरती हुई उसको प्रतीत होती है वैसे ही मनुष्य को लौकिक दृष्टि भगवान् में लौकिक प्राकृतधर्म देखती है वास्तव में भगवान् में प्राकृत धर्म नहीं है ।

जैसे जुदे जुदे स्थानों में स्थित पुरुष, वृक्ष की आड़ होने से सूर्य को परिच्छिन्न दृष्टि से देखते हैं वैसे लौकिक दृष्टि वाले पुरुष भगवान् को भी उसी प्रकार देखते हैं।



आभासार्थ—हम लोगों ने इतने समय तक उनको पुत्र समझा है अब कैसे माने कि वह हमारा पुत्र नहीं है और यों भी कैसे माने कि हम सब भ्रान्त थे ? इस शङ्का का उत्तर 'युवायोरेव' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—युवायोरेव नैवायमात्मजो भगवान्हरिः ।

सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥४२॥

श्लोकार्थ—ये भगवान् श्रीकृष्ण आप ही के पुत्र नहीं हैं, ये ईश्वर हैं; अतः सबके पिता, माता, पुत्र और आत्मा भी हैं ॥४२॥

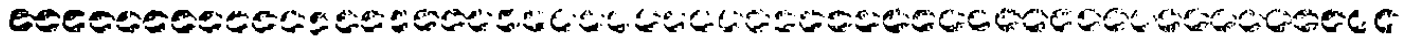
सुबोधिनी—यद्भगवतो लीलया भगवान् पुत्रो जात इति तथैवाङ्गीक्रियत इति मतं तदा युवयारेवैवंभूतो नान्येषामिति नास्ति किन्तु सर्वेषामेवायमात्मजादिः, सर्वात्मा ह्ययं तेषां पुत्रत्वाद्याकारेण यदि न भवेत् आधिदैविकप्रकारेण वा तदा संसारे प्राणिनामानन्दो न भवेदिति, 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यादिति श्रुतेः' । यतोयं हरिः अकारणसर्वदुःखहर्ता,

भगवान् समर्थः, यदि समर्थो भूत्वा न दुःखं दूरीकुर्यात् तदा अपुक्तं भवेदिति, अतो युक्तत्वादेव सर्वेषामात्मजः, आत्मा च सङ्घातरूपः, तथा पिता सङ्घातस्तु बीजम्, माता योनिः स च जीवः, ईश्वरो नियन्ता अन्तर्यामी च, एतावद्रूपो भगवान् सर्वेषां भवतीति किमाश्चर्यं भवतां पुत्रत्वेन स्वात्मानं ख्यापितवानिति ॥४२॥

व्याख्यानार्थ—जो भगवान् लीला से आपके पुत्र हुए हैं आपके इस कथन को मान लेते हैं तो भी ये आपके ही पुत्र हैं । दूसरों के नहीं हैं, यह बात नहीं है, कारण कि ये तो सर्व के आत्मज आदि हैं, क्योंकि ये सर्व की आत्मा हैं, अतः यदि उनके पुत्रत्व आकार से वहां प्रकट न होवे अथवा आधिदैविक प्रकार से प्रकट न होवे तो संसार में प्राणियों को आनन्द की प्राप्ति ही न होवे, आनन्ददाता तो आप ही हैं, जैसा कि श्रुति में भी कहा है 'को ह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' जिससे ये हरि होने से अकारण ही सर्व दुःख हर्ता हैं, भगवान् होने से समर्थ हैं । समर्थ होकर यदि दुःख दूर न करें तो अयोग्य कार्य होवे, अतः योग्यता प्रकट दिखाने के लिये ही सबों के पुत्र आत्मा, पिता, माता और जीव तथा ईश्वर अर्थात् अन्तर्यामी हैं । इतने रूप वाले जो भगवान् हैं, वे सबके हैं, इसमें क्या बड़ी बात है कि जिसने अपने को आपका पुत्र कहकर प्रसिद्ध किया ॥४२॥

आभास—ननु सर्वेषां तथात्वेऽपि न सर्वेषां तथा प्रतीतिः किन्त्वस्माकमेव इदं च भगवता लीलया तथैव कृतम्, अतः पुत्रोस्माकमेव न सर्वेषामिति चेत्तत्राह दृष्टं श्रुतमिति ।

आभासार्थ—यद्यपि भगवान् वैसे के वैसे हैं तो भी सर्व को वैसे प्रतीति नहीं है, जैसी हम तो हुई है, यह प्रतीति भगवान् ने लीला से ही कराई है, अतः पुत्र हमारे ही हैं, न कि सबके, यदि यों नन्दजी कहें तो उसके उत्तर में 'दृष्टं श्रुतं' श्लोक कहते हैं—



श्लोक—दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्य-

त्स्थास्तुश्चरिष्यगुर्महदल्पकं च ।

विनाच्युताद्वस्तुतरां न वाच्यं

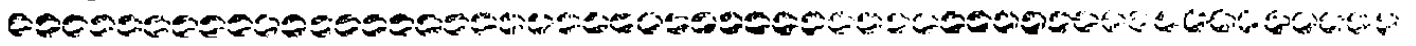
स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥४३॥

श्लोकार्थ—जो देखने और सुनने में आया है, भूत, भविष्यत्, वर्तमान, स्थावर, जङ्गम, बड़ी, छोटी कोई भी वस्तु जो कहने में आती है, वह भगवान् विना अन्य नहीं है, वे ही सर्व रूप और सब के परमार्थ रूप हैं ॥४३॥

सुबोधिनी—भगवान् सर्वेषामेव सर्वरूपो भूत्वा तथात्वं बोधयति । तथा सति यदि कोपि न मन्यते तदा तेषामभाग्यम् । भवद्भिरपि भ्रमात्र मन्तव्यम्, किन्तु सर्वत्वेन पुत्रत्वमपि मन्तव्यमिति, न तु पुत्रत्वमेव । परिच्छिन्नदृष्ट्या तावदेव गृहो-
तमिति तत्रान्यथाबुद्धिर्न वक्तव्येति । दृष्टं प्रत्यक्षतः ऐहिकम्, श्रु- श्रुत्यादिना पारलौकिकं च लौकि-
कमलौकिकं च भगवानेवेत्यर्थः । भूतभवद्भवि-
ष्यदिति त्रिविधकालपरिच्छेद्य उक्तः । अनेन
कालपरिच्छिन्नमपि भगवानेवेत्युक्तम् । अनेन
परिच्छेद्यापरिच्छेद्यविरुद्धसर्वधर्माश्रय इत्युक्तम् ।
परिच्छिन्नेष्ववान्तरभेदवानयमेवेत्याह । स्थाष्णु-
श्चरिष्यगुरिति । स्थावरं जङ्गमं च तत्रापि तृणमे-
रुभावो सिकताब्रह्माण्डभावो वा मशकब्रह्मभावो
च भगवानेवेत्याह महदल्पकं चेति । एव चतुर्धा

भिन्नो भगवान् चतुर्भूतिः स्वयमेव यतः, अच्युतः,
अन्यथा केनाप्यंशेन परिच्छेदे च्युतत्वं स्यात्, अतो-
ऽच्युताद्विना अच्युतव्यतिरेकेण इतरद्वस्तु न, न
वाच्यम्, किन्तु स एव समच्युतमिति । अच्युत-
विभक्तमपि न भवति अच्युतभिन्नमपि न भवति ।
नन्दस्य प्रथमाधिकारित्वात् आधिदैविकप्रकारेण
विश्वासार्थं भगवतः सर्वत्वमाह परमार्थभूत इति ।
परमार्थो भगवान् भूतः आधिदैविकः, अपरमार्थः
आध्यात्मिकः किन्त्वर्थो भवति, भौतिकस्त्वनर्थः
अत एव ब्रह्मवादात् आधिदैविकवादः पूर्वमीमां-
सासिद्धः किञ्चिदपकृष्टः, ततोपि भेदवाद आध्या-
त्मिकरूपः । ततोऽपि मायावाद इति, बोधने
उत्तरोत्तरमपकृष्टप्रकाराः, तत्राधिदैविको भौतिकः ।
मुक्तिश्च प्रमेयबलेनेति ॥४३॥

व्याख्यान्यर्थ—भगवान् सर्व में ही सर्व रूप होकर वैसा जनाते हैं । यों होने पर भी यदि कोई नहीं मानते हैं तो उनके अभाग्य हैं । आपको भी भ्रम से नहीं मानना चाहिये, किन्तु वे सर्व रूप है, यों मानकर, पुत्रत्व भी मानना चाहिये, न कि केवल पुत्रपन ही मान बैठो । आपने यदि परिच्छिन्न दृष्टि से इतना ही ग्रहण किया है, तो भी उस में अन्यथा^२ बुद्धि नहीं करनी । प्रत्यक्ष में आपने लौकिक देख लिया, श्रुति आदि शास्त्र से उनका अलौकिक सुन लिया, अतः भगवान् ही लौकिक तथा



अलौकिक हैं। भूत + वर्तमान और भविष्यत् काल से आप परिच्छेद्य^३ भी हो सकते हैं, अतः काल से जो परिच्छिन्न होता है वह भी भगवान् ही है। इससे यह बताया है कि भगवान् परिच्छेद्य तथा अपरिच्छेद्य होने से विरुद्ध धर्माश्रयी है। परिच्छिन्न में जो अवान्तर भेद हैं, वे भी भगवान् ही हैं। स्थावर और जंगम उसमें भी तिनके और मेरु के भाव, रेत और ब्रह्माण्ड के भाव तथा मच्छर और ब्रह्मा इत्यादि भी भगवान् ही हैं। बड़े और छोटे भी भगवान् ही हैं। इस प्रकार चार भेद से आप भगवान् चतुर्भूति आप ही है, क्योंकि आप अच्युत न होवे तो किसी प्रकार भी परिच्छेद होने से च्युत हो जावे, अतः अच्युत के सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं है, किन्तु वही पूर्ण अच्युत है। इसलिये भगवान् विभक्त भी नहीं हैं और कोई वस्तु उनसे भिन्न भी नहीं है, नन्द प्रथमाधिकारी है, इसलिये आधिदैविक प्रकार से विश्वास उत्पन्न करने के लिये भगवान् सर्व रूप हैं। यों कहा जा सकता है कि वह परमार्थ रूप है। भगवान् आधिदैविक होने से परमार्थ हैं, आध्यात्मिक होने से अर्थ रूप हैं। भौतिक तो अर्थ रूप नहीं है; इस कारण से ही ब्रह्मवाद से आधिदैविकवाद जो पूर्व मिमांसा से सिद्ध है वह कुछ हीन है। उससे आध्यात्मिक रूपा भेदवाद अधम है। उससे भी मायावाद बहुत अधम है, कारण कि मायावाद में मायाधीन कर्तृत्व होने से सब माया रूप है और पूर्व तथा उत्तर मीमांसाओं से यह सिद्धान्त विरुद्ध है, मुक्ति तो प्रमेय बल से होती है ॥४३॥

आभास—एवं नन्दोपदेशः समाप्तः रजनी च ततः समाप्तंत्याह एवं निशेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार वार्तालाप करते हुए नन्द का उपदेश तथा रात्रि दोनों की समाप्ति हो गई जिसका वर्णन 'एव निशा' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन् ।

गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान्वास्तून्समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन् ॥४४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि हे राजन् ! नन्दरायजी और भगवान् के अनुचर उद्धवजी के वार्तालाप करते हुए सारी रात बीत गई, गोपियाँ उठ कर, दीपक जगा कर और वस्तु का पूजन कर दही मथने लगीं ॥४४॥

+ भगवान् जैसे अब, जिस जिस प्रकार से सर्व हो जाते हैं, वैसे पूर्व ही स्वतः सिद्ध थे, वे इन्द्रियादि के अधिष्ठातृओं के नियामक होने से आधिदैविक हैं। इस आधिदैविक को मुख्य न कहने का तात्पर्य यह है कि वह अर्थों से उत्कृष्ट हैं, और आध्यात्मिक को अपरमार्थ कहने का भाव यह है कि पिछले हुए घृत के समान यह आध्यात्मिक रूप है, वह रूप भगवान् में है 'उस रूप के' विद्यमान होने से आध्यात्मिक कहलाता है, भौतिक अनर्थ रूप इसलिये है कि वह आध्यात्मिक है, इस प्रकार मानने का कारण यह है कि ये उपरोक्त प्रकार के रूप होने से पूर्ण ब्रह्मरूपत्व नहीं है— (विशेष प्रकाश में देखिये—)



सुबोधिनी—सा निशा एवं ब्रुवतोरेव व्यतीता यस्या मुखे समागतः, ततः परं भाग्यया सह भगवद्गुणालापेनापि रात्रिर्गच्छतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं गणयति, नन्दस्य कृष्णानुचरस्येति नन्दो भगवद्भक्तः प्रसिद्ध एव । उद्धवः कदाचिदन्यदपि वदेदित्याशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थमाह कृष्णानुचरस्येति सेवको हि स्वामिकार्यमेव कर्तुं मागतः स्वामिकथामेव करोति । राजन्निति तदभिज्ञत्वात्सम्बोधनम् । निशाप्रतियातेत्यत्र निदर्शनमाह गोप्यः समुत्थायेति सम्यगुत्थाय न तु रात्रावेव निमित्तवशादुत्थानम्, निरूप्य दीपानिति तासां सम्पत्ति-

रधिका निरूपिता । दीपानिति बहुवचनेन भगवतो पङ्गलारात्रिकमपि सूचितम् । वास्तून् समभ्यर्च्येति देहत्यादीनां सम्यगर्चनं कुलधर्मस्थापनार्थम्, भगवानत्रस्थित इति भक्त्या वा, दधोनि नानाविधानि प्रातःकृतानि मध्याह्नकृतानि सायंकृतानि च मथनं तूषस्येव । लौकिको दोहस्त्रिवारम्, वैदिको द्विवारं त्रिवारमित्येके । अनेन गोपिकानां सन्तोषार्थमयमागतः तासां सुखचरितेन तुष्यतीति नन्दातिथ्यवत् ताभिः कृतमातिथ्यं निरूपितम् ॥४४॥

व्याख्यार्थ—जिस रात्रि के प्रारम्भ में उद्धवजी आये थे वह रात्रि इस प्रकार वार्तालाप करते हुए समाप्त हो गई, स्त्री के साथ भी भगवद्गुणों की चर्चा करते हुए रात्रि व्यतीत हो जाती है, इस भ्रम के मिटाने के लिये कहते हैं कि नहीं, यह रात्रि तो नन्दजी जो भगवद्भक्त है और उद्धवजी श्रीकृष्णचन्द्र के सेवक हैं उन दोनों की भगवत्सम्बन्धी चर्चा होते हुए रात्रि समाप्त हो गई । नन्दजी भगवद्भक्त हैं, अतः उनको भगवान् के चरित्रों के सिवाय अन्य वार्ता सुनने में रुचि नहीं है तथा उद्धवजी श्रीकृष्ण के सेवक हैं । वे भी जिसके कार्य करने के लिये आये हैं, उसकी ही वार्ता करेंगे । जिससे कार्य सम्पूर्ण सिद्ध होवे, अतः भगवान् की ही कथा करते हैं । राजन् ! यह सम्बोधन देने का भावार्थ यह है कि परोक्षित को सावधान किया जाता है कि आप इस विषय को जानते हैं, रात्रि समाप्त हुई, इसमें प्रमाण क्या है ? जिसके प्रमाण में कहते हैं कि-गोपियां अच्छी प्रकार से जागृत होकर उठी हैं, यों नहीं है कि रात्रि में ही किसी कारण से उठी हैं उठकर दीपक जलाये, बहुत दीपक जलने से गोपियां अधिक सम्पत्ति वाली हैं । दीपों के बहुवचन देने से यह भी बताया, कि भगवान् की मङ्गल आति भी गोपियां ने की है, गोपियों ने कुल धर्म के अनुसार देहली आदि का भी अच्छी प्रकार से पूजन आदि किया है, अथवा यह पूजन इसलिये भक्ति प्रेम से किया है कि भगवान् यहां स्थित हैं । प्रातः मध्याह्न और सायंकाल की तैयारी हुई, दही का प्रातः काल में बिलोड़न किया जाता है, अतः प्रातःकाल में दही मथने लगी । जिससे यह निश्चय से प्रमाणित हो गया कि रात्रि की समाप्ति होकर प्रातः काल हो गया है । गौश्रों का दोहन लौकिक में तीन बार होता है: वैदिक रीतिसे दो बार । कोई कहते हैं कि वैदिक रीतिसे भी तीन बार होता है, इससे यह उद्धवजी गोपियोंको संतोष कराने के लिये आये हैं । उनके आनन्दमय चरित्र से वे (उद्धवजी) प्रसन्न हुए हैं । जैसे नन्दजी के आतिथ्य से प्रसन्न हुए थे, इस प्रकार गोपियों के किये हुए आतिथ्य का निरूपण किया ॥४४॥

आभास—यद्यपि स्वरूपस्थित्यैव सन्तुष्टो भवति तथापि तासामुत्कर्षमप्याह ता दीपदीप्तरिति ।

आभासार्थ—यद्यपि गोपियों के स्वरूप की स्थिति से ही उद्धवजी प्रसन्न हो गये हैं; तो भी उनके उत्कर्ष का वर्णन 'ता दीपदीप्तैः' श्लोक से करते हैं—



श्लोक—ता दीपदोममंणिमिवरेज्ज रज्जुविकर्षद्भुजकङ्कुणस्रजः ।

चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डलत्विष्यत्कपोलारुणकुङ्कुमाननाः ॥४५॥

श्लोकार्थ—दीपों के प्रकाश से चमकती हुई मणियों से गोपियाँ सुशोभित हो रही थीं और अनेक कङ्कुणों वाली भुजाओं से रज्जु को खींचती थीं, जिससे उनके नितम्ब, स्तन, हार और कुण्डल हिल रहे थे । उन हिल रहे हार तथा कुण्डलों की कान्ति से तथा कुंकुम से हुई लालास के कारण जिनके मुख विशेष शोभा दे रहे हैं, वैसी गोपी-जन थीं ॥४५॥

सुबोधिनी—दीपैर्दोमैः ये मणयः दीपप्रति-
बिम्बग्राहिणस्तेविशेषेण रेजुः । स्वरूपापेक्षयापि
अधिका कान्तिरिति भगवद्योग्यता निरूपिता
भगवद्गुणगानयोग्यता वा । एवं स्वरूपं वर्णयि-
त्वा क्रियाभिनिवेशेपि शोभातिशयमाह रज्जुनां
विकर्षयुक्तौ यौ भुजौ तत्र कङ्कुणानां स्रजो यासु ।
स्थूलकङ्कुणपरिधानं भगवद्विरहात् क्षामत्वं वा

बोध्यते । चलनितम्बः स्तनौ च तत्र हाराः कुण्डले
च यासाम्, कुण्डलयोर्वा त्विट् कान्तिस्तद्युक्तौ
कपोलौ त्विष्यत्कपोलौ सामान्यतस्त्विष्युक्तौ वा
कपोलौ ताभ्यां कृत्वा अरुणाः कपोलयावदारुणाः
अरुणकुङ्कुमयुक्तमुखा वा । सर्वाङ्गेषु सौष्ठवमा-
भरणान्युत्तमत्वं च निरूपितम् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—दीपों के प्रकाश से चमकती हुई मणियों के प्रतिबिम्ब से गोपियाँ विशेष भलक रही थीं, जिससे उनकी स्वरूप से भी विशेष कान्ति हो रही थी, इससे यह दिखाया, कि उनमें भगवान् की सेवा करने की योग्यता है, अथवा गोविन्द के गुणगान की योग्यता है । इस प्रकार स्वरूप का वर्णन कर अब कार्य में लगी हुई हैं तो भी उनमें शोभा की अधिकता है, जिसका वर्णन करते हैं । जिन भुजाओं से दधि मन्थन करते हुए रज्जुओं को खींच रही हैं उन भुजाओं में कङ्कुणों की मालाएँ पहनी हुई हैं । वे कङ्कुण स्थूल देखने में आते हैं । उसका कारण कहते हैं कि भगवद्विरह से गोपियाँ दुर्बल हो गई हैं, जिससे कङ्कुण स्थूल प्रतीत होते हैं । नितम्ब, स्तन, हार और कुण्डल सब हिल रहे थे, हिलते हुए कुण्डलों की चमक कपोलों पर पड़ रही थी, जिससे कपोल ललाई से सुशोभित हो रहे थे, अथवा कुंकुम लेप किये हुए मुख वाली गोपियों द्विगुणी शोभा पा रही थीं । इस प्रकार उनके सर्वाङ्गों में सुन्दरता तथा आभरणों की उत्तमता का वर्णन किया है ॥४५॥

आभास—एवं स्वरूपतो भगवद्योग्यत्वेनातिथ्यमुक्त्वा भगवद्गुणपरत्वेनापि तथा-
त्वमाह उद्गायतीनामिति ।

आभासार्थ—इसी भांति स्वरूप से भगवान् के योग्य आतिथ्य को कहकर अब भगवद्गुणगान परायण होने से भी आतिथ्य की योग्यता 'उद्गायतीनां' श्लोक में कह 'हैं—

श्लोक—उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः ।

दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो निरस्पृते येन दिशाममङ्गलम् ॥४६॥

श्लोकार्थ—भगवान् के गुणों का गान करती हुई व्रजाङ्गनाओं की ध्वनि स्वर्ग को छूने लगीं? वह ध्वनि दही के मन्थन की ध्वनि से मिली हुई थी, जिससे दिशाओं के अमङ्गल नष्ट हो गए ॥४६॥

सुबोधिनो—धर्मबुध्यापि गानं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह अरविन्दलोचनमिति स हि कमलनयनः कोटिकन्दर्पसुन्दरः । ननु कथं ब्रह्मत्वादिगुणा नोक्तास्तत्राह व्रजाङ्गनानामिति ता हि व्रजस्त्रियः सौन्दर्येणैव वशीकृताः किं ब्रह्मत्वादिना, प्रशस्तान्यङ्गानि यासामिति तावन्मात्रपरत्वे हेतुरप्युक्तः । अन्यथाङ्गप्राशस्त्यं व्यर्थं स्यात्, तासां लौकिकवैदिकनिरपेक्षत्वाय गाने विशेषमाह उद्गायतीनां ध्वनिद्विवमस्पृशदिति । कार्यकारणसहितं गानं निरूपितम् । कारणाधिक्याल्लोकपरित्यागः, तथासति लोकविद्विष्टत्वात् अस्वर्ग्यत्वमाशङ्क्य तस्यैव स्वर्गसम्बन्धः कः सन्देहस्तत्फल-

स्येति । तेनैव चरितार्थत्वात् वैदिकनिरपेक्षता च । तासां भगवदीयत्वेनैव स्वर्गस्यानपेक्षितत्वात्, वाचनिककायिकयोरेव कर्मणोः स्वर्गसम्बन्धप्रतिपादनार्थं दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रित इत्युक्तम् । चकारात्कङ्कगानामपि रणत्कारेण मिश्रितः, भगवदोयानां गुणानां सम्बन्ध्यपि गोपिकानां गवां च सम्बन्ध्यपेक्षत इति भगवानिव भगवद्गुणा अपि तत्सापेक्षा इति तासां महत्त्वं सूचितम् । ननु सर्वधर्मपरित्यागे तासां पाप भवेदिति कथं तद्वर्णनेनातिथ्यं माहात्म्यं चेत्याशङ्क्याह येन ध्वनिना दिशामेवामङ्गलं निरस्पृते किमुत तत्सम्बन्धिनाम् ॥४६॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'अरविन्दलोचन' पद देकर यह भाव बताया है कि गोपियों के धर्म से जो ज्ञान होता है, वह नहीं करती है, किन्तु धर्मों का गान करती हैं, कारण कि वे कमल नयन कोटि कन्दर्पों से भी सुन्दर हैं । इस गान में भगवान् के ब्रह्मत्व आदि गुण क्यों नहीं कहते हैं? इस पर कहते हैं, कि ये गाने वाली व्रज की स्त्रियाँ हैं, इनको भगवान् ने अपने सौन्दर्य से ही वश किया है, इसलिये इनको ब्रह्मत्व आदि से क्या लेन देन है? उस कोटि कन्दर्प लावण्य बाने के ही परायण में हेतु देते हैं कि उनके अङ्ग सर्व प्रकार प्रशस्त हैं । यदि उनके परायण, ये न बनें तो इनके प्रशंसनीय अङ्गों की व्यर्थता हो जाए, इनको लौकिक अथवा वैदिक की कुछ अपेक्षा नहीं है, जिससे इनकी ध्वनि स्वर्गतक पहुँच गयी है, कारण कि यह गान, कार्य + और कारण से युक्त है । कारण में अधिकता होने से लोक का परित्याग सिद्ध किया है, लोक के विद्वेष से गान अस्वर्ग्य होगा? जिसके उत्तर में कहते हैं कि उस ध्वनि का स्वर्ग से सम्बन्ध हो गया है, तो फिर ध्वनि के फल स्वर्ग में

१- स्वर्ग तक पहुँच गई,

२- बखान के योग्य, प्रशंसनीय ।

+ प्रकाशकार कहते हैं कि-स्वर्ग का स्पर्श यह कार्य है और भगवान् में आसक्ति कारण है,

पहुँचे इसमें सन्देह कैसा ? उससे ही कृतार्थता हो गई है, इससे वैदिक की भी अपेक्षा नहीं, यह बता दिया । वे गोपियां भगवदीय हैं, अतः उनको स्वर्ग की कोई अपेक्षा नहीं है । वाचनिक और कायिक कर्मों का स्वर्ग से सम्बन्ध सिद्ध करने के लिये, दधि के मन्थन वाले शब्द से उस शब्द का मिलाप कहा है । मूल में 'च' शब्द कहा है, जिसका आशय कहते हैं, कि कङ्कणों के रणत्कार शब्द से भी वह ध्वनि मिश्रित हुई है । भगवदीय गुणों के सम्बन्धी भी, गोपी और गायों के सम्बन्धी को चाहना करते हैं, इस प्रकार भगवान् को भाँति भगवान् के गुण भी उनकी अपेक्षा रखते हैं यों इनका महत्व बताया है । सर्व धर्म त्याग से तो इनको पाप लगेगा, तो फिर उनके वर्णन से आतिथ्य तथा माहात्म्य कैसे कहा जाता है ? जिसकी ध्वनि* दिशाओं का अमङ्गल मिटाती है, वह उनके सम्बन्धियों का अमङ्गल नष्ट कर देवे, इसमें कहना ही क्या है ॥४६॥

आभास—एवं तासां जिज्ञासापर्यन्तं निलीयेव स्थित इति वक्तुं जिज्ञासाप्रकारमाह भगवत्युदित इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उनकी जब तक जानने की इच्छा थी तब तक उद्धवजी छिपे रहे' थे, यह बताने के लिये 'भगवत्युदिते' श्लोक में जिज्ञासा के प्रकार कहते हैं—

श्लोक—भगवत्युदिते सूर्ये नन्दद्वारि व्रजौकसः ।

दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यापमिति चाब्रुवन् ॥४७॥

श्लोकार्थ—भगवान् सूर्य के उदय होते ही व्रज के द्वार पर सोने से मंडा रथ देख व्रज भक्त आपस में पूछने लगे कि यह रथ किसका है ? ॥४७॥

* लेखकार कहते हैं कि—भगवान् को गाने वाली व्रजाङ्गनों के गान की कारण भूत ध्वनि भी आत्मसुख देने वाली है तथा गान करने से ध्वनि का स्वर्ग को स्पर्श हुआ, यों न कह कर गाने वालियों की ध्वनि का स्पर्श हुआ । यों कहने का तात्पर्य यह है कि उनके स्वभाव से ही ध्वनि ने स्वर्ग का स्पर्श किया है, यह गान स्पर्श की कामना से नहीं किया है अतः जाना जाता है व्रजाङ्गनाओं को वैदिक फल की भी इच्छा नहीं थी । लौकिक की निरपेक्षता पहले कही वैदिक की अब कही यह आशय 'च' शब्द देने का है, गान वाचनिक है मथन कायिक है इन दोनों कर्मों का सम्बन्ध आत्म सुख से है, मानसी सेवा तो भगवदानन्द उत्पन्न करने वाली है ।

भगवदीय गुणों का सम्बन्धी जो गान है वह कर्ता है, गोपियों सम्बन्धी ध्वनि रूप वस्तु, कर्म है और गोओं का सम्बन्धी दधी मन्थन, कर्म है, इस प्रकार भगवद्गुण, स्वामिनियों की ध्वनि तथा दधि मन्थन का अपेक्षा वाले हैं, अतः दधि मन्थन के समय (भगवद्गुण) ध्वनि से गाये जाते हैं ॥४६॥

१— गोपियों की दशा जानने के लिये



सुबोधिनी—वाच्यार्थानुपयुक्ता कथा नोच्यत इति उद्धवस्य प्रातःकृत्यं नोक्तम् । तद्दिनसूर्यः भगवत्स्मारक इति गोपिकानामुद्धवस्य च परम-पुरुषार्थदायीति सूर्यस्य भगवत्त्वमुक्तम् । नन्दस्य राजगृहवद्भिन्न एव व्रज इति तद् द्वार्येव रथः

स्थापित इति । मुख्यतया स्त्रियः किम्बहुना सर्व एव वृत्तान्तानभिज्ञाः । नन्दादीनां तत्सम्बन्धनां चायं रथो न भवतीति शातकौम्भत्वात् सर्वतः सुवर्णेनालङ्कृतत्वात् निश्चित्य कस्यायं रथ इत्य-ब्रुवन्, चकाराद्विचारितवन्तः पृष्ठवन्तश्च ॥४७॥

व्याख्यानार्थ—जो बात कहने की है उसमें जिसका उपयोग न हो, वैसी कथा कहनी चाहिये । जिससे उद्धवजी के प्रातः काल के कृत्य का वर्णन नहीं किया है । सूर्य को भगवान् विशेषण इसलिए दिया है, कि उस दिन का सूर्य भगवान् का स्मरण कराने वाला हुआ । जिससे गोपियाँ तथा उद्धवजी को परम पुरुषार्थ देने वाला हुआ । नन्द का व्रज राजगृह के समान पृथक् ही है, अतः उसके द्वार पर ही रथ स्थापन किया । वहाँ ही रथ खड़ा देखा, रथ को मुख्यतया स्त्रियों ने देखा, विशेष क्या कहें सर्व ही इस हाल से अनजान थे । वे सर्व परस्पर विचारते हुए कहने लगे कि यह रथ नन्द आदि अथवा उनके सम्बन्धियों का तो नहीं है ? कारण कि सुवर्ण से चारों तरफ अलङ्कृत है, यह निश्चय कर पूछने लगे कि यह रथ किसका है ? 'च' शब्द का भाव है कि पूछने लगे तथा विचार करने लगे ॥४७॥

आभास—ततः कस्यचित्पुरवासिनो राजकीयस्य सम्बन्धी रथ इति निश्चित्य, पूर्वमागतत्वात् अक्रूर एव लब्धस्वादुः पुनरागतः इति सम्भावनां कृतवन्तः, तदाह अक्रूर आगतः कि वेति ।

आभासार्थ—विचार करने और पूछताछ करने के पश्चात् इस सिद्धान्त पर आये, कि यह रथ किसी नगर में रहने वाले राजकीय सम्बन्धी का होना चाहिये, कदाचित् जो पहले यहाँ का स्वाद ले गया है, वह अक्रूर ही पुनः आया होगा, यों सम्भावना करने लगे, जिसका वर्णन 'अक्रूर' इस श्लोक में करते हैं—

श्लोक—अक्रूर आगतः कि वा यः कंसस्यार्थसाधकः ।

येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनं ॥४८॥

श्लोकार्थ—क्या अक्रूर तो नहीं आ गया है ? जो कंस के कार्य को साधने वाला है, जो कमल नयन श्रीकृष्ण को मधुपुरी ले गया है ॥४८॥



सुबोधिनी—प्रायेणाक्रूरेणैवेयं भूहंष्टेति ।
अक्रूर एवागतः, तथापि प्रयोजनाभावात्तस्यागमनं
न सम्भवतीति बाधकज्ञानात् सम्भावना । ननु
सर्वेषु विद्यमानेषु सुतरां वसुदेवादिषु किमित्यक्रूर
एव सम्भाव्यत इत्यत आहुः—यः पूर्व कंसस्य अर्थ

पुरुषार्थं साधितवान् । वितरोतोक्त्या वदन्ति
वस्तुतस्तु परमपुरुषार्थं मोक्षं साधितवानेव । ननु
भवतां तस्मिन् कोयं दोष इत्याशङ्क्याहुः येन
नीतो मधुपुरीमिति । कृष्णः फलात्मा । कमल-
लोचनः फलसाधनमंहिकफलरूपो वा ॥४८॥

व्याख्या—यह भूभाग, अक्रूर ने ही देखा है, इस लिये बहुतकर वह ही आया है । उसके
आने का अब तो कोई प्रयोजन नहीं है, इस विचार के आने से कहते हैं कि यह कल्पना वा अनुमान
है । मथुरा से यहां आने के योग्य वसुदेव आदि के मौजूद होते हुए अक्रूर की कल्पना क्यों करते हो ?
इस पर कहते हैं, कि हमारा अनुमान इसलिये है कि जो प्रथम कंस का कार्य सिद्ध कर गया था, यह
कहना तो उसकी विपरीतता दिखाने के लिये है, किन्तु वास्तव में तो अक्रूर ने यहां से कृष्ण को
ले जाकर, कंस का परम पुरुषार्थ—मोक्ष-सिद्ध किया है इससे आपको उसमें कौनसा दोष नजर आया ?
उस दोष को स्पष्ट कर कहते हैं कि जो श्रीकृष्ण फलरूप हैं और कमल लोचन होने से फल का
साधन ऐहिक फलरूप अर्थात् अब भी हमको आनन्द देने वाले हैं, वैसे श्रीकृष्ण को लेजाकर हमको
आनन्द से वञ्चित किया है ॥४८॥

आभास—तर्हि तादृशस्य कृतकार्यस्य द्विष्टस्य च कथं पुनरागमनमिति चेत्तत्राह
कि साधयिष्यत इति ।

आभासार्थ—जो द्वेषी अपना कार्य पूरा कर गया, वह फिर क्यों आवेगा ? इसके उत्तर में
'कि साधयिष्यत्यस्माभिः' यह श्लोक कहती है ।

श्लोक—किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रेतस्य निष्कृतिम् ।

इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात्कृतात्तिकः ॥४९॥

श्लोकार्थ—क्या अपने मरे हुए स्वामी का छुटकारा हमारे मांस से करना चाहता
है, जिसके लिए हमको लेने आया है ? यों स्त्रियों के कहते हुए उद्धवजी अपना नित्य
कर्म कर आ गए ॥४९॥

सुबोधिनी—प्रायेणास्मान् गोपिकाः विशेषा-
कारेण नेतुमागतः, नीत्वा च प्रेतस्य कंसस्य
निष्कृतिं, करिष्यति, स हि स्वार्थं नीत्वा स्वपुरु-
षार्थमप्यसाध्य अस्मत्पुरुषार्थमपि नाशयित्वा
जनैराक्रुष्टः तदपराधपरिहारार्थं कृष्णमत्र प्रेष-
यितुं असमर्थः, अस्मानेव तत्र नेष्यति तावता
निष्कृतिर्भवति जनापवादः परिहृत इति । अन्ये

तु मृतस्य कंसस्य दैत्यत्वाद्गुहिरमांसप्रियस्य मांसं
दातुं सुतरां नरमांसमस्मान्नयति, तथा च सति
यथा पूर्वमनोरथो विपरीतो जातः एवमयमपि
भविष्यति ततो भगवानेनमेव बलि दास्यति
भ्रान्तोयं समागत इति उपहास मुक्तवन्त इत्याहुः
तदेवाह किं साधयिष्यति न किञ्चिदिति । इदं
विशेषाकारेण वचनं स्त्रीणामेवेति, वदन् पूर्वभाव-



मुपसंहरति इतिस्त्रीणामिति, षडन्तीनां सतीनां
क्षणं विलम्बे शापमपि दद्युः । भयादागत इति
पक्षं व्यावर्तयेति कृताह्निक इति । प्रातःकाल एव
सर्वमाह्निकं कृतावानप्रे महती • व्यावृत्तिरिति ।

उद्धवत्वादेव न भयम्, द्वितीयो भगवत्सन्देशः
गोपीनां मद्वियोगाधिमिति सोम्रे प्रारम्भणीय इति
पूर्वसमाप्तिः ॥४६॥

व्याख्यानार्थ—कदाचित् बहुत कर, हम गोपियों को लेने आया है, हमको वहाँ लेजाकर मरे हुए कंस का छुटकारा करेगा । वह अपने स्वार्थ सिद्धि के लिये कृष्ण को ले गया, किन्तु उससे न अपना पुरुषार्थ सिद्ध किया, और हमारा पुरुषार्थ भी नाश कर दिया जिससे मनुष्यों ने इसकी निन्दा की है, उसको मिटाने के लिये श्रीकृष्ण को यहां लाने में असमर्थ होने से, हमको ही वहाँ ले जावेगा, जिससे वह निन्दा मिटाएगा और स्वामी की गति भी करेगा । दूसरी कहने लगी, कि कंस दैत्य था इससे उसको रुधिर तथा मांस प्रिय था, अतः उसको मनुष्य मांस देना हैं, वह हमसे लेता है जो इस मनोरथ से आया है, तो जैसे प्रथम मनोरथ निष्फल हुआ वैसे यह भी होगा । भगवान् इसकी ही बलि चढाएंगे, यह भ्रान्त होकर आया है, इस प्रकार हास्य से कहने लगी कि यहां आकर क्या सिद्ध करेगा ? कुछ नहीं । यह विशेष रूप से कहना स्त्रियों का ही है, इस प्रकार कह कर पूर्व भाव को समाप्त करता हैं । यों स्त्रियों के कहते हुए ही उद्धवजी आगये । यदि क्षण भी विलम्ब करते तो गोपियां शाप दे देती । गोपियों के शाप के भय से आ गये, इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि भय से शीघ्र नहीं आये हैं, किन्तु अपना सारा दिन का कृत्य कर्म सम्पूर्ण कर आये हैं । प्रातःकाल ही सर्व आह्निक कर लिया कारण कि आगे बहुत कार्य करने हैं, जिससे आह्निक के लिये समय न मिलेगा ! आप स्वयं 'उद्धव' उत्सव रूप हैं, इसलिये उनको कोई भय नहीं, एक संदेश नंदरायजी को दे दिया, अब दूसरा संदेश गोपियों को 'मद्वियोगाधि' इस श्लोक से ४४ अध्याय में देगे, इसलिये पूर्व की समाप्ति की है ॥४६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धपूर्वार्धे त्रिचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४३॥

श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध (पूर्वार्ध) ४३वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का दीर्घ निरूपक चतुर्थ अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।



कहाँ तैं आए हो द्विजराज !

सांचु कहो तुम कहाँ जाहुगे कहाँ बसौंगे आज ॥

हम तो थकित अस्त-उदयाकर रहे तलप इह्य साज ।

इह बट बसंत जु कारी भोगी कहत तिहारे काज ॥

गोकुल जाउ संकेत सबनि सों जाइ कहौ हरि ! लाज ।

'धरमानन्द' बछ डरत हमारे तुष्टिण विप्र ! लेहु नाज ॥

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणरूपलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४७वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ४४वाँ अध्याय

राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

“पञ्चमोऽध्यायः”

उद्धवजी और गोपियों की बातचीत (भ्रमर गीत)



कारिका—चतुश्चत्वारिंशेऽध्याये गोपीनां ज्ञानदेशतः ।

निरोधं सम्यगेवाह पूर्वस्माच्च विशेषतः ॥१॥

कारिकार्थ—४४वें अध्याय में भगवान् ने ज्ञान के संदेश द्वारा गोपियों का पूर्व से भी विशेष निरोध सिद्ध किया है ॥१॥

कारिका—याते कृष्णे लोकरीत्या नैकस्याभावतः स्फुटम् ।

न निरुद्धा इति प्रायः सर्वेषां च भवेन्मतिः ॥२॥

कारिकार्थ—भगवान् लोक रीति से मधुरा पधार गए, अतः अब गोकुल (व्रज)

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४४०१ ॥ ४४०२ ॥ ४४०३ ॥ ४४०४ ॥ ४४०५ ॥

में न होने से उनके (गोपियों के) निकट नहीं हैं । इसलिए अधिकतर सबको राय वैसी हो गई है कि गोपियों का निरोध नहीं हुआ है ॥२॥

कारिका—सेवकेनोपदेशेन प्रीत्या चैव निरोधतः ।

ज्ञानेनापि निरुद्धास्ता आत्मत्वेनैव सर्वथा ॥३॥

कारिकार्थ—इस प्रकार के (गोपियों का निरोध नहीं हुआ है) भ्रम का निवारण करते हैं कि भगवान् ने इनके निरोध को सेवक द्वारा उपदेश देकर प्रीति से, निरोध से, ज्ञान से तथा अपनी आत्मीयता से पुनः विशेष दृढ़ किया है ॥३॥

कारिका—वस्तुनो निश्चयः पूर्वमुपालम्भस्तथैव च ।

व्याजोक्त्या दोषगणना निर्दोषो वर्ण्यते पुरा ॥४॥

कारिकार्थ—गोपियों ने प्रथम यह निश्चय कर लिया कि यह भगवान् का दूत है, अतः इसको उपालम्भ^१ भी जरूर देना चाहिए । अतः भ्रमर के बहाने से दोष कह बताए । पश्चात् दोषों का निवारण किया है ॥४॥

कारिका—अन्यथा ज्ञानसन्देशो व्यर्थः स्यादिति निश्चयः ।

बीजं मक्तिस्ततः स्तोत्रं उपदेशस्तथैव च ॥५॥

कारिकार्थ—यदि निर्दोष न कहें तो ज्ञान का सन्देश जो भगवान् ने भेजा है, वह निष्फल हो जाएगा । यह निश्चय जान ही निर्दोषता का वर्णन किया है । यों करने का बीज^२ गोपियों का भगवान् में प्रेम है, इसी कारण से स्तुति की है, पुनः उपदेश हुआ है ॥५॥

कारिका—ततो दोषनिवृत्त्या च पूर्वस्नेहो निरूप्यते ।

ज्ञानस्य च फलं चैव कृतार्थत्वं ततस्तथा ॥६॥

कारिकार्थ—पीछे दोष निवृत्ति कही है । दोष निवृत्ति के बाद पूर्व स्नेह का वर्णन किया है, जिसके अनन्तर ज्ञान का फल कह कर उद्धवजी ने अपनी कृतार्थता का वर्णन किया है ॥६॥

(C) 2008 Pearson Education, Inc. or its affiliate(s). All rights reserved.

त्साहस्यत्वाय वर्णयति । प्रलम्बबाहुमित्यादि-
षड्भिः पदैः भगवत्त्वाय । स्त्रीणां हि कामप्राधा-
न्यात्तदुपयोगिषड्गुणा वक्तव्याः । प्रकर्षेण लम्बौ
बाहू यस्य । स्मारकत्वेनास्यावयवा उपयुज्यन्ते,
क्रियाशक्तिः परिरम्भोपयोगश्च सूचितः । नवक-
मलवल्लोचने यस्येति, सर्वदापहारिका ज्ञानशक्तिः
कामोद्बोधिका च निरूपिता । एवं क्रियाज्ञान-
शक्ती निरूप्य मायाशक्ति निरूपयति । अनावृतो

रस्ते न भवतीति । पीतमम्बरं यस्य, स वर्णो
नीले अधिकां शोभामुत्पादयतीति सर्वत्रैव तद्वर्ण-
नम् । पुष्करमालिनं कमलमालायुक्तम् । कीर्तिम-
त्त्वमुक्तम् । लसन्मुखारविन्दं यस्य । श्रोतिरूपिता ।
मणिभिर्मृष्टे उज्ज्वले कुण्डले यस्येति, वैराग्य-
मिव आस्त्रियकान्तिः सर्वाभरणीकृता
निरूपिता ॥१॥

व्याख्यानार्थ—वहां प्रथम गोपियों ने उद्धवजी की आकृति आदि भगवान् के समान देखी, जिससे उनको मान हुआ । अब उद्धवजी के स्वरूप का वर्णन करती हैं । आकृति से जाना जाता है, कि यह कृष्ण का अनुचर है । यों समझ अच्छी तरह देखने लगी । स्त्रियां होकर पुरुष को अच्छी तरह अर्थात् ध्यान देकर क्यों देखने लगीं ? इस शङ्का को मिटाते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि महान् आत्माओं का चित्त कभी भी अधर्म का कार्य नहीं करता है, इसलिए 'उद्धव' वा पुरुष' न कहकर 'अनुचर' कृष्ण का अनुचर कहा है । सचमुच ही कृष्ण का अनुचर है, तो भी बड़े को भूषित देखकर स्त्रियों को लज्जा होती ही है, तो भी ब्रज की स्त्रियां है इसलिए भगवान् का अनुचर जान देखने लगी । भगवान् के अनुचर को भगवत्समानता छः विशेषणों से वर्णन करती हैं । जिससे यह दिखाती हैं कि इनमें भगवत्त्व है । स्त्रियां काम प्रधान होती हैं, इसलिए उनके उपयोगी छः गुण कहने चाहिए—

१ लम्बी बाहुवाले हैं, इनके अवयव भगवान् की स्मृति कराने वाले हैं। लम्बी बाहु कहने से क्रिया शक्ति तथा आलिङ्गन करने के योग्य हैं, यह सूचित किया।

२ नव कमल जैसे नेत्र वाले हैं, जिससे यह बताया कि इनमें ताप नाश करने वाली ज्ञान शक्ति तथा कामको जगाने वाली शक्ति है ।

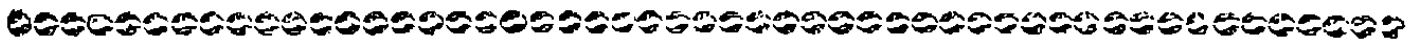
इस प्रकार क्रिया और ज्ञान शक्ति कहकर अब माया शक्ति को कहती हैं

३ इनने पीताम्बर धारण किया है । कारण, रस खुला नहीं रहता है । पीतवर्णश्याम पर विशेष शोभा देता है । इससे यह बताया कि भगवान् का वा उनके अनुचर का भी श्याम वर्ण है । इसलिए सर्वत्र उसका वर्णन है ।

४ चतुर्थ विशेषण 'कमलों की माला धारण किए हैं, जिससे कीर्तिमत्त्व बताते हैं।

५ पांचवाँ विशेषण 'जिनका मुख चमक रहा है' जिससे 'श्री' का निरूपण किया ।

३ छठा विशेषण 'मणियों से उज्ज्वल कुण्डल धारण किए है' ? जिनसे वैराग्य का निरूपण किया है । अर्थात् इन कुण्डलों से यह बताया है, कि वैराग्य की भांति सर्वा भरणों से शास्त्रीय कान्ति का प्रकाश हो रहा है । १॥



आभास—एवं स्वरूपं वर्णयित्वा भगवत्सेवकोयमिति ज्ञातवत्य इत्याह शुचिस्मित इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार स्वरूप का वर्णन कर यह भगवान् का सेवक है, यह जान लिया । जिससे उसका वर्णन 'शुचिस्मितः' श्लोक में करती है ।

श्लोक—शुचिस्मितः कोऽयमपोच्यदर्शनः

कुतश्च कस्याच्युतवेशभूषणः ।

इति स्म सर्वाः परिवर्तुस्तमुका-

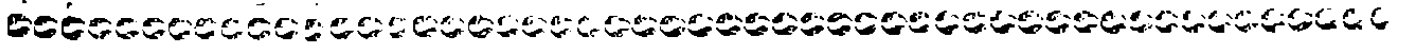
स्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम् ॥२॥

श्लोकार्थ—यह सुन्दर रूपवान् पुरुष भगवान् सदृश बना बनाए और वैसे अलङ्कार धारण किए कहां से आया और कौन है ? ऐसे विचार कर उसे भगवान् के चरण कमलों का आश्रित जान उत्सुक हो उसको चारों तरफ से गोपियों ने घेर लिया ॥२॥

सुबोधिनी—शुद्धं व्याजलोभाद्यनुपहतं स्मितं यस्य । जैतादृशो गोकुले दृष्टो अक्रूरो वा, अतः कोयमिति जिज्ञासा, स्वमध्य एव कश्चिदुत्प्रेक्षक-श्रेणु महान् भवेत् वदत्विति कथयन्त्य इवाहुः । किञ्च । विरुद्धोस्मिन् धर्मो दृश्यते, स्वरूपतोऽयं निष्कामः । एतस्य च दर्शनमपीच्छं स्त्रीणां प्रियम्, अतो विरुद्धधर्माश्रयत्वाद् भगवदीयो भवितुमर्हति । किञ्च । न केवलमाकृतिस्वभावावेव भगवतः किन्तु देशः पीताम्बरादिः भूषणानि च भगवत एव न तु भगवत इव । कुतश्चेति उपमायां तु नाश्रयं, स्वाभरणानि परिधाप्य किं भगवान् प्रेषितवान्, आहोस्वित् तद्वसाभिनयार्थं नटवत् समागतः, आहोस्विद्भगवानेव रूपान्तरं कृत्वा

समागत इति । बहूनां हेतूनां विद्यमानत्वात् कुत इति विशेषजिज्ञासा युक्ता । किञ्च । कस्यायं पुत्रः पौत्रो वा, सम्बन्धज्ञाने हि सविशेषा प्रीतिर्भवतीति जिज्ञासार्थमेव, स्मेति प्रसिद्धे, सर्वा एव परिष्वङ्गुः । ननु तासां किं प्रजोजनं तत्राह उत्सुका इति । औत्सुक्यस्वभावादेव कृष्णस्मारक इति कृष्णोत्सुक्याच्च तं परितो वेष्टयामासुः । ननु भगवति स्त्रियस्ता रक्षिताः, रक्षकाश्च कालादयः, ततो रक्षकेषु विद्यमानेषु कथं गता इत्याशङ्क्याह । उत्तमश्लोकस्य पदाम्बुजमेवाश्रित्य तिष्ठतीति । भगवद्वरणसेवकः भक्तियार्गानुसारी तत्रापि शास्त्रोप इत्यर्थः ॥२॥

व्याख्यानार्थ—छल तथा लोभ से रहित शुद्ध मंद हास्य वाले यह कौन हैं ? वैसा गोकुल में तो कोई भी नहीं देखा । अथवा अक्रूर है, इस विचार से यह जिज्ञासा उत्पन्न हुई कि यह कौन हैं ? अपने में से ही कोई अच्छी तरह देखकर पहचान सके तो वह महान् आत्मा समझी जाएगी । वह सुना देवे, मानो यों कहती हुई ही गोपियाँ कहने लगी, कि इसमें जो धर्म दीख रहे हैं वे परस्पर विरुद्ध हैं, कैसे ? एक तरफ यह निष्काम दीख रहा है और दूसरी तरफ इसका दर्शन सुन्दर है, जो



दर्शन स्त्रियों को प्रिय है । अतः विरुद्ध धर्माश्रयी होने से यह भगवदीय समझा जाता है । इसका केवल स्वभाव तथा आकृति ही भगवान् की नहीं हैं, किन्तु वेश और आभूषण आदि भगवान् के ही हैं, न कि भगवान् के समान हैं । यह कहाँ से आया ? इसकी जैसी उपमा दी है, उसमें तो आश्चर्य नहीं है । क्या भगवान् ने आभूषण पहना कर इसको भेजा है ? अथवा उस भगवद् रस का अभिनय करने के लिए नट की तरह नट बन कर तो नहीं आया है ? अथवा यों तो नहीं है कि भगवान् स्वयं रूप बदल कर पधारें हैं ? बहुत कारण होने से 'कुतः' यह प्रश्नवाचक अव्यय दिया है । जिससे विशेष जिज्ञासा बताई 'स्म' यह अव्यय प्रसिद्ध अर्थ में कहा है । सबने उनको घेर लिया और सब ने घेरा जिसका क्या प्रयोजन था ? गोपियों का स्वभाव ही भगवान् में उत्सुकता वाला है । यह कृष्ण का स्मरण कराने वाला है, अतः उसको घेरलिया है । ये भगवान् की स्त्रियाँ हैं, इसलिए इनको कालादि रक्षा कर रहे हैं तब उनके विद्यमान होते हुए उसके पास कैसे गई ? इस शङ्का के उत्तर में कहा है कि यह भगवान् के चरणों का आश्रित है, जिससे भक्ति मार्ग का अनुयायी है, उसमें भी शङ्कानुसारी भक्ति मार्ग (स्नेह-प्रेम) करने वाला है ॥२॥

आभास—एवं निष्प्रत्यूहं सन्दिग्धा एव तं वेष्टितवत्यः । ततो विशेषज्ञानं जातमित्याह तं प्रश्रयेणोति ।

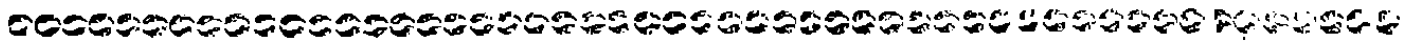
आभासार्थ—इस प्रकार जब सन्दिग्ध गोपीजनों ने ही उसको घेर लिया तब उसको विशेष ज्ञान प्राप्त हुआ जिसका वर्णन 'तं प्रश्रयेणावनताः' श्लोक में किया है ।

श्लोक—तं प्रश्रयेणावनताः सुसंस्कृतं
सत्रीडंहासेक्षणसूनुतादिभिः ।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने
विज्ञाय सन्देशंहरं रमापतेः ॥३॥

श्लोकार्थ—विनय से नम्र गोपीजनों ने लज्जा सहित हास्य देखना तथा मधुर वचन आदि से अच्छी तरह से संस्कार कर, एकान्त में आसन पर बिठा कर; उन्हें लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण का सन्देश लाने वाला जानकर पूछा ॥३॥

सुबोधिनी तमुद्धवं महान्तं दृष्ट्वा प्रश्रयेणावनता नम्रा जाताः, ततः सुष्ठु आसनादिना सत्कारमपि कृतवत्यः । पूर्वमेव वा वस्त्राभरणादिभिः सुसंस्कृतः, ततो भर्तृसम्बन्धिसेवकोयमिति ज्ञात्वा व्रीडा काम एवोद्देश्य इति ज्ञापयितुम्, हासः सत्कारे, अन्या दृष्टिः क्रूरा रूक्षा वा भवतीति हास्यपूर्वकं निरूपितम् । सूनुतानि उत्तम-

वचनानि कुशलप्रभरूपाणि । आदिशब्देन आसनपुष्पाद्युपचाराः, तत एकान्ते यत्र नन्दादीनां न दृष्टिः, रसार्थमेतत् । व्रीडादिभिः सहिता वा, आसने उपविष्टमव्याकुलम्, तत्सत्कृतिग्रहणेन ज्ञातवत्यः अयमस्मदर्थमेव समागतः । अन्यथा नास्माकमुपचारं गृह्णीयात् नापि सह तिष्ठेत्, निष्कामश्चायम्, अतः भगवत एवायं सन्देशहा-



रक, तर्ह्यकारणार्थं समागत इति रमापतिवच-
नम्, साम्प्रतं रमया सह तिष्ठतीत्यस्मदुपेक्षा इति
वयमप्रयोजिका इति केवलं मनोनुरञ्जनार्थं प्रेषि-

तवानिति तासां मानमुत्पादयति, अनेनैको दोषो
निरूपितः ॥३॥

व्याख्यार्थ—उद्धवजी को महान् पुरुष देख गोपियां विशेष नम्रता वाली हुई, जिससे सुन्दर
आसन आदि देकर उनका सत्कार किया। अथवा पहले ही वस्त्र आभरण आदि से अच्छी तरह
सत्कार किया था। पश्चात् स्वामी का सेवक जानकर उनको लज्जा हुई। कारण कि गोपियों का
उद्देश्य तो काम ही है, जिससे लज्जा को और मुस्कराहट से भी सत्कार किया। यदि हास न करती
तो वह दृष्टि क्रूर और रूक्ष होती, जिससे सत्कार का अभाव दीखता, सत्कार के लिए कुशल प्रश्न
करने लगी। आदि शब्द से, आसन पुष्प आदि से सेवा भी की। सत्कार पाकर आसन पर शान्त हो
उद्धवजी बैठ गए तब समझा कि ये हमारे लिए आए हैं हमारे लिये न आए होते तो हमारी को
हुई पूजा ग्रहण न करते तथा साथ में मिलकर न बैठते, ये निष्काम हैं अतः भगवान् के संदेश लाने
वाले हैं। हमको लेजाने के लिए संदेश लाए हैं क्या? नहीं नहीं! ये तो केवल हमारे मन को प्रसन्न
करने के लिए आए हैं। यह हमने इससे समझा कि शुकदेवजी ने 'रमापति' कहा है, जिससे वे अब
रमा के साथ रहते हैं। अतः हमारी उपेक्षा की है, क्योंकि हमारी अब आवश्यकता नहीं है। इस
प्रकार के विचार से गोपियों को 'मान' उत्पन्न हुआ, जिससे एक दोष कहा है, पश्चात् जहां नन्द आदि
नहीं थे, वहां एकान्त में उनको लेजाकर, अथवा लज्जा युक्त हो कहने लगीं, क्योंकि रस की वार्ता
एकान्त में होती है। ३।

आभास—तेन द्वितीयोत्पत्तिमाह जानीम इति सप्तभिः।

आभासार्थ—उससे दूसरे दोष की उत्पत्ति 'जानीम' इस श्लोक से सात श्लोकों में कही है।

श्लोक—जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम्।

मर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान्प्रियचिकीर्षया ॥४॥

श्लोकार्थ—हम जानती हैं कि आप यदुपति के पार्षद हैं, यहाँ स्वामी ने माता-
पिता को प्रसन्न रखने के लिए आपको भेजा है, अतः आप यहाँ आए हैं ॥४॥

सुबोधिनी—स गोपिकार्थमागतोहमिति मन्यत
इति बुद्ध्वा तदन्यथाकर्तुमन्यार्थागमनं निरूप-
यन्ति। अन्यथोपकारस्वीकारे उपालम्भो न घटे-
तेति, बीजमेतत्। तस्य च समर्थनमन्यनिषेधपूर्व-
कम्, स्वसम्बन्धस्य पूर्वसिद्धस्य औपाधिकत्वेन
स्वार्थपरत्वसाधनम्, अन्यथोभयोरपि समानत्वा-
त्को वा उपालम्भः स्यात्, ततो दृष्टान्तैः कृतघ्न-
तासमर्थनम्। एवं पञ्चभिर्दोष समर्थयित्वा तस्य
साध्यत्वज्ञापनाय तासां देहादिस्मरणाभावमुपपा-

दयति। ततोपि सुसाध्यत्वाय भगवदासक्तिम्।
एवं साध्यो रोगः प्रतिष्ठितो भवति, ततोऽग्रिमा-
रम्भः, स महादोष इति कस्याश्चिदेव तामसता-
मस्या वर्णितः। आदौ तस्यागमनमन्यथा कथय-
न्ति, तत्र ज्ञात्वाऽन्यथाकरणं युक्तमिति ज्ञानमःह
त्वां यदुपतेः पार्षदं जानीम इति। पूर्व गोपिकाप-
तिरधुना यदुपतिरिति नास्मदुपकारं करिष्यतीति
भावः। तस्य च पार्षदः सभापतिरिति चतुरः, अनेन
त्वद्वाक्यमपि नादरणीयमिति सूचितम्। समुपा-



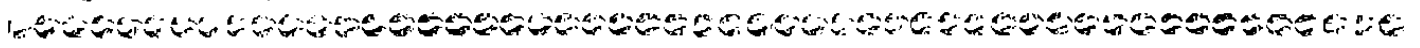
गतमिति । सम्यगुपसमीपे समागतम्, तत्रापि सर्वतः कुशलं तवापि, अन्यथा उपेक्षा दोषायापि न भवेत् । एवं भगवन्तमन्यथा कल्पयित्वा स्वयमेव ताः कदाचिन्नष्टा जाता इति शङ्का स्यात् तद्व्यावृत्त्यर्थं भर्त्सेत्याहुः । प्रसङ्गादागतत्वं न वदन्ति सर्वथा मिथ्या भविष्यतीति । इहैव गोकुले प्रेषितः । प्रयोजनमाहुः पित्रोः प्रियचिकीर्षयेति ।

ये हि सत्तामात्रेण सुखिता भवन्ति ऐश्वर्याद्युत्कर्षेण च । अतः कुशलमैश्वर्यं च ज्ञापयितुं भवान् प्रेषितः । अनलङ्कृते साधारणे प्रेषिते ऐश्वर्ये सन्देहः स्यात्, अस्माकं तु न तावता सुखमिति त्वदागमनमसाधनमिति अस्मदर्थं न प्रेषितवानेन ॥४॥

व्याख्यानार्थ—गोपियां कहती हैं कि उद्धव हमको दिखाते हैं अथवा समझते हैं कि मैं गोपियों के लिए आया हूँ, किन्तु वे उसको बदलने के लिए कहती हैं कि तुम दूसरे कार्य के लिए आए हो । यदि गोपियां, अन्य के लिए आए हो, यह सिद्ध न करें तो उलहना नहीं दे सके, इस प्रकार कहना ही उलहने का बीज है । अर्थात् हमारे लिए आए हैं उसका जब निषेध करे तब उलहना देवें । इससे प्रथम जो भगवान् ने हमारे साथ सम्बन्ध किया था वह तो उपाधिवाला था । अर्थात् अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए किया था । मथुरा जाने से वह स्वार्थ नहीं रहा । यदि यों न हो तो अर्थात् स्वार्थ से सम्बन्ध न होवे तो हमारा तथा उनका सम्बन्ध समान हो जावे तो उपालम्भ का पात्र कौन बने ? अतः भगवान् को स्वार्थी बनाकर, उनकी कृतघ्नता का दृष्टान्तों से समर्थन करती हैं ।

इस प्रकार पाँच श्लोकों से उनके दोषों को हट करती हैं । वे दोष मिटाने जैसे हैं, कारण कि उनमें (गोपियों में) देहादि की स्मृति का अभाव है तथा भगवान् में उनकी आसक्ति भी है । ये दोनों कारण दोषों को मिटाने वाले हैं, यों कह कर यह सिद्ध किया है कि यह जो दोष रूपी रोग शरीर में हैं, वह साध्य है । अर्थात् मिट सकता है, इत्यादि कह कर दोषों के लिए उद्धवजी को जो कहना है, उसका प्रारम्भ करती हैं ।

प्रथम भगवान् में महान् दोष बताने वाली कोई तामस तामसी गोपी है । वह कहती है कि उद्धव आपका आना हमारे लिए नहीं है ! जिसको सिद्ध करने के लिए कहती हैं कि हम जानती हैं कि आप 'यदुपति' के पार्षद हैं, वे पहले गोपी पति थे, अब 'य पति' बने हैं । अतः हमारा उपकार वे नहीं करेंगे और आप सभापति भी उनके पार्षद हैं अतः अतिशय चतुर हो । इससे आपके वाक्य भी आदर देने के योग्य नहीं हैं । आप हमारे पास यहां निविधन पहुँच गए यह भी कुशल की बात है और आप कुशल पूछने के लिए आए हो, किन्तु तुम भी आनन्द में हो अतः तुम और तुम्हारा स्वामी उपालम्भ के पात्र हो । यदि यों नहीं होवे तो उपेक्षा, दोष के लिए न बने । इस प्रकार निर्दोष भगवान् को सदोष बनाने से वे कदाचित् नष्ट हो जावें ? इसके उत्तर में कहती हैं कि आपको स्वामी ने भेजा है, किसी प्रसङ्ग से आए हो । यों कहे तो वह झूठ हो जावे, अतः कहती हैं कि स्वामी ने यहां गोकुल में भेजा है । भेजने का कारण कहती हैं कि माता पिता के प्रिय करने की इच्छा से आपको भेजा है, जो सत्ता मात्र से सुख तथा आनन्द भोगते हैं । एवं ऐश्वर्य आदि उत्कर्ष से रहते हैं । वे अपना



कुशल तथा ऐश्वर्य जताने के लिए अपने साथी को सम्बन्धियों के पास भेजते हैं। अतः भगवान् ने आपको भेजा है। यदि आपको अलङ्कार न पहना कर साधारण अवस्था में भेजते तो ऐश्वर्य में संदेह होवे। आपके आने से हमको तो कोई सुख नहीं मिला है, अतः आपका आना हमारे सुख का साधन नहीं है, इसलिए आपको हम लोगों के लिए नहीं भेजा है, किन्तु माता पिता आदि के लिए भेजा है ॥४॥

आभास—ननु भवतीनामपि सुखं कर्तव्यं स्नेह रूपस्य सम्बन्धस्य तुल्यत्वात् कथम-
प्रेषणमिति चेत्तत्राहुः अन्यथेति ।

आभासार्थ—हमारे आगमन से आपको भी सुख प्राप्त कराऊंगा। कारण स्नेह रूप सम्बन्ध जैसा नन्द आदि में है, वैसा आप से भी है। तब आप कैसे कहती हैं कि हमारे लिए नहीं भेजा है? इसके उत्तर में 'अन्यथा' श्लोक कहती हैं।

श्लोक—अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे ।

स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ॥५॥

श्लोकार्थ—यदि आप उनके माता-पिता आदि के लिए नहीं आए हैं, तो आपका आना ही किस काम का? कारण कि यह स्थान तो गौओं के रहने का ब्रज है। उसमें नन्द आदि के सिवाय दूसरा कोई आप (श्रीकृष्ण) के लिए स्मरणीय हम नहीं देखती हैं; क्योंकि बान्धवों के स्नेह का सम्बन्ध मुनि लोग भी नहीं छोड़ सकते हैं ॥५॥

सुबोधिनी—यद्यपि अन्ये स्मर्तव्याः अस्मदा-
दयोपि परं नन्दशेषत्वेन, नन्दव्रजे तिष्ठन्तीति
नन्दमाहात्म्यार्थम्, इममुपाधि परित्यज्य अन्यथा
प्रकारान्तरेण भोगप्रकारेण गोव्रजे पशुयोग्ये स्थाने
तस्य सर्वेश्वरस्य सर्वसमृद्धियुक्तस्य स्मरणीयं न
चक्ष्महे। अपेक्षितं हि स्मरन्ति लोकाः। नन्वेवं
सति नन्दस्याप्यस्मरणं स्याद् ईश्वरस्यापेक्षाभा-
वात्, तत्राहुः स्नेहानुबन्ध इति। यथा अपेक्षा
स्मारिका एवं स्नेहोपि, तत्र भवतीष्वपि तुल्य
इति चेत्तत्र विशेषमाहुः बन्धूनामेव स्नेहानुबन्धः।

पूर्वमुत्पन्नः स्नेहेनानुबन्धो यस्येति। न स्नेहमात्र-
मुभयेषां स्नेहस्य ग्रन्थिरिति यावत्, स तु दुस्त्यजो
भवति स्नेहकारणसम्बन्धस्य सहजत्वाद् आका-
ङ्क्षायाश्च कृत्रिमत्वाद्। यथा देहपरित्यागे दैहि-
केषु स्नेहो गच्छति, एवमाकाङ्क्षापरित्यागेऽपि।
यादद्देहसम्बन्धः तावन्न ज्ञानादिनापि स्नेहो
निवर्तयितुं शक्यते, किं वक्तव्यं विषयैः, तदाह
मुनेरपि सुदुस्त्यज इति। लौकिकाद्वैदिकं बलिष्ठ-
मिति ज्ञापनार्थमपि शब्दः। सुशब्दो नित्यविवेक-
स्मरणोऽप्यशक्यत्वाय ॥५॥

व्याख्यानार्थ—यद्यपि हम और अन्य भी स्मरण करने योग्य हैं, किन्तु नन्दजी के पीछे, क्योंकि नन्द के ब्रज में रहते हैं, जिससे हमारा भी स्मरण नन्दजी के उत्कर्ष के लिए है। इस ब्रज में निवास की जो हमको उपाधि लगी है, यदि वह न होवे तो हम भी स्मरणीय न बनें। अन्य प्रकार से इस



पशु निवास योग्य व्रज^१ में, सर्व समृद्धि से युक्त किसी सर्वेश्वर को हम स्मरणीय नहीं समझती हैं। लोक उनका स्मरण करते हैं जिनको उनको अपेक्षा होती है। यदि यों है तो नन्द भी स्मरण पात्र नहीं है, क्योंकि ईश्वर को उसकी भी अपेक्षा नहीं है। इसके उत्तर में कहती हैं कि 'स्नेहानुबन्धः' स्नेह का बन्धन है। जिस प्रकार अपेक्षा स्मरण कराने वाली है, वैसे ही स्नेह भी स्मरण कराने वाला है। यदि आप कहो, कि वह स्नेह भगवान् का आप में भी है, तो कहती हैं कि जबर्दस्त स्मारक स्नेह तो बान्धवों का ही होता है। यों भी न कहना, कि आपका स्नेह सम्बन्ध पहले से है, अतः दोनों की स्नेह मात्र की ग्रन्थि समान है, क्योंकि एक स्नेह सहज होता है वह तो बान्धवों में होता है। दूसरा जो दूसरों में होता है, वह कृत्रिम है। अतः वह आकाङ्क्षा भी कृत्रिम है, जिस प्रकार देह त्यागने पर ही सम्बन्धियों के स्नेह का लोप होता है वैसे ही आकाङ्क्षा के परित्याग से दूसरों का स्नेह नष्ट हो जाता है किन्तु सहज बान्धवों से जो स्नेह होता है, वह देह रहते हुए ज्ञान आदि से भी नष्ट नहीं होता है, तो विषयों के नष्ट होने से वह (स्नेह) कैसे नाश होगा ? इसलिये कहा कि 'मुनेरपि सुदुस्त्यजः' यह^२ स्नेह मुनि भी मुश्किल से छोड़ सकते हैं। लौकिक से वैदिक बलवान् है, यह जताने के लिए 'अपि' शब्द दिया है। 'सु' शब्द से यह बताया है कि विवेक का नित्य स्मरण रहते हुए भी स्नेह का त्याग अशक्य है ॥५॥

आभास—तत्र तादृशविषयान्तरसम्भवे आकाङ्क्षा निवर्तत इति औपाधिकः सम्बन्ध इत्याह अन्येष्वर्थकृतेति ।

आभासार्थ—भगवान् का हमारे साथ नन्द आदि बान्धवों के समान सहज स्नेह नहीं है, किन्तु औपाधिक है। वह जब वैसी ही इच्छित वस्तु मिलती है, तब आकाङ्क्षा मिट जाती है। जिसका वर्णन 'अन्येष्वर्थकृता' श्लोक में किया है।

श्लोक—अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम् ।

पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनस्स्वव षट्पदेः ॥६॥

श्लोकार्थ—दूसरों के साथ जो मैत्री है, वह स्वार्थ के लिए है, अर्थात् जब तक स्वार्थ है। जैसे पुरुष अपने काम-सिद्धि के लिए स्त्रियों से प्रीति करते हैं और भ्रमर भी रस चूसने के लिए पुष्पों से स्नेह करते हैं ॥६॥

सुबोधिनी—अन्येषु देहसम्बन्धरहितेषु अर्थ-कृता प्रयोजनकृता । प्रयोजनं देहधर्मः धर्मिणो दुर्बलः, औपाधिकोपि न चिरस्थायी, यथा माञ्जिष्ठादिरागाः यावत्कालमपि तिष्ठन्ति । तत्रापि

विडम्बनमेवानुकरणमेव नटवत्, अतोस्मासु भगवत्स्नेहः कदापि न स्थितः । अनुकरणमात्रं स्थितमिति विडम्बनमात्रत्वान्न स्मरति । अर्थ-कृतत्वं प्रतिपादयितुं औपाधिकं धर्ममाह ।

पुम्भिः स्त्रीष्विति । पुरुषाः स्वतन्त्राः सर्वसमर्थाः, तद्विपरीताश्च स्त्रियः, तासु स्नेहं न कुर्युरेव यदि कामो न भवेत्, कामाच्च स्नेहमेव कुर्वन्ति । अन्यथासिद्धे गते वा कामे निवर्तन्ते । शास्त्रमपि विरागे त्यागं विधत्ते । 'यदहरेव विरजे'दिति । ननु तत्र धर्माऽप्यस्ति, पुत्रादिद्वारा च स्नेहो

भवति, ततश्चागन्तुकमपि सहजमिवेति भवती-
ष्वपि तथा भगवत इत्याशङ्क्य तत्परिहारार्थं
दृष्टान्तान्तरमाहुः सुमनःसु षट्पदैरिवेति । गम-
नक्रियाबाहुल्यार्थं षट्पदशब्दप्रयोगः । तेषां मक-
रन्दग्रहणानन्तरं पुष्पनाशे न कापि क्षतिः । अय-
मस्माकं युक्तो दृष्टान्तः ॥६॥

व्याख्यान्य—देह के सम्बन्ध रहित अन्यो से जो मैत्री होती है, वह प्रयोजन सिद्ध करने के लिए की जाती है । वह प्रयोजन देह का धर्म होने से घर्मी से दुर्बल है और वह औपाधिक है, अतः विशेष समय भी नहीं रहती है । जैसे मजीठ आदि के औपाधिक रंग होते हैं, फिर नष्ट हो जाते हैं, उसमें भी नष्ट की भांति अनुकरण ही है । अतः हममें भी भगवान् का स्नेह कभी भी स्थिर नहीं रहा है, केवल अनुकरण मात्र रहा है । जिससे अब स्मरण नहीं करते हैं । वह स्वार्थ से किया हुआ अनुकरण मात्र स्नेह था । जिसका प्रतिपादन करने के लिए औपाधिक धर्म दृष्टान्त देकर समझाती हैं तथा सिद्ध करती हैं ।

१-‘पुम्भिः स्त्रीषु’ पुरुष स्वतन्त्र तथा सर्व समर्थ है, स्त्रियाँ उससे विपरीत अर्थात् परतन्त्र तथा निर्बल होती हैं । ऐसी स्त्रियों में यदि उनमें काम न होवे तो, वे पुरुष से स्नेह कभी न करे । काम के पूर्त्यर्थ ही स्नेह करती हैं, यदि काम की पूर्ति दूसरे प्रकार से हो जावे तो फिर स्त्री से स्नेह निकल जाता है । शास्त्र भी कहता है कि जब ‘राग’ नष्ट हो जावे तब त्याग करो । ‘अहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्’ जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन सन्यासी बन जाओ, सन्यास में भी धर्म तो रहता है । पुत्र आदि उस पिता में स्नेह आदि करते हैं । आगन्तुक धर्म भी सहज के समान है । इस प्रकार भगवान् का भी आप में है । यदि उद्धवजी यों कह दें तो उस शङ्का को मिटाने के लिए अन्य दृष्टान्त देती हैं । ‘सुमनः सु षट्पदैरिव’ जैसे भ्रमर पुष्पों से प्रेम कर उसका रस चूष कर भाग जाते हैं । पुष्प सूख जाते हैं, उसकी भ्रमर परवाह नहीं करते हैं । यहां भ्रमर को ‘षट् पद’ इसलिए कहा है कि वह स्वार्थ सिद्ध कर जल्दी भाग जाता है । इस प्रकार भगवान् भी हमारा रस लेकर भाग गए हैं । हमारी दशा क्या है ? उसका उनको विचार भी न होगा ॥६॥

आभास—ननु सर्वत्रैव दृष्टान्तः सुलभः, न तु तावता कार्यं सिद्धयति, ततः पुष्पा-
णामाशुतरविनाशयुक्तानां भ्रमराणां च बहूनां साधारणत्वाद् भगवत एकत्वाद्भवतीना-
मसाधारणत्वाच्च न युक्तो दृष्टान्त इत्याशङ्क्य औपाधिकानामेषैव व्यवस्थेति वक्तुं दृष्टा-
न्ताष्टकमाहुः निःस्वमिति द्वाभ्याम् ।



आभासार्थ—दृष्टान्त सर्वत्र ही सुलभ है, उनसे तो कार्य की सिद्धि नहीं होती है। यहां पुष्प जल्दी ही नाश हो जाते हैं और अमर बहुत हैं तथा साधारण ही हैं। भगवान् एक हैं और आप असाधारण हैं, जिससे आपका दिया हुआ यह दृष्टान्त योग्य नहीं है। इस प्रकार की शङ्का होने पर कहती हैं कि औपाधिकों की यही व्यवस्था है यह सिद्ध करने के लिए दूसरे और दृष्टान्त देती हैं 'निःस्वं' इन दो श्लोको से।

श्लोक—निःस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः ।

अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ॥७॥

श्लोकार्थ—जैसे वैश्या निर्धन को, प्रजा असमर्थ राजा को, विद्या पढ़ने के अनंतर शिष्य आचार्य को और दक्षिणा मिलने के पश्चात् ऋत्विज यजमान को छोड़ते हैं ॥७॥

सुबोधिनी—यद्यपि सर्वत्र बहुत्वं साधारणत्वं चोपाधिरस्त्येव, तथापि बहुधा दर्शनात् सन्दिग्धोपाधित्वं साधयितुं दृष्टान्तानां कथनम्। सर्वथा निराकरणे अचिकित्स्य एव दोषः स्यात्। यथा मित्रातनयत्वं सन्दिग्धोपाधिकम्, दशमोऽपि चेच्छयाम एव स्यात्, तदोपाधिः शाकपाकजत्वं न भवेदेव, अन्यथा तु भविष्यतीति। एवं बहुत्वसाधारणत्वेऽपि भगवांस्त्यक्ष्यत्येव चेत्, तदास्मास्वभावाभ्योपाधिर्भविष्यतीति भावः। तत्र प्रथमं स्त्रियः स्वभावतोऽदुष्टाः, पुरुषो दुष्ट इतीर्ष्याविशाद् भगवान् दूष्यत इतीमं पक्षं व्यावर्तयितुं स्त्रीणामेव प्रथमं स्वार्थाभावे पुरुषपरित्यागमाहुः निःस्वं त्यजन्तीति। ता हि प्रथमतः सर्वभावेन भजन्ते, न ह्येवं कश्चिदात्मानं परस्मै निवेदयति, तत्रापि यस्मै कस्मैचित्। अनेन धर्मार्थमपि भजनं निषिद्धम्। लोकेऽपि निन्दिताः। एवं लोके वेदे विरुद्धा अपि सर्वानपि परित्यज्य यं कश्चित् सर्वभावेन भजन्ते, ताः सर्वोत्तमा भवितुमर्हन्ति, यद्यर्थं न कामयेरन्। अर्थश्च केवलं न निर्वाहकः, किन्त्वधिकोऽपि, तस्मात्तासां तावद्वच्यमेव निमित्ताभावे तादृशस्यापि त्यागात्। यस्तु तथाभूतानां विदित्वा सर्वस्वं निवेदयति, तादृशमपि धनरहितं स्वशब्देनोपार्जनेऽप्यसमर्थं गणिका वेश्यास्त्य-

जन्ति। न हि तादृशः स्नेहोन्यत्र भवितुमर्हति। ननु तथाप्येताः समभावेन भजनं कृतवत्यः, नतूत्कर्षभावेन, ये पुनः। उत्कर्षभावेन सेवन्ते, तेषु त्यागो न भविष्यतीत्याशङ्क्याहुः। अकल्पमसमर्थं नृपं राजानमपि प्रजास्त्यजन्ति। पूर्वं सर्वभावेन पाल्यमानाः प्रजाः, स्वयमपि सर्वभावेन भजनयुक्ताः, तथापि पश्चात्पालनासामर्थ्यं तं परित्यज्य तच्छत्रोर्भवन्ति। ताश्चेन्न मन्येरन्, न कोऽपि भवेद्राजा, तथापि कः प्रयासं करिष्यतीति, अल्पेनापि निमित्तेन परम्परागतमपि राजानं त्यजन्ति। अनेन ज्ञायते देहसम्बन्धिव्यतिरिक्तेषु कथमपि लौकिकं भजनं यावदर्थमेव, न कदाचिदपि क्षणमात्रमप्यनुपयोगे भजन्त इति। [ननु लौकिके तथास्तु, वैदिके वाक्यप्रामाण्यात्तथा भविष्यतीत्याशङ्क्य परिहरन्ति अधीतविद्या इति पारद्वयेन शब्दानुष्ठानभेदेन। आदौ विद्या सर्वा यतो गृहीता, यतः सर्वोऽपि पुरुषार्थो भवति, तादृशीमपि प्राप्य ग्रहणपर्यन्तमेव आचार्यं सेवन्ते, नत्वग्रे। 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः। सरहस्यं तदङ्गं च तमाचार्यं प्रचक्षत', इति। एतादृशमपि स्वकार्यं सम्पन्ने त्यजन्तीति। सर्वथा अन्येष्वर्थकृतैव मैत्री। किञ्च। यत्र वैदिकः सम्बन्धः सूतकव्यवहारः अधीतस्यार्थोपयोगे

जीविका च स्वस्य भवति, तादृशमपि । दत्ता
दक्षिणा येन दक्षिणामेव प्राप्य, शिष्टमर्थं यजमानं
च त्यजन्ति । कदाचिद्वा अदत्तदक्षिणम् । तस्मा-
दन्वयव्यतिरेकाभ्यां प्रयोजनकृतैव मैत्रो ॥७॥

व्याख्यानार्थ—यद्यपि सर्वत्र बहुत्व और साधारणत्व उपाधि हैं ही, तो भी प्रायः यों ही देखने में आता है इसलिए उपाधि का सदिग्ध पन सिद्ध करने के लिए अन्य दृष्टान्त कहे हैं। सर्व प्रकार से हमारा त्याग किया है। यदि यों कहा जावे तो दोष असाध्य हो जावे। जैसे मित्रा के पुत्र में कालास सदिग्ध उपाधिवाली है जो उसके सिवाय दशवाँ भी यदि काला ही हो तो वह उपाधि शाक के खाने से हुई है यों नहीं कहा जा सकता है। दूसरे प्रकार कालास हो सकती है, इस प्रकार बहुत्व तथा साधारणत्व में भी उपाधि सदिग्ध रूप वाली ही है। जो भगवान् हमको त्याग देंगे तो हम में प्रियत्व के अभाव से तथा बहुत्व होने से उपाधि नहीं कही जाएगी, इसमें प्रथम दिखाती है कि स्त्रियाँ स्वभाव से पुरुषों के समान दुष्ट दोष युक्त नहीं हैं। यह गोपियों का कथन ईर्ष्या के अधीन हो भगवान् को दूषित करना है, किन्तु इस पक्ष को बदलने के लिए कहती हैं कि स्त्रियाँ ही वैसी हैं: जो स्वार्थ सिद्ध न होने पर पुरुष का त्याग करती हैं। 'निःस्वत्यजन्ति' स्त्रियाँ पहले तो सर्व प्रकार के हाव भावादि से पुरुष की सेवा करती हैं। इस प्रकार कोई भी अपने को दूसरे के लिए अर्पण नहीं करता है, उसमें भी जिस किसी को धर्म के लिए भी इस प्रकार आत्मार्पण करने का इससे निषेध बताया है, वे लोक में निन्दित होती हैं। इस प्रकार लोक तथा वेद में विरोध होते हुए भी तथा सर्व लज्जा आदि का त्यागकर भी जिस किसी को सर्व भाव से भजन कर सब के पास अच्छी होना चाहती हैं अथवा सब से उत्तम होना चाहती हैं, यह तब हो सकता जब वे अर्थ (धन) को न चाहती। वे धन केवल निर्वाह के लिए नहीं चाहती हैं किन्तु विशेष भी चाहती हैं। इसी भाँति उनका पैसों के कारण ही जो हाव भाव स्नेह है, वह व्यर्थ ही है। केवल पैसों के छीनने के लिए है। जब वह स्नेह दिखाने का निमित्त जो पैसे हैं उनका अभाव हो जाता है, तब उस प्रेमी को भी छोड़ देती हैं। जो पुरुष वैसी वृत्ति वालियों को अपना सर्वस्व भी दे देता है तो भी उस पुरुष को धन हीन देख कर कमाई करने में असमर्थ देख वे वैश्याएँ छोड़ देती हैं। वैसा स्नेह अन्यत्र देखने में नहीं आता है।

ये तो समान भाव से भजन करने वाली हैं न कि उत्कर्ष भाव से भजन करती हैं। अतः ये त्याग कर सकती हैं, किन्तु जो उत्कर्ष भाव से सेवन करते हैं उनका तो त्याग नहीं हो सकता है। इस पर कहते हैं, लोक में उत्कर्ष भाव से सेवन होने पर भी त्याग किया जाता है। जैसे 'अकल्पं नृपतिं प्रजाः' जिस राजा ने उत्कर्ष भाव से प्रजा की पालना की है और प्रजा ने भी राजा की सर्व भाव से सेवा की है तो भी वह राजा जब असमर्थ होता है तब उस राजा को त्याग उसका जो शत्रु अन्य राजा है उसकी प्रजा बन जाती है।

यदि प्रजा अन्य को अपना राजा स्वीकार न करे तो अन्य कोई भी राजा बन न सके, राष्ट्र अराजक रहे, किन्तु इतना प्रयास वा साहस कौन करेगा ? साहस के अभाव में थोड़ा भी निमित्त हुवा तो परम्परागत राजा को भी छोड़ देती है । इससे समझा जाता है कि जिनसे देह का सम्बन्ध

- १- दोष देने वाले, २- निर्धन का त्याग कर देती है, ३- वैश्या की तरह ।



नहीं है, उनसे लौकिक सम्बन्ध तब तक है जब तक स्वार्थ है। यदि क्षण मात्र अर्थात् स्वल्प में भी बाधा हुई तो उसका भजन छोड़ देते हैं। मान लो, लौकिक में वैसे होता है, किन्तु वैदिक में तो शास्त्र प्रामाण्य होने से यों त्याग नहीं होता होगा? इस पर कहते हैं कि 'अधीत विद्या आचार्य' विद्या पढ़ लेने के अनन्तर शिष्य आचार्य का त्याग कर देते हैं जिस विद्या से शिष्य सर्व पुष्टार्थ सिद्ध करता है। वैसे विद्या, ग्रहण रूप स्वार्थ जब तक शिष्य का है तब तक ही आचार्य + की सेवा करता है। वैसे उन आचार्य का भी भजन नहीं करते हैं। तात्पर्य यह है कि दूसरों से जो मैत्री है, वह मतलब की ही है। जहां वैदिक सम्बन्ध है अर्थात् जहां आचार्य का सूतक पालना पड़ता है, वैसे व्यवहार होने तथा जो विद्या पढ़ी है उसका उपयोग अर्थ प्राप्त कर आजिविका चलाने में होता है, अतः वैसे (आचार्य) को भी त्याग देते हैं।

यज्ञ कराने वाले ऋत्विक् ब्राह्मण, दक्षिणा मिल जाने पर शेष अर्थ एवं यजमान का त्याग करते हैं। कभी वैसे भी यजमान चतुर होते हैं, कर्म पूर्ण होने पर दक्षिणा नहीं देते हैं तो वैसे का भी त्याग कर देते हैं। जिससे अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से समझा जाता है कि मैत्री प्रयोजन की ही होती है।

आभास—एवमेकेन श्लोकेन धर्मार्थपिक्षयैवेतरभजनं न स्वाभाविकं दैहिकवदित्युक्तम्। अधुना कामार्थं लौकिकवैदिकप्राकृतनिषिद्धभेदेनापि प्रवृत्ताः तत्तत्फलमनुभूय पश्चात्त्यजन्तीत्याह खगा वीतफलमिति।

आभासार्थ—इस प्रकार एक श्लोक से यह बताया कि धर्म और अर्थ की अपेक्षा से दूसरे का भजन किया जाता है। स्वाभाविक भजन देह सम्बन्धी जैसा होता है वैसे नहीं होता है। अब कामना के लिए लौकिक, वैदिक, प्राकृत और निषिद्ध भेद से भी प्रवृत्त हुए उसके फल का भोग कर अनन्तर उनको छोड़ देते हैं जिसका 'खगा वीतफल' श्लोक में वर्णन करते हैं।

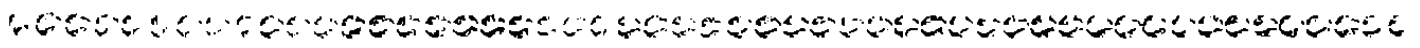
श्लोक—खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम्।

दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम् ॥८॥

श्लोकार्थ—पक्षी फलों से हीन वृक्ष को, अतिथि भोजन करने के अनन्तर उस घर को, हरिण जले हुए जङ्गल को और जार पुरुष प्रीतिमति स्त्री को भोगने के बाद छोड़ देता है ॥८॥

+ 'उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयै द्विजः सरहस्यं तदङ्गं च तमाचार्यं प्रचक्षते'

जो द्विज यज्ञोपवीत संस्कार कराके शिष्य को समग्र अङ्ग तथा रहस्य सहित वेद पढ़ावै, वह 'आचार्य' कहा जाता है।



सुबोधिता — कामो हि द्विविधः उपग्रहश्चन्द्रि-
यभोगभेदेन, तत्र खगाः पक्षिणः क्षुत्पीडिताः
फलवन्तं वृक्षमाश्रयन्ति, यदैव वीतफलो भवति,
तदैव च त्यजन्ति । उपलक्षणमेतत् । छायास्थितो
गतच्छायम् । तत्तदयिनस्तत्तदर्थपिगमे । तथा-
ऽतिथयोऽसम्बन्धिनो ब्राह्मणाः क्षुत्पीडिता
भुक्त्वा चकारादन्यमपि सत्कारं प्राप्य तद्गृहे
अनिष्टेऽपि जाते निरीक्षणरहिता गच्छन्ति ।
कदाचिदेक एवं कुर्यादिति सन्देहव्यावृत्त्यर्थं सर्वं
एव तथाविधा इति ज्ञापयितुं सर्वत्र बहुवचनम् ।
यस्मिन्नरण्ये मृगा उत्पन्नाः, वृद्धि च गताः, तादृ-
शस्य जातायामापदि, अग्रे सम्पत्तिसम्भावनाया-
मपि अल्पानुपयोगमप्याशङ्क्य त्यजन्ति मृगाः ।

सर्वत्र साधारणं मत्वाऽसाधारण्येन तस्या दाश-
मपि कृत्वा गच्छतीत्याह जारो भुक्त्वेति । सा हि
परस्त्री भोग्या, स्वयं जारः तदेकस्वभावस्तदुप-
जीवी वा, तादृशोऽपि भोगानन्तरं तां चेत्कश्चिद्व-
न्यात्, तदाप्यनपेक्ष्यमाणस्त्यजत्येव, तथैतज्जात-
मित्यभिप्रायः । अथवा । एता दशविधा दश दृष्टा-
न्तानाहुः । तत्र सात्त्विकादिभावेषु तथा तथा
वचनम् । 'जारो भुक्त्वे'त्यन्ते राजसतामस्याः ।
अथवा । दृष्टान्ताष्टकमेवैतदवधि । तामसतामस्या-
स्तु सर्वभावापन्नायाः भ्रमरकथायां स्वरूपं वक्त-
व्यम्, अत एव काचिदित्येकां निरूपयि-
ष्यति ॥८॥

व्याख्यार्थ—काम दो प्रकार के हैं, एक ऊपर की मुखादि इन्द्रियों से भोगा जाता है. दूसरा
नीचे की शिश्नादि इन्द्रियों से भोगा जाता है । उसमें क्षुधा से पीडित पक्षी फलों से पूर्ण पेड़ पर
क्षुधा निवृत्त्यर्थ बैठते हैं । जब उस वृक्ष में से फल समाप्त हो जाते हैं तब ही उसको छोड़ देते हैं । यह
दृष्टान्त एक नमूने के लिए है । इसी प्रकार तपति बुझाने के लिए भी पेड़ का आश्रय लेते हैं । जब
छाया नहीं मिलती है तो उसको छोड़ देते हैं । अपने अपने कार्य की वस्तु लेने के लिए आते हैं, वह
जब नहीं मिलती है तब उसका त्याग करते हैं । इसी प्रकार अतिथि जिनका कोई सम्बन्ध नहीं है,
और ब्राह्मण क्षुधा से पीडित हैं वे भोजन कर तथा दूसरा भी सत्कार पाकर गृह को छोड़कर चले
जाते हैं । चाहे वहां कुछ अनिष्ट भी हुआ हो तो भी ध्यान नहीं देते हैं । कदाचित् यों समझा
जाय कि कोई इस प्रकार करता होगा ? इस सन्देह को मिटाने के लिए सर्वत्र बहुवचन दिया है ।
जिसका तात्पर्य है कि सब वैसे होते हैं । जिस जंगल में हरिण पैदा हुए बड़े हुए उस जंगल को आग
जब जलाने लगती है तब उस वन को थोड़े समय के लिए उपयोग न कर सकेंगे यों समझ उसका
त्याग करते हैं । चाहे यों समझते भी हैं कि यह जंगल पुनः पूर्व के समान हरा हो जायगा तो भी
त्याग देते हैं । सर्वत्र साधारण समझ कर, असाधारण पन से उसका नाश भी कर चला जाता है ।
इस प्रकार का दृष्टान्त अब देते हैं, 'जारो भुक्त्वा' वह अपनी स्त्री नहीं है दूसरे की है, केवल भोग्या
है, स्वयं 'जार' है जैसी वह पराई है वैसे आप भी परपुरुष उपपत्ति हैं । अतः दोनों एक स्वभाववाले
हैं अथवा उसका आश्रित है, वैसा भी भोग के अनन्तर उस स्त्री को यदि कोई अन्य पीटे तो भी
उसकी अवहेलना कर उसको छोड़ के चला जाता है, वैसे ही यह हुआ है । अथवा ये दश प्रकार के
हैं, दश दृष्टान्त कहे हैं ! वहां सात्त्विक^१ आदि भाववाले ब्रजभक्तों ने वैसे वैसे दृष्टान्त कहे हैं ।

१- हमारी दशा वैसी हुई है । २- ये दश दृष्टान्त इस क्रम से समझने चाहिए-

- (१) राजस सात्त्विक, (२) राजस राजस, (३) तामस तामस, (४) तामस राजस,
- (५) निर्गुण, (६) सात्त्विक राजस, (७) तामस सात्त्विक, (८) सात्त्विक सात्त्विक,
- (९) सात्त्विक तामस (१०) राजस तामस । श्री प्रभुचरण टिप्पण्याम्-

‘जारो भुक्त्वा’ यह अन्तिम दृष्टान्त राजस तामसी ने कहा है अथवा तो आठ दृष्टान्त यहां तक हैं। सर्व भाव को प्राप्त तामस तामसी का स्वरूप तो ‘भ्रमर’ की कथा में कहेंगे। इसलिए ही वहां काचित्³ शब्द से उस अकेली का निरूपण करेगे ॥८॥

आभास—नन्वेवमसूयायां दुष्टा एव जाताः, किं ज्ञानेन पुनः सज्जीक्रियन्त इत्या-
शङ्क्य तासां क्लेशवशादेवायं स्वभावो जातः, वस्तुतस्तूत्तमा इत्याह द्वाभ्याम्, इति
गोप्य इति ।

आभासार्थ—जो असूया द्वेष इष्या के कारण दुष्ट (दोषयुक्त) हो गई हैं, उनको ज्ञान देकर फिर निर्दोष बना के क्यों तैयार करते हैं ? इस शङ्का को मिटाते हुए कहते हैं कि ये वास्तव में निर्दोष उत्तम हैं, किन्तु विरह क्लेश बढ़ने के कारण असूया होने से, इनका वैसा स्वभाव हुआ है। जिसको दो श्लोक 'इति गोप्यो' से बताते हैं।

श्लोक—इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः ।

कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः ॥६॥

गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदन्त्यश्च गतह्रियः ।

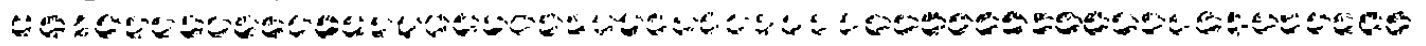
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययो ॥१०॥

श्लोकार्थ—गोपियों के तन, मन और वाणी सर्व भगवान् में लगे हुए थे । जब कृष्ण के दूत उद्धवजी व्रज में आए, तब उसने देखा कि सर्व लोक व्यवहार त्याग श्रीकृष्ण के बाल्य तथा किशोर अवस्था के चरित्रों को निर्लज्ज हो गा रही थीं । जिस से उनका हृदय विरह से विह्वल हो गया था और नेत्रों से नीर निकल रहा था ॥६-१०॥

सुबोधिनी—इतीति समाप्ती प्रकारे च । पूर्वोक्तदोषस्य तदासक्तिः फलम्, न तु नाश इति वक्तुं गतवाक्कायमानंसा इत्युक्तम् । ननु कथमेवं कल्प्यते, दुष्टा एव कथं न भवेयुरित्याशङ्क्याह गोप्य इति । ता मृग्धा न कापथ्यं विवेकं च

जानन्ति, अतः खेदवशाद् यथैव मनोवृत्तिर्भवति,
तथैव वदन्तीति न दुष्टाः । हि युक्तश्रायमर्थः ।
महता कष्टेन हि सर्वपरित्यागेन सर्वभावेन पूर्वं
भगवन्तं प्रपन्नाः । किञ्च । गोविन्दो भगवान्
तासामेवेन्द्रः सर्वेर्देवैः कृतः, अन्यथा तेषां करणं

३- 'काचित्' अकेली कहने का भाव स्पष्ट करते हैं कि 'मधुपकितव' से जो दश श्लोक कहे जाएंगे वे कहने वाली दश भाव युक्त 'तामस तामसी' हैं उनमें तामस तामस भाव स्थायी हैं। न्य भाव व्यभिचारी हैं।



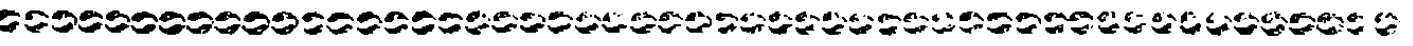
व्यर्थं स्यात् । दुष्टस्वामित्वं वा भवेत् । अत एतै-
र्वचनैर्गतवाक्कायमानसा एव ता इति ज्ञायते ।
अथवा । पूर्वमेव गोविन्दे स्वत एव गतानि काय-
वाङ्मनांसि यासाम् । अत एतान्यपि वचनानि
चेद्दोषजनकानि भवेयुः; तदा भगवच्छास्त्र एव
दोषः स्यात्, भगवदीयत्वात्तेषाम् । तासां सर्वपरि-
त्यागे निदर्शनमाह कृष्णदूत इति । साक्षाद्भग-
वति समागते को वेद किं वा कुर्युः, कृष्णस्य
स्वामिनः दूतेऽपि उद्धवे व्रज आगते त्यक्तलौकिका
जाताः, सर्वापेक्षां परित्यज्य प्रकटा भूत्वा तेन
सह यत उपविष्टाः । किञ्च । तस्याप्यग्रे प्रिय-
स्यैव कर्माणि गायन्त्यो जाताः । अनेन भगवत्येव

निवेदिता वाक् नान्यतः सङ्कोचं लभते इत्युक्तम् ।
रुदन्त्यश्च जाताः । एवमुपवेशनेन कायं गानेन
वाचं रोदनेनान्तःकरणमिति साधारण्येन त्रय-
मपि निवेदितमुक्तम् । असाधारणस्वभावमपि
त्यक्तवत्य इत्याह गतह्रिय गति । स्त्रीणां स्वभा-
विको धर्मो लज्जा, तामपि चेत्यक्तवत्यः, किमव-
शिष्यते तामु । नन्वेतत्सर्वं कादाचित्कमित्याश-
ङ्क्य तत्परिहारार्थं विशेषमाह तस्य संस्मृत्येति ।
तस्य भगवतः कैशोरवात्पयोः अवस्थाद्वयसम्ब-
न्धीनि यानि तानि संस्मृत्य संस्मृत्य पुनःपुनराद-
रेण स्मृत्वा ताः पूर्वोक्तविधा जाता इति सम्ब-
न्धः ॥६-१०॥

व्याख्यार्थ — श्लोक के प्रारम्भ में आया हुआ 'इति' शब्द समाप्ति वाचक है, और प्रकार बताने के लिए है । गोपियों में जो असूयादि दोष कहा, जिसका फल भगवान् में आसक्ति हुई, न कि उनका दोष से नाश हुआ, यह सिद्ध करने के लिए ही कहा है कि गोपियों की वाणी, काया और मन सर्व भगवान् में लग गए हैं । आप यों कैसे कहते हैं ? दुष्ट ही हुई यों क्यों नहीं कहती हो ? इस प्रकार की शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि ये गोपियां हैं, वे सरल प्रकृति की भोली होती हैं, अतः ये कपट या विवेक नहीं जानती हैं । इसलिए खेद के वश जैसी मन की वृत्ति हो जाती है, वैसी ही बोलती है, अतः वे दुष्ट नहीं हैं, श्लोक में 'हि' शब्द से यही तात्पर्य कहा है ।

बहुत कष्ट से सर्व का सम्पूर्ण त्याग कर सर्वात्म भाव से प्रथम भगवान् के शरण गई है और विशेष में गोविन्द भगवान् को सर्व देवों ने इन (गोपियों) का ही इन्द्र बनाया है । यदि ये दुष्ट होती तो भगवान् इनका इन्द्र बनाना व्यर्थ हो जाता । अथवा भगवान् को दुष्टों का स्वामीपन प्राप्त हो जावे, अतः इन वचनों से सिद्ध है कि इनकी वाणी आदि भगवान् में है, जिससे वे दुष्ट नहीं, किन्तु उत्तम हैं । अथवा पहले ही इनका गोविन्द में अपने आप वाणी, मन आदि लग गए हैं । यदि ये वचन भी दोष जनक होवे तो भगवत् शास्त्र में ही दोष समझा जावे । कारण कि ये तो भगवदीय हैं, क्योंकि इन्होंने सर्व का परित्याग कर भगवान् को ही अपनाया है । जिसका उदाहरण देते हैं कि श्रीकृष्ण के दूत के आने पर लौकिक त्याग दिया और इनकी यह दशा हो गई, तो स्वयं भगवान् पधारते तो न जाने ये क्या कर डालतीं ? अन्य सर्व की अपेक्षा का त्याग कर प्रकट हो के उद्धवजी के पास आकर बैठ गई और विशेष में न केवल उनके बाजू में बैठों, किन्तु उनके आगे भी अपने प्रीतम की लीलाओं का गान करती थीं । जिससे यह बताया है कि हमने वाणी भी भगवान् में अर्पण कर दी है । इससे वाणी उनका ही वर्णन करती है तथा किसी के भी आगे सकुचाती नहीं हैं । वहां रोती थीं, जिससे भगवान् में अपना पूर्ण निवेदन बता दिया है । जैसे कि वहां कृष्ण भक्त दूत के पास बैठने से काया का निवेदन, गान से वाणी का निवेदन

व्याख्यानार्थ - यह मेरा रोग साध्य है, वह आगे कहा जावेगा पश्चात् भगवान् के उपदेश का वर्णन होगा। थं की सङ्गति तो यह है कि प्रथम कोई गोपी उलहना कहकर अनन्तर भगवान् में अपनी आसक्ति प्रकट करने के लिये अपने हृदय के भाव कहती है, क्योंकि यों नहीं कहे तो रस प्रकट



हो जावे। अतः उसको छुपाने^१ के लिए यों भाव प्रकट करती है। वह भी दूसरे को कहने के मिष से करती है, नहीं तो रस पुष्ट न होवे। अथवा उद्धव को, गोपियों का क्या स्वरूप है, यह बताने के लिए भगवान् ने मधुकर को भी भेजा है। तब उसको देखकर आर्पज्ञान से उसको भगवदीय समझकर कोई गोपी कहने लगी। जैसे उद्धवजी को यह अभिमान न होवे कि मैंने गोपियों को उपदेश देकर भगवान् का बड़ा कार्य सिद्ध किया है। अन्यापदेश न्याय से तो ये पद उद्धवजी में भी घटित किए जा सकते हैं। तब दोष की सम्भावना उसमें भी हो सकती है। दूसरे अर्थ में तो (काल पक्ष में) कोई दोष की सम्भावना नहीं है, क्योंकि वहां प्रार्थना ही हुई है। मधुकर भ्रमर को कहते हैं वास्तव में भ्रमर का यह विपरीत नाम है क्योंकि भ्रमर मधु^२ का भक्षण करता है उसको बनाता नहीं है, मधुकर^३ पद का अर्थ मधु को करने वाला होता है, अतः वसन्त मधुकर है, यह मधु भी मधुकर नाम से कहा गया है। यों नहीं कहे तो पुष्प और उनके अभिमानी देवता उसको अपने पास न आने दें। प्रथम ही वह कृष्ण के सङ्गम का ध्यान करती हुई खड़ी थी। इस प्रकार प्रथम भगवान् के साथ मन से सम्बन्ध प्राप्त कर पीछे मानवाली हुई। तब समझने लगी कि भगवान् ने दूसरी को ग्रहण किया है। यों मन में कल्पना की, किन्तु भगवान् को वह हचिकर नहीं लगी है, अतः भगवान् ने फिर मुझे ही समझाने के लिए इस भ्रमर को भेजा है। इस प्रकार के आर्पज्ञान से कहती है कि 'प्रिय प्रस्थापित' प्यारे ने इसको भेजा है। यह प्रीतम का दूत है, यों जान कर निम्न श्लोक कहती है ॥११॥

आभास—आदौ हि मानवत्याः क्रोधेन पारुष्यं भवतीति ततः प्रथमं तामसतामसी तद्भावयुक्ता वा दूषणमाह मधुपेति ।

आभासार्थ—आदि में मानवाली नायिका क्रोध के कारण निष्ठुर वचन कहने लगती है, यह प्रकार है। इस कारण से तामस तामसी* अथवा उस भाव वाली गोपी भ्रमर को 'मधुप' इस श्लोक में दूषण देती है।

१- जिस रस का ध्यान कर रही थी, उसको यदि न छुपाए तो वह रस उसको (गोपी को) अपनी क्रिया वाला कर देवे। इस प्रकार प्रकट रस भोग सर्व समक्ष हो; वह अनुचित है। अतः छुपाने के लिए वे हृदगत भाव कहने लगीं — टिप्पणीजी का आशय।

* श्री प्रभुचरण टिप्पणी में 'तामस तामसी' पद के तात्पर्य को समझाते हुए आज्ञा करते हैं कि विप्रयोग में अनेक व्यभिचारी भाव होते हैं। जैसे प्रलाप दीनता आदि भाव व्यभिचारी भाव हैं। वैसे प्रीत में दोषारोपण भी एक व्यभिचारी भाव है। वैसे दोषारोपण करने पर भी रसात्मकता में न्यूनता नहीं होती है, किन्तु अत्युग्रभाव की उत्पत्ति होती है। वह अत्युग्रभाव रसात्मक भगवद्धर्म रूप है। जिससे वह प्रमाणादि सर्व बलों का निरास करता है। अतः इस उग्रता के कारण ही भगवद्धर्मरूप रसात्मकता को यहाँ तामस कहा है। जैसे गीता में रजोगुणादि में परस्पर उपमर्द्य और उपमर्द का भाव कहा है। वैसे ही यहाँ रस शास्त्र में (विषय में) भी भावों में परस्पर उपमर्द्य और उपमर्द का भाव है। अतः उग्र भाव से रसात्मकता ही प्रकट होती है। जिससे यों कहना कि गोपी भगवान् में दोषारोपण करती है, वह युक्त नहीं है। कारण कि गोपियों को तो भगवान् के सिवाय अन्य का स्मरण ही नहीं है। जिनको अन्य का स्मरण ही न होवे, वैसे अपने प्रिय में दोषारोपण कैसे करेंगी? अर्थात् नहीं करेंगी, इत्यादि विशेष टिप्पणी पढ़िए।

२- मकरंद,

श्लोक—गोप्युवाच—मधुप कितवबन्धो मा स्पृशांहि सपत्न्याः

कुत्रविलुलितमालाकुङ्कुमश्रुभितः ।

बहुतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं

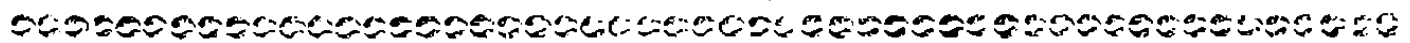
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमोदृक् ॥१२॥

श्लोकार्थ—गोपी कहने लगी कि हे अमर ! हे कपटी के मित्र ! मेरे चरणों का स्पर्श मत कर; क्योंकि तेरी दाढ़ी-मूँछ सपत्नी के कुचों से मदित भगवान् की वन माला की केसर से रङ्गी हुई है, वे भगवान् उन मानवतियों को भले प्रसन्न रखें, जिसका यादवों की सभा में उपहास होता है और जिसका तू दूत बन कर आया है ॥१२॥

सुबोधिनी—सर्वत्र हि रसे विप्रलम्भे दूतो नायकश्च दूष्यते, यथा 'अज्ञातपीडागमा' 'अघम-
स्ये'त्युभयोर्दूषणम्, तथात्राप्याह मधुप कितव-
बन्धो इति । मतान्तरभाषेयमिति कामशास्त्रानुरो-
धिनी निरूपितेति न समाधिभाषायां भक्तिमागे
वा विरोधः । यद्यपि भ्रमरो मधुपो भवति तथा-
प्यन्यार्थेऽपि शक्त इति तत्सूचकत्वेन निन्दापि
भवति, अन्यापदेशे तु यादवाः सर्वे पानरता इति
लोकप्रसिद्ध्या निन्दा भवति । यद्यपि भगवद्भक्ता
भगवांश्च न भवति, अनुकरणं साधारणाविगीत-
घर्माणामेव न तु सर्वेषाम् । तथापि साधारण्येन
प्राप्तो धर्मः श्रुतोऽत्यन्तं खेदाय भवति । वस्तुतस्तु
सरस्वती अन्यार्थमप्याह । भगवान् स्वामी कालश्च
दूतः स्वयं च श्रुतय इति कालद्वारा हि भगवान्
वक्तव्यो ज्ञातव्यो वा भवति । अत्र संवत्सरात्मकः
कालः आदौ मधु वसन्तः पात्येव, ततः कितवस्य
ग्रीष्मस्य वञ्चयित्वा सर्वरसहारकस्य बन्धुरपि
भवति । स चेद्भगवत्सम्बन्धिनं वृन्दावनादिभू-
प्रदेशं भगवच्चरणं वा तत्रत्यं स्पृशेत्तदा क्लेशो
महानेव भवेदिति पादस्पर्श निषेधयति । मा
स्पृशां हिमिति । पूर्वं तु भगवति विद्यमाने निदा-
घवगह्वर्कभवो भुवो रस' न गृहीतवानित्युक्तम् ।
अधुना दूरे भगवानिति मत्वा कदाचित्स्पृशेदिति
निषेधः । अतो नमस्कारार्थमागतं भ्रमरमुद्धवं वा
निषेधति । ननु नमस्कारे को दोष इत्याशङ्क्य

मधुपत्वाच्चरणकमलमकरन्दमपि पास्यतीति निषेधति । तदा चरणौ गतसारौ भगवदुपयोगाय न भवेयाताम् । मधु मादकं च यः पिबति स न स्पृश्यो भवति । ननु दूतोहं भगवता आकारणार्थं प्रेषितः न तु कश्चिद् अहमुदासीनः, स्त्रीणां च भोगार्थिनां तादृश्यवस्थोचितेत्याशङ्क्य स हि वञ्चनार्थमेव त्वां प्रेषितवानित्याह कितवबन्धो इति । कितवोयं वञ्चकः, तत्रापि धूर्तः, अतः फलस्याभावान् मानापनोदनादि साधनं व्यर्थमिति अहिं मा स्पृशेति निषेधो युक्तः । अनेनोद्धवस्यापि सम्माननार्थं निषेध एव । इममर्थमभिप्रेत्यैव निषेधः । किञ्च । सपत्न्याः कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिरुपलक्षितः । सपत्नी द्यौः तस्याः मेघाः पयोधरत्वेन कुचस्थानीयाः, तत्र विलुलिता माला त्रिद्युतः, तत्र कुङ्कुमसदृश्यो दीपयः, तत्सहिताः श्मश्रुस्थानीया धाराः, तैरपि सहितो मा स्पृश । शरदेव परमस्माकं हितकारिणीति वर्षापयन्तं निषेधः, न केवलं ममैव किन्तु सर्वाप्तामेवेत्युक्तं न इति । यो हि सम्माननार्थमायाति स हि द्विष्टं पदार्थं दूरीकृत्य समायाति न तु तत्प्रदर्शयन्, भ्रमरस्य श्मश्रुस्थानीयानि रोमाणि मकरन्दसम्बन्धात् पीतानि भवन्ति, तद्भृगवदीयस्य नान्यपुष्पेषु मकरन्दार्थं गमनं मृग्यत इति भगवत एव मालास्थपुष्पाणां मकरन्दसम्बन्धः, तत्र ग्रथितानां मकरन्देन्तः प्रवेशाभावाच्छ्मश्रुसम्बन्धो बहिरेव,

व्याख्यान—सब जगह जहाँ भी रस का विषय होता है वहाँ वियोग के समय में दूत तथा नायक को ही दोष दिया जाता है, अर्थात् उनको ही दोषी ठहराया जाता है। जैसा कि कहा है, 'अज्ञात पीडागमा' 'अधमस्य' ये दोनों के दुषण है। वैसे ही यहाँ भी कहा है कि 'मधूप कितवबन्धो !'

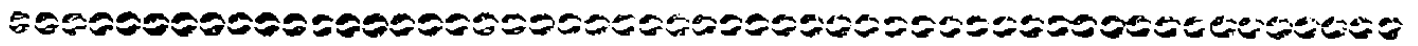


अर्थात् जैसे वहां 'अज्ञात पीडा गमा' से दूनों का दूषण कहा है और 'कितवबन्धो' से नायक प्रभु को दोषी ठहराया है। यह भाषा अर्थात् इसी प्रकार कहना दूसरे मत की भाषा तथा कामशास्त्र की

१- टिप्पणीजी में श्री प्रभुचरण आज्ञा करते हैं कि आचार्य श्री ने इस प्रकार की भाषा को परमत भाषा इसलिए कहा है कि वह ज्ञान जो यहाँ दिया जाता है वह केवल दोषारोपण दोष रूप से न किया जावे इसलिये ही है अन्यथा ज्ञान को यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। कारण कि शुद्ध स्नेहात्मक पुष्टिमार्ग के अनुयायी को ज्ञान मार्ग का ज्ञान देना भक्ति मार्ग से अत्यन्त विरुद्ध है। अतः इसका समाधिभाषा में प्रवेश है, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। यहाँ तो अत्युत्कट रसात्मक स्नेह भाव का वर्णन हो रहा है, वह ही परमपुरुषार्थ रूप है। वह ज्ञान इस परम पुरुषार्थ रूप रसात्मक स्नेह भाव का विघातक है। यद्यपि यहाँ ज्ञान स्वतंत्रता से कोई उद्देश्य नहीं है, किन्तु केवल दोषारोपण को निवृत्त करने के लिए है, तो भी वह दोषारोपण भी रसात्मक होने से और व्यभिचारी भाव के कारण वह दोषारोपण स्थिर नहीं रहता है। इसलिए यहाँ ज्ञान का सर्वथा उपयोग नहीं है। अब तक जो निरोध सिद्ध किया है, उसमें किसी प्रकार की कमी नहीं रह गई है, जिसके लिए ज्ञान की उपयोगिता वा आवश्यकता हो। इसलिए आचार्य श्री ने 'मतान्तर' भाषा कहा है, वह श्रेष्ठ कहा है।

इस कथन में यह ही उपपत्ति है कि प्रीतम का संयोग अथवा वियोग होना चाहिए जिसको पुरुषार्थ कहा जाता है। रम शास्त्र का यही तत्व है कि वियोग दशा में प्रीतम में जो दोष की स्फूर्ति होती है, जिसमें अपने दुःख होने का ज्ञान ही हेतु है। वैसा जब ज्ञान होता है, तब ही ध्यान में आता है कि हमको सुख देने वाला यह प्यारा प्रीतम ही है। यह प्रीतम स्वरूप से दुःखदायी नहीं है और यह तो उत्तम तथा प्रिय है। यदि स्वरूप से दुःखदायी समझने लगे तो उनका स्नेह उपाधि रहित न कहा जाय। इसलिए उसके समाधान के लिए भगवान् ने आत्मत्व का बोध कराया है। ऐसा होने पर ही भगवान् ने इन (गोपियों) का और गोपियों में भगवान् का स्वाभाविक स्नेह है, यह सूचित किया है। भगवान् दुःख देने वाले है, यह कहना असम्भव है। जिसको विशेष स्पष्ट करते हुए दृष्टान्त देते हैं कि जैसे जीव जिस देह को अपनी समझ बैठा है उसको दुःख देने का उत्साह नहीं करता है। वैसे ही भगवान् भी जिस जीवात्मा को अधिष्ठान कर बिराजते हैं उसको दुःख देना नहीं चाहते हैं। इसलिए ही श्रुति कहती है कि 'यमेवैषवृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुस्वाम्' अर्थ-जिसको ही यह आत्मा (भगवान्) अपना करती है, वही उस (भगवान्) को पाता है। उसको यह आत्मा अपना तनु स्वाधीन करती है।

तात्पर्य यह है कि विप्रयोग में अन्दर का लाभ है और संयोग में बाहर का लाभ है। जब वे धर्म स्नेह के वश होकर प्रकट होते हैं, वे भी जो स्नेह वाले हैं उनमें प्रकट हो जाते, इससे स्नेह ही दोष स्फूर्ति का कारण है। जिससे प्रिय में तो निर्दोषत्व ही भासता है, यह तो मर्यादा रीति से कहते हैं। सचमुच तो अति उत्कट स्नेह के कारण ही दोष की स्फूर्ति होती है। वह भी भगवद्भाव ही है, भ्रम रूप वा दोष रूप नहीं है। रसात्मक भगवत्स्वरूप इस प्रकार का ही है। इसलिए विशेष विचारणीय कुछ नहीं है। यदि विचारा जावेगा तो रसाभाव ही सिद्ध होगा। अब हमको यों प्रतीत होता है कि ज्ञान से भक्ति की अधिकता भी इससे जतायी जाती है।



अनुसारिणी है। यों कहने से समाधिभाषा^१ वा भक्ति मार्ग में विरोध नहीं है। यद्यपि भ्रमर मधुप हो सकता है अर्थात् मकरंद का पान करता है, किन्तु उसका अन्य अर्थ भी हो सकता है, उस अर्थ से निन्दा भी होती है, जैसे कि 'मधु' का अर्थ 'मद्य' होता है जिसका तात्पर्य है कि तू मद्यपान करने वाला है। इसके ज्ञान होने पर भ्रमर की निन्दा भी हो सकती है। अन्य लक्ष्य लेने पर तो यादव सर्व पान में आसक्त है। यह बात लोक में प्रसिद्ध है जिससे निन्दा होती है। भगवान् और भगवद्भक्त इस कोटि में नहीं आते हैं और भगवान् अनिन्दित साधारण लौकिक धर्मों का अनुकरण करते हैं कि सर्व धर्मों का अनुकरण करते हैं, तो भी यादव मद्यपान करते हैं। इस प्रकार साधारण यादव मात्र का यह धर्म सुनने से अत्यन्त खेद होता है। वास्तव में तो सरस्वती दूसरे अर्थ को ही कहती है, जैसा कि भगवान् स्वामी हैं, और 'काल' दूत है तथा आपकी गोपियाँ श्रुतियाँ हैं। निश्चय से भगवान् काल द्वारा + कहे जा सकते हैं तथा जाने जाते हैं। यहाँ 'काल' संवत्सर रूप है। आदि में वह बसन्त ऋतु

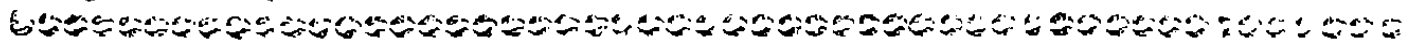
१-समाधिभाषा-माहात्म्य ज्ञान तथा स्नेह ये दोनों सर्वत्र साथ में नहीं होते हैं। कभी साथ साथ में और कभी पृथक् भी नहीं होते हैं। चालू प्रसङ्ग में 'काचिन्मधुकरं' से प्रारम्भ की हुई कथा वैसी नहीं है। अर्थात् इसमें स्नेह वा माहात्म्यज्ञान दोनों नहीं है, किन्तु काम शास्त्र के अनुरूप है, जिससे यह कथा समाधिभाषा वा भक्ति मात्र के विरुद्ध नहीं, किन्तु किसी को इसमें विह्वलता का भाव होवे और यों भी शङ्का होवे कि विहित स्नेह के अभाव से भक्ति मार्ग से भी विरोध है। जिसके उत्तर में दो हेतु देकर सिद्ध किया जाता है कि यहाँ विरोध नहीं है, कारण (१) यह मतान्तर भाषा है। (२) यह काम शास्त्र की दृष्टि से कहा गया।

इस विषय को इस प्रकार से समझना चाहिये कि मर्यादा मार्गीय मत से पुष्टिमार्गीय मत पृथक् है; इसलिए यह मतान्तर है। समाधि भाषा में व्यासजी ने दो प्रकार का दर्शन किया है; अनर्थो-पशमं, साक्षाद्भक्तियोगं जिसका अर्थ है कि अनर्थ का उपशमन करने वाला भक्ति याग, साधन रूप होने से मर्यादा मार्गीय है। साक्षात् भक्ति योग पद से फल रूप भक्ति योग कहा है जो पुष्टिमार्गीय है और जो इस तत्त्व को नहीं जानते हैं वा इसके अधिकारी नहीं हैं, उनके लिए पहला साधन-भक्ति मार्ग है और 'समाधौदृष्ट्वा स्वयं विद्वान्' समाधि में देखकर स्वयं जानकर जो फल रूप कहा है वह वजसीमन्तिनिग्रों में फलित हुआ है, यह पुष्टिमार्गीय ही मतान्तर रूप कहा है। वंसे अधिकारियों में ज्ञान का कथन भी वैसा ही है। काम शास्त्र के अनुसार ही भगवान् ने पहले स्वरूपानन्द का दान दिया है, इसलिये अब भी वही प्रकार कहा जाता है। अतः कोई विरोध नहीं है और वंसे तो यह समाधिभाषा ही है और यहाँ समाधिभाषा तथा भक्ति मार्ग दोनों हैं। जिससे यों कहने में किसी प्रकार विरोध नहीं है।

+ श्री प्रभुचरण टिप्पणी में आज्ञा करते हैं कि-'काल द्वारा हि' इससे काल का दूतपन कहते हैं-शास्त्र में जिस जिस काल में जो जो भगवत्पूजा ध्यानस्तुति आदि करने की आज्ञा है उस काल में ही वह करने से वह काल करने वाले को भगवान् के पास पहुंचाने वाला होता है। सारांश यह है कि करने के योग्य काल न हो और अकाल में ही भगवत् पूजा आदि की जावे तो वह व्यर्थ है, क्योंकि फल प्राप्ति नहीं होगी।



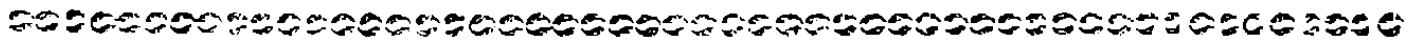
होकर पालन करता है, जिससे उसको मधुप कहते हैं। अनन्तर वही काल (वंचना से रस चूस कर भी) ग्रीष्म का बन्धु बनता है, जिससे वह कितव(कपटी) है। वह ग्रीष्म यदि भगवान् के सम्बन्धी वृन्दावन आदि भू प्रदेश का अथवा भगवच्चरण का स्पर्श करे तो महान् क्लेश उत्पन्न होवे, क्योंकि ग्रीष्म के स्पर्श से उस भूमि की शीतलता, हरियाली एवं मकरन्द आदि नष्ट हो जावे, इसलिए गोपी चरण स्पर्श का निषेध करती है। पहले तो भगवान् जब वृन्दावन में विराजते थे, तब तो ग्रीष्म के सूर्य का ताप वृन्दावन भूमि के रस को नहीं चूस सकता था। अब भगवान् इस भूमि से दूर पधार गए हैं, अतः अब यदि चूस लेवे तो उसके लिए निषेध करती है। अतः प्रणाम के लिए आए हुए भ्रमर वा उद्धवजी को रोकती है। नमस्कार करने में क्या दाष है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहती हैं कि यह मधुप है, मकरन्द पान करने वाला है, जिससे चरण का मकरन्द भी चूसलेगा। इसलिए निषेध करती हैं। यदि यह मकरन्द पान कर लेगा तो मकरन्द रूप सार निकल जाने से हमारे चरण भगवान् के उपयोगी नहीं रहेंगे और मधु तथा मादक को पीने वाला स्पर्श के योग्य नहीं है, इस पर उद्धवजी यदि कहे कि मैं और कोई नहीं हूँ, किन्तु भगवान् का दूत हूँ। आपको बुलाने के लिए भगवान् ने मुझे भेजा है और मैं तो कोई वैसा नहीं हूँ जो उपेक्षक हो। भोगार्थिनी स्त्रियों, जो प्रभु के सम्भोग को चाहती हैं, वसी अन्तरङ्ग दूतियों की वैसी दशा कहनी योग्य है। इस पर कहती है कि आपको भगवान् ने छलने के लिए यहाँ भेजा है, क्योंकि आप 'कितव बन्धु' हैं। वे भगवान् वञ्चक और धूर्त भी हैं। अतः किसी प्रकार जिससे फल प्राप्त न होवे वैसे मान के अपनोदन^१ रूप साधन करने व्यर्थ ही हैं। इसलिए कहती हैं कि चरण का स्पर्श मत करो, यों निषेध करना योग्य ही है। इस प्रकार कहने का आशय यह है कि उद्धवजी का भी यहाँ सन्मान नहीं होगा। अर्थात् उद्धवजी जिस ज्ञान का उपदेश देने की आशा से आए हैं वह उनकी पूर्ण नहीं होगी। इसी आशय को हृदय में रखकर गोपी ने निषेध किया है। भ्रमर पक्ष में कहा है कि सौतिन के कुचों से मदित भगवान् की वनमाला की केसर से तेरी दाढ़ी मूँछें रंगी हुई हैं, इसलिए स्पर्श मत कर। अब काल के पक्ष में जिस प्रकार का भाव है, वह कहते हैं कि यहाँ सौतिन 'आकाश' हैं। उनके कुच 'मेघ' हैं। उनसे मदित माला' बिजुलियां हैं, और उनकी कान्ति केसर है। उसके साथ में बहने वाली धाराएँ उनकी दाढ़ी मूँछें हैं। तू उनसे मुझे स्पर्श मत कर। गोपी यह जो निषेध काल को कर रही है वह वर्षा पर्यन्त हो कर रही है। कारण कि वर्षा के अनन्तर आने वाला शरद् तो हमारी हितकारिणी है। गोपी 'नः' यह बहुवचन देकर कहती है कि मुझ अकेली को शरद् हितकारिणी नहीं है, किन्तु सर्व गोपियों की है। अतः यह निषेध भी मैं सर्व की तरफ से कर रही हूँ। जो मनाने के लिए वा मान देने के लिए आवे, उसको द्विष्ट^२ पदार्थों का त्याग कर आना चाहिए, न कि वे दिखाते हुए आना चाहिए। भ्रमर के जो दाढ़ी मूँछों के स्थान पर रोम हैं वे पीले हैं, वह पीलास दूसरे पुष्पों के मकरन्द की नहीं है किन्तु भगवान् की माला में स्थित पुष्पों के मकरन्द की ही है, क्योंकि भगवदीय अन्यत्र मकरन्द लेने के लिए नहीं जाते हैं। पुष्पों के मकरन्द के अन्दर प्रवेश के अभाव से बाहर ही उसका सम्बन्ध हुआ है। अतः यह जा पीतपत्र है वह कुङ्कुम के सम्बन्ध से हुआ है न कि दूसरे प्रकार से हुआ है। इस प्रकार उद्धवजी को भी भगवत्प्रसादी माला के सूँघने से कुङ्कुम का सम्बन्ध हुआ है। उसकी भी दाढ़ी मूँछें बहुत कर वैसी ही पीली लगती हैं। बार बार माला के सूँघने से श्मश्रू पीली हो जाती है। सूँघना अथवा



मकरन्द पान बाहर से होता है । अतः यह पीलास भगवान् के अङ्गराग से नहीं हुआ है, माला मदित हुई, उसमे हुआ है । जिससे सम्भोग सिद्ध होता है, न कि केवल आलिङ्गन सिद्ध होता है । कारण कि आलिङ्गन मात्र से माला इस प्रकार मदित नहीं होती है तथा आलिङ्गन मात्र तो अन्य के आग्रह से भी होता है । यहाँ तक तो वह अत्यन्त द्वेष करने योग्य नहीं है और यह जाना जाता है कि वह अमित हुई है । जिससे प्रकट होता है कि यहां सौरत हुआ है, अतः मान बढ़ने से काल अमर और उद्धव इन तीन पक्षों में चरण स्पर्श का निषेध किया है ।

आप भगवदीय हैं, यदि भगवान् यो मानते तो फिर आपका अम्बीकार कैसे करने ? अथवा ना कैसे दे सकती हैं ? इस शङ्का के उत्तर में कहती हैं कि 'वह तु मधुपति.' काल पक्ष के सङ्ग्रहणार्थ कहती है कि 'मधुपति:' संवत्सर काल वसन्त का सम्बन्धी है । अतः भले वह वहाँ की मानवालिओं के प्रसाद को वहन करे, वे मान का त्याग कर सन्तोष को पाकर काल को प्रसन्न करती है जिस कारण से वर्णन करने में वसन्त के सम्बन्ध से वे महत्त्व को प्राप्त करती है हम इससे प्रसन्न नहीं होती है। शरद् ऋतु में ही भगवान् की कृपा होने से दो 'ग्रीष्म तथा वर्षा' का निषेध किया है । वसन्त तथा शरद् में उसकी प्रशंसा है, क्योंकि वसन्त में भगवान् ने काल का उत्कर्ष किया है । शरद् में सर्वथा उत्कर्ष है । वसन्त में यज्ञ, अग्निघ्नो तथा संस्कार होते हैं । सौतिन ने प्रसाद रूप में अपना कुच कुङ्कुम भगवान् को दिया है जो स्वामी होकर दासियों की प्रसादी लेते हैं । उनकी यादवों की सभा में निन्दा होती है । दूसरे का भोगा हुआ पदार्थ अन्य ग्रहण करे तो निन्दा जैसा कार्य है, किन्तु वह भोगा हुआ पदार्थ देवता के सिवाय दूसरे का भोगा हुआ हो तो निन्दनीय है । देव की प्रसादी लेने में किसी प्रकार की निन्दा नहीं है, तो भगवान् ने दासियों की प्रसादी कैसे ली ? वे तो महान् हैं, महान् की तो विशेष निन्दा होती है ? इसके उत्तर में कहती हैं कि वे 'मधुपति' हैं अर्थात् मथुरा के पति (राजा) हैं अथवा ईर्ष्या से कहती है कि वे इच्छा में आवे उतना मद्यपान करते हैं, अतः देश की नीति के कारण अथवा वस्तु स्वभाव के कारण उनका स्वभाव ही वैसा है । जिससे दासियों की प्रसादी ले ली है । वैसे भगवान् का प्रसाद इसने ग्रहण किया है, अतः यह भी आदर के योग्य नहीं है । इस प्रकार कहने का भीतरी भावार्थ यह है कि आप यहां आकर गुप्त प्रकार से भोग करो, हम मथुरा तो नहीं आवेंगी, क्योंकि वहां आने पर यादव हमारी हँसी करेंगे । वहां कृष्ण को यादव होने के नाते यादवों की सभा में अवश्य जाना पड़ेगा । जाति वालों की मजाक दुःख से सही जाता है ।

यदि हमको इस प्रकार भी मथुरा ले जाया जावे जैसे यादवों को मालूम न पड़े तो भी दूसरे से किए हुए सम्बन्ध से जो निन्दा होगी, वह असह्य होती है । अतः हम तो यहाँ ही भोग होना चाहती हैं । वहां रह कर इस प्रकार का प्रसाद वह आपका (स्वामी) भले लेवे हमको उसकी गरज नहीं है । हम वहां जाय तो भी हमको प्रसाद में कुङ्कुम ही प्राप्त होगा । वह हमको नहीं चाहिए । इत्यादि कारणों से गोपी निषेध करती है और दिखाती है कि भगवान् के प्रशस्त धर्म ही ग्रहण करने योग्य हैं, अन्य धर्म अग्राह्य हैं, अतः उनके लिए कहा है कि वे विडम्बना करने के योग्य हैं ।



गोपी कहती है कि यदि उद्धवजी यों कहें कि आप का क्या पता है कि भगवान् आपको कुंकुम देंगे, इसका प्रमाण क्या है ? अथवा यों हो जावे कि आपके पहुँचने पर उनका त्याग कर दें। इसके उत्तर में कहती है कि 'यस्य दूतः त्वम् ईदृक्' जिसका दूत तू भी वैसा ही है, उसका सम्बन्धी तू उसका ब्रह्म प्याग है। आप प्यारे को जब वह कुंकुम ही देते हैं तो हमको भी वही देगे। यदि इस प्रकार न होवे तो आपको मूर्खें पीली कर आपको यहाँ न भेजने, अतः इसको जताने के लिए ही आपको वेमा दनाके भेजा है। इससे गोपी ने यह सर्व भाव समझ लिया है। गोपी अपने बुलाने का गुप्त कारण जो उसने समझा है वह स्पष्ट कहती है। गाड़ सुरत में वायु की आवश्यकता होती है। मथुरा बड़ा नगर है अतः घर में वायु आने के मार्ग बन्द रहते हैं, इसलिए उस समय पंखे के चलाने के लिए प्रभु को मनुष्य की आवश्यकता है, जिसके लिए हमको बुला रहे हैं। वहाँ पुरुष तो रह नहीं सकता है हम पूव हो भोगी हुई हैं इसलिए हमको उनकी दासी बनाकर पंखा कराने के लिए बुला रहे हैं। यों वनना सर्व प्रकार अशक्य है; इससे अमर तथा उद्धव के पक्ष में निषेध करना योग्य ही है।

वसन्त ऋतु कृत उत्सव धर्म रूप है। यादवों की सभा में वह विडम्बना के योग्य है, क्योंकि वे सर्व लौकिक प्रधान हैं। अनुकरण मात्र से ही धर्म करेंगे, अतः कालकृत धर्म भगवत्कृत धर्म से हीन है। इसमें प्रमाण क्या है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि मुख्य काल और भगवान् का सम्बन्धी तू दूत दोनों वैसे काल स्वरूप श्याम है। उत्कृष्ट धर्म का आधार श्याम नहीं होता है, अतः हमारे लिए तीन ऋतुओं का निषेध योग्य ही है। पुष्टि मार्ग में दक्षिणायन ही श्रेष्ठ गिना गया है। कारण कि दक्षिणायन में रात्रि बड़ी होती है और दिन छोटा होता है। उत्तरायण की ऋतुओं का अङ्गीकार न करने में यह हेतु है ॥१२॥

आभास—ननु कथमेवं धाष्ट्येन भगवति दोषा आरोप्यन्ते अस्मास्वपि चेत्याशङ्क्याह सकृदधरसुधामिति ।

आभासार्थ—तुम इस प्रकार निर्लज्जता पूर्वक भगवान् पर कैसे दोषारोपण करती हो ? तथा हम पर भी ? जिसका क्या कारण है ? इसके उत्तर में 'सकृदधर सुधा' श्लोक कहती हैं—

श्लोक—सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा

सुमनस इव सद्यस्त्यजेऽस्मान्भवाहृक् ।

परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा

ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पेः ॥१३॥

श्लोकार्थ—जैसा तू है वैसा तेरा स्वामी भी है; क्योंकि तू पुष्पों का रस लेकर अनन्तर उनको छोड़ देता है, वैसे ही श्रीकृष्ण ने भी मोहित करने वाला अपना अधरामृत एक बार पिला कर हमें छोड़ दिया है। अतः दोनों समान हो, अरे ! तब

लक्ष्मीजी उनके चरण कमल की सेवा कैसे करती है ? इस शङ्का का उत्तर देती है कि नागद आदि के द्वारा की हुई भगवान् की भूठी बड़ाई सुनने से लक्ष्मीजी का मन लग गया है, अतः सेवा कर रही है ॥१३॥

सुबोधिनी—यो हि य वञ्चयति स तस्याक्रोश करोति । भगवांश्च सर्वथास्मान्वञ्चितवान् । वञ्चनामेवाह, अधरमुधां पाययित्वा तत्त्यज इति । अस्मान् त्यक्त्वा गतः । अधरेत्यनेनोच्छिष्टतया लोके जातिभ्रंशो निरूपितः । मोहिता च सा, सुधात्वात् पीता । ननु तद्गुणकार एव कृतः, यो हि जलमपि पाययित्वा गच्छति सोऽप्याक्रोशं नार्हति किं पुनः सुधाम्, सुतरां लोभात्मके स्थापिताम् । तत्राह मोहिनीमिति, मोहिका हि सा, नहि मोहकानां लड्डुकादिकं दानफल उपकारं वा जनयति । नन्वेतन् तर्हि तदुत्तारणं क्रियतां किमाक्रोशेनेत्यत आह स्वामित्यसाधारणीम्, न ह्युपायसहस्रेणापि तत्कृतो मोहो निवर्तयितुं शक्यते । ननु मोहनस्य न फलं किञ्चिज्जातम्, रसश्चोत्तमः पीत इत्याशङ्क्याह सकृदिति । सुमनस इवेति । बहुवारं चेत्पाययेत् तच्चाप्यन्ततः सुखं भवेत् । किन्तु सकृदेव । अन्यथा सकृदेवाधरमुधा प्राप्ता सुखं जनयेत् । पुष्पाणि च यथा मृदितानि सर्वकार्यानुपयुक्तानि भवन्ति तथा भगवता वयं त्रैलोक्यविवेकादिभिर्हीनाः कृताः, अतोस्माकं सर्वनाशं कृत्वा यदर्थमस्माभिः सर्वं त्यक्तं तमपि हृत्वा इतो गतवान् । तर्हि कथं न घृत इत्याशङ्क्याह सद्यस्तत्त्यज इति । भवाद्गतिरिति भ्रमरतुल्यः, स हि पीत्वा निःसारान् कृत्वा गच्छति, तथा भगवानपि । पाययित्वेति विशेषः अग्रेऽपि रसानुत्पादनार्थः, अन्यथा कमलादिवत् पुनः रसः स्यात्, अतः पाययित्वा भगवान् गतः पीत्वा च भ्रमर इति वैषम्यात् समाधानं परिहृतम् । सुधापानेनासक्तिर्जनिता, अधरसम्बन्धेन लोकस्त्याजितः, मोहेन विवेकाद्यभावाज्ज्ञानभक्ती निवारिते । परित्यागादाश्रयोपि निराकृतः । अतोस्माकं न पूर्वसिद्धा इमे लोका नापि भगवानित्यु-

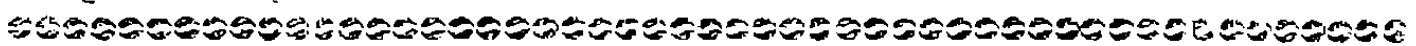
भगवतो भ्रष्टा वयं जाता इति युक्त एवोपायम्भः । ननु भवत्येव भगवतो जाताः, भगवदोपत्वमेव परमपुरुषार्थः, अतः कथं शोक इति चेदुच्यते । न हि भगवदीयान् भगवास्त्यजति । त्यक्ताश्च न भगवदीयाः । प्रत्यासन्तिश्च न भवति, मोहेन तत्र दृष्टेर्गतत्वात् । ननु भगवान् मोहं किमिति सम्पादयति, नापि स्वार्थं त्यक्तं वात् । नापि तासामर्थं, दोषनिवृत्तावपि गुणाभावात्, दोषभावे चावश्यकदुःखनिवृत्तिः, तदभावाद्दोषश्च, तस्मादयुक्तं मोहनमिति चेत् । सत्यम् । भवेदेतदेवं यदि तासां मनसो भगवत्यनुवृत्तिर्न स्यात् । अतो मोहाभावे स्वस्थानगमनात्कृतापि निरोधो व्यर्थः स्यात्, तात्पर्याज्ञानादयं मोहः एतत्कृतो वा दोषः अग्रे स्मरणेन च परिहर्तव्य इति । तदर्थमेव वायमुद्योगः । ननु भगवानेतादृश एव न हि सर्वोप्येकविधो भवति, तस्मान्नोपालभ्य इति चेत्तत्राह परिचरतीति । स्त्रीणां मध्ये मूलभूता चतुरा लक्ष्मीः, सा कथं भगवन्तमेतादृशं ज्ञात्वा सेवितवती । अथ साप्येवं वञ्चिता, तथापि केनचिदुपायेन सा पुनः सेवते, तथोपायश्चेज्जातः स्यात्, तदास्माभिरपि सेव्येतेति प्रश्नार्थो वा कथशब्दः । पञ्चेत्युत्तरं वा, सा हि यदि चरणे माति, अत एव चरणस्य कमलत्वम्, सापि कमला, चरणात्मकता प्राप्य सा तिष्ठतीति न तस्याः कापि क्षतिः । गोपिकानामपि भूमौ निरन्तरं चरणे वा सम्बन्धे जाते घटते नान्यथेति । अपि च । 'पुनश्च पद्मा सम्भूते'ति वाक्याद् रूपान्तरेषु सौम्येष्वप्यादित्योत्पन्तां कठिनो भ्रमणस्वभावश्च, तत्र कथं सेवां कृतवतीति प्रश्नः उपालम्भो वा । तादृश एवायमवतारः प्रतिभातीति भावः । एकत्र स्थैर्याभावात् ननु लक्ष्म्या अवतारो न जात इति शङ्कां वारयितुमाह नु इति धितकं । सा हि भग-



वन्तं विना क्षणमपि स्थातुमशक्तेति । पदं ति
प्रमाणं चोक्तम् । परिचरतीति वर्तमानप्रयोगादि-
दानीमपि सेवा लक्ष्यते, भगवांस्तूदामीन इति तु
निर्विवादम् । तर्हि का उपपत्तिरिति चेत्तत्राह
अपीति । प्रमाणमत्र बाधितं परं किञ्चित्सम्भा-
व्यते उत्तमश्लोकजल्पैः हृतचेदाः प्रायेण, तथा
सति वत खेदे, उत्तमश्लोकाः कोटिमन्तो ये भक्ताः
नारदादयः, तेषां जल्पाः स्वपक्षस्थापनपूर्वकपर-

पञ्चनिराकरणरूपाः कथाः, तेन वादिन्यायेन प्रायेण सा परिगृहीता । यथानभिप्रेतमपि युक्त्या साधितमर्थं प्रतिवादी मन्यते । तर्हि लक्ष्मीपक्षेऽपि कथं न युक्तिरिति चेत्तत्राह उक्तमश्लोकेति । तेषां तु कीर्तिरुत्तमा लक्ष्म्यपेक्षयापि, अतो लोके प्रति-
ष्ठितत्वात् भक्तानामेव जयः न लक्ष्म्याः । प्रायेणैव भविष्यतीत्यर्थः ॥ १३ ॥

व्याख्यानार्थ—जो जिससे ठगा जाता है, वह उसकी निन्दा करता है। भगवान् ने तो सब प्रकार से हमको ठगा है। वह ठगना बताती हैं, अघर सुधा को पिलाकर छोड़ गए। अघर (नीचे के होठ) की सुधा उच्छिष्ट होती है, जिसके पीने से हम जाति से निकाली गई है। क्यों पी ? जिसके उत्तर में कहती हैं कि वह मोहित करने वाली सुधा होने से हमने पी है तब भगवान् का आपके ऊपर उपकार ही हुवा, क्योंकि जो केवल साधारण जल पिला दे और फिर चला जावे तो उसकी भी निन्दा नहीं की जाती है तो जो 'सुधा' पिलावे, उसकी निन्दा तो करनी ही नहीं चाहिए, उसका तो उपकार मानना चाहिये। फिर उस सुधा की स्थिति लोभात्मक अघर में, वैसे स्थान में स्थित सुधा आपको पिलाई है, तो आपका कहना ठीक है, किन्तु वह तो मद करने वाली मोहिका है। यदि कोई लुटेरा नशा पैदा करने वाली वस्तु जैसे लड्डू आदि खिलाता है तो वह उसका उपकार नहीं है और न उसको दान का फल मिलता है क्योंकि वह तो नशेवाली वस्तु खिलाकर अनन्तर लूट लेता है। इस प्रकार तुम्हारे मित्र ने भी मादक सुधा पिलाकर हमारा सर्वस्व लूट लिया है; इसलिए वैसे की निन्दा के सिवाय अन्य कोई सेवा नहीं होती है। यदि उनका दूत कहे कि निन्दा क्यों करती हो ? दूसरे किसी से उस मद के उतारने की क्रिया करवाओ, तो उसके उत्तर में कहती है कि यह सुधा उनकी अपनी ही होने से साधारण नहीं है हजार उपाय करने पर भी उसका नशा उतरने वाला नहीं है। आपको तो नशे का कुछ फल नहीं मिला है, क्योंकि आप तो वैसी की वैसी ही हो। जैसे पहले थो और उत्तम रस का पान भी कर लिया। इसके उत्तर में कहती हैं कि 'संकुदेव' एक ही बार पिलाई है, यदि बहुत बार पिलावे तो वह भी अन्त में जाकर सुख देवे किन्तु तुम्हारे मित्र ने तो एक बार पिलाई फिर आप भाग गए। वैसे अमर मकरंद ले पुष्पों को छोड़ भाग जाता है। वे मर्दित पुष्प किसी कार्य के लिये उपयोगी नहीं रहते हैं। भगवान् ने भी हमारी दशा वैसी ही कर दी है। इसलिए अब हममें धैर्य विवेक आदि कुछ नहीं रहा है। जिसके लिए हमने अपना सब त्याग दिया वह हमारा सर्वस्वनाश कर अन्त में हमें भी छोड़ गए। जब वह जा रहे थे, तब उनको क्यों नहीं पकड़ रखा ? इसके उत्तर में कहती हैं कि 'सद्यस्तत्यजे' एकदम से छोड़ गए, क्योंकि तुम्हारे समान है। हे अमर ! तू भी रस चूस पुष्पों को निरस बनाकर चला जाता है, वैसे ही तेरा मित्र भगवान् भी, किन्तु तुम्हारे मित्र में यह विशेषता है। जो अमर रस चूस जाता है जिससे पुष्पों को पुनः रस की प्राप्ति होती है, हमको तो रस पिला कर चले गए, जिससे फिर रस प्राप्त ही न होवे। यह अमर और भगवान् में विषमता है। वैसी अवस्था में समाधान कैसे होगा ? हम को तो भगवान् दोनों तरफ से अष्ट कर गए हैं, कैसे ? इसके उत्तर में कहती हैं कि सुधा पिलाकर अपने में आसक्ति उत्पन्न की। अघर का संबंध करा के लोक लाज छुड़ाई, मोह से विवेक आदि का अभाव कर दिया, जिससे



ज्ञान और भक्ति तिरोहित हो गए। शेष आपका जो आश्रय रहा था, वह भी त्याग कर नष्ट कर दिया। अतः पति सेवा से पूर्व सिद्ध ये स्वर्ग आदि लोक तथा भगवान् भी न मिले; इसलिए हम जो उपालम्भ^१ दे रही हैं वह योग्य ही हैं यदि आप कहो कि तुम भगवान् को ही हो गई हो, भगवदीय होना ही परम पुण्यार्थ है; तो फिर शोक किसका? यदि हमको भगवान् ने अपनी समझी होती तो त्याग कर नहीं जाते। भगवान् भगवदीयों का त्याग कभी नहीं करते हैं। यदि उसको छोड़ा तो निश्चय है कि वे भगवदीय नहीं हैं और उनसे सम्बन्ध भी नहीं होता है। मोह के कारण केवल हमारी दृष्टि उनके पास गई है। + भगवान् ने मोह किस लिए उत्पन्न किया? यदि कहो कि अपने स्वार्थ के लिए तो वह सत्य नहीं है। कारण कि जो भगवान् का अपना स्वार्थ होता तो वे आप का त्याग न करते। यदि उनके गोपियों के लिए, तो वह भी नहीं है, क्योंकि संसार से निवृत्ति होने पर भी मिलने का लाभ नहीं। यदि प्रभु न मिले तो दुःख होगा ही। दोष के अभाव पर दुःख की निवृत्ति होती है। यदि वह निवृत्ति न हुई तो समझना चाहिए कि दोष का अभाव नहीं हुआ है। इस कारण से मोह कहना अयोग्य है। इसके उत्तर में कहती हैं कि आपका यह कहना तब सत्य हो जबकि हम गोपियों का मन उनमें आसक्त न होवे, इसकी पुष्टि में कहती है कि यदि हमारा मन आसक्त न होवे तो हम घर चली जावे और प्रपञ्च में निष्ठा वालो हो कर रहें; वह नहीं हो सका है। जिसका कारण है कि प्रभु ने हमारा निरोध कर रखा है। हम चली जावें, तो निरोध व्यर्थ हो जावेगा। वह व्यर्थ न होवे अतः प्रपञ्च निवृत्ति के लिए ही आसक्ति की है। इस तात्पर्य के अज्ञान से एव दुःख के न मिटने का दोष रहा हुआ है। वह आगे स्मरण से मिटाने के योग्य है, इसलिए ही भगवान् ने यह उद्यम किया है।

यदि तुम कहो कि भगवान् तो वैसे ही है। लोक में सब एक प्रकार के नहीं होते हैं, इसलिए उपालम्भ नहीं देना चाहिए। इस पर कहती हैं कि सर्व स्त्रियों की मूल भूत स्त्री लक्ष्मीजी चतुर हैं। चहूँ भगवान् को वैसे समझ भी सेवती है? यदि वह भी इस प्रकार^२ ठगी गई है, तो भी किसी उपाय से भी वह फिर भी सेवा कर रही है। वैसे उपाय का हमको भी ज्ञान हो जावे तो हम भी वैसे सेवा करें? यह कहना प्रश्न के रूप में है, अथवा वह 'पद्मा' है जिसका अर्थ है कि बाद में रहती है, इसलिए भगवान् के चरणों को कमल कहा है, लक्ष्मी चरण रूप होकर रहती है, जिससे 'कमला' भी कही जाती है, इससे उसकी किसी प्रकार क्षति नहीं है। शोषिकाओं का भी कृष्ण सम्बन्धिकी,

+लेखकार इस पङ्क्ति का आशय स्पष्ट करते हैं-भगवदीयत्व तब है जब भगवत्सम्बन्ध होवे यहां सम्बन्ध तो होता ही नहीं है। क्यों नहीं होता है? जिसमें कारण बताती है कि सम्बन्ध दृष्टि के द्वारा होता है। हमारी दृष्टि मोह के कारण भगवान् के पास गई है; जो वहां से लौट कर नहीं आई है। अतः दृष्टि के अभाव से दूसरा कोई दीखता नहीं है। तो अब सम्बन्ध कैसे होगा? यहां दृष्टि से सर्व इन्द्रियां समझनी चाहिये।

१- उलहना।

२- जैसे हम ठगी हैं।

वृन्दवन भूमि तथा चरण ये सदा सम्बन्ध होवे तो वे भी लक्ष्मी के समान बन जावे अर्थात् वैसे ही चकणों की सेवा करती रहें । वैसा होने के लिए अन्य कोई प्रकार नहीं है, जैसा कि कहा है, देवकी सुत के पदाम्बुज में लक्ष्मीत्व प्राप्त करने पर यों होता है, अर्थात् अति विगाढ भाव से चरणात्मक होने पर ही लक्ष्मी हुई, जैसे कि कहा है 'पुनश्च पद्मा समूता' नारायण के सौम्य रूपों में 'आदित्य' रूप उग्र है तथा उसका भ्रमण करने का स्वभाव है, ऐसे रूप की सेवा कैसे करतो होगी ? यह प्रश्न है अथवा उपालम्भ है, यह अवतार भी वैसा ही प्रतीत होता है, क्योंकि इसको भी एक स्थान पर स्थिति नहीं है । लक्ष्मी का तो अवतार हुआ ही नहीं है ? इस शङ्का के मिटाने के लिए 'नु' अव्यय वितर्क' में दिया है, वह तो भगवान् के बिना एक क्षण भी रहने में प्रसमर्थ है, जिसमें 'पद्मा' नाम ही प्रमाण है । श्लोक में 'परिचरति' वर्तमान काल की क्रिया से समझा जाता है कि इस समय भी 'सेवा' कर रही है । भगवान् तो सदैव उदासीन ही हैं जिसमें कोई वाद नहीं है, तब यहां कौनसी उपपत्ति हो सकती है ? वहां कहा जाता है कि यद्यपि यहां प्रमाण का बाध है तो भी कुछ प्रमाण मिलने की संभावना है, जैसे कि 'उत्तमश्लोकजल्पः हृतचेताः' से कीर्तिमान नारद आदि भक्तों के स्वपक्ष की स्थापना और पर पक्ष का निराकरण करने वाली कथाएँ हैं जिनसे भगवान् के गुणानुवाद की महिमा स्थापित होती है । जिनसे लक्ष्मी भगवदावृत्त होकर सेवा कर रही हैं । सामने वाले को जो कार्य पसन्द न भी हो, किन्तु युक्ति पूर्वक यदि सिद्ध किया जाय तो उसको वह भी मान लेता है । वैसी दशा में लक्ष्मी के पक्ष में क्यों युक्ति नहीं दी जाती है ? जिसके उत्तर में कहा गया है कि लक्ष्मी से भी भक्तों की कीर्ति विशेष है, अतः लोक में प्रतिष्ठित होने से भक्तों की ही जय है, लक्ष्मी की नहीं है; बहुत कर के यों ही होगा ॥१३॥

आभास—एवं भ्रमरगतिं पादस्पर्शत्वेन निषिध्य तदागमनं च परिहृत्य तद्व्रतं शब्दं निषेधति किमिह बहु षडं ह इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भ्रमर को पादों के स्पर्श का तथा अपने और आने का निषेध किया, अर्थात् इस तरफ न आकर दूसरी जगहों में भ्रमण कर। अब उसको कहती है, कि अपना यह आलाप भी मत कर, जिसका वर्णन 'किमिह बहु षडंहे' इस श्लोक में किया है।

श्लोक—किमिह बहु षडंहे गायसि त्वं

यद्गुणामधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम् ।

विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः

क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ—हे भ्रमर ! हमारे सामने लगातार यदुपति के पुरातन गान क्यों कर



रहे हो ? हमने तो घरबार भी छोड़ दिया है, अतः श्रीकृष्ण की जो नवीन सखियाँ हैं; उनके आगे जाकर श्रीकृष्ण के प्रसङ्ग का गान करो, जिनका काम ज्वर भगवान् शान्त कर रहे हैं; वे सखियाँ जो प्राप चाहोगे, वही देंगी ॥१४॥

बुद्धोविनी—उद्धवस्याग्रे वाक्यमप्यनेन निषिध्यते । कालगतानि सर्वाण्येव प्रमाणानि चान हि तैः प्रमाणैः भगवद्गता धर्माः दोषाः परिहर्तुं गुणा वा वक्तुं शक्याः, अतो व्यर्थमिति त्रिष्वपि साधारणम् । हे षडं ह इह अस्मत्समीपे किमिति गायसि । नन्वन्यत्र गन्तुमशक्त इति चेत्तत्राह षडं ह इति । द्विपादपि गच्छति बहुदूरं, त्वं तु षडंहिः । ननु गानस्वभावोहं सर्वदैव गानं करोमीति चेत्तत्राह बहु किमिति गायसीति । स्थानान्तरे न गानं, नापि कदाचिद्गानशङ्का, यतो बहु गायसि । ननु भवतीनां स्वामी कृष्ण इति भवत्समीपे गानं युक्तमिति चेत्तत्राह यदूनामधिपतिमिति । यादवानामधिपतिर्न त्वस्माकं साम्प्रतम् । अतो यादवानामेवाग्रे गानमुचितम्, न त्वन्येषाम् । ननु सर्वेश्वरो भगवान् यादवत्वेऽपि न दुष्यति, अतः सर्वेषामुपकारार्थं स्वार्थं च सर्वत्रैव गानमुचितमिति चेत्तत्राह, अगृहाणामिति गृहरहितानाम्, वयं त्यक्तगृहा मार्गे उपविष्टाः, नाप्यस्माकं स्वगृह, नापि भगवद्गृहमिति । तादृशीनामग्रे गानेन किं फलं भवेत्, गृहस्था एव हि किञ्चिद् दातुं शक्ताः । ननु त्वमेका न चेत्प्रयच्छसि अन्या दास्यन्तीत्याशङ्क्याह न इति । सर्वा एव वयं तादृश्याः । मम धनाद्युपकाराभावेऽपि धर्मो भविष्यतीति भवतीनां चापूर्वार्थप्रदर्शनेन सन्तोषे आशीर्वादेन वा कृतार्थता भविष्यतीति कथं गानं निषिध्यत इत्याशङ्क्याह पुराणमिति । नायमपूर्वो वादः किन्तु बहुधैव श्रुतो भगवान् । ननु भगवद्गुणान् श्रुत्वा न कोपि विरज्यते । कथमेता विरक्ता इति चेत् सत्यम् । पूर्वं श्रवणेन हि वयमेवं जाताः, इतोधिकं च फलं न पश्यामः, पुनश्चेच्छ्रोष्यामः स्वरूपेणापि निवृत्ता भविष्याम इति वरमेतदपेक्षयाऽश्रवणमेव । स्थिते

स्वरूपे तु भगवान् कदाचित् प्राप्येतापि, संसारपतनभयं चेत् सम्भाव्येत तदा पुरातनत्वादेव सुलभत्वात् तदैव गानं भवत्विति साम्प्रतं नोपयोग इति भावः । ननु वयं गायका एव, भगवान् स्त्रीप्रियः, पुरुषास्तथा न रसिकाः, स्त्रीणां चाग्रे गानमावश्यकम्, अतो नन्यगत्या गानं क्रियत इति चेत्तत्राह विजयसखसखीनामिति । सन्ति स्त्रियः सुखिताः विजयसखस्य भगवतः सख्यः भगवता तुल्यभावं प्रापिताः परमानन्दयुक्ताः, यदर्थमर्जुनवदलक्ष्यादिमत्स्यादिवेधमपि कृत्वा यथेष्टं लक्ष्मणाप्रभृतीनां विवाहं करोति । विविधश्च जयस्तस्येति लुण्ठने बह्व्य एव स्त्रियः प्राप्यन्ते । अर्जुनेनापि दीयन्ते, सखित्वात् स्वयमपि तादृशः, अर्जुनसखित्वेन कालरूपतया सर्वमारकत्वं चोक्तम् । ततश्च तत्स्त्रीणां विलापे दुःखसम्मार्जनं कुर्वन् सखेव भवति, ता गतभर्तृका भोगनिरपेक्षाः कथायां मुख्याधिकारिण्यः, न तु वयं भोगसापेक्षा इति भावः । वक्रोक्त्या वा द्योतिताः तास्त्वां मारयिष्यन्तीति, यथास्तिप्रभृतयः । विजय एव प्रकृष्टजयः सखा यस्य तस्य सखीनाम्, यो हि सर्वत्र जयं प्राप्नोति तमेव मन्यन्ते नान्यान्, वयं त्वेकनिष्ठा इति प्ररोचनार्थमपि गानं नापेक्ष्यत इति । अतस्ताः सर्वा एव क्षपितकुचरुजः सत्यः युद्धे कठिनभाव प्राप्तेन हस्तेन मदितरुजः भारक्लेशनाशेन सुखिताः ते इष्टाः सत्यः इष्टं कल्पयिष्यन्ति यदेवेष्टं तव । नह्यप्राप्तपुरुषार्थः कश्चिदन्येष्टं सम्पादयति । अत उद्धवं प्रत्यपि तास्वेव दीत्यं कर्तव्यं भगवद्गुणवर्णनेन नास्मासु, अनुभूतेर्थे वचनस्य दुर्बलत्वात् । कालपक्षेऽपि ऋतुभिः षडंहिर्भवति संवत्सरः । स हि ऋतुभेदेन कोकिलादिशब्दवैदश्च भगवन्त स्मारयति । ते च शब्दाः भगवत्सहितानां ज्ञानिनां धर्मपराणां



वा, उदासीनानां भक्तानां वा भगवति मिलितानां
सुखदा भवन्ति । नत्वस्मत्सदृशीनां सर्वत्रासक्ति-
रहितानां धर्मिणामेवापेक्षमाणानां कालादिनिर-

पेक्षाणां तैः शब्दैः सुखं भवति । पूर्वावस्थाप्राप्तौ
तु तादृशशब्दानां सुलभत्वात् नेदानीमेव सर्वथा
श्रवणे किञ्चित्प्रयोजनमित्यर्थः ॥१४॥

व्याख्यान्य—इस प्रकार सखी, जो भ्रमर को बोलने का निषेध करती है, इससे उद्धवजी को भी कह रही है कि आपको जो भी आगे बोलना है वह मत बोलिए और काल गत सर्व प्रमाणों का भी निषेध करती है, कारण कि कालगत प्रमाणों के वर्णन से भगवान् में जो धर्म (गुण) हैं वे आते नहीं और दोष मिटा नहीं सकते हैं, अतः काल, भ्रमर और उद्धव को साधारण रीति से निषेध कर दिया और स्पष्ट कर दिया कि आपका कहना व्यर्थ है । हे भ्रमर ! हमारे समीप क्यों गा रहे हो ? यदि तुम कहो कि मैं अन्यत्र जा नहीं सकता हूँ तो वह कहना सरासर झूठ है, क्योंकि दो पाद वाले भी दूर दूर जा सकते हैं तो तुम तो छः पाद धारण करते हो, यदि कहो कि मेरा स्वभाव ही गाने का है अतः सर्वदा गान ही करता रहता हूँ, इस पर कहती है कि इतना बहुत क्यों कह रहे हो ? गाने के लिए अन्य कोई स्थान नहीं है क्या ? जहाँ जाकर गान करो, अन्य स्थान पर गान करने का मन में कभी विचार भी नहीं होता है क्या ? जिससे यहाँ ही बहुत कैसे गान कर रहे हो ? जिसका उत्तर भ्रमर देता है कि कृष्ण आपका स्वामी है, इसलिए आपके समीप गान करता हूँ कारण कि यों करना ही उचित है, इसके उत्तर में कहती है कि कृष्ण तो अब यादवों के अधिपति हैं, हमारे नहीं हैं, अतः यादवों के आगे जाकर गान करना युक्त है । भ्रमर कहता है कि दूसरों के अधिपति नहीं है, भगवान् तो सर्व के ईश्वर हैं, अतः यादवों का होने से दूषित नहीं होते हैं, इसलिये सर्व के उपकार के लिए और अपने स्वार्थ के लिए सर्वत्र ही गान करना योग्य है । यों कहते हो, तो हमारा कहना है कि गायन भी योग्य स्थान और व्यक्ति देख कर करना चाहिए । हमारे में तो योग्यता कुछ नहीं है, क्योंकि हम तो बिना घर वाली हैं । हमारे घर छूट गए हैं । मार्ग में बैठे हैं; न कोई हमारा अपना घर है और न कोई भगवान् का घर है जहाँ हम बैठ सकें, वंसी के आगे गान करने से कौनसा लाभ होगा ? जो गृहस्थ हैं वे ही कुछ दे सकते हैं । तू एक नहीं देगी, दूसरी तो देगी । इसके उत्तर में कहती है कि हम सब एक समान हैं । यदि आप घन आदि से उपकार न करोगी तो चिंता नहीं है, धर्म तो होगा ही । तुमको अपूर्व के दर्शन से सन्तोष होगा तो आप घन आदि न देकर आशीर्वाद तो दोगी; जिससे ही मेरी कृतार्थता हो जावेगी, तब गान का निषेध क्यों करती हो ? जिसके उत्तर में कहती है कि तू जो गाता है वह कोई नवीन नहीं है, वंसा तो भगवान् का गुणगान बहुत बार सुना हुआ है । क्या कह रही है ? भगवान् के गुणगान के श्रवण से तो कोई भी ऊबता नहीं है । तुम गोपियां कैसे उक्तागई हो और विरक्त हुई हो ? तुम्हारा कहना सत्य है, किन्तु हम तो पहले सुन कर इस दशा को प्राप्त हुई हैं, इससे अधिक फल नहीं देखती हैं, यदि फिर सुनेगी तो स्वरूप से भी हाथ धो बैठेंगी; जिससे उसकी अपेक्षा न सुनना ही श्रेष्ठ है । स्वरूप होगा तो कभी न कभी भगवान् मिल जावेंगे । यदि संसार में पतन होने के भय की सम्भावना हो तो वह पुरातन होने से ही सुलभ है । तब ही गान हो अब तो गान का कोई उपयोग नहीं है । यदि कहो कि हम तो गायक ही हैं, भगवान् स्त्री प्रिय^१ हैं । जैसी स्त्रियां रसिक हैं, वैसे पुरुष रसिक नहीं हैं, अतः

१- लाभ व आवश्यकता । २-(१) स्त्रियां ही जिनको प्यारी हैं ।

(२) स्त्रियों को प्यारा-प्रकाश ।

स्त्रियों के आगे गान करना आवश्यक है। इसलिए अन्य कोई गति न होने से हम गान करते हैं। गोपी कहती है कि इसके उत्तर में हमारा कहना है कि भगवान् ने जिन अपनी सखियों को अपने तुल्य बताया है वे स्त्रियां सुखी तथा परमानन्द युक्त हैं। जिन ने अर्जुन की भांति अलक्ष्य मत्स्यादि भी वेध कर इच्छानुकूल लक्ष्मणां आदि से विवाह किया है, उन (भगवान्) की सर्वत्र विविध प्रकार से जीत हुई है। जीत होने पर खूब लूट में अनेक स्त्रियों को ले आते हैं। अर्जुन सखा है उससे भी दी जाती हैं, जैसे सखा अर्जुन वैसे ही आप हैं। अर्जुन सखा है, आप कालरूप हैं, इसलिए सब मारकत्व आप में है, जिनको मारा है उनकी स्त्रियां विलाप करती हैं। तब मित्र बन कर उनका दुःख मिटाते हैं, वे जिनके भर्ता नहीं हैं वे अब भोगनिरपेक्ष अर्थात् उनको भोग की इच्छा नहीं है। जिससे वे अभोगी होने से भगवद्गुणानुवाद रूप कथा को सुनने में अधिकारिणियाँ हैं, हम अधिकारिणीयां नहीं हैं, क्योंकि हमको अब भी भोग की अपेक्षा है।

इस प्रकार कहने का भाव यह है कि गोपी ने भ्रमर को यह प्रकट कर बताया कि वहां गान करोगे तो वे तुम्हें मारेगी। जिस प्रकार कंस की 'अस्ति' 'प्राप्ति' स्त्रियों के पास कोई भगवान् के गुण गान करने बैठे तो वे जैसे मारने लग जाय वैसे अन्य भी। अर्जुन के मित्र के मित्र जो सर्वत्र जप करते हैं उसको ही मानते वा मान देते हैं, अन्य को नहीं देते हैं। हम तो एक भगवान् में ही निष्ठा वाली हैं, इसलिए मन बहलाव के लिए भी यहां गान की आवश्यकता नहीं है। युद्ध करने से जो हस्त कठिन हुए हैं, उन हस्तों से कुचों के मर्दन होने पर जिनकी पीड़ा नाश हुई है तथा भार भी कम हो गया है, जिससे जो सुखी हो के बैठी हैं, प्रसन्न हुई वे गान करने पर जैसी तुम्हारी इच्छा होगी वैसा पारितोषिक तुम्हें दे देंगी, जिसका पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हुआ है वैसे कोई भी दूसरे का इच्छित मनोरथ पूर्ण नहीं करता है। अतः उद्धव को भी उनके पास जा कर भगवद्गुणों का वर्णन कर दूत का कर्तव्य पालन करना चाहिए, न कि हमारे पास करना चाहिए। कारण कि जिसका अनुभव हो गया है उसके लिए कोई भी वचन से, दूसरे प्रकार कहे तो माना नहीं जाता है, क्योंकि अनुभव से वचन दुर्बल होता है। काल के पक्ष में भी संवत्सर भ्रमर है, क्योंकि उसके भी छः ऋतु छः पाद हैं, वह भी ऋतु के भेद से कोयल आदि के शब्दों से और वेदों से भगवान् का स्मरण कराता है। वे शब्द भगवान् से ऐक्य को प्राप्त ज्ञानियों को, धर्म परायण को, उदासियों को अथवा भगवान् से मिले हुए भक्तों को सुख देने वाले हैं, न कि हमारे समान सर्वत्र आसक्ति रहित। केवल धर्मों की ही चाहना वाली, काल आदि से निरपेक्ष दुःखिनियों को उन शब्दों से सुख मिलता है। जब पूर्व की अवस्था प्राप्त होगी, तब ये शब्द सुलभ भी होंगे, उस समय सुनेंगी। इस समय श्रवण से सर्वथा कोई प्रयोजन नहीं है ॥१४॥

+ उद्धवजी को भ्रमर कहा है तो उनके छ पाद कौन से ? जिसके उत्तर में आज्ञा करते हैं कि ५ कर्मेन्द्रियां और १ मन इनको मिलाकर ये छ पाद उपलक्षण विधि से उद्धवजी के कहकर उनको भ्रमर बताया है।

१- कोयल से-मयूर, कौञ्च और हंस आदि भी सयभने-प्रकाश।

श्राभास—प्रार्थनां वारयितुं तस्य भगवतः स्त्रीसौलभ्यमाह दिवोति ।

आभासार्थ — वे तुमको छोड़ गए हैं तो उनको प्रार्थना करो । प्रार्थना करनी व्यर्थ है; क्योंकि उनको स्त्रियों की प्राप्ति सुलभ है, जिसका वर्णन 'दिवि भुवि' श्लोक में करती है ।

श्लोक—दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः

कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः ।

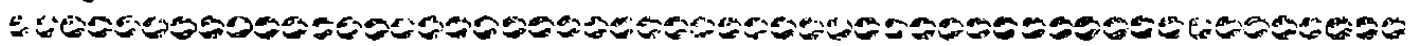
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का

अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥१५॥

श्लोकार्थ—स्वर्ग, पृथ्वी तथा पाताल में वे कौनसी स्त्रियाँ हैं, जो इनको न मिल सके; क्योंकि जिनका सुन्दर हास्य और भ्रू विलास कपट से भरा है अर्थात् छलने वाला है और जिसके चरणों के रज की उपासना लक्ष्मीजी कर रही हैं, तो उनके आगे हम क्या (वस्तु) हैं ? तो भी आप उत्तमश्लोक होने से कृपणों (दीनों) पर दया करते ही हैं; अतः हम पर दया करेंगे, वैसी आशा है ॥१५॥

सुबोधिनी—लोकत्रये याः स्त्रियः तासां भगवान् दुराणः न तु भगवतस्ताः । स्त्रियो हि त्रिविधास्तत्तल्लोके, तास्तु भगवतः सुलभा एव, तत्र हेतुं वक्ष्यति, चकाराद्ब्रह्माण्डाद्बहिः स्थिता अपि । स्त्रीणां हि रमणमपेक्ष्यते । नानाविलासैर्हि रमणं देवस्त्रीणाम्, प्रत्येकनियततया रमणं भूस्त्रीणाम्, विलासतया च रमणं अवचिद्भूस्त्रीणाम्, परं निरोधस्तुल्यः, अतिगुप्ततया रमणं रसास्त्रीणाम् । भगवति तु पूर्वश्लोकैरुक्तप्रकारेण त्रिविधत्वमप्यस्ति । प्राकट्यविलासरूपः प्रथमं निरूपितः । विरुद्धतया द्वितीये । अतिप्रयासेन अतिगुप्ततया सुभद्राहरणवत् विजयसंखित्वेन रमणनिरूपणाद् गुप्ततयापि रमणमुक्तम् । किञ्च । सुतरां स्त्रियः येन धर्मेण वशे भवन्ति स धर्मो भगवति वर्तते इत्याह कपटेति । कपटपूर्वकं यो रुचिरो हासः तेन भ्रूविजृम्भः स्थलादिसर्वसूचनपूर्वक इत्यर्थमाकारणरूपः स यस्य वर्तते, धर्ममेव वा याः स्त्रियो भवेयुः तदधीनास्ताः । यदि न भवत् यथा न प्रकटीभवति तथा गोप्यं विधाय

तथा समर्थः यथैव तासां मनःप्रीतिर्भवति तथा
रमणं कुर्वन् सर्वसामग्रीं सम्पाद्य समाकारयति
चेत्, न कापि लो दुर्लभा भवति । अत एव
क्वचिद् श्लोकः 'स्थानं नास्ति क्षणो नास्ति नास्ति
प्रार्थयिता नरः । तेन नारद नारीणां सतीत्वमुप-
जायत' इति । अत एतावत्यर्थे कृते प्रार्थना
व्यर्था, अकृतेऽपि व्यर्थेति उभयथापि प्रार्थना न
कर्तव्येति भावः । किञ्च । एतदस्माभिर्हृष्टोपाय-
त्वेन निरूपितम् । अलोकिकोपाये तु किमपि न
कर्तव्यमित्याह चरणरज उपास्त इति । सर्वैरेवा-
र्थार्थिभिः सेव्यमाना विभूतिलक्ष्मीः यस्य स्वतः
सामर्थ्याद् वस्तुमाहात्म्याद्वा चरणरज उपास्ते,
अत्यादरेण दासीत्वं प्रार्थयते, तत्रैवंविधेर्धे च
वयं कास्तस्याः कोट्यंशभूताः, तस्मादस्मान् प्रति
न किञ्चिदेतावत्कर्तव्यम् ! किञ्च । एतदप्य-
स्माभिर्विचारेणोच्यते । वस्तुतस्तु भगवति विचा-
रोपि न कर्तव्य इत्याह अपि चेति । उत्तमश्लोक-
शब्दः कृपणपक्षे सति भवति नान्यथा । भगवांश्च
सर्वप्रसिद्धः उत्तमश्लोक इति । वयं च दीनाः,



अस्मत्पक्षपातं करिष्यत्येव, अन्यथा कथमुत्तम-
श्लोकशब्दो भवेत् । युक्तश्चायमर्थः । तस्मात्प्रमा-
णवनेन प्रमेयवलेन लोकप्रसिद्ध्या भगवान् दीना-
नुकम्पीति यथवास्माकं युक्तं तथैव करिष्यति न
दूतोऽपेक्ष्यते, नापि वचनानीति निर्गुणगोपिकाया
वचनम् । तद्भावापन्नाया वा । एवं तामसप्रका-

रेण तमोरजःसत्त्वानि गुणातीतश्च प्रकारो निरू-
पितः । अतः परं राजसप्रकारेण ततोऽग्रे सात्त्विक-
प्रकारेण चोभयत्र त्रैविध्यं निरूपयिष्यति ।
रजस्तमःसत्त्वानां तमोरजःसत्त्वानां च कमः
श्लोकानां ज्ञातव्यः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—तीन लोक में जो भी स्त्रियाँ हैं उनको भगवान् की प्राप्ति तो दुर्लभ है, किन्तु भगवान् उनको मिलें जिसमें कुछ भी कठिनाई नहीं है । तीन लोक में स्त्रियाँ तीन प्रकार की हैं, वे भगवान् को तो सुलभ ही हैं, जिसका कारण कहती हैं । श्लोक में 'च' शब्द आया है जिसका तात्पर्य है कि ब्रह्माण्ड से बाहर भी जो स्त्रियाँ हैं वे भी सुलभ हैं । स्त्रियों को तो रमण की अपेक्षा रहती है । देवों की स्त्रियाँ अनेक प्रकार से विलास पूर्वक रमण करती हैं । पृथ्वी को स्त्रियाँ नियत पुरुष के साथ नियम से रमण करती हैं । पृथ्वी को स्त्रियों में कदाचित् कभी कोई स्त्री विलास से रमण चाहती है, किन्तु उन दोनों में निरोध तो तुल्य ही है, बिलकुल गुप्त रीति से रमण नीचे पानालादि लोकों की स्त्रियों में है । भगवान् में ऊपर कहे हुए श्लोकानुसार त्रैविध्य भी है । प्राकट्य विलास रूप मधुपकितव' श्लोक में कहा है । विरुद्धता से 'सकृदधर सुधां' श्लोक में कहा है, जैसा कि अति प्रयास से तथा अति गुप्त रीति से सुभद्राहरण के समान विजय सखापन से जो रमण कहा है वह गुप्त रूप से रमण का निरूपण है । जिस धर्म से स्त्रियाँ सुतरां वश हो जाती हैं, वह धर्म भगवान् में विद्यमान है । उस धर्म को कहती हैं, जिसका हास कपट वाला है, जिससे तिरछी दृष्टि कर रति के लिए स्थान की सूचना देते हैं, जो स्त्रियाँ धर्म वाली हैं, वे उस धर्म के अधीन हो जाती हैं । रमण प्रसङ्ग प्रकट न होवे, वैसे गुप्त रखने में भी समर्थ हैं, जैसे ही रमण करने वालियों का मन प्रसन्न हो जावे, वैसे रमण करते हुए सर्व प्रकार की सामग्री सिद्ध कर जब बुलाते हैं तब उनको कोई भी स्त्री दुर्लभ नहीं है । अतः एव कही हुई नीति का एक श्लोक है 'स्थानं नास्तिक्षणो नास्तिनास्ति प्रार्थयितानरः तेन नारद नारीणां सतीत्वमुषजायते' अर्थ—एकांत स्थान नहीं है, समय नहीं है, प्रार्थना करने वाला अर्थात् चाहने वाला पुरुष नहीं है, हे नारद ! जब ये तीन नहीं हैं तब स्त्रियों का सतीत्व रह जाता है । यदि ये कर्म हो जावे तो प्रार्थना व्यर्थ है, यदि ये नहीं हो सकते हैं तो प्रार्थना करनी व्यर्थ है, अतः दोनों प्रकार प्रार्थना नहीं करनी चाहिए । इतना जो कहा है वह तो लौकिक दृष्ट उपाय से कहा है । अलौकिक उपाय में तो कुछ भी कर्तव्य नहीं है; जिसका वर्णन 'चरणरज उपास्ते' पङ्क्ति से करती है—जिनको पदार्थ की इच्छा है, वे जिसकी सेवा करते हैं, वह विभूति स्वरूप लक्ष्मी, स्वतः सामर्थ्य सेवा वस्तु के माहात्म्य से चरण रज की सेवा कर रही है, वह अतिशय आदर से दासीपन की प्रार्थना करती है, इस प्रकार के स्वार्थ में उसके (लक्ष्मीजी) कोट्यंशरूप हम कौन हैं ? इस कारण से तुमको हमारे यहां कुछ भी वैसी प्रार्थना न करनी चाहिए, विशेष में कहती हैं कि यह भी जो हम कह रही हैं, वह कहना विचार से है, किन्तु वास्तविक रीति से तो भगवद् विषय में विचार भी नहीं करना चाहिए, जिसको कहती हैं कि भगवान् उत्तमश्लोक हैं । कारण कि वह कृपणों का



पक्षपाती है, जिससे वे दीन सर्वत्र उनका गुण गान करते हैं, इसलिए भगवान् सर्वत्र 'उत्तम श्लोक' नाम से प्रसिद्ध हैं। हम दीन हैं हमारा पक्षपात करेंगे ही, यदि नहीं करेंगे तो उत्तम श्लोक कैसे कह-
लाएंगे ? यह अर्थ योग्य ही है। तब तो भगवान् प्रमाण बल से, प्रमेय बल से और लोक प्रसिद्धि से भी दीनों पर दया करने वाले हैं, अतः जैसा ही हमारे लिए योग्य होगा वैसा करेंगे ही, अतः दूत की कोई अपेक्षा नहीं है, न कोई उनके वचनों की आवश्यकता है। निर्गुण गोपी के वा निर्गुण भाव को प्राप्त गोपी के ये वचन हैं। इस प्रकार तामस के भेद से गोपियों के चार भेद बताए हैं। प्रथम श्लोक में तामस-तामसी, दूसरे में तामस-राजसी, तीसरे में तामस-सात्त्विकी और चौथे में निर्गुण। इसके बाद राजस भेद से वर्णन होगा। पश्चात् सात्त्विक भेद से होगा। दोनों में तीन तीन प्रकार समझने चाहिये। रज, तम, सत्त्व और तम रज सत्त्वों का क्रम श्लोकों से समझने चाहिये ॥१५॥

आभास—ननु नास्माभिर्ज्ञाता भवत्यः क्रुद्धा इति उदासीना इति वा, तथा सति दौत्येन नागच्छेम, अधुना तु समागतैः किञ्चित्कर्तव्यमिति प्रार्थनया भगवता सह सन्धिः कर्तव्य इति साष्टाङ्गप्रणामं भ्रमर उद्धवो वा करोतीत्यभिप्रेत्याह विसृजेति ।

आभासार्थ—हमने नहीं जाना था कि आप इतना क्रोध करोगी, अथवा आप उदासीन हो। यदि यों जानता तो दूत बनकर न आता। अब दूत बन कर आ गया हूँ तो कुछ न कुछ करना ही चाहिये। अतः प्रार्थना से भगवान् के साथ आप को सन्धि करनी चाहिए, यों कह कर यदि भ्रमर अथवा उद्धवजी साष्टाङ्ग प्रणाम करने लगे, तो 'विसृज' इस श्लोक से अपना मन्तव्य उनको बता देती है—

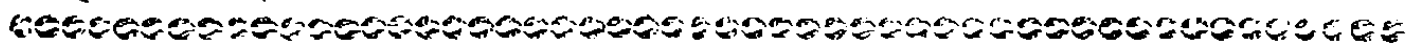
श्लोक—विसृज शिरसि पादं वेदम्यहं चाद्रुकारै-

रनुनयविदुषस्तेऽभ्येत्य दौत्यैर्मुकुन्दात् ।

स्वकृत इह विसृष्टापत्यपत्यन्यलोका

व्यसृजदकृतचेताः किं नु संधेयमस्मिन् ॥१६॥

श्लोकार्थ—मेरे मस्तक पर जो बार-बार पैर लगा रहे हो, वह बन्द कर दो। मैं तुम्हारी सब चतुराई जानती हूँ। मुकुन्द के दूत बन कर दौत्यपना दिखाने के तथा प्रिय वचन कह कर किसी को कैसे फुसलाना वैसे विद्वान् बन कर यहाँ प्राए हो, यह मैं समझ गई हूँ; किन्तु हमने जिस भगवान् के लिए सन्तान, पति और परलोक के सुख की इच्छा छोड़ दी है, ऐसी जो हम उनको बिना विचार किए जिसने छोड़ दिया, व्रमे के साथ सन्धि कैसे करें ? ॥१६॥



सुभोधिनी शिरसि वलात् स्थापित पादं
विसृज त्यज, न ह्येतावता उपपत्त्यभावादस्माभि-
रङ्गीकृतुं शक्यते, अतो वृथैव पादग्रहणनिर्वन्धः।
ननु यथैव भवतीभिर्वक्तव्यं तथैव करिष्याम इति
कथं निषेध इति चेत्तत्राह वेदम्यहमिति । इममर्थं
करिष्यति भगवान् न वेतीममर्थमहं वेत्ति । सन्दि-
ग्धे हि वचनेन बोधनम्, अस्माकं तु त्रिपरीतिनिश्चय
एव । ननु कश्चित्स्वापमानं न करोति अनभिप्रेत्य
कार्यम् । तस्मात् न निराकरणं कर्तव्यमित्याश-
ङ्क्याह चाटुकारैरनुनयविदुष इति । अयं प्रकार-
स्तु त्वयैव स्वकपोलकल्पितो न तु भगवताप्युक्तः।
यतः स मुकुन्दो मोक्षदाता मारयिष्यत्येवेति
भावः । न तु जीवन्तीनामस्माकं सुखं करिष्यति,
ततश्च त्वमागतोऽस्मदभिप्रेतं करिष्यामीति कथं
वदस्यतः स्वामिविरुद्धवाक्यत्वाद्भूतस्त्वं वञ्चक
एव । ननु तदकथने मया कुतः शिक्षितमिति
चेत्तत्राह अनुनयविदुष इति । अनुनयं कर्तुं मत्प-
न्तमभिज्ञस्त्वमतस्ते विद्यां जानामि । न केवलं
वृथानुनय एव किन्तु चाटुकारैः सहितोऽपि । अतः
उत्पत्त्या उपपत्त्या च तव मनो न शुद्धम्, कायेन
वाचा च वञ्चनार्थमनुनयाभिनयं करोषीति
भावः । ननु कथमेवं निषिध्यते अन्तःकरणस्या-

प्रत्यक्षत्वात् कायवाग्भिरेव तदभिज्ञानादतः क्रोध-
वशादेवान्यथा स्फुरति न तत्र समासु दोषोऽस्तीति
चेत्तत्राह स्वकृत इह विसृष्टेति । न हि युक्ति-
वाधितं वेदोपि बोधयति । भगवानीश्वरः वयं
गोपिकाः, यावत्कर्तव्यमस्माभिः तावत्कृतम्, स
सर्वसमर्थोऽपि न किञ्चित्कृतवान् । एवमर्थे पूर्व-
जाते पुनरधुना किं वर्तव्यं तदाहुः, स्वकृत इदंैव
विसृष्टा. अपत्यानि पतिश्च अन्ये च लोकाः स्वर्गा-
दयोऽपि भर्त्राद्या ज्ञातिक्रमात् त्यक्ता याभिः ।
लोको हि दूरे गत्वा परित्यजति न तु तत्रैव
त्यक्तुं शक्तः । त्यागोऽपि भगवदर्थ एव । अत्यागे
भगवानस्मान् न ग्रहीष्यति परसम्बन्धात् । तादृ-
शीश्च व्यसृजत् । ननु लोको हि कार्यार्थं गच्छति,
सर्वत्रैव विलम्बश्च भवति, नैतावता त्यागो
भवतीति चेत्तत्राह अकृतचेता इति । न कृतं
चित्तं येन, यो हि गच्छति सोऽन्तःकरणे तानत्य-
क्त्वैव गच्छति, तास्वन्तःकरणं कृत्वैव गच्छति,
भगवांस्तु तद्विपरीतः, अत एतादृशे भगवति किं
सन्धेयम् : नु इति वितर्कः । येन सन्धितो भवति
तं हेतुं न पश्यामीति । बहिःस्थिता अस्माभिरेव
त्यक्ता अस्मदीया, अन्तः स्थिताश्च तेनैव
त्यक्ताः ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—मेरे शिर पर जवर्दस्ती से जो पैर रखा है वह उठालो । यों करने में किसी प्रकार की उपरति नहीं है अतः आपका कहना नहीं मान सकती हूँ, अतः शिर पर पैर धरने का वृथा ही आग्रह है । यदि आप कहो कि जैसे तुम कहोगी वैसे ही हम करेंगे, तो फिर निषेध क्यों करती हो । इसके उत्तर में कहती हूँ कि भगवान् इस कार्य को करेंगे, वा नहीं करेंगे, यह सब हम जानती हूँ । जिस विषय में संशय होता है उसका निराकरण वचनों से कराया जाता है । हमको तो निश्चय हो गया है कि भगवान् हमारे विचारों से विपरीत ही करेंगे । कोई भी मनुष्य स्वामि का कार्य अभिप्रेत न हो और उसको कराने के लिए जावे तो उसका अवश्य अग्रमान होगा । इस बात को आपने समझा नहीं और दूत बन कर चले आए ! इस पर यदि आप कहो कि यों नहीं है हमको तो स्वामि का कार्य अभिप्रेत (समझ में आया) है और तब आए हैं, अतः हमारा निराकरण न करो; सारांश-हमारी प्रार्थना स्वीकार करके भगवान् से सन्धि करो । इस पर कहती हूँ कि इस प्रकार चतुराईसे मधुरमधुर वचनों से फुसलाने में आप विद्वान् जो कुछ हमें कह रहे हैं, वह आपकी कपोल कल्पित कहानी है । यों भगवान् ने आपको नहीं कहा है, क्योंकि वे मुकुन्द हैं मारेंगे ही, जीतेजी हमको सुख नहीं देंगे । तुम यह कैसे कहते हो कि तुम्हारा अभिप्रेत करूंगा, यह तुम्हारा कहना स्वामि के विरुद्ध है; अतः तुम वञ्चक ही हो । यदि तुम कहो कि मुझे तो उनने कुछ

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ११६ ॥

नहीं कहा तो फिर मैंने कहाँ से और कैसे सोखा ? इसके उत्तर में गोपी कहती है कि तुम दूसरे को मीठे मीठे वचन कहकर फुसलाके अपनी बात मनाने में प्रवीण हो । अतः उत्पत्ति से तथा उपपत्ति से तुम्हारा मन शुद्ध नहीं है । अर्थात् तुम काया से और वाणी से फुसलाने के लिए नम्रता का नाटक खेलते हो यह तुम्हारी विद्या मैं जानती हूँ ।

इस प्रकार क्यों दोषी बनाती हो ? अन्तःकरण में क्या है ? यह तो कोई न देख सकता है, न समझ सकता है, क्योंकि अन्तःकरण प्रत्यक्ष नहीं है । काया तथा वाणी की चेष्टा से ही उसका ज्ञान होता है, अतः क्रोध वश होने से आपको जो विपरीत ज्ञान हुआ है, जिससे मेरे में आपकी दोष बुद्धि उत्पन्न हुई है, न कि मेरे में दोष है । इसके उत्तर में गोपी कहती है कि युक्ति से जिसका बाध है, उसका ज्ञान वेद भी करा सकता है 'घट' को 'पट' कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता है और कोई यों मानता भी नहीं, ब्रह्म में सर्व भाव होने से, ब्रह्मभाव, मनुभाव में आ सकता है, किन्तु मनुभाव, ब्रह्म भाव में नहीं आ सकता है । इन दो दृष्टान्तों से लेखकार ने ब्रह्म और जीव की शक्ति का रहस्य स्पष्ट किया है । भगवान् ईश्वर है, हम गोपियाँ सर्व समर्थ नहीं हैं । जो हमारा कर्तव्य था वह हमने किया । सर्व समर्थ होते हुए भी उन्होंने कुछ नहीं किया, इस प्रकार पहले जो होना था करना था वह किया, फिर अब क्या करना है ? सो कहिए । हमने उनके लिए सन्मान छोड़े, पति छोड़े और भर्ता आदि पूज्यों की आज्ञा का उल्लङ्घन करने से स्वर्गादि लोकों की प्राप्ति छोड़ दी । अन्य लोग तो जब दूसरा आश्रम 'सन्यास' ग्रहण करते हैं, तब छोड़ते हैं, गृहस्थ में रहकर नहीं छोड़ सकते हैं । हमने गृहस्थ होते हुए छोड़ दिया; यह सब भगवान् के लिए ही किया है; क्योंकि हमने समझा कि यदि इनका त्याग हम नहीं करेंगी तो भगवान् हमको स्वीकार नहीं करेंगे तथा कहेंगे कि तुम्हारा दूसरों से सम्बन्ध है, अतः हमने सर्व प्रकार से भगवान् के सिवाय अन्य सर्व से सम्बन्ध छोड़ दिया है । इतना करने पर, भगवान् हमारा त्याग करके मथुरा चले गए । यदि आप कहो कि मनुष्य कार्य के लिए बाहर जाते हैं, वहाँ कार्य वश विलम्ब भी हो जाता है, इसको त्याग नहीं कहा जाता है । जिसके उत्तर में कहती है कि कदाचित् कोई बाहर जाता है तो वह अपने मन से सम्बन्धियों का त्याग नहीं करता है । मन में उनको याद करता है, किन्तु भगवान् तो हमको मन से भी भुला कर चले गए हैं । जो इस प्रकार गए हैं, उनसे सन्धि कैसे की जा सकती है ? जिस से सन्धि हो सके वह कोई कारण दीखता ही नहीं है । हमने तो जो बाहर, पुत्र और पति आदि हमारे थे, उनको छोड़ा, किन्तु भगवान् तो हम जो निराश्रय से भगवान् के हृदय में थीं, उनका एवं अन्तःस्थ स्नेह और भावों को हृदय से बाहर फेंक कर चले गए, जिससे हम दोनों तरफ से भ्रष्ट हो गई हैं ॥१६॥

आभास—नन्वेकमस्ति सन्धेय सध्यमिति । पूर्वं हि प्रपन्ना अपि भवत्यः भगवता व्यक्ताः, अधुना प्रार्थनया तं दोष परिहृत्य तेन सह मुख्यं कर्तव्यमिति चेत्तत्राहुः मृगयुरिति ।

आभासार्थ—सन्धि करने का एक ही उपाय मित्रता है । पहले शरण गई हुई आपको भगवान् ने त्याग दिया, जिसका कारण आप से कोई दोष हुआ होगा, अतः उस दोष को प्रार्थना से मिटा लो, फिर उनसे मित्रता कर लो, यदि उद्धव यों कहे तो, उसका उत्तर 'मृगयुरिव' श्लोक में देती है ।

श्लोक—मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा

स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम् ।

बलिमपि बलिमत्त्वाऽवेष्टयद् ध्वाङ्क्षवद्य-

स्तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः ॥१७॥

श्लोकार्थ—जिसने रामावतार में व्याध की भाँति वानरराज बाली को बंधा था; स्त्रीजित होते हुए भी कामना कर प्राई हुई शूर्पणखा का नाक काट कर उसको कुरूप बनाया था, वामन अवतार में बलि राजा से सर्वस्व लेकर उसको काक के समान बाँध लिया था, अतः उस काले की मित्रता से हम अघा गई हैं; तो भी उसके कथा रूप अमृतार्थ को छोड़ नहीं सकती हैं ॥१७॥

सुबोधिनी—'न वै स्त्रैणानि सख्यानी'ति वयं सख्येऽनधिकृता एव, ईश्वरोपि सख्ये नाधिकृतः 'राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वे'ति । सुतरां भगवता सह सख्यं न भवति स्थलत्रयेऽनिष्टदर्शनात् । आर्षज्ञानेन भगवत्स्वरूपं ज्ञात्वा स्वस्मात् पूर्वाविस्थां भावयन्ति । तत्र भगवान् रामः पूर्वतनः तेन सह सख्यं पुरुषेण स्त्रिया च कृतम्, तयोर्मरणं जीवन्मृतत्वं च जातमिति । सुग्रीवेण सहाग्नि-साक्षिकं मंत्री कृता, तस्यैव भ्राता बाली भगवता हतः, तद्भ्रात्रा सह सख्ये तेनापि सह सख्यं कृतमेव, कपीनां च स इन्द्रः; अनेन कार्यार्थतापि, निवारिता । तेन ततोपि अधिक कार्यं भवतीति । न हि कश्चित्कपिभिः सह सख्यं करोति । अनेन सख्यशास्त्रानभिज्ञता च सूचिता । तत्रापि सर्वसमर्थः युद्धेन न हतवान्, किन्तु हरिणान्तरं योजयित्वा यथाऽऽरण्यं हरिणं मारयति लुब्धकः, तद्वत्सुग्रीवं योजयित्वा तेन सह युद्धमानमविध्यत् । ननु हरिणादयः सर्वत्रैवमेव हन्यन्ते, को दोष, इति चेत्तत्राह अनुब्धधर्मोति । लुब्धकस्येव नास्मिन्

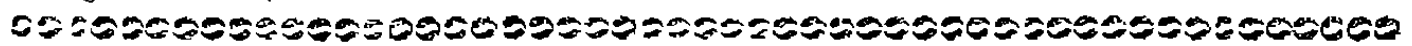
धर्मः, तन्मांसस्याभक्ष्यत्वाद् ईश्वरत्वेन तदपकाराभावाच्च । किञ्च । स्त्रियं शूर्पणखां काममोहितां सर्वथा सम्माननीयां विरूपां छिन्ननासिकामकृत । ननु युक्तमेवोद्ध्वरेतसः स्त्र्यतिक्रमे तथात्वमिति चेत्तत्राह स्त्रीजित इति । सीतया वशीकृतः, अन्यथा तदुक्तं न कुर्यात् । सापि न प्रतिबन्धिका ताटकेव, किन्तु कामयाना, काम एव यानं यस्या इति वा । तत्र दूषणद्वयं दृष्ट्वा ततोपि पूर्वजन्मनि दोषं विचारयन्ती परशुरामे अलभमाना वामने दृष्ट्वा तदाह बलिमपीति । बलिहृत्यन्त बलिरूप एव पूजात्मकः, अतः श्रद्धया तथापूजां कृतवान् । ब्राह्मणक्षत्रिययोः तुल्यता सख्यं च भवति, तथाप्यन्योन्यकार्यसाधकयोः । व्याजेन लोकत्रयग्रहणं न दोषाय, यथाकथञ्चित् स्वकीयं ग्राह्यमेवेति, किन्त्वन्यदस्तीति पूर्वमनुवदति । बलिमत्त्वा जग्ध्वा । नात्र घात्वादेशः बहुल छन्दसीत्यग्रे वक्ष्यमाणत्वात् । आवेष्टयद् गर्तविशेषे बद्ध्वा स्थापितवान् । ध्वाङ्क्षवद् द्वितीयार्थं वतिः । अयुक्तो हि काकः पायसादिभक्षण इति तथा

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १७ ॥

कृतवन्तं धृष्टं वधनाति प्रभुः । तथा कपिरपि
इन्द्रवद्व्यवहियमाणो हन्तव्यः, मृगत्वाद् व्याजे-
नैव मारणीयः, ब्रह्मणा तथैव तेषां मृत्युनिर्मित
इति । मत्स्यानां तु बुद्धयैव । स्त्रीजित इत्यनेनैव
स्त्रियैव स्त्री विकृता न तु भगवता, अत एव ताः
सजातोयातिक्रमं न कुर्वन्ति, तथा वयमपि न
करिष्यामः । कृते त्वनिष्ठं स्वधर्मत्यागादेव, तथा
हीना वयं नोत्तमभाव प्राप्स्यामः, 'अयोग्यमिच्छन्
पुंषः पतत्येव न सशय' इति वाक्यात्, मर्यादो-
ल्लङ्घने तद्रक्षकैर्दण्ड्यत इत्यविवादम् । स्त्रियो जिता
ग्रनेनेति । न हि रामः स्त्रीवश्यः । जितानां वशी-
कृतानां च हितं कर्तव्यमिति । तथा नगरे अस्म-
दनुपभोग्यो भगवान् यथा बलेस्तन्मन्वन्तरकालः ।
अतो हीनत्वात् स्वायोग्यं स्त्रीत्वात् स्र्यतित्रक्रम-
मन्यावसरत्वाच्च कालमर्यादोल्लङ्घनं च न कर्तव्य-
मिति प्रार्थनया सख्यं न कारणीयम् । तदाह
तद्वलमिति । तत्तस्मादसितसख्यैरशुद्धसख्यैरलम् ।
कण्टसख्यानि न कर्तव्यानि, यतो विपरीत-
फलानि । तामसभावाद्वा कृष्णवर्णपरोऽसित-
शब्दः । ननु सर्वं परित्यज्य भगवदवलम्बनं कृत्वा
भगवन्तमपि परित्यज्य क्व यास्यथेत्याशङ्क्याह
दुस्त्यज इति । तस्य कथारूपोऽर्थो दुस्त्यजः,
कथामवलम्ब्य तिष्ठामः, सोपि त्यक्तव्य इत्यस्ति

मनः प्राणवाधात् । तथापि त्यक्तुमेवाशक्य इति
दुस्त्यजः । सापि भगवानिव चेत्स्वयं त्यक्ष्यति
तदा त्यजतु नाम, नत्वस्माभिस्त्यक्तुं शक्येत्यर्थ-
पदम् । कालेनापि भगवद्वर्मा बोध्यन्ते श्रवणा-
दयो धर्मत्वेन, तत्रापि सख्यमात्मनिवेदनं च
बोध्यते, यथा 'सुपर्णावितो, ब्रह्मं व सन् ब्रह्मा-
प्येती'ति वेदा यज्ञाश्च न कालाःमका इति शिर
उपनिषदो भवन्त्येव, तत्र भगवन्निरूपणं न कर्त-
व्यमिति पुष्टिश्रुतीनामभिप्रायः इतरथान्यथा-
सिद्धिः स्यात् । ननु भक्तिमार्गं इव तत्रापि भग-
वदुत्कर्षः प्रतिपाद्यत इति कथं निषेध इत्याश-
ङ्क्याह वेद्म्यहमिति । स हि भवदभिमत पर-
मात्मा मोक्षप्रद एव, तस्य दूतेनात्यन्तनिपुणेनापि
मोक्ष एव फलति, प्ररोचनार्थमेव भक्तिमिव प्रेमेव
वदति । 'न वारे पुत्राणां कामाये'त्यादिभिः,
'यमेवैष वृणुत' इति च । किञ्च, शास्त्राणां सर्व-
परित्याजनपरत्वम्, यथा 'आत्मकाम सर्वं परि-
त्यजेत्' । तादृशविरक्तस्यापि नित्यमात्मानुसन्धा-
नयुक्तस्य यदि नात्मस्कृतिः किं तस्योपनिषदा
गुरुभिर्वा भविष्यति, तस्मात् सख्यादिकमनभि-
प्रतमेव, तथापि वैदिकत्वेन भाव्यमन्यथा पाष-
ण्डित्वं स्यात् । एवं सर्वत्र योजनीयम् ॥१७॥

व्याख्यानार्थ—'न वै स्त्रेणानि सख्यानि' इस श्रुति के प्रतीक के अनुसार स्त्रियाँ मित्रता करने की अधिकारिणी नहीं हैं, वैसे ही ईश्वर से भी मित्रता नहीं करनी चाहिए । जैसे कि कहा है 'राजा-मित्र' केन दृष्ट श्रुतं वा' किसी ने राजा को मित्र देखा वा सुना है ? विशेष में, भगवान् के साथ तो मित्रता हो नहीं सकती है, क्योंकि तीन स्थानों में उसका परिणाम अनिष्ट ही देखा गया है । गोपियाँ आर्ष ज्ञान से भगवान् के स्वरूप को जान कर आप ही भगवान् की पूर्व अवस्था की भावना करती हुई कहती हैं कि रामावतार में पुरुष तथा स्त्री से मित्रता की, उन दोनों में से एक मरा और दूसरा जीते हुए भी मृत के समान हो गया । सुग्रीव के साथ अग्नि को साक्षी कर मित्रता की उसके हो आता बाली को मारा । आता के साथ मित्रता की तो उसके भाई के साथ भी मित्रता हो गई और वह वानरों का राजा था, किस कार्य के कारण उसको मारा यह भी सिद्ध नहीं होता है । यदि



वह जीवित होता तो सुग्रीव से अधिक कार्य कर सकता था; क्योंकि वह वानरों का राजा था, वानरों के साथ कोई भी मंत्री नहीं करता है, किन्तु भगवान् ने की है। जिससे जाना जाता है कि भगवान् को मध्य शास्त्र का ज्ञान नहीं है। आप सर्व प्रकार शक्तिमान् होते हुए भी उसको युद्ध की नीति से नहीं मारा, किन्तु जैसे व्याध जंगली हरिण को दूसरा हरिण आगे रख कर मारता है, वैसे ही सुग्रीव को आगेवान बना कर आपने बाली को मारा है, यदि कहो कि इसमें क्या दोष? हरिणादि तो इस प्रकार ही मारे जाते हैं, इसके उत्तर में कहती हैं कि भगवान् में व्याध जैसा धर्म नहीं है। व्याध तो मांस खाने के लिए या करता है। भगवान् को तो उसका मांस अशुभ था; क्योंकि वानर जाति अशुभ है और आप ईश्वर सर्व समर्थ हैं, अतः वह आपका कुछ भी अपकार भी नहीं कर सकता था, यो होने हुए भी उसको मारा।

और विशेष-काम से मोहित होकर अपने शरण में आई हुई शूर्पणखा स्त्री को, जो सर्वथा मान देने योग्य थी, जिसका नाक काटकर, उसको कुरूप कर दी यदि कहो कि जो ऊर्ध्वरेता हैं, उनके पास स्त्री इस इच्छा से जावे कि उनका ब्रह्मचर्य नष्ट करूं, तो वंसी स्त्री के साथ इस प्रकार (का) व्यवहार करना योग्य ही है। इसके उत्तर में कहती है कि यदि वंसे होते तो यों करना योग्य था, किन्तु आप तो स्त्री के अधीन हैं अर्थात् सीता के वश में हैं। यदि उसके वश न होते तो उसका कहा मान कर सुदर्शन के कल्पित हरिण के पीछे नहीं जाते। यह शूर्पणखा ताड़का की तरह प्रतिबन्ध करने वाली नहीं थी, किन्तु काम की वाहन कर केवल अपने मनार्थ पूर्ति के लिए आई थीं। यों दो दूषण देखकर, उससे भी पूर्व जन्म में दोष का विचार करने लगी। परशुराम स्वरूप में दोष न देखा, किन्तु वामन स्वरूप में देखा, जिसको कहती है। बलि राजा अत्यन्त दानी होने से पूजा के योग्य था, अतः श्रद्धा से उसने वंसी ही पूजा की है। ब्रह्माण तथा क्षत्रिय की सृष्टि के आरम्भ में तुल्यता होने से उनकी मित्रता है, तो भी प्रत्येक अपना अपना कार्य सिद्ध करता है अतः किसी मिष से बलि से तीन लोक ले लिए, जिसमें कोई दोष नहीं है, क्योंकि कंसे भी अपना लेना ही चाहिये, किन्तु उससे विशेष जो लिया और किया उसको कहती है। बलि से पूजा ग्रहण कर उसको आत्मा तक भगवन् निवेदन कराके फिर उसको काकवत् बांध कर गत विशेष में रखा। जैसे काक को क्षीर आदि में चोंच डालते देख ले, तो मालिक उसको बाँधलेता है वैसे ही कपि इन्द्रका अनुकरण करे, तो वह मारने योग्य है। पशु होने से किसी मिष द्वारा मारा जाता है। ब्रह्माजी ने उनकी मृत्यु इस प्रकार ही लिखी है, मत्स्य की मृत्यु बुद्धि+से ही हो सकती है, 'स्त्री जित' इससे यह दिखाया है कि स्त्री में ही स्त्री कुरूप की गई है, भगवान् ने नहीं की है। इस कारण से ही जैसे वे अपनी जाति का अतिक्रम नहीं करता है, वैसे हम भी नहीं करेंगी। यदि करें तो स्वधर्म के त्याग से अनिष्ट होगा, वंसी हीन हो जावे तो उत्तम भाव को प्राप्त नहीं हो सकेंगी। 'अयोग्य मिच्छन् पुरुषः पतत्येव न सशयः' इस वाक्यानुसार यदि पुरुष हीन का इच्छा करता है तो पतित होता है, जो मर्यादा का उल्लङ्घन करते हैं उनको रक्षा करने वाले अधिकारी दण्ड देते हैं। जिसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है। 'स्त्रीजित' पद का समास इस प्रकार 'स्त्रियः जिता अनेन' करना चाहिए, जिसका अर्थ होगा इसने स्त्रियों को जीता है, अतः राम स्त्री के वश नहीं है। जो जीते वा स्त्रियों को वश करे, उनका हिन करना चाहिए जैसे बाल अपने



ही मन्वन्तर में इन्द्र हो स्वर्ग का भोग कर सकता है, दूसरे मन्वन्तर में नहीं। वैसे ही हम भी नगर में भगवान् का भोग नहीं कर सकती हैं। हीन से तथा स्त्रीत्व से मैत्री करनी योग्य नहीं है और स्त्री हो कर स्त्री का अति क्रम करे, वह योग्य नहीं है तथा अन्य का अब अवसर है, अतः काल और मर्यादा का उल्लङ्घन नहीं करना चाहिए। इससे तुम्हारे कहने के अनुसार प्रार्थना कर सख्यत्व करना योग्य नहीं है। विशेष में कहती हैं कि काले की मैत्री करने से हम अधा गई हैं। अर्थात् उनकी मैत्री से हम बच कर रहें, उसी में अच्छा है।

कपट से सख्यत्व नहीं करना चाहिए, क्योंकि जिसका फल विपरीत होता है, अथवा यहां कृष्ण वर्ण को असित शब्द तामस भाव से कहा है। आपने सब छोड़ कर भगवान् का आश्रय लिया है, अब उनको छोड़ोगी तो किसका आश्रय करोगी? जिसके उत्तर में कहती हैं कि 'दुस्त्यजः' उसका कथा रूप अर्थ छोड़ा नहीं जाता है, जिसका आश्रय कर रहूंगी, मन तो कहता है कि उसको भी छोड़ दो, किन्तु उसके त्याग से प्राण बाधा होती है, अतः वह दुस्त्यज है। वह कथा भी यदि भगवान् की भांति स्वतः छोड़ देगी तो छोड़ने दो, हम तो छोड़ नहीं सकती हैं। यह इतरथा शब्द कहने का भाव है कि काल से भी श्रवण आदि भगवद्धर्म का बोध कराया है, वहां सख्य और आत्मनिवेदन का भी बोध कराया जाता है। जैसे 'सुपणवितौ', बहवै सन् ब्रह्माप्येति' वेद और यज्ञ कालात्मक^३ नहीं है, इसलिए उपनिषद्भाग काल शिरोरूप है। वहां भगवान् का निरूपण नहीं करना चाहिए, यह पुष्टि श्रुतियों का आशय है। यदि यों नहीं कहा जायगा तो वह विषय अन्य प्रकार से सिद्ध होगा+।

भक्ति मार्ग की तरह वहां भी भगवान् का उत्कर्ष प्रतिपादित किया गया है तो फिर निषेध क्यों करते हो? इस शङ्का के उत्तर में कहती हैं कि मैं जानती हूं, आपको जो परमात्मा इच्छित है, वह मोक्ष देने वाला ही है, उसके अत्यन्त निपुण दूत से भी मोक्ष ही मिलेगा। प्रसन्न करने के लिए ही भक्ति तथा प्रेम की भांति कहता है।

'न वा अरे पुत्राणां कामाय' 'यमेवैष वृणुते' इन श्रुतियों में सख्य और आत्म निवेदन की भांति कहा है, किन्तु शास्त्र तो सर्व त्याग का उपदेश देते हैं। जैसे 'आत्मकामः सर्वं परित्यजेत्' जिसको आत्मा की कामना है, वह सब का त्याग करे; वैसे विरक्त तथा नित्य आत्मानुसंधान करने वाले को भी यदि आत्मा की स्फूर्ति न होवे तो, उसको गुरु अथवा उपनिषद् से क्या लाभ होगा?

+इतरथा-भक्ति फल देने के कारण से उनका मोक्ष के प्रति अकारणत्व होगा-प्रकाश'-

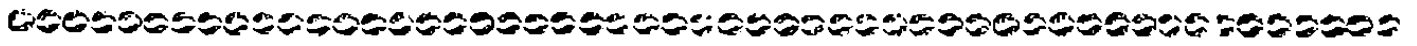
इतरथा-उपनिषद् से ही कार्य की सिद्धि हो जावे तो भगवान् के अवतार का प्रयोजन न रहे-
'लेख'

१- शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध है अतः कथा ही अर्थ है-'प्रकाश'

२- 'सख्य' आगे दिखाया है-'प्रकाश'

३- दूत रूप से जो काल कहा है उसके रूप, यज्ञ और वेद नहीं है।

पूर्वकाण्ड प्रवृत्ति रूप होने से साक्षात् भगवत्प्राप्ति कराने वाला नहीं है-'प्रकाश'



इस कारण से सख्यादिक ज्ञान मार्ग में अभिप्रेत ही नहीं है, तो भी वैदिक तो होगा^१ ही नहीं, तो पाखण्डी गिने जावेंगे, अतः वेद प्रमाण सर्वत्र विषय में लेना चाहिए ॥१७॥

आभास—ननु तर्हि कथामेव कुर्वन्तु, किमिति भगवतो दोषा उच्यन्ते, न हि भगवद्गुणतत्परा भगवद्दोषान् कथयन्ति । न वा तेषामन्यथा स्फुरतीति चेत्तत्राह यदनुचरितेति ।

आभासार्थ—तब तो कथा ही करो, भगवान् के दोषों का वर्णन क्यों करती हो ? जो भगवान् के गुणों में परायण हैं, वे उनके दोष नहीं कहेंगे हैं । उनके तो गुणों की सिवाय दूसरी कोई स्फूर्ति ही नहीं होती है । यदि यों कहते हो तो इस पर मेरा यह उत्तर है, जिसका 'यदनुचरित' श्लोक में वर्णन करती है ।

श्लोक—यदनुचरितलीलाकर्णपोयूषविप्रट्-

सकृददनविघ्नतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।

सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना

बहव इह विहङ्गा मिक्षुचर्या चरन्ति ॥१८॥

श्लोकार्थ—जिन्होंने व्यास द्वारा भागवत में वर्णन की हुई भगवल्लीला रूप अमृत के एक कण का एक बार भी स्वाद लिया है, वे रागद्वेष का तथा दीन कुटुम्ब का त्याग कर स्वयं दीन होकर पक्षी की भाँति (हँस-परमहँस बन) भीख^२ माँगते फिरते हैं ॥१८॥

सुबोधिनी—यथा भगवान् तथैव तत्कथापि, ततोप्यधिकापि । वयं हि स्त्रियः नात्यन्तं विवेक-वत्यः भगवता बहुकालं स्थित्वा कथञ्चिद्व्यामो-हिताः, तत्रापि न भिक्षां प्रार्थयामः, नापि भ्रान्ता इव जातिभ्रष्टा जाताः, नापि त्यक्तस्थानाः, कथा त्वत्पीयस्यपि महान्तमनर्थं सम्पादयति । तदाह यस्य भगवतः अनुचरितम्, भगवता तु पूर्वं चरितं,

तत्पुनः व्यासादिभिरुपनिबद्धमनुचरितं जातम् । अनेन शब्दव्यवहितमपि तथा कार्यं सम्पादयती-त्युक्तम् । यथा निदाघे वस्त्रादिव्यवहितोपि भानुः सन्तापयत्येव । तत्रापि ग्रहणसौकर्यार्थमाह लीलेति । दुर्जरत्वं ज्ञात्वा अभक्ष्यन्नपि रसव्या-मोहितो भक्षयति । तत्रापि न प्रयत्नसाध्यता कापीत्याह कर्णपोयूषेति । निमीलिताक्षेणापि

१- भक्ति मार्ग में भी 'यमेवैष वृणुते' और 'आत्मा वा अरे' इत्यादि श्रुतियां प्रमाण में ग्रहण की गई हैं ।

२- सन्यासी होकर मधुकरी से निर्वह करते हैं ।



कर्णामृतं पातुं शक्यम् बहुपाने तु को वेद किं वा भवेत्, किन्तु तस्यामृतस्य विप्रुट् बिन्दुमात्रम्, तस्यापि सकृददर्शनं सादरं मनसा ग्रहणं, तेनैव विधूता द्वन्द्वधर्मा रागादयो येषाम्, यैर्वद्वस्तिष्ठति, अतस्तदभावाद् विनष्टा भवन्ति । एतद् अदर्शने, यथा सर्वप्रतीत्या अगृहीता भवन्ति तथा गच्छन्तीत्यर्थः । लौकिकवैदिकमार्गादपि पुष्टिमार्ग एवाभिनिवेशात् । अन्याः पुरोधेनापि तेषां स्थितिं निवारयति सपद्येति । ज्ञानिनोपि विरक्ताः, कर्मिणोपि स्वार्थमपेक्षाभावेऽपि परार्थमपेक्षन्ते । एतेषां तदपि नास्ति । यतः सपद्येव गृहस्थितमपि कुटुम्ब गृहं कुटुम्ब वा दीनमप्युत्सृज्य त्यक्त्वा स्वयमपि दीनाः सन्तः बहव एव विहङ्गा जाताः, इहास्मिन् जन्मन्येव हंसाः परमहंसा वा । विह-

ङ्गपदं साधारणप्रतिपादनार्थम् । इतो गताः काका गुध्रा हंसा वा भवन्तु परं गच्छन्त्येवेति ज्ञापनार्थम् । तेषां तु आकाशगतिरिव सर्वविलक्षणा भवतीति । ननु तादृशाः कथमुपलभ्यन्ते तत्राह भिक्षुचर्या चरन्तीति । भिक्षुश्चतुर्थाश्रमवान्, तस्य चर्यामाचारं गृह्णन्ति । तदनधिकारिणोपि तत्फलानभिलाषिणोपि तन्मार्गरहिता अपि तदाचारं गृह्णन्तीत्यर्थः । एवं स्वधर्मं परित्यज्य परधर्मं ग्राहयति दुःखितांश्च करोति तान् तः सम्बन्धिनश्च । स्वसुखमपि बहु नानुभावयति, अतः कथापि त्यक्तव्यैव । परमशक्यत्वान्न त्यज्यत इति भावः । पुष्टिमार्गश्रुतीनामपि भगवन्मर्यादाश्रुतयोपि नात्यन्तां द्रव्याः किन्तु ग्राह्या एव, परं नाभिप्रेता इति ॥१८॥

व्याख्यानार्थ—जैसे भगवान् हैं, वैसी भगवान् की कथा नहीं है, किन्तु उनसे भी बढ़कर अनर्थ करने वाली है, जिसकी अधिकता सिद्ध करने के लिए कहती है कि हम स्त्रियां हैं, विशेष विवेक रहित हैं । भगवान् यहां बहुत काल रहे, जिससे हमको मोहित कर लिया । यों होते हुए भी हम भिक्षा नहीं मांगती हैं । भ्रान्त की भांति जाति से भी भ्रष्ट नहीं हुई हैं और न अपना स्थान छोड़ा है । कथा तो थोड़ी भी सुनी जाती है तो महान् अनर्थ कर देती है । जिसका वर्णन करती हैं—जिस भगवान् की लीला, जो प्रथम भगवान् ने चरित किया, जिसको व्यासजी ने गाया तब वह अनुचरित हुआ । इससे यह कहा कि यद्यपि इसमें शब्द रूप परदा है तो भी वैसा कार्य करता है । जैसे ग्रीष्म ऋतु में सूर्य वस्त्र आदि का परदा होते हुए भी तपाता ही है, किन्तु यहां उस अनुचरित को सरलतया ग्रहण किया जा सके, तदर्थ उसको 'लीला' कहा है । कोई भी स्वादिष्ट पदार्थ सामने आता है तो समझा जाता है कि यह गरिष्ठ है, कठिनाई से पचेगा फिर भी लोक रस से मोहित होकर लेते हैं । फिर यहां तो इस लीला रस पान में कुछ प्रयत्न करना ही नहीं पड़ता है । कारण कि यह अमृत कर्ण से पान किया जाता है; अतः आंस बन्द होते हुए भी लिया जा सकता है । वैसे अमृत का यदि विशेष पान किया जाय तो न जाने उससे क्या हो जावे ? जब कि अमृत की एक बिन्दु मात्र भी एक बार आदर पूर्वक लेने से सर्व रागादि नष्ट हो जाते हैं, जिनके कारण लोक बन्धन में पड़ा है, राग द्वेष के अभाव होते हुए ही वह बन्धन भी नष्ट हो जाता है । 'नश्' धातु का अर्थ है प्रतीति का अभाव, अर्थात् कथामृत के कर्ण पान से रागादि यों चले जाते हैं जैसे उनकी पुनः प्रतीति ही नहीं होती है । लौकिक वैदिक मार्ग से भी उनका पुष्टिमार्गीय धर्मों में आग्रह हो जाता है । दूसरों के समझाने पर भी इन धर्मों का त्याग नहीं करते हैं और न फिर लौकिक वैदिक में स्थिति करते हैं । ज्ञानी विरक्त होते हैं और कर्ममार्गी अपने स्वार्थ की अपेक्षा न होते हुए भी अन्य के लिए अपेक्षा रखते हैं, किन्तु इन पुष्टिमार्गन्यायियों में दोनों नहीं है । जिससे वे उसी क्षण दीन कुटुम्ब और



गृह को छोड़कर स्वयं भी दीन बन, बहुत से इस जन्म में ही हंस वा परमहंस हो गए हैं। यहां विहङ्ग पक्ष साधारण पक्षों के लिए दिया है। यहां से इन गृहस्थ आश्रम से गए फिर काक, गीध वा हंस होवे, किन्तु घर त्याग जाते ही हैं, यह जनाने के लिए यों कहा है। उनकी गति आकाश में जाने वाले पक्षियों की भांति सब से विलक्षण होती है। वैंसों का मिलन कैसे होगा? इसके उत्तर में कहा है कि वे चौथे आश्रमवालों के जैसा आचरण करने हैं। जिससे वे पहचाने जावेंगे, जिसके वे अधिकारी नहीं, जिसके फल की चाहनावाले भी नहीं सन्यासमार्ग से रहित होने हुए भी उसका (सन्यासाश्रम जैसा) आचरण करते हैं। इस प्रकार स्वधर्म का त्याग कर पर धम ग्रहण कराता है। उनको और उनके संबन्धियों को दुःखी करना है। अपने मुख का भी बहुत अनुभव नहीं कराता है; अतः कथा भी छोड़ने योग्य ही है, किन्तु छोड़ना कठिन होने से छूटती नहीं है। पुष्टिमार्गीय श्रुतियों का तथा मर्यादामार्गीय श्रुतियों का परस्पर विशेष विरोध नहीं है, किन्तु दोनों ग्रहण करने के योग्य हैं, किन्तु वे अभिप्रेत नहीं हैं। १८॥

आभास—तृतीयपर्याये प्रथमं तामस्या वयमृतमिति ।

आभासार्थ—निम्न श्लोक में तीसरा प्रकार सात्विकतामसी का कहा है ।

श्लोक—वयमृतमिव जिह्वाव्याहृतं श्रद्धधानाः

कुलिकरुतमिवाज्ञाः कृष्णवध्वो हरिण्यः ।

बहुरसकृदेतत्तन्त्रस्पर्शतीव्र-

स्मररुज उपमन्त्रिन्मण्यतामव्यवार्ता ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे उपमन्त्री! जैसे कृष्ण हरिण की स्त्रियाँ व्याध के गान को निष्कपट धान, उसके बाण से घायल हो पीड़ा ही देखती हैं। वैसे ही हमने भी इस कपटी कृष्ण के कहने को सत्य समझ कर, उसकी होकर, नख क्षत से घायल हो, कामदेव की पीड़ा बढ़ाई, जिसको सब देख रहे हैं। वैंसी दशा में वे हमको छोड़ गए, अतः वैसे कपटी की वार्ता छोड़ दे, अन्य कोई वार्ता कर ॥१९॥

सुबोधिनी—ननु यावन्ति दूषणान्युच्यन्ते तानि सर्वाण्येवासङ्गतानि प्रमाणविरोधात् । तत्राह वयमपि पूर्वं प्रमाणपरा एव जाताः । पश्चादसाधारणवाक्यत्वादनधिकारेणान्यथासिद्ध-
चभावं निश्चित्य साधने फलव्यभिचार दृष्ट्वा क्व-
चिद्वाक्ये बाधितार्थत्वमपि ज्ञात्वा निवृत्ता जाताः । भगवता हि पूर्वमुक्तं 'न मयोदितपूर्व वा अनृत'-
मिति । ततः 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजा'मिति ।

साधनकाले फलकाले च वाक्यद्वयं जिह्वाव्याहृतं कपटेनोक्तमन्यथोक्तमन्यथाप्रतीति जनयति । भग-
वता तूक्तं पूर्वं मया नानृतमुक्तं भवदर्थं वक्ष्या-
मीति, भवता साधुकृत्य न पारये इति न करि-
ष्यामीति । परं परिज्ञाने अस्माकमेवान्यथाबुद्धि-
जिता, अयमस्मान् प्रति अनृतं न वक्ष्यति, कृष्ण-
त्ववचनात् कदाप्युदासनो न भविष्यतीति, अतः
एव वयं जिह्वाव्याहृतमपि कृतमिति सत्यमिति

अध्याना जाताः । नन्विदानीं विचारवतुराः पूर्वं
कथं भ्रान्ता जाता इत्याशङ्क्याह कुलिकरुतमि-
वेति । वयमप्यारण्याः हरिण्योपि । हरिणवेषं
कृत्वा मृगयुर्गयति तदा हरिण्यो मुग्धाः पूर्वहरि-
णादेनं विशिष्टं मत्वा हरिणोय हरिणकायंमपि
करिष्यति गानादिकमधिकं चेति भ्रमात् पूर्वह-
रिणं परित्यज्य तत्स्थाने गत्वाः । तदाह भ्रान्ताः
कृष्णवध्व इति । भ्रमादेव द्वितीयकृष्णसागस्य
वध्वो जाताः । यथा वयं कृष्णपत्न्यः । ननु को
दोषो जात इति चेत्तत्राह हरिण्य इति । हरिण-
स्य हि ता भार्याः नत्वाकृतिसाम्यादन्यस्य, यथा
वयं गोपभार्या, नापीश्वरस्य, नापि क्षत्रियस्य,
नापि यादवस्य, परं स एव गोपत्वेन स्थित इति
गोप एवायमस्मद्धितं करिष्यतीति प्रवृत्ताः पश्चात्स
ईश्वर एवेश्वरो जातः गोपिकाः परं नष्टा इति
भावः । ननु किमिति नाशो भाव्यते, हरिण्यस्तु
तेन विद्धा न तु भवत्य इति चेत्तत्र तुल्यार्थता-

माह ददृशुरिति । एतद् ददृशुः, स्वावस्थामभिन-
येन प्रदर्शयन्त्यः हरिणीनां तामवस्थामाहुः । हरि-
ण्योप्युभयतो भ्रष्टा जाताः । स्वयमेव हरिणीनां
बोधने दृष्टान्तभूता इति पूर्वं हरिण्युपक्रमेण
निरूप्यमाणमप्यर्थं पश्चात्स्वप्राधान्येन निरूपयन्ति
तत्र वत्पशंति । नखकामयोः स्वस्मिन्नेव प्रसि-
द्धिरिति वाणवेदके उपलक्ष्येते । तस्य भगवतः
नखानां यः स्पर्शः तेन तीव्रा या स्मररुक् सा
यासाम् ! कटाक्षादयो विस्मृता अपि भवन्ति न
नखादयः । अन्या वेदना तु ग्रीषणेनापि शाम्यति,
स्मरस्तु स्मरणेनैव तथा भवति इति स्वस्य प-
मानत्त्वम् उपमन्त्रिन्निति सामीप्येन नीतिज्ञत्वेन
च सम्बोधनमाहुः । एतन्न प्रकटीकर्तव्यं ज्ञायते च
भगवत्स्वरूपमिति । अतो भगवद्द्वार्तया कनेश एव
भवतीति अन्यवार्ता भण्यताम्, अन्यार्थमागतः
कश्चिदहमन्य इति ज्ञाप्यतामित्यर्थः । तदेवमुपा-
लम्भनं न करिष्यामः ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—तुमने जितने दोष भगवान् के कहे हैं वे सर्व असङ्गत हैं, क्योंकि उनमें कोई प्रमाण नहीं है। इस पर कहती हैं कि हम भी प्रमाण परायण थीं। भगवान् ने कहा मैं कभी झूठ नहीं बोलता हूँ, जिसको प्रमाण मान उस पर विश्वास कर लिया, अनन्तर देखा तो वह असाधारण वाक्य था तथा अधिकार के अभाव से अन्यथा सिद्धि के अभाव का निश्चय कर और साधन में फल का व्यभिचार देखकर एवं किसी वाक्य में बाधितार्थ भी जान कर उनके कहने पर विश्वास छोड़ दिया, जैसे कि भगवान् ने पहले कहा कि 'न मयोदितपूर्वं' वा अनूनमिति' इसके पश्चात् 'न पारयेऽह निरवश्यं संयुजामिति' कहा, ये दोनों वाक्य साधन काल तथा फल काल के कपट से कहे हुए हैं, क्योंकि कहा एक प्रकार (और) किया दूसरी तरह अर्थात् कथनीं और करनी में भेद रहा। हमने भगवान् के अस्सरो का भावार्थ पूरी तरह नहीं समझा। भगवान् का तो कहने का अभिप्राय यह था कि प्रथम मैंने झूठ नहीं बोला है, किन्तु अब तुम्हारे लिए झूठ बोलूँगा। तुमने साधु कृत्य किए, हमसे वैसा न होगा। वैसा न जानकर समझा था कि भगवान् हमारे आगे झूठ न कहेंगे और ऋणी कहने से हमारा त्याग कभी भा नहीं करेंगे। वास्तव में ये वचन कपट से कहे हुए थे, जिनको सत्य समझ हम विश्वास करने लगीं। यदि आप कहें कि अब ऐसी विचार-चतुर दीखती हो तो प्रथम भ्रान्त कैसे बनी? जिसके उत्तर में कहती है कि हम भी हरिणियों के समान अरण्य में रहने वालीं भ्रज^३

- १- मैंने पहले कभी झूठ नहीं बोला है । २- आपने जो किया उसका बदला मैं कभी नहीं दे सकूंगा । ३- ना समझ, अज्ञान ।

XX

हैं। जैसे हरिणियां हरिण का वेध धारण कर व्याध जब गान करता है, तब वे मुग्ध हो जाती हैं और समझती हैं कि यह हरिण है। हरिण का कार्य भी करेगा, विशेष में यह गान में भी चतुर है, जिससे भी मुख की प्राप्ति होगी। अतः भ्रम में पड़कर प्रथम हरिण का त्याग कर उसके पास चली जाती हैं, क्योंकि वे कृष्ण (काले) की स्त्रियां मूर्ख हैं, भ्रम से ही अन्य कृष्णसार की पत्नियां बनी, जैसे ही हम कृष्ण की पत्नियां बनी हैं। वे हरिणियां दूसरे की स्त्रियां (यों) नहीं बनीं क्योंकि आकृति समान होने से उसको हरिण समझ स्त्रियां बनीं जैसे हमने क्षत्रिय, ईश्वर और यादव समझ इसको नहीं अपनाया है, किन्तु गोप समझ क्योंकि हम गोपों की स्त्रियां हैं यह भी गोप है हमारा हित करेगा, जिससे यह प्रवृत्ति को है अर्थात् इसको अपना स्वामी बनाया है। ये ईश्वर ये ईश्वर हो रहे, इनका कुछ बिगड़ा नहीं, किन्तु गोपियों का ही नाश हुआ। यदि आप कह दो कि इस प्रकार नाश की भावना ही आप क्यों करती हैं? हरिणियों को तो व्याध ने वेधा है तुमको तो कृष्ण ने वेधा नहीं है। इसका उत्तर देती हुई कहती हैं कि देखलो, अपनी अवस्था अभिप्राय से दिखाती हुई हरिणियों की उस अवस्था को कहती हैं कि हरिणियां भी दोनों तरफ से भ्रष्ट हुई हैं। आप ही हरिणियों की अवस्था बताने में दृष्टान्त हुई। प्रथम उपक्रम में हरिणियों की दशा दिखाई, फिर प्रधानता से अपनी दशा भी कहती हैं कि नख स्पर्श से हमको वेधा है। उससे काम भी जागृत हुआ, जिसकी पीड़ा हम सहन कर रही हैं। इन दोनों की प्रसिद्धि हम में ही है, यह कहना हरिणियों के बाण और पीड़ा का उपलक्षक। नखक्षन^१ मिटता नहीं। कटाक्ष^२ तो भूल भी जाते हैं। अन्य प्रकार की पीड़ा औषध से मिटाई जा सकती है किन्तु काम जो स्मरण से ही उत्पन्न होता है वह किसी भी औषध से नहीं मिटता है, इसलिए आप ही हरिणियों की उपमान बनी हैं। उद्धवजी को उपमन्त्रिन् ! संबोधन देती हैं, जिसका कारण यह है कि मन्त्री पास में रहता है और नीतिज्ञ होता है, तो उद्धवजी नीतिज्ञ हैं तथा पास में भी बंटे हैं। अतः उनको यह संबोधन देकर कहती हैं कि आप भगवान् के विषय में कुछ भी प्रकट न कीजिए, क्योंकि हम उनके स्वरूप को जानती हैं। यदि आप भगवद्गार्ता अब करोगे तो हमको दुःख ही होगा, अतः अन्य वार्ता करिए, इसको भूल जाइए। यदि आप जिसके लिए आए हो, वह न कहकर अन्य वार्ता करोगे तो हम आपको उलहना नहीं देंगी ॥१६॥

आभास—एवमुक्त्वा सम्बन्धं विनिवार्य मूर्च्छितेव जाता । पुनः सात्त्विकराजस-
भावेनाह प्रियसखेति ।

प्राभासार्थ—यों कह कर भगवान् से प्रपना सच्चिन्म ही न रहा, इस प्रकार के भाव उत्पन्न होने के कारण मूर्च्छित जैसी हो गई। फिर सात्त्विक-राजस भाव से 'प्रिय सख' श्लोक से बहने लगी।

श्लोक—प्रियसख पुनरागाः प्रेयसा प्रेषितः किं
वरय किमनुसन्धे माननीयोऽसि मेऽङ्ग ।

नयसि कथमिहास्मान्दुस्त्यजद्वन्द्वपाश्व

सततपुरसि सौम्य श्रोर्वधूः साकमास्ते ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे प्यारे के मित्र ! आप फिर आ गए । क्या आपको प्यारे ने भेजा है ? हे अङ्ग ! आप हमारे माननीय हैं । क्या चाहिए ? जो कुछ चाहिए वह वर माँग लें, जिसका सदैव मिथुन भाव रहता है, उसके पास हमको क्यों ले चलते हो ? हे सौम्य ! उसके छाती के पास सदैव लक्ष्मी रहती ही है; तो फिर हमारा क्या प्रयोजन ? ॥२०॥

सुबोधिनी—ब्रह्म एव दोषा निवृत्ताः सत्त्व-
प्राधान्याद्गुणकथनाद्वा, अतस्तं दृष्ट्वा प्रथमपर्यायाद्
अन्यथा बुद्धिजनकत्वेन प्रकारान्तरेणागमनं
सम्भावयति । भ्रमरमपि पुनरागतमिव, भगवतो
दोषान्वा श्रुत्वा तत उत्थाय मूर्च्छितायामुद्धवः
पुनरागत इति वा । इदानीमपि किं प्रेयसैव
प्रेषितः, तदा आकाङ्क्षाधिक्यादस्मत्कार्यं भवि-
ष्यतीति भावः । हेमन्ते तासां साधनोपक्रम इति
पुनर्नवम्युक्तौ व्याप्रियत इति नवमश्लोके ।
हेमन्तेऽपि प्रथमो गासो नवमो भवति,
पुनर्दण्डकलितवदावृत्तिर्भविष्यतीति मत्वा फल-
दात्रा भगवता प्रेयसा प्रेषित इति । तथेत्यङ्गी-
कृते आह वरपेति । वरं ब्रूहि, साधनेन नेदं कार्यं
सेत्स्यति । अयुक्तमपि वरेण सिध्यति । सा त्वक्तः
कालः भक्त्यनुगुणो वा तदीयप्रमाणान्युररीकृत्य
भागवतादिकमिव प्रदर्शयन् पुनरागमनमाह ।
तत्रापि मन्त्रदेवतावरेणैव तत्तत्कार्यं भवति
नान्यथेति ज्ञापयितुं वरयंत्युक्तम् । उद्धवेत्याशी-

वादो देयः । भ्रगरस्याप्यामोदोपभोगः कारणीय
 इति किमहमनुरुधे तुभ्यं दास्यामि नत्कथयेत्यर्थः ।
 ननु कोयं निर्बन्ध इति चेत्तत्राह माननीयोसीति ।
 अङ्ग्रेति स्नेहसम्बोधनं मित्रत्वात् । उपकार हि
 कुर्वन् माननीयो भवति । ननु तथापि यथास्मा-
 भिनं दीयते तथा त्वयापि न देयमित्याशङ्क्याह
 नयसीति । त्वं तु नयनार्थमागतः । अयमेवोप-
 कारः । परं नयने साधनापग्निज्ञानादस्माकं सन्दे-
 होस्ति तत्कथयेत्याहुः कथमिहास्मानिति । वय
 बह्वचः स्त्रियः, गोकुलं च निरोधस्थानम्, त्व
 चौकः । किञ्च । दुस्त्यजो द्वन्द्वो यस्य । भगवान्
 हि नित्यभार्यः, विभज्यैव शक्ति कृष्णो भगवान-
 वतीर्ण इत्यवोचाम । ननु न साम्प्रतं कापि तिष्ठ-
 तीति चेत्तत्राह सततमुरसीति । सौम्येति सम्बो-
 धनं साधुत्वाय । श्रीरेव वधूः, न तूरमि लक्षण-
 मात्रम्, लोकप्रदर्शनार्थं लक्षणत्वमापन्ना । वस्तु-
 तस्तु साकमास्ते सहैव तिष्ठति, सौम्यत्वात् सम्म-
 तिर्दर्शने निरूपिता ॥२०॥

व्याख्यानार्थ— इस श्लोक को कहनेवाली यह गोपी सत्त्व प्रधान होने से सगुण पक्ष वाली है। अथवा भगवद्गुणगान करने से भगवद्भाव वाली है, जिससे बहुत दोष निवृत्त हो गए हैं। अतः उसको देखकर सखी ने जैसे श्रथम कहा उससे यह अन्य प्रकार से कहती है। कारण कि बुद्धि में अब अन्य प्रकार के विचार उत्पन्न हो गए हैं, क्योंकि दोष निवृत्त हुए हैं। इनके जाने की दूसरे प्रकार से



संभावना करती हुई बोलती है कि हे भ्रमर ! क्या तू फिर आ गया ? अथवा भगवान् के दोषों को सुनकर मूर्छित हुई गोपी के पास उद्धवजी फिर इसलिए लौट आए हैं कि चल कर इसको आश्वासन दूँ, क्या अब भी प्रीतम ने ही फिर भेजा है? यदि यों है तो क्यों प्यारे को अब भी हमारी आकांक्षा है? जिससे समझा जाता है कि हमारा मनोरथ सिद्ध होगा। हेमन्त में उन्होंने साधन का प्रारम्भ किया, जिसका प्रथम मास वसन्त से नवम होता है। फिर नवम गिना जाय तो शरद होती है, जिसमें भगवान् ने फलदान का वरदान दिया है, अतः भेजा है? यदि यों है, तो आप जो चाहे वह वर मांगो। साधन से कोई कार्य सद्धि न होगा, किन्तु देवता के वरदान से कैसा भी हो, वह सफल होगा। यह काल भी सात्त्विक है अथवा भगवदीय है, उनके प्रमाणों को हृदयङ्गम कर, भागवत आदि की तरह कहने^२ के लिए फिर आए हैं। जिसको कहती है कि मन्त्र, देवता के वर से ही वह कार्य पूर्ण होता है, दूसरे प्रकार से नहीं। इसलिए कहा है कि वर मांगों, उद्धवजी को भी आशीर्वाद देना है, भ्रमर को भी सुगन्ध का उपयोग कराना है, जो आपकी इच्छा होगी वह दूंगी, वह कहो, वैसा आग्रह क्यों करती हो? इसके उत्तर में कहती है कि 'माननीयोऽसि' मान देने के योग्य हो, हे अङ्ग ! यह सम्बोधन स्नेह सिक्त है, जिससे मित्रत्व की भावना प्रकट होती है। जो उपकार करता है, वह मान लेने के योग्य है। यदि आप कहो कि जैसे हम नहीं देते, वैसे आप भी मत दो। इसके उत्तर में कहती है कि 'नयसि' आप तो लेने के लिए ही आए हैं, यह ही उपकार है, किन्तु प्रिय के पास ले चलने के लिए आपके पास कौनसा साधन है? जिसका हमको ज्ञान नहीं है, जिससे हमको सन्देह है कि आप कैसे ले चलेंगे? वह हमको आप बतायी।

हम बहुत स्त्रियाँ हैं, आप अकेले हैं और गोकुल निरोध का स्थान है। विशेष बात तो यह है कि जहाँ जिस प्रीतम के पास हमको ले चलोगे वे तो सदैव वहाँ स्त्री सहित रहते हैं। उसका त्याग वे कर नहीं सकते हैं, हमारा कहना तो यह है कि भगवान् कृष्ण शक्ति को अलग कर ही प्रगटे हैं। यदि आप कहें कि अब उनके पास कोई नहीं है तो वह सत्य से विपरीत है। हे सौम्य ! यह सम्बोधन उद्धवजी का साधुत्व बताने के लिए दिया है, उनकी स्त्री लक्ष्मी सदैव साथ ही रहती है, 'उरसि' शब्द लोक को दिखाने के लिए कहा है। आप सौम्य हैं, अतः जैसे हम कह रही हैं, आपकी भी यही सम्मति होगी ॥२०॥

आभास—सुखेन नेष्यामीति स्वीकृतवन्तमित्याह अपि बतेति ।

आभासार्थ—मैं आपको सुख पूर्वक आपके प्यारे के पास ले चलूँगा, इसकी चिन्ता ही मत करो, जिसके उत्तर में 'अपि बत' श्लोक कहती है।

श्लोक—अपि बत मधुपुर्यामार्यपुत्रोऽधुनास्ते
स्मरति स पितृगेहान्सौम्य बन्धूश्च गोपान् ।

क्वचिदपि स कथा नः किङ्करीणां गृणीते

भुजमगरुसुगन्धं सूक्ष्मर्यधास्यत्कदा नु ॥२१॥

श्लोकार्थ—हे सौम्य ! यह तो बताओ कि अब आर्यपुत्र मधुपुरी में बिगजते हुए कभी पिता के गृह; बाँधव तथा गोपों को याद करते हैं ? और कभो हम किङ्करियों (दासियों) की बातचीत भी करते हैं ? अगर जैसी सुगन्धवाली भुजा को हमारे सिर पर कब धरेंगे ?

सुबोधिनी—अपोति सम्भावनायाम् । बतेति हर्षं, भगवान् उपनीतो विद्यार्थं गत इति श्रुतम् । ततः समागत्य मधुपुर्यां पुष्टिपुर्यामार्यस्य नन्दस्य वसुदेवस्य वा पुत्रः, भर्तृत्वेन नामाग्रहणम् । सत्कुले प्रादुर्भूतः नास्मांस्त्यक्ष्यतीति भावः । अधुना किमास्ते अथवा नीत्वा यावदागमनं स्थापयिष्यतीति सन्देहात्प्रश्नः । विद्यमानोप्यन्याभिनिविष्टश्चेत्, न कार्यं सेत्स्यतीत्यभिप्रायेणाह स्मरति स पितृगेहानिति । तदा गोकुलस्मरणादस्मत्परत्वम् । बहुवचनेन स्वच्छन्दरमणमपि सूचितम् । एवं वचनं पुरुषान्तरेऽयुक्तमित्याशङ्क्याह । सौम्येति सम्बोधनम् । व्याजेन पृष्ट्वा विशेषतोपि पृच्छन्ती आह बन्धूंश्च गोपानिति । नन्द-

गोत्रिणो बान्धवाः अन्ये च गोपाः, शकाराद्
गोकुलस्थाः सर्वे, तदाभिनिवेशो जायत इति ।
एवं पृष्ठ्वा पुनः स्थातुमशक्ता स्ववार्तामपि पृच्छन्ति
कचिदपीति । रसाभासकथायां लौकिककथायां
वा, स पूर्वस्वामी नोस्माकं सर्वासां कथामपि
स्मरति । स्मरणे हेतुः किङ्करीणामिति । नन्व-
न्तःकरणवार्ता कथं जायत इत्याह गृणीते क्वचि-
दिति । तथोत्तरं दत्तमिति ज्ञात्वा पूर्वमपि परम-
सन्तापानन्तरं प्रादुर्भूतमिव कथं द्रक्ष्यामीति मनो-
रथाभिलाषमाह भुजमगरुसुगन्धमिति । कदा वा
अगरुसुगन्धं भुजमगर्वपेक्षया वाऽगरुणा वा कदा
वा पुनर्मूर्धन्यधास्यद्वास्यति ॥२१॥

व्याख्यानार्थ— इस श्लोक में 'अपि शब्द सम्भावना अर्थ में दिया है और 'बत' हर्ष में। हमने सुना है कि भगवान् यज्ञोपवीत संस्कार होने के अनन्तर पढ़ने के लिए गए हैं। वहां से लौटकर मधुपुरी जो पुष्टिपुरी है, उसमें 'आर्यपुत्र' जब आवेंगे तब हमारा ग्रहण करेंगे, क्योंकि सत्कुल में उत्पन्न हुए हैं अतः हमारा त्याग तो नहीं करेंगे। 'आर्यपुत्र' इसलिए कहा है कि वे पति हैं, पत्नी पति का नाम नहीं लेती है। वे अब मथुरा में हैं? हमको जो अब ले चलते हो तो यहां आने तक वहां रखेंगे? इस प्रकार के प्रश्न सदेह से करती हैं।

वहां^२ बिराजते भी हों; किन्तु यदि उनका मन ग्रन्थ में आसक्त होगा तो कार्य की सिद्धि न होगी, यह अभिप्राय हृदय में रख कर पृच्छतीं हैं कि क्या वे पिता के घरों को याद करते हैं ? यदि गोकुल को स्मरण करते होंगे तो हमारा भी स्मरण उसमें आ जायगा । यहां बहुवचन दिया है

जिसका आशय यह है कि इससे स्वच्छन्द रमण की भी सूचना हो गई। इस प्रकार के वचन अन्य के आगे कहने योग्य नहीं हैं, ऐसी शङ्का की सम्भावना में कहती हैं कि हे सोम्य ! आप सोम्य हैं, इसलिए आपके सामने कहने में कोई अयोग्यता नहीं है। बहाने से यों पूछकर अब विशेष रूप से पूछती हैं कि नन्द के गोत्रवाले तथा अन्य गोप है, क्या उनको वे कृष्ण याद करते हैं ? 'च' से गोकुल में रहने वाले जो भी हैं उन सब के स्मरण का भी पूछलिया है। यों सब का पूछने के अनन्तर चित्त रुका नहीं तो अपनी वार्ता भी स्पष्ट पूछने लगीं। रसाभास की कथा में अथवा लौकिक कथा में क्या वे, जो पूर्व हमारे स्वामी थे, हम सब की कथा का स्मरण करते हैं ? यदि आप कहें कि तुमको क्यों याद करेंगे ? इस पर कहती हैं कि हम उनकी दासियां हैं। जो आप कहो कि उनके अन्तःकरण में क्या है ? उसका मुझे क्या पता ? तो इस पर कहती हैं कि कभी मुख से भी हमारी बात कहते हैं कि नहीं ? किसी समय यों उत्तर देने पर फिर कहती हैं कि जैसे पहले भी अत्यन्त सन्ताप देने के अनन्तर प्रकट हुए वंसे कब दर्शन देंगे ? अपने मन की अभिलाषा प्रकट करती हुई कहती हैं कि वे अगर से भी विशेष सुगन्धवाली भुजा को हमारे मस्तक पर कब धरेंगे ?

आभास—एवं सर्वभावेन सर्वावस्थासु उत्कृष्टापकृष्टास्वपि भगवत्परत्वं बोधितम्, प्रतीतिको दोषोप्युक्तः, ततो दोषनिर्हरणार्थमुपदेशात्पूर्वमुद्धवोभिनन्दनं कृतवानित्याह अथोद्धव इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सर्वात्मभाव से सर्व अवस्थाओं में उत्कृष्ट^१ और अपकृष्ट^२ सब प्रकार की गोपियों का भगवत्परायणत्व बताया तथा प्रतीत होने वाले दोष मिटाने के लिए जो उप-देश देना है, जिसके पहले उद्धवजी गोपियों का अभिनन्दन करेंगे, इसको श्री शुकदेवजी 'अथोद्धवो' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः ।

सान्त्वयन्प्रियसन्देशैर्गोपोरिदमभाषत ॥२२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि उद्धवजी इस प्रकार के गोपियों के वचन सुनकर श्रीकृष्णचन्द्र के दर्शन की प्यासी गोपियों को प्यारे के सन्देशों से सान्त्वना देते हुए यह कहने लगे ॥२२॥

सुबोधिनी—स हि उत्सवात्मकः ताभिः दोष-
गुणमिश्रतया निरूपितानपि भगवद्धर्मान् गुणस्वे-
नैव स्वीकृतवान्, अतो भिन्नप्रक्रमेणैव निशम्य,
दोषाभावात् तात्पर्यतः एवं कृष्णदर्शनलालसाः
विदित्वा, यथा सभायामपि भुजमगरुसुगन्धमिति ।

मनोरथामिलाषः, एतादृश्योवश्यं सान्त्वनीया
इति ताः सान्त्वयन्, तत्रापि प्रियसन्देशेनैव न तु
स्वतः, यतो गोप्यः भगवदीयाः, आज्ञा च भगव-
तस्तथैवेति, इदं स्तोत्ररूपं वक्ष्यमाणमभाषत ।

॥२२॥

व्याख्या—उद्धवजी उत्सव' रूप है, उन्होंने भगवान् के गुण दोष मिश्रित कहे, किन्तु इनने (उद्धवजी ने) उनको दोषों को गुण रूप ही माना है, अतः दूसरे प्रकार से ही उनको सुना, जिससे समझा कि ये प्यारे के गुणों का ही इस प्रकार वर्णन कर रही हैं। कारण कि इनके अन्तःकरण में श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा भरी हुई है। जिसकी पुष्टि में इन्होंने सभा में भी कहा कि अग्ररु के सुगन्धि से विशेष सुगन्ध वाली मुजा हमारे शिर पर कव धरेंगे ? इस प्रकार इनकी अभिलाषा है। ऐसी (व्रज भक्तों) को अवश्य सान्त्वना देनी चाहिए, किन्तु वह भी प्रीतम के सन्देशों+ से न कि अपने वाक्यों से। कारण कि ये गोपियां भगवदीया हैं और भगवान् की आज्ञा भी वैसी ही है, यह जो स्तोत्र रूप कहने का है, वह कहेंगे ॥२२॥

आमास—तासां स्वाभाविको दोषोपि भगवत्कृत इति भगवद्गुणैः गुणा एव त इति ज्ञापयितुं षड्भिः स्तोत्रमाह अहो इति ।

आभासायं — उन (गोपियों में जो स्त्रीस्व आदि) स्वाभाविक दोष हैं वे भी भगवत्कृत हैं, अतः भगवद्गुणों के कारण वे भी गुण ही हैं जिनको बताने के लिए छः श्लोकों से 'स्तोत्र' करते हैं।

श्लोक—उद्धव उवाच—अहो यूयं स्म पूणार्थिा भवत्यो लोकपूजिताः ।

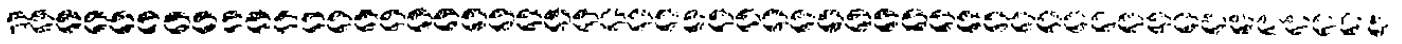
वासुदेवे भगवति यासामित्यपितं मनः ॥२३॥

श्लोकार्थ—उद्धवजी कहने लगे कि अहो ! आप कृतार्थ हो गईं हैं तथा लोक में पूजित हो । कारण कि आपने वासुदेव भगवान् में अपना मन अर्पित कर दिया है ॥२३॥

सुबोधिनी - तासासभिनन्दनं हि भक्तत्वात् । भक्तश्च, तामु भक्तिस्थापनं च ।

व्याख्यानार्थ—भक्त होने के कारण उनका अभिनन्दन किया एवं भक्ति का भी अभिनन्दन किया तथा उनमें भक्ति की स्थापना भी की है ।

+उच्च कोटि के भक्तों के मन का समाधान^२ तो भगवान् के प्राकट्य से ही होता है, वचनों से नहीं। जब भगवान् के वाक्यों से भी पूर्ण समाधान नहीं, तो उद्धवजी के वचनों से कैसे होगा ? किन्तु उद्धवजी प्यारे के सम्बन्धी हैं, स्नेह मार्ग में स्नेही के सम्बन्धी में भी स्नेह के समान भाव होता है, फिर उसमें विशेषता यह है कि उद्धवजी अगने वचन न कह कर प्यारे के वचनों से संदेश देते हैं, उपदेश नहीं। अतः गोपियों को कुछ सान्त्वना इससे हो जाएगी। इसलिए उद्धवजी वह संदेश सुनाते हैं ।



कारिका—तत्राप्यनन्यता तासां सर्वभावेन च स्थितिः ।

अतः कृपा हरेयुक्ता सफलत्वाय सोच्यते ॥

कारिकार्थ—उसमें भी उनकी अनन्यता तथा सर्व भाव से भगवान् में स्थिति होने से भगवान् की उन पर कृपा होना योग्य ही है, वह सफल हो गई; इसलिए उद्धवजी उस (कृपा) को कहते हैं ॥

सुबोधिनी—अहो इत्याश्चर्यमस्मदादीनां अपि दुर्लभो भावः एतास्विति, स च भावः सर्वप्रसिद्धः, कादाचित्को हि न तथा, सामान्यतो भक्तस्तोत्रव्यावृत्त्यर्थं धूयमिति । पूर्णः अर्थो यासाम्, भक्तिः स्वतन्त्रफलेति । ततश्च यथा भगवान् स्वतन्त्रः तथा भवत्योपि जाता इत्याह भव-

त्यो लोकपूजिता इति । भवच्छब्दलोकशब्दौ सर्वसाधारण्यार्थौ । तेषां भ्रमात् प्रवृत्तिं वारयति वासुदेवे भगवतीति । पासां भवतीनां प्रसिद्धानां इति पूर्वोक्तप्रकारेण सर्वभावेन भगवति मनः प्रपितमिति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—आश्चर्य है कि इसमें जैसा भाव है, वैसा हममें भी नहीं है, वह भाव सर्वत्र वा सर्वे में प्रसिद्ध है । फिर यह भाव सहज है, किसी समय उत्पन्न होकर पुनः तिरोहित नहीं होता है । अतः यह आपकी स्तुति सामान्य भक्त के समान नहीं है, कारण कि आपका अर्थ पूर्ण हो गया है और आप की भक्ति स्वतन्त्र फल रूप है, जिससे जैसे भगवान् स्वतन्त्र हैं वैसे ही आप भी स्वतन्त्र हो गई हैं, अतः आप लोक में पूजित हुई हैं । 'भवत्' शब्द और 'लोक' शब्द तो सर्व साधारण अर्थवाले हैं, इसमें महत्व ही क्या है ? जिसके उत्तर में उद्धवजी कहते हैं कि यों समझना भ्रम है, क्योंकि आपकी जो लोक में इतनी प्रसिद्धि है वह साधारण नहीं है, कारण कि आपने पूर्व कहे हुए प्रकार से अपना मन वासुदेव भगवान् में प्रपित कर दिया है ॥२३॥

आभास—नन्वयं भावः सुलभः कामाच्च जात इति तत्राह दानव्रतेति ।

आभासार्थ—आप इस भाव को दुर्लभ कैसे कहते हो, यह तो सुलभ है, क्योंकि काम से हुआ है । इस पर उद्धवजी 'दान व्रत' श्लोक से उत्तर देते हैं ।

श्लोक—दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमः ।

श्रेयोभिविविधैश्चान्यैः कृष्णो भक्तिर्हि साध्यते ॥२४॥

श्लोकार्थ—दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय और मन के नियमन आदि से तथा अन्य प्रकार के श्रेय करनेवाले उपायों से कृष्ण में भक्ति ही सिद्ध की जाती है ॥२४॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२४ ॥

सुबोधिनी दानादिभिः सर्वैः कृष्णे स्नेह एव साध्यते । स चेत् कामेनैव जातः किं दानादिना । स्नेहे वैलक्षण्याभावात् । फले वैलक्षण्याभावे साधनवैजात्यसप्रयोजकम् । 'तदेष हित्वे'ति विशेषस्तूतः । वानं तुलापुरुषादि । व्रतमेकादश्यादि । तपः कृच्छ्रादि होम काम्यः । अग्नि-होत्रादिग्वि । जपो मन्त्रादिः । स्वाध्यायो वेदाध्ययनम् । वेद एव वा सर्वविधोपि । संयमो ।

योगादि, अन्यानि श्रेयांसि कृपारामादीनि, सर्वेषामेषां एकस्य तूभयत्वे सयोगपृथक्त्वमितिन्यायेन तत्तत्फलसाधकत्वं भक्तिसाधकत्वं च । अन्यैरित्यविहितैरपि, कृष्णे सदानन्दे, तस्यैव फलत्वमिति एतदर्थमेवाविर्भूत इति वा । 'भक्तियोग-वितानार्थमि'ति वाक्यं हि शब्देनोच्यते । साध्यत इत्यनेन आत्मत्वेन नित्यस्नेहो निवारितः ॥२४॥

व्याख्या - दान आदि सर्व साधनों में कृष्ण में स्नेह ही सिद्ध किया जाता है । वह यदि काम आदि से सिद्ध हो जावे तो दान आदि की फिर क्या आवश्यकता है ? स्नेह में किसी प्रकार भेद नहीं है, यदि फल में भेद न पड़े, तो साधनों में भिन्नता (जुदाई) हो तो भी आपत्ति (हरकत) नहीं है । जैसे दान तप आदि पापों को नाश कर कृष्ण में भक्ति उत्पन्न करते हैं, वैसे ही काम क्रोध आदि भी भक्ति की भांति कृष्ण में स्नेह उत्पन्न कर, उनमें मन लगाते हैं, जिससे पाप^१ स्वयं नष्ट हो जाते हैं । इस प्रकार बहुतों ने भगवान् को पाया है । तुला पुरुष आदि करने को दान कहा जाता है । एकादशी आदि के दिन फलाहार वा उपवास आदि को व्रत कहते हैं । कृच्छ्र चान्द्रायणादि को तप माना गया है । कामना पूर्वक अग्नि में आहुति देनी जिसको होम कहते हैं । अग्नि होत्र आदि को भी कहा जाता है । मन्त्रों को ध्यानपूर्वक रटना जप है । सर्व वेद को नियमानुसार पढ़ना स्वाध्याय है । योग मार्ग में जो यम नियम आदि हैं, जिसको संयम कहते हैं, एवं अन्य अच्छे कर्म, कृप उद्यान आदि जो जनता के आराम के लिए बनवाते हैं । ये सब साधन सयोग पृथक्त्व न्यायानुसार उस फल को पृथक् भी देते हैं तथा भक्ति भी सिद्ध करते हैं । अन्यथा, जो साधन नहीं है, उनसे भी सदानन्द कृष्ण में स्नेह उद्भव होता है, वह ही फलरूप है, इसलिए ही आपका प्राकट्य है । 'भक्तियोग-वितानार्थ' यह वाक्य 'हि'शब्द से कहा है । 'साध्यते' इस पद से आत्मीयत्व नित्य स्नेह का निवारण किया है ॥२४॥

आमास—तर्ह्यस्मद्भक्तिरन्यादृशीति चेत्तज्ज्ञाह भगवतीति ।

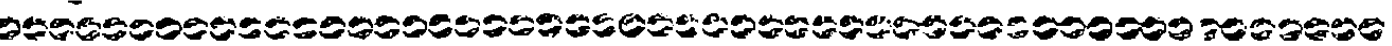
आभासार्थ — तो क्या हमारी भक्ति अन्य प्रकार की है ? जिसके उत्तर में निम्न 'भगवत्पुत्तम-श्लोके' में कहते हैं ।

श्लोक—भगवत्पुत्तमश्लोके मदनीभिरनुत्तमा ।

भक्तिः प्रवर्तिता दिव्यता मुनीनामपि दुर्लभा ॥ २५ ॥

१- मर्यादा भक्त के तो पाप नाश करने हैं और पुष्टि भक्त में स्नेह प्रकट करते हैं-प्रकाश

२- स्वयंभूत ही भी साधन बनाने के लिए



श्लोकार्थ—आपने जो सबसे उत्तम भक्ति उत्तम श्लोक (भगवान्) में प्रवृत्त की है, इसके लिए आपको बधाई है । यह भक्ति तो मुनियों को भी दुर्लभ है ॥२५॥

सुबोधिनी—सत्य भिन्ना परं सर्वोत्तमा ।
उत्तमैरपि श्लोक्यते इति तेषामपि वाक्यमेव भग-
वति नत्वेवंभूतं मनः । भवतीभिरिति बहुत्वं
सामर्थ्यं च द्योतितम् । न उत्तमा यस्याः भवती-
यायाः अन्या भक्तिरस्ति । अतो ब्रह्मकल्पमार-
म्याद्यप्रभृति भक्तिर्वृद्धाऽद्य पर्यवसिता, यतो
भवतीभिरेवेयं दक्षिता । एतदस्मदादीनां भाग्येन

एतादृश्यपि भक्तिरस्तीति । एतेन शास्त्रलोक-
प्रसिद्धायां भवती दानादिसाधनानि श्रूयन्ते ।
अस्यां तु प्रसिद्धयभावात्साधनमपि न पश्याम
इति भावः सूचितः । ननु बहिर्मुखेऽवेवेता उत्तमा
इति चेत्तत्राह मुनीनामपि दुर्लभेति । अन्यथेदं
परित्यज्य मननार्थं कथं प्रवृत्ता भवेयुः ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—आपकी भक्ति सचमुच भिन्न प्रकार की है, किन्तु सब में उत्तम है । कारण कि नारद आदि भक्त भगवान् के गुण गान करते हैं । उनकी तो भगवान् में केवल वाणी स्थिर होती है, किन्तु आपका तो भगवान् में मन आसक्त हो गया है । 'भवती' शब्द से गोपियों को यह बताया है कि आप में बहुत्व के साथ सामर्थ्य भी है, जो बिना साधन के भक्ति लोक में फैलादी है । आपकी इस भक्ति से कोई अन्य भक्ति उत्तम नहीं है । आपके सिवाय जो भगवान् के अन्य भक्त हैं, उनकी भक्ति आपकी भक्ति के समान भक्ति नहीं है ।

भक्ति का लोक में प्रारम्भ तो ब्रह्मकल्प से हुआ है । उसकी पूर्णता अब आपने कर दिखाई है । ऐसी भक्ति भी होती है जिसका दर्शन हम लोगों के ही भाग्य में लिखा था, जिससे हम आपकी प्रकट की हुई भिन्न प्रकार की सर्वोत्तम भक्ति का दर्शन कर रहे हैं । शास्त्र और लोक में जो भक्ति प्रसिद्ध है, उसके दान आदि साधन सुने जाते हैं । इसकी अब तक प्रसिद्धि नहीं थी, इसलिये इसके साधन भी नहीं देवते हैं । ये तो बहिर्मुखों में ही उत्तम कही जाती हैं । जिसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, यह भक्ति तो मुनियों को भी दुर्लभ है । यदि उनको दुर्लभ न होती तो वंसी सर्वोत्तम भक्ति को छोड़कर मनन करने में क्यों प्रवृत्त होते ॥२५॥

आभास—न केवलं स्नेहोत्कर्षणैव भवतीनामुत्कर्षः किन्तु प्रपन्निरप्युत्कृष्टेत्याह दिष्ट्येति ।

आभासार्थ—केवल स्नेह के उत्कर्ष से आपकी बड़ाई नहीं है, किन्तु आपकी प्रपत्ति भी अति-
शय उत्तम है, जिसका वर्णन 'दिष्ट्या' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—दिष्ट्या पुत्रान्पतोन्वेहान्स्वजनान्मवनानि च ।

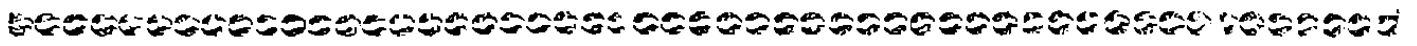
हित्वा दृणीत यूयं यत्कृष्णख्यं पुरुषं परम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—आपने पुत्र, पति, देह, स्वजन और घर आदि सबका त्याग कर उस पर पुरुष को जिसकी कृष्ण कहते हैं उसको वर लिया है। इसके लिए आप प्रशंसा के योग्य है, अतः यह हर्ष का विषय है ॥२६॥

सुबोधिनी—प्रपत्तिबाधका एते पुत्रादयः,
पुत्रादीनामासवितजनकत्वात्, अनासक्तो हि प्रप-
द्यते, स्त्रीणां सुतरामेवंते प्रतिबन्धका इति गण-
यति । देहाः स्वस्यैव अवस्थाभेदेन भिन्नाः नाना-
विधोपयोगा इति तदपेक्षाभावात् बहुवचनम् ।
स्वार्थं विनियोगाभावः त्यागः । अन्यथा भगवतः
स्थाने गच्छेयुः । किन्तु भगवदाकाङ्क्षामेव भाव-
यमानास्तिष्ठन्तीति पुत्रादिवद् देहत्यागोपि । तथा
भिन्नानां स्वजनानां गोपिकानां परस्परमपि
प्रासङ्गिकः समाजः, गृहाणामाधारभूतानामपि
परित्यागः पूर्वमुपपादितः । चकाराल् लोकाना-
मपि । वृथा परित्यागं वारयति वृणीतेति । पूरु-

षपरित्यागो दोषायेति तदर्थमाह परमिति । व्यभिचारिण्योपि यदि पति भजन्ति तदापि पूर्वदोषं परिगृह्य कृतार्था भवन्ति । जगति प्रायेण वर्षेणिरूपाः व्यभिचारिण्य एव, परं दिनवज्जन्मव्यवस्था, अतः परः पुरुषः सेव्य एव । ननु पूर्वमपि स्थिताः यथा दोषात्ततोपगता एवमग्रेऽपि भविष्यन्तीति किं परमपुरुषप्रारब्धेत्याशङ्क्याह वृणीतेति । इदानीं हि वरप्राप्तो भगवान् पूर्वमिच्छयेति विशेषः । किञ्च । कृष्णारूपमिति । स हि तदर्थमेवावतीर्णः, प्रमेयबन्धेनापि न त्यक्ष्यति, पुरुषत्वेन फलान्तराभावेन न काचित् क्षतिः ।

व्याख्यानार्थ— ये पुत्रादिक अनन्यता में बाध करने वाले हैं, क्योंकि ये संसार में आसक्ति कराने वाले हैं। भगवान् की शरण वह जा सकता है जो पुत्रादि में आसक्त नहीं है अर्थात् जो ससारी नहीं है। ये पुत्रादि स्त्रियों को तो भगवान् में प्रपत्ति करने में अतिशय बाधक हैं। उनकी गणना करत है, देह, जो नाना प्रकार के उपयोग में समय समय पर अलग रूप में काम में आती है, अतः बहुवचन दिया है। आपको इन सब रूपों की अपेक्षा नहीं है, क्योंकि स्वार्थ नहीं है, अतएव आपने इन सब का त्याग किया है, यदि वैसा नहीं होता तो भगवान् के पास चली जातीं, किन्तु भगवान् की इच्छा (आपको) वहाँ मगाने (बुलाने) की नहीं है, वैसी भावना के कारण यहाँ देह को धारण कर रही हो, नहीं तो पुत्रादि के समान देह भी त्याग देती तथा जो स्वजन भगवान् से विमुख हैं वे भिन्न प्रकार के हैं। उनसे भी परस्पर आने जाने एवं मिलने का व्यवहार छोड़ा है। यह तो पहले ही कहा गया है कि जो रहने के लिये आश्रय रूप वर है, उनका भी त्याग कर दिया है, श्लोक में 'च' इसलिए दिया है कि लोकों का भी परित्याग किया है। अर्थ त्याग कर देना तो वृथा है, इस पर कहते हैं कि नहीं आपने यह जो त्याग किया है, वृथा नहीं है। कारण कि यह त्याग कर आपने उस पर पुरुष श्रीकृष्ण को वर लिया है। पति का त्याग दोष रूप है, किन्तु आपने तो 'पर' सब से उत्तम' पुरुषोत्तम को पति बनाया। लोक में यदि व्यभिचारिणी भी समझी जाने से पुनः अपने पति को आकर भजती हैं तो उनके पूर्व कृत दोष नष्ट हो जाते हैं। वे कृतार्थ हो जाती हैं, जगत् में व्यभिचारिणी स्त्रियाँ वर्षणी रूपा हैं, क्योंकि जन्म जन्म में अन्य पतिवाली होती हैं। दिन के समान जन्म की व्यवस्था



समझलो । अतः जो पुरुष पर है, वह तो सर्वत्र सेव्य ही है । जिसमें व्यभिचार अथवा अन्य कोई दोष नहीं है, क्योंकि वासुदेव एक ही पुरुष है अन्य सर्व जगत् स्त्री रूप है । सच्चा पति तो वह है जो स्वयं निर्भय होवे और भयातुर जगत् की रक्षा करे, वैसे तो श्रीकृष्ण ही है, अतः वही पति है ।

पहले भी जब श्रुतियां थीं तब भगवान् में ही निष्ठा वाली होने से उनमें स्थित थीं । वह दशा गई और आगे भी यों ही होगा, तो फिर परपुरुष की प्रपत्ति करने से क्या लाभ? इसके उत्तर में कहा है कि 'वृणीत' पहले तो भगवान् अपनी इच्छा से हमको प्राप्त हुए थे । अब तो वरदान से मिले हैं; यह ही अब के मिलने में विशेषता है । फिर ये कृष्ण नाम से प्रसिद्ध हैं और हमारे लिए ही प्रकट हुए हैं, अतः प्रमेय बल के कारण भी त्याग नहीं करेंगे । पुरुष हैं; अतः फलान्तर का भी अभाव है, जिससे हमको किसी प्रकार हानि नहीं है ॥२६॥

आभास—एवं भक्तिप्रपत्ती निरूप्य सर्वात्मभावं निरूपयति सर्वात्मभाव इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भक्ति तथा प्रपत्ति का निरूपण कर अब इस 'सर्वात्मभावोऽधिगतो' श्लोक में सर्वात्मभाव का निरूपण करते हैं ।

श्लोक—सर्वात्मभावोऽधिगतो भवतीनामधोक्षजे ।

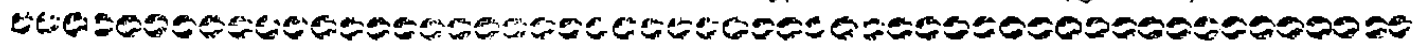
विरहेण महाभागा महान्मेनुग्रहः कृतः ॥२७॥

श्लोकार्थ—इन्द्रियों से जिनका ज्ञान नहीं होता है, वैसे भगवान् में पापने सर्वात्म भाव किया है । वह भी विरह में किया है, अतः आप महाभाग हो, उस भाव का आपने मुझे दर्शन करा कर मेरे पर महान् अनुग्रह किया है ॥२७॥

सुबोधिनी—तदुपपादितं दशधा । तत्रापि विशेषमाह विरहेणेति । संयोगे भवेदपि तादृशी मतिः, सर्वोप्यात्मनो भावः भगवत्येवाधिकृतः उत्तरोत्तरवृद्धिमारब्ध इव । विषयस्याप्यलौकिकत्वमाह । अधोक्षज इति । अधः अक्षजं यस्मादिति, कोपि भावः तत्र कर्तुं मशक्यः, तादृशे सर्वात्मभावो दुर्लभः । तत्रापि बहूनाम्, तत्रापि साधनरहितानां भवतीनाम् । तर्हि साधनाभावे

दृश्यमानं कार्यं भ्रमप्रपन्नं भविष्यतीत्याशङ्क्याह हे महाभागा इति । भवतीनामुत्पत्तिशिष्टमेव तादृशं भाग्यं साधनमिति न साधनाभावः । ननु स्तुतिरेवैषा क्रियते न वस्तुतः इत्याशङ्क्याह महान्मेनुग्रहः कृत इति । न हि कोपि परस्तोत्रं कुर्वन् आत्मनो गुणभावमङ्गीकरोति, अतः स्वाभिप्रायप्रदर्शनेन त्वयाप्येवं कर्तव्यमिति उपदेशेन महान्मेवानुग्रहः कृतः ॥२७॥

व्याख्यानार्थ—'भगवता सह संल्वाप' इन कारिकाओं में पूर्व ही वर्णन कर आए हैं कि भगवान् के साथ दश इन्द्रियों द्वारा दश प्रकार के भावों की भावना करनी, यह ही इन्द्रियां वालों का फल है,



इस प्रकार की भावना सयोग दशा में तो हो सकती है, किन्तु आपको विरह में भी वैसे जो भावना हुई वह हो आप में विशेषता है, आपने जो सर्व प्रकार का भी अपना भाव भगवान् में ही लगा दिया है वह भी इस प्रकार जो उत्तरोत्तर बढ़ता ही जावे, फिर यह विषय भी अलौकिक है; क्योंकि विरह अवस्था में जिसमें आपने भाव लगाया है, वह अधोक्षज है अर्थात् जहाँ इन्द्रियां पहुँच नहीं सकती हैं वैसे में कोई भी भाव करना जब कठिन है, तो सर्वात्मभाव तो दुर्लभ हो होगा। उसमें भी बहुतों का होना और वे बहुत भी साधन रहित हो; इससे तो अतीव दुर्लभ है। हम साधन रहितों के इस भाव की प्रतीति आपको जो हो रही है वह भ्रम से होगी ? इसके उत्तर में हे महाभाग सवोधन से कहते हैं कि यह प्रतीति हमको भ्रम से नहीं हुई है; किन्तु वास्तविक हो रही है, कारण कि आपका जन्म ही उत्तम होने से साधन रूप है, इसलिए अन्य साधन की आवश्यकता नहीं, वही साधन है। इस पर गोपियाँ कहती हैं कि यह तो आप हमारी वृथा झूठी बड़ाई करते हो, जिसके उत्तर में उद्धवजी कहते हैं कि नहीं, मैं जो कह रहा हूँ वह आपकी प्रत्यक्ष कृति देखकर कह रहा हूँ, जिसका दर्शन कराके आपने मुझे उपदेश दिया है कि तुमको भी यों करना चाहिए, यों करने से मुझ पर बड़ा अनुग्रह किया है ॥२७॥

आभास—अतोनुगृहीतेन धाष्ट्यात् किञ्चिद्विज्ञाप्यत इत्याह श्रूयतामिति ।

आभासार्थ—अतः मैं अनुगृहीत की धृष्टता से कुछ वर्णन 'श्रूयतां' श्लोक में करता हूँ, उसको सुनिए ।

श्लोक—श्रूयतां प्रियसन्देशो भवतीनां सुखावहः ।

यमादायागतो भद्रा अहं भर्तृरहस्करः ॥२८॥

श्लोकार्थ—आपको सुख देने वाले प्यारे का संदेश, मैं उनका मित्र, रहस्य लेकर आया हूँ, हे कल्याणियों ! उसको तुम सुनो ॥२८॥

सुबोधिनी—स्तोत्रवदेतदप्यनभिप्रेतं ज्ञास्यन्तीत्याह प्रियसन्देश इति । भगवतोय सन्देशः प्रियत्वात् प्रीतिजनक एव भविष्यति, सन्देशपदेन चेतञ्ज्ञापयति । तदुक्तं भवतीभिरवश्यं कर्तव्यमिति । अन्यथा तदुपदेशं शृणुतेत्येव वदेत् । प्रियेणोपदिष्टत्वाद् असाध्यता दुःखसाध्यता च निवृत्तौ । कदाचिदन्यार्थमुपकारवद्वदेत्, तद्व्यावृत्त्यर्थमाह भवतीनां सुखावह इति । दृष्टफलापेक्षा भवत्यः, सुखं चावहतीति तत एव सुखं न तु भवतीनां पुनः साधनान्तरापेक्षापि । नन्वेता-

दृशत्वे किं प्रमाणं तत्राह यमादायागत इति । मया हि प्रथमतः सोर्था ज्ञातः, ज्ञायते च भवतीनामाधिकारः । एवमपि सति यत्पुनः तमेव सन्देशमादायाहमागतः । किञ्च । भर्तृरहस्करः । भर्ता हि स भवतीनां ममापि । स तमुपायं न वक्ष्यत्येव येन वयमभृताः भवामः । नापि प्रायिकोर्थः, यतोहमेकान्त एवाभिप्रेत करोमि, एकान्तं वा करोमि, गूढकर्ता न प्रतायते, भर्ता च न प्रतारकः । अतः सन्देशो यथोक्तफलकः ॥२८॥

व्याख्यान—उद्धवजी ने श्लोक में 'प्रिय सन्देश' पद दिया है, जिसके कहने का आशय बताते हैं कि जैसे गोपियों को अपना स्तुति पसंद न आई वैसे यह भी कदाचित् पसंद न आवे, इसलिए 'प्रिय' पद देकर यह कहा है कि यह सन्देश अन्य किसी का नहीं है, किन्तु तुम्हारे प्यारे भगवान् का है, अतः आपको इससे आनन्द ही प्राप्त होगा। इसलिए इस 'सन्देश' को सुनकर जैसा इसमें कहा है वैसा अवश्य करना। यदि यह सन्देश केवल सुनने के लिए होता तो 'शृणुत' क्रिया देते, किन्तु यह जो 'श्रूयतां' क्रिया दी है, जिसका भावार्थ है कि केवल सुनना नहीं, किन्तु यों कर्तव्य भी अवश्य करना। इस सन्देश को भेजने वाले तुम्हारे प्रीतम है, अतः उनसे जो सन्देश भेजा है वह न दुःख-साध्य और न असाध्य है आप दृष्ट फल चाहती हैं तथा यह सन्देश सुख देने वाला भी है, अतः सुख भी प्राप्त हो जायगा। फिर आपको सुख की प्राप्ति के लिए अन्य साधन करने की आवश्यकता नहीं है। यह सन्देश इस प्रकार का है—इसमें प्रमाण क्या? जिसके उत्तर में कहते हैं कि इसको मैं ले आया हूँ। मैंने प्रथम इस सन्देश के आशय को समझा और आपके अधिकार का भी विचार किया, इस प्रकार सोचकर फिर जब हितकारी समझा तब मैं ले आया हूँ। मैं कोई साधारण नहीं हूँ, किन्तु भर्ता का गुप्त कार्य करने वाला हूँ। जैसे वे आपके स्वामी हैं, वैसे मेरे भी भर्ता हैं। वे वैसा उपाय कभी न कहेंगे जिससे वे हमारे भर्ता ही न रहें। अर्थात् हमारे भरण पोषण से वे मुक्त हो जावें। यह सन्देश साधारण अर्थवाला नहीं है, कारण कि मैं उनका विशेष निजी कार्य करने वाला अन्तरङ्ग हूँ। जिससे उनका गुप्त कार्य मैं ही करता हूँ, जो वैसा गुप्त कार्य करने वाला होता है, उसको कोई भी बोखा नहीं देता है और जो भर्ता होते हैं वे कभी भी विश्वासघात करने (धोखा देने) वाले नहीं होते हैं, अतः यह सन्देश उस फल को देने वाला है, जिसको मैंने कहा है ॥२८॥

आभास—तमेवाह दशभिः भवतीनामिति ।

आभासार्थ—उस (सन्देश) को 'भवतीनां' श्लोक से प्रारम्भ कर दश श्लोकों से कहते हैं।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—भवतीनां वियोगो मे न हि सर्वात्मना वचित् ।

आत्मत्वाद्भूतवश्यत्वात्सत्यवाक्त्वात्स्वभावतः ॥२९॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि तुम्हारा वियोग किसी भी प्रकार से थोड़ा सा भी मुझे नहीं है, कारण कि मैं सबकी आत्मा हूँ, भक्तों के वश हूँ, सत्यवक्ता हूँ और स्त्रियों पर दया करना तो मेरा स्वभाव है ॥२९॥

कारिका—षड्भिः स्वरूपकथनं पुरुषार्थास्ततः परैः ।

जोवब्रह्मविभेदेन द्वेधा रूपं निरूप्यते ॥१॥

दोषाणां मूलभूतस्य विरहस्य निवारणे ।

बन्धमोक्षव्यवस्थायां जोवो द्वेधा निरूप्यते ॥२॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १० ॥

आश्रयत्वाच्च कर्तृत्वाद् द्वेधा ब्रह्मापि रूप्यते ।

दोषाभावप्रतिज्ञाद्ये हेतुभिर्विनिरूप्यते ॥३॥

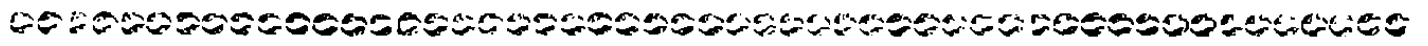
फलं जीवेपि येनैषा बुद्धिर्नश्यति सर्वथा ।

गुणा विभाजका यस्मात्त्रिभिस्त्रिभिर्बुद्धीयते ॥४॥

कारिकार्थ—प्रथम श्लोक में दोष का मूल जो वियोग है, उसकी निवृत्ति के लिए वर्णन है। दूसरे से पाँचवें तक के ४ श्लोकों में भगवत्स्वरूप का वर्णन है। छठे श्लोक में दोषों के अभाव तथा फल का वर्णन है। शेष ४ श्लोकों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष; इन ४ पुरुषार्थों का वर्णन है। विरह (पृथक्त्व) ही दोषों का मूल भूत कारण है, जिसको मिटाने के लिए बन्ध और मोक्ष; इन दो प्रकार की व्यवस्था से जीव दो प्रकार के वर्णित किए हैं तथा ब्रह्म भी कर्त्ता और आश्रय रूप होने से दो प्रकार के हैं। प्रथम श्लोक में प्रतिज्ञा हेतुओं से सिद्ध की गई है कि भगवान् में दोष नहीं है, जिससे उसका फल जीव को मिला। वह फल है, जीव की भगवान् में जो दोष बुद्धि थी, वह मिट गई। उससे मन का निरोध दोनों का पूर्ण हो गया। भगवत्प्राप्ति हो गई, यहाँ जीव तथा ब्रह्म के स्वरूपों का गुणों से वर्णन किया है, अतः तीन-तीन श्लोकों से जीव तथा ब्रह्म का वर्णन हुआ है। इन गुणों के कारण ही जीव और ब्रह्म में भेद का भ्रम हुआ है ॥१, २, ३, ४॥

सुबोधिनी - तत्र प्रथमं वियोगाभावाय मूल-हेतुं वदन् प्रतिजानीते । भवतीनामिति । वियोगः स्वाभाविकः, औपाधिकः, अज्ञानतश्चेति त्रेधा भवति । आत्मनां जीवानामेकत्वात् परस्परं भेदाभावेपि औपाधिको भेदोस्ति, तत्रोपाधयः उद्गमो वा, माया वा, भगवदिच्छा वा, अज्ञानं वेति वादान्तरम् । जीवब्रह्मणोस्तु भेदे अज्ञानमेव हेतुः, सुतरां वियोगे । ब्रह्मणस्तु तदुभयाभावान् न जीवैः सह कथञ्चिद् भेदः । भगवांस्त्यक्त्वा गत इति हीर्ष्यादौ हेतुः । स नापि त्यजति; नापि त्यागं मन्यते । जीवास्तु भगवन्तं त्यक्ष्याम इति वदन्तः भ्रान्ता एव । अतोऽयमर्थो निरूपणीयः । तत्र द्वेधापि प्रतिजानीते, भवतीनां वियोगो मम नास्ति, मम च वियोगो भवतीनां नास्ति । एकत्र कृतघ्नता, अपरत्र दुःखं च फलति । वस्तुस्वरूपेण

वियोगाभावेऽपि एकदेशेन वृक्षकपिवियोगवत् कालभेदेन च स्त्रीपुरुषवच्च वियोगः संभवति, तदुभयं निषेधति नहि सर्वात्मनेति । ष्वचिदिति काले, सर्वात्मना केनाप्यंशेनेति देशे । एवं चतुर्धा भवति । अत्र प्रायेण साधनचतुष्टयप्रतिपादकं अर्धमन्तरितमिति प्रतिभाति । आत्मत्वाद् भक्तवश्यत्वात् सत्यवाक्त्वात्स्वभावत इत्येवं रूपम् । गोपिकावियोगो भगवतो नास्ति, भगवानात्मेति, भगवद्वियोगश्च न गोपिकानाम्, भक्तवश्यत्वात्, कालभेदेनादि न वियोगः न पारयेहमिति । न ह्येतावदुक्त्वा एतावत्यर्थे तासामिच्छां किं न पूरयेत् । भगवत्प्राप्यं स्वभावः यत् स्त्रीषु कृपावान्, अतः केनाप्यंशेन ता न परित्यजति, विशेषहेतव एते चेद्भवन्ति ॥२६॥



व्याख्यान - तुमको मेरा वियोग नहीं है, जिसका मूल कारण बताते हुए भगवान् प्रतिज्ञा करते हैं कि आपका वियोग मुझे नहीं है, तो तुमको कैसे होगा ? अर्थात् वियोग^१ है ही नहीं। जीवों का ब्रह्मा के साथ वियोग वास्तविक नहीं है और न आगन्तुक है, किन्तु अज्ञान कृत है। जिसको विशेष स्पष्ट करने के लिए हेतुग्रा के भेद से उसका त्रैविध्य रूप बताते हैं, १-स्वाभाविक, २-ओपाधिक और ३-अज्ञान कृत।

जीवों का परस्पर भी भेद नहीं है, कारण कि आत्म स्वरूप में एक ही है। सब जीव चिद् रूप हैं, अतः एक होने से जीवों में स्वाभाविक भेद नहीं है, किन्तु पुष्टि प्रवाह मर्यादा भेद से उनके इस प्रकार उपाधिकृत भेद है। मुण्डक में कही हुई इस 'यथा प्रदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः प्रभवन्ते सरूपाः श्रुति के अनुसार उग्दम रूप भेद है। तापनीय में कही हुई इस 'जीवेशावाभासेन करोति माया चाविद्या स्वयमेव भवति' श्रुत्यनुसार और 'जलचन्द्र' दृष्टान्त के अनुसार अंश का पश्चात् प्रवेश होने से उसमें मिथ्यात्व नहीं है। तैत्तिरीय में कही हुई इस बहुस्यां प्रजायेय' श्रुति से भगव-दिच्छा है, अविद्या उपाधि मायावाद में कारण मानी गई है, वह 'इन्द्रो मायाभिः' को प्रमाण रूप में लेते हैं। ये वादान्तर है, वास्तव में जीव और ब्रह्मा में कोई भेद नहीं है और जो कुछ भेद प्रतीत होता है उसमें अज्ञान ही कारण है, विशेषकर वियोग में। ब्रह्मा में तो भेद तथा अज्ञान दोनों के अभाव से जीव के साथ भेद है ही नहीं, इससे भगवान् हमको छोड़कर चले गए, यह दोष भी भगवान् को लगाना नहीं है। भगवान् छोड़ गए यों कहना वा समझना ईर्ष्या से ही हुआ है। वे तो न छोड़कर जाते हैं और न त्याग मानते हैं, जो जीव कहते हैं कि हम भगवान् को छोड़ देगे, यों कहने वाले आन्त हैं, अतः यहां इस प्रकार अर्थ को कहना चाहिए। अर्थात् भगवान् ने वियोग को मिटाने के लिए ही सन्देश भेजा है। वहां अपने में और भक्तों में अर्थात् गोपियों में दो प्रकार से प्रतिज्ञा करते हैं कि १-आपका वियोग हमको नहीं है और मेरा वियोग आपको नहीं है। यदि आपको मेरा वियोग होवे तो मैं कृतघ्नी बनूँ और तुमको दुःख होवे। जब इस प्रकार वस्तु के स्वरूप का विचार किया जावे तो वियोग का अभाव है। अर्थात् वियोग है ही नहीं, तो भी देश से वृक्ष कपिन्याय^२ की भाँति काल भेद से अथवा स्त्री पुरुष की तरह वियोग हो सकता है, किन्तु वह भी यहां नहीं है। जिसको 'सर्वात्मना' 'क्वचित्' पद से बताते हैं कि कभी भी देश में वियोग नहीं है। वह वियोग चार प्रकार से होता है। १-भगवान् का किया हुआ वियोग, २-भक्त द्वारा किया हुआ वियोग, ३-काल से हुआ वियोग, ४-देश से हुआ वियोग। इन चार प्रकार के वियोग के हेतुओं को बतानेवाला आधा श्लोक टूटा हुआ यों प्रतीत होता है (आत्मत्वात्, भक्तवश्यत्वात्, सत्यवाक्त्वात् स्वभावत इत्येव रूपम्)। वह आधा भी इस प्रकार का होना चाहिए। भगवान् को गोपिकाओं का वियोग नहीं है, कारण कि भगवान् आत्मा

१-वियोग शब्द का अर्थ यहां जीव ब्रह्मा का परस्पर विभाग (पृथक्त्व) नहीं है, किन्तु संयोग होने पर जो स्पर्श होता है, वह वियोग समझना।

२-जैसे कपि कभी वृक्ष के किसी डाली पर कभी किसी पर बैठता है, वह है तो वृक्ष पर ही, वृक्ष से उसका वियोग नहीं है, वैसे ही स्त्री पुरुष का भी किसी काल में वियोग होता है, वास्तव में उनको वियोग नहीं कहा जाता, किन्तु यहाँ तो वह भी नहीं है।

२६ २७ २८ २९ ३० ३१ ३२ ३३ ३४ ३५ ३६ ३७ ३८ ३९ ४० ४१ ४२ ४३ ४४ ४५ ४६ ४७ ४८ ४९ ५० ५१ ५२ ५३ ५४ ५५ ५६ ५७ ५८ ५९ ६० ६१ ६२ ६३ ६४ ६५ ६६ ६७ ६८ ६९ ७० ७१ ७२ ७३ ७४ ७५ ७६ ७७ ७८ ७९ ८० ८१ ८२ ८३ ८४ ८५ ८६ ८७ ८८ ८९ ९० ९१ ९२ ९३ ९४ ९५ ९६ ९७ ९८ ९९ १००

है। गोपियों को भी भगवान् का वियोग नहीं है, क्योंकि भगवान् भक्तों के वश हैं। काल भेद से भी वियोग नहीं है, कारण कि भगवान् ने 'पारयेऽहं' आदि जो शब्द कहे हैं, सो वियोग होवे तो ये भगवान् के वाक्य असत्य हो जावें। केवल इतना कह दिया, यों नहीं है, उनकी इच्छा भी पूर्ण करनी है, क्योंकि प्रभु सत्यवादी हैं तथा उनका स्वभाव भी वैसा है। जो स्त्रियों पर कृपा ही करते हैं, अतः किसी भी अश से उनका त्याग नहीं करते हैं, क्योंकि भगवान् में अत्याग के लिए जब ये चार विशेष हेतु विद्यमान हैं तब कैसे छोड़ सकते हैं? इसलिए वियोग देते ही नहीं है ॥२६॥

आभास—सामान्यहेतूनाह यथा भूतानीति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—यथा भूतानि' से दो श्लोकों में सामान्य हेतुओं को कहते हैं ।

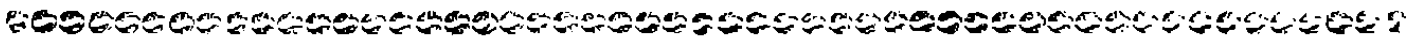
श्लोक—यथा भूतानि सूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ।

तथाहं च मनःप्राणबुद्धीन्द्रियगुणाश्रयः ॥३०॥

श्लोकार्थ—जैसे भौतिक देहों में आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी रहते हैं; वैसे ही मैं मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रियों और गुणों का आश्रय हूँ ॥३०॥

सुबोधिनी—भगवान् आश्रय इति ता विहाय क्व यास्यति, अन्यथा आधाराभावे तासां स्वरूपमेव न तिष्ठेत् । अथ देहभावेन आत्मा गौण इति देहेन सह वियोग आविर्भूतस्योच्येत । तदपि न घटते, समवायिकारणत्वेन तेषु वर्तते इति, अन्यथा देहा निःस्वभावाः स्युः । आविर्भूतेन वियोगस्तु हितकारी । अन्यथा स्वरूपनाश एव स्याद् यथाग्निकाष्ठयोः । पूर्वसम्बन्धेनैवैता अर्धदग्धाः, पुनः सम्बन्धेन सर्वदाह एव स्यात्, सुखानुभवस्तु स्वान्तःस्थिताभ्यभिव्यक्तिवत्स्वान्तःस्थितभगवदभिव्यक्त्या, सर्वथाभिव्यक्तो काष्ठांशो ज्वालिष्यतीति न सम्बध्यते, यतो भगवान् प्रलयकर्ता । स्थितिहेतुत्वान् नैकदेशेनापि वियोगः संभवति । तदाह दृष्टान्तेन । यथा भूतानि महाभूतानि अन्येषां भूतानामाधारभूतानि सन्ति तेभ्यो न वियुक्तानि भवन्ति । तथा भगवानपि देहांशेन न वियुक्त इति दृष्टान्तेनैव साधितम् ।

प्रकरणेनैव तल्लभ्यमिति अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः । साधारणदृष्टान्तेन च । चकारात् पुनरुक्तेन दृष्टान्तान्तरमाह । तथाहमिति । देहव्यतिरिक्तानि च मनःप्राणबुद्धीन्द्रियगुणात्मकानि, तेषामप्यहमाश्रयः, समसङ्ख्यार्थं पञ्च गणिताः, सत्त्वादिगुणेषु प्रकृतेरन्तर्भावः अहङ्कारस्य च, त्रिगुणात्मकत्वाद् बुद्धौ चित्तस्य । प्राणाः दशेन्द्रियाणि च, सङ्कल्पादिसर्वधर्मसहितं च मनः । क्रमे च 'अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वाग्' इति, सा हि बुद्ध्यात्मिका ज्ञानप्रधाना, यथा रूपं क्रियाप्रधानम् । इन्द्रियाणि प्राणेन वायुना पुष्टानि, गुणाश्चाकाशे, अत एवाभ्रतमः प्रकाशा आकाशे भवन्ति न भवन्तीति च । खं वाय्वग्निर्जलं महीत्युत्पत्तिप्रकारेणाधारत्वेन वा गणना, अन्नं महीति पर्यायः । एतेषु जीवस्थितेषु कारणभूतान्येतानि सन्तीति वक्तव्येपि प्रसिद्धभावान् नोक्तम् ॥३०॥



व्याख्यान—जब भगवान् ही आश्रय+ है, तो गोपियां उनका त्याग कर कहाँ रह सकेंगी ? आधार के अभाव में स्वरूप का ही नाश हो जाएगा । यदि कहा जावे कि देह मुख्य है, आत्मा गौण है, अतः आविर्भूत भगवान् का वियोग देह के साथ हो सकता है, यह कहना भी नहीं बन सकता है, क्योंकि भगवान् उन देहों में समवायी कारण से विराजते हैं । यदि भगवान् की स्थिति उनमें न होवे तो वे देह भगवान् के स्वभाव^१ से रहित हो जावे । उनमें रस स्वरूप का प्रादुर्भाव ही न होवे । यों वियोग होने का क्या कारण है ? इस पर कहते हैं कि वियोग ही हिन करने वाला है । वियोग के कारण ही रसात्मा का प्रादुर्भाव होता है, किन्तु वियांग के कारण उससे संयोग नहीं होता है । यदि संयोग हो जाय तो जैसे प्रकट अग्नि के संयोग से काष्ठ भस्म होता है, वैसे ही आप(गोपियां) भी नष्ट हो जाएँगीं । अतः वियोग हितकारी है । पूर्व समय में सम्बन्ध होने से आप अर्धदग्ध^२ हो गई हो । फिर सम्बन्ध होवे तो सम्पूर्ण जलकर भस्म हो जाएगी । सुख अनुभव तो अपने भीतर अग्नि के समान प्रभु अन्तःकरण में ही विराजकर कराते है, तब होता है । यदि अग्नि बाहर प्रकट होती है तो काष्ठ जल जाता है, जिससे काष्ठ प्रकट अग्नि से सम्बन्ध करना नहीं चाहता है । करे तो नाश हो जावे । भीतर की अग्नि से काष्ठ को आनन्द मिलता है और अस्तित्व को भी रख सकता है । भगवान् तो प्रकट प्रलय करने वाले हैं, भगवान् स्थिति के कारण है, अतः एक देश से भी वियोग हो नहीं सकता है । वह दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे महाभूत^३ अन्य भूतों^२ के आधार हैं, अतः उनसे जुड़े हो नहीं सकते हैं । वैसे भी भगवान् भी देहांश से पृथक् हो नहीं सकते हैं । प्रकरण के अनुसार ही शब्दों का अर्थ किया जाता है तथा साधारण दृष्टान्त से भी वह अर्थ करने में वा समझने में आता है । फिर अन्य दृष्टान्त कहते हैं—देह से पृथक् मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और गुण, इन पाँचों का भी मैं आधार हूँ । महाभूतों की संख्या पाँच है, तो इनकी उन (महाभूतों) के समान बतादी है । अहङ्कार और प्रकृति का सत्त्वादि गुणों में अन्तर्भाव कर दिया है क्योंकि वे त्रिगुणात्मक हैं । चित्त का बुद्धि में अन्तर्भाव समझना, प्राण, दश इन्द्रियां और सङ्कल्प आदि सर्व धर्मों वाला मन है ।

उत्पत्ति के क्रम में कहा है कि 'अन्नमयं^३ हि सोम्य मनः, आपोमयाः प्राणाः, तेजोमयी वाक्' वह वाणी बुद्धि रूप ज्ञानात्मिका है । जैसे रूप क्रियात्मक है, इन्द्रियां प्राण वायु से पुष्ट होती हैं

+ गोपियों ने जो कहा है कि हमको भगवान् का वियोग है, वह कहना सत्य नहीं है, क्योंकि भगवान् गोपियों का आधार है और आधार का त्याग नहीं हो सकता है ।

अर्धदग्ध होने पर भगवान् के स्वरूप की स्फूर्ति आधी होती है । यदि फिर सम्बन्ध हुआ तो स्व स्वरूप की स्फूर्ति भी नष्ट हो जाएगी— प्रकाश'

१- रस स्वरूप से ।

१- पृथ्वी, जल, वायु आकाश और तेज, २- देहों के,

३- सोम्य मन असरूप है, प्राण जलरूप है, वाणी तेजो हैरूप ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १३० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १३० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १३० ॥

सत्त्व आदि गुण आकाश में हैं, इसलिए ही बादल से कभी अन्धकार और कभी प्रकाश होता है, कभी नहीं भी होता है। ये उपलक्षण रज, तम और सत्त्व के हैं 'ख वाय्यग्निर्जल मही' ये भूत हैं। इनकी उत्पत्ति क्रम से वा आधास्त्व से गणना की है। अन्न तथा मही ये परस्पर यहां पर्यायवाची शब्द समझने चाहिए। यद्यपि इन जीवों की स्थिति में ये कारण रूप हैं, तो भी इनको स्पष्ट न कहने का कारण यह है कि उनकी प्रसिद्धि नहीं है ॥३०॥

आभास—अतः परं कारणभूतत्वात् कार्यस्य न कारणव्यतिरेक इति भगवद्विरहो गोपिकानां नास्तीति वक्तुमाह आत्मन्येवेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार कहने के अनन्तर कहते हैं कि आप गोपिकाओं को भगवान् से विरह है ही नहीं, क्योंकि आप कार्य रूप हैं और भगवान् कारण रूप हैं। कारण से कार्य पृथक् हो ही नहीं सकता है। 'देखिये-आत्मन्येवात्मना' श्लोक में इस विषय को समझाते हैं।

श्लोक—आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये ।

आत्ममायानुभावेन सूतेन्द्रियगुणात्मना ॥३१॥

श्लोकार्थ—मैं अपनी आत्मा में ही आत्मा रूप साधन से अपना ही सृजन करता हूँ, नाश करता हूँ और पालन करता हूँ। ये सब मेरे कारण रूप माया के प्रभाव से भूत; इन्द्रियाँ और गुणों द्वारा होता है ॥३१॥

सुबोधिनी—कतो भगवान् 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इति श्रुतेः। समवायश्च भगवान् 'तस्माद्वा एतस्मादि'ति श्रुतेः। 'स आत्मानं स्वयमकुस्ते'ति श्रुतेश्च कार्यमपि स्वयमेव। जीवपरत्वेऽपि सुतरामत्र न सन्देहः। आधारे सन्देह इति। समवाय्यतिरिक्ताधारं निरूपयन्नाह आत्मन्येवेति। यथा कुलालश्चक्रे घटं करोति, आत्मानात्मसङ्करप्रतिषेधाय एवकारः। करणस्य भिन्नत्वमाशङ्क्याह आत्मनेति। वैषम्यनर्घुण्यादिदोषाभावाय कार्यस्याप्यन्यत्व निवारयति आत्मानमिति। कदाचिदानीय कश्चिद् घटादिकमपि स्वस्मिन् स्थापयति स्वपादं च स्वजघने, स्फोटयति च स्वस्मिन्। तन्निषेधाय उत्पत्त्यादीनाह सृजे हन्मि। नाशयाम्यनुपालये। पालयामि।

पालनस्य पश्चाद्वचनं देशवियोगाभावे हेतुत्वज्ञापकम्। ननु 'एतस्माज्जायत प्राण' इति श्रुतौ पुराणे च साक्षात् परम्परया वा तत्त्वेष्वेव भगवत्कारणता प्रतीयते न भीतिकेषु। अत एव 'भूतैर्यदा पञ्चभिरित्यादिवाक्यानि तत्राह आत्ममायानुभावेनेति। अहमेव तत्रापि करोमि, परं मन्मायानुभावेन लोकोन्यथा मन्यते। मायया व्यवहितः मायां पुरस्कृत्य वा करणात्। ननु वाक्यानुभवाभ्यां पृथिव्यादेरेव कारणत्वं प्रतीयते तत्कथमत्र व्यामोह इति चेत्तत्राह भूतानि इन्द्रियाणि गुणाश्च आधिभौतिकादिभिन्नास्त्रिविधाः, तदात्मभूता माया तेषु प्रविष्टा; सा हि यत्र प्रविशति तत्रान्यदेव भासयति, अकरणेषु करणत्वम् ॥३१॥

व्याख्यानार्थ—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'तस्माद्वा एतस्मात्' इन श्रुतियों के अनुसार



कर्ता तथा समवायि कारण भगवान् हैं । 'स आत्मानं स्वयं अकुर्वत्' इस श्रुति प्रमाण से कार्य रूप भी भगवान् ही हैं । यदि इस श्रुति को जोव पर समझो तो भी कोई सन्देह नहीं है; किन्तु केवल आधार में सन्देह हो सकता है, जिससे समवायि के बिना अन्य आधारों का निरूपण करते हुए कहते हैं कि 'आत्मनि एव' जो कुछ करते हैं वह सर्व आत्मा में ही करते हैं; अतः आत्मा और अनात्मा का संकर भी नहीं होता है, इसलिये 'एव' पद दिया है । जैसे घट कुम्हार के चक्र ऊपर ही बनता है, कारण तो भिन्न होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'आत्मना' 'आत्मानं' आत्मा से ही आत्मा को करता हूँ । अर्थात् मैं ही सब कुछ करता हूँ और मैं ही सब कुछ हो जाता हूँ, जिससे वैषम्य, नर्घृण्य दोष भी नहीं होता है । कोई मनुष्य किसी समय घड़ा लाकर अपने शिर पर रखता है और अपने पैर को जांघ पर धर कर वहाँ ही घड़े को फोड़ देता है । इस प्रकार भगवान् की इस सृष्टि का कार्य नहीं है; क्योंकि घड़ा तो दूसरे का बनाया हुआ बाहर से लाया हुआ है और कार्य रूप जगत् तो भगवान् ने अपने में से ही बनाया है, अपने में ही रखा है, जिससे कहते हैं कि 'सृजे', 'हन्मि' और 'अनुपालये', मैं ही सृजन+करता हूँ । मैं ही नाश *करता हूँ और मैं ही पालन करता हूँ ।

देश वियोग का अभाव बताने के लिए ही 'पालन' अन्त में कहा है । 'एतस्योज्जायते प्राण' इस श्रुति में तथा पुराणों में साक्षात् वा परम्परा से भगवान् की कारणता, तत्त्वों में ही प्रतीत होती है न कि भौतिक पदार्थों में । यों मान लेने से ही 'भूतैर्यदा पञ्चभिरात्मसृष्टैः' वाक्यों की सङ्गति होती है । इस पर कहते हैं कि 'आत्ममायानुभावेन' वहाँ भी मैं ही अपनी योग माया के प्रभाव से प्रकट कर्ता हूँ, किन्तु लोक मेरी माया के प्रभाव से अन्यथा समझते हैं । मैं माया को आगे कर अथवा माया को बीच में रख कर कार्य वा सृष्टि करता हूँ, जिससे लोगों को वैसा भ्रम होता है । वाक्य तथा अनुभव से पृथिवी आदि का कारणत्व देखा जाता है तो इसमें मोह कैसे कहा जाता है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भूत, इन्द्रियाँ और गुण ये तीन ही आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक भेद से तीन प्रकार के हैं । उनमें आत्म रूप माया तब प्रविष्ट हुई है । वह जहाँ भी प्रवेश करती है, वहाँ दूसरा ही भासता है, जिससे लोग असाधन को साधन मान लेते हैं ॥३१॥

श्री प्रभुचरण कृत टिप्पणी का आशय —

+सृजन-यहाँ लीला में सृजन का तात्पर्य है, स्वरूप स्थिति, वह यहाँ प्रभु का मिलन है ।

*-नाश-यहाँ लीला में वियोग को कहते हैं जिसमें सर्व का तिरोधान होता है, वह भी रसदान के लिये किया जाता है ।

●-पालन-रसदानार्थ वियोग कर पश्चात् पालन करते हैं, अर्थात् स्वरूपानन्द का दान देते हैं, इसलिए ही यहाँ पालन अन्त में कहा है, नहीं तो सृष्टि के बाद पालन कहा जाता है; पश्चात् नाश कहते हैं ।

आभास—एवं ब्रह्मधर्मनिरूपणेन वियोगाभावं निरूप्य जीवधर्मनिरूपणेनापि तदभावं निरूपयन्नाह आत्मेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्म भाव से गोपियों को भगवान् का विरह नहीं है, यह कह कर अन्ध जोव भाव से विरह नहीं है, यह 'आत्मा ज्ञानमयः' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणाश्रयः ।

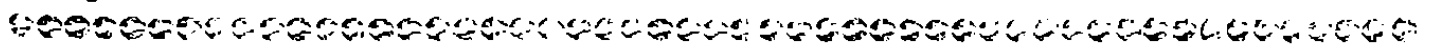
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्विर्मयावृत्तिभिरोयते ॥६२॥

श्लोकांथ—जीव ज्ञानमय, शुद्ध, देहादि से पृथक् है और गुणों का आश्रय नहीं है । माया की जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति; इन तीन वृत्तियों से भी जुदा है, तो भी चैतन्य होने से यों समझा जाता है ॥३२॥

सुबोधिनी—आत्मा जीवः, यं गोपिकाः ग्रह-
मिति मन्यन्ते, स देह एवेति प्रतीतिसिद्धत्वात्
तद्व्यतिरेकार्थमाह ज्ञानमय इति । मयद् प्राचुर्यं ।
सन्निदानन्दरूपत्वाज् ज्ञानप्रचुरोयमात्मेत्यर्थः ।
तर्हि वैषयिकज्ञानमयो भविष्यतीत्याशङ्क्याह
शुद्ध इति । ननु शुद्धमात्मानं न पश्यामः, अतः
प्रमाणाभावात्प्रतीतस्य चाशुद्धत्वाद् बाधितार्थ
इति चेत्तत्राह व्यतिरिक्त इति । अस्माद्देहादि-
सङ्घाताद्व्यतिरिक्तः, यथा तप्तवालुकातः सूर्यो
व्यतिरिच्यते । नन्वत्र व्यतिरेके का उपपत्तिरिति
चेत्तत्राह अगुणाश्रय इति । स हि गुणानाश्रित्य
न तिष्ठति । गुणाश्रया अन्ये । स तद्व्यतिरिक्तः ।
सर्वत्र तत्रानुभवं प्रमाणयति सुषुप्तीति । मायायाः

गुणमध्यः तिस्रो वृत्तयः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभेदाः,
तिसृष्वप्यलौकिकसामर्थ्यान् मायाग्रहणम्, अन्यथा
सुषुप्तौ परमानन्दस्फूर्तिः स्वप्ने नानाविधपदार्थानां
जागरणदशायां च चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धिर्न स्यात्।
अत्र सर्वत्र आत्मनः अन्वयो दृश्यते एकस्यां वृत्तौ,
द्वितीयवृत्तिव्यतिरेकश्च, तद्धर्माणां च, अतो ज्ञायते
यदा मूलभूतगुणाद्व्यतिरिच्यते अयमात्मा तदा
सङ्घातव्यतिरेकेषु किं वक्तव्यमिति । अतो वस्तुतः
आत्मा सङ्घाताद् व्यतिरिक्त इति आत्मनैव अहं
प्राप्तव्यः न तु देहसहितेन । न ह्युत्तमः पदार्थः
स्वोपभोग्यो धर्मः सह भोगमर्हति, अतो एव
सङ्घातादादौ निवृत्ता भवत पञ्चान् मनुष्यभोगं
कुरुतेति तात्पर्यम् ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—गोपीजन जिसको 'मैं' कहती हैं वह देह है, यह तो प्रतीति मात्र से भी समझा जा सकता है। किन्तु जीव को प्रतीति से नहीं जान सकते हैं, क्योंकि वह देह से पृथक् है तथा शुद्ध ज्ञान-मय और गुणों से परे है। यहां ज्ञान शब्द के साथ मयत् प्रत्यय है, वह बाहुल्य अर्थ में है। कारण कि जो सच्चिदानन्द रूप है विषय सम्बन्धी ज्ञान का उसमें बाहुल्य नहीं समझना चाहिए, क्योंकि वह शुद्ध है, यदि होवे तो देखने में न आवे ? क्योंकि शुद्ध आत्मा देखी नहीं जाती है। इसके उत्तर में कहते हैं कि यह इस देह आदि सङ्घात से पृथक् है, जिस प्रकार सूर्य बालुका को अपने प्रकाश से तप्त करता है, किन्तु स्वयं उससे जुदा रहता है। यह जीव, देहादि सङ्घात से पृथक् है तो उसकी उपपत्ति क्या है ? इस पर कहते हैं कि वह जीव गुणों का आश्रय नहीं है, गुणों के आश्रय दूसरे है। वह (जीव) उनसे जुदा है, इस विषय में सर्वत्र अनुभव को ही प्रमाण करते हैं। जैसा कि कहा जाता है



कि माया की गुणमयी जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति ये तीन वृत्तियाँ हैं । इसमें अलौकिक सामर्थ्य माया की वृत्तियों के कारण है । यदि इस प्रकार का सामर्थ्य न होता तो, सुषुप्ति अवस्था में परमानन्द की स्फूर्ति न होवे । स्वप्न में अनेक प्रकार के पदार्थों का भान न होवे और जाग्रत् में चतुर्विध पुरुषार्थ की सिद्धि भी न होवे । इन तीनों वृत्तियों में सर्वत्र आत्मा का सम्बन्ध है, एक वृत्ति में दूसरी वृत्ति का अभाव होता है, जिससे एक के दूसरे पे नहीं दिखते हैं । निर्गुण के तीन गुण हैं, जब इन मूल भूत गुणों से भी 'आत्मा' पृथक् है तो सङ्घात से पृथक् होने में क्या कहना है ? अतः सचमुच 'आत्मा' देह से जुदा है, जिसका आशय है कि भगवान् का बल आत्मा से ही प्राप्त करने योग्य है न कि देह सहित आत्मा से वह प्राप्त होता है । जैसे कि उत्तम पदार्थ जो अपने भोगने के योग्य होता है, वह अधमों के साथ नहीं भोगा जा सकता है । इस प्रकार के संदेश देने का भगवान् का भावार्थ यह है कि प्रथम इस सङ्घात का त्याग करो, पश्चात् मेरा उपभोग करो । अर्थात् मेरे रस स्वरूप का पान शुद्ध आत्म स्वरूप से ही किया जा सकता है ॥३२॥

आभास—साधनाकाङ्क्षायां तदुपदिशति येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेतेति ।

आभासार्थ—साधन की आकांक्षा होने पर 'येनेन्द्रिया' श्लोक में उपदेश देते हैं ।

श्लोक—येनेन्द्रियार्थान् ध्यायेत् मृषा स्वप्नप्रवृत्तिः ।

तस्मिन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रतिपद्यते ॥३३॥

श्लोकार्थ—जिस मन से स्वप्न की भाँति उपस्थित मिथ्या रूपादि विषयों का ध्यान किया जाता है, उस मन को रोकना चाहिए और इन्द्रियों का भी संयम करना चाहिए; जिससे आत्मा जाग्रत होकर मुझे प्राप्त कर सके ॥३३॥

सुबोधिनी—येन मनसा इन्द्रियार्थान् रूपादि-विषयान् मृषा अविद्यमानान् असंभावितान् ध्यायेत् पुरुषः, यस्मिन् विद्यमाने ध्यानमावश्यकमिति । नन्वयमपि पुरुषार्थ इति चेत्तत्राह स्वप्नप्रवृत्तिः । जन्मान्तरोत्पत्त्यर्थमेव तस्य ध्यानं । यथा स्वप्नसूचकः तथा ध्यायमानं मनोपि जन्मान्तरं सूचयति, न तु स्वरूपतः किञ्चित्पुरुषार्थसाधकम्, अतो नर्थसूचकं तन्मनो निरुन्ध्यात् । तस्यापि

निरोधे इन्द्रियनिरोधकरणमिति इन्द्रियाणि च निरुन्ध्यादित्याह इन्द्रियाणोति । उभयनिरोधे किं स्यादित्याशङ्क्याह विनिद्रः प्रतिपद्यते इति । अवस्थाद्वय समीचीनम् । आनन्दोभिव्यज्यते । पुरुषार्थाश्चान्यत्रोति । अतः स्वप्न एव व्यर्थः इति सूचयितुं वैयर्थ्यापगमाय विनिद्रः सन् आत्मानमयमस्मीति प्रतिपद्यते सङ्घातव्यतिरिक्तम् ॥३३॥

व्याख्यानार्थ—पुरुष जिस मन से इन्द्रियों के अर्थ, जो रूपादि विषय हैं, जिनका होना मिथ्या और असम्भवित है, उनका ध्यान करता है । जिनके होने से तो ध्यान आवश्यक है यह भी तां

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३३ ॥

पुरुषार्थ है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'स्वप्नवत्' दूसरे जन्म की तरह, वह मन का ध्यान अन्य जन्म के उत्पत्ति के लिए ही है । जैसे स्वप्न केवल सूचना करने वाला है, वैसे ही यह ध्यान करने-वाला मन भी दूसरे जन्म की सूचना करता है । यह ध्यान वास्तविक स्वरूप से कुछ भी पुरुषार्थ को सिद्ध नहीं करता है, अतः अनर्थ की सूचना करने वाले इस मन को + विषयों से रोकना चाहिए । मन तब रोका जा सकता है जब इन्द्रियों को विषयों से रोका जावे । इन्द्रियाँ ही मन को विषयों में घसीट कर ले जाने वाली हैं, अतः इन्द्रियों को प्रयत्न पूर्वक प्रथम रोकना आवश्यक है । दोनों के रोकने से क्या होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'विनिद्रः प्रतिपद्यते' आत्मा की नींद नष्ट हो जाएगी तो वह परमात्मा को पा सकेगी । निद्रा उड़ जाने से स्वप्न की स्थिति का नाश हो जाएगा, जो कि वह स्थिति पतन कराने वाली है, शेष दो सुषुप्ति और जाग्रत उत्तम हैं । एक में आनन्द मिलता है और दूसरे में पुरुषार्थ सिद्ध होते हैं, अतः स्वप्न ही व्यर्थ है । उस निष्फलता को मिटाने के लिए पुरुष को निद्रा का त्याग कर जाग्रत होना चाहिए । उस अवस्था में समझ सकता है कि मैं यह हूँ अर्थात् मैं आत्मा हूँ देह नहीं हूँ । यों समझने के अनन्तर ही भगवान् को उस आत्म स्वरूप से पा सकता है ॥३३॥

आभास—तनु शास्त्रेषु वेदादिषु बहून्ध्यात्मज्ञानार्थ साधनान्युक्तानि तत्कथं मनो-
निरोधमात्रमुच्यत इत्याशङ्क्याह एतदन्तः समाम्नाय इति ।

आभासार्थ—वेद आदि शास्त्रों में आत्म स्वरूप के ज्ञान के लिये अनेक साधन कहे हैं । आप केवल मन के निरोध को ही साधन कैसे कहते हैं ? जिसका उत्तर 'एतदन्तः' श्लोक से देते हैं ।

श्लोक—एतदन्तः समाम्नायो योगः साङ्ख्यं मनीषिणाम् ।

त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः ॥३४॥

श्लोकार्थ—वेद, अष्टाङ्ग योग, साङ्ख्य, सन्यास, तपस्या, इन्द्रिय निग्रह और सत्य; इन सबका अन्तिम फल विद्वानों के लिए मनोनिग्रह ही है । जैसे नदियाँ आखिर समुद्र में ही जाकर गिरती हैं ॥३४॥

+ विषयों से मन को रोकने का आशय स्पष्ट करते हुए श्री प्रभु चरण टिप्पणी में आज्ञा करते हैं कि प्रभु की लीला में अलौकिक भाव आना कठिन होता है, जिसका कारण मन लौकिक विषयासक्त है । वह मन ही अलौकिक लीला में भी लौकिक भाववाला हो जाता है । वह लौकिक भाव जब निवृत्त होगा तब लीला में अलौकिक भावना दृष्टि गोचर होगी, इसलिए मन को सर्व विषयों से मुक्त करना चाहिए । विषयों से मुक्त होकर जब मन अलौकिक भगवद्भाव भावित होगा, तब भगवान् का दर्शन कर सकेगा ।

१- ब्रह्म का अंश जीव हूँ ।

सुशोधिनी - वेदो हि साधनान्युपदिशति । तस्यापि मनोनिग्रह एव अन्तः पर्यवसितं साधनमेतदेवान्तो यस्य तादृशः समाधायो वेदः, 'सर्वं मनोनिग्रहलक्षणान्ता' इति शास्त्रात् । योगस्य त्वेतदेव प्रयोजनम् । साङ्ख्यमप्यध्यस निवर्तयन् मूलकारणं मन एव व्यावर्तयति । ननु लोका नैवं व्याचक्षते तत्राह । मनीषिणामिति । विवेकिनामेतद्व्याख्यातं । मनस ईषिणो मनीषिणः, आत्मसम्बन्धः साक्षान्मनस्यैवेति हेतुरप्युक्तः । ननु स्वतन्त्राणि मोक्षफलानि साधनानि श्रूयन्ते यथा सन्यासः, यथा तपो वनस्थस्य, यथा वा इम

इन्द्रियसयमो गृहस्थस्य, सत्यं ब्रह्मचारिणो वेदा-
ध्ययनरूपम्. एतेषां माश्रमधर्माणामपि मनोनिग्रह-
पर्यवसायित्वमेव । तत्र हेतुं वदन् दृष्टान्तमाह
समुद्रान्ता इवापगा इति । वहन्त्य आपः भूमौ न
पर्यवसिताः, तथा सति स्थावरा इवात्रैव तिष्ठेयुः,
अतो भूम्यन्ताय प्रमर्षन्ति, तत्रावधिः समुद्र एव,
तथा सञ्जातेपि प्रविष्टाः लौकिकवत्तत्रास्थिराः
तदपगमाकाङ्क्षिणः सन्मार्गे प्रवृत्ताः न्यासाधि-
कारिणः मध्ये स्थितिमलभमानाः साक्षान्मनसि
सम्बद्धमात्मानं मोचयन्तः तन्निग्रह एव विश्रान्ता
भवन्ति ॥३४॥

व्याख्यानार्थ – वेद साधनों का उपदेश देता है। उन साधनों का भी अन्त मन निरोध ही है। श्री मद्भागवत 'सर्वे मनोनिग्रह लक्षणान्ता' कहती है अर्थात् सर्व शास्त्र का अन्त मनोनिग्रह ही है। योग का प्रयोजन तो केवल मन को रोकना ही है। सांख्य शास्त्र भी अध्यास की निवृत्ति के लिए उसके मूल कारण मन को ही बदलना है। लोग तो इस प्रकार नहीं मानते हैं, जिसके उत्तर में कहा है कि यह उपाय बुद्धिमानों के लिए है। इसमें यह हेतु भी दिया है कि आत्मा का सम्बन्ध मन के साथ ही है। मोक्ष फल देनेवाले स्वतन्त्र साधन भी सुने जाते हैं, जैसे कि सन्यास, तप वनवासी के लिए, दम और इन्द्रिय-निग्रह गृहस्थ के वास्ते, ब्रह्मचारी के लिए वेदाध्ययन रूप सत्य कहा है। उन आश्रमादि धर्मों का फलितार्थ मनोनिग्रह ही है। जिसमें हेतु देते हुए दृष्टान्त कहते हैं 'समुद्रान्ता इवापगाः' नदियां पृथ्वी पर बहती रहती हैं, किन्तु उनका अन्त समुद्र में ही है। यदि यों न हो तो वृक्षों की भाँति पृथ्वी पर ही स्थिर रहे, किन्तु स्थिर न रहकर चलती चलती समुद्र में ही स्थिति करती हैं। इसी प्रकार देह में प्रविष्ट जीव भी लौकिक में रहकर वहाँ से निकलने की इच्छा से सन्मार्ग में प्रवृत्त होकर सन्यास धारण करता है, वहाँ भी स्थिति न रहे, तदर्थ साक्षात् मन से सम्बद्ध आत्मा को छुड़ाने के लिए जब मन का निग्रह करते हैं तब उसको आराम आता है ॥३४॥

ग्राभास—एवं वियोगाभावं वियोगस्योत्तमत्वं च परमार्थतो निरूप्य लौकिक-
प्रतीतो तद्व्यधिकरणमिति मत्वा दूरे स्थितिलक्षणस्य वियोगस्य चतुर्विधपुरुषाः साधक-
त्वमाह यस्त्वहमिति चतुर्भिः ।

आभासायं—इस प्रकार वियोग^१ का अभाव एवं वियोग को उत्तमता का वास्तविक वर्णन कर, अब लौकिक प्रतीति से वियोग उत्तम नहीं है, किन्तु दूर रहने को समझना कि हम भगवान् से वृथक् हैं इस प्रकार का वियोग उत्तम है, क्योंकि चार प्रकार के पुरुषार्थों को सिद्ध करता है—वर्णन निम्न ४ श्लोको में करते हैं ।

श्लोक—एत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम् ।

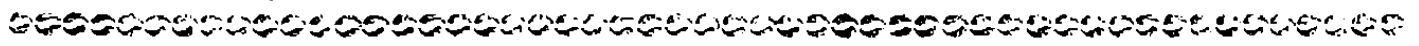
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाश्यया ॥३५॥

श्लोकार्थ—आपकी दृष्टि को जो प्रिय मैं हूँ, वह आपसे दूर इसलिए हो रहा हूँ कि आपके मन को अपनी तरफ खींच लूँ; जिससे आप मेरा ध्यान करती रहें। १३५।

सुबोधिनी — गोपिकानां धर्मादयो भगवानेव,
परं प्रकारविशेषमापन्नः । तत्र धर्ममाह । तुल्यवद्वत्त्वरूपं व्यावर्तयति । अहं भवतीनां यद्
दूरे वर्ते तन्मनसः सन्निकर्षार्थम्, दृशो दूरे स्थितो
मनसि सन्निकृष्टो भवति, तत्र हेतुमाह प्रिय इति ।
अयमर्थः । बहिर्भगवति गोपिका दृष्टिं प्रक्षिपन्ती
स्वधर्मान् दृष्टिधर्मान्वा योजयति न तु स्वयं भग-
वद्धर्मान् गृह्णाति, मनसि तु भगवति समागते
मनो भगवद्धर्मान् गृह्णाति, एतत्तु हिताचरणं
प्रियस्य कार्यम् । अनेन योगाद्यपेक्षयापीयमवस्था
समीचीनेति जापितम् । योगे हि चक्षुर्वन् मनोपि
स्वधर्मानेव भगवत्पारोपयति, परं स्वयं निर्मा-
णार्थं शास्त्रतः तद्धर्मान् गृह्णातीति विशेषः । विर-
हं स्मरणे तु बलादागत इति भगवानेव स्वध-

मन् स्थापयति, मनोधर्माणां दुर्बलत्वाद् विपरी-
तत्वाच्च भगवतः, यतोहं प्रियः अतो दूरे वर्ते ।
मनसा ह्यात्मा सम्बद्ध इति च । तथा सत्यात्म-
गामि भवति, विषयेषु तु तेषामभावाज् जन्मान्त-
रसाधकत्वेनानर्थहेतुत्वमेव । किञ्च । न केवलं
सन्निकर्षमात्रं फलं किन्त्वन्यदप्यस्तीत्याह मदनु-
ध्यानकाम्ययेति । ममानुध्यानमेव ममाभिप्रेतम्,
गोपिकाश्चेन्मदभिध्यानं कुर्वन्ति तदाहं तासु रतिं
करोमि नत्वन्यथा, अक्लिष्टकर्मत्वात्, अतः स्वा-
र्थमप्येवं करोमीत्यर्थः । कामेन हि सम्बन्ध-
उभयोः, स च मनसि प्रतिष्ठितः, मनसो दूरभावे
मानादिना सम्बन्धाभावादहमपि निवृत्तो
भवामि ॥३५॥

व्याख्यान—गोपियों का धर्म आदि चार पुरुषार्थ भगवान् ही है, किन्तु वह एक ही चतुर्विध पुरुषार्थ रूप कैसे होंगे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि वे विशेष प्रकार से चतुर्विध पुरुषार्थ रूप होते हैं । जैसे कि स्मृति विषय भी आप होते हैं, गुप्त रीति से रक्षा भी आप करते हैं, सर्व प्रकार की कामना रूप भी आप ही है, सायुज्य दाता भी आप हैं, इस विशेष प्रकार से गोपियों का चतुर्विध पुरुषार्थ भगवान् ही है । 'तु' शब्द इसलिए दिया है कि प्रथम के कुछ श्लोकों में तत्त्वों का निरूपण कर दिया, अब यहां चतुर्विध पुरुषार्थों का निरूपण किया जाता है । मैं जो आप से दूर रहता हूँ, वह इसलिए कि आपका मन मेरे निकट हो, कारण कि जो दृष्टि से दूर होता है वह मन के पास हो जाता है, क्योंकि वह प्रिय है, इस विषय को स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि जब भगवान् दृष्टि से देखे जाते हैं तब गोपिकाएँ अपने धर्मों को अथवा दृष्टि के धर्मों को भगवान् में नियुक्त कर सकती हैं; किन्तु भगवान् के धर्मों का ग्रहण नहीं कर सकती हैं । अतः प्यारे का कर्तव्य है कि वह वंसा उपाय करे जैसे उन (भगवान्) के धर्मों को वे (गोपिकाएँ ग्रहण) कर सकें । इसलिए भगवान् दूर रहकर गोपियों के मन को अपनी तरफ खेंच रहे हैं जिससे मन में भगवान् के पधारने से उनके धर्मों को भी मन ग्रहण कर लेगा । इससे बताया कि योगादि से जो मन का निरोध आदि होता है उससे भी यह अवस्था यथार्थ रीति वाली उत्तम है । योग में चक्षु के समान मन भी अपने धर्मों को ही भगवान् में आरोपण करता है, किन्तु योगी को तो परमात्मा की मूर्ति के निर्माण के लिए शास्त्र से भगवान् के



धर्मों को ग्रहण करना पड़ता है। यह योग में विशेष कर्म करना पड़ता है, क्योंकि वहां साक्षात् अनुभव वियोग के समान नहीं है, किन्तु विरह में तो मन से स्मरण होते ही स्वतः भगवान् स्वयं पधार कर ही अपने धर्मों को स्थापित करते हैं, क्योंकि मन के धर्म दुर्बल हैं और भगवान् के धर्म प्रबल हैं, जिससे मैं प्रिय हूँ इसलिए मैं दूर रहता हूँ आत्मा मन से सम्बद्ध है, इसलिए दूर रहे तो मन उसमें लगा रहे। विषयों में तो उनका^१ अभाव ही है, इससे उनसे यदि आत्मा का सम्बन्ध हो जाय तो अनर्थ की उत्पत्ति होगी। दूर रहने का फल केवल मन को अपने पास खेंचना नहीं है, किन्तु अन्य भी है और वह यह है कि सदा मेरा ध्यान बना रहे, यही मुझे पसन्द है। इस प्रकार होने से यदि गोपियां मेरा ध्यान करती रहती हैं तो मैं भी उनसे रति करता हूँ न कि अन्य प्रकार से कारण कि मैं अविलम्ब कर्मा^४ हूँ, अतः स्वार्थ के लिए भी यों करता हूँ।

गोपिकाओं और भगवान् दोनों का सम्बन्ध काम के कारण है। वह काम मन में रहता है। यदि मन उनसे दूर है, मान आदि से उन से^२ सम्बन्ध छोड़ दिया है, तो वे^३ भी निवृत्त^४ हो जाते हैं ॥३५॥

आभास—ननु किमेतदुच्यते, अस्माकं तु सर्वदैव त्वयि मन इति चेत्तत्राह यथा दूरचर इति।

आभासार्थ—यदि गोपियां कह दे कि हमारा मन तो सदैव आप में लगा हुआ है। यह आप क्यों कह रहे हो कि मन लगाने के वास्ते मैं यों कर रहा हूँ। जिसका उत्तर 'यथा दूरचरे' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते।

स्त्रीणां च न तथा चेतः सन्निकृष्टेक्षिणोचरे ॥३६॥

श्लोकार्थ—स्त्रियों का चित्त, पति प्रदेश में हो, उसमें जैसा रहता है वैसा समीप रहने वाले, नेत्र से देखे जाने वाले पति में नहीं लगता है ॥३६॥

+ यदि गोपियां मन से ध्यान न करें तो रमण में क्लेश होगा, क्योंकि सङ्घात रसात्मक नहीं है—'लेख'

१- भगवान् तथा उनके धर्मों का,

२- भगवान् से,

३- भगवान्,

४- छोड़ देते हैं

[illegible]

सुबोधिनी—अयमेव च गोपिकानां धर्मः यथा सर्वदा मां स्मरन्ति, ममाप्ययं धर्मः यथा ताभ्यः आनन्दं प्रयच्छामि, एतदुभयं तदैव घटते नान्यथेति धर्मो निरूपितः । अर्थोपि भगवानेव परं गुप्ततया सख्यः तमेव हि गोपायति यत्र निरन्तरं मनस्तिष्ठति, अन्यथा क्षणमपि प्रमादे अर्थो गच्छेत् । अतः पाक्षिकः कादाचित्कां विदोषः परिहरणीय इति सन्निकर्षपेक्षया विप्रकर्षं मनसः स्थैर्यमाह दूरचरे दूरेऽस्थिरे, अन्यथा स्वयं गच्छेत् निराशो वा भवेत्, अतो दूरचरे आवश्यकं प्रेष्ठे

यथा मनो वर्तते निश्चल सर्वदा, तत्रापि स्त्रीणाम्,
निकटे हि शोघमेव मानादिदोषोत्पत्तिसम्भवात्,
चकारादन्येष्वपि सम्बन्धेषु पुत्रादिषु यथा पुत्रं
माता स्मरति पिता वा, एवमन्यत्रापि, तथा
सन्निकृष्टे चेतो न स्मरति, अयं हि बहिः पूर्व-
स्त्वान्तरः । किञ्च अयमक्षिगोचरः । न ह्यन्य-
विषये अन्यदिन्द्रियं स्वतन्त्रतया प्रवर्तते । अतः
एवाक्षिगोचरे न चेतः प्रवर्तते, बलिष्ठं च चेतः,
अन्यथा प्रःपक्षे विषये अन्यचित्तता न स्यात् ।

॥३६॥

व्याख्यार्थ—यह गोपियों का धर्म ही है, जो सर्वदा मुझे याद करती हैं। वैसे मेरा भी यह धर्म है जो उनको आनन्द देता है। वे दोनों गोपियों का स्मरण और मेरा (भगवान् का) आनन्द दान तब ही बन सकते हैं जब मन मेरे साथ सम्बन्ध हो जावे, अन्य प्रकार से नहीं। वह भी तब होता है जब मैं दूर रहूँ यह धर्म का निरूपण किया।

अर्थ भी भगवान् हो है, किन्तु वह गुप्त ही रखने योग्य है । जैसे किसी को भी उसका पता न लगे और वह तब होता है जब मन निरन्तर उसमें लगा रहता है । उसको भी छिपाकर रखा जाता है । यदि थोड़ा सा भी प्रमाद हुआ तो अर्थ चला जायगा, अतः पाक्षिक (कभी होने वाले) विस्मर-णात्मक प्रमाद रूप दोष को मिटाना चाहिये । वह भी तब मिट सकता है, जब प्रेष्ठ दूर रहता है । कारण कि सन्निकर्ष रहने से दूर रहने में मन को स्थिरता होती है, किन्तु दूर भी वैसे स्थान में रहे जहां मन की स्थिरता न हो जावे, अन्यथा मन वहां ही लग जावे अथवा निराश हो जावे, अतः प्रिय दूर हो तो मन सर्वदा उसमें स्थिर हो जाता है ।

इसमें भी स्त्रियों का मन पास में रहने से शीघ्र ही मान आदि दोष वाला हो जाता है 'च' शब्द का आशय है कि इस प्रकार अन्य गम्बन्धी पुत्र आदि में भी जैसे पिता तथा माता आदि का मन दूर होने पर ही स्मरण करता है वैसे ही सानिध्य में रहने वाले पुत्र का स्मरण नहीं होता है। इसी भांति अन्यो में भी समझना चाहिए। सन्निधि में चित्त वैसे स्मरण नहीं करता है, क्योंकि नेत्र से जो देखा जाता है, वह बाहर ही देखा जाता है। उसका बाहरका ही संबन्ध होता है भीतर का नहीं होता है, इसलिए प्रत्येक इन्द्रिय अपने २ विषय को देखती है। जैसे नेत्र बाहर की इन्द्रियें हैं, वे बाहर की वस्तु को देखती है और मन अन्दर की इन्द्री है अतः भीतर की वस्तु देख सकती है मन बलिष्ठ होने से और आन्तर भगवदीयत्व होने से वह उसको देख सकता है। प्रत्यक्ष नेत्र आदि से देखते हुए भी मन दूसरे में चला जाता है सो वह नहीं जाना चाहिए ॥३६॥

आभास—नन्वस्माभिः त्वत्प्राप्त्यर्थं चिन्ता क्रियते, तथा सति किं मनःस्थापनेन किं निरन्तरसम्बन्धेन वा । कामार्थं हि प्रयत्नः लोके च यादृशः व्यवहारसिद्धः, तत्र क्षणं मनश्चाश्रित्यमावश्यकत्वान् न विगीतमित्याशङ्क्याह मध्यावेश्येति ।

आभासार्थ—यदि गोपियाँ कहने लगे कि हम तो आप की प्राप्ति के लिए निरन्तर चिन्ता कर रही हैं, तो फिर मन के स्थापन और निरन्तर सम्बन्ध से क्या होगा? लोग तो काम के लिए व्यवहार से जो भी सिद्ध हो वैसा भी प्रयत्न करते हैं। यदि उसमें थोड़ा-सा भी मन इधर उधर हो जाय तो उसमें निन्दा नहीं है। इस पर 'मय्यावेश्य' श्लोक में उत्तर देते हैं।

श्लोक—मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत् ।

अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामवाप्स्यथ ॥३७॥

श्लोकार्थ—जिसने सब प्रकार के विषय सम्बन्धी वृत्तियों को छोड़ दिया है, वैसा जो सम्पूर्ण शुद्ध मन मुझ में लगा कर यदि मुझे नित्य स्मरण करोगी तो शीघ्र ही मुझको प्राप्त होगी ॥३७॥

सुबोधिनी—अहं हि कृत्स्नः प्रसादेनापि प्राप्तः कृत्स्नेनेव साधनेन प्राप्तुं योग्यः, सा च कृत्स्नता अस्यामेवावस्थायां भवति नान्यथा, कृत्स्नतायां हेतुं वदन् अवस्थान्तरे तदभावमाह विमुक्ताशेष-वृत्तीति । विमुक्ताः सर्वेभ्यो विषयेभ्योऽशेषा दशापि वृत्तयो यस्य, एकादश द्वादश वा । सहजाश्चेत्, गुणकृतास्तु दशैव, ताः भ्रमरवाक्येषु निरूपिताः । 'एकादशामी मनसो हि वृत्ताय' इत्यत्र स्वाभाविका अपि निरूपिताः । ननु सर्ववृत्त्यभावे स्वरूपनाश एव स्यादित्याशङ्क्याह यदिति । प्रसिद्धं तन्मनः, इदानीं त्वहमाविष्टः, अतः परं भवती-भिर्मय्यावेश्य बलान्मयि मनो निवेशनं कृत्वा

पश्चाच्छीघ्रमेवाहं प्राप्तव्यः । ननु वस्तुविचारे मनस्त्वन्यदेव, तस्मिन्निविष्टे कथं भगवत्प्राप्तिरिति चेत्तत्राह अनुस्मरन्त्य इति । मनोद्वारा आत्मापि स्मरति । यद्यपि स्मरणं चेतसो धर्मस्तथाप्यनुस्मरणमात्मन एव, अनेनोभयविधोपि सम्बन्धो निरूपितः । मनोद्वारा स्वयं भगवति प्रविष्टाः स्मरणद्वारा च भगवांस्तासु प्रविष्ट इति । एवं सत्यचिरादेव मामवाप्स्यथ, परम्परया नित्यसम्बन्धे सङ्घर्षादन्तरास्थितं गच्छति । तथा मनोविलये चित्तास्यापि विलयादचिरादेव प्राप्तिः, आत्मगाम्येव कामेन फलरूपोहं मुख्य इति तात्पर्यम् ॥३७॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि मैं सम्पूर्ण अनुग्रह^१ से ही प्राप्त होता हूँ तो भी सम्पूर्ण साधनों से ही प्राप्त होने योग्य हूँ । वह साधनों की सम्पूर्णता विरह अवस्था में ही होती है । कारण कि अन्य^२ अवस्था में मन की पूर्णता नहीं होती है । मन^३ सम्पूर्ण तब बनता है, जब वह दश वृत्तियों का त्याग कर दे । यद्यपि ये (वृत्तियाँ) ११, १२, भी हैं तथा वे स्वाभाविक हैं तथापि गुण कृत तो दश ही वृत्तियाँ हैं । वे भ्रमर वाक्यों में वर्णित की गई हैं । 'एकादशामी मनसो हि वृत्तयायः' यहा स्वाभाविक वृत्तियाँ भी कहीं हैं । यदि सब वृत्तियों का नाश होगा तो स्वरूप का ही नाश हो जाएगा । जिसके उत्तर में कहते हैं कि मन की प्रसिद्धि अन्नमय से है, न कि वृत्तिरूप से प्रसिद्धि है । मन, वृत्ति रहित होने से कामनाओं से मुक्त हो जाता है, जिससे शुद्ध होकर रहता है । वह वृत्ति रहित होते हुए भी स्वरूप से सिद्ध है ।

१- श्रुतियों तथा अग्निकुमारों को भगवान् ने वरदान दिया, वही प्रसाद है, जिससे उनकी प्राप्ति हुई है । 'प्रकाश' २- जब विरह अवस्था नहीं रहती है ।

१- जीव, २- गोपिकाएँ, ३- क्रिया शक्ति रूप है, ४- ज्ञान शक्ति रूप है, दोनों के बीच में होने से जीव और ब्रह्म के मिलने में प्रतिबन्ध पड़ता है उन दोनों के विलीन हो जाने पर जीव को भगवत्प्राप्ति शीघ्र हो जाती है 'लेख'

सुबोधिनो -- भवत्यः समागताः, अन्तर्गृहगताः गृह एव स्थिताः, तास्तदैव सर्वप्रकारेण मां प्राप्तवत्यः, न तु भवत्यः, अनेनैव निदर्शनेन भवतीभिरप्यहं प्राप्तव्यः, तस्मान्मदर्थं जीवनस्थापनमिति पक्षो निरर्थकः । अन्यथा समागतानां भवतीनां पुनः क्लेशो न भवेत् । अनुभवसिद्धश्च क्लेशः । ननु ताः प्रतिबन्धेन तथाभूताः कथं स्तुत्या इत्याशङ्क्याह । कल्याण्य इति । तासां महद्भाग्यमस्तोति अवश्यप्रतिबन्धरूपं दुरितं दुष्ट एवोपक्षीणमिति कण्टकेन कण्टकोद्धारवद्देहिनि-राकरण एवोपक्षीणम्, भवतीनां तु तद् दुरितं पश्चादिमामवस्थां प्रापितवत्, अतो मदुक्तप्रकारेण दोषं परित्यज्य तामवस्थां प्राप्य मां प्राप्स्यथेति भावः । रात्र्यां क्रीडता मया सहलब्धरासाः, क्रीडा स्वतः सिद्धेति निरूपणार्थं तथोक्तम् । प्रतिबन्धाभावाय रात्र्यामिति, वन इति साधनसम्पत्तिः, मयैव क्रीडा क्रियत इति न तासां प्रयासः, अस्मिन्नेव वन इति भगवानपि तत्रैव स्थित्वा वदतीति ज्ञापितम् । अस्मिन्निति व्रजसम्बन्धयपि, अस्मिन्नेव व्रजे ता आस्थिता इति भवतीनामपि निर्बन्धेनैवात्र स्थापनम् । अलब्धरासा इति । तासां भाग्यमुपभोगे नोपक्षीणमिति ज्ञापितम्, अत एव पूर्णभाग्याः । ननु तासां किं साधनमित्याकाङ्क्षायामाह मद्दीयं चिन्तयेति । ता हि गमनार्थं प्रवृत्ताः भर्त्रादिभिः प्रतिबद्धाः तत्प्रतिबन्धाभावाय भगवत्पराक्रमं स्मृतवत्यः । ततो भगवद्धर्मा अप्यक्लिष्टा इति स एव पराक्रमः तदीयं तेभ्यो दत्त्वा स्वबालकमिव दोषास्त्रिवार्यं भगवन्तं गमयामास । अतो मत्पराक्रमस्यैव चिन्तोचिता न तु दोषपुरःसरं ममेति भावः ।

(यद्वा । नन्व'चिरान्मामवाप्स्यथे'त्यनेन ब्रजे समागतस्य भगवतः पूर्ववन्मिलनलक्षणा प्राप्ति-
रुच्यत उतान्तर्गतगोपभार्याणामिव सोच्यते ।
आद्या चेदोमिति ब्रूमः । अन्त्या चेदनिष्टत्वान्नेदं
समाधानमित्यत आह या मयेति । या गोप्यो
ब्रजस्थिता एव वने स्थितं मामापुः, आक्षेपलभ्य-
त्वादमङ्गलत्वाच्च तद्देहत्यागः स्पष्टया नोक्तः,
देहत्यागपूर्वकं तासां स्वप्राप्तौ हेतुभूतं विशेषण-
माह । रात्र्यां क्रीडता मया सह पूर्वमलब्धरासा-
स्ता, यतो ब्रजस्थिता एव सत्यो वने स्थितं मामा-
पुरित्यर्थः । भवतीनां लब्धरासत्वान्न तथा भवि-
ष्यतीति भावः । अत एव कल्याण्य इति सम्बो-
धनम् । अत्रायं भावः । रासे हि पूर्णः स्वरूपानन्द
एतासु स्थापितः, स च भगवत्स्वरूपात्मक इति
तदनुभावेन विरहेऽपि जीवनमेव सम्पद्यते न वैप-
रीत्यं भवितुं शक्नोति । यद्यप्ययं भावोतिकठिनोत
एव प्रियेणाप्यतिकृच्छ्रेण प्रायः कथञ्चने'ति
पदत्रयमुक्तम् । अग्रे च 'प्रत्यागमनसन्देशैरिति
प्राणधारणे हेतुरुक्तः । तथापि सन्देशानुसन्धान-
मप्युक्तघर्मकार्यमेवेति ज्ञेयम् । अन्यर्थतस्य सर्व-
तिरोधायकत्वेनातितीक्ष्णत्वेन क्षणमात्रेणैवान्यथा
भवेत्, अतः सुष्ठूक्तं देहत्यागे तासामलब्धरास-
त्वं हेतुरिति । तथा च तासु विरहसामयिकजीव-
नहेतूत्तरूपधर्माभावात्तथा प्राप्तिरभूद्भवतीनां तु
तद्वत्त्वाद्यथा पूर्वमेव मिलनं भविष्यतीति, अत
जन्मोत्सवे व्यात्मानं भूषयाञ्चक्रुरित्यत्र शरीरपदं
त्यक्त्वात्मपदं तद्वाचकमुक्तमविकृतस्वज्ञापनाय ।
अन्यथा स्वक्रीडातदलब्धरासत्वोक्तिप्रयोजनं न
पश्याम इति) ॥३८॥

व्याख्यान—आप रास में आ गईं और वे^१ नहीं आई घर में ही स्थित हो गई थीं, किन्तु उन्होंने उसी समय सर्व प्रकार से मुझे^२ प्राप्त कर लिया। आप लोगों ने मुझे उस समय नहीं पाया, इस उदाहरण से आपको भी मुझे प्राप्त करना चाहिए, इससे मेरे लिए जो प्राणों को धारण कर रही

~~CONFIDENTIAL~~

हो, यह आपका विचार निरर्थक है, क्योंकि इस प्रकार करने से मुख्य फल की प्राप्ति नहीं होगी। देहादि की स्थापना तो साधन रूप सेवा के लिए ही शास्त्र से सिद्ध है। यदि देहादि भाव होते हुए भी मुख्य फल की प्राप्ति होती हो तो इस प्रकार आई हुई आपको क्लेश न चाहिए, किन्तु वह हुवा है, इस प्रकार अनुभव से सिद्ध है। वे अन्तर्गृह्यता तो सम्बन्धियों के रोकने से रुक गई थीं। उनकी स्तुति कैसे कर रहे हो? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'कल्याण्यः' उनका बड़ा भाग्य है, क्योंकि दुरित + के कारण प्रतिबन्ध हुवा, जिससे उत्पन्न विरहाग्नि से वहाँ हो जो पाप थे वे नष्ट हो गए। जैसे कांटे से कांटा निकाला जाता है वैसे ही देह के पाप आदि भस्म हो गए और सायुज्य को प्राप्त हो गई। तुमको तो दुरित ने इस अवस्था में डाला है, अतः मेरी शिक्षा के अनुसार पहले दोष का त्याग कर उस अवस्था को प्राप्त करने के अनन्तर मुझे पाओगी। 'राज्या क्रीडता मया सह अलब्ध रासाः' रात्रि के समय क्रीड़ा करने वाले मेरे साथ जिन्होंने रास में भाग नहीं लिया उनको सायुज्य ही मिला। क्रीड़ा तो स्वतः ही सिद्ध है, इसमें उनका कोई प्रयास नहीं है। यों कहने से यह भी बताया कि क्रीड़ा नित्य है। इस क्रीड़ा को करते समय उपस्थितों को इच्छा हो जाय तो कृपा कर द्वितीय दल का भी अनुभव करा देवे। क्रीड़ा रात्रि के समय करने का आशय है कि किसी प्रकार का प्रतिबन्ध न होवे, वन में क्रीड़ा करने का आशय यह है कि वहाँ सर्व प्रकार की क्रीड़ा के लिए साधन सम्पत्ति मौजूद रहती है। इसी वन में कहने का भाव यह है कि भगवान् यहीं स्थित होकर कह रहे हैं : 'अस्मिन् एव वने' का भाव है कि यह व्रज सम्बन्धी वन है। आप गोपियाँ भी व्रज में स्थित हो, इसलिए आपके आग्रह से मैं भी यहीं स्थित हूँ। अथवा मैंने आग्रह पूर्वक तुमको यहां स्थापित किया है और आप का सम्बन्धी भगवान् भी व्रज सम्बन्धी है न कि मथुरा सम्बन्धी है और इसके सिवाय यह भी कारण है कि यह व्रज का स्थान ही फल का अधिकरण है, अर्थात् इस भूमि पर ही अनुपम फल का आनन्द प्राप्त होता है। उनका^३ भाग्य भोग करने से नाश नहीं हुआ है, अतः वे पूर्ण भाग्य वाली हैं, जिसका कारण यह है कि उनको मेरे पास आने की वास्तविक उत्कण्ठा थी, किन्तु आने में सम्बन्धियों ने रुकावट डाली, जिससे उन्होंने उस प्रतिबन्ध को नाश करने के लिये मेरे पराक्रमों का स्मरण किया। भगवान् के गुण क्लिष्ट^३ नहीं हैं तो भी वीर्य रूप है। उस वीर्य रूप स्मरण ने उनका देह उनके पतियों को ही दिलाकर, जैसे पुत्र के दोषों को नाश कर पुत्र को अपने पास लाया जाता है वैसे ही स्मरण ने उनको भगवान् के पास पहुँचा दिया। यों कहने का भाव यह है कि जीव जो मेरे भक्त हैं, उनको मेरे पराक्रम रूप गुणों का चिन्तन करना ही उचित है, न कि मुझ में दोष

+ भगवदिच्छा-लेखकार का भावार्थ है-अन्तर्गृह्यता को भगवदिच्छा से प्रतिबन्ध इसलिए हुआ कि उनको उत्तर दल स्वरूप का दात न कर पूर्वदल स्वरूप में सायुज्य देना था ।

अन्य गोपियों को, जो भगवान् के पास पहुँच गईं, उनको उत्तार दल स्वरूप का दान देने की इच्छा थी, इसलिये उनको प्रतिबन्ध न हुआ, विरह क्लेश भोगना पड़ा।

१- जिस अवस्था में आत्मगामी होता है उस अवस्था को ।

२- अन्तर्गृहगताग्रों का, ३- क्लेश करते वाले ।

भावना उचित है* ॥३८॥

आभास—एवमुपदेशेन तासां दोषो निवृत्त इत्याह एवमिति पञ्चदशभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार के उपदेश से उनके दोष निवृत्त हो गए जिनका वर्णन निम्न १५ श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य ब्रजयोषितः ।

ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृतीः ॥३९॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि ब्रज की स्त्रियाँ इस प्रकार के अपने प्रीतम के सन्देश को सुनकर प्रसन्न हुईं, उस सन्देश से भगवान् की स्मृति आ जाने से उद्धवजी को कहने लगी ॥३९॥

सुबोधिनी—विद्यारूपास्ता इति तासां चतुर्दशवाक्यान्व्युपक्रमश्चापरः । तथा सति सर्वा एव भगवत्कलास्तासु सिद्धा इति निरूपितं भवति । प्रतारणशङ्काभावायाह प्रियतमेनादिष्टमिति । आज्ञापूर्वकमुक्तम्, अमानने दण्डोपि सूचितः ।

ब्रजयोषित इति शुद्धाः कापट्यरहिताः, ताश्च भगवतानुगृहीताः, उक्तार्थफलं स्वस्मिन् जातमिव ज्ञापयितुमिव उःसवरूपम्, उत्सवे प्रियस्मरणं दृढं भवतीति, उपदेशेनैव प्रीताः पूर्वासूयादिक्लेशान् त्यक्तवत्यः । ननु कथं पूर्वमाक्रोशः, कथमि-

* श्री प्रभुचरणों का इस श्लोक पर स्वतन्त्र लेख है जिसका भावानुवाद दिया जाता है,—
'अचिरान्मामवाप्स्यथ' इस पङ्क्ति के कहने का भावार्थ यदि पहले की भांति मिलने का है, तो उसको हम स्वीकार करते हैं, यदि अन्तर्गृह्यताओं के समान प्राप्ति कही है तो वह अनिष्ट-कर होने से समाधान कारक नहीं है । इसलिए इस श्लोक में कहते हैं कि ब्रज में स्थित जिन गोपियों ने, वन में स्थित मुझे प्राप्त कर लिया, उन की देह का त्याग स्पष्ट नहीं कहा, क्योंकि आक्षेप से लभ्य है तथा अमङ्गल है । जिस समय रात्रि में, मैं वन में रमण कर रहा था, उसी समय ही वे आकर मुझे प्राप्त हुईं । कारण कि वे रास का आनन्द नहीं ले सकीं थीं, आपने रास का आनन्द ले लिया है, अतः उनकी भांति आपकी गति नहीं होगी । इसी कारण से वे महा भाग्यवाली, हैं, यों कहने का यह भाव है कि रास के समय वन में आईं गोपियों में रास द्वारा पूर्ण स्वरूपानन्द का रस स्थापित कर दिया है । वह ऐसा स्वरूपात्मक है जिससे हो विरह में भी जीवन टिका हुआ है । उसमें विपरीतता नहीं आती है, अर्थात् विरह में प्राण निकल नहीं जाते हैं । इस प्रकार का भाव होना अति कठिन है, इसलिए ही 'अतिकृच्छ्रेण, प्रायः, कथञ्चन' ये तीन पद कहे हैं, अर्थात् बहुत कठिनाई से जैसे जैसे कर प्राणों की धारण किया है और फिर विशेष प्राण धारण का हेतु प्यारे के आए हुए संदेह या प्राणधारण में हेतु हुए हैं । विशेष टिप्पणोंजी देखिये—अनुवादक

वी.पी. द्वारा पुस्तक मँगाने का पता :
सीताराम पुस्तकालय
 विश्राम बाजार, मथुरा मो. : 09837654007

अनेन प्रसङ्गाद्भातृवधः कृत इति निराकृतम् ।
केवलं हितमेव न करोतीति न, किन्तु अघकृत
पापं सम्पादयति । हितं न करोति पाप च कार-
यति येन तेषां परलोकनाशः स्यात् । तस्मादेता-
दृशो हन्तव्य एव । किञ्च । आप्तैर्वन्धुभिः पुनर्भ-

गवत्कृपया लब्धोर्थः सर्वोपि पुरुषार्थो यैः । यत्र
कालातिक्रमोपि स्वतः सिद्धः, अनेन तेषामहितं
दूरीकृत्य हितं च सम्पाद्य अग्रे तदनुवृत्त्यर्थमधुना
कुशलो किमास्ते, केवलमयमनुवादः, यतः सोच्युतः
न तस्य काचिदन्या संभावनास्ति ॥४०॥

व्याख्यानार्थ - जो जो भाव दोष रहित है, वे पुरुषार्थ को सिद्ध करते हैं । उन सिद्ध हुए पुरुषार्थों
का कीर्तन करती है । प्रसन्नता है कि हमारे भाग्य से कंस मरा है । कंस के मरने में कारण उसका
भाग्य ही है, अतः भगवान् पर मामे के मारने का दोष नहीं है ।

जिस समय उद्धवर्जः आये थे उस समय गोपियों ने कहा था कि क्या अक्रूर आ गया ? इस
प्रकार का दोष गोपियों में आ गया था, जिसको यहां दिखाया है । कंस, अपना अथवा अन्यो का
शत्रु नहीं था, किन्तु यादवों का विशेष शत्रु था । न केवल आप कंस शत्रु था, किन्तु उसके भाई
भी शत्रु थे, इसलिए वैसे प्रसङ्ग आने पर उनको भी मारा, जिससे भ्राता के वध का निराकरण
किया है । वे भाई तो ऐसे पापी थे जो कंस का भी हित नहीं करते थे, किन्तु उससे पाप कर्म करवाते
थे । जिससे उसके परलोक का नाश हो, इस कारण से वैसे मारने के ही योग्य हैं । भगवत्कृपा से
जिन बान्धवों के सर्व पुरुषार्थ सिद्ध हो गए हैं अर्थात् उनके गए हुए सर्व पदार्थ उनको प्राप्त हो गए हैं,
जिसके प्राप्त होने में काल का अतिक्रम^१ तो स्वतः सिद्ध हो है । इससे उन बन्धुओं का दुःख मिटाकर
सुख सम्पादन कर आगे भी उनका हित करने के लिए आप अब तो कुशल पूर्वक विराजते हैं, यह
आनन्द का विषय है, अर्थात् बधाई है । इस प्रकार यह कहना केवल अनुवाद मात्र है, कारण कि
भगवान् तो 'अच्युत' हैं ही, जिससे उनमें अन्य^२ प्रकार की संभावना भी नहीं हो सकती है ॥४०॥

आभास—एवं माहात्म्यज्ञानं सर्वोपकारकत्वं च भगवतो निरूपितम् । ततः पुर-
स्त्रीषु मात्सर्याभावज्ञापनार्थमाहुः कञ्चिद्गदाग्रज इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् का माहात्म्य ज्ञान तथा सर्वोपकारकत्व निरूपण किया ।
अब 'कञ्चिद्गदाग्रज' श्लोक में अपना मथुरा की स्त्रियों से मात्सर्य का अभाव बताने को कहा है ।

श्लोक—कञ्चिद्गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम् ।

प्रीति नः स्निग्धसब्रीडहासोदारेक्षणार्चितः ॥४१॥

श्लोकार्थ—हे सौम्य ! जिस गदाग्रज की हमने अपने स्नेह तथा लज्जा सहित हास्य
व उदार निरीक्षण से पूजा की है, (क्या) वे नगर की स्त्रियों में प्रीति करते हैं? ॥४१॥

~~CONFIDENTIAL~~

सुबोधिता — गदाप्रज्वलेन वक्ष्यते न समर्थम्-
मुक्तम् । अस्मिन् गते मधुरायां रोहिण्यां गदो
जातः, अनेन भगवतः प्रद्युम्नरूपता निरूपिता ।
अत एव स्त्रीणां सर्वकामनापुरक इति पुरयोषितां
प्रीतिं कञ्चित्करोतीति प्रश्नः सङ्गच्छते । सौम्येति
सम्बोधनं तथा सति दोषदृष्ट्यभावात् । ननु ता
धाष्ट्येन कथं प्रयत्ना भविष्यन्तीत्याशङ्क्याहुः
नः स्निग्धसबोडहासोदारेक्षणाचित इति । लोकः
पूजितपूजक इति प्रथमतोऽस्माभिः स्निग्धादिभा-
वैरचितः, अनेनास्माभिः पूजित एव न तु भगवा-
नुपभुक्त इति कामाभावः सूचितः । अनेन साम्या-
सोपि निरूपितः । कुतिसतेपि रम्ये कदाचित्पुरुषः
प्रवर्तत इति भगवतोऽप्यस्मापु प्रवृत्तिः, इतः
उत्तमाः पुरस्त्रियः, तत्रापि न स्वतः प्रवृत्तिः

क्रिन्तु तदिच्छयेति ज्ञापयितुं तासां प्रीतिं करो-
तीति प्रश्नः । ब्रह्मानन्दरूपस्य स्व्यानन्दोत्पद्यम-
इति निवृत्तिरपि सभवत्याग्रहे सति प्रवृत्तिरपि
सभवतीति, आदौ धाष्ट्र्यसिद्धयर्थं स्निग्धा भग-
वति दृष्टिः, तत उदारा भगवद्धर्मप्राप्तिसूचिका,
भगवतोपि सौख्यदायिनी शब्दव्यवहितापि सर्वेषां
सर्वपुरुषार्थदायिनी च । मध्ये हासः स्वपुरुषार्थ-
सूचकः, तस्यापि प्रथमप्रवृत्तो पश्चात् कृतार्थतेति
ज्ञापयितुं ब्रीडाप्युक्ता । एवंविधैरीक्षणैरचितः,
प्रथमतः स्नेहेन परिग्रहः, ततः भगवति प्रसन्ने
प्रथमप्रवृत्त्या ब्रीडा, ततो निर्भरेणानन्देन हासः,
ततः सर्वमिव कलां प्रयच्छतीति उदारा
भवति ॥४१॥

व्याख्यानार्थ—‘गदाग्रज’ कहने से यह बताया है कि इनमें वंश को पंदा करने की सामर्थ्य है, भगवान् मथुरा पधारे तब रोहिणी से गद का जन्म हुआ है, यों कहकर यह प्रकट किया है कि भगवान् मथुरा में प्रद्युम्न रूप से विराजते हैं। इस कारण से ही स्त्रियों की सर्व प्रकार की कामनाओं के पूरक हैं, जिससे नगर की स्त्रियों में प्रीति करने का प्रश्न बन सकता है। उद्धवजी को हे सौम्य ! यह सम्बोधन देकर गोपियों ने इस शङ्का का निवारण किया है कि हमारी मथुरा की स्त्रियों से कोई ईर्ष्या नहीं है, अतः हम प्रेम से प्रश्न करती हैं कि भगवान् नगर की स्त्रियों से प्रेम करते हैं ? वे नगर की स्त्रियां धृष्टता^१ से भगवान् के पास कैसे आवेंगी ? इस शङ्का का उत्तर देती हैं कि हमने अपने स्नेह तथा लज्जा सहित हास्य व उदार निरोक्षण से उनको पूजा है। लोक तो जिनकी पूजा हो गई हो उनको पूजते हैं, प्रथम तो हमने स्निग्ध आदि भावों से उनका अर्चन^२ किया है। यहां गोपियों ने पूजन कहा, न कि भोग कहा, जिससे अपने में काम का अभाव दिखाया है, किन्तु यह भी बताया है कि भगवान् का स्त्रियों से प्रीति करने का अभ्यास भी है। पुरुष, साधारण रस में भी किसी समय प्रवृत्त हो जाता है, इस प्रकार भगवान् की हम में प्रवृत्ति हो गई थी। अब तो यहां से उत्तम स्त्रियां मिली हैं, किन्तु भगवान् की उनमें स्वतः प्रवृत्ति नहीं होगी, जो वे चाहेंगी तो प्रीति करेंगे, इस कारण से गोपियां प्रश्न करती हैं कि उनसे प्रीति करते हैं कि नहीं ? प्रश्न करने का अन्य कारण भी बताते हैं कि ब्रह्मानन्द रूप आनन्द की तुलना में स्त्री से प्राप्त आनन्द अधम प्रकार का है, जिससे उस अधम आनन्द से निवृत्ति भी हो सकता है। यदि वे आग्रह करें तो प्रवृत्ति भी हो सकती है, अतः बताईए कि क्या हुआ ? अर्थात् प्रीति करते हैं वा नहीं ? प्रथम निर्लज्जता सिद्धि के लिए भगवान् में स्नेह दृष्टि होती है, अर्थात् भगवान् को स्नेह युक्त होकर देखें, जिससे भगवान् का उदारता-धर्म हम में आ गया है। इस प्रकार की उदार दृष्टि से देखने लगे, वह उदार दृष्टि ऐसी है कि मध्य में

शब्द का व्यवधान होते हुए भी भगवान् को आनन्द देने वाली है तथा सब को सर्व-पुरुषार्थ देने वाली है । इस प्रकार की उदार दृष्टि होने पर मध्य में हास करे, वह हास अपने पुरुषार्थ की सूचना करने वाला है । इस प्रकार का हास प्रथम प्रवृत्ति में होता है, पश्चात् कृतार्थता होती है, जिस समय नेत्रों में लज्जा प्रकट होती है यही कृतार्थता को सूचित करती है । इस प्रकार के ईक्षण से भगवान् की पूजा की है । दृष्टि स्नेह द्वारा ही भगवान् को अपनी ओर खेचती है, यथान् भगवान् प्रथम स्नेह से सर्वाकार करते हैं । जब भगवान् प्रसन्न होते हैं, तब प्रथम प्रवृत्ति होती है । उस समय लज्जा सहित हास होता है, अनन्तर अतिशय आनन्द होने पर हँसी आती है । पश्चात् भगवान् सर्व कलाओं का दान करते हैं, जिससे यह लीला उदार कही जाती है एवं भगवान् की उदारता प्रकट होती है ॥४१॥

आभास—ननु निर्लेपो भगवान् किमित्येवं करिष्यतीति आशङ्क्याभिप्रायमाहुः ।
कथमिति ।

आभासार्थ—भगवान् तो निर्लेप हैं, वे इस प्रकार की लीला कैसे करेंगे ? इस प्रकार की शङ्का का 'कथं रति' श्लोक में अभिप्राय बताती है ।

श्लोक—कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च वरयोषिताम् ।

नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभावितः ॥४२॥

श्लोकार्थ—भगवान् रति के भेदों को विशेष प्रकार से जानते हैं तथा उत्तम स्त्रियों के प्रीति के विषय हैं । उनके वाक्य एवं बिलासों से अनुभावित होने पर कैसे उनमें प्रेम न बढ़ावे ? ॥४२॥

सुबोधिनी—स हि सर्वरतिविशेषान् जानाति, नागरको बन्धो नागरीष्वेव भवति, अन्यथेदं ज्ञान व्यर्थं स्यात् । कदाचिदेतद्वश्यं प्रकटनीयम्, स्वकीयासु तु न भवत्येव । किञ्च । उत्तमस्त्रीणां स प्रियः प्रीतिविषयः, अन्यथोत्तमत्वमेव न स्यात्, अतस्तासां जन्मसाफल्याय स्वस्य ज्ञानसाफल्याय च कथं तद्वसाभिनिविष्टो न भवेदित्याहुः नानुबध्येतेति । अनुबन्धो नाम निरन्तरं वर्द्धमाना प्रीतिः, यथा रेतोमात्रेण न प्रीतिर्नाप्युप्तेनाप्यल्पवृद्धेनापि जातमात्रं शङ्कुरे यथा सर्वगुणसंपन्ने पुत्रे भवति, अयमनुबन्धः, अतः कथं निरन्तरं

वर्द्धमानया प्रीत्या नानुबध्येत । ननु तथापि पोषकाभावान् मूर्खे पुत्र इव नानुबन्धः स्यात् । तत्राह तद्वाक्यैरिति, तासां वाक्यानि विभ्रमाश्च, मनोनुरञ्जनचकारार्थः । एव कायवाङ्मनसामुत्तमधर्मैरनुभावितः अनुभवपर्यन्तं नीतः, भावकद्रव्यैरेव वा भावितः, अनुभवयुक्तो वा कारितः, अभिनिविष्टो हि रसः स्वानुभावजनयति । वाक्यादोनि चोद्दीपकानि । अतो भगवान् प्रकारद्वयेनापि विभक्तवीर्यं आविर्भूतः सम्यग्भावित इति गोपिकानां दोषाभावपूर्विका सर्वगुणसिद्धि-निरूपिता ॥४२॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥

व्याख्यानार्थ—सर्व प्रकार के रति के भेदों को भगवान् जानते हैं, नगर की स्त्रियों में ही नागरिक बन्ध होता है, यदि यों (वे) न कर सकें तो यह सर्व प्रकार के रति भेद का ज्ञान व्यर्थ हो जावे। कभी तो वह अवश्य प्रकट करना चाहिए। वह बन्ध स्वकीयों में नहीं हो सकता है और विशेष यह है कि वे उत्तम स्त्रियों के प्रीतिपात्र हैं। यदि (वे) वैसा न करें तो उन^१ का उत्तमपन ही चला जावे, इसी कारण से उन स्त्रियों के जन्म को सफल करने और अपने ज्ञान की सफलता के वास्ते निर्लेप होते हुए भी उस रस में प्रवेश क्यों न करे? रति विशेष का ज्ञान तथा पुर की स्त्रियों का प्रियत्व ये दोनों यों करने में कारण है और भगवान् का भी वैसा ही अभिप्राय है। निरन्तर प्रीति बढ़ती ही रहे, जिसको 'अनुबन्ध' कहा जाता है। केवल वीर्य विमोक से प्रीति नहीं बढ़ती है, बीज बोने से उत्पन्न छोटे अङ्कुर में भी प्रीति नहीं बढ़ती है। जैसी परिपक्व धान एवं सर्व गुण सम्पन्न पुत्र में प्रीति होती है और विशेष बढ़ती भी है, वैसे ही यहां भी निरन्तर अनुबन्ध के कारण भगवान् उनके प्रेम में कैसे वद्ध न होंगे? प्रीति हो, किन्तु प्रीति के पोषक गुणों का अभाव होवे तो जैसे मूल्य पुत्र जो पिता के प्रेम का पोषक नहीं है तो उसमें पिता की प्रीति नहीं बढ़ती है। इसके उत्तर में कहती हैं कि उनके वाक्य और विलास एवं मन का रञ्जन करने का ढंग ऐसा है, जिसने काया, वाणी तथा मन के उत्तम धर्मों से अनुभव करा दिया है अथवा भाव भुक्त द्रव्यों^२ से प्रभावित किया है। जो रस हृदय के भीतर प्रवेश हुआ वह अपना प्रभाव प्रकट करेगा ही, वे वाक्य उद्दीपन करने वाले हैं, रस का प्रभाव ही ऐसा है, जो प्रीति को निरन्तर बढ़ाता ही रहता है, अतः भगवान् रति विशेषज्ञ होने से तथा पुर की स्त्रियों के प्रीतम होने से अपना वीर्य दोनों शक्तियों में विभाजित कर कृष्ण रूप से आविर्भूत हुए हैं। वैसे स्वरूप का सम्यक् प्रकार से अनुभव किया है, जिससे गोपिकाओं ने निर्दोष सर्व गुणों की सिद्धि प्राप्त की है ॥४२॥

आभास—भगवानिदानीमुपदेशेनगुरुर्जातः, अस्माभिस्तु पूर्ववासनया पूर्वावस्थावश्यं स्मर्तव्यः, तथा सति भगवता चेतस भावः त्यज्यते, तदा अस्माकमपराधो भवतीति भगवतः तस्या अवस्थायाः स्मरणं पृच्छन्ति अपि स्मरतीति ।

आभासार्थ—भगवान् तो अब उपदेश देकर हमारे गुरु बने हैं, हमको तो पूर्व की वासना से उनकी पूर्वावस्था अवश्य स्मरण करनी चाहिए यों करने से यदि भगवान् उस भाव को छोड़ देते हैं तो हम लोगों का इसमें अपराध न होगा, जिससे भगवान् को उस अवस्था का स्मरण है वा नहीं? 'अपि स्मरति' श्लोक से पूछती हैं।

श्लोक—अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित् ।

गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वरकथान्तरे ॥४३॥

१- नगर की उत्तम स्त्रियों ।

२- पुष्पादि से ।

श्लोकार्थ—हे साधु ! गोविन्द भगवान् ! नगर की स्त्रियों की सभा में स्वच्छन्द बातचीत करते हुए किसी प्रसङ्ग में हम गाँव वालियों को भी कभी याद करते हैं ? ॥४३॥

सुबोधिनी—संभावनया प्रभः । ननु स्मरणाभावे कथं उपदेशार्थं प्रेषणमिति चेत्तत्राहुः पुरस्त्रीणां गोष्ठीमध्य इति । न तु शास्त्रार्थज्ञानभावनादशायाम् । नन्वेवमुपदेशा स्मरिष्यतीति का संभावना, तत्राह गोविन्द इति । स ह्यस्माकमिन्द्रः इन्द्रत्वायैव चास्मदुपयोगं कृतवान् । किञ्च । अनुभूतत्वात्तादृशपदार्थानुभवे सदृशादयः संस्कारबोधका इति कदाचित्स्मरणं भवेत्तदाहुः प्रस्तुते

कचिदिति । तदा हि भगवान् स्वाभिलषितावस्थः सत्यसङ्कल्पश्च, न तस्तामप्यवस्थां सम्पादयेत् । किञ्च । व्यावर्तकत्वेनास्मत्स्मरणमावश्यकमित्याहुः ग्राम्या इति । कथमेवमन्यथाबन्धं करोषि गोपिकेवेति । स्वरकथायाः स्वेच्छाकथायाः अन्तरे मध्ये । नन्वेतदहं कथं जाने तत्राहुः साधो इति । सर्वोपकारो च भगवान्, अतो गुह्यमपि वक्तव्यमिति भावः ॥४३॥

व्याख्यानार्थ—यह प्रश्न संभावना^१ से किया है, यदि आपका स्मरण उनको न होता तो उपदेश के लिए मुझे कैसे भेजते ? जिसके उत्तर में कहती है—जब हमको शास्त्रार्थ का ज्ञान कराने का विचार करते होंगे उस समय हमको याद करते होंगे, जिससे आपको यहाँ उपदेश के लिए भेजा है, किन्तु हमारा प्रश्न है, कि जब नगर की चतुर स्त्रियों से बातचीत करते हैं उस समय हम गवार्नियों का स्मरण करते हैं कि नहीं?

यदि आप कहो कि जो इस प्रकार का उपदेश देने वाले हैं, वे आपको उस समय स्मरण करेंगे, ऐसी संभावना तुम कैसे करती हो ? जिसके उत्तर में कहती है कि 'गोविन्द' है अर्थात् हमारे इन्द्र हैं, इन्द्रपन^२ के कारण ही हमारा उपयोग किया है । उस वक्त स्मरण करने का हम इसलिए पूछती हैं कि संयोग रस का हमारे साथ अनुभव किया है वैसा ही वहाँ नागर स्त्रियों से संलापादि समय में अनुभव करते हैं, तो यह प्रकृति सिद्ध है कि जिसका अनुभव किया हुआ है वैसा ही विषय आवे तो पूर्व अनुभूत का स्मरण हो आता है, अतः आप बताईए कि उस समय कभी स्मरण होता है कि नहीं ? उस वक्त भगवान् अपनी इच्छा वाले थे तथा सत्यसङ्कल्प थे, जिसमें वहाँ उस अवस्था का प्रादुर्भाव भी कर सकते हैं और विशेष यह है कि व्यावर्तक से हमारा स्मरण उस समय आवश्यक है, उसका कारण कहती हैं कि 'ग्राम्याः' हम गाँव की स्त्रियाँ गवार्निन हैं, अतः ग्राम्य बन्ध में ही हम प्रसन्न हो जाती हैं । यदि नगर की स्त्रियों से वैसा बन्ध किया तो वे कह देंगी कि यह बन्ध तो हमारे योग्य नहीं है अन्य प्रकार का है, अर्थात् ग्राम की गोपियों के योग्य यह बन्ध है । जब स्वेच्छा पूर्वक कथा कहते हैं तब उस कथा में हमें स्मरण करते हैं ? इसके उत्तर में यदि आप कहो कि इस गुप्त विषय को मैं कैसे जानूँ ? इसके उत्तर में कहती हैं कि 'हे साधो आप साधु हैं', भगवान् सर्व का उपकार करने वाले हैं, अतः गुह्य बात भी अपने प्रेमी विकार रहित अन्तरङ्ग साधु पुरुष को बताते हैं, इसलिए आपको इसका ज्ञान अवश्य होगा, जिससे ही हम आप से पूछ रही हैं ॥४३॥

आभास—विशेषतो लीलामपि पूर्ववत् स्मरतीति पृच्छन्ति ताः किं निशाः स्मरतीति ।

आभासार्थ—पूर्व की भांति (क्या) लीलाओं को भी स्मरण करते हैं ? यों विशेष प्रकार से 'ताः किं निशाः' श्लोक से पूछती हैं ।

श्लोक—ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि-

वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्कुरम्ये ।

रेमे कणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या-

मस्माभिरीडितमनोज्ञकथा कदाचित् ॥४४॥

श्लोकार्थ—कुमुद, कुन्द पुष्प तथा चन्द्रमा से सुशोभित वृन्दावन में; नूपुर की भँकार वाली, रास मण्डली में, हमारे साथ भगवान् ने जिन रात्रियों में रमण किया था, उस वक्त हमने उनकी मनोहर स्तुति की थी, उन रातों को भी कभी भगवान् याद करते हैं ? ॥४४॥

सुबोधिनो—तादृशधर्मविशिष्टाश्चेद् वयं स्मृताः तदा भगवत्परितोषणो गुरुदक्षिणायामपि न किञ्चिद्देयं स्यात्, ताः पूर्वा वरदत्ता 'मयेमा रंस्यथ क्षणा' इति, स्वदत्तान् हि स्मरपि सर्वोपि । किं कालस्मरणेनेत्याशङ्क्य तद्गतं विशेषमाहुः यास्विति । यासु तदा रेमे । न तु साम्प्रतम् । कालदेशयोर्विद्यमानत्वेपि रमणाभावात् पुनः पुनः स्मरणम् । तदा वा वयं प्रियाः अधुना तु शिष्याः । वृन्दावन इति । स्वच्छन्दलीलास्थान-मुक्तम्, नैव लीला नगरेषु संभवति । कुमुदैः कुन्दैः शशाङ्केन च रम्ये, क्वचिदोपोप्यन्यत्र गुणः, यद्यपि शशाङ्कस्तथापि कामे उद्बोधकः । कुमुदमपि रात्रिविकासि । चन्द्रः ससामग्रीकः तत्र रतिवर्द्धनोस्तीति जापयितुमेवं प्रक्रिया निरूपिता ।

कुन्दाः सर्वकालीनपुष्पाणि । रात्रिविशेषपुष्पाणि साधारणानि, तेषां विकासहेतुश्च यत्र रतिवर्द्धनः, तत्रापि रसोत्पत्त्यर्थं क्वणच्चरणनूपुराणां स्त्रीणां यो रासः तत्सभायामस्माभिः सर्वाभिरेवेडिता मनोज्ञा कथा यस्य । कदाचिदिति तस्या अवस्थाया दुर्लभत्वम्, यदीदानीमपि भवेन् मनोज्ञ-कथया ईडितो भवेत् । ततो लौकिकमपि कुर्यात् । अस्माभिरिति प्रमाणमुक्तम् । क्वणन्ति चरणेषु नूपुराणीति भगवदालम्बनादिभावः सूचितः । यतोस्माननर्तयत् ततो नृत्यगीतादिना समाराधितो भगवान्, तच्चेत्स्मरिष्यति तदा साधनरहिता अपि कृतार्था भविष्यामः, दोषनिवृत्तावेव तात्पर्यमिति भगवतोपि मनोनिग्रहो नाभिप्रेतः ॥४४॥

व्याख्यार्थ—ऊपर कहे हुए धर्मों से युक्त हमको यदि उन रात्रियों के साथ, स्मरण करते हैं तो जाना जाता है; कि भगवान् हमारे पर प्रसन्न हैं तब तो अब जो उपदेश भेजकर गुरुजी बने हैं, उसकी दक्षिणा में कुछ भी देना न पड़ेगा, वे रातें वर में दी थीं, जिनमें रमण किया था तथा अब की रातें नहीं, जिनमें आप (वे) हमारे पास नहीं हैं, काल और देश दोनों विद्यमान हैं, किन्तु रमण का अभाव

सुदोषिनी - अन्यथा 'नो चेद्वयं' इति वाक्यं श्रुत्वा किमिति भोगमङ्गीकृतवान् । तस्मादुत्कट कामं दूरीकृत्य कोमले जाते पश्चादुपदेशफल भविष्यतीति पुनः पूर्ववदाकाङ्क्षा । तत्र गमने तु सुखं न भविष्यतीति ज्ञातम्, स्वच्छन्दाभावात् । नन्वीश्वरः कथमायास्यतीति चेत्तत्राहुः दाशार्ह इति । दाशानामर्हः योग्यः, यो हि दयालुः सुतरां परदुःखाभिनिविष्टः । एवं तापहारकभगवद्धर्मान् निरूप्य स्वतापमाहुः । तप्ता इति । आध्यात्मिकादितापव्यावृत्त्यर्थं ज्ञानोपदेश एव क्रियते इति चेत्तत्राहुः स्वकृतया शुचा इति । अयं शोको भगवतेव सम्पादितः स्वनिर्गमनात् । शुचा च द्रवमाणा जाता इति साम्प्रतं गूढा एव कथमुपदेश-

योग्या इति भावः । तस्माच्छोके गत एवाधिकारः । किञ्च । जीवने हि जाते पश्चात्सर्वमेवैतत्, सकाममरणे तु न मुक्तिः, अत इदानीं जीवनं यथा भवति तथा गात्रैः मुखारविन्दादिभिः नोस्मान् सञ्जीवयन् किमायास्यति । तुशब्दो ज्ञानपक्षं वारयति । ननु विशेषतो भगवत एवङ्करणे को हेतुरिति चेत्तत्राहुः यथेन्द्र इति । सावारणमेव वनं खाण्डववनं वा, न हि पर्जन्यादन्यः दावानलं शामयति । गृहदाहादयस्तु जलान्तरेणापि शाम्यन्ति, तस्मात् क्लिष्टानां तापनाशश्चेदादौ भवेत् पश्चाद् ज्ञानं प्रवर्ततामिति समग्रो मनोरथः ॥४५॥

व्याख्यार्थ—आपका केवल उपदेश देने में ही तात्पर्य है और कृपा नहीं करती है तो 'नो चेद्वयं' यह वाक्य सुनकर फिर भोग करना स्वीकार क्यों किया ? इस कारण से उत्कट काम को जब मिटाकर कोमल करोगे, तब उपदेश का फल होगा; यह कहने से फिर पहले की भाँति अपनी इच्छा प्रकट की है । वहाँ जाने पर सुख नहीं मिलेगा । यों हमने समझ लिया है, कारण कि वहाँ स्वच्छन्दता का अभाव रहेगा । आप न जाओगी तो भला ईश्वर कैसे पधारेंगे ? इसके उत्तर में कहती है कि 'दाशार्हः' विष्णु है, अतः पालक होने से दयालु हैं ही, दूसरों के दुःखों पर ध्यान देते रहते हैं और उनको मिटाते ही हैं । इस प्रकार भगवान् के ताप हरण करने वाले धर्मों का निरूपण कर अपना ताप प्रकट कर बताती है । 'तप्ता' हम तापयुक्त हैं, इस पर कहते हैं कि आध्यात्मिक आदि तापों के मिटाने के लिए तो यह ज्ञानोपदेश दिया है । यदि यों कहो तो यह कहना युक्त नहीं है; क्योंकि हमको वह ताप नहीं है । हमारा ताप तो स्वयं भगवान् ने हमको छोड़कर मथुरा जाने से किया है । हम उस ताप को मिटवाना चाहती हैं, अब तो शोक से हम द्रवीभूत हो गई हैं, जिससे गूढ़ होने से उपदेश के योग्य नहीं रही हैं । इससे शोक नष्ट होने के अनन्तर उपदेश सुनने का अधिकार प्राप्त होगा, तब उपदेश करो । जब जीवन होगा, तब यह सर्व सिद्ध हो सकेगा । यदि हमारी कामना पूर्ण न हुई और हम सकाम ही मर गई, तो मुक्ति नहीं होगी, अतः अब तो जैसे जीवन टिक सके, वैसे मुखारविन्द आदि श्रीअङ्गों से हमको जिलाने के लिए क्या आवेंगे ? 'तु' शब्द ज्ञान पक्ष के निवारण के लिए है । अर्थात् हमको अब इस ज्ञानोपदेश की आवश्यकता नहीं है । भगवान् जैसे आप कहती हैं इस प्रकार करें, जिसमें क्या कारण या साधन है ? यदि यों कहते हो, तो हमारा यह उत्तर है कि 'यथेन्द्रः' घर आदि में आग लगती है, तो वह किसी भी जल से बुझाई जाती है, किन्तु साधारण वन में यदि दावानल लगती है, तो उसको सिवाय इन्द्र के कोई शान्त नहीं कर सकता है । इन्द्र

जब कृपा कर वृष्टि करता है, तब वह शान्त होता है । अतः हमारे ताप की जाति तो भगवान् ही पधार कर करेंगे तो होगी, अन्यथा नहीं । इसलिए हमारी सम्पूर्ण इच्छा है कि प्रथम ताप शान्त होवे, अनन्तर उपदेश द्वारा ज्ञान मिले ॥४५॥

आभास—संभावनयैतदुक्त्वा युक्त्या निषेधमाहुः कस्मादिति ।

आभासार्थ—अनुमान से या कल्पना से कहा कि भगवान् आवेंगे, किन्तु युक्ति से अब कहती हैं कि वे नहीं आवेंगे, जिसका कारण 'कस्मात्' श्लोक में कहती है ।

श्लोक—कस्मात्कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहितः ।

नरेन्द्रकन्या उवाह्य प्रीतः सर्वसुहृदृतः ॥४६॥

श्लोकार्थ—राज्य ले लिया, शत्रुओं को मार भगाया, सब प्रकार के सम्बन्धी भी मिल गए, राजाओं की कन्याओं से विवाह भी कर लिए; यों सर्व कार्य पूर्ण होने से आनन्द वाले श्रीकृष्ण अब यहाँ क्यों आवेंगे ? ॥४६॥

सुबोधिनी—कस्मात्कृष्ण इहायास्यतीत्यर्थः । वर्तमानप्रयोगेणैतज् जापयन्ति । यद्यागच्छेत्, इदानीमेवागच्छेत्, द्वयमपि कृत्वा गच्छेत्, विलम्बे प्रयोजनाभावात् । ननु साम्प्रतं नागर्यः स्त्रियो भक्ता इति तासां समाधानानन्तरमायास्यतीति चेत् तत्राहुः प्राप्तराज्य इति । उत्तरोत्तरमागमने

प्रतिबन्धा एव भविष्यन्तीति । आदौ राज्यमेव, ततो मारणीयाः शत्रवः, ततो दिग्विजये नरेन्द्र-कन्यानामुवाहः । ततस्तासु प्रीतिः । ततः सर्व-सुहृदृतः पुत्रपौत्रादिभिः परिवृतः, ततः सर्वानुरो-धयुक्तः कथमायास्यतीति भावः ॥४६॥

व्याख्यार्थ—अब कृष्ण किसलिए आएँगे? वर्तमान क्रिया 'आयास्यति' कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ जो दो कार्य हैं, उनको यदि करना हो तो अब आवें; आकर १-हमारे काम की शान्ति तथा २-उपदेश; दोनों कार्य करके फिर लौट जावें, देरी क्यों करते हैं ? यदि कहो कि अब आने में नागरी स्त्रियाँ जो अब भक्त होकर प्रेम करने लगी हैं; उनको अब ही त्याग कर आना योग्य नहीं है, अतः उनके समाधान करने के अनन्तर पधारेंगे । इसके उत्तर में हमारा कहना है कि यों तो एक प्रतिबन्ध टलेगा तो दूसरा प्राप्त होगा; क्योंकि अब तो राज्य मिल गया है । उसके अनेक कार्य आने में प्रतिबन्ध होते रहेंगे । फिर राज्य के तो अनेक शत्रु होते हैं । उनको नाश करना पड़ता है, इस प्रकार प्रतिबन्ध आते ही रहते हैं । राज्य के शत्रुओं को नाश कर विजय प्राप्त होने से राजाओं की कन्याओं से विवाह होंगे । पुनः उन स्त्रियों से प्रेम जगेगा, अनन्तर पुत्र-पौत्रादि उत्पन्न होंगे, जिनसे रस प्राप्त करने में संलग्न रहेंगे । यदि तब आने की चेष्टा भी करेंगे तो वे सब आने नहीं देंगे, ऐसी हालत में वे यहाँ कैसे आ सकेंगे ? ॥४६॥

आभास—ननु यथा ते अनुरोध्याः तथा यूयमपीति ततः समायास्यतीति चेत्तत्राहुः किमस्माभिरिति ।

व्याख्यान—जैसे उनका कहा हुआ मानत है, वैसे ही आपका भी कहना मानकर यहाँ पधार-
रग; यदि यों कहें तो इस पर यह उत्तर है, जिसका वर्णन 'किमस्माभि' श्लोक में
करते हैं।

श्लोक—किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः ।

श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः ॥४७॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मी के पति, पूर्णकाम, कृतात्मा और महात्मा भगवान् को वन में
रहने वाली हमसे तथा अन्य स्त्रियों से कोई प्रयोजन नहीं है, अतः क्यों आवेंगे? ॥४७॥

सुबोधिनी—अस्मत्तापो वा प्रागमने हेतुः
भगवदपेक्षा वा । आद्ये इदानीमेवागच्छेत् ।
नन्विदानीं महत्कार्यमस्तीति चेत्तत्राहुः अन्याभि-
र्वेति । स्वोपकारात्कार्याविशयकत्वं नत्वन्योपका-
रात्, तथा सति वयमेवावश्याः, स्वार्थं तु
किमस्माभिरन्याभिर्वा, स्वस्य सर्वथा अप्रयोजक-
त्वमाहुः वनौकोभिरिति । वनचर्यो वयम् । अनेन
वानरतुल्यत्वात् सर्वधर्मबहिष्कारः सूचितः । अस्तु
वा धर्मवत्त्वं तथापि भगवतो न कोप्युपकार इत्याह
अन्याभिर्वेति । वेत्यनादरे । सर्वत्र हेतुर्महात्मन
इति । स हि महानेव । न हि महतो न्यापेक्षा,

तत्राप्यात्मनः । स हि सर्वान् स्वत एव व्याप्नोति ।
महानुभावस्य वा, इत्यलौकिक उपाय उक्तः ।
लौकिकमाह श्रीपतेरिति । स हि लक्ष्मीपतिः,
सर्वपेक्षापूरिका हि सा सेवकानामपि, किमुत
स्वाभिनः । किञ्च । आप्तकामस्येति । आप्ताः स्वत
एव कामा येन । अन्येषामपि कामानां फलदाता
स्वयं कथं पूर्णकामो न भवेत् । अतोऽस्मादिभिः
को वा अर्थः क्रियेत । किञ्च । कृतात्मन इति ।
कृताः स्वार्थमात्मानो येन । सर्वे हि क्रीडार्थमेव
तेन जनिताः, वशीकृतचित्ता इति एके ॥४७॥

व्याख्यान—भगवान् के यहाँ पधारने के दो कारण हैं । एक हम संतप्त हैं, अतः हमारे संताप
को मिटाना है । दूसरा उनको हमारी अपेक्षा हो तो पधारें । यदि पहला कारण हमारा संताप मानें,
तो अब ही पधारें । आपके लिए अब पधारें तो सही, किन्तु अभी उनको वहाँ बड़े-र कार्य हैं ।
जिसके उत्तर में कहती हैं कि अपने स्वयं के उपकार करने से वह कार्य आवश्यक होगा,
दूसरों के उपकार करने से वह कार्य आवश्यक नहीं है, अतः दूसरों के उपकार रूप आवश्यक कार्यों
की तुलना में हमारा ताप मिटाना ही आवश्यक है; क्योंकि हम अति तप्त हैं, यदि अपना ही
उपकार करना है, तो फिर हमसे अथवा अन्यो से उनका क्या प्रयोजन है ? जिसमें भी हमसे तो
कोई प्रयोजन नहीं है । कारण कि हम वन में रहने वाली वानरों के समान सर्व प्रकार के रस शाख
सिद्ध धर्मों से बहिष्कृत हैं । विशेष अवस्था से जो उस समय दैन्य का आविर्भाव हुआ था, जिससे यों
कहा है । फिर अनादर से कहती हैं कि धर्मत्व हो, तो भी उससे भगवान् का कोई भी उपकार न
होगा, अतः दूसरी से भी कोई प्रयोजन नहीं है, अतः क्यों पधारेंगे ? सब स्थान पर अर्थात् किसी के
लिए भी न पधारने का यह भी कारण है कि वे बड़े हैं । बड़ों को किसी की अपेक्षा नहीं रहती है ।
इसमें भी आप सर्वत्र व्याप्त हैं, जिससे आत्मा की भी उनको आवश्यकता नहीं है और फिर वे महान्
प्रभाव वाले हैं, यह अलौकिक उपाय कहा है । अब लौकिक नीति से कहती हैं, वे लक्ष्मी के पति हैं,
जो सेवकों की भी इच्छा पूर्ण करती है, तो स्वामी की भी इच्छा पूर्ण करे, जिसके लिए कहना ही

श्लोकार्थ—उत्तम श्लोक के स्मरण रूप ज्ञान को कौन छोड़ सकता है ? यद्यपि भगवान् लक्ष्मी को इच्छा नहीं करते हैं, तो भी वह उनके अङ्ग से क्षण मात्र भी पृथक् नहीं होती है ॥४६॥

सुबोधिनी—उत्तमश्लोकस्य भगवतः सम्बन्धं स्मरणात्मकं सन्त्यक्तुं कः उत्सहेत । संविच्छब्देन सम्बन्धो ज्ञानं चोच्यते । उत्तमैः श्लोक्यत एव न तु सम्बन्धमभिप्रायुवन्ति । सर्वैरेव श्लोक्यत इति सुलभं भगवत्स्मरणम् । अविगीतत्वाद् बाधरहितम्, विस्मर्तव्यः सम्बन्धो वा दूरीकर्तव्य इति को वा उत्साहमपि कुर्यात् । अशक्यत्वादप्यन्तमीप्सितत्वाच्च । ज्ञानपक्षेऽशक्यत्वं उत्तमश्लोकपदेनैव साधयित्वा सम्बन्धत्यागेच्छाभावं विद्यमानेऽपि

हेतो न जायत इत्युपादयन्त्यनिच्छतोपीति । इच्छामात्राभावे कामाभावः सुतरां सिद्धः, तादृगे हि लिखो विरक्ता भवन्ति, तत्रापि स्वतः प्रोढास्तत्रापि पित्रादिगृहे लब्धप्रतिष्ठाः, स्थिता अपि औदासीन्येन तिष्ठन्ति धर्मपरिपालिका इव । भगवाननिच्छन् भवति, तादृशस्याप्यङ्गादक्षः स्थलाच्छीरार्थाभिः सर्वदा सेव्यमानापि कदापि न च्यवते च्युता न भवति ॥४६॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् के स्मरण या सम्बन्ध को छोड़ने का उत्साह कौन कर सकता है ? नारद आदि भक्त भगवान् के गुण गाते हैं, किन्तु उनका भगवान् से सम्बन्ध नहीं होता है । सब गुणगान करते हैं, अतः गुणगान रूप स्मरण सुलभ है । गुणगान में किसी प्रकार का दोष नहीं है, अतः उसमें कुछ भी कठिनाई नहीं है । उनसे सम्बन्ध छोड़ना अथवा उनको भूल जाना, इस प्रकार का उत्साह कौन करेगा ? उनका सम्बन्ध तथा स्मरण सबको इच्छित है, अतः वह छोड़ना या भूलना अशक्य है । वे उत्तम श्लोक है, अतः ज्ञान पक्ष में भी उनको भूलना या सम्बन्ध छोड़ना अशक्य है । सम्बन्ध के त्याग करने में कारण होते हुए भी उसको छोड़ने की इच्छा नहीं होती है । जिसको इच्छा मात्र भी नहीं है, उसमें काम का अभाव तो स्वतः सिद्ध है । ऐसे पुरुष से स्त्रियाँ उदासीन होती हैं । जिसमें स्वयं में प्रोढ़ता होवे और पिता के गृह में भी सम्मानित हों, तो भी उदासीन होकर रहती हैं । जैसे धर्म का पालन करने वाली घर में उदासीन रहती है । भगवान् नहीं चाहते हैं, तो भी लक्ष्मीजी उनके वक्षस्थल को क्षण मात्र नहीं छोड़ती है, जबकि द्रव्य की इच्छा करने वाले लक्ष्मीजी की सदा सेवा करते ही रहते हैं ॥४६॥

आभास—स्मरणत्यागाशक्यतामुपपादयन्ति । सरिच्छैलेति त्रिभिः ।

आभासार्थ—‘सरिच्छैल’ से तीन श्लोकों में स्मरण त्याग की अशक्यता बताती है ।

श्लोक—सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे ।

सङ्कर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो ॥५०॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! बलरामजी के साथ श्रीकृष्ण ने इन नदी, पर्वत व वन के प्रदेशों में गौओं के साथ वंसी बजाते हुए रमण किया था ।

सुबोधिनो—स्मारका हि बहवः येष्ववश्यं प्रवृत्तः । सर्वपीरत्योगडीप जलांथमवश्यं गन्तव्यम्, वहिर्निर्गतः उच्चैः स्थितं पश्येदेव, अतो यमुनागोवर्द्धनदर्शनमावश्यकम् । विहारार्थमवश्यं वनोद्देशाश्च द्रष्टव्याः । एते त्रयः सत्त्वादिभेदाः । गृहेऽप्यवश्यं द्रष्टव्या गावः, निमीलिताक्षारणामपि इमे वेणुरवाः स्मारकाः, ये इदानीमप्यनुभूयन्ते । अतः स्मारकाः सर्वत्र । किञ्च । भगवत आचरितान्यपि भगवत्स्मारकाणीत्याह सङ्कर्षणेति । वहिर्वृत्तिनिरोधे पूर्वोक्ता न स्मारकाः । भगवच्च-

रितानि तु चौर्यादीनि देव्यादिमारणेन पालनरूपीण स्वच्छन्दरमणरूपीण च आचीरता इत्युच्यन्ते । सङ्कर्षणसहायत्वं लीलादी निर्भयत्वाय । तत्रापि कृष्णेन सदानन्देन अस्मदर्थमेवाविर्भूतेन स्मारणार्थमेव तादृशकर्त्रा । प्रभो इति सम्बोधनं तादृशार्थविस्मरणे कदाचित्तव सामर्थ्यं भवेत् नत्वस्माकमिति ज्ञापितम् । अनेन स्वदृष्टान्तेन भवतीभिरपि सुखेन स्थातव्यमिति पक्षो निवारितः, अत एव त्वं स्वस्थो वर्तसे, न वयम् । ॥५०॥

व्याख्यार्थ—स्मरण का त्याग क्यों अशक्य है ? जिसको सिद्ध करती हुई कहती हैं कि स्मरण कराने वाले बहुत पदार्थ हैं । जिनमें प्रवृत्ति अवश्य ही होगी; सबको छोड़ दें, तो भी जल के लिए श्री यमुनाजी पर अवश्य ही जाना पड़ेगा । जब बाहर निकलेंगी तो जो उच्च स्थित है, वह देखने में ही आवेंगे, अतः श्री यमुनाजी तथा गोवर्द्धन के दर्शन तो अवश्य ही होंगे और विहार के लिए वन के प्रदेशों में जाना पड़ेगा; ये तीन सत्त्व आदि गुणों के कारण भिन्न-भिन्न हैं । घर में गौओं के दर्शन होते ही हैं, यदि आँखों को बन्द करें, तो ये वेणु के रव स्मरण कराने वाले ही हैं, जिनका अब भी अनुभव हो रहा है । अतः सब स्थलों में स्मरण कराने वाले पदार्थ स्थित हैं, भगवान् के सब चरित्र भी उनके स्मारक हैं । यदि बाहर की वृत्तियों को रोक भी लेवें, तो ऊपर कहे हुए पदार्थ स्मारक भी न होंगे, किन्तु माखन चोरी, दंत्य वध आदि और स्वच्छन्द रमण रूप भगवान् के चरित्र, वे जो अन्तःकरण की वृत्तियों में व्याप्त हैं, वे तो स्मरण करायेंगे ही । लीला में सङ्कर्षण की सहायता निर्भय होने के लिए है, उसमें भी हमारे लिए ही प्रकट हुए । सदानन्द श्रीकृष्ण ने ये लीला हमको स्मरण कराने के लिए ही की है । वैसे प्रेष्ठ को तथा उनकी लीलाओं के विस्मरण में आप प्रभु हैं, अतः भले समर्थ हो, किन्तु हम उनको भूलने में सर्वथा अशक्त हैं । यों कह कर उद्धवजी के इस पक्ष को कि जैसे मैं स्वस्थ हूँ, वैसे आप भी हो जाओ; निवारण किया अर्थात् आप स्वस्थ रह सकते हो; हम नहीं रह सकेंगे ॥५०॥

आभास—एवं स्मारकान्निरूप्य तैः क्रियमाणस्मरणस्य बलिष्ठतामाहुः पुनः पुनः स्मारयन्तीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार स्मारकों का निरूपण कर अब उनके स्मरण कराने की बलिष्ठता का प्रतिपादन 'पुनः पुनः स्मारयन्ति' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—पुनः पुनः स्मारयन्ति नन्दगोपसुतं बत ।

श्रोतिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः ॥५१॥

श्लोकार्थ—वे सब बार-बार नन्द गोप के पुत्र का स्मरण कराते हैं । लक्ष्मी के आस्पद उनके चरण कमल देख हम भी विस्मरण नहीं कर सकते हैं ॥५१॥

सुबोधिनी- स्मरणेन पीडया मूर्च्छायां
जातायां विस्मरणमाशंसमानानां सर्ववृत्तिनिरोधे
स्मारयिष्यन्तीति भयात्स्मृता एव भवन्त्यतः पुनः
पुनः स्मारयन्ति । किञ्च । पीडायां समर्थाश्रयणं
कर्तव्यमिति विचारेऽपि नन्दश्चेत् स्मृतः तदा
नन्दगोपसुत इति स्मृत एव भवति भगवान् ।

किञ्च । लक्ष्मीस्थानरूपाप्यतिमुन्दराणि सर्वत्रो-
दगतानि पदान्यच्युतत्वान्नित्यान्याधारे स्थिते
अतिरोभावस्वभावानि, तादृशैः तस्यैव भगवतः
पदैरसाधारणैर्हृदयादिषु स्थापितैर्वा सानुभावैः
दृष्टादृष्टोपायेन बलिष्ठैः कृत्वा विस्मर्तुं नैव
शक्नुमः ॥५१॥

व्याख्यानार्थ - स्मरण करने से ऐसी पीड़ा होती है, जिससे मूर्च्छा आ जाती है। तब इच्छा होती है कि स्मरण करना ही छोड़ दें। जिसके लिए सर्व वृत्तियों को रोकती है, किन्तु उस समय मन में भय होता है कि ये चरित्र स्मरण करा देंगे, यों भय उत्पन्न होते ही वे याद आ जाते हैं, इसलिए कहा है कि 'पुनः पुनः स्मारयन्ति' फिर-फिर याद कराते हैं। जब किसी प्रकार की पीड़ा होती है, तो उसको मिटाने के लिए किसी समर्थ का आश्रय लिया जाता है, तो ब्रज में समर्थ नन्दरायजी हैं, उनका स्मरण करते ही उनके पुत्र का स्मरण हो ही जाता है। भगवान् के जो अति सुन्दर चरण जिनमें लक्ष्मीजी का निवास भी है, वे इस ब्रज भूमि में अङ्कित हैं। वे अच्युत होने से नित्य भी हैं। जिससे वे कभी भी तिरोहित नहीं होते हैं। उन भगवान् के चरण जिनको हृदय में स्थापन किया है, वे अपने प्रभाव से बलिष्ठ, दृष्ट-अदृष्ट उपायों वाले हैं। उनको हम विस्मृत करने में असमर्थ हैं ॥५१॥

श्राभास—किञ्च । विस्मरणे हि मनोनिरोधः साधनम्, मनश्चामलया बुद्ध्या निरुध्यते, सा बुद्धिः पूर्वमेव भगवता हृतेति कोन्य उपायो विस्मरण इति पृच्छन्त्य इवाहः गत्येति ।

आभासार्थ—जब मन का निरोध होता है, तब विस्मरण हो सकता है। मन का निरोध तब होता है; जब बुद्धि निर्मल होवे। वह बुद्धि तो भगवान् ने प्रथम ही हरण कर ली है। इसलिए 'गत्या ललित' इस श्लोक में विस्मरण का अन्य कौनसा उपाय है ? यह पूछती हैं।

श्लोक—गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः ।

माधव्या गिरा हृतधियः कथं तद्विस्मरामहे ॥५२॥

श्लोकार्थ—सुन्दर गति, उदार हास्य, लीला सहित अवलोकन और मधुर वाणी
इनसे हमारा चित्त जिसने हरण किया है, उसको हम कैसे भूल सकती हैं ? ॥५२॥

सुबोधिनी—बुद्धिर्हि त्रिविधा गुणः । त्रिवि-
धमपि त्रिधा कायवाङ्मेनोवर्षयति त्रिविधा धर्मा
हरन्ति । तत्र प्रथमं भगवतः कायिकचेष्टया देह-
विषयिणी बुद्धिर्हतेत्याह ललितया गत्येति ।
गतिर्हि स्वयं गच्छन्ती बुद्धिमपि नयति । ललिता
तु सर्वतो निरोधेन नयति । तदंशमनसो हरणात् ।
मनसो हरण उपायमाहु उदारहासलोलावलोक-
नैरिति । मनो हि सङ्कल्पविकल्पात्मकम्, तत्र
सङ्कल्पांशं भगवतो हासो निवारयति, मोहात्म-
कत्वात् । सङ्कल्पसाधनरूपं सुखं च बहुधा प्रय-
च्छतीति फलेनापि न सङ्कल्पः साधयितुं शक्यते ।
नदाह उदारेति । भ्रान्तो हि विकल्पान् करोति,
तन्निवृत्त्यर्थं च लोलावलोकनानि, ज्ञानात्मकत्वा-

द्वलोकानस्य विकल्पं नाशयत्येव, तत्रापि फला-
भावात् ज्ञानं दुर्बलं भवेत्तिन्निषेधीयं लेलीति ।
स्वतः पुरुषार्थमित्यर्थः । वाक्प्रधानां तु गीर्हंरति,
सजातीयहारिणी स्त्री स्त्रिय चेद्धरेत् न कोऽपि
प्रतिबन्धको भवति । तत्रापि फलरूपत्वाय
माध्येति । एवं लोकप्रसिद्धप्रकारेण विस्मरणा-
सम्भवात् तत्कथं विस्मरामह इति प्रश्नः । उद्धवो
हि महान् विस्मरणात्मकं जास्यतीति । अथवा ।
भवतो भवतु विस्मरणं, हृतधियो वयं कथं
विस्मरामहे । तस्मिन् हि विस्मृते साधनान्तरे
प्रवृत्तिः संभवति । अतो भगवदुक्तं ज्ञानं पूर्वार्धि-
विस्मरणे भवतीति अशक्यमेवोपदिष्टवान् ।

॥५३॥

व्याख्यानार्थ— बुद्धि तीन गुणों के कारण से तीन प्रकार की होती है । सतोगुण से ज्ञान वाली, रजोगुण से सङ्कल्प विकल्प वाली और तमोगुण से देहाभिमान वाली होती है । इन तीन प्रकार की बुद्धि को भगवान् अपने त्रिविध धर्मों से हरण करते हैं । जैसे कि भगवान् ने प्रथम अपने क्राया की ललित गति की चेष्टा से देहाभिमान वाली बुद्धि को हरण कर लिया है । गति जैसे आप आगे चलती रहती है, वैसे ही उस बुद्धि को भी ले जाती है । किस प्रकार ले जाती है ? जिसको स्पष्ट करते हैं कि ललित गति बुद्धि को सबसे से खींचकर अपने में निरोध कर ले जाती है । कारण कि बुद्धि के अश रूप मन को वह गति हरण करती है । मन के हरण करने का उपाय कहते हैं 'उदारहास' लीलावलोकनः' जिस वृत्ति से मनुष्य सङ्कल्प-विकल्प करते हैं, उस वृत्ति को मन कहते हैं । उन दोनों में से जो सङ्कल्प रूप अश है, उसको भगवान् को मोहित करने वाला मोह रूप हास निवारण करता है और सङ्कल्प के साधन रूप सुख को अनेक प्रकार से देता है । जिससे फल द्वारा भी सङ्कल्प को सिद्ध नहीं कराता है । अमित मनुष्य ही विकल्पों को करता है । उनको मिटाने के लिए ही भगवान् लीलावलोकन करते हैं । अवलोकन ज्ञान रूप है, अतः विकल्पों को नाश करता ही है । वहाँ भी फल का अभाव है, जिससे ज्ञान दुर्बल होता है । उसकी दुर्बलता मिटाने के लिए 'लीला' शब्द भी दिया है । यों कहने का आशय है कि ज्ञान अपने आप पुरुषार्थ रूप है । जिसमें वाणी प्रधान है, उसको भगवान् की वाणी हरण करती है । अपनी जाति की स्त्री यदि स्त्री को हरण करती है, तो उसमें कोई भी रुकावट नहीं कर सकता है । उसमें भी फल रूप वाणी माध्वी^२ है । वैसे लोक सिद्ध प्रकार से भी विस्मरण असम्भव है, तो कैसे हम भुला सकेंगे ? आप तो विस्मरण

ॐ काया, वाक् और मन के विषय वाली

१- उदार हास और लीला द्वारा जो अवलोकन करते हैं उनसे

२- मधु के समान मिष्ट,

आभास—एवं लौकिकप्रकारेण वैदिकप्रकारेण च वयं सर्वथा दुःखसागरान्न
निस्तीर्णा भविष्याम इत्याहः हे नाथेति ।

आभासार्थ - इस प्रकार लौकिक या वैदिक ढङ्ग से हम इस दुःख सागर से सर्वथा नहीं निकल सकेंगे, जिसका वर्णन 'हे नाथ' श्लोक में करती है।

श्लोक—हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथातिनाशन ।

मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात् ॥५३॥

श्लोकार्थ — हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे ब्रजनाथ ! हे दुःखनाशक ! हे गोविन्द !
दुःख सागर में मग्न गोकूल का उद्धार करो ॥५३॥

सुबोधिनी - प्रमेयवलादेवोद्धर्तव्याः न तु प्रमाणबलेन । तथाकरणे आवश्यको हेतुर्नाथत्वम् । नन्वच्युतोहमसङ्गोहं च, अतो ममाप्यशक्यो रमणेनैव भवतीनामुद्धारो भवतीति चेत्तत्राहुः हे रमानाथेति । रमणैकस्वभावा हि सा, उत्तरोत्तरं वर्द्धमाना नित्या च, तस्यास्त्वं नाथ इति सर्वजनीनम् । साप्यस्मत्प्रकारेणैव साध्या भवति, लक्ष्मीत्वादेव न पोषणादिक्रमपेक्षते । ननु तदावश्यकमिति कथंचिन्निर्वाह्यत इति चेत्तत्राह व्रजनाथेति । यथा त्वं लक्ष्मीपतिः सर्वजनीनः एवं व्रजपतिरपि । लक्ष्मीव्रजयोस्तुल्यत्वाद्दोषगुणास्तुल्या इति भावः । ननु साप्यशक्या चेत्युच्यत एवेति कोयं दृष्टान्त इति चेत्तत्राहुः आतिनाशनेति । हरिस्त्वं आति नाशयस्येव । कुर्या अन्यन्न वा कुर्या आति तु नाशय अन्यथा हरि-

त्वमेव न स्यात्, अतः स्वरूपरक्षार्थमेतदवश्यं
कर्तव्यम् । किञ्च । इदं हि सर्वमेव गोकुलं दुःख-
समुद्रे निमग्नं तदुद्धर, पूर्वं ह्येको गजः, सोऽपि
पुष्करिण्यां अर्धनिमग्न इव स्थितः, सोऽपि दयाया
चेदुद्धृतः, किमस्मदुद्धारे दयाया विलम्बो भवेत्,
मग्नोद्धारे त्वमेव समर्थः, यथा मन्दरोद्धारे । ननु
तेऽस्मद्व्याख्यात्प्रवृत्ता इति तदर्थमुद्धृताः, भवत्यस्तु
नास्मद्भवत् प्रवृत्ता इति चेत्तत्राहुः गोविन्देति ।
त्वं ह्यस्मदिन्द्रत्वेन सर्वैरभिषिक्तः, अतो यावद-
धिकारं त्वाधिकारिकमिति न्यायेन यावद्गोकुलं
जीविष्यति तावदस्य रक्षा भवत आवश्यकी ।
अन्यथा प्रमाणबलं त्वयैव नाशितं स्यात्, पूर्व-
मपि मत्स्यादिभावेन वेदा उद्धृताः, तथा गोवि-
न्दभावेन वयमप्युद्धृतव्याः । ननुद्धृतेन, तथा
सति जघन्यापत्तिरिति भावः ॥५३॥

1 000000000 1000000000 000000000000000000000000000000000

व्याख्यान—इस दुःख समुद्र से हमारा उद्धार प्रमाण बल से न करो, किन्तु प्रमेय बल से करो। प्रमेय बल से उद्धार करने में आवश्यक कारण यह है कि आप हमारे नाथ हैं, नाथ सेविकाओं के गुणादि न देखकर अपनी शक्ति से उनका उद्धार करते हैं। यदि आप कहो कि मैं तो अच्युत और असङ्ग हूँ, अतः रमण से आपका उद्धार करना मेरे लिए अशक्य है। आपके इस कथन पर हमारा उत्तर है कि आप रमानाथ हैं, रमा जिसका स्वभाव ही नित्य रमण का है, वह आपसे नित्य रमण करने के कारण ही नित्य है और बढ़ रही है। उस रमा* के आप पति हैं, यह सब जनों में प्रसिद्ध है। वह भी हम लोगों की भाँति ही साध्य है, केवल लक्ष्मी होने से पोषणादि की उसको अपेक्षा नहीं है। यदि आप कहो कि उस लक्ष्मी से रमण आवश्यक है; क्योंकि मैं पति हूँ, वह मेरी स्त्री है, अतः जैसे-तैसे निभाना ही है, तो जैसे आप रमा के पति हैं, वैसे ब्रज के भी पति हैं। लक्ष्मी और ब्रज समान है, अतः उन दोनों के गुण और दोष भी तुल्य हैं। जो आप कहो कि वह भी यदि अशक्य याचना करे, तो वह याचना भी त्याज्य हो सकती है, अतः आपका यह दृष्टान्त प्रबल नहीं है। इस पर हमारा कहना है कि यह दृष्टान्त प्रबल नहीं है, तो भी कोई बाधा नहीं है। आप 'आर्त्तिनाशन' दुःखों को नाश करने वाले हैं, यह तो प्रसिद्ध ही है। आपका नाम हरि है अर्थात् जो दुःखों को हरण करे, वह हरि आप हैं, इसलिए आप दुःखों को नाश करते ही हैं। दूसरा कुछ करो या न करो, किन्तु आर्त्ति को तो मिटाने की कृपा करो। यदि आर्त्ति नहीं मिटाते हो तो आपका हरित्व अर्थात् हरिपन ही न रहेगा। इसलिए आपको अपने स्वरूप की रक्षा के लिए यों अवश्य करना चाहिए और विशेष यह है कि यह समग्र गोकुल दुःख सागर में मग्न है, उसका उद्धार करो। पूर्व समय में एक हस्ती केवल छोटे पोखर में आधा डूबने से दुःखी था, उस पर दया कर उसका उद्धार किया, तो हम इतनी विरहात्मक दुःख सागर में समग्र निमग्न हुई हैं, उनके उद्धारार्थ दया में विलम्ब क्यों हुआ है? जैसे आपने मन्दर+ का उद्धार किया, वैसे ही हमारा भी करो; क्योंकि डूबे हुए के उद्धार करने में आप ही समर्थ हैं। यदि आप कहो कि वे हमारे कहने से कार्य में प्रवृत्त हुए थे, इसलिए उनका उद्धार किया था। आप तो हमारे कहने से प्रवृत्त नहीं हुई हो, जो आपके उद्धार का भार हम पर हो, जिसके उत्तर में कहती है कि हमने आपको अपना इन्द्र बनाया है, अतः अधिकार के अनुसार कार्य करना ही न्याय है। राजा होने के नाते जब तक गोकुल है, तब तक आपको उसकी रक्षा अवश्य करनी है। यदि नहीं करोगे, तो प्रमाण बल का नाश आपने ही किया है, ऐसा कहा जाएगा। जैसे पहले भी मत्स्य आदि रूप से डूबे हुए वेदों का उद्धार किया ही है, वैसे ही अब गोविन्द भाव से आपको हमारा उद्धार करना ही चाहिए, किन्तु यों नहीं कहें कि हमने वेदों का उद्धार किया है, वे उद्धृत वेद तुम्हारा उद्धार करेंगे, यों प्रमाण के अधीन होने से हम हीन देखने में आवेंगी ॥५३॥

1

* रमा : लक्ष्मी ब्रह्मानन्द रूप है, ब्रह्मानन्द नित्य है और बढ़ता ही है, वह शास्त्र प्रमाण से सिद्ध है, जब इस प्रकार रमा से रमण है, तो उसके साथ रमण से हमारा भी उद्धार करें, तो अशक्य नहीं है—‘लेखाशय’

१-मन्दराचल ने देव-दैत्यों को चूर्ण किया है । -'लेख'

२-ट्रेक ग्रादि समुद्र में नहीं डूबे थे, किन्तु लज्जा में डूबे थे । -'प्रकाश'

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२ ॥

सदेश उनके समझ में न आया था अथवा भूल गई थी, जिससे उनको विरह तथा चिन्ता हुई थी, किन्तु वह वास्तविक नहीं थी, केवल भूल थी। जैसे कण्ठ में सुवर्ण की माला पड़ी है किन्तु वह विस्मृत हो गई, अब उसके खो जाने का दुःख होता है, उस दुःख को मिटाने का उपाय केवल उसका पुनः स्मरण कराना ही है, वैसे ही यहां भी इतना ही स्मरण कराना था कि भगवान् एव आपका विरह है ही नहीं, क्योंकि वह सब की आत्मा होने से आपकी भी आत्मा है। आत्मा कभी पृथक् नहीं होती है ! यह सदेश जब पहले उद्धवजी ने दिया, तब यह अभिप्राय सिद्ध हुआ, कि भगवान् मे जो दोष बुद्धि थी, वह मिट गई। उनका अन्तःकरण निर्दोष हुआ, किन्तु विरह ज्वर से उत्पन्न विलाप नहीं मिटा था। कारण कि प्रभु के साक्षात् कार का अनुभव नहीं हुआ था। जब बार बार उपदेश सुने; तब विरह से प्राप्त हुई अन्तिम अवस्था भी मिट गई, जिससे जीने का विश्वास हुआ तथा भगवान् में आत्मत्व की स्फूर्ति होने लगी। अर्थात् अब तक तो इन्द्रियाध्यास के कारण देह में ही आत्म बुद्धि थी, जिससे भगवान् को आत्मरूप न समझती थीं, अब इन्द्रियाध्यास के मिटजाने से गोपियों को भगवान् की आत्म रूप से प्रतीति होने लगी। अथवा कह कर दूसरा पक्ष बताते हैं कि प्रथम पक्ष में इनकी यदि ज्ञानियों के समान अवस्था हो गई तो, वह बलदेवजी के व्रज में आगमन और कुरुक्षेत्र में श्रीकृष्ण के आगमन के समय गोपियों ने जो भाव दिखाया था, जिससे विरोध होगा, अतः दूसरा पक्ष कहते हैं। जिसमें भी तीन प्रकार कहे हैं, म्यान के भीतर तलवार के समान उनके देह के भीतर स्थित जीव को अपने में छिपाकर अथवा उस स्थान पर प्रभु स्वयं प्रकट होकर अथवा सत् चित् स्वरूप में आनन्दांश प्रकट कर उनको प्रत्यक्षपन से वा स्वप्रकाशपन से अपने को जताया। यदि यों न करें तो अध्यारोपन्याय से प्रतीति होवे। केवल शब्द से तो विरह का अभाव है, अतः भेद की प्रतीति नहीं होता है। कारण कि आत्मरूप अर्थात् अपना ही रूप होने से, जिससे उस समय भी संयोग भाव से हो रहता है, इस प्रकार की कृति तो भगवान् ही करने वाले है। गोपियों को तो केवल इसका ज्ञान ही हुआ है, पश्चात् गुरु का उपदेश मिला है। यद्यपि साक्षात् गुरु का तो वहां अभाव था, तो भी 'सुनो' यों कहने से गुरु द्वारा भेजे हुए सदेश के सारांश को जो उद्धवजी ने कहा है, वे भी गुरुवत् पूजनीय ही हैं, अतः उनका पूजन करने लगी। अथवा आत्मज्ञानियों का सम्मान करने लगी, अथवा प्रथम गोपियां भगवान् को अपने से पृथक् समझती थीं, अब प्रभु को अपनी तथा सर्व की आत्मा समझने लगी है। आगे भी वैसे ही रहेंगी यों कहकर गोपियों में ब्रह्म भाव की योग्यता का निरूपण किया है। यदि ब्रह्मभाव अभिलषित न हो तो ब्रह्मभाव भी न होवे, इस प्रकार की उत्कट इच्छा है, यह जताने के लिए उद्धव को पूजा का निरूपण किया है ॥५४॥

आभास—कोमलकण्ठकन्यायेनायं भावः अदृढश्चेत् पूर्वभावेन बाध्येतेति पुनः पुनः स्मारणार्थं किञ्चित्कालं तत्रैव स्थित इत्याह उवास कतिचिन्मासानिति ।

आभासार्थ—कोमल कांटे की भांति यदि यह भाव भीतर जाकर दृढ न होगा तो पुनः पूर्व में हुए भावों से इसका बाध हो जावेगा, अतः उद्धवजी इस भाव को दृढ कराने के लिए वहां व्रज में कितने ही मास और भी ठहरे, जिनमें पुनः पुनः इन भावों का स्मरण कराके इस भाव को दृढ किया, जिसका वर्णन 'उवास कति' श्लोक में किया है।

श्लोक—उवास कतिचिन्मासान्गोपीनां विनुदन् शुचः ।

कृष्णलीलाकथा गायन् रमयामास गोकुलम् ॥५५॥

श्लोकार्थ—गोपियों के ताप को मिटाने के लिए उद्धवजी कितने ही मास वहाँ रहे । उन दिनों में श्रीकृष्ण की लीलाओं की कथा पुनः पुनः गाते हुए गोकुल को आनन्दित करने लगे ॥५५॥

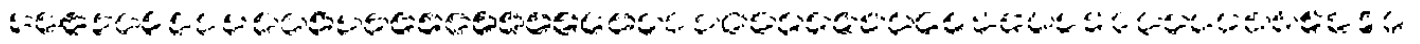
सुबोधिनी—स्थितस्य प्रयोजनमाह गोपीनां
विनुदन् शुच इति । पुनः पुनः पूर्ववासनया भेदः
स्फुरति, स्फुरणमात्रे च क्लेशो भवति, तद्दूरी-
करणार्थं स्थितिः । यावत्स भावो न स्फुरति,
सजातीयप्रचयसंवलितमेतदेवावर्त्यमानं ज्ञानं
भेददुःखानुत्पादने समर्थमिति देशादिधर्मैरन्तःक-
रणावरणे भेदज्ञानमावश्यकमिति तन्निराकर-

एतार्थं भगवज्ज्ञानं कृतवानित्याह कृष्णलीला-
कथा गायन्निति । लौकिकाः कथामात्र एवासक्ता
भवन्ति सर्वे, लीलायां कथायां मुक्ताः, भक्ताश्च
कृष्णकथायामिति योगसमुदायाभ्यां प्रतिपाद्यते ।
किञ्च । सर्वमेव गोकुलं रमयामास, अन्यथा
संसर्गतोपि दुःखं भवेदिति ॥५५॥

व्याख्यान—उद्धवजी वहां रहे जिसका प्रयोजन 'गोपीनां विनुदन् शुचः' पद से कहते हैं, कि उद्धवजी वहां यह समझ कर रहे, कि पूर्व की कही हुई त्रिदोष वासना से बार बार भगवान् से भेद की स्फूर्ति होती है। स्फुरण मात्र होते ही क्लेश उत्पन्न होता है, अतः वह वासना ही मिट जावे, जिससे क्लेश न हो, अतः जब तक उस भेदभाव की स्फूर्ति न मिटे तब तक उद्धवजी ने वहां रहना योग्य समझा। भेद से जो दुःख होता है, उसके निवृत्ति का उपाय वही एक है, जो 'भवतो नां वियोगो मे न हि सर्वात्मता क्वचित्' इत्यादि दश श्लोकों में कहा है। देश आदि धर्मों से अन्तःकरण पर इस प्रकार आवरण आता है, कि प्रथम दृष्टि बहिर्मुखी होती है जिससे समझती हैं कि हम गोकुल में हैं भगवान् मथुरा में हैं। वैसे विचार से भेद ज्ञान तो अवश्य होता ही है, उसको मिटाने के लिए उद्धवजी ने गोपियों को भगवान् का ज्ञान कराया। किस प्रकार कराया? जिसके लिए कहा है कि 'कृष्ण लीला कथा गायन्' से लौकिक सब मनुष्य, कथा मात्र में ही आसक्त होते हैं। मुक्त, भगवान् की लीला में और कथा में आसक्त होते हैं और भक्त श्रीकृष्ण की कथा में आसक्त होते हैं। उद्धवजी ने इसी भांति समग्र गोकुल को दुःख से उन्मुक्त कर आनन्दित किया। यह सर्व योग और समुदाय से प्रतिपादन किया है। जिसका तात्पर्य यह है कि लौकिक मुक्त और भक्त इन तीनों को योगार्थ से प्रतिपादन किया है और सकल गोकुल को समुदायार्थ से प्रतिपादन किया है, यदि समग्र गोकुल के क्लेश को निवृत्त न करें तो शेष दुःखियों के संसर्ग से अन्यो को भी दुःख भोगना पड़े ॥५५॥

ग्रामास—एतत्कृतं गोकुले जातमित्याह यावन्त्यहानीति ।

आभासार्थ—उद्धवजी ने यह सर्व कार्य गोकुल में किया, जिसका वर्णन 'यावन्त्यहानि' श्लोक में करते हैं।



श्लोक—यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेवात्सीत्स उद्धवः ।

व्रजोक्तं क्षणप्रायाण्यासकृणस्य वार्तया ॥५६॥

श्लोकार्थ—उद्धवजी जितने दिन नन्दरायजी के व्रज में रहे, व्रजवासियों के उतने दिन भगवान् की वार्ता से क्षण के समान बीत गए ॥५६॥

सुबोधिनी—नन्दस्य व्रजे अयमवात्सीत्, यतो-
यमुत्सवात्मकः, तावन्त्यहानि क्षणप्रायाणि जातानि।
आकाङ्क्षायाः परस्परं प्रतिक्षणं वृद्धत्वात् क्षण-
मपि बहूच्यत इव प्रायग्रहणम् । बहिःसंवेदने हि

दिनादिगणना, ते ह्यात्मत्वेनैव भगवन्तं ज्ञात्वा
तन्मया एव जाता इति कालातिक्रमः सुगमः,
उद्धवासक्त्या तथात्वमाशङ्क्य तन्निवृत्त्यर्थमुक्त-
मपि हेतुं पुनः स्मारयति कृणस्य वार्तयेति ॥५६॥

व्याख्यार्थ—ये नन्दजी के व्रज में रहे, उद्धवजी उत्सवरूप^१ होने के कारण जितने दिन रहे दिन मानो क्षण जैसे बीत गए, क्योंकि हर क्षण परस्पर आकाङ्क्षा की वृद्धि होती जाती थी। क्षण भी बहुत हैं, उनके लिए तो वे दिन इतने में बीते मानो क्षण भी नहीं हुआ है। इसलिए 'प्रायः' शब्द दिया है। बाहर दृष्टि होने पर ही दिनों की गणना की जाती है, यहां तो गोपियों ने भगवान् को आत्मरूप समझा, जिससे भगवन्मय हो गई थीं। अतः उनकी वहिर्दृष्टि नहीं रही थी, इससे काल का बीत जाना उनके लिए सरल हुआ। उद्धवजी में आसक्त होने से काल का ध्यान ही न रहा होगा जिसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, श्रीकृष्ण की वार्ता में ही ध्यान होने से वे इतने दिनों को क्षण से भी कम समझने लगे ॥५६॥

आभास—ननु परार्थं कथं बहुकालं तिष्ठेद् भगवन्तं परित्यज्येत्याशङ्क्याह सरिद्वनेति ।

आभासार्थ—भगवान् के दर्शन आदि छोड़ दूसरों के लिए इतने अधिक समय तक कैसे रहे? इसका उत्तर 'सरिद्वन' श्लोक में दिया है।

श्लोक—सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन्कुसुमितान्द्रुमान् ।

कृष्णं संस्मारयन् रेमे हरिदासो व्रजोक्तसाम् ॥५७॥

श्लोकार्थ—हरि के दास उद्धवजी नदी, वन, पर्वत, डोंगी के समान आकार वाली भूमि को, पुष्पों से सुशोभित वृक्षों आदि को देखते हुए, व्रजवासियों को श्रीकृष्णचंद्र का स्मरण कराते हुए वहाँ आनन्द से रहने लगे ॥५७॥



सुबोधिनी - भगवल्लीलास्थानानि तत्रत्यानि सर्वाणि स्वयं द्रष्टव्यानीत्येवं पूर्वमेव मनोरथः, अतः प्रसङ्गादागतः भगवद्वाक्यमपि पालितं भवति । भगवल्लीलापि दृष्टा भवतीति शास्त्रार्थस्य च श्रुतत्वाद् भगवल्लीलार्थमेव बहुकालं तत्र स्थितः । सरिद्यमुना, वृन्दावनम्, गोवर्द्धनम्, उभयतः पर्वतानां मध्ये निम्ना भूमिः द्रोणीसमा, गोकुलेऽपि कुसुमितान् द्रुमान् चम्पकादीन् अप-

तविपि भगवदनुभावेन सार्वकालिकपुष्पयुक्तान्, एतावान् स्वार्थः । कृष्णं संस्मारयन्निति । भगवदाज्ञाकरणम्, अत उभयार्थस्य सम्पन्नत्वाद् रेमे । हरिदास इत्यनेनान्यो भावो निवारितः । सत्सङ्गस्य प्रसङ्गादप्यागतस्य फलमाह व्रजौकसामिति । सामान्येन सर्वेषां ग्रहणम् । भगवता तूभयोरेव सुखजननमाज्ञप्तं, अयं तु सर्वानेव भगवद्भावापन्नान् कृतवानित्यर्थः ॥५७॥

व्याख्यार्थ - उद्धवजी का यह पहले से ही मनोरथ था कि व्रज में जो भी भगवान् के लीला स्थान हैं वे स्वयं देखने चाहिए । अब ऐसा प्रसङ्ग बना जिससे यहां आगए, यहां रह कर भगवान् की आज्ञा भी पालन करनी है और आपने शास्त्रों के अर्थों को सुना है, अतः भगवल्लीला भी देखनी चाहिए, जिससे आप बहुत समय वहां रहे । श्री यमुनाजी, वृन्दावन, गोवर्द्धन, दोनों तरफ पर्वतों के मध्य में डोंगी के समान नीची भूमि, गोकुल में ऋतु न होते हुए भी भगवान् के प्रभाव से सर्व काल के सर्व प्रकार के पुष्पों से युक्त वृक्षों की देखना, इतना तो उद्धवजी को अपना स्वार्थ था । इसके सिवाय भगवान् की आज्ञा का पालन करना था । यों अपना मनोरथ तथा भगवदाज्ञा ये दोनों अर्थ सिद्ध होने से प्रसन्न होने लगे । 'हरिदास' नाम देने से यह बताया कि उनमें दूसरा किसी प्रकार का भाव नहीं था । प्रसङ्ग से मिले हुए सत्सङ्ग का फल वर्णन करते हैं । 'व्रजौकसाम्' पद देकर यह जताया कि यद्यपि भगवान् ने तो माता-पिता और गोपियां इन दोनों को ही आनन्द देने की आज्ञा दी थी, किन्तु आपने सब व्रज वासियों को भगवद्भाव से युक्त कर दिया ॥५७॥

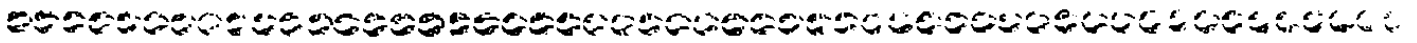
आभास—एवं भगवदाज्ञां कृत्वा इतस्तस्य निगमनमाह दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवदाज्ञा का पालन कर उद्धवजी ने मथुरा जाने की तैयारी की, जिसका वर्णन 'दृष्ट्वैवमादि' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—दृष्ट्वैवमादिगोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम् ।

उद्धवः परमप्रीतस्तां नमस्यन्नदं जगौ ॥५८॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के आवेश के कारण गोपियों के देह की घबराहट देख कर उद्धवजी अत्यन्त प्रसन्न हुए, जिससे उनको नमस्कार करते हुए यों कहने लगे ॥५८॥



सुबोधिनी—प्रत्यहमुपदेशः प्रत्यहं वैक्लव्यम्, एवमुभयं दृष्ट्वा आत्मत्वेऽपि वहिःसंवेदनमात्रेणैव तासां भगवदाकाङ्क्षैवोत्पद्यते । परं निर्दुष्टा । एवं तासां भावं दृष्ट्वा कृष्णावेशेन आत्मनो देहस्य विक्लवं दृष्ट्वा, अन्तर्निष्ठा वा विरहो वा द्वय-

मेव न तु तासामन्या लौकिकी अवस्था, एव दृष्ट्वा परमप्रीतो जात, एवमेव हि स्थातव्यं भक्ते-नेति । पश्चात्तासूभयं दृष्ट्वा स्वस्मिन्नेकमेवेति आधिव्याप्तं ता नमस्यन् नमने दोषशङ्काभावात् तासां स्तुतिरूपमिदं वक्ष्यमाणं जगौ ॥५८॥

व्याख्यानार्थ—गोपियों को नित्य उपदेश देते थे, जिससे उनमें नित्य व्याकुलीय भाव उद्भूत होता था । इस प्रकार दोनों देखकर, उद्धवजी ने जान लिया, कि इनको भगवान् हमारी आत्मा है । इस प्रकार का ज्ञान होते हुए भी जब बाहर की दृष्टि होती है तब भगवान् हमको कब मिलेंगे ? ऐसी इच्छा होती है, किन्तु वह इच्छा दोष रहित थी, क्योंकि पहले क्षत्रियपनवा गोपपन की दृष्टि थी । वह दोषवाली थी, अब वह नहीं है । अब तो आत्म दृष्टि से कोई दोष दृष्टि नहीं रही है । इस प्रकार उनका शुद्ध आत्म भाव देखकर जिससे कृष्ण के आवेश के कारण गोपियों के देह में व्याकुलीय भाव देखकर जान लिया कि गोपियों में अब लौकिक भाव नहीं है, किन्तु अन्तर्निष्ठा वा विरह ही है । जिससे उद्धवजी अत्यन्त प्रसन्न हुए । भक्त को इस प्रकार की अपनी स्थिति बनानी चाहिए । गोपियों में दोनों हैं, मुक्त में एक है, अतः गोपियां मुक्त से विशेष उत्तम हैं । अतः उनको न मन करते हुए उनकी स्तुति करने लगे । स्तुति से यह बता दिया कि नमन में कोई दोष नहीं है ॥५८॥

आभास—तस्यैव वाक्यान्याह एताः परमिति षड्भिः ।

आभासार्थ—उद्धवजी ने जो वचन कहे, वे ही इस श्लोक में कहे हैं । पहले तो भगवान् के वचन उद्धवजी ने कहे थे, उनका वर्णन हुआ । अब उद्धवजी के ही वचनों को कहा जा रहा है ।

श्लोक—एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो

गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।

वाञ्छन्ति यद्भुवभियो मुनयो वयं च

किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥५९॥

श्लोकार्थ—सबकी आत्मा गोविन्द में ही दृढ भाव वाली इन गोपियों का ही पृथ्वी पर शरीर का धारण करना सफल है; क्योंकि संसार से डरे हुए, मुनि और हम तो उस भाव को अभी तक चाह ही रहे हैं और जिस जन्म में भगवान् को अनन्त कथा रस की प्राप्ति नहीं है; वह जन्म ही निरर्थक है, चाहे वह ब्राह्मण का जन्म भी क्यों न हो ! ॥५९॥

विमान कक्षा, जयपुर में : १९७३-७४



समझ उसमें ही आसक्ति बाने होते हैं। जिससे वे वहिमुख हैं, अतः वे तनु रूप होते हैं, न कि तनुधारी किन्तु उनको कालान्तर में सत् फल प्राप्त होता है। हम जैसे तो भक्त होते हुए भी और ज्ञानवान् होते हुए भी, मन्द भाव को प्राप्त होने से, उत्तम भाव से तनुधारी नहीं है, किन्तु ये ही परम उत्कर्ष से तनुधारी है। यदि कहो कि केवल ये ही तनुभूत क्यों ? वैसे तनुधारण करने वाली लक्ष्मी प्रभूति अन्य भी है। इसके उत्तर में कहते हैं कि 'भुवि' पृथ्वी पर तो ये ही हैं, जिस पर शङ्खा उत्पन्न होती है कि पृथ्वी पर केवल ये कैसे ? पृथ्वी पर तो उच्च भक्त प्रह्लाद आदि अनेक हुए हैं। इस पर कहते हैं कि गोपबन्धुः गोप की स्त्रियां, जिस अवस्था को प्राप्त होकर अर्थात् पति वाली होते हुए भी उनका मोह त्याग भगवान् के शरण में आई वैसे भक्त पृथ्वी पर कोई नहीं हुआ है और विशेषता यह है कि भगवान् को स्वकीय जानकर भी उनको सबकी आत्मा समझ उनमें रुढ भाव वाली हुई है। अतः स्वाधीन देह का यह ही फल है, जो सर्व की आत्मा जानकर भी निर्दोष भाव से भगवान् में ही पूर्ण स्थिति, स्थापित करे।

ज्ञान की अवस्था ही उत्तर अवस्था है, जैसा कि कहा है 'आत्मलाभात्परं विद्यते'^१ भगवान् ने संदेश द्वारा उपदेश दे के इनकी ज्ञान में स्थिति की है, सचमुच ही इनके देह भी अनुपयोगी होंगे फिर यह स्तुति कैसे ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है, ससार से डरकर हम भक्त और मोक्ष चाहने वाले मुनि और समस्त धर्म परायण जनता जिस भाव की इच्छा कर रहे हैं वह भाव तो इनने पूर्व ही प्राप्त कर लिया है। यह बात तो निश्चित ही है कि विदेह कैवल्य तक, सब को बाहर का ज्ञान तो रहता ही है, जीवन्मुक्तों के इतिहास श्रवण से यह समझा जाता है। बाहर के ज्ञान होने वाली अवस्था में सब को लौकिक भाव होता है, यों काल के विभाग से जन्म की व्यर्थता होती ही है, अन्यो की तो व्यर्थता सिद्ध ही है, किन्तु नारद आदि की भी कभी प्राकृतों के समान विशेष अवस्था हो जाती है, न होती हो तो लौकिक के समान कार्य न होना चाहिए। प्रह्लाद ने भी राज्य किया, जिससे भी यों ही समझ में आता है। बाहिर का ज्ञान जब तक है, तब तक तो यही अवस्था रहती है। यही समस्त शास्त्र कहते हैं कि इससे और कोई अवस्था कहीं थोड़ी भी अन्य नहीं है, इत्यादि अवस्थाओं का पूर्ण विचार करने से यही निष्कर्ष^२ निकलता है कि ये गोपियां ही तनुधारिणी हैं।

इनकी अपेक्षा तो जो श्रोत्रिय ब्रह्मवादी वसिष्ठ आदि ब्राह्मण हैं, वे महान् होंगे ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'किं ब्रह्मजन्मभिः' ब्रह्म भाव को प्राप्त हुए को शौच, सावित्र और याज्ञिक इन तीनों से क्या लाभ ? कुछ नहीं। यद्यपि बाहर के ज्ञान में उनका वेदार्थ का अनुष्ठान करना और बड़े यज्ञ करना तथा अन्तर्निष्ठता में ब्रह्म-परायण होना दीखता है, तो भी इस प्रकार के कर्म की अपेक्षा भक्ति अधिक है, कारण कि कर्म, प्रपंच में स्वास्थ्य सम्पादन करता है, भक्ति यों नहीं करती है। वह तो प्रपंच छुड़ाती है, जो दुष्ट माने वा मनवाने का प्रयत्न करे वह दुष्ट है यों निर्णय किया हुआ है। प्रत्येक प्रकरण में, प्रकरण के अनुसार उस-उस विषय की प्रशंसा होती है, अतः विशेषता को ध्यान में रखकर विषय को समझकर सिद्धान्त को स्थिर करना चाहिए। अतः भगवान् की अनन्त कथा में जिनको रस नहीं आता है, जिसमें कथा श्रवण में प्रेम नहीं है, तो वेद-पाठ, यज्ञ आदि कर्म करने योग्य ब्राह्मण-देह की प्राप्ति से क्या लाभ ? कुछ नहीं। यों होने पर भी

१- गोपियां, २- आत्म लाभ से उत्तम अन्य कुछ नहीं है।

३- निचोड़, सारांश

ब्रह्मकुल में जन्मलोक में उत्कृष्टता का कारण है। युक्ति से उत्कृष्टता का बाध होने पर भी, केवल प्रसिद्धि से ही अन्त में उत्तम-फल की प्राप्ति होगी। यों यदि कहा जाय, तो कहते हैं कि भगवान् की अनन्त कथा में जिसको रस प्राप्त हो गया है, उसको विविध ब्रह्म-जन्मों से कर्म पुरुषार्थ सिद्ध नहीं करना है। कारण कि कथा रस से बाध्य में ही अर्थात् साधन दशा के समय ही उत्कृष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि कर्म से भी ज्ञान में भवित ही अधिक उपकार करती है ॥ ५९ ॥

आभास—तह्यैवमवस्थाप्रापकानि ब्रह्मजन्मानि भविष्यन्तीत्याशङ्क्य व्यभिचारात्परम्परयाप्युपयोगाभावमाहुः केमाः स्त्रिय इति ।

आभासार्थ— इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त कराने वाले ब्रह्म जन्म होते होंगे ? इस प्रकार की शङ्का कर इस 'केमा स्त्रियो वनचरी' श्लोक में कहते हैं कि व्यभिचार के कारण परम्परा से भी उसका उपयोग नहीं है।

श्लोक—क्वेमाः स्त्रियो वनचरोव्यभिचारदुष्टाः

कृष्णो वव चैष परमात्मनि रुढभावः ।

नन्वीश्वरोनुभजतोविदुषोपि साक्षा-

च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥६०॥

श्लोकार्थ— वन में रहनेवाली और व्यभिचार के दोष से दुष्ट ये स्त्रियाँ कहाँ ? और परमात्मा श्रीकृष्ण में इनके ऐसे दृढ़ भाव की प्राप्ति कहाँ ? जो अज्ञानों आपको साक्षात् भजते हैं, तो आप भी उनको भजते हैं तथा अज्ञान से सेवन किए हुए अमृत के समान उनका कल्याण करते हैं ॥६०॥

सुबोधिनी—इमा इति गोप्यः जातिहीनाः, तत्रापि स्त्रियो योनितो निकृष्टा, स्थानतोपि निकृष्टत्वमाहुः वनचरीरिति । सत्सूतपत्नी एव वनचरणादिना उत्कृष्टा भवन्ति, तदर्थमेवोच्यते 'वने तु सात्त्विको वास' इति । अन्यथा वानराणामप्युत्कर्षः स्यात्, चरीरित्यनेन स्वच्छन्दचारित्वमपि सूचितम् । अनेन द्रव्यादिसर्वोत्कर्षः सूचितः । अन्तःकरणापचारमाहुः व्यभिचारदुष्टा इति । व्यभिचारबुद्ध्या दुष्टा इति केचित् ।

श्रीमद्विदुलेख प्रभुचरण कृत स्वतन्त्र लेखः

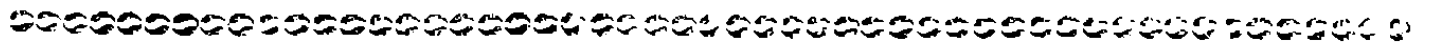
ननु धर्मशास्त्र एतत्प्रायश्चित्तोक्त्यभावाद्बिबाहितपुरुषभजनं न व्यभिचारः । स्त्रीमात्रस्यैतद्-

दोषवत्त्वेन तद्विप्रसूतानामधर्मजातत्वेनाग्निहोत्रादिधर्मानाधिकाराच्चतुर्वर्गोच्छेदप्रसङ्गश्च, तद्बोधकमानवैयर्थ्यं च स्यात् । भगवत्पुत्रानुद्दिश्याकथनात्, भगवत्पत्न्यतिरिक्तासु सतीपदयोगश्च भागवतादावनुपपन्नः स्यात् इति चेत् । तत्रायमाशयः । वर्णाश्रमाणां देहनिष्ठत्वेन तानधिकृत्य च धर्मशास्त्रस्य प्रवृत्तत्वेन दैहिकधर्मनिरूपकं तन्न तु भगवद्धर्मनिरूपकम्, भिन्नाधिकारात्, अध्यासेनात्मसात्कृतत्वाद्देहस्य तद्धर्मेषु स्वधर्मप्रयोगः । वस्तुतस्तत्वात्मवर्मा एव स्वधर्माः । स्वशब्दस्थ तत्रैव शक्तिः, अत एवाविद्वदधिकारित्वं तेषु उच्यते, ब्रह्मविदा तत्रानधिकारो भक्तौ मुद्रोऽधिकारः

रश्च । तदुक्तमवतारहेतुनिर्णयप्रस्तावे । 'तथा पर-
महंनानां मुनीनाममलात्मनाम् । भक्तियोगविता-
नार्थमिति' । 'मुक्तोपमृष्यव्यपदेशादि'ति तत्त्व-
सूत्र च । प्रकृते च भक्तिमार्गमधिकृत्य सर्वोर्था
निर्णयिते । तत्र च भगवदतिरिक्तभजनस्य दोष-
हेतुत्वमेवेति सिद्धान्तः । अत एव 'आज्ञायैव
गुणान् दाषान्मयादिष्टानपि स्वकान् धर्मान्
नत्यज्य यः सर्वान्मां भजेत्स च सत्तम' इत्यादि-
वाक्यैस्तस्यागपूर्वकं भजनमत्रोच्यते । अन्यत्रोक्त-
न्यायेन, अस्वधर्मस्यापि स्वधर्मत्वेनोक्त्या काप-
त्यं नन्वानो व्यासो भक्तिशास्त्रं निरूपयन् 'धर्मः
प्रोज्झितकैतवोत्रे'ति प्रतिज्ञातवान् । एवं सति
भक्तिमार्गीयविहितनिषिद्धाकथनं धर्मशास्त्रे युक्त-
मेव, भिन्नविषयत्वात् । वात्स्यायनीय इव धर्मशा-
स्त्रीयतदकथनम् । न हि तदार्थमिति धर्मशास्त्रं न
तद्वाधकम् । न वा धर्मशास्त्रं बाधकमिति तद्वि-
रुद्धोपदेशो न वात्स्यायनीये । कामरसनिरूपणे हि
नतःप्रवृत्तम् । स च यादृशस्तादृश न्यरूपयदिति न
काप्यनुवपत्तिः । प्रकृतेऽपि भगवतोतिदुरापत्वेन
स्वातन्त्र्येण स्थितौ स्त्रीणामुत्कटरागेण यथेच्छा-
चारान्नाशो भविष्यतीति भगवान् धर्ममार्गीया-
स्ताः कृत्वा विषयरागपूर्तिपूर्वकं तदुक्तनियमस्थाः
कृतवान् । न ह्येतावता नार्थं व्यभिचारः, सहज-
भर्त्तिरिक्तभजनात् । अत एवाद्यश्रीमहिष्या
गीतम् 'त्वक्श्मश्रुतोमनखकेशपिण्डमन्तर्मासा-
स्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् । जीवच्छ्रवं
भजति कान्तमतिविमूढा; या ते पदाब्जमकरन्द-
मजिघ्रती स्त्री'ति । अतस्तददुरापत्वेऽपि तदाशया
तद्भजनमन्यभजनरहितं कुर्वद्भिरेव सर्वैः स्थेय-
मिति, भक्तिमार्गनिष्कर्षः । एतास्तु भगवदर्थमेव
प्रकटिताः । अतः सुष्ठूक्तं वस्तुतस्त्वित्यादि ।
यद्वा । धर्मो द्विविधोन्तरङ्गो बहिरङ्गश्च । सोपि
प्रत्येकं त्रिविधः । तथाहि । विहितत्वेन क्रियमाणो
भगवद्विषयकः श्रवणादिरन्तरङ्गतमो धर्मः,
योगादिसाधनैरात्मचिन्तनं तादृक्तरः, 'अयं हि
परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनमि'ति स्मृतेः ।
फलानुद्देशेनेश्वरार्पणधिया क्रियमाणो यागादि-

रन्तरङ्गः । वर्णाश्रमधर्मत्वेन स्वर्गादिफलोद्देशेन क्रियमाणो वैदिको धर्मो बहिरङ्गः । ततस्तुच्छ-स्वर्गादिफलको विविधस्त्रीपुरुषाधिकारिकपातिव्र-त्यादिविविधदेवताव्रतादिः स्मार्तो बहिरङ्गततः । ऐश्वर्यारोग्यादिफलकविविधदेवताग्रहादिभजनरूपः स्मार्तो बहिरङ्गततः । अत्र पूर्वपूर्वप्रावृत्यं ज्ञेयम् । पूर्वपूर्वासम्भव उत्तरोत्तरकतव्यता च । प्रेमान-न्तरं स्वव्यसनतः क्रियमाणः श्रवणादिर्न धर्मः, तल्लक्षणाभावाद् । 'चोदनालक्षणार्थो धर्मः' इति यतस्तल्लक्षणम् । पूर्वोक्ते सर्वत्र प्रवृत्तिनिवृत्त्यो-स्तत्तदधिकार एव प्रयोजकः । भगवान्मर्यादापु-ष्ट्योर्मध्ये यं जीवं यस्मिन् मार्गे मनुते तस्मिन्स्त-स्य तदेवाधिकाररूपं तत्तच्छास्त्रं च तत्तन्मार्गीय-धर्मनिरूपकम् । पूर्वोक्ताधिकारवतां स्वस्वाधिका-रिकधर्माकरणे च दोषः । अत एव पार्थस्य पुष्टा-वङ्गीकारान्मर्यादामार्गे निषिद्धस्यापि गुर्वादिह-ननस्याकरणे भगवान् अनिष्टं फलमाह 'अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यति विनङ्क्ष्यसी'ति । प्रकृतेऽपि स्त्रीरत्नानामासां पुष्टिपुष्ट्यामङ्गीकार इति न मर्यादामार्गीयधर्मोधिकारः । किन्त्वविवा-हेऽपि भगवत एव भजने । अत एव मर्यादाधर्मो भगवतोक्तोऽपि नेताभिरङ्गीकृतः । अङ्गीकारे तत्राधिकारस्य हेतुत्वान्, नह्यनधिकारिहृदि धर्मः स्फुरति । एतज्ज्ञापनायैव हि भगवताप्युक्तम् । एतेन मर्यादामार्गीयस्य पुष्टिमार्गीयधर्मानङ्गी-कारः इत्यपि ज्ञेयम् । एवं च सति मर्यादामार्गीयो धर्म एतासां परधर्म इति विवाहितपुरुषभजनमपि व्यभिचार एवेत्यभिप्रेत्य तथोक्तम् । सहजभर्तृ-त्वेऽपि भगवतो विवाहकरणं तु तादृशभक्तनिरो-धार्थं तत्तद्रसानुभवार्थं मर्यादास्थापनेन लोकशि-क्षार्थं च, अदित्यादीनां लीलार्थं मातृत्वेनाङ्गीका-रात्पुत्रभावेनैव भजनं भगवत्प्रापकं कश्यपादिषु च पितृत्वेनाङ्गीकारात्तासां तासां तत्तत्पतिभज-नमेव स्वधर्मः । भगवता तथैवाङ्गीकृतत्वात्, न तु तत्र विवाहः प्रयोजकः । तद्विवाहस्य भगवल्ली-लोपयोगित्वेन भगवद्विवाहतुल्यत्वादित्यलमधि-कोक्त्या ।

—❀—

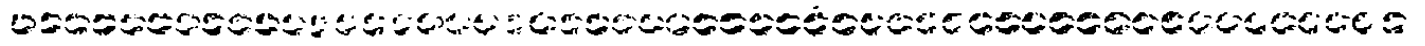


सुबोधिनी—वस्तुतस्तु । भगवता स्वार्थमुत्पादिताः मध्येकालविलम्बेऽन्यान् गोपालान् भ्रमात्पतिवृद्ध्या गृहीत्वा व्यभिचारं कृतवत्यः, तेन दुष्टा अपि जाताः पुत्राद्युत्पत्त्या, यथाऽहल्या भ्रमात् प्रवृत्ता दुष्यति, अतो जाते दोषेऽयं भावो निवर्तितुं योग्यः, यथा भर्ता व्यभिचारिणी त्यज्यत इति । तथापि भगवद्भाव उत्पन्न एवेत्याश्चर्यमित्याह कृष्णे कृत्रेण इति । केचित्तु निवेदनानन्तरं पुनर्गोपसंबन्धान् व्यभिचारमाहुः । बलादपि नाशिता नाशितेवेति । तन्मन्यमानाः स्वपाश्वस्थानि'ति भावेनैव तत्पतीनां रमणम् । न तु ताभिः सह, यथा नाशशङ्का स्यात्, तां रीतिं न हि ते तामु कर्तुं शक्ताः, तासामेवानुभावेन भगवता वा भस्मसाद् भवेयुः । किञ्च । यदि प्रक्रमानन्तर दोषः स्याद् भावश्च न भवेत् । तदाह कृष्ण इति । न हि सदानन्दे फलरूपे भावो दोषाय, तथा सति फलार्थं कर्म कोपि न कुर्यात् । उद्धारार्थं वा परमानन्दः प्रकट इति । तत्र य एतादृशो भावः सोवश्यं सर्वपुरुषार्थसाधक इति ब्राह्मण्यादिरहितानां सर्वपुरुषार्थसाधको भावो जातः । ननु कथमेवमकारणका कार्योत्पत्तिः, विरुद्धस्य वा कारणतेति चेत्तत्राह नन्विति । सत्यमेवैतद् विरुद्धमेतदुभयमिति । तथाप्येवं वितर्कं ईश्वरः अविदुषोऽपि अनुभजतः स्वानुरूपमेव श्रेयः करोति । न तु सेवकानुरूपम् । यद्यप्ययमर्थः लोके वेदेऽप्यप्रसिद्धः तथापि गोपिकासु दृष्टत्वादेवं वितर्कः, उपपत्तिरीश्वरत्वादेव, ईश्वरो हि क्वचित्सेवां न मन्यते, विपरीतमपि फलं प्रयच्छति, प्रमादादप्यपराधे प्राणानेव वियोजयतीति । क्वचिदधिकमेव फलम् तत्रादृष्टं नियामकमिति चेन् न, ईश्वरत्वभङ्गप्रसङ्गात् । लोके परमेश्वरत्वाभावात् तथाऽविरुद्धमपि भवेत्, भगवति तथा कल्पनायां प्रमाद एव, लोकन्यायेनाप्येकदेशेन दृष्टान्तमाह अग-राज इवेति । अमृतं हि प्रमादादप्युपभुक्तं प्रसाद संपादयत्येव, भ्रमादग्निस्पर्शोऽपि दाहेतुर्भवति । तथापि कदाचिदेव सजातीयप्रचयसंवलित एव, अन्यत्रेश्वरत्वाभावात् श्रेयोव्यभिचारो न दोषाय ।

न भवति गदो यस्मादिति गदनिवर्तक वा अगद-मौषधम्, सर्वेषां शक्तिरेकत्रप्रतिष्ठिता राजत्व-मापादयतीत्यगदराजोऽमृतम् भगवतः स्वानुरूप-मेतदेव, प्रमाणानां तु बलमेकमेव तदपि न पर-मकाष्ठामापद्यते, अन्यथा केषाचिदेवं स्यात्, अतः प्रमेयबलादेवैवंभाव इति लक्ष्यते । अनुभजत इति । भगवदिच्छया भजनमभिप्रेतम्, 'यदेव विद्यया करोतीति श्रुत्या ज्ञानाभावे भजनं न फलसाधकमिति शङ्कापरिहारार्थमपिशब्दः । साक्षाद् भजत इति विशेषः । अनेन मन्त्रादिद्वारा भजनं तु भजनानुरूपमेव फलतीति सूचितम् । उपयुक्त इति । समीपे नि संदिग्धः सर्वलोके न त्व-न्यत्र मिश्रितः ।

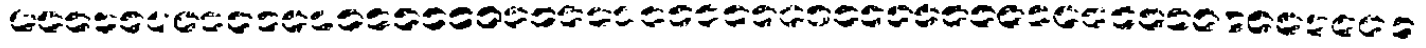
श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण कृत स्वतन्त्र लेखः

अथवानन्तकथारसस्य किं ब्रह्मजन्मभिरित्युक्ते प्राप्ताशङ्क्यामाह क्वेमा इति । आशङ्का तु । ननु स्त्रियः पुरुषमात्रे कामुक्यः स्वभावत एव भवन्ति । भगवाश्च पुरुषोत्तमः । तथा च काम-भावेन भगवति भक्तानामेतासां कथं ब्रह्मजन्मादिवद्भ्योऽप्युत्कर्षो युज्यत इति तन्निरासायात्र सर्वाभ्यः स्त्रीभ्यः सर्वेभ्यः पुरुषेभ्यश्चाधिक्यमुपपाद्यते । तत्रापि स्त्रीभावेन भक्तानां कथमुत्कर्ष इति शङ्कानिरासाय प्रथमं स्त्रीभ्यो वैलक्षण्यमुच्यते । इमाः क्व, साधारण्यः स्त्रियश्च क्व । अल्पसाध-र्म्यमप्यन्योन्यं नास्तीत्यसम्भावनापूर्वकं कथनम् । अन्यासु स्त्रीशब्दप्रयोगादेतासु स्त्रीत्वमपि न निरूपयितुं शक्यमिति ज्ञाप्यते । स्त्रीणां कामद्वारेव पुंसि स्नेहस्य नियतत्वात् । एतासामतथात्वात् । यद्यपि कामलीलाप्येतासु निरूप्यते । तथापि न तदुपोधिकः स्नेहोत्र, किन्तु निरुपधिरेव । भगवान् स्वयं तादृगप्रदानार्थं तं भावं संपाद्य तं रसं ददातीत्यवोचाम । वैलक्षण्यमेवाह । अवनचरोति । एतास्तु भगवता कालकर्मादिसंबन्धेभ्योऽपि सर्वदा रक्षन्ते किं पुनः पुरुषान्तरसंबन्धादत्यवने रक्षण एव चरन्तीति तथा । पुत्रोत्पत्त्यादिकं तु सर्व-भवनसमर्थदिलौकिकपकाराद्भगवत एव गोपालानां तु 'मन्यमानाः स्वपाश्वस्थानि'ति न्यायेन भि-



मानमात्रमेव सर्वत्र, व्यवहारमात्ररक्षयैतद्वार्ता-
गोपनेनैतदसरोषायैव भगवता कियते अतः
केवलभगवदीयत्वं नान्यासु । तदेवाह व्यभिचारदुष्टा
इति स्त्रीणां विशेषणम् । जीवमात्रस्यैव भगवानेव
भर्ता, तत्र पि स्त्रीणाम् । तथा चान्येष्वेव सदा
तासां संबन्धात्ताः सर्वा व्यभिचारदुष्टा एव ।
अतो बद्ध्वैव वैलक्षण्यमिति भावः । अतः पर
पुरुषेभ्योऽप्युत्कर्षमाह कृष्ण इति । सन्ति नारद-
ब्रह्मादयो भक्ता भगवति भाववन्तस्तथाप्येष
भावः क तेषु वर्तत इत्यर्थः । चकाराद्व्यभिचारा-
दिदोपरहितायां लक्ष्म्यामपि नायं भावः । एष
इति स्वानुभव उक्तः । तेनान्यत्रैतत्सजातीयभाव-
श्रवणस्याप्यभावात्कथमन्यत्रैषोस्तीति मन्तव्य
इति भावः । अथवा । बर्हापीडेति भ्लोके गोपिकाना-
मेव भावरूपस्तदर्थमेव कोटिकन्दर्पलावण्य प्रकटी-
कृत्य तद्भोग्यत्वेन प्रकटः कृष्णशब्दार्थ इति विवृ-
तम् । तथा च ब्रह्मादीनां भावो यद्यप्यस्ति तथापि
कृष्णे पूर्वोक्तलक्षणे क भाव इत्यर्थः । न हि कदा-
चिद्भगवांस्तद्भोग्यत्वेन तदर्थं प्रकट इति भावः ।
विषयतो वैलक्षण्यमुक्त्वा स्वरूपतो वैलक्षण्यमाह
एष भावः बवेति । अनुभवैकवेद्यो लोकवेदाप्रसिद्ध
इत्यर्थः । प्रकारतोपि वैलक्षण्यमाह परमात्मनि
बवेति । आत्मा हि प्रियः सर्वत्र प्रियत्वस्य तदुपा-
धिकत्वात् । एतासां तु आत्मनः सकाशात् परमोधिकः
प्रियो यस्तस्मिन् भावः । तेन नात्मार्यं भगवान्प्रियः
किन्तु भगवदर्थं स्वात्मेत्यायाति । ब्रह्मादीनां तु
भगवान्प्रियामकत्वेनात्महितकर्तृत्वेनैव प्रियोतो बहुवै-
लक्षण्यमित्यर्थः । उत्पत्तितोपि वैलक्षण्यमाह
रूढभावः बवेति । रूढः सहजो लोकवेदाद्यजनित
इत्यर्थः । अत्येषां तु तादृशभाववत्त्वाद्द्वैलक्षण्यम् ।
किंच । रूढभावपदेन प्रमाणतो वैलक्षण्यम् ।
एष भाव इति प्रमेयतः । परमात्मनोति साधनतः,
कृष्ण इति फलतश्च । अन्यत्र नैवंरूपत्वमुक्तम् ।
तथापि भगवतीश्वरत्वेन ज्ञानाभावात्लौकिकत्व-
ज्ञानस्य च जघन्यत्वात्कथं ब्रह्मादिभ्योऽत्रोत्कर्ष
इत्याशङ्क्याह । नन्वीश्वर इति । अत्रायं भावः ।
फलाधिक्येनैवाधिक्यं न तु साधनप्रकारविशेषः ।

तच्चर्चनास्वेव दृष्टं नान्येषु । एतदेवाह विदुषोपो-
श्वरत्वेन स्वरूपं विदुषोऽप्यनुभजतः शास्त्रार्थत्वेन
जात्वा भजतः पुरुषस्य साक्षात्स्वयमपोश्वरः किं
श्रेयस्तनोतीति काकूक्तिः । किन्तु न तनोतीत्यर्थः ।
तेषां भगवज्ज्ञानवचनभक्त्यादिभगवद्भर्मा-
खिलपुरुषार्थसिद्धिर्न तु स्वयं भगवानागत्य
किञ्चित्करोतीति तथा । अतु वा कदाचिद्भक्त्य-
तिशयेन गजेन्द्र इव पुरुषार्थदानम्, तथाप्यगदराज
इव किं श्रेयस्तनोत्यन्येषु विवक्षितार्थस्याति-
गोप्यत्वात् दृष्टान्तव्याजेनाह । अत्रायमर्थः ।
'एका तदङ्घ्रिकमलं संतप्ताः स्तनयोरधादि'ति-
न्यायेन विरहानलसतापहृदयगतस्मररोगशमनाय
यथैकैकमङ्गं भगवतः स्वहृदयादिदेशेष्वेताः स्था-
पयन्ति न तथा ब्रह्मादयः । यत् ईश्वरान्नित्यं ते
बिभ्यत्येव, तत्राप्येतासु भगवतो न स्वातन्त्र्यं
प्राधान्यं वा किन्तु तासामेव, तदाह उपयुक्त इति
पदेन । यथोषधस्य तापरोगनिवर्तकत्वेनैवोपयोगो
न मुख्यत्वम्, पुरुषस्यैव मुख्यत्वं तथेत्यर्थः । यथा
रोगनिवृत्त्यनन्तरमपि पोषकं रस्यं च यदि भव-
त्योषधं तदा यथेच्छं भोगस्तस्य तथा तत्रापि
विरहतापोपशमनानन्तरं यथेच्छं भोग इति ज्ञाप-
नाय राजपदम् । अथवा । साक्षाद्यच्छ्रेयस्तत्किं
तनोत्यन्येषामिति योजना । इतरागविस्मारक-
त्वेनास्यैव रसस्य साक्षाच्छ्रेयोरूपत्वादेतदन्येषु
तददानात्तथा । अथवा । विदुषो जनस्य भगवान्
श्रेयस्तनोतीति सत्यं तथापि किमनुभजतो विदु-
षस्तथाकरणमिति । तत्रानुभजनं भगवद्भजना-
नन्तरं स्वभजनं विरचितचाटुवचनरचनमि'त्यादि-
गीतोक्तन्यायेन । नह्येवं ब्रह्मादिषु संभवति ।
अथवा । प्रतिपदं काकूक्तिर्ज्ञेया । तथाहि । विदुषो
जनस्य किमीश्वरः श्रेयस्तनोति । अयमर्थः ।
कर्तुं मकर्तुं मन्यथाकर्तुं समर्थो हीश्वरः । नहि
ब्रह्मादिष्वेवं रूपं प्रकटीकृत्य फलं ददाति ।
एतासु पूर्णकामत्वात्मारामत्वादीन् स्वरूपधर्मा-
नप्यन्यथा कृत्वा ददाति । तेषु वाङ्मर्यादामपि
नान्यथा करोतीति तथा । अनुभजतः किं तनो-
तीति पूर्ववत्, अन्यस्य यच्छ्रेयस्तनोति तत्किं



विदुषस्तनोति किन्त्वविदुष एव तज्ज्ञानानुत्थं
श्रयस्तनोतीत्यर्थः । स्वरूपस्यानन्दरूपत्वात्तस्य
चानुभवैकवेद्यत्वेन वाक्चक्षुराद्यवेद्यत्वाद्ब्रह्मा-
दीनां च पुरुषत्वेन भगवददानाद् साक्षात्स्वरूपा-
नुभवाभावादविद्वत्त्वम् । एतासां तथात्वं प्रसिद्धम् ।
साक्षाच्छ्रेयोपि किं तनोतीति पूर्ववत् । साक्षा-
त्स्वयं किं तनोतीत्यप्युक्तम् । तनोति किमित्यपि ।
एषु श्रेयः सकृद्दाति न तु विस्तारयति । विस्ता-
रणं च तदेव परचित्तत्वम् । तदर्थकप्रयत्नत्वादिक-
म् । तदुक्तं 'तत्र मम हृदयमतिरत्नमिति' ।
'विशति वितनोरन्यो धन्यो न कोपी'त्यादिना ।
न ह्यवमन्यत्र करोतीति तथा । अगदराज इव
किमिति पूर्ववद् उपयुक्तः किं श्रेयस्तनोतीति । न
हि ब्रह्मादीनामुपसमीपे एकस्मिन्नासने शयनादौ
वा युक्तो भगवान् भवति । यतो भगवद्दर्शनमपि
तेषां दुर्लभम् । एतासां तूपयुक्तस्तथेति बह्वेव
तारतम्यमित्यर्थः ।

यद्वा ननु भक्तिमार्गेऽन्यभजनराहित्येन भजनं
मुख्यमित्येतासां स्वपतिसंबन्धेन कथमेताः पर-
तनुभूत इत्याशङ्कानिरासायोच्यते । इमाः स्त्रियो
व्रजस्त्रियो व्यभिचारदुष्टाः क्व । नेत्यर्थः । तत्र
हेतुः श्रवणचरोरिति । सर्वदा स्वस्य भगवदुपभो-
ग्यतां ज्ञात्वा रक्षणपरा इत्यर्थः । किञ्च । यदि
तादृश्यस्तदा कृष्णे एष रूढभावः क्व च । असं-
भावितत्वात् । तथाहि । रूढपदेन भावस्यानव-
च्छिन्नत्वमुच्यते । तेनान्तर्गर्हिर्भेदेनार्हनिशं भग-
वद्रमणस्य जायमानत्वात्तद्भावरहितत्वं न कदा-
प्येतासामिति क्व तत्सम्भावनापि । अत्र विवा-
हितमतिभजनमेव व्यभिचारशब्दवाच्यं तदप्ये-
तासां नास्तीत्युच्यते । ननु 'शुश्रूषन्त्यः पतीन्
काश्चित्' 'ता वार्यमाणाः पतिभि'रित्यादिकथ-
नात्तत्सम्बन्धाभावो न वक्तुं शक्यते इति चेत् ।
न । तत्सम्बन्धस्तासामभिमानिक एव न तु
वास्तवः । 'अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति नान्यसमक्षमञ्जः
स्थातुं त्वयाभिरमिता' इत्यत्र 'मन्यमानाः स्व-
पाश्वस्था'नित्यत्रापि तथोक्तत्वात् पुलिङ्गदारपदे-

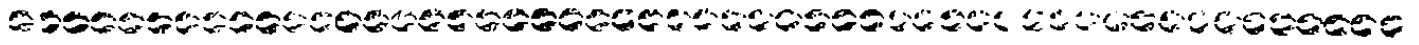
नापि तत्सम्बन्धाभाव एव तासु ध्वन्यते । न
चाभिमानिकस्यापि तस्य सदोषत्वमेवेति वाच्यम् ।
स एतावानास' इति । श्रुतेरेतत्सृष्टेः स्वरूपात्म-
कत्वेन रसार्थ स्थित्यर्थं च प्रभुणैव तथा स्थापि-
तत्वात् । न च भगवत्सम्बन्धात्पूर्वं तथेति
वाच्यम् । उक्तोपपत्तोः । न च यथा भगवत्सम्ब-
न्धात्पूर्वं न तथात्वं न तथोक्तहेतोस्तदनन्तरम-
पीति वाच्यम् । तासां तत्स्वरूपातिरिक्ते तदा-
त्मकत्वात्स्फूर्तेः । वस्तुतस्तु । फलप्रकरणीयरम-
णात्पूर्वमपि तासां स्वप्नेषु तत्सम्बन्धः समजनीति
लक्ष्यते । अन्यथा 'अस्प्राक्ष्म ..त्वयाभिरमिता'
इति च सम्बन्धस्य भूतार्थतां न वदेयुः । किञ्च ।
अन्यसमक्षं स्थातुं न पारयाम इत्युक्त्या यत्रान्य-
समीपस्थितिरप्यशक्या तत्र तदनन्तरभाविन्याः
कृतेस्तथात्वे किं वाच्यमिति भावो व्यज्यते । तेन
तासामेतत्सम्बन्धकालो न कदापीति नोक्तानुप-
पत्तिः । भगवत्सम्बन्धस्य तु तथात्वं वक्तुमयु-
क्तम् । सर्वप्रमाणविरोधात् । अन्तर्गृहगतानां
तादृशबुद्धियुक्तत्वेन प्रतिबन्धाभावाच्च । परमात्म-
पदेनाप्येतदेव ज्ञाप्यते । तद्भजनस्यातथात्वात् ।
ननु पूर्वं ज्ञानादिसाधनवतामेतद्भावाभावेनाकृता-
र्थत्वोक्त्या तदतिरिक्तं साधनं किमेताभिः कृतां
येनैतादृशं फलमित्याशङ्क्याह नन्विति । ईश्वरः
साधननैरपेक्ष्येण सर्वकरणसमर्थो विदुषोऽपि
ज्ञानयुक्तस्यापि पुरुषस्य 'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाव-
वर्जित'मितिवाक्यात्केवलज्ञानस्यापुरुषार्थसाधकत्वं
ज्ञात्वाऽनुपश्चाद् भजतो भजनं कुर्वतः साक्षात्
स्वयं भजनातिरिक्तसाधनानपेक्षः श्रेयः फलं
तनोतीत्यर्थः । परं 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति
वाक्यात्तदधिकारानुसारेण । अपिशब्देन यत्र
सार्थसाधनत्वेनापि भजनकर्तुः श्रेयः स्वयं
साक्षात्तनोति तत्र तदर्थकभजनपराणामेतासां
साक्षात्स्वयं तत्तनोतीति किं वाच्यामिति ज्ञाप्यते ।
प्रत्युत 'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजा'मित्यत्रैतद्भज-
नानुरूपस्य श्रेयस एवाभावः सर्वकरणसमर्थेन
प्रभुणाप्युक्तः । अत एव यथैतासां तत्तनोति न
तथा पूर्वोक्तस्येति ज्ञापनाय दृष्टान्तमाह अगदराज



इवेति । अत्राय मावः । यथामृत स्वभजनकर्तुर-
भीष्टं साक्षात्स्वयमनुपानादिसाधनव्यतिरेकेणापि
तनोति न तु तेनामृतस्य तत्तन्यते । तथा स्वार्थ-
साधनत्वेन भजनकर्तुर्ज्ञानिनोऽप्यभीष्टं भगवां-
स्तनोति न तु तेन भगवतस्तत्तन्यते । स्वार्थपर-
त्वात् । अत्र तु यथैतासामभीष्टं प्रभुस्तनोति
तथैता अपि तस्य तत्तन्वन्तीति नानुपपत्तिः
काचित् ।

अथवा । निषेधस्य प्राप्तपूर्वकत्वेनात्र तदभा-
वात्प्रकारान्तरेण व्याख्यायते । एताः परं तनुभृत
इत्यनेन व्रजसीमन्तिनीनां सर्वोत्कर्षं निरूप्य तत्रै-
वोत्तराद्धं साधनानां तदसाधकत्वोक्त्या तदभावे
कथमेवमेतासामित्याश्चर्यमिव मन्यमानो यत्र भग-
वत्कृपया सर्वसाधनरहितासु हीनजातीयासु पुलि-
न्दीष्वप्युत्कर्षसिद्धिस्तत्र किं वाच्यमङ्गसङ्गाधि-
कारवतीष्वेतास्वित्याशयेनाग्रे पुलिन्दीराह क्वेमा
इति । इमा स्त्रियः पुलिन्दाः क्व । कृष्णे एष रूढ-
भावः क्व च । यद्यपि 'ता नमस्यान्नदं जगा'वि-
त्युक्तेरेतद्वीक्षणस्य कालान्तरीयत्वेऽपि भावनया
पश्यन्निव वदतीतीमा इति प्रदर्शनम् । यदि पुष्टि-
मार्गीयं वा किमपि साधनं भवेत्तदा संभवेदपि ।
एतासां तदुभयाभावादसंभावितमिवोच्यते । तत्र
पुष्टिमार्गीयतदभावायाह व्यभिचारदुष्टा इति ।
अत्रापि व्यभिचारपदं विवाहितपतिभजनपरम् ।
यतोऽस्मिन्मार्गे साधनं सर्वात्मभावस्तत्र तत्त्याग-
स्यापि विहितत्वेनाङ्गीकृतिः । 'संत्यज्य सर्वविष-
यान्' 'पतिसुतान्वयभ्रातृबान्धवा'नित्याद्युक्तेः ।
तेनेतासामेवं भावाभावेन व्यभिचारदुष्टत्वमेवेति
पुष्टिसाधनाभावः सूचितः । मर्यादामार्गीयतदभा-
वायाह वनचरीरिति । मर्यादायामधिकारिणामेव
साधननिष्पत्तिरुच्यते । अतो वनचरीत्वेनातिक्षुद्र-
जातीयत्वेनाधिकाराभावात्तदभावः । जन्मान्तरीयं
तदिति नाशङ्कनीयम् । प्रमाणाभावात् । तादृशा-
धिकारस्याप्यजातत्वात् । तर्हि कथमेवमेतासा-
मिति चेत् तत्रोपपत्तिमाह नन्विति । ईश्वरः
साधनमनपेक्ष्य सर्वकरणसमर्थः साक्षात्स्वयं श्रेय-

स्तनोतीत्यर्थः । ननु स्वरूपस्योभयत्र साधनत्वे
फलस्याविशेषात् कथमेतदपेक्षयोत्कर्षस्तत्प्रिया-
स्वित्याशङ्कानिरासायाधिकारभेदात् फलभेद इत
आधिक्यं चेति विशेषणद्वयेनाह अनुभजतोऽविदुष
इति । व्रजरत्नप्रियाणां 'स्वागत वो महाभागा'
इत्यादितत्कृतनिषेधेऽपि स्वभावदाढ्याद् भजन-
कर्तृत्वेन नानुभजनं प्रत्युत मानापनोदनादिषु
प्रभोरेव तथात्वमस्ति, न त्वेतासामेतादृशत्वं क्व-
चित्सिद्धम् । तत्रापि 'दयितास्तनमण्डितेन कुङ्-
कुमेनाननकुचेषु लिम्पन्त्यस्तदाधि जहु'रित्यत्र
दयितापदेन व्रजदेवीनामुक्तत्वात्तत्सम्बन्धिकुङ्कु-
मेन प्रभुसम्बन्धाधिकारस्य जातत्वाद्भ्रजनादनुभ-
जनमेतासां सिध्यतीत्यनुभजत इत्युक्तम् । किञ्च ।
'रसो वै स' इति श्रुतेर्भगवतो रसात्मकत्वेन
तत्स्वरूपाभिज्ञत्वं 'वीक्ष्यालकावृत'मित्युक्तीत्या
तत्प्रेयसीनामेवोच्यते । एतासां तदभानादविद्वत्त्व-
मित्यविदुष इत्युक्तम् । विदुष इति पदच्छेदे माहा-
त्म्यज्ञानवत्त्वेन तद्भावावराहित्यमेव । 'अधिकारानु-
सारेण ज्ञानं ज्ञानानुसारेण फलमिति 'मल्लानाम-
शनि'रित्यत्रोपपादितम् । एकवचनं जात्यभिप्रायेण
सामान्यत्वज्ञापनाय । तादृशभोग्यशरीराभावाय
पुल्लिङ्गनिर्देशः । ईश्वरत्वाद् यत्रानधिकारिणोपि
श्रेयस्तनोति तत्र किं वाच्यं तास्वित्यपिशब्देन
द्योत्यते । तत्र दृष्टान्तमाह अगदराज इवेति । न
ह्यमृत संबद्धं सदधिकारिणं विचारयति, तथात्रा-
पीदार्थः । अपि च । अत्रामृतादिपदानि विहाय
केवलरोगनिवर्तकत्वापादकागदपदोपादानेन पुलि-
न्दीनां भगवत्सङ्गः स्मररोगशान्त्यर्थमित्यवग-
म्यते । 'जहुस्तदाधि'मित्यत्र तन्निवृत्तिमात्रस्यैव
मनोरथत्वेन कथनात् । व्रजस्त्रिसमुद्भूतरत्नाना-
मेतासां तु विरहदशोत्पन्नस्मररोगापगमे जातेष्वग्रे
विविधरतिकेलिकलापीरखिलरसमयप्रियतमस्वरू-
पामृतास्वादं मुख्यमिति नेतद्दृष्टान्तत्वं पूर्वो-
क्तस्येति ज्ञेयम् । वस्तुतस्तु । व्रजपरिवृद्धप्रेयसीनां
प्रियवियोगकालीनातिरूपस्यापि भावस्य 'ता
ममनस्का' इत्यादिभगवदुक्त्या तदात्मकत्वेनान-
न्दरूपत्वाद् गदत्वमनुपपन्नमिति तथोच्यते । उप-



युक्तपदेनापि पुलिन्दीनामुप समीपे स्थितिरेतासां
तु साक्षादङ्गसङ्ग इति महद्वैलक्षण्यं सूच्यते ।
तथा चात्र पुलिन्दाकथनमेव सुष्ठु । यद्यपि 'दृष्ट्वै-
वमादिगोप'ना'मित्यत्र 'ता नमस्यन्निदं जगा'वि-
त्युक्तेस्तत्प्रसङ्ग एवात्र समायाति । तथाप्युद्धवः
कालान्तरे पुलिन्दीष्वपि भगवद्भावानुभाव दृष्ट-
वानिति लक्ष्यते । 'सरिद्वर्गागिरिद्रोणीर्वीक्षन् कुमु-
मितान् द्रुमा'नित्यनेन गिरिस्थितानां तासामपि
वीक्षणस्यानुक्तसिद्धत्वात् । तथा च । पूर्वमेताः
परं तनुभृत' इत्यनेन घोषसीमान्तिनीः स्तुत्वा
तत्राश्रयमिव मन्वानः पुलिन्दीः स्मृत्वा यत्र
तास्वप्येव तत्र किं वाच्यं तत्प्रियास्वित्याशयेनेद-
मुक्तमित्यवगम्यते । तेन तासामेवात्र स्तुतिरिति
नोक्तानुपपत्तिः । किञ्च । इमा इति प्रदर्श्यैव कथनां

प्रभुवल्लभासु नोद्धवस्य संगच्छते । तत्रापि क्वेत्य-
सम्भावनापूर्वकम् । किञ्च । तासां निरुपधिभाव-
वत्त्वेन स्त्रीत्वकथनमपि नोपपद्यते । स्त्रीणां कामो-
पाधिकभावस्यैव नियतत्वात् । उद्धवेन वनचरो-
पद तदङ्गसङ्गिर्न पुन प्रयोक्तुं शक्यम् । द्वितीय-
विशेषणं वा तत्स्वरूपाभिज्ञत्वात् । अपरञ्च ।
'कृष्णस्य दयितः सखा' 'तमाह भगवान्प्रेष्ठ' भक्त-
मेकान्तिनं क्वचित् 'त वीक्ष्य कृष्णानुचर'मित्या-
दिवाक्यैरत्यन्तरङ्गभक्तस्योद्धवस्या सामहो चर-
णरेणुजुषा'मिति तच्चरणरजःसंबन्धिजन्मप्रार्थन-
मिति विरुद्धचयते । अतः 'पूर्णाः पुलिन्द्य' इति
तासां भगवत्संबन्धस्योक्तत्वादुक्तानुपपत्तिश्च ता
एवात्रोच्यन्त इति सर्वमनवद्यम् ॥६०॥

व्याख्यार्थ—ये इस प्रकार की गोपिएँ जाति से हीन, फिर वे छिएँ जन्म से भी निकृष्ट हैं और स्थान करके भी निम्न (नीची) हैं । कारण कि वे वन-वन में फिरती रहती हैं, वन में वास तो उत्तम है, उसको हीन कैसे कहा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि वन में वास तब उत्तम कहा गया है, जब पहले उत्तम कुल में जन्म हो, फिर गृह का त्याग कर भजनार्थ वन में बसे; वह वनवास उत्तम है । यदि केवल वन में रहने से उत्तमता मानोगे तो 'वानर' भी तो वन में रहते हैं, वे भी उत्तम माने जाने चाहिए । श्लोक में 'वनवासिनीः' नहीं कहा है, किन्तु 'वनचरीः' कहा है । जिसका आशय है कि वे स्वच्छन्द घूमनेवाली हैं । दधि आदि के कारण जहाँ-तहाँ भ्रमण करती रहती हैं । रस-विक्रय निषिद्ध कर्म है, जिससे इनके द्रव्य आदि पदार्थ भी लेने योग्य नहीं रहे हैं । इनका अन्तःकरण भी शुद्ध नहीं है, जिससे दोषयुक्त है, व्यभिचार से दुष्ट है; यों कोई कहते हैं ।

○ 'ववेमाः स्त्रियः' पर श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरणों का स्वतन्त्र लेख ○

'ववेमाः स्त्रियः' इस श्लोक में व्रजाङ्गनाओं के लिए 'व्यभिचारदुष्टाः' विशेषण दिया है, वह उचित नहीं है । धर्मशास्त्र में विवाहित पुरुष का सेवन करनेवाली स्त्री के लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया है, तो विवाहित पति का सेवन करनेवाली गोपियों को 'व्यभिचारदुष्टाः' कैसे कहा ? यदि स्त्री मात्र को ही व्यभिचार दोषवाली मानी जाय, तो उनसे उत्पन्न होनेवाली सन्तान अधर्म जन्य होगी तो उनका अग्निहोत्र आदि धर्मों में अधिकार नहीं होगा । तब तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चतुर्वर्ग का उच्छेद ही हो जायगा और चतुर्वर्ग के वर्णन करनेवाले शास्त्र भी व्यर्थ हो जायेंगे । यदि यह कहा जाय कि चतुर्वर्ग के बोधक शास्त्र, भगवान् के पुत्रों को लक्ष्य करके बने हैं, तो ऐसा कहना भी उचित नहीं । भगवान् के पुत्रों के लक्ष्य से धर्मशास्त्र नहीं बने हैं । भगवान् की पत्नियों के अतिरिक्त अदिति आदि स्त्रियों के लिए भी भागवत में सतीपद का प्रयोग हुआ है, वह असङ्गत हो जायगा । इस शब्दा का उत्तर 'तत्रायमाशयः' से दिया गया है । ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र; इन वर्णों के तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम; इनके धर्म देह से सम्बन्ध रखते हैं । धर्मशास्त्र,

इन्हीं देहनिष्ठ धर्मों के वर्णन में प्रवृत्त हुआ है। अतः धर्मशास्त्र दैहिक धर्मों का निरूपण करने वाला है भगवद्धर्म का निरूपण करने वाला नहीं है। जिस तरह दैहिक धर्म के निरूपण का अधिकार धर्मशास्त्र को है उसी तरह भगवद्धर्मों के निरूपण का अधिकार भगवच्छास्त्रों को है। दोनों के अधिकार अलग-अलग हैं। वर्णाश्रमधर्मों में जो स्वधर्म पद का प्रयोग होता है वह अध्यास के द्वारा देह को आत्मा मान लिया है, इसलिये दैहिक धर्म को ही स्वधर्म कह देते हैं। वास्तव में तो आत्मा के धर्म ही स्वधर्म शब्द वाच्य है। 'स्व' शब्द आत्मा का ही वाचक है देह का नहीं। इसीलिये देहाध्यास वाले धर्मशास्त्र के अधिकारी हैं और ब्रह्मज्ञानी धर्मशास्त्र के अधिकारी न होते हुए भी भक्तिमार्ग के मुख्य अधिकारी हैं। यह बात भगवान् के अवतार ग्रहण करने के कारण में, स्पष्ट रूप से प्रतिपादित की है 'तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मनाम्। भक्तियोगवितानार्थम्-' आप स्वच्छ हृदय वाले जीवन्मुक्त परमहंसों के हृदय में भक्ति की सृष्टि के लिए अवतार लेते हैं। यही बात व्यासजी के 'मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्' सूत्र से बताई है। मुक्त अर्थात् देहाभिमान से रहित जीवन्मुक्त ही भगवान् को प्राप्त करते हैं। इस भागवतशास्त्र में भी भक्तिमार्ग को लेकर ही सब अर्थों का निर्णय है। भक्तिमार्ग में तो भगवान् से अतिरिक्त का भजन दोषजनक है ऐसा सिद्धान्त है। भागवत् में भगवान् ने आज्ञायैवं गुणान् दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान्। धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत्स च सत्तमः' यहाँ यही बताया है कि 'मेरे द्वारा बताये गये जो वर्ण और आश्रमों के दैहिक धर्म हैं उनका परित्याग करके जो मेरा भजन करता है वह श्रेष्ठ है'। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि दैहिक धर्मों को त्याग कर भगवान् का भजन करना चाहिये। धर्मशास्त्रों ने अस्वधर्म को भी स्वधर्म माना है यह एक प्रकार का कपट है। इसी को लक्ष्य करके व्यासजी ने भक्तिशास्त्र (भागवत्) का निरूपण करते समय यह प्रतिज्ञा की कि 'धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र-' इस भागवत् में, जिस में किसी प्रकार का कपट नहीं, ऐसा धर्म (भगवद्धर्म) हो इसमें जानने योग्य है। इसीलिए भक्तिमार्ग में जिसका विधान है अथवा जिसका निषेध है उसे धर्मशास्त्र नहीं बताता। बताये भी कैसे? क्योंकि दोनों का मार्ग ही भिन्न है। वात्स्यायनीय कामशास्त्र में जिस तरह धर्मशास्त्र की बात नहीं कही है। जिस तरह ऋषि प्रणीत धर्मशास्त्र का कामशास्त्र बाधक नहीं है, उसी तरह कामशास्त्र का बाधक भी धर्मशास्त्र नहीं है। वात्स्यायनीय कामशास्त्र भी ऋषिप्रणीत है इसलिये उसमें धर्मशास्त्र के विरुद्ध जो उपदेश हैं उसका बाधक धर्मशास्त्र नहीं है। क्योंकि दोनों का विषय अलग-अलग है। कामशास्त्र केवल कामरस का निरूपण करने के लिए ही बना है, इसलिये कामरस जैसा है वैसा उसका निरूपण वात्स्यायन ने किया है इसमें किसी का कोई विरोध नहीं है।

यहाँ भी भगवान् की प्राप्ति सहज नहीं है और जब तक भगवान् इन व्रजाङ्गनाओं को प्राप्त नहीं होंगे उतने समय तक ये स्वतन्त्र रहेंगी, तो उत्कट अनुराग के कारण यथेच्छाचरण से इनका नाश हो जायगा, इसलिये भगवान् ने इनको धर्ममार्गीय करके, विषयरागपूर्ति पूर्वक, धर्मशास्त्रीय नियम में स्थिर कर दिया। ऐसा करने पर भी उनमें व्यभिचार दोष नहीं आया, ऐसा तो नहीं कह सकते। क्योंकि सहजभर्ता तो भगवान् हैं, उन्होंने उनसे भिन्न विवाहित गोपों का ही भजन किया, वह भी व्यभिचार हो हुआ। इसीलिये मुख्य पटरानी श्री रुक्मिणीजी ने कहा कि 'यह मनुष्य का शरीर जीवित होने पर भी मुर्दा ही है। ऊपर से चमड़ी, दाढ़ी, मूँछ, रोएं, नख और केशों से ढका है, किन्तु इसके अन्दर मांस, अस्थि, रक्त, कीड़े, मल, मूत्र, कफ, पित्त और वायु भरे हैं, इसे, वही मूर्ख स्त्री अपना प्रियतम मानकर सेवा करती है। जिसने आपके चरणारविन्द के मकरन्द को



सुगन्ध कभी नहीं सूंघी है'। इसलिये भले ही भगवान् की प्राप्ति कठिन हो, तथापि भगवान् की प्राप्ति की आशा से अन्य का भजन न करते हुए केवल भगवान् का ही भजन करते रहना यह भक्तिमार्ग का निष्कर्ष (निचोड़) है। इन ब्रजाङ्गनाओं को तो भगवान् ने अपने ही लिये प्रकट किया था, परन्तु मध्य में कालविलम्ब होने से, उन्होंने भ्रम से, पति बुद्धि में ही, विवाहित पति से व्याभचार किया और उन विवाहित पतियों से सन्तान भी उत्पन्न की, इससे वे दुष्ट भी हुईं यह बात मुनिबोधिनी में 'वस्तु तस्तु' से बताई।

अथवा धर्म दो प्रकार का है एक अन्तरङ्ग दूसरा बहिरङ्ग। इसमें प्रत्येक तीन तीन प्रकार का है। (१) विधिबोधित होने से किया जानेवाला भगवद्विषय श्रवणादि धर्म अन्तरङ्गतम है। (२) योगादि साधनों से आत्मचिन्तन को अन्तरङ्गत धर्म कहा है 'अयं हि परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्' योग के द्वारा आत्मदर्शन करना ही परमधर्म है, यह याज्ञवल्क्य-स्मृति में कहा है। (३) फल को लक्ष्य न करके ईश्वरार्पण बुद्धि से किया जाने वाला यागादि अन्तरङ्गधर्म है। इसी प्रकार (१) व्रत और आश्रम का धर्म होने से स्वर्ग आदि की प्राप्ति की इच्छा से किया जाने वाला धर्म बहिरङ्ग है। (२) इससे भी निम्न श्रेणी का जो, जिसका स्वर्ग प्राप्तिफल है अनेक प्रकार के स्त्री-पुरुष जिसके अधिकारी हैं ऐसा पातिव्रत्य आदि और अनेक देवताओं के व्रत आदि है। जो स्मृति द्वारा बताया गया है वह बहिरङ्गतम धर्म कहा जाता है। (३) जो ऐश्वर्य प्राप्ति, आरोग्य लाभ आदि फल के लिये अनेक प्रकार के देवताओं का भजनरूप स्मार्त धर्म है वह बहिरङ्गतम है। इन छ प्रकार के धर्मों में पूर्व से पूर्व धर्म में प्रबलता है। अर्थात् बहिरङ्गतम से बहिरङ्गतम प्रबल है बहिरङ्गतम से बहिरङ्ग। इसी तरह बहिरङ्ग से अन्तरङ्ग धर्म, अन्तरङ्ग से अन्तरङ्गतम; अन्तरङ्गतम से भी अन्तरङ्गतम श्रेष्ठ है। यद्यपि इनसे पूर्व-पूर्व श्रेष्ठ है परन्तु उनका आचरण यदि असम्भव हो तो उत्तरोत्तर-धर्म को करना चाहिये। प्रेम के अनन्तर व्यसन से किया जाने वाला श्रवणादि, धर्म नहीं है, क्योंकि उसमें धर्म का लक्षण नहीं है, धर्म का लक्षण तो 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः, यह है। अर्थात् जो विधि (आज्ञा) से किया जाता हो वह धर्म है जैसे 'अहरहः सन्ध्यामुपासीत' प्रतिदिन सन्ध्या करो। अन्तरंग और बहिरंग धर्मों में प्रवृत्ति होना या न होना इसमें अधिकार कारण है। मर्यादा मार्ग या पुष्टि-मार्ग इन दोनों में से भगवान् जिस जीव को जिस मार्ग का मानते हैं वही मार्ग उसका अधिकार रूप होता है और उन-उन मार्गों का निरूपण करने वाले उनके शास्त्र हैं। इसलिये पूर्व में बताये गये अपने-अपने अधिकार के धर्मों के न करने में दोष है। भगवान् ने अर्जुन को पुष्टिमार्ग में अंगीकार किया था इसलिये धर्मशास्त्र में जिसका निषेध है उस गुरुहनन कार्य के न करने पर भगवान् ने उसका अनिष्ट-फल कहा 'अथ चेत्त्वमहंकारान्त श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि' यदि अहंकार (अभिमान) से मेरी बात नहीं सुनेगा तो नष्ट हो जायगा। यहां भी इन छोरत्यों को 'पुष्टि-पुष्टि' में अंगीकार किया है इसलिये मर्यादा मार्गीय धर्म में उनका अधिकार नहीं है। किन्तु विवाह के पूर्व भी भगवान् के भजन में ही उनका अधिकार है। इसीलिये स्वयं भगवान् का कहा हुआ 'दुःशीलो दुर्भंगो वृद्धो जडो-रोग्यधनोऽपि वा' अपना विवाहित पति बुरे स्वभाव का, भाग्यहीन, बूढ़ा, मूर्ख, रोगी, निर्धन भी हो, तथापि उसका परित्याग नहीं करना चाहिये। इस प्रकार का धर्म का उपदेश भगवान् ने दिया उसको उन गोपियों ने स्वीकार नहीं किया, क्योंकि उनका मर्यादा-मार्गीय धर्म में अधिकार नहीं था और अनधिकारी के हृदय में धर्म कभी भी स्फुरित नहीं होता है। इसी बात को बताने लिये भगवान् ने भी उपदेश दिया था। जिस तरह पुष्टिमार्गीय, मर्यादा-मार्गीय धर्म को अंगीकार नहीं

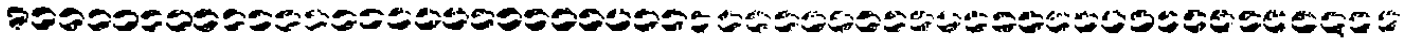


करते, उसी तरह मर्यादा-मार्गीय भी पुष्टि-मार्गीय धर्म को अंगीकार नहीं करने। इससे यह स्पष्ट है कि गोपियों के लिये मर्यादा-मार्गीय धर्म परधर्म है इसलिये उनके लिये विवाहित पुरुष का भजन भी व्यभिचार ही है अतएव उन गोपियों को व्यभिचार दुष्टाः कहा वह ठीक ही है। जब भगवान् ही स्त्रियों के सहज पति हैं तो भगवान् के साथ रुक्मिणी आदि का विवाह क्यों हुआ ? विवाह के द्वारा ही जिनका निरोध अभीष्ट है, उन-उन रसों का अनुभव हो एवं मर्यादा स्थापन तथा लोक-शिक्षा भी हो इसलिये विवाह किया। अदिति आदि में सतीत्व कैसे कहा उसका समाधान करते हैं। भगवान् ने अदिति आदि को अपनी लीला के लिये मातारूप से अंगीकार किया था इसलिये उनके लिये भगवत्प्राप्ति पुत्रभाव से भजन करने पर ही होती है और कश्यप आदि को भगवान् ने पितारूप से अंगीकार किया है इसलिये अदिति आदि को कश्यप आदि का पतिभाव से भजन हो स्वधर्म है। क्योंकि भगवान् ने उनको उसी रूप से अंगीकार किया है। केवल विवाह हुआ है इससे ही कश्यप आदि एवं अदिति आदि पति-पत्नी नहीं माने गये हैं। उनका विवाह तो भगवान् की लीला में उपयोगी है अतः भगवान् के विवाह के समान ही है। (लेख समाप्त)

आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि वास्तव में तो इनको भगवान् ने अपने लिए ही प्रकट की थी, परन्तु मध्य में समय में देरी हो जाने से अन्य गोपों को भ्रम से पति बनाकर उनसे सभोग द्वारा पुत्र आदि उत्पन्न कर लिए, जिससे वे व्यभिचारिणी और दुष्ट कही जाती हैं। जिस प्रकार अहत्या बृहस्पति के भ्रम से प्रवृत्त हुई तो भी दूषित कही गई। अतः दोष हो गया तो वैसे दोष को मिटाना ही योग्य है। कारण कि इस दोष से वे दुष्ट नहीं हो गईं, जो त्याज्य हों यदि दुष्ट हो जाती तो यह जो कृष्ण में भाव है, वह निवृत्त हो जाता, उसके निवृत्त न होने से त्याज्य नहीं है। जैसे व्यभिचारिणी स्त्रियां त्याज्य होती हैं। व्यभिचार - दुष्ट कही जाने वाली इन गोपियों में भगवद्भाव उत्पन्न होना ही आश्चर्य है। कहां कृष्ण निर्दोष-पूर्ण विग्रह और कहां इन व्यभिचार-दुष्टाओं का उनमें इस प्रकार का प्रेम-पूर्ण दृढ़-भाव ?

किन्हीं का मत है कि भगवान् में निवेदित होने के अनन्तर गोपों से जो इनका सम्बन्ध हुआ, जिससे वे व्यभिचारिणी हैं, क्योंकि बल से भगाई को भी भगाई ही कहा जाता है। जिसके उत्तर में कहते हैं कि निवेदन के पश्चात् उनका गोपों से सम्बन्ध हुआ ही नहीं है, जैसा कि कहा है 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्' गोपों ने केवल यों मानलिया कि हमारे पास वे हैं अर्थात् भावना-मात्र से ही उन्होंने यों समझा, किन्तु वास्तव में उनके साथ संभोग नहीं हुआ। यदि हुआ होता तो वे गोपियों के प्रभावसे अथवा भगवान् के द्वारा भस्म हो जाते, यों न होने से निश्चय समझना चाहिए कि व्यभिचार हुआ ही नहीं है।

जो भाव करने के अनन्तर वैसा दोष होवे तो, फिर भगवान् में भाव ही न रहे। कारण कि जिसमें इन्होंने भाव किया है, वह साधारण नहीं है, किन्तु सदानन्द कृष्ण है। जिनमें भाव होने के पश्चात् दोष होता ही नहीं है। अर्थात् अन्य में मन जाता ही नहीं है और वे सदानन्द फलरूपा हैं। उनमें भाव होना दोष रूप नहीं है। यदि उनमें भाव होना दोषरूप होवे, तो फल के लिए कोई भी कर्म न करे। यह परमानन्द रूप स्वरूप तो उद्धार के लिए ही प्रकट हुआ है। उसमें जो ऐसा भाव, यह सर्व पुरुषार्थ का साधक है। इस प्रकार ब्राह्मण्यादि देवता रीहों में सर्व पुरुषार्थ साधक यह भाव प्रकट हुआ है। बिना कारण से कार्य (भाव) की उत्पत्ति कैसे हुई ? अथवा विरुद्ध कारण से कामे भावरूप कार्य कैसे उद्भूत हुआ ? यदि यों कहा जाय तो उसका उत्तर यह है, कि आपका



कहना सत्य है। ये दोनों परस्पर विरुद्ध दीखते हैं, तो भी जो भक्त इस प्रकार तर्कों की खटपट से अनजान है और ईश्वर में दृढ़-भाव करता है उसका कल्याण भगवान् अपनी योग्यता के अनुसार ही करते हैं न कि सेवक की योग्यता के समान करते हैं। यद्यपि यह विषय लोक और वेद में भी प्रसिद्ध नहीं है, तो भी गोपिकाओं में यह प्रत्यक्ष देखने में आया है, अतः वितर्क में यह एक ही उपपत्ति है कि श्रीकृष्ण ईश्वर होने से कर्तुं, अकर्तुं और अन्यथा कर्तुं समर्थ है। अतः कहीं सेवा को स्वीकार नहीं करते हैं, कहीं विपरीत फल भी देते हैं, भूल से भी अपराध हो जावे तो प्राणों का वियोग करते हैं, कहीं तो अधिक फल भी देते हैं। यदि कहो कि यों होने से प्रारब्ध ही नियामक है तो इस पर कहते हैं कि प्रारब्ध नियामक नहीं है क्योंकि उसको नियामक मानने से ईश्वर में ईश्वरत्व ही न रहेगा। कारण कि ईश्वर तो स्वतन्त्र कर्तुं, अकर्तुं तथा अन्यथा कर्तुं करने को सामर्थ्य वाला होता है, अदृष्ट को नियामक मानने से ईश्वर कर्माधीन होने से स्वतन्त्र न रहेगा तो फिर श्रीकृष्ण ईश्वर कैसे? अतः अदृष्ट नियामक नहीं है, ईश्वर को कोई नियम में चलाने वाला नहीं है, भगवान् में दोषों की कल्पना करने से जीव को दोष लगता है, अतः यों करना भूल है। लोक न्याय से एक देशीय दृष्टान्त देते हैं 'अगदराज इव' अमृत यदि भूल से पीया हो तो भी अमर बनाता है, भूल से अग्नि का स्पर्श हो जावे तो वह जला देती है, इन दो दृष्टान्तों का अभिप्राय बताते हैं कि अग्नि तब जलाने का कारण होती है जब वह अपने सजातीय काष्ठ के समूह के साथ मिली हुई होती है यदि अग्नि विजातीय जल-समूह से मिले तो दाह का कारण नहीं बन सकती। दूसरे में ईश्वरत्व न होने से उससे श्रेय नहीं हो सकता है। वहां व्यभिचार दोष उत्पन्न करता है। भगवान् जीव में अन्यथा करे तो भी दोष नहीं है। रोग को मिटाने वाले पदार्थ को अगद कहते हैं। जहां सर्व पदार्थों की शक्ति इकट्ठी होती है, उसको अगदराज अर्थात् 'अमृत' कहते हैं। भगवान् के योग्य तो यह ही दृष्टान्त है, प्रमाणों का बल तो एक ही है, वह भी अन्तिम नहीं है, अतः वह तो बहुतों को प्राप्त होता है। यदि अन्तिम होता तो कदाचित् किसी को प्राप्त होता। अतः जाना जाता है कि गोपियों को जो यह ऐसा भाव उत्पन्न हुआ है, वह भगवान् के प्रेमय बल से ही उत्पन्न हुआ है। 'अनुभजतः' का भावार्थ है कि भगवान् की इच्छानुसार सेवा करनी, श्लोक में दिये हुए 'अपि' शब्द का भावार्थ बताते हैं कि 'यदेव विद्यया करोति' इस श्रुति के अनुसार ज्ञान के बिना जो भजन किया जायगा वह फल साधक^१ न होगा, तो गोपियों को ज्ञान बिना भजन, कैसे सिद्ध हुआ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'अपि' शब्द दिया है। अर्थात् जो भक्त साक्षात् समीप में विशेष भजन करता है, उसको किसी अन्य ज्ञानादि साधन बिना प्रभु-प्राप्ति शीघ्र हो जाती है। साधन भी स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। मन्त्र आदि द्वारा किया हुआ जो भजन है तो उस भजन के अनुरूप ही फल मिलता है। जैसे स्वयं अमृत अन्य की मिलावट बिना भी, समीप में सेवन करने वाले का निश्चित श्रेय करता है वैसे ही गोपिकाएं भगवान् के समीप रहकर एवं अन्य साधन-रहित हो शुद्ध-भाव से विश्वास पूर्वक भजन करती थीं यह लोक प्रसिद्ध है, इसलिये 'उपयुक्त' शब्द दिया है, अतः उनका श्रेय स्वयं भगवान् ने किया, जिसमें कहना ही क्या है ॥६०॥

○ श्री मद्विलेश प्रभुचरण का स्वतन्त्र लेख ○

अथवा 'अनन्तकथारसस्य किं ब्रह्मजन्माभिः' इससे जो गोपियों में ब्रह्मादि से भी विशेषतः

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १८ ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ ९ ॥ १० ॥ ११ ॥ १२ ॥ १३ ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ २१ ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ २५ ॥ २६ ॥ २७ ॥ २८ ॥ २९ ॥ ३० ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ ३७ ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ ४० ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ ४९ ॥ ५० ॥ ५१ ॥ ५२ ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ ५९ ॥ ६० ॥ ६१ ॥ ६२ ॥ ६३ ॥ ६४ ॥ ६५ ॥ ६६ ॥ ६७ ॥ ६८ ॥ ६९ ॥ ७० ॥ ७१ ॥ ७२ ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ ७५ ॥ ७६ ॥ ७७ ॥ ७८ ॥ ७९ ॥ ८० ॥ ८१ ॥ ८२ ॥ ८३ ॥ ८४ ॥ ८५ ॥ ८६ ॥ ८७ ॥ ८८ ॥ ८९ ॥ ९० ॥ ९१ ॥ ९२ ॥ ९३ ॥ ९४ ॥ ९५ ॥ ९६ ॥ ९७ ॥ ९८ ॥ ९९ ॥ १०० ॥

वताई है उसका उत्तर 'क्वेमाः स्त्रियः—' से दिया है। स्त्रियां स्वभाव से ही पुरुष मात्र में कामवासना वाली होती है और भगवान् तो पुरुषोत्तम है अतः उन भगवान् की कामवासना से भक्ति करने वाली गोपियों का ब्रह्मा आदि से उत्कर्ष कैसे हो सकता है इस आशङ्का का समाधान करने के लिये 'क्वेमाः स्त्रियः' इससे, सब स्त्रियों से और सब पुरुषों में उन गोपियों में श्रेष्ठता बताते हैं। उनमें भी स्त्रीभाव से भक्ति करने वाली इन स्त्रियों में स्त्रियों से पहले विशेषता बताते हैं 'इमाः क्व' अर्थात् कहां तो ये साधारण स्त्रियां और कहा ब्रजाङ्गनाएं, इनमें आपस में जरासी भी समानता नहीं है। यदि अन्य स्त्रियों को स्त्री कहा जाता है तो, इन ब्रजाङ्गनाओं को स्त्री भी नहीं कह सकते, क्योंकि सामान्य स्त्रियों में जो स्त्रीत्व (स्त्रीधर्म) है वह इनमें नहीं है। क्योंकि स्त्रियों का पुरुष में स्नेह कामवासना के द्वारा ही होता है ऐसा नियम है। इन गोपाङ्गनाओं में जो भगवान् के प्रति प्रेम है वह कामवासना से नहीं है। यद्यपि कामलीला का भी इन में निरूपण है परन्तु वह स्नेह काम द्वारा नहीं है, स्वाभाविक है। भगवान् स्वयं ही उन गोपियों को कामलीला का रस देना चाहते हैं इसलिए उनमें वैसे भाव को सम्पादित करके कामरस का दान करते हैं। विलक्षणता को 'अवनचरी' पद से बताते हैं। इन ब्रजाङ्गनाओं की भगवान् कालकर्म आदि सम्बन्ध से भी सदा रक्षा करते रहते हैं तो क्या अन्य पुरुषों के सम्बन्ध से उन्हें नहीं बचायेगे? वे तो सदा भगवान् की रक्षा में ही रहती हैं। यदि यह आशङ्का हो कि उन गोपियों के भी पुत्र उत्पन्न हुए, क्या बिना गोपों के सम्बन्ध से ही पुत्र हो गये? इसका उत्तर देते हैं कि भगवान् में सर्वभवन सामर्थ्य है अर्थात् भगवान् सब कुछ बन सकते हैं इसलिये भगवान् गोपरूप में भी हो सकते हैं तो वे पुत्र गोपों के न होकर भगवान् के ही हैं अथवा अलौकिक प्रकार से भी वे भगवान् के ही पुत्र हैं गोपों के नहीं। गोप तो महारास में सम्मिलित अपनी स्त्रियों को अपने पास ही सोई हुई मान रहे थे यह 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्—' से स्पष्ट है। अर्थात् गोपों को केवल अभिमान मात्र ही था वास्तव में वे उनकी पत्नियां नहीं थीं। भगवान् ने ही व्यवहार रक्षा के लिये और इस बात का किसी को पता न लगे तथा रसपोषण हो इसलिये केवल भगवदीयता उनमें रखी अन्य स्त्रियों में नहीं। अतः 'व्यभिचारदुष्टाः' यह विशेषण सामान्य स्त्रियों के लिए है गोपीजनों के लिए नहीं। जीवमात्र के भगवान् पति हैं, उनमें भी स्त्रियों के तो पति हैं ही ब्रजाङ्गनाओं से भिन्न जो दूसरी स्त्रियां हैं उनका सम्बन्ध सदा अन्य पुरुषों से ही है इसलिए वे व्यभिचारदुष्टा ही हैं। अतः गोपीजनों में और सामान्य स्त्रियों में बहुत ही विलक्षणता है। वे गोपियां स्त्रियों से उत्कृष्ट थी यह बता दिया। अब पुरुषों से भी वे गोपियां उत्कृष्ट थीं। यह 'कृष्णे' पद से बताते हैं। सदानन्द भगवान् के नारद ब्रह्मा आदि अनेक भक्त हैं परन्तु गोपियों के समान उन नारदादिकों का भाव कहां है। यहां तक कि व्यभिचार आदि दोष जिसमें नहीं है उस लक्ष्मी में भी ऐसा भाव नहीं है यह 'च' पद से बताया है। 'क्व चैष' में जो 'एष' पद है उससे उद्धवजी ने यह अपना अनुभव बताया। अर्थात् गोपीजनों के समान किसी में भाव है, ऐसा सुना तक नहीं तो देखने को तो कहां मिले।

अथवा 'बर्हि पीडं नटवर वपुः' इस श्लोक में वर्णित भगवान् का स्वरूप गोपिकाओं के भाव के अनुसार है। भगवान् ने गोपिकाओं के लिए ही कोटिकन्दर्पलावण्य को प्रकट किया और सदानन्द भगवान् उन गोपिकाओं के भोग्य-रूप से प्रकट हुए यह कृष्णपद से स्पष्ट होता है। यद्यपि ब्रह्मादि देवताओं का भाव भगवान् में है तथापि गोपियों के समान नहीं है। भगवान् गोपियों के लिये भोग्य-रूप से जंसे प्रकट हुए क्या कभी उसी तरह से ब्रह्मादि के लिए प्रकट हुए?

विषय से विलक्षणता बताकर स्वरूप से विलक्षणता बताते हैं 'एष भावः क्व' यह भाव लोक वेद में अप्रसिद्ध है केवल अनुभव से ही जानने योग्य है ।

प्रकार से त्रिलक्षणता 'परमात्मनि क्व' से बताई है। सबको आत्मा ही प्रिय है, जहां जहां प्रियता होगी उस में आत्मोपाधि अवश्य होगी। अर्थात् हम शरीर को आत्मा मानते हैं इसलिए हमें शरीर प्रिय है पुत्रादिकों को आत्मा मान लिया है। इसलिए पुत्रादि हमें प्रिय हैं, परन्तु गोपियों को तो आत्मा से भी अधिक प्रिय भगवान् है उन भगवान् में उनका भाव है। इन गोपियों को आत्मा (अपने लिये) के लिये भगवान् प्रिय नहीं है किन्तु इनकी आत्मा भगवान् के लिये है इसलिये वह आत्मा इन्हें अच्छी लगती है। ब्रह्मादिकों को तो भगवान् इसलिये प्रिय है कि भगवान् उनके नियामक हैं तथा उनका हित करते हैं।

उत्पत्ति से विलक्षणता बताते हैं 'रूढभावः क्व' लोक वेद से उत्पन्न न होने वाला सहज भाव उनमें उत्पन्न था। अन्य में ऐसा भाव न होने से भाव की उत्पत्ति से विलक्षणता हुई। अथवा 'रूढभावः क्व' इस पद से प्रमाण से विलक्षणता बताई। और 'एष भावः' इससे प्रमेय से। तथा 'परमात्मनि' से साधन से, 'कृष्णे' फल से विलक्षणता बताई। अन्यत्र इस प्रकार की विशेषता नहीं है। इतना सब होते हुए भी गोपियां भगवान् को ईश्वर नहीं जानती थी उनका तो लौकिक ज्ञान ही था लौकिक ज्ञान तो निम्न श्रेणी का है फिर गोपियों को ब्रह्मा आदि से उत्कृष्ट बताना कैसे उचित है? इस आशङ्का का उत्तर 'नन्वीश्वरः' से देते हैं। यह आशय है कि फल की अधिकता से ही गोपियों को ब्रह्मादि देवता से अधिक बताया है। साधन विशेष अथवा अन्य प्रकार विशेष से उनमें उत्कर्ष नहीं बताया। फल की अधिकता गोपियों में है अन्य में नहीं। जो भगवान् को शास्त्र के द्वारा ईश्वर जानते हैं और ईश्वर स्वरूप से भगवान् का भजन करते हैं तो क्या ईश्वर उनका श्रेय करते हैं? कदापि नहीं। उनके पुरुषार्थों की सिद्धि तो भगवान् के ज्ञान से, भगवान् के वचन (वरदान) से अथवा भगवद्भक्ति से ही होती है। भगवान् स्वयं आकर उनका कुछ नहीं करते। कभी कभी भक्ति की उत्कटता से गजेन्द्र जैसे के लिये स्वयं भगवान् पधारकर ही पुरुषार्थ का दान करते हैं तथापि जिस श्रेय का दान गोपियों को किया है उस श्रेय का दान अन्य को नहीं करते। यह बात अत्यन्त गोप्य है उसे 'अगदराज इवोपयुक्तः' इस दृष्टान्त से बताई है। गोपियां विरहानलसंताप हृद्गतकाम-रोग को शान्त करने के लिये भगवान् के एक एक अंग को अपने हृदय आदि देशों में स्थापित करती हैं क्या ब्रह्मादि ऐसा कर सकते हैं? ब्रह्मादि तो सदा भगवान् से डरते रहते हैं। यहां तो गोपियों की मुख्यता है भगवान् की नहीं। गोपियों के विषय में भगवान् स्वतन्त्र अथवा प्रधान नहीं भगवान् के विषय में गोपियों की स्वतन्त्रता अथवा प्रधानता है। इस बात को 'उपयुक्तः' पद से बताया है। जैसे ताप और रोग की निवृत्ति में ओषध का उपयोग मुख्य नहीं है। ओषध के उपयोग करने वाले पुरुषों की मुख्यता है उसी तरह यहां गोपियों की मुख्यता है भगवान् की नहीं। यदि ओषध का उपयोग कर वाला पुरुष चाहे तो रोगनिवृत्ति के अनन्तर भी रसायन ओषध का सेवन कर सकता है। इसी तरह यदि गोपियां चाहें तो विरहताप शान्ति के अनन्तर भी भगवान् का इच्छानुसार भोग कर सकती हैं। इसी बात को बताने के लिये केवल 'अगद' पद न देकर 'अगदराज' पद दिया है।

अथवा 'साक्षात् यत् श्रेयः तत्किं तनोति अन्येषाम्' ऐसी योजना करना । जो भगवान् के मधरामृत का एक बार भी ग्रा वादन कर लेता है उसका अनुराग फिर कभी मन्थ से होता ही नहीं ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ११ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २१ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ २९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३१ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४१ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५१ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ५९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ६० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ६१ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ६२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ६३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ६४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ६५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ६६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ६७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ६८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ६९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७१ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ७९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८१ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ८९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ९० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ९१ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ९२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ९३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ९४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ९५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ९६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ९७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ९८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ९९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १०० ॥

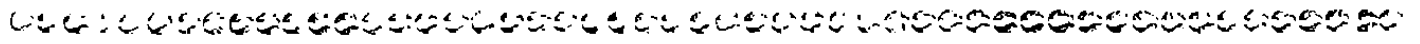
इस प्रकार का साक्षात् श्रेयो रूप जो रस है उसे गोपियों के सिवाय किसी को भी नहीं देते ।

अथवा जो भगवान् को ईश्वर जानता है उस का भगवान् श्रेय करते हैं यह सत्य है तथापि जो ईश्वर को जानता है और अनुभजन करता है उसका श्रेय नहीं करते है क्या ? अनुभजन का अर्थ है भगवद्भजन के अनन्तर स्वभजन जैसा कि गीतगोविन्द में विरचित चाटुवचन 'रचनं चरणरचित प्रणिपातम्' से बताया है । 'हे राधे ! मधुर वचन बोलने वाले; चरणों में गिरने वाले मधुमथन का अनुसरण कर ।' ब्रह्मादि से भी क्या भगवान् कभी मधुरवचन की रचना करते हैं और चरणों में प्रणिपात करते हैं ।

अथवा प्रत्येक पद में काकु है—क्या ज्ञानी जन का ईश्वर श्रेय करता है ? भगवान् वतुं अकतुं अन्यथाकतुं समर्थ ईश्वर हैं । ब्रह्मादि के लिये भगवान् ऐसा रूप प्रकट कर के फल नहीं देते । इन गोपियों के लिये तो भगवान् अपने पूर्ण काम आत्माराम आदि स्वरूप धर्मों को भी बदल देते हैं और उन गोपियों को अपने स्वरूप धर्म के विपरीत फल देते हैं । ब्रह्मादि देवताओं के लिये स्वरूप को अन्यथा करना तो दूर रहा भगवान् अपनी वाणी की मर्यादा को भी नहीं बदलते । अनुभजन करने वाले को भगवान् क्या देते हैं यह पूर्व में बताया है । अन्य के लिये जो भगवान् श्रेय करते हैं क्या यों ज्ञानी का करते हैं ? नहीं किन्तु वे अज्ञानी का करते हैं और वह भी उनके ज्ञान के अनुरूप ही करते हैं । भगवान् का स्वरूप आनन्दमय है आनन्द का ज्ञान अनुभव से होता है वाणी, चक्षु आदि से उसका ज्ञान नहीं हो सकता ब्रह्मादि देवता पुरुष है अतः भगवान् उन्हें अपने स्वरूप (आनन्द) का दान नहीं करते इसलिये उन्हें स्वरूप का साक्षात् अनुभव नहीं होता अतः वे अज्ञानी कहे जाते हैं । गोपियों को तो भगवान् के स्वरूप (आनन्द) का अनुभव है इसलिये उन्हें ज्ञानी कहा गया है । भगवान् साक्षात् श्रेय भी क्या देते हैं और साक्षात् स्वयं क्या करते हैं ये सब पहले बताया जा चुका है । किस का विस्तार करते हैं इसका वर्णन आ चुका है । ब्रह्मादि के लिये भगवान् श्रेयोदान एक बार कर देते हैं परन्तु उस श्रेय का विस्तार नहीं करते, उन्हीं में चित्त की एकतानता होना ही प्रेम का विस्तार है । और सभी प्रयत्न उन्हीं के लिये हो, यह भी श्रेय का विस्तार है । जैसा कि गीतगोविन्द में कहा है 'तत्र मम हृदयमतिप्रयत्नम्' । 'विशति वितनोरन्यो घन्यो न कोपि' । अर्थात् आपको हो प्रसन्न करने के लिये मेरा हृदय प्रयत्न करता है, हे सन्तप्ते ! तुम इस आशङ्का को दूर हटा दो कि मेरे हृदय में किसी अन्य कामिनी का प्रवेश है । मेरे हृदय में तो केवल तुम ही व्याप्त हो रही हो इसलिये जिसका शरीर नहीं है ऐसे काम के अतिरिक्त और किसी का प्रवेश नहीं है । इस प्रकार का श्रेय कभी भी अन्य के लिये नहीं करते । ब्रह्मादिकों के लिये उपयुक्त अगदराज (श्रेष्ठ ओषधि) की तरह भगवान् श्रेय नहीं करते । 'उप' का अर्थ समीप है अर्थात् ब्रह्मादिकों के उप समीप में एक आसन अथवा एक शयन पर भगवान् युक्त 'मिलते' नहीं । ब्रह्मादिकों के लिये तो भगवान् के दर्शन भी दुर्लभ हैं । ये गोपियां तो भगवान् का उपयोग करती हैं । अतः गोपियों में और ब्रह्मादि देवताओं में बहुत ही तारतम्य है ।

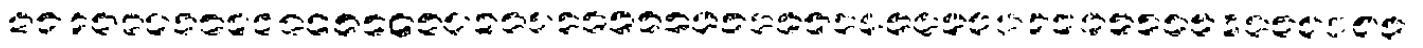
अथवा भक्तिमार्ग में दूसरे का भजन न करते हुए भगवान् का ही भजन करना मुख्य है । इन गोपिकाओं का तो अपने पति के साथ भी सम्बन्ध था फिर इनकी 'एताः पर तनुभृतः' से कैसे प्रशंसा की । अर्थात् शरीर धारण करने वालों में से गोपियां ही मुख्य हैं ऐसा कैसे कहा ? इस का उत्तर

'इमाः स्त्रियो ब्रजस्त्रियो व्यभिचार दुष्टाः 'क' ये ब्रजस्त्रियां व्यभिचारदुष्ट कैसे हो सकती है । व्यभिचार से दुष्ट न होने में 'अवनचरीः' कारण है । वे गोपियां सर्वदा अपने को भगवान् की उपभोग्या मानती थीं इसलिये सदा अपने को अन्य से बचाये रहती थीं । यदि वे व्यभिचारदुष्ट होती तो उनका भगवान् में ऐसा भाव कैसे होता । 'स्वदभावाः' में स्वद पद दिया है उसका तात्पर्य यह है कि उन गोपियों में भगवद्भाव अनवच्छिन्न (कभी न टूटने वाला) था । इसलिये उन गोपियों में भगवान् का रमण बाहर भीतर तथा रातदिन होता रहता था तो उन में भगवद्भाव से रहितता आई कैसे ? उसकी तो कोई सम्भावना ही नहीं है । यहां पर जो विवाहित पति के सम्बन्ध के कारण जो व्यभिचार शब्द से कहा जाने वाला दोष है वह इनमें सर्वथा नहीं है । शङ्का करते हैं कि भगवान् ने जब गान किया 'तब पति की शुश्रूषा करती हुई उसे छोड़ कर भगवान् के पास चली गई', 'कुछ गोपियों को पतियों ने तथा अन्य सम्बन्धियों ने भगवान् के पास जाने के लिये रोका तो भी वे भगवान् के पास चली गई । ऐसा जब कहा है, तो उन गोपियों का पति से सम्बन्ध ही नहीं था ऐसा कैसे कह सकते हैं इस शङ्का का समाधान यह है, कि उन गोपियों का उनके पति के साथ जो सम्बन्ध था वह आभिमानिक था वास्तविक नहीं था । यह 'अस्प्राक्ष्म तत्प्रभृति' आदि से स्पष्ट है 'हे कमल नयन! जिस दिन हमने आपके चरणों का स्पर्श किया उसी दिन से हम किसी के सामने उठरने में भी असमर्थ हो गई हैं, पति पुत्रादि की सेवा तो कर ही कैसे सकती है । तथा 'मन्यमानाः स्वपार्श्वस्थान्' गोप योग माया से मोहित होकर ऐसा समझ रहे थे कि हमारी स्त्रियां हमारे पास ही हैं । इत्यादि प्रमाणों से उनका वास्तविक सम्बन्ध नहीं था । एक बात यह भी है, कि 'मन्यमानाः' इस गोपियों के लिये 'दारा' शब्द आया है । दारा शब्द पुल्लिङ्ग है । इस लिये स्त्रीरूप से उनका सम्बन्ध उन गोपों से नहीं था । यदि यह कहा जाय कि आभिमानिक सम्बन्ध भी सदोष ही है तो 'स एतावानास' इसश्रुति से सम्पूर्ण सृष्टि को भगवद्रूप बताया है इस से आभिमानिक दोष निवृत्त हो जाता है । यदि यह आशंका हो, कि भगवान् ने गोपों की पृथक् स्थिति क्यों की, तो उसका उत्तर है, 'रसार्थ' 'स्थित्यर्थश्च' अर्थात् रसानुभव के लिये तथा स्थिति रहे इसलिये गोपों की पृथक् स्थिति भगवान् ने ही की । भगवत् सम्बन्ध के पूर्व में भी, उनमें कोई दोष नहीं था और न भगवत्सम्बन्ध के अनन्तर कोई दोष उनमें है । क्योंकि उन गोपियों को भगवत्स्वरूपातिरिक्त में भगवदात्मता की स्फूर्ति नहीं है । वास्तव में तो फल प्रकरण में होने वाले रमण के पूर्व भी उन गोपियों का स्वप्न में भगवत्सम्बन्ध हो चुका था । ऐसा लक्षित होता है । नहीं तो गोपियां 'अस्प्राक्ष्म' हमने आपके चरणारविन्द का स्पर्श किया 'त्वयाभिरमिताः' आपने हमको आनन्दित किया, इस प्रकार भूतकाल के सम्बन्ध की बात न करतीं । एक बात यह भी है, कि 'दूसरे के सामने जब खड़े रहने में भी असमर्थ हैं तो, उसके आगे होने वाली रमण क्रिया में उनका पास में रहना कैसे संभव हो सकता है ? इसलिये इन गोपाङ्गनाम्नों का उन गोपों के साथ किसी भी काल में सम्बन्ध नहीं था । भगवान् के सम्बन्ध को तो सदोष कह नहीं सकते सब प्रमाणों का विरोध हो जायगा । अन्तर्गृह्यता गोपियों की बुद्धि में भगवान् जार (उपपत्ति) रूप से थे अतः वे सदोष थीं । परमा मयद से यही बताया है 'तमेव परमात्मानं जार बुद्ध्यापि सङ्गताः' उसी परमात्मा का उन्होंने जार बुद्ध से आलिङ्गन किया । अतः अन्तर्गृह्यताओं का भजन इन गोपिकाओं के सदृश नहीं था । यहां शङ्का होती है कि ज्ञानादि साधन वालों में पहले गोपिकाओं के समान भाव न होने से, उनको अकृतार्थ बनाया तो इन गोपिकाओं ने ज्ञानादि साधनों के अतिरिक्त ऐसा कौन सा साधन किया था जिससे इनको ऐसा फल मिला । इसका समाधान 'नन्वीश्वरः' से किया है । ईश्वर बिना किसी साधन की अपेक्षा सब कुछ



करने में समर्थ है। जानी पुरुष केवल ज्ञान को पुरुषार्थ का साधक न जानकर ज्ञान के अनन्तर जब भजन करते हैं स्वयं भगवान् उसका श्रेय करते हैं, भगवान् को भजन के अतिरिक्त किसी साधन की अपेक्षा नहीं है। परन्तु भगवान् ने गीता में कहा है कि ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् जो मुझे जिस प्रकार से भजते हैं मैं भी उन्हें उसी प्रकार भजता हूँ। इस भगवद् वाक्य से अधिकार के अनुसार फल देते हैं। जहां स्वार्थ सिद्धि के लिये भजन करने वाले का भी भगवान् स्वयं श्रेय करते हैं तो भगवान् के लिये ही भगवान् का भजन करते हैं उनका साक्षात् स्वयं भगवान् श्रेय करते हैं इस में क्या कहना यह 'अपि' शब्द से बताया है जो भगवान् के लिये भगवान् का भजन करते हैं उनके लिये उनके भजन के अनुरूप श्रेय का सर्वकरणसमर्थ भगवान् के पास भी अभाव है यह न पारयेऽहं निरवयसंयुजा' इत्यादि से बताया है। हे गोपियों! तुमने कभी जीर्ण होने वाली गृह सूङ्खला को तोड़ कर मेरा भजन किया है। यह तुम्हारा मिलन सर्वथा निर्दोष है। मैं देवताओं के समान आयु प्राप्त करके भी इस उपकार का बदला नहीं दे सकता। इसलिये भगवान् जिस प्रकार श्रेय इन गोपियों के लिये करते हैं वैसा दूसरे के लिये नहीं। इसको बताने के लिये 'अगदराज इव' यह दृष्टान्त है। जिस तरह बिना किसी अनुपान के अमृत वा सेवन करने वाले का अमृत श्रेय करता है उस तरह अमृत का श्रेय अमृत पान करने वाला नहीं करता। इसी तरह यहां स्वार्थ सिद्धि के लिये भजन करने वाले जानी का अभीष्ट भगवान् करते हैं किन्तु जानी भगवान् का कुछ अभीष्ट नहीं करता क्योंकि जानी का भजन तो स्वार्थ के लिये है। यहां तो जिस तरह भगवान् गोपियों का अभीष्ट करते हैं उसी तरह से गोपियां भी भगवान् का अभीष्ट करती हैं।

अथवा निषेध उसी का किया जाता है जिसकी पहले प्राप्ति हो। यहां उस का अभाव है अतः दूसरे प्रकार से इस की व्याख्या की जाती है। 'एताः परं तनुःमृतः' इस श्लोक के पूर्वार्द्ध में व्रज-सीमन्तिनीयों का सर्वोद्धृष्ट बताया इसी श्लोक के उत्तरार्द्ध में साधनों के द्वारा ऐसा उत्कर्ष प्राप्त नहीं हो सकता यह बताया तो साधनों के अभाव में इनको ऐसा उत्कर्ष कैसे प्राप्त हुआ। इसे आश्चर्यजनक मानते हुए जहां भगवत्कृपा से सर्वसाधन हीन जातीय पुलिन्दिनियों में भी उत्कर्ष की सिद्धि होती है वहां अङ्गसङ्ग का जिन को अधिकार है उनमें उत्कर्ष हो इस में क्या आश्चर्य है। अतः केमाः स्त्रियः, ये पुलिन्दिनियों को सम्बोधित कर के कहा है। अर्थात् कहां तो ये पुलिन्दिनियां और कहां भगवान् में पूर्ण अनुराग। यद्यपि 'ता नमस्यन्निदं जगौ' ऐसा कहने से पुलिन्दिनियों के देखे बहुत समय हो गया इसलिये उन पुलिन्दिनियों के लिये उद्धवजी इदम् शब्द का प्रयोग नहीं कर सकते इदम् शब्द का प्रयोग वहीं होता है जिसे हम सामने देख रहे हों, किन्तु उद्धवजी उन्हें भावना से देख रहे हों ऐसा समझ करके ही उन्होंने 'इमाः' ऐसा कहा। अर्थात् ये पुलिन्दिनियां मानो उन्हें भावना से सामने दीख रही हैं। यदि पुलिन्दिनियों के पास पुष्टिमार्गीय या मर्यादामार्गीय कोई साधन होता तो संभव था कि उनका भगवान् में अनुराग हो जाता, किन्तु इनके पास तो पुष्टिमार्गीय और मर्यादा मार्गीय दोनों प्रकार के साधनों का अभाव है ऐसा समझ कर 'केमाः' कहा। पुष्टिमार्गीय साधन का अभाव तो 'व्यभिचारदुष्टाः' से ज्ञात होता है। अपने विवाहित पति का भजन करना ही व्यभिचार है, क्योंकि इस पुष्टिमार्ग में सर्वात्मभाव ही साधन है। उस सर्वान्मयभाव में विवाहित पति का त्याग भी विहित है। 'संत्यज्य सर्वाविषमान्' 'पतिसुतान्वय भ्रातृबान्धवान्'। जगत् के यावद्विषय, पति, पुत्र, कुटुम्ब, भाई आदि का त्याग ही इस पुष्टिमार्ग का साधन है। इन पुलिन्दिनियों में ऐसा न होने से व्यभिचारदुष्टता उन में आई जिससे पुष्टिमार्गीय साधन का अभाव सूचित हो गया, मर्यादामार्गीय साधन भी उन में



नहीं था यह 'वनचरी' पद से सूचित है। मर्यादा मार्ग में अधिकारी को ही साधन करने का अधिकार होता है। ये तो वनचरी (वन में घूमने वाली) थीं अर्थात् क्षुद्रजाति की थीं, इसलिये उनका मर्यादा-मार्गीय अधिकार भी नहीं था। पूर्वजन्म का कोई अधिकार हो यह भी नहीं मान सकते, ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता। यदि पूर्वजन्म का अधिकार होता तो, वे क्षुद्र जाति में क्यों जन्म लेतीं। तब कैसे उन पुलिन्दिनियों में भगवद्भाव हुआ ? इसका उत्तर 'नन्वोद्भूतः' पद से दिया है। भगवान् ईश्वर हैं अर्थात् किसी साधन की अपेक्षा न रखते हुये कर्तुं अर्थात् अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं वे साक्षात् स्वयं श्रेयः करते हैं। शका होती है कि ब्रजललनाओं और पुलिन्दिनियों का साधन तो एक ही भगवत्स्वरूप था तो फल भी दोनों के लिये एक होना चाहिये फिर पुलिन्दिनियों से ब्रजाङ्गनाओं में फल का उत्कर्ष कैसे हुआ ? इस का उत्तर देते हैं कि इस में अधिकार भेद ही कारण है। इस फलभेद को और आधिक्य को अनुभजनः तथा अविदुषः इन दो विशेषणों से बताया है। ब्रजललनाओं को भगवान् ने 'स्वागतं वो महाभागाः' इत्यादि कह कर उन्हें लौट जाने के लिये कहा परन्तु पुष्टिमार्ग में तो भगवान् का भजन करना स्वाभाविक है इसलिये गोपीजन अपने स्वभाव की दृढता के कारण भगवान् के कहने पर भी वहां से लौटी नहीं, वहीं खड़ी रहीं। उन्होंने भजन करने वाले का अनुभजन नहीं किया किन्तु भगवान् ने ही उन ब्रजाङ्गनाओं के मान आदि को दूर करने के लिये उन गोपियों का अनुभजन किया। इन पुलिन्दिनियों में ऐसा नहीं है। पुलिन्दिनियों ने तो 'दयितास्तनमण्डितेन कुङ्कुमेजानन कुचेषु लिम्पन्त्यस्तदाधि जहुः' 'ये वृन्दावन की पुलिन्दिनियां जब भगवान् को देखती हैं तब इनके हृदय में भी प्रेम की व्याधि लग जाती है उस समय ये भगवान् की प्रियतमाओं के वक्षःस्थल पर लगी हुई केसर जो भगवान् के चरणों में लग जाती है गोचारण के लिये जब भगवान् वृन्दावन में पधारते हैं तो वही केसर घास पर लगजाती है उस पुलिन्दिनियां अपने मुख पर तथा स्तनों पर लगाती हैं और अपने हृदय की पीड़ा को शान्त करती हैं। इस में दयिता पद से ब्रजदेवियों को कहा है उनके सम्बन्ध वाली केसर से पुलिन्दिनियों को भी भगवान् के सम्बन्ध का अधिकार प्राप्त हो गया। अतः 'अनुभजनः' यह पद पुलिन्दिनियों के लिये ही है। 'अविदुषः' यहा पद भी पुलिन्दिनियों के ही लिये है। 'रसो वै सः' इस श्रुति से भगवान् को रसात्मक बताया है। उस रसात्मक स्वरूप का ज्ञान पुलिन्दिनियों को नहीं है। इसका ज्ञान तो उन ब्रजाङ्गनाओं को ही है। जैसा कि उन्होंने 'वीक्ष्यालका वृतमुखम्' से वर्णन किया है। यदि 'विदुषः' ऐसा पदच्छेद है तो ज्ञानी, माहात्म्य ज्ञानवाला होता है माहात्म्य ज्ञानवाले में गोपियों जैसा भाव नहीं होता। अधिकार के अनुसार ज्ञान होता है और ज्ञान के अनुसार फल होता है जैसा कि 'मल्लानामशनिः' यहां पर प्रतिपादित किया है। पुलिन्दिनियां तो बहुत थीं तो 'विदुषः' यहां एक वचन जाति के अभिप्राय से दिया गया है जितनी भी पुलिन्दिनियां थीं वे सब समान थीं उस बात को सूचित करने के लिये एकवचन का प्रयोग है। 'विदुषः' इस प्रकार पुल्लिङ्ग का निर्देश पुलिन्दिनी के शरीर को अभोग्य बताने के लिये है भगवान् ईश्वर हैं वे अनधिकारी का भी श्रेय करते हैं तो उन पुलिन्दिनियों का श्रेय करें इस में क्या आश्चर्य है। यह 'विदुषोऽपि' में आए हुए अपि शब्द से द्योतित होता है, इस में 'अगदराज इवोपयुक्त' यह दृष्टान्त है। अमृत ऐसा विचार नहीं करता कि मेरे से सम्बन्ध करने वाला अधिकारी है अथवा नहीं। इसी तरह यहां भगवान् अधिकार अथवा अनधिकार का विचार नहीं करते। 'अगदराजः' इसमें अमृत, पियूष आदि अमृत के वाचक शब्द है उनका प्रयोग न करके 'अगद' शब्द का ही प्रयोग किया है उस का आशय यह है कि पुलिन्दिनियों का भगवान् का सम्बन्ध कामरोग की शान्ति के लिये ही है। क्योंकि उन पुलिन्दिनियों का मनोरथ भी यही था कि हमारा कामरोग शान्त हो यह 'जहुस्तदाधिमृ'



से बताया है। ब्रजकी रत्नरूपा उन गोपाङ्गनाओं में विरह दशा में उत्पन्न होनेवाले कामरोग के नष्ट हो जाने पर भी, उसके आगे उन्होंने अनेक प्रकार की रतिक्रीड़ाओं से अखिल रसमयप्रियतम के स्वरूपामृत का आस्वादन किया यही उनका मुख्य फल था। इसलिये 'अगदराज इव' यह दृष्टान्त गोपियों के लिये नहीं है पुलिन्दिनियों के ही लिये है। वास्तव में तो उन ब्रजपति की प्रेमिकाओं में तो विप्रयोग काल जो पीड़ारूप है उस में भी उनका मन भगवन्मय प्राण भी भगवन्मय थे यह स्वयं भगवान् ने 'तो मन्मस्का' से बताया है। अर्थात् भगवान् आनन्द मय है तो विप्रयोग दशा में भी गोपियों के मन, प्राण सब आनन्दमय थे। आनन्द का रोग बताना तो अनुचित है। इसलिये पुलिन्दिनियों के ही लिये 'अगदराज' यह दृष्टान्त है। 'उपयुक्तः' पद में जो उप शब्द है उसका अर्थ समीप है तो समीप में तो भगवान् पुलिन्दिनियों के स्थित थे, ब्रजाङ्गनाओं के साथ तो भगवान् का साक्षात् अङ्गसङ्ग हुआ था। इसलिये इस महान् अन्तर को देखने से यही सूचित होता है कि 'वेमाः स्त्रियः' यह सारा वर्णन ब्रज ललनाओं का न हो कर पुलिन्दिनियों का है। यद्यपि 'दृष्ट-वेमादिगोपीनाम्' यहां पर और 'ता नमस्यन्निदं जगौ' इस कथन से यहां का सारा प्रसङ्ग गोपियों का ही होना चाहिये तथापि उद्धवजी ने कालान्तर में पुलिन्दिनियों में भी भगवद्भाव देखा था ऐसा लक्षित होता है। उद्धवजी आये तो उन्होंने नदी, वन, गिरि, द्रोण्यां तथा पुष्पात वृक्षों को देखा 'सद्विनगिरि द्रोणीर्वीक्षन् कुमुमतान् द्रुमान् इससे पर्वतों पर रहने वाले पुलिन्दिनियों को भी देखा यह अनायास ही सिद्ध हो जाता है। उद्धवजी ने पहले तो 'एतापरं तनुभूतः' से ब्रजाङ्गनाओं की स्तुति की उन में आश्चर्ययुक्त होकर पुनः पुलिन्दिनियों को याद कर के जहां पुलिन्दिनियों में भी ऐसा भाव है तो भगवान् की प्रिय गोपियों में ऐसा भाव हो इसमें क्या कहना? ऐसा जाना जाता है। इसलिये 'वेमाः' इस से पुलिन्दिनियों की ही स्तुति है इस में किसी प्रकार का सदेह नहीं है। एक बात यह भी है कि इदम् शब्द का प्रयोग किसी को सामने दिखाने के लिये किया जाता है तो क्या उद्धवजी भगवान् की प्रियतमा गोपियों के लिये 'इमाः' कह सकते हैं? उसमें भी फिर 'क्व' अर्थात् ऐसा भाव भगवान् में असम्भव है ऐसा कह सकते हैं? उन ब्रज ललनाओं के लिये जिनमें की स्वाभाविक प्रेम है उनको स्त्रियां कहें यह भी असंगत है। स्त्रियों का भाव तो पुरुषों में काम वासना से ही हुआ करता है। गोपाङ्गनाओं का भाव तो कामवासना था ही नहीं यह पहले ही कहा जा चुका है इस लिये 'स्त्रियः' यह पद उद्धवजी गोपियों के लिये नहीं कह सकते। भगवान् का अङ्गसङ्ग करने वाली गोपीजनों के लिये उद्धवजी 'वनचरी' पद का प्रयोग कभी नहीं कर सकते और व्यभिचार दुष्टाः 'ऐसा विशेषण क्या कभी परमभगवद्भक्त उद्धवजी गोपीजनों के लिए मुख से निकाल सकते हैं उद्धवजी को 'कृष्णस्य दधितः सखा' कृष्ण को प्यारा मित्र बताया है। भगवान् भी उद्धवजी को अपना अत्यन्त अनन्य प्रेमी भक्त मानते थे तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्त मेकान्तिनं काचित्'। उद्धवजी सर्वदा भगवान् के सेवक थे तं वीक्ष्य कृष्णानुवरम्' इत्यादि वाक्यों से उद्धवजी को भगवान् का अनन्य भक्त बताया है और जिन उद्धवजी ने ब्रजाङ्गनाओं के चरण की धूलि को शिरोधार्य करने वाले गुल्म लता ओषधियों में जन्म लेने की अभिलाषा प्रकट की वह सब यदि 'वेमा स्त्रियः' इस श्लोक में ब्रजाङ्गनाओं का वर्णन माना जायगा तो विरुद्ध हो जायगा। इसलिये 'वेमाः' इस श्लोक में 'पूर्णाः पुलिन्द्यः' यहां पर उन पुलिन्दिनियों का जिनका कि भगवत्सम्बन्ध हुआ है उसी को कहा है यह ऊपर बताई गई युक्तियों से सिद्ध हो जाता है।

प्रभुचरणों को 'वेमाः स्त्रियः' इस श्लोक की अनेक व्याख्याओं ने यही व्याख्या अत्यन्त प्रिय है इस बात को आपने 'सर्वमनवद्यम्' से स्पष्ट बताया है।

आभास—तन्वेतदव्योन्याश्रितम्. एवं भावो भगवति उत्तमकारणाभावे कथं भव-
तीत्याशङ्क्य ईश्वरस्तथा कृतवानित्युक्तम् । ईश्वरः कथं करोतीत्याशङ्कायां तदिच्छानुसा-
रेण भजनादित्यनुभजनेन निरूपितम् । इच्छानुसारि भजनमकारणकमिति पुनः सदोष-
स्तदवस्थः । अत एकं निश्चित्य साधनं वक्तव्यं, भगवदिच्छा कारणान्तरं देति । आद्ये ।
तासां न कापि स्तुतिः, कारणान्तरे तु किं ब्रह्मजन्मभिरिति विरुद्धं इत्याशङ्क्याह
नायं श्रियोद्भू इति ।

आभासार्थ — आपके कहने में अन्योन्याश्रयदोष आता है, जिससे एक का भी निश्चय नहीं हो सकता है । फिर भगवान् में इस प्रकार का भाव ब्रह्म जन्म के अभाव में कैसे हुआ होगा ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि ईश्वर ने वैसे किया, इसलिए मैंने कहा, ईश्वर ने ऐसा कैसे किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् की इच्छानुसार उन्होंने भजन किया, जिससे ईश्वर ने किया । कारण कि ईश्वर की इच्छा बिना भजन कराने की कैसे हुई ? जिससे दोष तो फिर वैसे ही रहा अतः एक साधन का निश्चय कर बताईए, भगवदिच्छा साधन है वा कोई दूसरा साधन है ? यदि भगवान् की इच्छा साधन थी तो गोपियों की स्तुति क्यों ? यदि दूसरा कारण ब्रह्म जन्म आदि है तो भक्ति ब्रह्मजन्मभिः' इस कहने का विरोध आता है, इस प्रकार शङ्काएँ कर उनको 'नायं श्रियोद्ध' श्लोक से मिटाते हैं ।

श्लोक—नायं श्रियोद्भू उ नितान्तरतेः प्रसादः

स्वर्गोषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽप्याः ।

रासोत्सवेस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-

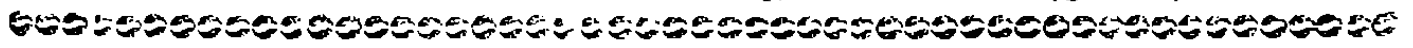
लब्धाशिषो उदगाद्व्रजबल्लुवी

113811

श्लोकार्थ-रासोत्सव में अपना भुजदण्ड गले में डाल कर ब्रज गोपियों पर जो भग-
वान् ने जैसी कृपा की, वैसी कृपा एकान्त रतिवाली लक्ष्मीजी पर तथा कमल जैसी
सुगन्धवाली एवं कान्ति युक्त अप्सराओं पर भी न हुई तो अन्यो पर कैसे
होगी ? ॥६१॥

सुबोधिनी—वस्तुतो भगवदिच्छैव नियामिका ।
परमियमेतावता कालेन न क्वापि जातेति तासां
स्तुतिरुच्यते । अन्यथा यादृशस्तासु प्रसादस्तादृ-
शोन्यश्चापि भवेत् । तत्र संभावितस्थानान्यनूद्य
परिहरति । एकान्ततो रतिर्यस्यां तादृशी लक्ष्मी,
तस्यामपि निरन्तर रति प्रयच्छन्नपि न प्रसादं
दत्तवान् । स्वयोर्योषितामपीन्द्रोपेन्द्रादिभावापन्नोपि

बहुभिः सह रममाणोऽपि न दत्तवान् । नलिनवद्-
गन्धो रुक् कान्तिश्च यासाम् । तेन कमलभ्रमोऽपि
तामु संभवति, कमलप्रियश्च भगवानिति कमल-
खण्डे पूजित इव कदाचित्तामु तिष्ठेत्, तस्या
अपि निषेधः, अन्याः पुनः तत्तदवतारेषु संबद्धा
अपि कुतस्तत्प्रसादं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । स कः
प्रसाद इत्याकाङ्क्षायामाह रासोत्सव इति ।



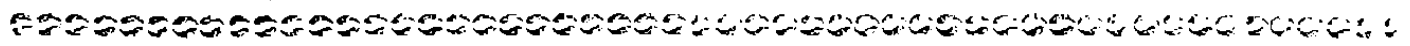
अस्य भुजदण्डैर्गृहीतकण्ठं तन्वद्या आशिषो याभिः ।
न हि कदाचिदप्यनेकस्पर्शाण कृत्वा रमणार्थमेव
रसाभिनिविष्टो भवति; तत्रापि ब्रजबल्लवीभिः
सह, तास्त्वसंवृताः दध्यादिविक्रये सवेत्र पर्यटन-
पराः, महतामपि प्रार्थनया कदाचिद्भृगवानेकं रूप

गृह्णाति महति कार्ये, आनन्दश्च तासां सर्वोत्तमः,
सपादितः अनेकधा रसमुत्पाद्य, अतो ज्ञायते नैता-
दृश्यः काश्चन । नाप्येतादृशः क्वापि भगवत्प्रसाद
इति अतो ज्ञायते वस्थापि तासामेतादृशी प्रमा-
णेष्वस्तुतापि सर्वोत्तमैवेति ॥६१॥

व्याख्या—वास्तव में भगवदिच्छानुसार भजन करने में भगवान् की इच्छा ही नियामक है, किन्तु ऐसी इच्छा अब तक किसी पर भी नहीं हुई है, इसलिए इनकी स्तुति हुई है नहीं तो जैसी कृपा इन पर हुई, वैसी अन्यो पर हो होती । जिन पर कृपा होनी चाहिए ऐसे संभावित स्थानों को बताकर कहते हैं कि वहां भी ऐसी कृपा नहीं हुई है । विशेष प्रीति पात्र लक्ष्मीजी जिसको निरन्तर प्रेम का दान देते हैं, उस पर भी यह कृपा नहीं की है । स्वर्ग की स्त्रियां अप्सराएँ जिनके साथ इन्द्र उपेन्द्र भाव को धारण कर रमण करते हुए भी यह प्रसाद उनको भी नहीं दिया है । विशेष में वे अप्सराएँ कमल समान गन्धवाली तथा वैसी ही कान्तिवाली है और उनमें कमल जैसा भ्रम भी होता है । भगवान् को कमल प्यारे हैं, इस कारण से कमल खण्ड में पूजित के समान उनमें कदाचित् स्थित हो जावे, उसका भी निषेध करते हैं । अब यों है तो अन्य, जो उन उन अवतारों से संबद्ध हैं वे कैसे प्रसाद को प्राप्त करेगी ? वह कौन सा प्रसाद है जिसको गोपियों के सिवाय अन्य नहीं प्राप्त कर सकी है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'रासोत्सव' के समय भगवान् ने जो अपना भुजदण्ड कण्ठ में डाल उससे रमण करते समय जो आनन्द गोपियों को प्राप्त हुआ वही प्रसाद है । भगवान् रमण के लिये अनेक रूप धारण कर इस प्रकार कभी भी रस से आप्लुत नहीं होते हैं । उसमें भी ब्रज स्त्रियों के साथ, वे तो मिलकर एकत्र नहीं रहती है सदैव दधि आदि के बेचने के लिए सर्वत्र घूमती फिरती रहती है, बड़े कार्य के लिए जब महान् ब्रह्मादि प्रार्थना करते हैं तब भी भगवान् एक ही स्वरूप से प्रकट होते हैं, यहां तो अनेक रूप धारण कर प्रत्येक गोपी को सब से उत्तम आनन्द प्रदान करने के लिए उनसे रमण करते हुए अनेक प्रकार के रसों को प्रकट कर आनन्द में प्लावित किया है । अतः जाना जाता है, कि वैसी भाग्य वाली दूसरी नहीं हुई है और वैसा भगवत्प्रसाद कहीं भी प्राप्त न हुआ है, जिससे समझ में आता है कि उनकी वैसी अवस्था प्रमाण में स्तुति न होते हुए भी सब से उत्तम ही है । ६१॥

आभास—नन्वीर्ष्या तासामवस्थां स्तुत्वा किमीश्वर एतदर्थं प्रार्थ्यते, तथासति स्वाभिलषितत्वात् न वस्तुनिरूपणे तात्पर्यमिति नोत्वर्षः सिद्धयेदित्याशङ्क्याह आसा-
महो इति ।

आभासार्थ—उद्धवजी ने गोपियों की इस अवस्था की स्तुति ईर्ष्या^१ से की है, क्या इस अवस्था के लिए ईश्वर को प्रार्थना की जाती है ? यदि यों है तो ये अपने मन की इच्छा के अनुकूल स्तुति की



गई है जिससे समझा जाता है कि इस स्तुति का वस्तु के निरूपण में अर्थात् गोपिकाओं के स्तुति के निरूपण में कोई तात्पर्य नहीं है, इससे उत्कर्ष की सिद्धि कैसे होगी ? इस प्रकार की शङ्का मिटाने के लिए 'श्रासामहो' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक — आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां

वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।

या दुस्त्यजं स्वजनमायपथं च हित्वा

भेजुमुं कुन्दपदवो श्रुतिभिविमृग्याम् ॥६२॥

श्लोकार्थ—आश्चर्य है कि वृन्दावन के गुच्छक, लता और औषधियाँ भी इनके चरण रज सेवन कर रही हैं, अतः इनके चरण रज की प्राप्ति को इच्छा से मैं भी चाहता हूँ कि इन गुच्छक, लता और औषधियों में से एक कुछ भी होकर यहाँ उत्पन्न हो जाऊँ; क्योंकि इन्होंने जो आर्य पथ छोड़ना कठिन है; उसको त्याग कर अर्थात् पति आदि का त्याग कर, जिसकी खोज श्रुतियाँ भी अब तक कर रही है, उस मुकुन्द की पदवी को प्राप्त कर लिया है ॥६२॥

सुबोधिनी—अहमासां दासानुदासत्वेऽपि, न योग्यः कथमेतद्भावयिष्यामि, 'अयोग्यमिच्छन् पुरुषः पतत्येव संशय' इति । अत आसां चरणरेणुजुषां गुल्मलतौषधीनां मध्ये किमप्यहं स्याम् । आदौ जङ्गमत्वाधिकारो नास्ति । तथा सति क्रियया ततोपगमनं स्यात् । व्यवहारयोग्ये तु समतया भावः स्यात्तदप्ययोग्यम् । स्थावरत्वे वृक्षादिभावे चिरकालावस्थितो न शीघ्रं भगवत्प्राप्तिः स्यात् । अतो यो यस्य चरणरजो वाञ्छति स तद्भवति तदीयो वा भवतीति वा, अल्पायुश्चरणरजःप्राप्तियोग्यं जन्माभिलषितम् । अतो गुल्मलतौषधीनां तामसराजससात्त्विकानाम्, तत्रापि रजःसंबन्धयोग्यानाम्, न तु तुलसीकुन्दजातीन्नीह्यादिषु । तेषु हस्तसंबन्धः तदीयानां भगवत्संबन्धः शिरःसंबन्धश्च भवेदिति व्याजंनोत्कर्षप्रार्थनं भवेत् । वृन्दावनं हि परमोत्कर्षपादकं भक्तिजनकं च । अहो इत्याश्चर्यं । नह्येतदपि भविष्यतीति, साधनप्रकारेणैव जात उत्कर्षः फलपर्यवसायी भवति नान्यथा । किमपीत्यनादरे ।

नात्र सत्त्वाद्युत्कर्षोभिप्रेतः रजःसंबन्ध एवोत्कर्षजनक इति तस्य तुल्यत्वात् । नन्वेतासां रजसा क्रमेणैतद्भाव एव भवेत् । न तु भगवद्भावः । ततः किमित्येवं प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्याह या दुस्त्यजमिति । भगवद्भावः आसां सुलभः नत्वन्यत्र, तथैवोपपादितत्वात् । दुष्टत्वाच्च तदसंभावितमिति मत्वा पुनस्तासां धर्मानतिवदति । दुस्त्यजाः स्वजनाः पुत्रादयः, तत्रापि दुस्त्यजः आर्यमार्गः 'सम्भावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यत' इति । अयमार्यमार्गो लौकिकः, यादृशास्ते स्वजनाः पुत्रादयः । वस्तुतस्तु । भगवानेव स्वजनः यः अमार्गश्च । अन्यथा फले व्यभिचारश्च । एवं त्यक्त्वा चकारात् भगवदुद्देशं च । अन्यथा बहिःसवेदने स्वास्थ्यं भवेत्, पश्चान्मोक्षदातुः पदवीं भेजुः । यो हि यन्मार्गं गच्छति स तावति धर्मं तत्तुल्यो भवति, तत एता अपि मोक्षदात्र्यो जाताः, तथा वयमपि भविष्याम इति भगवद्भजनापेक्षयाप्येतदुत्तममिति भावः । नन्वेवं सति ब्रह्मभाववदयमपि कथं वेदे नोक्तस्तत्राह श्रुतिभिविमृग्यामिति ।



कृष्णस्य तद्भगवत्चरणारविन्दं

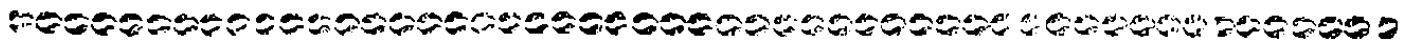
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥६३॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण भगवान् के जिस चरणारविन्द को लक्ष्मीजी तथा (प्राप्त-काम) सनकादिक एव ब्रह्मादि देवों ने पूजा है और योगेश्वरों ने जिसका चिन्तन अपनी आत्मा में किया है, वह चरणारविन्द भगवान् ने रमण करते हुए जिनके स्तनों पर धरा है और उनका आलिङ्गन कर ये गोपियाँ ताप से मुक्त हो गई ॥६३॥

सुबोधिनी—सर्वत्र फलरूपा लक्ष्मी, तथापी-
ष्टसिद्धयर्थमचितं न तु ययेष्टं विनियोक्तुं शक्यम् ।
किञ्च । अजादयो ब्रह्मादयः सनकादयश्चाप्तकामाः
योगेश्वराः सिद्धाययः ये सर्वं कर्तुं समर्थाः सर्वोपि
पुरुषार्थः प्राप्तः वशीकृतसर्वसाधनाश्च, तेऽपि ततो-
प्युत्तमफलसिद्धयर्थं तच्चरणमानर्चुः । बहिरव-
स्थायामर्चनं भविष्यतीत्याशङ्क्य विशेषमाह
यदात्मनीति । यदात्मन्यप्यचितं ध्यानं कृत्वापि
कृत्वापि पूजितमित्यर्थः । तादृशमपि कृष्णस्य
सदानन्दस्य फलरूपस्य तत्रापि तत्प्रसिद्धं स्वत-
न्त्रफलदातृ स्वतः भक्तिमार्गप्रवर्तक, भगवतुः सर्व-

समर्थस्य, एवं स्वतः संबन्धतोप्युत्कृष्टं रासगोष्ठ्यां
कौतुकक्रीडायां स्वयं स्वेच्छया नर्तनं कृत्वा
श्रान्ताः सत्यः कमलादिकमिव व्यजनवायुमिव
चन्दनमिव तन्मन्यमानाः स्तनेषु न्यस्य तापं
जहुः । धाष्ट्याद् अयुक्तमेव तथा कृतवत्य इति
शङ्कानिवृत्त्यर्थं भगवतैव न्यस्तमित्युक्तम् । भग-
वानप्यत्यन्तं वशस्तासां शीघ्रं तापापनोदार्थं
स्वयमपि शीघ्रं तत्स्तनेषु स्थापितवान्, अत आह
न्यस्तमिति । ततस्तत्परिरभ्य स्वाधीनं कृत्वा
तापं जहुरिति । प्रमाणतः प्रमेयतश्च ता उत्कृष्टा
इत्यर्थः ॥६३॥

व्याख्यार्थ—जिस लक्ष्मी को सर्वत्र फल रूप समझा जाता है उसने भी अपनी कामना की सिद्धि के लिए चरणारविन्द की पूजा की है, किन्तु अपनी इच्छानुसार उस चरणारविन्द का उपयोग नहीं कर सकी है । ब्रह्मादि, सनकादि, जो पूर्ण काम हैं उन्होंने तथा सिद्ध योगेश्वर, जो सब कुछ करने में समर्थ हैं, मर्व पुरुषार्थ जिनको प्राप्त है और सर्व साधन जिन्होंने वश में कर लिए हैं, वे भी, उससे भी अधिक फल की प्राप्ति के लिए उनके चरणों को पूजते हैं । चरणों का पूजन तो बाहर की अवस्था में होता है, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'यदात्मति' आत्मा में ध्यान कर भीतर पूजन किया है । फलरूप, सदानन्द स्वरूप श्रीकृष्ण के वैसे चरणारविन्द को, जिसमें भी वह प्रसिद्ध स्वतन्त्र फलदाता तथा स्वतः भक्ति मार्ग के प्रवर्तक हैं, सर्व समर्थ एवं अपने आप सम्बन्ध से भी अतिशय उत्तम चरणारविन्द को कौतुक क्रीडा में स्वयं अपनी इच्छा से नृत्य करते हुए थक जाती तब आप उनके स्तनों पर धरते, उस समय वे गोपियाँ यों समझती थीं कि हमारे ताप की शान्ति के लिए हमारे हृदय पर कमल वा पंखा अथवा चन्दन पड़ा है, इस प्रकार करना अर्थात् स्तनों पर पैर धरना तो ढीठाई अथवा निल्लजता का काम है, इसलिए यह अयोग्य है । जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'भगवता एव न्यस्तं' भगवान् ने ही धरा है, भगवान् ने यों क्यों किया ? जिसका उत्तर देते हैं कि



भगवान् गोपियों के अतिशय वश हो गए हैं, अतः उनका ताप शीघ्र मिटाने के लिए यों किया है । अर्थात् स्वयं ने ही शीघ्र उनके स्तनों पर चरणारविन्द धरे हैं । इसलिए 'न्यस्तं' पद दिया है, जिसका अर्थ है 'धरा' इसके अनन्तर गोपियों ने आलिङ्गन कर अर्थात् अपने आधीन कर अपने ताप को विशेष प्रकार से मिटा दिया । इससे यह बताया कि गोपियां प्रमाण और प्रमेय दोनों से उत्कृष्ट हैं । प्रमाण से उत्कृष्टता यह है कि जो सबके पूज्य और आराध्य है, वे इनके ताप मिटाने का कार्य करते हैं और प्रमेय से उत्कृष्टता यह है कि भगवान् इनके अत्यन्त वश में हैं जिससे ताप मिटाने के लिए स्वयं ने स्तनों पर चरण धरे ॥६॥

आभास—अन्यार्थमेवैषा प्रशंसेत्याशङ्क्य पूर्वमपि नमस्कारार्थमेतदारब्धमिति प्रतिज्ञासत्वात् ता नमस्यति वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणामिति ।

आभासार्थ - उद्धवजी ने यह प्रशंसा अपने लिए नहीं की है, किन्तु अन्यो के हृदय पर इनका प्रभाव पड़े इसलिए की है । इस प्रकार की शङ्का मिटाने के लिए कहते हैं कि पहले भी नमस्कार के लिए यह प्रारम्भ किया, यों प्रतिज्ञा होने से अब 'वन्दे नन्द' इस श्लोक में उनको नमन करते हैं; जिससे बताया है कि प्रशंसा का मेरे पर प्रभाव पड़ा है ।

श्लोक—वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्षणशः ।

यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥६४॥

श्लोकार्थ— नन्दराय के व्रज की स्त्रियों की चरणारविन्द की रज को मैं बार-बार वन्दन करता हूँ । जिनका भगवत्सम्बन्धी गान त्रिलोकी को पवित्र करता है ॥६४॥

सुबोधिनी— तासां नमस्कारेऽपि नास्माकमधिकारः, किन्तु नन्दव्रजस्य स्त्रीमात्रस्य पादरेणुमेवैकमभीक्षणशो वन्दे, अस्मदपेक्षया स रेणुः महानेवोत्कृष्टः फलरूपश्चेत्यादरेण वन्दे । ननु कथमेवमत्याश्चर्यमुच्यत इत्याशङ्क्य लोके तदुप-

पादयति यासां हरिकथोद्गीतमिति । हरिकथापेक्षयापि हरिकथया वा सह ऊर्ध्वं गीतं यासां संबन्धि गीतं भुवनत्रयमेव पुनाति । गानमात्रेणैव पुनातीति गङ्गातोष्युत्कर्षः । गुणानां साधकत्वं बाधकत्वं वा नास्तीति ज्ञापनाय त्रयमिति ॥६४॥

व्याख्यानार्थ— उद्धवजी कहते हैं, कि जो गोपियां प्रमाण एवं प्रमेय से उत्कृष्ट हैं, उनको नमस्कार करने का मैं अधिकारी नहीं हूँ । अतः नन्द के व्रज की स्त्रीमात्र की केवल चरण रज को ही बारबार नमस्कार करता हूँ । मुझ से तो वह रज बहुत उत्तम है और फल रूप है, इसलिए आदर के साथ वन्दन करता हूँ । उद्धवजी जैसे जानी एव भक्त तथा कृष्ण के सखा यों कैसे करते हैं, यों करना तो बहुत आश्चर्य की बात है ? इस शङ्का को मिटाने के लिए यों करने का जो कारण है उसको लोक में प्रकट करने के लिए प्रतिपादन करते हुए कहते हैं कि 'यासां हरिकथोद्गीतम्' केवल हरि कथा से भी उसका जोर से जो गान करती हैं, जिससे तीन लोक पवित्र हो जाते हैं । इससे यह प्रकट किया कि तीन लोक को पवित्र करने से यह गान गङ्गा से भी उत्तम है । गान तीन लोक का पवित्र करते हैं, इसलिए उनका कोई साधक बाधक नहीं है ॥६४॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १०८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १०९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ११० ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १११ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ११२ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ११३ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ११४ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ११५ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ११६ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ११७ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ११८ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ११९ ॥ ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२० ॥

आभास—एवं भगवत्कृतं तासां निरोधं समर्थयित्वा तादृशमपि भगवान् करोती-
त्यवगतभगवन्माहात्म्यः, भिन्नप्रक्रमेण भगवत्स्थाने समागत इत्याह अथ गोपीरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के किए हुए निरोध का समर्थन कर इस प्रकार भी भगवान् करते हैं, जिससे भगवान् का माहात्म्य जान, दूसरे क्रम से भगवान् के स्थान पर आए जिसका वर्णन 'अथ गोपी' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।

गोपानामन्व दाशार्हो यास्यन्नारुहे रथम् ॥६५॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि गोपी, नन्द और यशोदाजी इनसे प्रार्थना पूर्वक आज्ञा लेकर और गोपों से भी जाने की राय लेकर उद्धवजी जाने के लिए रथ पर चढ़े ॥६५॥

सुबोधिनी—अनुज्ञां प्रार्थयित्वा तथा यशोदां नन्दमेव च । त्रय एवात्र प्रकरणे मुख्याः । ततो मित्रभूतान् गोपानामन्व गच्छामीत्युक्त्वा यतोयं	दाशार्हो यादवश्रेष्ठो दाशार्हभेदः, वस्तुतो भक्ति-प्रधानो भक्तहितकारी, ततो यास्यान्नतु विश्रामार्थं रथमारुहे ॥६५॥
---	---

व्याख्यानार्थ—उद्धवजी गोपी, और यशोदाजी से जाने की प्रार्थना कर आज्ञा ली इन तीनों से ही प्रार्थना इसलिए की है कि इस प्रकरण में ये तीन ही मुख्य हैं । पश्चात् मित्र बने हुए गोपों से सलाह की अर्थात् उनको जाने की सूचना दी, यों क्यों किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि उद्धवजी यादवों में श्रेष्ठ है । वास्तव में उनकी श्रेष्ठता इसलिए है कि उनमें भक्ति प्रधान है और वह भक्त हित करने वाले भी हैं । रथ में विश्राम के लिए नहीं बैठे किन्तु पुरी जाने के लिए बैठे ॥६५॥

आभास—स पूर्वमप्येवं बहुधा चकार । ततो नोद्यमनमात्रेण गमनोपयिकं कोपि करोति । यदा पुनः स निर्गत एव तदा तदर्थं भगवदर्थं च उपायनान्यानोय प्रस्थापनार्थं समागता इत्याह तं निर्गतमिति ।

आभासार्थ—उद्धवजी ने पहले भी कई बार जाने की तैयारी की थी, इसलिए किसी को विश्वास नहीं हुआ कि वे जाते हैं, किन्तु जब वे जाने के लिए निकलकर रथ में बैठे, तब ब्रजवासी भी श्रीकृष्णचन्द्र तथा उद्धवजी के वास्ते भेटे लेकर उनको विदा करने के लिए आए, जिसका वर्णन 'तं निर्गतं' श्लोक में शुकदेवजी करते हैं ।

(*****)

तमास्माकमस्तु । द्वयं प्रार्थितं सङ्ज्ञातरयं भगवति
विनियोगः आत्मनश्च भगवति स्नेह इति । मनसो
ह्येकादशवृत्तयः ताः सर्वाः कृष्णपदाम्बुजमेवा-
श्रित्य तिष्ठन्तु क्रियया ज्ञानेनाभिमत्या च । अम्बुजे
हि रूपरसगन्धस्पर्शाः स्पष्टाः । शब्दोन्यत्रापि स्व-
तन्त्रतया विनियोक्ष्यत इति न न्यूनता कापि ।
आश्रयपदेन प्रसङ्गात्करणं निवारितम् । वाचोपि
नाम्नामेवाभिधायिन्यो, नाम तु तत्रैव पर्यवसित-
सर्वशक्तियुक्तं भवति । नत्वेवविधानि गुणक-
र्माणि, पदार्थान्तरवाचकत्वात्, छान्दसप्रयोगा-
ल्लौकिकपरा वाचो मा भवन्त्विति ज्ञापितम् ।
कायः शरीरं च तस्य भगवतः प्रह्वणादिनमस्का-

रादिपूजासाधनादिषु भवतु । प्रकरणेन
प्रार्थना ॥६७॥

कर्मभिरवश्यं भ्रमणम् ईश्वरस्यापि तथैवे-
च्छेत् न कर्मस्वातन्त्र्यम्, अत एव स उत्कर्षोप्र-
योजक इति यत्र क्वापीत्युक्तम् । ननु कायवाङ्म-
नसः भगवति विनियोगे मङ्गलाचरितानि कुत्र-
त्यानीति चेत् । सत्यम् । यावदेतद्भवति ताव-
त्कर्माणि न त्यक्तव्यानीति तेषामन्यथाफल मा
भवत्विति तथा प्रार्थयन्ति । किञ्च । ईश्वरभाव
एव कृष्णे सर्वदा भवत्वित्यपि प्रार्थनात्रयम् । ६८।

व्याख्यानार्थ--हमारे काया वाणी और मन कृष्ण संबन्धी कार्यों में लगे रहें। जगत् में यही उत्कर्ष प्राप्त हो उसके लिए ही प्रार्थना करनी योग्य है। लोक में प्रसिद्ध, जो अन्य उत्कर्ष हैं, उनके मिलने के लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए। यह जताने के लिए कहते हैं कि कर्मों के कारण जिस किसी योनि में हमारा जन्म हो तो वहां भी शुभ आचरण, जो सर्व के लिए करना साधारण-धर्म है। दान जो विशेष धर्म है, जिसकी उत्पत्ति वैश्यों में ही होती है अर्थात् वैश्यों की दान करने में उत्कृष्टता है। इन धर्मों से जो उत्कृष्टता होती है, उससे अधिक उत्कृष्टता कृष्ण में असाधारण रति में है, अतः हमको सर्वत्र वह रति प्राप्त होए, यों प्रार्थना कर दो बातों की गुरु से याचना की है। एक हमारे सङ्घात का भगवान् में विनियोग हो और दूसरा आत्मा का भगवान् में स्नेह हो। जिसको आचार्य श्री विशेष स्पष्ट करते हैं कि, मन की वृत्तियां एकादश हैं वे सर्व, श्रीकृष्ण के चरण कमल के आश्रय में, ज्ञान से, क्रिया से और अहंकार पूर्वक स्थित रहें। चरण कमल में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये चार तो स्पष्ट हैं, शेष अन्य वृत्तियां गुणगान से, भगवान् के साथ सलाप आदि से स्वतन्त्र रूप से प्रभु में आ जाएंगी, इस प्रकार होने से न्यूनता कुछ भी न रहेगी। आश्रय पद देकर यह बताया कि कभी, किसी तरह भी वृत्तियों को चरणाम्बुज आदि का आश्रय करना चाहिए। इसलिए प्रसङ्ग से करने का निषेध कर दिया, वाणी भी नाम ही बोलती रहे। नाम तो वहां ही पहुँच कर सर्व शक्तियों से युक्त हो जाता है। गुण और कर्म अन्य पदार्थों को कहते हैं, किन्तु नाम की मुख्य शक्ति तो भगवान् में ही पहुँचती है। यहां श्लोक में 'अभिधायिनीः' यह छान्दस् प्रयोग दिया है, जिसके देने का आशय यह है कि वाणी लौकिक परायण न होवे, शरीर, उस भगवान् के नमस्कार, पूजा आदि साधनों में लगा रहे, इस प्रकार प्रकरण के अनुसार प्रार्थना की है ॥६७॥

कर्मों से भ्रमण तो होता है, किन्तु वह भ्रमण भी तब होता है जब ईश्वर की वैसी इच्छा होती है। अन्यथा जो केवल कर्म ही भ्रमण कराने वाले माने जाएँ तो वे कर्म स्वतन्त्र मानने पड़ेंगे।

ग्राभास—ततः संतुष्टस्तथेति मनसैवाभ्यनुज्ञाय मथुरामागत इत्याह एवं संप्राथित इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार की प्रार्थना होने से उद्धवजी को संतोष हुआ, जिससे उद्धवजी ने म. से ही उसको स्वीकार करते हुए कहा कि यों ही हो, अर्थात् आपके मन की वृत्तियाँ कृष्ण के चरण कमल की आश्रित हो। वाणी नाम रटती रहे काया से नमस्कार पूजा आदि करते रहो, अनन्तर आप मथुरा आकर पहुँचे, जिसका वर्णन 'एवं सम्प्रार्थितो श्लोक में करते हैं।

श्लोक—एवं सम्प्रार्थितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप ।

उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम् ॥६६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! कृष्ण भक्तिपूर्वक गोपों से प्रार्थित उद्धवजी, कृष्ण से पालित मथुरा में वापिस आगए ॥६६॥

सुबोधिनी—तेषां प्रार्थनया स्वोत्कर्षो वा तेषामन्यभजनं वा ज्ञातमिति शङ्कां वारयितुं कृष्णभक्त्येत्युक्तम् । नराधिपेति संबोधनं सेवकानुवृत्तिः स्वाम्यर्थेति ज्ञापनार्था, तस्य प्रीतिरेव मुख्येति परमप्रीत इत्युक्तं; वचनं तु निर्बन्धादपि वदेदित्यप्रयोजकम्, मथुरां पुनरागच्छतु, भगवां-

स्तावत्पर्यन्तं मथुरायामेव स्थितः । कृष्णपालि-
तामिति । विशेषतो भयशङ्कया स्वयमेव पालय-
तीति भगवदनागमने विशेषहेतुरुक्तः । अनेन
तादृशं स्थानं परित्यज्य किमित्युद्धवः समागत
इति शङ्का निवर्तिता ॥६९॥

व्याख्यानार्थ - श्लोक में 'कृष्ण भक्त्या' पद का आशय प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि किसी को ऐसी शङ्का हो जावे कि उद्धवजी ने नन्द आदि के प्रार्थना से अपना उत्कर्ष समझा अथवा उनको अन्य भजन है, यों समझा, यों नहीं है किन्तु 'कृष्ण भक्त्या' तथा 'मतिर्तः कृष्ण ईश्वरे' इन पदों से उद्धवजी सन्तुष्ट हुए। जब नन्द आदि में भक्ति की पूर्णता है तो प्रार्थना क्यों की ? प्रार्थना करने का यह भाव है कि, जो पूर्ण भक्त होते हैं, उनका सहज स्वभाव होता है कि वे अपने उत्कर्ष को नहीं जानते हैं। जिससे वे सदैव दीनता से गुरु वा प्रभु को प्रार्थना ही करते रहते हैं। जब नन्द आदि वैसे पूर्ण हैं, तो उनसे सत्सङ्ग के लिए वहां कुछ और समय क्यों न ठहर गए ? जिसका उत्तर, नराधिप ! सम्बोधन से दिया है। सेवक का कर्तव्य स्वामिके इच्छानुकूल



ही होता है अर्थात् स्वामि की जैसी आज्ञा होती है तदनुसार ही उतना कार्य कर सकता है। विशेष अन्य करे, तो अपराधी होता है। आप राजा हैं, इसलिए आपको इस विषय का ज्ञान है ही। यदि कहो कि प्रार्थना के फल स्वरूप आशीर्वाद वा स्वीकृति प्रत्यक्ष क्यों नहीं दी? आशीर्वाद से प्रीति (प्रसन्नता) ही मुख्य है, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी ने पहले ही 'परम प्रीतः' पद से कर दिया है। श्लोक में 'कृष्ण पालिताम्' कहा है, इस पर शङ्का होती है कि, उद्धवजी के सिवाय अन्य भी सेवक विद्यमान थे, तो स्वयं ने पालन का कार्य क्यों किया? इसके उत्तर में आचार्य श्री कहते हैं कि वह विशेष सङ्कट का समय था, जबकि जरासन्ध आदि के आक्रमण का भय था। अन्य अक्रूर आदि पर भगवान् का उद्धवजी के समान पूर्ण विश्वास नहीं था, इसलिए उद्धवजी को 'त्वं हि नः परमं चक्षुः' वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री' कहा है। इसी विशेष अवस्था के कारण आप व्रज में नहीं पधारें, अतः उद्धव भी व्रज में विशेष न ठहर कर मथुरा वापिस आ गए ॥६६॥

आभास—एतत्सर्वं दासभावेनैव कृतमिति ज्ञापयितुं निवेदनमाह कृष्णायेति ।

आभासार्थ—नन्द आदि को भगवदाज्ञानुसार सान्त्वना देना आदि कार्य उद्धवजी ने दास भाव से ही किया है, यह जताने के लिए 'कृष्णाय' श्लोक से निवेदन का वर्णन करते हैं।

श्लोक—कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम् ।

वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥७०॥

श्लोकार्थ—कृष्ण को प्रमाण कर, व्रजवासियों में जो भक्ति की अधिकता देखी, उसका भगवान् के सामने वर्णन किया और प्राप्त को हुई भेंट भी दी। अन्य जो भेंटें मिलीं थीं, वे भी वसुदेव, राम और राजा को पृथक्-पृथक् दे दो ॥७०॥

सुबोधिनी—उपायनान्यदादिति सम्बन्धः । भगवन्तं प्रणिपत्य भक्त्युद्रेकमाह । एतावानर्थः पूर्व भगवता नोक्त इति प्रायेण भगवान् न विचारितवान् इति । यादृशः प्रेमात्मको भक्ति-पदार्थः शास्त्रे निरूपितस्तस्मादाधिव्यमेतद्भाव-स्योक्तवानिति वा । तेनानिर्वाच्यत्वमितोन्यत्रा-

दृष्टत्वं च ज्ञापितं भवति । ततो वसुदेवायाप्युपा-यनान्यदान्मित्रसम्बन्धः तिष्ठतीति ज्ञापयितुम् । रामाय चाददात्पूर्वावस्था तथैव तिष्ठतीति । मर्या-दामप्यङ्गीकुर्वन्तीति ज्ञापनार्थं राज्ञे, चकारादकू-रादिभ्योपि दोषाभावज्ञापनार्थम् ॥७०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिण्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभशिक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धपूर्वार्धे चतुश्चत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४६॥

व्याख्यानार्थ—मिली हुई भेंटें सब को दीं, यह सम्बन्ध है। भगवान् को नमस्कार कर व्रज-वासियों के भक्ति का उद्रेक कहा। जैसा कि उद्धवजी ने आकर उनमें भक्ति का उद्रेक बताया, वैसा पहले भगवान् ने नहीं कहा था जिससे जाना जाता है कि बहुत करके आप इसको ध्यान में नहीं लाए हैं, अतः भगवान् ने 'ता' 'मन्मनस्काः' इतना ही कहा, क्योंकि इस प्रकार का उद्रेक आपने देखा नहीं

श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (पूर्वार्ध) ४४वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का पांचवाँ अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

* इस अध्याय में भगवल्लीला सम्बन्धी कुछ पद *

રાગ ઘનાશ્રી —

देखी नन्द द्वार रथ ठाढ़ी ।
बहुरि सखी सुफलक सुत आयी, परचो संदेह जिह गाढ़ी ॥
प्रान हमारे तबहिँलै गयी, अब किहि कारन आयी ।
मैं जानी यह बात सुनत प्रभु, कृपा करन उठि धायी ॥
इतने अन्तर आइ उपँग सुत, तेहिँछन दरसन दीन्हौ ।
तब पहिँचानि सखा हरिजू कौ, परम सुचित मन कीन्हों ॥
तिहिँ परनाम कियौ अति रुचि सौँ, अरु सबहिनि कर जोरे ॥
सुनियत हुते तैसेई देखे, परम सुहृद जिय भोरे ॥
तुम्हरो दरसन पाइ आपनी, जनम सुफल करि मान्यौ ।
सूरसु ऊघौ मिलत भयो सुख, ज्यौँ भख पायी पान्यौ ॥

राग नट—

ऊधौ कहौ हरि कुसलात ।
 कहाँ आवन, किधौ नाहौ, बोलिऐ मुख बात ॥
 एकछिन जुग जात हमकौ, बिनु सुने हरि प्रीति ।
 आपु आए कृपा कीन्हौ, अब कहौ कछु नीति ॥
 तब उपँग सुत सबनि बोले, सुनौ श्री मुख जोग ।
 सूर सुनि सब दौरि आई, हृकि दीन्हौ लोग ॥

राग सारंग—

गोपी सुनहु हरि कुसलात ।
 कंस नृप कौ मारि छोरे आपने पितु मात ॥
 बहुत विधि मनुहार करि, दियो उग्रसेन हि राज ।
 नगर लोग सुखी बसत हैं, भये सुरनि के काज ॥
 मोहि यह पाती दई लिखि, कह्यो कछु संदेस ।
 सूर निगुन ब्रह्म उर धरि, तजहु सकल अंदेश ॥

राग सारंग—

निरखति अंक श्याम सुन्दर के बार-बार लावति लै छाती ।
 लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई स्याम, श्याम की पाती ॥
 गोकुल बसत नंदनंदन के, कबहुँ बयारि न लागी ताती ।
 अरु हम उती कहा कहै ऊधो, जब सुनि बेनु नाद सँग जाती ॥
 उनकै लाड बढति नहि काहुँ, निसि-दिन रसिक रास रस राती ।
 प्राननाथ तुम कबहि मिलोगे, सूरदास प्रभु बाल सँघातो ॥

राग मल्हार—

कोउ ब्रज वाँचत नाहिन पाती ।
 कत लिखि लिखि पठवत नंद नंदन कठिन बिरह की काँती ॥
 नैन सजल कागद अति कोमल, कर अँगुरी अति ताती ।
 परसैं जरैं, बिलोकैं भीजे, दुहैं भाँति दुख छाती ।
 को बाँचै ये अंक सूर प्रभु, कठिन मदन सर घाती ।
 सब सुख लै गये श्याम मनोहर, हमकोँ दुख दै थाती ॥

राग धानधी—

सुनौ गोपी हरि कौ सदेश ।
 करि समाधि अंतर गति ध्यावहु, यह उनको उपदेश ॥
 वै अविगत अविनासी पूरन, सब घट रहे समाइ ।
 तत्व ज्ञान बिनु मुक्ति नहीं हैं, वेद पुराननि गाइ ॥
 सगुन रूप तजि निरगुन ध्यावहु, इक चित इक मन लाइ ।
 वह उपाइ करि बिरह तरी तुम, मिलै ब्रह्म तब आइ ॥
 दुसह संदेश सुनत माधो कौ, गोपीजन बिलखानी ।
 सूर बिरह की कौन चलावै, बूझति मीनु बिनु पानी ॥

राम नट --

ऊधो बेगि मधुवन जाहु ।
 जोग लेहु संभारि अपनी, बेचियै जहँ लाहु ॥
 हम बिरहिनी नारि, हरि बिनु कौन करै निबाहु ।
 तहीं दीजै मूल पूरै, नफौ तुम कछु खाहु ॥
 जो नहीं ब्रज में बिकानी, नगर नारि बिसाहु ।
 पूर वें सब सुनत लै हैं; जिय कहा पछिताहु ॥

ऊर्ध्वो हम् आञ्जु भईं वड़ भागी ।
जिन अँखियनि तुम श्याम विलोके, ते अँखियाँ हम् लागीं ॥
जैसेँ सुमन बास ले आवत, पवन मधुप अनुरागी ।
अति आनन्द होत है तैसेँ, अङ्ग अङ्ग सुख रागी ॥
ज्योँ दरपन में दरस देखियत, दृष्टि परम रुचि लागी ।
तैसेँ सूर मिले हरि हमकोँ, विरह बिथा तन त्यागी ॥

मधुकर भली सुमति यह खोई ।
 हांसी होत लगी है ब्रज मँ, जोगहिँ राखहु गोई ॥
 आतम ब्रह्म लखावत डोलत, घट घट व्यापक जोई ।
 चाँपे काँख फिरत निरगुन गुन, इहाँ न गाहक कोई ॥
 प्रेम कथा सोई पै जानै, जा पै वीती होई ।
 तू नीरस एती कह जानै, वृष्णि देखियै लोई ॥
 बड़ी दूत तू बड़ी ठौर कौ, बड़ी बुद्धि सु बुड़ोई ।
 सूरदास पूरो दै षटपद, कहत फिरत है सोई ॥

ऊँची हरि गुन हम चकडोर ।
 गुन सौं ज्यों भावें त्यों फेरौ यहै बात कौ ओर ॥
 पेंड पेंड चलि यै तो चलि यै, ऊबट रपटै पाई ।
 चकडोरी की रीति यहै फिरि, गुन हो सौं लपटाई ॥
 सूर सहज गुन ग्रन्थि हमारै, दई स्वाम उर माहि ।
 हरि के हाथ परै तो छुटै, ओर जतन कछु नाहि ॥

मधुकर जुवती जोग न जानै ।
 एक पतिव्रत हरि रस जिनकै, और हृद नहिँ आनै ॥
 जिनकै रङ्ग रस रस्यौ रैन दिन, तन मन सुख उपजायो ।
 जिन सरबस हरि लियो रूप धरि, व है रूप मन भायो ॥
 तू अति चपल आपनै रस कौ, या रस मरम न जानै ।
 पूछ्यो सूर चकोर चढे, चातक घन केवल मानै ॥

ऊधो तिहारे पा लागति होँ, बहुरिहूँ इहिँ ब्रज करवी भाँवरी ।
 निसि न नोँद भोजन नहिँ भावै, चितवत मग भइ दृष्टि भाँवरी ॥
 वहै वृन्दावन वहै कुञ्ज घन, वहै जमुना वहै सुभग साँवरी ।
 एक स्याम बिनु कछु न भावै, रटति फिरतिँ ज्यौँ बकति बादरी ॥
 चलि न सकति मग दुलत घरत पग, आवति बैठत उठत ताँवरी ।
 सूरदास प्रभु आनि मिलावहु, जग मैँ कीरति होइ रावरी ॥

ता दिन तं मधुकर मन अटक्यौ, बहुत करो निकरं न नकार्यौ ॥
मातु, पिता, पति, बन्धु, सुजन, नहिं, तिनहूँ कौ कहिबौ सिर धार्यौ ।
रही न लोक लाज मुख निरखत, दुसह क्रोध फीको करि डार्यौ ॥
ह्वैवौ होइ सु होइ कर्मबस, अब जी कौ सब सोच निवार्यौ ।
दासी भई जु सूरदास, प्रभु, भलौ पोच अपनौ न बिचार्यौ ॥

इकटक मग जोवतिं अरु रोवतिं, भूलेहुँ पलक न लागी ॥
बिनु पावस पावस करि राखी, देखत हौ बिदमान ।
अब धौँ कहा कियो चाहत हौ, छाँड़िं निरगुन ज्ञान ॥
तुम हौ सखा स्याम सुन्दर के, जानत सकल सुभाइ ।
जसैँ मिलैँ सूर के स्वामी, सोई करहु उपाइ ॥

आयो हो निरगुन उपदेसन, भयो सगुन कौ चेरौ ॥
जो मैँ ज्ञान कह्यो गीता कौ, तुमहिं न परस्यौ नेरौ ।
अति अज्ञान कछु न कहत न आवै, दूत भयो हरि केरौ ॥
निज जन जानि मानि जतननि, तुम कीन्हौ नेह घनेरौ ।
सूर मधुप उठि चले मधुपुरी, बोरि जोग को बेरौ ॥

ऊधो पा लागति हौँ कहियौ, स्यामहिँ इतनी बात ।
इतनी दूर बसत ज्यौँ बिसरे, अपने जननी तात ॥
जा दिन तै मधुपुरी सिधारे, स्याम मनोहर गात ।
ता दिन तै मेरे नैन पपीहा, दरस प्यास अकुलात ॥
जहँ खेलन के ठौर तुम्हारे, नन्द देखि मुरझात ।
जौ कबहूँ उठि जात खरिक लौँ, गाइ दुहावन प्रात ॥
दुहत देखि औरनि के लरिका, प्रान निकसि नहिँ जात ।
मुरदास बहुरौ कब देखौँ, कोमल कर दधि खात ॥

जहाँ रही तँह नन्द लाड़िलौ, जीवौ कोटि बरीस ॥
 मुरली दई दोहनी घृत भरि, ऊधौ धरि लइ सीस ।
 यह तो घृत उनही सुरभिनि कौ, जे प्यारी जगदीस ॥
 ऊधौ चलत सखा मिलि आए, ग्वाल वाल दस बीस ।
 अबकैं यह ब्रज फेरि बसावह, सूरदास के ईस ॥

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४८वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ४५वाँ अध्याय

राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

“४४म् अध्याय”

श्रीकृष्ण-बलराम का यज्ञोपवीत और गुरुकुल में प्रवेश



कारिका—एवं पूर्वनिरोधस्य सान्त्वनोत्कर्षवर्णनम् ।

कृत्वा भविष्ययोश्चैव सान्त्वनं विनिरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस प्रकार उद्धव द्वारा सान्त्वना कराने से प्रथम किए हुए तामस निरोध का उत्कर्ष सिद्ध किया, इस प्रकार सान्त्वन दूसरे निरोध में नहीं करते हैं, जिसका वर्णन कर अब होने वाले राजस तथा सात्त्विक भक्तों के सान्त्वन का वर्णन करते हैं ॥१॥



कारिका—मथुरावासिनः सर्वे राजसाः परिकीर्तिताः ।

सात्त्विकाः पाण्डवा भक्तास्तयोः सान्त्वनमुच्यते ॥२॥

कारिकार्थ—मथुरा में रहने वाले भक्त राजस हैं और पाण्डव सात्त्विक भक्त हैं, इन दोनों का सान्त्वन कहते हैं, उत्कर्ष नहीं कहते हैं ॥२॥

कारिका—राजसत्वप्रसिद्धयर्थं स्त्रीपुंसोरत्र वर्णनम् ।

प्रक्रियान्तररूपा हि किञ्चिद्द्वारा तथा कृताः ॥३॥

कारिकार्थ—स्त्री और पुरुष दोनों के राजसत्व की प्रसिद्धि के लिए यहाँ छठे व सातवें अध्याय में वर्णन किया है । पाण्डव सात्त्विक भाव वाले हैं, उनको अक्रूरजी द्वारा सान्त्वना दिलाई है । सात्त्विक पाण्डवों की सान्त्वना का राजस प्रकरण में वर्णन इसलिए है कि सान्त्वना देने वाला अक्रूर, राजस है ॥३॥

कारिका—अक्रूर उद्धवान्मुख्यः ततोऽग्रे प्रेषणं मतम् ।

दासभावे तूद्धवस्तु शास्त्रतस्त्वयमेव हि ॥४॥

कारिकार्थ—अक्रूर उद्धवजी से मुख्य है, इस कारण से उसको अपने पधारने से पहले भेजा है । यों करने से उद्धवजी की हीनता प्रकट होगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि उद्धवजी दास भाव में मुख्य हैं और अक्रूर शास्त्र द्वारा लौकिक में मुख्य है, अतः अपने-अपने गुण में मुख्य होने से, दोनों स्वरूप से समान है ॥४॥

कारिका—स्त्रीसान्त्वनं तु पुरतः राजसत्वात्स्वरूपतः ।

वाचान्यस्य निरूप्यं हि स्तुत्या च प्रेषणेन च ॥५॥

कारिकार्थ—प्रथम स्त्री सान्त्वन प्रद्युम्न स्वरूप से किया है, क्योंकि यह राजस लोला है । अक्रूर की सान्त्वना, वाणी, स्तुति और हस्तिनापुर भेजकर की है ॥५॥

कारिका—पञ्चचत्वारिंशोऽध्याये कुञ्जाक्रूरौ तिसान्त्वनम् ।

कायेन वचसा चक्रे भाव्यर्थमिति वर्ण्यते ॥६॥

कारिकार्थ—४५वें अध्याय में कुञ्जा और अक्रूर दोनों की सान्त्वना की ।

कुब्जा को वरदान दिया था, अतः काया से उसकी सान्त्वना की। अक्रूर की दाणी से सान्त्वना की, दोनों को अति क्लेश था, इसलिए इनकी सान्त्वना पहले की है ॥६॥

आभास—प्रथममेकादशभिः कुब्जायाः कथामाह साधिकं अथ विज्ञायेति ।

आभासार्थ—इस प्रकरण में प्रथम ११ श्लोकों से कुब्जा की कथा कहते हैं। उस कथा में एकादश मनोवृत्तियों को तृप्त करने से भी कुछ अधिक करना है, जिसका वर्णन 'अथ विज्ञाय' श्लोक से प्रारम्भ करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—अथ विज्ञाय भगवान् सर्वात्मा सर्वदर्शनः ।

सैरन्ध्र्याः कामतप्तायाः प्रियमिच्छन्गृहं ययौ ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि सबकी आत्मा, सर्वदर्शी भगवान्, कामदेव से संतप्त कुब्जा को जानकर, उसका प्रिय करने की इच्छा से उसके घर पधारे ॥१॥

सुबोधिनी—तस्या हि सर्वा मनोवृत्तयः पूरणीयाः ततोऽप्यधिकं च कर्तव्यमिति, आदौ भगवान् तस्या गृहे स्वयमेव गत इत्याह अथेति । अथ भिन्नप्रक्रमे भक्त्यभावात्, परं तस्या दुःखं तुल्यमिति तन्निवृत्त्यर्थं गत इत्यभिप्रायेणाह विज्ञायेति । प्रकरणात् कामसन्तापम् । ज्ञाने सामर्थ्यं भगवानिति । तथाकरणे दोषाभावे चावश्यको हेतुः सर्वात्मेति । दृष्ट्वावश्यं प्रतीकारः कर्तव्य इति सर्वदर्शन इति फलमुखो हेतुरुक्तः । पूर्वमयोग्यता

देहे स्थितेति न तस्या कामपीडा । इदानीं तु देहे योग्येऽपि स्त्रीचर्या सर्वा जानातीति तस्याः कामपीडा महती जातेत्याह सैरन्ध्र्या इति । सैरन्ध्री ह्यन्तःपुरेऽधिकारिणी स्त्री स्त्रीचरित्रं जानातीति कामतापो युक्त एव । तस्या आगमनसामर्थ्याभावात् स्वयमेव गृहं ययौ । स्वगमनमात्रेणैव तस्यास्तापो निवर्तित एव तथापि प्रियमिच्छन् ययौ । मनसा तस्याः प्रियं भवत्विति विचारितवान् ।

॥१॥

व्याख्यानार्थ—उसके मन की सब वृत्तियाँ तो पूर्ण करनी हैं, किन्तु उससे भी अधिक करना है, यों विचार कर भगवान् पहले उसके घर आप ही पधारे । कुब्जा में भक्ति नहीं थी अतः यह दूसरा विषय है, इसीलिए 'अथ' शब्द दिया है, किन्तु उसका दुःख व्रजवनिताओं जैसा है, अतः उसको मिटाने के लिए गए । इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिए 'इति विज्ञाय' पद दिया है । जिसके कहने का प्रकरणानुसार भाव है कि कुब्जा काम संतप्त थी । आप भगवान् हैं, इसलिए इसको जानने की आप में सामर्थ्य है । पर पुरुष होकर काम तृप्ति करना तो दोष है, इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि कोई दोष नहीं है; क्योंकि आप सर्व की आत्मा हैं, अतः दुःख जानकर उसका उपाय अवश्य करना चाहिए । आप समदर्शी हैं, यह फल मुख्य कारण है । इसको काम पीड़ा पहले नहीं थी; क्योंकि देह से कुवड़ी थी, अब देह सुन्दर हो गई और अन्तःपुर में अधिकार वाले ओहदे पर थी । जिससे स्त्री चरित्र पूर्णतः जानती थी, इसलिए काम की पीड़ा विशेष होने लगी और वह इस योग्य ही है ।

वह भगवान् के पास घावे, दंती सामर्थ्य उसमें नहीं थी, अतः आप ही उसके घर पधारे, भगवान् के केवल वहाँ जाने की इच्छा से ही उसका काम निवृत्त ही हुआ, तो भी उसको प्रसन्न करने की इच्छा से वहाँ गए, उसका प्रिय हो, यों भगवान् ने मन से विचार किया ॥१॥

आभास—ननु किमित्येवं विचारेण कर्तव्यमिव हि प्रियं तद्गमनेनैव भविष्यती-
त्याशङ्क्य तन्निराकरणार्थं भगवदिच्छया जातोत्कर्षं गृहं वर्णयति महार्हेति सार्धेन ।

आभासार्थ—इस प्रकार विचार करने से क्या होगा ? उसका प्रिय करना है, तो वह उसके घर जाने से होगा, इस शङ्का के मिटाने के लिए विचार मात्र करने से भगवदिच्छा होते ही उसके गृह का उत्कर्ष हो गया अर्थात् गृह सर्वोत्तम बन गया, जिसका वर्णन 'महार्होपस्कर' इस डेढ़ श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—महार्होपस्कुरैराढ्यं कामोपायोपबृंहितम् ।

मुक्तादामपताकाभिर्वितानशयनासनैः ।

धूपः सुरभिभिर्दोषं स्रग्गन्धैरपि मण्डितम् ॥२॥

श्लोकायं—सब प्रकार की घर के योग्य बहुमूल्य वाली सामग्री से घर सुसज्जित हो गया । जिसमें काम को बढ़ाने वाली वस्तुएँ धरी हैं । मोतियों की माला, पताका, चँदोवा, सोने के लिए शय्याएँ आदि सब सजी हुई हैं । सुगन्धि धूप, दीप, फूलों की मालाएँ और चन्दन आदि सिद्ध हुए धरे थे अर्थात् तैयार रखे हुए थे ॥२॥

सुबोधिनी—यथा प्राकृतमपि गृहं भगवदिच्छयैव जातं, एवं सापि गोपिकातुल्या भविष्यतीति प्राकृतायास्तथात्व कर्तव्यमिति प्रियेच्छा मुक्तं व । महार्हाण्यमूल्यानि गृहादीनि पात्रादीन्युपस्करा यस्य तैर्वाऽऽह्वयं सपन्नं । कामोपायाः कामशास्त्रोक्तानि साधनान्युद्दीपकानि चित्राणि पुष्पादिसंपत्तिः इन्दुर्मन्दिरमित्यादीनि तैरुपबृंहितं लौकिकस्तच्छास्त्रीयश्रोतृत्कर्ष उक्तः । अलो-

क्रिकोत्कर्षमाह मुक्तादामभिः पताकाभिश्च बहि-
र्मण्डितम्, वितानैश्चन्द्रातपत्रैः शयनासनैः शयना-
थंमुपवेशनार्थं च सुखस्पर्शस्तिरणैः प्रत्यहं वैशेषि-
कैरपि मण्डितमित्याह घूपैरिति । अग्रहसम्भवा
ग्रामोदाः दीपा अग्निमयाः मणिमयाः स्रग्भिर्ग-
न्धैश्च शैत्यार्थं सर्वत्र लेपनं मण्डनम् । एवं त्रिवि-
धोऽप्युत्कर्षः भगवदिच्छया तस्मिन् गृहे जात
उक्तः ॥२॥

व्याख्यान—जैसे कुब्जा का लौकिक साधारण घर भी भगवदिच्छा से वैसा हो गया, इस प्रकार कुब्जा भी गोपियों के समान होनी चाहिए, वैसी भगवान् की इच्छा योग्य ही है। गृह के सब भाग, पात्र आदि सर्व सामग्री अमूल्य थी, जिससे सारा गृह भरपूर हो गया था। इस प्रकार गृह का लौकिक उत्कर्ष वर्णन कर अब शास्त्रीय उत्कर्ष कहते हैं। काम शास्त्र में जो काम को बढ़ाने वाली सामग्री कही है, वह सब तैयार थी, जैसे कि चित्र, पुष्प मालाएँ तथा उद्दीपक रसायन आदि। अब अलौकिक उत्कर्ष का वर्णन करते हैं, मोतियों के गुच्छों से, पताकाओं से गृह के बाहर का भाग

सुशोभित था। भीतर का भाग चंदोवा एवं सोने तथा बौठने के लिए पलङ्ग आदि जिसको स्पर्श करने से सुख उत्पन्न हो वैसे कोमल बिछौने आदि थे। फिर नित्य विशेष प्रकार से उनको सुसज्जित किया जाता था। इसके सिवाय सुगन्ध के लिए धूप, प्रकाशार्थ मणिमय दीप, शीतलता आदि के लिए चन्दन, पुष्प मालाएँ, इसी भाँति सुशोभित गृह का तीन तरह से उत्कर्ष भगवदिच्छा से हुआ ॥२॥

आभास—ततो गते भगवति यद्वक्तव्यं तदाह गृहं तमायान्तमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् के पधारने पर कुब्जा ने प्रेम पूर्वक सत्कार किया, जिसका वर्णन 'गृह तमायान्त' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—गृहं तमायान्तमवेक्ष्य सासनात्

सद्यः समुत्थाय हि जातसंभ्रमा ।

यथोपसङ्गम्य सखीभिरच्युतं

सभाजयामास सदासनादिभिः ॥३॥

श्लोकार्थ—घर में पधारते हुए भगवान् को देखकर वह कुब्जा शीघ्र ही आसन से उठकर आते ही घबरा गई, फिर सावधान हो सखियों के साथ आकर भगवान् से मिली, अनन्तर आसन आदि देकर उनका सर्वथा सत्कार किया ॥३॥

सुबोधिनो—भगवदिच्छाविषयत्वादगृहस्यापि कर्मता, यतस्तं तादृशं भगवन्तमायान्तमवेक्ष्य तथेवासनादुत्थाय प्रथमं जातसंभ्रमा जाता इति कर्तव्यतामूढा जाता। युक्तश्चायमर्थः। ततः यथावदुपसङ्गम्य सखीभिः सहिता सभाजया-

मास। ननु कान्तोय पूजया विलम्बितो निवृत्त-
कामो भवेत्तत्राह अच्युतमिति। सदासनादिभि-
रिति। सुवर्णमयाद्यामनानि शय्यामयानि वा
अनुपभुक्तानीति सत्पदेन ज्ञापितम् ॥२॥

व्याख्यानार्थ इस श्लोक में भगवान् की इच्छा का विषय 'गृह' है, अतः गृह भी कर्म है, इसलिए 'अवेक्ष्य' क्रिया के 'गृह' और 'तं' दो कर्म हुए, जिसका सम्बन्ध इस प्रकार समझना, भगवान् ने इच्छा की थी कि कुब्जा का गृह सर्व प्रकार सुन्दर हो जावे, अतः भगवान् ने आते ही प्रथम घर को देखा पश्चात् स्वागत कराया, जिससे गृह कम है और कुब्जा ने तो भगवान् को देखा, जिससे 'तं' कर्म है। कुब्जा भगवान् को अपने गृह आते हुए देखकर आसन से सहसा उठी, तो घबरा गई, क्योंकि अन्तःकरण में यह विचार हुआ कि इनका स्वागत मैं कैसे कर सकूँगी जिससे ही घबराहट हुई, थोड़ी देर के बाद मन को सम्भाल सखियों के साथ भगवान् से मिलकर उनका सर्व प्रकार सत्कार करने लगी।

यह कान्त है, यदि पूजन आदि में विशेष समय लग जाएगा, तो उसका काम शान्त हो



जाएगा, इसके उत्तर में कहते हैं कि इनका काम देरी हो जाने पर भी शान्त न होगा, इसलिए शुक-देवजी ने यहाँ आपका नाम 'अच्युत' दिया है, जिसका भावार्थ है कि आप जैसे पूर्ण है, वैसे सदा पूर्ण ही रहते हैं, उसके पूर्ण स्वरूप में किसी प्रकार, किसी अंश की कमी नहीं होती है। आसन आदि वस्तुओं से भी सम्मान किया अर्थात् सुन्दर सुवर्ण के आसन, शैया भी दिए। 'सत्' आसन का विशेषण है, जिसके देने का आशय है कि वे आसन आदि सर्व पदार्थ नवीन हैं, किसी ने ये अपने काम में नहीं लिये हैं ॥३॥

श्लोक—तथोद्धवः साधुतयाभिपूजितो

व्यषोददुर्व्यामिमृश्य चासनम् ।

कृष्णोपि तूर्णं शयनं महाघनं

विवेश लोकाचरितान्यनुव्रतः ॥४॥

श्लोकार्थ—उद्धवजी का भी साधुपन से सत्कार किया। वे सत्कार पाकर आसन का स्पर्श कर पृथ्वी पर बैठ गए, श्रीकृष्ण भी लोकरीति का अनुकरण करते हुए शीघ्र ही जाकर अमूल्य शैया पर बिराजे ॥४॥

सुबोधिनी—तथैव उद्धवोपि पूजितः परं साधुतया, अनेन भगवान् भर्तृतया पूजित इति ज्ञायते। कामो हि दोषात्मक इत्यर्थाद् व्यावृत्तिः फलति। उर्व्यामिवोपविष्टः आसनमुपस्पृश्येति राजधर्मपरिज्ञानं निरूपितम्। तस्याः कृत्ये जाते भगवानपि स्वकार्यं कृतवानित्याह कृष्णोपिति। तदर्थार्थमारोपिते कामे क्षणं विलम्बश्चेज् जगत् काममयमेव स्यादिति तूर्णमेव शयनं विवेश। न त्वनिर्दिष्टमुपभुक्तमनुपभुक्तं वा भवेदिति भगवदर्थं वान्यार्थं वेत्यपि शङ्कां व्यावर्तयितुमाह महाघनमिति। महद् घनमुत्पादनार्थं यस्य तद-

प्युत्कृष्टं भगवदर्थमेवेति विवेशेति पूर्वोपवेशस्थानाद् विविक्त इति ज्ञापयितुम्। ननु भगवानविल-ष्टकर्मा किमित्येवं प्रार्थनाव्यतिरेकेण स्वयमेव गत इति चेत्तत्राह लोकाचरिताननुव्रत इति। सा हि लौकिकी लोकरीत्यैव ग्राह्येति तस्यास्त-थैव मनोरथः सा गृहस्थवदीश्वरवद्भावं न जानाति गुप्तत्वात्, खड्गव्यवहारं तु जानाति प्रकटत्वात्, अतस्तथैव मनोरथ इति लोकानां साधारणानां चरितानि भगवानप्यनुव्रतो जातः। न त्वनुवादकमेतत्पदं निरोधविरोधापत्तेः ॥४॥

व्याख्या—कुब्जा ने भगवान् की पूजा पति भाव से की और उद्धवजी का पूजन भक्त समझ कर किया। यों समझा जाता है कि जिससे दोष रूप काम की उद्धवजी में निवृत्ति दिखाई। उद्धवजी को राजधर्म का पूर्ण ज्ञान है, अतः आप आसन पर न बैठकर केवल उसका स्पर्श कर पृथ्वी पर बैठ गए। कुब्जा को जो कुछ करना था, उसके हो जाने के अनन्तर भगवान् भी अपना कृत्य करने लगे। कुब्जा के मनोरथ की सिद्धि के लिए धारण किए हुए काम की पूर्णता करने में थोड़ा भी यदि भगवान् विलम्ब करते, तो सम्पूर्ण जगत् काम मय ही हो जाता। इसलिए आप शीघ्र ही शैया पर जाकर बिराजे, किन्तु वह शैया नवीन थी, किसी ने अपने काम में नहीं ली थी एवं कुबरी ने ही दिखाई थी एवं बहुमूल्य थी, जिससे यह शङ्का भी मिट गई कि यह शैया अन्य किसी के लिए है वा भगवान् के



लिए है तथा बहुमूल्य थी। इससे भी उसकी उत्कृष्टता तथा भगवान् के लिए ही है, यह सिद्ध हो गया था। जहाँ शैया धरी थी, वह स्थान भी जहाँ प्रथम बिराजे थे, उस स्थान से पृथक् एवं एकान्त में था। भगवान् अक्लिष्टकर्मा हैं, वे बिना प्रार्थना के स्वयं वहाँ कैसे गए ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'लोकाचरिताननुव्रत' भगवान् ने इस समय लौकिक चरित्र करने का सङ्कल्प कर लिया, अतः स्वयं गए। कुब्जा लौकिकी स्त्री है, लौकिक रीति को ही जानती है, उसका वंसा ही मनोरथ है, वह गृहस्थ के समान भाव को जानती है, ईश्वर भाव गुप्त होने से नहीं जानती है। !विट व्यवहार प्रसिद्ध होने से जानती है, अतः उसके मनोरथ के अनुकूल लोक रीति से ही वह ग्रहण करने के योग्य है। भगवान् भी साधारण लोगों के समान चरित्र करने लगे। यों कहना अनुवाद नहीं समझना चाहिए, किन्तु वास्तविक यों किया है। यदि यों न करे, तो कुब्जा का निरोध सिद्ध न होवे, अतः निरोध सिद्धि के लिए भगवान् ने इस प्रकार की लीला की है*॥४॥

ग्राभास—ततः सापि गतेति तस्याः संस्कारपूर्वकं गमनमाह ।

अभासार्थ—अनन्तर वह भी वहाँ गई, उसके संस्कारपूर्वक जाने का वर्णन 'सा मज्जनत्तेप' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—सा मज्जनालेपद्रुकूलभूषण-

स्रग्गन्धताम्बूलसुधासवादितिः ।

प्रसाधितात्सोपससार माधवं

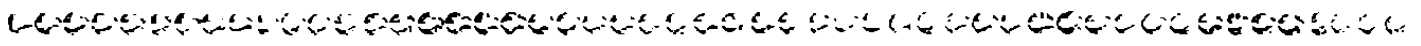
सत्री डलीलोत्स्मतविभ्रमेक्षितः ॥५॥

श्लोकार्थ—वह भी स्नान, चन्दन का लेपन, वस्त्र, आभूषण, पुष्पों की माला, सुगन्धित अत्तर आदि, ताम्बूल और अमृत के समान आसव आदि पदार्थों का पान आदि से अपने शरीर को सर्व प्रकार सजाकर अर्थात् भोग योग्य बनाकर, लाज युक्त लीला से हँसती तथा विलास युक्त दृष्टि से देखती हुई लक्ष्मीपति के पास आ पहुँची ॥५॥

सुबोधिनी—आलेपं सुगन्धादिभिः स्नानार्थ-
मेव भगवदिच्छया पूर्वमेव तस्यास्तथात्वम्, सुधा-
सघ इति शक्त्यर्थं देहविस्मरणार्थं च कामशास्त्रो-
क्तद्रव्यपानमुक्तम् । आदिशब्देन तथोद्बोधकानां

पदार्थानामपि चन्द्रावर्तदीनां स्थापनम् । एवमेतैः
प्रसाधितशरीरा तद्भावापन्ना लक्ष्मीपतिरयमिति
तथाकरणे शङ्कारहिता माधवमुपससार । तया
भगवति सर्वे भावाः स्वान्तः स्थिता क्रमेण

* 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्' इस गीता श्लोक के भाव की चरितार्थता दृष्टि-
गोचर होती है—अनुवादक



सूचिता इत्याह सत्रीडेति । स्त्रीभावात् प्रथमसम्बन्धे व्रीडा, ततो हासः प्रवृत्तायाः ततो भगवद्धेष्टानां सादरं निरीक्षणं, ततोप्यभिलषितानां भाषणं

सूनृत, अयमग्रे क्रमो भगवता कर्तव्य इति प्रथमतस्तादृशीं चेष्टां कुर्वाणैव गतेत्यर्थः ॥५॥

व्याख्यानार्थ—भगवदिच्छा से उसको संस्कृत करने योग्य सर्व पदार्थ सिद्ध हुए धरे थे, जिनसे कुब्जा ने प्रथम स्नान कर चन्दन आदि से शरीर पर लेप किया, वस्त्र तथा आभूषण पहने अमृत सम आसव पीये, जिनसे शरीर में स्फूर्ति हो और नशे से देह की विस्मृति हो, यों करने से यह बताया है कि काम शास्त्र काम केलि करते समय जिन पदार्थों का पान करना चाहिए, वे पान किए; आदि शब्द से यह भी बताया कि वहाँ आयुर्वेद शास्त्रोक्त चन्द्रोदय आदि रस भी धरे थे, जिनके सेवन से काम की जागृति होती है, 'इस प्रकार इन पदार्थों के सेवन से शरीर को सुसंस्कृत कर उस भाव को प्राप्त हुई। यों करने में इसको कुछ भी शङ्का न हुई; क्योंकि उसने समझा कि जिसके पास जा रही हूँ वे लक्ष्मीपति हैं, अतः निःशङ्क होकर माधव के पास पहुँची। उसने भगवान् के लिए अपने अन्तःस्थित सर्व भाव क्रम से सूचित किए, जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि कुब्जा ने भगवान् को पति और अपने को स्त्री समझा, अतः प्रथम सम्बन्ध के समय जैसे लौकिक स्त्रियाँ लाज करती हैं, वैसे इसने भी लज्जा की। पश्चात् जब केलि में प्रवृत्त हुई, तब हास करने लगी। अनन्तर भगवान् की चेष्टाओं को आदरपूर्वक देखने लगी। भगवान् की चेष्टाओं में से जिस प्रकार की केलि की इच्छा हो, उसको भाषण द्वारा प्रकट कहने को सूनृत कहते हैं, इस प्रकार सर्व क्रिया कुब्जा ने की। आगे भगवान् के साथ भी यह क्रम करेगी, अतः प्रथम से ही इस प्रकार की चेष्टा करती हुई ही गई है ॥५॥

आभास—ततः सा कान्ता जाता भगवद्धमविशात्ततो यथाभिलषितं कृतवानित्याह आहूयेति ।

आभासार्थ—कुब्जा कान्ता हुई, जिससे उसमें भगवान् के धर्मों का प्रवेश हुआ, अतः जैसे भगवान् ने चाहा वैसा ही उसने किया, इसका वर्णन 'आहूय कान्तां' श्लोक में करते हैं।

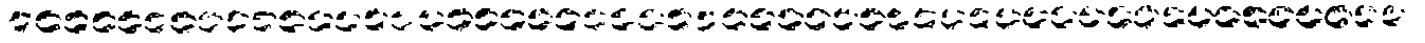
श्लोक—आहूय कान्तां नवसङ्गमह्रिया विशङ्कितां कङ्कणभूषिते करे ।

प्रगृह्य शय्यामधिवेश्य रामया रेमेऽनुलेपार्पणपुण्यलेशया ॥६॥

श्लोकार्थ—नव सङ्गम के कारण लज्जा आने से शङ्कावाली कान्ता के कङ्कण से शोभित हाथ को पकड़कर शैया पर बिठाकर उससे रमण करने लगे, जिसका केवल भगवान् को चन्दन अर्पण करने का ही पुण्य था, उस पुण्य का यह फल भगवान् ने इसको दिया ॥६॥

सुबोधिनी—स्वतः प्रवृत्त्यभावे हेतुमाह नवसङ्गमह्रिया विशङ्कितामिति । निकटे गतायाः शङ्कायामाह । कङ्कणैर्भूषिते करे प्रगृह्येति ।

कङ्कणानां परिधानं सुवासिन्या अस्यास्तु भगवद्व्यतिरिक्तः पतिर्नास्तीति भगवांश्चेत् न परिगृह्णीयात् तदा कङ्कणपरिधानं व्यर्थमेव भवेदिति



सूचितम् । शय्यामधिवेश्येति प्रथमं प्रथमसुरतमे-
वोक्तम् । नन्वेषा का, स्त्रीसंबन्धा न सर्वत्र कर्तव्या
इति तत्राह रामयेति । भोगार्थमेवैषा स्त्री । 'नाग्नि
चित्वा रामामुपेया'दिति विशेषनिषेधादन्यदा
तथा संबन्धो न दोषाय । नन्ववश्यं सुखानुभवे
धर्मो हेतुः । 'ततः परमानन्दं कथमनुभवतीत्याश-
ङ्क्याह अनुलेपार्पणपुण्यलेशयेति । अनुलेपार्पणा-
दन्यानि पुण्यानि लेशमात्राणि यस्याः । अनुलेपा-

र्पणस्य वा पुण्यमात्रं लेशो यस्याः । अथवा सा
त्वनुलेपार्पणपुण्यलेशयुक्तं वातस्तस्याः सहभाव
एव कृतः । भगवान् स्वयमेव रेमे तावत्फलं स्व-
यमेवाधिकं दत्तवान्, न तु कर्मणा जातमिति
तथोक्तम् । अथवा । भगवान् सर्वसमर्थः । तस्या-
स्तावन्मात्रमेव सुखं दत्तवानिति ज्ञापयितुं तथो-
क्तम् ॥६॥

व्याख्यान - कुब्जा भगवान् के पास गई, किन्तु वहाँ जाते ही प्रथम सङ्गम के कारण लज्जा
आने से स्वयं प्रवृत्त होने में सङ्कोच करने लगी । अतः भगवान् ने कङ्कणों से सुशोभित हाथ को पकड़
कर शैया पर बिठाया । कङ्कण धारण सुवासिनियों का चिन्ह है, इसका पति भगवान् के सिवाय
अन्य कोई नहीं है । यदि भगवान् इसको ग्रहण न करे, तो इसका कङ्कण धारण करना ही व्यर्थ हो
जाए । शैया पर पास में बिठाना, यह प्रथम सुरत है । इसके साथ जो प्रथम सुरत किया, तो यह
कौन है ? सर्वत्र स्त्री के साथ सम्बन्ध नहीं करना चाहिए, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'रामया' यह
स्त्री भोग के लिए ही है ।

वेद में कहा है कि 'नाग्नि चित्वा रामामुपेयात्' अग्नि चयन कर स्त्री के साथ सङ्गम नहीं
करना चाहिए, यह विशेष अवस्था में निषेध है । दूसरे समय में इस प्रकार स्त्री से सम्बन्ध करना दोष
नहीं है । धर्म करने से सुख की प्राप्ति होती है, किन्तु यह तो परमानन्द का अनुभव कर रही है, इस
का क्या कारण है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् को चन्दन अर्पण किया, जिसके सिवाय
अन्य पुण्य तो नाम मात्र है अथवा चन्दन अर्पण किया, जिसके पुण्य का यह फल लेश मात्र है अथवा
चन्दन के अर्पण के पुण्य की लेशवाली यह है, अतः भगवान् ने इसको रमण में गौण रख स्वयं मुख्य
रूप से रमण करने लगे । इतना फल भगवान् ने आप ही इसको विशेष दिया, न कि यह परमानन्द;
इसको कर्म के फल से मिला है । अथवा भगवान् सर्व समर्थ हैं, इसको इतना ही फल स्वेच्छा से दिया
है, यह जताने के लिए वैसा कहा है ॥६॥

आभास—ततः सापि लब्धधाष्ट्या स्वाभिलषितं कृतवतीत्याह सेति ।

आभासार्थ—अनन्तर वह भी निर्लज्ज बन गई, जिससे अपनी इच्छानुकूल करने लगी । जिसका
वर्णन 'सानङ्ग तप्त' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—सानङ्गत्तप्तकुचयोरुरसस्तथाक्षणे-

जिघ्रन्त्यनन्तचरणेन रुजो मृजन्ती ।

दोभ्यां स्तनान्तरगतं परिरम्य

कान्तमानन्दमूर्तिमजहादतिदीर्घतापम् ॥७॥



श्लोकार्थ—वह कुब्जा काम से तप्त स्तन, छाती तथा नेत्रों के संताप को भगवान् के चरणों को सूँघ कर मिटाती हुई अपने स्तनों को मध्य में लाकर आनन्द स्वरूप कान्त को दोनों भुजाओं से जोर से आलिङ्गन कर, बहुत दिन के काम-ताप को शान्त करने लगी ॥७॥

सुबोधिनी—सा संरन्ध्री अनङ्गेन तप्तयोः कुचयोः, षष्ठ्येषा । उरसः वक्षःस्थलस्य अनन्त-चरणेन एतेषां रुजं मृजन्ती जाता । स्वरूपतः केनचित्सम्बन्धेन वेत्याशङ्क्य तापस्योभयत्र व्याप्तत्वाद् बहिःस्पर्शेन तापापगमेपि अन्तस्तापनिवृत्त्यर्थमुपायमाह । जिघ्रन्तीति । अर्थादनन्तचरणमेव, अनन्तत्वादेव पर्यायेण तापनाशो निवारितः । तथा सति शीघ्रं तापाभावो न स्यात् न केवलं दुःखाभाव एव तस्याः फलितः किन्तु परमानन्दो-

ऽप्यनुभूत इत्याह दोर्म्यामिति । पूर्वमेव स्तनान्तरे हृदये निविष्टं अन्तर्यामिणं बहिर्दोर्म्यामालिङ्ग्य तापं जहौ । स्तनान्तरागतं वा, कान्तत्वात् तथा-करणे नापराधः । न केवलं पर्यवसानवृत्त्या सुखजनकत्वं किन्तु स्वरूपतोयि तथात्वमित्याह आनन्दमूर्तिमिति । अत एव अतिदीर्घमपि त्रिविधमपि तापं जहौ, कामताप एव वा जन्मकोटिष्वनुस्यूतो दीर्घो भवति ॥७॥

व्याख्यार्थ—कुब्जा ने बाहर तथा भीतर के ताप को इस प्रकार मिटाया, प्रथम बाहर का ताप, जिससे स्तन, छाती एवं नेत्र संतप्त थे, उसको भगवान् के चरण से सम्बन्ध कर अर्थात् उसका स्पर्श कर मिटाया और अन्दर के ताप को चरणों को सूँघकर उसकी गन्ध से मिटाया । भगवान् को अनन्त कह कर यह भाव दिखाया है कि ताप क्रमशः शान्त नहीं हुआ, किन्तु सर्व ताप साथ ही नष्ट हो गए । जिससे कुब्जा के केवल ताप का दुःख मिटा, यों नहीं है किन्तु उसको परमानन्द का भी अनुभव होने लगा, जिसको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि स्तनों के मध्य भाग हृदय में स्थित अन्तर्यामी को बाहर प्रकट कर भुजाओं से आलिङ्गन करते हुए ताप को मिटाया अथवा स्तनों के मध्य में आए हुए को आलिङ्गन किया, यों करने में कोई दोष (अपराध) नहीं है; क्योंकि वे कान्त हैं और यह आलिङ्गन केवल अन्त तक सुखजनक नहीं है, किन्तु स्वरूप से भी आनन्द देने वाले हैं; क्योंकि वे आनन्द स्वरूप हैं, इसलिए ही तीन प्रकार का ताप नाश हुआ । यह काम-ताप जो कोटि जन्मों से तप्त कर रहा था, वह भी अब मिट गया ॥७॥

आभास—एवमनुलेपार्पणफलमुक्त्वा फलानुभवार्थं या भगवतः सेवा कृता रतिरुत्पादिता तस्याः फलं वक्तव्यमिति तन्निरूपयति सैवमिति त्रिभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार केवल चन्दन अर्पण का फल वर्णन कर, फल के अनुभव के लिए जो भगवान् की सेवा की और रति को उत्पन्न किया, जिसका फल भी कहना चाहिए. वह 'सैव' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—सैवं कैवल्यनाथं तं प्राप्य दुष्प्रापमोश्वरम् ।

अङ्गरागार्पणेनाहो दुर्भगेदमयाचत ॥८॥

~~SECRET~~

श्लोकार्थ—मोक्ष के स्वामी, अति दुर्लभ, ईश्वर को केवल चन्दन अर्पण करने से प्राप्त किया। आश्चर्य है कि फिर भी वह मन्द भाग्या रही; क्योंकि उसने यह (श्लोक ६ में) माँगा ॥८॥

सुबोधिनी—इदं हि पूर्वस्माद् उत्कृष्टमिति
वशत्वेन पर्यवसितम्, तथा सति न फले काचिन्
मयादा इयदेवेति; तथापि भाग्यमेवाल्पमिति
बुद्धिस्तादृश्येवेत्यल्पमेव याचितवतीति शुकस्तां
निन्दति दुर्भगेदमयाचतेति । दातरि समर्थे प्रस-
न्नेऽप्यल्पयाचनं भाग्याभावादेव भवति । सा
पूर्वोक्ता एवं जाता तं तथोपकारिणं स्वयमेवागत्य

सर्वसुखदातारं कैवल्यस्यापि नाथं सर्वैरेवोपायै-
र्दुष्प्रापमोश्चरत्वात्, अन्यथा साधनाधीनः स्यात् ।
तादृशमपि प्राप्य मोक्षं गोपिकावदवस्थां वा न
प्राप्तिवती किन्तु कालपरिच्छिन्नं भगवत्सम्ब-
न्धमेव । यद्यपि स्वरूपतो महान्, तथापि कालेन
परिच्छिन्नः फलत्वान्न साधनतामापद्यते, अतो
दुर्भगेव ॥८॥

व्याख्यानार्थ—यह सम्बन्ध पहले से उत्कृष्ट है, इसलिए यह वर दिलाने वाला हुआ है। यों होते हुए भी फल की प्राप्ति में कोई मर्यादा नहीं है कि इतना ही मिलेगा, तो भी इसका भाग्य ही अल्प है, जिससे इसकी बुद्धि वैसी हो गई और मांग भी बहुत कम है, इसीसे शुकदेवजी उसकी निन्दा करते हुए कहते हैं, कि 'दुर्भगेदमयाचत' जब देने वाले समृद्ध हैं, प्रसन्न होने से देना चाहते हैं, तब थोड़ा मांगना मन्द भाग्य का चिन्ह है और यह अच्छे भाग्य न होने से यों अल्प मांगा जाता है।'

वह कुब्जा, इस प्रकार उपकार करने वाले, आप ही पधार कर सर्व सुख देने वाले, मोक्ष के स्वामी, सर्व प्रकार के उपायों से जो प्राप्त नहीं होते हैं, जो ईश्वर होने से दुष्प्राप्य हैं, यदि ईश्वर न होवे तो साधनों के आधीन होवें, वैसे प्रभु को प्रसन्न पाकर भी उनसे मोक्ष वा गोपिकाओं जैसी अवस्था की प्रार्थना न कर केवल कुछ समय के लिए सम्बन्ध की प्रार्थना की है, अतः दुर्भंगा है। यद्यपि यह मांग भी स्वरूप से उत्तम है, किन्तु काल से परिलिप्त है। अर्थात् थोड़े समय का सम्बन्ध मांगा है, तो भी फलस्वरूप होने से साधनरूप नहीं है ॥८॥

श्राभास—याचनमाह आहोष्यतामिति ।

आभासार्थ— कुब्जा ने मांगा उसका वर्णन 'आहोष्यता' श्लोक में करते हैं—

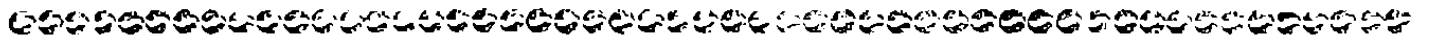
श्लोक—आहोष्यतामिह प्रेषु दिनानि कतिचिन्मया ।

रभस्व नोत्सहे त्यक्तुं सङ्गं तेम्बुरुहेक्षण ॥६॥

श्लोकार्थ—हे प्यारे ! कुछ दिन तो मेरे साथ यहाँ रहो, हे कमलनेत्र ! आपका सङ्ग मैं नहीं छोड़ सकती हूँ, अतः यहाँ रहकर मेरे साथ रमण करो ॥६॥

सुबोधिनो—इहैवोष्यतामिति विवाहस्याकृत-
त्वात् क्वचिच्छयनं कर्तव्यं तदिहैव कर्तव्यमि-
त्यर्थः । किमित्येवं प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्यामाह

प्रेष्ठेति । परमप्रियस्तथोच्यत इति, तत्राप्यन्तर्या-
मिवत् स्थितिं वारयति कतिचिद्दिनानि महा सह
रमस्व । ननु कोयं निर्वन्ध अयमेव वर इति,



मोक्षादिर्वा कथं न प्रार्थ्यत इत्याशङ्क्याह नोत्सहे । दृष्टं व सर्वसुखदायककामोद्बोधकेति वा ॥६॥
त्यक्तुं सङ्गं ते इति । तत्र हेतुरम्बुरुहेक्षणेति ।

व्याख्यार्थ — यहीं रहो. इन शब्दों के कहने का भावार्थ आचार्य श्री स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि कुब्जा के इन शब्दों का तात्पर्य यह है कि भगवान् को कहती है कि आपने अब तक विवाह तो किया ही नहीं है, तो कहीं भी आप सोजाओगे, जिससे तो यहीं शयन करना चाहिए । यदि आप कहो कि तुम्हारे पास कैसे सो जाऊँ ? यों क्यों कहती हो ? इसके उत्तर में वह फिर कहती है कि आप मेरे परम प्यारे हैं, इसलिए यों कहती हूँ और मैं यों अन्तर्यामि स्थिति के रूप से रहने को नहीं कहती हूँ किन्तु कुछ दिन और मेरे साथ रमण करो । अब यदि कहो कि इस प्रकार का आग्रह वर रूप से क्यों मांग रही हो ? मोक्ष आदि अन्य उत्तम वर क्यों नहीं मांगती हो ? इस पर वह कहती है कि आप कमल नेत्र हैं. आपको देखने से ही सर्व प्रकार के सुख की प्राप्ति हो जाती है तथा काम जागृत होता है, अतः आपका सङ्ग छोड़ नहीं सकती हूँ ॥६॥

आभास—भगवान् यद्यपि बह्वेव सुखं दास्यामिति विचारितवान् तथापि याचितं दत्तवानित्याह तस्यै कामवरं दत्वेति ।

आभासार्थ—यद्यपि भगवान् ने कुब्जा को अति सुख देने का विचार किया था, किन्तु हत भाग्या ने जो अल्प मांगा तो वही दिया, जिसका वर्णन 'तस्यै कामवरं दत्वा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तस्यै कामवरं दत्वा मानयित्वा च मानदः ।

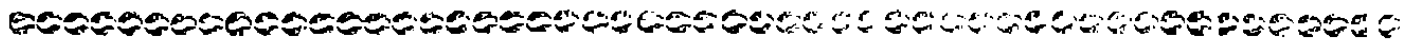
सहोद्धवेन सर्वेशः स्वधामागमदक्षितम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—उसकी इच्छा के अनुसार मान देने वाले सर्वेश्वर भगवान् ने उसका सम्मान करके काम का वर दिया । अनन्तर कुब्जा से सत्कार पाकर उद्धवजी के साथ अपने धाम आए ॥१०॥

सुबोधिनी—सत्यसङ्कल्पत्वात् स्वविचारित-
मपि दत्तवानित्याह मानयित्वेति । तां मानित-
वान् । भगवान् हि मोक्षं भक्तिं च दातुमागतः
येभ्यो दास्यति तन्मध्ये एतामप्यङ्गीकृतवानि-
त्यर्थः । चकारादात्मानमपि । मानद इति भग-
वान् सर्वेभ्यो मानं ददातीति, स्वधर्माच्च अस्यै च
मानं दत्तवान्, ततो बहिरागत्य उद्धवेन सहितः
तदिच्छानुसारेण धर्मान्तरमपि परिगृह्य कार्यं

संपन्ने पुनः सहजमेव धर्मं गृहीतवानित्याह ।
सर्वेश इति । अनेन तस्या यथा कियद्दिनरमणं
भवति तथैव कृतवानित्यपि लक्ष्यते । यथा नार-
दस्य मायया क्षणमध्ये षष्टिसंवत्सरप्रतीतिः तथा-
स्या अपीति । इतो गतस्य पुनरागमनाभावः
सूचितः । नन्वाकाङ्क्षया पुनर्गच्छेदित्याशङ्क्याह ।
ऋद्धिमत् स्वधामागमदक्षितम् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में भगवान् को मानद कहा है अर्थात् सबको मान देने वाले हैं. अतः इसका मान किया । जिसके रहस्य को आचार्य श्री प्रकट करते हुए कहते हैं कि भगवान् सत्य



सङ्कल्प है। आपने कुब्जा को भी उनकी गणना में गिना था, जिनको मोक्ष तथा भक्ति देने के लिए आप आए हैं। अतः उस सङ्कल्प को सत्य करने के लिए याचना न होने पर भी वह भी दिया। आपने स्वधर्म से कुब्जा का यही मान किया कि भगवान् सर्वेश हैं, अतः उसकी इच्छा के अनुसार मानव धर्म भी ग्रहण कर वह उसका मनोरथ पूर्ण किया। जिसके पूर्ण हो जाने के अनन्तर फिर वही अपना सहज ईश्वर-धर्म ग्रहण कर लिया। इससे यों भी समझा जा सकता है कि जैसे कुछ दिन रमण हो वैसे ही किया। जिस प्रकार भगवान् ने अपनी माया शक्ति से नारद को क्षण में की हुई लीला को साठ संवत्सरो में हुई की प्रतीति करवाई थी, वैसे ही यहां भी कुब्जा को इससे यह बताया है कि यहां से जाने के पश्चात् मेरा आना असंभव है। अतः यह शङ्का नहीं करनी कि यदि आकांक्षा भी हो तो मैं फिर आ जाऊँ? क्योंकि और इच्छा हो जब फिर चला जाऊँ? जहां मैं जा रहा हूँ वहां मेरे बहुत समृद्धि वाले धाम हैं इसलिए यहां आने की इच्छा होगी ही नहीं यों कह कर अपने समृद्ध धाम को चले आये ॥१०॥

आभास—अत एव भगवन्तं प्राप्य स्वयं न किञ्चित् प्रार्थनीयम्। भगवान्नेव यत्करिष्यति तत्करोतु, अन्यथा स कुमनीष्येव भवतीत्याह। दुराराध्यमिति।

आभासार्थ—इस कारण से ही, भगवान् को प्राप्त कर उनसे स्वयं कुछ भी देने के लिए प्रार्थना नहीं करनी, भगवान् को जो कुछ करना वा देना हो वह करें वा देवें, जो इस प्रकार नहीं करता है वह मूर्ख है, जिसको 'दुराराध्य' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—दुराराध्यं समाराध्य विष्णुं सर्वेश्वरेश्वरम्।

यो वृणीते मनोग्राह्यमसत्त्वात्कुमनीष्यसौ ॥११॥

श्लोकार्थ—सब ईश्वरों के ईश्वर दुराराध्य भगवान् को आराधना से प्राप्त कर जो जीव प्रसन्न हुए, उन परमात्मा से अपनी मनोऽनुकूल याचना करता है, वह मूर्ख है ॥११॥

सुबोधिनी—प्रथमतः स आराधयितुमेवाशक्यः, अत एवास्मदादयो मुक्ता अपि तथैव स्थिताः। तादृशमप्याराध्य तत्रापि प्रसादपर्यन्तं सम्यक्। विष्णुं पालनार्थमेवागतमनाराधनेपि पालकम्। तत्रापि सर्वेश्वराणां कालादीनामपोस्वरं नियन्तारं सर्वेषां हि कालग्रासो निवारणीयः। एवं सति यो मनोग्राह्यं वृणीते स कुमनीषी महाराजस्थाने गत्वा स्वयं क्षुब्धः सर्वोप-

द्रवयुक्तोपि स्वसंबन्धिने मर्कटाय यथोदनं प्रार्थयते तद्वत् स्वयमात्मा मर्कटरूपाय मनसे हितं प्रार्थयतीति। नन्वेवमस्तु तथाप्यल्पमेव प्रार्थितं भवेन् न तु मर्कटवदित्याशङ्क्याह। असत्त्वादिति। न हि मनोधर्माः स्वस्य भवन्ति, अध्यारोपितास्त्वसन्त एव, तर्हि कथं प्रार्थयत इत्याशङ्क्याह। कुमनीषीति। सा हि दुर्बुद्धिः, अतः प्रमादादन्यथा प्रार्थयत इत्यर्थः ॥११॥

व्याख्यान—शुकदेवजी कहते हैं कि प्रथम तो उसकी आराधना करनी ही कठिन है, इसलिए ही हम जो मुक्त हैं, वे जो वैसे ही ठोठ^१ रह गए हैं। जो पालन के लिए ही प्रकटे हैं, जो बिना आराधना करने वाले की भी पालना करते हैं जो काल आदि के भी ईश्वर हैं, जो सब के कालग्रास की भी निवारण करते हैं, ऐसे प्रभु की आराधना कर और उनको प्रसन्न करने के अनन्तर जो जीव अपने मन की (इच्छानुकूल) याचना करता है, वह मूर्ख है। जैसे कोई महाराजा के पास जाकर स्वयं भूखा एवं सर्व प्रकार के दुःखों से घिरा हुआ भी महाराजा से अपने पास रहने वाले बंदर के लिए ही टुकड़ा मांगता है तो वह मूर्ख ही है। वैसे ही अखिलेश्वर, आनन्दधन, धनश्याम प्रभु को प्राप्त करके भी आत्मा के लिए मोक्ष आदि न मांग कर मन रूप मर्कट की इच्छानुकूल विषयानन्द मांगता है तो वह मूर्ख ही है, क्योंकि मन के धर्म असत् हैं। वे आत्मा में केवल आरोपित हैं अर्थात् वे मन के धर्म आत्मा के समझे जाते हैं। किन्तु वास्तव में वे आत्मा के नहीं हैं, अतः वे असत् विषय रूप होने से अनित्य, अल्प, और अन्त में दुःखदायी हैं। अतः मनुष्य प्रमाद से वैसी प्रार्थना करने से मूर्ख समझा जाता है ॥११॥

आभास—अक्रूरभवनमिति ।

आभासार्थ—अब 'अक्रूरभवन' श्लोक से दूसरा प्रकरण प्रारम्भ करते हैं—

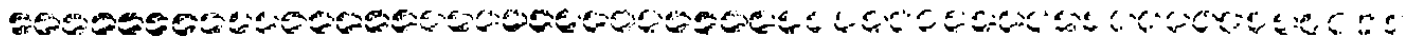
श्लोक—अक्रूरभवनं कृष्णः सह्रामोद्धवः प्रभुः ।

किञ्चिच्चिकीर्षयन्प्रागादक्रूरप्रियकाम्यया ॥१२॥

श्लोकार्थ—कुब्जा के मनोरथ पूर्ण करने के अनन्तर दूसरा कार्यक्रम प्रारम्भ करने के लिए कृष्ण अपने साथ राम और उद्धव को लेकर अक्रूर के घर पधारे; क्योंकि कुछ अपने कार्य कराने की इच्छा थी, साथ में अक्रूर के हित की कामना भी थी ॥१२॥

सुबोधिनी—तस्मिन्नेव दिवसे अक्रूरायापि वरो दत्त इति तस्यापि गृहे भगवान् गतः । ननु पूर्वं तस्मै वरो दत्त इति कथं व्युत्क्रमेण निरूप्यते तत्राह कृष्ण इति । स हि तासामर्थं समागत इति पूर्वमवोचाम । तत्र बलभद्रस्यापि कार्यमस्तीत्यत आह सह्राम इति । उद्धवो हि उत्सवात्मकत्वाद् रसप्रधान एव, रमणं तु स्त्रीभिरेव, अतः कुब्जाया गृहे उद्धवेन सह गमनं, भगवांस्तत्र प्रधानमिति

बलभद्रस्य क्रोधोपि स्याद् आवेशभूत इति रमणारमणाभ्यां रसाभासानौचित्ये स्याताम् । अत्र त्वक्रूराय संपूर्णो भावो नेय इति योनिभावार्थं रामं निमित्तभावार्थमुद्धवं च सह नीतवान् । नन्वनाकारितः किमिति गत इत्याशङ्क्याह प्रभुरिति । सर्वेषां हि स्वामी सेवकगृहेपि सेवकसंमाननार्थं गच्छति कस्तमाकारयितुं समर्थः । प्रयोजनमाह । किञ्चित् क्वचित् प्रेषणं चिकीर्षयन्



चिकीर्षामुत्पादयन्नक्रूरे तदर्थं स्वतोप्यक्रूरप्रियका-
म्यया च प्रकर्षेण प्रभुरीत्यागात् । अस्योपाख्यानं | स्मार्ततत्त्वैः प्रतिपाद्यते अयं हि स्मार्त इति ज्ञाप-
यितुम् ॥१२॥

याह्यार्थ— उस दिन अक्रूर को भी वरदान दिया था, अतः भगवान् उसके घर पधारे । अक्रूर को तो कुब्जा से प्रथम वर दिया था, फिर कुब्जा के पास पहले क्यों गए ? जिसके उत्तर में कहा है कि 'कृष्णः' कृष्ण है, वे स्त्रियों के लिए ही आए हैं यों हम पहले से करते हैं । अक्रूर के यहां बलराम को इसलिए ले गए कि वहां उनका भी कार्य था, उद्धव उत्सवात्मक होने से उसमें रस प्रधान ही है । रमण तो स्त्रियों के साथ ही होता है अतः कुब्जा के घर उद्धवजी को लेकर पधारे थे । बलभद्र को नहीं ले गए, कारण कि वहां भगवान् प्रधान थे । बलराम आवेश के कारण कदाचित् क्रोध करे तो रमण हो या न भी हो । उस द्वैत से रसाभास हो जावे तो वह आयोग्य देखने में आवे । यहां तो अक्रूर को सर्व भाव युक्त कर भेजना है, इसलिए योनि के भाव के लिए राम को और निमित्त भाव के लिए उद्धवजी को साथ लिया है । अक्रूर के बुलाए बिना, पराये गृह में कैसे पधारे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'प्रभुः' सब के स्वामी है । जिससे सेवक के घर में उसको मान देने के लिए पधारते हैं । उनको बुलाने की शक्ति किसमें है ? अर्थात् किसी में नहीं है । वहां पधारने का दूसरा कारण कहते हैं कि अक्रूर को कहीं अन्य स्थान पर भेजने के लिए, उनसे भी वैसी इच्छा उद्भव करने के लिए, तथा अक्रूर का भी प्रिय करने के लिए जैसे प्रभु पधारते हैं, वैसे पधारे ॥१२॥

श्रीभास—ततो गतानामक्रूरकृतं सत्कारमाह धर्मप्रतिपादनाय स तानिति ।

आभासायं— इसकी यह कथा २५ श्लोकों में कही जाती है, क्योंकि अक्रूर 'स्मार्त' है, अतः स्मार्त धर्मानुसार तत्त्वों की संख्या २५ कही जाती है। उन तीनों को घर आते देख अक्रूर ने जो कुछ किया वह 'स तान्नरवर' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—स तान्नरवरश्रेष्ठानाराद्वीक्ष्य स्वबान्धवान् ।

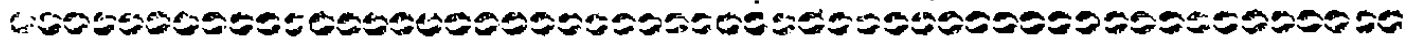
प्रत्युत्थाय प्रमुदितः परिष्वज्याभिवन्द्य च ॥१३॥

श्लोकांथ—वह उन नर श्रेष्ठों में उत्तम अपने बाँझवों को देख उठ खड़ा हुआ और बहुत प्रसन्न हुआ तथा मिलकर अभिवन्दन किया ॥१३॥

सुबोधिनी—तस्य सर्वे तुल्या अतो मर्यादया । अथोपि श्रेष्ठान् नरो नरो नरवरो नरवराच्छ्रेष्ठ-
पूजयतीति न बलभद्रादेरपि वैमनस्यम्, नरवरे- । श्रेति वा उद्धवरामस्वामिनः क्रमेणोद्दिष्टाः,

१- 'सर्वं विस्मारक उत्सवः' जो अन्य सबको विस्मृत करा देवे, उसको उत्सव कहा जाता है।

उद्धव रस प्रधान होने से अन्य सब भुला देते हैं, अतः उत्सव रूप कहे जाते हैं ।



आराद्दूरादेव दृष्ट्वा स्वबान्धवानित्यवश्याभ्युत्थाने
लौकिकोपि हेतुः, प्रत्युथाय प्रथमतः प्रपुदितो
जातः, भक्तत्वाभावात् न साष्टाङ्गप्रणामः, पूर्वा-

क्रूरस्तु मुक्त एव, प्रमोदानन्तरं परिष्वङ्गः, ततो-
भिवन्दनम् ॥१३॥

व्याख्यानार्थ— उसको तीनों ही तुल्य है, अतः मर्यादा अनुसार तीनों की पूजा की। जिससे बल-
देव आदि में विषमता का भाव नहीं है, यह सिद्ध कर दिखाया। नर उद्धवजी, नरवर वलरामजी
और नरवर श्रेष्ठ श्रीकृष्ण इन तीनों को अक्रूर ने दूर से आते देखा तो समझा कि ये अपने बाँधव
आ रहे हैं। अतः लौकिक मर्यादानुसार घर में कोई आवे तो उठकर उनका सत्कार करना योग्य है,
इसलिए अक्रूर उठकर खड़े हो गए और उठकर सर्वप्रथम अत्यन्त प्रसन्न हुए। अक्रूर^१ भक्त
नहीं था, अतः साष्टाङ्ग प्रणाम नहीं किया। किन्तु प्रसन्न होने के अनन्तर आलिङ्गन किया, उसके
बाद अभिवन्दन किया अर्थात् सिर झुका कर स्तुति की ॥१३॥

आभास— एवं कायिकं वाचनिकमुक्त्वा मानसिकं नमस्कारमाह ननामेति ।

आभासार्थ— इस प्रकार कायिक और वाचनिक नमस्कार कह कर अब मानसिक नमस्कार
'ननाम' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक— ननाम कृष्णं रामं च स तैरप्यभिवादितः ।

पूजयामास विधिवत्कृतासनपरिग्रहान् ॥१४॥

पादावनेजनोरापो धारयन् शिरसा नृप ।

अर्हणोनाम्बरैर्दिव्यैर्गन्धस्त्रामूषणोत्तमैः ॥१५॥

श्लोकार्थ— अक्रूर ने कृष्ण और राम को नमस्कार किया और उन तीनों ने उस
का अभिवाद किया, हे राजन् ! उसने आए हुए तीनों का आसन आदि से विधिपूर्वक
सत्कार किया और अक्रूर ने उनके पादों का प्रक्षालन कर प्रसादी जल अपने सिर पर
धारण किया। पूजा के अनन्तर उसने दिव्य वस्त्र, गन्ध, पुष्प मालाएँ और उत्तम
आभूषण भी दिए ॥१४-१५॥

सुबोधिनी— बहिर्नमस्कारस्तु व्यावहारिकः,
अत एव भगवतापि ताभ्यां सह नमस्कृतमाह स
तैरप्यभिवादित इति । पूर्वचकारात् फलाद्युपाय-
नादानम्, द्वितीयादुद्धवं च, स त्रिभिरप्यभिवा-
दितः । अपिशब्दस्तुल्यतामापादयति । ततो
गृहागता इति पूजयामास विधिवच्छास्त्रदृष्टेन

प्रकारेण यथा महापुरुषानभ्यागतान् पूजयति
लोकः । कृतः आसनपरिग्रहो यैः । अत्रोद्धवेनापि
धर्मानुरोधात्तुल्यतया आसनं गृहीतम् । यथा
आद्वे गुरुशिष्यौ ॥१४॥

ततः पादावनेजनोरापः शिरसा धारयन् ।
इयं धर्मनिष्ठायामधिका भक्तिः । नृपेति । धर्मप-

आमास—तां स्तुतिमाह दिष्ट्येति ।

आभासार्थ—अक्रूर ने जिस प्रकार स्तुति की, वह प्रकार 'दिष्ट्या' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—दिष्ट्या पापो हतः कंसः सानुगो वामिदं कुलम् ।

भवद्भ्यामुद्धृतं कृच्छ्राददुरन्ताञ्च समेधितम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—प्रसन्नता है, जो पापो कंस भ्राताओं के साथ मरा, आपने अपने कुल का बड़े दुःख से उद्धार किया है । अब वह वृद्धि को करेगा, यह सब हमारे भाग्य से हुआ है ॥१७॥

कारिका—दशभिः स्तुतिरुक्ता हि प्रार्थनेकेन दोषनुत् ।

सर्वैर्भावैरिह स्तुत्यो निरोधे ह्यधिकारिभिः ॥

सर्वेष्वेव च भावेषु कृष्णोत्कर्षो निरूप्यते ।

अयुक्तं प्रार्थयेद्यस्तु तस्मै दद्यान्न सर्वथा ॥

न दत्तं पूर्वं गोपीभ्यः नोत्तरस्यापि दास्यति ।

निरोधो ह्यन्यथा न स्यात् फलार्थं कर्म तद्भवेत् ॥

ईश्वरः सर्वहितविदतो रोधो न दूषणम् ।

यथा बालकरोधो हि पित्रापि विनिरूपितः ॥

निवर्तयति कामांस्तान् ज्ञानेन ग्रहिला मतिः ।

यदि स्यादुत्कटा दुष्टा निर्दुष्टा वा विचारितः ॥

कारिकार्थ—दस^१ श्लोकों से स्तुति की गई है, एक श्लोक दोषों को मिटाने के लिए कहा है और एक श्लोक में प्रार्थना की है । यह स्तुति निरोध के अधिकारी भक्तों ने की है, अतः यह स्तुति सर्व भावों से पूर्ण है । सर्व भावों में कृष्ण के ही उत्कर्ष का वर्णन है, भगवान् भक्त को वह वस्तु देते हैं जो योग्य हो । यदि भक्त अयोग्य वस्तु की प्रार्थना करता है, तो भगवान् वह नहीं देते हैं । गोपियों ने प्रथम अयोग्य^२ मांगा, जिससे उनका हित होने वाला नहीं था, अतः भगवान् ने नहीं दिया और देगे भी नहीं । अर्थात् यदि भगवान् गोपियों को संयोग रस दान करें, तो उनका निरोध ही

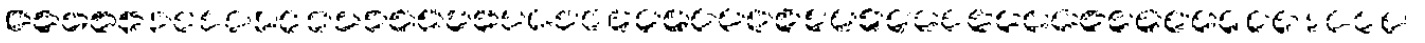
प्रत्युत्तेष्टमेव कृतमिति । किञ्च । तस्यैकस्य निवा-
रणेन समुदायपर्यवसितं यदैश्वर्यं कुलस्य तत्प्रत्ये-
कपर्यवसितमपि कृतमित्याह समेधितमिति ।
चकारान् मुक्तमपि कृतं पूर्वसंबन्धे पापादप्युद्धृत-
मिति, एवं तेन दृष्टं द्वयमेवेति तावदेवाभिनन्दि-
तम् ॥१७॥

आभास—स्वरूपमाह युवां प्रधानपुरुषाविति ।

श्लोक—युवां प्रधानपुरुषौ जगद्धेतू जगन्मयी ।

भवद्भूयां न विना किञ्चित्परमस्ति न चापरम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—आप दोनों प्रधान तथा पुरुष रूप हैं । जगत् के कारण तथा जगत् रूप हैं । आपके बिना यह जगत् कुछ नहीं है । कार्य-कारण रूप जगत् आप ही हैं ॥१८॥



सुबोधिनी—योनिबीजवदत्रापि व्याख्येयम् । प्रधानपुरुषत्वमाधिदैविकं भविष्यतीति ब्रह्मत्वेनैव स्तुतिनिर्धर्मिका पर्यवस्यतीत्याशङ्क्याह जगद्धेतु इति । कारणार्थमेव प्रधानपुरुषौ, निमित्तत्वमात्रं भविष्यतीत्याशङ्क्याह । जगन्मयाविति । विकारे वा तत्प्रकृतवचने वा मयटोर्थविधाने भगवन्मयत्वं जगतो नायाति यद्यपि तथापि भगवत्त्वेन कारणत्वेन जगद्धर्त इति वक्तुं भगवत् एव जगन्मयत्वमुक्तम् । अन्यथाऽसत् सत्ता स्याद् भगवतो वा परिणामः स्यात् । 'विष्टभ्याहमिदं कृत्स्न'मिति

वाक्याल् लोके जगतो महत्त्वविधानात्, तेन भगवन्माहात्म्यं वक्तुं अन्नमयो यज्ञ इतिवज् जगन्मयावित्युक्तम् । ननु तथापि भगवतः साधारणं कारणत्वं स्यात् कालादिवत् समवायिकारणत्वमपि साधारणमेव मृदादिवत् । तत्राह भगवद्भ्यामिति । भवद्भ्यां कृष्णरामाभ्यां विभक्तशक्तिभ्यां विना परमुत्कृष्टमपरमपकृष्टं चकारात्तदवान्तरा भेदा वा न भवन्ति, त्वन्मूलकमेव सर्वम्, यत्र स्वसामर्थ्यं बहु प्रकटयसे तदुत्कृष्टं यत्राल्पं तदपकृष्टमिति ॥१८॥

व्याख्यार्थ— यहां भी इस प्रकार व्याख्या करनी चाहिए कि एक निमित्त रूप और एक बीज रूप है । इस प्रकार व्याख्या करने से यों तो समझा जायगा कि ये आधिदैविक प्रधान पुरुष हैं । इस प्रकार ब्रह्मत्व करने से यह निर्धर्मक की स्तुति हो जावेगी ? इस शङ्का के निवारण के लिए कहते हैं कि 'जगद्धेतु' आप जगत् के कारण है, अतः निर्धर्मक नहीं हो, कारण के लिए हो यदि प्रधान पुरुष हो, तो केवल निमित्त कारण होगा ? इस संशय को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'जगन्मयो जगत् रूप होने से उपादान कारण भी आप हो, जगत् रूप होने से विकारी बन जावेंगे और मयट् प्रत्यय, विकार में होता है । इस शङ्का का समाधान करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि, मयट्, विकार अर्थ में नहीं है क्योंकि जगत् भगवान् मय नहीं हुआ है, किन्तु भगवान् जगत् मय हुए हैं, जिससे भगवान् जगत् के कारण रूप हैं, अतः मयट् प्रचुर्य अर्थ में है, अर्थात् एक भगवान् बहुत होकर जगत् रूप बने हैं । अतः यहां किसी प्रकार विकार नहीं है । यदि यों न माना जावेगा तो असत् से सत् की उत्पत्ति माननी पड़ेगी । अथवा भगवान् का विकार जगत् होना चाहिए, ये दोनों हो नहीं सकते, अतः भगवद्गीता के विष्टभ्याहमिदं कृतृत्वं' श्लोक के 'मैं इस समग्र जगत् में चारों तरफ फैला हुवा हूँ' । इस गीता वाक्य के अनुसार लोक में जगत् के रूप का महत्व बताया है और भगवान् का माहात्म्य भी कहा है । जैसे यह यज्ञ अन्नमय वा घृतमय है, सर्व वस्तु में घृत अधिक है, शुष्कता नहीं है । अन्न भी सबको अपने से भी अधिक ही मिलता है । इस प्रकार मान लेने से कालादि के समान निमित्त होने से भगवान् साधारण कारण रूप होंगे और मृत्तिका के समान समवायिकारणपन से भी साधारण बन जावेंगे । इसके उत्तर में कहते हैं कि आपने जो दो विभक्त शक्ति प्रकट दिखाई है उनके सिवाय और कुछ भी नहीं है । जगत् में जो उत्तम है, अथवा अधम है सर्व की जड़ आप ही हैं । जहां अपनी सामर्थ्य अधिक प्रकट करते हो, वह उत्तम है और जहां अपनी सामर्थ्य स्वल्प प्रकट करते हो वह अधम है ॥१८॥

१—निमित्त कारण उसे कहते हैं जो कार्य के पूर्व हो तथा जिसकी कार्योत्पत्ति में आवश्यकता हो ।

जैसे मिट्टी का घड़ा— कार्य है और चाक व चाक चलाने का डण्डा— निमित्त कारण है ।

२—उपादान या समवायि कारण उसे कहते हैं जो आदि, मध्य, अन्त में कार्य से मिला ही रहे ।

जैसे घड़े में मिट्टी ।

आभास — एवं कारणत्वेन च भगवन्तं निरूप्य भगवन्तमेवाधेयत्वेनापि निरूपयति
भेदाभेदपक्षपरिहाराय आत्सृष्टमिति ।

आभासार्थ — इस प्रकार जगत् का कारण रूप भगवान् है, यह निरूपण कर अब भेद अभेद पक्षों के निराकरण करने के लिए, कहते हैं कि जगत् का आधेय भी भगवान् हैं। 'आत्मसृष्टि' इस श्लोक से उसको समझाते हैं—

श्लोक—आत्मसृष्टमिदं विश्वमन्वाविश्य स्वशक्तिभिः ।

ईयते बहुधा ब्रह्मन् श्रुतिप्रत्यक्षगोचरम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! अपने रचे हुए इस विश्व में आप ही रचना के अनन्तर उसमें अपनी शक्तियों से प्रविष्ट होकर अनेक प्रकार से श्रुति के कहे हुए तथा प्रत्यक्ष में आने वाले पदार्थों में आप ही प्रतीत होते हैं ॥१६॥

सुबोधिनी—यद्यप्यात्मसृष्टेर्नैवं भेदाभेदो दोषाय भवति तथापि भिन्नसृष्टावापि यथेदं दूषणं न भवेत् तदर्थमेतदुच्यते । स्वेनैव सृष्टमिदं सर्वमेव विश्वं सृष्ट्यनुसारेण सृष्ट्यनन्तरमेव वा अनुपश्चादाविश्य स्वशक्तिभिरिति सर्वसामर्थ्ययुक्तः बहुधा ईयते अनन्तप्रकारेण प्रतीयत इत्यर्थः । तथापि वैदिकोर्थोन्य एव भविष्यति विरोधः शब्द इति चेदित्यत्र तथा निरूपणात्, अमप्रतिपन्नं च भिन्नं स्यात्, अतो न सर्वकर्तृत्वं भगवतः संभवतीत्या-

शङ्क्याह । श्रुतिप्रत्यक्षगोचरमिति । श्रुतिप्रति-
पादितो यो विषयः यो वा प्रत्यक्षविषयः सोऽपि
सर्वं त्वमेव, साधारणप्रत्यक्षस्य न वस्तुनिरूपक-
त्वमित्यभिप्रायेण सामान्यग्रहणम्, गोचरशब्दोऽपि
विशेष्यनिघ्नो भवति । अन्वाविश्येत्यस्य वा कर्म ।
ब्रह्मन्निति संबोधनं ब्रह्मवादे सर्वेषामुपपत्तिः
सिद्धेति नायमर्थः पुनः साधनीय इति ज्ञाप-
यितुम् ॥१६॥

व्याख्यानार्थ— यह आत्मस्वरूप सृष्टि है, अर्थात् अपनी इच्छा से बनाई हुई इस सृष्टि का सामवायिकतया निमित्त कारण आप हैं। अतः यह सृष्टि आत्म रूप है, जिससे अभेद में यह ऐच्छिक भेद दोष रूप नहीं है तो भी भिन्न सृष्टि में भी जैसे यह दूषण न हो इसके लिए ही यों कहा जा रहा है। वह प्रकार स्पष्ट कर बताते हैं कि यह सारा जगत् सृष्टि बनाने के तरीके से आपने अपने में ऐसे ही बनाया है। अनन्तर उसमें अपनी शक्तियों से प्रविष्ट हुए हैं, अतः सर्व सामर्थ्य युक्त आप अनन्त रूप दृष्टिगोचर होते हैं, तो भी वैदिक अर्थ दूसरे प्रकार का है। 'शब्द इति चेन्नान्यः' इस सूत्र में वैसा निर्णय किया हुआ है, भ्रम से जो भासमान हो, वह भिन्न होता है। अथवा जहां कोई वस्तु भ्रम से ग्रहण की जावे, वहां भेद है। इससे भगवान् सत्र के कर्ता है, यह असम्भव है। इस शब्दा के उत्तर में कहते हैं कि जिस विषय को श्रुति ने प्रतिपादन किया है और जो विषय प्रत्यक्ष है, वह सब आप ही हैं। साधारण प्रत्यक्ष से, वस्तु का निरूपण नहीं होता है। अतः साधारण शब्द न देकर 'सामान्य'।

१—सब में समान रूप से रहने वाली जाति,

*—प्रष्ठ ३६२ पर इन कारणों की व्याख्या १ व २ पाद टिप्पणी में देखे ।



शब्द दिया है, गोचर शब्द भी विशेष्य के अधीन होता है, जैसे कि मृत्तिका से घट बनता है, घट से मृत्तिका नहीं बनती है। इससे घट मृत्तमय^१ कहा जाता है मृत्तिका को 'घटमय' नहीं कहा जा सकता है, इस प्रकार परमात्मा से जगत् बनता है जगत् से आत्मा नहीं बनती है। इसलिए जगत् को आत्मा रूप कहा जाता है, विशेषता दिखाते हैं कि भगवान् अपनी शक्तियों से जगत् में प्रविष्ट हुए हैं, जिससे वह आधेय भी होता है। कहने का सरांश यह है कि इसलिए जगत् भगवद्रूप है और भगवान् भी जगद्रूप हैं। अर्थात् आधार आधेय आदि सर्व भगवान् ही हैं। यह ही शुद्ध अद्वैत ब्रह्मवाद सिद्धान्त है। हे ब्रह्मन् ! संबोधन से यह बताया है कि ब्रह्मवाद में सर्व प्रकार की उपपत्ति^२ सिद्ध है, इसलिए इस अर्थ को पुनः सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है ॥१६॥

आभास—नन्वेकस्य नानात्वं वैचित्र्यं वा लोके नास्तीति लौकिकन्यायव्यतिरेकेण केवलमलौकिकमङ्गीकुर्वाणान् प्रति लोकानुसारेणापि एकस्यानेकरूपत्वं दृष्टान्तेनाह यथा हीति ।

आभासार्थ—लोक में एक वस्तु में, नानात्व वा विचित्रता नहीं होती है। लौकिक, न्याय के सिवाय केवल अलौकिक को तो मानते हैं, उनको 'यथाहि' श्लोक में एक अनेक होता है, दृष्टान्त देकर समझाता है—

श्लोक—यथा हि भूतेषु चराचरेषु मह्यादयो योनिषु भान्ति नाना ।
एवं भवान्केवल आत्मयोनिष्वात्मात्मतन्त्रो बहुधा विभाति ॥२०॥

श्लोकार्थ—जिस भाँति चर-अचर भूतों की योनियों में पृथ्वी आदि अनेक प्रकार से रहते हैं, उसी भाँति आप अपनी इस सृष्टि में स्वतन्त्रता से प्रवेश कर बहु प्रकार से प्रकाशते हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—स्थावरजङ्गमेषु सर्वेष्वेव भूतेषु वस्तुतः पार्थिवेषु कारणभूतानां पृथिव्यादीनां वलक्षणस्य सिद्धत्वेऽपि जीवसामर्थ्येन तत्र कारणत्वेन प्रविष्टा मह्यादयो नाना भान्ति, तत्रोपपत्तिमाह योनिष्विति । चराचराणि भूतानि योनिवशादेव तथोत्पद्यन्ते इति कदाचिन्मह्यादीनामकारणता प्रतीयेत बीजस्यापि वापनानन्तरं स्वरूपतो नाशाद् योनिःवापत्तिरिति योनिष्वित्युक्तम् । तत्र मह्यादीनां चेद्बीजशक्तिवशात् तथात्वमुपपद्यते तदा बीजापन्नं ब्रह्म पूर्वमेव भगवति विद्यमानं जगद्रूपं स्वसामर्थ्येन शिष्टं स्वाभिलषितप्रकारेण योनिभावापन्ने स्वस्मिन् प्रवेशयेत् । अनन्तजगदाकारेण वृद्ध्यादिषु बह्वत्परिग्रहा-

विभावेन भगवानपि केवल एव आत्मयोनिषु आत्मरूपासु योनिषु जगद्रूपेषु बहुधा विभाति, शक्तिवशादविद्यमानस्थाने आकर्षणादनित्यता स्यादिति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह आत्मेति । सर्वत्र व्याप्त एवाकृष्ट एवाभिव्यक्तो भवतीत्यर्थः । दृष्टान्ते पारतन्त्र्यं प्रतिभासत इति तद्व्यावृत्त्यर्थं आत्मतन्त्र इत्युक्तम्, तदपेक्षयाप्यत्रानेकप्रकारत्वं ख्यापयितुं दृष्टान्तेन नानात्वे समागतेऽपि प्रकारान्विधत्ते । बहुधा इति । नन्वहमेवेत्यत्र किं प्रमाणं वादिप्रतिपन्नमतेष्वेव भिन्नतयैव तथा जगद्भूतत्विति चेत्तत्राह विभातीति । कारणपेक्षयाप्याधिक्येन कार्ये भान्ति दृश्यते यथा चित्रपटादिषु, अतो भगवानेवेत्यध्यवसीयत इत्यर्थः ॥२०॥

आभासार्थ— सत्त्व गुण के उपाधि वालों के ही अवतार होते हैं, यह मातुल आदि के मारने की कथाओं से प्रसिद्ध ही है, क्योंकि दूसरे प्रकार से उनकी उपपत्ति नहीं होती है। यों उपाधि से अवतारों के मानने से तो अवतार में बन्धन होगा, जिस शङ्का का निवारण इस 'देहाद्युपाध' श्लोक से करते हैं—

श्लोक — देहाद्युपाधेरनिरूपितत्वाद्भूवो न साक्षात्त भिदात्मनः स्यात् ।

अतो न बन्धस्तव नैव मोक्षः स्यातां निकामस्त्वयि नोऽविवेकः ॥२२॥

श्लोकार्थ — जन्म उसका होता है, जिसको देह इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, स्वभाव आदि उपाधियाँ होती हैं । आत्मा में ये उपाधियाँ नहीं हैं, अतः उसका जन्म नहीं है, आप आत्म रूप हैं, अतः आपका जन्म नहीं है । आप में भेद भी नहीं है, जिससे आप का जन्म या मोक्ष नहीं होता है । जिसका यह कारण है कि आप में अविवेक भी नहीं है ॥२२॥

सुबोधिनी — देह इन्द्रियाण्यन्तःकरणं स्वभावः कर्म कालो वा यस्योपाधिभूता भवन्ति तस्यात्मनः प्रथमं भवो भवति । ननु ममापि वसुदेवाद्भूवो दृश्यत इति चेत्तत्राह साक्षादिति नटवत् वेषार्थं जन्मप्रकाशनं न जन्म । किञ्च । आत्मनो भिदापि न स्यात् पूर्वसङ्घातपरित्यागेन सङ्घातान्तरग्रहणं भेदात् विवक्षितः । यतः अयमात्मा न हि सर्वत्र व्याप्तस्तथा भवितुमर्हति आत्मत्वान्न भेदः । भेदाभावाच्च न जन्म, यतो मूलभूते विष्णौ भगवति वा, अत एव हेतोस्तवापि न बन्धः नैव च मोक्षः येन सत्कर्मकरणार्थं धर्मस्थापनादिक कुर्यात्, अत एव बन्धमोक्षौ न स्याताम् । ननु यावदधिकारं त्वाधिकारिकमिति न्यायेन विष्णोरप्यधिकारान्ते स्मार्तसंमता मुक्तिः । ब्रह्मवादिनोप्येकदेशिनः यद्ब्रह्मविद्यया सर्वं भवन्ती मनुष्या मन्यन्ते तद्ब्रह्म किं भवेदित्याशङ्क्य 'ब्रह्म वा इदमग्र आस' 'आत्मानमेवावदह ब्रह्मास्मोति' 'तस्मात्सर्वमभव'दिति वाक्यानुरोधात् प्रपञ्च-भवनवत् ब्रह्मविद्याप्नाति पर'मित्यत्रापि ब्रह्मज्ञानेनैव ब्रह्मणोपि परत्वप्राप्तिरित्यध्वसोयते ।

कर्मकाण्डेऽपि 'परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसी'दित्युपक्रम्य सर्वेषामुत्कर्षो दर्शपूर्णमासाभ्यां निरूपितः । एवं परब्रह्मणोपि दर्शपूर्णमासाभ्यामेवात्कर्षः प्रतीयते परमेष्ठिशब्दश्च ब्रह्मपर्यायः इन्द्रे प्रजापतौ ब्रह्मन्नि'त्यत्र क्रमेण तत्प्रकरणस्यानामेवोपलम्भात्, अतः सर्वेषामेव बन्धमोक्षौ स्त इति मन्यन्ते । किञ्च । 'इमां विद्यां कृष्णाय देवकीनन्दनाय प्रोवाचे'त्युपाख्याने ब्रह्मविद्याग्रहणमपि श्रूयते, अतः सभावितत्वात् बन्धमोक्षौ प्राप्ताविति तन्निराकरणं युक्तमेव । एते तु निरूपिताः पूर्वपक्षाः अविवेकेनैव प्राप्ता इत्याह निकामस्त्वयि नोऽविवेक इति । नोऽस्माकं सर्वेषामेव भ्रान्तानां निकामः स्वेच्छया त्वयि अविवेकोऽधिकारस्तु न स्वामिपरः लाके महाराजेऽधिकारपदप्रयोगाभावात्, परमेष्ठिब्रह्मशब्दो चतुर्मुखवाचको अन्यथा 'यज्ञो वं विष्णु'रिति श्रुत्या दर्शपूर्णमासयोर्यज्ञत्वविधिव्यर्थः स्यात्, ब्रह्मविद्याधिकारोपि संदीपनेरिव लोलया, सम्भवति, अतोऽस्माकमेवाविवेकः न तु परब्रह्मणि बन्धमोक्षौ कथञ्चित् सम्भवत इत्यर्थः ॥२२॥

व्याख्यार्थ — देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, स्वभाव, कर्म और काल आदि उपाधियाँ जिसमें होती है उसका जन्म होता है । यदि आप कहो कि मेरा भी वसुदेव के गृह में जन्म हुआ है, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि आपका जन्म साक्षात् नहीं हुआ है, किन्तु नट के समान केवल वेष बदल लेने को, जन्म नहीं कहा जा सकता है । आपने तो नट को भाँति केवल वेष बदला है, जन्म लेने में भेद होता है एक सघात (देह का त्याग कर दूसरे सघात के ग्रहण करने को जन्म कहा जाता है) जिसमें भेद होता है, वह भेद भी आप में नहीं है, क्योंकि आप सब में सर्वत्र व्याप रहे हैं । जो व्यापक हैं, उसमें भेद नहीं हो सकता है । कारण कि आप आत्मा होने से सर्वत्र व्याप्त हैं, व्याप्त होने से और भेद

रहित होने से आप मूल रूप विष्णु है। अतः आपका न जन्म हो सकता है और न मोक्ष होता है। जिससे आप सत्कर्म करने के लिए धर्म की स्थापना आदि करें, यो करने की इच्छा मात्र न होने से आपका बन्धन वा मोक्ष होना ही नहीं है। विष्णु की भी स्मार्त सम्मत मुक्ति तो होती ही है, क्योंकि जब तक अधिकार है, तब तक अधिकार का कार्य करना ही पड़ता है। अतः जब तक विष्णुत्व का अधिकार है तब तक तदनुकूल कार्य किये जाते हैं। जब अधिकार का समाप्ति होती है तब कार्य करने का भी समाप्ति होता है तो स्मार्त मुक्ति हो जाती है। स्मार्त मुक्ति भी श्रुति सम्मत है, यह बताने के लिए कहते हैं कि ब्रह्मावादियों के भी एक देशी मत में ब्रह्मविद्या में सर्व होता है, तो वह ब्रह्म कैसे होता है? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'ब्रह्मवाइदमग्र आस' 'आत्मानमेवा वैदहं ब्रह्मास्मी' तस्मात् सर्वमभवन् आत्मा जो भी माने कि यह पहले ब्रह्म था मैं ब्रह्म हूँ' उसमें सब होता है श्रुति के इन वाक्यों से जैसे सर्वप्रपञ्च ब्रह्म रूप होता है वैसे ही 'ब्रह्मवित् आप्नोति पर' इस श्रुति के अनुसार ब्रह्म को जानने वाला ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्म रूप होकर परब्रह्म को प्राप्त होता है। कर्मकाण्ड में भी, परमेष्ठिनो वा एष यज्ञोऽग्र आसीत्। इत्युपक्रम्य सर्वेषामुत्कर्षो दर्शपूर्णमासाभ्यां निरूपितः। 'परमेष्ठी का यह यज्ञ आगे था' यहां से प्रारम्भ कर दर्शपूर्ण मास से सर्वका उत्कर्ष कहा है, इस प्रकार दर्श और पूर्णमास से परब्रह्म का भी उत्कर्ष प्रतीत होता है, 'परमेष्ठी' पद ब्रह्म के पर्यायरूप (बदले) में दिया है, इन्द्र, प्रजापति और ब्रह्म ये तीन शब्द उस उस प्रकरण में ब्रह्मवाचक है, इससे जाना जाता है कि बन्ध मोक्ष तो सबों का होता है। इस प्रकार वेदान्तिओं के एक पक्षवाले का मत है और विशेष में कहते हैं कि 'यह विद्या देवकी' के पुत्र कृष्ण को कही गई, इस उपाख्यान से ब्रह्म विद्या का ग्रहण सिद्ध होता है, जिससे बन्ध और मोक्ष की सम्भावना होने से उनका निराकरण करना योग्य ही है। ये तो अविवेक से प्राप्त पूर्व पक्ष है, जिनका निरूपण किया गया है। हम सब भ्रान्त होकर आपमें अविवेक की कल्पना करते हैं। वास्तव में आप में अविवेक है ही नहीं, क्योंकि अविवेक अर्थात् अधिकार तो सेवक को मिलता है। स्वामी में अधिकार का स्थान (गुञ्जाइश) ही नहीं है। कारण कि स्वामी तो स्वतन्त्र स्वेच्छावान् होता है। लोक में भी महाराजा में अधिकार का प्रयोग नहीं होता है अर्थात् महाराजा अधिकारी नहीं कहा जाता है, परमेष्ठी तथा ब्रह्म शब्द यहाँ ब्रह्मा के वाचक हैं यदि यों न माना जावेगा तो 'यज्ञ विष्णु' हैं इसमें जो दर्शपूर्ण मास को यज्ञकी विधि कही है वह व्यर्थ होगी, ब्रह्म विद्या का अधिकार सांदीमिनी की तरह लीला से ही संभव है, अतः हमारा ही अविवेक है जो आप में बन्ध मोक्ष मानते हैं, आप परब्रह्म हैं। परब्रह्म में कभी भी यह संभव नहीं है ॥२२॥

ग्राभास—तर्हि कथमवतार इति चेत्तत्राह त्वयोदित इति ।

आभासार्थ— तो अवतार कंसे होते हैं ? इसका उत्तर 'त्वयोदित' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—त्वयोदितोऽयं जगतो हिताय यदा यदा वेदपथः पुराणः ।

वाध्येत पाषण्डैरसद्भिस्तदा भवान्सत्त्वगुणं बिभर्ति ॥२३॥

श्लोकार्थ—जगत् के हित के लिए कहा हुआ आपका यह पुरातन वेदमार्ग, जब-जब असत् पाषण्ड के पंथों से बाधित हो जाता है, तब-तब आप सत्त्वगुण को धारण करते हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—यदेव त्वयोदितो वेदमार्गः पाष-
 ण्डपथैविरुद्धमार्गप्रतिपादकैः पुरुषैः बाध्येत तदा
 तेषां च बलिष्ठत्वात् कालवशात् सर्वेषामेव बुद्धि-
 नाशाद् भगवानेव शक्त इति तदा भगवान् सत्त्व-

गुणं विभति भगवद्गृहीतं सत्त्वं बलवत् सद् रज-
 स्तमसोरभिभावकं भवतीति । अनेन वैषम्यदोषः
 परिहृतः । नैष्वर्ण्यदोषस्त्ववतीर्णो नास्तीति न
 तन्निषेधकं वचनम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ— जिस समय आपके कहे हुए वेद पथ को, विरुद्ध मार्ग का प्रतिपादन करने वाले
 पुरुष बाधा पहुंचाते हैं और वे बलिष्ठ होने से तथा काल के कारण सबों की बुद्धि का नाश हो जाने
 से उस बाधा को मिटाने में तब भगवान् ही शक्त होते हैं, अतः भगवान् सत्त्व गुण को धारण करते
 हैं, जिससे सतोगुण बलवान् बन के रजो और तमो गुण को दबा देता है, इससे भगवान् में विषमता
 का अभाव बताया है, अवतार समय नैष्वर्ण्य दोष नहीं होता है जिससे उसके निषेध का कोई वचन
 नहीं कहा है ॥२३॥

आभास—नन्विदानीं वेदानां पीडाभावाद् व्यासावतारस्य जातत्वाद् बुद्धावतार-
 स्याद्याप्यजातत्वात् किमनेनावतारेणेत्याशङ्क्याह स त्वं प्रभोद्येति ।

आभासार्थ— अब व्यास का अवतार हुआ है, बुद्ध का तो नहीं हुआ है, जिससे वेदों को तो
 पीड़ा नहीं है, तो फिर इस अवतार धारण का क्या प्रयोजन है ? जिसका उत्तर 'स त्वं प्रभो' श्लोक
 में देते हैं—

श्लोक—स त्वं प्रभोऽद्य वसुदेवगृहेवतीर्णः

स्वांशेन भारमपनेतुमिहासि भूमेः ।

अक्षौहिणीशतवधेन सुरेतरांश-

राज्ञाममुष्य च कुलस्य यशो वितन्वन् ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! वही आप आज अपने अंश बलभद्रजी के साथ भूमि के भार
 का उतारने के लिए यहाँ वसुदेवजी के घर में प्रकट हुए हैं, कारण कि आपको दैत्यों
 के अंश रूप राजाओं की सैकड़ों अक्षौहिणी सेना का नाश करना है तथा इस यदुकुल
 के यश का विस्तार करना है ॥२४॥

सुबोधिनी—स एव त्वं सर्वरक्षको न केवल
 वेदमात्ररक्षकः । तदाह प्रभो इति । क्रियाशक्तेरपि
 पूर्णया विद्यमानत्वाद् वसुदेवस्य सत्त्वरूपस्य
 गृहेभिमानस्थानेभिमानप्रकारेण पालयिष्यामो-
 त्यवतीर्णः । स्वांशेन बलभद्रेण सह इहैवागत्य
 भारमपनेतुं न तु वैकुण्ठे स्थित्वा मनसा, अव-

तीर्णोसीति संमतिमिव पृच्छन्नाह भावस्य महत्त्व-
 ख्यापनायाह सुरेतराणां दैत्यानामक्षौहिणीनां
 शतस्य वधेनेति । ननु न दैत्याः साम्प्रत प्रतीयन्त
 इत्याह राज्ञामिति । प्रयोजनान्तरमप्याह अमुष्य
 वसुदेवकुलस्य यशो वितन्वन्निति रूपद्वयेनावतर-
 णप्रयोजनद्वयमुक्तम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ— वह ही आप, केवल वेद के रक्षक नहीं है, किन्तु समस्त प्राणी मात्र के रक्षक हैं

क्योंकि आप 'प्रभु' हैं क्रियाशक्ति भी आप में पूर्ण रूप से विद्यमान है । अतः आपने सत्त्वरूप वसुदेवजी के अभिमान स्थान गृह में प्रकट होकर यह दिखाया है कि अभिमान प्रकार से ही सबकी पालना करूंगा डरपोकों की तरह नहीं पालूंगा । इस प्रकार पालने की इच्छा वंकुण्ठ में बैठे हुए केवल मन से नहीं की है, किन्तु, अपने अंश बलभद्रजी के साथ भूभार उतारने के लिए यहां को भूमि पर प्रकट हुए हैं । यह इस प्रकार कहा है कि मानों इस कथन की भगवान् से सम्पत्ति ले रहा है । इस अवतार धारण करने से आपका महत्त्व विशेष प्रसिद्ध होगा, कारण कि आप सैकड़ों दैत्यों की अक्षौहिणी सेना को नाश करेंगे । यहां दैत्य तो दिखाई नहीं देते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि दैत्य ही राजा बन आए हैं । आपके प्रकट होने का दूसरा कारण है कि आपको वसुदेव के कुल के यश का विस्तार करना है । दो रूपों से प्रकट होने के दो कारण बता दिए हैं ॥२४॥

आभास—एवं भगवदवतारं प्रसङ्गात् कर्माणि च स्तुत्वा भगवदागमनं स्तौति अद्येश न इति ।

आभासार्थ— इस प्रकार प्रसङ्ग से अवतार और उसके कर्मों की स्तुति कर अब भगवान् के पधारने की 'अद्येश नो' श्लोक से स्तुति करते हैं—

श्लोक—अद्येश नो वसतयः खलु भूरिभागा

यः सर्वदेवपितृदेवनृदेवमूर्तिः ।

यत्पादशीचसलिलं त्रिजगत्पुनाति

स त्वं जगद्गुरुरधोक्षज याः प्रविष्टः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे ईश ! आज हमारे घरों का भाग्य उदय हुआ है; क्योंकि जो सर्व-देव, पितृदेव और नृदेव की मूर्ति हैं और जिसके चरण से निकली हुई गङ्गाजी त्रि-जगत् को पवित्र करती है, वे जगत् के गुरु अधोक्षज आप इन घरों में स्वयं प्रविष्ट हुए हैं ॥२५॥

सुबोधिनी—नो वसतयो गृहा अद्य भूरिभागा अस्मत्कुलेऽवतीर्ण इति वयं पूर्वमेव भूरिभागाः । वसतयस्त्वद्य । न इति बहुवचनं आत्राद्यभिप्रा-यम् । ननु निरोधाधिकारिणो भवन्तः तदर्थमाग-मनं न तु धर्मार्थमिति कथं वसतीनां कृताथतेति चेत्तत्राह ईश इति । उभयमपि कर्तुं समर्थः । ननु भगवत्सम्बन्धादेव तेषां भाग्यमस्तु, पृथक् किमिति निरूप्यत इत्याशङ्क्याह भूरिभागा इति । मद्भाग्यं चेद् यदैव ममेच्छा तदैवागच्छेदतो गृह-स्यैव भाग्यम् । ननु गृहं हि त्रिगुणात्मकं गुणातीतो

हि भगवदनुगुणो भवतीति कथमेवमुच्यत इति चेत्तत्राह यः सर्वदेवपितृदेवनृदेवमूर्तिरिति । गृहा-णामपि स्वोत्कर्षो येन सिध्यति तदपि रूप भग-वति वर्तते, गृहं हि देवतायोग्यं भवति पितृणां नराणां च । त्रयो हि लोके गृहे सुखिता भवन्तः, तेषां स्वदेवत्वमुत्कर्षः । देवमात्रे संतुष्टे गृहं युक्तं भवत्यन्यथा व्यर्थम्, एवमितरयोस्तत्र देवोत्तमो भगवानिति तत्प्राप्तौ भवत्येव सर्वोत्कर्षो योग्यता च एवमितरयोः । किञ्च । शुद्धिरप्यपेक्षिता सापि जातेत्याह यत्पादशीचसलिलमिति । पादशीच-

[illegible]

सलिलं गङ्गा सा परम्परासंबद्धापि देशकालव्य-
वहितापि जलान्तरेण मिश्रितापि लोकत्रयमपि
पुनाति, अत्र तु साक्षादेव पततीति किं गृहभाग्यं
वक्तव्यमित्यर्थः । ननु रूपभेदाद् वैलक्षण्यं भवि-
ष्यतीत्याशङ्क्याह स त्वमिति । अत्रापि त्वमेव

प्रमाणमित्याह जगद्गुरुरिति । तर्हि कथं लोका
न जानन्तीत्याशङ्क्याह अधोक्षजेति । बहिर्मुख-
त्वादज्ञानम् । या वसतोः । पुनर्ग्रहणं तासामभि-
नन्दनार्थं च ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—आप जिस दिन हमारे कुल में उत्पन्न हुए हैं, हम तब ही से भाग्यशाली हुए हैं, किन्तु हमारे घर और घर सम्बन्धी भाई बन्धु सब आज भाग्यवान् बने हैं। कारण कि घर में तो आज पधारे हो, यदि आप कहो कि हम तो आपको निरोध के अधिकारी जानकर उसके लिए पधारे हैं न कि धर्म के लिए अर्थात् घर को पवित्र करने के लिए नहीं पधारे हैं ? जिसके उत्तर में अक्रूरजी कहते हैं कि आप ईश हो अर्थात् सर्व कुछ करने के लिए समर्थ हैं, अतः दोनों कार्य करने में समर्थ हो। यदि आप कहो कि तुम्हारे सम्बन्ध के कारण ही घर भाग्यवान् है। अपने से पृथक् उनको भाग्यशाली क्यों कहते हो ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि मेरे सम्बन्ध से उनका भाग्य तब मैं मानूँ जब कि मेरी इच्छा से आपका आगमन हुआ हो। अब तो आप स्वयं पधारे हो, अतः गृह के ही भाग्य हैं। यह आपका कहना ठीक नहीं है क्योंकि घर तो त्रिगुणात्मक है और भगवान् के योग्य तो वह है जो निर्गुण होवे। जिसके उत्तर में कहते हैं कि आप सर्वदेव, पितृदेव और नृदेव की मूर्ति हैं। अतः घरों का जिससे उत्कृष्ट होता है, वह मूर्ति भी आपमें ही विद्यमान है, क्योंकि घर, पितर, देवता और मनुष्य सबके योग्य होता है। पितर, देवता और मनुष्य तीनों ही घर में सुखी होते हैं। वे घर अपने देवता की प्रसन्नता के कारण ही उत्कृष्ट होते हैं, केवल देव के प्रसन्न होने से घर, घर की योग्यता वाला होता है यों नहीं होवे तो घर व्यर्थ है। इस प्रकार पितर तथा मनुष्य की उत्तमता भी उनके देवताओं के प्रसन्न होने पर समझनी चाहिए। उसमें भी यदि देवोत्तम भगवान् प्रसन्न होकर घर में पधारे तो घर की सबसे उत्तमता तथा योग्यता होती है। इसी प्रकार पितर तथा मनुष्य की भी उत्तमता और योग्यता तो हुई किन्तु शुद्धि की भी अपेक्षा है। जिसके लिए कहते हैं कि जिसके पाद से निकली हुई गङ्गाजी तीनों लोकों को पवित्र करती है, वह भी साक्षात् नहीं, किन्तु परम्परा से उसका जल अपने पास आवे, देश और काल का अन्तराय भी होवे, दूसरा भी जल उसमें मिल जावे, तो भी सबको पवित्र करता है तो, यहां तो साक्षात् वे चरण हमारे घरों में पड़े हैं तो घर के भाग्य की क्या सराहना की जावे ? फिर भी रूप के भेद में भेद होगा, जिसके उत्तर में कहते हैं कि वह ही आप है। इसलिए आप ही प्रमाण हैं, क्योंकि आप जगत् के गुरु हैं, यदि मुझको तुम लोक गुरु कहते हो तो लोक मुझे क्यों नहीं लोक गुरु कर जानते वा मानते हैं ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि आप 'अधोऽज्ञ' हैं ये लौकिक इन्द्रियां बहिर्मुख हैं, अतः उनमें अज्ञान है। जिससे वे आपको जान नहीं सकते हैं। दूसरी बार घर में प्रवेश अभिनन्दन के लिए कहा है। १२५।

आभास—एवं भगवदागमनं स्तुत्वा भगवति प्रपत्तिं स्तौति स्वचिकीर्षितां कः पण्डित इति ।

श्राभासार्थ - यों भगवान् को पधारने की स्तुति कर अब अपनी इच्छित शरणागति को 'क पण्डित' श्लोक से बखानते हैं—



श्लोक—कः पण्डितस्त्वदपरं शरणं समीयाद्-

भक्तप्रियाहतगिरः सुहृदः कृतज्ञात् ।

सर्वान्ददाति सुहृदो भजतोऽभिकामा-

नात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे ईश ! कौन ऐसा पण्डित है, जो आपकी शरण छोड़ दूसरे की शरण ग्रहण करे ? कारण कि आप भक्त प्रिय हैं, सत्यवक्ता हैं, सब के हितकारी सुहृद हैं, कृतज्ञ हैं, भक्तों की समस्त कामनाओं को पूर्ण करते हैं, भक्त अपनी आत्मा दे तो आप अपनी आत्मा भी दे देते हैं; जिससे आप में देहवत् वृद्धिह्रास नहीं है, अर्थात् सदैव आप एक रस हो ॥२६॥

सुबोधिनी—स्तुत्यनन्तरं हि फलं प्रार्थनीयं तत्प्रपत्त्यातिरिक्तं नास्तीति ज्ञापयितुं प्रपत्तिमेव स्तोति । प्राणिनां कर्तव्या प्रपत्तिरेव । कर्तव्या-कर्तव्यविवेकवान् हि पण्डितः, इममेवायंमधिकृत्य 'पण्डितो बन्धमोक्षविदित्युक्तम् । तत्रानायासेन फलसिद्धिः । विद्यमाने स्वोत्कृष्टे समाश्रयणमेव युक्तम् । आश्रयो हि स्वाधीनं सर्वमेव यच्छति । मनस्तु क्षणिकमिति सर्वपदार्थाभिलाषि भवतीति कदा वा किं प्रार्थयेदिति तत्तत्साधनेष्वशक्तो हि प्रपत्तिमार्गमवलम्बते । तदपि कृत्वा चेत्फलं न प्राप्नुयादसमर्थमजनात् तदा प्रपत्तिर्व्यर्थेति को वा विवेकी त्वत्तोपरं शरणं सम्यगियात्, साधनत्वेन गुरुत्वेन वानुवृत्तिं कुर्यात् न तु शरणं गच्छेत् । नन्वाहत्य कथं त्वं प्राप्तव्यः । अतोऽन्यानुवृत्तिः प्रथममावश्यकीति कथमन्यनिरोधः क्रियत इति चेत्तत्राह त्वदपर इति । त्वमपरो यस्य नियामकत्वेन न बुद्ध्या गृहीतः । गुर्वदिस्तु नैवविधो भवतीति न दोषः । भगवतः शरणागतो हेतूनाह भक्तप्रियाहतगिरः सुहृदः कृतज्ञादिति । षट्हेतवो हि भगवति । तत्र फले हेतुद्वयं साधने चतुष्टयमिति । साधनेपि स्वधर्मपुरस्कारेण आश्रितधर्मपुरस्कारेण हेतुवन्तव्यः । अन्यथा फलं काकतालीयं स्यात्, यो हि सेवकानपेक्षते स सेवकेभ्यः प्रयच्छति स ईश्वर एव

भवति, तत्रापि सेवकधर्मं चेदुरीकुर्यात्तदैव सेव्यो भवति तदाह भक्तप्रियादिति । लोका हि फलार्थं सेवमानाः सेवायामशक्ताश्चेन्न फलं प्राप्नुवन्ति, भजनानुरूपं च प्राप्नुवन्ति न हि प्रभुस्तस्य क्लेशं मन्यतेऽन्यथा दुःखदे साधारणे देशे काले च तान् सर्वान् न प्रवर्तयेत् यथा पुत्रम् । भगवांस्तु न तथा भक्तम्, अतो भगवानेव सेव्यः । किञ्च ; स्वधर्ममप्यवेक्ष्य भक्तहितं करोतीत्याह ऋतगिर इति । सत्यवाक् सत्यसङ्कल्पः 'संग्रामे च प्रपन्नानां तवास्मीति च यो वदेत्' । 'कौन्तेय प्रतिजानीही'त्यादिवाक्यात् । यो हि सेवकक्लेशं सहते स न मनसि शुद्धः, यो वाचि न दृढः स वाचि तथा । यस्तु समागतेवसरे मित्रमिव कार्यं न करोति शरीरतः स काये तथा । एतत्त्रयं लौकिकं स्वतः कर्तव्यम् तस्य कृतं जानातीति तद्धर्मकरणे हेतुरुक्तः । दोषाभावा एते, आत्मवत् पुत्रवच्च भक्ताः कायवाङ्मनोभिः विषयीकर्तव्याः इति गुणः, प्रह्लादे सर्वापित्सु मनसा हितं कृतवान् वाचा गोपिकादिषु कायेनास्मास्विति । एवं भावे भगवद्गुणे न कोपि सन्देहः, कृतज्ञत्वाभावे प्रवाहवत् कारणान्नोत्कर्षः स्यात्, फलदातृत्वमाह सर्वान् ददातीति । परेषामनिष्टं स्वानिष्टं वा कर्तुं वाञ्छन्ति तदा न ददातीति ज्ञापयितुं सुहृद इति । शुद्धान्तकरणस्य स्वद्रोहं परद्रोहं वाऽवि-

चारयतः सर्वानेव कामान् ददाति, दाने हेतुर्भज-
नमित्याह भजत इति । एकस्मिन्नपि प्रार्थिते
अभितः सर्वतः प्रयच्छति । नन्वन्येऽप्येतादृशा
भवन्तीत्याह आत्मानपीति । अत्र दाने भजनमेव
हेतुस्तेन तारतम्येव सर्वं सङ्गच्छते । यः स्वात्मानं
भगवते प्रयच्छति भगवानपि तथा तस्मै प्रय-
च्छतीति । नन्वेतादृशमपि लोके क्वचित्सिद्धमिति
चेत्तत्राह यस्योपचयापचयौ न स्त इति । यत्संब-

न्विनः सर्वस्यैवोपचयापचयाभावः । उभश्चिह्न-
पणमुपचितं चेद्दत्तं तस्य नापचयं करोति । अप-
चितं चेद्दुःखाधिकं तत्कदाचिदपि नोपचितं
करोति । अथवा । एकरूपमेव सर्वेभ्यो भक्तेभ्यः
प्रयच्छति । न तु विषमम्, वस्त्वेव तथेति नेच्छापि
तत्र प्रयोजिकेति धर्मिणि तौ धर्मौ
निरूपितौ ॥२६॥

ध्यातव्यार्थ—इस प्रकार आगमन की स्तुति के अनन्तर फल की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करना चाहिए। वह फल शरण ही, उसके सिवाय कोई फल नहीं है। इसलिए शरण की स्तुति करते हैं। प्राणियों को प्रभु की शरण ही लेनी चाहिए। पण्डित वह है जो समझ सकता है कि मुझे यह करना चाहिए और यह नहीं करना चाहिए, जो ऐसी बुद्धि वाला नहीं है वह पण्डित नहीं। इसलिए ही कहा है कि 'बन्ध और मोक्ष' को जो समझ सकता है, वह पण्डित है। जिसके करने से बन्ध हो, वह अकर्तव्य है अर्थात् नहीं करना चाहिए और जिसके करने से मोक्ष है वह कर्तव्य है अर्थात् उसको करना चाहिए। अतः भक्ति आदि साधनों से भी शरण अनायास ही फल देता है। इसलिए जब स्वतः सर्व साधनों से श्रेष्ठ शरण है, तब उसका आश्रय करना ही योग्य है। आश्रय ही ऐसा साधन है, जो अपने आधीन है। जिससे वह सर्व देता है। मन तो चञ्चल है, क्षण क्षण में नवीन नवीन पदार्थ को इच्छा करता है, तब जीव क्या क्या मांगे? और कब मांगे और किससे मांगे? प्रत्येक पदार्थ को प्राप्ति के लिए पृथक् पृथक् देवों की आराधना रूप साधन करने पड़ते हैं। जीव इतने साधन करने में अशक्त है, अतः जीव शरण मार्ग का ही आश्रय लेता है, किन्तु वह शरण भी अन्य देवों की शरण है तो उससे परम उत्कृष्ट फल न मिलने से वह शरण भी व्यर्थ है। अतः बुद्धिमान् अकर्तव्य तथा कर्तव्य को समझने वाला आपके सिवाय अन्य की शरण कैसे जावेगा? अर्थात् नहीं जावेगा। आपकी ही शरण लेगा, दूसरों के साधनपन से, वा गुरुपन से भले मान ले, किन्तु उनकी शरण ग्रहण तो कभी भी पण्डित नहीं मानेगा। अन्य गुरु आदि का साधन रूप से भी त्याग करने से सीधे आप प्राप्त नहीं होंगे अतः जब प्रथम अवस्था में यों करना आवश्यक है, तब अन्य की शरण के लिए रोक कैसे की जाती है? इसके उत्तर में कहते हैं कि अन्य वह है जिसका आपने बुद्धि से ग्रहण नहीं किया है, किन्तु केवल नियामक हो, इससे गुरु आदि वैसे नहीं हैं, अर्थात् आपसे पृथक् नहीं हैं, जिससे उनके आश्रय करने में दोष नहीं है।

भगवान् की ही शरण लेने में छः कारण कहते हैं :—उन छ में दो हेतु, फल में और चार हेतु साधन में है। साधन में जो हेतु हैं वे भी अपने धर्म से और आश्रित के धर्म से कहने चाहिए, जो यों नहीं कहा जावेगा तो फल “काकतःलीय” न्याय के सदृश मिला हुआ समझा जावेगा, अब आश्रित के धर्मानुसार शरणागति का कारण कहते हैं, जिसको सेवक की अपेक्षा है, अर्थात् जिसको सेवक चाहिए वह सेवकों को देता भी है वह ही स्वामी कहा जाता है। इसमें भी जब कोई भी स्वामी सेवक के धर्म को स्वीकार करता है अर्थात् सेवक को जिस फल के प्राप्ति की इच्छा है वह देना स्वीकार करता है तब स्वामी सेव्य होता है, इसलिए आप ही भक्त प्रिय है आप लौकिक प्रभु के समान नहीं

करते हो, लौकिक स्वामी तो फल के लिए सेवा करने वाले जब अशक्त होने से सेवा नहीं करते हैं तब उनकी वे स्वामी फल नहीं देते हैं, वे सेवक जितनी सेवा करते हैं, उतना ही फल पा सकते हैं, विकट देश वा समय में यदि सेवा करने में अशक्त होने से कैसे भी दुःखी हो तो भी उसको वहाँ भेजते हैं लौकिक स्वामी उसके दुःखों पर ध्यान नहीं देते हैं, सेवक पर पुत्र के सदृश दया नहीं करते हैं किन्तु भगवान् यों नहीं करते हैं भगवान् (आप) को तो भक्त प्यारे हैं अतः भगवान् ही सेव्य है, भगवान् तो अपना ईश्वर धर्म ही देखकर भक्त का हित करते हैं जिसकी पुष्टि में कहते हैं कि भगवान् सत्य सङ्कल्प हैं, जो संग्राम में शरण आकर कहता है कि 'मैं आपका हूँ' और स्वयं गीता में अर्जुन द्वारा प्रसिद्ध कराया है कि मेरा भक्त नाश नहीं होगा इत्यादि वाक्यों से भक्त का सर्व प्रकार हित कर उसको सुखी हा करते हैं, जो स्वामी सेवक के क्लेश को सहन करता है उसके क्लेश को मिटाता नहीं है उस स्वामी का मन शुद्ध नहीं है, जो अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ़ नहीं है उसकी वाणी पवित्र नहीं है, समय आने पर शरीर से मित्र को भांति सेवक की सहायता नहीं करता है, उस स्वामी की काया अशुद्ध है, ये तीन ही लौकिक हैं, जिनको स्वतः करना चाहिए। इस कृति को जानते हैं, जिससे इन धर्मों के करने में यह हेतु बता दिया है। यहां तक ये सब दोषों के अभाव बता दिए। अब गुण बताते हैं, अपने और पुत्र के समान भक्तों का हित काया, वाणी तथा मन से करते हैं। यह गुण है, प्रह्लाद पर आई हुई समग्र आपदाओं को मिटाया, यह मन से हित किया, वाणी से उद्धवजी द्वारा उपदेश भेजकर गोपियों का हित किया, काया से हम लोगों का हित कर रहे हो इस प्रकार के भगवद्गुण में कुछ भी सन्देह नहीं है। यदि भगवान् में कृतज्ञता नहीं होवे तो इस प्रकार घारा प्रवाह की तरह कारणों के कहने से भी उनका उत्कर्ष प्रकट न होवे।

अब उनके फलदातापन को कहते हैं। यदि कोई भी अपना अथवा अन्य का जिससे अनिष्ट हो वैसी वस्तु मांगता है तो प्रभु नहीं देते हैं। कारण कि आप सहृद हैं अर्थात् शुद्ध अन्तःकरण वाले हैं। सब के मित्र हैं सब का ही हित चाहते हैं, अतः जो मनुष्य अपना अथवा अन्य के द्रोह का विचार नहीं करता है, उसको सब कुछ देते हैं। क्यों देते हैं? क्योंकि वह भजन करता है, भजन करने वाला यदि एक ही वस्तु मांगता है, तो भी सब कुछ दे देते हैं। वैसे तो भजन करने वाले अन्य भी होंगे? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'आत्मानपि' यद्यपि भगवान् भजन करने वालों को देते हैं, किन्तु जैसे भजन करने वाले भी समान भजन नहीं करते हैं, उनके भजन में तारतम्य है वैसे दान में भी समानता नहीं होती है। भजनानुकूल ही फल मिलता है। जैसे जो भक्त भगवान् को आत्मा तक सब कुछ दे देता है उसको भगवान् भी वैसा ही देते हैं। लोक में वैसा कोई दृष्टान्त है? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'भगवान् से जिसका सम्बन्ध है उसमें वृद्धि तथा ह्रास नहीं होता है, अतः दोनों का निरूपण ही योग्य है। भगवान् जिसको जो विशेष सुख आदि देते हैं तो उसको फिर कम नहीं करते हैं। यदि दुःखादिक देते हैं, तो उसको फिर बढ़ाते भी नहीं है। अथवा सर्व भक्तों को समान रूप ही देते हैं विषम नहीं देते हैं। भगवान् में वृद्धि ह्रास है ही नहीं, सदा एक रस रूप है। वस्तु ही वैसी है, विषमता करने की इच्छा भी नहीं है, जो उच्छ्रा वहां प्रयोजक है, इस प्रकार धर्मों में दोनों धर्म निरूपण किए हैं ॥२६॥

आभास—एवं सर्वप्रकारेण स्तुत्वा किञ्चित् प्रार्थयते दिष्ट्या जनार्दनेति ।

आभासार्थ—यों सब तरह ने स्तुति कर 'दिष्ट्या जनार्दन' श्लोक से कुछ प्रार्थना करते हैं—



श्लोक—दिष्ट्या जनार्दन भवानिह नः प्रतीतो

योगेश्वरैरपि दुरापगतिः सुरेशः ।

छिन्द्याशु नः सुतकलत्रधनामगेह-

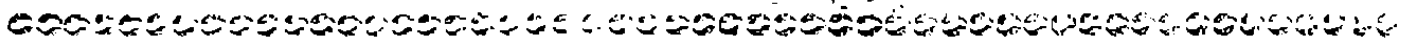
देहादिमोहरशनां भवदीयमायाम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे जनार्दन! देवों के ईश तथा योगेश्वर भी जिनके स्वरूप को कठिनाई से प्राप्त कर सकते हैं, उन आपने यहाँ आज मुझे दर्शन दिए हैं । यह बड़े भाग्य का विषय है एवं प्रसन्नता का द्योतक है, अतः अब शीघ्र ही हमारे पुत्र, स्त्री, धन, संबंधी गृह और देह आदि में आपकी माया से प्राप्त मोह रूप बन्धन को तोड़ दो ॥२७॥

सुबोधिनी—पूर्वमपि वयं भक्ताः परमापात-
तस्त्वस्वरूपाज्ञानात् अद्य तु नोस्माभिरिह भवान्
प्रतीतः । अतो ज्ञाते कल्पतरौ अभिलषिते विलम्बो
न युक्त इति प्रार्थनीय इति भावः । कथमेतावता
कालेन न ज्ञातवान् कथमद्यैव ज्ञातवानित्याशङ्क्य
हेतुद्वयमाह दिष्ट्या जनार्दनेति । भाग्यमद्यैवो-
न्मुखम् । जनयतीति जना ताम् अर्दयतीति ।
इदानीमेवाज्ञानं नाशितवान्, प्रसन्नो हि स्वधर्मा-
नाविष्करोति सेवकधर्माश्चातो भाग्यं मोहनाशं
च प्रकाशितवानित्यर्थः । आगमनेन प्रसादो निरू-
पितः, साधनान्तरं व्यावर्तयति । योगेश्वरैरपि
दुरापगतिरिति योगवशीकरणादिकं स्वसाम-

र्थ्यम् । न हि नियताः स्वधर्मा अन्येन बोधयितुं
शक्यन्ते, दुःखेन प्राप्या गतिर्यस्येति । भगवदभि-
प्रायापरिज्ञानमुक्तम् । स्वाधीने हि मयित्वा
वह्निवत्साधनीयम् । तदेकः सङ्घातो भगवता
दत्त इति तावन्मात्रे वश्यता भवति नान्यत्रेति
सुष्ठूक्तम् । अलौकिकेनापि सामर्थ्येन न भवती-
त्याह सुरेशैरिति प्रार्थनामाह छिन्द्याश्विति ।
सुतादिषु मोहरशनां छिन्धि, यतस्त्वयैव सम्पा-
दितेत्याह भवदीयमायामिति । अन्ते छेदनं वार-
यति आश्विति । अत्यन्तं दृढमूले छिद्यमाने पुनरु-
द्वगमश्छेदके वैमनस्यं च भविष्यतीति ॥२७॥

व्याख्यान—पहले भी हम भक्त थे, किन्तु आपके स्वरूप का ज्ञान नहीं था । जिससे पूरे भक्त नहीं थे, नाम मात्र के ही थे । आज तो आपने यहाँ पधार कर अपने स्वरूप का ज्ञान कराया है, अतः जब कल्पवृक्ष को पहचान जावे तब उससे अपने अभिलषित जनोरथ के मांगने में विलम्ब करना योग्य नहीं है । जिससे प्रार्थना करनी ही योग्य है, यह भाव है । यदि कहो कि इतने दिन नहीं जाना, आज ही कैसे पहचान लिया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि हे जनार्दन ! एक तो आप अविद्या को नाश करने वाले प्रभु हैं, जब भी अविद्या नाश करो । दूसरा प्रसन्नता का विषय है कि आज हमारे भाग्य का उदय हुआ है । इन दो कारणों से अब आपको पहचाना है । कारण कि जब भगवान् प्रसन्न होते हैं तब अपने धर्मों को प्रकट करते हैं तथा सेवक के धर्मों का भी प्राकट्य कराते हैं । अतः भाग्य का अभ्युदय और अज्ञान का नाश आज हुआ है । वह सर्व कृपा से होता है, वह कृपा आपने पधार कर की है । आप के ज्ञान होने का कृपा के सिवाय अन्य कोई साधन नहीं है । कारण कि योगी योग से अपनी सामर्थ्य से अर्थात् योग बल से वश करते हैं, किन्तु आप उन योगेश्वरों से जाने भी नहीं जाते हैं तो वश क्या होंगे ? आपके जो नियत स्वधर्म है, आपको अन्य साधन नहीं जना सकते हैं । इससे यह बताया है कि भगवान् के अग्रिप्राय को कोर्ट नहीं समझ सकते हैं । जैसे काष्ठ के भीतर



अग्नि है जिसको निकालने के लिए काष्ठ को मन्थन करना अपने आधीन है । इस प्रकार भगवान् ने जो यह संघात दिया है, वह अपने आधीन है । जिसके द्वारा दयालु भगवान् को प्रार्थना से वश कर अपने कार्य की सिद्धि की जा सकती है । यह बहुत अच्छा कहा है कि दूसरी तरह अर्थात् इसके सिवाय काय सिद्धि नहीं होती है । यदि अलौकिक सामर्थ्य की प्राप्ति की जावे तो उससे भी नहीं होती है । कारण कि अलौकिक सामर्थ्य वाले देवों के ईश भी आप को पा और जान नहीं सकते हैं । यो कहकर अब प्रार्थना करते हैं पुत्र आदि में जो मोह बन्धन है, उसको तोड़ो । यदि कहो कि मैं क्यों तोड़ूँ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यह बन्धन आपने ही अपनी माया द्वारा किया है । अतः उसको केवल तोड़ो ही नहीं, किन्तु जड़ से निकाल दो । केवल ऊपर से काटने से फिर उगेगा तो काटने वाले से वैमनस्य हो जावेगा, इसलिए जड़ से ही निकाल के फेंकने का कृपा कोजिए ॥२७॥

आभास—भगवतोद्दयं भावः शास्त्ररहस्यसिद्धः । योहि यादृशः स तादृश एव वर्तव्यः भक्तिवशादन्यथाकरणेऽयुक्तता भवतीति, भक्तिमध्यमाज्ञानम् । यथा शृङ्गार-लोला गोप्यैव तथावतारलीलापि गोप्यैव, तां यः प्रकटीकुर्वति स नाभिप्रेत इति विपरीतं वदेत्, यथा गोपिकागीतेन गोपिकास्त्यक्ताः तथायमपि लीलार्थमुत्पादितः स्वरूपा-परिज्ञानाद् बहिर्मुखतया ज्ञानिनमात्मानं मन्यमानः तत्प्रार्थयते । अतोऽस्य सर्वाण्येव वचनान्यसबद्धानि अतस्तन्निवारणार्थं भगवान्मोहयितुं प्रवृत्त इत्याह इत्यर्चित इति ।

आभावार्थ—जो जैसा हो, उसको वैसा ही करना चाहिए भक्ति, प्रेम के वश होकर यदि विशेष की जावे तो वह अयोग्य होगी, इस प्रकार का भगवान् का भाव शास्त्र के रहस्य से सिद्ध है । यों भगवान् का कहना तो 'अहं भक्त पराधीनः' वाक्य के विरुद्ध होगा, अतः अक्रूर ने जो मांगा व देना चाहिए था । जिसके उत्तर में कहते हैं कि अक्रूर की ज्ञान रूप भक्ति होने से मध्यमा भक्ति है । परमाभक्ति नहीं है, जिससे 'अहं भक्त पराधीनः' की उक्ति से विरोध ही है । वैसे अयोग्य होने से भी नहीं दिया । भगवान् का अगले श्लोक में त्वं नो गुरु' से विपरीत शब्द कहने का क्या आशय है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे शृङ्गार लीला गोप्य है, वैसे ही अवतार लीला भी गोप्य है । उसको प्रकट करना भगवान् को इच्छित नहीं है । इससे भगवान् उसको विपरीत कहते हैं ।

जैसे भगवान् ने 'गोपिका गीत' से गोपियों का त्याग इसलिए किया कि उनको अन्तरंग लीला द्वारा आनन्द देना था, अतः बाहर का जो भाव था, उससे मुक्त करने के लिए विप्रयोग का दान किया । इसी प्रकार अक्रूरजी को लीला के लिए प्रकट किया है, किन्तु अब अक्रूर में स्वरूप का अज्ञान होने से बहिर्मुखता है, तथा मैं जानी हूँ यों अपने को समझकर प्रार्थना करते हैं । अतः इसके सर्व वचन असंबद्ध हैं, जिससे भगवान् उन सर्व का निवारण करने के लिए अक्रूर को मोहित करने के लिए प्रवृत्त हुए हैं, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'इत्यर्चितः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इत्यर्चितः संस्तुतश्च भक्तेन भगवान्हरिः ।

अक्रूरं सस्मितं प्राह गोर्भि संमोहयन्निव ॥२८॥



श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि अक्रूर ने इस प्रकार भगवान् का पूजन किया तथा स्तुति भी की। तब भगवान् मन्द-मन्द हँसते हुए अक्रूर को मानो मोहित करने वाले वचनों से कहने लगे ॥२८॥

सुबोधिनी—पूर्वोक्तेन प्रकारेणार्चितः स सम्यक् स्तुतश्च भक्तश्चायं तथापि भगवानिन्दुरः सर्व-
दुःखहर्ता च भक्तश्चायम् । अत उभयं अभिप्रेत्य मोहितवान् । गोभिरपि सम्यक् मोहयन्निव जातः ।
सम्यक्त्वं लीलोपयिकत्वेनान्यथा प्राकृतत्वे लीला-
मपि त्वजेत् ॥२८॥

व्याख्यान—प्रथम कहते हुए प्रकार से अक्रूर ने भगवान् का पूजन किया और अच्छे प्रकार से स्तुति भी की, जिससे यह तो निश्चय से जाना गया कि यह 'भक्त' है, तो भी भगवान् ईश्वर होने से सर्व दुःख हर्ता हैं और यह भक्त है । अतः दोनों को पूर्ण रीति से विचार कर मुस्कराते हुए कहने लगे । मुस्कराने कहते हैं अल्प हास को अर्थात् अक्रूर को थोड़ा ही मोहित किया, फिर वचनों से मानो विशेष मोहित करते हुए कहने लगे । विशेष मोहित करने का आशय है कि उसको लीला से वञ्चित नहीं किया, यदि प्राकृतत्व कर दें तो लीला से भी दूर हो जावे ॥२८॥

आभास—भगवान् लौकिकवैदिकद्विविधशास्त्रप्रकारेण तं मोहयन्नाह त्वं नो गुरु-
रिति त्रिभिः ।

आभासार्थ—भगवान् लौकिक और वैदिक शास्त्रों के अनुसार दोनों प्रकार से अक्रूर को मोह में डालने लगे । जिसका वर्णन 'त्वं नो गुरुः' श्लोक से तीन श्लोकों में कहते हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—त्वं नो गुरुः पितृव्यश्च श्लाघ्यो बन्धुश्च नित्यदा ।

वयं तु रक्ष्याः पोष्याश्च अनुकम्प्याः प्रजा हि वः ॥२९॥

श्लोकार्थ—भगवान् अक्रूर को कहते हैं कि तुम हमारे हमेशा गुरु, काके, प्रशंसनीय बन्धु हो । हम तो आपकी प्रजा, रक्षा, पालन और दया के योग्य हैं ॥२९॥

सुबोधिनी—हितोपदेशा गुरुः प्रायेण धनुषो-
भ्यासं च कारितवानिति लक्ष्यते । अवश्यं केन-
चिल्लोकन्यायेन धनुः शिक्षणीयम् । अन्यश्चात्रार्थे
गुरुर्नोक्तः । भगवांश्च सत्यमेव वदतीत्यर्थादयं
गुरुः । न इति बलभद्रादीनामभिप्रायेण । बाला-
भ्यासं कारयति पितृव्यः स्पष्टः, चकाराद्धितकारी ।
न ह्यन्योन्यत्र क्वापि सतः स्वगृहे समानयति ।
किञ्च । कुले श्लाघ्यः महत्त्वेन प्रसिद्धः, पितृव्या-

दीनां सापत्न्यभाववद् भ्रातृव्यत्वादप्यथात्वमा-
शङ्क्याह । बन्धुश्च नित्यदेति । सर्वदा बन्धुकृत्य-
मेव करोति । एवं चकारेण सह पञ्चधर्मास्तिस्मि-
न्निरूपिताः । ततोऽन्यथा पञ्चधर्मान् स्वस्मिन्निरूप-
यति । वयं त्विति । तुशब्दः पूर्वसंबन्धेन तुल्यतां
वारयति । गुरुस्तु रक्षकः । भगवता साधनेषु
दत्तेष्वपि बुद्धयभावे रक्षाऽसंभवाद्वयं रक्ष्याः
पितरः पोषकाः पुत्राः पोष्याः, चकारान्न वयं



भवद्वितकारिणः किन्तु भवन्त एव, अर्थाद्व्या-
पात्रमिवोक्तं भवति । अनुकम्प्याः श्लाघ्या हि
नानुकम्प्याः सर्वदा हिताचरणं पतिभिः कर्तव्यम् ।

चो युष्माकमिति वसुदेवादींस्तानेकीकृत्य निरूप-
यति । अन्यथा स्तुतित्वं ज्ञायेत ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—जिसे कल्याण होता हो वैसा उपदेश देवे, वह गुरु है । क्षत्रियों के लिए धनु-
विद्या हितकारी है जिसका उपदेश आपने दिया है, अतः हमारे गुरु है । इस विषय को सिखाने वाला
कोई अन्य गुरु नहीं है । भगवान् तो सत्यवक्ता हैं ही, इसलिए आप का गुरु अक्रूर ही है । 'नः' बहु-
वचन कहने का तात्पर्य यह है कि आप केवल मेरे गुरु नहीं किन्तु बलभद्र आदि सर्व बान्धवों के
गुरु हैं, तथा काके(चाचे) हैं । बाल अवस्था में भी आपने शिक्षा दी है, यह सब कोई जानता है ।
अपनी सन्तति को पढ़ाने का कर्तव्य स्पष्ट है, अर्थात् आप काके (चाचे) हाने के साथ गुरु भी हैं, 'च'
कहने का तात्पर्य यह है कि आप केवल पढ़ाने और सिखाने वाले गुरु ही नहीं हैं, किन्तु साथ में हित
करने वाले भी हैं । अन्य कोई भी दूसरे को अपने घर नहीं बुलाता है तथा अन्य के घर में कोई
जाता भी नहीं है । आप कुल में प्रशसनीय हैं और महान् होने से प्रसिद्ध हैं । लोक में (पितृव्य आदि
व्यवहार में) सापत्न्य भाव* की तरह चचेरे भाई में भीतर ईर्ष्या वा शत्रुता होती है, किन्तु आप में वह
भाव नहीं है । यह बताने के लिए अक्रूर को 'नित्य बन्धु' कहा है । अर्थात् सदा बन्धुओं का कृत्य,
जो हित करने का हो करता है, वह कर रहे हैं । इस प्रकार 'च' के साथ अक्रूर के पांच हितकारी धर्म
कह कर अब उससे उल्टे पांच धर्म अपने में भगवान् बताते हैं । 'तु' शब्द अपने विषय से इसको
पृथक् करता है, आप गुरु होने से 'रक्षक' अर्थात् रक्षा करने वाले भी हैं और हम रक्षा करने के
योग्य हैं । यदि कहा जाय कि अपनी रक्षा आप क्यों नहीं करते हो, जबकि भगवान् ने रक्षा के साधन
आपको दिये ही हैं? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यह सत्य है कि भगवान् ने साधन दिये हैं, किन्तु
बुद्धि नहीं है, अतः साधन हाँते हुए भी बुद्धि के अभाव से रक्षा नहीं कर सकते हैं । आप गुरु होने से
बुद्धिमान हैं । अतः हमारी रक्षा भी आप ही कर सकते हैं । काका[च:चा]हो, पिता के समान हो-
इसलिए पोषण करने वाले हो । हम आपके पुत्र (बच्चे) हैं अतः पालन के योग्य हो हैं । 'च' से यह
बताया कि हम आपके हित करने वाले नहीं हो सकते हैं, किन्तु आप ही हमारे हितकारी बन सकते
हैं । तात्पर्य यह है कि हम ही दया के पात्र हैं । जो बड़े हैं वे श्लाघा के योग्य हैं, वे दया के पात्र नहीं
हैं, किन्तु वे दया पूर्वक हित करने वाले ही होते हैं । कारण कि वे 'पति' अर्थात् पालक (स्वामी) हैं ।
'वः' शब्द देकर यह बताया है कि वसुदेव आदि, जो आप बड़े हैं उनकी हम 'प्रजा' हैं । यदि ऐसा
सबके लिए न कहे तो यह कथन केवल अक्रूर की स्तुति मात्र ही जानी जावे ॥२६॥

आभास—एवं लौकिकोत्कर्षमुक्त्वा प्रवृत्तिप्रकारेण वैदिकोत्कर्षमाह भवद्विधा
इति ।

आभासार्थ—यो लौकिक उत्कर्ष कह कर अब 'भवद्विधा' श्लोक से प्रवृत्ति प्रकारानुसार वैदिक
उत्कर्ष वर्णन करते हैं ।



श्लोक—भवद्विधा महाभागा निषेव्या श्रहंसत्तमाः ।

श्रेयस्कामेनृभिर्नित्यं देवाः स्वार्था न साधवः ॥३०॥

श्लोकार्थ—आपके समान, महाभाग्य वाले, अतिशय पूजन यों की सेवा, उन मानवों को अवश्य करनी चाहिए, जो अपना कल्याण चाहते हैं । देवता तो स्वार्थी होते हैं, किन्तु साधु पुरुष परोपकारी होते हैं ॥३०॥

बुद्धिधर्मो—ये हि सर्वप्रकारेणोत्कृष्टास्ते सर्वे-
रूपाभ्याः, भवद्विधा इति तेषामुत्कर्षो निरूपितो
यादृशास्तादृशास्तत्रापि महाभागाः परमभाग्य-
युक्ता इति तेषा संपत्तिनिरूपिता । तत्राप्यहंस-
त्तमा ये उपकारकर्तारः समृद्धाः सर्वे संप्रतिपन्ना-
स्ते सर्वरूपाभ्या इत्यर्थः । तत्रापि श्रेयस्कामैः ।
अनेन स्वार्थमेवोपासनमुक्तं दृष्टार्थत्वं च निरूपि-

तम् । नृभिरिति । मनुष्याधिकारो निरूपितः ।
तेनास्माकमिदमात्रमत्रकमित्यर्थः । ननु शास्त्रे देवा
एव मेव्यः न त्वन्य इति चेत्तत्राह देवास्तु स्वार्था-
भ्यर्थं ज्ञात्वैव हितं कुर्वन्ति । साधवस्तु नैवम् ।
अतो देवभजनापेक्षयापि साधुभजनमेवोत्तमम् ।
॥३०॥

व्याख्यार्थ—लोक में सर्व मनुष्य उनकी उपासना करते हैं । जो सर्व प्रकार से श्रेष्ठ होते हैं, वे आप जैसे होते हैं यों कहकर उनका उत्कर्ष निरूपण किया । वे जंसे कैसे भी हों, किन्तु आप उनमें भी महान् भाग्य वाले हैं । यों कहकर उनकी 'अक्रूरजी की' सम्पत्ति बताई है । तात्पर्य यह है कि जो उपकार करने वाले तथा बहुत सम्पदावाने एव अत्यन्त योग्य होते हैं, उनकी ही सर्व सेवा करते हैं । उन सेवा करने वालों के गुणों को कहते हैं कि जिनको अपने कल्याण की इच्छा होती है, इससे स्वार्थ के लिए ही उपासना कही और यह भी बताया है कि जिसका फल प्रत्यक्ष है । इस प्रकार की सेवा का अधिकार मनुष्यों को ही है । यह नृभिः' शब्द से प्रकट किया है । इससे हमको यह अवश्य करनी चाहिए । यदि कहो कि शास्त्र में देवता ही सेव्य कहे हैं, न कि कोई दूसरा सेव्य कहा है । जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'देवाः स्वार्थाः' देवता स्वार्थी हैं । स्वार्थ जान कर ही हित करते हैं । साधु या नहीं करते हैं अर्थात् साधु अपना स्वार्थ जानकर हित नहीं करते हैं वे बिना स्वार्थ ही हित करते हैं, अतः देवों से भी साधुओं की सेवा करना उत्तम है ॥३०॥

आभास—विश्व । निवृत्तिमार्गे तीर्थानि सेव्यानि, तदपेक्षयाप्येत एव सेव्या इत्याह
न ह्यम्मयानि तीर्थानिति ।

आभासार्थ—निवृत्ति मार्ग में तीर्थों का सेवन करना कहा है, किन्तु उनसे भी साधुओं की सेवा विशेष है । जिसका वर्णन 'न ह्यम्मयानि' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।

ते पुनत्युरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥३१॥

~~CONFIDENTIAL~~

श्लोकांथ—तीर्थ केवल जल रूप नहीं है, देवता, पाषाण और मृत्तिका रूप नहीं है, वे बहुत समय सेवा करने के अनन्तर फल देते हैं । साधु पुरुष तो दर्शन मात्र से ही फल देते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—तीर्थेषु स्नात्वा तदधिष्ठ'तृदेवता-
पूजनं कर्तव्यं, तदा तीर्थं कृतं भवति । तदुभयम-
प्यप्रयोजकमित्याह न ह्यम्मयानोति । तीर्थशब्देन
जलाभिमानिनी देवतोच्यते । सा चिन्मयी. देवता
च चिदानन्दमयीत्येव शास्त्रमर्यादा । अम्मयानि
तु तीर्थानि न भवन्ति, देवा अपि मृच्छिलामया
भवन्ति । स्थानस्य देवतात्वपक्षे मृण्मयत्व प्रति-
माया देवतात्वपक्षे तु शिलामयत्वमुभयमपि लोक-

प्रमिद्धं निवार्यते । शास्त्रप्रामाण्यात् । अन्यथा
शास्त्रमनुवादकं सदप्रमाणमेव भवेत् । किञ्च ।
अत्र एव पवित्र्यमपि तत्कृतमुत्तमं न भवति ।
यतस्ते उरुकालेन पुनस्ति महता कालेन विध्यु-
क्तानुसारेण तीर्थसेवायां चित्तशुद्धेरुक्तत्वात् ।
साधवस्तु ज्ञानोपदेष्टारः भक्तिप्रवर्तका वा, दर्शन-
मात्रेणैव ज्ञानभक्तयोः साधितत्वात् फलतोप्यु-
त्कर्षः ॥३१॥

व्याख्यान—तीर्थ किए कब समझना चाहिए जब तीर्थों में स्नान कर उनके अधिष्ठाता आधिदैविक स्वरूप की सेवा की जाती है, कारण कि केवल जल तीर्थ नहीं है, किन्तु जल के अभिमानी देवता तीर्थ हैं। वह देवता चैतन्य हैं। देवता तो चिदानन्दमयी होते हैं यह ही शास्त्रों की मर्यादा है, इसी प्रकार मिट्टी वा पाषाण देवता नहीं है लोक में मन्दिर जो मिट्टी आदि से बने हुए हैं, और मूर्ति जो पाषाण आदि से बनी हुई हैं उनको देवता रूप से प्रसिद्धि है उसका निवारण करते हैं कि वे ही देवता हैं, कारण कि शास्त्र में वैसा प्रमाण है कि वे देवता नहीं हैं यदि शास्त्र को न माना जावेगा तो शास्त्र केवल अनुवाद करने वाला होकर अप्रमाण हो जावेगा, क्योंकि शास्त्र में देव तथा तीर्थों की सेवा का उपदेश है और उससे हुई पवित्रता भी उत्तम मानी जावेगी, जिसके उत्तर में कहते हैं कि वे बहुत काल तक शास्त्र को विधि के अनुसार तीर्थ की सेवा से चित्त की शुद्धि होती है, तीर्थ से जल मात्र नहीं किन्तु उसमें स्थित चिदानन्दमयी आधिदैविक मूर्ति समझनी उसी तरह मूर्ति में भी स्थित आधिदैविक स्वरूप समझना चाहिए उनके सिवाय शेष अप्रयोजक है, साधु भगवद्भक्त तो ज्ञान के उपदेशक और भक्ति के प्रवर्तक होते हैं जिससे उनके दर्शन मात्र से ही ज्ञान और भक्ति सिद्ध हो जाती है इसलिए फल से भी भक्त का उत्कर्ष कहा है ॥३१॥

ग्रामास—एवं स्तुत्वा संमोहमुत्पाद्य स्वाभिलषितं करिष्यतीति अभिज्ञाय किञ्चि-
दाज्ञापयति स भवानिति त्रिभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार स्तुति करके अक्ररजी को मोहित कर अपनी इच्छा के अनुकूल करेंगे, यों जानकर 'स भवान्' से लेकर तीन श्लोकों में कुछ आज्ञा करते हैं ।

श्लोक - स भवान्सहृदां वै नः श्रेयान् श्रेयश्चिकीर्षया ।

जिज्ञासार्थं पाण्डवानां गच्छस्व त्वं गजाव्हयम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—वे आप हम बान्धवों का श्रेष्ठ करने वाले हैं, अतः पाण्डवों के कल्याण करने को इच्छा से उनकी अब क्या स्थिति है, उसको जानने के लिए आप हस्तिनापुर पधारें ॥३२॥

सुबोधिनी—तेषु त्रिविधं हि कार्यं कर्तव्यं, मोक्षः संपादनीयः, भक्तिर्वा, पाण्डवेषु राज्यं च देयम्, शत्रवश्च मारणीया इति । स सर्वशोपकार-कर्ता भवान् । तत्रापि सुहृदां भगिनीभगिनेया-नाम् । वं निश्चयेनेति तेऽवश्यं पालनीया इति । पुरुषस्य हि पितृवर्गो वा मातृवर्गो वा रक्षको भवति । तत्र पितृवर्गः न तेषां रक्षकः पितुर्निवृ-

त्तत्वादग्येषां प्रतिकूलत्वादिति वक्ष्यति । अत एव वयमेव सुहृदः अस्माकं मध्ये त्व च श्रेयान् । अतः श्रमश्चिकीर्षया हिताचरणार्थं पाण्डवानामादौ जिज्ञासार्थं गजेन समानाह्वयं हस्तिना राज्ञा निमित्तं हस्तिनापुरं गच्छ । अनेन प्रसिद्ध्या तत्र गमनं न निन्दितं भवति । गुप्तस्थानेषु न तिष्ठ-न्तीत्यर्थः ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—तीन प्रकार के कार्य करने हैं : - १-मोक्ष या भक्ति देनी है, २-पाण्डवों को राज्य देना है, ३-शत्रुओं को मारना है । आप सर्व प्रकार उपचार करने वाले हैं, उसने भी ये तो सुहृद हैं अर्थात् सम्बन्धी भाई तथा बहन आदि हैं । निश्चयपूर्वक इनकी पालना करनी योग्य है । पुरुष की रक्षा पितृवर्ग करता है या मातृवर्ग करता है । इसमें इनका पितृवर्ग रक्षक नहीं है, कारण कि पिता के परलोक होने के अनन्तर चाचा (काका) आदि अनुकूल नहीं रहे हैं, किन्तु शत्रु जैसे हो गए हैं । शेष हम ही उनके सुहृद रहे हैं, जिनमें आप ही उत्तम हैं । अतः उनके कल्याण करने के लिए अब उनकी स्थिति को मालूम करने के लिए आप हस्ती नाम वाले राजा के बनाए हुए हस्तिनापुर में पधारो । इससे आप छिपकर नहीं जाओ, प्रसिद्ध रीति से जाओ । यों जाना निन्दित नहीं होगा, वे अब गुप्त स्थानों में नहीं रहते हैं ॥३२॥

आभास—का जिज्ञासेत्याकाङ्क्षायामाह पितर्युपरत इति ।

आभासार्थ—वहाँ जाकर उनकी किस प्रकार की स्थिति की सूचना लेनी है, वह 'पितर्युपरते' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—पितर्युपरते बालाः सह मात्रातिदुःखिताः ।

आनीताः स्वपुरं राज्ञा वसन्त इति शुश्रुम ॥३३॥

तेषु राजाम्बिकापुत्रो भ्रातृपुत्रेषु दोनधोः ।

समो न वर्तते नूनं दुष्पुत्रवशगोऽन्धहृक् ॥३४॥

श्लोकार्थ—पिता के परलोकगामी हो जाने के अनन्तर सब बालक तथा उनकी माता बहुत दुःखी होने लगे, अतः उनको राजा ने अपने नगर में बुला लिया है और



वे वहाँ ही रहते हैं। सुना है कि अम्बिका का पुत्र महाराजा धृतराष्ट्र अपने भतीजों का, पुत्रों के समान पालन नहीं करता है। कारण कि वह एक तो बुद्धि से दीन है और दूसरा वह अपने नीच पुत्र के वश में है और स्वयं दृष्टिहीन भी है अर्थात् आँखों से तो देख नहीं सकता है, किन्तु हृदय से विचार भी नहीं कर सकता है ॥३३-३४॥

सुबोधिनी—पाण्डो संस्थिते बाला एव ते च बहवश्च मात्रा सह स्थिता इति स्तनन्धयप्राया इत्यवस्थाया दयापात्रत्वमुक्तम् । अतिदुःखिता इति दयायाः साधारणो हेतुः तदीयानां पालकत्वमस्ति न वेति वचनार्थं परिग्रहो निरूप्यते आनीताः स्वपुरमिति । ते चेच्छत्रवः सुतरामेवानर्थपर्यवसायित्वं स्वस्थाने स्थापिता इति । तत्रापि राज्ञा । अनेन तेषां राजत्वाभावो निरूपितः ।

॥३३॥

किञ्च । न केवलं ते वसन्ते किन्तु उपद्रुता इत्यपि शङ्का । यतोयमम्बिकापुत्रः तेषु प्रसिद्धे-

ष्वपि निदुःश्रेष्ठवपि भ्रातृपुत्रेषु विनीतेषु समो न वर्तते, इति तत्र हेतुः दीना धीर्यस्येति । बुद्धिस्तु दरिद्रा, दरिद्रो हि दुर्गतः सर्वमेव कर्तुं शक्तः निषिद्धम् । विहिते त्वशक्तः इति तस्य सहजो दोष उक्तः । आगन्तुकं दोषमाह । दुष्पुत्रवशग इति । दुष्टः सहजः कलित्वात् । दुर्योधनो हि कले-रवतार इति । अत एव कालस्य प्राबल्यात् तद्वशगः, पुत्रत्वान् मोहेनापि तद्वशगो जातः । स्वतो विचारसामर्थ्याभावायाह । अन्धदृग्गिति । स हि जात्यन्धः शब्देनैव व्यवहरति । प्रियमेव शब्दं सर्वो मन्यते, पुत्रशब्दश्च प्रियः ॥३४॥

व्याख्यानार्थ—पाण्डु के परलोक जाते समय ये अत्यन्त छोटे बालक थे । वे बहुत थे अर्थात् पाँच थे, वे माता के साथ रहते थे । छोटे कहने से यह बताया है कि वे दया करने के योग्य हैं । वे बहुत दुःखी थे, यह दया का साधारण हेतु कहा है । उनका पालन करने वाले हैं या नहीं, इसलिए उनका परिवार बताने के लिए कहा है कि अपने नगर में जिन्होंने मँगवाया वह कुटुम्ब है, किन्तु वे अपने स्थान में स्थापित करने वाले यदि शत्रु बन गए हैं तो अतिशय अनर्थ होगा, इसमें भी मँगवाकर रखने वाले राजा हैं, जिसका आशय है कि अब इनका राज्य नहीं है ॥३३॥

वे वहाँ साधारण अवस्था में नहीं रहते हैं, किन्तु उनसे उपद्रव होने की शङ्का भी की जाती है, जिससे वे दुःखी हैं, यह भी शङ्का होती है । कारण कि यह अम्बिका का पुत्र उन प्रसिद्ध निर्दोष विनय वाले भतीजों से समानता का व्यवहार नहीं करता है; क्योंकि उसमें एक सहज दोष यह है कि उसकी बुद्धि दार्द्र्य अर्थात् संकुचित है । ऐसी बुद्धिवाला जो न करने योग्य कार्य हैं, वे भी स्वार्थ के लिए करता है, किन्तु करने योग्य कार्य के करने की उसमें शक्ति नहीं होती है । स्वाभाविक दोष कहकर अब दूसरे के संसर्ग में आनेवाला दोष कहते हैं । 'दुष्पुत्रवशगः' उसका पुत्र दुर्योधन कलि का अवतार होने से स्वभाव से दुष्ट है, इसलिए ही कलिकाल के प्रभाव से उसके अधीन है तथा पुत्र है, इस पुत्र मोह के कारण भी उसके वश हो गया है । स्वयं धृतराष्ट्र तो विचार करने की शक्ति ही नहीं है, कारण कि 'अन्धदृग्' वह जाति से अन्धा है, सर्व कार्य बोल-चाल-सुनकर ही करता है । सब कोई उस शब्द को मानता है, जो शब्द प्यारा लगता है । लोक में पुत्र के वचन ही प्यारे लगते हैं, अतः जैसा पुत्र कहता है, वैसा करता है ॥३४॥



श्लोकार्थ—भगवान्, हरि ईश्वर श्रीकृष्ण इस प्रकार अक्रूर को आज्ञा देकर सङ्कर्षण तथा उद्धव के साथ अपने घर पधारे ॥३६॥

सुबोधिनो—आज्ञासिद्धौ भगवत्त्वं हेतुः ।
आज्ञापने हरित्वम्, स्वतः अगमने ईश्वरत्वम्,
स्तुत्वा स्वापेक्षयाप्याधिक्यमुपपाद्येदानीं नीच-
सेवककार्यं दूतत्वं च कारितवानितोऽश्वत्थार्या ।
सङ्कर्षणोद्धवयोरन्यतरस्य वा गमनं मविष्यतो-
त्याशङ्क्याह सङ्कर्षणोद्धवाभ्यामिति । निर्गमन

एव सहभावः, स्वभवनगमने तु नायं निर्वन्ध इति
विज्ञापयितुं तत इत्युक्तम् । तस्मात् स्थानात्
तदनन्तरं च कार्यान्तरव्यावृत्त्यर्थं स्वस्य भवनं
ययौ । प्रापणकथनेन मध्येपि कार्यान्तरं व्याव-
॥३६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभाक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धपूर्वार्धे चतुष्पञ्चवाटिशाध्यायविवरणम् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—यहाँ श्रीकृष्ण के जो भगवान् हरि और ईश्वर ये तीन विशेषण दिए हैं, उस एक एक विशेषण का भाव प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि आप भगवान् हैं, इसलिए अक्रूर आपकी आज्ञा मानकर अवश्य जाकर सूचना ले आवेगा । अक्रूर बड़े हैं, तो भी आपने आज्ञा दी, कारण कि आप 'हरि' हैं । आप स्वयं क्यों नहीं पधारे ? इसलिए कि आप ईश्वर हैं, सेवकों के होते हुए स्वामी कैसे पधारे ? अब तो अक्रूर की स्तुति कर अपने से भी उसमें विशेषता प्रकट कर उससे सेवकपन का नीच कार्य और दूतपन का कार्य कराया । यह ईश्वर की सेवा है, सङ्कर्षण या उद्धव दोनों में से कोई एक उसके साथ जावेगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि आप इन दोनों के साथ अक्रूर के घर से पधारे, फिर आप अकेले अपने घर को पधारे, बीच में दूसरा कोई कार्य नहीं किया, तो सोचे सब अपने-अपने घर गए ॥३६॥

श्रीमद्भगवद् महापुराण दशम-स्कन्ध (पूर्वार्ध) ४५वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिन्यां (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का छठा अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

टिप्पणी भक्त शिरोमणि श्री सूरदासजी द्वारा इस अध्याय में वरुण की हृदं
लीला का पद अगले अध्याय के अन्त में
अवलोकन करें ।

॥ श्री कृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजलदलभाय नमः ॥

॥ श्री वासपतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (पूर्वार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ४६वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ४६वाँ अध्याय

राजस-प्रमेय-अवान्तर प्रकरण

“सप्तम् अध्याय”

अक्रूरजी का हस्तिनापुर जाना



कारिका—षट्चत्वारिंशकेऽध्याये सात्त्विकानां निरूप्यते ।

सान्त्वनं चान्यमुखतो निरोधो ह्यधिकारतः ॥१॥

भगवत्प्रेषितोक्रूरः कृत्वा सान्त्वनमग्रतः ।

ज्ञानेन तत्प्रतीकारं मत्वा तच्चोक्तवान् स्वयम् ॥२॥

पाण्डुर्धर्मापिताशेषो विचारे कुशलो यतः ।

अतः स्थित्वा गतिं बुध्वा स्वशक्तिं ज्ञातवांस्ततः ॥३॥

अन्यथा भगवत्कार्यं निरोधो न भविष्यति ॥३ १/२॥

कारिकार्थ—इस ४६वें अध्याय में भगवान् ने अक्रूर द्वारा सात्त्विक भक्त पाण्डवों को सान्त्वना कराई। निरोध तो अधिकार के अनुसार होता है, भगवान् के भेजे हुए अक्रूर ने समझा कि पाण्डवों के सान्त्वनार्थ ज्ञान ही समर्थ है। वह सम्पूर्ण ज्ञान उन को अक्रूर ने ही कहा है; कारण कि अक्रूरजी विचार करने में कुशल हैं, अतः वहाँ तीन मास रहकर पाण्डवों से सब समाचार विदित किए। जिसमें पृथा और विदुर ने भी सहायता की है। जिससे इसके जानने में अक्रूरजी ने अपने को अशक्त नहीं समझा। शेष निरोध का कार्य भगवान् के लिए रखा, कारण कि निरोध अधिकार के अनुसार होता है। इसलिए अक्रूरजी ने निरोध और पाण्डवों को छुड़ाना; ये दोनों कार्य नहीं किए। यदि करते तो भगवान् निरोधादि कार्य कैसे करते ॥३१॥

आभास—प्रथमं भगवदुक्तं कृतवानित्याह स गत्वेति षड्भिः।

आभासार्थ—अक्रूरजी ने जाकर पहले जो कार्य करने के लिए भगवान् ने कहा था, वह किया। जिसका वर्णन 'संगत्वा' श्लोक से ६ श्लोकों में श्री शुकदेवजी करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—स गत्वा हास्तिनपुरं पौरवेन्द्रश्रियाङ्कितम्।

ददर्श तत्राम्बिकेयं सभोष्मं विदुरं पृथाम् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि वे (अक्रूरजी) हस्तिनापुर गए, जो पुरुवंशीय राजाओं के बनाए हुए मन्दिर आदि की शोभा से शोभायमान है, वहाँ धृतराष्ट्र, भीष्म, विदुर और पृथा को देखा ॥१॥

सुबोधिनी—सोऽक्रूरः स्वतो भगवदाज्ञया च विशिष्टो हास्तिनपुरं हस्तिनाब्दादपि रूढत्वाभावाय तेन निर्वृतमिति ज्ञापनार्थमुक्तम्। यद्यप्यधर्मबहुले न गन्तव्यं तथापि स्वभावत उत्तममित्याह पौरवेन्द्रश्रियाङ्कितमिति। पौरवेन्द्राणां

श्रियाङ्कितमिति, मुख्यत्वात् प्रथमतो राजदर्शनम्। अम्बिकायाः पुत्रो धृतराष्ट्रः, धृतं राष्ट्रं येनेति व्युत्पत्तिः संभविष्यतीति तन्निषेधार्थमातृनाम्ना व्यपदिष्टः। राजस्थान एव भीष्मं च दृष्टवान्, विदुरं पृथामिति ज्ञापको ज्ञाप्यश्च निरूपितः ॥१॥

व्याख्यानार्थ—वे अक्रूरजी अपने आप और भगवान् की आज्ञा पाकर हस्तिनापुर गए। श्लोक में हास्तिनपुरं कहने का आशय यह है कि यह नाम रूढ़ि नहीं, किन्तु-राजा ने बनवाया है। इसलिए इसका नाम हस्तिनापुर पड़ा है। यद्यपि जहाँ बहुत अधर्म हो, वहाँ नहीं जाना चाहिए, किन्तु यह पुरुवंश के राजाओं की श्री से शोभित है, अतः जाने में कुछ अड़चन नहीं है। नीति के नियमानुसार प्रथम राजा का दर्शन करना चाहिए, अतः प्रथम उसका दर्शन किया। यहाँ व्यासजी ने राजा का नाम धृतराष्ट्र न देकर अम्बिका पुत्र कहा, जिसका आशय यह है कि नाम की व्युत्पत्ति 'धृत-राष्ट्र' येन

के अनुकूल अर्थ वाला कार्य न कर सकेगा । राज सभा में ही भीष्म को देखा, बाद में विदुर तथा पृथा को देखा । इनमें एक बताने वाला; एक बताने के योग्य, निरूपित किया है ॥१॥

**श्लोक—सहपुत्रं च बाल्हीकं भारद्वाजं सगौतमम् ।
कर्णं सुयोधनं द्रोणि पाण्डवान्सुहृदोपरान् ॥२॥**

श्लोकार्थ—वहाँ बाल्हीक, भूरिश्रवा आदि, भारद्वाज, कृपाचार्य, कर्ण, दुर्योधन, अश्वत्थामा, पाण्डव और भी उनके मित्र देखे ॥२॥

सुबोधिनी—सहपुत्रमिति । बाल्हीकः शन्त-
नोभ्राता । तत्पुत्रा भूरिश्रवादयः । भारद्वाजो
द्रोणः । गौतमः कृपः । कर्णदुर्योधनाश्वत्थामानः
एते महारथाः गणिताः षट् । सहपुत्रत्वेन सहाया
अपि गणिताः । ततोऽग्रे तेषां निवारणसमर्था
इति ज्ञापयितुं पाण्डवा गणिताः । लोकन्यायेन
सर्वबन्धुप्रियकृदिति ज्ञापयितुं सुहृदोऽपरांश्च दृष्ट-
वानित्युक्तम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—बाल्हीक शन्तनु के भ्राता, उनके पुत्र भूरिश्रवा आदि भारद्वाज के पुत्र द्रोण)गौतम,
कृप, कर्ण अश्वत्थामा, दुर्योधन ये छ महारथी हैं, ये पुत्रों के साथ कहने से उनके सहायक भी वहां
रे । उसके बाद आगे उनको हराने में समर्थ बताने के लिए पाण्डवों को भी गिनाया है तथा लोक
न्याय से सर्व बान्धवों का प्रिय करने वाले सुहृद मित्र भी वहां देखे ॥२॥

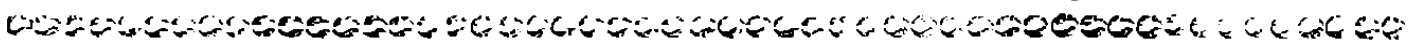
**श्लोक—यथावदुपसंगम्य बन्धुभिर्गान्दिनीसुतः ।
संपृष्टस्तैः सुहृद्वार्तां स्वयं चापृच्छदव्ययम् ॥३॥**

श्लोकार्थ—अक्रूरजी सब बान्धवों से यथायोग्य मिले । उन्होंने अक्रूरजी से मथुरा
के बान्धवों के कुशल समाचार पूछे । अक्रूरजी ने भी सब की सब तरह की कुशल
पूछी ॥३॥

सुबोधिनी—यथावदिति । ततो यथायोग्यं
नमस्कारादिप्रकारेणोपगमनम् । अस्यापि माहा-
त्म्यं मातृपुरस्सरमाह तैः मथुरास्थवार्तां सम्यक्
पृष्टः सन् स्वयं च तेषामव्ययमपृच्छत् । चकारेण
वार्ता समागतं । अव्ययमिति । व्ययोत्र कस्यचि-
त्परित्यागः । अव्ययं यथा भवति तथा सवनेव
पृष्टवान् ॥३॥

व्याख्यार्थ—अक्रूर उनको नमस्कार आदि करते हुए उनसे मिले । इसका माहात्म्य भी माता
के नाम से प्रकट किया है । उन्होंने अक्रूरजी से मथुरा में स्थित बान्धवों के कुशल समाचार अच्छी
प्रकार पूछे । अनन्तर आपने भी सब प्रकार के सबके कुशल वृत्तान्त पूछ लिए । कोई भी बात छोड़ी
नहीं, इसलिए 'अव्यय' पद दिया है ॥३॥

मानादिकपि कृतमिति वृत्तान्तसहितमेतत्सर्वं
पृथा विदुरश्च स्वकीयसाधारणश्च सर्वमेवाचख्यो।
एकेन स्वरूपज्ञानमपरेण भावज्ञानमिति । चका-
राल्लोकमुखतोपि ॥६॥



व्याख्यानार्थ—त्रिदोषग्रस्त होने से उन्मत्त की तरह दुष्कर्म करने लगे जैसे कि भीमसेन को मारने के लिए विष के मोदक दिए, किन्तु वह पाताल में जाकर लौट आया। 'आदि' शब्द से भीम को मारने के अनेक उपाय किए, वे सब निष्फल हुए। कभी-कभी अपमान भी किया, इत्यादि सर्व वृत्तान्त पृथा और विदुर ने सुनाया। साथ में अपना भी साधारण रीति से सुना दिया। एक ने स्वरूप का ज्ञान कराया, दूसरे ने उनके हृदय के क्या-क्या भाव हैं, वे भी सुना दिए। श्लोक में 'च' कहने का आशय यह है कि इन दोनों के सिवाय सामान्य जनता के मुख से भी सर्व वृत्तान्त सुनकर जान लिए ॥६॥

आभास—एवं भूतार्थपरिज्ञानमुक्त्वा भाव्यर्थपरिज्ञाने भगवदीयत्वं हेतुरिति पृथाया भगवदीयत्वनिरूपणार्थं भगवति तस्या नवधा भावमाह पृथा त्विति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भूतकाल के विषय का ज्ञान कर लिया। अब आगामी जो कुछ होना है, उस ज्ञान के होने में भगवदीयत्व कारण है, अतः पृथा भगवदीय है, इसका निरूपण करने के लिए 'पृथा तु' इस श्लोक में पृथा के भगवान् में नव प्रकार के भाव बताते हैं।

श्लोक—पृथा तु आतरं प्राप्तमक्रूरमुपसृत्य तम् ।

उद्देश्यं जन्मनिलयं स्मरन्त्यश्रुकुलेक्षणा ॥७॥

श्लोकार्थ—पृथा(कुन्ती)तो अपने आता अक्रूरजी को आए देख उसके समीप पूछने के लिए आई, किन्तु अपने पितृ कुल का स्मरण होते ही पृथा के नेत्र आँसुओं से भर गए ॥७॥

सुबोधिनी—यद्यप्येषा कुन्तिभोजाय दत्ता तथाप्युत्पन्ना शूरादेवेति पितृगृहं वसुदेवादय एव भवन्ति, वसुदेवो आतेत्ययमपि आता। तुशब्द-स्तज्ज्ञासाभिन्नप्रक्रमार्थः। प्राप्तमिति तस्या अलभ्यलाभो दर्शितः। उद्देश्यमिति। 'आचख्यौ सर्वमेवास्मै पृथे'त्युक्तम्। वस्तुतस्तु। पूर्वमेव

समागमनादनन्तरमेव भगवति भावः। अत एव तुशब्दप्राप्तशब्दो। उपसृत्य समीपे समागत्य तं पर्यनुयुञ्जाना जन्मनिलयं जन्मगृहं पितृकुलमिति यावत्। तत् स्मरन्तीति लोकवदश्रुकुलेक्षणा जाता ॥७॥

व्याख्यानार्थ—पृथा का जन्म तो शूरसेन से हुआ है, किन्तु कुन्ती भोज की पाली हुई सन्तति है। अतः उसका वसुदेव आदि ही पितृ गृह है। इसलिए जैसे वसुदेव आता है, वैसे ही अक्रूर भी भाई है। 'तु' शब्द देकर यह बताया है कि अब जो जिज्ञासा का प्रक्रम है, वह भिन्न है। अक्रूरजी का आना पृथा के लिए अलभ्य लाभ है। 'उद्देश्य' जो कुछ पूछने का विचार था, वह सब उसको पृथा

आभासार्थ—कायिक और मानसिक का निरूपण किया, अब वाचनिक भाव 'अपि स्मरति' श्लोक में कहती है ।

श्लोकार्थ—हे सौम्य ! हमारे माता-पिता और भ्राताओं, बहिनें, भतीजे, कुल की स्त्रियाँ तथा सहेलियाँ हमें याद करती हैं ? ॥८॥

रणे त्वभिजनसम्पत्तिः सिद्धेति न तथा दुःखं
भवति । भ्रातृपुत्राः वसुदेवादिपुत्राः चकाराद्भृगि-
नीपुत्राश्च । जामयः कुलक्षियः पितृवंशविवाहिता
देवकीप्रभृतयः सख्यः स्वस्य तासां स्मरणमावश्य-
कमिति सर्वाश्च ताः सख्य एव, चकाराद् बालि-
काश्च, संपूर्णवंशस्य समत्वेन दुःखमिति
भावः ॥८॥

ध्याहार्य—‘सौम्य’ सम्बोधन इसीलिए दिया है कि मैं जो पुछूँगी, उसका उत्तर आप पूर्ण रीति से दोगे; क्योंकि आप चन्द्र की तरह स्वच्छ हृदय वाले होने से ‘सौम्य’ कहे जाते हो, ‘अपि’ शब्द सम्भावना अर्थ में दिया है अर्थात् यों हो सकता है, हम पाण्डवों को माता-पिता और भ्राता याद करते हैं ? अर्थात् जब आप यहाँ आए, तब माता-पिता वृद्ध होने से उन्होंने कुछ भी न कहा हो किन्तु भाईयों ने स्मरण कर कुछ कहा ? ‘मे’ मेरे शब्द कहकर अपना प्रियपन सूचित किया है अर्थात् मैं बान्धवों को प्यारी हूँ, वे मुझे प्यारे हैं, यद्यपि बहिनें दूसरे के घर में गईं, जब पिता के घर आवे, तब उनके स्मरण की सम्भावना हो सकती है, किन्तु विस्मरण भी हो सकता है; क्योंकि हृदय में यदि ऐसा भाव उत्पन्न हो जावे कि दूसरे को दे दी, अब यह पराई है तो स्मरण किस लिए ? यदि ऐसा भाव हो जावे तो कोई उपाय नहीं है, जिससे कन्या व भगिनी को सदैव इस दुःख से दुःखी रहना



पड़ता है, यदि स्मरण किया जावे तो अपनेपन की सिद्धि होने से दुःख नहीं रहता है, किन्तु प्रसन्नता होती है, भाई के पुत्र वसुदेव आदि एव 'च' कहने से बहनों के पुत्र भी कहे हैं, कुल की स्त्रियाँ अर्थात् जो पितृ वंश में विवाहित देवकी आदि हैं, इनको 'जामि' कहा है, अपनी सखियाँ उनको भी स्मरण करना योग्य है, वे सब सखियाँ ही हैं, दूसरे 'च' से सब बालिका भी कही हैं, इस प्रकार सर्व वंश के स्मरण का पूछने का भाव यह है कि सबके लिए समान दुःख है ॥८॥

आभास—किञ्च । स्मरन्त्वन्ये मा वा भ्रात्रेयः कृष्णः स्मरति न वेति पृच्छति भ्रात्रेय इति ।

आभासार्थ—अन्य कोई स्मरण करे या नहीं करे, किन्तु मेरे भतीजे याद करते हैं कि नहीं ? इसे 'भ्रात्रेयो भगवान्' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—भ्रात्रेयो भगवान्कृष्णः शरण्यो भक्तवत्सलः ।
पैतृष्वस्त्रेयान्स्मरति रामश्चाम्बुरुहेक्षणः ॥९॥

श्लोकार्थ—भतीजे भगवान्, भक्तवत्सल; शरण देने वाले श्रीकृष्ण तथा कमल-नयन बलराम (वया) भूआ के पुत्रों को याद करते हैं ? ॥९॥

सुबोधिनी—प्रायेण्यं नन्दगृहे समागत्य गतेति लक्ष्यते । तदुपपादितं प्रथमस्कन्धे । 'सा मां विमोहयती'त्यत्रातो भगवतोनुभवात्स्मरणं पृच्छति । स्मरणे संबन्धमाह पैतृष्वस्त्रेयानिति । पैतृष्वसुः पुत्रान् पाण्डवान् । रामेऽपि स एव

संबन्धः इति रामश्चेत्युक्तम् । चकाराद्भगवद्भक्ता उद्धवादयोपि । अम्बुरुहेक्षण इति स्मरति चेत्तापं ज्ञात्वा समायास्यतीति लक्ष्यते । दृष्ट्यैव ताप-दूरीकरणार्थम् ॥९॥

व्याख्यानार्थ—कुन्तीजी इस प्रकार जो पूछती है, जिससे जाना जाता है कि यह नन्दरायजी के घर आकर देख गई है, इस बात को प्रथम स्कन्ध के 'सा मां विमोहयति' श्लोक में कहा है, अतः भगवान् का अनुभव होने से स्मरण आते ही पूछती है, स्मरण होने के कारण जो सम्बन्ध है, वह बताती है कि पाण्डव भूआ के पुत्र हैं, उनको याद करते हैं कि नहीं ? राम का भी वही सम्बन्ध है, इसलिए 'रामश्च' कहा है तथा 'च' कहने का यह तात्पर्य है कि जो भगवान् के भक्त उद्धव आदि हैं; वे भी याद करते हैं कि नहीं ? 'अम्बुरुहेक्षणः' यह विशेषण देने से यह जाना जाता है कि जैसे कमल तापनाशक है, वैसे ही आप हैं, अतः हमारे ताप को जान अवश्य आकर उसका निवारण करेंगे, दृष्टि से ही ताप को नाश करेंगे ॥९॥

आभास—तदर्थं तापं निरूपयति सपत्नमध्ये शोचन्तीमिति ।

आभासार्थ—पृथा आपने दुःख का वर्णन 'सपत्न' श्लोक में करती है ।

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगी ! हे विश्वात्मा ! हे विश्व को अनुभव कराने वाले ! हे गोविन्द ! बालकों के सहित क्लेश को प्राप्त मैं आपकी शरण हूँ, अतः शरणागत की रक्षा करो ॥११॥

सुबोधनी—आदरे वीक्ष्या अकस्मादागते वा । नन्वहमन्यत्र, अत्र तव दृष्टिभ्रमो भविष्यतीत्याशङ्क्याह महायोगिन्निति । तथापि किमेवमेतावद्दूरं सर्वपरित्यागेनागमनेनेति चेत्तत्राह विश्वात्मन्निति । सर्वस्य भगवानात्मा ; आत्मना हि देहादेः प्रियं कर्तव्यं प्रयत्नस्य तदधीनत्वात्, अतः सर्वथा आगमनम्, तथाप्यक्रूरवदेवागन्तव्यं किमिति विशेषाकारेणागतमिति चेत्तत्राह विश्वभावनेति । विश्वमेवानुभावयतीति । नह्यलौकि-

काकरणे विश्वमनुभावितं भवति । अलौकिकबुद्धावेवालौकिकानुभावो भवति । एवं भगवन्तं संबोध्य समागमनं तत्प्रकारं चोक्त्वा प्रार्थयते प्रपन्ना पाहीति । साधारणा अपि प्रपन्ना रक्षणीयाः भगवतः सम्बन्धो नापेक्षितः । अतः प्रपत्तिरेव हेतुत्वेन निरूपिता । अवसीदतीमवसादं प्राप्नुवतीमिति । अप्रपन्नमपि परिपालने हेतुः, तत्रापि शिशुभिः सह, लाक्षागृहदाहं वा भगवन्तमिव पश्यन्ती ॥११॥

व्याख्यार्थ—यहाँ कृष्ण सम्बोधन दो बार देकर कृष्ण के प्रति आदर व प्रेम प्रकट कर दिखाया, अथवा अचानक दर्शन होने के कारण दो बार 'कृष्ण कृष्ण' कहा है, यदि कृष्ण कहे कि मैं तो यहाँ हूँ ही नहीं, तुझे दृष्टि भ्रम हुआ है, जिसके उत्तर में कहती हैं कि आप महायोगी हैं, इसलिए कहीं भी हो तो भी यहाँ दर्शन देने में समर्थ हो, यद्यपि महायोगी हैं तो भी सर्व का परित्याग कर यहाँ इतनी दूर आने की क्या आवश्यकता थी ? इसके उत्तर में कहती हैं कि आप विश्व की आत्मा हैं, अतः सर्व की आत्मा होने से अपने देह आदि के प्रिय करने के लिए प्रयत्न करना ही आपका कर्तव्य है, अतः आत्मा को सर्वथा आना ही चाहिए, यदि कृष्ण कहे कि मान लो आत्मा होने से मुझे आना ही चाहिए, तो भी अक्रूर की भाँति आना चाहिए, इस विशेष प्रकार से आने की क्या आवश्यकता थी ? इसके उत्तर में कहती हैं कि जब तक अलौकिक प्रकार नहीं किया जाता है, तब तक विश्व को अनुभव नहीं होता है, यह अलौकिक अनुभव उस बुद्धि में होता है, जो बुद्धि अलौकिक होती है, इस प्रकार भगवान् को सम्बोधन कर, आने का एवं उसके प्रकार का वर्णन कर प्रार्थना करती है मैं आपकी शरण में हूँ, शरण आई हुई की रक्षा करो, भगवान् कोई भी साधारण शरण आता है तो उसकी भी रक्षा करते हैं, सम्बन्ध की भी आवश्यकता नहीं देखते हैं, तो मैं भी शरण आई हूँ, जिससे मेरी रक्षा करने में शरणागति भी हेतु है, शरण आई हुई मैं बहुत दुःख पा रही हूँ, यदि मैं शरण न भी आऊँ, तो भी आप दयालु होने से मेरी दुःखी दशा को देख मेरी रक्षा करो, न केवल मैं अकेली दुःखी हूँ, किन्तु बच्चों के समेत दुःखी हूँ, कुन्ती भगवद्भक्ता होने से जैसे भावावेश में भगवान् के न होते हुए भी भगवान् के दर्शन कर रही है, वैसे लाक्षागृह दाह की भी स्फूर्ति उसको हो रही है, अतः यों कहती हुई रक्षा की प्रार्थना कर रही है ॥११॥

आभास—ननु पुत्रा अपि तव समर्थाः पितरो भ्रातरश्च । अतः किमिति विपादः क्रियत इत्यशङ्क्याह नान्यत्तव पदाम्भोजादिति ।

२—उनकी सेवा सरल नहीं है ।

इच्छा पर निर्भर है, आप ईश्वर होने से मोक्ष के अधिपति हैं, यह मृत्यु जब तक मोक्ष नहीं होता है, तब तक रहती है, मोक्ष तब होता है, जब जन्म लेने का कारण संसार (अहन्ताममतात्मक तथा आशा) निवृत्त हो जावे, यह निवृत्त हुआ तो मृत्यु भय व संसार भय स्वयं स्वतः निवृत्त हो जाता है ॥१२॥

आभास—एतावत्प्रार्थनानन्तरमङ्गोकारेणैव तत्परितोषं कृत्वा तिरोधाने कृते तादृशाय पुनर्नमस्करोति ।

आभासार्थ—कुन्ती की इनी प्रार्थना के अनन्तर भगवान् प्रार्थना को अपनी प्रसन्नता से स्वीकार कर तथा इसको प्रसन्न कर तिरोहित हो गए, वैसे भगवान् को फिर 'नमः कृष्णाय' श्लोक में नमस्कार करती है ।

श्लोक—नमः कृष्णाय शुद्धाय ब्रह्मणे परमात्मने ।

योगेश्वराय योगाय त्वामहं शरणं गता ॥१३॥

श्लोकांथ—शुद्ध स्वरूप, ब्रह्म, परमात्मा, योगेश्वर, योग मूर्ति श्रीकृष्ण को मैं नमस्कार करती हूँ, मैं आपकी शरण आई हूँ ॥१३॥

सुबोधिनी—नमस्कारे सम्बन्धस्य विरुद्धत्वाद् यदैव चिकीर्षितस्तदैव तिरोहितः । कृष्णायेति सदानन्दाय, अवतारपरत्वेऽपि धर्मा न बाधका इत्याह शुद्धायेति । अवतारसंबन्धिधर्मैरस्पर्शात् । अनेन कालान्ताः सर्वे एव धर्मा निवारिताः । नन्वागतस्य सर्वथेतरसम्बन्ध इति चेत्तत्राह ब्रह्माण इति । जीवानामेवागतानां बन्धो न ब्रह्माणः । ननु जीवोऽपि वस्तुतो ब्रह्म भवतीति को विशेष इति चेत्तत्राह परमात्मन इति । परमश्चासावात्मा चेति । उत्कृष्ट आत्मा आत्मनामप्यात्मा वा । ननु तर्हि कथं मूलसमागमनं हेत्वसंभवादंशत्वे

परिच्छेदे हि समागमनं संभवति । तत्राह योगेश्व-
रायेति । योगो ह्यलौकिकं कतुं शक्तो यत्र
बुद्धिर्न प्रसरति तस्यापीश्वरः कथं स्वागमनमपि
न संपादयेत् । किञ्च । योगस्यापि सामर्थ्यं भगवत्
एवेत्याह योगायेति । भगवानेव योगः । अतः
सामर्थ्यस्य दृष्टत्वान्नानुपपन्नं किञ्चित् । अतो
यथा आगतोपि तद् घर्मेन लिप्यते, सर्वत्र पूर्णो-
प्यागच्छति, एवमस्मानपि पालयिष्यतीति निश्चि-
त्याह त्वामहं शरणं गतेति । शरणागमने परि-
पालनमावश्यकमिति ॥१३॥

व्याख्यानार्थ—कुन्ती ने जब सम्बन्ध बताने तथा नमन करने की इच्छा की, तब भगवान् छिप गए, कारण कि नमस्कार और सम्बन्ध परस्पर विरुद्ध हैं; क्योंकि नमस्कार भगवद्भाव से की जाती है, उसमें लौकिक भाव नहीं होना चाहिए, यदि लौकिक सम्बन्ध हुआ तो भगवद्भाव न रहेगा, जिससे नमस्कार भी उभयुक्त न होगा ।

अब नमस्तार करने के लिए उनके स्वरूप का वर्णन करती हूँ, 'कृष्णाय' आप सदानन्द नन्द

हैं यह 'कृष्ण' नाम अवतार पर होते हुए भी आपके सदानन्द आदि धर्मों में किसी प्रकार की रुकावट नहीं आती है अर्थात् आप अवतार दशा में भी उन धर्मों से युक्त हो, जिसके लिए 'शुद्धाय' विशेषण दिया है, जिसका भावार्थ है कि अवतार से सम्बन्ध रखने वाले मनुष्याकृति आदि दृश्य धर्म आपको स्पर्श नहीं करते हैं, आप शुद्ध ही हैं, यों कहकर काल आदि सभी धर्म आप में नहीं हैं, यह भी बता दिया यदि आप कहो कि जो जगत् में आया उसको जगत् के धर्म का सम्बन्ध तो होगा ही तो इसके उत्तर में मेरा कहना है कि जीव को अन्य सम्बन्ध होता है, आप 'ब्रह्म' हो, अतः आपको नहीं होता है, यदि कहो कि जीव भी वस्तु स्वरूप से ब्रह्म है जिससे मुक्त में क्या विशेषता है ? इस के उत्तर में मेरा कहना है कि जीव 'आत्मा' है आप 'परमात्मा' हैं अर्थात् आप आत्माओं की भी आत्मा होने में उत्कृष्ट आत्मा हैं, यदि आप कहो कि मैं आत्माओं की भी आत्मा मूल रूप हूँ, तो मेरा आगमन कैसे हुआ ? आगमन तो अंश हो और परिच्छिन्न हो, उसमें होता है; अपरिच्छिन्न में नहीं होता है ? इसका उत्तर यह है कि आप अपरिच्छिन्न मूल रूप हैं, किन्तु साथ में योगेश्वर भी हैं, योग वह अलौकिक कार्य कर सकता है, जहाँ बुद्धि नहीं पहुँचती है, फिर आप तो उस योग के ईश्वर हैं, तो अपना कहीं भी आना क्यों नहीं कर सकते हैं ? योग को जो सामर्थ्य है, वह भी आप भगवान् की ही है, इसलिए 'योगाय' विशेषण दिया है कि भगवान् ही योग है, इससे जो सामर्थ्य देखी गई है, वह किसी प्रकार कुछ भी अयोग्य नहीं है, अतः जिस प्रकार अवतार लेने पर भी अन्य धर्मों से लिप्त नहीं होते हो, उसी प्रकार पूर्ण होते हुए भी आ सकते हो, उस समय भी परिच्छिन्नता आपको स्पर्श भी नहीं करती है। इस प्रकार हम लोगों की भी पालना अवश्य करोगे, यह निश्चय कर मैं आपकी शरण आई हूँ शरण आने पर पालना आवश्यक है ॥१३॥

श्राभास—ततः किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह इत्यनुस्मृत्येति ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर जो कुछ हुआ, उसका वर्णन 'इत्यनुस्मृत्य' श्लोक में श्री शुकदेव-जी करते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इत्यनुस्मृत्य स्वजनं कृष्णं च जगदीश्वरम् ।

प्रादुदुःखिता राजन्भवतां प्रपितामहो ॥१४॥

श्लोकार्थ—शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! आपकी परदादी इस प्रकार सम्बन्धियों को और जगत् के ईश्वर श्रीकृष्ण का स्मरण कर दुःखी होकर जोर से रोने लगी ॥ १४ ॥

सुबोधिनी—स्वजनं पित्रादीन् कृष्णं च चकाराद्बलभद्रं भगवद्गुणांश्च, जगदीश्वरमिति सर्वं एव पाल्या इति बहिर्मुखाः, तिरोधानात्पाक्षिक-रक्षामाशङ्क्य प्रकर्षेणारुदत् । वंशं दूरीकरिष्यति ।

एकं परीक्षितं कथञ्चित्स्थापयिष्यति । इत्येवं
भगद्वंशे स्त्रियोपि भक्ता इति ज्ञापयितुमाह ।
भवतां प्रपितामहीति । पितामही सुभद्रा । कुन्ती
तु प्रपितामही ॥१४॥

व्याख्यानार्थ—अपने सम्बन्धों, पिता आदि एवं कृपा को श्लोक में 'च' दिया है, जिससे दल-रामजी तथा भगवान् के गुण कहे हैं, 'जगदीश्वर' विशेषण देकर यह बताया है कि आप जगत् के ईश्वर हैं, अतः आपको सर्व की पालना करना ही है, चाहे वे बहिर्मुख हो, भगवान् छिप गए, जिससे कुन्ती के मन में संशय उत्पन्न हुआ कि हमारी रक्षा करेंगे कि नहीं करेंगे ? इस भाव के आने पर तुम्हारी परदादी जोर से रोने लगी. वंश को तो दूर करेंगे, केवल एक परीक्षित की बड़ी सावधानी से रक्षा करेंगे, इस प्रकार तुम्हारे वंश में स्त्रियाँ भी भक्त हुई हैं, यह बताने के लिए शुक्रदेवजी ने कुन्ती का नाम न लेकर कहा है कि 'तुम्हारी परदादी' परीक्षित की सुभद्रा दादी है और कुन्ती परदादी है ॥१४॥

आभास—भगवतः सान्त्वनं तु पाक्षिक मन्दत इति भगवदीयैः सान्त्वनं क्रियत
इत्याह समदुःखसुख इति ।

आभासार्थ—भगवान् ने जो सान्त्वना दी, वह तो पाक्षिक समझी जाएगी, अतः भगवदीय सान्त्वना देते हैं, जिसका वर्णन 'समदुःखसुख' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—समदुःखसुखोक्कूरो विदुरश्च महायशः ।

सान्त्वयामासतुः कुन्तीं तत्पुत्रौत्पत्तिहेतुभिः ॥१५॥

श्लोकार्थ—अक्रूरजी और बड़े यशस्वी विदुरजी कुन्ती के साथ बराबर सुख तथा दुःख का अनुभव करते हुए उसके पुत्रों के जनक 'धर्म' और 'इन्द्र' आदि का प्रभाव कहकर सान्त्वना देने लगे ॥१५॥

सुबोधिनी—तत्रार्थे अक्रूरस्य सान्त्वनमनुचितं मत्वाह समे सुखदुःखे यस्येति । यद्यपि जाते अनिष्टे इष्टे वा सुखं दुःखं समानं तथाप्ययमक्रूरः प्रसिद्धः पुरुष इति सान्त्वनमुचितमेव । विदुरोपि तथा । यद्यपि तुल्यस्तथापि धर्मपक्ष इत्याह महायशा इति । तत एव हि धर्मो भवति, नान्यथा ।

सान्त्वयामासतुः न तु तद्दुःखं दृष्ट्वा स्वयं युद्धार्थं
प्रवृत्ताः । यतः कुन्ती कुन्तिभोजाय दत्ता, तत्रापि
स्वरक्षार्थं धर्मद्वयः प्राथिता इत्यक्रूरविदुराभ्यां
युद्धे कृते तत्प्रयत्नो व्यर्थो भवतीति तत्पुत्रोत्पत्ति-
हेतुभिर्धर्मादिभिः कृत्वा सान्त्वनमेव कृतवन्तो न
तु युद्धार्थं प्रवृत्ता इति युक्तम् ॥१५॥

व्याख्यानार्थ—यों तो इस विषय में अक्रूर सान्त्वना देते हैं यह उचित नहीं है, किन्तु अक्रूर महान् प्रसिद्ध पुरुष है उनको अनिष्ट या इष्ट में दुःख सुख समान है तो भी महत्ता के कारण सान्त्वना देनी योग्य ही है, विदुर भी वैसे ही हैं अतः वे भी सान्त्वना देवे, यह योग्य है, विशेष में यद्यपि इसको दानों तुल्य है तो भी यह धर्म पक्ष है इसलिए सान्त्वना दे मार्ग बताया है. इसलिए विदुरजी महाप-
जन्मी माने जाते हैं, यों करने से ही धर्म होता है अन्य प्रकार से धर्म नहीं हो सकता है, केवल सान्त्वना ही, इनका दुःख देख कर युद्ध के लिए तैयार न हुए, क्योंकि 'कुन्ती' भोज को दी गई है, इसमें यह प्रेरणा दी कि कुन्ती को अपनी रक्षा के लिए धर्म आदि को प्रार्थना करना चाहिए, यदि

ये' युद्ध करे तो सब प्रयत्न व्यर्थ हो जावे, इसलिए तुम्हारे पुत्रों के जनक 'धर्म' आदि से ही तुम्हारा दुःख दूर होगा यों कह कर सान्त्वना दी, किन्तु स्वयं युद्ध में प्रवृत्त न हुए यह योग्य ही किया ॥१५॥

आभास—तथाप्यक्रूरोऽसहमानो वाक्येन धिकारे कृते यद्ययं विमनो भविष्यति तदा मारयिष्यामीति निश्चित्य तद्गृहे स्थितस्तदधीनो भवतीति ततो निर्गच्छन् राजसंबोधनार्थं प्रवृत्त इत्याह यास्यन्निति ।

आभासाथं - अक्रूरजी, कुन्ती और उसके पुत्रों के दुःख देखकर सहन नहीं कर सके, जिससे मन में यह विचार आया कि यदि इस कुकृत्य के कारण धृतराष्ट्र को धिक्काऊंगा और उससे मुझे इनसे लड़ना पड़ेगा तो मैं इसको मार सकूंगा, किन्तु अब इसके घर में रहता है, घर में रहने वाला घर के स्वामी के अधीन होता है इसलिए जब घर छाड़ा, तब राजा की अधोक्षण करते हुए 'यास्तत्' श्लोक में इस प्रकार कहने लगे ।

श्लोक—यास्यन्नाजानमभ्येत्य विषमं पुत्रलातसम् ।

अवदत्सुहृदां मध्ये बन्धुभिः सौहृदोदितम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—जाते समय अक्रूरजी बान्धवों के समक्ष, कुपुत्रों के कहने पर सब कुछ करने वाले, विषम दृष्टि राजा धृतराष्ट्र के पास आकर, रामकृष्ण ने जो बहलाया था, वह सब कहने लगे ॥१६॥

सुबोधिनी—राजानं धृतराष्ट्रं राजत्वादवश्यं वक्तव्यं, अन्यथा मर्यादातिक्रमा कवेन् । अभित एत्येति निश्ङ्कम् । ननु राजा न वक्तव्यः सर्वप्राणिभिः यथा भगवान्, तत्कथमुक्तवानित्याजङ्ग्याह विषममिति । तत्र हेतुः पुत्रलातसमिति । पुत्रो हि स्वयं जीवन् पाण्डवान्न मन्यते । अधुना किं पाण्डवा हन्तव्याः पुत्रो वेति विचारे दुष्टो हन्तव्य इति धर्मशास्त्रात् पुत्रस्यैव मारणं

प्राप्तं तन्न करोतीति विषमः, सहजो धर्मा विहित धर्म नाधते । एतच्च राजाधिकारे निविष्टस्य वैषम्यमनुचितमिति बोधनमुचितमिति भावः । तदपि नैकान्ते, तथा सति लज्जा न भवेदतः सुहृदां मध्ये । तस्मिन्विषयेऽप्यन्येषामविषमत्वान् न वचनेपि किञ्चिदनिष्टम् । तत्रापि बन्धुभिरुदितं वसुदेवादिभिः । तत्रापि सौहृदादेवोदितं न तु विषमबुद्ध्या ॥१६॥

व्याख्याथं— धृतराष्ट्र राजा है, राजा होने के कारण उसका सब कहना चाहिए, यदि न कहा जाएगा तो मर्यादा का उल्लङ्घन होगा, इसलिए निश्ङ्क होकर राजा के पास आ गए, यदि कहो कि जैसे भगवान् को कोई नहीं कह सकता है कि ऐसा करो या वैसा करो, वैसे राजा भी भगवन्मूर्ति होने से कहने योग्य नहीं है, इसके उत्तर में कहते हैं कि वह तब हो सकता है, जब राजा अपने स्वरूप

को समझ समदृष्टि वाला हो, यह धृतराष्ट्र तो विषम दृष्टि वाला है, अतः इसको कहना चाहिए कि विषम क्यों हुआ है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'पुत्र लालसम्' पुत्र में मोह वाला है, पुत्र चाहता है कि मैं जीता हूँ, तब तक पाण्डवों को राज्य न दूँगा, जीवित होंगे तो कभी न कभी राज्य ले लेंगे, इसलिए इनको कैसे भी नाश करना चाहिए, वैसी दशा में क्या करना चाहिए, पाण्डवों का नाश करना चाहिए या पुत्र का नाश करना चाहिए, इस विचार करने में धर्म शास्त्र की आज्ञा तो यह है कि जो दुष्ट हो उसका नाश करना चाहिए, दुष्ट तो पुत्र है जिसको न नाशकर पाण्डवों का नाश कराने पर कमर कसी है, अतः यह राजा विषम है, अपना स्वाभाविक धर्म शास्त्र में कहे हुए धर्म में बाधा डालता है अर्थात् दुःस्वभाव या दुःसङ्ग शास्त्रीय धर्म करने नहीं देता है, यद्यपि राजा को तो राज्य सिंहासन पर बैठकर शास्त्र नियमानुसार ही कर्त्तव्य करने चाहिए, विषमता नहीं करना चाहिए, इसलिए वैसे राजा को समझाना ही योग्य है, यदि कहो कि यों है, तो एकान्त में समझा दो, जिसके उत्तर में कहते हैं कि एकान्त में कहा जाएगा तो लज्जा न होगी, अतः बान्धवों के समक्ष कहने से कुछ लज्जा आ जावे तो इस विषमता का त्याग कर दे और वचन कहने से किसी प्रकार कुछ भी अनिष्ट न होगा, यह विषम है, दूसरे तो अविषम ही रहेंगे, फिर मुझे कहना भी आवश्यक है; क्योंकि मैं जो कुछ कहता हूँ, वह मेरी ओर से नहीं है, किन्तु वसुदेव आदि बान्धवों ने जो कुछ कहा है, वही मैं कहता हूँ, उन्होंने भी जो कहा है, वह अपनेपन से हित के लिए ही कहा है न कि विषम बुद्धि से कहा है ॥१६॥

आभास— वचनान्याह नवभिः भो भो इति ।

आभासायं— 'भो भो वैचित्र' इस श्लोक से लेकर नौ श्लोकों में अक्रूर के वचन हैं ।

श्लोक— अक्रूर उवाच—भो भो वैचित्रवीर्य त्वं कुरूणां कीर्तिवर्धन ।

भ्रातयुपरते पाण्डावधुनासनमास्थितः ॥१७॥

श्लोकार्थ— अक्रूरजी कहने लगे कि हे विचित्रवीर्य के पुत्र ! कौरवों के कुल की कीर्ति बढ़ाने वाले, आपके भ्राता पाण्डु के परलोक पधारने पर आप राज्य सिंहासन पर बैठे हैं ॥१७॥

सुबोधिनी— सर्वैर्भविः सर्वविधान्युक्तानि वचनानीति । आदौ रजःसत्त्वतमोभावेन लौकिकेन प्रबोधन त्रिभिः । अन्धत्वान्न पश्यतीति दारदृश्यं संबोधनम् । राष्ट्रं न विभर्तीति न धृतराष्ट्रता । प्रज्ञाचक्षुरिति चेदुच्यते तर्हि मर्मभेदो भवेत् । तथा व्यासात्मज इत्यपि, स्त्रीपुत्रत्वादिसंबन्धो हीनत्वप्रतिपादकः । राजत्वं तु नास्तीति मग्न्यमानः कृत्रिमपितृनाम्ना संबोधयति वैचित्र्यवीर्येति । विचित्रवीर्यस्य क्षेत्रज्ञः पुत्र इत्यर्थः । त्व-

मित्येकवचनेन स्वजन्मानुसन्धीयतामिति द्योतितम् । किञ्च । कुरूणां वंशे त्वमुत्पन्नः तत्कीर्तिवर्धनमुचितम् । वर्धनशब्देन छेदनमप्युच्यते इति कीर्तिछेदकः त्वमित्यर्थादुक्तं भवति । राजाधिकारार्थं पुत्र उत्पादनीय इति विचार्य प्रथममुत्पापितः । ततश्चान्ध इति त्वं परित्यक्तः, ततः पाण्डुरुत्पादितः तस्मिन्नुपरते आगत्याधुना आसनमास्थितः सिंहासने उपविष्टः । अनेनायुक्तमेव करोषीति द्योतितम् ॥१७॥

ध्यातव्यार्थ—अक्रूर ने सर्व भावों से सर्व प्रकार के वचन कहे, जिनमें से प्रथम रज, सत्त्व और तम भाव से वहे, वे लौकिक प्रकार से तीन श्लोकों में कहकर समझाये, दो बार सम्बोधन इसलिए दिये हैं कि अन्ये होने से देख नहीं सकते हैं, 'धृतराष्ट्र' शब्द का अर्थ है—जिसने राष्ट्र को धारण किया है, किन्तु आपने राष्ट्र को वास्तविक रीति से धारण नहीं किया है, अतः आप में धृतराष्ट्रता नहीं है, यदि धृतराष्ट्र न कहकर 'प्रज्ञाचक्षु' कहा जावे तो मर्म में भेद हो जावे, यदि व्यास का पुत्र कहा जावे तो भी मर्म स्थान पर चोट आवे, स्त्री पुत्रादिक का सम्बन्ध हानता का प्रतिपादक है, राजत्व हीनता को प्रतिपादन करने वाला नहीं है, इसलिए बनावटी पिता के नाम से सम्बोधन देने के लिए 'वैचित्र-वीर्य' कहा है, वह विचित्र वीर्य का क्षेत्रज पुत्र है, राजा होते हुए भी 'त्व' यह एकवचन जो कहा है, जिसका आशय है कि तू अपने जन्म की तलाश कर कि मेरा जन्म कैसे हुआ है ? फिर तू कुरुवंश में उत्पन्न हुआ है, इसलिए उसकी कीर्ति को बढ़ाना तुझे योग्य है, यहाँ 'वर्धन' शब्द देकर धृतराष्ट्र को यह सूचना दी है कि तू अब वंश की कीर्ति का छेदन कर रहा है राज्य चलाने के लिए पुत्र की आवश्यकता है, अतः पहले उस कार्य के लिए आपको पैदा किया, किन्तु आप अन्ये निकले, जिससे आप राज्य के लिए अयोग्य हुए, इसलिए फिर दूसरा पाण्डु उत्पन्न किया, जिसने राज्य सम्भाला, उसके परलोक हो जाने से अब राज्यासन अपने हाथ कर राजा बने हैं, यह जो कुछ आप कर रहे हो वह अयोग्य ही है, यों प्रकट देखने में आता है ॥१७॥

श्राभास—अङ्गीकृत्यापि सात्त्विकेन बोधनमाह धर्मेणेति ।

आभासार्थ—आपने सब कुछ किया तो भी आपको सात्त्विक भाव से व्यवहार करना चाहिए, इसलिए 'धर्मोण' इस श्लोक में सात्त्विकता से बोध करते हैं।

श्लोक—धर्मेण पालयन्तुर्वी प्रजाः शीलेन रञ्जयन् ।

वर्तमानः समः स्वेषु श्रेयः कीर्तिमवाप्स्यसि ॥१८॥

श्लोकार्थ—यदि धर्म से पृथ्वी का पालन करोगे, अच्छे आचरण से प्रजा को प्रसन्न करोगे, अपने सम्बन्धियों से समानता से व्यवहार करोगे तो कल्याण तथा कीर्ति को प्राप्त करोगे ॥१८॥

सुबोधिनी — धर्मेण पृथिवीपालनं कर्तव्यम् । तदा दृष्टादृष्टोपायेन पालिता भवति । भगवता हि नामरूपप्रपञ्चो निर्मितो अन्योन्यपरिपालनाय, तदेकेन रहित व्यङ्ग्यं भवति । अतो धर्मेणैव सह पालनं कर्तव्यम् । केवलकरणत्वे योगिनामिवास्यापि पालनं भवेत् । अनेन परलोके सुखमिह-लोके तु राज्याद्वैषयिकं सुखं कीर्तिजन्यं तु ततो-

प्यधिकमिति तत्साधनं बोधयति प्रजाः शीलेन
रञ्जयन्निति । शीलं सुस्वभावस्तेनैव प्रजा अनु-
रक्ता भवन्ति । अन्यथा तु युक्तं देयं प्रयच्छन्ति,
बहिःकीर्तिसाधनमेतत् । अन्तःकीर्तिसाधनमाह
वर्तमानः समः स्वेष्टिविति । सर्वेष्वेव बन्धुषु समो
भवेत् । ततोन्तर्नापिकीर्तिस्तज्ज्ञश्च, तदा राजा
श्रेयः कीर्तिं च प्राप्स्यति ॥१८॥

(000000 : 000 : 00000000000000000000000000000000)

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में अक्रूर धृतराष्ट्र को सात्त्विक भाव से पालन करने की राह बताता है, भगवान् ने यह प्रपञ्च दो प्रकार से उत्पन्न किया है—एक नाम प्रपञ्च, दूसरा रूप प्रपञ्च; कारण कि वे दोनों परस्पर एक-दूसरे की पालना में सहायता करे, अतः हे राजन् ! आप भी केवल देह से नहीं किन्तु नाम प्रपञ्च शास्त्र की आज्ञा रूप धर्म के साथ पृथ्वी का पालन करो, यदि दोनों से पालन न कर एक से करोगे तो वह पालन अङ्गरहित अर्थात् अपूर्ण होगा, अतः धर्म के सहयोग से पालन करना चाहिए, केवल करण रूप धर्म से पालन करने से योगी के समान इसका पालन होगा, किन्तु इस प्रकार करने से जैसे योग के द्वारा पालन करने से योगी के योग का क्षय होता है, वैसे ही आपके धर्म का भी क्षय हो जावेगा, अतः दोनों के सहभाव से पालन करने से इस लोक में लौकिक सुख की प्राप्ति और परलोक में आनन्द की प्राप्ति होगी, अब इस लोक में कीर्ति भी हो, जिसके लिए आप सर्व प्रकार से प्रजा के मन का रञ्जन करो, वह तब होगा, जब आप अपने स्वभाव को सुन्दर बनाओगे, जिससे प्रजा का आप में प्रेम हो, आपकी लोक में बाहर की भी कीर्ति हो, जिसका साधन यह है कि आप जो योग्य भाग पाण्डवों का है, वह उनको दे दो तो आपकी लोक में विशेष कीर्ति होगी, कुटुम्ब में भी आपकी कीर्ति हो और अपकीर्ति जो हो रही है, वह मिट जावे, इसलिए अपने सर्व सम्बन्धियों से समान व्यवहार कीजिए, यों करने से राजा श्रेय और कीर्ति को प्राप्त कर सकता है, आप करोगे तो आप भी कल्याण और यश पाओगे ॥१८॥

प्राभास—अनङ्गीकारे तामसं वचनमाह अन्यथेति ।

ग्राभासाथं—उपरोक्त वचनों के अङ्गीकार न करने से तामस वचन 'अन्यथा' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—अन्यथा त्वाचरँल्लोके गहितो यास्यसे तमः ।

तस्मात्समत्वे वर्तस्व पाण्डवेष्वात्मजेषु च ॥१६॥

श्लोकार्थ—जिस प्रकार मैंने कहा है, उसी प्रकार यदि राजा आचरण नहीं करता है तो उसकी लोक में निन्दा होती है और वह मरने के अनन्तर अन्धतम नरक में पड़ता है, इसलिए आप अपने पुत्र तथा पाण्डवों में एक जैसी बुद्धि रखकर समान व्यवहार करो ॥१६॥

सुबोधिनी—उक्तप्रकारादन्यथा प्रकारेण भू-
पालनं प्रजाननुरागं विषमत्वं च कुर्वन् कीर्तिप्रति-
निधि श्रेयःप्रतिनिधि च प्राप्स्यसीत्याह । गहितो
निन्दितः तमोन्धतमः महद्दुःखं प्राप्स्यसीति, अतो
बाधवशादपि समो भवेदित्याह तस्मादिति । सम-

त्वे समत्वार्थं वर्तस्व यथैव त्वं समो भवसि तथो-
पायं कुर्वित्यर्थः । वैषम्यस्थानमुद्धाटयति ।
पाण्डवेष्वात्मजेष्विति । चकारात्तत्सबन्धिषु
च ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—अब अक्ररजी कहते हैं कि यदि राजा अन्य प्रकार से पृथ्वी का पालन करता है,

आमास—एव नोक्तन्यायेन बोधयित्वा शास्त्रन्यायेनाह सामान्यां त्रिभिस्त्रिभिस्तत्त्वं बोधयति नेह चेति ।

प्राप्तः—इस प्रकार लोक नीति के अनुसार राजा को ज्ञान देकर अब शास्त्र के न्याय से तीन तीन श्लोकों में पूर्व के समान सतो, रजो तमो भाव में कहते हैं ।

श्लोक—नेह चात्यन्तसंवासः कहिचित्केनचित्सह ।

राजस्वेनापि देहेन किमु जायात्मजादिभिः ॥२०॥

श्लोकार्थ—कभी, किन्तो के साथ, यहाँ सदा स्थिति नहीं है, हे राजन् ! स्त्री और पुत्रादिकों की तो क्या बात है ? परन्तु अपना शरीर भी सदा साथ नहीं रहता है ॥२०॥

सुबोधिनी—स्वार्थं हि सर्वेषां वर्तव्यम् ।
तद्यथा स्वार्थः सिद्धयनि । तत्र कालो बाधक इति
हितमहितं बहिरङ्गस्थापनार्थं यत्नो न कर्तव्य
इत्याह इहास्मिंल्लोके अत्यन्तं सर्वदा केनापि सह
संवासः कस्यचिदपि न । अलौकिकबोधने उग्र-
वचने बोधो न भवतीति कोमलवचनेन संबोधन

स्नेहज्ञापनार्थम्, ममतास्पदेन नास्त्येव संवास
इहापि व्यभिचारदर्शनात्स्वदेहेन तु न व्यभिचारं
पश्यतीति तत्राप्युपदिशति स्वेनापि देहेनेति ।
पुत्रादीनामपि देहः स्वस्यैवेत्यपिशब्दे निरूप्य
तान्नदिशति । किमु जायात्मजादिभिरिति ।
प्रादिशब्देन भ्रातृपित्रादयः ॥२०॥

व्याख्यानार्थ—यद्यपि सब जो कुछ करते हैं, वह अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए ही करते हैं, किन्तु उसमें काल बाधा करता है, इसीलिए जिस देहादिक को रक्षा आदि हम हित समझकर करते हैं, वह हित नहीं है, किन्तु अहित है, अतः बाहर के भाव की स्थापना करने के लिए यत्न नहीं करना चाहिए, जिसको समझाने के लिए कहते हैं कि इस लोक में सर्वदा किसी के साथ किसी की भी स्थिति काल करने नहीं देना है, जब अलौकिक ज्ञान देना होता है तब उग्रवचन बहे जावे तो बोध नहीं हो सकता है, अतः स्नेह दिखाने के लिए कोमल वचन से सम्बोधन दिया है, हे राजन् ! जिसमें ममता है, उसकी

आभास—सुखार्थं सुखसाधनार्थं वा पापं न कर्तव्यमित्याह अधर्मोपचितमिति ।

आभासार्थ—सुखं अथवा सुख के साधनों के लिए पाप नहीं करना चाहिए, यह 'अधर्मोपचितं वित्तं' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—अधर्मोपचितं वित्तं हरन्त्यन्येऽल्पमेवसः ।

संभोजनीयापदेशैर्जलानोव जलौकसः ॥२२॥

श्लोकार्थ—मूर्ख का अधर्म से सञ्चय कर, बढ़ा हुआ धन, दूसरे पुत्र आदि पालने योग्य है, इस मिष (बहाने) से ले जाते हैं, जिससे धन ले जाने पर जैसे जल के जीव जल के अन्यत्र चले जाने पर जल बिना दुःखी होते हैं, वैसे यह मूर्ख भी अकेला हो, दुःखी होता है ॥२२॥

सुबोधिनी—अधर्मेण उपचितं पुष्टम्, अर्थ-स्योत्पत्तिर्धर्मेणैव उपचयस्त्वधर्मेणापि भवति । तथा सति प्रवृद्धो रोषः, अन्य एव अधर्मिष्ठा अधर्मप्रेरिता वा दैन्या हरन्ति, प्रतिरोधे सामर्थ्याभावमाह । संभोजनीयापदेशैरिति । संभोजनीयाः संबन्धिनः, अतिलुब्धोपि सम्बन्धरक्षार्थं

तान् भोजयति । अनपेक्षितं बहुत्वान्नयन्तीत्याशङ्क्य तस्मिन् हृते जीवनमेव यातीत्यत्र दृष्टान्तमाह जलानोव जलौकस इति । जलौकसो मत्स्यादेः प्राणभूतमपि जलं कुल्याभिहरन्ति । ज्ञानं चेद्भवेत् तद्द्वारान्यत्र गच्छेदज्ञानमात्रे जीवनरूपोऽयमर्थ इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तः ॥२२॥

व्याख्यानार्थ - धन की उत्पत्ति धर्म से होती है, अर्थात् धन धर्म से प्राप्त होता है, किन्तु उसकी वृद्धि अधर्म से भी हो सकती है, तो जो धन अधर्म से बढ़ाया हुआ है वह देखकर अन्य जनता में रोष बढ़ता है जिससे वे दूसरे जो अधर्मी वा अधर्म से प्रेरित लूटेरू हैं वे धन छीन लेते हैं अपने में सामर्थ्य न होने से, उनको रोक कर धन बचाया नहीं जा सकता है, और धर्म की वृद्धि के समय धनी के मन में यह विचार होता है कि सम्बन्धियों को खिलाना चाहिए, धनी अतिशय लोभी होवे तो सब घ बना रहे इसलिए संबन्धियों को भोजन कराता है, धन के मद में कहता है कि मुझे अपने धन की अपेक्षा नहीं है, भले ये ले जावें इस प्रकार की प्रवृत्ति से धन का क्षय हो जाता है जिससे उसका जीवन ही नष्ट वा दुःखी होता है । इसको समझाने के लिए दृष्टान्त देते हैं, जैसे जल के जीव मत्स्य आदि का जल ही प्राण है, अतः वे नदी में ही रहते हैं, उस नदी का जल नहरों द्वारा मनुष्य अन्यत्र ले जाते हैं किन्तु जो जल के जीव समझते हैं वे उन नहरों द्वारा वहां चले जाते हैं जो वे समझ हैं, वे वहां हो जल के बिना अकेले रहने से दुःखी वा नष्ट होते हैं, वैसे ही अधर्म से बढ़ाये हुए धन वाला भी धन लुट जाने पर नष्ट होता है ॥२२॥

आभास—पश्चादुपकरिष्यन्तीत्याशङ्क्याह पुष्णातीति ।

आभासार्थ—यदि मैं अब धन देकर उनका पोषण आदि करूंगा तो बाद में वे मेरा उपकार करेंगे, इस विचार का 'पुष्णाति' श्लोक में खण्डन करते हैं—



श्लोक—पुष्पाति यानधर्मेण स्वबुद्ध्या तमपण्डितम् ।

तेऽकृतार्थं प्रहिण्वन्ति प्राणा रायः सुतादयः ॥२३॥

श्लोकार्थ—ननुष्य जिनको अपना समझ अथर्व से पालन करता है, वे प्राण, धन और पुत्र आदि उस मूर्ख को उपकार किए बिना पहले ही दुःखी अवस्था में छोड़ देते हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—अन्यमप्युपक्रम्य पर्यवसानेन पुत्रपर निरूपयति स्वबुद्ध्या स्वीया इति बुद्धिमात्रं वस्तुतः शत्रव एव । अन्यथा उपकारमेव कुर्युः । ते न बलात्कारेण तथा कुर्वन्तीति ज्ञापयितुमपण्डितमित्युक्तम् । ननु लौकिक वैदिक नित्यं कर्म कर्तव्यमिति तदर्थं ते भोजिता इति चेत्तत्राह अकृतार्थमिति । 'सभोजनी नाम पिशाचभिक्षे'ति वाक्यात् तेषां दान परलोकाय इह लोके भवत्युपकारः यदि ते उपकारं मन्येरन्, तदपि नास्तीत्यकृतार्थतैव । किञ्च । अवसरे प्राप्ते प्रकर्षेण हिण्वन्ति सङ्कटस्थाने स चार्थस्तं त्यजन्तीत्यर्थः । तान् बाह्याभ्यन्तरांस्तुल्यतया निदिशति प्राणा रायः सुतादय इति । आन्तराः बाह्याः मध्ये उभयोपयोगिनश्च, आदिशब्देन सर्व एव बाह्या गृहीताः, प्राणा इन्द्रियाणि आसन्धव्यतिरिक्ताः प्राणाः, आसन्धो हि सर्वान्पोषयति न तु तं कश्चन । ननु 'अनुप्राणन्ति यं प्राणाः' 'अण्डेषु पेशिष्वित्यादिवाक्यैः प्राणानामिन्द्रियाणां चामु-

क्ते वियोगो न श्रूयते । मुक्तौ तु कृतार्थतैवेत्यकृतार्थवचनं बाधितमिति चेत्, सत्यम् । चर्षणीनां जीवनां सहगमन, न स्थिरजीवानां, अन्यथा पुरस्जनोपाख्याने प्राणादिसहिते देहे जीवप्रवेशवचनं बाधितं स्यात् । यथा प्रवेशस्तथा निर्गम इति, प्रथमप्रवेशोयमिति चेत्, नैवम् । 'वीरमूरपि नेष्यती'ति वाक्यात्, अस्तु वा, तथा सति प्राणभूता राय इति व्याख्येयम् । 'अर्था बहिश्चराः प्राणा' इति, अनेन सिद्धान्तद्वयं निरूपितम् । उत्क्रमणे सहैव गमनमत्रैव परित्याग इति च, यतः श्रुतौ द्वयमप्युक्तम् । 'तमुत्क्रामन्तं प्राणो-नूत्क्रामति' प्राणा उत्क्रामन्त्युताहो नेति प्रश्ने नेत्याह याज्ञवल्क्यः । 'इहैव समवनीयन्ते प्राणा' इति 'यतो मृतो घमातः शेत' इति, 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' तु प्रक्रियान्तरम् । अतः क्रममुक्तौ ऊर्ध्वगमने च सङ्गः सर्वोपि गच्छति । जायस्व त्रियस्वेति पक्षे सद्योमुक्तौ च न गच्छतीति सिद्धान्त इति सर्वमविहृदम् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—प्रारम्भ तो अन्य से करते हैं किन्तु अन्त में उन सबों को पुत्र पर ही लाकर समझते हैं, ये सब अपने हैं । मित्र व सम्बन्धी हैं, वैसी बुद्धि जो होती है वह केवल विचार मात्र ही है, वास्तव में वे मित्र नहीं हैं किन्तु शत्रु हैं यदि शत्रु न हो तो उपकार करें, उपकार न करने से निश्चय से समझना चाहिए वे शत्रु ही हैं, शत्रु होते हुए भी वे बलात्कार से उसका धन छीनते नहीं हैं किन्तु उसकी मूर्खता का लाभ उठाते हैं, लौकिक, वैदिक नित्य कर्म तो करना ही चाहिए, इसलिए उनको भोजन कराना ही पड़ा यदि यों हो तो उसका उत्तर यह है कि इस प्रकार का भोजन दान रूप नहीं है जिससे परलोक में लाभ हो किन्तु यह भोजन पिशाच भिक्षा के समान है । इस प्रकार के भोजन से इस लोक में उपकार हो सकता है यदि वे कृतज्ञता दिखावें, वह भी नहीं है, जिससे इस किए का कोई फल नहीं है, न केवल इतना ही है किन्तु प्रसंग आने पर किसी भी आपदा के समय त्याग देते हैं । अब बाहर के और भीतर के सब समान हैं । यह बताते हैं प्राण, धन और पुत्र आदि

है, अन्दर के, बाहर के ये मध्य में दोनों के उपयोगी होते हैं, आदि शब्द कह कर यह बताया है कि बाहर के सब ही ग्रहण किए हैं। प्राण शब्द से इन्द्रियों को समझना चाहिए; क्योंकि उनका पोषण किया जाता है। आसन्य प्राण मुख्य प्राण है वह तो स्वयं का पोषण करता है उसका कोई पोषण नहीं करता है। 'अनुप्राणन्तिः' 'अण्डेषुपोषिषु' इत्यादि वाक्यों में कहा है कि जब तक मुक्ति नहीं होता है तब तक प्राण और इन्द्रियों का आपस में वियोग नहीं होता है। मुक्ति होते ही कृतार्थता होती है, तदनुसार आपका 'अकृतार्थ' कहना बाधित है, यदि यों कहते हो तो, वह सत्य है, किन्तु प्रत्येक विषय को प्रकरणानुसार समझना चाहिए, जीव दो प्रकार के है। एक 'चर्षणी' जोव हैं जिनकी हमेशा एक लोक से दूसरे लोक में जाकर क्रम मुक्ति होती है। दूसरे स्थिर जीव हैं जिन जिनको लोकान्तर में जाना नहीं पड़ता है उनकी यहां ही मुक्ति हो जाती है। यदि यों न माना जाएगा तो पुरस्जन के उपाख्यान में जो कहा गया है, कि देह में प्राणादि के होते ही जीव प्रवेश करता है अर्थात् देह में जीव ने एकाकी प्रवेश किया है, जैसे एकाकी प्रवेश वैसे ही एकाकी निर्गमन होता है इसका बाध होगा, इससे इसको प्रथम प्रवेश मान लो, यों भी नहीं हो सकता है क्योंकि 'वीरसूरपि नेष्यति' वाक्य से विरोध होगा, अतः यदि यो मान भी लिया जावे तो राय अर्थात् धन भी बाहर के प्राण हैं, जैसे कि कहा है, 'अर्था बहिश्चरा प्राणा, यों कहकर दो सिद्धान्त बताए हैं, एक शरीर से प्राणी का उत्क्रमण होने के पक्ष में साथ में अन्योका भी निकलना और दूसरा उत्क्रमण न हो कर यहां ही लोन हो जाने पर यहां हां सर्व का त्याग, क्योंकि श्रुति में दोनों प्रकार कहे हैं, क्रम मुक्ति के अधिकारी चर्षणी जीव के देह त्याग के समय प्राण आदि साथ जाते हैं 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इस श्रुति के अनुसार सद्यो मुक्ति के अधिकारी स्थिर जीव के प्राण आदि साथ में नहीं जाते हैं, अतः इस प्रकार समझने पर कोई विरोध नहीं रहता है स्थिर जीव सद्योमुक्ति योग्य बनता है वह प्राणादि को अयोग्य बनाकर यहां ही छोड़ता है वह योग्य ही है ॥२३॥

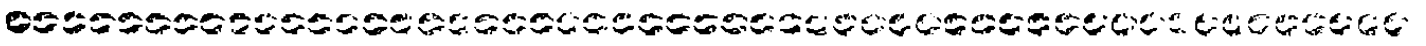
आभास—अयुक्तत्वाद् गच्छतीति युक्त एवास्य परित्यागः । यथा यो वधार्थं नीयते स केवलो नीयते यो विवाहार्थं नीयते ससामग्रीक इति तदाह स्वयं कित्ति-
षमादायेति ।

आभासार्थ—जैसे, जिसको मारने के लिए जब लेकर जाते हैं तो उसको अकेला ही ले जाते हैं किन्तु विवाह के समय तो बरात (जान) के साथ बाजे गाजे के लाया जाता है जिसका वर्णन 'स्वयं किल्बिष' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स्वयं किल्बिषमादाय तस्त्यक्तो नार्थकोविदः ।

असिद्धार्थो विशत्यन्धं स्वधर्मविमुखस्तमः ॥२४॥

श्लोकार्थ—उन प्राण आदि से त्यागा हुआ और सच्चे अर्थ को न समझने वाला वह मूर्ख, प्रयोजन भी सिद्ध न कर स्वधर्म से विमुख हो, अपने किए हुए पाप को साथ लेकर अन्धतम में प्रवेश करता है ॥२४॥



सुबोधिनी — तदुपार्जनपोषणाभ्यामुपाजित पापं गृहीत्वा तैः प्राणादिभिस्त्यक्तः अन्धंतमो विशति । ऊर्ध्वगतो तु न त्यजन्तीति ज्ञापयितुं नार्थकोविद इत्युक्तम् । अन्यथा योगशास्त्रं व्यर्थं स्यात् । 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि स' इत्यादिवाक्यात् । अतस्तादृशेन्द्रियाणां हिताचरणं युक्तम् । यदप्युक्तम् 'नो चेत्प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता' इति तद्विषयैः ससारमात्रे प्रवेशनमुक्तम् । न तु हीनगतिः । अत इन्द्रियाणां स्वभावभेदस्य दृष्टत्वात् 'निकृष्टैः कर्मभिनित्यं जन्तुः स्थावरतां याती'त्यादिवाक्यादपुनरावृत्त्यधोगमनमार्गे परित्याग एव, मुक्तिव्यावृत्त्यर्थमसिद्धार्थ

इति, भगवदिच्छया सद्योमुक्तौ निरुद्धगोपिकावत्नहगमन नास्तीत्यर्थकोविदत्वाभावेऽपि परित्यागो वर्तत इति व्यावर्तकं पदद्वयमपि मृग्यम् । अन्धंतमो हि अपुनरावृत्तितमः 'अन्धंतमः प्रविशन्तो'तिश्रुतिरपि, केवलेन्द्रियपोषका एव संभूतिमुपासत इति श्रुतिराह 'सविद्यामुपासत' इति च । ज्ञानरहितं प्रमाणबहिर्भूतं यत्कर्म लौकिकं निषिद्धं च तेन तम एव । ज्ञानसहितं तु कर्म वैदिकम् । 'य एवास्मि स सन् यज' इत्यादिश्रुतेः तस्य मोक्षफलत्वम् एतज्ज्ञापयितुमाह स्वधर्मविमुख इति । तस्मात् स्वधर्मानुसारेण भोगः कर्तव्यः ॥२४॥

व्याख्यार्थ—धन के उपार्जन करने और बढ़ाने में जो पाप का संचय किया है उसको साथ में लेकर अन्धंतमः में जाता है, प्राण आदि सब उसको छोड़ देते हैं कोई साथ नहीं चलता है, यदि उसकी गति उच्च होवे तो प्राण आदि सब उसके साथ जाते हैं छोड़ते नहीं हैं, यह बताने के लिए कहा है कि यह अर्थ को नहीं जानता है, यदि इस प्रकार न माना जावे तो योग शास्त्र व्यर्थ हो जावे, जैसा कहा है 'पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः' कि वह उस पूर्वाभ्यास से ही खींचा जाता है स्वयं अवश हो जाता है, अतः वंसी अन्तर्मुख इन्द्रियों का हित ही करना चाहिए न कि उन इन्द्रियों का जो ससार के आवेश के कारण दुष्ट हो गई है—इसलिए कहा है कि इन्द्रियों को अन्तर्मुख न करने वाले प्रमत्त को असत् इन्द्रिय रूप छोड़े रथी सहित उलटे मार्ग पर ले जाकर विषय रूप चोरों के पास फेंक देते हैं, उन विषय रूप चोरों के आधीन होने से वह प्रमत्त संसार में प्रविष्ट हो जाता है, न कि हीन गति पाता है, अतः इन्द्रियों के भिन्न भिन्न स्वभाव होने से स्वभावानुसार कर्म करने से वंसा फल मिलता है जैसा कि 'निकृष्टैः कर्मभिनित्यं जन्तुः स्थावरतां याति' निन्दित नीच कर्म करने से जीव स्थावर योनि को नित्य पाता है अतः वैसे पुरुष का 'अपुनरावृत्ति अथवा अधो मार्ग गमन' दोनों में त्याग करना चाहिए, ऐसे पुरुष की मुक्ति न हुई अथवा होगी नहीं, इसलिए इसको 'आसिद्धार्थ' कहा गया है, जिन भक्तों की भगवदिच्छा से 'सद्योमुक्ति' होती है उनके भी प्राणादि साथ नहीं जाते हैं यहां ही लीन हो जाते हैं जैसे निरुद्ध गोपियों के, वे अर्थ कोविद न होते हुए भी उनमें परित्याग तो है ही, अतः इस पक्ष को पृथक् करने वाले दोनों पदों का विचार करना चाहिए, अर्थात् उनका आशय समझना चाहिए जैसे मुक्ति में अपुनरावृत्ति है वैसे ही अन्धंतम में जाने पर भी अपुनरावृत्ति है अर्थात् जिसका अन्धंतम में प्रवेश होता है वह लोट के नहीं आता है जैसे 'अन्धंतम प्रविशन्ति' श्रुति में कहा है और केवल इन्द्रियों का पोषण करने वाला ही 'सम्भूति' की उपासना करता है जैसे श्रुति कहती है 'अविद्यामुपासते' बिना ज्ञान के तथा जिसके लिए कोई प्रमाण नहीं है वंसा जो लौकिक और निषिद्ध कर्म है उसको जो करता है वह तम को ही प्राप्त होता है, ज्ञान के साथ जो कर्म किया जाता है वह वैदिक कर्म है, 'य एवास्मि स सन् यजे' इस श्रुति के अनुसार स्वरूप को समझकर जो यज्ञ आदि कर्म किया जाता है उसका फल 'मुक्ति' है इसको जताने के लिए कहते हैं कि आप स्वधर्म से विमुख ही के जो कर्म करते हैं वह न स्वधर्म के अनुकूल सर्व भोग आदि करो ॥२४॥

आभास—धर्मो ज्ञानसहित इति धर्मसहितश्च भोग इति बुद्धिमांस्तादृशमेव कुर्या-
दित्याह तस्माल्लोकमिममिति ।

आभासार्थ—बुद्धिमान को ज्ञान सहित धर्म को और धर्म सहित भोग को करना चाहिए जिसका वर्णन 'तस्माल्लोकमिमं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तस्माल्लोकमिमं राजन्स्वप्नमायामनोरथम् ।

बोक्ष्यायम्यात्मनात्मानं समः शान्तो भव प्रभो ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! इसलिए इस लोक को स्वप्न, माया एवं मनोरथ के समान जानो, आत्मा से आत्मा को वशकर हे प्रभु ! शान्त तथा समदृष्टि बनो ॥२५॥

तुल्योचिनी—लोकानुसारेण पुत्रानुसरणं कर्तव्यमिति लोको निश्चिन्ते स्वप्नमायामनोरथस्वेन स्वप्नस्तामसः माया राजसी, मनोरथः सात्त्विक-स्तथोत्कर्षपित्रमपि जगन् न चिरकालावस्थायीति तदनुरोधेन तु न पुरुषार्थो नाशनीयः, उत्पत्तौ सिद्धाया मरणेऽपि सिद्धे पूर्व पश्चाच्च नानेन सङ्घातेन सह स्थित स्थास्यतीति सिद्धत्वात् स्वप्नादितुल्यत्वं युक्तमेव अनेनोत्कृष्टमिदं राज-

शरीरमित्यपि परिहृतम् । एवं बोक्ष्य पूर्वोक्तप्र-कारेणात्मनैवात्मानं सङ्घातव्यतिरिक्तं ज्ञात्वा देहसवन्धिष्वप्युदासीनो भवेत्याह सम इति । नन्वेवं पर्यालोचना कथं भविष्यतीत्याशङ्क्यामाह शान्तो भवेति । नन्वेवमुपाये कथं न सर्वे भवन्तीत्याशङ्क्याह प्रभो इति । त्व समर्थो विवेकी न त्वन्ये अविवेकिनः ॥२५॥

व्याख्यान—अक्रूरजी धृतराष्ट्र के इस 'लोक के अनुसार पुत्र का कहना भी मानना चाहिए' शङ्का का उत्तर देते हैं कि यद्यपि लोक भी यों कहता है किन्तु वह लोकभीस्वप्न,माया और मनोरथ की भांति चिरकाल नहीं रहता है तो उसका अनुसरण कर अपना पुरुषार्थ क्यों नाश किया जाय ? 'स्वप्न' तामस है 'माया' राजस है और 'मनोरथ' सात्त्विक है, इस प्रकार जगत् उत्कृष्ट और अप-कृष्ट होते हुए भी स्थिर नहीं है, उत्पत्ति भी होती है और मरण भी होता है किन्तु पहले का पश्चात् इस देह के साथ स्थिति तो रहने की नहीं है अर्थात् यह देह तो पृथक् ही है अतः त्यागनी ही है, इस-लिए देह को स्वप्न आदि तुल्य कहना उचित ही है, यों कहकर राजा को यह समझाया कि यह राजा का शरीर उत्तम है ऐसा विचार हृदय से निकालदो, अर्थात् इस प्रकार समझकर अन्तःकरण से निश्चय करलो कि यह आत्मा देह से पृथक् है, इसमें तथा इससे सम्बन्ध रखने वाले पुत्र आदि में भी उदासीन होकर रहो इसलिए कहा है कि सम होके रहो, यदि सम होकर रहा जाय तो फिर यह मुझे करना है वैसा विचार हो नहीं सकेगा, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'शान्त' हो जाओ, यदि शान्त होना ही उपाय है तो सब यों क्यों नहीं करते ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आप 'प्रभु' हो अर्थात् आप विवेक वाले तथा यों कर सकने में समर्थ हैं, दूसरे समर्थ नहीं हैं क्योंकि विवेक वाले नहीं हैं ॥२५॥

आभास—एवमुपष्टे ज्ञाने सन्तुष्टः सन् धृतराष्ट्र उत्तरमाह यथा वदतीत्यादिचतुर्भिः।

आभासार्थ—इस प्रकार ज्ञान का उपदेश मिलने से धृतराष्ट्र सन्तुष्ट होकर 'यथावदति' श्लोक में उत्तर देते हैं—

श्लोक—धृतराष्ट्र उवाच—यथा वदति कल्याणीं वाचं दानपते भवान् ।

तथानया न तृप्यामि मर्त्यः प्राप्य यथामृतम् ॥२६॥

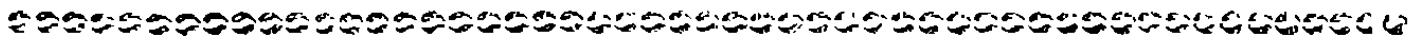
श्लोकार्थ—धृतराष्ट्र कहने लगे कि हे दानपते ! आप अमृत वाणी बोलते हैं, जिससे मैं इस प्रकार तृप्त नहीं होता हूँ, जैसे मनुष्य अमृत से तृप्त नहीं होता है ॥२६॥

सुबोधिनी — एवं व्यासेनाप्येतादृशमुक्तं भीष्मेणान्यैश्च तत् उपदिष्टं ज्ञानं क्षणमात्रमेव तिष्ठति पश्चादन्यथैव प्रवर्तते । पुनरुपदिष्टे पश्चात्तापसहितं ज्ञानं भवति । तदपि न तिष्ठतीति पुनरन्यथैव प्रवर्तते । एवमनेकपथेऽस्मन्मनसो-यमेव स्वभाव इति निश्चित्य पश्चात्तापो निवृत्तस्ततः प्रभृति ज्ञानमपि मन्यते वैषम्यमपि करोतीम सिद्धान्तमतो न जानातीति तं प्रति बोधयतीति, तदास्यानिष्टं भवेद् यदि पुत्रनाश नाङ्गीकुर्यात्तदा स्वस्व दोषो भवेत् परं स्वयं कर्तुं न शक्तो नाप्यन्यः किन्तु ईश्वर एवेति तस्याभिप्रेतम्।

अनेनास्य युद्धोद्यमोपि निवारितः । हे दानपते दानाध्यक्ष । धर्मशास्त्रे स्वयमेव निपुण इति, अनेन त्वं धर्ममेव जानासि । न तु कालम्, स्वभावमीश्वरेच्छां वा, परं यद्वदसि तत्कल्याणीमेव वाचं वदसि । सत्या मनोहरा च । 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयादिति स्मृतेः । यतस्त्वं दानपतिरिति । अद्यापि तव वचनश्रवणे श्रद्धा वर्तते इत्याह तथानयेति । तथाभूतयानया वाण्या न तृप्यामि । अलमिति न मन्ये । स्वस्य तद्वाक्यमपेक्षितमिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह मर्त्यः मरणधर्मा यथामृतं प्राप्य न तृप्यतीति ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—इस प्रकार व्यासजी, भीष्मपितामहजी तथा अन्योंने भी उपदेश दिया है वह ज्ञान मन में क्षण मात्र ही स्थिर रहता है अनन्तर मन उस ज्ञान के विपरीत ही आचरण करने लगता है फिर उपदेश मिलता है तो विपरीत कार्य करने के लिए पश्चात्ताप होता है और मन को ज्ञान भी आ जाता है किन्तु वह भी स्थिर नहीं रहता है जिससे मन फिर उल्टे मार्ग पर चलने लगता है यों अनेक बार होने से मैंने लमक लिया कि हमारे मन का यही स्वभाव है, जब यह निश्चय हो गया तब पश्चात्ताप निवृत्त हो गया, अब मन ज्ञान को भी मानता है किन्तु तदनुसार न चलकर विषमता भी करता है, इस सिद्धान्त को जो नहीं समझता है उसको यह सिद्धान्त समझाता है ।

धृतराष्ट्रजी के कहने का तात्पर्य यह है कि, जब वह यों करता है तो उसका अनिष्ट होता है, मैं पुत्र का नाश नहीं चाहता हूँ तो मेरा अपना दोष होता है किन्तु जीव स्वयं कुछ भी करने में समर्थ नहीं है और न कोई दूसरा कुछ भी करने में समर्थ है, जो कुछ करना कराना है उनमें ईश्वर ही समर्थ है, धृतराष्ट्र ने यों कहने से यह वता दिया कि युद्ध का उद्यम मैं करा रहा हूँ, यह विचार गलत है ।



हे दानाध्यक्ष ! आप धर्म शास्त्र को अच्छी तरह जानते हैं, जिससे आप धर्म को जानते हैं, किन्तु काल, स्वभाव एवं ईश्वर इच्छा को नहीं जानते हैं, परन्तु जो वाणी बोलते हो वह सत्य और प्रिय है, स्मृति में भी कहा है कि सत्य कहना किन्तु वैसा सत्य कहना जो सुनने वाले को प्रिय लगे, आप वैसे ही बोल रहे हो, कारण कि दानपति हो, इसलिए अभी भी आपके वचन श्रवण करने में श्रद्धा है, आपकी इस वाणी से मुझे तृप्ति नहीं होती है, मैं नहीं चाहता हूँ कि अब मत कहो मैं तो फिर भी सुनना चाहता हूँ जैसे सरण धर्म वाला मनुष्य अमृतपान से तृप्त नहीं होता है, चाहता है कि और भी पीवूँ ॥२६॥

आभास—यथा गङ्गायां सज्वरोपि श्रद्धावान् गङ्गास्नानेन न तृप्यते परं तस्य शरीरं न सहते तथा मम मन इत्याह तथापीति ।

आभासार्थ—ज्वर वाला पुरुष श्रद्धालु होने से गङ्गा में स्नान करते हुए तृप्त नहीं होता है किन्तु उसका शरीर स्नान को सहन नहीं कर सकता है, वैसे ही मैं तो आपकी ज्ञान रूप वाणी सुनने से तृप्त नहीं होता हूँ किन्तु मेरा मन उसको सुनना अथवा करना नहीं चाहता है, 'तथापि' इस श्लोक में इस बात को कहते हैं—

श्लोक—तथापि सूनृता सौम्य हृदि न स्थीयते चले ।

पुत्रानुरागविषमे विद्युत्सौदामिनी यथा ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे सौम्य ! जो कि आपकी वाणी सुन्दर है तो भी पुत्र के प्रेम के कारण विषम हुए चञ्चल मन में वह वैसे नहीं ठहरती है, जैसे सुदामा पर्वत की बिजली नहीं ठहरती है ॥२७॥

सुबोधिनी—सूनृता सत्यरूपा सतां मनसि यद्यपि तिष्ठति मनसो हि भार्या सा । तथापि चञ्चले मनसि वेश्यते भर्तरीव हृदि चञ्चले सति न स्थीयते । चाञ्चल्यमात्रे तदनुगुणकार्याकर्तारि तिष्ठेतापि तदपि नास्तित्याह पुत्रानुरागविषम इति । पुत्रानुरागेण विषमं जातं यथा जलप्रवा-

हेण भूमिनिम्नोन्नता भवति । यथा मालोकारा विद्युत् क्षणमपि न तिष्ठति दण्डाकारा तु क्षणं दृश्यतेपि । अत उक्तं विद्युत्सौदामिनी यथेति । सौदामिनी विद्युदिति प्रत्येकसमुदायाभ्यां वा विद्युद्वाचकम् ॥२७॥

व्याख्यानार्थ—जो कि सत्पुरुषों के मन में सत्य रूप वाणी ठहर जाती है क्योंकि वाणी मन की स्त्री है, तो भी जैसे स्त्री का मन, वैश्या प्रेमी पति में नहीं ठहरता है वैसे मेरे इस चञ्चल मन में चञ्चलता के कारण आपकी सत्य वाणी नहीं ठहरती है, चञ्चल होने पर भी यदि वाणी के योग्य काम करने वाला हो तो भी उसमें स्थिर हो जावे, किन्तु यहां वह भी नहीं है जैसे जल के प्रवाह से भूमि नीचे ऊपर होकर विषम बन जाती है वैसे ही मेरा मन भी पुत्र के प्रेम प्रवाह के कारण विषम बन गया है, जिससे आपकी वाणी मेरे मन में वैसे नहीं ठहरती है जैसे माला के आकार वाली सुदामा पर्वत

की बिजली क्षण मात्र भी नहीं ठहरती है । दण्ड के आकार वाली तो क्षण मात्र देखने में भी आती है विद्युत तथा सोदाभिनी दोनों शब्द बिजली के वाचक हैं ॥२७॥

आभास—तर्हि यत्नः कथं क्रियते चित्तवृत्तिनिरोधस्य योगस्य विद्यमानत्वादिति चेत्तत्राह ईश्वरस्येति ।

आभासार्थ—जब चित्त वृत्ति का निरोध कराने वाला योग विद्यमान है, तब यत्न क्यों करते हो ? जिसका उत्तर 'ईश्वरस्य' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—ईश्वरस्य विधिं को नु विधुनोत्यन्यथा पुमान् ।

भूमेर्भारावताराय योऽवतीर्णो यदोः कुले ॥२८॥

श्लोकार्थ—जिस ईश्वर ने पृथ्वी का भार उतारने के लिए यदु के कुल में अवतार लिया है, उसके करने की विधि को अन्यथा करने की किस पुरुष में शक्ति है? ॥२८॥

सुबोधिनी—ईश्वरेण कश्चन प्रकारो विहितः । एवं प्रकारेणैवैतन् कतव्यमिति । तत्कोन्यथाकृतुं यत्नः । एतद्विज्ञानमावापोद्वापाभ्यां परिश्रमेण भवति, तस्मिन् कृते ज्ञायत इति न काप्यनुपपत्तिः । एवं ज्ञात्वा को वा विवेकी पुमान् समर्थो-
पांश्वरविचारितं प्रकारं विशेषेण धुनोत्यपि दूरी-
करोति । कम्पित वा करोति । नन्वीश्वर उदा-
सीनो, 'नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभु'-
रिति वाक्यात् । अज्ञानेनैव तथाचित्तं जायते ।
नन्वीश्वरस्तथा करोतीति चेत्तत्राह भूमेर्भाराव-
तारायेति । भगवान् भूभारहरणार्थमवतीर्णः
अन्यथाऽवतारमेव न कुर्यादितो ज्ञायते भगवता
अन्यः प्रकारो विचारित इति । नन्वेतदपि नाङ्गी-
कर्तव्यं वाक्यविरोधात् । अतोवतारस्य प्रयोज-
नान्तरमनवतरणं वा कल्पनोपमिति चेन्न । तथा
सति शास्त्रवैफल्यात्, सर्वमुक्तिर्वा प्रसज्येत । अतो-
धिकारपरं शास्त्रमित्यपि पक्षे यथा सर्वगुणसंप-
त्तिर्मयि तथा न कस्यापीति सर्वेषामनाश्वास एव

स्यात् । अतो व्यभिचारादीश्वरेच्छा स्वतन्त्रति-
वक्तव्यम् । एवमपि शास्त्रवैफल्यमिति चेत् ।
सत्यम् । न सर्वत्र शास्त्रं प्रमाणम् । किन्तु क्वचि-
देव यत्रैश्वरेच्छा, यथोक्तसाधनेऽप्यजननान् ।
अतः सर्वत्र शास्त्रमेव प्रमाणं यदि शास्त्रानुसारे-
णापि कदाचिन्न भवति तदैश्वरविधिरेति
कल्प्यते । यथा मण्यादिप्रतिबन्धे दाहाभावा-
च्छक्तिः परिकल्प्यते सा अग्नौ मणौ वेत्यत्र
वयमुदासीनाः । तथा तादृशस्थले ईश्वरेच्छा
नियामिकेति ज्ञातव्यम् । ईश्वरत्वादेव न पर्यनु-
योगः, लोके च महाराजाज्ञादिषु सामान्यविशेष-
भावः श्रूयते सर्वतो निरुपद्रुतेऽपि देशे कस्यचिदु-
पद्रवो महाराजेच्छया भवतीति, न चैतावता
सामान्याज्ञया निरुपद्रुकं राज्यं विरुध्यते । अतो
निमित्तभूतानस्मदादीन् मर्यादायां स्थापयतीति
युक्तमेव ज्ञातेऽपि शास्त्रे वैषम्यम् । अन्यथा भग-
वान् यदोः कुलेऽवतीर्णो न भवेत् ॥२९॥

व्याख्यानार्थ—ईश्वर ने प्रथम ही यह निश्चित निर्णय कर लिया है कि इस कर्तव्य को इस प्रकार से करना है उसको अन्यथा करने से कौन समर्थ है, अर्थात् कोई नहीं, यह विज्ञान तब प्राप्त

होता है जब मनुष्य वृक्ष बोने के लिए पहले आल वाल बनाए, अनन्तर उसमें बीज बोने का कार्य करे यों परिश्रम करने से जैसे इस विषय का ज्ञान हो जाता है वैसे ही यहां भी विधि अनुसार परिश्रम करने से जाना जा सकता है, इसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है, इस प्रकार करने से विवेकी मनुष्य समझ जाता है कि ईश्वर के विचारित कर्तव्य को कोई भी अन्यथा नहीं कर सकता है और न उसको स्वल्प भी हिला सकता है, 'नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः' इस शास्त्र वाक्यानुसार ईश्वर किसी का पाप वा पुण्य ग्रहण नहीं करते हैं अतः वे उदासी नहीं रहते हैं, इसलिए पुत्र प्रेम से चित्त का विषम बनना तो अज्ञान से होता है, यदि कहो कि ईश्वर वैसा करते हैं तो उसके उत्तर में कहते हैं कि 'भूमेः भारवताराय' भगवान् ने अब भूमि के भार को उतारने के लिए अवतार धारण किया है, यदि यों न होवे तो अवतार ही धारण न करे, जिससे समझा जाता है कि भगवान् ने अन्य प्रकार विचारा है, इसको भी स्वीकार नहीं करना चाहिए क्योंकि यों स्वीकार करने से 'यदा यदा ही धर्मस्य' वाक्य का विरोध होगा, अतः अवतार धारण करने का कोई दूसरा कारण होगा अथवा अवतार हुआ ही नहीं है यों कल्पना करलो, यदि यों कहो तो यों नहीं है यों मान लेने से शास्त्र निष्फल हो जावेंगे, अथवा सब की मुक्ति हो जावेगी, यदि कहो कि शास्त्र अधिकार पर है तो इस पक्ष में भी दूषण है, जैसे वह मान लेता है कि सर्व गुणों की सम्पत्ति मुझ में है वैसे दूसरे में नहीं है, इस प्रकार कहने से सबों का, शास्त्र से विश्वास ही न रहेगा। अतः व्यभिचार होने से अर्थात् शास्त्र में ही अविश्वास होने से ईश्वर की इच्छा स्वतन्त्र है यों मान लेना चाहिए, यदि कहो कि यों मानने पर शास्त्र की विफलता होगी तो इसके उत्तर में कहा जाता है आप का कहना सत्य है किन्तु शास्त्र सर्वत्र प्रमाण नहीं हो सकता है किन्तु जहां ईश्वर की इच्छा होती है वहां शास्त्र प्रमाण होता है, जैसे साधन करते हुए भी फल की प्राप्ति नहीं होती है किन्तु ईश्वर की इच्छा होवे तो साधन से फल की प्राप्ति हो जावे। यद्यपि शास्त्र ही सर्वत्र प्रमाण है किन्तु कदाचित् शास्त्रानुसार कर्तव्य करने पर भी जब फल नहीं होता है तब ईश्वर के इच्छा को कल्पना की जाती है अर्थात् शास्त्रोक्त साधन तो किए किन्तु ईश्वर की इच्छा फल देने की नहीं है इस प्रकार के भाव अन्तःकरण में स्वतः उदय हो जाते हैं जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, अग्नि जल रही है वहां मणि रखने से अग्नि शान्त हो जाती है तब किसी शक्ति की कल्पना करनी पड़ती है वह शक्ति कहां से मणि में वा अग्नि में आई इस विषय में अपन उदासीन हैं अर्थात् कुछ कह नहीं सकते हैं, ऐसे स्थल पर ईश्वर की इच्छा ही नियामक है यों समझना चाहिए, ईश्वर होने से उस पर हम दबाव तो डाल नहीं सकते हैं, लोक में भी महाराजा की आज्ञा दो प्रकार की होती है एक सामान्य दूसरी विशेष आज्ञा, जैसे कि देश सर्व प्रकार उपद्रव रहित होने से शान्त और सुखी है किन्तु कोई व्यक्ति महाराजा की इच्छा से दुःखी होता है, इस प्रकार की महाराजा की इच्छा से जो आज्ञा है जिससे राज्य तो निष्कण्टक चलता ही रहता है किन्तु केवल वह व्यक्ति दुःखी है यह विशेष आज्ञा है, अतः अपनी इच्छानुकूल कार्य करने के लिए हम लोगों को निमित्त बनाते हैं जिससे हम मर्यादा में नहीं रहते हैं और शास्त्र जानते हुए भी विषमता करते हैं वह योग्य ही है, जो यों न होवे तो भगवान् यदुकूल में अवतार ही न लेवे ॥२८॥

ग्रामास— एवं भगवन्माहात्म्यं स्मृत्वा भगवन्तं नमस्यति यो दुर्विमर्शोति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के माहात्म्य का स्मरण कर भगवान् को 'यों दुर्विमर्श' श्लोक में तमन करते हैं—

श्लोक—यो दुर्विमर्शपथया निजमाययेदं

सृष्ट्वा गुणान्विमज्जते तदनुप्रविष्टः ।

तस्मै नमो दुरवबोधविहारतन्त्र-

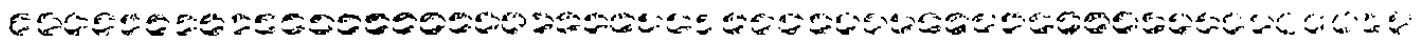
संसारचक्रगतये परमेश्वराय ॥२६॥

श्लोकार्थ—जिसके मार्ग का विचार करना भी अशक्य है, वैसी अपनी माया से यह जगत् रचकर अनन्तर उसमें प्रविष्ट होकर जो ईश्वर गुणों का विभाग करते हैं और जो समझ में न आने वाले इस संसार चक्र को गति देते हैं, उस परमेश्वर को नमस्कार है ॥२६॥

सुबोधिनी—पूर्णं भगवान् कथमवतीर्णः किमर्थं वा अवतीर्ण इति सन्देहं वारयन् नमस्यति । दुःखेनापि विमर्शो विचारो न यस्येति । एतादृशः पन्था यस्य । मन्त्रादि वान्यसामर्थ्यपक्षं व्यावर्तयति । निजेति । भगवद्धर्माणामपि जिज्ञासा अशक्या । यथा मायाया मार्गस्यापि, तत्र भगवतो विमर्शो वा करिष्यति । ‘अलौकिकास्तु ये भावा न तास्तर्केण योजयेत्’ इति निषेधश्च । एतादृश्या मायया लोके कपटत्वेन प्रसिद्धयापीदं प्रसिद्धं जगत् सृष्ट्वा तत्र स्वयं सत्य-स्वरूपः प्रविष्टः । गुणान् सत्त्वादीन् उन्नोचभावेन भजते पृथक्करोति । यस्या मार्ग एव न ज्ञायते तथा किं कश्चित् कर्तुं समर्थः, मायासृष्टं वा कश्चित्प्रवेष्टुं प्रविश्य वा तुल्ये उच्चनीचतां संपादयितुम् । अतो महानुभावो भगवानिति तस्मै नमः ।

किञ्च श्रुतौ काण्डद्वये पञ्चरात्रे इतिहासपुरा-
णेषु च सहस्रधा सृष्टिर्निरूपिता । अतो केन साध-
नेन कथमेवं करोतीति दुरवबोधो विहारतन्त्रः
क्रीडापरिकरो यस्य संसारस्य, तस्य चक्रं तस्यापि
गतिर्यस्मात् तत्र वा गतिर्यस्येति । भगवतः
संसारः अद्वन्ताममतात्मकः न लौकिकवत् ।
इच्छया सर्वं जायत इत्यतो लीलार्थमित्यध्यवसी-
यते । भगवतोवताराः भगवच्छास्त्रं भगवदोयाः
पुरुषाः पदार्थाश्च तेषां साधारणोपयोगाभावात्
किमर्थं करणमिति नाशङ्कनीयम् । दुरवबोध-
त्वादेव, अतो भगवतः कार्यं जगद् भगवल्लीला
वैष्णवप्रकाशेति । उभयोदुर्ज्ञेयत्वात् परम एवे-
श्वरो भगवानोश्वरादेवालोकितात् परमेश्वर
उभयालोकिक इति ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—अब अक्रूरजी भगवान् को नमस्कार करते हैं नमस्कार करने से पूर्ण भगवान् कैसे प्रकट हुए अथवा क्यों अवतार लिया । मनुष्यों की इस शङ्का को मिटाना है, जिस भगवान् की माया के मार्ग का कठिनता से भी विचार नहीं हो सकता है जहाँ मन्त्र आदि की शक्ति भी कुछ काम नहीं कर सकती है, जब आपकी ऐसी माया है जिसका पता नहीं लगता है, भगवान् के धर्मों की भी जिज्ञासा अशक्य है जब माया के मार्ग का ज्ञान होना कठिन है, तब भगवान् का विचार कौन कर सकेगा ? इसलिए ही कहा है कि अलौकिक भावों का तक से विचार नहीं करना चाहिए, लोक में कपट रूप से प्रसिद्ध माया से यह प्रसिद्ध जगत् बनाकर उसमें स्वयं सत्य रूप से प्रविष्ट हुए हैं, प्रवेश के अनन्तर सत्व आदि गुणों को उच्च और नीच भाव से पृथक् करते हैं, जिसके मार्ग का ही ज्ञान नहीं है, उससे कोई कुछ कर सकता है ? जो माया से बना है उसमें कोई प्रवेश करने के लिए



अथवा प्रवेश कर जो तुल्य है उसको उच्च नीच करने में कोई समर्थ है ? नहीं समर्थ है अतः भगवान् अनुभाव वाले हैं, उनको नमस्कार है और विशेष कहते हैं कि श्रुति के दोनों काण्डों में पञ्चरात्र तथा इतिहास और पुराणों में सृष्टि के हजारों प्रकार कहे हैं, अतः किस साधन से और यों कैसे करते हैं यह संसार चक्र की क्रीड़ा के तन्त्र का समझना कठिन है ऐसे की भी गति जिससे होती है । भगवान् का अहंता ममतात्मक संसार लौकिक संसार की भांति नहीं है, यह सर्व लीला इच्छा से ही होता है यों निश्चय पूर्वक समझा जाता है भगवान् के अवतार, भगवत् शास्त्र भगवदोय पुरुष और भगवदोय पदार्थ इन सबों का साधारण उपयोग नहीं होता है, तो यह शङ्का भी नहीं करनी, किये, क्यों किये हैं, ये किस लिये किये, जिसको कोई नहीं जान सकता है, अतः भगवान् का कार्य रूप जगत्, भगवान् की लीला और वैष्णवों का प्रकार दुर्बोध है, आप और मैं दोनों इनको नहीं जान सकते हैं, कारण कि भगवान् परम ईश्वर अलौकिक और ईश्वर होने से ही भगवान् परमेश्वर हैं अतः माया और संसार से अथवा कार्य और कारण से वह परमेश्वर अलौकिक है ॥२६॥

आभास—अनेन भगवतः संसारोयं भगवदादयोऽस्मदादयश्च तदिच्छयैव प्रवर्तितुं योग्याः, न तु स्वेच्छयेति । उपदेशो वा ज्ञानं वा न विचारणीयमिति तूष्णीं सर्वे स्था-
तव्यमित्याभिप्रायं बुध्वा ततो निर्गत इत्याह इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायमिति ।

आभासार्थ—यह संसार भगवान् का है, आप और हम सब को उसकी इच्छा के अनुसार ही चलना चाहिये, न कि अपनी इच्छा से, उपदेश का ज्ञान, किसी का भी विचार नहीं करना चाहिए, सब को मौन धारण करनी चाहिए इस अभिप्राय को समझकर अक्रूर वहां से जाने लगा, इसको वर्णन श्री शुकदेवजी 'इत्यभिप्रेत्य' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच-इत्यभिप्रेत्य नृपतेरभिप्रायं स यादवः ।

सुहृद्भिः समनुज्ञातः पुनर्यदुपुरीमगात् ॥३०॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि इस प्रकार राजा के अभिप्राय को जान कर वे अक्रूरजी मित्रों की आज्ञा लेकर पुनः मथुरा लौट गए ॥३०॥

सुबोधिनी—तस्य तद्वाक्यानङ्गीकारे हेतुद्वय- माह नृपतेरिति । स यादव इति । राजवाक्यम- ङ्गीकर्तव्यम् । यदुवंशे भगवदवताराद् यादवंश्च	सुतरां तदङ्गीकर्तव्यम् । तदुत्कर्ष एवोक्त इति, ततोऽपि लौकिकन्यायेन सुहृद्भिः भीष्मादिभिः सम्यगनुज्ञातो यदुपुरीं मथुरामगात् ॥३०॥
---	--

व्याख्यानार्थ—धृतराष्ट्र ने अक्रूरजी का कहना नहीं माना उसके दो कारण है—१ धृतराष्ट्र राजा है, राजा स्वतन्त्र है किसी का कहा माने वा न माने, २ अक्रूर यादव है, राजा का वाक्य तो अङ्गीकार करना चाहिए, यदुवंश में भगवान् ने अवतार लिया है अतः उनको तो अवश्य मानना चाहिए, इसमें ही उनका उत्कर्ष है, पश्चात् यहां भी लौकिक न्याय से भीष्म आदि सुहृदों की आज्ञा प्राप्त कर यादवों की मथुरा में गए ॥३०॥

श्लोक—शशंस रामकृष्णाम्यां धृतराष्ट्रविचेष्टितम् ।

पाण्डवान्प्रति कौरव्य यदर्थं प्रेषितः स्वयम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—हे कौरव्य ! जिस कार्य के लिए अक्रूर को हस्तिनापुर भेजा था, वह कार्य कर आए, अब अक्रूर धृतराष्ट्र का पाण्डवों के प्रति क्या आशय है ? वह राम और कृष्ण को कहने लगे ॥३१॥

सुबोधिनी—स्वयं केवलमाज्ञाकारी न स्वतन्त्र इति ज्ञापयितुं रामकृष्णयोः स्थाने शशंस । धृतराष्ट्रस्य विशेषेण चेष्टितं पाण्डवान् प्रति मारणपर्यन्तमुद्योगम् । ननु सतामेतदयुक्तमिति चेत्तत्राह यदर्थं स्वयं प्रेषित इति । अधिकारिणो नायं दोषः, कौरव्येति विश्वासार्थम्, स्वयं प्रेषित इत्य-

न्यद्वारापि कथनं व्यावर्तितम् । अन्येन पूर्वार्धान्ति-प्रकरणेनाग्रे भगवतैव कर्तव्यमिति ज्ञापितम् । एतावत्पर्यन्तं न साक्षाद्भगवता किञ्चित्कृतं किन्त्वन्यानुरोधेनैवेति । अतो भगवतो लीलाद्वय-मन्यानुरोधेन करणं स्वतःकरणमिति भगवतो भक्तानुरोधो निरूपितः ॥३१॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीवल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धपूर्वार्धे षट्चत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—अक्रूरजी रामकृष्ण के स्थान पर जा कर सब समाचार कहने लगे क्योंकि अक्रूरजी आज्ञा पालन करने वाले हैं स्वतन्त्र नहीं है, धृतराष्ट्र का हादिक आशय पाण्डवों को मारने तक का था वह सर्व सुनाने लगे, सत्पुरुषों को यों गुप्त विचार भी प्रकट करना योग्य नहीं है जिसके उत्तर में कहते हैं कि जिसके जानने के लिए ही भेजे गए थे अतः उसको कुछ भी गुप्त हो वह बताना ही चाहिए, सर्व बताने में अधिकारी को कोई दोष नहीं लगता है, राजा को कौरव्य ! यह सम्बोधन विश्वास के लिए दिया है भगवान् ने स्वयं अक्रूर को इस कार्य करने के लिए भेजा था अतः उनको ही स्वयं सर्व समाचार लाकर स्वयं ही को बताना है, नहीं कि दूसरे के द्वारा, इस प्रकरण के अनन्तर स्वयं भगवान् को ही करना है, अब तक तो स्वयं भगवान् ने कुछ भी नहीं किया है जो कुछ किया है वह दूसरों के द्वारा किया है, भगवान् की लीलाएँ दो प्रकार की है— १. अपनी इच्छानुसार करना -२. दूसरों के कहने के अनुसार करना, यों भगवान् का भक्तानुसरण कहा है ॥३१॥

अध्याय के लेख की समाप्ति करते हुए गोस्वामी वल्लभलालजी निम्न तीन कारिकाओं में अपना भाव प्रकट करते हैं:—

कारिका—इत्येवं भगवल्लीला भक्तविश्वासदायिनी ।

निरूपितातियत्नेन कृष्णपादाम्बुजाश्रया ॥१॥

कारिकार्थ—कारिका में कहते हैं कि यों इस प्रकार इस विवृत्ति द्वारा भक्तों में विश्वास

उत्पन्न करने वाली, श्रीकृष्ण के चरण कमलों में आश्रय देने वाली भगवल्लीला विशेष प्रयत्न से निरूपण की है ॥१॥

कारिका—सर्वेषु पुष्टहृदयेषु निवेदयामि मार्गो यदा भगवतो भवताममोष्टः ।

भक्तिप्रकारसहितो हरिभावयुक्तो ज्ञेयस्तदा विवृत्तिरेव सदा विचिन्त्या ॥२॥

कारिकार्थ—सकल पुष्टिस्थ जीवों को कहता हूँ कि जो आपको भगवन्मार्ग प्रिय होवे तो भगवद्भाव वाले हृदय से यों जान लो कि भक्तिमार्गीय प्रकार से युक्त यह मार्ग है । फिर इस विवृत्ति का सदा चिन्तन करते रहो ॥२॥

कारिका—दशमस्कन्धविवृत्तिः पूर्वार्धे सुनिरूपिता ।

कृष्णपादाम्बुजे न्यस्तः श्रीपुष्पाञ्जलिरुज्ज्वलः ॥३॥

कारिकार्थ—पूर्वार्ध में जो दशम स्कन्ध विवृत्ति रूप पुष्प गुच्छ अच्छी तरह से तैयार किया है, उस (विवृत्ति) को श्री कृष्ण चरणों में उज्ज्वल पुष्पाञ्जलि-रूप से समर्पण करता हूँ ॥३॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध (पूर्वार्ध) ४६वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-प्रमेय
अवान्तर प्रकरण का सातवाँ अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

**इस अध्याय में तथा पिछले दूठे अध्याय में वर्णित भगवल्लीला के
निम्न पद का अवलोकन करें**

राग परज

भक्तबल्लव वसुदेव कुमार ।

चले एक दिन सुफलक सुत कै, पांडव हेत विचार ॥

मिल्यो सु आई पाइ सुधि मग मै, बार बार परि पाइ ।

गयो लिवाइ सुभग मंदिर में, प्रेम न बरन्यौ जाइ ॥

चरन पखारि धारि जल सिर पर, पुनि पुनि हगनि लगाइ ।

विविध सुगंध चीर आभूषन, आगे धरे बनाइ ॥

धन्य धन्य मै, धन्य गेह मम, धनि धनि भाग हमारे ।

जो प्रभु ज्ञान ध्यान नहि आवत, तिन मम गृह पग धारे ॥

प्रभु तुम माया अगम अगोचर, लहि न सकत कोउ पार ।

दीजे भक्ति अनन्य कृपा करि, होइ सु मम उद्धार ॥

अरू जिहि कारन प्रभु पग धारे, कहियँ सोइ विचार ।
 करहुँ ताहि तुम्हरो किरपा तैं, आयसु, माथैं धार ॥
 यह अक्रूर दसा जो सुमिरैं, सिखैं सुनैं अरु गावै ।
 अर्थ धर्म कामना मुक्ति फल, चारि पदारथ पावै ॥
 हरि जू कह्यो मनोरथ तुम्हरो, करिहैं श्री भगवान ।
 जो जाँचत सोई सो पावत, यह निश्चै जिय जान ॥
 तुम जानत हो पांडव के सुत है अति हितू हमारे ।
 कुपति अन्ध मोह बस तिनको, देत सदा दुख भारे ॥
 तात जाइ उनको तुम भेंटहु, हमरी कुसल सुनावहु ।
 बहुरी समाचार सब उनके, लै हम पै चलि आवहु ॥
 यह कहि स्याम राम ऊधौ मिलि, अपने भवन सिधारे ।
 सुफलक सुत आयसु माथैं धरि, पांडव गृह पग धारे ॥

पहिलै कीरव पति सौं भेंटै, पुनि पांडव गृह आए ।
 पकरि चरन कुन्ती के पुनि पुनि, सब गहि गरैं लगाए ॥
 कुसल भाषि सब जादोकुल की, प्रभु के कहे सन्देश ।
 भयौ परम सन्तोष मिले सौं, मिटे सकल अन्देश ॥
 कुन्ती कह्यौ स्याम सौं कहियो, हम हैं सरन तुम्हारी ।
 कुरुपति अन्ध जु भ्रम पुत्रनि को, देत सदा दुख भारी ॥

पुनि कुरुपति सौं मिलि सुफलक सुत, कह्यो बहुत समुझाइ ।
 चारि दिवस के जीवन ऊपर, तुम कत करत अन्याइ ॥
 अन्याइ को बास नरक मै, यह जानत सब कोइ ।
 गवं प्रहारी हैं त्रिभुवनपति, जो कछु करैं सु होइ ॥
 कुरुपति कह्यौ मै हैं जानत हौं, पै मेरौ न बसाइ ।
 नमस्कार मेरी जदुपति सौं, कहियो पति कै पाइ ॥
 सुफलक सुत सब कथा तहाँ की, आइ स्याम सौं भाषी ।
 सूरदास प्रभु सुनि सुनि तासौं, हृदय आपनै राखी ॥

॥ इति श्री सूरसागर पूर्वार्ध समाप्त ॥

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला

अष्टम् पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित
श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध अध्याय—५० से ५६

श्री सुबोधिनी अनुसार अध्याय—४७ से ५३

उत्तरार्ध अध्याय—१ से ७

राजस-साधन उप-प्रकरण अध्याय—१ से ७

श्री भागवत गूढार्थ प्रकाशन परायणः ।

साकार ब्रह्म वादक स्थापको वेद पारगः ॥—(श्रीमद्वल्लभाचार्य)

श्रीमद्विद्वलेश प्रभुचरण

टिप्पणी— श्रीमद्विद्वलेश प्रभुचरण

लेख— गो० श्री वल्लभजी महाराज

प्रकाश— गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज

योजना— प० भ० श्री लालूभट्टजी

कारिकार्थ— प० भ० श्री निर्भयरामजी भट्ट

सहायक ग्रन्थ—

अनुवादक—

गो. वा. प. भ. पं० श्री फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री विद्या भूषण
जोधपुर (राजस्थान)

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल

मानघना भवन, चौपासनी मार्ग,

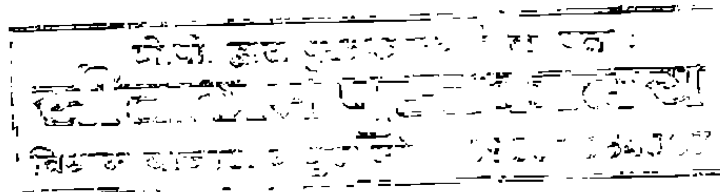
जोधपुर (राजस्थान)

प्रथम आवृत्ति—१०००

श्रीमद्वल्लभजयन्ती महोत्सव

वंशाख कृष्णा ११, वि.सं. २०३०

दिनाङ्क २६ अप्रैल, १९७३



॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजन वल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरण कमलेभ्यो नमः ॥

श्री मद्बल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

राजस साधन अवान्तर प्रकरण

प्रथम अध्याय

सुबोधिनी अनुसार ४७ वां अध्याय

स्कन्धानुसार ५० वां अध्याय

जरासन्ध से युद्ध और द्वारकापुरी का निर्माण



कारिका — उत्तरार्धे हरेर्लीला स्वतः सर्वात्मना कृता ।

यदर्थमवतीर्णोऽसौ सा निरूप्या विभागशः ॥१॥

कारिकार्थ—श्रीमद्भागवत के उत्तरार्ध में भगवान् ने अपने आप ही अर्थात् भक्तों के अनुरोध के बिना ही जो लीलाएं की हैं और जिस सर्वोद्धार करने के लिए आपका प्राकट्य है, वे लीलाएं विभागपूर्वक निरूपण की गई हैं ॥१॥

कारिका—एषा निरोधलीलैव स्वसंसारपरा परम् ।

भगवांश्च तदोयाश्च तच्छास्त्रं चेति स त्रिधा ॥२॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध में की हुई लीलाएं भी निरोध लीलाएं ही हैं । यह शंका भी नहीं करनी चाहिए, कि जब प्रद्युम्न आदि ने भी इसमें लीलाएं की हैं तो वे निरोध लीलाएँ कैसी होंगी ? वे भी निरोध लीलाएं ही हैं, क्योंकि जैसे बलराम, भीम, पार्थ के व्याज से आपने ही सब कुछ किया है, वैसे ही यहाँ भी अपने पुत्र आदि (संसार)

द्वारा भी लीलाएँ की हैं। भगवान्, उनके धर्म तथा शास्त्र इस भाँति भगवान् तीन प्रकार के हैं, धर्म भगवद्रूप ही है और शास्त्र, शिक्षा देने वाला होने से भगवान् का ज्ञान होने में हेतु है तथा भगवान् स्वयं षड्गुण सम्पन्न हैं। वैसे त्रिविध भगवान् की लीलाएं निरोध करने वाली हैं। 'निरोधीस्यानुग्रहं' में 'अस्य' पद से भगवान् की लीलाएं निरोध करने वाली ही कही हैं, जिसमें किसी प्रकार विरोध नहीं है, क्योंकि प्रद्युम्नादि द्वारा की हुई लीलाएँ भी आपकी ही लीलाएँ हैं, यों समझना चाहिये ॥२॥

कारिका—चतुर्दशभिरध्यायैः प्रमाणं तस्य रूप्यते ।

तदीया एकाविंशत्या षड्भिः स च निरूप्यते ॥३॥

कारिकार्थ—चौदह अध्यायों से उसका प्रमाण निरूपित किया है। इक्कीस से उनके धर्म कहे हैं, किन्तु वे छ से ही निरूपित किए हैं, क्योंकि षड्धर्मों में ही उन सबके भाव आ जाते हैं ॥३॥

कारिका—कृतिः प्रमाणं तु हरेः स्वतश्चान्यानुरोधतः ।

सप्तभिः सप्तभिः प्रोक्ता गुणैर्युक्तो हरिस्तथा ॥४॥

कारिकार्थ—भगवान् की लीला तथा प्रमाण अपने से तथा भक्तों के अनुरोध से हैं। षड् गुणों से हरि सात सात अध्यायों से कहे हैं अर्थात् एक एक अध्याय में एक एक गुण द्वारा की हुई लीला ६ अध्यायों में कही गई है और सातवें में धर्मों हरि की लीला कही है, इस प्रकार सात अध्याय हैं ॥४॥

कारिका—वाक्यात्तदीया विज्ञेयास्तस्यैव न तु शास्त्रतः ।

एकाविंशविधं सर्वं श्रुत्वा तद्वहुधोदितम् ॥५॥

कारिकार्थ—भगवान् के ही वाक्यों से उनके धर्म जानने चाहिये, न कि साधारण शास्त्र न्याय से, इसी कारण से ही उस प्रकरण के आरम्भ में नृग के प्रसंग से भगवान् के वाक्यों द्वारा ही धर्म ज्ञान का निरूपण किया है। वे सब भगवद्वाक्य काल के अतिक्रमण करने वाले होने से निरोध के सम्पादक हैं। काल इक्कीस प्रकार का है,

अतः यह भी इक्कीस प्रकार का है । इस कारण से भगवान् के धर्म इक्कीस अध्यायों से निरूपित किये हैं । भगवान् के वाक्य को सुनकर अन्यो ने बहुत प्रकार से वर्णन किया है, किन्तु मूल वही है ॥५॥

कारिका—षड्गुणैर्भगवान् रूप्यस्तेषु सर्व प्रतिष्ठितम् ।

तत्र तु प्रथमेऽध्याये स्वावतारप्रयोजनम् ॥६॥

कारिकार्थ—भगवान् का वर्णन षड्गुणों से किया है, कारण कि, उनमें ही सर्व अनन्त गुण समाये हुए हैं । उसमें अपने अवतार का प्रयोजन पहले अध्याय में कहा है ॥६॥

कारिका — निरूप्य क्षात्रधर्मेण जयोऽन्यश्च निरूप्यते ।

राजसानां साधने तु निरोधे भगवत्कृतिः ॥७॥

कारिकार्थ—क्षात्र धर्मानुसार जय का निरूपण करने के पश्चात् अन्य विषय का निरूपण किया गया है । राजसों के निरोध का साधन सर्वथा भगवान् की कृति ही है ॥७॥

कारिका—सर्वथा साधनमिति तदेवादौ निरूप्यते ।

विवाहपुत्रजन्मान्ता सा निरूप्या विशेषतः ॥८॥

कारिकार्थ—भगवान् की कृति ही सर्वथा साधन होने से वही पहले अध्याय में वर्णित है । भगवान् की वह कृति विवाह से लेकर पुत्र के जन्म तक विशेष प्रकार से निरूपण करने योग्य है ॥८॥

कारिका — अलौकिकं ततः स्थानं निरूप्यमिति रूप्यते ।

तस्योपद्रवनाशाय भ्रमोत्पादनमोरितम् ॥९॥

कारिकार्थ—जब भगवान् की कृति ही साधन है, तब अलौकिक स्थान का भी निरूपण करना चाहिए तथा उस स्थान में कोई उपद्रव न हो, इस लिए जरासन्ध को भ्रम पैदा करने की कथा दो श्लोकों में कही है ॥९॥

कारिका—निग्रहानुग्रहौ चैव प्रसङ्गात् सुनिरूपितौ ।

अन्यथा लौकिकी लीला कृष्णस्य स्यान्न चान्यथा ॥ १० ॥

कारिकार्थ—जरासन्ध का बन्धन और मुचुकन्द पर अनुग्रह ये दोनों भी प्रसंग से निरूपित किए गए हैं, जो, यों न करें तो कृष्ण की लीला लौकिकी न होकर अलौकिकी हो जाए ॥ १० ॥

कारिका—त्रिविधो हि क्षत्रियाणां विवाहः परिकीर्तितः ।

गान्धर्वो राक्षसश्चैव विहितश्च स्वगृह्यतः ॥ ११ ॥

कारिकार्थ—क्षत्रियों का विवाह तीन प्रकार से हो सकता है, गान्धर्वविधि से^१, राक्षसविधि से^२, और अपने गृह्य^३ शास्त्रानुसार वैदिक विधि से ॥ ११ ॥

कारिका—पुत्रस्यापि कथा वाच्या ह्यन्येनापि समर्पिताम् ।

भार्यामाहुः क्षत्रियस्य तत्प्रसङ्गात्तथा परा ॥ १२ ॥

कारिकार्थ—पुत्र ने भी जो क्षात्र धर्म से विवाह किया, वह कथा कही है । शबर की दी हुई कन्या को भी उसको मारकर ले आये तथा यहाँ “परा” शब्द से यह कहा है कि रुक्मी की पुत्री को समस्त राजाओं को जीत कर ले आये । वह प्रद्युम्न की पत्नी हुई, यह सर्व कृति क्षात्रधर्म के प्रसंग होने से की है ॥ १२ ॥

कारिका—सत्यभामाविवाहान्ता कथेयं विनिरूपिता ।

त्रिविधं दुःखमादौ हि भक्तानां विनिरूपितम् ॥ १३ ॥

कारिकार्थ—सत्यभामा के विवाह तक यह कथा निरूपित की है । भक्तों के त्रिविध दुःख का पहले ही दशम स्कन्ध के प्रथमाध्याय में वर्णन कर दिया है ॥ १३ ॥

कारिका—भूमेर्मातुर्वैष्णवानां वकुण्ठादागतिर्यतः ।

द्वयमप्यत्र मथुरात्यागे हेतुनिरूप्यते ॥ १४ ॥

^१ प्रेम हो जाने से विवाह करना मध्यम है । ^२ राक्षस की भाँति जबरदस्ती ले जा कर विवाह करना अधम है । ^३ वैदिक विधि से विवाह करना यह उत्तम प्रकार का है । —अनुवादक

कारिकार्थ—तीन प्रकार के दुःख कौन से हैं ? वे बताते हैं । भूमि, माता और भक्तों का दुःख । इन दुःखों को मिटाने के लिए भगवान् को वैकुण्ठ से आना पड़ा है । फिर उनको भूमि तथा वंष्णवों के दुःखों के कारण मथुरा छोड़नी पड़ी । यदि मथुरा न छोड़ते तो ये दुःख दूर करने अशक्य थे, यह मथुरा छोड़ने का कारण कहा है ॥१४॥

कारिका—प्रमाणरक्षासिद्धयर्थमनिवार्य तुवृत्तयम् ।

निवार्यः सप्तदशधा ब्रह्माण्डे तु प्रजापतिः ॥ १५ ॥

कारिकार्थ—ब्रह्मा के दिए हुए जरासन्ध के वर की सिद्धि के कारण वे दो दुःख मिटाने कठिन हो जाते, अतः मथुरा का त्याग और उसको भी १७ बार छोड़ देना आवश्यक था तथा इससे आपने अलौकिकत्व छिपा कर लौकिक प्रकार से लीला की है, यह दिखा दिया है ॥ १५ ॥

कारिका—स सप्तदशधा प्रोक्तस्तन्निवृत्तावश्यकता ।

अतोऽत्र प्रथमं वाच्यं कृतिशक्यमनेकधा ॥ १६ ॥

उत्तरार्धसमैः श्लोकैरतिदेशस्ततः परम् ।

द्वाभ्यां कलाभिरपरः साधिकाभिरिति स्थितिः ॥ १७ ॥

कारिकार्थ—“यो वे सप्तदशं प्रजापतिं यज्ञमन्वायतं वेद” इति इस श्रुति में प्रजापति को ब्रह्माण्ड सप्तदश “१७” प्रकार का कहा है, अतः जरासन्ध उसके वरदान के कारण १७ बार चढ़ाई कर आया, किन्तु वह नहीं मारा गया । अब यदि १८ वीं बार उसको यों ही भेज दें तो वह भगवान् का अलौकिकत्व प्रकट हो जाए । वह उत्तरार्ध में करना नहीं है, क्योंकि उत्तरार्द्ध भाग उसे कहते हैं जिसमें भगवान् ने भक्तों के अनुरोध से नहीं, किन्तु स्वतः लौकिक प्रकार से, अपनी इच्छा से, सर्व लीलाएं की हैं, इस लिए यहां पहले ही कृति से जो शक्य है, वह अनेक प्रकार से ४१ श्लोकों में कहा है । उसके बाद दो श्लोकों से अतिदेश कहा है । अनन्तर साढ़े पन्द्रह श्लोकों से दूसरा अतिदेश कहा है । इस अध्याय में इस प्रकार चरित्र का वर्णन हुआ है ॥ १६, १७ ॥

॥ कारिकार्थ सम्पूर्ण ॥

इस अध्याय से उत्तरार्ध का प्रारम्भ होता है । श्रीभागवतार्थ निबन्ध में आचार्य श्री ने आज्ञा की है कि “आलोकिके न भावेन यावद्विभगवत्कृतः” भक्तानुरोध पूर्वक भगवान् ने जिस भाग में अलोकिक भाव प्रकट करते हुए लीलाएं की हैं वह “पूर्वार्द्ध” भाग है और जिस भाग में “लोक धर्म पुरस्कृत्ययच्चकार कुरु द्वहः” भगवान् ने भक्तों के अनुरोध विना लोक धर्म को आगे कर अर्थात् जैसे राजा प्रकट रीति से अपनी इच्छा से स्वयं करता है वैसे आपने भी स्वतः सर्व लीला अपने आप जिस भाग में की है वह उत्तरार्द्ध भाग कहा जाता है ।

आभास—भगवानविलष्टकर्मति निरूपयितुं प्रथमं कंसभार्ययोरुपद्रवहेतुमाह अस्ति प्राप्तीति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—भगवान् अविलष्टकर्मा हैं इसका निरूपण करने के लिए पहले उसका हेतु कसकी अति प्रिय स्त्रियों का उपद्रव करना है वह दो श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—अस्ति प्राप्तिश्च कंसस्य महिष्यौ भरतर्षभ ।

हते भर्तरि दुःखार्ते ईयतुः स्म पितुर्गृहान् ॥ १ ॥

पित्रे मगधराजाय जरासन्धाय दुःखिते ।

वेदयाञ्चक्रतुः सर्वमात्मवैधव्यकारणम् ॥ २ ॥

श्लोकार्थ—हे भरतश्रेष्ठ ‘अस्ति’ और ‘प्राप्ति’ नाम की कंसकी दो रानियां पति के मरने से दुःख से पीड़ित हो अपने पिता जरासंध के घर गईं । दुःखित उन दोनों ने मगध के भूपति जरासन्ध अपने पिता को अपने वैधव्य का सर्व कारण निवेदन किया ॥ १, २ ॥

सुबोधिनी—उभयोः क्रियानामत्वमग्रे क्रिया-योगित्वाय प्रथमत एव तथा निरूपितम् । अस्तीति सर्वधात्वर्थः, क्रियासामान्यम् । प्राप्तिः सर्वक्रियाफलम् । भगवदिच्छया एते पुत्ररहिते अतिक्रुद्धे भगवत्सान्निध्यादेव भर्ता सह गमन-रहिते पितृगृहे गते । दिग्विजये पराजितः सोऽपि दुहितरावदादिति पुराणान्तरप्रसिद्धिः । चकारा-त्तत्सम्भृतिर्दास्यः सर्वाश्च । पितुर्गृहानीयतुः । आकारणं तत एव नापेक्षितम् । निमित्तं भर्तृम-रणम् । भगवतोऽतिसमर्थस्याविलष्टकर्मत्वज्ञाप-नाय तयोर्गमन प्रसिद्धमेव जातमित्याह स्मेति । नन्वेवं साधनफलरूपयोः कथं वैधव्यमिति चेत्,

तत्राह कंसस्य महिष्याविति । महिषीत्वात् पराधीनत्वम् । तद्भोगातिशये प्रवृत्ते अपि भग-वदिच्छया तथाभूते । तद्विश्वासार्थं भरतर्षभेति । नात्र तयोर्दुःखे लौकिकं किञ्चिदस्तीति भावः । गमनेऽपि न दुःखान्तरं हेतुः, किन्तु भर्तृहननमेव । गतयोः कृत्यमाह पित्रे इति । मगधराजायेति । प्राकृतदेशाधिपतित्वेन दोषोऽपि निरूपितः । दुर्जयत्वं निरूपयितुं जरासन्धायेति । दुहितृ-प्रियत्वं निरूपयितुं दुःखित इति । सर्वमाकाश-वाणोप्रभृति मरणान्तम्, आत्मनो धवाभाव-कारणम्, कृष्णचरितमिति यावत् ॥ २ ॥

व्याख्यार्थ—दोनों रानियों का आगे क्रिया में योग देने के कारण से पहले ही उनका क्रिया नाम का निरूपण किया है। “अस्ति” पद सर्वधातु का अर्थ होने से सामान्य क्रिया वाचक है, अर्थात् साधन रूप है और “प्राप्ति” सर्व क्रिया का फलरूप है। भगवान् की इच्छा से दोनों को पुत्र नहीं थे, जिससे भी ये दोनों विशेष क्रोधयुक्त हुई थीं। भगवान् के होते ही पति के साथ जाने से रहित हो अर्थात् विधवा हो पीहर गई। जरासन्ध ने दिग्विजय में पराजित होकर कंस को कन्याएं दी थीं, यों अन्य पुराण में कथा है श्लोक में “च” शब्द देने का आशय यह है कि वे अपना पोषण का सर्व पदार्थ तथा दासियाँ आदि सर्व अपने साथ मायके ले गई थीं, यद्यपि पिता का आमन्त्रण नहीं था, जिसकी इस समय अपेक्षा नहीं थी, कारण पति का देहान्त हुआ था। भगवान् अविलष्ट कर्मा सर्व समर्थ है जिससे उनके जाने का कार्य तो प्रसिद्ध हो गया। “स्म” शब्द का यह आशय है कि साधन फल रूप ‘अस्ति’ तथा ‘प्राप्ति’ को वेधव्य क्यों प्राप्त हुआ? विधवा होने का कारण यह है, कि कंस की रानियां होने से पराधीन थीं, कंस विशेष भोग के लिए प्रवृत्त हुआ तो भी भगवदिच्छा से विधवाएं हो गईं। इस बात पर परीक्षित को विश्वास करना चाहिए, इसलिए (भरतर्षभ) परिश्रित का विशेषण दिया है। यहाँ उन दोनों के दुःख में लौकिक कुछ कारण नहीं है और जाने में भी कोई दूसरा दुःख का कारण नहीं है, किन्तु केवल भर्ता का मर जाना ही कारण है। वहाँ जाकर जो किया उसका वर्णन करते हैं। पिता को अपने विधवा होने का सब आकाशवाणी से लेकर मरण तक का कारण बताने लगी वे पिता की प्यारी थीं, इसलिए इनको देख सर्व समाचार विदित कर जरासन्ध स्वयं भी दुःखित हुआ। यहाँ श्लोक में पिता के दो नाम वा विशेषण दिए हैं। (१) जरासन्ध, जिसका आशय है कि आपको कोई सरल रीति से जीत नहीं सकता है, अतः आपको प्रतिकार करना चाहिए। (२) मगधराज विशेषण से निषिद्ध देश के राजा होने से दोष का भी निरूपण किया गया है। सारांश यह है कि कन्याओं ने पिता को यह बताया कि हमारे विधवा होने का कारण श्रीकृष्ण का चरित्र ही है ॥१,२॥

आभास—पूर्व तेन कंसवधः श्रुत एव, परं मल्लक्रीडायां मञ्चाद् पतितो दैवान्मृत इति । इदानीं हेतुपूर्वकं भगवच्चरित्रं श्रुत्वा पयसा पुष्टः सर्प इव जात इत्याह स तदाऽपियमाकर्ण्येति ।

आभासार्थ—जरासन्ध ने पहले कंस का बध तो सुना ही था, किन्तु वह यों सुना था कि मल्ल क्रीड़ा देखते हुए उच्च आसन से गिर पड़ा, जिससे दैव के कारण मर गया अब तो वह कारण सहित भगवान् का सकल चरित्र श्रवण कर ऐसा क्रुद्ध हुआ जैसे दूध से पूष्ट सर्प होता है, जिसका वर्णन “स तदाऽप्रिय” श्लोक में करते हैं।

श्लोक—स तदाऽप्रियमाकर्ण्य शोकामर्षयुतो नृप ।

अयादवीं महीं कंतुं चक्रे परममुद्यमम् ॥ ३ ॥

श्लोकार्थ—हे राजन् यह अप्रिय वार्ता सुनकर जरासन्ध शोक तथा क्रोध से भर गया और पृथ्वी को यादवों से शून्य करने के लिए महान् उद्यम करने लगा ॥ ३ ॥

सुबोधिनी—छलेन मारणादमर्षः । मरणं त्वप्रियम् । राजा हि दुःखशोकप्रतीकारं करोत्येव समर्थस्य तूष्णीम्भावो न युक्त इति । अयं दोषो वस्तुतो वसुदेवस्य । तद्रक्षार्थं सर्व एव यादवाः प्रवर्तिष्यन्त इति पृथिवीमयादवीमेव करिष्या-

मीति मनसि विधाय, तदर्थं महान्तमेवोद्योगं कृतवान् । स हि महान् भवति, कृष्णस्य च दोषं न पश्यति । आनुपूर्वी तादृशी श्रुतेति । परमो ह्युद्यमः तद्वन्धूनामपि स्ववशीकरणमुपायैः । सेनादिसम्पत्तिः स्पष्टैव ॥ ३ ॥

व्याख्यान—कंस कपट से मारा गया है, यह सुनकर तो जरासन्ध विरोध करने के लिए प्रस्तुत हुआ, मरना तो अप्रिय है ही, इसलिए वह शोकयुक्त भी हुआ, जरासन्ध राजा है, इसलिए उसको दुःख तथा शोक का प्रतीकार करना ही है, बदला लेने में समर्थ को मौन कर बैठना योग्य नहीं है, जरासन्ध विचार कुशल है । अतः उसने सुनी हुई सब बातों को सोच विचार कर समझ लिया कि इसमें कृष्ण का दोष नहीं है, दोष तो वसुदेव का है, अतः वसुदेव का ही वध करना चाहिए क्योंकि शास्त्र कहता है कि “जिघांसतनिघांसो यात्” मारने वाले को ही मारना चाहिए किन्तु उसकी रक्षा के लिए सर्व यादव तैयार होंगे । अतः मैं पृथ्वी पर एक भी यादव को जीता रहने न दूंगा, जो वसुदेव की रक्षा कर सके । जरासन्ध ने भगवान् को जो यादवपन के अभाव वाला समझा एवं यों मन में धारण कर उस कार्य की पूर्ति के लिए महान् उद्यम करने लगा; महान् उद्यम क्या करने लगा ? जिसके उत्तर में कहने हैं, कि उसके बन्धुओं को भी उपायों से अपने वश में लाना, अपने पास जो सेना है वह तो प्रकट ही है ॥ ३ ॥

आभास—तस्योद्यमस्य फलमाह अक्षौहिणीभिविशत्येति ।

आभासार्थ—उसके उद्यम का फल “अक्षौहिणीभिः” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—अक्षौहिणीभिविशत्या तिसृभिश्चाभिसंवृतः ।

यदुराजधानीं मथुरां न्यरुणत् सर्वतोदिशम् ॥ ४ ॥

श्लोकार्थ—तेईस अक्षौहिणी सेना से यादवों की राजधानी मथुरा को चारों तरफ से घेर लिया ॥ ४ ॥

सुबोधिनी—अक्षौहिणीत्रितयं तस्य गृह-
स्थम् । विशतिरुद्यमेन सम्पादिता । पूर्वस्थितं
विशेषेण प्रवक्ष्यतीति चकारेण समुच्चयः,
पृथङ्निरूपणं च कृतम् । अभितः संवृत
इत्येकमत्यमेकप्रभुत्वं चोक्तम् । यादवानां
जये स्थानग्रहणं मूलमिति मथुराग्रहणार्थं तां

न्यरुणत् । यतः सा राजधानी । सर्वतोदिश-
मिति तत्रत्यानां निर्गमनाभावाय । न्यरुणत्
आवृतवान्, अष्टदिक्षावरणम् । अनेन राज्ञा-
वेव व्याजान्तरेण समागत्यावरणं कृतवानिति
लक्ष्यते ॥ ४ ॥

व्याख्यार्थ—तीन अक्षौहिणी सेना तो घर में स्थित थी शेष बीस अक्षौहिणी सेना उद्यम कर
इकट्ठी की है, पहले घर में स्थित को विशेष प्रकार से कहेगा और “च” कहा है, जिससे घर की
तथा बाहर से इकट्ठी की हुई का संग्रह बताया है और पृथक् भी निरूपण किया है, श्लोक में
“अभिसंवृत” पद का आशय बताते हैं, कि इस पद से एकता तथा एक ही प्रभु है यह प्रकट कर
दिखाया है, मथुरा को ही पहले क्यों घेर लिया ? इस प्रश्न का उत्तर देते हैं कि जीत करने का मूल
तत्व यह है, कि जिन को जीतना हो उनकी राजधानी पहले उनसे छीन लेनी चाहिये इस लिए मथुरा
को पहले घेर लिया है कारण कि “मथुरा” ही उनकी राजधानी है ।

आगे दिशाओं में चारों तरफ घेरने का कारण यह है कि कोई भी वहां से निकल न सके, यों
समझा जाता है कि जरासन्ध ने रात को ही किसी मिष से आकर घेर डाला है ॥४॥

आभास—तदा भीतानां वार्ताकथनं व्यर्थमिति भगवतश्चरित्रमाह निरीक्ष्येति ।

आभासार्थ—डरे हुए की वार्ता करना व्यर्थ है अतः भगवान् का चरित्र “निरीक्ष्य” श्लोक
से कहते हैं —

श्लोक—निरीक्ष्य तद्बलं कृष्ण उद्वेलमिव सागरम् ।

स्वपुरं तेना संरुद्धं स्वजनं च भयाकुलम् ॥५॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण सीमा का उल्लंघन न कर आते समुद्र के सदृश उसकी सेना,
उससे घिरी हुई अपनी पुरी तथा भय से व्याकुल अपने जन को देख कर - विचार
करने लगे ॥ ५ ॥

सुबोधिनी—यतो भगवान् कालात्मा अव-
तीर्णः । तच्च समागत बलरूपम्, न तु स्नेहा-
र्थमन्यार्थं वो समागतम् । तस्य अमर्यादत्वं
चाह । वेलामतिक्रम्य समागच्छन्तं सागरमिव

दृष्टवान् । नन्वक्रिष्टकर्मा भगवान्, यादव-
नयनार्थमागतो जरासन्धः यादवान् नयतु,
राजा वा विचारं करिष्यति, स्वयं किमित्येवं
कृतवानित्याशङ्क्याह स्वपुरं तेन संरुद्धमिति ।

मथुरा तु स्वनगरम्, न केवलं यादवपुरी-
मात्रम् । निरीक्ष्येति विषु सम्बन्धः । एका
मोचनीया, अन्ये निर्भयाः कर्तव्याः, एकं च
मारणीयमिति । गुणानां कार्यमुपस्थितमिति
दर्शनम् । स्वजना भवताः, ते च भयाकुलाः ।

चकारात् तत्सम्बन्धिनोऽन्ये पुरवासिनः । बल-
स्यैकत्वमनायासेन मारणजापनाय । पुर्या-
स्त्वावश्यकत्वाय । स्वजने वसुदेवं जाप-
यितुम् ॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—इस समय भगवान् दुष्टों के नाश करने के लिए काल रूप से प्रकट हुए हैं, वह (जरासन्ध) स्नेह करने के लिए वा अन्य किसी लौकिक आदि कार्य के लिए नहीं आया है किन्तु बलरूप होकर आया है, अर्थात् सेना लेकर लड़ने के लिए आया है उसका वह बल भी असीम है, जैसे समुद्र मर्यादा त्याग भयानक रूप से बढ़ता आता है, उसी प्रकार यह भी आया है । इस प्रकार वह यादवों को ले जाने के लिए आया होगा तो उनको ले जावे इसका विचार तो राजा को करना है, वह करेगा, कृष्ण तो अक्लिष्टकर्मा हैं फिर इस क्लिष्टकर्म के लिए विचार क्यों करते हैं ? इसका उत्तर देते हैं, कि उनके विचार करने के तीन कारण हैं ।

(१) कृष्ण मथुरा को अपनी नगरी समझते हैं (यह केवल यादवों की नहीं है) जिसे उसने घेर रक्खा है ।

(२) उसकी सेना विशेष है, उसके साथ लड़ने की सामर्थ्य भी विशेष चाहिए वह यादवों में अपूर्ण है ।

(३) अपने भक्त भयभीत हैं, तथा श्लोक में (च) शब्द से भक्तातिरिक्त अन्य पुर वासी सम्बन्धी हैं वे भी डरे हुए हैं ।

(१) घिरी हुई अपनी नगरी को उससे छुड़ाना आवश्यक है ।

(२) भयभीत भक्त तथा नगर निवासियों को भी निर्भय करना है ।

(३) एक को मारना ही चाहिए ।

इस कहने का आशय यह है, कि यह कार्य, गुण रूपों का है । सेना का एकत्व दिखाने का भाव यह है, कि सारी सेना एक ही स्थान पर इकट्ठी होने से उसके मारने में किसी प्रकार का परिश्रम नहीं होता है, स्वजन शब्द कहने का भीतरी भाव है, कि पिता श्री वसुदेव भयभीत हैं कारण कि जरासन्ध ने वसुदेव को ही दोषी समझा है जिसके नाश के लिए चढ़ाई की है ॥ ५ ॥

आभास—तत्र भगवान् पदार्थद्वयस्योपस्थितत्वात् किं कर्तव्यमिति चिन्तां कृतवा-
नित्याह चिन्तयामासेति ।

आभासार्थ—भगवान् विचार करने लगे, कि भगवान् हैं इस लिए मैं दोनों तरह कर सकता हूँ अक्लिष्ट कर्मा होने से इसका, कंस की भांति, नाश करूँ तो

स्वजनों का तिरस्कारादि सहन करना पड़ेगा या अक्लिष्ट कर्मा भगवद् धर्म को त्याग, कारण मालुम होने से, विषमता स्वीकार कर युद्धादिक करूँ इस प्रकार दो स्थिति उत्पन्न होने से मुझे क्या करना चाहिए ? जिसका वर्णन “चिन्तयामास” श्लोक में किया है —

श्लोक—चिन्तयामास भगवान् हरिः कारण मानुषः ।

तद्देशकालानुगुणं स्वावतारप्रयोजनम् ॥ ६॥

श्लोकार्थ—कारण मानुष, हरि, भगवान् देश और काल के अनुसार अपने अवतार का प्रयोजन सिद्ध करने के लिए अपने कर्तव्य का विचार करने लगे ॥६॥

सुबोधिनी—ननु किमेतत् द्वयं यदर्थं चिन्ते-
त्याशङ्क्याह हरिः कारणमानुष इति । भग-
वानित्युभयथापि करणे सामर्थ्यमुक्तम् । किम-
क्लिष्टकर्मत्वात् कंसवदयं मारणीयः, तावत्
स्वजनाभिभवः सोढव्यः, आहोस्विदक्लिष्ट-
कर्मत्वं परित्यज्य वैषम्यमङ्गीकृत्य युद्धादिकं
कर्तव्यमिति । किं तावत्प्राप्तम् । स्वधर्मपरि-
त्यागोऽनुचित इति हरित्वं दूरीकृत्य कार-
णार्थं व्याजेन मनुष्यो जात इति कंसवदेव
मारणीयः, अन्यथा व्याजकरणं व्यर्थं स्यात् ।
अक्लिष्टकर्मत्वरक्षार्थमेव मानुषभावेनावतीर्णः ।
तस्माद्युद्धं न कर्तव्यमिति पूर्वः पक्षः । सिद्धान्त-
स्तु कर्तव्य इति । यतो हरिरयम्, न
भवतानां दुःखं सहते, स्वधर्मश्च कर्तव्यः,
साम्राहिको हि षोडशवाषिको भवति, युद्धार्थ-
मागतेन च सह युद्धं कर्तव्यमिति । ननु स्वध-
र्मोऽन्यथा भविष्यतीति कथं क्लिष्टकरणमित्या-
शङ्क्य देशानुरोधेन करणं निरूपयति तद्दे-

शकालानुगुणं मिति । तस्य देशस्य तस्य च
कालस्य युद्धकरणमेवानुगुणम् । कदाचिदङ्गा-
नुरोधेनाप्यङ्गिनो धर्मा अन्यथा क्रियन्ते ।
यथा प्रवर्ग्यसम्भारे आदित्यास्तमयेविरमणम्,
कृतान्तादेव विरमेदिति । यथा वा देशदोषेण
प्रधानयागस्यापि नाशः दक्षयज्ञे । तस्मात्
तस्मिन्देसे अभक्ताः स्थास्यन्तीति तदनुरोधेन
ते मारणीयाः, तेषां च मृत्युकाल उपस्थित
इति कालानुरोधोऽपि कर्तव्यः, अतः क्लिष्ट-
करणं तद्देशकालानुगुणं भवति । किञ्च,
स्वावतारस्य प्रयोजनमपि भवति । अवतारो
हि भक्तानामुद्धारार्थः । स च कालं वञ्च-
यित्वा, लौकिकवत् कृत्वा, भक्ता नेयाः । तत्र
क्लिष्टकरणमुपयुक्तं भवति । अन्यथा कालो
भक्तेषु द्रोहं कुर्यात् कर्मादिभिः । ततो बहु-
कर्तव्यमापद्यते । अतः स्वावतारस्य प्रयोजनं
यस्मात् तादृशमपि विषमकरणमिति भगवत-
श्चिन्ता युक्ता ॥ ६ ॥

व्याख्यार्थ—कौनसी दो स्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, जिनके लिए भगवान् को चिन्ता हुई है ?
जिसके लिए कहते हैं, कि भगवान् हरि और कारण मानुष दोनों हैं भगवान् हैं इसलिए दोनों प्रकार
से कर सकते हैं तो क्या अक्लिष्ट कर्मा होने से कंसकी भाँति इसको मारना चाहिए ? यदि यों मारा

जाएगा तो स्वजनों का पराजय वा तिरस्कार सहन करना पड़ेगा अथवा अविलष्ट कर्मत्व का त्याग कर विषमता अंगीकार कर युद्धादिक करना चाहिए इन दोनों में से कौनसा पक्ष ग्रहण करना चाहिए ?

पूर्व पक्षी का मत कहते हैं—अपना धर्म त्याग करना अयोग्य है, इसलिए हरिपन को दूर कर कारणार्थ ही कपट से, मनुष्य रूप धारण किया है, अतः कंस की भाँति इसको भी मारना चाहिए, यों न करने से कपट से मानुष रूप धारण करना व्यर्थ होगा ।

आप अविलष्ट कर्मत्व रक्षार्थ ही मनुष्य रूप से अवतीर्ण हुए हैं इसी कारण से युद्ध नहीं करना चाहिए ।

अब उत्तर पक्ष अर्थात् सिद्धान्त कहते हैं, युद्ध करना चाहिए, क्योंकि आप हरि हैं, अतः भक्तों का दुःख सहन नहीं कर सकते हैं अपने धर्म (भक्त : दुःख हरण) को पालन करना चाहिए एवं क्षात्र धर्म का भी पालन आवश्यक है, यदि कहा जाय कि क्षत्री जब १६ वर्ष का होता है तब उसको क्षात्र धर्म पालन करना है, अब आपको नहीं, इसके उत्तर में कहते हैं, कि यह १६ वर्ष निर्बलों को साधारणतया कहा गया है, किन्तु जो पूर्ण समर्थ हैं वह क्षत्रिय तो १६ वर्ष पूर्व पहले भी क्षात्र धर्म का पालन कर सकता है, इसलिए जो युद्ध करने के वास्ते आवे उससे युद्ध करना ही चाहिए, यदि आप युद्ध करोगे तो, आपका अविलष्ट कर्मा धर्म नहीं रहेगा, इसके समाधान के लिए कहते हैं, कि देश के अनुरोध से युद्ध करना योग्य है, जिसका निरूपण करते हैं, “देशकालानुगुणं” देश तथा काल के अनुरूप युद्ध करना ही चाहिए, समय पर कभी अंग के अनुरोध से अर्थात् अंग के रक्षार्थ अंगी के धर्म बदलने पड़ते हैं, जैसे “यथा प्रवर्ग्यसम्भारे आदित्यास्तमये विरमणम् कृतान्तादेव विरमेदिति” ।

अथवा देश दोष से प्रधान भाग का भी नाश किया जाता है जैसे दक्ष-यज्ञ में किया गया था,— उसी के कारण से उस देश में अभक्त आकर रहेंगे इसलिए उनको मारना ही चाहिए उनका मरण काल आ गया है, यों काल का अनुसरण भी करना चाहिए, अतः परिश्रम से कार्य करना देश काल के अनुसार होता ही है और अपने अवतार का प्रयोजन भी यही है, अवतार भक्तों के उद्धारार्थ ही लिया जाता है और वह काल का वञ्चन कर लौकिक की भाँति कर भक्तों को ले जाना अर्थात् भय से रक्षा करनी इसमें परिश्रम से कर्तव्य करना उपयोगी है, जो यों नहीं किया जाएगा तो काल कर्मादि द्वारा भक्तों से द्रोह करेगा, पश्चात् विशेष कर्तव्य करने पड़ेंगे अतः जिसके लिए अवतार धारण किया है, उस कार्य की सिद्धि के लिए विषम करना पड़े तो हानि है वा नहीं ? इसलिए भगवान् को विचार करना योग्य नहीं है ॥ ६ ॥

आभास—चिन्तया निर्धारितं पक्षमाह हनिष्यामीति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—विचार करने के अनन्तर जो निर्णय किया उसका “हानिष्यामि” श्लोक से लेकर ४ श्लोकों में वर्णन करते हैं —

श्लोक—हनिष्यामि बलं ह्येतद्भुवि भारं समाहितम् ।
 मागधेन समानीतं वश्यानां सर्वभूभुजाम् ॥७॥
 अक्षौहिणीभिः संख्यातं भटाश्वरथकुञ्जरैः ।
 मागधस्तु न हन्तव्यो भूयः कर्ता बलोद्यमम् ॥८॥
 एतदर्थोऽवतारोऽयं भूभारहरणाय च ।
 संरक्षणाय साधूनां कृतोऽन्येषां वधाय च ॥९॥
 अन्योऽपि धर्मरक्षायै देहः सम्भ्रियते मया ।
 विरामायान्यधर्मस्य काले प्रभदतः क्वचित् ॥१०॥

श्लोकार्थ—अपना किया हुआ निश्चय कहते हैं कि इस समय तो जरासन्ध वशवर्ती राजाओं की जो भार रूप सेना लाया है उसका ही नाश करूंगा ॥७॥

प्यादल, घोड़े, रथ और गजयुक्त लाए हुए अनेक अक्षौहिणीयों को नाश करना है, मागध (जरासन्ध) को नहीं मारना है, क्योंकि जो यह जीवित रहेगा तो फिर उद्यम कर सेना इकठ्ठी कर लाएगा ॥८॥

मेरा यह अवतार भूमि से भार उतारने के लिए है, साधुजनों की रक्षा के वास्ते है और असाधुओं के नाश करने के लिए है ॥९॥

मैं अन्यावतार भी लेता हूँ वह केवल एक ही कार्य के लिए अर्थात् किसी प्रकार भी धर्म की रक्षा हो सके और अधर्म का निराकरण हो, ऐसे कार्य तो कभी किसी समय होते हैं ॥१०॥

सुबोधिनी—बलं हनिष्यामीति प्रतिज्ञा । युक्तश्चायमर्थः । लोके हि यदुपरि यो गच्छति, स तं न यार्यत इति नास्ति विरोधः । एतदिति प्रदर्शनेन बलस्यातिक्रमोऽपि सूचितः । बलेन समागत इति बलेनैव वधो युक्तो, न तु व्याजेन । पूर्वोक्तास्तु व्याजेन समागताः । अतस्तेषां व्याजेनैव हननं युक्तम् । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति भगवतो व्रतरूपोऽपि धर्मः परिपालितो भवति ।

अनेन मारणवैषम्यबुद्धिरपि परिहृता भवति । मार्याणामेव तथा बुद्धिर्जातिति । एतत्सर्वमभिसन्धाय भगवान् हिशब्दमाह । किञ्च, सर्वभू-भारहरणार्थं विज्ञापिते कार्यान्तरमागच्छन्नपि तेषां कृपयापि तथा समागतः । अत आगमनकार्य-सिद्धयर्थमपि मारयिष्यामीत्याह भुवि भारमिति । एतद्भाररूपमेव बलम् । अत एव सर्वाधिः पाताले स्थापितं तत्कालेन भुवि समाहितम् । सम्यगा-

हितत्वात् न कृत्रिमकालकर्मदिभिः दूरीकर्तुं शक्यते । ननु राज्ञो बलं धर्महेतुर्भवतीति तद्वधे प्राणिवधः अधर्मश्च स्यादिति चेत् ? तत्राह । मागधेन अधमदेशोद्भवेन समानीतमिति । नन्वेतावतां स्वामी महानेव भविष्यतीत्याशङ्क्याह वश्यानां सर्वभूभुजामिति । तद्वश्या दुष्टा एव । तेऽपि तत्स्वभावापन्ना जाता इति । अनेन तद्वलं न ग्राह्यमित्यप्युक्तम् । दुष्टं भारात्मकमिति । तस्याजेयत्वज्ञापनायाह अक्षौहिणीभिः संख्यातमिति । समूहशो युद्धे भङ्गो भवेत् । सजातीया बहवोऽपि एकेन विजातीयेन हस्त्यादिना मार्यन्त इति । आदौ पञ्चभटा युद्धं कुर्वन्ति । तेषां पराजयशङ्कायां त्रयोऽश्ववाराः । तेषामपि पराजये एको रथी प्रवर्तते । तस्यापि तथात्वे षाष्टिहायनो गजः । एवमेकापि पत्तिः क्रमतः सन्निविष्टा जेतुमशक्या । तादृशमेतदित्याह । भट्टाश्वरथकुञ्जरैः कृत्वा पत्यङ्गलिगुणन्यायेन क्रमवृद्ध्या अक्षौहिणीसंज्ञापन्नाः । तेऽपि बहवः । अतोऽन्येषामशक्यत्वात् मयैव हन्तव्यं बलम् । अनेन सार्द्धं श्लोकेन बलस्यावश्यवधार्थं दुष्टत्वं भारत्वं च निरूपितम् । ननु 'शास्त्रफलं प्रयोक्तरी'ति न्यायेन मागध एव किं न हन्यते, एते च दीना मोक्षनीया इति चेत् ? तत्राह मागधस्त्विति । तुशब्दस्तेषां वधाभावं निराकरोति । भाररूपत्वात् । यद्यपि मागधोऽपि भाररूपः, तथापि शबदाहककाष्ठदापकदीर्घवंशवदन्तपर्यन्तं संरक्षणीयः । अतो मागधो न हन्तव्यः । तदेवाह भूयः कर्ता बलौघममिति । बलानयनार्थं उद्यमं करिष्यति, अन्यथा बलं निलीय तिष्ठेत् भारभूतम् । समानयनार्थं वा अधिकः प्रयत्नो भवेत् । यतोऽयं मागधो दुष्टः । आमरणान्तं यत्नं करिष्यतीति ॥ ७ । ८ ॥

ननु कथं सर्वेषां वधार्थं प्रयत्नो ब्रह्मणः सर्वात्मनः तत्राह एतदर्थोऽवतारोऽयमिति । मल-

प्राया व्याधिप्राया दैत्या इति तन्निराकरणे न सर्वात्मत्वं भज्यते । उच्छूनः स्वावयवोऽपि छिद्यत इति । अत एव भगवान् स्वयं पुरुषरूपं प्राप्य तत्र दोषरूपान् दैत्यान् हन्तुं स्वयमेवौषधरूप आविर्भूतः । तदाह एतदर्थोऽवतारोऽयमिति । वैषम्यलक्षणो हि दोषो लौकिकः । स यत्र दोषत्वं न भजते, स दोषो न भवति । अक्लिष्टकर्मत्वं तु पूर्वमेव परित्यज्य समागतमिति 'अङ्गीकृता ग्लानिर्न दोषाये'ति न्यायेन न दूषणं भवति । स्वतश्चोद्यम्य न हन्यते, निष्कपटेन युद्धार्थं मागतं निष्कपटेन युद्धेन हन्तव्यमिति मे अवतारः । मे च भूः । धर्म्यो वधो दोषाय न भवतीति धर्मार्थमप्येतद्वधं करिष्यामीत्याह संरक्षणाय साधूनामिति । कृतत्वान्न करणम् । प्रकारान्तरेण साधुरक्षा कर्तव्येत्याशङ्क्याह अन्येषामपि वधायेति । चकराद्भक्तिस्थापनार्थम् । ततः कार्यचतुष्टयार्थमवतार इत्युक्तं भवति । भूभारहरणार्थं दुष्टनिराकरणार्थं भक्तिप्रवर्तनार्थं चेति । समप्रधानं चतुष्टयम्, नत्वेकमन्यार्थम् । भूभारनिराकरणं राजसम्, रक्षा सात्त्विकी, निग्रहः तामसः, भक्तिर्निर्गुणेति । न हि दुष्टहनने भूभारो गच्छति, पुनरुत्पत्तिसंभवात् । हननार्थमेव प्रयत्ने तु भगवतस्तात्पर्याद्विता एव भवन्ति, न पुनरुत्पद्यन्ते, मुक्ताश्च भवन्ति । एवमेव सद्रक्षायामपि । असत्संसारं सतामप्यसत्तापत्तौ सर्ववधे अनिष्टमेव स्यात् । अतस्तेषां बुद्ध्यादिबाधकमेव दूरीकर्तव्यमिति सद्रक्षापि स्वतन्त्रैव । भक्तेरननुप्रवेशः स्पष्ट एव । तदाह अन्येषां वधाय चेति ॥ ८ ॥

साम्प्रतवेशस्य प्रयोजनचतुष्टयमुक्त्वा पक्षपातलक्षणो धर्मः पूर्वमपि मयि वर्तत इति सृष्ट्यादावेव तथाङ्गीकारात् न दोषायेति वक्तुं पूर्वमपि धर्मरक्षार्थं मयावताराः क्रियन्त इत्याह अन्योऽपि धर्मरक्षा इति । एतद्व्यतिरिक्तानामवतारणा धर्मरक्षा अधर्मनिवृत्तिश्च फलम् । एतदेवाभि-

प्रेत्याह 'यदा यदा हि धर्मस्ये'ति । नत्वयमवतारो धर्मरक्षार्थः केवलः । अपिशब्दात्सोपि संगृह्यते । ततश्च षट् प्रयोजनानि भविष्यन्ति । अधर्मनिराकरणं धर्मरक्षा चेति । अत्रापि पूर्ववदुभयं प्रधानम् । अत एव 'संस्थापनाय धर्मस्ये'त्यपि वाक्यमविरुद्धम् । अत एव बुद्धावतारे केवलं धर्मरक्षैव प्रयोजनम्, कल्क्यवतारे अधर्मनिवृत्तिरेव, परशुरामावतोर दुष्टानग्रह एव, बलभेद्र भूभारहरणमेव, पृथ्ववतारे सत्परिपालनमेव । एवं सर्वत्र यथायथमूह्यम् । सर्वाणि तु भगवत्येव । भक्तिश्च

स्वतन्त्रा अधिका । नन्वेतसर्वं कालकर्मादिभिरेव स्वतन्त्रतया आज्ञया वा सिध्यतु, किं विशेषावतारेणेत्याशङ्क्यामाह काले प्रभवत इति । धर्माधर्मौ ववचिदेव काले प्रभवतः । अतो यदा अनपेक्षितः, तदा अवतीर्य निराकरणं स्थापनं वा कर्तव्यम्, कालस्तु जनक एवेति न तेन तन्निराकरणम्, नियतस्योभयशक्तित्वाभावात् । तस्मादवश्यं वषम्यं औक्लष्टकर्मत्वं च भक्ताद्यनुरोधेन कर्तव्यमिति ॥ १० ॥

व्याख्यार्थ—सेना को नाश करूँगा, इस प्रकार की प्रतिज्ञा की, यों प्रतिज्ञा करना योग्य ही है, क्योंकि लोकों में भी जो आक्रमण कर आता है, वह आक्रान्त से मारा जाता है, इस प्रकार करना कोई विरोध नहीं है, "एतत्" शब्द से यह भी बता दिया है, कि यह सेना आक्रमण कर आई है, वह आक्रमण बल से किया हुआ है, अतः बलपूर्वक ही इसका वध करना उचित है, न कि कपट से, पहले जो थे वे कपट से आए थे अतः उनका कपट से ही मारना योग्य था, यों करने से भगवान् का जो व्रत है कि "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तां स्ताथैव भजाम्यहम्" जो जिस प्रकार मेरी शरण आवे मेरा भजन करता है, मैं भी उसका उसी प्रकार भजन करता हूँ, वह भी सिद्ध हो जाता है, अर्थात् जो मुझे जीतने या मारने के लिए आता है तो मैं भी वही कार्य उसके साथ करता हूँ इस प्रकार व्रत पालन करने से नीति अनुसार वैषम्यबुद्धि भी नहीं रहती है, जो मारने के लिए आए हुए जनों की ही जैसी विषम बुद्धि होती है, यह सब विचार कर ही भगवान् ने "हि" शब्द कहा है और विशेषतः यह भी कहा है, कि सब देवादि ने भूभार को उतारने के लिए प्रार्थना की, अन्य कार्य होते हुए भी उन पर कृपा कर ही उस भूभार हरण रूप कार्य के लिए मैं प्रकट हुआ हूँ अतः जिस कार्य के लिए आया हूँ उस कार्य की सिद्धि के लिए इनको मारूँगा, कारण कि यह सेना भूमि पर भार रूप है, भार रूप होने से इसको सबसे नीचे पाताल में रखा था, वह समय पाकर पृथ्वी पर आ गई है, अच्छे प्रकार से दृढ़ हो कर स्थित हो गई है, साधारण काल कर्म से इस को दूर नहीं किया जा सकता है, अर्थात् अपने पापों से नष्ट हो जाएँगे, ऐसा नहीं है राजा की सेना धर्म का कारण है, क्योंकि राजा सेना की सहायता से प्रजा की चौरादि दुष्टों से रक्षा करता है, ऐसी सेना के नाश से एक प्राणी वध होगा और दूसरा अधर्म ही होगा ? इस शंका के परिहार में कहते हैं, कि यह सेना जो लाया है, वह जरासन्ध अधम देश में उत्पन्न हुआ है, इन अक्षोहिणी सेनाओं का स्वामी तो महान् होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, क्योंकि जो जिसके आधीन होते हैं, वे भी वैसे ही हो जाते हैं अतः वे राजा लोग भी दुष्ट हैं जिससे उनके सैनिक भी दुष्ट हैं, इसलिए इसके बल की परबाह नहीं करनी चाहिए, दुष्ट भार रूप होते हैं, वह सेना अजेय है, यह बताने के लिए कहते हैं कि "अक्षोहिणीभिः संख्यातं" अनेक अक्षोहिणियाँ हैं और उनमें गिने हुए ही सब होते हैं अतः प्रसिद्ध भी हैं । प्रत्येक समूह का युद्ध में भङ्ग

होता है, जैसे कि लड़ाई इस प्रकार करते हैं बहुत सजातीय भी, एक ही विजातीय हस्ती आदि से मारे जाते हैं, पहले पाँच प्यादल लड़ते हैं, उनके हार जाने की शंका होने पर तीन बुड़ सवार आते हैं, उनकी पराजित देख कर “रथी” युद्ध में आता है, उसके भी पराजय होने पर एक *साठ वर्ष की आयु वाला गज आता है इस प्रकार के युद्ध से एक पैदल सेना को भी जीतना अशक्य है, प्यादल, घोड़े, रथ और हस्तिओं से युक्त पत्ति के अंग सहित त्रिगुण न्याय से, क्रम वृद्धि से बनी सेना अक्षो-हिणी कहलाती है, वह अक्षोहिणी एक नहीं है किन्तु बहुत हैं अतः दूसरों से उनका नाश होना अशक्य होने से ही यह सेना नष्ट करने जैसी है इस साद्ध श्लोक से सेना का वध आवश्यक है, क्योंकि वह दुष्ट तथा भार रूप है, यह निरूपण किया शास्त्र का सिद्धान्त है कि कोई भी कार्य “प्रयोक्त रीति” न्याय से करना चाहिए अतः इस न्यायानुसार “मागध” को ही क्यों नहीं मारा जाना चाहिए ? ये दीन सैनिक तो छोड़ देने चाहिए, इस प्रकार कहने वाले को उत्तर देते हैं कि उसको क्यों अब नहीं मारता हैं उसका कारण यह है कि पहले तो यह सेना भार रूप है इसलिए भार को पहिले उतारना चाहिए, हालांकि जरासन्ध भी भार रूप है तो भी जैसे चिता में लगे हुए दो लम्बे बांसों में से एक को पहिले नहीं जलाया जाता है क्योंकि उसके जरिए शव तथा अन्य काष्ठ को सम्पूर्ण जला देने में मदद मिलती है अतः जब शव तथा अन्य काष्ठ आदि सम्पूर्ण जला देने में मदद मिलती है अतः जब शव तथा अन्य काष्ठ आदि सम्पूर्ण भस्म हो जाते हैं तब अन्त में उसका भी दाग किया जाता है वैसे ही अब मागध मारने योग्य नहीं हैं, कारण कि वह जीता रहेगा तो पृथ्वी पर जो भार रूप जो दुष्ट हैं उनको उद्यम कर जहाँ तहाँ से दूँद कर ले आएगा, इसके न रहने से वे दुष्ट भार रूप जहाँ कहीं छिप जावेंगे तो पता नहीं लगेगा और उनको लाने के लिए बहुत परिश्रम करना पड़ेगा, मागध दुष्ट है जब तक जीता रहेगा तब तक प्रयत्न करता रहेगा, जिससे सर्व दुष्ट हाथ आ जाएंगे और उनका सरल रीति से सफाया हो जायगा ॥ ७-८ ॥

जब कि सब की आत्मा ब्रह्म का सब को मारने के लिए प्रयत्न क्यों ? वा कैसे ? इस शंका का समाधान करने के लिए कहते हैं कि “एतदर्थोवतारयेयम्” इनके वध के लिए ही यह अवतार है, कारण कि ये दैत्य हैं जिससे × मलप्राय और व्याधि + प्राय हैं, उनके नाश करने में सर्वात्मापन नष्ट नहीं होता है, व्याधि आदि से फूला हुआ अपनी देह का अंग भी काटा जाता है, इसलिए ही भगवान् स्वयं पुरुष रूप धारण कर उसमें दोष रूप दैत्यों को मिटाने के लिए आप स्वयं ही औषध रूप बने हैं, विषमता दोष लौकिक है, वहाँ जहाँ दोष रूप नहीं बनता है वहाँ वह दोष नहीं है, अक्लिष्टकर्मत्वगुण को तो यह वैसे ही छोड़ा हुआ है, इसलिए “अंगोक्त ग्लानि भी दोष के लिए नहीं होती है” इस न्यायानुसार यों करने में कोई दूषण नहीं है, अपने आप उद्यम कर, नहीं मारे जाते हैं, बिना कपट स्वयं युद्ध के लिए जो आया है, उसको उसी तरह निष्कपट युद्ध से ही मारना योग्य है, इसलिए मेरा यह अवतार है और ‘भूमि’ मेरी भक्त है, धर्मरक्षार्थ जो वध किया जाता है वह दोषकारी नहीं है इसलिए धर्म की रक्षा के लिए भी इसका वध करूँगा, अतः कहा है, कि

“संरक्षणाय साधूनां” मैंने साधुओं की रक्षा के लिए अवतार लिया है, यह कार्य होने से, साधन नहीं है जो उससे दोष होवे, दूसरी तरह साधुओं की रक्षा करनी चाहिए, इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि दुष्टों के वध के लिए भी मैंने अवतार लिया है। इलोक में “च” शब्द से यह दिखाया है, कि भक्तिमार्ग की स्थापना के लिए भा अवतार धारण किया है, इससे यह बताया है, कि कार्यों का सिद्धि के लिए मेरा अवतार है (१) भूभार हरण, (२) साधु रक्षा (३) दुष्टों का नाश और भक्ति का प्रसार ये चारों ही समान प्रधान हैं, अर्थात् सर्व मुख्य कार्य है न कि एक दूसरे के लिए करना है (१) भूभार उतारना राजस कार्य है, (२) साधुओं का रक्षा करना सात्विक कार्य है, (३) दुष्टों का निग्रह तामस कार्य है और भक्ति का कार्य निर्गुण कार्य है। केवल दुष्टों को साधारण रीति से मारने से पृथ्वी का भार नहीं उतरता है, क्योंकि दुष्ट फिर उत्पन्न हो सकते हैं, उनके हनन का ही प्रयत्न जो स्वयं भगवान् ने किया, उसमें भगवान् के अन्तःकरण का तात्पर्य यह था, कि मेरे हाथ से मरने के कारण वे मुक्त हो जाएंगे, फिर वे दैत्य उत्पन्न न होंगे, इस प्रकार साधुओं की रक्षा में भी समझना चाहिए। साधुओं की रक्षा के लिए भगवान् ने दो कार्य किए हैं (१) असाधुओं का नाश, क्योंकि असाधु होंगे तो उनके संसर्ग से कदाचित् साधुओं की अस्तु बुद्धि हो जाएगी इसलिए असाधुओं का नाश किया, सब के वध करने से तो अनिष्ट होवे और दूसरा साधुओं की बुद्धि बदलने में जो बाधा आती है उनको दूर कर, बुद्धि शुद्ध एवं दृढ़ कर दो। अशुद्ध असद् बुद्धि में भक्ति का प्रवेश नहीं होता है, यह तो स्पष्ट ही है ॥ ६ ॥

इस अवतार के चार प्रयोजन बताकर भगवान् कहते हैं, कि पक्षपात लक्षण वाला धर्म पहले से ही मेरे में है, यह धर्म सृष्टि के आदि में ही मैंने स्वीकार कर लिया था अतः कोई योग्य कार्य पक्षपात से मैं करूँ तो मुझे दोष नहीं लगता है, इसको सिद्ध करने के लिए कहते हैं कि मैंने पहले भी धर्म की रक्षा के वास्ते अवतार लिए हैं।

इस अवतार के सिवाय अन्य अवतार धारण करने का फल है, धर्म रक्षा और अधर्म की निवृत्ति है। इसलिए गीता में “यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत” कहा है यह अवतार तो केवल धर्म रक्षा के लिए नहीं है “अपि” शब्द से धर्म रक्षा और अधर्म निवृत्ति कार्य का भी ग्रहण किया है, यों समझने पर इस अवतार के ६ प्रयोजन हैं यह निश्चय होगा। यहाँ भी पूर्व की भाँति दोनों मुख्य हैं, इसलिए ही “संस्थापनाय धर्मस्य” यह वाक्य भी विरुद्ध नहीं होगा, अतएव बुद्ध के अवतार में केवल धर्म की रक्षा प्रयोजन है, क्रियावतार में अधर्म की निवृत्ति ही प्रयोजन है। परशुराम के अवतार में दुष्टों का निग्रह प्रयोजन है, बलभद्र अवतार भूभार हरणार्थ ही है, पृथु का अवतार सत्य वा सत्पुरुषों का परिपालन ही प्रयोजन है, इस प्रकार सर्व अवतारों में योग्यतानुसार समझना चाहिए, सर्व तो भगवान् में ही है, भक्ति स्वतन्त्र तथा अधिक भगवान् में ही है ये सब तो काल कर्म आदि से स्वतन्त्र वा उनकी आज्ञा से स्वतः सिद्ध होते रहेंगे, फिर विशेष अवतार लेने की क्या आवश्यकता है? इसके समाधान के लिए कहते हैं कि, “काले प्रभवतः” धर्म और अधर्म कभी ही काल में पैदा होते हैं, अतः जब वे अपेक्षित नहीं हैं तब अवतार लेकर अधर्म का निराकरण और धर्म की स्थापना करनी पड़ती है, काल तो केवल उत्पन्न करने वाला है उससे निराकरण

नही हो सक्ता है, जो निश्चित् अर्थात् सीमा वाले में दोनों शक्तियों का अभाव होता है, इस कारण से विषमता तथा अक्लिष्ट कर्मत्व दोनों का भक्तों के अनुरोध से करना ही चाहिए ॥१०॥

आभास—भगवद्ध्यानमात्रेण भूमिष्ठानां पदार्थानां दैत्यांशवासितत्वात् तेषां सज्जीकरणे विलम्बात् वैकुण्ठादेव साध्ये स्मृते स्वयमेव साधनमागतमित्याह एवं ध्यायतीति ।

आभासार्थ—भगवान् ने सोचा कि भूमि पर जितने युद्ध के साधन हैं उनमें दैत्यांश हैं, उनके तैयार करने में विलम्ब होगा, अतः वे साधन अलौकिक होने चाहिए यों विचार करते ही, वैकुण्ठ से स्वयं ही साधन आ गए, जिनका वर्णन “एवं ध्यायति” श्लोक में करते हैं—

श्लोक—एवं ध्यायति गोविन्द आकाशात्सूर्यवचंसौ ।

रथावुपस्थितौ सद्यः ससूतौ सपरिच्छदौ ॥११॥

श्लोकार्थ—भगवान् के इस तरह विचार करते ही, आकाश से सूर्य की भांति प्रकाश वाले, सारथियों सहित तथा युद्ध की सामग्री के साथ तुरन्त दो रथ उतर आए ॥ ११ ॥

सुवोधिनी—सर्वे हि देवाः अधिकारन्यायेनापि भगवद्वशा इति ज्ञापयितुं गोविन्द इति । आकाशात्सर्वेषामलौकिकत्वज्ञापनाय । दृष्ट एवालौकिकज्ञानं भवतीति दर्शनार्थं सूर्य-सङ्काशत्वमाह सूर्यवचसाविति । न हि सूर्य कदाचिदुदितं न पश्यति । अनेन अक्लिष्ट-कर्मताप्युक्ता । स्वानां भयं च निवारितम् । अलौकिकरथागमनं दृष्ट्वापि यदि युद्धार्थं यतन्ते, तदा मृत्युं निश्चित्यैव यतन्त इति न

भगवद्दोषः कश्चन । यथा अनुर्भङ्गादिसामर्थ्य-प्रदर्शनम्, तथैतदपि । सद्य एवोपस्थिताविति सिद्धावेव समागतौ, नतु लक्ष्मोवत् रुक्मिण्या-दिभावेनोत्पत्तिरपेक्ष्यते । यद्यप्यलौकिकरथस्य न सूताद्यपेक्षा, तथापि तदभावे शोभार्थं वा सूतः कर्तव्य इति प्राकृते स्थापिते तदनुरोधा-ननुरोधाभ्यां कार्याभावः । अतः ससूतौ । युद्धादिसामग्री ऋचादिर्ध्वजादिश्च परिच्छद-शब्देनोच्यते ॥ ११ ॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में भगवान् का ‘गोविन्द’ नाम यह जताने के लिए दिया है, कि सर्वदेव अधिकार न्यायानुसार भगवान् के वश में हैं, आकाश से आए, यों कहने का आशय यह है, कि सब अलौकिक हैं यह ज्ञान हो जाए, “सूर्य सम प्रकाश वाले” कहने का भाव यह है, कि सब को वे देखने

में आवे क्यों कि देखने से ही ये अलौकिक हैं यह दृढ़ ज्ञान होता है। सूर्य उदय होता है तब सब देखते ही हैं, यों कहने से भगवान् अक्लिष्टकर्मा हैं यह भी सिद्ध कर दिखा दिया और अपने सम्बन्धियों का भय भी मिटा दिया, अलौकिक सामग्री सहित अलौकिक रथों का आना देख कर भी, यदि लड़ने का प्रयत्न करते हैं तो वे निश्चय से मृत्यु के लिए प्रयत्न कर रहे हैं, इसलिए भगवान् का कोई दोष नहीं है, जैसे मथुरा में धनुर्भग आदि से अपना सामर्थ्य प्रकट दिखाया, तो भी समझे नहीं, अन्त में वे मृत्यु को ही प्राप्त हुए वैसे ही यहाँ भी होगा, तद्वक्षण आए, उसका भाव यह है, कि तैयार ही थे वे आ गए, न कि जैसे लक्ष्मी की रुक्मिणी आदिभाव में आने में देरी हुई यद्यपि अलौकिक रथों को सूतादि की अपेक्षा नहीं है वैसे यहाँ नहीं है, तो भी उनके न होने से रथों की शोभा न होगी, इस लिए शोभार्थ सूत चाहिए, यह कार्य प्राकृत की भाँति किया गया, उनके अनुसरण अथवा अनुसरण बिना कार्य का अभाव हो, अतः कहा कि रथ सूतों सहित आए तथा कवच और ध्वजादि सामग्री भी उनमें धरी हुई थी ॥ ११ ॥

आभास—सायुध एव रथमारोहतीति पृथगायुधानामागमनमाह आयुधानि चेति ।

आभासार्थ—योद्धा आयुधों वाले रथ में ही बैठता है, अतः आयुधों के आगमन का “आयुधानि च” इस श्लोक में पृथक वर्णन करते हैं ।

श्लोक—आयुधानि च दिव्यानि पुराणानि यदृच्छया ।

दृष्ट्वा तानि हृषीकेशः सङ्कर्षणमथाब्रवीत् ॥१२॥

श्लोकार्थ—धनुष, खड्ग आदि दिव्य आयुध जो असल थे, वे अपने आप आ गए । भगवान् ने उनको देख कर बलरामजी से कहा ॥१२॥

सुबोधिनी—धनुः खड्गादीनि दिव्यानि शार्ङ्गप्रभृतीनि । भिन्नान्याकृतिमन्ति निषेधति पुराणानीति । केनचिन्नानीय दत्तानि, किन्तु यदृच्छया स्वयमेवागतानि । एवं सामग्री दृष्ट्वा कार्यषट्के भूमारहरणस्योपस्थितत्वात् तदर्थमेव बलभद्रं प्रत्याह दृष्ट्वा

तानीति । यच्चुक्तं न करिष्याति, तथाप्यवतारान्यथानुपपत्त्या तथैव प्रेरयिष्यामीत्यभिप्राय इत्याह हृषीकेश इति । सर्वेन्द्रियप्रेरकस्तथैव प्रेरयिष्यतीति । सङ्कर्षणः सम्यक् भारमाकृष्य दूरीकर्तुं समर्थः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—विष्णु के धनुष सहित अन्य धनुष, तलवार आदि अलौकिक शस्त्र किसी ने लाकर नहीं दिए किन्तु स्वयं आ गए । “पुराणानि” शब्द से कहने का आशय यह है, कि वे शस्त्र नवीन आकार वाले थे, किन्तु जो अलौकिक आकृति आगे थी, वह अब भी है । इस प्रकार आई हुई सामग्री को भगवान् देख कर विचार करने लगे कि हमारे अवतार कार्यों को सिद्ध करने के लिए हैं,

उनमें से अब भूभार के हरण का कार्य सामने आया है। उस कार्य को पूरा करने के लिए बलराम जी का प्राकट्य है, अतः बलभद्र को कहने लगे। जो अपना कार्य जिसके लिए प्रकट हुए हैं वह न करेंगे, तो अवतार धारण करने की अन्य प्रकार उत्पत्ति नहीं है, इसलिए वैसी ही प्रेरणा करेंगे, जैसे वे इस कार्य को करेंगे। भगवान् "हृषीकेश" हैं, अतः प्रेरक तो सब के आप ही हैं। इसीलिए जैसे कार्य कराने की इच्छा होता है, वैसी ही प्रेरणा करते हैं क्योंकि बलरामजी संकर्षण स्वरूप भी हैं, अतः पूर्ण रीति से भार को खेंचकर दूर फेंक देने में समर्थ है ॥१२॥

आभास—अथ विचारव्यतिरेकेण निर्धारितमेवाह पश्यायेति ।

आभासार्थ—भगवान् विशेष विचार से निर्णय किए हुए कर्तव्य को करने के लिए "पश्याय" श्लोक में बलदेवजी को कहते हैं।

श्लोक—पश्याय व्यसनं प्राप्तं यदूनां त्वावतां प्रभो ।

एव ते रथ आयातो दयितान्यायुधानि च ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे आर्य ! हे प्रभो ! जिनके आप रक्षक हैं, उन यादवों पर वैसा दुःख आ पड़ा है, जिसका उपाय आपके सिवाय कोई नहीं कर सकता है। इसलिए आपके वास्ते प्यारे मुसल आदि शस्त्र भी आ गए हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—एकान्ते स्थितानुभौ । अतो यथा लोके परिज्ञानं न भवति, तथा शनैर्वचनानि विभिः । आयेति सम्बोधनं कृतानुकरणत्वाभावाद्वक्तव्यत्वज्ञापकम् । त्वत्त एव अवनं येषां ते त्वावन्तः । अतो रक्ष्याणां व्यसन प्राप्तमिति तन्निराकरणमवश्यं कर्तव्यम् । रक्षायवश्यं कर्तव्येत्याह यदूनामिति । अप्रतीकार्यं दुःखं व्यसनमित्युच्यते । यद्यपि पूर्वमेव विचारः

कर्तव्यः, तन्न कृतमित्यनौचित्यमपि ज्ञापन्नाह प्राप्तमिति । सामर्थ्या तु वर्तत इत्याह प्रभो इति । अवताराणां गुणव्यवधानात् साधनानि बोधयति एष ते रथ आयात इति । भवदीय एवायं रथ इति साधने सन्देहाभावः । प्रियाणि च मुसलादीनि आयुधानि । चकारादपेक्षित सर्वम् ॥ १३ ॥

व्याख्यार्थ—दोनों भ्राता एकान्त में इस प्रकार खड़े हुए थे, जैसे जो सलाह की जाय उसका किसी को भी पता न पड़े। तीन श्लोक धीरे-धीरे कहने लगे। हे आर्य ! सम्बोधन इस आशय से दिया है, कि आपको किसी की भी नकल नहीं करनी है, किन्तु मेरे वचन आपको कर्तव्य के जताने वाले हैं। अर्थात् आप श्रेष्ठ हैं, आपका इस समय यह कर्तव्य है कि जो यादव हैं, इनकी रक्षा सदैव

आपसे ही होती है, अतः अब भी होनी चाहिए । कारण कि, उन पर अभी ऐसा व्यसन अर्थात् बड़ी आपदा आ पड़ी है कि जिसका कोई प्रतिकार नहीं है । यद्यपि यह पहले विचार करना चाहिए था, वह न कर अनौचित्य* ही किया है, किन्तु अकस्मात् अब वह प्राप्त हो गया है, तो भी किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है । कारण कि आप प्रभु हैं, जिससे आप में सर्व प्रकार का सामर्थ्य है । आप इस व्यसन-से इन की रक्षा करने में सर्वथा समर्थ हैं । अवतारों में गुणों से अन्तर पड़ता है, किन्तु साधन स्वतः प्राप्त हो गए हैं । देखिये, यह आपका आया हुआ रथ है, यह रथ आपका ही है इसलिए साधन में कोई संशय नहीं है । फिर जो आयुध आए हैं, वे आपके प्यारे मुसल आदि हैं । श्लोक में दिए गए “च” का तात्पर्य बताते हैं, कि जिसकी भी युद्ध में अपेक्षा रहनी है, वे सब हैं ॥१३॥

आभास—भूभारहरणं तस्यैव मुख्यमिति तमेव बोधयति यानमास्थायेति ।

आभासार्थ—भूभार हरण करना उसका ही कार्य है, ‘यानमास्थाय’ श्लोक से वह वर्णन करते हैं ।

श्लोक—यानमास्थाय जह्येतव्यसनात् स्वान् समुद्धर ।

एतदर्थं हि नौ जन्म साधूनामीश शर्मकृत् ॥१४॥

श्लोकार्थ—रथ पर बैठ कर इस सेना को नष्ट कर, अपने स्थानों को संकट से छुड़ाए । हे ईश ! अपनने अवतार साधुओं के कल्याण के लिए धारण किया है ॥१४॥

सुबोधिनी—रथमास्थाय एतद्वलं जहि, रधारोहणे सर्वा शक्तिः प्रादुर्भविष्यतीति । विलम्बाभावायाह व्यसनात् स्वान् समुद्धरेति । आवश्यकत्वं स्पष्टम् । कार्यस्याप्यावश्यकता-माह एतदर्थं हि नौ जन्मेति । आवयोर्जन्म एतदर्थम् । युक्तश्चायमर्थः । भूम्या प्रार्थित-मिति, अन्यथा जन्मैव न स्यात् । सर्वत्रानु-स्यूतं प्रयोजनमाह साधूनां शर्मकृदिति । साधूनां सुखमस्माद्भवतीति सर्वैरेव प्रकारैः ते

सुखिनो भवन्तीति महत् । आविर्भूतस्यैतदेव कृत्यम् । ईशेति सामर्थ्यम् । अन्यथापेक्षादोषो भविष्यतीति भावः । परिमितमेवेति प्रयासा-भावायाह त्रयोविशत्यनीकार्थमिति । अनीक-शब्देनाक्षौहणी । अल्पसङ्ख्याशब्दनिर्देशः अनायासेन निराकरणार्थः । त्रयोविशत्यनी-कान्याख्या नाममात्रं यस्य । वस्तुतस्तु न किञ्चित्, तथापि निराकर्तव्यमेवेत्याह भूमे-भारमिति ॥१४॥

व्याख्यार्थ—रथ में बैठ कर इस बल को नाश कर । यह विचार ही न करना कि शक्ति कहाँ से आएगी ? रथ में बैठने पर सर्वशक्ति उद्भूत हो जाएगी । विलम्ब मत करो, क्योंकि ये अपने

सम्बन्धी हैं, अतः शीघ्र ही इनका व्यसन से छुटकारा करो । यह कार्य आवश्यक है, इसलिए कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यह विषय स्पष्ट ही है, फिर भी आवश्यकता को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि अपन इसलिए अवतरित हुए हैं । यों कहना तो योग्य ही है, कारण कि भूमि ने प्रार्थना की थी, नहीं तो हम प्रकट ही नहीं होते, हमारे प्राकट्य में सर्व कार्य गुंथे हुए हैं । साधुओं को भी सुख हमारे द्वारा ही प्राप्त होगा । सर्व प्रकार वे भी सुखी होंगे, महान् आत्माओं के प्राकट्य का यही कर्तव्य है । “ईश” शब्द से बलराम का सामर्थ्य प्रकट करते हैं । यों नहीं कहते तो उपेक्षा का दोष भगवान् को लगता । कुछ भी चिन्ता न करो, क्योंकि सेवा विशेष नहीं है, गिनी हुई है, केवल तेवीस अक्षौहिणी ही हैं । तात्पर्य यह है कि इनको नाश करने में किंचित भी परिश्रम न होगा । तेवीस अक्षौहिणी भी नाम मात्र की हैं । आपके सामने तो कुछ भी नहीं है, तो भी पृथ्वी पर भाव रूप होने से इनका नाश करना ही चाहिए ॥१४॥

आभास—प्रकटतया कथने राजा निर्गच्छेत्, स्नेहाद्वसुदेवादयः प्रतिबन्ध कुर्युः, अत एकान्ते तथा सम्मन्त्य युद्धार्थं प्रवृत्तावित्याह एवं सम्मन्त्येति ।

आभासार्थ—श्रीकृष्ण और बलराम एकान्त में परामर्श + कर युद्ध के लिए तैयार हुए । एकान्त में विचार करने का कारण यह था कि यदि पिता वसुदेवादि सुनेंगे तो रुकावट डालेंगे और यदि राजा सुन लेंगे तो वे युद्धार्थ निकल पड़ेंगे, अतः दोनों ने एकान्त में परामर्श कर स्वयं युद्ध के लिए प्रवृत्त हुए ।

श्लोक—तयोर्विशत्यनीकाख्यं भूमेर्भारिमपाकुरु ।

एवं सम्मन्त्य दाशाहीं दंशितौ रथिनौ पुरात् ॥१५॥

निर्जग्मतुः स्वायुधाढ्यौ बलेनाल्पीयसावृतौ ।

शङ्खं दध्मौ विनिर्गत्य हरिर्दारुकसारथिः ॥१६॥

ततोऽभूत्परसैन्यानां हृदि वित्रासवेपथुः ।

श्लोकार्थ—इस प्रकार दोनों भ्राताओं ने परस्पर सलाह कर, पहले कवचादि * धारण किए । अनन्तर अपने सुन्दर शस्त्रास्त्र लेकर रथ में बैठ कर लड़ाई करने के लिए प्रवृत्त हुए । साथ में स्वल्प सेना भी थी, पुर से बाहिर निकले और दारुक

के सारथि वाले श्रीकृष्ण ने अपने शंख को बजाया । जिसकी ध्वनि से शत्रु की सेना के हृदय में त्रास उत्पन्न हुआ जिससे वह कांपने लगी ॥ १५-१६-३ ॥

सुबोधिनी—यतो दाशाहौ सेवकप्रियौ ।
दंशितौ पूर्व बद्धकवचौ । ततो रथिनौ ।
ततः पुरान्निर्जग्मतुः । ततः सुष्ठु आयुधाढ्यौ
आयुधं गृहीत्वा युद्धार्थं प्रवृत्तौ । तावता पूर्व
राजाज्ञाभावात् विचाराभावाच्च न सर्व
बलमेकीभूतम्, अतोल्पेनैव बलेनावृत्तौ जातौ ।
तत्राप्यङ्गवैकृत्यं प्रत्ययार्थः । आदौ पाञ्च-
जन्यं वादितवानित्याह, सैनिकानामुद्योगोत्सा-
हनवृत्त्यर्थम् । 'यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ता'
इति । अन्तः प्रवेशाभावाय बहिर्निर्गम्य शङ्ख

दध्मौ । यतो हरिः । अन्यथा पुरस्थानां
शङ्का स्यात् । दारुकः सारथिर्यस्येति ।
सङ्कर्षणाश एवात्र विशेषाकारेण प्रवृत्त इति
ज्ञापयितुम् । तृतीय प्रकरणे तस्याप्युपयोगः
सूचनीयः, यथा द्वितीये अनिरुद्धे सान्त्वनम् ।
अग्रे आयुधान्तराणामपि कार्यं भविष्यतीति
ज्ञापयितुं कृतस्य नादस्य फलमाह ततोऽभू-
दिति । शत्रुभूतानां मन्यानां भाविमरणमदूरे
प्रतिभातमिति हृदि विशेषेण त्रासो भयं
जातम् । तेन कम्पश्च । शरीरेऽप्यर्थात् ।

व्याख्यार्थ—पहले कवच धारण कर रथ में बैठे, फिर नगर से निकले और सुन्दर शस्त्र लेके युद्धार्थं प्रवृत्त हुए, क्योंकि दोनों सेवक प्रिय थे । जिस समय युद्ध के लिए प्रवृत्त हुए उस समय सम्पूर्ण सेना आपके पास नहीं थी, कारण कि आपने राजा से सलाह न की थी । जिससे युद्ध में जाने के लिए सेना का राजा की आज्ञा न मिली थी । अतः अल्प सेनावृत्त थे, उसमें भी सेना में इतनी कमी, अपने स्वतन्त्र निश्चय करने के कारण हुई थी । शत्रु के सैनिकों के उद्यम तथा उत्साह को नाश करने के लिए भगवान् ने नगर से बाहिर निकल कर, जिसकी ध्वनि दानव दर्प नाश करने वाला है, वैसे पांचजन्य शङ्ख को बजाया, क्योंकि वे दुःख हर्ता हैं । यदि वह नगर के भीतर बजाते तो नगर निवासियों के मन में शङ्का उत्पन्न हो जाती । जिससे वे यों भी भ्रम में पड़ जाते, कि कदाचित् शत्रु की सेना नगर में घुस आई है । दारुक जिनका सारथि है वैसे भगवान् थे । यहाँ विशेष रूप से संकर्षण रूप में ही प्रवृत्त हुए हैं, यों जताने के लिए कि साधन प्रकरण में उसका "संकर्षण" का उपयोग है । जैसे प्रमेय प्रकरण में अनिरुद्ध में सान्त्वन है । आगे अन्य आयुधों का भी कार्य होगा, यह बताने के लिए शंख बजाने से जो फल हुआ, उसका वर्णन करते हैं कि शत्रुओं के सैनिकों का मरण निकट ही है । इसलिए पहले ही उनके हृदय में ध्वनि से भय ही उत्पन्न नहीं हो गया है, किन्तु उससे शरीर में कंपन भी पैदा हो गई है ॥ १५-१६-३ ॥

आभास—एवं ज्ञात्वा चतुरो जरासन्धः भगवन्तं युद्धान्निवर्तयितुं किञ्चिदुक्त-
वानित्याह तावाहेति ।

आभासार्थ—सेना की यह दशा जान कर चतुर जरासन्ध भगवान् की युद्ध से निवृत्ति करने के लिए "तावाह" श्लोक में कुछ कहने लगा ।

श्लोक—तावाह मागधो वीक्ष्य हे कृष्ण पुरुषाधम ॥१७॥

न त्वया योद्धुमिच्छामि बालकेन विलज्जया ।

गुप्तेन हि स्वयाऽमन्द न योत्स्ये याहि बन्धुहन् ॥१८॥

श्लोकार्थ—इन दोनों को अच्छी तरह देख (जानकर) मागध कहने लगा । हे कृष्ण ! हे पुरुषों में अधम ! मैं तुम से युद्ध करना नहीं चाहता हूँ, क्योंकि तू बालक है । बालक से लड़ते हुए लज्जा आती है, एवं तू बन्धु की हत्या करने वाला तथा छिप कर रहने वाला है, इस लिए भी हे मन्द ! तुझ से लड़ना नहीं चाहता हूँ ॥ १७-१८ ।

सुबोधिनी—ननु सदुत्तरेणैव भगवता सह युद्धमनुचितमिति चेद्वदेत्, तदा भगवान् युद्धं न कुर्यात्. स्वकार्यं च भवेत्, तत्परित्यज्य किमिति विषममुक्तवानित्याशङ्कायामाह मागध इति । देशदोषात्तथा बुद्धिः । तौ वीक्ष्याहेति । तेजः स्वानुभावेन ज्ञात्वेत्येतदर्थम् । आदौ भगवता सह युद्धं न मन्यते, तदाह, हे कृष्णेति । त्रिधा सम्बोधनं करोति, आनन्दचित्सद् रूपैः । कृष्ण आनन्दः, पुरुषश्चिद्रूपः । अधो मातीत्यधमः प्रपञ्चः सद् रूपः । न हि सदानन्दरूपेण पुरुषार्थरूपेणात्मना स्वोपकारिणा कश्चिद्युद्धमभिकाङ्क्षते । अत आह न त्वया योद्धुमिच्छामीति । किञ्च, बालकेनेति । बालानामपि कं सुखं यस्मात् । बाले बाले को वा । न हि ब्रह्माण्डकोटिविग्रहेण कार्यपक्षेपि योद्धुं शक्यते । किञ्च, विलज्जयेति । धाष्टर्चेन यद्यपि युद्धं कर्तुं शक्यते, मरणेन मोक्षो भविष्यतीति, तथापि लोकलज्जयापि न युद्धमुचितम्. लोको हसिष्यति,

स्वामिना सह युध्यतीति । अतो विशिष्टलज्जयापि न योत्स्ये । अन्यत्र स्वशक्ति स्थापयसि चेत्, तथापि युद्धं न करिष्यामीत्याह गुप्तेन हीति । त्वया गुप्तः केन वा हन्तुं शक्यते । पराजयपक्षे त्वत्त एव मरणमुचितम्: न त्वन्यस्मात्. अपकीर्तिरपि भवेदिति । अतो युक्तमेव त्वद्रक्षितेन सहायुद्धम् । किञ्च, अमन्देति । अमो मोक्षः । न विद्यते मा माया यतीति । अमं ददातीत्यमन्द इति । न हि मोक्षदात्रा आराध्येन सह कश्चिद्युद्धमभिकाङ्क्षति । अतो याहि मोक्षं दातुम् । नन्वहं यादव एव, न तु मोक्षदातेत्याशंक्याह बन्धुहन्त्रिति । यदि यादवः स्यात्, तर्हि बन्धून् कंसादीन् किं हन्यात् ? अतो यादवमारकत्वात् अस्मत्स्वाम्येव, नतु यादव इत्यर्थः । यदापाततः प्रतिभात्यन्यथा, तत्प्रकरणविरुद्धत्वात् निन्दापरवचनमुपेक्षणीयमेव । भ्रामकाणि परं वचनानि ॥ १८ ॥

व्याख्यार्थ—यदि सौम्य रीति से कहें, कि भगवान् के साथ युद्ध मेरे लिए उचित नहीं है, तो भगवान् युद्ध न करें और उसका अपना कार्य भी सिद्ध हो जाए, किन्तु उसने सत्र नीति छोड़ विषम रीति से यों कहा ? यों विषम प्रकार से कहने का कारण यह है, कि इसका जन्म अधम देश में

हुआ है। इसलिए इसकी बुद्धि भी अधम हा है। उन दोनों को देख कर अपने मनोगत भाव के अनुसार तेज को समझ कर इस प्रकार इसलिए कहने लगा। पहले भगवान् से युद्ध करना स्वीकार नहीं करता है, क्योंकि इनसे युद्ध नहीं चाहता है। इसलिए भगवान् के लिए तीन सम्बोधन करता है। अर्थात् भगवान् के लिए तीन गुण बतलाता है। (१) आनन्दगुण (२) चेतन्यगुण (३) सतगुण, इन गुणों को बतलाने के लिए तीन नाम १-कृष्ण २-पुरुष और ३-अधम कहे हैं।— १-कृष्ण नाम से कहा है, कि आप आनन्दरूप हैं। २-पुरुष नाम से कहा है कि आप चेतन्यरूप भी हैं तथा ३ अधम नाम से कहा है कि आप सद् रूप से प्रपञ्चरूप भी हैं। सदानन्दरूप, अपने उपकार करने वाले पुरुषार्थरूप आत्मा से कोई भी युद्ध करना नहीं चाहता है। इसीलिए जरासन्ध कहता है, कि तुझ से लड़ना नहीं चाहता है और फिर विशेषता यह है, कि आप बालकों को भी सुख देने वाले हैं, तथा आपके एक एक बाल में ब्रह्मा विराजमान हैं, अतः जिसके शरीर में कोटिश ब्रह्माण्ड हैं, उसके साथ कार्य के लिए भी कौन लड़ने की सामर्थ्य रखता है ? और वैसे से लड़ने में लज्जा भी आनी चाहिए, अतः आप से युद्ध करना उचित नहीं है। लोक हँसेगा कि यह स्वामी से लड़ता है, अतः विशिष्ट लज्जा से भी न लड़ूँगा। यदि आप कहो, कि ये मेरी शक्तियाँ मैं दूसरे में स्थापित कर देता हूँ, तब तो तू लड़ेगा ? तो क्या कहता है, कि तब भी नहीं लड़ूँगा, क्योंकि तू गुप्त अर्थात् अव्यक्त है। अव्यक्त से कौन लड़ सकता है ? उसको कौन मार सकता है ? पराजय पक्ष में तुझ से ही मरना योग्य है न कि दूसरे से अपनी कीर्ति भी हो, अतः यह भी योग्य है कि तुझ से रक्षित जो मैं हूँ उससे आपको लड़ना ही नहीं चाहिए तथा अन्य भी विशेष कारण यह है कि आप “अमन्द” हैं अर्थात् जहाँ माया नहीं है, ऐसे मोक्ष को देने वाले हैं। मोक्ष देने वाला तो आराध्य है, उससे कोई भी लड़ना नहीं चाहता है, अतः आप इस लड़ाई के कार्य को त्याग कर, जाके भवतों तथा जानियों को मोक्ष दान करो। यदि आप कहो, कि मैं तो यादव हूँ। मोक्षदाता नहीं हूँ, तो यह कहना मुझे भुलावे में डालने के लिए कहते हो, क्योंकि यदि आप यादव हो तो अपने सम्बन्धी कंस आदि को कैसे मारा ? अतः यादवों को मारने से आप यादव नहीं हैं, किन्तु हमारे स्वामी ही हैं, जो अब आप दूसरे देखने में आते हो। ये वे वचन प्रकरण में विरुद्ध होने से उपेक्षणीय है, क्योंकि ये निन्दापरायण है, तथा शेष भ्रमित करने वाले वाक्य है ॥१८॥

आभास—एवं भगवन्तमयुद्धार्थं प्रार्थयित्वा तेनैव बलभद्रोपि निवृत्तो भविष्यतीति तं युद्धं याह्वयति त्वं त्विति ।

आभासार्थ—जरासन्ध ने भगवान् को इस प्रकार युद्ध से निवृत्त होने की जब प्रार्थना की, तब यह विचार उसके हृदय में उत्पन्न हुआ कि इस प्रार्थना से कदाचित् बलरामजी भी निवृत्त हो जाए, अतः उनको “त्वं तु राम” इस श्लोक से लड़ने के लिए आह्वान करता है।

श्लोक—त्वं तु राम यदि श्रद्धा युध्यस्व धैर्यमुद्वह ।

हित्वा वा मच्छरैश्छिन्नं देहं स्वर्गाहि मां जहि ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे राम ! यदि लड़ने की श्रद्धा हो तो लड़, धीरज धर, मेरे शरों से छिन्न देह को त्याग स्वर्ग को जाओ अथवा मुझे मार ।

सुबोधिनी—तुशब्दः पूर्वप्राप्तार्थव्यावृत्त्यर्थः । अन्यथावयोर्बन्धुमागणं च तुल्यमिति कथं रामं गृह्णीयात् । तेन यादवा एव तस्य मारणीया इति सत्त्वव्यवहितानां सृतरामावेशिनां देहोन्मत्तीति यादवत्वं सिद्धमिति वसुदेववरं तत्पुत्रं पातनीयमिति वसुदेवे युद्धप्रतिप्रमवः । तत्रापि यदि श्रद्धेत्याह । अयं हि वसुदेवानुकल्पत्वेन द्विष्टो भवति । तथा सति यदि पितरि श्रद्धा, क्षत्रियत्वेन युद्धे वा, तदा युध्यस्व । आवयोर्द्वयपि समानं बलम्, तथापि सेना महतीति तद् दृष्ट्वा कदाचिद्धीतो भवेत्, अत आह धैर्यमुद्वहेति । भगवद्व्यतिरि-

क्तानामन्यधर्मः प्रवर्तते इति, अन्तर्बलमस्तीति धैर्यमस्त्येव, बहिरपि धैर्यं सम्पादयेत्याह उदिति । ततो यद्भविष्यति तदनिश्चयेनाह हित्वेति । एकतरनिश्चये युद्धार्थं प्रवृत्तिरेव न स्यात् । अतो मच्छरैः छिन्नं देहं हित्वा धैर्यमुत् धैर्येण जातां मुदं स्वर्गलक्षणां वह । अथवा मच्छरैः छिन्नं देहं पित्वेति । 'सविशेषणे विधिनिषेधौ विशेषणमुपसंक्रामतः' इति न्यायेन शरच्छादनं दूरीकृत्य मां जहि । अनेन प्रथममहमेव प्रहारं करिष्यामीति सूचितम् ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—“तु” शब्द पढ़ने कभी हई बात को निवारणार्थ है नहीं तो, हम दोनों को अथवा एक बन्धु को मारना बराबर ही है, तो राम को लड़ने के लिए क्यों आह्वान करता है ? इसका समाधान यह है कि इसको यादवों का नाश करना है, सत्त्व से व्यवहित अतिशयकर आवेश वालों का यह देह है इससे सिद्ध है कि राम यादव है, इसलिए राम का आह्वान किया है । वसुदेव का वर उसके पुत्र पर डालकर राम से लड़ना मानों वसुदेव से ही लड़ना है । इसलिए कहा है, कि यदि पिता में श्रद्धा अर्थात् भक्ति है, तो तू लड़ अथवा क्षत्रियग्न में श्रद्धा है, तो भी लड़ । अपने दोनों में शक्ति समान है, किन्तु मेरी सेना बहुत है । यदि वह देख कर डर गए हो तो डर मत धीरज और हिम्मत धारण कर, भगवान् मे जो शिन्न है, उनका धर्म अन्य होता है, बलरामजी में भीतर बल तो है ही जिससे धैर्य भी है, उसको बाहिर प्रकट कर, इसलिए वह धातु के आगे “उत्” उपसर्ग लगा कर “उद्वह” पद दिया है । लड़ने से जो होगा उसका निश्चय तो है ही नहीं । यदि किसी एक की जय वा पराजय का पूर्व ही निश्चय हो तो लड़ाई हो ही नहीं । अतः मेरे शरों से छेदी हुई देह का त्याग कर धैर्य करने से स्वर्ग की प्राप्ति के आनन्द को धारण करो, अथवा मेरे शरों से कटी हुई देह को त्याग विधि निषेध विशेषण में ही प्रयुक्त होते हैं । इस न्यायानुसार शरों का परदा हटा कर मुझे नष्ट कर, यों कहने से मागध ने यह बता दिया कि पहले मैं ही प्रहार करूंगा ॥१६॥

आभास—एवं बलभद्रं प्रति यत्स्वपौरुषं ख्यापितम्, तदयुवतं सत्त्वा भगवान् निषेधति न वै शूरा इति ।

आभासार्थ—जरासन्ध ने जो बलरामजी के आगे अपनी सामर्थ्य की डींग हाँकी, वह उचित नहीं है। यों समझ भगवान् उसका “न वै शूरा” श्लोक में प्रतिवाद करते हैं।

श्रीभगवानुवाच -

श्लोक—न वै शूरा बिकथ्यन्ते दर्शयन्त्येव पौरुषम् ।

न गृह्णीमो वचो राज्ञातुरस्य मुमूर्षतः ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् कहने लगे कि हे राजन् शूरवीर बकवाद नहीं करते हैं, किन्तु अपना पराक्रम कार्य करने से ही दिखाते हैं। हम आतुर तथा जिसकी मौत निकट आ गई है, उसके वचनों पर ध्यान नहीं देते हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—ये हि शूरास्ते स्वख्याति न वदन्ति, किन्तु पौरुषमेव दर्शयन्ति। यद्युक्तं ‘न त्वया योद्धुमिच्छामी’ति, तत् तव वाक्यं न गृह्णीमः। अनेन तद्वाक्यमप्रमाणमित्युक्तम्। न हीश्वरेणामतं प्रमाणं भवति। तेन हि गङ्गाद्वयेन युद्धं त्यक्तम्, मरणं भविष्यति, मोक्षे प्रतिबन्धो वा भविष्यतीति, तदुभयं न कर्तव्यम्, इदानीं न मारणीयः, मोक्षश्च देय इति। अत एव भगवान् सर्वस्वदानं कारितत्वा मोक्षं दत्तवान्। अतो युक्तमुक्तं न गृह्णीमो वच इति। किञ्च, हे राजन्! राज्ञां शूरक्षत्रियाणां युद्ध एव मुक्तिः। ‘द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः’ इति

ब्राह्मणक्षत्रिययोः मोक्षप्रकारस्य प्रतिपादितत्वात्। तयोरेव च मोक्षोपदेशः ‘यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदन’ इत्यत्र निरूपितः। अतो मद्रक्षितेनापि त्वया युद्धं कर्तव्यम्, अहं तु त्वया सह युद्धं न करिष्यामि, बलभद्र एव करिष्यति, बलं पर मारणीयमिति भावः। अयमुपदेशोऽग्रे कार्यार्थः। अन्यथा भीमेनापि न युध्येत्। किञ्च, आतुरस्य वचनं न ग्राह्यम्। स हि स्वापथ्यमेव याचते। अनेन याचितं देयमिति पक्षो निवारितः। किञ्च, मुमूर्षतः मुमूर्षां प्राप्नुवतः। कृदन्तात् षष्ठी। स हि मोक्षं दूरीकृत्य वृथा मरणं वाञ्छति। तादृशं नाङ्गीकर्तव्यम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ—जो सचमुच निश्चित शूरवीर होते हैं, वे अपनी प्रशंसा अपने आप नहीं करते हैं, परन्तु अपनी शूरवीरता दिखाते हैं। जो भी आपने कहा, कि मैं तुम से युद्ध नहीं करूँगा, वह आपका वचन ग्रहण नहीं करते हैं; सो कहने से भगवान् ने बता दिया कि पाण्डव का कहना प्रमाण रूप नहीं है। जिसको ईश्वर नहीं मानते हैं, वह प्रमाण नहीं हो सकता है। इस शंकाद्वय से युद्ध छोड़ा, युद्ध से मरण होगा वा मुक्ति मिलेगी, ये दोनों अब नहीं करने हैं। अब नहीं मरना है और न मोक्ष देना है। इस कारण मे ही भगवान् ने पहले उससे सर्वस्व अर्पण कराने के अनन्तर ही मोक्ष दी। अतः भगवान् ने ये वचन उचित ही कहे हैं कि तेरा कहा हुआ वचन ग्रहण नहीं करूँगा।

किञ्च हे राजन् ! शूरवीर जो क्षत्रिय राजा हैं, उनकी युद्ध में मरने से ही मुक्ति होती है। जैसा कि शास्त्र में कहा है “द्वाविमौ पुरुषोलोके सूर्यमण्डल भेदिनौ परिव्राड् योगयुक्तश्च रणेचाभिमुखो-
द्वतः” अर्थ—लोक में योग युक्त सन्यासी, युद्ध में मरा हुआ शूरवीर, ये दोनों मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार शास्त्रों में ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के मुक्ति का मार्ग निश्चित सिद्ध किया हुआ है। उन दोनों को ही मोक्ष का उपदेश है। “यस्य ब्रह्म च क्षत्रं” इस श्रुति में भी यही बात कही है। अतः तू मुझ से रक्षा किया हुआ है, तो तुझ से राम लड़ाई तो करेंगे ही। मैं तो तेरे साथ युद्ध न करूँगा, कारण कि तेरी इस बड़ी सेना को तो नष्ट करना ही है। यह उपदेश आगे के कार्य के लिए है: जो यों उपदेश न दें तो भीम से भी न लड़े। बीमार का वचन कभी नहीं मानना चाहिए, क्योंकि वह सदैव कुपथ्य रोग में हानि करने वाली वस्तु की ही याचना करता है, किन्तु उसको वह नहीं देनी चाहिए, क्योंकि उस वस्तु के देने से उसका रोग बढ़ेगा। इसी प्रकार यहाँ भी यदि आपका कहा हुआ किया जाए तो आपकी ही हानि होगी और जो मरने के समीप है, वह भी बुद्धि शून्य हो जाता है। जिससे वह मोक्ष को हटाकर केवल मारना ही चाहता है, इसलिए उसका कहा भी नहीं करना चाहिए ॥२०॥

आभास—एवमुपदिष्टः युद्धं स्वहितं मन्यमान, ससामग्रीको युद्धार्थमागत इत्याह जरासुत इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार के उपदेश से युद्ध करने में अपना हित समझ कर सारी लड़ाई की सामग्री सहित सेना को लेकर युद्ध के लिए आया। जिसका वर्णन जरासुत श्लोक से श्री शुकदेवजी करते हैं।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—जरासुतस्तावभिसृष्य माधवो महाबलीधेन बलीयसावृणोत् ।

ससैन्ययानध्वजवाजिसारथी सूर्यानलौ वायुरिवाभ्ररेणुभिः ॥२१॥

श्लोकार्थ—शुकदेवजी कहने लगे कि जरासन्ध ने समीप जाकर, अपनी बड़ी सेना से रामकृष्ण को उनकी सेना, सारथि सहित रथ, ध्वजा, घोड़ों को इस प्रकार घेर लिया जैसे पवन बादलों से सूर्य को और रेणु से अग्नि को घेर लेता है ॥२१॥

सुबोधिनी—मातुः पुत्रोऽयम् । तत्रापि सा जरा, सर्वानेव भिरूपान् करोति, कथमेनं त्यक्ष्यतीति । तत्रापि राक्षसी । तेन दुर्बुद्धिरप्यथं

ज्ञापितः । अन्यथा तदुपदेशमेव गृहीत्वा, मरणं निश्चित्य, तेनैव सह किं युद्धं कुर्यात् । तौ कृष्ण-रामावभिसृत्य सर्वतः संवेष्टयित्वा महाबलीधेन

आवृणोत् । माधवाविति । मधुवंशोत्पन्नाविति भगवन्ताविति वा, धनं दास्यत इति वा, पित्रोः स्ववलं प्रदर्शनीयमिति वा । जेष्यामीति बुद्ध्या प्रवृत्त इति ज्ञापयितुं साधनाधिक्यमाह बलीयसा महाबलीधेनेति । महत्त्वं स्वरूपेण, तादृशानां बहुत्वमोघः अन्तस्सारं बलम् । एवं गुणत्रयस्य विद्यमानत्वात् आवरणं कृतवान् । भगवत्सहायं सर्वमेव स्वार्थं गृहीतवानित्याह ससैन्येति । सैन्य-

सहितौ, यानसहितौ, तत्र ध्वजवाजिसारथिभिः सहितौ । अनेनैवमुक्तं भवति, केचन सैन्ये लग्नाः, केचन रथे, केचन ध्वजयोः, केचनाश्वेषु, सूतयोरिति । एतयोरसम्भावितमावरणमिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह सूर्यानिलाविति । न ह्यावरणं सूर्यं स्पृशति, अग्निं वा, परं पश्यतां चक्षुः प्रतिरोधकमेव । वायुस्थानीयो जरासन्धः, अभ्राणि सूर्यावरकाणि, रेणवोग्नेः ॥२१॥,

व्याख्यार्थ—यह मगध माता का पुत्र है, उसमें भी यह माता साधारण माता जैसी नहीं है, किन्तु जरा होने से सब को बदसूरत कर देती है, तो इसको कैसे छोड़ेगी ? केवल जरा नहीं, किन्तु राक्षसी भी है, जिससे वह जो दुर्बुद्धि हुआ है, यह भी बता दिया है । यदि यह नहीं बताया जाता तो उसका उपदेश लेकर, मरने का निश्चय कर उसके साथ युद्ध कैसे करें ।

जरासन्ध ने उन दोनों के समीप आ कर अपनी जबर्दस्त सेना से उनको चारों तरफ से घेर लिया । ये दोनों भ्राता मधुवंश में उत्पन्न हुए थे । इसलिए भगवान् अर्थात् षड्गुणसंयुक्त स्वरूप थे । अथवा लक्ष्मी के पति होने से धन देंगे, इसलिए मागध ने घेर लिया । अथवा माता पिता को अपनी शक्ति दिखानी थी, इसलिए घेरे में आ गए । जरासन्ध युद्ध में इसलिए तैयार हुआ कि उसकी बुद्धि में यह विचार था कि मैं जीतूंगा । कारण कि मेरे पास जीतने के लिए साधन बहुत हैं । वे दिखाते हैं ? 'बलीयसा महाबलीधेन' अर्थात् स्वरूप से ही उसका महत्व था, ऐसों का बहुत समूह था और उन में भीतर शक्ति भी थी । इस प्रकार वैसे तीन गुणों के विद्यमान होने से ही घेरा डाला था । यों घेरे डालने का कारण यह था, कि भगवान् की सहायता करने वाले सर्व साधन अपने काम के लिए आधीन हो जाए । अर्थात् सैन्य सहित, यान सहित और ध्वजा घोड़े सारथी सहित ये दोनों मेरे शरण में आजाएँ किन्तु वैसा हुआ नहीं । श्री शुकदेवजी यह दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं कि जैसे पवन से चलायमान मेघ से सूर्य का आवरण तो हो जाता है परन्तु सूर्य का स्पर्शमात्र भी नहीं कर सकता है और रेणु भी अग्नि को आच्छादित कर देती है किन्तु अग्नि को छू नहीं सकती है । सारांश यह कि मेघ और रेणु केवल देखने वालों की दृष्टि को रोकने वाले होते हैं । इसी प्रकार सेन्य सहित इसका घेरा भी उनके सेन्य स्पर्श भी नहीं कर सका केवल मनुष्यों की दृष्टि में ही यह घेरा देखने में आ रहा था । उनका आवरण करना मागध के लिए असम्भव था । वे तो कोई सेन्य दृश्यस्थान में लगे थे, कोई रथ की गति में कोई ध्वजाओं की स्थिति में और कोई घोड़ों की तीव्रता-वरोध* में लगे थे ॥२१॥

आभास—अतः स्वरूपे फलस्यायुवात्वात् दृष्टौ तज्जातमित्याह सुपर्णताल-
ध्वजचिह्न ।

आभासार्थ—अतः जरासन्ध के घेरे का फल भगवत्स्वरूप में होना, अनुचित होने से केवल देखने में ही वह हुआ जिसका वर्णन “सुपर्ण” श्लोक से करते हैं—

श्लोक—सुपर्णतालध्वजचिह्नितौ रथावलक्षयन्त्यो हरिरामयोर्मृधे ।

स्त्रियः पुराट्टालकहर्म्यगोपुरं समाश्रिताः संमुमुहुः शुचापिताः ॥२२॥

श्लोकार्थ—गरुड़ और तालकी ध्वजा से चिह्नित राम कृष्ण के रथों को युद्ध में न देख कर, पुरी के अट्टालिकाओं, महत्व और नगर के बड़े दरवाजों पर चढ़ी हुई नगर की स्त्रियाँ शोक से दुःखी हो मूर्च्छित हो गईं ॥२२॥

सुबोधिनी—सुपर्णध्वजो भगवद्रथः । ताल-
ध्वजो वनस्य । सेनामध्ये पतिताविति रेणुभिः
विजातीयध्वजादिभिश्च व्यवधानात् अलक्षयन्तः
अपश्यन्तो जाताः । एको दुःखहर्ता, अपरा रमय-
तीति सुखदाता । उभयोरत्यावश्यकत्वात् तद-
दर्शने व्याकुलता उचितैव । स्त्रियश्च तत्र मुख्य-
तया द्रष्टुं समागता इति युद्धानभिज्ञत्वात् रसा-
न्तरपरिग्रहे स्ववैयर्थ्यं सूचयन्त्यः शोकेनार्पिता
जाता इत्याह स्त्रिय इति । पुरस्य अट्टालकाः

अत्युच्चा भवन्ति । हर्म्याणि राज्ञां गृहाः । पुर-
द्वारं चात्युच्चम् । एतानि समाश्रित्यापि अलक्ष-
यन्त्यः सम्यक् मुमुहुः, मूर्च्छा प्राप्तवत्यः । ततो
जागरणे शुचा चापिताः । कृष्णो हि भगवान्
स्त्रीणामेवार्थं अवतीर्ण इति तद्बाधकत्वेनैव सैन्यं
मारितवान् । न त्वन्यथेति स्वरूपविचारसिद्धयर्थ-
मुक्तम् । अन्यथा सङ्कर्षणकार्ये भगवान् प्रविष्ट
इति भवेत् । तच्चैकादशे न पुनरुक्तम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—गरुड़ की ध्वजा वाला भगवान् का रथ और ताल की ध्वजा वाला राम का रथ
ये दोनों रथ सेना के मध्य में आ गए, तथा धूलों से और विजातीय ध्वजादि से रुकावट होने के
कारण नगर की नारियाँ उनको देख न सकीं एक रथ जो भगवान् का है वह दुःखहर्ता है और जो
दूसरा राम का है वह आनन्द दाता है दोनों के दर्शन अत्यावश्यक है, अतः उनके दर्शन न होने से,
स्त्रियों को व्याकुलता होना उचित ही है, वहाँ देखने वाली में मुख्य रूप से स्त्रियाँ ही दर्शक थीं
किन्तु स्त्री होने से युद्ध का नमूना नहीं जानती थीं, इसलिए अन्य रस की प्राप्ति होने से अपना
यहाँ आना अथवा जन्म व्यर्थ समझ शोक युक्त हो गई शहर की अट्टालिकाओं बहुत ऊँची होती हैं,
राज महल नगर के बड़े द्वार^१ भी बहुत ऊँचे होते हैं उन पर बैठी हुई भी नगर की नारियाँ न

देख कर बहुत मूच्छित हो गई जब कुछ होश में आती तो शक्ति से घिर जाती थीं, क्योंकि भगवान् कृष्ण तो स्त्रियों के लिए ही प्रकट हुए हैं उन स्त्रियों की सेना के कारण ही भगवान् के दर्शन न हुए इसलिए सेन्य का नाश किया गया नहीं, कि अन्यथा स्वरूप के विचार की सिद्धि के लिए यों कहा है, यदि यों न कहा जाए तो लोक समझने लगे कि संकर्षण के कार्य में भगवान् प्रविष्ट हुए हैं और वह फिर एकादश में नहीं कहा है ॥२२॥

श्लोक — हरिः परानीकपयोमुचां मुहुः शिलीमुखात्पुल्वणवर्षपीडितम् ।

स्वसैन्यमालोवय सुरासुराचितं व्यस्फूर्जयच्छाङ्गं शरासनोत्तमम् ॥२३॥

श्लोकार्थः—शत्रुओं की सेना रूप बादलों से गिरती हुई बाण रूपी तीखी वृष्टि से पीड़ित, अपनी सेना को देख भगवान् ने, देव तथा दैत्यों से पूजित अपने शाङ्ग धनुष का टंकार शब्द किया ॥२३॥

मुवोधिनी—अतः स्त्रीणां दुःखनिवृत्त्यर्थं भगवान् सैन्यं निहतवानित्याह हरिरिति । सूर्य-स्थानीयो हि भगवान् । तत्र मेघस्थानीयाः तदीयाः । अतस्तेषां निराकरणमनायासेनैव भविष्यतीति निरूपयितुं तेषां सेनामनुबदति परानीकपयोमुचामिति । शत्रूणामनीकमेव पयो-मुचः मेघाः । तेषां शिलीमुखान्येवोल्बणवर्षः । तेन पीडितं स्वसैन्यम् । अनेन महाशूरा अपि, अहन्यमाना अपि, यथा वृष्टौ समागतायां सर्व एव भीताः पलायन्ते, न हि वृष्टिः कांश्चिन्मारयति, मृता वा भवन्ति केचन, तथापि महाशूरा अपि राजानमपि परित्यज्य पलायन्ते, तथा अत्र जात-मित्युपहासार्थं निरूपितम् । स्त्रीषु कृपा, तेषु च

हास्यरसमुत्पन्नमिति भावः । अत उभयोरपि हेनचिकीर्षया स्वशाङ्गं गृहीतवानित्याह सुरासुराचितमिति । सुराणां हिताम्, असुराणां मोक्षम्, द्वय दास्यतीति ज्ञात्वा शाङ्गं धृतवान्, विशेषेणा-स्फूर्जयत् । शाङ्गं ज्यानिनादः सुराणां चित्ते भयनिवतको भवतीति प्रथमं सन्देहानवारणार्थ-माश्वासनमुक्तवान् । 'यज्ज्यानिनादश्रवणात् सुराणां चेतांसि निर्मुक्तभयानि सद्यो भवन्ति' इति वाक्यात् । शाङ्ग एव शरासनेषु भगवदीयेषु उत्तमम् । अनेनाशनिवाणवर्षमिति तस्य द्वितीयं माहात्म्यमुक्तम् । भगवतः अनेकान्यपि धनुषि सन्तीति बोधितम् । शरासनपदेन देवतारूपत्वं प्रतिषिद्धम् । अन्यथा माहात्म्यमुक्तं न भवेत् ॥२३॥

व्याख्यार्थः—इस श्लोक में कहते हैं, कि स्त्रियों को जो न देखने से दुःख हुआ था उसकी निवृत्ति के लिए भगवान् ने शत्रु की सेना को मारा भगवान् का नाम यहाँ हरि दिया है, जिससे दो आशय हैं, एक दुःखहर्ता है इसलिए स्त्रियों के दुःखों को मिटाने के लिए शत्रु सेना का नाश किया और जैसे सूर्य अन्धकार को मिटाता है वैसे ही यहाँ आप शत्रु सेना रूप अन्धकार को नाश करने के लिए सूर्य हैं, सूर्य के ताप से बादल आ जाते हैं वैसे यहाँ शत्रु सेना रूप बादलों ने आकर तीक्ष्ण

बाणों की वृष्टि से भगवान् की सेना को पीड़ित किया, जैसे वर्षा आने पर सब डर कर अपने-अपने घरों को भाग जाते हैं, यद्यपि वर्षा किसी को भी मारती नहीं है, कितनेक मर भी जाते हैं वैसे बाणों की वर्षा से भयभीत हुए बड़े-बड़े शूरवीर घायल न होने पर भी राजा को छोड़ कर भागने लगते हैं, यहाँ भी इस प्रकार होने लगा। यह उपहास के लिए कहा गया है स्त्रियों पर कृपा हुई जिससे उनमें हास्य रस उत्पन्न हुआ। भगवान् ने दोनों के हित के लिए अपना शाङ्ग धनुष ग्रहण किया,—वह धनुष देवता तथा दैत्यों से पूजित है, क्योंकि इस धनुष से देवताओं का भय निवृत्ति रूप हित होता है और दैत्यों को मोक्ष मिलता है भगवान् के अनेक धनुषों में “शाङ्ग” धनुष उत्तम है और जोर से उसकी टंकार की, टंकार इसलिए की, कि उससे देवों के चित्त में विश्वास हो जाए कि अब हमारा भय नष्ट होगा जैसे कि कहा है कि “शाङ्ग” धनुष के टंकार से देवता शीघ्र ही निर्भय हो जाते हैं, यों उत्तमता कहने का आशय यह है, कि इस धनुष से वज्रवत् शरों की तेज वर्षा होती है, यह उसका दूसरा माहात्म्य बताया है। इससे यह भी प्रकट कर दिखाया है, कि भगवान् के पास अनेक धनुष हैं, ‘शरासन’ पद का भाव यह है, कि यह धनुष देवता रूप नहीं है यदि देवता रूप होता तो माहात्म्य नहीं कहते ॥२३॥

श्लोक—गृह्णन्निषङ्गादथ संदधच्छरान्विकृष्य मुञ्चन् शितबाणपूगान् ।

निघ्नन्नयान्कुञ्जरवाजिपत्तीनिरन्तरं यद्वदलातचक्रम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—शरों को तरकश से निकाल, धनुष में जोड़ कर, धनुष को खेंच, जो आप तीक्ष्ण बाणों के समूह को फेंकते हैं तो उनसे रथ हाथी घोड़े और पैदल चलती सेना का निरन्तर नाश हो जाता, क्योंकि उस समय धनुष अलातचक्र की भाँति कार्य करता हुआ दीखता था ॥२४॥

सुबोधिनी—इदानीं भगवतो युद्धचातुर्यमाह गृह्णन्निषङ्गादिति । अतितेजस्विनां स्वागमेपि स्वशक्तिस्तिष्ठतीति क्रियाशक्तेर्व्यापकता नित्यत चोक्ता भवति । निषङ्गात् तूणीरात् शरान् गृह्णन्,

अथ तदनन्तरं तस्य योजनाप्रकारेण योजितवान् । ततो विकृष्य मुञ्चन्, ततः चतुरङ्गिणीं सेनां निघ्नन् । जात इति प्रत्येकं वा सम्बन्धः । चतुर्धा भगवत्कृतिः ।

व्याख्यार्थ—अब भगवान् का युद्ध में चातुर्य कैसा है वह वर्णन करते हैं विशेष तेजस्वियों की अपनी शक्ति अपने आगम-साधन-में भी रहती है इससे भगवान् को क्रिया शक्ति की नित्यता और व्यापकता कही है, तरकश से शरों को लेकर बाद में धनुष में जोड़ते थे फिर उससे खेंचकर फेंकते हुए उनसे चतुरङ्गिणी सेना को मारने लगे, इस प्रकार समस्त क्रिया से आपका सम्बन्ध रहा जिससे वह भगवान् की वाण प्रकार की कृति है ।

कारिका—स्थानात् प्रच्यावनं पूर्वं साधने योजनं तथा ।

फलार्थं विनियोगश्च फलसिद्धिरिति क्रमात् ॥१॥

कारिकार्थ—पहले स्थान से (तरकस से शरों को निकालना) फिर उसी तरह साधन में (धनुष में उन शरों का जोड़ना) लगाना और फल के लिए उनका (शत्रु सेना का नाश कर विजय पाना) विनियोग करना, इस प्रकार करने से फल की सिद्धि की है ॥१॥

सुबोधिनी—मोचनसमयेऽपि ग्रहणमावर्तते चेत्, तदा क्रिया अपरिच्छिन्ना भवति, नान्यथेत्यत आह निरन्तरमिति । अन्तराभावो यथा भवति तथेति । चतुर्णां विशेषणं । तदसंभावितं मत्वा दृष्टान्तमाह यद्बदलातचक्रमिति । अलातचक्रं परिभ्रममाणं सर्वत्र विद्यमानमिव मण्डलाकृति भाति, तदन्तिरन्तरमिति सम्बन्धः ।

यद्यपि भगवतः क्रियाशक्तौ न सन्देहः, तथापि स्वयमपि वक्ष्यति । लोके निरूपणे असंभावना मा भवत्विति दृष्टान्तमप्याह । निषङ्गादित्येकवचनेनाक्षयतूणीरता निरूपिता । अथेति भिन्नोपक्रमेण । अनेन शरेण एतावत् मारयिष्यामीति पूर्वं सङ्कल्पो निरूपितः । तदैव च निघ्नन् जातः, अन्यथा काकतालीयवत् भगवत्प्रवृत्तिरपि स्यात् । ततश्च न पराक्रमः सिध्येदिति । एतावदथशब्देन निरूपितम् । सन्देहत्वं सम्यग् धनुषि योजयन् । शरानित्यस्त्रव्यावृत्त्यर्थम् । अन्यथा देवताया एव सामर्थ्यं भवेत् । शरानिति बहुवचनं सकृदपि बहूनां सन्धानं सूचयति । विवृण्वि मुञ्चन्निति ।

मानुषक्रियैवात्र व्यापृता भगवता, न त्वलौकिकं किञ्चित्प्रकाशितमिति ज्ञापितम् । शितास्तीक्ष्णाः ते च बाणाश्च तेषां पूगः समूहो येषु । एकस्मिन् वाणे भगवत्क्रिया व्यापृतेति भगवता स मुक्त इति परिच्छेदे निवृत्ते सहस्ररूपः स एव जात इति बाणस्यानन्तत्वे प्रतिपादिते तेन मोचितशराणामपि अनन्तत्वं

फलित्वमिति तथोक्तम् । अन्यथा पुनरुक्तदोषः स्यात् । सन्धितानामेव विमोक्तस्य सिद्धत्वात् । नितरां घ्नन्निति सकृत् प्रहारेणैव प्राणवियोगः शरीरस्य शतधा खण्डाश्च प्रदशिताः । चतुरङ्गसेना सर्वैव मारिता इति ज्ञापयितुं गणनामाह । रथान् कुञ्जरान् वाजिनः पत्तयः पदातयः । पत्तीरिति स्त्रीप्रयोगः । एको वाणः एकां पत्तिमनेकां वा मारयतीति सूचयति । 'एकेभैकरथा अश्वा पत्तिः पञ्चपदातिके'ति । पत्तीनिति वा पाठः । शूराणां प्राणवियोगमात्रे न सामर्थ्यं सिध्यति । मर्मस्थानस्पर्शे अल्पप्रहारेणापि प्राणवियोगसम्भवात् ॥२४॥

व्याख्यानार्थ—जिस समय शरों को फेंका जाता है, उस समय शरों को तरकस से लेने का कार्य भी होता था तब उस में अपरिच्छिन्नता रही है, यदि यों न होता तो क्रिया में परिच्छिन्नता होती इसलिए श्लोक में "निरन्तर" पद दिया है, जिस क्रिया में थोड़ा भी अन्तर न हो उसको निरन्तर की हुई क्रिया कहते हैं, इसलिए समस्त क्रियाएँ वर्तमान काल में दी हुई है, यों एक ही काल में सब

होना असम्भव है, इस प्रकार किसी के मन में शंका उत्पन्न हो तो उसको मिटाने के लिए दृष्टान्त देकर समझाते हैं 'यद्वदलातचक्रम्' जैसे अलातचक्र जब घूमता है तब चारों तरफ एक ही समय घूमता हुआ दीखता है उसी भाँति यहाँ भी समझ लेना चाहिए । यद्यपि भगवान् की क्रियाशक्ति में किसी प्रकार सन्देह नहीं है, तो भी अपने आप भी कहेंगे, इस प्रकार निरूपण करने में लोक में असम्भावना न होवे इसलिए दृष्टान्त भी कहते हैं श्लोक में "निषङ्गस्" एक वचन दिया है जिस से जाना जाता है कि तरकस एक ही था किन्तु वह अक्षय शरों का निवास था अर्थात् उसमें अक्षय शर थे, "अथ" शब्द देकर यह बताया है, कि अब अलग विषय का प्रारम्भ करते हैं, इस शर से इतनों को मारूँगा इस प्रकार का संकल्प भगवान् पहले ही कर लेते थे बाद में शर फेंकते थे, फेंकते ही उनका नाश उस काल ही हो जाता, यदि यों न हो तो भगवान् की कृति भी काकतालीय न्याय के समान हो जाती, उससे कोई पराक्रम सिद्ध न होना चाहिए, किन्तु भगवान् की क्रिया की प्रवृत्ति का फल पराक्रम तो प्रत्यक्ष प्रकट है ही, इतना आशय "अथ" शब्द का निरूपण किया है। "सन्दधत्" शब्द का अर्थ है, अच्छे प्रकार से शरों को जोड़ते हुए "शरात्" शब्द कह कर बताया कि अस्त्र नहीं है किन्तु शस्त्र है यदि शस्त्र नहीं अस्त्र हो, तो देवता का ही सामर्थ्य हो जाए "शरान्" बहुवचन देकर यह सिद्ध किया है, कि एक ही काल में बहुत शरों को धनुष में जोड़ देते हैं "विकृष्य मुञ्चन्" इस पद से यह दिखाया है, कि यहाँ भगवान् ने मानुष क्रिया ही ग्रहण की है, कुछ भा अलौकिकता प्रकट नहीं की है, एक एक बाण भगवान् की क्रिया शक्ति से युक्त था, इस लिए वह एक को भी जब भगवान् फेंकते थे तब उसका परिच्छेदपन निवृत्त हो कर वह सहस्र रूप हो जाता फिर उनका समूह होता था जिससे वे अनन्त होकर अनन्त शरीरों की मुक्ति कर देते थे, अन्यथा पुनरुक्ति दोष हो जाता, क्योंकि जोड़े हुए शरों को फेंकना ही सिद्ध होने से । 'निघ्नत्' पद का भावार्थ है कि एक प्रहार से ही प्राण निकल जाते और शरीर के सैकड़ों टुकड़े हो जाते, चतुरंग, जितनी भी सेना थी वह सारी नष्ट कर दी गई, यों मालूम करने के लिए उसकी गणना करते हैं । रथ, हाथी, घोड़े और पैदल सेना । एक बाण एक सेना को अथवा अनेकों को मारता है यह सूचित किया है जैसे कि कहा "एकेभैकेरथा अश्वापत्तिः पञ्चपदातिका" अर्थात् एक रथ, एक हाथी, तीन घोड़े और पांच प्यादे, इसको भी एक प्रकार की सेना कहते हैं, शूरवीरों का सामर्थ्य केवल प्राण वियोग से सिद्ध नहीं होता है क्योंकि ममस्थान पर अल्पप्रहार से भी प्राण निकल जाते हैं ॥२४॥

आभास—अथो भगवतः क्रियाशक्तिं बोधयितुं बाणानां महत्कार्यमाह निर्भिन्न-कुम्भा इति ।

आभासार्थ—अतः भगवान् की क्रियाशक्ति का बोध कराने के लिए "निर्भिन्न-कुम्भाः" श्लोक में बाणों के महान् कार्य का वर्णन करते हैं—

श्लोक—निभिन्कुम्भाः करिणो निपेतुरनीकशोऽश्वाः शरवणकन्धराः ।

रथः हताश्वध्वजसूतनायकाः पदातयश्छिन्नभुजोरुकन्धराः ॥२५॥

श्लोकार्थ—फाड़ हुए गण्डस्थल वाले हस्ती, बाणों से कटी हुई गरदन वाले अनेक घोड़े नष्ट हुए हैं घोड़े, ध्वजा, सूत और नायक जिनके वैसे रथ टूटी हुई भुजाएँ छगनी और ग्रीवा जिनकी वैसे प्यादे, ये सब रण के मैदान में गिर गये थे ।

सुबोधिनी—करिणो हस्तिनः नितरां खण्डशो निभिन्नाः । यद्यपि निभिन्नकुम्भाः करिण एव भवन्ति, तथापि स्वतन्त्रः करो मेषाति तति षष्ठिहायनपरः करि शब्दः । अनीकशः अश्वा एकैकेन शरेण वृक्णाः कन्धरामु केशाः सन्तीति तत्र बाणप्रचारो न भविष्यतीति कन्धरपदम् । रथाम्नु, हता अश्वा ध्वजाः सूता नायकाश्च येषां तादृशा जाताः । नत्वेकमारणेन शिष्टं दैवान्मृतमिति । रथोऽपि

अवयवशः वृक्णः इति ज्ञातव्यम् अन्यथा निपेतुरिति क्रियासम्बन्धो न स्यात्, अन्यथा जाता इति क्रियान्तरं कल्प्यं प्रसज्येत । पदातयश्च निपेतुः । आघातेनापि पतन्तीति तेषां विशेषणमुच्यते । छिन्नाः भुजाः ऊरवः कन्धराश्च येषाम् । उरु स्थूला वा कन्धरा । नाभेरधो बाणप्रहारस्य निषिद्धत्वात् । अनेन शिरश्छेदः अर्थादुक्तः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—हस्ती अतिशय टुकड़े-टुकड़े हो गए, हालांकि फाड़े हुए गण्डस्थल वाले 'करि' ही होते हैं, तो भी जिनकी सूंड स्वतन्त्र हो जाती है वे हस्ती साठ वर्ष के होते हैं, यहाँ 'करि' शब्द वैसे हाथियों के लिए दिया है अनेक घोड़े एक-एक शर से नाश को प्राप्त हुए, यहाँ "कन्धरा" पद इस लिए दिया है, कि उसके ऊपर केश होते हैं केशों पर बाण का प्रहार असर न करेगा बाण के प्रहार का असर तो ग्रीवा पर ही होगा अतः "कन्धरा" शब्द उचित ही है, रथ तो सरे हुए घोड़े वाले, नष्ट हुई ध्वजा वाले और सूतनायक भी जिनके मृत हुए हैं वैसे हो गए, यों भी न समझना चाहिए कि एक के मरने से शेष देव से मरा, रथ भी समग्र अवयवों सहित नष्ट हो गया यों जानना चाहिए जो यों नहीं माना जाएगा तों "निपेतुः" क्रिया का सम्बन्ध सब के साथ न हो सकेगा, यदि "निपेतुः" क्रिया का सम्बन्ध न समझा जाएगा तो दूसरी क्रिया "जाताः" की कल्पना करनी पड़ेगी, अतः "निपेतुः" क्रिया सब के साथ सम्बन्ध वाली है यह ही युक्त है इसलिए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि "पदातयश्च निपेतुः" इस वाक्य में "च" शब्द देकर सर्व के साथ

* साठ वर्ष के हस्तियों के गण्डस्थल ढीले पड़ते हैं जिससे सूंड उनसे सटी हुई नहीं रहती है अतः वह सूंड स्वतन्त्र कही जा सकती है—अनुवादक

सम्बन्ध बताया है, यदि कोई कहे, कि चोट लगने से भी गिर पड़ते हैं तो इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि यदि चोट से गिरे होते तो उनकी भुजाएँ, छातियाँ, ग्रीवाएँ अलग-अलग छिन्न होके गिरती नहीं, युद्ध शास्त्र में नाभि से नीचे शरीर में बाण के प्रहार का निषेध है। इससे ऊपर के भाग का टूटना ही कहा है ॥२५॥

आभास—एवं चतुरङ्गसेनामारणमुक्त्वा तस्याधिक्यं वक्तुं तेन जाता रुधिर-दीर्घाण्यति संचिद्यमानेति सार्धाभ्याम् ।

आभाषार्थ—इस प्रकार चतुरंगिणी सेना को मृत्यु कह कर अब उसकी अधिकता दिखाने के लिए उससे उत्पन्न रुधिर की नदी का “संचिद्यमान” श्लोक से लेकर २॥ श्लोकों से वर्णन करते हैं—

श्लोक—संचिद्यमानद्विषपदेभवाजिनामङ्गप्रसूताः शतशोऽसृगापगाः ।

भुजाहयः पूरुषशीर्षकच्छपा हतद्विपद्वीप हयग्रहाकुलाः ॥२६॥

करोरुमीना नरकेशशैवला धनुस्तरंगाद्युधगुल्मसंकुला ।

अच्छुरिकावर्तभयानका महामणिप्रवेकाभरणाश्मशर्कराः ॥२७॥

प्रवर्तिता भीरुभयावहा मृधे मनस्विनां हर्षकरीः परस्परम् ।

श्लोकार्थ—मनुष्य, हस्ती तथा घोड़ों के कष्टि हुए अंगों से सैकड़ों रुधिर की नदियाँ बहने लगी, जिनमें भुजाएँ साँप जैसी दीखती थीं मनुष्यों के सिर कछुओं के समान नजर आते थे, मरे हुए हाथी टापू से और घोड़े मगर से दृष्टि में आते थे हस्त ही बड़ी मछली के समान दीखते थे अथवा हस्त तथा छाती ही मछलियाँ थीं, मनुष्यों के केश ही शेवाल + या धनुष तरंग थे, शस्त्र झाड़ी थी, ढाले भँवर थे और अमूल्य बड़ी-बड़ी मणियों के उत्तम आभूषण पत्थर तथा पँवारे से नजर आते थे युद्ध में बहती हुई इस रुधिर की नदियों को देख डरपोक तो घबराते थे और शूरवीर परस्पर प्रसन्न होते थे ॥ २६, २७, २७॥ ॥

मुत्रोधिनी—चतुरंगेषु त्रय एव रुधिरवन्तः, एकं दारुमयम् । अतस्त्रीन् गणयति । द्विपदाः मनुष्याः, इभाः हस्तिनो वाजिनश्च, तेषामङ्गं छिन्नैः प्रसूताः शतशः अमृगापगा जाताः । अनेन मृत्तानां निर्भयत्वं सूचितम् । अन्यथा भयेन रुधिरशोष एव स्यात् । विजातोया अपि एकैकप्रकृतिका जाता इत्यपि । अङ्गपदं तु तेषां हनने जाते दैवकृतां रुधिरवृष्टिं व्यावर्तयति । प्रशब्देन मरणानन्तरमपि संस्कारेणापि भयाभावः सूच्यते । अन्योन्यं प्रवाहमेलनात् पूर्व नामान्तरमप्यापन्ताः पश्चादनेकानि नामानि प्राप्नुवन्तीति शस्प्रत्ययः । अमृगापगा रुधिरनद्यः । ननु नदीत्वं कुतः, नहि प्रवाहमात्रेण नदीत्वं भवति, अन्यथा वर्षाकाले जगदेव नदी स्यादित्याशङ्क्य नदीसमानाकृतित्वसिद्धयर्थं वर्णयति भुजाहय इति । भुजा एवाहयः सर्पा यत्र । पूरुषशः षण्णिवेव कच्छपा यत्र । एतत्सात्त्विकम् । हता ये द्विपास्त एव द्विपप्रायाः । द्विगता आपो यत्रेति । तस्मिन् द्वीपे छिन्ना ये हयाः अश्वास्त एव हि ग्रहा ग्राहाः । तैराकुलाः । द्वीपा एव तामसा नदीत्वव्यापकाः । तथापि तत्र प्रवाहेण गच्छतां हयावयवानामारोहावरोही द्वीपाधिक्यार्थमेव निरूपितौ ।

आगन्तुका एवैते नदीधर्माः, न तु सहजा इति । साधारणान् वर्णयति करोमीना इति । करा एव उरु अधिका मीना यत्र । करा ऊरवश्च मीना इति वा । मध्यच्छेदे शिष्टो भागः ऊरुशब्देन ग्राह्यः । उरुशब्द एव वा । नराणां केशा एव शैवालानि शैवाला यत्र । धनून्व्येव तरगाः । मीनाः सात्त्विकाः । तरङ्गास्तामसाः इति । तयं पूर्वेण वा । नरके शान्तास्तयः । आयुधान्येव तूणीगदीनि गुल्माः, तैः सङ्कुलाः । अत एव धनुस्तरङ्गाश्च ताः आयुधगुल्मसंकुला इति कर्मधारयः । अचक्षुरिकान्येव आवर्ताः । तैर्भयानकाः । अचक्षुरिकाश्चक्राणि चर्मणि वा । अनेनातिगाम्भीर्यं नद्याः प्रदर्शितम् । महामणिप्रवेका महामण्युत्तमाः, तद्युक्तान्याभरणान्येव शर्करा यासाम् । पुरातननदीस्थाने कदाचित्पतितं रुधिरं जलेन सहितं तथा जातमिति शङ्का व्यावर्तयति प्रवर्तिता इति । नूतनतया प्रवर्तिताः । पूर्वस्माद्वैलक्ष्यमाह भोरुभयावहा इति । भोरुणामेव भयावहाः । मनस्विनां तु हर्षकरीः । अन्येषां तु साधारणा यथावद्वर्णिताः । परस्परमिति समयुद्धे । अन्याययुद्धे तु जयजोलानां प्रायेण हर्षो भवतीति नाशचर्यमेतत् ।

व्याख्यानार्थ—सेना के चार अङ्गों में से तीन रुधिर वाले हैं, एक काष्ठ का होने से रुधिर शून्य है, अतः यहां तीन ही गिने हैं, मनुष्य, हाथी और घोड़े उन तीनों के कटे हुए अङ्गों से सैंकड़ों खून को नदियां निकली, इससे अर्थात् इतनी खून की नदियों के निकलने से यह बताया कि यह सेना डरपोक नहीं थी, यदि डरपोक होती तो मरे हुए सैन्यों से खून का नदियां न निकलती थी भय से खून सूख जाता है, ये, विजातीय होते हुए भी, एक ही प्रकृति वाले हो गए, सेना के दूटे हुये अङ्गों से खून का नदियां वही, इस वाक्य में अङ्ग पद कहने का आशय यह है, कि कोई यों न समझे कि इनके मरने पर देवों न रुधिर का वृष्टि का है, अर्थात् न रुधिर की नदियां इनके अङ्गों से ही निकली हैं ॥प्रसूताः॥ पद में ॥प्रा॥ अक्षर देने का यह आशय है कि मरने के बाद भी इनके हृदय में संस्कार से भी भय नहीं रहा है, ॥शतशः॥ पद में शन् प्रत्यय देने का भाव बताया है कि परस्पर प्रवाह के मिलने से पहले हमारे नाम वाला होने हुए भी पश्चात् अनेक नाम को धारण किया है । ये नदियां

जल की नहीं थी किन्तु रुधिर की थी, शंका होती है कि इस रक्त प्रवाह को नदी कैसे कहा जाता है, केवल प्रवाह से नदी नहीं बनती है, यदि प्रवाह को नदी कहा जाता है तो वर्षा काल में जगन हो नदी रूप हो जाएगा ? इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं, कि ये नदियाँ सहज नदियाँ नहीं हैं किन्तु नदी समान आकृति वाला प्रवाह होने से नदियाँ कहलाती हैं, जिसको सिद्धि के लिए वर्णन करते हैं, कि नदियों में जो जो दृश्य देखे जाते वे सब इन में भो हैं जैसे कि-भुजाएँ हो सर्व हैं, पुरुषों के मस्तक कछुवे हैं ये सात्विक हैं हस्ति टापू है उसमें मरे हुए घोड़े मगरमच्छ हैं, उनसे व्याकूल हुए हैं, टापू ही तामस है वे नदीपन को प्रसिद्ध करने हैं, तो भो वहाँ के प्रवाह से वहकर जाते हुए घोड़ों के अवयवों का जो चढ़ना और उतरना अर्थात् नोचे ऊपर होना टापुओं की अधिकता दिखाने के लिए ही वर्णन किया है, अतः ये नदी के जो धर्म हैं वे आगन्तुक हैं सहज नहीं हैं, नदी ये साधारण धर्मों का वर्णन करते हैं-हस्त जिनमें बड़े मत्स्य हैं, अथवा हस्त तथा छातियाँ हो बड़े मत्स्य हैं, बीच के भाग को काटने पर जो शेष भाग रहता है उसको ॥उरु॥ जानना, मनुष्य के केश सेंवार हैं, मनुष्य ही तरंग हैं, मछलियाँ सात्विक हैं तरंग तामस हैं, अथवा उरु के साथ जो तीन हैं उनको लेना चाहिए, नरक में तीन ही शान्त हैं, भाये आदि आयुध हो मकड़ी हैं, उनसे घिरो हुई है, इस लिए ही ॥धनुस्तरंगायुधगुल्मसंकुला॥ पद का इस प्रकार कर्मधारय समास किया है, ॥धनुस्तरंगश्चताः आयुधगुल्मसंकुला॥ ढालें ही भंवर हैं उनसे ये नदियाँ भयानक दिखती हैं और इससे नदी की अतिशय गम्भीरता भी दिखाई है, उत्तम मणियों से युक्त आभूषण ही जिन नदियों में पत्थर वा पवारे हैं यदि कोई कहे कि यह रुधिर की नदी वैसी तब हुई है जब वह रुधिर प्राचीन नदी में गिरा है उस नदी के जल से मिलने पर इनका ज्यादा हो गया है जो नदी सा प्रतीत होता है अन्यथा नहीं होता, इस शंका के मिटाने के लिए श्लोक में ॥प्रवर्तिता॥ पद दिया है जिसका भावार्थ है कि यह रुधिर की नदी नवीन प्रवृत्त हुई है अर्थात् पहले की नदी के जल से मिलकर प्रवृत्त नहीं हुई है, अगली प्राचीन से इस नदी की विलक्षणता बताते हैं, कि डरपोकों को डराने वाली है वह पुरानी जल की नदी डराती नहीं है, वीरों में तो हर्ष पैदा करती है दूसरों के लिए तो साधारण है, जैसी वर्णन की है वैसी ही देखते हैं उनको न भय होता है और न प्रसन्नता होती है ॥परस्परम्॥ का तात्पर्य है कि समान युद्ध में जय होने पर आपस में योद्धे प्रसन्न होते ही हैं किन्तु अन्याय की लड़ाई में तो जीतने वालों को बहुत करके प्रसन्नता होती है इस में कोई आश्चर्य नहीं है ॥ २६, २७, २७ई

आभाष— एवं भगवत्कृतं सपर्यवसानं युद्धमुक्त्वा बलभद्रकृतमाह विनिघ्नतारो-
निति ।

आभासार्थ— इस प्रकार भगवान् के किए हुए युद्ध का सम्पूर्ण वर्णन कर अब
“विनिघ्नातारीन्” श्लोक से बलभद्र कृत कहते हैं ।

श्लोक— विनिघ्नातारीन्मुसलेन दुर्मदान्संकर्षणेनापरिमेयतेजसा ॥२८॥

श्लोकार्थ—अमित तेज वाले बलभद्रजी ने दुर्मदवाले वरियों को मूसल से मार कर रुधिर की नदियाँ बहा दी ॥२८॥

सुवाचिनी - अरयः कथञ्चित् हन्तव्याः । भगवतस्स्वरयो न सन्तीति बलभद्रे तदुक्तम् । हलेनाकृष्य मूसलेन विनिघ्नता सङ्कर्षणेन सह । भगवान् गृह्णात् निषङ्गदित्यादि जात इति पूर्व- णैवान्वयः । अथवा । अरीन् विनिघ्नता सङ्कर्षणेन कृत्वा नद्यः प्रवर्तिता इति । हनने हेतुः दुर्मदा- मिति । दुष्टो मदो येषां उद्धृत्तिकरणरूपः । सङ्कर्षणपदेनैव तेषामाकर्षणं निरूपितम् । सामर्थ्यं हेतुमाह । अपरिमेयं तेजो यस्येति । अन्तर्बल- मस्त्येव, बहिस्तेजोपि । कस्याप्येतावदिति मानु- मशक्यम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ शत्रुओं को कैसे ही मारना चाहिए, भगवान् के तो कोई शत्रु है ही नहीं इसलिए यह कार्य बलभद्र ने किया। बलभद्र संकर्षण है इसलिए उनमें खेचने की शक्ति है जिससे उसने शत्रुओं को मूसल से खेच लड़ाई में मारने के लिए खड़ा किया उस (संकर्षण) के साथ भगवान् भा तरकश से शत्रुओं को निकाल अपना कार्य करते थे, अथवा शत्रुओं को नाश करते हुए संकर्षण ने इन रुधिर की नदियों को बहने में प्रवृत्त किया, शत्रुओं के मरने का कारण यह था, कि वे दुष्ट मद वाले हो गये थे, जिससे वे उलटे कार्य कर पृथ्वी के भार भूत हो गए थे, बलरामजी की सामर्थ्य में कारण कहने हैं, कि असीम तेज वाले हैं भीतर तो बन है ही किन्तु बाहर भी तेज प्रकट कर दिखाया है, किसी का भी इतना बल व तेज नहीं है इसलिए भी नापा नहीं जाता है ॥२८॥

आभास—एवमुक्तं युद्धमुपसंहिरति बलमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार कही हुई युद्ध को समाप्ति करते हैं, जिसका वर्णन “बलं तदंगार्णवं” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—बलं तदङ्गार्णवदुर्गभैरवं दुरन्तपारं मगधेन्द्रपालितम् ।

क्षयं प्रगोतं वसुदेवपुत्रयोर्विक्रोडितं तज्जगदोशयोः परम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—अश्व आदि अंग रूप अर्णवों से दुर्ग में तथा भयानक जरासन्ध से पालित, अपार अन्तवाली सेना को वसुदेव के पुत्र ने क्षण में नाश किया वह कार्य उनकी विशेष क्रोड़ा ही है, क्योंकि वे जगत् के ईश हैं ।

सुवाचिनी—शीघ्रमुपसंहारे ततोऽपि महत्त्वं दुर्गभैरवं भयानकं च । अनेन स्वरूपतो माहा- भवतीति बलमिति । अङ्गैरश्वादिभिः अर्णवरूपैः । तन्ममुक्तं व्रजस्य । दुरन्ताः पाला यस्येति बलस्य

रक्षकाः । सङ्गे समागताः राजानः दुरन्ताः ।
न हि तेषामन्तं कश्चित्कर्तुं शक्तः । ततोऽपि
माहात्म्यमाह मगधेन्द्रपालितमिति । जरासन्धेन
पालितम् । इन्द्रपदेन सर्वतो बलस्य समृद्धता
द्योतिता । एतादृशमपि क्षणमध्ये क्षयं प्रणीतम् ।
एतदपि वसुदेवपुत्रयोः क्रीडितम् । यद्यपि वसुदेव-
पुत्रत्वेन नाट्यं कृतम् । तथा सति पुत्रत्वनि-
र्वाहार्थं प्रयासोऽपि बाललीलायामिव प्रकाश-

नीयः । तथापि न प्रकाशितम्, किन्तु क्रीडयैव
सर्वं माग्निमिति । एव करणे वेतुमाह जगदीश-
योरिति । सर्वजगत एव ईश्वरयोः । नहीश्वरः
सदैकरूपो भवति । कदाचिदभिनयं करोतीति
सर्वदा अभिनयमेव करिष्यति । परमित्यनेन
विशेषक्रीडायामप्यनादरः, ततोऽप्यल्पमिति सूच-
नार्थः ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में दिखलाते हैं कि शीघ्र ही युद्ध की समाप्ति कर दिखाई, जिससे भगवान् का आगे से भी विशेष महत्व प्रकट हुआ है, सेना का स्वरूप से माहात्म्य बताते हैं, कि वह बल अश्व आदि अंगों से समुद्र रूप बन गया है जिससे जाने में कठिन और भयानक है मगध के संग में आए हुए राजा ऐसे हैं जिनका कोई अन्त पा नहीं सकता है उनसे यह सेना रक्षित है उससे भी विशेष सेना का माहात्म्य इससे है, जो जरासन्ध से पाली हुई है जरासन्ध को मगध देश का इन्द्र कह कर यह प्रकट किया है, कि सेना सर्व प्रकार से समृद्ध है वंसी सेना को क्षण में नष्ट कर दिया, नष्ट करने में वसुदेव के पुत्र को कोई परिश्रम न हुआ, क्योंकि यह तो उनके लिए बाल क्रीड़ा ही थी, जो वसुदेव के पुत्रपन से यह खेल ही किया है, तो भी पुत्रत्व के निर्वाह के लिए, बाल लीला की भाँति प्रयत्न भी प्रकट करना योग्य है तो भी प्रकट नहीं किया, किन्तु सर्व को क्रीड़ा से ही माग है यों करने का कारण बताते हैं, कि सारे जगत् के ईश्वर हैं, ईश्वर सदा एक रूप नहीं होते हैं, कभी खेल भी करते हैं इस प्रकार सदा हा खेल ही करेंगे । “परं” पद से यह बताया है कि विशेष क्रीड़ा में भी आदर नहीं है, इस कारण से भी थोड़े समय में सर्व क्रीड़ा कर विशेष क्रीड़ा में भी अनादर सूचित किया है ॥२६॥

आभास—ननु किमित्येषा कथा वर्णिता विशेषाकारेण, सामान्यत एवैतद्वक्तव्यम्, जरासन्धसमानीतसैन्यस्य बहुशो बधं कृतवानिति, अल्पे हि पौरुषत्वेन युद्धं वर्णनीयम्, न तु भगवतीति चेत्, सत्यम्, इत्याह स्थित्युद्भवान्तमिति ।

आभार्थ—यह युद्ध का वर्णन विशेष रूप से क्यों किया ? साधारण रीति से ही करना चाहिए था, जैसा कि जरासन्ध की लाई हुई सेना को बहुत प्रकार से बध किया इस प्रकार थोड़े में ही पुरुषार्थ न दिखा कर युद्ध का वर्णन करना चाहिए, न कि भगवद्रूप में इतना विस्तार करना था, यदि यों कहते हो तो, सत्य है, इस प्रकार की शंका का समाधान “स्थित्युद्भवान्तं” श्लोक में करते हैं ।

पलोक—स्थित्युद्भवान्तं भुवनत्रयस्य यः समीहतेऽनन्तगुणः स्वलीलया ।

न तस्य चित्रं परपक्षनिग्रहस्तथापि मर्त्यानुविधस्य वर्ण्यते ॥३०॥

श्लोकार्थ—जो अनन्त गुण वाले भगवान् हैं वह लीला से ही त्रिलोकी को उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करते हैं उन्होंने शत्रु पक्ष को दण्ड दिया इससे कुछ भी आश्चर्य नहीं है, तो भी मनुष्यावतार धारण करने के कारण यह कथा विस्तार से वर्णन की गई है ॥३०॥

सुबोधिनी—यस्त्वनन्तः सर्वतः परिच्छेदरहितः, स्वरूपविचारे क्रियमाणे । गुणविचारे त्वाह अनन्तगुण इति । अनन्ताः कोटिब्रह्माण्डेषु यावन्तः पदार्थाः तावद्गुणो भगवान् । ततोप्यधिक इति मुख्यः सिद्धान्तः । काश्चिद्गुणान् प्रकट करोति । क्रियाविचारे त्वाह । भुवनत्रयस्य स्थित्युद्भवप्रलय स्वस्य लीलामात्रेण समीह्यते इति । तत्र कियदिदं बलम् । अतः तस्यैतन्न चित्रम् । तथापि तस्य परपक्षनिग्रहो वर्ण्यते

भक्तिस्थापनार्थम् । तन्वीश्वरे परपक्षनिग्रहव्यतिरेकेणापि महत्त्वादेव भक्तिर्भविष्यति, किं निग्रहवर्णनेनेत्याशङ्क्याह मर्त्यानुविधस्येति । भगवान् मर्त्यानुविधानं करोति । तथा सति कदाचिद्भक्तपक्षपातं न कुर्यात्, अन्यधर्माभिनिवेशादिति । तत्रापि चेत् भक्तपक्षपातं कुर्यात्, तदा निःसन्दिग्धं भक्तिमार्गः प्रवर्तते । अत एव वर्ण्यते विशेषाकारेणेति ॥३०॥

व्याख्यार्थ—रूप के विचार करने से ज्ञात होता है, कि भगवान् चारों ओर परिच्छेद रहित होने से अनन्त हैं, तथा उनके गुणों का विचार करने से भी मालूम होता है कि उनके गुण भी अनन्त हैं कोटि ब्रह्माण्डों में जितने पदार्थ हैं उतने गुणों वाले भगवान् हैं किन्तु उनसे भी अधिक असौम्य गुण भगवान् के हैं यह ही मुख्य शास्त्रीय सिद्धान्त है भगवान्, कुछ गुणों को प्रकट करते हैं, भगवान् की क्रिया शक्ति का विचार करते हुए जाना जाता है कि वह अपनी लीला मात्र से ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय करते हैं, जो इतना कार्य लीला मात्र से कर सकते हैं, उनके लिए यह सेना कितनी है ? अर्थात् कुछ नहीं है, अतः भगवान् इस सेना का निग्रह करें, यह अचम्भे की बात नहीं है, तो भी उनसे जो शत्रु पक्ष का नाश किया है, इसका इतना विशेष वर्णन भक्ति की स्थापना करने के लिए किया गया है इस पर वादी कहता है कि शत्रु पक्ष का नाश करने के सिवाय भी महत्त्व होने से ईश्वर में स्वतः भक्ति होगी ही, तो सेना के मारने के वर्णन करने को क्या आवश्यकता है ? जिस का उत्तर देते हैं कि भगवान् ने अवन्मनुष्य नाट्य किया है अतः मनुष्य को भाति ही सर्व लीला कर दिखानी है यों करने से कभी भक्त का पक्षपात नहीं करना चाहिए, क्योंकि यों करने से अन्य धर्म का अभिनिवेश होगा, वहाँ भी यदि पक्षपात करें, तब निश्चय भक्ति मार्ग प्रवृत्त होगा ही अतः विशेष रूप से वर्णन किया है ॥३०॥

आभास—एवं दूषणं परिहृत्य जरासन्धेन बलभद्रं प्रति यदुक्तं तद्बलभद्रः कृतवानित्याह जग्राह विरथमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार विशेष वर्णन करने में जो दूषण दिए उनको मिटाकर अब जरासन्ध ने जो बलभद्र को कहा, बलभद्रजी ने उसके कहने से जो कुछ किया, उसका वर्णन “जग्राह विरथं” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—जग्राह विरथं रामो जरासन्धं महाबलम् ।

हतानीकावशिष्टासुं सिंहः सिंहमिवौजसा ॥३१॥

श्लोकार्थ—सेना नष्ट हो जाने से जिसके केवल प्राण ही बचे हैं ऐसे महाबली रथहीन, प्यादे बने हुए जरासन्ध को, जैसे सिंह अपने पराक्रम से दूसरे सिंह को पकड़ता है वैसे ही बलरामजी ने उसे हाथों से ही पकड़ लिया ॥ ३१ ॥

सुबोधिनी—तस्य रथोऽपि छिन्नः । केवलं पदातिरवशिष्टः । यद्यपि शरीरेणापि महाबलः, तथापि तं जग्राह । विरथो हन्तव्यो न भवतीति वद्धा गृहे नेय इति बन्धनार्थं गृहीतवान् । यतोऽयं रामः सर्वेषां रमणार्थं प्रवृत्तः । सः हन्तुमप्यशक्य इति तस्य नामाह । महाबलमिति च दैवं मानुषं च बलं तस्य निरूपितम् । तर्हि दैवगत्या गृहीत इति चेत्, तत्राह ओजसेति । तर्हि पाशादिभिर्गृहीतो भविष्यतीति चेत्, तत्राह सिंहः सिंहमिवेति । हस्ताभ्यामेव निगृह्य स गृहीतः, न तु हलादिना आकृष्टः । तस्य मोचकाभावमाह । हतमनीकं यस्य, अवशिष्टा असवो यस्येति ॥३१॥

व्याख्यार्थ—उस (जरासन्ध) का रथ भी टूट गया था अतः पैदल चल रहा था यद्यपि शरीर से महाबलवान् था, तो भी उसको बलरामजी ने पकड़ लिया पकड़ा क्यों ? मारा क्यों नहीं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि युद्ध शास्त्र की रीति के अनुसार जिसका रथ नष्ट हो गया हो उसको मारना नहीं चाहिए इस लिए मारा नहीं और बान्ध कर घर ले आना था, इस लिए पकड़ा था क्योंकि वह राम होने से सर्व को रमण कराने के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं, उसको मारना भी कठिन था, कारण कि वह महाबलवान् था अर्थात् उस में दो बल थे (१) देव बल और दूसरा मानुष बल, तब तो बलरामजी ने भी उसे देव गति से पकड़ा होगा ? यदि यों कहौ तो, उत्तर में कहते हैं, कि नहीं, उन्होंने अपने बल से ही पकड़ा है तो वरुणादि पाशों के द्वारा पकड़ा होगा ? इस के उत्तर में भी कहते हैं कि नहीं, जैसे सिंह सिंह को पकड़ता है वैसे हाथों से ही पकड़ लिया, हलादि से भी खींचकर नहीं पकड़ा, क्या उसको किसी ने छुड़ाया भी नहीं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि उसको छुड़ाने वाला कोई वचा ही नहीं था सारी सेना नष्ट हो गई थी, केवल इसके ही प्राण बचे थे अर्थात् यह एक ही वचा था ॥३१॥

आभास—ग्रहणानन्तरं परोपकारार्थमागतो न बन्धनीय इति बध्यमानं भगवान् निवारयामासेति आह बध्यमानमिति ।

आभासार्थ — पकड़े जाने के अनन्तर भगवान् ने बान्धने वाले बलराम को कहा कि इस को मत बान्धो क्योंकि परोपकार के लिए आए हुए को बान्धना नहीं चाहिए इस का वर्णन “बध्यमानं” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—बध्यमानं हताराति पाशैर्वारुणमानुषैः ।

वारयामास गोविन्दस्तेन कार्यचिकीर्षया ॥ ३२ ॥

श्लोकार्थ — शत्रुओं का नाश करने वाले जरासन्ध को वरुण और मनुष्यों के पाशों से जब बलरामजी बान्धने लगे तब श्रीकृष्ण भगवान् ने निषेध किया, कारण कि उसके द्वारा अन्य कार्य भी कराने को भगवान् की इच्छा थी ॥ ३२ ॥

सुबोधिनी—महतो बन्धनमनुचितमिति तं विजितश्चि हतारातिमिति । हता अरातयो येन । अनेन ज्वृभूयस्त्वान् तेषां च दुष्टत्वात् तत्सुख भविष्यतीत्यपि मोचने तदभावो हेतुस्तः । केवल-बन्धनानि तत्र न समर्थानिति पाशैर्बद्धः । ते आकृष्टाः निग्रहेतवो भवन्ति । तत्रापि वारुणमा-नुषैश्च । जरादीनां मोचनाभावाय वारुणाः पाशाः, मनुष्याणामर्थं मानुषाः । एतादृशमपि स्वार्थं न जातं परमशत्रुं वारयामास, बन्धनं न कर्तव्य-मिति । ननु कथमेव भूभारहर्ता तं मोचयतीति चेत्, तत्राह गोविन्द इति । सिंहावलोकनन्यायेन पूर्वस्त्रीणां स्मृतवान् । अतस्तेनापि काचित्स्त्रीला सेऽग्रतीति तं मोचयितवान् । ननु कीमिति दुष्टो मुच्यते, तत्राह तेन कार्यचिकीर्षयेति । निरोधो हि कर्तव्यः, एतदभावे सर्वे भगवत्परा राजसाः सात्त्विकाश्च न भविष्यन्तीति तदर्थमयं रक्षितः । अविलम्बकर्मत्वाय च ॥ ३२ ॥

व्याख्यार्थ—महान् पुरुष को बान्धना अयोग्य है उसको महता सिद्ध करने के लिए उसका बखान करते हैं, इसने बहुत ज्वृओं को मारा है इसके ज्वृ बहुत हैं और वे दुष्ट हैं यदि इसको आप बान्धोगे तो वे दुष्ट सुखी होंगे, अतः दुष्ट प्रसन्न न हों उनलिए इसको छोड़ दो जिससे ये दुष्ट सुखी न हों यह महावली है इसको बान्धने के लिए केवल रज्जु आदि बन्धन समर्थ नहीं हैं किन्तु पाशों से बान्धना चाहिए, उनको आकर्षण करने से वे निग्रह के कारण बन् जावेंगे वे पाश भी वारुण तथा मानुष्य होने चाहिए । जरादिको के बन्धन में पड़े रहने के लिए वारुण पास चाहिए और मनुष्यों के लिए मानुष्य पाश चाहिए ? ऐसे भी अपने हाथों में आए हुए परम शत्रु को बन्धन से छुड़ाने के लिए बलरामजी को कहने लगे कि इसका बन्धन नहीं करना चाहिए । भूमि से भार उतारने वाले भगवा-यों उसको कैसे छुड़ाते हैं ? इसके राजाघान के लिए कहते हैं कि वे “गोविन्द” हैं, अतः “सिंहावलोक-

कन" माया से आगे करने वाली लीला को याद करने लगे, जिससे यह विचार उत्पन्न हुआ, कि यह होगा तो आगे को लीला 'द्वारिका लीला' सिद्ध हो सकेगी, इसलिए उसको छुड़ाया, अरे यह दुष्ट है, ऐसे ही क्यों छुड़ाते हैं, वहाँ कहते हैं कि उसके द्वारा आगे भी कार्य करने की इच्छा है, और निरोध भी करना है इसके न होने से, सब सात्विक राजस भगवत्परायण न होंगे इस कार्य को सिद्ध करने के लिए इसके रक्षा को है और आप 'अक्लिष्टकर्मा' हैं, उसके सार्थक होने के लिए भी ॥ ३२ ॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह स मुक्त इति ।

आभासार्थ—अनन्तर जो हुआ वह "स मुक्तो" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—स मुक्तो लोकनाथाभ्यां व्रीडितो वीरसंमतः ।

तपसे कृतसंकल्पो वारितः पथि राजभिः ॥ ३३ ॥

इत्योकार्थ—बड़े ही शूरवीर जरासन्ध को जब त्रैलोक्यनाथों ने मुक्त किया तब वह लज्जा के कारण घर जाने का विचार छोड़ तपस्या का संकल्प कर, उसको करने के लिए जब जाने लगा, तब मार्ग में राजाओं ने उसे लौटाया । ३३ ।

सुवोधिनी—अन्ने यादवा पुनर्वन्धन करिष्यन्तीत्याशङ्क्याह लोकनाथाभ्यामिति । त्रैलोक्यनाथाभ्यां मुक्तं को वा वद्धुं शक्तः । द्विवचनेन विभक्तसामर्थ्यं सर्वमेव मोक्षने नियुक्तमिति सूचितम् । ननु तादृशः त्यक्तोपि भ्रियेतेति कथं कर्णसिद्धिरिति चेत् ? सत्यम् । व्रीडितः । अत्र हेतुः वीरसंमत इति । वीरेषु अयमतिवीर इति	समतः । ततः मानुषपराक्रमस्य हतत्वात् अलौकिकं पराक्रमं साधयितुं तपसे कृतसंकल्पो जातः । ततस्तपःकरणार्थं गच्छत् पथि राजभिर्वारितः, ये राजानो भारभूताः । अनेन भगवच्चरित्रमलौकिकमित्युक्तम् । येषामुपकारं करोति तैस्त्यक्तः, येषां त्वपकारं करिष्यति तैर्गृहेत इति ॥ ३३ ॥
---	--

व्याख्यार्थ—दूसरे यादव फिर बान्ध लेंगे ? इस शंका को मिटाने के लिए ही "लोकनाथाभ्यां" पद दिया अर्थात् जो कार्य त्रैलोक्यनाथों ने किया है उसको कोन अन्यथा कर सकता है ? तात्पर्य यह है कि जिसको इन्होंने छोड़ दिया उसको बन्धन में कोई नहीं डाल सकता है । द्विवचन से पृथक् करने अर्थात् मुक्त करने की सब सामर्थ्य मुक्त करने में लगा दी है यह सूचित किया है जिससे अन्य कोई भी बन्धन में नहीं डाल सकता है, यदि वैसा छोड़ा हुआ भी मर जावे तो कार्य की सिद्धि कैसे होगी ? यदि यों कहो तो सत्य है, क्योंकि लज्जित हुए गण हैं, लज्जित क्यों हुआ ? इसलिए, कि वीरों में मान पाया हुआ है अर्थात् बड़ा शूरवीर है अतः हार जाने से लज्जित हुआ है । तो क्या

॥३३॥

किया ? इस पर कहते हैं कि उसने सोचा कि मेरा मानुष पराक्रम नष्ट हो गया है, अब अलौकिक पराक्रम सिद्ध करना चाहिए, अतः उसकी सिद्धि के लिए सकल्प कर, तपस्या के लिए जाने लगा तो मार्ग में राजाओं ने समझा कर लौटाया । कान से राजा थे ? तो कहते हैं जो दुष्ट राजा लोग भूमि पर भार रूप थे इसने जाना जा सकता है, कि भगवान् के चरित्र अलौकिक है, जिनका उपकार करता है उन्होंने तो छोड़ दिया, जिनको बुराई करेगा उन्होंने उसका स्वीकार किया ॥३३॥

आभा—तेषां बोधेने करणान्याह वाक्यैरिति ।

आभासार्थ —उनको समझाने के साधन “वाक्यैः” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—वाक्यैः पवित्रार्थपदैर्नयनैः प्राकृतैरपि ।

स्वकर्मबन्धनः प्राप्तो यदुभिस्ते पराभवः ॥३४॥

श्लोकार्थ—मार्ग में जाते हुए राजाओं ने धर्म तथा नीति के वचनों से समझाया कि आपकी जो यादवों से हार हुई है वह केवल कर्म बन्धन से हुई है, इसमें लाज करने का कोई कारण नहीं है ॥३४॥

सुबोधिनी—त्रिविधा हि बोधकाः । तत्र सात्त्विकानां वचनं पवित्रार्थपदैरिति पवित्रार्थानि पदानि येषु वाक्येषु । वाक्यैरिति त्रिष्वपि सम्बध्यते । नयनैः प्राकृतैरपि । भगवानीश्वरः सर्वात्मा, तत्र पराजयो भाग्यमेवेति पवित्रार्थपदानि । नीतिवाक्यानि तु स्वदेशो न भवति, विचारश्च न कृतः । अकस्माद्युद्धे पलायनमुचितमेवेति राजसाः । अतो नीतिविरुद्धं न कर्तव्यमित्युपदेशपरैः । प्राकृतास्तु बहूनामेव महतामपि पराजयो जायत इति प्राकृतवचनैः बोधमुक्तवन्तः । एते

त्रिविधा अपि दृष्टान्यायेनैवोक्तवन्तो, नादृष्टान्यायेन । अन्ये पुनरन्तरङ्गाः अदृष्टप्रकारेण बोधयामासुरित्याह स्वकर्मबन्धन इति । त्वया हि बहवो जिताः, तत्कर्मफलं च भोक्तव्यम्, अन्यथा प्रकारान्तरेण दुष्टैः सह पराजयो भवेत्, यतः स्वकर्मणा बन्धनं यस्य तादृशः पराभवः । अपिशब्दात् सर्वे चतुर्धा व्यस्तैः समस्तैश्च बोधयामासुरित्यर्थः । यदुभिः सह पराभव इति । युक्तमेवैतत् । यतो ज्येष्ठो यदुरित्यपि जापितम् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—ज्ञान देने वाले तीन प्रकार के हैं उनमें पहले सात्त्विकों के वचन ये हैं “पवित्रार्थ पदैः” पवित्र अर्थ वाले पद जिनमें ही ऐसे वाक्यों से समझाने लगे सात्त्विकों ने वाक्यों में कहा कि राम कृष्ण मनुष्य नहीं हैं किन्तु ईश्वर तथा सर्वात्मा है, उन से पराजय होना कोई आश्चर्य नहीं है, समझलो कि भाग्य में यों ही होना था ।

जब दूसरे राजस “नयतेः वाक्येः” से नीतिवाक्यों से समझाने लगे जहाँ लड़ाई की, वह अपना देश नहीं था और पूर्ण विचार भी नहीं, अचानक युद्ध कर लिया, अतः ऐसे युद्ध में पराजय करना उचित नहीं है इसमें लज्जा किस कारण की है लज्जा करनी नहीं चाहिए अतः कोई कार्य नीति विरुद्ध नहीं करना चाहिए ।

प्राकृत समझाने लगे कि पराजय में क्या है ? बड़े-बड़े राजा लोगों की तथा महान् शूरवीरों की भी पराजय हो ही जाती है इसमें लाज करनी वृथा है. इन तीन प्रकार वालों ने जो कुछ कहा वह दृष्ट न्याय से ही अर्थात् देख कर जो अनुभव किया तदनुसार ही उपदेश दिया है ।

दूसरे जो अन्तरंग हैं वे अदृष्ट न्याय से समझाने लगे “स्वकर्म बन्धन.” यह सर्व अपने कर्म का ही फल है आपने भी बहुत राजाओं को जीता है उसका फल भोगना ही चाहिए अन्यथा दूसरे प्रकार से दुष्टों के साथ पराजय तो होवे ही, क्योंकि अपने कर्म का फल ही पराभव मिला है अलोक में “अपि” शब्द कहा है जिसका भावार्थ है कि सबने पृथक् एवं मिलकर चार प्रकार से जरासन्ध राजा को समझाया कि यादवों से पराजय होना योग्य ही है कारण कि यदुराजा बड़ा है बड़े के वश से पराजय होनी ही चाहिए और उसमें लाज नहीं करनी चाहिए ॥३४॥

श्लोक—हतेषु सर्वानीकेषु नृपो बार्हद्रथस्तदा ।

उपेक्षितो भगवता मागधान्दुर्मना ययौ ॥३५॥

श्लोकार्थ—सब सेना के मरने के अनन्तर जब भगवान् ने उपेक्षा कर दी तब जरासन्ध उदास हो मगध देश गया ॥३५॥

सुबोधिनी—ततो यज्जातं तदाह । हतेषु सर्वानीकेष्वपि, तथापि सर्वैः पुरस्कृत इति राज-चिह्नानि प्राप्य स्वदेशान् गतः जरासन्धः । यतो	नृपः दैवामानुषसहायः सूचितः । तदा बोधना-नन्तरं दृष्टसामग्र्यां च सत्यां पश्चादगत इत्याह तदेति ।
--	---

व्याख्यानार्थ—उसके अनन्तर जो कुछ हुआ वह कहते हैं सर्व सेना के मर जाने पर भी सब राजाओं ने उसका आदर किया जिससे राज चिन्ह धारण कर अपने देश को जरासन्ध गया क्योंकि राजा था इससे देव और मनुष्यों ने सहायता की यह सूचित होता है । राजाओं द्वारा समझाने से देखा कि अब भी लड़ने के लिए सामग्रियाँ हैं यों समझने के बाद देश को गया ।

कारिका—निकटे सम्भृतिं कृत्वा प्रगल्भवचनैः सह ।

गच्छन् पुनर्भगवता निगृहीतो भविष्यति ॥

कारिकार्थ—थोड़े ही समय में सेना का भरण पोषण कर सेना तैयार करली सेना को लेकर गर्व के वचन कहते हुए तथा युद्ध के लिए मथुरापुरी जाते हुए फिर भगवान् पकड़ लेंगे ।

सुबोधिनी—इत्याहशङ्क्याह उपेक्षितोभगव- विचारयति, न तु नीतिविरोधम् । उपेक्षया
तेति । भगवतः स्थाने यद्यप्युक्तम्, यद्यपि भग- सुतरां दुर्मना जातः । तत्त्वे अवगतेऽपि मागध-
वत्त्वाच्च जानाति, तथापि तानि वाक्यान्यना- त्वान्न शरणमागतः । नापि तूष्णीं स्थास्यति ।
द्व्योपेक्षामेव कृतवान् । भगवत्त्वादग्निकार्यमेव मागधत्वादेव मागधान् ययौ ॥३५॥

व्याख्यार्थ—जरासन्ध ने यद्यपि अभिमान के ऐसे शब्द भगवान् की सीमा में ही कहे, भगवान् होने से वे यों ही समझते हैं, तो भी भगवान् ने उन वचनों का आदूर न कर उसकी उपेक्षा की, कारण कि भगवान् होने से आगे हमें क्या करना है उसका ही विचार करते हैं । अतः उपेक्षा की, यों करना नीति के विरुद्ध भी नहीं है, भगवान् ने उपेक्षा की, अतः अतिशय उदास होने लगा, यद्यपि इसका आशय समझा, तो भी शरण न आया, कारण कि मागध देश में उत्पन्न होने से उसकी वंसी नीच बुद्धि हो गई थी और नाच बुद्धि वाला होने से चुप करके भी न बैठेगा मागध होने से मागध देश को ही गया ॥३५॥

आभास—तस्य स्वगृहप्राप्तिमुक्त्वा भगवतोऽपि परमवैभवेन मथुराप्रवेशमाह मुकुन्दोऽपीति पञ्चभिः ।

आभासार्थ—उसका अपने घर जाने का वर्णन कर भगवान् ने भी परम वैभव से मथुरा में प्रवेश किया, जिसका वर्णन पाँच श्लोकों में कहते हैं ।

श्लोक—मुकुन्दोऽप्यक्षतबलो निस्तीर्णरिबलार्णवः ।

विकीर्यमाणः कुसुमैस्त्रिदशैरनुमोदितः ॥३६॥

श्लोकार्थ—मुक्ति देने वाले भगवान् ने भी शत्रुओं की सेना रूप बड़े समूह को पार कर अपनी अक्षत सेना को साथ में लेकर, देवताओं ने फूलों की वर्षा की थी जिससे मार्ग फूलों से छाया हुआ था तथा देवता अनुमोदन कर रहे थे उस समय, मथुरा में प्रवेश किया ॥३६॥

सुबोधिनी—न क्षतं बलं यस्य । एकोपि न हतः । यद्यपि मोक्षदाता तानपि मारयित्वा मुक्तिं दद्यात्, जरासन्धं वा मोचयेत् । न हि भगवान् जयहेतुः, किन्तु मोक्षहेतुः । लोनाः केचन पुनरायास्यन्तीति शङ्काभावार्थमाह । निस्तीर्णं नितरामुत्तीर्णः अरिवलरूप एवाणवो येन । अणवो

हि नान्यत्र समायाति । महत्त्वेन पौरुषं पुनरागमनाभावश्च निरूपितः । ततः कुमुदैः त्रिकीर्यमाणः, त्रिदशैरनुमोदितो जातः । अन्यथा अनन्तवधे तदधिष्ठातृदेवानां दुःखं भवेदत्याशङ्क्यते । देवार्थमेतत्कृतमित्यपि सूचितम् ॥३६॥

व्याख्यानार्थ—जिनही सेना का एक भी सैनिक घायल न हुआ था वैसे मुक्ति दाता भगवान् उनको भी मारकर मुक्ति दे, वा जरासन्ध को छुड़ा दे, भगवान् को जय के कारण नहीं है, किन्तु माक्ष के कारण हैं, कितनेक सैनिक छिप गए होंगे, वे फिर लड़ने आ गए ? इस शंका का समाधान करने के लिए कहते हैं, कि शत्रु सेना रूप समुद्र को अतिशय पार कर लिया है, अर्थात् कोई सैनिक छिपा नहीं है क्योंकि समुद्र दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता है अतिशय पार करने का कहने से भगवान् का महत्त्व तथा पौरुष भी दिखा दिया, जिससे यह भी निरूपण कर दिया कि अब जो सेना आई इनमें से कोई शेष बचा नहीं, जो फिर आ सके । पश्चात् जिस मार्ग पर पुष्प विखरे हुए, उस मार्ग से पश्रारते हुए देवों से भी अनुमोदित हुए । यदि देवता अनुमोदन नहीं करते, तो यह शंका उत्पन्न होती कि अनन्त वध के कारण उनके अधिष्ठाता देवों को दुःख हुआ है, जिससे उन्होंने अनुमोदन नहीं किया है, किन्तु अनुमोदन से यह शंका भी मिट गई इससे यह भी सूचित किया, कि यह कार्य देवों के लिए ही किया गया है ॥३६॥

आभास—ततो मानुषैरप्यनुमोदित इत्याह माथुरैरिति ।

आभासार्थ—पश्चात् मनुष्यों ने भी अनुमोदन किया जिसका वर्णन “माथुरं” इन दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—माथुरैरुपसंगम्य विज्वरैर्मुदितात्मभिः ।

उपगोयमानविजयः सूतमागधबन्दिभिः ॥३७॥

शङ्खदुन्दुभयो नेदुर्भेरीतूर्याण्यनेकशः ।

वीणावेणुमृदङ्गानि पुरं प्रविशति प्रभौ ॥३८॥

श्लोकार्थ—सन्ताप रहित होने से, आनन्दित अन्तःकरण वाले मथुरा निवासी मूत मगध और बन्दीजनों के साथ मिल कर आपकी विजय गान गाने लगे । उस

समय शंख और नौबत बजने लगी तथा वीणा, वेणु और मृदंग बजाए जाने लगे जिस समय भगवान् ने नगर में प्रवेश किया ॥३७, ३८॥

सुवाधिनी—दुर्गमुद्धटय सर्व समागताः । त्मनो जाताः । ततः सूतमागधवन्दिभिः उपगीय-
यतो विज्वराः मरणशङ्कारहिताः । ज्वरो हि मानविजयो जातः । शङ्खदुन्दुभयश्च नेदुः । ततः
समागत एव मरणशङ्कामुत्पादयति । तेषां स एव शनैः गमनसूचनाय । वीणावेणुमृदङ्गान्यपि वादि-
ज्वरः प्राप्त इति । कालदेहादिधर्मास्तु पूर्वमेव तानि । यतः प्रभुः पुरं प्रविशतीति । लौकिकमेत-
निवारिताः । किञ्च, बहिर्वृद्ध्यापि मुदिता- । दिति सूचितम् ॥३७-३८॥

व्याख्यान—किले का फाटक खोल कर सब आए क्योंकि मरने को जो मनमें शंका थी वह मिट गई, जिस शंका से ही ज्वर आ गया था, शंका मिटते ही ज्वर भी उतर गया उनके काल और देह आदि के धर्म का तो पहले ही निवारण कर दिया था अतः शंका के मिटने से बुद्धि खिल गई, जिससे बाहर प्रसन्न अन्तःकरण देखने में आने लगे पश्चान् सूत मागध और वन्दीजनों ने भगवान् की विजय का गान गाया शङ्ख तथा नौबत बजने लगी अनन्तर प्रभु धीरे-धीरे पधार रहे हैं, इसकी सूचना देने के लिए वीणा, वेणु और मृदङ्ग भी बजाने लगे क्योंकि प्रभु पुर में प्रवेश करते हैं यह लौकिक है यों सूचन किया ॥३७, ३८॥

आभास—अन्तः पुरं वर्णयति सिक्तमार्गामितिद्वाभ्याम् ।

आभासाथे—मथुरा पुरी के भीतरी भाग का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—सिक्तमार्गां हृष्टजनां पताकाभिरलंकृताम् ।

निर्घुष्टां ब्रह्मघोषेण कौतुकाबद्धतोरणाम् ॥३९॥

निचीयमानो नारीभिर्माल्यदध्यक्षताङ्कुरैः ।

निरीक्ष्यमाणः सस्नेहं प्रीत्युत्कलितलोचनैः ॥४०॥

श्लोकार्थ—नगर के सर्व मार्ग सुगंधि पदार्थों से युक्त जल से सींधि हुए हैं, सर्व जनता हर्ष में मगन हो रही है, नगर पताकाओं से सुशोभित है, वेद के मन्त्रों की ध्वनी जोर से हो रही है अद्भुत प्रकार के तोरण बन्धे हुए हैं, ऐसी पुरी में प्रवेश करते समय, नारियों ने दही, अक्षत, पुष्प और अंकुर भगवान् के ऊपर बरसाए तथा प्रीति से प्रफुल्लित नेत्रों द्वारा स्नेह सहित उनका दर्शन किया ॥३९, ४०॥

सुबोधिनी-सिक्ताः सर्वे मार्गा यस्याम् गन्धो-
दकैः मेकः । हृष्टा जना यस्याम् । पताकाभिः
जयलेखाङ्कितभिरलङ्कृतमिति । अधो मध्ये
उपरि च शोभा निरूपिता । नितरां घुष्टा ब्रह्मधो-
षेण वेदपाठेनेति । प्रत्यागाशिषो मन्त्राः प्रवेशे
पठनीया इति पुरप्रवेशे तदर्थमेव ब्राह्मणैः ब्रह्म-
घोषः पठितः । वैश्यानां विशेषचेष्टामाह । कौतु-
कैरावद्धानि तोरणानि यस्यामिति । सर्वाभिरेव

नारीभिः माल्यादिभिः विकीर्ण्यमाणो जातः ।
दध्यक्षताः विकीर्णाः यवाङ्कुराश्च । एवं तासां
क्रिया भगवति निरूपिता विविधा । ज्ञानमपि
तथा निरूपयति निरीक्ष्यमाण इति । स्नेहो बन्धु-
भावेन । प्रीतिः पुरुषभावेन । उत्कण्ठा कामभावे-
नेति । एवं त्रिस्वभावैर्लोचने निरीक्ष्यमाणो जातः ।
स्नेहः पृथक् कृतो लौकिकदोषाभावाय ॥ ४० ॥

व्याख्यार्थ—जिम पुरी के सर्व मार्ग मुगन्धित जल से सिञ्चित हैं, समस्त जन हर्षित हैं जय
जय शब्दों से अंकित पताकाओं से अलंकृत पुरी है, इससे यह बताया है, कि नीचे का, मध्य का और
ऊपर का तीनों भाग उसके शोभायुक्त हैं । प्रवेश के समय आशीर्वाद के मंत्र पढ़ने चाहिए, अतः
ब्राह्मण वेद के मंत्रों का घोष कर रहे थे ।

व्यापारियों ने जो विशेष नगर को सजाया था उसका वर्णन करते हैं, उन्होंने आश्चर्य से
डालने वाले अजीब तोरण लगाए थे । नगर की नारियों ने भी भगवान् का दधि, अक्षत, पुष्प अ कुरों
से सत्कार किया अर्थात् पुष्प आदि सौमंगल्य सूचक पदार्थों की भगवान् के ऊपर वृष्टि की । यों
क्रिया करने से उन्होंने भगवान् का तीन प्रकार से सत्कार किया, उसी प्रकार ज्ञान का भी निरूपण
करते हैं, तीन प्रकार के अपने भाव वाले नेत्रों से भगवान् के दर्शन किए (१) बन्धुभाव से दर्शन कर
स्नेह प्रदर्शित किया, (२) पुरुष भाव से दर्शन कर प्रीति प्रकट की और (३) कामना भाव से दर्शन
कर उत्कण्ठा दिखाई है, स्नेह प्रथक् कह कर लौकिक दोष उस में नहीं है यह सिद्ध कर दिखाया है
॥ ३६, ४० ॥

आभास—ततः प्राप्तघनस्य राजन्येव विनियोगं वदन् स्वस्य तदाज्ञया युद्धादि-
करणं सूचयति, तद्दुःखाभावाय, आयोधनगतमिति ।

आभासार्थ—लड़ाई से प्राप्त घन को राजा में ही विनियोग करते हुए उसकी आज्ञा
से युद्धादि करना सूचित करते हैं उसके दुःख के अभाव को मिटाने के लिए जिसका
वर्णन “आयोधनगतं” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—आयोधनगतं वित्तमनन्तं वीरभूषणम् ।

यदुराजाय तत्सर्वमाहृतं प्रादिशत्प्रभुः ॥ ४१ ॥

श्लोकार्थ—लड़ाई के मैदान में जो वीरों के आभूषण रूप अनन्त धन पड़ा था, वह सब लाकर भगवान् ने यदुराज के आगे धरा, क्योंकि प्रभु हैं ॥ ४१ ॥

सुबोधिनी—आयोधनं युद्धभूमिः, तत्र योद्धै-
रानीतं द्रव्यमाभरणादिप्रकारेण । अनन्तं बहुव ।
बहुव एव हता इति । अनन्तत्वे हेतुमाह वीरभूष-
णमिति । यावदाहृतं तत्सर्वं यदुराजाय प्रादिशत् ।
प्रकर्षेण बोधितवान् । रक्षास्थापनादिकं तु स्व-
कृत्यमेवेति निवेदनमात्रं राज्ञे निरूपितम् । प्रभु-
त्वात् न सह गतानां यथेष्टं द्रव्यविनियोगः
॥ ४१ ॥

व्याख्यानार्थ—संस्कृत में युद्धभूमि को आयोधन कहा गया है, वहाँ योद्धाओं से जो आभरणादि
कार से धन लाया गया, वह उसी प्रकार कि सैनिक वदतु थे, उनके मरने से उनके आभूषण
रणभूमि में पड़े थे जिससे वे आभूषण भी बहुत थे, वहाँ जो भी पड़े हुए थे वे सब लाए गए थे, वे
सब यदुराज को भेंट किए । रक्षा आदि करने का कार्य तो आप ही करते थे, इसलिए निवेदन मात्र
ही राजा को किया, यों निरूपण किया, प्रभु होने से साथ में युद्ध के लिए जो चले थे उनको अपनी
इच्छा से द्रव्य का विनियोग नहीं किया ॥ ४१ ॥

आभास—एवमेकप्रकारेण भगवतो जयं निरूप्य जयान्तरेष्वपीमं प्रकारमतिदिशति
एवं सप्तदशकृत्व इति ।

आभासार्थ—यों एक प्रकार भगवान् की जयका वर्णन कर अन्य जयों में भी यही
प्रकार दिखाते हैं, वैसे १७ बार युद्ध हुआ यह “एवं सप्तदश” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—एवं सप्तदशकृत्वस्तावत्यक्षौहिणीबलः ।

युयुधे मागधो राजा यदुभिः कृष्णपालितः ॥ ४२ ॥

अक्षिण्वंस्तद्वलं सर्वं वृष्णयः कृष्यतजसा ।

श्लोकार्थ—मगध के राजा ने इसी प्रकार उतनी ही अक्षौहिणी सेना सत्रह बार
ला कर कृष्ण से पालित यादवों से युद्ध किया, यादवों ने श्रीकृष्ण के तेज से सारी
सेना को मार डाला ॥ ४२ ॥

सुबोधिनी—अनेनापि सह सप्तदश । एकः
सप्तदशधा आवृत्त इति सर्वसाम्यत्वाय कृत्वसु-
चप्रत्ययः । देशदोषात् न विवेक उत्पद्यते इति
मागध इत्युक्तम् । सम्पत्तिस्तु राजत्वात् । अन्य-
त्वापि भगवान् न स्वयं युयुधे । तथा सति लोक-
प्रतीत्या सर्वदा क्लेश एव भवेत्, किन्तु कृष्ण-
रक्षितैर्यदुभिः सह युयुधे । अत एव च तद्वलम-
क्षिण्वन् । न केवलं रक्षार्थमेव भगवद्विनियोगः,
किन्तु निराकरणार्थमपीत्याह कृष्णतेजसेति ।

व्याख्यार्थ—इसके साथ भी सत्रह बार लड़े एक युद्ध की सत्रह बार आवृत्ति हुई, सब समर एक सरीखे ही थे, यह जताने के लिए “कृत्व” पद पर सुच् प्रत्यय दिया है, दूसरी लड़ाईओं में भी भगवान् स्वयं नहीं लड़े हैं, यों होवे तो, लोक प्रतीति से सर्वदा क्लेश ही होवे, इस प्रकार का क्लेश न हो तदर्थ ही कृष्ण से रक्षित यादवों के साथ ही लड़ाई की है, इस कारण से ही जरासन्ध की सेना मारी गई, यह कार्य कृष्ण के तेज द्वारा ही हुआ, श्रीकृष्ण का तेज यादवों में केवल रक्षा के लिए नहीं प्रकटा है, किन्तु शत्रु बल के निराकरण के लिए भी उत्पन्न हुआ है ॥ ४२ ॥

आभास—पुनः पुनः तस्यापि गमनं वावयैरधिकैरावेशेन चेति वक्तुमाह हतेष्विति ।

अभ्यासार्थ—जरासन्ध फिर फिर आते तो गृथक् प्रकार से ही आते थे जैसे कि कभी विशेष बड़बड़ाता था कभी बहुत आवेश से आता था, यह वर्णन करने के लिए “हतेषु” श्लोक कहते हैं--

श्लोक—हतेषु स्वैवनीकेषु त्यक्तस्यादरिभिर्नृपः ॥ ४३ ॥

श्लोकार्थ—जब अपनी सेना मर गई तब जरासन्ध शत्रुओं से त्यागा हुआ चला गया ॥ ४३ ॥

सुबोधिनी—यतो नृपः । राज्ये हते हि स निवर्तत इत्यर्थः ।
निवृत्तो भवेत् । तद्भगवान् न करोतीति स ।

व्याख्यार्थ—राज्य जीता जाए तो राजा भी जीता गया यों माना जाता है । उसको बन्दी बनाया जाता है, भगवान् यों नहीं करते हैं इसलिए वह लोट जाता है, क्योंकि नृप है मनुष्यों का पालन करता है ॥ ४३ ॥

आभास—ब्रह्माण्डे हि प्रजापतिरध्यक्षः, सा कालात्मा यज्ञात्मा च, स सप्तदशो भवति, स पराजित एव । अतः परं प्रमाणरूपाः ब्राह्मणा अवशिष्यन्ते । शिवश्च वेद-रूपः । उभयबलमाश्रित्य अष्टादशे पर्याये समागमिष्यतीत्याह अष्टादशम इति ।

आभासार्थ—ब्रह्माण्ड का अध्यक्ष प्रजापति है, वह काल रूप तथा यज्ञरूप है, वह सत्रह प्रकार का होता है, उसका पराजय हो ही गया, इसके बाद प्रमाणरूप ब्राह्मण

वचते हैं शिव वेद रूप है, इन दोनों के बल का आश्रय ले कर अठारवीं बार आएगा, जिसका वर्णन “अष्टादशम” श्लोक में करते हैं-

श्लोक -- अष्टादशमसंग्राम आगामिनि तदन्तरा ।

नारदप्रेषितो वीरो यवनः प्रत्यदृश्यत ॥ ४४ ॥

रुरोध मथुरामेत्य तिसृभिर्म्लेच्छकोटिभिः ।

त्रैलोक्ये चाप्रतिद्वन्द्वो वृष्णीन् श्रुत्वात्मसंमितान् ॥ ४५ ॥

श्लोकार्थ—अठारवीं बार भी जरासन्ध आने वाला था, उसके ‘बीचमें’ पहले ही नारदजी का भेजा हुआ वीर यवन देखने में आया, उसने तीन करोड़ म्लेच्छों के साथ आकर मथुरापुरी को घेर लिया, तीन लोक में इसका कोई प्रतिद्वन्दी नहीं था अर्थात् इसके साथ लड़ने वाला नहीं था. इसने सुना था कि मेरे जैसे शूरवीर तो यादव ही हैं अतः उनसे लड़ने के लिए घेरा डाला ।: ४४, ४५ ॥

सुबोधिनी—एवं पुराणान्तरे कथा । बहुधा सर्वैः संप्रार्थितोऽपि सप्तदशे पर्याये पराजितः पत-
स्तप्तुं गतः । तत्र समाराधितः शिवः । पश्चात् प्रसन्नेन शिवेन ब्राह्मणसमाराधनार्थं निरूपितः ।
ब्रह्मण्यः कृष्णो न ब्राह्मणवाक्यमन्यथा करिष्य-
तीति । ततः स्वनगरीं समागत्य ब्राह्मणानाहूय
सिंहासने उपवेशितवान् । ततः प्रीतब्राह्मणैः पुन-
स्तस्मै सिंहासनं दत्त्वा वरोपि दत्तः, ‘शत्रुं जेष्य-
सी’ति । ‘अजेयश्च त्रैलोक्यस्य भविष्यसो’ति ।
एतत् ज्ञात्वा नारदः मध्ये कालयवनं च प्रेषित-
वान् । सोऽपि सर्वयादवनिराकरणार्थं प्रतिज्ञां
चक्रे । स चेत्पश्चादागच्छेत्, द्वारकां गच्छेदिति ।
तस्य तत्र निराकरणं मर्यादापालकेनाशक्यमिति
उभयमेकहेलया निर्वहत्विति मध्ये देवगुह्यकर्ता
नारदो यवनं प्रेषितवान् । स हि वृद्धगर्गस्य पुत्रः ।

महायवना ह्यप्रज आसीत् । तेन पुत्रार्थं प्रार्थितो
वृद्धगर्गः तद्भार्यायां पुत्रमधात् । ‘अजेयश्च तत्र
पुत्रो भविष्यती’त्याह । ततः कालान्तरे यदुस-
भायां स एव वृद्धगर्गो यदुभिरुपहसितः स्वपुत्रं
प्रार्थितवान् ‘यादवा मारणीया’ इति । एवं वीरे
सिद्धे नारदेन तेषु प्रविष्ट एवं सन्धिकालोज्यम्,
शीघ्रं गम्यतामिति तं प्रेषितवान् । तदाह ।
आगामिनि अष्टादशमे सङ्ग्रामे तदन्तरा नारदेन
प्रेषितो यवनः वीरत्वाद्युद्धरसाभिनिविष्टः प्रत्य-
दृश्यत प्रतिकूलतया समागतो दृष्टः । तस्य प्रति-
कूलतामाह रुरोधेति । स्वयं समागत्य म्लेच्छको-
टिभिः मथुरां रुरोध । तत्र कारणमाह त्रैलोक्ये
अप्रतिद्वन्द्वः । चकारादनुभावेनापि । वृष्णींश्च
आत्मसंमितान् तुल्यान् श्रुत्वा नारदात् तदसह-
मानो रुरोधेति सम्बन्धः ॥ ४४, ४५ ॥

व्याख्यार्थ—अन्य किसी पुराण में कथा है, कि अठारवीं बार हार जाने के बाद जरासन्ध को बहुतों ने प्रार्थना की, कि फिर राजधानी में चल कर राज्य करो और फिर तैयारी करो, किन्तु वह प्रार्थना रविवार न कर तपस्या करने चला गया, वहाँ शिवजी की अच्छी तरह आराधना की,

जिससे शंकर भगवान् प्रसन्न हुए, प्रसन्न हो के जरासन्ध को कहने लगे कि ब्राह्मणों की सेवा करो, ब्राह्मण प्रसन्न हो कर जो कुछ तुझे वरदान देंगे उसको कृष्ण अन्यथा नहीं करेंगे क्योंकि वह ब्रह्मण्य है, ये श्री शंकर भगवान् के वचन शिरोधार्य कर अपनी नगरी में आ के जरासन्ध ने ब्राह्मणों को बुलाया और उनको सिंह'सन पर बैठाया, जिससे ब्राह्मणों ने प्रसन्न हो कर राज्य लौटा कर इन को दिया और वर भी दिया, "शत्रु को तू जीतेगा" तथा 'तीन लोक में तू अजय होगा' इस प्रकार जब वर प्राप्त किया, तब इसकी खबर नारदजी को पड़ गई, जिससे नारदजी ने उसके आने से पहले ही, कालयवन को मथुरा को विजय करने के लिए भेज दिया, क्योंकि उसने भी यादवों को नाश करने की प्रतिज्ञा की थी, यदि अब वह न आवे तो उसको यादव नाशार्थ द्वारका जाना पड़ेगा, वहाँ इसका निराकरण हो नहीं सकेगा, क्योंकि वहाँ कृष्ण मर्यादा पालक रूप में विराजेंगे, अतः अब यहाँ दोनों का एक ही से कार्य पूर्ण करें, इस विचार से देवताओं के गुप्त कार्य को सिद्ध करने वाले नारदजी ने यवन को बीच में ही भेज दिया। क्योंकि वह यवन वृद्धगर्ग का पुत्र है, महायवन का पुत्र नहीं था, उसने पुत्र प्राप्ति के लिए वृद्धगर्ग को प्रार्थना की उसकी स्त्री में पुत्र को धारण कराया, और यह वरदान दिया कि यह पुत्र किसी से भी जीता नहीं जाएगा, किसी समय यादवों की सभा में उस वृद्धगर्ग का यादवों ने उपहास किया, जिससे वृद्धगर्ग ने अपने पुत्र कालयवन को प्रार्थना की, कि "यादव मारने योग्य हैं" अर्थात् यादवों का तू नाश कर इस प्रकार कालयवन की यादवों से शत्रुता हुई, नारदजी उसमें प्रविष्ट हो कर अर्थात् उनके पास जाकर यह बीच का समय है अतः आपको उनकी पराजय करने का अच्छा अवसर है शीघ्र जाओ, यों कहकर उसको रवाना किया। अठारवीं बार होने वाली लड़ाई के बीच में, ही नारदजी से भेजा हुआ यवन शूरवीर होने से, युद्ध के रसपान करने की इच्छा वाला था देखा गया कि वह प्रतिकूल हो कर लड़ने के लिए आया है वह प्रतिकूल है यह कैसे जाना, तो कहते हैं स्वयं आकर करोड़ों म्लेच्छों से मथुरा को घेर लिया, कारण कि तीन लोक में उसके समान कोई योद्धा नहीं है जो उससे लड़ सके "च" शब्द से बताया है, कि प्रभाव से भी वह बड़ा वीर देखने में आता था, और नारदजी से सुना था कि यादव आप जैसे शूरवीर हैं इस बात को सहन न कर सके, इस लिए भी अपना शौर्य प्रकट दिखाने के लिए मथुरापुरी को घेर लिया ॥ ४४. ४५ ॥

आभास—तदा भगवान् तत्स्थानपरित्यागार्थं निरोधं चिन्तयामासेत्याह तं दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—तब भगवान् उस स्थान का परित्याग ही हेतु, जिसका वैसे निरोध का, चिन्तन करने लगे जिसका वर्णन "तं दृष्ट्वा" आधे श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—तं दृष्ट्वाचिन्तयत्कृष्णः संकर्षणसहायवान् ।

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण उसको देखकर सहायता करने वाले संकर्षण से मिल विचार करने लगे ॥ ४५॥ ॥

सुबोधिनी—इदं तु प्रकटचिन्तनम् । अतो गूढाभिप्रायेणैव चिन्तयति । अभिप्रायस्तु स्थानात् परित्याजनीयाः ये निरोद्धव्याः यथा बृहद्ववात् निष्कासिताः, तथा मथुरातोऽपि निष्कासनीयाः । यदि देशान्तरं न गच्छेयुः, तदा निरुद्धा एव न भवेयुः, लोके तथा दर्शनात् । अतो भगवानेतान-
न्यत्र नेतुं विचारयति । तत्संमतिव्यतिरेकेण नयने मन्त्रभेदः स्यादिति मर्मज्ञान बलभद्रेण सह मन्त्रयामास । यतोऽयं कृष्णः, निरोधार्थमेव प्रवृत्तः । अन्यथा सदानन्दः तेषां न भवेत्, बहिश्चित्तत्वादिति । संकर्षण एव सहायो यस्येति । अतस्तेन सह चिन्तनम् ।

व्याख्यार्थ—यह विचार तो प्रकट रीति से करते हैं इस कारण से गूढ अभिप्राय से ही विचार करते हैं, वह अभिप्राय है मथुरापुरी से इनको निकालना है कारण, इनका निरोध करना है जैसे निरोधार्थ बृहद्वन से निकालना वैसे इनकी यहाँ से निकालना चाहिए, जो दूसरे देश नहीं जायेंगे तो इनका निरोध सिद्ध न होगा, लोक में यों ही देखा जाता है, अतः भगवान् इनको दूसरे स्थान पर ले जाना चाहते हैं, इसलिये विचार करते हैं मर्म को जानने वाले बलभद्रजी से सलाह करने लगे, क्योंकि इनके साथ विचार करने के सिवाय, ले जाने का पता सब को लग जायगा, जो हितकारक नहीं है । ऐसा क्यों करते हैं ? इस के उत्तर में कहते हैं, यह कृष्ण निरोध करने के लिए ही प्रकटे हैं, निरोध न होगा तो, यह उनका सदानन्द नहीं रहेगा, अर्थात् निरोध के सिवाय, भक्त सदैव आनन्द में मग्न नहीं रहेंगे, क्योंकि उनका चित्त बाहिर इधर उधर फिरता रहेगा, संकर्षण से परामर्श क्यों किया ? दूसरे किसी से क्यों नहीं किया, जिसके उत्तर में कहते हैं, कि वह संकर्षण ही आपके सहायक हैं दूसरा कोई नहीं, अतः उसके साथ ही विचार किया ॥ ४५॥ ॥

आभास चिन्तनवाक्याभ्याह अहो इत्यादिसार्धः त्रिभिः ।

आभासार्थ—“अहोयदूनां” श्लोक से ३॥ श्लोकों से परामर्श के वचन कहते हैं ।

श्लोक—अहो यदूनां वृजिनं प्राप्तं ह्युभयतो महान् ॥४६॥

यवनोऽयं निरुन्धेऽस्मानद्य तावन्महाबलः ।

मागधाऽप्यद्य वा श्वो वा परश्वो वागमिष्यति ॥४७॥

आवयोर्युध्यतोरस्य यद्यागन्ता जरासुतः ।

बन्धून्हनिष्यत्यथवा नेष्यते स्वपुरं बली ॥४८॥

तस्मादद्य विधास्यामो दुर्गं द्विपददुर्गमम् ।

तत्र ज्ञातीन्समाधाय यवनं घातयामहे ॥४९॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण विचार कर संकर्षणजी को कहने लगे, आश्चर्य है कि यादवों को यह दुःख दोनों तरफ से अचानक कैसे प्राप्त हुआ ? आज तो महाबली यवन ने हमको घेर लिया है और जरासन्ध भी आज, कल या परसों आ जायगा उस समय हम यवन से लड़ते रहेंगे, उसको छोड़ कर जरासन्ध से लड़ना भी नहीं हो सकेगा, अतः वैसी दशा में आया हुआ वह चतुर मागध हमारे वसुदेवादि को मारेगा, अथवा उनको बान्ध कर अपने देश को ले जायगा तो उनको छुड़ाने के लिए फिर बहुत परिश्रम करना पड़ेगा इस कारण से, आज ही ऐसा दुर्ग बनाया जाए जिसमें मनुष्य जा नहीं सके अपने यादवों को लेकर ऐसे किले में आज ही पहुँचा कर आज ही यवन को मारेंगे ॥४६--४६॥

सुबोधिनी—अहो इत्याश्चर्ये । कथमयमकस्मादागत इति, कथं वा सन्धिकालं ज्ञातवानिति । यदूनां वृजिनं दुःखमुभयतोऽपि प्राप्तमिति प्रतिज्ञा । तां निरूपयति । महान् यवनोऽयमद्य निरुन्ध इति । अस्मानिति तैः सहाभेदः कार्यार्थं निरूपितः । स्वरूपतोप महान् महाबलश्च । अथ महाबल इति उभयोर्ब्राह्मणवाक्यं बलमिति सूचितम् । यावज्जरासन्धो नायाति, तावदनेनैव निरुद्धा इति । तर्हि जरासन्धस्थाने अयमेव जातः, को विशेष इति चेत्, तत्राह मागध इति । मागधोऽप्यद्यवायास्यति । तर्हि तद्बुद्धिः प्रेरणीया, यथाद्य नायास्यतीति चेत्, तत्राह श्वो वा समागमिष्यतीति । तद्वान्तयामी वक्तव्यः, श्वोऽपि नानेतव्यः, तत्राह परश्व इति । तर्हि कालो वक्तव्य इत्याशङ्क्य व्यधिकपययि कोऽपि वक्तुं न युक्त इति वाशब्दं प्रयुक्तवान् । किमद्य श्वो वञ्चनेन आगमिष्यतीत्यत्र तु न सन्देहः । अत उपाय एव कर्तव्य इत्यर्थः । तर्हि उभावपि मारणीयाविति चेत्, तत्राह आवयोर्बुध्यतीरिति । उभावजेयो, अतः प्रधानपरिहारेण केवलबलहनने विलम्बो भवतीति

यवनेन सह आवयोर्बुध्यतोः सतोः, प्रकान्तस्य त्यागागोगान् । यदि मध्ये जरासन्धः चतुरः समागच्छेत, तदा अस्मानन्यत्रासक्तान् विहाय बन्धून् वसुदेवादीन् हनिष्यति । स्वपूरं वा बद्ध्वा नेष्यति । पश्चान्मोचनार्थं बहू कर्तव्यं पनेत । मारयितमशक्य एवेत्याह बलीति । एवं सति यत्कर्तव्यं तदाह तस्मादिति । द्विपदानां मनस्यमात्रस्य दुर्गमं दुर्गं विधास्याम इति । नन्वेतावदलौकिकं यः करोति स तानेव वथमन्यथा न करोति, किमिति स्थानं त्याजयतीति चेत् ? मैवम् । द्वारकादिनिर्माणे न काचिन्मर्यादा बाध्यते अन्यत्र तु ब्राह्मणवाक्यानि बाध्यन्ते । एतदर्थमेव द्वारकानिर्माणमिति न तत्र ब्राह्मणवाक्यं प्रभविष्यति । सर्वत्राधिकप्रयत्नः साधारण्यं निराकरोतीति । अथ एव पूर्वं बलीति पदम् अत्र च द्विपदमिति । अतो ब्राह्मणा अपि द्विपदा एवेति तेषामपि स दुर्ग एव । पश्चान्निर्भये स्थाने ज्ञातीन् वसुदेवादीन् समाधाय यवनं घातयामहे, तदा विलम्बो न बाधक इति । अन्यथा भगवत्यन्यत्र गते मुचुकुन्दगुहायाम्, वसुदेवादयो भीताः खेदं प्राप्नुयुः ॥४८॥

व्याख्यार्थ—आश्चर्य है कैसे यह अचानक आ गया और इसको इस संधिकाल * का ज्ञान कैसे हुआ यादवों को दोनों तरफ से सकट प्राप्त हुआ है, इस अपने पक्ष का संकर्षण के आगे निरूपण करते हैं। इस महान् यवन ने हम लोगों को आज घेर लिया है “हम लोगों को” कह कर यह बताया है कि हमारा यादवों के साथ कार्य के लिए अभेद है वह यवन स्वरूप से भी महान् है और बलवान् है ‘अद्यमहाबल’ कह कर यह सिद्ध किया है कि जरासन्ध तथा यवन दोनों महाबली हैं। कारण कि दोनों को ब्राह्मणों के आशीर्वाद से बल प्राप्त है, जरासन्ध नहीं आया है तो इसने ही पहले रोक लिया है अर्थात् घेरे में ले लिया है, यदि यों है तो जरासन्ध के स्थान पर इसको समझ कर इससे युद्ध कर इसको नाश करदो तो पता पड़ जाएगा कौन विशेष है, इसके उत्तर में कहते हैं कि मागध भी आज ही आजाएगा जो यों है तो उसकी बुद्धि में ऐसी प्रेरणाकर दो जैसे आज न आ सके यों करेंगे तब कल वा परसों तो अवश्य आ जाएगा, तो उसके आने का निश्चित समय कहिये ? तो कहते हैं कि तीन से अधिक कोई नहीं बता सकता है इसलिए “वा” शब्द कहा है, अच्छा यदि आज, कल परसों वा कभी ठगी से आएगा इसमें संशय नहीं है, तो उसका उपाय ही करना चाहिए ? यदि कहो कि दोनों मारने योग्य हैं, इस पर कहते हैं कि दोनों जीतने जैसे नहीं हैं, अतः मुख्य को छोड़कर केवल सेना को मारने में समय लगता है, तथा हम यवन से लड़ाई में लगे रहे उस समय वह चतुर आ जाय और हमको यवन से लड़ाई में तत्पर देखे तो उसको हम छोड़ भी नहीं सकते, यह ऐसा अवसर देख हमको छोड़ वसुदेवादि बान्धवों को मारेगा अथवा उनको बान्ध कर अपनी नगरी में ले जाएगा तो पीछे छुड़ाने में बहुत परिश्रम करना पड़ेगा, जरासन्ध भी बली होने से मारा नहीं जा सकता है जब यों है तब क्या करना चाहिए ? वह कर्तव्य बताते हैं, जहाँ मनुष्य नहीं जा सके वंसा दुर्ग बनाएँगे जब ऐसा अलौकिक दुर्ग जो बना सकता है। तब वह उनको ही अन्यथा क्यों नहीं करता है ? क्यों अपना देश छोड़ा है ? किसी प्रकार को मर्यादा का बाध नहीं होता है उनको निर्बल बनाने में ब्राह्मणों में मर्यादा बाध करती है जैसा कि दी हुई आशीर्वाद का उल्लंघन न करना पड़ेगा इसलिए ही द्वारका बनाने का सुयोग्य विचार किया है जिसमें ब्राह्मण बाध उल्लंघन न होगा तथा उस कार्य पर ब्राह्मणों के वचनों का प्रभाव भी न होगा। सब ठिकाने अधिक प्रयत्न, साधारण श्रम का निराकरण करता है।

“बली” शब्द पहले आया है और इसलिए यहाँ “द्विपद” देकर यह बताया है, कि जो भी दो पैर वाले यादवों के नाश के लिए आना चाहेंगे वे नहीं आ सकेंगे भले वे ब्राह्मण भी हों, दुर्ग बता के अनन्तर उसमें वसुदेव आदि ज्ञातिवालों का वहाँ अच्छी तरह बिठावेंगे यों करने के बाद निश्चिन्त हो के यवन को मारेंगे इसमें विलम्ब बाधक न होगा नहीं तो मुचुकन्द की गुफा में भगवान् के जाने पर वसुदेवादि डरकर दुःखी होंगे ॥४६—४७॥

आभास—एवं निर्धारिते मन्त्रे यदासीत्, तदाह इति संमन्त्रयेति ।

आभाषार्थ—इस प्रकार परामर्श करने से जो सलाह निश्चित हुई उसका वर्णन “इति संमन्त्रय” श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—इति संमन्त्रय दशार्हो दुर्गं द्वादशयोजनम् ।

अन्तःसमुद्रे नगरं कृष्णोद्भुतमचीकरत् ॥५०॥

दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम् ।

रथ्याचत्वरवीथीभिर्यथावास्तु विनिर्मितम् ॥५१॥

सुरद्रुमलतोद्यानविचित्रोपवनान्वितम् ।

हेमशृङ्गैर्दिविस्पृग्भिः स्फाटिकाट्टालगोपुरैः ॥५२॥

राजतारकुटैः कोष्ठैर्हैमकुम्भैरलंकृतैः ।

रत्नकूटैर्गृहैर्हैममंहामरकतस्थलैः ॥५३॥

वास्तोष्पतीनां च गृहैर्वलभीभिश्च निर्मितम् ।

चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णं यदुदेवगृहोल्लसत् ॥५४॥

श्लोकार्थ—ऐसी सलाह कर भक्त रक्षक श्रीकृष्ण ने समुद्र के मध्य में बारह योजन में अद्भुत किला रूप नगर तैयार किया ॥५०॥

जहाँ भगवान् ने सर्व प्रकार की कारीगरी की थी, जिसका प्रत्यक्ष दर्शन होता था, वस्तु शास्त्रों के अनुसार राजमार्ग, चौहट, गलियाँ इस प्रकार बनाई थी जो आने जाने में अड़चन न होवे तथा किसी मकान की वायु धूप आदि न रुके ॥५१॥

जहाँ देवता सम्बन्धी वृक्ष लताओं सहित उद्यान तथा उपवनों से सुशोभित घर एवं मार्ग थे, अति ऊँची स्फाटिक मणियों से निर्मित अटारियाँ तथा दुर्ग के फाटक आकाश को छूते हुए सोने के सींगों से युक्त कलशों से सुशोभित थे ॥५२॥

चांदी और पीतल से बने कोठे सोने के कलशों से लस रहे थे, अमूल्य मरकत मणि के स्थल वाले सुवर्ण से बने घरों के शिखर माणिक आदि रत्नों से बनाये गए थे ॥५३॥

चारों तरफ लोकपाल तथा दुर्गा आदि देवों के स्थान थे और मध्य में भगवान् का मन्दिर सुशोभित था सारी नगरी के घर पर छज्जे भी लगा दिए थे । वह दुर्ग चारों वर्णों के मनुष्यों से भरा पड़ा था ॥५४॥

सुवोधिनी—यतो दाशार्हो भक्तरक्षकः । अनेन क्लिष्टकरणदोषोऽपि परिहृतः । ननु कालादिभिरनिमित्तं कथं निर्मास्यति, तथा सति कालादयो वा कथं न प्रतिवन्त्रं करिष्यन्तीत्याशङ्क्याह तद्दुर्गमेव करिष्यति । जलादिदुर्गाः प्रसिद्धाः । अतो नालौकिकं करिष्यति । किञ्च, कालहितमपि करिष्यतीत्याह द्वादशयोजनमिति । द्वादशात्मा हि कालः । प्रतिपक्षतया वा करिष्यति । अलौकिकत्वाच्चतुरस्रं तत् । सर्वपिक्षया विशेषं वक्तुं तत्तत्त्वं गुणत्रयमाह । अन्तःसमुद्र इति समुद्रमध्ये । न सा पृथिव्यां तिष्ठति, किन्तु भूभिवत् नगर्यप्यन्तरिक्षे समुद्रमध्ये जलोपरि तिष्ठति । अन्यथा नीचे स्थिता भवेत् । तत्र वैलक्षण्यं संभविष्यतीति तन्निराकरणार्थं नगरमिति । तत्रापि विशेषः अद्भुतमिति । कृष्ण इति । सदानन्दः । तेन कृतं स्थानं तत्प्रापकं भविष्यतीति ज्ञापितम् । अचोकरदिति । स्वयमेव चकार । विश्वकर्मणा कृतमित्येके, त्वाष्ट्रमिति पदात् । वस्तुतस्तु विश्वकर्मणो यावन्नपुण्यम्, तावदत्र भगवतैव निर्मितमिति । स हि जले कर्तुं न शक्नुयात् । अन्यथा इतो भगवति क्रमेण षड्गुणेष्वपि गतेषु सप्तमे दिवसे तं न प्लावयेत् समुद्रः, विश्वकर्मणो विद्यमानत्वात् । अस्तु वा विश्वकर्मणा कारितमिति । अचोकरद्विश्वकर्मणेति कारणं वा ।

यत्र नगरे त्वाष्ट्रं विज्ञानमनेकचातुर्ययुक्तं दृश्यते । शिल्पे नपुण्यं यस्मात् विज्ञानादिति ज्ञानप्रमायां हेतुरुक्तः । किञ्च, रथ्याचत्वरवीथीभिः सहितम् । यथावास्तु वास्तुशास्त्रसहितम् ।

विशेषेण निर्मितम्, चित्रादिरहितेऽपि सामान्यनिर्माणेऽपि वैशिष्ट्ययुक्तम् । दैविकं लौकिकं शास्त्रीयं च ज्ञानं तस्मिन् नगरनिर्माणे प्रतिष्ठितमिति वर्णनावधित्वं निरूपितम् ।

विशेषतो वर्णयति । सुरद्रुमाः पारिजातादयः । ते उद्यानेषु यत्र । उद्यानं पुष्पप्रधानम् । उपवनं फलप्रधानम्, तैरन्वितमिति सर्वत उभयेषां सवन्ध उक्तः । अन्तर्नगरे वैशिष्ट्यमाह हेमशृङ्गैदिविस्पृग्भिरिति । एकविंशतिगृहोपरि सुवर्णशृङ्गाणि सुवर्णकलशस्य परितः स्थापितानि । अत एव दिवं स्पृशन्ति । तत्र निदानप्रस्तरानाह स्फाटिकेति । स्फाटिकैरेव निर्मिताः अट्टालाः गोपुराणि च ।

दुर्गत्वादन्नसङ्ग्रहार्थं रजतैरारकूटैश्च निर्मितानि कोष्ठानि रजतारकूटशब्दादण् । हेमकुम्भैश्च सर्वतः अलङ्कृतम् । घृतदध्याद्यर्थं राजतानि कोष्ठानि । अन्नार्थं तु पैत्तलनिर्मितानि । सर्वधातूपलक्षणमारकूटपदम् आद्यन्तयोः रजतसुवर्णयोरुपादानात् । उपरिशोभातिशयमुक्त्वा मध्ये शोभामाह रत्नघूटेर्गृहैर्हैर्मैरिति । सर्वत्र गृहाः रत्ननिर्मितपदकवत् सौवर्णाः । भूमिश्च मरकतशिलाभिः निर्मितेत्याह । महामारकतानि स्थलानि येष्विति ॥५३॥

अनुपयुक्ता अपि धर्मसाधकाः कौतुकसाधकाश्च गृहाः सन्तीत्याह । वास्तोष्पतीनां वास्तुदेवताधिपतीनामिन्द्रादीनाम् । वस्तून्यस्मिन्निति वास्तुदेवता भूमिः, तस्याः पतयः सर्वे लोक-

पालाः । चकारात् दुर्गादीनामपि । अनेन मध्ये भगवतः परित आशापालानां गृहा इत्युक्तं भवतिः वलभीभिरिति सर्वत्र छजानिर्माणम् । अनेनाग्रे निर्माणक्रिया कापि नापेक्षितेति सूचितम् । किञ्च, चातुर्वर्ण्यजनाकीर्णम् । चातुर्वर्ण्यजनैः पूर्वमेवाकीर्णम्, । तेन ते भगवत्कृता एव जना

निरूपिताः । अन्यथा इतो गतानां वंद्यामिव पातो भवेत् । ते होदानीमपि तिष्ठन्ति । अतस्तत्सन्निधानेन सर्वदा विद्यमानत्वसाम्यात् भगवद्गृहमाह यदुदेवगृहेण उल्लसदिति । मध्ये भगवद्गृहम्, चतुर्दिक्षु वर्णचतुष्टयानाम् । आकीर्णमिति । किर्मीरितत्वं निरूपितम् ॥५४॥

व्याख्यार्थ— भगवान् को समुद्र के मध्य में दुर्ग अर्थात् द्वारकापुरी बनाने में श्रम हुआ होगा ? आप अक्लिष्टकर्मा है फिर वेंसा परिश्रम वाला कर्म क्यों किया ? इस शंका को मिटाने के लिए कहा है कि “दाशार्हो” भक्तरक्षक हैं अर्थात् भक्तों की रक्षा के लिए आप सब कुछ करने में हिचकते नहीं हैं, उनके वास्ते जो भी कार्य चाहें वह क्लेशदायी हो तो भी करते हैं किन्तु इससे उनको कुछ भी क्लिष्टता मालूम नहीं होती है अतः इसके बनाने से उनको क्लिष्ट करने का दोष स्पर्श भी नहीं करता है जो कालादिक नहीं बनाते हैं उसको आप कैसे बनाएंगे यदि उनके सिवाय आप बनाते हैं तो कालादिक क्यों प्रतिबन्धक न होंगे ? इस शंका को मिटाने के लिए ही “नगर” बनाना न कहकर “दुर्ग” बनाना कहा है, जलादि दुर्ग तो प्रसिद्ध ही हैं अतः अलौकिक नहीं करेंगे इसके बनने से काल का भी हित करेंगे इस लिए कहा, कि वह दुर्ग बारह योजन का होगा, क्योंकि “काल” “द्वादशात्मक” है अथवा प्रतिपक्षता से करेंगे अलौकिक होने से वह चौकाना बना था, वह दुर्ग सबसे विशेष उत्तम है यह बताने के लिए उसके तीन गुण कहते हैं (१) समुद्र के मध्य में है, जिससे यह पृथ्वी पर तैरी हुई नहीं है किन्तु पृथ्वी की भाँति अन्तरिक्ष में अर्थात् समुद्र के मध्य में जल के ऊपर है। नहीं तो नीचे चली जाए उसमें कुछ विलक्षणता होगी ऐसी शंका मिटाने के लिए दुर्ग को “नगरी” भी कहा है उसमें भी विशेष यह है कि वह “अद्भुत” है, अद्भुत क्यों और कैसे है ? इस पर कहते हैं कि इसके निर्माता कृष्ण हैं जो सदानन्द स्वरूप हैं उनका बनाया हुआ स्थान उनसे मिलाने वाला होगा श्लोक में “अचीकरत्” पद दे कर कहा है कि स्वयं ने बनाया है कोई कहते हैं कि “त्वाष्ट्” पद से समझा जाता है कि यह विश्वकर्मा की बनाई हुई नगरी है सचमुच तो विश्वकर्मा जैसी इसमें निपुणता दीखती है जिससे यह शंका उत्पन्न होती है किन्तु भगवान् ने ही यहाँ बनाई है क्योंकि विश्वकर्मा जल में ही बना सकता है । जो भगवान् ने नहीं बनाई होती तो, भगवान् के पधारने से उनके गुण भी क्रम से पधारने लगे जिसे ही समुद्र ने सातवें दिन उसको डूबो दिया । यदि विश्वकर्मा की बनाई हुई होती तो विश्वकर्मा के विद्यमान होने से समुद्र न डूबोता अथवा मान लिया जावे कि विश्वकर्मा द्वारा बनाई गई है तो भी विश्वकर्मा केवल “करण” है अर्थात् बनाई भगवान् ने है विश्वकर्मा केवल करण था जैसे कर्ता कुम्हार है चाक आदि उपकरण होते हैं ।

जिस नगरी में अनेक चतुराई वाला त्वष्टा का विज्ञान दीखता है जिस विज्ञान से कारीगरी में निपुणता का ज्ञान होता है और जहाँ बड़े-बड़े मार्ग तथा चौराहे हैं, वास्तु शास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार बनाई हुई है, वह चित्रकला के न होते हुए भी, सामान्य प्रकार से बने होने पर भी उत्तमता



तथा विनक्षणात्ता से युक्त थी उस नगर के निर्माण में दैविक लौकिक तथा शास्त्रीय ज्ञान काम में लाया गया है इन तीन प्रकार के ज्ञान से यह बताया है, कि इससे विशेष वर्णन हो नहीं सकता है, अर्थात् इससे उत्तम नगर नहीं बन सकता है।

विशेष प्रकार से वर्णन करने हैं, जिस नगर के उद्यानों में सुगन्धित पुष्प वाले पारिजात आदि देव वृक्ष लगे हैं, पुष्प ही जिसमें विशेष हो, उसको उद्यान कहा जाता है तथा उपवन थे जिनमें फलों के पेड़ अधिक लगे हुए थे, नगरी के चारों ओर उपवन थे जिनसे नगरी की विशेष शोभा हो रही थी।

नगर के भीतर गृहों की शोभा का वर्णन करते हैं इक्कीस भार वाले गृहों के ऊपर जो सोने के कलश रखे गए थे उनके चारों ओर सोने के शृंग लगाए गए थे जो आकाश को स्पर्श कर रहे थे, अब जिन पत्थरों से अटारियाँ और नगर के फाटक बने थे उन पत्थरों को कहन है कि "स्फाटिकेरे-वनिमिताः" वे स्फाटिक प्रस्तरों (क्विलोर) से बनाए गए थे।

दुर्ग था इसलिए अन्न आदि पदार्थों के रखने के लिए बड़े बड़े पात्रों की आवश्यकता थी, उन का वर्णन करते हैं कि चाँदी तथा पीतल आदि के बड़े बड़े कोष्ठ बनाए गए थे और वे सोने के घड़ों से अलंकृत किए गए थे घृत और दधि आदि स्निग्ध पदार्थों के रखने के लिए चाँदी के कोठे बने हुए थे, अन्न के लिए पीतल के कोठे बने थे "आर कूट" शब्द सब धातुओं को बताने वाला शब्द समझना चाहिए, आदि और अन्त में चाँदी तथा सोना ही उपादान से काम में लिया गया था. ऊपर की शोभा का वर्णन कर बीच की शोभा का वर्णन करते हैं। सारी नगरी में जो घर बने हुए थे वे जैसे रत्नों से जड़ित पदक सोने का बना हुआ होता है वैसे सोने के बने हुए घर थे जिन पर रत्न जड़े हुये थे। घरों की भूमि पर मरकत मणियों के फरश बान्धे गए थे ॥५३॥

लौकिक प्रकार से जो घर उपयोग में आने वाले नहीं थे तो भी वे धर्म को सिद्ध करने वाले थे, क्योंकि वे इन्द्र आदि लोकपालों के थे, श्लोक में "च" शब्द इस आशय से दिया है कि दुर्गा आदि के भी घर थे इन घरों के बीच में भगवान् का घर था ये देवों के घर भगवान् के घर के चारों तरफ थे, लोकपालों के घर इस लिए बनाए गए थे कि वे भूमि के पति हैं।

सब घरों में छज्जे भी लगा दिए गए थे छज्जों का काम घर के सर्व प्रकार तैयार होने के बाद अन्त में किया जाता है, जिससे मालुम होता है कि निर्माण का सर्व कार्य पूर्ण हो गया है शेष कुछ भी कार्य करना रहा नहीं है यहाँ से जाने वाले मनुष्यों से पहले ही उसमें चारों वर्ण के जन का

भूमि पालकों के सिवाय प्रसन्न नहीं होती है, जहाँ पतियों का समादर होता है, वहाँ पृथ्वी प्रसन्न हो कर अपने वीजह्वार में स्थित धान्यादि वस्तुओं को विशेष रूप से जन हितार्थ प्रकट करती है—

चारों दिशाओं में विस्तार हो रहा था, इससे सिद्ध है, कि वे जन भगवान् के ही प्रकट किये हुए हैं, यों न होता तो यहां से जाने वाले जनों का वन्दनीयों की भाँति पात हो जावे अतः उनके सामीप्य से सर्वता विद्यमान के तत्त्व से समानता होने के कारण वे जन निश्चय से अब भी हैं अतः यह नगर भगवान् के धन से विशेष शोभायमान था चारों दिसाओं में चारों वर्णों के घर थे और नगर के मध्य में भगवान् का घर था जैसे अनेक रंगों से चित्रित वस्त्र शोभा देता है वैसे ही यह नगरी अनेक प्रकार के घर तथा जनों से सुशोभित दीखती थी ॥५४॥

आभास—एवं भगवता स्थाने निर्मिते, विशेषतो निर्माणे कृते, पारिजातादीनाम-
नम्यत्वप्रतिष्ठा गमिष्यतीति लोकपालाः सर्वे स्वस्वसमृद्धिं प्रेषितवन्त इत्याह सुधर्मा-
मिति त्रिभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने जब द्वारका निर्माण कर दिया, तब विशेष निर्माण के लिए पारिजातादि वृक्षों की विशेष प्रतिष्ठा होगी अतः सर्व लोकपाल अपनी अपनी सम्पादाएँ भेजने लगे, जिनका वर्णन “सुधर्मा” से तीन श्लोकों में कहते हैं—

श्लोक—सुधर्मां पारिजातं च महेन्द्रः प्राहिणोद्धरेः ।

यत्र चावस्थितो मर्त्यो मर्त्यधर्मेन युज्यते ॥५५॥

श्यामैककर्णान्वरुणो हयान् शुक्लमनोजवान् ।

अष्टौ निधिपतिः कोशाँल्लोकपालो निजोदयान् ॥५६॥

यद्यद्भूगवता दत्तमाधिपत्यं स्वसिद्धये ।

सर्वं प्रत्यर्पयामासुर्हरौ भूमिगते नृप ॥५७॥

श्लकार्थ—इन्द्र ने भगवान् के लिए सुधर्मा सभा तथा पारिजात वृक्ष भेजे, जिस सभा में बंठने वालों को मृत्यु के धर्म जरा आदि किसी प्रकार का दुःख नहीं देते हैं ॥५५॥

वरुण ने श्वेत वर्ण वाले अश्व जिनके केवल एक कान काला था, चलने में मन जैसे वेग वाले थे वे भेजे, निधिपति (कुबेर) ने आठ कोश भेजे और लोकपालों ने अपने भंडार भेज दिए ॥५६॥

भगवान् ने इन्द्र आदि देवों को जो कुछ वे अपने धर्म से प्राप्त नहीं कर सकते वे पदार्थ कृपा कर दिए हैं, उनके पास जो कुछ पदार्थ है वे वास्तव में भगवान् के ही हैं अतः जब भगवान् भूमि पर प्रकट होते हैं तब देव वे पदार्थ भगवान् को समर्पण कर सदैव के लिए अपने पास रहे, यह सिद्ध करते हैं ॥५७॥

सुवोधिनी—यदग्रे पारिजातहरणम्, तन्म-
तान्तरभाषया निरूपितम्, तदग्रे विस्तरेण
वक्ष्यामः । सुधर्मा देवसभा । नवरत्ननिर्मि-
तेव भूमिरूपा काचित् देवता सुधर्मैत्युच्यते ।
यत्प्रोपवेशनमात्रेणैव धर्मो धर्मफलं च भव-
तोति । चकारादन्येऽपि सुरद्रुमाः । इन्द्रः
सिंहासनादिकं च प्रस्थापितवानिति उभयो-
र्माहात्म्यं वर्णयति यत्र चेति । यत्र सुधर्मा-
याम्, चकारात् पारिजाता धर्मश्च । अनेन
समीपे विद्यमानः सर्वदा नियतमरणधर्मापि
तः स्वाभाविकैः मर्त्यधर्मैः न युज्यते । अनेन
पूर्वदोषपरिहारोऽप्युक्तः । गुणास्तु सुधर्मापदे-
नोक्ताः । अन्यामपि सम्भृतिमाह श्यामैक-
कर्णोऽनिति । एकः कर्णः श्यामः दक्षिणः ।
शिष्टः सर्वोऽपि कुन्दसन्निभः । उच्चैःश्रवस
एतद्वैलक्षण्यम् । अयं स्वर्गः कर्म चेति उभयो-
वोधनार्थं प्रवृत्तिशाम्ब्रस्थाने श्यामता निरु-
पिता । ते चाश्वाः सैन्धवा एवेति ज्ञापयितुं
वरुणेन प्रस्थापितमित्युक्तम् । अन्यत्र वर्णा-
न्तरसम्भावना स्यादिति तन्निवृत्त्यर्थं शुक्ला
इति । जव एव तेषां श्लाघ्य इति शुक्लाश्च

ते मनोजवाश्चेत्युक्तम् । शुक्ले जवाभावमा-
शङ्क्य समास उक्तः । निधिपतित्वादष्टौ
निधीन् प्रेषितवानिति गम्यते । अष्टौ लोका-
पालाश्च कोशान् भण्डारवस्तूनि । निजस्य
स्वस्य स्वस्य अभ्युदयांश्च । ननु स्वयमनेक-
सुकृतेन प्राप्तं भोगसाधनमधिकारज्ञापकं च
किमिति दत्तवन्त इत्याकाङ्क्षायामाह यद्यद्भग-
वता दत्तमिति । न हि तानि वस्तूनि स्वध-
र्मोपाजितानि, किन्तु भगवता दत्तानि । यत-
स्तदाधिपत्यम्, ईश्वरेणैव ह्याधिपत्यं दीयते ।
तथापि प्रतिदाने को हेतुरिति चेत्, तत्राह
स्वसिद्धय इति । स्वस्य सिद्धये । अधिकारो
होश्वरेच्छयैव भवति । सा च ज्ञातुमशक्येति
यथा तन्नियतं भवति, तथोपायः कर्तव्यः,
तद्भगवति दान एवाक्षयं भवति । अतः स्वस्य
धनस्य अधिकारस्य वा सिद्धये सम्यङ् निष्प-
त्यर्थं सर्वं प्रत्यर्पयामासुः । ननु भगवता तत्कथं
ग्राह्यमिति चेत्, तत्राह हरौ भूमिगत इति ।
भूमिरपि दत्ता ब्रह्मणे मनवे वा । पुनर्भू-
क्तोद्धारार्थं स्वयमप्यागतः । तन्न्यायेन सर्वा-
मपि समृद्धिं भक्तेभ्यो दातुं प्रदर्श-
यितुं वा अपेक्षेतेति प्रत्यर्पणमुचितम् । एतद-
भिज्ञानाय नृपेति सम्बोधनम् ॥५८-५९-६०॥

व्याख्यानार्थ—आगे जो पारिजात लेजाने की कथा की है वह मतान्तर भाषा से कही है, उसको आगे विस्तार से कहेंगे नवरत्नों से निर्मित जैसी भूमि रूप किसी देवता को “सुधर्मा” नाम से कहा जाता है जहाँ केवल बंठने से ही धर्म का फल होता है, अतः “सुधर्मा” शब्द से “देवसभा” समझा जाता है “च” कह कर यह बताया है कि पारिजात के सिवाय दूसरे भी देवद्रुम लाए गए थे ।

इन्द्र ने सिंहासन आदि सामान भी भेजा था अब दोनों के माहात्म्य का वर्णन करते हैं जिस धर्म सभा में पारिजात और धर्म भी है, यह “च” शब्द से समझा जाता है इससे क्या लाभ है, वह

वताते हैं कि इनके पास रहने से जो निश्चय से मरने वाले हैं, उनको वह स्वाभाविक मृत्यु धर्म भी कुछ नहीं कर सकता है, अर्थात् मार नहीं सकता है, इससे प्रथम कहे हुए धर्मों के दोष का परिहार भी कह दिया है और गुण तो “सुधर्मा” पद से बता दिए हैं, दूसरी सम्पत्ति का वर्णन करते हैं एक दक्षिण कर्ण श्याम था शेष सब शरीर कुन्द पुष्प के समान शुक्ल प्रकाश वाला है इन अश्वों की उच्चैश्चवा घोड़े से यह ही विलक्षणता है, स्वर्ग और कर्म दोनों प्रकार काम आने वाले ये अश्व हैं, वे अश्व सेन्धव (सिन्धु समुद्र से उत्पन्न हुए हैं) ही हैं इस बात को जताने के लिए कहा है कि ये वरुण देव ने भेजे हैं, इनका वाम श्याम कर्ण प्रवृत्ति शास्त्र रूप होने से स्वर्ग कहा है और दक्षिण कर्ण स्वर्ग का साधन रूप कर्म है, श्याम कर्ण के पिवाग अन्यत्र किसी भी दूसरे वर्ण की सम्भावना न हो इसलिए “शुक्ल” शब्द दे दिया है अर्थात् अन्य अंग श्वेत थे “शुक्लमनोजवान्” यह पद समास इस लिए दिना है कि होने से भी वे शोघ्र गामी थे निधियों के पति होने से आठों लोकपालों ने भण्डार में जो अन्न आदि वस्तुएं चाहिए वे भेजी थीं और अपने-अपने जो भी अभ्युदय हुए थे वे सर्व अर्पण किए थे ।

लोकपालों ने अनेक पुण्यों से प्राप्त भोग साधन जिनसे उनके अधिकार का पता लगता था वे क्यों दिए ? इस शंका का निवारण करने के लिए कहते हैं, कि उनने जो वस्तुएं दीं वे उनने अपने धर्म से इकट्ठी नहीं की थी, परमेश्वर ने दी थी । अतः उन पर वास्तविक आधिपत्य परमात्मा का है उनको अधिकार भी भगवान् ने ही दिया था जब मिला तब फिर लौटाने में क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि “स्वासिद्धये” अपनी सिद्धि के लिए अधिकार ईश्वर की इच्छा से ही मिलता है वह इच्छा जानी नहीं जाती, अतः वह उपाय करना चाहिए जिससे वह अधिकारादि निश्चित हो जाए, वह अक्षय तब होता है जब भगवान् को अर्पण किया जाता है अतः अपने धन का और अधिकार का अक्षयपन हो तदर्थ सर्व प्रत्यर्पण किया है, दी हुई वस्तु भगवान् ने कैसे ली ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि भगवान् इसीलिए लेते हैं कि भगवान् को वे वस्तुएं भक्तों को देनी हैं, भक्तों के लिए भगवान् सब कुछ करते हैं जैसे भगवान् स्वयं वैकुण्ठादि में विराजते हैं और भूमि ब्रह्मा तथा मनु को दे दी है, तो भी आप भक्तोंद्वारा के लिए भूमि का ग्रहण कर आप भूमि पर प्रकट होते हैं, इस न्याय से सर्व समृद्धि भक्तों को देने के लिए वा दिखाने के लिए भगवान् को अपेक्षित होती है, अतः लोकपालों का प्रत्यर्पण उचित है, इस को जताने के लिए “नृप” सम्बोधन दिया है ॥ ५५-५६-५७ ॥

आभास—यदर्थमेतन्निर्माणं तदाह तत्रेति ।

बाभासार्थ—जिसके लिए इसका निर्माण हुआ वह “तत्र” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—तत्र योगप्रभावेण नीत्वा सर्वजनं हरिः ।

प्रजापालेन रामेण कृष्णः समनुमन्त्रितः ॥

वहाँ को प्रजाओं के दुःख निवृत्ति के लिए बलभद्र को कहा रति के उत्पादक, उसने वह स्वीकार किया। कृष्ण भी स्वयं सदानन्द हैं। इसके अनन्तर यहाँ मथुरा में रहना नहीं चाहिए मानों यों बनाते हुए बलरामजी से साधन की अनुमति ले फल रूप कृष्ण मथुरा से पधारे। यद्यपि मथुरा में आपकी सदैव स्थिति है, तो भी आप पधारे किन्तु नित्य क्रिया रूप से तो यहाँ विराजते हैं। अतः इसमें किसी प्रकार अनुपनि (असंगत) नहीं है नगर के द्वार से बाहिर जाना प्रसिद्ध ही है, भगवान् ने पधारते समय दो बातें बताई (१) पद्मों की माला धारण कर पधारे, जिससे यह बताया कि हमने साथ कीर्ति भी ली है।

और (२) शस्त्रों के बिना जाते हुए भी रक्षा * की है । इस प्रकार निकलने का प्रयोजन आगे स्पष्ट होगा ॥५८॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कन्धानुसार ५० वाँ अध्याय- उत्तरार्ध १ अध्याय
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरणकृत श्री सुवोधिनी (संस्कृत टीका) का राजस-साधन
अवान्तर प्रकरण का प्रथम अध्याय श्री सुवोधिनी अनुसार ४७ वाँ अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित, सम्पूर्ण ।

* इस प्रकरण की लीला प्रद्युम्न स्वरूप से की है, अतः बन्धुओं की रक्षा के लिए शस्त्र ग्रहण किए हैं, किन्तु अब जो रक्षा की है, वह 'स्थानदान से' की है अर्थात् द्वारका में पहुँच कर रक्षा की है अतः आप बिना शस्त्र के पधारे है ।

राग मारु

श्याम बलराम जब कंस मारयो ।

सुनि जरासन्ध वृत्तान्त अस सुता से युद्धहित कटक अपनो हंकारयो ॥

जोरि दल प्रबल सो चल्यो मथुरापुरी सुन्यो भगवान जब निकट आयो ।

तब दुहुँ वीर दल साजिके अपनो नगरते निकसि रणभूमि छायो ॥

दुहुँ दिशि सुभट बाँके निकट अति जुरे मनो दोउ दिशि घटा उमड़ि आई ।

सूर प्रभु सिंहध्वनि करत जोधा सकल जहाँ तहाँ करन लागे लराई ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

श्री गोपीजन वल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरण कमलेभ्यो नमः ॥

श्री मद्दल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

राजस साधन अवान्तर प्रकरण

द्वितीय अध्याय

सुबोधिनी अनुसार ४८ वां अध्याय

स्कन्धानुसार ५१ वां अध्याय

कालयवन का भस्म होना तथा मुचुकुन्द की कथा



कारिका—निग्रहं प्रथमेऽध्याये निरूप्य हरिणा कृतम् ।

द्वितीयेऽनुग्रहं प्राह मुचुकुन्दाय तत्कृतम् ॥१॥

कारिकार्थ—पहले अध्याय में हरि ने जो निग्रह किया उसका निरूपण कर, दूसरे अध्याय में मुचुकुन्द पर किए हुए अनुग्रह को कहते हैं ॥१॥

कारिका—तामसी हननाख्या हि राजसी नगरोद्यमा ।

सात्त्विकी नयनाख्या च निर्गुणा निर्गमस्तथा ॥२॥

कारिकार्थ—हनन रूप लीला तामसी है, नगर रचना रूप उद्यम लीला राजसी है मथुरा वासियों को लेजाने की लीला सात्त्विकी है और मथुरा से निर्गमन की लीला निर्गुण है ॥२॥

कारिका—निर्गुणस्थ निमित्तत्वं न तु कर्तृत्वमीर्यते ।

प्रबोधो धरणं चैव संवादश्च यथाक्रमात् ॥३॥

स्तुतिश्च निर्गुणा प्रोक्ता तदग्रे हि फलिष्यति ।

अतो निर्गुणलीलात्र द्वितीये विनिरूप्यते ।

क्रिया भगवतो द्वेधा गुणेषु स्वे यतः स्थिता ॥४॥

कारिकार्थ—निर्गुण स्वरूप निमित्त मात्र है न कि कर्ता है, जगना^१, मरण^२, संवाद^३, तथा स्तुति^४ है, वह निर्गुण है जिसका फल पीछे^५ होगा इस कारण^६ से दूसरे अध्याय^७ में निर्गुण लीला का विशेष निरूपण है, भगवान् की क्रिया लीला दो प्रकार की है क्योंकि लीला गुणों^८ में रहती है अर्थात् गुणों द्वारा होती है, लीला अपने स्वरूप^९ में स्थिति है अर्थात् धर्मी स्वरूप से की जाती है ॥३-४॥

कारिका सम्पूर्ण

आभास—पूर्वाध्यायान्ते तत्त्वान् परित्यज्य केवलं तं व्यामोहयितुं कीर्तिमेयीं वनमालां बिभ्रत् निर्गत इत्युक्तम्, कालयवनस्य मुक्त्यर्थं नारदोपदेशं गृहीतवतः साक्षात्कारः । ततस्तदनुसरणम्, ततो दृष्ट्या ज्ञानरूपेण ज्ञानाग्निना संघातनाशश्च निरूप्यते । निर्गुणक्रियाया मोक्षपर्यवसानात् । परं तस्य काल एव मुक्तिरिति निरूपयितुं द्वादशभिर्निरूप्यते तं बिलोक्येति ।

आभासार्थ—प्रथम अध्याय के अन्त में कहा गया कि भगवान् बिना आयुधों^{१०} के केवल कमल माला धारण कर मथुरा से पधारे, यों भगवान् ने क्रिया, उसका भावार्थ यह है, कि भगवान् के आयुध तत्त्वरूप हैं, अतः वे यहाँ ही छोड़ गए, जिससे वह मोहिते हो, कि यह ऐसे निर्भय हैं, जो बिना आयुधों के गमन कर रहे हैं और इससे भगवान् को कीर्ति सम्पादित की, जिसका चिन्ह कमल माला धारण की थी, नारद से उपदिष्ट कालयवन को मोक्ष देने के लिए उसे दर्शन दिया, पश्चात् उसका अनुसरण करना, अनन्तर दृष्टि से एवं ज्ञान रूप ज्ञानाग्नि से उसके संघात के नाश का निरूपण

१-मुचुकुन्द का जागना, २-यवव का मरण, ३-भगवान् और मुचुकुन्द का वार्तालाप, ४-मुचुकुन्द की दी हुई भगवान् की स्तुति, ५-मुचुकुन्द की मुक्ति जन्मान्तर में होगी, ६-विशेष लीला न होने से पहले अध्याय का अर्थ चारों लीला में है, ७-दूसरे अध्याय का अर्थ निर्गुण लीला है क्योंकि मोक्ष लक्षण फल मिलेगा ।

(८) सगुण लीला, (९) निर्गुण लीला, (१०) हथियारों

किया गया है । निगुण-क्रिया का फल मोक्ष होता है, किन्तु वह फल उसको समय आने पर प्राप्त होगा इसका निरूपण 'तं विलोक्य' श्लोक में करते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—तं विलोक्य विनिष्क्रान्तमुज्जिहानमिवोडुपम् ।

दर्शनीयतमं श्यामं पीतकौशेयवाससम् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि, अतिशय सुन्दर श्याम स्वरूप पीले रेशमी वस्त्रों वाले उन श्रीकृष्ण को विशेष प्रकार वाले दूज के चन्द्र के समान बाहिर निकलते हुए देख कर उन्हें पकड़ने की इच्छा से पीछे दौड़ने लगा, छठे श्लोक से अन्वय है ॥ १ ॥

सुबोधिनी—तं विलोक्य वासुदेवोऽयमिति निश्चित्य, तं जिघृक्षुरन्वधावदिति षष्ठेन संबन्धः । तत्रादौ त्रिभिस्तद्दृष्टं रूपं वर्णयति । पञ्चदश-कलापूर्णमिव तावद्भिर्विशेषणैः । अतः प्रथमतः चन्द्रदृष्टान्तेनैव निरूपयति । विशेषेण निष्क्रान्तम्, यथा उदयाद्रेस्वन्द्रः, न तु राहोर्मुखात्, नापि मेघेभ्यः । तथा भगवानपि न मारयितुं, नापि भयमुत्पादयितुं, भयेन वेति तदाह उज्जिहान-मिति । प्रथमदर्शनापेक्षया द्विनोयदर्शने अधिक-कान्तियुक्तः प्रतीयत इति । ननु विशेषकान्तिप्रद-र्शनं किमर्थमित्याशङ्क्याह उडुपमिवेति । चन्द्रो हि नक्षत्राणां रक्षकः । यदि तत्तन्नक्षत्रे न गच्छेत्, गत्वा वा तं न प्रकाशयेत्, स्वरूपतः फलतश्च, नदा नक्षत्राणां त्रैयर्थ्यमेव स्यात् । तथा भगवान् नारदादीनां रक्षार्थं तदुपदिष्टेषु स्वानुभावं ह्याप-यितुं प्रतिक्षणं रूपवैशिष्ट्यं प्रकाशितवानित्यर्थः । किञ्च, तस्मिन् दृष्टे युद्धार्थं समागतानां क्रोधः

कदाचिद्भवेत्, ततश्चासन्मत्या मोक्षो न भवेदिति भगवान्स्वस्वरूपं सुन्दरत्वेनैव प्रकाशितवानित्याह दर्शनीयतममिति । दर्शनीयोऽतिमुन्दरः । अत्या-श्चर्यं हि परस्मै प्रदर्श्यते । स्वस्यापि पुनः पुनर्दृ-ष्टव्यो भवति । श्याममिति । रसात्मकता निरू-पिता । सर्ववेदयुक्तत्वमाह पीतकौशेयवाससमिति । नगनान् मुक्तिरिति वैदिकः सिद्धान्तः । 'आद्यन्त-मध्ये बद्धो हि वेदेनामृतमश्नुत' इति ।

कच्छाशिखोपवीतानि बन्धनान्याह वेदतः ।

पीतवर्णं कौशेयं वासो यस्येति । वेदो यज्ञो देवाश्च पदत्रयेण परिगृहीताः । छन्दोमयं पीत-मिति । कौशेयं क्षौमम् । 'सौम्यं वै क्षौम' इति श्रुतेः । सर्वदेवत्यं वास इति च । अन्यथा पीता-म्बरमित्येव ब्रूयात् । भगवदीय हि न प्राकृत-प्रकृतिकं भवतीति विशेषणवैयर्थ्यं च ॥१॥

व्याख्यार्थ—उसको देख कर यह निश्चय किया कि यह वासुदेव है, उनको पकड़ने के लिए पीछे दौड़ने लगा । देखे हुए स्वरूप का तीन से वर्णन करते हैं, पन्द्रह कलाओं से पूर्ण की तरह, उतने ही विशेषण देकर वर्णन करेंगे । अतः पहले चन्द्रमा के दृष्टान्त से वर्णन करते हैं, जैसे राहु के मुख से वा

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥

बादलों से नहीं, किन्तु उदयाचल से जो चन्द्रमा उदय होता है वह सर्व का आनन्द देता है, वैसे ही भगवान् भी मारने के लिए नहीं, न भय पैदा करने के लिए और न स्वयं भय से प्रकट हुए हैं, किन्तु आनन्दानार्थ आविर्भूत हुए हैं इस लिए "उज्जिहान" पद दिया है। चन्द्रमा पहले दिन से दूसरे दिन विशेष प्रकाश वाता प्रतीत होता है, विशेष प्रकाश किस लिए? इसका उत्तर देते हैं, कि चन्द्रमा नक्षत्रों का रक्षक है, यदि प्रत्येक नक्षत्र के प्रकाश द्वारा न पहुँचे और उस प्रकाश से उनको प्रकाशित न करे, स्वरूप और फल से विमुख करदे, तो नक्षत्रों का जन्म ही व्यर्थ हो जावे, वैसे ही भगवान् नारद आदि भक्तों को वात रखने के लिए उन्होंने जिसको उपदेश दिया है उसके आगे अपना प्रभाव प्रकट करने के लिए हरेक क्षण में अपने रूप की विशेषता प्रकट करने लगे। उनके देखने पर युद्ध के लिए आए हुए शत्रुओं का कदाचित् क्रोध आ जाय तो असन्मति होने से, मोक्ष रुक जाएगा, इसीलिए भगवान् ने अपना स्वरूप अतः सुन्दर बनाके दर्शन दिया, जिससे उनको न क्रोध आवे और न उनको असन्मति हो, तथा आने विशेष मोन्दर्य से शत्रु को बहुत आश्चर्य में डाल देते हैं, अपने को भी बार बार देखने योग्य होता है क्योंकि वैसा ही आपका (श्याम) स्वरूप है, श्याम शब्द से अपने स्वरूप की रसात्मकता बताई, जैसे श्याम मेघ रसपूर्ण होते हैं, "पीत कौशेयवाससम्" पद से यह बताया है कि वेद, यज्ञ और देव ये तीनों मेरे भीतर हैं, कारण कि श्रुति कहती है कि 'आद्यन्तमध्ये बद्धो' वेदेनामृतमश्नुत" जो मनुष्य ऊपर, मध्य और नीचे वस्त्रयुक्त हैं वह वेद से अमृत पान कर सकता है, जो नग्न है उनका मोक्ष नहीं होता है, जैसे कि वेद में कहा है "कच्छाशिखोपवीतानि बन्धनान्याह वेदतः" नीचे का वस्त्र शिखा और उपवीत ये तीन बन्धन हैं, ये जिनको हैं उनका वेद वचनानुसार मोक्ष होता है, अतः भगवान् ने पीत रंग से वेद को, पटवस्त्र से यज्ञ को और निम्न वस्त्र बान्धने से देवताओं को धारण कर रखा है, यदि इन तीनों को धारण न किया हो तो "पीताम्बर" धारण किया है यों कहते थे, भगवदीय पदार्थ भी प्राकृतिक प्रकृति के नहीं होते हैं यह ही विज्ञेयण का सामर्थ्य है ॥१॥

आभास—एवं धर्मरूपतां निरूप्य अर्थरूपतामाह श्रीवत्सवक्षसमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के धर्मरूपता का वर्णन कर अब अर्थरूपता का वर्णन "श्रीवत्स" श्लोक से करते हैं--

श्लोक— श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभामुक्तकन्धरम् ।

पृथुदीर्घचतुर्बाहुं नवकञ्जारुणेक्षणम् ॥२॥

श्री सुबोधिनी की हिन्दो टीका-राजस-प्रकरण-साधन अवान्तर प्रकरण अध्याय-२ [७५

श्लोकार्थ—छाती पर श्रीवत्स का चिन्ह धारण किए हुए देदीप्यमान कौस्तुभ मणि को कण्ठ में धारण किए हुवे मोटी और लम्बी चार भुजाओं वाले और नवीन कमल जैसे लाल नेत्र वाले “उन (भगवान्) को देखकर ॥२॥

सुबोधिनी—श्रीवत्सी वक्षसि यस्येति । दक्षिणावर्तरोमरेखायां सुवर्णरेखावत्तेजोविशेषः श्रीवत्सशब्देनोच्यते । वक्षसि जीवः सन्निहित इति तत्रैव भगवता अर्थः स्थापितः सुतराम् । दक्षिणस्तनो धर्मो भवतीति धर्मप्रतिष्ठित एवार्थो भगवता परिगृहीतः । अत एव तत्र जीवप्रतिष्ठाम् ह । भ्राजत्कौस्तुभेन मुक्ता कन्धरा यस्येति । ‘पुरुषः काममय’ इति कामस्तन्निरूपणेन निरूपितः । मोक्षस्तु स्वनेत्र दीयत इति प्रसङ्गादन्यदानमपि

चतुर्भुजत्वेन निरूपयति पृथुदीर्घेति । पृथ्वो दीर्घाः चत्वारो भुजा यस्येति । कृपया ज्ञानमपि प्रयच्छतीति ज्ञापनार्थमाह नवकञ्जारुणक्षणांमिति । नवकमलवदरुणे ईक्षणे यस्य । नूतनत्वेन कालाग्रासः, कञ्जत्वेन सात्त्विकता, अरुणत्वेन राजसता च, ईक्षणस्य निरूपिता । तेन सरसा सदया ज्ञानदृष्टिर्भगवदीया भक्ति साधयतीति पञ्चमोऽपि पुरुषार्थो निरूपितः ॥

व्याख्यानार्थ—ओ अंग में दक्षिण तरफ वाली रोमों की रेखा में जो सुवर्ण की रेखा सकल विशेष तेज दृग्गोचर होती है उसको “श्रीवत्स” कहते हैं वह जिसकी छाती पर शोभायमान है, जीव छाती के निकट स्थित है, अतः भगवान् ने ‘अर्थ’ अतिशय कर वहाँ ही पर धारण किया है दक्षिण स्तन धर्म है, इसलिए धर्म में स्थित ही अर्थ भगवान् ने ग्रहण किया है अतएव वहाँ जीव की स्थिति कहते हैं, देदीप्यमान कौस्तुभमणि को कण्ठ में धारण कर यह दिखाया है कि मैंने “काम” को भी धारण किया है, कारण कि श्रुति कहती है, कि ‘पुरुषकाममयः’ इस श्रुति को चरितार्थ कर दिखाया है मोक्ष तो अपने आप ही देते हैं शेष अन्य दान भी प्रसंग आने पर देते हैं जिसको “चतुर्भुज” होने से निरूपण करते हैं कि आपकी चार भुजाएँ मोटी और लम्बी हैं, कृपा कर ज्ञान भी देते हैं, इसको जताने के लिए कहा है, कि आपके नेत्र नवीन कमल सदृश लाल हैं, नेत्रों की नवीनता से यह कहा है कि जिस पर आपकी कृपा दृष्टि पड़ती है उसको, काल अपना ग्रास नहीं बना सकता है, कमलपत्र से सात्त्विकता प्रकट की है अरुणपत्र से राजसता आविर्भूत की है, इससे यह कहा है, कि रस और दया से युक्त भगवान् को ज्ञान दृष्टि जिस पर पड़ती है, उसकी भक्ति सिद्ध हो जाती है अर्थात् वह जीव भक्त बन जाता है, इस प्रकार पाँचवा पुरुषार्थ भी निरूपण किया है ॥२॥

आभास—प्रार्थनावसर इति व्यापयति नित्यप्रमुदितमिति ।

आभासार्थ—यह प्रार्थना का अवसर है यह “नित्यप्रमुदित” श्लोक से प्रकट करते हैं--

श्लोक—नित्यप्रमुदितं श्रीमत्सुकपोलं शुचिस्मितम् ।

मुखारविन्द विभ्राणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥३॥

श्लोकार्थ—नित्य आनन्दयुक्त, शोभायुक्त, सुन्दर कपोल वाले, मनोहर मन्द मुसक्यान वाले, चमकीले मकर कुण्डलों वाले मुखारविन्द को धारण किए हुए उनको देखकर ॥३॥

सुबोधिनी—एवं सर्वपुरुषार्थदातारं भगवन्तं निरूप्य, मुखारविन्दमपि पञ्चभिविशेषणै, विशिष्टं पञ्चपर्वविद्यारूपं स्वतन्त्रभक्तिमार्गत्वेन निरूपयन्नाह श्रीमदिति । मुखारविन्दं विभ्राणमिति भगवद्विशेषणम् । स मार्गो भगवतैव स्थाप्यत इति स्थापयितुम् । तदपि श्रीयुक्तं भवति परमसुन्दरम् । भगवानिव । सुष्ठु कपोले यस्येति ।

प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रकारेणापि रसानुभवस्थानयुक्तम् । शुचि शुद्धं स्मितं यस्मिन्निति । सेवनार्थमेव समीचीनं मोहं संपादयति, नान्यथेति निरूपितम् । स्फुरन्ती मकरसदृशे कुण्डले यस्येति । वह्निर्निर्गमने ग्रासार्थं स्थापिताविव मकरतुल्यौ वेदौ निरूपितौ । मोक्षदित्सया गच्छन् भगवन्मार्गं भक्तिमार्गं च स्थापयतीति निरूपितम् ॥३॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार सर्व पुरुषार्थों के देने वाले भगवान् का निरूपण कर, पाँच विशेषणों से युक्त पंचपर्व विद्यारूप मुखारविन्द को भी स्वतन्त्र भक्तिमार्गपने से निरूपण करते हुए कहते हैं, कि वह स्वतन्त्र भक्तिमार्ग भगवान् ही स्थापन करते हैं, इस बात को प्रसिद्ध करने के लिए कहा जाता है कि भगवान् का स्वतन्त्र भक्ति रूप मुखारविन्द भगवान् जैसा ही परम सुन्दर है उस मुखारविन्द के कपोल ऐसे सुन्दर हैं, जिनसे प्रवृत्ति निवृत्ति प्रकार से भी रसके आस्वादन का अनुभव किया जाता है, और उसको शुद्ध मनोहर मुसक्यान भगवत्सेवन के लिए उपयोगी मोह उत्पन्न करती है अन्य प्रकार का मोह नहीं करती है, उस मुखारविन्द के कर्णस्थानों में भगवान् ने मकराकृति कुण्डल धारण किए हैं जो चमक रहे हैं जिसका आशय यह है, कि जो भक्ति मार्ग से बाहर निकलेंगे अर्थात् भक्ति मार्ग का त्याग करेंगे उनको यह वेद रूप मकर ग्रस लेंगे अर्थात् वे काल के आघोन हो जायेंगे, भगवान् मोक्षार्थ पधारते हुए भगवन्मार्ग तथा भक्ति मार्ग की भी स्थापना करते हैं, यों निरूपण किया है ॥३॥

आभास—एतादृशो भगवानेव भवतीति नारदशिक्षया ज्ञातवानित्याह वासुदेवो ह्ययमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार के तो भगवान् ही होते हैं यों नारद की शिक्षा से समझ लिया, जिसका वर्णन “वासुदेवो” श्लोक में करता है—

श्लोक—वासुदेवो ह्ययमिति पुमाम् श्रीवत्सलाञ्छनः ।

चतुर्भुजोऽरविन्दाक्षो वनमाल्यतिसुन्दरः ॥४॥

श्लोकार्थ—श्री वत्स के चिन्ह वाले हैं, चतुर्भुज रूप हैं, कमल जंसे नेत्र वाले हैं, वनमाला भी धारण की है और अत्यन्त रमणीय हैं तथा पुरुष हैं अतः यह ही वासुदेव है ॥४॥

सुबोधिनी—सत्त्वे भाविर्भूतः मोक्षदाता वा अयमेव वासुदेव इति निश्चयं कृतवान् । कथं निश्चय इत्याशङ्क्य असाधारणानि षड्गुणरूपाणि षड्विशेषणान्याह । इतीति निश्चयार्थः । यतः पुमान्, न तु प्रकृतिः । दिव्यदृष्ट्या पश्यतीति सर्वजगतः प्राकृतत्वं, भगवतः पुरुषत्वं च, दृष्टवान् । अनेनैश्वर्यमपि निरूपितम् । 'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणी'ति वाक्यात् तेषां पुरुषरूपत्वं न बाधकम्, प्रत्युत मूलस्य पुरुषत्वे तेषां पुरुषरूपत्वमुपपद्यत इति साधकत्वमेव । श्रीवत्सो लाञ्छनं यस्येति । क्रियाशक्तिः पूर्णा वीर्यत्वेन निरूपिता ।

भगवत्येव सा यतः । ततो यशो निरूपयन् सर्वपुरुषार्थदातृत्वे तद्भवतीति चतुर्भुजत्वमाह । ततो दृष्ट्यैव तापहारकत्वं भक्तिप्रदत्वेन निरूपयन् श्रियं निरूपयति अरविन्दाक्ष इति । रविव्यतिरिक्तान् सर्वानेव ह्यति खण्डयति । महातेजस्विनमेव स्थापयतीति तादृशमक्षि निरूपयन् श्रियं भक्तिं च निरूपितवान् । वनमालां अन्तः प्रवेश्य ज्ञानवत्तिष्ठतीति ज्ञाननिरूपणेन पूर्णता निरूपिता । अतिसुन्दरः सर्वथा कल्मषाभावात् । देशपरित्याग एव हि वैराग्यमिति । अतः कारणात् वासुदेव इति निश्चयः ॥४॥

व्याख्यार्थ—सतोगुण में आविर्भूत अथवा मोक्ष दाता यह ही वासुदेव हैं, यों निश्चय किया, निश्चय कैसे किया ? वह बताते हैं कि असाधारण जो छः गुण हैं उनको सिद्ध करने के लिए छः विशेषण कहते हैं । इति पद यहाँ निश्चय अर्थ में दिया है, क्योंकि पुरुष हैं, न कि प्रकृति है दिव्य दृष्टि से देखा, कि सारा जगत् प्राकृत है, एक यह भगवान् ही अप्राकृत पुरुष रूप हैं, यों कह कर भगवान् का 'ऐश्वर्य' धर्म प्रकट किया है "विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि" अर्थ विष्णु के तीन रूप हैं, इस श्रुति के अनुसार उनके पुरुष रूप में किसी प्रकार बाध नहीं है, वल्कि मूल में पुरुष रूप होने से इनका पुरुष रूप बन सकता है, यों साधकता है ही, जिसको श्रीवत्स का चिन्ह है जिससे पूर्ण क्रिया शक्ति दिखाई और इससे "वीर्य" धर्म कहा क्योंकि वह क्रिया शक्ति भगवान् में ही है, अनन्तर सर्व पुरुषार्थ दातापन होने से ही "यश" होता है उसका निरूपण करते हुए कहते हैं कि चतुर्भुज हैं अतः चारभुजाओं से चार पुरुषार्थ सिद्ध करते हैं स्वस्वरूप से पाँचवां भक्ति पुरुषार्थ का भी कृपा दान करते हैं, अनन्तर "अरविन्दाक्ष" कमल नेत्र कहने से यह बताया है कि आपकी दृष्टि से कमलवत् विरह ताप का नाश कर भक्ति प्रद हैं, इससे आपका (श्री) गुण दर्शाया है, अरविन्दाक्ष का अन्य प्रकार से अर्थ करते हैं, कि आपके नेत्र रवि (सूर्य) के सिवाय सर्व को खण्डन करने वाले हैं महातेजस्वी का ही स्थापन करते हैं, यों कह कर यह बताया है, कि नेत्र "श्री" और भक्ति देने वाले हैं वन माला धारण कर (१०)

यह बताया है, कि आप ज्ञान की भाँति अन्तःकरण में प्रविष्ट होकर स्थिति करते हैं, इसमें आपकी पूर्णता प्रकट की है, अति सुन्दर हैं, इससे आप में किसी प्रकार का कल्मष नहीं है, यह सिद्ध किया है देश का परित्याग ही "वैराग्य" है। इस प्रकार षड् गुण समुक्त होने से निश्चय है कि ये ही वासुदेव हैं ॥ ४ ॥

श्लोक—लक्षणैर्नारदप्रोक्तैर्नान्यो भवितुमर्हति ।

निरायुधश्चलन्पद्भ्यां योत्स्येऽनेन निरायुधः ॥५॥

श्लोकार्थ—नारदजी ने जो लक्षण कहे थे वे इसमें ही (इनमें) हैं, अतः यह कोई दूसरे नहीं हैं, बिना आयुधों के पैदल जा रहे हैं इसलिए मैं भी इनसे बिना आयुध लिए लड़ूँगा ॥५॥

सुबोधिनी—किञ्च, लक्षणैरिति । नारदोक्तैः वासुदेवादयो भवितुं नार्हति । पुराणान्तरादत्र कथानुसन्धेया । गतो हि नारदः कालयवनमाह । यादवाः त्वत्सदृशाः इति, परं कृष्णो रक्षकः स च सर्वथा जातुमेवाशक्यः कुतो जय्यः । कथमशक्य इत्यकाङ्क्षायां दूतनान्वनेकानि रूपाणि संपादयतीत्युक्त्वाह त त्वं न जास्यसीति । ततो विशेषजिज्ञासायां लक्षणानि निरूपितवान् । स एकाकी निरायुधः अयुध्यमानः सर्वाभरणभूषितः पदातिनिर्गमिष्यतीति । तं यः सायुधः

अश्वाद्यारूढोनुगच्छेत्, तं पापं प्रसर्पदिति । कालयवनस्यापि स्वपापादेव भयं, नान्यत इति निरूपितम् । अतोऽस्मिन्नारदोक्तलक्षणानि वतन्त इति वासुदेवश्च । तर्हि किं कारुष्यसीत्याशङ्कयामाह निरायुध इति । यतोऽयं निरायुधः पद्भ्यां च चलन् गच्छति, अतोऽहमपि निरायुध एव गमिष्यामि, पद्भ्यामेव चलन्, ततो योत्स्ये मल्लप्रकारेण । अनेन सह युद्धार्थमेव यतः समागतमिति । अहमपि निरायुधः, अयमपीति ॥५॥

व्याख्यार्थ—नारदजी के कहे हुए लक्षणों से निश्चित है कि यह ही वासुदेव है, अन्य हो नहीं सकते हैं, दूसरे किसी पुराण की कथा यहाँ विचार में लानी चाहिए, नारद ने आकर कालयवन को कहा, कि यद्यपि यादव तेरे समान हैं, किन्तु उनका रक्षक कृष्ण है और वह पहचानना कठिन है तब जय कैसे होगी ? वह क्यों नहीं पहचाना जाता है ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वह अनेक नवीन रूप धारण करते हैं, अतः तू उनको जान नहीं सकेगा तब कालयवन ने उनके जानने को विशेष इच्छा प्रकट की तब नारदजी ने भगवान् के लक्षणों को कहा, कि वे अकेले बिना आयुध लिए पैदल जाते होंगे और सर्व आभरणों से भूषित होंगे तथा लड़ाई भी नहीं करते होंगे, जो घोड़े पर चढ़ हथियार ले उनके पीछे जाएगा, उसको पाप लगेगा यह सुनकर कालयवन को भी अपने आप

से ही भय था, न दूसरे से, यह कथा वहाँ कही है, अतः इनमें नारदजी के कहे हुए लक्षण है, जैसे विना आयुध सर्वाभरण भूषित है और उड़ते भी नहीं है तथा पैदल जा रहे हैं, तब क्या करना चाहिए यह विचार कर, निश्चय किया, कि जब ये निरायुध पैदल जा रहे हैं तो मैं भी विना आयुधों के पैदल जा के इनके साथ मल्ल युद्ध से लड़ूँगा, क्योंकि मैं इनके साथ लड़ने के लिए ही आया हूँ। मैं भी विना आयुधों के हूँ और ये भी वैसे ही हैं ॥१॥

श्लोक—इति निश्चित्य यवनः प्राद्रवन्तं पराङ्मुखम् ।

अन्वधावज्जिघृक्षुस्तं दुरापमपि योगिनाम् ॥६॥

श्लोकार्थ—कालयवन इस प्रकार निश्चय कर, विमुख होकर भागते हुए उन कृष्ण को पकड़ने के लिए पीछे दौड़ने लगा जिनको योगी भी नहीं पकड़ सकते हैं ॥६॥

सुबोधिनी—इतीति । एवं निश्चित्य पराङ्मुखमपि भगवन्तं प्राद्रवत् । नारदो हि हितप्रश्ने उक्तवान् । यथा भगवान् करोति, तथा कर्तव्यमिति, तदा ते जयः जीवनं च भविष्यतीति । तदनेनान्यथाबुद्धम् । भगवान् पराङ्मुखः, अयं भगवत्सम्मुखो भूत्वा सर्पणं कृतवानिति । वाक्याजाने हेतुमाह यवन इति । जातिदोषात् न ज्ञातवानित्यर्थः । यदि गच्छति भगवति

तूष्णीमयं तिष्ठेत्, बलभद्रेण वा युद्धं कुर्यात्, तदा जयो भवेदपि, भगवांश्च सम्मुखमागच्छेत्, तथागमने प्रयोजनाभावात्, अतः पराङ्मुखमपि भगवन्तं प्राद्रवन्तं जिघृक्षुः सन्स्वयमन्वधावत् । ननु जिघृक्षया गमनमुचितमेवेत्याशङ्क्याह यागिनामपि दुरापमिति । अत्र प्रमाणं तमिति । तथैव प्रसिद्धम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार निश्चय कर विमुख भी भगवान् के पीछे तेज दौड़ने लगा, नारदजी ने तो इसको कल्याण होने का मार्ग बताया था कि जैसे भगवान् करे वैसे तू भी करना तब तेरी जय होगी तथा जीवन भी होगा, वह उनका कहना उसने अन्य प्रकार समझा, भगवान् विमुख थे और यह भगवान् के सम्मुख होकर दौड़ने लगा नारदजी का कथन इसने यवन जाति दोष होने से, पूरा न समझा, भगवान् के जाने पर, यह चुप होकर खड़ा रह जाता उनके पीछे दौड़ता नहीं, तो अथवा बलभद्रजी से युद्ध करता तो इसकी जीत भी होती और भगवान् सम्मुख भी आ जाते हैं, वैसे जाने के लिए कोई प्रयोजन नहीं था, विमुख भगवान् के भी पीछे दौड़ा, क्योंकि उनको पकड़ने की इमकी इच्छा थी, पकड़ने के लिए पीछे तेजी से जाना तो योग्य ही था इस पर कहते हैं, योग्य नहीं था । कारण कि जिनको पकड़ने के लिए जघनता से जा रहा था, उनको योगी भी नहीं पहुँचते हैं तो इसकी क्या शक्ति है, कि उनको पकड़ ले इसमें प्रमाण क्या ? इसलिए श्लोक में “तं” शब्द देकर यह बताया है कि यह तो प्रसिद्ध ही है ॥६॥

आभास—ननु कियद्दूरं गत्वा अप्राप्तौ कथं न निवृत्त इति चेत्, तत्राह हस्तप्राप्तमिवेति ।

आभासार्थ—कितनीक दूर जाने पर लौटकर क्यों न आया ? इसका उत्तर “हस्तप्राप्तमिवा” श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—हस्तप्राप्तमिवात्मानं हरिणा स पदे पदे ।

नीतो दर्शयता दूरं यवनेशोऽद्विकन्दरम् ॥७॥

श्लोकार्थ—भगवान् पद-पद पर यों दिखाते थे, कि अभी पकड़ में आया, यों करते हुए उसको ऐसे दूर ले गए जैसे वह यवनेश पर्वत की कन्दरा में पहुँच गया ॥ ७ ॥

सुबोधिनी—स हि हरिणा नीतः । तर्हि वञ्चयतीति कथं न ज्ञातवान्, तत्राह । पदे पदे हस्तप्राप्तमात्मानं भगवन्तं मन्यमान इति । हस्त-मात्रगमनानन्तरं भगवान् प्राप्य इति स जानन् गतः । नहि कश्चिद्वस्तमात्रादुदासीनो भवति । अत आकांक्षा न निवृत्ता । यदा हि प्राणी क्रियया आत्मानं प्राप्स्यामीति मन्यते, स हि भ्रान्त एव भवति । ननु भगवता वा किमर्थं नीत इति चेत्, तत्राह हरिणेति । स हि हरिः । तस्याप्यविद्या हर्तव्या, मुचुकुन्दस्य च निद्रेति । भगवान् हि यः स्वात्मानमनुसरति, तन्नोपेक्षत इति, पदे पदे

तथा बुद्धिमुत्पादितवान् । तदाह दर्शयनेति । पदे पदे आत्मानं हस्तप्राप्तं दर्शयता । उभयत्रापीदं वाक्यं युज्यते । अतो गन्तुर्नेतुश्च इच्छाया अनिवृत्तत्वात् दूरं नीतः । ततः अद्रेः कन्दरा यत्र तत्स्थानमपि नीतः । नन्वेतावत्यपि दूरे अप्राप्तिश्चेत्, तदा नीतिशास्त्रविचारेणापि 'शिथिलश्च सुबद्धाश्चे'ति न्यायेन कथं न निवृत्त इति चेत्, तत्राह यवनेश इति । दुष्टानां स्वामी न नीतिज्ञः । मथुरातो दशयोजनान्ते धवलपुरमिति प्रसिद्धमिदानीम्, पूर्वं तु आसीत् मुचुकुन्दगुहा ॥ ७ ॥

व्याख्यार्थ—कालयवन लौटा क्यों नहीं ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि उसको निश्चय हरि स्वयं ले गए, उसने क्यों नहीं समझा, कि मुझे ठगते हैं इस पर इसको यह ठगने को बात समझ में ही नहीं आई, क्योंकि इसने देखा कि दूर नहीं है, अभी पकड़ लेता हूँ, यों समझ कर जाने लगा, कोई भी इस प्रकार समझे कि केवल हाथ जितना फासला है, तो कोई उदासीन हो कर लौटता नहीं है, इसलिए चाह मिटी नहीं, जब मनुष्य समझता है, कि यों क्रिया करने से भगवान् को पा लूँगा तब समझना चाहिए ऐसा समझने वाला विलकुल भूला हुआ है, भला भगवान् इसको क्यों ले जा रहे थे ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वे सब की अविद्या का हरण करने वाले हैं, जिससे आप का नाम यहाँ “हरि” कहा है इसकी भी अविद्या नष्ट करनी है और मुचुकुन्द की निद्रा भी हरण

करनी थी, आप भगवान् हैं, अतः जो आपके पीछे चलता है उसकी उपेक्षा नहीं करते है, इस प्रकार पद पद में उसमें जान पैदा करने लगे, कैसे ? तो कहते हैं कि पद पद में अपने को हाथ में आया यों दिखा कर ज्ञान देने लगे, यह वाक्य दोनों तरफ लग सकता है, अतः यवन पकड़ने की इच्छा से पीछे जा रहा था उसकी इच्छा थी, कि मैं इनको पकड़ लूँ वह इच्छा इसकी पूर्ण नहीं हुई थी, वैसे लेजाने वाले भगवान् की, इच्छा थी कि इसको उसके द्वार में ले चलूँ जहाँ मुचुकुन्द सोया हुआ है, इस प्रकार दोनों की इच्छाएँ पूरी नहीं हुई थी इस लिए भगवान् इसको दूर लेजा रहे थे, अतः वह पर्वत की गुफा जहाँ इसका स्थान था वहाँ वे गए इतनी दूर ले जाने पर भी जब पकड़ में नहीं आए तब नीति शास्त्र के 'शिथिल और सुबुद्ध' इस न्यायानुसार क्यों नहीं लौटाया ? इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं कि "यवनेशः" दुष्टों का स्वामी है, अतः नीति नहीं जानता है। मथुरा से चालीस कोस पर, अब प्रसिद्ध धवल "धोल" पुर नगर जहाँ है वहाँ पहले वहाँ मुचुकुन्द की गुफा थी ॥॥

आभाम—क्रियया प्राप्त्यभावमाशङ्क्य, जपादिनेव वचनाद्भगवान् प्राप्तव्य इति मत्वा, मध्ये वचनमप्युक्तवानित्याह पलायनं यदुकुल इति ।

आभासार्थ—जब पीछे जाने की क्रिया से भगवान् नहीं प्राप्त हुए तब जय आदि की भाँति वचनों से भगवान् को प्राप्त करना चाहिए यों मान कर, बीच-बीच में वचन भी कहने लगा वे वचन "पलायनं" श्लोक में कहते है ।

श्लोक—पलायनं यदुकुले जातस्य तव नोचितम् ।

इति क्षिपन्ननुगतो नैनं प्रापाहताशुभः ॥८॥

श्लोकार्थ—यदुकुल में आविर्भूत आपको इस प्रकार भागना योग्य नहीं है, ऐसे तिरस्कार के वचन कहता हुआ पीछे जा रहा था, परन्तु उनको पा न सका, कारण कि इसके पाप अभी तक नाश नहीं हुए हैं ॥८॥

सुबोधिनी—यदुहि धर्मात्मा । अन्यथा अस्मत्सदृशत्वेन कथमुक्तो भवेत् । तादृशवंशे जातस्य सर्वागम्यस्यापि अवतारधर्मानुसरण-मुचितमिति पलायनमनुचितमित्यर्थः । ननु भगवान् कथमेतद्वाक्यं न गृहीतवान्, तत्रह इति क्षिपन्ननुगत इति । स हि न यथार्थतया

वदति, किन्तु तिरस्कारार्थं वदतीति । यदुकुले तस्य श्रद्धाभावात् किं तस्याग्रे यदुकुलप्रतिष्ठा-रक्षणेनेति युक्तमेव भगवतस्तद्वाक्यानङ्गी-करणम् । अत एव नैनं प्राप । अन्यथा भगव-दनुगमने भगवान् प्राप्तः स्यात् । तेन वचनेन पापमपि जातमित्याह अहताशुभ इति । यतः

अशुभमपि न निवृत्तम्, अतो न प्राप । पूर्वाशुभ-
मिति केचित् । तद्भगवद्दर्शनेनानुगमनेन च
निवर्त्यत एवेत्युपेक्षणीयम् । आहतः अशुभेनेति वा । वाक्यजनितपापेन पृष्ठतस्ताडितः न भगवन्तं
प्रापेत्यर्थः ॥८॥

व्याख्यार्थ—यदु धर्मात्मा थे, यदि धर्मात्मा न हुए होते तो, हमारे सरोखे उनको थोड़ा कैसे कहे, वैसे धर्मिष्ठवंश में पैदा हुए और सबसे अगम्य का भी अवतार धर्म का अनुसरण करना योग्य है किन्तु भागना अयोग्य है, जब यवन ने यह वचन कहे तब भगवान् ने इन वचनों को क्यों नहीं माने ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि वह यवन यह वचन बोलता हुआ पीछे जा रहा था, भगवान् ने इस लिए नहीं माना, कि ये वचन तिरस्कार करने के लिए बोल रहा था, अतः वे वचन मानने के योग्य नहीं थे, उसकी यदुकुल में श्रद्धा नहीं थी, इस लिए उसके आगे यदुकुल की प्रतिष्ठा रखने से क्या लाभ ? अतः भगवान् ने उसके वचन अंगीकार नहीं किए वह योग्य हो किया है, इसलिए वह भगवान् को पा न सका, नहीं तो भगवान् के अनुसरण करने से, भगवान् मिलही जावे उस वचन से इसको पाप भी लगा इस लिए कहा कि “अहताशुभः” इसके पाप नष्ट नहीं हुए जिससे, भगवान् को प्राप्त न कर सका, कोई कहते हैं कि अगले अशुभ थे इस लिए प्राप्त नहीं कर सका यदि वे पाप पूर्वजन्म के होते तो भगवान् के दर्शन और अनुगमन करने से मिट जाते अतः इस सिद्धान्त की उपेक्षा करनी चाहिए अथवा अशुभ से नष्ट हुआ यों अर्थ करना चाहिए कहे हुए वचनों से उत्पन्न पाप में पीछे से ताड़ित हुवा इस लिए ही भगवान् को प्राप्त हुआ ॥८॥

आभास—भगवान् पुनर्वराहो हिरण्याक्षवाक्यमिव सर्वसमर्थोऽपि, कार्यगौरवं मन्यमानोऽपि, न निवृत्त इत्याह एव क्षिप्तोऽपीति ।

आभासार्थ—फिर वराहावतार में हिरण्याक्ष के वाक्यों की भाँति यहाँ सर्व समर्थ होते हुए भी भगवान् कार्य गौरव मानते हुए न लौटे जिसका वर्णन “एवं क्षिप्तोऽपि” श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—एवं क्षिप्तोऽपि भगवान्प्राविशद्गिरिकन्दरम् ।

सोऽपि प्रविष्टस्तत्रान्यं शयानं ददृशे नरम् ॥९॥

श्लोकार्थ—ऐसे तिरस्कृत होते हुए भी भगवान् गिरि की कन्दरा में प्रविष्ट हुए वह भी अन्दर गया, वहाँ दूसरे सोए हुए पुरुष को देखा ।

सुबोधिनी—‘वधानुकल्पः स्वद्रोहे भक्तद्रोहे वधः स्मृत’ इति वधानुकल्पमेव कर्तुं गिरिकन्दरं प्राविशत् । एतावानेव भगवद्व्यापारः निर्गुणो हि फले निमित्तमिति ज्ञापयितुं निरूपितः । तद्भगवति फलितमित्याह सोऽपि प्रविष्ट इति । यदा भगवान् गिरिकन्दरं प्राविशत्, तदा सोऽपि

प्रविष्टः । प्रवेशानन्तरं तस्य भ्रमो जात इत्याह तत्रान्यं शयानं नरदृश इति । नरत्वमेव तत्र प्रतीतम् । नत्वन्यद्वैलक्षण्यम् । यद्यपि ससामग्रीकः शेते, तथापि पूर्वमेव शयनार्थं सामग्रीं प्रेषयित्वा पश्चादागत्य शयनं कृतवानिति तस्य बुद्धिः ॥६॥

व्याख्यार्थ—यदि कोई भक्त का द्रोह करे, तो उसको वध जैसा सामान्य दण्ड देना चाहिए, यदि भगवान् का द्रोह करे तो वध का दण्ड देना चाहिए अथवा भगवान् का द्रोह करे तो वध जैसा सामान्य दण्ड देना चाहिए और भक्त का द्रोह करे तो वध का दण्ड देना चाहिए इस वाक्य के अनुसार “वधानुकल्प” वध से कुछ कम दण्ड—ही करने के लिए पर्वत की गुफा में प्रवेश कर गए, इस प्रकार ही निर्गुण भगवान् की क्रिया फल में निमित्त कारण है, यों जताने के लिए निरूपण किया है, अर्थात् भगवान् गुफा में गए उसका फल जो वध होना था, वह फल यवन को मिला क्योंकि यवन भी गुफा में गया, जाने के बाद उसको भ्रम हुआ, क्या भ्रम हुआ ? भ्रम यह हुआ, कि उसने वहाँ एक दूसरे पुरुष को सोया हुआ देखा, उसको वहाँ केवल पुरुषपने की ही प्रतीति हुई। उसमें जो विलक्षणता थी उसको प्रतीत न हुई, यद्यपि वह पुरुष सकल सामग्री महित सो रहा था किन्तु इसकी बुद्धि यों हुई कि अपनी सकल सामग्री पहले ही भेज दी है क्योंकि इनको सोना था ऐसा उसकी बुद्धि में भ्रम हुआ ॥६॥

आभास—ननु भगवान् शयनार्थं चेदागतः, तदा तवागमनमनुचितमिति सुतराम-तिक्रमोऽनुचित इत्याशङ्क्य, तस्य भ्रान्तस्याभिप्रायमाह नन्वसाविति ।

आभासार्थ—यदि भगवान् सोने के लिए ही आए हैं तो तेरा आना योग्य नहीं है, इस लिए अतिक्रम करना अयोग्य हैं ऐसी शंका कर उस भूले हुए का अभिप्राय “नन्वसौ” श्लोक में करते हैं—

श्लोक—नन्वसौ दूरमानोय शेते मामिह साधुवत् ।

इति मत्वाच्युतं मूढस्तं पदा समताडयत् ॥१०॥

श्लोकार्थ—कालयवन मन में कहने लगा, कि यह मुझे इतना दूर लाकर आप साधु की भाँति सो रहे हैं अच्युत को यों समझ उस पुरुष को लात मारीं ॥१०॥

सुबोधिनी—स्वयमागच्छतु नाम. कथं नोक्त-
वान् शयनाथं गच्छामीति, युद्धं वा न करिष्या-
मीति । यो हि यमनुधावति, तस्यानिषेधे 'अप्रति-
षिद्धमनुमतं भवती'ति न्यायेन दूरे गत्वा युद्धं
करिष्यतीत्यभिप्रायो भवति । निकटे ससहायो
बलवान् भवतीति । तस्मादेवं भ्रमं जनायत्वा
एतावद्दूरमानोय, युद्धमप्यकृत्वा, साधुवत् शेते ।
यो हि वञ्चयति, स न साधुः । असाधोरनिद्राण-
स्योत्थापनं न दोषायेति दुर्बुद्धिः शयान भगवन्तं

मत्वा पदा समताडयत् । पादयोर्व्यथा जनितेति,
महांश्चातिक्रमो भवत्विति । शयानोद्बोधनं पाद-
ताडनमतिक्रमार्थमच्युतबुद्धिश्चेति त्रयो दोषाः ।
ननु महानयं महत्तश्चोपदेशं प्राप्य कथमेवं दुर्बुद्धि-
जात इति चेत्, तत्राह मूढ इति । स्वभावतो
मूढः । अच्युत इति तद्बुद्ध्या ताडितत्वान्महतोऽपि
पादप्रहारे न राज्ञः कश्चिदपकारो जात इति सूचि-
तम् ॥१०॥

व्याख्यानार्थ—यवन कहने लगा. आप आजाते, मुझे क्यों ले आए ? कह देते, कि मैं सोने के लिए
जा रहा हूँ और लड़ूंगा नहीं, जो कोई किसी के पीछे दौड़ता है तो उसको आने के लिये यदि रोका न
जाए तो समझा जाता है, कि इसकी आने में सम्मति है, यह वहाँ दूर चल कर लड़ाई करेगा ऐसा
इसका अभिप्राय है यों समझा जाता है, क्योंकि वहाँ निकट में वह शत्रु बलवान् और उसकी सहायता
करने वाले भी हैं दूर कोई नहीं होगा इस प्रकार भ्रम पैदा कर इतना दूर लाकर अब आप युद्ध भी
न कर, साधु की भाँति सो रहे हैं जो इस प्रकार ठगते हैं वह साधु नहीं हैं. असाधु को और जो नीन्द
में नहीं है, उसको जगाने में कोई दोष नहीं है, इस प्रकार की दुर्बुद्धि से उस सोए हुए को भगवान्
समझ कर लात लगा दी, पादों के लगने से व्यथा हुई और महान् अतिक्रम है, सोए हुए को जगाना,
लात मारना, अतिक्रम के लिए, अच्युत की बुद्धि. ये तीनों ही दोष हैं यह कालयवन महान् है और
महान् नारदजी का इसको उपदेश मिला है फिर इसको बुद्ध ऐसी कैसे हुई ? इसका उत्तर में कहा है,
कि "मूढ" स्वभाव से मूख है; यह अच्युत है इस बुद्धि से लात मारी जिससे राजा का कुछ भी उप-
कार न हुआ ॥१६॥

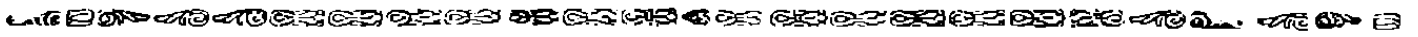
आभास—ततो यज्जातं तदाह स उत्थायेति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह "स उत्थाय" श्लोक में कहते हैं--

श्लोक—स उत्थाय चिरं सुप्तः शनैरुन्मील्य लोचने ।

दिशो विलोकयन्पार्श्वं तमद्राक्षीदवस्थितम् ॥११॥

श्लोकार्थ—बहुत दिनों से सोया हुआ, वह उठकर धीरे धीरे आँखों को खोल कर
चारों तरफ देखते हुए वाजु में खड़े हुए को देखा ॥११॥



सुबोधिनी — पादप्रहारेण चिरं सुप्तोप्युत्थाय
सर्वा दिशो विलोकयन् पार्श्वे तं कालयवन-
मद्राक्षीत् । स तु प्रथमतः तत्प्रतिकूलां दिशं

दृष्टवान्, ततः क्रमेण दृष्टिं प्रसारयन् द्वितीय-
पार्श्वे अवस्थितमुत्थितं पश्चाद्दृशे ॥११॥

व्याख्यार्थ — बहुत समय से सोया हुआ भी लात मारने से जगकर सब दिशाओं को देखते हुए समीप में उस कालयवन को देखा वह तो पहले ही उसके प्रतिकूल दिशा को देख रहा था, पश्चात् क्रम से दृष्टि को फैलाते हुए दूसरी तरफ जैसे स्थित था, वैसे उसको पश्चात् उठा हुआ देखा ॥११॥

आभास—ततः कोऽयमिति प्रश्नात्पूवमेव दर्शनमात्रेणैव स भस्मसाज्जात इत्याह
स तावत्तस्य रुष्टस्येति ।

आभाषार्थ—पश्चात् वह कौन है ? इस प्रकार पूछने से पहले ही केवल दर्शन होते ही यवन भस्म हो गया इसका वर्णन “स तावत्” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक — स तावत्तस्य रुष्टस्य दृष्टिपातेन भारत ।

देहेजेनाग्नि दग्धो भस्मसादभवत्क्षणात् ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे भारत ! क्रोधित हुए उसके दृष्टि पड़ने से, उस कालयवन की देह से अग्नि प्रकट हुई जिससे जल कर वह क्षण में भस्म हो गया ॥१२॥

सुबोधिनी—निरपराधस्ताडित इति तस्य
क्रोधः । अतो रुष्टस्य तस्य दृष्टिपातेन निमि-
त्तेन कालयवनदेहस्थित एवाग्निः काष्ठस्थितो
वह्निर्वह्निस्पर्शनेव प्रादुर्भूतः । ततो देहेजेनैवा-

ग्निना दग्धः सन् क्षणमात्रेणैव भस्मसादभवत् ।
बहिःस्थितोऽग्निः दवानल इवाल्पमेव दहेत्,
पलायनं वा कुर्यात् । अन्तःस्थितोऽग्निरिति
सर्वव्यापारं दूरीकृत्य भस्मसादेव कृतवान् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—बिना अपराध के उस सोए हुए को लात मारी, इसलिए वह क्रुद्ध हुआ, क्रोधित हुए उसकी दृष्टि पड़ने से कालयवन की देह में ही स्थित अग्नि जैसे काष्ठ में स्थित अग्नि के स्पर्श से प्रकट होती है, वैसे ही प्रकट हो गई, पश्चात् देह से उद्भूत अग्नि से जल कर क्षण में राख हो गया, बाहिर की अग्नि वन की अग्नि की भाँति थोड़ा ही जलावे, वा भाग जावे, भीतर की अग्नि ने तो सर्व प्रकार के व्यापार को दूर कर भस्म ही कर दिया ॥१२॥

आभास—प्रकृते भगवता यवनोऽयं यथाकथञ्चिन्मारित इति विवक्षितत्वाद्विशेषं न कथयिष्यतीत्याशङ्क्य सावधानं च शृणोतीति ख्यापयितुं राजा तं पृच्छति को नामेति ।

आभासार्थ—चालू प्रसंग में भगवान् ने इस यवन को किसी प्रकार मारा, यों विवक्षित होते हुए भी विशेष न कहेंगे यों शंकित हो कर और सावधानता से सुनता है इसको प्रसिद्ध करने के लिए राजा उसका प्रश्न “को नाम” श्लोक से करता है ।

राजोवाच—

श्लोक—को नाम स पुमान्ब्रह्मन्कस्य किंवीर्य एव च ।

कस्माद्गुहां गतः शिष्ये कितेजो यवनार्दनः ॥१३॥

श्लोकार्थ—राजा परीक्षित कहने लगा कि हे ब्रह्मन् उस पुरुष का नाम क्या था ? किस वंश का था ? उसका पराक्रम कैसा था ? जिससे कालयवन को भस्म कर डाला, वह गुफा में किस लिए जा कर सो रहा था ?

सुबोधिनी प्रसिद्ध्या अज्ञानं वारयति ।
'अन्य'मिति पुल्लिङ्गात् पुंस्त्वं ज्ञातमेव ।

अन्ये पञ्चार्था ज्ञातव्याः ।

व्याख्या—प्रसिद्धि से अज्ञान का निवारण करते हैं नवौं श्लोक में “अन्यं” शब्द पुल्लिङ्ग देकर बताया कि यह पुरुष है, यों तो जान लिया है, शेष पांच अर्थ जानने हैं वे पांच अर्थ कारिका में कहते हैं ।

कारिका—मापसंबन्धरूपाणि निमित्तं शयने तथा ।

दाहकत्वं दृष्टिमात्राद्ब्रह्मविज्ज्ञास्यते परः ॥१॥

कारिकार्थ—(१) नाम, (२) सम्बन्ध, (३) रूप, (४) सोने का कारण और (५) देखने से ही जलना ये पाँच अर्थ जानने हैं । श्लोक में “ब्रह्मन्” विशेषण देकर यह कहा है कि पूर्ण ब्रह्म ज्ञानी सब जानते हैं अतः परीक्षित शुकदेवजी को कहता है, कि आप यह सब मुझे बताओ ॥१॥

सुबोधिनी—कस्य संबन्धी, किं वीर्यं यस्य, | यस्येति किं तेजाः । यतो यवनादना जातः ।
 अन्यथा एकाकी सिंहादिसम्भाविते देशे कथं | अग्निसूर्यादीनामपि नैवंविधं तेजः सम्भवति ।
 शयीत । कस्माद्वा हेतोः उत्तमस्थानेषु विद्यमानेषु | यवनपदेन तस्यापि महत्त्वमुक्तम् । विशेषतो वक्त-
 गुहां गतः शेते । किं वा तस्य तेजः । किं तेजो | व्यैवैषा कथेति ॥१३॥

व्याख्यार्थ—किसका यह सम्बन्धी है ? इसका पराक्रम क्या है ? यदि विशेष पराक्रम न होता तो अकेला जिस प्रदेश में सिंह आदि हिंसक पशुओं के आने की संभावना है, वैसे प्रदेश में कैसे आकर सोवे ? अथवा उत्तम स्थानों के होते हुए भी गुफा में किस कारण से सोता है ? उसका तेज कैसा है ? कैसे तेज वाला है ? जिस तेज से यवन जनकर भस्म हो गया अग्नि सूर्य आदि का तेज भी ऐसा नहीं होता है, और जिसको जलाया है वह भी “महान्” है इस लिए ही उसको “यवन” कहा है इस लिए यह कथा मुझे विशेष रूप से कहनी चाहिए ॥१३॥

आभास - एतदर्थमेव भगवानागत इति तस्य विशेषमाह स इक्ष्वाकुकुल इति सप्तभिः ।

आभासार्थ—भगवान् इसीलिए ही आए है इससे उसका विशेष वर्णन “स इक्ष्वा-
 कुकुले” श्लोक में करते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—स इक्ष्वाकुकुले जातो मांधातृतनयो महान् ।

मुचुकुन्द इति ख्यातो ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ॥१४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि--वह इक्ष्वाकु कुल में उत्पन्न, मानधाता राजा का पुत्र था, ब्राह्मणों का भक्त और सत्य ही जिसकी लड़ाई है वैसे मुचुकुन्द नाम वाला बड़ा प्रसिद्ध हुआ था ॥१४॥

सुबोधिनी—भगवत्त्वमग्रे तस्य भविष्यतीति | तोऽपि महान् । कुलोत्कर्षः पितृरुत्कर्षः स्वरूपोत्कर्ष-
 भगवत्कर्तृवैषेति जापयितुं च । अन्यथा भगवद्व्य- | षंश्रोक्तः । तस्य नामोत्कर्षमाह मुचुकुन्द इति
 तिरिक्तकथा न श्रोतव्येति क्षोतृणां विरक्तिः | ख्यात इति । तस्य वैदिकं सहजं च धर्ममाह ब्रह्म-
 स्यात् । इक्ष्वाकोः कुले जातः । मनोः पुत्राणां | ण्यः सत्यसङ्गर इति । ब्राह्मणानां हितश्चेत्सर्वोऽपि
 मध्ये मुख्य इक्ष्वाकुः मानधाता चायोनिरजः, केवल- | वैदिको धर्मः सेत्स्यति । सत्यः सङ्गरो युद्धं यस्य
 पुसवनजलाञ्जातः । अप्राकृतबीजजोऽपि स्वरूप- | ॥१४॥

व्याख्यार्थ—यह भगवत्कथा ही है यह जताने के लिए कहा है कि उसका भगवत्त्व आगे प्रकट होगा, यदि यों न कहते तो श्रोता समझते कि यह भगवत्कथा नहीं है तो इससे उनकी विरक्ति हो जाती, इक्ष्वाकु के कुल में जन्मा है, मनु के पुत्रों में मुख्य इक्ष्वाकु है, मान्धाता तो योनि से उत्पन्न नहीं केवल पुंसवन के संस्कृत जल से उत्पन्न हुआ है, अलौकिक बीज से जन्म होने के कारण से भी तथा स्वरूप से महान् हैं कुल, पिता और स्वरूप इन तीनों से मान्धाता महान् होने से ही विशेष उत्कर्ष वाला है, अब चौथा उसके नाम का उत्कर्ष कहते हैं कि वह मुचुकुन्द नाम से प्रसिद्ध हुआ उसमें वैदिक धर्म स्वाभाविक था वह कहते हैं कि १-ब्रह्मण्यः, ब्राह्मणों का हितकारी था, उनका हित हुआ तो सम्पूर्ण वैदिक धर्म सिद्ध होगा, सत्यसंगरः सत्य ही जिसका युद्ध है, अर्थात् सत्यकार्यों को रक्षा के लिए लड़ाई करता था ॥१४॥

श्लोक—स याचितः सुरगणैरिन्द्राद्यैरात्मरक्षणे ।

असुरेभ्यः परितस्तैस्तद्रक्षां सोऽकरोच्चिरम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—दैत्यों से डरे हुए, इन्द्र आदि देवों ने अपनी रक्षा के लिए उससे प्रार्थना की थी, अतः उसने उनकी रक्षा बहुत समय तक की ॥१५॥

सुबोधिनी—एव षड्गुणयुक्त इति इन्द्राद्यै-
रात्मरक्षणे स याचितः । अनेन भगवत्तुल्यतैव
निरूपिता । स्वरूपतो लोकतः कार्यतश्च गुणाना-
मुत्कर्षो निरूपितः । संसाराद्धीताः महापुरुषमिव
प्रार्थितवन्तो भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह-असुरेभ्यः
परितस्तैरिति । ये हि देवानपि मारयन्ति, तानपि

मारयित्वा, रक्षां कृतवानित्याह तद्रक्षामिति ।
दैत्यानां पलायने पुनरागमनशङ्का भवतीति चिर-
कालं रक्षामकरोत् । यावदिन्द्रादयोऽतिपुष्टाः ।
क्षत्रियस्थायमेव धर्मः यज्ञादेरप्यधिक उक्तः
॥१५॥

व्याख्यार्थ— इस प्रकार वह षड्गुण युक्त था, अतः इन्द्र आदि देवों ने अपनी रक्षा के लिए उसको प्रार्थना की, इससे उसकी भगवान् से समानता दिखाई, स्वरूप से लोक से, और कार्य से गुणों का उत्कर्ष दिखाया, संसार से भयभीत मनुष्य जैसे पुरुषोत्तम को प्रार्थना करते हैं, वैसे ही देवों ने भी की होगी इस पर कहते हैं कि नहीं, वे तो असुरों से डरे हुए थे, जो असुर, देवा को भी मारते हैं उनको भी मार कर देवों की रक्षा की, दैत्य हार कर भाग गए किन्तु फिर न आ जावें, इस शंका से, बहुत समय तक उनको रक्षा करता रहा, तब तक रक्षा की, जब तक इन्द्रादि देव शक्तिमान् न बने थे उनके शक्तिमान् हो जाने के अनन्तर अपने स्थान पर लौट आया, क्षत्रियों का रक्षा करना ही धर्म है यज्ञादि से भी विशेष है ॥१५॥

आभास—सा च रक्षा पयर्वसानपरा जातेति रक्षाया अवधित्वं निरूपयन्नाह लब्ध्वा गुहमिति ।

आभासार्थ—वह रक्षा हद वाली—समाप्तिवाली—हुई, यों रक्षा की अवधि का निरूपण “लब्ध्वा गुहं” श्लोक में करते हैं—

श्लोक—लब्ध्वा गुहं ते स्वःपालं मुचुकुन्दमथाब्रुवन् ।

राजन्विरमतां कृच्छ्राद्भवः प्रविपालनात् ॥१६॥

श्लोकार्थ—वे देवता अपनी रक्षा करने वाले कार्तिकेय को प्राप्त कर मुचुकुन्द को कहने लगे कि हे राजन् ! आप हमारे पालनरूप कष्ट से अब विराम करिए ॥१६॥

सुबोधिनी—कार्तिकेयश्चेदुत्पन्नः, पश्चात्तार- कादयो हता इति तस्य सेनापतित्वे जाते पश्चाद्वि- रामं प्रार्थयामासुः । अनेनास्य रयिन्यायेन स्वार्थाभावः सूचितः । अथ स्वस्थाः सन्तः भिन्न- प्रक्रमेण राजानमब्रुवन् । पूर्व भीताः, इदानीं	संतुष्टा इति भिन्नप्रक्रमः । तेषां वाक्यान्त्याह राजन्निति । क्रियमाणमादौ व्यावर्तयन्त । नोऽस्माकं परिपालनरूपात् कृच्छ्रात् विरमता- मिति । यद्यपि स्वर्गे स्थितः, तथापि भोगाभावात् सर्वदा युद्धकरणाच्च क्लेश एव ॥१६॥
---	---

व्याख्यार्थ—कार्तिकेय उत्पन्न हुए, पश्चात् तारक आदि मारे, तब वे सेनापति हो गए, यों होने के अनन्तर, देवता राजा को विराम करने की प्रार्थना करने लगे इससे इसका “रयिन्याय से” स्वार्थ का अभाव सूचित किया, पश्चात् स्वस्थ अर्थात् शक्तिमान् एवं संतुष्ट होने पर अन्य प्रकार से राजा को कहने लगे, पहले डरे हुए थे, अब प्रसन्न हैं अतः यह कहने का पृथक् नमूना है, उनके वचन कहते हैं. हे राजन् ! हमारे पालनरूप कष्ट से अब विराम पाओ यह कहकर पहले यह बताया, कि आप जो अब तक हमारी रक्षा के लिए कष्ट कर रहे हो उस कष्ट का त्याग कर अब आराम कीजिए, यदि कहो, कि मैं तो स्वर्ग में बैठे हैं जो सुख का स्थान है, तो उसके लिए कहते हैं, कि यद्यपि स्वर्ग में स्थित हो तो भी आप भोग तो भोगते नहीं क्योंकि सर्वदा युद्ध करने से कष्ट ही उठा रहे हो ॥१६॥

आभास—न केवलं देहक्लेशः अस्मत्परिपालने, किन्तु सर्वस्वमपि तव नष्टमित्याहुः नरलोकं परित्यज्येति द्वाभ्याम् ।

अभासार्थ—आपको हमारी रक्षा करने से केवल देह का क्लेश नहीं हुआ है, किन्तु आपका सर्वस्व भी नाश हो गया है, जिसका वर्णन “नरलोक परित्यज्य” दो श्लोको में करते हैं ।

श्लोक—नरलोकं परित्यज्य राज्यं च हतकण्टकम् ।

अस्मान्पालयतो वीर कानारस्ते सर्व उज्जिताः ॥१७॥

सुना महिष्यो भवता जातयोऽमात्यमन्त्रिणः ।

प्रजाश्च तुल्यकालीना नाधुना सन्ति कालिताः ॥१८॥

श्लोकार्थ—हे वीर ! पृथ्वी का निष्कण्टक राज्य छोड़, हमारी रक्षा करने हेतु आपने सर्व कामनाएँ छोड़ दीं ॥१७॥

इतना समय आप हमारी रक्षा करते रहे, पीछे पृथ्वी पर आपके पुत्र, रानियाँ, बन्धु, हाथी, मन्त्री और उस समय की जो प्रजा थी वे सब काल के ग्रास हो गए हैं अब एक भी शेष नहीं रहा है ॥१८॥

सुबोधिनी—भोगो भोगसाधनानि च गतानीति । जन्मभूमिः सहजा च सर्वेषां सुखदा । अतो नरलोकपरित्यागोऽपि दुःखहेतुर्भवति । हतकण्टकं च राज्यमिति । शूरत्वात् अज्येष्ठत्वेऽपि एतदधीनमेव राज्यमित्यस्मिन्नेव भोगः प्रतिष्ठितः । एवं सर्वथाऽनिषिद्धं भोगं परित्यज्य अस्मानेव पालयतः ते सर्व एव कामा उज्जिताः त्वया सर्वेऽपि कामास्त्यक्ताः । तत्र हेतुः वीरेति । वीररसप्रधानः नान्यं कामं सुखत्वेन मन्यत इति । एतत्कीर्तनं महानुपकारः त्वयास्मासु कृत इति ।

ज्ञापनार्थम् । देहिका अपि निवृत्ता इत्याह सुता महिष्य इति । दिवसस्य स्वर्गे वर्षात्मकत्वात् तस्य कालाज्ञानम्, यथा ब्रह्मसभायां गतस्य रैवतस्य । अतो ज्ञापयन्ति । महिष्यः स्त्रियः, जातयो भ्रात्रादयः, आमात्याः सेवकप्रभवः, मन्त्रिणश्च । एते राज्यसंवन्धिन उभये तुल्यकालीनाः । प्रजा मित्ताणि । अधुना ते तत्र न सन्ति, यतः कालिताः कालेन भक्षिताः । अनेन तत्र गन्तव्यमिति शङ्का निवर्तिता ॥१८॥

व्याख्यार्थ—भोग और भोग के सर्व साधन गए, जन्म भूमि सबको स्वाभाविक सुख देने वाली है. अतः उस भूमि का त्याग भी दुःख का कारण है, तथा राज्य त्याग भी दुःखदायी है, फिर भी निष्कण्टक होने से विशेष दुःखद है. शूरवीर होने से बड़ा नहीं था, तो भी राज्य इसके आधीन था जिससे उसका भोग यही करता था, जिसका निषेध नहीं है वैसे राज्यों के भाग सर्व प्रकार त्याग कर हमारा ही पालन करते हुए आपको सर्व ही कामनाएँ छूट गई, क्यों छोड़ी ? क्योंकि

“वीरः” वीर था, वीर पुरुष को युद्ध में जो रस प्राप्त होता है उसकी ही वह कामना करता है, अन्य सब कामनाएँ सुखरूप नहीं समझता हैं, यों कहने का तात्पर्य यह है, कि आपने हमारे ऊपर महान् उपकार किया है। आपके देह सम्बन्धी सुख भी इस कारण से गए हैं, आपको काल का ज्ञान हुआ ही नहीं, क्योंकि स्वर्ग में एक दिन (यहाँ के) एक वर्ष के समान होता है, जैसे ब्रह्म सभा में गए हुए रेवत को कालका ज्ञान नहीं हुआ था, वैसे ही आपको भी युद्ध रस में मग्न होने से, कालका ज्ञान न हुआ, इतने समय में हमारे राज्य में क्या हुआ ? उसका पता ही नहीं है, अब देवता बताते हैं, स्त्रियाँ, भाई बन्धु, अमात्य से लेकर सर्व सेवक और मन्त्री गण तथा प्रजा एवं मित्त, ये सब राज्य सम्बन्धी सामान काल के थे, अर्थात् जब आप यहाँ आए तब ये सब थे, अब वे वहाँ नहीं है, क्योंकि काल ने उनका भक्षण कर लिया है इससे यह मन में विचार लाना व्यर्थ है, कि अब मैं अपने राज्य को जाऊँ ॥१७, १८॥

आभास—तर्हि भवद्भिः कथं तेषां रक्षा न कृता, देवा ह्यायुषः प्रभवो भवन्ती-
त्याशङ्क्याह कालो बलीयानिति ।

आभासार्थ—यदि यों हुआ तो आपने उनकी रक्षा क्यों नहीं की ? देव आयु देने वाले होते हैं, यदि यों शंका करते तो उसका उत्तर “कालो” इस श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—कालो बलीयान्वलिनां भगवानोश्वरोऽव्ययः ।

प्रजाः कालयते क्रीडन्पशुपालो यथा पशून् ॥१९॥

श्लोकार्थ—जैसे ग्वाल, पशुओं को खेलाता हुआ ले जाता है वैसे ही बलियों में बनवान्, ईश्वर, अव्यय, भगवान् काल भी क्रीडा करते हुए प्रजाओं को ग्रस लेते हैं ॥ १९ ॥

सुबोधिनी—बलिनां वाय्वासन्यगुणानां मध्ये । ततोऽपि बलीयान् । तत्र हेतुर्भगवानिति । ननु धर्मं क्रियमाणे अक्लिष्टकर्मा भगवान् भक्षितवानित्याशङ्क्याह ईश्वर इति । नहीश्वरे नियमोऽस्ति । तर्हि भगवान् भक्त्यै कथमेव कृतवानित्याशङ्क्याह अव्यय इति । अक्षरात्मा सः । न तु पुरुषोत्तमात्मा । तेन न तस्य भक्त-

पक्षपातः । पक्षयानेऽपि अव्ययमेव पदं दास्यतीति पुत्रादीन् दूरीकृतवान् । तस्यायमेव स्वभाव इत्याह । क्रीडन्नपि प्रजाः कालयत इति । स हि यतस्ततः विक्षिप्तान् स्वस्मिन्श्चानयति, स्वगृहे रोधयति । तस्मिन् दोषबुद्धिर्भविष्यतीति दृष्टान्तमाहुः पशुपालो यथा पशूनि । वहिःस्थिताः पशवोपि व्याघ्रादिभिर्हन्त्यन्त इति । तथा कालो-

अपि बहुकालं बहिःस्थिताः उत्पथा भविष्यन्तीति । गताः ॥१६॥
बहिर्न स्थापयति । अतः अशक्यप्रतिकारात्ते ।

व्याख्यार्थ—वायु और आसन्य प्राण जो बलवान् गुण वाले हैं उनसे भी यह काल बलवान् हैं, उसमें कारण बताते हैं—१-भगवान् है, धर्म का कार्य करते हुए भी अक्लिष्ट कर्मा भगवान् ने हमारे जनों का कैसे भक्षण किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि “ईश्वरः”, ईश्वर है, इसलिए उसके लिए कोई नियम नहीं है, तो भी भगवान् के भक्त की यह दशा कैसे की है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि ‘अव्यय’ अक्षर स्वरूप हैं, जिससे वह दया नहीं करता है, दया करना पुरुषोत्तम स्वरूप का कार्य है, इससे अक्षर स्वरूप भक्त का पक्षपात नहीं करता है, यदि पक्षपात करेगा, तो अन्य प्रकार से करेगा, जैसे कि पुत्र आदिकों का झंझट छुड़ा कर अव्यय पद देगा, उस अक्षर स्वरूप का यह ही स्वभाव है, खेलते हुए, प्रजाओं को निगल जाते हैं, वह जहाँ तहाँ से विक्षिप्तों को अपने में ला कर अपने घर में रहते हैं, यों करने से उनमें दोष बुद्धि होगी, इसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे ग्वाला अपने पशुओं को व्याघ्रादि पशुओं से बचाने के लिए ले जाकर, गोष्ठ में रखता है, वैसे ही काल भी, क्योंकि वह समझता है, कि संसार में बहुत रहने से विपरीत पथ पर चलने लगेंगे, इसलिए इनको बाहिर संसार में रहना अच्छा नहीं है, अतः उनका कोई उपाय नहीं था, इसलिए वह ले गया ॥१६॥

आभास—तस्य मनःसन्तोषार्थं वरं वरयेत्याहुः ।

आभासार्थ—उसके मन के सन्तोषार्थ कहते हैं, कि “वरंवरय” वर मांग लो ।

श्लोक—वरं वरय भद्रं ते ऋते कैवल्यमात्मनः ।

एक एवेश्वरुस्तस्य भगवान्विष्णुरव्ययः ॥२०॥

श्लोकार्थ—आपका कल्याण हो, हमसे मोक्ष के सिवाय अन्य वर मांग लो क्योंकि मोक्ष देने में एक ही भगवान् अव्यय विष्णु समर्थ है ॥२०॥

सुबोधिनी—ननु कालश्चेन्मामपि ग्रहीष्यति, तदा किं वरेणेत्याशङ्क्य अप्राथितमपि कालाग्रासं तुभ्यं दास्याम इति सूचयन्त आहुः भद्रं त इति । ते भद्रमेव, न कालग्रासोऽनिच्छत इत्यर्थः । तर्हि-कालजयानन्तरं मोक्षो दीयतामित्याशङ्क्याहुः ऋते कैवल्यमिति ।

वयं हि संघातस्वामिनो देवास्तत्त्वांशाः । अतोऽस्माकं नात्मन्यधिकारः । कैवल्यं चात्मनः, देहादेस्तु कैवल्यमपुरुषार्थत्वादप्राथ्यम् । यद्यप्याधिदैविकाश्चेत्सर्वे निवृत्ता भवेयुः, तदा केवलता सिध्यतीति, कैवल्यमपि देवाधीनमेव, प्राणिनां दुःखनिवृत्तिरभिप्रेता, न परमा-

नन्दप्राप्तिः आत्मलानान्न परं विद्यत' इत्यादिश्रुतिभिश्च सिद्धत्वाच्चात्मनः प्राप्ताप्राप्त-विवेकेन स्मृतिन्यायेन कैवल्यमपि देवाधीन भवति । तथापि भगवदाज्ञया प्रवृत्तिस्वभावा एवैते, प्रवृत्तावेव यथाभिलषितं दातुं समर्थाः । नतु स्वतो निवृत्तो । तथा सतीश्वरस्यापराधो भवेत् । भगवदानन्दो वा रूढ्या कैवल्यं आनन्दाभिव्यक्तिर्वा । अतः कैवल्यव्यतिरिक्तं प्रार्थनीयम् । आत्मपदाच्चात्महितातिरिक्तं च प्रार्थनीयमिति सूचितम् । तर्हि कैवल्यसिद्धिः कथमित्याशङ्क्य तत्प्रभुं निर्दिशन्ति एक एवेति । तस्या म-कैवल्यस्य एक एव प्रभुः । सर्वं सर्वेभ्यो दत्त्वा आत्मार्थं तत्स्थापितवानिति । यतो भगवान्,

स्वतः सिद्धान्तैश्वर्यादीनीति । ननु तमसः परस्तात्पुरुषोत्तमो विद्यमानः अनधिकारित्वात् कथमात्मार्थं तत्स्थापितवान् । तथा सति कस्यापि मोक्षो न स्यादित्याशङ्क्याह विष्णुरिति । स एवात्र मोक्षं दातुं विष्णुरिति प्रसिद्धः । ततो विष्णोर्भगवत्त्वमभिकाररूपत्वं भगवत्त्वं चेति द्वयमुक्तम् । तेन कालातिक्रमोऽपि भवतीति सूचयितुमाहुः अव्यय इति । स व्ययरहितः । अतः तस्य निरपेक्षतापि सूचिता । अनेन पालनाधिकारेऽपि निवृत्तिमपि कारयिष्यतीति बोधितम् । तेन देवानां कैवल्यदाने तस्य च कैवल्यदाने हेतुरप्युक्तः । अनुक्तमप्यत्रापेक्षितमर्थादुक्तं ज्ञातव्यम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ—यदि काल वैसा समय है, तो वह मुझे भी ले लेगा, तो फिर वर लेने से क्या लाभ ? यद्यपि आप माँगते नहीं हो, तो भी हम आपको वर देगे जिससे काल आपको ले न सके, इस ही सूचना देने के लिए पहले कहते हैं कि, आप का भला हो, अर्थात् इच्छा के बिना आपको काल नहीं लेगा यदि यों काल की जय करली है, तो अब मोक्ष दीजिए, इस प्रकार मुचुकुन्द कहे, तो प्रथम ही कह देते हैं, कि मोक्ष के सिवाय अन्य वर माँग लो, कारण कि, हम देवता तत्वांश हैं, अतः संघात (देह) के स्वामी हैं, इस लिए हमारा आत्मा (जीव) पर अधिकार नहीं है, मोक्ष तो जीव का होता है, देहादिका मोक्ष तो पुरुषार्थ नहीं है, अतः उसके लिए प्रार्थना नहीं करनी चाहिए यद्यपि सब आधिदैविक जब निवृत्त हो जावे, तब मोक्ष सिद्ध होता है, इस लिए मोक्ष भी देवाधीन है, इससे प्राणियों को दुःख की निवृत्ति अभिलषित होती है, परमानन्द अभिप्रेत नहीं होता है, "आत्मालाभान्न परं विद्यते" इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध है कि आत्मा का, प्राप्त, अप्राप्त विवेक से तथा स्मृति न्याय से कैवल्य भी देवाधीन है, तो भी भगवान् की आज्ञा से, ये देवता प्रवृत्ति स्वभाव वाले हैं प्रवृत्ति मार्ग की कोई भी इच्छित वस्तु देने में समर्थ हैं, न कि अपने आप निवृत्त में समर्थ हैं, यदि यों करे तो भगवान् के अपराधी बनेंगे ।

अतः भगवदानन्द अथवा रूढि से कैवल्य, अर्थात् आनन्द की अभिव्यक्ति "प्राकट्य" इस के अतिरिक्त जो चाहिए वह माँगिए "आत्म" पद से यह सूचित किया है, कि आत्मा के हित के सिवाय अर्थात् मुक्ति के सिवाय अन्य माँगिए, आप देव भी यदि यों कहते हो, तो फिर मोक्ष की प्राप्ति कैसे होगी ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि, उस मोक्ष के देने वाला एक ही भगवान् है अन्य सब देने की शक्ति अन्यो को दे दी है, किन्तु केवल मोक्ष देना अपने हाथ में रखा है, क्योंकि वे भगवान् हैं,

उनके सर्वा ऐश्वर्य आदि षड् गुण स्वतः सिद्ध हैं, पुरुषोत्तम तो तमस् से परे हैं, अनधिकारित्व से वह अपने पास कैसे रख लिए ? यदि मोक्ष उनके हाथ में है, तो फिर मोक्ष किसी का भी न होगा, कारण कि, वहाँ तक कोई पहुँच न सकेगा, इस शंका का समाधान करते हैं कि “विष्णु” वह ही यहाँ मोक्ष देने के लिए “विष्णु” स्वरूप तथा नाम से प्रसिद्ध है, उससे विष्णु का भगवत्त्व तथा मोक्षाधिकारत्व दोनों कहा गया है, अर्थात् विष्णु मोक्षदाता तथा षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न भगवान् भी हैं, इससे कालका अतिक्रम भी होता है, इसकी सूचना देने के लिए ‘अव्यय’ कहा है अर्थात् वह व्यय रहित हैं इससे उनकी निरपेक्षता भी बताई है और यह भी बता दिया कि पालन करने के अधिकार समय में मोक्ष भी कराएँगे, इससे देवता “कैवल्य” नहीं दे सकते हैं और विष्णु मोक्ष दे सकते हैं उसका हेतु भी कह दिया जो कुछ नहीं कहा है, वह भी यदि अपेक्षित हो तो समझ लेना चाहिए कि वह भी कहा गया है ॥२०॥

आभास—तत्र स विष्णुः कथं प्राप्तव्य इत्याशङ्कयाम्, सोऽवतरिष्यति मोक्षमेव दातुम्, तदा तस्य अनुवृत्तौ तदाज्ञाकरणे वा मुक्तिर्भविष्यतीति प्रतिवचनेः कदा अवतरिष्यतीति पुनर्ज्ञासायाम्, अष्टाविंशतितमे ध्रुगे अवतरिष्यतीत्यभिज्ञाय, तावत्पर्यन्तं तूष्णींस्थितौ कामादयः क्षुत्पिपासादयश्च बाधका भविष्यन्तीति, समाधावप्येतद्दुःखमिति, सुषुप्तिसमाध्योः तुल्यश्चानन्दानुभव इति, फलदाता विष्णुरेवेति योगावीनामप्रयोजकत्वात्, प्रयत्नाधिक्येन क्लेशसम्भवाच्च, सुषुप्तिमेव प्रार्थयामास । ततो देवाः स्वकीयां निद्रां ददुः । ते ह्यस्वप्नाः । अर्थात्सुषुप्तिरेव भवतीति वरत्वेन निद्रां प्राप्य, तत्र विघ्नकर्ता दर्शनमात्रेणैव भस्मसाद्भविष्यतीत्यपि वरं प्राप्य अष्टाविंशतियुगपर्पन्तं निद्रां कृतवानित्याह अशयिष्येति ।

आभासार्थ—मुचुकुन्द ने यह शंका की, कि वह विष्णु कैसे प्राप्त करना चाहिए जिसके उत्तर में देवताओं ने कहा, कि वह मोक्ष देने के लिए अवतार लेंगे जब आप उनकी आज्ञा पालन करोगे, वा उनका अनुसरण करोगे तब मुक्ति होगी, यों जब देवों ने कहा, तब पूछा कि कब अवतार लेंगे ? जिसके जवाब में कहा, कि २८ युग में अवतार लेंगे, यह सुन कर अचम्भे में पड़ कर कहा, कि तब तक चुपकर बैठने पर

+ अनधिकारित्व का तात्पर्य यह है कि मोक्ष आदि सर्व तमस् के अन्दर है आप उससे परे हैं अतः यहाँ के कार्य आपके करने के नहीं हैं ।

काम आदि तथा क्षुधा और प्यास बाधा करेगी, समाधि में यह दुःख होता है सुषुप्ति और समाधिका आनन्द समान है फल का देने वाले तो विष्णु हैं योग आदि तो अप्रयोजक हैं, विशेष प्रयत्न करने में क्लेश अधिक होता है, यह विचार कर देवों को “सुषुप्ति” देने की प्रार्थना की, पश्चात् देवों ने अपनी निद्रा इसको दे दी, वे देवता स्वप्न रहित होते हैं, अर्थात् वह निद्रा स्वप्न रहित होने से “सुषुप्ति” है, इस प्रकार वैसी निद्रा को वर में प्राप्त कर दूसरा वर भी उसके साथ यह प्राप्त किया कि यदि कोई निद्रा में रुकावट करेगा, तो केवल आपकी दृष्टि पड़ने पर वह भस्म हो जाएगा इस प्रकार वर प्राप्त कर २८ युग तक निद्रा लेने लगे जिसका वर्णन “एवमुक्तः श्लोक मे करते हैं ।

श्लोक—एवमुक्तः स वै देवानभिवन्द्य महायशः ।

अशयिष्ट गुहाविष्टो निद्रया देवदत्तया ॥२१॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब देवों ने कहा तब उनको नमस्कार कर गुफा में जाकर नींद में सो गया ॥२१॥

सुबोधिनी—गुहायां शीतवाताद्युपद्रवाभा- / वात् तत्ताविष्टः अशयिष्ट निद्रां कृतवान् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—ठंड तथा वायु का उपद्रव गुफा में नहीं होगा, इस लिए गुफा में जा कर नींद लेने लगा ॥२१॥

आभास—एवं प्रासङ्गिकमुक्तवा प्रस्तुतमाह यवन इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रासंगिक कह कर, अब प्रारम्भ किए हुए विषय को “यवने” श्लोक में कहते हैं--

श्लोक—यवने भस्मसंज्ञीते भगवान्सात्वतर्षभः ॥

आत्मानं दर्शयामास मुचुकुन्दाय धीमते ॥२२॥

श्लोकार्थ—कालयवन के भस्म हो जाने के अनन्तर, सात्वतों (भवतों) के स्वामी भगवान् ने बुद्धिमान् मुचुकुन्द को दर्शन दिया ॥२२॥

सुबोधिनी—देवानामभिवन्दनं तत्प्रत्याशया स्थितत्वं भगवन्माहात्म्यश्रवणेन श्रद्धा चेति गुण-
त्रयं तस्य दृष्ट्वा, भक्तहितमपि प्रसङ्गात्तत्कृतं
ज्ञात्वा, यवने भस्मसानीते, भगवान् सर्वज्ञः
सर्वसमर्थश्च सात्वतानामृषभः स्वामी तादृशाय
चेत् कृपां न कुर्यात्, तदा भक्तानां दुःखमपि
भवेदिति भक्तहितकारित्वं स्वतन्त्रत्वं चावल-
म्बितवानित्याशयेनाह सात्वतर्षभ इति । तत्र
प्रथमं हितचर्यामाह आत्मानं दर्शयामासेति ।
ननु प्राकृताय सर्वसाधनं परित्यज्य निद्राणाय

कथमात्मानं दर्शितवानित्याशङ्क्याह मुचुकुन्दा-
येति । सर्वत्र उकारः दोषाभावसूचकः । मकारः
पुरुष आनन्दः, मुदं (मुद) वा परमानन्दः ।
चुशब्देन निर्दुष्टं चैतन्यम् । कुशब्देन निर्दुष्टः ।
सच्चिदानन्दरूपं पूर्णं ज्ञानादिद्वारा लोकेभ्यो
दत्तवानिति तादृशाय स्वरूपं प्रदर्शनीयमेव ।
ज्ञापनं नापेक्ष्यत इति, विरुद्धं वा न मंस्यत इत्यत
आह धीमत इति । स हि बुद्धिमान् । पूर्वोपदेश-
मपि स्मरतीत्ययि सूचितम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—देवों का अभिवादन, उनके प्रति आशा से स्थित रहता और भगवान् के माहा-
त्म्य श्रवण से उत्पन्न हुई श्रद्धा, उसके ये तीन गुण देख कर और प्रसंग से उसका विद्या हुआ भक्तों
का कार्य भी जान कर, तथा यवन भी भस्म हो गया, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ, भक्तों के स्वामी भगवान्
ऐसे पर भी यदि कृपा न करें तो भक्त दुखी होने लगे, इसलिए भगवान् ने भक्त हितकारीपन तथा
स्वतन्त्रता का आश्रय लिया, इस आशय को प्रकट करने के लिए आपको यहाँ “सात्वतर्षभ” कहा
है, इनमें से जो प्रथम हित किया उसका वर्णन करते हैं, “आत्मानं दर्शयामास” अपने दर्शन दिए,
शंका होती है, कि प्राकृत पुरुष को जिसने कोई साधन दर्शन के लिए नहीं किए हैं केवल नींद ले
रहा है, वैसे को कैसे दर्शन दिए ? इस शंका का समाधान करने के लिए कहते हैं, कि वह “मुचु-
कुन्द” है, जिसके नाम में जो सर्वत्र उपकार है, वह प्रकट करता है कि वह निर्दोष है, पहला अक्षर
“मु” आनन्द प्रकट है, तथा मु से द जोड़ने से “मुद” होता है अर्थात् परमानन्द है “चु” शब्द
से जताता है कि दोष रहित चैतन्य है और “कु” शब्द से बताया है, कि सदंश भी निर्दोष है, पहले
इसने सच्चिदानन्द रूप ज्ञान आदि द्वारा लोकों को दिया है अतः ऐसे को अपना स्वरूप दिखाना
ही चाहिए यहाँ केवल ज्ञापन की अपेक्षा नहीं है यों भी नहीं है कि वह इस दर्शन से विरुद्ध मानेगा
क्योंकि बुद्धिमान है, पहला मिला हुआ उपदेश भी इसको स्मरण है, यह बुद्धिमान कह कर सूचित
किया है ॥ २२ ॥

आभास—ततो यज्जासं तदाह तमालोष्येति चतुभिः ।

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ वह “तमालोक्य” श्लोक से ४ श्लोकों में करते हैं--

श्लोक—तमालोक्य घनश्यामं पीतकौशेयवाससम् ।

श्रीवत्सवक्षसं भ्राजत्कौस्तुभेन विराजितम् ॥२३॥

चतुर्भुजं रोचमानं वैजयन्त्या च मालया ।

चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥२४॥

प्रेक्षणीयं त्रिलोकस्य सानुरागस्मितेक्षणम् ।

अपीच्यवयसं मत्तमृगेन्द्रोदारविक्रमम् ॥२५॥

लोकार्थ—मेघ के समान श्यामवर्ण, पीले रेशमी वस्त्र, धारण किए हुए छाती पर श्रोवत्स धारण किए हुए देशोप्यमान कौस्तुभमणि से विराजित, चतुर्भुज वैजयन्ती माला से सुन्दर, मनोहर, प्रसन्न मुखारविन्द चमकते मकराकृति कुण्डलों से युक्त त्रिलोकी को देख योग्य स्नेह युक्त मन्दहास सहित ईक्षण करने वाले अति मनोहर अवस्था वाले मत्तसिंह के समान उदार पराक्रम वाले, उनको देख कर (पूछने लगा) ॥२३, २४, २५॥

सुबोधिनी—तमालोवय पर्यपृच्छदिति चतुर्थन संबन्धः । तस्य कालातिक्रमेण मोक्षसिद्धयर्थं भगवन्तं वर्णयति त्रयोदशधा, तावद्भिर्विशेषणैः । घनश्याममित्यादिभिः । केवलरसात्मकत्वे दुःख-सहितसुखं न पुरुषार्थत्वायेति घनश्यामता निरूपिता । मेघवत् श्यामः, स हि तापहारको भगवान् फलरूपो निर्दिष्टः । संसारं निवर्तयन् कर्म च सफलं कुर्वन् परमानन्ददाता । पीतकौशेयवासमिति व्याख्यातम् । एवं प्रमेयप्रमाणरूपं निरूप्य तेनैव मोक्षधर्मो सूचयित्वा अर्थकामावाह श्रीवत्सयुक्तं वक्षो यस्य, भ्राजत्कौस्तुभेन विराजितश्च ॥२३॥

एवं चतुर्विधपुरुषार्थरूपं निरूप्य तदातृत्वमप्याह चतुर्भुजमिति । सेवमानेभ्यः तान् प्रयच्छतीति । प्रथमतः प्रवृत्तिसिद्धयर्थं कीर्तेरूपयोगमाह वैजयन्त्या मालया रोचमानमिति । कीर्त्या रुच्यत्पादकः । वैजयन्तापदेन कीर्तेः सानुभावत्वमुक्तम् । एव सोपपात्तकं सर्वपुरुषार्थदातृत्वं

निरूप्य भक्तिदातृत्वमाह । चारु प्रसन्नं वदनं यस्य । अत्रापि चारुत्वं मनोहरत्वम्, प्रसादः फलसाधकः, साधनफलसहिता भक्तिरत्र निरूपिता । स्फुरन्मकरकुण्डलमिति । पूर्ववत्तत्र प्रवृत्तिनिवृत्तिशास्त्रे अङ्गभूते निरूपिते ॥२४॥

एवं शास्त्रीयोत्कर्षमुक्त्वा लोकोत्कर्षमाह प्रेक्षणीयं त्रिलोकस्येति । लोको हि दृष्टमेव मन्यते, लोकिनः, त्रिलोकस्यापि स एव प्रेक्षणीय इति नान्यः केनचित्स्वीकर्तव्यः । तेषां दृष्ट्या प्रवृत्ती भलसिद्धिमाह सानुरागस्मितेक्षणमिति । अनुरागपूर्वकं स्मितपूर्वकमीक्षणं यस्येति । अनुरागेति सकलं (सफलं) काम्यं कर्म, स्मितमित्यल्पमोहा भक्तिः । ईक्षणं ज्ञानम् । तेन तितयमपि भगवान् प्रयच्छतीति सूचितम् । पुरुषाणामेव साधनफलान्युक्त्वा स्त्रीणामाह अपीच्यवयसमिति । प्रियः स्त्रीणामपीच्य इति परमप्रीतिविषयं वयो यस्य । तेन तासां प्रवृत्तिरुक्ता । फलमाह तत्तमृगेन्द्रोदारविक्रममिति ।

मत्तो यो मृगेन्द्रः सिंहः । न हि सिंहाक्रान्तं सिंह-
गृहं कश्चित्प्रवेष्टुमर्हति । न केवलं संबन्धमात्रेण
पाति, किन्तु उदारः यथेष्टं मनःपूतिपर्यन्तं विक्रमः । पराक्रमः तासामभीष्टो यस्य । उदारत्वात् मोक्ष-
पर्यवसायित्वमपि सूचितम् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—उनको देख कर पूछने लगा, यों चतुर्भुज श्लोक से सम्बन्ध हैं उसके काल के अतिक्रमण से मोक्ष की सिद्धि के लिए तेरह प्रकार से भगवान् का वर्णन करता है अतः तेरह विशेषण हैं १—मेघ के समान श्याम केवल श्याम न कह करके मेघ के समान श्याम कहने का आशय यह है, कि वह ही ताप को मिटाते हैं क्रिया के फल को देने वाले हैं और आनन्द दे तृप्ति करने वाले हैं यों कह कर बताया कि यह तीन गुण सहित रस रूप भगवान्, फल रूप हैं केवल रसात्मक दुःख सहित, सुख रूप होने से, पुरुषार्थ नहीं है, अतः घनश्याम कहा है, तथा भगवान् ने पीले, रेशमी वस्त्र पहिने हैं जिसका भाव है, कि आप १—संसार से निवृत्त करते हैं, २—कर्म सफल करते हैं और ३—परमानन्द देते हैं, इस प्रकार इन विशेषणों से प्रमाण तथा प्रमेय का निरूपण कर, उससे ही मोक्ष तथा धर्म को सूचित किया है, अब दो विशेषणों से 'अर्थ' और 'काम' कहते हैं, जिसका वक्षस्थल श्रीबत्सयुक्त है, इससे, 'अर्थ' कहा और चमकती कौस्तुभमणि से विराजित हैं इससे 'काम' कहा ॥ २३ ॥

इस प्रकार चतुर्विध पुरुषार्थों का निरूपण कर उनके दाता भी आप है इसका वर्णन "चतुर्भुज" श्लोक से करते हैं ।

जो भक्त आपकी सेवा करते हैं, उनको वे पुरुषार्थ देते हैं, पहले प्रवृत्ति की सिद्धि के लिए आप वैजयन्ती माला से सुन्दर हुए हैं यह माला कीर्तिरूप है, जिस कीर्ति से अपने में भक्तों को रुचि (प्रेम) बढ़ाते हैं, वैजयन्ती पद से कीर्तिका सानुभाव पन + कहा है, इस प्रकार इस विशेषण में ही पूर्वक भक्ति से सर्व पुरुषार्थ दाता भगवान् है निरूपण कर अब पञ्चम पुरुषार्थ भक्ति के दाता भी आप है इस लिए 'चारु' "प्रसन्नवदन" विशेषण दिए हैं, मनोहर और प्रसन्नवदन वाले हैं, 'मनोहर' से साधना बताई और 'प्रसन्न वदन' से फलरूप कृपा बताई है अर्थात् आप साधन फल सहित भक्तिदाता हैं, कर्ण में मकराकृति कुण्डल चमक रहे हैं जिनसे बताया कि प्रवृत्ति और निवृत्ति शास्त्र पूर्व की भाँति भक्ति के अङ्गभूत हैं ॥ २४ ॥

इस प्रकार नव विशेषणों से दो श्लोकों में शास्त्रीय उत्कर्ष कहकर अब "प्रेक्षणीय" श्लोक में लौकिक उत्कर्ष बताते हैं ।

+ मनोगत भावों को प्रकट करने वाले भाव को "अनुभाव" कहते हैं वैसे भाव से युक्त भाव, "सानुभाव" है अर्थात् भगवान् वैजयन्ती माला पहन कीर्ति द्वारा अपने भाव के प्रति प्रकट करते हैं ।

लोक तो प्रत्यक्ष देखे हुए को ही मानते हैं, वह लौकिक है तीन लोकों में यदि कोई सबसे सुन्दर रूप देखने योग्य है तो यह एक ही है, कोई दूसरा भी दर्शनीय है, वैसा कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता है।

उनकी दृष्टि से ही प्रवृत्ति में फल की सिद्धि होती है इसको बताने के लिए “सानुरागस्मिते-क्षणम्” विशेषण दिया है, अनुराग और मन्द मुसक्यान वाला ईक्षण (अवलोकन) है, इससे यह सिद्ध किया, कि अनुराग से काम्यकर्म को सफलता करते हैं, मन्दमुसक्यान से अल्प मोहवाली भक्ति देते हैं और ईक्षण से ज्ञान प्रदान करते हैं, इससे यह बताया कि तीन “कर्म, ज्ञान और भक्ति” का दान भी भगवान् ही करते हैं इस प्रकार पुरुषो का साधन और फल भगवान् ही है यह कहकर अब स्त्रियों के भी आप ही हैं वह बताते हैं, क्योंकि आपके शरीर की अवस्था अत्यन्त सुन्दर होने से परम प्रीति का विषय है, इससे उनकी प्रवृत्ति कही, अर्थात् इस प्रकार की सुन्दरता देख स्त्रियों के मन की प्रवृत्ति भी भगवान् की तरफ होती है, मद युक्त सिंह जैसे उदार पराक्रम वाले हैं, सिंह जिस गुहा में बैठ जाता है उसमें अन्य कोई जा नहीं सकता है, किन्तु आपका पराक्रम उदार है, जिससे आप केवल सम्बन्ध मात्र से पालन नहीं करते हैं, किञ्च जब तक उनके मन की इच्छा की पूर्ति हो तबतक वह पराक्रम करते ही रहते हैं यह ही स्त्रियों को अभीष्ट (प्रिय) है, उदार कहने से यह बताया है कि माक्ष को कामना हो तो वह भी आप पूर्ण करते हैं ॥२५॥

आभास—एवं वैदिकलौकिकैः सर्गैरेव विशेषेण मृग्यः भगवानेक एव फलसाधनः रूप इति तादृशं दृष्ट्वा, प्रपत्यर्थं संवादेन परिचयं कृत्वा, पश्चाद्भजनीय इति प्रथमतः पृच्छति पर्यपृच्छदिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सब वैदिक लौकिक उपायों से, फल तथा साधन रूप एक ही भगवान् को विशेष प्रकार से खोजना चाहिए जैसे भगवान् के दर्शन कर, उनकी शरण लेने के लिए संवाद द्वारा परिचय प्राप्त कर अनन्तर भजन करना चाहिए इसलिए पहले “पर्यपृच्छत्” इस श्लोक में पूछता है ।

श्लोक—पर्यपृच्छन्महाबुद्धिरतेजसा तस्य धषितः ।

शङ्कितः शनकै राजा दुर्धर्षमिव तेजसा ॥२६॥

श्लोकार्थ—उनके तेज से पराभूत, महाबुद्धि मुष्कुन्द शङ्कित होवे से, तेज से मानो पहचानने में जो नहीं आते हैं, वैसे से पूछने लगा ॥२६॥

सुबोधिनी—नन्वेनंभावः कथं वर्ण्यते, अज्ञा-
त्वव लौकिकन्यायेन कथं न पृष्ठवानित्याशङ्क्याह
महाबुद्धिरिति । महती तस्य बुद्धिरतिचतुरः ।
एतदर्थमेव सुषुप्ति साधयित्वा स्थितः । किञ्च ।
तेजसा तस्य धर्षितः । भगवत्तेजसा पराहतः ।
स ह्यात्मानं जानाति, इन्द्रादिभ्योऽप्यधिकतेज-
स्विनम् । स चेत्तस्य तेजसा तिरस्कृतः, तदा
कथं (न) जानीयादयं पुरुषोत्तम इति ।
तस्मात्परिचयार्थं प्रश्नः । ननु प्रश्नोऽपि शङ्कां
प्राप्तवानेव । तथापि समागतो भगवानित्यल्पं

धाष्टर्यमवलम्ब्य शनैरपृच्छत् । किञ्च । राजा
नीतिमपि जानाति । महान्श्च राजसगुणोऽपि तस्य
धाष्टर्ये सहाय इति केचित् । तेजसा दुर्धर्षमि-
वेति । भगवन्तं दृष्ट्वा राजत्वेऽपि तत्तेजसा
दुर्धर्ष इति शनैरेवोक्तवान्, विज्ञापनापूर्वकम् ।
आयुधानि सेवकाः सामग्री च न दृष्टेति ।
स्वयमपि राजेति इवेत्युक्तम् । अन्यथा-
पादयोरेव पतेत् । भगवान् वा
तथा सन्देहविषयमात्मानं प्रकाशितवानितीव-
शब्दः ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार का भाव कैसे वर्णन किया जाता है ? जैसे लोक में अनजान बनकर
सामने वाले से उसकी पहचान के लिए पूछते हैं वैसे क्यों नहीं पूछा ? इस शङ्का का समाधान
करते हुए कहते हैं, कि यह बुद्धिमान हैं अर्थात् बहुत चतुर है इस कारण से सुषुप्ति को सिद्ध कर
इतना समय स्थित रहा है, परन्तु भगवान् के तेज से परास्त हो गया है, इन्द्र आदि देवों से भी
अधिक तेज वाले परमात्मा को जानता है, यदि वह उसके तेज से तिरस्कृत हो गया है, तो कैसे न
जाने, कि यह पुरुषोत्तम है, फिर भी शङ्कित होने से प्रश्न करने लगा । भगवान् स प्रश्न करना यह
भी ढीटाई है, अतः पुरुषोत्तम से पूछता है, आप कौन हैं ? यों पूछना बन हो नहीं सकता है, इस
पर कहते हैं कि हिचकिचाता हुआ धीरे धीरे पूछने लगा, भगवान् पधारें हैं, इसलिए थोड़ी ढीठाई
कर धीरे धीरे पूछा और राजनीति भी जानता है, आप राजा होने से महान् हैं, इसलिए उसकी
ढीठाई करने में राजस गुणों ने भी सहायता की है इस प्रकार का आशय कोई कहते हैं । भगवान्
का दर्शन कर राजा होते भी उनके तेज से दब गया अतः धीरे धीरे विनय पूर्वक प्रार्थना रूप से
पूछने लगा, आयुध, सेवक एवं अन्य सामग्री कुछ नहीं देखो मुचुकुन्द स्वयं भी राजा है, इसलिए
श्लोक में "इव" पद दिया है । यदि राजा न होता तो भगवान् के चरणों में पड़ता, अथवा 'इव'
का भावार्थ यह है, कि भगवान् ने अपने को सन्देह का विषय बनाके प्रकाशित किया है ॥२६॥

आभास—प्रश्नमाह को भवानिति अष्टभिः ।

ग्रामासार्थ—को भवान्-श्लोक से आठ श्लोकों में प्रश्न कहते हैं ।

मुचुकुन्द उवाच—

श्लोक—को भवानिह संप्राप्तो विपिने गिरिगह्वरे ।

पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां विचरस्युरुकण्टके ॥२७॥

श्लोकार्थ — आप कौन हैं ? पर्वतों से गहरे अरण्यों में कैसे आए हैं ? कमल के पत्तों के समान कोमल पाँवों से, जवर्दस्त कांटों में क्यों घूम रहे हैं ? ॥२७॥

सुबोधिनी—भगवतोऽपि स्ववृत्तान्तकथनार्थम् । अष्टैश्वर्यं भगवति सिद्धम् । तथा सति विशेषज्ञाने प्रतिपात्तरयुक्तेति, स्वयं च फलार्थी न भवतोऽप्यष्टभिः प्रश्नः । प्रश्नत्रयं निरूपयति, स्वरूपक्रियाप्रकाराणाम् । तत्र विरोधरूपानार्थम् । एतादृशं रूपं सहजं भवत्येव, कृत्रिममन्येषामपि भवतीति को भवानिति स्वरूपप्रश्नः । अस्तु वा विशेषः । एतादृशे विपिने अरण्ये, तत्रापि गिरि-

संबन्धेन गह्वरे स्थाने, कथं संप्राप्त इति क्रियाप्रयोजनः प्रश्नः । पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यामिति प्रकारप्रश्नः । इयं हि भूमिरसंस्कृतेति उरुणि कण्टकानि भवन्ति । पलाशपत्रादपि कोमलाभ्यां पद्भ्यां तादृशस्थाने विचलनं महत्कार्यव्यतिरेकेण न भवतीति किं तादृशं महत्कार्यमिति प्रकारप्रयोजनप्रश्नः ॥२७॥

व्याख्यार्थ— प्रश्न क्यों करता हूँ, उन कारणों को कहता हूँ, यदि कारण न कहे, तो कृत्रिमता को शंका होवे. भगवान् भी अपना वृत्तान्त कहे, इसलिए मुचुकुन्द अपना वृत्तान्त भी कहता है, आठ ऐश्वर्य भगवान् में सिद्ध हैं यों होने पर विशेष अज्ञान में हेतु पूर्वक युक्ति देना उचित नहीं है और वह स्वयं फल की चाहना वाला नहीं है इसीलिए आठ श्लोकों से प्रश्न करता है, उनमें से यहाँ तीन प्रश्नों को कहता है १-स्वरूप का २-क्रिया का और ३-प्रकार का “नमूने का” वहाँ विरोध प्रसिद्ध करने के लिए वैसा रूप स्वाभाविक होता ही है, कृत्रिम (बनावटी) दूसरों का भी होता है, इसलिए पूछना पड़ा, कि आप कौन हैं ? यह स्वरूप सम्बन्धी प्रश्न है अथवा विशेष हो. पर्वतों के सम्बन्ध से गहरे वन (अरण्य) में कैसे आए हैं ? यह क्रिया के प्रयोजन का प्रश्न है, तथा तीसरा नमूने का प्रश्न है, कि कमल के पत्ते जैसे कोमल पाँवों से, बहुत कांटों वाली भूमि पर घूम रहे हैं, यह आपका क्या प्रकार है ? यह भूमि साफ नहीं की गई है जिससे यहाँ बड़े बड़े कांटे बिखरे पड़े हैं उन पर ऐसे कोमल पाँवों से घूमना, यह कोई घूमने का ढंग है ? कमल के पत्तों से भी कोमल पाँवों से ऐसे विकट दुःख देने वाली भूमि पर सिवाय किसी महान् कार्य के नहीं चला जाता है, तो बताईए वैसा कौनसा महान् कार्य आपको यहाँ करना है ? यों प्रकार के प्रयोजन का प्रश्न किया है ॥२७॥

आभास - प्रश्ने हेतून् वदति अन्यथा कृत्रिमत्वमाशङ्क्येतेति । स्ववृत्तान्तमपि कथयति । तर्केण जानीहोत्याशङ्क्यां तर्कानाह किस्वित्तेजस्विनामिति द्वयेन ।

अभासार्थ—यदि कहो, कि इस बात को तर्क से जानलो, तो इसलिए “किं स्वित्तेजस्विनां” दो श्लोकों से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—किं स्वित्तेजस्विनां तेजो भगवान्वा विभावसुः ।

सूर्यः सोमो महेन्द्रो वा लोकपालोऽपरोऽपि वा ॥२८॥

मन्ये त्वां देवदेवानां त्रयाणां पुरुषर्षभम् ।

यद्बाधसे गुहाध्वान्तं प्रदीपः प्रभया यथा ॥२९॥

श्लोकार्थ—क्या आप तेजस्विओं का तेज भगवान् अग्नि हैं अथवा सूर्य चन्द्रमा महेन्द्र वा कोई लोक पाल हैं ? जैसे दीपक अपनी प्रभा से गुहा के अन्धकार को नाश करता है वैसे ही हृदय रूप गुहा के अज्ञान रूप अन्धकार को नाश करते हैं अतः तीन देवोत्तमों में आप श्रेष्ठपुरुष हैं ॥२८, २९॥

सुबोधिनी—आदावहमेव वितर्के । सर्वेषामेव तेजस्विनां तेजः एकीभूतमेतदिति । अथवा । यत्पूर्वं कारणत्वेन तेजः सृष्टं 'तत्तेजोऽसृजते' ति, तद्वा तेजो भगवान् । जगत्कारणत्वात् तस्य भगवत्त्वम्, तेनाप्यापः सृष्टा इति । अथवा । त्वं विभावसुरग्निः मूर्तीभूतः । सर्वस्यापि तेजसः एकीभावे कारणज्ञानात् द्वितीयः पक्षः । ततो मूलभूतस्य अत्रागमनासम्भवात् तदधिष्ठातृदेवताप्रश्नः । एवमाधिभौतिकादिभेदेन विकल्पत्रयम् । त्रितयमप्येतत् राजसमिति । सात्त्विकं त्रितयमाह सूर्यः सोमो महेन्द्रो वेनि । एक एव सूर्यो देवतेति 'सूर्य आत्मा जगत्स्तस्थुषश्चे'ति 'ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्तो नारायण' इति च सूर्यो भवितुमर्हति । चतुर्भुजत्वदर्शनात् । ततोऽपि शीतरश्मिरमृतमयः सुन्दर इति सोमः । ततोऽप्यैश्वर्यदर्शनान्महेन्द्रो भविष्यति । एवं सात्त्विकभेदानुक्त्वा मनुष्याकृतिमिव पश्यन् तृतीयं गुणं कल्पयन्निव ततोत्तमं सम्भावयन् निरूपयति अपरो वा लोकपाल इति । (अग्नि) वायुवरुणादीनामन्यतमः । ते हि लोकरक्षार्थं परिभ्रमन्ति । वेत्यस्य पक्षस्यानादरे । एवं कार्यकारणरूपाणि सम्भावयित्वा तान् पूर्वपक्षे निधाय परमकारण-

रूपं पुरुषोत्तमं तं सम्भावयति मन्ये त्वामिति । देवानामपि देवानां ब्रह्मविष्णुशिवानां मध्ये पुरुषर्षभं विष्णुं त्वां मन्ये । तेषां वा पुरुषर्षभः । तेषां पुरुषः स्वराट् नारायणः । तस्याप्यृषभः पुरुषोत्तम इति वा । श्रद्धयैव कल्पयतीत्याशङ्क्य तत्र साधिकामन्यथानुपपत्तिमाह यद्बाधस इति । गुहान्धकारः न केनापि दूरीकृतः, उत्पत्तिशिष्टः सः । यो हि व्यवधायकं न मन्यते, तेन दूरीकर्तुं शक्यः । अतः पूर्वोक्तानां भगवत्तेजःसहितानामपि नात्र पराक्रमः । मूर्तीभूतानां तु बहुधा समागतानां गुहाध्वान्तनिराकरणं न दृष्टमिति, य एवास्माभिर्न दृष्टः पूर्वम्, स भगवान् भवितुमर्हतीति निश्चीयते । किञ्च । प्रदीपोऽप्यग्निर्भगवत्सहितोऽप्येवंविधप्रभायुक्तो न भवति । एकैव हि तत्र भगवच्छक्तिः । दीपे तु शक्तिद्वयम् । अतएव कारीषदारुमयाच्च दीपस्य प्रभा महती, स्नेहाग्निस्थानाग्निसंयोगैः । 'वतिका अग्निस्थानं अग्नेस्तूषाधान'मिति श्रुतेः । 'एतद्वा अग्नेस्तेजो यद्ध त'मिति घृतमपि तथा । अग्निश्च तत्र संयुक्त इति । अतस्तस्य प्रभा कलिकामावस्यापि सर्वगृहव्यापिनी भवति । तथा भवत्तेजः गुहाभ्यन्तरस्थानं यत्कदापि न दृष्टं तद्दर्शयतीति पुरुषोत्तम

एव भवितुमर्हसि । उत्कृष्टप्रभा व्यवहार्या दृष्टान्त- | प्रकृष्टो दीपः, यतः स्वया प्रभया ध्वान्तं बाधस
त्वेनाभिमतेति दीपो दृष्टान्तः । अथवा । त्वमेव | इति । अदृष्टपूर्वत्वेन पुरुषोत्तमत्वसिद्धिः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—आदि में, मैं ही आश्चर्य में पड़ गया हूँ, इस लिए तर्क से प्रश्न कर रहा हूँ, क्या यह सर्व तेजस्विओं का तेज एकत्रित हुआ है ? अथवा “तत्तेजो डस्टजत” इस श्रुति में कहे हुए प्रथम कारणरूप से उत्पन्न तेज है ? अथवा यह तेज भगवान् है, कारण कि, वह जगत् के कारण होने से उसमें भगवत्त्व है, उससे भी “आप”-जल” उत्पन्न हुए अथवा आप मूर्तिमान् अग्नि हैं, सर्व तेज के एकी भाव होने में जो कारण है उसके अज्ञान से दूसरा पक्ष कहा है, मूलभूत स्वरूप का यहाँ पधारना असम्भव है अतः उसके अधिष्ठाता देव का प्रश्न करता है, आधिभौतिक आदि भेद से तीन विकल्प होते हैं, ये तीन भो राजस हैं, अब सात्विक तीन कहते हैं, सूर्य, सोम वा महेन्द्र हो ? एक ही सूर्य देवता है जैसा कि श्रुति भगवती कहती है कि “सूर्य आत्मा जगतः १-तस्थुषश्च” ध्येयः सदा सवितुमण्डल^२ मध्यवर्ती नारायणः” इस लिए आप सूर्य हो सकते हैं, कारण कि आपकी किरणें शीत एवं अमृत मय हैं। इससे आप सोम हो अथवा उससे भी ऐश्वर्य के दर्शन होने से आप महेन्द्र होंगे, इस प्रकार सात्विक भेदों को कह कर आपकी मनुष्य जैसी आकृति देख तीसरे गुण की मानों कल्पना कर कहता है कि मनुष्यों में भी उत्तम मनुष्य की सम्भावना होने से लोकपाल हो वा वायु-वरुणादि लोकपालों में से कोई एक हो, कारण कि वे लोक रक्षा के लिए फिरते रहते हैं, “वा” पद से इस पक्ष में भी अरुचि प्रकट करता है, इस प्रकार कार्य कारण रूपों को बनाकर कहा और उनको पूर्व पक्ष में धर कर परम कारण रूप उस पुरुषोत्तम की सम्भावना करता हुआ कहता है, कि देवों के भी जो देव ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं उनमें से आपको विष्णु समझता हूँ, अथवा उनमें से भी श्रेष्ठ नारायण वा उस स्वराट् नारायण से भी उत्तम पुरुषोत्तम हो, यों समझता हूँ ।

यदि कोई कहे कि यह आपकी कल्पना केवल श्रद्धा के कारण है, तो उसके उत्तर में कहता है कि नहीं, मैंने जो कहा है वह केवल श्रद्धा से नहीं कहा है, किन्तु उपपत्ति से कहा है, जैसे कि अन्तःकरण रूप गुहा का अज्ञानान्धकार इनके सिवाय अन्य कोई भी दूर करने में समर्थ नहीं है, क्योंकि वह अज्ञानान्धकार संसार को बढाने वाला है, अतः जिसको कोई आच्छादन नहीं कर सकता है वह ही इस अन्धकार को दूर कर सकता है, इस कारण से, भगवान् के तेज वाले भी जो आगे कहे गए हैं, उनका पराक्रम भी यहाँ काम नहीं करता है, बहुधा जो मूर्तिमान् हो कर आते हैं, वे तो इस गुहा के अज्ञानान्धकार को नाश करते हैं, ऐसा देखने में नहीं आया है, अतः जो हसने पहले कभी नहीं देखा है वह “भगवान्” ही हो सकते हैं यों निश्चय किया जाता है और विशेषता यह है कि, जलती हुई एवं भगवत्तेजसहित अग्नि भी इस प्रकार की प्रभा से युक्त नहीं होती है, अग्नि में एक

ही भगवत् शक्ति है, और दीप में दो शक्तियाँ हैं। दीप की प्रभा विशेष है कारण कि घृत वतिका (दीवे की वत्ती) और अग्नि इन तीनों का संयोग होने से यों श्रुतियों में भी कहा है इस दीप को पतली सील पट की प्रभा समस्त गृह में प्रकाश फैलाती है वैसे ही आप (भगवान्) का तेज अन्तःकरण रूप गुहा में जो कभी नहीं देखा अब देखा, वह बताता है, कि आप पुरुषोत्तम ही हैं, उत्तम प्रभा व्यवहार योग्य है, दृष्टान्त से सिद्ध करने के लिए दीप का दृष्टान्त दिया है, किन्तु आप ही सबसे उत्तम दीप हैं जो अपनी प्रभा से अज्ञान का बाध करते हो, प्रथम कभी दर्शन नहीं हुए हैं इसलिए आप पुरुषोत्तम ही हैं, यह निश्चय से सिद्ध है ॥२८॥

आभास—तर्हि ज्ञात्वा कथं प्रश्न इति चेत्, तत्राह शुश्रूषतामिति ।

आभासार्थ—जान कर भी प्रश्न क्यों करते हो ? यदि यों कहते हो तो “शुश्रूषतां” श्लोक में इसका उत्तर देते हैं—

श्लोक—शुश्रूषातामव्यलीकमस्माकं नरपुङ्गव ।

स्वजन्म कर्म गोत्रं वा कथ्यतां यदि रोचते ॥३०॥

श्लोकार्थ—हे नर श्रेष्ठ ! सुनने की इच्छा वाले हमको अपना जन्म, कर्म और गोत्र कहना यदि पसन्द हो तो कहिए. हम इसलिए सुनना चाहते हैं, कि हमने जैसा समझा है, वैसा तो झूठा नहीं है ॥३०॥

सुबोधिनी—व्यलीकं सन्देहः, तद्रहितं यथा भवति तथा श्रोतुमिच्छास्माकम् । असमानत्वान्न सभाष्यस्त्वमित्याशङ्क्याह नरपुङ्गवेति । नराकृतिर्दृश्यत इति । संव्यवहार्या नरा इति वयमपि संव्यवहार्याः । नराकृतित्वं च सहेतुकं प्रतिभाताति विशेषान् पृच्छति स्वजन्म कर्म गोत्रं वेति ।

स्वस्य जन्म किरूपं, कथं प्रादुर्भूत इति कारणप्रश्नः । कर्मति प्रयोजनप्रश्नः । गोत्रमिति कस्मिन्वंशे प्रादुर्भाव इति वंशप्रश्नः । वेति अन्यदपि वक्तव्यमित्यभिप्रायसूचकम् । एवं गुणत्रयस्वभावमिव पृष्ट्वा स्वस्य नियोजकत्वाभावायाह कथ्यतां यदि रोचत इति ॥३०॥

व्याख्यार्थ—आपका जन्म, कर्म और गोत्र जैसा सत्य है वैसा सुनने की हमारी इच्छा है, यों आप न समझना कि मैं असमान होने से भाषण के योग्य नहीं हूँ आप मनुष्यों में श्रेष्ठ हो, क्योंकि आपकी आकृति नर के समान दीखती है, मनुष्य मनुष्य से ही संभाषण के व्यवहार के योग्य है, अतः हम मनुष्य हैं, इसलिए हमसे आप भाषण कर सकते हैं, आपका मनुष्यत्व हेतु वाला भासता है इसलिए प्रकारों को पूछा जाता है ? आपका जन्म, अर्थात् क्या रूप है और कैसे प्रकटे, यह कारण

प्रश्न है, कर्म, इससे प्रयोजन प्रश्न किया है, अर्थात् किस लिए प्रकटे हैं, गोत्र, किस वंश में प्रकट हुए हो, यह वंश ज्ञान का प्रश्न है, "वा" शब्द से यह सूचित किया है कि अन्य भी कहने योग्य हो तो वह भी कहना, इस प्रकार तीन गुण के स्वभाव की भाँति पूछ कर, बताते हैं कि मैं आपका नियो-रजक नहीं हूँ अर्थात् आपको आज्ञा करने वाला नहीं हूँ अतः यदि आपको इच्छा (इच्छा) हो तो कहिए ॥३०॥

आभास—नरत्वेऽपि तुल्या एव संभाष्या इत्याशङ्क्य स्वजन्मकर्मगोत्राणि निरूपयति त्रिभिः ।

आभासार्थ—मनुष्य होने पर समानों से ही भाषण किया जाता है, इसका उत्तर देते हुए अपना जन्म, कर्म तथा गोत्र "वयं च" श्लोक से तीन श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—वयं च पुरुषव्याघ्र ऐक्ष्वाकाः क्षत्रबन्धवः ।

मुचुकुन्द इति ख्यातो यौवनाश्वात्मजः प्रभो ॥३१॥

चिरप्रजागरश्रान्तो निद्रयोपहृतेन्द्रियः ।

शयेऽस्मिन् विजने कामं केनाप्युत्थापितोऽधुना ॥३२॥

सोपि भस्मीकृतो नूनमात्मीयेनैव पाप्मना ।

अनन्तरं भवान् श्रीमान्लक्षितोऽमित्रशासनः ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे पुरुषसिंह ! हम ऐक्ष्वाकुवंशीय क्षत्रिय हैं: प्रभु ! मैं यौवनाश्व का पूत्र और मुचुकुन्द नाम से प्रसिद्ध हूँ ॥३१॥

बहुत जागरण से मैं थक गया था और निद्रा से इन्द्रियाँ शिथिल हो गई थी, जिस कारण से इस निर्जन वन में खूब सोया, किन्तु किसी ने अब मुझे जगा दिया ॥३२॥

उसके अपने पाप ने ही उसको निश्चय भस्म कर छोड़ा, इसके पश्चात् शत्रुओं को नाश करने वाले आप श्रीमान् के दर्शन हुए ॥३३॥

सुबोधिनी—वयचेति । चकारोऽथविशेषे । वयमपि नात्यन्तं हीना असम्भाष्याः । किन्त्वे-
 क्ष्वाकाः इक्ष्वाकुषु जनपदेषु आविर्भूताः । जन-
 पदशब्दादत्यञ् दांडिनायनेति निपातनादुकार-
 लोपः । अतो देशेन कुलेन च प्रसिद्धरुक्ता । पुरुष-
 व्याघ्रेति । पुरुषश्रेष्ठो मन्यत इति लौकिकन्या-
 येनापि विश्वासार्थमुक्तम् । क्षत्रबन्धव इति गव-
 परिहारः । पितृपितामहयोः स्वस्य च नामाह
 मुचुकुन्द इति ख्यात इति । प्रसिद्धिरपि सत्कीर्ति-
 मत्त्वेन निरूपिता । युवनाश्वः पितामहः, यौव-
 नाश्वो मान्धाता पिता, तस्यात्मज इति ओरसः ।
 प्रभो इति सवाधनं नियन्तरि अन्यथाकथनाभा-
 वाय । तादृशस्यात्रागमने हेतुं वदन् स्वपौरुषमपि
 व्यापयति चिरप्रजागर इति । बहुकालं देवरक्षार्थं
 चिरप्रजागरो जातः । ततः श्रमोऽपि जातः । ततो
 निद्रयोपहतानो न्द्रयाणि च जातानि । अतो निद्रो-
 प्रभोगार्थं विजनेऽस्मिन् स्थाने शये यथा न

केनापि उत्थाप्यत । अयं देवदत्तनिद्रया शयन
 करोमीति न कथयति । तथा सति ध्यानतपः-
 प्रभृति सर्व पारित्यज्य तामस्यवस्था किमत्यङ्गी-
 कृतेत्युपालम्भः स्यात् । तदर्थं स्वखेदमेव वर्णयति ।
 अतः कामं ययेष्ट शये । अत्रापि कश्चिदागत्यो-
 त्थानं कारितवानित्याह केनाप्युत्थापितोऽधुनेति ।
 स्वापराधशान्त्यर्थं यदज्ञानकथनम् । तस्य च
 दण्डो मया न कृतः, 'किन्तु स्वपापेनैव जात इत्याह
 सोऽपि भस्मीकृत इति । आत्मोयेनैव स्वकृतेनैव
 पापेन । 'न शयानं प्रबोधयेदित निषेधोत्प्लङ्घनेन
 भस्मीकृतः । नूनमिति नात्र कोऽप्यभ्यदपराध
 इति निरूपितम् । तदनन्तरमेव भवदर्शनं जात-
 मित्यतोऽपि हेतोः न ममापराधः । अन्यथा तव
 दर्शनं न स्यात् । एतदर्थमेव पूनर्भगवन्तं वर्णयति
 श्रीमानिति । सर्वसौन्दर्ययुक्तः लक्ष्मीवांश्च । अमि-
 तशासन इति । शत्रुमारकस्त्वमेवेति त्वयैवायं
 प्रायेण मारितः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—“च” शब्द अर्थ विशेष में है, हम भी अत्यन्तहीन नहीं हैं जो भाषण के योग्य न
 हों, किन्तु इक्ष्वाकु के देश तथा कुल में उत्पन्न हुए हैं, इस इक्ष्वाकुवंश के क्षत्रिय नाम से प्रसिद्ध
 हैं, आप पुरुषसिंह अर्थात् पुरुष श्रेष्ठ हैं अतः लौकिक न्याय से भी आप विश्वास करोगे, “क्षत्रबन्धवः”
 पद देने का भाव यह है, कि मुचुकुन्द ने अपनी नम्रता दिखाई, कुल वा क्षत्रियत्व का गर्व प्रकट न
 किया, पिता, पितामह और अपना नाम कहा, युवताश्व पिता का नाम मान्धाता पितामह का और
 मुचुकुन्द अपना नाम बताया, तथा “ख्यातः” प्रसिद्ध है यों कहने से सत्कीर्ति वाले हम हैं यह दिखा
 दिया क्योंकि प्रसिद्धि सत्कीर्ति से ही होती है ‘आत्मज’ पद से ‘ओरस+’ पुत्र हैं यह कहा है,
 “प्रभो” सम्बोधन देने से यह बताया कि नियन्ता अर्थात् स्वामी के सामने कभी झूठ नहीं बोला
 जाता है, वैसे मैं किस कारण यहाँ आया हूँ वह भी बताता हूँ कि मैंने कितना पुरुषार्थ किया है उसका
 भी इस कहने से आप समझ जाएँगे, देवताओं की रक्षा बहुत दिन रात करते हुए अतिशय जागरण
 करना पड़ा जिससे थकावट भी हुई तथा नींद से आँखें भी भर गई इसलिए नींद लेने के लिए इस
 शून्य स्थान में आकर सो गया जिससे कोई उठावे नहीं, यह बात नहीं कहा कि निद्रा देवों ने दी है
 जिससे इतनी नींद ली है, यों प्रकट करें तो यह उपालम्भ मिले, कि ध्यान, तप आदि त्याग कर

यह तामसी अवस्था क्यों ली ? इसलिए वह कहीं नहीं, इस वास्ते अपना खेद ही प्रकट करता है कि इतनी मन पसन्द नींद लेली, किन्तु न जाने ऐसी नींद से किसी ने आके अब जगा दिया, मेरा उसने अपराध किया किन्तु मुझे गुस्सा नहीं आया क्योंकि मैंने समझा इसने यह कार्य अज्ञान से किया है, इसलिए मैंने उसे दण्ड नहीं दिया, किन्तु अपने पाप से ही वह स्वयं भस्म हो गया, वह कौन सा पाप था जिससे भस्म हुआ ? शास्त्र में कहा है “शयानं न प्रबोधयेत्” सोये हुए को जगाना नहीं चाहिए, इस शास्त्राज्ञोत्प्लवन रूप पाप से भस्म हुआ है, इसमें मेरा कोई भी अपराध नहीं है, मेरा दोष होता तो आपके दर्शन न होते, इसलिए भगवान् का वर्णन करता है, कि आप समस्त सौन्दर्य से युक्त और लक्ष्मीवान हो तथा शत्रुओं का मारने वाले आप ही हैं इसलिए आपने ही बहुत करके इसको मारा है ॥३१-३२-३३॥

आभास—तर्हि यथैतावन्निर्णीतम्, तथा जन्मकर्माण्यपि योगबलेनैव कथं न निर्णीयन्त इत्याशङ्क्याह तेजसा तेऽविषह्येणेति ।

आभासार्थ—तो जैसे इतना निर्णय किया वैसा जन्म और कर्मों का भी योग बल से क्यों नहीं निर्णय करते हैं ? इसका उत्तर “तेजसा तेऽविषह्येण” श्लोक से देते हैं ।

श्लोक—तेजसा तेऽविषह्येण भूरि द्रष्टुं न शक्नुमः ।

हृत्तोजसो महाभाग माननीयोऽसि देहिनाम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—आपके असह्य तेज से विशेष समय वा अच्छे प्रकार से बार बार आपको देख नहीं सकते हैं, कारण कि आपके इस तेज से हमारा बल नष्ट हो गया है, आप देहधारियों में मान देने योग्य हो ॥३४॥

सुबोधिनी—अविषह्येण निकटेऽपि स्थातुम-
शक्येन ते तेजसा भूरि पुनः पुनः द्रष्टुमपि न
शक्नुमः । तस्य निदानजिज्ञासा दूरापास्तेति ।
अन्तर्दृष्ट्या द्रष्टव्यमित्याशङ्क्याह हृत्तोजस इति ।
हे महाभाग ते तेजसैव हृतं ओजः मनःशक्तिर्ये-
षाम् । अतो दूरापास्तैव योगेन चिन्तनकथा ।

अन्यज्ज्ञातमस्तु न वा, द्वयं ज्ञायत इत्याह ।
हे महाभाग देहिनां च त्वं माननीय इति ।
त्रैलोक्यादधिकं भाग्यं दृश्यते । अत एव देह-
ग्रहणमात्रेणैव अवश्यमिष्टमपेक्षितमिति सर्वेष्ट-
पूरकः त्वं सर्वेषामेव माननीयः पूज्यः सेव्य-
श्चेत्यर्थः ॥३४॥

व्यायार्थ—आपका ऐसा असह्य तेज है, जिसके पास में खड़ा रहना भी जब अशक्य है, तब बार-बार कैसे देखा जा सकेगा ? अर्थात् ऐसे तेज के कारण जब हम आपको देख नहीं सकते

हैं, तो आप कौन हो ? इत्यादि का कारण कैसे जान सकेंगे, यदि यों नहीं देख सकते हो तो अन्तर की दृष्टि से देखिए, इसके उत्तर में कहते हैं, कि है महाभाग ! आपके तेज से जब मन की शक्ति नष्ट हो गई है तब योग से उसका चिन्तन करना तो दूर हो रह गया, दूसरा कुछ जानता नहीं, किन्तु दो बात जो जानी हैं, १ - देहधारियों से तो आप मान देने योग्य हो, अर्थात् देह धारी आपका सम्मान करें यह उनका कर्तव्य है । २—आपका “भाग्य” तो न लोको से अधिक है, अतएव केवल देह के ग्रहण से ही, यह समझ में आता है, कि अवश्य कुछ “इष्ट” की अपेक्षा है, सबकी इष्टपूर्ति करने वाले आप को ही सब मान देते हैं, पूजते हैं तथा सेवन करते हैं, क्योंकि आप ही मान्य, पूज्य ओर सेव्य हैं ॥३४॥

आभास—एवं तस्य विज्ञापितमाकर्ण्य तदर्थमेव समागत इति तत्रोत्तरमुक्त्वानित्याह एवं संभाषित इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उसकी प्रार्थना सुनकर इसलिए ही आया हूँ, यों उत्तर दिया जिसका वर्णन “एवं संभाषितो” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—एवं संभाषितो राजा भगवान्भूतभावनः ।

प्रत्याह प्रहसन्वाण्या मेघनादगम्भीरया ॥३५॥

श्लोकार्थ—भूत भावन भगवान् से जब राजा ने इस प्रकार प्रश्न किए तब हँसते हुए भगवाद् मेघ नाद के समान गम्भीर आवाज से कहने लगे ॥३५॥

सुबोधिनी—सम्यक् भाषितः । राज्ञेति सोऽपि महान्, राजप्रश्ने चावश्यमुत्तर देयमिति निरूपितम् । भगवांश्च निरूपित एवोत्तरे तस्य कृतार्थता भविष्यतीति जानाति । अतस्तथोत्तरं दत्तवान् । यद्यपि प्रकारान्तरेणापि तदुद्धारं कर्तुं

शक्तः, तथापि तत्कृपयापि तथोक्तवानित्याह भूतभावन इति । प्रहसन्निति विशेषेण मोहितवान् । तर्ह्यहितकारी स्यादित्याशङ्क्याह मेघनादादपि अधिकगम्भीरया सर्वथा तापनाशिकया ॥३५॥

व्याख्यार्थ—राजा ने श्रेष्ठ रीति से प्रश्न किए वह भी महान् हैं, अतः राजा के प्रश्नों का उत्तर अवश्य देना चाहिए, इससे यह निरूपण किया । मुचुकुन्द ने भगवान् के जन्मादि का तो निरूपण किया ही है किन्तु भगवान् इसका उत्तर देकर समर्थन करेंगे तब उसकी सफलता होगी, यों वह समझता है, अतः वैसा उत्तर दिया यद्यपि अन्य ढङ्ग से भी उद्धार के करने में प्रभु समर्थ हैं, तो भी उस पर कृपा है इसलिए वैसे कहा, क्योंकि आप भूतभावन हैं, हँसने का कारण मुचुकुन्द

को विशेष मोहित करना था, यदि मोहित करते हैं तो शत्रु हुए, क्योंकि हँसकर अहित कर रहे हैं, इसके उत्तर में कहते हैं, कि नहीं, उसके ताप (दुःख) को नाश करने वाले हैं, इसलिए मेघों के नाद के समान गंभीर वाणी से बोले हैं अर्थात् जैसे मेघ गर्जते हुए मेघ ताप नाश करते हैं वैसे ही आप भी इस वाणी मात्र से ताप नाश करते हैं ॥३५॥

आभास—भगवद्वाक्यान्त्याह—जन्मेति अर्धाधिकाष्टभिः ।

आभासार्थ—भगवान् के वचन “जन्म-कर्म” श्लोक से आठ श्लोकों में कहते हैं ।

श्रीभगवानुवाच—

श्लोक—जन्मकर्माभिधानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः ।

न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमनन्तत्वान्मयापि हि ॥३६॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि—हे अङ्ग ! मेरे जन्म, कर्म और नाम हजारों हैं अर्थात् अनन्त हैं इसलिए इनकी गिनती मैं भी करने में असमर्थ नहीं हूँ यह निश्चय है ॥३६॥

सुबोधिनी—तदुक्तं भगवानर्धमेव फलं तस्य दास्यामिति ज्ञापितवानिति । आदौ यत्नेन पृष्ठं ‘जन्मकर्माभिधानानि वदे’ति, तत्र कानि वक्तव्यान्त्याकाङ्क्षामिव वदन् आदौ जन्मनाम-सङ्ख्यातत्वमाह मे जन्मकर्माभिधानानि सहस्रशः सन्तीति । नन्विदानीन्तनेषु पृष्ठेषु किमिति व्यधिकरणमुत्तरं दत्तवान्, ततश्चायं प्रतारक एव, न भगवानिति शङ्का च स्यादिति चेत् । सत्यम् । भगवान् प्रथमतः स्वरूपे ज्ञाते जन्म-कर्माभिधानानि ज्ञातव्यानीति मन्यते । अतः स्वरूपं वदन् स्वभावं जन्मान्याह । ब्रह्मेति स्वरूपं वक्तव्यम् । तस्य कथं जन्मेत्याकाङ्क्षायां

भक्तिप्रतिपादकोऽपि स भवतीति भक्तिसिद्धयर्थं कर्माणि करिष्यन् भक्तिपरिपालनार्थं कर्माणि च करिष्यन् बहून्येवावतरणानि करोतीति वक्तव्यम् । तस्मिन्ननुक्ते तस्य बोधनार्थमुक्तमप्यनुक्तं स्यात् । अतः सुष्ठुक्तं मे जन्मकर्माभिधानानि सहस्रशः सन्तीति । अङ्गेत्यप्रतारणाय संबोधनम् । सन्तीत्यनेन सर्वेषामेव विद्यमानता निरूपिता । सर्वद्वीपेषु विद्यमानानां वा सहस्रत्वमुच्यते । तर्हि भक्तिसाधकत्वात्तानि कथयेत्या-शङ्क्याह न शक्यन्तेऽनुसंख्यातुमिति । आनुपूर्व्येण संख्यातुं मयापि न शक्यन्ते ॥३६॥

व्याख्यार्थ - भगवान् ने ८ श्लोकों में आठ प्रश्नों का उत्तर देकर फल दान करने के लिए आधा श्लोक कहा, जिसका तात्पर्य यह है, कि भगवान् ने जता दिया, कि उसको आधा ही फल दूंगा। पहले जो यत्न से पूछा कि अपने जन्म, कर्म और नाम कहो, वहाँ कोन से कहने चाहिए ऐसी आशंका होने पर प्रथम उनके सङ्ख्या के विषय में कहते हैं कि मेरे जन्म, कर्म और नाम हजारों हैं अर्थात् अगणित हैं, आपके जन्म आदि पूछें हैं फिर आप उल्टा क्रम विरुद्ध उत्तर क्यों देते हैं? इससे तो यों समझ में आएगा कि यह छली-हैं, भगवान् तो नहीं हैं, इसके उत्तर में कहते हैं कि, सत्य है पहले भगवान् स्वरूप का ज्ञान होने पर, जन्म, कर्म और नाम जानने चाहिए, ऐसा मानते हैं, अतः स्वरूप का वर्णन करते हुए 'स्वभाव' प्रकट करने के लिए जन्म^१ कहते हैं "ब्रह्म" हैं, यह स्वरूप कहना चाहिए, यदि ब्रह्म है तो उनके जन्म कैसे होंगे? इस शंका के समाधान के लिए कहते हैं कि, भक्ति का प्रतिपादन करने वाले भी वे हो हैं, अतः भक्ति का सिद्धि करने के लिए कर्म करते हुए और भक्तों को पालना के वास्ते कर्म करते हुए बहुत ही अवतार धारण करते हैं इस प्रकार कहना चाहिए, यों यदि न कहा जाएगा तो उनके ज्ञान के लिए कहा हुआ भी न कहने के समान होगा। अतः सुन्दर कहा है, कि मेरे जन्म कर्म आदि अनेक हैं। "अङ्ग" यह सम्बोधन देकर उसको^२ कहा है कि तुमसे कपट नहीं करता है 'सन्ति' क्रिया देकर यह सिद्ध किया है, मेरे सर्व अवतार अब ही विद्यमान हैं, सब द्वीपों में वे विराजमान हैं, वे अनेक ही हैं, यदि हैं तो वे भक्ति को सिद्ध करने वाले होने से कहने चाहिए, उनको कहिए, जिसके उत्तर में कहते हैं, कि उनकी गणना करना असम्भव है, पूरी गणना मैं भी नहीं कर सकता हूँ ॥३६॥

आभास - तदेवासङ्ख्यातत्वेनोपपादयति, अज्ञानव्यावृत्त्यर्थम्, क्वचिद्रजांसीति ।

आभासार्थ—अज्ञान मिटाने के लिए "क्वचिद्रजांसि" श्लोक से अज्ञान मिटाने के लिए उसका असंख्यापन प्रतिपादन करते हैं ।

श्लोक—क्वचिद्रजांसि विममे पाथिवान्युरुज्जन्मभिः ।

गुणकर्माभिधानानि न मे जन्मानि क्वचिच्चित् ॥३७॥

श्लोकार्थ—बहुत जन्म लेकर कदाचित् पृथ्वी के रजःकण गिने जा सकें किन्तु मेरे गुण, कर्म, नाम और जन्म कोई नहीं गिन सकता है ॥३७॥

सुबोधिनी—कदाचित्पार्थिवान्यपि रजांसि कश्चिद्विममे । अहं वा । उरुजन्मभिरपि विमानं संभवत्यन्यस्य । यद्येक एव ब्रह्मपर्यायेण सर्वेषु ब्रह्माण्डेष्ववतरति, तदा तत्तत्स्थानां परमाणुनां सृज्योपयोगित्वेन गणनां करोति । अन्यथा अव्यवस्था स्यात् । ततश्च ब्रह्मणा गणयितुं शक्याः । मयापि सृष्ट्यादौ ज्ञानपूर्वकं सृजामीति गणितुं शक्या एव । कचिदिति । सृष्टिविशेषे । गुणकर्माभिधानानि मदीयानि तु कदाचिदपि गणयितुमशक्यानि । एकस्मिन् जन्मनि कोटिशः कर्माणि नामानि च भवन्ति । एकस्मिन् दिवसे ब्रह्माण्डकोटिषु द्वीपादिदेशविशेषेषु कोटिशो जन्मानि भवन्ति । अतः अपरिमितत्वात् जन्मादीनां परिगणनाभावो युक्तः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—किसा समय कोई, अथवा मैं पृथ्वी के रजःकण गिन सकूँ बहुत जन्म लेकर भी उसकी गणना सम्भव हो सकती है, यदि एक ही भगवान्, ब्रह्म के पर्याय से सब ब्रह्माण्डों में अवतार लेते हैं, तब वहाँ की रचना के योग्य परमाणुओं की गणना करते हैं, यदि न करें तो व्यवस्था नष्ट हो जावे, इस कारण से ब्रह्म उनको गिन सकते हैं तथा मैं भी आदि में सृष्टि की ज्ञान पूर्वक रचना करता हूँ इस लिए वे गिने जा सकते हो हैं, किन्तु वह गणना कभी विशेष सृष्टि के समय में हो सकती है, अन्यथा नहीं, किन्तु मेरे गुण, कर्म और नाम तो कभी भी नहीं गिने जा सकते हैं, कारण कि, एक ही जन्म में, करोड़ कर्म तथा नाम बताते हैं एक ही दिन में करोड़ों ब्रह्माण्डों में विशेष अलग २ द्वीपों के देशों में करोड़ों जन्म होते हैं, अतः अनगिनत होने से उनकी गिनती नहीं हो सकती है ॥३७॥

आभास - बहुभिर्मिलितैर्गणना भविष्यतीत्याशङ्क्याह कालत्रयोपपन्नानीति ।

आभासार्थ—बहुत मिल कर गणना कर लेंगे, जिसका उत्तर “कालत्रयोपपन्नानि” श्लोक में कहते हैं--

श्लोक—कालत्रयोपपन्नानि जन्मकर्माणि मे नृप ।

अनुक्रमन्तो नैवान्तं गच्छन्ति परमर्षयः ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! तीन काल में युक्ति युक्त मेरे जन्म और कर्म गिनते हुए बड़े बड़े ऋषि भी अन्त पा नहीं सकते हैं ॥३८॥

सुबोधिनी—भूतान्येव बहूनि वर्तन्ते, भविष्याणि च । म इति ब्रह्मणः । जीवो हि परि- चिच्छन्तः, एकदा एकस्मिन् देशे एकं देहं गृह्णाति, स देहः शतवर्षाणि तिष्ठति । भगवतस्तु देहाभा-

वात्स्वरूप यथासुख प्रदर्शयतीति एकस्मिन्नपि क्षणे बहुभिर्बहुधा दृश्यत इति अनकरूपाणि भवन्ति । चलने च मायाजवनिकायाः स्थलान्तरे उद्गमस्य भिन्नत्वाच्चलनमात्रेणैवानेकानि रूपाणि भवन्ति । स ह्याकाशशरीरः सर्वतःपाणि-पादान्तत्वेन, मूर्त्यानन्त्यात् अनन्तरूपत्वं युक्त-

मेव । अत आह भगवान् । कालत्रयोपपन्नानि मदीयानि अनुक्रमन्तः आनुपूर्व्येण गणनां कुर्वाणाः अन्तं न गच्छन्तीति । नृपे त संबोधन महत्त्वेन वञ्चनाभावाय । तत्रापि कालत्रयस्य योग्यानीति कर्मणामानन्त्यम् । कालत्रयस्य उपमर्दनसमर्थानि नामानीति कालत्रये उपपन्नान्यनन्तान्येव ॥३८॥

व्याख्यार्थ—भूत बहुत ही हैं और बहुत होंगे, 'में' पद का तात्पर्य है ब्रह्म के, क्योंकि जीव परिच्छिन्न हैं अतः एक ही काल तथा देश में एक देह धारण कर सकता है, वह देह सौ वर्ष तक रहती है भगवान् तो देह रहित होने से इच्छानुकूल सुखपूर्वक स्वरूप दिखाते हैं, एक ही क्षण में बहुत प्रकार से दर्शन करते हैं, इस प्रकार अनेक रूपा होते हैं आपको मायारूप पड़दे के चलते रहने से दूसरे स्थल में उत्पन्न होने की भिन्नता से केवल चलने से ही अनेक होजाने हैं । उनका (भगवान् क) शरीर आकाश है, सब स्थान पर उनके पाणिपाद प्राप्त हैं, अतः मूर्ति की अनन्तता होने से आपका अनन्त रूप होना योग्य ही है, इस लिए कहा है, कि "भगवान्" हैं । मेरे ये जन्म तीन काल में उपयोगी हैं, आदि से लेकर यदि गणना की जाए तो अन्त हो न आवे, हे नृप ! यह सम्बोधन दो बात प्रकट करने के लिए दिया है १- आप महान् हैं, यह बताने के लिए दूसरा आप से हम वञ्चना नहीं करते हैं यह जताने के वास्ते, इसमें भी मेरे कम तीनों कालों के योग्य हैं इससे कर्मों की अनन्तता सिद्ध की है, मेरे नाम तीनों कालों का उपमर्दन करने में समर्थ हैं, इस लिए तीनों कालों में योग्य हैं और अनन्त ही हैं ॥३८॥

आभास — एवं त्रिभिः स्वस्य ब्रह्मत्वं निरूप्य धर्माणामपि ब्रह्मत्वेनानन्त्यमुक्त्वा अवक्तव्यत्वमुपपाद्य तथापि राजकृपया राज्ञो दुर्ज्ञेयमपि वक्ष्यामीत्यभिप्रायेणाह तथापीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार तीन श्लोकों से अपने ब्रह्मत्व का निरूपण कर, और धर्म भी ब्रह्म रूप होते हुए अनन्त हैं, यों भी कह कर यह बताया कि वे बताने नहीं चाहिए तो भी राजा पर कृपा है अतः जो दुर्ज्ञेय हैं वह भी राजा को कहूँगा इस अभिप्राय से "तथापि" श्लोक कहते हैं—

श्लोक—तथाप्यद्यतनान्यद्भ्रूः शृणुष्व गदतो मम ।

विज्ञापितो विरञ्च्येन पुराहं धर्मगुप्तये ।

भूमेर्भार्यायमाणानामसुराणां क्षयाय च ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग तो भी अब के जन्म नाम आदि मैं कह रहा हूँ वे सुन, पहले ब्रह्मा ने धर्म की रक्षा और पृथ्वी पर भार रूप असुरों के नाश के लिए मुझे प्रार्थना की थी ॥३६॥

सुबोधिनी—अद्यतनानि जन्मकर्माभिधानानि शृणुष्व । यद्यपि त्वां प्रति न वक्ष्यामि, तथापि मे गदतः सतः त्वया सावधानतया श्रोतव्यम् । आदौ जन्महेतुमाह । स एव पृष्ट इति । पुरा विरञ्चयेन विज्ञापितः ब्रह्मणा प्रार्थितः सन् धर्म-	रक्षा कर्तव्येति । भूमेर्भारायमाणानामसुराणां क्षयार्थं च । अनेन द्वयं गृहीतम् । भूमिभारहरणमसुराणां क्षयश्चेति । चकाराद्भक्तिसिद्धयर्थं च ॥३६॥
---	--

व्याख्यार्थ—अब के मेरे जन्म, कर्म और नाम सुन ले यद्यपि तुमको नहीं कह रहा हूँ, तो भी कहते हुए मुझे, तू सावधान हो कर सुनले, प्रथम जन्म का कारण कहते हैं, क्योंकि वह ही पूछा है, पहले ब्रह्मा ने प्रार्थना की थी, कि आपको धर्म की रक्षा करनी चाहिए, और पृथ्वी पर भार बने हुए असुरों के नाश के लिए भी प्रार्थना की थी, इससे हमने दोनों प्रार्थनाएँ स्वीकार कर ली (१) भूमि का भार उतारना और (२) असुरों का नाश करना, यों करने से धर्म की रक्षा हो जाएगी तथा “च” से यह बताया कि भक्ति की सिद्धि के लिए भी जन्म धारण किया है ॥३६॥

श्लोक—अवतीर्णो यदुकुले गृह आनकदुन्दुभेः ।

वदन्ति वासुदेवेति वसुदेवसुतं हि माम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—यदुकुल में आनक-दुन्दुभि के गृह में, मैं प्रकट हुआ हूँ, मुझे वसुदेव का पुत्र होने से “वासुदेव” नाम से बुलाते हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—यदुकुले इति गोत्रमुक्तम् । आनकदुन्दुभेर्गृह इति विशेषोऽप्युक्तः । नामाह वदन्ति वासुदेवेति । सन्त्येव बहूनि नामानि, एकस्यापि नाम्नः बहून्येव निर्वचनानि सन्ति, तथापि एकं	नाम एकप्रकारनिर्वचनं लोका वदन्ति । वासुदेवेति नाम । वसुदेवसुतमिति निर्वचनम् । हीति युक्तश्रायमर्थः । यतो मां वदन्ति । मया च तथा कृतमिति ॥४०॥
---	---

व्याख्यार्थ—यदुकुल में जन्म कहने से, अपना गोत्र बताया है, आनकदुन्दुभि के घर में कहकर गोत्र में भी विशेष घर बता दिया है, अब नाम कहते हैं, कि मुझे “वासुदेव” कहते हैं, बहुत नाम

हैं एक ही नाम के बहुत अर्थ होते हैं, तो भी लोक एक नाम और उस एक ही अर्थ को कहते हैं, “वासुदेव” यह नाम, इसका अर्थ करते हैं कि वसुदेव का पुत्र है, इस लिए वसुदेव है “हि” शब्द का तात्पर्य है, कि यह अर्थ योग्य ही है, जिससे मुझे वासुदेव कहते हैं, मैंने भी यों ही किया अतः वसुदेव का पुत्र हुआ है ॥४०॥

आभास—कर्माण्याह कालनेमिर्हत इति ।

अ भासार्थ—कर्म का वर्णन करते हैं “कालनेमिर्हतः” श्लोक से--

श्लोक—कालनेमिर्हतः कंसः प्रलम्बाद्याश्च सद्द्विषः ।

अयं च यवनो दग्धो राजंस्ते तिग्मचक्षुषा ॥४१॥

श्लोकार्थ—कालनेमि होने से मामा कंस को भी मारा, सत्पुरुषों के द्वेषी होने से प्रलम्ब आदि दैत्य नष्ट किए, इससे सत्पुरुषों की रक्षा हुई, हे राजन् तेरे तेज नेत्र से +

सुबोधिनी - कंसो मातुल इति तस्य हननं निषिद्धमिति पूर्व स कालनेमिः स्थित इत्युक्तम् । प्रलम्बादयोऽपि हताः, यतस्ते सद्द्विषः । अनेन सद्द्विषार्थं प्रलम्बादयो हताः, न तु तेषां हनने स्वतन्त्र कार्यमस्तीति भावः । प्रकृतकृत्यं द्विरूप-	माह अयमिति । तत्र यवनः ते तिग्मचक्षुषा बाण प्रायेण करणेन मयैव दग्धः । चकारः कर्तुं समुच्च-यार्थः । राजन्निति संबोधनं तथैव सम्मत्यर्थम् ॥४१॥
---	--

व्याख्यानार्थ—कंस मामा है इस लिए उनके मारने का शास्त्रों में निषेध है, किन्तु वह पूर्व जन्म में कालनेमि था कालनेमि का अवतार होने के कारण इसको मारा है सत्पुरुषों के द्वेषी प्रलम्ब आदि का वध सत्पुरुषों की रक्षा के लिए किया है, उनके मारने के लिए अन्य कोई कारण नहीं था, चालू कृत्य दो तरह का है यद्यपि देखने में यवन तुम्हारे तेज चक्षु से दग्ध हुआ है वास्तव में उसको मैंने ही भस्म किया है तुम्हारा नेत्र तो केवल कारण है, जैसे योधे का बाण साधन होता है “च” से कर्ता का समुच्चय दिखाया है, हे राजन् ! यह सम्बोधन वैसी ही सम्मति के लिए है ॥४१॥

आभास—द्वितीयं भक्तिलक्षणं धर्मलक्षणं वा प्रयोजनमाह सोऽहमिति ।

आभासार्थ—आने का दूसरा प्रयोजन भक्ति का व धर्म लक्षण का है वह “सोऽहं” श्लोक में कहते हैं--

श्लोक—सोऽहं तवानुग्राहार्थं गुहामेतामुपागतः ।

प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वं त्वयाहं भक्तवत्सलः ॥४२॥

श्लोकार्थ- जिस मुझ भक्त वत्सल को तुमने बहुत पहले प्रार्थना की थी, वह मैं तुम पर कृपा करने के लिए इस गुफा में आया हूँ ॥४२॥

सुवोधिनी—अनेकार्थेऽवतीर्णो यतोऽहं अत-
स्तवाप्यनुग्रहः कर्तव्य इति एतां गुहामुपागतः ।
अन्यथा प्रकारान्तरेण भ्रममुत्पाद्य कालयवन
एवात्राणीतः स्यात् । ततश्च स्वयमेव स भस्मी-
भवेत् । अतस्त्वदर्थमेवास्मिन् सङ्कटे देशेऽपि समा-
गतः । तत्र हेतुः प्रार्थितः प्रचुरं पूर्वमिति । बहु-

वारं पूर्वजन्मसु त्वयाऽहं प्रार्थितः । अनेन यत्सा-
मर्थ्यं त्वयोदानीमुपलभ्यते, तत्केवलं मदनुभावेन-
त्यपि ज्ञापितम् । तथापि स्वक्लेशेनाप्यागमने
स्वस्यासाधारणं धर्ममाह भक्तवत्सल इति । अहं
स्वभावतो भक्तवत्सलः ४२॥

व्याख्यार्थ—जिससे मैं अनेकों के लिए प्रकट हुआ हूँ अतः तुम पर भी अनुग्रह करना चाहिए, इसलिए इस गुफा में आया हूँ, अन्य प्रकार भ्रम पैदा कर कालयवन को ही यहाँ लाया जावे, पश्चात् वह स्वयं भस्म हो जावे, अतः तेरे लिए ही इस कष्ट वाले देश में आया हूँ, ऐसे देश में तेरे लिए आने का कारण यह है कि तुमने बहुत बार पूर्व जन्मों में मुझे प्रार्थना की थी, यों कहकर यह भी मुचुकुन्द को सूचित किया है कि तुम से जो यह सामर्थ्य इस समय देखने में आती है वह मेरा ही प्रभाव है, यहाँ आने में जो कष्ट हुआ है, वह सहन कर भी जो आया हूँ उसका कारण मेरा असाधारण धर्म, भक्त वत्सलता है मैं स्वभाव से ही भक्त वत्सल हूँ, अर्थात् भक्तों से प्यार करने वाला हूँ ॥४२॥

आभास—आगतस्य प्रयोजनमाह वरान् वृणीष्वेति ।

आभासार्थ—अपने आने का प्रयोजन “वरान् वृणीष्व” श्लोक में कहते हैं--

श्लोक—वरान् वृणीष्व राजर्षे सर्वान्कामान्ददामि ते ।

मां प्रपन्नोऽजनः कश्चिन्न भूयोर्हति शोचितुम् ॥४३॥

श्लोकार्थ—हे राजर्षि वरों को मांग, हम तुम्हें सर्व कामनाएँ देते हैं, मेरी शरण आया हुआ कोई भी फिर शोक नहीं करता है, अन्य जन्म में मोक्ष भी पाता है ॥ ४३ ॥

सुबोधिनी—ये वरणीयाः तवाभीष्टाः तान् बहूनपि वृणीष्व । यतस्त्वं राजर्षिः राजा च ऋषिश्च राजधर्म वैदिक च धर्म कृतवानिति । अहं पुनः ते अस्मिन् जन्मनि सर्वानेव कामान् दास्यामि न तु मोक्षमिति भावः । तर्हि किं वरेणेत्याशङ्क्याह मां प्रपन्न इति । यस्तु शरणागतः, स भूयः शोचितुं नार्हति । यस्मिन् जन्मनि

प्रपद्यते, तस्मिन् जन्मनि कश्चिच्छोचितुमर्हति, न सर्वः । अतः सर्वेषां शोकः प्रपत्तिमात्रेण निवर्तते, अजनश्च भवति । जनश्चैतु मदिच्छया, तथापि भूयः शोचितुं नार्हति । एष विकल्पः राज एवार्थे । अतः कामितं सर्वमेव दास्यामि, मुक्तिमपि एकजन्मव्यवधानेनेति भावः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—जो तुमको वर लेने हों, वे बहुत से हों तो भी मांग लो, क्योंकि तुम राजा और ऋषि दोनों हो, राज धर्म और वैदिक धर्म दोनों धर्म पाले हैं, मैं इस जन्म में सब कामनाएँ जो भी तेरी होंगी वे पूर्ण करूँगा, किन्तु मोक्ष के सिवाय । यदि मोक्ष नहीं देना चाहते हैं, तो वर लेने से लाभ क्या ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जो मेरी शरण आया है वह कभी भी फिर शोक नहीं करता है, अर्थात् वह सर्व प्रकार के शोकों से छूट जाता है, जिस जन्म में शरण लेता है उस जन्म में कोई कोई शोक करता है सब नहीं करते अतः सब का शोक शरण मात्र से निवृत्त हो जाता है, वह मुक्त हो जाता है, यदि मेरी इच्छा से उसकी मुक्ति न भी होवे, तो भी वह शोकाकुल तो हो नहीं सकता है, यह विकल्प भी राजा के वास्ते ही है, अतः कामनाएँ तो सब दूँगा, शेष मुक्ति वह भी एक जन्म की रूकावट से दूँगा ॥४३॥

आभास—एवं वचनेन यदर्थं स्वयं स्थितः स एवायमिति निश्चित्य कर्तुमिच्छेत्त्याह इत्युक्त इति ।

आभाषार्थ—इस प्रकार गर्व के वचन मानकर, जिसके लिए मैं यहाँ स्थित हूँ, वह ही यह है, यह निश्चय कर, स्तुति करने की इच्छा करने लगा, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी “इत्युक्त” श्लोक में करते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—इत्युक्तस्तं प्रणम्याह मुचुकुन्दो मुदान्वितः ।

ज्ञात्वा नारायणं देवं गर्गवाक्यमनुस्मरन् ॥४४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि इस प्रकार जब भगवान् ने कहा तब प्रसन्न होकर मुचुकुन्द ने गर्गजी के वाक्य स्मरण कर उनको नारायण देव जान और उनको प्रणाम कर कहने लगा अर्थात् स्तुति करने लगा ॥४४॥

सुबोधिनी—भगवता वरं प्रार्थयेत्युक्तः स्तुतवैव वरः प्रार्थनीय इति तं प्रणम्य स्तुतिमाह । यतोऽयं मुचुकुन्दः प्रसिद्धः, मुदान्तरन्वितो जातः । भगवद्वाक्येन संतोषोऽप्येका भगवत्स्तुतिः । तदा गर्गवाक्यमनुस्मरन्, भगवद्वाक्येन तस्यापि स्मरणे जाते,

नारायणोऽयमिति निश्चित्य, स्तोत्रं कृतवान् । अनेन नारायणः पुरुष एव ज्ञातः, न तु पुरुषोत्तमः । अथवा । पुरुषमेव पुरुषोत्तमं मन्यते । भगवद्वाक्यं गर्गवाक्यस्मारकत्वेन ज्ञातमिति न फलसिद्धिः । अनेनैवाभिप्रायेण भगवतापि 'कामान् ददामी'त्युक्तम् ॥४४॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् ने वरों को मांग. इतना कहा, यह सुनकर राजा ने विचार किया कि पहले स्तुति कर पश्चात् वरों की याचना करनी चाहिए, इस निश्चय से, उनको प्रणाम कर स्तुति करने लगा, जिससे यह मुचुकुन्द प्रसिद्ध है । अन्तःकरण में प्रसन्नता से युक्त हुआ, भगवान् के वचनों से सन्तोष हो जाना यह भी उनकी एक प्रकार की स्तुति है, तब गर्ग के वाक्य याद हो आए, इसके वाक्यों का स्मरण भी भगवान् के वाक्य श्रवण से हुआ अतः ये नारायण हैं यह निश्चय कर स्तुति करने लगा, इससे नारायण को पुरुष ही जाना, पुरुषोत्तम नहीं समझा, अथवा पुरुष को ही पुरुषोत्तम मानता है, मुचुकुन्द को फल की (मोक्ष की) सिद्धि न हुई जिसका कारण यह है, कि इसने भगवान् के वचनों का फल गर्ग के वाक्यों का स्मरण ही समझ लिया, इसी अभिप्राय को ध्यान में रख कर भगवान् ने भी "कामान् दास्यामि" कहा कि कामनाओं को दूँगा न कि मोक्ष को ॥४४॥

आभास—भगवन्तं स्तौति त्रयोदशभिः विमोहित इति ।

आभासार्थ—तेरह श्लोकों से भगवान् की स्तुति करता है ।

मुचुकुन्द उवाच —

श्लोक — विमोहितोऽयं जन ईशमायया स्वदीयया त्वां न भजत्यनर्थकः ।

सुखाय दुःखप्रभहेषु सज्जते, गृहेषु योषित्पुरुषश्च वञ्चितः ॥४५॥

श्लोकार्थ — मुचुकुन्द कहने लगा — हे ईश आपको इस माया ने यह मनुष्य, स्त्री अथवा पुरुष को ठग लिया है, इसलिए अनर्थ संसार में ही ध्यान हो जाने से आपको नहीं भजता है, दुःख देने वाले घरों में सुख के लिए आसक्त है ॥४५॥

सुबोधिनी — अत्र द्वादशधा कालो निरूप्यते । तदतिक्रमार्थं च एकेन भगवद्व्यपत्तिरिति । तत्र कालेन सर्वे व्यामोहिता इति प्रथमं तामससंज्ञसात्त्विकान् मुग्धान् गणयति । तत्र त्वमप्यद्यत्त तामसमोहो निरूप्यते । अयं जनः स्वदीयया मायया विशेषेण मोहितः । ननु कालेनैव मोहितोऽस्तु, किं भगवन्माया-विमोहनेनेत्यत आह ईशेति । भवानेवेशः । तेन कालरूपो भूत्वा तान् विमोहयसीत्युक्तं भवति । अन्येनैतावत्केतुं न शक्यते इति । न ह्यन्यः भगवद्भजनं निवारयितुं शक्नोति । अमरीधी स्यात् । अन्ये व्यामोहाः कालकृता भवन्तु नाम, भगवदभजनहेतुः कालो भगवो-नेव । तदाह यतस्त्वां न भजतीति । ननु प्रमानन्दे कथं विचारकाणामप्रवृत्तिरिति चेत्, तत्राह अनर्थेति । अनर्थ एव दृष्टि-र्यस्य । यद्धि पश्यति, तज्जानाति उभयं चित्पश्येत्, तारतम्यं च जानीयात्, अयं त्वन-र्थमेव पश्यति । ननु सर्वोऽपि दुःखान्निवर्तते, सुखार्थे प्रवर्तते, सुखदुःखे चात्मानुभववेद्यो, अतः कथमनर्थदर्शनमिति चेत्, तत्राह सुखाय दुःखप्रभेषु सज्जते इति । प्रवृत्तिस्तु स्वसमा-नप्रकारज्ञानजन्यैव, परं तज्ज्ञानं श्रेष्ठतमं तेन फले विपर्ययः । यद्दुःखस्थानम्, यतो

दुःखमेवोत्पद्यते, तत्र सुखं भविष्यतीति, यतः प्रवर्तते, तत्राप्यासज्जते, तत्स्थानं निर्दिशति गृहेष्विति । दुःखप्रभवत्वमुपपत्त्योपपादयति योषित्पुरुषश्चेति । गृहे हि द्वयमेवास्ति । द्वयमप्यन्योन्यत् सुखापेक्षम् । यद्येकस्मिन् सुखं भवेत्, तत्रापि पुष्कलम् तदा ह्यन्यस्मै प्रयच्छेत्, इतरेतराश्रयं कार्यं च न सिध्यत्येव । अतस्तयोर्दुःखमेव सहजम्, तदनुवृत्तौ दुःखमेव भवेत् । न हि ज्ञानमग्निः प्राप्यते । नन्वनु-भूयते सुखं कथमिति चेत्, तत्राह वञ्चित इति । केनचिद्वञ्चितः सुखं मन्यते । न हि युक्तिबाधितं प्रमाणबाधितं च वञ्चितसुखं भवति । अनुभवस्तु भ्रान्तानुभवतुल्यः । अतो लौकिके युक्तिबाधितं न प्रमाणम्, वैदिके श्रुतिरेव प्रमाणमिति । अन्योव्यसुखापेक्षित्वेन प्रवृत्तेः सुखाभावस्तत्र सिद्धः । 'पन्थास्तो नर-कात्वायतः' इति श्रुत्यात् पुरुषशब्देन नरक उच्यते, योषिच्छब्देन च स्त्रियां नरकम्, 'शालावृकाणां हृदयान्येता' इति 'स सोमो नातिष्ठते' इत्यदिश्रुतिभिः स्त्रीणां निन्दाश्रव-णात् । 'प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थ' इति उपास्यार्थः निरुक्तम् । 'लोक्यलिङ्गं दृष्टा-न्तीकर्तुं वा । आविर्भूते वा रसे तद्भवति ।

गृहत्वादेव परिच्छिन्नत्वात्तन् रसाविर्भावः ।
उभयोः परिगणनायाः कृतत्वात्तत्रैतरेभावेः
सिद्धेः । यत उभयोः सुखं भवेत् । चकोरात्त-
दपत्यानि च । ते च व्याघ्रवत्ताभ्यामेव सुखे-

पसवः । अतो युक्तिप्रमाणाभ्यां बाधादन्योन्य
प्रवृत्तौ वञ्चितं एव । समुदाये च तां निराकृतुं
वञ्चितं इत्येकवचनम् ॥४५॥

व्याख्यानार्थ—मुचुकुन्द १३ श्लोकों से स्तुति करता है, जिसका कारण यह है, कि द्वादश प्रकार का काल है जिसका १२ श्लोकों से स्तुति कर अतिक्रमण करता है, और एक श्लोक से भगवान् की शरणागति कहनी है, काल ने सब को मुग्ध बना लिया है, इस लिए प्रथम तीन श्लोकों से तामस, राजस और सात्विक मूढ़ों की गिनती करता है, उसमें भी प्रथम श्लोक से तामस मोह का निरूपण किया जाता है, यह मनुष्य आपकी माया से विशेष प्रकार से मुग्ध हो गया है, मेरी माया से क्यों कहते हो ? यह तो इस काल के कारण मोहित हुआ है, इसके उत्तर में कहता है, कि आप ईश हैं, इस लिए काल रूप बनकर उनको मोह में फँसाते हो, आपके सिवाय दूसरा कोई भी यों करने में समर्थ नहीं है, दूसरा कोई भगवद्भजन से विमुख नहीं कर सकता है, यदि करें तो अपराधी बनें, दूसरे मोह अर्थात् धन, स्त्री पुत्रादिकों का मोह भले कालकृत हो, किन्तु भगवान् के भजन न करने में कालरूप आप भगवान् ही हैं, जिससे आपका भजन नहीं करते हैं, यदि कहो कि विचार करने वालों की परमानन्द में प्रवृत्ति क्यों नहीं होती है ? तो इसके समाधान में कहा है, कि उनकी दृष्टि केवल संसार में ही है, इस लिए, वे संसार को ही जानते हैं, नियम है, कि जिसको देखा जाता है उसका ही ज्ञान होता है, जो संसार और परमार्थ दोनों को देखें तो दोनों में तारतम्य (भेद) क्या है ? कौन श्रेष्ठ है, और कौन हीन है ? यह तो अनर्थ (संसार) को देख रहा है, फिर शंका होती है, कि सब मनुष्य दुःख से निवृत्ति चाहते हैं और सुख में प्रवृत्त होते हैं सुख क्यों है ? क्या किस में है और दुःख क्या है ? एवं किसमें है ? यह अनुभव से जाना जाता है, अतः अनर्थ में ही दृष्टि कैसे ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि सुख की प्राप्ति के लिए उन पदार्थों में आसक्त होता है, जिन पदार्थों से दुःख पैदा होता है, मनुष्य की प्रवृत्ति तो अपने सम्पन्न प्रकार वाले ज्ञान द्वारा होती है किन्तु वह ज्ञान भ्रम पूर्ण होता है जिससे उसका फल उल्टा होता है जो दुःख का स्थान है, वहाँ से सुख ही प्राप्त होगा किन्तु भ्रम से समझता है कि सुख मिलेगा, जिस कारण से उसमें प्रवृत्त होता है और उसमें आसक्त हो जाता है वैसा स्थान + बताना है "गृहेषु" घरों में सुख समझता है किन्तु मिलता दुःख है, जिसको हेतु पूर्वक युक्ति से सिद्ध करता है "योषित पुरुषश्च" स्त्री और पुरुष ये दो ही घर में रहते हैं, दोनों एक दूसरे से सुख चाहते हैं, जब एक दूसरे को प्रसन्न कर (तथा) बहुत सुख दें, तब दूसरा उस सुख देने वाले को सुख देवे, इस प्रकार सुख का कार्य एक दूसरे पर आश्रित है, जिससे वह कार्य पूर्ण होगा सिद्ध नहीं होता है, अतः दोनों को दुःख ही, बहुत कष्ट सरलता से प्राप्त होता है निश्चय है कि नदी में जैसे अग्नि की प्राप्ति नहीं होती है, वैसे ही गृहों में सुख की प्राप्ति

भी नहीं होती है, यदि कहो कि सुख का अनुभव कैसे होता है ? उस पर कहते हैं कि “वञ्चिनः” किसी से ठगा जाने से समझता है, कि मैं सुख पाता हूँ वास्तव में वैसा सुख शायद ही मिलता है जिसका युक्ति व प्रमाण से बोध नहीं होता है आप यों कैसे कहते हो ? वह सुख नहीं है, सुख का तो अनुभव होता है। इस पर कहते हैं कि वह भ्रान्त अनुभव, जैसा है सत्य अनुभव नहीं है अतः लौकिक में जो युक्ति से वाधित है वह प्रमाण नहीं माना जाता है और वैदिक में श्रुति ही प्रमाण है, परस्पर एक दूसरे से सुख को प्राप्ति को अपेक्षा से जो मुखार्थ प्राप्ति की जाती है, उसमें सुख का अभाव अर्थात् दुःख की प्राप्ति ही सिद्ध समझनी चाहिए। “पुन्नाम्नो नरकात् त्रायते” इस वाक्य से पुरुष शब्द से नरक का लक्ष्य किया है, “योषित्” शब्द तो सृतराम् नरक है ही, जिसमें प्रमाण देते हैं, “शाला वृकाणां हृदयानि एताः” स्त्रियां शालावृको (गीदड़, कुत्ता आदि) का हृदय है “स सोमोनातिष्ठते” इत्यादि श्रुतियों में स्त्रियों की निन्दा सुनी जाती है “प्रजापतिरमृतमानन्द इत्युपस्थ” इस श्रुति से जननेन्द्रिय की उपासना बताई है अथवा लोक में माने हुए को दृष्टान्त रूप से बताने के लिए अथवा रस के आविर्भूत होने पर वह होता है, गृह होने से परिच्छिन्न है अतः रस का आविर्भाव नहीं होता है, दोनों की परिगणना करने से दूसरे का अभाव सिद्ध है, जिसमें दोनों को सुख होवे “च” शब्द से उनको सन्तान भी, उन दोनों स्त्री पुरुषों (माता पिता) से व्याघ्र की तरह सुख को चाहना करती है अतः युक्ति तथा प्रमाण से वाधित होने के कारण परस्पर प्रवृत्ति में ठगे हुए ही हैं, समुदाय में उसका निराकरण करने के लिए “वचित्” यह एक वचन कहा है ॥ ४५ ॥

आभास—एवं गृहासक्तस्य तामसस्य वञ्चनामुक्त्वा शास्त्रादिरतस्यापि विवेकिनो-
ऽपि राजसस्य वञ्चितत्वमाह लब्ध्वा जनो दुर्लभमिति ।

आभाषार्थ—इस प्रकार गृह में आसक्त तामस जन की वंचना कह कर अब “लब्ध्वाजनो” श्लोक में शास्त्र से दूसरे विवेक की राजस के वञ्चना प्रकार कहते हैं ।

श्लोक—लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ ।

पादारविन्दं न भजत्यसन्मतिर्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे निष्पापी ! मनुष्य इस लोक में बिना प्रयत्न किए किसी तरह सब इन्द्रियाँ और अंग सहित दुर्लभ, यह मनुष्य-देह प्राप्त करता है, तो भी जो

भगवान् के चरणारविन्द का भजन नहीं करता है, वह असत्य बुद्धि वाला है और पशु की तरह घर के अन्धकूप में गिरा हुआ है यों समझना चाहिए ॥४६॥

सुबोधिनी—विवेकसहितं मानुषमपि देहं प्राप्य कथञ्चिन्महता कष्टेन । अव्यङ्गं सर्वाङ्ग-सहितं सर्वेन्द्रियसहितं सर्वबुद्धिसहितं च महता शास्त्रप्रयासेन जनत्वात्सर्वदा जायमानः, विशिष्टं कदाचिदेव प्राप्नोतीति । तादृशमपि प्राप्य भगवन्तं न भजतीति असन्मतिरेव । प्राप्त-सामग्र्या अन्यथा उपयोगाभावात् । इन्द्रिया-णामुपयोगोनुपयोगश्च पूर्व निरूपितः । 'विले बतोरुक्रमविक्रमान्ये' 'सा वाग्यया तस्य गुणान् गृणीत' इति च । अतो भगवत्पादारविन्दाभजने असन्मतिरेव भवति । असन्मतित्वाद्वा अभज-नम् । अत एव गृहान्धकूपे पतति । उच्यते दुर्गमा-भावात् । तत्र च पदार्थदर्शनाभावात् अन्धकूप-त्वम् । विवेकी कूपेपि पतितः कदाचिदुपायेनो-द्गच्छति । तदपि नास्तीति दृष्टान्तमाह यथा पशुरिति । पशुश्च तत्र व्याकुलोऽपि भवति । यतोऽधिकमेव दुःखं प्राप्नोति । निर्गमनोपायं च न वेद ॥४६॥

व्याख्यान—महान् कष्ट से एक एक शास्त्र के प्रयास से, विवेक वाली मनुष्य देह को भी प्राप्त किया है, फिर भी कैसी ? जिससे सर्व अङ्गपूर्ण सर्व इन्द्रियाँ पुष्ट और सर्व प्रकार की बुद्धि वाली है एवं "जन" शब्द से यह बताया है, कि सर्वदा जन्मना है, किन्तु विशेष प्रकार से तो कभी प्राप्त करता है वैसी उत्तम प्रकार की देह भी प्राप्त कर यदि भगवत् भजन नहीं करता है तो समझना चाहिए कि वह असत् बुद्धि वाला ही है: क्योंकि यह सामग्री भगवान् के भेजने के लिए मिली है वह सामग्री भगवान् के उपयोग में न लाकर लौकिक में लाना, असत् बुद्धि ही है, इस सामग्री का दूसरे में उपयोग नहीं होना चाहिए । इन्द्रियों का उपयोग कहाँ करना चाहिए तथा कहाँ न करना चाहिए वह पहले निरूपण किया है, जैसे कि कहाँ गया है, कि "विले बतोरुक्रमविक्रमान्ये" "सावाग्यया तस्य गुणान् गृणीत" जो मनुष्य भगवान् के गुण नहीं सुनते हैं उनके कर्ण सर्प के बिल हैं, जिससे भगवान् के गुण गाए जाते हैं वह वाणी है, जो मनुष्य इस प्रकार भगवान् के गुणों का श्रवण और स्मरण नहीं करता है, वह असत् बुद्धि है, अर्थात् असत् बुद्धि होने से वह भजन नहीं करता है इस कारण से घरके अन्धेरे कूप में गिरा हुआ है । वह कूआ ऐसा है जिसमें से ऊपर निकल आने का ही अभाव है, क्योंकि अन्धेरे कूप कहने का तात्पर्य ही यह है कि वहाँ कुछ भी पदार्थ देखने में नहीं आता है, कूप में जो गिरता है वह यदि विवेकी होता है, तो निकल आता है किन्तु यह तो पशु है अर्थात् इसमें विवेक नहीं है, वहाँ व्याकुल होते हुए अधिक दुःखी होता है कारण कि अविवेकी होने से उसे बाहिर निकलने का उपाय नहीं आता है ॥४६॥

आभास—एवं राजसानां दूषणमुक्त्वा सात्त्विकानामपि स्वदृष्टान्तेन दूषणमाह ममेष काल इति ।

आभासार्थ—राजसी मनुष्यों के दूषण कहकर अब सात्विकों का भी दूषण अपने दृष्टान्त से “ममैष काल” इस श्लोक में कहते हैं--

श्लोक—ममैष कालोऽजित निष्फलो गतो राज्यश्रियोन्नद्धमदस्य भूपतेः ।

मर्त्यात्मबुद्धेः सुतदारकोशभूषवासज्जमानस्य दुरन्तचिन्तया ॥४७॥

श्लोकार्थ—हे अजित ! मेरा इतना काल व्यर्थ ही गया, कारण कि मैं राजा हूँ जिससे राजलक्ष्मी के मद से उन्मत्त हूँ और इस देह को आत्मा समझ कर इस के सम्बन्धी पुत्र, स्त्री आदि की चिन्ता से युक्त हूँ ॥४७॥

सुबोधिनी—एष इति पूर्वमनुभूतः । स सर्वोऽपि शोकेन पुर एवावतिष्ठते । अजितेति संबोधनम् । न कालेन भवान् जितः, वयं तु जिता इति स्वदुःखनिवेदनमप्युक्तम् । कालो हि पुरुषस्य पुरुषार्थसाधने हेतुर्भवति । तदभावे निष्फल एव गतः । ननु विवेकयुक्तो भवान्, कथमेवं वदतीत्याशङ्क्याह राज्यश्रियोन्नद्धमदस्येति । राज्यश्रिया परमोन्मादजनिकया उन्नद्धो मदो यस्य । ननु राज्यश्रियाः मदजनकत्वे को हेतुः, तत्राह भूपतेरिति । सर्वे हि दोषा भूमौ भवन्ति, न स्वर्गे, नापि पाताले । तस्याश्च पतिः तद्दोषेण दूषित एव भवति । अतो दोषसंबन्धात् सज्जरस्यान्नभोजनमिव श्रियापि बुद्धिनाश एव भवति । किञ्च । मर्त्यात्मबुद्धेरिति । मर्त्ये मरणधर्मके शरीरे आत्मबुद्धिर्यस्य । पापं तु भूपतित्वजनित-

मल्पम्, आत्मनोन्यथाज्ञानं तु महत्पापम् । ‘योऽन्यथा सन्तमात्मनमन्यथा प्रतिपद्यते । किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणे’ति वाक्यात् । नित्यं चात्मानं बद्ध्या मारयतीति मर्त्येण्डेन बद्धदोषोऽपि सूचितः । किञ्च । सुतदारकोशभूषासमन्तात्सज्जमानोऽपि जातः । ममतामपि भवदीयेषु अकृत्वा पुत्रादिषु चतुर्षु कृतवान् । तत्राप्यासक्तिम्, तत्रापि तेषां तत्संबन्धेनात्मनश्च सहस्रचिन्तायुक्तः, तदीयान् पोषयिष्यामि, तच्छत्रून्मारयिष्यामीत्यादि दुरन्ता चिन्ता । यस्या अन्तोऽग्निमफलं नरकपात इति । एवं त्रिदोषेण अहमपि मग्नः । आयुषो निष्फलता, मर्त्यात्मबुद्धिः, पुत्रादिष्वसक्तिश्चेति । एकैकमप्यनर्थायेति न्यायेन चतुष्टयमुक्तम् ॥४७॥

व्याख्यार्थ—जिस काल का मैंने अनुभव कर लिया है वह भी समस्त काल तो शोक से सामने ही खड़ा है अर्थात् इस काल में मैं शोक से ही घिरा हुआ हूँ, हे प्रभो! आप अजित हैं, अतः आपको काल जीत नहीं सकता है, हम तो काल से सवर्था जीते गए हैं, यों कहकर अपना दुःख भी सुना दिया । पुरुष के पुरुषार्थ को सिद्ध करने में काल ही हेतु है, उसके अभाव में वह निष्फल ही गया । आप तो विवेक वाले हैं (तो) यों वयों कहते हो ? इसके उत्तर में कहा है कि विशेष मद को पैदा करने वाली, राज लक्ष्मी से मेरा मद विशेष बढ़ गया है, कारण कि “मैं राजा हूँ” वैसी बुद्धि हो

जाने से मद बढ़ा है, जितने भी दोष हैं, वे सब पृथ्वी पर होते हैं। न स्वर्ग में और न पाताल में भी होते हैं। उस भूमि का पति उसके दोषों से दूषित होगा ही, अतः दोषों के संबन्धों के कारण लक्ष्मी से भी बुद्धि का नाश वैसे ही होता है जैसे ज्वर वाला मनुष्य अन्न (भोजन) रूप अपथ्य करे, तो उसका नाश होता है, और विशेष यह है, कि मेरी इस मरने वाली देह में अज्ञान से, आत्म बुद्धि है वह बुद्धि महापाप है यद्यपि राजापन से भी पाप होता है, किन्तु वह पाप है यह अज्ञान तो महा पाप है, जैसा कि शास्त्र में कहा है, कि जो आत्मा का जैसा स्वरूप है वैसा न समझ अन्यथा समझता है, उस आत्मा की चोरी करने वाले ने कौन सा पाप न किया ? अर्थात् उसने सर्वपाप किए। “मर्त्य” पद से यह भी सूचित किया है, कि वह बुद्धि से नित्य आत्मा का वध करता है, इससे उसको वध दोष भी लगता है, देह में अपनी आत्म बुद्धि करने से उसके संबन्धों पुत्र, स्त्री, धन और पृथ्वी में पूर्ण आसक्तिवान हुआ हैं जो समय भगवदभक्तों में करनी चाहिए उनमें न कर इन चारों में किया है। न केवल साधारण समता की है, किन्तु आसक्ति करली है, उसमें भी उन सम्बन्धियों की और अपनी सहस्र चिन्ताओं से युक्त हैं, इनको और इनके सम्बन्धियों को पालूंगा और इनके शत्रुओं का नाश करूंगा इत्यादि से अनन्त चिन्ताएँ हैं जिसका अन्तिम फल नरक में गिरना है इस प्रकार त्रिदोष में भी डूबा हुआ हैं आयु व्यर्थ गई। नाशवान शरीर में आत्मा की बुद्धि, पुत्रादिकों में आसक्ति, एक एक भी अनर्थ देने वाली है (फिर) यहाँ तो चार हैं ॥४७॥

आभास—एवं त्रिविधानामपि मोहमुक्त्वा विशेषतः स्वस्य परमं दोषत्रयमोह कलेवरेऽस्मिन्निति त्रिभिः ।

आभासार्थ—यों तीनों का मोह कह कर विशेष रूप से “कलेवरेऽस्मिन” ३ श्लोकों में अपने तीनों दोष कहते हैं—

श्लोक—कलेवरेऽस्मिन्धःकुड्यसंनिभे निरूढमानो नरदेव इत्यहम् ।

वृत्तो रथेभाश्वपदात्यनीकपंगि पर्यटंस्त्वाऽगणयन्सुदुर्मदः ॥४८॥

प्रमत्तमुच्चैरितिकृत्यचिन्तया प्रवृद्धलोभं विषयेषु लालसम् ।

त्वमप्रमत्तः सहसाभिपद्यसे क्षुल्लेलिहानोऽहिरिवाबुमन्तकः ॥४९॥

पुरा रथेहमपरिष्कृतैश्चरन्मतङ्गजैर्वा नरदेवसंज्ञितः ।

स एव कालेन दुरत्ययेन ते कलेवरो विट्कृमिभस्मसंज्ञितः ॥५०॥

श्लोकार्थ—घड़े और घर के समान साधन भूत इस शरीर में, मैं राजा हूँ ऐसा

अभिमान कर आपको भी न गिन कर, रथ, हस्ती, घोड़े, प्यादे आदि की सेना से घिरा हुआ मदोन्मत्त होके पृथ्वी पर घूम रहा हूँ ॥४८॥

ये ये कार्य अवश्य करने हैं, इस चिन्तन से प्रसन्न हुए प्रतिदिन विशेष लोभ वाले, विषयों में लालसा वाले को जैसे सुधा से गलाफों को चाटता हुआ सर्प चूहे को झपट लेता है वैसे (ही) कालरूप आप भी तुरन्त पकड़ लेते हैं ॥४९॥

प्रथम राजा ऐसा नाम धारण कर, जो देह सोने के रथ में बैठ एवं हस्तियों पर चढ़ कर फिरती है, वह ही देह, टालने पर भी जो न टले ऐसे काल सृति, आपके पकड़ने पर तीन अवस्था वाली हो जाती है, जो खाई जाए तो “विष्ठा” होती है, जो यों ही पड़ी रहे तो “कीड़ा” हो जाती है और जो जल जाए तो भस्म बन जाती है ॥५०॥

सुबोधिनी—कालेन ग्रासोऽत्र निरूप्यते । तत्र कालस्य दोषाभावाय स्वदोषं निमित्तत्वेन निरूपयति कलेवर इति । अस्मिन् कलेवरे शरीरे निरूढमानः सन् सुदुर्मदो भूत्वा त्वामगणयन् जातोऽस्मि, तदा त्वं अन्तको भूत्वा अभिपद्यस इति द्वयोः संबन्धः । भगवतो ग्रासे षट् दोषाः अस्मदीया निमित्तभूताः । आदौ कलेवरं कले कलने कालभक्षणे वरमुत्कृष्टम् । कालः प्रथमतस्तदेव भक्षयति मृत्पाषाणादिभ्यः । अत एव प्रस्तरादयः चिरस्थायिनः, कलेवरमाशुतरविनाशि । न हि कालस्य भक्ष्ये तत्त्वेनैव कृते स्वस्याभिमानः सुखदायी भवति । किञ्च । अस्मिन्निति शयानः स्वकीयो देहः प्रदर्शितः । असंस्कृतो मृतप्रायः । अनेन स्वतोऽपि दोष उक्तः । परिच्छेदाचेतनत्वे निरूपयति । यथा घटः जलानयनार्थमुपयुज्यते, तच्च जलमन्यत्र विनियुज्यते, तथा कर्माणि संपाद्यन्ते, पुनस्तानि यत्र कच्चिद्विनियुज्यन्ते इति । तादृशस्य केवलं कर्मसाधनभूतस्य आत्मतया स्वीकारः अत्यन्तं कुमतिफलम् ।

किञ्च । कूड्यसन्निभं भवेत् । कूड्ये गृहे यथा कश्चित्तिष्ठति, तथा कियत्कालस्थित्यर्थं भगवन्ना कृतम् । एवमधिकरणत्वेन करणत्वेन आत्मनो भेदे प्रतीयमानेऽपि पुनस्तत्र निरूढमानः नितरां रूढो मानोऽभिमानोऽहमेवेति यस्य । अयमेकः पञ्चपर्वात्मको महान दोषः । द्वितीयमाह नरदेवेति । नगत्वमेव सन्दिग्धम्, कृतोऽमेध्यभाण्डस्य देवत्वम् । नराणां देवः पूज्यो राजा । इतीति निश्चयार्थं । अहमित्यनुभवः प्रमाणम् । अतोऽत्र पर्वत्रयं निरूपितम् । तृतीयं दोषमाह चत इति । रथादिभिश्चतुर्भिः सेनाङ्गैः सहितं यदनीकं सेना तेषां रक्षकैः सेनापतिभिः वेष्टितः । ते हि दुष्टाः धातुकाः । तैः सहित इति दुःसङ्गो निरूपितः । भूभाररूपं चतुर्थं दोषमाह । गां पर्यटन्निति । ननु भूमौ कश्चन पुरुषार्थः साध्यते किन्तु भूमिमेव परितः अटते । महान्तं दोषमाह पञ्चमं त्वामगणयन्निति । यदधीनं सर्वं स एव न गण्यत इति । सुष्ठु दुष्टो मदो यस्येति स्वाज्ञानमपि । एवं षड्भिर्दोषैर्व्याप्तं कालो भक्षयतीत्याह प्रम-

त्तमिति । एते षट् दोषाः सहजाः । ते च मिलिताः शीघ्रं फलपर्यवमायित्तदोषमुत्पादयन्तीति निरूप्यते । उच्चैरितिकृत्यचिन्तया प्रमादः । प्रवृद्धो लोभः । विषयलालसेति । तुल्यत्वाभावाय भगवतो दोषत्रयाभावश्च निरूप्यते । अप्रमत्तः क्षुल्लेलिहानः लोभरहितः विषयलालसारहितत्वाय सहसाभिपद्यस इति । यो हि विषयलालसः स कार्ये शिथिलप्रयत्नो भवति, भोगाभिनिवेशात्, क्रियाभोगत्रोविरोधात् । तस्य दोषाभावाय दृष्टान्तः प्रमत्तः असावधानः स्वर्थे । तत्र यद्यप्यज्ञानमपि हेतुः, तथापि दोषान्तरमप्याह उच्चैरितिकृत्यचिन्तयेति । इत्येतावन्निश्चयेन कर्तव्यमिति । एवं वा कर्तव्यमिति । उच्चैरिति सर्वपेक्षया इदमेवावश्यकम् । तत्रापि यदि कार्यमुपस्थितं भवेत्, तदा दोषो वा न भवेत् । तदपि नास्तीत्याह चन्तयेति । चिन्तामात्रमेव । अनेनान्तःकरणं तत्रैव व्यावृत्तमिति । भगवता आत्मार्थमन्तःस्थापितं बहिर्विनियुक्तमिति महानेवापराधो निरूपितः । अयमसिद्धार्थसाधनरूप इति सद्धार्ये भिन्नं दोषमाह । प्रकर्षेण वृद्धो लोभो यस्येति । उपभोगार्थं हि तस्य सम्पादनं तदपि कृत्वा स्थापयत्येव, नोपभुङ्क्ते । किञ्च । भुक्त्वापि तदगतवैरस्यं ज्ञात्वापि पुनर्लालसो

भवति । विषं यान्तीति विषयाः विषं हि मारकमृत्युमुखम्, तत्र स्वयं गच्छन्तः स्वभक्तमपि नयन्ति । एकोऽपि नयेत्, किं पुनर्बहव इति बहुवचनम् । यद्यपि भगवत इतिकृत्यचिन्ता वर्तते, अन्यथा न मारयेत्, तथापि न प्रमत्तः । अत एव हेतुर्वर्तत इति साध्यप्राप्तौ निषेधः । सहसेति ! यदेव दोषत्रयोद्भवः, तदेव प्रतीकारकरणात् । पूर्वमेव कापि पलायनः भावायाभीति । कालस्य रूपमहिरिति । आखुश्च लीलाकर्ता, अन्यस्य भक्ष्यरूपं शरीरं गृहीत्वा सर्वदा सर्वापकाराय व्यापृतो भवति । ननु राज्ञोऽयं धर्मः परिपालनं कर्तव्यम्, तदर्थं शत्रवश्च मारणीयाः, तदर्थं चतुरङ्गबलसङ्ग्रहः, प्राणिनां हितार्थं धनग्रहणम्, कर्मफलभोगार्थं च विषयलालसेति गुणभूता एवैते किमिति दोषत्वेन गण्यन्ते इत्याशङ्क्याह पुरा रथैरिति । सत्यमेवं भवेत्, यद्ययं देहो देवो भवेत्, पूर्व रथःदिभिः चरन्नपि, राजत्वेन सम्मानितोऽपि, कलेवरो देहो विट्कृमिभस्मसंज्ञामेव लभते । मृतदेहस्य त्रिधा विनियोगः । काकादिभिर्भक्षिते विट्, शीर्णं सत् कृमयो वा भवन्ति, दाहे भस्म वा भवति । तामसराजससात्त्विकभावा निरूपिताः । अतः पर्यवसाने दुष्टत्वात् वृथाभिमानो दोषायैवेत्यर्थः ॥५०॥

व्याख्यार्थ—यहाँ यह देह काल का ग्रास होती है इसका निरूपण है ग्रास में काल का दोष नहीं है, यों सिद्ध करने के लिए अपने दोष उसके कारण हैं यह निरूपण करते हैं । इस शरीर में बैठा हुआ बहुत अभिमानो बनने से जब मैं आपको भी नहीं गिनता हूँ तब आप काल बनकर पकड़ लेते हैं, इस देह को भगवान् पकड़ लेते हैं इसमें हमारे छ दोष कारण हैं, पहला तो पृथ्वी पर जितने पाषाण आदि हैं उन सबसे यह शरीर, काल को भक्षण में श्रेष्ठ लगता है, इस लिए काल पहले इसे ही भक्षण करता है यही कारण है कि पत्थरों की आयु बढ़ी होती है और शरीर शीघ्र नाश हो जाते हैं, क्योंकि काल के भक्षण करने पर वह तत्त्व “परमेश्वर” ने ही किया है इससे अपना किया हुआ मद सुखदाता नहीं है, और विशेष कहते हैं कि “अस्मिन्” पद से अपनी देह सोई हुई दिखाई है अर्थात् असंस्कृत होने से ‘जिसका कोई सस्कार नहीं हुआ हो’ मरी हुई जैसी है, इससे अपने (१६)

आप दोष कहा है यह देह परिच्छेद वाली और अचेतन (जड़) है वह निरूपण करता है। जैसे घड़ा जल लाने का साधन मात्र है, किन्तु वह जल दूसरों के काम आता है वैसे ही इस देह से केवल वह कर्म किए जाने हैं, फिर वे कर्म जहाँ तहाँ जोड़े जाने हैं केवल कर्मों की साधनभूत ऐसी देह को "आत्मा" रूप मान लेना कमति का ही फल है यह देह घर के समान है अर्थात् जैसे मनुष्य घर में कृष्ण समय रहना है वैसे ही यह देह भी रहने के लिए भगवान् ने बनाई है इस प्रकार यह देह रहने के कारण अधिकरण है और कर्म करने के साधन होने से कर्ण है इस प्रकार आत्मा से भेद प्रतीत होने पर भी, फिर उसमें जो यह अभिमान है कि "मैं हूँ" वह भी एक प्रकार का पंचपर्वात्मक^१ महान् दोष है। यहाँ तक एक देहाध्यास दोष के कारण दोष बताया, अब दूसरा दोष मद बताते हैं। मैं नग्देव है अर्थात् जहाँ मनुष्यत्व ही संदेह वाला है, वहाँ अपवित्र पात्र (देह) का देवपन कैसे हो सकेगा? नरों का देव पूज्य राजा है "इति" शब्द से इसका निश्चय बताया है। "अहम्" शब्द से अपना अनुभव प्रमाणरूप कहा है, अतः यहाँ अविद्या के तीन पर्व बताए हैं इस प्रकार दूसरा दोष कह कर अब तीसरा दोष कहते हैं, रथ, गज, अश्व और प्यादे इस प्रकार की चतुरंगिणी सेना के रक्षक सेनापतियों से घिरा हुआ है वे दृष्ट हैं, मरने वाले क्रूर हैं, इससे बताया है कि मुझे इस प्रकार दसंग भी है अब भ्रमर रूप चौथा दोष कहते हैं, पृथ्वी पर आकर कोई पुरुषार्थ सिद्ध नहीं किया है, केवल पृथ्वी पर घागें ओर घमा है अब पाँचवाँ बड़ा दोष कहते हैं, आपको भी अपने ध्यान में नहीं लाता है अर्थात् आपका भी तिरस्कार करता है। देखिए, जिसके आधीन सक्कल जगत है, उसकी गणना नहीं करता है, ऐसा मुझे विशेष मद है और अपने स्वरूप का अज्ञान भी है इस प्रकार छ दोषों से घिरे हुए को काल भक्षण करता है, क्योंकि "प्रमन्तं" प्रमन्त है इस लिए काल उसका भक्षण करता है। ऊपर दिखाए हुए छ दोष सहज हैं और छ दोष जब एक स्थान पर मिल जाते हैं अर्थात् एक किसी मनुष्य में छ ही दोष आविर्भूत हो जाते हैं तब शीघ्र फल देने वाले त्रिदोष को उत्पन्न कर देते हैं यह निरूपण किया जाता है "उच्चे" पद से इस प्रकार कृत्य करना है ऐसी चिन्ताओं से प्रमाद^२ होता है लोभ बढ़ता है विषयों की बहुत चाहना होती है, अपने दोष बतला कर भगवान् से तुल्यता^३ नहीं होने से उसमें तीन दोषों का अभाव निरूपण करते हैं अप्रमत्तः^४ आप प्रमन्त नहीं हैं, अतः अपने कर्तव्य को पूरी तरह जानते हैं और वैसे ही करते हैं २-लोभ से रहित हो जिनमें विषयों की बहुत चाहना नहीं है, वे ही कार्य शीघ्र कर सकते हैं विषय कार्य करने में शिथिल होते हैं, अतः आप झटपट प्राप्त हो जाते हैं विषय तो भोग में आसक्त होने से कार्य शीघ्र नहीं कर सकता है कारण कि कार्य और भोग का परस्पर विरोध है।

१— अविद्या पांच पर्व वाली है जिससे पांच दोष उत्पन्न होते हैं—

(१—देहाध्यास २—प्राणाध्यास ३—अन्तःकरणध्यास ४—इन्द्रियाध्यास ५—स्वरूप विस्मृति,)

२—कर्तव्य को अकर्तव्य और अकर्तव्य को कर्तव्य समझकर करना इस प्रकार बेपरवाही है, ३—बराबरी

तो भी दूसरा दोष कहने हैं कि यह इतना तो अवश्य करना है, अथवा इस प्रकार करना चाहिए और यह कार्य तो सबकी अपेक्षा विशेष अधिक है। उसमें भी यदि कार्य आ पड़े तब तो दोष नहीं होवे वह भी नहीं है तो भी केवल चिन्ता ही है, इससे अन्तःकरण उसमें ही व्यावृत्त हो गया है। भगवान् ने जिस अन्तःकरण को अपने ध्यान व भक्ति के लिए भीतर बिठाया उसको बाहिर लौकिक कामों में लगा दिया, इस प्रकार महान् ही अपराध किया है, यह निरूपण कर बताया है यह महान् अपराध असिद्ध अर्थ का साधन रूप है, इसलिए सिद्ध अर्थ में जो भिन्न दोष है वह कहते हैं बहुत लोभ जैसे कि उपभोग के लिए धन कमा के इकट्ठा कर रखता है उपभोग में नहीं लाता है और विशेष भोग कर यह जान लेता है कि इसमें कुछ रस नहीं है तो भी फिर उसकी चाहना करता है, विषयों का स्वरूप वर्णन करते हैं कि विष मारने वाली मृत्यु का मुख है, उसमें स्वयं जाते हुए दूसरों को भी ले जाते हैं एक विषय ही लेजा सकता है, तो बहुतों का क्या कहना ? इसलिए बहुवचन दिया है, यद्यपि भगवान् की इस कृत्य की चिन्ता है इसलिए मारते हैं, नहीं तो नहीं मारे तो भी प्रमत्त (मतवाले) नहीं है, अतएव कारण है इसलिए साध्य (फल) की प्राप्ति में निषेध है, जब ही तीन दोषों का उद्भव हो जाता है तब ही उपाय करने से पहले ही कहीं भी भाग जाने के अभाव के लिए अभय है, सर्प काल का रूप है और वहाँ खेलने वाला है दूसरे का शरीर अपना भक्ष्य समझ कर सदा ही सर्व के अपकारार्थ व्यावृत्त रहता है यह तो राजा का धर्म है वह तो उसको पालन करना चाहिए हो इस धर्म के पालनार्थ शत्रु मारने चाहिए उनको मारने के वास्ते चतुरंग सेना भी इकट्ठी कर रखनी चाहिए प्राणियों के कल्याण के लिए 'कर' द्वारा धन भी ग्रहण करना चाहिए और कर्मों के फल भोगने के लिए विषयों की चाहना भी करनी योग्य है ये सब तो गुण रूप हैं इन को दोष रूप कैसे गिना जाता है ? जिसके उत्तर में कहते हैं, कि "पुरारथैः" यदि यह देह सचमुच देव होवे तो इस प्रकार आपका कहना सत्य हो सके किन्तु यह देह पहले रथादि में घूमती हुई, राजापने से सम्मानित होकर भी विष्टा, कीड़े और भस्मी ही बनती है, मरी हुई देह तीन तरह काम में आती है, जब उसे कौवे आदि पक्षी खाते हैं तब विष्टा हो जाती है यों ही पड़ी रहती है तो उस से छोटे छोटे कीड़े बन जाते हैं जलने पर भस्म बनती है, इस प्रकार तामस, राजस और सात्विक भावों का निरूपण किया, अतः अन्त में दुष्ट होने से झूठा अभिमान दोष के लिए ही है, इस प्रकार तात्पर्य है ॥५०॥

आभास—एवं फलतः दोषानुक्त्वा क्रियातोऽपि त्रैविध्यमाह निजित्य दिक्चक्रमिति त्रिभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार फल से दोषों को कह कर क्रिया से भी "निजित्य दिक्चक्रम" से लेकर तीन श्लोकों से तीन प्रकार बताते हैं ।

श्लोक—निजित्य दिक्चक्रमभूतविग्रहो वरासनस्थः समराजवन्दितः ।

गृहेषु मैथुन्यसुखेषु योषितां क्रीडामृगः पूरुष ईश नीयते ॥५१॥

करोति कर्माणि तपस्सु निष्ठितो निवृत्तभोगस्तदपेक्षयाददत् ।

पुनश्च भूयेयमहं स्वराडिति प्रवृद्धतर्षो न सुखाय कल्पते ॥५२॥

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।

सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतो परावरेणो त्वयि जायते मतिः ॥५३॥

श्लोकार्थ—हे ईश ! सर्व दिशाओं के राज्यों को जीतकर जो युद्धों से स्वतन्त्र हो गया है, उच्च सिंहासन पर बैठ सब समान राजाओं से जो पूजित हो रहा है वह पुरुष भी मैथुन ही जिनमें सुख है ऐसे स्त्रियों के घरों में क्रीड़ा मृग के समान जहाँ तहाँ ले जाया जाता है अर्थात् बन्दर की तरह नचाया जाता है ॥५१॥

यह मनुष्य तपस्या में विश्वास रख कर सर्व भोगों से निवृत्त होकर राज्य मिलने की अपेक्षा से जो उसके पास होता है वह सब देता हुआ फिर में चक्रवर्ती हो जाऊँ इस प्रकार तृष्णा के बढ़ने से सुखी हो नहीं सकता है ॥५२॥

हे अच्युत ! भटकते हुए मनुष्य के जन्म का जब अन्त होता है तब सत्पुरुषों का संग मिलता है, इस प्रकार जब सत् पुरुष भक्तों का पूर्ण मिलाप होता है तब काल तथा कर्म आदि के ईश आप में बुद्धि लगती है ॥५३॥

सुबोधिनी—राजधर्माणां तामसत्वं, कर्मणां राजसत्वं, सत्सङ्गस्य सात्त्विकत्वमिति विविच्य कर्मस्वरूपकथने वस्तुविवेको निरूपितो भवति । साधनप्रतिपादकाश्चैते त्रयः । तत्र राजत्वस्य स्त्रीसेवकत्वं भवति इत्यधोगतिः फलत्वेन निरूपिता । साधारणानां स्त्री दास्यमपि करोति । राजां तु तत्सम्भावनाभावात् स्वयमेव दासो भवतीति तुल्यगतिरपि नास्तीत्युक्तम् । आदौ दिक्चक्रं सप्तद्वीपवतीं

भूमिं निजित्य वशीकृत्य, महता प्रयासेन तत्साधयित्वा, ततोऽपि महता कालेन अभूतविग्रहो भवति, न भूतः भवनयोग्यो विग्रहो यस्येति । ततः स्वस्थो भूत्वा वरासनस्थो भवति । ततः समराजभिः वन्दितः । एवं चतुर्धाप्युत्कर्षं प्राप्य चतुर्धापकर्षं प्राप्नोतीत्याह गृहेष्विति । योषितां गृहेषु बहुषु, एको बहुषु दासो भवतीति वैदग्र्यम् । मैथुन्यपरेष्विति । आन्तरोऽपि व्ययः । क्रीडामृग इति बाह्य-

सर्वनिवेदनम् । मृग इति । विद्यमानादप्य-
धिकपदार्थसाधकत्वमिति । परलोकनाशश्च ।
स्वयं पुरुषः सर्वसमर्थः । ईशेति निवेदनार्थ
संबोधनम् । ईयत इति । प्रमाणं नात्र तिरो-
हितं किञ्चिदित्यर्थः ॥५१॥

एवं लौकिकवैयर्थ्यमुक्त्वा वैदिकवैयर्थ्य-
माह करोति कर्माणीति । यस्तु राज्यं प्राप्य
विषयभोगं करोति, सोऽधम एव, ततोऽप्यधमो
यस्तपः करोति, तत्रापि यत्तपः काम्यम्,
पुनस्तादृशमेव राज्यं सम्पादयति । प्राप्तं
राज्यं न समीचीनं क्षयिष्णवति हि स प्रव-
र्तते । यदपि तेन कर्मणा साध्यम्, तदपि
तादृशमेवेति प्राप्तं परित्यज्य कष्टेनापि तादृशं
साधयन् भ्रान्त एव । नानाविधानि च कर्माणि
करोति । तपसु नितरां स्थितः सन् तदर्थं
निवृत्तभोगश्च । ननु ततोऽप्यधिकापेक्षया उत्क-
र्षापेक्षया वा करोतीति चेत्, तत्राह तदपेक्ष-
येति । ततोऽधिकस्याश्रुतत्वाददृष्टत्वाच्च रस
एव न जायते । अतस्तदर्थमेव करोतीत्याह
तदपेक्षया तदेवादददिति । सकृद्भ्रान्तस्य
द्वितीयपययि भ्रमो निवर्तिष्यत इत्याशङ्क्याह
पुनश्च भयेयमिति । वारंवारमपि राज्यं प्राप्य
तदेव भूयेयमिति । कामनाया नियतत्वात् न
सुखाय कल्पते । ननु सजातोयोत्कर्षः सर्वेषा-
मेवापेक्षित इति तस्यैव कथमादानमिति चेत् ।
स्वराडिति । ब्रह्माण्डाधिपत्यमपि कामयन्
प्रवृद्धतर्ष एव भवति । नहि तृष्णायां विद्य-
मानायां सुखमस्ति, आकाङ्क्षाया दुःखात्म-
कत्वात् । अत उक्तमपि वाञ्छन् सुखोप-
भोगार्थं न समर्थो भवतीत्यर्थः ॥५२॥

एवं कर्मफलं निन्दित्वा कामनाभावं
स्तोतुं सात्त्विकस्य कर्मणः ग्राह्यत्वेन स्तुति-
माह भवापवर्ग इति । यदा भगवदिच्छया
भवापवर्गो भवेत्, तदा ससाधनेच्छायां जनस्य
सत्समागमो भवेत् । सद्भिः सह सम्यगागमः
बोध्यबोधकभावसंबन्धः । भ्रमत इति नाना-
विधयोनिषु भ्रमणजनितक्लेशः; भगवत्कृपायां
हेतुरुक्तः । अथवा । भवापवर्गस्थानानि
कानिचिज्जन्मानि सन्ति । योगिकुले महतां
कुले वा जन्मानि । तत्रापि गतस्य न स्वत
एव मुक्तिः, किन्तु सत्सङ्गादेव । शरीरसन्ताने
सत्सङ्गसमानकालीन एव देहः अपवर्गशब्दार्थ
इति मानुषदेहवत्तन्निरूप्यते । तद्व्याख्यास्यते
'दुर्लभो मानुषो देह' इत्यत्र । अत एव तद्वैव
सत्समागम इत्याह तर्हीति । योग्यतायां वा ।
अच्युतेति संबोधनात् तदीयानां सतामभावेन
न विलम्ब इत्युक्तम् । तस्य च सङ्गस्य दृष्ट-
द्वारैव पुरुषार्थपर्यवसायित्वां वदन् आह सत्स-
ङ्गमो यर्हीति । यहि सत्सङ्गमः, तदैव त्वयि
मतिर्जायते । भगवानक्लिष्टकर्मति न स्वार्थं
कञ्चित्प्रवर्तयति । कालकर्मादयश्च बाधका
एव । अतो भक्तव्यतिरेकेण न कोऽपि भगव-
न्मति सम्पादयति । तेषां तत्सम्पादनमावश्य-
कमित्यत्र हेतुमाह सद्गताविति । सतां स एव
गतिरिति । ते साध्यत्वेन साधनत्वेन फलत्वेन च
भगवन्तमेव जानन्तीति तत्सन्निधिमात्रेणैव
भगवति मतिर्भवति । ततः किं स्यादत आह
परावरेण इति । परे कालादयः, अवरे कर्मा-
दयः, तेषां फलदाने स एव नियामक इति
सर्वमेव फलं ततो भवतीत्यर्थः ॥५३॥

व्याख्यार्थ—राज धर्मों का तामसपन, कर्मों का राजसपन सत्संग का सात्त्विकपन का विवे-
चन कर अब कर्म के स्वरूप के कहने में वस्तु के विवेक का निरूपण हो किया जाता है, ये तीनों

साधनों का निरूपण करने वाले हैं। इनमें राजा पन में स्त्री का सेवक बनना पड़ता है, जिसका फल अधोगति है, साधारण मनुष्यों की स्त्री तो दासी बनकर सेवा करती है, राजाओं का इस प्रकार होना असम्भव है किन्तु वे स्वयं दास बनते हैं इस प्रकार दोनों की बराबरी भी नहीं है। पहले सात द्वीपों वाली समग्र भूमि को भी जीत कर उसके राजाओं को अपने अधीन किया, इस कार्य में जब बहुत परिश्रम किया तब उसको साध सके, पश्चात् बहुत समय तक जब शृद्ध होने का कोई भय नहीं रहता है, तब निश्चित होके सुन्दर सिंहासन पर बैठता है, तब समान राजाओं से सत्कार पाता है इस प्रकार चार तरह से उत्कर्ष पाकर फिर चार प्रकार से अपकर्ष पाता है। स्त्रियों के घरों में स्त्रियाँ बहुत होती हैं आप एक हैं किन्तु रुद्रका दास बनकर वहाँ रहता है जिससे वह व्याकुल होता है। विषय भोग से भीतर की शक्ति की भी समाप्ति होती है। उन स्त्रियों के पास खेल का मृग हो जाता है जिससे बाहिर का सब कुछ उनको भेट करता है, क्योंकि मृग हुआ है, जो पदार्थ विद्यमान हैं उनसे भी विशेष पदार्थों का साधकपना उसमें आता है जिससे उसका परलोक भी नाश हो जाता है। अपने आप पुरुष सर्व समर्थ है 'ईश' यह सम्बोधन निवेदन करने के लिए दिया है "ईयते" क्रिया से यह बताया है कि इसमें कोई प्रमाण छिपा हुआ नहीं है ॥३१॥

इस प्रकार लौकिक का व्यर्थपना कहकर वैदिक की व्यर्थता कहते हैं। जो राज्य प्राप्त कर विषयों का भोग करता है वह अधम (नीच) निन्दा के योग्य ही है उससे भी अधम वह है, जो तपस्या करता है यदि वह कामना के लिए तपस्या है। इस तपस्या से फिर वैसा ही राज्य प्राप्त करता है यह जानता भी है, कि जो राज्य मिला है वह उत्तम नहीं है क्योंकि नाशवान है तो भी उसको पुनः प्राप्ति के लिए तप करता है जो कि उस वर्म से वह प्राप्त होता है जब वह वैसा ही है तब प्राप्त राज्य को छोड़ कर कष्ट से भी उसको प्राप्त करने के लिए कर्म करने वाला भ्रान्त (भूना हुआ) ही है, अनेक प्रकार के कर्म उसके लिए करता है, बहुत समय तक तपस्या में ही स्थित रहता है और उसके लिए सब भोग छोड़ देता है, ये सब कर्म इससे भी विशेष मिलने की इच्छा से तथा उत्कर्ष होने के लिए यह करता है यदि यों है तो, उसकी अपेक्षा कोई अधिक है, न सुना है और न देखा है, उसमें कोई रस भी उत्पन्न नहीं होता है। यदि कहो उसके लिए ही करता है और उसको प्राप्ति के लिए जो है वह भी दे दिया, एक बार भूले हुए का भ्रम दूसरी बार अनुभव होने से वह भ्रम मिट जाएगा इस लिए फिर फिर राजा बनेगा, तब भ्रम मिट जाएगा, इस प्रकार जिसकी कामना निश्चित होगई है, वह सुख की प्राप्ति करने में समर्थ नहीं होता है, सजातीय उत्कर्ष तो सबको चाहिए वह कैसे दे दिया? इसके उत्तर में कहते हैं बहुत प्राप्ति के लिए अल्प का त्याग किया जाता है, अतः इसने चक्रवर्ती बनने की इच्छा से यह भोग छोड़े है, किन्तु यह भूल ही है ब्रह्माण्ड का भी स्वामीपन चाहे और वह मिल भी जाय तो भी तृष्णा बढ़ती ही जाएगी, जब तक तृष्णा है, तब तक सुख नहीं है, आशा ही दुःख रूप है, अतः कितने ही उच्च पद की इच्छा कोई करे, किन्तु वह सुख के उपभोग के लिए समर्थ नहीं होता है जब तक की तृष्णा का नाश न हुआ हो ॥३२॥

इस प्रकार कर्म फल को व्यर्थता दिखाते हुए उसकी निन्दा कर, सात्विक कर्म ही करने चाहिए इसलिए वामनाओं के अश्रव की स्तुति करते हैं। जब भगवान् की इच्छा से जन्म का

अन्त होवे तब साधन करने की इच्छा उत्पन्न होते ही सत्पुरुषों का समागम होता है। वह समागम भी परस्पर मिलकर शंका निवृत्ति पूर्वक ज्ञान की प्राप्ति कराने वाला होता है।

मनुष्य अनेक प्रकार की योनियों में घूमने से जो क्लेश पाता है वह क्लेश भगवान् की कृपा होने में हेतु है, अर्थात् भगवान्, मनुष्य ने घूमते हुए बहुत क्लेश पाए हैं, यह देख, दयाद्विचिन्त हो जाते हैं जिससे वे कृपा करते हैं जो जन्म का अन्त करने वाले भी कितने ही स्थान हैं, जैसे कि, योगियों के अथवा महत्पुरुषों के कुल में जन्म होना, ऐसे कुल में जन्म होने पर भी स्वतः ही मुक्ति नहीं होती है, किन्तु सत्संग मिलने से ही, जैसे उत्तम कुल में उत्पन्न मनुष्य देह, मुक्ति का द्वार वा हेतु है, वैसे ही शरीर में भी जो शरीर सत्संग के समय बनता है वह मोक्ष शब्द का प्रयोजन है अर्थात् सत्संगी शरीर हा मुक्त होता है इसकी व्याख्या "दुर्लभो मानुष देह" इस श्लोक में होगी अतः जब अन्तिम जन्म होता है तब ही सन्तोष का समागम मिलता है अथवा योग्यता होने पर सत्संग प्राप्त होता है। अच्युत इस सम्बोधन से यह कहा, कि जैसे आप अच्युत हैं, वैसे सत्पुरुष भी हैं जिसमें उनका अभाव नहीं है, अतः मिलने में भी देरी नहीं है उस सत्संग से प्रत्यक्ष ही पुरुषार्थ प्राप्ति देखी जाती है। जैसा कि जब सत्संग होता है, तब आप में चाह होती है। भगवान् अक्लिष्ट कर्मा है अतः किसी को अपने लिए प्रवृत्त नहीं करते हैं, काल और कर्म आदि बाधक है ही अतः भक्त के बिना अन्य कोई भी भगवत्सम्बन्धी वृद्धि नहीं देता है, उनका यों करना आवश्यक है क्योंकि सन्तों की वे ही गति है, वे सत्पुरुष साध्य, साधन और फल भगवान् को ही जानते हैं इसलिए उनके पास होने से ही भगवान् में चाह हो जाती है। चाह होने से क्या होना है, इसके उत्तर में कहते हैं, कि काल और कर्म आदि को भी फल दान करने में ये ही नियमक हैं अतः सर्व फल इनसे मिलता है ॥५३॥

आभास — अनेन अस्माकं सर्वाणि साधनानि सिद्धानीत्युक्तं भवति, साधनार्थं प्रदृश्यभ वश्च सूचितः। अतो गर्गवाक्यप्रामाण्यादपि कृपा विधेयेत्यभिप्रायः साधनप्रकरणे निरूपितः। फलं निरूपयति त्रिभिः।

आभासार्थ—इससे यह कहा, कि हमारे सब साधन सिद्ध हुए इसलिए साधनों में अब प्रवृत्त होना नहीं है, कहने का यों तात्पर्य है, अतः गर्गजी के वचनों से भी अब कृपा करनी चाहिए, यह साधन प्रकरण में निरूपण किया, अब तीन श्लोकों से फल का निरूपण करते हैं--

श्लोक—मन्ये ममानुग्रह ईश ते कृतो राज्यानुबन्धापगमो यहच्छया ।

यः प्रार्थ्यते साधुभिरेकचर्यया वनं विविक्षाद्भिरखण्डभूमिपैः ॥५४॥

न कामयेऽहं तव पादसेवनार्दाकिञ्चनप्रार्थ्यतमाद्वरं विभो ।

आराध्य कस्त्वां ह्यपवर्गदं हरे वृणीत आर्यो वग्मात्मबन्धनम् ॥५५॥

तस्माद्विसृज्याशिष ईश सर्वतो रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धनाः ।

निरञ्जनं निर्गुणमद्वयं परं त्वां जप्तिमात्रं पुरुषं व्रजाम्यहम् ॥५६॥

श्लोकार्थ—हे ईश ! यह जो अचानक मेरा, राज्य का बन्धन स्वतः छूट गया है, वह मेरे पर आपका ही अनुग्रह हुआ है, तब से अलग हो, वन में जाने की इच्छा वाले साधु वृत्ति वाले चक्रवर्ती भी स्वतः, इसका त्याग नहीं कर सकते हैं किन्तु प्रार्थना ही करते हैं ॥५४॥

हे विभु ! मैं तो, निष्किञ्चन भक्त जिस आपके चरणारविन्द के सेवन की प्रार्थना करते हैं उससे उत्तम, किसी की भी कामना नहीं करता हूँ, हे हरि ! कौन ऐसा आर्य है, जो मोक्षदाता आपकी आराधना कर, आत्मा को बन्धन में डालने वाले पदार्थों का वर मांगेगा ॥५५॥

हे ईश ! इस कारण से रज, तम और सत गुणों से बन्धी हुई सब कामनाओं को पूर्णतया त्याग कर, निरञ्जन, निर्गुण, अद्वय, ज्ञानस्वरूप, पर पुरुष आपकी शरण आया हूँ ॥५६॥

सुबोधिनी—मन्ये इति । फलं हि त्रिविधम्, राज्यं कामाः भगवांश्चेति । तत्र द्वयं निषेधति । तत्रापि राज्यस्य दोषरूपत्वं स्वानुभवसिद्धमिति दैवाज्जातां तन्निवृत्तिमभिनन्दति मन्ये इति । सर्वत्र कारणं स भगवानेवेति । ते त्वया कृतः राज्यानुबन्धापगमः स्वतः एव राज्यसम्बन्ध-निवृत्तिः ममानुग्रह एवायं भगवता कृत इत्यहं मन्ये । यहच्छयेति । कारणाभावेनैव जात इति

भगवत्कृत एव । भगवांश्च हितार्थमेव करोतीति निर्धारः । ननु राज्यस्य इष्टसाधनस्य निवृत्तिः कथं फलम्, अनिष्टानुबन्धित्वं तु स्वदोषात्, न तु स्वतः एव राज्यमनिष्टहेतुः, अन्नमिव ज्वरित-स्यैव तदनिष्टजनकम्, तथोद्धतस्यैव स्वभावताम-सस्यानिष्टजनकमिति चेत्, तत्राह यः प्रार्थ्यते इति । साधवोऽपि राज्यं यतस्त्यजन्ति, अतो जायते राज्यं स्वभाषदुष्टमिति । अन्यथा सतां

तेषां भगवद्भजनसाधनमपि राज्यं भवतीति तत्परित्यागेच्छा न स्यात् । किञ्च । प्रार्थ्यते सः । साधूनां कर्मसाध्योऽपि न भवति, अतोऽशक्यप्रतीकारः अत एतदर्थं भगवानेव प्रार्थ्यते । प्रार्थनापि न केवलं मानसी वाचनिकी वा, किन्तु कायिकीत्याह एकवर्त्येति । एकाकिचरण-पूर्वकं वनं विवक्षद्भिः प्रार्थ्यते । सर्वं परित्यज्य एकाकी भूत्वा वनं प्रविशन्नपि राज्याद्विभेति । विद्यमाने सम्बन्धे शत्रवः परलोकाधिकारिणो वा पीडयिष्यन्तीति । अल्पं राज्यमिति हीनतुल्यत्वात्कदाचित्परित्यागमाशङ्क्याह अखण्डभूमि-परिति । अखण्डां भुवं पान्तीति सप्तद्व पाधि-पतयः । अतः संवन्धनिवृत्तिर्ममाभीष्टमेव ॥५४॥

नीयम् । तत्रापि विरुद्धं कथं प्रार्थनीयमित्युभ-यथा विरोधमाह । अपवर्गदं भवन्तमात्मबन्धनं । वरमिति । यो हि यं सेवते, स तत्सम्बन्धं लोकयोः प्राप्नोति । तत्र मोक्षात्मा भगवान्, अन्यत्संसारात्मकमिति । ननु तर्हि मोक्षो ज्ञानं वा प्रार्थनीयं स्यात्, नतु पादसेवनमिति चेत् । सत्यम् । ज्ञानं हि कैवल्यमेव साधयति । मोक्षो-ऽपि कैवल्यरूपश्चेत्, तथापि न पुरुषार्थः, भग-वत्प्राप्तिरूपश्चेत्, तदा एकरसतामापन्नः भग-वानेव भवतीति अस्य पृथगनुभवो न स्यत् । अतः परमानन्दः सन् योजुभूयते तदेकं चरणो-पासनमेव । असाधन साध्यं न सिध्यतीति साध-नत्वेन वा प्रार्थनमित्येके ॥५५॥

कामनान्तरं व्यावर्तयति न कामयेऽन्यमिति । एकं कामये, यत्तव पादसेवनम्, एतत्साधकं च अन्यत्तु एतद्व्यतिरिक्तं एतदसाधकं वा न कामये । ननु का विशेषः, एकं शास्त्रस्तुतम्, अपरं च लोकप्रतीतिसिद्धम्, अत उभयोस्तुल्य-त्वादत्याग्रहेणान्यनिषेधे को हेतुरिति चेत्, तत्राह अकिञ्चनप्रार्थ्यतमादिति । धनिनां कदाचिद्धनस्य विद्यमानत्वात् अन्यकाङ्क्षापि भवति । अकि-ञ्चनानां तु उभयाभावात् लौकिकत्वाद्धनापेक्षा-याश्च नियतत्वात् तत्परित्यज्य यत्केवलं चरण-सेवैव प्रार्थ्यते । तथापि परमेष्ठत्वेन दीयमानम-प्यन्यदगृहीत्वा, असाध्यमपि प्रार्थयन्त इति प्रार्थ्यतमत्वम् । क्लेशेनाप्राथित्वं वारयति वरमिति । दातृरसामर्थ्यादपि तथात्वं वारयति विभो इति । ननु ते भ्रान्ता भवन्तु, तेषां तथा वा रुचिः, तथापि विषये को दोष इति चेत्, तत्राह आगध्य कस्त्वामिति । स्वामाराध्य को वा वरं वृणीत । कमवशादागतं अनभिप्रेतम-प्यनुभूयते, भगवन्तं त्वाराध्य दुर्लभमेव प्रार्थ-

अत उत्कृष्टप्रार्थनार्थं प्रथमतः शरणं गच्छा-मीत्याह तस्माद्विमृज्येति । हे ईश समर्थ, सर्वतः अन्तर्बहिः सर्वं विसृज्य, त्वां जप्तिमात्रं शरणं व्रजामि । सर्वेषां परित्यागार्थं त्रिगुणत्वमाह रजस्तमःसत्त्वगुणानुबन्धना इति । रजःप्रभृतीनां बन्धकत्वाय गुणानुबन्धत्वमुक्तम् । अनिच्छतोऽपि बन्धहेतव इति तत्सम्बन्धमात्रेण तथात्वाय अनु-पदप्रयोगः । ननु भगवानपि स्मर्तानां मते सोपाधिक इति तत्रापि रजःप्राप्तिरेवेत्याशङ्क्याह निरञ्जनमिति । अञ्जनमुपाधिः प्रकृत्यादिः, तद्र-हितो निरुपाधिः ततः किमत आह निर्गुण-मिति । सोपाधिक एव सगुणो भवति । नतु निरुपाधिक इति । ननु भगवान् पूर्णं केवल एव स्वभोगार्थं स्वेच्छया प्रकृति गुणांशोपादितवान्, अतः कथं त्वदर्थेऽपि तन्न करिष्यतीत्याशङ्क्याह अद्वयमिति । द्वयरहितो भेदरहितः । यो हि भेदार्थं यतते, तं प्रति तथा सम्पादयति, अहं तु न तथोक्तं मां प्रति न सम्पादयिष्यतीति भावः । स स्वतन्त्र इति वक्तुमाह परमिति ।

अन्यशङ्कां वारयति त्वामिति । ननु तथापि त्वं गुणमय इति त्वदधिकारानुसारेण तथैव करिष्यतीति चेत्, तत्राह जप्तिमात्रमिति । तादृशस्य शरणागमनं न सम्भवतीति पुरुषरूपतामाह ।

शरणमिति पाठे अर्थात् पुरुषरूपमेवेति त्वांपदात् ज्ञातव्यम् । पुरुषपदे तु त्वां ब्रजामीत्यर्थात् शरणमिति ज्ञातव्यम् ॥५६॥

व्याख्यानार्थ—फल तीन प्रकार के होते हैं १—राज्य, २—कामनाएँ, ३—भगवान्, इनमें दो फलों का निषेध करते हैं. उनमें भी राज्य दोष रूप है यह अपने अनुभव से समझ लिया है उससे निवृत्ति देव से हो गई है, अतः इसका अभिनन्दन करते हैं जो कुछ जगत में होता है, उसका कारण वह भगवान् ही हैं. मेरा राज्य मे सम्बन्ध जो स्वतः छूटा है, वह कृपा आपने ही की है. यों में मानता हूँ, कारण के बिना आप ही छूट जाना, इससे निश्चय है कि भगवान् ने ही बिटा है । भगवान् जो कुछ करते हैं वह हित के लिए ही करते हैं यह शास्त्रादि से निश्चित निर्णय किया हुआ है जिससे इच्छित सुख मिलते हैं, वैसे राज्य का छूट जाना फल कैसे कहते हो ? राज्य अनिष्टों के बन्धनों में डालता है, यह कहना युक्त नहीं है वह अपने दोषों से होता है न कि राज्य अपने आप अनिष्ट का कारण है. ज्वर वाले को जैसे अन्न का भोजन अनिष्ट करने वाला है. यों स्वतः अन्न का भोजन अनिष्ट नहीं करता है. वैसे ही राज्य भी । इस पर कहते हैं, कि यदि आप यों कहते हो कि तामस स्वभाव से उद्धत राजा को ही राज्य अनिष्ट कारक है, तो यह कहना सत्य नहीं है, कारण कि. साधु राजा भी राज्य का त्याग करते हैं, इससे जाना जाता है कि राज्य ही स्वभाव से दुष्ट है. यों नहीं होता तो उन सत्पुरुष राजाओं को तो राज्य भगवान् के भजन का साधन भी हो सकता था, इसलिए उसके त्याग की इच्छा नहीं होनी चाहिए, किन्तु होती है जिससे, उससे छूटने की भगवान् को प्रार्थना करते हैं, साधुजन राज्य का त्याग कर्म द्वारा भी नहीं कर सकते हैं, उनके पास और भी कोई उपाय नहीं है, इसलिए भगवान् को ही प्रार्थना करते हैं प्रार्थना भी केवल वाणी एवं मन से नहीं करते किन्तु हम निर्जन वन में जाकर रहें, (कार्य को) ऐसी प्रार्थना भी करते हैं. सब त्याग कर, अकेले जाकर वन में रहते हुए भी राज्य से डरते हैं, राज्य से सम्बन्ध था इस कारण से भी शत्रु तथा परलोक के अधिकारी दुःख देंगे यदि यह शंका होवे कि छोटा राज्य होने से कोई महत्व नहीं इसलिए छोड़ते होंगे तो कहते हैं, कि नहीं, सात द्वीपों के स्वामी होते हुए भी छोड़ना चाहते हैं, अतः यह जो आपकी कृपा से राज्य से सम्बन्ध छूट गया है वह मुझे पसन्द ही है ।

“न कामयेज्यं” इस पद से कहते हैं. कि मुझे दूसरी कोई कामना नहीं है केवल एक आपके चरण के सेवन की कामना है तथा वह जिससे सिद्ध ही उसकी कामना है इसके सिवाय एवं इसको मित्र न करने वाले की कामना नहीं है । इस आपकी युक्ति में क्या विशेषता है दोनों ही हैं, तो कामनाएँ एक की शास्त्र ने श्रुति की है और दूसरी लोक के प्रतीति से सिद्ध है अतः दोनों तुल्य होते हुए भी विशेष आग्रह से दूसरों का निषेध करने में क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि “अकिञ्चन प्रार्थ्य तमात्” धनवानों को धन होने से, कभी अन्य विषय-पुत्र राज्य आदि की

इच्छा भी होती है, किन्तु अकिञ्चनों को तो दोनों प्रकार की इच्छा नहीं है धन की अपेक्षा लौकिक और नियत होने से, उसका त्याग कर केवल चरणों की सेवा प्राप्त हो, वैसी प्रार्थना करते हैं उन अपने प्रिय अकिञ्चनों को अन्य धन, राज्य आदि प्रभु देते हैं तो भी उसको ग्रहण न कर जो सेवा प्राप्त होनी कठिन है उसको बार बार प्रार्थना करते हैं, बार बार प्रार्थना में तो क्लेश होगा, इस पर कहते हैं कि उसमें कुछ भी क्लेश नहीं है, किन्तु वह वर रूप है, 'हे विभो' सम्बोधन से भी यह सूचना देते हैं कि दाता सामर्थ्यवान है अतः कोई क्लेश नहीं है वे भ्रान्त होवे अथवा उनकी वैसी रुचि है तो भी विषय में कौनसा दोष है ? यदि यों कहते हो तो उत्तर देते हैं, आपकी सेवा पाकर ऐसा कौन अभागा होगा जो "वर" मांगे ? यदि कर्म वश से जिसकी चाहना नहीं है, वह भी प्राप्त हो जावे तो भोगना ही पड़ता है, भगवान् की आराधना करके तो जो दुर्लभ है उसकी ही प्रार्थना करना चाहिए। वहाँ भी विरुद्ध को प्रार्थना कैसे की जाय दोनों प्रकार विरोध कहते हैं, मोक्ष दाता आपसे वर मांगना आत्म बन्धन है। जो जिसकी सेवा करता है वह दोनों लोकों में उसका सम्बन्ध प्राप्त करता है उसमें भगवान् मोक्ष रूप है दूसरा सब ससार रूप है यदि यों है तो मोक्ष वा ज्ञान की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करनी चाहिए न कि पाद सेवन को प्रार्थना करनी चाहिए। सत्य है ज्ञान केवल सिद्ध करता है यदि मोक्ष भी कैवल्य रूप है तो भी पुरुषार्थ नहीं है। यदि मोक्ष भगवत्प्राप्ति रूप होवे तो एकरसता को प्राप्त होके भगवान् ही हो जाता है फिर उसका पृथक् अनुभव नहीं होता है, अतः परमानन्द होकर जो अनुभव किया जाता है वह एक चरणोपासन ही है जो माधना नहीं है वह साध्य को सिद्ध नहीं कर सकता है इसलिए साधनपन से प्रार्थना करनी, इस प्रकार कोई कहते हैं ॥१५॥

अतः श्रेष्ठ प्रार्थना के लिए पहिले शरण जाता है यह "तस्माद्विसृज्य श्लोक में कहते हैं —

हे समर्थ ! अन्दर और बाहिर सर्व प्रकार की कामनाओं का त्याग कर ज्ञप्ति मात्र आपके शरण जाता है सर्व के परित्याग के लिए इसका त्रिगुणपन कहते हैं, रज प्रभृति के बन्धकत्व के लिए गुणों का बन्धनपन कहा है, अनुपद का प्रयोग इसीलिए किया है, कि इच्छा न करने वाले के भी बन्धन के कारण हैं, केवल उनके सम्बन्ध से बन्धन हो जाता है। स्मार्तों के मत में भगवान् भी उपाधिवाला है, इससे वहाँ भी रज की प्राप्ति ही है ऐसी शंका कर उसका समाधान करते हैं, कि भगवान् निरञ्जन अर्थात् प्रकृति आदि उपाधियों से रहित हैं। उससे क्या हुआ ? तो कहते हैं कि निर्गुण हैं जो उपाधि वाला होता है, न कि बिना उपाधि वाला सगुण होता है।

भगवान् ने पहिले केवल अपने भोग के लिए ही अपनी इच्छा से प्रकृति और गुणों को पदा किया है, इस कारण से, तेरे लिए ही वैसा कैसे नहीं करेंगे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि "अद्वयं" भेद रहित है जो भेद के लिए प्रयत्न करता है, उसके प्रति वैसा करते हैं, मैं तो वैसा नहीं हूँ, इसलिए मेरे प्रति यों नहीं करेंगे, यह कहने का भाव है। वे स्वतन्त्र हैं, इसलिए कहा है, कि सबसे पर उत्तम है, वह कोई दूसरा पर नहीं है किन्तु आप ही है इसलिए "त्वां" कहा है, वे पर हैं

किन्तु तू तो गुण वाला है, अतः मेरे अधिकार के अनुसार वैसा ही करेंगे यदि यों कहो तो जिसका उत्तर है, कि आप “ज्ञप्तिमात्र ” हैं अर्थात् आपको केवल जानना ही है जो ऐसा, उसके शरण जाना नहीं बन सकता इसका समाधान करते हैं, कि आप पुरुष रूप हैं “शरणम्” पाठ से यह कहा है कि आप पुरुष रूप हैं, “त्वां” पद से कहा कि आप ही जानने योग्य हैं इस प्रकार जानना चाहिए ॥५६॥

आभास—एवं शरणागतः स्वरक्षां प्रार्थयते चिरमिहेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार शरण आया हुआ अपनी रक्षा की प्रार्थना “चिरमिह” श्लोक से करता है ।

श्लोक—चिरमिह वृजिनार्तस्तप्यमानोऽनुतापै

रवितृषषडमित्रो लब्धशान्तिः कथंचित् ।

शरणद समुपेतस्त्वत्पदाब्जं परात्म-

भयमृतमशोकं पाहि मापन्नमीश ॥५७॥

श्लोकार्थ—इस संसार में दुःखों से पीड़ित बहुत समय से अपने किए पश्चात्ताप से जल रहा हूँ जिनकी तृष्णा मिटी नहीं है, ऐसे इन्द्रिय स्वरूप छ शत्रु घेर रहे हैं तो भी शरण देने वाले प्रभु आपके चरणारविन्दों में आकर पड़ा हूँ जिससे कठिनाई से शान्ति मिली है अब हे परमात्मा ! हे ईश ! शरण आए हुए मेरी रक्षा करो, क्योंकि आपके चरणारविन्द अभय अशोक और अमृत देने वाले हैं ॥५७॥

सुबोधिनी—सङ्घातात्पीडितः असमर्थः तत्पीडापरिहाराय रक्षां प्रार्थयते । न त्वन्यस्मात् । तदर्थं बाधकानि गणयति । चिरं वृजिनैर्दुःखै-
रार्तः, अनुतापैस्तप्यमानोऽपि जातः । अनुतापा नियता आध्यात्मिकादयः । अग्रेऽपि तापजनकान् दोषानाह अवितृषषडमित्र इति । पूर्ववत् प्रवाहे तृषडिन्द्रियाण्यमित्राणि, न वितृष्णानि । तस्मात् शत्रुभिः पीडितः । ते भक्षयिष्यन्तीति शङ्कया प्रार्थना । नन्विन्द्रियोपरत्यभावे व्यर्थं सर्वमिति

चेत्, रक्षितोऽपि यदीन्द्रियहितमेव कुर्यात्, तदा किं रक्षयेत्यत आह लब्धशान्तिरिति । कथ-
ञ्चिदन्तःकरणमुपरतमित्यर्थः । त्वं च शरण-
प्रदः, अहं च सम्यगुपेतः, तत्रापि त्वत्पदाब्ज-
सेवकत्वेन । परात्मन्निति । जीवानां स्वामी भगवानिति शरणगमनं नायुक्तमिति भावः ।
गुणत्रयपीडितस्य पीडानिवारकं भगवति गुणत्र-
यमाह अभयमृतमशोकमिति । सत्त्वगुणाभावात् भयाभावः । अत एवान्यं च पालयितुं शक्तः ।

ऋतत्वात् रजसः अभावः, रजःसम्बन्धेन शुद्धं | शोकः । आपन्नमिति रक्षायां हेतुः । ईशेति भवतीति, ऋतता युक्तैव । अशोकमिति तमसा | सामर्थ्यम् ॥५७॥

व्याख्यार्थ—संघात से पीड़ित और असमर्थ उस पीड़ा के मिटाने के लिए भगवान् से रक्षा की प्रार्थना करते हैं—न कि दूसरों से, उसके लिए जो बाधक है, उनको गिनता है बहुत समय से दुःखों से पीड़ित हुआ है और नियत हुए आध्यात्मिक तापों से भी तप्त हो रहा है इससे आगे भी ताप उत्पन्न करने वाले दोषों का वर्णन करते हैं कि जिनकी तृष्णा अब तक मिटी नहीं है वैसे इन्द्रिय रूप शत्रुओं से भी पीड़ित हो रहा है वे शत्रु खा जायेंगे इस शंका से प्रार्थना करते हैं । जब तक इन्द्रियों में शिथिलता नहीं आई है तब तक सब व्यर्थ है यदि यों कहो तो और यदि रक्षा करने में भी इन्द्रियों का हित कर तो उस रक्षा से क्या लाभ ? इस कारण से कहते हैं “लब्धशान्तिः” किसी न किसी प्रकार अन्तःकरण विषयों से हट जाने से शान्ति प्राप्त हो गई है आप शरण देने वाले हैं और मैं अच्छी भाँति शरण आया हूँ शरण भी आपके चरण कमलों का सेवक बन कर ली है आप परमात्मा हैं अर्थात् जीवों का स्वाामी भगवान् है अतः आपकी शरण लेना अनूचित नहीं है यह भाव है ।

जो तीन गुणों से पीड़ित है, उसको पीड़ा के निवारक तीन गुण भगवान् में हैं, वे कहते हैं— १-अभय, २-अमृत, ३-अशोक-सतीगुण के अभाव से भय का भी अभाव है इस कारण से ही दूसरों को पालन करने में समर्थ है सत्यरूप होने से रजोगुण का अभाव है जिससे अमृतरूप ही सबको शुद्ध करने में शक्त है तमोगुण के अभाव से आप शोक रहित हो अर्थात् आनन्द रूप हैं, जिससे सब को आनन्द दे सकते हैं आप रक्षा करते हैं जिसका कारण शरणागति ही है, आप ईश हैं इस लिए आप में सर्व सामर्थ्य है ॥५७॥

आभास—ततो भगवान् वृथा शयनं कृतवानिति, तं तपसि प्रवर्तयितुं मर्यादारक्षार्थं च प्रार्थितदानमाह सार्वभौमेति षड्भिः ।

आभासार्थ—पश्चात्, भगवान् ने वृथा शयन किया ? उसको तपस्या में प्रवृत्त करने के लिए और मर्यादा की रक्षा के वास्ते, प्रार्थित दान को “सार्वभौम” श्लोक से लेकर छ श्लोकों में वर्णन करते हैं--

श्रीभगवानुवाच—

श्लोक—सार्वभौम महाभाग मतिस्ते विमलोजिता ।

वरैः प्रलोभितस्यापि न कामैर्विहता यतः ॥५८॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि हे चक्रवर्ती ! हे वड़भागी ! तुम्हारी बुद्धि निर्मल तथा बड़ी उच्च है क्योंकि वरों के दान से ललचाये हुए की भांति वह बुद्धि कामनाओं से विचलित नहीं हुई है ॥५८॥

सुबोधिनी—सार्धभौमत्वेन तस्य भाग्याभिनन्दनमुक्तम् । महाभागेति अग्रिमसिद्धयर्थं च भाग्यमुक्तम् । तव मतिविमला ऊजिता च । सांसारिकधर्मनिवृत्त्या विमलत्वम्, भगवत्परत्वेन ऊजितत्वं चेति । भगवदाज्ञोल्लङ्घनं भगवान् कथं संतुष्ट इत्याशङ्कां निवारयितुमाह वरैः प्रलोभित-

स्यापीति । सर्वान् कामान् ददामीति यदुक्तम् । तत्केवलं लोभप्रदर्शनार्थम्, तेषु नव रुचिरस्ति नवेति, तदिदानीमवगतं नास्तीति, यतः कामैर्न विहता बुद्धिः । अत एव विमलत्वमूजितत्वमिति सम्बन्धः ॥५८॥

व्याख्यार्थ—चक्रवर्ती होने से सब के भाग्य की सहाराहना की है और 'महाभाग' पद से आगे का भी उसका मनोरथ सिद्ध होगा जिससे भी भाग्यवान् है तेरी बुद्धि शुद्ध तथा बहुत उच्च है तेरी बुद्धि में से संसार के धर्म सब निवृत्त हो गए हैं, इसलिए मल रहित हो कर शुद्ध हो गई है भगवान् के परायण होने से उच्च है जिससे भगवान् की आज्ञा का उलंघन किया है उस पर भगवान् कैसे प्रसन्न हुए ? इस शंका को मिटाने के लिए अपनी प्रसन्नता का हेतु बताते हैं कि वरों से उसको लोभ में फसाना चाहा तो भी फसे नहीं भगवान् ने तो वर मांगे कहा था वह केवल लोभ दिखा कर परीक्षा लेने के लिए, उन लौकिक पदार्थों में तेरी रुचि है या नहीं ? वह अब जानने में आ गया कि नहीं है क्योंकि कामनाओं से बुद्धि बदली नहीं, इस कारण से ही बुद्धि का निर्मलपन उच्चपन है इस प्रकार इसका यह सम्बन्ध है ॥५८॥

आभास—ननु स्वामिना कथमेवं प्रलोभ्यते, तत्राह प्रलोभित इति ।

आभासार्थ—स्वामी हो कर ऐसे कैसे प्रलोभन देते हैं ? वहां कहते हैं कि "प्रलोभित" अर्थात् इस श्लोक में यह स्पष्टीकरण करते हैं कि प्रलोभन क्यों दिया ? और उससे क्या हुआ ?

श्लोक—प्रलोभितो वरैर्यत्त्वमप्रमादाय विद्धि तत् ।

न धीर्मय्येकभक्तानामाशीभिद्यते क्वचित् ॥५९॥

श्लोकार्थ—मैंने जो तुम्हें वरों का लालच दिया वह परीक्षा के लिए ही दिया था, यों समझ, मेरे ही जो एक भक्त है उनकी कभी भी वरों से बुद्धि मेरे चरणों से हटती नहीं है । ५६॥

सुवोधिनी—यद्यपि वरंस्त्वं प्रलोभितः, तदप्यप्रमादायं व, भगवदीयस्य कदाचिद्विच्छा स्यात्, विषया न दृष्टा इति, तदन्यदत्तैर्विषयैः स्वाभाविकैर्वा इष्टं न भवतीति मयैव दायन्ते, ततो विषयभोगः प्रमादाभावश्च सिध्यति । विद्धीति । नात्र सन्देहो विधेयः । हेत्वन्तरमप्याह न धीर्मन्येकभक्तानामिति । एकभक्ताः एकस्यैव भक्ताः, न मार्गान्तरप्रेप्सवः, किन्तु भक्ता एवेति वा । आशीर्भिवरप्राप्ताभिः तत्रापि भगवतः सकाशात् । क्वचिदित्यस्य पक्षस्याव्यभिचार उक्तः ॥५६॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि तुम को जो वरों द्वारा लालच दिया, वह भी अप्रमाद के लिए ही दिया था भगवदीय को कदाचित् किसी काम की इच्छा होती है तो वह इच्छा वर द्वारा पूर्ण करके सन्तोष करें, किन्तु उनमें विषय है तो नहीं अथवा उन्होंने विषय कैसे होने हैं ये देखे ही नहीं है, इससे दूसरों को दी हुई अथवा स्वाभाविक विषयों से उनका मन प्रसन्न नहीं होता है इसलिए मैं ही देता हूँ उन विषयों से वे विषय सुख भोगते हुए भी उनमें विषय मदका अभाव रहता है । इसमें सन्देह मत जान, इस विषय की सिद्धि में दूसरा कारण देते हैं, मेरे जो अनन्य भक्त हैं, अर्थात् जो दूसरे मार्ग को चाह वाले नहीं हैं किन्तु भक्त ही हैं, वरों से प्राप्त आशीर्वादों से, बुद्धि बदलती नहीं है, क्योंकि वह भगवत्पक्ष की ही दृष्टि है, अर्थात् “क्वचित्” शब्द से तत्पक्ष की अव्यभिचार होता है, अथवा तत्पक्ष पक्ष निश्चित है इसलिए इस पक्ष में बुद्धि एक मार्ग को त्याग दूसरे मार्ग में नहीं जाती है जैसे कुलटा स्त्री एक पति से संग करती है वैसे भक्तों की बुद्धि अपने इष्ट के सिवाय दूसरे देवों अथवा कामनाओं से प्रेम नहीं करती है ॥५६॥

आभास—एवं भोगमोक्षाविविद्धौ भगवन्मार्ग एव, न त्वन्यत्वेति वदन् पक्षान्तरं दूषयति युञ्जानानामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवन्मार्ग में ही भोग तथा मोक्ष विरुद्ध नहीं हैं दूसरे मार्ग में यों नहीं है अर्थात् अन्य मार्ग में तो दोनों परस्पर विरुद्ध हैं यों कहते हैं “युञ्जानानां” इस श्लोक से दूसरे पक्ष को दूषित करते हैं—

श्लोक—युञ्जानानामभवतानां प्राणायामादिभिर्मनः ।

अक्षीणवासनं राजन्हृष्यते क्वचिदुत्थितम् ॥६०॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! जो मेरे भक्त नहीं हैं, वे अपने मन को प्राणायाम आदि से मुझमें निरोध करना चाहें तो भी, वह रुकता नहीं फिर भी वासनाओं में फस जाता है क्योंकि उनकी वासनाएँ पूर्ण रीति से नष्ट नहीं हुई हैं ॥६०॥

सुबोधिनी—भक्तिमार्गव्यतिरेकेण केवलानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनो यञ्जानानां मनोनिरोधार्थं यतमानानां कचिदुत्थितं दृश्यते, यथा सौभरिप्रभृतीनाम् तत्र हेनः अक्षीणवासनमिति । राजन्निति सम्बोधनं वासनाक्षयाभावा-

नभवार्यम् । भक्त्या तु वासना क्षीयते । तत्र अलौकिकप्रकारं वारयितुं कामा दीयन्ते, तद्वद-वाभावश्च संपाद्यत इति । भगवता भक्तिमार्गः स्तुतः ॥६०॥

व्याख्यार्थ—भक्ति मार्ग के सिवाय जो दूसरे मार्ग बाले हैं, अर्थात् भक्त नहीं हैं, वे यदि प्राणायाम साधनों से मन को रोकने का प्रयत्न करते हैं तो भी उनका मन नहीं रुकता है, जैसे सौभरि प्रभृतियों का नहीं रुका था, उसमें कारण यह है कि उनकी वासनाएँ क्षीण नहीं हुई हैं, राजन् सम्बोधन से यह बताया कि आप को यह अनुभव है वासनाओं का क्षय नहीं होना है, जब तक कि भगवान् को भक्ति नहीं की है, भक्ति से ही वासना का क्षय होता है अन्य मार्गों में अलौकिक प्रकार को मिटाने के लिए कामनाएँ प्राप्त होती हैं उन कामनाओं से जो उपद्रव उत्पन्न होते हैं उनका अभाव अन्य कोई नहीं कर सकता है केवल भक्ति ही उन उपद्रवों को और वासनाओं को मिटाने में समर्थ है, अतः भगवान् ने भक्ति मार्ग की वड़ाई की है ॥६०॥

आभास—एवं स्तुत्वा तन्मार्गे प्रविष्टस्य भयाभावः सिद्ध एवेति वदन् कामविहारं बोधयति विचरस्वेति ।

अभासार्थ—इस प्रकार प्रशंसा कर उस मार्ग में प्रविष्ट हुए को कोई भय नहीं है, यह सिद्ध ही है, यों कहते हुए “विचरस्व” श्लोक से इच्छा बिहार का बोध कराते हैं ।

श्लोक—विचरस्व महीं कामं मय्यावेशितमानसः ।

अस्त्वेव नित्यदा तुभ्यं भवितर्मथ्यनपायिनी ॥६१॥

श्लोकार्थ—मुझ में मन को लगा कर अपनी इच्छा के अनुसार पृथ्वी पर विचरण करो, मुझमें तुझको अविचल भवित नित्य ही रहेगी ॥६१॥

सुबोधिनी—यतो महास्त्वमतोऽन्यथा विहारः स्वत एव निवृत्तः । किञ्च । मय्यावेशितमानसः सन् विचरस्व । कोटशी जगति भगवल्लीलेति जिज्ञासुरिव । चरणसेवामेव प्रार्थये, नान्यदिति यदुक्तम्, तत्राह अस्त्वेवेति । अत्र भक्तिदानं नापेक्ष्यते, त्वयि भक्तिः सहजैवास्ति । उत्कर्षोऽपि भक्तेः सहज एवेत्याह अनपायिनीति । नित्यदेति च । देशकालवस्तुपरिच्छेदा निवारिताः ।

अपायः स्वतो देशतश्च । यद्यपि कालनिषेधोऽप्यायाति, तथापि निषेधमात्रपरत्वाभावाय निमित्त-भूतः कालः तव भक्तेरनुगुण इति ज्ञापनार्थं नित्य-देत्युक्तम् । तुभ्यमिति । सम्प्रदानत्वेनैव पूर्वं दानं सूचितम् । मय्यनपायिनीति वा । मद्विषयिणी मत्कृपया वा । अग्रेऽपि न निर्वर्तिष्यत इति वरदानम् ॥६१॥

व्याख्यार्थ — मुझ में मन को लगा कर पृथ्वी पर विहार करते रहो, क्योंकि तुम महान् हो-अतः अन्य प्रकार से विहार करना तो तुम्हारा आप ही निवृत्त हो गया है भगवान् ने जगत में किस प्रकार और कैसे लीला की है इसके जानने की इच्छा करने वाले की भाँति चरण सेवा की ही मैं प्रार्थना करता हूँ इसके सिवाय अन्य कुछ नहीं माँगता हूँ इस प्रकार जो कहा है वह वैसे ही है अर्थात् तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार कर आशीर्वाद देते हैं कि यह इच्छा पूर्ण होगी । तुम्हारी प्रार्थना में भक्ति दान की अपेक्षा नहीं है कारण कि तुम्हारे में भक्ति सहज ही है भक्ति का उत्कर्ष भी स्वाभाविक ही है इसलिए कहा है कि “अनपायिनी” यों कहने से देश, काल और वस्तु के परिच्छेद मिटा दिए हैं, और अपने आप देश से विपत्ति अथक बुराईयाँ भी मिटादी हैं यद्यपि काल का निषेध भी आता है, तो भी केवल निषेध पर न होने से निमित्त भूत जो काल है वह तेरी भक्ति के अनुकूल है, यह जताने के लिए “नित्यदा” पद दिया है, “तुभ्यं” चतुर्थी विभक्ति सम्प्रदान कारक में देकर यह सूचित किया है कि पहले ही भक्ति का दान कर दिया है “मय्यनपायिनीतिवा” अथवा मेरे में रुकावट के बिना निश्चल भक्ति हो, अथवा मेरी कृपा से मेरे विषय की ही भक्ति होवे, यह भक्ति आगे भी निवृत्त न होगी, इस प्रकार का यह वरदान है ॥६१॥

आभास—ननु सायुज्यं कुतो न दीयत इत्याशङ्क्याह क्षात्रधर्मस्थित इति ।

आभासार्थ—सायुज्य क्यों नहीं देते हो ? यह शंका कर “क्षात्रधर्मस्थितो” श्लोक में समाधान करते हैं ॥

श्लोक—क्षात्रधर्मस्थितो जन्तून्व्यवधीर्भृग्यादिभिः ।

समाहितस्तत्तपसा जह्याधं मदपाश्रयः ॥६२॥

श्लोकार्थ—क्षात्र धर्म में स्थित होकर, शिकार आदि में जीवों को मारा है उससे उत्पन्न पाप को तपस्या से एकाग्रचित्त होके, मेरा आश्रय लेकर नष्ट कर ॥६२॥

सुबोधिनी—क्षत्रियाणां धर्मः जातिप्रयुक्तो घोरो द्विविधः । युद्धे भ्रातरमपि हन्यात् । पापद्वौ पलायमानानपि मृगान् हन्यात् । अतस्तस्य दोषस्य परिहारः कर्तव्यः । जन्तूनिति । तेषामपराधाभावः सूचितः । आदिशब्देन भ्रममुत्पाद्य मारणं, वागुरादिना वा तस्य निराकरणोपायमाह समाहित इति । जितेन्द्रियान्तःकरणः

सन् तत्पापं तपसा जहि । ननु तपस्यपि पापं श्रूयते, कियान्वार्थः स्वपरद्रुहा धर्मेण, 'मां चैवान्तःशरीरस्थमित्यादिवाक्यैः, तत्राह मदपाश्रय इति । मामेवाश्रित्य तपःकरणे अन्तर्मत्क्लेशजननाभावात् न तपोदोषो भविष्यतीति भावः ॥ ६२ ॥

व्याख्यार्थ—जाति से मिलित क्षत्रियों का धर्म दोनों प्रकार का घोर है, १-युद्ध में भाई को मारना, २-शिकार खेलते समय भाग जाते हुए भी मृगों को मारना इसलिए ये दो दोष मिटे वैसे उपाय करो, "जन्तून्" पद से बताया है कि उनका कोई अपराध नहीं है, निर्दोष प्राणियों का वध किया है और "आदि" पद देकर यह भी सूचित किया है कि तुमने उनको विश्वास देकर मारा है अथवा पास आदि से मारा है अब उस पाप के निवृत्ति का उपाय बताते हैं "समाहितः" इन्द्रिय आदि से हित अन्तःकरण को जीत कर उस पाप को तपस्या से नाश कर । शंका करते हैं, कि सुना जाता है, कि तपस्या में भी पाप होता है जिसमें अपना और पर का द्रोह करने वाला कर्म करना पड़ता है वैसे तपस्या से क्या है ? जैसा कि कहा है कि "मां चैवान्तः शरीरस्थं" मुझे और अन्तः शरीरस्थ को दुःख होवे वैसे तपस्या कैसे की जाए ? इसका उत्तर देते हैं कि "मदपाश्रयः" मेरा आश्रय लेकर तपस्या करने से भीतर मुझे कोई क्लेश न होगा तथा न तपस्या से किसी प्रकार का दोष होगा ॥६२॥

आभास—ततो यद्भाष्यं तदाह जन्मन्यनन्तर इति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो होने वाला है वह "जन्मन्यनन्तरे" श्लोक में कहते में—

श्लोक—जन्मन्यनन्तरे राजन्सर्वभूतसुहृत्तमः ।

भूत्वा द्विजवरस्त्वं वै मापुपैष्यसि केवलम् ॥६३॥

श्लोकार्थ—हे राजा ! दूसरे जन्म में तुम सर्व भूतों का बहुत सुहृद उत्तम ब्राह्मण हो कर निश्चय तुम केवल मुझे ही पाओगे ॥६३॥

सुबोधिनी—अनन्तरं जन्मनि त्वं द्विजवरो भविष्यसि, उत्कृष्टकुले जन्म प्राप्स्यसि । तत्रापि सर्वभूतसुहृत्तमो भविष्यसि, न तु प्रवृत्तिपरः । ततः केवलं मामुपैष्यसि । अन्यथा पुरुषेषु काल-रूपे वा लयो भवेत् । लीलासहिते । ततो लीलार्थं पुनरागमने आगमनमपि स्यात् । केवले

पुरुषोत्तमे तु आगमनशङ्काभावः । अस्य च प्रमाणे श्रद्धा महती स्थितेति पुष्टिमात्रं न योजितवान् । मर्यादायां ब्राह्मणस्यैव मुक्तिः । तत्रापि केवल्यमिति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति सिद्धान्तान्न काऽपि दोषः ॥६३॥

व्याख्यानार्थ—दूसरे जन्म में तुम उत्तम ब्राह्मण होओगे, उच्च कुल में जन्म पाओगे वहाँ भी सब प्राणियों के विशेष हितकारो बनोगे, प्रवृत्ति के परायण नहीं होंगे, पश्चात् केवल मुझे पाओगे, यदि मुझे नहीं पाओगे तो पुरुषों में वा काल में, लय होवोगे, लीला सहित में उससे लीला के लिए फिर आने पर जन्म भी लेना पड़े । यदि केवल पुरुषोत्तम की प्राप्ति हो गई तो फिर लौट आने की शंका ही नहीं है इसके प्रमाण में बहुत श्रद्धा है इसलिए पुष्टि मार्ग में नहीं जोड़ा है मर्यादा में तो ब्राह्मण की ही मुक्ति होती है उसमें भी केवल्य "ये यथा मां प्रपद्यन्ते" गीता में कहे हुए इस सिद्धान्त के अनुसार कोई भी दोष नहीं है ॥६३॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध, उत्तरार्ध ४८ वें अध्याय की
श्री मद्बल्लभाचार्य चरण कृत श्री सुबोधिनी 'संस्कृत टीका'
राजस साधन अवान्तर प्रकरण, दूसरा अध्याय
हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

१—जो मनुष्य जिस प्रकार मेरी शरण लेता है उनको मैं उसी प्रकार भजता हूँ ॥ गीता ॥

❀ राग सारंग ❀

बार सत्रह जरासन्ध मथुरा चढ़ि आयो ।

गयो सो सब दिन हार जात घर बहुत लजायो ॥

तब खिसिआइकै कानयवन अपने संग ल्यायो ।

हरिजु कियो विचार सिन्धु तट नगर बसायो ॥

उग्रसेन सब कुटुम्ब लै ता ठौर सिघायो ।

अमरपुरी ते अधिक सुख तहाँ लोगन पायो ॥

कालयवन मुचुकुन्दहि सों हरि भस्म करायो ।

बहुरि आइ भरमाइ अचल सब ताहि जरायो ॥

जरासन्ध वहँते बहुरि निज देश सिघायो ।

श्याम राम गये द्वारका सूरज यश गायो ॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजन वल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरण कमलेश्वर्यो नमः ॥

श्री मद्रत्नभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका के हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

राजस साधन अवान्तर प्रकरण

तृतीय अध्याय

सुबोधिनी अनुसार ४६ वां अध्याय

स्कन्धानुसार ५२ वां अध्याय

द्वारका गमन, श्री बलरामजी का विवाह तथा रुक्मिणीजी का सन्देशा



कारिका—पुरुषानुग्रहं पूर्वमुक्त्वा भगवता कृतम् ।

स्त्रीषु तं विस्तरेणाह रूपत्रयविभेदतः ॥१॥

कारिकार्थ—इस तीसरे अध्याय में पहले पुरुषों पर किए हुए भगवान् के अनुग्रह का वर्णन कर पश्चात् तीन रूप^१ से भेद वाली स्त्रियों पर किये अनुग्रह का विस्तार पूर्वक वर्णन किया है ॥१॥

कारिका—अनुग्रहः कालतुल्यस्ततो द्वादशधोदितः ।

तत्र मुख्या तु लक्ष्मीः स्यात्तस्यां त्रेधा हरेः कृपा ॥२॥

१—रुक्मिणी, जाम्बवती, सत्यभामा रूप से ।

कारिकार्थ—अनुग्रह^१ काल के समान है इससे द्वादश प्रकार से कहा है। स्त्रियों में लक्ष्मी मुख्य है उस पर हरि की कृपा तीन प्रकार से हुई है ॥२॥

कारिका—मानसेनाथ कायेन वेदेनेति निरूप्यते ।
गान्धर्वो मानसः प्रोक्तो दूरत्वाद्वचनाभिधा ॥३॥

कारिकार्थ—१--मानसिक, २-कायिक और ३--वाचिक यों तीन प्रकार से निरूपण किये जाते हैं। मानसिक गान्धर्व कहा है, दूर होने से वाणी से है ॥३॥

कारिका—कृष्णानुग्रहयुक्तानां कृतार्थत्वे ततः परम् ।
स्त्रीणां मुक्तिनिरूप्येति मुचुकुन्दतपःकथा ॥४॥

कारिकार्थ—कृष्ण की जिन पर कृपा हुई है, उनके कृतार्थ हो जाने के अनन्तर स्त्रियों की मुक्ति और मुचुकुन्द के तपस्या की कथा निरूपण कर ॥४॥

कारिका—प्रसङ्गात्तामसानां हि वधो देवहिताय हि ।
पलायनं लीलयेव सोऽप्यनुग्रह ईयते ॥५॥

कारिकार्थ—प्रसंग से तामसों का वध किया है देवों के हितार्थ लीला से ही भागजाना वह भी अनुग्रह हो बहा जाता है ॥५॥

कारिका—सात्त्विके राजसे चैव तामसे च हरेः कृपा ।
इति दर्शयितुं राज्ञो वृत्तं लक्ष्म्याः शिवस्य च ॥६॥

कारिकार्थ—सात्त्विक, राजस और तामस पर भगवान् की कृपा हुई है यह दिखाने के लिए राजा, लक्ष्मी और शिव के चरित्र का वर्णन किया हुआ है ॥६॥

आभाम—तृतीयेध्याये अनुग्रहनिरूपणप्रस्तावमुचुकुन्दस्य शिवस्य लक्ष्म्याश्च हितं कृतवानिति निरूप्यते । कायिकवाचिकमानसिकभेदेन । प्रथमं सात्त्विके भगवान् मुचुकुन्दे कृपां कृतवानिति तस्य भगवद्वाक्येन तपः करणमुच्यते इत्यमिति चतुभिः ।

१—यह अनुग्रह काल की अपेक्षा वाला है इसलिए मुचुकुन्द ने १२ श्लोकों से प्रार्थना की है, १३ श्लोकों में पूर्ण गमन कर अपनी रक्षा चाही है ।

आभासार्थ—तीसरे अध्याय में अनुग्रह के निरूपण करने के प्रकरण में, मुचुकुन्द, शिव और लक्ष्मी का कायिक वाचिक और मानसिक भेद से हित किया है ।

पहिले भगवान् ने सात्विक मुचुकुन्द पर कृपा की है इसलिए भगवान् के वचनों से तपस्या करने लगा, जिसका वर्णन “इत्थं” श्लोक से चार श्लोकों में श्रीशुकदेवजी करते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—इत्थं सोऽनुगृहीतोऽङ्ग कृष्णेनेक्ष्वाकुनन्दनः ।

तं परिक्रम्य संनम्य निश्चक्राम गुहामुखात् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे अंग श्रीकृष्ण भगवान् ने इस प्रकार इक्ष्वाकु के वंश में उत्पन्न हुवे मुचुकुन्द पर जब कृपा की तब वह उनको साष्टांग प्रणाम तथा परिक्रमा कर गुफा से बाहिर निकला ॥१॥

सुबोधिनी—एवंप्रकारेण भगवता अनुगृहीतः मुचुकुन्दः तपोनिमित्तं गुहातो निर्गतः । भगवदनुग्रहव्यतिरेकेण भगवद्वाक्ये श्रद्धा न भवतीति भगवदनुग्रहः कारणत्वेनोच्यते । इक्ष्वाकनन्दन इति । इक्ष्वाकुरत्यन्तं भक्त इति तद्विशयोऽयमिति

कृपाया हेतुत्वेनोक्तम् । ततस्तं भगवन्तं कृष्णं परिक्रम्य प्रदक्षिणीकृत्य, ततः सम्यङ्गत्वात्, साष्टाङ्गं प्रणम्य पूर्वमेव शयनस्थानात् गुहामूखे प्रकाशयुक्ते स्थित इति ततोऽपि निश्चक्राम ॥१॥

व्याख्यार्थ—इसी भाँति भगवान् ने मुचुकुन्द पर अनुग्रह किया जिससे वह तपस्या के लिए गुफा से बाहिर निकला भगवान् के वचनों से मुचुकुन्द की श्रद्धा होने का कारण भगवान् का अनुग्रह ही है क्योंकि भगवदनुग्रह होने के बिना उनके वचनों में श्रद्धा नहीं होती है भगवान् ने उस पर कृपा क्यों की ? इस शंका को मिटाने के लिए कहते हैं कि इक्ष्वाकु बड़ा भक्त था उसके वंश में यह पैदा हुवा है. इसलिए उसके नाते के कारण इस पर भी कृपा की है गुफा से बाहिर आने के बाद भगवान् कृष्ण को परिक्रमा कर अनन्तर साष्टांग प्रणाम कर जहाँ प्रकाश वाले गुहा के मुख पर शयन स्थान से उठकर आके खड़ा हुवा था फिर वहाँ से भी बाहिर निकल आया ॥१॥

आभास—ततस्तपः क्वचित्कर्तव्यमिति विचार्य, भारतखण्ड एव चतुर्थगधर्माणां

प्रवृत्तिरिति विरुद्धकालयुक्ते देशे तपो न कर्तव्यमिति वर्षान्तरं गन्तुं उत्तरदेशं गत इत्याह स बोक्ष्येति ।

आभासार्थ — पश्चात् तपस्या किस स्थान पर करनी चाहिए यह विचार कर भरत खण्ड में चारों युगों के धर्म प्रवृत्त होते हैं इसलिए जहाँ तपस्या से विरुद्ध काम युक्त देश हो वहाँ तपस्या नहीं करनी चाहिए इस कारण से दूसरे भाग में जाने के लिए उत्तर दिशा में गया—

श्लोक—स बोक्ष्य क्षुल्लकान्मर्त्यान्पशून्वीरुद्धनस्पतीन् ।
मत्वा कलियुगं प्राप्तं जगाम दिशमुत्तराम् ॥२॥

श्लोकार्थ—उसने देखा कि सब मनुष्य, पशु, लता और वनस्पति छोटे छोटे हो गए हैं जिससे जान गए कि कलियुग आ गया है, अतः उत्तर दिशा में चला गया ॥२॥

सुबोधिनी — स हि मर्त्ययुगे शयनं कर्तुं प्रवृत्तः, कलियुगे उत्थितः । यदैव भगवता मथुरा त्यक्ता, तदैव कलिः प्रवृत्त इति मुख्यः सिद्धान्तः । 'पञ्चविंशे वर्षे कलिरायास्यती' त्येव विनिश्चित्य, भरतखण्डं परित्यज्य, समुद्रमध्ये द्वाकां कृतवान् । ततो भगवति तत्र गते कलिः सम्यक् प्रविष्टः । कालभिमानीनी देवता तु भगवति स्वस्थानं गते समायास्यति । अयं विचारो द्वादशे कर्तव्यः । कलिस्त्विदानीं प्रविष्टः । सन्ध्यासम-

योऽयं वा । मध्यकाल एवाग्रे निर्णय इति कालस्य प्रवृत्तौ नयत हेतुं दृष्टवानित्याह । स मुचुकुन्दः क्षुल्लकान् अल्पप्रमाणान् कालेन ह्रासं प्राप्तान् मर्त्यान्मनुष्यान् । अनेन तेषां मरणमपि शीघ्रं कालेनेति सूचितम् । वीरुधः लतागुल्मादोन् वनस्पतीन्, दृक्षानपि चतुर्विधानल्पायुःप्रमाणाभ्यां ह्रासयुक्तान् विलोक्य, कलेरेवायं धर्म इति असाधारणत्वाद्विनिश्चित्य उत्तरां दिशं जगाम ॥२॥

व्याख्यानार्थ—उसने सतयुग में सोना आरम्भ किया था और कलियुग में जगा, जब ही भगवान् ने मथुरा का त्याग किया तब ही कलि का प्रारम्भ हुआ यों मुख्य सिद्धान्त है । पञ्चीस वर्ष के अनन्तर कलियुग आवेगा इस प्रकार ही निश्चय कर भरत खण्ड को छोड़ कर भगवान् समुद्र के मध्य द्वारका में जा कर विराजे । भगवान् के वहाँ जाने के पश्चात् कलियुग ने अच्छी तरह प्रवेश किया, काल का अभिमानी देवता तो भगवान् जब अपने धर्म पधार जाएँगे तब आएगा, इसका विचार द्वादस अध्याय में किया जाएगा । कलि तो अब प्रविष्ट हो गया है अथवा यह सन्धी का समय है अर्थात् मध्य काल ही है आगे निर्णय करने योग्य है इस प्रकार काल की प्रवृत्ति में जो निश्चित हेतु देखें उनको कहता है वह मुचुकुन्द कलिकाल से छोटे मनुष्यों को देख समझ गया कि ये मरेंगे भी

जल्दी हो लता और झाड़ी आदि वनस्पतियों को तथा चारों प्रकार के वृक्षों को अल्प आयु प्रमाण वाले एवं जल्दी गिरने वाले हैं देखकर साधारण तरह यह कलियुग का ही धर्म है यों निश्चय कर उत्तर दिशा की तरफ गया ॥२॥

आभास—ततो विधानपूर्वकमिमं देशमतिक्रम्य गत इत्याह तपःश्रद्धायुत इति ।

आभासार्थ—पश्चात् विधि के अनुसार इस देश का उल्लंघन कर गया, इसका वर्णन “तपःश्रद्धा” श्लोक में करते हैं--

श्लोक—तपःश्रद्धायुतो धीरो निःसङ्गो मुक्तसंशयः ।

समाधाय मनः कृष्णे प्राविशद्गन्धमादनम् ॥३॥

श्लोकार्थ—तपस्या और श्रद्धा से युक्त धैर्य वाला संग रहित एवं संशयों से मुक्त होकर श्रीकृष्ण में मन को अच्छे प्रकार स्थिर कर गन्धमादन पर्वत पर गया ॥३॥

सुबोधिनी—तपः सर्वेन्द्रियनिग्रहः, श्रद्धा च भगवद्वाक्ये, ताभ्यां युतः, दृष्ट्वापि विषयान् विघ्नत्वेन प्राप्नान्वा न व्यामुग्धः किन्तु धीर एव जातः । ततो गच्छन् राजेति यं कञ्चिदनुवर्तमानमपि परित्यज्य, निःसङ्ग एव सन् शरीर-	रक्षादौ मुक्तसंशयः, इतस्ततो दर्शनाद्यर्थं विक्षिप्तमपि मनः कृष्णे समाधाय गन्धमादनपर्वतं प्राविशत् । गरुडगङ्गातः उत्तरे भागे बदरिकाश्रमपर्यन्तं सर्वोऽपि पर्वतो गन्धमादनः ॥३॥
--	---

व्याख्यान—तपस्या अर्थात् सब इन्द्रियों को अपने वश में कर लेना और भगवान् के वचनों में विश्वास करना इन दोनों गुणों से युक्त था, और विघ्न डालने वाले विषयों को देख कर भी उनके वश नहीं हुआ और उनसे डरता था अतः धैर्यवान् था । जाते हुये राजा के जो कुछ पीछे लगे रहते थे उनको भी त्याग कर संग रहित हो कर जाने लगा शरीर की रक्षा आदि कौन करेगा, वैसी शंकाओं से जिसका अन्तःकरण मुक्त हो गया है और यहाँ वहाँ दर्शन आदि के कारण विक्षिप्त मन को कृष्ण में जोड़ कर गन्धमादन पर्वत में प्रवेश किया, गरुड़ गंगा के उत्तर भाग में बदरिकाश्रम तक सारा पर्वत गन्धमादन है ॥३॥

आभास—ततस्तत्रापि बदर्याश्रममासाद्य, यत् नरनारयणयोरेतत् तत्र शीतादि-वाधा महतीति तन्निवृत्त्यर्थं यत्नकरणे तपो न युज्यत इति तदर्थमाह सर्वद्वन्द्वसह इति ।

आभासार्थ—पश्चात् वहाँ से भी बदरिकाश्रम पहुँच कर तपस्या करने लगा, जहाँ श्री नर नारायण प्रभु का मन्दिर है वहाँ तो शीत आदि की बाढ़ा जबर्दस्त है उनके मिटाने की कोशिश करने में मन लगाने से तो तपस्या हो न सकेगी इस शंका के निवारण के लिए “सर्वद्वन्द्वसह” कहा है अर्थात् सर्व प्रकार के शीत आदि के दुःखों को सहन करने में समर्थ है—

श्लोक—बदर्याश्रममासाद्य नरनारायणालयम् ।

सर्वद्वन्द्वसहः शान्तस्तपसाराधयद्धरिम् ॥४॥

श्लोकार्थ—बदरिकाश्रम में जा कर नर नारायण के स्थान से सब प्रकार के सुख दुःख आदि द्वन्द्वों को सहन करता हुआ शान्त हो तपस्या से हरि की आराधना करने लगा ॥४॥

सुबोधिनी—अन्तरपि शान्तः । तपसा हरि- | धनं सिध्यति, तथैव कृतवानिति ब्रूयते ॥४॥
माराधयत् । हरिपदेन यथैव तस्य तपसा आरा-

व्याख्यार्थ—अन्तःकरण भी शान्त था, तपस्या से हरि श्री आराधना करने लगा “हरि” पद से जिस प्रकार ही उसकी तपस्या, से आराधना सिद्ध होती है वैसे करने लगा यों जाना जाता है अर्थात् तपस्या में आने वाली रुकावटों को भगवान् हरण कर ऐसी प्रेरणा करते थे जिससे उसकी आराधना सिद्ध हो जाती थी ॥४॥

आभास—एवं तस्य व्यवस्थामुक्त्वा भगवतोऽपि द्वारकार्या गमनमाह भगवाविति दशभिः ।

आभासार्थ - इस प्रकार उसकी अवस्था कह कर भगवान् के भी द्वारका गमन का वर्णन “भगवान्” इस श्लोक से दश श्लोकों में करते हैं—

श्लोक—भगवान्पुनराव्रज्य पुरीं यवनवेष्टिताम् ।

हत्वा म्लेच्छबलं निन्ये तदीयं द्वारकां घनम् ॥५॥

श्लोकार्थ—भगवान् फिर यवनों से वेष्टित मथुरापुरी में आकर म्लेच्छों की सेना को नष्ट कर उसका धन द्वारका ले गए ॥५॥

सुबोधिनी—मध्ये तामसस्य शिवस्य ब्राह्मणानां वाक्यं कृतवानिति निरूप्यते । यवनवधानन्तरं भगवान् पुनर्मथुरामाव्रज्य, यवनेर्वेष्टितां दृष्ट्वा, मथुरानिमित्तं म्लेच्छबलं हत्वा, तदीयं धनं हतानां मुकुटादिरूपं द्वारकां निन्ये ॥५॥

व्याख्यान—बीच में तातस शिव के ब्राह्मणों का वचन किए, यह निरूपण किया जाता है । यवनों के नाश हो जाने के बाद भगवान् मथुरापुरी आके उस को यवनों से घिरा देख मथुरा लेने के लिए आए हुवे म्लेच्छों की सेना का नाश कर मरे हुवों के मुकुट आदि रूप धन को द्वारका लेजाने लगे ॥५॥

श्लोक—नीयमाने धने गोभिर्नृभिश्चाच्युतचोदितः ।

आजगाम जरासन्धस्त्रयोविंशत्यनीकपः ॥६॥

श्लोकार्थ—भगवान् से प्रेरित मनुष्य तथा बैल सब धन ले जा रहे थे तब तेवीस अक्षोहिणी सेना को लेकर जरासन्ध आ गया ॥६॥

सुबोधिनी—नीयमाने इति । वृथैव धनं न परित्याज्यमिति, राज्ञे देयमिति, यवनधनं च न ग्राह्यमित्युभय साधयितुं किञ्चिद्दूरं गृहीत्वा गतवानित्यर्थः । तत्कटकस्था एव बाहकाः पदातयो बलोवदश्च । ते सर्वे भगवता प्रेरिताः जरासन्धस्य सुखार्थम् । जये हि किञ्चित्प्राप्यत इति तस्मै दानार्थं नीतवन्तः । एतस्मिन्समये भगवदिच्छयैव समागतो जरासन्धः त्रयोविंशत्यक्षोहिणी- । अधिकानयने सर्वोऽपि प्राकृतः क्षीणो भवेदिति । प्रकृति परित्यज्य प्राकृत सर्वमेव गृहीत्वा समायातीति ख्यापनार्थं सर्वत्र त्रयोविंशत्यक्षोहिण्य उच्यन्ते ॥६॥

व्याख्यान—धन को फिजूल छोड़ना नहीं चाहिए फिजूल जावे उससे वह राजा को देना चाहिए अर्थात् यों ही पड़ा हुआ धन राजा का है और यह धन यवन का है वह ग्रहण करने के योग्य नहीं है अब भगवान् को दोनों बात सिद्ध करनी है इसलिए वह धन लेकर कुछ दूर गए भार उठाने वाले प्यादे और बैल उसकी सेना में ही स्थित थे वे सब जरासन्ध के सुख के लिए भगवान् के भेजे हुवे थे जोत होने पर कुछ मिलता ही है वह मिला हुआ धन उन भेजे हुवे को देने के लिए ही ले आए थे इस वक्त ही भगवदिच्छा से तेवीस अक्षोहिणी सेना को साथ ले कर जरासन्ध आ गया तेवीस ही क्यों लाया ? इसलिए इतनी लाया जो विशेष लाता तो समग्र प्रजा नष्ट हो जाती अतः प्रजा को न ला कर केवल प्राकृत ही लाए अतः सर्वत्र तेवीस अक्षोहिणी ही कहा है ॥६॥

श्लोक — विलोक्य वेगरभसं रिपुसैन्यस्य माधवौ ।

मनुष्यचेष्टामापन्नौ राजन्दुद्रुवतुद्रुतम् ॥७॥

श्लोकार्थ—राम-कृष्ण शत्रुओं की सेना बड़ी वेग से जा रही है यह देख रहे राजन् ! मनुष्य नाट्य किए हुवे वे दोनों जल्दी भागने लगे ॥७॥

सुबोधिनी—ते च सर्वे लब्धवराः, पूर्वपेक्ष-यापि वेगवन्त इति । 'देवानां वाक्यं परिपालनीयं मनुष्ये'रिति मनुष्यचेष्टामापन्नौ, मनुष्यभावस्वी-कारे हि ब्राह्मणवाक्यं शिववाक्यं च माननीयं भवति । भागवते चास्याकथनं लोकव्यामोहना-र्थम् । राजन्निति स्नेहेन संबोधनं भ्रमानुत्पादना-र्थम् । द्रुतं यथा भवति, तथा दुद्रुवतुः पलायित-वन्तौ ॥७॥

व्याख्यार्थ—सेना में जो सेनिक आदि आ रहे थे उन सब को वर मिला था इसलिए पहिले की अपेक्षा अब वेग से आ रहे थे जिसको देखकर दोनों जल्दी भाग गए कारण कि आप मनुष्य चेष्टा करने को उद्यत हुए हो और मनुष्य नाट्य स्वीकार करने पर देवताओं का वाक्य मनुष्यों को पालना चाहिए मनुष्य को ब्राह्मण के एवं शिव के वचन मान देने योग्य हैं । लोक को मोह में डालने के लिए भागवत में इसका कथन नहीं है राजन् ! यह संबोधन स्नेह से इसलिए दिया है कि इसमें राजा को भ्रम उत्पन्न न होवे जिससे जल्दी ही वैसे दोनों भागे ॥७॥

श्लोक — विहाय वित्तं प्रचुरमभीतौ भीरुभीतवत् ।

पद्भ्यां पद्मपलाशाभ्यां चेरतुर्बहुयोजनम् ॥८॥

श्लोकार्थ—बहुत मिले हुए धन को छोड़ कर निर्भय होते भी डरपोकों से भी डरे हुए की भाँति कमल के समान कोमल चरणों से बहुत योजन जाने लगे ॥८॥

सुबोधिनी—विहायेति । भारवाहकास्तु गन्तु-मसमर्था इति तान्विहायेव, प्रचुरमपि वित्तं विहाय, अभीतावप्येता भीतेभ्योऽपि भीताविव रथाश्वादिकमपि यवनवधात्प्राप्तं विसृज्य, पद्मपा-मेव भूमिसुखार्थं पद्मपलाशतुल्याभ्यां बहुयोजनं चेरतुः, चित्रकूटमार्गेण गतौ ॥८॥

व्याख्यार्थ—भार ढोने वाले तो जल्दी जाने में समर्थ नहीं होते थे इससे उनको छोड़ कर ही, बहुत धन भी त्याग कर स्वयं डरे तो नहीं थे किन्तु डरपोकों से भी डरे हुए जैसे हो, यवनों के वध

से प्राप्त रथ और अश्व आदि भी वहीं छोड़ कर भूमि को सुख देने के लिए कमल के पत्तों के समान कोमल चरणों से बहुत योजन चित्रकूट के रास्ते से जाने लगे ॥८॥

आभास—ततो मागधोऽपि भगवल्लीलामज्ञात्वा वरेण हृष्टः पृष्ठतोन्वगमादित्याह पलायमानाविति ।

आभासार्थ—पश्चात् मागध भी भगवान् की लीला को न जान कर वर प्राप्त करने से घमन्डी हुआ था अतः पीछे जाने लगे जिसका वर्णन “पलायमानो” श्लोक में करते हैं—

श्लोक - पलायमानौ तौ दृष्ट्वा मागधः प्रहसन्बली ।

अन्वधावद्रथानीकैरीशयोरप्रमाणवित् ॥९॥

श्लोकार्थ—उनको भागते हुवे देख सेना सहित वह हँसता हुआ शीघ्र जाने वाले रथों में बैठ उनके पीछे दौड़ा क्योंकि उन दोनों ईशों में कितनी शक्ति हैं इसको वहीं जानता था ॥९॥

सुबोधिनी—तौ रामकृष्णौ । ननु बहुवारं धृत्वा मुक्तः, तयोर्बलं जानन्नपि कथं तत्सङ्गं गत इति चेत्, तत्ताह मागध इति । देशदोषेण नष्टमतिरित्यर्थः । ततः प्रहसन् बलसहितः सेनासहितः अन्वधावत्, रथानीकैः सहेति ये शीघ्रगामिनो रथास्तानारुह्य तादृशैः सह गत इत्यर्थः । अनेन रथानां सेनायाश्च महान् क्लेशो निरूपितः । स क्लेशः सार्थको भविष्यतीत्याशङ्क्याह ईशयो-

रप्रमाणविदिति । कृष्णरामयोः प्रमाणं सामर्थ्यमादरणीयत्वं वा । तौ हि ब्राह्मणादिवाक्यं प्रमाणीकृत्य भगवान् गच्छति, न त्वशक्तः सन् इति भगवत्प्रमाणं न ज्ञातवान् । ईशयोरिति पूर्णा शक्तिविभक्तेति एकस्याप्यनङ्गीकारे विप्रादीनां वाक्यमप्रमाणं भवेदिति उभाभ्यां तत्प्रमाणीकृतमित्यर्थः ॥९॥

व्याख्यार्थ—उसने राम और कृष्ण की शक्ति को क्यों नहीं जाना, जब कि कई बार उन्होंने उसे पकड़ कर छोड़ दिया है ? इस शंका के मिटाने के लिए जरासन्ध न कह कर “मागध” कहा है, जिसका भाव यह है कि मागध देश वासी होने से इसकी बुद्धि नष्ट हो गई है इस कारण से हँसता हुआ सेना सहित पीछे दौड़ने लगा रथ और सेना सहित, जो रथ शीघ्र चलने वाले थे उनमें बैठ सेना के साथ गया इससे यह बताया कि रथ तथा सेना को बहुत कष्ट हुआ क्या वह कष्ट सफल होगा ? इस शंका का निवारण करते हुवे कहते हैं कि “ईशयोरप्रमाणवित्” राम कृष्ण के सामर्थ्य अथवा

उनके आदरणीयपन को नहीं जानता है, भगवान् क्यों जा रहे हैं ? भगवान् अशक्त हैं इसलिए डर कर नहीं जा रहे हैं किन्तु ब्राह्मण के वचनों को सत्य करने के लिए ही जा रहे हैं इस रहस्य को उसने समझा नहीं "ईशयोः" दोनों में पूर्ण शक्ति विभक्त है इसको सिद्ध करने के लिए दोनों गए यदि एक जाते तो ब्राह्मण आदि के वाक्य पूर्ण प्रमाणित नहीं होते इसलिए दोनों ने जाकर उनके वचन सत्य प्रमाण किए ॥६॥

आभास—ततो रामकृष्णौ पर्वतेन प्रार्थितवरौ तत्प्रियार्थं तुङ्गं गिरिमारुहताम् । स हि पर्वतः सर्वदा शीतेन व्याप्तः, भगवन्तं शीतनिवृत्त्यर्थं विज्ञापयामास । तत्र हि न कदाचिदपि सूर्यग्निसम्बन्धः । मेघानां तत्प्रियं स्थानम् । अतो मेघाच्छन्न एव तिष्ठतीति न सूर्यसम्बन्धः । वर्षतीति नाग्निसम्बन्धः । ततो भगवान् पूर्वं तस्मै वरं दत्तवान् अहमागत्य ते शीतं निवारयिष्यामीति । ततो भगवतः अद्भुतकर्मत्वं प्रतिपादयितुं भ्रान्तिमुक्त्वा पर्वत रोहणं वदति प्रद्रुत्येति ।

आभासार्थ—इस के बाद रामकृष्ण दोनों प्रवर्षण नाम वाले ऊँचे पर्वत पर उसके प्रिय मनोरथ पूर्ण करने के लिए चढ़ गए, उस पर्वत पर सदैव ठण्ड रहती है उसने भगवान् को शीत मिटाने के लिए प्रार्थना की थी उस पर्वत से कभी भी सूर्य अथवा अग्नि का सम्बन्ध नहीं होता था क्योंकि वह बादलों का बहुत प्रिय स्थान है अतः मेघों से ढका हुआ रहता है जिससे सूर्य का सम्बन्ध नहीं होता है और सदैव वहाँ वर्षा होती रहती है इसलिए अग्नि का सम्बन्ध नहीं होता है इस कारण से पहिले पर्वत ने भगवान् को शीत मिटाने के लिए प्रार्थना की थी भगवान् ने भी वर दिया था कि मैं आकर तेरा शीत निवारण करूँगा इस कारण से भगवान् अद्भुत कर्मा हैं इसका प्रतिपादन करने के लिए मुझे थकावट हुई है यों दिखा कर उसको मिटाने के लिए पर्वत पर चढ़ गए जिसका वर्णन "प्रद्रुत्य" श्लोक में करते हैं--

श्लोक — प्रद्रुत्य दूरं संभ्रान्तौ तुङ्गमारुहतां गिरिम् ।

प्रवर्षणाख्यं भगवान्नित्यदा यत्र वर्षति ॥१०॥

श्लोकार्थ—बहुत दूर तक दौड़ने से मानो थक गए तब प्रवर्षण नाम वाले ऊँचे पर्वत पर चढ़ गए जहाँ भगवान् स्वयं सदा ही वर्षाते रहते हैं ॥१०॥

सुबोधिनी—न हि कश्चिद्दूरं प्रद्रुत्य तुङ्गं गिरिमारोहति । उच्चारोहणं ह्यश्रान्तमपि श्रमयति, भगवतः सहस्रोपायानां विद्यमानत्वात् निलीय स्थित्यर्थं किं पर्वतारोहणमुच्चस्थानमपेक्षते, प्रत्युत उच्चस्थितं सर्वोऽपि पश्यति, अतोऽत्र भगवद् अद्भुतलोना कथयन् विरोधप्रकारेण कथयति । दूरं प्रद्रुत्य धावनं कृत्वा सम्यक् श्रान्तो जातौ । नहीशयोः शोघ्रगमनं श्रमो वा सम्भवति । तत्रापि तुङ्गमत्युच्च गिरि आरुहतां

गुप्ततया । तत्रारोहणप्रयोजनमाह प्रवर्षणाख्यमिति । प्रकर्षेण वर्षणं यत्रेति । रूढिभ्रमव्युदासाय स्वमेव योगं प्रदर्शयति भगवान् नन्यदा यत्र वर्षतीति । तत्र हि सर्वदा भगवान् वर्षति । मेघा हि कदाचित् कचिद्वर्षन्ति, तेपामधिष्ठातृरूपो भगवान् विष्णुः । 'पर्वतानामधिपति'रिति श्रुतेः । स्वयमेव तत्र वर्षति, अन्यथा लोके वृष्टिप्रवृत्तिर्न स्यात् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—कोई भी बहुत दूर दौड़ने के बाद थका हुआ ऊँचे पर्वत पर नहीं चढ़ सकता है, थका हुआ नहीं है उसको भा ऊँचे स्थान में चढ़ने में श्रम होता है भगवान् तो छिप कर रहने वास्ते हजारों उपायों को जानते हैं उच्च स्थान पर्वत पर चढ़ने की क्या आवश्यकता थी वतिक उच्च स्थान पर बैठे हुवे को सब देख सकते हैं यों है किन्तु यहाँ तो भगवान् की अद्भुत लीला कहनी है, इसलिए विरोधी तरीके से कहते हैं—

दूर दौड़ने से बहुत थक गए हांलाकि जो ईश है सर्व समर्थ हैं उनके लिए शोघ्र जाना वा श्रम कुछ भी नहीं है उसमें भी गुप्त रीति से बहुत ऊँचे पर्वत पर चढ़ गए पर्वत पर चढ़ने का प्रयोजन वा प्रकार कहते हैं जिस पर्वत पर हमेशा वर्षा होती है जिससे उसका नाम "प्रवर्षण" है, वर्षा तो सब पर्वतों पर पड़ती है यह रूढि हो है यहाँ भी पड़ती है इसमें विशेषता क्या है ? इस रूढि के भ्रम को मिटाने के लिए कहते हैं कि इस पर्वत पर भगवान् स्वयं वर्षते हैं अन्य स्थानों पर मेघ वर्षा करते है वे कभी करते हैं कभी नहीं करते उनका "पर्वतों का" अधिष्ठातादेव विष्णु भगवान् है जैसा कि श्रुति में "पर्वतानामधिपति" कहा है अतः स्वयं विष्णु वहाँ वर्षते हैं यदि भगवान् आप वर्षा न करे तो लोक में वर्षा की प्रवृत्ति ही न हावे ॥१०॥

आभास—ततो श्रान्तस्य जरासन्ध कृत्यमाह गिराविति ।

आभासार्थ—पश्चात् भ्रमित हुवे जरासन्ध ने कुछ किया वह "गिरौ" श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—गिरौ निलीनावाज्ञाय नाधिगम्य पदं नृप ।

ददाह गिरिमेधोभिः समन्तादग्निमुत्सृजन् ॥११॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! उनको पर्वत में छिपे हुवे जान कर वहाँ से आगे पद चिन्ह

नहीं गए हैं यों समझ कर काष्ठों से पर्वत के चारों तरफ आग लगाई जिससे वह पर्वत आग से जलने लगा ॥११॥

सुबोधिनी—पर्वतारोहणे कैश्चित् दृष्ट एव, तत्रापि अग्रे न गत इत्यत्र विचारमपि कृतवानित्याह नाधिगम्येति । ततः पर्वतादग्रे पदं गमन-चिह्नं नाधिगम्य अप्राप्य । दाहे भगवता हेतुः सम्पादितः स सत्य एव जात इति वक्तुं तस्य

निलीनाविति ज्ञानमुत्पादितम् । ततो दाहार्थमेव तथा प्रयत्नः कृत इति सत्यसङ्कल्पस्य भगवत इच्छया गिरिमेधोभिर्ददाह । सर्वत्र वृक्षान् छित्त्वा परितस्तृणादिना दाहं कारितवान् ॥११॥

व्याख्यार्थ—पर्वत पर चढ़ते हुए किन्हीने देखा ही किन्तु वहाँ से आगे नहीं गए इस विषय में विचार भी किए उससे तूँडने से पता लगा कि पर्वत से आगे इनके चरण चिन्ह भी नहीं है, इस पर्वत को अग्नि जलावे जिसका हेतु तो भगवान् ने ही बताया है वह हेतु सत्य हुआ, यों तो यहाँ ही छिप गए हैं यों कहने के लिए इसको वैसा ज्ञान कराया इस प्रकार ज्ञान होने के बाद दाह के लिए ही प्रयत्न किया सत्य संकल्प भगवान् की इच्छा से काष्ठों से पर्वत को जलाया वृक्षों को तोड़ कर सब जगह चारों तरफ तृण आदि से आग लगा दी ॥११॥

आभास—ततो भगवान् पर्वतप्रार्थितं विधाय ततोऽग्रे गत इत्याह तत उत्पत्येति ।

आभासार्थ—अनन्तर पर्वत की प्रार्थना को पूर्ण कर भगवान् आगे गए जिसका वर्णन “तत” श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तत उत्पत्य तरसा दह्यमानतटादुभौ ।

दशैकयोजनोत्तुङ्गाग्निपेततुरधो भुवि ॥१२॥

श्लोकार्थ—आग लगाई किन्तु उस आम से पर्वत के किनारे सीलगना सुरू होते ही दोनों शीघ्र ही ११ योजन की बड़ी छलाँग से कूदकर पर्वत से दूर पृथ्वी पर ठहरे ॥१२॥

सुबोधिनी—तरसा शीघ्रमेव यावदग्निः दिति । न तु दाहभयात् । दह्यमानाः तटाः यस्य । प्रज्वलति, भगवति विद्यमाने अग्निः पर्वतं न दहे- सर्वत्र दाहे उद्भूते उभौ पूर्णशक्तिर्भगवान् दशै-

कयोजनोत्तुङ्गादिति । एकादशयोजन स | केचित्तु अतिदाहे पुनः पर्वतप्रार्थनायां तं भूमौ
उत्तुङ्गः, तत उभावपि अधः पर्वतस्य प्रस्त- | नेतुं उपर्युत्थाय पादपीडनेन तं भूमौ प्रवेशयन्नेव
रभागमपि परित्यज्य भूभागे निपेततुः । | स्वयं दूरे गत इत्याहुः ॥११॥

व्याख्यार्थ—अग्नि जले इससे पहिले ही शीघ्र दोनों ने ११ योजन की बड़ी छलांग मारी जिससे वे पर्वत के पत्थर के भाग से दूर पृथ्वी पर खड़े हो गए इतनी जल्दी भगवान् ने इस लिए की कि भगवान् की विद्यमानता में अग्नि पर्वत को जला न सकती अर्थात् तापयुक्त न कर सकती उन्होंने जल जाने के भय से जल्दी नहीं की थी, अभी तो उसके किनारे किनारे अग्नि सिल-गने लगी थी जब वह सर्वत्र प्रकट होने लगी तब पर्वत का मनोरथ पूर्ण देख आप इस प्रकार पधार गए ।

आचार्य आज्ञा करते हैं कोई इस प्रकार भी कहते हैं कि जब अग्नि जोर से जलने लगी तब पर्वत ने पुनः प्रार्थना की जिससे ऊपर उठकर पैरों के दबाव से उसको पृथ्वी में प्रवेश कराते हुवे आप दूर हो गए ॥१२॥

श्लोक—अलक्ष्यमाणौ रिपुणा सानुगेन यदूत्तमौ ।

स्वपुरं पूनरायातौ समुद्रपरिखां नृप ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! यादवों में श्रेष्ठ वे दोनोंः शत्रुओं से न देखे गए अपंग अनुचरों सहित समुद्र की खाई वाली अपनी पुरी में फिर आए ॥१३॥

सुबोधिनी—ततः पुनरपि तस्य प्रवृत्तिः स्या- | गतौ, द्वारकागमने को हेतुरिति चेत्, तत्ताह यदू-
दिति पूर्वमपि स्वेच्छयैव स प्रवृत्त इति ज्ञापयन् | त्तमाविति । अन्यथा यदुकुले अवतारं न कुर्यात् ।
तेनालक्ष्यमाणावेव द्वारकां गतौ । तत्र न भगवता | अतो यादवहितार्थं स्वपुरं यातौ । पुनरायातावि-
कश्चनाधिकः प्रयत्नः कृतः । स मा पश्यत्विति । | त्यनेन पूर्वमुभावपि स्वयं गत्वा तान् स्थापित-
किन्तु स्वदोषेणैव स न दृष्टवानिति व्यापयितुमाह | वन्ताविति विज्ञायते । तस्य भिन्नद्वीपत्वं कलि-
रिपुणेति । दुष्टबुद्धयैव न दृष्टवान्, तत्सम्बन्धाद- | प्रवेशाभावाय निरूपयन्नाह समुद्रपरिखामिति ।
न्यैवपि न दृष्टमिति, सानुगेनेत्यनुसृष्टम्, तत्र कार्यस्य, | मरुद्गुणः, परिखा, यद्वेति, ।, विस्तारोऽप्यनेन-
सर्वस्यापि कृतत्वात् श्वेतद्वीपादावेव कुतो न | सूचितः । नृपेत्यप्रतारणाय संबोधनम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—पहिले भी उसने अपनी इच्छा से ही प्रवृत्ति को थी, फिर भी वह प्रवृत्ति करें यों जानते हुवे उसके लक्ष्य में न आवे इस प्रकार ही आप द्वारका गए, जाने में भगवान् ने कोई अधिक

परिश्रम नहीं किया, वह न देखे केवल इतना ही लेकिन उसने तो अपने दोष से ही न देखा इसको प्रकट करने के लिए कहते हैं कि "रिपुणा" शत्रु से अर्थात् शत्रु था इसलिए उसकी दुष्ट बुद्धि हो गई थी जिससे ही उसने न देखा इसका आशय यह है कि जो दुष्ट बुद्धि होता है वह ही भगवान् का शत्रु होता है अथवा भगवान् के शत्रु आसुरी संपत्त वाले होते हैं उनका बुद्धि इसलिए दुष्ट ही होती है उस स्वयं ने तो न देखा किन्तु उसके अनुचरों ने भी न देखा क्यों कि इस दुष्ट बुद्धि के संग से उनकी बुद्धि भी वैसी हो गई थी जब भगवान् ने सब कार्य पूरे कर लिए तब श्वेतद्वीप आदि में क्यों न पधार के गए ? द्वारका में जाने का क्या कारण था यदि यों कहते हैं तो उसका उत्तर देते हैं कि "यदूत्तमो" यादवों में उत्तम है इसलिए उनकी रक्षा के वास्ते अपनी द्वारकापुरी में गए यों नहीं करते तो यदुकुल में अवतार क्यों लिया ? अर्थात् यादवों में अवतार लेकर उनका हित ही करना था इसलिए द्वारका पधारे फिर आए यों कहने का भाव यह है कि इनको द्वारका में पहिले स्थापित भी आपने ही किया था यह सिद्ध कर दिखाया है । आप द्वारका को भारत से जुदा द्वीप कहते हैं क्योंकि उसके चारों तरफ समुद्र रूप खाईयाँ हैं अतः भिन्न द्वीप है जिससे वहाँ कलि का प्रवेश नहीं हो सकता है इससे उसका विस्तार भी दिखाया है "नृप" सम्बोधन भुलावे में आपको नहीं डालता हूँ इसलिए दिया है ॥१३॥

आभास — तस्य च दुर्बुद्धिमाह सोऽपीति ।

प्राभासाथं—“सोऽपि” श्लोक में उसकी दुर्बुद्धि का वर्णन करते हैं--

श्लोक — सोऽपि दग्धाविति मृषा मन्वानो बलकेशवौ ।

बलमाकृष्य सुपहन्मगधान्मागधो ययौ ॥१४॥

श्लोकार्थ — वह मागध भी उनको जला हुआ मान अपनी बड़ी सेना को खींचकर मगध देश ले आया ॥१४॥

सुबोधिनी — शब्ददोषपरिहाराय दग्धशब्दः सप्तम्यन्तो ग्राह्यः । जरासन्धोऽपि दग्धमध्ये प्रविष्टः । यथा भगवान् द्वारकायां प्रविष्टः, तथा सोऽपि दग्ध प्रविष्टः, परमसन्तापेन सन्तप्त इत्यर्थः । एतदपि ज्ञानकृतमेव तस्य, न क्रियया दाहो जात इति । अन्यथाग्रे पाण्डवानां यशो न स्यात् । इति मृषा मन्वानः बलकेशवावालक्ष्य । (२०)

बलत्वात् ब्रह्मेशयोरप्यधिपतित्वाच्च तादृशो न तथाभूताविति मृषा मन्वानो वा । अथवा । स तु दग्ध एव । अतः परं पाण्डवकीर्त्यर्थं मृषाभूतः सकलितः, सीतावत् । ततो मृषा जरासन्धः बलत्वं केशवत्वं च मन्वानः सर्वाशेनापि नाशो भविष्यतीति विज्ञाय स्वस्य बलं सेनामाकृष्य मगधानेव ययौ । ननु स्वयं किल दग्धः, किं बलदाहेनेत्यतः

आह सुमहदिति । सत्त्वेन महत्त्वेन च । तद्भग-
वदधिष्ठानमिति तत्स्थापनार्थं, ततो भगवतः
अपगमनार्थं च, मगधानेव देशान् ययौ, यतः ।

सोऽपि मागधः, देशदोषमात्रेणावशिष्ट । मत्वा
तौ बलकेशवाविति पाठे स एवार्थः ॥१४॥

व्याख्यानार्थ—शब्द में उत्पन्न हुए दोष को मिटाने के लिए यहाँ “दग्ध”^१ शब्द को सप्तमी विभक्ति भी माननी चाहिए यों मान कर इसका अर्थ करना कि वह जरासन्ध भी परम सन्ताप में वैसे प्रविष्ट हुआ जैसे भगवान् द्वारका में प्रविष्ट हुए यह उसका परिताप में प्रवेश ज्ञान में हुआ है, न कि क्रिया से दाह हुआ है, नहीं तो आगे पाण्डवों का यश नहीं बढ़ता बलरामजो और कृष्णचन्द्र को न देख कर जल गये, ऐसा जो उसने समझा वह उसका समझना झूठा था क्योंकि शक्तिमान होने से जो ब्रह्मा और शिव के अधिपति हैं वोसे आग में जल नहीं सकते हैं इसलिए इसने यह जलना झूठ ही समझा अथवा वह^२ स्वयं तो जला ही है इसके अनन्तर वह झूठा चिल्लाना सीता को तरह पाण्डवों के कीर्ति के वास्ते है इसके बाद जरासन्ध ने इनका ‘बलपना’ और ‘केशवपना’ झूठा समझा यों मान लिया कि इनका सर्व तरह नाश हो गया है, अतः अपनी सेना को लेकर मगध को गया जरासन्ध स्वयं तो सन्ताप से जला किन्तु सेना को जलाने से क्या ? इस शंका का निवारण करते हैं कि वह सेना बलशाली तथा महत्व वाली थी इसलिए उसको भी सन्ताप हुआ जिससे वह भी स्वयं सन्ताप से जलने लगी जरासन्ध मगध देश को क्यों गया ? मथुरा क्यों न आया और भाकर लड़ाई से उस पुरी को नाश क्यों नहीं किया ? इस शंका का निवारण करते हैं कि भगव-दिच्छा से उसकी वृद्धि ऐसी हो गई कि यह मथुरा भगवान् का रहने का स्थान है, वह कायम ही रहे और यहाँ भगवान् पधारे नहीं इसलिए मगध देश को चला गया क्योंकि वह भी मागध है उसमें देश का ही मात्र दोष रहा है ।

“मत्वा तौ बलकेशवौ” यदि श्लोक में पाठ लिया जावे तो भी यही अर्थ होगा ॥१४॥

आभास—एवं तामसस्य रुदादेः वाक्यपरिपालनं निग्रहं वा विधाय स्त्रीणामुद्धा-
रार्थे कृपया विवाहादिकं कृतवानिति बधुं ज्येष्ठस्य बलभद्रस्य विवाहमाह आनर्ता-
धिपतिरिति ।

१—“दग्धो” दग्ध शब्द सप्तमी और क्रिया पद दोनों हो सकते हैं ।

२—जरासन्ध संताप से जल गया ।

आभासार्थ—इस प्रकार तामस रुद्र आदि के वाक्य का पालन अथवा निग्रह कर स्त्रियों का उद्धार करने के लिए कृपा कर विवाह आदि किए, यह कहने के लिए पहिले बड़े भ्राता बलदेवजी का विवाह “आनर्त” श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—आनर्ताधिपतिः श्रीमान् रेवतीं सुताम् ।

ब्रह्मणा चोदितः प्रादाद्बलांयेति पुरोदितम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—आनर्त देश के स्वामो, श्रीमान् रेवत ने अपनी रेवती नाम वाली कन्या को बलरामजी को दी क्योंकि ब्रह्मा ने पहिले ही इसको आज्ञा की थी ॥१५॥

सुबोधिनी—आनर्तदेशः द्वारिकानिकटदेशः ।	गतः । ततो ब्रह्मवाक्यात् कनिष्ठायपि रामाय
तस्याधिपतिः रेवतः । श्रीमानिति । अमृत एव ।	दत्तवान् इति पुरा नवमस्कन्धे निरूपितम् ।
रेवतीनाम तस्य कन्या, स हि पूर्वं ब्रह्माणं प्रष्टुं	अस्य विचारस्तत्रैव कृतः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—द्वारका के समीप वाले देश को आनर्त देश कहा जाता है उसका स्वामी रेवत या “श्रीमान्” से बताया कि वह अमृत हो था उसका कन्या रेवती नाम वाली थी वह पहिले ब्रह्मा से पूछने गया कि मैं अपनी कन्या किस को दूँ ? तब ब्रह्मा ने कहा कि यह बलरामजी को दो इस लिए छोटा होते भी राम को दी यह आगे नवम स्कन्ध में निरूपण हुआ है इसका विचार वहाँ ही किया है ॥ १५ ॥

आभास—भगवते। विवाहमाह भगवानपीति ।

आभासार्थ—“भगवानपि” इस श्लोक में भगवान् का विवाह कहते हैं ।

श्लोक—भगवानपि गोविन्द उपयेमे कुरुद्वह ।

वैदर्भी भीष्मेकमुतां श्रियो मात्रां स्वयंवर ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे कुरुद्वह गोविन्द भगवान् ने भी स्वयंवर में लक्ष्मी की अंश रूप विदर्भ देश में उत्पन्न भीष्म की कन्या से विवाह किया ॥१६॥

सुवोधिनी—ननु स्वतःसिद्धलक्ष्मोकस्य निरिन्द्रियस्य प्रयोजनाभावात्किं विवाहेनेत्याशङ्क्य परिहरति । यद्यपि भगवान्, तथापि गोविन्द इति इन्द्रादिभिरिन्द्रत्वेनाभिषक्ति इति तेषां वाक्यसिद्धयर्थमुपयेमे, विवाहं कृतवान् न तु गोपिकावत्परिग्रहमात्रम् । कुरुद्वहेति संवोधनं भगवत्स्वरूपज्ञानाय । ननु तथापि कर्मणा उत्पादिता कर्मफलरूपा तादृशकर्मकर्त्तृव विवाह्येति कथं भगवता विवाहः कृत इति चेत् तवाह वेदनामिति । विदर्भदेशे सोत्पन्ना । अतो न कर्मजनिता । किञ्च । भोष्मकस्य सुता, भोष्मं

भयानकं कं सुखं यस्येति । प्रलयकर्ता महादेव एवावतोरणः, तस्य च सुता सीता पूर्वजन्मन्य प महादेवकन्यैव, सैवेदानों भोष्मकाज्जाता । अतो विवाहः कर्तव्य एव । किञ्च श्रियो मात्रामिति । सा हि लक्ष्म्याः मात्रा भवति अंशः, नहि तामन्यो ग्रहोतुं शक्तः । सा ह्यवतरति यथा, यथा भगवानवतरति । 'राघवत्वेऽभवत्सीता रुक्मिणी कृष्णजन्मनी'त्यादिवाक्यात् । तत्रापि स्वयंवरे यदा सर्व एव राजान आहूताः, तदा भगवानप्याहूतः । यदा तथा भगवान् वृतः, ततस्तदिच्छया विवाहं कृतवान् ॥ १६ ॥

व्याख्यार्थ—जिसके यहाँ लक्ष्मी स्वतः ही सिद्ध है और जो स्ययं इन्द्रियों से रहित है उसको विवाह करने का कोई प्रयोजन नहीं फिर उन्होंने विवाह क्यों किया ? हालांकि भगवान् है तो भी गोविन्द है, क्योंकि इन्द्र आदि ने आपका इन्द्रपत्न से अभिषेक किया है उनका वाक्य सत्य होवे इसलिए विवाह किया है नहीं कि गोपिकाओं की तरह केवल परिग्रह “अंगीकार” हा किया है, राजा को “कुरुद्वह” सम्बोधन से यह जताया कि आपको भगवान् के स्वरूप का ज्ञान है यह कर्म मे उत्पन्न हुई है कर्मों का फल रूप यह है इसलिए इसका विवाह भी वैसे कर्म करने वाले के साथ हो होना चाहिए भगवान् से इसका विवाह कैसे ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि वह विदर्भ देश में उत्पन्न हुई है अतः इसका जन्म कर्म से नहीं हुआ है और भोष्मक की कन्य है और भोष्मक रूप में प्रलय कर्ता महादेव ने ही अवतार लिया है उसकी यह कन्या है सीता पूर्व जन्म में महादेव की कन्या थी वह ही अब भोष्मक की कन्या हुई अतः विवाह करता चाहिए और विशेष यह भी है कि यह लक्ष्मी का अंश भी है इसलिए इसकी दूसरा कोई ले नहीं सकता है जैसे भगवान् अवतार लेते हैं वैसे ही यह भी अवतार लेती है “राघवत्वे भवत्सीता रुक्मिणी कृष्ण जन्मनि” जब भगवान् राम रूप से प्रकट होते हैं तब यह सीता रूप से प्रकट होती है और जब भगवान् कृष्ण रूप से प्रादुर्भूत होते हैं तब यह रुक्मिणी होती है उसमें भी स्वयंवर के समय में जब सब राजा जैसे बुलाए गए वैसे भगवान् भी बुलाए गए वहाँ भगवान् को रुक्मिणी ने स्वयं वरा अनन्तर उसकी इच्छा से विवाह किया ॥१६॥

श्लोक—प्रमथ्य तरसा राज्ञः शाल्वार्दोश्चैद्यपक्षगान् ।

पश्यन्तां सर्वलोकानां तार्क्ष्यपुत्रः सुधामिव ॥१७॥

श्लोकार्थ—शिशुपाल और उसके पक्षपाती शाल्व आदि राजाओं का बध कर जैसे गरुड़ ने सुध ला गेमे आप सर्व लोकों के देखते हुए रुक्मिणी को ले आए ॥१७॥

सुबोधिनी—किञ्च, प्रमथ्य तरसा राज इति । सर्वानिव शिशुपालादीन् प्रमथ्य मारयित्वा जयप्राप्तामिव तां नीतवान् । शाल्वादयोऽतिविरोधिना बलिष्ठाश्च । तैः सह युद्धे विशेषहेतुमाह चैद्यपक्षगानिति । 'स्वयंवरेऽपि शिशुपालाय यथा भविष्यति, तथा कर्तव्य'मिति रुक्मिणवाक्यात् विवाहकर्तृव शिशुपालः समागतः । अतस्तद्विद्वितार्थमपि शाल्वादयः प्रवृत्ताः । मुख्यो भगवद्विरोधो शिशुपालः । अन्येऽपि विरोधिनः यथाकथञ्चिद्भगवद्विरोधं सम्पादयितुं तत्पक्ष-

पातिनो जाता इति । किञ्च । प्रद्युम्नादयोऽप्युत्पाद्याः । अतः कामः सङ्कटे वर्तत इति तदुत्पत्त्यर्थं मप्युपयेम इत्याह पश्यतां सर्वलोकानामिति । यथा मातुरापन्नवृत्त्यर्थं गरुडः अयुक्तेभ्योऽप्यमृतं दातुं प्रवृत्तः, तथा भगवानपि कामस्य दुःखनिवारणार्थं वैदर्भी अयुक्तामपि स्वयं गृहीतवान्, मारितवांश्चान्यान् । यद्ययुक्तमेतद्भवेत्, तदा लोकाः साक्षिण इति तान् प्रमाणीकरोति । एवं सर्वप्रकारेण भगवतो विवाहो निरूपितः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—और विशेष “प्रमथ्य तरसा राजः” श्लोक में कहते हैं—कि शिशुपाल से लेकर सब को मार कर जीत कर प्राप्त की हुई वस्तु की भाँति उसको ले गए, शाल्व आदि राजा बहुत विरोधी तथा बलिष्ठ भी थे उनके साथ लड़ाई करने में विशेष कारण है वह कहते हैं—“चैद्यपक्षगान्” वे शाल्व आदि शिशुपाल के पक्षपाती थे स्वयम्बर के समय में भी शिशुपाल के लिए जैसा योग्य होगा वैसे करना योग्य है अर्थात् करना चाहिए रुक्मी के कहने से शिशुपाल वर की भाँति आया अतः उसके हित करने के लिए भी शाल्व आदि प्रवृत्त हुए हैं ।

भगवान् का मुख्य शत्रु शिशुपाल है दूसरे विरोधी भी भगवान् से कुछ विरोध करने के लिए उसके पक्षपाती बने हैं और विशेष यह है कि भगवान् को प्रद्युम्न आदि को उत्पन्न करना है इस कारण से तथा काम संकट में है उसके संकट को नष्ट करने के लिए उसकी उत्पत्ति करनी थी इस लिए भी आपने विवाह किया वह विवाह सर्व लोगों के देखते हुए किया, जैसे माता की आपदा मिटाने के लिए गरुड़ ने अयोग्यों को भी अमृत पिलाया वैसे भगवान् ने काम की पीड़ा को काटने के वास्ते अयोग्य भी वेदर्भी को आपने स्वीकार किया और दूसरों को मारा, जो यह अयोग्य हो तो ये सर्व लोक साक्षी हैं उनको साक्षी बना कर विवाह किया है यों कहने का आशय यह है कि विवाह अयोग्य नहीं यदि अयोग्य होता तो जनता उसकी निन्दा करती अथवा रुकावट डालती यों नहीं किया जिससे सिद्ध है कि विवाह अयुक्त नहीं है यों सर्व प्रकार भगवान् के विवाह का निरूपण किया है ॥ १७ ॥

आभास—तत्र राजा विवाहे पौरुषं श्रोतुं विशेषं पृच्छति भगवान् भीष्मक-
सुतामिति ।

आभासार्थ—इस प्रसंग में राजा, भगवान् ने जो विशेष पौरुष दिखाया उसको सुनने के लिए “भगवान् भीष्मकसुतां” श्लोक में पूछता है ।

राजोवाच

श्लोक—भगवान्भीष्मकसुतां रुक्मिणीं रुचिराननाम् ।

राक्षसेन विधानेन उपयेम इति श्रुतम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने सुन्दर मुख वाली भीष्मक की कन्या रुक्मिणी से राक्षस नियमानुसार विवाह किया ऐसा सुना है ॥१८॥

सुबोधिनी—भगवतो विवाहः बहुधा पुराणेषु श्रुतः । ततो राजा स्वयंवरविवाहात्प्रकारान्तरेण श्रुतवान्, तत्र च पौरुषमधिकमिति, तद्भवति वा नवेति सन्देहनिवृत्त्यर्थं पृच्छति । भगवत्त्वान्ना-
ज्ञानम् । भीष्मकसुतामिति पितुरपि बलिष्ठता । रुक्मिणीमिति भगवतो मुख्यभार्येति प्रसिद्धा । ततश्च ‘गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृता’विति प्रथमो विवाहो धर्म्यः कर्तव्यः । अनो धर्मित्वार्थं राक्षस एव विवाहः भगवता कृत इति

स एव त्वया वक्तव्य इत्याह राक्षसेन विधाने-
नेति । रुचिराननामिति तस्या मुग्धभावो निरू-
पितः । ततश्च राक्षसे विवाहे सा कथमनुगुणा
अभीतागतेत्यपि सन्देहः । ‘प्रसह्य कन्याहरणं
राक्षसो विधिरुच्यत’इति विधिशब्दः परस्वहरण-
नक्षणदोषव्यावृत्त्यर्थः । यथा विवाहः दाने
अदुष्टः, एवं हरणेऽपि क्षत्रियस्येतिज्ञापनार्थः ।
श्रुतमिति प्रमाणमुपन्यस्तम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—पुराणों में सुना है कि भगवान् ने अनेक प्रकार से विवाह किए हैं इस कारण से राजा ने जसे स्वयंवर में विवाह हुवा उससे दूसरे नपूने के विवाह सुने हैं उसमें पराक्रम अधिक सुना, वह हुवा है वा नहीं हुवा है इस सन्देह को मिटाने के लिए राजा पूछता है षड्गुण सम्पन्न होने से भगवान् में अज्ञान भी नहीं है भीष्मक की कन्या है इसलिए पिता भी बलिष्ठ है रुक्मिणी भगवान् की भार्याओं में से मुख्य भार्या है पहिला विवाह है तो धर्मानुसार करना चाहिए इस कारण से भगवान् ने पहिला विवाह अपना धर्मीपणा सिद्ध करने के लिए धर्मानुसार ही किया है यह हो आप मुझे बताना कि वह धर्म्य विवाह जो “राक्षस विधि” के अनुसार किया वह किस प्रकार किया क्षत्री के लिए गान्धर्व और राक्षस विवाह धर्मानुगूल है जेसा कि कहा है “गान्धर्वो राक्षसश्चैव धर्म्यौ क्षत्रस्य तौ स्मृता”

रुक्मिणी का विशेषण "रुचिराननाम्" देकर उसका मुग्ध भाव प्रकट किया है राक्षस विवाह में वह निर्भय होकर कैसे आ गई ! यह भी सन्देह है "प्रसह्य कन्या हरणं राक्षसो विधिरुच्यते" जबरदस्ती से कन्या को हरण कर ले आना राक्षसों की विधि है दूसरे का धन वा स्त्री हरण कर लाना तो दोष है फिर भगवान् ने यह दोष कैसे किया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि दोष नहीं है क्योंकि क्षत्रियों के लिए इस प्रकार कन्या हरण कर ले आना दोष नहीं है क्योंकि क्षत्रियों के लिए वह विधि है विधि होने से दोष नहीं है जैसे पराई कन्या से जो विवाह किया जाता है वह इसलिए दाष रहित है जो माता पिता विधिनुसार अपनी कन्या वर को दान कर देता है इस प्रकार हरण में भी क्षत्रि को दोष नहीं है "श्रुतम्" सुना है यह पुराण प्रमाण में दिया है ॥१८॥

आभास—अतस्तत्र प्रकारं पृच्छति भगवन् श्रोतुमिच्छामीति ।

आभासार्थ—अब राजा उस प्रकार "भगवन् श्रोतुमिच्छामि" श्लोक में पूछता है—

श्लोक— भगवन् श्रोतुमिच्छामि कृष्णस्यामिततेजसः ।

यथा मागधशाल्वादीञ्जित्वा कन्यामुपाहरत् ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे भगवान् जिनके तेज का अन्दाजा कोई नहीं लगा सकता वैसे श्रीकृष्ण के उस चरित्र को सुनना चाहता हूँ जिसमें मगध शाल्व आदि को जीत कर जैसे कन्या को वे ले आए ॥१९॥

सुबोधिनी—अनेनाग्रे वक्ष्यमाणा कथा अध्या-
यत्रयात्मिका न समाधिभाषेति सूचितम् । अन्यत्र
श्रुतमेव कल्पान्तरीयमपि योगानुभावेन वक्तव्य-
मिति प्रश्नात्, अन्यथा स्वतन्त्रवक्तुः किं पूर्व-
श्रुतप्रकारकथनेनेति । अतः श्रोतुरनुरोधात्कल्पा-
न्तरीयमपि गान्धर्वराक्षसगैधभेदेन त्रिधा त्रिभि-
रध्यायेर्वक्ष्यति । तेनात्र प्राप्तं दूषणत्रयं परिहृतं
भविष्यति । भगवान् कपटेन गत्वा अदत्तां हत-
वानिति, तस्या भ्रातुर्मुण्डनं कृतवानिति, बलभ-
द्रेण बोधित इति रुक्मिण्याश्च लज्जाभावेनाप-

रिचितभगवत्प्रार्थनेति । एवं सति रसात्मको
विवाहो न भवेत् । भक्तिरसो हि शृङ्गारादी-
नामुपमर्दकः । अतः समाधिभाषाविवाहः स्वयं-
वर एव । अन्यस्तु मतान्तरीय इति निश्चयः ।
ननु अप्रस्तुतं किमिति वक्ष्यतीति चेत्, तत्राह
श्रोतुमिच्छामीति । इच्छा पूरणीयेति तदर्थं
वक्ष्यति । किञ्च, इयमपि कथा कृष्णस्य ।
अमितं तेजो यस्येति । पराक्रमाधिक्याच्च तद्वक्त-
व्यम् । क्षत्रियाणां हि क्षात्रप्रकारेण निरूपितं
भगवच्चरित्रं मनोहारि भवति । तदाह यथा

भागधशाल्वादोनिति । भागधोऽपि जयं प्राप्त इति स निरूप्यते । शाल्वः सात्त्विको महान्श्च । एवं जयेन स्वभावेन च महान्तो आदिभूतो येषामिति जयशीलवोरजयो भगवत्कृतः श्रोतव्य इति निरूपितम् । तत्राप्येक एव स्वयं तान् जित्वा स्वयं कुशलेन पुरं द्वारकामध्यगादिति । तदप्येकस्मिन्कल्पे, तत्सर्वथा विरुद्धं मन्वानः शुको नोक्तवान्, तदा तु भगवानपि समाहूतो गतः । वरणात्पूर्वमेव वलात्तां हत्वा सर्वान् विनिजित्य

एकाकी स्वयं गृहं गत इति कथा भवति । तत्र यद्यपि पौरुषं महत्, तथाप्यत्यन्तं क्लिष्टकर्मत्वा भवतीति तन्नोक्तवान् । तामसकल्पे हि तथा कथा । अत एव शिशुपालो वक्ष्यति 'समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्त' इति । अक्लिष्टकर्मत्वं च वक्तव्यम् । अतो यावता तदुपयुज्यते, तावद्वक्तव्यमिति राक्षसो विवाह उक्तः, नत्वेकाकिहरणम् । अनेनेनं ख्यापितम् । पृष्ठमयुक्तं चेत्, न वक्तव्यमिति ॥१६॥

व्याख्यार्थ—यों कहकर यह बता दिया कि आगे तीन अध्यायों में जो कथा आने वाली है वह समाधि भाषा नहीं है क्योंकि प्रश्न ही इस प्रकार किया है हुई दूसरी जगह सुनी हुई दूसरे कल्प की भी योग के अभाव से कहा यदि यों न होता तो स्वतन्त्र कहने वाले को यह कह देने की आवश्यकता ही नहीं थी कि पूर्ण सुने हुवे प्रकार से कहिए अतः सुनने वाले के आग्रह से दूसरे कल्प को भी गान्धर्व राक्षस और वैदिक विधि के भेद से तीन प्रकार तीन अध्यायों से कहेंगे उससे यहाँ दिए हुए तीन दूषणों का भी परिहार हो जाएगा १-भगवान् कपट से जा कर जो पिता आदि ने दो न थी उसका हरण कर लाए २-बलभद्र के समझाने से उसके भाई का मुण्डन किया ३-और रुक्मिणी ने लज्जा त्याग कर बिना पहचान वाले भगवान् को पत्न द्वारा प्रार्थना की इस प्रकार होने से विवाह रस रूप नहीं होता है भक्ति रस शृंगार रस आदि रसों का उपमर्दन करने वाला है अतः समाधि भाषा विवाह स्वयं-वर ही है दूसरे प्रकार का विवाह अन्य मत के है यह निश्चय है जिसका प्रसंग ही नहीं है वह क्यों कहा जाएगा ? यदि ऐसा कहो तो उत्तर में कहते हैं कि सुनने वाले की वैसी इच्छा है सुनने वाले की इच्छा पूर्ण करनी चाहिए इसीलिए कहेंगे विशेष में यह कथा भी श्रीकृष्ण की ही है अधिक पराक्रम के कार्य होने से वह कहना चाहिए क्षत्रिय प्रकारानुसार वर्णन करने से भगवान् के क्षत्रिय चरित्र मन को हरण करने वाले होते हैं शिशुपाल ने बहुत युद्धों में जय पाई है शाल्व और सात्त्विक भी महान् हैं इस प्रकार जो जय से और स्वभाव से आदि में ही वैसे वीर हैं उनको जीतना यह भगवान् का किया हुआ चरित्र श्रवण योग्य है इसलिए निरूपण किया है इसमें भी आप अकेले वे बहुत उनको जीतकर आप कुशल पूर्वक अपने पुर द्वारका में आ गए वह भी एक ही कल्प में वह सब था विरुद्ध जानकर शुकदेवजी ने नहीं कहा तभी तो भगवान् भी बुलाए हुवे गए थे वरण से पहिले ही बल पूर्वक उसका हरण कर सब को जीतकर अकेले आप ही घर गए यों कथा बनती है यद्यपि इसमें भगवान् का महान् पौरुष दिखता है किन्तु तो भी अत्यन्त क्लिष्ट कर्म होने के कारण शुकदेवजी ने सही कहा है यह ऐसी कथा तामस कला में हुई है इस कारण से ही जितना वह योग्य बन सकता है जितना ही कहना चाहिए इसलिए राक्षस विवाह कहा नहीं कि अकेले हर ले जाना इससे इस प्रकार प्रसिद्ध किया जो मैंने पूछा वह योग्य न हो तो मत कहिए ॥१६॥

आभास—ननु कथा भगवतो महती वक्तव्या, ततश्च अत्यावश्यककथैव श्रोतव्येति चेत् तत्राह ब्रह्मन् कृष्णकथा इति ।

आभासार्थ—भगवान् की कथा तो वह कहनी चाहिए जो उत्तम होवे और जो अति आवश्यक सुनने जैसी हो वह ही सुननी चाहिए यदि यों कहो तो उसका उत्तर “ब्रह्मन् कृष्ण कथाः” श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—ब्रह्मन्कृष्णकथाः पुण्या भाध्वीलोकमलापहाः ।

को नु तृप्येत शृण्वानः श्रुतज्ञो नित्यनूतनाः ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् भगवान् कृष्ण की कथाएँ पवित्र मधुर और जगत के मल को दूर करने वाली है तथा नित्य नवीन है इसलिए जो सुनकर उसके तत्व को जान लेता है वह सुनते हुवे तृप्त नहीं होता है अर्थात् कथा के सार रूप रस को जानने वाला कौन ऐसा है जो तृप्त होवे ? कोई नहीं ॥२०॥

सुबोधिनी—ब्रह्मन्निति ज्ञानमुक्तम् । कृष्ण-
कथात्वात् कीर्तने श्रवणेऽपि वैराग्याभाव उक्तः ।
किञ्च । प्राणिनो हि धर्मार्थकाममोक्षेप्सवः ।
तत्र कृष्णकथाश्चतुर्णां प्रतिरूपा इत्याह । पुण्या
इति धर्मरूपाः । भाध्वीरिति कामरूपाः ।
लोकानां मलं दारिद्र्यवत् कश्मलरूपं हरन्तीति
लोकमलापहाः । एवं त्रिवर्गरूपा इति तदभीप्सुः
को नु तृप्येत । नु इति वितर्कः । न कोऽप्यत्र
विरक्त इति भावः । तर्हि कथं सर्वे न प्रवर्तन्त
इति चेत्, तत्राह शृण्वान इति । सकृच्छ्र-
त्वापि निवर्तन्त इति चेत् । श्रुतज्ञ इति ।
वर्तमानप्रयोगेण निरन्तरश्रवणे प्राप्तेऽपि श्रवणर-
सिकोऽन्न मुख्य इति श्रुतं जानाति । रसिकत्वे
नेति श्रुतज्ञ उक्तः । रसज्ञ इति पाठे तु स्पष्ट
एव । किञ्च । नित्यनूतनाः अयातयामाः काल-
ग्रासरहिताः । तेन मोक्षरूपा अपीत्युक्तम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ—हे ब्रह्मन् ! इस सम्बोधन से यह बताया कि आप ज्ञानवान हो इस तत्व को जानते हैं कि यह कथा “ज्ञान” रूप है श्रीकृष्ण की कथा होने से इसके कीर्तन में और श्रवण में किसी को भी वैराग्य नहीं होता है, अर्थात् सब प्रकार के देवी जीव सुनने की इच्छा करते हैं, क्योंकि प्राणो धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थ को अभिलाषा वाले होते हैं और कृष्ण की कथाएँ चारों पुरुषार्थों को ही मूर्ति हैं, “पुण्याः” विशेषण से उसका धर्म रूप कहा है “भाध्वो” विशेषण से काम रूप है जैसे अर्थ दरिद्रता मिटाता है, वैसे ये कथाएँ लोकों के कश्मल रूप दारिद्र्य को मिटाती है अतः अर्थ रूप है इस प्रकार त्रिवर्गरूप हैं, इनकी इच्छा वाला कौन ऐसा है जो तृप्त (२१)

होगा अर्थात् कोई भी इससे विरक्त न होगा, यदि यों है तो सब वयों नहीं इसमें प्रवृत्त होते हैं ? एक बार सुनकर निवृत्त हो जाते हैं यदि यो कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि वे निवृत्त हो जाते हैं जो सुने हुवे चरित्र के रस को नहीं समझते और जो समझते हैं वे विरक्त नहीं होते हैं उनकी ही इसमें प्रवृत्ति बनी रहती है इसलिए कहा है “श्रुतज” वर्तमान प्रयोग देकर यह बताया है कि यदि निरन्तर श्रवण का अवसर प्राप्त होते हुवे भी वह श्रवण का रस जानने वाले ही मुख्य श्रोता होता है इन कथाओं को काल अपना ग्रास नहीं बना सकता इसलिए मोक्ष रूप भी है ॥२०॥

आभास—एवं राज्ञः श्रवणोत्सुखं दृष्ट्वा स्वयोगबलेनैव दृष्टमिति अन्यतः श्रुतत्वमनुक्त्वापि कथामेवारभते राजासीदिति ।

अभासार्थ—इस प्रकार राजा को श्रवण की उत्सुकता देख कर अपने योगबल से हो जो देखा वही कथा प्रारम्भ करते हैं दूसरे से सुनी हुई नहीं कहते है “राजसीत्” श्लोक से प्रारम्भ करते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—राजासीद्भीष्मको नाम विदर्भाधिपतिमहान् ।

तस्य पञ्चाभवन्पुत्राः कन्यका च वरानना ॥२१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि विदर्भदेश का महान् राजा भीष्मक नाम वाला था जिसके पाँच पुत्र और एक सुन्दर कन्या थी ॥२१॥

सुबोधिनी—आसीदित्येषा पुरावृत्तकथेति निरूपितम् । भीष्मक इति नाम प्रसिद्धेयम् । तस्यान्यत्र स्थित्यभावाय तुल्यधर्माः सर्वे त एवेति निर्दिशति विदर्भाधिपतिरिति । महानिति महत्त्वेन सत्यादयो गुणाः एकचत्वारिंशदतिदिष्टाः । अयमर्थः पूर्वस्माद्विशिष्टः । ‘अभ्रातृमती न विवाह्ये’ति तदर्थं भगवतः पञ्चपर्वविद्यायाः पञ्च देवाः मायाकार्यरूपाः लक्ष्म्या अप्यग्रे उत्पन्ना इति तान् निरूपयति तस्य पञ्चाभवन्पुत्रा इति । ‘मायया मे विनिर्मिता’ इति । ‘रमापि रूपं वद्रे द्वितीयमिव यत्प्रवदन्ति माया’

मिति लक्ष्म्या मायारूपत्वात् मायाकार्यत्वाच्चा-विद्यायाः तत्सहिता माया तत्र प्रादुर्भूता । अत-एव सा जीवमेव व्याप्नोतीति मायामपि जीवपरां कर्तुं रुक्मो विचारितवान् । अत एव रुक्मिण्या रुक्मिप्रभृतिषु पक्षपातः, भगवत्कृते अपरितोषश्च । स्वरूपाज्ञाने निराकृते पश्चान्निरोधः फलिष्यतीति । भगवदीयेषु तस्य प्रतिष्ठाभावाय मुण्डितवान् । तस्य भीष्मकस्य पञ्च पुत्रा अभवन्, एका च कन्या । वराननेति । लोके सौन्दर्यप्रशस्तमिति सौन्दर्यं मुग्धभावं च निरूपयन्नाह । दया च मुग्धभावे निरूपिता ॥२१॥

व्याख्यार्थ—“आसीत्” क्रिया पद से बताया कि यह पूर्व समय की कथा है “भीष्मक” नाम प्रसिद्धि के लिए दिया है वह दूसरे स्थान^१ पर नहीं रहते थे उसके साथ वाले सर्व तुल्य धर्मा हैं, इसलिए विदर्भ देश का स्वामी कहा है “महान्” विशेषण से यहाँ दिखाया है कि इसमें सत्य आदि ४१ गुण हैं यह अर्थ^२ पहिले से विलक्षण है, “अभ्रातृमती न विवाह्या” जिस को भाई न हो उससे विवाह नहीं करना चाहिए इस कारण से भगवान् के पञ्चपर्वात्मक अविद्या के माया कार्य रूप पांच देव लक्ष्मी से प्रथम उत्पन्न हुए यों उनका निरूपण करते हैं उसको पांच पुत्र हुए “मायया मे विनिर्मिताः” इस वाक्य के अनुसार रमा ने भी मानो दूसरा रूप धारण किया जिसको “माया” कहते हैं इस प्रकार लक्ष्मी माया रूप है और माया का कार्य अविद्या है, उस समेत माया वहाँ प्रकट हुई है, इस कारण से ही वह जीव को पकड़तो है, इसलिए रुक्मि ने माया रूप का जीव से सम्बन्ध कराने का विचार किया अतः रुक्मिणी का रुक्मी आदि में पक्षपात था और भगवान् के लिए सन्तोष नहीं था जब रुक्मिणी का अपने स्वरूप का अज्ञान मिटा कर ज्ञान होगा तब निरोध फलेगा भगवदीयों में रुक्मी की प्रतिष्ठा का अभाव हो इसलिए उसका मुण्डन किया उस भीष्मक को पांच पुत्र हुए और एक कन्या हुई वह ऐसी सुन्दर थी जो लोक में उसके सुन्दरता की प्रशंसा करते थे तथा “दया”^३ पद से उसके मुग्ध भाव का भी निरूपण किया है ॥२१॥

आभास—तान् नामतो निदिशति रुक्म्यग्रज इति ।

आभासार्थ—उन पाँचों पुत्रों के नाम “रुक्म्यग्रजो” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—रुक्म्यग्रजो रुक्मरथो रुक्मबाहुरनन्तरः ।

रुक्मकेशो रुक्ममाली रुक्मण्येषां स्वसा सती ॥२२॥

श्लोकार्थ—सबसे बड़े भाई का नाम रुक्मी फिर रुक्मरथ, रुक्मबाहु, रुक्मकेश और पांचवा रुक्ममाली था इनकी बहिन सती रुक्मिणी थी ॥२२॥

१—भीष्मक महादेव का अवतार है जिससे उसका कर्म से सम्बन्ध नहीं है तथा उसके साथी भी कर्म सम्बन्ध रहित हैं इसलिए वह अन्यत्र नहीं रहता है ।

२—पहले का विवाह समाधि भाषा है यों कह कर वहाँ “वैदर्भी” नाम देने से बताया कि उसके पिता भीष्म का कर्म से सम्बन्ध नहीं है यह उसकी महानता विशेष रूप से दिखाई है ।

३—बहिन दया की मूर्ति है इस उक्ति के अनुसार भ्राताओं के निरूपण के साथ बहिन का निरूपण करने में उसका “दयारूप” कहा ।

सुबोधिनी कलेः स्थानं पञ्चात्मकं सुवर्णमिति तन्नामानः सर्व एव । अत एवाग्रे भगवान् वक्ष्यति 'तस्मात्प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ती'ति । अग्रजो ज्येष्ठः स्वमी सुवर्णसदृशः, वस्तुतो नाम तथा योगं नापेक्षते । स्वमरथ इति द्वितीयः । स्वमवाहुः तृतीयः । अनन्तर इति त्रयाणामेकप्रकृतिकत्वम्, अन्येषां

रुक्मिणासहितानां भिन्नप्रकृतिकत्वमिति त्रयाणां निरूपणानन्तरमुक्तम् । अनन्तरमिति सर्वत्र सम्बध्यते । स्वमकेशश्चतुर्थः । स्वममाली पञ्चमः । एतेषां योगानुसारेणाप्यर्थः स्वयमूह्यः । एषां स्वसा एकमातृका प्रियभगिनी च रुक्मिणी । यथैते दुष्टाः, तथा सापि भविष्यतीत्याशङ्क्याह सतीति ॥२॥

व्याख्यार्थ—कलि के रहने का स्थान स्वर्ण है, वह पञ्च रूप होता है, अतः ये पांच भी उसके नाम वाले 'इसलिए भगवान् आगे कहेंगे कि 'तस्मात् प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति' इसी कारण से बहुत कर धनवान् मेरा भजन नहीं करते हैं ।

प्रथम जन्मा हुआ बड़ा स्वमी सुवर्ण के समान है, सचमुच जैसा नाम है वैसे योग की अपेक्षा नहीं करता है, स्वमरथ यह दूसरा स्वमवाहु तीसरा ये तीन ही एक प्रकृति वाले हैं शेष दो दूसरी प्रकृति वाले हैं इसीलिए अनन्तर पद दिया है उन एक प्रकृति वाले तीनों के नाम देने के बाद इन दो का और रुक्मिणी का प्रथक् नाम कह कर बताया है कि इनकी दूसरी प्रकृति है, स्वमकेश चौथा और स्वममाली पांचवा था इनका योग के अनुसार अर्थ आप ही समझ लेना चाहिए इनकी प्यारी बहिन रुक्मिणी भी एक ही माता से उत्पन्न हुई है, अतः वह भी उन जैसी दुष्ट होगी ? इस शंका को मिटाने के लिए इसका विशेषण "सती" देकर इसको दुष्टता का निषेध किया है ॥२॥

आभास—एवं तस्या उत्पत्तिमुक्त्वा, तस्यां भगवतः, भगवति तस्याश्च, गान्धर्वं विवाहं वक्तुं स्नेहं निरूपयति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इस प्रकार रुक्मिणी की उत्पत्ति कह कर अब दो श्लोकों से भगवान् का उसमें स्नेह है उसका भगवात् में स्नेह है इसको गान्धर्व विवाह करने में हेतु वर्णन करते हैं ।

श्लोक—सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः ।

गृहागतैर्गोयमानास्तं मेने सदृशं पतिम् ॥२॥

तां बुद्धिलक्षणौदार्यरूपशोलगुणान्विताम् ।

कृष्णश्च सदृशीं भार्यां समुद्बोद्धुं मनो दधे ॥२४॥

श्लोकार्थ—वह रुक्मिणी घर में आये हुए विद्वान् ब्राह्मण आदि से गाए हुए श्रीकृष्ण के रूप, वीर्य, गुण और वैभवों को सुन उनको ही अपने योग्य पति समझा ॥ २३ ॥

इसी प्रकार भगवान् ने भी उसको “रुक्मिणी को” बुद्धि के लक्षण, उदारता, सुन्दर रूप और शोल तथा गुणों से युक्त जान अपने योग्य समझा उससे व्याह करने का मन में निश्चय कर लिया ॥२४॥

सुबोधिनी—सोपश्रुत्येति । सा रुक्मिणी मुदुन्दस्य मोक्षदातुः स्वस्यापि पुनर्जन्मनिवृत्त्यर्थं भगवद्गुणानेव शृणोति । कन्याया अपेक्षित रूपम्, वीर्यं क्षत्रियाणाम् । विद्यास्थानीयं यशः । कुलस्थानीयां श्रीः लक्ष्मीः शोभा च । तेन धनसमृद्धिः सर्वसमृद्धिश्च सूचिता । एवं वरे योग्यानि पञ्च रूपाण्यप्युक्तानि । अन्तपुरस्यायाः कन्यायाः कुत एतावच्छ्रवणमित्याशङ्क्याह गृहागतैर्गीयमाना इति । य एव ब्राह्मणाः विद्ययोपजीविनो वा सांभवो वृद्धाः सर्वत्राप्रतिहतगतयः तैः गीयमानाः श्रुत्वा, तमेव भगवन्तं आत्मनः सदृशं पतिं मेने ॥२३॥

भगवानपि तां सदृशीं भार्यां मेने । तत् उद्बोद्धुमपि मनो दधे । तस्या अपि पञ्च गुणाः । एकविकलापि न ग्राह्या भवति । आदौ बुद्धिमती अपेक्ष्यते । अन्यथा गृहं विनश्येत् । स्त्रीलक्षणरहिता तु सामुद्रशास्त्रविरोधिनी भाग्यरहितैव भवति । औदार्याभावे लुब्धा सर्वमेव पुरुषार्थं नाशयेत् । रूपाभावे व्यर्थो विवाहः । शोलाभावे अधर्मं जनयेत् । अतः एते पञ्चापि गुणाः लोके प्रसिद्धिमापन्नाः यस्यां भवन्ति, सा विवाह्या । अन्वयः अव्यभिचारिसम्बन्धः । कृष्णश्चेति चकारः सदृश्यार्थं भगवानपि तादृश इत्याह । अत एव सदृशी । सम्यगुद्वाहः आहूय कन्यादानरूपः । स हि शोभाकरो भवति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—वह रुक्मिणी, मैं फिर जन्म के चक्कर में न फसूँ, इस इच्छा से मोक्षदाता भगवान् के गुणों को ही सुनती है वर में जो गुण कन्या चाहती है, वे सर्व श्रीकृष्ण में हैं ऐसा उसने सुना, १-कन्या को वर पसन्द है जिसका रूप सुन्दर होके यदि क्षत्री होवे तो वीर्य चाहिए विद्या के स्थान पर यश चाहिए और कुल के स्थान पर “श्री” लक्ष्मी चाहिए इससे बहुत धन तथा

सर्व प्रकार की समृद्धि की सूचना दी इसी प्रकार वर में जो पांच रूप चाहिए वे इनमें है यह भी बता दिया कन्या तो अन्तःपुर में भीतर ही रहती है उसने श्रीकृष्ण के गुण कहां से और कैसे सुने ? इस शंका को मिटाने के लिए कहा कि “गृहागतैर्गीयमानाः” घर में जो ब्राह्मण विद्या से आजीविका करने वाले आते थे और साधु तथा वृद्ध आते थे क्योंकि उनको कहीं भी चले जाने की रुकावट नहीं थी और वे श्रीकृष्ण के गुण गान करते थे उनसे सुनती थी, गुणों के सुनने से उसने भगवान् को ही अपने योग्य पति समझा ।

भगवान् ने भी उसको अपने योग्य पत्नी समझा इसी कारण से उससे विवाह करने में मन लगाया उसमें भी पांच गुण थे यदि इन पांचों से एक भी कम हो तो वह कन्या ग्रहण करने योग्य नहीं है पहिले बुद्धि वाली चाहिए यदि सयानी नहीं हो तो घर का नाश हो जाता है स्त्री लक्षणों से जो रहित है वह सामुद्रिक शास्त्र में कहे हुए गुणों से रहित होने से भाग्यहीन ही होती है स्त्री में उदारता का गुण भी चाहिए यदि वह गुण उसमें नहीं है तो लोभिन होने से सर्व पुरुषार्थों को नाश करेगी, यदि रूप नहीं है तो विवाह व्यर्थ है यदि चरित्र अच्छा नहीं है तो अधभे को उत्पन्न करेगी अतः ये पांच गुण जो लोक में प्रसिद्ध हैं वे उसमें हो तो उससे विवाह करना चाहिए, जिसमें उपरोक्त पांच गुण मिले हुए हैं उसमें किसी प्रकार व्यभिचारि सम्बन्ध नहीं होगा “च” पद का भावार्थ यह है कि कृष्ण भी पांचों गुणों से युक्त होने से वैसा ही योग्य है अतः यह भी समान ही है उस विवाह को उत्तम विवाह कहा जायगा कन्या का पिता बुना कर कन्यादान कर देवे वह ही शोभा बढ़ाने वाला विवाह है ॥२४॥

आभास—तन्न जातमित्याह बन्धूनामिच्छतां दातुमिति ।

आभासार्थ—बान्धवों की इच्छा थी कि बहिन, कृष्ण को दी जावे किन्तु वैसा नहीं हुआ जिसका वर्णन “बन्धूनामिच्छतां दातु” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—बन्धूनामिच्छतां दातुं कृष्णाय भगिनीं नृप ।

ततो निवार्य कृष्णद्विड् रुक्मी चैद्यममन्यत ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे राजा सब भाई तो अपनी बहिन कृष्ण को देनी चाहते थे, किन्तु कृष्ण के बैरी रुक्मी ने उससे फेर कर चैद्य राजा को देनी मंजूर की ॥२५॥

सुबोधिनी—बान्धवाः पितादयः कुलसम्बन्धिनः दातुमिच्छतां सताम्, यतः कृष्णः सदानन्दः, अन्ये गुणाः फलसाधकाः, अयं तु साक्षा-
देव फलरूप इति । तत्र रुक्मी वरत्वेन भगवन्तं निवार्य, चैद्यं शिशुपालमेवामन्यत । स्वरूपा-
ज्ञानेन हि स्वकार्य साधनीयम् । तत्र पूर्वजन्मनि

सीतार्थमेव रावणो हतः । तस्यामभिनिविष्ट-
चित्त एव प्राणान् जहौ । अतो लोकविचारेण
तस्मै देयेति भवति । भगिनीत्वादस्य प्रावत्यम् ।
नृपेति सम्बोधनं राज्ञे राजकन्या देयेति तस्या-
भिप्रायस्त्वया ज्ञायत एवेत्येतदर्थम् । ततो हेतोः
कृष्णद्वौ निवार्य, यतः कृष्णद्विट् । न हि तस्य
स्वरूपनाशको भगवान् हितो भवति । अतः
शत्रूणां मध्ये मुख्य इति चैद्य एव वरत्वेन स्वी-
कृतः । अनेन सर्वेषामेव तत्र सम्मतिरपि जातेति
सूचितम् । राजा कुलीनः, सोऽपि महानिति ॥२५॥

व्याख्यार्थ—पिता आदि से लेकर सब कुल के सम्बन्धी भी कृष्ण को देने की इच्छा वाले थे
क्योंकि कृष्ण सदानन्द है दूसरे गुण फलों को सिद्ध करने वाले हैं ये तो साक्षात् ही फल रूप है वहाँ
रुक्मी ने भगवान् वर हो यह न मान कर शिशुपाल को वररूप मान लिया, स्वरूप के अज्ञान से
ही अपना कार्य सिद्ध करना चाहिए वहाँ पूर्व जन्म में सीता के लिए ही रावण को मारा था
उसमें पूर्ण रीति से आसक्त चित्त होने से ही रावण मरा अतः लोक विचार से
उसको देनी चाहिए यों होता है । रुक्मिणी का बड़ा भाई है इस लिए उसकी प्रबलता
है, हे नृप ! सम्बोधन से यह सूचित किया है कि राजा को कन्या राजा को देनी चाहिए
यह इसका अभिप्राय आप जानते हो हैं इस कारण से रुक्मी ने कृष्ण से सगाई टाल कर शिशुपाल
को सगाई स्वीकार करली क्योंकि रुक्मी कृष्ण का द्वेषी था उसके स्वरूप का नाश करने वाले
भगवान् मित्र नहीं हो सकते हैं अतः शत्रुओं में यह मुख्य है यों समझ कर चैद्यको वरपन से स्वीकार
किया. इस प्रकार कहने से सर्व की इसमें सम्मति हो गई यह भी सूचित कर दिया कि राजा कुलीन
तथा महान् है ॥२५॥

आभास—तद्वरुक्मिण्या अनभिप्रेतमिति स्वात्मानं भगवद्गामिनं कर्तुमियेषेत्याह
तदवेत्येति ।

आभासार्थ—शिशुपाल मेरा वर हो यह रुक्मिणी को पसन्द नहीं था इसलिए
अपने को भगवान् ग्रहण करे ऐसी मनमें इच्छा की और उसके लिए प्रयत्न किया
जिसका वर्णन “तदवेत्यासितापाङ्गी” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तदवेत्यासितापाङ्गी वंदर्भो दुर्मना भृशम् ।

विचिन्त्याप्तं द्विजं कञ्चित्कृष्णाय प्राहिणोद्द्रुतम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—जब रुक्मिणी ने यह जान लिया तब वह श्याम कटाक्ष वाली रुक्मिणी
बहुत उदास हुई विचार कर किसी विश्वास पात्र ब्राह्मण को कृष्ण के पास जल्दी
भेज दिया ॥२६॥

सुवोधिनी—आदौ तन्निश्चित्य भृशं दुर्मना जाता । नन्वग्रे भगवत्प्रापकाणि कर्माणि कृत्वा भगवन्तं प्राप्स्यति, किमित्युद्वेग इति चेत् । तस्माद् वैदर्भीति । तास्यां कर्माण्युत्पद्यन्त इति । किञ्च । असितापाङ्गो परमसुन्दरी, परमसुन्दर एव युक्ता भवति, न तु जीवे कुरूपे । अतः आदौ दुर्मना भूत्वा पश्चादुपायचिन्तायां मित्रे-

णैवैतत्कार्यं कर्तव्यमिति विचार्य, सर्वस्य मित्रं गौर्ब्राह्मणो देवश्चेति, तत्रापि गौरज्ञा साधारणी च नात्यन्तं भगवत्पक्षपातिनी । अतो ब्राह्मण एवाप्तोऽस्मिन् कार्ये भवतीति विचिन्त्य, कञ्चिदाप्तं द्विजं गूढार्थसाधकं द्रुतं शीघ्रमेव कृष्णाय प्राहिणोत् । अर्थात् सन्देशानुवत्वा पत्रिकां वा दत्वा ॥२६॥

व्याख्यार्थ—पहिले सुनी हुई बात का पूर्ण रोति से निश्चय कर बहुत उदास मन वाली हो गई, उदास क्यों हुई ? भगवान् के प्राप्ति को सिद्ध करने वाले कर्म कर भगवान् को वर बना लेगी चित्त की व्याकुलता करने से क्या ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'वैदर्भी' है अर्थात् विदर्भ देश में उत्पन्न होने से जैसे उस देश में दर्भ उत्पन्न नहीं होते हैं, वैसे इसमें कार्य उत्पन्न नहीं होते हैं और विशेष यह परम सुन्दरी है इसलिए जो परम सुन्दर हो उससे ही विवाह करना योग्य है, कि कुरूप जीव के साथ योग्य है अतः पहले उदास हुई पश्चात् विचार करने लगी कि क्या उपाय करूँ ? उपाय का विचार करते ध्यान में आया कि यह कार्य तो मित्र ही कर सकेगा उससे ही कराना चाहिए यों निश्चय कर मित्र को ढूँढने लगी सब के मित्र तीन होते हैं गौ, ब्राह्मण और देव इनमें गौ तो अज्ञ है और साधारण है, भगवान् को बेहद पक्षपात करने वाली नहीं है इस कारण से इस कार्य में सत्यवक्ता विश्वास पात्र ब्राह्मण ही इस कार्य करने में सहायक होगा क्योंकि ब्राह्मण भगवान् के बेहद पक्षपाती है यों पूर्ण विचार कर किसी आप्त गुप्त कार्य को सिद्ध कर देने वाले ब्राह्मण को शीघ्र ही भगवान् के पास भेजा अर्थात् सन्देश देकर अथवा पत्र देकर उस ब्राह्मण का खानगी की ॥ २६ ॥

आभास—तस्य बहिःकार्यमाह द्वारकां स समभ्येत्येत्यादिदशभिः ।

आभासार्थ—उस ब्राह्मण का बाहिर के कार्य का वर्णन 'द्वारकां स' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—द्वारकां स समभ्येत्य प्रतोहारैः प्रवेशितः ।

अपश्यदाद्यं पुरुषमासीनं काञ्चनासने ॥२७॥

श्लोकार्थ—वह ब्राह्मण द्वारका में पहुँचा और दरवानों से अन्दर भेजा गया वहाँ सोनी के सिंहासन पर विराजमान आद्य पुरुष के उसने दर्शन किए ॥२७॥

सुबोधिनी स हि निर्गुण सगुणं च कार्यं कृतवानिति स शीघ्रमेव द्वारकां समभ्येत्य, पूर्वमेव भगवदुक्तः प्रतीहारैरन्तः कृष्णसन्निधौ प्रवेशितः, कार्यं साधयितुमागतः, मध्ये स्वपुरुषार्थमपि साधितवानित्याह अपश्यदिति । ननु दर्शनमवान्तरकार्यमेव कुतो न भवेत्, तत्राह आद्यं पुरुषमिति । सर्वस्यापि पतिदशनं पुरुषार्थः, तत्रापि परमः पतिः भगवान्, सर्वे प्रकृतिरूपा इति पूर्वमवोचाम । तादृशो भगवान् कार्यार्थं समागतः व्यग्र एव भविष्यतीति कथं कार्यद्वयमपि सिध्येदित्याशङ्क्याह काञ्चनासने आसीनमिति । उपविष्टत्वादव्यग्रता । सुवर्णासने चोपविष्ट इति विषयपरिग्रहः । तेन कार्यद्वयसिद्धिरिति भावः ॥२७॥

व्याख्यानार्थ — उस ब्राह्मण ने सगुण तथा निर्गुण दोनों कार्य किए, वह जल्दो ही द्वारका में पहुँच कर पहिले ही भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर ड्यौढी वालों से अन्दर भेजा गया क्योंकि कार्य सिद्ध करने के लिए आया है । बीच में अपने पुरुषार्थ भी सिद्ध करने लगा प्रथम जाते ही दर्शन किए दर्शन करना बीच का कार्य क्यों न समझाया जाय ? इसके उत्तर में कहते हैं कि “आद्यं पुरुषं” दर्शन आद्य पुरुष का किया, वह सर्व के पति हैं, पति का दर्शन सब के लिए पुरुषार्थ है उसमें भी मुख्य पति भगवान् ही है अन्य सर्व प्रकृति रूप है यों आगे कह दिया है वैसे भगवान् तो कार्य के लिए आए हैं इसलिए कार्य में बहुत फसे होंगे, तो दोनों कार्य कैसे सिद्ध होंगे इसके उत्तर में कहते हैं कि वे कार्य में व्यग्र नहीं है, इसलिए स्वर्ण के सिंहासन पर विराजमान हैं, सोने के सिंहासन पर विराजमान से यह भी सूचित किया है कि सर्व विषयों को भी स्वीकार किए हैं, इससे दोनों कार्य की सिद्धि होगी ॥२७॥

आभास — ततस्तस्य सन्माननमाह दृष्ट्वा ब्राह्मण्यदेव इति ।

आभासार्थ — अनन्तर उसके आतिथ्य सत्कार को “दृष्ट्वा” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक - दृष्ट्वा ब्राह्मण्यदेवस्तमवरुह्य निजासनात् ।

उपवेश्यार्ह्यांचक्रे यथात्मानं दिवौकसः ॥२८॥

श्लोकार्थ — भगवान् ब्राह्मण को देख कर अपने आसन पर से स्वयं नीचे उतर कर उसको बिठाकर वैसे उसकी पूजा करने लगे जैसे देव लोग आपकी करते हैं ॥२८॥

सुबोधिनी — प्रश्नानन्तरं सन्माननायां स्त्री निमित्तं भवेत् । आर्षज्ञानेन पूजायामपि कृत्रिमत्वसम्भावना स्यात् । ततश्च तदोषनिवृत्ति- धर्मान्तरमेवाह ब्राह्मण्यदेव इति । ब्राह्मण्यश्चासौ देवश्चेति ब्राह्मणानां हितः समर्थश्च । अतो ब्राह्मणस्य अवरुह्य देवस्यैव पूजां कृतवान् ।

तं प्रकारमाह । निजासनादवरुह्य, तत्र ब्राह्मण-
मुपवेश्य, अर्हयामास । प्रकारविशेषजिज्ञासायां
स्वधर्ममतिदिशति । दिवौकसो देवा यथा भग-
वन्तमिति । भगवति गृहमागते इन्द्रः स्वासने ।

भगवन्तमुपवेश्य यावती स्वसमृद्धिः तथा सर्वयैव
पूजयति । एवं भगवानपि सर्वसमृद्ध्या पूजितवान्
॥२८॥

व्याख्यार्थ—यदि ब्राह्मण से आने का कारण पूछ पीछे सत्कार करते तो वह सम्मान स्त्री के कारण समझा जाता यदि आर्ष ज्ञान से जानकर पूजा की होती तो वह कृत्रिम पूजा बनती इन दोषों को मिटाने के लिए दूसरा धर्म बताते हैं कि भगवान् ब्राह्मण देव हैं इसलिए भगवान् ब्राह्मण को घर में पधारते देख आसन से नीचे उतर कर देव के समान उसको पूजा करने लगे, वह प्रकार बताते हैं जब ब्राह्मण आया तब भगवान् स्वर्ण के सिंहासन पर विराजमान थे उसको देखते ही आसन पर से उठे और ब्राह्मण के पास जाकर उस छो लेके अपने आसन पर बिठाया बादमें उसकी पूजा की विशेष जानने की इच्छा में धर्म प्रकट कर दिखाते हैं “दिवौकसो देवा यथा भगवन्तं” देव जैसे भगवान् को पूजा करते हैं जैसे कि जब भगवान् स्वर्ग में पधारते हैं तब इन्द्र भगवान् को अपने घर पधारते देख अपने आसन पर भगवान् को विराजमान कर जितनी अपनी समृद्धि पास है उससे भगवान् को पूजा करता है इस प्रकार भगवान् ने भी सर्व समृद्धि से ब्राह्मण का पूजन किया ॥२८॥

आभास—ततस्तस्य राज्ये प्रायेण धर्मो नास्तीति स्वदर्शनफलं तस्य ज्ञानमुपदिश-
तीत्याह तं भुक्तवन्तमिति ।

आभासार्थ—उसके राज्य में बहुत करके धर्म नहीं है इसलिए उसको अपने दर्शन का फल, ज्ञान का उपदेश कर देते हैं ।

श्लोक—तं भुक्तवन्तं विश्रान्तमुपगम्य सतां गतिः ।

पाणिनाभिमृशन्पादाव्यग्रस्तमपृच्छत ॥२९॥

श्लोकार्थ—जब उसने भोजन कर लिया और मार्ग की थकावट दूर हुई तब सत्पुरुषों की गति भगवान् उसके पास जाके हाथ से पाँवों को चाँपते हुए धैर्य से पूछने लगे ॥२९॥

मुबोधिनी--भोजनपर्यन्तं सर्वे उपचाराः कृताः । ब्राह्मणो हि मुख्यो भोजनप्रियः । ततो भोजनश्रमापनोदनादनन्तरं उपगम्य निकटे गत्वा । नन्वेवं ब्राह्मणमात्रे किमिति करोतीत्या- शङ्क्याह सतां गतिरिति । लोकशिक्षार्थमेवं करोतीत्यर्थः । ततः पाणिना पादावभिमृशन् रुविमण्यामासक्तिरस्ति ततो व्यग्रः प्रश्नं करिष्य- तीत्याशङ्क्य अव्यग्रस्तमपृच्छतेत्याह ॥२६॥

व्याख्याय—भोजन पर्यन्त सब प्रकार की सेवा की ब्राह्मण को सबसे प्रिय भोजन है भोजन के श्रम के निवृत्त होजाने के पश्चात् समीप जाकर हाथ से पादों को चाँपते हुवे क्षुब्ध न हो के घीरज से पूछने लगे, भगवान् होकर भी साधारण ब्राह्मण का भी वैसा सत्कार क्यों करते हैं ? इसके समा- धान में कहते हैं कि भगवान् सत्पुरुषों की गति हैं, और लोगों को शिक्षा देने के लिए यों करते हैं ॥२६॥

आभास ज्ञानमुपदिशति कच्चिद्विजवरेति पञ्चभिः ।

आभासार्थ—“कच्चिद्विजवर” श्लोक से पाँच श्लोकों में ज्ञान का उपदेश करते हैं ।

श्री भगवानुवाच—

श्लोक—कच्चिद्विजवरश्रेष्ठ धर्मस्ते वृद्धसंमतः ।

वर्तते नातिकृच्छ्रेण संतुष्टमनसः सदा ॥३०॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि हे ब्राह्मण श्रेष्ठ वृद्ध पुरुषों के समान धर्म पर तू चल रहा है उसमें कोई रुकावट तो नहीं है सदा संतोषमुक्त मन से उसमें प्रवृत्त हो रहे हो न ? ॥३०॥

मुबोधिनी—चतुर्भिस्तस्य, एकेन तद्राज्ञः । चत्वारः पुरुषार्था ब्राह्मणस्य, राज्ञः अर्थकामौ नियतौ, मोक्षो नास्त्येव, धर्मः संदिग्धः । अतः स एव पृच्छ्यते । आदौ तस्य धर्मं पृच्छति कच्चि- द्विजवरश्रेष्ठ इति । द्विजवराणां मध्ये श्रोत्रि- याणां मैत्री क्रियत इति श्रेष्ठत्वम् । अतः सर्वेषां मित्रभूतत्वात् तथा सम्बोधनम् । यद्यप्ययं धर्मो वर्तते एव, तथापि वृद्धसम्मतोऽपि परम्परया

समागतः श्रोतः स्मार्तः वर्तते कच्चित् । किञ्च । स्वपरपीडया क्रियमाणः शुद्धो धर्मो न भवतीति उत्तरकाण्डानुरोधमप्यङ्गीकृत्याह नातिकृच्छ्रे- नेति । अतिकृच्छ्रेण धर्मोऽपि धर्मो न भवतीति । तत्रापि शुद्धमनस एव धर्मो भवति, ब्राह्मणानां मनःशुद्धिः संतोष एवेति तं पृच्छति सदा संतुष्ट- मनस इति । सदा संतुष्टं मनो यस्य ॥३०॥

व्याख्यार्थ—चार श्लोकों से ब्राह्मण का, एक से राजा का धर्म कहते हैं ब्राह्मणों के लिए चारों ही पुरुषार्थ हैं, राजा के लिए दो अर्थ—“अर्थ और काम” मोक्ष नहीं है और धर्म सन्देह वाला है अर्थात् होवे वा न भी होवे अतः ब्राह्मण ही पूछा जाता है, प्रारम्भ में उसका धर्म पूछते हैं आप ब्राह्मणों में श्रेष्ठ हैं क्योंकि आप वेदज्ञ विप्रों से मेली करते हैं, इस कारण से वह प्राणा मात्र के मित्र हैं जिससे वैसा सम्बोधन दिया है, यद्यपि यह धर्म तो होता ही है तो भी वह वृद्धों की राय के अनुसार परम्परा से चलता आया श्रोत और स्मार्ता भी कुछ होता रहता है कि नहीं ? जिस धर्म में अपने को वा दूसरे को पीड़ा होवे वह किया हुआ धर्म शुद्ध नहीं होता है उत्तर काण्ड के अनुरोध को भी अंगीकार कर कहते हैं कि “नातिकृच्छेन” बहुत क्लेश देने वाला धर्म भा धर्म नहीं है अर्थात् जिस धर्म के करने से अपने को तथा दूसरों को क्लेश होवे वह धर्म नहीं है उसमें भी जो शुद्ध मन से अर्थात् शान्त तथा सन्तुष्ट मन से किया हुआ धर्म हो धर्म है। ब्राह्मणों के मन को शुद्धि का लक्षण “सन्तोष” ही है इसलिए उससे पूछते हैं कि आप सदैव संतोष युक्त मन से धर्म पालन करते हो कि नहीं ? ॥३०॥

आभास—अर्थ पृच्छति यहि वर्तेतेति ।

आभासार्थ—“संतुष्टो यहि” श्लोक में दूसरे पुरुषार्थ ‘अर्थ’ को पूछते हैं ।

श्लोक—संतुष्टो यहि वर्तेत ब्राह्मणो येन केनचित् ।

अहीयमानः स्वधर्मात्स ह्यस्याखिलकामधुक् ॥३१॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण जो कुछ प्राप्त हो उसमें ही संतोष रखे संतोष के लिए अपने धर्म से न डिगने पर वह सन्तोष ही इसकी सर्व कामनाओं को पूर्ण करता है ॥३१॥

सुबोधिनी—संतोष एव ब्राह्मणानां धनं कामधेनुः, नतु लोकप्रसिद्धं धनम् । येन केन चिदिति । कर्मवशादवश्यं जीवनार्थं प्राप्यत एव । किञ्च । तावता चेत् संतुष्टः, कर्मफलदाता संतुष्टो भवतीति । असन्तोषेऽपि क्रियमाणे	नाधिकं प्रयच्छति । असन्तुष्टश्च भवतीति तत्सन्तोषार्थं स्वधर्मादहीयमानः सर्वमेव स्वधर्मं कुर्वन् यहि वर्तेत । अनेनेयं स्थितिदुर्लभेति सूचितम् । स एव सन्तोषः अस्य अखिलानेव कामान् दोग्धि ॥३१॥
--	---

व्याख्यार्थ—सन्तोष ही ब्राह्मणों का कामधेनु के समान धन है लोक में प्रसिद्ध जो धन है वह ब्राह्मणों का धन नहीं है कर्म के अनुसार जीवन के लिए अवश्य जिस किसी से प्राप्त होता ही है

उससे जो सन्तुष्ट रहता है तो उस पर कर्म फल देने वाला परमेश्वर उस पर प्रसन्न होता है यदि ब्राह्मण असन्तोष प्रकट करेगा तो भी विशेष तो नहीं देंगे, किन्तु वह परमात्मा उस पर अप्रसन्न होंगे इसलिए उस सन्तोष के लिए अपने धर्म से न डिग कर यदि समस्त अपना धर्म पालन करता रहे तो वह सन्तोष ही उसकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करता है इस प्रकार सन्तोष रख कर अपना धर्म पालन न करना, ऐसी स्थिति दुर्लभ है यह भी इससे सूचित किया है ॥३१॥

आभास—कामं पृच्छति असंतुष्ट इति ।

आभासार्थ—‘असंतुष्ट’ श्लोक से तीसरा पुरुषार्थ ‘काम’ पृच्छते हैं

श्लोक—असंतुष्टोऽसकृत्वलेशानाप्नोत्यपि सुरेश्वरः ।

अकिञ्चनोऽपि संतुष्टः शेते सर्वाङ्गविज्वरः ॥३२॥

श्लोकार्थ—जो असन्तोषी है वह इन्द्र भी बन जावे तो भी सदैव क्लेशों को प्राप्त होता है जो गरीब होते भी सन्तोषी है तो उसको किसी प्रकार का क्लेश नहीं होता है वह सुख से नींद लेता है ॥३२॥

मुद्रोधिनी—कामो हि ब्राह्मणानां बाधकः, तदभावकाम एव पुरुषार्थरूपः । एवं भावे हेतुमाह असंतुष्टः असकृदेव क्लेशान्प्राप्नोति । विषयाभावादिति चेत् । तत्राह सुरेश्वरोऽपीति । इन्द्रो हि परमैश्वर्यं प्राप्तवान् । कामे परमा काष्ठा । तादृशोऽपि यद्यसन्तुष्टः, क्लेशानेव प्राप्नोति । अत्रानुभवः प्रमाणम् । श्रुतिश्च ‘प्रजापत आशया वै श्राम्यसी’ति । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां व्यभिचारं	वदन् व्यतिरेके अनुभवमाह अकिञ्चनोऽपीति । किमपि नास्ति । सन्तुष्टश्चेत्, अत्यन्तं सुखी । कथमित्याकाङ्क्षायां हेतुमाह शेते इति । सुखात्मिका हि निद्रा । उभयवादिसिद्धो हेतुर्वक्तव्यः । तत्र संतुष्टः शेते, नासन्तुष्टः, प्राप्यापि राज्यम् । जागरणेऽपि हेतुमाह । सर्वाङ्गे विगतो ज्वरो यस्येति । असन्तोषे चिन्ता भवति । चिन्तायां सर्वाङ्गे तापः प्रसिद्धः ॥३२॥
--	---

व्याख्यार्थ—ब्राह्मणों की सच्ची उन्नति एवं सत्य आनन्द प्राप्ति में काम ही बाधा डालने वाला है तृष्णा का अभाव रूप काम ही पुरुषार्थ रूप है ऐसा होने में हेतु कहते हैं कि जिसको सन्तोष नहीं वह निरन्तर क्लेशों को ही पाता है यदि कहो कि धनादि न होने से सन्तोष नहीं होता है तो कहते हैं कि ऐसा नहीं है यदि तृष्णा बनी रहती है तो इन्द्र हो जावे अर्थात् इन्द्र जितनी वा इन्द्र की भी सम्पत्ति प्राप्त हो जावे तो भी असन्तोषी ही रहता है जिससे क्लेशों को ही पाता है इसमें अनुभव

प्रमाण है "प्रजापत आशया वैश्राम्यसि" इति, अन्वय और व्यतिरेक दोनों से व्यभिचार कहते हुए, व्यतिरेक में अनुभव करते हैं कुछ भी पास न होवे तो भी यदि सन्तोषी है तो वह अत्यन्त सुखी है वह कैसे सुखी है ? इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि, निद्रा सुख रूप है इसलिए उसे वह सुख रूप निद्रा आ जाती है जिससे वह आनन्द से नींद लेता है दोनों प्रकार के वादियों से सिद्ध हेतु कहना चाहिए इस पर कहते हैं कि जो सन्तोषी है वह नींद लेता है और जिसको सन्तोष नहीं है उसको राज्य भी मिल जाय तो भी शान्ति न होने से सुख की नींद नहीं आती है प्रायः वह जागता ही रहता है वह क्यों जागता रहता है इसमें कारण बताने हैं कि नींद उसको आती है जिसके अंगों में ताप नहीं होता है असन्तोष होने पर चिन्ता होने से सब शरीर में ताप रहता है जिसमें नींद नहीं आती है ॥३२॥

आभास—अनेनैव ब्राह्मणानां सहज मोक्षो भवतीति कैमुत्यन्यायेनाह विप्रान्स्व-
लाभसन्तुष्टानिति ।

आभासार्थ —सन्तोष से ही ब्राह्मणों को सहज मोक्ष मिल जाता है यह कैमुतिक न्याय से "विप्रान्स्वलाभसन्तुष्टान्" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—विप्रान्स्वलाभसन्तुष्टान्साधूःभूतसुहृत्तमान् ।

निरहङ्कारिणः शान्तान्नमस्ये शिरसासकृत् ॥३३॥

श्लोकार्थ— जो ब्राह्मण स्वयं जो कुछ मिल जावे उसमें ही सन्तुष्ट प्रसन्न हो कर रहते हैं सदाचार वाले हैं जोवों का हित ही चाहते हैं अहंकार रहित हैं. शान्ताचित्त हैं वैसे ब्राह्मणों को मैं बार बार शिर से प्रणाम करता हूँ ॥३३॥

सुबोधिना—मोक्षे आत्मलाभो जानात्मको विशेषः । साधून् सदाचारान् । भूतसुहृत्तमानिति । ब्राह्मणानां सहज आन्तरो धर्मः सर्वसौ-
हार्दम्, अहङ्काराभावश्चाधिकः । शान्तिर्बुद्धेः । एवं पञ्चधर्मयुक्तानहं शिरसा नमस्ये, गुह्यत्वेन मानयामि व्यवहारे । किञ्चित्पठित्वा तथा करो-
तीति पक्षं वारयति असकृदिति । सर्वदैवमि-
त्यर्थः । यत्र मोक्षदाता एवं मन्यते, तत्र मोक्षे कः

सन्देह इत्यर्थः । विशेषेण पूरका इति । षड्गुणा वा भगवत्तुल्यत्वाय निरूपिताः । ऐश्वर्यं तु न नियमेन विशेषपूरकत्वं सर्वत्र, वीर्यं न स्वलाभः, यशसि न समा दृक्, श्रिया न सर्वथा भूतसौहृदम्, ज्ञाने कचिदहङ्कारोऽपि, वैराग्ये विक्षेपोऽपि च चि-
त्सम्भवतीति षण्णामप्युत्तमत्वात् स्वत एव भग-
वत्त्वं च सिद्धमिति नमस्य इत्यविरुद्धम् ॥३३॥

व्याख्यार्थ—मोक्ष में सबसे विशेष ज्ञानात्मक आत्मा का लाभ है सदाचारी ब्राह्मणों का स्वाभाविक आन्तर घर्म सर्व भूतों से सौहार्द है अधिक अहंकार का अभाव चित्तवृत्ति में शान्ति इस प्रकार से पाँच धर्मों से युक्त ब्राह्मणों को मैं शिर से बार बार सदा ही नमस्कार करता हूँ व्यवहार में उनको गुरुपुत्र से मानता हूँ कुछ पढ़कर वैसे करते हैं इस पक्ष का निवारण करते कहते हैं कि एक बार नहीं किन्तु बार बार नमन करता हूँ जहाँ मोक्ष देने वाले ब्राह्मणों को इस प्रकार मानते हैं वहाँ उनके मोक्ष प्राप्ति में कौनसा संदेह है ? कोई नहीं है उनमें विशेष कर पूरक छः गुण कहे हैं अथवा ये छः गुण उनकी भगवान् से समानता बतलाने के लिए कहे हैं ऐश्वर्य में तो नियम से सर्वत्र विशेष पूरकत्व नहीं है, वीर्य में अपना लाभ नहीं है यश में समान दृष्टि नहीं होती है श्री होने पर सर्व प्रकार भूतों में सौहार्द नहीं होता है ज्ञान में कभी अहंकार भी हो जाता है वैराग्य में कुछ विशेष भी कभी होता है ये छः गुण उत्तम होने से अपने आप ही भगवत्त्व सिद्ध होता है अतः मैं नमस्कार करता हूँ इसमें कुछ भी विरुद्ध नहीं है ॥३३॥

आभास—तद्राजः कुशलं पृच्छति कच्चिद्वः कुशलमिति ।

आभासार्थ—“कच्चिद्वः कुशल” श्लोक में राजा से तो आपको कोई तकलीफ नहीं है उसकी तरफ से सब कुशल है यह पूछते हैं ।

श्लोक — कच्चिद्वः कुशलं ब्रह्मराजतो यस्य हि प्रजाः ।

सुखं वसन्ति विषये पाल्यमानाः स मे प्रियः ॥३४॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् आप राजा की सरफ से प्रसन्न हैं ? जिस राजा की प्रजा अपने राज्य में सुख से रहती है और अच्छी तरह जिस राजा से पाली जाती है, वह राजा मुझे प्यारा लगता है ॥३३॥

सुवोधिनी—वो यष्माकं राजतः कुशलं । माह, यस्य हि प्रजाः सुखं वसन्ति, तेन परिपाल्य-
कच्चित् । ब्रह्मन्निति अपकारेऽपि स्वतस्तूष्णी-
भावाय । अतिक्रमे नाशाय वा । करोति चेद्राजा । मानाः, स मम प्रियो भवति । अनेन सर्वमेव
सुखं किं तस्य स्यादित्याशङ्क्य, तादृशस्य फल-
तस्य हितं सिध्यतीत्युक्तं भवति ॥३४॥

व्याख्यार्थ—तुम लोगों का राजा की तरफ से तो कुशल है न ? हे ब्रह्मन् ! संवोधन अप-
कार होने पर भी चुप रहते हो इस गुण को दिखाने के लिए अथवा उलटा कार्य होने पर नाश के

लिए दिया है यदि राजा प्रजा को सुखी करे तो क्या होता है ? ऐसे राजा को जो जो फल मिलता है और उससे प्रजा अच्छी तरह पाली जाती है, वह राजा मुझे प्यारा है, इससे उसका सर्व प्रकार का हित सिद्ध होता है यों कह वतलाया है ॥३४॥

आभास—एवं कुशलं पृष्ट्वा प्रस्तुते त्वदुक्तं करिष्यामीत्यभिप्रायेण तत्सान्त्वनमाह यतस्त्वमागत इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार कुशलता पूछ कर, जो आप कार्य कहोगे वह हम करेंगे इस अभिप्राय से उसको “यतस्त्वमागतो” श्लोक से सान्त्वना देते हैं ।

श्लोक—यतस्त्वमागतो दुर्गं निस्तोर्येह यदिच्छया ।

सर्वं नो ब्रूह्यगुह्यं चेत्किं कार्यं करवाम ते ॥३५॥

श्लोकार्थ—जिस कारण से और जिस इच्छा से आप इस दुर्ग को पार उतर कर यहां आए हैं, वह यदि गुप्त न हो तो सर्व कहिए जो कार्य करना हो वह कहदो तो आपका वह कार्य हम करें ॥३५॥

सुबोधिनी—दुर्गं सर्वमेवातिक्रम्य यस्माद्धेतोः त्वमागतः, तच्चेदगुह्यं तदा सर्वं ब्रूहि । किञ्चित्कार्यं साधनीयमिति चेत्, तत्किं कार्यमिति	प्रश्नः । सर्वस्यापि जगतो मोक्षो देय इति चेत् । तवाह ते कार्यं करवामेति । तव सर्वं कार्यं करिष्यामः, नान्यस्येति ॥३५॥
---	--

व्याख्यार्थ—सारे दुर्ग का उलंघन कर जिस हेतु से आप आए हैं वह यदि गुप्त न होवे तो सब कहो, यदि कुछ कार्य करना है तो वह कौन सा कार्य है ? यदि समस्त जगत को मोक्ष देना है तो भी आपका कार्य हम करेंगे, आपका सर्व कार्य करेंगे दूसरे का नहीं ॥३५॥

आभास—एवं पृष्टः स्वाभिप्रायं निवेदयति एवं संपृष्टेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार पूछने पर अपना अभिप्राय कहता है यह इस “एवं” श्लोक में कहते हैं ।

वी.पी. द्वारा पुस्तक मँगाने का पता :
सीताराम पुस्तकालय
 विश्राम बाजार, मथुरा मो. : 09837654007

श्लोक—एवं संपृष्टसंप्रश्नो ब्राह्मणः परमेष्ठिना ।

लीलागृहीतदेहेन तस्मै सर्वमवर्णयत् ॥३६॥

श्लोकार्थ—लीला से वपुधारी भगवान् ने जब इस प्रकार ब्राह्मण से प्रश्न किया तब ब्राह्मण ने भगवान् को सर्व वर्णन कर बताया ॥३६॥

सुबोधिनो—एवं संपृष्टाः संप्रश्नाः यस्मै । देहाकारो येन । अतो ज्ञाततत्त्वायैव तस्मै सर्व-
ब्राह्मण इति निष्कपटः । परमेष्ठिना च । ब्रह्मणो- मेव वृत्तान्तमवर्णयत् । बन्धूनामिच्छतां दातु-
ऽपि पिता । तादृशः कथमत्रागत इत्याशङ्क्याह मित्यादि ॥३६॥
लीलागृहीतदेहेनेति । लीलया गृहीतः प्रदर्शितो

व्याख्यार्थ—जिस ब्राह्मण से वैसे प्रश्न किए हैं वह निष्कपट है, अतः ब्राह्मण ने जो ब्रह्मा का भी पिता है और जिसने लीला से यह देहाकार दिखाया है तथा जिसने आने का सब कारण जान ही लिया है, उनको वहाँ का सारा समाचार वर्णन कर बताने लगा ॥३६॥

आभास—शिष्टं सर्वमुक्त्वा रुक्मिणीवाक्यानि स्वतः पट्टिकातो वा निरूपयति श्रुत्वा गुणानिति सप्तभिः ।

आभासार्थ—योग्य सब समाचार कह कर रुक्मिणी के वाक्य अपने मुख से अथवा पत्र द्वारा निरूपण करता है ‘श्रुत्वा गुणान्’ इस श्लोक से सात श्लोकों में ।

रुक्मिण्युवाच—

श्लोक—श्रुत्वा गुणान्भुवनसुन्दर शृण्वतां ते निविश्य कर्णविवरैर्हरतोऽङ्गनाभम् ।

रूपं दृशां दृशिमतामखिलार्थलाभं त्वय्यच्युताविशति चित्तमपत्रपं मे ॥३७॥

श्लोकार्थ—हे भुवन सुन्दर सुनने वालों के कानों के छिद्रों से भीतर जाके अंगों के ताप को हरण करने वाले आपके गुणों को और नेत्र वालों के नेत्रों को सर्व प्रकार के अर्थ लाभ देने वाले रूप को सुन कर हे अच्युत ! आप में यह मेरा निर्लज्ज चित्त प्रवेश करता है ॥ ३७ ॥

मुखोद्दिनो-यद्गुणाः भगवांश्च । एते चेत्प्रार्थ्यन्ते तदा निष्प्रत्यूहं कार्यं भवतीति सप्तभिर्विज्ञापना । आदौ भगवन्तं धर्मिणं विज्ञापयति श्रुत्वा गुणानिति । त्वयि चित्तं विशतीति मनोवृत्तिं निरूपयति । आत्मा तु त्वदीय एव । इन्द्रियाणि चेदन्यपराणि भवेयुः अन्तःकरणं शरीरं वा । तदा सर्वनाश इति विनिश्चित्येन्द्रियाणां त्वत्परत्वे मनोऽपि त्वत्परं जातमिति, शरीरमपि त्वत्परं कर्तव्यमिति ममोद्योग इति प्रघट्टकार्यः । क्रमेण गुणा निरूप्यन्ते । भगवदैश्वर्यं चैनदिति सूचितम् । गुणद्वारा स्वतोऽपि चित्तवशीकरणमेश्वर्यादप्यैश्वर्यं भगवदीयानां कान्तिगुणस्वरूपाणां माहात्म्यं निरूप्यते । हे भुवनसुन्दर भुवनेष्वेक एव सुन्दरः । अनेन कान्त्याधिक्येन स्त्रीणां स्वतश्चित्तवृत्तिरुक्ता । ते गुणान् शृण्वतां कर्णविवरे-रन्तर्निविश्य अङ्गताप हरतां सताम् । रूपं च दृशिमतामखिलार्थलाभ यतः । अतस्त्वयि मे चित्तमाविशति । बहिरिन्द्रियद्वयमेव नियामकम्, अन्तरिन्द्रियस्य श्रोत्रं चक्षुश्च । श्रुतावपि ताक्ष-ण्वन्तः कर्णवन्तः इत्यत्र तथैव निरूपितम् । उभयेषामुपकारं त्वद्गुणाः त्वदरूपं च करोति । तत्रैकमान्तरं तापं हरति । एकं च बहिः सर्व-

पुरुषार्थान् पयच्छति । श्रवणमात्रेऽपि क्रियमाणे प्रयत्ने विनापि त्वद्गुणा स्वत एवान्तर्निविष्टाः । तेषामपि निवेशने प्रतिबन्धाभावायाह कर्णविवरे-रिति । अपावृतानि कर्णरन्त्राण्यपेक्ष्यन्ते, अन्यथा न प्रविशन्तीत्येतावत्पुरुषकर्तव्यमुपदिष्टम् । अतः कर्णविवरैः पातालविवरवत्प्रसिद्धैः अन्तर्निविश्य अङ्गानां तापं हरन्ति गुणाः । अङ्गेति सम्बोधनं वा आत्मत्वेन । रूपं च ये दृशिमन्तः दर्शनयुक्ता येषां चक्षु कार्यमस्ति । रूपभेदविद इति प्रथमा कक्षा । सर्वात्मना दृश्यगुणपरिज्ञानम् अन्तिमा, तेषां दृशां चक्षुषां अखिलार्थानां लाभो यस्मात् । चतुर्विधपुरुषार्थाः चक्षुषां सिध्यन्ति । चक्षुश्च सूर्यभावो मोक्षः । रूपान् कामः । रूपग्रहण-मर्थः । तत्रावगाहनं धर्म इति । फलवतामेषां फलान्यप्युद्धानि । तत्रापि पुरुषार्था न सम्पादनीयाः किन्त्वकस्मादुपलब्धा निवय इव प्राप्यन्ते । यत्रैव इन्द्रियाणामुपकारं त्वद्धर्मा कुर्वन्ति, तत्र चित्तमपि ममापि तथा भविष्यतीति त्वयि निविशति । चित्तस्य हि द्वयं प्रतिबन्धकम्, लोको वेदश्च । तत्र लोकमतिक्रम्य प्रवर्तत इत्याह अप-त्रपमिति । अपगता तत्रा यस्मात् । लज्जा हि लोके नियामिका ॥३७॥

व्याख्यार्थ—बिना रुकावट सर्व कार्य तब सिद्ध होते हैं, जब छः गुणों और सातवें गुणी भगवान् की प्रार्थना की जाती है इसलिए सातों से प्रार्थना करनी है पहिले धर्मी भगवान् को प्रार्थना करती है कि आप के गुणों को सुन कर आप में चित ने प्रवेश किया है, यों कहने में बताया कि मन की वृत्ति आप में आसक्त हो गई है, आत्मा तो आप है ही, यदि इन्द्रियाँ, अन्तःकरण अथवा शरीर अन्य के परायण हो जाय तो सर्व नाश हो जावे यों निश्चय कर, इन्द्रियाँ आपके परायण होने पर मन भी आप में प्रवृत्त हुआ है शेष रहा हुआ शरीर भी आप में रत करूँ इसलिए यह मेरा उद्यम है यह हो सबको मिला देने वाला कहने का तात्पर्य है अब क्रम से गुणों का निरूपण किया जाता है यह तो भगवान् का ऐश्वर्य सूचित किया है गुणों के द्वारा अपने आप भी चित्त का वशीकरण हो जाता है वह ऐश्वर्य से भी ऐश्वर्य है भगवान् के कान्ति गुण और स्वरूपों का माहात्म्य निरूपण किया जाता है, हे भुवनसुन्दर ! सर्व भुवनों में एक आप ही सुन्दर है इससे यह बताया है कि आप को विशेष शोभा से स्त्रियों के चित्त की वृत्ति आप ही आप में प्रविष्ट हो जाती

है श्रोताओं के काना के छिद्रों से भीतर प्रवेश कर अंगों के तापों को मिटाने वाले आप के गुण हैं और नेत्र वालों के समस्त अर्थों का लाभ कराने वाला आपका रूप है, यह सुन कर आप में मेरा चित्त प्रवेश कर गया है बाहिर दो इन्द्रियाँ ही नियामक हैं, अन्दर इन्द्रियाँ का श्रोत्र और चक्षु 'अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः' श्रुति में भी इन दोनों को ही वैसा कहा है दोनों का उपकार आपके गुण तथा रूप करने है, उनमें से एक अन्दर के ताप को हरण करते हैं और एक बाहर के सर्व पुष्टार्थों को देता है कुछ भी प्रयत्न न कर केवल श्रवण करने से भी आपके गुण आप ही भीतर अन्तःकरण में प्रवेश कर जाते हैं गुणों का भीतर प्रविष्ट होने में कोई प्रतिबन्ध नहीं है क्योंकि कान के छिद्र खुले हुए हैं यदि खुले न होते तो प्रविष्ट न हो सकते इतना पुष्ट का कर्तव्य कहा, अतः पाताल की भाँति प्रसिद्ध कर्णों के विवरों से आपके गुण स्वतः भीतर जाकर अंगों के ताप को हरण करते हैं अंग यह सम्बोधन आत्मपन में भी कहा है जो देख सकते हैं उनके नेत्रों का कार्य रूप देख रूप के भेद 'काला, गोरा आदि' को जानना पहिली कक्षा है, सर्व प्रकार देखे हुए पदार्थ के गुणों को जानना अन्तम कक्षा है उनके नेत्रों को सकल अर्थों का लाभ जिससे हो वैसा आपका रूप है चारों प्रकार के पुष्टार्थ नेत्रों को सिद्ध होते हैं नेत्र का सूर्य भाव मोक्ष है, रूप का पान काम है रूप का ग्रहण अर्थ है उसमें अवगाहन न करना धर्म है फलवान् इन्द्रों के फल भी ढूँढने योग्य है वहाँ भी पुष्टार्थ सम्पादन करने योग्य नहीं है, किन्तु अचानक प्राप्त निधि को भाँति मिलते हैं जहाँ इस प्रकार इन्द्रियों का उपकार आपके धर्म करते हैं वहाँ मेरा चित्त भी वैसा होगा इसलिए आप में प्रविष्ट होता है आप में प्रवेश के लिए चित्त को दो प्रतिबन्ध हैं, १-लोक, २-वेद इन दोनों में से मेरा चित्त लोक का उलंघन कर आग में प्रवृत्त हुआ है इसलिए लोक लज्जा छोड़ दी है लोक में लाज भी आप में प्रवेश कराने में रुकावट है ॥३५॥

आभास—वेदिक दोष परिहरति का त्वेति ।

आभासार्थ—“का त्वा मुकुन्द” श्लोक से वेदिक दोष को मिटाती है ।

श्लोक—का त्वा मुकुन्द महती कुलशीलरूपविद्यावयोद्रविणधामभिरात्मेतुल्यम् ।

धीरा पति कुलवती न वृणीत कन्या काले नृसिंह नरलोकमनोभिरामम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे मुकुन्द महत्व को प्राप्त कुल वाली धैर्य वाली कौनसी कन्या है जो कुल, शील, रूप, विद्या, आयु, द्रव्य और ग्रह इन सातों गुणों से अपने समान पति मिले तो उसको स्वीकार न करे, हे नृसिंह वह भी पूरे समय पर मिल जाय तो भी उसका परित्याग कर दूसरे की इच्छा हो बाद में मनुष्य लोक में सबके मन को हरण करने वाले उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न युक्ति युक्त नहीं है ॥३६॥

सुबोधिनी—वेदोऽपि लोकानुसारी भवतीति हि विज्ञायते । अतो लोके यद्विरुद्धं सर्वथा व्यवहारे अविगीतम्, तद्वेदेऽप्यविरुद्धमिति । एतादृशोऽर्थः मयैव कृत इति चेत्, तदा विरुद्धो भवेत्, किन्तु सर्वरेव क्रियत इतोममर्थं व्यतिरेकेण साधयते । का वा कन्या त्वां न वृणीत । सर्वस्यापि यद्यपि मोक्षोभिप्रेतः, तथापि स्त्रीयो-निरतिदुष्टेति तत्परित्यागार्थं स्त्रिया अत्यर्थमपेक्षितः । नन्वस्ति लोके मोक्षसाधनमिति चेत् । तत्राह महतीति । महत्त्वं प्राप्ता न सर्वं परित्यक्तुं शक्नोति । यथातिबद्धा । अतस्तस्या गृह एव चेन्मोक्षदाता भवति, तदैव मोक्षः सिध्येत् । किञ्च धर्मार्थकामार्थमपि त्वमेव भजनीय इत्याह कुलेति । सप्तधर्माः समा ययोः तयोरेव विवाहः विवादश्चेति । कुलं तुल्यमपेक्षयते । तत्सोमवं-शित्वादावयास्तुल्यम् । तथा रूपमपि । मदर्थमेव रूपं गृहीतमिति मद्योग्यमेव भवितुमर्हति तव रूपम् । अहमपि त्वदर्थमेव रूपं गृह्णामीति ममापि तथा । वयश्च योग्यमेव । गृहमत्र पितृ-गृहम् । प्रसिद्धस्य पुत्रः, प्रसिद्धस्य कन्येति चतु-ष्टयं निर्विवादम् । लोकप्रतोत्या द्रविणमपि तुल्यम् । विद्या मातेति चिद्रूपेति वा विद्यायामपि तुल्यता । महती श्रद्धा भगवति वर्तत इति 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इति ऐक्यादनुरोधाद्वा ।

शीलमपि तुल्यम् । शीलं स्वभावः शान्तोग्रादिः आचारो वा । उभयमप्यत्र बाह्याभ्यन्तरं ग्राह्यम् । ननु भगवान् शान्तः विलम्बेन च कार्यं कराति, माया तु सत्त्वरेति वैधर्म्यस्य विद्यमानत्वात् कथं तुल्यतेति चेत् । तत्राह धीरेति । मयापि धैर्य-मवलम्बनीयम्, भगवत्कार्यानुरोधेनेति । ननु भगवति भजने न तुल्या गुणा अपेक्ष्यन्ते, किन्तु भगवदुत्कर्षं ज्ञात्वा प्रवर्तत इति किमिति तुल्य-त्वं निरूप्यत इति चेत् । तत्राह पतिमिति । पतित्वेन स्वीकारे तुल्यता वक्तव्या । अन्यथा दासीत्वं भवेत् । नन्वस्तु को दोष इति चेत् । तत्राह कुलवर्तीति । कुलस्थास्तथा सति खेदं प्राप्नुयुरिति भावः । किञ्च । कन्येति । अवश्यं कन्यया वरणीयः कश्चित्पतित्वेन, अवरणे स्वयं न गृह्णीयात् । मुख्यविनियोगार्थमन्याधीनां वा कुर्यात् । किञ्च । उपपत्तौ सत्यां तत्परित्यागे कारणाभाव इत्याह काले नृसिहेति । अवसरे तत्परित्यज्य अन्योच्छिष्टा भूत्वा पश्चाद्भगवदर्थं यत्ने क्रियमाणे असमञ्जसं स्यात् । अयोग्यत्वा-शक्यत्वे तु न स्त इत्याह नृसिहेति । नरत्वाद्यो-ग्यत्वम्, सिहत्वात्समर्थत्वमिति । किञ्च । नर-लोके मनसोऽयमेवाभिरामः । अतो वरणे अभि-राम एव वरणीय इति योग्यत्वाद्यविचारेणापि त्वमेव वरणीय इत्यर्थः । ३ ॥

व्याख्यार्थ—वेद भी लोक के अनुसार आज्ञा करते हैं अतः जो लोक से सर्व प्रकार विरुद्ध नहीं है और जिसकी लोक में निन्दा नहीं है वह वेद से भी विरुद्ध नहीं है यों भी आप मत समझना की यह अर्थ मैंने ही किया है ? यदि मैंने किया हो तो वेद से विरुद्ध हो जाय किन्तु सर्व इस प्रकार अर्थ सिद्ध करते हैं इसलिए इस अर्थ को व्यतिरेक से सिद्ध किया जाता है कौनसी कन्या है जो, आपको पतित्व से वरण न करे, यद्यपि सबको मोक्ष प्राप्ति का इच्छा है तो भी स्त्रीयोनि विशेष दोषों वाली है इसलिए उस योनि से छूटने के लिए 'तु' जातो को मोक्ष को विशेष अपेक्षा है यदि कहो कि लोक में मोक्ष के साधन हैं फिर पतित्वस्वीकार क्यों ? इसके उत्तर में कहने हैं कि 'महती' अर्थात् महत्व को जो प्राप्त हुए हैं सर्व का त्याग करने में असमर्थ होते हैं जैसे मग्नबूत बन्धे हुए कठिनता से

छुड़ाए जा सकते हैं अतः ऐसे को जब ग्रह ही मोक्ष देने वाला बने तब उसका मोक्ष हो सकता है और विशेष बात यह भी है कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए भी आपका ही भजन करने योग्य है जिसके लिए कहती है कि जिसमें सात धर्म समान होवे उनका ही परस्पर विवाह और संवाद होना योग्य है पहिले कुल समान चाहिए वा सोमवंशी होने से अपन दोनों का समान कुल है वैसे रूप भी समान है आपने मेरे लिए ही रूप धारण किया है जिससे वह आपका रूप ही मेरे योग्य है मैंने भी आपके लिए देह धारण की है इसलिए यह रूप भी आपके लिए योग्य है और आयु समान होने से योग्य ही है, गृह, पिता का घर भी सदृश ही है क्योंकि आप जिसके पुत्र हैं वह प्रसिद्ध है तो मैं जिसकी पुत्री हूँ वह भी प्रसिद्ध है, इस प्रकार ये चार बिना विवाद के समान हैं लोक की प्रतीति से धन भी तुल्य है विद्या माता वह चिद्रूपा है इसलिए विद्या में भी समानता है भगवान् में बड़ी श्रद्धा है "यो यच्छुद्ध स एव सः" इस वाक्य के अनुसार ऐक्य से वा अनुरोध से स्वभाव भी समान है अर्थात् शील शान्त उग्र आदि अथवा आचार विचार भी तुल्य है यहाँ बाहिर भीतर दोनों प्रकार समानता है यों समझना चाहिए आपका यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि भगवान् शान्त होने से कार्य विलम्ब से करते हैं माया तो जल्द कार्य करती है यह दोनों में प्रत्यक्ष होने से दोनों में विरुद्ध धर्म तो है ही, इसके उत्तर में कहती है कि "धीरा" में भी भगवान् के कार्य के अनुरोध से धीरज धारण करती हैं, भजन करने में भगवान् के गुणों में समानता की आवश्यकता नहीं चाहिए वल्कि भगवान् के गुणों को विशेष श्रवण करने से ही उनमें प्रवृत्ति होती है फिर आप तुल्यता का निरूपण क्यों करते हैं इसके उत्तर में कहती है कि उनको पति रूप से स्वीकार करने में समानता आवश्यक है, नहीं तो दासीपन हो जाता है दासीपन हो जावे तो क्या हानि है इसके उत्तर में कहती है कि "कुलवती" बड़े कुल को यदि दासी बन जाय तो खेद को प्राप्त होती है, और विशेष "कन्या" है, कन्या को अवश्य किसी को अपना पति स्वीकार करना है यदि कन्या स्वीकार न करे वर ग्रहण नहीं कर सकता है अथवा मुख्य में विनियोग के लिए यदि अन्य के आधीन करदे, लेकिन उत्पत्ति होने पर उस स्वीकार का हुई का परित्याग दूसरे के आधीन करने का कोई कारण नहीं है हे नृसिंह ! मौका मिलने पर उस योग का त्याग कर परचात् फिर अन्य की उन्निष्ठ होके भगवान् के लिए प्रयत्न करना असंगत है भगवान् में अयोग्यता और असमर्थता नहीं है इसलिए "नृसिंह" नाम दिया है नर होने से योग्यता दिखाई है और शेर होने से सामर्थ्य प्रकट किया है मनुष्य लोक में मन का यही आनन्द है अतः स्वीकार करने में आनन्द ही वरण करना है इसमें योग्यत्व आदि का विचार ही नहीं करना चाहिए, आप आनन्द रूप से वरण करने के योग्य हैं ॥३८॥

आभास—एवं योग्यतां निरूप्य विज्ञापनामाह तन्मे भवान्छलु वृत इति ।

आभासाथं—इस प्रकार योग्यता का निरूपण कर "तन्मेभवान्" श्लोक से प्रार्थना करती है ।

श्लोक—तन्मे भवान्बलु वृतः पतिरङ्ग जायामोत्मापितश्च भवतोऽत्र विभो विधेहि ।

मा वीरभागमभिमर्शतु चंच आराद्गोमायुवन्मृगपतेर्बलिमम्बुजाक्ष ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! मैंने आपको पति स्वीकार किया और अपनी आत्मा आपको अर्पण की हैं अतः यहाँ आकर अपनी भार्या बनाइए हे कमल नयन ! मैं जो आप शेर का भाग हूँ उसको चंच, जैसे शेर के भाग को सियार दूर से स्पर्श करता है वैसे, स्पर्श भी न कर सके ॥३६॥

सुबोधिनी—अत्रापि गृहे सर्वदा मयोच्यते, कृष्ण एव पतिर्मम, नान्य इति । एतत्सर्वेऽपि जानन्ति, तथापि बलात्प्रवृत्त इति खलुपदार्थः । किञ्च । पूर्वमपि लक्ष्मीस्वयंवरे अमृतमथने मया भवानेव वृतः सैवाहमिति भावः । उपाध्यन्तरं निवारयन्त्याह पतिरिति । एवं स्वकृतमुक्त्वा भगवन्तं प्रार्थयते जायां विधेहीति । अङ्गेति स्नेहसम्बोधनम् । अन्यथा धाष्ट्यमनुचितं स्यात् । अङ्गस्य वा जायां विधेहि । अन्यथा भगवान् सर्वपतिरिति प्रकारान्तरेण वा जायात्वं स्यात् । जायापदेन यावानर्थः स सर्वोऽपि विधेयः । ननु भगवान् भगवच्छास्त्रविरुद्धमर्थं न गृह्णातीति कथं त्वां ग्रहोष्यतीति चेत् । तत्राह आत्मापितश्चेति । आत्मा मदीयः संपातः तुभ्यं समर्पितः । अतो यथेष्टविनियोगे न कापि चिन्ता । चकारात्सर्वमेवास्मत्सम्बन्धि समर्पितमिति सर्वत्रैव तव कामचारः । अतस्तदपेक्षा तत्प्रतिबन्धो वा न घटत इत्युक्तं भवति । भवत एवात्मा, अतो भवते समर्पित इति नालौकिकं किञ्चित् । अङ्गीकृते शीघ्रमागमनार्थं बाधकमाह मा वीरभागमिति । वीरस्यैव भागोऽहम् । शौर्यणैव लक्ष्मीः प्राप्यत इति नैव दत्ता अन्यस्य भवति ।

अत एव य एव शूरः, स एव राज्यमुपभुङ्क्ते । तथा सति चंचस्य अशूरत्वात् भोगाभावेऽपि केवलं काकवत्स्पर्शो भवेत्, तदा महतोऽपि भोगाभावाङ्गमदौयर्थम् । अनेन महता आपदा उपस्थितेति न कापि वाक्ये दूषणं मन्तव्यमिति भावः । आराद्गूरादपि अभिमानेनापीत्यर्थः । दाननन्तर हरणे अभिमानोऽपि भवेत् । वाग्दानं तु 'अनृतं वा वाचा वदतीति श्रुतेः प्रमाणमेव । अन्यथा पुण्यपापव्यवस्थायां वाङ्भनसस्य अप्राप्त्य न स्यात् । एतदर्थमेव श्रुतिः प्राह 'वाङ्भनसयोरनृतत्वमिति । ननु स जानाति मदीया त्वमिति, त्वया वा वक्तव्यः, ततः कथं स्प्रक्ष्यतीत्याशङ्क्य ह गोमायुवदिति । त्वदनागमने मृतप्राया मृतां वा दैवकल्पित स्वभागं ज्ञात्वा स्प्रक्ष्यतीति भावः । नन्वेवमस्तु को दोष इति चेत् । तत्राह मृगपतेरिति । मरणे यद्यपि नानुपपत्तिः, तथापि तदनन्तर स्पर्शो महदनोचित्यम् । न हि सिंहाय तद्भुक्तः निवेदित शृगालो भक्षयितुमर्हति । अम्बुजाक्षेति । दृष्ट्यैव तापनाशकत्वमुक्तम् । तेन वरणमप्ययुक्तमिति भावः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—यहाँ घर में भी मैं हमेशा बोलती हूँ कि कृष्ण ही मेरे पति हैं न कोई दूसरा,

यह बात सब जानने ही हैं, तो भी जबर्दस्ती से दूसरी ओर प्रवृत्त हो रहे हैं यह भाव “खलु” पद से प्रकट किया है और विशेष में तो आपको मालुम ही है कि लक्ष्मी स्वयंवर के समय अमृत मथन होने पर मैंने आपको ही वरा था यो कहने का आशय है कि वह ही मैं हूँ इसमें किसी प्रकार कोई उपाधि नहीं है क्योंकि आप ही पति हैं इस प्रकार अपना किया हुआ कह कर भगवान् को प्रार्थना करती हैं “जायां विधेहि” कि मुझे अपनी भार्या बनाओ इसलिए अंग यह स्नेह की सूचना करने वाला सम्बोधन दिया है, यों स्नेह सूचक सम्बोधन न देतो तो “मुझे भार्या बनाओ” ऐसे घृष्टता के वाक्य कहना अनुचित होता, अथवा अंग की भार्या करो, अन्य प्रकार विचार करने से भी भगवान् सर्व के पति हैं ही जिससे भी जायापन सिद्ध हो है जाया पद से जितना भी अर्थ होता है वह सब समझ कर उसी प्रकार करना चाहिए यदि कहो कि भगवान् शास्त्र से विरुद्ध पदार्थों को ग्रहण नहीं करते हैं तो कहनी है कि मैंने अपनी आत्मा आपको अर्पण कर छोड़ी है, अतः इच्छानुसार उसको कार्य में लाने के लिए कोई चिन्ता नहीं करती है श्लोक में दिए हुए “च” पद का भाव है कि मैंने देहार्पण के साथ जो कुछ मेरा सम्बन्धी पदार्थ मात्र है वह सर्व समर्पण किया है इसलिए सर्व पदार्थों में आप जैसे चाहा वैसा कर सकते हैं अतः उसके लिए किसी को अपेक्षा अथवा उसमें किसी प्रकार कोई प्रतिबन्ध नहीं है इसलिए यों कह दिया है कारण कि यह आत्मा आपकी है इसलिए आपको ही अर्पण को है इससे मैंने कोई अलौकिक अर्थात् कोई विशेष कार्य नहीं किया है अंगोकार कर फिर आने में देरी भी नहीं करनी चाहिए क्योंकि देरी करने से बहुत बाधाएँ होगी वह कहती है मैं शूरवीर की ही “भाग” हूँ लक्ष्मी शूरवीरता से ही प्राप्त होता है दूसरे से दी हुई नहीं मिलती है इस कारण से ही जो शूरवीर ही है वह ही राज्य का उपभाग कर सकता है, ऐसा होते हुए भी शिशुपाल शूरवीर न होते भी तथा भोग करने के योग्य न होते भी केवल काक की तरह स्पर्श होगा तब महान् के भोग के भी अभाव से जन्म की व्यर्थता हो जाएगी ऐसा होने से बड़ी आपदा प्राप्त होगी इसलिए कहीं भी वाक्य में दूषण नहीं मानना चाहिए “आरात्” पद का भावार्थ है दूर से भी अथवा अभिमान से भी दान के बाद हरण करने में अभिमान ही होगा “वाग्दान” तो “अनृतं वै वाचावदति” इस श्रुति के अनुसार अप्रमाण ही है दूसरी तरह पुण्य और पाप का प्रबन्ध में वाणी तथा मन की अप्रमाणिकता न होवे, इसलिए ही श्रुति कहती है कि “वाङ्मनसयोरनृतत्वं” वाणी और मन में असत्पन है, यदि वह जानता है कि तू मेरी है अथवा तुझे कहना चाहिए मैं उनकी हूँ इसके बाद वह कैसे स्पर्श करेगा ? इस प्रश्न के उत्तर में कहती है कि सियार की तरह आपके न आने पर मुझे मरी हुई वा मरने वाली समझ देव ने यह भाग मुझे दिया है यों जान कर स्पर्श करेगा, यों होने दो इसमें क्या दोष है ? इस पर कहती है कि हाँलाकि मरने में कोई भी अनुपपत्ति नहीं है तो भी मरने के बाद

भी स्पर्श होने में बड़ी अयोग्यता है शेर के भक्त जो खाद्य लाकर शेर को देवे उसको शृगाल खावे यह योग्य नहीं है हे अम्बुजाक्ष ! इस विशेषण से यह बताया कि आप तो दृष्टि से ही ताप को नाश करने वाले हैं इससे करण भी अयुक्त हैं. यह भाव है ॥३६॥

आभास—एवं दृष्टसामग्र्या भगवत्प्रार्थनामुक्त्वा स्वस्य सर्वेणापि धर्मेण शपथमपि वदन्ती प्रार्थयते पूर्तेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रत्यक्ष को हुई सामग्री से भगवान् की प्रार्थना कर अपने सब किए हुए धर्म का संगन्द भी लेती हुई प्रार्थना करती है 'पूर्तेष्ट' श्लोक से ।

श्लोक—पूर्तेष्टदत्तनियमव्रतदेवविगुर्वचनादिभिरलं भगवान्परेशः ।

आराधितो यदि गदाग्रज एत्य पाणिं गृह्णातु मे न दमघोषसुतादयोऽन्ये ॥४०॥

श्लोकार्थ—जो मैंने कृप, बावडी आदि बनवाए, याग आदि किए, दान दिए, नियम व्रत किए, देव ब्राह्मण, गुरु, आदि का पूजन किवा इस सब साधनों के द्वारा भगवान् की आराधना की है, जिसके फलस्वरूप आप आकर इस प्रकार मेरा पाणि ग्रहण कीजिए जैसे दमघोस का पुत्र अथवा दूसरा मुझे कोई न ले सके ॥४०॥

सुबोधिनी—बाल्ये खातादिकं कर्तुं शक्यत इति इष्टात् पूर्वं निर्देशः । पूर्वं खातादि, इष्टं यागादि, दत्तं तुलापुरुषदानादि, नियमाः परित्यागरूपाः, व्रतानि ग्रहणरूपाणि, देवानां विप्राणां गुरुणां वार्चनानि । एवमष्टविधान्युद्दिश्य काण्डत्रयमपि संगृह्य स्मार्तपौराणिकान् धर्मानादिशब्देन संगृह्णाति । एवं सर्वेरेव धर्मैः भगवानेव चेदाराधितः, न तु कामनार्थं किञ्चिदपि विनियुक्तम्, तदा भगवान् स्वयमेत्य पाणिं गृह्णातु, केवल एव आराधित इति न दमघोषसुतादयः स्वर्शमप्यर्हन्ति । गदाग्रज इति विषयप्रियत्वमु-

क्तम् । तस्मिन् समागते कसे हते पश्चाद्गद उत्पन्न इति भगवदाविर्भावानन्तरमपि तेन पित्रादेर्वंशः कारित इति वंशकरणे तस्येच्छा सूचिता । अत एव एत्य स्वयमागत्य पाणिं गृह्णातु इति स्वकृतधर्मेषु भारारोपः । ननु 'मद्भक्तपूजाभ्यधिके'ति भगवद्भक्तानां वा ग्रहणे को दोष इति चेत्, तत्राह अन्य इति । ते भगवत्प्रतिपक्षाः । अन्यथा तु दासीदासभावेनापि भजन भवतीति नात्यन्तमाग्रहो भवेत् । अन्यथा अपघातमरणे यमादयो वा मा गृह्णन्त्विति अन्यनिषेधः ॥४०॥

व्याख्यार्थ — याग आदि से पहिले “पूर्त” शब्द देने का कारण यह है कि तलाव वावड़ी आदि छोटी आयु में भी बनवाई जा सकती है अतः पहिले “पूर्त” शब्द कहा है याग आदि तुला, पुरुषादि दान, विषय आदि का त्याग रूप नियम एकादश आदि व्रत ग्रहण, देव, ब्राह्मण और गुरुओं का पूजन इस प्रकार आठ तरह के धर्मों का उद्देश्य कर तानों काण्डों का भी ग्रहण किया, तथा आदि शब्द से स्मार्त और पौराणिक धर्मों का भी संग्रहण किया है, यों सर्व धर्मों से जो मैंने भगवान् का ही आराधन किया है तथा उसमें किसी प्रकार को अन्य कामना नहीं की हो तो भगवान् स्वयं पधार कर मेरा पाणिग्रहण करें मैंने केवल भगवान् को ही प्राप्ति के लिए आराधना की है इसलिए शिशु-पाल आदि मुझे स्पर्श करने के लिए भी योग्य नहीं हैं, “गदग्रज” नाम देने से यह बताया कि वंशवृद्धि का विषय आपको प्रिय है, भगवान् ने पधार कर कस को मारा पश्चात् गद उत्पन्न हुआ है इस प्रकार पितृ वंश को वृद्धि कर यह दिखाया है कि मुझे वंशवृद्धि करने की इच्छा है, इस कारण से ही आप स्वयं पधार कर पाणिग्रहण कीजिए ऐसा करने से अपने किए हुए धर्मों में सर्व शास्त्रों में कहे हुए धर्मों के सार का आरोपण हो जाएगा अर्थात् सर्व धर्म सिद्ध हो जायेंगे मेरी पूजा से मेरे भक्तों की पूजा मैं अधिक मानता हूँ तो यदि आपको भगवद् भक्त ग्रहण करे तो क्या दोष है । इसके उत्तर में कहती है कि ‘अन्ये’ वे भगवद् भक्त नहीं हैं वल्कि भगवान् के शत्रु हैं नहीं तो दास दासी भाव से भी भजन हो सकता है इसमें अत्यन्त आग्रह नहीं होना चाहिए, दूसरी भाँति बुरी तरह मरना ही हो तो यम आदि न लिए जाते, इससे दूसरों के पाणि ग्रहण का निषेध किया है ॥४०॥

आभास—उद्वाहमात्र प्रार्थयित्वा प्रकारमपि प्रार्थयते श्वोभविनीति ।

आभासार्थ—उपरोक्त श्लोक में केवल पाणिग्रहण की प्रार्थना कर अब “श्वोभा-विनी” श्लोक में प्रकार भी बताती है ।

श्लोक—श्वो भाविनि त्वमजितोद्वहने विदभन्ति गुप्तः समेत्य पृतनापतिभिः परीतः ।

निर्मथ्य चैद्यमगधेशबलं प्रसह्य मां राक्षसेन विधिनोद्वह वीर्यशुल्काम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—हे अजित ! कल मेरा विवाह होने वाला है आप सेनापतियों के साथ यहाँ विदर्भदेशों में आ कर, शिशुपाल जरासन्ध की सेना को जीतकर, पराक्रम ही मूल्य वाली मुझ से बलात्कार पूर्वक राक्षस-विवाह-विधि से विवाह करो ॥४१॥

सुबोधिनी — स्पष्टतया समागमने कदाचित्ते गोपनं कुर्युः, लग्नात्पूर्वमेव वा शिशुपालाय प्रेषयेयुः, अविधानेन वा दद्युरिति । अतो यथा तेषु परिज्ञानं न भवति, तथैवागत्य नेया । अन्यथा उपक्रमावधि फलपर्यन्तं मध्ये काल-विलम्बे शरीरपातोऽपि भवेदिति तथा प्रार्थना । देशेऽपि न पूर्वमागन्तव्यमित्याह । श्वो भाविनि उद्वाहे । प्रथमतस्त्वमेकाकी गुप्तः समागत्य, पृतनाश्च भिन्नतया समानीय, तत्रापि पृतना यादवरूपैव, न तु विजातोया आनेया, अन्यथा मन्त्रभेदः स्यात् । पश्चात्पुरप्रवेशे तैः परीतः । अन्यथा स्वस्य चिन्ता स्यादिति । यद्यपि त्वमजितः, अथवा अजितत्वादेव पक्षान्तरा-

भावात् चैद्यमगधेशयोर्वल निर्मथ्य, मध्ये प्रतिबन्धकत्वेन स्थितमपसार्थं, तदर्थं प्रसह्य, बलात्कारमपि कृत्वा, मामुद्वह । नन्वेवं सति कामार्थं भक्त्यर्थं वा विवाहो भवेत्, न धर्मार्थमित्याशङ्क्याह राक्षसेन विधिनेति । क्षत्रियस्य स एव धर्मः । गान्धर्वस्तु पूर्वमुक्त एव 'तन्मे भवान्खलु वृत' इत्यनेन । अतो मद्विवाहे उभयं भविष्यतीति भावः । ननु एवं हरणे परस्वादानं भवेदित्याशङ्क्याह वीर्यशुल्कामिति । न हि मृत्ये दत्ते परस्वादानमस्ति । क्षत्रियाणां वीर्यमेव सर्वत्र शुल्कम् । पराक्रमं कृत्वा मारयित्वा य एव हरति, तस्यैव तदिति क्षत्रियधर्मानुसारेण हरणे न परस्वादानमित्यर्थः

व्याख्यार्थ — यदि आप प्रकट हो कर पधारेंगे तो कदाचित् आपको छिपा दे, अथवा लग्न से पूर्व ही शिशुपाल के पास भेज देंगे वा बिना विधि के हो उसको दे देंगे, अतः जिस प्रकार आपके आने की खबर उनको न पड़े उसी भाँति आप पधार कर लेजाना, नहीं तो उपक्रम से लेकर फल-पर्यन्त मध्य में काल विलम्ब होने पर शरीर का नाश भी हो जाय, इसलिए जल्दी आने की प्रार्थना को है देश के भीतर भी पहले नहीं आना कल विवाह होने वाला है, अतः देश में पहले आप अकेले ही गुप्त आजाना सेना जुदी लाना वह सेना भी यादवों का ही होनी चाहिए दूसरी जाति की सेना नहीं लाना क्योंकि दूसरी जाति की सेना से की हुई गुप्त सलाह का भेद खून जायगा, पीछे जब शहर के अन्दर प्रवेश करो तब सेनापतियों के साथ पधारना, नहीं तो अपने सम्बन्धियों को चिन्ता होगी, हालाँकि आपको कोई भी जीत नहीं सकता है, अथवा अजित होने से ही दूसरी कोई पक्ष नहीं है । अतः शिशुपाल और जरासन्ध को सेना को जीत कर बीच में जो रुकावटें आवें उनको मिटा कर इसलिए बलात्कार भी कर मुझ से विवाह करो, यदि कहो कि यों करने से वह विवाह कामार्थ अथवा भक्ति के लिए होगा, न धर्मार्थ विवाह होगा ? इसके उत्तर में कहती है कि राक्षस विधि से विवाह कर लो क्षत्री का राक्षस विधि से विवाह भी धर्म विवाह है "तन्मे भगवान् खलु वृत" इस श्लोक में गान्धर्व विवाह तो पहिले कह दिया है. अतः मेरा विवाह दोनों प्रकार होगा, यदि कहो कि यों बलात्कार से लेना एक प्रकार से दूसरे का धन चुराना है ? इस शंका का समाधान करती है कि मूल्य देकर जो वस्तु ली जाती है वह चुराई हुई वा छोनी हुई नहीं कही जाती है, क्षत्रियों के पास सब वस्तु लेने के लिए पराक्रम ही कीमत है जो वीर पराक्रम से मारके वा जीत के जिस वस्तु को ले जाता है वह वस्तु उसकी ही होती है इसलिए क्षत्रिय धर्म के अनुसार हरण कर लाने में पराया धन चुराया नहीं है ॥४३॥

आभास—बाधशङ्का प्रकारमुद्दिश्य तत्रापि स्फुरितं बाधकमनूद्य परिहरति अन्तः पुरान्तचरामिति ।

आभासार्थ—उपरोक्त श्लोक में रुकावटें होगी इस शंका के निवृत्ति का प्रकार बताया, फिर उसमें भी बाधा की स्फूर्ति समझ उस बाधा के निवारण का उपाय “अन्त पुरान्तर” श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक—अन्तःपुरान्तरचरामनिहत्य बन्धूंस्त्वामुद्धहे कथमिति प्रवदाम्युपायम् ।

पूर्वेद्युरस्ति महती कुलदेवियात्रा यस्यां बहिर्नववधूर्गिरिशामुपेयात् ॥४२॥

श्लोकार्थ—यदि आप कहो कि जनानेखाने में रहने वाली तुमको, तेरे बान्धवों को मारने के सिवाय, कैसे तेरे साथ ब्याह कर सकेंगे इसका भी उपाय बता देती हूँ विवाह के पहिले दिन कुलदेवी के दर्शन को जाने के लिए शोभा यात्रा निकलेगी जिसमें जो नव वधु हो वह देवी के दर्शन को जावे यह हमारे कुल की रीति है—अतः मैं शोभा यात्रा में जाने के लिए बाहिर निकलूंगी ॥४२॥

सुबोधिनी—बन्धूननिहत्य अन्तःपुरमध्ये चरणयोग्यां वां कथमुद्धहे इति चेत् (शङ्का से), तदापि सन्ति बहव उपायाः । तथाप्यविरुद्ध उच्य इत्याह । प्रकर्षेण उपायं वदामीति । केन-चिद्व्याजेन स्वयं बहिरागच्छेत्, भगवान्वा वेश कृत्वा गच्छेत्, आकर्षणं वा कुर्यात्, बुद्धिं वा प्रेरयेत्, अन्यथा सर्वेषाम्, सर्वेष्वपि पक्षेषु विलष्टं भवेत्, पराक्रमश्च न भवेत्, तस्मादन्यदकृत्वा गौरोपूजनाथमेव गताया हृणं कर्तव्यमिति प्रार्थना । तत्र गमनमावश्यकमित्याह । पूर्वेद्युः विवाहात्पूर्वदिवसे महती यात्रा वर्तते । सा अनु-

लङ्घनीया ततः । कुलदेवतायाः महतीत्यनेन दूरे गमनमुक्तम् । किमतो यद्येवमिति चेत्, तत्राह यस्यां बहिर्नववधूरिति । नववधूः नूतना वधूः संरक्ष्यापि लोकप्रसिद्धचर्य भोगात्पूर्वं भोगयोग्या नववधूर्भवति, सा गिरिशां पार्वतीं द्रष्टुमुपेयादिति विधिः । स्वयमपि गिरीणामी-शभूतेति अकारान्तात् टाप् । नित्यं संज्ञाछन्द-सोरात् वा डाप् । ततो बहिः स्थिता तत एव नेयेति भावः । अतो विवाहदिवस एव द्वारकायां विवाहो भविष्यतीति न ज्योतिःशास्त्रस्याप्य-प्रामाण्यम् ॥४२॥

व्याख्यार्थ—मैं जनाने खाने में भीतर रहती हूँ उसको मेरे सम्बन्धियों को मारने के सिवाय भुज से विवाह कैसे कर सकोगे, यदि वैसी शंका हो तो उस के लिए बहुत उपाय है, किन्तु मैं वह उपाय बतलानी हूँ जो विरुद्ध नहीं है साधारण उपाय नहीं बताती हूँ किन्तु उत्तम उपाय कहती

हैं उपायों के प्रकार बताती है । १-किसी भी बहाने अन्नपुर से बाहिर आना, २-भगवान् वेश बदल कर आवे, ३-पकड़ कर ले जावे, ४-बुद्धि से प्रेरणा करे, ५-अथवा इस सबों से किसी अन्य तरीके से आ कर ले जावे इन सब तरीकों में दुःख है और बहादुरी भी नहीं है इसी कारण से दूसरा कुछ भी न कर गौरी पूजन के लिए गई हुई का हा वहाँ से हरण कर लेना, यह मेरी प्रार्थना है वहाँ जाना आवश्यक है विवाह के पहिले दिन बड़ी शोभा यात्रा होती है वह रोकी नहीं जातो है, कुल देवता की बड़ी यात्रा है, इससे यह प्रकट किया कि दूर जाना पड़ता है जो यों है तो इससे क्या ? इसका उत्तर देती है कि नवीन बहू बहुत प्रकार से रक्षा की हुई भी लोक में प्रसिद्ध के लिए पति से हस्तग्राह करने से पहिले जो नवीन बधु होती है, वह पार्वती देवी के दर्शन के लिए जावे, यह विधि है आप भी पर्वतों की ईश भूता है इसलिए अकारान्त से “टाप् प्रत्यय है” अथवा संज्ञा एवं छन्द में टाप् प्रत्यय होता है, इसलिए “टाप्” प्रत्यय है पश्चात् मैं बाहिर हो रहूँगी वहाँ से ले लेना, इस प्रकार पहिले दिन यात्रा के समय हरण कर चलोगे तो दूसरे विवाह के दिन तो द्वारका में विवाह भी हो जायगा जिसमें ज्योतिष शास्त्र भी प्रमाण रूप होगा अर्थात् शास्त्रानुसार मुहूर्त के दिन विवाह भी हो जायगा ॥४२॥

आभास—एवं स्वरूपप्रकारप्रार्थनां कृत्वा तदकरणे बाधकमाह यस्याङ्घ्रि-पङ्कजेति ।

आभासार्थ—प्रार्थना इसी भाँति स्वरूप और प्रकार की प्रार्थना कर उसके न करने से महती हानि होगी जिसका वर्णन “यस्याङ्घ्रिपङ्कज” श्लोक में करती है ।

श्लोक—यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजःस्नपनं महान्तो वाञ्छन्त्युमापतिरिवात्मतमोपहत्यै ।

यह्यम्बुजाक्ष न लभेय भक्तप्रसादं जह्यामसूत्रतकृशा शतजन्मभिःस्यात् ॥४३॥

श्लोकार्थ—हे कमल के समान नेत्र वाले महादेव की भाँति अन्य महात्मा भी अपनी अज्ञानान्धता को मिटाने के लिए आपके चरण कमल की रज में स्नान करना चाहते हैं जो मैं आपका प्रसाद न पाऊँगी तो अब प्राणों का त्याग करूँगी और आपको कृपा सम्पादन करने के लिये सैकड़ों जन्मों से व्रत रखकर तब तक कृश बनती जाऊँगी जब तक आपका अनुग्रह प्राप्त न हो ॥४३॥

सुबोधिनी—यहि प्रसादं न लभेय, तहि | उत्तमफलत्वादित्याह । यस्य भगवतः अङ्घ्रि-पङ्कजस्य रजसा स्नानं महान्तोऽपि वाञ्छन्ति ।

तत्र निदर्शनमुमापतिः । स हि केवलं रजसा स्नानमलभमानः रजोयुक्तचरणोदकेन स्नानं करोतीति । उमापतिपदेन उमयापि वृतः शिवः । तस्यापि स एवाभिप्रेत इति तदेवोत्तमं फलम् । किञ्च । आत्मतमोपहृत्यै आत्मनस्तमोगुणो गच्छत्विति । अहमपि माया त्रिगुणात्मिका, तत्रापि रुक्मिप्रभृतिभिः सह अवतीर्णैति तमः प्रधानैव । ततश्चैतत्तमश्चेन्न दूरोक्रियते, तदा

पुनर्निकृष्टजन्म भविष्यतीति तदर्थं प्रयत्नोऽवश्यं कर्तव्यः । तत्रायमुपायः सुगम उत्तमश्च । एतदभावे तु शरीरं वा त्यक्ष्यामि । अयं संसर्गो गच्छतीति । किञ्च । व्रतेन कृशा सती उत्तरोत्तर-जन्मसु शतजन्मभिः अयमर्थः कदाचित् स्यात् । 'स्वधर्मनिष्ठः शतजन्मभि'रिति वाक्यात् । अम्बुजाक्षेति सम्बोधनं दृष्ट्यैव तापहारकः कथमेवं करिष्यतीति बोधनार्थम् ॥४३॥

व्याख्यार्थः—जो आपका प्रसाद न पाऊँगी तो प्राणों का त्याग करूँगी तेरा इस प्रकार का यह कौनसा हठ है ? इसके उत्तर में कहती है कि आप सब फलों से उत्तम फल हैं, यह ही है उसकी सिद्धि करना है, जिस भगवान् के चरण कमलों की रज से स्नान करना महान् सिद्धि भी चाहते हैं जिसमें प्रमाण महादेव है, वह केवल रज से स्नान न प्राप्त होने से रजयुक्त जल से स्नान करता है न केवल महादेव किन्तु पार्वती को भी यह स्नान पसन्द है वह भी महादेव की भाँति रजोयुक्त जल से स्नान करती है, इसलिए यहाँ शिव का 'उमापति' नाम दिया है, वह भी उत्तम फल है उससे स्नान करने का कारण तमोगुण का नाश करना है मैं भी त्रिगुण रूप माया हूँ और विशेष में रुक्मि प्रभृति अविद्या पर्वतमकों के साथ जन्मी हूँ मेरे में भी इसलिए तमोगुण प्रधान है, यदि आप मुझे स्वीकार कर इस तम का नाश करोगे तो फिर मुझे ऐसी नीच योनि न मिलेगी इसलिए वह न मिले आपका प्रसाद प्राप्त हो जिसके लिए प्रयत्न अवश्य करना चाहिए, इसलिए मेरा बताया हुआ यह उपाय सरल तथा उत्तम है आप ऐसा न करोगे तो शरीर छोड़ दूँगी जिससे यह सम्बन्ध जाता रहे और विशेष में व्रत में कृश हो एक जन्म में नहीं किन्तु सैकड़ों जन्म उत्तरोत्तर कृश होती रहूँगी जिससे यह मेरा मनोरथ कभी भी हो जावे, जैसा कहा कि "स्वधर्म निष्ठः शत-जन्मभिः" सौ जन्म में कर्म करने वाला स्वधर्मनिष्ठ होता है, "अम्बुजाक्ष" विशेषण से यह बताया है कि आप दृष्टि से ताप को बुझाने वाले हैं, वे आप ऐसे कैसे करोगे अर्थात् अवश्य मेरी प्रार्थना स्वीकार करोगे ॥४३॥

आभास—एवं रुक्मिणीवाक्यान्धुक्त्वा उपसंहरति इत्येत इति ।

अभासायं—इसी भाँति रुक्मिणी के वचन कह कर विषय का उपसंहार "इत्येते" श्लोक से करते हैं ।

ब्राह्मण उवाच—

श्लोक—इत्येते गुह्यसन्देशा यदुदेव मयाहताः ।

विमृश्य कतुं यच्चात्र क्रियतां तदनन्तरम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण कहने लगा कि हे वसुदेव ये गुप्त सन्देश मैं ले आया हैं आप विचार कर बाद में इस विषय में करना हो वह कीजिए ॥४४॥

सुबोधिनी—गोप्या एते सन्देशाः । यदुदेवेति सम्बोधनात् विवाहः कर्तव्य इति सूचितम् । मयैवाहता इति सुतरां गोप्यत्वम् । कदाचिदेतत्पत्रं अन्यस्य कापट्यात् भवेदिति शङ्का स्यात्, तदर्थमाह । एतद्विमृश्य कतुं यच्चात्र सिध्यति,

तत्क्रियताम् । चकाराद्यद्वक्तव्यम्, तदुच्यतामिति । विमृशानन्तरं कर्तव्यम् । अथवा । तदनन्तरमेव कर्तव्यं 'किं कार्यं करवामे'त्यस्यैतदेवोत्तरमित्यर्थः ॥४४॥

व्याख्यार्थ—ये सन्देश गुप्त हैं यदुदेव संबोधन देने का आशय है कि आपको विवाह करना चाहिए, यह सन्देश मैं ही लाया हूँ, इसलिए विशेष गोपनीय है, किसी कारण से भी आपको यह शंका हो कि यह पत्र दूसरे का कापट्य से भेजा हुआ है तो इसलिए कहता है कि आप पूरी तरह विचार कीजिए विचार के बाद जो कुछ योग्य जचे वही कीजिये, “च” पद से यह बताया है कि विचार करने के अनन्तर जो कुछ करने का निश्चय करो और मुझे जो कहना हो वह कहिए ॥४४॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध, के उत्तरार्ध के १२ वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्रीसुबोधिनी 'संस्कृत टीका' के राजस साधन अवान्तर प्रकरण, के तीसरे अध्याय के हिन्दी अनुवाद सहित संपूर्ण ।

राग सारंग

द्विज कहियो जदुपति सौ बात ।

वेद विरुद्ध होत कुंड़िनपुर, हंस के अंस काग नियरात ॥

जनि हमरे अपराध विचारहूँ, कन्या लिख्यौ भेटि गुरु तात ।

तन आत्मा समरप्यो तुमकों, उपजि परि तातैं यह बात ॥

कृपा करहु उठि बेग चढहुँ रथ, लगन समे आवहु परभात ।

कृष्ण सिंह बलि धरी तुम्हारी, लैबेकौ जंबुक अकुलात ॥

ताते मैं द्विज बेगि पठायौ, नेम धरम मरजादा जात ।

सूरदास सिसुपाल पानि गहै, पावक रचौ करौ अपघात ॥

॥ श्री हरिः ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरण कमलेभ्यो नमः ॥

श्री मद्वल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका—हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

स्कन्धानुसार ५३ वां अध्याय

सुबोधिन्यानुसार ५० वां अध्याय

राजस साधन अवान्तर प्रकरण

चतुर्थ अध्याय

रुक्मिणी का हरण



कारिका—शतार्धे वा चतुर्थे वा भगवान् भार्ययाथितम् ।

विप्रार्थितं च कृतवानिति सम्यङ् निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—पचासवें अध्याय में अथवा राजस साधन के चौथे अध्याय में भगवान् ने जिस कार्य की स्त्री ने तथा ब्राह्मण ने प्रार्थना की और उनका जो कार्य किया उसका अच्छी प्रकार से वर्णन किया जाता है ॥१॥

कारिका—प्रसह्य कन्याहरणमुद्योगावधि वर्ण्यते ।

कायवाङ् मनसामत्र ह्यैकमत्यं निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—उद्योग पूर्वक जबर्दस्ती जो कन्या का हरण किया है, वह वर्णन किया जाता है, इस प्रसंग में काया, बाणी तथा मन का एक ही मत है, यह निरूपण किया जाता है ॥२॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते यत्कर्तव्यम्, यद्वा वक्तव्यम्, तदुच्यतां क्रियतामिति ब्राह्मणविज्ञापना निरूपिता । ततो भगवान् तत्सन्तोषार्थं स्वमानसं वाक्यं च निरूपयितुमारम्भं कृतवानित्याह वैदर्भ्या इति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में ब्राह्मण ने प्रार्थना पूर्वक कहा कि 'अब जो आपको करना है, वह करिये और जो कहना है कहिए, पश्चात् भगवान् उसके सन्तोष के लिए, अपने मन का विचार और वाक्य निरूपण करने के लिए "वैदर्भ्या" श्लोक से प्रारम्भ करते हैं ।

श्रीशुक उवाच

श्लोक—वैदर्भ्याः स तु सन्देशं निशम्य यदुनन्दनः ।

प्रगृह्य पाणिना पाणि प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि उन यदुनन्दन ने रुक्मिणी का सन्देश सुनकर, हँसते हुए अपने हाथ से ब्राह्मण के हाथ को पकड़ (ग्रहण) कर यह वचन कहने लगे ॥१॥

सुबोधिनी—सा ह्यत्यन्तं कुलीना भक्ति-
प्रधाना । यदुरपि भक्तिप्रधानः । तुशब्दः शङ्का-
निवृत्त्यर्थः । नात्र शङ्का सम्भवति । यतोऽहमपि
जात इति वक्ष्यति । संदेशश्चावश्यं श्रोतव्यः ।

इदं श्रवणं विचारपूर्वकं सादरं च । ततो ब्राह्मणः
गुह्यकर्तृति तेन सह मैत्रीमिव कर्तुं पाणिना पाणि
प्रगृह्य भार्यासम्बन्धयमिति औदासीन्यं परित्यज्य
प्रहसन्निदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥१॥

व्याख्यार्थ—वह निश्चय ही अत्यन्त कुलीन एवं जिसमें भक्ति ही मुख्य है, वैसी है । यदु भी भक्ति प्रधान है, "तु" शब्द शंका की निवृत्ति के लिए है । इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है, क्योंकि मैंने भी जन्म लिया है । यों कहेगा और यह सन्देश अवश्य सुनने योग्य है और यह भी

आदर सहित विचार पूर्वक सुनना है फिर, ब्राह्मण गुह्य कार्य करने वाला है, अतः इसके साथ मानो मंत्रा करते हुए की तरह अपने हाथ से उसके हाथ को पकड़ कर यह ब्राह्मण भार्या का सम्बन्धी है. इसलिए उदासीनता छोड़ हँसते हुए कहने योग्य की यों कहने लगे ॥१॥

आभास—आदौ स्वमनोवातमाह तथाह-पि तच्चित्त इति ।

ग्रामासार्थ—पहिले अपने मन के भाव को “तथाहमपि” श्लोक में कहते हैं ।

श्रीभगवानुवाच-

श्लोक—तथाहमपि तच्चित्तो निद्रां च न लभे निशि ।

वेदाहं रुक्मिणा द्वेषान्ममोद्वाह निवारितः ॥२॥

श्लोकार्थ—जैसे उसका मन मुझ में लगा हुआ है, वैसे ही मेरा मन भी उसमें आसक्त है । जिससे रात्रि में नीन्द भी नहीं आती है, मैं जानता हूँ कि रुक्मी ने द्वेष के कारण मेरे विवाह का निवारण किया है ॥२॥

सुबोधिनी—यथा सा मच्चित्ता, एवमहमपि तच्चित्तः । अनेन सर्वाणि तस्या वाक्यानि मद्वाक्यसदृशानीति निरूपितम् । विशेषमप्याह निद्रां चेति । रात्रावावश्यकी निद्रा । सापि चिन्तया न जातेति । भार्येच्छया वा । नन्वेव चिन्तायां	कि कारणमित्याकाङ्क्षायामाह वेदाहमिति । नात्र किञ्चित्सन्दिग्धम् । यतोऽहं वेद । सर्व-गुणसम्पत्तावपि केवलं द्वेषात् रुक्मिणा एकेन ममोद्वाहः आहूय कन्यादानलक्षणः प्रयत्नेन निवारितः ॥२॥
--	---

व्याख्यार्थ—जैसे वह मुझ में आसक्त है, वैसे ही मैं भी उसमें आसक्त हूँ । यों कहने से यह सूचित किया है, कि जो उसने बचन कहे हैं, वे मेरे वचनों के समान ही हैं । विशेष कहते हैं, कि मुझे तो नीन्द भी नहीं आती है । रात्रि के समय निद्रा लेना आवश्यक है, किन्तु उसका चिन्तन होने से वह भी नहीं आती है । अथवा स्त्री को इच्छा से वैसी चिन्ता करने का क्या कारण है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि मैं जो जानता हूँ उसमें किसी प्रकार का सन्देह नहीं है क्योंकि मैं वास्तविक जानता हूँ । मुझ में वर के योग्य सर्व गुणों की सम्पत्ति होते हुए भी केवल द्वेष के कारण एक रुक्मी ने ही मेरे विवाह का प्रयत्न कर निवारण किया है ॥२॥

आभास—एवं प्रामाण्य मानस चोक्त्वा प्रतिजानीते “तामानयिष्य” इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रमाण पूर्वक मन का भाव कह कर अब “तामानयिष्य” इस श्लोक में कहते हैं कि मैं इसको ले आऊँगा ।

श्लोक—तामानयिष्य उन्मथ्य राजन्यापसदान्मृधे ।

मत्परामनवद्याङ्गीमेधसोऽग्निशिखामिव ॥३॥

श्लोकार्थ—युद्ध में अधम राजाओं का मथन कर उसको ले आऊँगा और जलती हुई अग्नि की शिला की तरह जो मेरे में यह परायण है उसको निर्दोष कान्ति युक्त करूँगा ॥३॥

सुबोधिनी—भार्येति निश्चित्य न नाम गृह्णाति । प्रतिबन्धकानामल्पत्वायाह । राजन्यापसदान् राजन्येषु अधमान् अपगता सद् सभा येभ्य इति । क्षत्रियगोष्ठ्यां परिगणनारहिताः अधमाः । ते ह्यतिक्षुद्रा इति न मारणमपेक्ष्यते, किन्तु उन्मथनमेव कर्तव्यम् । अलौकिकद्वारा निवारयति मृध इति । युद्धे एव तानुन्मथ्य आनयिष्यामीति भावः । एवं करणे हेतूनाह मत्परामिति ‘अहं भक्तपराधीन’ इति भक्तिमार्गानुसारेणापि

तामानयिष्ये । अनवद्याङ्गीमिति निर्दुष्टत्वादपि । निर्दुष्टं हि भगवान् गृह्णातीति । अङ्गपदेन वाक्येन दोषो निरूपितः । यतः सा दत्ता । इयं धर्मोपयोगिनो भविष्यतीति राक्षसविवाहं करिष्यामीत्याह एधसोऽग्निशिखामिवेति । दारुणि ज्वलन्ती अग्निशिखा नात्यन्तं प्रकाशमेति । सैव चेत् वतिसहिता भवेत्, तदा दीप्तरूपा अति प्रकाशते, तथा तां प्रकाशयुक्तां करिष्यामीत्यर्थः ॥३॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने नाम न लेकर ‘भार्या’ शब्द कहा है । जिसका तात्पर्य यह है, कि आपने उसको अपनी निश्चित पत्नी मनसे बना ली थी कि मैं इसको लाकर इसका पाणिग्रहण अवश्य करूँगा, ये राजा अधम होने से राजाओं की सभा में गणना के योग्य नहीं हैं, वे बिल्कुल तुच्छ हैं, इसलिए मारने योग्य नहीं है, किन्तु इनका मथन कर इनको नष्ट कर देना चाहिये । वह भी अलौकिक प्रकार से नहीं, किन्तु युद्ध में ही उनको नष्ट कर अपनी भार्या को ले आऊँगा । यों ले आने में कारण बताते हैं, कि वह मेरे में परायण है, अर्थात्, अत्यन्त आसक्त चित्त वाली है, वैसे को लाना मेरे लिए अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि मेरी प्रतिज्ञा है कि ‘अहं भक्त पराधीनः’ स्वतन्त्र होते हुए भी मैं भक्तों के आधीन हूँ, इसलिए भक्ति मार्ग के अनुसार भी इसको लाऊँगा । भगवान् निर्दोष वस्तु ग्रहण करते हैं, यह भी निर्दोष है । यह भाव “अंग” पद देकर प्रकट किया है, क्योंकि वह दी हुई है, यह धर्म कार्य के उपयोग में आएगी, इसलिए इसके साथ राक्षस विधिके अनुसार विवाह करूँगा । जिस समय लकड़ी जलती रहती है, उस समय अग्नि की शिखा विशेष प्रकाश नहीं करती है । वही अग्नि जो दीपक को बत्ती में हो तो दीप रूप होने से विशेष प्रकाश करती है वैसे ही उसको मैं विशेष कान्ति वाली करूँगा ॥३॥

आभास—एवं वाचनिक मुक्त्वा कायिकार्थं प्रयत्नमाह उद्धाहर्क्षमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार वाणी से जो बताना था वह कहकर, अब “उद्धाहर्क्ष” श्लोक में कायिक के लिए जो प्रयत्न करते हैं, वह कहते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक — उद्धाहर्क्षं च विज्ञाय रुक्मिण्या मधुसूदनः ।

रथः संयुज्यतामाशु दारुकेत्याह सारथिम् ॥४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि-मधुसूदन भगवान् रुक्मिणी के विवाह होने के योग्य नक्षत्र जान कर, सारथी को यों कहने लगे कि हे दारुक ! शीघ्र रथ तैयार करो ॥४॥

सुबोधिनी—विवाहे नक्षत्रमेव मुख्यमिति, भार्याप्रधानमिति, चन्द्रं ग्रहांश्चानुगुणान् परित्यज्य नक्षत्राणां मुख्यता निरूपिता । विवाहनक्षत्रं ब्राह्मणमुखादेव विज्ञाय रथः संयुज्यतामित्याह । सम्यक् योगो युद्धार्थः । तत्र हेतुः रुक्मिण्या

इति । रुक्मिणो भगिनीति । सेनासङ्ग्रहाभावे स्वत एव सामर्थ्यमाह मधुसूदन इति । आशु संयुज्यताम्, अनेन समयः सन्निहित इति ज्ञापितम् । दारुकेति सम्बोधनं बैकुण्ठादागतस्य चातुर्यं भयाभावश्च प्रदर्शितः ॥५॥

व्याख्यार्थ—विवाह में नक्षत्र ही मुख्य है “भार्या प्रधानं” पद से यह सूचित किया है कि चन्द्र ग्रहों के अनुगुणों का परित्याग कर शास्त्रों में नक्षत्रों को ही मुख्यता कही है, ब्राह्मण के मुख से विवाह के नक्षत्र का ज्ञान प्राप्त कर, सारथी को आज्ञा दी, कि रथ तैयार कर सम् शब्द का योग देकर यह सूचना की है, कि रथ इसी प्रकार तैयार कर जैसे युद्ध का कार्य कर सके । युद्ध के लिए कहने का कारण यह है, कि जिसको ले आना है वह मेरे शत्रु रुक्मिणी की बहिन रुक्मिणी है, अतः अवश्य वहाँ युद्ध होगा । यदि यह निश्चय है तो सेना को इकट्ठी कर क्यों नहीं ले जाते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि “मधुसूदनः” आप मधु जैसे जवर्दस्त दैत्य को मारने वाले होने से स्वयं एक ही समर्थ हैं । शीघ्र तैयार करो, कहने का भाव यह है कि समय थोड़ा है, विवाह का मुहूर्त निकट है । दारुक सम्बोधन देकर वह बता दिया है कि यह बैकुण्ठ से आया हुआ सारथी है, जिससे यह भी दिखाया कि यह चतुर ओर निर्भय भी है ॥४॥

वी.पी. द्वारा पुस्तक मँगाने का पता :
सीताराम पुस्तकालय
विश्राम बाजार, मथुरा मो. : 09837654007

आभास—शीघ्रमेव दारुककृतिमाह स चाश्वैरिति ।

आभासार्थ—दारुक का कार्य शीघ्र ही “ स चाश्वैः” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—स चाश्वैः सैन्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकैः ।

युक्तं रथमुपानीय तस्थौ प्राञ्जलिरग्रतः ॥५॥

श्लोकार्थ—वह सैन्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक नाम वाले घोड़ों से युक्त रथ को लेकर और हाथ जोड़ भगवान् के आगे खड़ा हुआ ॥५॥

सुबोधिनी—यद्यपि भगवतो बहवश्चाश्वाः, रथाश्च बहवः, तथापि सारथिपदप्रयोगात् गरुडध्वज एव रथो गृहीतः । तादृशोऽपि सैन्यादीनेव चतुरोश्वान् योजितवान् । तेषामन्वर्थानि नामानि । तत्राद्यः सैन्यरूप एव । असह्यचात-सैन्येन यावत्कार्यम्. तावदनेनैव भवतीति । द्वितीयः सुग्रीवः, यथा वानराधिपतिः सीतासमानयने रामकार्यसाधकः, तादृशोऽयमिति, सुग्रीव

इति । शोभना ग्रीवा यस्येति नास्य कदाचिदपि परावृत्तिः सूचिता । मेघपुष्पस्तृतीयः । वृष्टिवत् सर्वानिव व्याप्य पततीति । बलाहक-श्रुतार्थः । स मेघवत्पक्षिवद्वा क्षणमध्ये समायात्यपगच्छति च । एवं तैर्युक्तं सम्यग्योजितं रथमुपानीय यावद्विनिर्योगं कृत्वा, स्वकृतं ज्ञापयन्निव अग्रतः प्राञ्जलिस्तस्थौ ॥६॥

व्याख्यानार्थ—यद्यपि भगवान् के पास रथ और घोड़े बहुत हैं, तो भी सारथि पद से यह सूचना दी है कि इस समय गरुड़ की ध्वजा वाला रथ ही तैयार करना है । वैसे उस रथ में चार घोड़े भी उसी प्रकार के सैन्य आदि नाम वाले चार घोड़े जाड़ने जो उनके नाम हैं वे उनके कार्य के समान ही हैं । जैसा कि पहिला अश्व सैन्य नाम वाला इतना काम कर सकता है कि वह अगण्य सेना पार कर सकता है । दूसरा सुग्रीव नाम का अश्व सुग्रीववाला होने से वह कभी भी पराजय हो कर नहीं लौटता है । वह जैसा रामावतार में वानरों के अधिपति सुग्रीव ने सीता के लाने में सहायता दी थी वैसे यह भी (सहायता) देगा । तीसरा मेघपुष्प नाम वाला अश्व वृष्टि की भाँति सब पर व्यापक रूप से गिरता है । चौथा बलाहक नाम वाला अश्व मेघों की भाँति वा पक्षी की तरह क्षणमात्र में आता और जाता है । इस प्रकार इन घोड़ों से युक्त अच्छी तरह सजाया हुआ रथ लाकर सारथि हाथ जोड़े हुए आगे खड़ा हो गया ॥५॥

आभास - एवं ब्रह्मणाय स्ववाक्यसामर्थ्यं प्रदर्शितम्. ततः कुण्डिनपुरं गत इत्याह आरुह्येति ।

आभासार्थ—इसी भाँति ब्राह्मण को अपने वाक्य की सामर्थ्य दिखाई । पश्चात् कुण्डिनपुर गए जिसका वर्णन “आरुह्यस्यन्दनं” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—आरुह्य स्यन्दनं शौरिद्विजमारोप्य तूर्णनः ।

आनतदिकरात्रेण विदर्भानगमद्वयैः ॥६॥

श्लोकार्थ—भगवान् ब्राह्मण को रथ में बिठाकर और आप भी विराज कर शीघ्र गमन करने वाले घोड़ों से एक ही रात्रि में आनर्त देश से विदर्भ को पहुँचे ॥६॥

सुबोधिनी—स्यन्दनमिति वेगगामिनम् । शौरिरिति पितामहनाम्ना व्यपदेशः अलौकिक-सामर्थ्यप्रकाशनाभावार्थः । तमपि द्विजं तत्रैवा-रोप्य एकरात्रेणैव स्वदेशात्तं देशं प्रविष्टः, यथा मध्यदेशेषु न परिज्ञानं भवति । अन्यथा तत्र-त्यैज्ञपिने रुक्मी ब्राह्मणाय भगिन्यै वा अपकारं कुर्यात्, तथैव च रुक्मिण्या प्रार्थितः ॥६॥

व्याख्यार्थ—स्यन्दन शब्द से बताया, कि यह रथ वेग से जाने वाला है । अर्थात् यह शीघ्र-गामी है । आपका “शौरि” नाम दे कर यह सूचना दी है कि इस समय आपको अलौकिक सामर्थ्य प्रकट नहीं करना है । उस ब्राह्मण को भी उसमें ही बिठाकर एक ही रात्रि में अपने देश से उस देश में वैसे प्रविष्ट हो गए जैसे कि बीच में आए हुए देशों को पता न पड़ा । यदि वहाँ वालों को पता पड़ जाता तो रुक्मी ब्राह्मण का अथवा बहिन का अनिष्ट करता, रुक्मिणी ने भी वैसी ही प्रार्थना की थी ॥६॥

आभास—भगवतो नगरप्रवेशं वक्तुं नगरवर्णनार्थं भ्रमाद्राज्ञः प्रवृत्ति निमित्तस्वे-नाह राजा कुण्डिनपतिरिति ।

आभासार्थ—भगवान् का नगर में प्रवेश कहने के लिए नगर का वर्णन करते हुए भ्रम से राजा की प्रवृत्ति निमित्त से “राजा सकुण्डिनपतिः” श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—राजा स कुण्डिनपतिः पुत्रस्नेहवशं गतः ।

शिङ्गुपालाय स्वां कन्यां दास्यन्कर्मण्यकारयत् ॥७॥

श्लोकार्थ—कुण्डिनपुर का वह राजा, पुत्र के स्नेह वश हो शिशुपाल को अपनी कन्या देते हुए उसके निमित्त नगर को सजाने का कार्य कराने लगा ॥७॥

सुबोधिनी—राजत्वाद्भीष्मकत्वात् । कुण्डिन-
मिति अल्पवत् नगरनाम निरूपितम् । तत्पति-
त्वाच्च । पुत्रस्नेहवशत्वाच्च शिशुपालाय शिशुं
वालबुद्धिमेव पालयतीति दुर्बुद्धये कन्यां दातुं ।
कर्माणि पुरसंस्काररूपाणि सेवकैरकारयत् ।
अनेन देशे भगवद्गमनेऽपि न तेषां विपरीत-
शङ्का कापि जातेति निरूपितम् ॥७॥

व्याख्यार्थ—राजापन से वा भीष्मकपन से “कुण्डिन” पद से दिखाया है कि वह छोटा सा नगर है, जिसका वह स्वामी है । पुत्रस्नेह के वश होकर जो बाल बुद्धि की, उसका अब तक पालन करता है । इसलिए उस दुर्बुद्धि को कन्या देने के लिए नगर के सजाने के कार्य सेवकों से कराने लगा । इससे देश में भगवान् के पधारने पर उसको किसी प्रकार से मन में सन्देह उत्पन्न नहीं हुआ, यों निरूपण किया है ॥७॥

आभास—भगवत्प्रवेशार्थं पुरीं वर्णयति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—भगवान् के प्रवेश के लिए पुरी का वर्णन दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक —पुरं संमृष्टसंसिक्तमार्गरथ्याचतुष्पथम् ।

चित्रध्वजपताकाभिस्तोरणः समलंकृतम् ॥८॥

स्रगन्धमाल्याभरणौविरजाम्बरभूषितैः ।

जुष्टं स्त्रीपुरुषैः श्रीमद्गृहैरगरूढूपितैः ॥९॥

श्लोकार्थ—प्रथम नगर के राजमार्ग, गली और चौराहे को झार बुहार साफ कराया, फिर छिड़काव कराया, विचित्र ध्वजा, पताका और तोरण बंधवा कर नगर को सुशोभित किया ॥८॥

नगर के नर नारी, माला, सुगन्ध पुष्प और आभूषण तथा स्वच्छ वस्त्रों से अलंकृत हो रहे थे एवं घर घर में अगर की मुगन्धियाँ जाती थी ॥९॥

सुबोधिनी—पुरमिति । प्रथमतः सम्यक् मृष्टं रजोनिवारणेनोज्ज्वलीकृतम् । ततः संसिक्तं चन्दनादिभिः । मार्गा राजमार्गाः । रथ्या हट्ट-स्थिता । चतुष्पथं सर्वतो मार्गाः । तेषु संसिक्तमित्यर्थः । एकमधः शोभा निरूपिता । उप-रिशोभामाह चित्रध्वजेति । त्रिविधैरपि सम्यग-लङ्कृतम् । मध्ये अलङ्करणमाह स्रग्गन्धेति । स्त्रीपुरुषैः गृहैश्च जुष्टमिति । अनेन तस्मिन् नगरे

केवला व्यावर्तिताः । ये सुतराममङ्गलरूपाः, तेऽपि भूषिता इत्याह । स्रग्गन्धमाल्याभरणै-र्युक्ताः, स्रग्गन्धमाल्यानामेवाभरणानि येष्विति । विरजानि अम्बराणि भूषणानि च येष्विति । श्रीमद्गृहैरिति गृहे सर्वसम्पत्तिनिरूपिता । अग-रुधूपितैरिति विशेषसम्पत्तिः विवाहोत्सवप्रयु-क्तिश्च निरूपिता ॥८॥६॥

व्याख्यार्थ—पहिले नगर की धूलि आदि निकाल कर उसे खूब उज्ज्वल और साफ किया । बाद में चन्दन आदि के सुगन्धित जल से राजमार्ग, बाजार, गलियाँ, रथ के जाने योग्य सड़कें और चौराहों पर छिड़काव किया । इस प्रकार नीचे भाग की शोभा का वर्णन करके अब ऊपर की शोभा का वर्णन करते हैं कि विचित्र ध्वजा पताका और तोरणों से अच्छे ढंग से उसे सजाया । बीच का शृंगार कहते हैं कि नगर स्त्री और पुरुष तथा गृहों से सुशोभित हैं इससे नगर में कोई भी बिना अलंकार के नहीं है, जो बहुत कर अमंगल रूप हैं, वे भी अलंकृत किए हुए हैं । पुरुष और स्त्रियाँ माला, चन्दन, पुष्पों के आभरणों से युक्त हैं तथा स्वच्छ वस्त्र तथा अनेक आभूषणों से सुन्दर रूप वाले बने हुए हैं, इससे घरों की सर्व प्रकार की सम्पत्ति का निरूपण किया है । घरों में विशेष सम्पत्ति विवाहोत्सव में लगने वाली भी है । अगर धूप आदि से समस्त घर सुगन्धि से युक्त थे ॥८, ६॥

आभास—एवं लौकिकसमृद्धिमुक्त्वा वैदिकार्थसमृद्धिमाह पितृन्देवान्समभ्यर्च्येति ।

आभासार्थ—इस प्रकार लौकिक समृद्धि कहकर अब वैदिक के लिए जो समृद्धि होती है, वह “पितृन् देवान्” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—पितृन्देवान्समभ्यर्च्य विप्रांश्च विधिवन्नृपः ।

भाजयित्वा यथान्यायं वाचयामास मङ्गलम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—राजा, पितर और देवों का पूजन करके ब्राह्मणों का भी विधि के अनुसार पूजन किया । सबको उचित रूप से भोजन कराके बाद में पुण्याहवाचन कराया ॥१०॥

सुबोधिनी—पितरो देवाश्च नान्दीमुखदेवताः नृप इति सामर्थ्यम् । तेषां सन्तोषः भोजनप्रधान इति भोजयित्वा यथान्यायमित्युक्तम् । नान्दीमुखे विवाहो विगुणः स्यात्, अतः कर्तव्यं कृतमिति विधानपूर्वकं भोजयित्वा सुमङ्गलं पुण्याहवाचनम् वक्तव्यम् । विप्रांश्च सम्यगभ्यर्च्य पुण्याहवाचने । ॥१०॥ विधिवदिति । तेभ्यो वस्त्रालङ्कारणादिदानेन ।

व्याख्यार्थ—पितर और देवता जो नान्दीमुखदेव हैं उनका अच्छे प्रकार से पूजन किया । यों नहीं करते तो, पहले ही कन्या हरण करने में, विवाह गुण रहित हो जाता । इसी कारण से जो विवाह में प्रथम कर्तव्य है वह किया । पुण्याह वाचन में प्रथम ब्राह्मणों का विधि पूर्वक वस्त्र अलंकृत आदि दान के साथ पूजन किया । “नृप” कहने से यों करने का सामर्थ्य प्रकट किया है । ब्राह्मणों का सन्तोष भोजन से होता है, अतः नान्दीमुख में विधि का उचित रीति से भोजन कराके मंगलरूप पुण्याह वाचन कराया ॥१०॥

आभास—यदर्थं भगवानागतः तां देयत्वेन भूषितां चक्रुरित्याह सुस्नातामिति ।

आभासार्थ—जिसको लेने के लिए भगवान् आए हैं, उसको देने के हेतु सुशोभित करने लगे, जिसका वर्णन “सुस्नातां” श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—सुस्नातां सुदतीं कन्यां कृतकौतुकमङ्गलाम् ।

अहतांशुकयुग्मेन भूषितां भूषणोत्तमैः ॥११॥

श्लोकार्थ—अच्छी तरह स्नान की हुई, सुन्दर दांतों वाली, किए हुए विवाह के चिन्ह वाली और नवीन हलदी के रंग वाले दो वस्त्र धारण की हुई उत्तम आभूषणों से भूषित कन्या को ॥११॥

सुबोधिनी—मङ्गलस्नानं कारितवन्तः, ततो दन्तसंस्कारमपि । शुभ्रदन्ता न द्रष्टव्येति केषाञ्चिद्देशाचारः । कन्यामित्यदत्ताम् । प्रायेण सूचित एव शिशुपालः । वाङ्निश्चयोऽप्यग्र एव भविष्यति । दाक्षिणात्यास्त इति विवाहपूर्वक्षण एव कन्यावरणम् । कृतं कौतुकरूपं मङ्गलं यस्याम् । हरिद्रया कपोलयोः रेखादिनिर्माणम् । तद्विवाह एव भवति, नान्यदा । वस्त्रमपि तादृशमेव परिधापितवन्त इत्याह अहतांशुकयुग्मेन भूषितामिति । अहतं तन्तूत्तारितं अच्छिन्नम् ।

नूतनमिति केचित् । तेषां मते पाषाणे प्रहारः न हतत्वं सम्पादयतीति । अनुपभुक्तमित्यन्ये अशुकं पट्टवस्त्रम् । एकं परिधायितम्, अपर प्रावृतमिति । भूषणैरपि भूषिताम् । सत्कृत्यालङ्कृतां कन्यां यो ददाति स कूकुद इति कूकुदत्वार्थमलङ्करण-मुक्तम् । कू द्यावापृथिव्यौ । कु कुत्सिते यस्याः । रोदसीदानापेक्षयापि तादृक् कन्यादानं विशिष्ट-मिति द्योतितम् ॥११॥

व्याख्यानार्थ—प्रथम मंगल स्नान कराया, पश्चात् दाँतों को भी साफ किया साफ किए हुए कन्या के दाँत नहीं देखने चाहिए, यह कहीं का देशाचार है । उस कन्या को जो अब तक दी हुई नहीं है, बहुत करके यह शिशुपाल को सूचना भी की थी । वाणी से देने का निश्चय भी आगे हो होगा वे दाक्षिणात्य हैं, इसलिए विवाह से आगे क्षण में ही कन्या का वाणी से वरण करते हैं । जिसके कौतुक रूप मंगल चिन्ह किए हुए हैं, वे चिन्ह कपोलों पर हलदों से रेखाओं से किए जाते हैं । वे चिन्ह विवाह में ही किए जाते हैं दूसरे समय नहीं । वस्त्र भी वैसे पीले पहनाए गए हैं, वे कपड़े पट्ट के हों और फटे हुए नहीं हों । कोई कहते हैं कि “अहत” का अर्थ है नवीन वस्त्र उनके मत में वस्त्र को पाषाण पर जो प्रहार होता है जिससे उसकी नवीनता नहीं जाती है । दूसरे कहते हैं कि वह कपड़ा जो काम में नहीं लाया गया हो, दो वस्त्रों से एक पहिने और दूसरा ऊपर से ओढ़ ले, आभूषणों से भूषित, इस प्रकार कन्या का सत्कार कर जो देता है वह “कूकुद” है । कूकुद होने के लिए कन्या को अलंकृत करना है । इस प्रकार कन्या का दान पृथ्वी और स्वर्ग के दान से भी उत्तम है, यों प्रकट किया है । “कू” स्वर्ग और पृथ्वी “का होना” “कु” कुत्सितं यस्याः ? जिससे कम है ॥११॥

आभास—तस्यां विवाहदेवतासान्निध्यमाह चक्रुरिति ।

आभासार्थ—उसका “रुक्मिणी का” विवाह देवता की समीपता का वर्णन “चक्रुः” श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—चक्रुः सामर्ग्यजुमन्त्रैर्वध्वा रक्षां द्विजोत्तमाः ।

पुराहितोऽथर्वविद्वं जुहाव ग्रहशान्तये ॥१२॥

श्लोकार्थ—उत्तम ब्राह्मण साम, ऋग् और यजुर्वेद के मन्त्रों से वधू की रक्षा करने लगे, और अथर्व वेद जानने वाला पुरोहित ग्रह शान्ति के लिए होम करने लगा ॥१२॥

सुबोधिनी—वेदत्रयमन्त्रैः रक्षासूत्रं बद्ध्वा द्विजोत्तमा मन्त्रद्रष्टारः ऋषयः भगवदर्थमेव । यथा कोऽपि न स्पृशति दृष्टादृष्टप्रकारेण, तथा रक्षां चक्रुः । देवा हि द्विविधाः, केचन हुतादः, अन्ये अहुतादः, तत्र वाचनादिना ये अहुतादः ते प्रीणिताः । होमेनान्येषां प्रीतिमाह पुरोहितोऽथर्वविदिति । होमे पुरोहितो मुख्यः । स हि हित-

मेव विचारयति । अथर्वणवेदे नक्षत्रकल्पः शान्ति-कल्पश्चोक्तः । अतोऽथर्ववित् शान्तिं जानाति । ये कन्यायाः भगवन्तं त्याजयित्वा नीचसम्बन्धं कारयितुमुद्युक्ताः, तेषां ग्रहाणां शान्त्यर्थं जुहाव । अन्यथा ग्रहैर्वा प्रतिबन्धो भवेत् । भगवांश्च नालौकिकं प्रकटीकरोति ॥१२॥

व्याख्यार्थ—मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के समान ब्राह्मणोत्तम साम, ऋग् और यजुः इन तीनों वेदों के मन्त्रों से वधू के रक्षासूत्र बांध भगवान् के लिए ही इसी प्रकार रक्षा करने लगे । जैसे कोई भी दृष्ट अथवा अदृष्ट प्रकार से स्पर्श न कर सके । देव दो प्रकार के हैं, एक होम द्वारा प्रसन्न होकर तृप्त होने वाले हुताद हैं और दूसरे केवल मन्त्रों के श्रवण से ही तृप्त हो जाते हैं वे अहुताद हैं । वे मन्त्रों से प्रसन्न होकर तृप्त हो गए, अब दूसरों को होम द्वारा प्रसन्नता का वर्णन करते हैं । होम में पुरोहित मुख्य है, वह हित का ही विचार करता है । वेद में कर्म कराने की दो प्रकार की विधि है । एक नक्षत्र कल्प, दूसरा शान्ति कल्प । अथर्ववेद जानने वाला शान्ति कल्प ही जानता है, जो होम द्वारा होता है । ग्रह कन्या का भगवान् से सम्बन्ध छुड़ा के नीच से सम्बन्ध कराने के लिए तैयार हुए थे, उन ग्रहों की शान्ति के लिए वे अथर्ववेद पुरोहित होम कराने लगे । नहीं तो ग्रहों द्वारा रुकावट हो जाय और भगवान् तो इस कार्य में अपना अलौकिक प्रकट करना नहीं चाहते हैं ॥१२॥

आभास—दानेन सर्वदोषनिवृत्तिरिति दानान्यपि कृतवानित्याह हिरण्येति ।

आभासार्थ—दान करने से सब दोष मिट जाते हैं, इसलिए दान भी किए, जिसका वर्णन “हिरण्य” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—हिरण्यरूप्यवासांसि तिलांश्च गुडमिश्रितान् ।

प्रादाद्धेनुश्च विप्रेभ्यो राजा विधिविदांवरः ॥१३॥

श्लोकार्थ—विधिज्ञों में श्रेष्ठ राजा ने सुवर्ण, चांदी और वस्त्र तथा गुड़ मिलाए हुए तिल एवं घेनु ब्राह्मणों को दान कर दिए ॥१३॥

सुबोधिनी—हिरण्यं सुवर्णं तत्सार्वकामिक- | देवतमिति । गन्धर्वदेवतं वा । तेन त्रयो भागिनः
मग्निदैवत्यम् । रूप्यं सोमदैवत्यम् । वासश्च सर्व- | कन्याया व्यावर्तिताः । तिलमोदकदानं तु सर्व-

दोषहरमिति गुडमिश्रितान् तिलांश्च ददौ । चका- । राजा समृद्धः । विधानेन दत्तं फलपर्यवसायि
रात्केवलानपि । कन्यायाः सर्वसमृद्धचर्थं धेनुश्च । भवतीति तदर्थमाह । विधिविदां मध्ये श्रेष्ठ
प्रादान् चिप्रेभ्यश्च । त एव हि विशेषेण पूरकाः । इति ॥ १३ ॥

व्याख्यानार्थ—सुवर्ण अग्नि देव वाला है, अतः वह दान करने से सर्व कामनाएँ पूर्ण करता है ।
चाँदो का देवता सोम है वस्त्रों के सर्वदेव हैं अथवा गन्धर्व देव है । इस प्रकार दान की वस्तुओं का
स्वरूप कहने से यह बताया है कि कन्या के भोग के भाग वाले जो तीन देव हैं, वे इसका भोग नहीं
कर सकेंगे । तिलों के मोदकों का दान सर्व दोषों का हरण करने वाला है । “च” पद से यह भाव
भी प्रकट किया है, कि केवल तिलों का दान भी सर्व दोषों को मिटाना है । कन्या के पास सर्व
प्रकार की समृद्धि होवे, इसलिए ब्राह्मणों का गाय दान में दी । वे ही विशेष कर पूर्णता देने वाले
हैं, राजा बहुत सम्पदा वाला है, विधि से दिया हुआ दान ही सफल होता है, इस कारण से कहा
कि राजा स्वयं विधिज्ञों में उत्तम है, अर्थात् उसने जो दान दिए वे विधि के अनुसार ही दिए ॥१३॥

आभास—एवं पुरं कन्यां च निदुष्टतया निरूप्य मध्ये निराकार्याणि वृत्तान्तमाह
षड्भिः ।

आभासार्थ—इस मकार नगर और कन्या निर्दोष है ऐसा निरूपण कर बीच में
सामने पक्ष वालों का वृत्तान्त ६ श्लोकों से करते हैं ।

श्लोक—एवं चेदिपती राजा दमघोषः सुताय वै ।

कारयामास मन्त्रज्ञैः सर्वमभ्युदयोचितम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—इसी भाँति चेदि देश के राजा दमघोष ने अपने पुत्र शिशुपाल के लिए
मन्त्र जानने वाले ब्राह्मणों से अभ्युदय के उचित मंगल कर्म करवाए ॥१४॥

सुवोधिनी—भगवद्धर्मैरेव तेषां निराकरणा-
र्थम् । प्रथमं विवाहः संस्कार इति पितृव तस्य
संस्काराः क्रियन्त इति निरूपयति । यथा
रुविमण्याः तत्पिता कृतम् । एवं चेदिपतिरपि
दमघोषः सुताय शिशुपालाय विवाहो भविष्य-
तीति वै निश्चयेन कारयामास । तस्यापि

सामर्थ्यं राजेति । दमघोष इति दमस्य शान्तेः
घोष एव, नतु तस्य दमः । न हि अदान्तेन
कृतं सफलं भवति । अक्षरव्यत्यासो वा, मद-
घोष इत्यर्थः । सिंहवत् । अत उन्मादात्
भगवन्तमविचार्य तथा कृतवान् । अभ्युदये
उचितमेव, नत्वभ्युदयम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—उनका निराकरण भगवद्धर्मों से ही किया। पहले विवाह के संस्कार पिता ही कराता है, जैसे रुक्मिणी के विवाह के सर्व संस्कार उसके पिता ने ही किए। इसी तरह चेदिदेश के राजा दमघोष ने भी मेरे पुत्र शिशुपाल का विवाह हागा। यह मन में निश्चय कर वह सर्व संस्कार कराने लगा। इस प्रकार करने की शक्ति उसमें भी था, क्योंकि वह भी राजा था तथा उसका नाम ही “शान्ति का गर्जन” “दमघोष” था न कि उसका दमन अशान्त जो करता है वह सफल नहीं होता है अथवा इसके नाम में एक अक्षर बदल गया है वास्तव में यह दमघोष है। सिंह के समान इसकी गर्जना मद से भरी हुई है, अतः अभिमान से भगवान् का विचार न कर इस प्रकार करने लगा। वह अभ्युदय में उचित है, किन्तु उसमें अभ्युदय हुआ नहीं ॥१४॥

आभास एतादृशस्य उन्मत्तसेनायुक्तस्य पुरं प्रति गमनमाह मदच्युद्धिरिति ।

आभासार्थ—मदवाली सेना से युक्त ऐसे का नगर में गमन “मदच्युद्धि” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—मदच्युद्धिर्गजानीकैः स्यन्दनैर्हंसमालिभिः ।

पत्त्यश्वसंकुलैः सैन्यैः परीतः कुण्डिनं ययौ ॥१५॥

श्लोकार्थ—मद झरने वाले हस्ती सुवर्ण माला से सजे हुए रथों से पैदल और सिपाही घुड़ सवारों की सेना से घिरे हुए (वर राजा) कुण्डिनपुर पधारे ॥१५॥

सुबोधिनी—षष्टिहायनैः मत्तगजैः सह । रङ्गसेनायुक्तः युद्धार्थमेव कुण्डिनपुरं ययौ , न गजानामनीकरूपत्वार्थं तथोक्तम् । सुवर्णमालायु- तु विवाहार्थम्, अन्यथा विवाहसामग्रीमपि क्तानि च स्यन्दनानि । भटाः अश्वाश्च । एवं चतु- नयेत् ॥१५॥

व्याख्यार्थ—साठ घोड़े, मदमत्त हाथियों के साथ, यों कहने का भाव यह है कि साथ में हाथियों की सेना ले ली थी। सोने की मालाओं से सुशोभित रथ थे, प्यादे और घोड़े, इस प्रकार चतुरंग सेना को लेकर युद्ध के लिए ही कुण्डिनपुर जाने लगे न कि विवाह के लिए। यदि विवाह के लिए जाते तो साथ में विवाह की सामग्री भी होती किन्तु वह नहीं थी ॥ १५॥

आभास—तस्याग्रे निराकरणार्थमादौ सन्माननामाह तं वै विदर्भाधिपतिरिति ।

आभाषार्थ—उसका आगे तिरस्कार करने के लिए पहिले सन्मान का वर्णन “तत्र वै विदर्भाधिपति” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—तं वै विदर्भाधिपतिः समभ्येत्याभिपूज्य च ।
निवेशयामास मुदा कल्पिते वाधिवेशने ॥१६॥

श्लोकार्थ—विदर्भ का राजा भीष्मक सामने लेने के लिए आया और उसका पूजन सत्कार कर हर्ष से बनाए हुए जनवासे में स्थापित किया ॥१६॥

सुबोधिनी-विदर्भदेशस्याधिपतिः विशेषा- नभिज्ञः, तं निश्चयेन, समभ्येत्याग्रे गत्वा अभि- पूज्य, गृहागताय यथा पूजा विधेया । चका- रात् विशेषाभावं च कृत्वा, मुदा हर्षेण कल्पिते	अधिवेशने, नतु सहजे उत्कृष्टे । आ ईषत्क- ल्पिते वा अकल्पिते वा वाटिकादौ स्थापि- तवान् ॥ १६ ॥
--	--

व्याख्यार्थ—विदर्भ देश का राजा विशेष अनभिज्ञ है, अर्थात् साधारण जानकार है उसको लेने के लिए सामने जाकर पूजादि से वैसे सत्कार किया, जैसे घर में आए हुए को पूजा की जाती है । शास्त्रों में कहा है कि घर में जो आवे उसको पूजा करनी चाहिए । “च” का भाव यह है कि साधारण रीति से सत्कार किया । प्रसन्न चित्त से तैयार किए हुए रहने के स्थान पर उनको ठहराया वह सहज वा उत्तम नहीं था, थोड़ा सा सजाया अथवा न भी सजाया हुआ, वा वाग आदि में ठहराया ॥१६॥

आभास—तत्रैव सर्वे दुरात्मान एकीभूता इत्याह तत्र शाल्व इति ।

आभासार्थ—वहाँ सर्व दुष्ट ही इकट्ठे हुए थे, जिनका वर्णन “तत्र शाल्वो” आदि तीन श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—तत्र शाल्वो जगसन्धो दन्तवक्रो विदूरथः ।

आजगमुश्चैद्यपक्षीयाः पीण्ड्रकाद्याः सहस्रशः ॥१७॥

कृष्णरामद्विषो यत्ताः कन्यां चैद्याय साधितुम् ।

यद्यगत्य हरेत्कृष्णो रामार्द्यं र्यदुभिर्वृतः ॥१८॥

योत्स्यामः संहतास्तेन इतिनिश्चितमानसाः ।

आजग्मुर्भूभुजः सर्वे समग्रबलवाहनाः ॥१६॥

श्लोकार्थ—वहाँ शाल्व, जरासन्ध, दन्तवक्र, विदूरथ, पांडूक आदि हजारों शिशुपाल के पक्ष के राजा आये । ये राम कृष्ण के वैरो शिशुपाल को कन्या दिलवाने के लिए सज कर आये थे । इन्होंने मनमें निश्चय कर लिया था कि यदि बलभद्र आदि यादवों को साथ लेकर कृष्ण यहाँ आके कन्या हरण करेंगे तो हम सब इकट्ठे हो उनसे लड़ेंगे । इसीलिए वे सब राजा अपनी समग्र सेना और बाहन आदि लेकर आए थे ॥१७-१८-१९॥

भुबोधिनी-विदूरथः दन्तवक्रभ्राता । चत्वारो मुख्या गणिताः । अन्येऽपि चैद्य-पक्षीयाः आययुः । पौण्ड्रकाद्याश्च मिथ्यावासुदेवादयोऽपि तत्रैव निविष्टाः । तेषामेकवस्थिती एकं धर्ममाह कृष्णरामद्विष इति । नहि तेषामागमने किञ्चिदन्यत्कृत्यमस्ति । एकाकिनो वयमसमर्थाः, केनचिन्मिषेण भगवान् जेतव्य इति, चैद्ये स्वोपकारं च ख्यापयितुमरिमित्रन्यायेन समागता इत्याह । यत्ताः सन्तः

कन्यां चैद्याय साधितुं समागताः । नन्वाहूय कन्या दीयते, कः सन्देह इति चेत्, तत्राह यद्यागत्येति । तेषां हृदये भगवान् तथैव ज्ञापितवान् । कृष्णो हि स्त्रीणां हितकर्तेति । रामाद्यैर्यदुभिः सहागतः यदि हरेत्, तदा योत्स्याम एव, नत्वन्यत् सामर्थ्यमस्तीतिभावः । इत्येवं निश्चितं मानसं येषाम् । अत एव सर्वे समर्थबलवाहनाः सन्तः आजग्मुः । भूभुज इति तेषां सा सम्पत्तिः सहजा ॥१७-१८-१९॥

व्याख्यार्थ—विदूरथ, दन्तवक्र का भाई था, मुख्य जो चार थे, उनकी गणना की है । दूसरे भी शिशुपाल के पक्ष के आए थे । अपने को मिथ्या वासुदेव कहलाने वाले पौण्ड्रक आदि भी वहाँ आए थे । उनके यहाँ आने का कारण यह था, कि वे सब रामकृष्ण के शत्रु थे । उनके आने का अन्य कोई कारण नहीं था, क्योंकि उनको वहाँ कोई दूसरा काम नहीं था । हम सब अकेले तो कृष्ण को जीतने में शक्तिमान नहीं हैं । किसी भी मित्र से मिलकर कृष्ण को जीतना ही है, यों करने से चैद्य पर अपना उपकार भी प्रकट होगा, अतः “अरिमित्रन्याय” से वहाँ आकर पहुँचे । शिशुपाल को कन्या दिलाने के लिए सजकर आए थे । बुलाकर कन्या दी जाती है, इसमें सन्देह क्यों ? इसके उत्तर में कहते हैं कि “यदि आगत्य”, उनके हृदय में भगवान् ने इसी भाँति जनाया कि यदि राम आदि यादवों से मिलकर कन्या को हरण करने के लिए स्त्रियों का हितकारी श्रीकृष्ण आवे तो हम सब मिल कर उससे लड़ेंगे । इसके सिवाय दूसरा कोई सामर्थ्य उनमें नहीं है इसलिए

उन्होंने यही मनमें निश्चय कर रखा था। अतएव सब राजा अपनी सेना और वाहन लेकर आए थे। “भूभुज” विशेषण से बताया कि उनकी यह स्वाभाविक सम्पत्ति है ॥१७, १६॥

आभास—एषा वार्ता सर्वजनीना जातेति ज्ञापयितुं बलभद्रादयो भगवता अनुक्ता अपि समागता इत्याह श्रुत्वैतदिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—यह खबर सर्वत्र फैल गई जिसको सुनकर बलभद्र आदि भगवान् के कहे बिना भी आ गए जिसका वर्णन “श्रुत्वा” दो श्लोकों में करते हैं ।

श्रुत्वैतद्भगवान् रामो विपक्षीयबलोद्यमम् ।

कृष्णं चैकं गतं हतुं कन्यां कलहशङ्कितः ॥२०॥

बलेन महता सार्धं भ्रातृस्नेहपरिप्लुतः ।

त्वरितः कुण्डिनं प्रागाद्गजाश्वरथपत्तिभिः ॥२१॥

श्लोकार्थ—भगवान् राम, चंदी राजाओं का यह उद्यम सुनकर, और श्रीकृष्ण अकेले कन्या को हरण के लिए पधारे हैं यह जानकर कलह होने की शंका से भाई के स्नेह से आर्द्र चित्त हो, बड़ी सेना संग ले हाथी, घोड़े, रथ और पैदलों के साथ तुरन्त कुण्डिनपुर पधारे ॥२०, २१॥

मुबोधिनी—श्रुतस्य सत्यत्वाय भगवानिति । राम इति साधनरूपः विपक्षायाः विपक्षस्य शिशुपालस्य सम्बन्धिनः । तेषां बलस्योद्यमं श्रुत्वा । एक एव च भगवान् कन्यां हतुं गत इति कलहं शङ्कां प्राप्तः । कलहो भविष्यतीति निश्चित्य

महता बलेन सार्धं त्वरितः कुण्डिनं ययौ । ननु भगवति कः सन्देहो भवेत्, किमिति गत इत्या-
शङ्कयाह भ्रातृस्नेहेन परिप्लुत इति । लौकिक-
दृष्ट्या स्नेहेन च गत इत्यर्थः ॥२०॥२१॥

व्याख्यार्थ—“राम” नाम कहने से यह बताया कि वे साधन रूप हैं और “भगवान्” विशेष से जताया कि जो सुना है वह सत्य है, क्योंकि आप भगवान् होने से सत्य और झूठ को जान सकते हैं, शिशुपाल के सम्बन्धी होने से वे विपक्षी अर्थात् शत्रु हैं । उनकी सेना का उद्यम सुनकर भगवान् अकेले कन्या को लेने के लिए गए हैं, इसलिए वहाँ निश्चय युद्ध होने की शंका समझ जबर्दस्त सेना

लेकर तुरन्त कुण्डिनपुर गए । कृष्ण भगवान् हैं, उसके लिए सन्देह क्यों ? जो सन्देह से गए, इसके उत्तर में कहते हैं कि भ्राता के स्नेह से हृदय आर्द्र हो गया था, यह सब लौकिक दृष्टि से और स्नेह प्रकट करने के लिए गए ॥२०, २१॥

आभास—एवं सर्वसंविधानमुक्त्वा अत्यन्ताकाङ्क्षायामेव भगवान् समायातीति रुक्मिण्याः आकाङ्क्षा निरूपयति भीष्मकन्येति सप्तभिः सार्धैः ।

आभासार्थ—इसी तरह सब प्रकारसे कह कर, बताते हैं कि भगवान् तब पधारते हैं कि जब अत्यन्त आकांक्षा होती है, इसलिए रुक्मिणी को आकांक्षा का “भीष्मकन्या” श्लोक से साढ़े सात श्लोकों से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—भीष्मकन्या वरारोहा काङ्क्षन्त्यागमनं हरेः ।

प्रत्यापत्तिमपश्यन्ती द्विजस्याचिन्तयत्तदा ॥२२॥

श्लोकार्थ—वरारोह भीष्मक राजा की कन्या हरि के आगमन की राह देखती थी, भेजे हुए ब्राह्मण को जब लौटता हुआ न देखा तब चिन्ता करने लगी ॥२३॥

सुबोधिनी—भीष्मकन्येति न स्वातन्त्र्येण स्थातुं शक्नोति । स हि पिता भयानकः, कन्या चास्वतन्त्रा, कन्यात्वादेव लोकाविगमनम् । वरारोहेति भोगयोग्यावस्था निरूपिता । तेन दान-समनन्तरमेव सर्वनाशः सूचितः । अतोऽतिदुःखिता उपायान्तरमलभमाना हरेरेव सर्वदुःखहर्तुः आग-	मनं काङ्क्षन्ती जाता । ततः स्वस्य प्रत्यापत्ति-मपश्यन्ती तदा द्विजस्य, द्विजमचिन्तयत् । द्विजस्य वा प्रत्यापत्तिम् । प्रत्यापत्तिर्नाम स्थानात्प्रच्यु-तस्य पुनः स्वस्थानागमनम् । स्वयमपि भगवतः सकाशात् प्रच्युता, पुनर्भगवत्प्राप्तिमलभमाना, प्रापकं द्विजमेवाचिन्तयत् ॥२२॥
--	---

व्याख्यार्थ—रुक्मिणी भीष्मक राजा की कन्या है, इससे स्वतन्त्र रह नहीं सकती है । कारण कि वह पिता भयानक है और कन्या स्वतन्त्र हो नहीं सकती है । कन्यापन से ही लोक में निन्दा नहीं है, “वरारोहा” विशेषण से रुक्मिणी अवश्य भोग योग्य बताई है, अतः यदि शिशुपाल को मैं दी गई तो उसी समय मेरा सर्वनाश हो जायगा । इससे बहुत दुःखी हुई, दुःख मिटाने का कोई दूसरा उपाय न देखकर सर्व दुःखों के हरण करने वाले हरि का आगमन ही चाहने लगी । पश्चात् भेजे हुए अपने ब्राह्मण को लौटता न देख, उसका ही चिन्तन करने लगी कि वह अब तक क्यों नहीं लौटा

है ? स्वयं भी भगवान् के पास भुकी फिर भगवान् की प्राप्ति न होने से भगवान् के पास पहुँचने वाले ब्राह्मण का चिन्तन करने लगी ॥२२॥

आभास—तस्याश्चिन्तामाह अहो इति सार्धैस्त्रिभिः गुणैभ्योऽप्यधिकेति ख्यापयितुम् ।

आभासार्थ—उसकी चिन्ता गुणों से भी अधिक हे यों प्रसिद्ध करने के लिए “अहो” इति इन साढ़े तीन श्लोकों में कहते हैं ।

श्लोक—अहो त्रियामान्तरित उद्वाहो मेऽल्पराघसः ।

नागच्छत्यरविन्दाक्षो नाहं वेद्म्यत्र कारणम् ।

सोऽपि नावर्ततेऽद्यापि मत्सन्देशहरो द्विजः ॥२३॥

अपि मथ्यनवद्यात्मा दृष्ट्वा किञ्चिज्जुगुप्सितम् ।

मत्पाणिग्रहणे नूनं नायाति हि कृतोद्यमः ॥२४॥

श्लोकार्थ—मुझ मन्द भागिन के विवाह में केवल एक राति ही बाकी है । कमल-नयन भगवान् तो अब तक नहीं पधारे हैं इसका क्या कारण है, यह मैं समझ नहीं सकती हूँ, जो ब्राह्मण मेरा सन्देश लेकर गया था वह भी अब तक लौट कर नहीं आ रहा, जिनने मेरे लिए पहिले उद्यम किए वे निर्दोष भगवान् क्या मुझ में कोई दोष देख कर मेरा पाणिग्रहण करने के लिए नहीं आते हैं ? ॥२३-२४॥

सुबोधिनी—त्रियामा रातिः, तयैवान्तरित उद्वाहः एकैव रात्रिर्मध्ये वर्तत इत्यर्थः । त्रियामात्वेनाल्पकालता सूचिता । अतोऽग्रिमदिवसे महाप्रलय एवेति चिन्ता । अल्पराघस इति अल्पसिद्धियुक्तायाः । भाग्यसिद्धिश्चेत् महती भवेत्, तदा शीघ्रमेवेष्टसिद्धिः । सन्देशादल्प-वचनम् । चिन्तायां द्वितीयां कोटिमह नागच्छ-त्यरविन्दाक्ष इति । दृष्ट्यैव तापनाशकः । अत्र कारणमहं न वेद्मि । नन्वागमनसमयो न जातः

किमिति चिन्त्यत इति चेत्, तत्राह सोऽपि नाव-र्तत इति । आगच्छतीति ज्ञाते चिन्ता न भवेत् । आगमनकालश्च सन्निहितः । तत एकंतरनिश्चये अस्वास्थ्यं वा उत्पाद्यं भवति । येन श्वो विवाहो न भवेत् । अपिशब्दादन्यो वा भगवता प्रेषितः स्यात्तेनापि वा । अद्यापीति सन्निहितः समयः । ननु ब्राह्मणाः क्वचित्तपः करिष्यन्ति, को नियमस्तेषामागमन इति चेत्, तत्राह मत्स-न्देशहरो इति । सन्देशं यो नयति, तत्रापि द्विजः

सत्यवादी । द्वितीयं जन्म सत्यार्थमेवेति । तत्र स्वयमेव हेतुं कल्पयति । अपीति सम्भावना-
याम् । भगवाननवद्यात्मा किञ्चिद्भ्रातृपक्षपात-
लक्षणं जुगुप्सितं दृष्ट्वा, तत्कारणभूतं पूर्व-
जन्मस्थितं वा मत्पाणिग्रहणे प्रथमत उद्यमं

कृत्वापि, ब्राह्मणमपि स्थापयित्वा सङ्गेनेष्या-
मीति पश्चान्नागतः । ततो ब्राह्मणोऽपि शीघ्र-
मागन्तुमसमर्थः नागत इति तदाह । मत्पाणि-
ग्रहणे कृतोद्यमोऽपि नूनं नायाति ॥२३-२४॥

व्याख्यार्थ—रात्रि तीन पहर रहती है, विवाह में बाकी इतना ही समय रहा है, अर्थात् विवाह होने के बीच में एक ही रात्रि शेष है । रात्रि तीन पहर की कहने से यह बताया कि विवाह में बाकी थोड़ा समय है, अतः कलके दिन मेरे लिए महाप्रलय हो होने वाला है, इससे चिन्ता हो रही है । मैं अभागिन हूँ, यदि अच्छा भाग्य होता या बड़भागिनि ही होती तो शीघ्र ही मेरे मन की कामना पूर्ण होती । निश्चय न होने से थोड़े ही वचन कहे हैं । चिन्ता होने का दूसरा कारण बताती है कि कमल नेत्र भगवान् नहीं आए हैं, वे तो दृष्टि मात्र से तप को नाश करने वाले हैं । उनके न आने का कारण मैं समझ नहीं सकती हूँ । जब तक आने का समय नहीं हुआ है तो चिन्ता क्यों करती है ? इसके उत्तर में कहती है, कि भेजा हुआ ब्राह्मण भी नहीं लौटा है, यदि यह मालूम हो जाय कि आ रहे हैं तो चिन्ता न हो आने का समय तो निकट ही है, इससे एक वान का निश्चय हो जाय तो अस्वस्थता वा निश्चितता हा जाय कि कल विवाह न होगा । “अपि” शब्द के आशय को प्रकट करते हुए कहते हैं, कि भगवान् ने कोई दूसरा भेज दिया हो, उससे भी विवाह रुक जावे । “अद्यापि” अब तक शब्द कहने का भाव है कि समय निकट है ब्राह्मण है, वे कदाचित् तपस्या करते होंगे, अतः उनके आने का कोई नियम नहीं है यदि यों कहे तो इस पर कहती है कि वह ब्राह्मण ‘मत्सन्देशहर’ मेरा सन्देश ले जाने वाला है । जो केवल सन्देश ले जाता है वह भी सत्यवक्ता होता है । यह तो ब्राह्मण है, इससे निश्चय सत्यवादी है । सत्य के लिए ही द्वितीय जन्म है, उस विषय में स्वयं ही हेतु की कल्पना करती है कि हो सकता है कि शुद्ध अन्तः-करण वाले निर्दोष भगवान् ने यहाँ कुछ भ्राता के पक्षपात वाला निन्दित कार्य देखा है, जिस कारण से वा पूर्व जन्म का कोई कारण है उससे मेरे पाणिग्रहण का पहले उद्यम करके भी और ब्राह्मण को भी रोक कर कि साथ में ले जाऊँगा, इस प्रकार निश्चय कर फिर नहीं आए । इस कारण से ब्राह्मण भी शीघ्र आने में असमर्थ आ है, अतः ब्राह्मण भी नहीं आया है, यह भाव “कृतोद्यम” पद से प्रकट किया है ॥ २३-२४॥

आभास—ननु सदुष्टा अपि केचन परिगृह्यन्ते, न हि सर्वथा निर्दुष्टा भवन्ति ।
तथा सति कस्यापि परिग्रहो न स्यात्, इति चेत् । सत्यम् । तत्र अदृष्टादिकं प्रेरकं
सम्पद्यते । मम तु तस्याप्यभाव इत्याह दुर्भगाया इति ।

आभासार्थ — कई कन्याओं से दोष वाले पति भी ग्रहण किए जाते हैं । कोई सर्व प्रकार दोष रहित नहीं होता है । यदि निर्दोष हो पति चाहिए तो किसी का भी पाणिग्रहण हो नहीं सकता है । यदि यों कहते हो तो सत्य है, किन्तु इस प्रकार सदोष पति को प्राप्ति में अदृष्ट आदि प्रेरक होते हैं, मेरे लिए उसका भी अभाव है, यों “दुर्भगाया” श्लोक में कहती है ।

श्लोक—दुर्भगाया न मे धाता नानुकूलो महेश्वरः ।

देवी वा विमुखा गौरी रुद्राणी गिरिशा सती ॥२५॥

श्लोकार्थ—अभागिन मुझ पर क्या ब्रह्मा, महादेव मेरे अनुकूल नहीं है ? गिरिजा, सती, रुद्राणी और देवी पार्वती भी रूठी है ॥२५॥

सुबोधिनी—पतिस्तु कृष्ण एव । अना-
गमने यथाकथञ्चित् भ्रान्तापि भूत्वा तत्र
गमिष्यामि, यतो ब्रह्मा, पतित्वेन भगवन्तमेव
विचारितवान्, परं दुर्भगा भविष्यामि । अतो
दुर्भगात्वसम्पादकभाग्यस्य विद्यमानत्वात्
धातापि नानुकूलो जातः । आनुकूल्ये तु इदा-
नीमेव भगवानागच्छेत् । अतो दुर्भगात्वमपि
न भवेत् । ननु सौभाग्य शिवाधीन पार्वत्य-

धीनं वा, तत्राह नानुकूलो महेश्वर इति ।
देवतारूपा दुर्गा वा विमुख । अनाराधनात् ।
सा हि गौरी गुरो पत्नी, गुरुरूपदिशति, ।
तच्छक्तिभाग्यं सम्पादयतीति, तमेव सम्बन्धं
प्रकटयति रुद्राणीति । रुद्रो हि गुरुः, स्वयमपि
गिरिशा । सतीति पतिव्रत्यबलमपि तस्याः
सूचितम् ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—पति तो कृष्ण ही है, वे नहीं पधारें है इस विषय में जैसे तैसे भ्रान्त भी होकर वहाँ जाऊँगी, क्योंकि ब्रह्मा ने मेरा पति भगवान् ही हो वैसे विचार किया है किन्तु अभागिन बनूँगी, जो कृष्ण पति न होंगे, अतः दुर्भागिनी बनाने वाले भाग्य के होने से ब्रह्मा भी अनुकूल नहीं है, यों भासता है यदि ब्रह्मा अनुकूल हो तो भगवान् अब ही पधारने चाहिए, यदि यों अब पधारें तो दुर्भागिनी देखने में न आये । यदि कहो कि सौभाग्य तो महादेव और पार्वती के हाथ में है, तो महादेव और देवता रूप दुर्गा भी अनुकूल नहीं है, क्योंकि मैंने उनकी आराधना नहीं की है, इसलिए वे भी अनुकूल नहीं है । वह दुर्गा गौरी है, अर्थात् गुरु की पत्नी है गुरु उपदेश देते हैं, उनकी शक्ति भाग्य का सम्पादन करती है अर्थात् भाग्य बनाती है । उसी सम्बन्ध को रुद्राणी प्रकट करती है, रुद्र गुरु हैं, आप भी गिरिशा “जा” है और सती है, सती कहने से यह बताया है कि इसमें पतिव्रत बल भी है ॥२५॥

आभास—एवं चिन्तया कियति काले अतीते चिन्ताधिक्ये उत्पत्स्यमाने मध्ये तद्विघातकं शकुनं जातमित्याह एवं चिन्तयतीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार जब चिन्ता करते हुए कुछ काल बीता और चिन्ता बढ़ने लगी, तब बीच में चिन्ता को नाश करने वाले शकुन हुए, जिनका वर्णन किया जाता है !

श्लोक—एवं चिन्तयती बाला गोविन्दहृतमानसा ।

न्यमोलयत कालज्ञा नेत्रे चाश्रुकलाकुले ॥२६॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने जिसका मन हर लिया है, वैसेो समय को पहिचानने वाली बाला इस प्रकार चिन्ता करने से आँसुओं से पूर्णनेत्रा हो गई और उसने नेत्र मूंद लिए ॥२६॥

सुबोधिनी—बाला मुग्धा । तत्रापि गोविन्देन हृतमानसा । विह्वला सती, रोदने प्रादुर्भूते कृतमङ्गलायाः तदनुचितमिति अश्रुकलाकुले नेत्रे अमीलयत् । नन्वेतादृशे रोद-

नमुचितं तत्कथं निमीलनमिति चेत्, तत्राह कालज्ञेति । सा ह्ययं शुभकाल इति जानाति, ग्रहानुगुण्यात् । अतो भगवानेवायास्यतीति निश्चित्य तथा कृतवतीत्यर्थः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—बाला कहने का भावार्थ यह है कि रुक्मिणी उस समय १६ वर्ष की हो गई थी, अतः मुग्धा^१ है । ऐसी अवस्था में फिर भगवान् ने मन हरण कर लिया है, जिससे व्याकुल हो गई, अतः रोदन आने लगा, किन्तु मंगल कृत्य हुआ है, उसको रोना उचित नहीं है । इसलिए आँसुओं से पूर्ण नेत्रों को मूंद लिए, वैसेी अवस्था में तो रोना ही आना चाहिए सो नेत्र कैसे बन्द कर दिए ? जो कहो तो उसका उत्तर यह है कि “कालज्ञा” समय को पहचानती है । यह शुभ समय है, इसमें रुदन नहीं करना चाहिए । ग्रहों के अनुकूल होने से भगवान् अवश्य पधारेंगे, यह निश्चय कर वैसे किया अर्थात् नेत्र मूंद लिए ॥२६॥

आभास—किञ्च । न केवलं कालज्ञानेनैव तूष्णीं स्थिता, किन्त्ववयवस्फुरणेन शकुनमपि प्राप्तवतीत्याह एवं बध्वा इति ।

आभासार्थ—और विशेष केवल कालज्ञान से ही नेत्र मूंद कर मौन नहीं हुई किन्तु अवयवों के फरकने से सकुन भी हुए जिससे मौन हो गई जिसका वर्णन “एवं वधवा” श्लोक में किया है ।

श्लोक—एवं वधवाः प्रतीक्षन्त्या गोविन्दागमनं नृप ।

वाम ऊरुर्भुजो नेत्रमस्फुरन्प्रियभाषिणः ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! इस प्रकार गोविन्द के आने की प्रतीक्षा^१ करती हुई बधू के शुभ सूचक बायें तीन अंग उरु^२, भुजा और नेत्र फरकने लगे ॥२७॥

सुवाधिनो—वधूविवाहसमयस्था, सर्वतो रक्षायुक्ता वा । गोविन्दागमनं प्रतीक्षन्त्याः । वाम ऊरुर्भुज इति । वामे ऊरुः भुजः नेत्रं चास्फुरन् । वामे अङ्गे ऊर्वादित्रयस्फुरणं स्त्रीणां शुभसूचकम् । प्रियभाषिण इति त्रयाणां विशेष-	णम् । शुभसूचका इत्यर्थः । अन्यतरस्यामिति नपुंस (कै) कशेषो न भवति । अथवा । प्रिय-भाषिणः सम्बन्धीनि एतानीति प्रियं श्रोष्यामीति भावः ॥२७॥
--	---

व्याख्यान—“वधू” शब्द से यह प्रकट किया है कि विवाह करने के योग्य है एवं यह विवाह का शुभ समय है अथवा चारों ओर से उसकी रक्षा हो रही है । वैसी गोविन्द के आने की बाटजोही कर रही थी, तो उस समय ही उसके बाएँ तीन अंग उरु, भुजा और नेत्र फरकने लगे । यह सकुन स्त्रियों के लिए शुभसूचक है । जिसके लिए “प्रिय भाषिणः” पद दिया है । यह प्रत्येक अंग का विशेषण समझना चाहिए । व्याकरण के अनुसार नपुंसक में “अन्यतरस्याम्” इस वाक्य से एक शेष समास नहीं हुआ है, अथवा ये शुभ की सूचना देने वाले सम्बन्धी हैं, अतः “शुभ” सुनूँगी ॥२७॥

आभास—ततस्तदनन्तरमेव ब्राह्मणः समागत इत्याह अथेति ।

आभासार्थ—यों होने के पश्चात् शीघ्र ही ब्राह्मण आ गया, जिसका वर्णन “अथ” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—अथ कृष्णविनिर्दिष्टः स एव द्विजसत्तमः ।

अन्तःपुरचरिं देवीं राजपुत्रीं ददर्श ह ॥२८॥

श्लोकार्थ—इतने में ही तो श्रीकृष्ण का भेजा हुआ वही ब्राह्मण आ पहुँचा और अन्तःपुर में विराजती हुई देवी राजपुत्री को देखा ॥२८॥

सुबोधिनी—तस्य तत्समय एव समागमनं काकतालीयं चेत् तदा भगवदर्थमेव तस्या आकाङ्क्षा निरूपितेति न स्यात्, अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं भगवानेव तस्मिन्समये 'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे' इति वाक्यात् प्रेषितवानित्याह कृष्णविनिर्दिष्ट इति । तद्विनिश्चयादुभयविधादपि विशेषेण समागत इति । भिन्नप्रक्रमोऽप्ययशब्दः भगवतैव तथा कृत इति ज्ञापनार्थः । द्विजसत्तम इति ।

अत्यन्तमन्तरङ्गो भगवद्भक्तः । अतस्तेन सवतापनिवृत्तिर्युक्तैव । द्विज एव मित्रम् । तत्रापि सन्देशहारी विशिष्टः । तत्रापि तत्र गतो भगवत्सख्यं प्राप्त सत्तमो भवति । अत एवान्तःपुरचरीमपि राजपुत्रीमपि स्वयमेव ददर्श । भगवद्विन्तनाद्देवतैव तदावेशनाज्जाता । यथा ब्राह्मणे धर्मत्रयम्, तथा तस्यामपि । आध्यात्मिकादि-धर्मत्रयं वक्तु विशेषणत्रयम् । हेत्याश्चर्यं ॥२८॥

व्याख्यानार्थ—उसका उस समय ही आ पहुँचना जो काकतालीय न्याय की तरह हुआ हो तो उस समय भगवान् के लिए ही उसकी जो आकाङ्क्षा वर्णन की जाती है, अतः उसके निवारण के लिए कहते हैं कि भगवान् ने ही "ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे" इस वाक्य के अनुसार उस ब्राह्मण को भेजा है, इसलिए श्लोक में "कृष्णविनिर्दिष्टः" कृष्ण का भेजा हुआ कहकर यह सिद्ध किया है कि ब्राह्मण का उस समय आना काकतालीय न्याय से नहीं हुआ है, दोनों प्रकार के उनके निश्चय हो जाने में ही विशेष प्रकार से आया । "अथ" शब्द यह प्रसंग पृथक् है, यह दिखाने के लिए भी है अर्थात् भगवान् ने ही वैसे किया है यह जताने के लिए "द्विजसत्तमः" ब्राह्मण को द्विज न कह कर "द्विजसत्तमः" कहा, जिसका आशय स्पष्ट करते हैं कि अत्यन्त अन्तरंग भक्त है, अतः वैसे ब्राह्मण से ताप की निवृत्ति होनी योग्य ही है । केवल "द्विज" भी मित्र होता है, उसमें भी यदि संवेश ले जाने वाला हो तो विशेष हितकारी होता है । उसमें भी द्वारका गया, वहाँ भगवान् की प्रीति प्राप्त की, इसलिए यह सत्तम है । सारांश कि अब यह "द्विजसत्तम" है, इस कारण से ही अन्तःपुर में ही विचरने वाली राजपुत्री को स्वयं ही देखा । "देवी" क्यों हुई ? भगवान् के चिन्तन करने से भगवदावेश से "देवी" बन गई । जैसे ब्राह्मण में तीन धर्म हैं वैसे इसमें भी, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इन तीन धर्मों को करने के लिए ही तीन विशेषण कहे हैं । "ह" शब्द आश्चर्य वाचक है ॥२८॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह सा तमिति ।

अभासार्थ—इसके बाद जो कुछ हुआ वह "सा तं" श्लोक में कहते हैं ।

।

श्लोकार्थ—धीरे धीरे चले आते प्रसन्न मुख ब्राह्मण को देख, लक्षणों से ही समझने वाली मन्द हसती हुई वह सती हकिमणो उससे पूछने लगी ॥२६॥

सुबोधिनी—कुत्र मानसचिन्तनम्, कुत्र पदार्थोपस्थितिरिति, तादृशं दुर्लभमिव सा तं दृष्ट्वा समपृच्छत् । नन्विङ्गितज्ञानेनैव कथं न निश्चयः, तत्राह प्रहृष्टवदनमिति । ब्राह्मणे धर्मद्वयं दृष्ट्वा विवाहस्वीकारः समागमनं च लक्षितवतो । मुख-हर्षात्स्वीकारः, शनैरागमनात्कर्तव्यान्तराभाव-सूचकं समागमनमिति । तस्या अपि लक्षणज्ञाने

हेतुद्वयमाह सती लक्षणाभिज्ञेति । पातिव्रत्यधर्मेण शास्त्रानुसारेणापि ज्ञानम् । तर्कितमेतन्न प्रमितमिति प्रमानिरूपणार्थं आलक्ष्यापि समपृच्छत् । शुद्धं स्मितमिति हर्षात् मन्दहासः । स च ब्राह्मणं प्रति शुद्ध एव । अथवा । इष्टपूरणात् लौकिकवत् स्मितं भविष्यतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं शुद्धता निरूपिता ॥२६॥

व्याख्यार्थ—कहाँ मन से पदार्थ का चिन्तन करना और कहाँ उस पदार्थ का वहाँ प्राप्त हो जाना । यों होना दुर्लभ जैसा समझ और वह हो गया है उसको देख कर पूछने लगी, इंगित के (सकेत के) ज्ञान से ही क्यों न निश्चय कर लिया ? इसके उत्तर में कहा गया है कि ब्राह्मण के इंगितों से उसमें दो धर्म देखे । एक प्रसन्न मुख था, जिससे जान लिया कि विवाह की स्वीकृति भगवान् ने दे दी है, और दूसरा वह स्वस्थ होकर धीरे धीरे आ रहा था, जिससे समझ लिया कि भगवान् भी पधार रहे हैं । केवल इंगित से इसने कैसे समझ लिया इसका समाधान यह किया है कि इसमें भी दो धर्म हैं । १. प्रसन्न मुख, २. पातिव्रत्यधर्म और दूसरा । शास्त्रों से लक्षणों

का ज्ञान इन दो धर्मों से इसने जान लिया है । यह तर्क से जाना है, तर्क से जाना हुआ पूरा प्राणिक ज्ञान नहीं माना जाता है, अतः इस प्रकार जान कर भी फिर पूछने लगी, मन्द हास ब्राह्मण में अपना शुद्ध भाव प्रकट करने लगी अथवा केवल (स्मित) मन्दहास वाचक शब्द न दे जो साथ में (शुचि) शुद्धता वाचक विमेषण दिया है, जिसका आशय है कि इसका यह मन्द अपने मनोरथ पूर्ण होने से लौकिक की तरह नहीं है ॥२६॥

आभास—ततो ब्राह्मणस्य वचनद्वयमाह तस्या आवेदयदिति ।

आभासार्थ—इसके बाद ब्राह्मण के दो वचन 'तस्या' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—तस्या आवेदयत्प्राप्तं सरामं यदुनन्दनम् ।

उक्तं च सत्ययचनमात्मोपनयनं प्रति ॥३०॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण ने उसको पूरा तरह जतलाया कि भगवान् बलरामजी सहित आ पहुँचे हैं, और आपका पाणिग्रहण करेंगे तथा अपने साथ ले जाएँगे, ये वचन परिहास से नहीं कहे हैं, किन्तु सत्य कहे हैं ॥३०॥

सुबोधिनी—प्राप्तं भगवन्तमावेदयत् । अन्या-
र्थमप्यागमनं सम्भवतीति तन्निवृत्त्यर्थं उक्तं च
आवेदयत् । सराममिति कलहेऽपि शङ्काभावाय
तन्मनोरथपूर्त्यै च । यदुनन्दनमिति तथा करणे
भक्तकृपालुत्वं हेतुस्तः । यो हि पितुराज्ञोल्लङ्घन-
कर्तारं भक्तत्वाद्यदुमानन्दयति, तेनैव भावेन
त्वामप्यानन्दयति । ‘स्त्रीषु नर्मविवाहे चे’ति ।

वाक्यात् कदाचिदसत्यमपि वदेत्, तद्व्यावृत्त्यर्थ-
माह सत्यवचनमिति । चकारात्स्वाभिप्रायनिवे-
दनमपि यद्भगवता कृतं तदप्युक्तवान्, न केवल-
मुद्वाहार्थम्, किन्तु उपनयनं प्रति समीपे नेष्या-
मीति यथाभिलषितसिद्धिः । उपगमनपदेऽपि स
एवार्थः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् पधार गए हैं, ऐसा निवेदन किया, पधारना तो दूसरे काम के लिए भी हो सकता है ? इस भ्रम को मिटाने के लिए केवल “प्राप्त” न कह कर “आवेदयत्” शब्द भी दिया है । जिसका भावार्थ है कि तुम्हारे लिए ही पधारे हैं और अकेले भी नहीं हैं, बलरामजी भी आ गए हैं । जिससे यह बताया कि कलह होगा ऐसी शका भी मत करो, क्योंकि रामजी उसको टाल देंगे जिससे आपका कार्य हो जायगा । भगवान् का मनोरथ भी पूर्ण हो जायगा । भगवान् का नाम ‘यदुनन्दन’ दिया है, जिसका आशय है कि जो भगवान् पिता की आज्ञा का उल्लंघन करने वाले यदु को भक्त होने के कारण आनन्द देते हैं वे उसी भाव से आपको भी आनन्द देते हैं । उसी प्रकार करने में भक्त पर कृपालुपन का कारण है । “स्त्रीषु नर्मविवाहे” इस उक्ति के अनुसार किसी समय ऐसी बात में झूठ भी बोल जाता है, इसलिए कहता है कि यह परिहास^१ वा झूठ नहीं है, किन्तु सत्य वचन है । “च” शब्द से भगवान् ने जो अभिप्राय प्रकट किया था वह कह कर बता दिया । भगवान् केवल विवाह के लिए नहीं आए हैं, किन्तु अपने साथ उसको ले जाऊँगा जिससे उसको अभिलाषा पूर्ण हो, इसलिए भी पधारे हैं । “उपगमन”^२ पद में भी यही अर्थ समायामा हुआ है ॥३०॥

आभास—ततः पूर्णमनोरथा तस्मै वरं दत्तवतीत्याह तमागतमिति ।

आभासां—मनोरथ पूर्ण देख उस ब्राह्मण को “तमागतं” श्लोक में वर्णन किया हुआ “अभीष्ट” देने लगी ।

श्लोक—तमागतं समाज्ञाय वेदभीं हृष्टमानसा ।

न पश्यन्ती ब्राह्मणाय प्रियमन्यन्ननाम सा ॥३१॥

श्लोकार्थ—उनको ले आया है यह जानकर रुक्मिणी प्रसन्न हुई ब्राह्मण को देने के लिए नमन से प्रिय अन्य कोई वस्तु नहीं देखी, अतः नमस्कार ही किया ॥३१॥

सुबोधिनी—भगवति समागते स्वयं भगव-
दीयैवेति सर्वं भगवते समर्पितमिति वेदभीत्वादेव
न कर्म ब्राह्मणस्य सकलं करिष्यति । हृष्टमान-
सेति स्वार्थं न किञ्चित्प्राप्तिवती, येन किञ्चि-
द्वत्तपि तुष्टो भवेत् । मोक्षदातारमपि यो दत्त-
वान्, तस्मै किं देयमिति वैभवमपि न देयमि-

त्यहा ब्राह्मणायेति । अत एवान्यत्प्रियं नास्तीति
सा ननाम । नमोनम इत्येतावत्सदुपशिक्षित-
मिति । यत्र न कोऽपि प्रतीकारः, तत्र नमस्कार
इति । भगवांश्च ब्राह्मण्यदेव इति ब्राह्मणनम-
स्कारो भगवद्भार्याया युक्त एव । अनेन देया-
भावे सर्वत्रैवमेव कर्तव्यमिति साधनं निरूपितम् ॥३१॥

व्याख्यान—रुक्मिणी स्वयं भगवान् को ही है, इसलिए भगवान् के पधार जाने पर जो कुछ उसके पास था वह सब भगवान् को अपण कर दिया । विदर्भदेश में उत्पन्न होने से ब्राह्मण का कर्म सफल न कर सकेगी, भगवान् के पधारने से प्रसन्न चित्त हो गई, जिससे अपने लिए कुछ भी प्रार्थना नहीं की जो चाहती थी वह परमानन्द सत्य द्रव्य प्राप्त हो गया । उसके मिलने वाले ब्राह्मण को कुछ दे कर प्रसन्न करे, ऐसी कोई वस्तु नहीं देखी, कारण कि जिस ब्राह्मण ने मोक्ष देने वाले को दिए हैं, उसको क्या दिया जावे ? वैभव दो, तो कहती है कि वैभव भी नहीं दिया जा सकता है, कारण कि यह ब्राह्मण है, इसको वैभव की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ब्राह्मणों का वैभव तप है । उसमें भी यह द्विज सत्तम होने से भक्त भी है, इसलिए धनादि देना व्यर्थ है । इस कारण से नमस्कार के सिवाय दूसरा कोई भी पदार्थ ब्राह्मण को प्रिय नहीं है इसलिए उसने ब्राह्मण को नमस्कार ही किया । “नमो नमः” से सदुपदेश दिया । जहां कोई भी बदला नहीं दिया जा सकता हो वहाँ “नमस्कार” ही प्रतीकार है । भगवान् स्वयं ब्राह्मण्य देव हैं, इसलिए भगवान् की पत्नी ब्राह्मण को नमस्कार करे, यह योग्य ही है, इससे यह शिक्षा दी कि जब देने की वस्तु का अभाव होवे तब सर्वत्र इस प्रकार ही “नमो नमः” करना योग्य है, यह साधन निरूपण किया है ॥३१॥

आभास—भगवान् नगरमध्ये समागतः, ब्राह्मणोज्जतःपुरे । ततस्समागतयोः विवा-
हात्पूर्वकर्तव्यं वक्तव्यमिति, पितुरदाने हरणं वा युक्तमिति, प्रसह्य हरणेऽपि मातापित्रो-
र्दानमावश्यकमिति, अन्यथा न धर्म्यः स्यादिति पितुर्दानार्थं गोप्यार्थं च तादृशीं
कथामाह प्राप्तौ श्रुत्वेति त्रिभिः ।

आभासार्थ—भगवान् तो नगर में पधारे और ब्राह्मण अन्तःपुर में भीतर गया । उसके पश्चात् आए हुए दोनों का विवाह से प्रथम कर्तव्य है वह कहना चाहिए । पिता विवाह कराके न देवे तो हरण करना योग्य है, किन्तु बलात्कार से हरण करने में भी माता पिता का दान करना आवश्यक है नहीं तो वह विवाह धर्म युक्त नहीं माना जाएगा, इसलिए पिता के दान को गुप्त रखने के लिए वैसी कथा 'प्राप्तौ श्रुत्वा' श्लोक से तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितुर्द्वाहप्रेक्षणोत्सुकौ ।

अभ्ययात्तूर्यघोषेण रामकृष्णौ समर्हणैः ॥३२॥

मधुपर्कमुपानीय वासांसि विरजानि सः ।

उपायनान्यभीष्टाभि विधिवत्समपूजयत् ॥३३॥

श्लोकार्थ—अपनी कन्या के विवाहोत्सव देखने के उत्सुक होने से दोनों भ्राताओं का आना सुनकर राजा भीष्म पूजा की सामग्री लेकर बाजे-गाजे के साथ सामने सत्कार करने के लिए आए और साथ में मधुपर्क, शुद्ध वस्त्र भी ले आये थे । विधि के अनुसार पूजन कर वस्त्रादि दे कर उन्हें सुशोभित किये ॥३२-३३॥

सुबोधिनी—स्वदुहितुर्द्वाहप्रेक्षणे सम्बन्धित्वा-
दुत्सुकौ समागताविति लोके भ्रममुत्पाद्य स्वयं
दातुमेवागतः । स्वदुहितुः एतौ प्रकर्षेणाप्तौ, एकः
पतिरपरो भावुक इति । एकस्तूद्वाहोत्सुकः, अपरः
प्रेक्षणोत्सुक इति । अत एव अनाकारितावप्या-
गतौ । लोकेऽप्युत्सुकानां नाकारणम् । तथाप्य-
ग्रिमकृत्यं कर्तव्यमिति तूर्यघोषेण समर्हणैः सह
आभिमुख्येन गतः । शिशुपाले तु 'तं वै विदर्भा-
धिपति'रिति अग्रे सर्वेषामेव वक्ष्यति । मध्ये तु
भगवतो विशेषाकारेण यथा वराय क्रियते ।
गमन एव वाद्यसहितः वरपूजार्थं सम्पादितद्रव्यैः

सह । ततो मधुपर्कानयनम् । ततो विरजानि
वासांसि । विरजानीति शोभार्थं दानव्यतिरेक
उक्तः । अन्येभ्यस्तु स्वख्यापनार्थं राजसगुणा-
दीयत इति वस्त्राण्यविरजान्येव भवन्ति । नूत-
नानि तु प्रक्षालितानि सर्वेभ्य एव दीयन्त इति
विशेषणं व्यर्थं स्यात् । अथवा । कन्यां दातुं
आदौ अखण्डानि शुद्धान्येव वस्त्राणि दत्तवान् ।
यदप्यग्रे देयम्, तदपि दत्तवानित्याह उपाय-
नानीति । अभीष्टानि वरवध्वोः । विधिवदिति
यथाविवाहविधि ॥३३॥

व्याख्यार्थ—अपनी पुत्री के विवाहोत्सव के सम्बन्धी होने से देखने के लिए उत्सुक थे, अतः आये हैं । इस प्रकार लोक में भ्रम पैदा कर स्वयं भीष्मक कन्या देने के लिये आया । ये दो राम कृष्ण जो आये हैं, उनमें से एक श्रीकृष्ण पति हैं और दूसरा राम भावुक है । कृष्ण विवाह का उत्सुक होने से पति है और राम उत्सव देखने का उत्सुक होने भावुक से है । इस कारण से ही बिना

बुलाये भी आये हैं। लोक में भी जिनको प्यारी वस्तु को पाने या देखने की लालसा होती है, तो भी आगे जो कार्य करना है वह करना ही चाहिए। यह चित्त में निश्चय कर बाजे-गाजे के साथ पूजा का सामान लेकर सामने आया। शिशुपाल के आने पर तो "तं वै विदर्भाधिपति" इस श्लोक में कहे अनुसार सामने गया। पश्चात् सामना करने पर सम्मुख आये हुए की जैसी पूजा जिस प्रकार ठहराना आदि वैसे आगे सबों का ही कहेगा, बीच में तो भगवान् की विशेष रूप से जैसे वर (दुलहा) की की जाती है, वैसे करने लगा। भोष्मक सत्कार करने के लिए जब जाने लगा तब बाजे वगेरे (वाद्य साज) साथ में ले चला तथा वर की पूजा के लिए जिन द्रव्यों की आवश्यकता उस समय होती है, वे सब तैयार कर साथ में लिए थे। वहाँ पहुँचने के बाद पूजा के प्रारम्भ में मधुपर्क मंगाया। पश्चात् भगवान् को वस्त्रों से सुशोभित करने के लिए शुद्ध सात्विक वस्त्र अर्पण किए। वस्त्रों का विशेषण जो "विरज" दिया है, जिसका भाव है कि ये वस्त्र दानार्थ नहीं है, किन्तु शृङ्गार के लिए सात्विक वस्त्र हैं। दूसरों को तो जो वस्त्र दिए जाते हैं वे अपने यश के लिए राजसगुण (भाव) से दिए जाते हैं, वे अविरज ही होते हैं। यदि विरज का भाव नवीन वा स्वच्छ किया जाय तो नवीन वा स्वच्छ तो सर्व को दिए जाते हैं जिससे 'विरज' विशेषण देना व्यर्थ हो जाता है। इसलिए विरज का भाव है "सात्विक वस्त्र" अथवा कन्या को जो आगे वस्त्र देने पड़ते हैं, वे पहिले ही अखण्ड और शुद्ध वस्त्र दे दिए और उपायन (उपहार) भी वर और वधू को जो देना था, वह दे दिया। वह भी यों ही नहीं दिया, किन्तु जैसे विवाह में देने की विधि है, वैसे दिए ॥ ३२. ३३ ॥

श्लोक—ततो निवेशनं श्रीमदुपकल्प्य महामतिः ।

ससैन्ययोः सानुगयोरातिथ्यं विदधे यथा ॥३४॥

श्लोकार्थ—महामति भोष्मक ने समीप ही सुन्दर ठहरने का स्थान तैयार रखा था, वह ठहरने के लिए दिया और लश्कर सहित तथा जो अन्य साथ आये थे उनका भी यथा योग्य भोजन आदि से आतिथ्य सत्कार किया ॥३४॥

सुबोधिनी—ततो निवेशनमपि यथा जामात्रे दीयते तादृशं श्रीमदिति । उप समीप एव कल्पयित्वा । यथा भगवान् निष्कट एव रुक्मिणी-सहितो भवतीति । ननु कथमेवं ज्ञातवान्, तत्राह

महामतिरिति । ततो वरयान्निकाणां भोजनमपि दत्तवानित्याह ससैन्ययोरिति । सैन्यमसहभोजि, अनुगास्तु सहभोजिन इति । आतिथ्यं प्रत्येकं धर्म बुद्ध्या आवश्यकबुद्ध्या वा ॥३४॥

व्याख्यान—पूजा के पश्चात् जैसे वर को ठहरने के लिए सुन्दर स्थान दिया जाता है, वैसे निष्कट ही उत्तम घर रहने के लिए दिया, जिससे भगवान् रुक्मिणी के समीप होने से उससे हिल-

मिल जावे, भीष्मक ने यों कैसे जान लिया ? इसके उत्तर में कहा, कि वह बड़ा बुद्धिमान् है जिससे सब समझ गया था, पश्चात् वर के साथ जो आए थे उन को भोजन भी दिया । उनके साथ जो सेना आई थी वह पत्ति में साथ भोजन करने वाली नहीं थी, अतः उसको अलग भोजन करवाया और जो दूसरे अनुग थे वे सहभोजी थे, अतः उनको साथ में भोजन करवाया । अतिथि सत्कार तो हर एक का धर्म बुद्धि से करना आवश्यक है, अथवा इस बुद्धि से किया है ॥३४॥

आभास—तदनन्तरं तदर्थमन्येषामपि पूजां कृतवानित्याह एवं राजेति ।

आभासार्थ—उसके पश्चात् दूसरों की भी आतिथ्य सत्कार के लिए पूजा की जिसका वर्णन “एवं राजा” इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—एवं राजा समेतानां यथावीर्यं यथावयः ।

यथाबलं यथावित्तं सर्वैः कामैः समर्ह्यत् ॥३५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जो राजा आदि आये थे, उन सबका उनके पराक्रम, आयु, बल तथा वित्त के अनुसार सर्व प्रकार की कामनाओं से सत्कार किया ॥३५॥

सुबोधिनी—यादृशे रूपे यादृशानि वस्त्राणि । सेना तावत्संभृत्याधिवयम् । यावच्च स्वस्य वित्तम् ।
यादृशं वयः तादृशवेशसम्पादकम् । यावच्च बलं । एवं यथायोग्यं चतुर्धा पूजयामास ॥३५॥

व्याख्यार्थ—रूप तथा वय के समान जैसे-जैसे वस्त्र योग्य थे, वे तैयार करवाए थे, वे दिए । जितनी सेना थी उसके योग्य विशेष पोषण भी किया और जैसा अपने पास धन था उसके अनुसार, यथायोग्य चार प्रकार से सब की पूजा की ॥३५॥

आभास — राजपत्न्या अभिरुचिरस्ति नवेति सन्देहे, तन्निराकरणार्थं सामान्यतः स्त्रीणामभीष्टता निरूप्यते कृष्णमागतमिति त्रिभिः, कायिकवाचिकमानसिकानुवृत्तिभेदात् । तत्र कायिकमाह ।

आभासार्थ—रानी का भी राजा की तरह इसमें पूरा प्रेम है वा नहीं, इस सन्देह के निवारण के लिए सामान्य रीति से स्त्रियों को भी यह पसन्द है, इसका वर्णन

“कृष्णमागतं” से तीन श्लोकों में करते हैं। कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकार का उनका प्रेम है, इसलिए तीन श्लोकों में वर्णन करते हैं। उनमें से इस श्लोक में ‘कायिक’ का वर्णन करते हैं।

श्लोक—कृष्णमागतमाकर्ण्य विदर्भपुरवासिनः ।

आगत्य नेत्राञ्जलिभिः पपुस्तन्मुखपङ्कजम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—विदर्भ पुरवासियों ने कृष्ण का आना सुनकर सब वहाँ आकर अपने नेत्र रूप अंजलिओं से उनके मुख रूप कमल मकरन्द का पान किया ॥३६॥

सुबोधिनी—कृष्णं स्वभावत एव स्त्रीप्रियम्, न पश्येदिति विदर्भपुरवासिनः सर्वे एव समागत्य तद्गृहेऽपि गत्वा द्रष्टव्यम् । स्वगृहे समागतं कथं नेत्राञ्जलिभिस्तन्मुखपङ्कजं पपुः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—स्वभाव से स्त्रियों को प्यारा श्रीकृष्ण है इसलिए उसके घर जा कर भी जब वे देखने योग्य है तब अपने घर आए हुए को कैसे न देखें, इसलिए विदर्भ पुरवासी सब आकर नेत्र रूप अंजलियों से उनके मुख रूप कमल के मकरन्द का पान करने लगे ॥३६॥

आभास—तेषां वाक्यमाह अस्यैवेति ।

आभासार्थ—दर्शन कर उन्होंने जो वचन कहे वे “अस्यैव” श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—अस्यैव भार्या भवितुं रुक्मिण्यर्हति नापरा ।

असावप्यनवद्यात्मा भैष्म्याः समुचितः पतिः ॥३७॥

श्लोकार्थ—रुक्मिणी इसकी ही भार्या बनने योग्य है न कि दूसरे की, यह निर्दोष है इसलिए यह ही इसका योग्य पति है ॥३६॥

सुबोधिनी—कोऽपि कस्मैचित्प्रयच्छतु, भार्या त्वस्यैव भवितुमर्हति । अनेन स्वरूप-योग्यता निरूपिता । योग्यं योग्येन सम्बध्यत इति तेषामभिप्रायः । ननु दत्तेयमन्यस्मै, अन्या

भगवते तथा सति देयेत्याशङ्क्याह नापरेति । अन्या तु न योग्यैव । न हि लक्ष्मीव्यतिरिक्ता भगवद्योग्या भवति । लोकश्च प्रमाणमिति । यथा देवी वाक्, तथा वदति । अयमपि

रुक्मिण्या एवाहंति । यतः अनद्यात्मा । पुरुषो-
त्तमत्वात् निरवद्यरूपः । सा हि निदुष्टमेव
पति मन्यते । भगवानीश्वरत्वेन सर्वेषामेवो-

चितः, पतित्वेन त्वस्या एवोचितः । यत इयं
भक्तिप्रधाना ॥३७॥

व्याख्यानार्थ—कोई भी किसीको भले देवों, किन्तु रुक्मिणी तो इसको भार्या बनने योग्य है इन शब्दों से स्वरूप की योग्यता बताई है, इस प्रकार के शब्द कहने का भाव यह है कि योग्य कन्या योग्य वर से ही सम्बन्ध कराने के योग्य है, यह तो भाई ने दूसरे को दी है इसलिए भगवान् को दूसरो दी जाय ? इसका निराकरण नगर वासी करते हैं कि 'नापरा' दूसरो नहीं, कारण कि दूसरो तो भगवान् के योग्य नहीं होगे, लक्ष्मी के सिवाय दूसरी कोई भी भगवान् को, भार्या नदने, गोपरा, नदी, है लोक, दम्पति, पद्मपा, है नैमे, देवी, वामदे, वीमे, लोक, कह ग्दे, है, यह भी रुक्मिणी के योग्य है क्योंकि निर्दोष आत्मा है पुरुषोत्तम होने से ही निर्दोष पूर्ण गुण विग्रह है वह भी निर्दोष को ही अपना पति मानती है, भगवान् ईश्वर होने से समस्तों के पूज्य होने योग्य है, किन्तु पतिपन से तो इसके ही योग्य हैं, क्योंकि यह "भक्ति प्रधान" है अर्थात् इसमें प्रेम मुख्य है ॥ ३७ ॥

आभास—एवं वाचनिकमुक्त्वा बाधकमत्र प्रवर्त्तमित्याशङ्क्य तन्निवारणार्थं भग-
वन्तं प्रार्थयन्ति किञ्चिदिति ।

आभासार्थ—ईस प्रकार वाचनिक भाव प्रकट कर इसमें कोई विघ्न न पड़े, ऐसी आशंका होने से उसके निवारण के लिए "किञ्चित्" श्लोक से भगवान् को प्रार्थना करते हैं-

श्लोक—किञ्चित्सुचरितं यन्नस्तेन तुष्टस्त्रिलोककृत् ।

अनुगृह्णातु गृह्णातु वैदर्भ्याः पाणिमच्युतः ॥३८॥

एवं प्रेमकलाबद्धा वदन्ति स्म पुरीकसः ।

श्लोकार्थ—जो कुछ हमारे पुण्य हैं उनसे त्रिलोकी को रचने वाले यह अत्र्युत भगवान् प्रसन्न होकर हम पर अनुग्रह करके इस वैदर्भीका पाणिग्रहण करें । प्रेम की वेड़ी में बन्धे हुए पुरवासी इस प्रकार कहने लगे ॥३८॥

सुबोधिनी—यद्यस्माकं किञ्चित्सुचरित-
मस्ति, तेनादौ भगवान् तुष्टो भवतु । ततस्त्रि-

लोककर्ता स एवेति । अन्येषामपेक्षाभावात्
स्वयमेवानुगृह्णात्वस्मान् । अनुग्रहानन्तरं

यत्कर्तव्यं तदाहुः शृङ्खलातु वैदर्भ्याः पाणिमिति । रति । एवं प्रेमकलाबद्धाः नानाविधस्नेहप्रकारै-
अत्र एवमेवेति निर्बन्धहेतुमाह अच्युत इति । वंशोक्तताः वदन्ति । स्मेति प्रसिद्धिः प्रमाणत्वे-
आदौ भर्ता स्वरूपतो धर्मतश्च्युतिरहितो मृग्यते, नोक्ता । पुरवासित्वान्न मुखमुद्रणं केनापि शक्यम् ।
तथा भोगेऽपि । एवं तेषां प्रेमातिशयमुक्त्वा सर्व- ॥३८॥
सम्मती मानुरपि सम्मतिर्जातित्यभिप्रायेणोपसंह-

व्याख्यार्थ—जो हमारे कुछ पुण्य हैं तो उनसे पहले तो भगवान् प्रसन्न होवें, और वह आप ही तिलोकी के कर्ता हैं दूसरों की अपेक्षा से आप स्वयं ही हम पर अनुग्रह करें, अनुग्रह करने के बाद जो कुछ करना योग्य है वह कहते हैं कि वैदर्भी का पाणि ग्रहण करें, यह यों ही कहने का भाव है कि आप “अच्युत” हैं पहले उस पति की खोज की जाती है जो स्वरूप और धर्म से कभी भी, लेश-मात्र भी डिगे नहीं, वैसे ही भोग से भी, इस प्रकार उन का अतिशय प्रेम प्रकट कर सबकी सम्मति होने पर माता की भी यही राय हो गई, इस अभिप्राय से अब उपसंहार किया जाता है इस प्रेम की बेड़ी में बन्धे हुए अर्थात् अनेक विध स्नेह के तरीकों से वशीभूत हो कहने लगे, “स्म” पद कहने का भाव है कि यो छिपकर नहीं कहने लगे किन्तु जैसे प्रसिद्धि हो वैसे प्रमाणपन से कहने लगे, कहने वाले नगर वासी थे अतः कोई भी उनका मुख वन्द नहीं कर सकता था ॥३८॥

आभास—एवं सर्वमिव हरणे संभृतिमुक्त्वा पूजार्थं तस्या बहिर्निर्गमनमाह कन्या चेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सब की हरण करने में सम्मति कह देवी की पूजा के लिए उसका बाहर निकलना “कन्या च” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—कन्या चान्तःपुरात्प्रागाद्भट्टैर्गुप्ताम्बिकालयम् ॥३९॥

श्लोकार्थ—योधाओं से रक्षित कन्या देवी के मन्दिर को जाने के लिए अन्तःपुर से बाहर निकली ॥३९॥

सुबोधिनी—यथा पुरवासिभिः स्वसर्वकर्म-सम्पन्नेन रुक्मिणीविवाहार्थं भगवान् प्रार्थितः, एवं रुक्मिण्यपि भगवान् शृङ्खलात्विति महादेवं प्रार्थयितुं निर्गतेति चकारार्थः । अन्तःपुरादिति । गुप्तस्थानात् प्रकटस्थाने निर्गता यथा बन्धुपौडा-मकृत्वा भगवान् विश्रामतया शृङ्खलाति । प्रकर्षे-

णागादिति मनःसन्तोषः प्रदर्शितः । भट्टैर्गुप्तेति । यथा तावदन्यो न स्पृशति । अम्बिकालयमिति । स्त्री देवता, गृहे स्त्रिय एवाध्यक्षा इति, तत्र पुरुषसम्बन्धाभावो निरूपितः । अम्बिकापदेन मातृत्वं चोक्तम् ॥३९॥

व्याख्यानार्थ—जैसे नगर निवासियों ने अपने सर्व पुण्य कर्म समर्पण कर रुक्मिणी से विवाह करने के लिए भगवान् को प्रार्थना की, वैसे ही रुक्मिणी भी भगवान् मुझे स्वीकार करें ऐसी प्रार्थना महादेव को करने के लिए अन्तःपुर से निकली यह आशय श्लोक में दिए हुए 'च' शब्द का है, अन्तःपुर से बाहर आने का यह भी कारण है कि भगवान् बान्धवों को पीड़ा न कर आराम से मुझे ग्रहण कर सकें, उत्कर्ष से बाहर निकलने से अपने मन का सन्तोष दिखाया, योद्धों से रक्षित होकर इसलिए निकली कि भगवान् ग्रहण करें तब तक कोई दूसरा स्पर्श न करे, "अम्बिकालयम्" स्त्री देवता घर में, स्त्रियाँ ही मुख्य होती हैं वहाँ पुरुषों के सम्बन्ध का अभाव रहता है "अम्बिका" मातृत्व भाव भी बताया है ॥३६॥

आभास—रथस्थाया ग्रहणं रथान्तरे स्थितस्य दुष्करं भवतीति पद्भ्यामेव निर्गति-
त्याह पद्भ्यामिति ।

आभासार्थ—रुक्मिणी, देवी के मन्दिर में जाने के लिए, अन्तःपुर से पैदल हो निकली थी, कारण कि जो रथ में बैठ कर जावे तो रथ में बैठे हुए को दूसरे रथ में, बैठी हुई को ग्रहण करने में कठिनाई न होगी, भगवान् मुझे आसानी से, ले सकें अनः रुक्मिणी ने पैदल जाना ही योग्य समझा, जिसका वर्णन "पद्भ्यां" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—पद्भ्यां विनिर्ययो द्रष्टुं भवान्याः पादपल्लवम् ।

सा चानुध्यायती सम्यङ्मुकुन्दचरणाम्बुजम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—यह पाँवों से अम्बिका के चरणविन्द के दर्शन के लिए जाने लगी उस समय भी भली भाँति भगवान् के चरण कमलों का ही ध्यान कर रही थी ॥४०॥

सुबोधिनी—भवान्याः पादपल्लवमिति । लोके तद्भक्तत्वं स्वस्य व्यापयति । अभिप्रेतार्थं स्त्वन्य एव तमेवान्तर्गतमाह सा चानुध्यायतीति । तत्सम्बन्धिन्यः स्त्रियः । सा च मुकुन्दचरणाम्बुजमेव अनुध्यायती जाता । मुकुन्दस्य मोक्षदातुरवे चर-

णाम्बुजम् । अनेन विशेषतो भगवदाकाङ्क्षायां हेतुः । पितृगृहेऽपि बन्धनम्, अन्यत्रापि अवरोध एव स्थितिरिति मुकुन्दावरोधस्य मोक्षरूपत्वात्तन्न हेयम् ॥४०॥

व्याख्यार्थ—देवी के चरणाविन्द के दर्शन के लिए जाने के कारण केवल लोक में अपने को उसकी भक्त प्रसिद्ध कराना था, चित्त का भीतरी भाव तो दूसरा ही था वह भीतरी भाव जो था वह श्लोक के उत्तरार्ध में प्रकट किया है, वह तो वहाँ जाते समय भी मुक्ति दाता के चरणाम्बुज का ही भली भाँति प्रतिक्षण ध्यान कर रही थी, उसकी सम्बन्ध वाली स्त्रियाँ भी, भगवान् का ही ध्यान कर रही थीं, कारण यह है, कि रुक्मिणीजी को भगवान् की ही केवल आकांक्षा है पिता के घर में भी बन्धन और दूसरे स्थान पर भी रुकावट, इसलिए मुकुन्द भगवान् में निरोध मोक्ष है अतः उसका त्याग करना योग्य नहीं है ॥४०॥

आभास—एवं कायमनोव्यापारी निरूप्य वाचि व्यापाराभावमाह यतवागिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार काया और मन के कार्यों को कह कर वाणी में कार्य का अभाव “यत्वाङ् श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—यतवाङ् मातृभिः सार्धं सखीभिः परिवारिता ।

गुप्ता राजभटैः शूरैः सन्नद्धैरुद्यतायुधैः ॥४१॥

श्लोकार्थ—सखियों से घिरी हुई, माताओं के साथ मौन धारण कर दर्शन को जा रही थी उस समय कवच धारण किए हुए, शस्त्र धारो राजा के शूरवीर योद्धे रक्षा कर रहे थे ॥४१॥

सुबोधिनी—मातृभिः सार्धमिति । भगवतो मनसि यथा अनौचित्यं न भवति, तदर्थमेवं कृतवती । सखीभिश्च परिवारिता । अनुमत्यर्थं हरणे पश्चात्तापाभावार्थं शोभार्थं च । बहिर्भटैः गुप्ता । शूरैरित्यन्तःसामर्थ्यम् । सन्नद्धैरुद्यतायुधैरिति । स्वरक्षापरपीडार्थं साधनसम्पत्तिः । एवमावरणचतुष्टयं तस्या निरूपितम् । सर्वतो दोषाभावाय ॥४१॥

व्याख्यार्थ—माताओं के साथ जा रही थी, इनके साथ जाने का अभिप्राय यह था कि भगवान् के मन में मेरे लिए किसी प्रकार अयोग्यता की शंका उत्पन्न न होनी चाहिए, सहेलियों से घिरी हुई

श्री माताओं और सहेलियों का साथ में होने का भाव यह था कि भगवान् मुझे हरण कर ले जाव इसमें इनकी भी राय है, इसलिए इनको वा मुझे पश्चाताप न होगा, बाहर से इनके साथ में आने से शोभा भी है, बाहर भटों से रक्षित थी वे शूरवीर थे इससे भीतर का सामर्थ्य दिखाया, शस्त्र लेकर तैयार थे इससे यह बताया कि अपनी रक्षा और शत्रुओं की पीड़ा के लिए साधनों की सम्मति बताई है इस प्रकार इसकी रक्षा के लिए चार पड़दे कहे, सर्व प्रकार दोषों का अभाव बताने के लिए ॥४॥

आभास—ततो मङ्गलवाद्यानामपि वादनम्, शुभनिमित्तं शकुनमपि जातमित्याह ।

आभासार्थ—पश्चात् मङ्गल सूचक बाजे भी बजने लगे और शुभ के निमित्त कारण शकुन भी हुए जिनका वर्णन “मृदङ्ग” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—मृदङ्गशङ्खपणवास्तूर्यभेर्यश्च जघ्निरे ।

नानोपहारबलिभिर्वारिमुख्याः सहस्रशः ॥४२॥

स्रग्गन्धवस्त्राभ णैर्द्विजपत्न्यः स्वलंकृताः ।

(गायन्तश्च स्तुतन्तश्च गायिका वाद्यवादकाः ।)

परिवार्य बधूं जग्मुः सूतमोगधबन्दिनः ॥४३॥

श्लोकार्थ—हजारों उत्तम वैश्याएँ अनेक प्रकार के उपहार और बलिदान के लिए साथ चल रही थी, माला, सुगन्ध वस्त्र, और आभूषणों से अलंकृत ब्राह्मणों की स्त्रियाँ संग चल रही थीं, मृदङ्ग, शङ्ख, नगारे, तुरी, बड़े नगारे बज रहे थे, गाते, बजाते, स्तुति करते और बाजे बजाने वाले सूत, मागध एवं बन्धी जन ये सब तथा मुख्य वैश्याएँ रुक्मिणी को घेरे हुए चलती थीं ॥४२: ४३॥

सुबोधिनी—नानोपहारबलिभिरिति । वार-धनानि, एतानि सङ्गे गतानीति पृथक् सहार्थ-
मुख्याश्च परिवार्य बधूं जग्मुरिति सम्बन्धः । तृतीयया ज्ञातव्यम् । वारमुख्यास्तु भिन्नाः,
नानोपहाराः भवान्यर्थे फलादयः, बलिः पूजासा- वराणां समूहो वारम्, वारं मुख्यं यासामिति ।

प्रत्यहं वहवो वराः वेश्यानामेव भवन्तीति । सह-
स्रश इति तासामुत्सवो निरूपितः । नित्यनूतनो
भगवान् द्रष्टव्य इति । ब्राह्मणस्त्रियोऽप्याचारा-
दाशीर्दानार्थं भगवदिच्छया सहैव गताः । विशेष-
पतः पूजा तासां कर्तव्येति पूर्वमेव तासां पूजां
निरूपयति स्रग्गन्धवस्त्राभरणैरिति । चतुर्विधैर-
प्यलङ्कृताः । अन्योऽपि महानुत्सवो ज्ञात
इत्याह वधूं परिवार्येति । दर्शनार्थं लाभार्थं च
गमनमुक्तम् । सूतादयो विद्योपजीविन उक्ताः
॥४३॥

व्याख्यार्थ—अनेक उपहार और बलियों के साथ मुख्य वेश्याएँ रुक्मिणी को घेर कर चल रही थीं इस प्रकार सम्बन्ध है, अनेक उपहार अर्थात् भवानी के लिए फल आदि वाले पूजा के साधन ये सब प्रयक् साथ थे साथ का अर्थ तृतीया से समझना चाहिए मुख्य वेश्याएँ जुदा थी बहुत वर जिनके होते हैं उनको वार कहा जाता है, वे मुख्य जिनमें हैं, वे वार मुख्य कही जाती हैं प्रतिदिन बहुत पति वेश्याओं के हो होते हैं, वे हजारों थीं यों कहने से उनका उत्सव अर्थात् आनन्द प्रकट करने का समय निरूपण किया है, भगवान् का रसस्वरूप नित्य क्षण क्षण में नूतन होने से देखने योग्य है, ब्राह्मणों की स्त्रियाँ भी सदाचार से आशीर्वाद देने के लिए भगवदिच्छा से सार्थ ही थी इनकी विशेष पूजा करनी चाहिए, वह पूजा पहिले हो करनी चाहिए वह पूजा पहले ही की गई निरूपण करते हैं, माला, सुगन्ध, वस्त्र और आभूषणों से अलंकृत की गई थीं इसी भाँति चार प्रकार से इनकी पूजा हुई है, अन्य भी महान् आनन्द हुआ, वह “वधूं परिवार्य” पद से कहा है दर्शन के लिए और मनोरथ पूर्ण होने के लिए यह यात्रा थी, सूत आदि विद्या से आजीविका चलाने वाले कहे हैं ॥४२॥ ४३॥

श्लोक—आसाद्य देवसदनं धौतपादकराम्बुजा ।

उपस्पृश्य शुचिः शान्ता प्रविवेशाम्बिकान्तिकम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—वहाँ मन्दिर में पहुँच कर पहले अपने कमल समान कीमल हाथ लीपेर पैर धोए पश्चात् आचमन कर शुद्ध हुई, बाद में शान्त चित्त हो अम्बिकाजी के पास गई ॥४४॥

सुबोधिनी—ततो भगवान्मर्यादां स्थापयितुं पूजन्तन्तरमेव नेष्ट्यामीति तूष्णीं स्थितः, तदा सा देवसदनमासाद्य निकटे गत्वा, प्रक्षालितपाणिपादा आचम्य, अन्तर्बहिः शुद्धियुक्ता सती । उद्वेगादीनां सम्भावितत्वात् तन्निषेधार्थं माह शान्तेति । अन्तः-शान्तियुक्ता फलं प्राप्नोतीति अम्बिकान्तिकं प्रवि-वेश पूजार्थम् । अत एव भागवते लौकिक-सौन्दर्यकथनार्थं भाषाभेदा निरूपिताः ॥४४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने कुछ समय चुप्पी साधली इसलिए कि यह पूजा करले पूजा के बाद ही ले लूंगा, तब वह देव गृह में निकट जा कर हाथ, पैर धो आचमन कर, अन्दर बाहर दोनों तरफ शुद्ध हुई उद्वेग आदि का त्याग कर शान्त चित्त हो पूजा के लिए देवों के पास पहुँची जिसके अन्तःकरण में शान्ति है, उसको पूजा का और भक्ति का फल प्राप्त होता है, इस कारण से ही भागवत में लौकिक सौन्दर्य कहने के लिए भाषा का भेद निरूपण किया है ॥४४॥

श्लोक—तां वै प्रथयसो बालां विधिज्ञा विप्रयोषितः ।

भवानीं वन्दयाञ्चक्रुर्भवपत्नीं भवान्विताम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—तव विधि जानने वाली ब्राह्मणों की वृद्ध स्त्रियों ने उस कन्या से महादेव सहित भवानी देवी को प्रणाम करवाया ॥४५॥

सुबोधिनी—ततो या विधिज्ञा ब्राह्मणस्त्रियो वृद्धाः भवानीं वन्दयाञ्चक्रुः । भवानीशब्दः प्राप्तपुरुषसम्बन्धायाः सज्ञामात्रम् । तेन विशेषं ख्यापयितुं भवपत्नीमित्युक्तम् । अथवा । इयं न महादेवस्य भोगस्त्री, तथा सति वरदातृत्वं न

स्यादिति भवपत्नीमित्युक्तम् । यज्ञसंयोग एव पत्युर्नो भवतीति । तत्रापि भवान्विता । उद्भव-
वत्मको हि सः सम्पूर्णो भवति । स्त्रिया सहित-
स्यैव सम्पूर्णत्वात् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—भवानी के पास पहुँचने के बाद जो विधि को जानने वाली ब्राह्मणों की वृद्ध स्त्रियाँ थीं वे रुक्मिणी से देवी का प्रणाम कराने लगीं, “भवानी” शब्द से यह बताया है कि जिस देवी स्वरूप का पुरुष से सम्बन्धमात्र हुआ है, उस देवी का नाम इस कारण से “भवानी” हुआ है इससे विशेष प्रसिद्धि के लिए “भवपत्नी” विशेषण दिया है, अथवा यह अम्बिका भवानी महादेव की भोग की स्त्री नहीं है, यदि भोग की स्त्री होती तो वर देने की शक्ति इसमें न रहती इसलिए भवपत्नियों कहा है पति का यज्ञ में संयोग नहीं होता है वहाँ भी महादेव के साथ होती है, उद्भवरूप ही सम्पूर्ण होता है, स्त्री सहित ही स्वरूप पूर्ण है ॥४५॥

ॐ नमः शिवाय ॥

आभास—तदानीमेव भवानीनमस्कारे भगवदिच्छया मन्त्रः स्फुरित इति तं निरूपयति नमस्ये त्वेति ।

आभासार्थ—भवानी को नमस्कार करते ही भगवदिच्छा से रुक्मिणी को मनमें मंत्र का स्फुरण हुआ जिसको वर्णन “नमस्ये त्वा” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—नमस्ये त्वाऽम्बिकेऽभीक्ष्णं स्वसन्तानयुतां शिवम् ।

भूयात्पतिर्मे भगवान्कृष्णस्तदनमोदताम् ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे अम्बिके ! अपने सन्तान सहित आपको तथा महादेव को नमन करती हूँ, मेरे पति भगवान् श्रीकृष्ण होवें जिसका आप अनुमोदन करो एवं श्रीकृष्ण भी अनुमोदन करे ॥४६॥

सुबोधिनी—स्वसन्तानयुतां गणपत्यादिसहि-
ताम्, शिवमपि नमस्ये । मन्त्र एव प्रार्थनामाह
भूयात्पतिर्मे भगवान्कृष्ण इति । तदेतदनुमोदतां
शिवः भवानी च । अथवा । कृष्णो वा अनुमो-
दताम्, न तु कोपं करोतु, अन्यदेवतानमस्कारं

वा अनौचित्येन न स्वीकरोतु । लोकप्रतीतिस्तु
भूयान्मे पतिरिति भिन्नम् । तत्कृष्णः अनुमोद-
तामिति च भिन्नम् । अन्यथा महादेवः स्वसदृश-
मेव कुर्यात् । तच्चान्येषामफलम् । अतः कृष्णानु-
मोदनं सर्वत्र वक्तव्यम् ॥४६॥

व्याख्यार्थ—हे अम्बिके अपने सन्तान गणपति आदि सहित आपको तथा महादेवजी को भी प्रणाम करती हूँ, मन्त्र में ही प्रार्थना करती है कि मेरे पति भगवान् कृष्ण ही होवे जिसका अनुमोदन शिव और भवानी दोनों करें अथवा कृष्ण भी अनुमोदन करे, अन्य देवता को नमस्कार कर रही हूँ इसको अनुचित समझ कोप न करें, किन्तु उचित जान अनुमोदन ही करें, मेरे पति श्रीकृष्ण हो वैसी लोककी प्रतीति भिन्न है, उस लोक प्रतीति का कृष्ण अनुमोदन करे यह पृथक् विषय है, नहीं तो महादेव अपने सदृश ही करे और वह तो दूसरों का फल नहीं है, अतः सर्वत्र कृष्ण का अनुमोदन ही करना चाहिए ॥४६॥

आभास—न केवलमयं नमस्कारं एव मन्त्रः, किन्तु मन्त्रेण सर्वमिव पूजां कृण्वतीत्याह अद्भिरिति ।

आभासार्थ—यह मन्त्र केवल नमस्कार के समय कार्य में नहीं लाया किन्तु इस मन्त्र से समग्र पूजा की जिसका वर्णन “अद्भि” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—अद्भिर्गन्धाक्षतैर्धूपैर्वास, स्रङ्गमाल्यभूषणैः ।

नानं पहारवलिभिः प्रदीपावलिभिः पृथक् ॥४७॥

विप्रस्त्रियः पतिमेतौस्तथा तैः समपूजयत् ।

लवणापूपताम्बूलकण्ठसूत्रफलेक्षुभिः ॥४८॥

श्लोकार्थ—ऐसे नमस्कार एवं प्रार्थना कर अब पूजा करता है, पहले जल से पश्चात् गन्ध, अक्षत, धूप, वस्त्र, पुष्प, मालाएं और आभूषणों से यथा अनेक प्रकार के उपहार, बलिए, दीप आदि से जुदी जुदी पूजा की । ४७॥४८॥

पश्चात् उसी प्रकार सधवा ब्राह्मण स्त्रियों का उन पदार्थों से समान पूजन किया तथा लवण, मालपुष्प, ताम्बूल, कण्ठसूत्र, फल और ईख इन षट् पदार्थों से पूजा की ॥४८॥

सुबोधिनी ॥ पाद्यार्घ्याचमनस्नानैः, ततः ततः पुनः पुनः वासः सङ्गमाल्यभूषणैः । त्ववशिष्येतेति । अतस्त्वत्प्रोत्यर्थं विप्रस्त्रियोऽपि पृथक् पृथक् वस्त्रादिभिः पूजिताः । किञ्च । विवाहे विशेषप्रकारमाह लवणेति । मङ्गलद्रव्या- लवणं तस्मात्पूजयेत्तति षट्, तस्मात्पूजयेत्तति षट्, तस्मात्पूजयेत्तति षट् । कण्ठसूत्रं ताम्बूल- सूत्रम्, फलाति । नानाविधानि, इक्षवश्च खण्डशः कृताः । एकैवैव वृष्णं दातुम् ॥४८॥

गन्धाक्षतैर्धूपैः, ततः पुनः पुनः वासः सङ्गमाल्यभूषणैः । त्ववशिष्येतेति । अतस्त्वत्प्रोत्यर्थं विप्रस्त्रियोऽपि पृथक् पृथक् वस्त्रादिभिः पूजिताः । किञ्च । विवाहे विशेषप्रकारमाह लवणेति । मङ्गलद्रव्या- लवणं तस्मात्पूजयेत्तति षट्, तस्मात्पूजयेत्तति षट्, तस्मात्पूजयेत्तति षट् । कण्ठसूत्रं ताम्बूल- सूत्रम्, फलाति । नानाविधानि, इक्षवश्च खण्डशः कृताः । एकैवैव वृष्णं दातुम् ॥४८॥

पश्चात्पुनः पुनः पुनः वासः सङ्गमाल्यभूषणैः । त्ववशिष्येतेति । अतस्त्वत्प्रोत्यर्थं विप्रस्त्रियोऽपि पृथक् पृथक् वस्त्रादिभिः पूजिताः । किञ्च । विवाहे विशेषप्रकारमाह लवणेति । मङ्गलद्रव्या- लवणं तस्मात्पूजयेत्तति षट्, तस्मात्पूजयेत्तति षट्, तस्मात्पूजयेत्तति षट् । कण्ठसूत्रं ताम्बूल- सूत्रम्, फलाति । नानाविधानि, इक्षवश्च खण्डशः कृताः । एकैवैव वृष्णं दातुम् ॥४८॥

पृथगीति अग्रे पूर्वत्रापि सम्बध्यते । महादेवः भवान्यां च । तथा प्रत्येकं ब्राह्मणस्त्रीषु । अन्यथा

व्याख्यान—देवी के पूजन का प्रकार बताते हैं, पहले प्राद्य, अर्घ्य, आचमन तथा स्नान करवाया, पश्चात् धूप, दीप, गन्ध से पूर्व अक्षतों से अलंकृत किया, धूप से आद्रता (गीलापन) मिटाकर वस्त्र, पुष्पमालाएं, आभूषण पहनाए क्योंकि स्नान से आद्रता वस्त्र आदि का त्याग आवश्यक किया जाता है. जब अन्य शुष्क वस्त्र और अलङ्कार पहने जाते हैं, कारण कि शास्त्र में कहा है— 'अलङ्कृतीक्षणमग्निं तिष्ठेत्' अलंकृत हुए वस्त्रों को एक क्षण भी नहीं रहना चाहिए इसलिए अन्य अलङ्कारों से प्रथम अक्षत आदि अलङ्कार दिए पश्चात् वस्त्र आदि दिए फिर दीपावलि से अनेक प्रकार की आरती की पृथक् शब्द पहले की हुई पूजा से भी सम्बन्ध रखता है अर्थात् पहले की हुई एक एक पूजा भिन्न भिन्न की है, महादेव की तथा भवानी की । इसी प्रकार हर एक सधवा ब्राह्मण स्त्रियों की भी पूजा की यदि उनको पूजा नहीं करती तो परिवार सहित पूजित शिव अपनी पूजा विष्णु को देंगे तो ब्रह्मा पूजा बिना रह जायेगे, अतः ब्रह्मा की प्रीति के लिए ब्राह्मण स्त्रियाँ भी वस्त्र आदि से जुदी जुदी पूजा गई, विवाह में जो विशेष प्रकार किया जाता

है वह कहते हैं । लवण^१ आदि ये छ मंगल द्रव्य हैं, कारण कि रस^२ रूप है, कण्ठसूत्र^३ अनेक प्रकार के भल टुकड़े किए हुए गन्ने ये सब ही छ रस इकट्ठे करे ब्राह्मण स्त्रियों को दान में दिए ॥ ४७-४८ ॥

श्लोक—तस्यै स्त्रियस्ताः प्रददुः शेषा युयुजुराशिषः ।

ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे शेषां च जगृहे वधूः ॥ ४९ ॥

श्लोकार्थ—उन स्त्रियों ने उसकी दिया, अन्य स्त्रियों ने आशोर्वाद की, रुक्मिणी ने ब्राह्मण की स्त्रियों को तथा देवी को प्रणाम किया, दिए हुए पदार्थों की प्रसादी वधू ने ली ॥ ४९ ॥

सुबोधिनी-ताश्च स्त्रियः तस्यै ददुः (वधुः) । अत्र ताः प्रददुः शेषा अपि ददुः ताः आशिषोऽपि युयुजुः शेषा अपि ये लवणादयो दत्ताः शेषा-मंशाः प्रतीदीयन्ते । एवं विधानमुक्त्वा कर्मपर्ययं नमस्कारमाह ताभ्यो देव्यै नमश्चक्रे इति । शेषां ताभिर्दत्तां जगृहे, स्वग्रन्थो स्थापितवती । एवं सर्वोऽपि विवाहित्सर्वो वैधोऽतिरूपितः । अत्र दिनत्रयं व्रतं तदपि जोतिर्मिति मन्तिव्यम् ॥ ४९ ॥ कथनान् निरूप्यते । तथा ताभ्यो दत्ताः । तस्यै

व्याख्यान—उन पूजित ब्राह्मण स्त्रियों ने उसकी दिया, जो कुछ विवाह में दिया जाता है, वह पति सहित बैठी हुई को ही दिया जाता है, इस कारण से ही लोक में यह दान विवाह के अनन्तर ही देना प्रसिद्ध है, वह यहाँ बन न सकेगा मातृ कर्तव्य होने से मन्त्र की तरह यह भी स्फुरण हुआ कि अब ही दे दो अतः पहले ही दे दिया । अथवा भगवान् गुप्त रीति से वहाँ पधार गए भवानी और महादेव ने प्रार्थना की, सफलता के लिए भगवान् को रुक्मिणी दे दो, यह पहले दान करने से निरूपण किया जाता है, रुक्मिणी ने ब्राह्मण स्त्रियों को दिया, उन्होंने इसकी दिया, शेष भी दिए ओर आशोर्वाद भी दिए शेष शब्द को स्पष्ट करते हैं, कि जो लवण आदि षड् रस

१—लवण, पूर, ताम्बूल, कण्ठसूत्र, फल, गुन्ना, ये छ रस स्वरूप है ।

२—कमल की नाल से निकला सूत बताया हुआ सूत ।

दिए थे उनके थोड़े अंश दिए जाते हैं, इस प्रकार समग्र विवाह विधि कह कर, कर्म के सम्पूर्ण होने के लिए रुक्मिणी ने जो नमस्कार की, वह कही जाती है, रुक्मिणी ने उन ब्राह्मणियों को तथा देवी को प्रणाम किया, उन ब्राह्मणियों ने जो शेषादि दी वह लेकर अपनी ग्रन्थि में बान्ध रखी, इस प्रकार समग्र विवाह विधि अनुसार हुआ यह निरूपण किया। यहाँ तीन दिन जो व्रत होता है वह भी हुआ यों समझना चाहिए ॥४८॥

श्लोक — मुनिव्रतमथ त्यक्त्वा निश्चक्रामाम्बिकागृहात् ।

प्रगृह्य पाणिना भृत्या रत्नमुद्रोपशोभिना ॥५०॥

श्लोकार्थ—पश्चात् मौन व्रत का त्याग कर, रत्न की जड़ाऊ मुद्रिका से शोभित हस्त में दासी का हाथ पकड़ कर देवी के मन्दिर से बाहर तुरन्त निकली ॥५०॥

सुबोधिनी—अथ मौनं त्यक्त्वा सखीभिः सह । व्यामीति, बाह्ये तु भूमि न पश्यतीत्यवश्यं । तद्वक्तव्यं तदुक्त्वा—अम्बिकालयान्निश्चक्राम । तदीया ग्राह्या प्रदर्शिका । रत्नसहितमुद्रोपशो-
नितरां गमनं शीघ्रं भगवत्प्राप्त्यर्थम् । सख्यः भित्तत्वं भगवता स्वमुद्रा दत्तेति व्यापयितुम् ।
अन्याश्च स्त्रियः व्यावृत्तिताः । एका या भृत्या पूर्वावतारमुद्रां वा सूचयति ॥५०॥
अन्तरङ्गा तां प्रगृह्य भगवद्भावेन विकला भवि-

व्याख्यान—विवाह विधि हो जाने के बाद मौन का त्याग कर सखियों से जो बातें करनी थी वे कर देवी के मन्दिर से भगवान् की प्राप्ति के लिए शीघ्र निकली, सहेलियाँ और अन्य स्त्रियाँ लौटाई गई, एक जो अन्तरंग सेबिका थी उसको साथ में ली, क्योंकि भगवद्भाव से मैं घबड़ाऊँगी जिससे बाहर भूमि कैसी है वह न जान सकूँगी इसलिए इसको साथ में लेना हितकारी है यह मार्ग दिखलाएगी, ने रत्न सहित मुद्रा से हस्त की शोभा का प्रदर्शन इसलिए करती थी कि भगवान् ने मुद्रिका दी है यह प्रसिद्ध हो जाय अथवा पूर्व अवतार की मुद्रा को सूचित करती है ॥५०॥

आभास—यद्यहं न गमिष्यामि पूर्ववदे । गतिर्न विष्यतीति, ततोऽग्रे कस्यापि दर्शनं न भविष्यतीति विवाहसमये दर्शनं न दूषणमिति सर्वे दृष्टवन्त इत्याह तामिति ।

आभासार्थ—जो मैं नहीं जाऊँगी तो पहले की भाँति गति होगी उससे किसी को भी दर्शन न होगा इसलिए विवाह में कोई भी देखे तो दूषण नहीं है रुक्मिणी के बाहर आने पर सबने इसको देखा जिसका वर्णन “तां देवमाया” श्लोक में करते हैं ।

आभास — तां देवमायामिव वीरमोहिनीं सुमध्यमां कुण्डलमण्डिताननाम् ।

श्यामां नितम्बापितरत्रमेखलां व्यञ्जत्स्तनीं कुन्तलशङ्कितेक्षणाम् ॥५१॥

श्लोकार्थ—ईश्वरीय माया की भांति वीर पुरुषों को मोहित करने वाली सुन्दर कटि भागवाली कुण्डलों से सुशोभित मुख वाली नितम्ब पर बन्धी हुई रत्नों की मेखला वाली, प्रकट हुए स्तनों वाली और बालों से शंकित नेत्रों वाली ॥५१॥

सुबोधिनी—यथा भगवान् रङ्गप्रवेशे बहुभि-
र्बहुधा दृष्टः, एवमियमपि देवमायेव वीरेर्हृष्टेत्याह
देवमायामिवेति । देवस्य भगवतो मायाया
व्यामोहिकेषा शक्तिरागतेति सर्वेरेव निश्चितेति ।
तत्रापि वीरान् व्यामोहयति । अन्यथा स्वयं
गत्वा न भ्रियेरन् । तां वर्णयति षोडशलक्षणाम् ।
द्वात्रिंशलक्षणो भगवान्, षोडशलक्षणा सेति
प्रसिद्धिः । एकं सम्बन्धादसाधारणसामर्थ्यम्,
अपरं शौर्यादिनिराकरणम्, तृतीयं व्यामोहकत्वम्,
चतुर्थं सुष्ठु मध्यं यस्या इति, लम्बिकावत् अमृत-
सम्बन्धार्थं अल्पमध्यत्वं निरूपणीयम् । अत एव
न कस्यापि रससम्बन्धः । स हि रसः पुरुषेण
भोक्तव्यः जिह्वयैव । तदभावात् स्वस्थितोऽपि

मक्षिकासम्बन्ध इव रसोपगच्छतीति दुःखमेव
लोके फलति । कुण्डलाभ्यां मण्डितमाननं यस्या-
मिति उपरि रसोपभोगस्थानस्य शोभा प्रदर्शिता ।
रसप्रदर्शके कुण्डले इति । वयोऽप्याह श्यामा-
मिति । षोडशवार्षिकी । नितम्बे अपिता रत्न-
मेखला यस्या इति रसाविभविकप्रस्तावे मुख्य-
स्थानेऽपि रसप्रकाशो निरूपितः । मध्ये रसाभि-
व्यक्तिमाह व्यञ्जत्स्तनीमिति । एवं पञ्चधर्मा
रसात्मका निरूपिताः । पोषकान् सप्तधर्माह ।
कुन्तलैः शङ्किते ईक्षणे यस्या इति । लक्षणद्वय-
मत्र निरूपितम् । कुन्तलानि चपला च
दृष्टिरिति ॥५१॥

व्याख्यार्थ—“देवमायां इव” का भाव स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जैसे रंग, मण्डल, में प्रवेश
करते समय भगवान् को बहुतों ने बहुत प्रकार से देखा वैसे ही इसको भी देव माया की तरह वीरों
ने देखा, भगवान् की माया को यह मोह में डालने वाली शक्ति आई है, यों सब ने निश्चय किया वहाँ
भी वीरों को मोहित करती है यों नहीं हो, तो वीर लोक आप ही जाकर न मरे, वह देव माया कौसी
है जिसका वर्णन करते हैं कि षोडश लक्षणों वाली है, भगवान् बत्तीस लक्षणों वाले और यह षोडश
(१६) लक्षण वाली यह बात प्रसिद्ध है, एक तो सम्बन्ध से असाधारण सामर्थ्य है दूसरा शूरवीरों के
शौर्य का निराकरण करना, तीसरा मोहित करना, चौथा सुन्दर कमर वाली योग की लम्बिका क्रिया
की तरह अमृत सम्बन्ध के लिए पतली कमर निरूपण करनी चाहिए, इस कारण से ही अर्थात् कमर

सूक्ष्म न होने से योग्यता नहीं होती है जिससे किसी का भी भगवान् के रस से सम्बन्ध नहीं होता है ब्रह्मरन्ध्रस्थित^१—वह रस पुरुष को जिह्वा से ही भोगना चाहिए, यदि वह साधन रूप नहीं हो तो अपने ब्रह्मरन्ध्रस्थित रस भी देह नाश होने पर यों ही चला जाता है । लोकों में दुःख मात्र भोगा जाता है, आनन्द की प्राप्ति नहीं की हुई, जैसे खाया हुआ अन्न भी मक्षिका के सम्बन्ध से वमन में निकल जाता है उसका रस नहीं मिलता है यह दृष्टान्त देकर समझाया है भावांश यह है कि ब्रह्मरन्ध्र स्थित इस योग द्वारा सूक्ष्म जिह्वा द्वारा पान किया जाता है वैसे सूक्ष्म कमर द्वारा भगवद्रस ग्रहण किया जा सकता है ब्रह्मरन्ध्र के रस पान में सूक्ष्म जिह्वा साधन है, भगवद्रस प्राप्ति में सूक्ष्म कमर साधन है अन्यथा देह के नाश होने से उसमें स्थित रस व्यर्थ ही चला जाता है । देह से केवल दुःख ही प्राप्त किया, रस की प्राप्ति नहीं की गई, कुण्डलों से सुशोभित मुख वाली है इससे रस के उद्भोग स्थान को ऊपर की शोभा का वर्णन किया, रस को दिखाने वाले कुण्डल हैं; आयु भी कहते हैं "श्यामां" अर्थात् सोलह वर्ष की यौ नितम्बों पर रत्नों की मेखला सुशोभित थी जिससे रसाविर्भाव के अवसर पर रस के प्रकाश का निरूपण किया है मध्य में रस का प्रत्यक्ष कराने वाले साधनों को कहते हैं कि स्तन भी बाहर प्रकट हो गए हैं इस प्रकार रस रूप पाँच धर्मों का निरूपण किया है अब रस के पोषक सात धर्मों को कहते हैं, केशों से डरे हुए नेत्रों वाली है इससे दो लक्षण बताए हैं १-केश २-दूसरी चंचल दृष्टि ॥५१॥

श्लोक—शुचिस्मितां बिम्बफलाधरद्युतिशोणायमानद्विजकुन्दकुड्भलाम् ।

पदा चलन्ती कलहंसगामिनीं सिञ्जत्कलानूपुरधांशोभिना ॥५२॥

श्लोकार्थ—निर्दोष मन्द मुस्कयान वाली बिम्ब फल के समान अधर की कान्ति से कुन्द की कली के समान दान्त भी जिसके अरुण हो गए हैं, एक पाद से चलने से जिसको गति हंस के समान सुन्दर हो गई है तथा दोनों नूपुरों में लगे हुए सूक्ष्म कणिकाएँ उनके प्रकाश से शोभित ॥५२॥

सुबोधिनी—मन्दहासोऽपि दोषाभावाय शुचि- | हानन्तरं च दन्तसंस्कार इति कृत्रिमसंस्कारा-
रूपः । श्वेतदन्तत्वं न रसाविर्भावकमिति विवा- | भावेऽपि सहजेरेव धर्मस्तथा जातमित्याह ।

१—योगी पुरुष लम्बिका योग से अपनी जिह्वा को सूक्ष्म बनाकर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित रस का पान करता है यदि इस प्रकार जिह्वा सूक्ष्म न कर सके तो वह रस पान नहीं कर सकता है वैसे सूक्ष्म कमर न होने से भगवद्रस भी प्राप्त नहीं होता है ।

विम्बफलवत् यत् लोहितमधरोष्ठं तस्य द्युतिभिः कान्तिभिः शोणायमाना ये द्विजाः त एव कुन्द-कुङ्भलानि यस्याः । रञ्जकद्रव्यसम्बन्धापेक्षया कान्त्या राग उत्तमः । पदा चलन्तीमिति । एकविधं लक्षणम्, पदभ्यां चलनं पुरुषस्य, एकेन पदा चलनं स्त्रिया इति । तत्रापि गतिः फलरूपा अफला चेति द्विधा । अयं विवेकः स्फुटलक्षणे-नैव भवतीति तस्या गमनं निरूपयति । कल-हसवदगच्छतीति । सिञ्जन्त्यः कला अन्तःस्थिताः सूक्ष्माः कणिकाः तद्युक्ते नूपुरे तयोर्धाम तेजः तेन शोभायमाना शोभिना वा ॥१२॥

व्याख्यान—मन्द मुस्क्यान में निर्दोषता होती है जिससे वह शुचि रूप है, सफेद दान्त रस को प्रकट नहीं करते हैं इसलिए विवाह के बाद उनको संस्कार लाल चमकीले बनाए जाते हैं किन्तु वह बनावटी संस्कार है, किन्तु यहाँ तो सहज घर्मी से दान्त वैसे हो गए हैं, वह बताते हैं बिम्बफल की भाँति जो रुक्मिणी का सहज लाल अधरोष्ठ था उसकी कान्तियों से लाल हुए जो दान्त वे ही जिसकी कुन्द की कलियाँ थी, लालास देने वाले द्रव्यों की अपेक्षा कान्ति से जो लालास आती है वह उत्तम है, एक पैर से चलती थी यह स्त्रियों का एक प्रकार का लक्षण है, दोनों पैरों से पुरुष चलते हैं, एक पैर से स्त्री चलती है, उसमें भी गति दो प्रकार की होती है एक सफल और बिना फल वाली है, यह विचार निश्चय प्रकट हुए लक्षणों से होता है इसलिए उसके चलने के प्रकार का निरूपण करते हैं, राजहंस की तरह चलती है दोनों नूपुरों में लगे हुए सूक्ष्म कणिकाओं के तेज से शोभित है ॥१२॥

आभास—नन्वेतादृश्या दर्शने यदि वीराणां रस उत्पद्यते, तदा दोषः स्यात्; अनु-त्पत्तौ विषयस्योत्तमता न स्यादित्युभयतः पाशा रज्जुः, तत्परिहारार्थं वीराणां द्वेधा विनियोगमाह विलोक्येति ।

आभासार्थ—ऐसी के दर्शन से जो वीरों को रस उत्पन्न होता है तो दोष होना चाहिए, यदि रस उत्पन्न हो तो विषय की उत्तमता नहीं होनी चाहिए, इस प्रकार दोनों तरह पाशा रज्जु है इसके निवारण के लिए वीरों का दो प्रकार से विनियोग है—जिसका वर्णन “विलोक्य”, श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—विलोक्य वीरा मुमुहुः समागता यशस्विनस्तत्कृतहृच्छयादिताः ।

यां वीक्ष्य ते नृपतयस्यदुदारहासवीडावन्नोकहतचेतस उज्ज्वितास्त्राः ॥१३॥

श्लोकार्थ—आए हुए यशस्वी वीर उसको देखकर मोहित हो गए और उससे उत्पन्न काम से पीड़ित होने लगे, जिसको देख उसके उदार हास, क्रीड़ा और दृष्टि से उन राजाओं के चित्त का हरण हो गया जिससे उन्होंने अस्त्र छोड़ दिए ॥५३॥

सुवोधिनी—आदौ तां विलोक्य वीरा मुमुहुः, मोहं प्राप्ताः । समागता इति समागमनफल-मुक्तम् । मूर्च्छायामपि सुषुप्ताविव किञ्चित्सुख-मिति । 'मुग्धेऽर्धसम्पत्तिरिति' न्यायाच्च । यश-स्विन इति । तेषां पुण्यमपि सूचितम् । अभि-लाषामप्याह । तत्कृतेन हृच्छयेन अदिता इति । एवं चतुर्भिर्धर्मैः तावत्फलं प्राप्तवन्त इति विषयो-त्कर्षो निरूपितः । दोषाभावायाह यां वीक्ष्येति । यावत्तेषां रसदृष्टिर्भवेत्, तन्मध्ये निपतिता एव

ते । तत्रापि हेतवः । ते हि भगवद्विमुखाः । तत्रापि नृपतयः अभिमानिनः जरासन्धादयः । तेषां बलमुत्साहशक्तिश्च रसानुभवार्थं हेतुभूतं तस्या भावैर्हृतमित्याह । तस्या उदारो यो हासः, सर्वरसदानसमर्थश्च क्रीडावलोकश्च, क्रीडा च अवलोकश्चेति वा, त्रिविधैरपि भावैः हृत-चेतसो जाताः । त्रिविधं हि चित्तमिति । तद-भावे युद्धाभावात्, उज्जितास्त्रा जाताः ॥५३॥

व्याख्यार्थ—प्रथम तो उसको देख कर आए हुए वीर मोहित हो गए इससे आने का फल कहा मूर्च्छा में भी सुषुप्ति की तरह कुछ आनन्द आता है, "मुग्धेऽर्धः" मूर्च्छा के समय भी आधी सम्पत्ति होती है इस न्याय के अनुसार इनको मोहित होने से कुछ सुख प्राप्त हुआ "यशस्विनः" विशेषण से उनके पुण्य भी सूचित किए, अभिलाषा को भी कहते हैं, उससे उत्पन्न काम से पीड़ित हुए इस प्रकार वीरों ने चार धर्मों से फल प्राप्त किया, इससे विषय का उत्कर्ष वर्णन किया, दोषों के अभाव के लिए कहते हैं "यां वीक्ष्य" जिसको देखकर यों जब तक उनकी दृष्टि रस वाली हो उसके मध्य में ही वे गिर गए, उसमें भी कारण हैं, वे निश्चय से भगवद्विमुख हैं, उसमें भी जरासन्ध आदि अभिमानी राजा हैं, रस के अनुभव के लिए जो उनका बल तथा उत्साह शक्ति थी उसको इसके भावों ने हरण कर लिया, उन भावों को कहते हैं सर्व रसों को देने में समर्थ उसका उदार हास, लज्जा और देखना इन तीन प्रकार के भावों से उनके तीन प्रकार के चित्त को हरण किया जिससे उनके चित्त रहे नहीं और उस समय युद्ध^१— भी नहीं था इसलिए उन्होंने अस्त्र छोड़ दिए ॥५३॥

श्लोक—पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा यात्राछत्त्वेन हरयेऽप्यंयतीं स्वशोभाम् ।
सर्वं शनैश्चलयती पदपद्मकोशौ प्राप्तिं तदा भगवतः प्रसमीक्षमाणा ॥५४॥

१—सुवोधिनी टीका में "युद्धाभावात्" पद है । फुटनोट में 'चिन्ताभावात्' पाठ कहा है जो भावा-
नुकूल नहीं जचता है ।

श्लोकार्थ—पश्चात् हस्ती, रथ और घोड़ों पर बैठे हुए मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर गए, वह रुक्मिणी, यात्रा के मिष से अपनी शोभा भगवान् को अर्पण करती हुई, चरण कमल परस्पर जुड़े हुए थे जिससे वह जब इस प्रकार धीरे धीरे चलती थी तब मन से भगवान् की प्राप्ति ही देख रही थी वा चाह रही थी ॥५४॥

सुबोधिनी—ततः क्षितौ पेतुः । पतितानां पुनरुत्थानाभावायोच्चानि स्थानान्याह गजरथाश्वगता इति । यद्भगवता कतव्यम्, तदनयैव कृतमिति निरूपणार्थमेतदुक्तम् । विमूढा इति पातज्ञानाभावोऽपि । नन्वेषा दुर्गेव प्रचण्डेति चेत्, तत्राह यात्राच्छलेनेति । हरये स्वशोभामर्पयन्तोम् । प्रसङ्गादेतज्जातम् । सा तु स्वदुःखहरणार्थं स्वशोभामविर्भाव्य भगवते प्रयच्छति । तत्र प्रसङ्गात् सा शोभा स्वयं ग्राह्येति अयोग्यमिच्छन्तः पतिताः, न तु रुक्मिण्या पातिताः । नन्वेषा यात्रां कृत्वैव गच्छति, कथं भगवते

शोभां प्रयच्छतीति चेत्, तत्राह । यतः शोभा स्वकीया, स्वयं त्वन्यदीया, अतः स्वदाने स्वापेक्षाभावेऽपि स्वकीयं देयमेवेति । अत एव तस्या भगवदन्वेषणमाह सैवमिति । शीघ्रगमने रथारोहणं भविष्यतीति शनैः पदपद्मकोशौ चलयती जाता, चलयती । कोशत्वान्मुकुलितत्वमुक्तम् । अनेन कियद्दूरचलनेन पादयोर्व्यथा जातेति ज्ञापयन्तीव मुकुलितपादौ स्थापयतीति गम्यते । तथा व्याजकरणे हेतुः, तदेव तस्मिन् क्षण एव भगवतः प्राप्तिं प्रसमीक्षमाणा ॥५४॥

व्याख्यान—शस्त्र त्यागने के पश्चात् वे पृथ्वी पर गिर गए, ऐसे गिरे, जो फिर (उन्हें) उठने का साहस न रहा, क्योंकि ऊँचे स्थानों से गिरे थे, जैसे कि हाथी, रथ और घोड़ों पर बैठे थे वहाँ से नीचे पड़े थे इसलिए उठने का उस समय साहस न कर सके यह गिरने का कार्य जो भगवान् को करना था वह इसने ही कर दिया, मूर्च्छित हो गए जिससे गिरने का भी ज्ञान न रहा, यों करने से तो यह दुर्गा की तरह विशेष तेज वाली हुई यदि यों कहो तो कहते हैं कि नहीं, यह यात्रा के बहाने भगवान् को अपनी शोभा अर्पण कर रही थी संयोग से यह हो गया, वह तो अपने दुःख को मिटाने के लिए अपनी शोभा प्रकट कर भगवान् को दे रही थी । वहाँ थे वीर इस शोभा को हम ग्रहण करेंगे ऐसी अयोग्य इच्छा करने से स्वयं गिर गए, कि रुक्मिणी ने गिराए थे, यह तो यात्रा करती ही जा रही है कैसे कहते हो कि भगवान् को शोभा देती है इस पर कहते हैं कि शोभा अपनी अर्थात् रुक्मिणी की है और स्वयं रुक्मिणी तो दूसरे की है, अतः अपने दान में अपनी अपेक्षा के अभाव से भी अपनी वस्तु देनी ही चाहिए इस अपनी वस्तु को देने के लिए भगवान् को ढूँढ रही है उसका वर्णन करते हैं “सैव” शीघ्र चलने से रथ पर चढ़ना न हो सकेगा, इसलिए धीरे धीरे चरण कमलों को साथ मिलाकर चलने लगी, कोश शब्द से यह भाव शब्द बताया है कि चरण कमल पूरी तरह जुड़े न हो सकते थे इससे थोड़ी दूर चलने से पैरों में ढोड़ा होने लगी यों जताने के लिए पैर मिला कर रखती थी यों समझा जाता है इस प्रकार बहाने करने का कारण उसी क्षण ही भगवान् की प्राप्ति चाह रही थी ॥५४॥

आभास—कन्याया राजदर्शनमपि कर्तव्यं विलक्षण्यज्ञापनायेति तद्भगवदर्थं जातमित्याह ।

आभासार्थ—कन्या को अपनी विलक्षणता बताने के लिए राज दर्शन भी करना चाहिए वह दर्शन भगवदर्थ हुआ, जिसका वर्णन “उत्सार्य” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—उत्सार्य वामकरजैरलकानपाङ्गैः प्राप्तान् समेक्षत नृपान्दृष्टोऽच्युतं सा ।

तां राजकन्यां रथमारुह्यतो जहार कृष्णो द्विषतां समीक्षताम् ॥५५॥

श्लोकार्थ—बायें हस्त के नखों से अलकों को ऊपर उठा के कटाक्षों से आए हुए राजाओं को देखते देखते भगवान् को देख लिया सबने जिसको रथ पर चढ़ाने की इच्छा की तब उनके बीच में से उस राज कन्या को भगवान् ने सब शत्रुओं की दिखाते हुए हरण कर लिया ॥५५॥

सुबोधिनी—उत्सार्य वामहस्तनखैरलकान् अपाङ्गैः प्राप्तान् नृपान् समेक्षत । ततः यदर्थं तान् दृष्टवती तमच्युतं ददर्श । नन्वपूर्वदर्शने कथं परिज्ञानमिति चेत्, तत्राह अच्युतं सेति । उभयोर्ज्ञापकमेकैको धर्मः । सा हि चित्रे भगवन्तं दृष्टवती, स्वप्नभ्रमेषु च । अतो रूपं दृष्टपूर्वम् । भगवानप्यच्युतः सर्वत्रानुस्यूतः, नतु चित्रादिष्वन्यः, अत्रान्य इति । सर्वत्रैव भगवतः अच्युतत्वात् । ततोऽग्रे दृष्टिर्न गतेति तमेव विलोकयन्ती यदा स्थिता, तदा सर्वैः रथा-

रोहणार्थं नियुज्यमाना जाता । तन्मध्ये भगवान् जहारेत्याह तां राजकन्यामिति । तामिति कृतात्मनिवेदनाम्, राजकन्याया हरणं च युक्तमिति, रथारोहे पुनः सारथ्यादेः मारणं कर्तव्यमिति, यदैव रथारोहणेच्छुर्जाता, तदैव जहार । तदा हि सर्वसमूहः अपगतो भवति । तत्र प्रतिबन्धकानां साक्षित्वं जातमित्याह द्विषतां समीक्षतामिति । कृष्णस्य हि स्त्रियः । हरणं हस्तेन ग्रहणमुत्तोलनमिति यावत् ॥५५॥

व्याख्यार्थ—बाएँ हाथ के नखों से केशों को ऊपर उठा के कटाक्षों से आए हुए राजाओं को जाँच कर देखने लखी पश्चात् जिसके लिए उनको देख रही थी उस अच्युत को देख लिया पहली बार ही देखने से कैसे पहचान लिया ? जिसके उत्तर में कहा, कि वह अच्युत है इसलिए वह सर्वत्र मौजूद है इसलिए उनको रुक्मिणी के पहचानने में किसी प्रकार की रुकावट नहीं है और रुक्मिणी ने

चित्र में भगवान् के दर्शन किए थे तथा स्वप्न आदि में भी देखे थे इसलिए उसने भगवान् को पहचान लिया, इस प्रकार दानों में पहचान करने का एक एक धर्म था भगवान् अच्युत होने से चित्रों में तथा वहाँ एक ही है इस कारण से रुक्मिणी की दृष्टि दूसरी जगह नहीं गई इसलिए ही उनका दर्शन करती हुई जब खड़ी होगई तब सब उसको रथ पर चढ़ाने की इच्छा करने लगे उनके बीच में से भगवान् ने वह राज कन्या हरण कर ली, राज कन्या का विशेषण “तां” दिया है जिस का भावार्थ है कि भगवान् ने इस राज कन्या का हरण इसलिए किया कि उसने भगवान् को आत्मसमर्पण किया था अर्थात् जो भगवान् को आत्मसमर्पण करता है उसको सर्व दुष्टों से छुड़ाकर अपनी शरण में लेकर रसदान करते हैं अतः रुक्मिणी को भी ले लिया इसलिए राजकन्या का हरण योग्य ही है रथ पर चढ़ाने पर फिर सारथि आदि को मारना चाहिए जब ही वह रथ पर चढ़ने की इच्छा वाला हुई तब ही रथ में चढ़ा लिया अर्थात् हरण किया तब ही सर्व समूह भाग गया अथवा तब ही सब शत्रुओं का मानो मरण हुआ हो जो शत्रु हरण करने में रुकावट डालने वाले थे उनके देखते हुए ले लिया जिससे वे साक्षी बन गए, कृष्ण का यह स्त्री हरण एक प्रकार से हस्त से लेकर ऊपर उठाकर तोलने के समान है ॥५५॥

श्लोक—रथं समारोप्य सुपर्णलक्षणं राजन्यचक्रं परिभूय माधवः।

ततो ययौ रामपुरोगमैः शनैः सृगालमध्यादिव भागहृद्धरिः ॥५६॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मी पति ने अपने गरुड़ के चिन्ह वाले रथ में बैठा कर राजाओं के समूह का तिरस्कार कर जैसे सियारों के मध्य से सिंह बलि ले जाता है वैसे भगवान् रुक्मिणी को ले गए । पश्चात् बलभद्र आदि यादवों के साथ धीरे धीरे जाने लगे ॥५६॥

सुबोधिनी—ततो रथं समारोप्य ययावित्य-
ग्रेण सम्बन्धः । उपस्थितरथपरित्यागाय सुपर्ण
लक्षणमिति । तत्र वेष्टका राजन्याः सन्ति, परि
तश्चक्ररूपेण स्थिताः । तत्सर्वं परिभूय पराभवं
प्रापयित्वा । दृष्टवलमस्त्येव, अदृष्टमपि बलं तस्यै-
वेति ज्ञापयन्नाह माधव इति । लक्ष्मीपतिर्भगवान्,
इयं च लक्ष्मीः । अतो भार्येत्यस्या परिपालने
भगवतो धर्मो जातः । ते त्वनधिकारिणस्तदभि-
लाषिण इति तेषां पापमेव सिद्धम् । अतः परा-
मेव सिद्धम् । अतः पराभवो युक्त इत्यर्थः । तेषां

पराभवे रक्षकाणामपि युद्धं सम्भवतीति, तेषां वधे अमङ्गलं च भवतीति, तदोषं परिहरन्नाह ततो ययाविति । तत इत्यव्ययनिर्देशः । तस्य स्थानस्याविकृतत्वाय न कोऽपि तत्र हत इत्यर्थः । तर्हि पुरमध्ये कियद्दूरे हननं भविष्यतीत्याशङ्क्याह ययाविति । या प्रापण इति कुशलेनेष्ट-देशपर्यन्तं गत इत्यर्थः । तदोयानां वा रामादीनामुपद्रवमाशङ्क्य तन्निषेधार्थमाह रामपुरोगमैरिति । रामो हि साधनशक्तिः पुरोगमो येषामिति सर्वेषां साधनवत्त्वं रमणात्मकत्वादमारकत्वं च सूचितम् । सम्मर्देनापि तथात्वमाशङ्क्याह शनैरिति । लोका हि नगरस्थाः त्रिचतुरान्विहाय समागता अपि लोकवदन्त्या कृष्णाय दत्ता रुक्मिणी, अतो भगवान् नयतीति सादरं प्रेक्षका एव जाता इति शनैरित्यनेन सूचितम् । ननु तत्रैव कथं सर्वसन्देहनिवृत्त्यर्थं भगवान् न

स्थितः, श्वशुरादिभिः पश्चादभ्यनुज्ञातो गच्छेत्, किमिति निर्गत इत्याशङ्क्याह सृगालमध्यादिति । भवेदेवं यदि तत्र सन्तो भवेयुः । ते हि सृगाला दुष्टचित्ताः, तन्मध्ये च स्वभागो न स्थापनीयः । अतिरिक्तभाग एव सृगालानामिति । तत्रापि यदक्रूरमतिरिक्तं तत्साध्यानाम्, यत् क्रूरं तत् सृगालानामिति । यथा मथिताग्निः चषालादूर्ध्वं यूपश्च साध्यानाम्, यतयश्च सृगालानामिति श्रौतो निर्णयः । न तु स्वभागस्य । किञ्च । लोकेऽपि तत् सृगालमध्ये न रक्षणीयमिति सिंहं दृष्टान्तीकरोति हरिरिति । यथा सिंहः स्वभागं हरति, तथा भगवानपि भागहृज्जातः । भागभृदिति पाठे भागं बिभर्तीति । गृहीतस्य शुद्ध एव स्थाने स्थापनमिति तत्र न स्थापितवान् अन्यथा असुरगामि तद्भवेदिति ॥५६॥

व्याख्यानार्थ—पश्चात् रथ में चढ़ कर ऐसे ले गए जैसे निर्विघ्न अपने देश पहुँच गए, यों आगे से सम्बन्ध है समीपस्थित रथ में न चढ़ाकर गरुडध्वजा वाले रथ में ले गए इसलिए “सुपर्णलक्षणं” रथ का विशेषण दिया है, वहाँ चारों तरफ चक्रों की तरह राजा लोग घेर रहे थे उन समस्त राजाओं को परास्त कर ले गए भगवान् का नाम यहाँ “माधव” दिया है जिसका भाव प्रकट करते हुए कहते हैं कि प्रकट बली तो है हो परन्तु इनमें छिपा हुआ बल भी है कारण कि लक्ष्मी पति हैं यह रुक्मिणी लक्ष्मी है, अतः इनकी भार्या है । जिससे इसका पालन करने में भगवान् को धर्म प्राप्त हुआ इसकी अभिलाषा करने वाले वे तो अधिकारी नहीं थे जिससे इनको पाप ही लगा अतः इनको परास्त करना योग्य है, उनका पराभव कराने पर इनके रक्षक लड़ेंगे ? उनके मारने से अमंगल होता है इस दोष का परिहार करते हैं कि “ततो ययो” इन शब्दों के देने का आशय यह है कि “ततः” अव्यय है जिससे बताया कि उस स्थान को अविकारी बनाने के लिए, वहाँ किसी को मारा नहीं वहाँ नहीं मारा तो नगर के बीच में कितनी दूर जाकर मारा होगा ? इस शंका को मिटाने के लिए “ययो” कहा है जिसका अर्थ है पहुँच जाना अर्थात् भगवान् रुक्मिणी को लेकर

कुशलपूर्वक अपने देश पहुँच गए भगवान् तो सकुशल पहुँच गए किन्तु उनका वा रामादिकों का उपद्रव हुआ होगा ? इस शंका को मिटाने के लिए कहते हैं, कि “राम पुरोगमेः” बलरामजी को अपने साथ आगे कर ले गए, कारण कि बलराम साधन शक्ति है और रण रूप है जिससे यह बताया, कि उसने भी नहीं मारा रमण रूप आनन्द रूप होने से मारने का गुण उसमें नहीं है, अतः उसने भी कोई उपद्रव नहीं किया आपस के संघर्ष से भी उपद्रव वा मारना आदि हुआ हो, ऐसी शंका के निवारण के लिए “शनैः” शब्द दिया है अर्थात् धीरे धीरे जाने लगे जिससे बताया है कि किसी प्रकार का संघर्ष नहीं हुआ, नगर में रहने वाले तीन चार के सिवाय सब लोक विदा देने के लिए आए उन्होंने लोक रीति के अनुसार सबसे छोटी हविमणी श्रीकृष्ण को दी, इस कारण से भगवान् ले जाते हैं और सब आदर से देखते रहे, इसलिए भी “शनैः” धीरे धीरे जाने लगे यों कहा है, भगवान् वहाँ ही क्यों ठहरे नहीं जिससे सब का सन्देह मिट जाता और श्वसुर आदि भी आ जाते उनकी आज्ञा लेकर पधारते यों न कर वहाँ से शीघ्र क्यों चले गए ? इस पर कहते हैं कि “शृगालि माध्यम्” यों कहने का भाव प्रकट करते हैं कि भगवान् यों करते अर्थात् वहाँ ठहर जाते किन्तु वहाँ सत्पुरुष ठहरे होते तो, वे तो सियाल जैसे दुष्ट चित्त वाले थे उनके बीच में अपना स्थापन करना योग्य नहीं है, सियालों का भाग भिन्न वा शून्य होता है उसमें भी जो भाग क्रूर नहीं है वह तो साध्य देवों का है जो क्रूर है वह दुष्ट चित्त वाले सियालों का होता है, जैसे मथित अग्नि और चाँवल का ऊर्ध्व एवं यूप साध्यगण देवों का है और यति शृगालों का भाग है यह श्रोता निर्णय है, नहीं कि अपने भाग का और विशेष यह है कि लोक में भी वह भाग सियालों के बीच में नहीं रखना चाहिए जो सिंहों का है इसलिए वंसा ही दृष्टान्त देते हैं, “भागभृत्” पद का अर्थ है भाग को पालना करता है वह भागभृत् कहलाता है । लिए हुए भाग को शुद्ध स्थान पर ही रखना चाहिए इसलिए वहाँ नहीं रखा यदि वहाँ रखते तो वह असुरावेशी हो जाता ॥५६॥

आभास—ततो यज्जातं नृदाह तं मानिन इति ।

आभासाथं— पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन “तं मानिनः” श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तं मानिनः स्वाभिभवं यशःक्षरं परे जरासन्धवशा नृसेहिरे ।

अहो धिगस्मद्यश आत्तघन्वनां गोपैर्हृतं केसरिणां मृगैरिव ॥५७॥

श्लोकार्थ—जरासन्ध के आश्रित अन्य अभिमानी राजा, कीर्ति नाशक इस अपने पराभव को न सहन कर, कहने लगे कि, आश्चर्य है, जो हमारे धनुष धारण को भी

धिकार है क्योंकि जंसे सिंहों के यश वा भाग को मृग ले जावे वैसे हम धनुषधारियों के यश को ग्वाल हर कर ले गए ॥५७॥

सुबोधना—अभिमानरक्षार्थमेव समागताः । तदुक्तम् । 'यद्यागम्य हरेत्कृष्ण' इति । तज्जातमिति स्वस्य अभिभवं तिरस्कारं यशसश्च क्षयं दृष्ट्वा । तत्रापि परैः कृतम् । नहि शत्रुकृतं सोढुं शक्यमिति । ते यदि विवाहेनापि नयेयुः, तथापि सोढुमशक्याः, किमुत बलादिति । तत्रापि जरासन्धवशाः, यैः पूर्वं जयोनुभूतः, अतो न सेहिरे, असहमाना जाताः । जरासन्धवशत्वेन यशःक्षयासहनम्, मानित्वेन स्वाभिभवासहनमिति । तत्रोभयविधं । स्वनिन्दाप्रतिपादकं वाक्यमाह अहो धिगिति । आत्तधन्वनामस्माकं यशो धिगिति । यदि यशो भवेत्, तदा यशसा भीताः नेतारो भवेयुः

इति मानिनां वचनम् । जरासन्धप्रमुखानां वचनमाह गोपैर्हृतमिति । गोपाला हि गां हरन्ति । यस्य कस्यचित् । तत्रापि केसरिणां हृतमिति महदाश्चर्यम् । केसरो हि गां भक्षयति । गोपालाः पालयन्ति । अतः कृतं युक्तमेव, परमत्याश्चर्यमिति तेषां प्रशंसा स्वपौरुषख्यापनं च । अनेनातः परं प्रयत्नो न कर्तव्य इत्यपि सूचितम् । कर्तव्योऽपीति अव हेतुमाहुः केसरिणां मृगैरिवेति । मृगा हि साधारणाः, केसरी मृगेन्द्रः, तत्रापि बहूनां भागोऽयमिति दृष्टान्तोऽत्र वर्तत इति नात्यन्तमाश्चर्यमिति स्वमनःसमाधानमाहुः ॥५७॥

व्याख्यार्थ—अन्य राजा अपने अभिमान की रक्षा के लिए ही आए थे जिसकी सूचना "यद्यागम्यहरेत्कृष्ण" श्लोक में दे दी है वह हुआ, अर्थात् श्रीकृष्ण रुक्मिणी को हरण कर गए, जिससे अपना तिरस्कार और यश का नाश देख कर सहन नहीं कर सके क्योंकि शत्रुओं से किया हुआ तिरस्कार सहन नहीं किया जा सकता है, वे यदि विवाह कर ले जावे तो भी सहन करना अशक्य है तो बल से ले जावे जरासन्ध के आश्रित कैसे सहन करेंगे अतः सहन न कर सके, जरासन्ध के आश्रित होने से यश का नाश सहन न कर सके तथा स्वयं अभिमानी थे इसलिए अपना तिरस्कार भी सहन नहीं कर सके । वहाँ दोनों प्रकार अपनी निन्दा का प्रयिपादन करने वाला वाक्य कहते हैं, धनुषधारी हमारे यश को धिक्कार है जो अभिमानी, यश जाएगा इससे डरकर ले जावे तो यश हो, वह तो हुआ नहीं अब जरासन्ध जिन में प्रमुख है उन्होंने जो कहा वह कहते हैं "गोपैर्हृतं" गोप ले गए ग्वाले जिस किसी की गो हरण करते ही हैं यह जो हरण की है वह सिंहों की गो है, यह बड़ा अचम्भा है, सिंह गो का भक्षण करता है ग्वाले पालते हैं, इस कारण से जो किया है वह योग्य ही किया है किन्तु इसी में आश्चर्य हैं, यों कहने से उनकी प्रशंसा की है और अपनी वीरता प्रकट की है तथा यह भी सूचित किया है कि इसके बाद किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं करना चाहिए इस

प्रकार सूचित करने में हेतु कहते हैं “केसरिणां मृगौरिव” मृग साधारण हैं और केशरी मृगों का राजा है, उसमें भी बहुतों का यह भाग है, इस प्रकार यह दृष्टान्त यहाँ है, इसलिए असौम आश्चर्य नहीं है यों कहकर अपने मन का समाधान करते हैं ॥१७॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध, के उत्तरार्ध के ५०^{वें} अध्याय की
श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्रीसुबोधिनी ‘संस्कृत टीका’ के राजस साधन
अवान्तर प्रकरण, का चथे अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित संपूर्ण ।

राग आसावरी

रुकमिनि देवी मन्दिर आई ।

धूप दीप पूजा सामग्री, अली संग सब ल्याई ॥

रखवारी कौ बहुत महाभट, दोन्हे रुकन पठाई ।

ते सब सावधान भए चहुँदिसि, पंछी तहाँ न जाई ।

कुंवरि पूजि गौरी, बिनती करी वर देउ जादवराई ॥

मैं पूजा कीन्हीं इहि कारन, गौरी सुनि मुसुकाई ॥

पाई प्रसाद अंबिका मंदिर, रुकमिनि बाहर आई ।

सुभट देखि सुन्दरता मोहे, धरनि गिरे मुरझाई ॥

इहि अन्तर जादः पति आए, रुकमिनि रब बैठाई ।

सूरज प्रभु पहुँचे दल अपनै, तब सुभटनि सुधि पाई ॥



5
- 3 -

॥ श्रीहरिः ॥

॥ श्री कृष्णायनमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पति चरण कमलेश्वरो नमः ॥

श्री मद्बल्लभाचार्य विरचित सुबोधिनी टीका—हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध उत्तरार्ध

स्कन्धानुसार ५४ वां अध्याय

सुबोधिनीनुसार ५१ वां अध्याय

राजस साधन अवान्तर प्रकरण

पञ्चम अध्याय

शिशुपाल के साथी राजाओं की और रुक्मिणी की हार
तथा श्रीकृष्ण-रुक्मिणी विवाह

★

कारिका -- यावन्निवर्तते चित्तं तदीयानां स्वभावतः ।

तावदन्यस्य विषयो भेगवांस्तं न मन्यते ॥१॥

कारिकार्थ—तदीयों का चित्त जब तक स्वभाव से निवृत्त हो जाय तब तक भगवान् उसको अन्य का विषय नहीं मानते हैं ॥१॥

कारिका—अतो विधिविवाहार्थं तन्निराकरणं पुराः ।

त्रिविधानां निरूप्यं हि युद्धमुण्डनबोधनैः ॥२॥

कारिकार्थ—इस कारण से विधि पूर्वक विवाह करने के लिए तीन प्रकार की

विधियों का पहले मुद्ध मुण्डन और उपदेश^१ से निराकरण करने का निरूपण करना योग्य है ॥२॥

कारिका—उदासीनाः स्वकीयाश्च स्वयं चेत्यत्र शत्रवः ।

मध्यमं भगवत्कार्यमनुकल्पो यतस्तथा ॥३॥

कारिकार्थ—यहां उदासीन अपने और स्वयं शत्रु^२ हैं भगत्कार्य मध्यम है क्योंकि नैसे ही अनुकल्प^३ है ॥३॥

कारिका—उत्तरार्धे पंचमे तु विवाहो वर्ण्यते हरेः ।

रुक्मिण्या सर्वभावेन तद्दोषान् विनिवर्त्य हि ॥४॥

कारिकार्थ—उत्तरार्द्ध राजस-साधन उप-प्रकरणके पाचवें अध्याय में रुक्मिणी के दोषों को निवृत्त कर उसका सर्ग भाव से हरि के साथ विवाह का वर्णन किया जाता है ॥४॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते स्वयशोनिन्दां कृतवन्त इत्युक्तम् । ततो यावच्छक्यं स्वपौरुषं सात्त्विकास्ते कृतवन्त इत्याह इतीति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में अपने यश की निन्दा करने लगे, यों कहा है, पश्चात् जो सात्त्विक^४ थे वे जितनी सामर्थ्य थी उतनी अपनी धीरता करने लगे, जिसका वर्णन श्रीशुक्रदेवजी “इति सर्वे” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—इति सर्वे सुसंरब्धा वाहानारुह्य दंशिताः ।

स्वः स्वर्बलं परिक्रान्ता अन्वीयुर्धृतकाशुकाः ॥१॥

१—“१” मुद्ध से बरासन्ध आदि “२” मुण्डन से रुक्मिणी का “३” उपदेश से रुक्मिणी के अज्ञान का ।

२—भगवान् की कृति का अनुमोदन न करने वाली अपनी आत्मा भी शत्रु है ।

३—एक वस्तु के अभाव में दूसरी वस्तु काम में लाना जैसे बाहद न होवे तो गुड़ से काम चलाना इसको अनुकल्प कहते हैं ।

४—‘भो भो पुरुष शार्दूल’ इस श्लोक में जो जानोतदेश होने से वे सात्त्विक हुए अतः सात्त्विक हैं ।

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि वे सब क्रोध की परस्पर वार्ता करते हुए इकट्ठे हुए, और कवच पहन, वाहनों पर चढ़ अपनी सेना से वेष्टित हो धनुष लिए उनके पीछे दौड़े ॥१॥

सुबोधिनी—सर्वे एव मिलिताः सुसंरब्धाः अल्पीयांसो भगवदीया इति स्वोद्यमः । भगवांश्च स्त्रीरक्षायां व्यापृत इति । अन्यथा सात्त्विकानां विचारपूर्वकं प्रवृत्तिर्न स्यात् । सुष्ठु संरब्धाः क्रोधेन परस्परवाक्यैर्वा । ततो वाहान् रथादीन्

दशिताः वद्धकवचाः सम्भूय । युद्धे एकस्यापि भङ्गे सर्वेषां भवेदिति स्वैः स्वैर्बलैः पृथगेव परितः आक्रान्ताः, दूरादेव मारणार्थं धृतकार्मुका जाताः ॥१॥

व्याख्यानार्थ—सब ही इकट्ठे हुए, थोड़े भगवदीय हुए थे, इसलिए ये अपना उद्यम करने लगे, भगवान् तो स्त्री की रक्षा में रुके हुए थे, यदि यों न होता अर्थात् भगवान् उस रक्षा में रुके हुए न होते तो सात्त्विकों की विचार पूर्वक प्रवृत्ति न हो सकती थी, अथवा क्रोध से परस्पर वार्ता को करते हुए उद्यम न करते, पश्चात् कवच पहिन, कमर बान्ध रथ आदि में बैठ तैयार होकर अपने अपनी सेनाओं से जुड़े जुड़े ही चारों तरफ चढ़ाई करने लगे, दूर से ही मारने के लिए धनुष धारण कर लिया ॥१॥

आभास—एवं शत्रूणामुद्योगमुक्त्वा तत्प्रतीकारार्थं भगवदीयानामप्युद्योगमाह तानापतत इति ।

आभासार्थ—शत्रुओं के इस उद्यम का वर्णन कर, उसके प्रतीकार के लिए भगवान् के पक्ष वालों के उद्यम का वर्णन “तानापतत” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तानापतत आलोक्य यादवानीकयूथपाः ।

तस्थुस्तत्सम्मुखा राजन्विस्फूर्ज्य स्वधनूषि ते ॥२॥

श्लोकार्थ—यादवों के सेनापति, उनको आक्रमण करने के लिए आते देख, हे राजन् ! वे भी अपने धनुषों की टंकार करते हुए उनके सन्मुख खड़े हो गए ॥२॥

सुबोधिनी—आ सर्वतः पततः । अत्र विद्यमानाः सर्वे यादवानीकानां यूथपा एव, न तु कश्चित्सेनारूपः । साधारणो वा । अतस्तत्सम्मुखा एव तस्थुः । आत्मीयाश्चेन्महान्तः अल्पीयां

सोऽपि भवन्ति, तदापि जय इति बहूनामपि सम्मुखा जाताः । तानाकारयन्त इव स्वधनूषि विस्फूर्ज्य ज्यानिनादं कृत्वा स्थिताः, यतस्ते रामादयः प्रसिद्धाः ॥२॥

व्याख्यार्थ—चारों तरफ से आक्रमण करते थे, यहाँ सब यादवों की सेना के सेनापति ही थे, किसी प्रकार की सेना नहीं थी, अथवा साधारण सैनिक भी नहीं थे, अतः उनके सामने खड़े हो गए भगवदीय महान् अथवा छोटे होते हैं, तो भी उनकी जय होती है, इसलिए उनके सम्मुख डटकर खड़े हो गए केवल खड़े नहीं हुए किन्तु उनको मानो बुलाते हुए धनुषों को टंकार करने लगे क्योंकि वे राम आदि प्रसिद्ध ही थे ॥२॥

आभास—ततः प्रथमे प्रथमतः युद्धार्थं प्रवृत्ता इत्याह अश्वपृष्ठ इति ।

आभासार्थ—पश्चात् पहले युद्ध के लिए प्रवृत्त हुए यह “अश्वपृष्ठ” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—अश्वपृष्ठे गजस्कन्धे रथोपस्थे च कोविदाः ।

मुमचुः शरवर्षाणि मेघा अद्रिष्वपो यथा ॥३॥

श्लोकार्थ—वे निपुण राजा, घोड़ों की पीठ पर हस्तियों के कन्धे पर, रथों के मंच पर ऐसे शरों की वर्षा करने लगे जैसे पहाड़ों पर मेघ जल गिराता है ॥३॥

सुबोधिनी—यत्नैव प्रहारे न कस्यापि व्यथा, तत्नैव तेषां शरपातो भवतीति ज्ञापनार्थं अश्वपृष्ठ इति । चर्मादि व्यवधायकमस्तीति । तथा गजस्कन्धेऽपि, तथा रथोपस्थे अनुपविष्टभागे । कोविदा अपि । अथ वा यत्नैव पीडा सम्भवति, तत्नैव शरवृष्टि कृतवन्तः । यतः कोविदाः ।	चकारात् सारथिस्थानेऽपि । प्रतीकाराकरणेऽपि न कश्चित्तेषामपचारो जात इत्यत्र दृष्टान्तमाह मेघा अद्रिष्वपि । न दीर्यत इत्यद्रिः । अन्यथा विदारे तदीयानामपकारात् विशेषणं व्यर्थं स्यात् । तत्रापि मेघाः साधारणाः, न तु नीलाः । ब्रवाप्यपः, न तु धाराः ॥३॥
--	---

व्याख्यार्थ—उन राजाओं के शर (बाण) वहाँ गिरते थे जहाँ किसी को भी चोट न लगी थी, हालांकि वे युद्ध में निपुण भी थे, कारण कि चोट न हाने के दो कारण थे, एक तो उनके शर ऐसे स्थान पर गिरते थे और दूसरा ढाल आदि रूकावट करने वाले थे उनके शर कहीं गिरते थे वह बताते हैं घोड़ों की पीठ पर हस्तियों के कन्धों पर रथ के मंच^१, पर ही तीर गिरते थे अथवा कहकर दूसरा आशय बताते हैं, कि जहाँ ही गिरने से पीड़ा होवे वहाँ ही शरों की वृष्टि करते थे क्योंकि निपुण थे “च” पद से यह प्रकट होता है कि जहाँ सारथि बैठे थे वहाँ भी तीर फँकते थे, श्रोकृष्ण के

पक्ष वालों ने हालांकि एक भी प्रतिकार नहीं किया, तो भी उनकी तनिक भी हानि नहीं हुई इस विषय में दृष्टान्त देते हैं, जैसे साधारण बादल अर्थात् जिनमें विशेष जल नहीं है वे भी धाराओं से वर्षा न कर, केवल पानी से पर्वतों पर सिंचन करते हैं जिससे पर्वतों में किसी प्रकार दरार नहीं पड़ सकती है वैसे ही यहाँ भी उनके तीरों से तनिक भी हानि नहीं हुई ॥३॥

आभास—ततो रुक्मिण्या भयं जातम्, तद्भगवता निवारितमिति निरूप्यते । भगवान् भक्तार्थमेव सर्वं करोतीति ज्ञापनार्थम् । केवलं तेषां वधे रुक्मिण्या अप्यसम्मतौ स्वार्थमेव तत् कृतवानिति क्लिष्टकर्मता स्याद् । ततो युद्धात्पूर्णं तदाह पत्युर्बलमिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—शरों के इस प्रकार गिरने से, रुक्मिणी को भय हुआ वह भगवान् ने मिटाया जिसका निरूपण करते हैं, वयों निरूपण करते हैं, कि सब को यह ज्ञात हो कि भगवान् भक्त, के लिए ही सब कुछ करते हैं, केवल उनको मार डालने में रुक्मिणी को भी सम्मति नहीं थी, यदि अपने लिए ही भगवान् ने किया तो क्लिष्टकर्मपन भगवान् में आ जावे, इस कारण से युद्ध में पहले “पत्युर्बल” इन दो श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—पत्युर्बलं शरासारैश्छन्नं वीक्ष्य सुमध्यमा ।

सत्रीडमैक्षतद्वक्त्रं भयविह्वललोचना ॥४॥

प्रहस्य भगवानाह मा स्म भवामिलोचने ।

विनङ्क्षत्यधुनैवैत्तावकैः शास्त्रध्वं बलम् ॥५॥

श्लोकार्थ—सुन्दर कटिवाली रुक्मिणी पति की सेना को बाणों की वर्षा से ढकी हुई देख जब भय से विह्वल नेत्र वाली हो, लज्जा से पति के मुखारविन्द को देखने लगी, तब भगवान् ने हँस कर उसको कहा है सुन्दर नेत्र वाली ! तू डर मत अब ही तुम्हारे जो ये यादव हैं वे शत्रुओं की सेना का संहार करेंगे ॥४, ५॥

सुबोधिनी—शराणामासारैः धारासम्पातैः वा । राजसगुणे हि सति शौर्यादिकं भवतीति । सम्यक् छन्नम् । पत्युर्भगवतो बलं छन्नं वीक्ष्य एतदर्थमेव भगवदीयानां सहनम् । अपूर्वदर्शन- तद्वक्त्रं सत्रीडमैक्षत । सुमध्यमेति विनियोगो- मिति सत्रीडमैक्षत । वस्तुतः सभयं द्रष्टव्यम्, अन्यथा भविष्यतीति शङ्कया, शुद्धान्तःकरणा तत्त्वापि तावदधं पलायनमपि कर्तुं शक्त इति ।

लज्जैव परं भवेदिति । उभयथापि सत्रीडमैक्षत । ततः क्षणानन्तरं भयेन विह्वले लोचने यस्याः तादृश्यापि जाता । तस्य भगवतो वक्त्रमैक्षत । ततः सान्त्वनमाह प्रहस्येति । एवं हि कामः स्वयं स्वकीयवधं कामयत इति हासेनैव मोहने तस्या भयादिकमपि निवारितम् । मनो देहश्च भगवते सन्देशार्थं प्रेषितवती, न तु वाणीम् । अन्यथा सैव रमेत । भगवानपि तथा वाणीमेवोक्तवान् यथा योग्यम् । भगवत्त्वादेव नाविश्वासः तथैव हृदये वा सम्पादितवान् । मा स्म भैर-

त्याह । प्रसिद्धिरेव सर्वत्र वर्तते भगवदीयानां भयं नास्तीति । वामलोचन इति । वक्रादृष्टिर्न कर्तव्या, आहोस्वित् पुरुषमपि या जयति, तस्याः किं भयमिति । मनोहरदृष्टित्वादेव शुभं भविष्यति, त्वद्दृष्ट्या वा हता भविष्यन्तीति सम्बोधनम् । अधुनैवेति । निःसन्देहः । तामात्मत्वेन गृहीत्वाह त्यक्त्वा गमनाभावाय । तावकैरिति । सर्वात्मकत्वविचारेऽपि उपपत्तिमाह शास्त्रं वलमिति । शत्रवो हन्तव्या एवेति ॥१॥

व्याख्यानार्थ—वाणों की धारा वर्षा से पति की सेना को ढकी हुई देख, उनके मुखारविन्द को लज्जा पूर्वक देखने लगी, "सुमध्यमा" विशेषण से यह शंका उत्पन्न हो सकती है, कि इसका विनियोग दूसरे प्रकार होगा, अतः कहते हैं कि नहीं यह शुद्ध अन्तःकरण वाली है इस आशय से "सुमध्यमा" विशेषण दिया है राजस गुण होने पर ही शौर्य आदि होता है इसलिए ही भगवदीय सहन कर सकते हैं रुक्मिणी ने भगवान् को इस प्रकार पहले कभी नहीं देखा था इसलिए यह अपूर्व दर्शन होने से लज्जापूर्वक देखने लगी, वास्तव में तो यह देखना भय पूर्वक था, जिससे भी तो उस समय भाग भी सकते थे किन्तु भाग जाने पर लाज ही हो, दोनों प्रकार लज्जा से देखने लगी, अनन्तर थोड़ी ही देर में उसके नेत्र भय से विह्वल हो गए, तब भी भगवान् को देखती रही, ऐसी दशा देख कर भगवान् हसकर रुक्मिणी को सान्त्वनना देने लगे, इस प्रकार ही काम आप ही अपना वध चाहता है, इसलिए हंसने से ही मोहित कर, काम का वध किया तथा उसके भय आदि भी मिटाए, मन और देह सन्देह के लिए भगवान् के पास भेज दिए थे, वाणी नहीं भेजी थी, नहीं तो वहीं रमण करे भगवान् भी उसी प्रकार यथा योग्य वाणी को ही कहने लगे, आप भगवान् हैं, इस ज्ञान से उनकी वाणी में अविश्वास नहीं हुआ, जैसी वाणी आपने कही उसको ही हृदय में धारण कर लिया भगवान् ने कहा कि, हे वामलोचने । तू डर मत क्योंकि यह सर्वत्र प्रसिद्ध है कि भगवदीय डरते नहीं है, अतः आप वक्रदृष्टि न करिए, अथवा जो पुरुष को भी मोहित कर सकती है, उसे किसका भय ? किसी का नहीं, मनोहर दृष्टि से ही सब शुभ होगा अथवा तुम्हारी दृष्टि से मर जायेंगे इसलिए "वामलोचने" सम्बोधन दिया है, "अधुनैव" अब ही पद कहने का आशय है कि इनके नाश होने में किसी प्रकार सन्देह नहीं है, उसको आत्मापन से ग्रहण कर यह दिखाया कि रण का त्याग नहीं करना है, कारण कि, ये तेरे अब ही शत्रु की सेना को नष्ट कर देंगे, सब आत्मा अपनो हैं, इस विचार से मारना नहीं चाहिए किन्तु यह सेना शत्रुओं की है, इस उपपत्ति से मारने में कोई दोष नहीं यह नीति है ॥४,५॥

आभास—एवं भगवद्वाक्येनैव ते आज्ञप्ता एव सामर्थ्ययुक्ता एव शत्रुवलं दुरीकृत-
वन्त इत्याह तैषामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के वाक्यों से आज्ञा प्राप्त कर सामर्थ्य युक्त भी हो गए जिससे शत्रु सेना को दूर फेंक दिया जिसका “तेषां” श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—तेषां तद्विक्रमं वीरा गदसङ्कुर्षणादयः ।

अमृष्यमाणा नाराचैर्जघ्नुर्हयगजान् रथान् ॥६॥

श्लोकार्थ—उन राजाओं के पराक्रम को न सहन कर गद और संकर्षण आदि
वीर यादव, शत्रु सेना के घोड़े, हस्ती तथा रथों को बाणों से नाश करने लगे ॥६॥

सुबोधिनी—तादृशं पराक्रम अमृष्यमाणाः सन्तः जघ्नुः, तादृशं पराक्रम को वा शत्रुरूपेक्षेत । गदः सङ्कुर्षणश्च आदिभूतौ येषाम् । एकः प्रविश्य मारयति, अपरस्त्वाकृष्य । इतो हीनः कोऽपि	नास्तीति तथोरादित्वम् । नाराचैर्बाणविशेषैः । हयगजान् रथानिति । त्रिविधा हता इति गणिताः । न हि महद्भिः क्षुद्रा हन्यन्ते । अतो न पत्तयः परिगणिताः ॥६॥
---	---

व्याख्यार्थ—वैसे पराक्रम, को सहन न करते हुए नाश करने लगे, कौनसा ऐसा वीर शत्रु
है, जो शत्रुओं के ऐसे पराक्रम की उपेक्षा करे, जिनमें गद और संकर्षण मुख्य हैं, उन में से एक
उनके भीतर घुसकर जाके मारता है तो दूसरा घसीट कर बाहर लाके मारता है, इन से कम तो
कोई नहीं है, किन्तु इन दोनों की प्रमुखता है विशेष बाणों से, घोड़े, हस्ती और रथ इन तीनों की
गणना से यह बताया कि जो शत्रुओं में महान् योद्धे इन पर बैठे थे उन सबको नष्ट कर दिया शेष
जो साधारण प्यादे उनकी गिनती नहीं को है क्योंकि महान् (पुरुष) क्षुद्रों को नहीं
मारते हैं ॥६॥

आभास—हननं फलपर्यवसायीति फलमाह त्रिभिः पेतुरिति ।

आभासार्थ—“पेतुः” श्लोक से तीन श्लोकों में कहते हैं कि “मारंडालना” फल पर्यवसायी है-

श्लोक—पेतुः शिरांसि रथिनामश्विनां गजिनां भुवि ।

सकुण्डलकिरीटानि सोष्णीषाणि च कीटिशः ॥७॥

हस्ताः सासिगदेष्वासाः करभा ऊरवोऽङ्घ्रयः ।

अश्वाश्चतरनागोष्ट्रखरमर्त्यशिरांसि च ॥८॥

हन्यमानवलानीका वृष्णिभिर्जयकाङ्क्षिभिः ।

राजानो विमुखा जग्मुर्जरासन्धपुरः सराः ॥९॥

श्लोकार्थ—रथियों, घोड़े सवारों और हस्तियों पर बैठे हुए योधाओं के कुण्डल, मुकुट तथा पगड़ियों सहित कराड़ों शिर पृथ्वी पर गिर गए ॥७॥

खड्ग गदा और घनुष सहित हाथ कट कर गिरते थे, कोहनी से हाथ के पोंचे तक का भाग, जंघा और पांव यह भी कट कर गिरते थे, तथा घोड़े खच्चर, हाथी, ऊँट, गधे और मनुष्य इनके भी शिर कटकर गिर पड़ते थे ॥८॥

जय की इच्छा वाले यादवों ने सेना का संहार करना प्रारम्भ किया तब जरासन्ध जिन में मुख्य है, वैसे राजा विमुख हो भाग गए ॥९॥

सुबोधिनी—वधो द्विविधः, अवयविनः अवयवानां च । ततः पलायनमिति रथिनां शिरांसि निरुक्ताति रथस्थानं परित्यज्य भुवि पेतुः । तथा अश्विनां अश्वसहितानां गजसहितानां वा । खड्गयुद्धे नैतदाश्रयम्, बाणयुद्धे तु भवतीति निरूपितम् । तेषामप्रयोजकत्वं निवारयति सकुण्डलकिरोटानीति । उष्णोष्कुकुण्डलकिरोटानि त्रिविधानि । प्रायिकत्वं व्यावर्तयितुं कोटिश इत्युक्तम् । अवयवानाह हस्ता इति । असियुक्ता गदायुक्ताः दक्षिणाः, इष्वासयुक्ताः वामाः, करभाः शुण्डादण्डाः, ऊरवः अङ्घ्रयश्च । सर्वेषामश्वा-

दीनां शिरांसि च भुवि पेतुरिति सम्बन्धः । नागा हस्तिनः । षड्विधा अपि हता इत्यर्थः । चकारात् ध्वजादीनामपि भूभिपातः । ततः पलायनमाह हन्यमानेति । सर्वमेव बलमनीकरूपं हन्यमानं येषाम् एते तु वृष्टिमेव कृतवन्तः, न तु मारयन्ति, ते तु मारयन्ति । तत्र हेतुः जयकाङ्क्षिभिरिति कन्या तु प्राप्तैव, केवलं जय एवापेक्षित इति तेषामुद्योगः । ततो राजानः स्वदेशभोगेप्सव किं वृथा मरणेनेति सर्व एव विमुखाः कुण्डिनपुरं जग्मुः । जरासन्धः पुरःसरो येषाम् स हि पलायने कृताभ्यासः ॥९॥

व्याख्यार्थ—दो प्रकार से वध होता है, एक अवयवों का और दूसरा अवयवी का, पश्चात् भाग जाना यों रथियों के कटे हुए शिर रथ का स्थान छोड़ कर पृथ्वी पर गिर गए वैसे ही घोड़े

सवारों एवं हस्ती पर बैठे हुए योधाओं के शिर भी गिरे, तलवार की लड़ाई में यह अचम्भे की बात नहीं है बाणों की युद्ध में यो होना आश्चर्य की बात हो सकती है इसलिए यह निरूपण किया है उनकी अप्रयोजकता निवारण करते हैं पगड़ी, कुण्डल तथा मुकुट तीन प्रकार के हैं, बहुतायत को मिटाने के लिए “कोटिशः” करोड़ों शब्द कहा है जो अवयव गिरे उनको कहते हैं तलवार और गदा से युक्त दक्षिण हस्त, कोहनी से हाथ के पोचे तक का भाग, जंघा और चरण, एवं अश्व आदि के शिर पृथ्वी पर गिरे, हाथी छ प्रकार के भी मरे यह तात्पर्य है “च” ध्वजा आदि भी पृथ्वी पर गिरे, अनन्तर भागने लगे जिसका वर्णन करते हैं, जिनकी सर्व सेना नष्ट हो गई, ये जो वर्षा ही करते थे, मारते नहीं थे किन्तु वे तो मारने हैं इसमें कारण यह है कि यादव अपनी जय चाहते हैं, कन्या तो मिल गई थी, किन्तु केवल जय की आकांक्षा रही थी इसलिए उनका यह उद्यम था, राजा लोग तो अपने देश जा कर भोग इच्छा वाले थे वृथा मरने से क्या लाभ होगा इसलिए सब अप्रसन्न मुख फेर कर कुण्डिनपुर को गए, उन राजाओं में मुख्य जरासन्ध था क्योंकि उसने भागने का अभ्यास किया है जिससे पहले वह भागने लगा पीछे दूसरे भी भाग गए ॥७, ८, ९॥

श्लोक—शिशुपालं समभ्येत्य हतदारधिवातुरम् ।

नष्टत्विषं गतोत्साहं शुष्यद्वदनमब्रुवन् ॥१०॥

श्लोकार्थ—मानो जिसकी स्त्री का हरण हुआ है, इससे आतुर, तेज हीन उत्साह रहित शुष्क मुख वाले शिशुपाल के पास आकर कहने लगे ॥१०॥

सुबोधनी—भीष्मोऽत्र न वक्तव्य इति तस्या-
पकाराभावाच्च शिशुपालं समभ्येत्य अविवाहेऽपि
जातविवाह इव खिद्यमानो जातः । ततो मर्तु-
कामं विषादिना आतुरं विचाररहितं हतदारं
सम्यगभ्येत्य निकटे सान्त्वनार्थं गत्वा, शुष्यद्वदनं

म्रियमाणमिव शीघ्रं सान्त्वनमब्रुवन् । शिशु-
पालपरिज्ञाने मरणसाधनमेव ज्ञापकम्, नत्वन्य-
दित्याह नष्टत्विषमिति । वहिः कान्त्यभावः, अन्त-
रुत्साहाभाः । जरासन्धो हि अत्यन्तमभ्यस्त-
बोधनः ॥१०॥

व्याख्या—इस विषय में भीष्मक को कुछ भी कहना नहीं है, उसका कुछ भी अपकार नहीं हुआ है. शिशुपाल के पास आकर कहने लगे, क्योंकि यद्यपि शिशुपाल का रुक्मिणी के साथ विवाह नहीं हुआ है, तो भी वह यों समझता है कि मेरा विवाह हुआ है और मेरी स्त्री श्रीकृष्ण ले गया है, इसलिए वह खेद युक्त हो रहा है, इस कारण से विष खाकर मरने की इच्छा करने वाले, जिसकी स्त्री का हरण हुआ है जिससे दुःखिया है, वैसे विचार हीन को सान्त्वना देने के लिए निकट जाकर मरे हुए के समान शुष्क मुखवाला देख शीघ्र ही सान्त्वना के शब्द कहने लगे शिशुपाल के पूर्ण ज्ञान में मरण के साधन ही ज्ञापक थे न अन्य कुछ भी, वह बताते हैं—जिसकी कान्ति नष्ट हो गई है बाहिर

तेज का अभाव और भीतर उत्साह का न होना, जरासन्ध तो बहुत ही जताने का अभ्यासी है, अर्थात् जरासन्ध बहुत बार बार हार खाके भागा है जिससे उस समय इसकी आकृति आदि कैसे हो जाते हैं, वह सबको बताया हुआ है ॥१०॥

आभास—सान्त्वनवाक्यान्याह भो भो इति षड्भिः ।

आभासार्थ—“भो भो: पुरुष” इस श्लोक से सान्त्वना के वाक्य कहते हैं ।

श्लोक — भो भो: पुरुषशार्दूल रोमनस्यमिदं ह्यज ।

न प्रियाप्रिययो राजन्निष्ठा देहिषु दृश्यते ॥११॥

श्लोकार्थ—हे पुरुषसिंह: इस उदासी का त्याग करो, हे राजा जीव में प्रिय और अप्रिय स्थिर नहीं दीखते हैं ॥११॥

सुबोधिनी—भगवद्गुणैरेव सान्त्वनं भवतीति । अनेन तस्यापि रुक्मिण्यामभिमानो निवृत्तिष्यते इति निरूपितम् । आदौ स्वास्थ्यं सम्पादयति । भो भो इति मूर्च्छितप्रबोधनम् । स्तुत्या माहात्म्यं हृदये समायातीति पुरुषशार्दूलेति सम्बोधनम् । इदं विवाहाभावलक्षणम् । न हि	त्वदोयं किञ्चिदगतमस्ति । अप्राप्तत्वात् । जाते विवाहे प्रियं भवेदिति यदि, तत्राह न प्रियाप्रिययोरिति । देहिषु सर्वदा प्रियं वा कस्यचिदप्रियं वेति निष्ठा निर्धारो नास्ति । तत्र देहित्वमेव हेतुः । ‘दिह उपचय’ इति । यदोपचयः तदा प्रियम्, अन्यदाऽप्रियमिति ॥११॥
--	---

व्याख्यार्थ—भगवद्गुणों के श्रवण से हो शान्ति आती है, इससे उसका जो रुक्मिणी में अभिमान है अर्थात् रुक्मिणी मेरी है, वह भी मिट जावेगा, यों निरूपण कियों, पहले स्वस्थता का सम्पादन करते हैं अर्थात् मूर्च्छित हुए शिशुपाल को सावधान करते हैं “भो भो” पद से यह ज्ञान कराते हैं कि वह मूर्च्छित है, “पुरुषशार्दूल” विशेषण देने से यह प्रकट कियों है कि अपनी स्तुति श्रवण से हृदय में अपने माहात्म्य का ज्ञान होगा, यह कहना विवाह न होने का लक्षण बताना है, विवाह न होने से तेरा कुछ गया तो नहीं है, जो कहो कि विवाह होने से मेरा कुछ प्रिय होता, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि “प्रियाप्रिययोः” जीव को सदैव प्रिय हो अथवा सर्वदा अप्रिय हो वैसे कोई निर्णय नहीं है, उसमें देहित्व ही कारण है ‘दिह उपचय’ घातु से यह शब्द बना है अतः जब बढ़ता है अथवा उन्नति होती है तब प्रिय होता है अर्थात् प्रसन्नता होती है और जो हानि होती है तो दुःख होता है ॥११॥

आभास—हेत्वन्तराण्याह यथा दारुमयीति ।

आभासार्थ—“यथा दारुमयी” श्लोक में दूसरे हेतु कहते हैं ।

श्लोक—यथा दारुमयी योषिन्नृत्यते कुहकेच्छया ।

एवमीश्वरतन्त्रोऽयमीहते सुखदुःखयोः ॥१२॥

श्लोकार्थ—जैसे काठ की पुतली नचाने वाले जादूगर की इच्छा के अनुसार नाचती है इसी प्रकार यह जीव भी सुख दुःख भोगने में ईश्वर के आधीन है ॥१२॥

सुबोधिनी—अलौकिको बोधनहेतुरयम् । दारुमयी योषित् विवृताङ्गचपि सभायां विरुद्ध- रसापि । कुहकस्य वञ्चकस्य । कस्याश्चिद्देव- ताया रूपं कृत्वा तां नर्तयित्वा स्वोदरभरणं करोति । एवमीश्वरेण सर्वोऽपि नर्त्यते स्वक्रीडा-	र्थम् । अत ईश्वराधीन एवायं लोकः भ्रमात्सु- खदुःखयोरीहते । सुखं भवतु, दुःख मा भव- त्विति । यथाकथञ्चित् प्रवृत्त्यर्थं भगवति दोष- ज्ञानाभावाय तथा बुद्धिमुत्पादयति ॥१२॥
--	---

व्याख्यार्थ—यह बोधन का हेतु अलौकिक है विस्तृत अंगवाली भी पुतली सभा में जो स्वयं रस पैदा नहीं कर सकती है रसहीन है अथवा विरुद्ध रसवाली है, तो भी, कोई धूर्त जादूगर किसी देवता का रूप धारण कर, उसको नचाके अपना पेट भरता है, इसी प्रकार भगवान् भी अपनी क्रीड़ा के लिए समस्त जगत् को नचाता है, अतः यह लोक ईश्वर के आधीन ही है भ्रम से ही सुख दुःख की स्वयं इच्छा करता है, भ्रम के कारण ही कहता है कि मुझे सुख प्राप्त हो दुःख की प्राप्ति न होवे भगवान् जैसे तैने प्रवृत्ति चक्र चलाने के लिए अपने में दोष का ज्ञान न होवे इसलिए वैसी बुद्धि उत्पन्न करते हैं ॥१२॥

आभास—एवं शास्त्रीयमुक्त्वा लौकिकं स्वकीयमाह शीरेः सप्तदशाहमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार शास्त्रीय सान्त्वना देकर अब अपना लौकिक प्रकार “शीरेः सप्त-
 दशाहं” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—शीरेः सप्तदशाहं वै संयुगानि पराजितः ।

त्रयोविंशतिभिः सैन्यैर्जिग्य एकमहं परम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णजी से सत्रहवार तो तेईस अक्षोहिणीयों के साथ होते हुए भी मैं हार गया हूँ किन्तु एक बार मैं जीत गया जिससे मैंने दोनों प्रकार अर्थात् जय

(प्रिय) एवं पराजय (अप्रिय) का अनुभव किया है इससे सुख तथा दुःख की सदैव स्थिति नहीं रहती है यह प्रत्यक्ष है ॥१३॥

सुबोधिनी—सप्तदशदिवसेषु वै निश्चयेन शोरेः सम्बन्धिसंयुगानि पराजितः । द्विकर्म-कोऽयं जिघातुः अत्र । संयुगेषु वा । त्रयोवि-

शतिभिः सैन्यैरक्षोहिणीभिः सहित इति साध-नसहितोऽपि सकृज्जयं मन्यते । तेन द्वयमपि मयानुभूतमिति निष्ठाभावः प्रत्यक्षः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—सत्रह दिनों में जो कृष्ण से १७ युद्ध हुए उनमें मैं हार गया हालांकि मेरे पास तेवीस अक्षोहिणी सेनाओं का साधन भी था, किन्तु अन्त में १८ वीं बार मैंने जीत पाई है, इससे मुझे दानों प्रकार (जय-विजय) का अनुभव है यों निष्ठा भाव प्रत्यक्ष है, यहाँ 'जि' घातु द्विकर्मक है, श्लोक में संयुगानि के स्थान पर 'संयुगेषु' पद होता तो भी वही भावार्थ होता है ॥१३॥

आभास—अत एव मम शोको नास्तीत्याह तथा तथापीति ।

आभासार्थ—इस कारण से ही मुझे शोक नहीं है, यह "तथापि" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तथाप्यहं न शोचामि न प्रहृष्यामि कर्हिचित् ।

कालेन द्रव्ययुक्तेन जानन्विद्रावितं जगत् ॥१४॥

श्लोकार्थ—तो भी मैं न तो इस का शोक करता हूँ और न हर्ष करता हूँ क्योंकि मैं जानता हूँ कि इस जगत् को द्रव्य युक्त काल ही नाश करता है ॥१४॥

सुबोधिनी—कर्हिचित् तस्मरणेऽपि दुहि-त्रादिदर्शनेऽपि । सर्वदा हर्षविषादाभावे एक-मनुसन्धेयमिति । तत्स्वनिर्धारितं तस्मा उप-दिशति कालेनेति । यदि स्वसमानैः पराजयो जयो वा भवेत्, तदा हर्षो विषादो वा कतव्यो भवेत् । कालस्तु तत्कर्ता, स सर्वेषामधिपतिः । किञ्च ।

सोऽपि द्रव्ययुक्त एव शरीरादिसहितः । विद्रा-वणं शरीरद्वारेण करोति । नत्वात्मनां स्वतः । तेन च जगद्विद्रावितं जानन् न शोचामीति सम्बन्धः । दैवयुक्तेनेति पाठे कर्मवशात् सोऽपि तथा करोति । न तु तस्यापि कश्चन दोषो-ऽस्तीति भावः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—कभी, उसके स्मरण होने पर वा कन्या आदि के देखने पर भी यदि दुःख होवे तो विचारता है कि सर्वदा न हर्ष का विषय और न दुःख का विषय रहता है, एक का अनु-

सन्धान करना चाहिए अर्थात् सुख वा दुःख का अन्वेषण करना चाहिए कि ये क्यों और कैसे वा किसके भेजे हुए आते हैं, अथवा स्वतः आते हैं इसका विचार करो तो स्वयं निर्णय किया है उसका उसको उपदेश देता है, “कालेन” जो अपने बराबरी करने वालों से पराजय वा जय होवे तो तब हर्ष वा खेद करना चाहिए, किन्तु यहाँ तो उसका करने वाला “काल” है वह सब का अधिपति है, वह भी शरीर आदि सहित ही है, पराभव आदि शरार द्वारा ही करता है, न कि आत्माओं का स्वतः होता है इस से काल द्वारा इस जगत् का यह प्रकार देखने में कुछ भी शोक नहीं करता है यदि “द्रव्ययुक्तेन” के स्थान पर ‘दैवयुक्तेन’ पाठ माना जाय तो उसका अर्थ यों करना चाहिए कि कर्म के वश से काल भी वैसे करता है, इसलिए उसका भी कोई दोष नहीं है ॥१४॥

आभास—अस्तु कालान्तरवार्ता, इदानीमेव वयं सर्वे जिताः । अतः पञ्चभिः सह दुःखं दुःखं न भवतीति न शोकः कर्तव्य इत्यभिप्रायेणाह अधुनापीति ।

आभासार्थ—दूसरे काल की वार्ता यों होवे, अब भी हम सब पराजित हुए हैं, अतः बहुतों के साथ जो दुःख होता है, वह दुःख नहीं माना जाता है इसलिए शोक नहीं करना चाहिए इस अभिप्राय को “अधुनापि” श्लोक से प्रकट करते हैं ।

श्लोक—अधुनापि वयं सर्वे वीरयूथपयूथपाः ।

पराजिताः फल्गुतन्त्रं यदुभिः कृष्णपालितैः ॥१५॥

श्लोकार्थ—अब भी हम सब जो योद्धाओं के यूथपति के पति हैं, वे थोड़ी सेना वाले कृष्ण से पालित यादवों से हार गए हैं ॥१५॥

सुबोधिनी—वयमिति श्लाघायाम् । सर्व एवेति सम्मत्यर्थम् । तर्ह्यप्रयोजका भविष्यन्तीति न मन्तव्यम् । वीरयूथपानामपि यूथरक्षका वयम् । सर्वदैव वयमेवंभूताः । अधुना परं पराजिताः । तेषां च न महद्वलम्,

किन्तु फल्गुतन्त्रैरेव यदुभिः पराजिताः । तर्हि तेषां हता भविष्यन्तीत्याशङ्क्य तं मनोरथं दूरीकरोति कृष्णपालितैरिति । कृष्णेन पालिताः, न मारयितुं शक्या इत्ययः । अनेन कृष्णात् कन्याहरणसम्भावनापि निवारिता ॥१५॥

व्याख्यार्थ—“वयं” बहुवचन देने से अपनी प्रशंसा की है अर्थात् अपना बड़प्पन प्रकट किया है “सर्वे” शब्द सब की सम्मति है या बताने के लिए कहा है तो प्रेरक न होंगे यों न समझना हम वीरों के समूहों के जो पति हैं अर्थात् जो सेनापति हैं उनके भी हम स्वामी हैं, सदा ही हम ऐसे होते आए हैं लेकिन अब हार गए हैं जिनसे हारे हैं, उन यादवों के पास सेना भी थोड़ी है,

तब तो वे भी मरे होंगे ? इस उनके मनोरथ रूप शंका को मिटाने के लिए कहते हैं कि वे मरे नहीं क्योंकि वे कृष्ण से पालित हैं, अतः उनको कोई भी मार नहीं सकता है यों कहने से कृष्ण ने कन्या का हरण किया है इस सम्भावना का भी निवारण किया है ॥१५॥

आभास—ननु किमेतदाश्चर्यमिति चेत्, तत्र हेतुमाह रिपवो जिग्युरिति ।

आभासार्थ—इसमें कौनसा आश्चर्य है ? यदि यों कहो तो उसमें “रिपवो जिग्यु” श्लोक से कारण कहते हैं ।

श्लोक—रिपवो जिग्युरधुना काल आत्मानुसारिणि ।

तदा वयं विजेष्यामो यदा कालः प्रदक्षिणः ॥१६॥

श्लोकार्थ—अब समय शत्रुओं के अनुकूल है इसलिए उनकी जीत हुई है, जब काल अपने अनुकूल बनेगा तब अपन जीतेंगे ॥१६॥

सुबोधिनी—अधुना आत्मानुसारिणि काले देवानां हितकर्तरि रिपवो वैष्णवा जिग्युः । अस्माकं च हितकारी यदा तामसः कालो भविष्यति, राजसो वा, तदा वयं दैत्याः,	चकराद्राक्षसा अपि विजेष्यन्ति । दैत्यानां सिद्धान्ते कालः परमः, तदतिरिक्तानङ्गीकारात्तत्र प्रतिष्ठिताः ॥१६॥
--	--

व्याख्यार्थ—अब सात्विक काल देवों का हितकारी है, अतः हमारे शत्रु जो वैष्णव हैं उनकी जीत हुई है, हम दैत्य हैं तमोगुणी हैं, अतः हमारा हितकारी तामस काल का राजस आवेगा तब हम जीतेंगे श्लोक में “च” शब्द दिया है, जिससे बताया है, कि उस समय राजस राक्षस भी जीतेंगे, दैत्यों का यह सिद्धान्त है कि काल ही सबसे बड़ा है, उसके सिवाय वे बड़ा कुछ भी नहीं मानते हैं अतः वे उसके ही आश्रित हैं ॥ ६॥

श्लोक—एवं प्रबोधितो मित्रैश्चन्द्रोऽगात्सानुगः पुरम् ।

हतशेषाः पुनस्तेऽपि ययुः स्वं स्वं पुरं नृपाः ॥१७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब मित्रों ने समझाया तब शिशुपाल अनुचरों के साथ अपने नगर को गया और मरने से जो राजा बच गए थे वे भी अपने अपने नगर को गए ॥१७॥

सुबोधिनी—एवं स्वसिद्धान्तनिरूपणेन प्रबो- | ससेवकः स्वपुरमगात् । तेऽपि हतशेषाः तद्ग्रहप-
धितः । मित्रैरवश्वकैः समानव्यसनैः सह चैद्यः | र्यन्तं तत्सङ्गे गत्वा पुनः स्वं स्वं पुरं ययु ॥१७॥

व्याख्यानार्थ—इसी प्रकार अपने सिद्धान्त के निरूपण करने से समझाया हुआ शिशुपाल, धोखा न देने वाले, एक जैसी प्रवृत्ति वाले अपने मित्र एवं अनुयायियों को साथ ले अपने नगर गया और जो राजा शेष बच गए थे, वे भी उसके घर तक साथ गए अनन्तर अपने अपने शहर को गए ॥१७॥

आभास—एवं सप्तदशभिः एकमुपाख्यानं साधारणानां ममताभावाय निरूपितम् । अधुना सार्धैः सप्तदशभिः रुक्मिप्रभृतीनां ममताभावाय रुक्मिण्याश्च तेषु ममताभावाय सार्धैरेव सप्तदशभिर्निरूप्यते । मध्यमं तामसम् । अन्तिमं राजसमिति । ततो दोषत्रयाप-
गमने भगवानष्टैश्वर्यरूपां रुक्मिणीं स्वीकरिष्यत्यष्टभिः । तत्र प्रथमं तामसस्योद्योगमाह रुक्मी त्विति ।

आभासायं—यों सत्रह श्लोकों से साधारणों की ममता मिटाने के लिए एक वृत्तान्त कहा, अब रुक्मी प्रभृतियों की ममता मिटाने के लिए तथा रुक्मिणी को उनमें ममता न होवे इसलिए साढ़े सत्रह श्लोकों में निरूपण करते हैं, मध्यम तामस है अन्तिम राजस है, उससे तीन दोषों के नष्ट हो जाने पर भगवान् आठ ऐश्वर्यों के रूप वाली रुक्मिणी को स्वीकार करेंगे, जिसका वर्णन आठ श्लोकों से होगा, इसमें पहले तामस के उद्यम का वर्णन “रुक्मी” श्लोक से कहते हैं ॥१७॥

श्लोक — रुक्मी तु राक्षसोद्वाहं कृष्णद्विडसहन्स्वसुः ।

पृष्ठतोऽन्वगमत्कृष्णमक्षौहिण्या वृतो बली ॥१८॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण से द्वेष करने वाला अक्षौहिणी सेना से घिरा हुआ बली रुक्म अपनी बहिन के राक्षस विवाह को सहन न कर सका अतः श्रीकृष्ण के पीछे दौड़ा ॥१८॥

सुबोधिनी—यद्यपि तत्त्वोपदेशे रुक्मी स्थितः, तत्त्वेन च सर्वे निवृत्तव्यापारा जाताः, रुक्मी तु न जात इति तुशब्दार्थः । ननु कोपराधः, य एव क्षत्रियः बलवाप्तयति तस्यैव भार्या भवतीति क्षत्रियाणां स्थितिः । तत्राह स्वसुः राक्षसो-

द्वाहमसहन्निति । ये हि कुलीनाः सन्तो दुर्बलाः, तत्कन्या राक्षसविधिना नीयते । स्वयं तु शूरः, अतो राक्षसविवाहोऽनुचितः । किञ्च । कृष्ण-
द्विडयम् । अन्यश्चेन्नयेत्, न वदेदपि । द्विष्टेन नीतं न क्वाप्युपकाराय भविष्यति । स्थापनीयं

च शत्रुत्वम् । तत्सम्बन्धे सत्यशक्यमिति सम्बन्धदूरीकरणार्थं तस्य प्रवृत्तिः । कन्याहविषोस्तुल्यत्वात् । 'द्विषता हि हविर्भुक्ता' नेह नान्यत्र तद्भवेदिति वाक्यात् । कन्यापि द्विषता भुक्ता न लोकद्वयोपकारिणीति तस्या भोगं वा निवारयितुं तत्प्रवृत्तिः । अत एव पृष्ठतोन्वगमत् । येनैव मार्गेण कृष्णो गतः, तेनैव मार्गेण स्वयमपि

गतः । अथवा । अयं यदैव भगवान् निर्गतः, तदैव प्रचलितः, परमन्ये निवृत्ताः, अयं तु न निवृत्त इति वैलक्षण्यम् । एकयाक्षोहिण्या परिवृतः सन् गतः । ननु बहव एव गता हतोद्यमा जाताः, कथमयमेकाको गच्छतीत्याशङ्क्याह बलीति । अयमत्यन्तं बलिष्ठः ॥१८॥

व्याख्यान—यद्यपि जब तत्व का उपदेश हो रहा था, वहाँ रुक्मी भी था, उस तत्व उपदेश से अन्य सब समझ गए जिससे वे चले गए, किन्तु रुक्मी को ज्ञान न हुआ यह "तु" पद का भावार्थ है, कृष्ण रुक्मिणी को ले गए इसमें कौनसा अपराध है, जो बलवान् क्षत्रिय ले जाते हैं वह उसी की स्त्री होता है यह क्षत्रियों को मर्यादा है, इस पर कहते हैं कि रुक्मी अपनी वहन का राक्षस विधि से हुए विवाह को सहन नहीं कर सका जो कुलीन हो, किन्तु दुर्बल भी हो, तो उनकी कन्या राक्षस विधि से ली जा सकती है मैं कुलीन के साथ स्वयं शूरवीर हूँ अतः राक्षस विवाह होना अयोग्य है यों रुक्मी ने समझा, तथा रुक्मी कृष्ण का शत्रु भी है यदि दूसरा यों कोई ले जावे तो, सहन भी करले और कुछ न कहे, यह तो शत्रु है शत्रु ले जावे वह कहीं भी, वा कभी भी, उपकार के लिए नहीं होता है रुक्मी को तो भगवान् से शत्रुता ही स्थापित करनी है, वह यदि रुक्मिणी का विवाह सम्बन्ध हो जाएगा तो हो न सकेगी, इसलिए सम्बन्ध को तोड़ने के लिए रुक्मी की यह प्रवृत्ति है, क्योंकि शास्त्र में कहा है कि "कन्याहविषोस्तुल्यत्वात्" जैसे शत्रु भोज पदार्थ (भोजन) करले तो, उससे इस लोक तथा परलोक में कोई लाभ नहीं होता है, वैसे ही कन्या का भी यदि शत्रु भोग करले, तो उससे भा दोनों लोकों में उपकार नहीं होता है, इसलिए उपभोग को रोकने के लिए ही इसकी यह प्रवृत्ति है, अतः श्रीकृष्ण के पीछे दौड़ा, जिस मार्ग से कृष्ण जा रहे थे उसी मार्ग यह भी जाने लगा अथवा जब भगवान् वहाँ से पधारे उसी समय यह भी वहाँ से निकल कर चलने लगा, किन्तु दूसरे लौट गए, यह तो निवृत्त नहीं हुआ यह ही इसमें विलक्षणता है, एक ही अक्षोहिणी सेना लेकर गया, जब बहुत चले गए क्योंकि उनका उत्साह नष्ट हो गया था, यह अकेला होकर भी कैसे गया ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि "बली" यह बहुत बलवान है इसलिए अकेला होते हुए भी गया ॥ १८ ॥

आभास—अत एव महतीं प्रतिज्ञां चक्रे इत्याह रुक्मीति ।

आभासार्थ—इस कारण से ही बड़ी प्रतिज्ञा करने लगा जिसका वर्णन "रुक्म्यमर्षी" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—रुक्म्यमर्षो सुसंरब्धः शृण्वतां सर्वभूभुजाम् ।

प्रतिजज्ञे महाबाहुर्दंशितः सशरासनः ॥१९॥

श्लोकार्थ—क्रोध में भरा हुआ महाबाहु, कमर कसा हुआ, कवच धारण कर, धनुष ले, युद्ध के लिए तैयार हुआ, रुक्मी सब राजाओं से प्रतिज्ञा करने लगा ॥१९॥

सुबोधिनी—अमर्षो अप्रतीकारक्रोधवान् । निर्भयः, निवारकाश्च न जाताः सर्वे । सहाया-
सुष्ठु संरब्धः युद्धार्थं कृतोद्यमः । सर्वभूभुजां पेक्षा तु नास्तौत्याह महाबाहुरिति । महती
शृण्वतां मध्ये प्रतिजज्ञे, प्रतिज्ञां कृतवान् । क्रियाशक्तिः यस्येत्यर्थः । ततो दंशितः बद्धकवचः
क्रोधसरम्भान्तं ज्ञातवान् । सामग्री गृहीतेति सशरासनश्च ॥१९॥

व्याख्यान—बदला न ले सकने से क्रोधित, युद्ध के लिए उद्यम वाला, रुक्मी सुनते हुए सन्त राजाओं के मध्य में प्रतिज्ञा करने लगा, क्रोध में पूर्ण होने से मैं क्या कर रहा हूँ, उसको समझ न सका, लड़ाई की सब सामग्री ले ली थी इसलिए निर्भय बना था, सब रोकने वाले भी नहीं हुए, सहायता की भी इसको आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि इसमें क्रिया शक्ति बहुत है, जिसका चिन्ह यह है, कि “महाबाहु” है इसलिए कवच पहना है और धनुष भी लिया है ॥१९॥

आभास—प्रतिज्ञामाह अहत्वेति ।

आभासार्थ—“अहत्वा” श्लोक से प्रतिज्ञा का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—अहत्वा समरे कृष्णमप्रत्यूह्य च रुक्मिणीम् ।

कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामि सत्यमेतद्ब्रवीमि वः ॥२०॥

श्लोकार्थ—युद्ध में कृष्ण को मार डालने के और रुक्मिणी को लौटाकर लाने के सिवाय कुण्डिन में प्रवेश नहीं करूँगा, मैं यह सत्य कह रहा हूँ अर्थात् मेरा यह कहना मेरी प्रतिज्ञा समझो ॥२०॥

सुबोधिनी—अप्रत्यूह्येति । रुक्मिणीमग्नि- अयमेव नियमः, यदुभयमकृत्वा कुण्डिनाप्रवेश
तुल्यां मन्यते । यथा आयतनादग्निः बहिश्चे- इति । अतः कुण्डिनाप्रवेश एव तस्य फलिष्यति ।
र्गच्छति । तत्पुनरायतने व्यूह्यते, ततः कुलाद- अत एव विगानाभावात् निर्धारितस्यानुक्तत्वात्
पगता पुनः कुले व्यूह्येति भावः । नन्वेतदशक्य- न पादानामन्यथार्थो वक्तव्यः । एतदहं सत्यं
मिति चेत्, तत्राह कुण्डिनं न प्रवेक्ष्यामीति । ब्रवीमीति शपथः ॥२०॥

व्याख्यार्थ—रुक्मिणी अग्नि जैसी है, यों रुक्मो मानता है, अतः जैसे आश्रय स्थान से बाहर निकलो हुई अग्नि पुनः आश्रय स्थान पर ही लौट आती है, वैसे ही कुल में से गई हुई रुक्मिणी कुल में ही आनी चाहिए अग्नि के दृष्टान्त बहने का यह ही भाव है, यह जो आप कह रहे हो वह होना कठिन है यदि यों है तो अर्थात् यों मैंने नहीं किया तो कुण्डिन में प्रवेश नहीं करूँगा यह ही मेरी प्रतिज्ञा है, कि ये दोनों कार्य न कर कुण्डिन में लौटकर प्रवेश नहीं करूँगा । रुक्मो ने जो प्रतिज्ञा की वह ही फलीभूत होगी अर्थात् दोनों कार्य पूर्ण न होंगे, जिससे वह कुण्डिव लौटकर प्रवेश न करेगा अतः निन्दा के अभाव से और निणय के न कहने से पदों का अर्थ अन्य प्रकार से नहीं कहना चाहिए, यह मैं सत्य कह रहा हूँ, इन शब्दों से वह शपथ ले रहा है ॥२०॥

श्लोक—इत्युक्त्वा रथमारुह्य सारथि प्राह सत्त्वम् ।

चोदयाश्वान्यतः कृष्णस्तस्य मे संयुगं भवेत् ॥२१॥

श्लोकार्थ—यों प्रतिज्ञा के वचन कह कर रथ पर चढ़, सारथि को कहने लगा कि घोड़ों को इस प्रकार तेज चलाओ, जैसे मेरा और कृष्ण का मिलाप हो जाय ॥२१॥

सुबोधिनी—ततः पित्राद्यभ्यनुज्ञाव्यतिरेकेणैव | मे च संयुगो भवेत् । प्रार्थनायां लिङ् । यथा
एवमुक्त्वा रथमारुह्य स्वसारथिं प्रति प्राह । मम तस्य संयुगो भवति, तथा चोदयेति ।
अन्यथा स न तथा कुर्यात् । सहजद्वेषाभावत् । भवेदिति विध्यर्थो वा । अपूर्वत्वात् । यतोऽयं
सत्त्वरमित्युभयत्र । अश्वान् प्रेरय । यतस्तस्य कृष्णः स्त्रीप्रियः, अतः स्त्रियं हृतवानिति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—पश्चात्, पिता आदि बड़ों को आज्ञा लिए बिना ऐसी प्रतिज्ञा कर अपने सारथि को यों न कहे तो वह ऐसा न करे क्योंकि उसका कृष्ण के साथ किसी प्रकार सहज द्वेष नहीं था “सत्त्वर” शब्द दोनों से सम्बन्धित ३ (१) घोड़ों को शीघ्र तेज चलाओ, और (२) कृष्ण के साथ मैं जैसे जल्दी मिलूँ यह “भवेत्” लिङ्लकार, प्रार्थना अर्थ में है, अर्थात् घोड़ों को वैसे प्रेरणा दे जैसे मेरा कृष्ण के साथ मिलन हो जाय अर्थात् कृष्ण द्वारका पहुँच न जाय, अथवा पहुँचे वंसा काम न पड़ने से यह पहला ही अवसर है अतः यह “भवेत्” लिङ्लकार आज्ञा के अर्थ में है, अर्थात् सारथि को ऐसी शीघ्र रथ चलाने की आज्ञा दी है, क्योंकि, यह कृष्ण स्त्री प्रिय है अतः स्त्री को हरकर ले गए हैं ॥२१॥

आभास—गत्वा यत्कर्तव्यं तदाह अद्याहमिति ।

आभासार्थ—स्वम को जो करना है वह “अद्याह” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—अद्याहं निशितैर्बाणैर्गोपालस्य सुदुर्मते ।

नेष्ये वीर्यमदं येन स्वसा मे प्रसभं हुता ॥२२॥

श्लोकार्थ—आज मैं जिसने मेरी बहन बलपूर्वक हरण की हैं, उस दुर्दुद्धि ग्वाले का वीर्यमद तीक्ष्ण बाणों से हरण करूँगा ॥२२॥

सुबोधिनी—निशितेरिति । सहार्थे तृतीया । सुदुष्टेष्वपि मतिर्यस्येति । गोपालत्वं शब्दतो न दोषः, अभिप्रायतस्तथा भवति, तत्प्रकृतेनाङ्गीक्रियत इति, नान्यथा वक्तव्यम् । वीर्यजनितो यो मदः तमह नेष्ये ग्रहीष्यामि, येन भगवता कृत्वा मदं प्राप्स्यामीत्यर्थः । पूर्व नास्माकं गर्वः स्थितः, अधुना भगवत्सम्बन्धात् नास्मत्सदृशा वीराः सन्तीति गर्वो भविष्यति । क्षत्रिप्राणां

वीर्यमेव महत्त्वसूचकमिति न मदमात्रं निरूपितम् । ननु भगवतो हेतुत्वं कथमित्यह येन मे स्वसा प्रसभं हुतेति । बलात्कारेण हरन् वीर्य शिक्षां चोपदिष्टवान् । बाणानपि प्राप्स्यामि वीर्यमपीति । ससाधनबलप्राप्तिर्भगवदाभिमुख्यगमने फलमित्यर्थः । तत्सम्मुखमेव गन्तव्यमिति नियोगः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—निशितैः बाणैः पदों में जो तृतीया विभक्ति है वह ‘साथ’ के अर्थ में दी हुई है, सुदुष्ट कार्यों में जिसकी बुद्धि लगी हुई है, वैसे गोपाल के “गोपालपन” शब्द से दोष वाला नहीं है, किन्तु अभिप्राय से वैसा होता है, वह अभिप्राय चालू प्रसंग में अंगीकार किया जाता है, अन्य प्रकार से नहीं कहना चाहिए, उसको जो वीर्य से मद उत्पन्न हुआ है वह मैं ले लूँगा, जिससे उस भगवान् के मद लेने से मैं मद को प्राप्त होऊँगा पहले हम लोगों में मद नहीं था अब भगवत्सम्बन्ध से प्राप्त ‘वीर’ मद से ऐसा गर्व होगा, कि हमारे समान कोई वीर नहीं है यो कहने से न केवल मद का निरूपण किया, किन्तु यह बताया कि क्षत्रियों का महत्त्व प्रकट करने वाला साधन वीर्य ही है भगवान् का इसमें हेतुपन कैसे ? इस पर कहता है कि जिसने मेरी बहन बलात्कार से हरण कर वीर्य और शिक्षा का उपदेश दिया है इस कार्य करने से हमको जताया है कि वीर बनो, नहीं तो तुम्हारी स्त्रियाँ यों हरी जाएगी, जिससे बाणों को प्राप्त करूँगा और वीर्य को भी, साधन और बल इन दोनों की प्राप्ति भगवान् के सम्मुख होने का फल है अतः उसके सम्मुख हाँ जाना चाहिए, इसलिए नियोग कहा है ॥२२॥

आभास—विकथमानः कुमतिरीश्वरस्याप्रमाणवित् ।

रथेनंकेन गोविन्दं तिष्ठ तिष्ठेत्यथः ब्रवीत् ॥२३॥

श्लोकार्थ—ईश्वर के सामर्थ्य को न जानने वाला, वह कुमति रुक्मी बकवाद करता हुआ एक ही रथ से भगवान् को कहने लगा कि “ठहर ठहर” ॥२३॥

सुवोधिनी—विशेषेण कथ्यमानः असम्बद्ध-
मिव भाषमाणः । भगवान् हि महत्या प्रार्थनया
तां हृतवान्, न तु बलादिति असम्बद्धता । नन्व-
चिन्त्यैश्वर्यं भगवतः श्रुत्वा दृष्ट्वा च कथमेव
वदतीत्याशङ्क्याह कुमतिरिति । ऊहादौ न तस्य
सामर्थ्यम् । स हि सर्वमेव यथाकथञ्चिज्जातमिति
भगवच्चरितं मन्यते । तत्र प्रमाणमाह ईश्वरस्या-
प्रमाणविदिति । ईश्वरस्य प्रमाण सामर्थ्यं न
जानाति । प्रमाणशब्दः आदरणीयपरोऽपि कचि-

त्परिमाणवाच्यपि, प्रमाणं परिमाणमिति । यथा
अत्रैव । ‘विदुः प्रमाणं बलवीर्ययोर्वैत्यत्र च ।
उपसर्गस्य अन्योपसर्गार्थत्वात् न नानार्थत्व-
समुदायस्य । एवं दुर्बुद्धिरेकेनैव रथेन भगवत्स-
मीपं गत्वा गोविन्दं भक्तकृपालुं सन्मात्रस्यैवेन्द्रम्,
अत एव रुक्मिणीं हत्वा गच्छन्तं तिष्ठ तिष्ठेत्यब्र-
वीत् । द्विरुक्तिः आदरे अधिक्षेपे वा । चकारार्त-
स्तुतिवाक्यान्यन्यानि वा ॥२३॥

व्याख्यार्थ—रुक्मी असम्बद्ध जंमे शब्द कहने लगा, उसके शब्द असम्बद्ध क्यों थे ? जिसका कारण बताते हैं, कि भगवान् ने तो बहुत प्रार्थना करने से उसका हरण किया था, न कि बलात्कार से हरण किया था इसलिए उसके शब्द असम्बद्ध थे, भगवान् का अचिन्त्य ऐश्वर्य सुनकर तथा देखकर भी इस प्रकार बकवाद क्यों कर रहा है ? इसके उत्तर में कहा है कि “कुमति” होन बुद्धिवाला है, जिससे पूर्वापर का विचार नहीं कर सकता है वह यह, सर्व भगवत्चरित्त जैसे तैसे अकस्मात् हा गया है यों मानता है, क्योंकि भगवान् के सामर्थ्य को नहीं जानता है, “प्रमाण” शब्द आदरणीय अर्थ में भी आता है और कहीं ‘परिणाम’ में आता है, जैसे यहाँ ही “विदुः प्रमाणं वीर्ययोर्वै” इस श्लोक में आया है, उपसर्ग का अन्य उपसर्ग का अर्थ होने से समुदाय का नाना अर्थ पन नहीं होता है, इस प्रकार वह दुर्बुद्धि एक ही रथ में भगवान् के समीप जा कर भक्तों पर कृपा करने वाले सन्मात्र के इन्द्र गोविन्द को, जो कि इस कारण से ही रुक्मिणी को हरण कर ले जा रहे हैं उनका ठहर ठहर, यों दो बार कहने लगा, दो बार आदर में, या तिरस्कार में कहा जाता है, “च” पद से स्तुति वाक्य वा अन्य है ॥२३॥

आभास—तथावृत्ते भगवान् स्थितः । तदा यः कृतवांस्तदाह धनुर्विकृष्येति ।

आ-सार्थ—उस प्रकार कहने से भगवान् ठहर गए तब जो किया उसका वर्णन ‘धनुर्विकृष्य’ श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक— धनुर्विकृष्य सुदृढं जघ्ने कृष्णं त्रिभिः शरैः ।

आह चारे क्षणं तिष्ठ यदूनां कुलपांसन ॥२४॥

श्लोकार्थ—धनुष को दृढ़ खेंचकर तीन तीर श्रीकृष्ण को मारे और बोला कि यदुकुल कलंक क्षण भर यहां ठहर ॥२४॥

सुवोधिनी—स्तुतिपक्षे मदुद्धारमकृत्वैव केवलं रुक्मिणीहरणमयुक्तमिति वाक्यानामर्थः । नन्वनधिकारी कथं कृतार्थीकर्तव्य इत्याशङ्क्य स्वाधिकारनिरूपणार्थं युद्धं प्रदर्शयतीति धनुर्विकृष्येति । सुदृढमिति सुष्ठु प्रतिज्ञायां दृढम् । भगवन्तमालक्ष्य स्वशौर्यं प्रदर्शयन् । त्रिभिः शरैः अथल्लोकत्रयं जघ्ने । शरो ह्युपर्यावरणभूतो रसानाम्, तत्र जलस्य पृथिवी शरो भवति, अन्तरिक्षमपि वायोः, स्वरपि ब्रह्माण्डस्य, सर्वं भगवते निवेदितवानिति वा । हस्तो हि हन्तीति हस्तेन दत्तवानित्यर्थः । न केवलं सर्वस्वनिवेदनमेव कृतवान्,

किन्तु वाक्यमायुक्तवान्, अन्यथा वाचनिकं न दत्तवानिति स्यात् । आह चार इति । भगवन्तं प्रत विज्ञापनार्थमाह । चारे चरणयोग्ये हृदये सात्त्विके क्षणं तिष्ठ । ननु किं स्यात् स्थित इत्याशङ्क्याह यदूनामिति । यदूनां कुलं पान्तीति कुलपाः, कुलपा वा माया, तान् ता वा अंसेन क्रियाशक्त्या नयतीति तथा । ये केचन यादवानां रक्षकाः तान् सर्वानेव वैकुण्ठं प्रापयति । अत एव भक्तवत्सलः अस्मद्दृष्टेऽपि क्षणं स्थितः अस्मदीयान् अस्मदुपकारिणश्च वैकुण्ठं नेष्यतीति तदर्थं प्रार्थना ॥२५॥

व्याख्यार्थ—ऊपर के श्लोक में “च” का आशय स्तुति वाचक भी कहा है उसका आशय स्पष्ट करते हैं, कि “मेरा उद्धार न कर, केवल रुक्मिणी को ले जाना युक्त नहीं है यों वाक्यों का भाव है”, यदि कहो कि जो अधिकारी नहीं है उसको कृतार्थ कैसे किया जाय ? अतः अपना अधिकार दिखाने के लिए युद्ध कर, अपनी शूरवीरता रूप अधिकार से परिचित करते हैं । पहले तो जो प्रतिज्ञा की, उस पर दृढ़ हैं इसको सिद्ध करने के लिए धनुष का ऐंचा भगवान् को लक्ष्य कर अपनी शूरवीरता दिखाने लगा, तीन शरों से मानों तीन लोकों का हथियाने लगे, शर रसों के ऊपर का आवरण रूप है, जैसे कि जल का शर पृथिवी है, वायु का शर अन्तरिक्ष है, और ब्रह्माण्ड का स्वर्ग शर है अथवा इस प्रकार सर्व भगवान् को निवेदन किया, हस्त ही गति करना है, इनलिए हाथ से निवेदन किया अर्थात् दिया यों भाव है, केवल सर्वस्व ही नहीं दिया किन्तु वाणी भी निवेदित की है यदि वे निवेदन नहीं करते तो कार्य अधूरा हो जाता है अतः “आह चारे” इस वाक्य से भगवान् को वाणी का निवेदन करते हुए प्रार्थना करता है मेरे चरण घरने के योग्य सात्त्विक हृदय मे क्षणमात्र ठहरने की कृपा करो, यों ठहरने से कौनसा लाभ होगा ? आप यादवों के कुल के रक्षक हो तथा यादवों की माया

को अपनी क्रिया शक्ति से खेंचते हो जिससे जो कोई भी यादवों के रक्षक हैं उन सब को भी बैकुण्ठ पहुँचाते ह, अतः वेस आप भक्तवत्सल हमारे हृदयों में भाक्षण मार्ग स्थितें होंगे ता हमें लोगों का तथा हमारे उपकारियों को भी बैकुण्ठ ले चलोगे, इसलिए यह प्रार्थना है ॥२४॥

श्लोक—कुत्र यासि स्वसारं मे मुषित्वा ध्वाङ्क्षवद्विः ।

हरिष्येऽद्य मदं मन्द मायिनः कूटयोधिनः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे मन्द ! जंसे कोए को छोड़ हवि ली जाती है, वैसे आप मेरी वहिन को मेरे परोक्ष में चुराकर कहां ले जा रहे हो, छली, कपट युद्ध करने वाले आपका गर्व आज मैं हरण करूँगा ॥२५॥

सुवोधिनी—किञ्च, कुत्र यासीति । जीवानां स्वसा ब्रह्मानन्दो भवति । सम्बन्धमात्रं स्वांशिन आनन्द इति । नतु कदाचिदप्यनुभवः, अतः स्वसैव भवति । तां गृहीत्वा अमदुद्धारमकृत्वा उद्धृतानेव यादवान् उद्धर्तुं किमर्थं गच्छसीत्यर्थः । मुषित्वेति । परोक्षां हृत्वा । जीवानां निकटेऽपि ब्रह्मानन्दः स्थितः जीवैर्न दृश्यते, अनुभवति भगवानेव । ध्वाङ्क्षवदिति । यथा ध्वाङ्क्षं विहाय हविर्नीयते । ध्वाङ्क्षो हविर्न भवति । अन्यत्सर्वं जगद्युत्पन्नं हविर्भवति, भगवान् सर्वयज्ञभोक्ता, तत्र सर्वे पशवः, काकं विहाय । तथा सर्वजगदुद्धारार्थमागतः मामेव

विहाय कथं गच्छसीत्यात्मनो धिक्कारः । हविरपि परोक्षमेव गृह्यते । 'परोक्षप्रिया (इव हि) देवाः प्रत्यक्षद्विष' इति । तर्हि त्वयैव काकदृष्टान्त उक्त इति त्वमग्राह्य ऐवेति चेत्, तत्राह हनिष्येऽद्य मदं मन्देति । मन्द मदं स्वस्मिन् दोषात्मकं यद्वशात् त्वया कृपा न विधीयते । मन्द-मायिनो वा मन्दा माया अस्यास्तीति । अनेन माया मन्दैव क्रियते, नकार्यक्षमा भवति, कूट-योधिनो मायिनो भगवतः स कपटेनैव युद्धं करोति, वस्तुतो मुक्तिं प्रयच्छति । एतादृशे भगवति स्थिते प्रतिबन्धकत्वेन समागत स्वधर्मं दूरीकरिष्यामीति वचनं युक्तमेव ॥२५॥

व्याख्यार्थ—कहां जा रहे हो ? जीवों की वहन ब्रह्मानन्द है, जहां भी कुछ सम्बन्ध होता है, वहाँ अंशो का अपना आनन्द ही है, कभी भी उसका अनुभव तो नहीं किया जा सकता है, अतः उसको वहन ही माना जाता है । हम लोगों का उद्धार न कर उसको लेकर जिन यादवों का पहले ही उद्धार कर दिया है पुनः उनके उद्धार के लिए क्यों जा रहे हो ? उसको हमारे परोक्ष में ले जा रहे हो जीवों के पास ब्रह्मानन्द है जिसको जीव देख नहीं सकते हैं भगवान् ही उस ब्रह्मानन्द का अनुभव

कर रहे है, जैसे कीवे के सिवाय जगत में उत्पन्न पदार्थ हवि है, उन को हवि के लिए लाया जाता है कीवे को छोड़ दिया जाता है भगवान् ही सर्व यज्ञ भोक्ता हैं, वहाँ सर्व काक के सिवाय, हवि हो सकते हैं, जैसे जगत के उद्धार के लिए प्रकट हुए आप मुझे ही छोड़ कर कैसे जा रहे हों ? यों कहने से अपने का धिक्कारा है, हवि भी परोक्ष ही ग्रहण की जाती है “देवता प्रत्यक्ष के द्वेषा हैं, परोक्ष के प्रिय है, यदि कहो कि तूने ही अपना दृष्टान्त देकर काक बनाया है, इसलिए तू ग्रहण करने योग्य नहीं है, तो वैसा जो आपका मद है आज मैं उसको नाश कर दूंगा, हे मन्द ! आप में यह मद रूप दोष है जिससे आप मुझ पर कृपा नहीं करते हो, अथवा “मन्दमायिन” समासान्त पद कर अर्थ करता है, कि आपको माया को मन्द कर देता हूँ । जिससे वह कार्य कर नहीं सके, भगवान् युद्ध तो कपट से ही करते हैं, वास्तव में वे उससे मोक्ष देते हैं, ऐसे भगवान् के प्राप्त होने के समय, प्रतिबन्ध करने वाले अपने धर्म का दूर करूँगा, यों कहना योग्य ही है ॥२५॥

आभास— तर्हि कथं त्वमुद्धर्तव्य इत्याकाङ्क्षायां ब्रह्मानन्दमस्मभ्यं प्रयच्छेत्याह यावन्न मे हतो बाणरिति ।

आभासार्थ— यदि कहो, कि तेरा उद्धार तू किस प्रकार चाहता है ? इसके उत्तर में कहता है, कि “ब्रह्मानन्द” हमको दो, यों “यावन्न मे हतो” श्लोक में वर्णन करता है ।

श्लोक - यावन्न मे हतो बाणः शयीथा मुञ्च दारिकाम् ।

२ यन् कृष्णो धनुश्छित्त्वा पङ्क्तिर्विव्याध रुक्मिणम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—जब तक मेरे बाणों से मरे हुए तुमको पृथ्वी पर नहीं सुलाता हूँ उससे पूर्व, रुक्मिणी को छोड़ दे, ये वचन सुन, कृष्ण मुस्कराते हुए, उसके धनुष को तोड़ कर, छः बाणों से रुक्मी को वेधित किया ॥२६॥

सुबोधिनी—मे बाणाः मन्मारकत्वेन समागतानीन्द्रियाणि तैर्यवन्त हतः, यदीन्द्रियाणि त्वद्रसं प्राप्स्यन्ति, तदा ब्रह्मानन्दं नापेक्षन्ते. तदा भक्तिमेव ग्रहीष्यन्ति, तावत्पर्यन्तं ब्रह्मानन्दो देय इत्यर्थः । यतः सा दारिका मुक्तिः संसारं विदारयिष्यति । भक्तेः पूर्वं मुक्तिप्रार्थना युक्तेव । ननु कोऽयमाग्रह इदानीमेव फलं देयमिति, तत्राह शयीथा इति । यावत्प्र-

लये सर्वं संहृत्य शयनं करिष्यसि, ततः पूर्वं माचयेत्यर्थः । एवमुक्तो भगवान् हास्येन तं व्यामोहयन् दुरात्मायं मर्तुकामः समायातीति, स्वयं भगवान् स्त्रीणां हितकर्ता, रुक्मिणी न त्याज्येति, तस्य धनुः छित्त्वा येन शरान् प्रक्षिप्तवान् तत् दूरीकृत्य, षड्भिः शरैः रुक्मिणं विव्याध । षोढा विहितो हि पुरुषः । ततः सर्वाङ्गेषु ताडितवान् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—मेरे बाण, मुझे मारने के लिए आई हुई ये इन्द्रियाँ, उनसे जब तक मैं न मारा गया हूँ, अर्थात् यदि ये इन्द्रियाँ आपका रस पान करेगी, तो ब्रह्मानन्द की इच्छा न करेगी, किन्तु तब भक्ति को ही ग्रहण करेगी, जब तक हो तब तक तो ब्रह्मानन्द देना चाहिए, क्योंकि वह द्वारिका अर्थात् मुक्ति संसार को नष्ट कर देगी, भक्ति से पहिले मुक्ति की प्रार्थना करनी योग्य ही है, अब ही फल देना चाहिए यह आग्रह कैसा वा क्यों है ? इस पर कहता है कि “शयीथा” प्रलय में सब को लपेट कर आप शयन करो, उससे पूर्व ही, मेरी मुक्ति करो, इस प्रकार जब भगवान् को कहा, तब भगवान् मुसकराने लगे, जिससे उसको मोह में डाल दिया, भगवान् ने मन में सोचा कि यह तो दुरात्मा है, मरने के लिए ही आ रहा है स्वयं भगवान् तो स्त्री हितकारी हैं, इसलिए रुक्मिणी को छोड़ना योग्य नहीं है, उसके धनुष को तोड़ कर उसके फेंके हुए तीरों को दूर हटा कर छः शरों से रुक्मी को बीधा “पुरुष छः प्रकार का है” इसलिए छः शरों से सब अंगों में ताड़ना की ॥ २६ ॥

श्लोक—अष्टभिश्चतुरो बाह्वान् द्वाभ्यां सूतं ध्वजं त्रिभिः ।

सचान्यद्धनुरादाय कृष्णं विव्याध पञ्चभिः ॥२७॥

तंस्ताडितः शरीर्घस्तु चिच्छेद धनुरच्युतः ।

स चान्यद्धनुरात्त तदप्यच्छिनदच्युतः ।

पुनरन्यदुपादत्त तदप्यच्छिनदच्युतः ॥२८॥

श्लोकार्थ—और आठ बाण चार घोड़ों को, दो सारथी को तथा तीन से ध्वजा को वेधित किया, तब रुक्मी ने दूसरा धनुष लेकर पांच तीर कृष्ण के पास फेंके, उन शरों से ताड़ित कृष्ण ने वह भी तोड़ दिया, फिर भी उसने दूसरा धनुष उठाया तो उसको भी भगवान् ने तोड़ दिया ॥२७-२८॥

सुबोधिनी—ततः अष्टभिः द्वाभ्यां द्वाभ्यां एकैकं चतुरो बाह्वान् अश्वान् विव्याध । द्वाभ्यां च सूतम् । एते त्रिधा छिन्नाः पञ्चापि । ध्वजश्चतुर्धा छिन्नः । एवं साक्षात्परं पराङ्गानि सर्वाण्येव भिन्नानि । तच्छेदनार्थं प्रवृत्तेनैव बाणेन धनुश्छिन्नमिति न धनुषो भेदे पृथक् शरा उक्ताः । तदा सोऽप्यन्यत् धनुरादत्त । भगवानपि प्राणिघातकं धनुर्विहाय अन्यद्धनु-

गृहीतवानिति चकारेण ज्ञायते । तदपि आच्छिन्नत्वं ग्रहणमात्रेणैव तत्र हेतुः अच्युत इति । स्वयमच्युतः, देववरप्राप्तं च धनुः । अतस्तच्छरस्य वैयर्थ्यसम्पादनात् पूर्वमेव तच्छिन्नम्, ततोऽन्यदपि गृहीतवानित्याह पुनरन्यदुपादत्तोति । ‘तिस्रस्त्या हि देवा’ इति धनुषः त्रिग्रहणम् ॥२७-२८॥

व्याख्यानार्थ—रुक्मी के रथ के चार घोड़े थे, एक एक घोड़े को दो दो शरों से बोधित किया, दो शरों से सूत को, ये पांच चार घोड़े और एक सूत तीन प्रकार कट गए, ध्वजा के चार टुकड़े हो गए. इस प्रकार साक्षात् वा परम्परा से सब अंग जुड़े-जुड़े हो गए, उसको तोड़ने के लिए प्रवृत्त वाणसे ही धनुष टूट गया इसलिए धनुष तोड़ने के लिए जुड़े तीरों का नहीं कहा है: तब उसने भी दूसरा ही धनुष टूट गया इसलिए धनुष तोड़ने के लिए जुड़े तीरों को नहीं कहा है, तब उसने भी दूसरा धनुष लिया भगवान् ने भी प्राणियों के घातक धनुष को त्याग, दूसरा धनुष उठाया, यह आशय “च” शब्द से ज्ञात होता है रुक्मी ने जो दूसरा धनुष उठाया था वह लेते ही भगवान् ने तोड़ दिया, क्योंकि आप अच्युत हैं और धनुष को देवताओं का वर मिला हुआ है अतः उस शर की व्यर्थता होने से, पहले वह धनुष तोड़ दिया, पश्चात् दूसरा भी ग्रहण किया, शास्त्र में कहा है कि “तिसत्या हि देवाः” इसलिए धनुष का तीन बार ग्रहण हुआ है ॥२-७२८॥

श्लोक—परिघं पट्टिशं शूलं चर्मासीशक्तोमरम् ।

यद्यदायुधमादत्त तत्सर्वं सोऽच्छिनद्विभु ॥२९॥

श्लोकार्थ—उसने लोहे के मुद्गर, पट्टिस, त्रिशूल, ढाल, तनवार, बरछी, भाला आदि जो जो शस्त्र हाथ में लिए उन सबको प्रभु ने तोड़ दिया ॥२९॥

सुवोधिनी—ततः परिघादीन् गृहीतवान् ।
चर्मासी इति दीर्घः छन्दसः । चर्मादिपदमेकं
तामरान्तम् । किबहुना । यद्यदायुधमादधात् ।

देवतादिप्रेरणया, स्वतो वा तत्सर्वमेवाच्छि-
नत् । एव करणे सामर्थ्यं विभुरिति ॥२९॥

व्याख्यानार्थ—पश्चात् उसने परिघ आदि शस्त्र ग्रहण किए मूल में “चर्मासी” पद दीर्घ है, वह वैदिक है, चर्म से लेकर तोमर तक एक ही पद है, बहुत कहने से क्या लाभ ? वह देवता आदि का प्रेरणा से वा स्वतः जो जो शस्त्र उठाए वे सब तोड़े गए, इस प्रकार करने में सामर्थ्य इसलिए थी जो आपका नाम हो “विभु” है अर्थात् सब कुछ करने में शक्तिमान है ॥२९॥

आभास—ततोऽतियत्नेन सर्वभावेनागत इत्याह ततो रथादवप्लुत्येति ।

आभाष—पश्चात् बहुत जतन से सर्व भाव से आया जिसका वर्णन ‘ततो रथाद’ श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—ततो रथादवप्लुत्य खड्गपाणिजिघांसया ।

कृष्णमभ्यद्रवत्क्रुद्धः पतङ्ग इव पावकम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—पश्चात् क्रोध मुक्त हस्त में तलवार लेकर रथ से नीचे उतरकर मारने की इच्छा से कृष्ण के पास यों आने लगा ज्यो पतंग अग्नि के पास आता है ॥३०॥

सुबोधिनी—केवलं खड्गपाणिः, न तु चर्मापि । जिघांसयेति जीवननिरपेक्षः आत्मान-मेव भगवद्द्वारा मारयितुं कृष्णं परमानन्दमभ्य-द्रवत् । युक्तमेव हि प्राकृतं परित्यज्य परमा-नन्दो ग्राह्य इति । तथापि शरीरं प्रियं सर्व-स्यापोति कथं तथा समागत इति चेत्, तत्राह पतङ्ग इव पावकमिति । ते हि सूक्ष्माः अग्ना-वात्मानं पातयित्वा परमार्थदृष्ट्या कृतार्था भवि-ष्यन्ति, बहिर्दृष्ट्या तु अग्निं मारयिष्याम इति बुद्ध्या प्रवृत्ताः स्वयं म्रियन्ते । तथायमपि प्रवृत्त इत्यर्थः ॥३०॥

व्याख्यान—हाथ में केवल तलवार थी, ढाल नहीं थी, मरने की इच्छा से अथवा भगवान् से अपने को मरवाने के लिए, परमानन्द स्वरूप कृष्ण के निकट आने लगा, प्राकृत को छोड़ परमानन्द ग्रहण करना योग्य ही है, यदि कहो कि जब शरीर सब को प्यारा है तब इस प्रकार कैसे आया ? इसका उत्तर देते हैं कि जैसे पतंग अग्नि की तरफ आता है, क्योंकि वे सूक्ष्म अपने को अग्नि में डाल कर परमार्थ दृष्टि से कृतार्थ बन जावेंगे बहिर्दृष्टि से अग्नि को हम बुझा देंगे इस बुद्धि से प्रवृत्त होते हैं, किन्तु अग्नि को न बुझाकर स्वयं मर जाते हैं वैसे यह भी, प्रवृत्त हुआ है यह अर्थ है ॥३०॥

आभास—ततो भगवानविलष्टकर्मा तस्याभिलषित कुर्वन्, 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति च वाक्यं सत्यं कुर्वन्, तन्मारणार्थं प्रवृत्त इत्याह तस्य चापतत इति ।

आभासार्थ—अनन्तर अविलष्ट कर्मा भगवान् उस क्री अभिलाषा पूर्ण करते हुए और "ये यथामां प्रपद्यन्ते" इस वाक्य को सत्यता सिद्ध करते हुए, उसको मारने के लिए प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन "तस्य चापततः" श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तस्य चापततः खड्गं तिलशश्चर्म चेषुभिः ।

छित्त्वासिमादधे तिग्मं रुक्मिणं हन्तुमुद्यतः ॥३१॥

श्लोकार्थ—आते हुए उस रुक्म के ढाल तथा तलवार के, बाणों से तिल जितने टुकड़े कर दिए, और तेज तलवार लेकर रुक्म को मारने के लिए उद्यत हुए ॥३१॥

सुबोधिनी—तादृशस्यापि खड्गं चर्म च रघातकमेति निर्जोवान् छित्त्वा तद्वधार्थं खड्गं
इषुभिः चिच्छेद। चर्मापि गृहीतं खड्गकोशो वा । गृहीतवानित्याह असिमादघ इति । एतस्मिन्
तिलशस्त्रेदनं स्वशौर्यख्यापनार्थम् । तद्रुधिरमेव हते जगति स्वरूपाज्ञानं निवर्ततेव । यतोऽयं
वा तत्र प्रवहज्जलात्मकं सत् तस्य परलोक उप- रुक्मी मुख्यो भगवद्द्विट् । अतो भगवान् तं हन्तु-
तिष्ठेतेति तत्सतिलं कृतवानित्यर्थः । एवं धनु- मुद्यतो जातः, न तु मारितवान् ॥३१॥

व्याख्या—ऐसे को भी तलवार और ढाल अथवा म्यान को तीरों से तोड़ दिए, ढाल भी
ग्रहण की थी अथवा म्यान ग्रहण की थी, अपना शूरवीरता को प्रसिद्ध करने के लिए तिल के समान
टुकड़े किए हैं, यों करने से जो रुधिर बहने लगा वह जल रूप होकर, परलोक में मिलने वाला हो
गया वह तिल सहित करने के लिए हो असि (तलवार) आदि के टुकड़े तिल के समान किए हैं जिससे
पितृपन को पितृलोक में तर्पण के लिए तिलोदक का सम्पादन हो गया, धनुष तो घात करने वाला
नहीं है, जिससे जड़ पदार्थों को काटकर उसके मारने के लिए तलवार ग्रहण की है, इसके मरने पर
जगत् में स्वरूप का अज्ञान मिटेगा ही, क्योंकि यह रुक्मी भगवान् का मुख्य शत्रु है, अतः भगवान्
उसको मारने के लिए उद्यत हुए, न कि मारा ॥३१॥

आभास—एवं स्वरूपाज्ञाननाशो मायाया हितकारी न भवतीति रुक्मिणी तन्निषे-
धार्थं प्रवृत्तेत्याह दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार स्वरूप के अज्ञान का नाश, माया का हित करने वाला नहीं होता
है, इसलिए “रुक्मिणी” उसका निषेध करने के लिए प्रवृत्त हुई जिसका वर्णन “दृष्ट्वा” श्लोक में
करते हैं ।

श्लोक दृष्ट्वा भ्रातृवधोद्योगं रुक्मिणी भयविह्वला
पतिर्वा पादयोर्भर्तुं रुवाच करुणं सती ॥३२॥

श्लोकार्थ—भ्राता को मारने का कृष्ण का उद्यम देख, सती रुक्मिणी भय से
विह्वल हो, पति के चरणों में पड़कर करुण वचन कहने लगी ॥३२॥

सुबोधिनी—रुक्मिणी प्रार्थयितुमुवाच । तस्या उद्योगः । तत्रापि भ्राता, तस्यापि वधो-
यद्यपि दुष्टो भवति, तथापि स्वार्थं तावत्करो- द्योगः, । तत्रापि वधात्पूर्वं स्वयं दृष्टः, स्वयं च
तीति । यदर्थं यो यतते, तेन प्रतिकर्तव्यमिति रुक्मिणी तत्सम्बन्धिनी । पश्चाद्भूयेन विह्वला

जाता । क्रोधे कदाचिदात्मानमपि मारयेत्, लोके चापकीर्तिर्भवेत्, बलाद्भगवन्तमाहूय भ्रातरं मारितवतीति बहव एव पक्षाः भयहेतवो वर्तन्ते । अतो भयैः कृत्वा विह्वला स्वयमपि शुष्कानना जाता । अत्यन्त विज्ञा उपायान्तरमलभमाना मत्पतिरयमिति भर्तुः पादयोः पतित्वा उक्तवती । चरणपातेन देहेन निवारणम् । विह्वल-

तया मनसा निवारणम् । वाचा च निवारयति । नन्वीश्वरो भगवान्, कथमेतन्निवारितो निवर्तेतेति चेत् तत्राह करुणमिति । करुणं यथा भवति, तथा उवाच, नतु प्रोढ्या । किञ्च । पतिव्रताया न ह्यन्य उपायोऽस्ति सर्वत्र भर्तृप्रार्थनाव्यतिरेकेण, तदाह सतीति ॥३२॥

व्याख्यार्थ—रुक्मिणी प्रार्थना करने के लिए ये वचन कहने लगी यद्यपि दुष्ट है, तो भी जो कर रहा है, वह स्वार्थ के लिए कर रहा है, जो जिस लिए प्रयत्न करता है, उसका यह कार्य पूरा करना चाहिए, इसलिए उसका उद्यम है, उसका भी भाई उसके भी वध का उद्योग ? उसमें भी बध से पहले स्वयं आपने देखा है, और रुक्मिणी उसको सम्बन्धी है, इसलिए उद्यम आदि देख विह्वल हो गई है, क्रोध आने पर कभी अपने को भी मार डाले, जिससे लोक में निन्दा अपयश होगा, अपयश के कारण को स्पष्ट किया जाता है कि रुक्मिणी ने जबर्दस्ती से भगवान् को बुलाकर भ्राता को मरवाया है, इस प्रकार बहुत पक्ष भय के कारण के हो सकते हैं, अतः भयों के कारण विह्वल होने से शुष्क मुखवाली हो गई है, बहुत चतुर होने से दूसरा कोई इसका उपाय नहीं है, यह निश्चय कर, ये मेरे स्वामी हैं इसलिए इनके चरणों में गिरकर कहने लगी, रुक्मी तो मेरा भाई है इसका वध न करो, यह प्रार्थना देह, मन और वाणी से करने लगी, चरणों में गिर कर देह से भ्राता के वध को रुकवाने लगी, विह्वलता दिखाकर मन से रुकवाने लगी, भगवान् ईश्वर हैं, वे इसके रोकने से कैसे रुकेंगे ? यदि यों कहो, तो कहते हैं कि करुण वाणी से प्रार्थना की, भगवान् दयालु हैं, करुणा के वचनों से द्रवित हो जाते हैं, फिर उसमें विशेषता यह है कि पतिव्रता के पास सर्वत्र पति को प्रार्थना करने के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं है, इसलिए रुक्मिणी को “सती” विशेषण दिया है ॥३२॥

आभास—तस्या वाक्यमाह योगेश्वरेति ।

आभासार्थ—‘योगेश्वराप्रमे’ श्लोक से उसके वचन कहते हैं ।

श्लोक—योगेश्वराप्रमेयात्मन्देवदेव जगत्पते ।

हन्तुं नाहंति कल्याण भ्रातरं मे महाभुज ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे योगेश्वर ! अप्रमेयस्वरूप ! हे देवों के देव ! हे जगत् के पति ! हे कल्याण ! हे महाभुज ! यह मारने योग्य नहीं है क्यों कि यह मेरा भाई है ॥३३॥

सुबोधिनी—ननु मारणार्थं समागतः, कथं निवार्यत इति चेत्, तत्राह योगेश्वरेति । भगवान् योगस्य नियन्ता अनेकानेवोपायान् जानाति, किं वधेनेति भावः । अनेनैव वाक्येन भगवता वधानु-कल्पो मुण्डनं कृतम् । तच्च रुक्मिण्या मदुक्तमेव कृतमिति ज्ञात्वा, मुण्डनमनिवार्यं, वाचाप्यनुक्त्वा, अन्तरेव तापं कृतवती । तदर्थं बलभद्रस्य सान्त्व-नमित्यनवद्यम् । अनेन मारयितुं समागतः भ्राता तव मारयेच्चेत्, तथा तव सुखं भवेदित्युपा-लम्भोऽपि निवारितः । किञ्च । अप्रमेयात्म-न्निति । प्रमातुमप्ययोग्य आत्मा स्वरूप यस्य, किं

पुनः क्रियाविषयो भविष्यतीति शङ्कापि निवा-रिता । क्रिययैवानिष्टशङ्कोति । किञ्च । देवाना-मपि देवस्त्वम्, देवा एवामराः, तत्र तव समागत-स्यापि का चिन्ता भवेत् । किञ्च । जगत्पत इति । तस्यापि त्वं पतिः रक्षकः, अतः शिक्षैव कर्तव्या । अत एव हन्तुं नार्हसि, सुतरामिदा-नीम् । कल्याण अर्थं कृतविवाहः, तत्रापि मे भ्रातरम् । शालको हि विवाहदिवसे मान्य इति । पश्चादपकारं करिष्यतीति चेत्, तत्राह महाभु-जेति । महान् भुजः क्रियाशक्तिर्यस्येति सम्बोधनेन समाधानार्थं सामर्थ्यं स्मारितम् ॥३३॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् मारने के लिए उद्यमशील हुए हैं क्योंकि भगवान् को मारने के लिए आया है, वैसे सम्य रुक्मिणी कैसे रोकती है, कि इसको मारो मत इसके उत्तर में कहा है, कि रुक्मिणी भगवान् को कहती है आप योगेश्वर हैं, इसलिए योग के नियन्ता हो, जिससे उसको दण्ड देने के अनेक उपायों को जानते हो, तो वध करने से क्या लाभ ? इस रुक्मिणी के वचनों से ही भगवान् ने मारने के बदले उसके शिर का मुण्डन किया, जिसको देख रुक्मिणी ने समझा कि मेरे कहने से ही भगवान् ने इसका वध न कर मुण्डन किया है, इस कारण से मुण्डन में रुकावट न की । वाणी से अप्रसन्नता भी प्रकट नहीं की, अन्तःकरण में दुःख करने लगी, इस मुण्डन के लिए भी बलभद्रजी ने सान्त्वना दी, यों सब सुन्दर हो गया । बलरामजी के इस प्रकार रुक्मिणी को समझाने से बलरामजी ने अपने को उपालम्भ से बचा लिया, यों न होता, तो रुक्मिणी कदाचित् अपने भाई को कृष्ण से मरा हुआ देख, बलरामजी को कहती, कि अब तो आप प्रसन्न हुए, इस प्रकार के उपालम्भ से बच गए ।

भगवान् क्रिया का विषय बनेंगे अर्थात् भगवान् ने इस प्रकार का मेरे भ्राता का मुण्डन आदि से मृत्यु किया है, ऐसी शंका मिटाने के लिए भगवान् को “अप्रमेयात्मन्” कहा है अर्थात् आपका स्वरूप कोई समझ नहीं सकता है, कि यह कार्य क्यों हुआ, तथा कैसे हुआ, इसमें कौनसा रहस्य है, क्रिया होने से ही अनिष्ट की शंका होती है जहाँ क्रिया ही नहीं वहाँ अनिष्ट कंसा ? आप देवों के भी देव हैं, देव ही अमर हैं तो उनके भी देव जो आप यहाँ पधारे हैं तो फिर चिन्ता क्यों की जाय ? विशेष में आप जगत् के रक्षक हैं, वे मारेंगे तो नहीं, किन्तु शिक्षा ही कर्तव्य है, अतः किसी को मारना आपको योग्य नहीं है फिर अब तो आप कल्याण स्वरूप है अर्थात् विवाह कर वर राजा बने हैं ऐसे आनन्द के समय में वध तो नहीं करेंगे उसमें भी विशेषता यह है, कि यह तो मेरा भाई है, आपका साला है, विवाह के दिनों में तो साले का आदर किया जाता है, यदि आप

उत्तर में कहो, कि मैं अब छोड़ दूँ तो यह पीछे अपकार करेगा, इसके उत्तर में कहती है, कि महा-भुज होने से आप में महान् सामर्थ्य है: यदि कुछ भी अपकार करे तो उसको उस समय दण्ड देने में आप समर्थ हैं ॥३३॥

आभास—एवं विज्ञापितः वधाग्निवृत्तो वधानुकल्पं कृतवानित्याह तथा परि-
त्रासेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार रुक्मिणी की प्रार्थना करने पर भगवान् ने रुक्मी को मारा नहीं, वध के बदले में, उसका मुण्डन किया, जिसका वर्णन नीचे के श्लोक में करते हैं ।

श्रीशुक उवाच—

श्लोक—तथा परित्रासविकम्पिताङ्गया शुचावशुष्यन्मुखरुद्धकण्ठया ।

कातर्यविस्रंसितकेशमालया गृहीतपादः करुणो न्यवर्तत ॥३४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि डर के कारण कम्पित अंग वाली, शोक से शुष्क कण्ठ वाली तथा निरुद्ध कण्ठ वाली कायरता से गिरे हुए केश तथा माला वाली, रुक्मिणी ने भगवान् के पाद पकड़ लिए, जिससे करुणा युक्त हुए भगवान्, रुक्म के वध से निवृत्त हो गए ॥३४॥

सुबोधिनी—परित्रासेन विकम्पितमङ्ग- यस्याः । शोकेन च शुष्यन्मुखं रुद्धश्च कण्ठो यस्याः । कातरतया विस्रंसिताः केशाः मालाश्च यस्याः । गुणत्रयकार्यं तस्यां पूर्णं जातमित्युक्तं	भवति । परित्रासः सत्त्वस्य, शोकस्तमसः, कात- रता रजस इति । एवं विद्यमानानां गुणानाम- पगमात् केवलं सा दीनेति तादृश्या गृहीतपादः करुणावानेनं न्यवर्तत ॥३४॥
--	--

व्याख्यार्थ—भय से जिसके अंग काँप रहे हैं, शोक से जिसका मुख शुष्क हो गया है और कण्ठ रुक गया है, कायर होने से केश मालाएँ जिसके गिर रहे हैं, यों होने से तीन गुणों का कार्य उसमें पूर्ण हो गया जैसा कि सत्तोगुण का कार्य भयभोत होना, तमोगुण का कार्य शोक होना और रजोगुण का कार्य कायर होना, इस प्रकार, विद्यमान गुणों के दूर हो जाने से वह दीन ही हो गई, वैसे ने कोई अन्याश्रय न जान कर भगवान् के चरण पकड़ लिए जिससे भगवान् दया से आर्द्र हो रुक्मी के वध से निवृत्त हो गए ॥३४॥

श्लोक—चैलेन दद्ध्वा तमसाधुकारिणं सशमश्रुकेशं प्रवपन्व्यरूपयत् ।

तावन्मर्दुः परसैन्यमुद्धतं यदुप्रवीरा नलिनीं यथा गजाः ॥३५॥

श्लोकार्थ—दुष्ट कर्म करने वाले उसको, वस्त्र से बान्धकर मूँछ सहित मूँछ के विरूप किया, यहाँ भगवान् ने यह किया, वहाँ जंसे हाथी कमलिनी का मर्दन करते हैं, वैसे वीर यादवों ने अभिमानी शत्रुओं की सेना का मर्दन कर दिया ॥३५॥

सुबोधिनी—वधानुकल्पो हि वपनं मुख्यम् । द्रविणादानं च । स्थानान्निर्वापणं तु तेनैव प्रतिज्ञातम् । अतस्तस्यैव चैलेन चोरवत्तं दद्ध्वा । सहि रुक्मिणीं नेतुमागत इति चोरदण्डः । तं प्रसिद्धम् । प्रसिद्धस्य तावतैव महती पीडा भवतीति । ततः असाधुकारिणं घातकं सशमश्रुकेशं शमश्रुकेशसहितं तं प्रकर्षेण वपन्, सेवकेन प्रेरणया विकृतरूपं कृतवान् । क्वचित्केशाः शमश्रूणि च रक्षिताः, क्वचिन्मुण्डिताः, यथैव विकृतो भवति । प्रायेण एवरूपः स सर्वदैव स्थितो यावन्मरणम् । अन्यथा भगवानेवं न कुर्यात् । यादवगवान् विरूपं करोति, तावत्तस्य परस्य शत्रोरुद्धतं सैन्यम् । न केगलमेतदोषेणैव सैन्यं हतम् । किन्तु सैन्यमपि दुष्टमिति तथा कृतवन्तः । अत्रत्या अपि समर्था इत्याह यदुप्रवीरा इति । अनायासेन मारणे दृष्टान्तः नलिनीं यथेति । बहवो वीराः गदसङ्कर्षणादयः, एका चाक्षौहिणी, अतो नलिनीमित्येकवचनम् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—वध का मुख्य अनुकल्प मुण्डन है और द्रविणा दान स्थान से निकालने की तो उसने ही प्रतिज्ञा की थी, अतः उसके ही वस्त्र से चोर की भाँति उसको बान्धा, क्योंकि वह रुक्मिणी को लेने के लिए आया था, इसलिए चोर जैसा दण्ड दिया गया 'उसको' शब्द कहने का आशय है कि वह प्रसिद्ध अनिष्टकर्म करने वाला घातक होने से दुष्ट है, अतः प्रसिद्ध को, इतनी से ही बड़ी पीडा होती है, जिससे भगवान् ने सेवक द्वारा उसका मूँछ सहित शिर मूँछवा के विरूप रूपी वध कर दिया, विरूप शब्द का आशय है कि मुण्डन एक विचित्र प्रकार से हुआ, जैसे मूँछों का कुछ भाग काट दिया कुछ रखा वैसे ही शिर के बाल भी कहीं काटे कहीं छोड़ दिए दाढ़ी के बाल भी यों ही किए, जिससे वह विरूप हो गया इसका यह विरूप मरण पर्यन्त रहा, क्योंकि भगवान् ने इसको वध के बदले यह सजा दी थी अतः इसी प्रकार वालों को समूल छेदन किया जिससे वे पुनः निकले ही नहीं, यदि वैसा न हो, तो भगवान् इस प्रकार केवल नाम मात्र मुण्डन करावे ही नहीं, जब तक भगवान् उसको विरूप करते हैं, तब तक उस शत्रु को अभिमानी सेना को वीर यादवों में कुछ भी परिश्रम के विना जैसे हस्ती कमलिनी को उखाड़ता है, वैसे ही नष्ट कर दिया सेना को केवल रुक्मी के दोष के कारण नाश नहीं किया, किन्तु यह सेना भी दुष्ट है, इसलिए नाश किया, यादवों में गद संकर्षण आदि बहुत वीर थे और एक अक्षौहिणी भी थी, अतः "नलिनी" एक वचन दिया है ॥३५॥

आभास—एवं भगवत्कृतं रुक्मिनिग्रहणं निरूप्य भगवतः सकाशात् ज्येष्ठस्य बल-
भद्रस्य कृतं सान्त्वनामाह सार्धैरेव सप्तदशभिः कृष्णान्तिकमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् का किए हुए रुक्मि के निग्रह का निरूपण कर, भगवान् की तरफ से ज्येष्ठ बलरामजी ने जो सान्त्वना की, उसका वर्णन “कृष्णान्तिक” से साढ़े सत्रह श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—कृष्णान्तिकमुपव्रज्य ददृशुस्तत्र रुक्मिणम् ।

तथाभूतं हतप्रायं दृष्ट्वा संकर्षणो विभुः ।

विमुच्य बद्धं करुणो भगवान्कृष्णमब्रवीत् ॥३६॥

श्लोकार्थ—वे बलभद्र आदि श्रीकृष्ण के समीप आए, वहाँ रुक्मि को देखा तो वह विरूप मरे हुए के समान हो गया था, तब विभु संकर्षणजी ने दया कर बन्धन में पड़े हुए को छोड़ कर कृष्ण को कहने लगे ॥३६॥

सुबोधिनी—मुख्यात्र रुक्मिणी समाधेया । मध्यमो रुक्मो । प्राकृतः सहायराजानः । अतः सेनया भगवतोऽपि कनिष्ठया ते हताः, भगवता च मध्यमः, भगवज्ज्येष्ठेन च सान्त्वनमुक्तमिति युक्तमत्र प्रकरणत्रयम् । सर्व एव तद्वत् हत्वा समागताः कृष्णान्तिकमुपव्रज्य विकृतं रुक्मिणं ददृशुः । तथाभूतमिति । विशेषतो न वक्तव्यम्, सोऽपि मूर्च्छितप्रायस्तिष्ठतीति । वधानुकूलं निरूपयितुमाह हतप्रायमिति । विशेषतो रामस्तं तथाभूतं दृष्ट्वा सम्यक् कर्षणकायत्वात् सशिवपन च कनोन्विहारं समादयतीति, तत्रापि सङ्कर्षण एव कर्तेति, भगवतः तत् कर्तव्यं न

भवतीति, स्वयं सङ्कर्षणः हन्तुमपि विभुः समर्थः । भगवता बद्धं विमुच्य कृष्णमब्रवीत् । ननु कथमेवं भगवत्कृतमन्यथा कृतवान्, तत्राह करुण इति । करुणा हि भगवता दुःखं प्रापितेष्वेव पुरुषेषु कृपया प्रतीकारार्थं यतन्ते । ननु तथापि भगवन्तं पृष्ट्वा तथा विधेयम्, किमिति स्वयमेव मोचितवान्, तत्राह भगवानिति । बलभद्रे आविर्भूतो भगवानेव मोचितवानित्यर्थः । एतदन्ता मध्ये सङ्कर्षण कथा, विशिष्टा त्वग्रे वक्तव्या । अत एव कृष्णमब्रवीत् । अब कृष्णपदं ‘कृष्णो द्वितियः केशवः संबभूवे’ति कृष्णपुरम्, अतो ज्येष्ठ-त्वान्नानोचित्यम् ॥३६॥

व्याख्या—यहाँ समाधान कर, सान्त्वना देने के जो याग्य है, उनमें मुझे रुक्मिणी है, मध्यम रुक्मि है और शेष प्राकृत राजा लोग हैं, अतः उनको भगवान् से भी कनिष्ठ सेना ने ही मारा है, भगवान् मध्यम में रहे और रुक्मि को भगवान् के बड़े भ्राता ने सान्त्वना दी, ये तीनों ही प्रकरण

युक्त ही हैं, सब यादव, उस सेना को नष्ट कर आए, कृष्ण के पास जाकर विरूप स्वामी को देखा, विशेष न कह कर केवल 'तथाभूत' कहा अर्थात् वह मूर्च्छित जैसा वहाँ पड़ा था भगवान् ने वध के बदले में जो मुण्डन कर विरूप किया था, जिससे वह मरे हुए के समान हो गया था। राम विशेष प्रकार से उसको वैसा देख, शिखा सहित वपन का कार्य सम्यक् प्रकार से, कर्षण कार्य होने से, यह कर्म अधिकार बिना हुआ है। इस कर्म का कर्ता संकर्षण ही है, भगवान् का यह कार्य नहीं है, स्वयं संकर्षण मारने में भी समर्थ है तो मुण्डन आदि कर्म करने का भी उनका अधिकार है इसलिए भगवान् से बान्धे हुए को खोल, छोड़कर कृष्ण को कहने लगे। शंका करते हैं, कि जो भगवान् ने किया है उसको अन्य प्रकार बलराम ने कैसे किया ? इसका उत्तर देते हैं कि "दयालु" हैं जो दयालु होते हैं, वे भगवान् से जिनको दुःख मिला है कृपा कर उनका भी प्रतीकार के लिए प्रयत्न करते हैं, यदि कहो तो भी भगवान् से पूछकर यों करना चाहिए था आपने स्वयं ही कैसे बन्धन से मुक्त कर दिया ? इसके उत्तर में कहा है, कि "भगवान्", मुक्त करने वाले बलराम नहीं है, किन्तु वह बलराम में विराजमान भगवान् ने ही मुक्त किया है, बीच में संकर्षण की कथा इतनी ही है, विशेष तो आगे कही जाएगी इस कारण से ही कृष्ण को कहने लगे, यहाँ "कृष्ण" पद शास्त्र में कहे हुए "कृष्णो द्वितीयः केशवः संवभूव" इस वाक्यानुसार जो कृष्ण है वह समझना चाहिए अतः बलरामजी बड़े हैं जिससे योग्यता नहीं है ॥३६॥

आभास—भगवन्तं प्रति कृतस्याननुमोदनमाह असाधिवदमिति ।

आभासार्थ—"असाध्वि" श्लोक में बलरामजी भगवान् के किए हुए मुण्डन आदि का अनुमोदन नहीं करते हैं ।

श्लोक—असाधिवदं त्वया कृष्ण कृतमस्मज्जुगुप्सितम् ।

वपनं श्मश्रुकेशानां वैरूप्यं सुहृदो वधः ॥३७॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण आपने यह बुरा कार्य किया है इससे अपनी निन्दा होगी यह कार्य हम को नहीं करना चाहिए, क्योंकि दाड़ी मूँछ मुण्डवाकर सुहृदों का विरूप करना उनका वध है ॥३७॥

सुबोधिनी—यत् कृतं तदग्रे वक्तव्यम् । तदसाध्वेव । मरणानन्तरमेव हि सर्वक्षौरं विधीयते । किञ्च । यत्कृतं तदस्मत्कृतम्, अस्मत्कृतम्, वयमेव हेतवः सङ्कर्षणरूपाः । न तु

वामनस्तव कार्यम्, यतो जुगुप्सितमेतत् । परमार्थतोऽयमर्थः । व्यवहारेऽपि यद्यप्यस्य वपनं कर्तुं युक्तम्, अयमेतदर्थ एव, तथाप्यस्मज्जुगुप्सितमस्माकं तु नोचितमित्यर्थाः अधमभक्षकाया-

प्युत्तमैर्नाथमं भक्ष्यं दीयते, तदेवाह वपनं श्म-
श्रुकेशानामिति । श्मश्रूणां केशानां च सुहृदः
सकाशात् वैरूप्यं वध एव । अतः सुहृत्वात् वधोऽनुचितः । एतदपि रुक्मिणोऽसान्त्वनार्थमेवेति
ज्ञायते । उपसंहारवलीयस्त्वात् । उभयस्या-
प्रकरणित्वात् ॥३७॥

व्याख्यार्थ—जो किया वह आगे कहना योग्य नहीं है, वह बुरा है मरने के पीछे ही सर्व मुण्डन करवाया जाता है। किञ्च, जो किया वह हमारा किया हुआ है हम से ही हुआ है, हम संकर्षण रूप ही इसमें कारण है न कि आप जो स्वामी हैं उनका यह कार्य है क्योंकि यह कार्य निन्दनीय है परमार्थ रूप से यही अर्थ है, हालांकि व्यवहार के अनुसार इसका मुंडन कराना योग्य है यह इसके ही योग्य है, तो भी यह अपने करने योग्य नहीं है, यदि कोई मनुष्य मांसादि अघम भोजन करने वाला हो, उसको भी उत्तम पुरुष वैसा अयोग्य भोजन नहीं देता है क्योंकि वैसा भोजन देने से, उत्तम पुरुष की ही निन्दा होती है सन्वन्धियों की तरफ से दाढी मूँछ आदि केशों का मुण्डन कराकर विरूप करना सम्बन्ध वाले का वध ही है, अतः सम्बन्धी होने से इस प्रकार भी वध करना उचित नहीं है, ये शब्द जो बलरामजी ने कहे वे विशेष में रुक्मिणी की सान्त्वना कराने के लिए ही कहे, यों समझा जाता है, दोनों का प्रकरण नहीं होने से भी उपसंहार बलवान होता है ॥३७॥

आभास—अतस्तामेव साक्षात् सान्त्वयति मैवास्मानिति ।

आभासार्थ—इस कारण से, उसको ही “मैवास्मान्” श्लोक से साक्षात् सान्त्वना देते हैं ।

श्लोक—मैवास्मान्साध्व्यसूयेथा भ्रातृर्वैरूप्यचिन्तया ।

सुखदुःखदो न चान्योऽस्ति यतः स्वकृतभुक्पुमान् ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे साध्वि ! तेरा भाई विरूप हुआ है, इस चिन्ता से हमें दोष मत देना, क्योंकि प्रत्येक पुरुष अपने किए का फल सुख वा दुःख भोगता है दूसरा कोई सुख दुःख देने वाला नहीं है ॥३८॥

सुबोधिनी—हे साध्वि । पतिव्रताया भर्तृ-
कृतं मन्तव्यमिति धर्मः । अतएव अस्मान्सवनिव
भासूयेथाः, दोषारोपेण मा विचारय । यद्यपि
मावकचित्तमपि समीचीनम्, भाव्ये च न दोषः
कोऽपि, तथापि भ्रातृर्वैरूप्यचिन्तया तद्धर्मरोपात् कदाचिदसूया भवेत्, तां निवारयति । ननु
लौकिकदृष्ट्या कर्तव्यैवासूया, कथं जरासन्धो
मुक्तः, केवलः कथमयं मुण्डित इति चेत्, तत्राह
सुखदुःखद इति । स्वकर्मवशादेव सुखदुःखानु-
भवः । सङ्कर्षणो हि ज्ञानप्रधानः । अन्यथा

सर्वान् (न) मारयेत् । नायं हन्ति न हन्यते । अन्यो न भवति । तत्र वेनुमाह स्वकृतभुगिति । इति तत्र सिद्धान्तः । तथा अत्रापि कर्मणैव सर्व- कर्मणि स्वस्य स्वातन्त्र्यात् तत् फलमपि कर्तृगा- मिति तदनुसारेणात्रापि बोधनम् । अतोऽयं साधा- म्येव भवति । अन्यथा कृतहानाकृताभ्यागम- रण इति, सोऽपि शृणोतीति कर्ममार्गं एव प्रसङ्गः ॥३८॥

बोधितः । अत एव स्वयं स्वस्य सुखदुःखदः,

व्याख्याय—पति के किए हुए कर्म को मान देना, पतिव्रता स्त्री का धर्म है, इस कारण से तू हम सब पर क्रोध मत कर, हम पर दोष के आरोपण का विचार भी न कर. हालांकि, भावना करने वाला चित्त भी श्रेष्ठ है, भावना करने में कोई भी दोष नहीं है, तो भी भाई के विरूप होने की चिन्ता से, उस धर्म के आरोप करने पर कदाचित् क्रोध आ जाय ? तो उसका निवारण करते हैं, आप कहते हो, वह उचित है, तो भी लौकिक दृष्टि से क्रोध तो करना चाहिए, जरासन्ध को तो मुक्त कर दिया और इसका मुण्डन कैसे किया ? ये दो विपरीत कार्य कैसे हुए ? इस शंका के समाधान के लिए कहा, कि अपने धर्म के आघोन होने से, सुख और दुःख का अनुभव होता है, संकर्षण में ज्ञान मुख्य है, यदि ज्ञान प्रधान न होता तो सब को मार डालते “नायं हन्ति न हन्यते” वहाँ यह सिद्धान्त पक्ष लागू है । वैसे यहाँ सब कर्म से हुआ है, कर्म के सिद्धान्त के अनुसार ही ज्ञान कराया है अतः यह साधारण पक्ष है, वह भी सुन रहा है, इसलिए यहाँ कर्म मार्ग ही समझाया है, अतएव स्वयं ही अपने आपको सुखदुःख देने वाला है, दूसरा देने वाला नहीं है, नहीं तो कृत की हानि न किए हुए के आने का, प्रसंग उपस्थित हो जावे ॥३८॥

आभास—एवं प्रतिबोधिते केवलमस्मदपराधमेव स्थापयति बलभद्रो, न स्वापरा-
धमिति अतुल्यता प्रतिभाता, अतः पुनस्तां बोधयितुं भगवन्तमाह बन्धुरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार समझाने से रुक्मिणी समझेगी कि बलभद्रजी केवल हमारे पर ही अपराध डालते हैं, अपना अपराध प्रकट नहीं करते हैं, इसलिए भेद हुआ, अतः पुनः अन्य प्रकार से उसको बोध कराने के लिए “बन्धुर्वर्धाह” श्लोक से भगवान् को कहने लगे ।

श्लोक—बन्धुर्गर्धाह्वोषोऽपि न बन्धोर्गधमर्हति ।

त्याज्यः स्वेनैव दोषेण हतः किं हन्यते पुनः ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण यदि सम्बन्धो मारने के योग्य अपराध करे तो भी, सम्बन्धो को चाहिए कि अपने नातेदार को न मारे, वह तो अपने ही अपराध से मरा हुआ है फिर उस मरे हुए को मारने से क्या ? ॥३९॥

सुबोधिनी वधमर्हति येन दोषेण तादृशो दोषो यस्य स वधार्हदोषः पुरुषः । तादृशः बन्धोः साक्षाद्वध नार्हति । अन्यथा बन्धुत्वं न स्यात् । शत्रुरेव वधकर्ता । अयोग्यं कुर्वन् अयुक्त एव भवति । ननु यथा स्वधर्मः, स न मारणीय इति, तथा तस्यापि धर्मः, अतिक्रमो न कर्तव्य इति । स चेत् स्वधर्मं न कुर्यात्, कथमन्यः कुर्यादिति चेत्, तत्राह त्याज्य इति । वस्तुतस्तु तेन स्वधर्मस्त्यक्त इति न स्वेनापि स्वधर्मस्त्यक्तव्यः, तथा सत्युभयोरेव तुल्यता स्यात् । अथ तत्कर्म सार्थकं कर्तव्यमिति स्वोद्यमः, तत्राप्युच्यते । स्वेनैव दोषेण हतः । पुनः किमर्थं हन्यत इति । न हि

तत्कर्मणा प्रेरितत्वं स्वस्य युक्तम् । तत्कर्म स्वयमेव अन्यं प्रेरयेत् । अतः कर्मणैव हतः, तदङ्गत्वे स्वस्य हानिरिति । भिन्नतया स्वयं चेन्मारयेत्, तदा पिष्टपेषणमेव भवेदिति, किं हन्यत इति प्रश्नार्थं आक्षेपार्थो वा । पिष्ट्वापि वेदे प्रैष उक्तः । अणूनि कुरुतादिति, तस्य प्रयोजनं मेध्यत्वायेति श्रुतावेवोक्तम् । तथा अयमपि पवित्रो भवतु, मोक्षं वा प्राप्नोत्विति प्रश्नार्थो भवति । एवमेवेति चेत्, तत्राह किं हन्यत इति । न हन्तव्य एव, किन्तु त्याज्यः । दुष्टं हि न संस्क्रियते, अयं तु दुष्ट एवेति न संस्कारमर्हतीति भावः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—मारने का अपराध करने वाला भी सम्बन्धी साक्षात् मारने के योग्य नहीं है, यदि मारा जायगा तो बन्धुपन का सम्बन्ध न रहेगा, वध करने वाला शत्रु ही होता है, जो अयोग्य कर्म करता है, वह अयोग्य हो होता है, यदि कहो कि जैसे अपना धर्म है, कि उसको न मारना चाहिए वैसे उसका भी धर्म है, अतिक्रम नहीं करना चाहिए यों यदि वह अपने धर्म का पालन नहीं करता है तो दूसरा अपने धर्म का पालन कैसे करे ? यदि यों कहो तो, इसका उत्तर है, कि वह मारने योग्य नहीं है, किन्तु उसको छोड़ देना चाहिए क्योंकि वास्तविकता का विचार किया जाय तो उसने अपने धर्म का त्याग किया तो क्या ? हम भी अपना धर्म छोड़ देवें, यों करने से दोनों समान हो जावेंगे वह कर्म सार्थक करना चाहिए इसलिए अपना उद्यम है, इस पर मैं कहता हूँ कि, वह अपने ही अपराध से मरा हुआ है उसको फिर मारने से क्या ? वा किस लिए मारा जाय ? उसके कर्म से प्रेरित हो, अपने को उस प्रकार करना अपने को योग्य नहीं है, उसका कर्म स्वयं दूसरे को प्रेरणा करेगा, अतः कर्म ने ही उसको मार दिया है, यदि हम उसके अंग बने, तो अपनी ही हानि है, मित्तपणे से यदि स्वयं मारे, तब पिष्ट पेषण^१ ही होगा, इसलिए क्यों मारा जावे ? इसे प्रकार कहना प्रश्न के वा आक्षेप के लिए है, पीस कर भी उसको वेद में "पैष" कहा है, अणु किए जावे, यों करने का प्रयोजन है, कि वह यज्ञ के लिए योग्य पवित्र हो, इस प्रकार श्रुति में कहा गया है, वैसे यह भी पवित्र हो, वा मोक्ष को प्राप्त होवे इस प्रकार प्रश्नार्थ होता है, यदि यों ही है, तो भी क्यों मारा जाता है ? अर्थात्, इसको नहीं मारना चाहिए, किन्तु छोड़ देना चाहिए, क्योंकि

जो दुष्ट है, वह संस्कार करने योग्य नहीं है, संस्कार करने से भी वह पवित्र वा श्रेष्ठ हो कर सुधरेगा नहीं ॥३६॥

आभास—एवं शास्त्रार्थतः स न वड्यो भवतीति निरूप्य, लोकन्यायेनापि न वध्यत इति निरूपयति क्षत्रियाणामयं धर्म इति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—यों शास्त्र के अर्थ अनुसार वह मारने योग्य नहीं है यह निरूपण कर अब लोक न्याय से भी वह मारा नहीं जा सकता है, यह “क्षत्रियाणामयं” दो श्लोकों में निरूपण करते हैं ।

श्लोक—क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिमितः ।

भ्रातापि भ्रातरं हन्याद्येन घोरं तमस्ततः ॥४०॥

श्लोकार्थ—भाई भी भाई को मारे यह क्षत्रियो का घोर धर्म प्रजापति ने बनाया है जिससे घोर अज्ञानान्धकार हो होता है ॥४०॥

सुबोधिनी—ननु यो मारयितुमायाति, स मार्यत इति, ‘जिघांसन्तं जिघांसीया’ दिति लाल वेदाभ्यां हननं तस्य युक्तम्, तत्कथं निषिध्यत इति चेत्, तत्रोच्यते, किं हत इति हन्यते, अयुक्तं करोतीति वा । तत्र नाद्यः । अभावात् । प्रकृते असम्भवाच्च । अयुक्तता तु नास्तीत्याह । क्षत्रियाणामयं घोरात्मको धर्मः प्रजापतिनेव विनिमितः । त्रिविधा हि धर्माः, शान्तो घोरो विमूढश्चेति । तत्र शान्तो ब्राह्मणेषु स्थापितः । घोरः

क्षत्रियेषु । विमूढो वैश्यशूद्रयोः । अतः अयं परिदृश्यमानः तोक्ष्णशास्त्राणि गृह्यत्वा स्वप्रवृत्तिं प्रदर्शयन्निवाह । तत्र न सम्बन्धापेक्षेत्याह भ्रातापि भ्रातरं हन्यादिति । नन्वेवं सत्ययं धर्म एव चेत्, तर्हि कथं घोरः स्यात्, तत्राह येन घोरं तम इति । ततो धारमेव तमो भवति । अज्ञानमत्र तमः, तदपि भयानकम् । एवं कर्मणा दैत्यत्वं भवतीत्यर्थः ।

व्याख्यार्थ—जो मारने के लिए आता है वह मारा जाता है, जैसा कि कहा है “जिघांसन्तं जिघांसीयात्” इसलिए लोक तथा वेद के अनुसार उसको मारना ही योग्य है, तब आप निषेध कैसे करते हैं ? इसका उत्तर देते हैं, कि क्या (जिसने) नाश किया वह मारा जावे ? अथवा अनुचित करता है, इसलिए मारा जावे, इनमें पहना तो है ही नहीं, क्योंकि मारने का अभाव ही है उसने किसी को अब तक मारा नहीं और चालू प्रसंग में मारे वह असम्भव है, मारने में अयोग्यता तो नहीं है, क्योंकि क्षत्रियों का यह घोर धर्म प्रजापति ने बनाया है ।

वर्म तीन प्रकार के हैं १-शान्त, २-घोर और ३-विमूढ, उनमें से शान्त धर्म ब्राह्मणों में स्थापित किया है, घोर धर्म क्षत्रियों में, विमूढ धर्म वैश्य और शूद्रों में स्थापित किया है, अतः यह प्रकट देखने में आने वाला तीक्ष्ण शस्त्र ग्रहण कर अपनी प्रवृत्ति दिखा रहा है, वहाँ सम्बन्ध की अपेक्षा नहीं है, ऐसी दशा में “भ्राताऽपि भ्रातरं हन्यात्” भाई भी भाई का वध करे, यदि इस प्रकार किया हुआ कर्म भी यदि धर्म हो, तो उसको “घोर” कैसे कहा जाता है, जिस कर्म से घोर अज्ञान अन्धकार हो वह भी भयानक होवे तो उस कर्म से दैत्यपन होता है, अर्थात् जो ऐसा घोर कर्म करता है वह दैत्य बन जाता है ॥४०॥

आभास—ननु सत्यं यदि युद्धमेव कुर्यात्, तदा अशस्त्रं विरथं कृत्वा तं शत्रुस्त्यजेत्, अयं त्वसभ्यं बहु वदतीति मुखरत्वान्मारणीय एवेति चेत्, तत्राह राज्यस्येति । तेषाम-सभ्यवचनमपि प्रजापतिविनिमितमेव । तत्र साधारण्येन षट् हेतून् निर्दिशति । राज्यं ।

आभासार्थ—आपका यह कहना सत्य है कि यदि युद्ध भी करे तो उसको शस्त्र रहित और रथ विहिन कर छोड़ देना चाहिए अर्थात् मारना नहीं चाहिए, किन्तु यह तो बहुत असभ्य वचन कहता है इसलिये इस वक्तवादा अप्रिय कहने वाले को तो मारना ही चाहिए, इस प्रकार कृष्ण के विचार जान बलरामजी “राज्यस्य” श्लोक में इसका निराकरण करते हैं। उनके इस प्रकार के असभ्य वचन भी प्रजापति के हो रहे हुए हैं, उसमें साधारणता से छः हेतुओं को बताकर समझाते हैं।

श्लोक — राज्यं भूमिस्त्यस्य स्त्रियो मानस्य तेजसः ।

मनिनोऽन्यस्य वा हेतोः श्रीमदान्धाः क्षिपन्ति हि ॥४१॥

श्लोकार्थ—राज्य, भूमि, धन, स्त्री, मान अथवा अन्य को हेतु बनाकर लक्ष्मी के मद से अन्धे बने हुए अभिमानी दूसरों का अपमान करते हैं किन्तु उसका वध अथवा वध के समान मुण्डन आदि नहीं कराते हो अतः तुमने इसका (रुक्मिणी का) मुण्डन किया वह उचित नहीं किया है यों बलरामजी ने कृष्ण को उपालम्भ दिया ॥४१॥

सुबोधिनो—चेत्कस्यचित्केनचिद्धृतं तदा स क्षत्रियः । अन्यथायं न मारयिष्यतीति । राज्ये च गते केवलं जीवनपर्युक्तमिति मरणार्थं शत्रून् क्षिपन्ति । श्रीमदान्धा अपि क्षिपन्ति । पूर्वश्रिया जातो यो मदः तेन अन्धाः विवेकरहितः, अतः क्षेपो युक्त एव । एवं भूमेः राज्यैरुदेशस्य वा । वित्तस्य धनस्य । स्त्रियोयं मानस्य वायं तेजसो वायं । एवं षण्णामर्थे क्षिपन्ति । तत्रापि ये

मानिनः । अनुक्तसर्वहेतुसमुच्चयार्थं मह अन्यस्य | अपि युक्त एवेति न हननमुचितमिति भावः ॥ १॥
वा हेतोरिति । युक्तश्चायमर्थः । अतोऽस्य क्षेपो-

व्याख्यार्थ—किसी ने किसी का राज्य ले लिया तो वह क्षत्रिय है, नहीं तो यह न मरवाएगा, राज्य जाने पर जो जीवन है वह अयोग्य है अतः मरने के लिए शत्रुओं को दूर फेंक देते हैं, लक्ष्मी के मद से जो अन्धे बने हैं वे भी फेंक देते हैं अर्थात् वे उनको पूछते ही नहीं हैं, कारण कि लक्ष्मी से उत्पन्न मद से अन्धे यानि विवेक हीन हो गए हैं अतः वे फेंकें, तो उनकी दृष्टि में यह कार्य योग्य ही है इस प्रकार, राज्य के एक भाग में भूमि, धन, स्त्री और मान तथा तेज के लिए भी फेंक देते हैं, अर्थात् उनसे सर्व प्रकार का सम्बन्ध तोड़ देते हैं, इस प्रकार इन छ के अथवा कोई दैसे दूसरे हेतु के कारण जो सम्मान वाले हैं, वे यों करते हैं वह योग्य ही है अतः इनसे व्यवहारिक सम्बन्ध तोड़ देना ही योग्य है न कि मारना उचित है, कहने का यह भाव है ॥४१॥

आभास—ननु न हत एव मयाप्ययम्, किमित्युपालम्भः क्रियत इति चेत्, तत्राह
तवेयं विषमा बुद्धिरिति ।

आभासार्थ—मैंने भी इसको मारा नहीं है, फिर आप उपालम्भ क्यों दे रहे हो ? यदि यों कहो, तो इसका उत्तर है “तवेयं विषमाबुद्धिः” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तवेयं विषमा बुद्धिः सर्वभूतेषु दुर्हृदाम् ।

यन्मन्यसे सदाभद्रं सुहृदां भद्रमक्षयम् ॥४२॥

श्लोकार्थ—दुष्ट हृदय वालों की सर्व भूतों में ज्यों विषम बुद्धि होती है त्यों तुम्हारी यह बुद्धि विषम है, जो सुहृदों के अक्षय मुण्डन को वधानुकल्प नहीं समझ केवल निरूपण ही मानते हो ॥४२॥

सुबोधिनी—अयं न हत इति या बुद्धिः, सा तव विषमा, न समा । यदि नापकृतः स्यात्, तदा समा स्यात् । यदि वा वधं कुर्याः, तथापि लोकन्यायेन समा स्यात् । यत्तु सुहृदां भद्रमभद्रं मन्यसे, तत्राप्यक्षयं तदभद्रं न दिनमात्रेणाप-

गच्छति, किन्तु यागजीवं तिष्ठति । नन्वस्त्येव लोके विषमा बुद्धिः, को दोष इति चेत्, तत्राह । सर्वभूतेषु दुर्हृदामेव विषमा बुद्धिर्भवति, न तु तव, न वा सुहृदाम् । येषां हि चित्ते कापट्यम्, तेषामेते प्रकाराः, नतु शुद्धचित्तानामित्यर्थः ।

सर्वभूतेषु वा मध्ये दुर्हदामभद्रं मन्यस इति । असुरद्विडिति वाक्यात् । दुर्हदां वा सर्वभूतेषु लोमादिष्ववयवेयु अभद्रं मन्यस इति । भद्रं क्षीरं वा विपरीतलक्षणया अभद्रमेव । भूतानां मध्ये दुर्हदां भद्रम्, सुहदामभद्रम्, एतादृशमपि मुण्ड-

नम्, तत्राप्यक्षयं त्वं मन्यस इति तव विषमा बुद्धिः । अथवा । दुर्हदामभद्रं सुहदां भद्रं सदा मन्यस इति । एतत्तव ब्रह्मणः अयुक्तम्, विषमा बुद्धिरित्यर्थः ॥४२॥

व्याख्यार्थ—यह मारा नहीं गया है ऐसी जो तुम्हारी बुद्धि है वह असमान है, जो अपकार पने न कि या होता, अर्थात् मुण्डन न किया होता. तो समान होती यदि वध भी कर दिया होता, तो भी लोक न्याय से (बुद्धि समान कही जाती जो कि तुम, सुहदों के मुण्डन को केवल विरूप होना ही मानते हो, किन्तु वह मुण्डन भी वैसा नहीं है कि वे वाल फिर निकल जाएंगे जिससे विरूपता नष्ट हो जावेगी, किन्तु वह जीवन पर्यन्त रहने वाला और सदा अशोभा-कर है जिससे यह वध ही है, यदि तुम कहो कि लोक में तो बुद्धि विषम करनी ही पड़ती है इसमें कौनसा दोष है ? इसके उत्तर में बलरामजी कहते हैं कि, सर्वभूतों में दुष्ट हृदय वालों की ही विषम बुद्धि होती है, न तुम्हारी होनी चाहिए और न शुद्ध हृदय वालों की ही, जिनके चित्त में कपट रहता है उनके ये ढंग हैं, न कि, शुद्ध चित्त वालों के ? कहने का आशय यह ही है । तुम असुरों के शत्रु हो इस वचनानुसार सर्व प्राणियों में जो दुष्ट चित्त वाले हैं, उनका तो मुण्डन न होकर वध होना ही योग्य है, यो मानते हो, अथवा दुष्टों के केश आदि अवयवों को ही वध मानते हो, भूतों में जो दुष्ट हैं, उनका तो मुण्डन और जो सुहृद हैं उनका मुण्डन भी नहीं । किन्तु तुमने तो ऐसा मुण्डन किया है वह तो अक्षय, (जीवन पर्यन्त) रहने वाला है, इसलिए तुम्हारी बुद्धि असमान है अथवा दुष्टों का वध, शुद्ध हृदय वालों का सदा मुण्डन मानते हो, यों करना भी आप ब्रह्म को योग्य नहीं है क्योंकि इस प्रकार की बुद्धि विषम कही जाती है ॥४२॥

आभास—एवं चतुर्भिः तत्सन्तोषार्थं भगवदुपालम्भनमुक्त्वा, तावताप्यपरितुष्य-
माणां ज्ञानेन बोधयति मात्ममोह इति सप्तभिः । भगवान् सधर्मोऽस्या बोधं कर्तुं शक्त इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार चार श्लोकों से रुक्मिणी के सन्तोष के लिए भगवान् को उलाहना दिया, उससे भी उसकी प्रसन्नता न हुई अतः ज्ञानोपदेश से “आत्ममोह” श्लोक से सात श्लोकों में समजाते हैं, धर्म सहित भगवान् इसको ज्ञान कराने में सभर्य है ।

कारिका—स्वरूपाज्ञाननानात्वे देहादीनां च शत्रुता ।

दोषत्रयं निरूप्यादौ आत्मधर्मनिरूपणम् ॥१॥

स्वप्रकाशोऽयमात्मा हि असङ्गश्च निरूप्यते ।
जन्मादिदोषास्त्वन्यस्य अतस्तैर्नैव दुष्यति ॥२॥
असंसर्गाग्रहो भ्रान्तः दृष्टान्तैर्विनिरूप्यते ।
ततोपसंहृतिपुंका ज्ञानेनाज्ञाननुत्तये ॥३॥

कारिकार्थ—अपने आत्म स्वरूप का ज्ञान जब नहीं रहता है, तब नानात्वदृष्टि से देहादि की शत्रुता होती है, जिससे तीन दोष उत्पन्न होते हैं उनका आदि में निरूपण कर पश्चात् आत्मा के धर्म का निरूपण करते हैं । १।

यह आत्मा स्वयं प्रकाश स्वरूप है और असंग है यों निरूपण किया जाता है, जन्म आदि दोष आत्मा के नहीं हैं, किन्तु दूसरे के (देह के) हैं, अतः उन से आत्मा दूषित नहीं होती है । २।

असंसर्ग का आग्रह दृष्टान्तों से भ्रान्त निरुपण किया है, ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति के लिए उपसंहार योग्य है । ३।

सुबोधिनी—‘तरति शोकमात्मवित्’दिति श्रुतेः । चध्यासे जातो मोहः अयगच्छति । ततस्तन्निराक-
शोकतरणं ज्ञानेनैव भवतीति ज्ञानमुपदिशति । रणार्थं तत्सामग्रीं प्रतिपादयति आत्ममोह इति ।
अत्र ज्ञानं देहादव्यतिरिक्तात्मज्ञानम्, तावतैव देहा-

व्याख्यार्थ—“तरति शोकमात्मवित्”^१ इस श्रुति के अनुसार ज्ञान से ही शोक को तैरता है, इसलिए ज्ञान का उद्देश कर रहे हैं यहाँ ज्ञान का तात्पर्य है देह से अतिरिक्त आत्मा का ज्ञान, ऐसे ज्ञान से ही देह आदि अध्यास से उत्पन्न मोह नाश होता है इस कारण से उस मोह के निराकरण के लिए उसको सामग्री का “आत्ममोहो”, श्लोक में प्रतिपाद करते हैं ।

श्लोक—आत्ममोहो नृणामेष कल्प्यते देवमायया ।

सुहृद्दुर्ह दुदासीन इति देहात्ममानिनाम् ॥४३॥

श्लोकार्थ—मनुष्यों को यह जो देहादि में मोह होता है, वह देव की माया से बनता है, देह में जिनकी आत्म बुद्धि हो जाती है उनकी सुहृद् दुर्हृद् और उदासीन इस प्रकार को भेद बुद्धि होती है ॥४३॥

सुबोधिनी—आत्मनोऽयं मोहः । अज्ञानानन्तरं दोषे आविर्भूते या मूर्च्छा स मोहं इति व्यवहियते । तथात्रापि आत्मनः अज्ञाने शरीराहंभावे च प्रादुर्भूते सुहृद्दुर्हृदित्यादिवुद्धिर्वोधमपि न विषयीकरोतीति मोहो भवति । स च पश्वादिषु तथा नास्तीति नृणामित्युक्तम् । देवादीनां तथात्वेऽपि व्यवहाराभावान्नोक्तम् । एष इति प्रदर्शनम् । देवस्य भगवतो माययेति मोहकारणं माया निरूपिता । अन्यथा प्रत्यक्षादिषु श्रुत्यादिषु च प्रमाणेषु विद्यमानेषु प्रत्यहमेतस्य वृद्धिर्न स्यात् । देवानां माया नृणां दुस्तरा भवतीति, यथा नृणां माया पशूनाम् । अतो देवपदम् । सुतरामेव

पुरुषोत्तममाया सर्वेषामेव दुस्तरा । मायायास्त्रिगुणत्वात् मोहेऽपि त्रिगुणतामाह सुहृद्दुर्हृदुदासीन इति । उदासीनः सात्त्विकः, सुहृद्वाजसः । मायया यदा मोहः, तदा सर्वत्र चेन्निनिमित्तं व्यर्थमेव ज्ञान स्यादिति निमित्त एवैतदित्याह इति देहात्ममानिनामिति । अमुना प्रकारेण देहमेवात्मानं मन्यन्ते, यदा मायया अन्येन वा देहात्मबुद्धिर्दृढा भवति, तदैते दोषाः सम्भवन्ति । ततस्तेषामुपकारापकाराभ्यां इदानीमनुभूयमानो मोहः प्रादुर्भवतीति देहात्मभावो मुख्यतया निवार्य इत्यर्थः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—आत्मा का यह मोह है, अज्ञान के बाद जब दोष उत्पन्न होता है, तब जो अज्ञानता होती है वह मोह नाम से व्यवहार में अर्थात् कहने में आती है, वैसे यहाँ भी आत्म स्वरूप के अज्ञान होने पर, जो शरीर में अहंभाव उत्पन्न होता है, उससे यह मित्र है अच्छा है, यह शत्रु है दुष्ट है, और यह उदासीन है, ऐसी भेद बुद्धि हो जाती है, वह बुद्धि ज्ञान को अपना विषय नहीं कर सकती है अर्थात् भेद मिटा नहीं सकती है इसलिए मोह होता है, वह पशु आदि में वैसे नहीं होता है, अतः मनुष्यों को होता है, इसलिए “नृणां” पद दिया है देवादिकों में वैसे होने पर भी, देव नहीं कहा जिसका कारण यह है, कि वे व्यवहार में यहाँ नहीं आते हैं, “एष” पद देकर सामने प्रत्यक्ष है, यह दिखाया है, मोह क्यों होता है, जिसका कारण बताते हैं, कि यह देव की ही माया है, जो मनुष्यों में मोह उत्पन्न करती है, यदि यह मोह, माया उत्पन्न करने वाली न होती तो श्रुति-आदि प्रत्यक्ष इतने-प्रमाण शास्त्रों के विद्यमान होते हुए, इस मोह की वृद्धि न होनी चाहिए, किन्तु वृद्धि होती ही रहती है, इससे यह माया ही मूल कारण है, एवं यह देवमाया मनुष्य पार नहीं कर सकता है क्योंकि दुस्तर है, जैसे मनुष्यों की माया को पशु पार नहीं कर सकते हैं इस कारण से ‘देव’ पद दिया है, सुतराम, पुरुषोत्तम की माया तो देवों को भी दुस्तर है, माया तीन गुणों वाली है इसलिए मोह भी तीन गुणों वाला हुआ है, जैसे कि सुहृद्, दुर्हृद् और उदासीन, उदासीन सात्त्विक है, सुहृद् राजस है,

और दुर्हृद् तामस है। माया से जब मोह पैदा होता है, तब सर्वत्र बिना किसी निमित्त के, जो ज्ञान होता है, वह व्यर्थ ही हो जाता है, इसलिए निमित्त बताते हैं, कि माया से, वा अन्य से जो देह को आत्मरूप मानते हैं, और उससे जब देह में आत्म बुद्धि दृढ़ हो जाती है, तब ये दोष उत्पन्न होते हैं, उससे उनके उपकार अथवा अपकार से अब अनुभव किया हुआ मोह उत्पन्न होता है इसलिए देह में जो आत्म भाव पैदा हुआ है उसको ही मुख्यतः मिटाना चाहिए ॥४३॥

आभास—ननु देहात्मभावाभावेऽपि कथमेतद्वदते । यावता परिच्छिन्न आत्मेति करणत्वेनापि स्वीक्रियमाणे देहे उदासीनादिभेदा भवन्त्येव । अतो देहव्यतिरिक्तात्मज्ञानं व्यथमिति चेत्, तत्राह एक एवेति ।

आभासार्थ—देह में आत्म भाव न हो, तो भी यह कहना कैसे घटित हो सकेगा, जब तक परिच्छिन्न आत्मा है, इसलिए करणपन से देह को स्वीकार किया जाए, तो भी उदासीन आदि भेद तो रहेंगे ही, अतः देह से पृथक् आत्म ज्ञान व्यर्थ है, यदि यों कहते हो, तो इसका समाधान यह है जो “एक एव” श्लोक में कहा जाता है ।

श्लोक— एक एव परो ह्यात्मा सर्वेषामपि देहिनाम् ।

नानेव गृह्यते सूक्ष्मं तथा ज्योतिर्यथा नभः ॥४४॥

श्लोकार्थ—सर्व देहधारियों की आत्मा एक ही है, वह ‘पर’, अर्थात् सबको नियम में रहने वाली है, तो भी अज्ञानों उसको अनेक समझते हैं, जैसे एक चन्द्र को जल के हिलने से और आकाश को घट और मठ में होने से अनेक समझते हैं ॥४४॥

सुबोधिनी—सर्वेषु देहेषु आत्मा एक एव, यतः परो नियन्ता, अन्यथा देहेन परिच्छिन्नः देहाधीनः स्यात् । अनुभूयते च देहे स्वातन्त्र्यम्, देहान्तरे स्वातन्त्र्याभावास्तुः तत्रानुसन्धनाभावात् । एवमखण्डाद्वैतभाने सर्वत्रात्मबुद्धिः । अथवा । आत्मशब्देन भगवा नुच्यते । तदाभासा एव जीवा इति पर एक एव । एतद्भगवति विद्यमाने निरूपणमसमञ्जसमिति विरम्यते । युक्तश्रायमर्थः । सर्वदेहेष्वेक एवात्मेति । यतोऽय-

मात्मा । अतति व्याप्नोतीति । अन्यथा आत्मत्वं भज्येत । अणुपरिमाणत्वे देहमपि न व्याप्येत । प्रकाशवत् गुणव्याप्तावपि चैतन्यलक्षणस्य गुणस्य सङ्कोचविकासावङ्गीकर्तव्यौ । तत्रापि नियामको देह एवेति धर्मिण एव नियामकोऽस्तु, किं धर्मनियामकत्वस्वीकारेण । यथेदं जगत् ब्रह्माण्डेनेकतामामद्यते, अन्यथा तस्यैकत्वनिर्देशो न स्यात्, तथा आत्मनिर्देशोऽपि । यथैकमेव सुवर्णं मृदा नानाप्रकारेण कृतिसमवेतं सद्भासते, एवमात्मापि

देहादिवैलक्षण्यात् देवतिर्यङ्भनुष्यादिभावमाप-
द्यत इति न कोऽपि दोषः । सर्वेषामपि देहिना-
मिति । यतः सर्वेऽपि देहिनः, 'दिह उपचय' इति
उपचयादिमन्तः । अतो वृद्धिह्लासावात्मनः परि-
च्छेदेनोपपद्येत इति व्यापकत्वे अङ्गीक्रियमाणे
एकेनैव चरितार्थतेति नानात्वं व्यर्थम् । 'नाना-
त्मानो व्यवस्थात' इति स्मृतिस्तु धर्ममर्यादायं
नानात्मत्वं स्वीकर्तव्यमिति दोषगुणव्यवस्थया इव
व्यवस्थानिरूपिका । यथा पञ्चमहाभूतानि । एक-
श्चात्मा सर्वसङ्घातेषु तुल्यः, तथापि कश्चि-
च्चाण्डालः, कश्चिद्ब्राह्मण इति धर्मव्यवहारार्थमेव
विभागः कल्पितः । सामग्र्यामधर्मो धर्मो वा
प्रविष्टः तथा सम्पादयतीत्यपि पक्षे धर्माधर्मयोरेव
नियामकं वाक्यादतिरिक्तं विषये नास्तीति व्यव-

स्थार्थमेव तत्कल्पना वक्तुं युक्ता । उत्क्रमादयस्तु
न्यायमतेऽपि न सन्ति । भगवन्मते तु भगवत इव
तस्यापि गमनागमने संभविष्यतः । तत्रापिस्वर-
पदप्रयोगात् । 'शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युक्रामती-
स्वर' इति वाक्याद्ब्रह्मवादेऽप्ययमेव सिद्धान्तः ।
तस्मात्सर्वत्रैक एवात्मेति युक्तम् । तर्हि कथं भेद-
प्रतीतिरिति चेत् तत्राह नानेव गृह्यते मूढैरिति ।
अत्यन्ताकुशलैर्नाना गृह्यते । तैरपि कचिन्नानात्वं
नानुभूयते, पुत्रादिषु अवयवेषु च वैलक्ष्ये भास-
मानेऽपि । अन्यथैको देह इति न स्यात् । अत
उक्तमिवेति । तत्र स्पष्टप्रतीत्यर्थं साकारनिरा-
कारो दृष्टान्तयति । यथा ज्योतिरिति साकारे ।
यथा नभ इति निराकारे । तार्णः पार्णः । घटा-
काशो मठाकाश इति ॥४४॥

व्याख्यार्थः--सब देहों में आत्मा^१ एक ही है, क्योंकि वह 'पर' है अर्थात् नियन्ता है, यदि
वैसे न हो देह से परिच्छिन्न हो, तो देह के आधीन बन जावे, देह में रहते हुए भी आत्मा स्वतन्त्र है,
यह अनुभव किया जाता है, देहान्तर में स्वतन्त्रता का अभाव तो, वहाँ अनुसन्धान के अभाव से
दीखता है, इस प्रकार जब अखण्ड अद्वैत का भान होता है, तब सर्वत्र आत्मबुद्धि होती है अथवा
आत्म शब्द से भगवान् कहा जाता है, जीव उसके आभास ही हैं, 'पर' एक ही है, भगवान् के विद्य-
मान होते हुए इसका निरूपण करना युक्ति युक्त नहीं है, इसलिए, कहते नहीं, यह अर्थ योग्य है, कि
सर्व देहों में जो आत्मा भगवान् है वह एक ही है क्योंकि वह आत्मा यानि व्यापक है, यदि सर्वत्र
एक न होवे, तो आत्मापन नष्ट हो जावे । यदि आत्मा भगवान् को अणु-परिमाण माना जावे, तो
देह में भी व्याप्त होकर न रह सके, प्रकाश को तरह गुणों की व्याप्ति होने पर, चैतन्य लक्षण वाले
गुण का सिकुड़ना और बढ़ना अंगीकार करना चाहिए, उसमें भी नियामक देह ही है, इसलिये धर्मों
ही नियामक है, धर्म का नियामकपन स्वीकार करने से क्या फल होगा ? जैसे यह जगत् ब्रह्माण्ड
पद से एक ही समझा जाता है, यदि एक न समझा जाए, तो उसका एकपने से निर्देश न होवे, वैसे

१—जीव व्यापक है यह स्मार्तवाद है उसको लेकर यहाँ कहा है, उपनिषद्-वाद के अनुसार जीव
अणुवाद है वह यहाँ नहीं कहा है कारण कि स्वामी असुर है वह उपनिषद्-वाद सुनने के योग्य नहीं है,

आत्मा का उपदेश भी समझना चाहिए। जैसे सुवर्ण अथवा मृत्तिका अनेक प्रकार की आकृति में होते हुए भी, एक ही दीखती है, इसी प्रकार आत्मा भी देह आदि की विलक्षणता से, देव, पशु, पक्षी, मनुष्य आदि भाव को ग्रहण करते हैं, यों होते हुए भी कोई आत्मा में दोष नहीं, सर्व देह धारी उपचय (वृद्धि, ह्रास) आदि वाले हैं, अतः वृद्धि वा ह्रास आत्मा में परिच्छेद से बनता है इसलिए आत्मा का व्यापकत्व मानने से एक से ही चरितार्थता हो जाती है जिससे नानापन मानना व्यर्थ है, "नानात्मानोव्यवस्थातः" यह स्मृतिवाक्य धर्म मर्यादा के लिए है, उसके लिए ही नानात्व स्वीकार करना चाहिए, जिससे लोक में गुण और दोष को व्यवस्था हो सके अतः इस तरह यह व्यवस्था का निरूपण करने वाली है। जैसे पंच महाभूत और एक आत्मा सब देहों में समान है, यों होते हुए भी, कोई चाण्डाल है, और कोई ब्राह्मण है, ये विभाग कर्म, धर्म के व्यवहार चलाने के लिए ही बनाए हैं, सामग्री अर्थात् वस्तुओं में अधर्म वा धर्म का प्रवेश हुआ है, इस प्रकार शास्त्र सम्पादन करता है, अतः अशुद्ध वा शुद्ध एवं इससे अपवित्रता पवित्र होगी, वा पाप पुण्य होगा इस विषय में व्यवस्था के लिए शास्त्र वाक्य के प्रमाण सिवाय अन्य कुछ नहीं है, इसलिए यह समस्त कल्पना व्यवस्था के लिए है, वह योग्य ही है उपक्रम आदि तो न्यायामत में भी नहीं है। भगवन्मत में तो भगवान् की तरह उसके भी गमन आगमन होंगे, क्योंकि वहाँ भी इसलिए ईश्वरपद का प्रयोग किया है, जैसे कि "शरीरं यदवाप्नोति यश्चाप्युत्क्रामतीश्वरः" इस वाक्य से ब्रह्मवाद में भी यह ही सिद्धान्त है, इससे सर्वत्र एक ही आत्मा है यह मानना ही उचित है, यदि कहो कि जब सर्वत्र एक ही परमात्मा है तो फिर भेद की प्रतीति क्यों होती है? इसके उत्तर में कहते हैं, कि "नानेवगृह्यते मूढैः" जो निपट बै-समझ हैं वे एक को नाना की तरह देखते वा समझते हैं मूढ़ भी कहीं नानापन का (तरह २) का अनुभव नहीं करते हैं जैसे पुत्र आदि में और अवयवों में दीर्घ ह्रस्वादि विलक्षणता होते हुए भी उनको नाना नहीं समझते हैं यदि समझें तो देह एक नहीं कही जावे, अतः गोपा यों कहा है, वहाँ स्पष्ट प्रतीति कराने के लिए साकार और निराकार के दो दृष्टान्त देते हैं—जैसे चन्द्र साकार है जिसकी जल में अनेक प्रतीति मात्र होती है तथा आकाश निराकार है जिसकी घट तथा मठ में भेद प्रतीति होती है जिससे कहा जाता है यह घटाकाश है यह मठाकाश है, इस प्रकार की भेद प्रतीति माया से मूढ़ बने हुए मनुष्यों को होती है, जानियों को तो सर्वत्र एक ही दीखता है ॥४४॥

आभास—ननु तर्हि देहात्मबुद्धिः कथं गच्छतीत्याशङ्क्य वैलक्षण्यानुसन्धानेनेति आत्मं वैलक्षण्यं देहस्य वदन् अपकारित्वमप्याह देह आद्यन्तवानेष इति ।

आभासार्थ—तब देह में जो आत्म बुद्धि हुई है वह कैसे नष्ट होगी ? जिसका उत्तर "देह आद्यन्तवान्" श्लोक में देते हुए कहते हैं कि देह और आत्मा में विलक्षणता का अनुसन्धान करने से और देह का अपकारीपन भी इसमें बताते हैं ।

श्लोक—देह आद्यन्तवानेष द्रव्यप्राणगुणात्मकः ।

आत्मन्यविद्यया वलूतः संसारयति देहिनम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—द्रव्य, प्राण, और गुण स्वरूप यह देह आदि अन्त वाली है; अविद्या से आत्मा में उसकी कल्पना की गई है, जिससे वह देह, जीव को संसार में पटके हुए है । ४५॥

सुबोधिनी—आत्मा नित्यः । यो हि देशापरिच्छिन्नः, स सुतरां कालपरिच्छिन्नः, देशापरिच्छेदस्य व्यापकत्वात् । अत आत्मत्वादेव कालापरिच्छेदः सिद्धः । देहस्तु आद्यन्तवानुभयावधियुक्तः, प्रागभावप्रध्वसाविव व्यावर्तितौ । एष इति परिहृश्यमानः, मृतानामेन्तः मुण्डस्योत्पत्तिरिति प्रदर्शनस्य सार्थकता । अथवा । विद्यमानस्य देहस्य जन्ममरणयोरदृष्टत्वात् स्वव्यतिरिक्तस्यैव प्रत्यक्षसंवादात् श्रुतेः प्रामाण्यं मन्यते यस्तं प्रत्याह एष इति । एवं सदातनत्वासदातनत्वाभ्यां विलक्षण्यमुक्त्वा गुणातीतत्वसगुणत्वाभ्यां विलक्षण्यमाह द्रव्येति । द्रव्यमधिभूतम्,

प्राणा आध्यात्मिकः, गुणा आधिदैविका इति । एत एव देहेन्द्रियदेवतारूपाः, आत्मा स्वरूपस्य । किञ्च । आत्मन्यविद्यया क्लृप्त इति । विलक्षण्यत्रयम् । आत्मा आधारः । आधेयो देहः, सिद्ध आत्मा, स्वतः क्लृप्तो देहः, (विद्यया) अविद्यया चात्मस्थाने कृतः । आत्मा तु स्वत एव प्रवृत्त इति । अनिष्टेष्टजनकत्वविलक्षण्यमप्याह संसारयति देहिं नमिति । स्वस्मिन्निभिमानमात्रे आत्मानं देहः संसारे पातयति । आत्मा तु देहस्य हितमेव वाञ्छतीति । एवं षोढा विलक्षण्यं निरूपितम् ॥४५॥

व्याख्यान—ब्रह्म नित्य है, जो देश से अपरिच्छिन्न है, वह व्यापक होता है जिससे वह काल से भी अपरिच्छिन्न है, अतः आत्मपन से ही काल से अपरिच्छेद सिद्ध है देह तो आदि और अन्त वाली होने से देश और काल दोनों की अवधियुक्त है अतः देशकाल परिच्छिन्न है, 'प्राग' भाव और 'प्रध्वंसाभाव' की तरह दोनों का निवारण किया "एष" पद का भाव है कि जो सामने दीख रहा है, मर गए हुए देहों का अन्त दीखता है और अवयव रहित देह की गर्भपात होने पर उत्पत्ति दीखती है इसलिए देह सदैव अवयव वाला नहीं है, अतः प्रदर्शन कहने की सार्थकता होती है, अथवा विद्यमान देह के जन्म मरण का अदृष्टपन होने से अपने से पृथक् के ही प्रत्यक्ष संवाद से जो श्रुति का प्रमाण मानते हैं उनको कहता है कि "एष" सामने दीखने वाला सदैव अथवा स्वल्प काल रहने से दोनों में विलक्षणता बताकर अब सगुण और निर्गुण से विलक्षणता कहते हैं द्रव्य अधिभूत, प्राण आध्यात्मिक और गुण आधिदैविक, ये ही देह और इन्द्रियों के देवता रूप हो स्वरूप जिसके हैं, किञ्च आत्मा में अविद्या से कल्पित है, इस प्रकार तीन विलक्षणताएँ हैं, आत्मा आधार है, देह आधेय है, आत्मा सिद्ध है, देह स्वतः कल्पित है जिसकी अविद्या से आत्मा में कल्पना की गई है परमात्मा तो स्वतः ही प्रवृत्त हुए हैं, अनिष्ट और इष्ट करने से भी विलक्षणता बताते हैं, अपने में केवल अभिसन्न

के कारण देह, आत्मा को, संसार में पटकती है और आत्मा तो देह का हित हो चाहती है, इस प्रकार देह और आत्मा में छ प्रकार से विलक्षणता बताई है इस विलक्षणता के अनुसन्धान करने से देह में हुई आत्म बुद्धि नष्ट हो जाती है ॥४५॥

आभास—किञ्च । ‘असङ्गो ह्ययं पुरुष’ इति श्रुत्या आत्मनः सङ्गाभावो निरूप्यते । देहस्तु सर्वसङ्गयुक्त इति बलक्षण्यं निरूपयितुं आत्मन एव धर्मानाह नात्मन इति ।

व्याख्यार्थ—“असंगो ह्ययं पुरुषः” इस श्रुति के अनुसार आत्मा असंग है यह निरूपण हुआ है, देह तो सर्व संग से युक्त है इस विलक्षणता को कहने के लिए आत्मा के ही धर्म “नात्मनः” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—नात्मनोऽन्येन संयोगो वियोगो वासता सति ।

तदेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेर्दृग्गूपाभ्यां यथा रवेः ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे सती ! कारण रूप आत्मा के, न तो दूसरे देह आदि के साथ संयोग है और न वियोग है, क्योंकि अद्यात्म अधिभूत और अधिदैवत ये आत्मा के कार्य हैं और आत्मा ही से प्रकाशित होते हैं, जिससे आत्मा से भिन्न नहीं हैं, जुड़े होने के सिवाय संयोग वियोग हो नहीं सकते हैं, जैसे चक्षु इन्द्रिय और रूप का प्रकाशक सूर्य है ये दोनों तेजस् हैं जिससे ये सूर्य के कार्य हैं और सूर्य कारण है इससे सूर्य से भिन्न नहीं हैं ॥४६॥

सुबोधिनी—अस्यात्मनः अन्येन देहेन संयोगो वा वियोगो वा नास्ति । वियोगो हि संयोगपूर्वक इति संयोगे निषिद्धे अवयवभेदेन संयोगाभावः । संयोगोऽपि तिष्ठत इति सिद्धसाधनतामाशङ्क्य उभयं निषेधति, संयोगोऽपि नास्ति । कदाचित्संयोगोऽपि निषिद्धो वियोगेन । ननु संयोगवियोगयोः भावाभावरूपत्वे कथमुभयाभावः, प्राप्तस्यैव नानिषेध इति न नियमः,

सम्भावितस्यापि निषेधात्, तस्माह असतेति । असता देहेन आत्मनो न संयोगवियोगी, यथा रज्जुसर्पयोः । न हि सर्पस्य कोऽप्यंशो रज्जो भवति । ननु प्रत्यक्षश्रुतिभ्यां देहस्य परिदृष्टत्वात् अनुमानप्रत्यक्षश्रुतिभिः आत्मनोऽपि प्रतीतेः बलक्षण्यस्य चोक्तत्वात् वियोग एवास्तु, कथमुभयाभाव इति चेत् । ननूक्तमसत्वादिति तदेव प्रमाणसिद्धत्वान्न भविष्यतीत्याशङ्का, तत्र हेतु-

माह तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेरिति । तस्य देहस्य प्रसिद्धेः उत्पत्तेर्ज्ञेयत्वात् । आत्महेतुत्वादात्मभासैव देहो भासत इति पृथक् स्थित्यभावात् संयोग-वियोगौ न भवतः । पृथक्लब्धसत्ताकावेव संयुक्तौ वियुक्तौ वा भवत इति लोकस्थितिः । अत एवोत्पत्तौ यद्यदधीनम्, तन्न न संयोगः सम्बन्धः । यथा द्रव्यगुणयोः, यथा वा ज्ञप्ती ज्ञानविषययोः, तथापि उभयोः सत्त्वात्समवायः स्तरूपं वा सम्बन्धोऽङ्गीकृतः । अत्र देहस्यासत्त्वात् अन्यतरस्य निःस्वभावत्वात् रज्जुसर्पवत् न स्वरूपसम्बन्धः । समवायोऽपि निराकरिष्यते । सर्वथापि संयोग-

वियोगौ तु न भवतः । प्रकाश्यप्रकाशकयोः सम्बन्धाभावाय दृष्टान्तमाह दृग्रूपाभ्यामिति । नेत्राघिष्ठात्त्रो देवता यः सूर्यः तेन लब्धसत्ताकं चक्षुः विषयं गृह्णाति । न हि तेनापि तयोः संयोगवियोगौ भवतः । एतस्यार्थस्य परिज्ञान-मधिकारिण एव भवतीति । न हि प्रतिबिम्बेन सह दर्पणेन वा मुखस्य कोऽपि सम्बन्धोऽस्ति । सतीति सम्बोधनं उक्तविश्वासाय । अनेन देहादिष्वनासक्त्यर्थं वैराग्यमपि सूचितम् । स्वासक्त्यै तत्सिद्धिः, अन्यथा तदभाव इति ॥४६॥

व्याख्यार्थ—इस आत्मा का देह से संयोग वा वियोग नहीं है, पहले संयोग हो तो अनन्तर वियोग होवे इसलिए संयोग का निषेध किया, क्योंकि अवयव भेद से संयोग का अभाव है, संयोग भी स्थित होनेवाले का होता है, इसलिए सिद्ध की साधनता से शंका कर दोनों का निषेध करते हैं, संयोग भी नहीं है और वियोग भी नहीं है कदाचित् संयोग भी वियोग से निषिद्ध किया है, जब संयोग भावरूप है और वियोग अभावरूप है तब दोनों का अभाव कैसे बन सकेगा ? प्राप्त का अनिषेध नहीं, वैसा नियम नहीं है, हो सकने वाली बात के भी निषेध से भी इस पर कहते हैं कि, देह असत् है इसलिए वैसी देह से सत् आत्मा का संयोग वियोग नहीं हो सकता है, जैसे रज्जु और सर्प का संयोग वियोग नहीं हो सकता है सर्प का कोई भी अंश रज्जु में नहीं होता है, यदि कहो कि प्रत्यक्ष और श्रुति से देह को देखने से तथा अनुमान प्रत्यक्ष तथा श्रुति में आत्मा की भी प्रतीति होने से, एवं दोनों में विलक्षणता भी कहो है जिससे जब वियोग ही है, तब दोनों का अभाव कैसे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि पहले ही कह दिया है, कि देह आदि असत् होने से और वह असत् प्रमाण सिद्ध है, जिससे ऐसी शंका बन नहीं सकती है, उसमें हेतु कहते हैं कि “तद्धेतुत्वात्तत्प्रसिद्धेः” उस देह को उत्पत्ति और ज्ञान प्रसिद्ध हो रहा है, यों होने में आत्मा ही कारण है, आत्मा के प्रकाश से ही देह भास रहा है, इससे उसकी पृथक् स्थिति नहीं है, जिससे संयोग वियोग नहीं बनते हैं, जिनको सत्ता पृथक् हो, उन में ही संयोग और वियोग बन सकते हैं, इस प्रकार लोक की स्थिति है, इस कारण से ही जो जो उत्पत्ति के आधीन है वहाँ संयोग सम्बन्ध नहीं होता है, जैसे द्रव्य और गुण में और ज्ञान होने में,

१—वह अभ्युदसिद्धान्त मायावाद है, जिसका उपदेश बलरामजी ने असुर स्वामी के कारण किया है, पुराणों में इस प्रकार मायिक सिद्धान्त कहा है वह वैराग्य को उत्पन्न करने के लिए कहा है ।

ज्ञान तथा विषय का संयोग नहीं हो सकता है, तो भी दोनों के होने से समवाय और स्वरूप सम्बन्ध माना गया है, यहां देह के असत् होने से, दूसरे के स्वभाव-रहित होने से रज्जु और सर्प की भांति स्वरूप सम्बन्ध नहीं है समवाय का भी निराकरण होगा, सर्व प्रकार संयोग और वियोग तो नहीं होते हैं, प्रकाश्य और प्रकाशक के सम्बन्ध का अभाव ही है इसमें दृष्टान्त देते हैं "दृग्पाभ्यां" नेत्र का अधिष्ठाता देव सूर्य है, उससे नेत्र सत्ता प्राप्त कर विषय को ग्रहण करते हैं, सूर्य से उन नेत्रों का संयोग वियोग नहीं होता है, इस सदर्थ का पूर्णज्ञान अधिकारी को ही होता है मुख का दर्पण वा प्रतिबिम्ब से कोई सम्बन्ध नहीं होता है, रुक्मिणीजी को हे सति यह विशेषण इसलिए दिया है कि तू मेरे कहने पर विश्वास करेगी, क्योंकि तू पतिव्रता है, इस प्रकार के उपदेश से आदि में आसक्ति न होवे और वैराग्य भी होवे, ऐसी सूचना दी है अपनी आत्मा में आसक्ति से ही देहादि में अनासक्ति तथा संसार से वैराग्य की सिद्धि होती है, जो वह नहीं है, तो देहादि में अनासक्ति और वैराग्य का भी अभाव है ॥४६॥

आभास—ननु जननादयो हि प्रत्यक्षानुमानश्रुतिभिर्जीवस्य प्रतीयन्ते ततश्च सङ्घातस्यैव तथातवात् देहस्यासत्त्वत्वे आत्मन एव भविष्यन्तीति संयोगे निराक्रियमाणे असत्त्वहेतुना विपरीतमापतितम् सर्वे दोषा आत्मन्येव समागता इति चेत्, तत्राह जन्मादयस्त्विति ।

आभासार्थ—प्रत्यक्ष अनुमान और श्रुति से जन्म आदि जोव के ही प्रतीत होते हैं, उससे संघात की भी वैसे प्रतीति होती है, यदि देह को असत् कहोगे तो आत्मा को ही कहोगे, इसलिए संयोग के निराकरण से, असत्त्व, हेतु से विपरीत ही होगा, अर्थात् सर्व दोष आत्मा में ही आ गए यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर "जन्मादयः" श्लोक देखिए ।

श्लोक—जन्मादयस्तु देहस्य विक्रिया नात्मनः क्वचित् ।

कलानामिव नैवेन्दोमृतिह्यस्य कुहुरिव ॥४७॥

श्लोकार्थ—जन्म आदि विकार देह के हैं, आत्मा के कभी नहीं, जैसे चन्द्रमा में जो वृद्धि क्षय दोखता है वह कलाओं का है चन्द्रमा का नहीं है, अमावस्या में जो तिरोभाव होता है, वह कला का है किन्तु अज्ञ चन्द्रमा का समझते हैं वैसे ही देह के तिरोभाव से आत्मा का नाश जानते हैं ॥४७॥

मुनीन्द्रो - तुण्वदः पक्षं व्यावर्तयति । जन-
नादयः देहस्यैव । येन प्रकारेण देहस्य सिद्धिः,
तेनैव प्रकारेण जन्मादीनाम् । तेषां च देहसम्ब-
न्धित्वस्य च तत् एव सिद्धेः । अत उभयोरस-
त्त्वात् जन्मादयोऽपि देहस्यैव । योग्यं योग्येन
संबध्यत इति । सर्पश्चलतीति समाश्रयति भक्षय-
तीति च यथा सर्पधर्मा एव, एवं जन्मादयोऽपि
देहधर्माः, यतो विक्रिया । नह्यात्मनः सर्वविक्रि-
यारहितस्य विक्रियाः सन्ति । क्वचिदिति । ज्ञाना-
न्तरं न सन्तीति इष्टमेवेति पक्षं व्यावर्तयति ।
न हि नायं सर्प इति बोधानन्तरमेव सर्पाभावः ।
किन्तु प्रतीतदशायामपि । तत्र ज्योतिः शास्त्र-
सिद्धं दृष्टान्तमाह कलानामिवेति । इन्द्रोः कलानां

पञ्चदशसङ्ख्याकानां एकेन दिनेन एकस्या
नाशः नतु चन्द्रस्य । स हि अम्मयः, सूर्य-
किरणास्तत्र प्रतिबिम्बन्ते, अपगच्छन्ति चेति
कालविदः । ननु सर्वोऽपि चन्द्रः अमावास्यायां
क्षीयत इति नवो नवो भवति जायमान इति च
कथं कलानां क्षय इति चेत्, तत्राह । अस्य
जीवस्य चन्द्रस्य च कुहूरेव मृतिः । नतु कुहूरां
तस्यादर्शनकृतमपि मरणम्, तथास्य काल एव
मृतिः । सच कालः कदाचित्तां प्रकाशयति देह-
सम्बन्धेनोच्चाववेनापि, कदाचिन्नेति तस्योक्तान्त्या-
दयो निरूप्यन्ते । नतु वस्तुतस्तस्य मरणम् । मरणे-
उभयोर्वियोगाद्देहस्य च पृथक् स्थितत्वात् पृथ-
ङ् निराकरणप्रयासः ॥४७॥

व्याख्यार्थ - “तु” शब्द दूसरा पक्ष बतलाता है, जन्म मरण आदि देह के ही हैं,
जिस प्रकार देह की सिद्धि होती है वैसे ही जन्म आदि की भी होती है उनका देह से सम्बन्धित
होने से ही सिद्धि है अतः दोनों के असत् होने से जन्म आदि भी देह के ही हैं, योग्य को योग्य से ही
सम्बन्धित किया जाता है, सर्प चलता है अर्थात् जाता है ओर काटता है ये सब जैसे सर्प के ही
धर्म हैं, वैसे जन्म आदि भी देह के ही धर्म हैं, क्योंकि विकार वाले हैं, वैसे विकार वाले धर्म,
विकार रहित आत्मा के धर्म कभी नहीं होते हैं “क्वचित्” पद का भाव प्रकट करते हुए कहते हैं,
कि ज्ञान के बाद ये नहीं हैं, यों इष्ट ही है इस पक्ष को बदलता है यह सर्प नहीं है इस प्रकार ज्ञान होने
के बाद ही सर्प का अभाव होगा, किन्तु प्रतीत दशा में भी, इसमें ज्योतिष शास्त्र सिद्ध दृष्टान्त कहते
हैं, “कलानामिव” चन्द्रमा की पन्द्रह कला हैं प्रति दिन एक कला का तिरोधान होता है, न कि चन्द्रमा
का, वह तो जलमय है, सूर्य की किरणों का उसमें प्रतिबिम्ब पड़ता है वे किरणें कम होती हैं यों
काल को जानने वाले कहते हैं । आप यों कैसे कहते हो कि चन्द्रमा नाश नहीं होता है अमावस्या
को सारा चन्द्रमा नाश हो जाता है, फिर वह नवीन होकर उत्पन्न होता है, इस प्रकार होता है
फिर आप कैसे कहते हो कि कलाओं का क्षय होता है ? ऐसा कहो, तो उसका उत्तर देते हैं, इस
जीव की ओर चन्द्रमा का अम वस्या ही मृत्यु है, अमावस्या में उसका दर्शन न होना कोई मृत्यु
नहीं है, उसकी ही मृत्यु है, वह काल कभी उसको प्रकाशित करता है और कभी बड़ा और कभी
छोटा कई भेद करता है, तथा कभी नहीं, इस प्रकार उसकी उत्क्रान्ति आदि का निरूपण किया
जाता है, न कि वास्तविक उसका मरण है, मरण में दोनों का वियोग होता है और देह तो पृथक्
स्थित होने से पृथक् के निराकरण के लिए यह प्रयास है ॥४७॥

आभास—ननु मिथ्याभूतेन सह कदाचित्सम्बन्धो भवति । यथा रज्जुसर्पेण, देहेन तु सम्बन्धः आभूतसंप्लवमिति दृष्टान्तगोषम्यात् देहस्य सत्यत्वं आत्मनो वा सम्बन्धित्वं भवत्विति चेत्, तत्राह यथा शयान इति ।

आभासार्थ—मिथ्या पदार्थ से सम्बन्ध तो किसी समय होता है, जैसे रज्जु का सर्प से, आत्मा का तो देह से पूर्व से ही सम्बन्ध चला आ रहा है इसलिए विषम दृष्टान्त होने से देह सत्य होना चाहिए और उससे आत्मा का सम्बन्ध भी मानना चाहिए, यदि यों कहते हो तो इस का उत्तर “यथा शयान” श्लोक है ।

श्लोक—यथा शयान आत्मानं विषयान् फलमेव च ।

अनुभुक्तेऽप्यसत्यर्थे तथाप्नोत्यबुधो भवम् ॥४८॥

श्लोकार्थ—जैसे सोया हुआ पुरुष, पदार्थ आदि नहीं होते हुए भी भोक्ता बनता है और विषयों का फल सुख भी लेता है, वैसे ही अज्ञान दशा में यह अज्ञ संसार को प्राप्त करता है ॥४८॥

सुबोधिनी—न हि कदाचिदेव भवति यत्त-
देव मिथ्या भवतीति नियमोऽस्ति कश्चित्,
अपि तु सर्वदैव दृश्यमानमप्यसद्भवति । यथा
यदैव शेते, तदैव असत्यप्यर्थे आत्मानं देहं
विषयान् स्रक्चन्दनादीन् फलं सुखं चानुभवति ।

न चैतावता तेषां सत्यता भवति । ‘मायामात्र’
मिति सूत्रे तथा निर्णयात् । तथैव अबुधः
शयान इव भवं संसारं प्राप्नोति, निद्रावद-
ज्ञानमित्यर्थः ॥४८॥

व्याख्यार्थ—जो किसी समय हो, वह मिथ्या है ऐसा कोई नियम नहीं है, किन्तु सर्वदा ही देखने में आने वाला भी असत् होता है, जैसे जब ही शयन करता है तब ही पदार्थ न होते हुए भी, माला चन्दन आदि विषयों के सुख और फल का अनुभव करता है यों होने से वे सत्य नहीं हो जाते हैं “मायामात्रम्” इस सूत्र में निर्णय किया है कि वह केवल माया है वैसे ही अज्ञानी सोए हुए की तरह संसार को प्राप्त होता है निद्रा की तरह अज्ञान है, इस प्रकार अर्थ है ॥४८॥

आभास—अतो अज्ञानेनैव देहप्रतोतेः नेहस्य च मिथ्यात्वात् देहसम्बन्ध एव आत्मनः
परिच्छेदप्रतीतिः, परिच्छेदे एव च शत्रुमित्रादिप्रतीतिरिति, परम्पराया अज्ञानमेव मूल-
मिति तत्त्वज्ञानेन तन्निराकरणं कर्तव्यमित्याह तस्मादिति :—

आभासार्थ - अतः अज्ञान से ही देह की प्रतीति हो रही है, देह का सम्बन्ध ही आत्मा के परिच्छेद की प्रतीति कराता है, परिच्छेद के कारण ही शत्रु तथा मित्र आदि की प्रतीति हो रही है, यों होने की जड़, परम्परा का अज्ञान है, इसलिए इस अज्ञान का तत्त्वज्ञान से निराकरण करना चाहिए जिसको “तस्मादिति” श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—तस्मादज्ञानजं शोकमात्मशोषविमोहनम् ।

तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भव शुचिस्मिते ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे पवित्र मन्द हासवाली ! इस कारण से अज्ञान से उत्पन्न आत्मा को शोष और मोह देने वाले शोक को तत्त्व ज्ञान से त्याग कर शान्त हो ॥४६॥

सुबोधिनी शोकस्तु विषमबुद्धिजन्य इति अज्ञानकृत एव । शोकस्य परित्यागाय दोषद्वयमाह । आत्मनोऽन्तःकरणस्य शोषो विमोहनं च यस्मादिति । ततः अत्यपकारित्वात्तदज्ञानं	तत्त्वज्ञानेन निर्हृत्य स्वस्था भवेत्युपदेशः, प्रार्थना वा । शुचिस्मित इति । सहज एव तव प्रसाद इति कृत्रिमनिराकरणं नात्यन्तं क्लेशेन कर्तव्यमिति सूचितम् ॥४६॥
---	---

व्याख्यार्थ—विषम बुद्धि से शोक उत्पन्न होता है, इसलिए वह अज्ञानकृत ही है, शोक को क्यों छोड़ा जाय ? उसका उत्तर है, कि शोक से दो प्रकार की हानि होती है एक-अन्तःकरण का सूखना वा क्षय तथा भ्रम में पड़ना बहुत अपकारी होने से, इस अज्ञान को तत्त्वज्ञान से मिटाकर शान्त हो, इस प्रकार उपदेश वा प्रार्थना की गई है, “शुचिस्मिते” आप पवित्र सुन्दर हासवाली होने से, आपका सहज ही अनुग्रह है, इस प्रकार इस कृत्रिम अज्ञान का निराकरण अत्यन्त क्लेश से नहीं करना चाहिए, यों भी सूचित किया ॥४६॥

आभास—एवमुपदिष्टज्ञानं भगवत्सान्निध्यात्फलितमित्याह एवं भगवतेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उपदेश किया हुआ ज्ञान, भगवत्सन्निधि होने से सफल हुआ, जिसका वर्णन “एवं भगवता” श्लोक से श्री शुकदेव जी कहते हैं।

श्रीशुक उवाच

श्लोक—एवं भगवता तन्वी रामेण प्रतिबोधिता ।

वैमनस्यं परित्यज्य मनो बुद्ध्या समादधे ॥५०॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि भगवान् राम ने जब रुक्मिणी को इस प्रकार समझाया तब रुक्मिणी ने मन-मुटाव त्यागकर विक्षोषवाले मन को ज्ञान से स्थिर कर लिया

सुबोधिनी—ननु भगवत्सिद्धान्तं परित्यज्य ज्ञानसिद्धान्तः किमिति बोधितः, तत्राह तन्वीति । भगवानिति च । न हि भगवान् विरुद्धे स्वसिद्धान्तं कथयति । मुक्तानामेव तत्ताधिकारात् । इयं च तन्वी विषयपरा । रामश्च साधनपरः । अतो हेतुत्रयस्यापि तथात्वात् ज्ञानेनैव प्रतिबो- धिता । ज्ञानस्य च प्रयोजन तस्यां वैमनस्य- परित्यागमात् जातम्, भगवति या दोषबुद्धि- स्थिता, सा गता । ततः विक्षिप्तं मनः बुद्ध्या समाहितमपि कृतवती । एको भगवद्विषयको दोषः । अपरो विक्षेपेण तस्या एव दुःखदः । उभयनिवृत्तिर्ज्ञानफलम् ॥१०॥

व्याख्यानार्थ—भगवदीय सिद्धान्त को छोड़, ज्ञान सिद्धान्त का ज्ञान राम ने क्यों दिया ? जिसके उत्तर में कहा है, कि यह तन्वी है अर्थात् विषय परायण है और राम साधन परायण हैं । जो भगवान् के परायण न हो कर, विषय परायण होता है, उसको भगवान् अपना सिद्धान्त नहीं कहते हैं, क्योंकि उस सिद्धान्त के अधिकारी मुक्त ही हैं, अतः इन तीन कारणों से, इसको ज्ञान से ही समझाया है, ज्ञान का प्रयोजन व फल उसका मन मुटाव मिट जाना हुआ, और भगवान् में जो दोष बुद्धि थी वह भी नष्ट हुई, पश्चात् विक्षेप वाले मन को, ज्ञान से शुद्ध किया अर्थात् विक्षेप आदि नष्ट हो गए उसको भगवान् में जो दोष बुद्धि थी वह और दूसरा विक्षेप, ये दो ही दुःख देने वाले थे, उन दोनों की निवृत्ति ज्ञान का फल है ॥१०॥

आभास—एनंरुक्मिण्याः समाधानमुक्त्वा रुक्मिणः परित्याग एव उभयेषां सुखदो भवतीति तत्परित्यागमाह प्राणावशेष इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार रुक्मिणी का समाधान कह कर अब रुक्मी का त्याग ही दोनों के लिए सुखकारी है, इसलिए “प्राणावशेष” श्लोक से उसके परित्याग को कहते हैं ।

श्लोक—प्राणावशेष उत्सृष्टो द्विड्भिर्हतवलप्रभः ।

स्मरन्विरूपकरणं वितथात्ममनोरथः ॥११॥

श्लोकार्थ—जिसकी सेना और प्रभाव को शत्रुओं ने नाश कर दिया है वैसे रुक्मी वहाँ से प्राण बचाकर आया है उसको तो वह भूल गया है किन्तु आपने जो विरूप किया है वह उसको याद कर रहा है, और अपनी प्रतिज्ञा को विफल समझ रहा है ॥११॥

सुबोधिनी—बलभद्रेण मोचनेऽप्यसहायात् हतं बलं प्रभा च यस्य । द्विड्भिरेव । तस्या- अन्येन मारणं संभवतीति द्विड्भिरुत्सृष्ट उक्तः । न्यद्विस्मृतम्, विरूपकरणं तु स्मरति । जातेऽपि

विरूपे यदि स्वाभिलषितः कश्चित्सिध्येत् तदा कृतवान् । भगवता हि तस्य भगिनी परिगृही-
न तथा खिन्नो भवेत् । किन्तु वितथः आत्मनो तेति ॥५१॥
मनोरथो यस्य । तथापि स्वप्रतिज्ञां नान्यथा

व्याख्यार्थ—बलरामजी इसको छोड़ देने को तो कहते हैं, किन्तु अकेला होगा कोई इसका सहायक न होगा, तो दूसरे इसको मार डालेंगे ? इस शंका का निवारण करते हैं, कि शत्रुओं ने इसकी सेना और प्रभाव को नष्ट करने के बाद इसको छोड़ दिया है, जिससे इसको अन्य मारेंगे यह भय नहीं रहा है, इसने और सब भुला दिया है किन्तु विरूप होना तो अब तक स्मरण कर रहा है, जिससे खेद युक्त है, यदि विरूप होने पर कार्य सिद्ध हो जाता तो खिन्न न होता किन्तु अब तो जिस कार्य के लिए आया था वह भी जिसका सिद्ध न हुआ अतः अपनी प्रतिज्ञा को त्यागा नहीं है भगवान् ने इसकी बहिन का हरण किया है जिसको वह भगवान् से छुड़ा नहीं सकता है अतः स्वदेश कुण्डिन-पुर को लौटना इसके लिए अशक्य हो रहा है ॥५१॥

आभास—अत एव कुण्डिनपुरं परित्यज्य अन्यत्रैव स्थित इत्याह अहत्वेति ।

आभासार्थ—इस कारण से ही कुण्डिनपुर न जाकर दूसरे स्थान पर स्थित हुआ, जिसका वर्णन “अहत्वा” श्लोक में किया हुआ है ।

श्लोक—अहत्वा दुर्मतिः कृष्णमप्रत्यूह्य यवीयसीम् ।

चक्रे भोजकटं नाम निवासाय महत्पुरम् ।

कुण्डिनं न प्रवेक्षामीत्युक्त्वा तत्रावसद्द्रुषा ॥५२॥

श्लोकार्थ—उसकी प्रतिज्ञा थी कृष्ण को मारे बिना और छोटी बहिन को लाए बिना कुण्डिनपुर में प्रवेश न करूँगा, यह पूर्ण न होने पर भोजकट महान् नगर बनवाकर क्रोध से पूर्ण रुक्म वहां रहने लगा ॥५२॥

सुबोधिनी—यतोऽयं दुर्मतिः, अतस्तत्रैवाव- सत्, यत्र मुण्डितः । भोजो हि मृतकर्पटग्राहकाः । जात्यपकर्षे भोजाद्यवन इति यवनात्पूर्वं निरु- पितः । तस्य कट इति मरणपर्यन्तं तत्रैव स्था- स्यामीति तस्य ग्रामस्य नाम भोजकटमिति कृतवान् । यद्यपि न कोऽपि पुरुषार्थः न ह्यसत्प्र- तिज्ञाया अपालने कश्चन दोषोऽस्ति, तथापि भ्रातृत्वाद्रोषेण तत्रैव स्थितः ॥५२॥

व्याख्यानार्थ—वह वहाँ ही रहने लगा, जहाँ मुण्डन हुआ और भोजकट नगर बसाया था क्योंकि दुर्मति है, भोज जाती वह है, जो मृतकों के कपड़े लेते हैं जाति का अकर्ष दिखाने के लिए यवन से पहले कहा है, कि भोज से यवन हुए हैं, मरण पर्यन्त यहाँ रहूँगा, इसलिए इस नगर का नाम भोज कट धरा है हालांकि, यों करने से कोई पुरुषार्थ नहीं है, तथा झूठी प्रतिज्ञा का पालन नहीं करने में कोई दोष नहीं है, तो भी भाईपने से क्रोध आने से वहाँ हो रह गया ॥५२॥

आभास—ततो भगवतः कृत्यमाह भगवानिति ।

आभासार्थ—इसके बाद भगवान् ने जो किया वह “भगवान् भीष्मक” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—भगवान्भीष्मकसुतामेवं निजित्य भूमिपान ।

पुरमानीय विधिवदुपयेमे कुरुद्वह ॥५३॥

श्लोकार्थ—हे कुरुद्वह ! भगवान् ने इस प्रकार राजाओं का जात कर भीष्मक की कन्या को अपने पुर में लाकर विधि पूर्वक उससे विवाह किया ॥५३॥

सुबोधिनी—यदा सर्वथा निर्दुष्टा सर्वैस्त्यक्तममत्वा, तदापि भगवान् वीर्यशुल्केन विवाहं कर्तुं, एवं प्रकारेण भूमिपान् निजित्य, गान्धर्वन्यायेन तामगृहीत्वा, उपनयनवत् विवाहस्यापि संस्कारत्वात् सर्वसम्मत्यर्थं स्वपुरीमानीय उपयेमे,

विधानपूर्वकं विवाहं कृतवान् । क्षत्रियाः प्रायेणैवं न कुर्वन्तीति भगवानपि न कृतवानेव । किन्तु सदबुद्धयर्थं वदतीति शङ्का स्यात्, तत्परिहरति संबोधनेन कुरुद्वहेति ॥५३॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् ने देखा कि यह सब प्रकार से निर्दोष है और मुझे ही वरण करना चाहती है, राजा लोग यों करना नहीं चाहते हैं, तब अपना वीर्य (पराक्रम) रूप शुल्क देकर विवाह करना योग्य समझ, आए हुए भूतियों को जीत लिया और रुक्मिणी को ग्रहण किया किन्तु, गन्धर्व नीति से उसको ग्रहण न कर जैसे बालक का द्विजत्व सिद्ध के लिए यज्ञोपवीत संस्कार है, वैसे ही कन्या के लिए विवाह संस्कार है, अतः सर्व सम्मति से अपनी पुरी में लाकर विधि पूर्वक विवाह किया, क्षत्रिय तो बहुत करके यों नहीं करते हैं, भगवान् ने भी नहीं किया है, केवल सदबुद्धि के लिए कहा है, इस प्रकार की शंका मिटाने के लिए राजा को “कुरुद्वह” विशेषण दिया है जिसका आशय है कि आप कुरु कुल में उत्पन्न हुए हो अतः विश्वास करो कि भगवान् ने विधिवत् विवाह किया है ॥५३॥

आभास—सर्वेषां सम्मत्या विवाहः कृत इत्यत्र निदर्शनार्थं महोत्सवमाह तदा महोत्सव इति ।

आभासार्थ—सर्व सम्मति से जो विवाह किया उसके प्रदर्शन के लिए “तदा महोत्सवो” श्लोक में यहाँ वह वर्णन करते हैं ।

श्लोक—तदा महोत्सवो नृणां यदुपुर्या गृहे गृहे ।

अभूदनन्यभावाणां कृष्णे यदुपतौ नृप ॥५४॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! यादवों के पति कृष्ण में, अनन्य भाव वाले, मनुष्यों के हरेक घर में उस समय यदुपुरी में महान् उत्सव हुआ ॥५४॥

सुबोधिनी—नृणामिति न केवलं बन्धूनाम्, अपि तु सर्वेषामेवेत्याह । यदुपुर्या द्वारकायाम्, तत्र न कोऽपि विसम्मत इत्यर्थः । यादवानामपि वंमनस्यं परस्परं संभवतीति तदर्थमाह अनन्य-भावानामिति । ननु यादवा उद्धताः, कथमन-

न्यभावा जाता इत्याशङ्क्याह कृष्णे यदुपता-विति । यदा यादवानां भगवान्पतिर्जातः, तदा ते तथा जाता इत्यर्थः । नृपेति सम्बोधनं विश्वा-सार्थम् । यथा भवान् जात इति ॥५४॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में “नृणां” पद का भाव यह है, कि केवल बान्धवों के घरों में उत्सव नहीं हुआ, किन्तु समस्त जनता के घरों में महान् उत्सव हुआ, इसलिए उसको पुष्ट करने के लिए “यदुपुर्या” पद दिया है अर्थात् सारी यदुपुरी में महान् उत्सव हुआ, तात्पर्य है कि सारी नगरी में कोई भी उत्सव के विपरीत नहीं था, यह कैसे सम्भव है, जब कि यादवों का परस्पर वंमनस्य होना सम्भव है, इसके उत्तर में कहते हैं, कि परस्पर वंमनस्य भले हो, किन्तु उन सबका कृष्ण में अनन्य भाव था क्योंकि श्रीकृष्ण यादवों के पति हैं, हालांकि, यादव स्वभाव से उद्धत होते हैं, तो भी अपने पति होने से श्रीकृष्ण में अनन्य भाव वाले हैं जब भगवान् यादवों के पति हुए तब वे वैसे अर्थात् अनन्यभाव वाले बने, नृपः यह सम्बोधन विश्वास के लिए दिया है, जैसे आप हुए हैं ॥५४॥

आभास—भगवता पारिवर्हमयस्मन्विवाहे न प्राप्तमिति, तदभावे विवाहशोभा च न तथेति तदर्थमाह नरा नार्यः प्रमुदिता इति ।

आभासार्थ - प्रत्येक विवाह में वर को दहेज मिलता है यहाँ तो भगवान् को दहेज न मिलने से विवाह में शोभा न हुई होगी ? इसके उत्तर में यह श्लोक “नरा नार्यः” कहते हैं जिसने विवाह की शोभा विशेष हुई ।

श्लोक—नरा नार्यः प्रमुदिताः प्रमृष्टमणिकुण्डलाः ।

पारिवर्हमुपाजह्वरयोश्चित्तवाससोः ॥५५॥

श्लोकार्थ—नगरी के नर तथा नारियों ने प्रसन्न होकर और उज्ज्वल मणियों के कुण्डलों को धारण कर, सुन्दर वस्त्रादि से अलंकृत कर वधु के लिए अनेक उपहार दिए ॥५५॥

सुबोधिनी—स्वयमलङ्कृताः पूर्णाः वरयोक्ति- | चेत्, तत्राह वरयोरिति । वरयोस्तथा कतंव्य-
ववाससोः अलङ्कृतयोरपि पारिवर्हमुपाजह्वः । | मेवेति । यथैव दाक्षिणात्यावारः ॥५५॥
ननु नियमाभावत् किमिति तथा कृतवन्त इति

व्याख्यार्थ—नगरी के नर तथा नारियाँ पूर्ण रीति से अलंकृत होकर, इसी प्रकार सुन्दर वस्त्र आदि से समलंकृत जो वर वधु, उनको भेट दो, नगर वासियों के भेट देने का कोई नियम नहीं है, तो नियम विरुद्ध इन्होंने वैसा क्यों किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं, कि “वरयो.” वधु वर को उपहार देना ही चाहिए, इसलिए दिया, जैसे ही दाक्षिणा का शिष्टाचार है ॥५५॥

आभास—विवाह एव प्रथममुपस्थित इति, अकस्माच्च भगवानागत इति विशेष-
तस्तदर्थमलङ्कारणाभावेऽपि स्वभावत एवालङ्कृतेत्याह सा वृष्णिपुरोति ।

आभासार्थ—पहले ही विवाह की तैयारी हो रही थी अचानक भगवान् भी पधार गए इसलिए विशेष प्रकार से उनके वास्ते नगरी को अलंकृत न करने पर भी वह स्वभाव से ही अलंकृत थी जिसका वर्णन “सा वृष्णि” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—सा वृष्णिपुयुत्तभितेन्द्रकेतुभिर्विचित्रमाल्याम्बररत्नतोरणैः ।

वसो प्रतिद्वायुपक्लृप्तमङ्गलैरापूर्णकुम्भागुरुधूपदीपकैः ॥५६॥

श्लोकार्थ—उस समय वह द्वारका ऊँचे इन्द्रध्वज, विचित्र मालाएं, वस्त्र, रत्न और तोरणों से शोभित थी और प्रत्येक द्वार पर मांगलिक साजों से सजी हुई थी,

जैसे कि जल से भरे हुए घड़े, अगर, धूप व दीपकों की जगमग से सुशोभित हो रही थी ॥५६॥

सुबोधिनी—मा द्वारका उत्तमिनैः ऊर्ध्व
न्यापितंरिन्द्रादप्युच्चैः स्वर्गपयन्त गतैः केतुभिः
ध्वजचिह्नैरन्यैश्च वर्मा । अथवा । इन्द्रकेतुः
पारिजातः, सुधर्मादिश्च, अन्ये च कल्पवृक्षाः ।
विचित्राणि माल्यानि अम्बराणि रत्नमयानि | तोरणानि च स्वभावत एव । विशेषतोऽपि प्रति-
द्वारि उपकल्पानि मङ्गलानि । आपूर्णाः कुम्भाः
अगुरुधूपाः दीपाश्च । एवमुपरि मध्ये अथश्च
निवासस्थानानां शोभा निरूपिता ॥५६॥

व्याख्यान्य—वह द्वारका स्वर्ग पयन्त गई हुई उच्च ध्वजाओं से सुशोभित हो रही थी, अथवा
इन्द्र केतु अर्थात् पारिजात और सुधर्म आदि वृक्ष एवं अन्य कल्प वृक्ष उनसे सुशोभित थे विचित्र
पक्ष, वस्तु, और रत्नमय तोरणों से स्वभाव से हो, जो भी पा. रही, जो और, यद् विशेषता, भी, हो रही, ...
थो कि प्रत्येक द्वार पर मंगल साज सजाए गए थे जैसे कि जल से भरे हुए घड़े, अगर के धूप तथा
दीप जल रहे थे, इस प्रकार ऊपर, मध्य और नीचे के निवास स्थानों को शोभा का निरूपण किया
॥५६॥

आभास—मार्गिणामाह सित्तमार्गं इति ।

आभासार्थ—अब “सित्तमार्ग” इन श्लोकों से मार्गों का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—सित्तमार्गं मदच्युद्धिराहूतप्रेष्ठभूभुजाम् ।

गजंर्द्धास्सु परामृष्टरम्भापूगोपशोभिता ॥५७॥

कुरुसृञ्जयकैकेयविदर्भयदुकुन्तयः ।

मिथो मुमुदिरे तस्मिन्संभ्रपात्परिधावताम् ॥५८॥

श्लोकार्थ—बुलाए हुए प्रिय राजाओं के हस्तियों के मद से, उत्पन्न जल के गिर
जाने से, मार्ग सिंचित हो रहे थे, द्वारों पर जो सुपारियां और केले के वृक्ष लगाए थे
उनसे नगरी का शोभा विशेष हो रही थी हर्ष के मारे चारों ओर दीड़ते फिरते जो
द्वारकावासी, उनके मध्य में कुरु, सृञ्जय, कैकेय, विदर्भ, यदु तथा कुन्ति इन देशों के
राजा भी परस्पर आनन्दित हो फिर रहे थे ॥५८॥

सुबोधिनी—आहूता ये प्रेष्ठाः प्रियतमा
राजानः तेषां मदच्युद्धिः गजगण्डनिःसृतमदेरेव
सित्तमार्गं जाता । अतो विशेषतः सम्मार्जनादौ | नावकाशो जात इत्यर्थः । द्वारि तु कृतमित्याह
द्वाःस्विति । परामृष्टाः परितः स्थापिताः
रम्भादयः तैरुपशोभिता । जाते (ति) विवाहे

पश्चादानीय कृतमिति परामर्शः । षड्विधा अपि कैकेया विदभश्च । तथा यादवाः कुन्तयध । ते क्षत्रिया अन्योन्यवैरं विहाय स्वभावतो द्वेषयुक्ता त्रिविधा अपि परस्परविरोधिनः परस्परमेव अपि रुक्मिण्या सहिते भगवति मिथो मुमुदिरे । मुमुदिरे । किञ्च । संभ्रमात्परिधावतां सम्बन्धिनोऽपि जाताः । उत्सवसभृत्तिकरणार्थं तदीयाः वा घृष्टद्युम्नादयः । ते ह्यभये अन्योन्यवैरिणः । सर्व एव व्यावृता जाता इत्यर्थः ॥५८॥

व्याख्यान—बुलाए हुए प्रियतम भूपतियों के हस्तियों के गण्ड स्थल से निरृत मदजल से पुरी के मार्ग सिंचित हो गए थे, अतः उनको विशेष स्वच्छ करने का अवसर ही न मिला । द्वारों पर जो सजावट की, उसका वर्णन करते हैं, चारों तरफ जो केले के खम्भ, उनसे पुरी सुशोभित थी, विवाह हो जाने पर फिर आकर विधि पूर्वक विवाह किया, इस प्रकार सबका विचार था, छ प्रकार के क्षत्रिय जिनका परस्पर स्वभाव से ही द्वेष चला आता है, वे भी आपसी वैर का त्याग कर रुक्मिणी सहित भगवान् के दर्शन कर आनन्द मग्न हो गए, दुर्योधन आदि कौरव, पाण्डव, पांचाल अथवा घृष्टद्युम्न आदि वे दोनों परस्पर शत्रु हैं, कैकेय और विदर्भ, वैसे यादव और कुन्ति वे तीनों भी आपस में शत्रु हैं, किन्तु इस समय परस्पर प्रसन्न हो उत्सव मनाने लगे, और आदर से फिरते हुए परस्पर, सम्बन्धी बन गए, उत्सव का पूर्ण पोषण करने के लिए वे सब ही उसमें संलग्न हो गए ॥५८॥

आभास—न केवलं यदुपुयमिव सम्भ्रमः, किन्तु सर्वत्रैव लोके संभ्रमो जात इत्याह रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वेति ।

व्याख्यान—केवल यदुपुरी में हो सम्भ्रम नहीं हुआ किन्तु लोक में सर्व स्थानों पर यह सम्भ्रम हुआ जिसका वर्णन “रुक्मिण्या” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—रुक्मिण्या हरणं श्रुत्वा गीयमानं ततस्ततः ।

राजानो राजकन्याश्च बभूवुर्विस्मिता भृशम् ॥५९॥

श्लोकार्थ—जहाँ तहाँ से भगवान् के रुक्मिणी का आश्चर्य से किए हुए हरण सुनकर राजा और राज कन्याएँ बहुत अचम्भे में पड़ गए ॥५९॥

सुबोधिनी—आश्चर्यहरणं भगवत्कृतं श्रुत्वा हृतमिति । राजकन्याश्च विस्मिताः । अस्मानपि इतस्ततो गीयमानम् । सर्वत्र श्रुतत्वात् असम्भाव- नेष्यतीति ॥५९॥ नारहितम् । राजानो विस्मिता जाताः, कथमेवं

व्याख्यान—भगवान् ने आश्चर्यजनक जो रुक्मिणी का हरण किया था, उसको जहाँ तहाँ गाया हुआ सुनकर, राजा लोग आश्चर्य चकित हो गए और कहने लगे कि इस प्रकार कैसे हरण कर गया, ? राजाओं की कन्याएँ, क्षत्रिय अचम्भे में पड़ गईं, किन्तु जो लोग रुक्मिणी का हरण करेंगे, यह हरण का कथा सब स्थानों में सुनने से असम्भावना भी मिट गई ॥५९॥

आनाम—एवं विशिष्टानां परमोत्सवभुवत्वा साधारणानामपि परमोत्सवमाह
द्वारकायामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार विशेष पुरुषों का महोत्सव कहकर साधारण जनता का महोत्सव
“द्वारकायां” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—द्वारकायामसूद्राजन् महामोदः पुरौकसाम् ।

रुक्मिण्या रमयोतेतं दृष्ट्वा कृष्णं श्रियः पतिम् ॥६०॥

श्लोकार्थ—हे राजन् द्वारका के साधारण नगर वासियों को महान् हर्ष हुआ
क्योंकि लक्ष्मीपति श्रीकृष्ण के लक्ष्मी रूपी रुक्मिणी के साथ दर्शन हुए ॥६०॥

सुबोधिनी—पुरौकसः साधारणाः नगरवा- सिनः नगरव्यापार एव निमग्नः । तेषामपि महा- न्मोदो जातः । यद्यपि तेषां विवेको नास्ति, तथापि वस्तुसामर्थ्यादेव ते तथा जाताः । तदाह । रुक्मिण्या रमया लक्ष्म्या उपेतं सहितं कृष्णम्,	स्वीणामेव हितार्थे अवतीर्णम्, श्रियः पतिं दृष्ट्वेति नित्यं हरिः श्रीसहितः । आविर्भावस्तु केवलेत्यै- वेति पुरवासिनां नित्यं स्त्रीप्रधानानां तथा मोदो न भवेत् । अधुना तु पूर्णशक्तिरेकत्रैव जातेति महानेव मोदः संतोषो जातः ॥६०॥
--	--

व्याख्यार्थ—नगर में रहने वाले जो साधारण जन धन्धे रोजगार में ही लगे रहते हैं, उनको
भी महान् हर्ष हुआ, हाँलाकि उनको विवेक नहीं है तो भी वस्तु की सामर्थ्य से ही आनन्द हुआ, वह
वस्तु सामर्थ्य का वर्णन करते हैं, स्त्रियों के हित के लिए अवतार धारण करने वाले, लक्ष्मी के पति
श्रीकृष्ण के लक्ष्मीरूपिणी रुक्मिणी के साथ दर्शन हुए यों तो भगवान् सदैव लक्ष्मी के साथ विराजते
हैं किन्तु जब अवतार लेते हैं तब आप अकेले ही प्रकट दर्शन देते हैं वैसे अकेले स्वरूप के दर्शन पुर-
वासियों को आनन्द होवे, क्योंकि वे नित्य स्त्री प्रधान हैं, अर्थात् वे सदैव स्त्रियों को साथ ही रखते
हैं जिससे स्त्रियों का ही आदर करते हैं, अतः भगवान् को भी स्त्री सहित देख कर ही प्रसन्नचित्त
हुए अब तो इस स्वरूप में पूर्ण शक्ति इकट्ठी हुई है इसलिए बड़ा ही मोद यानि सन्तोष उत्पन्न हुआ
है ॥६०॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कन्ध, उत्तरार्ध के ५१ वें अध्याय की

श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण कृत श्रीसुबोधिनी 'संस्कृत टीका' के राजस साधन

अवान्तर प्रकरण, का पाँचवाँ अध्याय, हिन्दी अनुवाद सहित संपूर्ण ।

राग सौरठ

स्याम जब रुक्मिनी हरि सिधाए ।

साल्व, दंतवक्र वारानसी कौ नृप, चढै दल साजि मनो अभ्र छाए ॥

सांग की झलक चहुँदिसा चपला चमक, गज गरज सुनत दिग्गज डराए ।

स्याम बलराम मुधि पाइ सन्मुख भए, वान वग्धा करन लागे सारे ॥

रुकमिनी भय कियौ स्याम धोरज दियौ, वान सौ वान तिनके निवारे ।

राम हल मुसल संभारि धारचौ बहुरि, पेलि के रथ सुभट बहु संहारे ॥

रुण्ड भकरुण्ड भुकि परे धर धरनि पर, गिरत ज्यों बेग करि वज्र मारे ।

जरासन्ध जीव लै भज्यौ रनखेत ते, साल दंतवक्र या विधि पराए ॥

प्रात के समय ज्यों भानु के उदय, तम लै होइ जात उडुगन नसाए ।

गह्यो भगवान सिमुपाल कौ जीवतै, ताहि सौं बचन या विधि उचारे ॥

पुरुष कौं भाजिवे तैं मरन है भलौ, जाइ सुरलोक द्वारे उधारे ।

बहुरि भगवान सिमुपाल कौं छाड़ि दियौ, गयौ निज देस कौं सो खिस्याई ॥

सस्त्र धन छाँड़ि के भाजि नरपति गए, जादवनि लै सु हरि दियौ लुटाई ।

रुकुम यह सुनि चलयौ सौह करि नृपति सौं, स्याम बलराम कौं बाँधि ल्याऊँ ॥

आइ ह्याँ कहाँ सिमुपाल सौं मैं नहीं, आपनौ बल तुम्हें अब दिखाऊँ ॥

वान वरषा लग्यौ करन इहि भाँति कै, कृष्ण जु तिन्हें छिन में निवारे ।

आपने वान से काटि ध्वज रुक्म कौ; अस्व अरु सारथी तुरत मारे ॥

रुक्म भू परचो उठि जुद्ध हरि सौं करचो, हरि सकल सस्त्र ताके निवारे ।

बहुरि खिसियाइ भगवान के ढिग चलयौ, चलत ज्यों पतंग दीपक निहारे ॥

खड्ग लै ताहि भगवान् मारन चले, रुक्मिनी जोरि कर विनय कीन्हौ ।

दोष इन कियौ मोहि छमा प्रभु कीजियै भद्र करि स स जिव दान दोन्हौ ॥

राम अरु जादवनि सुभट ताके हने, रुधिर करि नीर सरिता बहाइ ।

सुभट मनु मकर अरु केस सेंवार ज्यों, घनुष मछ चर्म कूरम बनाई ॥

बहुरि भगवान कैं निकट आए सकल, देखि कै रुक्म कौं हंसे सारे ।

कह्यौ भगवान सौं कहा यह कियो तुम, छाड़िवे तैं भलौ हुतौ मारें ॥

मरे तैं अप्सरा आइ ताकौं बरति, भाजि है देखि अब गेह नारो ।

प्रभु तुम्हरो मरम रुक्म जान्यौ नहीं, छाँड़ि दीजै याहि अब मुरारी ॥

रुक्म सिर नाइ या भाँति विनती करो, बुद्धि बल मर्म तुम्हरो न जानौ ।

प्रभु तुम अनन्त तुम तुमहि कारन, करन मैं कौन भाँति तुमको पछानौ ॥

दीन बन्धु कृपासिधु करना करन, सुनि विनय दया करि छाँड़ि दीन्हौ ।

बहुरि निज नगर पैछ्यौ न सो लाज करि, तहैं पुनि आपनो वास कीन्हौ ॥

आइ भीषम दियो दाइज ता ठौर बहु, स्याम आनन्द सहित पुर सिधाये ।

सुनत द्वारावती माहि उत्सव भयौ, सूर जन मंगलाचार गाये ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ५५वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ५२वाँ अध्याय

राजस-साधन-अवान्तर-प्रकरण

“षष्ठं अध्यायः”

प्रद्युम्न का जन्म और शम्बरासुर का वध



कारिका—निरूपितो भगवतो भार्यायास्तु परिग्रहः ।

षष्ठाध्याये तु पुत्रस्य स्वीकारोऽत्र निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—पूर्वाध्यायों में भगवान् ने रुक्मिणी को भार्यापन से स्वीकार किया, यह निरूपण हुआ, अब छठे अध्याय में पुत्र की स्वीकृति का निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—लोके हो पुत्र भार्याणां सम्बन्धे स्याद्धि संसृतिः ।

दुष्ट भावेषु संसृष्टास्त्वत्र कृष्णेन मोचिताः ॥२॥

कारिकार्थ—लोक में पुत्र तथा भार्या से सम्बन्ध होने पर ही संसार होता है, यहाँ दुष्ट भावों से निर्मित हैं अर्थात् भगवान् में विपरीत भाव करते हैं, उनको कृष्ण ने मुक्त कर दिया ॥२॥

ददाह । ततः प्रभृति नोदगता कामो लोके प्रवृत्तः
अधिष्ठाता शक्तिरहितो जात इति । नापि मोक्ष-
दाता भगवानवतीर्णः । यथायं विघ्नं वा कुर्यात्
यदा पुनः कृष्ण आविर्भूतः, तदा अक्षयं देहं
सम्पादयितुं यथा रुद्रो न दहेत्, तदर्थं तं भगव-
न्तमेव देहोपपत्तये प्रत्यपद्यत, स देह एव ततो
निर्गमिष्यामीति, पुनस्तत्र प्रविष्टः स हि गोपि-
काद्वारा कृष्णे समागतः । ते हि प्रथमं पुरुषरूपाः
स्थिताः, पश्चात् स्त्रीत्वे जाते तत्र प्रवेशमलभमानाः
तद्द्वारा भगवति प्रविष्टाः तासां स्वभावतः पुरुष-
त्वात् तत उत्पत्तिमलभमानाः ॥१॥

ध्याह्यार्थ - काम की उत्पत्ति होनी बनती नहीं। क्यों कि काम से ही भार्या में प्रवृत्ति होती है, इस कारण से आत्मा के प्रति अपना कारण न होने से काम की उत्पत्ति असंज्ज्ञत है। इस प्रकार की शङ्का का 'तु' शब्द से निराकरण करते हैं जिसमें कारण देते हैं कि यह काम मोक्षदाता वासुदेव भगवान् का अंश है नहीं कि जीव है, शरणागति में विघ्न डालने के लिए, वासुदेव भगवान् से माया और काम ये दो अंश प्रकटे हैं, पुरुष और स्त्री में प्रतिष्ठित हुवे जिससे जगत मोहिन हो जाता है, इसी कारण से जीव भगवत् शरण नहीं लेता है, काम तो सबको मोह में डालता हुआ, मुख्य अधिकारी महादेव को भी जब मोहित करने में प्रवृत्त हुआ तब जो महादेव सब रोगों को नष्ट करते हैं, उनमें इस काम को भी रोग मान कर अपनी क्रोधाग्नि से दग्ध कर डाला, उसी दिन से काम पैदा न हुआ, लोक में प्रवृत्त होते भी वह शक्ति हीन हो गया, मोक्षदाता भगवान् भी प्रकटे नहीं, जहाँ यह विघ्न कर सके जब कृष्ण प्रकट हुए तब वह काम मुझे रुद्ध न जला सके ऐसी देह की प्राप्ति के लिए फिर श्रीकृष्ण में प्रविष्ट होता हूँ जिससे मेरी देह में भगवत्सारूप्यता होगी अतः अनन्य देह सहित ही प्रकट हो जाऊंगा, यह सङ्कल्प कर ही भगवान् में प्रविष्ट हुआ। किस प्रकार भगवान् में प्रवेश किया जिसका वर्णन करते हैं कि वासुदेव के जो माया और काम दो अंश प्रकटे, उनमें से काम का निवास पुरुषों में हुआ और माया का स्त्रियों में हुआ, अतः काम अग्निकुमार जो पुरुष थे उनमें रहा था। किन्तु जब उन्होंने स्त्री रूप धारण किया तब उनमें उसकी स्थिति न हो सकी, उन स्त्री रूपों से निकल कर भगवान् में प्रवेश किया, अतः आचार्य श्री कहते हैं कि 'सहि गोपिका द्वारा कृष्णे समागतः' वह काम गोपियों के द्वारा कृष्ण में आया, उसका रहस्य बताते हैं कि वे गोपियाँ वास्तविक पुरुष थी उत्पत्ति न होगी, यों जान कर ही भगवान् में उत्पत्ति के लिए प्रविष्ट हुआ ॥ १ ॥

आसाभाथं—जब ही रुक्मिणी भगवान् से संबद्ध^१ हुई तब ही उसमें से काम रूप प्रद्युम्न प्रकट हवा, जिसका वर्णन 'स एव जातो' श्लोक में करते हैं ।

१- संबद्ध कहने का भाव यह है कि जब श्रुति रूप प्रभृति गोपियों से रमण समय भी पतित्व सम्बन्ध के कारण पहले रुक्मिणी का ही स्वीकार हुआ है । —लेखकार का आशय

श्लोक—स एव जातो वैदर्भ्या कृष्ण वीर्यं समुद्भवः ।

प्रद्युम्न इति विख्यातः सर्वतोऽनवमः पितुः ॥२॥

श्लोकार्थ—वह ही श्रीकृष्ण की क्रिया शक्ति रूप वीर्य से रुक्मिणी से जन्म लेकर, प्रद्युम्न नाम से प्रसिद्ध हुआ, जो पिता श्रीकृष्ण से सर्व प्रकार न्यून नहीं था ॥२॥

सुबोधिनी—वैदर्भी भक्ति प्रधानेति । भगवतो वीर्यमत्र क्रियाशक्तिः, नत्वनमयम् । क्रिया हि सतो भवति । चिद्रूपः स्वयम् । सदंशमेवापेक्षते । सदंशे निर्गलितं रूपं क्रियाशक्तिरिति क्रियाशक्तौ आविर्भूतः । तदुक्तम् । कृष्णवीर्यं समुद्भवो यस्येति । एवकारो जीवान्तरप्रवेशाभावाय । अत एव लोके प्रद्युम्न इति विख्यातः । प्रकर्षेणद्युम्नं

यस्मादिति । रुक्मिण्यंशसम्बन्धात् आनन्दांशोऽपि तत्र सिद्धः । उत्पादकश्च प्रद्युम्न इति तस्याभिलषितमेव नाम जातमित्युक्तम् । एवमपि भगवदिच्छा चेन्नानुगता स्यात्, तदा अक्षयदेहो न भविष्यतीति भगवत्सारूप्यं प्राप्तवानित्याह पितुः सर्वतोऽनवम इति । अवमः क्षयः केनाप्यंशेन अन्यून इत्यर्थः ॥२॥

व्याख्यानार्थ—वैदर्भी (रुक्मिणी) में भक्ति मुख्य है । श्लोक में 'कृष्ण वीर्यं समुद्भवः' पद कहा है जिसमें 'वीर्य' शब्द से यह भ्रम होता है कि यह वीर्य अन्न से उत्पन्न होने से अन्नमय होगा, अतः इस भ्रम निवारणार्थ स्पष्ट कहते हैं कि यहां 'वीर्य' शब्द से भगवान् की क्रियाशक्ति कही है, नहीं कि अन्नमय वीर्य कहा है, भगवान् की क्रियाशक्ति उनके सदंश से उत्पन्न होती है, काम स्वयं तो चिदंश है, उसको सदंश की ही अपेक्षा थी, जिससे वह सदेह होकर प्रकट हो सके क्योंकि देह सदंश से बनती है, इसका भावार्थ है कि प्रद्युम्न की देह भगवान् का सदंश है, सदंश में पड़ा हुआ रूप क्रियाशक्ति है, इसलिये क्रियाशक्ति में प्रकट हुआ, अतः कहा है कि 'कृष्ण वीर्यं समुद्भवः' कृष्ण के वीर्य में (क्रिया शक्ति में) जिसका (प्रद्युम्न का) प्राकट्य हुआ है, 'एव' पद श्लोक में देकर यह सिद्ध किया है, कि इसमें (प्रद्युम्न में) कोई जीव नहीं है इसलिए ही लोक में 'प्रद्युम्न' नाम से प्रसिद्ध हुआ है अर्थात् जिससे विशेष तेज व बल प्रकट होता है, इस प्रकार उसका अभिलषित ही नाम पड़ा, इस प्रकार होने पर भी यदि भगवान् की इच्छा वैसी, न हो, तो वैसी अक्षय देह की प्राप्ति न होती, इस तरह भगवत्सारूप्य को प्राप्त हुआ जिससे पिता से किसी प्रकार कम न हुआ ॥ २ ॥

आभास—एतन्मध्ये नारदेन शम्बरः बोधितः । यावदयं निर्दशो न भवति, तावन्मारणीयः । अन्यथा भगवद्वस्तस्पर्शो अवध्यो भविष्यतीति । स हि कामस्य शत्रुः । यदा सर्वेषामेव भागो निर्मुक्तो भवति तदैव भगवान् पुत्रत्वेन ग्रहीष्यतीति । एवमुक्तस्य शम्बरस्य वृत्तान्तमाह ।

आभासार्थ—इसी बीच में नारद ने शम्बर को जतादिया कि जब तक यह दश दिन का न हो उसके पहले ही इसको मार डालना चाहिये, यों नहीं किया जायगा तो दश दिन के

अनन्तर भगवान् के हस्त का स्पर्श हो जाने से, यह अवध्य होगा अर्थात् कोई भी इसको मार न सकेगा, वह काम का शत्रु है, जब सर्व के भाग से यह छूटेगा तब भगवान् इसको पुनः पुनः से ग्रहण करेंगे, नारद के कहने पर जो शम्बर ने कृत्य किया, उसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—तं शम्बरः कामरूपी हृत्वा तोकमनिर्दशम् ।

स विदित्वात्मनः शत्रुं प्रास्योदन्वत्यगादनृहम् ॥३॥

श्लोकार्थ—अपनी इच्छानुकूल रूप धारण करने वाला वह शम्बर उसको अपना शत्रु जान कर दस दिन के, भीतर ही, उस बालक का हरण कर समुद्र में फेंक कर घर गया, ॥३॥

मुबोधिनी—कामरूपी स्त्रीरूपेणान्तः प्रविष्टः । न्तरान्नारदादित्सध्यवसेयम् । उदन्वति समुद्रे प्रास्य गृहमगात्, गृहं गतः । वालो हि न मारणीय इति । कालेनानुपभुक्तः सर्वस्याप्यादरणीयो भवतीति प्राकृतं तं मत्वा समुद्रे क्षिप्तः, स्वयमेव समुद्रो भक्षयिष्यतीति समुद्रे प्रक्षिप्तवान् ॥३॥

कातरूपमस्मिन्वर्तत इति सजातीयेन सजातीयो हृत इति न रक्षकैर्देवैः स रक्षितः । अत एवानिर्दशं दशाहात्पूर्वमेव तोकं बालकं हृत्वा । न निर्गतानि दशाहानि यस्येति । अहःशब्दस्य लोपः । हरणे हेतुमाह आत्मनः शत्रुं विदित्वेति । वाक्या-

व्याख्यान—यथेच्छरूप धारी शम्बर ने स्त्री रूप धारण किया उस रूप से वह भीतर गया, शम्बर पुरुष है इसलिए इसमें काम रूप है ही, अतः एक ही जाति वाले ने जाति वाले का हरण किया, इसलिए रक्षक देवों ने भी इसको रक्षा नहीं की, अतः दशाह से पहले ही बालक का हरण किया, क्यों हरण किया ? जिसके उत्तर में कहा है कि शम्बर ने इसको अपना शत्रु समझा इसलिए हरण किया, नारद से यह ज्ञान पाया था यों कि यह बात ध्यान में रखना इसलिए हरण के बाद समुद्र में उस बालक को फेंक कर अपने घर गया (उसे) मारा क्यों नहीं समुद्र में क्यों फेंका ? इसका समाधान करते हैं, बालक को “नहीं मारना चाहिए” ऐसी आज्ञा है, जिसका भोग, काल नहीं करता है उसका ही सब आदर करते हैं, उसको प्राकृत मानकर समुद्र में फेंक दिया, मन में यह विचार किया कि समुद्र स्वयं इसका भक्षण कर लेगा, इस विचार से समुद्र में फेंका ॥३॥

आभास—ततः समुद्रो विपरीतं कर्तुं मत्स्यग्रासं कारयित्वा तस्यैव गृहं प्रेषयामासेति निरूपयति तं निर्जगार बलवानिति ।

आभासार्थ—पश्चात् समुद्र ने तो शम्बर के विचार के विपरीत किया, अर्थात् उसको मत्स्य का ग्रास करवाकर उस (शम्बर) के ही घर भिजवाया जिसका वर्णन “तं निर्जगार” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तं निर्जगार बलवान्मोनः सोऽप्यपरैः सह ।

ततो जालेन महता गृहीतो मत्स्यजीविभिः ॥४॥

श्लोकार्थ—समुद्र में बलवान् मत्स्य ने उसको ग्रस लिया, पश्चात् उस मत्स्य को भी दूसरे मत्स्य के साथ मच्छजोवियों ने बड़ी जाल से पकड़ लिया ॥४॥

सुबोधिनी—स हि सचेतनो बालकः । गिलने प्रतिबन्धं कर्गोतीति तदर्थमाह बलवानिति । सोऽपि मीनैरपरं दुर्बलैर्मनैः सह तदीयैः महता जालेन गृहीतः । ततोऽपि जालस्य महत्त्वं बल- वत्त्वं च । मत्स्यजीविभिरिति तेषां तदुद्यमः सहजः । अतो नात्र अधिकः प्रयासो निरूपणीयः ॥४॥

व्याख्यार्थ—वह था तो बालक किन्तु उस अवस्था में भी चेतन्य था जिससे वह ग्रसने में रुकावट करेगा, इसी कारण से, कहा है, कि वह निगलने वाला मत्स्य साधारण मत्स्य न था, किन्तु बलवान् था, जिससे वह बालक होते हुए भी रुकावट करने में सफल न होवे, वह निगलने वाला मत्स्य दूसरे जो निर्बल मत्स्य उसके साथ थे उन समेत बड़े जाल से पकड़ा गया, इससे जाल का भी महत्व और बलवत्त्व बताया । पकड़ने वाले मत्स्य जीवी थे उनका यह उद्यम सहज है, अतः इस विषय में अधिक प्रयास निरूपण करने योग्य नहीं है ॥४॥

आभास—ततः शम्बरः कैवर्तानामधिपतिः प्राप्तमहामत्स्यैः कैवर्तैः स मत्स्यः तस्मै दत्त इत्याह तं शम्बरायेति ।

आभासार्थ—पश्चात् धीमरों के अधिपति शम्बर को, उन धीमरों ने वह मत्स्य दिया, जिसका वर्णन “तं शम्बराय” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तं शम्बराय कैवर्ता उपाजह्नु रूपायनम् ।

सूदा महानसं नीत्वावद्यन्स्वधितनर्ताद्भुतम् ॥५॥

दृष्ट्वा तदुदरे बालं मायावत्यं न्यवेदयन् ।

श्लोकार्थ—धीमरों ने बड़े मच्छ को लाकर शम्बर को भेंट किया रसोईयों ने रसोई घर में लेजा कर उस अनूठे मच्छ को छुरी से चीर डाला, जिसके उदर में बालक को देखा, वह बालक मायावती को दे दिया ॥५॥

सुबोधिनी—उपायनमुत्कृष्टोपहारम् । सोऽप्य- विचार्यैव सूदेभ्यः पाचकेभ्यो घातकेभ्यो वा दत्त- वान् । सूदाः पुनः महानसं स्थानं नीत्वा अव- द्यन् । ततः अद्भुतं बालकं तस्य उदरे दृष्ट्वा मायावत्यं न्यवेदयन् । सा हि रतिः कामस्य भार्या आसीत् । ततो दग्धे कामे तद्भार्या यदा शम्बरेण नीयते, तदा माया तस्यां प्रविष्टा । तदा मायावतीति नाम प्राप्तवती । सा च तेन प्रतिक्षणं मायया मोहितेन पाकाध्यक्षा निरूपिता । ततो बालकः मायावत्या दृष्टः ।

व्याख्यार्थ—“उपायन” पद का भावार्थ है श्रेष्ठ भेंट, उसने भी बिना बिचार किए ही रसो-

ईयों को वा घातकों को दी, रसोईयों ने उसको रसोई घर में ले जाकर मार डाला, पश्चात् उसके उदर में अद्भुत बालक देखा, जिसको मायावती को दिया, वह मायावती रति नामवाली काम की पत्नी थी, जब काम शम्भु देव के क्रोधाग्नि से जल गया तब उसको स्त्री रति को शम्बर ले आया जिसमें माया प्रविष्ट हो गई, तब उसका नाम मायावती प्रसिद्ध हुआ, माया स प्रतिक्षण मोहित उसने इसको रसोई घरको अध्यक्ष बनाई, पश्चात् मायावती ने वह बालक देखा ॥५॥

आभास—कोऽप्ययं कपटीन मां ग्रहीष्यतीति भयाच्छङ्कितचित्ता जाता, ततो नारदः पुनरागत्य तां बोधितवानित्याह नारदोऽकथयदिति ।

आभासार्थ—मायावती इस बालक को देख, भयपूर्वक चित्त में शंकित हुई, कि यह जो कोई भी है वह मुझे ग्रहण करेगा, अनन्तर नारद ने आकर इस मायावती को समझाया, जिसका वर्णन “नारदो कथयत्” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—नारदोऽकथयत्सर्वं तस्याः शङ्कितचेतसः ।

बालस्य तत्त्वमुत्पत्तिं मत्स्योदरनिवेशनम् ॥६॥

श्लोकार्थ—नारद ने शंकित चित्तवाली मायावती को यह बालक कौन है ? किससे उत्पन्न हुआ ? मत्स्य के उदर में कैसे प्रविष्ट हुआ ? यह सर्व कथा सुना दो ॥६॥

सुबोधिनी—बालस्य तत्त्वं कामत्वं उत्पत्तिं सात्त्विकं राजसं तामसं च । यद्ययं मत्स्योदरे कृष्णान्नारदप्रेरणया शम्बरद्वारा मत्स्योदरनिवेशनम् । ततोऽन्नागमनं तु स्पष्टमेवेति त्रयमुक्तम् । न निविष्टः स्यात्, तदाप्रे भगवतः कामात् स्त्री विवाहा अयुक्ताः स्युः ॥६॥

व्याख्यानार्थ—यह बालक काम है, कृष्ण से उत्पन्न हुआ है, मेरी प्रेरणा से शम्बर द्वारा समुद्र में फेंकने से इसने मत्स्य के उदर में प्रवेश किया, पश्चात् यहाँ आना तो स्पष्ट ही है, जो आपने देखा हो है, इस प्रकार सात्त्विक, राजस और तामस तीन ही बात समझा दो, जो यह मत्स्य के उदर में प्रविष्ट नहीं होता तो आगे भगवान् जो स्त्री विवाह काम पूर्वक करते वे अयोग्य दीखते ॥६॥

आभास—ततस्तया ज्ञात्वा स गृहीत इति वक्तुं तस्याः स्वरूपमाह सा चेति ।

आभासार्थ—पश्चात् जब मायावती ने उस बालक का स्वरूप जाना कि यह कामदेव मेरा पति है, तब उसका ग्रहण किया, यह बताने के लिए “सा च” श्लोक में उस मायावती के स्वरूप का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—सा च कामस्य वै पत्नी रतिर्नाम यशस्विनी ।

पत्युर्निर्दग्धदेहस्य देहोत्पत्तिं प्रतीक्षती ॥७॥

श्लोकार्थ—वह यशस्विनी रति नाम वाली कामदेव की स्त्री, दग्धदेह वाले अपने पति के देह की उत्पत्ति की प्रतीक्षा कर रही थी ॥७॥

सुबोधिनी—तस्याः आकाङ्क्षित एवायं स्थितः । चकारस्त्वर्थसमुच्चयार्थः । नारदः अकथयत् । साप्याकाङ्क्षायुक्तेति । कामस्यैव पत्नी, न तु कामेन यस्य कस्यचित् । रतिरिति तस्या नामेति प्रसिद्धिः । अनेन लोकेऽपि तस्या निन्दाभाव उक्तः । यथा कामः पुरुषेषु, तथा रतिः स्त्रीषु प्रतिष्ठितेति प्रसिद्धिः । किञ्च । यशस्विनी

प्राप्तयशाः । अतो यशःसम्बन्धात् नापकीतिसम्भावना । नन्वेतादृशी भर्तृमरणे वैधव्यधर्मपरिपालनाय योग्या कथं रूपान्तरस्थपतिं गृहीतवती, तत्राह पत्युर्निदग्धदेहस्येति । न हि पतिर्मृतोऽस्ति । अन्यथा जगदुत्पत्तिरेव न स्यात् । किन्तु देह एव दग्धः, तस्योत्पत्तिमेव प्रतीक्षते ॥७॥

व्याख्यानार्थ—यह कामदेव उसकी आकांक्षा करता हुआ स्थित था, अर्थात् रतिकी प्राप्ति कब और कहाँ होगी, ऐसा विचार एव इच्छा कर रहा था श्लोक में “च” पद अर्थ समुच्चय के लिए दिया हुआ है, नारद ने कहा कि, वह भी इसकी आकांक्षा वाली है, काम की ही पत्नी है, न कि काम के कारण जिस किसी और की, उसकी “रति” नाम से सर्वत्र प्रसिद्धि है इस कारण से लोक में भी इसकी निन्दा नहीं हो रही है, यों कहा है जिस प्रकार पुरुषों में काम प्रतिष्ठित है वैसे ही स्त्रियों में रति प्रतिष्ठित है, यह प्रसिद्ध ही है और विशेष यह है कि इस ने यश प्राप्त किया है अतः यश से सम्बन्ध होने के कारण अपकीर्ति की सम्भावना भी नहीं है वैसी यशस्विनी होने से, तो इसके पति के मर जाने पर वैधव्य धर्म पालन करना ही योग्य था न कि अन्यरूप में स्थित पति को ग्रहण करना चाहिए, इस शंका के मिटाने के लिए कहते हैं कि “पत्युर्निदग्ध देहस्य” पति मरा नहीं था, जो वह विधवा हुई हो। उसका केवल शरीर ही जला था, यदि यह मर गया होता तो जगत की उत्पत्ति ही न हावे, किन्तु देह ही दग्ध हुई थी, जिससे देह की उत्पत्ति की ही प्रतीक्षा कर रही थी ॥७॥

आभास—तस्यास्तत्रागमने हेतुमाह निरूपितेति ।

आभासार्थ—वहाँ उसके आने में क्या कारण है वह “निरूपिता” श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक — निरूपिता शम्बरेण सा सूपोदनंसाधने ।

कामदेवं शिशु बुद्ध्वा चक्रे स्नेह सदाभके ॥८॥

श्लोकार्थ—उस “मायावती” को शम्बर ने दाल भात बनाने के लिए रसोई घर में नियुक्त कर रखी थी, वहाँ जो बालक मिला वह कामदेव था अतः उस बालक से प्रेम करने लगी ॥८॥

सुबोधिनी—सूपोदनानां पाचने । सा हि रिणी भवतीति तद्रक्षार्थं पाकस्थाने नियुक्ता । मायां जानाति सूपकाराणाम् । तन्माया प्राणहा- अनेन भक्ष्यभोज्यादिसम्पत्तिः तस्याः सिद्धा ।

लोकाः तस्याः पुत्रत्वेन तं जानन्ति । सा तु न | बुद्ध्वा, तत्रापि देवं पतिं शिशुत्वेन समागतम्, पुत्रत्वेन तं प्रति पालितवती, अपि तु काममेव | अभङ्गे स्नेहं चक्रे ॥८॥

व्याख्यार्थ—दाल भात के पकाने में शम्बर ने इसको नियुक्त किया, कारण कि रसोईयों के छल कपट को वह जानता था उनके छल कपट प्राणों का हरण करने वाले होते हैं उस छल कपट से प्राणों की रक्षा हो। तदर्थ इसको रसोई घर में रखा था इससे भक्ष्य भोज्य आदि सम्पत्ति तो इसके पास ही है लोक तो बालक को इसका पुत्र ही समझते हैं, परन्तु वह तो इसका पुत्र्यन से पालन नहीं करती थी किन्तु यह कामदेव मेरा पति है यों जान कर उसका केवल पालन नहीं किन्तु साथ में स्नेह भी करती थी ॥८॥

आभास—ततोऽल्पेनैव कालेन मत्स्योदरसम्बन्धात् भगवत्सम्बन्धाच्च सप्तम एव वर्षे यौवनं प्रादुर्भूतमित्याह नातिदीर्घेण कालेनेति ।

आभासार्थ—पश्चात् थोड़े ही काल में अर्थात् सातवें वर्ष में हो वह युवा हो गया कारण कि उसका एक तो मत्स्य के उदर से सम्बन्ध हुआ था और दूसरा भगवान् से सम्बन्ध हुआ था इन दोनों कारणों से शीघ्र यौवन आगया जिसका वर्णन “नातिदीर्घेण” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—नातिदीर्घेण कालेन स कार्ष्णीं रूढयौवनः ।

जनयामास नारीणां वीक्षन्तीनां च विभ्रमम् ॥९॥

श्लोकार्थ—थोड़े ही काल में वह प्रद्युम्न तरुण हो गया, जो स्त्रियाँ देखती थी उनके मन का हरण हो जाता था ॥९॥

सुवोधिनी—षोडशे वर्षे यौवनप्रादुर्भावः, कस्यचित् द्वादशे, कस्यचिदष्टम एव । अयं नाति-दीर्घः कालः, यतः कार्ष्णिः पितुः पुत्रः । रूढं यौवनं यस्य । तदा वीक्षन्तीनां विभ्रमं जनया-मास । युवतीनां यदा मनोवृत्तिः, तदा सर्वजनीनां यौवनम् । अन्यथा अलौकिकमेव यौवनं स्यात् । किंबहुना वीक्षन्तीनां देवस्त्रीणामपि जनयामास ॥९॥

सुवोधिनी—सोलह वर्ष में यौवन प्रकट होता है, किसी की बारह वर्ष में और किसी की आठवें वर्ष में ही प्रकट हो जाती है यह बड़ा लम्बा समय नहीं है क्योंकि कृष्ण का पुत्र है अतः जैसा पति वैसा पुत्र, इस कारण से शीघ्र सातवें वर्ष में जवान हो गया, उस समय ही देखने वाली स्त्रियों में काम चेष्टा उत्पन्न हो जाती थी जब युवतियों की इस प्रकार की मनोवृत्ति होती है तब समझना चाहिए कि इसमें पूर्ण यौवन प्रकट हो गया है नहीं तो वह यौवन अलौकिक हो होता है, विशेष क्या कहा जाय, केवल मानव स्त्रियों के मन का हरण नहीं होता किन्तु देव स्त्रियों में भी देखने से इसी प्रकार चेष्टा हो जाती है ॥९॥

श्लोक—सा तं पति पद्मदलायतेक्षणं प्रलम्बबाहुं नरलोकसुन्दरम् ।

सत्रीडहासोत्तमिभ्रुवेक्षती प्रीत्योपतस्थे रतिरङ्ग सौरतः ॥१०॥

श्लोकार्थ—कमल दल के सदृश नेत्र वाले, लम्बी बाहुवाले, मनुष्य लोक में सुन्दर उस अपने पति को यह रतिरूपा मायावती लज्जा युक्त एवं मुसकान सहित ऊँची की हुई भृकुटी से ईक्षण करने लगी तथा प्रेम पूर्णक सुरत सम्बन्धी भावों से सेवन करने लगी ॥१०॥

सुबोधिनी—ततः पतित्वात् चिरमभिलषितत्वात् योवनविलम्बाच्च प्राप्ते यौवने तमुपतस्थे । एतदग्रिमकार्यार्थं निरूप्यते पद्मदलायतेक्षणमिति । कामोद्बोधकत्वात् कामत्वाच्च । तस्याः सङ्गाभावेन स्थातुमशक्तिमाह प्रलम्बबाहुमिति । उपगूहनसामर्थ्यं सर्वाङ्गसुखत्वाय । नरलोकसुन्दरमिति । तादृशे मोह उचित एवेति हेतुरक्तः स्वभावोद्दिनरणांर्थम् । प्रथमतो ब्रीडा नवसङ्गमं भावयति ।

ततो जाते रसे हासः । उभाभ्यामुत्तमिभ्रुता या भ्रूः । सङ्गेच्छां पातिव्रत्यं च कटाक्षदर्शनेन सूचयन्ती प्रीत्या उपतस्थे । इदमुपस्थानं न देवताराधनमिव, किन्तु सौरतैः सुरतभावैः, यत इयं रतिः । ततः प्रद्युम्नः क्रियाशक्त्यैवाविर्भूत इति ज्ञानाभावस्तस्य प्रकाशयते भगवद्वलक्षण्याय । अन्यथा तुल्यतैव स्यात् । यदि ज्ञानशक्तिरपि भवेत् ॥१०॥

व्याख्यानार्थ—अनन्तर बहुत समय से पति प्राप्ति को अभिलाषावाली रतिरूपा मायावती को बालरूप में पति मिला, योवन आने में भी विलम्ब हुआ जब योवन आ गया तब पति होने से उसको सेवा करने लगी आगे जो कार्य होने वाला है उसके लिए यह निरूपण किया जाता है कि वह पति के साथ जिसके कमल दल के समान नेत्र थे, ऐसे नेत्रों से यह जताते हैं कि काम को जगाने वाले तथा काम रूप है, लम्बी बाहु वाला है इस से यह बताया कि रति के संग के सिवाय स्थिति असमर्थ (अशक्त) है, तथा लम्बी भृजाओं से यह भाव बताया है कि सर्व अंगों में सुख देने के लिए आलिगन का सामर्थ्य है, मनुष्य लोक में सुन्दर नर है, जिसका भाव बताते हैं कि वैसे सुन्दर में हो मोह उत्पन्न होता है अतः स्वभाव के मिलने के लिए इसमें मोह योग्य है, स्त्रियों में जो प्रथम लज्जा का प्रदर्शन होता है वह नवीन संगम की भावना का द्योतक है अतः मायावती ने पहले लज्जा को, इसके बाद जब नवसंगम में रस उत्पन्न होता है तब हास होता है इन दोनों से ऊपर उठी हुई भोह मिलन की इच्छा का एवं पातिव्रत्य का कटाक्षों द्वारा सूचना करती हुई, प्रीति से पास प्राप्त हो जाती है यह पास आना देवताओं की आराधना के समान नहीं है, किन्तु सुरत भावों से परस्पर मिलन है, क्योंकि यह रति है, प्रद्युम्न क्रिया शक्ति से ही प्रकट हुआ है इस से उसमें ज्ञान का अभाव दीखता है जिससे ही प्रद्युम्न की भगवान् से विलक्षणता (भेद) प्रकट होती है, जो ज्ञान शक्ति हो तो प्रद्युम्न की भगवान् से समानता हो जावे ॥१०॥

श्लोक—तामाह भगवान्काष्णिर्मातस्ते मतिरन्यथा ।

मातृभावमतिक्रम्य वर्तसे कामिनी यथा ॥११॥

श्लोकार्थ—भगवान् कृष्ण का पुत्र प्रद्युम्न माता को कहने लगा कि हे माता ! आप की बुद्धि विपरीत हो गई है, जो मातृभाव को छोड़ कामिनी की तरह कर रही हो ॥११॥

सुबोधिनी—तामाहेति । भगवान् धर्मपरः, यतः कार्णिणः । मर्यादार्थमवतीर्णः । सदानन्दाङ्कुरोऽपि सदानन्द एवेति अपेक्षाभावाद्वा तथोक्तवान् । मातरिति सम्बोधनात् अज्ञानम् । व्यवहारे तथात्वात् । अनेन कामस्य धर्मविरोधित्वं सहजं निरूपितम् । अन्यथा मातृपदमुच्चार्य पश्चात् तस्यां सङ्गं न कुर्यात् । लौकिकी भाषेयमिति न पारमार्थिको विरोधः । माता हि मानं पालयति स्वस्य अन्यस्य च । न हि विवृतेष्वङ्गेषु मानं तिष्ठति । अतः सर्वप्राणिनामेव माता संरक्षया । अतो मातृभावं परित्यज्य गुप्तं कामं दूरीकृत्य यथा कामिनी प्रकटकामा तद्वद्वर्तते इति ॥११॥

व्याख्यार्थ—भगवान् होने से धर्म में तत्पर है, क्योंकि कृष्ण की सन्तति है, और मर्यादा के लिए प्रकट हुआ है, सदानन्द का अंकुर भी, सदानन्द ही होता है अतः उसको किसी की भी अपेक्षा नहीं, जिससे यों कहा, कि हे माता ! इस सम्बोधन देने से अज्ञान प्रकट किया है, किन्तु व्यवहार में यों होने से, इससे काम, धर्म का सहज विरोधी है, यह निरूपण किया, यदि व्यवहार से माता शब्द न कहा हुआ होता तो, अनन्तर इससे संग न करे, किन्तु किया है अतः यह कहना व्यवहार मात्र है, यह भाषा लौकिकी है, जिससे इसमें परमार्थिक कोई विरोध नहीं है माता तो अपने और अन्य के सम्मान की रक्षा करती है, फँले हुए अङ्गों में सम्मान नहीं रहता है, अतः सर्व प्राणियों को ही माता सम्यक् रीति से रक्षा करने योग्य है, अतः मातृभाव का त्याग कर, गुप्त काम को दूर कर, जैसे कामिनी अपनी कामना प्रकट दिखाती है उसी तरह तू कर रही है ॥११॥

आभास—तदा तिरोहितज्ञानमेवं मत्वा अज्ञानादुक्तमनुक्तमिति बोधयति भवान् नारायणसुत इति ।

आभासार्थ—मायावती ने समझ लिया, कि अपने स्वरूप का ज्ञान इसका तिरोहित हो गया है, अतः इसने जो कहा है, वह अज्ञान से कहा है इसलिए इसका कहा हुआ न कहने के समान है, अतः इसको इसके स्वरूप का ज्ञान कराना चाहिए, इस विचार से “रति” इसको “भवान्नारायणसुत” श्लोक से स्वरूप ज्ञान कराती है ।

रतिरुवाच—

श्लोक—भवान्नारायणसुतः शम्बरेण हृतो गृहात् ।

अहं ते दयित्वा पत्नी रतिः कामो भवान्प्रभो ॥१२॥

श्लोकार्थ—रति कहने लगी—कि आप श्रीकृष्ण के पुत्र हैं, शम्बासुर ने सूतिका गृह से आपका हरण किया है, मैं आपकी स्त्री “रति” हूँ और आप कामदेव हैं ॥१२॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १२ ॥ श्रीकृष्ण उवाच ॥ शम्बर उवाच ॥ १२ ॥

सुबोधिनी—स हि शम्बरं पितरं तां च मातरं मन्यते । तन्निषेधार्थमाह नारायणसुत इति । एकनिषेधेनैव इतरस्य सिद्धत्वात् । स्वरूपं चाग्रे वक्तव्यमिति निरूपयति । नारायणपुत्रः कथ-
मज्ञात इत्यत्रोपपत्तिमाह गृहाच्छम्बरेण हत इति । साधारण्यपि घात्रो मातृवदेव परिपाल्येति चेत्, तत्राह अहं ते दयिता पत्नोति । दयिता-
त्वाल्लोकतस्त्यागं नाहंति । पत्नोत्वान्न वेदतः । तथापि लोके प्रसिद्धचभावान् कथमेवमिति चेत्, तत्राह रतिरिति । भवांश्च काम इति ॥१२॥

व्याख्यार्थ—वह शम्बर को पिता और मायावती को माता मानता है यों नहीं है, इसका ज्ञान कराने के लिए मायावती बालक को कहती है कि आप नारायण के पुत्र हैं इसलिए शम्बर आपके पिता नहीं है और मैं माता नहीं हूँ यों कहकर आप कौन हैं, वह कहता है, कि आप नारायण के पुत्र हैं इस पर यदि बालक पूछे, कि नारायण का पुत्र हैं तो यहाँ कैसे आया ? इसलिए उसके पूछने से पहले ही, बतला देती है, कि शम्बर ने सूतिका गृह से आपका हरण किया है, यदि बालक कहदे, कि साधारण घात्रो को माता की तरह पाला एवं समझा जाता है, इसलिए प्रथम ही बतला देती है, कि मैं घात्रोवत् नहीं हूँ किन्तु आपको दयिता (स्त्री) एवं पत्नी हूँ, दयिता (स्त्री) होने से लौकिक रीति के अनुसार भी मैं त्याग के योग्य नहीं हूँ और पत्नी होने से, वेद शास्त्र रीत्यनुसार भी आप मेरा त्याग नहीं कर सकते हैं—यों माना जाय तो भी लोक में इस बात का पता नहीं है, यदि यों कहे तो उत्तर देती है, कि मैं “रति” आपका स्त्री हूँ और आप कामदेव मेरे पति हो ॥१२॥

आभास—कामस्य कथमत्र शत्रुगृहे स्थितिरिति, तत्राह एष त्वेति

आभासार्थ—मैं काम हूँ तो यहाँ शत्रु गृह में मेरा निवास कैसे हुआ ? इसका उत्तर “एष त्वा” श्लोक में देती हैं ।

श्लोक—एष त्वाऽनिर्देशं सिन्धावाक्षिपच्छम्बरोऽसुरः ।

मत्स्योऽग्रसीत्तदुदारादिह प्राप्तो भवान्प्रभो ॥१३॥

श्लोकार्थ—इस शम्बासुर ने आपके जन्म को दस दिन भी न हुए, उस समय आपको समुद्र में फेंक दिया, वहाँ आपको मत्स्य निगल गया, उसके पेट में से निकलने के अनन्तर आप यहाँ प्राप्त हुए हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—एष त्वामिति । असुरत्वात्तथा-
करणम् । मत्स्यो हि स्वज्ञातिघातो । तदुदारादिह प्राप्त इत्यनेनसोऽपि हतो निरूपितः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—शम्बर असुर है इस कारण से यों किया अर्थात् शिशु अवस्था में आपको समुद्र में फेंक दिया मत्स्य अपनी ज्ञातिका घात करते हैं, उसके उदर से यहाँ प्राप्त हुए हैं, इस प्रकार इसने आपको भी मारा यह निरूपण किया है ॥१३॥

आभास—शम्बरः परमवशिष्यते, अतस्तं जहोत्याह तमिममिति ।

आभासार्थ—शेष शम्बर बचा है, अतः “तमिमं” श्लोक से कहती है कि इसको मारो ।

श्लोक—परिशोचति ते माता कुररीव गतप्रजा ।

पुत्रस्नेहाकुला दीना विवत्सा गौरिवातुरा ॥१५॥

प्रमाष्येवं ददौ विद्यां प्रद्युम्नाय महात्मने ।

मायावती महामायां सर्वमायाविनाशिनोम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—टिटहरी के बच्चे चले जावें तो जैसे वह सोच करती है, वैसे तेरी माता भी तुम्हारे जाने से शोक कर रही है; जैसे बछड़ा बिना गौ व्याकुल होती है, वैसे तेरी दीन माता भी पुत्र स्नेह के कारण आकुल हो रही है; यों कहकर महात्मा प्रद्युम्न को मायावती ने सर्व मायाओं को नाश करने वाली महामाया प्रदान की ॥१५-१६॥

सुबोधिनी --माता हि दयापात्रम्, अतस्तदु-
दुःखदूरीकरणार्थं मारणीय एवेति भावः । ते
मातेति सम्भावनया ब्रूदति । तस्या रुक्मिणीत्वं
वा वैदर्भीत्वं वा न शोकनिवारकमिति तन्नोक्तम् ।
कुररी विवेकरहिता, सा रात्रौ शोचति । अनेन
निद्राभावोऽपि सूचितः । गतप्रजेति शोकहेतुः ।
गता केनचिदपहृता प्रजा यस्याः । नष्टायां पुन-
रावृत्तिशङ्काभावात्तथा न शोकः । सापि प्रजा
पुत्ररूपेति नान्तःशोकमात्रं जनयति, किन्तु सर्व-
देहेन्द्रियाणां सर्वक्रियाराहित्यमपि करोतीत्याह
पुत्रस्नेहाकुलेति । पुत्रस्नेहोऽत्यन्तं व्याकुलतां
सम्पादयतीति लोकप्रसिद्धिः । किञ्च । पितृभ्रात्रा-
दिभिः विरोधात् परित्यक्ता । एवं बन्धुविरोधेन
मातृपक्षसहायाभावात् दीना पुत्रेणैव समाहिता
भवति । अतस्तदर्थमपि गन्तव्यमित्यर्थः । किञ्च ।
विवाहप्रभृतिमनःपरितोषाभावात् जाते पुत्रे
पित्रादयः मानयेरन् । तस्मिन्नपि गते चिन्तया
आतुरा अपि भविष्यतीत्याह आतुरेति । आतुरो
ज्वरी । विवेकेन सर्वसमाधानं भविष्यतीति चेत् ।
तत्र दृष्टान्तमाह गौरिवेति । वत्साभावे यथा

गौः । तस्या हि न क्वापि ममता, सर्वा ममता
वत्स एव भवति । अन्येषां तु विभक्ता ममता
भवति । अतो गौर्दृष्टान्तोक्तिर्यते सर्वत्र । इयं च
सर्वतो ममतामाकृष्य त्वय्येव स्थापितवतीति
गोतुल्या भवति । एवं निरूपणमात्रेण कार्यं न
सिध्यतीति । एवं प्रमाष्य विद्यामपि ददौ । स्त्री-
दत्ताया विद्यायाः तदैव सिद्धिः । प्रद्युम्नो हि
विद्याग्रहणयोग्यः, नाम्नैव प्रसिद्धत्वात् । महात्मन
इति विद्या फलिष्यतीति सूचितम् । सा विद्या
स्वस्मिन्नागता मायैवेति ज्ञापयितुं मायावती-
त्युक्तम् । दैत्यादीनामिव माया साधारणी भवि-
ष्यतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह महामायामिति । इयं
हि सर्वानेव भगवदंशान् व्यामोहयितुं प्रवृत्ता
महामाया । ननु दैत्यानां भगवानेव माया भव-
तीति कथमस्या महामायात्वम्, तत्राह सर्वमाया-
विनाशिनोमिति । तत्र हि स्वल्पाभिव्यक्तिः स्व-
दैत्यादाविव, परव्यामोहार्थं तद्रूपो भूत्वा पाल-
यति । न तु तेषां मोक्षं प्रयच्छति । अतो बाणकेषु
जीवोत्तन्यमिव तदपि तिरोभूतमिति सर्वमाया-
विनाशित्वम् ॥१५-१६॥

व्याख्यानार्थ— निश्चय से माता दया का पात्र है, अतः उसके दुःख को मिटाने के लिए इसको मारना ही चाहिये, यह भाव है । यहाँ माता शब्द सामान्य रूप से कहा है, अतः तुम्हारी माता का रुक्मिणीपन वा वैदर्भीपन भी शोक को मिटा नहीं सकता है यद्यपि रुक्म भ्राता के सर्व संबंध से सम्पत्ति



स्वमयी की है किन्तु वह सम्पत्ति भी इस शोक को निवृत्त नहीं कर सकेगी तथा वैदर्भीपन में यह भक्ति प्रधान है जिससे शोक की सम्भावना नहीं होनी चाहिये किन्तु यह पुत्र शोक ऐसा है जिसको यह भक्ति भी मेट नहीं सकती है, कारण कि कोई इसका पुत्र ले गया है जिसका शोक है अतः उसका विवेक चला गया है जिससे टिटिहरी की तरह शोक करती है। रात्रि के समय शोक करती है इस कारण उसको नींद भी नहीं आती है, प्रजा चली जाय, किन्तु फिर लोट आजायेगी तो ऐसा शोक न हो किन्तु तुम्हारे लोट आने की भी उसको आशा नहीं है, फिर प्रजा कन्या नहीं है किन्तु पुत्र रूप प्रजा है वह केवल अन्तःकरण में शोक उत्पन्न नहीं करती हैं लेकिन समस्त देह इन्द्रिय आदि की सर्व क्रिया शक्ति नष्ट कर देती है, अतः तुम्हारी माता पुत्र स्नेह से अत्यन्त व्याकुल हो रही है, पुत्र का स्नेह असीम व्याकुलता उत्पन्न करता है, यह लोक में प्रसिद्ध ही है, विरोध के कारण पिता आता से त्यागी हुई है। उनके विरोध के कारण माता के पक्ष जाने भी सहायता नहीं करते हैं अर्थात् आश्वासन भी नहीं देते हैं जिससे वह तुम्हारी माता दीन है ऐसी अवस्था में पुत्र ही उसका सहारा होता है अतः उसके लिए भी तुमको इसको मारने के लिए जाना चाहिये, इस प्रकार कहने का तात्पर्य है, मन की प्रसन्नता के कारण विवाह आदि न होने पर भी, पुत्र उत्पन्न होता है तो पिता आदि मान देते हैं, यदि उत्पन्न हुआ पुत्र भी गुम हो जावे तो माता चिन्ता से आतुर भी होगी अतः तेरी माता भी आतुर है, आतुर की दशा वह होती है जैसे ज्वर वाले की होती है। विवेक से उसकी आतुरता का समाधान हो जायेगा, यदि यों कहो तो, यों भी समाधान न होगा, जिसमें दृष्टान्त देकर उसको सिद्ध करती है 'गौरिव' बछड़े के जाने पर गौ आतुर हो जाती है, क्योंकि गौ की ममता का स्थान केवल जैसे वत्स ही है, दूसरों की ममता तो बांटी हुई होती है किन्तु गौ की बांटी हुई नहीं होती है, इसलिए गौ का दृष्टान्त दिया है, तुम्हारी माता ने भी सबसे ममता को निकाल कर सम्पूर्ण ममता तुम्हारे ही स्थापित की है। इसलिए गौ के समान होने से उसकी भाँति ही आतुर व्याकुल है, मायावती ने इतना कहकर सोचा कि केवल यों समझने से कार्य की सिद्धि नहीं होगी, अतः यों कह कर विद्या भी दी, स्त्री की दी हुई विद्या की सिद्धि तब होती है जब देने का समय होता है, मायावती ने सोचा कि अब इसको इस विद्या की आवश्यकता है, इस विद्या के सिवाय शत्रु मरेगा नहीं अतः देने का समय समझ विद्या दी, सर्व सुहृदों में स्त्री उत्तम है, और पति की अर्द्धांगिनी है, अतः उसकी दी हुई विद्या दान समय में देने पर सिद्धि होती है, लोक में भी यह प्रसिद्ध है कि स्त्रियों का कहना शीघ्र ही हृदय में बैठ जाता है, प्रद्युम्न भी विद्या ग्रहण करने के योग्य है, नाम से ही प्रसिद्ध होने से, विद्या फली भूत होगी इसलिए 'महात्मनः' विशेषण दिया है, रति का नाम मायावती इसलिए ही हुआ कि वह माया विद्या इसमें आ गई है जैसे दैत्यों के पास साधारणी माया है वैसे यह भी होगी। इस संशय को मिटाने के लिए कहा है कि यह 'महामाया' है, यह 'महामाया' इसलिये कही जाती है कि सर्व भगवदंशों को मोहित करने के लिए प्रवृत्त हुई है, जब दैत्यों की माया भगवान् ही है तब यह महामाया कैसे ? इसके उत्तर में कहा है कि 'सर्व माया विनाशित्वा' समस्त मायाओं को नाश करने वाली है अतः 'महामाया' है, जब 'स्वधा' कहकर जो पितरों को अन्न आदि दिया जाता है तब जैसे भगवान् पितृरूप होकर उस पुत्र की पालना करते हैं। नहीं कि प्रकट होकर तावता पुत्रों को मोक्ष देते हैं वा संघात में जो आत्म बुद्धि है उसको नाश करते हैं, इसी प्रकार अन्य को मोहित करने के लिए भगवान् मायारूप बनकर भक्त की भी पालना करते हैं, नहीं कि उनको मोक्ष देते हैं, अतः दैत्यों में विद्यमान भी जीव में स्थित भगवदंश रूप चैतन्य तिरोहित है जिससे वे केवल अपने जीवन का ही कार्य करते हैं, कर्मज्ञान आदि कुछ नहीं करते हैं इसी कारण से जीवत्व तुल्य होते भी दैत्यों

व्याख्या—‘च’ पद श्लोक में दिया है जिसका आशय है कि उसमें मायारूप भगवान् प्रविष्ट हुए, अथवा ‘च’ पूर्व क्रिया समुच्चय के लिए दिया है, यों होने पर ही विद्या के ग्रहण का फल उसका मारना ही होगा, नजदीक गया, जिससे वह शूरवीर एवं दैत्य है उसके पास जाना शङ्का वाला है इस भ्रम का भी नजदीक जाने से निवारण कर दिया है कि हम इससे किसी प्रकार भी डरते नहीं है। यदि शम्बर बालक समझ के वचनों पर ध्यान न देवे तो इसलिये कहते हैं कि लोक में प्रसिद्ध पुरुष थोड़े अपमान सूचक शब्दों को भी सहन नहीं कर सकते हैं, उसमें भी दूसरे के कहे हुए नहीं कहता है, किन्तु स्वयं कहता है, वे भी ऐसे अपमान सूचक शब्द कहने लगा, जो केवल सहन करने योग्य नहीं थे, किन्तु भगड़ा उत्पन्न करने वाले थे, अचानक स्नेह के कारण पुत्र आदि भी यों कह देते हैं, इसकी व्यावृत्ति के लिये कहा है कि पुत्रादिकों के वचन स्नेह से कहे जाने से भगड़े को पैदा नहीं करते हैं,

इसके अपशब्द कलह को उत्पन्न करने वाले हैं, मैं प्रद्युम्न काम रूप हूँ तू मेरा शत्रु है इसलिये तुझे मारूँगा इत्यादि अपमान सूचक वाक्य कहने लगा ॥१७॥

ग्राभास--ततो युद्धार्थं प्रवृत्त इत्याह सोऽधिकक्षिप्त इति ।

आभासार्थ—अनन्तर युद्ध के लिये प्रवृत्त हुआ जिसका वर्णन 'सोऽविक्षिप्तो' श्लोक में कहा जाता है।

श्लोक--सोऽविक्षिप्तो दुर्गचोभिः पादाहत इवोरगः ।

निश्चक्राम गदापाणिरमर्षात्तिस्रलोचनः ॥१८॥

श्लोकार्थ—दुर्गचनों से तिरस्कृत वह शम्बरासुर जैसे पौर की ठोकर लगाने से सर्प फुँकारता है, वैसे ही क्रोध से लाल लोचन, गदा हाथ में लेकर बाहर निकला ॥१८॥

सुबोधिनी—यथा तस्मिन् स्नेहः, एवं द्वेषो-
ऽपीति कथं प्रवृत्तिरित्याशङ्क्य आक्षेपस्य दुष्टत्व-
माह दुर्वचोभिरिति । दुर्वचोभिराक्षिप्तः पितापि
पुत्रं मारयतीति कृत्रिमत्वे जाते कथं न प्रवर्तते-
त्यर्थः । ननु मृत्युरयमिति विशेषेण समागत इति
भयात् कथं न निवृत्तः, तत्राह पादाहत इवोरग
इति । दीर्घरोषः सर्पः मरणमप्यङ्गीकरोति, न तु

निवर्तत इति । तस्य हि क्रोध एव परिपाल्यः,
नत्वन्ये । तत एकेन सह एकेनैव युद्धं कर्तव्यमिति
गदापाणिरेव निर्गतः । नापि बद्धकवचः, नापि
ससहायः । तथा निर्गमने हेतुरमर्षात्ताम्रलोचन
इति । क्रोधवशान्न किञ्चिज्ज्ञातवान् । दृष्टारपि
ताम्रेति दृष्ट्वापि न ज्ञातवान् ॥१८॥

व्याख्यानार्थ - जैसे उस बाल प्रद्युम्न में शम्बर का स्नेह था, वैसे ही द्वेष भी हुआ, इसलिये युद्ध के वास्ते कैसे प्रवृत्ति हुई ? जिसके उत्तर में कहा जाता है, कि निन्दा की दुष्टता कहते हैं, दुर्वचनों से यदि पिता का अपमान किया जावे, तो पिता भी पुत्र को मारता है यह पिता तो कृत्रिम (बनावटी) है वह मारने के लिये क्यों न प्रवृत्त होवे, शम्बर को यह ज्ञात हो गया, कि यह मृत्यु है इसलिये विशेष रूप से आया है, तब भय से क्यों न निवृत्त हुआ ? इस पर कहा कि 'पादाहत इव उरगः' जैसे पाद से आहत सर्प विशेष क्रोध ने आकर फुत्कार करता है, मरना कबुल करता है किन्तु यहां से निवृत्त नहीं होता है, क्योंकि उसको क्रोध की ही रक्षा करनी है न कि दूसरों की, इसलिये एक के साथ एक को ही युद्ध करना चाहिये इस कारण से हाथ में गदा लेकर अकेला ही बाहर निकला, न कवच धारण किया तथा न अपने साथ किसी सहायक को लिया था, बाहर आने में कारण, दुर्वचनों से क्रोध आ गया था जिससे उसके नेत्र लाल हो रहे थे, क्रोध के वश हो जाने से कुछ भी जान न सका, दृष्टि लाल हो जाने से देख कर भी जान नहीं सका । १८॥

आभास—ततः प्रथमत एव स्वयं मारणार्थं प्रवृत्त इत्याह गदामाविध्येति ।



आभासार्थ—पश्चात् स्वयं शम्बर ही प्रथम मारने के लिये प्रवृत्त हुआ, जिसका वर्णन 'गदामाविध्य' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—गदामाविध्य तरसा प्रद्युम्नाय महात्मने ।

प्रक्षिप्य व्यनदन्नादं वज्रनिर्घोषनिष्ठुरम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—उस दैत्य ने बहुत शीघ्रता से गदा को फिराकर महात्मा प्रद्युम्न के ऊपर फेंककर वज्र के गिरने के समय जो भारी घोष होता है, वैसी ध्वनि की ॥१६॥

सुबोधिनी - क्रोधवशान्महतीमपि गदामुत्तोल्य भ्रामयित्वा वा । तरसा यावन्न सावधानो भवति । अनेन अपराधादपि तस्य पराजय एवेति सूचितम् । महात्मन इति । तस्य पलायनाद्यभावः सूचितः । प्रक्षेपमात्रेणैव मारित इति मत्वा व्यन-	दत् । मूर्च्छितस्य तेन नादेन सुतरां मरणं भवतीति ज्ञापयितुं विशिनष्टि वज्रनिर्घोषनिष्ठुरमिति । वज्रस्य नितरां घोषः पातसमयशब्दः । ततोऽपि निष्ठुरमिति ॥१६॥
--	---

व्याख्यार्थ—क्रोध वश होने से भारी गदा को ऊपर उठाकर अथवा घुमा कर, बहुत शीघ्र जब तक वह सावधान न हो जावे, उसके ऊपर उसका प्रहार किया, इस तरह अपराध करने से भी उसका पराजय ही सूचित हुआ । प्रद्युम्न को 'महात्मा' का विशेषण देकर यह बताया कि वह महती आत्मा है इसलिये पलायन भी न करेगा उस (शम्बर, ने समझा कि प्रहार मात्र से ही मैंने इसको मारा डाला, इसलिये जोर से ध्वनी करने लगा, वैसे नाद से मूर्च्छित का बहुत शीघ्र मरण हो जाता है, यह जताने के लिये, उस नाद के स्वरूप की दृष्टान्त से बखान करते हैं कि वज्र गिरने के समय जैसा भारी घोष होता है उससे भी यह नाद कठोर है ॥१६॥

आभास—एतादृशोऽप्युद्यमः व्यर्थो जातः (इति) प्रद्युम्नस्य पराक्रमेणेत्याह तामापतन्तीमिति ।

आभासार्थ—प्रद्युम्न के पराक्रम से ऐसा भी शम्बर का पराक्रम व्यर्थ गया जिसका वर्णन 'तामापतन्ती' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तामापतन्तीं भगवान्प्रद्युम्नो गदया गदाम् ।

अपास्य शत्रवे क्रुद्धः प्राहिणोत्स्वगदां नदन् ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् प्रद्युम्न ने उस आती हुई गदा को अपनी गदा से दूर कर क्रोधित हो नाद करता हुआ अपनी गदा से शत्रु पर प्रहार किया ॥२०॥



सुबोधिनी - स्वगदया तां गदामपास्य आग-
च्छन्तीं दूरादेव मारयित्वा ततः क्रुद्धः सन् तद्व-
त्स्वयमपि नदन् । शत्रुपरिणोय एवेति, अन्यथा | मारयिष्यतीति वा स्वगदां प्राहिणोत् । भगवान्ति-
त्येतत्सामर्थ्यहेतुः । भगवत्कार्यत्वादावेशित्वेद्वा ।
भगवान् ॥२०॥

व्याख्यार्थ - प्रद्युम्न ने अपनी गदा से उस गदा को दूर से ही तोड़कर, अनन्तर क्रोधित हो के, उसकी भांति आपने भी, शत्रु को मारना ही चाहिये नहीं तो वह मार डालेगा, यों नाद करता हुआ अपनी गदा का शत्रु पर प्रहार किया, भगवान् विशेषण इसके सामर्थ्य का कारण है, अथवा भगवान् के कार्य होने से वा प्रद्युम्न में भगवान् का आवेश है इसलिये भगवान् कहा है ॥२०॥

आभास—ततो लौकिकेन जयाभावमाशङ्क्य मायया भगवद्रूपया युद्धं करिष्यामीति प्रवृत्त इत्याह स च मायामिति ।

आभासार्थ—‘स च मायां’ श्लोक में कहते हैं कि शम्बर लौकिक प्रकार अपनी जीत न होगी, यों समझ, भगवद्रूप माया से युद्ध कर जीतूंगा इस विचार से युद्ध में प्रवृत्त हुआ ।

श्लोक—स च मायां समाश्रित्य दैतेयीं मयदर्शिताम् ।

समुच्चेऽस्त्रमयं वर्ष काष्णो वैहायसोऽसुरः ॥२१॥

श्लोकार्थ—वह शम्बर मय दैत्य की सिखाई हुई दैत्यों की माया का आश्रय लेकर आकाश में स्थित हो प्रद्युम्न पर अस्त्रों की वर्षा करने लगा ॥२१॥

सुबोधिनी—दैतेयीत्यनेन भगवत्त्वमुक्तम् । सम्यगाश्रयणं मनःपूर्वकं भक्त्या । मयदर्शिता-
मिति । सिद्धादुपदेशः सफलो भवतीति ज्ञाप-
नार्थः । ततः अदृश्यः सन् अस्त्रमयमानेयाच्छ-
समूहं काष्णो प्रद्युम्ने स्वयं विहायसि आकाश
एव स्थितः वैहायसः । असुराणामन्तरिक्षेऽपि
गतिरस्तोति सूचयितुं तथोक्तम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—‘दैतेयी’ पद से बताया कि यह माया दैत्यों के लिये भगवान् है, अच्छे प्रकार आश्रय का भाव है, कि मनः पूर्वक भक्ति से उसका सहारा लिया है, यह विद्या मय की सिद्ध की हुई है, जिसके उपदेश की, की हुई है अतः सफल होगी, यह जानने के लिये मयदर्शिताम् पद दिया है, अनन्तर अदृश्य हो आकाश में स्थित होते हुए प्रद्युम्न पर आग्नेय आदि अस्त्र समूह की वर्षा करने लगा, आकाश में स्थित कहने से यह बताया कि असुरों की अन्तरिक्ष में भी गति हो सकती है ॥२१॥

आभास—ततो मायाया भगवत्त्वात् काचित्पीडा जातेत्याह बाध्यमानोऽस्त्र-
वर्षेणेति ।

आभासार्थ—‘बाध्यमानो’ श्लोक में बताते हैं कि दैत्यों के लिये माया भगवान् है, अतः माया से बताये गये अस्त्रों से रुक्मिणी के पुत्र को कुछ पीड़ा हुई ।

श्लोक—बाध्यमानोऽस्त्रवर्षेण रौक्मिणो यो महारथः ।

सत्त्वात्मिकां महाविद्यां सर्वमाद्योपमदिनीम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—अस्त्रों की वर्षा से पीड़ित महारथी रुक्मिणी के पुत्र ने सत्त्वमय सर्व माया की नाश करने वाली महाविद्या का प्रयोग किया ॥२२॥

सुबोधिनी — हीनत्वं सम्पादयितुं रौक्मिण्येव
इत्युक्तम् । नहि कृष्णपुत्रे बाधा सम्भवतीति ।
तथापि महारथः क्षत्रियजातित्वेन प्राप्तसामर्थ्य
सत्त्वात्मिकां प्रतिस्पर्धिनीं विद्यारूपां तथा साक्षा-
दुपदिष्टां समाश्रित्य स्वयमप्यल्लभयं वर्षं मुमुचे
इति सम्बन्धः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—प्रद्युम्न को कार्णार्थ^१ न कह कर रौक्मिण्य^२ कहा जिसका आशय उनकी यहां हीनता दिखानी है यदि कृष्ण का पुत्र कहे तो कृष्ण के पुत्र को कोई बाधा नहीं होती किन्तु बाधा इसलिये हुई कि रुक्मिणी से भी पुत्रत्व सम्बन्ध होने से इतनी हीनता है जो कुछ बाधा हुई, बाधा होने पर भी महारथी तथा क्षत्रिय जातिपन से सामर्थ्य प्राप्त किया था जिससे सत्वरूप, सकल माया को दबाने की इच्छा वाली विद्या रूप माया जिसका मायावती ने साक्षात् उपदेश किया है, अतः मंत्र आदि पढ़ने के सिवाय वह माया साक्षात् स्वयं आ गई है उसका आश्रय कर स्वयं प्रद्युम्न भी अस्त्रों की वर्षा करने लगा ॥२२॥

ग्रामास—ततस्तेनापि बह्व्यो माया. प्रदर्शिता इत्याह तत इति ।

आभासार्थ—“ततो गौह्यक” श्लोक में कहते हैं कि प्रद्युम्न की इस प्रकार वर्षा करने के अनन्तर उसने भी अनेक प्रकार मायाएं दिखाई ।

श्लोक — ततो गौह्यकगान्धर्वपैशाचोरगराक्षसीः ।

प्रायुङ्क्त शतशो दंत्यः काष्णिग्व्यधमयत्स ताः ॥२३॥

श्लोकार्थ—पश्चात् दैत्य ने गुह्यकों की, गन्धर्वों की, पिशाचों की, उरगों की, राक्षसों की; इस प्रकार अनेक मायाओं का प्रयोग किया ॥२३॥

सुबोधिनी—पञ्चता अङ्गमायाः, तेन हि साङ्गो भगवान् सेवित इति विज्ञायते । गन्धर्वा अपि दैत्यपक्षपातिनः । तेषामवन्तरभेदाः सन्ती-
त्याह प्रायुङ्क्त शतश इति । सर्वसामपि सकृदेव निराकरणं कृतवानित्याह । कार्ष्णिः सः पूर्वप्राप्त-
मायः ता व्यचमयत् ॥२३॥



व्याख्यार्थ—ये पांच ही ग्रंथ मायाएं हैं इससे जाना जाता है कि इसने ग्रंथ सहित माया रूप भगवान् की आराधना की है, गन्धर्व भी दैत्यों के पक्षपाती हैं, उनके अवान्तर भेद भी हैं, इसलिये कहा है कि सैकड़ों प्रकार से प्रयोग किये उन सकलों का भी प्रद्युम्न ने एक बार ही निराकरण कर दिया, वह कृष्ण के पुत्र हैं, पहले ही माया प्राप्त करली है, जिससे उसकी समस्त मायाओं को दबा दिया अथवा नष्ट कर दिया ॥२३॥

आभास—ततः पीरुषद्वयेऽपि नष्टं तं मारितवानित्याह निशातमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् प्रद्युम्न ने देखा कि दो बार किया हुआ उद्यम सफल न हुआ अतः उसको ही मारने लगा जिसका वर्णन 'निशातमसि' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—निशातमसिमुद्यम्य सकिरीटं सकुण्डलम् ।

शम्बरस्य शिरः कायात्ताम्रश्वश्र्वोजसाहरत् ॥२४॥

श्लोकार्थ—फिर तीक्ष्ण खड्ग लेकर किरीट और कुण्डल सहित उसके सिर को लालश्मश्रुवाले ने पराक्रम पूर्वक धड़ से अलग कर दिया ॥२४॥

सुबोधिनी - यथा श्येने दृष्टे पक्षिणो लीयन्ते, तथा तस्मिन् दृष्टे शम्बरो लीनो जात इति । निष्प्रभं तं स्वेच्छया असिमुद्यम्य किरीटकण्डल-	सहितं परित उपरि च शोभायुक्तमधोऽपि दुर्धर्षं ताम्रदमश्रुः ओजसा अहरत् । छित्त्वा नीतवानित्यर्थः ॥२४॥
--	---

व्याख्यार्थ—जैसे बाज को देख कर पक्षी छिप जाते हैं, वैसे ही प्रद्युम्न को देख कर शम्बर छिप गया, जिससे जाना गया कि अद्य इसकी प्रभा नष्ट हो गई है, वैसे उसको अपनी इच्छा से पराक्रम पूर्वक खड्ग को लेकर लालश्मश्रुवाले प्रद्युम्न ने किरीट तथा कुण्डल सहित नोचे और ऊपर चारों तरफ शोभायुक्त एवं दुर्धर्ष शिर को धड़ से अलग कर दिया ॥२४॥

आभास—एतत्कर्म न विगीतमिति विज्ञापयितुं देवानां सम्माननामाह आकीर्यमाण इति ।

आभासार्थ—यह कर्म निन्दनीय नहीं है, यह जताने के लिये देवों का सम्मान करने का वर्णन 'आकीर्यमाणो' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—आकीर्यमाणो दिविजैः स्तुवद्भिः कुसुमोत्करैः ।

मार्ययाम्बरचारिण्या पुरं नीतो विहायसा ॥२५॥

श्लोकार्थ—तब देवताओं ने स्तुति की और चारों तरफ फूल बरसाये अनन्तर



आकाश में भी जिसकी गति है, ऐसी मायावती आकाशमार्ग से प्रद्युम्न को द्वारका ले गई और वहाँ उसने अन्तःपुर में पहुँचाया ॥२५॥

सुबोधिनी—आकीरणं सर्वत्र वृष्टिः । कायिके वाचनिके चोक्ते । अर्थात्मानसिकमुत्तमिति सर्वथा देवानामादर उक्तः । ततो मायावत्या अम्बरचारिण्या विहायसा आकाशमार्गेण प्रद्यु-
म्नो द्वारकां नीतः । आदौ भगवद्गृहे पुत्रत्वे सिद्धे पश्चादन्यत्र पुत्रत्वं सिध्यत्विति । पुरशब्देन अन्तःपुरमप्युच्यते । कृष्णान्तःपुरं नीतवती प्रद्यु-
म्नस्य परिज्ञापनार्थम् ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—‘आकीरण’ शब्द से यह बताया है कि चारों तरफ फूलों की वृष्टि की, कायिक और वाचनिक कहे अब सर्वथा देवों की चारों तरफ पुष्प वृष्टि से आदर करने से मानसिक आदर भी कहा, अनन्तर आकाश में फिर सकने वाली मायावती आकाश मार्ग से प्रद्युम्न को द्वारका ले गई, पहले इसका भगवद्गृह में पुत्रत्व सिद्ध हुआ था, पश्चात् दूसरे स्थान पर सिद्ध हो जाय, इसलिये उसको अन्तःपुर में ले गई, ‘पुर’ शब्द से अन्तःपुर भी कहा जाता है, प्रद्युम्न को ज्ञान कराने के लिये ही श्रीकृष्ण के अन्तःपुर में ले गई ॥२५॥

श्लोक—अन्तःपुरवरं राजन्ललनाशतसंकुलम् ।

विवेश पत्न्या गगनाद्विद्युतेव बलाहकः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! वह श्रीकृष्ण का श्रेष्ठ अन्तःपुर अनेक स्त्रियों से व्याप्त था; जैसे बिजली के साथ बादल आते हैं, वैसे इसने भी पत्नी के साथ आकाशमार्ग से अन्तःपुर में प्रवेश किया ॥२६॥

सुबोधिनी—अन्तःपुरेषु वरम् । ललनाशतः संकुलम् । विद्युतेव बलाहक इति शोभा दोषाभावश्चोक्तः । आकाशमार्गेण प्रवेशे विचारोऽपि न जातः । आधिदैविकास्तु जानन्तीति न विरोधं कुर्वन्ति । पत्न्या सह प्रवेशात् लौकिकोऽपि न दोषः ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—अन्तःपुर में उत्तम, अनेक स्त्रियों से भरा हुआ, जैसे बिजली के साथ बादल आते हैं वैसे आए, यों कह कर शोभा तथा दोषों का अभाव दिखाया, आकाश मार्ग पर आने पर किसी प्रकार का वहाँ स्थितों को विचार अथवा मन में शंका भी न हुई, कारण कि आधिदैविक तो इस रहस्य को जानते हैं इसलिये विरोध भी न किया, पत्नी के साथ प्रवेश करने से लौकिक दोष भी नहीं है ॥२६॥

आभास—ततोऽन्तःपुरं प्रविष्टस्य विचारमाह तं दृष्ट्वेत्यष्टभिः ।

आभासार्थ—‘तं दृष्ट्वा’ इस श्लोक से आठ श्लोकों में अन्तःपुर में प्रविष्ट हुए प्रद्युम्न के स्वरूप को देख कर जिसका जो कुछ विचार हुआ उसका वर्णन करते हैं ।



श्लोक—तं दृष्ट्वा जलदश्यामं पीतकौशेयवासम् ।

प्रलम्बबाहुं ताम्रक्षं सुस्मितं रुचिराननम् ॥२७॥

अलंकृतमुखाम्भोजं नीलवक्रालकादिभिः ।

कृष्णं मत्वा स्त्रियो ह्येता निलिल्युस्तत्र तत्र ह ॥२८॥

अवधायं शनैरीषद्वैलक्षण्येन योषितः ।

उपजग्मुः प्रमुदिताः सस्त्रीरत्नं शुचिस्मिताः ॥२९॥

श्लोकार्थ— मेघ के समान श्यामवर्ण, पांला पीताम्बर बाँधे, लम्बी भुजा वाला, अरुण सम नेत्र वाला, सुन्दर मन्द हास्य युक्त, सुन्दर मुखारविन्द वाला, नील और वक्र आदि से अलंकृत मुख - कमल वाला; उसका स्वरूप देख उसको कृष्ण समझने लगी, जिससे कृष्ण की स्त्रियाँ जहाँ-तहाँ छिपने लगीं, धीरे-धीरे फिर उसके स्वरूप को श्रीकृष्ण से विलक्षणता पहचान कर असन्न हुई कृष्ण की स्त्रियाँ पवित्र हास वाली होकर स्त्रीरत्न सहित आए हुए प्रद्युम्न के पास आने लगीं ॥२७-२९॥

सुबोधिनी—सर्वासां त्रिभिर्विचारः, रुक्मिण्याः पञ्चभिः । साधारणीनां विचारे हेतुं वक्तुं प्रथमतो मोहमाह । अन्तःपुरे यावन्ता जनाः, सुतरां स्त्रियः तं प्रद्युम्नं भगवत्सदृशं दृष्ट्वा, कृष्णं मत्वा, प्रथमतः ह्येताः लज्जिताः सत्यः कृष्णस्य स्त्रियो निलिल्युः । ता हि स्वच्छन्दं क्रोडमानाः स्थिताः अतो भगवान् दृष्टवानिति लज्जा । भगवत्समानतां वक्तुं विशेषणान्याह जलदश्याममित्यादिना । भगवान् षड्गुणसहितः, स्वयमयमपि सप्तधा समान इति । श्रीवत्सकौस्तुभौ विना अन्यस्योपलक्षणं वर्णनम् । जलदश्याममिति रूपतुल्यता । आकृतिस्तु पुत्रत्वादेव समाना भवति । पीतपट्टाम्बरमिति परिच्छदतुल्यता । प्रलम्बबाहुमिति स्त्रीणां सम्यक् ज्ञातावयवतुल्यता । ताम्रक्षमिति अनौचित्यात् क्रुद्ध इव स ज्ञातः । इदं

वैलक्षण्यमग्रे वक्ष्यति । सुस्मितमिति । तासां भाव्यो घर्मः । रुचिरमाननमिति सर्वोत्कृष्टशोभा । अलङ्कृतं मुखाम्भोजं यस्य । नीलैर्वक्रैरलकादिभिः, आदिशब्देन कुण्डलकिरीटादिभिः, किं बहुना भगवदोया सर्वा सामग्री ग्राह्या । मुखं हि सर्वेषां भेदजनकम् । तदेव तुल्यं जातमिति भ्रमो युक्तः । यत्र क्वचिल्लीना इति निलीय दर्शनं सम्भवतीति निरूपितम् । ततो जिज्ञासायां भगवतः किञ्चिदाधिक्यं श्रोवत्सादिकं च दृष्ट्वा ईषद्वैलक्षण्येन साक्षाद्भगवानयं न भवतीति निश्चित्य, तत्तुल्यत्वेन तदीयत्वं च निश्चित्य, पुत्र एवायं भविष्यतीति प्रमुदिताः सत्यः स्त्रीरत्नसहितं तं द्रष्टुं सर्वा एव योषितः समागताः । शुचि स्मितां यासामिति तासां भावान्तरं निवारितम् ॥२७-२९॥

व्याख्यानार्थ—सकल स्त्रियों का विचार तोन श्लोकों से और रुक्मिणी का पांच श्लोकों से कहते हैं—साधारण स्त्रियों के विचार में हेतु को कहने के लिये प्रथम मोह को कहते हैं, अन्तःपुर में जितने जन हैं, बहुत कर स्त्रियाँ, वे, उस प्रद्युम्न को भगवान् के समान देखकर कृष्ण मानने लगी जिससे प हले लज्जित हो के छिपने लगी, क्योंकि वे उस समय स्वच्छन्द क्रोड़ा कर रही थीं, जिस क्रोड़ा को



अचानक अक्र भगवान् कृष्ण ने देख लिया, इसलिये लज्जित हो गई, वह भगवान् जैसा ही है इसकी पुष्टि में उसके विशेषण कहे जाते हैं, जैसे भगवान् षड्गुण सहित हैं, वैसे यह स्वयं भी सातों प्रकार समान दीखता है, श्रीवत्स तथा कौस्तुभ मणि के सिवाय अन्य उपलक्षणों का वर्णन करते हैं, १-मेघ के समान श्याम वर्ण है जिससे रूप की समानता बताई आकृत तो पुत्र होने से समान होती है २-पीला पीताम्बर धारण किया था जिसमे वस्त्रों से समानता हुई ३-लम्बी भुजाएं थी, जिससे स्त्रियों के अच्छी तरह अवयव के ज्ञान होने की समानता कही ४-अरुण नेत्र है क्योंकि अयोग्य कार्य होने से वह क्रुद्ध है यह जताया, वह विलक्षणता आगे स्फुट कहेंगे ५-सुन्दर मुसक्यान है यह स्त्रियों को प्रसन्न करने वाला धर्म है ६-मनोहर मुखवाला कहने से उसकी शोभा सबसे विशेष है यह दिखाया है नीले रंग की टेढ़ी अलकों तथा किरीट कुण्डलों में अलंकृत मुखाम्भोज है; विशेष क्या कहें, भगवान् की सर्व सामग्री से सुसज्जित है मुख तो समस्तों के चित्तका भेदन करने वाला है वह भी भगवत्समान था इसलिये यह अम हुआ, कि कृष्ण है, वह अम योग्य ही है, जहां कहां जो कुछ होता है वह लीला ही है इसलिये छिपकर देखने लगी, यों बन सकता है इसका निरूपण किया है, अनन्तर पूर्णतया जानने की ईच्छा होने से फिर ध्यान पूर्वक देखने लगी, तब ज्ञान हुआ कि भगवान् के स्वरूप में श्रीवत्स आदि चिन्ह विशेष हैं, वे इसमें नहीं हैं इस प्रकार थोड़ी विलक्षणता से समझ लिया कि यह साक्षात् भगवान् नहीं है, यों निश्चय कर उनके समान हैं जिससे उनका सम्बन्धी है ऐसा विश्वास कर यह भगवान् का पुत्र होगा, यों जानकर प्रसन्न हुई, हर्षित होती हुई स्त्रीरत्नसहित उसको देखने के लिये, सब स्त्रियां उसके पास आईं, उस समय पवित्र मुसक्यान वालियां सब थी, क्योंकि पहले जो कृष्ण होने से पातिभाव था वह बदल कर अब दूसरा भाव अर्थात् पुत्र भाव हो गया है । २७, २८, २९॥

आभास—तत्र रुक्मिण्यपि समागता, तासां तस्याश्च पूर्वोक्ता धर्मास्तुल्याः । विशेष वक्तुं प्रक्रियान्तरमारभते अथेति ।

आभासार्थ—वहां रुक्मिणी भी आ गई, उनका और रुक्मिणी के पहले कहे हुए धर्म समान है, अब उसके विशेष धर्म कहने के लिये दूसरी प्रक्रिया 'अथ' से प्रारम्भ करते हैं ।

श्लोक—अथ तत्रासितापाङ्गी वैदर्भी वल्गुभाषिणी ।
अस्मरत्स्वसुतं नष्टं स्नेहस्तुतपयोधरा ॥३०॥

श्लोकार्थ—स्नेह से भर रहे स्तनों वाली, मधुर भाषिणी, श्यामकटाक्षवाली रुक्मिणी को खोये हुए पुत्र का स्मरण हो आया ॥३०॥

सुबोधिनी—भगवत्पुत्रो भवतीति सम्भावनया सिद्धम् । तासां त्वस्मत्पुत्रो न भवतीति निश्चयः । अस्यास्तु सन्देह इति भिन्नः प्रक्रमः । ननु पुत्रत्वे निर्धारिणे पश्चात्स्वस्याः अन्यस्या वेति विचारो युक्त इत्याशङ्क्य, भगवत्पुत्रत्वं निर्धारयितुं एक-

हेलया स्वस्या अपि प्रथमतः सादृश्यं ज्ञातवती-
त्याह । तत्र स्त्रीसमूहे अ'सितापाङ्गी शोभनदर्शना,
असिते कृष्णे वा अपाङ्गी यस्या इति, तेन ज्ञान-
दृष्टिरस्याः अन्यापेक्षया विलक्षणेति इयमेव साद-
श्येन पुत्रं स्मृतवती, यतो वैदर्भी अत्यन्तं भक्ता ।

अन्तःकरणदेहयोः उत्तमत्वमुक्त्वा मध्ये वाचो-
ऽप्युत्तमतामाह । अन्यथा कायवाङ्मनसां एकम-
तुल्यं स्यादिति । वल्गु भाषत इति वल्गुभाषिणी।
सादृश्येन संस्कार उद्बुद्ध इति स्वसुतं नष्टम-
स्मरत् । यद्यप्यत्यन्तशिशोः स्थूलस्यापि नावयवा-
दिसाधारण्यम्, तथापि तस्याः त्रिविधोऽप्युत्कर्ष

उक्त इति तादृशस्यैव वृद्धावयं भावो भवतीति
निश्चित्य स्वसुतं नष्टमस्मरत् । स्नेहेन स्नुतो
पयोधरौ यस्या इति । आधिभौतिकस्य देहस्य
आधिदैविकस्यापि तत्सम्पादकस्य संवादो
निरूपितः ॥३०॥

व्याख्यान—भगवान् का यह पुत्र है ऐसा सम्भावना से सिद्ध है, रुक्मिणी के सिवाय अन्यो
को तो यह निश्चय हो गया था कि हमारा पुत्र नहीं है, इसको तो सन्देह हुआ, इसलिये यह कम
अलग है यह भगवान् का पुत्र है ऐसा निर्णय होने के अनन्तर ही. अपना है या दूसरी का है जिसका
विचार करना उचित है ? इस प्रकार संशय होने पर पुत्रत्व के निर्धार करने के लिये यकटक ध्यान
करने से उसमें पहले अपनी सदृशता जानने लगी, उस स्त्री समूह में सुन्दर थी अथवा कृष्णकटाक्षों
वाली होने से इसकी ज्ञान दृष्टि अन्यो से विलक्षण है इसलिये इसके ही समानता के कारण पुत्र की
स्मृति आ गई कि मेरा नष्ट हुआ पुत्र यही है, ऐसा स्मरण हो आने का कारण यह है, कि वेदर्धो
परभक्त है, इस प्रकार अन्तःकरण और देह की उत्तमता कहकर मध्य में वाणी की भी उत्तमता
बताते हैं, यदि तीनों की उत्तमता न कही जाय, तो उनमें समानता न होवे, मधुर भाषण करने वाली
है, इस प्रकार तीनों की उत्तमता से एकता होने पर ही संस्कार जागृत हो गया, जिससे अपने खोये
हुए पुत्र का स्मरण होने लगा, यद्यपि छोटे बालक और बड़े के स्थूल अवयवों में साधारण समानता
नहीं दोखती है. तो भी उसके त्रिविध उत्कर्ष के कारण वह समझ गई कि यह वही बालक है, बड़े
होने से इस प्रकार हुआ है यह निश्चय कर नष्ट हुए पुत्र की स्मृति होने लगी जिससे स्नेह बढ़ने के
कारण स्तनों से दूध बहने लगा, आधिभौतिक देह को आधिदैविक देह बनाने वाले संवाद का
निरूपण किया ॥३०॥

आभास—एतदोयाश्चत्वारो धर्मा निरूप्यन्ते । आन्तर एको, बाह्यास्त्रयः । आदौ
परिदृश्यमानं सम्भावयति को न्वयमिति ।

आभासार्थ—इसके चार धर्म निरूपण किये जाते हैं, एक आन्तर और तीन बाह्य के, पहले
प्रकट देखने में आने वाले का वर्णन 'को न्वय' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—को न्वयं नरद्वैडूर्यः कस्य वा कमलेक्षणः ।

धृतः कया वा जठरे केयं लब्धा त्वनेन वा ॥३१॥

श्लोकार्थ—कमल तुल्य नेत्रवाला, पुरुषों में श्रेष्ठ यह कौन है ? अथवा किसका
है ? इसको किसने अपने कुक्षि में धारण किया है ? और इसने यह कौन स्त्री प्राप्त
की है ? ॥३१॥



सुबोधिनी—नु इति वितर्के । अयं कः, देवा-
दिषु मध्ये क इत्यर्थः । वैदूर्यमणिः श्यामपीतो
भवति । अयं नीलमेघश्यामोऽपि तथा सहितस्त-
त्कान्त्या वैदूर्यतुल्यो जातः । वैदूर्यमणिश्चेत्,
नराकारः सहज एवोत्पन्नो भवेत् । सोऽपि चेतनो
भवेत् तदा प्रद्युम्नतुल्यः स्यादिति मत्वाह नर-
वैदूर्ये इति । ननु कस्यचिद्वंशे एतादृशा एवोत्प-
द्यन्ते यथा देशविशेषे पाषाणा हीरकरूपा भवन्ति,
तस्मान्नः श्र्वर्यमिति चेत्, तत्राह कस्य वेति । को

वा एतादृशः यस्यायं पुत्रो भवेत् । कमलेश्वर-
त्वान्न स्थावरस्य । स्त्रिया अपि भावोऽस्मिन्
दृश्यत इति न स्थावराज्जातः । नापि मानसः,
नापि केवलात् पुरुषात् । अतः का वा तादृशपुरु-
षयोग्येति तां भावयति कया वा जठरे धृत इति ।
अस्तु वा इयं भार्या एतद्योग्या, कथमनेनोपलब्धे-
त्याह केयं लब्धेति । अनेनापि इयं का लब्धा ।
वेत्यानादरे । रुक्मिणीहृदये सा न सम्यग्भातीति ।
पूर्वजन्मसम्बन्धनीति ॥३॥

व्याख्यार्थ—‘नु’ पद संदेह अर्थ में है यह देव आदि में कौन है ? वैदूर्यमणि श्यामपीत होती है
यह नील मेघवत् श्याम होते हुए भी मणि के संलग्न से वैदूर्य मणि के संलग्न से वैदूर्यमणि के समान
हो गया है, यदि वैदूर्यमणि सम हो तो पुरुषाकार इसका सहज ही उत्पन्न होना चाहिये, वह चेतन भी
होना चाहिये अतः यह प्रद्युम्न के बराबर है यों समझ कर कहा कि नः वैदूर्य’ ऐसे नर जहाँ-तहाँ उत्पन्न
नहीं होते हैं किन्तु किसी वंश में ही वैसे उत्पन्न होते हैं जैसे विशेष देश में हीरकरूप पाषाण पंदा होते
हैं, इसी से कोई अश्चर्य नहीं है कि यह किसी ऐसे विशेष वंश में उद्भूत हुआ है यदि यों है तो किसके
यहां उत्पन्न हुआ है? वह वंश कौन सा है? जिसमें यह पुत्ररूप से प्रकट हुआ है, उस वंश में भी वह कौन
सा पिता है जिसका यह पुत्र होके आया है । किसी स्थावर का भी नहीं है क्योंकि कमलनेत्र है, और
यह भी देख रहा है, कि इसमें स्त्री भाव भी है अर्थात् केवल स्त्री वा पुरुष से उत्पन्न नहीं हुआ
और न केवल मन से प्रकट हुआ है ? ऐसे सुयोग को गर्भ में धारण करने वाली माता कौन है ?
जिसने अपनी कुक्षि में इसको धारण किया ? अस्तु, इसके योग्य यह भार्या इसने कैसे प्राप्त की है ?
अथवा ‘वा’ शब्द से अनादर प्रकट करती हुई कहती है कि यह इसने कौसी स्त्री प्राप्त की है ?
रुक्मिणी के हृदय में वह अचञ्ची नहीं जचती है, कारण कि वह पूर्व जन्म की सम्बन्धिनी है इसका
ज्ञान रुक्मिणी को नहीं है ऐसा प्रतीत होता है ॥३॥

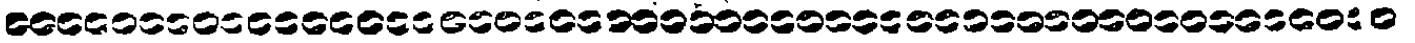
आभास — एतद्दर्शनेन स्वपुत्रस्मरणात् सादृश्यमेव स्मारकमिति सादृश्यमुपपादयति ।

आभासार्थ— इसके देखने से पुत्र का स्मरण हो गया उस स्मृति का कारण सादृश्य है जिसका
प्रतिपादन करती है ।

श्लोक—मम चाप्यात्मजो नष्टो नोतो यः सूतिकागृहं त् ।

एतत्तुल्यवयोरूपो यदि जीवति कुत्रचित् ॥३॥

श्लोकार्थ—मेरा पुत्र भी नष्ट हो गया था, जिसको कोई सूतिका गृह से हरण
कर ले गया था, यदि वह कहीं जीता होगा तो उसकी इतनी ही आयु है और रूप भी
ऐसा ही है ॥३॥



सुबोधिनी—मम चापीति । यथा कस्याश्चि-
दयं पुत्रः, एवं ममापि पुत्र एतादृशो भवतीति ।
आत्मज इति गर्भाज्जातः । भिन्नतया विद्यमानं
चारुदेष्टव्यमन्यं वा तुल्यतया निरूपयतीत्याशङ्क्य
व्यावर्तयति नष्ट इति । तर्हि मृतस्य कथं तुल्यते-
त्याशङ्क्याह नीत इति । अयं नाशः अदर्शनार्थः ।

सूतिकागृहादित्यनिर्देश एव केनचिन्नीतः । तर्हि
कथं रक्षसा घातकेनान्येन वा नीतः । तुल्यो भवि-
ष्यतीति चेत्, तत्राह यदि जीवति कुत्रचिदिति ।
तदा एतत्तुल्यं वयो रूपं च यस्य तादृशो भवेत् ।
एतावता स्वपुत्रस्य सम्भावनजीवितस्य एतत्तु-
ल्यता निरूपिता ॥३२॥

व्याख्यान—जैसे यह किसी का भी खोया हुआ पुत्र यहां आ गया है वैसे मेरा भी खोया हुआ
पुत्र कहीं होगा ? 'आत्मज' शब्द से यह बताया कि वह मेरे गर्भ से उत्पन्न पुत्र नष्ट हो गया है
पृथक् रूप से विद्यमान इसकी सुन्दरता वा अन्यगुणों से तुल्यता निरूपण करती हुई कहती है कि वह
मर नहीं गया किन्तु खो गया था वह भी जब उसके दस दिन भी नहीं बीते थे तब सूतिका गृह से
कोई हरण कर गया था, राक्षस वा किसी दूसरा घातक ले गया होगा तो वह मार दिया गया होगा
वा उनके पास होगा अतः इसकी उसके साथ समानता कैसे होगी? यदि यों कहो तो मेरा कहना है कि
यदि वह, कदाचित् जीवित है, तो इसके समान ही उसकी आयु है तथा रूप भी ऐसा ही है, यों कह-
कर यह बताया है, कि जिसके जीने की सम्भावना है वैसे अपने मेरे पुत्र की इससे समानता है ॥३२॥

आभास—अतः परं भेदं निराकृत्य स एवायं भवितुं युक्त इति विशेषं निरूपयति
द्वाभ्याम् ।

आभासाथं— इसके बाद यह वह नहीं है, वैसे भेद को दूर कर दो श्लोकों से विशेषणरूप से
निरूपण करती है कि वह ही यह होने के योग्य है ।

श्लोक—कथं त्वनेन संप्राप्तं सारूप्यं शाङ्गधन्वनः ।

आकृत्यावयवगत्या स्वरहासावलोकनः ॥३३॥

स एव वा भवेन्नूनं यो मे गर्भे धृतोऽर्भकः ।

अमुष्मिन्प्रीतिरधिका वामः स्फुरति मे भुजः ॥३४॥

श्लोकार्थ—इसने भगवान् के समान आकार, अवयव, चाल, स्वर, हास और
दृष्टि कैसे प्राप्त की है ? कदाचित् वही बालक तो यह नहीं है ? जिसको मैंने गर्भ में
धारण किया था; क्योंकि इसमें मेरा प्रेम अधिक हो रहा है, इसीलिए मेरी वाम
भुजा भी फड़क रही है ॥३३-३४॥

सुबोधिनी—कथं त्वनेनेति । अस्तु वा अय-
मुत्तमः । तथापि शाङ्गधन्वनः सारूप्यं तदपुत्रत्वे
कथमनेन संप्राप्तम् । शाङ्गधन्वन इत्यनेन ज्या-

घाताः भगवतो निरूपिताः । ते अस्मिन्नपि दृश्य-
न्त इति कायवाङ्मनोभिस्तुल्य इति । समानान्
षड्धर्मानाह आकृत्या अवयवः गत्येति । अवयवा-



वयविकार्याणि तुल्यानि निरूपितानि । स्वरो
वाचिकः, हासावलोकनं मानसं भावसूचकमिति ।
एतत्तु भेदे न घटत इति स एवायं वा भविष्य-
तीति संभावयति । नूनं निश्चयेन । यो भगवत्पुत्रः,
तत्रापि यो मया गर्भे घृतः । ननु भगवाननेकप-
त्नीक इति द्वीपान्तरे देशान्तरे वा भगवतः सका-

शात्कस्यांचिज्जातो भवतु, ततः सर्वमुपपद्यत इति,
कथं त्वया जठरे घृतो भविष्यतीत्याशङ्क्याह
वामः स्फुरति मे भुज इति । वामभुजस्फुरणम-
त्यन्तप्रियस्य समालिङ्गनं सूचयति । येन परमा-
नन्दो भवति, तादृशः पुत्र एव ॥३३॥ ३४॥

व्याख्यानार्थ—भले यह उत्तम हो, तो भी यदि यह भगवान् का पुत्र नहीं है तो इसने उनकी
सरूपता कैसे प्राप्त की ? 'शाङ्गधन्वन्' भगवान् के नाम कहने से यह बताया कि जैसे भगवान् की
आकृति में धनुष की रस्ती के घात है वैसे इसके आकार में भी प्रतीत होते हैं यों कहने से बताया कि
यह काया, वाणी और मन से भगवान् के समान है, भगवान् के समान ६ धर्मों का वर्णन करती है,
आकृति, अवयव और गति समान है, अवयव और अवयव के कार्य तुल्य निरूपण किये हैं, स्वर,
वाचिक है और हास से देखना मन के भावों का सूचक है, यह तो भेद होने पर नहीं बन सकता है,
इसलिये वह ही यह है, जो भगवान् क पुत्र मैंने गर्भ में धारण किया था ऐसी निश्चय से सम्भावना
है, यह तुम्हारा कहना कैसे निश्चित सत्य माना जाय, जब कि भगवान् की अनेक स्त्रियां है किसी
दूसरे द्वीप वा देश में भगवान् द्वारा किसी स्त्री से उत्पन्न हुआ होवे ? या मान लेने से सबकुछ बन
सकता है तो तुमने गर्भ में इसको धारण किया यह माना जाय जिसके उत्तर में कहती है 'वाम
स्फुरति मे भुजः' मेरी वाम भुजा फड़क रही है स्त्री का वाम भुजास्फुरण, अत्यन्त प्रिय के समालिङ्गन
का सूचना देता है, जिससे परम आनन्द होता है, वैसा होने से यह मेरा पुत्र हा है ॥३३-३४॥

आभास—एवं तस्मिन् स्वपुत्रत्वं निश्चित्यापि सम्यक् लोकतोऽपरिज्ञाने तथा व्य-
वहारः कर्तुं न शक्यत इति संदिहाना इव स्थिता । ततो भगवान् निश्चयार्थं सर्वैः सह
समागत इति वदति एवमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार यह मेरा ही है पुत्र यह निश्चय करके भी लोक को अब पूर्ण परिज्ञान
नहीं हुआ है अतः उससे पुत्र व्यवहार नहीं किया जा सकता है इस प्रकार संदेह करती हुई के
समान खड़ी ही रही अनन्तर भगवान् इसका निश्चय कराने के लिये समस्तों के साथ पधारे
यह 'एव' श्लोक से कहा जाता है ।

श्लोक—एवं मीमांसमानायां नैदभ्यां देवकोसुतः ।

देवक्यानकदुःदुभ्यामुत्तमश्लोक आगमत् ॥३५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार हविमणी के विचार करते हुए, देवको और वसुदेवजी के
साथ उत्तमकीर्ति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र आए ॥३५॥



सुबोधिनी—यतोऽयं देवकीसुतः भक्तहित-
कारी, सुतरां स्त्रीणाम्, रुक्मिणी च भक्ता, सा
च मीमांसमाना क्लेशेनैवं स्थिता । अतस्तद्दुःख-
निराकरणार्थं पुत्रत्वेन स्वीकारे पित्रादयः प्रयो-
जका इति देवक्या आनकदुन्दुभिना च सहितः

समागतः । यतोऽयमुत्तमश्लोकः । अन्यथा वाच्यता
भवेदिति । अत्र भीतिवृत्तिं अक्षरच्युतकालङ्कारं
बोधयति । यथा राक्षो रक्ताक्ष इति । अयं च
पुत्रः च्युत एव स्थानात्पुनः प्राप्त इति सूचयितुं
आ सर्वे सह अगमत् ॥३५॥

व्याख्यार्थ — वयों पधारे ? जिसका परिज्ञान कराने आचार्य श्री कहते हैं कि देवकी के पुत्र भक्त
हितकारी है, सुतराम् स्त्रीभक्तों का, रुक्मिणी भक्त है वह तो अब तक विचार करती हुई क्लेश
से स्थित थी, अतः उसके दुःख का निवारण करने के लिये यदि उसको पुत्र समझ स्वीकार किया
जावे तो भी उसमें पिता-माता आदि की आज्ञा ही प्रेरक है, अतः भगवान् अकेले न पधारकर देवकी और
वसुदेव को भी पधरा कर आये, क्योंकि यह उत्तम श्लोक है, यों न किया जाय तो निन्दा होती, भय
से अक्षर न लिखे जाने पर उसको 'अक्षरच्युतकालङ्कार' कहकर समझाया जाता है जैसे राक्षसों को
रक्ताक्ष कहा जाता है, और यह पुत्र भी स्थान से च्युत ही हुआ और फिर प्राप्त हुआ है, यों सूचित
करने के लिये 'आगमत्' पद में 'आ' उपसर्ग और 'अगमत्' गम घातु का भूतकाल में लकार है जिसका
अर्थ है सब के साथ आये । ३५॥

आभास—आगत्यापि स्वयं कथने बहिर्मुखाः लोभं संपादयेयुरिति तूष्णीं स्थित
इत्याह विज्ञातार्थोपीति ।

आभासार्थ — भगवान् आकर भी कुछ बोले नहीं चुप होकर खड़े रहे, क्योंकि भगवान् ने
समझा कि यदि मैं स्वयं बोलूंगा तो बहिर्मुख लोग कहेंगे कि भगवान् पुत्र लोभ कर रहे हैं नारद के
मुख से सारी कथा विज्ञातार्थोऽपि श्लोक के द्वारा कहलाई ।

श्लोक— विज्ञातार्थोऽपि भगवांस्तूष्णीमास जनार्दनः ।

नारदोऽकथयत्सर्वं शम्बरहरणादिकम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—आप सब जानते थे तो भी चुप होकर बैठ गए । तब नारद ने, शम्बर
ने बालक का हरण किया, वहाँ से लेकर यहाँ लौटकर जैसे आया, वह सर्व वृत्तान्त
कह सुनाया ॥३६॥

सुबोधिनी—ज्ञाने भगवानिति हेतुः । तूष्णीं-
भावे जनार्दन इति । सहि जनानामविद्यामदंय-
तीति । निन्दायां तु तेषामविद्या न गमिष्यतीति ।
तदा भगवदिच्छया नारदः समागत्योक्तवानित्याह

नारदोऽकथयत्सर्वमिति । स्वकृतमेवेति दोषपरि-
हारोऽप्यनेन कृतः । शम्बरस्य आहरणमारभ्य
समागमनपर्यन्तं सर्वमुक्तवान् ॥३६॥

व्याख्यार्थ — ज्ञान में भगवान् हेतु हैं और मोन धारण में जनार्दन, वह मनुष्यों की अविद्या
को नाश करने वाले हैं, निन्दा करने पर तो उनकी अविद्या नष्ट नहीं होगी तब भगवान् की इच्छा से



नारद ने आकर सर्व समाचार कहा, अपना किया हुआ ही कहा, यों कहते हुए अपने दोष का भी नारद ने परिहार किया अर्थात् अपना दोष मिटा दिया, शम्बर ने बालक का अपहरण किया वहां से लेकर यहां वह बालक स्त्री समेत आकर पहुँचा यह समस्त वृत्तान्त कहकर सुना दिया ॥३६॥

आभास—नारदवाक्यं हि सर्वेषामेव संमतम्, ततः सर्वैरङ्गीकृतव्यमिति सापत्न्यात् कृष्णस्त्रियो रुक्मिणीव्यतिरिक्ताः प्रथममङ्गीकृतवत्य इत्याह तच्छ्रुत्वेति ।

आभासार्थ—नारद का कहना सबको पसन्द आया, जिससे सबको अङ्गीकार योग्य है इसलिये पहले रुक्मिणी की जो सोतिन, श्रीकृष्ण की अन्य स्त्रियां थीं उन्होंने इस कहने को स्वीकार किया जिसका वर्णन 'तच्छ्रुत्वा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तच्छ्रुत्वा महदाश्चर्यं कृष्णान्तःपुरयोषितः ।

अभ्यनन्दम्बहून्बद्धान् नष्टं मृतमिवागतम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—यह बड़े आश्चर्य की बात सुन, भगवान् के अन्तःपुर की स्त्रियां बहुत वर्षों के बाद मानो मर कर पीछा आया हो, जैसे प्रद्युम्न को आया हुआ मान बहुत आनन्दित हुईं ॥३४॥

सुबोधिनी - राजस्य एताः । महदाश्चर्यं श्रुत्वेति । कथं मत्स्यभक्षितस्य जीवनम्, संपूर्णावयवत्वं च, कथं वा विशसने अक्षतत्वम्, समुद्र-प्रक्षेपे वा अमरणमिति । तासामनङ्गीकारे बाधकमाह कृष्णान्तःपुरयोषित इति । स्वस्याप्येवं पुत्रस्य नयने अन्या अप्यङ्गीकारं न कुर्युरिति भावः । अभ्यनन्दन् । अयं पुत्रो भवति अस्माकमिति । सापत्न्यभावेन दोषदर्शिन्यो न जाताः ।

किञ्च । परमस्नेहेन अमितः आनन्दयुक्ता अपि जाताः तत्र हेतुः । बहून्बद्धान् बहुवर्षपर्यन्तं नष्टमदृष्टमिति । अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । न केवलं चिरकालदर्शनमेव तत्र हेतुः, किन्तु मृतश्चेदायाति शीघ्रमेव, तदापि महानानन्दो भवतीति, मृतं पश्चात्स्वस्थमागतं यथा सादरं लोका अभिनन्दनं कुर्वन्ति । देहे विद्यमान एव जीवने अभिनन्दनम् ।

॥३७॥

व्याख्या— ये राजसे हैं जो आनन्द से सुना वह बहुत आश्चर्य का कारण है, जिसके मत्स्य ने खाया वह कैसे बच गया ? फिर विशेष अचम्भा तो यह है कि समस्त अवयव ज्यों के त्यों हैं अथवा खङ्ग के क्षत होने पर भी अक्षत रहा है, समुद्र में फेंकने पर भी मरे नहीं, वे यदि इसको अङ्गीकार न करें तो इनके लिये यह बाधक था कि श्रीकृष्ण के अन्तःपुर की स्त्रियां थीं, वे विचारने लगी की यदि हमारा पुत्र भी यों हरण हो कर पीछे लौटे तो दूसरी भी उसको अङ्गीकार न करेंगी । अतः वह सोतिन होते हुए भी प्रसन्न हुई, यह हमारा पुत्र है यों कहकर सोतिन के दोषवाले भाव दिखाये नहीं, किञ्च परम स्नेह से, पूर्णरीति से, आनन्द युक्त होने लगीं वैसे आनन्द होने में कारण बतलाते हैं कि बहुत वर्षों से जो खोया था, वह स्वस्थ अवस्था में आकर मिला है, केवल बहुत दिन से खोया हुआ मिला है यही प्रसन्नता में कारण नहीं है, किन्तु यदि मर गया हुआ जानने के बाद जल्दी

भी आ जावे तो भी हर्षोल्लास होता है, मर गया और फिर वह स्वस्थ आकर मिले तो उसका लोक आदर सहित अभिनन्दन करते हैं, देह में होते हुवे भी जीवन में अभिनन्दन होता है । ३७।

आभास— सात्त्विकानामभिनन्दनमाह देवकीति ।

आसाभार्थ— ‘देवकी वसुदेवश्च’ श्लोक से सात्त्विकों का अभिनन्दन कहते हैं ।

श्लोक— देवकी वसुदेवश्च कृष्णरामौ तथा स्त्रियः ।

दम्पती तौ परिष्वज्य रुक्मिणी च ययुर्मुदम् ॥३८॥

श्लोकार्थ— देवकी, वसुदेव, राम, कृष्ण तथा स्त्रियों और रुक्मिणी; ये सब युगल को पाकर अथवा इससे मिलकर आनन्द को प्राप्त हुए ॥३८॥

सुबोधिनी तथा स्त्रियः सात्त्विक्यः तौ दम्पती पणं सर्वेषां यावत्सुखं तावदेकस्या एव जातमिति
मायावती प्रद्युम्नश्च परिष्वज्य पुत्रत्वात् पुत्रवधु- ज्ञापनार्थम् ॥३८॥
त्वाच्च मुदं ययुः । रुक्मिणी चेति भिन्नतया निरू-

व्याख्यार्थ— देवकी, वसुदेव, राम और कृष्ण तथा सतीगुणी स्त्रियां मायावती (रति) और प्रद्युम्न से मिलकर ‘आलिगन कर’ प्रसन्न हुए, क्योंकि एक पुत्र था दूसरी पुत्र वधु थी, रुक्मिणी का नाम पृथक् लेने का आशय यह है कि जितना आनन्द इन सबको हुआ उतना आनन्द एक रुक्मिणी को ही हुआ ॥३८॥

आभास— साधारणानां तामसानां सम्मतिमाह नष्टं प्रद्युम्नमायातमिति ।

आभासार्थ— वहां जो साधारण तामस गुण वाले स्थित थे उनकी सम्मति ‘नष्टं प्रद्युम्न’ श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक— नष्टं प्रद्युम्नमायातमाकर्ण्य द्वारकौकसः ।

अहो मृत इवायातो बालो दिष्ट्येति हाब्रुवन् ॥३९॥

श्लोकार्थ— द्वारकावासी खोये हुए प्रद्युम्न का पीछा आना सुनकर कहने लगे कि मानो मर कर पीछा आया हो, वैसे यह बालक भी आ गया है, यह प्रसन्नता का विषय है, बहुत अच्छा हुआ ॥३९॥

सुबोधिनी— तेषां विपरीतभावनाभावाय पायामश्लीलवचनं न दोषाय । हेत्याश्रयं । अहो वचनमाह अहो मृत इवायात इति । लौकिकभा- इति च । गमनागमनयोर्भयत्राश्रयमाह ॥३९॥

यम् । तेन लक्ष्मीश्चेत्तत्र, वयं कथं नेति तासां
 अमे हेतुमुंख्यो निरूपितः । किञ्च, कामे कामात्
 सर्वं सम्भवति । किञ्च । स्मरे अक्षविषये सति
 स्मृत एवानर्थं करोति, किमुत प्रत्यक्षविषयः ।
 यत्र भगवत्स्त्रीणांमेवैषा व्यवस्था, तत्रान्यनारीणां
 कामोद्बोधः किं वक्तव्य इत्यर्थः । एवं कामस्य
 सर्वलोकेषु प्रतिष्ठितत्वमुक्तम् । स्त्रीषु प्रतिष्ठितः
 सुखहेतुर्भवति, न तु पुरुषेष्विति तथोक्तम् ॥४०॥



ध्याख्यार्थ — प्रद्युम्न का पितृ समान रूप देख कर उसमें अपने पति का भाव हो जाने से, उसकी माताएं भी काम जागृत होने पर, एकान्त में उसका सेवन करने लगी, इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, लक्ष्मी के आस्पद भगवान् का ही यह प्रतिबिम्ब है, प्रतिबिम्ब के समान ही बुद्धि होती है इस लिये कोई दोष नहीं है, वह लक्ष्मी का निवास स्थान है यों कहने से यह बताया है कि जब लक्ष्मी वहाँ रहती है तो हम वहाँ क्यों न रहें ? इस प्रकार उनके भ्रम होने में यह मुख्य कारण बताया है, काम होने पर, काम से सर्व होना सम्भव है, जब काम अक्ष विषय होता है तब केवल याद करते ही अनर्थ करता है, तो फिर प्रत्यक्ष होवे तो क्या अनर्थ करेगा वह कहा नहीं जा सकता, जहाँ उसके दर्शन से भगवान् की स्त्रियों की यह दशा है वहाँ अन्य स्त्रियों में काम जागृत हो अनर्थ करे इसमें कहना ही क्या है ? इस प्रकार सर्व लोकों में काम की प्रतिष्ठा हुई यों कहा, स्त्रियों में प्रतिष्ठित काम सुखका कारण होता है न कि पुरुषों में स्थित होने से सुख का कारण होता है, यों वैसे कहा है ॥४०॥

इति श्रीमद्भगवत् महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ५२वें अध्याय की श्रीमद्वत्सभाचाय-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय

प्रवान्तर प्रकरण का छठा अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।



इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

राग बिलावल

प्रद्युम्न जन्म सुभ घरी लीन्हो ।

काम अवतार लियो बदत यह बात जग, ताहि सम तुल्य नहि रूप चोन्हो ॥

पृथी पर असुर संबर भयो अति प्रबल, तिन उदधि माहि, तिहि डारि दीन्हो ।

मच्छ लियो भच्छि सो मच्छ मछवी गह्यो, असुरपति कौ सु लै भेट कीन्हो ॥

मच्छ के उदर तैं बोल परगट भयो, असुर मायावती हाथ दीन्हो ।

कह्यो यह काम परिनाम तेरो पुरुष बचन, नारद सुमिरि रति सु लीन्हो ॥

भयो जब तरुन तब नारि तासौ कह्यो, रुक्मिणी मात हरि तात तेरो ।

नाम मम रति बिदित बात जानत जगत, काम तुम नाम पुनि पुरुष मेरो ॥

असुर को मारि परिवार कौ देहि सुख, देउँ विद्या तुम्हें मैं बताई ।

बिना विद्या ताहि जीति सकि है नहीं, भेद की बात सब कहि सुनाई ।

प्रद्युम्न सकल विद्या समुक्ति नारि सौं, असुर सौं जुद्ध मांम्यो प्रचारी ।

काटि करवार लियो मारि ताकौं तुरत, सुरनि आकास जे धुनि उचारी ॥

बहुरि आकास मग जाइ द्वावावती, मातु मन मोद अति ही बढायो ॥

भयो जदुवंस अति रहस मनु जन्म भयो, सूर जन मंगलाचार गायो ॥



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलैर्म्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ५६वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ५३वाँ अध्याय

राजस-साधन-अवान्तर-प्रकरण

“७वाँ अध्याय”

स्यमन्तकमणि की कथा, जाम्बवती और सत्यभामा के साथ
श्रीकृष्ण का विवाह

कारिका—सप्तमे कामतः प्रोक्तो विवाहस्तामसः परः ।

सात्त्विकश्च प्रसङ्गेन क्लेशेनोभे निवारिते ॥१॥

क्लेशापनोदनार्थाय चौर्यमत्र निरूप्यते ।

वाचिकं कायिकं चैव कायेन वचनेन च ॥२॥

सम्बन्धो च तथा भक्तः स्वापराधापनुत्तये ।

सत्यभामा जाम्बवती ताभ्यां सम्यक् निरूपिते ॥३॥

गुणा एतास्ततोऽग्रे तु विद्यारूपा निरूपिताः ।

एवमष्टौ महिष्यो हि सात्त्विक्यस्तु ततः पराः ॥४॥

विवाहाः सप्त कामेन कृपया तु सहस्रशः ।

विधितस्त्वेक एवोक्तो द्वयोरत्र निरूप्यते ॥५॥



कारिकार्थ— सातवें अध्याय में जो विवाह कहे हैं, वे काम से किए हुए हैं, उनमें से जाम्बवती का विवाह तामस है और सत्यभामा का सात्त्विक है; इन दोनों के विवाह तामस सात्त्विक कहने से शेष रुक्मिणी का विवाह स्वतः राजस सिद्ध है. यद्यपि रुक्मिणी जाम्बवती को विवाह भगवत्परिग्रह होने से सात्त्विक कहे जा सकते हैं, किन्तु उनको सात्त्विक न कहने का कारण यह है कि वे दोनों भगवान् क्लेशों से लाये हैं, अतः वे सात्त्विक विवाह नहीं है, सत्यभामा को पिता ने लाकर दान कर दी, जिससे उस विवाह में क्लेश न हुआ, जिससे वह सात्त्विक है, इसके विवाह में क्लेश न होने का कारण चौर्य प्रसङ्ग है, जिसका यहाँ वर्णन किया गया है, सत्राजित ने वाणी से झूठा कलङ्क लगाकर वाचिक और स्वयं गुफा में जाकर युद्ध किया, जिससे कायिक दोष किया, शतघनु के वचन से उस मिथ्या अभिशाप को मिटाया, ऐसे सत्राजित ने और भक्त जाम्बवान् ने अपने अपराध को मिटाने के लिए दोनों ने आकर सत्यभामा और जाम्बवती भगवान् को अर्पण की, सत्यभामा तथा जाम्बवती के विवाह का कारण वाचिक और कायिक मिथ्याभिशाप था, जिसका निरूपण किया। ये रुक्मिणी, जाम्बवती और सत्यभामा; राजो, तमो और सतोगुण रूप हैं, आगे तो विद्या रूप से इनका निरूपण हुआ है। इस प्रकार आठ महिषियाँ सात्त्विक गुण वालीयाँ हैं और सात काम से हैं, कृपा से तो सहस्रों किए हैं, विधि अनुसार तो एक ही कहा है। इस प्रसङ्ग में दोनों का विवाह चौर्य प्रकरण में निरूपण किया है ॥१-५॥

— इति कारिका सम्पूर्ण —

ग्रामास—रुक्मिण्या विवाहं पुत्रसम्पत्तिं चोक्त्वा, निमित्तवशात् सत्यभामाया विवाहमाह सत्राजित इति ।

ग्रामासार्थ—रुक्मिणी का विवाह और पुत्र सम्पत्ति को कहकर, कारणवश 'सत्राजितः' श्लोक से सत्यभामा के विवाह का वर्णन शुकदेवजी करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—सत्राजितः स्वतनयां कृष्णाय कृतकिल्बिषः ।

स्यमन्तकेन मणिना स्वयमुद्यम्य दत्तवान् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! सत्राजित् ने भगवान् का अपराध किया था, उस अपराध का दोष निवृत्त हो, इसलिए सत्राजित् ने स्वयं आकर श्यमन्तकमणि सहित अपनी कन्या भगवान् को अर्पण की ॥१॥



सुबोधिनी—सत्राजित्शब्दः तकारान्तः ।
अकारान्तोऽपि । सत्रान् रक्षकसहितानपि जयती-
त्यर्थे क्विप् । सत्राणां जितं यस्मादिति त्तान्तेन
बहुव्रीहौ अदन्तता भवति । एतदधीन एव महता-
मपि जय इति द्वितीयोर्थः । स्वतनयां स्वयमुद्यम्य
दत्तवानिति । अप्राथितः अनभिप्रेतश्च । तथापि
दाने हेतुः कृतकिल्बिष इति । कृतापराधः । तदप-
राधदूरीकरणार्थं स्यमन्तकेन मणिना सह । यत्कृते
अपराधः तदपराधनिमित्तं दण्डार्थं कन्यां च दत्त-
वान् । संक्षेपकथेयमिति केचित् । वस्तुतस्तु न

समाधिभाषा । नह्युदारलीलावतः अपकीर्त्यादिकं
समाधिकार्यं भवति । भक्तिसाधकानामेव चरि-
त्राणां वक्तव्यत्वात् । कृतकिल्बिष इति । यथा-
कथञ्चिदपराधोऽपि सम्भवति । अतोऽनभिप्रेत-
त्वेन कल्पान्तरत्वेन वा अवचनम् । वस्तुतः सत्य-
भामा सरस्वत्यंशा भूम्यंशा वेति तस्या विवाहार्थं
तथोद्योगा भगवतैव कृतः । स्वीकारोऽत्र वक्तव्यो
राजसानाम्, तदर्थं स्त्रीप्रकरणे सत्यभामादीनां
परिग्रहमात्रमत्र वक्तव्यम् ॥१॥

व्याख्यानार्थं - भगवान् ने सत्राजित से कन्या मांगी नहीं थी और न अभिप्रेत ही थी, तो भी
सत्राजित ने स्वयं कन्या अर्पण की, जिसका कारण है कि सत्राजित ने भगवान् का अपराध किया
था, जिसे मिटाने के लिये स्यमन्तकमणि लाकर दी और अपराध करने के दण्ड रूप में कन्या अर्पण
की है, कोई कहते हैं कि यह कथा संक्षेप में कही गई है, वास्तविक रीति से तो यह कथा समाधि-
भाषा नहीं है, क्योंकि, उदार लीला करने वालों की अपकीर्ति आदि समाधिभाषा का कार्य नहीं
हो सकता है, समाधिभाषा में तो भक्ति साधक चरित्र ही वक्तव्य होते हैं, यहां केवल प्रथम श्लोक
समाधिभाषा है, विस्तार जो है वह लौकिकी भाषा है, जैसे तेसे कभी अपराध भी होता है, अतः
अभिप्रेत न होने से वा कल्पान्तर की कथा होने से नहीं कहा है, वस्तुतः सत्यभामा तो सरस्वती
अथवा पृथ्वी की अंश रूपा है, इसलिये उसके विवाह के लिये भगवान् ने ही वैसा उद्योग किया है,
यहां राजसों का स्वीकार वक्तव्य है, उसके लिये यहां स्त्री प्रकरण में सत्यभामादि का ही परिग्रह
मात्र कहना चाहिये, मात्र पद से यह सूचित किया है कि रुक्मिणी विवाह के
प्रसंग में जो विस्तार किया है, वह समाधि भाषा नहीं है, किन्तु लौकिकी भाषा है, इसलिये ही
आचार्य श्री ने टीका में मात्र पद दिया है ।

ग्रामास—नन्वाकाङ्क्षापूरणाभावात् संक्षेपपरत्वमेव कुतो न भवतीति चेत् ।
मैवम् । मित्रविन्दाविवाहवद्यावदुक्तं नैव आकाङ्क्षानिवृत्तिसम्भवात् । विशेषं पृच्छति ।

ग्रामासाधं—यदि कहो कि आकांक्षा पूर्ति के अभाव से संक्षेप पर है यों क्यों न कहा जावे तो
कहते हैं कि इस प्रकार मत कहो, मित्रविन्दा के विवाह की भाँति सारा कहने से ही आकांक्षा निवृत्ति
होती है अतः राजा पूछता है "सत्राजितः" श्लोक से ।

श्लोक—राजोवाच—सत्राजितः किमकरोद्ब्रह्मण्यस्य किल्बिषम् ।

स्यमन्तकः कुतस्तस्य कस्मादत्ता सुता हरेः ॥२॥

श्लोकार्थं—राजा ने कहा—हे ब्रह्मन् ! सत्राजित ने कृष्ण का कौन सा अपराध

किया ? स्यमन्तकमणि उसके पास कहां से आई ? उसकी कन्या भगवान् को किस कारण से दी ? ॥२॥

सुबोधिनी—सत्राजित इति । ब्रह्मन्निति ज्ञानार्थम् । कृष्णस्य सदानन्दस्य कथं वा कोऽप्यपराधं कुर्यात् । तत्रापि पालकस्य । अपराधनिमित्तः स्यमन्तको वा भगवद्भक्तानां कुतः । देवतान्तरभजनात् तथात्वे कथं वा तस्य निरोधे सम्बन्ध इति प्रश्नाभिप्रायः । विरुद्धानामपकारकरणं युक्तम् । तथा सति तेषां सर्वस्वेन सह कन्यादानं चायुक्तम् । तस्मात् कथमयमुभयात्मक

इति । कस्माद्धेतोः सुतां दत्तवान् । कन्यापि सूर्यादेव प्राप्ता वरलब्धा, न तु तस्य औरसी, भगवान् नन्दपुत्र इव तस्यापि कन्येति पुराणान्तरव्यवस्था । अत एव यादवानां विवाहदोषो न शङ्कनीया । अत्रापि 'स्त्रीरत्नं रत्नमेव चे'ति वाक्यात् देवादेव प्राप्तमिति लक्ष्यते । भगवानपि अक्लिष्टकर्मा सगोत्रापक्षे विवाहं न कुर्यात् ॥२॥

व्याख्यार्थ - हे ब्रह्मन् ! संबोधन श्रीशुकदेवजी को इसलिये दिया है कि आप को सबका ज्ञान है, जिससे आप सब कुछ बता सकोगे, सदानन्द स्वरूप तथा पालक कृष्ण का कैसे कोई भी अपराध कर सके ? भगवद्भक्तों का स्यमन्तक अपराध का कारण कैसे हो सकता है ? अन्य देव के भजन से यों होते हुए, फिर उसका निरोध में सम्बन्ध कैसे ? यह प्रश्न करने का अभिप्राय है जो विरोध करते हैं उनका अपकार करना योग्य ही है, यों होने पर उनको सर्वस्व के साथ कन्यादान करना तो उचित नहीं है इस कारण से यहां दोनों बात कैसे ? किस कारण से कन्या दी, वह कन्या सूर्य देव के वर में प्राप्त हुई थी, उसकी ओर से पुत्री न थी जैसे भगवान् नन्द का पुत्र है वैसे यह कन्या इसकी पुत्री थी, अन्य पुराण का यह निर्णय है, इस कारण से इससे विवाह करने में यादवों को दोष नहीं है, भागवत में भी स्त्री रत्न, रत्न ही है इस वाक्य से, देव से ही प्राप्त हुई जानी जाती है भगवान् भी अक्लिष्ट कर्मा हैं, जिससे सगोत्र का विवाह नहीं कर सकते ॥२॥

श्रामास—विस्तरेण वक्तुं कथामारभते आसीदिति ।

श्रामासार्थ—विस्तार से कहने के लिये 'आसीत्सत्राजितः' श्लोक से कथा प्रारम्भ करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—आसीत्सत्राजितः सूर्यो भक्तस्य परमः सखा ।

प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादात्सूर्यस्तुष्टः स्यमन्तकम् ॥३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा—सत्राजित भक्त का सूर्य स्वामी होते हुए भी परम मित्र था, जिससे सूर्य ने प्रसन्न होकर उसको स्यमन्तक मणि दी थी ॥३॥

सुबोधिनी—स्वतन्त्रकथेयमित्यप्यासीदित्यनेन सूचितम् । सत्राजित आसीदिति भिन्नं वाक्यम् । तस्य महत्त्वं व्यापयितुमाह । सूर्योऽपि भक्तस्य

परमः सखा आसीदिति । भक्तस्य सख्यं शीघ्रं प्रयच्छतीति सूर्यस्य स्वभावो वर्णितः । अनेन सूर्यः परमदयालुः, अल्पेऽपि भजने बहु प्रयच्छतीति

निरूपितम् । ततो यज्जातं तदाह प्रीतस्तस्मै मणिं प्रादादिति । मणिः स्यमन्तकः । कुत्रत्यो मणिरित्याकाङ्क्षायामाह सूर्य इति । स हि मणिं सूते । सर्वमेव सूर्यात्प्रभूतमिति तस्य मणिमात्रप्रसवे न दूषणम् । तदथमेव मणिरुत्पादित इति लक्ष्यते ।

यतः प्रीतः, तस्य भक्त्या संतुष्टः, स्यमन्तकमुत्पादितवान् । उत्पाद्यापि ततोऽपि प्रीतः प्रकर्षणीयात् । तस्मिन् सामर्थ्यं स्थापयित्वा अर्दात् । प्रकर्षणेव दानात् भोगार्थं भोगसाधनसम्पादनार्थं च तज्जातमिति लक्ष्यते ॥३॥

व्याख्यानार्थ — “प्रासीत्” पद से यह भी-बताया है कि वह स्वतन्त्रक था है, “सत्राजित था” यह प्रथक् वाक्य है उसका महत्व प्रकट दिखाने के लिये कहा है कि, सूर्य देव स्वामी होते हुए भी भक्त का परम मित्र था, सूर्य का स्वभाव ही ऐसा है, जो भक्त का शीघ्र ही सखा बन जाता है इससे यह सिद्ध हुआ कि सूर्य परम दयालु है, थोड़ा भी भजन करने से बहुत देता है यह निरूपण किया, उसके अनन्तर जो हुआ जिसका वर्णन करते हैं कि सूर्य ने प्रसन्न होकर उसको मणि दी, मणि का नाम स्यमन्तक था, वह मणि सूर्य के पास कहां से आई ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा है, कि सूर्य स्वयं मणि को उत्पन्न करता है, मणि को उत्पन्न करने में सूर्य के लिये किसी प्रकार का दोष नहीं है, क्योंकि जब सब सूर्य से पैदा हुआ है, तो मणिमात्र उत्पन्न करने में कौनसा दूषण उसको लगता है, यों जाना जाता है यह मणि इसके लिये पैदा की है क्योंकि इस पर भक्ति से प्रसन्न हुआ है जिससे मणि को पैदा किया है, न केवल पैदा ही की, किन्तु उससे भी विशेष प्रसन्न हो उसमें अपना सामर्थ्य स्थापित कर प्रसन्नता से मणि इसको दी, प्रसन्न हो के देने से वह मणि भोग और भोगके साधनों का साधक भी हुई यों जाना जाता है ॥३॥

आभास—अतस्तस्य प्रथमतो भोगमाह स तं बिभ्रदिति ।

आभासार्थ—इसी कारण से “स तं बिभ्रन्” श्लोक में पहले उसके भोग का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—स तं बिभ्रन्मणिं कण्ठे भ्राजमानो यथा रविः ।

प्रविष्टो द्वारकां राजंस्तेजसा नोपलक्षितः ॥४॥

श्लोकार्थ—वह सत्राजित कण्ठ में उस मणि को धारण करने से सूर्य के समान प्रकाशमान हो गया और द्वारका में प्रविष्ट हुआ तो उसके तेज से इसको किसी ने नहीं पहचाना ॥४॥

सुबोधिनी — स्वतेजस्तस्मिन्स्थापितमिति तद्वारणेन सूर्य एव धृतः । अत एव तत्प्रभावाद्यथा रविः, तथा भ्राजमानो जातः । स चेदन्यत्र तिष्ठेत्, न काप्यनुपपत्तिर्भवेत् । सूर्यश्च रक्षको भवेत् । स पुनस्तद्गृहीत्वा द्वारकास्थितान् भक्तान् वञ्चय-

न्निव समागतः । ततः सूर्येण उपेक्षित इत्यभिप्रायं वक्तुं तस्य द्वारकाप्रवेशमाह प्रविष्टो द्वारकामिति । राजन्निति सम्बोधनमन्यविषये अन्यो रक्षां न करोतीति ज्ञापयितुम् । तस्य मनोरथा सिद्ध इत्याह तेजसा नोपलक्षित इति ॥४॥

व्याख्यानार्थ—सूर्य ने मणि में अपना तेज स्थापित किया था, जिसके धारण करने से म.नो



सत्राजित ने सूर्य को धारण किया है, इस कारण उसके प्रभाव से जैसा सूर्य है वैसा ही यह चमकने लगा । यदि दूसरे स्थान पर मणि धारण करके जाता तो किसी प्रकार हानि नहीं होती क्योंकि वहां सूर्य रक्षा कर सकते, किन्तु वह तो मणि ग्रहण कर, द्वारका में स्थित भगवद्भक्तों को ठगने के लिये आया, जिससे सूर्य ने प्रसन्न हो, इसकी उपेक्षा की, इसकी उपेक्षा की, इस अभिप्राय को प्रकट करने के लिये इसका द्वारका में प्रवेश का वर्णन किया है, राजन् यह सम्बोधन इस बातको जताने के लिये दिया है कि, दूसरों के कार्यों में कोई दूसरा रक्षा नहीं करता है उसका मनोरथ इतना ही था, कि मुझे कोई पहचाना न सके । वह सिद्ध हुआ, मणि के धारण करने से पहचानने में नहीं आया ॥४॥

आभास—तस्य प्रभावः सर्वजनीनो जात इति वक्तुं लोकानां भ्रममाह तं विलोक्येति ।

आभासार्थ— उसका प्रभाव सब मनुष्यों पर हुआ, यह बतलाने के लिये लोकों को भ्रम का वर्णन 'तं विलोक्य' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तं विलोक्य जना दूरात्तेजसा मुष्टदृष्टयः ।

दीव्यतेऽक्षैर्भगवते शशंसुः सूर्यशङ्किताः ॥५॥

श्लोकार्थ—लोक उसको दूर से देखकर, तेज से चकाचौंध दृष्टि हो गए, तब चौपड़ खेल रहे भगवान् के पास कोई आकर कहने लगा कि कदाचित् सूर्य आ रहा है ॥५॥

सुबोधिनी—निकटे ज्ञायेतापि । दूरादेव तत्रापि तेजसा मुष्टदृष्टयः । स्वस्वामिनः स्थाने महान्तोऽपि समायान्तीति संतोषात् भगवत्स्थाने समागताः । भगवानपि अन्यासक्तः नास्य सन्माननं करिष्यति, ततोऽयं अस्मान् विलम्बितः तेजसा पीडयिष्यतीति, सूर्यात् शङ्किताः लौकिक-

व्यसनरूपे द्यूते अक्षैर्दीव्यते भगवते शशंसुः । शतमक्षान् विजानातीति मध्येऽधिदेवन एव सम्भ्ये अक्षक्रीडेति विमर्शः । अन्यथा धर्मस्थापनार्थमवतीर्णः कथमक्षक्रीडां कुर्यात् । मुख्यं हि तदधर्मस्थानमिति । सूर्यस्य समागमनं बाधित मत्वाह भगवत इति ॥५॥

व्याख्यानार्थ—निकट हो तो पहचान भी जाय, यह तो दूर थे और वहां से ही तेज के कारण नेत्रों की दृष्टि चकाचौंध हो गई अतः पहचान न सके । मन में समाधान किया, कि हमारे स्वामी के स्थान पर महान् आत्माएँ भी आती हैं यों संतोष कर भगवान् के स्थान पर गये, वहां देखा कि भगवान् तो अन्य कार्य में आसक्त हुवे हैं अतः इसका सम्मान अब नहीं करेंगे, इस कारण से वह हम को बहुत समय तक पीड़ा करेगा, क्योंकि मन में शंका होने लगी थी कि यह सूर्य है, अतः लौकिक व्यसन रूप चौपड़ का खेल खेलत हुए भगवान् को कहने लगे, विशेष प्रकार से चौपड़ खेलने वाले राजा लोगों को अधिदेवन के दिन चौपड़ खेल खेलने में कोई दोष नहीं, यों करने से उनको निद्रा भी नहीं आती है यों न होता तो धर्म स्थापन के लिये अवतार लेने वाले चौपड़ कैसे खेले ? चौपड़ के

खेल का स्थान मुख्य अघर्म का स्थान है, "भगवते" पद से यह बताया कि यह आगमन सूर्य का नहीं है, केवल लोगों को आशंका हुई है । १५॥

आभास— सूर्यगमनेन स्वतोपि ज्ञातमहत्वाः स्तुत्वा भगवन्तं विज्ञापयन्ति नारायणोतित्रिभिः ।

आभासार्थ लोक स्वतः सूर्य के महत्व को जानते हैं अतः सूर्य का आगमन समझकर, भगवान् की पहले स्तुति करते हैं, अनन्तर प्रार्थना करते हैं कि सूर्य देव आ रहा है यह वर्णन "नारायण" इन तीनों श्लोकों से करते हैं ।

श्लोक—नारायण नमस्तेऽस्तु शङ्खचक्रगदाधर ।

दामोदरारविन्दाक्ष गोविन्द यदुनन्दन ॥६॥

एष आयाति सविता त्वां दिदृक्षुर्जगत्पते ।

मुष्णन्गमस्तिचक्रेण नृणां चक्षूंषि तिग्मगुः ॥७॥

नन्वन्विच्छन्ति ते मार्गं त्रिलोक्यां विबुधर्षमाः ।

ज्ञात्वाद्य गूढं यदुषु द्रष्टुं त्वां यात्यजः प्रभो ॥८॥

श्लोकार्थ—हे शङ्ख चक्र गदा धारण करने वाले नारायण ! हे दामोदर ! हे कमल नयन ! हे गोविन्द ! हे यदुनन्दन ! हे जगत् के पति ! यह तेज किरणों वाले, किरणों के समूह से मनुष्यों के नेत्रों की दृष्टि को हरण करते हुए, सूर्य नारायण आपको देखने (मिलने) के लिए आ रहे हैं । हे प्रभु ! त्रिलोकों में जो श्रेष्ठ देवता हैं, वे भी आपके मार्ग को ढूँढ़ने की इच्छा करते हैं, यादवों में गुप्त विराजमान आपको जानकर सूर्य नारायण दर्शन के लिए आज आ रहे हैं ॥६-८॥

सुबोधिनी—नारायणपदं सूर्यान्तिर्यामी नारायण इति तस्मिन्नागते अन्तर्यामिप्रेरणव्यतिरेकेण कार्यं न सिध्यतीति विज्ञापनार्थं सूर्यगमनं सम्भवतीति हेतुरुक्तः । अतस्ते नमः । नमस्कारमात्रं वा अस्मत्साध्यमिति । शङ्खचक्रगदाधरेति । शेषशायिनं नारायणं व्यावर्तयति । नारायणत्वं वा स्थापयन्ति । दामोदरेति भक्तकृपालुत्वम् । तादृशस्यात्रागमने हेतुरुक्तः । अरविन्दाक्षेति । समागतस्य तापापनोदनं कार्यमुक्तम् । गोविन्देति तथा-

करणे आवश्यकत्वम् । यतोऽयमिन्द्रो जातः । किञ्च, यदुनन्दनेति तदर्थमेवावतीर्णः ।

अत एवात्र बहु कार्यं तवास्तीति स्वत आगमनाभावात् स्वयमागत इत्याहुः एष आयातोति । आगतस्य विज्ञाप्यमस्तीत्याहुः सवितेति । प्रसवितायम् । सांप्रतं च भगवान् लीलया च तिष्ठतीति तदनुगुणप्रसवार्थं प्रष्टुमागत इत्यर्थः । प्रभस्तु दूतद्वारापि सम्भवतीति विशेषमाहुः त्वां दिदृ-



क्षुरिति स्नेहाभावेऽपि दर्शनमावश्यकमित्यत्र हेतुमाहुः जगत्पत इति । स्वस्य निवेदने हेतुं वदन्त आहुः मुष्णन्गंभस्तिचक्रेणेति । दूरे स्थितस्य गभस्तयोऽल्पीयांसः समायात्रितं, निकटे तु गभस्तिचक्रेण पीडयति । नृणां भित्त्यस्तेषु सुज्वता । तद्द्वयं दोषो निवारणीय इत्याशङ्क्य तस्य स्वाभाविकोऽयमित्याह नृणां चक्षूंषि तिग्मगुरिति । ज्ञानप्रदो भगवान् अत्र समागतः । ज्ञानसाधनमेव दूरीकरोतीति प्रतिविधेयः ।

ननु तथापि भवन्तोन्तरङ्गाः, तान्निवारय-

तेति चेत्, तत्राह नन्वन्विच्छन्तोति । देवाः समागच्छन्तः कथं वारणीयाः, तत्रापि स्वप्रभुं द्रष्टुम्, तत्रापि विबुधर्षभाः । किञ्च । अद्य यदुषु गूढं ज्ञात्वा समागताः । तत्र यदि कश्चिन्निवारणं कुर्यात्, तदा अनेनैव प्रतार्यत इति तमेव मारयेयुः । ननु तथापि सूर्यो नायास्यति, स हि सर्वदा व्यापृतः, तत्राह द्रष्टुं वायात्यज इति । ब्रह्मा वा द्रष्टुमायाति । अवतीर्णस्य रूपान्तरस्वीकरणेनान्यथात्वे पूर्वव्यवहारोऽनुचित इत्याशङ्क्याह प्रभो इति । हे सर्वसमर्थ ॥६८॥

व्याख्यानार्थ—आप सूर्यान्तर्यामी नारायण हैं, उनके आने पर ही कार्य सिद्ध होता है क्योंकि अन्तर्यामी की प्रेरणा के सिवाय कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होता है, यों जताने के लिये सूर्य का आगमन बन सकता है, यह हेतु कहा है, अतः आपको नमस्कार है, नमस्कार के सिवाय विशेष तो हम से हो नहीं सकता । शंख, चक्र और गदा को धारण करने वाला विशेषण देने से शेष नारायण से पृथक्ता दिखाई, अथवा नारायणत्व की स्थापना की है, 'दामोदर' नाम से यह बताया है कि आप सदैव भक्त पर कृपा करते हैं, भक्त कृपालुत्वही आपके यहां आने का कारण है, 'कमलनयन' नाम से बताया है, कि आप यहां पधार कर विरही भक्तों के ताप दूर करने का कार्य करते हैं 'गोविन्द' नाम से यह बताया है कि आपको यों करना आवश्यक है कारण कि आप इन्द्र बने हैं, विशेष में आप 'यदुनन्दन' हैं, जिससे आपने इसके लिये ही अवतार लिया है ॥६॥

आपको यहां बहुत कार्य हैं जिससे सूर्य ने समझा, कि आप का आगमन न हो सकेगा अतः स्वयं वह आया है, आये हुवे को कुछ जानने वा पूछकर कार्य करने की इच्छा है इसलिये 'सविता' नाम दिया है, इस समय भगवान् लीला कार्य करने में स्थित हैं अतः उसके अनुकूल कार्य करने आप से पूछने के वास्ते आया है, यदि पूछना है तो दूत द्वारा भी पूछा सकता है, फिर आया क्यों ? इसके उत्तर में कहा है, कि केवल पूछना नहीं है, किन्तु उसको आपके दर्शन की भी इच्छा थी इसलिये भी आया है, स्नेह होने पर भी आपका दर्शन करना आवश्यक है क्योंकि आप जगत् के स्वामी हैं, हम आपको इसलिये निवेदन करते हैं कि यह सूर्य तेज किरणों वाला है जिसके तेज से हमारे नेत्र चकाचौंध हो कर पीड़ित हो रहे हैं, दूर में स्थित की किरणें थोड़ी चकाचौंध करती है, हम मनुष्य अल्पबलवाते हैं, जिससे यह पीड़ा सहन नहीं कर सकते हैं, क्योंकि यह इसके लिये स्वाभाविक है, जो मनुष्यों के नेत्रों का अपने तेज रश्मियों से चकाचौंध कर पीड़ित करे, यहां ज्ञान देने वाले भगवान् आये हैं, ज्ञान साधनों को दूर फेंक देते हैं अतः इनका समादर स्वागत करिये ।

हम क्यों करें, आप भी हमारे अन्तरंग है, आप ही इनका निवारण करो, यदि आपका डम प्रकार कहना हो, तो उसके लिये हमारा निवेदन है, कि देवता आपके यहां मिलने, दर्शन करने वा किसी कार्य के लिये आवे उनको कैसे रोका वा लौटाया जाय ? आप उनके स्वामी हैं, स्वामी के दर्शन के लिये आते हैं और आने वाले देवों में श्रेष्ठ देव आते हैं और विशेषता तो यह है, कि आप यादवों

में गुप्त रूप से पधारें हैं, आज इस गोप्य को जान कर आये हैं, ऐसी स्थिति में कोई उनको रोके, तो वे समझेंगे, कि यह ही हम से प्रवचना करता है यों समझ, उसको ही मारे, आप ज्यों समझते हैं कि सूर्य आ रहा है। यों नहीं है वह न आवेगा क्योंकि उसको बहुत काम है जिनमें रुका हुआ रहता है, यदि वह नहीं है, तो कदाचित् ब्रह्मा दर्शन के लिये आ रहा है, अवतार लेने पर दूसरा रूप धारण होता है, इसलिये उस अन्य रूप में पहलेसा व्यवहार करना उचित नहीं है, यदि यों कहो तो वह बात असमर्थों के लिये है, आप तो 'प्रभु' होने से सर्व समर्थ हैं कोई रूप धारण करे, तो भी वे के वे ही हैं बदलते नहीं हो, अतः श्रेष्ठ देव आते ही रहते हैं ॥६-७-८॥

आभास—तदा भगवान् कर्म न परित्याज्यमिति स्वयं तथैव स्थितः प्रजानां मोहं दूरीकृतवानित्याह निशम्येति ।

आभासार्थ—ये वचन उन के सुनकर भी, प्रारम्भ किया हुआ कर्म नहीं छोड़ना चाहिये यों विचार कर आप वैसे ही बंटे रहे, और प्रजाओं के भ्रम को दूर कर दिया जिसका वर्णन 'निशम्य' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—निशम्य बालवचनं प्रहस्याम्बुजलोचनः ।

प्राह नासौ रविर्देवः सत्राजिन्मणिना ज्वलन् ॥६॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि कमल नेत्र भगवान् बालकों जैसे प्रजा के वचन सुनकर हँसे और उनका भ्रम मिटाने के लिए कहने लगे कि यह सत्राजित है, जो मणि से प्रकाशित हो रहा है, सूर्य देव नहीं है ॥६॥

सुबोधिनी—बालानां अज्ञानां वचनम् । ते हि स्वोत्कर्षमेव विचारयन्ति । नतु निमित्तम् । तथेतेऽपि स्वोत्कर्षत्वेन मदुत्कर्षमेव भावयन्ति । ततो यं कञ्चन समागच्छन्तं महत्त्वेन मत्सम्बन्धित्वेन च कल्पयन्ति । तस्मात् स्वोत्कर्षपरान् अज्ञानं दृष्ट्वा

प्रहस्य दृष्ट्यैव तेभ्यः सुखं दत्तवानित्याह अम्बुजलोचन इति । असौ देवरूपो रविर्न भवति, किन्तु रवेस्तेजो । रविभक्तश्चायं भवति, तेन देवपदं संगच्छते, किन्तु सत्राजिदयम् । कथमेवं जात इति चेत्, तत्राह मणिना ज्वलन्निति ॥६॥

व्याख्यानार्थ—बाल शब्द यहां अज्ञों के लिये दिया है अर्थात् भगवान् अज्ञों के वचन सुनकर हँसने लगे, क्योंकि ये अपनी बड़ाई का ही विचार करते हैं किन्तु कारण का विचार नहीं करते हैं, वैसे ये भी अपने उत्कर्ष से मेरे उत्कर्ष की ही भावना करते हैं, वा मेरा उत्कर्ष ही बटाते हैं इस कारण से जो कोई आता है, उसको मेरे सम्बन्धित्व के कारण महान् समझते हैं, और भगवान् कमल नेत्र हैं जिससे इन मूर्खों को अपने उत्कर्ष के परायण देख, हँस कर, दृष्टि से ही उनको सुख देने

लगे, एवं कहने लगे कि यह देवरूप सूर्य नहीं है किन्तु सूर्य का तेज है, यह जो आ रहा है वह सूर्य का भक्त सत्राजित है, भक्त होने के कारण देव कहा गया है, वह ऐसे कैसे हो गया ? इस पर कहते हैं कि मणि को कण्ठ में बांधा है इसलिये ऐसा प्रकाशित हो रहा है ॥६॥

आभास—मणिना तस्य भोगमुक्त्वा अर्थसम्पत्तिमाह सत्राजित्स्वगृहमिति ।

आभासार्थ—मणि से प्राप्त (भोग) कह कर 'सत्राजित्स्वगृहं' श्लोक से 'अर्थ' की सम्पत्ति कहते हैं ।

श्लोक—सत्राजित्स्वगृहं श्रीमत्कृतकौतुकमङ्गलम् ।

प्रविश्य देवसदने मणिं विप्रन्यवेशयत् ॥१०॥

श्लोकार्थ—सत्राजित ने अपने घर में उत्सवार्थ माङ्गलिक कराके प्रवेश किया, अनन्तर देव-मन्दिर में ब्राह्मणों द्वारा मणि की स्थापना कराई ॥१०॥

सुबोधिनी—भगवत्कृपया पूर्वमेव श्रीमत्कृतानि तत्र भक्त्यतिशयात् देवसदने देवपूजागृहे दैत्यानां कौतुकानि मङ्गलानि च यत्र । अनेन धर्मकामौ प्रवेशाभावाय विप्रैः सह मन्त्रपूर्वकं मणिं न्यवेश- निरूपितौ । एवं स्वतःसिद्धत्रिवर्गं गृहं प्रविश्य यत् । नितरां स्थापितवान् ॥१०॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् की कृपा से, पहले ही माङ्गलिक कार्य हुवे हैं, जिससे धर्म और काम की सिद्धि का होना निरूपण किया, इस प्रकार जिस घर में धर्म अर्थ और काम तीन कार्य सिद्ध हुवे हैं वैसे घर में प्रवेश कर वहाँ देवों के पूजास्थान में जहाँ दैत्य प्रवेश नहीं कर सकते हैं वहाँ ब्राह्मणों के साथ जाकर मन्त्रोच्चारण पूर्वक मणि की स्थापना की ॥१०॥

आभास—स्थापितस्य फलमाह दिने दिने इति ।

आभासार्थ—अब 'दिने दिने' श्लोक में मणि के स्थापन करने से जो फल हुआ उसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—दिने दिने स्वर्णमारानष्टौ स सृजति प्रभो ।

दुर्मिक्षमार्यरिष्टानि सर्पाधिव्याधयोऽशुभाः ।

न सन्ति मायिनस्तत्र यत्रास्तेऽभ्यर्चितो मणिः ॥११॥

श्लोकार्थ—यह मणि प्रति दिन आठ भार अर्थात् ४० मन सुवर्ण देती थी, जहाँ मणि है, वहाँ अकाल, महामारी, अकल्याण, सर्प, आधि, व्याधि और दूसरे अशुभ भी नहीं होते तथा मायावी लोगों का रहना भी नहीं हो सकता ।

सुबोधिनी—पञ्चमणमात्रं भारः, चत्वारिंश-
द्धरणानि मण उच्यते मानविशेषः । ते चाष्टौ ।
चत्वारिंशन्मणान् सुवर्णस्य प्रत्यहं सृजति । सविता
हि तस्य मूलम् । अतोऽयमपि प्रसविता । प्रभो
इति सम्बोधनं तदाकाङ्क्षाभावाय । न केवलमि-
ष्टसाधकत्वम्, किन्तुनिष्टनिवारकत्वमपीत्याह

दुर्भिक्षेति । अनावृष्टिकृतं दुर्भिक्षम् । भारी शीत-
लादिदेवाधिष्ठितव्याधिमरणम् । अरिष्टान्यन्यानि
आधिष्याधिहेतुभूतानि । आधिष्याधयश्च । अशुभाः
स्वप्नादयोऽपि । मायिनो राक्षसाः पूतनादयः ।
यत्रायमभ्यर्चितो मणिस्तिष्ठति, तत्र नैते भव-
न्तीति मणोर्दृष्टादृष्टसामर्थ्यं निरूपितम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—चालीस सेर का मन होता है, पांच मन का एक भार वजन होता है; वे आठ
भार प्रतिदिन मणि देती थी अर्थात् मणि हरेक दिन ४० मन सोना देती थी, मणि यों कैसे कर
सकती ? इस शंका का समाधान आचार्य श्री करते हैं, कि यह मणि सूर्य से उत्पन्न होने से, इसकी
जड़ सूर्य है अतः जैसे सूर्य पैदा कर सकता है वैसे ही यह भी पैदा कर सकता है, भगवान् को 'प्रभु'
सम्बोधन देकर यह बताया, कि आप सर्व समर्थ हो आपको ऐसे मणि की इच्छा हो नहीं सकती है ।
यह मणि केवल इच्छित पदार्थ ही नहीं देती है, किन्तु अनिष्टों का भी निवारण करती है, जैसे कि
अनावृष्टि से दुर्भिक्ष होता है उसके निवारण के लिये समयानुसार उचित वर्षा करती है, शीतला
आदि देव जित्त रोगों के अधिष्ठाता हैं उन रोगों से जो मृत्यु आदि होती है उन रोग मृत्यु को होने
नहीं देती है, आधि व्याधि के हेतु जो अरिष्ट है उनको नाश करती है, अशुभ स्वप्न आदि तथा
पूतना आदि राक्षसों का यहां आना भी नहीं होता है, जहां यह मणि पूजी जाती है वहां ऊपर कहे
हुए अनिष्ट होते ही नहीं है यों मणि के दृष्ट तथा अदृष्ट सामर्थ्य का वर्णन किया है ॥११॥

आभास—अयोग्ये महान् धर्मो न युक्त इति विचार्य भगवान् अनेन मणिना सत्रा-
जितो नाशो भविष्यतीति, स्वपुरे च नाशो न युक्त इति, देवान्तराणामत्र सामर्थ्या-
भावात् तत्प्रसादोऽपि व्यर्थ इति, तस्य लोकद्वयेष्टसिद्धयर्थं यावद्द्रव्यं तत् उत्पद्यते,
तावद्ग्रामादिद्वारा तस्मै दापयित्वा, उग्रसेनाय मणिं दापयितुं सत्राजितं प्रति किञ्चि-
दुक्तवानित्याह स याचित इति ।

आभासार्थ—जों योग्य न हो उसमें बड़ा धर्म, वा वस्तु का होना योग्य नहीं है, भगवान् ने
विचारा कि यह सत्राजित इस मणि के योग्य नहीं है, अतः इस मणि के कारण इसका नाश होगा,
अपने नगर में इसका नाश हो यह भी उचित नहीं है, अन्य देवका यहां सामर्थ्य चल नहीं सकता है,
उसकी कृपा भी व्यर्थ है, इसलिये इसका दोनों लोकों में हित सिद्ध हो, तदर्थ जितना द्रव्य इससे होता
है, उतना ग्राम आदि द्वारा इसको दिला कर, यह मणि उग्रसेन को देने के लिये भगवान् सत्राजित
को कुछ 'स याचित' श्लोक से कहने लगे ।

श्लोक—स याचितो मणिं कापि यदुराजाय शौरिणा ।

नैवार्थकामुकः प्रादाद्याज्जामङ्गमतर्कयत् ॥१२॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने कुछ समय के लिए मणि को यदुराज उग्रसेन को देने के



वास्ते सत्राजित से मणि मांगे, किन्तु पैसे के लोभी उसने यह मणि नहीं दी और किसी तरह भी भगवान् की याचना का भङ्ग हो, वैसा विचार करने लगा ॥१२॥

सुबोधिनी - क्वापोति । कियत्कालं प्रयच्छ । यावता मृत्युरपगच्छति ततः स्वयमेव ग्राह्यमिति भगवदभिप्रायो बोधितः । ननु तस्यैव मृत्युर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह यदुराजायेति । शौरिणेति सामर्थ्यं दापने निरूपितम् । लौकिकपक्षपातश्च । तथापि न दत्तवानित्याह नैवाथकामुक इति । स

ह्यर्थमेव कामयते सिद्धम्, न तु मृत्युनिराकरणमपि, अतो न प्रादात् । यथैवायं न याचते, तथोपायं च विचारितवान् । सूर्यो वक्तव्यः, तद्द्वारा उपद्रवश्च कारणीयः, ततो न याचिष्यतीति याच्नाभङ्गं तर्कितवान् ॥१२॥

व्याख्यानार्थ—कुछ समय के लिये, यह मणि उग्रसेन जो यादवों का राजा है उस को दे, जब तक तुम्हारा मृत्युकाल टल जावे पश्चात् स्वयं ही ले लेना इस प्रकार भगवान् ने अपना अभिप्राय बताया, यह शक नहीं करना कि उसकी ही मृत्यु होगी क्योंकि वह शूरकुल में उत्पन्न होने तथा यादवों का राजा होने से उनमें सामर्थ्य है जिससे मणि के द्वारा उनकी मृत्यु न हो सकेगी, अथवा लौकिक पक्षपात के कारण भी भगवान् ने यों कहा है, भगवान् की ऐसी इच्छा होने पर भी, मणि नहीं दी । क्योंकि अर्थ ही सिद्ध करना चाहता है, मृत्यु को टालना नहीं चाहता है । मणि न देने के ये ही कारण हैं, सत्राजित उस उपाय का विचार करने लगा, जिससे भगवान् मणि की याचना करे नहीं, सूर्य को कहा जाय और उसके द्वारा उपद्रव कराये जावे, यों होने से मांगेंगे नहीं, इस प्रकार याचना भंग कराने का विचार करने लगा ॥१२॥

आभास— एवं दोषद्वयं तस्य निरूपितम् । आज्ञोल्लङ्घनमपकारचिन्तनं चेति । तत्र स्वस्यैवापकारो जातः । आज्ञाभङ्गफलं मृत्युरपि जात इत्यध्यायद्वयेन निरूप्यते । एतादृशोऽपि मणिः भगवद्भावरहितः अनर्थपर्यवसायी जात इति निरूपयन् भगवदाज्ञोल्लङ्घनात् तदीयानां बुद्धिरेव दुष्टा जातेति, पूज्यमपि मणि सत्राजिन्मात्रपरिधेयं च, भक्तस्यैव भगवद्धर्मा उपकारिण इति सामान्यं तं मणिं ज्ञात्वा प्रसेनोऽपि तत्प्रतिष्ठार्थं तद्भ्राता कण्ठे उन्मुच्य गत वानित्याह तमेकदेति ।

आभासार्थ— इस प्रकार उसके दो दोषों का निरूपण किया १-आज्ञा का उल्लंघन और बुराई हो, ऐसा विचार कर, वहां उसकी ही बुराई हुई, आज्ञा भंग का फल मृत्यु भी हुआ, जिसका दो अध्यायों में निरूपण किया जाता है, यद्यपि मणि, घन सम्पत्ति आदि देने वाली, रोगादि नाशक/है, तो भी भगवद्भाव रहित होने से, अनर्थ फल देने वाला हुई । भगवान् की आज्ञा के उल्लंघन से तदीयों की बुद्धि ही दूषित हो गई, पूज्य ने भी मणि केवल सत्राजित के ही धारण करने के लिये दी थी, भगवान् के धर्म, भक्त का ही हित करते हैं, मणि को सामान्य मणि समझ कर उसका भ्राता प्रसेन भी उसकी प्रतिष्ठा के लिये कण्ठ में डाल कर वन में गया, जिसका वर्णन “तमेकदा मणि” श्लोक में करते हैं ।



श्लोक—तस्मैकदा मणि कण्ठे प्रतिमुच्य महाप्रभम् ।

प्रसेनो हयमारुह्य मृगयां व्यचरद्वने ॥१३॥

श्लोकार्थ—एक दिन सत्राजित का छोटा भाई प्रसेन बड़ी प्रकाशमान उस मणि को कण्ठ में बाँध घोड़े पर सवार होकर शिकार करने के लिए वन में गया ॥१३॥

सुबोधिनी कण्ठे मणि प्रतिमुच्य एतत्प्रभया मृगा अन्धा भविष्यन्ति, ततो वर्तव्या इति, महा-प्रभं सूर्यवत्प्रकाशमानम्, प्रसेनः प्रकृष्टसेनायुक्तोऽपि	एकाकी हयमारुह्य मृगयां कर्तुं व्यचरत् । मृगा यान्त्यस्यामिति मृगनाशिका राजलीला मृगया, तामुद्दिश्य वने व्यचरत् ॥१३॥
---	---

व्याख्यार्थ - प्रसेन ने कण्ठ में मणि इसलिये धारण की थी कि इसके तेज से मृग अन्धे हो जायेंगे, तो उनको पकड़ने में सुगमता होगी, यद्यपि प्रसेन के पास बहुत सेना थी, तो भी अकेला ही घोड़े पर चढ़कर शिकार खेलने के लिये वन में फिरने लगा, शिकार, वह राजलीला है जिसमें मृगनाश किये जाते हैं अर्थात् जिस लीला में मृग नाश के मुख में जाते हैं, इसलिये इसको संस्कृत में 'मृगया' कहते हैं ॥१३॥

आभास—महाप्रभत्वात् असहिष्णुः सिंहः तं हत्वा मणि नीतवानित्याह, प्रसेनमिति ।

आभासार्थ—उसकी महती प्रभा को न सहकर सिंह ने उसको मारकर मणि लेली यह चरित्र "प्रसेन" श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—प्रसेनं सहयं हत्वा मणिमाच्छिद्य केसरो ।

गिरि विशङ्गाम्बवता निहतो मणिमिच्छता ॥१४॥

श्लोकार्थ—एक सिंह वहाँ वन में घोड़े समेत प्रसेन को मारकर मणि ले पर्वत की गुफा में जाता था, तो मणि को चाहने वाले जाम्बवान् ने उसको मार डाला ॥१४॥

सुबोधिनी - अलौकिकेनोपायेन न मृगा हन्त-व्याः, भगवांस्तेषु नालौकिकं दत्तवानिति, / मृग-यैव तदर्थं निर्मिता । तेषां वधं मणिना चिन्तयन् तेनैव स्वमृत्युं प्राप्तवान् । स मणिदेवरूप इति क्रुद्धो मणिर्यत्रैव स्थितः, तमेव घातयतीति परम्परया बहूनां वध उच्यते । हयसहितं प्रसेनं हत्वा	मणिः केवरिणा गृहीतः । सोऽपि निकृष्टस्थाने मणिं नयन् गिरिं विविक्षन् कन्दरां प्रविशन् जाम्बवता निहतः । ननु महान् सः, किमिति सिंहं हतवान् तत्राह मणिमिच्छतेति । अहतः सिंहो मणिं न मुञ्चतीति ॥१४॥
---	---

व्याख्यार्थ—मृग प्रर्थात् सिंह आदि पशु अलौकिक उपाय से मारे नहीं जाते कारण कि भगवान्



ने उनको मार डालने की अलौकिक बुद्धि नहीं दी है, उनको मारने का उपाय शिकार ही बनाया है उनका वध मणि से होना ही विचारा हुआ था, उससे ही मृत्यु को प्राप्त हुआ, वह मणि साधारण पत्थर की मणि नहीं थी, किन्तु देव रूप मणि थी, अतः क्रुद्ध हुई मणि जिसके पाम जातो है उसका ही वध करवाती है, यों परम्परा से बहुतों का वध कहा जा सकता है; घोड़े समेत प्रसेन को मार कर मणि सिंह ने ग्रहण की, वह भी अघम स्थान, पर्वत की गुफा में प्रविष्ट होते ही, जाम्बवान् ने उसे मार डाला, वह सिंह महान् है, उसको क्यों मारा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'मणि इच्छताः' जाम्बवान् को मणि लेने की इच्छा थी इसलिये उसने सिंह को मारा यदि मारते नहीं तो जीवित सिंह मणि को छोड़ता नहीं, इसलिये मारने के सिवाय अन्य कोई उपाय मणि लेने का नहीं था ॥१४॥

आभास—तस्य मणोः प्रयोजनमाह सोऽपि चक्र इति ।

आभासार्थ—“सोऽपि चक्रे” श्लोक में उस मणि के लेने का प्रयोजन बताते हैं ।

श्लोक—सोऽपि चक्रे कुमारस्य मणिं क्रीडनक बिले ।

अपश्यन्भ्रातरं भ्राता सत्राजित्पयतप्यत ॥१५॥

श्लोकार्थ—उसने भी मणि को लेकर बिल में अपने कुमार का खिलौना बना दिया, वहाँ प्रसेन का भ्राता सत्राजित अपने भ्राता को न देखकर शोक करने लगा ॥१५॥

सुबोधिनी—बिले स्वस्थ नविवरे कुमारस्या-
तिबालकस्य (स्थाने) क्रीडनकं क्रीडासाधनं
चक्रे । एतावदेकेनैव दिनेन निर्वृत्तम् । ततो
भ्रातुरन्वेषणार्थं सत्राजिता मनुष्याः प्रस्थापितः ।

ततो न क्वाप्युपलब्धः । ततो भ्रातृस्नेहात् भ्रात-
रमपश्यन् सत्राजित्पयतप्यत । मणिरपि गतो,
भ्रातापि गत इति ॥१५॥

व्याख्यान—जाम्बवान् का छोटा बालक जिस स्थान पर रहता था, उस अपने स्थान के बिल में, मणि को उसने बालक का खिलौना बनाया, इससे यह समझा जाता है, कि यह कार्य एक ही दिन में पूरा हो गया, पश्चात् सत्राजित ने भ्राता की खोज करने के लिये मनुष्य भेजे, उसका कहीं भी पता न लगा, उससे भ्रातृस्नेह के कारण भ्राता को न देखने से, सत्राजित शोकातुर होने लगा, मणि भी गई और भ्राता भी गया इसलिये सन्तप्त हुआ ॥१५॥

आभास—ततः किं जातमिति विचारे भ्रातुरिवास्यापि दुर्बुद्धिरुत्पन्नेत्याह प्रायः कृष्णेनेति ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर, भ्राता की तरह इसकी बुद्धि भी दुर्बुद्धि हो गई जिसका वर्णन 'प्रायः' श्लोक में करते हैं ।



श्लोक—प्रायः कृष्णेन निहतो मणिग्रीवो वनं गतः ।

भ्राता ममेति तच्छ्रुत्वा कर्णे कर्णेऽजपजनः ॥१६॥

श्लोकार्थ—गले में मणि बांध वन में गए हुए मेरे भाई को बहुतकर कृष्ण ने मार डाला, यह सुनकर नगर के लोग आपस में कहने लगे कि सत्राजित के भाई को मार कर कृष्ण मणि ले आए हैं ॥१६॥

सुबोधिनी—अयमपि गतः । भगवान् स्वतोऽन्येन वा स्वयमपि मृगयां गतो मारितवानिति । प्राय इत्युत्कटा कोटिः । कृष्ण एव समर्थो मणिगुणान् दूरीकर्तुम् । हेतुश्चाप्यस्ति । मणिः पूर्णं याचित इति, वने च मारणे न कोऽपि ज्ञास्यतीति । एवं निश्चित्य भगवति क्लिष्टमारोपितवान् । ननु केनापि नोच्यते, कथं त्वं कल्पयसी-

त्याशङ्क्याह भ्राता ममेति । मम तु प्रिय इत्यहं ब्रवीमि, अन्यः किमर्थं वक्ष्यतीति भावः । तद्गृहे उक्तं भार्यादिस्थाने, पश्चात्कर्णे कर्णे समागतमजपत् । मन्त्रवत् शनैः भगवत्कीर्तिमुक्तवान् । यतो जना, न ह्यल्पेन दोषेण जन्ममरणादिकं प्राप्नोति ॥१६॥

व्याख्या—सत्राजित ने कहा कि जैसे मेरा भाई वन में गया वैसे यह भी गए । भगवान् स्वतः गये अथवा दूसरों को भी ले गये, वहां जाकर मेरे भाई को स्वयं ने मारा अथवा दूसरों से मरवाया, बहुत कर तो स्वयं ने ही मारा है, यह विशेष कोटि है, क्योंकि कृष्ण ही समर्थ हैं और मणि के गुणों को जानते हैं अथवा उनको दूर भी कर सकते हैं, यों करने में कारण भी हैं, जो पहले मुझ से उग्रसेन के लिये भीराव भागी थे, मैंने नहीं दी थी, वन में जाकर भारते से कोई जानने स्तेकना, इस प्रकार विचार कर निश्चय किया कि कृष्ण ने ही मारा है और यह दोष कृष्ण पर आरोप किया । यह तो केवल तू ही कहता है दूसरा कोई भी नहीं कहता । तुम यह कल्पना कैसे करते हो ! इसके उत्तर में कहता है, कि मेरा भाई है, जिससे मुझे प्यारा है, इसलिये मैं कहता हूँ दूसरे को क्या प्रयोजन है जो कहे । यह समस्त वर्णन अपने अन्तःपुर में किया, पश्चात् प्रत्येक कान कान में कहने लगा । मन्त्र की भांति धीरे धीरे भगवत्कीर्ति को कहने लगे क्योंकि मनुष्य है वह थोड़े दोष से जन्म मरण आदि को प्राप्त नहीं होता है ॥१६॥

आभास—पूर्व भगवान् विदितवृत्तान्तोऽपि लोकन्यायेनैव व्यवहरन् स्वयमपि श्रुत्वा आसमुखात् तत्प्रतीकारार्थं यत्नं कृतवानित्याह सगवानिति ।

आभासार्थ—यद्यपि भगवान् ने पहले ही सर्व वृत्तान्त जान लिया था, तो भी, लौकिक व्यवहार दिखाने से लिये मनुष्यों के मुख से जब स्वयं ने सुना, तब उसके प्रतिकार के लिये यत्न करने लगे, जिसका वर्णन “भगवांस्तदु” श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—भगवांस्तदुपश्रुत्य दुर्यशो लिप्तमात्मनः ।

माष्टुं प्रसेनपदवीमन्वपद्यत नागरैः ॥१७॥



श्लोकार्थ—भगवान् ने अपने को वह कलङ्क लगा सुनकर, उसको मिटाने के लिए अपने साथ कुछ नगर निवासियों को लेकर जहाँ से प्रसेन गया था, उस रास्ते से उसको ढूँढ़ने के लिए गए ॥१७॥

सुबोधिनी—तद्वृत्तान्तं श्रुत्वा आप्तमुखात् अकस्माद्वा उपश्रुत्य । उपश्रुतिः सर्वानिव ज्ञापयति । ततस्तत्प्रतीकारार्थं प्रवृत्त इति वक्तुं निराकरणीयत्वे हेतुमाह दुर्यशो लिप्तमिति । दुर्यशस आलिप्तमालेपनं लेपवदुपर्यपि प्रतिभासनम् । आत्मन इति । यदि भगवान् न दूरीकुर्यात्, सर्वे-

षामात्मा स्वयमिति तद्दोषे कस्यापि मुक्तिर्न भवेत् । अतो युक्तमेव तन्निराकरणम् । तल्लोकन्यायेनैव कतंव्यमिति प्रसेनपदवीं नागरैः पदमार्गभिज्ञैः तद्गतमार्गमन्वपद्यत । तेनैव मार्गेण स्वयं नागरैः सह गतः । अन्यथा लोकः कृत्रिमं जानीयात् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—वह सत्य वृत्तान्त आप्त (सत्य जानने वाले व कहने वाले) पुरुषों से अथवा अचानक सुनकर, उपश्रुति सबको ही जनाती है, इस कारण से उसके प्रतीकार के लिए प्रवृत्त हुए, उसको मिटाने की क्या आवश्यकता थी ? जिसका कारण कहते हैं कि अपयश से लिप्त हो जाने से अर्थात् वैसी निन्दा होने लगी, जो लेप की भाँति सर्वत्र भासमान होने लगी, सारांश यह है कि जहाँ-तहाँ प्रत्येक मनुष्य भगवान् की निन्दा करते हुए कहने लगे कि भगवान् प्रसेन को मारकर मणि ले आए हैं, अतः इस असत्य कलङ्क को मिटाने के लिए यदि भगवान् प्रयत्न न करते तो उस कलङ्क रूप दोष के कारण किसी की भी मुक्ति न हो सकती थी; क्योंकि सबकी आत्मा भगवान् ही है, भगवान् कलङ्क से दोषी हुए तो सब दोषी हुए, अतः उसका निराकरण करना योग्य ही है, वह निराकरण भी अलौकिक रीति से न कर, लौकिक प्रकार से ही करना चाहिए, इसलिए उन नागरिकों को साथ ले गए, जो पद-मार्ग को जानते थे, जिससे उसके जाने के मार्ग को पहचानकर वहाँ पहुँच गए, यों न करते तो लोक कृत्रिम (बनावटी) जानते ॥१७॥

आभास—ततस्तं दृष्टवानित्याह हतं प्रसेनमिति ।

आभासार्थ—‘हत प्रसेन’ श्लोक से कहते हैं कि अनन्तर उसको जाकर मरा हुआ देखा ।

श्लोक—हतं प्रसेनमश्वं च वीक्ष्य केसरिणा वने ।

तं चाद्रिपृष्ठे निहतमृक्षेण ददृशुर्जनाः ॥१८॥

श्लोकार्थ—वन में प्रसेन और अश्व को सिंह से मरा हुआ देखा और उस सिंह को मनुष्यों ने पर्वत के ऊपर रीछ के हाथ से मरा हुआ देखा ॥१८॥

सुबोधिनी—केसरिनखानां चिह्नदशनात् केसरिणैव हतं ज्ञातवन्तः । ततो मणिरप्यस्मै देय इति, यादवः स्वगोत्रजो मारित इति पदाभिज्ञै-

रेव केसरिमार्गमन्वगमत् । तं चापि अद्रिपृष्ठे पर्वतोपरि निहतं ददृशुः सर्व एव जनाः । तत्रापि ऋक्षेण ऋक्षपदचिह्नैस्तज्ज्ञानम् ॥१८॥



व्याख्यानार्थ - केसरी सिंह के नखों के चिन्ह प्रसेन के देह पर देख समझ लिया कि इसको सिंह ने मारा है, तब जान लिया कि मणि भी इसको मिली है, अपने गोत्र में उत्पन्न प्रसेन यादव मारा गया है, पाणियों के साथ ही सिंह के रास्ते से पीछे गए तो वहाँ मनुष्यों ने पर्वत के ऊपर देखा कि इस सिंह को किसी रीछ ने मार डाला है; क्योंकि वहाँ रीछ के पैरों के चिन्ह देखने में आ रहे थे ॥ १८॥

आभास— ऋक्षान्वेषणार्थं भगवान् प्रवृत्त इत्याह ऋक्षराजबिलमिति ।

आसाभार्थ— 'ऋक्षराजबिल' श्लोक से कहते हैं कि भगवान् रीछ को ढूँढ़ने में प्रवृत्त हुए ।

श्लोक— ऋक्षराजबिलं भीममन्धेन तमसावृतम् ।

एको विवेश भगवानवस्थाप्य बहिः प्रजाः ॥ १९॥

श्लोकार्थ— रीछों के राजा की गुफा बड़ी भयंकर और अन्धकार से व्याप्त थी, इसलिए प्रजा को बाहिर ही खड़ी रख आप अकेले प्रविष्ट हुए ॥ १९॥

सुबोधिनी— यद्यपि भगवान् भक्तार्थमेव तत्र प्रविष्टः, तथापि लोके मण्यर्थं कष्टमपि कृतवानिति ज्ञापयितुं तस्मिन्बिले प्रविष्टः । ननु ऋक्षः प्राकृतः पशुः, भगवांस्तत्र किमर्थं गत इत्याशङ्क्याह राजेति । ऋक्षाणां राजा महानेव भवति । तत्रान्यस्य प्रवेशाभावाय विशिनष्टि भीममन्धेन तमसावृतमिति । अन्तःकरणस्य इन्द्रियाणां च प्रवृत्त्यभावाय विशेषणद्वयम् । अन्धतमः कदापि सूर्यतेजोरहितम् । अनेन मणिनापि तत्र प्रकाशो

न कृत इति सूचितम् । अतो भगवान् अन्यान् स्थापयित्वा दयावन्तमिवात्मानं ज्ञापयित्वा । साधारणत्वादसमर्थत्वादनियामकत्वाच्च ताभिर्भगवन्निवारणं न कृतमिति ज्ञापयितुं प्रजापदम् । साधारणास्तु ततो निवृत्ता इति ज्ञापयितुं प्रजानामेवावस्थापनमाह । प्रायश्चित्तमेकेनैव कर्तव्यमिति मर्यादां पालयन्निव भगवानेक एव प्रविष्टः । यादवा अपि भगवदिच्छया अकीर्त्यापि शङ्किता न सङ्गे गताः ॥ १९॥

व्याख्यानार्थ - यद्यपि भगवान् बिल में भक्त के लिए गये थे, तो भी, लोक में यह जताने के लिये, कि भगवान् ने मणि की प्राप्ति के लिए कष्ट भी किया है । रीछ प्राकृत पशु है, जिसके लिए भगवान् अन्धकार में प्रवेश किया, राजा महान् ही होता है, दूसरे किसी को क्यों नहीं भेजा ? इसके उत्तर में कहा है कि वहाँ दूसरा कोई जा नहीं सकता था, कारण कि गाढ़ अन्धकार से वह बिल व्याप्त था, जिससे अन्तःकरण तथा इन्द्रियों को वहाँ प्रवृत्ति नहीं हो सकती है, घोर अन्धकार है, कारण कि वहाँ कभी भी सूर्य का दर्शन नहीं होता है, जिससे सूर्य के प्रकाश से वह स्थान रहित है इस कारण से मणि ने भी वहाँ प्रकाश नहीं किया, यों सूचित किया, भगवान् अपनी दयालुता प्रकट करते हुए अन्यो को बाहर ही ठहरा कर स्वयं प्रविष्ट हुए, बाहर ठहरने वालों के लिये "प्रजा" पद देकर यह सूचित किया है कि वह साधारण असमर्थ और अनियामक थी इसलिये भगवान् को ऐसे स्थान पर जाने से रोका नहीं । जो साधारण थे वे तो लौट गये, इसलिये प्रजा को बाहर ही ठहराने का कहा है, किसी दोष हो जाने पर समुदाय



में से प्रायश्चित्त एक ही करता है यह नियम है, इस नियम के पालनार्थ भगवान् एक ही प्रविष्ट हुए, यादव भी भगवान् को इच्छा से अथवा अनकीर्ति से शक्ति हो भगवान् के साथ प्रविष्ट न हुए ॥ १६ ॥

आभास—तत्र प्रविष्टस्य मणिदर्शनमाह तत्र दृष्टेति ।

आभासार्थ—“तत्र दृष्ट्वा” श्लोक से कहते हैं कि वहाँ प्रविष्ट हुए भगवान् ने मणि देखी—

श्लोक—तत्र दृष्ट्वा मणिश्रेष्ठं बालक्रीडनकं कृतम् ।

हतुं कृतमतिस्तस्मिन्नवतस्थेऽर्भकान्तिके ॥२०॥

श्लोकार्थ—वहाँ बालक ने मणि को अपना खिलौना किया है, यह देख उसको लेने का विचार कर भगवान् बालक के पास खड़े हो गए ॥२०॥

सुबोधिनी—यद्यपि तत्र नागलोकमणयः अन्येऽपि दिव्याः सन्ति, ततः स्यमन्तकपरिज्ञानं कठिनम्, तथापि स्वत एवोत्तममिति लौकिकेनापि प्रकारेण ज्ञातुं शक्यमिति ज्ञापयितुं मणिश्रेष्ठमित्युक्तम् । तथापि मणिः गुप्त एव स्थाने स्थाप्यत इति भगवान् लौकिकप्रकारेण कथं दृष्टवान्, तत्राह बालक्रीडनकमिति । बालस्य क्रीडार्थमुपरि निबद्धमित्यर्थः । पुराणान्तरे तु स्यमन्तकमणि-ज्ञापकं वाक्यमपि श्रुतवानित्युक्तम् । तत्र धात्री बालं लालयन्ती आह । ‘सिंहः प्रसेनमवधीत् सिंहो जाम्बवता हतः । सुकुमारकं मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तकः’ इति । अतो लौकिकेनापि प्रकारेण

ज्ञात्वा अपकीर्तिनिराकरणार्थमिदं हतव्यमिति स्वाभाविकं चेतस्य न भवतीति, उपयोगश्च तथा नास्तीति, बालप्रबोधो वर्णमात्रेणापि भवतीति, पूजाभावात् घनप्रसवो नास्तीति, सुवर्णेनाप्युपयोगाभाव इति, अविलष्टकर्मापि पामरा न प्रष्टव्या इति स्वयमेव हतुं कृतमतिर्जातः । ततो मर्त्यैव सर्वा सामग्री अविलष्टत्वाय सम्पादिनेत्याह आदौ भगवान् अर्भकान्तिके तूष्णीं कियत्कालमवतस्थे, न तु गृहीत्वा ततो निर्गतः । चौर्यादिना जीवत् अपथप्रवृत्तः महानपि भक्तोपि विषयासङ्गात् प्राकृतो जातः । अतस्तत्सम्बन्धात् तदीया अपि प्राकृता एव जाताः ॥२०॥

व्याख्यानार्थ—श्लोक में “मणि श्रेष्ठ” पद देने का भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यद्यपि वहाँ नागलोक की दूसरी भी अनेक दिव्य मणियाँ थी जिससे स्यमन्तक मणि की पहचान कठिन थी तो भी यह स्वत ही उत्तम थी जिससे लौकिक प्रकार से भी यह पहचानी जा सकती थी इसलिये इसको “मणि श्रेष्ठ” कहा गया है। यों हैं, तो भी ऐसी मणि तो गुप्त स्थानों में रखी जाती है तो भगवान् ने लौकिक रीति से कैसे देख ली ? इसके उत्तर में कहा है, कि “बालक्रीडनक” बालकों के क्रीड़ा के लिये ऊपर बांध रखी थी; अन्य पुराणों में तो ऐसी कथा है कि जब भगवान् वहाँ पधारे तब धात्री बालक को लालन करती हुई कहती थी ‘सिंहः प्रसेनमवधीत्, सिंहो जाम्बवता हतः । सुकुमारकं मा रोदीस्तव ह्येष स्यमन्तकः’ सिंह ने प्रसेन को मारा, फिर जाम्बवान् ने सिंह को मार डाला, हे सुन्दर कुमार ! तू रो मत यह स्यमन्तक तेरी है, ये शब्द सुन कर, लौकिक प्रकार से भी जान लिया अथ अपकीर्ति को निराकरण करने के लिए यह मणि हरण

करनी चाहिये, ऐसा स्वभाव तो इनका नहीं हो सकता है, और उसका उपयोग भी करना नहीं है। बालक को तो शब्द मात्र से प्रसन्न किया जा सकता है, मणि से धन की प्राप्ति तब हो जब उसकी पूजा की जाए। पूजा के अभाव से धन भी उत्पन्न नहीं होता है सुवर्ण से भी उपभोग का अभाव है, आप अक्लिष्टकर्म हैं इसलिये पापों से पूछने की आवश्यकता नहीं थी, इसलिये स्वयं हो मणि के हरण का विचार करने लगे, यों विचार करने के बाद परिश्रम न हो इसलिये सर्व सामग्री तैयार करला, पहले भगवान् बालक के पाप मौन धारण कर कितने समय खड़े रहे किन्तु वहाँ से मणि लेकर नहीं निकले, चोरी से जीवन बुरे मार्ग पर जाता है, जिससे महान् हो, चाहे भक्त हो, वह विषयों में आसक्त होने से प्राकृत हुवा, अतः उसके सम्बन्ध से तदीय भी प्राकृत हो गये ॥ २० ॥

आभास—अतो भगवन्तं दृष्ट्वा सदबुद्धयभावात् विषयाभिनिवेशाच्च विचारमकृत्वापि आक्रोशं कृतवतीत्याह तमपूर्वमिति ।

आभासार्थ—भगवान् को देखकर, वह दाई जो बालक की रक्षा कर रही थी उसमें सदबुद्धि न होने के कारण और इस काम में आग्र होने से बिना विचार आक्रोश करने लगी, जिसका वर्णन 'तमपूर्व' श्लोक में करते हैं —

श्लोक—तमपूर्वं नरं दृष्ट्वा घात्री चुक्रोश भीतवत् ।

तच्छ्रुत्वाभ्यद्रवत्क्रुद्धो जाम्बवान्बलिनां वरः ॥२१॥

श्लोकार्थ—दाई ने उस अपूर्व नर को देख डरे हुए के समान चिल्लाया, वह चिल्लाना सुनकर बलवानों में श्रेष्ठ, क्रोधित जाम्बवान् भगवान् के निकट आया ॥२१॥

सुबोधिनी—देवादीनामन्यतरश्चेद्वाक्स्तम्भनाः किमपि कुर्यादिति । तदभावात् भगवतो क्लिष्टकर्मत्वं ज्ञात्वा नरोऽर्थमिति ज्ञातवती । अकृतिवचनो वा नरशब्दः । स्वस्थस्याप्याक्रोशो भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं पुत्रं वा मारयिष्यतीति बुद्ध्या जाम्बवानपि महानिति तथा भयाभावात् भीतवत् चुक्रोश । यतो घात्री बालकरक्षापरा ।

ततोऽन्तःकार्यान्तरव्यापृतोऽपि तद्वाक्यं श्रुत्वा समागत इत्याह तच्छ्रुत्वेति । मदायतनेऽपि मण्यर्थं कः समागत इति क्रोधः । जाम्बवानिति नाम्ना प्रसिद्धो रामायणे बुद्धिविशेषे, तादृशोऽप्यविचार्य समागतः । तत्र हेतुबलाभिमान इति अभिप्रायेणाह बलिनां वर इति । बलिभिरपि वरणीय इत्यर्थः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—देव आदि में से कोई एक होवे, तो वाणी का स्तम्भन भी करदे, किन्तु भगवान् ने ऐसा किया नहीं, भगवान् का क्लिष्ट कर्म जान कर समझने लगी कि यह कोई मनुष्य है, अथवा यह नर शब्द आकृति के कारण कहा गया है, सुखी भी कभी चित्लाहट करता है यह चिल्लाना वैसा नहीं था, किन्तु यह आया हुआ, पुत्र को मारेगा, इस विचार से यद्यपि जाम्बवान् महान् होने से



निर्भय था, तो भी डरे हुये के समान चिल्लाने लगा, कारण कि दाई बालक की रक्षा कर रही थी, यद्यपि स्वयं भीतरी अन्य कार्यों में रुका हुआ था तो भी दाई का वाक्य सुनकर भगवान् के पास आ गया। वाक्य सुनते ही इसको क्रोध उत्पन्न हुआ क्योंकि यह विचार होने लगा, मेरे घर में रखी हुई मणि को लेने के लिए यह कौन है ? जो मेरे घर के भीतर आ गया है, जाम्बवान् के लिये रामायण में प्रसिद्ध है, कि बड़ा बुद्धिमान है, वैसा बुद्धिमान होकर भी, बिना विचार किये आ गया, यों आने का कारण बल का अभिमान था, इसलिये श्लोक में 'बलिनांवर' बलवानों में श्रेष्ठ कहा है, बली भी इसका वरण करते हैं ॥ २१ ॥

आभास—एतादृशोऽपि कालादिवशादज्ञो भूत्वा भगवता सह युद्धं कृतवानित्याह स वा इति ।

आभासार्थ—ऐसा समझदार होते हुए भी कालादि के वश हो जाने से अज्ञ बन गया जिससे भगवान् के साथ युद्ध करने लगा, जिसका वर्णन 'स वं भगवता' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स वं भगवता तेन युयुधे स्वामिनात्मनः ।

पुरुषं प्राकृतं मत्वा कुपितो नानुभाववित् ॥२२॥

श्लोकार्थ—वह जाम्बवान् निश्चय से, उनके प्रभाव को न समझ प्राकृत मनुष्य मानकर, अपने स्वामी उन भगवान् से युद्ध करने लगा ॥२२॥

सुबोधिनी—स्वयमपि प्रसिद्धः, तथा कुर्वन् लोके अपकीर्तिमपि प्राप्स्यतीति सूचितम् । तत्रापि वं निश्चयेन । शारीरेण जीवस्याराध्यो भगवान् । तत्राप्यात्मना स्वामिना स्वस्यैवोपास्यरूपेण । तत्कथमित्याकाङ्क्षायामाह तेनेति । रघुनाथेन । कृष्ण एव रघुनाथः, तामेव सर्वां सामग्रीं गृहीत्वा समागत इति । स एव लक्ष्मणो बलः । सैव सीता रुक्मिणी । ते वानरा यादवाः, संवायोध्या द्वारका, सैव सरयूर्गोमतीति । तर्हि कथं युयुधे तत्राह पुरुषमिति । प्राकृतं पुरुषं मत्वा प्रकृत्यधिष्ठातारम् न तु पुरुषोत्तमम् ननु महतः कथमेतादृशमज्ञानमिति चेत्, तत्राह कुपितो नानुभावविति । दृष्ट्वा क्रोधवशात् अलौकिकत्वं न ज्ञातवान् । पूर्णं तु कृतो गोवर्धनदरेणुभावो न श्रुतः सत्सङ्गाभावात् बिलेशयत्वाच्च । अताऽनुभावानभिज्ञत्वात् कोपावेशाच्च स्वामिन्वेनाज्ञात्वा युयुधे ।

अविलम्बकर्म च भगवान् । अनुक्त्वंव स्वयं युद्धं कृतवान् । भगवत उत्तरार्धलीलायां प्रकृतिः कालादयश्चासहमाना जाताः । तेषां पीडार्थं, पुरुषं परित्यज्य सप्तविंशति तत्त्वानि, यथा काठिन्यं जहति, तथा मुष्टिप्रहारैः सेवककृतं चलने पादाविव कोमलानि कृतानीत्येके । चिरकालं मल्लयुद्धाकाङ्क्षया तथा कृतमित्यन्ये । रामावतारे हि तस्मै वरो दत्तो रामेण 'त्वदाराधनां ग्रहीष्यामी'ति । पुनस्तेन विज्ञापनायां कृतायां बल मदीयं व्यर्थं जायत इति । ततो भगवान् बुद्धिमिदानीं प्रकटीकुरु, बलं पश्चात्प्रकटीकरिष्यसीत्याह । नहि कश्चिज्जीवस्त्वत्पराक्रमं सोढुं शक्त इति । अतस्तत्र स्थापितां ज्ञानशक्तिं पूर्वावतारे गृहीत्वा इदानीं बलशक्तिमपि गृह्णन् पूजां गृहीत्वा त मुक्तं करिष्यतीति तथा भगवदुद्योगः ॥२२॥

व्याख्यान—जाम्बवान् स्वयं प्रसिद्ध था, अतः इस प्रकार भगवान् से युद्ध करने से अपकीर्ति को प्राप्त होगा, यह सूचित किया, यह सूचना साधारण नहीं है, किन्तु निश्चयपूर्वक है, जीव को भगवान् की आराधना शरीर से करनी चाहिये, उसमें भी अपने स्वामी उपास्य रूप की तो करनी ही चाहिये 'तेन' पद से यह दिखाया है, जाम्बवान् का उपास्य जो रघुनाथ है, वे कृष्ण ही हैं अतः उसी सकल सामग्री को लेकर यहाँ आये हैं जैसे वही लक्ष्मण बलराम है, वही सीता हविमणी है, वे बन्दर यादव हैं, वह ही अयोध्या अब द्वारकापुरी है वह सरयू गोमती है, जब यों है, तब जाम्बवान् अपने उपास्य से कैसे लड़े ? इस पर कहते हैं कि प्रकृति के अधिष्ठाता को प्राकृत समझा, न कि पुरुषोत्तम जाना । वह जाम्बवान् महान् बुद्धिमान है उसको ऐसा अज्ञान कैसे हुआ ? क्रोध ऐसी वस्तु है जो ज्ञानी को अज्ञानी बना देता है, यह भी क्रूर था, अतः क्रोध के कारण प्रभाव को न जान सका, भौतिक की पहचान न हो सकी, भगवान् ने जो गोवर्धन धारण कर अपना प्रभाव दिखाया था, वह इसने न देखा और न सुना था क्योंकि एक तो सत्संग का अभाव था, अर्थात् सत्संग नहीं किया था तथा दूसरा बिल में भी रहता था जिससे माहात्म्य जान न सका था अतः माहात्म्य का ज्ञान न होने से, कोप के आवेश से और यह मेरा स्वामी है इस अज्ञान से लड़ाई करने लगा । भगवान् तो अक्लिष्ट कर्मा हैं, अर्थात् भगवान् को किसी भी कार्य करने में परिश्रम तो होता हो नहीं है, इसलिये कुछ न कहकर ही स्वयं युद्ध करने लगे । भगवान् की उत्तरार्ध की लीला को प्रकृति^१ तथा काल^२ आदि^३ सहन न कर सके, उनकी^४ पीड़ा के लिए, जैसे पुरुष को छोड़ सत्ताईस तत्व कठिनता का त्याग करते हैं, वैसे ही सेवकों के किये हुवे मुष्टि प्रहारों से चलने में पैरों की तरह कोमल किये, यों कोई एक कहते हैं । दूसरे कहते हैं कि बहुत समय से मल्लयुद्ध लड़ने की चाहना थी इसलिये यों किया । रामावतार में श्री रामचन्द्रजी ने इसको वरदान दिया था, तेरी सेवा ग्रहण करूँगा तब जाम्बवान् ने फिर प्रार्थना की कि मेरा बल तो व्यर्थ ही चला जायेगा । तब भगवान् राम ने कहा, बुद्धि अब प्रकट कर, अर्थात् बुद्धि से सेवा अब कर, उसको अब स्वीकार करूँगा, शेष बल पीछे प्रकट करना, अर्थात् बल की सेवा की स्वीकृति कृष्णावतार में करूँगा, क्योंकि तेरा ऐसा उत्कृष्ट पराक्रम है, जो कोई भी जीव सहन न कर सकेगा, अतः उसमें स्थापित ज्ञान शक्ति को रामावतार में ग्रहण कर अब बल शक्ति द्वारा पूजा ग्रहण कर उसकी मुक्ति करेंगे इसलिये ही भगवान् का यह उद्यम है ॥ २२ ॥

ग्रामोस—ग्रहादिवशाज्जयो न जायत इति कदाचित्तस्य शङ्का स्यात्, अतस्तन्निराकरणार्थं सर्वेष्वेव नक्षत्रेषु युद्धं निरन्तरं कृतवानित्याह द्वन्द्वयुद्धमिति ।

ग्रामासार्थ—ग्रह आदि के वश से जीत नहीं होती है, इसलिये किसी की शंका होती हो, तो

१—प्रकृति शब्द का तात्पर्य है लोक धर्म का अनुसरण करना ।

२—सत्ताईस नक्षत्रों को यहाँ काल कहा है ।

३—आदि पद से कर्म और स्वभाव समझने चाहिए ।

४—भगवान् ने जो सेवक पर मुष्टि प्रहार किये, तत्वों के पीड़ा के लिए युद्ध किया है, जिसका कारण सत्ताईस तत्वों की कठिनता छुड़ाना है ।

व्याख्यानार्थ — दोनों की लड़ाई अच्छे प्रकार से होने लगी । यह लड़ाई नरों की तरह दिखावा मात्र नहीं थी, किन्तु वास्तविक घोर युद्ध था । सारा बल जिस युद्ध में लगाया जावे, उसको तुमुल युद्ध कहा जाता है ऐसी भारी लड़ाई का कारण यह था, कि दोनों चाहते थे, कि हमारी जीत होनी चाहिये, किन्तु भगवान् के प्रहार से शीघ्र दुःखो हो गया, लड़ाई बन्द हो, ऐसी इच्छा जाम्बवान् को होने लगी । तो युद्ध क्यों किया? जीतने की इच्छा से किया । परन्तु वह इच्छा, अज्ञान से उत्पन्न हुई थी । भगवान् ने तो समझ लिया कि मैंने जीत लिया, मेरा सेवक ही मेरे स्वरूप को जान सकता है, अथवा यह भगवान् है यों जताने के लिए कहता है, कि मैंने अज्ञान से जीतने की इच्छा की थी । अब युद्ध बन्द होना चाहिये, भगवान् ने मुझे जीत लिया । उस युद्ध में युद्ध के साधन अनेक थे । पहले तो अनेक प्रकार के आयुध थे, कोई तो यों कहते हैं कि जाम्बवान् बड़ा योद्धा था, इसलिये उसके पास इतने बहुत आयुध थे जो भगवान् को भी स्वयं आयुध देता था और कहता था कि अब लड़ो, दूसरों का कहना है, कि नहीं जैसा शस्त्र जाम्बवान् लेता था वैसा शस्त्र भगवान् प्रकट करते । वास्तव में वस्तु स्थित ऐसी होता थी, कि जो शस्त्र जाम्बवान् भगवान् पर फेंकता था, उसी को लेकर भगवान् प्रहार करते थे । पत्थर तथा पेड़ तो सुलभ मिल जाते थे, वे सब टूट जाते तब भूजाओं से युद्ध करते

ये । इस युद्ध करने की विधि क्या है ? जिसका उत्तर दृष्टान्त द्वारा दिया है, जैसे मांस के लिये बाज पक्षी लड़ते हैं, वे जब तक मांस अपने को न मिला है, तब तक लड़ते हैं वैसे ही यहाँ जब तक मणि की प्राप्ति न हो जाय, तब तक लड़ते रहना, कच्चा मांस बाज पक्षियों को जीवन के लिये अवश्य अपेक्षित है, वैसे ही भगवान् को अपना कलंक मिटाने के लिये मणि की आवश्यकता अपेक्षित है। कलंक मिटकर सत्यरूप शोभा तब बढ़ेगी, जब यह मणि विजय से प्राप्त की जायेगी । इस प्रकार के मोह के कारण ही भगवान् को मणि अपेक्षित है । बाज जाति और शृगाल को क्षुधा से पीड़ा नहीं होती है अथवा क्षुधा और पीड़ा नहीं होती है । इस प्रकार बहुत अर्थों की समानता देखकर श्येनो दृष्टान्त दिया है ॥ २३ ॥

आमास— एवं युद्धस्य कालमाह आसीत्तदष्टाविंशाहमिति ।

आसाभाष्य— “आसीन्तदष्टा” श्लोक से युद्ध कितने दिन चला सो बताते हैं—

श्लोक— आसीत्तदष्टाविंशाहमितरेतरमुष्टिभिः ।

वज्रनिष्पेषपरुषैरविश्रममहर्निशम् ॥ २४ ॥

श्लोकार्थ— वज्र के प्रहार से भी कठोर मुकों से विश्राम लिए बिना दिन-रात अठ्ठाईस दिन तक परस्पर दोनों लड़ते रहे ॥ २४ ॥

सुबोधिनी— अष्टाविंशे दिवसे ज्ञानं जातमिति तदपि दिनं फलरूपं युद्धमध्ये गृहीतम् । इतरेतर-मुष्टिभिः वज्रनिष्पेषादपि परुषेस्तद्युद्धं मध्ये विश्रामरहितम् । अहर्निशमिति ऐहिकावश्यककालकृतोऽपि विश्रामो नास्तीति सूचयति । भगवांस्तावत् प्रहारं करोति, यावत्स करोति, सोऽपि बलरूपो भवतीति वज्रनिष्पेषादपि तत्प्रहारः परुषा । अतस्तुल्यत्वात् न विरमणम्, नाप्येकस्य

पराजयः । भक्तत्वाद्भगवतो न मारणीयः । भगवांस्त्वशक्य एव । अत्र काचिद्विच्छेदा कथा । महा-मायोपस्थानस्याग्रे निरूपितत्वात् तेन विरोधादुपेक्षणीया । कल्पान्तरीयेत्यन्ये समादधुः ततः कालकृतं तस्य बलमिति सप्तविंशात्मके काले अतीते । प्राकृतबलपक्षेऽपि अष्टाविंशतिप्रकारं तद्बलमिति ॥ २४ ॥

व्याख्यानार्थ— अठ्ठाईसवें दिन, जाम्बवान् को ज्ञान हुआ, कि यह तो मेरे उपास्य स्वरूप हैं, वह दिन भी फलरूप होने से, युद्ध में गिना गया है, वास्तव में उसी दिन लड़ाई नहीं हुई है, वज्र के प्रहार से भी कठोर घुँसों से जो इतने दिन लड़ाई बिना विश्राम के दिन रात चलो, वह तुमुल भारी लड़ाई हुई, काल ने रात्रि विश्राम के लिये बनाई है, किन्तु वह कालकृत विश्राम भी न लेकर लड़ते रहे, जब तक वह प्रहार करे, उससे पहले भगवान् कर देते, वह भगवान् का प्रहार बलरूप हो जाने से वज्र गिरने से भी कठोर होता था, वे दोनों तुल्य होने से, विश्राम नहीं लेना चाहते थे, यों होते हुवे भी एक का भी पराजय न हो सका जिसका कारण यह था, कि जाम्बवान् भक्त था इसलिये भगवान् उसको मारना नहीं चाहते थे, भगवान् का तो अशक्य ही है, अतः दोनों वैसे ही रहे और लड़ते रहे । इस विषय में एक विच्छेद कथा हरिवंश में कही गई है कि ‘भगवान् ने जब जाम्बवान् के बिल में प्रवेश किया तब वसुदेव आदि लोट कर द्वारका आ गये वहाँ कहने लगे कि कृष्ण मर गये



हैं। यह कथा महामाया के उपस्थान से आगे कही गई है इससे यह विरुद्ध होने से उपेक्ष्य करने योग्य है दूसरे इस प्रकार समाधान करते हैं कि कथा दूसरे किसी कल्प की है, सप्तविंशतमक काल पूरे होने पर उसका काल कृत बल भी पूरा हो गया, प्राकृत बल के पक्ष में भी अठ्ठाईस प्रकार का उसका बल था ॥ २४ ॥

आभास—यदेव पुरुषप्रकारः समागतः, तदेव तस्य विवेक उत्पन्न इत्याह कृष्णमुष्टीति ।

आभासार्थ—प्रकृति बाल आदि का प्रकार गया और जब पुरुष प्रकार आया तब ही उसको विवेक आया जिसका वर्णन 'कृष्णमुष्टि' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—कृष्णमुष्टिविनिष्पातनिष्पिष्टाङ्गोरुबन्धनः ।

क्षीणसत्त्वः शिखन्नात्रस्तमाहातीव विस्मितः ॥२५॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के धूसों के प्रहार से उसके अङ्गों के सब बन्धस्थल शिथिल हो गए और बल शक्ति क्षीण हो गई, शरीर पसीने से भर गया, तब जाम्बवान् अचम्भे में आ उनसे कहने लगा ॥२५॥

सुबोधिनी—तस्य क्षीरोऽपि बले भगवतो बलं न क्षीणमिति । पश्चादल्पप्रहारैरपि निष्पिष्टाङ्गः । अङ्गानां चोरुबन्धनानि यस्य । विशीर्णसर्वावयवो जात इत्यर्थः । हस्तगदादयो भग्नाः । ततः अशक्तः जिज्ञासायां प्रवृत्त इति वक्तुं बाह्याभ्यन्तराशक्ति-माह क्षीणसत्त्वः शिखन्नात्र इति । अन्तःकरणे विवेकघर्षे क्षीरो, गात्रेषु प्रस्वेदेन शरीरमपि

क्षीणम्, निष्पीडितमिडाभूत् । ततो विस्मितो जातः । विचारे क्रियमाणे समागमनादिभिः प्राकृतधर्मैर्जीवत्वे ज्ञाते स्वसमानबलतैव कस्यापि नास्ति । ततोऽधिकबलः कथं जात इत्याश्चर्यम् । भगवत्त्वे वा कथमेवंरूपेणागत इति उभयत्र विरोधादतीव विस्मितो जातः ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—जाम्बवान् का बल क्षीण हो गया किन्तु भगवान् का बल क्षीण न हुआ, अनन्तर थोड़े भी प्रहार से उसके अंगों के बन्धन ढीले पड़ गये जिससे सर्व अवयव शिथिल हुए, हाथ, पैर टूट गये, पश्चात् अशक्त हो यह कौन है ? इस प्रकार जानने की इच्छा की, बाहर तथा भीतर की शक्ति जाने से निबल हो गया, जिससे समग्र शरीर पसीने से व्याप्त हो गया । विवेक-घर्ष सहित अन्तःकरण क्षीण हुआ, अङ्गों में पसीना आ जाने से शरीर भी कमजोर हो गया, वैसी स्थिति आ जाने से विशेष प्रकार से अचम्भे में पड़ गया विचार करने पर देखा कि इससे मिलाप आदि किया है तो यह प्राकृत धर्मों से जीव जाना जाता है, किन्तु कोई भी जीव मेरे समान भी बलवाला नहीं है, यह तो मुझसे भी अधिक बलवाला कैसे हुआ ? यह अचम्भा है, यदि भगवान् है तो इस प्राकृत रूप से कैसे आए ? दोनों परस्पर विरुद्ध देख बहुत ही अचम्भे में पड़ गया ॥२५॥

[illegible]

ग्रामास - ततो विरोधपरिहारे विचार्यमाणे लीलयापि प्राकृतवच्चेष्टा भवतीति

निश्चित्य बलस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वाच्च भगवानेवायमिति ज्ञात्वा स्वस्य पराजयः नातोव

न इति तत्राभिः। एतेषु च नान्येभ्यो भगवतः स्मृति-सम्प्रदायिः किरिता। त शायन् मंगलस्त स्तात् ज्ञा

विचार करने पर ध्यान में आया कि भगवान् कृती है। यह निश्चय कर लिया; क्योंकि उन ही है, यों जानकर इससे पराजय होना मन भगवान् की स्तुति 'जाने त्वां' से तीन श्लोकों

आभासार्थ - पश्चात् विरोध कैसे मिते ? इसका की लीला करने के समय प्रकृतों की भाँति चेष्टा हो सकती है। अतः यह भगवान् का विशेष बल तो प्रत्यक्ष देख लिया, अतः यह भगवान् को विशेष पीड़ा नहीं करने वाली है, यों जताते हुए भगवान् द्वारा करता है।

सहो बलम् ।

श्वरम् ॥ २६ ॥

पि यच्च सत् ।

यत्पनाम् ॥ २७॥

दि-

नोऽन्वित्रः ।

15

रेषूक्षतानि ॥२८॥

प्राणियों के प्राण, ओज, सह और
और सर्व के नियन्ता काल रूप भी हैं,
न करने वाले हैं, जो रचे हुए सत्
के भी काल रूप आप है, आत्मा के
त कोत्र भरे कटाक्षों के पात से समुद्र
मुद्र ने मार्ग दिया, अनन्तर समुद्र में
या, बाणों से राक्षसों के सिर पृथ्वी

नभैगुणैः ।

नान्यथा ॥१॥

श्लोक — ज्ञाने त्वां सर्वं भूतानां प्राण प्रोजः

विष्णुं पुराणं पुरुषं प्रमविष्णुमधी

त्वं हि विश्वसृजां स्रष्टा सृज्यानाम

कालः कलयतामीशः पर आत्मा तः

यस्येषदुत्कलितरोषकटाक्षमोक्षैर्वत्म।

शत्क्षुभितनक्रतिमिङ्गल

सेतुः कृतः स्वयशसोज्ज्वलिता च त

रक्षःशिरांसि भुवि पेतु

श्लोकार्थ—मैं आपको जानता हूँ, आप सब बल हैं तथा विष्णु, पुराण पुरुष, उद्भवकर्त्ता आप विश्व की रचना करने वालों के भी सृजक पदार्थ हैं, वे भी आप ही हैं, नाश करने वालों परमात्मा भी आप हैं । जिनके स्वल्प ही उद्दोष के नक्र और मगर जब क्षोभित हो गए, तब स पुल बाँधी, अपने यश से लंका को प्रकाशित कि पर गिराये, वे रामचन्द्र प्रभु आप हैं ॥२६-२८॥

कारिका—राजसंः सात्त्विकंश्च व तामसीस्तर्हि

सम्पूर्णः सहितो विष्णुर्भगवानेव

कारिकार्य—राजस, सात्त्विक और तामस; इन तीन सम्पूर्ण गुणों के प्रकाश से युक्त यह भगवान् विष्णु ही है दूसरा कोई नहीं है ॥१॥

सुबोधिनी—कथं निवृत्त इत्याकाङ्क्षायां ज्ञात्वा निवृत्त इत्याह जान इति । ज्ञानमार्गानुसारेणापि ज्ञानं सम्भवतीत्यत आह त्वामिति । त्वामहं जाने । तत्र प्रकारानाह सबभूतानां प्राणभोजः सहो बलमिति । प्राण आसन्यः, तस्य कार्यभोजः इन्द्रियशक्तिः । सहोःन्तकरणस्य । बल शरीरस्य । एवं सर्वप्राणिषु बलात्मा कार्यकारणभेदेन विभक्तवीर्य आसन्यस्त्वमेव । एव नरोत्तमत्वमुक्त्वा पुरुषोत्तमत्वमाह विष्णुमिति । विष्णुरधिकार्यपि भवतीति तावन्मात्रतां निराकतुं विशेषमाह पुराणपुरुषमिति । पुरुषोत्तमम् । किञ्च । तादृशोऽपि प्रभविष्णुः । लोकमुद्भावयति । प्रकर्षेण भावयति वा । किञ्च । अधीश्वरं सर्वनियन्तारं कालरूपम् । पूर्वं क्रियाशक्तिनिरूपिता चतुर्धा रूपभेदेन । इदानीं ज्ञानशक्तिनिरूप्यते चतुर्धा, ज्ञानं च त्रुविधम् । नियामकमेकम्, इष्टसाधनतां ज्ञापयित्वा प्रवर्तकं द्वितीयम्, ततः फलदातृत्वेन स्थितं तृतीयम्, ततो निर्वाहकसर्वरूपं चतुर्थम् । तद्विष्णुपदेन प्रत्यवरोहकमेण अन्यैर्पदैश्च निरूपितम् ॥२६॥

एवं पूर्णक्रियाज्ञानशक्तिमत्त्वेन भगवन्तं निरूप्य तस्य जगज्जन्मादिमोक्षान्तकार्याणि चत्वारि निरूपयति त्वं हीति । श्रुतयः सम्प्रत्यर्थः गृहीताः विश्वसृजां तत्त्वानामपि त्वं स्रष्टा । सृज्यानामपि घटादीनां सत्स्वरूपं भवानेव । अनेन स्थितिरुक्ता । कलयतां कालमहादेवयमादीनामपि त्वं काल उपसंहारकर्ता । एवं सृष्टिस्थितिप्रलयानुक्त्वा मोक्षदातृत्वमाह परमात्मेति । आत्मनां सर्वेषामेव जीवानां परमात्मा फलरूपः । सायुज्यस्थानमिति यावत् । तथात्मनां वा परमात्मत्वेन सेवमानानां परमात्मा मोक्षदाता । अथवा । भगवतः सर्वत्र वक्तुं सदंशस्योत्पत्त्यादिजनकत्वेन स्वरूपं भगवानित्युक्त्वा, चिदंशमपि भगवानेवात्मेति वदन्, आत्मत्वेनैव रूपता सिद्धेति तन्नियामकान्तर्क्ष-

निरूपत्वेन भगवन्तं निरूपयति परेति ॥२७॥

एवं मूलकार्यरूपे निरूप्य एव रामो मम स्वामी, स एव भगवानिति वक्तुं रामावतारपीरुधमाह यस्येषदिति । ईषदुत्कलितः पुष्पप्रायः क्रोधः, तत्रापि ऊर्ध्वं कलिकामात्रं जातः, सोऽपि मनस्येवेत्याह कटाक्षमोक्षीरिति । अल्पीयसि क्रोधे मनसि जाते दृष्टिस्तादृशी जाता । सापि न संपूर्णा, किन्तु कटाक्षरूपा, ते च पुनः दृष्ट्यवयवा, मोक्षरूपा इति ज्ञापयितुं कटाक्षाणां मोक्षा निरूपिताः । अल्पजीवाश्चेतनाः तं भीता भविष्यन्तीति किं वक्तव्यम् । ततः अन्धिरपि वत्सं आदिशत् । मदुपरि मार्गं कृत्वा गच्छन्तिवत्युक्तवान् । ननु देय एव मार्गः, कथमुपायमुपदिष्टवानित्याह क्षुभितनकतिमिङ्गिल इति । नक्राणां तिमिङ्गलानां च क्षोभं दृष्ट्वा तथोक्तवानित्यर्थः । अन्धिरश्च आपो धीयन्ते अस्मिन्निति तासां निरन्तरमुत्पत्तिर्बाधिता स्यात् । अतो मर्यादारक्षार्थमपि तथोक्तवान् । अप्सवभावः भगवत्कृतः । तेनान्यथाकतुं न शक्यत इति मार्ग एव कर्तव्य इति भगवानेव प्रायितः । अन्तरिक्षेणापि गमनेन गत्वा मारयितुं शक्यम्, तथा सति राक्षसैस्तुल्यता भविष्यतीति अलौकिके कर्तव्ये प्रस्तराणामेव समुद्रे प्लवनं निरूपितम्, न वानराणामिति भगवता सेतुः कृत इत्याह । क्रमेण चरित्रत्रयं निरूप्यते । सेतुबन्धो राजसः, दाहः सात्त्विकः, रक्षसां वधश्च शिष्ट इति । जलाग्न्यासन्यानां निमित्तत्वात् सत्त्वादिक्रमो वा । स्वयंशसो लङ्का उज्ज्वलितेति । ऊर्ध्वं ज्वलिता ज्वलिता उज्ज्वलीकृता वा अनेनैतत् ज्ञापितम्, रघुनाथेनैव लङ्का प्रकाशितेति । अन्यथा लङ्का को जानीयात् । नहान्यानि राक्षसस्थानानि लोके प्रसिद्धानि । इषुभिः क्षत्रानि स्वयमेव भूमौ पेतुः । क्षतमात्रेणैव भगवत्सामर्थ्यादेव पतितानि ॥२८॥



व्याख्यान—जाम्बवान् युद्ध से कैसे निवृत्त हुआ ? इसके उत्तर में कहा है कि प्रभु के स्वरूप को जब जान गया; तब निवृत्त हुआ, ज्ञान मार्ग के अनुसार भी ज्ञान होता है। अतः कहता है, मैं आपको जानता हूँ कि आप सकल प्राणियों के आसन्न प्राण हैं, उसका कार्य ओज अर्थात् इन्द्रियों की शक्ति भी आप हैं, अतः करण का बल और शरीर का बल भी आप हैं, इस प्रकार सर्व प्राणियों में बलात्मा, कार्य कारण से जिसका वीर्य बाँटा हुआ है वह आसन्न आप ही हैं, इस तरह नरों में उत्तम कहकर अब कहता है कि पुरुषोत्तम भी आप हैं; क्योंकि पुराण पुरुष विष्णु हो, यों तो केवल विष्णु कहने से अधिकारी विष्णु समझा जाता, वैसा होते हुए भी लोक को प्रकट करने वाले तथा प्रकर्ष से भावित करने वाले होने से प्रभु विष्णु भी आप ही हैं, सबको नियम में रखने वाले कालरूप भी आप हैं। पहले रूप भेद से चार प्रकार की क्रिया शक्ति का निरूपण किया अब चार प्रकार से ज्ञान शक्ति निरूपण की जाती है, ज्ञान चार प्रकार का है, एक नियामक, दृष्ट की साधनता जताकर प्रवृत्त करने वाला, दूसरा फलदातापन से स्थित तीसरा निर्वाह करने वाला सर्व रूप, चौथा है वह ज्ञान रूप अव-रोह क्रम से और अन्य पदों से निरूपित है ॥ २६ ॥

॥

इस प्रकार भगवान् के पूर्ण ज्ञान क्रिया शक्ति वाले स्वरूप का निरूपण कर, अब उनके जगत् के जन्म से लेकर मोक्ष पर्यन्त चारों कार्यों का निरूपण करता है, कि विश्व की रचना करने वाले तत्वों का सृष्टा आप ही हैं, बने हुए कार्यरूप वट आदि का सत् स्वरूप आप ही हैं, यों कहने से स्थिति बताई, नाश करने वाले काल महादेव और यम आदि के भी कालरूप आप ही हैं, इस प्रकार सृष्टि स्थिति प्रलय कर्त्ता स्वरूपों को कहकर, मोक्ष दाता होने से परमात्मा आप ही हैं, अर्थात् समस्त जीवों की परम आत्मा होने से फलरूप आप हैं। सारांश यह है कि सायुज्य स्थान आप हैं, आपकी परमात्मा रूप से सेवा करने वाले जीवों को मोक्ष देने वाले परम आत्मरूप आप मोक्ष दाता हैं अथवा सर्व भगवान् हैं यों कहने के लिये सदंश से उत्पत्ति आदि करने वाले स्वरूप होने से, भी आप भगवान् हैं, चिदंश जीव का आप भगवान् ही आत्मा हैं, यों कहते हुए आत्मापन से ही सबकी स्वरूपता सिद्ध हो गई उनका नियामक अन्तर्यामी रूप भी आप भगवान् हैं यों निरूपण करने के लिये कहता है, कि 'पर' रूप आप ही हैं, अर्थात् आप से उत्तम वा 'पर' कोई नहीं है इस विषय में सम्मति के लिये श्रुतियाँ ली हैं ॥ २७ ॥

इस प्रकार मूल स्वरूप के कार्यों का रूप वर्णन कर, जो ही राम मेरा स्वामी वही आप है, यों कहने के लिये, रामावतार के पराक्रमों का वर्णन करता है। अल्प ही उमरा हुआ फूल सम क्रोध, वह भी बड़ा हुआ कली जैसा हो गया। वह भी मन में ही उत्पन्न हो रहा था, थोड़ा भी क्रोध मनमें उत्पन्न होता है, तो दृष्टि भी वैसी हो जाती है। अर्थात् दृष्टि बदल जाती है। जिससे यह ज्ञान होता है, कि इसको क्रोध उत्पन्न हुआ है श्री राम की दृष्टि पूर्ण क्रोध से युक्त न थी, अतः कटाक्ष रूप हो थी, फिर वे दृष्टि के अवयव मोक्ष रूप थे यों जताने के लिये कटाक्षों के मोक्ष का निरूपण किया है। अर्थात् राम ऐसी स्थिति में अपनी दृष्टि के कटाक्षों को समुद्र पर फेंका जिससे डर कर समुद्र ने ही जब मार्ग दे दिया, तो चेतन जीव उनसे डरे उसमें कहना ही क्या है ? समुद्र ने डर से, भगवान् रामजी को कहा, कि यह मार्ग है, मेरे ऊपर मार्ग बनाकर आप निःसंकोच हर्ष से पधारिये। समुद्र को जाने का मार्ग दे देना चाहिये था ? उपाय क्यों बताया ? जिसके उत्तर में कहा है, कि समुद्र ने सोचा कि यदि रास्ता दूंगा, तो मेरे भीतर जो नरक मगर आदि भयंकर जीव हैं, वे उनको कष्ट देंगे। अतः



मार्ग बता दिया अथवा समुद्र को संस्कृत में “अन्धि” नाम भी दिया है, वह इस लिये दिया है, कि इसमें निरन्तर पानी पैदा होता ही रहता है, यदि वहाँ से रास्ता दिया जाता तो पानी की उत्पत्ति में रुकावट हो जाती, अतः रास्ता न देकर ऊपर पुनः बान्धने का उपाय बता दिया जिससे मर्यादा की भी रक्षा की गई इस प्रकार उत्पत्ति होने में जल का स्वभाव भगवान् ने बनाया है, इस तरह अन्य प्रकार से कर नहीं सकते, इसलिए भगवान् को ऊपर मार्ग बनाने की प्रार्थना की है, अन्तरिक्ष से भी जाकर मारा जा सकता था, इस प्रकार मारने से राक्षसों से समानता हो जाती, इसलिये कुछ अलौकिक भी दिखाना इस विचार से पाषाणों को ही समुद्र में स्नान कराते तराना योग्य ही है। यह निश्चय कर पत्थरों से पुल बनवाई यों निरूपण किया है। यह पुल वानरों ने नहीं किन्तु भगवान् ने सिद्ध किया है, भगवान् ने तीन प्रकार से चरित्र किया है। १-पुन बान्धना यह राजस चरित्र है। २-रावण की पुरी का वा रावण का दाह यह सात्विक चरित्र है, शेष राक्षसों का वध यह तामस चरित्र है, अथवा जलकार्य सत्व, अग्नि कार्य राजस आसन्य कार्य तामस है, इन कार्यों के निमित्त होने से तीन गुणों का क्रम है, श्री राम ने अपने यश से लंका प्रकाशित करदी वा जलाई इससे यह बताया कि रघुनाथ ने ही लंका को जगत में प्रसिद्ध किया नहीं तो लंका को कौन पहचानता था। जैसे अन्य राक्षस-स्थान, लोक में प्रसिद्ध नहीं वैसे वह भी नहीं होती, बाणों से क्षत हो राक्षसों के सिर स्वयं पृथ्वी पर गिर जाते, क्षत होते ही गिरने का कारण भगवान् का सामर्थ्य ही है ॥२८॥

आभास—एवं कृते स्तोत्रे भग्नसर्वाङ्गं यथापूर्वं कृत्वा भगवानुवाचेत्याह इतीति ।

आभासार्थ—जाम्बवान् ने जब इस प्रकार स्तुति की तब भगवान् ने उसके टूटे हुये अंगों को पहले जैसे सिद्ध कर दिये और उसको “इति” श्लोक से कहने लगे ।

श्लोक— इति विज्ञातविज्ञानमृक्षराजानमच्युतः ।

व्याजहार महाराज भगवान्देवकीसुतः ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! इस प्रकार जिस रीछों के राजा को विशेष ज्ञान हो गया है, उसको देवकी के पुत्र अच्युत भगवान् स्पष्ट कहने लगे ॥२९॥

सुबोधिनो—विशेषज्ञातं विशेषज्ञानं यस्य, स्वभावतोऽपि महान्तमृक्षराजानम्, अच्युतः सर्वतः धर्मा अपि तस्य तथेति । एतत्प्रयोजनमुत्तरश्लोके वक्तव्यम् । तत्कृतपीडाभावाय वा । व्याजहार स्पष्टमुक्तवाहं । निन्दितत्वात् कदाचित् व्याजेनापि वदेत् । अत एतदुक्तम् । महाराजेति संबोधनं

सेवकापराधापरिगणनज्ञापनार्थम् । ननु कथं स्पष्टं वचनं कथं वा नाज्ञापितवानित्याह भगवानिति । सर्वसमर्थः । तादृशोऽपि देवकीसुतो भक्तकृपालुः । अतो युक्तमेवास्य स्पष्टवचनमिति भावः ॥२९॥

व्याख्यानार्थ—जिसको विशेष ज्ञान हुआ है, और जो स्वभाव से भी महान् है, क्योंकि रीछों का राजा है, अतः उस महान् ऋक्षराज को स्पष्ट कहने लगे इस का प्रयोजन उत्तर श्लोक में कहा जावेगा अथवा उसको जो पीड़ा हुई उस पीड़ा को मिटा देने के लिये स्पष्ट कहने लगे, भगवान् जो स्पष्ट कहने



लगे, वह स्पष्ट कहना छन से भी हो सकता है; क्योंकि रीछ ने ऐसे कार्य किये हैं, जो निन्दा के योग्य है, इसका स्पष्टीकरण करते हुवे परीक्षित् को महाराज सम्बोधन देकर, इस शंका का निवारण करते हैं कि सेवक के अपराधों की गणना नहीं की जाती है, आप राजा हैं इस बात को जानते हो हैं, स्पष्ट वचन क्यों कहे? आज्ञा क्यों न दी, इसका उत्तर देते हैं कि आप अच्युत एवं भगवान् हैं, अच्युत होनेसे सर्व समर्थ हैं अर्थात् आज्ञा करें वा स्पष्ट वचन कहें, उनकी जैसी इच्छा हो त्यों करें किंच देवकी के पुत्र हैं, वह स्वरूप तो भक्तों पर कृपा ही करता है, अतः इनका स्पष्ट वचन कहना उचित ही है ॥२६॥

आभास—वचनात्पूर्वमेव तस्य हितं च कृतवानित्याह अभिमृश्येति ।

आसाभार्थ—स्पष्ट कहने से पहले ही उसका कल्याण किया जिसका वर्णन 'अभिमृश्य' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—अभिमृश्यारविन्दाक्ष. पाणिना शंकरेण तम् ।

कृपया परया भक्तं मेघगम्भीरया गिरा ॥३०॥

श्लोकार्थ—कमल नेत्र भगवान् ने परम कृपा से उस भक्त पर अपना कल्याण करने वाला हाथ फेरा और मेघ की गरज के समान गम्भीर आनन्द देने वाली वाणी से कहने लगे ॥३०॥

सुबोधिनी—तस्याभिमर्शोऽपि सकृत् कृतो नित्यं तिष्ठति । सामान्यस्यैव वाभिमर्शः सुखकरो भवति तत्क्षणम्, किं वक्तव्यमानन्दमयस्य । तत्रापि यस्मिन् क्षणे स निष्पादितः, ततः प्रभृति तथैवानुवर्तत इति पूर्वावस्थां ततोऽप्यधिकां वा प्राप्तवान् । मानसीं व्यथां दूरीकर्तुं माह अरविन्दाक्ष इति । दृष्ट्यैव सर्वसुखदायी । शंकरेण पाणि-नेति । तस्मिन्नतिशयाधानमप्युक्तम् । येनाग्रे

सद्बुद्धिरप्युत्पद्यत इति । एवं कायेन मनसा च सान्त्वनं कृत्वा वचसापि सान्त्वनमाह मेघगम्भीरयेति । मेघा हि शब्दत एव भाविवृष्टि सूचयन्तः चिन्तादिसर्वतापहारका भवन्ति । तथाप्यनुचितं कथमुक्तवानित्याशङ्क्याह कृपया परयेति । अनेन वा मानसं सान्त्वनम् । तमिति तथा स्तोत्रकर्तारं सान्त्वनोचितम् । त्रिविधसान्त्वनेऽपि हेतुर्भक्त-मिति ॥३०॥

व्याख्यार्थ—उनका इस प्रकार एक बार भी हाथ फिराना नित्य रहता है । सामान्य मनुष्य भी यदि यों हाथ फिरावे तो वह भी उस समय ही देता है, तो आनन्द मय का हस्त फिरे, तो उससे जो सुख होगा, वह कहा नहीं जा सकता है, उसमें भी जिस क्षण में वह कल्याणकारी हस्त धरा उस समय से लेकर, वह सुख वैसा हो बढ़ता रहता है यों उसकी जो पहले अवस्था थी उससे भी अब विशेष सुन्दर अवस्था हो गई अर्थात् भगवात् का शरीर पर हाथ का स्पर्श होने से उसके दूटे हुए अंग तो जुड़ गये किन्तु पूर्व से सुन्दर भी हो गये थे, न केवल अंग सुन्दर हुए किन्तु मन की व्यथा भी मिट गई क्योंकि भगवान् अरविन्दाक्ष हैं, जैसे कमल से ताप मिटता है, वैसे भगवान् भी अपने कमल समान नेत्रों से भक्त के भीतरी व्यथा, यानि ताप को शान्त कर, सर्व प्रकार सुख देते हैं, कल्याण कर हस्त धरने से आश्रय भी दिया, जिससे आगे सद्बुद्धि भी उत्पन्न होती रहे । इस प्रकार काया तथा मन से सान्त्वन।



देकर अब वचन से भी सान्त्वना करते हैं। मेघ सम गम्भीर वाणी से सान्त्वना दी। जिसका भावार्थ यह है, कि जैसे मेघ गर्जना कर बताते हैं कि हम वर्षा करेंगे, सुभिक्ष होगा चिन्ता मत करो, यह गर्जना सुन प्रजा का सुन का ताप मिट जाता है, वैसे ही भगवान् की वाणी से इसके ताप मिट गये। आज्ञा न कर, स्पष्ट कहा, यह उचित सा नहीं था यों श्यों कहा? इसका समाधान करने के लिये "परया कृपया" पद दिया है जिसका आशय है, कि परम कृपा के कारण यों किया है। कृपा से जो किया जाता है, वह उचित ही है उसमें भा यहां परम कृपा है जिसके लिये क्या कहा जाय? इससे मानस सान्त्वना भी कहा समझा जा सकता है, "तं" शब्द से यह बताया है कि जिसने स्तुति की है, उसकी सान्त्वना करना उचित ही है, तीन प्रकार की सान्त्वना बहने का कारण यह है कि वह "मत्त" है ॥ ३० ॥

आभास—वाक्यमाह माणहेतोरिति ।

ग्रामासार्थ—“मणिहेतोः” श्लोक से वह स्पष्ट वाक्य कहते हैं —

श्लोक—मणिहेतोरिह प्राप्ता वयमृक्षपते बिलम् ।

मिथ्याभिशापं प्रमृजन्नात्मनो मणिनामुना ॥३१॥

श्लोकार्थ—हे रीछों के पति ! हम यहाँ बिल में मणि के लिए आए हैं; क्योंकि हम पर जो भूठा कलंक लगाया गया है, वह इस मणि से मिटाया जाएगा ॥३१॥

सुबोधिनी—अत्रागमने मणिरिव हेतुः । मणि
नेतुमागताः । बहुवचनं पूर्वदृष्टसर्वसाहित्यं सूच-
यति । हेतुशब्दी वा निमित्तवाची । मणिनिमित्तं
वयं समागता इत्यर्थः । ऋक्षपतं इति । ज्ञात्वैवा-
गमनं निरूपितम् । अन्यथा बिले समागमनं न
स्यात् । मणेरपि प्रयोजनमाह मिथ्याभिशापं
प्रमृजन्निति । एतद्विस्तरेणोक्तमिति लक्ष्यते ।
मिथ्याभिशापः अकृतापकीतिकीतनम् । लोकाः

अत त्वविदं इति । दृष्टिमेव मन्यन्त इति । अपुना
मणिना अभिशापं प्रमृजन् इहागत इति सम्बन्धः ।
यद्यपि अग्रे मिथ्याभिशापापगमः, तथापि क्रिया
प्रारब्धेति वर्तमानप्रयोग एव युक्तः । एकवचनं तु
मिथ्याभिशाप एकस्यैवेति । आत्मन इत्यावश्य-
कता अन्यथा भक्तेद्वारो न सम्भवतीति
भावः ॥३॥

व्याख्यानार्थ - यहाँ आने में मणि कारण है, मणि लेने के लिये हम यहाँ आये हैं बहुवचन इस लिये कहा, कि पहले अपने साथ जो सब आये थे उनकी सूचना दी, हेतु शब्द निमित्त वाचो है, अर्थात् मणि के निमित्त हम आये हैं हे ऋक्षपति! यहाँ मणि है यह जानकर ही हम यहाँ आये हैं, यह कारण नहीं होता तो हमारा इस बिल में आना नहीं होता, मणि लेने का भी प्रयोजन बताते हैं। यों भी आप न समझना कि मणि इतना सोना देती है इस लोभ से आये हैं वह प्रयोजन नहीं है, धन आदि की लालसा हमको बिलकुल नहीं है, किन्तु हम पर मणि ले जाने का झूठा कलंक लगाया गया है कि मैंने सत्राजित के आता प्रसेन को पारकर मणि लेली है। इस नहीं किये हुवे कार्य का आरोपण झूठा कलंक लगाया गया है, यह अपकीर्ति सर्वत्र हो रही है लोक तो सत्य को जानते नहीं हैं, देखे हुवे



को प्रमाण मानते हैं, अतः यह मणि ले जा कर सारी कहानी सुना के अपना कलंक मिटाऊंगा, इस लिये ही हमारा आना हुआ है। यद्यपि आगे भूठी निन्दा मिट जाती, तो भी कार्य प्रारम्भ किया है इसलिये वर्तमान प्रयोग करना ही योग्य है। एक वचन इसलिये दिया है कि भूठी निन्दा एक की हुई है। “आत्मनः” पद आवश्यक था क्योंकि मेरी ही निन्दा हो रही है, नहीं तो भक्त का उद्धार ही न हो सकता यों भी है ॥ ३१ ॥

आभास—एवं स्वाभिप्राये निरुक्ते वथं देयमिति विचार्य तावन्मात्रे दत्ते स्वस्य सेवकत्वं न सिध्यति, याचितं सर्व एव प्रयच्छतीति स्वकन्यां च दत्तवानित्याह इत्युक्त इति ।

आभासार्थ— इस प्रकार जब भगवन् ने अग्रना अभिप्राय स्पष्ट कह दिया, तब जाम्बवान् ने विचार किया कि इनको मणि किस प्रकार दूँ ? केवल मणि देने से तो मेरा सेवकपन सिद्ध न होगा, अतः माँगने वाले को सब ही देना चाहिये यह निश्चय कर, मणि तथा अपनी कन्या भी दी, यह “इत्युक्त” श्लोक में शुकदेवजी वर्णन करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इत्यु तः स्वां दुहितरं कन्यां जाम्बवतीं मुदा ।

अर्हणार्थं स मणिना कृष्णायोपजहार ह ॥३२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा—भगवान् ने जब यों कहा, तब जाम्बवान् ने प्रसन्नता से अपनी जाम्बवती कन्या को लाकर कृष्ण के पास स्थापित की और पूजार्थ मणि भी दी ॥३२॥

सुबोधिनी—जाम्बवतः अपत्यं जाम्बवती, अनेन पालिता कन्या न भवतीति सूचितम् । ऋक्षाणां विधानान्तराभावात् दानमेव कृतवान् । सापि ततः पूर्वं कन्या अदत्तैव स्थिता । मुदेति भाग्यं जातमिति । भगवानपि पूजितः, कन्यायाः

वरोऽपि प्राप्त इति । ततस्तस्या एव कन्यायाः दानप्रसंगे अर्हणार्थं मणिमपि दत्तवान् । एतद् द्वयमपि न कुशोदकपूर्वकं प्रादात्, किन्तु उपजहार समीपे आनीय स्थापितवानित्यर्थः ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—जाम्बवान् की सन्तति जाम्बवती इस प्रकार नाम होने से यह कन्या जाम्बवान् की केवल पाली हुई नहीं है, किन्तु उत्पन्न की हुई है । रीछों के लिये कन्या का विवाह कराने का कोई विधान नहीं है । अतः दान ही की, वह कन्या पहले कहीं दी हुई नहीं थी । अप्रसन्न होकर नहीं दी किन्तु देने से प्रसन्न ही हुआ । कारण कि, समझने लगा कि मेरा सौभाग्य है, जिससे कन्या को ऐसा श्रेष्ठ वर मिल गया और मैंने भी भगवान् का पूजन किया । अनन्तर जब कन्या का दान भगवान् को देने लगा तब पूजन के निमित्त मणि भी भगवान् को अर्पण की, ये दोनों हाथ में कुश और जल लेकर भगवान् को नहीं दी थी किन्तु भगवान् के समीप आकर भेंट की भाँति घर दी ॥ ३२ ॥

आभास—एवमेतः स्थितिमुक्त्वा बहिःस्थितिमाह अदृष्ट्वा निर्गममिति त्रिभिः ।

आसाभार्थ—इसी भाँति भीतर की दशा को कहकर, अब बाहर की हालत का वर्णन “अदृष्ट्वा” से लेकर तीन श्लोकों से करते हैं—

श्लोक—अदृष्ट्वा निर्गमं शीरेः प्रविष्टस्य बिलं जनाः ।

प्रतीक्ष्य द्वादशाहानि दुःखिताः स्वपुरं ययुः ॥ ३३ ॥

निशम्य देवकी देवी रुक्मिण्यानकदुन्दुभिः ।

सुहृदो ज्ञातयोऽशोचन्बिलात्कृष्णमनिगमम् ॥ ३४ ॥

सत्राजितं शपन्तस्ते दुःखिता द्वारकीकसः ।

उपतस्थुर्महामायां दुर्गां कृष्णोपलब्धये ॥ ३५ ॥

श्लोकार्थ—भगवान् के संग गए हुए मनुष्य गुफा में न जाकर बाहर खड़े थे, भगवान् अकेले ही भीतर गए, संगी मनुष्य भगवान् के लौट आने की प्रतीक्षा में बाहर खड़े रहे । जब १२ दिन तक भगवान् बाहर नहीं आए, तब दुःखी हो अपने पुर को लौट गए । उन्होंने जाकर भगवान् का बाहर न आने का समाचार सबको सुनाया । वसुदेव, देवकीदेवी, रुक्मिणी, मित्र और बान्धव; कृष्ण का बिल से बाहर न आना सुन शोक करने लगे । वे दुःखी हुए द्वारकावासी सत्राजित को शाप देने लगे, इस प्रकार उसको गाली-गलोच करते हुए कृष्ण की प्राप्ति के लिए महामाया दुर्गा के पास गए ॥ ३३-३५ ॥

सुबोधिनी—प्रविष्टो हि तस्मिन्नेव दिवसे समायास्यतीति तत्रत्या बहिःस्थिताः निरन्तरा-काङ्क्षया भोजनादिरहिताः द्वादशदिवसपर्यन्तं स्थित्वा द्वादशाङ्गेष्वपि क्षीणेषु जना विवेक-रहिताः भगवानपि शीरिरिति विशेषतस्तत्प्रमा-वानभिज्ञाः दुःखिताः सन्तः द्वादशाहानि प्रतीक्ष्य स्वपुरं ययुः । ‘संवत्सरप्रतिमा वै द्वादशरात्रय’ इति । ततो येऽपि नागताः, तेऽपि द्वारकायां स्थिताः भगवन्निर्गमाभावं श्रुत्वा दुःखिता जाता इत्याह निशम्येति । स्त्रीणामविवेको भूयानिति । तत्रापि पुत्रस्तेहो महानिति देवक्यादिक्रम उक्तः त्रयो मुख्याः । अन्येऽपि सुहृदः सम्बन्धिनः ज्ञातयो

गोत्रिणश्च बिलादनिर्गतं कृष्णं श्रुत्वा अशोचन् । वस्तुतत्त्वानभिज्ञाः । कृष्णो हि मत्तहितार्थमेवा-वतीर्णः । कथं विलम्बं कृतवानिति । एवं सर्वेषां शोकं राजसं दुःखमुक्त्वा तामसं सात्त्विकं चाह सत्राजितं शपन्तस्त इति । दुरात्मायं सत्राजित्, प्रसेनवन्मित्रयतामिति । एवं शापे हेतुः दुःखिता इति । दुःखेऽपि विशिष्टो हेतुः द्वारकीकस इति । मथुरां परित्यज्य देशप्रान्ते द्वारकायां स्थिताः कृष्णैकशरणाः भगवत्यनागते दुःखिता भवन्तीति युक्तमित्यर्थः । द्वारकावासित्वेन तेषां शापोऽपि सत्राजिति फलिष्यतीति सूचितम् । सात्त्विकं दुःखमाह उपतस्थुर्महामायामिति । माया हि



भगवदुदगमे प्रतिबन्धिका भवति • भगवांश्च तस्यै
वरं दत्तवान् 'अचिष्यन्ती'ति । अतो भगवता
दत्तो वरः अवश्यं तेनैव सत्यः कर्तव्य इति देवता-

न्तरभजनापेक्षया भगवदाविर्भावार्थं दुर्गवानु-
सन्धेया ॥३३-३५॥

व्याख्यानार्थ— द्वारकावासी जो बाहर खड़े हो गये थे उन्होंने सोचा था कि भगवान् उसी दिन ही लौट आयेंगे, किन्तु भगवान् जब उस दिन नहीं लौटे तो दूसरे दिन सोचा कि कल नहीं आए तो आज तो आ ही जाएंगे यों निरन्तर आकांक्षा करते हुए उनको वहाँ बिना भोजन के बारह दिन बीत गये, इतने दिन निराहार रहने से उनके १२ अंग शिथिल हो गये, जिससे उनका विवेक जाता रहा, भगवान् भी शूरवंश में उत्पन्न हुवे हैं इसलिये उनके स्वभाव को न जान सके थे जिससे दुःखी हो १२ दिन उनकी राह देखकर अनन्तर अपने पुर अर्थात् द्वारका चले गये "संवत्सरप्रतिभावे द्वादश रात्रय" इस वाक्यानुसार १२ रात्रियाँ भोजन के बिना संवत्सर के समान है ।

जो साथ नहीं आये थे और द्वारका में ही स्थित थे वे भी भगवान् का बिल से बाहर न आना सुन कर दुःखी हुए, जिसका वर्णन 'निशम्य' श्लोक में हुआ है —

पुरुषों से स्त्रियों में अविवेक विशेष होता है, उसमें भी फिर पुत्र का स्नेह अधिक अविवेक करता है, इसलिये पहले देवकी से प्रारम्भ किया है, सम्बन्ध में तीन मुख्य होते हैं, माता, पिता और स्त्री । दूसरे भी सुहृद, मित्र, सम्बन्धी, ज्ञाति वाले और गोत्र वालों से भी सम्बन्ध होता है, अतः वे सब भी कृष्ण का बिल से बाहर न आना सुन कर शोक करने लगे । शोक करने का कारण यह था, कि वे वस्तु के तत्त्वों को नहीं समझते थे । श्रीकृष्ण तो भक्तों के हित के लिये ही प्रकटे थे, अतः कैसे विलम्ब किया है ?

इस प्रकार सर्व का राजस शोक और दुःख कहकर अब तामस और सात्विक कहते हैं—

यह सत्राजित दुरात्मा है, जैसे प्रसेन मरा वंसे यह भी मरे तो अच्छा, इस प्रकार शाप देने लगे, शाप देने का कारण है, श्रीकृष्ण के बाहर न आने से दुःखी होना, दुःख में इससे भी विशेष कारण, यह भी था कि द्वारका वासी थे । मथुरा छोड़ कर देश के एक कोने में द्वारका है उसमें जाके रहे थे, वहाँ इनके रक्षक कृष्ण ही है उनके न आने से दुःखी होना उचित ही है । द्वारकावासी होने से, यह भी सूचना दी है, कि इन्होंने जो सत्राजित को शाप दिया है वह सफल होगा । सात्विक दुःख कहते हैं, कि माया ही भगवान् के प्रकट होने में बाधा डालती है, भगवान् ने उसको वर दिया है, कि तूफे सब पूजेंगे अतः भगवान् ने जो वर दिया है, वह वर उनको ही सत्य करना है, इसलिए अन्य देव की पूजा की अपेक्षा भगवान् के आविर्भाव के लिए दुर्गा की पूजा करनी चाहिये ॥ ३३, ३४, ३५ ॥

आभास—एवं भक्तानां त्रिविधं दुःखं दृष्ट्वा स्वयमाविर्भावं कुर्वन्नेव कृतकार्यः अर्ध-
मासव्रते कृत एवमाविर्भूतः, स्ववाक्यमपि सत्यं कृतवानित्याह तेषां तु देव्युप-
स्थानादिति ।

आभासार्थ— इसी तरह भक्तों के तीन प्रकार के दुःख देख कृतकार्य भगवान् अपना आविर्भाव करने लगे, द्वारकावासियों के १५ दिन का व्रत पूर्ण होते ही स्वयं प्रकट हुए, अपना वाक्य भी सत्य किया जिसका वर्णन 'तेषां तु' श्लोक में करते है—

श्लोक—तेषां तु देव्युपस्थानात्प्रत्यादिष्टाशिषासवः ।

प्रादुर्बभूव सिद्धार्थः सदारो हर्षयन्हरिः ॥३६॥

श्लोकार्थ— देवी के उपस्थान करने से ज्यों देवी ने प्रसन्न हो आशीर्वाद दिया, त्यों ही कार्य सिद्ध कर स्त्री को भी संग ले हरि भगवान् सबको आनन्दित करते हुए प्रकट हो गए ॥३६॥

सुबोचिनी - प्रत्यादिष्टाः आशिषा सह असवो येन तादृशो भगवान् स्वयमेव समागतः । असु-शब्दात् समासान्तः अच्प्रत्ययः । आशिषेत्यलुक् तृतीयायाः । प्रत्यादिष्टमुपदिष्टम् । प्रतिरानुगुण्ये । देव्युपस्थानात् या आशीः तया सह भगवान् प्राणानपि दत्तवानिति । अथवा । देव्युपस्थानात् प्रत्यादिष्टाशिषा कृत्वा दुर्गाया आशीर्वादेन सवो यज्ञरूपः प्रादुर्भूतः । प्रत्यादिष्टाशिषां सवेति पाठ-

श्रित्यः । राजानं प्रति वा । वो युष्माकं भक्तानां स कार्यकर्ता सिद्धार्थः सन् प्रादुर्भूत इति । दुर्गाया वा आशीर्निराकृत्य प्रत्यादिष्टाशिषा कृत्वा स्वयमेव सर्वकामपूरको यज्ञः प्रादुर्भूतः । सिद्धार्थः स्यमन्तकसहितः । सदारः स्त्रीसहितोऽपि । हर्षयन् हरिरिति । हृष्टः सर्वाभरणभूषितः । भोजनादिना च पुष्टो, नतु ग्लानियुक्तः । यतो हरिः सर्व-दुःखहर्ता ॥३६॥

व्याख्यार्थ— जिसने आशीर्वाद के साथ प्राण भी दिये वह भगवान् स्वयं ही आ गये, देवी के उपस्थान से जो आशीर्वाद मिला उसके साथ भगवान् ने प्राण भी दिये, अथवा देवी के उपस्थान से प्राप्त आशीर्वाद से यज्ञरूप भगवान् प्रादुर्भूत हुए, "किसी पुस्तक की प्रति में "प्रत्यादिष्टाशिषां सवेः" पाठ है, वह विचारणीय है वा राजा के प्रति कहता है कि आप भक्तों के वह कार्य करने वाले भगवान् अपना कार्य पूर्णकर प्रकट हुए हैं अथवा दुर्गा के आशीर्वाद का निराकरण करके दी हुई आशीर्वाद से सर्व के कामनाओं के पूर्ण करने वाले यज्ञ रूप आप ही प्रकट हुए हैं, स्यमन्तक मणि को ले आने से अपना अर्थ सिद्ध किया है हर्ष उत्पन्न करते थे क्योंकि केवल मणि नहीं ले आये किन्तु साथ में स्त्री भी ले आये हैं और सर्व आभरणों से अलंकृत थे एवं भोजनआदि से पुष्ट हो कर आये थे, ग्लानि युक्त नहीं थे, कारण कि सर्व दुःख हर्ता हरि है ॥ ३६ ॥

आभास—ततः परमानन्दो जात इत्याह उपलभ्येति ।

आभासार्थ—“उपलभ्य” इस श्लोक में कहते है कि भगवान् की प्राप्ति से परम आनन्द हुआ—

श्लोक—उपलभ्य हृषीकेशं मृतं पुनरिवाप्तम् ।

सहपत्न्या मणिग्रीवं सर्वे जातमहोत्सवाः ॥३७॥

श्लोकार्थ—मानों मर कर पीछे आए हो, ऐसे श्रीकृष्ण को कण्ठ में मणि धारण किए हुए तथा स्त्री को संग में लेकर आने को पाकर सब लोग बड़े आनन्द मग्न हो गए ॥३७॥

सुबोधिनी—असम्भ्यो दृष्टान्तो लौकिकभाषायां न दोषाय । श्वशुरेणैव स मणिः कण्ठे निबद्धः । अतस्तदनुरोधेन मणिः स्वकीय एवेति ज्ञापयन् स्त्रीसहितो मणिग्रीवः स्वयमागतः । न केवलं समागमने अस्कीर्त्यभावः, किन्तु निरोधोऽप्यनेन जात इत्याह सर्वे जातमहोत्सवा इति । हृषीकेश-त्वात्तथैव तेषु प्रेरितवान् ॥३७॥

व्याख्यानार्थ—लौकिक भाषा में यदि असम्भ्य दृष्टान्त भी दिया जावे तो दोष नहीं है, समुद्र ने ही वह मणि कण्ठ में बान्धी थी अतः उसके ही आग्रह से यह मणि अपनी ही है यों जताते हुए स्त्री सहित मणिग्रीव होकर आप स्वतः आ गये, आने में केवल अपयश का मिट जाना नहीं है, किन्तु इससे सम्बन्धी तथा भक्तों का आपसे निरोध भी हुआ है, जिससे सब अत्यन्त प्रसन्न हो उत्सव मनाते हुए आनन्द मग्न हो गये भगवान् इन्द्रियों के स्वामी हैं इसलिये उनको वैसी ही प्रेरणा की ॥ ३७ ॥

आभास—एवमपि प्राप्य उपक्रमबलीयस्त्वार्थं समानयनार्थं प्रक्रान्त इति सत्रा-जितायैव दत्तवानित्याह सत्राजितमिति ।

आभासार्थ—भगवान् इस प्रकार मणि को प्राप्त कर भी, उपक्रम बलवान् होने के कारण, मणि लेआने के लिये उद्यम करने लगे इस लिये वह लाई हुई मणि सत्राजित को ही दे दो जिसका वर्णन 'सत्राजित' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—सत्राजितं समाहूय समायां राजसंनिधौ ।

प्राप्तिं चाख्याय भगवान्मणिं तस्मै न्यवेदयत् ॥३८॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण ने सत्राजित को राजा के समीप सभा में बुलाकर मणि कैसे लाए हैं, वह सब समाचार सुनाकर मणि उसको दे दी ॥३८॥

सुबोधिनी—यदादौ भगवान् विचारयति, तदेव करोति । आदौ च तस्य स्यमन्तक इति प्रवृत्तः । न केनाप्युपायेन स्वकीयं मन्यते । अतः एवाग्रेऽपि न ग्रहीष्यति । निबन्धे त्वन्योऽपि हेतु-रुक्तः ।

व्याख्यानार्थ—भगवान् पहले ही जो विचार कर लेते हैं, वह ही करते हैं, यह स्यमन्तक मणि सत्राजित की है जिससे उसको किसी भी भांति अपनी नहीं मानते है, इस कारण से मिलने पर भी आप ग्रहण नहीं करेंगे निबन्ध में तो दूसरा ही हेतु कहा है ।

कारिका—सर्वात्मनान्यहृदयं न गृह्णाति हरिः स्वयम् ।

सर्वात्मनाऽप्रपन्नं च नाशयेव सुयोधनम् ॥१॥ इति ।

कारिकार्थ—भगवान् आप जिसमें दूसरे का चित्त आसक्त है, वह वस्तु बिलकुल किसी प्रकार भी स्वतः नहीं लेते हैं, जो सर्वात्मभाव से शरण नहीं आया है, उसका तो दुर्योधन की भाँति नाश ही होता है ॥१॥

सुबोधिनी—सभायामाह्वानम् । पश्चाद्दुरा-
त्मा अन्यथा वक्ष्यतीति, लज्जां च जनयितुम्,
तत्रापि राजसन्निधौ निर्भयम् । यथा राजापि न
ग्रहं प्यतीत्याज्ञापयितुं वा, प्राप्युपायं प्रकारं वा

सम्यगुक्त्वा तत्सत्तां दूरीकृत्य मणिं तस्मै न्यवदे-
यत् । यतो भगवान् स्वेच्छो, मारयितुं वा, न
कोऽपि ज्ञातवान् किमर्थं दत्तवानिति । निवेदनं
'तवेदमानीतं गृहाणे'ति ॥३८॥

व्याख्यानार्थ—सत्राजित को सभा में बुलाया, वह दुरात्मा है, लज्जा आने से दूसरी तरह कहने लगेगा, उसमें भी राजा के सम्मुख निर्भय हो कर कहेगा जैसे राजा भी न ग्रहण करेंगे और प्राज्ञा भी न करेंगे । प्राप्ति का उपाय स्पष्ट रीति से बताया जिससे मणि पर उसकी सत्ता नहीं है यह सिद्ध कर दिया, फिर भी मणि उसको दे दी, यद्यपि भगवान् अपनी इच्छा वाले हैं मार भी सकते हैं, किन्तु मारें नहीं किन्तु मणि निवेदन की अर्थत्ति कहा कि यह मणि तुम्हारी है तुम लेलो, इस प्रकार देने के गुप्त भावार्थ को किसी ने भी समझा नहीं ॥ ३८ ॥

आभास—ततस्तस्य कृत्यमाह स चातिव्रीडित इति पञ्चभिः ।

आभासायं—अनन्तर उसका कृत्य "स चातिव्रीडित" श्लोक से पाँच श्लोकों में बहते हैं—

श्लोक—स चातिव्रीडितो रत्नं गृहीत्वावाङ्मुखस्ततः ।

अनुतप्यमानो भवनमगमत्स्वेन पाप्मना ॥३९॥

श्लोकार्थ—अनन्तर वह अति लज्जित हो नीचे मुख कर मणि ले, अपने अपराध के कारण सन्तप्त होता हुआ घर को गया ॥३९॥

सुबोधिनी—लोभादण्डभयाच्च गृहीत्वा लज्जितो
जातः । लोके अपकीर्तिमुत्पादितवानिति अवाङ्-
मुखो जातः । ततः पूर्वोक्तादेव हेतोः अपकीर्ति-
जननात् । अनुतापोऽपि तत एव । अतोऽस्य प्राय-
श्चित्ते परलोकशुद्धिर्भविष्यतीति ज्ञापितम् । न

कोऽपि तस्य बन्धुरिति कमप्यपृष्ट्वा स्वभवनमेवाग-
मत् । ननु रत्नं प्राप्य संतोषे कर्तव्ये कथमनुताप
इति चेत्, तत्राह स्वेन पाप्मनेति । देवान्तरप्रसा-
दापेक्षया भगवदपराधो महानिति ॥३९॥

व्याख्यानार्थ—उसको मणि लेने में लज्जा आने लगी, किन्तु लोभ से अथवा दण्ड के भय से मणि

ली. मैंने लोक में भगवान् की वृथा निन्दा करवाई, जिससे मुख नीचा कर दिया पहले कहे हुए अप-
कीर्ति कगने वाले हेतु से पश्चाताप भी करने लगा, अतः इस प्रकार किये हुए पाप कर्म का प्राय-
श्चित रूप पश्चाताप करने पर परलोक की शुद्धि होगी, यह जनाया है वहाँ उसका कोई भी बन्धु
नहीं था, इमालिये किसीसे भी पूछे बिना अपने ही घर गया, मरण प्राप्त होने से तो संतोष होना
चाहिये प्रच्युत इसने पश्चाताप कैसे किया ? इसके उत्तर में कहा कि अपने किये हुए भगवद् अपराध
के स्मरण से पश्चाताप हुआ अन्य देव की प्रसन्नता की अपेक्षा भगवदपराध महान् है ॥ ३९ ॥

**आभास - बलवता विग्रहे आकुलः सन् तमेवार्थमनुध्यायन् जात इत्याह
सोऽनुध्यायन्निति ।**

आभासार्थ—बलवान् से विग्रह करने से व्याकुल हो, उसही कर्म का ध्यान करने लगा, जिसका
वर्णन “सोऽनुध्यायन्” श्लोक में करते हैं—

श्लोक—सोऽनुध्यायस्तदेवाद्यं बलवद्विग्रहाकुलः ।

कथं मृजाम्यात्मरजः प्रसीदेद्वाच्युतः कथम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—बलवान् श्रीकृष्णचन्द्र के साथ विग्रह हो जाने से व्याकुल सत्राजित
अपने किए अपराध का विचार करते हुए सोचने लगा कि यह अपना पाप कैसे दूर
करूँगा और अच्युत मुझ पर प्रसन्न हो, इसका अब क्या उपाय है ॥४०॥

सुबोधिनी—अयत्नेनापि स एवार्थः ध्यातो
भवति यद्यपि विग्रहः स्वयं न कृतः, नापि करि-
ष्यति, भगवानपि न करोति, तथापि भगवदीयः
बलवद्भिः सह विग्रहः संभविष्यतीति व्याकुलता ।
अयं दोषस्तदापगच्छेत्, यदि भगवान् प्रसन्नो
भवेत् । तदेव विचारयति कथं मृजाम्येति । स हि

देवोपासक इति तस्य प्रायश्चित्तो मतिः । रजः
पापम् । अच्युतस्य सर्वथा नित्यधर्मस्य अवश्यं
भाविनरके हेतुभूतापराधस्य कृतत्वात् तत्प्रसन्न
एव तदपगम इति प्रसीदेद्वाच्युतः कथमिति
विचारयति ॥४०॥

व्याख्यान—यद्यपि वह यत्न नहीं करता था तब भी वही बात ध्यान में आजाती, जो कि
विग्रह स्वयं नहीं किया है, और न करेगा, भगवान् भी नहीं करते हैं तो भी जो बलवान् भगवद् य है
उनसे साथ विग्रह होगा, इसलिये घबराहट हो रही थी, यह दोष तब मिटेगा जब भगवान् प्रसन्न होंगे
उसके ही विचार करता है कि कैसे इस पाप को भेदूँगा; वह उपासना करने वाला है, इसलिये
उसकी बुद्धि प्रयश्चित्त में हुई है यहाँ “रज” शब्द का अर्थ है “पाप” जिसका कोई भी धर्म कभी भी
कर्म नहीं होता है अर्थात् जिसके सर्वधर्म नित्य ही हैं, उसके अपराध से अवश्य नरक की प्राप्ति होने
वाली है, जिसकी निवृत्ति उस प्रभु की कृपा से ही हो सकती है किन्तु वे प्रभु प्रसन्न कैसे हों ? इसका
विचार कर रहा है ॥ ४० ॥

आभास—यथा वाङ्मयेन अपकीर्तिर्जाता । अधुना क्रियया कथं कीर्तिर्भविष्यतीति तदाह किं कृत्वेति ।

आभासार्थ—जैसे वाक्य कहने से अपकीर्ति हो गई, वैसे अब क्रिया से यश कैसे होगा ? वह 'किं कृत्वा' श्लोक में कहता है—

श्लोक—किं कृत्वा साधु मह्यं स्यान्न शपेद्वा जनो यथा ।

अदीर्घदर्शनं क्षुद्रं मूढं द्रविणलोलुपम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—मैं क्या करूँ ? जिससे मेरा भला हो और अदूरदर्शी क्षुद्र, मूढ और द्रव्य लोभी को लोग शाप न देवे ॥४१॥

सुबोधिनी—मास्तु वा कीर्तिः, जनो लोकः यथा न शपेत् । शापे हेतुर्वाग्दोष एव मम, न त्वन्यदिति । स्वदोषाननुवदति अदीर्घदर्शनमिति । स्यमन्तकेन वचनेन वा इष्टमनिष्टं वा भविष्यतीति दीर्घदर्शनं कर्तव्यम् । तन्न कृतमिति सात्त्विको

दोषः । तत्रापि हेतुः क्षुद्रमिति । अल्पोऽहं राजसः । महान्तो हि गम्भीरा भवन्ति । किञ्च । प्रथम-वाक्योल्लङ्घनमेव मम दोषः पतितः । तत्र हेतुः द्रविणलोलुपमिति ॥४१॥

व्याख्यानार्थ—मेरी कीर्ति चाहे न हो, किन्तु लोक जैसे शाप न देवें । शाप देने में मेरी वाणी का दोष ही कारण है न कि दूसरा अपने दोष दिखाता है, मैं अदीर्घदर्शी हूँ, स्यमन्तक मणि भगवान् ले गये इस वाक्य के कहने से लाभ होगा या हानि होगी, यह विचार न किया, यह दूरदर्शिता करनी योग्य थी इसलिए मैं अदूरदर्शी हूँ, इसमें भी कारण यह है कि मैं क्षुद्र हूँ अर्थात् अल्प व नीच राजस हूँ, महान् पुरुष गम्भीर होते हैं, विशेष यह है, कि मैंने भगवान् की पहली आज्ञा न मानी, यह दोष मुझ पर पड़ा उसके न मानने का कारण यह था कि मैं धन का लोभी हूँ ॥ ४१ ॥

आभास—एवं दोषत्रये कः प्रतीकार इति चिन्तायां क्रियमाणायां निमित्तभूतो मणिरेव देय इति स्वस्य स्फुरितः । तदा सूर्यः । न मणिर्देयः, अपि तु देयत्वात् कन्यैव देयेति । तर्ह्युभयं देयम्, तथा सति भगवानपि संतुष्टो, लोका अपि न वाच्यं वदिष्यन्ति इति निश्चित्य, स्वाध्यवसायमाह दास्ये दुहितरमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार मेरे तीन दोष हैं इसका प्रतिकार क्या है ? इस का विचार करते हुए इसके ध्यान में आया कि इन दोषों के होने का मूल निमित्त मणि है, वह मणि ही दे देनी चाहिये, मणि दी जाएगी तो सूर्य कहेंगे कि मणि मत दो, दोषों के मार्जन के लिये यदि देना है तो दान योग्य कन्या ही दो, अतः एक के देने से दोनों ही दी जाय तो अच्छा होगा भगवान् भी सन्तुष्ट होंगे और लोक भी निन्दा न करेंगे, यह निश्चय किया, उस निश्चय को 'दास्ये' श्लोक में कहता है—

श्लोक—दास्ये दुहितरं तस्मै स्त्रीरत्नं रत्नमेव च ।

उपायोऽयं समीचीनस्तस्य शान्तिर्न चान्यथा ॥४२॥

श्लोकार्थ—उनको कन्या दूंगा, केवल कन्यारूप स्त्री रत्न नहीं, किन्तु मणि रत्न भी दूंगा, यह उपाय उत्तम है, इससे इनकी शान्ति होगी, अन्य प्रकार से शान्ति न होगी ॥४२॥

सुबोधिनी—तस्मै प्रसिद्धाय । सर्वथा ग्रहीष्य-
तीत्यत्र हेतुः स्त्रीरत्नमिति । यथा जाम्बवान्
कायिकमपराधं कृत्वापि मणि दुहितरं च दत्त्वा
कृतार्थो जातः एवमहमपि भविष्यामीत्यभिप्राये-
णाह रत्नमेव चेति । नन्वन्यः भक्तिमार्गानुसारो

उपायः कथं न क्रियते, तत्राह उपायोऽयं समीचीन-
इति । व्यवहारे अस्मिन्नर्थे अयमेवोपायः समी-
चीनः, अन्यथा तस्य शान्तिर्न भविष्यतीति । स्व-
स्यार्धदुर्बुद्धिः, भवेदेवं यदि भगवान् (न) मणि
गृह्णीयात्, सर्वथा प्रपन्नता च न कृतेति ॥४२॥

व्याख्यानार्थ—कृष्ण नाम न देकर "तस्मै" पद देने का भावार्थ यह है कि लोक वेद में प्रसिद्ध जो पुरुषोत्तम हैं, वह यह ही हैं जो क्या कन्या को वे लेंगे ? इसके उत्तर में कहता है, कि सर्वथा ग्रहण करेगे, क्योंकि स्त्री रत्न रूप है, जैसे जाम्बवान् कायिक अपराध कर भी मणि तथा कन्या देने से कृतार्थ हो गया वैसे ही मैं भी हो जाऊंगा, इस अभिप्राय से कहा कि कन्या के साथ मणि भी दूंगा इस उपाय से भी दूसरा कोई भी, भक्ति मार्गीय उपाय क्यों नहीं करते हो ? इसके उत्तर में कहता है, कि यह उपाय सुन्दर है, कारण कि यह व्यवहार का लौकिक कार्य है । लौकिक में लौकिक उपाय चाहिये जिससे यह उपाय उत्तम है । दूसरे उपाय से उनकी शान्ति न होगी, जो भगवान् मणि न ग्रहण करें तो अपनी आधी बुद्धि दुष्ट है यों मानूंगा और पूर्ण शरणागति नहीं हुई है ॥ ४२ ॥

आभास—न केवलमेवं विचारितवान्, किन्तु कृतवानित्याह एवं व्यवसित इति ।

आभासार्थ—केवल यों विचार ही नहीं किया, किन्तु वैसा किया भी, वह "एवं व्यवसितो" श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—एवं व्यवसितो बुद्ध्या सत्राजितस्वमुतां शुभाम् ।

मणिं च स्वयमुद्यम्य कृष्णायोपजहार ह ॥४३॥

श्लोकार्थ—सत्राजित अपनी बुद्धि से ऐसा निश्चय कर अपनी सुन्दर कन्या तथा मणि स्वयं लेकर कृष्ण के पास आ उनको अर्पण की ॥४३॥

सुबोधिनी—बुद्धयैव, न तु कश्चित्पृष्ठः । गृहे नीत्वा दोषपरिहाराय कृष्णाय सदानन्दरूपाय
शुभां शोभनरूपाम् । विवाहे समलङ्कृतां स्वयं उपजहार । हेत्याश्रये, कथमेवं कृतवानिति ॥४३॥

व्याख्यानार्थ—अपनी बुद्धि से ही यह निश्चय किया, किसी दूसरे से पूछा भी नहीं, विवाह समय में जैसे समलंकृत की जाती है वैसे अलंकृत कर सुन्दर कन्या आप घर में ले जाकर दोषों के परिहार के लिये सदानन्द कृष्ण को अर्पण की “ह” पद आश्चर्य में है कि ऐसा कार्य सत्राजित ने कैसे किया ॥ ४३ ॥

ग्रामास—ततो भगवानेकं गृहीतवान् एकं नेत्याह द्वाभ्याम् ।

ग्रामासार्थ—भगवान् ने दो में से एक ही ग्रहण की, जिसका वर्णन दो श्लोकों में किया है—

श्लोक—तां सत्यभामां भगवानुपयेमे यथाविधि ।

बहुभिर्याचितां शीलरूपौदार्यगुणान्विताम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—सत्तचरित्र, सुन्दररूपा तथा उदारता आदि गुणों से युक्त बहुतों से मांगी हुई, उस सत्यभामा से भगवान् ने शास्त्रविधि अनुसार विवाह किया ॥४४॥

सुबोधिनी—तां सत्यभामामिति । सत्येनैव भासत इति सत्यरूपा कान्तिरूपा च । यद्यपि तेन निवेदनमेव कृतम्, तथापि स्वयं यथाविधि उपयेमे । अन्यथा अन्यस्मै देया पतिष्यतीति । तत्र हेतुः बहुभिर्याचितामिति । सा हि पूर्वमन्यस्मै सन्दिग्धा प्रतिश्रुता । अतो विवादास्पदेति यथा-

विध्येव विवाहः कर्तुमुचितः । किञ्च । गुणा अपि तस्यां सन्तीत्याह शीलेति । शीलमन्तःकरणधर्म इन्द्रियाणां वा क्रियारूपम् । रूपं शरीरस्य । औदार्यमन्तःकरणस्य । एवमुत्कृष्टगुणैरन्विताम् ॥४४॥

व्याख्यानार्थ—सत्य से ही जो प्रकाशित हो रही है, इस लिये सत्यरूपा कान्तिरूपा होने से, सत्य भामा नाम से प्रख्यात थी यद्यपि सत्राजित ने निवेदन ही की थी, तो भी भगवान् ने शास्त्र विधि अनुसार उससे विवाह किया, यदि भगवान् यों न करते तो अचानक दूसरे किसी को दे दे तो, क्योंकि पहले इसकी मंगनी बहुतों ने की थी जिससे अनिश्चित रूप से देने का विचार दिखाया भी था अतः यह कार्य विवाद का विषय था इसलिए विधिप्रनुसार ही विवाह करना उचित था और कन्या में योग्य गुण भी हैं स्वभाव सुन्दर था जो अन्तःकरण का धर्म है अथवा इन्द्रियों का क्रिया रूप है, रूप शरीर का धर्म है, वह भी सुडील तथा श्रेष्ठ था उदारता थी वह भी अन्तःकरण का धर्म है । इस प्रकार उत्तम गुणों से युक्त कन्या जान, भगवान् ने उससे विधिपूर्वक विवाह कर विवाद को नष्ट कर दिया ॥ ४४ ॥

ग्रामास—एकं गृहीत्वा द्वितीयं प्रत्याचष्टे भगवानाहेति ।

ग्रामासार्थ—एक का ग्रहण कर दूसरी को लेने का “भगवानाह” श्लोक में निषेध किया—

श्लोक— भगवानाह न मणि प्रतीच्छामो वयं नृप ।

तवास्तु देशभक्तस्य दय च फलभागिनः ॥४५॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! भगवान् कहने लगे कि हम मणि की इच्छा वाले नहीं है, आप सूर्य देव के भक्त हैं, अतः यह आपके पास ही रहे; हम तो फल के भोक्ता हैं ॥४५॥

सुबोधिनी—ईश्वरत्वान्नात्र संनियोगशिष्ट-
न्यायो वक्तुं शक्यः । न मणि प्रतीच्छाम इति ।
विवाहे तु ग्रहमेव प्रयोजकः । मणी तु सर्वसम्प-
तिरपेक्ष्यत इति । अत एव वयमिति बहुवचनम् ।
नृपेति परीक्षितसंबोधनं भगवानाहेति वाक्ये संब-
ध्यते, न तु भगवदुक्ते । राजानो हि तथा वद-
न्तीति ज्ञापनाय । किञ्च । द्वयं समपितम् । तत्रैकं
ममास्तु, एकं च तवास्त्वित्याह तवास्त्विति । तत्र
हेतु देवभक्तस्येति । अन्यथा सूर्यः क्रोधं करिष्य-

तीति भावः । तथापि निवेदितं कथं त्यज्यत
इत्याशङ्क्याह वयं च फलभागिन इति । मणि-
फलमस्माकमपि भविष्यति । अशुरस्य धनसम्पत्ती
जामातृव भोक्ता भवतीति । चकारात् कश्चित्समु-
च्चितः । सत्राजितस्तु स्वात्मानं समुच्चिनोतीति
प्रत्ययः । भगवदभिप्रायस्त्वक्करः । तस्मै पूर्वं तेन
कन्या प्रतिश्रुता । उभयग्रहणे तस्य दुःखं भवि-
ष्यतीति भक्तहितं भक्तिमार्गं च सत्यं कर्तुं तथो-
क्तवानित्यर्थः ॥४५॥

व्याख्यार्थ श्रीकृष्ण ईश्वर हैं, इसलिए यहाँ 'संनियोगशिष्टन्याय' लागू नहीं होता है, हम मणि की इच्छा नहीं करते हैं, विवाह करने में (मैं) हम ही प्रयोजक है, मणि लेने में सबकी सम्पत्ति की अपेक्षा है इस कारण से ही "वयं" बहुवचन दिया है, नृप यह परीक्षित के लिये जो संबोधन दिया है वह भगवान् 'आह' इस वाक्य से सम्बन्ध है, अर्थात् शुकदेवजी राजा परीक्षित को सम्बोधन कर कहते हैं कि भगवान् ने सत्राजित को यों कहा राजा लोग इस प्रकार कहते हैं यह जताने के लिये आपने जो दो वस्तु एक कन्या और एक मणि उनमें से एक वस्तु (कन्या) मेरी हो और एक (मणि) तुम्हारी हो, क्योंकि तुम सूर्य देव के भक्त हो जो मणि अपने पास न रखोगे तो सूर्य देव क्रोध करेगा । मैंने तो निवेदन कर दी है, उसका आप त्याग कैसे करते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि हम फल के भोक्ता है मणि का फल हमको भी मिलेगा क्योंकि ससुर की धन सम्पत्ति का लाभ जवाई लेता है, "च" पद से कोई इकट्ठा किया हुआ पदार्थ, सत्राजित तो अपने को वा अपनी आत्मा को इकट्ठा करता है प्रत्यय दिया है, भगवान् का अभिप्राय तो कोमल है उसने पहले उनको कन्या देने की प्रतिज्ञा की है दोनों ही ग्रहण करने से उनको दुःख होगा इसलिये भक्त का हित और भक्ति मार्ग को सत्य करने के लिये भगवान् ने वैसा ही किया है ॥ ४५ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ५१वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सांख्यिक प्रमेय

प्रवान्तर प्रकरण का सातवाँ अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

जाम्बवती और सत्यभामा का विवाह

श्री गुरु चरण प्रताप चरित, यह सूरदास जन गायौ ॥

॥ श्री हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला

नवम् पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित
श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध अध्याय—५७ से ६३

श्री सुबोधिनी अनुसार अध्याय—५४ से ६०

उत्तरार्ध अध्याय—८ से १४

राजस-फल उप-प्रकरण अध्याय—१ से ७

श्री भागवत गूढार्थ प्रकाशन परायणः ।

साकार ब्रह्मवादक स्थापको वेद पारगः ॥—(श्रीमद्वल्लभाचार्य)

श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण

टिप्पणी— श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण

लेख— गो० श्री बल्लभजी महाराज

प्रकाश— गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज

योजना— प० भ० श्री लालुभट्टजी

कारिकार्थ— प० भ० श्री निर्भयरामजी भट्ट

अनुवादक—

गो. वा. प. भ. पं० श्री फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री विद्याभूषण
जोधपुर (राजस्थान)

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल

मानधना भवन, चौपासनी मार्ग,

जोधपुर (राजस्थान)

प्रथम आवृत्ति—१०००

श्री रथ यात्रा महोत्सव

आषाढ़ शुक्ला २, वि.सं. २०३०

बिनाङ्क ६ जुलाई, १९७३

न्यूझावर
सादर भेंट
संस्था
सदस्यों
को

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ५७वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ५४वाँ अध्याय

उत्तरार्ध का द्वाँ अध्याय

राजस-फल-अवान्तर प्रकरण

“प्रथम अध्याय”

स्यमन्तक मणि हरण, शतधन्वा का उद्धार और अक्रूरजी को फिर से द्वारका बुलाना



कारिका—निरोधो मानरूपोऽत्र सप्तभिर्विनिरूपितः ।

मेयरूपश्च तावद्भिः प्रमेयबलमुच्यते ॥१॥

कारिकार्थ—आचार्यश्री ने भागवत में पांच प्रकरण विभाग किए हैं, जिसमें राजस प्रकरण विभाग के दो अवान्तर प्रमाण तथा प्रमेय प्रकरण पूर्वार्ध भाग में आए हुए हैं और फल प्रकरण उत्तरार्ध में आता है एवं इसकी भाषा तथा पूर्वार्ध की भाषा में अन्तर है, जिससे दोनों की सङ्गति नहीं बनती है, इस शङ्का निवारण के लिए कहा है कि वे भाषाएँ भी समाधि भाषा को पोषिकाएँ हैं, जिससे उनके साथ ही प्रकरण विभाग बन जाता है, इसको समझाने के लिए ही पहली कारिका कही है कि इस प्रकरण में प्रमाण रूप निरोध सात अध्यायों से और उतने ही अध्यायों से प्रमेय

रूप निरोध पूर्वार्ध में कहा है, साधन प्रकरण तो उत्तरार्ध में कहा हुआ है, इसलिए उसकी तो शङ्का उत्पन्न ही नहीं होती है, जिससे साधन प्रकरण के लिए यहाँ नहीं कहा है, केवल शङ्का निवृत्ति के लिए पूर्वार्ध में आये हुए प्रमाण तथा प्रमेय प्रकरण को कहा है ॥१॥

कारिका—अपकारिषु भवतेषु तथा साधारणेषु च ।

फलप्रकरणं ह्येतत्तेन तादृङ् निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—अपकार करने वाले यहाँ दो प्रकार के हैं एक अक्रूर आदि भक्त और दूसरे साधारण, इन दोनों के मिले हुए फल का यह प्रकरण है, जिसमें उनको स्वरूप बल से फल की प्राप्ति हुई है न कि साधन बल से फल मिला है, अतः वैसा स्वरूप बल निरूपण किया जाता है ॥२॥

कारिका— कामः फलं यथा पूर्वं क्रोधस्त्वत्र तथा फलम् ।

राजसानां विशेषेण जयस्त्वत्र फलिष्यति ॥३॥

कारिकार्थ—जैसे पहले तामस प्रकरण के फल प्रकरण में काम लीला का निरूपण हुआ है, वैसे यहाँ राजस प्रकरण के फल प्रकरण में क्रोध लीला निरूपण को गई है, वे लीलाएँ ही फल रूप या फल सम्पादिका हैं, इस प्रकरण में विशेषकर राजस भक्तों को ही जय रूप फल प्राप्ति होगी ॥३॥

कारिका—हरिधामैश्च हरिणा बलमद्रेण यादवैः ।

जयो निरूप्यते लोके निरोधात्मा हि राजसः ॥४॥

कारिकार्थ—हरि ने हरि के धर्मों से जय की और बलभद्र ने यादवों से, लोक में जय की, जिसका यहाँ निरूपण किया जाता है, यहाँ निरोध रूप परमात्मा राजस है ॥५॥

कारिका--तत्राष्टमे तथाध्याये कृष्णोच्छ्वाया जयस्त्रिधा ।

सत्राजिच्छतधन्वा च शक्रश्च जितास्तथा ॥५॥

कारिकार्थ—इस प्रकरण में तथा इस आठवें अध्याय में श्रीकृष्ण की इच्छा

+ राजस फल प्रकरण का पहला अध्याय उत्तरार्ध से गिनती प्रारम्भ करने से आठवाँ अध्याय होता है।



का जय तीन प्रकार से हुआ है; क्योंकि सत्राजित, शतधन्वा और अक्रूर तीनों से जय प्राप्त हुई है ॥५॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते भगवता मणिर्न गृहीत इत्युक्तम् । तस्य फलमत्र निरूप्यते । देवतान्तरे कृता बुद्धिः जीवन्तं निरोधयितुं न प्रयच्छतीति निरोधाधिकार्यपि सत्राजित् स्वदेहं परित्यज्य मणिद्वारा भक्ते स्थितः संसारे भगवत्पादरूपेषु वाराणस्यादिषु निरुद्ध इत्युच्यते । तत्र प्रथमं तस्य पूर्वदेहत्यागार्थं प्रस्तावनामाह विज्ञातार्थोऽपीति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय ७ के अन्त में कहा कि भगवान् ने मणि नहीं ली, जिसके फल का वर्णन यहाँ किया जाता है । श्रीकृष्ण से दूसरे देव में यदि बुद्धि की जाती है तो वह बुद्धि उस अन्य देवोपासक का जीते हुए भगवान् में निरोध नहीं करा सकती है, अतः निरोध का अधिकारी भी सत्राजित् अपनी देह का त्याग कर मणि के द्वारा भक्त संसार में स्थित हो, भक्त चरणारविन्द रूप वाराणसी आदि में निरोध को प्राप्त हुआ, यों कहा जाता है, उसमें प्रथम पूर्व देह के त्याग के लिए 'विज्ञातार्थोऽपि' इन दो श्लोकों से प्रस्तावना कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—विज्ञातार्थोऽपि गोविन्दो दग्धानाकर्ण्य पाण्डवान् ।

कुन्तो च कुल्यकरणे सहरामो ययौ कुरुन् ॥१॥

भोष्मं नृपं सविदुरं गान्धारों द्रोणमेव च ।

तुल्यदुःखौ समागम्य हा कष्टमिति होचतुः ॥२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि यद्यपि श्रीकृष्ण जानते थे कि पाण्डव गुफा में से होकर लाक्षाभवन से जीवित निकल गए हैं । तो भी कुन्तो तथा पाण्डवों का लाक्षागृह में जलना सुनकर कुलोचित व्यवहार करने के लिए बलदेवजी को साथ लेकर कुरुदेश को पधारे ॥१॥

भोष्म, धृतराष्ट्र, विदुर, गान्धारी और द्रोण से मिलकर अपनी संवेदना प्रकट करते हुए कहने लगे कि हा ! बड़ा कष्ट हुआ ॥२॥

सुबोधिनी—विद्यमाने भगवति भगवद्धर्मिणां प्रयोजकता न स्यादिति, लोकाश्च दुष्टाः अन्यथा कल्पयिष्यन्तीति भगवान् द्वारकां परित्यज्य हस्तिनापुरं गतो बलभद्रश्चेतीर्यते । न हि पाण्ड-	ववैरिषु भगवान् भक्तानां विधिमुखेन हितं कुर्वाणः किं गच्छति । न हि मुख्येषु गतेषु तत्सम्बन्धिष्वदुःखितेषु गमनं कुलाचारो भवति । सर्वमज्ञात्वा गत इत्याशङ्क्याह विज्ञातार्थोऽपीति । विशेषेण
---	---

ज्ञातः लाक्षागृहात् यथा पाण्डवा निर्गताः। यथा वा एकचक्रे गताः तत्र ब्राह्मणवेषेण भिक्षावृत्त्या च यथा तिष्ठन्ति, यथा वा पञ्चपुत्रा काचिच्छवरी लाक्षागृहे दग्धा, तद्भ्रमात् लोकाः पाण्डवाः कुन्ती च दग्धेति वदन्ति, इदं प्रमेयमर्थः। विज्ञातः अर्थो येनेति। अन्यथा कौरवेषु सन्देहः स्यात् यदि भगवान् न गच्छेत्, भगवतैवान्यत्र स्थापिता इति। अतोऽज्ञाननाट्यं कर्तव्यम् अन्यथा पाण्डवनाशार्थं पुनर्यत्नं कुर्युः। यतो भगवान् गोविन्दः, सतामिन्द्रो रक्षकः। अतः पाण्डवरक्षार्थं दग्धाना-कर्ण्य। अदग्धानिति मुख्यार्थः। यतः पाण्डवाः पितुः पुत्राः। मातृपुत्रा एव दग्धा भवन्ति। कुन्ती

च दग्वां श्रुत्वा। कुलधर्मसंरक्षार्थम्। बन्धुषु मृतेषु अवशिष्टानां तत्सम्बन्धिनानां दर्शनार्थं दूरस्था गच्छन्ताति। अनेन तेषामपि निरोधार्थं भगवान् गत इति सूच्यते। कुरुन् हस्तिनापुरम्। केवले भगवति कस्यचित्सन्देहोऽपि भवेत्। बल-भद्रसहिते न भवतीति सहराम इत्युक्तम् ॥१॥

गतयोः सम्प्रभमाह भीष्ममिति। नृपो घृत-राष्ट्रः। त्रयः सात्त्विकराजसतामसाः क्षीब्राह्मणाश्च जन्मोत्कर्षापकर्षौ। प्रत्येकमुपागम्य हा कष्टमित्यू-चतुः। एतादृशं वचनमाश्चर्यमिति हेत्युक्तम् ॥२॥

व्याख्यार्थ - जहाँ भगवान् स्वयं विद्यमान हैं, वहाँ भगवान् के धर्म प्रयोजक नहीं हो सकते हैं। लोक तो दुष्ट है यदि स्वयं कर्म न करें तो अन्यथा अनुमान करने लगेंगे, इसलिये भगवान् स्वयं बलरामजी को साथ ले द्वारका का त्याग कर हस्तिनापुर गये। यों कहा जाता है, जब भक्तों के हितकारी भगवान् हैं, तब पाण्डवों के वैरियों का विधि मुख से हित भी करने वाले नहीं है, तो फिर क्यों जाते हैं? मुख्य सम्बन्धियों के चले जाने पर, जिन सम्बन्धियों को जानेवालों का दुःख नहीं है, उनके पास संवेदना के लिये जाना कुलाचार नहीं है। यदि आपको इसका ज्ञान नहीं, इससे अज्ञान से चले गये हैं, यों कहा जाय, तो इस प्रकार की शंका भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि आपको सर्व प्रकार का विशेष रूप से ज्ञान है तो भी गये—लाक्षागृह से जैसे पाण्डव निकल गये, जैसे एक चक्र में गये वहाँ ब्राह्मण भेष धारण कर भिक्षावृत्ति से रहे और जैसे लाक्षागृह में पांच पुत्र तथा कोई शवरी जल गई, उनके जलने के भ्रम से, लोक कहते हैं कि पाण्डव और कुन्ती जल गई, यह सब अर्थ प्रमेय से समझ में आता है, इस प्रकार सर्व अर्थ भगवान् ने प्रमेय बल से तो जान ही लिया था, किन्तु यदि भगवान् हस्तिनापुर न जाकर संवेदना प्रकट करने का अज्ञान नाट्य न करते, तो कौरव समझते कि भगवान् ने पाण्डवों को लाक्षागृह से निकलवा कर दूसरे सुरक्षित स्थान पर स्थापित किया है, जिससे वे फिर पाण्डवों को नाश करने का यत्न करने लग जावे, इस प्रकार विचार कर ही भगवान् गये, क्योंकि आप सत्पुरुष भक्तों के रक्षक गोविन्द हैं, अतः पाण्डवों की इस प्रकार पूर्ण रक्षा होगी, वे निश्चिन्त हो निवास करेंगे। इस कारण पाण्डवों के जल जाने को सुन कर गये, मुख्य वास्तविक अर्थ तो यह है कि वे जले नहीं थे, क्योंकि पाण्डव पिता के पुत्र हैं, माता के पुत्र ही दग्ध होते हैं और कुन्ती को दग्ध सुनकर कुल धर्म की रक्षा के लिये गये, बान्धवों के मरने पर बचे हुए सम्बन्धियों के पास उनसे मिलने के लिये वा उनको देखने के लिये दूर रहने वाले सम्बन्धी जाते हैं, यह कुल धर्म लोकाचार है यह तो लौकिक है, किन्तु भगवान् तो उनका भी मुझ में निरोध हो इसलिये गये, इस प्रकार सूचित होता है, 'कुरुन्' पद का अर्थ 'हस्तिनापुर' है अकेले भगवान् जाते तो किसी को संशय भी होता, इस सन्देह को मिटाने के लिये अपने साथ बलरामजी को भी ले गये यों कहा है। १॥



दोनों ने जाकर जो किया वह कहते हैं, भीष्म, धृतराष्ट्र और विदुर तीन ही सात्विक राजस तामस थे, स्त्री गान्धारी का जन्म से अपकर्ष था और द्रोण का ब्राह्मण होने से उत्कृष्टपन था, प्रत्येक के पास जाकर दोनों कहने लगे कि यों होना बड़े दुःख का विषय है बहुत बुरा हुआ, ऐसे वचन कहना आश्चर्य उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिये श्लोक में 'ह' पद दिया है ॥२॥

आभास—यदर्थमेतदुक्तं तदाह लब्ध्वैतदन्तरमिति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—जिसके लिये यों कहा वह 'लब्ध्वैतदन्तरं' से ४ श्लोक में वर्णन करते हैं

श्लोक—लब्ध्वैतदन्तरं राजन् शतधन्वानमूचतुः ।

अक्रूरकृतवर्माणौ मणिः कस्मान्न गृह्यते ॥३॥

श्लोकार्थ—हे राजन्! अक्रूर तथा कृतवर्मा इस अन्तर(अवसर)को पाकर शतधन्वा को कहने लगे कि मणि को क्यों नहीं लेता है ? ॥३॥

सुबोधिनी—अक्रूरः द्वारकाया अवेक्षकः, दिवसे न्यायकर्ता धर्माधिकारी । कृतवर्मा तु रात्रावेवक्षकः, कोटिवारक इति प्रसिद्धः । शतधन्वा तु साहसी असाध्यसाधकः तयोराज्ञाकर्ता । स चौर्येण सर्वं कर्तुं समर्थः । त्रयोऽपि यादवाः

भगवति विद्यमाने, बलभद्रे वा, अन्यायं कर्तुं म-
समर्थाः, भगवति ग्रामान्तरं गते, एतदन्तरं छिद्रं
लब्ध्वा । राजन्निति तथा परिज्ञानात्सम्बोधनम् ।
शतधन्वान वक्ष्यमाणमूचतुः । तयोर्वक्ष्यमाह
मणिः कस्मान्न गृह्यते इति सपादश्लोकेन ॥३॥

व्याख्यानार्थ—अक्रूर द्वारका का अवेक्षक अर्थात् दिन को न्याय करनेवाला धर्माधिकारी था और कृतवर्मा कोटवाल था अर्थात् रात्रि में रक्षा करने वाला था । शतधन्वा जो कार्य दूसरे से न हो सके उसको पूर्ण करने वाला था, उन दोनों की आज्ञा को पालन करता था, वह चोरी से सब करने में समर्थ था ये तीनों यादव भगवान् वा बलभद्र के विद्यमान होते हुए अन्याय का कार्य कर नहीं सकते थे । भगवान् अन्य ग्राम को गये हैं यह अवसर प्राप्तकर वे दोनों शतधन्वा को यों कहने लगे कि आप सत्राजित से मणि क्यों नहीं छीन लेते हैं । 'सपाद' श्लोक में यह वाक्य कहा, हे राजन्! यह सम्बोधन इसलिये दिया है कि वैसा परिज्ञान आपको है ॥३॥

आभास—न केवलं मणिमात्रं ग्राह्यम्, मारणीयोऽपीत्याह योऽस्मभ्यमिति ।

आभासार्थ—केवल मणि ही नहीं लेनी है, किन्तु वह मृत्यु करने (मारने) योग्य है वह भी करना, 'योऽस्मभ्यं' श्लोक में यह कहते हैं—

श्लोक—योऽस्मभ्यं सम्प्रतिश्रुत्य कन्यारत्नं विगर्ह्य नः ।

कृष्णायादान्न सत्राजित्कस्माद्भ्रातरमन्विष्यात् ॥४॥

श्लोकार्थ—जिसने कन्यारत्न हमको देने को प्रतिज्ञा की थी, उस सत्राजित् ने हमारा अपमान कर कृष्ण को दी, वह क्यों न अपने भ्राता के पोछे जावे ? ॥४॥

सुबोधिनी—भगवदपराधकरणात् मणिग्रहणं भगवत्तश्च मणिरिति न हेतुर्वक्तव्यः । भगवच्छ्वशुरोऽयमिति मारणो हेतुर्वक्तव्य एव । अवश्यं तेन कन्यारत्नं देयत्वेन प्रतिज्ञातम्, तदभावे रत्नरत्नं वा तस्माद् ग्राह्यम् । अस्मान् निन्दित्वा एते न वराः समीचीना इति भगवते दत्तवान् । तत्र निन्दायामवश्यं मारणोऽयः क्षत्रियधर्मपरैः । भगवते च दत्तवानिति गुप्ततया मारणोऽयः । यथा भगवता याचितं मणिं भगवते अदत्त्वा भ्रात्रे दत्तवान् । ततः समणिः भ्राता, हिनस्तीति सिंहेन विप्राटितः । एवं कन्यादानप्रसङ्गेन स्वकीयोऽपि मणिः भगवता तस्मै दत्त इति समणिः सत्राजित्

कस्माद्धेतोभ्रातरं नान्विष्यात् । अपित्वनुगमनमेवोचितम् । सत्यभामा मणिश्च तुल्यौ याचने । अस्माभिः सत्यभामा याचिता, भगवता मणिर्याचितः । उभयोरपि याचितं न दत्तवान्, निन्दां चोभयोः कृतवान् । ततो निन्दानन्तरं मणिर्यत्रैव तिष्ठति, स एव प्रसेनपदवीं गच्छतीति तस्य भ्रातृसहगमनं युक्तमित्यर्थः । ताभ्यां लौकिकभाषया निरूपितोऽप्यर्थः सरस्वत्या परमार्थ एव निरुक्तः । येन प्रसेनो हतः, सोऽप्यन्येन हत इति जानन्तावपि मूर्खं शतधन्वानं स्वस्याप्यसम्मतमूचतुः । अन्यथा स्वयमेव तथा कुर्याताम् ॥४॥

व्याख्यानार्थ—मणि ग्रहण में यह मणि भगवान् की है यह हेतु न बताना चाहिए, क्योंकि इससे भगवान् का अपराध करना होगा, यह भगवान् का स्वशुर है अतः यह हेतु न कहकर अन्य हेतु बताना योग्य समझ कहने लगे, कि इस सत्राजित् ने कन्या रत्न हमको देने का वचन दिया उससे विरुद्ध गया, अब उसके बदले में रत्नों में भी जो रत्न है वह उससे लेना चाहिये, हम लोगों को निन्दा कर ये वर सुन्दर नहीं है यों कहकर भगवान् को कन्या दी है । इसने हमारी निन्दा की है इस निन्दा के कारण हम जो क्षत्रिय धर्म पालन कर रहे हैं, उनको अवश्य इसका नाश करना चाहिये, भगवान् को दी है इसलिये उसे गुप्त रूप से मारना चाहिये, जैसे भगवान् ने इससे मणि मांगी थी किन्तु वह उनको न देकर भ्राता को दो पश्चात् सिंह ने मणि सहित भाई को मार डाला इस प्रकार कन्या दान के प्रसंग में अपनी मणि भी भगवान् ने उसको दे दी, इसलिये मणि सहित सत्राजित् को भाई की तरह क्यों न मारा जावे, भाई के पोछे इसको भी भेजना योग्य है । सत्यभामा और मणि मांगने में दोनों बराबर हैं । हम लोगों ने सत्यभामा मांगी थी भगवान् ने मणि की याचना की थी दोनों को मांगी हुई वस्तु नहीं दी गई, दोनों को निन्दा की है इस कारण से मणि जिसके पास हो, वह प्रसेन की पदवी को प्राप्त होना चाहिये, यह भ्राता के साथ जावे तो योग्य ही है उन्होंने लौकिकी भाषा में जो अर्थ कहा वह सरस्वती ने परमार्थ रूप सत्य कर दिया । जिसने प्रसेन को मारा, उसको भी दूसरे ने मार डाला, यों ये दो जानते थे, अतः उनको भी यों करना सम्मत नहीं था, यदि सम्मत होता तो वे स्वयं कर लेते, स्वयं ने नहीं किया, मूर्ख शतधन्वा को वह कार्य करने के लिये कहने लगे ॥४॥

ग्रामास —ननु शतधन्वापि विचक्षणः कथमेवं कृतवानित्याशङ्क्याह एवं भिन्न-
मतिरिति ।

आभासार्थ—चतुर शतधन्वा ने ऐसा क्यों किया ? जिसका उत्तर 'एवं भिन्नमतिः' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—एवं भिन्नमतिस्ताभ्यां सत्राजितमसत्तमः ।

शयानमवधील्लोभात्स पापः क्षोणजोवितः ॥५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार नीचतम शतधन्वा ने उन दोनों के बहकाने पर लोभ के कारण सोये हुए सत्राजित को मार डाला; क्योंकि उस पापी की शेष आयु स्वल्प थी अर्थात् आयु पूरी हो गई थी ॥५॥

सुबोधिनी—ताभ्यां भिन्ना नाशिता मतिर्य-
स्य । मणारेव ग्राह्य इति तत्प्ररोचनया बुद्धिरु-
त्पन्ना । ततोऽग्रे भाव्यर्थे बुद्धिस्तावता नष्टेति
विचारसमर्था न जाता । उभौ तौ बहुधा च
भ्रामयतः । भ्रामणमग्रिमार्थमेव । तौ हि
जानीतः । मणिसम्बन्धेन मरणं भीष्यतीति ।
अतो न मण्ययिनी । अयं तु मण्यर्थी । अतः
असत्तमः । तावुभावसदसत्तरो । अयमसत्तमः

इति । अन्यथा युद्धं कृत्वापि मारयेत् । किन्तु शयानमेवावधीत् तत्रापि लोभात् न तु तेन सह वैरम् । ननु कथमेवं बुद्धिरुत्पन्ना, द्वारकावासिनो भगवदीयविषये स्थितस्य, तत्राह स पाप इति । स शतधन्वा पापः देवानां मध्ये अधमोऽप्येकः, यथा कीलः । ततश्चायमधमेरूप इति तथा कृतवान् । किञ्च । क्षोणजीवित इति । तस्य जीवितमल्पमेव । एतदर्थमेव तस्यावतार इति ॥५॥

व्याख्यानार्थ — उन दोनों ने जिसकी मति नष्ट कर दी थी, मति क्यों नष्ट हुई ? जिसका कारण यह था, कि मणि मिलेगी, इस लोभ से विपरीत बुद्धि हो गई, आगे इसका परिणाम क्या होगा ? जिसका ध्यान भी न रहा, वे दो, उसको बहुत प्रकार से भ्रमित करने लगे वह भ्रमित करना आगे के कार्य के लिये ही है । जिस भाव को वे दो ही जानते थे कि मणि सम्बन्ध से ही मृत्यु होगी, इसलिये उन्होंने मणि लेने की इच्छा नहीं की, यह तो मणि को चाहता था इस कारण से यह 'नीचतम' है, उन दोनों में से एक 'असत्' था और दूसरा 'असत्तर' था, शतघन्वा ने असीम नीच होने से सोये हुवे सत्राजित् को मार डाला । यदि ऐसा असीम नीच न होता तो लड़ाई कर मार सकता था और मणि ले लेता, इससे निश्चय होता है कि यह असत्तम है, जिसको सोते हुवे मारा उससे कोई इसका वैर नहीं था, केवल लोभ के कारण उसने यह कुकर्म किया, द्वारका में रहनेवाले को, भगवदीय के विषय में ऐसी कुबुद्धि कैसे पैदा हुई ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि वह पापी है और इसकी आयु क्षोण हो चुकी है अर्थात् शीघ्र मरने वाला है अतः दूसरों के बहकाने से ऐसी कुबुद्धि उत्पन्न हुई है इसके लिये ही उसका अवतार है ॥५॥



आभास—यदि हननमात्रमेव कुर्यात्, तदाप्यन्यप्रेरितः, तथा कृतवानिति तथा नास्य दोषो भवेत्, किन्त्वधिकमपि कृतवानित्याह स्त्रीणामिति ।

आभासार्थ—यदि केवल सत्राजित् का वध किया हो वह भी दूसरों को प्रेरणा से किया, जिससे इसका इतना दोष न माना जाता, किन्तु इसने उससे विशेष भी किया, जिसका वर्णन 'स्त्रीणां'श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स्त्रीणां विक्रोशमानानां क्रन्दन्तीनामनाथवत् ।

हत्वा पशून् सौनिकवन्मणिमादाय जग्मिवान् ॥६॥

श्लोकार्थ—जैसे कोई अनाथ विलाप करे, वैसे विलाप करती हुई अनाथ स्त्रियों को जैसे कसाई पशुओं को मारता है, वैसे मारकर मणि लेकर भाग गया ॥६॥

सुबोधिनी—विशेषेण क्रोशमानानां सती-
नाम् । ता अपि नाथरहिता एव हत्वा ताडयि-
त्वा वा मणिमादाय जग्मिवान् पलायितः । दया-
दाक्षिण्याद्यभावार्थं दृष्टान्तः सौनिकवदिति । निर-
न्तर सूनाकर्ता सौनिकः, पशून् हत्वा तन्मांस-

विक्रेता । यथा काष्ठच्छेदकस्य न वृक्षेषु दया, तथा
तस्यापि । अचित्तस्यापि मणोः अनिष्टहेतुत्वं प्रति-
पादितम् । अत्र प्रकरणे प्रमेयबलमिति न पूर्वा-
ध्यायवाक्यैर्विरोधः ॥६॥

व्याख्यानार्थ—विशेष प्रकार विलाप करती हुई सतियाँ, वे भी नाथ से रहित थीं उनको मारकर मणि लेकर भाग गया, यों करने का कारण इसमें दया और सरलता का अभाव है, जिसके लिये कसाई का दृष्टान्त देते हैं, जैसे कसाई में दया और सरलता नहीं रहती हैं, जिससे पशु की हिंसा करने में हिचकता नहीं, वैसे यह भी इन अबलाओं को मार कर मणि लेजाने में हिचका नहीं दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि जैसे लकड़ी तोड़ने वाले को स्वार्थ सिद्धि के कारण वृक्षों पर दया नहीं आती है वैसे ही इसको भी अनाथ स्त्रियों पर दया न आई, पहले मणि का पूजन न कर प्रसेन के कण्ठ में बाँधो गई थी जिससे अनिष्ट हुआ, अब तो मणि पूजित थी तो भी अनिष्ट हुआ, यह विरोध है, इस विरोध का परिहार करते हैं कि पहले प्रमाण बल था अब प्रमेय बल है, इसलिये पूर्वाध्याय के वाक्यों से विरोध नहीं है ॥६॥

श्लोक—सत्यभामा च पितरं हतं वोक्ष्य शुचादिता ।

व्यलपत्तात तातेति हा हतास्मीति मुह्यती ॥७॥

श्लोकार्थ—सत्यभामा पिता को मरा हुआ देख शोक से पीड़ित होने लगी, हे तात ! हे तात ! यों कहती हुई विलाप कर बेसुध (मरे जैसी) हो गई ॥७॥



सुबोधिनी—तस्मिन् गते भगवद्गृहेऽपि
त्यक्ता सत्यभामा उपश्रुतिमिव श्रुत्वा, पितृगृहे
समागता, पितरं हतं वीक्ष्य शोकेन पीडिता,
तात तातेति व्यलपत् । यथा स्त्रीभिराक्रोशः कृतः,
एवं सत्यभामयापि कृत इति समुच्चयार्थश्चकारः ।
भर्तृवधे तासां यावद्दुःखम्, पितृवधेऽपि तावत्कृ-

तमित्यर्थः । तासामुभयं स्वनाशो भर्तृनाशश्चेति
तुल्यत्वाभावात् कथं समुच्चय इत्याशङ्क्य अत्रापि
द्वयमाह तात तातेति । हा हतास्मीति च । ननु
कथमेवं स्वयमहता तथोक्तवती, तत्राह मुह्य-
तीति । मोहं प्राप्ता मृतकल्पा सत्यमेव तथोक्तव-
तीत्यर्थः ॥७॥

व्याख्यार्थ—वह सत्राजित् को मार स्त्रियों को पीट कर मणि लेकर जब चला गया, तब
उपश्रुति की भांति यह समाचार सुन भगवद्गृह से अपने पिताजी के घर आ गई, पिताजी को मरा
हुआ देख शोक से दुःखी हुई, हे तात ! हे तात ! यों विलाप करने लगी जिस प्रकार स्त्रियों ने
चिल्लाया था वैसे ही यह भी चिल्लाने लगी जितना दुःख पति के मरने से स्त्रियों ने किया उतना ही
दुःख सत्यभामा पिता के मरने से करने लगी, स्त्रियों का तो पति के मरने से अपना तथा पति का नाश
हुआ और सत्यभामा का तो उनकी तरह दोनों का नाश नहीं हुआ, केवल पिता मरा है, इसलिये दोनों
की तुल्यता नहीं है, कारण कि पति के मरने से अर्द्धांगिनी स्त्री की भी मृत्यु हो जाती है यहाँ तो
शतघन्वा ने उनको भी पीट कर मणि ली है इसलिये जब सत्यभामा की इनसे समानता नहीं हो
सकती है तो 'च' समुच्चय के अर्थ में कैसे समझा जावे ? इसके उत्तर में कहा है, कि यहाँ भी तात !
तात ! दो बार कहा है और 'हा हता अस्मि' हाय मैं मर गई हूँ, इस पर शंका की जा सकती है कि
स्वयं मरी नहीं है तो भी वैसे क्यों कहती है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'मुह्यती' मरे जैसी हो
गई है इसलिये जैसे कहा है कि मैं मर गयी हूँ वह सत्य हो है ॥७॥

आभास—भगवद्विरोधात् तस्य शोघ्रं पारलौकिकी क्रियापि न जातेति वक्तुं सत्य-
भामाया उद्योगमाह तैलद्रोण्यामिति ।

आभासार्थ—भगवान् से विरोध होने के कारण उसकी परलोक सम्बन्धी क्रिया भी जल्दी न
हो सकी थी, जिससे सत्यभामा ने इसके लिये जो उद्यम किया, वह 'तैलद्रोण्यां' श्लोक में कहा है—

श्लोक—तैलद्रोण्यां मृतं प्रास्य जगाम गजसाह्वयम् ।

कृष्णाय विदितार्याय तमाचख्यौ पितुर्वधम् ॥८॥

श्लोकार्थ—सत्राजित् के मृत देह को लोह या ताम्र के बने हुए तैल पात्र में धरकर
सत्यभामा हस्तिनापुर गई, यद्यपि कृष्ण ने तो यह सब पहले ही जान लिया था, तो भी
उनको अपने पिता के वध का समाचार सत्यभामा ने सुनाया ॥८॥

सुबोधिनी—इयं देवदत्तपुत्रिकाप्रायेति पुरुष-
प्रकृतिर्भवति । यतोऽभ्रातृमती । अतो घर्मतः
अविवाह्यापि स्त्रीरन्तत्वाद्गृहीता । अतः पुरुषव-

देव तस्याश्चरित्रम् । द्रोणी कुसूलवत् कुतूबत्
कटाहवद्वा आयसी ताम्रनिर्मिता वा । मरणपर्य-
न्तं विलापः । ततो मृतस्य तैलद्रोण्यां प्रक्षेपः ।



स्वयमपि गजसाह्वयं जगाम । तत्र गतो भगवान्
मृतानामनुसन्धानं करोतीति । गजसाह्वयमिति
प्रसिद्धस्थानत्वात् तत्र गमनं न सन्देहमावहति ।
तत्र भगवद्विज्ञापनार्थमेव गतेति तदाह कृष्णा-

येति । भ्रान्तेयमिति ज्ञापनार्थं विदितार्थयेति ।
तं तादृशप्रकारापन्नम् । पितुवधमिति । आवश्यक-
त्वान्न दोषायेत्यर्थः ॥८॥

व्याख्यानार्थ — यह सत्यभामा देवदत्त की प्रायः पुत्रिका है, जिससे पुरुष के समान प्रकृति वाली है, क्योंकि इसका कोई भ्राता भी नहीं है, अतः शास्त्र धर्म से यह विवाह करने योग्य नहीं थी तो भी स्त्री रत्न होने से भगवान् ने ग्रहण की है, इस कारण से इसका चरित्र पुरुष की तरह ही है, मरण पर्यन्त ही विलाप होता है, इसके बाद सत्यभामा ने पिता के मृत देह को तैल के पात्र में धर दिया और स्वयं हस्तिनापुर गई, हस्तिनापुर स्थित भगवान् मरे हुओं का अनुसन्धान करते हैं । हस्तिनापुर प्रसिद्ध स्थान है वहाँ कीई भी जावे उसमें सन्देह नहीं होता है किन्तु सत्यभामा तो भगवान् को पिता की मृत्यु के समाचार देने के लिये ही गई है, यह भूली हुई है; क्योंकि कृष्ण भगवान् हैं उनको तो इसका ज्ञान पहले ही है, तो भी ऐसे को पिता का वध बताने लगी, बताना आवश्यक है, इसलिये वे जानते थे तो भी बताने में दोष नहीं है ।

आभास—यथा ज्ञात्वा न किञ्चित्कृतवान्, एवं श्रुत्वापि न करिष्यतीत्याशङ्क्य,
लौकिकं प्रतीकारं च कृतवानित्याह तदाकर्ण्येति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—जैसे जानकर भी कुछ न किया वैसे सुनकर भी कुछ नहीं करेगा इस शंका का उत्तर 'तदाकर्ण्य' से दो श्लोकों में देते हैं कि लौकिक प्रतीकार किया—

श्लोक—तदाकर्ण्येश्वरौ राजन्ननुसृत्य नृलोकताम् ।

अहो नः परमं कष्टमित्यस्त्राक्षौ विलेपतुः ॥९॥

आगत्य भगवांस्तात सभार्यः साग्रजः पुरम् ।

शतधन्वानमारेभे हन्तुं हर्तुं मणिं ततः ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! सत्यभामा की यह बात सुनकर यद्यपि दोनों ईश्वर हैं, तो भी मनुष्य लोक का अनुसरण करते हुए आँखों में आँसू भर, अहो ! हमें बड़ा कष्ट हुआ है, यों कहकर विलाप करने लगे, फिर भगवान् सत्यभामा और बलरामजी के साथ द्वारका आकर मणि लेने के लिए शतधन्वा के वधार्थ उद्यम करने लगे ॥९-१०॥

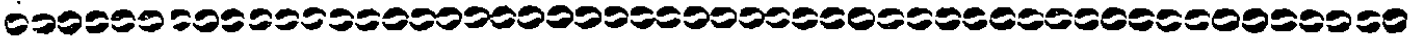
सुबोधिनी — ईश्वरावपि लीलार्थं नृलोकम-
नुसृत्य स्वशुरमारणान् दुहितेव स्वयमपि विलापं
कृतवन्तौ । यथा तस्याः कष्टं तथा कष्टमूचतुः ।
केवल वाचनिकत्वव्युदासाय अस्त्राक्षौ । पूर्ण

शक्तिः तथा करोतीति ज्ञापयितुं द्विवचनम् ।
उद्योगमाह आगत्येति । अन्यद्वारा कार्यकरणमो-
दासीन्यद्योतकमिति स्वयमेवागत्य कृतवान् ।
भगवानिति सामर्थ्यमुपायज्ञानं च । तातेति राज्ञः

सम्बोधनं विश्वासाय । गुप्ततया समागतो भवि-
ष्यतोत्याशङ्क्याह सभायः साग्रज इति । पुरं
द्वारकामेव । न तु मध्ये स्थित्वा उपायेन बन्धनं
विचारितवान् । ततः शतधन्वानं हन्तुम् । हनन-
स्य प्रयोजनं मणिं हतुमिति । स हि जीवन् न
ददाति । अतो हत्वैव ग्राह्यः । अत्र द्वयं न प्रयो-
जनम्, हननं ग्रहणं च । किन्तु ग्रहणार्थमेव हन-
नम् । अन्यप्रेरितो हतवानिति । भगवदिच्छापति
न वधमर्हति, नापि तद्वश्यो भगवान्, येन हन्तारं
हन्त्यात् । उभौ च तुल्यौ । कृतस्य करणं नास्तीति

शतधनोर्हननेऽपि न सत्राजिज्जीवनम् । अत एवाग्रे
भगवद्वाक्यं घटते । 'वृथा हतः शतधनु'रिति ।
शतधनुःशब्दः सकारान्तः, उकारान्तोऽपि । सत्रा-
जिद्वत् । द्विःस्वभावेनैव द्विःस्वभावो मारित इति
ज्ञापयितुं द्विविधः प्रयोगः । सत्राजितो द्विस्वभा-
वत्वं निन्दाकरणात् पश्चात्तापकरणञ्च निरूपि-
तम् । अस्यापि हनने निर्भयत्वमग्रे पलायनेन
सभयत्वं च निरूपयिष्यति । ततः शतधनुषः अय-
मारम्भः ध्रियतां बध्यतामिति स्पष्टमाज्ञापन-
रूपः ॥६-१०॥

व्याख्यार्थ— यद्यपि वे दोनों ईश्वर हैं, तो भी लीला के लिये लोक का अनुसरण कर शतधन्वा
ने श्वशुर को मारा है, इसलिये सत्यभामा की भाँति आप भी विलाप करने लगे और कहने लगे कि
जैसे इसके मरने का कष्ट तुझे हुआ है वैसे ही दुःख हमको भी हुआ है, सत्यभामा वा लोक यों न
समझें कि ये केवल वाणी से कहते हैं किन्तु इनको वास्तव हादिक दुःख नहीं है, इस भ्रम के निवा-
रण के लिये आँखों में आँसू भरकर संवेदना प्रकट करने लगे, 'अस्त्राक्ष,' द्विवचन देकर यह बताया
कि पूर्ण शक्ति अर्थात् ज्ञान एवं क्रिया शक्ति दोनों ही सम्वेदना प्रकट कर रही है सारांश कि
बलराम जो क्रिया शक्ति हैं और श्रीकृष्ण जो ज्ञान शक्ति हैं वे दोनों इस कर्म के होने से सत्यभामावत्
दुःखी हुवे हैं, अब उद्यम का विवरण करते हैं यदि किसी दूसरे द्वारा उद्यम करते तो वह उदासीनता
का द्योतक हो जाता था । अतः स्वयं भगवान् आकर उद्यम करने लगे, भगवान् पद देने का आशय
यह है कि आप में सामर्थ्य एवं उपाय का ज्ञान भी है, यह प्रकट कर दिखाया है । हे तात ! राजा को
यह सम्बोधन विश्वासाय दिया है भगवान् द्वारका में इस उद्यम करने के लिये छिपकर गये होंगे,
इस संशय को दूर करने के लिये कहते हैं कि स्त्री और भ्राता के साथ प्रकट रूप से आये हैं, द्वारका
में आकर ही उपाय का विचार करने लगे, न कि मध्य में ही ठहर कर बन्धन का विचार किया ।
शतधन्वा को मारूँ और मणि भी लूँ इस प्रकार दो प्रयोजन नहीं थे । प्रयोजन तो एक ही मणि
लेने का था किन्तु शतधन्वा जीते हुए मणि न देगा इसलिये उसको मारना पड़ेगा, यों तो शतधन्वा
ने सत्राजित् को दूसरों की प्रेरणा से मारा है या भगवान् की भी वैसी इच्छा थी, इसलिये शतधन्वा
मारने योग्य नहीं है और सत्राजित् के वंश का भी यह शतधन्वा नहीं है, जिस कारण से भगवान्
मरे हुवे को मारे, दोनों समान हैं, किये हुए का करना नहीं होता है, यों शतधन्वा के मारने
से सत्राजित् जीवित न होगा । इस कारण से ही भगवान् के आगे कहे हुए शब्द घटित होते हैं, जैसा
कि 'वृथा हतः शतधनुः' शतधन्वा को व्यर्थ ही मारा । 'शतधनु' शब्द सकारान्त तथा उकारान्त भी
है, जैसे सत्राजित् तकारान्त और अकारान्त है अर्थात् दोनों दो स्वभाववाले हैं, जिससे मारे गए, इस
लिए दो प्रकार के प्रयोग किए हैं । सत्राजित् के दो स्वभाव निन्दा करने और पश्चात्ताप करने से
सिद्ध किए हैं, वैसे यह भी पहले सत्राजित् को मारने के समय निर्भय था और आगे भाग जाने से
डरपोक हो गया, जिससे द्वि स्वभाव इसका भी सिद्ध है, पश्चात् शतधन्वा का यह आरम्भ 'पकड़ो
और मारो' इस प्रकार स्पष्ट आज्ञारूप है ॥६-१०॥



आभास—ततो राजकीयाः तन्निग्रहार्थं प्रवृत्ताः, एव सति शतधनुषः कृत्यमाह सोऽपीति ।

आभासार्थ—पश्चात् जब राजकीय मनुष्य उसको पकड़ने के लिए प्रवृत्त हुए, तब शतधनुष ने जो कृत्य किया, उसका वर्णन 'सोऽपि' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—सोऽपि कृष्णोद्यमं ज्ञात्वा भीतः प्राणपरोप्सया ।

साहाय्ये कृतवर्माणमयाचत स चाब्रवीत् ॥११॥

श्लोकार्थ—वह भी कृष्ण का उद्यम जानकर डरते हुए प्राणों के बचाने की इच्छा से जब कृतवर्मा से सहायता माँगने लगा, तब उसने कहा ॥११॥

सुबोधिनी—योऽयं राजद्वारा निग्रहः श्रूयते, स भगवत्कृत एवेति निश्चितवान् । अतः कृष्णोद्यमं ज्ञात्वा पूर्वं साधारणत्वेन ब्रह्मत्वेन वा सम्बन्धेन वा ज्ञात्वा निर्भयः । इदानीं पक्षपातिनं ज्ञात्वा भीतो जातः । चौरस्य चौर्यादेव स्वत्वमुत्पद्यते । तस्मिन् हते शत्रुजयन्यायेन यो हन्यात्, तस्य भवति । अन्यथा तस्मिन् विद्यमाने परस्वापहार एव भवति । अतो भगवान् हत्वैव ग्रहीष्य-

तीति निश्चित्य, प्राणपरोप्सया सर्वतः प्राणा रक्षणीया इति, अहत्वा दुष्टान् न ग्रहीष्यतीति, चौरवच्च मरणं न प्रशस्तमिति, स्वयमसहायः कृतवर्माणं यादवं सहायत्वेन प्रार्थितवानित्याह साहाय्ये कृतवर्माणमयाचतेति । अस्य याचनवाक्यानि स्पष्टानीति नोदाहृतानि । स चाब्रवीदिति चकारेण सूचितानि ॥११॥

व्याख्यानार्थ—यह जो राजा की ओर का बन्धन सुना जाता है, वह वास्तविक भगवान् से किया हुआ ही है, यों इसने निश्चय से समझ लिया । अतः यह श्रीकृष्ण का उद्यम है, यों जानकर और कृष्ण को पक्षपाती समझकर शतधनुष डर गया, पहले नहीं डरा था, जिसका कारण यह था कि कृष्ण इसका पक्षपाती बनेगा, यों नहीं जानता था, केवल समझता था कि यह साधारण रूप, ब्रह्मत्व और सम्बन्धी ही है, इसलिए निर्भय था, जिससे सत्राजित् को मारा और अनाथ स्त्रियों को पोटकर मरिण ले आए, वस्तु को चुरा लाने पर ही चोर का उस पर स्वत्व होता है । 'शत्रुजयन्याय' से शत्रु को मारने से मारने वाले की वह वस्तु हो जाती है, यदि शत्रु को मारा न जाय, वह जीता हो और उसकी उपस्थिति में वस्तु ले ली जाय तो उसको पराये घन का चुराया जाना कहा जाता है, अतः यह मरिण मुझे मारकर ही लेगे, इसलिए प्राणों की रक्षा की इच्छा से अपने को अकेला असहाय समझकर कृतवर्मा यादव को प्रार्थना करने लगा कि मेरी सहायता करो, चोर की भाँति मरना अच्छा नहीं है, जिसका भाव है कि मैं कृष्ण से युद्ध करना चाहता हूँ । इस कार्य में तुम्हें मेरी मदद करनी चाहिए, इस प्रकार प्रार्थनापूर्वक याचना में जो वाक्य कहने चाहिए, वे तो स्पष्ट ही हैं, इस लिए नहीं कहे हैं और उस कृतवर्मा ने जो कुछ कहा, वह 'च' पद से सूचित किया है ॥११॥

आभास—स कृतवर्मा महान् यादवः, भारते युद्धे कौरवपक्षपाती, बहुकार्यं तस्या-



स्तीति, स्वाभिलषितं सिद्धमेवेति, मणिं चायं न प्रयच्छतीति, उदासीनः सन् भगवत्पक्षपातेन वाक्यान्याह नाहमीश्वरयोरिति !

आभासार्थ—वह कृतवर्मा महान् यादव है, महाभारत के युद्ध में कौरवों का पक्षपाती था, उसको बहुत कार्य हैं, उसके मन की अभिलाषा तो पूर्ण हो गई, यह मणि तो नहीं देता है, जिससे उदासीन हो भगवान् का पक्ष लेता हुआ 'नाहमीश्वरयोः' श्लोक में अपने विचार कहने लगा ।

श्लोक—नाहमीश्वरयोः कुर्यां हेलनं रामकृष्णयोः ।

को नु क्षेमाय कल्पेत् तयोर्वृजिनमाचरन् ॥१२॥

श्लोकार्थ—राम-कृष्ण दोनों ईश्वर हैं, उनकी उपेक्षा मैं नहीं कर सकता हूँ, उनका अपराध कर, अपने कल्याण की कल्पना भी कौन कर सकता है? ॥१२॥

सुबोधिनी—फलं तु न तव नापि मम, किन्तु हेलनं कर्तुं शक्यम्, यथा त्वं करोषि, तदपि न कर्तव्यम् । यतः कृष्णरामो न लौकिकी, तत्रापि-श्वरो दृष्टादृष्टलौकिकालौकिकफलदानसमर्थौ । अहं चैकः स्वानुभवेन तुच्छश्च । रामकृष्णयोरिति नाम्नेव प्रसिद्धिरुक्ता । ननु भवानपि यादवः शूरो महारथश्च, तत्कथं बिभेषीत्याशङ्क्याह को नु क्षेमायेति । नु इति वितर्कः । यावन्तो भगवदप-

राधकर्तारः, ते सर्व एव क्षेमात् प्रच्युता दृष्टाः । भविष्योतः परं को वा कल्पेत्, भूतवदेव भविष्यस्यापि निर्णयात् । नु इति निश्चये । तत्रापि तयोः पूर्णशक्तिमति भगवति आचरन्नेव भगवता ग्रहतोऽपि चिन्तयैव ग्लानो भवतीति साधन-फलयोः समानकालत्वं निरूपयन् वर्तमानप्रयोगं कृतवान् ॥१२॥

ध्यास्यार्थ—फल तो न तुम्हें प्राप्त होगा और न मुझे मिलेगा, जैसे तू उनको तुच्छ समझ उपेक्षा करता है, वैसे हो सकता है । किन्तु वह भी करनी नहीं चाहिए; क्योंकि राम और कृष्ण लौकिक मनुष्य नहीं हैं, किन्तु ईश्वर हैं । जिससे दृष्ट, अदृष्ट, लौकिक और अलौकिक फल के देने में समर्थ हैं, मैं अकेला अपने अनुभव से जानता हूँ कि तुच्छ हूँ । वे राम कृष्ण नाम से ही सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, यदि कहो कि तुम भी यादव तथा शूरवीर और महारथी हो, तब क्यों डरते हो ? इसके उत्तर में कहता है कि विचारकर देख, भगवान् के जितने ही अपराधी हैं, उन सबका वर्तमान में कल्याण से पात हुआ है, इसके बाद भविष्य क्या होगा, उसकी कल्पना कौन कर सकता है ? किन्तु भूत की तरह भविष्य का भी निर्णय होगा ही यह निश्चय ही है, उसमें भी वे दोनों पूर्ण शक्तिमान् भगवान् हैं, उनका अपराध करते हो भगवान् से न भी मारा गया हो, तो भी चिन्ता से ही मुग्ध जाता है । साधन और फल समानकाल में हो प्राप्त हो जाते हैं, इसलिए वर्तमानकाल का प्रयोग किया है ॥१२॥

आभास—तत्र निदर्शनमाह कंस इति ।



आभासार्थ— उस विषय में उदाहरण 'कंस' श्लोक में देता है ।

श्लोक — कंसः सहानुगोऽपीतो कद्वेषात्त्याजितः श्रिया ।

जरासन्धः सप्तदश संयुगान्विरथो गतः ॥१३॥

श्लोकार्थ— जिससे द्वेष करने से कंस भाई समेत नाश को प्राप्त हुआ और राज्य लक्ष्मी से भ्रष्ट हुआ तथा जरासन्ध १७ बार युद्ध में से हारकार बिना रथ के हो भाग गया ॥१३॥

सुबोधिनी— महान् स राजा, तादृशोऽपि तयोर्वृजिनमाचरन्, सहानुगो भ्रातृमहितोऽपि, अपीतः अप्ययं प्राप्तः । अपीति प्रलयार्थे । अप्युपसर्गपूर्वक इण् धातुः । कतरि क्तः । अपिरप्ययः तमित इति । श्रिया वा अपीतः अपगतः अपसारितः भगवतैव च, द्वेषाद्वा । एकमुदाहरणं नार्थं

निश्चाययतीति व्याजरहितां क्रियाशक्तिं भगवतो निरूपयति जरासन्ध इति । सप्तदश युद्धानि कृत्वा आलक्ष्य, यद्वेषात्त्याजित इति वा अनुवर्तते । संयुगान् त्याजितः विरथो भूत्वा गतः स्वगृहम् । सप्तम्यर्थे वा द्वितीया ॥१३॥

व्याख्यानार्थ— कंस महान् राजा था, वह भी उनके अपराध करने से भ्राता सहित नष्ट हो गया तथा भगवान् ने लक्ष्मी से भी हीन कर दिया अथवा द्वेष के कारण वेसा हुआ, कोई भी विषय एक उदाहरण से निश्चित सिद्ध नहीं माना जाता, इसलिए भगवान् की छल रहित क्रिया शक्ति का निरूपण करते हैं कि जरासन्ध द्वेष से सत्रह बार लड़ाई करने के लिए चढ़ाई कर आया, किन्तु लड़ाई के मदान में हार कर रथ का भी त्याग कर भाग गया ॥१३॥

आभास— कृतवर्मा भगवत्प्रतिकूलस्वभाव इति प्रथमं स याचितः । स चेदुत्तरं दत्तवान्, तदा तमुदासीनं मत्वा, सत्राजिद्वधः अक्रूरस्यैव सर्वथाभीष्ट इति उपकारकर्तारमात्मानं मत्वा, भगवद्भक्तमपि अक्रूरं युद्धे क्रियमाणो भङ्गे पश्चात्पृष्ठपूरकत्वेन याचनं कृतवानित्याह प्रत्याख्यात इति ।

आभासार्थ— भगवान् से कृतवर्मा विरुद्ध है, यों समझ पहले उससे सहायता की माँग करने लगा, जब उसने उत्तर दे दिया कि मैं तुम्हें सहायता नहीं दे सकता हूँ, तब उसको उदासीन समझ, देखा कि सत्राजित् का वध तो अक्रूर का ही अभीष्ट था, जिसको इसके कथन से मैंने मारा है, इस लिए इस पर मेरा उपकार है, यों मान भगवान् के भक्त अक्रूर को भी कहने लगा कि मैं भगवान् से युद्ध करूँगा, यदि उससे मैं हटने लगूँ तो आप सहायता करना, जैसे मुझे बल मिले तो मैं जीत जाऊँ, यह विचार 'प्रत्याख्यातः' श्लोक में प्रकट करता है ।

श्लोक— प्रत्याख्यातः स चाक्रूरं पाणिग्राहमयाचत ।

सोऽप्याह को विरुध्येत विदित्वेश्वरयोर्बलम् ॥१४॥



श्लोकार्थ—जब शतधन्वा को कृतवर्मा तथा उसके पक्षपातियों ने सहायता देने का निषेध कर दिया, तब अक्रूरजी से सहायता की प्रार्थना की, उसने भी कह दिया कि ईश्वरों के बल को जानकर उनसे कौन विरोध करे? ॥१४॥

सुबोधिनी—चकारात्तत्पक्षपातिनोऽप्येऽपि तेन प्रत्याख्याताः । स पूर्वोक्तः कृतोपकारः । अक्रूरं भक्तं नाम्ना हितकारित्वमपि बोधितम् । पाष्णि-
ग्राहः पृष्ठपूरकः पूर्ववदेव याचनवचनानि नोक्तानि सोऽपि स्वकार्यस्य सिद्धत्वात् भगवदसम्प्रति ज्ञात्वा प्रत्याचष्ट इत्याह सोऽप्याहेति सार्ध-
लिभिः । अपिशब्दात् पूर्वः कृतवर्मा गृहीतः । तेन

प्रत्याख्यानं सिद्धम् । तद्वदेवाहेति । अग्रे त्वयापि विरोधो न कर्तव्य इति युद्धान्निवर्तयितुं भगव-
न्माहात्म्यमाह को विरुध्यतेति । को वा विरोध-
माचरेत् । अज्ञः करोतु नाम, ईश्वरयोर्बलं विदि-
त्वा प्रत्यक्षशब्दाभ्यामवगत्य, पूर्णशक्तेर्भगवतः विरोधं कोऽपि न करोतीत्युपदेशः ॥१४॥

ध्यास्यार्थ—शतधन्वा को कृतवर्मा ने जब सहायता न देने का कहा 'च' पद से यह भी जाना जा सकता है कि दूसरे पक्षपातियों से सहायता मांगी थी, उन्होंने भी निषेध किया, अक्रूर के कहने से सत्राजित् को मारकर जो उनके ऊपर मैंने उपकार किया है और नाम से भी जाना कि भक्त अक्रूर दयालु है इसलिए यह सहायता करेगा । इसलिए आगे की भाँति याचना के वचन नहीं कहे, अक्रूर की अपने कार्य की सिद्धि तो हो गई, किन्तु भगवान् की ऐसी गय नहीं है, यों जानकर शत-
धन्वा को वह साढ़े तीन श्लोकों से कहने लगा, 'अपि' पद का तात्पर्य है कि कृतवर्मा की इच्छा जान ली थी, उसको न मानना तो सिद्ध ही है, उसी प्रकार ही कहने लगा, वे दोनों ईश्वर हैं, उनके बल को जानकर कौन ऐसा मूर्ख है, जो उनके विरुद्ध हो. यों कहने का आशय यह है कि तुमने जो कुछ अब तक विरोध किया, वह हो गया आगे तुम्हें भी विरोध नहीं करना चाहिए । इस प्रकार कहकर वह युद्ध न करे, इसलिए भगवान् के माहात्म्य को कहता है, कौन ऐसा है, जो उनसे लड़े? मूर्ख भले करे, समझदार तो नहीं करेगा; क्योंकि ईश्वरों का बल; प्रत्यक्ष तथा शास्त्र द्वारा जाना गया है । अतः पूर्ण शक्ति भगवान् का विरोध कोई नहीं करता है, इस प्रकार उपदेश दिया ॥१४॥

आभास—आदौ श्रुत माहात्म्यमाह य इदमिति ।

आभासार्थ—पहिले सुने हुए माहात्म्य को 'य इदं' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—य इदं मायया विश्वं सृजत्यवति हन्ति च ।

चेष्टां विश्वसृजो यस्य न विदुर्मोहिताजया ॥१५॥

श्लोकार्थ—जो अपनी इच्छा रूपी माया शक्ति से इस जगत् को उत्पन्न करता है, पालन करता है एवं नाश करता है, उस विश्व रचना करने वाले की अजेय माया से मोहित मनुष्य जिसकी इस लीला को नहीं जान सकते हैं ॥१५॥



सुबोधिनी—भगवतः सामर्थ्यं तस्यानन्यत्वं च प्रतिपाद्यते । माया सर्वभवनसामर्थ्यम् शक्तिर्वा काचित्, अप्रयोजिका, तामपि करणत्वेन स्वीकृत्य इदं सर्वमेव जगत् उत्पादयति पालयति नाशयति च । एवमन्योऽपि करिष्यतीत्याशङ्क्य कैमुतिकन्यायेन परिहरति चेष्टामिति । भगवांस्त्वेतल्लीलयैव करोति, अन्योः कर्तव्यमिति दूरापास्तम् । भगवत्क्रियामात्रमपि न जानन्ति, किं करोति

कथं करोतीति । क्रियाशक्तिर्वा निष्पन्नापि सर्वं निष्पादयन्त्यपि किमात्मिकंवेति न विदुः । तत्र हेतुः अजया प्रकृत्या मोहिता इति । यदि ते जानीयुः, तदा कथमात्मवञ्चनामङ्गीकुर्युः । ये अजयापि मोहिता भवन्ति, ते अजा एव, सर्वेरेव हन्यमानाः स्वरक्षायामेवाशक्ताः कथं सृष्टिं करिष्यन्तीति भावः ॥१५॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् को समर्थता और उसका अनन्यपन प्रतिपादन किया जाता है, 'माया' पद का भावार्थ है, वह (माया) भगवान् की वह शक्ति है, जिससे प्रभु जो चाहे वह कर सकते हैं अथवा वह शक्ति है, जो प्रयोजिका नहीं है, उस अप्रयोजिका को भी साधन रूप से ग्रहण कर यह समस्त जगत् पैदा करता है, पालता है और नाश करता है, जैसे भगवान् करते हैं, वैसे दूसरा भी करेगा । इसके उत्तर में कहा है कि भगवान् तो यह लीला मात्र से ही करते हैं, यों कहने से 'दूसरे करेगे', इसको दूर से ही परास्त कर दिया अर्थात् दूसरा कोई इस प्रकार नहीं कर सकेगा, कारण कि भगवान् की केवल क्रिया ही कोई नहीं जानता है कि भगवान् क्यों करते हैं और कैसे करते हैं ? सिद्ध हुई भी क्रिया शक्ति तथा सर्व कार्य करती हुई देखकर भी यह नहीं समझ सकते हैं कि इसका स्वरूप क्या है ? न समझने का हेतु यह है कि भगवान् की अजन्मा प्रकृति ने उनको मोहित कर दिया है, यदि वे जानते तो अपने को ठगने कैसे दें ? जो अजा से मोहित है, वे स्वयं ही अजा हैं अर्थात् सबसे मारे हुए हैं, जिससे अपनी रक्षा करने में भी अशक्त हैं अर्थात् अपनी भी रक्षा नहीं कर सकते हैं, वे सृष्टि आदि कैसे कर सकेंगे, यह भावार्थ है ॥१५॥

आभास—एवं श्रुतिसिद्धमुक्त्वा प्रत्यक्षसिद्धमाह यः सप्तहायन इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार श्रुतियों से सिद्ध प्रभाव कह कर अब प्रत्यक्ष में सिद्ध बल कहता है ।

श्लोक—यः सप्तहायनः शैलमुत्पाट्य केन पाणिना ।

दधार लीलया बाल उच्छिखलीन्ध्रमिवार्भकः ॥१६॥

श्लोकार्थ—जिसने सात वर्ष की बाल्य अवस्था में पर्वत को उखाड़ कर एक हाथ से जैसे बालक छाता धारण करता है, वैसे धारण किया ॥१६॥

सुबोधिनी—जरासन्धादिजयस्त्वितिदेशेनैव प्राप्तः । अलौकिकस्तु वक्तव्यः । तत्र पर्वतोद्धरणं लोके अत्याश्चर्यमिति, वयः प्रकारादीनां सुतरामत्याश्चर्यहेतुत्वमुच्यते । सप्तहायनः सप्तवार्षिकः,

तत्रापि शैलं गोवर्धनमेकेन पाणिना उत्पाट्य दधारेति । मन्दरधारणादप्यधिकः प्रयत्न उक्तः । एकेनैव पाणिना दधार, तत्र तु पृष्ठेनेति विशेषान्तरम् । लीलया अङ्गुल्यादिषु वेणुनादानुगुण-



तथा स्थापयन् दधारेति तृतीयो विशेषः । एतदपि धारणं न गोकुलसंरक्षणार्थम् अन्यथा साधनपर-
तन्त्रः स्यात् इन्द्रभयाद्वा तथा कृतवानित्यपि

शङ्केत, किन्तु लीलयेव कृतवानिति वक्तुं दृष्टान्तमाह उच्छिन्नोन्ध्रमिवेति । छत्राकमिव अभङ्गो बालकः ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—जरासन्ध से जय तो अति देश से हो मिल गई । अलौकिक कार्य जो किए हैं, वे कहने चाहिए, उनमें पर्वत का उठाना लोक में बहुत आश्चर्य का कार्य किया है, जिसमें भी यह कार्य आपकी आयु और शरीर आदि प्रकार से तो 'सुतरां' [बिलकुल] आश्चर्य का हेतु कहा जाता है, आयु से तो आप उस समय सात ही वर्ष के थे, उस आयु में गोवर्द्धन पर्वत को एक ही हस्त से उखाड़कर धारण किया, यह प्रयत्न तो मन्दराचल धारण करने से भी विशेष प्रयत्न किया है; क्योंकि मन्दर को पीठ पर धारण किया था और इसको एक ही हस्त पर धारण किया है, यों दोनों में बड़ा अन्तर है, उससे भी तीसरी विशेषता यह थी कि जैसे लीला से वंशी की अँगुलियों पर धारण करते हैं वैसे उसको भी लीला से ही धारण किया है, यह धारण भी गोकुल की रक्षा के लिए नहीं किया है अन्यथा साधनों के आधीन हो जावे या इन्द्र के भय से धारण किया है, यह शङ्का भी हो सकती है, इसलिए भी धारण नहीं किया है, किन्तु लीला से ही किया है, जिसमें दृष्टान्त देता है कि जैसे बालक छतरी को उठाता है, वैसे उठाया ॥१६॥

आभास—एवं माहात्म्यमुक्त्वा कृतं स्वापराधं दूरीकर्तुं भगवन्तं नमस्यति नमस्तस्मै भगवत इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार माहात्म्य कहकर अपने किए हुए अपराध की 'नमस्तस्मै' श्लोक से नमस्कारपूर्वक क्षमा माँगता है ।

श्लोक—नमस्तस्मै भगवते कृष्णायान्द्रुतकर्मणे ।

अनन्तायादिभूताय कूटस्थायात्मने नमः ॥१७॥

श्लोकार्थ—अद्भुत चरित्र करने वाले अनन्त सर्व के आदि करण, निर्विकार-स्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण को मैं नमस्कार करता हूँ ॥१७॥

सुबोधिनी अचिन्त्यैश्वर्यत्वात् अन्यथाज्ञात्वा कृतोपराधः, अतः क्षन्तव्य इति । कृष्णायेति । भक्तहितार्थमेवावतीर्णत्वमुक्तम् । किञ्च । भगवदिच्छा एत दृशेति हतः सत्वाजित् तदधुना विपरीतमापतितम्, अनुग्रहं कुर्वन् निग्रहं करोति । एतद्वा विपरीतम् । तदाह अद्भुतकर्मणे इति ।

अशक्यः प्रतीकार इति वक्तुमाह आदिभूतायेति । न कस्याप्यपराधोऽपीति सूचितम् । कूटस्थायेति दोषाभावः । न केनाप्यपराधः कर्तुं शक्य इत्यपि सूचितम् । परमापुपत्तिमाह सर्वदोषपरिहाराय आत्मने नम इति ॥१७॥

व्याख्यानार्थ—आप अचिन्ता ऐश्वर्य वाले हैं, मैंने आपको वैसा न समझ अन्यथा समझा, जिसे अपराध किया, अतः उस अपराध को क्षमा करना, यह प्रार्थना है । 'कृष्णाय' नाम देने से यह भाव



प्रकट किया है कि आप भक्तों का हित करने के लिए ही प्रकटे हैं किञ्च भगवान् की इच्छा ऐसी थी, जो सत्राजित् मरा, वह आज अब विपरीत हुआ. अनुग्रह कर आप निरोध करते हैं अथवा यह विपरीत है। उसको कहता है कि आपके कर्म 'अद्भुत' हैं, जिनको कोई भी समझ नहीं सकता है, प्रतिकार अशक्य है, यों कहने के लिये 'आदि भूताय' विशेषण दिया है, जिसका भावार्थ है कि आप सब के आदि हैं जिससे आपको एवं आपकी लीला के भावों को कोई जान नहीं सकता है इससे यह भी सूचित किया है कि किसी का अपराध भी नहीं है 'कृतस्थाय' विशेषण से आप में दोषों का अभाव दिखाया है और यह भी सूचित किया है, कोई भी अपराध करने के लिये समर्थ नहीं है, सबसे विशेष सर्व दोषों के मिटाने के लिये उपपत्ति देता है कि 'आत्मने नमः' आप सबकी आत्मा हैं, वैसे आप को नमस्कार है ॥१७॥

श्लोक—प्रत्याख्यातः स तेनापि शतधन्वा महामणिम् ।

तस्मिन् न्यस्याश्चमारुह्य शतयोजनगं ययौ ॥१८॥

श्लोकार्थ—जब अक्रूर ने भी साथ देने से निषेध किया, तब शतधन्वा वह बड़ी मणि अक्रूरजी के पास धर अर्थात् उसको देकर सौ योजन जाने वाले घोड़े पर चढ़ (जाने लगा) चला गया ॥१८॥

सुबोधिनी—एवं तेनापि सर्वथा युद्धं निवारयितुं प्रत्याख्यातः पलायनप्रेप्सुः स मणिर्यत्र क्वापि वधं प्राप्स्यतीति मणिं तस्मिन् स्थापयित्वा शतयोजनगं सैन्धवमश्वमारुह्य ययौ ॥१८॥

व्याख्यानार्थ—इस प्रकार जब उसने भी सर्व प्रकार युद्ध न करने को कहा, तब भाग जाने की इच्छा वाले उसने समझ लिया कि यह मणि होगी तो मेरा वध होगा, इसलिये मणि को अक्रूरजी के पास धर सौ योजन जाने वाले अश्व पर चढ़, चला गया ॥१८॥

आभास—ग्रामाद्रात्रावेव निर्गतः । न्यासो न देय इति ज्ञापितम् । तस्मिन् मृते तदीयाः प्राप्स्यन्तीति नान्यो भगवते मणिं प्रयच्छति, महामणित्वात् दातुमपि न शक्यः। अद्भुतकर्मत्वान्न ग्रहीष्यतीत्यपि सूचितम् । अतः स्थापयित्वैव पलायनमेवोचितम् । ततो लोके पलायितः शतधन्वा एकेन दिनेन शतयोजनानि गत इति द्वितीयदिवसे लोकवार्ता निर्गता, तदा भगवान् यत् कृतवांस्तदाह गरुडध्वजमारुह्येति ।

आभासार्थ—ग्राम से रात्रि के समय ही निकले, यदि किसी दूसरे के पास रखेंगे तो उसके मरनेपर उसकी सन्तान मणि ले लेगी, इसलिये मणि उसको दूँ जो भगवान् को दे देवे वैसे तो अक्रूरजी है क्योंकि भक्त हैं, यह मणि साधारण नहीं है इसलिये देनी भी कठिन है दी नहीं जा सकती है, इससे यह भी सूचित किया है कि भगवान् अद्भुतकर्मा हैं वह ग्रहण भी नहीं करेंगे नहीं तो उनको ही दे दूँ, अतः अक्रूर के पास धर कर ही भागना उचित है। पश्चात् आगा हुआ शतधन्वा एक ही दिन में



सौ योजन दूर चला गया, यों दूसरे दिन लोक में मनुष्यों की आपस में बातचीत होने लगी कि शतघन्वा भाग गया एक दिन में सौ योजन चला गया, तब भगवान् ने जो कुछ किया वह 'गरुडध्वज' श्लोक में कहते हैं :

श्लोक — गरुडध्वजमारुह्य रथं रामजनादनौ ।

अन्वयातां महावेगैरश्वं राजन् गुरुद्रुहम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! राम-कृष्ण भी गरुड की ध्वजावाले बड़ वेगवाले घोड़ों से युक्त रथ में बैठ, उस गुरुद्रोही के पीछे गए ॥१६॥

सुबोधिनो—तस्मिन्नेव दिवसे चेद्गच्छेत्, तदा निकट एवोपलम्भः स्यात् । द्वितीये दिवसे मध्याह्ने निर्गतः । तावता स योजनानां शतद्वय-मतिक्रम्य गतः । भगवान् पुनः रथान्तरं शीघ्र-गामि न भवतीति, अलौकिकं च न कर्तव्यमिति, गरुडध्वजमेव रथमारुह्य एकस्मिन्नेव सर्वसामग्रीं गृहीत्वा, प्रमाणाद्यपेक्षां परित्यज्य, रामजनादनौ ससाधनपूर्णप्रयत्नौ महावेगैः अश्वैः सैन्यादिभिः

कृत्वा अन्वयाताम्, पृष्ठतो मारणार्थमनुगतौ । अवश्यं तथागमने हेतुः गुरुद्रुहमिति । गुरुः श्वशुरः पञ्चानां मध्ये गणितः । तस्मै द्रोहं कृतवानिति । राजन्नित्यालस्याभावाय शौर्यं कथयन् सम्बोधयति । गुरुद्रोहकथनेनान्यदपि सूचितम् । 'प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्' इति पक्षः परिहृतः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् यदि उसी दिन जाते तो पास ही में पकड़ लेते, किन्तु आप दूसरे दिन भी मध्याह्न में निकले, इतने में वह दो सौ योजन मार्ग का अतिक्रमण कर चला गया, भगवान् ने सोचा कि दूसरे रथ तेज चलने वाले नहीं है और अलौकिक प्रकार भी नहीं करना है अतः गरुड की ध्वजा वाले रथ में राम व जनादन चढ़ सर्वसामग्री उस एक ही रथ में साधन सहित पूर्ण प्रयत्न से रख महान् वेग वाले घोड़ों से सैन्य को साथ में लेकर उसके पीछे गये, पीछे जाने का कारण उसको मारना था, मारने के लिये क्यों गये ? वह गुरु द्रोही था अतः वध के ही योग्य है, पांच गुरुओं में श्वशुर की भी गणना की हुई है, उस 'श्वशुर' का इसने द्रोह किया है इसलिये गुरु द्रोही है, राजन् ! सुबोधन देने का आशय यह है कि जैसे राजा ऐसों के वध में आलस्य नहीं करता है वैसे हम भी आलस्य त्याग शौर्य प्रकट करते हुए जा रहे हैं गुरु द्रोह कहने से दूसरे भी इसके दोष दिखा दिये, 'शास्त्र में कहा है कि 'प्रपन्नं विरथं भीतं न रिपुं हन्ति धर्मवित्' शरण आया हुआ हो या जो बिना रथ वाला हो और डरा हुआ हो ऐसे शत्रु को धर्मज्ञ नहीं मारते हैं, तो भगवान् धर्मज्ञ हैं उन्होंने विरथ डरे हुए को कैसे मारा ? इस पक्ष को यहां नहीं लिया है, क्योंकि इससे प्रबल पक्ष गुरु द्रोही को मारना चाहिये, वह है ॥१६॥

आभास—तावता सः मिथिलानगरपर्यन्तं गत इति तत्र मारित इति वक्तुं तस्यो-पलम्भमाह मिथिलाया इति ।



आभासार्थ - इतने में वह मिथिला नगर तक पहुँच गया वह मारा गया, उसका मिलना और उस प्रकार 'मिथिलाया' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—मिथिलाया उपवने विसृज्य पतितं हयम् ।

पद्भ्यामधावत्संत्रस्तः कृष्णोऽप्यन्वद्रवद्रुषा । २०॥

श्लोकार्थ—मिथिला के उपवन में उसका घोड़ा श्रमित हो गिर गया, उस गिरे हुए को छोड़, हरा हुआ पैदल ही दौड़ता हुआ जा रहा था, भगवान् कृष्ण भी उसके पीछे क्रोधित हो दौड़ते हुए जाने लगे ॥२०॥

सुबोधिनी—अतिदूरगमनात् हयस्य श्रमात् | रथेनानुगमनं निषिद्धमिति स्वयमपि पदातिरेव पातः । ततः पद्भ्यां धावनम् । ततो भगवानपि | भूत्वानुगत इत्याह कृष्णोऽपीति ॥२०॥

व्याख्यानार्थ—बहुत दूर जाने से अश्व थक गया जिससे वह पृथ्वी पर पड़ गया अर्थात् गिर गया, पश्चात् वह पैदल दौड़ता हुआ गया, अनन्तर भगवान् भी पैदल को पकड़ने के लिये उसके पीछे रथ से जाने का शास्त्र में निषेध है, अतः भगवान् भी स्वयं पैदल ही उसके पीछे गये ॥२०॥

श्लोक—पदातिर्भगवांस्तस्य पदातिस्तिग्मनेमिना ।

चक्रेण शिर उत्कृत्य वाससोर्व्यचिनोन्मणिम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—पैदल भगवान् ने उस पैदल के सिर को सुदर्शन के तेज घेरे से काट कर कपड़ों में मणि ढूँढ़ने लगे ॥२१॥

सुबोधिनी—स्वयमपि पदातिः तस्य पदातेः | दानार्थं तथा कृतवानिति निरूपितम् । अत एव भगवानदभुतकर्मा बलभद्रः पश्यतीति तत्र भण्य-
तिग्मनेमिना अप्रतिहतेन सुदर्शनेन शिरस्तस्यो-
त्कृत्य, धावनसमय एव शरीरं धावमानमेव
स्थितम् । शिरस्तु छिन्नमिति । भगवानिति मोक्ष-
भावं ज्ञात्वापि वाससोः व्यचिनोत्, विवेचनेन
अन्वेषणं कृतवान् ॥२१॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् आप भी पैदल थे, उस पैदल के तेज घेरे वाले सुदर्शन से शिर को काट डाला, दौड़ने के समय ही शरीर दौड़ता हुआ ही स्थित था, शिर तो घड़ से पृथक हो गया. भगवान् हयस्य पदातिरेव पातः के अर्थ में कहते हैं कि भगवान् जानते भी हैं कि मणि इसके पास अब नहीं है, तो भी कपड़ों में मणि को पूर्ण रीति से ढूँढ़ने लगे ॥२१॥

ग्रामास—बलभद्रविचारेण स मारित इति ज्ञात्वापि भगवांस्तथा कृतवान् ।
मण्यर्थमेव मारणमिति बलभद्रविचारः । सर्वथा मारणीय इति भगवतः । लोकवद्बल-

भद्रः बहुविधानि वाक्यानि श्रुत्वा मणिसद्भाव एव तस्यापराधं जानीयात् । अन्यथा लोकोन्यथापि वदतीति विश्वासं न कुर्यादत आह भगवान् ।

आभासार्थ— बलभद्र का विचार था कि इसके पास मणि है इसलिये इसको मारना चाहिये, किन्तु भगवान् का विचार था कि यह गुरु द्रोही है इसलिये यह मारने के योग्य है, भगवान् जानते थे कि मणि इसके पास नहीं है तो भी भगवान् ने मारने योग्य समझ मारा, लोक की भांति बलभद्र ने अनेक प्रकार के वाक्य सुन कर निश्चय कर लिया था कि मणि का इसके पास होना ही इसका अपराध है, यों न हो तो लोक अन्य प्रकार भी कहता तो विश्वास न करते, अतः भगवान् कहते हैं ।

श्लोक—अलब्धमणिरागत्य कृष्ण आहाग्रजान्तिकम् ।

वृथा हतः शतधनुर्मणिस्तत्र न विद्यते ॥२२॥

श्लोकार्थ—भगवान् कृष्ण के ढूँढ़ने पर जब मणि न मिली, तब बड़े भ्राता के पास आकर कहने लगे कि शतधनु को वृथा मारा, उसके पास तो मणि नहीं है ॥२२॥

सुबोधिनी — अलब्धमणिरागत्य कृष्ण आहाग्रजान्तिकमागत्य वृथा हतः शतधनुरिति । सर्वज्ञत्वे भगवतोऽपराधः स्यात् । ज्ञात्वंवान्यत्र गत इति । सर्वकर्तृत्वमपि सर्वज्ञत्वे भविष्यतीति सुतरामेवापराधः स्यात् ।	ततोऽज्ञाननाट्यं कर्तव्यम् । अहतो वृथेत्यपि वाक्यं भवति । गुरुद्रोहात् हत एव सार्थको भवतीति । अन्यथा अकृतनिर्वेशो भवेत् । मणिस्तु न विद्यत इत्युभयत्र समानम् ॥२२॥
---	---

व्याख्यानार्थ— भगवान् मणि न मिलने पर बड़े भ्राता बलदेवजी के पास आकर कहने लगे कि शतधनु को व्यर्थ ही मारा, यदि भगवान् यहां सर्वज्ञत्व दिखाते तो आपका अपराध दीखता, जानकर ही वहां गये जहां मणि नहीं थी, सर्वज्ञत्व में सर्वकर्तृपन भी होगा इसलिये सुतराम ही अपराध होवे इससे अज्ञानका नाट्य करना चाहिये, अर्थात् आप सब जानते हुए भी इस प्रकार लीला करने में अपनी अज्ञता प्रकट करने के लिये ही बलरामजी को कहा कि इसके पास मणि जानकर इसको मारा, किन्तु इसके पास मणि तो है ही नहीं, यह भगवान् का अज्ञान, नाट्य कर दिखाना है, 'वृथाहतः शतधनु' इस पंक्तिका अर्थ दूसरे प्रकार भी होता है, जैसे कि 'शतधनुः वृथा अहतः' शतधनु का मारना निरर्थक नहीं है किन्तु सार्थक है, क्योंकि वह गुरु द्रोही था मणि न मिली तो भी इसका वध होना ही चाहिये था, नहीं तो लोक कहते कि इन्होंने कुछ नहीं किया, ऐसे गुरुद्रोही को छोड़ दिया, मणि तो इसके पास नहीं है इसलिये दोनों बात 'मारना व न मारना' समान है ॥२२॥

आभास—ततो बलभद्र एव युक्त्यभिज्ञः भगवन्तमार्हत्याह तत आह बल इति ।

आभासार्थ—पश्चात् युक्तियों के ज्ञाता बलभद्रजी ने तब 'आह' श्लोक में भगवान् को कहा ।



श्लोक—तत आह बलो नूनं स मणिः शतधन्वना ।

कस्मिंश्चित्पुरुषे न्यस्तस्तमन्वेष्टुं पुरं व्रज ॥२३॥

श्लोकार्थ—अनन्तर बलरामजी ने भगवान् को कहा कि निश्चय है कि शतधनु ने यह मणि किसी पुरुष के पास रखी है, उसकी सूचना निकालने के लिए नगर में जाओ ॥२३॥

सुबोधिनी—नूनमिति तस्य वाक्यम् । अवश्यं मणिरन्वेष्टव्यः । यदि तत् स्थाने नास्ति तदा नूनं स मणिः शतधन्वना, शतधन्वन्शब्दः कस्मिंश्चित्पुरुषे, न तु खाते, भार्यादो वा । पुरुषपदेन

महानेव कश्चित्सूचितः । न्यस्तः न्यासप्रकारेण स्थापितः । ततः किं विवेयमित्याकाङ्क्षायामाह तमन्वेष्टुं पुरं व्रजेति । न तु स्वगृहे गन्तव्यम्, कार्यं न जातमिति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—बलभद्र का कहना है कि मणि की अवश्य खोज करनी, जो उस स्थान पर नहीं है तब निश्चय से शतधन्वा ने वह मणि किसी पुरुष के पास रखी है, न कि पृथ्वी में गाड़ी है वा स्त्री को दी है, पुरुष पद देने से यह सूचित किया है कि किसी महान् को दी है, 'न्यस्तः' पद का भावार्थ है कि गिरवी की भाँति रखी है, उसने यों किया है तो क्या करना चाहिये ? इसके उत्तर में बलभद्र ने कहा कि आप घर मत जाओ नगरी में जाकर खोज करो क्योंकि जिसके लिये आये वह काम नहीं हुआ है ॥२३॥

आभास—स्वस्यान्यथा विनियोगमाह अहं विदेहमिच्छामिति ।

आभासार्थ—अपना अन्यत्र जाना बताते हैं 'अहं विदेह' मिच्छामि ।

श्लोक—अहं विदेहमिच्छामि द्रष्टुं प्रियतमं मम ।

इत्युक्त्वा मिथिलां राजन् विवेश यदुनन्दनः ॥२४॥

श्लोकार्थ—मैं अपने प्रियतम विदेह को देखने के लिए मिथिला जा रहा हूँ । हे राजन् ! यों कहकर बलराम ने मिथिला में प्रवेश किया अर्थात् गए ॥२४॥

सुबोधिनी—भूभारहरणार्थमुभौ समागतौ । लोकाश्च द्विस्वभावाः । यद्युभावप्येकासक्तौ स्याताम्, तदा पक्षान्तरे बलातिशयं दृष्ट्वा अपरो निवर्तते, तदनुगुणो वा भवेत् । ततो भूमिभारस्तदव-

स्थ इति फले उभौ विरुद्धस्वभावौ जातौ । अतो दुर्योधनशिक्षार्थं बलो विदेहनगरे गच्छन् भगवन्तं द्वारकां प्रेषितवान् । इतः प्रभृत्येवोभयोः शक्तिविभक्ता । असम्मत्तिलीलाप्यन्योन्यं प्रदर्शयते ।



अत एवाग्रे भगवद्वाक्यम् । 'किन्तु मामग्रजः सम्यक् न प्रत्येति मणिं प्रतीति । ईश्वरशक्त्यो- विभक्तत्वात् तद्भक्तानामपि बुद्धिविभक्तेति अक्रूरभीष्मादीनां भगवद्भिन्नशीलत्व वर्णितम् । अन्यथोभयविधाः न निरुद्धा भवन्तीति । अतो बलभद्रप्रकारेण ये निरुद्धाः, ते भगवतो नानु- गुणाः । भगवता निरुद्धाश्च न बलभद्रानुगुणा इति । अनयोविभागे शास्त्रमपि विभक्तमिति ज्ञापयितुं विदेहपदम् । ज्ञाननिष्ठाः प्रियाः बल- पक्षे । भक्तिनिष्ठाश्चापरत्रेति । क्रियाज्ञानशक्ती

एकत्र । भक्तिपरमानन्दावपरत्र । अत एव विदेहः प्रियतमः । ततस्तन्निकटे गत्वा दर्शनार्थं समु- त्सुको जातः । ज्ञानपक्षे वेदमार्गो नात्यन्तमादर- णीय इति गरुडध्वजो रथः भगवतैव गृहीतः । बलस्तु रथान्तरं समारुह्य पद्भ्यां वा गत इति निश्चोयते । बलभद्रो नियोगकर्तेति तस्यैव चरित्रं प्रथममाह इत्युक्त्वेति त्रिभिः । मिथिला नाम मथनाज्जातेति, न निर्मितेति कर्मज्ञानोद्भवस्तस्यां सूचितः । यदुनन्दन इति तदर्थमेव भगवदवतार इति तथाकरणमुचितमिति ज्ञापितम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ — पृथ्वी का भार उतारने के लिये ही दोनों पक्षारे हैं, लोक दो स्वभाव वाले हैं एक प्रवृत्ति परायण हैं, दूसरे निवृत्ति परायण हैं, जो दोनों एक ही में आसक्त हो जावें, अर्थात् दोनों एक स्वभाव वालों के उद्धार करने में लग जावें, तो उस पक्ष को बलवान् देख दूसरा निवृत्त हो जाय, अथवा वैसा बन जाय, उससे भूमिका भार न उत्तर कर वैसा ही रह जावे, इसलिये लोक जय आदि फल में दोनों परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले हो गये, अतः दुर्योधन को शिक्षा देने के लिये बलरामजी विदेह के नगर जाते हुए भगवान् को द्वारका में भेजने लगे, यहाँ से ही दोनों की शक्ति पृथक् विभा- जित हो गई एक दूसरे की लीला में असम्मति भी दिखाई जाती है, अतएव आगे भगवान् के वाक्य हैं, 'किन्तु मामग्रजः सम्यक् न प्रत्येति मणिं प्रतीति', परन्तु मेरे बड़े भाई मणि के प्रति पूरा ध्यान नहीं देते हैं । ईश्वर की शक्तियों के विभक्त होने से उनके भक्तों की बुद्धि भी बट जाती है, इसलिये अक्रूर और भीष्म आदि का शील भी भगवान् से भिन्न हो गया, जो इस प्रकार प्रभु, लीला न करते तो दोनों प्रकार के भक्तों का निरोध न होता, अतः जो बलभद्र के प्रकार से निरुद्ध हुए वे भगवान् के विचारों के अनुकूल नहीं होते, और जो भगवान् ने निरुद्ध किये वे बलभद्र के अनुकूल नहीं थे, इन दोनों शक्तियों के विभाग होने से शास्त्र भी विभक्त हुए, यह जताने के लिये 'विदेह' पद दिया है, जो ज्ञान में निष्ठ थे वे प्रिय प्रसन्न बलराम के पक्ष में थे, भक्ति में निष्ठावाले दूसरे में क्रिया^२ और ज्ञान शक्ति एक स्थान पर और भक्ति तथा परमानन्द दूसरे स्थान पर, अतएव बलराम को विदेह प्रियतम है, इस कारण से उसके पास जाकर उसके दर्शन के लिये अत्यन्त उत्सुक होने लगे, ज्ञान पक्ष में वेद मार्ग अत्यन्त आदरणीय नहीं है, इसलिये गरुड की ध्वजा वाला रथ भगवान् ने ही लिया, बलदेव दूसरे रथ में बैठकर अथवा पैदल गये, यों निश्चय किया जाता है, श्री बलभद्र नियोग करने वाले हैं इसलिये उनका ही चरित्र तीन श्लोकों से कहा जाता है, मिथिला नगरी बनाई नहीं गई है किन्तु मथन करने से उत्पन्न हुई है, यों कहने का भावार्थ यह है कि इसी कारण से ही इस मिथिला में कर्म और ज्ञान का उद्भव होता है, यह सूचित किया है, 'यदुनन्दन' नाम देने से यह भाव बताया है कि इसलिये ही भगवदवतार हैं, यों करना उचित ही है यह बता दिया ॥२४॥

१- ज्ञान शास्त्र और भक्ति शास्त्र

२- कर्म और ज्ञान

आभास—ततो राजकर्तृकमभिनन्दनमाह तं दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—पञ्चान् सजा का किया हुआ अभिनन्दन 'तं दृष्ट्वा' श्लोक से कहा जाता है ।

श्लोक—तं दृष्ट्वा सहसोत्थाय मैथिलः प्रीतमानसः ।

अर्हयामास विधिवदहंणीयं समहंणी ॥२५॥

श्लोकार्थ—उनको देख मिथिला का राजा प्रसन्नचित्त हो जल्दी उठ खड़ा हुआ, पूजा के योग्य सामग्री से विधि के अनुसार बलदेवजी की पूजा की ॥२५॥

सुबोधिनी—अतिप्रियत्वात् न ज्ञापयित्वा गतः । अतोऽन्तःप्रवेशानन्तरमेव दर्शनानन्तरमेव राजा ज्ञातवानिति दृष्ट्वा सहसोत्थायेत्युक्तम् । यतो मैथिलः । दर्शनेनैव प्रीतं मानसं यस्य । एवं देहेन्द्रियान्तःकरणस्थितिः । ततस्तस्य कार्यमाह

अर्हयामासेति । विधिप्रधान इति विधिवत्पूजां चक्रे कस्मिन्नप्यशे पुष्टिर्नास्तीति ज्ञापयितुं अर्हणीयमित्युक्तम् । रामः सर्वैरेव अर्हणीयः, साधनपुरःसरम्, ब्रह्मरूपत्वात् । समहंणीः सम्य-गर्हणयोग्यः शुद्धैः द्रव्यादिभिः ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—मैथिल बलदेवजी का अति प्रिय था, इसलिए उसे सूचित किए बिना ही वहां गए, अतः अन्तःपुर में पहुँच जाने के अनन्तर उनको देखकर राजा ने जाना कि बलदेवजी आए हैं, तब एकदम उठकर उनकी पूजा की, यों कहा; क्योंकि मैथिल है दर्शन से ही प्रसन्न चित्त हो गया, इस प्रकार कहने से राजा के देह, इन्द्रिय आदि की स्थिति प्रेमयुक्त हो गई, यों सूचित किया, अनन्तर राजा ने जो कार्य किया, उसका वर्णन करते हैं कि विधि अनुसार राजा ने बलरामजी की पूजा की, इस कार्य में स्वल्प भी पुष्टि नहीं है, यह सूचित करने के लिए 'अर्हणीयम्' राम की साधनपूर्वक सबको पूजा करनी चाहिए; क्योंकि ब्रह्मरूप है, किससे पूजा करनी चाहिए ? जिसके उत्तर में कहा कि 'समहंणीः' अच्छे प्रकार पूजा के योग्य शुद्ध द्रव्यों से पूजा करनी चाहिए । २५॥

आभास—एवं पूजानन्तरं तस्य प्रत्यागमनं सम्भाव्य तन्निषेधार्थमाह उवासेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार पूजा के बाद उसके लौटने की सम्भावना कर उसके निषेध के लिए 'उवास' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—उवास तस्यां कतिचिन्मिथिलायां समा विभुः ।

ततोऽशिक्षद्गदां काले धार्तराष्ट्रः सुयोधनः ॥२६॥

मानितः प्रीतियुक्तेन जनकेन महात्मना ।



श्लोकार्थ—बलदेवजी कितने ही वर्ष उस मिथिला में रहे, पश्चात् वहाँ समय पाकर धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन ने उनसे गदा युद्ध की शिक्षा प्राप्त की, महात्मा जनक ने भी बड़े प्रेम से उनका आदर सत्कार किया ॥२६॥

सुबोधिनी—राजगृहे स्थितिव्यावृत्त्यर्थं तस्यामिति । कतिचित्समा इति वर्षत्रयं किञ्चिदधिकं वा । मर्यादानगरी सेति स्थितौ न कोऽप्युद्वेगः । तत्र तावत्काल स्थितौ परदेशवासादिक्लेशो भवेदित्याशङ्क्याह विभुरिति । स्थितेः प्रयोजनमाह ततोऽशिक्षदिति । धार्तराष्ट्रः पितुः पुत्रः समर्थः, दुर्योधनोऽपि भगवदिच्छया सुयोधनः, सुष्ठु योधनं यस्येति । दुर्योधनपदं यौगिकं मन्यमानः तन्निषेधार्थं विपरीतं प्रयुङ्क्ते । रूढं पदमिति लोके बोधयन् । अतो ज्ञानक्रियाशक्ती तस्य न पुष्टे इति बलभद्रात् गदामशिक्षत् । काले गदाशिक्षणयोग्ये

समये । अत्यन्तं पुष्टस्तरुणः गदायां योग्यः । यस्मिन् काले प्रहारः शुष्को भवति, न पूयादिकं सम्पादयति, नाड्यश्च विशकलिता न भवन्ति, स शरदादिः षण्मासः । तस्मिन् काले गदामशिक्षत् । तस्यापि विदेशवासे उद्वेगाभावायाह मानितः प्रीतियुक्तेनेति । यतो जनकः जननात्, अत उत्कृष्टजन्मा, तं कुलीनं मर्यादावन्तमङ्गीकृतवान् । बलभद्रसम्बन्धादपि प्रीतिः । स्वभावतोऽपि महात्मा । य एव गृहमागतः, तमाराधयतीति । अतः प्रकारत्रयेण मानितः कायिकादिक्लेशाभावात् अशिक्षत् । शिक्षया गदां ज्ञातवानित्यर्थः ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—बलरामजी राजगृह में नहीं रहे यह बताने के लिये कहा है कि 'तस्यां मिथिलायां' उस मिथिला पुरी में रहे, रहने का समय बताते हुए कहते हैं कि कितने वर्ष अर्थात् तीन वर्ष वा इससे कुछ अधिक रहे, वह नगरी मर्यादायुक्त है इसलिये वहाँ रहने में किसी प्रकार उद्वेग नहीं हुआ, वहाँ इतना समय रहने से परदेश वास में जो वजेश आदि होते हैं वे आपको भी हुवे होंगे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं हुवे, क्योंकि आप 'विभुः है' अर्थात् सर्व-समर्थ हैं, इतना समय रहे जिसका प्रयोजन बताते हैं कि धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्योधन को गदा युद्ध की शिक्षा दो, धृतराष्ट्र पद कहने का भाव यह है कि दुर्योधन धृतराष्ट्र जसे पिता का पुत्र है जिससे जैसे वह समर्थ है तैसे पुत्र भी समर्थ है इसलिये ही 'सुयोधनः' विशेषण दिया है कि अच्छे प्रकार युद्ध कर सकता है अथवा दुर्योधन पद को यौगिक मानकर उसके तात्पर्य के निषेध के लिये विपरीत 'सुयोधन' दिया है श्लोक में बताते हैं कि यह रूढ पद है, अतः इसकी ज्ञान और क्रिया शक्ति दोनों पुष्ट नहीं थी, इसलिये बलभद्र से गदा युद्धा सीखी, जब वह गदा की शिक्षा के योग्य हुआ उस समय शिक्षा ग्रहणकी, गदा चलाने योग्य तब होता है जब वह अत्यन्त बलवान् एवं तरुण हो, जिसकाल में प्रहार शुष्क होता है उस समय पूय आदि को नहीं बनाता है तथा नाड़ियाँ भी टुकड़े टुकड़े अर्थात् टूट नहीं जाती है एव शिथिल भी नहीं होती है, इसलिये गदा सीखने का समय शरद ऋतु से छ मास होता है, उस समय ठंडक होने से शरीर में फुर्ती रहती है पसीने आदि भी नहीं होते हैं, ऐसे योग्य समय में गदा की शिक्षा प्राप्त की, वह भी विदेश में रहता था, जिससे कोई उद्वेग नहीं था और जनक द्वारा प्रेम पूर्वक सन्मानित हुवा था, क्योंकि जनक जन्म से ही उत्कृष्ट थे, उस कुलीन का मर्यादा वाला जानकर अङ्गीकार किया, बलभद्र के सम्बन्धी हैं इसलिये भी प्रेम किया, यों स्वतः आप स्वभाव से भी महात्मा हैं, जिससे जो भी गृह में आता है उसकी आराधना करते ही हैं, अतः तीन प्रकार से आदर पाया, जिससे कायादि क्लेश न होने से सीखे, शिक्षा से गदा युद्ध को जान लिया कि गदा से इस प्रकार युद्ध किया जाता है ॥२६॥



आभास—मर्यादारूपं भगवच्चरित्रमुक्त्वा, पुष्टिरूपमाह केशव इति ।

आभासार्थ—मर्यादारूप भगवान् का चरित्र कहकर 'केशवो' श्लोक में पुष्टिरूप चरित्र कहते हैं ।

श्लोक—केशवो द्वारकामेत्य निधनं शतधन्वनः ।

अप्राप्ति च मणोः प्राह प्रियायाः प्रियकृद्भिः ॥२७॥

श्लोकार्थ—प्रिय का प्रिय करने वाले सर्वकरण समर्थ केशव ने द्वारका में आकर शतधन्वा का मरण और मणि का न मिलना, दोनों बातें कह सुनाई ॥२७॥

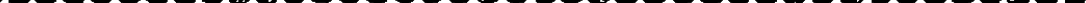
सुबोधिनी—उत्पादकनाशकयोः तुल्यप्रकारेण फल प्रयच्छतीति पुष्टिस्थो भवति । द्वारकां रथे-
नागत्य सत्यभामादीनां सुखार्थं शतधन्वनो निघ-
नम् । तदीयानां सुखार्थं च मणेरप्राप्तिमाह । ननु
सर्वेश्वरः विधिकर इव किमिति स्वकृतं निरूपि-

तवानित्याशङ्क्याह प्रियायाः प्रियकृदिति । एत-
दप्युक्तमिति चेत् । तत्राह विभुरिति । सर्वं कर्तुं
समर्थः । नेतावता काचित् क्षतिरिति भावः ।
उभयमपि प्रियायाः प्रियार्थमुक्तवान् । कथं मण्य-
प्राप्तिः प्रियमित्याशङ्क्य, सामर्थ्यं वा उक्तम् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—पैदा करने वाले और नाश करने वाले, दोनों को फल समान देते हैं इसलिये कहा जाता है कि प्रभु 'पुष्टिस्थ' अर्थात् अनुग्रह करने में स्थित हैं, रथ से द्वारका में आकर सत्यभामा आदि के प्रसन्नतार्थ शतधन्वा का मरण सुनाया और तदीयों के सुख के लिये कहा कि मणि नहीं मिली, सर्वेश्वर ने आज्ञाकारी की भाँति अपना किया हुआ कार्य क्यों निरूपण किया? इस शङ्का को निवृत्ति के लिये कहते हैं कि यों कह देने का कारण यह है कि भगवान् अपनी प्रिया का प्रिय करने वाले हैं, यदि कहो कि यह भी योग्य नहीं, तो इसका उत्तर देते हैं कि 'विभु' सर्व करने के लिये समर्थ हैं, यों करने से किसी प्रकार हानि नहीं, दोनों बात प्यारी के प्रिय हित करने के लिये कह दी है, मणि की प्राप्ति की बात प्रिय कैसे है? यह शङ्का होती है, जिसका उत्तर है भगवान् सर्व समर्थ हैं इसलिये यह कार्य भी सत्यभामा के मन में प्रिय करवा दिया, क्योंकि सत्यभामा समझ गई कि इसमें हम लोगों का हित ही है ॥२७॥

आभास—वैरानुबन्धः आमृत्योरिति शतधनुर्वधानन्तरं प्रीतायां सत्यभामायां पश्चात्कारयामास यत्कर्तव्यमित्याह तत इति ।

आभासार्थ—वैर का कार्य आयु पर्यन्त रहता है, मरने के बाद वैर नहीं, अतः शतधनु के मरने के अनन्तर सत्यभामा के प्रसन्न हो जाने के बाद, जो कर्तव्य करना चाहिये वह कराने लगे, वह 'ततः' श्लोक में कहते हैं ।



श्लोक—ततः स कारयामास क्रिया बन्धोर्हतस्य वै ।

साकं सुहृद्भिर्भगवान्या याः स्युः सांपरायिकाः ॥२८॥

श्लोकार्थ—उसके अनन्तर भगवान् कृष्ण ने बान्धवों^१ के साथ मिलकर मरे हुए बन्धु को जो-जो मृतक-क्रियाएँ करनी चाहिए, वे करवाई ॥२८॥

सुबोधिनी – बन्धोः श्वशुरस्य विप्रद्वारा कार-
णम् । साकं सुहृद्भिरित्यादिलौकिककथनं परलो-
केऽपि तस्य नालौकिक किञ्चित्करोतीति ज्ञापयि-
तम् । भगवानिति तत्र महतो सम्भृतिः सूचिता ।

सुहृद्भिरिति । तत्करणे सर्वेषामावश्यकता च ।
या याः स्युरिति । विधौ आवश्यका अनावश्यकाश्च
फलार्थाः सर्वा एव संगृहीताः ॥२८॥

व्याख्यार्थ—श्वशुर, बन्धु की क्रिया ब्राह्मण द्वारा करानी है, बान्धवों^१ के साथ मिलकर कराई, इस लौकिक नीति के कहने का भावार्थ यह है कि इसका परलोक में भी भगवान् कुछ अलौकिक नहीं करते है, 'भगवान्' कहने से बड़ा ही पोषण हुआ ऐसी सूचना दी सुहृद्भिः' कहने से यह बताया है कि इस क्रिया के करने में सर्व की आवश्यकता होती है, जो जो विधि में आवश्यक अथवा अनावश्यक सब फल के अर्थ संग्रह किये हैं ॥२८॥

आभास—ततो बलभद्रवाक्यान्मण्यन्वेषणार्थं प्रवृत्तः, लोकतोऽपि अक्रूरकृतवर्मणोः कृत्यमेतदिति ज्ञात्वा, यदैव लोकानुरोधेन तयोनिग्रहः प्राप्तः, तदैव भगवदिच्छया तयो-
र्बुद्धिः पलायनपरा जातेत्याह अक्रूर इति ।

आभासार्थ—बलभद्रजी के कहने से मणि ढूँढने में प्रवृत्त हुए लोक से भी जाना, कि यह अक्रूर तथा कृतवर्मा का कृत्य है, जब ही लोक के आग्रह से उनका निग्रह करना प्राप्त हुआ, तब ही भगवदिच्छा से उनकी वृद्धि भाग जाने की हुई, जिसका वर्णन 'अक्रूरः कृतवर्मा' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—अक्रूरः कृतवर्मा च श्रुत्वा शतधनोर्वधम् ।

व्यूषतुर्भयवित्रस्तौ द्वारकायाः प्रयोजकौ ॥२६॥

श्लोकार्थ—अक्रूर और कृतवर्मा शतधनु का वध सुनकर भय से त्रास को प्राप्त होने से कोई मिथ कर द्वारका से निकल गए, क्यों डरे थे ? जिसके उत्तर में कहा है कि शतधन्वा के प्रेरक ये दोनों थे, इस कारण से डरे थे और द्वारका छोड़ गए ॥२६॥



सुबोधिनी—शतधनोर्वधं श्रुत्वा स्वस्यापि तदन्तःपातित्वात् मणिमारणावेव प्रयोजकाविति भगवत्प्रयत्नात्पूर्वमेव भगवच्छक्तेविमक्तत्वात् भयाविव्रस्तौ व्यूषतुः । मिषेण परदेशे निर्गतौ ।

तयोर्निर्गमनमात्रेणैव पलायनं सर्वजनीनं जातमिति तौ विशिनष्टि द्वारकायाः प्रयोजकाविति । एको लोकतः, अगरो वेदतश्चावेक्षकौ कोटिवारकधर्माध्यक्षौ । २६ ।

व्याख्यार्थ—शतधनु का वध सुनकर मणि का रखना और सत्राजित् का वधदोनों कार्यों में ये दोनों प्रयोजक थे जिससे ये भी अपने को उसके भीतर समझने लगे, अर्थात् अपने को दोषी समझा लगे अतः भय से डरे, मिष कर द्वारका से बाहर चले गये भगवान् के प्रयत्न से पहले ही, भगवान् की शक्ति का विभाग हो गया था, उन दोनों के निकल जाने मात्र से ही भागना सर्व जनोन हो गया अर्थात् सबको मालूम हो गया, इसलिये दोनों की बड़ाई करते हैं कि ये दोनों द्वारका के प्रयोजक हैं, एकलोक से दूसरा वेद से अवेक्षक हैं, जैसे कि एक कोटवाल था, दूसरा धर्माध्यक्ष है ॥२६॥

आभास—भगवानेवात्रार्थे निमित्तमिति साधनशक्तिः भगवतान्यत्र स्थापितेति प्रयोजकमणिबलभद्राणां दुष्टनिवारणसत्साधनसम्पादकानामाधिभौतिकादीनामन्यत्र गमने फलरूपस्यैव भगवतो विद्यमानत्वेऽपि सर्वेषां द्वारकावासिनां पीडा उत्पन्नेत्याह अक्रूरे प्रोषिते इति ।

आभासार्थ - भगवान् ने साधन शक्ति दूसरे स्थान पर भेज दी, इसलिये इस विषय में यहाँ भगवान् ही निमित्त हैं, प्रयोजक मणि बलभद्र और दुष्टों के निवारक सत्साधनों का सम्पादक आधिभौतिकादिकों का भी दूसरे स्थान पर जाने पर, यहाँ केवल फलरूप भगवान् के विद्यमान होते हुए भी सब द्वारकावासियों को पीड़ा उत्पन्न हो गई, जिसका वर्णन 'अक्रूरे प्रोषिते' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—अक्रूरे प्रोषितेऽरिष्टान्यासन्वे द्वारकौकसाम् ।

शारीरा मानसास्तापा मुहुर्दैविकभौतिकाः ॥३०॥

श्लोकार्थ—जब अक्रूरजो द्वारका छोड़ गए, तब द्वारकावासियों के अनिष्ट होने लगे जैसे कि शारीरिक, मानसिक, दैविक, भौतिक सर्व ताप बार-बार आने लगे ॥३०॥

सुबोधिनी—अक्रूरमात्रस्य प्रयोजकत्वं लोकसिद्धम् । सर्वो हि लोकः आधिभौतिक एव व्यवस्थितः । तत्रापि विद्यमानेषु साधनेषु तापदर्शनाल्लौकिकं कृतवर्माणं परित्यज्य धर्माध्यक्षमक्रूरमेव प्रयोजकं सर्वोऽपि मन्यते । द्वारकौकसां निश्चयेन सर्वेषां तापाः पीडाः शारीरा मानसाः व्याध्याधिरूपाः मुहुरासन् । अथ हिमका एते गणिताः ।

आधिभौतिका आधिदैविकाश्च पुनस्तापा अभवन् । इयं लौकिकी भाषेति नात्र कोऽपि विरोध शङ्कनीयः । सर्वमेवोत्तरार्धं न समाधिभाषेत्येके । मुहुरिति वारंवारम् । ज्ञानादिना प्रतीकारे कृतेऽपि पुनः पुनर्जायन्त इति । तेऽपि पुनः शरीरे मनस्येव च दुःखं जनयन्तीति तद्विशेषणत्वेनोक्ताः ॥३०॥



व्याख्या — इस अनिष्ट में केवल अक्रूरजी का ही प्रयोजकपन है यह लोक सिद्ध है, सर्वलोक आधिभौतिक व्यवस्था वाला ही हो गया है, उसमें भी साधनों के विद्यमान् होते हुए भी ताप हो रहे हैं, जिसमें लौकिक कृतवर्मा को प्रयोजक न मान मर्याध्यक्ष अक्रूर को ही सवजन का प्रयोजक मान लिया सर्व द्वारकावासियों को सर्व प्रकार की शारीरिक, मानसिक, (व्याधि एवं आधिरूप) पोड़ा बार-बार होने लगी, ये आध्यात्मिक गिने गये, आधिदैविक तथा आधिभौतिक ताप फिर होने लगे, यह भाषा लौकिकी है इसमें किसी प्रकार विरोध की शङ्का न करनी चाहिये, कारण कि उत्तरार्ध में जो लीला की है, वह लोक धर्म को सामने रखकर की है, अर्थात् लोकानुसार की है, इसलिये लौकिकी भाषा है, कोई कहते हैं कि समग्र उत्तरार्ध^१ लौकिकी भाषा नहीं है, ये दुःख, ज्ञान आदि से इनका उपाय करने पर भी फिर फिर उत्पन्न हो जाते हैं, वे भी फिर शरीर में और मन में ही दुःख पैदा करते हैं, इसलिये वह विशेषणत्व से कहे हैं ॥३०॥

आभास—पूर्ववत्पुनर्लोके विपरीततया कीर्तिर्जातित्याह इत्यङ्गंति ।

आभासार्थ—आगे की भाँति फिर लोक में विपरीतता से यश होने लगा, जिसका वर्णन 'इत्यङ्गोप' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—इत्यङ्गोपदिशन्त्येके विस्मृत्य प्रागुदाहृतम् ॥३०३॥

श्लोकार्थ—हे अङ्ग ! कई लोक पहले कहे हुए को भूलकर यों स्तुति करते हैं ॥३०३॥

सुबोधिनी—यो हि मणिं गृहीत्वा पलायते, तं स्तुति लोकः । यो न गृह्णाति निर्लेपः, तं निन्दतीति लोकः । अतो निन्दां पूर्वाध्याये निरूप्य, स्तुतिमत्र निरूपयति । इति एवं जाते । अङ्ग हे राजन् । एके अभिज्ञाभिमानिनः परमार्थदर्शि-

नोऽपि प्रागुदाहृतं भगवतो वीर्यविभागं मणिसामर्थ्यं वा विस्मृत्य स्वयं भ्रान्ताः सन्तः एकदेशे पर्यवसितमतयः अन्यानुपदिशन्ति । उभयत्रापि भगवदिच्छा प्रयोजिका, विस्मरणे उपदेशेऽपि ॥३०३॥

व्याख्यार्थ—जो मणि लेकर भाग जाता है, उसकी लोक प्रशंसा करते हैं—जो नहीं लेता है और निर्लेप है, उसकी निन्दा करते हैं, अतः पूर्व के अध्याय में निन्दा का निरूपण कर, यहां स्तुति का निरूपण करते हैं, यों इस प्रकार होने पर हे अङ्ग ! हे राजन् ! कोई हम जानकार हैं, ऐसे अभिमानी, परमार्थदर्शी होते हुए भी पहले कहे हुए भगवान् के वीर्य (पराक्रम) विभाग को अथवा मणि सामर्थ्य को भूलकर आप भ्रान्त होने से एक देश में ही जिनकी बुद्धि रह गई है ऐसे, दूसरों को उपदेश देते हैं, दोनों में भगवान् की इच्छा ही विस्मरण और उपदेश दोनों में लगाने वाली है ॥३१३॥

१—स्वरूप से लौकिकता की लीला जहाँ जहाँ है, उतनी ही लौकिकी भाषा है, यों किन्हीं का मत है ।

चित्-अभिमान से गृह कर रहता है, वहाँ अनिष्ट का दर्शन होना बन नहीं सकता है, उसका मुनिपन सिद्ध करते हैं, पहले, इन्द्र देव के न बरसने पर अनावृष्टि से पीड़ित काशी के राजा ने महादेवादि देवों के कहने से प्रसङ्ग से आये हुए श्वफल्क को अपनी गान्दिनी नाम कन्या दो इस प्रकार कन्या देने से काशी तथा उसके प्रदेशों में सर्वत्र इन्द्र वर्षा करने लगे थे, यह प्रसिद्ध है, जो यों है तो उसके कहने का क्या कारण है ? इस पर कहते हैं कि यह उसका पुत्र है, काशिराज को पुत्र नहीं था तब उसने साल भर नित्य गोदान किया, जिससे उसको यह कन्या जन्मी, अनन्तर बारह वर्ष पर्यन्त प्रतिदिन एक एक गौ उसके हाथ से दान करवाई, वैसी यह गान्दिनी थी, उसका यह पुत्र है, अथवा श्वफल्क का पुत्र है; उन दोनों का जितना प्रभाव है, उतने प्रभाव वाला, यह भी होने योग्य है अर्थात् इसमें भी उतना ही प्रभाव देखने में आता है अथवा इसमें उतने प्रभाव का आविर्भाव हुआ है, वहाँ विशेष भक्ति होने पर भगवान् उस रूप से प्रकाशमान हैं, इसलिये किसी प्रकार भी अनुपपत्ति नहीं है, अर्थात् जहाँ जहाँ अक्रूर रहता है वहाँ वहाँ इन्द्र पहले कहे हुए न्याय से वर्षा करता है, यों पिता के सामर्थ्य का सम्बन्ध कहा है अब माता के सम्बन्ध का सामर्थ्य बताते हैं कि, जहाँ अक्रूर रहता है वहाँ उत्पात आदि ताप भी नहीं होते हैं, भक्ति की उपलब्धि वाला है जिससे इन प्रभावों के अतिरिक्त अन्य असाधारण प्रभाव भी है, मारने वाला तामसी पूतनादि शक्तियाँ भी वहाँ नहीं आ सकती हैं ये तामसी पूतना आदि शक्तियाँ जहाँ सात्विक भगवद्भक्त विद्यमान है, उसके निकट भी नहीं आ सकती हैं, यह कहना योग्य ही है उपापता का तात्पर्य है, पातक अथवा उत्पातों का होना, यह सब प्रभाव गोदान का वर्णन किया है, गोदान का ऐसा आश्चर्य प्रकट करने वाला प्रभाव दिखाने के लिये 'ह' पददिया है, प्रभाव भी कार्य में कैसे परिणत हुआ ? वहाँ भी दोनों का^१ और उससे भी विशिष्ट^२ हुआ ॥३३॥

आभास—ननु विद्यमाने भगवति अन्योत्कर्षवचनानि भ्रान्तानीति चेत्, तत्राह इति वृद्धवचः श्रुत्वेति ।

आभासार्थ—जब भगवान् विद्यमान हैं तब दूसरे के उत्कर्ष वचन भ्रान्त है यदि यों कहो तो उसका उत्तर 'इति वृद्धवचः' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—इति वृद्धवचः श्रुत्वा नैतावदिह कारणम् ।

इति मत्वा समानाद्य प्राहाक्रूरं जनार्दनः ॥३४॥

श्लोकार्थ—यों वृद्धों के वचन सुनकर भगवान् ने तो समझ लिया था कि इतना ही कारण नहीं है, अतः भगवान् ने अक्रूर को बुलाकर कहा ॥३४॥

सुबोधिनी—वृद्धा आदरणीयाः यथोपश्रुतिः । निराकरणार्थं प्रयत्नः कर्तव्यः । तत्र लोका पूर्व पञ्चाङ्गवता श्रुता, तथेदमपि श्रुत्वा तद्दोष- । अर्धं भ्रान्ता बलभद्रं मणिं च कारणत्वेन न

जानन्तीति, भगवान् पुनः विमृश्यकारी तथैव कृतवानित्यङ्गीकारे दोषः स्यादिति, पूर्णमेव कारणं मत्वा समाधानं कृतवानिति वक्तुमाह नैतावदिह कारणमिति । इह आध्यात्मिकादितापेषु एतावदेव न कारणम्, किन्तु अन्यदप्यस्तीति तदनुक्त्वा इति निश्चित्य, सम्यक् चिन्तयित्वा दूतैः अक्रूरं समानाय्य, अमाणाथमभयं दत्त्वा, जनार्दनो लोकानामविद्यादिसर्वदुःखनाशकः मणि प्रकटयितुं तमाहेति सम्बन्धः । स ह्यक्रूरः काशीषु प्रयागे च मरणं निश्चित्य तीर्थमाश्रित्य स्थितः ।

यदि भगवान् शतधन्वानमिव मारयिष्यति, तदा त्रैव प्रयागादौ मारयत्विति परलोकप्रेप्सुः । भगवांश्च क्लिष्टं न करोतीति, मणिमन्यथापि दास्यतीति, तथापि सत्यभामाप्रतिनिधित्वेन अक्रूरायैव मणिर्देय इति भगवान्निश्चित्य मौशलेनैव तं मारयितुं तथा कृतवान् । न ह्यस्मत्स्वामी जीवैर्निश्चिते ज्ञाते वा प्राकृत इव तन्मन्युं गुह्णाति । सात्यकिरिव प्रायोपविष्टं मारयति । तक्षक इव वा भक्षयति । मृत्युरिव वा हन्ति । तस्मादक्लिष्टकर्मा भगवान् समाहूयैव प्राह ॥३४॥

व्याख्यानार्थ— पहले वृद्धों का आदर करना चाहिये, जंसे भी उन्होंने कहा वह अङ्गीकार करना चाहिये, पश्चात् भगवान् से सुना, वैसे यह भगवद्वचन भी सुनकर उस दोष का निराकरण करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये, भगवद्वचनों से ज्ञात होता है कि लोक आधे भूले हुए हैं अर्थात् उनको सम्पूर्ण विषय का ज्ञान नहीं है जिससे अक्रूर यहाँ से चला गया जिसका कारण मणि और बलभद्र हैं, यह नहीं जानते हैं, भगवान् तो विचारशील हैं, अतः जैसे उसका योग्य उपाय समझा वैसे ही करने लगे । अक्रूर को बुलाने में, लोक दोष देखेंगे, किन्तु भगवान् ने पूर्ण ही कारण समझ समाधान किया है कि केवल जितना वृद्ध लोक कहते हैं इतना ही कारण नहीं है, दूसरा असाधारण कारण भी है, जिससे यहां आध्यात्मिक आदि ताप भी होते हैं, उनको प्रकट न कर अच्छे प्रकार से निश्चय कर, पूरी तरह से विचार कर, दूता के द्वारा अक्रूर को बुलाकर, उसको न मारने का अभय दान दिया कि तुझे मारा नहीं जायेगा । भगवान् के लोकों की अविद्या आदि समस्त दुःखों के नाश करने वाले होने से, 'जनार्दन' कहे जाते हैं, इसलिये यहां जनार्दन नाम देकर यह सूचित किया है कि अक्रूर की अक्रूर-अविद्या का नाश कर, पश्चात् मणि प्रकट करने के लिये उसको कहने लगे, वह अक्रूर तो काशी अथवा प्रयाग में मरण का निश्चय कर तीर्थों का आश्रय ले वहाँ स्थित हुआ था जो भगवान् मुझे शतधन्वा की भाँति मारेंगे तो यहाँ ही प्रयागादि तीर्थों पर मारे, जिससे परलोक में हित हो यह ही वह चाहता था, भगवान् तो क्लेश युक्त कर्म नहीं करते हैं मणि तो मारने के सिवाय भी देंगे, तो भी सत्यभामा के प्रतिनिधित्व से अक्रूर को ही मणि देनी चाहिये यों भगवान् निश्चय कर, मौशल से ही उसको मारने वास्ते यों किया, हमारे स्वामी जीवों से निश्चय ज्ञात होने पर भी, प्राकृत की भाँति उसका शोक ग्रहण नहीं करते हैं, अर्थात् उसको क्लेश नहीं देते हैं सात्यकि की तरह मारने के लिये अनशन करने वाले को, नहीं मारते हैं, अथवा तक्षक की भाँति खाकर नहीं मारते हैं और काल की तरह भी नहीं मारते हैं, इस कारण से जो भगवान् अक्लिष्टकर्मा हैं, उन भगवान् ने अक्रूर को बुलाकर ही कहा ॥३४॥

श्लोक—पूजयित्वाभिभाष्येनं कथयित्वा प्रियाः कथाः ।

विज्ञाताखिलचित्तजः स्मयमान उवाच ह ॥३५॥

श्लोकार्थ— अक्रूर का पूजन कर, वाणी से स्वागत कर, प्रिय कथाएँ कह कर, सबके चित्त की बातों को जानने वाले भगवान् मुस्कराते हुए कहने लगे ॥३५॥

सुबोधिनी — किञ्च । पूजयित्वा पितृव्यत्वेन । अभिभाष्य साधु समागतोऽसीति कुशलप्रश्नं कृत्वा । ततो यथा मनः परितुष्टं भवति, तर्थाः प्रियाः कथाश्रोक्त्वा शरीरेन्द्रियान्तःकरणानां त्रिविधसत्कारेण सुखं दत्वा । याचिते प्रदर्शयिष्यतीति निश्चित्य । तत्र हेतुमाह विज्ञाताखिल-

चित्तज्ञ इति । एतज्ज्ञानमेवाक्रूरस्य प्रदर्शनाद्यङ्गीकारे हेतुरिति तन्निरूपितम् । भक्तो भूत्वा पूर्वं मार्गपांसुष्वपि विलुठन् इदानीं सङ्गवशादेवं जात इति स्मयमानः । हेत्याश्चर्ये । यस्माद्यो बिभेति, यो वा दण्ड्यः, स प्रसादपात्रमिव परिभाष्यत इति ॥३५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने अक्रूरजी के देह, इन्द्रिय और अन्तःकरणों का त्रिविध सत्कार किया, जैसे कि प्रथम पितृव्य चाचा) होने के कारण पूजन किया, जिससे देह का सत्कार हुआ, पश्चात्, आप भले पधारे आदि शब्दों द्वारा कुशल प्रश्नों से इन्द्रियों का आदर किया अन्त में आदर से अन्तःकरण को प्रसन्न करने के लिये प्रिय कथाएँ सुनाई इस प्रकार तीन तरह से देह, इन्द्रियां और अन्तःकरण को सुख देकर, विचार किया कि मणि तो इसके पास है, किन्तु मांगने से ही दिखाएगा, यह निश्चय किया यों निश्चय करने का कारण बताते हैं कि, समस्तों के चित्त के भावों को जानने वाले हैं, जिससे जान लिया कि अक्रूर जी सोच रहे हैं कि भगवान् जब याचना करेंगे तब दिखाऊँगा अक्रूर का यह ज्ञान ही दिखलाने के स्वीकार में हेतु है इसलिये यह निरूपण किया है, भगवान् उस समय मुस्काराने लगे, क्योंकि भगवान् के विचार में आया कि जो मेरा भक्त होकर मेरे चरणों की धूलि में लेटा था वह ऐसा केवल कुसङ्ग के वश से हुआ है यह आश्चर्य का विषय है, 'ह' शब्द देने का यह भाव है, जिससे जो डरता है अथवा जो दण्ड के योग्य है, वह कृपापात्र की भाँति बोला जाता है ॥३५॥

आभास — भगवद्वाक्यमाह ननु दानपते इति चतुर्भिः ।

आभासार्थ — ननुदानपते' श्लोक से भगवद्वाक्य कहते हैं ।

श्लोक — ननु दानपते न्यस्तस्त्वष्ट्यास्ते शतधन्वना ।

स्यमन्तको मणिः श्रीमान्विदितः पूर्वमेव नः ॥३६॥

श्लोकार्थ — हे दानपति ! सदैव शोभावाली स्यमन्तक मणि शतधन्वा ने निश्चय है कि तुम्हारे पास धरी है, यह हमें पहले से ही मालूम है ॥३६॥

सुबोधिनी — दानपतिर्दानाध्यक्षः सर्वधर्मसूक्ष्मज्ञः । अनेन गोपनमनङ्गीकारोऽन्यथा वदनं च व्यावर्तितम् । न्यस्तः त्वयि स्थापितः । आस्तेऽद्यापि तव स्थाने । शतधन्वनैव, न तु तदीयैः । स्यमन्तको मणिः प्रसिद्धः । तस्य नाशादिकं न

सम्भवतोत्याह श्रीमानिति । सर्वदा श्रीमत्त्वान्नापद्रूपं नाशादिकं प्राप्नोति । पूर्वोक्तार्थेषु प्रमाणमाह विदित इति । इदानीं वेदकं भ्रान्तं भविष्यतीति तन्निवारणार्थमाह । पूर्वमेव नोऽस्माभिः विदित इति ॥३६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने अक्रूर के मुख में किसी प्रकार का विकार नहीं देखा, जिससे जान लिया कि अक्रूर यह बात स्वीकार करेगा कि मणि मेरे पास है, क्योंकि वह सर्व धर्म की सूक्ष्मता को



जानता है, इसलिये ही दानाध्यक्ष रहा है, यों मुख की आकृति और कार्य से निश्चय कर अक्रूर को कहने लगे, मणि आपके पास घरो है, यह आज तक भी आपके स्थान में रखी है कहीं गई नहीं है, वह शतधन्वा ने ही दी है न कि उसके सम्बन्धियों ने दी है, स्यमन्तक मणि प्रसिद्ध है, उसका नाश आदि होता हो नहीं है, कारण कि वह 'श्रीमान्' है, जिससे वह सदैव श्री वाली होने से, आपद्रूप नाश को प्राप्त नहीं होती है ये जो अर्थ कहे हैं उसमें प्रमाण देते हैं कि 'विदितः' सब कोई इस बात को जानते हैं कि यह मणि ऐसी है, अब जानी हुई बात भूलो हुई वा भूठी होगी, इसके निवारण के लिये कहते हैं कि, पहले हमने ही जाना है ॥३६॥

आभास—तर्हि तदैव कथं न याचित इति चेत्, तत्राह सत्राजितोऽनपत्यत्वादिति ।

आभासार्थ—जब आपको मालूम था तो उस समय ही क्यों न मांग ली, यदि यों कहें तो, उसका उत्तर 'सत्राजितोऽनपत्यत्वा' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक — सत्राजितोऽनपत्यत्वाद्गृह्णीयुर्दुहितुः सुताः ।

दायं निनीयापः पिण्डान्विमुच्यर्णं च शेषितम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—सत्राजित् के पुत्र नहीं है, इसलिए उसकी मृतक क्रिया पिण्ड आदि कर और जो उसको देना रह गया हो, वह देकर शेष बचा हुआ धन आदि वह बेटी का पुत्र लेवे, यह शास्त्र नियम है ॥३७॥

सुबोधिनी—याचनमधिकारिणो भवति । यः पिण्डदः स रिक्थहारीति । तत्रैतावत्कालं सत्य-
भामाया नापत्यान्युत्पन्नानि । स त्वनपत्यः अभ्रातृ-
च । मणिस्तु तस्य । तं पुनः दुहितुः सुताः
गृह्णीयुः । तत्र साधारणं न्यायमाह दायं निनी-
येति । अन्यथैतदपि स्वेच्छेति स्यात् । दायं धन
गृह्णीयुरिति पूर्वणैव सम्बन्धः । आमरणं तस्यैव
धनम् । मरणानन्तरमपि पुत्राद्यभावे अपि पिण्डान्
निनीय ऋणं च विमुच्य शेषितमवशिष्टम् । शेष-
भागिति पाठे यो निनीय भवति, स शेषभागभव-

तोति । निःस्वामिकं तु द्रव्यं राजगामि भवति ।
चोरं हत्वापि यो वस्तुनो न भागो, स न द्रव्यं
प्राप्नोति परिज्ञातम् । उत्पन्न एव दायभागभवतीति
न व्यवहितज्ञातेः दायभाक्त्वमिति केचित् । दायं
वा साक्षात्स्वामिनि गते तत्स्वामिनमन्वेषमाणं
परम्परया शाखामूलपर्यन्तं गत्वा तुल्यतया
तच्छाखासु निविशति । यं कश्चिद्रा सर्वानुमत्या
पिण्डदातारम् । एवं श्लोकद्वयेन भेदो दण्डश्च
उक्तः । भेदावेव वा ॥३७॥

व्याख्यार्थ—अधिकारी ही याचना कर सकता है, जो पिण्ड देने वाला है, वह 'दाय' भाग लेने वाला होता है इतने समय तक सत्यभामा के सन्तान पैदा नहीं हुई थी और वह तो अपुत्र तथा उसका कोई भाई भी नहीं है, मणि तो उसकी थी, उस मणि के लेने के हकदार कन्या के पुत्र हैं वे लेवे,



इस विषय में साधारण नियम वा न्याय कहते हैं कि 'दायं तिनोय' धर्म शास्त्र में कहा है, यदि यों न्याय न होवे तो यह कार्य भी स्वतन्त्र हो जावे, कोई नीति वा मर्यादा न रहे, मातामह का धन कन्या के पुत्र लेवें, यह पूर्व से सम्बन्ध है, जब तक जीता है तब तक उसका हो है, मरने के बाद भी पुत्र न हो तो जल तर्पण पिण्ड आदि मृतक क्रिया कर और उसको जो देना हो वह सब देकर शेष बचे हुए धन को दौहित्र लेवे, किसी पुस्तक की प्रति में 'शेषभाक्' पाठ है जिसका आशय है कि वारस बनता है, धन लेता है, वह लेता है, वह उपरोक्त कार्य करने के बाद शेष धन ले लेवे न कि धन लेकर उसकी क्रिया न करे और न उसका ऋण उतारे, केवल द्रव्य ले लेवे, इस प्रकार शास्त्राज्ञा नहीं है। जिसके धन का कोई मालिक नहीं बनता है उसका मालिक राजा है, चोर को मारकर जो वस्तु मिले उसका भी मारने वाला सच्चा भागी नहीं है, वह द्रव्य नहीं ले सकता है, जो उत्पन्न हुआ है वह ही वारिस हो सकता है। जिसमें कुछ फरक पड़ गया है वैसी जातिवाला दायभागी नहीं होता है यों कोई कहते हैं। वास्तव में दाय (वारिस) कौन होता है ? इसका निर्णय करते हैं द्रव्य का स्वामी जब परलोक गामी होवे, उस स्वाधी के परम्परा से मूल शाखा पर्यन्त जाकर जांच की जावे कि उसकी शाखा में निकट कौन है जो समीप हो वह 'दाय' भागी होना चाहिये अथवा जो कोई भी सर्व की अनुमति से पिण्ड दान करे वह दायभागी हो सकता है, इस प्रकार दो श्लोकों से भेद और दण्ड कहा अथवा दो प्रकार दाय के बताये ॥३७॥

आभास—सामदाने आह तथापीति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—'तथापि' श्लोक से दो श्लोकों में 'सामदान' कहते हैं ।

श्लोक—तथापि दुर्धरस्त्वन्यस्त्वय्यास्तां सुव्रते मणिः ।

किन्तु मामग्रजः सम्यक् न प्रत्येति मणिं प्रति ॥३८॥

श्लोकार्थ—तो भी यह मणि अपने पास ही रहने दो; क्योंकि यह अन्यों के पास रहे, ऐसी नहीं है; किन्तु आपके पास रह सकेगी, कारण कि आप सुन्दर व्रत धारण करने वाले हैं, परन्तु बड़े भाई बलरामजी को इस मणि के विषय में हमारा विश्वास नहीं है ॥३८॥

सुबोधिनी—अन्यैर्दुर्धरोऽयमिति त्वय्येवास्ताम् । स हि लौकिके अलौकिको न तिष्ठति । य एव कर्मादिमार्गैः अपवृत्तौ लौकिकत्व न सम्पद्यते । अपवृत्तकर्मा लौकिको भवतीति कादाचित्कव्रतोऽपि समयभेदेन लौकिक एव । तर्हि मयि कथं तिष्ठेदित्याशङ्क्याह सुव्रत इति । सुष्ठु व्रत यस्य । त्वं हि सर्वदा नियतव्रतः । एवं दानमुक्त्वा

सामाह किन्त्विति । परमेकदा दर्शयस्व । साम हि समता, उभयोरैक्यम् । तथा सति यथा स्वकार्ये मणोर्विनियोगः, एवमस्मत्कार्येऽपि विनियोगो युक्त इति । अग्रदर्शनपक्षे अग्रजो बलभद्रः मणिं प्रति मणिविषये मां न सम्यक् प्रत्येति, किन्तु सकपटं मन्यते ॥३८॥



व्याख्यान—यह मणि दूसरे अपने पास रख नहीं सकते हैं, इसलिये यह आप के ही पास भले हो, क्योंकि लौकिक में, अलौकिक ठहर नहीं सकता है, जो अलौकिक, अपवृत्त कर्म आदि मार्गों से लौकिकपन को प्राप्त नहीं होता है, अपवृत्त कर्म वाला लौकिक होता है, (परन्तु) कभी कभी व्रत करने वाला भी समय भेद से लौकिक ही हो जाता है, जब यों है तो मेरे पास कैसे रह सकेगी इस शङ्का को निवृत्त करने के लिये कहते हैं कि आप सदैव नियम पूर्वक व्रत करते हो, इस प्रकार इसके व्रत कहने से दान का वर्णन कर अब साम का वर्णन करते हैं, साम का तात्पर्य है कि समता से कार्य की सिद्धि होती है इससे समता द्वारा अक्रूरजी को कहने लगे कि आपके पास पड़ी रहे, किन्तु एक बार ही दिखा दो, समता करने से दोनों में एकता बढ़ती है, एकता होने पर, जैसे आपके कार्य में मणि का उपयोग होता है, वैसे हमारे कार्य में भी उसका उपयोग होता रहेगा जो योग्य हो है, यदि आप न दिखाते हैं, तो मेरे बड़े भ्राता श्री दाऊजी मणि के विषय में मेरे ऊपर विश्वास नहीं करते हैं, किन्तु समझते हैं कि, मणि श्रीकृष्ण के पास है मुझ से छिपाता है, अतः एक बार मणि दिखाओ ॥३८॥

आभास—अतो यथा जाम्बवता अपकीर्तिनिराकरणार्थं मणिर्दत्तः, एवं त्वयापि प्रदर्शनीय इत्याह दर्शयस्वेति ।

आभासार्थ—अतः जैसे जाम्बवान् ने अपयश मिटाने के लिये मणि दी, वैसे आपको भी मणि दिखानी चाहिये—यह 'दर्शयस्व' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—दर्शयस्व महाभाग बन्धूनां शान्तिमावह ।

अव्युच्छिन्ना मखास्तेऽद्य वर्तन्ते रुक्मवेदयः ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे महाभाग ! मणि को दिखा दो, जिससे बान्धवों में शान्ति बना रखो, अब आपके सुवर्ण की वेदी पर अखण्ड यज्ञ हो रहे हैं ॥३९॥

सुबोधिनी—महाभागेति भाग्ये विद्यमाने मणिर्न गच्छतीति । अस्मद्विश्वासाभावेऽपि भाग्य-विश्वासो वा कर्तव्य इति भावः । अनेनान्योऽप्युपकारो भविष्यतीत्याह बन्धूनां शान्तिमावहेति । बन्धुषु मध्ये कलह उत्पन्नः । केचिन्मत्सङ्घट्टिनः, अपरे रामस्येति । प्रदर्शने तु सन्देहाभावात् न ।

कलहः । अव्युच्छिन्नोत्यर्धं विगीतमाहुः । मणिर-स्तोत्यत्र लौकिकं प्रमाणम् । काश्यादिषु रुक्मवे-दयः सुवर्णेषुकानिमित्ताग्निसहिताः मखाः द्वाद-शाहादयः अव्युच्छिन्ना निरन्तरं प्रवृत्ताः यतस्ते वर्तन्त इति ॥३९॥

व्याख्यान—आप बड़े भाग्य वाले हैं, जिससे मणि अन्यत्र जा नहीं सकती है, हम पर यदि विश्वास न आता है तो भाग्य पर तो विश्वास करो, महाभाग विशेषण देने का यह ही भाव है, मणि के दिखाने से दूसरा भी उपकार होगा, जैसे कि अब हम बान्धवों में मणि के कारण कलह उत्पन्न हो गया है, वह शान्त हो जायेगा, कितने मेरे पक्ष पाती हैं और कई बलराम जी का पक्ष ले बैठे हैं, मणि देखने पर वह सन्देह मिट जायेगा, तो कलह भी न रहेगा, मणि आपके पास है ही, इसमें



लौकिक प्रमाण है, वह प्रमाण यह है कि इस समय सुर्वण की ईंटों से निर्मित वेदियों पर साग्निक द्वादशाह्वादियज्ञ निरन्तर चल रहे हैं, यदि आपके पास मणि न होती तो ऐसे यज्ञ आप नहीं करा सकते ॥३६॥

आभास—एकेनाप्युपायेन स इष्टं कुर्यात्, किमुत चतुर्भिरिति स भगवदुक्तं कृत-
वानित्याह एवं सामभिरिति ।

आभासार्थ— एक ही उपाय से जब वह अपना कार्य सिद्ध कर देवे तो चार उपायों को काम में क्यों लिया 'एवं सामभिः' श्लोक से कहते हैं कि अक्रूर ने भगवान् ने जैसे कहा वैसे किया ।

श्लोक—एवं सामभिरालब्धः श्वफल्कतनयो मणिम् ।

आदाय वाससा च्छन्नं ददौ सूर्यसमप्रभम् ॥४०॥

श्लोकार्थ— इस प्रकार अक्रूरजी को साम वचनों से समझाया, तब श्वफल्क के पुत्र सूर्य के समान प्रभाववाली मणि को वस्त्र से लपेट कर ले आए और भगवान् को दी ॥४०॥

सुबोधिनी— सामशब्देन भेददण्डदानान्यपि संगृह्यन्ते । पर्यवसितं सामैवेति तदेवोक्तम् । आलब्धः स्पृष्टः मारित इव लज्जितः वशीकृतश्च । श्वफल्कतनयो महतः पुत्रः । भगवते वाससा च्छन्नं सूर्यसमप्रभं ददौ । आदायेत्यनेन अन्यतो ग्रहणं लक्ष्यते । अर्थात् कृतवर्मणः स्थाने तत् स्थितमिति लक्ष्यते । प्रत्यक्षदाने लज्जा भवतीति वाससा

च्छन्नं ददौ । तथैव स्थापितमिति ज्ञापयितुम् । अन्यथा तज्जनितं सुवर्णमपि निवेदनीयं स्यात् । तेन प्रदर्शनार्थं न दत्तम्, किन्तु सर्वथैव दत्तमिति दानप्रकारादवसीयते । सूर्यसमप्रभमिति दाने दातुर्ग्रहीतुश्च प्रत्यक्षतो दर्शनमपि न भवेदिति सूचितम् । अनुग्रहतशक्ति वा ॥४०॥

व्याख्यानार्थ— यहाँ 'सामभिः' बहुवचन से भेद दण्ड, दान का भी ग्रहण किया जाता है, किन्तु साम से ही कार्य हो गया है जिससे वह ही कहा है—'आलब्ध' पद का भावार्थ कहते हैं कि साम के शब्दों ने जब हृदय का स्पर्श किया तब अक्रूर मरे की तरह लज्जित हुआ और वश में हो गया, अक्रूर साम से ही ऐसा क्यों हुआ ? इस पर कहते हैं कि महान् श्वफल्क का पुत्र है, जिससे एक कथन से समझ गये, वस्त्र से आच्छादित, सूर्य के समान प्रभाववाली मणि भगवान् को दी, 'आदाय' पद से जाना जाता है अन्य स्थान से लाया है, अर्थात् कृतवर्मा के घर यह मणि रखी थी, वहाँ से ले आया, यों समझ में आता है, प्रत्यक्ष देने में लज्जा आती थी इसलिये कपड़े में लपेट कर दी,

उसी तरह रखी थी यह जताने के लिये भी, यदि वस्त्र से आच्छादित मणि न दे तो उससे प्राप्त किया हुआ सुवर्ण भी देना पड़े। इससे दिखाने के लिये तो नहीं दिया, परन्तु सर्वथा ही सर्व दिया यह दान के प्रकार से जाना जाता है, मणि की प्रभा सूर्य के समान थी, यदि खुली मणि देता तो दान करने वाले और लेने वाले के प्रत्यक्ष दर्शन हो जाते वे न हो दान गुप्त हो इसलिये वस्त्र से लपेट कर दी यह भी आशय था, अथवा अनुपहत शक्ति को ॥४०॥

आभास—भगवांस्तु प्रतिदानार्थमेव गृहीतवानिति कार्यं कृत्वा तस्मै दत्तवानित्याह स्यमन्तकमिति ।

आभासार्थ—भगवान् ने तो फिर लौटाकर देने के लिये ली थी इसलिये कार्य पूराकर उसको दे दी, यह 'स्यमन्तक' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—स्यमन्तकं दर्शयित्वा ज्ञातिभ्यो रज आत्मनः ।

विमृज्य मणिना भूयस्तस्मै प्रत्यर्पयद्विभुः ॥४१॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने अपने ज्ञाति बान्धवों को मणि दिखलाकर अपना कलङ्क मिटाया, पश्चात् उसको लौटा दी ॥४१॥

सुबोधिनी—ज्ञातिभ्यो गोत्रजेभ्यो विवदमानेभ्यः । आत्मनो रजोऽपकीर्तिं विमृज्य मार्जयित्वा । अनेनाग्रिमकार्ये लेपदानाविव पूर्वरङ्गः कृत इति लक्ष्यते । भगवति दोषारोपाभावे हि सर्वे उद्धतुं

शक्या इति । अतः स्वकार्यं कृत्वा तस्मै प्रत्यर्पयत् । भूय इत्यनेन पूर्वमपि सत्यभामास्थानीयं मणि दत्तवानिति लक्ष्यते । विभुः समर्थः । तस्मै दत्त्वापि तं दण्डयितुमिति । अपेक्षाभावाद्वा ॥४१॥

व्याख्यानार्थ—निन्दा करने वाले गोत्र वालों को तथा ज्ञाति वालों को मणि दिखाकर, अपनी अपकीर्ति मिटाई इससे आगे के कार्य में भोजन तथा दान की भाँति पहला नाट्य किया यों लक्षित होता है, जब भगवान् में दोषी के आरोपन का अभाव हो अर्थात् भगवान् निर्दोष हैं तब सर्व का उद्धार हो सकता है, अतः अपना कार्य पूर्ण कर मणि उसको लौटा दी, 'भूयः' पद देने का भाव है कि पहले भी सत्यभामा के स्थान में रखी हुई मणि लौटा दी थी, आप 'विभुः' अर्थात् सर्व समर्थ हैं उसको दण्ड देने के लिये भी देकर यह लीला की, अथवा आपको अपेक्षा नहीं होने से यों किया ॥४१॥

आभास—एवमध्यायद्वये लौकिकी भाषा निरूपितेति साक्षादुपयोगाभावात् श्रवणे फलमाह यस्त्वेतदिति ।



आभासार्थ—इस प्रकार दो अध्यायों में लौकिकी भाषा का निरूपण किया, इस प्रकार साक्षात् उपयोग के अभाव से श्रवण मात्र से जो फल प्राप्त होता है वह 'यस्त्वेतत्' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—यस्त्वेतद्भगवत ईश्वरस्य विष्णो-

र्वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमङ्गलं च ।

आख्यानं पठति शृणोत्यनुस्मरेद्वा

दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिम् ॥४२॥

श्लोकार्थ—जगदीश्वर भगवान् विष्णु के वीर्य (पराक्रम) युक्त, पाप नाशक और मङ्गल रूप चरित्र को जो पढ़ता है, सुनता है और स्मरण करता है, वह अपयश, पाप को नष्ट कर शान्ति को प्राप्त होता है ॥४२॥

सुबोधिनी—एतदाख्यानम् । अत्राख्याने त्रिविधा लीला वर्तत इति ज्ञापयितुं भगवतो नामत्रयम् । भगवत्त्वाच्छास्त्रार्थत्वम्, ईश्वरत्वादावश्यकत्वम्, विष्णुत्वात्पापनाशकत्वमिति । चरित्रेऽपि गुणत्रयमाह वीर्याढ्यं वृजिनहरं सुमङ्गलं चेति । भक्तिजनकं पापनाशकं पुण्यसम्पादकं च । चकाराज्ज्ञानप्रदम् । तत्र क्रियामपि त्रिविधामाह पठति शृणोत्यनुस्मरेद्देति । श्रवण-

कीर्तनस्मरणानि विकल्पेन विधीयन्ते । समुच्चयेन च । चकारादन्येषु फलेषु विकल्पः, भक्तौ समुच्चय इति । पूर्वमुक्तं फलमपि त्रिविधमाह दुष्कीर्तिं दुरितमपोह्य याति शान्तिमिति । दुष्कीर्तिर्बाह्या । दुरितमान्तरम् । दोषद्वयं परिहृत्य लयविक्षेपजनकाभावात् शान्तिं मनसः समवस्थानं ज्ञानं वा यातीति भक्त्यङ्गत्वेनैतच्छ्रोतव्यमिति निरूपितम् ॥४२॥

इति श्रीभागवतसुबोधिण्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धेऽष्टमोऽध्यायः ॥८॥

ध्याख्यार्थ—यह इतिहास है, इसमें तीन प्रकार की लीला है, यह जताने के लिये भगवान् के तीन नाम दिये हैं, जैसे कि भगवान् नाम से यह बताया है कि शास्त्रों का अर्थ यही है, ईश्वर नाम से यह कहा है कि इनका होना आवश्यक है, विष्णु नाम से कहा है कि पाप नाशक हैं, इस प्रकार चरित्र में भी तीन गुण हैं, जैसे कि एक वीर्ययुक्त, दूसरा पाप नाशक और तीसरा मङ्गल रूप है, जिससे एक भक्ति उत्पन्न करता है, दूसरा पाप नाश करता है और तीसरा पुण्य को इकट्ठा करता है, 'च' कहने का यह भाव है कि चरित्र ज्ञानप्रद भी है क्रिया भी तीन प्रकार की है पढ़ना, सुनना और स्मरण करना, श्रवण, कीर्तन तथा स्मरण इन तीन में से कोई एक भी करे अथवा 'च' से यह बताया है कि दोनों को करे, च शब्द से यह ध्वनि भी निकलती है कि अन्य फलों में तो विकल्प है किन्तु भक्ति में विकल्प नहीं है किन्तु समुच्चय है पहले कहा हुआ फल भी तीन प्रकार का है, जैसे कि अपकीर्ति और पाप के नष्ट होने से शान्ति प्राप्त होती है, अपयश, मिटना बाह्य फल है, पाप नाश होना आन्तर फल है, इन दोनों बाह्य तथा आन्तर फलों की प्राप्ति से समझना चाहिये कि दो दोष नष्ट



हुए, अनन्तर लय विक्षेप को उत्पत्ति नहीं होती है, तब मनुष्य शान्ति को प्राप्त करता है जिससे मन निरुद्ध होता है, अथवा ज्ञान हो जाता है, इससे यह निरूपण किया है कि श्रवणादि भक्ति के अङ्ग-रूप से करना चाहिये ॥४२॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध (उत्तरार्ध) ५४वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-फल

श्रवान्तर प्रकरण का पहला अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित हरि लीला का श्रवणाह्न निम्न पद से करें

राग सारंग

शुकदेव कहत सुनौ राजा ।

ज्ञानी लोभ करत नहिँ, लोभ बिगारत काजा ॥

करि कै लोभ अमृत जो पीवै, विष समान सो होई ।

विष अमृत होइ जाई, लोभ बिनु यह जानत जन कोई ॥

एक समै जदुपति श्री हलधर, पांडव गृह पग घारे ।

सतघन्वा अरु सुफलक सुत मिलि, कीन्हो मंत्र बिचारे ॥

सत्राजित को हति मणि लीजै, ज्यो जानै नहि कोई ।

ऐसौ समय बहुरि फिरि नाही, पाछे होइ सु होई ॥

निसि अधियारी जाइ सुघन्वा, ताहि मारि नणि ल्यायो ।

फैलि गई यह बात नगर में, तब मन में पछितायो ॥

सतिभामा करि सोक पिता को, जदुपति पास सिघाई ।

सतघन्वा करतूति करी सो, हरि को जाइ सुनाई ॥

सुनि जदुपति हलधर उठि घाए, ने कु विलंब न लाई ।

लै है बैर पिता तेरे को, जै है कहाँ पराई ॥

तब मणि डारि अक्रूर पास वह मिथिलापुर को घायो ।

सत जोजन मग एक दिवस में, तुरंग ताहि पहुँचायो ॥

द्वारावति पैठत हरि सौ सब, लोगनि कह्यो जनाई ।

मिथिलापुरी जाइ तिहिँ मारचौ, पै मणि उहाँ न पाई ॥

तब हरि कह्यो हत्यो बिन दूषन, हलवर भेद बतायो ।

ह्वाँ पुनि जाइ खोज तुम कोजो, द्वारावति हरि घायो ॥

हलधर रहे गदा जुघ सोखन, हरि द्वारावति आए ।

सतिभामा मन हरष भयो जब, समाचार ये पाए ॥

सुफलक सुत मन ही मन सकुच्यो, करौ कहा अब काजा ।

देत न बने बने नहिँ राखत, डर डरात उठि भाजा ॥

सब जादौ मिलि हरि सौ यह कह्यो, सुफलक सुत जहँ होई ।

अनावृष्टि अतिवृष्टि होति नहिँ, यह जानत सब कोई ॥

कीजै दोष छमा अब ताको, हरि तब ताहि बुलायो ।

कह्यो कहा कहियँ अब तुमसौ, तिन सिर नीचो नायो ॥

पुनि कह्यो मणि सतिभामा को दै, जाते भय भयो तोहिँ ।

मति उन दई बहुरि तिहिँ दोन्हो, कह्यो लोभ नहिँ मोहिँ ॥

लोभ भली नहिँ दोऊ पुर में, लोभ किएँ पति जाई ।

सूर लोभ कीन्हो सो बिगोयो, शुक यह कहि समुझाई ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेश्वर्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार १८वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ११वाँ अध्याय
उत्तरार्ध का ६वाँ अध्याय

राजस-फल-अवान्तर प्रकरण

“द्वितीय अध्याय”

भगवान् श्रीकृष्ण के अन्यान्य विवाहों की कथा



कारिका—नवमे पञ्चकन्यानां विद्यापर्वस्वरूपतः ।

विवाहः प्रोच्यते सम्यक् कृष्णोनाशेषमुक्तये ॥१॥

कारिकार्थ—नवम अध्याय में विद्या के पाँच पर्वों के स्वरूप रूप पाँच कन्याओं से विवाह कहा है; क्योंकि श्रीकृष्ण को सर्व की मुक्ति करनी है ॥१॥

कारिका—मायासम्बन्धदोषेण क्रोधः कामस्तथापरः ।

निराकृतः सर्वमुक्त्यै विद्याफलमतः परम् ॥२॥

कारिकार्थ—(१) माया^१ से सम्बन्ध होने के कारण काम, क्रोध तथा लोभ तीन



दोष प्राप्त होते हैं, तो माया रूप रुक्मिणी के सम्बन्ध से भगवान् में भी ये दोष आए होंगे ? जिनका निवारण किया गया है, पहला दोष पुत्रादि कामना उत्पन्न होती है, वह भी भगवान् में उत्पन्न नहीं हुई है; क्योंकि यदि पुत्र कामना होती तो नारद आदि सर्व की सम्मति के बिना स्वयं ले लेते, किन्तु स्वतः ही ग्रहण न करने से आपने अपने में कामना का न होना सिद्ध किया है । (२) दूसरा दोष क्रोध का उद्भव होता है, वह भी आप में नहीं है, यदि क्रोध होता तो जाम्बवान् पर कृपा न करते कृपा कर अपने में क्रोध का अभाव सिद्ध किया है । (३) दोष लोभ होता है, उसका भी आप में अभाव है, यदि लोभ होता तो मणि स्वयं लेते, वह आपने नहीं ली, जिससे अपने में निर्लोभता सिद्ध कर दिखाई है । इस प्रकार की लीला द्वारा तीनों दोषों का निराकरण कर अनन्तर सबकी मुक्ति के लिए विद्या रूप फल का दान किया है ॥२॥

कारिका—त्रैलोक्यसुखदानं च मायादोषनिवारणम् ।

द्वाभ्यां तथैव सर्वेषां राजसे पूर्णता ततः ॥३॥

कारिकार्थ—तीन लोकों में जो सुख है, उसका दान दशम^१ अध्याय में और रुक्मिणी^२ के दोषों को दो अध्यायों^३ से अनन्तर ही सबकी राजसे में पूर्णता हुई ॥३॥

कारिका—विद्यायाः सूर्यमुख्यत्वात्प्रथमा दुहिता रवेः ।

विपक्षनिग्रहात्मत्वात् द्वितीया सोमवंशजा ॥४॥

कारिकार्थ—सूर्य के मुख्यपन से सूर्य की कन्या कालिन्दी जो ज्ञान रूप है, उसको प्रथम ग्रहण किया, विपक्ष को निग्रह करने वाली होने से सोमवंश में उत्पन्न तपस्या रूप मित्रविन्दा को स्वीकार किया, भक्तों को ध्यान में रखकर ही ज्ञान मार्ग को अङ्गीकार किया है, कारण कि भक्त ही भगवत्स्वरूप आदि का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं, अतः गीता में कहा है कि 'भक्त्यामामभिजानाति यावात् य इचास्मित त्वतः' मैं वास्तव में जो हूँ और जैसा हूँ, उसको भक्ति से ही पूर्णतया मनुष्य जान सकता है,

१- अध्याय दो में, २- माया के,

३- पहले में आन्तर दोष और दूसरे में बाह्य दोष रुक्मिणी का निवारण किया पश्चात् सबका दोष भी उसी प्रकार दो से निवारण किया ।



अतः भक्त ही ज्ञान प्राप्त कर सकता है, जिससे ही भगवान् ने ज्ञान मार्ग को अपनाया है, जिनमें भक्ति नहीं है, वे ज्ञान मार्ग के अधिकारी नहीं हैं, मेरे स्वरूप का नहीं समझ सकते हैं, अतः उनके उद्धार के लिए तपोरूप मित्रविन्दा की अङ्गीकृति से तपो-मार्ग स्वीकार किया है ॥४॥

कारिका—मार्गद्वयं हितार्थाय द्वयं स्वीकृतवान् हरिः ।

भक्तानभक्तानालक्ष्य तृतीया सूर्यवंशजा ॥५॥

भक्तिरूपा प्रयत्नेन याचयित्वा स्वयं गतः ।

व्यसनानि निराकृत्य तदुद्वाहं चकार ह ॥६॥

कारिकार्थ—ज्ञान और तपोमार्ग दोनों हितकर हैं, अतः हित के लिए दोनों^१ को स्वीकार किया है, भक्त तथा अभक्त दोनों के हित को ध्यान में रखकर सूर्यवंश में उत्पन्न इस तीसरी भक्ति रूपा से आपने जाकर रुकावटों को दूर कर माँग कर विवाह किया ॥५-६॥

कारिका—अग्रे बाधास्तु भक्तेन ह्यर्जुनेन निराकृताः ।

ज्ञानभक्तयोरतो भूयान् पर्वणोरुद्यमः कृतः ॥७॥

कारिकार्थ—आगे जो रुकावटें हुई, वे अर्जुन ने दूर की हैं, अतः भगवान् ने विद्या के दो पर्व ज्ञान और भक्ति की स्वीकृति के लिए बहुत उद्यम किया । यहाँ ज्ञान रूप पर्व कालिन्दी और नागजिती भक्ति रूप पर्व है ॥७॥

कारिका—धर्मस्नेहौ तयोरङ्गं मध्यमो लौकिकः स्मृतः ।

द्वयोः स्वतन्त्रतासिद्ध्यै जीवानां तु ततो द्विधा ॥८॥

कारिकार्थ—कालिन्दी और नागजिती के विवाह के धर्म और स्नेह अङ्ग हैं अर्थात् कालिन्दी ने विष्णु को वरण योग्य समझ धर्म बुद्धि से विवाह किया तथा नागजिती ने स्नेह से भगवान् को वरा, मित्रविन्दा का विवाह लौकिक भावयुक्त होने के

१- ज्ञानरूप कालिन्दी और तपोरूप मित्रविन्दा को ।

निबन्ध में लक्ष्मणा को भक्तिरूप और नागजिती को योगरूप कहा है, वह विकल्प है ।



कारण मध्यम कोटिका है, ज्ञानी और भक्त दोनों स्वतन्त्र हैं । उनकी स्वतन्त्रता सिद्ध करने के लिए मध्य में मित्रवृन्दा का लौकिक भाव विवाह कह कर दोनों विवाहों का भाव पृथक्-२ है, यह बताया है, इससे यह भी प्रकट किया कि जीव मुख्य दो प्रकार के हैं ॥८॥

कारिका—भक्तज्ञानफले कृष्णः पुंसां स्त्रीणां चकार ह ।

अतो दत्तां स्वयं दत्तामक्लेशक्लेशभावनात् ॥९॥

कारिकार्थ—अनन्तर श्रीकृष्ण ने योग और साङ्ख्य दोनों का पुरुष तथा स्त्रियाँ दोनों में दान किया, अतः पिता ने दी । जो साङ्ख्य रूप भद्रा को बिना क्लेश प्राप्त किया, स्वयंवर में स्वयं प्राप्त योगरूप लक्ष्मणा को युद्धादि क्लेश के अनन्तर प्राप्त किया है । यहाँ नाग्नजिती^१ को भक्तिरूप कहने से लक्ष्मणा^२ को योगरूपत्व है, यों समझना चाहिए ॥९॥

कारिका—उपयेमे स्वयं कृष्णस्तासु सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

ततः सर्वकलामिस्तु हरिः पूर्णो निरूप्यते ॥१०॥

कारिकार्थ—स्वयं श्रीकृष्ण ने इनसे विवाह किया है, इसलिए उनमें सर्व प्रतिष्ठित हुआ है, इस कारण से हरि सर्व कलाओं से पूर्ण हरि का निरूपण किया जाता है ॥१०॥

कारिका—सषष्ठो भगवानेवं निःसन्दिग्धो निरूपितः ॥१०३॥

कारिकार्थ—इस प्रकार पाँच विद्या और छठा आप स्वयं होने से भगवत्स्वरूप का यहाँ निःसंदिग्ध रूप से वर्णन हुआ है ॥१०३॥

— इति कारिका सम्पूर्णा —

आभास—तत्र प्रथमविवाहे तत्त्वानि भगवांश्च व्यापृत इति नवविंशतिश्लोकैर्विवाहो निरूप्यते । तत्र भक्तिकर्मणी ज्ञाने अङ्गभूते इति निरूपयितुं द्वादशभिर्भक्ति पञ्चभिः



कर्म च निरूपयति । ततो भक्तद्वारा दशभिस्तद्ग्रहणम्, प्रसङ्गाद्भक्तोपकारश्च । भक्तोद्धारार्थं यतमान एव ज्ञानशक्तिं गृह्णातीति वक्तुं पाण्डवानां स्थानं भगवान् गत इत्याह एकदेति ।

आभासार्थ—वहाँ प्रथम विवाह में २८ तत्व और एक आप व्यापार वाले हैं, इसलिये उनतीस श्लोकों में विवाह का निरूपण किया जाता है । भक्ति और कर्म ज्ञान के अङ्ग हैं, यों निरूपण करने के लिये १२ श्लोकों से भक्ति का तथा पांच श्लोकों से कर्म का निरूपण करता है । पश्चात् भक्त द्वारा दश से उनका ग्रहण होता है और प्रसङ्ग से भक्तों के उपकार का वर्णन होता है । भक्तों के उद्धार के लिये ही, प्रयत्न करने वाले ही ज्ञान शक्ति को ग्रहण करता है, यों कहने के लिये भगवान् पाण्डवों के स्थान पर पधारे, जिसका वर्णन 'एकदा' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं कि,

श्लोक—श्रीशुक उवाच—एकदा पाण्डवान् द्रष्टुं प्रतीतान् पुरुषोत्तमः ।

इन्द्रप्रस्थं गतः श्रीमान् युयुधानादिभिर्वृतः ॥१॥

श्लोकार्थ—एक समय पाण्डवों को आए हुए निश्चित रूप से जानकर, आप श्रीमान् पुरुषोत्तम सात्यकि आदि के साथ उनको देखने के लिए इन्द्रप्रस्थ पधारे ॥१॥

सुबोधिनी—प्रतीतान् निश्चितान् राधावेधे वा दृष्टान् । तथापि तत्र तदा न प्रकटीभूता इति पश्चाद्गतः । प्रतीतिस्तु सन्देहाभावायैव । लोके प्रज्ञातान् । पुरुषोत्तम इति तान् सर्वान् पुत्रत्वेन निरूपयति । तेनावेक्षार्थं गमनं युक्तमेव । इन्द्रप्रस्थे तावता तैः स्थानं लब्धम्, नारदोपदेशतः भीष्मादिभिरेव दत्तम् । ननु तदानीमेव तत्र गताः पाण्डवा असाधनाश्च स्वार्थमेव सामग्रीरहिताः किं भगवदर्थे सम्पादयिष्यन्तीत्याशङ्क्याह श्रीमा-

निति । स्वयमेव सर्वसाधनलक्ष्मीयुक्तः । तेषां साधनसम्पादनार्थमेव गतः । अतएव महाशूरैः सुबुद्धिभिर्युयुधानादिभिर्वृतः । युयुधानः सात्यकिः । स तत्राजुर्निशिष्यो भविष्यति । भगवांश्च विश्वकर्मादिभिर्गृहादिकं सम्पादयिष्यतीति । एतदर्थं भगवद्गमनम् । बहुपुरुषैः सम्पादितगृहतुल्यम्, अन्यथा, तद्गृहं न भवेत् । उत्कर्षश्च सम्पादनीयः ॥१॥

व्याख्यार्थ—लाक्षा भवन से निकलकर द्रुपद के यहाँ त्रधन्विचित्रविशेष के बीधने के समय देखने में आये, किन्तु उस समय वहाँ प्रकट न हुए इसलिये उस समय न जाकर जब इन्द्र प्रस्थ आये है यह निश्चय हुआ तब वहाँ पधारे । द्रुपद के यहाँ जो उन की प्रतीति हुई वह तो लाक्षा भवन में जलने के संदेह को मिटाने के लिये ही थी लोक में प्रसिद्ध हो गया कि पाण्डव आ गये हैं । 'पुरुषोत्तम' नाम देने का भावार्थ यह है कि इन सब को पुत्र रूप से ही जानते व मानते हैं, अतः उनको देखने के लिये पधारना उचित ही है । भगवान् के पधारने से प्रथम ही नारद के उपदेश से भीष्म आदि ने उनको निवास के लिये स्थान दिया था । भगवान् पाण्डवों के पास पधारे किन्तु वे अब ही वहाँ आये



हैं और सब अपने लिये भी सामग्री के लिये विचार में हैं अर्थात् उनके लिये अपने लिये भी सामग्री नहीं है, वे भगवान् के स्वागत के लिए सामग्री कहाँसे लायेंगे? इसके उत्तर में कहते हैं कि श्रीमान आप स्वयं सर्व साधन और लक्ष्मी वाले हैं और वहाँ जाने का कारण ही यह है कि वहाँ जाकर उनको सर्व प्रकार सम्पन्न करूँ। इसलिये ही महान् वीर युयुधान् आदि को साथ में लिये हैं। वह वहाँ अर्जुन का शिष्य बनेगा और भगवान् विश्वकर्मा आदि से गृह आदि सिद्ध कराएँगे इस वास्ते ही भगवान् का वहाँ पधारना हुआ है। वह गृह बहुत पुरुष बनावे वैसा सुन्दर गृह बना, यो न होता तो वह गृह ही कहने में न आता। गृह का उत्कर्ष ही सम्पादन करना चाहिये ॥१॥

आभास—एवं भक्तार्थं भगवद्गमने भक्तानां कृत्यमाह दृष्ट्वा तमागतमिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—भगवान् जब इस प्रकार भक्तों के लिये पधारते हैं तब 'दृष्ट्वा तमागतं' दो श्लोकों में भक्तों के कर्तव्य कहते हैं ।

श्लोक—दृष्ट्वा तमागतं पार्था मुकुन्दमखिलेश्वरम् ।

उत्तस्थुर्गुणपद्वीराः प्राणा मुख्यमिवागतम् ॥२॥

परिष्वज्याच्युतं वीरा अङ्गसङ्गहतेनसः ।

सानुरागस्मितं वक्त्रं वीक्ष्य तस्य मुदं ययुः ॥३॥

श्लोकार्थ—सकल के ईश्वर भगवान् को पधारते हुए देख, पाण्डव एक साथ यों उठ खड़े हुए, जैसे प्राणों को पाकर इन्द्रियाँ सचेत हो जाती हैं ॥२॥

वीर पाण्डव अच्युत भगवान् से आलिङ्गन कर मिले, इस प्रकार भगवान् के श्री अङ्ग के स्पर्श से जिनके पाप नष्ट हो गए हैं, वे अनुराग सहित मुसक्यान वाले उस भगवान् के मुखारविन्द को देख आनन्द को प्राप्त हुए ॥३॥

सुबोधिनी—आगमनसम्भावनापि न स्थिता । अकस्मादागत एव पार्थाः स्वयं राजानः पृथायाः भक्तायाः पुत्राः । अत एवाग्रे तस्या भक्ति वक्ष्यति त्रिभिः । भगवांश्च मुकुन्दः । अनेनेष्टो निरूपितः । अखिलेश्वरत्वादावश्यकः । अतो गुणपदेव सर्वे

उत्तस्थुः । वीरा इति तेषां स्वधर्मो निरूपितः । अन्यस्तु भगवत्परो न भवतीति । स्वतः परम्परा-तश्च उत्तमाः भगवति परं स्नेहं प्राप्तवन्त इति दृष्टान्तेनाह प्राणा मुख्यमिवागतमिति । इन्द्रियाण्या सन्यमागतमिव । तेषां तन्मूलकमेव सर्व-



मिति । एवं सर्वात्मना तदीयत्वमुपपाद्य तादृशान् कर्तव्यमाह परिष्वज्येति । भगवदालिङ्गनं निरन्तरमेव स्थास्यतीति अच्युतमिति । भगवत्स्तथा-त्वज्ञानं स्वधर्मदेवेति वक्तुं पुनर्वीरा इति । अङ्गसङ्गेनैव हतमेनो येषाम् । उत्तरार्थं पापक्षयः

आनुषङ्गिको जात इति निरूपितम् । अतएव भगवतः सानुरागस्मितं वक्त्रं दृष्ट्वा तदेव पुरुषार्थत्वेन मन्यमानाः मुदं ययुः । एतावदेव भक्त-कार्यम् ॥३॥

व्याख्यानार्थ - आने की सम्भावना भी न थी, अचानक ही पधार गये हो, भक्त पृथा के पुत्र पाण्डव स्वयं राजा थे, अतएव आगे उनकी भक्ति का वर्णन तीन से होगा, भगवान् का नाम 'मुकुन्द' देने से यह बताया है कि आप पाण्डवों को इच्छित देने वाले हैं वा देने के लिये आये हैं, अखिलों के ईश्वर हैं, इसलिये यों करना आपको आवश्यक है, अतः सहसा सब उठ खड़े हो गये, यों उठने से अपना आपके प्रति परम स्नेह व आदर प्रकट किया है, 'वीर' विशेषण से उनका यह स्वधर्म है, यह निरूपण किया, अन्य तो भगवान् के परायण नहीं होता है, स्वयं परम्परा से जो उत्तम होते हैं, वे ही भगवान् से परम स्नेह करते हैं, दृष्टान्त से इसको समझाते हैं, जैसे प्राण इन्द्रियादि, मुख्य आसन्य प्राण के आने से प्रसन्न हो सचेत हो उनसे स्नेह करती हैं, क्योंकि उनकी^१ सब (कुछ) को जड़ वही है, इस प्रकार सर्वात्मभाव से उनका तदीयपन सिद्ध कर, उनका^२ कर्तव्य कहते हैं कि भगवान् का आलिङ्गन किया, यह आलिङ्गन सर्वदा ही रहे इसलिये भगवान् का नाम यहाँ 'अच्युत' दिया, 'वीरा' दूसरी बार देने का भाव यह है कि, भगवान् जैसा ही ज्ञान, स्वधर्म पालन से ही हाता है ये पाण्डव स्वधर्म पालते हैं इसलिये 'वीर' हैं जिससे भगवान् का इनको इस प्रकार ज्ञान हो गया है, इनके पाप तो भगवान् के श्री अङ्ग के स्पर्श मात्र से नष्ट हो गये हैं, उत्तर के लिये पाप क्षय आनुषङ्गिक फल हुआ है, इसलिये निरूपण किया है, अतएव भगवान् का अनुराग सहित मुसक्यान वाले मुरबाविन्द को देखकर उसको ही पुरुषार्थ मानते हुए आनन्द को प्राप्त हुए, इतना ही भक्तों का कार्य है ॥२-३॥

आभास—ततो लौकिकं भगवान् कृतवानित्याह युधिष्ठिरस्येति ।

आभासार्थ—अनन्तर भगवान् लौकिक करने लगे, जिसका वर्णन 'युधिष्ठिरस्य' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—युधिष्ठिरस्य भीमस्य कृत्वा पादाम्बिवन्दनम् ।

काल्पनं परिरभ्याथ यमाभ्यां चाम्बिवन्दितः ॥४॥

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर तथा भीम के चरणों में पड़कर आपने प्रणाम किया, अर्जुन से आलिङ्गन के साथ मिले, बाद में नकुल सहदेव ने आपको प्रणाम किया ॥४॥



सुबोधिनी—अन्यथा शत्रुमारणादिकं न कुर्युः । तत उत्कर्षश्च न स्यात् । अतो व्यामोहार्थं स्वयमात्मानं लौकिकं प्रदर्शितवान् । युधिष्ठिर-भीमो ज्येष्ठौ । अर्जुनः समः । अन्यो कनिष्ठो । ज्येष्ठयोर्नमस्कारः । समस्यालिङ्गनं सम्भाषणं च ।

अन्ययोर्नमस्कारान्तरमाशिषः । तदुक्तं क्रमेणैव । पादाभिवन्दनादाचारो निरूपितः सम्बन्ध-कृतः । अथ यमाभ्यामिति वा, समानकालेऽपि सम्भवतीति धर्मव्यवस्थां निरूपयितुमानन्तर्यमुक्तम् । आन्तरोऽयं सुहृदिति ज्ञापयितुम् ॥४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् यदि इस प्रकार स्वत्व प्रदर्शित न करते तो शत्रु नाश आदि कार्य नहीं करें, न करने से इनकी बड़ाई भी न होवे, अतः व्यामोह में डालने के लिये अपने को आप ही लौकिक दिखाने लगे, युधिष्ठिर तथा भीम आप से बड़े हैं, अर्जुन समान है, दूसरे दो छोटे हैं, बड़ों को नमन करना चाहिये समान से आलिङ्गन तथा बातचीत, छोटों के नमन होने के अनन्तर उनको आशीर्वाद देनी चाहिये, वह क्रम से ही कहा गया है, बड़ों के पैरों में पड़ प्रणाम करना, यों कहकर सम्बन्ध से जो सदाचार है, वह निरूपण किया है । 'यमाभ्यां' पद से नकुल और सहदेव का जन्म समान काल में भी हो सकता है, यों धर्म व्यवस्था का निरूपण करने के लिये आन्तर भी कहा है, यह आन्तर 'सुहृद' सिद्ध कर जताने के लिये कहा है ॥४॥

आभास—तदानीमर्जुनेनोढाया नमस्कारमाह परमासन आसीनमिति ।

आभासार्थ—उस समय, अर्जुन से विवाही हुई ने आकर नमस्कार किया, जिसका वर्णन 'परमासन' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—परमासन आसीनं कृष्णा कृष्णमनिन्दिता ।

नवोढा व्रीडिता किञ्चिच्छनेरेत्याभ्यवन्दत ॥५॥

श्लोकार्थ—नव विवाहित, निन्दारहित द्रौपदी ने लज्जा से धीरे-धीरे आकर बड़े आसन पर विराजमान श्रीकृष्ण को नमस्कार किया ॥५॥

सुबोधिनी—अनेन सर्वपूजानन्तरं पश्चादास्येनात्मनिवेदनं कुर्वाणोऽयं समगतेति सूचितम् । आसीनमव्यग्रम् । तस्यां कृपादृष्ट्यर्थमुक्तम् । एतदर्थं तस्याः सनामत्वेन योग्यतामाह कृष्णेति । 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इति भगवान् कृष्णः पञ्चात्मकः । शब्दार्थशक्तिभक्तकीडाधारभूतः । अतो व्यासो भगवान् कालिन्दी अर्जुनो द्रौपदी

चेति । नन्वेषा परिग्रहाधिक्याद्दुष्टा कथमेव प्रपन्ना, तत्राह अनिन्दितेति । दोषो नास्त्येव । निन्दापि नास्तीति । सम्बन्धाभावाच्च तथेत्याह नवोढेति । विधिसम्बन्धाद्वा । अत एव किञ्चिद्व्रीडिता । ह्रीस्वभावोऽपि शनैरागमनं धाष्ट्याभावं सूचयति ॥५॥

व्याख्यार्थ - इससे यह सूचित किया कि सब की यथा योग्य पूजा होने के अनन्तर दास्य भाव से मानो आत्मनिवेदन करने के लिये आई 'आसीनम्' पद भावार्थ बताते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि भगवान् उस समय व्यग्र नहीं थे, व्यग्रता न होने का कारण यह था कि दास्य भाव से आत्म-



निवेदन करने के लिये आई हुई के ऊपर कृपा दृष्टि करनी थी. वह व्यग्रता में नहीं होती है इसलिये आप अव्यग्र विराजमान थे, इसलिये विशेषता में उसका नाम भी योग्यता दिखाने के वास्ते कृष्ण के समान ही 'कृष्ण' कहा है शास्त्र में कहा है 'यो यच्छृद्धः स एव' इसलिये भगवान् कृष्ण भी इस समय पचात्मक हैं, शब्द के अर्थ की शक्ति जो भक्त है उनकी क्रीड़ा का आधार हुए हैं, अतः व्यास, भगवान् कालिन्दी, अर्जुन और द्रौपदी ये पांच हैं, शङ्का होती है कि यह विशेष परिग्रह करने के कारण दुष्ट है वह कैसे शरण हुई ? इस शङ्का निवारण के लिये कहा है कि 'अनिन्दिता' इस प्रकार विवाह होने में कोई दोष नहीं है एव इससे किन्हीं प्रकार निन्दा भी नहीं हुई है. सम्बन्ध के अभाव से वंसे है, वह 'नबोढा' है अथवा विधि से सम्बन्ध होने के कारण दोष आदि नहीं, अतएव कुछ लज्जित हो रही थी स्त्री स्वभाव भी धीरे २ आने में कारण है और इससे निर्लज्जता इसमें नहीं है यह भी सूचित किया है ॥५॥

आभास—सहगतानां पुरस्कारं वक्तुं सात्यकेराह तथैवेति ।

आभासार्थ—साथ में गये हुएों का आदर कहने के लिये सात्यकि का पूजन 'तथैव' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—तथैव सान्यकिः पार्थः पूजितश्चाभिवन्दितः ।

निषसादासनेऽन्ये च पूजिताः पथुपासत ॥६॥

श्लोकार्थ—पाण्डवों ने वैसे ही सात्यकि को आदरपूर्वक पूजा तथा अभिवादन किया और आसन पर बिठाया तथा दूसरे का भी पूजन किया । वे भी भगवान् के चारों तरफ आसनों पर बैठ गए ॥६॥

सुबोधिनी—यथा भगवान् पूजितः, एवं भगवद्भक्ता अपि पूजिताः । यतस्ते पार्थाः । सम्बन्धश्च तुल्य इति, साधु समागतमित्यभिनन्दनम् ।

ज्ञानशक्तिरत्र प्रकटीकर्तव्येति सोऽप्यासन एवोपविष्टः । अन्ये च पूजिताः । आसनेषूपविष्टाः, परं भगवन्तं परित उपासत ॥६॥

व्याख्यार्थ—जैसे भगवान् पूजे गये, वैसे भगवद्भक्तों का भी पूजन किया, क्योंकि भक्त, पृथा के पुत्र हैं सम्बन्ध तो समान ही है, उचित हुआ जो आप पधारें इस प्रकार स्वागत वचनों से समादर किया । यहां ज्ञान शक्ति प्रकट करनी चाहिये, इसलिये आसन पर ही बिराजे । दूसरे जो साथ आये थे, वे भी पूजे गये तथा भगवान् के चारों ओर आसनों पर बैठे ॥६॥

आभास—पृथायाः स्तोत्रं वक्तुं प्रथममन्योन्यमनुवृत्तिमाह पृथामिति ।



आभासार्थ—पृथा की स्तुति कहने के लिये, पहले परस्पर एक दूसरे का कुशल निम्न श्लोक में पूछते हैं ।

श्लोक—पृथां समागत्य कृताभिवादनस्तयातिहार्द्रादृष्टशाभिरम्भितः ।

आपृष्टवांस्तां कुशलं सहस्रुषां पितृष्वसारं परिपृष्टबान्धवः ॥७॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने पृथा के समीप आकर उसको प्रणाम किया, उस समय अतिशय हार्दिक प्रेम उत्पन्न होने से जब कुन्ती की आँखों से आँसू टपकने लगे, तब उसने आलिङ्गन किया तथा अपने बान्धवों का कुशल पूछा, अनन्तर भगवान् ने भी भूमा से सबकी कुशलता के समाचार पूछे ॥७॥

सुबोधिनी—भगवान् पृथां समागत्य पृथानिकटे गत्वा कृताभिवादनो जातः । तया च अतिहार्देन आर्द्रा दृष्टिर्यस्याः । करुणया भक्त्या च आर्द्रा भवति दृष्टिः । ततोऽपि अतिहार्द्रा

लौकिकसम्बन्धेन स्नेहयुक्ता आर्द्रा भवति । ततस्तया परिरम्भितः । कुशलमापृष्टवान् । स्वयं च पृष्ट इति लौकिकी भाषा भगवत्कृता स्थिरा जातेति निरूपितम् ॥७॥

व्याख्यानार्थ—भगवान्, पृथा के समीप आकर, उसको प्रणाम करने लगे, जिससे अतिशय प्रेम के कारण उसके नेत्रों में आँसू भर गये । दया तथा प्रेम से दृष्टि आर्द्र हो जाती है और नेत्रों से जल बहने लग जाता है । उससे भी लौकिक सम्बन्ध के कारण अतिशय हार्दिक स्नेह वाली दृष्टि आर्द्र होती है । अर्थात् आँखें आँसूओं से भर जाती हैं पश्चात् ऐसी पृथा ने प्रेम से भतीजे का आलिङ्गन किया अनन्तर कुशल समाचार पूछे । स्वयं से पूछे गये । यों यह भगवत्कृत लौकिकी भाषा स्थिर हुई, जिसका निरूपण किया गया ॥७॥

आभास—तस्याः स्तोत्रार्थं प्रवृत्तिमाह तमाहेति ।

आभासार्थ—‘तमाह’ इस श्लोक से स्तुतिके लिये हुई उसकी प्रवृत्ति को कहते हैं ।

श्लोक—तमाह प्रेमवैकल्यरुद्धकण्ठाश्रुलोचना ।

स्मरन्ती तान् बहून् क्लेशान् क्लेशापायात्मदर्शनम् ॥८॥

श्लोकार्थ—प्रेम की विक्लवता से जिसके कण्ठ रुद्ध हो गए हैं और आँखें आँसूओं से भर गई हैं, ऐसी उन बहुत क्लेशों को स्मरण कर उनके नाश का उपाय भगवान् के दर्शन ही समझने लगी ॥८॥

सुबोधिनी—प्रेमणा वैकल्यम् । अन्तःकरणस्य तादृश प्रेम । तेन रुद्धकण्ठता शरीरवैकल-

व्यम् । अश्रूणि लोचने यस्या इतीन्द्रियवैकल्यम् । किञ्च । स्वस्थानामपि भक्त्यैवं भवति ।

इयं तु बहुक्लेशापन्ना तांश्च स्मरतीत्याह स्मरन्ती । शनमिति । क्लेशानामपायो नाशो यस्मात् तादृशं
तानिति । बहून्नेव क्लेशान् स्मरन्ती । क्लेशनिवृत्तिं तदर्थं न प्रार्थना ॥८॥
त्यर्थं प्रार्थयिष्यतीत्याशङ्क्याह क्लेशापायात्मद-

व्याख्यार्थ—कुन्ती को अन्तःकरण के प्रेम के कारण विक्लवता^१ होने लगी, जिससे कण्ठरुद्ध हो गया । इससे शरीर की घबराहट प्रकाशित की, आँखों में आँसू भर जाने से इन्द्रिया की व्याकुलता जतादी । स्वस्थों की भी दशा, प्रेम से इस प्रकार की हो जाती है । यह तो बहुत दुःखों को भोग चुकी है, जिनको यह स्मरण करती थी, तब उनके निवृत्ति के वास्ते प्रार्थना करेंगी ? जिसके उत्तर में कहा कि 'क्लेशापायात्मदर्शनम्' उसने क्लेशों के मिटाने का उपाय आपके स्वरूप का दर्शन ही जाना है, अर्थात् दर्शन से ही दुःख मिट गये, जिससे उनके मिटाने के लिये प्रार्थना नहीं की ॥८॥

आभास—भगवता वयं कृतार्था इति इदमेव भगवत्स्तोत्रम् । तत्कृतकरिष्यमाण-
भेदेन द्विविधं निरूपयति तदैवेति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—भगवान् के दर्शन से ही हम कृतार्थ हो गये हैं, यों यह कहना ही भगवान् का स्तोत्र है, जो किया और जो किया जाएगा के भेद से दो प्रकार के हैं, जिसको 'तदैव' दो श्लोकों से निरूपण करते हैं ।

श्लोक—तदैव कुशलं नोऽभूत्सनाथास्ते कृता वयम् ।

ज्ञातीन्नः स्मरता कृष्ण भ्राता मे प्रेषितस्त्वया ॥९॥

न तेऽस्ति स्वः परो भ्रान्तिविश्वस्य सुहृदात्मनः ।

तथापि स्मरतां शश्वत्क्लेशान्हंसि हृदि स्थितः ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हमारी कुशल तब ही हो गयी, जब कि आपने हमें कृतार्थ कर दिया और हमारा स्मरण करते ही भ्राता को भेज दिया ॥९॥

जगत् बन्धु और आत्मरूप जो आप हैं, उनको अपना-पराया भेद नहीं है, तो भी स्मरण करने वालों के हृदय में विराजमान होकर निरन्तर उनके क्लेशों का नाश करते हैं ॥१०॥

सुबोधिनी—यदैवास्मान् स्मृतवान्, तदैव नः कुशलमभूत् । चिन्ताभावायाह । सनाथा अपि वयं कृताः । नाथ एव काले स्मरतीति । वयमिति श्लाघायाम् । एतस्याभिज्ञापकमक्रूरप्रेषणमित्याह ज्ञातीन्नः स्मरतेति । 'येनोपशान्तिर्भूताना'मित्यत्र तथा निरूपितम् । कृष्णेति तदर्थ-



मेवावतार उक्तः । सर्वमंरक्षार्थं भ्राता प्रेषितः ।
अनेन भ्रात्रपेक्षयापि तवेव स्नेहाधिक्यात् । नैद
दैहिकन्यायेन कृतार्थकरणम्, सन्निहितो बन्धुरेव
प्रवर्णीय इति लौकिकरक्षापि सूचिता । एवं स्व
रक्षकत्वेन प्राप्तं वैषम्यं परिहरति न तेऽस्तीति ।
स्व. स्वकीयः परः शत्रुः । एतदभावे हेतुमाह
भ्रान्तिरिति । इयं बुद्धिभ्रान्तिरिति नास्तीत्यर्थः ।
तत्र हेतुत्रयमाह विश्वस्य सुहृदात्मन इति । दैहिके

विचार्यमाणे त्वमेव विश्वम्, अन्तःकरणे तु सुहृत्
सर्वस्यापि भगवान्, वस्तुविचारे त्वात्मैव । अतो
भावत्रयेऽपि भगवतो वैषम्यबुद्धिर्न सम्भवती-
त्यर्थः । तर्हि कथं विषमकार्यमित्यत आह तथा-
पीति । ये केचित्स्मरन्ति, तेषां हृदये स्थितः क्ले-
शसमानाधिकरणो न भवतीति । अग्निस्तृणमिव
क्लेशान् हंसि । अतो भावनाकार्यमेव क्लेशहन-
नम् । तदपि स्वाभाविकमेव ॥६-१०॥

व्याख्यानार्थ — जब ही आपने हमको याद किया उस समय ही हमारा कल्याण हो गया, चिन्ता
का अभाव हो गया, जिसके लिये विशेष कहतो हैं, कि आपने हमको सनाथ भी किया है । कैसे ?
जिसके उत्तर में कहतो हैं कि समय पर नाथ ही स्मरण करते हैं, 'वयं' बहुवचन से बताया, कि
आपकी इस कृति से हमारी प्रशंसा होती है, अर्थात् हम उत्तम बड़े गिने जाते हैं । आप हम को
स्मरण करते रहते हैं, जिसका प्रमाण अक्रूर का भेजना है । इसलिये श्लोक में यों कहा है, कि हमारा
स्मरण आते ही अक्रूर को भेज दिया है । यह 'येनोपशान्तिर्भूताना' श्लोक में निरूपण किया है ।
'कृष्ण' नाम से यह सूचित किया कि उसके लिये ही आपका यह अवतार है । सब की रक्षा के लिये
भाई को भेजा है । इससे यह बताया कि भ्राता स्वयं नहीं आये, किन्तु आपने भेजा । जिससे सिद्ध है
कि भ्राता की अपेक्षा ही हम पर अधिक स्नेह है । यह दैहिक न्याय से कृतार्थ करना नहीं है ?
निकट के बन्धु को ही भेजना चाहिये, इस प्रकार से लौकिक रक्षा भी सूचित की है । यों अपने रक्षक-
पन से होनेवाली विषमता को भी दूर किया । जेंदे कि आपकी 'यह अपना है और वह पराया है', ऐसी
भ्रान्तिवाली भेद बुद्धि तो है ही नहीं । इस विषय की सिद्धि में तीन कारण देते हैं कि 'विश्वस्य-
सुहृदात्मनः दैहिक विचार करते हैं तो आप ही विश्वरूप हैं । अन्तःकरण के लिये विचार करने पर
सब के सुहृद आप भगवान् ही हैं, । यदि वस्तु का विचार किया जाता है तो आप सबकी आत्मा ही
हैं । अतः इस प्रकार के तीन भाव से भगवान् को विषमता वाली बुद्धि है ही नहीं यह ही सिद्ध होता
है । यदि यों है, तो विषम कार्य कैसे होते हैं ? जिसके उत्तर में कहा जाता है कि, जो आपका निरन्तर
स्मरण करते हैं, उनके हृदय में आप विराजमान होकर क्लेश के समान अधिकरण नहीं होते हैं'
अग्निस्तृणमिव क्लेशान् हंसि' जैसे कि अग्नि तिनको को जलाती है वैसे ही आप क्लेशों का नाश
करते हैं, अतः क्लेशों का नाश, भावना का ही कार्य है, वह भी स्वाभाविक ही है ॥१०॥

आभास— ततो राजापि स्तोत्रं कृतवानित्याह किं न इति ।

आभासार्थ— 'किं न आचरितं' इस श्लोक से राजा भी स्तुति करता है ।

श्लोक— युधिष्ठिर उवाच—किं न आचरितं श्रेयो न वेदाहमधीश्वर ।

योगेश्वराणां दुर्दर्शो यन्नो दृष्टः कुमेधसाम् ॥११॥

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर ने कहा—हे अधीश्वर ! मैं नहीं जानता हूँ कि हमने कौन



से श्रेय करने वाले श्रेष्ठ कार्य किए हैं, जिनसे योगेश्वरों को भी जिनके दर्शन दुर्लभ है, वे हम कुमतियों को कृपापूर्वक दर्शन दे रहे हैं ॥११॥

सुबोधिनी—तस्यापि स्वाभिनन्दनेनैव स्तुतिः । स हि सर्वं कर्मफलमेव जानाति । अतो भगवद्दर्शनमपि महाफलमिति साधनं कल्पयति । नोऽस्माभिः अस्माकं वा श्रेयः आचरितमस्ति । एतत्परिज्ञाने निरन्तरदर्शनार्थं निरन्तरं तत्कर्त-

व्यमिति पृच्छन्निव स्वज्ञानमाह न वेदाहमिति । अधीश्वरत्वात् अन्तःकरणस्वामित्वात् भगवानेव जानाति । दर्शनस्य महाफलत्वमाह योगेश्वराणां मपि दुर्दर्श इति । स्वस्यातथात्वमाह कुमेधसामिति ॥११॥

व्याख्यार्थ—आपका अभिनन्दन करने से उसकी भी स्तुति हो गई है। वे सर्व कर्म फल को जानते ही हैं, अतः भगवान् का दर्शन भी महान् फल है। यों कह कर साधन को कल्पना करते हैं। हमारा कुछ सत्कर्म किया हुआ माझूस होता है। अथवा हमने कोई (उत्तम) श्रेयस कर कर्म किये हैं। यदि आपको इसकी जानकारी है तो भगवान् के निरन्तर दर्शन होते रहे, उसके लिये सदैव वैसे ही कर्म करते रहिये, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'न वेदाह' हमें तो ज्ञात नहीं है कि हमने कौन से उत्तम कार्य किये हैं। आप नहीं जानते हैं तो कौन जानता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि आप अधीश्वर होने से अर्थात् अन्तःकरण के स्वामी होने से आप भगवान् होने से आप ही जानते हैं। दर्शन का महाफल बताते हैं कि यह दर्शन योगीश्वरों को भी [कठिनाई से होता है, हम तो वैसे नहीं हैं, यह बताते हुए कहते हैं कि हम दुर्बुद्धि हैं, तो भी अपनी दयालुता बताने के लिये आपने दर्शन दिये हैं ॥११॥

आभास—एवं सर्वैः स्तुतः तेषां हितार्थं कियत्कालं तत्रैव स्थित इत्याह इतीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सब की स्तुति सुनते हुए भगवान् उनके हित करने के लिये कुछ समय वहीं ठहरे, यह 'इति वै' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—इति वै वार्षिकान्मासान् राजा सोऽभ्यर्थितः सुखम् ।

जनयन्नयनानन्दमिन्द्रप्रस्थौकसां विभुः ॥१२॥

श्लोकार्थ—राजा युधिष्ठिर की प्रार्थना स्वीकार कर वे (श्रीकृष्ण) वर्षा के चार मास तक वहाँ विराजे। वहाँ रहकर इन्द्रप्रस्थ के निवासियों के नेत्रों को आनन्द दान देने लगे ॥१२॥

सुबोधिनी—सर्वत्र विद्यमानोऽपि निश्चयेन तत्र स्थितः सर्वजनीनः । वार्षिका मासाश्चत्वारः । अनेन निद्रायामागतायां भक्तहृदये शयानः स्थित इति सूचितम् । लोकेऽपि वर्षायां गमनागमनौ न

सुकरौ । तत्रापि युधिष्ठिरेणाभ्यर्थितः । तदर्थं इन्द्रप्रस्थौकसां च नयनानन्दं जनयन् । एकया क्रियया फलत्रयं साधयतीति विभुत्वं हेतुत्वेन प्रदर्शितम् । यतोऽयं लोको भ्रान्तः ॥१२॥



व्याख्यार्थ—सब स्थानों में विराजमान होते हुए भी निश्चय से यहीं विराजमान हो रहे हैं, यह वहाँ के सब निवासियों को प्रतीति हुई। वर्षा ऋतु के चार मास ही वहाँ रहे, इससे यों दिखाने लगे कि नींद आने से भक्तों के हृदय शैया पर पौढ़ रहे हैं। लोक में भी वर्षा के दिनों में बाहर आना जाना कठिन होता है। इसमें भी फिर युधिष्ठिर ने रहने के लिये प्रार्थना की है। इस वास्ते इन्द्र-प्रस्थ निवासियों के नेत्रों के लिये आनन्द उत्पन्न करते हुए निवास करते थे। एक ही क्रिया से तीन फल सिद्ध करते हैं। यों करने में कारण बताते हैं, कि आप 'विभुः' सर्व व्यापी हैं, यह लोक तो भ्रान्त है ॥१२॥

आभास—एवं भक्तिमुक्त्वा कर्माह एकदेति ।

आभासार्थ— इस प्रकार भक्ति का वर्णन कर 'कर्म' का वर्णन 'एकदा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—एकदा रथमारुह्य विजयो वानरध्वजम् ।

गाण्डीवं धनुरादाय तूणौ चाक्षयसायकौ ॥१३॥

साकं कृष्णेन संनद्धो विहर्तुं विपिनं महत् ।

बहुव्यालमृगाकीर्णं प्राविशत्परवीरहा ॥१४॥

श्लोकार्थ—एक समय चतुर वीर शत्रुओं के नाशक अर्जुन श्रीकृष्ण के साथ वानर की ध्वजावाले अपने रथ में चढ़, गाण्डीव धनुष हाथ में उठाकर, अक्षय तीरों से भरे हुए तरकस बांधकर, तैयार होकर, अनेक हिंसक जानवर और मृगों से व्याप्त वन में शिकार खेलने गए ॥१३-१४॥

सुबोधिनी—मासचतुष्टयमध्य एव अष्टकाद्यर्थं आखेटकार्थं गमनम् । वानरध्वजो रथोर्जुनस्य । एतत्प्राप्तिमप्यग्रे वक्ष्यति । इदानीमसाधन इति शक्तया सहितस्तथा भवतीति विवाहानन्तरं परिग्रहानन्तरं वा तद्वक्ष्यति । वानरो हनुमान् ध्वजे यस्येति । तेषु भगवत्कृपा महती निरूपिता । गाण्डीवमप्यग्नेः सकाशादेव प्राप्तम् । तूणौ च अक्षयसायकौ । तत एव प्राप्तं त्रिविधमेतत् । कृष्णेन सह भावः सर्वेषामयातयामत्वाय । फलसाधनयुक्तता वा । सन्नद्धो बद्धकवचः । पुनरपि युद्धं संभविष्यतीति पूर्वयुद्धं जातमप्यग्रे निरु-

प्यते । अन्यथा विवाहस्य प्राधान्यं न स्यात् । भगवदंच्छिकोऽयं पदार्थक्रम इति न वैपरीत्यम् । प्रथमं खाण्डवदाहः, पश्चात्स्त्रीप्राप्तिरिति । विचारितं तु तथा, कृतं त्वत्रोच्यते विहर्तुं मिति । तदेवाह बहुव्यालमृगाकीर्णमिति । व्याला दुष्टाः, मृगा अदुष्टाः, सावरणा निरावरणाश्चेति कर्मबन्धो निवारितः । महद्विपिनमिति । मृगयारूपा क्रीडा तत्रानन्ता भवतीति वा । उभयान्हुन्तीत्युत्कर्षः । तेषां मारणे सामर्थ्यमाह परवीरहेति । शत्रूणां विवेकपूर्वकं युद्धं कुर्वतामपि यो वीरहा ।

॥१४॥

व्याख्यार्थ— इस चातुर्मास के मध्य में शिकार के लिये वा अष्टकादि तिथियों में पितृ देवताओं



को तृप्ति कराने के लिये जाना होता है अन्यथा नहीं। जिस रथ में हनुमान् की ध्वजा है, वह रथ अर्जुन का है, इसकी प्राप्ति का वर्णन भी आगे कहेंगे। अब साधन रहित है, इसलिये जब शक्ति सहित होगा, तब असाधन बनेगा, इसलिये विवाह के बाद वा भार्या के साथ होने के पश्चात् वह कहेंगे। रथ की ध्वजा में वानर का चिन्ह भगवान् की महती कृपा का सूचक है। गाण्डोव धनुष भी अग्नि से अर्जुन को प्राप्त हुआ है, जिसके तीर, क्षय होने वाले नहीं, वैसे ही तूणीर^१ है। ये तीन ही उससे पाये हैं। कृष्ण के साथ सहभाव का भावार्थ है, सर्व का इस प्रकार प्रहर भी इनके साथ सम्पर्क अन्य किसी का नहीं होता है अथवा फल के साधन की योग्यता प्रकट होती है। कवच बान्धकर तैयार हुआ है, इस प्रकार तैयार होकर बताया है कि आगे लड़ाई हुई है, फिर भी युद्ध होगा, यों नहीं हो तो विवाह की मुख्यता प्रकट सिद्ध न होगी। यह पदार्थक्रम भगवान् की इच्छानुसारी है, इसलिये इसमें विपरीतता नहीं है, प्रथम खाण्डव का दाह, पश्चात् स्त्री की प्राप्ति विचार तो, यों किया था, किन्तु जो किया वा हुआ वह यहाँ कहा जाता है। अर्थात् विचार से विपरीत किया, विहार के लिये गये, कहाँ ? जहाँ बहुत दुष्टपशु^२ अदुष्टपशु^३ आवरण वाले, आवरण रहित, इससे कर्म का बन्धन मिटाया, जहाँ वन में गये वह बड़ा था, अर्थात् वहाँ अनन्त प्रकार मृगया रूप क्रीड़ाएं हो सकती हैं, दोनों का नाश होता है यह जिसका उत्कर्ष है, उनके मारने में सामर्थ्य कहते हैं कि 'परवीरहा' विवेक से युद्ध करने वाले शत्रुओं का भी जो नाश कर सकता है ॥१३-१४॥

आभास—अतस्तत्र गतः पञ्चविधान् द्विविधानपि मारितवानित्याह तत्राविध्यदिति ।

आभासार्थ—अतः वहाँ जाकर पंचविध और द्विविधों को भी मारा, जिसका वर्णन 'तत्राविध्यत्' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तत्राविध्यच्छरैर्व्याघ्रान् शूकरान् महिषान् रुरुन् ।

शरभान् गवयान् खड्गान् हरिणान् शशशल्लकान् ॥१५॥

श्लोकार्थ—वहाँ बाणों से व्याघ्र, शूकर, भैंसे, रुरु, शरभ, रोज, गैंडे, हरिण, खरगोश और श्याही इनको बंधने लगे ॥१३॥

सुबोधिनी—शरैर्न तु कपटैः । व्याघ्रा महिषा हरवश्च त्रयो दुष्टत्वेन मारणीयाः । तेषां चर्मन-खाद्युपयोगः । शल्यका अपि कठिना इति तैः सहोक्ताः । परं भक्ष्याः । शरभादयश्च षट् । तत्र

शरभगवयावभक्ष्यौ । शूकरश्चेत्पूर्वमुक्तः, तदापि भक्ष्यः । पञ्च भक्ष्याः, पञ्चाभक्ष्याश्चेति दश निरूपिताः ॥१५॥



व्याख्यान—शरों से मारने लगे न कि कपट से व्याघ्र, भैंसे और रुरु^१ ये तीनों दुष्ट हैं इस-
लिये मारने योग्य हैं। उनके चर्म और नख आदि काम में आते हैं। इयाही पशु भी कठिन हैं, इस
कारण साथ में ही कहे गये हैं, किन्तु खाने योग्य हैं। शरभ^२ से लें के जो ६ नाम हैं, उनमें से शरभ
और गवय (रोज) खाने योग्य नहीं हैं शूकर का आगे कहा ही है, तो भी भक्ष्य हैं, पांच पशु खाने
योग्य हैं और पांच खाने योग्य नहीं हैं, इस प्रकार का दश का निरूपण किया है ॥१५॥

आभास—तत्रोत्तमानां कर्मोपयोगमाह तान्निन्युरिति ।

आभासार्थ—‘तान्निन्युः’ श्लोक से वहां उत्तमों के कर्म का उपयोग कहते हैं—

श्लोक—तान्निन्युः किङ्कुरा राज्ञे मेध्यान् पर्वण्युपागते ।

तृट्परीतः परिश्रान्तो बीमत्सुर्यमुनामगात् ॥१६॥

श्लोकार्थ—उन पवित्र कर्म के योग्य पशुओं को पर्वणी निकट थी, इसलिए राजा
के नौकरों ने वे लाकर राजा को अर्पण किए, अर्जुन प्यासा होने और थकावट के
कारण यमुना पर गया ॥१६॥

सुबोधिनी—किङ्कुरा इति महिषगर्दभादि- | ण्यष्टकादावुपस्थिते ॥१६॥
भिस्तन्नयनप्रतिषेधः । यतो मेध्याः । तत्रापि पर्व-

व्याख्यान—श्लोक में शिकार किये हुए पशुओं को ले जाने वाले ‘नौकर’ कहे हैं। नौकर क्यों
ले गये ? इस शङ्का को मिटाने के लिये आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि जिन पशुओं को ले जाना था,
वे पशु मेध्य^३ थे, अष्टकादि पर्वणी निकट थी, इसलिये गर्दभ और भैंसों पर नहीं ले गये, क्योंकि
यज्ञ के लिये ले जाने वाले पवित्र पदार्थ उन पर ले जाने का शास्त्रों में निषेध है, अतः नौकर
ले गये ॥१६॥

आभास—तत्र सङ्गे मृगा इव कन्याप्युपलब्धेत्याह तत्रोपस्पृश्येति ।

आभासार्थ—‘तत्रोपस्पृश्य’ श्लोक में कहते हैं कि वहाँ पशुओं की तरह ‘कन्या’ भी प्राप्त को ।

श्लोक—तत्रोपस्पृश्य विशदं पीत्वा वारि महारथी ।

कृष्णौ ददृशतुः कन्यां चरन्तीं चारुदर्शनाम् ॥१७॥

१—एक प्रकार के हरिण, २—आठ पाँव वाला हरिण ।

३—पवित्र-यज्ञ में काम आने वाले थे ।



श्लोकार्थ—वहाँ आकर दोनों महारथी कृष्ण और अर्जुन ने स्नान किया और जल पीकर बैठे तो उनकी दृष्टि में एक सुन्दर कन्या इधर-उधर घूमती हुई देखने में आई ॥१७॥

सुबोधिनी—उपस्पृशं स्नानम् । ततः पानम् । विशदत्वात् न जलानयनसङ्ग्रहः । महारथाविति स्त्रीदर्शने न शङ्का । उभावपि कृष्णाविति भगव- तोज एव विभक्तमिति न दर्शने द्वेषणम्, कन्या- त्वाच्च । तथापि चरन्तो यमुनातीरे परिभ्रमन्तो भगवन्तं द्रष्टुमागता । चारु दर्शनं यस्या इति सापि पश्यतीति निरूपितम् । तेन प्रश्नादिकं न विरुद्धमिति भावः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—‘उपस्पृश्य’ का अर्थ है स्नान कर अनन्तर जल पीया । विशद् होने से जल लाकर सङ्ग्रह की आवश्यकता नहीं थी । दोनों महारथी थे, इसलिये स्त्री के देखने में किसी प्रकार शङ्का नहीं दोनों कृष्ण थे, क्योंकि भगवान् का ही तेज, दो रूपों में विभक्त होकर दर्शन दे रहा था । इसलिये स्त्री के देखने में कोई दोष नहीं है, और वह स्त्री अथ तक कन्या ही थी, इसके अलावा वह भगवान् के दर्शन करने के लिये यमुनाजी के तट पर फिर रही थी एवं सुन्दर रूप वाली भी थी, एवं वह स्वयं भी देख रही थी, इससे यह भी निरूपण किया है, इससे उससे प्रश्नादिक करना विरुद्ध नहीं है यह भाव है ॥१७॥

श्लोक—तामासाद्य वरारोहां सुद्विजां रुचिराननाम् ।

पप्रच्छ प्रेषितः सख्या फाल्गुनः प्रमदोत्तमाम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—सुन्दर दाँतोंवाली, मनोहर मुखवाली, स्त्रियों में उत्तम, उस कमनीय कमरवाली के पास भगवान् का भेजा हुआ अर्जुन आकर पूछने लगा ॥१८॥

सुबोधिनी—भोग्यरूपा सेति लौकिकन्याये- नैव ग्राह्येति स्वयं गते अर्जुनस्य वैमनस्यं स्या- दिति शक्तिः समा स्थापितेति भगवतैव अर्जुनः प्रेषितः पप्रच्छ । वरारोहात्वात् कालो विलम्बं न सहते । सुद्विजामिति लक्षणानि निरूपितानि । रुचिराननामिति रसवत्त्वम् । सख्या प्रेषणान्न कपटकरणम् । फाल्गुनो जितेन्द्रियश्च । पञ्चा-

प्सरउद्धारे फाल्गुने अनन्तशयने पञ्चाप्सरसां तस्पर्शेन मुक्तिप्रतिपादनात्, तथात्रापि तत्सम्भा- षणात् सा भगवन्तं प्राप्स्यतीति तद्वचनं न द्वेष- णम् । न वदिष्यतीत्याशङ्क्याह प्रमदोत्तमासिति । प्रकृष्टेन मदो यासाम्, ता एव वदन्ति । तासाम- पीयमुत्तमा ॥१८॥

व्याख्यार्थ—देखी हुई, वह भोग के योग्य रूप वाली है, इस कारण से उसको लौकिक रीति से ही ग्रहण करना चाहिये । यदि भगवान् स्वयं उससे पूछने के लिये पधारते तो कदाचित् अर्जुन के मन में विषमता उत्पन्न हो जावे इसलिये आपने अर्जुन को ही भेजना, नीति योग्य समझकर भेजा । वह कमनीय कमर वाली है, इसलिये काल उनसे मिलने में विलम्ब सहन नहीं कर सकता है । अब उसके लक्षण बताते हैं कि सुन्दर दाँतों वाली है, मनोहर मुखारविन्द वाली है, जिससे उसके मुख में वा



उसमें रस है। मित्र ने भेजा है इसलिसे अर्जुन कपट भी नहीं कर सकता है तथा अर्जुन जितेन्द्रिय भी है, कैसे ? इसके उत्तर में कहते हैं कि अर्जुन ने स्पर्श मात्र से पांच अप्सराओं का उद्धार कर दिया। वैसे यहां भी उसके साथ केवल सम्भाषण करने से वह भगवान् को प्राप्त करेगी, इसलिये उसका प्रश्नोत्तर दूषण रूप नहीं है। अर्जुन तो पूछने गया, किन्तु ऐसी वह इससे बोलेगी नहीं, ऐसी शङ्का मिटाने के लिये कहते हैं कि जब जो विशेष मदवाली हैं। वे भी ऐसी विषय में प्रेम से बोलती है, तब तो यह उनमें उत्तम होने से अवश्य बोलेगी ॥१८॥

श्लोक—का त्वं कस्यासि सुश्रोणि कुतो वा किं चिकीर्षसि ।

मन्ये त्वां पतिमिच्छन्तीं सर्वं कथय शोभने ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे सुश्रोणि ! तू कौन है ? किसकी है ? कहां से आई है ? क्या करना चाहती है ? हे शोभने ! मेरे ध्यान में तो यों आया है कि तू पति की इच्छा कर रही है, अतः सब वृत्तान्त मुझे कह दे ॥१९॥

सुबोधिनी—का त्वमिति प्रश्नचतुष्टयम् । स्व-
रूपतः का देवनारी, अन्या वा काचिदिति ।
कस्यासीति सम्बन्धी पित्रादिः पृष्ठः । सुश्रोणीति
सम्बोधनम् । अत्र स्थितिरयुक्तेति सूचितम् ।
कुतो वात्र समागतेति । दैवगत्या समागमने
दोषाभावार्थं किं चिकीर्षसीति स्थिरतया पृच्छ-
चते । यतो नेयमुद्विग्ना, नाप्यन्यत्र गन्तुमि-

च्छती । अतस्तपस्यादिकं चिकीर्षितं पृष्ठम् ।
तत्स्वस्य हितकारि न भवतीति स्वहितं सम्भाव-
नया पृच्छति मन्य इति । पञ्चापि प्रश्ना वक्तव्याः ।
अन्यथा परिग्रहो न युक्त इति । सर्वं कथय शोभने
इति तस्या भयाभावः, स्वस्य प्रीतिरपि
सूचिता ॥१९॥

व्याख्यानार्थ—अर्जुन ने उससे 'तू कौन है ? आदि ४ प्रश्न पूछे, स्वरूप से तू देवस्त्री है वा किसी दूसरी जाति की है ?' किसकी है, इससे यह पूछा कि तेरे पिता आदि सम्बन्धी कौन है ? हे कमनीय कमर वाली । यह सम्बोधन देकर उसको सूचित किया कि तुझे ऐसे स्थान में इस प्रकार एकाकी नहीं फिरना चाहिये । यहाँ आने का क्या कारण है ? यदि आ भी गई है, उस दैव दोष' निवारण के लिये क्या करना चाहती है ? यह प्रश्न इसलिये किया है कि वह उद्विग्न नहीं है और कहीं दूसरे स्थान पर जाना नहीं चाहती है, इससे तपस्या आदि करने की इच्छा है ? यों पूछा । यदि यह तपस्या करनी चाहती है तो उससे अपना हित न होगा, क्योंकि हमको यह मिलेगी नहीं, जो हम चाहते हैं, इसलिये सम्भावना से पूछता है कि मैं समझता हूँ कि तू पति की इच्छा कर रही है । इस तरह पांच प्रश्न करने चाहिये, यदि यों पांच प्रश्न न किये जायेंगे तो परिग्रह उचित न

१—टिप्पणी में 'दोषाभावार्थ' के स्थान पर 'समागमनार्थ' पाठ माना है इस पाठ के अनुसार अर्थ यों हो सकता है कि, दैवगति से जिस पति के प्राप्ति के लिए आ गई है तो उसकी प्राप्ति के लिए क्या तप आदि करना चाहती है ?



होगा । अतः हैं शोभने ! सब कह दो, शोभने ! सम्बोधन से उसको निर्भय होने को सूचित किया तथा अपनी प्रीति की सूचना भी दी है ॥१६॥

आभास—अतः कालिन्दी तन्निषेधार्थं भगवन्तमेव वरिष्यामीति पृष्ठानथानाह अहं देवस्येति ।

आभासार्थ—अजुन ने जो प्रश्न किये उनके उत्तर में कालिन्दी 'अहं देवस्य' श्लोक में कहती है कि मैं भगवान् को ही वरूँगी ।

श्लोक—कालिन्द्युवाच—अहं देवस्य सवितुर्दुहिता पतिमिच्छती ।

विष्णुं वरेण्यं वरदं तपः परममास्थिता ॥२०॥

श्लोकार्थ—कालिन्दी कहने लगी कि मैं सूर्य नारायण देव की कन्या पति चाहती हूँ । वह भी वरद, वरेण्य विष्णु ही, न कि अन्य कोई । अतः परम अर्थात् शीघ्र फल देने वाले तप में स्थित हूँ ॥२०॥

सुबोधिनी—देवतात्वाज्जातिरुक्ता । सवितृत्वात् तत्र नासम्भावना । दुहितृत्वादेयैव । अतो न कस्याप्यपराधः सम्भाषणे । त्वत्कल्पितमपि सत्यमेवेत्याह पतिमिच्छतीति । तद्वारणार्थमाह विष्णुमिति । तत्र हेतुः वरेण्यमिति । सर्वैरेव वरणीयो भगवान् । तत्रापि हेतुः वरदमिति । वरं

ददातीति वरणीयो वरः । तेन आत्मदस्त्वर्थादुक्तम् । 'किमर्थमागते'त्यस्य 'किं चिकीर्षसी'त्यस्य च उत्तरमाह तपः परममास्थितेति । परमं शीघ्र-फलपर्यवसायि । आस्थितेति फलप्राप्तेः पूर्वं न निवृत्तिः सूचिता ॥२०॥

व्याख्यानार्थ—देव पद देने से अपनी देव जाति बताई है । मेरे देवत्व में किसी प्रकार असम्भावना नहीं, कारण कि मेरे पिता जी सूर्य नारायण देव हैं, मैं उनकी कन्या हूँ, अतः अब देने योग्य हूँ अर्थात् अविवाहित हूँ । इसलिये कोई भी मुझ से भाषण करे, वा मैं भी किसी से कहूँ तो दोष नहीं है । तुमने जो कल्पना की है, वह सत्य है । मैं वास्तव में पति की कामना वाली हूँ, किन्तु वह अन्य कोई नहीं, विष्णु ही चाहती हूँ । कारण कि वह वरण योग्य है, सब उनका ही वरण करते हैं, क्योंकि भगवान् अर्थात् षड्गुण सम्पन्न हैं । उनमें भी कारण है कि वर को देते हैं अर्थात् मनकी इच्छा पूर्ण करते हैं । जो इच्छा पूर्ण करे वही 'वर' हो सकता है । यों कहने से बताया कि वे अपने को भी दे देते हैं : क्यों आई हो ? क्या करना चाहती हो, जिसका उत्तर देती है मैं उस तपस्या में पूर्णतया स्थित हूँ जिससे शीघ्र ही फल की प्राप्ति हो जावे । पूर्णतया स्थित कहने का भावार्थ यह है कि फल प्राप्त किए बिना मैं लौटना नहीं चाहती हूँ ॥२०॥

आभास—सर्वस्यापि विष्णुत्वात् तादृशसुखदानसमर्थः । लोकन्यायेन तद्विभूतिः वरणीयोऽपि भवतीति, अन्येषां ततो हीनानां वरदानसमर्थोऽपि कश्चिद्भूविष्यति, कश्चि-



दात्मानं वा तथा मन्यत इत्याशङ्क्य निषेधति नान्यं पतिं वृण इति ।

आभासार्थं विष्णु होने के कारण सब को वैसा सुख देने में समर्थ है : यद्यपि लोक न्याय से उसकी विभूति भी वरण योग्य होती है, कोई ऐसा भी होगा जो अन्य हीनों को दान देने में समर्थ होवे । कोई ऐसा भी है, जो अपने को वैसा मानते है । ऐसी शङ्का उठाकर उसका उत्तर देती हुई 'नान्यं पति' श्लोक में भगवान् से इतर को मैं वरूँगी ही नहीं, ऐसे मना करती है ।

श्लोक—नान्यं पतिं वृणो वीर तमृते श्रोनिकेतनम् ।

तुष्यतां मे स भगवान् मुकुन्दोऽनाथसंश्रयः ॥२१॥

श्लोकार्थ—हे वीर ! जिसको लक्ष्मी ने वरा है, जिसके पास सदैव लक्ष्मी रहती है, उस पति के सिवाय अन्य को न वरूँगी । वह अनाथों का आश्रय, मुकुन्द भगवान् मुझ पर प्रसन्न हो ॥२१॥

सुबोधिनी—भक्तिदातारं भगवद्दातारं वा तत्त्वेन वृणो, न तु पतित्वेन । वीरेति धर्मसम्बो-
घनाद्बलात्पक्षो निवारितः । अवीरेति वा स निराकृतः । स चेत् स्वसायुज्यं प्रापयित्वा तथा-
भूताय प्रयच्छति, तदा परं न जान इत्यभिप्राये-
णाह तमृत इति । तस्य परिज्ञाने नियमे च हेतु-
माह श्रोनिकेतनमिति । लक्ष्म्या स एव वृत इति
लक्ष्मीसहितो वा । श्रीवत्साङ्को भगवानिति तस्य
परिज्ञानम् । ननु भगवान् 'नाहं वेदै'रिति वाक्यात्
तपसा न सिद्धो भविष्यतीति चेत्, तत्राह तुष्य-
तामिति । स हि वरदो भवति । तत्रेदमेव प्रथमं
याचे तुष्यतामिति । ततस्तुष्टे अन्यथाच इत्यभि-
प्रायः । मे मह्यम् प्रति । यतः सः लक्ष्म्या अपि

प्रसन्न । ननु वाक्यं बाधकमिति चेत्, तत्राह भग-
वानिति । ईश्वरत्वान्न नियम्यः कस्यचित् ।
नन्वीश्वरस्यैवैतद्वाक्यमिति चेत्, तत्राह मुकुन्द
इति । यदि निषिद्धानां साधनानां प्रयोजकता न
स्यात् भगवत्प्रसादे, तदा कस्यापि मोक्षो न
सिध्येत् । अतः स्वतन्त्रभक्तिविषयं तादृशरूपद-
र्शनविषयं वा तद्वाक्यमिति मन्तव्यम् । किञ्च ।
मास्त्वस्मत्साधनम्, स स्वधर्मविचारेणापि
सन्तुष्टो भवत्वित्याह अनाथसंश्रय इति । येषां न
कोऽपि नाथः, तेषां सम्यगाश्रयो भवति, दीनद-
यालुत्वात् । अन्यो मा तुष्यतामिति निषेधार्थं वा ।
नात्र संशय इति वा भवति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—भक्ति देने वाले तथा षड्गुणैश्वर्य देने को तत्त्व से वरण करती हैं न कि पति पन से । हे वीर ! इस सम्बोधन से बताया है कि यह जो पक्ष मैं कह रही हूँ वह बलात मैंने स्वीकार नहीं किया है, परन्तु अपनी इच्छा एवं प्रेम से किया है । अथवा यदि सन्धिविच्छेद कर 'हे अवीर' पद लिया जाय तो इसका आशय होगा कि आप वीर नहीं हैं, इसलिये उनकी विभूति होने पर भी, आपको न वरूँगी, यदि वह सायुज्य देकर वैसे को दे देवें तब उस गुप्त आशय को मैं नहीं जानती हूँ, किन्तु मेरा मन्तव्य (हार्दिक इच्छा) तो यह है, कि उनके सिवाय दूसरे को नहीं वरूँगी, क्योंकि उनका मुझे ज्ञान है तथा नियम की भी सुधि है । उसमें कारण कहता है—'श्री निकेतन' लक्ष्मी ने उनको ही वरा है, यों, या लक्ष्मी सहित है, कोस्तुभ मणि के चिन्ह वाले भगवान् हैं, इस प्रकार ज्ञान



है। भगवान् तो 'नाहं वेदैः' वाक्य से कहते हैं कि मैं तपस्या से नहीं प्राप्त होता है इससे वह तपस्या से नहीं मिलेगा। इस पूर्वपक्ष का उत्तर देती है कि प्राप्त तो वह अपनी तुष्टि से हो होते हैं, तपस्या से वह प्रसन्न हो, (प्रसन्न होने पर ही) 'वरद' बनते हैं, इसलिये प्रथम प्रसन्नता की याचना करती हूँ। अनन्तर मेरे लिये अन्य की याचना करूँगी, वह लक्ष्मी पर भी प्रथम प्रसन्न हुए। तू कहती है वह ठीक है, किन्तु 'नाहं वेदैः' वाक्य बाधक है। यदि यों कहो तो इस पर मेरा उत्तर है कि यदि इस वाक्य से भगवान् की प्राप्ति में जिन साधनों को निषिद्ध कहा है, तो उनकी, (भगवान् की) प्रसन्नता में प्रयोजकता न होगी, जिससे मुक्ति की प्राप्ति किसी को न होगी? यदि कोई भी मुक्त न हुआ तो 'मुकुन्द' नाम की सार्थकता जाती रहेगी, अतः उस वाक्य का भावार्थ यह है कि इन साधनों से स्वतन्त्र भक्ति तथा वैसे रसरूप स्वरूप का दर्शन, नहीं हो सकता है। विशेष में कहती है कि मेरा साधन फलीभूत न हो, किन्तु आप अपना धर्म विचार कर तो प्रसन्न होवे, आप 'अनाथाश्रय' हैं अर्थात् जिनका कोई नाथ नहीं है उनको पूर्ण आश्रय देने वाले आप ही हैं, क्योंकि दीन दयालु हैं, अथवा दूसरा कोई मत प्रसन्न हो, यह निषेध वास्ते है, वा इसमें कोई संशय नहीं है ॥२१॥

आभास—नामस्थानादीन्याह कालिन्दीतीति ।

आभासार्थ—'कालिन्दीति' श्लोक में नाम स्थान आदि बताती है ।

श्लोक—कालिन्दीति समाख्याता वसामि यमुनाजले ।

निमित्ते भवने पित्रा यावदच्युतदर्शनम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—मैं कालिन्दी नाम से प्रसिद्ध हूँ। यमुनाजल में पिता के बनवाए गृह में तब तक रहूँगी, जब तक अच्युत के दर्शन न होंगे अर्थात् वह नहीं मिलेंगे ॥२२॥

सुबोधिनी - कलिन्दपर्वते तद्रूपेण समागतात् सूर्याज्जातेति पार्वत्या इव ममापि नियम इति सूचितम् । वसामि यमुनाजले इति दुर्गस्थितिरुक्ता । अनेन यमुनायास्तस्याश्च भेदः प्रदर्शितः । पर्वतभावापन्नादियमाधिदैविकी कालिन्दीत्येव नाम्ना विश्रुता उत्पन्ना । सा तु यममुत्पाद्य पश्चात् । तद्दोषपरिहारार्थं यमुनामुत्पादितवान् । उभयोरैक्यात् आधिदैविकाधिभौतिकवत् स्थितत्वात् लोके अभेदेन प्रयोगः । नापि तपतीवत् शापान्नदीत्वम्, पूर्वमेव नदीरूपस्य विद्यमानत्वात् ।

नाप्याध्यात्मिकं देवतारूपम्, तथा सति यमुनापरित्यागासम्भवात् । अनुग्रहनिग्रहयोरेव तदभिव्यक्तेश्च । सर्वथा च भेदकं सूर्यतनयात्वात् लोके प्रसिद्ध्यभावाच्च नास्तीत्याधिदैविकत्वं कल्प्यते । अत्रैव स्थितौ नियामकमाह निमित्ते भवने पित्रेति । सूर्येण यमुनाजले भवनं निर्माय भगवदर्शं स्थापितम् । अतो यावदच्युतदर्शनं तत्र स्थास्यामि, ततो भगवद्गृहं गमिष्यामि, न तु भगवानत्र स्थाप्यः । अत्रैव स्थितायाः परिग्रहो वा न नियम्यते ॥२२॥

व्याख्यार्थ—मेरा जन्म कालिन्द पर्वत पर, कलिन्द पर्वत रूप धारण कर आये हुए सूर्य नारायण से हुआ है, अतः मैं सूर्य की पुत्री हूँ। जैसे पर्वत से उत्पन्न पार्वती का प्रण शङ्कर को ही वरण करने का था, वैसे ही मेरा भी विष्णु को प्राप्त करने का है, यह सूचित किया। मैं यमुनाजल



में यों रहती हैं, जैसे दुर्ग में रहा जाता है, इस प्रकार कहकर अपना और यमुना का भेद दिखा दिया है। यह कालिन्दी आधिदैविकी है, न कि आधिभौतिकी; क्योंकि सूर्यनारायण आधिदैविक रूप कलिन्द पर्वत थे, इसलिए 'कालिन्दी' नाम से उत्पन्न हुई है एवं प्रसिद्ध हुई है। सूर्यनारायण ने पहले यम को उत्पन्न किया। उसके उत्पन्न करने से जो दोष लगा, उसको मिटाने के लिए पश्चात् यमुना को उत्पन्न किया। दोनों यमुना और कालिन्दी का परस्पर ऐक्य आधिदैविक आधिभौतिक के समान होने से लोक में दोनों की एक रूप से प्रसिद्धि है। इसका 'तपती' की भाँति शाप से नदीपन नहीं हुआ है। प्रथम नदीरूप विद्यमान था, न कि आध्यात्मिक देवरूप था। यदि वह रूप हो तो यमुना का परित्याग कर न सके। अनुग्रह और निग्रह में ही उसके अभिव्यक्ति का हेतु है। दोनों सूर्य की पुत्रियाँ हैं। लोक में वंसी प्रसिद्धि न होने से सर्वथा भेद नहीं है। जिससे आधिदैविक स्वरूप से प्रकट सूर्यदेव ने कलिन्द होकर इसको जन्म दिया, यह कल्पना की जाती है। यहाँ जल में ही रहने में नियामक कारण बताती है। मेरे जनक सूर्यदेव ने यमुनाजल में भवन तैयार कराकर उसमें मेरा निवास भगवान् की प्राप्ति तक रखा। अतः जब अच्युत भगवान् के दशन होंगे, तब इस भवन का त्याग कर भगवान् के भवन में जाकर रहूँगी। यहाँ भगवान् को स्थापित न करूँगी, कारण कि यहाँ ही निवास करने से परिग्रह का नियमन न हो सकेगा ॥२२॥

आभास—एवं तस्याः संवादेन रूपमवगत्य यथार्थमेवावददित्याह तथावददिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सम्वाद से उसके स्वरूप को जानकर जो यथार्थ है, वह 'तथावदत्' श्लोक में कहने लगे।

श्लोक—तथावद्गुडाकेशो वासुदेवाय सोऽपि ताम् ।

रथमारोप्य तद्विद्वान्धर्मराजमुपागमत् ॥२३॥

श्लोकार्थ—अर्जुन ने भगवान् को कालिन्दी ने जो कहा, वह सुनाया उसका यथार्थ जानने के लिए भगवान् उसको रथ में बिठाकर धर्मराज के पास ले गए ॥२३॥

सुबोधिनी—तत्र हेतुः गुडाकेश इति । गुडा-
काया निद्रायाः व्यामोहिकायाः ईश इति । सोऽपि
मोक्षदाता । वासुदेवः तस्यास्तं निबन्ध दूरीकुर्वन्

तां रथमारोप्य तमर्थं यथार्थं विद्वान् निदर्शनरूपं
धर्मनिर्णायिकं वा धर्मराजमुपागमत् ॥२३॥

व्याख्यानार्थ—उसमें कारण कहते हैं कि अर्जुन व्यामोह करने वाली निद्रा का स्वामी है और वह वासुदेव मोक्षदाता हैं। उसके आग्रह को दूर करते हुए, यथार्थ अर्थ को जानने वाले भगवान् वासुदेव उस (कालिन्दी) को रथ में बिठाकर, उदाहरण रूप अथवा धर्म के निर्णय करने वाले धर्मराज के पास ले आए ॥२३॥



आमास—एवं साधनशक्तिसिद्धयर्थं तां गृहात्वा पश्चात् भक्तार्थं विश्वकर्मादीनाञ्जा-
पयदित्याह यदैव कृष्ण इति ।

आभासार्थ—इस साधन शक्ति की सिद्धि के लिए उसको लेकर, पश्चात् भक्तों के लिए विश्व-
कर्मा आदि को आज्ञा दी, जिसका वर्णन 'यदैव' श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—यदैव कृष्णः संदिष्टः पार्थानां परमाद्भुतम् ।

कारयामास नगरं विचित्रं विश्वकर्मणा ॥२४॥

भगवांस्तत्र निवसन्स्वानां प्रियं चिकीर्षयन् ।

अनये खाण्डवं दातुमर्जुनस्यास सारथिः ॥२५॥

श्लोकार्थ—जैसे ही पाण्डवों ने नगर बसाने के लिए भगवान् की प्रार्थना की,
वैसे ही आपने विश्वकर्मा से अत्यन्त अद्भुत विचित्र नगर रचवाया ॥२४॥

अपने भक्तों का प्रिय करने की इच्छा से आप खाण्डव को अग्निदेव की भेंट करने
के लिए कुछ काल वहाँ विराजे और अर्जुन के सारथी बने ॥२५॥

सुबोधिनी—नायं तस्य कृतिर्निर्बन्धः । यदैव
ममसा वा तत्कृत्वा समानीय वा स्थितः सन्
पाण्डवैः संदिष्टः । भगवत्कर्तव्यमेव संदेशनियमेन
ज्ञापितवान् । तदैव परमाद्भुतं नगरं विश्वकर्मणा
कारयामास । भगवानपि मनसा सृजेत्, ततश्च
तत्र दोषा न प्रभविष्यन्तीति, गर्वाद्यभावे दुर्योध-
नादीनां निराकरणं न भवतीति विश्वकर्मणः
कारयामास ॥२४॥

सम्यक्करोतीति भगवांस्तत्र निवसन्नेव कारयामा-
सेति पूर्वार्धमुभयत्र संबध्यते । तर्हि स्थितिः स्वा-
र्थपि भविष्यतीत्याशङ्क्याह स्वानामेव प्रियं
चिकीर्षयन् । न केवलं स्थानमुत्कृष्टं दापितवान्,
किन्तु साधनान्यपीत्याह अग्नये खाण्डवं दातु-
मिति । भगवांस्तत्र निवसन्नित्यनुवर्तते । अन्यथा
अग्निरपि सतुष्टो न भवेत् । भगवान् भक्तानां
हितार्थं गुणभावमपि प्राप्तवानिति वक्तुमर्जुन-
स्य सारथिरासेत्युक्तम् ॥२५॥

विश्वकर्मापि भगवदुपयोगाभावे ज्ञाते न

व्याख्यानार्थ—यह उसकी कृति का आग्रह नहीं है, क्यों कि श्रीकृष्ण ही सब के स्वामी हैं ।
जब ही भगवान् मन में अथवा उनको पास बुलाकर स्थित हुए, तब पाण्डवों ने प्रार्थना की अर्थात् यह
प्रार्थना भगवान् के मन द्वारा भगवान् को की गई है । जैसे किसी को संदेश द्वारा कहा जाता है वैसे
यहाँ भी भगवान् को जो करना चाहिये वह संदेश की भाँति कहा गया है । अर्थात् संदेश भेजने वाले
भगवान् सुनने वाले भी भगवान् ही हैं, तब ही परम अद्भुत नगर विश्वकर्मा से निर्माण कराया ।



विश्वकर्मा से बनवाने का कारण यह था कि दूसरे से बनवाने से दुर्योधन आदि का निराकरण नहीं होता था । यों तो भगवान् मन से भी बना लेते और उसमें किसी प्रकार के दोष भी नहीं होते ॥ २४ ॥

यदि विश्वकर्मा जानते कि यह नगर भगवान् के उपयोग में न आएगा तो, सुन्दर न बनाता, इसलिये आप वहाँ बिराजमान होकर बनवाने लगे, जिससे उसको 'विश्वास' हो गया कि इसमें भगवान् बिराजेंगे, अतः अतीव अद्भुत नगर बनाने लगा । तब तो भगवान् अपने लिये बनवाते हैं ? इस शका के मिटाने के लिये कहते हैं कि 'स्वानामेव प्रियं चिकिर्षयन्' भगवान् अपने सम्बन्धो सुहृदों का प्रिय करने की इच्छा करते थे, इसलिये अपने लिये ही नहीं, किन्तु सुहृदों के सुख के लिये यह कार्य करवाया है । भगवान् ने केवल उत्तम स्थान ही तैयार नहीं करवाया किन्तु आप वहाँ बिराज कर खाण्डव वन को अग्नि को दे दिया । यदि भगवान् यों न करते तो 'अग्नि देव' प्रसन्न न होते । भगवान् भक्तों के हित के लिये गुणरूप भी धारण करने लगे, जैसे कि आप अर्जुन के सारथी बने, सारथी का कार्य गुण रूप का कार्य है ॥ २५ ॥

आभास—गुप्ततयापि स्थित्वा अर्जुननाम्नैव इन्द्रादिजयं करिष्यामीति भगवद-
ध्यवसायं ज्ञात्वा अग्निरप्यर्जुने संतुष्टो जात इत्याह सोऽग्निस्तुष्ट इति ।

आभासार्थ—गुप्त रहकर भी, अर्जुन नाम से इन्द्रादिकों को जीतूँगा, इस प्रकार भगवान् का निश्चय देख, अग्नि देव भी अर्जुन पर प्रसन्न हुआ, जिसका वर्णन 'सोऽग्निः' श्लोक में कहते हैं—

श्लोकार्थ—सोऽग्निस्तुष्टो धनुर्दादयान्श्वेतान् रथं नृप ।

अर्जुनायाक्षयौ तूणौ वर्म चाभेद्यमस्त्रिभिः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! उस अग्नि ने प्रसन्न होकर, अर्जुन को धनुष, श्वेत घोड़ा, अक्षय तरकस, अस्त्रों से अकाट कवच दिया ॥२६॥

सुबोधिनी—अग्नेः पञ्चाङ्गानि पञ्चापि दत्त-
वान् । 'धनुर्यज्ञादुत्पन्नमिषवश्च वज्रजन्मा ही'ति
श्रुतेः । श्वेताः हयाः सात्त्विकाः मथनादुद्भूताः

आग्नेया एव । अक्षयतूणीरावपि साहचर्यादा-
ग्नेयौ । सर्वैरेवास्त्रिभिरभेद्यं वर्म दैवत्यमपि
'अग्निः सर्वा देवता' इत्याग्नेयमेव ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—अग्नि के पाँच अङ्ग हैं । वे पाँच ही अर्जुन को दिये । यज्ञ से 'धनुष' उत्पन्न हुआ है, तीर भी यज्ञ से जन्मे हैं, योंश्रुति में कहा है कि अग्नि के मथन के समय, सात्त्विक घोड़े पैदा हुए हैं, अतः वे भी आग्नेय हैं । अर्थात् अग्नि से उत्पन्न हुए हैं । अक्षय तरकस भी साथ रहने वाले होने से आग्नेय माने जाते हैं । सब अस्त्रों से श्री अभेद्य

'वर्म' अर्थात् कवचा ये पाँचों ही देवतय हैं, इसलिए कहा है, 'अग्निः सर्वाः देवताः' जिसका तात्पर्य है कि ये अग्नि के ही सम्बन्धी अङ्ग हैं ॥२६॥

आभास—अन्यदपि दापितवानित्याह मयश्च मोचित इति ।

आभासार्थ—अन्य भी दिलाया यह वर्णन 'मयश्च' श्लोक में करते हैं--

श्लोक—मयश्च मोचितो वह्नेः सभां उपाहरत् ।

यस्मिन्दूर्योधनस्यासोज्जलस्थलदृशि भ्रमः ॥२७॥

श्लोकार्थ—और वहाँ अग्नि से मय को बचाया, इस कारण से मय ने अर्जुन को एक सभा दी, जिसमें दूर्योधन को जल में थल का और थल में जल का भ्रम हुआ ॥२७॥

सुबोधिनी—अत्राशेषविशेषकथा भारतादनु-
सन्धेया । वह्नेर्मोचितो मयः सख्ये सभामुपाह-
रत् । भगवता मोचितः भगवते स्वकार्यं दातुम-
युक्तम्, भगवति न प्रभवतीति च, उपकारश्च
कर्तव्यः, अतः साक्षाद्दातुमशक्तः सख्ये अर्जुनायो-

पाहरत् । सख्ये दत्तं च भगवान् मन्यते । यद्य-
प्यर्जुनः सखा तथापि तत्सम्बन्धात् राज्ञे दत्त-
मिति । तस्या उपयोगमाह यस्यामिति । जले
स्थलभ्रमः, स्थले च जलभ्रम इति । वस्तुनि न
भ्रमः, किन्तु दृश्येव ॥२७॥

व्याख्यानार्थ—मय की समग्र कथा भारत से जाननी । वह्नि से छूटे हुए मय ने मित्र^१ को एक सभा दी । भगवान् ने छुड़ाया और भगवान् को अपना कार्य देना उचित नहीं समझा । भगवान् पर इसका प्रभाव न पड़ेगा, और उपकार तो करना चाहिए अन्यथा कृतन्धता देखने में आएगी । अतः साक्षात् भगवान् को देने में अशक्त होने से उनके मित्र अर्जुन को दी । मित्र को मिली हुई वस्तु अपने को मिली मानेंगे । यद्यपि मित्र तो अर्जुन ही है, तो भी उसके सम्बन्धी होने से राजा को दी । उसका^२ उपयोग कहते हैं कि जिसमें दूर्योधन को जल में स्थल का भ्रम हुआ और स्थल में जल का भ्रम हुआ था । यह भ्रम वस्तु में नहीं था, किन्तु दूर्योधन की दृष्टि में भ्रम हुआ था ॥२७॥

आभास—एवं मुख्यशक्त्या ऐश्वर्यरूपया स्वरूपज्ञानरूपया वा यावत्कर्तव्यं तत्कृत्वा तावत्तामात्मसादकृत्वा अन्यथा अन्यथा सर्वात्मना अन्योपकारो न भवतीति तस्या विवाहं कर्तुं भगवान् द्वारकां गत इत्याह स तेनेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार अपने ऐश्वर्य रूप अथवा स्वरूप के ज्ञान रूप मुख्य शक्ति से जितना करना चाहिए था वह करके उससे उसको आत्मसात्^३ न करके, अन्यथा यदि अपने काबू में करले तो सर्वात्म रूप से दूसरों का उपकार न हो सकता, यों उससे विवाह करने के वास्ते भगवान् द्वारका गए, जिसका वर्णन 'स तेन' श्लोक में करते हैं ।



श्लोक — स तेन समनुज्ञातः सुहृद्भिश्चानुमोदितः ।

आययौ द्वारकां भूयः सात्यकिप्रमुखं वृतः ॥२८॥

श्लोकार्थ—वे राजा अर्जुन उस मय से परामर्श ले सुहृदों से अनुमोदित हो सात्यकि आदि मुख्य यादवों को साथ कर, द्वारका लौट आए ॥२८॥

सुबोधिनी—सोऽर्जुनः सखा राजा वा । तेन मयेनार्जुनेन वा सम्यगनुज्ञातः स्वस्य कृतकार्यत्वं ज्ञात्वा सर्वैरेव बन्धुभिर्गमनं कृतं चानुमोदितः, चकाराद्देवैरपि । स्वकृतं सर्वजनीन जातमिति ज्ञापयितुमेतदुक्तम् । यैः सह गतः तैः सह पुनरा-

गत इति । कृत्यैव ते कृतार्थाः कृता इति न सहायार्थं तेषामुपयोगः कर्तव्य इति सूचितम् । अतः सात्यकिप्रभृतयस्तत्र न विनियुक्ताः । नयनानयने तु विवाहस्य प्रामाणिकत्वज्ञापके ॥२८॥

व्याख्यानार्थ—‘सः’ उनसे सखा अर्जुन अथवा राजा, ‘तेन’, मय से वा अर्जुन से अच्छी तरह परामर्श पूर्वक अनुमति ले, अपना कार्य पूर्ण हुआ जान कर, समस्त बान्धवों के साथ गमन किया और उन्होंने इसकार्य का अनुमोदन भी किया । च’ पद का भावार्थ है कि देवों ने भी अनुमोदन किया । यों कहने का तात्पर्य है, कि जो हमने किया, वह सर्व जनता को पसंद आया है । जिनके साथ गए उनके साथ लौटे । अपने कार्य से सब को कृतार्थ किया । इससे यह सूचित किया कि सहायता के लिए उनका उपयोग कर्तव्य नहीं है । अतः सात्यकि प्रभृति यादवों को उस काम में नहीं लगाया था । ले जाना और ले आना ये दोनों तो विवाह की प्रामाणिकता को जताने वाले हैं ॥२८॥

आभास—अतः सर्वसम्मतां पश्चात्तामुपयेम इत्याह अथेति ।

आभासार्थ—अतः सर्व की सम्मति से उससे पश्चात् विवाह किया वह ‘अथ’ श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—अथोपयेमे कालिन्दौ सुपुण्यत्वृक्ष ऊजिते ।

वितन्वन्परमानन्दं स्वानां परममङ्गलम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—अच्छा पवित्र बलवान् ऋतु तथा नक्षत्र देख अपने बान्धवों को परम आनन्द एव मङ्गल देते हुए भगवान् ने कालिन्दी से विवाह किया ॥२९॥

सुबोधिनी—सुष्ठु पुण्ये नक्षत्रे । ऊजिते सर्वग्रहानुगुणे । पुण्यनक्षत्रं वैदिकम् । ऊजितत्वं ज्योतिः-शास्त्रप्रशस्तत्वम् । वितन्वन् परमानन्दमिति सर्वेषां सम्मतिरुक्ता, रुक्मिणीप्रभृतीनामपि ।

किञ्च । विवाहमात्रेण न सुखं दत्तवान्, किन्तु स्वरूपतोऽपि परममङ्गलरूपः अतो विशिष्टः फलदायी जात इत्यर्थः ॥२९॥

व्याख्यानार्थ—ज्योतिष शास्त्र से प्रशंसनीय, शुद्ध, सर्वग्रह जिसमें शुभ थे तथा वैदिक पुण्य नक्षत्र में परम आनन्द का विस्तार करते हुए, यों कहने से बताया कि रुक्मिणी प्रभृति सब की तथा सर्व



बान्धवों की यों करने में सम्मति है, केवल विवाह कर सुखदान नहीं किया, किन्तु अपने स्वरूप से भी सब के लिए परम मङ्गल रूप हुए। अतः विशेष उत्तम फल देने वाले हुए, यह तात्पर्य है ॥२६॥

आभास—विवाहान्तरमाह द्वाभ्याम्, विन्दानुविन्दाविति ।

आभासार्थ—‘विन्दानुविन्दा’ इन दो श्लोकों से दूसरे विवाह को कहते हैं ।

श्लोक—विन्दानुविन्दावावन्त्यौ दुर्योधनवशानुगौ ।

स्वयंवरे स्वभगिनीं कृष्णो सक्तां न्यषेधताम् ॥३०॥

राजाधिदेव्यास्तनयां मित्रविन्दां पितृष्वसुः ।

प्रसह्य हतवान्कृष्णो राजन् राज्ञां प्रपश्यताम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—मित्रविन्दा नाम वाली राज कन्या जो विन्द और अरविन्द की बहिन थी, उसने श्रीकृष्ण को वरना कहा परन्तु उसके भ्राताओं ने निषेध किया, क्योंकि वे दुर्योधन के वश तथा पीछे चलने वाले थे ॥३०॥

मित्रविन्दा जो अपनी फूफी^१ राजाधिदेवी की कन्या थी, उसको राजाओं के देखते हुए बलात्कार से कृष्ण हर ले गए ॥३१॥

सुबोधिनी—द्वितीयपक्षस्थेयम् । तानप्युद्धतुं भगवान् गृह्णाति । मित्रविन्दाया अवन्तिदेशे स्थितिः । तत्रैव स्वयंवरः । तत्र दुर्योधनादयोऽपि गताः । भगवांश्च । ततः स्वयंवरणप्रस्तावे दूराद्भगवन्तं दृष्ट्वा निकटे स्थितौ भ्रातरावाह मया कृष्णो वरणीय इति । ततस्तौ तस्या आसक्तिं च ज्ञातवन्तौ । तयोर्विचारेण दुर्योधनो वरणीय इति । यतस्तस्यैव वशावनुगौ च । यथा रुक्मी । स्वभगिनी 'स्वोदरेति न तत्रान्यं प्रतिबन्धं कर्तुं शक्तः । न्यषेधताम् । भगवत्सम्मुखे विलम्बमानाम् । ततः अपसार्य दुर्योधनसमीपे नेतुं प्रवृत्तावित्यर्थः । ततो भगवानेतज्ज्ञात्वा तौ दूरीकृत्य रथवेगेन

शीघ्रमागत्य तां जहारेत्याह राजाधिदेव्या इति । राजाधिदेवी वसुदेवभगिनीं नवमे निरूपिता । सा तु लोकन्यायेन मातुलकन्यावत् भाग एव भवति । अतो न दानापेक्षा । कन्यायां परमन्यासक्तायां ग्राह्या नवेति विचारः । सापि राजस्वधिकं दोष्यतीति भगवन्तमेव मन्यते । कन्यापि मित्राण्येव विन्दतीति नानभिप्रेतं प्राप्नोति । पितृष्वसुरिति कुलद्वयेऽपि तस्या विवाहः सम्मत इति बोधितम् । प्रसह्येति भ्रातृभ्यामाच्छिद्य । यतः कृष्णः स्त्रीणां हितकर्ता । अन्ये च राजानः साक्षिणो जाताः । तेनायं विवाहः सर्वसम्मतः सर्वसाक्षिकश्च । संबोधनं च तादृशम् । सम्मतमिति सम्मत्यर्थम् ॥३१॥

व्याख्यानार्थ—यह दूसरे पक्ष^१ की थी, उनका भी उद्धार करने के लिए भगवान् ग्रहण करते हैं । मित्रविन्दा का निवास अवन्ती में था । वहीं स्वयंवर हुआ । वहाँ दुर्योधन आदि गए, और भगवान्



भी पधार थे । पश्चात् स्वयंवर के मौके पर भगवान् को दूर से देखकर समीप में स्थित भ्राताओं को मित्रविन्दा बहने लगी कि मैं कृष्ण को वरूँगी । यह सुनकर वे इसकी आसक्ति श्रीकृष्ण में है यह जान गए । उनका विचार था कि यह दुर्योधन को वरण करे क्योंकि वे उसके वश तथा अनुयायी थे । जैसे रुक्मी मित्र विन्दा इनकी सगी बहन थी, इसलिए कोई इनके विचार में रुकावट करने में समर्थ नहीं था । अतः इन्होंने बहिन को कृष्ण से वरण करने के लिए रोका । वह उस समय कृष्ण के सामने खड़ी थी । वहाँ से दूर हटाकर दुर्योधन के समीप लेने में प्रवृत्त हुए । तब भगवान् रथ के वेग से शीघ्र पधार कर उनको दूरकर उसको ले गए । राजाधिदेवी मित्रविन्दा की माता वसुदेव की बहिन थी । यह नवम स्कन्ध में निरूपण किया है, अतः वह लोक न्याय से मामे की कन्या की तरह इष्ट ही होती है । अतः इसके लिए दान की अपेक्षा नहीं है । शेष यह विचार अन्य में आसक्त कन्या लेनी चाहिए वा नहीं, वह भी सब राजाओं में विशेष प्रकाशमान होने से भगवान् को ही उत्तम मानती है । कन्या भी हितकारों को चाहती है । जिससे दुःख को नहीं पाती है । भूआ कहने से यह बताया कि दोनों कुलों में उसका विवाह हो सकता है । बलात्कार कहने का आशय है कि भ्राताओं से छीनकर ले आये, क्योंकि कृष्ण स्त्रियों के हितकारी हैं । दूसरे राजा तो केवल साक्षी बन गए । उससे यह विवाह सर्व सम्मत हुआ तथा सर्व इसके साक्षी बने और सम्बोधन भी वैसा सर्व सम्मति के लिए दिया है ॥३०-३१॥

ग्रामास—तृतीयं विवाहमाह भक्तिरूपम्, नग्नजिदिति चतुर्विंशतिभिः ।

आभासार्थ—भक्ति रूप तीसरा विवाह 'नग्नजित्' श्लोक से २४ श्लोकों में कहते हैं ।

श्लोक—नग्नजिज्ञाम कौरव्य आसीद्राजातिधामिकः ।

तस्य सत्याभवत्कन्या देवी नाग्नजिती नृप ॥३२॥

श्लोकार्थ—हे कुरुवंश में उत्पन्न नृप ! नग्नजित नाम वाला राजा बहुत धर्मात्मा था । उसकी कन्या नाग्नजिती सत्या थी ॥३२॥

सुबोधिनी—ज्ञाने सर्वे विरोधिनः, भक्ती प्रकृतिरेवेति व्यसनान्येवात्र बाधकानीति तान्येकेन रूपेण दूरीकर्तुं मशक्यानीति सप्तविधा साधन-शक्तिरुक्ता । अन्यथा त्रिभिरेव प्रेमसम्पत्ती पाद-सेवनादीनां वैयर्थ्यमेव स्यात् । सस्यात्मनिवेदने

च भगवता स्वधर्मस्थापनार्थं क्रियेते । तत्कृत्वा भगवत्तुल्यः पश्चाद्व्यसनानि समूलं दूरीकरोतीति ज्ञापयितुं स्वयं भगवानत्र सप्त रूपाणि करिष्यति । इयं च भक्तिः पाषण्डे न भवतीति ज्ञापयितुं नग्न-जिद्राज्ञः कन्यात्वेन सा निरूप्यते । नग्नान् वेदर-

१--मित्रविन्दा को ।

२ - लेने योग्य हिस्सा, ३ - मित्रविन्दा



हितान् जयतीति । अत एव प्रसिद्धः । त्वमपि कौरवः । कौरवदंशे उत्पन्नः विश्वासं करिष्यतीति । न केवल विपक्षानेव दूरीकरोति, किन्तु श्रोतस्मार्तादिसर्वधर्मपरः । अतिधार्मिकः । स्वरूपतोऽपि महान् राजा । तस्य गुणत्रयमपि समीचीनमिति तत् उत्पन्ना नाग्नजितीत्याह तस्येति । कौसल्येति पाठे कोसलदेशाधिपतिरयोध्याराजा । सत्येति नाम । स्वरूपतः फलतः साधनतश्चेयं भक्तिः सत्येति । अत एव वेदविरुद्धमतेषु अधमेषु कर्मविहीनेषु भक्तिः सत्या न भततीति द्योतितम् । उत्कर्षवादा एवातोऽन्यथा । अन्यथा भक्तिशास्त्रं

व्यर्थमेव स्यात् । सहस्रशो भगवदशा दृष्टप्रत्ययान्यपि सम्पादयन्तीति शास्त्रे अनुक्ता भक्तिः न भक्तिरिति । भगवत्साक्षात्कारात्पूर्वमेवैषा व्यवस्था । सा च देवतारूपा अलौकिकी कन्या न कमपि भगवदंशं गृहीत्वा स्थिता । असाधारणी मूलभूतेनैव ग्राह्या, न केवलम्, यतो भक्तिः प्राप्यते, स एव वेदानुसारी । किन्तु यत्रापि तिष्ठति तेनापि तथा भाव्यमिति नाग्नजितीत्युक्तम् । पितुरनुसारिणी, न मातुरितो ज्ञापयितुं च । 'धन्या पितृमुखी कन्या' इति वाक्यात् । नृपेति स्नेहार्थं सम्बोधनमनासक्त्यर्थं च ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—ज्ञान में प्रपञ्च के सर्व पदार्थ विरोधी हैं । भक्ति में केवल प्रकृति विरोधी है । जिससे इसमें व्यसन+ ही बाधक है । वे एक ही तरीके से दूर करने कठिन हैं । इसलिए उनको दूर करने के लिए सात प्रकार की साधन शक्ति कही है । यों नहीं^१ कहते तो तीन श्रवण, कीर्तन और स्मरण से ही प्रेम सम्पत्ति प्राप्त हो जावे तो पाद सेवन आदि की व्यर्थता हो जाती । शेष दो मुख्य तथा आत्मनिवेदन तो भगवान् ने अपने धर्म की स्थापना करने के लिए ही किये हैं । अतः इन दोनों से भगवत्तुल्य कर, पश्चात् व्यसनों को समूल दूर करते हैं । यह जताने के लिए भगवान् स्वयं सात स्वरूप धारण करेंगे । यह भक्ति पाषण्ड में नहीं होती है । यह जताने के लिए कहा है कि बड़े धर्मात्मा नाग्नजित के यहां ही वह कन्या रूप से प्रकट हुई है । यों निरूपण किया जाता है । यह राजा बड़े धर्मात्मा हैं, ऐसा क्यों प्रसिद्ध हुआ ? जिसका वर्णन करते हैं कि यह राजा जो वेद को नहीं मानते हैं अर्थात् अवेदिक हैं उनको जीतता है । तात्पर्य यह कि उनको वेद का तात्पर्य समझाकर वेद धर्म में रुचि उत्पन्न कर भगवद्भक्त बनाते हैं । तुम भी कुरुवंश में उत्पन्न हुए हो । इसलिए विश्वास करोगे ही । केवल विपक्षियों को दूर करता है यों नहीं किन्तु श्रोत स्मार्त धर्म के परायण भी करता है । जिससे वे भक्त बन जाते हैं, इत्यादि कारणों से वह अति धर्मात्मा था एवं स्वरूप से भी महान् राजा था । उसके तीन गुण भी समीचीन थे, वैसे राजा से उत्पन्न कन्या भी नाग्नजिती थी । यदि 'कौशल्या' पाठ माना जाय तो वह कोसल देश का अधिपति अयोध्या का राजा था । इसका ही नाम सत्या था, स्वरूप से, फल से और साधन से यह 'सत्या' भक्ति रूपा है । इस कारण से ही अधम जो वेद विरुद्ध मत है और कर्म से हीन है, उनमें सत्याभक्ति^१ नहीं होती है । यह प्रकाशित

+ भूख, प्यास, रोग और कर्म, ये चार लोक में उपद्रव करने वाले हैं । जूझा, शराब पीना और स्त्रियां ये उतने उपद्रव करने वाले नहीं, इस प्रकार सात व्यसन हैं ।

१—सात प्रकार की साधन शक्ति न कहते ।

१—सच्ची भक्ति नहीं होती है,



किया है। इस कारण से जो इससे अन्य प्रकार कहते हैं अर्थात् अधमों में असत्य भक्ति हो तो वह भी उद्धार करने में समर्थ है। वह केवल भक्ति का उत्कर्ष दिखाने के लिए कहा है। इस प्रकार उत्कर्ष न दिखाया जाय तो भक्ति शास्त्र ही व्यर्थ हो जावे। अथवा अधमों में भी यदि सत्या भक्ति मानी जावे तो सदाचार के लिए जो शास्त्र में शासन है वह व्यर्थ हो जाय, क्योंकि अधमों में सदाचार आदि शिष्ट कर्म नहीं रहता है। लोक में जिनका प्रत्यक्ष प्रभाव देखने में आता है ऐसे हजारों भगवदंश देखने में आते हैं। ऐसों में जो भक्ति है वह शास्त्र सिद्ध सत्य भक्ति नहीं है, केवल भक्ति का आभास है। भगवान् के साक्षात्कार से प्रथम की ही यह व्यवस्था है। वह देवता रूप कन्या अलौकिक है। किसी भी भगवदंश को ग्रहण कर स्थित नहीं है। यह साधारण नहीं है, किन्तु मूलभूत स्वरूप से ही ग्रहण करने योग्य है, न केवल वही वेदानुसारी मार्ग वा महात्म्य है जिससे भक्ति प्राप्त होती है, किन्तु जहां भी रहती हो उसको भी वैसे हो जाना चाहिए, इसलिए 'नाग्नजितो' कहा है, यह संज्ञा इसलिए दी है कि यह सत्या, पिता का अनुसरण करने वाली है, न कि माता का। शास्त्र में कहा है कि 'धन्या पितृ मुखी कन्या' जो कन्या, पिता के मुख^१ को देख कर चलती है, वह धन्य^२ है। हे नृप ! यह संबोधन, स्नेह अथवा अनाशक्ति प्रकट करने के वास्ते दिया है ॥३२॥

आभास—सा भगवन्निमित्तमेव कथं स्थितेति शङ्कां परिहर्तुं तत्प्राप्तौ व्यसनानां च प्रतिबन्धका वृषाः स्थिता इत्याह न तां शेकुरिति ।

आभासार्थ—वह भगवान् के आने के लिए ही क्यों रुकी ? इस शङ्का को दूर करने के लिए 'न तां शेकुः' श्लोक में कहते हैं कि उनकी प्राप्ति में व्यसनों की भांति 'बैल' प्रतिबन्धक थे ।

श्लोक—न तां शेकुर्नृपा वोढुमजित्वा सप्त गोवृषान् ।

तौक्ष्णशृङ्गान् सुदुर्मर्षान् वीरगन्धासहान् खलान् ॥३३॥

श्लोकार्थ—राजा ने प्रतिज्ञा की थी कि वह मेरी कन्या को वर सकता है, जो इन वीर पुरुषों की गन्ध को भी सहन न करने वाले, दुष्ट, तीखे सींगों वाले, अति दुर्धर्ष, सात साड़ों को जीतेंगे। जो राजा वहाँ आए वे इनको जीत न सके इसलिए इस सत्या को भी ले न सके ॥३३॥

सुबोधिनी—यतो नृपा राजसाः । अत एव तां वोढुं सप्तगोवृषान् अबध्यान् रुधिरसम्बन्धमपि कारयितुमयुक्तान् स्वतः अजित्वा तां वोढुं न शक्ताः । सप्तभिर्मिलितैर्जये सप्तानां सा भवतीति वेदिके पक्षे से निषिद्ध इति नग्नजिता न क्रियते ।

'तस्मात् नैका द्वौ पती विन्दत' इति श्रुतेः । वार्क्षीद्वीपदीप्रभृतिषु 'ते दश प्राणाः, एते चेन्द्राः, पञ्चमुखो वा महादेव' इति कालवशात्पुष्टिवशाद्वा प्रलयात्पूर्वमेवं भवतीति च मर्यादामेवं कर्तुं युक्तम् । तस्माद्भक्तिर्भगवतैव प्राप्तव्या, ज्ञानेन च भगवत्त्व-



मिति पूर्णबोधा एव भगवद्भक्ता भवन्ति । तान्
वृषान् अजेयत्वार्थं वर्णयति तीक्ष्णशृङ्गानिति ।
शरीरेण दुष्टता निरूपिता । अजेयता च । सुदुर्म-
र्षानिति । दुष्टो मर्षः क्रोधो येषामिति स्वभावदोषो

निरूपितः । अन्तः-करणदोषो वा । इन्द्रियदोषा-
नाहं । वीरस्य गन्धमपि न सहन्त इति । खलानिति
सहजो जीवदोषः । आसुरास्ते जीवा इति । अतो
दोषचतुष्टयादजेयाः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—नृप राजस थे, इसलिए ही जो अवध्य हैं और जिनका स्वल्प भी रक्त न निकले, इस प्रकार उन सात सांडों को अपने आप ही न जीत कर उसको लेने के लिए समर्थ न हुए । सात मिलकर इनको जीते तो वह कन्या सातों की हो जाए । यह कार्य वैदिक पक्ष में निषिद्ध है, इसलिए धर्मात्मा नग्नजित इस अवैदिक कार्य को नहीं करना चाहता है, क्योंकि श्रुति में कहा है कि 'तस्मात् नैका द्वौ पती विन्दते' एक कन्या दो पति नहीं कर सकती है । वार्क्षी द्रौपदी आदि में जो अन्यथा हुआ है, उसको समझाते हैं कि वे दश प्राण थे । ये पांच ही इन्द्र थे अथवा पञ्चमुख महादेव थे । यों काल वश वा पुष्टि वश से वैसा हुआ । प्रलय से पहले यों होता था, किन्तु मर्यादा में यों करना योग्य नहीं है । इस कारण से सत्या रूपा भक्ति तो भगवान् को ही प्राप्त करनी चाहिए । ज्ञान से भगवत्त्व होता है, इसलिए जिनको पूर्ण ज्ञान है वे ही भगवद्भक्त होते हैं । वे सांड जोतने जैसे नहीं हैं । जिनके गुणों का वर्णन करते हैं । उनके सींग तीक्ष्ण थे, इससे उनके शरीर से दुष्टता दिखाई, और अजेय-पन बताया । दुष्ट क्रोध जिनमें था, इससे स्वभाव का दोष कहा । अथवा अन्तःकरण दोष कहा । वीर की गन्ध भी सहन नहीं कर सकते हैं, इससे इन्द्रिय दोष कहा है । वे खल थे अतः स्वाभाविक जीव दोष कहा । वे आसुरी जीव थे, अतः इन चार दोषों से अजेय थे ॥३३॥

आभास—अतः सर्वेषु निवृत्तेषु भगवान् प्रवृत्त इत्याह तां श्रुत्वेति ।

आभासार्थ—सब जब निवृत्त हो गए तब भगवान् प्रवृत्त हुए । वह तां श्रुत्वा' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तां श्रुत्वा वृषजिह्वभ्यां भगवान्सात्त्वतां पतिः ।

जगाम कौसल्यपुरं सेन्येन महता वृतः ॥३४॥

श्लोकार्थ—यादवों के पति भगवान् ने सुना कि यह सत्या उसको मिलेगी, जो सांडों को जीतेगा, यह सुनकर बड़ी सेना के साथ आप अयोध्या गए ॥३४॥

सुबोधिनी—यो हि व्यसनापनुत्, स एव विषय इति लोके फलिष्यति ।

व्याख्यार्थ—जो निश्चय से व्यसनों को तोड़ देता है, वह ही विषय होता है, यों लोक में फलेगा ।

कारिका—क्षुत्पिपासे तथा रोगाः कर्माणि द्विविधानि च ।

लोकोपद्रवरूपाणि चत्वार्याविश्यकानि हि ॥१॥



कारिकार्थ—भूख, व्यास, रोग, दो प्रकार के कर्म (एक निषिद्ध सुवर्ण आदि को चोरी, दूसरे काम्य कर्म) ये आवश्यक चार, लोकों को उपद्रव करने वाले हैं ॥१॥

कारिका—छूतं पानं स्त्रियश्चेति त्रीण्यनावश्यकानि हि ।

मृगयादिर्न सर्वेषां तस्मान्न व्यसनानि हि ॥२॥

कारिकार्थ—जूआ, मद्यपान और स्त्रियाँ ये तीन व्यसन आवश्यक नहीं है, शिकार आदि सब नहीं करते हैं इसलिए वे व्यसन नहीं हैं ॥२॥

कारिका—विशेषेणासनं यत्र व्यसनं तत्प्रकीर्तितम् ।

ज्ञातेऽपि दोषे यस्यास्ति न निवृत्तिस्तदेव तत् ॥३॥

कारिकार्थ—जिसमें विशेष स्थिति या आसक्ति होती है उसको व्यसन कहते हैं । जिसके दोष जाने भी जावे किन्तु वह छूटे नहीं, वह ही व्यसन कहलाता है ॥३॥

सुबोधिनी—भगवानेव तानि दूरीकृतुं शक्त इति वृषजिन्मात्रलभ्यां तां श्रुत्वा । समर्थो भगवान् । सात्त्वतां भक्तानां पतिः । अन्यथा भक्तो-
द्वारो न भवतीति स्वयं जगाम । कौसल्याः

कौसलदेशराजानस्तेषां पुरमयोध्याम् । महता सैन्येन वृत इति । महत्त्वाकाङ्क्षिणो राज्ञः संतोषार्थम् । 'देवानां पूरयोध्या' इत्यादिश्रुतौ नगर्या अपि दैत्यनिवारकत्वमुक्तम् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ही उनको दूर करने के लिए समर्थ हैं, इसलिए वह उसको मिलेगी जो सांडों को जीतेगा । यह सुनकर यादवों के पति, समर्थ भगवान् स्वयं वहाँ पधारे । नहीं पधारते तो भक्त का उद्धार न होता । कौसल देश के राजाओं को कौसल्य कहा जाता है । उनका पुर 'अयोध्या' कहाता है । 'देवानां पूरयोध्या' श्रुति में कहा है कि 'अयोध्या' देवताओं की नगरी है । जिससे यह बताया कि वहाँ दैत्यों का निवास नहीं हो सकता है । भगवान् बड़ी सेना, महत्त्व की इच्छा वाले राजा के सन्तोष के लिए ले गए, अन्यथा आपको सेना की आवश्यकता ही नहीं थी । ३४॥

आभास—ततस्तस्याःभिनन्दनमाह स कौसलपतिरिति ।

आभासार्थ—पश्चात्, उसका अभिनन्दन 'स कौसल पति' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—स कौसलपतिः प्रीतः प्रत्युत्थानासनादिभिः ।

अर्हणेनापि गुरुणा पूजयन् प्रत्यनन्दत ॥३५॥

श्लोकार्थ—वह कौसल का राजा भगवान् को पधारते देख, आसन से उठ, आसन आदि देने आदि अनेक प्रकार की महती पूजा द्वारा अभिनन्दन करने लगा ॥३५॥



सुबोधिनी—महांश्चेन्नानुमन्येत, तदा बलाद-
नभिप्रेतानां सम्बन्धिनी समीचीना न भवतीति
तस्य पुरस्कार उच्यते । लौकिकन्यायेन स कार-
ण्यतीति शङ्कां वारयितुमाह प्रीत इति । प्रत्यु-
त्थानमासनं च आदिभूते येषाम्, स्वयमुपविष्टः ।
गुरुणा ग्रहणेनेति । अमूल्यद्रव्यैः पूजयामास ।

एवं कर्तुः कन्यादानमभिप्रेतं भवतीति । ततः
प्रत्यनन्दत साधु समागतमिति प्रतिनन्दनं च
कृतवान् कदाचिद्भगवान् कृपां कुर्यात्, तदा कन्या
कृतार्था भविष्यतीति । अनेन राजा सन्दिग्ध इत्युक्तम् ।
वृषजयाभावेऽपि ॥३५॥

व्याख्यानार्थ—यदि महान् होता, तो इस प्रकार सत्कार न करता । तब बल से लाई जाती, तो
वह प्रेमियों की सम्बन्धिनी न होती । जिससे अच्छी न लगती, इसलिए बताते हैं कि वह अयोध्या
का पति महान् अर्थात् अभिमानी नहीं था । इसलिए आपका सत्कार करने लगा । यह सत्कार
लौकिक नीति के कारण किया होगा ? इस शङ्का निवारण के लिए कहा है कि 'प्रीतः' प्रसन्न
होकर, उठना और आसन आदि देना, जब आप बिराजे तब अमूल्य द्रव्यों से महती पूजा करने लगा ।
जो इस प्रकार पूजा करता है, वह कन्या देना अभीष्ट समझता है । पूजा के बाद स्वागत के शब्द
भले पधारे आदि कहने लगा । यों करने का आशय यह था कि भगवान् करे तो मेरी कन्या कृतार्थ
हो जावे । यों विचार करने से ज्ञात होता है कि राजा सन्दिग्ध था अर्थात् राजा की इच्छा ऐसी हो
गई कि साडों को न भी जीते तो भी मेरी कन्या कृपा कर ग्रहण करे तो अच्छा है ॥३५॥

आभास—अन्ये तु निःसन्दिग्धा एव, प्रतिज्ञापूरणाभावेऽपि तन्मात्रादयः कन्या
चेत्याह वरं विलोक्येति ।

आभासार्थ—दूसरे माता एवं कन्या आदि तो निःसंदेह थे । प्रतिज्ञा पूरण न होगी तो भी ये
ग्रहण करेंगे ।

श्लोक—वरं विलोक्याभिमतं समागतं नरेन्द्रकन्या चकमे रमापतिम् ।

भूयादयं मे पतिराशिषोऽमलाः करोतु सत्या यदि मे धृतो व्रतः ॥३६॥

श्लोकार्थ—अपनी इच्छानुकूल आए हुए वर को देख, जो कि रमापति हैं, उनको
प्राप्त करने की इच्छा करनी लगी । भगवान् को प्रार्थना करने लगी कि मुझे यह
वर मिले । यदि मैंने इसलिए व्रत आदि किये हैं तो प्रभु मेरी मनः कामना सत्य करें ॥३६॥

सुबोधिनी—कन्यया यो वरणीयः, सर्वेऽपि,
सोऽयं स्वयमागती वरयितुम्, तत्रापि स्वस्या-
भिमतम् । नरेन्द्रकन्या स्वयमपि विचक्षणा ।
अप्रहृतश्च भगवद्वरणमार्ग इति निरूपयितुं
विशेषणमाह रमापतिमिति । दृष्ट्वा दर्शनफलं
प्रार्थयति भूयादयं मे पतिरिति । ननु धर्मादीनां

भगवति सामर्थ्याभावात् कथं भगवान् पतिर्भवि-
ष्यतीत्याशङ्क्याह आशिषोऽमलाः सत्याः करो-
त्विति । अयं भगवानेव एतत्सर्वं सम्पादयतु ।
स्वस्मिन् स्वयमेव शक्तः । नन्वयं फलरूपः कथं
तत्कृते साधनतामापद्यत इति चेत्, तत्राह यदि मे
धृतो व्रतैरिति । व्रतैर्भगवन्नियमैः यैर्भगवान् वशे



भवति तादृशश्चेद्धृतः तदा अस्मदधीन इति मे
निर्दुष्टा आशिषः सत्याः करोतु । अनेन लोक-
प्रतीत्या गोपिकासु अन्यादृश्योऽप्याशिषः सत्या
करोतीति सूचितम् । अतो मम नास्त्येव सन्देह

इति भावः । अनेन सर्वासां भगवानभिप्रेत इति
निरूपितम् । अन्यथा व्रतकरण एव विरोधं
कुर्युः ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—जो वर कन्या तथा सब को अभीष्ट है कि यह ही वरण योग्य है, वह स्वयं वरने के लिए आगे हैं । अपनी सम्मति भी यह ही है । राजा की पुत्री स्वयं चतुर तथा विशेष लक्षणों वाली है । भगवान् के वरण का मार्ग तो बिना रुकावट वाला है । यों निरूपण करने के लिए 'रमापति' विशेषण दिया है । जिनको लक्ष्मी ने वरा है, उनको वरने में किसी प्रकार का संशय नहीं है । देखकर, दर्शन का फल लेना चाहती है । जिससे प्रार्थना करती है कि यह मेरा पति हो । भगवान् की प्राप्ति में धर्मादि की सामर्थ्य नहीं है तब भगवान् पति कैसे होंगे ? निर्मल आशावादि सत्य करें । अर्थात् भगवान् ही यह सब सम्पादन करें । आपमे आप ही समर्थ हैं । भगवान् स्वयं तो फलरूप हैं वह साधन रूप कैसे बनेंगे ? इस पर कहती है कि 'यदि में धृतो व्रतै' जिन नियमों से भगवान् वश होते हैं वे यदि मैंने किये हैं तो मेरे आधीन हो, अर्थात् मेरी कामनाओं को पूरण करें । एवं नियम पालन से प्राप्त आशीर्वादों को सत्य करें । इससे यह कहा कि गोपिकाओं की तरह दूसरों की भी आशिष सत्य करते हैं, अतः मुझे वरेंगे इसमें मुझको कोई सन्देह नहीं है, इससे यह सूचित किया कि भगवान् सब को अभीष्ट हैं, नहीं तो व्रत करने में ही विरोध करें ॥३६॥

आभास—अग्रे यत्पादपङ्कजेति श्लोकः कन्याया एव प्रार्थनारूप इति केचित् । केचित्तु राज्ञ इत्यग्रे पठन्ति । तत्र प्रसादः कन्याया एव युक्तः । अतोऽत्रैव व्याख्यायते । पूर्वं स्वव्रतविश्वासेन भगवान् करिष्यतीत्युक्त्वा, ईश्वरस्य को वा नियामक इति; तस्य तोषार्थमाकाङ्क्षां प्रकटोर्कुर्वतो प्रसादमेव प्रार्थयति यत्पादेति ।

आभासार्थ—इस निम्न 'यत्पादपङ्कज' श्लोक में कन्या ने प्रार्थना की है । यों कितने ही कहते हैं और किसी का मत है कि राजा की प्रार्थना का श्लोक है; इसलिए आगे पढ़ते हैं । इनमें कन्या का ही प्रसाद उचित है इस कारण से यहाँ ही इसकी व्याख्या की जाती है । पहले अपने किए हुए व्रत के विश्वास से कहा है कि भगवान् करेंगे, ईश्वर का नियामक कोई नहीं है । उनकी प्रसन्नता के लिए आकाङ्क्षा प्रकट करती हुई कृपा के वास्ते ही प्रार्थना 'यत्पाद' श्लोक में करती है ।

श्लोक—यत्पादपङ्कजरजः शिरसा बिभर्ति श्रीरब्जजः सगिरिशः सहलोकपालः ।
लोलातनूः स्वकृतसेतुपरीप्सयासौ काले दधत्स भगवान् मम केन तुष्येत् ॥

श्लोकार्थ—जिनके चरण कमल की रज, लक्ष्मीजी, ब्रह्माजी, महादेवजी और लोकपाल ये सब शिर पर धारण करते हैं, और जो अपनी मर्यादा की पालना के लिए स्वइच्छा से समय पर लीला विग्रह धारण करते हैं, वे परमेश्वर मुझ पर किस उपाय से प्रसन्न होंगे ॥३७॥

सुबोधिनी—भगवत्प्रसादे हि भगवानेव प्राप्स्यते, तदेव च काम्यते । तदतिदुर्लभम् । यत्र तस्य रज एव सर्वैः कामितमित्याह । यस्य पाद-पङ्कजरजः शिरसा बिभ्रति श्रीः । अट्जजो ब्रह्मा । गिरिशो महादेवः । तत्सहितः लोकपालैश्च सहितः । रजसा हि भगवदीयं शरीरं भवतीति पूर्वमुक्तम् । तदा भगवान् निःसन्दिग्धं प्राप्यते । स्वतन्त्रा भक्तिर्वा भवति । तत्रापि शिरसि बिभ्रति । एतच्छरीरवियोगे प्रथमं ततः एव देहा-रम्भकाः परिष्वङ्गं कुर्वन्तीति । लक्ष्म्या अपि भगवदवतारेषु अवतारोऽपेक्षित इति, सर्वेष्वेव देहेषु यथा भगवत्सम्बन्धो भवति, तदर्थं मृग्य-

मेव । ब्रह्मादीनामपि स्वाधिकारसमाप्त्यनन्तरं यथा तथा भवति तदर्थं धारणं पुनरधिकारनिवृ-त्त्यर्थम् । नन्वितः पूर्वास्ते कथं बिभ्रतोऽयाशङ्क्याह लीलातनूरिती । यो भगवान् स्वकृतानां धर्म-मर्यादानां परोपसया रक्षितुमिच्छया लीलात-नूर्दधत् भवति । तेन चरणरजःसम्बन्धप्रार्थना च युक्तेति भावः । एवं सर्वप्राथ्म्योऽयमेवेत्याह अमा-विति । स पुरः स्फुरतीति साधनविलम्बः सोढु-मशक्य इति, प्रसाद एवैतत्कार्यं सिध्यतीति, केन वा उपायेन तुष्येदिति जिज्ञासा । उक्त्वा चरणयोः पतित्वा प्रार्थनीयः, आहोस्विदन्यो व कश्चिदुपाय इति । भगवत्त्वादेव दानादिपक्षो निराकृतः ॥३७॥

ध्याह्वयार्थ — भगवान् के प्रसन्न होने पर ही भगवान् प्राप्त होंगे । वह ही कामना की जाती है, वह प्राप्त होना कठिन है । जहां उनकी चरण रज ही सब चाहते हैं, जैसे कि लक्ष्मी, ब्रह्मा, महादेव और लोकपाल । ये सब रज की ही कामना करते रहते हैं, क्योंकि उनके चरण रज से ही यह शरीर भगवदीय होता है । यों आगे कहा गया है, जब शरीर भगवदीय हो जाता है तब निश्चय से भगवान् प्राप्त होते हैं । अथवा 'स्वतन्त्र भक्ति' होती है । उसी अवस्था में भी रज को शिर पर धारण करते हैं, इस शरीर के वियोग होने पर भी प्रथम उससे ही देह के आरम्भ करने वाले तत्त्व मिलाप करते हैं अर्थात् अन्य देह भी भगवदीय ही बनती है । जब भगवान् अवतार ग्रहण करते हैं, तब लक्ष्मी के अवतार की भी अपेक्षा रहती है जो भी देह मिले उनमें जैसे भगवान् से सम्बन्ध हो, उसके लिए खोज करनी चाहिए, ब्रह्मादिक भी चरण रज इसलिए धारण करते हैं कि अपने अधिकार की समाप्ति के बाद इस अधिकार की निवृत्ति होकर भगवदीय देह की ही प्राप्ति होवे ।

यदि यह इच्छा इनकी है तो इससे पहले कैसे धारण करते थे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'लीलातनूः' जो भगवान् अपनी बनाई धर्म मर्यादा की रक्षा के इच्छा से लीला शरीर धारण करते हैं, इस कारण से चरण रज के सम्बन्ध की प्रार्थना उचित है, यह भाव है । इस प्रकार सब को इसकी ही प्रार्थना करनी चाहिए, जो सामने वा आगे स्फुरित हो रहे हैं । साधन विलम्ब सहना भी अब कठिन है अथवा सहा नहीं जाता है । आपकी कृपा ही इस कार्य को सिद्ध कर सकती है । किस उपाय से प्रसन्न होंगे, यह जिज्ञासा है । जाकर चरणों में पड़कर प्रार्थना की जाय वा दूसरा कोई उपाय है । भगवान् होने से दानादि से प्रसन्नता के पक्ष का निराकरण किया है ॥३७॥

आभास — अचिन्तितमपि कल्पयिष्यतीति संभावनया मनोरथः । अत एव भगवान् तमुपायं कल्पितवानित्याह अचित्तमिति ।



आभासार्थ—जिसका विचार भी न किया हो उसको भी आप रचेंगे, इस सम्भावना से मनोरथ किया, अतएव भगवान् ने वह उपाय रचा, जिसको 'अचितं' श्लोक में कहा गया है ।

श्लोक—अचितं पुनरित्याह नारायण जगत्पते ।

आत्मानन्देन पूर्णस्य करवाणि किमल्पकः ॥३८॥

श्लोकार्थ—राजा फिर भगवान् का पूजन कर कहने लगे कि, हे नारायण ! हे जगत् के पति ! आत्मानन्द से पूर्ण आपका मैं तुच्छ क्या पूजादि सत्कार कर सकता हूँ ॥३८॥

सुबोधिनी—पुनः पूजयित्वा भगवत्प्रेरणया स्वयमेव राजा किञ्चित्प्रार्थितवान् । इति वक्ष्यमाणप्रकारम्, यथा कन्यामनोरथः सिध्यति । अन्तर्बहिःपूर्णस्य नियामकस्य किं वक्तव्यं किं कर्तव्यमित्यभिप्रायेणाह । नारायण प्रेरक । जगत्पते बहिर्नियामक । अतो यथेच्छसि तथैव कारयसि ।

तस्मान्न किञ्चिद्वक्तव्यम् । किञ्च । अपूर्णं हि केनचित् क्रियया पूर्यते, अयं तु पूर्णानन्देनैव पूर्णः, आत्मैव आनन्दः । व्यापकत्वे विरलता स्यादिति बृहत्त्वलक्षणं पूर्णत्वमाह पूर्णस्येति । तत्राप्यहमल्पकः अत्यल्पः कुत्सितोऽल्पो वा, अनानन्दत्वात् ॥३८॥

व्याख्यानार्थ—राजा फिर भगवान् की पूजा कर, उनकी प्रेरणा से कुछ प्रार्थना करने लगा । यह कहने का ढंग है, जिससे कन्या का मनोरथ सिद्ध होता है । भीतर और बाहर पूर्ण तथा नियामक को, क्या कहा जाय कि क्या करना चाहिये, इस अभिप्राय से कहता है कि आप नारायण होने से प्रेरक हैं और जगत् के पति होने से बाहर के नियामक हैं । इस कारण से जैसी आपकी इच्छा होती है, वैसे ही कराते हैं । इस कारण कुछ कहना नहीं चाहिए, किञ्च, जो अपूर्ण होता है उसको किसी क्रिया से पूर्ण किया जाता है । आप जो सामने दर्शन दे रहे हैं वे तो पूर्ण आनन्द से ही पूर्ण हैं । आत्मा ही आनन्द है; व्यापकपन में विरलता हो, इसलिए यहां तो बृहत्त्व लक्षण वाला पूर्णत्व 'पूर्णस्य' पद से कहा है । जहां ऐसी पूर्णता है, वहां मैं अति अल्प अर्थात् बहुत तुच्छ, निरानन्द होने से क्या कह सकता हूँ ? ॥३८॥

आभास—प्रस्तावनार्थमेव भगवांस्तं प्रेरितवान्, यथा याचितोऽपि न प्रत्याख्याति, अतोऽवसरं प्राप्य भगवान् भक्तहितार्थी तं याचितवानित्याह तमाहेति ।

आभासार्थ—भगवान् ने ही प्रस्तावना के लिए उसको वैसी प्रेरणा की है । जैसे मांगते भी नहीं । प्रकट करता है, अतः अवसर पा कर भक्त के हित चाहने वाले भगवान् उससे मांगने लगे—यह 'तमाह' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—तमाह भगवान्हृष्टः कृतासनपरिग्रहः ।

मेघगम्भीरया वाचा सस्मितं कुरुनन्दन ॥३९॥



श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि हे कुरुनन्दन ! भगवान् आसन पर विराजमान हो, प्रसन्न चित्त से, मुस्कराते हुए मेघ जैसी गम्भीर वाणी से राजा को कहने लगे ॥३६॥

सुबोधिनी—भगवानिति सर्वसमर्थः पूर्णः । पूर्णस्य याचनं न विगीतम्, प्रत्युपकारसम्भवात् । कृष्ण इति स्त्रीणां हितः । कृतासनपरिग्रह इत्यव्यग्रः । तस्यासनं चेत्परिगृहीतम्, अन्यदपि परिग्राह्यमिति । न हि भोजनार्थमुपविष्टस्तृप्तेः पूर्व-

मुत्तिष्ठति । न वा तदा याचनं दोषाय । तस्य सर्वमेव दुःखं नाशयतीति मेघगम्भीरयेति । सस्मितमिति किञ्चिन्मोहयन् यावता प्रयच्छति कन्यामेव, नत्वात्मानम् । तथा सति कन्या अग्राह्या स्यात् । सम्बोधनं विश्वासाय ॥३६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् कहने का तात्पर्य है सर्व समर्थ पूर्ण । पूर्ण यदि याचना करे तो निन्दित नहीं है । प्रत्युपकार कर सकने से, अथवा उनकी याचना भी अपने ऊपर उपकारक है । कृष्ण है, इससे स्त्रियों के हित रूप है । आसन आदि ग्रहण किये हैं जिससे व्यग्रता रहित है । उनने जब आसन ग्रहण किया है तब दूसरा भी लेना चाहिये । जैसे जो भोजन पर बैठा हुआ वह तृप्ति से प्रथम नहीं उठता है, उस समय अन्य वस्तु मांग लेने में कोई दोष नहीं है । भगवान् मेघ जैसी गम्भीर वाणी से मांगते हुए सर्व ही दुःख नाश करते हैं । मुसक्यान के साथ अर्थात् कुछ मोह में डालते हुए जो कुछ मांगते हैं, वह कन्या ही मांगते हैं न कि आत्मा को । वैसी कन्या होने से अग्राह्य होनी चाहिये, कुरुनन्दन ! संबोधन विश्वास के लिए दिया है ॥३६॥

आभास—भगवान् याचनदोषं परिहरन् याचते नरेन्द्रेति ।

आभासार्थ—भगवान् दोष का परिहार करते हुए 'मांगते' हैं, यह 'नरेन्द्र' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच-नरेन्द्र याञ्चा कविभिर्विगर्हिता

राजन्यबन्धोर्निजधर्मवर्तिनः ।

तथापि याचे तव सौहृदेच्छया

कन्यां त्वदीयां न हि शुल्कदा वयम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे नरेन्द्र ! पण्डित लोग कहते हैं कि मांगना बहुत बुरा है । जो क्षत्रिय अपने धर्म में चलता है, उसके लिए ही उसकी निन्दा की गई है । तो भी मैं आपसे जो आपकी कन्या मांग रहा हूँ, जिसका कारण है कि मैं आपसे मित्रभाव करना चाहता हूँ । हम पैसा देकर भी कन्या लेने वाले नहीं हैं ॥४०॥



सुबोधिनी - स्त्रीणां हितार्थमवतीर्णस्य येन केनाप्युपायेन तद्वितं साधनीयमिति मम न दोषः। तथापि राजन्यनाट्यं कुर्वतस्तद्विरुद्धं न कर्तव्यमिति तदर्थं सामान्यन्यायमाह। राजन्यबन्धोर्यान्वा कविभिर्विगहिता। ब्रह्मवृत्तिरेव सा। नरेन्द्रेति सम्बोधनेन संमतिः प्रदर्शिता। यागविचारे यागादाविन्द्रः प्रार्थ्यत इति नरनाट्ये प्रार्थना न विगीतेति सूचितम्। स्तुतिरप्यनेन कृता। कविभिरिति विचक्षणैः। ते ह्येवं मन्यन्ते। भगवता वीर्यं क्षत्रियेभ्यो दत्तम्। यत्किञ्चिदपेक्षितं तद्वीर्येणैव साधनीयमिति। अनेनादाने बलादपि नेष्यामीति सूचितम्। आपत्सु याचनं न दुष्यतीत्यत आहं निजधर्मवर्तिन इति। निजधर्मो वीर्यम्। रागे उत्पन्ने राग एव निवारणीयः। अनिवृत्तौ वा

स्वधर्मः कर्तव्यः। ततो मरणं प्राप्तिर्वा। मरणेऽपि परतः प्राप्नोति। तस्माद्वीर्यमेव कर्तव्यम्। तथापि। याच इत्याह तथापीति। एवं करणे हेतुः सौहृदेच्छया। यथा त्वदीया कन्या अभिलषिता, एवं सौहार्दमपि। ततो वीर्यं द्वयं न सिध्यति। ईश्वरत्वात्कापट्येन जयो जयो न भवतीति कदाचिद्दमनेऽपि न मन्येतेति याचनम्। धर्मपरीक्षार्थं च वचनम्। कन्या देयैवेति नातीव भारः। पूर्णो याचमानः प्रतिदास्यतीति शङ्कायामाह न हि शुल्कदा इति। मूल्ये दत्तो दासी भवतीति। तत्रापि वयं वीर्यमेव परं शुल्कं प्रयच्छामः। श्रोत्रियमत्या कदाचिच्छुल्कं याचेरन्, कन्यायाः कुशिका वयमिति नवमे तथा निरूपणात् ॥४०॥

व्याख्यानार्थ—स्त्रियों के हित के लिए अवतरित को किसी भी उपाय से उनका हित सिद्ध करना चाहिए, इसलिए मुझे मांगने में दोष नहीं है, तो भी क्षत्रिय का नाट्य करने वाले को उसके विरुद्ध कार्य नहीं करना चाहिए, जिसके लिए सामान्य न्याय कहते हैं। क्षत्रिय के लिए मांगने की निन्दा की है। मांगना ब्राह्मण की वृत्ति है। नरेन्द्र ! कहने से बताया है कि इसमें आपकी भी सम्मति है। यज्ञ के लिए, यज्ञ आदि में इन्द्र की प्रार्थना की जाती है, इसलिए नर के नाट्य में मांगना निन्दित नहीं है। यह सूचित किया, इससे स्तुति भी की है। 'कवि' शब्द का भावार्थ है जो चतुर हैं, वे यों मानते हैं। भगवान् ने वीर्य (पराक्रम) क्षत्रियों को दिया है, अतः क्षत्रियों को जिसकी अपेक्षा होवे वह वीर्य से ही प्राप्त करे। यों कहकर यह बताया कि यदि मांगने से न दोगे तो बल से भी लूंगा। आपदाओं में याचना दूषित नहीं है। इसलिए कहा है, कि जब आपदा न हो अपना धर्म पालन हो सके, तब क्षत्रिय को मांगना नहीं चाहिए। वीर्य से ही लेना चाहिए। किसी में प्रेम उत्पन्न हो जाय तो उसको मिटा देना चाहिए। यदि प्रेम निवृत्त न हो सके तो अपना धर्म करना चाहिए। उस वीर्य धर्म से उस प्रिय वस्तु की प्राप्ति होगी अथवा मृत्यु होगी मरने पर परलोक में उत्तम स्त्री की प्राप्ति होगी, इस कारण से वीर्य ही करनी चाहिए। यों होते हुए भी जो मैं याचना करता हूँ, जिसका कारण यह है, कि जैसी तुम्हारी कन्या की चाहना है वैसी ही तुम्हारी मित्रता भी चाहता हूँ। वीर्य करूंगा तो दोनों कार्य सिद्ध न होंगे। दोनों सिद्ध करना चाहते हैं, ईश्वर होने से कपट से जो जय की जावे वह जय नहीं कही जाती है, इसलिए कदाचित् सांडों के दमन करने पर भी न माने, इस कारण याचना की गई है। यह कहना धर्म की परीक्षा वास्ते है। कन्या देने योग्य ही है, इसलिए याचना मानने में कोई विशेष भार नहीं है। पूर्ण रीति से मांगने पर ही दी जाती है, इस शङ्का के मिटाने के लिए कहते हैं कि 'न हि शुल्कदा' हम पैसे देकर लेने वाले नहीं हैं, क्योंकि पैसे देकर जो ली जाती है वह पत्नी न होकर दासी होती है। उसमें भी हम वीर्य ही उत्तम शुल्क देते हैं। श्रोत्रिय मति से यदि शुल्क मांगे जैसा कि नवम में कहा है 'कन्यायाः कुशिका वयम्' ॥४०॥



आभास—राजा तु याचनात्पूर्व देयत्वेन विचार्य प्रतिज्ञां च पूरयिष्यामिति कष्टे भगवांश्च न विनियोक्तव्य इति तूष्णीं स्थितः । रागे सति कष्टमपि करोति, नान्यथेति अधुना रागं ज्ञात्वा वृषदमनार्थं प्रार्थयते कोऽन्य इति ।

आभासार्थ—राजा ने तो भगवान् की याचना से प्रथम ही विचार कर लिया था कि कन्या तो भगवान् को दूंगा किन्तु प्रतिज्ञा भी पूरी करूंगा । प्रतिज्ञा पूर्ति में भगवान् को कष्ट होगा, उसमें भी उनको लगाना नहीं चाहिए, इस विचार में ही चुप हो रहा, मन में कहा कि यदि प्रेम होगा तो कष्ट भी स्वतः करेंगे । यदि प्रेम न होगा तो न करेंगे, अब देखने में आता है कि कन्या के लिए इसमें प्रेम है, इसलिए वृषों के दमन के वास्तं 'कोऽन्य' श्लोक में प्रार्थना करता है —

श्लोक—राजोवाच—कोऽन्यस्तेऽभ्यधिको नाथ कन्यावर इहेप्सितः ।

गुणैकधास्नो यस्याङ्गं श्रीर्वसन्धनपायिनी ॥४१॥

श्लोकार्थ—राजा कहने लगा कि आपसे विशेष उत्तम इस संसार में दूसरा कौन सा वाञ्छित वर कन्या को मिलेगा, आप गुणों के एक ही धाम हैं, जिनके अङ्ग में लक्ष्मी अविचल होकर सदैव रहती है ॥४१॥

सुबोधिनी त्वत्तोऽप्यभ्यधिकः दाने कोऽपि नास्ति पात्रम् । कन्यायाश्चेप्सितो वरो नान्योऽस्ति । अतो दृष्टसम्पत्तिः सर्वापि सिद्धा किञ्च । सर्वाः स्त्रियस्त्वदीया एव । यतो गुणानामेकं धाम	भवानेव । अनन्ता गुणा नित्यास्त्वद्येव प्रतिष्ठिताः । अत एव श्रीरनपायिनी त्वयि । यत्र श्रीस्तत्र सर्वमिति । वसतीत्यन्यत्र परिभ्रमणमात्रम् ।
--	---

॥४१॥

व्याख्यानार्थ—आप से भी विशेष उत्तम दान लेने का पात्र कोई नहीं है, और कन्या को भी आप ही इच्छित वर हो, न कोई अन्य, अतः प्रत्यक्ष जितनी सम्पत्ति चाहिए वह आप में सिद्ध ही है और विशेष, सब आपकी ही स्त्रियाँ हैं, क्योंकि गुणों का स्थान आप एक ही हैं । अनन्त नित्यगुण आप में ही रहते हैं, अतएव स्थिर लक्ष्मी आप में ही है, जहां श्री है वहां सब रहते हैं, दूसरे के यहां तो केवल भटकना है ॥४१॥

आभास—परमस्मदीयोऽपि धर्मः पालनीय इत्याह किन्त्वस्माभिरिति ।

आभासार्थ—किन्तु हमने जो प्रतिज्ञा की है वह मेरा धर्म भी आप को पालना चाहिए, यह 'किन्त्वस्माभिः' श्लोक में कहता है ।

श्लोक—किन्त्वस्माभिः कृतः पूर्ण समयः सात्त्वतर्षभ ।

पुंसां वीर्यपरीक्षार्थं कन्यावरपरीक्षया ॥४२॥

श्लोकार्थ—हे यादव श्रेष्ठ ! आपकी याचना से पहले ही हमने प्रतिज्ञा कर रखी है। कन्या के वर की परीक्षा करनी चाहिए कि उन पुरुषों में जो वरना चाहता है, कितना पराक्रम है ॥४२॥

सुबोधिनी—अधुना करणो अपराधो भवेत्, किन्तु पूर्वमेव कृतः। समयो नियमः। तुशब्दो निर्भरदानं व्यावर्तयति। सात्त्वतर्षभेति प्रतिज्ञा पालनीयेत्यत्र सम्मतिरुक्ता। यादवश्रेष्ठास्तत् जानन्तीति। भक्तस्वामी भक्तप्रतिज्ञां पालयिष्यतीति। प्रतिज्ञाकरणे निमित्तमाह पुंसामिति। क्षत्रियेषु वीर्यवान् महान्। सप्ताङ्गानि क्षत्रिय-

स्य। सर्वत्र तत्सामर्थ्यं महान् भवति। अतः सप्तवृषा दम्पत्वेन स्थापिताः। महत एव कन्या देया। जामातरं प्रति नम्रता बोधनीया। अधमे च सा निषिद्धा। अपरीक्षायां वीर्यं न ज्ञायत इति। एतदपि कन्यावरपरीक्षार्थमेव, न त्वस्यान्य उपयोगोऽस्ति। अतः कन्यादाने तदवश्यं कर्तव्यम् ॥४२॥

व्याख्यानार्थ—आपकी याचना के अनन्तर यदि प्रतिज्ञा की हो तो अपराध लगे, किन्तु यह पहले ही की हुई है। समय का तात्पर्य है, कि मैंने नियम बना लिया है कि कन्या किसको दूंगा, एक प्रकार शपथ ली है। 'तु' पद से अति मात्र दान को टालता है। भगवान् को 'सात्त्वतर्षभ' विशेषण से यह प्रार्थना की है कि आप यादव श्रेष्ठ हैं, अतः मेरी प्रतिज्ञा पालन करनी चाहिए, जिसमें आपकी भी सम्मति है। इस तत्त्व को यादव श्रेष्ठ जानते ही हैं। भक्तों के स्वामी भक्त की प्रतिज्ञा पालेंगे ही। प्रतिज्ञा करने का कारण बताता है, क्षत्रियों में बड़ा वह है, जो वीर्य वाला है। क्षत्रिय के सात अङ्ग हैं। सातों अङ्गों में जिनका सामर्थ्य शौर्य है, वह महान् है, अतः सात सांड दमन के लिए स्थापित किए हैं। जो महान् होवे, उसको कन्या देनी चाहिए, जामाता के प्रति नम्रता बतानी चाहिए। यदि जामात अधम है तो नम्रता बतानी निषिद्ध है। यदि परीक्षा न ली जावे तो वीरता का पता न लगे। यह प्रतिज्ञा भी कन्या के वर की परीक्षा करने के लिए की गई है। इसका कोई अन्य उपयोग नहीं है और न किया जावेगा, अतः इसका उपयोग कन्या दान में अवश्य किया जावेगा ॥४२॥

आभास—तं समयमाह, यथा परीक्षा सम्पद्यते, सप्तैत इति।

आभासार्थ—'सप्तैते' श्लोक में वह प्रतिज्ञा बताता है, जिससे परीक्षा हो जाती है।

श्लोक—सप्तैते गोवृषा वीर दुर्बन्ता दुरवग्रहाः।

एतैर्भगनाः सुबहवो भिन्नगात्रा नृपात्मजाः ॥४३॥

श्लोकार्थ—हे वीर ! ये सात सांड ऐसे हैं, जो कठिनाई से दमन किए जाते हैं और इनसे लड़ना भी अपनी मृत्यु लाना है। बहुत राजपुत्र जो मेरी प्रतिज्ञा सुन कन्या को वरने के लिए आए थे, वे इनसे अपने गात्र तुड़वा कर भाग गए हैं ॥४३॥



सुबोधिनी— एकत्र गृहे सप्तवृषा निरुद्धाः, न कश्चित्तत्र परिपालकः । नापि तत्र गौः काचित् । भक्ष्यं च यथेष्ट मादकम् । ततो न्योन्यं युध्यमानाः अतिमत्ताः नित्यं क्रुद्धास्तिष्ठन्ति । तत्रापि सप्त । विषमसंस्थापन्नाः, अन्यथा द्वन्द्वयोधिनो भवेयुः । गोवृषा इति न मारणीयाः । गोजानीयाः वृषाः समस्थाः । वीरे त सम्बोधनमितरस्तुतिः श्रोतुर्निन्दार्थेति शङ्काव्युदासार्थम् । वीरस्याग्रे कथनं वीर्योद्बोधनार्थम् । बहून्वै वृषानेकश्चारयति इत्याशङ्क्य वैलक्षण्यमाह दुर्दान्ता इति । अदान्तापेक्षयापि कठिनाः । दुरूपसर्गो दमनविरोधिनं नदति । तत्र दमनसम्भावनापि नास्तीति ज्ञाप-

यिनुम् । वीरैरपि दुर्दान्ता इति वा । किञ्च दुष्टः अवग्रहो येषाम् । तैः सह कलहो मरणपर्यवसायी । आग्रहो वा दुष्टः । ते मारयितुमशक्याः, दृष्टादृष्टोपायैः । अन्यांश्च मारयन्तीति द्वयमुक्तम् । नापि तेषां वीर्यं सम्भावनामात्रेण सिद्धम्, किन्तु बहुधा कृतकार्यमित्याह एतैर्भगना इति । काकतालीयव्युदासाय सुबहवः । भङ्गो न पराजयमात्रम् । तथा सति दृष्ट्वापि भीताः पलायिता भवन्ति । किन्तु भगनात्राणां करचरणादीनां भङ्गपर्यन्तं यतमानाः । ननु शिक्षावोजयोरप्रयोजकत्वं तेषु भविष्यतीति चेत् तत्राह नृपात्मजा इति । न तु क्षत्रियमात्रम् ॥४३॥

व्याख्यानार्थं सात साँड़ एक ही गृह में इकट्ठे रुके हुए हैं । वहाँ उनको मारने करने वाला कोई नहीं है । वहाँ कोई गौ भी नहीं है । उनको मादक भोजन यथेष्ट मिलता है । इस कारण आपस में लड़ते हुए बहुत मत्त नित्य क्रोध पूर्ण रहते हैं । उसमें भी वे सात होने से समान नहीं हैं । जिससे कि दो दो मिल कर लड़ सके । साँड़ है इसलिए मारने के भी योग्य नहीं है, क्योंकि ये समान भूमि के गौ जाति के वृष हैं, न कि अरण्य की विषम भूमि के भैंसे हैं । भगवान् को वीर ! यह सम्बोधन देकर प्रकट किया है कि आप अन्य समस्तों से शूर हैं, इस प्रकार आपकी स्तुति की गई है । जिसका कारण, कोई भी श्रोता इससे अन्यो की निन्दा समझ बैठे उस शङ्का के मिटाने के लिए यह स्तुत्यर्थ विशेषण है न कि अन्य की निन्दा के लिए । गौ वृषों के विशेषणों के देने से प्रथम 'वीर' शब्द देने का तात्पर्य, शौर्य के जगाने में है । यदि भगवान् कह दें कि एक हो मनुष्य बहुत वृषों को चराता है, ये तो सात ही हैं, इसमें कौनसी बड़ी बात है ? इसके उत्तर में राजा कहता है कि ये वृष वैसे नहीं हैं, किन्तु दुर्दान्त^१ हैं जो वृष अदान्त होते हैं, उनसे भी कठिन हैं, दुर उपसर्ग देने का आशय है कि ये वृष दमन कराने के विरोधी हैं । किसी को दमन करने ही नहीं देते हैं । इन वृषों को दमन करने की सम्भावना भी नहीं है । यों जताने के लिए ऐसा कहा है । अथवा वीरों को भी इनका दमन करना अत्यन्त कठिन है । विशेष में इनसे लड़ना भी बुरा है । जिसका परिणाम मरण पर्यन्त हो सकता है । अथवा आग्रह दुष्ट है, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष उपायों से वे नहीं मारे जा सकते हैं । स्वयं नहीं मरते हैं, किन्तु अन्यो को मार देते हैं । उनका वीर्य केवल सम्भावना ही नहीं है, किन्तु इनने वैसा कार्य भी कर दिखाया है । जैसे कि इनने राजपुत्रों के गात्रों को तोड़ दिया है । यह तोड़ना भी काकतालीय न्याय के समान अकस्मात् एक किसी का नहीं किन्तु बहुतों के तोड़ डाले है । तोड़ना केवल पराजय नहीं है यों हो तो देखकर डर के मारे भाग जाते, किन्तु यहां तो जब तक उनके हाथ पैर टूटे नहीं तब तक इनके दमन का यत्न करते रहते थे । शिक्षा एवं विजय उनमें अप्रयोजक होगी ? यदि यों कहो तो उत्तर में कहता है कि नहीं वे साधारण क्षत्रिय नहीं थे किन्तु राजाओं के पुत्र थे, इसलिए इनमें शिक्षा तथा विजय प्रयोजक हो सकती है ।



आभास—वृषाणां दोषा उक्ता इति, तेषु चेत्तव कृपा, एतादृशानप्युद्धरिष्यामीति, तदा भवानेव कन्याया वरः, तदा तां दुष्टामप्युद्धरिष्यति, तदीयांश्च । ते हि कन्यानिमित्तमेव निरुद्धा इति तदुद्धारव्यतिरेकेण कन्योद्धारो नोपपद्यते । अतस्त्वं चेत्तानुद्धरिष्यसि, तदा वर इत्याह यदीमे निगृहीताः स्युरिति ।

आभासार्थ—सांडो के दोष कहे, यदि उन पर आपकी कृपा होगी कि इनका भी उद्धार करूँ तो आप इनका दमन करेंगे । जिससे कन्या का वर आप ही बनेगा । तब आप उन दुष्टों का भी उद्धार करोगे, क्योंकि ये कन्या के कारण ही एक स्थान में एकत्र रुके हुए हैं । उनके उद्धार हुए बिना कन्या का भी उद्धार नहीं होगा, अतः आप यदि उनका उद्धार करोगे तो कन्या के वर हैं, यह 'यदीमे निगृहीताः' श्लोक में कहता है ।

श्लोक—यदीमे निगृहीताः स्युस्त्वयैव यदुनन्दन ।

वरो भवानभिमतो दुहितुर्मे श्रियः पते ॥४४॥

श्लोकार्थ—हे यदुनन्दन ! जो आप इनका निग्रह कर लो तो हे लक्ष्मीपति ! आप ही मेरी कन्या के वर हो, यह स्वीकार करता हूँ ॥४४॥

सुबोधिनी—निग्रहे कृते उद्धारोऽवश्यंभावीति तदेवोक्तम् । यदुनन्दनेति लीलार्थमागता कदाचिन्न कुर्यादिति सूचितम् । यादवास्तथा न कुर्वन्तीति । सन्देहश्च गोवधनादिना । तदा अभिमतो वरो भवान् । मे दुहितुरिति स्वस्य हीनतां बोधयति । योग्यता तु सर्वोत्तमैवेत्याह श्रियः पत इति ॥४४॥

व्याख्यानार्थ—निग्रह होने से इनका उद्धार अवश्य होने वाला है, वह ही कहा है । यदुनन्दन ! सम्बोधन से कहा है कि आप लीला करने के लिए ही पधारे हो, इसी से यह कहा कि अचानक न किया जावे तो कहता है कि आप लीलार्थ आये हो तो भी यदुनन्दन हैं अर्थात् यादव हैं । यादव यों नहीं करते हैं, वे तो ऐसे कार्य करने से पीछे हटते नहीं हैं । गोवधन आदि लीला आपने की है, इसलिए सन्देह होता है । उद्धार करते हो तो मेरी पुत्री के अभिमत वर आप ही हैं । मेरी पुत्री कहने से अपनी हीनता जताई है, आप में योग्यता तो सर्व से उत्तम है ही, क्योंकि लक्ष्मी के पति हैं ॥४४॥

आभास—प्राप्तैव कन्या, समयः परं पूरणीय इति राज्ञो विश्वासार्थमलौकिक-प्रकारं निराकुर्वन् कटिबन्धनादिकं कृत्वा तथा कृतवानित्याह एवमिति ।

आभासार्थ—कन्या तो प्राप्त ही है, किन्तु प्रतिज्ञा पूरी करनी चाहिए, यों राजा को विश्वास दिलाने के लिए अलौकिक ढंग का निराकरण करते हुए, लौकिक प्रकार दिखाने के वास्ते कमर बान्धना आदि क्रिया का वर्णन 'एवं समय' श्लोक में करते हैं ।



श्लोक—एवं समयमाकर्ण्य बद्ध्वा परिकरं विभुः ।

आत्मानं सप्तधा कृत्वा न्यगृह्णालीलयैव तान् ॥४५॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने इस प्रकार प्रतिज्ञा सुन, कमर बाँध अपने सात स्वरूप कर लीला से ही उनको पकड़ लिया ॥४५॥

सुबोधिनी—विभुः सर्वप्रकारेण कतुं समर्थः । अन्तः प्रविष्टः आत्मानं सप्तधा कृतवान् । सप्तापि भगवानेव भवति । अलौकिकं तु न कर्तव्यम् । रूपाणि त्वेकस्य बहून्यपि भवन्ति । पुत्राश्चि-
त्राणि । कालभेदेन च तानि न तिष्ठन्तीत्येताव-
न्मात्रमुत्कर्षहेतुरेव । न त्वलौकिकं किञ्चित् ।
ततो लीलयैव न्यगृह्णात् । लीलैवोत्कर्षहेतुः ।
बन्धनं तु सुगममेव ॥४५॥

व्याख्यानार्थ - सर्व प्रकार से करने में समर्थ श्रीकृष्ण ने भीतर जहाँ साँड स्थित थे, वहाँ जाकर अपने सात स्वरूप किए । सात भी भगवान् ही हैं । अलौकिक तो नहीं करना चाहिए रूप तो एक के बहुत भी होते हैं । जैसे पुत्र और चित्र, वे काल भेद से रहते नहीं हैं । केवल इतना ही उत्कर्ष का हेतु है, इसमें कुछ अलौकिक नहीं है । अनन्तर लीला से ही इनको पकड़ लिया, लीला ही उत्कर्ष का कारण है, बाँधना तो सरल ही है ॥४५॥

आभास—निगृह्य बद्ध्वा समानीतवानित्याह बद्ध्वेति ।

आभासार्थ—पकड़कर बाँध के ले आए, 'बद्ध्वा' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—बद्ध्वा तान् दामभिः शौरिर्भग्नदर्पान् हतौजसः ।

व्यकर्षल्लीलया बद्धान् बालो दारुमयान् यथा ॥४६॥

श्लोकार्थ—शौरि जिनका गर्व एवं बल नष्ट हो गया है, ऐसे उन साँडों को रज्जु से बाँध इस प्रकार खींच कर लाए, जैसे बालक काठ के बैलों को खींच लाते हैं ॥४६॥

सुबोधिनी—दामभिः पृथक् पृथक् । पूर्वं शृङ्खलाभिरपि न बद्धास्तिष्ठन्तीति । शौरिरिति लौकिकोत्कर्षः । गर्वो बलं च हतम् । ततो लीलया व्यकर्षत् । यथा मृतप्राया बलीवर्दा आकृष्यन्ते भारपीडिताः । बलीवर्दत्वमपि तेषां निवृत्तमिति
दृष्टान्तेनाह बालो दारुमयानिति । ते हि विपरीता अपि पतिता बालेनाकृष्यन्ते, तथा विशीर्णावियवा आकृष्टा इति तेषां गर्वोऽपि निराकृतः, राज्ञश्च ॥४६॥

व्याख्यानार्थ—जो पहले लोहे के जंजीर से भी बाँधे नहीं जाते थे, उन प्रत्येक को अलग अलग रज्जु से बाँध कर ले आए, क्योंकि शूर वंश में उत्पन्न होने से 'शौरि' हैं । यह लौकिक उत्कर्ष बताया,



उनका बल नाश कर दिया । पश्चात् लीला से खींच ले आये । जैसे मरे हुए जैसे बल भार से पीड़ित लाए जाते हैं, उनका बल पन भी निवृत्त हो गया । यह दृष्टान्त देकर बताते हैं कि काठ के बने बेल उलट्टे भी पड़ जाते हैं तो भी जैसे बालक उनको घसीट लाते हैं, वैसे जिनके अवयव शिथिल हो गए हैं, जिनको आप खींच लाए, यों कर उनका तो गर्व मिटाया, किन्तु राजा का भी मिटा दिया ॥४६॥

आभास — ततो राजा कन्यां दत्तवानित्याह विस्मित इति ।

आभासार्थ— अनन्तर राजा ने श्रीकृष्णचन्द्र को कन्या दी जिसका वर्णन 'विस्मित' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक — ततः प्रीतः सुतां राजा ददौ कृष्णाय विस्मितः ।

तां प्रत्यगृह्णाद्भगवान् विधिवत्सदृशीं प्रभुः ॥४७॥

श्लोकार्थ— यह देखकर राजा चकित हो गया और प्रसन्न हुआ, अतः भगवान् को अपनी कन्या दी । भगवान् ने भी अपने सदृश उस कन्या का विधिपूर्वक पाणिग्रहण किया ॥४७॥

सुबोधिनी— आदौ विस्मितः, पश्चान्मुदितः, बन्धनवशीकरणानिःसत्त्वकरणान्यत्याश्रयाणोति विस्मयः । एतदर्थमेव प्रतिज्ञेति कार्यं सम्पन्नं मुदितः । राजेति महता सम्भ्रमेण तस्मै दुहितर ददौ । याचनदानप्रतिग्रहाः तस्यां जाता इति वत्तुं भगवानपि तां प्रतिगृहीतवानित्याह तां प्रत्यगृह्णादिति । भक्तावेव भगवानेवं करोतीति भगवानित्युक्तम् । धर्मपरोऽयं भगवच्छब्दः । तदेव

ज्ञापयति विधिवदिति । वैदिकधर्मस्तत्र योजितवान् । तदा लौकिका आसुरा वा धर्मस्तां न स्पृशन्तीति सर्वथा स्वाभिप्रेतं सम्पादयति । तस्यां तथाकरणे हेतुमाह सदृशीमिति । स्वभावतः सदृशी । आगन्तुकदोषाभावाय तथाकरणम् । तस्यां दोषदूरीकरणार्थं तथाकरणे लौकिकत्वं भगवति स्यात्, अत आह प्रभुरिति । स्वयं स्वत एव समर्थः ॥४७॥

व्याख्यानार्थ— राजा पहले चकित हुआ, अनन्तर प्रसन्न हुआ । बाँचना, वश में लाना, निर्बल बनाना आदि कार्य विशेष अचम्भेवाले हैं । इनसे राजा चकित हो गया । इस कार्य के लिए ही प्रतिज्ञा थी । वह कार्य पूर्ण होने से प्रसन्नता हुई । 'राजा' कहने का तात्पर्य यह है कि भगवान् को कन्या घूम घाम से आदर पूर्वक दी । 'प्रत्यगृह्णात्' पद का भावार्थ है कि इसमें याचना, दान और प्रतिग्रह तीनों सिद्ध हो पाये । इस प्रकार भगवान् ने स्वीकार किया, 'भगवान्' पद का आशय स्पष्ट करते हैं कि भक्ति में ही भगवान् यों करते हैं । यह भगवान् शब्द धर्म परायण है । अर्थात् इससे भगवान् ने ऐश्वर्यादि गुण प्रदर्शित किए हैं । सारांश यह है कि धर्म प्रकार से शास्त्र विधि अनुसार ही दिवाह किया । वैदिक धर्म सब वहाँ किए । जिससे लौकिक वा आसुर धर्म उसको स्पर्श न कर सके, यों सर्वथा अपना मन चाहा ही पूर्ण करते हैं । इस (सत्या) के लिए यों क्यों किया ? जिसका कारण बताते हैं कि 'सदृशी' स्वभाव से समान है । इसके अनन्तर कोई भी दोष न आवे, इसलिए यों वैदिक



प्रक्रिया सम्पूर्ण की किन्तु उसमें दोष न आवे इस वास्ते इस प्रकार करने से भगवान् में लौकिक पन आजायगा। इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् में लौकिक पन नहीं आयागा, क्योंकि आप 'प्रभु' स्वयं स्वतः सर्व समर्थ हैं ॥४७॥

आभास—तद्द्वारा सर्वासामेव स्त्रीणां हितं कृतवानित्याह राजपत्न्य इति ।

आभासार्थ—भगवान् ने उसके द्वारा सब का हित किया; यह 'राजपत्न्य' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—राजपत्न्यश्च दुहितुः कृष्णं लब्ध्वा प्रियं पतिम् ।

लेभिरे परमानन्दं जातश्च परमोत्सवः ॥४८॥

श्लोकार्थ—राजा की पत्नियाँ अपनी कन्या को प्यारा पति कृष्ण मिला देख, परमानन्द को प्राप्त हुई और बड़ा उत्सव मनाने लगीं ॥४८॥

सुबोधिनी—आदौ राज्ञोपिताः धर्मकहेतवो जाताः ततो दुहितरि सापत्न्याभावः । तद्द्वारा स्वस्य सम्बन्धः भगवत्युत्कर्षबुद्धिः स्नेहश्चेति कृष्णमुद्धारकं प्रियमान्तरमीप्सितम्, पतिं बाह्यम्। ऐहिके बाह्याभ्यन्तरसुखदाता । पश्चादपि सायु-

ज्यदः । अतः स्वस्यापि तद्द्वारा तथा भविष्यतीति परमानन्दं लेभिरे । सन्तोष एव तासां निस्तारे नियामकः । आन्तरमुक्त्वा तासां बाह्यमाह जातश्च परमोत्सव इति । महानेव सम्भ्रमस्ताभिः कृत इत्यर्थः ॥४८॥

व्याख्यानार्थ—आदि में राजा की वे रानियाँ धर्म की ही एक हेतु हुई । इस कारण से पुत्री में सापत्न्य भाव किसी ने नहीं किया । अर्थात् सब रानियाँ उसको सहोदरा समझ, उसके द्वारा अपना भगवान् से सम्बन्ध हुआ है, अतः भगवान् में उत्कर्ष बुद्धि और स्नेह उत्पन्न हो गया । इससे श्रीकृष्ण अपने भी उद्धारक एवं आन्तर प्रिय हैं, ऐसी कामना को । धारणा करने योग्य पति हैं ? इस लोक में बाह्य और आभ्यन्तर सुख दाता है और पीछे भी सुख देने वाले हैं । एवं सायुज्य देते हैं, अतः हम को भी इसके द्वारा उसी प्रकार सुखादि की प्राप्ति होगी, इसलिए परमानन्द को प्राप्त होने लगीं । उनके निस्तार में सन्तोष ही नियामक है, यह आन्तर भाव कह कर अब बाहर का भाव प्रकट करते हैं कि उन्होंने धूमधाम से बड़ा उत्सव मनाया ॥४८॥

आभास—अन्येषामपि सर्वेषां तत्प्रसङ्गात् कृतार्थतामाह शङ्खेति ।

आभासार्थ—अन्य भी जो थीं उन सब को इस प्रसङ्ग से कृतार्थता हुई वह 'शङ्खभेर्यानका' श्लोक में प्रकट करते हैं ।

श्लोक—शङ्खभेर्यानका नेदुर्गतिवाद्यद्विजाशिषः ।

नरा नार्यश्च मुदिताः सुवासःस्रगलङ्कृताः ॥४९॥



श्लोकार्थ—शङ्खभेरी और नक्कारे बजने लगे । माङ्गलिक गीत गाये जाते थे । बाजे बजते थे, ब्राह्मण आशोर्वाद देते थे । नगर के नर तथा नारियाँ सुन्दर वस्त्र, आभूषण और मालाओं से सुभूषित हो आनन्द मग्न हो रहीं थीं ॥४६॥

सुबोधिनी—शङ्खादयो वाद्यानि त्रिविधानि, गीतादीनि शब्दात्मकानि त्रिविधानि । षडेते सत्त्वादिसत्त्वान्ताः । गीतानकयो राजसत्त्वम् । नरा नार्यश्चेति । चकारादनुक्तसर्वं सङ्ग्रहः । मुदिता इत्यान्तरम् । वस्त्रादयो बाह्यास्त्रयः । अलङ्काराः सहजा इति चकाराज्ज्ञेयाः ॥४६॥

व्याख्यान—शङ्ख, भेरी और नक्कारे तीन प्रकार के वाद्य थे, वैसे ही गीता आदि शब्द के रूप भी तीन प्रकार के थे । ये छ ही सत्त्व से लेकर सत्त्व के अन्त तक थे, अर्थात् इनके प्रारम्भ में सत्त्व था और अन्त में भी सत्त्व था । गीत और नक्कारों में राजसत्त्व है । नर तथा नारियाँ सब थी, 'च' से जो नहीं कहे हैं उनका होना भी समझना चाहिए । प्रसन्न हुई यह आन्तर भाव है । वस्त्र, आभूषण और मालाएँ ये तीन बाहर के आनन्द को प्रकट करते हैं । अलङ्कार तो सहज ही होते हैं, यों 'च' पद से जानना चाहिए ॥४६॥

आभास—राज्ञः सन्तोषेण प्रायेण सर्वस्वदानमाह दशधेन्विति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—राजा ने प्रसन्नता से सर्वस्व दान दिया, इसका वर्णन 'दशधेनु' से दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—दशधेनुसहस्राणि पारिवर्हमदाद्विभुः ।

युवतीनां त्रिसाहस्रं निष्कग्रीवसुवाससाम् ॥५०॥

नवनागसहस्राणि नागाच्छतगुणान् रथान् ।

रथाच्छतगुणानश्चानश्चाच्छतगुणान्नरान् ॥५१॥

श्लोकार्थ—राजा ने दहेज में दस सहस्र गायें, गले में धुधुकी धारण किए, सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित, तीन सहस्र दासियाँ, नव सहस्र हाथी, नव लक्ष रथ, नव करोड़ घोड़े, नव पद्म प्यादे दिए ॥५०-५१॥

सुबोधिनी—धर्मकामसाधका एकेन । अर्थ-साधकाश्चतुरङ्गसेनारूपा अपरेण । अनभिप्रेत-त्वान्न ग्रहीष्यतीत्याशङ्क्याह पारिवर्हमिति । कन्याग्रहणे तदग्रहणमावश्यकम् । विभुरिति प्रतिष्ठार्थं यथाकथञ्चिद्दानं वारितम् । धर्मो हि सहस्र-दक्षिणः प्राकृतवैकृतभेदेन दशविधो भवति ।

कामस्त्रिविध इति सहस्रशो युवतयो दत्ताः । नायिकाभेदेन गुणभेदेन च त्रिविध्यम् । नियता-लङ्कृता रसालम्बना इति । सहस्रशो गजाः सर्वावान्तरजातियुक्ता दत्ताः । नवैव नागभेदा भद्रादयः । रथादयः उत्तरोत्तरं शतगुणाः । पूर्व-बुद्धेस्तस्योत्तरा बुद्धिः शतगुणं गृह्णाति ॥५०-५१॥

व्याख्यान—धर्म और काम को सिद्ध करने वाले जो पदार्थ दिए वे पहले एक श्लोक में कहे

हैं और ग्रंथ को सिद्ध करने वाले चतुरङ्ग सेना आदि जो दी उसका वर्णन दूसरे श्लोक में किया है । भगवान् को लेना पसंद नहीं है, इसलिए वे लेने नहीं, इस शङ्का को मिटाने के लिए पारिबर्ह' दहेज पद दिया है । जब कन्या ग्रहण की है, तब दहेज लेना आवश्यक है । आप 'विभुः' हैं, अर्थात् सर्व पदार्थ सम्पन्न हैं, इसलिए अपनी मान मर्यादा रखने के लिए कुछ दान रोक दिया, शेष लिया धर्म सहस्र दक्षिण वाला होता है और वह भी प्रावृत्त तथा विवृत्त भेद से दश प्रकार का है, अतः दश सहस्र धेनु दी हैं । काम तीन प्रकार का होता है, जिससे हजारों दासियां दी हैं । नायिका भेद से और गुणों के भेद से तीन प्रकार हैं । नियत जो अलङ्कृत हैं, वह रस का आलम्बन है, हजारों गज सर्व प्रकार को जाति के दिए । गजों के भद्र आदि नव ही भेद हैं । रथ आदि एक दूसरे से शतगुण थे । पूर्व बुद्धि से उसकी पीछे वाली बुद्धि शतगुण को ग्रहण करती है ॥५०-५१॥

आभास—ततः स्नेहात्तत्र स्थापनं वारयितुं प्रस्थापनमाह दम्पती इति ।

आभासार्थ—स्नेह से वहां न रुककर प्रस्थापन 'दम्पती' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—दम्पती रथमारोप्य महत्या सेनया वृत्ती ।

स्नेहप्रविलम्बितहृदयो यापयामास कोसलः ॥५२॥

श्लोकार्थ—पति पत्नी दोनों को रथ में विराजमान कर बड़ी सेना सङ्ग में दी । स्नेह से द्रवीभूत हृदय वाले कोसल राजा ने उनको रवाना किया अर्थात् विदा दी ॥५२॥

सुबोधिनी—स्थापने धर्मपत्न्यौ कुण्ठिते भवतः । रथं स्वकीयम् । गमनेऽपि राजप्रयत्न एव सर्वोऽपि सूचितः । महत्या सेनया च । तेनैव वृत्ती स्वयं गमनमनुचितमिति । स्नेहेन हृदयक्ले-

दोऽपि गमने प्रतिबन्धकः । अनेन भक्तकर्तव्यं सर्वं कृतवानित्युक्तम् । कोसलदेशाधिपतिरिति स्वयं तत्र भक्तिकरणार्थं स्वयं स्थित इत्यप्युक्तम् ॥५२॥

व्याख्यार्थ—विवाहानन्तर कन्या को रोकने से धर्म और पत्नी कुण्ठित^२ हो जाते हैं । रथ अपना था, रवानगी करने में सर्व प्रयत्न राजा की तरफ से था । बड़ी सेना के साथ विदा दी । राजा ने अपना जाना उचित न जाना इसलिए न गए । स्नेह से हृदय द्रवीभूत होना भी जाने में प्रतिबन्धक हुआ । इससे भक्त को जो करना चाहिए, वह सब किया । कोसल देश के अधिपति भक्त होने के कारण भक्ति^३ करने के लिए स्वयं स्थित थे, यह भी कहा है ॥५२॥

आभास—भगवतः सामर्थ्यं प्रतिपादयितुं वृषभजये लोकप्रसिद्धिर्न जातिते तंभ-
प्रावयवाः सम्भूय तं ग्रहीतुं यत्नं कृतवन्त इत्याह श्रुत्वैतदिति ।



आभासार्थ—वृषभों के जय से भगवान् के सामर्थ्य की प्रसिद्धि नहीं हुई वृषों से जिनके अङ्ग भङ्ग हुए थे वे राजा। इकट्ठे होकर भगवान् को पकड़ने के लिए प्रयत्न करने लगे, जिसका वर्णन 'श्रुत्वैतत्' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—श्रुत्वैतद्रुधुर्भूपा नयन्तं पथि कन्यकाम् ।

भग्नवीर्याः सुदुर्मर्षा यदुभिर्गोवृषैः पुरा ॥५३॥

श्लोकार्थ—जिनका प्रथम यादव तथा साँडों ने वीर्य नष्ट कर दिया है, वे राजा यह बात सुनकर सहन न कर सके, अतः कन्या को ले जाते भगवान् को मार्ग में घेर लिया ॥५३॥

सुबोधिनी—एतद्भगवच्चरित्रम् । भूपा इति तेषां स्वदेश उक्तः । भगवतस्तु नापि स्वदेशः, नापि श्वशुरदेशः । सर्वतो रोधे त्रैयग्र्यं भवतीति । कन्यकामेव नयतीत्यन्यथा श्रुत्वा किञ्चिद्धर्मबुद्धयोऽपि समागताः । अतो राजबाहुल्यं भवति । पथीति विशकलितता सेनायाः । तेषा-

मागमने हेतुं वैरमाह यदुभिर्भग्नवीर्या इति । कन्यार्थं क्लिष्टा अपीत्याह गोवृषैः पुरा भग्नवीर्या इति । तथाप्यागमने हेतुः सुदुर्मर्षा इति । सुष्ठु दुष्टो मर्षो येषामिति । दुरुपसर्गेण दुष्टः क्रोधो भवति ॥५३॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् का चरित्र सुन कर 'भूपाः' पद देने का आशय है कि उनका अपना देश था। भगवान् का वा उनके श्वशुर का देश नहीं था। चारों तरफ घेर लेने से व्यग्रता होगी, कन्या को ही ले जा रहे हैं, यों विरुद्ध समाचार सुनकर जो धर्मात्मा राजा थे वे भी इकट्ठे हो गए, इससे बहुत राजा हो गए। मार्ग में घेर लिया। 'मार्ग' शब्द से यह सूचित किया कि सेना इधर उधर चल रही थी, अतः उनको घेर लेने का अवसर मिल गया। वे आए क्यों? जिसका कारण बताते हैं कि यादवों ने इनका वीर्य पूर्व ही नष्ट किया था। उस वैर के प्रतिकार के लिए आए थे और कन्या के लिए भी दुखी थे। वह बताते हैं कि कन्या प्राप्ति के लिए जब आए थे, तब इन गोवृषों ने इनके अङ्ग तोड़ दिए थे। जब अङ्ग तुड़वा के गए तो फिर क्यों आए? इस पर कहते हैं कि 'सुदुर्मर्षाः' इनका क्रोध दुष्ट है, अतः इस दुष्ट क्रोध को मिटा न सके, इसलिए क्रोध इनको ले आया ॥५३॥

आभास—न केवलं रोधनमात्रम्, किन्तु मारणार्थमपि प्रवृत्ता इत्याह तानस्यत इति ।

आभासार्थ—केवल प्रभु को रोका नहीं किन्तु मारने के लिए भी प्रवृत्त हुआ।

श्लोक—तानस्यतः शरवातान्बन्धुप्रियकृदजुनः ।

गाण्डीवी कालयामास सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥५४॥

श्लोकार्थ—बाँधवों का प्रिय करने वाले गाण्डीव धनुषधारी अजुन ने भगवान्

को घेर कर मारने का प्रयत्न करने वाले उन शरव्रतों (राजाग्रों) को सिंह जिस प्रकार छोटे हरिणों को ग्रस लेता है, वैसे ही उसने उनको ग्रस लिया अर्थात् अर्जुन ने उनका नाश कर दिया ॥५४॥

सुबोधिनी—भक्तो भगवदानुगुण्येऽपि भक्ता-
नुगुण्यमप्यपेक्ष्यत इति वक्तुं भगवत्सेवकेनैव ते
सर्वे हता इत्याह अर्जुन इति । अलौकिकं भग-
वता न कर्तव्यम्, ऐश्वर्यं च भक्तिमार्गे स्थापनी-
यम् । अर्जुनोऽपि न भगवत्प्रेरणया युद्धं कृतवान्,
किन्तु बन्धूनां भगवद्भक्तानां वसुदेवादीनां प्रिय-
कृत्, यथा भक्तो भक्तापेक्षा भवति, बान्धवाश्च

स्वोपकारं मन्येरन् । गाण्डीवादीनामुदासीनाप-
कारोपकारो निरूपितो । बन्धूनामत्रोपकारो
निरूप्यते । एतत्सूचयति गाण्डीवोति । कालया-
मासेति । कालवत् जग्रासेति सूचितम् नात्यन्तं
क्लेशोऽपि तस्य जात इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह
सिंहः क्षुद्रमृगानिति ॥५४॥

व्याख्यान—भक्ति में भगवान् दयालु हो तो भी भक्त की भी उस कर्म में समानता अपेक्षित है
अर्थात् वह (भक्त भी) दयालु पन दिखावे यह कहने के लिए बताते हैं कि भगवान् के सेवक अर्जुन ने
ही उन सब का नाश किया, भगवान् ऐसे प्रसङ्ग में अलौकिक तो नहीं करते हैं, भक्ति मार्ग में ऐश्वर्य
स्थापन करना चाहिए । अर्जुन ने भी भगवान् की प्रेरणा से युद्ध नहीं किया, किन्तु बाँधव, भगवद्भक्त
और वसुदेवादिक को जो प्रिय है, वह किया, जैसे भक्ति में भक्त की अपेक्षा होती है और बाँधव
रूपना उपकार मानते थे । गाण्डीवादिकों को उदासीनों में अपकार और उपकार निरूपण किया ।
यहां बाँधवों का उपकार निरूपण किया जाता है । 'गाण्डीवी' पद से यह सूचित होता है । काल जैसे
ग्रस लेता है वैसे ही इसने भी उनको ग्रस लिया । इस ग्रसने में अर्जुन को कष्ट भी न हुआ जैसे सिंह
को तुच्छ पशुओं के ग्रसने में कष्ट नहीं होता है ॥५४॥

आभास—उपसंहरति पारिबर्हमिति ।

आभासार्थ—'पारिबर्ह' श्लोक से समाप्ति करते हैं ।

श्लोक—पारिबर्हमुपागृह्य द्वारकामेत्य सत्यया ।

रेमे यदूनामृषभो भगवान्देवकीसुतः ॥५५॥

श्लोकार्थ—दहेज ले, द्वारका में आकर, यादवों में श्रेष्ठ देवकी के पुत्र भगवान्
सत्या से रमण करने लगे ॥५५॥

सुबोधिनी—सोपस्करां तां गृहीत्वा विधि-
तोऽपि समानीय परमां रतिं तस्यामुत्पादितवान् ।
भगवान् नान्यत्र रमते, यथा भक्तो रमत इति
सर्वाभ्यो विशेष उक्तः । द्वारकागमनमर्थादुक्तम् ।

यदूनामृषभ इति तथा गार्हस्थ्यं सम्यक्सम्पादित-
मिति लक्ष्यते । तत्र सर्वोपपत्तिसिद्धयर्थं भगवा-
निति । एवं रमणे भक्तकृपैव हेतुरित्याह देवकी-
सुत इति ॥५५॥



व्याख्यार्थ—दहेज समेत, विधि पूर्वक भी उसको ग्रहण कर द्वारका आए। वहां उसमें परम रीति को उत्पादन करने लगे। भगवान् जैसा रमण भोक्ति में करते हैं, वैसा अन्यत्र नहीं करते हैं, इसलिए सब से विशेष कहा। द्वारका जाना किसी अर्थ से कहा, 'यदूनामृषभः' यादवों में वृषभ अर्थात् वीर्यवान् कहने का भावार्थ यह है कि उसके साथ गार्हस्थ्य सम्प्रक् रीति से पालन करने लगे। भगवान् नाम कहने से यह जताया है कि आप सब की उत्पत्ति करने में समर्थ हैं। इस प्रकार रमण करने में भक्तों पर कृपा हो कारण है, इसलिए 'देवकी सुतः' कहा है ॥५५॥

आभास—कीर्ति श्रियं च विधितो गृहीत्वा अष्टैश्वर्ययुक्तः सर्वा एव गृहीतवानि-
त्याह त्रिभिः श्रुतकीर्तेरित्यादिभिः ।

आभासार्थ—कीर्ति और श्री को विधि पूर्वक ग्रहण करने से आपके अष्टैश्वर्य कहे। अथवा अष्टैश्वर्य युक्त हो सब को ग्रहण किया, जिसका वर्णन 'श्रुतकीर्तः' श्लोक से तीन श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—श्रुतकीर्ते सुतां भद्रामुपयेमे पितृष्वसु ।

ककेयो आतृभिदंतां कृष्णः संतर्दनादिभिः ॥५६॥

श्लोकार्थ—भूमा, श्रुतकीर्ति की कन्या भद्रा, नामवाली कैकय देश के राजा की पुत्री से संतर्दन आदि भ्राताओं के देने पर आपने विवाह कर लिया ॥५६॥

सुबोधिनी—श्रुतकीर्तिरपि पितृभगिनी । कैकयदेशाधिपतेः पुत्री । ज्ञानानन्तरशक्तिभ्रतृ- निषिद्धेति भक्त्यनन्तरापि कीर्तिस्तथा भविष्य- तीति तन्निषेधार्थमाह आतृभिदंतामिति । कृष्णः ।	इत्यसामग्रीमप्येनां गृहीतवान् । संतर्दनोऽतिप्रसिद्ध इति । श्रुतेन कीर्तिः श्रुता वा कीर्तिर्यस्या इति कीर्तिकारणता युक्ता । तर्दनं शब्द इति भवत्येव प्रसिद्धिः । कैकयदेशः पाश्चात्यः ॥५६॥
---	--

व्याख्यार्थ—कैकय देश के राजा की पुत्री भद्रा थी। जिसकी माता 'श्रुतकीर्ति' कृष्णा की भूमा थी। ज्ञान के अनन्तर शक्ति थी। उसको भ्राताओं ने रोका था तो भी भगवान् उसको बलात्कार से ले आए थे, किन्तु यहां वह बात नहीं है। अर्थात् भ्राताओं ने रोका तो नहीं किन्तु स्वयं दी है, इसलिए भक्ति के अनन्तर कीर्ति वैसी होगी, यह शङ्का नहीं करनी चाहिए, 'कृष्ण' नाम देने का तात्पर्य बताते हैं कि बिना दहेज भी इसको लिया। अन्य भ्राताओं का नाम न देकर केवल 'संतर्दन' नाम दिया जिसका कारण है कि वह सब बांधवों से प्रसिद्ध था। सुनने से कीर्ति अथवा जिसकी कीर्ति सुनी है, यों कहकर इसको कारणता योग्य है। यह स्पष्ट किया है 'तर्दन' शब्द, इससे प्रसिद्धि होती ही है, कैकय देश, पश्चिम में है ॥५६॥

आभास—श्रीरूपाया लक्ष्मणाया विवाहमाह सुतामिति ।

आभासार्थ—'सुतांच' श्लोक से 'श्री रूपा लक्ष्मणा' के विवाह को कहते हैं ।



श्लोक—सुतां च मद्राधिपतेलक्ष्मणां लक्षणैर्युताम् ।

स्वयंवरे जहारैकः स सुपर्णः सुधामिव ॥५७॥

श्लोकार्थ—मद्र देश के राजा की कन्या, जो सब लक्ष्मणों से युक्त थी, उस लक्ष्मणा नाम कन्या को जैसे गरुड़ अकेले अमृत ले आया, वैसे आप अकेले स्वयंवर में से हर ले आए ॥५७॥

सुबोधिनी—मद्रदेशोऽपि कैकयनिकटे । श्री वत्सरूपेति लक्ष्मणा । अस्या विवाहे लक्षणवत्त्वं प्रयोजकमिति लक्षणैर्युतामित्युक्तम् । राधावेध-सनिमित्तस्वयंवरे जहार । वरणानन्तरं अग्रिम-वाक्यानुरोधेनावगम्यते । एक इति भगवत्प्रतापः ।

यतः स भगवान् कृष्णः । अप्रतिघातनयने दृष्ट-
न्तः सुपर्णः सुधामिवेति । इन्द्रादिजये च । एता-
मग्रे विस्तरेण वक्ष्यति । सर्वा एकतो विस्तरोपा-
ख्याना इयमेकत इति ज्ञापयितुं वाचनिके विवाहे
विस्तरेणोक्तम् ॥५७॥

व्याख्यार्थ—मद्र देश भी कैकय के निकट है । लक्ष्मणा कौस्तुभ रूप हैं । इसके विवाह में लक्षणत्व ही प्रयोजक है, इसलिए लिखा है कि वह लक्ष्मणों से युक्त है । अर्थात् लक्ष्मणों वाली है । घन्विचित्र का वेध जिस स्वयंवर का निमित्त था, उसको वेध कर स्वयंवर में कन्या को हर कर ले आए वरण के बाद आगे के वाक्य के अनुरोध से यह समझा जाता है । 'अकेले' ले आये यह भगवान् का प्रताप है, क्योंकि वह भगवान् कृष्ण है बिना प्रतिघात के ले जाने में दृष्टान्त देते हैं कि, जैसे गरुड़ सुधा को ले आता है । ऐसा इन्द्रादि जय में भी हुआ, इसका विस्तार आगे किया जावेगा । सब एक तरफ विशेष उपाख्यान वाली है और एक तरफ यह एक ही वंसी है, यह जताने के लिए वाचनिक विवाह में विस्तार से कहा है ॥५७॥

आभास—साधनरूपा उक्त्वा साधनाधीनत्वात् साध्यस्य ताः संक्षेपेणाह अन्या इति ।

आभासार्थ—साधन रूप कह कर, साध्य, साधनों के आधीन होने से, उनका संक्षेप में 'अन्या' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—अन्याश्चैवंविधा भार्याः कृष्णस्यासन् सहस्रशः ।

भौमं हत्वा तन्निरोधादाहताश्चारुदर्शनाः ॥५८॥

श्लोकार्थ—और भी श्रीकृष्ण भगवान् की ऐसी हजारों स्त्रियाँ थीं, जिन्हें आप भौमासुर को मारकर, उसके अन्तःपुर^१ से ले आए थे ॥५८॥

सुबोधिनी — चकारादेताम्य उत्कृष्टाऽपकृष्टाश्च संगृहीताः । नरकासुरं हत्वा तदन्तःपुरात्संगृहीताः । तेनैवैकत्र मेलिता भगवता आहूता इति निदर्शनमात्रम् । तासामानयये चारुदर्शनं ज्ञानं सौन्दर्यं च यासामिति हेतुः । विजातीय

गोपिकादयः असमानाः । उत्कृष्टास्त्वप्सरसः स्वयमागताः । सर्वा एव भार्या आसन् । स्पष्टमेव सर्वासां मुक्तिर्दत्तेति निरूपितम् । एवं भगवतो निरोधः ॥५८॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धेनवमोऽध्यायः ॥६॥

व्याख्यानार्थ—श्लोक में दिए हुए 'च' से यह बताया है कि इन स्त्रियों के सिवाय अन्य भी कृष्ण की बहुत सुन्दर अथवा साधारण स्त्रियाँ थीं, जिनको भीमासुर का वध कर उसके निवास से लाए थे । उसने जो भी एक स्थान पर इत्र ठोकर रखी थीं, वे ही भगवान् लाये थे । यह केवल उदाहरण है उनके लाने में कारण उनका सौन्दर्य तथा ज्ञान है । विजातीय^२ जो गोपिका आदि हैं, वे इनके सदृश नहीं हैं । जो उत्कृष्ट अप्सराएँ हैं, वे स्वयं आगई हैं । सब स्त्रियाँ हुईं, इनको मुक्ति दी गई, यह स्पष्ट निरूपण किया, इस प्रकार भगवान् से निरोध हुआ ॥५८॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध (उत्तरार्ध) ५५वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-फल
भवान्तर प्रकरण का दूसरा अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

“पञ्च पटरानी विवाह”

राग बिलावल

हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोई । हरि हरि सुमिरत सब सुख होई ॥
हरि हरि सुमिरचौ जब जिहँ जहाँ । हरि तिहँ दरसन दीन्हो तहाँ ॥
हरि सुमिरन कालिंदी कीन्हौ । हरि तहँ जाइ दरस तिहँ दीन्हौ ॥
पानि ग्रहन पुनि ताकी कियौ । सबै भाँति ताकी सुख दियौ ॥
हरिहँ मित्रबिदा जब ध्यायो । हरि तहँ जात विलंब न लायो ॥
करि विवाह ताकौ ले आए । तासु मनोरथ सकल पुजाए ॥
हरि चरननि सत्या चित दीन्हौ । ताके पिता परन यह कीन्हौ ॥
सात बेल ये नाथे जोई । सत्या व्याह तासु सँग होई ॥
हरि तहँ जाइ तासु प्रन राख्यौ । धन्य धन्य सब काहू भाष्यौ ॥
ताके पिता व्याह तब कीन्हौ । दाइज बहु प्रकार तिन दीन्हौ ॥
बहुरो भद्रा सुमिरे हरी । गए तासु हित विलंब न करी ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

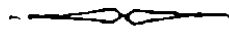
श्रीमद्बल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ५६वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ५६वाँ अध्याय
उत्तरार्ध का १०वाँ अध्याय

राजस-फल-अवान्तर प्रकरण

“तृतीय अध्याय”

भौमासुर का उद्धार और सोलह हजार एक सौ राजकन्याओं के साथ
भगवान् का विवाह



कारिका—सर्वासामुद्धृतिः पूर्ण संक्षेपेण निरूपिता ।

दशमे विस्तरेणाह तामेवान्यविभाषया ॥१॥

कारिकार्थ—पहले सबों की जो उद्धृति कही है, वह संक्षेप में कही है, उसको ही उत्तरार्ध के इस दशम अध्याय में दूसरी भांति विस्तारपूर्वक कहते हैं ॥१॥

कारिका—यदर्थमवतीर्णोऽसौ नान्यन्तं तत्र मृग्यते ।

हेतुरित्यत्र निर्णीतमतस्ता जगृहे हरिः ॥२॥

कारिकार्थ—जिस कार्य के लिए आप प्रकट हुए हैं, उसमें क्या हेतु है ? उस क

तलाश वहाँ विशेष करने की आवश्यकता नहीं, यों यहाँ निर्णय किया हुआ है । अतः उनको हरि ने ग्रहण किया ॥२॥

-- इति कारिका सम्पूर्ण --

आभास—स्त्रीणां सामान्यतो विवाहे निरूपिते तत्र पराक्रमो न श्रुत इति तदर्थं पृच्छति, सर्वाणि कर्माणि वीर्यवन्ति चेद्भक्तिजनकानि भवन्तीति ।

आभासार्थ—स्त्रियों के (सामान्य रीति से) विवाह का निरूपण हुआ जिससे पराक्रम सुनने में नहीं आया, इससे उसके लिये राजा पूछता है, यदि सर्व कर्म वीर्य वाले होते हैं तब वे भक्ति को उत्पन्न करते हैं ।

श्लोक—राजोवाच—यथा हतो भगवता भौमो येन च ताः स्त्रियः ।

निरुद्धा एतदाचक्ष्व विक्रमं शाङ्गधन्वन ॥१॥

श्लोकार्थ—राजा परीक्षित ने कहा कि जिसने स्त्रियाँ अपने पास रोक रखी थी, उस भौमासुर को जिस प्रकार और जिस कारण से मारा, वह सर्व भगवान् का चरित्र कहो ॥१॥

सुबोधिनी—यथा हत इति । भगवतेति न हनने सन्देहः, किन्तु प्रकारे एव । भौम इति भगवत एव पुत्रः । ननु सर्व एव यथा हताः तथा सोऽपि हत इति को विशेष इति चेत्, तत्राह येन चेति । राज्ञां हि ताः कन्याः षोडशसहस्रसङ्ख्याताः । यदि स्थानतः स्वरूपतो वा सुगमः स्यात् तदा सर्वे राजानः सम्भूय तं मारयेयुः । लज्जास्पदत्वादुहितृहरणस्य । अतो ज्ञायते सर्व प्राणिनामवध्यः स इति दुर्गमश्चेति । तादृशस्य

वधो लौकिकन्यायेन कथमिति भगवति विचारणा । ताः प्रसिद्धाः । किञ्च । निरुद्धा एव कुतः, कथं नोपभुक्ताः । ता वा भगवता कथमाहता इति । यथा विक्रमो भवति, तथा आचक्ष्व । अनेन तासां विवाहे लोके क्लिष्टता प्रतिभातीति ज्ञापितम् । युक्त्या चैवं ज्ञायतेऽक्लिष्टं भवतीति । यतोऽयं शाङ्गधन्वा । न हि समर्थः क्लिष्टं करोति ॥१॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् ने जैसे मारा, मारने वाले भगवान् हैं इस लिये मारने में किसी प्रकार का सन्देह नहीं है, केवल किस प्रकार मारा यही पूछना है, जिसमें ही सन्देह है, नरकासुर नाम न कह कर भौम नाम यह बताने के लिये दिया कि भगवान् का ही पुत्र है, क्योंकि 'भूमि' भगवान् की पत्नी है, उसने जिसको उत्पन्न किया, वह हरिका ही पुत्र कहा जाता है । जैसे सब ही मारे गये वंसे ही यह भी मारा गया, तो फिर इस में क्या विशेषता है ? यदि यों कहो तो, उसका उत्तर देते हैं कि जिसने राजाओं की १६ हजार कन्याएँ लाकर बन्द कर रखी, जो स्थान से वा स्वरूप से उसको मारना, सख होता तो वे सब मिलकर उसको मार देते, क्योंकि (किसी की) कन्या हरो जाय, यह लज्जा की बात है, इसमें जाना जाता है कि वह सब प्राणियों से मारा नहीं जाता, इस प्रकार यह कार्य कठिन होने से, लौकिक ढंग से कैसे मारा जाय, ऐसे विचार भगवान् के मन में स्फुरित हुए ।



वे कन्याएँ प्रमिद्व थीं उनको केवल रोक क्यों रखा ? उनसे भोग क्यों नहीं किया ? उनको भगवान् किस तरह हरण कर लाये, जिस पराक्रम से यह कार्य किया, जैसे आप उचित समझें वैसे कहिये । यों कहने से उनके विवाह होने पर लोक में क्लिष्टता होती हुई भासती है यों जताया है, युक्ति से तो इस प्रकार समझा जाता है कि यह अविलष्ट है, क्योंकि यह शाङ्ग घन्वा है, जो समर्थ होता है उसको कार्य करने में परिश्रम नहीं होता है अर्थात् उसका कार्य क्लिष्टता के बिना ही होता है ॥१॥

आभास—तत्र प्रसङ्गात्तासां विवाहो जात इति वक्तुं देवकार्यार्थं भगवान् प्रवृत्त इत्याह इन्द्रेणेति ।

आभासार्थ—वहां प्रसंग से उनका विवाह हुआ, यों कहने के लिये 'इन्द्रेण' श्लोक में कहते हैं कि भगवान् देवों के कार्य करने के लिये प्रवृत्त हुए हैं ।

श्लोक—श्राव्युवाच ॥ इन्द्रेण हृतच्छत्रेण हृतकुण्डलबन्धुना ।

हृतममराद्रिस्थानेन ज्ञापितो भौमचेष्टितम् ।

सभार्यो गरुडारूढः प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ ॥२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि जब इन्द्र ने आकर भगवान् को जताया कि भौमासुर छत्र, कुण्डल और अमराद्रि में जो मेरा 'मणि पर्वत' नाम स्थान है, ये तीनों ले गया है । यह जानकर भगवान् सत्यभामा के साथ गरुड़ पर विराजमान होकर प्राग्ज्योतिष नाम वाले नगर को पधारे ॥२॥

सुबोधिनी—पूर्व नरकासुरो दिग्विजये इन्द्रं पराजित्य जयख्यापनार्थं त्रयं गृहीतवान् । राज-त्वख्यापकं छत्रम्, तेनेन्द्रत्वं गृहीतवान् । अदिति-कश्यपपुत्रत्वमपरिहार्यमहत्त्वं मत्वा कश्यपात् भगवान् महानिति पितृकृतोत्कर्षे सिद्धे 'इयं वा अदिति' इति भूमिपुत्रत्वेनादित्यत्वे च रूपविशेष-ख्यापके कुण्डले तस्या गृहीत्वा स्वमात्रे भूम्यै दत्तवान् । तथा त्रैलोक्याधिपतित्वं च दूरीकर्तव्यम् । तत्र यत्र यस्तिष्ठति, तदधिपतित्वं न दूरी-कर्तव्यम्, साधारण्यात्, अतो भूम्याधिपत्यं दूरी-कर्तुममराद्रिस्थानं मेरौ यदिन्द्रस्य स्थानं तदपि हृतवान् । अनेन स्वस्थानाधिपत्यं दूरापास्तमिति न पातालाधिपत्यव्युदासाय किञ्चिच्चकार । स्वर्ग-स्थानमपि ग्राह्यमित्यध्यवसायोऽस्ति । अन्येष्वव-तारेष्ववतारप्रयोजनमात्रं करोति । नाधिकम् ।

नापि वामनः पुत्रं मारयितुमिच्छति । आश्रपे-क्षया तु पुत्रः प्रियः, अदितिभूमिश्च भक्ते । स्वा-पेक्षयापि पुत्रः प्रिय इति पुत्रेण स्वमात्रे कुण्डले दीयमाने च न निवारयति । विशेषावतारे सर्व-गतं तेजस्तत्रैव गच्छति । अतो वामन उदासीन इति इन्द्रः कृष्णमेव विज्ञापयामास । हृते कुण्डले बन्धोर्मितुयस्य । हृतममराद्रेः स्थानं यस्य । चेष्टि-तमधिकग्रहणरूपम् । ज्ञापितो भगवान् । न हि तत्पुत्रोऽन्येन हन्तुं शक्यः । पूर्वं हि चतुर्भूमिर्भग-वानास । तत्रैका तपः करोति । अपरा परिपाल-नम् अपरा भोगम् । चतुर्थी तु निद्राति । तासां च रट्टघटिकान्यायेन कर्मणां परावृत्तिः । या तपस्यति, सावेक्षां करोति । यावेक्षिष्टे, सा भुङ्क्ते । या बुभुजे, सा शेते । याशयिष्टे, सा तपस्यतीति । क्रियाया कालश्च सहस्रं वत्स-

राणि । तत्रैषा व्यवस्था । या तपस्यति, सोत्तिष्ठति । ये केचन स्वार्थं तपः कुर्वन्ति, तेभ्यः प्रसन्ना भवति । तत्रैकदा भूमिः तपस्यन्ती स्थिता । सन्ध्यायां च भगवानुत्थितो वरार्थं प्रेरयामास । ततः सन्ध्यायां भूमिः पुत्रं वव्रे । ततोऽयं नरको जातः कालवशादसुरः । ततो भगवान् भूम्या पुनः प्रार्थितः । नायं हन्तव्य इति । ततो भगवानाह 'त्वत्सम्मतिव्यतिरेकेण न हनिष्या-

मी'ति । स्वस्यास्त्रं नारायणाख्यं दत्तवान् । यावदस्मिन्नस्त्रम्, तावन्न मृत्युरिति । स चासुरत्वात् महादेवभक्तो बभूव । त्रिशूलं च प्राप्तवान्, नारायणास्त्रसमानम् । ततः स्वयं शिवभक्त इति त्रिशूलं स्वार्थे स्थापितवान् । पुत्राय भगदत्ताय नारायणास्त्रं ददौ । अतो हनने भूमिसम्मतिरेव ग्राह्या । भूमिश्च सत्यभामा ॥२॥

व्याख्यानार्थ—नरकासुर ने पहले जब दिग्विज की थी उसमें इन्द्र को जितकर, उस विजय की प्रसिद्धि के लिये तीन वस्तुएँ ली थी, राजत्व की प्रसिद्धि हो, इस लिये छत्र, छत्रद्वारा इन्द्रत्व की ग्रहण कर लिया, अदिति और कश्यप के पुत्रपन का माहात्म्य मिटाते, जैसा नहीं है, यो समझ कर कश्यप से भगवान् बड़े हैं इस प्रकार पिता का उत्कर्ष सिद्ध हो जाने पर 'इयं वा अदितिः' यों अदिति रूप में रूपको जो विशेष प्रकाशित करने वाले उसके कुण्डल थे उनको उस (इन्द्र) से लेकर अपनी माता 'भूमि' को दिये तथा त्रैलोक्य का आधिपत्य दूर करना चाहिये । उनमें जहाँ जो रहता है साधारण तौर पर उस स्थान का आधिपत्य दूर नहीं करना चाहिये, इस लिये भूमि पर जो उसका आधिपत्य है उसको दूर करने के लिये मेरु पर्वत पर जो इन्द्रका अमर स्थान है वह भी भौम ने हर लिया इससे अपने स्थान का आधिपत्य दूर ही किया, इसलिये पाताल के आधिपत्य के निराकरण के लिये कुछ नहीं किया, स्वर्ग का स्थान भी ग्रहण करना चाहिये, जिसके लिये उद्यम हो रहा है, अन्य अवतारों में अवतार लेने का जितना प्रयोजन होता है केवल उतना ही कार्य करते हैं उससे अधिक नहीं करते, वामन, भगवान् हैं वे पुत्र को मारना नहीं चाहते हैं । क्योंकि भाई से पुत्र अधिक प्यारा होता है, अदिति और भूमि दोनों भक्त हैं, अपनी अपेक्षा से भी पुत्र प्यारा होता है, इस लिये पुत्र (भोमासुर) ने जब अपनी माता (भूमि) को कुण्डल दिये, तब उसको रोका नहीं । जब भगवान् विशेष अवतार लेते हैं तब सर्वगत तेज उसमें ही रह जाता है, अतः वामन रूप भगवान् उदासीन हैं, इसलिये इन्द्र उनको प्रार्थना न कर भगवान् कृष्ण को ही प्रार्थना करने लगा, जिससे माता (अदिति) के और बन्धु (वामन) के कुण्डल हरे गए हैं तथा अमराद्वि स्थान का भी हरण हो गया है, यह भौम ने अधिक ग्रहण किया है यह 'चेष्टित' पद से बताया है, इस प्रकार सर्व समाचार भगवान् को जताये, उनके पुत्र दूसरे से मारे नहीं जाते पहले भगवान् चतुर्भूति रूप थे, उनमें से एक तपस्या करती है, दूसरी पालना करती है, तीसरी भोग करती है, और चतुर्थ शयन करती है । उनके कर्मों की प्रवृत्ति रहट की घटिकाओं के समान होती रहती है । जो मूर्ति तपस्या करती है वह फिर परिपालन करती है, जो परिपालन करती है, वह भोग करती है, जो भोग करती है वह शयन करती है और जो शयन करती है वह तपस्या करती है, क्रिया का काल हजार वत्सर है उसमें यह व्यवस्था है, जो तपस्या करती है, वह उठती है, जो कोई अपने लिये तपस्या करते हैं, उन पर प्रसन्न होती है, वहाँ किसी समय भूमि तपस्या कर रही थी, सन्ध्याकाल में भगवान् जाग्रत हुए (उठे) वर के लिये उसको प्रेरणा की कि जो चाहती हो, वह मांगले, यों कहने पर भूमि ने सन्ध्या समय पुत्र माँगा, इस प्रकार ऐसे समय वर प्राप्त करने से जो पुत्र उत्पन्न हुआ वह यह 'नरक' है, ऐसे काल में जन्म लेने के कारण 'असुर' हुआ, जब ऐसा पुत्र उत्पन्न हुआ तब भूमि ने भगवान् को प्रार्थना की, कि यह मारने योग्य नहीं होना चाहिये, अर्थात्



आप इसको मारना नहीं, तब भगवान् ने कहा कि, तेरो राय लिये बिना नहीं मारूँगा, अपना अस्त्र 'नारायण' नाम वाला उसको दिया, जब तक इसके पास अस्त्र होगा, तब तक मरेगा नहीं वह असुर था इसलिये महादेवजी का भक्त हुआ, महादेव से 'त्रिशूल' प्राप्त किया, वह त्रिशूल नारायणास्त्र के समान था शिव भक्त होने से त्रिशूल अपने पास रक्खा और नारायण अस्त्र अपने पुत्र भगदत्त को दिया, अतः मारने में शेष भूमि की सम्मति ही लेनी रही, सत्यभामा भूमि की रूप है ॥२॥

आभास—अतो नरकवधार्थं भगवान् सत्यभामया सह गरुडाधिरूढो गत इत्याह सभायों गरुडारूढ इति ।

आभासार्थ—अतः नरकासुर के वध के लिये भगवान् सत्यभामा के साथ गरुड़ पर विराजमान होकर उसके नगर में गये जिसका वर्णन 'सभायों गरुडारूढः' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—सभायों गरुडारूढः प्राग्ज्योतिषपुरं ययौ ।
गिरिदुर्गैः शस्त्रदुर्गैर्जलान्धिलदुर्गमम् ।
मुरपाशायुतैर्घोरैर्दृढैः सर्वत आवृतम् ॥३॥

श्लोकार्थ—भगवान् पत्नी के साथ गरुड पर बैठकर प्राग्ज्योतिषपुर नाम नगर में गए, जो नगर गिरिदुर्ग, शस्त्रदुर्ग, जलदुर्ग, अग्निदुर्ग और वायुदुर्ग इन्हीं से दुर्गम तथा घोर व दृढ़ दस सहस्र मुर दैत्य की पाशों से चारों तरफ से घिरा हुआ था ॥३॥

सुबोधिनी—प्राग्ज्योतिषपुरमिति तन्नगर-
नाम । यदा तेजोबन्धात्मिका सृष्टिः, ततः पूर्वमिदं
स्थानमुत्पादितमिति ज्ञापनार्थं तथा नाम । तत-
स्तस्य षडावरणानि निरूपयति गिरिदुर्गैरिति ।
सर्वतः गिरयः पर्वताः अश्वेचरस्य दुर्गमाः ।
साम्प्रतं कामरूदेश इति तत्प्रसिद्धिः । शस्त्रदुर्गाणि
द्वितीयानि । दुर्गत्वं परितः स्थित्या गमनप्रतिब-
न्धकत्वम् । शस्त्राणि खड्गादीनि । यथा असि-

पत्रवनम् । ततो मध्ये जलं परितः । ततोन्तर-
ग्निः । ततो वायुरिति । मुरो नाम पञ्चपर्वावि-
द्याधिष्ठात्री देवता । तस्य पाशाः सर्वापेक्षयान्त-
रावरणभूताः, ते च दृढाः, पूर्वापेक्षयापि । अनेन
क्रम उत्तरोत्तरबलिष्ठत्वं सूचितम् । सर्वत आवृ-
तमिति । सर्वेन मार्गोऽपि संरक्षितः । स्वयं तु
खेचरः । तेजःप्रभृत्यावरणत्रयं उपर्यपोति सम्प्र-
दायः । तेन सर्वागम्यम् ॥३॥

व्याख्यार्थ—'प्राग्ज्योतिषपुर' यह उस नगर का नाम था, जब तेज, जल और अन्तरूप सृष्टि बनी, उससे पहले यह नगर बना था, यह जताने के लिये वैसा नाम रखा हुआ है, इस नगर को छ छिपाने वाले व रक्षार्थ दुर्ग (किले, थे) । १-पहले गिरि ही दुर्ग थे, अर्थात् चारों तरफ बड़े बड़े पर्वत थे जिससे घोड़े पर सवार का वहां जाना कठिन था, अब उसकी कामरू देश से प्रसिद्धि है, २-दूसरे शस्त्रों के दुर्ग थे, चारों तरफ खड्ग आदि शस्त्र इस प्रकार सजा कर रखे थे जो जाने वालों को प्रति-
बन्धक होते थे जैसे असिपत्रवन होता है ३-इसके पश्चात् मध्य में चारों ओर जल ही जल, इसके बाद, ४-अग्नि ही अग्नि इसके अनन्तर ५-वायु इसके पश्चात् पञ्चपर्वा अविद्या का अधिष्ठाता देव मुर उसके दृढ़ पाश (बन्धन) थे, जो पहले दुर्गों की अपेक्षा भी अन्दर के आवरण रूप थे, इससे यह



समझाया कि एक दुर्ग से दूसरा दुर्ग क्रम से जवर्दस्त था, चारों तरफ आवृत था, इन्होंने कोई मार्ग भी खुला न छोड़ा था, स्वयं तो आकाश से विचरण करने वाला था, तेज से लेकर तीन आवरण ऊपर भी थे, यह रूढ़ि है, जिससे कोई जाने में समर्थ नहीं ॥३॥

आभास—तादृशस्यापि लौकिकप्रकारेण वधं वक्तुं क्रमेण दुर्गाणां नाशनमाह गदयेति ।

आभासार्थ—वैसे भी नगर का लौकिक उपाय से वध करने के लिये क्रम से दुर्गों का नाश 'गदया' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—गदया निबिभेदाद्वीन् शस्त्रदुर्गाणि सायकैः ।

चक्रेणाग्निं जलं वायुं मुरपाशांस्तथासिना ॥४॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने गदा से गिरिदुर्ग, बाणों से शस्त्रदुर्ग, चक्र से अग्निदुर्ग, जलदुर्ग और वायुदुर्ग तोड़े तथा खड्ग से मुरपाश काट डाले ॥४॥

सुबोधिनी—गदाप्रहारेणाद्वीन्निबिभेद । तेन प्रथमावरणे नराणामपि गमनं सुगममभूत् । स एव चेदानीं मार्गः । सायकैः शस्त्रदुर्गाणि चिच्छेद । सुदर्शनेन जलाग्न्यनिलदुर्गाण्यन्तर्भावितवानित्याह चक्रेणेति । आदावग्निप्रवेशनं सजातीयनिराकर-

णार्थम् । तदुभयोपष्टम्भकं भवति । तस्य च कार्यं जलम् । ततः कारणं वायुमिति प्रान्तस्थितयोरनु-
प्रवेशः । मुरपाशांस्तु असिना च नन्दकेन चिच्छेद ॥४॥

व्याख्यानार्थ—गदा के प्रहारों से पहाड़ों को तोड़ डाला, जिससे जब प्रथम परदा टूटा, तब मनुष्यों का वहां जाना सुगम हो गया, वह ही अब मार्ग है, बाणों से शस्त्रों के दुर्ग छिन्नभिन्न कर दिया सुदर्शन से जल अग्नि और वायु को खींच लिया, आदि में अग्नि में प्रवेश सजातीय निराकरण के लिये, वह उसमें प्रवेश दोनों का रोकने वाला होता है, उसका कार्य जल है, पश्चात् वायु कारण है, इस लिये बाजू में स्थितों का पीछे उसमें लौटकर प्रवेश होता ही है, मुर दंत्य के पाशों को तलवार एवं नन्दक से छीना ॥४॥

आभास—एवमावरणानि दूरीकृत्य दूरान्मारणसाधनानि पाषाणक्षेपरूपाणि यन्त्राणि चिच्छेदेत्याह शङ्खनादेनेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार आवरणों को दूर कर दूर से मारने के साधन जो पाषाणों के फेंकने वाले यंत्र थे, उनको छेदन किया, जिसका वर्णन 'शङ्खनादेन' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—शङ्खनादेन यन्त्राणि हृदयानि मनस्विनाम् ।

प्राकारं गदया गुर्व्या निबिभेद गदाघरः ॥५॥



श्लोकार्थ—गदाधर भगवान् ने शङ्ख के नाद से यन्त्र और मन से शूरवीरों के हृदय तथा बड़ी गदा से कोट तोड़ डाले ॥५॥

सुबोधिनी—मनस्विनां हृदयानि उत्साह-शक्तीश्च । ततो दुर्गप्राकारमपि त्रिभेदेत्याह प्राकारमिति । गुर्व्योति । तत्र स्थितानां देवानां नाशनसामर्थ्यं द्योतितम् । तेषामुपेत्य प्रतिबन्धक-त्वाभावाय निरुपसर्गः । गदाधर इति । अग्रे युद्धार्थं सावधान इत्यर्थः ॥५॥

व्याख्यार्थ—मनस्वियों के हृदयों को और उत्साह शक्तियों के पश्चात् कोट भी तोड़े, हृदय और उत्साह शक्तियों को शङ्ख के नाद से और कोट को बड़ी गदा से, इस प्रकार वहां स्थित देवों को अपनी नाश करने की सामर्थ्य प्रकट कर दिखाई 'त्रिभेद' में निर् उपसर्ग से यह सूचना दी यों करने से वहां निकट पहुँचने में शेष कोई प्रतिबन्ध न रहा । भगवान् का नाम 'गदाधरः' देकर यह बताया है कि आगे यदि युद्ध होवे तो मैं सावधान हूँ ॥५॥

श्लोक—पाञ्चजन्यध्वनिं श्रुत्वा युगान्ताशनिभीषणम् ।

मुरः शयान उत्तस्थौ दैत्यः पञ्चशिरा जलात् ॥६॥

श्लोकार्थ—सोया हुआ पाँच सिरों वाला मुर दैत्य, युग का अन्त करनेवाली वज्र समान भयानक पाञ्चजन्य शङ्ख की ध्वनि सुनकर जल से उठकर खड़ा हुआ ॥६॥

सुबोधिनी एवं सर्वावरणानि भित्त्वा सावधानो जातः । शङ्खनादस्य माहात्म्यं 'विष्णोर्मुखोत्थानिलपूरितस्य यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ते'ति ततो दर्पाच्छयानः परिखाजले तन्नादेन दर्पनाशं मत्वा कथं जात इति हेत्वन्वेषणार्थं उत्थितः । न केवलं माहात्म्यात् दर्पनाशकत्वम्, किन्तु स्वरूप-तोऽपि नादस्तादृश इत्याह युगान्ताशनिभीषण-मिति । युगान्ते प्रलये, तत्रापि मारकत्वेनैव प्रसिद्धः अशनिः, ततोऽपि भीषणः दर्पं हन्त्येव । प्रलये दैत्यानां दर्पस्तिष्ठतीति प्रसिद्धिः । अतो दर्पेण निश्चिन्तः शयानोऽप्युत्थितः । स च दैत्य-स्तेन मारणीय एवेति भगवत्सम्मुखोऽपि विरुद्ध एव जातः । अविद्यासम्बन्धीति ज्ञापयितुं पञ्च-शिराः । पञ्च शिरांसि यस्येति योगः । मुर इत्येव नाम । जलादिति परिखासम्बन्धिनः ॥६॥

व्याख्यार्थ— इस प्रकार सब आवरणों को तोड़ कर सावधान हो गये शङ्ख नाद का माहात्म्य बतलाते हैं कि 'विष्णोर्मुखोत्थानिलपूरितस्य यस्य ध्वनिर्दानवदर्पहन्ता' जिस शङ्ख की ध्वनी, भगवान् के मुख से निकले वायु से पुरित होने के कारण दानवों के दर्प (घमंड) को नाश करने वाली है, ध्वनी होने के पश्चात् दर्प से खाई के जल में सोया हुआ, उस नाद से अपना दर्प नाश समझ इस प्रकार नाद कैसे हुआ ? इसकी जांच करने के लिये उठा, इस शङ्ख का केवल माहात्म्य दर्शक का नाशक नहीं है किन्तु नाद स्वरूप से भी दर्प नाशक है, इसकी सत्यता दिखाने के लिये कहते हैं कि प्रलय के समय में मारने के कर्म से जो प्रसिद्ध वज्र है, उससे भी भयानक, शङ्ख की ध्वनी है जिससे अभिमानियों का दर्प दूर करती है, यह बात तो प्रसिद्ध है कि दैत्यों का दर्प प्रलय के समय भी रहता है, अतः दर्प के कारण निश्चिन्त होकर सोया हुआ भी ध्वनि सुनते ही उठ कर खड़ा हो गया और



वह दैत्य तो मारने के योग्य ही है, कारण कि भगवान् के सन्निधान में सम्मुख होते हुए भी, भगवान् से विरुद्ध होने के खड़ा है, क्योंकि यह दैत्य अविद्या का सम्बन्धी है, इसको बताने के लिये कहा है कि 'पञ्चशिराः' पाँच शिरों वाला है 'मुर' इतना ही नाम है 'जलात्' पानी से कहा, जिसका तात्पर्य है, नगर के चारों तरफ रक्षा के लिये खाई खोदी हुई है, जिसमें पानी भरा रहता है ॥६॥

आभास—उत्थित एव युद्धार्थं प्रवृत्त इत्याहं त्रिशूलमिति ।

आभासार्थ—'त्रिशूल' श्लोक से कहते हैं कि युद्ध के लिये प्रवृत्त होना उचित ही है ।

श्लोक—त्रिशूलमुद्यम्य सुदुर्निरोक्षणो युगान्तसूर्यानलशोचिरुल्बणः ।

ग्रसंस्त्रिलोकीमिव पञ्चभिर्मुखं खरभ्यद्रवत्ताक्षर्यसुतं यथोरगः ॥७॥

श्लोकार्थ—प्रलयकाल के सूर्य व अग्नि के समान तेजवाला होने से जो देखा भी नहीं जा सकता है, वैसा वह दैत्य पाँचों मुखों से मानो त्रिलोको को ग्रसता हुआ त्रिशूल को लेकर भगवान् के सामने यों दौड़कर आया, जैसे सर्प गरुड़ पर दौड़ आए ॥७॥

सुबोधिनी—अनेनासहायवीरत्वमुक्तम् । सुदुर्निरोक्षण इति युक्तमेव तस्य तथात्वम् । यो हि द्रष्टुमेवाशक्यः, तेन सह को वा युध्येत् । किञ्च । युगान्तसूर्यानलशोचिरुल्बणः । पाञ्चजन्यध्वनिस्तु प्रलयाशान्तितुल्य एव, अस्य तु देहकान्तिरपि प्रलयसूर्यानलसदृशी । ततोऽप्युल्बणश्च । अत एव युद्धे निःशङ्कः । महाभूतान्यपि यो भक्षयितुं

शक्तः, स कथं जेयो भवेदित्याह ग्रसंस्त्रिलोकीमिति । पञ्चभिर्मुखैः चतुर्षु दिक्षु उपरि च सर्वानेव लोकान् भक्षयति, न समायेति । दर्शनमात्रमेव तस्य भयानकम्, न तु युद्धं कर्तुं शक्त इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह ताक्षर्यसुतं यथोरग इति । गरुडं सर्पो यथाभिघावति भक्षयः ॥७॥

व्याख्यानार्थ—'सुदुर्निरोक्षण' जिसको देखना ही अशक्य है, उसके साथ कौन लड़ सके ? इससे वीरता को किसी की भी सहायता की आवश्यकता नहीं है, यह सूचित किया है और विशेष यह है कि पाञ्चजन्य शङ्ख की ध्वनी तो प्रलय के वज्र के समान है किन्तु इसकी देह कान्ति भी प्रलय के सूर्य तथा अग्नि के समान है, उससे भी तेज होने से युद्ध में निःशङ्क था, जो महाभूतों को भी खाने के लिये समर्थ है, वह कैसे जीता जा सकता है, इसको सिद्ध करने के लिये कहा है कि पाँच मुखों से चारों दिशाओं में और ऊपर के सब लोकों का भक्षण करता हुआ शान्त न होता है, उसका केवल देखना ही भयानक है, युद्ध करने के लिये शक्तिमान् नहीं है, यह जताने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि जैसे भक्ष्य सर्प गरुड़ के पास दौड़ जाता है, वैसे यह भी मरने के लिये भगवान् के पास दौड़ के गया ॥७॥

आभास—गतस्य पराक्रममाह आविध्येति ।

आभासार्थ—गये हुवे के पराक्रम का वर्णन 'आविध्य' श्लोक में कहते हैं ।



श्लोक—आविध्य शूलं तरसा गरुडमते निरस्य वक्त्रैर्व्यनदत्स पञ्चभिः ।

खं रोदसी सर्वदिशोऽम्बरं महानापूरयन्नण्डकटाहमावृणोत् ॥८॥

श्लोकार्थ—वेग से त्रिशूल को फिरा कर गरुड़ पर चलाया और पाँचों मुखों से गर्जना की, उसकी गर्जना का नाद अन्तरिक्ष, पृथ्वी, सब दिशा और आकाश में भर गया, जिससे समस्त ब्रह्माण्ड घिर गया ॥८॥

सुबोधिनी—उत्तोल्य भ्रामयित्वा वा । तरसा यावद्द्वितीयो न सावधानः । स हि भगवन्तं द्रष्टु-मशक्तो गरुडमताडयत् । अविद्या भगवन्तं न विषयीकरोति । कालान्तरमेव भगवत्प्राप्तिरिति कालरूपं गरुडं क्षोभयति । निरस्य प्रक्षिप्य । निरसनेन अवहेला सूचिता । न हि अस्मद्बलं शूलेन समर्थितं भवतीति तृणमिव दूरीकृतवान् । ततोऽविद्यया तं मोहयितुं पञ्चभिर्वक्त्रैर्व्यनदत् । विशेषेण शङ्खध्वनिं कृतवान् । अन्यस्त्वेकधा गर्जति, अहं पञ्चधेति ज्ञापयितुम् । तस्य नादस्य महत्त्वमाह खं रोदसीति । सर्वमेव विवरस्थानं

पूरयन् अण्डकटाहमावृणोत् । उपर्यपि ब्रह्माण्डं भित्त्वा गत इत्यर्थः । तत्त्वानामप्यविद्यामोहो वर्तत इति अलौकिकत्वाच्छब्दस्य बहिर्गमनम् । ब्रह्माण्डस्यापि अण्डत्वादोमकूपवच्छिद्रत्वम् । मध्ये सर्वत्र पूरणं न भविष्यतीति विशेषतो गणयति । खमाकाशं मध्यस्थितं सर्वेषां हृदयाकाशो वा । रोदसी द्यावापृथिव्यौ । सर्वा अष्ट दिशः । अन्तरं मध्यम् । शब्दाघातादुत्पन्नस्य शब्दान्तस्य तथात्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह महानिति । आ समन्तात्पूरणं बृंहणन्यायेन ॥८॥

व्याख्यार्थ—त्रिशूल को जल्दी ऊँचा उठा कर वा फिरा कर जैसे दूसरा सावधान न हो सके; वह भगवान् को देखने में समर्थ नहीं था इसी लिये गरुड़ के ऊपर उसका प्रहार किया, भगवान् को क्यों न देख सका ? इस शंका का निवारण आचार्य श्री करते हैं कि, अविद्या भगवान् को अपना विषय नहीं बना सकती है कालान्तर में अथवा काल के अनन्तर ही भगवत्प्राप्ति व दर्शन होते हैं, इससे काल रूप गरुड़ को व्याकुल किया 'निरस्य' फेंक कर यों कहने से यह बताया कि हमारे बल को त्रिशूल समर्थित नहीं कर सकता है, इसलिये तिनके समान फेंक कर उसकी अवहेलना की इस के अनन्तर अविद्या से उसको मोहित करने के लिये पाँचों मुखों से ध्वनी की विशेष प्रकार से शङ्ख ध्वनी की, दूसरा तो एक प्रकार से गर्जना करता है, और मैं पाँच प्रकार से करता हूँ, यह बताने के लिये यों ध्वनी की, उस नाद का महत्त्व कहते हैं, समस्त जो विवर है उनको पूरित करता हुआ ब्रह्माण्ड को घेरे लिया । ब्रह्माण्ड का भेदन कर ऊपर भी वह नाद गया, तत्त्वों को अविद्या का मोह होता है, यों अलौकिक पन से शब्द का बाहर जाना हो सकता है, ब्रह्माण्ड भी अण्ड है इससे रोमकूप की तरह उसमें भी छिद्रपन है मध्य में सर्वत्र भरा नहीं जाएगा, इसलिये उसकी विशेष गणना की है, 'खं' आकाश मध्य में स्थित अथवा समस्त का हृदयाकाश, पृथ्वी आकाश, सब आठ दिशाएँ मध्य, शब्द के आघात से पैदा हुए दूसरे शब्द भी वैसे ही होंगे, यों शङ्का कर उसके समाधान के लिये कहते हैं कि 'महान्' वह बड़ा नाद है, इस नादका सर्वत्र भरजाना व्यापक न्याय से है ॥८॥

आभास—एवं तस्य पराक्रममुक्त्वा तत्प्रतीकारार्थं भगवच्चरित्रमाह तदापतदिति ।



आभासार्थ—इस प्रकार उसका पराक्रम कहकर, इसके प्रतीकार के लिये जो भगवान् ने चरित्र किया उसका वर्णन 'तदापतत्' इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तदापतद्वं त्रिशूखं गरुत्मते हरिः शराभ्यामच्छिनन्त्रिधौजसा ।

मुखेषु तं चापि शरैरताडयत्तस्मै गदां सोऽपि रुषा व्यमुञ्चत ॥६॥

श्लोकार्थ—गरुड़ पर गिरते हुए त्रिशूल को देख भगवान् ने अपने दो बाणों से तीन टुकड़े कर डाले और तेज से उसके मुख को भर दिया, जिससे क्रोधित हो उस दैत्य ने भी भगवान् पर गदा फेंक दी ॥६॥

सुबोधिनी—तच्छूलमपतत् गरुडोपरितदेव स्थितम् । त्रिशूखमित्यनेन भेदत्रयं करोतीति त्रिसत्यानां देवानामपि मारक तदिति सूचितम् । गरुत्मत इति पक्षवानतिकोमल इति । स्वतो निवारणसामर्थ्यं चाह । भगवांश्च हरिः । ततः प्रतीकारोऽवश्यं कर्तव्य इति शराभ्यामच्छिनत् । त्रिधा छेदे न पुनः प्ररोहतीति । तच्छूलं दैत्यमित्यनेन ज्ञापितम् । ओजसेति । तदधिष्ठिता देवतापि यथा छिन्ना भवति, तस्य तेजसा सह वा । तेजोऽपि त्रिधा छिन्नमित्यर्थः । न केवलं त्रिशूल-

च्छेद एव, किन्तु सोऽपि ताडित इत्याह मुखेष्विति । यथा न रूपात् तस्य रवेण लोकानां भयं जायत इति मुखान्यपि ताडितानि । अर्थात् पञ्चभिः । आपूरितानि वा । तदा यावद्भिः पूरणं भवति । रव एव च निवारणीय इति । तं चापीति । भिन्नतया सोऽपि हृदये ललाटे वा हतः । तदा पक्षपातं ज्ञात्वा मम गम्यो भविष्यतीति तस्मै भगवते सोऽपि ताडितोऽपि रुषा 'अपकृतो-तिक्रुद्धो भवती'ति दूरादेव गदां प्रक्षिप्तवान् ॥६॥

व्याख्यानार्थ—दैत्य का फेंका हुआ त्रिशूल गरुड़ के ऊपर पड़ा नहीं किन्तु वहां ही स्थिर हो गया, उस त्रिशूल के दो वा तीन भेद करते हैं, वह त्रिशूल त्रिसत्य जो देव है, उनके भी नाशक है, इससे यह भी सूचित किया, गरुड़ कोमल पांखों वाला है, जिससे यह बताया कि वह स्वयं उसको हटा नहीं सकता है, भगवान् का नाम 'हरि' है अर्थात् सर्व का दुःख हरण करने वाले हैं, तब गरुड़ का दुःख कैसे न हरेगा ? अवश्य हरेगा, इसलिये भगवान् ने निश्चय किया कि इसका प्रतीकार अवश्य करना चाहिये, जिससे दो बाणों से उसको तोड़ तीन टुकड़े किये, तीन भाग होने से फिर वह बनता नहीं, इससे यह जाना जाता है कि यह त्रिशूल दैत्य था, तेज से यों किया, जैसे उसका अधिष्ठाता देवता भी छिन्न हो गया, न केवल इतना किन्तु तेज से करने से उसका तेज भी टूट कर तीन भागों में बंट गया, केवल त्रिशूल का तेज सहित छेदन नहीं हुआ किन्तु वह स्वयं भी ताडित हुआ, उसके रूप से मनुष्यों को उतना डर नहीं होता है जितना उसकी आवाज से भय उत्पन्न होता है इसलिये उसके मुखों को भी ताडित किया अर्थात् शरों से पांचों मुखों को भर दिया जैसे उनसे शब्द न निकल सके, और उसके हृदय एवं ललाट पर भी आघात किया जिससे उस दैत्य ने भी क्रोधित होकर भगवान् पर दूर से अपनी गदा फेंकी क्योंकि जो तिरस्कृत होता है, वह बहुत क्रोधवाला होता है, इसलिये पास में आने को सामर्थ्य न होने से दूर से भी गदा मारी ॥६॥



आभास—सापि गदा देवताधिष्ठितेति भगवान् स्वगदयैव तन्निराकरणं कृतवानि-
त्याह तामापतन्तीमिति ।

आभासार्थ— वह गदा भी देवता से अधिष्ठित थी, इसलिये भगवान् ने अपनी गदा से ही उसका निराकरण किया यह 'तामापतन्ती' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तामापतन्ती गदया गदां मृधे गदाग्रजो निबिम्बिदे सहस्रधा ।

उद्यम्य बाहू नभिधावतोऽजितः शिरांसि चक्रेण जहार लीलया ॥१०॥

श्लोकार्थ— संग्राम में आती हुई उस गदा के भगवान् ने अपनी गदा से हजारों टुकड़े कर डाल, तब वह दैत्य दोनों हाथ उठाकर दौड़ता हुआ भगवान् के सम्मुख आया, तब भगवान् ने लीला मात्र से उसका सिर चक्र से काट डाला ॥१०॥

सुबोधिनी—कौमोदक्या नितरां बिम्बिदे । सहस्रधेति । योजनायामशक्या कृता । सजातीयेन सजातीयहननमयुक्तमित्याशङ्क्याह मृध इति । सङ्ग्रामे न दोषः । गदाग्रज इत्यनुप्रासः, स्त्रीणां हितकारी वा । बाहूनुद्यम्येति ग्रहणार्थं समागम-
नमुक्तम् । स च भगवता न स्पष्टव्य इति काले-
नैव तमच्छिनदित्याह शिरांसि चक्रेण जहारेति ।

पञ्चापि पर्वाणि छिन्नानि, यथा प्रतीत्यापि न संसारः । लीलयेति सुदर्शनसामर्थ्यं व्यावर्तयति । पौरुषं स्वकीयमेव व्यापृतम्, परं निरायासेन, प्राप्त एवायासो व्यावर्त्यते । अथवा । लीलैव तत्स्थाने व्यापृता भविष्यतीति । तेन निरोधरूप एव संसारः साम्प्रतं प्रवर्तताम्, न त्वन्य इति लीलये-
त्युक्तम् ॥१०॥

व्याख्यार्थ— विशेषकर कौमोदकी से तोड़ा हजारों टुकड़े कर दिए, जिससे वह पुनः जोड़ा न जा सके । सजातीय से सजातीय को नाश करना योग्य नहीं है, इसके उत्तर में कहते हैं, युद्ध में इस प्रकार करने में दोष नहीं है । 'गदाग्रज' शब्द अनुप्रास अलङ्कार या स्त्रियों के हितकारी अर्थ में दिया है । बाहूओं को ऊपर उठाकर इसलिए आया कि भगवान् को पकड़ लूँ, किन्तु भगवान् तो उसका स्पर्श करना नहीं चाहते हैं; क्योंकि असुर होने से अयोग्य है । इसलिए उसका काल से ही छेदन किया, अतः कहा है कि उसके सिरों को चक्र से काट डाला, उसके पाँच अविद्या के पर्व रूप हैं, जिनके कट जाने से फिर प्रतीति से भी संसार देखने में नहीं आवेगा । 'लीलया' पद देकर यह बताया कि इसमें सुदर्शन को सामर्थ्य व परिश्रम भी नहीं हुआ । अपना ही पौरुष फेंका हुआ है, किन्तु बिना आयास के । यद्यपि आयास प्राप्त है, पर उसकी निवृत्ति हो गई अथवा उस स्थान में लीला ही फैली होगी, जिससे संसार निरोध रूप ही प्रवृत्त होवे, न कि अन्य संसार प्रवृत्त होगा, अतः 'लीलया' पद दिया है ॥१०॥

आभास—छिन्नेष्वपि शिरस्सु दैत्यत्वात्कदाचित् प्राणाः हृदयादिषु तिष्ठेयुरिति तस्य छिन्नशिरसोऽग्रिमावस्थामाह व्यसुः पपातेति ।

आभासार्थ— यह दैत्य है, इस कारण से यदि सिरों के गिर जाने पर भी प्राण हृदय आदि



में रह जावे, तो इस पर उसकी अग्रिम अवस्था 'व्यसुः पपात' श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक—व्यसुः पपाताम्भसि निकृत्तशीर्षो निकृत्तशृङ्गोऽद्विरिवेन्द्रतेजसा ।

तस्यात्मजाः सप्त पितुर्वधातुराः प्रतिक्रियामर्षजुषः समुद्यताः ॥११॥

श्लोकार्थ—इन्द्र के वज्र से कटे हुए गिरि जैसे गिर पड़ते हैं, वैसे ही यह भी सिरों के कटने से प्राण मुक्त हो, जल में गिर गया । उसके सातों पुत्र पिता के वध से दुःखी हुए और क्रोध में आकर पूर्ण उद्यत हो, बदला लेने के वास्ते आए ॥११॥

सुबोधिनी—विगता असवो यस्येति । भूमौ पतितस्य दैत्यत्वात् पुनरुद्गमो भविष्यतीति अम्भसि पात उच्यते । 'आपो हि रक्षोघ्नी' रितः अविद्यायामपि भगवत्सामर्थ्यमग्रेऽप्युत्पादनाभावार्थं च अजित इत्युक्तम् । न केनापि मायादिभिरपि पराजितः । निकृत्तशीर्ष इति । निकृत्तं शिरो यस्येति । नितरां छेदः पुनर्योजनाभावार्थः । आधिदैविकच्छेदार्थो वा । युगान्तरेऽपि प्रादुर्भावाभावाय दृष्टान्तमाह निकृत्तशृङ्गोऽद्विरिवेति । इन्द्रतेजसा वज्रेण । तथापदं पुनरुत्थाने इन्द्रा-

द्वयं सूचयति । तथात्रापि भयादनुत्थानम् । तस्य सप्तव्यसनानि पुत्राः साधिकरणा मारिता इति वक्तुं तेषामागमनमाह तस्यात्मजा इति । मूलच्छेदे शाखा इव ते न प्रयोजका इति पितुर्वधेनातुराः प्रतिक्रियार्थममर्षजुषः सेवितरोषाः । मारकस्य मारणं प्रतिक्रिया । स्वतः आसमर्थ्यात् क्रोधसेवां कृतवन्तः । क्रोधेनापि कदाचिद्भवेदिति समुद्यता इति बहिसामग्री निरूपिता । अन्तः क्रोधः ॥११॥

व्याख्यार्थ—उसके प्राण निकल गए, पृथ्वी पर नहीं गिरा । यदि पृथ्वी पर गिरता तो दैत्य होने से कदाचित् फिर इसमें प्राणों का उद्गम (आना) हो जावे, अतः जल में गिरा; क्योंकि शास्त्र में कहा है कि 'आपो हि रक्षोघ्नीः' जल राक्षसों के हन्ता है, भगवान् का नाम 'अजित' देकर यह सूचित किया है कि सिर अविद्या रूप थे, यदि वे उस रूप से कदाचित् उत्पन्न हो जाय ? इस शङ्का को मिटाते हैं कि भगवान् किसी से माया आदि से भी जीते नहीं जाते हैं, इसलिए भगवान् ने जिस अविद्या को नष्ट कर दिया, वह कभी उत्पन्न नहीं हो सकती है, उसके सिर पूर्णतया ऐसे काटे गए थे, जैसे फिर वे जुड़ न सके अथवा उसका छेदन आधिदैविक था । अविद्या का ऐसा नाश हुआ, जैसे इन्द्र के वज्र से नष्ट पर्वत फिर उत्पन्न होना नहीं चाहते हैं; क्योंकि हम उत्पन्न होंगे तो इन्द्र मारेगा, वैसे भगवान् के भय से अविद्या भी सदैव के लिए नाश हो गई । उसके जो सात पुत्र थे, वे व्यसन रूप थे, उनका भी भगवान् ने अधिकरण सहित नाश किया, यह कहने के लिए उनके आगमन को कहते हैं, यद्यपि वे कुछ करने में समर्थ नहीं हैं; क्योंकि मूल टूट जाने पर शाखाएँ भी नष्ट जैसी हो जाती हैं, वे पत्र पुष्प नहीं दे सकती है, अतः किसी काम की नहीं है, वैसे ही ये भी फिर भी पिता के वध से दुःखी एवं क्रोधित हुए । क्रोध से बदला लेने के लिए आए, उनमें स्वतः तो सामर्थ्य नहीं थी, किन्तु क्रोध से भी कदाचित् बदला लिया जावे, इस विचार से आए । यह बाहर की सामग्री बताई, भीतर क्रोध था ॥११॥

आभास—तेषां प्रसिद्धचर्यं नामानि गणयति ताम्रोऽन्तरिक्ष इति ।



आभासार्थ—उनकी प्रसिद्धि के लिए उनके नाम 'ताम्रोऽन्तरिक्षः' श्लोक से गिनाते हैं।

श्लोक—ताम्रोऽन्तरिक्षः श्रवणो विभावसुर्वसुर्नभस्वानरुणश्च सप्तमः ।

पीठं पुरस्कृत्य चभूपतिं मृधे भौमप्रयुक्ता निरगुर्धृतायुधाः ॥१२॥

श्लोकार्थ—ताम्र, अन्तरिक्ष, श्रवण, विभावसु, वसु, नभस्वान् और सातवाँ अरुण ये सब पीठ नामवाले सेनापति को आगेवान बनाकर भौमासुर प्रेरित युद्ध भूमि में गए, फिर शस्त्रों को धारण किया ॥१२॥

सुबोधिनी—ताम्र इति वर्णतः क्रोधात्मकः । अन्तरिक्ष इति सर्वक्रियाव्यापारयितुमशक्यः । श्रवण इत्याकाशरूपः । विभावसुः सूर्याग्नि-तुल्यः । वसुः भौष्मादेरप्यधिकः । नभस्वान् वायुः । तत्तुल्यः । अरुणः सर्वोद्बोधकः । वर्णतो वा भयानकः । सप्तम इति क्रमोऽत्र विवक्षितः ।

इति ज्ञापयति । पीठस्तेषामाधारभूतः । नरका-सुरस्य सेनापतिः । मृधे युद्धार्थं भौमप्रयुक्ताः । स्वस्थाने नरकासुरस्तान् प्रेषितवान् । ते हि स्वा-पेक्षयापि पितृवधाद्युद्धं करिष्यन्तीति । युद्धार्थं प्रथमतो निरगुः, धृतायुष्माश्च पश्चाज्जाताः । अनेन युद्धे निश्चयो निरूपितः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—'ताम्र' इस नाम से उसका वर्णन क्रोध रूप बताया है, 'अन्तरिक्ष' नाम से बताया है कि सब प्रकार की क्रिया करने में यह असमर्थ है, 'श्रवण' नाम से आकाश रूप कहा है, 'विभावसु' नाम से सूर्य एवं अग्नि के समान बताया है, 'वसु' नाम से भौष्मादि से भी अधिक बताया है, 'नभस्वान्' नाम से वायु कहा है या उसके सदृश वहाँ 'अरुण' नाम से सबको जगाने वाला अथवा वर्ण से भयानक सातवाँ कहने से यहाँ क्रम विवक्षित है, यह जताया है । 'पीठ' उन सातों का आधार है, नरकासुर का सेनापति है, ये सब युद्ध के लिए भौम से प्रेरित अपने स्थान पर नरकासुर ने इसलिए भेजे थे कि पिता के वध से ये मुझ से भी विशेष युद्ध करेंगे, युद्ध के लिए पहले ही निकले हुए शस्त्रों को बाद में धारण किया । इससे युद्ध करने का निश्चय प्रकट किया ॥१२॥

आभास—ततः शस्त्राणि प्रायुञ्जतेत्याह प्रायुञ्जतेति ।

आभासार्थ—अनन्तर शस्त्रों को फेंकना आरम्भ किया, यह 'प्रायुञ्जत' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—प्रायुञ्जतासाद्य शरानसीन् गदाः शक्त्यष्टिशूलान्यजिते हृषोल्लवणाः ।

तच्छस्त्रकूटं भगवान् स्वमार्गणैरमोघवीर्यस्तिलशश्वकर्ता ह ॥१३॥

तान्पीठमुख्याननयद्यमक्षयं निकृत्तशीर्षोरुभुजाङ्घ्रिवर्माणः ।

श्लोक—ये क्रोध से आविष्ट हो भगवान् के निकट आकर, हर एक ने छः छः आयुध (बाण, तलवार, गदा, बरछी, गुर्ज और त्रिशूल) चलाए, अमोघ पराक्रम भगवान् ने अपने असाधारण बाणों से उस शस्त्र जाल के टुकड़े-टुकड़े कर काट गिरा दिए ॥१३॥



सुबोधिनी--आसाद्य निकटे गत्वा षड्विधान्यस्त्राणि भगवति प्रयुक्तानि निरूपयति शरानित्यादिभिः । अष्टिरायुधविशेषः । सप्तभिरपि प्रत्येकं षड्विधानि प्रयुक्तानि । यद्यप्यजितो भगवानिति जानन्ति, तथापि रुषा क्रोधेन उल्बणाः सन्तः तथा कृतवन्तः । भगवता कृतं प्रतीकारमाह तच्छस्त्रकूटमिति । स्वमागंगैरिति । असाधारणैर्बाणैः, अन्यथा अग्नेर्बाणैः, दुर्गाया असिः, गदा वायोः, अष्टिरपि वरुणादेः, शक्तिर्मायायाः, शूलं शिवस्येति, एतावन्तः तत्तद्देवताधिष्ठिता न हता भवेयुः । ननु भगवानेव तेष्वपि स्वसामर्थ्यं दत्तवानिति कथं भगवांश्चकर्तेत्याशङ्क्याह अमोघवीर्यं इति । तेषु दत्तं परगामि मोघं जातम्, तदेव स्वस्थाने अमोघम् । अतः अमोघेन मोधानि वीर्याणि प्रतिहतानीत्यर्थः । तिलशः कर्तनं पुन-

नीत्वा लोहखण्डान्यपि सज्जीकर्तुं मशक्तः नीति ज्ञापयति । हेत्याश्चर्यं । तावन्न कर्तव्यम्, प्रयोजनाभावात्, तथापि स्वस्याक्लिष्टकर्मत्वं ज्ञापयितुं तावत् पराक्रमं प्रदर्शितवान् । शस्त्राणां विनियोगमुक्त्वा प्रयोक्तृणामाह तान् पीठमुख्यानि । यमक्षयमिति तावद्वण्डार्थम्, मुरवत्पुनरावृत्त्यभावाय वा । ते हि पीठं पुरस्कृत्य समागता इति उपजीव्यत्वात् उत्साहनिवृत्त्यर्थं प्रथमतः स एव हतः । मूर्च्छादिना अलौकिकप्रकारेण हननं व्यावर्तयितुमाह निकृत्तेति । चत्वार्यङ्गानि कवचं च निकृत्तानि येषाम् । पितुः पञ्चांशाः तेषु प्रतिष्ठिता इति कार्ये तदंशव्यावृत्त्यर्थं शिरः प्रभृतीनां छेदनम् । शीर्षाणि ऊरवः भुजाः अङ्घ्रयश्च । ज्ञानं गतिश्चाद्यन्तयोः । उत्पत्तिः कर्माणि च मध्ये । तत एव क्रमः ॥१३३॥

व्याख्यानार्थं—‘आसाद्य’ का तात्पर्य बताते हैं, कि भगवान् के समीप आकर छः प्रकार के आयुध भगवान् पर चलाने लगे, जिसका निरूपण करते हैं, ‘शरान्’ इस से लेकर अन्य भी ‘अष्टि’ यह विशेष आयुध है, सातों में से हर एक ने छः प्रकार के आयुध चलाए, यद्यपि जानते थे कि भगवान् अजेय हैं तो भी क्रोध की अधिकता से यों करने लगे । इस प्रकार जब उन्होंने किया, तब भगवान् ने उसका जो प्रतिकार किया, वह कहते हैं । भगवान् ने अपने असाधारण अमोघ बाणों से उनके शस्त्र जाल के तिल-तिल जितने टुकड़े कर डाले, यदि भगवान् अपने अमोघ बाण नहीं चलाते तो यह शस्त्र जाल टूटता नहीं; क्योंकि ये सब शस्त्र अपने-अपने देवताओं से अधिष्ठित थे, जैसा कि बाण अग्नि से, खड्ग दुर्गा से, गदा वायु से, अष्टि भी वरुण आदि से, शक्ति माया से, शूल शिव से अधिष्ठित था । इन देवताओं में भगवान् ने ही अपनी सामर्थ्य स्थापित की है तो फिर भगवान् ने उनको कैसे काट डाला ? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् अमोघ वीर्य हैं अर्थात् भगवान् का पराक्रम कभी भी निष्फल नहीं जाता है, भगवान् का वीर्य अपने में तो अमोघ रहता है, दूसरे पात्र में जाने पर पात्रानुसार मोघ हो जाता है, अतः अमोघ वीर्य से मोघ वीर्य नष्ट हो गए, तिल-तिल जितना होने से लोह का पदार्थ भी पुनः बन नहीं सकता है । ‘ह’ शब्द आश्चर्य प्रकट करने के लिए दिया है, प्रयोजक के अभाव से इतना नहीं करना चाहिए था तो भी अपना अक्लिष्टकर्मत्व दिखाने के लिए यों पराक्रम दिखाया गया है, शस्त्रों का विनियोग कह कर, अब शस्त्र चलानेवालों का विनियोग बताते हैं, ‘यमक्षयं’ मुर की तरह फिर आवृत्ति न हो, इसलिए इनको अक्षय दण्ड दिया है जिस पीठ नाम वाले सेनापति को अपना बचाने वाला जान ले आए थे, उसका ही पहले नाश किया; क्योंकि उसके नाश से सबका उत्साह नष्ट हो जायगा, अलौकिक प्रकार से मूर्च्छा आदि द्वारा उनका नाश नहीं किया; किन्तु चारों अङ्ग एवं कवच नष्ट किया, पिता के पाँच अंश इनमें प्रतिष्ठित थे, इसलिए उस अंश के निवृत्ति के वास्ते सिर आदि का छेदन किया गया । १-मस्तक, २-जङ्घा, ३-भुजा और ४-पाद इन चारों अङ्गों का छेदन किया, जिससे सिर से ज्ञान और पाद से गति नाश हुई, उत्पत्ति और कर्म मध्य अङ्गों से नाश हुए, इस प्रकार यह क्रम बताया है ॥१३३॥

आभास—तत उभयेषां मुरस्य तत्पुत्राणां च फलरूपस्य नरकस्य निराकरणार्थं प्रवृत्तिमाह स्वानीकपानिति ।

आभासार्थ—अनन्तर मुर और उसके पुत्रों को जो फलरूप नरक मिलता था, उसके निराकरण के लिए 'स्वानीक' श्लोक में प्रवृत्ति को कहते हैं ।

श्लोक—स्वानीकपानच्युतचक्रसायकंस्तथा निरस्तान्नरको घरासुतः ॥१४॥

निरीक्ष्य दुर्मर्ण्येण आस्रवन्मदैर्गजेः पयोधिप्रभवैर्निराक्रमत् ।

श्लोकार्थ—भगवान् बाण और चक्र से अपने सेनापतियों को मरा हुआ देख, पृथ्वी का पुत्र नरकासुर, बहुत क्रोध में आकर समुद्र से प्रकट हुए, मद भरते हुए हाथियों की सेना लेकर बाहर निकला ॥१४॥

सुबोधिनी—तस्य जयहेतवः सेनाः तासामनीकानां रक्षकाः । अज्ञानेन व्यसनैश्च नरकः सिद्धो भवतीति तेषां निराकरणे स्वयं निराकृतोऽपि लौकिकैः साधनैः स्वजयो भविष्यतीति आस्रवन्मदैर्गजेः सहितः युद्धार्थं निराक्रमत् । अच्युतत्वान्न तस्य केनाप्यंशेन क्षतिः । मुरश्चक्रेण हता, अन्ये सायकैरिति ससाधनसाध्यस्यानुवादः । तथेति प्रकारस्यापि ततस्तदपेक्षया समर्था गजा इति सूचयितुं पूर्वानुवादः । नन्वग्निवत् भगवान् स्थूलान् सूक्ष्मानपि दहतीति, ततो बलिष्ठानपि

गजान् मारयिष्यतीति, कथं तत्प्रवृत्तिरिति चेत्, तत्राह निरीक्ष्येति । दुर्मर्ण्येण इति । दुष्टक्रोधयुक्तः । ज्ञानाच्छादको वर्तत इति तथा प्रवृत्तिः । गजानामुत्कर्षमाह आस्रवन्मदैः पयोधिप्रभवैरिति । कार्यकारणोत्कर्षो निरूपितो । स्वभावतो गजा जीवेषूत्कृष्टाः सङ्घचराः । अतस्त्रिविधोऽप्युत्कर्षो निरूपितः । गजानां मदस्रव एव बलोत्कर्षहेतुः । ऐरावतः पयोधिप्रभव इति समानजनकत्वेन तत्सामर्थ्यं सर्वेषां निरूपितम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—नरकासुर को जिताने वाली सेना के रक्षक जब मारे गए, तब नरकासुर की प्राप्ति हुई अर्थात् वह बाहर निकल आया । अज्ञान से या व्यसनों से ही नरक सिद्ध होता है, उनके निराकरण होने से यद्यपि स्वयं निराकृत हो गया, तो भी लौकिक साधनों से जीत होगी । यों समझ जिनका मद जल बहर रहा था, ऐसे समुद्र से उत्पन्न मस्त हाथियों को लेकर युद्ध के वास्ते बाहर आया, भगवान् तो अच्युत हैं, उनकी तो किसी भी अंश से क्षति नहीं हो सकती है, नरकासुर ही चक्र से मारा गया, दूसरे बाणों से नष्ट किए गए । यों साधन सहित साध्यों का अनुवाद है । 'तथा' शब्द का भावार्थ है कि नमूना भी वही है, अनन्तर उसकी अपेक्षा हस्ती समर्थ बलवान् है, यों सूचना करने के लिए पहले का अनुवाद किया है । भगवान् तो जब अग्नि की भाँति सूक्ष्म और स्थूल सबको ही जला देते हैं, तब बलिष्ठ हस्तियों को भी मार डालेंगे, यों था तो फिर उसकी प्रवृत्ति कैसे हुई ? यदि यों कहा जावे तो कहते हैं कि अपने सेनापतियों को नष्ट हुआ देखकर, दुष्ट क्रोध से युक्त हो गया, जिससे उसका ज्ञान आच्छादित हो गया अर्थात् अज्ञानी बन गया । ऐसी दशा होने से ही प्रवृत्ति हुई, हस्तियों का उत्कर्ष बताते हैं, एक तो इन हस्तियों की उत्पत्ति समुद्र से हुई, जिससे

उस विरुद्ध बुद्धि का कारण कहते हैं कि उसने शतघ्नी^१ को भगवान् पर फेंका, ऐसे को विशेषता से रचा और योद्धों ने भी शतघ्नी तथा बाणों से साथ ही प्रहार किया, 'स्म' प्रसिद्धि अर्थ में है ॥१५॥

श्लोक—तद्भौमसैन्यं भगवान्गदाग्रजो विचित्रवाजैर्निशितैः शिलीमुखैः ।

निकृत्तबाहूरुशिरोऽङ्घ्रिविग्रहं चकार तह्यैव हताश्वकुञ्जरम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—उसी क्षण भगवान् ने विचित्र पङ्क्तियों वाले तीक्ष्ण बाणों से उस भौमासुर की सेना के भुजा, उर, सिर और चरण काट डाले, इसी तरह हाथी-घोड़ों को भी मार डाला ॥१६॥

सुबोधिनी—आदौ तेषामपराधो निरूप्यते । भगवतोऽक्लिष्टत्वाय । यावत्ते युद्धार्थं प्रवृत्ताः, ततः पूर्वं तस्मिन् वा समये भगवान् स्वमार्गणैः प्रथमतो योधांश्चिच्छेद । ततस्तत्प्रयुक्तान्यस्त्राणि । पूर्वमस्त्राणामुपस्थित्यभावात् । नात्र क्रमो दोषाय । तत्प्रसिद्धं भौमस्य सैन्यम् । भगवत्त्वात् न पुत्रादिभावस्तस्य बाधक इति भगवत्प्रवृत्तिः । सोऽपि मातुः पुत्र इति पित्रापि सह युद्धकरणं नायुक्तम् । गदाग्रज इति । भक्तोत्पादनार्थं भगवतस्तथाकरणं युक्तमेव । लौकिकेनैव प्रकारेण तान् हतवानिति ज्ञापयितुं भगवच्छ्वरान् विशिनष्टि विचित्रवाजैरिति । दूःगमनलक्ष्यैकगमनप्रयोजकाः पक्षाः । विचित्रा वाजा येषामिति । वायुर्जायते गतिर्वा

येभ्य इति । निशितानि कार्यसाधकानि । निकृत्तानि बाह्वादीनि यस्येति । प्रक्षेपकौ बाहू । आगमने जङ्घालता प्रयोजिका । कर्मजन्मनो वा पूर्ववत् । ततो ज्ञानगती । बाहूरुशिरोऽङ्घ्रयः विग्रहे यस्येति तादृशं चकार । तह्यैव यस्मिन् क्षणे युद्धार्थं तत्सैन्यं प्रवृत्तम्, तस्मिन्नेव क्षणे प्रथमशस्त्रविमोकानन्तरं यथा नापरं विमुञ्चति, तदर्थं पार्श्वभागान् सर्वानेव निराकृतवान् । बाहूनां निराकरणमाह । हता अश्वाः कुञ्जराश्चेति । चतुरङ्गै रथा अचेतनाः । नराणां स्वरूपमुक्तमेव, अवशिष्यन्ते वाजिनः करिणश्चेति ॥१६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् का अक्लिष्टत्व सिद्ध करने के लिए प्रथम उसका अपराध निरूपण किया जाता है, जब तक वे युद्ध प्रारम्भ करें, उससे पहले अथवा उसी समय में भगवान् ने अपने शस्त्रों से योद्धाओं को छेद डाला, पहले अस्त्र पास नहीं थे, अतः पीछे उन्होंने अस्त्र लगाए, यहाँ इस प्रकार का क्रम दोष के लिए नहीं है । भौमासुर का वह सैन्य प्रसिद्ध है, आप भगवान् हैं, इसलिए पुत्रादि भाव आपको बाध नहीं कर सकते हैं, इसलिए भगवान् में प्रवृत्ति की है । वह (सुर) भी माता का पुत्र है, इस वास्ते पिता के साथ भी युद्ध करना अयोग्य नहीं है । भगवान् गदाग्रज हैं, इसलिए भक्त के उत्पादन के लिए भगवान् को यों करना उचित ही है । भगवान् ने इनको लौकिक प्रकार से मारा, यह जताने के लिए शरों का वर्णन करते हैं । वे बाण विचित्र पङ्क्त वाले हैं, पङ्क्तों की विचित्रता से यह

सूचित किया है कि इनके जाने का लक्ष्य दूर जाना ही है और जिनसे वायु उत्पन्न होती है अथवा जिनसे गति होती है । तीक्ष्ण कहने का भावार्थ यह है कि कार्य को सिद्ध करने वाले हैं, भगवान् ने योद्धों के शरीर के चार मुख्य अङ्ग बाहू, सिर, उरु और चरण काट डाले । इन अङ्गों के कार्य बताते हैं कि 'बाहुओं' से शस्त्रादि फेंकने का कार्य करते, 'आने' में 'उरु' काम देते, 'सिर' ज्ञान का, 'चरण' जाने का; अतः इनके काट डालने से सर्व क्रिया लुप्त हो गई । जिस समय उसकी सेना युद्ध के लिए प्रवृत्त हुई, उसी क्षण में प्रथम शस्त्र फेंकने के बाद दूसरा न फेंक सके, इस वास्ते सब तरह के भागों का निराकरण कर दिया । अब वाहनों का निराकरण कहते हैं कि चतुरङ्ग सेना में मनुष्य, घोड़े, हस्ती तथा रथ होते हैं, जिनमें मनुष्यों का पहले नाश कहा, रथ अचेतन है, शेष वचे हुए घोड़े और हस्तियों को भी नाश कर दिया ॥१६॥

आभास—ततः शस्त्राणां छेदनमाह ।

आभासार्थ—अनन्तर शस्त्रों का काटना कहते हैं ।

श्लोक—यानि योधैः प्रयुक्तानि शस्त्रास्त्राणि कुरूद्वह । ।

हरिस्तान्यच्छिनत्तोक्षणैः शरैरेकैकशस्त्रिभिः ॥१७॥

उह्यमानः सुपर्णेन पक्षाभ्यां निघ्नता गजान् ।

श्लोकार्थ—हे कुरूद्वह ! शस्त्रधारी उन योद्धों ने जो-जो शस्त्र चलाए, उनको पहुँचने से पहले ही भगवान् ने तीखे बाणों से उन शस्त्रों को काट डाला, उस समय भगवान् गरुड पर विराजमान थे और गरुड अपने पंखों से गजों को मार रहा था ॥१७॥

सुबोधिनी—यानि तोरेव योधैः प्रयुक्तानि । शस्त्राणि गृहीत्वा प्रहरणसाधनानि । अस्त्राणि तु प्रक्षेप्यानि, ब्रह्मास्त्रादिरूपाणि वा । कुरूद्वहेति विपरीतत्वाद्विश्वासार्थम् । तानि स्थितानि अग्रेपि साधनत्वाल्लोकोपद्रवकारीणि भविष्यन्तीति तान्यच्छिनदित्यभिप्रायेणाह हरिरिति । तीक्ष्णैः शरैरिति नालौकिकत्वम् । एकैकशस्त्रिभिरिति

च । ये पुनर्गजाः स्वार्थं शोभाकरा भवन्ति, तान् न हतवानिति वक्तुं तादृशेन गरुडेन उह्यमानो भगवान्निरूप्यते । येन गजाः अन्तःप्रवेशनार्थं पक्षाभ्यामेव हताः । हस्ताभ्यामन्तःप्रवेशिता इव निरूपिताः । सेनारूपाः दैत्यांश्च गजा मारिताः, साधारणा देवांश्चाश्च रक्षिता इति विभागः ॥१७॥

व्याख्यानार्थ—मारने के जो साधन रूप शस्त्र थे, उनको लेकर उन योद्धों ने चलाया और ब्रह्मास्त्र आदि जो अस्त्र फेंकने जैसे थे, वे फेंके । वे यदि टूटेंगे नहीं, तो आगे भी लोकों का उपद्रव करेंगे; क्योंकि उपद्रव के साधन हैं, इसलिए भगवान् ने उनको तोड़ डाला, यदि न तोड़ डालते, तो आपका 'हरि' दुःखहर्ता नाम निरर्थक हो जाता । इसलिए उस नाम को सार्थक करने के लिए उनको नष्ट कर दिया, उनका नाश अलौकिक प्रकार से नहीं किया, किन्तु लौकिक की भाँति तीखे बाणों से



किया और एक-एक शस्त्रधारियों ने जो अस्त्र-शस्त्र चलाए, सबको हस्तियों में जो अपने लिए शोभा करने वाले होंगे उनको नहीं मारा। यों कहने के लिए कहते हैं कि भगवान् जैसे गरुड़ पर विराजमान हुए थे, जिस गरुड़ ने ऐसे हस्तियों का नाश न कर शेष हाथी जो सेना रूप दैत्यांश थे, उनको मारा, साधारण हस्ती जो देवांश थे, उनकी रक्षा की, यों गजों के दो भाग किए। जिस गरुड़ ने भीतर प्रवेश के लिए पक्षों से गजों को मारा, मानो हाथों से भीतर प्रवेश के लिए यों किया, यह वैसे उनका निरूपण किया ॥१७॥

आभास—ततो गरुडहतानां पुरप्रवेशमाह गरुत्मतेति ।

आभासार्थ—अनन्तर गरुड़ के मारे हुए हाथियों का पुर में प्रवेश 'गरुत्मता' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—गरुत्मता हन्यमानास्तुण्डपक्षनखौर्गजाः ।

पुरमेवाविशन्नार्ता नरको युध्ययुध्यत ॥१८॥

श्लोकार्थ—गरुड़ जब हाथियों को चोंच, पाँख और नखों से मारने लगा, तब वे दुःखी होकर नगर में ही प्रविष्ट हो गए, भौमासुर लड़ने लगा ॥१८॥

सुबोधिनी—तुण्डपक्षनखाः तामससात्विक-राजसाः आर्ताः सन्तः पुरमेवाविशन् । न तु तेषु युद्धार्थं बुद्धिरुत्पन्नेत्यर्थः । ततस्तेषु निवृत्तेषु नरकः स्वयमयुध्यत । युधीत्यावश्यकता ॥१८॥

व्याख्यानार्थ—गरुड़ ने चोंच, पाँख व नखों से प्रहार किया। वे तामस, सात्विक और राजस थे, उनसे जो हस्ति पीड़ित हुए, वे पुर में घुस गए, उनकी बुद्धि लड़ाई के लिए नहीं हुई, जब वे लड़ने से मुख फेर नगर में चले गए, तब नरकासुर स्वयं लड़ने लगा; क्योंकि उस समय 'युद्ध' प्रारम्भ हो गया था। युद्ध में लड़ना राजा के लिए आवश्यक है ॥१८॥

आभास—इदं युद्धं केवलमेव, 'अहं योत्स्यामी'ति उत्साहनिश्चयात्मकम्, शस्त्रप्रहरणात्मकं त्वाह दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—मैं अकेला ही यह युद्ध लड़ूँगा, ऐसे उत्साह से निश्चय किया था कि शस्त्रों से प्रहार करूँगा, यह वर्णन 'दृष्ट्वा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—दृष्ट्वा विद्रावितं सैन्यं गरुडेनादितं स्वकम् ।

तं भौमः प्राहरच्छक्त्या वज्रः प्रतिहतो यतः ॥१९॥

श्लोकार्थ—भौमासुर ने यह देखकर कि उसकी सेना गरुड़ से दुःखी हो भाग



गई, जिस गरुड़ से वज्र रुक गया था, उस गरुड़ पर शक्ति का प्रहार किया ॥१८॥

सुबोधिनी गरुडेन विद्रावितं स्वसैन्यं दृष्ट्वा, अदित च, न केवलं भयमात्रेण पलायितम् । यद्यपि स्वयं भगवता सह युद्धार्थमागतः, अन्यं च न गणयति, तथापि तादृशोऽपि स्वयमेव तं गरुडं शक्त्या प्राहन् । ननु तथाप्यल्पे कथं स्वविक्रमं

योजितवानित्याशङ्क्याह वज्रः प्रतिहतो यत इति । गरुडाद्वज्राऽपि प्रतिहतः । तदमृतहरणे गरुडस्य प्रसिद्धम् । अतो महति पीरुषं कर्तव्यमिति न काप्यनुपपत्तिः ॥१९॥

व्याख्यानार्थ—गरुड़ से पीड़ित और भागी हुई, अपनी सेना देखकर भीमासुर समझा कि यह केवल भय से नहीं भागी है, किन्तु हार कर भागी है । यद्यपि वह भगवान् से ही लड़ने के लिए आया था, दूसरे को तो गिनता भी नहीं है, तो भी वैसा होते हुए भी स्वयं उस गरुड़ पर शक्ति का प्रहार करने लगा । अल्प (छोटे) पक्षी पर अपना पराक्रम कैसे प्रयोजित किया या दिखाया ? इसका उत्तर दिया है कि गरुड़ अल्प नहीं है; क्योंकि गरुड़ से वज्र भी रोका गया था । गरुड़ का यह चरित्र अमृतहरण समय में प्रसिद्ध हैं, अतः महान् में सामर्थ्य बताना भी युक्ति युक्त है ॥१९॥

आभास—इदं माहात्म्यमग्रेऽप्युपयुज्यते । एकमेव वाहनं भगवत इति तदुपद्रवे भगवति काचिच्छङ्का स्यात्, अतस्तन्निवारणं वक्तव्यम्, अत एव किञ्चिज्जातमित्याह नाकम्पतेति ।

आभासार्थ—यह माहात्म्य आगे भी उपयोग में आएगा, भगवान् का ये एक ही वाहन है, उसका उपद्रव हो, तब भगवान् को कुछ शङ्का होगी ? इसलिए उस शङ्का का निवारण करना चाहिए, उसकी शक्ति ने क्या किया ? वह 'नाकम्पत' श्लोक में कहते हैं ।

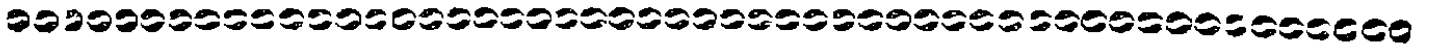
श्लोक—नाकम्पत तया विद्धो मालाहत इव द्विपः ।

शूलं भीमोऽच्युतं हन्तुमाददे वितथोद्यमः ॥२०॥

श्लोकार्थ—उस शक्ति के प्रहार से गरुड़ जैसे हाथी पर माला गिरे तो वह थोड़ा भी हिलता नहीं है, वैसे काँपा नहीं । जब इस प्रकार भीमासुर का उद्यम निष्फल हुआ, तब भगवान् को मारने के लिए त्रिशूल हाथ में लिया ॥२०॥

सुबोधिनी—तया शक्त्या विद्धः । तेनाल्पमपि शरीरभेदमाशङ्क्य दृष्टान्तमाह मालाहत इवेति । मालया हतः । भेदेऽपि व्यथाभावायाह द्विप इवेति । यथा अङ्कुशेन विद्धः द्विपो जागति, कार्यक्षमश्च भवति, तथा गरुडः अतिपराक्रमयुक्तो जात इत्यर्थः । ततो लज्जितो नरकासुरः महादे-

वात् प्राप्तं शूलं तस्मिन् जीवति अमोघमच्युते योजयितुं विचारितवानित्याह शूलमिति । यतो भीमो मातुः पुत्रः । तथा करणे हेतुमाह वितथोद्यम इति । वितथः गरुडे पराक्रमो व्यर्थो जात इति ॥२०॥



व्याख्यार्थ—उस शक्ति से बेधे गए गरुड़ का अल्प भी शरीर में भेद अर्थात् कमजोर न हुआ, जैसे हस्ति को भाला का पहार हो तो कुछ भी उसको नहीं होता है, वैसे ही इसको भी कुछ तो नहीं हुआ, किन्तु जैसे शंकुश लड़ने से हस्ति जगता है और कार्य करने में समर्थ हो जाता है, वैसे ही गरुड़ भी विशेष पराक्रम से युक्त हुआ, इससे नरकासुर लज्जित हो, महादेव से प्राप्त अमोघ त्रिशूल को अच्युत पर चलाने के लिए विचार करने लगा; क्योंकि भौम माता का पुत्र है, भगवान् पर त्रिशूल चलाने का कारण कहते हैं कि गरुड़ पर जो शक्ति चलाई, उसका वह उद्यम निष्फल हुआ, इस कारण से पुनः यह उद्यम करने लगा ॥२०॥

आभास—भगवान् पुनः शूलस्थापि माहात्म्यं स्थापनीयमिति, यस्मिन् क्षणे शूलं त्यक्ष्यति, तत्पूर्वक्षण एव सुदर्शनेन तस्य शिरोऽच्छिनदित्याह तद्विसर्गदिति ।

आभासार्थ—भगवान् को महादेव के त्रिशूल का माहात्म्य भी स्थापित करना था, यदि त्रिशूल भगवान् पर चलाते तो वह निष्फल जाता, जिससे त्रिशूल की अमोघता नष्ट होने से उसका माहात्म्य भी न रहता, यह भगवान् को अभोष्ट नहीं था, इसलिए भगवान् ने उसके द्वारा त्रिशूल चलाने से पहले क्षण में सुदर्शन से उसका सिर काट डाला, जिसका वर्णन 'तद्विसर्गत्' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तद्विसर्गत् पूर्वमेव नरकस्य शिरो हरिः ।

अपाहरद्गजस्थस्य चक्रेण क्षुरनेमिना ॥२१॥

श्लोकार्थ—उस त्रिशूल के चलाने से पहले ही भगवान् ने हस्ती पर बैठे हुए नरकासुर का सिर चक्र की तीक्ष्ण धार से काट गिरा दिया ॥२१॥

सुबोधिनी—पूर्वमेवोत्पन्नप्रयत्नेन छेदनसम-
कालमेव विसर्गोऽपि जातः । अन्यथा स्थिते शूले
सोऽवध्य इति केचित् । नेदं महादेवदत्तं शूलमि-
त्यन्ये । किञ्च । स गजस्थः । आचमनाद्यभावात्

तस्मिन् शूले महादेवः सन्निहित इत्याह गजस्थ-
स्येति । चक्रस्य सामर्थ्यं व्यावर्तयितुमाह क्षुर-
नेमिनेति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—उसके त्रिशूल चलाने के पहले ही भगवान् ने प्रयत्न से सुदर्शन की तीक्ष्ण धार से जो सिर काटा, उसके कटते ही उसके प्राण भी निकल गए, यदि यों न होता तो त्रिशूल के रहते हुए वह मारा नहीं जाता । यों कोई कहते हैं और दूसरे कहते हैं कि त्रिशूल महादेव का दिया हुआ नहीं है । किञ्च वह वास्तव में हस्ती पर बैठा था, आचमन आदि कर्म नहीं किए, जिससे उस त्रिशूल में महादेवजी का आवेश न हुआ, चक्र की सामर्थ्य का निवारण करने के लिए कहा है कि 'क्षुरनेमिना' तीक्ष्ण धार से ही काट डाला अर्थात् चक्र से नहीं काटा, किन्तु उसकी धार से ही काट डाला ॥२१॥

आभास—ततस्तस्य शिरसः पुनर्योजनाभावाय विनियोगान्तरं वदन् वर्णयति सकुण्डलमिति ।

ध्यास्यार्थ—जैसे भूमि से उत्पन्न सिर ही अविकारी होता है तथा चमकता रहता है, वैसे यह चमक रहा था, यों जताने के लिए कुण्डल तथा मुकुट का वर्णन है अर्थात् अच्छी तरह चमकता हुआ सिर गिर गया कहने का यही तात्पर्य है, इस कारण से ही चमकने लगा, भूमि सिर का तिरस्कार करना नहीं चाहती है, इस कारण से भूमि ने उसे अच्छी तरह से रखा, जिससे शोभा हुई। जैसे किसी माता को पुत्र गोद में दिया जाय, तो वह माता उसे गोद में अच्छी तरह बिठाती है, जैसे वह सुशोभित होवे, उसी प्रकार भूमि ने भी किया। यह पृथ्वी अभिमानिनी देवता है, भगवान् की शक्ति 'इला' नहीं है, वह इला आधिदैविकी नरकासुर की माता है, जिसका रूप अब सत्यभामा 'आधि-दैविकी' है। उसको अपने साथ ले जाने में पाँच प्रयोजन हैं; भगवान् जब शक्ति सहित होते हैं, तब पूर्ण होते हैं, बलभद्र के साथ शक्ति के बँटवारे के समय 'योन्यंश' पृथक् किया, माहात्म्य तो दिखाना ही चाहिए, उसके कहने से नरकासुर भी मारने योग्य है। 'सापत्न्य' भाव को सहने के लिए, नहीं तो वह दूसरी स्त्री का होना सहन नहीं कर सकती, बल से हरण करने में भगवान् की सामर्थ्य तो देखी है और पारिजात का लाने के समय भी सामर्थ्य देख ली है। इस प्रकार उसके मरने से भीमासुर की

प्रजा के लोक हा-हाकार करने लगे। ऋषियों ने जाना अपना पुत्र आपने ही ले लिया और दूसरे ऋषि लोग साधु ! साधु ! कहने लगे, देव कहने लगे कि अच्छा हुआ, यों कहकर पुष्प वृष्टि करते हुए स्तुति करने लगे। स्तुति इसलिए की है कि नरकासुर को भी मुक्ति दी और यह नरकासुर पुत्र था, उसको भी मार डाला, भगवान् वैसे पराक्रमी है। दूसरे तो केवल अच्छा किया, यों कहकर स्तुति करने लगे। देवों ने पुष्प वृष्टि की, जिससे यह सूचित किया है कि इसका वध देवों के हितार्थ किया है ॥२२॥

आभास—यदर्थमयं हतः, तस्मिन् हते तज्जातमित्याह ततश्चेति ।

आभासार्थ—जिसके लिए इसका वध हुआ, वह कार्य उसके वध से हुआ, जिसका वर्णन 'ततश्च' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—ततश्च हूः कृष्णमुपेत्य कुण्डले प्रतप्तजाम्बूनदरत्नभास्वरे ।

सवैजयन्त्या वनमालयार्पयत्प्राचेतसं छत्रमथो महामणिम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—अनन्तर पृथ्वी ने श्रीकृष्ण के समीप आकर तपे हुए सुवर्ण में जड़ित रत्नों से प्रकाशित कुण्डल, वैजयन्ती माला, वरुण का छत्र और महामणि ये सब अर्पण किए ॥२३॥

सुबोधिनी—उपेत्य निकटे समागत्य । कृष्ण-त्वात् तस्या भयम् । अदित्याः कुण्डले सर्वदव प्रकर्षेण तप्तजाम्बूनदवत् रत्नवच्च भास्वरे । उभयमपि तत्र प्रकृतिभूतमिति द्वयमुक्तम् । वैजयन्तीं वनमालां च भगवद्भक्तां समर्पितवती । भगवत्पूजार्थं वा वैजयन्ती । वरुणेन निमित्तं समुद्रोद्धूतमिन्द्रस्यैव छत्रं इदमन्यद्वा भगवदर्थं दत्तम् । अथो महामणिः कौस्तुभसदृशः । अथो इत्यनेन पूर्वं भगवदीयमेव भगवते दत्तम्, इदं

त्वतिरिक्तमिति पुत्रोपाजितं दत्तवती । अथवा । वैजयन्त्या सह कुण्डले भूमिष्ठे, छत्रं स्वर्गस्थम्, मणिः पालालस्थ इति । उपलक्षणत्वेन त्रिलोक्यां यत्किञ्चिदुत्कृष्टं तत्सर्वं निवेदिनवती । एतदरिक्तहस्तत्वार्थमेव । वस्तुतस्तु सर्वं भगवत एव, सा भार्या स पुत्र इति । अत एव पुत्रेण सह न भेद इति भगवदर्थमेव सङ्गृहीताः स्त्रिय इति अन्यावरोधस्थस्त्रीविवाहो न दुष्यति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—पृथ्वी भगवान् के पास आई, पास में आने पर भी उसको भय न हुआ; क्योंकि जिनके पास आई, वह कृष्ण थे । अदिति के 'कुण्डल' सदा ही तपे हुए सुवर्ण वाले तथा रत्नों से युक्त होने से चमक रहे हैं, ये दोनों प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं, इसलिए दोनों को कहा । वैजयन्ती माला भगवान् की दी हुई थी, वह दे दी अथवा भगवान् की पूजा के लिए वैजयन्ती माला दी, वरुण को बताया हुआ अथवा समुद्र से उत्पन्न इन्द्र का ही छत्र या दूसरा कोई भगवान् के लिए दिया । बाद में कौस्तुभ के समान बड़ी मणि दी । 'अथो' पद का तात्पर्य बताते हैं कि ये सब पदार्थ प्रथम ही भगवान् के थे, फिर भगवान् को ही दिए । यह तो अतिरिक्त (दूसरे) है, जो पुत्र ने इकट्ठे किए थे,

ग्राभासार्य—अब अपराध की क्षमा याचना के लिए अलग प्रक्रम^१ से स्तोत्र^२ करती है ।

श्लोक—अस्तौषोदथ दिश्वेशं देववरार्चितम् ।

प्राञ्जलिः प्रणता राजन् भक्तिप्रवणया धिया ॥२४॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! पृथ्वी देवी भक्ति युक्त बुद्धि से नम्र हो, हाथ जोड़कर उत्तम देवों से पूजित विश्व के ईश की स्तुति करने लगी ॥२४॥

सुबोधिनी—ननु घातकः कथं स्तूयत इत्या-
शङ्क्याह विश्वेशमिति । पुत्रत्वादिसम्बन्धस्य
प्रयोजकत्वाभावाय विश्वपदम् , स्तोत्रपरिज्ञानाय
देवोति । ननु (तथापि) साम्प्रतमलौकिकं कृत-
मिति कथं स्तुतिरित्याशङ्क्याह । देववरैः साम्प्र-
तमेवाचितमिति । प्राञ्जलिरिति नम्रता दीनता

च सूचिता । प्रणतेति शरीरेण नम्रा । स्त्रीस्व-
भावात् दुःखभयव्यावृत्त्यर्थमाह भक्तिप्रवणया
धियेति । भक्तिप्रवणा प्रतिबन्धकमप्यनादृत्य
भक्तिगामिनी, यथा जलं निम्नगामि । बुद्धिश्चे-
त्तद्गता सा मनसोऽपि नियामिकेति सर्वमेव
भक्तिप्रवणम् ।

व्याख्यानार्थ—जिसने वध का कार्य किया है, उसको स्तुति कैसे की जा सकती है ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहती है कि आप घातक नहीं हैं, किन्तु विश्व के ईश हैं, पुत्रादि सम्बन्ध इसमें कोई प्रयोजक नहीं है, पृथ्वी न कहकर देवी पद देने का भावार्थ यह है कि वह जानती है कि स्तुति किस की और कैसे की जाती है ? तो भी इस समय तो जो कार्य हुआ है वह लोक से भी विरुद्ध हुआ है. इसलिए भी स्तुति कैसे की जाती है ? जिसके उत्तर में कहती है कि 'देववराचितम्' इस लोक के विरुद्ध कार्य करने के अनन्तर भी उत्तम देवों ने आपका पूजन तथा स्तुति का कार्य किया है, अतः आप स्तुति योग्य हैं। हाथ बाँधकर स्तुति करने लगी, जिससे अपनी नम्रता एवं दीनता की सूचना की है, यों मन से दीनता नम्रता बताकर शरीर से नम्रता दिखाने के लिए 'प्रणता' पद दिया है, शरीर से दण्डवत् प्रणाम किया। स्त्रीभाव से चिन्ता तथा भय सदैव रहता है, उनकी निवृत्ति के लिए कहा कि दोनों ही नहीं हैं; क्योंकि चिन्ता और भय मन से होता है, उस मन को भक्ति में लगा

लिया है, इसलिए भक्ति में आसक्त हुई बुद्धि से स्तुति करने लगी, भक्ति में आसक्ति होने से रुकावटों को भी तोड़कर मन भी भगवद्भक्ति में यों दौड़ा जाता है, जैसे जल नीचे की तरफ जाता है ॥२४॥

कारिका—षड्भिः स्तुत्वा प्रार्थयते पौत्रजोवितमुत्तमम् ।

चतुर्भिर्नमनं प्रोक्तं सर्वभावप्रसिद्धये ॥

माहात्म्यं च स्वरूपं च ततो द्वाभ्यामुदीरितम् ॥१॥२४॥

कारिकार्थ—छः श्लोकों से स्तुति कर पौत्र का जीवन उत्तम हो तदर्थ प्रार्थना करती है, सर्वात्मभाव की सिद्धि के लिए चार श्लोकों से नमस्कार कहा है, अनन्तर दो श्लोकों से माहात्म्य और स्वरूप का वर्णन किया है ॥१॥

आभास—आदावाविर्भूतः कश्चिदन्यो भविष्यति, कथमन्यथा पुत्रं मारयेदित्या-
शङ्कां परिहरन्ती लक्षणमाह नमस्ते इति ।

आभासार्थ—पहले उत्पन्न हुआ, दूसरा कोई होगा, यों न हो तो पुत्र को कैसे मारे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए लक्षण 'नमस्ते' श्लोक में कहती है ।

श्लोक—भूमिर्वाच—नमस्ते देवदेवेश शङ्खचक्रगदाधर ।

भक्तेच्छोपात्तरूपाय परमात्मन्नमोऽस्तु ते ॥२५॥

श्लोकार्थ—पृथ्वी ने कहा कि हे देवों के स्वामी ! हे शङ्ख, चक्र और गदा धारण करने वाले ! हे परमात्मा ! भक्तों की इच्छा से अवतार लेने वाले प्रभु आपको नमस्कार है ॥२५॥

सुबोधिनी—ते तुभ्यं नमः । देवतायाः कथम-
न्यनमस्कार इत्याशङ्क्याह देवदेवेति । ईशत्वा-
च्छिक्षेव, न मारणमिति पुत्रमारणेऽपि नान्यथा-
त्वम्, देवदेवानामपि ब्रह्मादीनामीश इति नान्यो-
ऽत्र कश्चिद्वक्तव्यः । तथात्वे हेतुमाह । शङ्खचक्र-
गदाः धारयतीति । अर्थात्पद्मम् । त्रयाणां कार्य-
मुक्तमेव 'गदया निबिभेदाद्री' नित्यादिना । अद्यापि
भगवान् न पुरं प्रविष्टः, गरुड एव स्थितः चतु-
र्भुजः प्रकट इति तथोच्यते । तादृशस्य कथं नरा-

कृतित्वमित्यत आह भक्तेच्छोपात्तरूपायेति ।
भक्तानां यादृशी इच्छा, तादृशमुपात्तं रूपं येन ।
ननु रूपग्रहण एव अन्यथाभावो भवतीति, तत्रा-
प्यन्यादृशं रूपं गृहीतमिति जीवतुल्यत्वात् कथं
नमस्करणीय इत्याशङ्क्याह परमात्मन्निति ।
जीवात्मन एव रूपान्तरस्वीकारे तथात्वम्, न तु
परमात्मन इति । अत एव भक्ताधीनत्वात् पुनर्न-
मस्यति नमोऽस्तु ते इति ॥२५॥

व्याख्यार्थ—आपको नमस्कार है, जब भूमि देवता है, तो देवता का दूसरे देवता को नमन



कैसे ? इस शङ्का के उत्तर में कहती है कि आप देवों के देव तो हैं, किन्तु उनको शिक्षा देने वाले होने से उनके ईश भी है, अतः यह मारना नहीं है, पुत्र के मारने में भी अन्य प्रकारत्व नहीं है, किन्तु शिक्षा ही है, ब्रह्मादि देवों के भी जब ईश हैं, तो यहां अन्य कुछ कहना ही नहीं चाहिए अर्थात् कह कह नहीं सकते हैं, उसमें कारण देते हैं कि शङ्ख, चक्र और गदा धारण करते हो अर्थात् 'पद्म' तीनों का कार्य गदा से 'पर्वतों को तोड़ डालना' इत्यादि से कहा ही है । आज तक भी भगवान् ने पुर में प्रवेश नहीं किया है, गरुड़ पर ही बैठे हुए चतुर्भुज रूप से प्रकट हैं, यों इस प्रकार कहे जाते हैं, ऐसे चतुर्भुज रूप को मनुष्याकृति कैसे ? जिसके उत्तर में कहा है कि भक्तों की जैपी इच्छा होती है, वैसा रूप धारण करते हो । रूप धारण करने से तो विकृति हो जायगी, फिर उसमें भी अन्य जैसा रूप धारण करने से तो जीव से समानता हो गई, तो फिर उसको नमस्कार कैसे की गई है ? इसके उत्तर में कहती है कि आप परमात्मा हैं, इसलिए आप अन्य रूप धारण करने से विकृत नहीं होते हैं, जीव यदि अन्य रूप धारण करे, तो विकृत होता है, आप परमात्मा हैं, अतः विकृत नहीं होते हैं । भक्त के आधीन होने से भगवान् को फिर नमस्कार करती है । 'नमोऽस्तुते' आपको नमस्कार है ॥२५॥

ग्रामास—कुन्त्या चतुर्धा स्तुतो भगवान् प्रसन्न इति स्वयमपि नमस्यति नमः पङ्कजनाभायेति ।

ग्रामासार्थ—कुन्ती ने चार प्रकार से भगवान् की स्तुति की, जिससे प्रभु प्रसन्न हुए, इसलिए भूमि भी 'नमः पङ्कजनाभाय' श्लोक से नमन करती है ।

श्लोक—नमः पङ्कजनाभाय नमः पङ्कजमालिने ।

नमः पङ्कजनेत्राय नमस्ते पङ्कजाङ्घ्रये ॥२६॥

श्लोकार्थ—नाभि से कमल वाले, कमलों की माला धारण करने वाले, कमल सदृश नेत्र वाले, कमल सम चरण वाले आपको नमस्कार है ॥२६॥

सुबोधिनी—तया हि ब्रह्माण्डे सर्वत्वं सर्वोत्तमत्वं चोक्तम् । पङ्कजं नाभौ यस्येति नारायणत्वेन पुरुषत्वं निरूपितम् । तेन ब्रह्माण्डरूपत्वं सिध्यति । तत्रोत्कर्षस्त्रिधा, लक्ष्मीपतित्वेन सर्वोपास्यत्वेन सर्वसुसेव्यत्वेन च । सुसेव्यश्चेन्महान् भवति, स सर्वपुरुषार्थान् सुखेन प्रयच्छतीति ।

पङ्कजानां माला वर्तते अस्मेति पङ्कजमालया लक्ष्म्या वृतः । 'तया विना क्व देवत्वमित्यादि' वाक्यैः तस्याः सर्वपुरुषार्थरूपत्वम् । पङ्कजनेत्रायेति दृष्ट्यैव सर्वतापहारकत्वं वशोकर्तृत्वं च । पङ्कजाङ्घ्रित्वेन सुसेव्यत्वम् ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—उसने ब्रह्माण्ड में भगवान् का सर्वपन तथा सर्वोत्तमपन कहा, नाभि में कमल कहने से नारायणत्व कहकर पुरुष रूप बताया । उससे ब्रह्माण्ड रूपत्व सिद्ध होता है, उस स्वरूप में तीन प्रकार से उत्कर्ष है । जैसे कि १-लक्ष्मीपति होने से, २-सर्वो से उपास्य होने से और ३-सर्व से सेव्य होने से; जो अच्छे प्रकार से सेवनीय होता है, वह महान् होता है, वह ही समस्त पुरुषार्थों को सुख देता है । कमलों की माला से यह बताया है कि आप लक्ष्मी से आवृत्त हैं, उसके सिवाय देवत्व



कहा है ? इत्यादि वाक्यों से उसका सर्वं पुरुषार्थ रूपत्व है, कमल नयन कहकर बताया है कि आप दृष्टि से ही, सब त्राण नाश करते हैं, तथा सर्व को वश कर लेते हैं, चरण, कमल जैसे होने से, सर्व से सुसेव्य हैं ॥२६॥

आभास—एवं ब्रह्माण्डे स्वरूपोत्कर्षो निरूप्य तत्त्वेषु तथात्वमाह नमो भगवते तुभ्यमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्माण्ड में स्वरूप तथा उत्कर्ष का निरूपण कर, तत्त्वों में भी वैसे ही है, जिसका निरूपण 'नमो भगवते तुभ्यं' श्लोक में करती है ।

श्लोक—नमो भगवते तुभ्यं वासुदेवाय विष्णवे ।

पुरुषायादिबीजाय पूर्णबोधाय ते नमः ॥२७॥

श्लोकार्थ—भगवान्, वासुदेव और विष्णु जो आप हैं, उनको मैं नमन करती हूँ । पुरुष रूप, सबका आदि बीज, पूर्ण ज्ञान स्वरूप जो आप हैं, उनको मैं नमस्कार करती हूँ ॥२७॥

सुबोधिनी - सर्वतत्त्वानां मूलभूतो भगवान्, भगरूपाणि च तत्त्वानीति शास्त्रार्थदृष्ट्या स्तुतिं व्यावर्तयति तुभ्यमिति । वासुदेवायेति । तत्त्वानां करणप्रयोजनरूपाय मोक्षदात्रे । अनेनोपासना-मार्गेण सेव्यत्वादुत्कर्ष उक्तः । विष्णव इति कर्म-मार्गेऽपि सेव्याय । विष्णुः यज्ञः स्वतन्त्र इति

ज्ञापयितुं यज्ञे विष्णुपदप्रयोगः । 'तत्त्वेषु पुरुषो महानिति तद्रूपत्वमाह पुरुषायेति । तत्र क्रिया-ज्ञानशक्त्युत्कर्षमाह आदिबीजाय पूर्णबोधायेति । बीजानां कार्योत्पादनसमर्थानामपि उत्पादकाय । पूर्णा क्रियाशक्तिरुक्ता । पूर्णो बोधो यस्येति स्प-ष्टा ज्ञानशक्तिः ॥२७॥

ध्याहार्य—सब तत्त्वों का मूल भूत स्वरूप भगवान् हैं उनके जो भगरूप हैं वे तत्त्व हैं, इसलिये शास्त्र दृष्टि से स्तुति न कर प्रत्यक्ष स्तुति करते हुए कहती है, 'तुभ्यमिति' तुमको नमस्कार है, आप कैसे हैं ? इसके लिये कहती है कि आप तत्त्वों के करण प्रयोजन रूप हैं, अर्थात् मोक्ष दाता हैं, इस कथन से, उपासना मार्ग द्वारा, सेव्य पन से उत्कर्ष कहा, फिर विष्णु होने से कर्म मार्ग में भी सेव्य है, विष्णु पद यहां यज्ञ वाचक है, यज्ञ, स्वतन्त्र हैं यह बताने के लिये यज्ञ के बदले 'विष्णु' पद दिया है, तत्त्वों में 'पुरुष रूप' महान् है इसलिये उस रूप को कहने के लिये 'पुरुषाय' भी कह कर नमन किया है 'आदि बीजाय' पूर्णबोधाय' दो विशेषणों वा नामों से आपके क्रिया और ज्ञान शक्ति का उत्कर्ष बताया है, 'आदि बीजाय' कहने से यह बताया है कि वस्तुओं के पैदा करने में समर्थ बीजों के आप पैदा करने वाले हैं इससे आप में पूर्ण क्रिया शक्ति है वह बता दिया है 'पूर्ण बोधाय' पद से यह सिद्ध किया है कि आप पूर्ण ज्ञान शक्ति युक्त हैं ॥२७॥

आभास—एवं तत्त्वोत्कर्षमुक्त्वा पुरुषोत्तमत्वमाह अजायेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार तत्वों का उत्कर्ष कहकर आप पुरुषोत्तम हैं यह 'अजाय' श्लोक में सिद्ध कर नमन करती है ।

श्लोक—अजाय जनयित्रेऽस्य ब्रह्मणेऽनन्तशक्तये ।

परावरात्मन्भूतात्मन् परमात्मन्नमोऽस्तु ते ॥२८॥

श्लोकार्थ—अजन्मा इस जगत् को उत्पन्न करने वाले, अनन्त शक्ति वाले, ब्रह्म रूप और परब्रह्म आदि तथा हमारे जैसों के आत्म रूप भूतों की आत्मा एवं अत्मा रूप जो आप हैं, वैसे तुमको नमस्कार करती हूँ । परमात्मा पद से आपका अन्तर्यामिपन बताया है, अन्त में नमन कहने से यह नमन सर्व भूतों को करती हूँ, यह कहा है ॥२८॥

सुबोधिनी—सर्वविकाररहितं परतत्त्वमिति सिद्धान्तेनाह अजायेति । जननाभावेन तदन्तराभावाः तत एव निराकृताः । जगत्कर्तृत्वेन तथात्वमिति ये मन्यन्ते, तन्मतेनाह अस्य जनयित्र इति । स्वयमजोऽन्येषां जननं करोतीति सर्वोत्तमत्वमपि सिध्यति । आर्षज्ञानेन तथात्वमुच्यत इति नात्र प्रमाणं वक्तव्यम् । ब्रह्मैव वस्त्विति

ब्रह्मवादे । तत्राप्याह ब्रह्मण इति । वृहत्त्वाद्बृहत्त्वाच्च ब्रह्म । सर्वभवनसमर्थं वस्त्वित्यपि पक्षेणाह अनन्तशक्त्य इति । आत्मवादेनाह । परे ब्रह्मादयः, अवरे अस्मदादयः । तेषामात्मा भगवान् । भूतानि जडानि तेषामप्यात्मा । जीवजडयोरात्मत्वमुपपाद्य अन्तर्यामित्वमाह परमात्मन्निति । अन्ते नमनं सर्वानुषङ्गनार्थम् ॥२८॥

व्याख्यानार्थ—'अजाय' अजन्मा कहने से यह दिखाया है, कि आप सर्व विकार रहित हैं, परमत्व है, जन्म न होने से ही उसमें होने वाले भावों का निराकरण किया है, जगत् के कर्तापन से वैसा होता है, यों जो मानते हैं उनके मत से ही यहाँ 'जनयित्रे' पद दिया है स्वयं अजन्मा होकर दूसरों को पैदा करते हैं इससे आपका सर्वोत्तमत्व भी सिद्ध होता है, यह आर्षज्ञान से कहा जाता है, इसलिये इस विषय में प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं है, जो भी वस्तु है वह ब्रह्म ही है, यों ब्रह्मवाद में माना गया है, वहाँ भी इसलिये 'ब्रह्मणे' कहा है बड़े होने से, सर्वत्र व्यापक होने से, वह ब्रह्म है, यह ब्रह्म रूप वस्तु सब कुछ कर सकने में शक्तिमती है, इसलिये 'अनन्त शक्तये' कहा है, अब आत्मवाद से कहती है कि, ब्रह्मा आदि और अस्मदादि की आत्मा भगवान् हैं जड़ जो भूत है उनकी आत्मा भी भगवान् ही हैं, इस प्रकार जीव तथा जड़ की आत्मा भगवान् है यह प्रतिपादन कर, अब अन्तर्यामिपन सिद्ध करने के लिये कहती है 'परमात्मन्' परमात्मा भी आप है, इस प्रकार आपका पुरुषोत्तमत्व कह कर अन्त में प्रणाम करती है, अन्त में प्रणाम करने का भावार्थ है कि आपके सर्व स्वरूपों को प्रणाम करती हूँ ॥२८॥

आभास—माहात्म्यमाह त्वं वै सिसृक्षुरिति ।

आभासार्थ—“त्वं वै सिसृक्षुः” श्लोक में माहात्म्य कहती है ।



श्लोक—त्वं वै सिसृक्षू रज उत्कटं प्रभो तमो निरोधाय विमर्ष्यपावृतः ।

स्थानाय सत्त्वं जगतो जगत्पते कालः प्रधानं पुरुषो भवान् परः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! जब आपको जगत् के रचना करने की इच्छा होती है, तब उत्कृष्ट रजोगुण को धारण करते हो । जब प्रलय करने का विचार आता है, तब तमोगुण प्रकट करते हो और पालन के लिए सतोगुण को ग्रहण करते हो, अतः काल प्रधान पुरुष आप ही हैं । इन गुणों को स्वीकार करने पर भी उनका प्रभाव आप पर नहीं होता है; क्योंकि आप सबसे पर हैं ॥२६॥

सुबोधिनी—सिसृक्षुः उत्कटं कार्योन्मुखं रजो विमर्षः । निरोधाय तमः । तथा सति तेनावृतः स्यादित्यत आह अपावृत इति । आवरणरहितः । स्थानाय सत्त्वं विमर्षि । सर्वत्रोत्कटं विशेषणम् । अन्यो न तत्र प्रतिबन्धक इति वक्तुमाह जगत्पते ।

इति । गुणानां नियामकास्त्रयः । क्षोभकः कालः । स्वरूपभूता प्रकृतिः । पुरुषः अधिष्ठाता । एतत्त्रयमपि भवानेव । नापि तावन्मात्रम्, किन्तु तेषामपि परः ॥२६॥

व्याख्यान—जगत् की रचना करने की इच्छा होते ही, उस रजोगुण को धारण करते हो, जो शीघ्र ही कार्य करने लगे, तथा प्रलय के लिये वैसा ही उत्कट तमोगुण रूप धारण करते हो, एवं पालन के लिये सतोगुण रूप धारण करते हो, किन्तु ये गुण आपको आच्छादित नहीं कर सकते हैं, इस कार्य में कोई भी रुकावट नहीं डाल सकता है, क्योंकि आप जगत् के पति हैं, गुणों के नियामक तीन हैं १-क्षोभ कराने वाला काल है २-स्वरूप भूत प्रकृति और ३-पुरुष, जो अधिष्ठाता है, ये तीन आप ही हैं आप केवल इतने ही नहीं हो किन्तु इनसे भी पर हो ॥२६॥

आभास—एवं सर्वोत्तमत्वमुक्त्वा सर्वत्वमाह अहमिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार सबसे उत्तमपन कहकर 'अहं' श्लोक से 'सर्वत्व' कहती है ।

श्लोक—अहं पयो ज्योतिरथानिलो नभो मात्राणि देवा मन इन्द्रियाणि च ।

कर्ता महानित्यखिलं चराचरं त्वय्यद्वितीये भगवन्नयं भ्रमः ॥३०॥

श्लोकार्थ—मैं (पृथ्वी) जल, अग्नि, वायु, आकाश, इनकी मात्राएँ, देवता, मन, इन्द्रियाँ, कर्ता,^१ महत्तत्त्व ये सर्व चराचर जगत् आप अद्वितीय में है, यह जो अन्यथा प्रतीति हो रही है, वह भ्रम है ॥३०॥

१—शब्द, स्पर्श, रूप रस और गन्ध

२—अहङ्कार



सुबोधिनी - तत्त्वानि कार्यं च भवानेवेत्यर्थः । अहं पृथिवी । अथेति त्रिवृत्करणवक्ष्यान्यन्व बोधयति । मात्राणि रूपनन्मात्रादीनि । देवाः दिग्वातादयः दश इन्द्रियाणि तथा । चकाराद्बुद्धिप्राणाः । कर्ता अहङ्कारः । महान् महत्तत्त्वम् । इतीति प्रकारवाची, समाप्तिवाची वा । अखिलमित्यस्यानुवादः चराचरमिति । भिन्नतया प्रतीतिरेव भ्रान्तेति, भेदोऽवश्यं कार्यं वक्तव्य इति अखिलमित्युभयत्र संबध्यते, न्यूनाधिकदोषपरि-

हाराय । अद्वितीये त्वयि एकः सन् बहुधा विचचार' इत्यादिश्रुत्या भगवानेव सर्वरूपेण विचरतीत्युक्तत्वात् भेदो भिन्नो नान्यः सम्भवति । तत्त्वादिनिरूपकाणां स्मार्तानां विचारकाणामपि भेदो हृदये भासत इति । अयं सर्वोऽपि भ्रमः एव परिगणनात्मकः । त्वामेव यतो बहुधा गणयन्तः गणितानां परस्परं भेदं मन्यन्त इति । वस्त्वन्तरत्वमेव भेदः ॥३०॥

व्याख्यार्थ - तत्त्व और कार्य आप ही हैं, इस लोक का यह ही अर्थ है, मैं (पृथ्वी) 'अथ' पद से त्रिवृत्करण का जो पक्ष है, उससे अन्यत्व का बोध कराती है, मात्राएँ, दिग्वात आदि दस देवता तथा दश इन्द्रियां 'च' से बुद्धि प्राण आदि-कहे हैं, कर्ता महत्त्व 'इति' शब्द प्रकार समाप्ति को कहता है, 'अखिल' शब्द 'चराचर' का अनुवाद है, अर्थात् चर और अचर कहने से सर्व पदार्थ मात्र आ जाते हैं फिर 'अखिल' पद की आवश्यकता नहीं थी तो भी दिया है, इसलिये आचार्य श्री कहते हैं कि यह अनुवाद मात्र है, 'भ्रम' पद का भावार्थ बताते हैं कि यह जो हमको प्रतीति हो रही है वह भ्रम ही है, वास्तव में यह सर्व ब्रह्म है अतः कार्यपन से भेद अवश्य है, इसलिये 'अखिल' पद दोनों से न्यून और अधिक दोष के परिहार के लिये सम्बन्धित है जैसे कि भगवान् यह अखिल आप अद्वितीय में स्थित है, तथा इस आपके जगत् रूप में जो अन्यथा प्रतीत हो रही है वह 'अखिल' सम्पूर्ण भ्रान्ति है 'एक' सत् बहुधा विचचार' इस श्रुति से भगवान् ही सर्व रूप से विचरण करते हैं, इसलिये कहा है 'अद्वितीये-त्वयि' यह सब आप जो अद्वितीय हैं उनमें स्थित हैं, अर्थात् यह सब आप ही हैं कार्य रूप से भेद होने पर वह पदार्थ पृथक् दूसरा नहीं हो जाता है तत्त्वादि निरूपण करने वाले, स्मार्त विचारकों के भी हृदय में भेद भासता है, यह सब भ्रम इस प्रकार परिगणना मात्र ही है, आपको ही जो बहुत प्रकार गिनते हैं वे गिनती करने वालों का परस्पर भेद मानते हैं, वास्तव में भेद उसको कहा जाता है जहाँ अन्य वस्तु होवे, यहां तो आपके सिवाय अन्य वस्तु है ही नहीं, कारण रूप आप ही कार्य हुवे हो, कारण कार्य एक ही वस्तु है, इसमें जो भेद मानते हैं वे भ्रान्त हैं ॥३०॥

आभास—एवं स्तुत्वा प्रार्थयते तस्यात्मजोऽयमिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार स्तुतिकर 'तस्यात्मजोऽयं' श्लोक से प्रार्थना करती है ।

श्लोक—तस्यात्मजोऽयं तव पादपङ्कजं भोतः प्रपन्नातिहरोपसावितः ।

तत्पालयनं कुरु हस्तपङ्कजं शिरस्यमुष्याखिलकल्मषापहम् ॥३१॥

१—एक होते हुवे भी बहुत विचरण करते हैं ।



श्लोकार्थ - हे शरणागतों के दुःखहर्ता ! उसका यह पुत्र है, जिसने भयभीत हो आपकी शरण ली है, अतः आप इसकी पालना करें । सर्व पाप नाशक अपना हस्त कमल इसके सिर पर धरें ॥३१॥

सुबोधिनी - स्तोत्रेण सर्वेषामपराधाः परिहृताः । भ्रान्ता इति सर्वो भवानेवेति च । आत्मज इति । राज्यदानार्थं तत्पुत्रत्वं निरूप्यते । तव पादपङ्कजं प्रपन्न इति तस्मिन् स्नेहकरणार्थम् । भीत इति दयार्थम् । तथापि शत्रुमारणीय इत्याशङ्क्याह प्रपन्नातिहरेति । उपसादितः पादयोरागत्य पतितोऽस्ति, न तु त्वां विरुद्धं मन्यते । अनेन 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति विचारेणापि तस्मिन् कृपा विधेयेति निरूपितम् । स्वमात्मात्मनोऽप्येति प्रार्थना । एनमिति । प्रदर्शहि । भार्यात्वा-

त्सोऽपि पौत्र इति धाट्यात् पुनर्विजापनान्तरमाह कुरु हस्तपङ्कजं शिरस्यमुष्येति । यथा स्वस्य रक्षित इति प्रतीतिर्भवति । ननु वाक्येनापि भवति, को विशेषो हस्तस्पर्श इत्याशङ्क्याह अखिलकल्मषापहमिति । कालत्रये त्रिविधान्यपि पापानि तस्मिन् तिष्ठन्तीति हस्तपङ्कजमखिलकल्मषापहं भवति । स्वाधिकरणमेव तथा सम्पादयतीति । यद्यपि तत्पुत्रोऽपि दुष्टो मारणीय एव, तथापि भूमिप्रार्थनया तदा न मारितः ॥३१॥

व्याख्यानार्थ - स्तुति करने से सब के अपराध निवृत्त किये वे सब भूले हुवे थे । सब कुछ आप ही है यह उसका आत्मज है, यों कहने का आशय है कि राज्य इसको दीजिये, आपके चरण कमलों की इसने शरण ली है, इस लिये इस पर स्नेह वर्षा कीजिये । भयभीत अर्थात् डर गया है अतः इस पर दया कीजिये । यह सब कुछ ठीक है तो भी शत्रु है, उसको तो मारना ही चाहिये, इस शङ्का की निवृत्ति के लिये कहती है, कि जो आपके शरण आता है उसकी पीड़ा का आप मिटाते हैं यह भी आपके चरणों में आके पड़ा है अर्थात् आपको शरण ली है । आपको अपने विरुद्ध अर्थात् अपना शत्रु नहीं समझता है, यों कहने से यथा मां प्रपद्यन्ते' इस प्रतिज्ञानुसार, विचार करने से भी इस पर कृपा करनी चाहिये, इसलिये इसकी 'पालना करो' इस प्रकार प्रार्थना की है । मैं आपकी पत्नी हूँ इसलिये यह आपका पौत्र है इस प्रकार घृष्टता से फिर दूसरी तरह विनती करती है कि इसके शिर पर अपना हस्त कमल धरो, जिससे यह प्रतीति हो जाय कि आप इसके रक्षक हैं, रक्षा, वाणी से कहने से भी होती है, फिर हस्त को क्यों शिर पर धरा जाय ? इसके उत्तर में कहती है कि यदि इसके कुछ पाप भी हो तो वे भी नष्ट हो जावें, इस कारण से, कि आपका हस्त कमल तीन कालों में तीन प्रकार के जो पाप होते हैं उन सर्व पापों का नाश करनेवाला है अपना अधिकरण हो यों सम्पादन करता है, यद्यपि उसका पुत्र है, इसलिये उसके समान दुष्ट है अतः मारने योग्य ही था, तो भी पृथ्वी की प्रार्थना से उस समय नहीं मारा ॥३१॥

आभास - सर्वेः सर्वमेव प्रार्थ्यते, तथापि यद्यत्र उचितम्, तदेव करोति, नान्यथा अणुमात्रमपीत्याह इति भूम्येति ।

आभासार्थ - सब कोई सब की प्रार्थना करते हैं, तो भी जो उचित होता है, वह ही करते हैं, अणुमात्र भी दूसरी तरह नहीं करते हैं यह, 'इति भूम्या' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं ।



श्लोक—श्रीशुक उवाच—इति भूम्याथितो वाग्भिर्भगवान् भवितनम्रया ।

दत्त्वाऽस्य भौमगृहं प्राविशत् सकलद्विमत् ॥३२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि भूमि ने भक्ति से नम्रतापूर्वक इस प्रकार प्रार्थना की, तब भगवान् ने भगदत्त को अभय देकर सकल सम्प्रदा से समृद्ध भौमासुर के घर में प्रवेश किया ॥३२॥

सुबोधिनी—वाग्भिः सह अचितः अर्चनद्रव्यं । वाग्भिरेव वा । शिष्टं तस्यैवेति । बुद्धि तु भगवान् स्त्रियमिव सर्वेभ्यो दत्तवान् । पुरज्जनोपाख्याने तदुपपादितम् । तत्सर्वजीवेषु भिन्नम् । अन्यथा प्रमाणानां वैयर्थ्यं स्यात् । अतो बुद्धिदोषगुणान् पुरस्कृत्य यथोचितं करोतीति सर्वमविरुद्धम् । समयविशेषे लीलार्थं तथा बुद्धीनां निर्माणम् ।

तदाह भगवानिति । तथापि भक्तिनम्रया स्तुत इति अभयमेव दत्त्वा स्वगृहमेवेति भौमगृहं प्राविशत् । तत्र हेतुः सकलद्विमदिति । तत्पुत्रस्य प्राणा एव तस्मिन् समये रक्षणीया इति तथाकरणम्, अन्यथा तावतीनां कन्यानां वैयर्थ्यं स्यात् । तदुपाजितसर्वग्रहण एव तस्यापहारदोषपरिहारो भवतीति ॥३२॥

व्याख्यान—भूमि ने भगवान् की पूजा, वाणी से तथा अर्चन के द्रव्य से साथ में ही की अथवा केवल वचनों से ही पूजा की, शेष तो जिन से पूजा की वे तो उसके ही दिये हुवे हैं, भगवान् ने बुद्धि तो सबसे विशेष स्त्री जाति को ही दी है व पुरज्जन के उपाख्यान में प्रतिपादन किया हुआ है, वह भगवान् की दी हुई बुद्धि आदि सर्व जीवों में भिन्न २ है यदि बुद्धि एक सी होवे तो पृथक् पृथक् फल कहने वाले प्रमाण व्यर्थ हो जावें, अतः बुद्धि के दोष और गुणों के अनुसार जैसा योग्य होता है वैसा ही करते हैं, इस प्रकार सब में समानता हो जाती है, अर्थात् कुछ भी विरोध नहीं आता है विशेष विशेष समय में लीला के लिये बुद्धियों का वैसा निर्माण होता है, अर्थात् बुद्धियां लीला के अनुकूल बन जाती है इसलिये कहा है भगवान् की भी भक्ति से नम्र हो कर पृथ्वी ने स्तुति की, इसलिये अभयदान देकर पश्चात् भौमासुर के घर में भीतर पधारे, पधारने का कारण कि वह गृह सकल सिद्धियों से समृद्ध था, उस समय उसके प्राण ही उसके रक्षा के योग्य थे, इसलिये यों किया, यदि यों नहीं करते तो इतनी कन्याओं की व्यर्थता हो जाती, उनका इकट्ठा किया हुआ सर्व पदार्थ ग्रहण करने से, उसके चोरी किए हुए सर्व दोषों की निवृत्ति होती है ॥३२॥

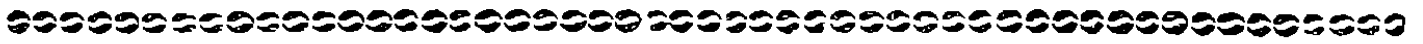
आभास—तथापि कन्यानां स्वत एव वरणमाह तत्रेति ।

आभासार्थ—तो भी कन्याओं ने स्वतः ही वरण किया यह 'तत्र' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—तत्र राजन्यकन्यानां षट्सहस्राधिकायुतम् ।

समाहृतानां विक्रम्य राजभ्यो ददृशे हरिः ॥३३॥

श्लोकार्थ—वहाँ सोलह हजार पराक्रम कर लाई हुई राजाओं की कन्याएँ थीं, उनको भगवान् ने देखा ॥३३॥



सुबोधिनी—यतो राजन्यकन्याः सजातीयं रूपं वीर्यं चापेक्षन्ते । अयुतं षट् सहस्राणि च षोडशकलानां सहस्रधा तत्तदधिष्ठात्र्यो देवताः भूमौ प्रतिष्ठिता इति भूमिजेनाहताः भगवत्प्रेरणाया भ्रमात् । तदैव च तावत्यः सम्पन्नाः । एता द्विस्वभावा इति ज्ञापयितुं सङ्ख्याद्वयेन निदिष्टाः षट्सहस्राण्ययुत चेति । तत्राधिकपदं षट्सहस्राणामुत्तमत्वाय । ता ह्यप्सरसः । देवतात्वात्तद्रूपेण

क्रीडार्थं जाताः । ता आदावष्टावक्रं स्तुत्वा पञ्चादुपहसितवत्य इति ज्ञापयितुं द्विस्वभावत्वं निरूपितम् । अत एवादावन्ते च ऋषिकोपात् दुःखप्राप्तिः, प्रसादाद्वरणे बुद्धिः । राजस्यो विक्रम्य समाहृतानामिति बलादानयनमुक्तम् । 'सर्वान् बलकृतानर्थान् न कृतान् मनुरब्रवी'दिति ज्ञापयितुम् । हरिस्तासां दुःखहर्ता तथात्वाय ददृशे ॥३३॥

व्याख्यानार्थ— भगवान् उनकी ले आये, क्योंकि राजाओं की कन्या अपनी जाति के समान रूप और वीर्य को चाहती हैं, ये सोलह सहस्र कन्याएँ षोडश कलाओं के सहस्र प्रकार हो, उनकी अधिष्ठितो देवता रूप से पृथ्वी में प्रतिष्ठित थी, इसलिये भूमि से उत्पन्न भोमासुर से वे लाई गई थी, भगवान् की प्रेरणा से ऐसा उत्तम उत्तम था, सब ही वे सम्पन्न थीं, वे दो प्रकार की थी यह ज्ञताने के लिये उनकी गणना पृथक्-२ संख्या से की है, जैसे दश सहस्र और छ सहस्र उसमें अधिक पद का आशय, छ हजारकन्याओं की उत्तमता दीखाने का है, वे अप्सरायें थीं देवता रूप होने से क्रीडार्थ उनका जन्म हुवा है, उन्होंने पहले अष्टावक्र की स्तुति की थी, फिर उसका उपहास किया, जिससे वे दोष भाव वाली हो गईं, इस लिये ही आदि और अन्त में ऋषि के कोप से दुःख की प्राप्ति हुई, ऋषि के प्रसाद से अर्थात् वर मिलनेसे उनकी बुद्धि भगवान् के वरण की हुई, भोमासुर पराक्रम कर इन कन्याओं को राजाओं से ले आयाथा अर्थात् बल से ले आया था 'सर्वान् बल कृतानर्थान् न कृतान् मनुरब्रवीत्' इस मनु की उक्ति को ज्ञताने के लिये इस प्रकार किया, भगवान् उनके दुःख को हरण कर्ता हैं, इस लिये इस प्रकार से उनको देखा ॥३३॥

आभास—वरणमाह तं प्रविष्टमिति ।

आभासार्थ— 'तं प्रविष्ट' श्लोक से वरण करते हैं ।

श्लोक—तं प्रविष्टं स्त्रियो वीक्ष्य नरवर्यं विमोहिताः ।

मनसा वव्रिरेऽभीष्टं पतिं देवोपसादितम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—उस नर श्रेष्ठ को प्रविष्ट हुआ देखकर ही वे स्त्रियाँ मोहित हो गई, देव से प्राप्त इच्छित पति का मन से वरण कर लिया ॥३४॥

सुबोधिनी—प्रकर्षणं स्वनिकटे समागच्छन्तम् । यतः स्त्रियः स्त्रीभिरवश्यं पतिर्वरणीय इति । तथापि भगवान् पुरुषोत्तमः कथं वृत् इत्याशङ्क्याह नरवर्यमिति । नराकृतित्वं स्त्रीणां

प्रियाकृतिं च गुहीतवानिति । यतो विमोहिताः । निरुद्धत्वाद्भयेन न कायेन वरणम् । अभीष्टमिति । पूर्वमपि तथैव भावनया स्थिताः । पति-त्वेनैव वरणम् । देवोपसादितमिति समये प्राप्ते



एतादृशे वरणमावश्यकमिति ज्ञापयति । तेन यते, एवं देवेनानीतः ॥३४॥
युक्तमेव । यथा पित्रा निकटे वरणार्थं वर आनी-

व्याख्यार्थ—अच्छे प्रकार अपने समीप आते हुवे को स्त्रियों ने देखा, स्त्रियों को तो अवश्य पति का वरण करना चाहिये, किन्तु भगवान् पुरुषोत्तम को कैसे वरा ? इस शका को मिटाने के लिये कहा है कि वे वरों में श्रेष्ठ है, स्त्रियों को पुरुषाकृति ही प्रिय है, इसलिये भगवान् अब पुरुषाकृतियों में भी उत्तम नर रूप में थे अतः उनको देख मोहित हो गई जिससे उनमें निरुद्ध हो गई, अतः भय से नहीं किन्तु प्रेम पूर्वक काया से वरण कर लिया, पहले से ही मन में यह ही भावना थी अब वह इच्छित प्राप्त हो गया है अतः पतिपन से वरण किया, जैसे पिता कन्या के पास वरण के लिये 'वर' को ले जाता है, वैसे अब देव ने वर को पास भेजा है, इसलिये अवसर प्राप्त हुआ है इनका वरण करना आवश्यक है यों देव ज्ञापन कराती है इससे वरण करना योग्य ही है ॥३४॥

आभास—तासां मनोरथवाक्यमाह भूयात् पतिरिति ।

आभासार्थ—'भूयात् पति' श्लोक में उनका मनोरथ कहते हैं ।

श्लोक—भूयात् पतिरयं मह्यं धाता तदनुमोदताम् ।

इति सर्वाः पृथक् कृष्णे भावेन हृदयं दधुः ॥३५॥

श्लोकार्थ—ये हमारे पति हों, जिसका विधाता अनुमोदन करें । इस प्रकार सब स्त्रियों ने प्रेम से श्रीकृष्णचन्द्र में पृथक्-पृथक् मन लगाया ॥३५॥

सुबोधिनी—मह्यमिति प्रत्येकम् । ब्रह्माण्डे संवत्सरात्मकस्य प्रजापतेरधिकारो दत्त इति तद-
'नङ्गीकारे पितुराज्ञाभाव इव वरणं न सम्भवतीति तदनुज्ञां प्रार्थयन्ति धाता तदनुमोदतामिति ।
सर्वासामेक एव भावः । स तु पृथक्, न तु प्रत्ये-

कपर्यवसायी । कृष्ण इति तासां प्रियः । भावेन आकाङ्क्षया पतिरयं भवत्विति । श्रद्धया वा रसाधारभूतभावेन वा । हृदयं दधुरिति । तत्रैव स्थिरीकृतवत्यः ॥३५॥

व्याख्यार्थ—'मह्यं' एक वचन कहने का आशय है कि हर एकने अपना हृदय भगवान् में लगाया । ब्रह्माण्ड में संवत्सरात्मक प्रजा पति को अधिकार दिया गया है, इसलिये उसकी स्वीकृति के सिवाय, पिता की आज्ञा न होने के समान वरण नहीं हो सकता है, इसलिये उसकी आज्ञा प्राप्ति के लिये प्रार्थना करती है कि विधाता इस वरण का अनुमोदन करे। सब स्त्रियों का एक ही भाव है वह तो भिन्न है, नहीं कि हर एक में होने वाला है, 'कृष्ण' नाम से बताया कि उन सब का प्यारा है भाव से तथा आकांक्षा से यह ही पति हो, अथवा श्रद्धा से या इसके आधारभूत भाव से यही पति हो, इस प्रकार अपना मन हर एक ने भगवान् में घरा अर्थात् स्थिर किया ॥३५॥



आभास—शरीरमत.परं भावाधिष्ठानं भगवदीयं कर्तुं तासामशक्तिरिति भगवां-
स्तत्सम्पादितवानित्याह ताः प्राहिणोदिति ।

आभासार्थ—इससे विशेष अपने शरीर को भगवान् के भाव का अधिष्ठान तथा भगवदीय करने की शक्ति उनमें नहीं थी, इसलिये वह कार्य भगवान् करने लगे यह वर्णन 'ताः प्राहिणोत्' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—ताः प्राहिणोद्द्वाररतीं सुमृष्टविरजोम्बरैः ।

नरयानैर्महाकौशं रथाश्वद्विविणं महत् ॥३६॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने उन सबको स्वच्छ सुन्दर वस्त्र पहनाकर, पालकी में बैठाकर द्वारकापुरी को भेजा और भारी खजाने, रथ, घोड़े, बहुत द्रव्य भी भेजा ॥३६॥

सुबोधिनी—द्वारवतीमिति । तासामभिलाषि-
तार्थस्थानम् । द्वारं हि तद्भगवत्स्थानगमने ।
सुमृष्टविरजोम्बरैः कृत्वा नरयानैर्दोलाभिः । न
केवलं स्त्रीरत्नान्येव प्रेषितवान्, किन्त्वन्यान्यपि
रत्नानीति वक्तुमाह महाकोशमिति । महान्तं

रत्नादिकोशम् । रथाश्वद्विविणमिति । त्रिविधमु-
त्तमं धनं प्रेषयामासेति सम्बन्धः । तेषामपि प्रेषणे
हेतुः महदिति । महदन्यत्र स्थापितमल्पस्यानिष्टं
करोतीति ॥३६॥

व्याख्यानार्थ—'द्वारका' उनकी अभिलाषा को पूर्ण करने वाला स्थान है इसलिये वहाँ भेजा. वह स्थान भगवत्प्राप्ति का द्वार है, सुन्दर एवं स्वच्छ वस्त्र पहना कर, पालकी में बिठा कर भेजा, केवल ये स्त्रीरत्न रवाने नहीं किये, किन्तु अन्य रत्न भी भेजे जैसे कि बड़ा रत्नों का खजाना जिसमें रथ, अश्व और धन सोना आदि था, इस प्रकार तीन प्रकार का उत्तम धन भी रवाना किया इनके भेज देने का कारण कहते हैं कि यह 'महत्' यहाँ बहुत या अल्प के यहाँ बहुत द्रव्य होता है, उसका अनिष्ट करता है अतः उसका थोड़ा अनिष्ट होवे, इसलिये भेज दिया ॥३६॥

आभास—विशेषतः स्वार्थमेव गजान् प्रेषितवानित्याह ऐरावतकुलेमांश्चेति ।

आभासार्थ—विशेष में गजों को अपने लिये ही भेजा यह वर्णन 'ऐरावत कुलेमांश्च' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—ऐरावतकुलेमांश्च चतुर्दन्तांस्तरस्विनः ।

पाण्डुरांश्च चतुर्षष्टिं प्रेषयामास केशवः ॥३७॥

श्लोकार्थ—ऐरावत कुल के चार-चार दाँतों वाले, वेग वाले तथा पाण्डु' रंग



वाले चौसठ हाथी भी केशव ने भेजे ॥३७॥

सुबोधिनी—यस्मिन् कुले ऐरावत उत्पन्न. तत्कुलोत्पन्नाः । तेषामितरवैलक्षण्यमाह । चतुर्दन्तानिति रूपवैलक्षण्यम् । तरस्विन इति स्वभाववैलक्षण्यं च । चकारादुच्चैःश्रवसः कुलपसूतान् अश्वानपि प्रेषयामासेति । पाण्डुरानन्यांश्च । चतुर्दन्तत्वं वेगवत्त्वं च मृगादिजातिष्वपि वर्तत इति तद्व्यावृत्त्यर्थं पाण्डुरत्वम् । अन्येऽप्येतादृशा एव,

तैः सह निर्दिष्टत्वात्परमं वैजात्यं भेदकम् । तत्र दन्तादिषु वैलक्षण्यं कल्प्यम् । चतुःषष्टिमिति कलारूपत्वं तेषां बोधितम् । केशव इति । महादेवभक्तत्वात्तद्वरेणैतावत्त्वं तस्य जातमिति कदाचिन्महादेवोऽनुष्टो भवेदित्याशङ्क्याह केशव इति । केशयोरपि सेव्यः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—जिस कुल में ऐरावत हस्ती उत्पन्न हुआ है, उसमें ये भी उत्पन्न हुवे हैं उनको दूसरों से विलक्षणता दिखाते हैं; दूसरों के रूपों से इनमें यह विलक्षणता है कि इनके चार दान्त हैं तेजस्वी हैं अर्थात् तेज चलने वाले हैं इसमें स्वभाव का वैलक्षण्य बताया है 'च'शब्द से यह प्रकट किया है कि जो घोड़े भेजे हैं वे भी 'उच्चैः श्रवा' घोड़ों के कुल में उत्पन्न हुवे हैं, और अन्य पाण्डुरंग वालों को, पाण्डुरंग कहने का कारण यह है कि तेज दोड़ना और चार दान्त, मृग जाति में भी होता है, इसलिये उनसे इनकी भिन्नता दिखाने के लिये 'पाण्डुर' कहा है, पाण्डुरंग वालों से दूसरे श्यामवर्ण वाले भी तेज चलने वाले हैं उनको भी साथ में कहा है, अतः 'पाण्डुर' कह कर इनसे भेद बताया है, वहां दन्तादि में भी विलक्षणता समझ लेनी, चौसठ संख्या से उनका कला रूपत्व सूचित किया है, इतनी सम्पदा महादेवजी के वर से इसको प्राप्त हुई है वह सम्पदा ले जाने पर कदाचित् महादेव अप्रसन्न हो जावे ? इस शङ्का के समाधान के लिये 'केशव' नाम दिया है जिसका भावार्थ है कि श्रीकृष्ण, महादेव तथा ब्रह्मा के भी पूज्य है, अतः महादेव रुष्ट न होकर प्रसन्न ही होंगे कि मेरी दो हुई वस्तु मेरे स्वामी ने अंगीकार की है ॥३७॥

आभास—ततस्तत्रत्यं कार्यं कृत्वा यदर्थमागत इन्द्रप्रेरणया तत्कृतवानित्याह गत्वेति ।

आभासार्थ—वहाँ का कार्य पूर्ण कर, जिसके लिये आये थे इन्द्र की प्रेरणा से वह कार्य करने लगे जिसका वर्णन 'गत्वा' श्लोक में कहती हैं ।

श्लोक—गत्वा सुरेन्द्रभवनं वत्वादित्यो च कुण्डले ।

पूजितस्त्रिदशेन्द्रेण सहेन्द्राण्या च सप्रियः ॥३८॥

श्लोकार्थ—सत्यभामा को साथ ले, आप इन्द्र भवन में पधारे । अदिति को कुण्डल दिए, वहाँ इन्द्र और इन्द्राणी ने सत्यभामा सहित भगवान् की पूजा की ॥३८॥

सुबोधिनी—सुरेन्द्रभवनं स्वर्गस्थानम्, तत्रैव स्थितायै अदित्यै कुण्डले दत्त्वा । अदित्या भोग-रूपं तत्रास्ते । क्रियारूपा त्वशेन देवकी जाता । चकारादिन्द्रायापि छत्रादिक दत्तवान् । ततस्त्रिदशेन्द्रेण पूजितः । त्रिदशपदं तेषां जरामृत्युरहितानामिन्द्रेण तेभ्योपि परमैश्वर्यदानसमर्थेन स्वामित्वेन पूजित इति भगवदुत्कर्षः सत्यभामायै प्रदर्शितः । सभार्यो भगवान् गत इति सभार्येणैव

पूजितः । अन्यथा लोके विरुद्धमिव भवेत् । पूजाया सत्यभामाया वा न प्रवेशः स्यात् । चकारादेवैः देवपत्नीभिश्च । ननु भगवान् सर्वेश्वर इतोन्द्रादिभिः पूज्यते, सत्यभामा कथं पूजितेत्याशङ्क्याह सप्रिय इति । प्रियया सहितः । भगवत्प्रियत्वात् सापि पूजिता । अन्यथा भगवान् प्रीतो न भवतीति ॥३८॥

व्याख्यार्थ—सुरेन्द्र भवन का तात्पर्य है, 'स्वर्गस्थान' वहां ही स्थित अदिति को कुण्डल दिये, अदिति का भोग रूप वहां है क्रिया रूप अदिति तो अंश से देवकी हुई है 'च' शब्द देने का आशय यह है, कि इन्द्र को भी छत्र आदि दिये, अनन्तर इन्द्र ने आपकी पूजा की 'त्रिदशेन्द्र' पद का भाव स्पष्ट करते हुए आशय करते हैं कि, जरा मृत्यु आदि से रहित देव हैं उनको भी जो परमेश्वर्य दान दे सकता है उस इन्द्र ने भगवान् को अपना स्वामी मान कर उनका पूजन किया, इस प्रकार की पूजा होने से भगवान् ने सत्यभामा को अपना उत्कर्ष दिखाया, भगवान् भार्या सहित पधारे थे इस लिये पत्नि सहित ही पूजित हुवे, यदि इन्द्र अकेले की पूजा करते तो लोक में विरुद्ध जैसा दीखने में आता, और पूजा में सत्यभामा का प्रवेश न होता 'च' पद से देव तथा देवों की स्त्रियों ने भी पूजा की, भगवान् तो सर्व के ईश्वर हैं इस कारण से इन्द्रादिकों से पूजे जा सकते हैं सत्यभामा कैसे पूजी गई ? इस शंका के निवारण के लिये कहते हैं कि 'सप्रियः' भगवान् प्रिया सत्यभामा के साथ पधारे थे, सत्यभामा भगवान् की प्रिया है, इसलिये वह भी पूजी गई, यदि इसकी पूजा न होती तो भगवान् प्रसन्न न होते ॥३८॥

आभास—ततः स्त्रीगोष्ठ्यां शच्या सह वार्तायां पारिजातपुष्पाकाङ्क्षायां मनुष्यत्वेन शच्या अपकर्षे निरूपिते बहिर्मुखाया वचनमसहमानया प्रार्थितो भगवान् पारिजातमानीतवानित्याह नोदित इति ।

आभासार्थ—पश्चात् स्त्रियों की गोष्ठी में इन्द्राणी के साथ वार्ता होने पर सत्यभामा ने जब पारिजात पुष्प की आकांक्षा दीखाई तब इन्द्राणी ने मनुष्य जान कर आकांक्षा पूर्ति से मना किया, उस बहिर्मुखा के इन वचनों को वह न सह सकी, अतः भगवान् को प्रार्थना की जिससे ही भगवान् 'पारिजात वृक्ष' लाये जिसका वर्णन 'नोदितो' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—नोदितो भार्ययोत्पात्य पारिजातं गरुत्मति ।

आरोप्य सेन्द्रान् विबुधान्निजित्योपानयत्पुरम् ॥३९॥

श्लोकार्थ—सत्यभामा के कहने से पारिजात वृक्ष को उखाड़ कर गरुड़ पर धर, इन्द्रादि देवों को जीत कर उसको द्वारकापुरी ले आए ॥३९॥



सुबोधिनी—ततो भगवान् पारिजातसमीपे गत्वा सभायों गरुडारूढः तं पारिजातमुत्तराख्य नरकगृहवत्तत्रापि भगवति विद्यमाने सर्वोत्कृष्टं स्थातुमयुक्तमिति तत्पुनर्गरुडे समारोप्य सोम इव भूमावानीतवान् । तदिन्द्रादीनामनभिप्रेतमिति सेवका लीलानुसारेणैव स्वामिनः स्वकार्यं कर्तुं

युक्ता इति सिद्धान्तमज्ञात्वा अस्मभ्यं दत्तं कथं हरतीति समागता युद्धं कर्तुम् । तदा सेन्द्रान् विबुधान् जित्वा तेषां प्रतिबन्धं निराकृत्य पुरं द्वारकामुपानयत् । न तु मध्ये त्यक्त्वा समागतो, दत्त्वा वा प्रार्थनायां कदाचित्तानयेत् । मतान्तर-भाषेयमिति पूर्वमेवावोचाम ॥३६॥

व्याख्यार्थ—सत्यभामा की प्रार्थना के अनन्तर भगवान् भार्या सहित गरुड़ पर विराजमान हो, पारिजात वृक्ष के समीप गये, उसको उखाड़ कर गरुड़ पर धर लिया, क्योंकि जैसे नरकासुर के घर में इतने समृद्धि होना उचित न समझा वैसे ही यहां इन्द्र भवन में पारिजात का होना योग्य न जाना इसलिये उखाड़ ले आने के लिये गरुड़ पर धरा, भगवान् के विराजते हुए यह सर्वोत्कृष्ट वृक्ष वहाँ रहे, यह अयोग्य जाना, अतः सोम की भांति पृथ्वी पर इसको भी लाए यह कार्य इन्द्र आदि देवों को पसंद नहीं आया. वास्तव में तो इन्द्रादि भगवान् के सेवक हैं उनको लीला के अनुसार ही स्वामी का कार्य करना चाहिये था, अर्थात् स्वामी के आने पर उनकी इच्छानुकूल अपने पास जो सुन्दर वस्तु हो वह उनको भेंट करनी चाहिये, इस सत्य सिद्धान्त को न जान इससे विपरीत विचार करने लगे, कि दी हुई वस्तु फिर ले कैसे जाते हैं, यह हमारी है, यों निश्चय कर लड़ने के लिये आये, तब इन्द्र सहित सब देवताओं को जीत कर, इस रुकावट को नष्ट कर निर्विघ्न द्वारका ले आये, बीच में कहीं छोड़ा नहीं, यदि देव लड़ाई न कर प्रार्थना करते तो कदाचित् लौटा भी देते, यह भाषा मतान्तर भाषा है यों आगे ही कहा है ॥३६॥

आभास—ततः स्त्रीवाक्यात् स्वार्थमेव तत्समानीतमिति ज्ञापयितुं सत्यभामाया गृहे स्थापितवानित्याह स्थापित इति ।

आभासार्थ—पत्नी के कहने से उस के लिये ही लाये थे, अतः सत्यभामा के गृह में ही स्थापित किया ।

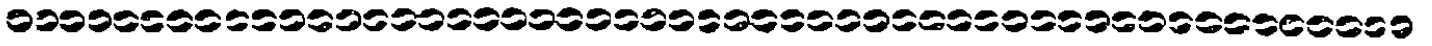
श्लोक—स्थापितः सत्यभामाया गृहोद्यानोपशोभनः ।

अन्वगुर्भ्रमराः स्वर्गत्तिद्गन्धासवलम्पटाः ॥४०॥

श्लोकार्थ—सत्यभामा के गृह और बगीचे की शोभा बढ़ाने के लिए मध्य में स्थापित किया, उसकी सुगन्ध के मद के लोभी भौरे स्वर्ग से यहाँ तक पीछे-पीछे चल आए ॥४०॥

सुबोधिनी—गृहमुद्यानं च उप समीपे शोभयतीति । उभयोः शोभनं वा यस्मादिति गृहोद्यानोपशोभनः । गृहोद्यानयोर्मध्ये स्थापितः । तस्य

पारिजातस्य सर्वोत्कर्षमाह अन्वगुर्भ्रमराः स्वर्गदिति । स्वर्गमपि परित्यज्य तस्य यो गन्धः आसवः, रसश्च गन्ध एव वा, आसवो मादकः,



तस्मिन् लम्पटाः विवेकेनापि तत्त्यागासमर्थाः । भयाभावः । तथापि समागता इति विषयोत्कर्ष किञ्च । नाम्ना ते भ्रममरणयुक्ताः, स्वर्गे तु तदु- उक्तः ॥४०॥

व्याख्यार्थ—पारिजात के समीप होने से गृह और उद्यान दोनों की शोभा बढ़नी है, अतः गृह और उद्यान के बीच में स्थापित किया, उस पारिजात वृक्ष का, सर्व वृक्षों से उत्कर्ष बताते हैं, कि भ्रमर स्वर्ग को भी त्याग कर पीछे पीछे चले आये, क्योंकि इसका रस और गन्ध दोनों मादक हैं, उसमें ये आसक्त हैं, जिससे विवेक होने पर भी छोड़ने में समर्थ नहीं थे, इसलिये पृथ्वी पर आ गये, और वे नाम से भी ये भ्रम और मरण युक्त हैं, स्वर्ग में तो इन दोनों का अभाव है, तो भी यहां आये, क्योंकि पारिजात के रस तथा गन्ध में जो मादक है वह अन्यत्र नहीं है यों विषय की उत्कर्षता देख स्वर्ग को भी त्याग दिया इस प्रकार विषय का उत्कर्ष कहा ॥४०॥

आभास—अस्मिन्नपि मते भगवत्कृतमेव युक्तम्, नत्विन्द्रकृतमिति तत् कृतं निन्दति यथाच इति ।

आभासार्थ—इस मत से भी भगवान् का किया हुआ ही उचित है, न कि इन्द्र का इसलिये इन्द्र के कार्य की 'यथाच' श्लोक में निन्दा करते हैं ।

श्लोक—यथाच आनम्य किरीटकोटिभिः पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम् ।

सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महानहो सुराणां च तमो धिगाढ्यताम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—इन्द्र ने प्रथम अपने मुकुट के अग्र भाग से चरणों का स्पर्श करते हुए प्रणाम कर अपनी कार्य सिद्धि के लिए भगवान् से प्रार्थना की । कार्य की सिद्धि हो जाने के अनन्तर भगवान् के साथ विरोध करने लगा, अहो ! देवताओं के अज्ञान को देखो, जिस अज्ञान से कृतघ्नी हो रहे हैं, ऐसे समृद्धिपन को धिक्कार है ॥४१॥

सुबोधिनी—य इन्द्रः अच्युतमर्थसाधनं यथाचे, पश्चात् सिद्धार्थः सन् अर्थसाधकेनैव विगृह्यते । प्रसङ्गाद्याचनं वारयति आनम्येति । प्रार्थनारूपम् । ननु मान्यः नमस्कृत्य याच्यते प्रसङ्ग इति तत्राह किरीटकोटिभिः पादौ स्पृशन्निति । स्वापकर्षं भावयन्नपि यथाचे । किञ्च । स्वयमसमर्थः भगवान् समर्थः नरकं हन्तुमिति जानन् तथा प्रार्थितवानिति अभिप्रायं द्योतयति अच्युतमिति । अर्थस्य साधनं यस्मादिति । तस्मादेव कार्यसिद्धिः । समर्थोऽपि नान्यः कार्यं करोति । एवं

महत्त्वेन भगवन्तं ज्ञात्वापि, पराक्रमं दृष्ट्वापि, स्वयं महानपि विगृह्यते । ननु कथं कारणविरुद्धं कार्यम्, तत्राह अहो इति । तथाप्युपपत्तिर्वक्तव्येति चेत्, तत्राह सुराणां च तम इति । सात्त्विकानां ज्ञानप्रधानानां केवलतमोरूपज्ञानमिति । विरुद्धमनूय अर्थादाढ्यताहेतुत्वेन निरुच्यते । अत एव तां निन्दति धिगाढ्यतामिति । श्रीरामपतिरेवाज्ञानमूलमप्रतिहतम्, नत्वन्यत्, तत्र सुरत्वादिकं बाधकमित्यर्थः ॥४१॥



व्याख्यान—सब स्त्रियों की कामना समान थी अतः समान फल देने के लिये, सब को अनेक गृहों में पृथक् पृथक् स्थापन कर एक ही मूर्त में शास्त्रविधि के अनुसार सब का पाणि-ग्रहण किया, एक ने एक ही मूर्त में पाणि-ग्रहण कैसे किया होगा ? क्या दृष्टि भ्रम हुआ, जिससे यों समझा, जिसके उत्तर में कहते हैं कि दृष्टि भ्रम नहीं हुआ, किन्तु जितनी स्त्रियाँ थीं, आपने उतने ही रूप धारण किये थे, इतने रूप कैसे धारण किये होंगे ? इस शंका का निवारण करते हैं, कि 'भगवान्' हैं जिससे आप में सर्व प्रकार का सामर्थ्य है अनेक रूप धारण करने से तो आप विकारी हुये होंगे, इस भ्रम को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'अव्यय' होने से आप में कुछ विकार नहीं होता है ॥४२॥

आभास—विवाहमुक्त्वा रमणमाह गृहेष्विति ।

आभासार्थ—विवाह का वर्णन कर 'गृहेषु' श्लोक में रमण कहते हैं ।

श्लोक—गृहेषु तासामनपाय्यतर्क्यकृन्निरस्तसाम्यातिशयेष्ववस्थितः ।

रेमे रमाभिनिजकामसंप्लुतो यथेतरो गार्ह (क) मेधिकांश्चरन् ॥४३॥

श्लोकार्थ—इन स्त्रियों के गृह के समान वा अधिक उत्तम गृह किसी के भी नहीं है, उनके ऐसे घरों में आप सदा विराज रहे थे, अपने स्वरूपानन्द से पूर्ण होते हुए भी विवाह करने के अनन्तर उनमें नित्य रमण करते थे । वह रमण ऐसे करते थे, जो कोई भी उसमें किसी प्रकार का तर्क न कर सके । इस प्रकार गृहस्थ के श्रोत स्मार्त धर्म पालन करते हुए उनका मनोरथ भी इस प्रकार सिद्ध करते थे, जैसे उसमें केवल प्राकृतपन न आ जावे ॥४३॥

सुबोधिनी—तासां गृहेषु अनपायी नित्यं तिष्ठति । ता हि प्रमाणस्थकामानुसारेण न विवाहिताः, किन्तु प्रमेयस्थानुसारेण । स हि पुष्टः निरन्तरश्च नित्यरमणात्मकः । अतो विवाहक्षणमारभ्य यावत्तिष्ठति नित्यरमणमेव तासु कृतवान् । विधिपरिपालनार्थमेव दश पुत्रोत्पादनम्, तदत्र न वक्तव्यम्, कामप्राधान्यात् । उत्पादने हि कामः क्षीयत इति । ननु निरन्तररमणे बहूनि दूषणानि, कार्यान्तरे व्याघातः, लोकानां सन्देहोत्पत्तिः, परस्परं तासामन्योन्यगोष्ठ्यां सन्देहः, तत्राह अतर्क्यकृदिति । यथा न कोऽपि तर्क उत्पद्यते कस्यापि, तथा करोति । लोकप्रतीतिमेव विरोधेऽन्यथा जनयति । बहून्वेव रूपाणीति केन-

चिद्रूपेणान्यत्रापि गच्छति । परमत्र विशेषकार्यं न करोति । अतः शास्त्रादिषु विद्यमानोऽपि न युद्धं कृतवान् । कामार्थमेव स्थित इति कामसम्पत्त्यर्थं गृहान् वर्णयति निरस्तसाम्यातिशयेष्विति । स्वर्गादिष्वपि (न) महिषीगृहाणां साम्यमतिशयो वा वचिदप्यस्ति । स्वयं चावस्थितः स्थिरः । वैद्यग्र्ये आश्रयै च संततः कामः बाधितः स्यात् । एवं सर्वोपपत्तौ ताभिः सह रेमे । ननु भगवान् निरिन्द्रियः, ब्रह्मानन्दरूपायां लक्ष्म्यामेव रमते, नत्वन्यत्रेति कथं रमणमित्याशङ्क्याह रमाभिरिति । यावन्ति भगवद्रूपाणि तावन्त्येव लक्ष्मीः करोतीति तासु लक्ष्म्यास्तावतां रूपाणामावेशः । एवं करणे हेतुः । निजकामेन संप्लुत



इति । सेनायामागतायां कामोऽप्याविर्भूतः । केवलप्राकृतत्वं वारयति गार्हमेधिकांश्चरन्निति ।
जीवकामव्युदासार्थं निजपदम् । एवं सति तासां गृहमेधिधर्मानाचरन् श्रौतन् स्मार्तश्च ॥४३॥
सङ्कल्पो न सिध्येदित्याशङ्क्याह यथेतर इति ।

व्याख्यानार्थ — उनके घरों में आप नित्य विराजने लगे, उनसे जो विवाह किया, वह प्रमाण-मार्गीय काम के अनुसार नहीं किया, किन्तु प्रमेयस्थ कामानुसारी किया । वह काम पुष्ट एवं निरन्तर रहने से नित्यरमणात्मक होता है, अतः विवाह के समय से लेकर जब तक स्थिति, तब तक उनमें नित्यरमण करने लगे । विधि के पालन के लिए दस पुत्र उत्पन्न किए, वह यहाँ नहीं कहना चाहिए; क्योंकि उसमें काम की प्रधानता है । उत्पादन^१ में काम क्षीण होता है, निरन्तर रमण करने में बहुत दूषण होता है, दूसरे कार्य करने में रुकावट, मनुष्यों को सन्देह होता है, परस्पर इनकी एक-दूसरे से गोष्ठी करने में सन्देह इत्यादि दूषण पैदा होते हैं । जिनका उत्तर देते हैं कि 'अतर्क्यकृत' भगवान् जो कुछ कर रहे हैं, वह इन्हीं प्रकार करते हैं जैसे उसमें किसी से कोई भी तर्क उत्पन्न न हो सके, लोक प्रतीति के ही विरोध में दूसरी भाँति कर देते हैं, भगवान् के बहुत रूप हैं, अतः किसी रूप से बाहर भी पधार जाते हैं, जिससे किसी कार्य में रुकावट भी नहीं पड़ती है, किन्तु यहाँ प्रभु विशेष कार्य नहीं करते हैं, अतः जैसे शाल्वादिकों में रहते हुए भी युद्ध नहीं किया है । काम के लिए ही उनके घरों में विराज रहे थे, अतः काम की सम्पत्ति के लिए गृहों का वर्णन करते हैं । स्वर्गादि में भी रानियों के गृह के समान या अधिक उत्तम कोई घर कहीं भी नहीं है, इसलिए आप यहाँ स्थिर होकर रहे थे, यदि व्यग्रता वा अस्थिरता होवे तो जो काम निरन्तर रहता है, उसमें बाधा हो जाय । इस प्रकार सब तरह की उपपत्ति होने पर उनमें रमण करने लगे । भगवान् की तो इन्द्रियाँ नहीं हैं, फिर रमण कैसे करते हैं ? प्रभु ब्रह्मानन्द रूप लक्ष्मी में ही रमण करते हैं, न कि दूसरे स्थान पर वा दूसरे से; तब यहाँ रमण कैसे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'रमाभिः' जितने भगवान् के रूप हैं, उतनी ही ब्रह्मानन्द रूप लक्ष्मियों को प्रकट करते हैं । यहाँ उन लक्ष्मियों के उतने रूपों का इन स्त्रियों में आवेश कर, पश्चात् उनसे रमण करते हैं । इस प्रकार करने का कारण क्या है ? निज काम से पूर्ण है, सेना के आने पर काम भी प्रकट होता है, यह काम जीवों के काम के समान नहीं हैं । यह बताने के लिए 'निज' पद दिया है, यदि यों है तो उन स्त्रियों का सङ्कल्प^२ तो सिद्ध न हुआ होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं 'यथेतरः' जैसे दूसरे करते हैं, वैसे ही किया । किन्तु उसमें केवल प्राकृतत्व नहीं है, इसलिए कहते हैं कि गृहस्थ के श्रौत तथा स्मार्त धर्मों को भी करते थे ॥४३॥

आभास—तासां मानसम्पत्तिं कृतवानित्याह इत्थमिति ।

आभासार्थ — उनकी मान एवं सम्पत्ति का वर्णन 'इत्थं' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक — इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता

ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।



भेजुर्मुदाऽविरतमेधितयानुराग-

हासावलोकनसङ्गमजल्पलज्जाः ॥४४॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मादिक भी जिनकी पदवी को नहीं जानते हैं, वे स्त्रियाँ इस प्रकार लक्ष्मी के पति को अपना पति बनाकर प्रसन्नता से बढ़ी हुई प्रीतिपूर्वक अनुराग हास्य देखना, नवीन सङ्गम जिससे परस्पर अनेक प्रकार की कथाओं से लज्जित होने लगी ॥४४॥

सुबोधिनी—अथवा द्वाभ्यां भगवच्चरित्रमुक्तम् । तथाकरणान्तरं ताभिरप्येकं कामरसेन कृतम् । एकं तु भक्त्येत्याह द्वाभ्याम् । इत्यमिति । रमाया एव भगवान् पतिः, न त्वन्यासाम् । तद्दासाः जीवा एवाभ्यासाम् । तं पतिं स्वयमवाप्य । पूर्वं बन्धा गृहीतास्ताः । बन्दिग्रहणं तासामुपकारायैव जातमिति । अविरतमेधितया मुदा भगवन्तं भेजुरिति सम्बन्धः । निरन्तरं सेवितवत्यः । ननु किमाश्चर्यं स्त्रियो हि भर्तृसेवां कुर्वन्त्येवेति चेत्, तत्राह ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयामिति । मार्गमेव भगवतो न जानन्ति, कुतः सेवां करिष्यन्ति । अभिप्रेता हि सेवा कर्तव्या । अभिप्रायस्तु

दुर्गमः । तदपि ज्ञात्वा सेवां कृतवत्य इत्यलौकिकं बोध्यते । तत्रापि न विधिकिङ्करतया, किन्तु मुदा । ओत्सुक्यान्मुदः प्रवृत्तिं वारयति अविरतमेधितयेति । भगवति तासां षड्भावान्तान् अनुरागेति । अन्यथा भक्तिरस एव स्यात्, न कामरसः । प्रथमतोऽनुरागः चित्तो । ततो हासः भावप्राकट्यम् । ततोऽवलोकनं दृष्ट्या सङ्गः । ततो नवसङ्गमो नित्यम् । नित्यनूतनत्वाद्भगवतः । ततो जल्पाः नानाविधाः कथाः । तत उत्थितानां लज्जा कुलवधूभावप्राकट्यम् । अन्यथा अगुप्तो रसः रसाभासः स्यात् । जातलज्जा इति पाठः सुगमश्चिन्त्यः ॥४४॥

व्याख्यानार्थ—अथवा दो श्लोकों से भगवान् का चरित्र कहा, वैसा करने के पश्चात् उन्होंने भी एक श्लोक कामरस से कहा और एक भक्ति से कहा । इस प्रकार इन्होंने भी दो किए, 'इत्यमिति' यों इस प्रकार भगवान् रमा के सिवाय अन्य किसी के पति नहीं हैं । उनके दास जो जीव हैं, वे दूसरों के पति हैं, रमा के पति को आप प्राप्त कर निरन्तर बढ़ते हुए हर्ष से उनको भजने लगी, जब भगवान् ने ग्रहण की, तब वे बन्दी थी । बन्दी की अवस्था में ग्रहण इनके उपकार का कारण हो गया निरन्तर भगवान् की सेवा करने लगी, उनकी सेवा करने में क्या आश्चर्य है ? स्त्रियाँ ही पति की सेवा करती हैं, यदि यों कहो तो कहते हैं कि जिनकी पदवी को ब्रह्मादि भी नहीं पा सकते हैं, वे तो भगवान् की प्राप्ति का मार्ग ही नहीं जानते हैं तो सेवा कहाँ से करेंगे ? प्रभु का अभिप्राय जानकर ही सेवा करनी चाहिए । वैसी सेवा उनको पसन्द होवे, वैसी करनी चाहिए, भगवान् का अभिप्राय जानना तो दुर्लभ है । वह भी जानकर सेवा करने लगी, जिससे अलौकिक में जानने में आता है, वह सेवा जैसे नौकर विधि से सेवा करते हैं, वैसी नहीं, किन्तु प्रसन्नतापूर्वक प्रेम से करती थी । उत्सुकता से मोद की प्रवृत्ति को निवारण करता हैं, निरन्तर बढ़ने से यों भगवान् में उनके अनुराग आदि छः भाव हैं, वे



कहते हैं। यदि वे छः भाव न होवे तो भक्तिरस ही हो जाय, कामरस न होवे, प्रथम तो चित्त में अनु-
राग, पश्चात् हास से अपना भाव प्रकट करना, बाद में दृष्टि से सङ्ग, अनन्तर नित्य नूतन सङ्गम,
नित्य नूतन सङ्गम कैसे होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् नित्य नवीन है; क्योंकि रस रूप
हैं। इस क्षण-क्षण में नवीन होता है, उसके बाद अनेक प्रकार की रसमय कथाएँ, उनसे लज्जा का
उत्पन्न होना, यह लज्जा कुल वधूत्व का भाव प्रकट करती है अर्थात् ये बड़े कुल की स्त्रियाँ हैं, नहीं तो
प्रकट रस रसाभास हो जावे 'जात लज्जाः' यह पाठ सुगम विचारणीय है ॥४४॥

आभास—कामकृतमुक्त्वा भक्तिकृतमाह प्रत्युद्गमेति ।

आभासार्थ—काम कृत कहकर 'प्रत्युद्गम' श्लोक में भक्तिकृत कहते हैं।

श्लोक—प्रत्युद्गमः सनवराहंणपादशौचताम्बूलविश्रमणवीजनगन्धमाल्यैः ।

केशप्रसारशयनस्नपनोपहार्यैर्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—यद्यपि प्रत्येक के पास सैकड़ों दासियाँ थीं, तो भी सामने जाना,
बीड़ा देना, पाँव चाँपना (दबाना), पङ्खा करना, चन्दन और पुष्प अर्पण करना,
केश सुलभाना, सेज सँवारना, बाद में स्नान कराना एवं भोजन कराना; ऐसे-ऐसे
उपचारों से वे स्त्रियाँ दास्य भाव प्रकट करती थीं ॥४५॥

सुबोधिनी—दूरादागच्छन्तं दृष्ट्वा यथाकथ-
ञ्चिदपि स्थिताः प्रत्युद्गता भवन्ति । अग्रे गच्छ-
न्ति । तत आसनं भगवते प्रयच्छन्ति । ततो वरा-
हंणमभीष्टं कुर्वन्ति, यदाज्ञापयति । वरस्य वा
विवाहसमये समागतस्य यथोपचाराः क्रियन्ते,
मधुपर्कादिः पाणिग्रहणादिर्वा । ततः पादप्रक्षाल-
नम्, ततस्ताम्बूलदानम्, ततो विश्रमणं पादसंवा-
हनम्, ततो वीजनं व्यजनादिभिः, ततो गन्धमा-
ल्यादिदानम्, ततः स्वेच्छयोपविष्टस्य माल्यादि-
ग्रथनार्थं केशप्रसारः, ततः शयनम्, ततः कामे तृप्ते
स्नपनम्, तत उपहारः भक्ष्यभोज्यादिदानम् ।
कामार्थमेव हि स्त्रीगृहे गमनम्, न तु भोजनार्थम् ।
अतः कामानन्तरमेव भोजनं युक्तम्, अन्यथोभय-

मपि विरसं स्यात् । एवं द्वादशधोपचाराः प्रत्यहं
कर्तव्याः, द्वादशधा मनसो वृत्तिपूरणार्थम् । एवं
करणे तासां क्लेशात् रसोत्पादकता न स्यादि-
त्याशङ्क्याह दासीशता अपीति । अतस्ताभिः
सुसंस्कृताः भगवतो दास्यं विदधुः । क्लिष्टो भग-
वानेर्ताभिरेवं सेवित इति सापेक्षसेवां कश्चिद्ब्रू-
यात्, तद्व्यावृत्त्यर्थमाह विभोरिति । सर्वतः सम-
र्थस्य । एवं सर्वासां विवाहावधिसेवान्ताः क्रिया
निरूपिताः । मानापनोदनादिकं तु वक्तव्यम्, तदु-
त्तराध्याये रुक्मिण्यामुक्त्वा सर्वत्रातिदेशं वक्ष्यति ।
यदेव भगवान् यस्मिन्नंशे तिरोहित इव भवति,
तत्रैव भगवत्कृतसमाननात् मान उत्पद्यत इति
स्थितिः ॥४५॥

व्याख्यानार्थ—दूर से भगवान् को पधारते हुए देख जिस किसी अवस्था में होते हुए भी शीघ्र
सामने लाने के लिए जाती थी, पश्चात् भगवान् को आसन देती थी, बाद में जैसी आज्ञा करते थे,
वैसा वर के योग्य पूजन करती थी। जैसे विवाह के समय मधुपर्क, पाणिग्रहण आदि, अनन्तर पादो



को प्रक्षालित करना, ताम्बूल देना, चरण चाँपना, पङ्खा करना, चन्दन और पुष्प अर्पण करना; उसके बाद अपनी इच्छा से बैठे हुए के पुष्पादि के ग्रथन के लिए केशों को सुलझाना, बाद में शयन, उससे काम की तृप्ति हो जाने पर स्नान, स्नान के पश्चात् भक्ष्य भोज्यादि का देना, पति स्त्री गृह में कामतृप्ति के लिए ही जाता है न कि भोजन के लिए जाता है, अतः काम की पूर्ति के बाद ही भोजन आदि दिए, यह योग्य ही है, नहीं तो दोनों में रस नहीं होता। इस तरह बारह प्रकार के उपचार नित्य किए जाते थे, बारह क्यों? इसके उत्तर में कहते हैं कि मन को बारह वृत्तियाँ उन सबकी पूर्ति करने के लिए, यों करने से उनको कष्ट हुआ होगा, जिससे रस उत्पन्न न हुआ होगा। इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहते हैं कि उनके पास जो सैकड़ों दासियाँ थीं, उनसे थकावट दूर करा लेती थी, बाद में भगवान् की सेवा (चाकरी) करती थीं। इनकी इस प्रकार की सेवा से भगवान् तो विलुप्त हो गए होंगे, यों सापेक्ष सेवा कोई कहे तो उसके निवारण के लिए कहते हैं कि भगवान् विभु हैं अर्थात् सर्व समर्थ होने से उनको क्लेश नहीं होता है। इस प्रकार विवाह से लेकर सेवाओं तक जो क्रियाएँ हुई, उनका निरूपण किया। मान और अपनोदन आदि कहने चाहिए। वह आगे के अध्याय में रुक्मिणीजी को कहने से सबका उसमें संश्लेष हो जाएगा, जब ही भगवान् जिस अंश से तिरोहितसा होंगे, वहाँ भगवान् के मनाने से 'मान' उत्पन्न होता है, यह स्थिति है ॥४५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धदशमोऽध्यायः ॥१०॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध (उत्तरार्ध) ५६वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-फल

अवान्तर प्रकरण का तीसरा अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

“भौमासुर वध कल्पवृक्ष आनयन”

राग आसावरी

रटति कृष्ण गोविन्द हरि-हरि मुरारी, भक्त भय-हरन असुर-स्तकारी।
षष्ठ दस सहस्र कन्या असुर बन्दि मैं, नींद अरु भूख अहनिसि बिसारी ॥
प्रीति तिनकी सुमिरि भए अनुकूल हरि, सत्यभामा हृदय यह उपाई।
कल्पतरु देखिबे की भई साय मोहिं, कृपा करि नाथ ल्यावहु दिखाई ॥
सत्यभामा सहित बैठि हरि गरुड़ पर, भौमासुर नगर कौ तुरत धाए।
एक ही बान पाषाण कौ कोट सब, हुतौ चहुँ ओर सो दियो ढाए ॥
गरुड़ चहुँ पास के नाग लीन्हे निगलि, जल बरषि अगिनि ज्वाला बुझाई।
स्वास के तेज सौं जस सकल सोषि लियौ, देखि यह लोग सब गए डराई ॥
करी हरि संख धुनि जग्यौ तब असुर सुनि, कोप करि भवन सौं निकसि घायौ।
देखि कै गरुड़ कौ लगी ता हृदय ढव, कठिन तिरसूल सो गहि चलायौ ॥
सचिव सिर टेकि तब कह्यौ निज नृपति सौं, नहीं तिहुँ भुवन कोउ सम तुम्हारे।
जुद्ध कौ करत छाजत नहीं है तुम्हें, सुन महाराज अच्छत हमारे ॥

कियो तब जुद्ध उन क्रुद्ध ह्वै स्याम सौँ, हरि कह्यौ गरुड़ इहिं हति प्रचारी ।
 गरुड़ मुनि धाइ गह्यौ जाइ ताकौँ तुरत, तीनहूँ सीस डारे प्रहारी ॥
 तासु पुत्रनि बहुरि जुद्ध हरि सौँ कियो, मार तैँ सोउ कायर दुराने ।
 कोउ कटि, कटि परे, कोउ उठि, उठि लरे, कोउ डरि डरि बिदिसि दिसि पराने ॥
 तब असुर अग्नि जल बान डारन लाग्यौ, तासु माया सकल हरि निवारी ।
 असुर के भटनि को गरुड़ लाग्यौ गिलन, तुरग गज उड़ि चले लगि बयारी ॥
 असुर गज रुड़ ह्वै गदा मारे फटकि, स्याम अङ्ग लागि सो गिरे ऐसैँ ।
 बाल के हाथ तैँ कमल दल नाल जुत, लागि गजराज तन गिरत जेसैँ ॥
 आपु जगदीस सब सीस ता असुर के, मारि तिरसूल सौँ काटि डारे ।
 छाँडि सो प्रान निरवान पद कौँ गयौ, सूर पुहुप बरषि जौ जौ उचारे ॥
 प्रथी गहि पाइ, मालैँ कुण्डल छत्र ले, जोरि कर बहुरि अस्तुति सुनाई ।
 नाथ मम पुत्र कौ दीजिए परमगति, हरि कह्यौ पुत्र तुव मुक्ति पाई ॥
 बहुरि गए तहाँ कन्या हुतीँ सब जहाँ, निरखि हरि रूप सो सब लुभाईँ ।
 चरन रहिँ लागि बड़ भाग लखि आपने, कृपा करि हरि सु निज पुर पठाईँ ॥
 बहुरि गए इन्द्रपुर इन्द्र रह्यौ पाईँ परि, कल्पतरु बृच्छ तासौँ मँगाए ।
 त्रदसपति मान कौ एतन कुण्डल दिए, बृच्छ लै आपु निज पुरी आए ॥
 बहुरि बहु रूप घरि हरि गए सबनि घर, ब्याह करि सबनि की आस पूरी ।
 सबनि कैँ भवन हरि रहत सब रैन दिन, सबनि सौँ नैँकु नहिँ होत दूरी ॥
 सबनि कौ पुत्र दस दस कुँवर एक इक, दै सकल धर्म के गृह सिखाए ।
 कोटि ब्रह्माण्ड नायक सु बसुदेव सुत, सूर सोइ नन्द-नन्दन कहाए ॥



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६०वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ५७वाँ अध्याय
उत्तरार्ध का ११वाँ अध्याय

राजस-फल-अवान्तर प्रकरण

“चतुर्थ अध्याय”

श्रीकृष्ण रुक्मिणी-संवाद

कारिका—वाचिकस्तु तिरोभावो रुक्मिण्यामुच्यते स्फुटः ।

एकादशे निरोधार्थमन्यथा लौकिकं भवेत् ॥१॥

कारिकार्थ—रुक्मिणी से जो भगवान् ने अपना तिरोधान किया, वह केवल वाचिक तिरोधान किया अर्थात् वाणी से ही कहा, कायिक तिरोधान नहीं किया । काया से तो वहाँ ही विराजमान थे, यह वाचिक तिरोधान जो उत्तरार्ध के ११वें अध्याय में किया है, वह निरोध के लिए किया है, नहीं तो वह लौकिक हो जाय ॥१॥

कारिका—सर्वथा कृतसेवायाः परीक्षापि निरूप्यते ।

यथा प्राणो शरीरस्य स्थितिस्तद्वद्यथा भवेत् ॥२॥

कारिकार्थ—यों वाचिक तिरोधान से, सर्व प्रकार से की हुई सेवा की परीक्षा भी की गई है, जिससे यह सिद्ध हो जाय कि यदि रुक्मिणी को भगवत्सेवा न मिलेगी, तो उसके शरीर की स्थिति भी न रहेगी, जैसे प्राणों के चले जाने पर शरीर की स्थिति नहीं रहती है। प्राण है तो शरीर की स्थिति है, वैसे ही रुक्मिणी के लिए यदि भगवान् हैं तो उनको सेवा प्राप्त होने से उसके शरीर की स्थिति रह सकती है, अन्यथा नहीं ॥२॥

कारिका— सान्त्वनं कायिकं त्वत्र नि.सम्बन्धाद्यतो भयम् ।

दोषाभावाय वाक्यं तु ईर्ष्यामात्सर्यदोषनुत् ॥३॥

कारिकार्थ— वाचिक तिरोधान से रुक्मिणी को भगवान् से सम्बन्ध न रहने का ज्ञान होने से भय उत्पन्न हो गया, भगवान् ने रुक्मिणी को भयभीत देख भट पलङ्ग से नीचे पधार कर उसका कायिक सान्त्वन किया । यदि कायिक सान्त्वन न करते तो सम्बन्ध न होता, जिससे रुक्मिणी भयग्रस्त ही रहती और दशमी^१ अवस्था रूप दोष भी नष्ट न होता, पहले देवराज पुत्री इत्यादि वाचिक किया हुआ सान्त्वन तो केवल ईर्ष्या मात्सर्य आदि दोषों को नाश करने वाला है ॥३॥

कारिका—निर्दुष्टायाः परिज्ञानमविरोधस्य वर्णनात् ।

निरूप्यते यतः सा हि न कुतश्चिद्भ्रमं भजेत् ॥४॥

कारिकार्थ—उसके सर्व दोष नष्ट हो गए, यह ज्ञान कैसे हुआ ? अविरोध के वर्णन से यह ज्ञान हुआ कि इसके दोष नष्ट हो गए हैं । यह अब निर्दोष है, अतः भगवान् के वचनों में उसको किसी प्रकार का अब भ्रम न रहा, जैसा पहले था कि मेरा त्याग कर दूँगे ॥४॥

कारिका—शब्दार्थयोर्विरोधः स्यात् प्रामाण्ये सर्वथैव हि ।

लक्षणायामपि तथा मुख्यार्थो बाधितो यतः ॥५॥

कारिकार्थ—शब्द और अर्थ का परस्पर विरोध तो प्रामाण्य में हो सकता है, प्रमेय में नहीं । लक्षणा में भी मुख्यार्थ का बाध होता है ॥५॥



कारिका—अतो हि भगवद्वाक्यं दुर्ज्ञेयं सर्वथा मतम् ।

यस्त्वेतस्य परिज्ञाता स न मुह्यति कर्हिचित् ॥६॥

कारिकार्थ—इस कारण से भगवान् का वाक्य सर्व प्रकार दुर्ज्ञेय^१ माना गया है, जो निर्दोष होने से इसको जाना जाता है, वह कभी भी भूला नहीं जाता है ॥६॥

— इति कारिका सम्पूर्ण —

आभास—पूर्वाध्यायान्ते सर्वभावेन स्त्रीणां सेवा निरूपिता । तस्याः परोक्षार्थमिदमारभ्यते । तत्र प्रथमं पूर्वषट्के निष्पन्ने, उत्तरादिरूपं वीजनमाह कर्हिचिदिति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में स्त्रियों ने जो सर्वभाव से सेवा की, उसका वर्णन किया । अब उनकी परीक्षा के लिए यह अध्याय प्रारम्भ किया जाता है, पूर्व अध्याय में पधारने के समय स्वागत आदि छः प्रकार से किया, जिसका वर्णन वहाँ हुआ । अब 'कर्हिचित्' श्लोक में वीजन^२ से पूर्वकृत स्वागतवत् छः ही प्रकार कह दिए हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—कर्हिचित्सुखमासीनं स्वतल्पस्थं जगद्गुरुम् ।

पतिं पर्यचरद्भूमी व्यजनेन सखीजनैः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि एक समय जगत् के गुरु अपने पलङ्ग पर सुख से विराज रहे थे, उस समय रुक्मिणी अपनी सखियों के साथ आकर पङ्क्त^३ से पति की सेवा करने लगी ॥१॥

सुबोधिनी—सुखमासीनमिति विश्रमान्ता सेवा निरूपिता । स्वतल्पस्थमिति अग्रिमावश्यकत्वं निरूपितम् । कदाचिद्भगवान् रुक्मिण्या गृहे सभात उत्थाय रात्रौ समागतः । ततः प्रत्युदगमनादिप्रकारेण स्वशय्यायामेवोपवेशितः । कामकलापूर्णं च तद्गृहम्, तत्पित्रादिभिः प्रायेण तत्सुखार्थं सामग्री प्रेषितेति लक्ष्यते । अन्यथा भगवान् स्वदत्तायां सामग्र्यां नैव ददेत् । सापि भावज्ञा । नैवमभिमानेन सेवां कर्तुं प्रवर्तेत ।

अतो नभिप्रेतमेव स्वशय्यायां दीनभावमकृत्वा उपवेशितवती । भगवांश्च कथं तथा वदतीत्याशङ्कयामाह जगद्गुरुमिति । स हि सर्वोपदेष्टा । भ्रमादन्यथा बुद्धौ जातायां तन्निवारणीयमिति जगद्गुरोः कार्यमेव तत् । पतित्वान्निःशङ्कं पर्यचरत् । भूमीत्वात् साभिमाना । व्यजनेनेति स्वयं व्यजनं गृहीत्वा । सखीजनैः सहिता स्वोत्कर्षबुद्ध्या ता अपि स्थापितवती ॥१॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् सुख पूर्वक विराजमान हो गये थकावट दूर हो गई, तब रुक्मिणी सेवा करने लगी क्योंकि थकावट के समय सेवा रुचिकर नहीं होती है इसलिये कहा है कि “विश्रमान्ता सेवा निरूपिता” थकावट मिट जाने के बाद सेवा करने का शास्त्रों में निरूपण है अपने पलङ्ग पर विराजमान हुए, यों विराजना अग्रिम कार्य की आवश्यकता निरूपण करता है, अथवा भगवान् कदाचित् सभा से उठकर रात्रि के समय रुक्मिणी के घर पधारे, पधारने पर रुक्मिणी ने छ प्रकार से स्वागत आदि सर्व विधि की, पश्चात् अपने पलङ्ग पर बिठाया, वह घर काम की कलाओं से पूर्ण था इससे यों जाना जाता है, कि इस प्रकार के गृह के सजाने के लिये पिता आदि ने सुख निवासार्थ सब सामग्री भेजी है यदि पिता आदि ने नहीं भेजी हो, भगवान् की दी हुई होती तो भगवान् इस प्रकार के वचन नहीं कहते, वह भी भाव को समझने वाली है, यदि भावज्ञ न होती तो इस प्रकार साभिमान सेवा करने में प्रवृत्त न होती, अतः भगवान् की न दी हुई किन्तु अपनी ही शय्या पर दीन भाव का त्याग कर अर्थात् साभिमान शय्या पर बैठी, भगवान् वैसे वाक्य जिनसे रुक्मिणी अग्रसन्न हो, चिन्तित हुई, कैसे बोले ? इस पर कहते हैं कि, भगवान् जगद्गुरु के नाते सब के शिक्षादाता हैं भ्रम से किसी की बुद्धि विपरीत हो जावे तो शिक्षा द्वारा उसकी बुद्धि को सुधारना, जगद्गुरु का यह ही कार्य है, भगवान् पति होने के कारण निःशङ्क होकर यों करने लगे, उसको अभिमान भीष्म की कन्या होने से हुआ था, रुक्मिणी के साथ अन्य सखियां भी थीं, तो भी अपने हाथ से पंखा करने का कारण सब से अपनी उत्कृष्टता दिखाना था ॥१॥

आभास—ननु तथापि संतोषे दुःखजननमयुक्तमिति चेत्, तत्राह यस्त्वेतदिति ।

आभासार्थ—संतोष हो जाने पर, दुःख होना योग्य नहीं, यदि यों कहो, तो उसका उत्तर ‘यस्त्वेतत्’ श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—यस्त्वेतल्लीलया विश्वं सृजत्यत्यवतीश्वरः ।

स हि जातः स्वसेतूनां गोपीथाय यदुष्वजः ॥२॥

श्लोकार्थ—जो ईश्वर इस जगत् को लीला से ही रचता, पालता और नाश करता है, वह ही अजन्मा अपनी मर्यादा के पालन के लिए यादवों में प्रकट हुआ है ॥२॥

सुबोधिनो—उभयथापि भगवतो नैवंकरणे दोषः । आदावुत्पत्तिस्थितिप्रलयकर्ता, यथोत्पत्ति हर्षादेः करोति, स्थितिं वा, तथा प्रलयमपि करोतीति हर्षादेर्निशानं भगवत्कार्यमेव । किञ्च । भगवान् स्वसेतूनां स्वकृतमर्यादानां धर्मादीनां गोपीथाय रक्षणार्थमेवावतीर्णः । अन्यथा अजस्य यादवेष्ववतारो नोपपद्येत । ननु प्रलये कश्चन भगवत

उद्योगो दृश्यते, समयश्च तादृश इति चेत्, तत्राह लीलयेति । न तस्य उत्पत्त्यादिकरणे किञ्चित्साधनं मृग्यते, किन्तु लीलयेव करोति । नापि यदोः पुष्टिः । अथस्य विहितकालाद्यपेक्षा । नापि स्वभावमप्यन्यथा कृत्वा समागतस्य यदर्थमागतस्तत्करणमयुक्तं भवति ॥२॥



व्याख्यानार्थ—दोनों तरह करने में भी भगवान् को दोष नहीं है, भगवन् आदि में जैसे उत्पत्ति हर्ष से करते हैं, वैसे स्थिति तथा प्रलय भी करते हैं, हर्ष आदि का नाश भी भगवान् का कार्य ही है। और विशेष में, भगवान् अपनी धर्म आदि की मर्यादा की रक्षा के लिये ही अवतीर्ण हुवे हैं, यदि यों न होवे तो अजन्मा का यादवों में प्राकट्य न होवे, भगवान् का प्रलय में कुछ उद्योग दीखता है, वह समय वैसा होता है। यदि यों कहो, तो उसके उत्तर में कहते हैं कि 'लीलया' भगवान् का सर्व कार्य लीलामात्र है, आप तो किसी कार्य करने में परिश्रम नहीं होता है उनको किसी साधन की भी आवश्यकता नहीं है, अनुग्रहस्थ यदु को विहित काल आदि की भी अपेक्षा नहीं है, प्रभु स्वभाव भी अन्य प्रकार का करके पधारे हैं तो भी वे जिस कार्य के लिये आये हैं, उस कार्य का करना अयोग्य नहीं होता है अर्थात् युक्त ही होता है ॥२॥

आभास—तर्हि देशवशात्कालवशाद्वा भगवांस्तथोक्तवानित्याशङ्क्य गृहं वर्णयति तस्मिन्नन्तर्गृहेति ।

आभासार्थ—तो देश वा ' काल वश होकर भगवान् ने यों कहा होगा ? वह शङ्का मिटाने के लिये घर की शोभा को 'तस्मिन्नन्तर्गृहे' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—तस्मिन्नन्तर्गृहे भ्राजन्मुक्तादामविलम्बिता ।

विराजिते वितानेन दीपैर्मणिमयैरपि ॥३॥

मल्लिकादामभिः पुष्पैर्द्विरेफकुलनादिते ।

जालरन्ध्रप्रविष्टैश्च गोमिश्रन्द्रमसोऽमलैः ॥४॥

पारिजातवनामोदवायुनोद्यानशालिना ।

धूपैरगरुजै राजन् जालरन्ध्रविनिर्गतिः ॥५॥

श्लोकार्थ—घर के भीतर सुन्दर चन्दोआ बाँधा हुआ था, जिसमें देदीप्यमान मोतियों की मालाएँ लटक रही थी; चारों तरफ मणियों से बने दीपक जगमगाते थे, मधुमल्लिका के पुष्पों की मालाओं पर भ्रमरों के भुण्ड गुञ्जार कर रहे थे, जालियों में से चन्द्रमा की निर्मल किरणें भीतर प्रविष्ट हो रही थी। वायु पारिजात वृक्ष के वन की सुगन्धी को लेकर वहाँ गृह में आ रही थी। हे राजन् ! जालियों में से अगर के धूप की सुगन्ध सहित धूम्र बाहर निकल रहा था ॥३-४-५॥

१—गृह सुन्दर नहीं होगा, अथवा उसकी आयु स्वल्प होगी, इन कारणों से भगवान् से रुक्मिणी को ऐसे वाक्य कहे होंगे, जिसके उत्तर में दिखाते हैं गृह भी सुन्दर था तथा आयु भी स्वल्प नहीं है ।

सुबोधिनी—तां च रसाधिकरणभूतां षड्भि-
 श्रुतिभिर्द्विभ्यां च । गृहमध्य इत्येकान्तता । तत्रापि
 तस्मिन्निति प्रसिद्धिः । तेन तत्कामस्थानमेव, न तु
 क्रोधादिस्थानम् । आदौ तस्योपरि शोभां वर्ण-
 यति । भ्राजन्मुक्तादाम्नां विलम्बनयुक्तेन विता-
 नेन चन्द्रातपेन विराजिते । परितो विलम्बीनि
 मुक्तादामानि यस्मिश्चन्द्रातपे । तेन विराजितं
 कामस्थानमेव भवति । मणिमयैरपि दीपैः परितो
 विराजिते । मल्लिकादामभिः केवलपुष्पैश्च सर्वतः ।
 शृङ्गाररसानुभावकमाह । द्विरेफकुलानां नादितं
 येनैतत् त्रिविधं रसात्मकं लज्जितं चन्द्रोद्भा-
 प्यत्यन्तमुद्बोधक इति तत्करणानामन्तःप्रवेश-
 माह जालरन्ध्रप्रविष्टं श्रोतं चन्द्रमसः अरुणोद-
 यकालीनैः किरणैः रागयुक्तैः गवाक्षमार्गेणान्तः-

प्रविष्टैः विराजिते । अलौकिकोद्बोधकमाह ।
 पारिजातकवृक्षाणां पूर्वप्रेषितगारिजातकलपवृक्ष-
 स्य पोताः सर्वत्र स्थापिता वनप्राया जाताः । ते
 तस्य गृहस्य परितो वर्तन्त इति गवाक्षादिमार्गेण
 तदामोदयुक्तो वायुरपि तत्र प्रविष्टः, तेनापि
 विराजिते । तस्य शैत्यं मान्द्यं च वर्णयितुमाह
 उद्यानशालिनेति । उद्याने वाप्यः निर्भराश्च
 सन्ति । तत्रापि उद्यानं शाला यस्य । तेन मन्द-
 तापि समायाति । सहजान्युद्बोधकान्युक्त्वा
 कृत्रिमान्याह धूपैरिति । अगर्जः अगर्जयुक्तनाना-
 निधयश्चेत्युक्तं । अन्तःस्थापितः स धूमः, न तु बहोऽन्तःप्रविष्ट
 इति ज्ञापयितुं विशेषणमाह जालरन्ध्रविनर्गते-
 रिति ॥५॥

ध्याष्टवार्थ—रस की अधिकरण भूत उसका छः, चार ओर दो लोकों से वर्णन करते हैं, गृह के मध्य में कहने का भाव यह है कि वहाँ एकान्तता थी, उसमें भी 'तस्मिन्' शब्द कह कर बताया कि वह प्रसिद्ध था, इसलिये वह स्थान काम स्थान अर्थात् आनन्द का था न कि क्रोध आदि करने का स्थान है, अतः प्रथम उसकी शोभा का वर्णन करते हैं, जिस चंदोआ में देदीप्यमान मोतियों की मालाएँ लटक रही थी उससे सुशोभित गृह था, वैसे मोतियों की मासाओं से युक्त चंदोआ जहां होता है, वह काम क्रीड़ा का स्थान ही होता है, वैसा गृह मणि से बने हुए दीपों से भी चारों तरफ सुशोभित हो रहा था, और चारों तरफ केवल मल्लिका के पुष्पों की मालाओं से सुसज्जित था, शृङ्गार रस के भावों को प्रकट कराने वाले, अनुभावकों को कहते हैं, जहां भ्रमरों का कुल गुञ्जार कर रहा है, अथवा भ्रमरों का मधुर गान हो रहा है, चन्द्रमा भी रस को जगाने वाला है, अतः उसकी किरणों जालियों के छेदों से भीतर प्रविष्ट हो रही थी, वे किरणें भी उदयकालीन लाल किरणें थीं, जिससे राग का उद्भव शीघ्र होता है, काम रस को जगाने वाले अलौकिक पदार्थ का निरूपण करते हैं, प्रथम भेजे हुए पारिजात कल्प वृक्ष के पौधे सर्वत्र स्थापित किये थे वे अब बन रूप हो गये हैं, वे उसके घर के चारों तरफ थे, झरोखों के रास्ते उनकी गन्ध वायु के द्वारा गृह में प्रविष्ट हो रही थी, ये पूर्वोक्त सर्व पदार्थों से सुशोभित गृह था, अब उसकी शीतलता और मन्दता के वर्णन करने के लिये कहते हैं कि, 'उद्यान शालिना' उद्यान में बावड़ियां तथा झरणे भी थे, वहां भी उद्यान ही शाला थी, जिससे मन्दता भी आती है ।

सहज उद्बोधकों को कहकर अब कृत्रिम उद्बोधकों को कहते हैं, अगर्ज से युक्त अनेक प्रकार के द्रव्यों से उत्पन्न धूपों से वह गृह सुगन्धित था, जिनसे भी रस का उद्बोधन होता था, हे राजन् ! विश्वास के लिये कहा है, वह धूप का धूम तो भीतर ही हो रहा था अन्य गन्ध की भांति वायु द्वारा भीतर नहीं जाता था, क्योंकि धूप भीतर जलाया गया था, इस लिये जालियों के छेदों से बाहर आ रहा था ॥३-४-२॥



आभास—अधः शोभामाह पयःफेननिभ इति ।

आभासार्थ—निम्न 'पयः फेन' श्लोक में शोभा का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—पयःफेननिभे शुभ्रे पर्यङ्के कशिपूत्तमे ।

उपतस्थे सुखासीनं जगतामीश्वरं पतिम् ॥६॥

श्लोकार्थ—दूध के फेन के समान स्वच्छ व कोमल बिछौने वाले पलङ्ग पर, सुख से विराजमान अपने पति श्रीकृष्ण, जो जगत् के ईश्वर हैं, उनके पास आई ॥६॥

सुबोधिनी - पयःफेनस्य निरन्तरमुच्छ्रूयता । भगवन्तं तत्र स्थितं वर्णयति । तत्र सुखं यथा विचित्रता जगता च । सत्रोपनिबद्धं मध्येपरितो । भवति तथा आसीनम् । लोकवेदशङ्काभावार्थं ।
ईश्वरं पतिमिति ॥६॥ दन्तौर्हीरकैश्च निमित्तम्, तेन शुभ्रम्, कशिपुना । विशेषणद्वयम् : जगता सुतरामुत्तमम् । एवं सामग्रीं वर्णयित्वा रसदातारं ।

है, वैसे ही पलङ्ग पर भी बिछौना बिछा हुआ था, आप जगत् के ईश्वर हैं, मैं निवृत्त हो जाती है ॥६॥

व्यस्यार्थ—दूध का भाग निरन्तर फूला, विचित्र तथा स्वच्छ रहता सूत्र में बान्धे हुए दान्त एवं हीरों से निमित्त होने से शुभ्र कोमल तथा सुन्द जिस पर रस देने वाले प्रभु इस प्रकार विराज रहे थे जैसे आनन्द प्राप्त होवे अतः वैदिक शङ्का भी नहीं हो सकती है, एवं 'पति' होने से लौकिक शङ्का ।

कटे स्वयं स्थितेत्याह

आभास—कुलवधूत्वादीश्वरत्वाच्च स्वतःप्रवृत्तिरयुक्तेति निः
बालव्यजनमादायेति ।

पान् स्वतः प्रवृत्ति करें तो भी, जिसका वर्णन 'बाल'

आभासार्थ—आप ईश्वर हैं एवं रुक्मिणी कुल वधू है इसलिये भगवत् प्रयोग्य देखने में आवे अतः रुक्मिणी स्वयं समीप आकर पंखा करने लगे श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—बालव्यजनमादाय रत्नदण्डं सखीकरात् ।

तेन वीजयती देवी उपासांचक्र ईश्वरम् ॥७॥

में से लेकर, उससे

७॥

श्लोकार्थ—रत्नों की डाँडी वाली छोटी पङ्खी, सखी के हाथ भगवान् की हवा द्वारा सेवा करती हुई समीप आकर खड़ी रही ।

हस्ते तत् स्थितम्, तदपि वर्णनम् । भगवति विलसन् गृहीतवती, तेन वीज-

सुबोधिनी—चमरी बालस्य व्यजनम् । भविष्यतीति पूर्वं सख्या रत्नानि दण्डे यस्य । अनेन दासीत्वं स्वस्य प्रकाशितम्, न तु नायिकात्वम् । तथा सति घाष्ट्यं । नापकर्षजनकमिति तस्य सम्माने सखीहस्तात् स्व



यती जाता । तदप्युद्बोधकम् । सेवया ईश्वरः । इति । सेवनरूपं निकटेऽवस्थानमुपासनम् ॥७॥
परितुष्यतीति तदपि कृतवतीत्याह उपासांचक्र

व्याख्यार्थ छोटी चवरी^१ जिसके डन्डे रत्न के थे वह सखी के हस्त में थी किन्तु रुक्मिणी को अपनी दामोपन प्रकाशित करना है, न कि नायिकापन, इसलिये वह चवरी सखी के हाथ से ले ली, यदि न लेती तो धृष्टता देखने में आती, उसके हाथ से लेने से किसी प्रकार बिगाड़ की सम्भावना नहीं थी, कारण कि भगवान् की वायु सेवा करने में विलम्ब न हो जावे, इसलिये उसके हाथ से ले ली और वायु से सेवा करने लगी वह सेवा भी रस को जगाने वाली है, सेवा से ईश्वर प्रसन्न होते हैं इसलिये वह भी करने लगी, अर्थात् समीप स्थिति का तात्पर्य ही है, सेवा करनी ॥७॥

आभास—मुख्य आलम्बनविभाव इति तां वर्णयति सोपाच्युतमिति ।

आभासार्थ—रस जगाने में मुख्य आलम्बन विभाव है जिसका वर्णन 'सोपाच्युत' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—सोपाच्युतं कणयती कलनूपुराभ्यां

रेजेऽङ्गुलीयवलयव्यजनाग्र्यहस्ता ।

वस्त्रान्तगूढकुचकुङ्कुमशोणहारभासा

नितम्बधृतया च पराध्यकाञ्च्या ॥८॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णचन्द्र के समीप मणि जड़ित नूपुरों के भङ्गकार शब्द को करती हुई शोभा देती थी और अङ्गुलियों में मुन्दरी, पहुँचे में कङ्कण तथा हस्त में चमरी धारण की थी, साड़ी के छोर से ढके हुए स्तनों की केसर से लाल हुए हार की शोभा युक्त कमर में धारण की हुई मेखला, जिनसे शोभित हो रही है ॥८॥

सुबोधिनी—अल्पचलनेन कलनूपुराभ्यां वव-
णयती भवति । जघनादिभारात् स्थिरतया स्था-
तुमशक्ता किञ्चिच्चलनान्नूपुरशब्दं करोति । एता-
दृशी निर्बन्धेन सेवां कुर्वाणापि रेजे । भगवन्निकटे
समागच्छन्तं हस्तं वर्णयति अङ्गुलीयेति । अङ्गु-
लीयानि वलयानि व्यजनाग्र्य च हस्ते यस्याः ।
वस्त्रान्तेन गूढयोः कुचयोः कुङ्कुमेन शोणो यो

हारः तस्य भासा रेजे । नितम्बधृतया बहुमूल्य-
काञ्च्या च । रसोत्पादकस्थाननिरूपणार्थं स्था-
नद्वयवर्णनम् । हस्तपादौ तु वर्णितौ पूर्वार्धेन । एवं
रसस्थानमादिमध्यावसानेषु वर्णितम् । भगवतः
सुमुखत्वाभावात् न सापि सुमुखीति मुखमान्तरो
भावश्च न वर्णितः ॥८॥

व्याख्यान - धीरे धीरे चलने से नूपुरों की अव्यक्त मोठी झनकार करती थी, कमर के भार से स्थिर थी अतः खड़ी रहने में अशक्त थी, जिससे धीमे धीमे चलती थी, इस कारण से नूपुर स्वतः शब्द करते थे, वैसी रुक्मिणी आग्रह से सेवा करती हुई भी मुशोभित होती थी, भगवान् के समीप रुक्मिणी का जो हस्त आता था उसका वर्णन करते हैं, उस हस्त में अंगूठियाँ, कङ्कण और चमरो की डांडी थी, वस्त्र के कोने से आच्छादित स्तनों की केसर से लाल बने हुए हार की शोभा से तथा कटि तट पर धारण की हुई कीमती मेखला^१ से मुशोभित हो रही थी, रस के उत्पन्न करने वाले दो स्थान, हस्त और पाद दोनों का वर्णन पूर्वार्ध से ही किया, इस प्रकार रस के स्थान, आदि मध्य और अन्त में वर्णन किया, भगवान् का और रुक्मिणी का मुख भी सुन्दर न होने से, उनका तथा आन्तर भाव का वर्णन नहीं किया । ८॥

आभास— एवं रसार्थं देशकालादीनामानुगुण्येऽपि भगवति स रसो नोत्पन्नः । न हि भगवान् रसानुभवार्थं समागतः, किन्तु धर्मरक्षार्थं निरोधार्थं च । तदत्र रसानुभवे क्रियमाणे बाधित भविष्यतीति तद्दोषनिराकरणार्थं किञ्चित्तुक्तवानित्याह तां रूपिणीमिति ।

आभासार्थ— यद्यपि देश और काल रसोत्पादक गुण वाले हैं तो भी भगवान् में वे रस उत्पादन नहीं कर सके, भगवान् भी रस के अनुभव के लिये नहीं आये हैं, वे तो धर्म रक्षा और निरोध करने के लिये ही आये हैं, इसलिये यहां यदि रसानुभव करेंगे तो बाधित होगा, उस दोष का निराकरण करने के लिये कुछ 'तां रूपिणी'श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तां रूपिणीं श्रियमन्यगतिं च दृष्ट्वा

या लीलया धृततनोरनुरूपरूपा ।

प्रोतः स्मयन्नलककुण्डलनिष्ककण्ठ-

वक्त्रोल्लसत्स्मितसुधां हरिरावभाषे ॥६॥

श्लोकार्थ— लीला से धारण किए हुए आपके रूप के समान जिसने रूप धारण किया है और आपके सिवाय अन्य कोई जिसका आश्रय नहीं है, ऐसी यह साक्षात् लक्ष्मी रूपिणी रुक्मिणी है । अतर्क, कुण्डल श्रीवाभरणयुक्त कण्ठ से जिसकी शोभा बढ़ रही है, जिसके मुख में मन्द मुस्कान रूप अमृत देदीप्यमान हो रहा है, उसको देख, प्रसन्न हो, मुस्कराते हुए हरि कहने लगे ॥६॥

सुबोधिनी—भगवतो लक्ष्मीनियता अपरि-
हार्या च । तादृशीमपि न मन्यत इति वक्तुं तां
वर्णयति । तां गुणतः प्रसिद्धाम् । रूपिणीं श्रिय-
मिति स्वरूपतः उत्कृष्टाम् । अनन्यगतिमिति
भक्त्याम् । अनेन भगवद्योग्यता निरूपिता । तस्या
गुणत्रयमपि ज्ञात्वा तथोक्तवानिति वक्तुमाह
दृष्टेति । आकृतिरसमाना भविष्यतीति तन्निरा-
करोति । या लीलया धृततनोरनुरूपं रूपं यस्याः
सा । तस्या गुणादिभिः प्रीतः, अन्यथा गुणानां
कार्यसाधकत्वेन अगुणत्वमेव स्यात् । अतस्ती-
गुणीः प्रीतोऽपि भगवान् स्मयन् जातः । नह्येता-
दृशगुणवत्त्वे गर्वं उचित इति, गर्वं एवोपक्षीणा

गुणा इति वा । अत एव प्रीतोऽपि स्मयन् जातः ।
यदा भगवान् सम्मुखः हास्यवदनोऽपि जातः, तदा
रुक्मिणी सुमुखं ज्ञात्वा स्वयमपि तथा जातेत्याह
अलककुण्डलनिष्ककण्ठवक्त्रोल्लसत्स्मितमुधामिति ।
शरीरमिव मुखं सर्वतो वर्णयति । उपर्यलकाः
उभयतः कुण्डले, अधः पदकयुक्तः कण्ठः त्रिवल्या-
त्मकः स्वरूपतोऽपि सुन्दरः, अन्यथा कण्ठपदं व्यर्थं
स्यात् । एवं त्रिभिः कृत्वा सुन्दरं यद्वक्त्रं तत्र
उल्लसत् स्मितमत्यन्तं प्रफुल्लरसमिव स्मितमेव
मुधा । महादेवेन दग्धमपि कामं जीवयतीति ।
तादृशीमावभाषे । तत्र हेतुर्हरिरिति । स हि तस्या
अपि दोषं दूरीकृतुं यतते ॥६॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् की जो लक्ष्मी है, वह नियत तथा छोड़ने योग्य नहीं है, वैसी को मान
नहीं देते हैं इस पर उसकी विशेषता का वर्णन करते हैं वह गुणों से प्रसिद्ध है, लक्ष्मी रूप हैं, जिससे
स्वरूप से उत्कृष्ट है, और इसकी दूसरी कोई गति नहीं है, क्योंकि भक्त है, यों कहने से यह सिद्ध
किया है कि यह भगवान् के योग्य है, उसके तीन गुणों को भी जानकर यों कहा है, उसकी स्पष्टता
करते हैं 'दृष्टा' यों ही नहीं कह दिया कि यह योग्य है किन्तु देखकर फिर निर्णय दिया, जैसे कि
उसकी आकृति भगवान् के अनुरूप न होगी, यदि यों कहा जावे तो कहते हैं कि नहीं, आपने जो
लीला से आकृति धारण की है, वैसी ही इसकी आकृति है, अर्थात् आपके समान रूप वाली है, उसके गुण
आदि से भगवान् प्रसन्न हुए यदि भगवान् गुणों से प्रसन्न न होते तो वे गुण अगुण हो जाते, अतः उन
गुणों से प्रसन्न हुए भी भगवान् आश्चर्य युक्त हो गये-वैसे गुण वाले में गर्व उचित नहीं, गर्व होने से गुण
नष्ट हो जाते हैं, अतः एव प्रसन्न होते हुए भी आश्चर्य वाले होने लगे, जब भगवान् संमुख हो हँस
मुख हुवे तब सुन्दर मुख देख, वह स्वयं भी वैसी हुई, इसका वर्णन शरीर की भांति मुख का चारों
तरह वर्णन करते हैं, ऊपर अलकें हैं, दोनों तरफ कुण्डल हैं, नीचे पदक से युक्त त्रिवली रूप कण्ठ,
स्वरूप से भी सुन्दर है, नहीं तो कण्ठ पद व्यर्थ हो जावे, इस प्रकार तीनों से जो सुन्दर मुख, उसमें
देदीप्यमान जो मुसकराहट, अत्यन्त प्रफुल्लित रस की तरह थी, यह मुसक्यान ही 'मुधा' है यह
मुधा महादेव के जलाये हुए काम को सजीव कर रही हैं, ऐसी रुक्मिणी को कहने लगे, कहने में
कारण यह है कि आप 'हरि' हैं दोषों को नाश करने वाले हैं, अतः उसके भी दोषों को दूर करने का
प्रयत्न करते हैं ॥६॥

आभास—भगवद्वाक्याभ्याह राजपुत्रीत्येकादशभिः ।

आभासार्थ—'राजपुत्री' श्लोक से ११ श्लोकों में भगवान् ने जो वचन कहे उनका वर्णन
करते हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच- राजपुत्रोऽसिता भूषैर्लोकपालविभूतिभिः ।

महात्मुत्तमैः श्रीमद्भूतैः रूपैश्चर्यबलोजितैः ॥१०॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा, हे राजपुत्री ! लोकपालों के समान विभूतिवाले, महानुभाव, श्रीमन्त और रूप उदारता तथा बल संयुक्त राजा लोग तुम्हारी अभिलाषा करते थे ॥१०॥

सुबोधिनी— सप्तभिः स्वोत्कर्षः विपरीततया स्वस्य धर्माणां च निरूपितः । येन भगवान् सिध्यति तन्निगूह्यम् । चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धयर्थं विपरीततया श्लोकस्तुष्टयमाह । तत्र प्रथमं तस्या कृतमनभिनन्दन् श्रियं कीर्तिं च विपरीततया निरूपयति । तत्रापि प्रथमं श्रियम् । राजपुत्रीति सम्बोधनं जातिकुलोत्कर्षसूचकम् । भूपैरीप्सितेति सौन्दर्यम् । लोकपालविभूतिभिरिति माहात्म्यम् । गुणाश्च । तेषामुत्कर्षं तदपेक्षयाप्यस्या उत्कर्षं

वक्तुमाह महानुभावैरित्यादिपदत्रयेण । उत्कर्षो
द्विविधः, बाह्य आभ्यन्तरश्च । बाह्यो द्विविधः,
अलौकिको लौकिकश्च । तद्वद्वयमाह । महाननु-
भावो येषाम् । श्रेयुक्ताश्चेति । आभ्यन्तरमाह
रूपेति । रूपं शरीरसौन्दर्यम् । औदार्यमपेक्षितो
गुणः सर्वदोषनिवारकश्च । बलं क्षत्रियाणामपे-
क्षितम् । तैरुजिताः अतिपुष्टाः । एवमेवेन सा
स्तृता ॥१०॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् ने इस प्रथम श्लोक में सात विशेषणों से उसका उत्कर्ष कहा है, और अपने धर्मों की विपरीतता इस तरह दिखाई जैसे आप भगवान् हैं, ऐसा देखने में न आवे, चतुर्विध पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये, विपरीत पने से चार श्लोक निरूपण किये हैं, उनमें उन (स्वमणि) का किया हुआ कार्य योग्य नहीं है, श्री और कीर्ति से विपरीत है, यह प्रथम श्लोक में निरूपण करते हैं, इसमें भी प्रथम श्री के विपरीत कार्य किया, यह दिखाने के लिये कहा कि आप जाति तथा कुल से उत्तम हैं, क्योंकि राजपुत्री हैं, अतः ग्वाले से सम्बन्ध अपनी जाति और कुलकी श्री के विपरीत किया है, दूसरा आप रूप से सुन्दरी होने से राजाओं के योग्य हैं, और राजा आपको चाह रहे हैं, उनसे सम्बन्ध न कर एक ग्वाले से कर लेना यह भी उचित नहीं किया है, वे चाहने वाले राजा साधारण नहीं थे किन्तु लोकपाल सदृश विभूति वाले थे, यों कहने से माहात्म्य प्रकट किया और गुण प्रकट किये, उन राजाओं की तुलना में भी आपका उत्कर्ष विशेष है, क्योंकि वे महानुभाव श्रीमन्त और रूप उदारता तथा बल, इनसे पूर्ण थे तो भी आपने उनका त्याग कर दिया, उत्कर्ष दो तरह के होते हैं १-बाह्य २-आन्तर, उनमें फिर बाह्य लौकिक, अलौकिक प्रकार से दो तरह के हैं, वे दो बताते हैं, एक महान् अनुभाव, दूसरा श्री से युक्त, आन्तर का रूप कहते हैं, रूप से शरीर की सुन्दरता, उदारता सर्व दोषों को निवारण करने वाला, गुण, और बल, जो क्षत्रियों को चाहिये ही, उन तीनों से अतिशय पुष्ट किये हुवे राजा थे इन गुणों वालों को त्याग दिया, जिससे तुम्हारा वह कार्य अभिनन्दन के योग्य नहीं है इस प्रकार एक श्लोक से कहा है ॥१०॥

ग्रामास—अगत्या तथा कृतमिति पक्षं वारयति तान् प्राप्नानिति ।

आभासार्थ—दूसरी गति न होने से यों करना पड़ा, यों कहना ठीक नहीं है, 'तान् प्राप्तान्' श्लोक में यह सिद्ध करते हैं।

श्लोक— तान् प्राप्तानथिनो हित्वा चेद्यादोन्स्मरदुर्मदान् ।

दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रा च कस्मान्तो ववृषेऽसमान् ॥११॥

श्लोकार्थ—कामदेव के मद से मत्त तथा प्रार्थना करने वाले चैद्य आदि राजा लोग जिनको तुम्हारे भ्राता और पिता ने देने को कहा था, उनको छोड़, हम जो तुम्हारे समान नहीं हैं, उन्हें क्यों वर लिया ? ॥११॥

सुबोधिनी—बहूनां निर्देशो विचार्य ग्रहणाय । सर्वेषामर्थित्वात् । त्वदर्थित्वमेवापेक्षितमिति भावः । प्राप्तानिति शरीरेण सम्बद्धान् । एवं वदिरन्तुःसम्बद्धान् परित्यज्य । तत्रापि तव समा-
नत्वमप्यन्तर्बहिश्च । कामादिना शरीरेण च सम्बद्धाः । विवाहश्च समयोरेवेत्यग्रे वक्ष्यते । न च तेषामप्रसिद्धिरित्याह चैद्यादीनिति । जनपद-
शब्दत्वादतिप्रसिद्धिः । स्मरदुर्मदानीति । देशका-
लाद्यपेक्षामपि परित्यज्य स्त्रीहितं कुर्वन्तीत्यर्थः । तद्विवाहे लोकशास्त्रविरोधाभावमाह दत्ता भ्रात्रा स्वपित्रेति । वाग्दत्ता । मुख्यतो भ्रात्रैव दत्तोति प्रथमं तन्निर्देशः । स्वपित्रेति । तस्यैव सा कन्येति

व्याख्यानार्थ—जहां बहुतों का निर्देश हो वहां विचार कर ग्रहण करने के लिये होता है, कारण कि सब प्रार्थी हैं, सब तेरी ही अपेक्षा करने वाले हैं, तुम्हें लेने के लिये पहुँच भी गये थे जिससे शरीर के साथ भी सम्बन्धित थे, इस प्रकार बाहर भीतर जिन्होंने सम्बन्ध जोड़ा है, उनका पूर्ण रीति से त्याग कर, उस पर भी अन्दर बाहर तेरे समान ही थे, कामादि से शरीर के साथ सम्बन्ध थे, विवाह के लिये तो समय हुआ ही था, वह आगे कहेंगे वे अप्रसिद्ध भी नहीं, इसलिये 'वेद्यादि' पद दिया है, जन' पद शब्द देने से विशेष प्रसिद्धि प्रकट की है फिर वे काम के मद से मस्त हैं, अतः देश काल आदि की परवाह न कर पहले स्त्री का ही हित करते हैं, यों भी तुम नहीं कह सकती हो, कि उनसे विवाह करने में लोक तथा शास्त्र का विरोध था, क्योंकि तुम्हारे आता तथा पिता ने उससे सगाई कर दी थी, आता पहले इसलिये कहा कि मुख्यरूप से आता ने ही देने को कहा था, फिर पिता ने भी दी, पिता ही अपनी कन्या किसी को दे सकता है, कन्या अपने आप किसी को अर्पण नहीं कर



सकती है इस लोक के सुखार्थ, विवाह किया जाता है, वह विवाह, युक्ति और शास्त्र तथा लोका-
नुसार उससे ही करना चाहिये, यों सिद्ध होते हुए भी उसको त्याग किस कारण से हमको वरा है, उसमें
कुछ विशेषता न देखी, यदि यों कहें, तो कहते हैं, 'असमान' हम तुम से सम्बन्ध कुल आदि में समान
नहीं हैं जैसे वह है क्योंकि तुम राजपुत्री हों, वह भी राजा होने से तेरे समान है, मैं या मेरा कुटुम्ब
राजा समान नहीं है, यदि लौकिक के लिए वरण किया है, तो हम में लौकिक उत्कर्ष नहीं है, आर्जक्ति
के अभाव में सुख का भी अभाव होता है इस समय अलौकिक का भी सम्भव नहीं, अतः क्यों वरा ?
यदि कोई कारण होवे, तो कहना चाहिये, कहने का यह ही भाव है ॥११॥

आभास—नन्वीक्षैव हेतुः, सर्वोऽपि स्वेष्टमेव वृणुते, अतो वस्तुविचारो व्यर्थ इत्या-
शङ्क्य वस्तुनि दोषानाह राजस्य इति ।

आभासार्थ—यदि किमणी कहे कि इच्छा ही कारण है, सब कोई श्रेष्ठ का ही वरण करता
है, इसलिये वस्तु का विचार करना ही व्यर्थ है, जिसका उत्तर भगवान् 'राजस्यो' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—राजस्यो बिभ्यतः सुभ्रूः समुद्रं शरणं गतान् ।

बलवद्भिः कृतद्वेषान्प्रायस्त्यक्तनृपासनान् ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे सुन्दर भौंहवाली ! राजाओं से डरकर जो समुद्र के शरण गए,
और जिन्होंने बलवानों से शत्रुता कर रखी है और राजगद्दी छोड़ दी है ॥१२॥

कारिका—रूपतः फलतश्चैव सम्मत्या युक्तिभिस्तथा ।

चतुर्भिर्दूषणं प्राह चतुर्विधमिहाच्युतः ॥१॥

कारिकार्थ—भगवान् यहाँ स्वरूप, फल, सम्मति और युक्ति इन चारों से चार
प्रकार के दूषण कहते हैं ॥१॥

सुबोधिनी—तत्र प्रथमं स्वरूपदोषमाह ।
राजानो जरासन्धादयः, तेभ्यो बिभ्यत इति । न
हि भयानकरसेनाविष्टानां सुखजनकत्वमस्ति ।
किञ्च । समुद्रं शरणं गतानिति । नह्यन्यं शरणं
गतस्य स्वातन्त्र्यमस्ति । नह्यस्वतन्त्रस्य सुखसा-
धकत्वम् । सर्वान् यादवानालक्ष्य बहुवचनम् ।
कपटमानुषलीलेव यादवलीलाप्याश्रितेति तैः
समानधर्मवचनं लीलायां युक्तमेव । लौकिकदृ-
ष्ट्याैव स्वीकृत इति तदुपयोगिप्रकारेण पदार्थ-

निरूपणेनापि शास्त्रीयो दोषः । तृतीयं दूषणं
बलवद्भिः कृतद्वेषानिति । द्वेषमात्रं य करणम-
युक्तम् । फलपर्यवसाने तु न दूषणम् । बलवत्पदा-
त्फलपर्यवसानाभावोऽपि सूच्यते । बहुभिश्च सह
कलहः न युक्तः । सर्वतः शङ्काया विद्यमानत्वान्न
स्वास्थ्यं लोकप्रतीत्या निरूपयति । सर्वबलवद्भि-
रोधे फलमपि जातं सूचयति प्रायस्त्यक्तनृपासना-
निति । ययातिशापात्त्यक्तं नृपासनं यैः यादवैः ।
अर्जुनादिव्युदासार्थं प्राय इति । अतो राजकन्यया



राजैव विवाह्यो मुख्यः । अथवा राजमित्रम्, निर्भयः । न तु चतुर्विधदोषयुक्तः कश्चिदपि
 राजतुल्यो भवतीति । अथवा । स्वदेशस्थितः विवाह्यो भवति ॥१२॥
 खण्डमण्डलाधिपतिर्वा । अथवा । निकृष्टपक्षे

व्याख्यानार्थ—चारों में से प्रथम स्वरूप का दोष बताते हैं, जरासन्ध आदि राजाओं से डरे हुए हैं, भयानक रस से जो युक्त हैं, वे सुख देने वाले नहीं होते हैं, विशेष में डर के कारण समुद्र की शरण ली है, दूसरे के शरण जाने पर स्वतन्त्रता नहीं होती है, उसके आधीन रहना पड़ता है, आधीनों को सुख प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि पराधीनता के कारण वे कोई साधन स्वतन्त्रता से नहीं कर सकते हैं, बहुवचन देने का कारण सब यादवों का लक्ष्य कराना है, भगवान् जैसे कपट से मानुष लीला कर रहे हैं, वैसे ही कपट से, यादव लीला भी ग्रहण की है, इसलिये लीला में उनके समान धर्म कहना योग्य हो है । लौकिक दृष्टि से ही स्वीकृत किया है, यों उसके उपयोगी ढंग से पदार्थों का निरूपण करना भी शास्त्रीय दोष है, तीसरा दूषण कहते हैं बलवानों से शत्रुता की है, केवल द्वेष करना भी उचित नहीं है, फल प्राप्त होने के बाद तो दूषण नहीं हैं, 'बलवान' पद से यह भी सूचित किया है कि उसका फल, विपरीत भी हो सकता है, बहुतों के साथ कलह करना योग्य नहीं है, चारों तरफ शङ्का बनी रहती है, जिससे स्वास्थ्य नहीं रहता है, यह लोक प्रतीति से निरूपण करते हैं, सब बलवानों से विरोध करने का फल भवती है, बहुत कर राज्यासन छोड़ने पड़े, ययाति का शाप तो था ही, यादव राज्य न करेंगे, अर्जुन आदि को पृथक् दिखाने के लिये 'प्रायः' पद दिया है, अतः राजा की कन्या को राजा से विवाह करना ही मुख्य कर्त्तव्य है, अथवा राजा का मित्र भी राजा के समान होता है, अथवा अपने देश में स्थित छोटे राजा से ही विवाह करना चाहिये, अथवा इसी तरह निकृष्ट पक्ष में भी निर्भय रहा जा सकता है, चार प्रकार के दोष वाले से तो विवाह करना ही नहीं चाहिये ॥१२॥

आभास—अविचार्य मोहात् नीति परित्यज्य विवाहे बाधकमाह अस्पष्टवर्त्मनामिति ।

आभासार्थ—नीति का त्याग कर, बिना विचार, मोह से यदि विवाह किया जाता है तो उसमें रुकावटें आती हैं, जिनका वर्णन 'अस्पष्टवर्त्मनां' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—अस्पष्टवर्त्मनां पुंसामलोकपथमीयुषाम् ।

आश्रिताः पदवीं सुभ्रूः प्रायः सीदन्ति योषितः ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे सुन्दर भौहे वाली, जिनकी नीति का परिज्ञान नहीं है, जिनका मार्ग लोक से पृथक् है, ऐसे पुरुषों का जो स्त्रियाँ आश्रय लेती हैं वे बहुत करके दुःखी होती हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—अथ यद्यलौकिकदृष्ट्या दूषणानि परिहृत्य विवाहं कुर्यात्, तदा अलौकिकव्यवहा-
 रस्तथा ज्ञातुमशक्य इति लौकिकपक्षाश्रयणे

उभयभ्रष्टाः स्त्रियः सीदन्ति । अलौकिकानां लक्षण-
 माह । न स्पष्ट वर्त्म येषाम् । यस्य हि रीतिर्ज्ञापिते,
 तदनुसारेण व्यवहर्तुं शक्यते । कदाचित् लोका-

नुसारेणापि व्यवहरन्तीति तेषां नियतमार्गज्ञाना-
भावेऽपि तदाश्रितो लौकिकमार्गो ज्ञायत इति
कथमवसाद इति चेत् । तत्राह अलोकययमोयुषा-
मिति । अलोका लोकातिरिक्ताः, लोके स्थित्वापि
अलौकिकानामेव मार्गमाश्रयन्ति । तेषां लौकिक-

व्यवहारोऽप्यलौकिक इत्यर्थः । अत एव अलौकिका-
नामव्यवस्थितगतीनां पदवीमाश्रिताः सोदन्ति ।
प्राय इति । ता अपि चेतत्प्रवणास्तादृश्य एव
भवेयुः, तद्व्यावृत्त्यर्थं प्रायग्रहणम् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—यदि दूषणों पर ध्यान न देकर अलौकिक दृष्टि से विवाह कर लेती है तो भी वे
स्त्रियां अलौकिक व्यवहार न जानने से लौकिक प्रकार से चलेंगी, जिसमें दोनों तरफ से भ्रष्ट होकर
दुःखी होती है, अलौकिकों के लक्षण कहते हैं, जिनका मार्ग स्पष्ट नहीं है, अर्थात् समझने में नहीं
आता है, जिसकी रीति जानी जाती है उसके साथ अनुकूल व्यवहार किया जा सकता है, कभी वे
लोकानुसार भी व्यवहार करते हैं किन्तु उनका मार्ग स्थिर नहीं है तो भी उनके ग्रहण किये हुए
लौकिक मार्ग को जाना जा सकता है, तो फिर दुःख क्यों ? यदि यों कहो तो, हम पर भगवान् कहते
हैं कि, वे लोक में रहते हुए भी अलौकिक मार्ग पर चलते हैं, अर्थात् उनका लौकिक व्यवहार भी
अलौकिक है अतः जिनकी गति स्थिर नहीं है, ऐसी लो आश्रय करने वाली दुःखी ही होती हैं 'प्रायः'
पद देने का आशय है कि दुःखी होकर भी यदि उनमें ही अपने को प्रवण कर देती है तो भी उनके
समान हो जाती है ॥१३॥

आभास—किञ्च । यं न कोऽपि भजते, तं यो भजते, स सोदतीति वक्तुं मां न
कोऽपि भजत इत्याह भगवान् निष्किञ्चना इति ।

आभासार्थ जिसको कोई भी नहीं भजता है, उसको यदि कोई भजे तो दुःखी होता है, यह
कहने के लिये 'निष्किञ्चना' श्लोक में कहते हैं कि मुझे कोई नहीं भजता है ।

श्लोक—निष्किञ्चना वयं शश्वन्निष्किञ्चनजनप्रियाः ।

तस्मात्प्रायेण न ह्याढ्या मां भजन्ति सुमध्यमे ॥१४॥

श्लोकार्थ—हे सुन्दर कटिवाली हम निर्धन होने से निर्धनजनों के प्रिय हैं, इस
कारण से धनाढ्य, बड़े लोग बहुत करके हमको नहीं भजते हैं ॥१४॥

सुबोधिनी—धनिन एव स्त्रीणां प्रियाः, वयं
तु निष्किञ्चनाः । नाप्यस्मदीयाः सकिञ्चना इत्यह
निष्किञ्चनजनप्रिया इति । निष्किञ्चना एव जनाः
प्रिया येषाम्, निष्किञ्चनजनानां च स्वयं प्रियाः ।
अतः साक्षात्परम्परयापि धनाभाव उक्त । एत-
त्प्रायिक भविष्यतीत्याशङ्क्य सर्वजनीनं नियत-
मेतदित्याह तस्मादिति । आढ्या धनेन सम्पन्नाः
प्रायेण न मां भजन्ति, धननाशस्योभयनापि
सम्भवात् । यद्यप्यस्मासु स्नेहं कुर्यात्, तदा सर्व-

स्वमस्मदर्थं विनियुञ्ज्यात् तदापि निर्धनो भवेत् ।
यदि वास्मन्नाहात्म्यं बुद्ध्वा भ्रान्तरमेव भजनं
कुर्यात्, तदापि अस्माकं प्रियः स इति अस्माभि-
रेव स्वप्रियत्वसिद्धयर्थं स निर्धनः क्रियते । अत
उच्यथापि लोके प्रतिष्ठाकरमाढ्यत्वं नश्यतीति न
भजन्ति । तव तु आढ्यत्वमेव स्वरूपमिति स्वरूप-
नाश एव सम्भावित इति भावः । प्रायेणेति
अम्बरोषादिव्युदासार्थम् ॥१४॥



व्याख्यानार्थ—धनवाले ही स्त्रियों को प्रिय हैं, हम तो निर्धन हैं, हमारे वे होते हैं, जो भी निर्धन हैं उनको ही मैं प्रिय हूँ और वे ही मुझे प्रिय लगते हैं, यों कह कर साक्षात् तथा परम्परा से भी अपने पास धन का अभाव दिखाया, यह प्रायः^१ होगा इसके उत्तर में कहते हैं, कि यह सर्व मनुष्यों के लिए निश्चित है, इस कारण मे धनिक बहुत कर मुझे नहीं भजते है, मेरे भजन करने वालों के धन का दोनों तरह नाश होना है, यद्यपि मुझ में स्नेह करें तो सर्वस्व मुझे अर्पण करना पड़ेगा, जिससे भी धन समाप्त होगा, यदि हमारा माहात्म्य सुन कर आन्तर भजन भी करेंगे तो भी वह हमारे प्रिय होंगे, तब भी उसको अपना प्यारा बनाने के लिये उसके धन का नाश कर उसे निर्धन करूँगा इस तरह दोनों प्रकार लोक में प्रतिष्ठा करने वाली साहुकारी नाश हो जाती है, जिससे वे मुझे नहीं भजते है तेरी आढ्यता^२ तो स्वरूप ही है तो तुम्हारे स्वरूप का ही नाश हो जाने की सम्भावना है, यों भाव है, 'प्रायेण' पद कहने का आशय यह है कि कोई-कोई अम्बरीष आदि जैसे आढ्य^३ भी भक्त होते हैं ॥१४॥

आभास—नीतिविरोधमाह ययोरात्मसममिति ।

आभासार्थ—आपने जो इस प्रकार कार्य किया है वह नीति से भी विरुद्ध है यह 'ययो' श्लोक में बताते है ।

श्लोक—ययोरात्मसमं वित्तं जन्मैश्वर्याकृतिर्भवः ।

तयोर्विवाहो मैत्री च नोत्तमाधमयोः क्वचित् ॥१५॥

श्लोकार्थ—जिन दोनों^४ का धन, जन्म, ऐश्वर्य, रूप आदि समान हो, उन दोनों का परस्पर विवाह एवं मैत्री होनी चाहिए । एक उत्तम हो और दूसरा अधम हो, उनका विवाह और मैत्री कभी भी न होनी चाहिए ॥१५॥

सुबोधिनी—सुमध्यमे इति सम्बोधनं निर्धन-गृहे स्थातुमशक्तिं बोधयति । कार्यकरणासामर्थ्यति भोगाभावाच्च । अतएव समान एव विवाहः, नासमान इति । लौकिकं समानत्वं यैः सिध्यति, तान् धर्माह । ययोः स्त्रीपुरुषयोर्मित्रयोर्वा समानं वित्तं भवति, समानं च कुले जन्म, वयो वा, ऐश्वर्यं च समानम्, आकृतिश्च, वयस्त्वारुण्यं च, भव उत्पत्तिर्वा । जन्म-भवयोः कालदेशकृतो भेदोऽनुसन्धेयः । सर्वथा

साम्यं न युक्तमनुपपन्नं चेति आत्मपदम् । स्व-योग्यानुसारि साम्यमित्यर्थः । यथा चतुर्विंशति-वाषिकः पतिः, षोडशवाषिकी कन्येति । पञ्च धर्माः समाः । ऐश्वर्येण सहिता आकृतिः । 'कन्या वरयते रूप'मिति श्लोकेऽपि पञ्चापेक्षिता धर्मा उक्ताः । रूपमत्राकृतिः । वित्तं स्पष्टम् । श्रुतमै-श्वर्यस्थानीयम् । कुलं जन्म । भवः समृद्धिः पक्वान्नस्थानीया । तदेवात्रापि ग्राह्यम् । तत्र लौकिकदृष्ट्या राजसमानं धनं नान्यस्य भवतीति



साम्याभावः सिद्धः । जन्म । यादवानां तथा न कुलीनत्वमिति लोकप्रसिद्धिः । आकृतिरपि न गौरेति । राज्याभावादेव नैश्वर्यम्, उद्भूतोऽपि तत एव निवर्तते । दैवाज्जातेऽपि विवाहे मंत्री न

तिष्ठतीति प्रकृते मंत्रा अप्युपयोगात् ग्रहणम् । उत्तमाधमयोस्तु न क्वचिदिति । क्वचिदपि नेत्यर्थः । क्वचिज्जातं वा न सुखकरं भवतीति वलक्षण्यम् ॥१५॥

व्याख्यार्थ—सुमध्यमे—यह संबोधन बताया है कि तुम निर्धन के घर न रह सकोगी, कर्म करने की असमर्थता से तथा वहाँ भोगों का अभाव होने से, इस कारण से ही समान में ही विवाह करना चाहिये, न कि असमान से, जिनसे लौकिक समानता सिद्ध होती है, वे धर्म कहते हैं, जिन स्त्री पुरुष अथवा मित्रों का धन समान हो, अर्थात् दोनों समान धनिक हो, समान कुल में जन्म हुआ हो, आयु समान हो, ऐश्वर्य समान हो, और आकृति समान हो, वय, युवावस्था, भव, उत्पत्ति, जन्म और भव दो शब्दों का काल और देश कृत भेद समझना चाहिये, आत्म पद से यह भाव बताया है कि संबंधा समानता न योग्य है और न उचित है, अपनी योग्यता के अनुसार ही समता कहलाती है ॥१५॥ वर का वर हो तो १६ वर्ष की कन्या होनी चाहिये, पांच धर्म समान चाहिये ऐश्वर्य वाली आकृति हो क्योंकि 'कन्या वरयते रूपं' कन्या रूप को वरण करती है इस श्लोक में भी पांच धर्म कहे हैं, रूप का तात्पर्य है 'आकृति' वित्त तो स्पष्ट है, ऐश्वर्य के स्थान पर यहां शास्त्र का ज्ञान कहा है, कुल अर्थात् जन्म, भवः का अर्थ समृद्धि, यह पद पत्नानों के स्थान पर समझना चाहिये अर्थात् समृद्धि पद से वर के घर अच्छे-बुरे पकान्न बनते हों, वह हो यहां भी ग्रहण करने चाहिये, लौकिक दृष्टि से राजा के समान किसी अन्य के पास धन नहीं होता है, जिससे समानता का अभाव सिद्ध है । यादव कुलीन नहीं है यह प्रसिद्ध ही है, जिससे जन्म से भी समानता नहीं, (मेरी) आकृति भी गौर वर्ण वाली नहीं है, राज्य न होने से ऐश्वर्य भी नहीं है, उत्पत्ति भी वहां से निवृत्त हो जाती है, दैव योग से विवाह हो जावे तो भी मंत्री न रहेगी, प्रकृत में मंत्री का भी उपयोग होने से ग्रहण है, उत्तम और मध्यम का तो कभी भी नहीं होना चाहिये, यदि कदाचित् हो भी जावे तो वह सुख देने वाला नहीं होगा यह विलक्षणता है ॥१५॥

आभास—तर्हि किमतः परं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह वैदर्भीति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर क्या करना चाहिये ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर 'वैदर्भी' इन दो श्लोकों से देते हैं ।

श्लोक—वैदर्भ्येतदविज्ञाय त्वयाऽदीर्घसमीक्षया ।

वृता वयं गुणैर्हीना भिक्षुभिः श्लाघिता मुधा ॥१६॥

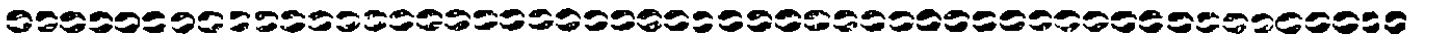
श्लोकार्थ—हे रुक्मिणी ! तुमने इस बात को न समझकर और दूर का विचार भी न कर, केवल भिक्षुओं के सराहने पर विश्वास कर, गुणों से हीन हमको भूल से वर लिया है ॥१६॥



सुबोधिनी - एकेनाज्ञानं समर्थ्यते । 'अज्ञाना-
त्कृतमकृतमेव' इति हविर्विषयान् इव पुनर्यथाकरण-
मित्युपाय इति प्रथममज्ञानमाह । वैदर्भी विदर्भ-
राजदुहितः । अनेन नत्कुलप्रसूतत्वमुक्तम् । अवि-
ज्ञाप वयं वृता इति । एतत्तस्या अज्ञानसमर्थनं
कार्यान्तरविधानार्थम् न तु दोषारोपार्थम् । ननु
स्तोत्रद्वारा विज्ञापनया च तथा पदार्था ज्ञायन्ते
एव, तत्कथमज्ञानमित्याशङ्क्याह अदीर्घसमीक्ष-
येति । न दीर्घा सम्प्रगीक्षा यस्याः । आपातत
उत्कर्षं दृष्ट्वा अलौकिकमज्ञात्वा लौकिकं सुखं
भविष्यतीति वरणाददीर्घदर्शित्वम् । वस्तुतस्तु
भगवान् सर्वसंसारनिवारकः, न तु संसारप्रद इति
वस्तुतोऽप्यदीर्घदर्शित्वम् । तत्र हेतुमाह गुणैर्हीना
इति । सगुणादेव संसारो भवति । ननु पूर्वं नार-
दादिभिः त्वदीर्यः अनन्तगुणपूर्णत्वेन भवान्

स्तुतः, तत्कथं गुणैर्हीना इति चेत्, तत्राह भिक्षुभिः
श्लाघिता इति । भिक्षवो हि न वस्तुस्वरूपं
जानन्ति, परस्य कथमिष्टमनिष्टं वा भवतीति
स्वकार्यमात्रं पश्यन्ति । अन्यथा न याचेरन् ।
तदुक्तं पूर्वम् । 'नूनं स्वार्थपरो लोको न वेद पर-
सङ्कटम् । यदि वेद न याचेते' इति मामान्यतो
याचनदूषणम् । अतः स्वयं गुणातीता इति केवल
मोक्षाधिः संसारापेक्षिणोऽपि स्थाने स्तुवन्तीति
भिक्षुभिः श्लाघिता इति दूषणम् । तत्रापि मुघा ।
तेषां स्वाचरणादेव पुरुषार्थोऽपि सिध्यतीति
मोक्षेऽपि न महानापेक्षा, परमभक्तानां तु सुतरा-
मेव न मदपेक्षा । अतो मुघैव स्वरसात्ते स्तु-
वन्ति । ये पुनः संसारापेक्षिणः, तैर्न तद्ग्राह्यम् ।
अतः स्वतः परतश्च अभिप्रायापरिज्ञानात् भ्रम-
स्तवोत्पन्न इति अज्ञानादेव वरणमित्यर्थः ॥ १६ ॥

व्याख्यानार्थ— एक श्लोक से तुम्हारा किया हुआ यह कार्य भूल वाला है अर्थात् अज्ञान से किया गया है, यदि अज्ञान से भी हो गया तो अब क्या होगा ? हुआ तो हुआ, जिसके जिये कहते हैं, किये नहीं है, इस भूल को मिटाने का भी उपाय है, नीति शास्त्र कहता है कि 'अज्ञानात्कृतमकृतमेव' जो कार्य अज्ञान से किया है, वह नहीं किये हुए के समान है, इसलिये हवि के उलटने की तरह उन कार्य को भी बदला जा सकता है, अब यह ही उपाय है, यों प्रथम अज्ञान बताया, वैदर्भी नाम देने से बताया है कि तू विदर्भ के राजा की बेटी होने से सत्कुलवती है, हमारे कुल आदि का ज्ञान न होने से हमको बुरा है, यह उसके अज्ञान का समर्थन, दूसरे कार्य के विधान के लिये किया गया है, न कि दोषारोपण करने के लिये, आप यों कैसे कहते हैं ? जब स्तोत्र द्वारा और प्रार्थना से जाना जाता है कि वह पदार्थों को जानती है तब आप अज्ञान कैसे कहते हैं ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि अदीर्घसमीक्षया' इस कार्य करने का अन्तिम परिणाम क्या होगा यह विचार नहीं किया, ऊपर ऊपर से उत्कर्ष देख अलौकिक न जानकर लौकिक सुख होगा, इतना ही विचार वरण किया, यह ही तुम्हारी अदूरदर्शिता है, वास्तविक विचार किया जाय तो भी भगवान् संसार को मिटाने वाले हैं, न कि संसार देने वाले हैं, इसलिये भी तुमने सचमुच दीर्घ दृष्टि से कार्य नहीं किया, जिसमें हेतु बताते हैं कि हम गुणों से हीन हैं, गुणों वाले से ही संसार सुख प्राप्त होता है, यदि कहो कि नारद आदि भक्तों ने प्रथम ही आप अनन्त गुण वाले हैं यों स्तुति की है, फिर आप कैसे कहते हैं कि हम गुण हीन हैं, इस पर कहते हैं कि हमारे गुणगान भिखारियों ने किये हैं, भिक्षुक वस्तु के स्वरूप को नहीं जानते हैं, सामने वाले का लाभ वा हानि किस में है, इस पर ध्यान न देकर केवल अपना स्वार्थ जिससे सिद्ध होवे वह कार्य करते हैं, यदि यों न होवे तो स्तुति के अनन्तर याचना न करें, यह आगे कहा ही है



कि 'तू न स्वार्थ' परो लोको न वेद पर सङ्कटम् यदि वेद न याचेत' इस प्रकार मामान्य रूप से याचक के दूषण कहे हैं, अतः आप तो गुणातीत हैं केवल मोक्षार्थी हैं, जो संसार चाहते हैं वे भी अदसर पर स्तुति करते हैं, इसलिये भिखारियों से हम स्तुत हैं यह तो एक प्रकार दूषण ही है, वहां भी सीमा रहित झूठी बड़ाई करते हैं, उन भक्तों का तो अपने आचरण से ही पुरुषार्थ भी सिद्ध हो जाता है मोक्ष प्राप्ति में भी मेरे देने की अपेक्षा नहीं है इसमें भी जो परम भगवदीय हैं उनको तो बिल्कुल ही मेरी बाह्यता (गरज) नहीं है अतः व्यर्थ ही स्तुति करते हैं, किन्तु स्तुति करने से उनको आनन्द आता है केवल इसलिये इतनी बड़ी २ प्रशंसा करते हैं, जो फिर संसार सुख चाहने वाले हैं वे तो इसको ग्रहण करना नहीं चाहते हैं अतः स्वतः व परतः अभिप्राय न जानने पर तुझे भ्रम उत्पन्न हो गया, इस कारण से तू ने अज्ञान से मुझे वर लिया है ॥१६॥

आभास—तर्ह्यतःपरं किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायामाह ।

अभिप्राय—यों है तो, इसके बाद जो कर्तव्य जानिये वह बता इसे यह इस 'अथात्मनोऽनुरूपं' श्लोक में पूछती है ।

श्लोक—अथात्मनोऽनुरूपं वै मजस्व क्षत्रियर्षभम् ।

येन त्वमाशिष्य सत्या इहामुत्र च लप्स्यसे ॥१७॥

श्लोकार्थ—अब भी अपने योग्य उत्तम क्षत्रिय को तू वर ले, जिससे इस लोक व परलोक की कामनाएँ तू पूर्ण कर सकेगी ॥१७॥

सुबोधिनी—अथेति भिन्नप्रक्रमेण । पितृगृहे गत्वा पूर्ववत् कृत्वा आत्मनोऽनुरूपं संसारैकप्रवणम् । शिष्यः संसारैकस्वभावा इति स्त्रीणां न मुक्तिरिति मर्यादा । रक्षी च भर्तृसायुज्यं प्राप्नोति । अतः समाने भर्तरि सर्वमेतदुपपद्यते, न विषम इति, अन्यथा स्त्रीनाशो भर्तृनाशो वा स्यात् । स को वा वरणीय इत्याकाङ्क्षायां बहिर्मुखं निदिशति क्षत्रियर्षभमिति । ते हि बहिर्मुखा एव । अन्यथा निर्दयाः परधातं न कुर्युः । क्षत्रिय-श्रेष्ठत्वात् न कोऽपि वाच्यतां मन्यते । तेषां जये

अन्यसम्बन्धिन्योऽप्याह्नियन्त इति न दूषणमपि । आकाङ्क्षा तु तेषां वर्तत इत्युक्तमेव । ततः किं स्यादित्याशङ्क्याह येनेति । सत्या आशिषः, प्रवाहनित्या विषयाः, तैरेव सिध्यन्ति, न त्वन्यैः । ऐहिकामुष्मिकफलरागरहितस्तु भवरायण इति न मत्सेवया सर्वजन्मस्वैहिकामुष्मिकफलसिद्धिः । अतः संसारैकस्वभावक्षत्रियर्षभवरणेनैव फलप्राप्तिरिति युक्तम् । त्वमिति मायारूपत्वमुक्तम् । कापट्यं तत्रैव सफलं भवति न तु ब्रह्मणीत्यर्थः । ॥१७॥

व्याख्यान—अथ शब्द कह कर यह बताया है, कि अब भिन्न क्रम (सिल सिला, प्रारंभ होता है, पिता के घर जाकर पहले की तरह रह कर अपने अनुरूप संसार में आसक्त किसी क्षत्रिय श्रेष्ठ



को वरले, स्त्रियों का स्वभाव संसार ही चाहता है, इस लिये उनकी मुक्ति नहीं होती है, यह मर्यादा है, स्त्री भर्ता से सायुज्य पाती है, अतः यह सर्व तत्र होता है, जब भर्ता समान होवे, विषम हो तो नहीं होता है, अन्य प्रकार होने पर, स्त्री वा पति का नाश होवे, तब मैं किसको वरूँ ? यदि यह आकांक्षा है, तो बहिर्मुख को वरने के लिये कहते हैं कि 'क्षत्रियर्षभम्' क्षत्रियों में जो श्रेष्ठ हो, क्योंकि वे बहिर्मुख ही होते हैं यदि बहिर्मुख न होवे तो निर्दयी तथा दूसरों का घात करने वाले न होवें, यदि श्रेष्ठ क्षत्रिय को वरोगी तो कोई भी निन्दा न करेगा, उनके जय में दूसरी सम्बन्धिनियाँ भी ले जा सकती हैं, इसमें कोई दूषण नहीं है, उनको भी आकाङ्क्षा तो है ही यह कहा गया ही है, उससे क्या होगा । जिससे आपकी कामनाएँ पूर्ण होगी, प्रवाहवत् नित्य विषय उनसे ही सिद्ध होंगे, न कि अन्यो से, इस लोक और परलोक की कामना रहित हो, वह मेरे परायण हो अर्थात् मुझे वरें कारण कि मेरी सेवा से सब जन्मों में इस लोक तथा परलोक की कामनाएँ सिद्ध नहीं होती हैं, अतः जिसका स्वभाव संसारी हो, ऐसे क्षत्रिय श्रेष्ठ का वरण करने से ही तुझे फल की प्राप्ति होगी ये ही योग्य है 'त्वं' शब्द से बताया कि तेरा माया रूप है, कःपित्य माया रूप से ही सफल होता है, न कि ब्रह्म में '१७'।

आभास—नन्वेवं कर्तव्ये, सर्वज्ञेन त्वया किमित्यहमाहूतेति चेत्, तत्राह चंच्येति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—यदि मैं इस प्रकार करूँ, तो आप सर्वज्ञ मुझे इस प्रकार हरण कर क्यों लाये ? जो यों कहती हो तो इसका उत्तर 'चंचलात्व' दो श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—चंचलात्वजरासन्धदन्तवक्रादयो नृपाः ।

मम द्विषन्ति वामोरु रुक्मी चापि तवाग्रजः ॥१८॥

तेषां वीर्यमदान्धानां दृप्तानां स्मयनुत्तये ।

आनीतासि मया भद्रे तेजोऽपहतयेऽसताम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे वामोरु ! शिशुपाल, शाल, जरासन्ध, दन्तवक्र आदि राजा और तेरा भाई रुक्मी भी मुझ से वैर करते हैं ॥१८॥

हे भद्रे ! उन पराक्रम के मद से अन्धे और अभिमानी राजाओं का मद दूर करने के लिए तथा तेज हरण करने के लिए ही तुझे ले आया हूँ ॥१९॥

सुबोधिनो—तान् तेषां दोषं च निरूपयति । आद्यन्तो शापवशात् द्विषिणौ । मध्यमौ देवतान्तरोपासको बहिर्मुखाविति चत्वार उक्ताः । तेन शापान् वा स्वभावाद्वा ये अन्यपराः, ते द्विष-

न्तीति । येऽप्यन्ये तानप्येतादृशधर्मवतः आदिशब्देन परिगृह्णाति । नृपा इति तेषां सर्वथा अमारण्ये हेतुः । मम सम्बन्धिनोऽपि मां द्विषन्ति । किञ्च । त्वःसम्बन्धिनोऽपीत्याह रुक्मी चापीति । तव

मुख्यः सम्बन्धी ज्येष्ठभ्राता । चकारात्तत्सम्बन्धिनः । सम्बन्धविशेषस्योक्तत्वात् ते तवापरिहायां... इत्यपि सूचितम् । अतस्तेऽस्मदीयास्त्वदीयाश्चेति तेषां गर्वलक्षणसन्निपातनिवृत्त्यर्थं त्वमानीतेत्याह । वामोर्विति सम्बोधनाददुष्टत्वं च द्योतितम् । निवार्य दोषमनुवदति तेषां वीर्यमदान्धानामिति । वीर्यमदेन अन्धानाम् । यथा अन्धनिकटे स्थितमपि गर्तं न जानाति, अपि तु पतत्येव, तथा ते वैष्णवानलेषु पतन्तः मया निवारिता इति भावः । किञ्च । हृष्याः हृदयशून्या अपि । न वा प्रमाणम्, न वा विचारस्तेषामित्यर्थः । ताभ्यां जातो यः समयः तस्य नुत्तये

आनीतेति समानयने हेत्वन्तरमिति, दोषाभावश्च पूर्व प्रतिपादित इतीतरभजनं समर्थितं भवति । ननु तेषां गर्वाभावस्तत्पराजयेनैव सिद्धो भवतीति किं मदाहरणेनेत्याशङ्क्याह तेजोऽपहृतये इति । तेषां तेजोऽप्युपहृतव्यम् । उपहृतये नाशाय वा । जयपराजयाव्यवस्थिताविति शास्त्रेण कदाचिज्जातेऽपि पराजये न यावज्जीव ग्लानिं मन्यन्ते । सत्प्रतिभाः सन्तः पुनरायान्ति च । एवं कृते तु गततेजसो भवन्तीति न तेषां पुनरुद्गमः । तेजोहरणं दोषाय भविष्यतीत्याशङ्क्याह असतामिति । असतां तेजोनाशः युक्त एव ॥१८-१९॥

व्याख्यानार्थ—उनके दाँवों को कहते हैं, शिशुपाल और वन्तवक्र ये दो तो शाप के कारण शत्रु बने हैं, शाल्व तथा जरासन्ध अन्य देव के उपासक होने से बहिर्मुख है, इसलिये विरोधी है, मारांश यह है कि शाप से वा स्वभाव से जो दूसरे के परायण हैं वे मुझ से द्वेष करते हैं, इन ४ के सिवाय जो दूसरे हैं, वे भी इस प्रकार के धर्म वाले ही हैं अतः वे भी शत्रुता करते हैं, यदि वे शत्रु ही हैं तो उनको मारा क्यों नहीं ? जिसके उत्तर में कहा है कि 'नृपा' राजा हैं, राजाओं को मारा नहीं जाता है, मेरे तेरे सम्बन्धी भी मुझ से वैर करते हैं, जिनमें तेरा भ्राता रुक्मी मुख्य है, 'च' से यह बताया है कि उसके सम्बन्धी भी शत्रु बने हुवे हैं, उनको तू समझा नहीं सकती है अतः तेरे और मेरे सम्बन्धियों को अभिमान रूप सन्निपात रोग हुवा था उसको मिटाने के लिये तुझे लाये हैं, 'वामोर्' सम्बोधन से रुक्मिणी को दोष रहित कहा है, उनके जो दोष मिटाये वे वर्णन करते हैं, वीर्य के मद से वे अन्धे हो गये थे, जिस प्रकार अन्धा समीपस्थित खड़े को न देख उसमें गिरता है वैसे ये अन्धे भी वैष्णवानल रूप गर्त में गिरते थे, जिनको उसमें गिरने से हमने बचाया है, यह भाव है, ये ऐसे हृदय शून्य हैं, जो इनको न कोई प्रमाण है और न कोई विचार है इन कारणों से जो इनको अहङ्कार हुवा था इसको मिटाने के लिये तुझे लाया है, यह दूसरा कारण है, दोषाभाव तो प्रथम प्रतिपादन किया ही है, जिससे अन्य के भजन का समर्थन हुवा है, यदि तू कहे कि उनको पराजय से हो उनका गर्व नष्ट हो गया, फिर मुझे लाने की क्या आवश्यकता थी ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'तेजोऽपहृतये' उनके तेज को भी नाश करने के लिये तुझे लाया गया है, जय और पराजय निश्चिन नहीं रहती है, इसलिये यदि कदाचित् कभी पराजय हो भी जाय, तो भी उससे जीने तक हृदय की ग्लानि नहीं मिटनी है, यदि उनमें फिर शौर्य आजाय तो पुनः लड़ने आ जाते हैं इस प्रकार करने से उनका तेज निकल जाता है, जिससे वे फिर उठ नहीं सकते हैं अर्थात् उनमें फिर लड़ने का बल आता ही नहीं है, किन्तु तेज का हरण तो दोष उत्पन्न करनेवाला होगा, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'असताम्' वे दुष्ट हैं, दुष्टों का तेज हरण करना योग्य ही है ॥१८-१९॥

आभास—एवं रुक्मिण्या उपयोगमुक्त्वा स्वार्थं सा स्थापनोयेति पक्षं वारयति उदासीना इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार रुक्मिणी के लाने का कारण बताया, यदि कहो कि अपने अर्थ के लिये रखलो, तो इस पक्ष का समाधान 'उदासीना' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—उदासीना वयं नूनं न स्वयंप्रत्यार्थकामुकाः ।

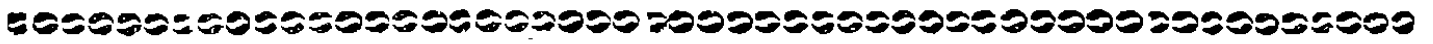
आत्मलब्ध्यास्महे पूर्णं मेहयोज्योतिरक्रियाः ॥२०॥

श्लोकार्थ—हम तो निश्चयपूर्वक उदासीन हैं, अतः स्त्री, पुत्र और धन नहीं चाहते हैं, कारण कि आत्मानन्द से पूर्ण हैं, इसलिए घर तथा देह की परवाह नहीं है, ज्योति की तरह क्रिया रहित हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—नूनमिति नात्र सन्देहः युक्त्या कर्तव्यः । ईषणात्रयं पर्यवसितं स्त्रीपुत्रधनरूपम् । तदपेक्षायामन्तस्तन्निवार्यरोगे तदपेक्षा भवति । पूर्णानन्दस्य स्वस्मिन् दोषाभावात् उदासीन्यमेव । द्वेषाभावात् नापि न्याज्यम् । अतः स्वस्योपचयापचयाभावात् न स्वयंप्रत्यार्थकामुकाः । अत्र भगवत्सम्बन्धः नोभयेच्छाकृतः, किन्त्वन्यतरच्छाकृत एव । कार्यमुभयेच्छाधीनमिति तदनुरोधे भगवतः सकाशात्तत्कार्यमुत्पद्यते । अननुरोधे तु नेति नावश्यकत्वं कार्यस्य । अनुरोधस्तु न नित्यः भिक्षुकेष्विव । अतोऽन्यत्र नित्यापेक्षिणो गमनमुचितम् । 'धर्मार्थकाममोक्षार्थं य इच्छेदित्यादिवाङ्मयमपि पृथगेव दानं बोधयति, न तु क्रियायां भगवत्सम्बन्धम्, अन्यथा भगवांस्तद्दाता न भवेदेव, स्वस्य निर्वन्धसम्भवात् । अकामुकत्वे हेतुमाह आत्मलब्धयेति । यद्यपि भगवति नायं हेतुः, आत्मत्वात् अज्ञानादिव्यवधानाभावाच्च । 'आत्मलाभात् परं विद्यते' इति श्रुतिरपि न फल-

स्व फलसम्बन्धं बोधयति । तथापि लौकिकोक्त्या सम्मतिप्रदर्शनार्थं तथोच्यते । यथा लब्धात्मानः न स्व्यादिकामुकाः, एव वयमिति । वाच्यं त्वेतावत्पूर्णा आस्महे इति । सर्वदैव वयं पूर्णस्तिष्ठाम इत्यर्थः । नित्यप्राप्त एवात्मा हेतुत्वेनानूद्यत इति । ननु तथापि क्रीडार्थं सप्तमगतस्य क्रीडानिर्वाहार्थं कानना भवत्येवेति चेत् तत्राह मेहयोज्योतिरक्रिया इति । आविर्भूतमनाविर्भूतं वा तेजः स्वयं कार्यं न व्यापृतं भवति किन्त्वाविर्भूतं केनचिन्नित्तेन स्वसम्बन्धिनं प्रकाशयति । सम्बन्धिन एव च दोषं नाशयति, न तु स्वस्य काचिदपेक्षा । आविर्भूतमिति मेहयोर्देहेहयोः । उभयमपि तुल्यमिति स्थापयितुं समानशब्देन निर्देशः । ज्योतिरिव क्रियारहिताः ज्योतिरक्रियाः । अनेन तेजोवद्भगवदाविर्भाव इत्युक्तम् । अतः क्रिया विकारात्मिका नास्तीति नास्माकं काव्यपेक्षा । फलं च न नियतमिति फलापेक्षायामन्यानुसरणं कर्तव्यमिति सिद्धम् ॥२०॥

व्याख्यानार्थ—मैंने जो कहा है, उसमें किसी प्रकार संशय नहीं करना चाहिये युक्ति से कार्य करना चाहिये लोक में तीन ईषणाएं हैं, १-स्त्री, २-पुत्र, ३-धन उनकी अपेक्षा तब होती है जब अन्तःकरण का रोग नष्ट न हुआ हो, उस रोग के नाश हो जाने पर उनकी अपेक्षा नहीं रहती है, जो पूर्णानन्द है, उसमें दोषों के अभाव से उदासीनता रहती है, उनसे द्वेष भी नहीं है, जिससे उनका



त्याग करना भी उचित नहीं है, अतः भगवान् में उपचय और अपचय न होने से हम स्वो अपत्य तथा धन की कामना वाले नहीं हैं, जिससे हमसे उदासीनता ही है यहां जो भगवत्सम्बन्ध हुआ है वह दोनों की इच्छा से नहीं हुआ है, किन्तु एक की इच्छा से ही हुआ है। कार्य दोनों के इच्छाधीन होता है, यों उसके अनुरोध होने पर भगवान् की तरफ से वह कार्य हुआ है, यदि अनुरोध न होवे तो न होवे, इसलिये जा कार्य हुआ है वह आवश्यक नहीं है, भिक्षुओं की तरह अनुरोध तो नित्य नहीं होता है, अतः जहां नित्य अपेक्षा वाले हो वहां जाकर कार्य करना उचित है 'धर्मार्थकाम मोक्षार्थं य इच्छेत्' धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिये जो इच्छा करे, यह वाक्य भी दान पृथक् ही बताता है, उस क्रिया में भगवत्सम्बन्ध नहीं होता है, नहीं तो भगवान् उनके दाता बने ही नहीं। अपने आग्रह के सम्भव होने से अपनी अकामुकता में हेतु कहते हैं कि 'आत्मलब्ध्य' आत्मानन्द की प्राप्ति से, यद्यपि भगवान् की अकामुकता में यह हेतु उचित नहीं है कारण कि आप स्वयं आत्मरूप हैं तथा आप में अज्ञान आदि व्यवधान है ही नहीं, 'आत्मलाभात्परं विद्यते' यह श्रुति कहती है कि आत्मलाभ से विशेष कोई फल नहीं है, अतः फलरूप आत्मा को फल का सम्बन्ध नहीं होता है श्रुति भी यह ही भाव बताता है तो भी जो अकामुकता में यह आत्म लब्धि हेतु कहा है वह केवल लौकिक उक्ति में सम्मति दिखाने के लिये ही कहा है जैसे लोक में जिनको आत्मलाभ हुआ है उनको स्त्री आदि की कामना नहीं रहती है इस प्रकार हमें भी, कहना तो इतना ही है कि हम नित्य पूर्ण हैं, अर्थात् हम को तो आत्मा नित्य ही प्राप्त है जिससे नित्य ही पूर्ण हैं, यदि तुम कहो, कि सत्य है कि आप नित्य पूर्ण हैं तो भी आप कीड़ा के लिये पधारे हैं, तो कीड़ा के निर्वाह के लिये कामना करनी पड़ती ही है, तो इसके लिये मेरा उत्तर यह है कि गेहयोज्योतिरक्रिया तेज प्रकट हो अथवा अप्रकट हो तो भी स्वयं कार्य में व्यापार वाला नहीं होता है, किन्तु प्रकट होकर किसी निमित्त द्वारा अपने सम्बन्धी को प्रकाशित कर देता है सम्बन्धी के दोष को नाश करता है, अपने को किसी प्रकार की अपेक्षा नहीं। आविर्भाव देह वा गेह में हा, दोनों समान हैं यह जताने के लिये सदृश शब्द से निर्देश किया है, जैसे ज्योति क्रिया रहती है वैसे वे भी इससे यह बताया, कि भगवान् का प्रकाट्य तेज की भांति है अतः हमारी क्रिया विकाररूप नहीं है, इसलिये हमको कुछ भी अपेक्षा नहीं है, और फल निश्चिन्त नहीं है इसलिये फल की अपेक्षा में दूसरों का अनुसरण करना चाहिये न कि हम उदासीनों का अनुकरण करना चाहिये । २०॥

आभास—निःसम्बन्धं निरूप्य भगवान् निवृत्त इत्याह एतावदुक्त्वेति ।

आभासार्थ—भगवान् ने अपना सम्बन्ध राहित्य बताकर मोन करली, यह एतावदुक्-वा'श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—एतावदुक्त्वा भगवानात्मानं वल्लभातिव ।

मन्यमानासविश्लेषात्तदुपघ्न उपारमत् ॥२१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि रुक्मिणी समझती थी कि भगवान् मुझ से कभी भी पृथक् नहीं होते हैं, अतः अपने को ही सबसे अधिक भगवान् की प्यारी



मानती थी, इस कारण से उसका गर्व भङ्ग करने के लिए ही भगवान् ने यह वचन कहकर मौन धारण करली ॥२१॥

सुबोधिनी—इदमेव वाचा तिरोधानम् निमित्तमाह आत्मानं वल्लभामिवेति तत्रापि हेतुः अविश्लेषात् । यथा चंद्रादीनां दर्पहननार्थ एषा समा-नीता, एवमेतस्या अपि दर्पनिराकरणार्थ सम्बन्ध-निराकरण दर्पहेतुना सह सम्बन्धे विद्यमाने समयाभावो न भवतीति अनेनैव ज्ञात्वा कृतवा-निति ज्ञापयति । वल्लभा भगवतोऽत्यन्तं प्रिया । प्रीतिविषयत्वादपेक्षिता इवेति । बहुस्त्रीकत्वात्कार्य-स्यान्यथापि सिद्धेः । एकभार्यस्य यथा सा वल्लभा भवति, तथा सा मन्यते, अन्यथा अविश्लेषो हेतुर्न-

स्यात् अथवा । अज्ञानेन भगवन्तं भजतीति प्रबोधार्थं भगवानेवं वदतीति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह आत्मानं वल्लभामिवेति । भगवन्तं स्त्रियमिव मन्यते, यथा स्त्रिया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं कञ्चनवेदे'ति सुषुप्त्युपाख्याने 'शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त' इति निरूपितम् । 'सुषुप्त्युत्कान्त्यो-र्भेदेने' त्यत्र विवृतम् तस्य यथा प्रबोधः कार्यते, एवमस्या अपीति । अर्धवल्लभां वा आत्मानं मन्यत इति वेति उपारमत् वाक्यात् कायिकमानस-व्यापाराच्च ॥२१॥

व्याख्यानार्थ—यह भगवान् का तिरोधान वाणी रूप से है, यों तिरोधान होने का कारण 'आत्मानं वल्लभामिव' रुचिमणी अपने को सब से विशेष भगवान् की प्यारी समझने लग गई थी, क्योंकि भगवान् मुझ से कभी पृथक् नहीं होते हैं, जिससे इसको गर्व हो गया था, अतः जैसे चंद्र आदि के दर्प का नाश करने के लिये इसको ले आये वैसे ही अभिमान को तोड़ने के लिये सम्बन्ध विच्छेद ही योग्य समझा, सम्बन्ध रहेगा तो अहङ्कार उतरेगा नहीं यों विचार कर ही, यह लीला की है 'वल्लभा' पदका भावार्थ है कि अत्यन्त प्यारी, जो वस्तु अतिशय प्रिय होती है, उसकी अपेक्षा रहती है क्योंकि वह वस्तु प्रीति का विषय होता है, भगवान् को बहुत स्त्रियां हैं, उन स्त्रियों से भी कार्य पूर्ण कर सकते हैं, वह यों मानती है, कि मैं ही एक भार्या हूँ जिससे मैं ही प्रिया हूँ; यदि प्रिया न होती, तो सदैव मेरे पास कैसे रहते हैं? अथवा भगवान् को जानकर भी नहीं भजती है इसका ज्ञान कराने के लिये भगवान् यों कहते हैं, 'आत्मानं वल्लभामिव' भगवान् को स्त्री की तरह मानती है, जैसे स्त्री से युक्त होकर बैठा हुआ पुरुष बाहर का ज्ञान नहीं रखता है, इस प्रकार सुषुप्ति उपाख्यान में शारीर आत्मा प्राज्ञेनात्मना सम्परिष्वक्त' कहा है, जिसका सारांश यह है कि जीवात्मा प्राज्ञात्मा के साथ मिल कर रहा है, यों निरूपण है, सुषुप्ति और उत्कान्ति भेद से यहां इस प्रकार वर्णन है उसका ज्यों प्रबोध कराया जा सकता है, इस प्रकार इसका भी अथवा अपने को अर्धवल्लभा यानि अपने को अर्द्धाङ्गिनी मानती है इसी तरह भगवान् ने कायिक और मानस व्यापार से शान्ति ले ली ॥२१॥

आभास—ततो यज्ञातं तदाह इतीति त्रिभिः ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'इति'श्लोक से लेकर तीन श्लोकों में कहते हैं ।

श्लोक—इति त्रिलोकेशपतेस्तदात्मनः प्रियस्य देव्यश्रुतपूर्वमप्रियम् ।

आश्रुत्य भीता हृदि जातवेपथुश्चिन्तां दुरन्तां रुदती जगाम ॥२२॥



श्लोकार्थ—त्रिलोक पतियों के ईश, अपने प्यारे पति के कभी भी नहीं सुने हुए ऐसे अप्रिय वचन सुन, रुक्मिणीजो! हृदय में भयभीत हो काम्पने लगी और रोती हुई अपार चिन्ता में पड़ गई ॥२२॥

श्लोक—पदा मुजातेन नखारुणश्रिया भुवं लिखत्यश्रुभिरञ्जनासितैः ।

आसिञ्चती कुङ्कुमरूपितौ स्तनौ तस्यावधोमुख्यतिदुःखरुदवाक् ॥२३॥

श्लोकार्थ—नख की अरुण कान्ति से शोभायमान कमोल चरण से पृथ्वी को कुचरती हुई, अञ्जन युक्त होने से, श्याम बने आँसूओं से, केसर से रंगे हुए स्तनों को सींचती हुई और अति दुःख से जिसकी वाणी रुक गई है, ऐसी वह नीचे मुख कर बैठ गई ॥२३॥

श्लोक—तस्याः सुदुःखभयशोकविनष्टबुद्धेर्हस्ताच्छनथद्वलयतो व्यजनं पपात ।

देहश्च विक्लवधियः सहस्रैव मुह्यत् रम्भेव वायुविहता प्रविकीर्य केशान् ॥२४॥

श्लोकार्थ—अप्रिय वचन सुनने से अत्यन्त दुःख एवं त्याग के भय से तथा पश्चात्ताप से जिसकी बुद्धि नष्ट हो गई है ऐसी उस रुक्मिणी के हाथ में से पखा गिर गया और कंकण भी गिरने लगे, परवश बुद्धि वाली रुक्मिणी का शरीर भी मूर्छा खाकर, वायु से गिरी कदली के समान तुरन्त भूमि पर गिर गया ॥२४॥

सुबोधिनी—सम्यक् ज्ञानवत्याः किञ्चिज्ज्ञान-
वत्याः मूर्छितायाश्च अवस्थाः क्रमेणोच्यन्ते :
यत्त्रिगुणा हि सा । अतः सत्त्वादितमोन्ता अवस्था
वर्णिताः । प्रत्येक गुणानां त्रैविध्यमिति त्रितय त्रितयं
निरूप्यते । तत्र प्रथम सत्त्वे कार्यत्रयमह । इति
पूर्वोक्तप्रकारेण नि सम्बन्धप्रतिपादकं वाक्यमा-
श्रुत्य प्रथमं भीता जाता, त्यक्ष्यतीति । ततो हृदये
वेपथुः कम्पोऽपि जातः । दुरन्ता चिन्तापि । चिन्ता
सात्त्विकी, भयं तामसम् । त्रिलोक्याः ईशः,
पतिश्च स्वस्यापि, लौकिकवैदिकोत्कृष्टसम्बन्धौ
निरूपितौ । तदेति । तस्यामवस्थायाम् । तदिति
वा प्रसिद्धं सर्वजनीनम् । अतः सत्यमपि कुर्यान् ।
केवलं लोकतो वेदतश्चैव सम्बन्ध इति न, किन्तु
स्वस्यापि रोचत इत्याह प्रियस्येति । ननु परिहा-

सवचनमेतद्विष्यतीति कथं भयमिति चेत्, तत्राह
देवीति । देवतास्या सा सत्यमेव भगवान् वद-
तीति ज्ञातवती । तर्ह्यभिप्रायं ज्ञात्वा दर्प परि-
त्यज्य कथं न प्रपन्नोत्थाशङ्क्याह अश्रुतपूर्वमिति ।
दर्प, सर्वदेव जायते, वाक्यं तु न कदाचिदप्येवं
श्रुतम् । तदप्यासमन्तात् श्रुत्वा अभिप्रायतोऽर्थ-
तश्च । अतः प्रथमतो भय मनसि जातम् । हृदय-
स्थाने कम्पोऽपि जातः । इदं कायिकमिव बुद्धेः ।
अहङ्कारस्तु निवर्तनीय एव । चिन्ता चेतसः ।
रुदतीति रोदनमिन्द्रियाणाम्, अहङ्कारः तद्रूपेण
निर्गत इति ज्ञापनार्थः । हेत्याश्चर्यम् । कथं वाक्य-
मात्रेणैतामवस्थां प्रपवतीति । आन्तरमेतन्निरू-
पितम् । बाह्यं निरूपयति पदा मुजातेनेति ।
मुजातेनातिकोमलेन लक्षणयुक्तेन वा । तेन लक्ष-



एतानामुत्पादकस्य वा दोषमापादयन्ती तथा कृत-
वती । अथवा । उत्कृष्टत्वाच्चरणस्य नैवमनिष्टं
भविष्यतीति ज्ञापनार्थं तथोच्यते । नखारुणश्रि-
यति । नखेषु नखैः कृत्वा वा अरुणा श्रयस्येति ।
अनेन नखानां मणिरूपत्वमुक्तम् । अयं सात्त्विक
उत्कर्षः । सहजागन्तुकोत्कर्षयुक्तेन पदा भुवं
लिखन्ती । चिन्ताकुलितायास्तथैव व्यापार इति
भूमि लिखन्तीति । भूम्यां किञ्चिद्वर्णनं निषि-
द्धम् । भूमि भित्त्वान्तःप्रवेक्ष्यामीति भावेन तथा
लेखनम् । इयं हि लौकिकी भाषा, लौकिकभाव-
निराकरणार्थमेव भगवता तथोक्तमिति यः कश्चन
भावः परमोत्कर्षं प्राप्तः फलपद्वयसायी भवतीति
ज्ञापनार्थं तथोच्यते । अतस्तस्याः कायिकव्यापारो
निरूपितः । मानसमाह । अश्रुभिः कुङ्कुमरू-
पितौ स्तनावासिञ्चती । मदस्यतिशोकात्त्रिरन्त-
रोत्पन्नान्यश्रूणि अञ्जनमपि भित्त्वा निर्गच्छन्तीति
तस्या अतिरिक्तः सर्वोऽपि वर्णस्तोऽपनेति इति
सूच्यते । कुङ्कुम वज्रल च उभयमपहृतमिति ।
अधोमुखीति च मानसमेव । अतिदुःखेन रुद्धा
वागिति वाचो निवृत्तिः । उभयोर्गुणो व्यापारः ।
वाक् तु निवृत्तैवेति । बाह्याभ्यन्तरामवस्थामुक्त्वा
देहस्य पातमाह तस्या इति । आद्येन मानसपा-
तश्च । तस्या देहः पपात । देहधारिका बुद्धिः प्रय-
त्नद्वारा । सा तु त्रिभिर्नष्टेति सुदुःखभयशोका
निरूपिताः । सुदुःखं पुरुषोत्तमलक्षणविषयाभावात्
आनन्दरूपस्य भगवत्स्तिरोभावाद्वा । भयं भग-
वानन्येभ्यो दास्यतीति । शोकः स्वस्य सर्वना-

शात् । त्रिदोषेण बुद्धिनाशः । स स्वकीयं प्रयत्ना-
भावमपि करोतीत्याह हस्तात् श्लथद्वलयतो व्य-
जनं पपातेति । कृशत्वात् श्लथद्वलयत्वम् । आदौ
धर्मनाशः, पश्चाद्धर्मिण इति । क्रमेण ह्रास इति
नालौकिकप्रकारेण तस्याः पातः । व्यजनं वीज्य-
मानं धारकप्रयत्ननाशात् पपान । अनेन स्थूलः
प्रयत्नो नष्ट इत्युक्तम् । सूक्ष्मोऽपि नष्टः येन
प्राणो धार्यत इत्याह देहश्चेति । देहश्च पपात ।
चकारात्तत्सम्बन्धोन्याभरणादन्यपि । इतोऽपि
सूक्ष्मः कारणप्राणधारकोऽवशिष्यते । तस्मिन्नि-
वृत्ते सर्वनाशो भविष्यतीति भगवत् एतावद्दूरं
परीक्षा । लौकिक्याः पुनर्जीवननलौकिकं न युक्त-
मिति ततः पूर्वमेव प्रतीकारं करिष्यति । सूक्ष्मा
धारिका बुद्धिः स्वप्नेऽपि तिष्ठतीति कथं देहपात
इति चेत्, तत्राह विक्लवधिय इति । सूक्ष्मापि
बुद्धिर्वैक्लव्यं प्राप्तवती । विचारेण तदपनोदाभा-
वमाह सहस्रं मुह्यदिति । 'मुग्धेऽवसम्पत्तिरिति
न्यायेन अर्धं मृता । केवलमासन्यस्तिष्ठति । अत
एव पतिता, न मृता । पतनादपि भयं भवतीति
भयेन प्रयत्नाभिव्यक्तिमाशङ्क्य तन्निषेधार्थमाह
रम्भेव वातद्विहतेति । वायवाघातेन यथा कदली
भग्ना पतति, सर्वथा प्रयत्नरहिता स्वतोऽपि
कीमला । प्रविकीर्य केशानिति रम्भातुल्यत्व
निरूपितम् । अथवा । मूर्च्छासमये शिरोभ्रमणं
जातमिति केशग्रन्थिविस्त्रंसनात् केशविकीर्णता
जाता । केशा वेण्याकारेण न बद्धाः ॥२२-२३-२४॥

व्याख्यार्थः - रुक्मिणी तीन गुणोंवाली है उसकी सम्यक् जान वाली, कुछ ज्ञानवाली और
मूर्च्छित इन तीन अवस्थाओं का क्रम से वर्णन किया जाता है, अतः सत्त्व से लेकर तमोगुण पर्यन्त
अवस्थाओं का वर्णन किया गया है, हर एक गुण तीन प्रकार का है, इसलिये उनकी तीन प्रकार की
अवस्थाओं का वर्णन किया है उनमें पहले सत्त्व के तीन कार्य कहते हैं यों पूर्व कहे हुए प्रकार से
निःसम्बन्ध का प्रतिपादन करने वाला वाक्य सुनकर प्रथम डर गई, क्योंकि मम भई कि मेरा
त्याग करेंगे, अनन्तर हृदय में कम्पन हुआ एवं अपार चिन्ता भी हुई चिन्ता सात्त्विकी, भय तामस है,
त्रिलोक के पति हैं और मेरे भी पति हैं, इस प्रकार लौकिक वैदिक दोनों उत्कृष्ट सम्बन्ध कहे उस
अवस्था में और वह प्रसिद्ध कथन होने से सबको मालूम हो गया है, इसलिये उस वचन की सत्य भी
कर दे, केवल लोक और वेद से सम्बन्ध नहीं है किन्तु अपने को रुचता है इसलिये कहा है कि

'प्रियस्य' यदि दृष्टि हो कि जब प्यारा है तथा रुचता है तो ये वचन परिहास से कहे हुए होंगे, तो फिर भय क्यों? जिसके उत्तर में कहती है कि 'देवी' बहू वाणी देवतारूप है, भगवान् सत्य ही कहते हैं यों रुक्मिणी ने जाना, जब यों जाना तब गर्व का त्याग कर शरण क्यों न गई? इसके उत्तर में कहा है कि द्रप (अभिमान) सदब होता है किन्तु ऐसे वचन कभी नहीं सुने हैं वे वचन भी पूर्ण रीति से सुन, उनका अर्थ अभिप्राय समझ कर ही, प्रथम मन में भय उत्पन्न हुआ, हृदय स्थान पर कम्पन भी हुआ, यह कायिक की तरह बुद्धि को हुवा अहङ्कार तो छोड़ना ही चाहिये, हृदय का कार्य चिन्ता है, इन्द्रियों का कार्य रोदन है, इन दोनों कार्यों के करने से यह बताया है कि मैंने अहङ्कार का त्याग कर दिया है, "ह" पद आश्चर्य अर्थ में दिया है, केवल कहने से ही इस अवस्था को कैसे प्राप्त हो गई, यह आन्तर (भीतर) का भाव बताया, अब बाहर के भाव कहते हैं, 'पदा सुजातेन' बहुत कोमल अथवा लक्ष्मणों से युक्त पाद से, उससे लक्ष्मणों को उत्पन्न करने वाले के दोष को सिद्ध करती हुई यों करने लगी, अथवा चरणों की उत्कृष्टता दिखाने के वास्ते यों कहने लगी कि अनिष्ट न होगा, जिसके नखों में लाल रंग है अथवा नखों के कारण जिसकी लालास हो रही है, जिससे नखों का मणिरूपत्व कहा है, यह सात्त्विक उत्कर्ष है, स्वभाविक उत्पन्न उत्कर्ष वाले चरण से पृथ्वी को कुचलती थी, जो चिन्ता ग्रस्त होती है वह यों ही करती है, इसलिये पृथ्वी को कुचलने लगी थी, पृथ्वी को कुचलने का निषेध है, किन्तु यह तो पृथ्वी को इस भाव से कुचलती थी कि पृथ्वी को खोलकर भीतर समा जाऊँ, यह लौकिक भाषा है, लौकिक भाव के निराकरण के लिये भगवान् ने ये वचन कहे थे, इसलिये जो कुछ भाव होवे वह परमोत्कर्ष को जब प्राप्त होता है तब फलरूप बनता है अर्थात् फल प्राप्त करता है, यह जताने के लिये इस प्रकार कहा जाता है अतः इसका कायिक व्यापार निरूपण किया है, अब मानस व्यापार कहते हैं, रुक्मिणी के स्तन कुङ्कुम के रंग से रञ्जित थे, उन पर, विशेष शोक से बिना रुकावट के, नखों में, काल ल, सिद्धि, पाँचों की धारा, बढ़ती, दर्द, पड़ती, शी-तिथो, राजस कालास तथा लालास दोनों रंग धुल गये थे नीचे मुख से स्थित थी, यह मानसी चिन्ता की सूचना है, अति दुःख से वाणी रुक गई, यों वाणी की निवृत्ति हो गई, अर्थात् कुछ बोल न सकी, दोनों की क्रिया थोड़ी सी ही रही, वाणी तो निवृत्त हो ही गई, इस प्रकार बाहर तथा भीतर के भाव कह कर, अब देह का पात किस प्रकार हुआ जिसका वर्णन करते हैं, प्रथम जो कहा उससे मानस पात कहा, उसकी देह गिरी, देह का धारण करने वाली बुद्धि प्रयत्न द्वारा होती है, वह तो सुदुःख, भय और शोक इन तीनों ने नष्ट कर दी, सुदुःख क्यों हुआ? जिसके लिये कहते हैं कि, पुरुषोत्तम के लक्षणों के विषय के अभाव से अर्थात् पुरुषोत्तम के स्वरूप के अज्ञान से, अथवा आनन्द रूप भगवान् के तिरोधान हो जाने से, भगवान् मुझे दूसरों को देगे इससे भय हुआ है सर्वनाश होने से शोक उत्पन्न हुआ है, इस तरह तीन प्रकार के दोषों से बुद्धि का नाश हो रहा है, वह यह भी प्रकट करती है कि मैं अपने लिये भी कुछ भी प्रयत्न नहीं कर सकती हूँ जिससे हाथ से कङ्कण तथा पखा गिर रहा है, शरीर के कृश होने से पहले कङ्कण गिरा, प्रथम धर्म का नाश होता है पीछे धर्म का नाश होता है, क्रम से नाश हुआ है इसलिये इसका^३ पात अनौकिक प्रकार से नहीं हुआ है, पखा, पड़ने वाले में से प्रयत्न की शक्ति का नाश होने से गिरा इससे यह बताया है कि पहले स्थूल प्रयत्न नाश हुआ जिस सूक्ष्म प्रयत्न से प्राणधारण किया जाता है वह भी नष्ट हो जाने से देह को भी नाश हुआ अर्थात् 'देह' भी गिर

गई, 'च' पद देने का आशय यह है कि देह से सम्बन्ध रखने वाले आभरण भी गिर गये, अर्थात् पहने हुए आभूषण भी गिर गये, इससे भी सूक्ष्म प्राणों को धारण करने वाला, 'कारण' शेष रहता है, यदि वह भी निवृत्त होता तो सर्वनाश हो जाता, इसलिये भगवान् ने यहां तक की ही परीक्षा ली है, लौकिकी का फिर अलौकिक जीवन होवे यह उचित नहीं है, इसलिये उससे पूर्व ही उपाय करेंगे, सूक्ष्म धारण करने वाली बुद्धि, स्वप्न में भी रहती है, तो फिर देह का पात कैसे हुआ ? इसके उत्तर में कहते हैं कि वह सूक्ष्म बुद्धि भी घबराहट को प्राप्त हो गई थी, और विचार से भी उस घबराहट को दूर नहीं कर सकती थी, क्योंकि अचानक अथवा विवश होने से मोहित वे (मूर्च्छित) हो गई, थी, 'मुग्धेऽर्धं सम्पत्ति' मूर्च्छित होने पर आधी सम्पत्ति रहती है, इस न्याय के अनुसार 'अधमरी' हो गई, अब केवल 'आसन्य प्राण' रह गया था इस कारण से पड़ गई, किन्तु मरी नहीं गिरने से, भय उत्पन्न होता है, भय से प्रयत्न की अभिव्यक्ति होती है, वह क्यों न हुई ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि जैसे केले का पेड़ वायु के झोंके से टूट कर गिर पड़ता है वैसे यह भी गिर जाने से, सर्वथा प्रयत्न रहित हो गई तथा स्वतः भी कोमल हो गई अर्थात् सर्वथा अशक्त हो गई, जब गिरी तब मस्तक के केश भी बिखर गये जैसे केले के पत्ते बिखर जाते हैं, अथवा मूर्छा आने के समय शिर घूमने लगा जिससे केशों की गांठ खुल गई इससे केश बिखर गये, इससे यह जाना जाता है कि केश वेणी के आकार से गूँथे हुवे नहीं थे, जिससे खुलकर बिखर गये ॥२२-२३-२४॥

आभास—तदा भगवान् क्षणविलम्बे समाधानमशक्यमिति उपेक्षाभावं परित्यज्य, तस्यामपेक्षाभावं कृत्वा, शीघ्रं प्रतिक्रियार्थं प्रवृत्त इत्याह तद्दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—तब भगवान् ने सोचा कि एक क्षण भी देरी करने से समाधान करना कठिन होगा, अतः उपेक्षा त्याग कर उसकी अपेक्षा का भाव आवश्यक जान शीघ्र ही प्रतिक्रिया करने के लिये प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन 'तद्दृष्ट्वा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तद्दृष्ट्वा भगवान्कृष्णः त्रिधायाः प्रेमबन्धनम् ।

हास्यप्रौढिमजानन्त्याः करुणः सोऽन्वकम्पत ॥२५॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण भगवान् हास्य की गंभीरता न जानने वाली अपनी प्यारी के इस प्रेम बन्धन को देख दया से द्रवीभूत होते हुए काँप गये ॥२५॥

सुबोधिनी—तस्याः पतनं दृष्ट्वा करुणायुक्तो भूत्वा अन्वकम्पत । तस्या दुःखनिवृत्तिमियेष । अभिप्रायानुसारेण यत्तयाग्रे निरूपितं तावद्वक्तव्यम् । ततश्च अभिमानाभावे ज्ञाते भगवान् कृपां

कुर्यात् । यत्तु मध्ये मूर्च्छया पतनम्, तदभिप्राया-ज्ञानात् । ईश्वरवाक्ये च यावत्स एव स्वाभिप्रायं न प्रकाशयति, तावदर्थान्तरं न वर्णनीयम् । अतो लौकिकत्वात्तस्या अभिप्रायापरिज्ञानात् त्याग-



भयेन तथावस्थोचितैव । तदा भगवानुत्तरेऽदो
अभिमानाभावे चाज्ञातेऽपि कृपामेव कृतवान् ।
तत्र हेतुः करुण इति । दयायुक्तः । दयायामपि
हेतुः तद्वदृष्टेति । भगवानिति सर्वार्थभिज्ञता ।
कृष्ण इति स्त्रीणां प्रियः । तासामुद्धारार्थं आगतः
कथं तां मारयेत् । ननु बहव एव मूर्च्छिता भवन्ति
वचसा त्रामिताः, किमत्राश्चर्यमिति चेत्, तत्राह
प्रियायाः प्रेमबन्धनमिति । सापि भगवतः प्रिया,
भक्तत्वात् । तस्याश्च प्रेमातिशयः सम्बन्धाभावे
ज्ञात एव प्राणपरित्यागरूपः । प्रेमैव बन्धनमिति
भगवत्प्रेम्णैव सा बद्धा तिष्ठति । तदभावे ज्ञात

एव पतितेति । ननु युक्तमेव तस्यास्तथात्वम्,
केनांशेन सन्तुष्टः, सन्तोषहेतुराश्चर्यस्याभावादि-
त्याशङ्क्याह हास्यप्रौढिमजानन्त्या इति । हास्य-
रसे पूर्वपक्षसिद्धान्तन्यायेन पदार्थनिरूपणं प्रौढिः ।
तत्र भगवता पूर्वपक्षः कृतः । यतो रुक्मिणी न
लौकिकी । नापि लौकिकविषयमपेक्षते । अतोऽव-
श्यं सिद्धान्तो वक्तव्यः । तद्वक्तुं न जानातीति
मुग्धभावान् बालानामिवाभिमाना न दोषायेति
मूर्च्छां दृष्ट्वा स्वभावतोऽपि परमकारुणिकः अनु-
कम्पां कृतवान् ॥२५॥

व्याख्यानार्थ - उसका पतन देख, इससे आर्द्रचित्त हो गये जिसमें काँप गये अतः उसके दुःख की निवृत्ति की इच्छा की, अभिप्राय के अनुसार, जितना उसने आगे निरूपण किया उतना ही कहना चाहिये, अनन्तर रुक्मिणी को अभिमान नहीं है ऐसा जानने से भगवान् को रुक्मिणी पर कृपा करनी चाहिये, यह जो बीच में रुक्मिणी का पतन हुआ उसका कारण भगवान् के हास्यवचनों का नहीं समझना ही है, ईश्वर के वाक्यों का क्या अभिप्राय है, वह जब तक स्वयं प्रकट न करें तब तक उसका दूसरा भाव कहना वा समझना नहीं चाहिये, इसलिये लौकिक होने से उसने^१ अभिप्राय न समझा जिससे उसको^२ त्याग का भय हो गया । त्याग के भय के कारण वैसी अवस्था होना, उचित ही है, मूर्च्छित होने से वाणी स्तब्ध हो गई थी, जिससे उत्तर न देसकी, अभिमान के अभाव का ज्ञान न होने पर भी भगवान् ने कृपा ही की, यो कृपा करने में कारण, आप दयालु हैं, दया होने में भी कारण कहते हैं कि, उसकी यह दशा देखकर, आप भगवान् हैं जिससे सर्व प्रकार के अर्थों के अभि-
प्रायों को जानते ही हैं, कृष्ण होने से स्त्रियों को प्रिय हैं स्त्रियों के उद्धार के लिये तो आये हैं, तब उनको मरने कैसे देंगे ? यदि कहो, कि बहुत ही वचनों से डर कर मूर्च्छित होती हैं, इसमें कौनसी अचम्भे की बात है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'प्रियायाः प्रेम बन्धनम्' वह भी भक्त होने से भगवान् की प्यारी है, सम्बन्ध न रहेगा, केवल इतना जानते ही प्राणों को छोड़ने लगी यह इसके प्रेम की विशेषता है, प्रेम ही बन्धन है, भगवान् के प्रेम से ही वह बन्धी हुई है, उसके अभाव के ज्ञान होते ही, गिरी है, उसका यों होना उचित ही है, किस अंश से सन्तुष्ट होगी ? सन्तोष के हेतु आश्चर्य का अभाव है ? इसके शङ्का के समाधान के लिये कहते हैं कि, हास्य रस में पहले पूर्व पक्ष का सिद्धान्त कहा जाता है जिसको 'प्रौढि' कहा जाता है, यह इस हास्य रस के प्रौढि को नहीं समझ सकी, कि भगवान् पूर्वपक्ष कह रहे हैं, क्यों न समझो ? जिसका कारण रुक्मिणी लौकिकी नहीं है, और न लौकिक विषय की उसकी अपेक्षा है अतः अवश्य सिद्धान्त कहना चाहिये, वह सिद्धान्त कहना इसको नहीं आता है, कारण कि मुग्ध भाव वाली है इसलिये बालकों की तरह अभिमान दोष के लिये नहीं है, यों मूर्च्छित होती देख स्वभाव से भी परम दयालु श्री कृष्ण अनुकम्पा (कृपा) करने लगे ॥२५॥

आभास—ततो यत्कृतवांस्तदाह पर्यङ्कादिति ।

आभासाय—अनन्तर जो कुछ भगवान् ने किया वह पर्यङ्कात् श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—पर्यङ्कादवरुह्याशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः ।

केशान् समूह्य तद्वक्त्रं प्रामृजत् पद्मपाणिना ॥२६॥

श्लोकार्थ—चतुर्भुज आप शीघ्र ही पलङ्ग से नीचे उतर, उसको उठाकर उसके वेशों को सँवार हस्त कमल से मुख को पोंछने लगे ॥२६॥

सुबोधिनी—स्वयं शीघ्रमवरुह्य पर्यङ्कात्, प्रामृजत् । पद्मपाणिनेति शीतलेनामृतस्रावेण ।
हस्तद्वयेन तामुत्थाप्य, हस्तद्वयेन च केशान् समूह्य तेन तापापनोदः जीवनं च जातम् । स्पर्शनेव
एकेन हस्तेन केशबन्धं धृत्वा, दक्षिणेन तद्वक्त्रं प्राणाः समागताः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—आप शीघ्र ही पलंग से नीचे उतर कर, दो हाथों से उसको उठाकर, दो हाथों से केशों को सँवारने लगे बाद में एक हाथ से केश बन्ध किया और जिस शीतल दक्षिण हाथ से अमृत बह रहा था उससे उसका मुख पोंछने लगे, यों करने से ताप मिट गया और जीवन हो गया, स्पर्श करने से ही प्राण आ गये ॥२६॥

आभास—ततः स्वस्थां सान्त्वयामासेत्याह प्रमृज्येति ।

व्याख्यार्थ—इसके बाद सावधान हुई को 'प्रमृज्य' श्लोक से सान्त्वना देने लगे ।

श्लोक—प्रमृज्याश्रुकले नेत्रे स्तनौ चोपहतौ शुचः ।

आश्लिष्य बाहुना राजन्ननन्याविषयां सतीम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! आँसूओं से भरे हुए नेत्र, आँसूओं से उपहत स्तनों को पोंछकर अन्य के आश्रय रहित सती का भुजा से आलिङ्गन किया ॥२७॥

सुबोधिनी—तेनैव पाणिना अश्रूणि प्रमृज्य, अश्रूणां वला यत्र । तत उत्थाप्यैव धृत्वा हस्तद्वयेन मध्ये एकेन केशबन्धम् । उक्तां क्रियां कृतवान् । अतः सान्त्वनपर्यन्तं चतुर्भुज एव स्थितः । प्रवर्षेण मार्जनं अश्रूणि दूरीकृत्य परितः स्थितकज्जलस्य सर्वत्र स्थापनम्, तथैवान्यत्रापि स्नेहप्रकाशार्थं त्यागाभावविश्वासार्थं च बाहुना आश्लिष्य । ननु स्वयमेव 'न स्रज्यपत्यार्थकामुका' इत्युक्त्वा, पुनः किमर्थं तथा कृतवान्, तत्राह

अनन्यविषयामिति । न विद्यते अन्यो विषयो यस्याः । यद्यप्यपि विषयो न भवेत्, तदा शरीरनाशः स्यादिति । 'ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थं तान् विभर्म्यहमि'ति । तस्यास्तथात्वं ज्ञात्वा स्वप्रतिज्ञास्थापनार्थमेव तथा कृतवानित्यर्थः । ततश्च स्त्रीत्वेन न कामिता, किन्त्वनन्यविषयत्वेन । किञ्च । सती पतिव्रता । तदुपेक्षायां मर्यादाविरोधोऽपि स्यात् । राजन्निति सम्बोधनं भ्रमाभावाय । राजा हि पूर्णविषयो भवतीति ॥२७॥



व्याख्यार्थ—जहां जहां आंसू थे अथवा जहां पर पड़े थे वहां से आंसूओं को पोंछा, अनन्तर उठा कर दोनों भुजाओं के मध्य में बिठाया और धागे (डोरे) से केशों को बान्धने लगे, कही हुई क्रिया की, अतः सान्त्वना देने तक चतुर्भुज रूप से ही बिराजे रहे, आंसूओं को दूरकर चारों तरफ स्थित काजल को सर्वत्र स्थापित किया, उसी तरह दूसरे स्थान पर भी स्नेह का प्रकाश करने के लिये, त्याग नहीं करूँगा, ऐसा विश्वास कराने के लिये बाहु से आलिङ्गन किया, भगवान् ने पहले जो कहा है कि हम स्त्री और अपत्य की कामना वाले नहीं हैं, फिर यों क्यों किया ? इस शङ्का निवृत्ति के लिये कहते हैं कि इसको भगवान् के सिवाय कोई विषय स्मरण नहीं है, यदि यह भी विषय न रहे तो शरीर का नाश हो जाय, इसके अतिरिक्त मेरी प्रतिज्ञा है कि जो मेरे लिये लोक धर्म त्याग देते हैं उनका पालन मैं करता हूँ, इसका यह त्याग देख अपनी प्रतिज्ञा के पालनार्थ यों किया, स्त्री है किन्तु स्त्रियों में जो काम भावना होती है वह इसमें नहीं है, क्योंकि भगवान् में ही इसका ध्यान है उसके सिवाय दूसरा विषय विचार में भी नहीं है, कारण कि 'पतिव्रता' है, यदि उसकी उपेक्षा करे तो मर्यादा का भी विरोध हो, हे राजन् ! यह संबोधन भ्रम के अभाव के लिये है, कारण कि जो राजा होता है उसको सब विषयों का ज्ञान रहता है ॥२७॥

श्लोक—सान्त्वयामास सान्त्वजः कृपया कृपणां प्रभुः ।

हास्यप्रौढिभ्रमश्चित्तामतदर्हं सतां गतिः ॥२८॥

श्लोकार्थ—सान्त्वना देने में दक्ष, 'सत्पुरुषों को गति प्रभु', हास्य रस के पूर्व पक्ष के तत्त्व को न जानने से भ्रमित चित्र वाली, हास्य करने के अयोग्य कृपण स्वमणी को कृपा कर सान्त्वना देने लगे ॥२८॥

सुबोधिनी—किञ्च, सान्त्वयामासेति । ततो वाक्योः सान्त्वयामास । ननु स्वयमेव निःसम्बन्धं प्रतिपाद्य, कथं सान्त्वनं कुर्यादित्याशङ्क्याह सान्त्वज इति । सान्त्वने हेतुः कृपयेति । न तु भयेन कथञ्चिदपि । कृपणामिति दयायां हेतुः । न तु भार्याम् । ननु धर्मद्वयस्य विद्यमानत्वात्कथं कार्पण्यमेव हेतुरित्यत आह प्रभुरिति । स हि स्वतः समर्थो न भार्यादिकमपेक्षते । हास्यप्रौढि-वाक्येभ्रमश्चित्तामिति वाक्यसान्त्वने हेतुः । अन्यथा कायसान्त्वनेनैव चरितार्थता स्यात् । अतश्चित्त-

भ्रमोऽपि निवारणीयः । ननु तिष्ठतु चित्ते भ्रमः, किं स्यात्, अत आह अतदर्हामिति । तद्वद्विरूप-तयावस्थानं नर्हति । शरीरेण कृपाम्, वाचा अकृपां च । शरीरे स्वास्थ्यम्, चित्तेऽस्वास्थ्यं वा । यतो भगवान् सतां गतिः । सन्तो हि निःस-न्दिग्धा भवन्ति, भगवद्वाक्यविश्वासेन प्रवर्तन्ते । 'द्विशरं नाभिसन्धत्ते द्विःस्थापयति नाश्रितान् ।' 'कीन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यतीति । अतश्चित्तभ्रमापनोदनार्थं वाचा सान्त्वनं कर्तव्यम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—वाक्यों से सान्त्वना देने लगे, स्वयं ही सम्बन्ध राहित्य का प्रतिपादन कर फिर

स्वयं ही कैसे सान्त्वना कराने लगे ? इस शङ्का का समाधान करते हैं कि आप सान्त्वना कैसे देनी चाहिये इसको जानते हैं, सान्त्वना कराने का क्या कारण है ? कृपा है, उसकी दशा देख कर डर से सान्त्वना नहीं कराते हैं किन्तु उस पर कृपा कर प्यार करते हैं, भार्या है इसलिये कृपा नहीं करते किन्तु दीना है इसलिये कृपा करते हैं, दो धर्मों के होते हुए दीनता कारण कैसे कहा जाता है ? इस पर कहते हैं कि 'प्रभु' सर्व ममर्थ हैं, वे स्वतः ममर्थ हैं इसलिये उनको भार्यादि की प्रपेक्षा नहीं है, दूसरा हेतु सान्त्वना के लिये देते हैं कि हास्य रस की प्रीति के वाक्यों से जिसका चित्त भ्रमित हो गया है, उस भ्रम को भी मिट ना है, यद्यपि काया की सान्त्वना से भी कार्य हो सकता है, तो भी, चित्त का भ्रम भी मिटाना चाहिये, चित्त में भ्रम रहने से क्या होगा ? इसके समाधान के लिये कहते हैं कि 'अतदर्हा' दो रूपों से रहने के योग्य नहीं है हास्य को सहने जैसी नहीं है अतः शरीर से कृपा और वाणी से अकृपा करने से शरीर में स्वास्थ्य और चित्त में अस्वास्थ्य रहे इस प्रकार दो रूपों से रहने के योग्य नहीं है, क्योंकि भगवान् सत्पुरुषों की शरण है, सत्पुरुष ही संदेह रहित होते हैं, उनको भगवान् में किसी प्रकार संदेह नहीं रहता है, भगवान् के वचनों पर, विश्वास पर ही प्रवृत्त होते हैं "द्विःशरं नाभिसन्धते" 'द्विः स्थापयति नाश्रितात्' जैसे धनुष में दो शर नहीं लगाए जाते हैं वैसे भगवान् आश्रितों को दुविधा में नहीं डालते हैं, 'कोन्तेय प्रतिजानीहि न में भक्तः प्रणश्यति' हे अर्जुन ! मेरी तरफ से तू प्रतिज्ञा जान ले कि मेरा (भगवान् का) भक्त नष्ट न होता, अतः चित्त भ्रम मिटाने के लिये वाणी सान्त्वना देनी ही चाहिये ॥२८॥

आभास—तामेवाह त्रिभिः ।

आभासार्थ—उस सान्त्वना को ही तीन श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—मा मा वैदर्भ्यासूयेथा जाने त्वां मत्परायणाम् ।

त्वद्वचः श्रोतुकामेन क्ष्वेत्याचरितमङ्गने ॥२९॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि हे रुक्मिणी ! तू मेरे कहे हुए वचनों में दोषारोपण कर क्रोध मत कर, मैं जानता हूँ कि तू मेरे परायण है । हे अङ्गना ! तेरे वचन सुनने की इच्छा से मैंने यह हँसी की है ॥२९॥

सुबोधिनो—मा मेति । कायवाङ्मनसां पूर्वं पूर्वं बलिष्ठमिति कायेन सान्त्वने कृते फलरूपत्वात्तस्य वाचिकस्य दुर्बलत्वाच्च जातमेव सान्त्वनम् । परं कायवाचोः परस्परविरोधात् भगवान्न विश्वसनीय इति स्यात्, तन्निषेधति, हे वैदर्भ, मां मासूयेथा इति । दोषारोपेण मा पश्य । अथवा । निष्कारणमेतावद्दुःखं दत्तमिति कदाचिदसूयां कुर्यात् । अन्यत्तु सहजमेव, न तेन

कश्चिदुपकारं मन्यते । तद्यत्वं वचनस्य प्रवृत्तिविरुद्धस्य कोऽभिप्राय इति चेत्, तत्राह जाने त्वा-मिति । अन्यथा ज्ञात्वा अन्यथावचनमभिप्रायं सूचयति । ननु निर्दुष्टा सर्वथा चेत्, तदैवमपि दोषं न मंस्यत इति किं दोषनिराकरणेनेत्यत आह वैदर्भोति । जन्मभूमिसम्बन्धात् कदाचिदेवमपि भावयेदिति, अन्यथा चित्तवृत्तिर्भगवता कृतेति तदुपहननं क्ष्वेत्यर्थं च न परस्परं विरु-

व्यते । शब्दस्य त्रैधा वृत्तिः । मुख्या गौणी तात्पर्यवृत्तिश्चेति । लक्षणगौण्योस्त्वभेदः, तात्पर्यं वा अन्तर्भावः । तत्र मुख्यार्थबाधः दर्पहननपक्षे क्ष्वेलिपक्षे च तुल्यः । ततः प्रासङ्गिको गौणः क्ष्वेत्यां पर्यवस्यति । तात्पर्यं तु दर्पहनन इति उभयमविरुद्धम् । 'स्त्रीषुनर्मविवाहे चे'ति वाक्यात् मुख्यार्थरहितशब्दप्रयोगो न दोषाय । अन्यथा तात्पर्यादीनां वैयर्थ्यं स्यात् । 'परोक्षवादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रिय'मिति भगवद्वाक्याच्च । पूर्वपक्षन्यायेन बहिर्मुखत्वं लौकिकत्वं च तस्यामारोप्य, वाक्यानि प्रयुक्तानीत्यवोचाम । प्रासङ्गिकानि फलानि भगवान् निर्दिशति सान्त्वनार्थम् । मुख्या वा न विवक्षित इत्यत्र हेतुः जाने-त्वां मत्परायणामिति । अहमेव परमयनं यस्याः । तर्हि कथने कोऽभिप्राय इति चेत्, तत्राह क्ष्वेत्याचरि-

तमिति । क्ष्वेलो परिहासः । परिहासार्थमेव हि गाल्यः उत्तरत्राः । अतः क्ष्वेत्येवाचरितं तादृशवचनभाषणं कृतमित्यर्थः । तथाकरणे दोषाभावमाह अङ्गने इति । अङ्गं नयति प्रापयतीति तादृश्या सह रसोत्पत्त्यर्थं वक्तव्यमेव । प्रासङ्गिकत्वात्तदानीमेवैतदभावेऽपि न दोषः । अग्रे तु भविष्यति । दर्पस्तु भगवदीयतया स्वल्पो मृग्य एव, अन्यथा ज्ञानमार्गात् को विशेषः स्यात् । परमुद्गतो नापेक्ष्यते । तस्मिन्निराकार्ये वक्ता ईश्वर इति सर्वोऽपि निवृत्तः, तदाधाराः प्राणा अपि । तदनभिप्रेतमिति पुनः प्रतिप्रसवमाह जाने त्वामिति । परन्त्वहमेव वल्लभेति न मन्तव्यमिति भावः । क्ष्वेत्याः प्रयोजनमाह त्वद्वचः श्रोतुका-मेनेति । गूढ वाक्यमपि श्रोतव्यमिति भावः ।

॥२६॥

व्याख्यानार्थ — काया, वाणी और मन ये तीन हैं इनमें पूर्व पूर्वबल वाला है, इसलिये काया से सान्त्वना करने पर फल रूप होने से, वाचिक दुर्बल होने से, सान्त्वना तो हो गई, परन्तु काया और वाणी का परस्पर विरोध होने से भगवान् विश्वास योग्य नहीं रहे, यों समझती हो तो इस तरह मत समझ, हे वैदर्भी ! मुझ पर क्रोध न करो, अर्थात् मेरे कहने से मुझ पर दोषारोपण मत करो, अथवा यों कह कर तुमको इतना समय दुःख दिया, इसलिये कदाचित् रोष करती हो, दूसरा तो सहज ही है, उससे कुछ भी उपकार नहीं माना जाता है, तब इस प्रकार प्रवृत्ति के विरुद्ध वचन कहने का क्या तात्पर्य है, यों कहती हो तो, जिसका उत्तर यह है कि मैं तुम्हें जानता हूँ, एक तरह जान कर, दूसरी भाँति के वचन कहने, इसमें भी कुछ अभिप्राय होगा, यदि सबंधा दोष रहित है तो यों भी दोष न मानेगी, फिर दोष निराकरण की क्या आवश्यकता है तथा निराकरण करने से क्या लाभ होगा ? इस कारण से कहते हैं कि हे वैदर्भी ! जिस देश में तुमने जन्म लिया है देश की भूमि के सम्बन्ध से कदाचित् यों भी भावना करें, यों नहीं तो भगवान् ने ऐसी चित्त वृत्ति की है, उसके दर्प का नाश एव हास के लिये ऐसे वचन कहना परस्पर विरोध नहीं है, शब्द की वृत्ति तीन प्रकार की होती है, मुख्य, गौणी और तात्पर्य वाली, लक्षण और गौणी इन दोनों में भेद नहीं है, दोनों के तात्पर्य में अन्तर्भाव है, वहाँ मुख्य अर्थ का बाध दर्प के नाश करने के पक्ष में है, हास के पक्ष में तुल्य है, उससे प्रासङ्गिक गौण है वह हास में पर्यवसान पाता है, तात्पर्य दर्प के नाश करने में है, इसलिये दोनों विरुद्ध नहीं है, 'स्त्रीषुनर्मविवाहे' वाक्य के अनुसार मुख्य अर्थ से रहित शब्द का प्रयोग दोष के लिये नहीं है नहीं तो तात्पर्य आदि की व्यर्थता हो जाय, और इस प्रकार का कार्य 'परोक्ष-वादा ऋषयः परोक्षं च मम प्रिय', इस भगवद्वाक्य के अनुसार है, पूर्व पक्ष के न्याय के अनुसार, उसमें बहिर्मुखत्व और लौकिकत्व का आरोपण कर ये वाक्य नहे हैं, भगवान् सान्त्वना के लिये प्रासङ्गिक फलों का निर्देश करते हैं, मुख्यार्थ विवक्षित नहीं है, कारण कि 'जाने-त्वां मत्परायण' मैं



जानता है कि तू मेरे परायण है जब यों जानते हैं तो इस प्रकार क्यों कहा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि परिहास से ही से वचन कहे हैं यों परिहास करने में कोई दोष नहीं है, हे अङ्गने ! अङ्ग को प्राप्ति के लिये प्रार्थना इस प्रकार रस लीला में की जाती है, जिससे मिलने की इच्छा होती है, वैष्णो के साथ रस की उत्पत्ति के लिये यों कहना ही चाहिये, परिहास से वह जानना, कि हविमयी मेरे परायण है वा नहीं, यह प्रासङ्गिक है, वह उस समय न था तो भी परिहास करने में दोष नहीं है, आगे तो होगा, भगवदीय होने से स्वल्प भी गर्व दूढ़ना ही चाहिये अथवा होना चाहिये, नहा तो ज्ञानमय से इस मार्ग में कौनसी विशेषता दिखाई जायेगी, परन्तु वह सीमा रहित नहीं होना चाहिये, उसके निराकरण कार्य में वक्ता ईश्वर हैं इसलिये सर्व ही निवृत्त हुआ, उसके आधार प्राण भी उसको अभिप्रेत नहीं हैं, इसलिये फिर उत्पन्न हुवे कहते हैं 'जानेत्वा' किन्तु मैं ही 'प्यारो' है यों न समझना, यही कहने का भाव है, परिहास करने का कारण कहते हैं, तुम्हारे मन के गूढ़ भाव प्रकट करने वाले वचनों के सुनने की इच्छा थी ॥२९॥

आभास—प्रयोजनान्तरमाह मुखं चेति ।

आभासार्थ—दूसरा प्रयोजन 'मुखं च' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—मुखं च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितुम् ।

कटाक्षेपारुणापाङ्गं सुन्दरभ्रुकुटीतटम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—प्रेम प्रकोप से स्फुरित अधर वाले, कटाक्ष चलाने से अरुण अपाङ्ग वाले और सुन्दर तथा टेढ़ी भ्रुकुटी वाले तेरे मुख को देखने के लिए ये परिहास वचन कहे हैं ॥३०॥

सुबोधिनी—मुखं च ईक्षितुम् । गालिदाने हि लोकाः कुप्यन्ति, तथा त्वमपि कोपं करिष्यसीति कोपोत्पादनार्थं तथोक्तम् । प्रेमरसस्त्रिविधो भवति, सात्त्विको राजसस्तामसश्च । सात्त्विकस्तत्र पुत्रादिसाधारणः । राजसः स्त्रियामेव धर्मसहितः । तामसस्तु जार एव भवति । सहजः स भावः

कदाचिदत्र द्रष्टव्य इति तदुत्पादनार्थं वचनम् । प्रेम्णा यः क्रोधसंरम्भः, तेन स्फुरितमधर यत्र, कटाक्षेपा वक्रदृष्टयः, तत्सहितमरुणं अपाङ्गं नेत्रान्तं यस्य । सुन्दरश्च भ्रुकुट्याः तटः । मुखं रसालं तामसं तदैव भवति । दृष्टिश्च सात्त्विकी तदैव रसाला । तदैव भ्रूभङ्गश्च रसालः ॥३०॥

व्याख्यानार्थ—कुपित मुखको देखने के लिये ये वचन मैंने कहे हैं, अपशब्द गालियां देने पर लोक कुपित होते हैं, वैसे तू भी कोप करेगी इसलिये कुपित करने के लिये ये वचन कहे, प्रेम रस तीन तरह का होता है, सात्त्विक, राजस और तामस, उनमें पुत्रादि साधारण सम्बन्ध से जो प्रेम रस प्राप्त होता

१—भगवान् का ज्ञान सिद्ध विषय होने से, ज्ञान से प्राण फिर उत्पन्न हुए, प्राणों के बिना भगवत्परायणत्व सिद्ध नहीं होता है ।



है वह सात्विक है, धर्म सहित स्त्री में से जो प्रेम रस मिलता है वह राजस है, जार से जो प्रेम रस का अनुभव होता है वह तामस है, सहज वह भाव किसी समय यहां देखना चाहिये, इसलिये उस क्रोध युक्त मुख को देखने के लिये कोप प्रकट कराने के लिये ये वचन बहे हैं मेरे प्रेम वचन से उत्पन्न क्रोध से अधर फरकने लगे हैं जिस मुख में टेडी दृष्टी सहित लाल अपाङ्ग जिस मुख के हो गये हैं, सुन्दर भ्रुकुटी के किनारे जिसके हुवे हैं, ऐसे मुखको देखने के लिये परिहास वचन कहे, जब क्रोध उत्पन्न होता है तब ही तामस रसाल मुख इस प्रकार का होता है, और दृष्टि भी सात्विकी रसोली तब ही होती है, तथा तब ही भ्रूभङ्ग भी रसाल होता है ॥३०॥

आभास—ननु किमेवं वाक्यायोः श्रवणादिनेति चेत् तत्राह अयं होति ।

आभासार्थ—केवल श्रवण आदि से वाणी और काया का इस प्रकार होना कैसे होता है यदि शीं करें तो इसका लक्षण 'अयं' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—अयं हि परमो लाभो गृहेषु गृहमेधिनाम् ।

यन्नमर्नोयते यामः प्रियया भीरु भामिनि ॥३१॥

श्लोकार्थ—हे भीरु भामिनी ! गृहस्थियों के घरों में यही तो परम लाभ है कि जो प्रिया के साथ हँसी के वचनों से समय व्यतीत हो ॥३१॥

सुबोधिनी - गृहमेधिनां गृहेषु कामैकप्रधानेषु अयमेव परमो लाभः, अनिषिद्धः सन् पूर्णः काम-रसः प्राप्यत इति । अतो यत्र रसाभास एव, तत्र चेद्रसः प्राप्यते, स कथं न परमो लाभो भवेत् । गृहमेधिनामिति स्वभावतो रसाभाव उक्तः । नमैः परिहासवचनैः । यामः कालः याममात्रं वा । त्रियामा रात्रिः । तत्र निद्रार्थं यामद्वयम् ततो 'याममात्रमेवावशिष्यते । प्रियया सहेति । प्रीति-स्वन्तरा, कायिकः साधारणः, वाचनिकं चेन्न

स्यात्, तदैकाङ्गविकलमिति सर्वथा परिहासो वक्तव्यः । नन्वेव सति विरसता चेत्स्यात्, तदा-धिकं नश्येदित्याशङ्क्याह । भीरुविति सम्बोधनम् । 'विशेषास्त्वङ्गना भीरुः कामिनी वामलोचना' इति स्त्रीविशेषवाचित्वात्तत्रैवं विरसं करोति । भामिनीति लौकिकं चातुर्यमुच्यते । तेन स्वभावतः गुणतत्त्वोत्तमेति नान्यथा करिष्यतीति भावः ॥३१॥

व्याख्यानार्थ—गृहस्थियों के काम प्रधान घरों में यही परम लाभ है, जिसका शास्त्र में निषेध नहीं है ऐसा पूर्ण रस प्राप्त किया जाता है, अतः जहां रसाभास ही हो वहां यदि रस प्राप्त किया जाय तो, वह क्यों न परम लाभ कहा जावे, 'गृहस्थी' शब्द कह कर स्वभाव से रसाभास सिद्ध किया है, परिहास के वचनों से एक प्रहर व्यतीत किया जा सकता है, रात्री के तीन प्रहर माने गये हैं, उनमें से दो प्रहर तो नींद में जाते हैं, शेष एक प्रहर रहता है, जो प्यारी के साथ रहा जाता है, प्रीति तो अन्दर की वस्तु है, कायिक रस साधारण है, शेष वाचिक रस न लिया जावे तो रस का एक अङ्ग टूट जावे, इसलिये परिहास कहना वा करना ही चाहिये, परिहास करने से यदि रस का अभाव हो जावे तो प्रेम भी नष्ट हो जावेगा ? जिसका समाधान करते हुए कहते हैं कि हे भीरु ? 'विशेषास्त्वङ्गना



भीरुः कामिनी वाम लोचनाः' शास्त्रों में स्त्रियों के विशेषण कहे हैं कि जो स्त्री अङ्गना है वह भीरु कही जाती है और वाम लोचन वाली कामिनी है, अतः परिहास से रस का अभाव उनमें नहीं हो सकता है जिसमें लौकिक चतुराई है वह भामिनी कही जाती है, इससे स्वभाव से गुण से जो उत्तम है, वह अन्य प्रकार न करेंगी ॥३१॥

आभास—ततः स्वस्था भूत्वा भगवदभिप्रेतं कृतवतीत्याह सैवमिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—बाद में स्वस्थ होकर, भगवान् को जो इच्छित था वह करने लगी जिसका वर्णन 'सैव' से दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-सैवं भगवता राजन्वंदर्भो परिसान्त्विता ।

ज्ञात्वा तत्परिहासोक्तिं प्रियत्यागभयं जहौ ॥३२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! श्री कृष्ण भगवान् ने इस प्रकार रुक्मिणी को सान्त्वना दी, जिससे वह समझ गई कि ये वचन भगवान् ने परिहास से कहे हैं, अतः 'प्यारे मुझे त्याग देंगे', यह भय छोड़ दिया ॥३२॥

सुबोधिनी—आदौ स्वास्थ्यमुच्यते । सा पूर्व तथोक्ता तथाभूता च । ननु उभयमपि भगवद्वाक्यमेवेति कथमास्मन्वाक्ये विश्वासः, पूर्वोत्तरभावस्त्वप्रयोजकः, यथा पूर्वत्र हेतुरुक्तः, तथात्रापि मरणमनभिप्रेतं भविष्यतीति हेतुः कुतो न भवेत्, ततो निर्विचिकित्सं कथं प्रवृत्तिरित्याशङ्क्याह भगवतेति । स हि सर्वसमर्थो यथेच्छं करोतीति । राजन्निति पूर्ववत् । वैदर्भी स्वभावतो भक्ति-

प्रधाना राजसीति । परितः सान्त्वनं कायवाङ्मनोभिः । बाधकं च विरुद्धं वाक्यं परिहासोक्तिं ज्ञात्वा उदासीनत्वे चिन्तारहिता अलौकिकी त्यक्ष्यतीत्येव स्फुरितवाद्या अभिप्राये ज्ञाते प्रियत्यागभयं जहौ । अन्यथा सशेषोभिमानो न भवेदिति । तथा क्ष्वेत्यर्थतैव ज्ञाता, न तु स्मयाभावार्थता । अत एव यथार्थत्वे प्रियत्यागेन यद्भयं तत्त्यक्तवती ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—प्रथम उसके स्वास्थ का वर्णन करते हैं कि वह पहले जैसी कही गई थी वैसे ही अब भी थी, पूर्व के वचन और अब के वचन दोनों भगवान् के ही हैं, इस वाक्य में विश्वास कैसे किया ? पूर्व और उत्तर भाव तो यहां प्रयोजक नहीं है जैसे पहले में हेतु कहा वैसे यहां भी मरण अभिप्रेत नहीं है, यह हेतु क्यों न माना जाय ? उसमें बिना संशय प्रवृत्ति कैसे करने लगी ? इसका समाधान करते हैं कि कहने वाले भगवान् हैं, वे सर्व समर्थ हैं, जैसा चाहे वैसा करा सकते हैं, राजन् ? यह संबोधन पूर्व की भांति विश्वास के लिये ही है, वैदर्भी (रुक्मिणी) स्वभाव से भक्ति को प्रधानता वाली, राजसी है, काया, वाणी और मन यों सब तरह से सान्त्वना करा दी, जो बाधक विरुद्ध वाक्य समझे थे, अब उनको परिहास समझ, उदासीपन में, चिन्ता रहित हो एवं अलौकिकी जो बाधा स्फुरित हुई थी, उसका त्याग कर देगी अभिप्राय जानने पर, प्यारे मुझे छोड़ दोगे यह भाव त्याग दिया, यदि यह भय न छूट गया हो तो शेष अभिमान न रहता, उसने समझा कि यह परिहास ही था, न कि इसमें अहङ्कार वा आश्चर्य के अभाव की अर्थता थी, इस कारण से ही सचमुच जो प्रिय त्याग का भय था, उसको त्याग दिया ॥३२॥



आभास—ततः स्वस्था भगवदभिलषितं किञ्चिदुक्तवतीत्याह वभाष इति ।

आभासार्थ—पश्चात् स्वस्थ हुई, वैदर्भी भगवान् का इच्छित 'वभाषे' श्लोक से कुछ कहने लगी ।

श्लोक—वभाषे ऋषभं पुंसां वीक्षन्ती भगवन्मुखम् ।

सत्र डहासरुचिरस्निग्धापाङ्गनेन भारत ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे भारत ! लज्जा सहित हास्य से सुन्दर, स्नेह भरे कटाक्ष से, पुरुषों में श्रेष्ठ भगवान् के मुखारविन्द का अवलोकन करती हुई कहने लगी ॥३३॥

सुबोधिनी—पुंसांमृषभं पुरुषोत्तमम् । अनेन भगवान् न स्त्रीपतिरित्युक्तम् : न तत्र स्त्रीबुद्धिः कापट्यं स्त्रीवश्यता च भगवतो निवारिता । एवं ज्ञात्वैव सा यथार्थं वदति, न तु साप्यन्यथा ज्ञात्वा अन्यथा वदति । तथा सत्यभिप्रायान्तरकल्पनायामनवस्था स्यात् । वीक्षन्ती भगवन्मुखमिति । दृष्ट्यैव परमः सन्तोषः वाच्यार्थस्फूर्तिरपि निरूपिता । अन्तर्गतं भावत्रयं आविष्कुर्वती तथोक्त-

वतीत्याह सन्नोडेति । लज्जा स्वाभाविकी सात्त्विकी, हासो राजसः शृङ्गारप्रधानः । रुचिरं स्निग्धं यदपाङ्गं तदसि गुणत्रयमुक्तम् । नेन वीक्षन्तीति स्वान्तःस्थितभावोद्गिरणं निरूपितम् । अतः 'चि-त्तमनेनैवाकृष्यत' इति वचनानि पोषकाण्येव भवन्ति, तत्त्वन्यार्थकल्पनया कदाचिदपि विरुद्धानि भवन्तीति भावः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—पुरुषों में श्रेष्ठ अर्थात् पुरुषोत्तम को, इससे यह बताया कि भगवान् स्त्रीपति नहीं है, यों कहने से भगवान् में स्त्री बुद्धि का कापट्य और स्त्री की आधीनता का निवारण किया, इस प्रकार जान कर ही वह सत्य कहती है, न कि वह भी एक प्रकार जान कर दूसरे प्रकार से कहती है. यदि यों होवे तो दूसरे अभिप्राय की कल्पना करने में स्थिरता न रहे 'वीक्षन्ती भगवन्मुखम्' भगवान् के मुख का अवलोकन करती हुई (कहने लगी,) दृष्टि से ही परम सन्तोष हुआ, इससे जो अर्थ कहने का है, उसकी भी स्फूर्ति निरूपण की है, भीतर रहे हुए तीन भावों को प्रकट करती हुई कहने लगी, लज्जा करने लगी, वह स्वाभाविकी सात्त्विकी थी, हास किया वह शृङ्गार रस प्रधान राजस था, सुन्दर, स्नेहभरित कटाक्ष, तीन गुणों से युक्त था, इस प्रकार देखती थी जिससे अपने भीतर स्थित भावों के प्रकट करने का निरूपण किया, इस कारण से, चित्त को ये ही आकर्षण करते हैं, ये वचन पोषण करने वाले होते हैं, न कि अन्य अर्थ की कल्पना से कभी भी विरुद्ध होते हैं, यह भाव है ॥३३॥

आभास—वचनान्याह पञ्चदशभिः नन्वेवमिति ।

आभासार्थ—'नन्वेव' श्लोक से १५ श्लोकों द्वारा रुक्मिणी के वचन कहते हैं ।

श्लोक—रुक्मिण्युवाच—नन्वेवमेतदरविन्दविलोचनाह यद्वै

भवान्भगवतोऽसदृशी विभूम्नः ।

क्व स्वे महिम्न्यमिरतो भगवांस्यधीशः

क्वाहं गुणप्रकृतिरजगृहीतपादा ॥३४॥

श्लोकार्थ— रुक्मिणी कहने लगी—हे कमल नेत्रा ! आपने जो कहा कि हम आपके समान नहीं हैं, यह सत्य है; क्योंकि अपने ही स्वरूपानन्द में मग्न रहने वाले तथा ब्रह्मादि के स्वामी, आप कहां और पामर तथा अज्ञानी, जिसकी सेवा करते हैं, ऐसी मैं जो त्रिगुणात्मक लक्ष्मी रूप हूँ, वह कहां? ॥३४॥

सुबोधिनी— कला एवैताः त्रिविधमपि पञ्च-
विधं कामरसं प्रबोधयन्तीव । कथं भगवता तद्वा-
क्यश्रवणार्थं सूत्ररूपाणि वाक्यानि निरूपितानी-
त्याकाङ्क्षायां बहिरङ्गप्रकारं परित्यज्य अन्तर-
ङ्गप्रकारेणैव तद्वाक्यव्याख्यानरूपाणि वाक्यानि
श्रोष्यतीत्यवगत्य तद्व्याख्यानमेवाह । अन्यथा
'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवती'ति विरोधोऽङ्गीकृतः
स्यात् । ईश्वरवाक्यं वा बाधितार्थमिति । अतो
दोषनिराकरणार्थं प्रवृत्तो भगवान् तस्यां नैव
दोषं सम्पादयेत् । अतः स्ववाक्यान्वेव इयं व्याच-
ष्टामिति भगवदभिप्रायः । तत्र भगवता यदुक्तं
'कस्मान्नो ववृषेसमा'निति । तत्रार्थद्वयं सम्भवति ।
हीनत्वेनोत्तमत्वेन वा । तत्रोत्तमत्वेनैव तत्पदं
सार्थकमित्याह नन्वेवमेतदिति । असमानिति पदं
परित्यज्य, प्रथमं श्लोकद्वयमर्थतोऽङ्गीकृतमिति न
तद्वाधनार्थं किञ्चिदुच्यते । प्रयोजनं त्वग्रे वक्त-
व्यम् । दोषस्त्वादौ परिह्रियते । तमपि शब्दं स्व-
रूपतोऽङ्गीकरोति । हे अरविन्दविलोचन, यद्वं
निश्चयेन भवानाह । नन्विति कोमलसम्बोधनेन
अर्थतो विचार्यमाणे प्रातीतिके स पूर्वपक्ष एवेति
ज्ञापयति । आदावेव नन्वित्युक्तत्वात् । सर्वाण्येव
वाक्यानि यथाश्रुतानि पूर्वपक्ष एवेत्युक्तं भवति,
एवमेतत्तथैव स्वार्थपरमित्यर्थः । सम्बोधनेन
दृष्ट्यैव तापहारकः कथं वाक्यैस्तापं जनयिष्य-
तीति विरुद्धार्थपरित्यागो युक्त इति सूचितम् । न
निश्चयेन । नत्वेकदेशेनापि बाध्यते । असमानि-
त्यस्य व्याख्यानम् । न भवतः सदृशीति । न विद्य-
न्ते समा येषां न समा इति वा । एवमर्थद्वये प्रथ-

मार्थ एव ग्राह्यः । भगवन्निरूपितं साम्यमन्यत्र
नास्तीति । भगवांस्तु सर्वसमः, 'समः प्लुषितो'-
त्यादिश्रुतेः । यथाकाशः सर्वसमो भवति, नत्वा-
काशसमः कश्चित् । अतः अहं भवतः समा न
भवामीति । तत्र हेतुः विभूम्न इति । विशिष्टो
भूमा यस्येति, विगतो भूमा यस्मादिति वा ।
वैशिष्ट्यं सर्वतः, अन्यत्र भूमाभावे च असमान-
त्वं सिद्धमेव । भगवतो व्यापकत्वं सर्वश्रुतिसिद्धम्,
गुणानां मायाया वा न तथेति सर्वजनीनत्वाद्धेतु-
रयं युक्तः । ननु तथापि त्वय्येव रमत इति
तस्यापि रत्युत्पादिका त्वमेव महती समा वेत्या-
शङ्क्याह कस्वे महिम्नीति । भगवान् सर्वदा
स्वस्मिन्नेव रमते । अभितो रमणं तत्रैव । केन-
चिदंशेन कदाचिदेव कार्ये रमाणम् । अत एव
तत्कार्याण्यपि घटादीनि कदाचिदेव व्यापृतानि
भवन्ति, नतु सर्वदा । स्वे महिम्नि स्वपूर्णानन्दे ।
इयं च सृष्टिरूपा माया, नतु मुख्या लक्ष्मीर्ब्रह्मा-
नन्दरूपापि । तस्या एवांशो मायेति न कश्चिद्वि-
रोधः । यतो भगवान् । ननु समशो भवतु, तत्रापि
को विशेष इति चेत्, तत्राह अधीश इति । त्रयाणां
गुणानां तत्कार्याणां चाधीशः । नहोशितव्यंरी-
श्वरो रमते । तर्हि त्वमपि भगवति वा स्वस्मिन्
वा रमसे । अतः साम्यमेवोचितमिति चेत्, तत्राह
क्वाहं गुणप्रकृतिरिति । मम तु प्रकृतिर्गुणाः । भग-
वतस्तु परमानन्दः । यथैको मृण्मयेन व्यवहरति,
अपरः सौवर्णेनेति । अतः स्वरूपरमाणमपि ममा-
प्रयोजकम् । भगवत्यपि रमणं कश्चिदपि परि-
च्छिन्नत्वान्ममैकदेशेनेव ! न हि परिच्छिन्नः



रमण करते हैं पूर्ण रमण तो वहाँ ही है, किसी अंश से, कदाचित् ही कार्य में रमण करते हैं, इस कारण से ही उसके कार्य घट आदि भी कभी ही उनमें व्यापार वाले होते हैं, न कि हमेशा, अपने पूर्ण आनन्द में तो सर्वदा पूर्ण रमण है तब घट आदि को यों व्यापार वाले कैसे वा क्यों करते हैं ? इस पर कहती है कि यह 'सृष्टि' रूपा माया है न कि मुख्य ब्रह्मानन्द रूपा लक्ष्मी है, उसका ही अंश रूप 'माया' है, इसलिये कोई विरोध नहीं है, क्योंकि भगवान् हैं, समान जैसा हो ! उसमें भी कौनसी विशेषता होगी ? यदि यों कहो तो, वहाँ कहती है, कि भगवान् तीन गुणों के तथा उनके कार्यों के भी स्वामी हैं जिनके ईश्वर हैं, उनसे ईश्वर रमण नहीं करते हैं, तो तू भी भगवान् में वा अपने में रमण करती है, अतः समानता मानना ही उचित है, यदि यों कहो तो उत्तर देती है, 'कहाँ गुण प्रकृति' में गुणों की प्रकृतिवाली कहाँ ? और परमानन्द स्वरूप भगवान् कहाँ ? जैसे एक मृत्तिका से खेलता है और दूसरा सुवर्ण से, अतः स्वरूप रमण भी मेरा बिना प्रयोजन वाला है, भगवान् में मेरा रमण भी परिच्छिन्न होने से क्वचित् एक देश से ही होता है जो परिच्छिन्न है वह सर्वथा व्याप्त होने के योग्य नहीं होता है, विद्वां, कार्य द्वारा भी मेरा हीनत्व ही है, क्योंकि मेरे सेवक बहुत हैं, किन्तु मूर्ख हैं कारण कि संसार रूप मुक्त माया को चाहना वाले हैं बहुत मूर्ख आश्रय करें उनसे महत्व नहीं होता है, किन्तु थोड़े भी सुज्ञ आश्रय करें तो महत्व बढ़ता है, जैसे बहुत मक्खियाँ किसी गन्दे पदार्थ का आश्रय करें तो वह उत्तम नहीं हो जाता है, किन्तु एक ही उत्तम किसी साधारण का आश्रय करे तो वह उत्तम हो जाता है जैसे भगवान् गरुड़ का आश्रय करते हैं, तो गरुड़ का महत्व हो गया है भगवच्चरणारविन्द के ग्रहण करने से दोषों का अभाव भी कहा है, इससे यह बताया है कि दूसरे मेरे सेवक ही हैं, इसलिये मेरे समान नहीं हो गये हैं, इससे दूसरों की समानता मान कर जो भगवान् ने कहा था, उसका भी निवारण कर दिया है ॥३४॥

आभास—एवमभमपदं व्याख्याय, 'राजभ्यो बिभ्यत' इत्यर्धेन यद्भूयं निरूपितम्, तदपि तथैवेति व्याचष्टे सत्यमिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार असम पद की व्याख्या कर, अब 'राजभ्यो बिभ्यत' इस आगे श्लोक से जो भय निरूपण किया, वह भी वैसे ही है यो 'सत्यं' श्लोक से वर्णन करती है ।

श्लोक—सत्यं भयादिव गुणोभ्य उरुक्रमान्तः

शेते समुद्र उपलम्भनमात्र आत्मा ।

नित्यं कदिन्द्रियगणैः कृतविग्रहस्त्वं

त्वत्सेवकं नृपपदं विधुतंतमोऽन्धम् ॥३५॥

श्लोकार्थ— हे उरुक्रम ! आपने कहा कि राजाओं से डरकर मैंने चिद्रूप समुद्र के भीतर शरण ली है, वह भी सत्य है, आपने कहा कि हमने बलवानों से शत्रुता की

है, वह भी सत्य है, राज्यासन छोड़ा है, वह भी सत्य है; क्योंकि विषयासक्त बलवान इन्द्रियों से आप बैर रखते ही हैं, पापमूल जो अज्ञान रूप राज्यासन तुम्हारे सेवक हो जब छोड़ बैठे हैं तो आपने छोड़ा इसमें क्या आश्चर्य है ? ॥३५॥

सुबोधिनी—रजसो धर्मा राजसा राजानः ।
ते हि निरन्तर प्रकृत्यैकस्वभावाः । तेषु विद्यमानेषु
न कदाचिदप्यात्मसुखस्फूर्तिः । 'सुखमस्यात्मनो
रूपं सर्वहोपरतिस्तनु'रित्येव विवृतम् । अतः
स्वानन्दानुभवे रजस्तमःप्रधानान् गुणान् परित्य-
ज्य, समुद्रे मुद्रासहिते यत्र गुणानां प्रवेशो न
भवति, तादृशे उपलम्भनमात्रे केवले चिद्रूपे ।
ज्ञानं हि मायानिबन्धकं भवतीति । तत्राप्यन्तः
यथा दूरार्द्धे न कोऽपि पश्यति, तद्वन्तः सन्
आत्मा सूक्ष्मो व्यापको भूत्वा तदात्मकः सन् व्या-
प्नोतीति च ज्ञापयितुमप्यात्मपदम् । ते त्वकि-
ञ्चित्करा इति भयादिवेत्युक्तम् । तत्र हेतुः उरु-
क्रमेति । यथाश्रुतमग्रे निराकरिष्यते । अनेनात्रापि
द्वारकायां आत्मरमणार्थमेव स्थीयत इति गुण-
रूपेभ्यस्तेभ्यः पलाय्य समागमनं युक्तमिति सम-
र्थितम् । यदप्युक्तं 'बलवद्भिः कृतद्वेषा'निति,
तदपि सत्यमेव । व्याचष्टे नित्यमिति । कदि-
न्द्रियाणां कुत्सितेन्द्रियाणां गणो येषु । सर्वाण्ये-
वेन्द्रियाणि बहिर्मुखानीति । ते हि बलवन्तो
भवन्ति अदान्तैरिन्द्रियोः । वस्तुतस्तु दुर्बला एव,

इन्द्रियपरवशत्वात् । ते हि दुष्टाः काला इव स्प्र-
क्ष्यन्तीति तद्वत् न ग्राह्यमिति । वैदिकप्रकारेण
कदाचित्ते यज्ञं कुर्युरिति, 'न द्विषतोऽन्नमश्नीया'-
दिति तद्वत्तभागाभजनेऽपि न दोष इति, तदर्थं तैः
सह संबंधीव भवान् कलहं करोति । एतदेव दैत्यैः
सह नित्यविरोधे निमित्तम् । 'प्रायस्त्यक्तनृपास-
ना'निति व्याचष्टे त्वत्सेवकैर्नृपपदं विधुतं तमो-
ऽन्धमिति । त्वत्सेवकैरपि तत्पदं त्यज्यते । ततो
क्षयते नृपसिंहासनमधममिति । तस्मिन्नङ्कृष्टे
तत्प्राप्य पश्चात्त्वत्सेवारसमनुभूय तत्परित्यागो
नोपपद्यते । अतो भगवच्चरणसेवातो राज्यमप-
कृष्टमिति सिद्धम् । ततश्चापकृष्टे भगवान्न तिष्ठ-
तीति युक्तमेव । यत्र भगवद्धर्मा अपि न तिष्ठन्ति,
तत्र कथं भगवांस्तिष्ठेत् । यत्र कमलादेर्गन्धोऽपि
न सम्भाव्यते, तत्र कमलस्थितिरिव । स्पष्टं तदु-
क्तं दोषमाह तमोऽन्धमिति । तत्रोपविष्टोऽन्धो
भवतीति । तप इव सद्विरोधी च भवतीति ।
प्रायःपदं लौकिकदृष्ट्या अपेक्षितमिति न निरा-
कृतम् ॥३५॥

व्याख्यानार्थ— राजा लोग रजोगुण के धर्म वाले होने से राजस होते हैं, वे सदैव प्रवृत्ति करने के स्वभावों वाले रहते हैं, उन स्वभावों के रहते हुए कभी भी आत्म सुख को स्फूर्ति नहीं होती है, जिसमें सर्व प्रकार की इच्छाओं का शमन हो, ऐसा आत्मा का स्वरूप हो जावे वह सुख है, अतः रजो और तमोगुण जिनमें प्रधान हैं, उन गुणों का परित्याग कर, जहाँ गुणों का प्रवेश नहीं होता है, वैसे मुद्रा सहित केवल चिद्रूप में आप स्थिति करते है, जो माया को मिटावे, वह ज्ञान है, उसमें भी जैसे अन्दर दूर से कोई भी नहीं देखता है, वैसे आत्मा लीन हो तथा सूक्ष्म एवं व्यापक तद्रूप हो, व्याप्त होता है, यों जताने के लिए भी 'आत्मा' पद दिया है। वे तो न कुछ करने वाले हैं, इसलिए 'भयादिव' पद कहा है, उसमें कारण 'उरुक्रम' कहा, जैसे सुना है, वैसे आगे निराकरण करेंगे, इससे यहाँ द्वारका में भी आत्मरमण के लिए स्थिति की है, इसलिए उन गुण रूपों से भागकर यहाँ आना योग्य हो है, यों समर्पण किया है। यह जो कहा मैंने बलवानों से द्वेष किया है वह भी सत्य है, बहिर्मुख सब इन्द्रियों के गण कुत्सित एवं बलवान हैं, वास्तव में दुर्बल है; क्योंकि वे गुण इन्द्रियों के

आधीन हैं, वे दुष्ट कौश्रों के समान छूते हैं, अतः उनका दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए, कदाचित् वे वैदिक प्रकार से यज्ञ करें, तो भी उनका दिया हुआ ग्रहण नहीं करना चाहिए; क्योंकि शास्त्र में कहा है कि 'न द्विषतोऽन्नमश्रीयात्' शत्रु का अन्न नहीं खाना चाहिए, उसका दिया भाग काम में न लाने में कोई दोष नहीं है, इसलिए उनके साथ आप हमेशा कलह करते हैं। यह ही दैत्यों से नित्य विरोध करने में कारण है, आपने राज्यासन प्रायः छोड़ दिया है, इस पर कहती है कि आपके सेवकों ने ही इस राज्यासन को अज्ञानान्ध रूप कह त्याग दिया है, इससे समझा जाता है कि राजाओं का सिंहासन अधम है। उसे उत्कृष्ट समझ उसको ग्रहण कर अनन्तर आपकी सेवा के रस का अनुभव कर बाद में उसका त्याग करना योग्य नहीं लगता है, अतः आपको चरणारविन्द की सेवा से यह राज्यासन अधम है, यह सिद्ध हुआ। इस कारण से अधम स्थान में भगवान् नहीं ठहरते हैं, यह योग्य ही है, जहाँ भगवान् के धर्म ही नहीं ठहरते हैं, वहाँ भगवान् स्वयं कैसे ठहरेंगे? जहाँ कमलों के गन्ध की सम्भावना भी नहीं है, वहाँ कमलों की स्थिति कैसे होगी? उसमें जो दोष हैं, वह स्पष्ट कहते हैं कि 'तमोऽन्धम्' वहाँ रहने वाला अन्धा होता है, तम की तरह वह सत् का विरोधी होता है। 'प्रायः' पद लौकिक दृष्टि से अपेक्षित था, इसलिए उसका निराकरण नहीं किया है ॥३५॥

आभास—यत्कार्ये कारणदोषमङ्गीकृत्य प्रवृत्तौ दूषणं द्वयं हेतुत्वेनोक्तं 'अस्पष्टवर्त्मनां पुंसामलोकपथमीयुषा'मिति, तदपि सत्यमिति व्याचष्टे त्वत्पादपद्मेति ।

आभासार्थ—जिस कार्य में कारण दोष का अङ्गीकार कर प्रवृत्ति में दो दोष 'शुद्ध राह में न चलना और लोक पथ से विपरीत पथ पर चलना' दिखाया, वह भी सत्य है। इसका उत्तर 'त्वत्पादपद्म' श्लोक से देती है।

श्लोक—त्वत्पादपद्ममकरन्दजुषां मुनीनां
वर्त्मास्फुटं नृपशुभिर्ननु दुर्विभाव्यम् ।
यस्मादलौकिकमिवेहितमोश्चरस्य
भूमस्तवेहितमथो अनु ये भवन्तम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—आपने कहा हमारा मार्ग जानने में नहीं आता है, यह भी सत्य ही है; क्योंकि आपके चरण कमल के मकरन्द का सेवन करने वाले मुनियों का आचरण भी पशु तुल्य मनुष्यों को समझ में नहीं आता है तो आपका आचरण कैसे समझ में आ सकेगा? आपका मार्ग लोक से विलक्षण है, यह भी सत्य है, कारण कि जो लोक आपका अनुसरण करते हैं, उनका मार्ग भी लोगों से पृथक् है तो आप ईश्वर का मार्ग निराला अलौकिक हो, जिसमें कहना ही क्या है ॥३६॥

सुबोधिनी—'सीदन्ती'ति तु फलमग्रे विवेचनीयम् । तव मार्गो न स्पष्ट इत्यास्ताम् । ये त्व- | चरणरजसा जातदेहाः, त्वच्चरणरजोभिलाषिणो वा, त्वामुपासते, तेषामपि वर्त्मास्फुटम् । स्फुटत्वे

तु तैः प्रतिबन्धान्न मननं सिध्यति । यथा कालं वञ्चयित्वा भगवान् भक्तान् नेष्यत्यभिप्रेतानेव, तथा तेऽपि गुप्ताश्चरन्तीति त्वदुपासकाः कर्मिणोऽपि गुप्ता भवन्ति । सुतरां चरणोपासकाः ज्ञानिनः, सुतरामपि पादपद्मोपासका भक्ताः । तत्रापि भक्तिरसाभिज्ञाः मकरन्दनिषेवकाः तं रसमन्यो ग्रहीष्यतीति । अतो ब्रह्मविसदृशाचरणात्तेषामपि 'मार्गो न स्पष्टः' । 'अथ मार्ग एषोऽसादृश इति' अस्पष्टवस्मत्त्वं न दोषाय, अपि तु गुणायैव । 'स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्तितः । विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निश्चय' इति वाक्यात् । ननु तथापि लोके प्रसिद्धमेतद्दूषणमिति चेत्, तत्राह नृपशुभिर्ननु द्विविभाव्यमिति । युक्तमेवैतत् । नहि सर्वेऽत्कृष्टो मार्गः ज्ञेयो भवति । तथा सति साधारणः स्यात् । विशिष्टास्त्वत्रापि जानन्त्येव । अन्यथा कथं तत्सेवका भवेयुः । कथं वा तथा कुर्युः । अतो ये नराकाराः पशवः अपुच्छशृङ्गाः, अन्यः सर्वोऽपि व्यवहारः पशुतुल्य एव, तदुद्विभाव्यमेव । नन्विति युक्तमित्यर्थे सम्बोधनम् । तेऽपि विवेकिनश्चेत् । अग्रे ज्ञास्यन्तीति । प्रथमं दुर्विभाव्यत्वं पूर्वपक्षोऽपि । 'अलो-

कपथमीयुषा'मिति लोकवैलक्षण्यमपि दूषणं लोके प्रसिद्धं तत्परिहरति यस्मादलौकिकमिवेति । भगवानलौकिकः भगवद्धर्माश्च । अन्यथा भगवतो न किञ्चित्कार्यं स्यात् । भगवन्मार्गस्य वा । संसारस्यान्यथैव सिद्धत्वात्तन्निवारकं त्वलौकिकमेव । किञ्च । लोकेपि साधारणस्येश्वरस्य च कृतौ वैलक्षण्यं प्रतीयते । न च तद्दोषाय भवति । 'तथा भगवतोऽपि अलौकिकीभव ईहितम्' । ननु तथा सति कार्येषु लोकाः सहाया न भविष्यन्तीति चेत्, तत्राह भूमन्निति । त्वमेव महान्, किं तुच्छैरित्यर्थः । किञ्च । न सर्वथा अलौकिकम्, किन्त्वतिमूढानामेव तदगम्यम् । अन्यथा भगवतः सेवकाः मार्गपारम्पर्यं च न स्यादित्याशयेनाह अथो अनुये भवन्त्यमिति । भगवत्तत्त्वोद्दिष्टं शास्त्रेषु भाववर्णनाज्ज्ञातुमपि शक्यम् । तदीयानां तु सुतरामेवाभिप्रायो न बुध्यत इति भिन्नप्रक्रमः । तस्मादलौकिकेऽपि बहव प्रकाराः सन्तीति लोकवत्तदपि प्रसिद्धम् । तस्माद्यावन्तो गुणा लौकिके, ततोऽप्यधिका अलौकिके इति नैतद्दूषणम्, किन्तु गुण एवेत्यर्थः । साधनस्यादोषत्वे कार्यस्यान्यथात्वं परिहृतमेव, तथाप्यग्रे परिहरिष्यते ॥३६॥

व्याख्यानार्थ— सीदन्ति' इसके फल का तो आगे विवेचन करना है, आपका मार्ग स्पष्ट नहीं है, यों सत्य है । जिनकी देह आपके चरण रज से बनी है अथवा जो आपके चरण रज के अभिलाषा वाले हैं, वे आपकी उपासना करते हैं, उनका भी मार्ग प्रकट नहीं है, प्रकट होवे तो प्रतिबन्धों के होने से मनन सिद्ध नहीं हो सकती है । जिस तरह भगवान् काल को ठग कर प्यारे भक्तों को ले जावेंगे, इसी तरह वे भी गुप्त ही विचरण करते हैं, इसलिए आपके उपासक कर्मी भी छुपे रहते हैं, सुतरां चरण के उपासक ज्ञानी एवं पाद पद्मों के उपासक भक्त भी गुप्त ही घूमते रहते हैं, इनमें भी जो भक्ति के रस को जानते हैं और उसके मकरन्द के सेवन करने वाले हैं, वे तो इस विचार से गुप्त होकर विचरण करते हैं कि उस रस को अन्य कोई ले न जावे, अतः बाहर अन्य प्रकार के आचरण से उनका मार्ग भी प्रकाशित नहीं है, यह भक्ति रस मार्ग ऐसा ही है । इसलिए यदि वह मार्ग छुपा हो तो कोई दोष नहीं है, बल्कि गुण के लिए ही है, अपने-२ अधिकार में जो स्थिति है, वह गुण है, इससे विपरीत होवे तो दोष है, इस वाक्य के अनुसार दोनों का यही निश्चय है । यदि कहो कि तो भी लोक में तो यह दूषण प्रसिद्ध ही है, जिसके उत्तर में कहती हैं कि जो बिना शृङ्ग सींग और पूँछ के मनुष्य के आकार वाले पशु हैं, वे वैसे उत्कृष्ट मार्ग को नहीं जान सकते हैं, यदि वे भी समझ सकें तो उसकी उत्कृष्टता चली जावे, इसलिए जो श्रेष्ठ उत्तमजन हैं, वे यहाँ भी जानते ही हैं, यदि यों नहीं हो तो उनके सेवक कैसे बने ? अथवा यों किस प्रकार कर सकें ? इसलिए नर-पशुओं को ही



यह जानना कठिन है। 'ननु' यों युक्त हैं, इस अर्थ में सम्बोधन है, वे भी यदि विवेकी हैं तो आगे जानेंगे, प्रथम पूर्वपक्ष भी जानना कठिन है। 'अलोकपथमीयुषां' यह लोक से विलक्षणता दोष भी लोक में प्रसिद्ध है, उसका परिहार करती है कि 'यस्मादलौकिकमिव' भगवान् और उनके धर्म अलौकिक हैं ही, यदि न होते तो भगवान् को लोक में कुछ भी कर्त्तव्य नहीं है अथवा भगवन्माग का भी कोई कार्य न होने से आवश्यकता नहीं है। संसार, दूसरे प्रकार से ही सिद्ध होने से, उसका निवारक तो अलौकिक ही है, किंच लोक में साधारण महापुरुष की कार्य में भी विलक्षणता देखने में आती है, वह दोष के लिए नहीं होती है, वैसे ही भगवान् का कार्य भी अलौकिक है, जिसमें किसी प्रकार का दोष नहीं, यदि यों ईश्वर का कार्य विलक्षण होगा तो लोक सहायक न हो सकेंगे। इसके उत्तर में कहती है कि आप 'भूमन्' हैं, आप ही महान् हैं, तुच्छों को सहायता से क्या? और विशेष कहती है कि आपके कार्य सर्वथा अलौकिक नहीं हैं, किन्तु अतिमूर्खों को ही वे जानने में नहीं आते हैं, यों न होवे तो भगवान् के सेवक और मार्ग की परम्परा देखने में न आवे। इस आशय से कहते हैं कि 'अथो अनु ये भवन्तं' भगवान् के कार्य तो शास्त्रों में उनके भाव वर्णन से जाने जा सकते हैं। भगवदीयों का तो सुतरां ही अभिप्राय नहीं जाना जा सकता है, यों यह अलग प्रक्रम (सिलसिला) है, इससे अलौकिक में भी बहुते प्रकीर्ण हैं, इसलिए लोक की भाँति वे भी प्रसिद्ध हैं। इस कारण से लौकिक में जितने गुण हैं, उनसे भी विशेष अलौकिक में हैं इसलिए यह दूषण नहीं है, किन्तु गुण ही हैं। साधन निर्दोष हुआ तो कार्य का सदोष होना स्वतः मिट ही गया, तो भी उसका आगे परिहार होगा ॥३६॥

आभास—यदप्यभजनसम्मत्यर्थं स्वतः परतश्च धनाभावलक्षणं दूषणमुक्तम्, तस्याप्यन्यथार्थं व्याचष्टे निष्किञ्चन इति ।

आभासार्थ—जो भी अभजन की सम्मात के लिए अपने से व पर से धन के अभाव का दूषण दिया है, जिसका भी अन्य प्रकार के भाव को 'निष्किञ्चन' श्लोक से प्रकट करती है।

श्लोक—निष्किञ्चनो ननु भवान्नयतोऽस्ति किञ्चि-

द्यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्त्यजाद्याः ।

न त्वां विदन्त्यसुतृपोऽन्तकमाढ्यतान्धा

प्रेष्ठो भवान्बलिभुजामपि तेऽपि तुभ्यम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—आपने कहा मैं निष्किञ्चन हूँ, वह भी सत्य है; क्योंकि जो कुछ है, वह आपसे निकला है, आप से भिन्न दूसरा कुछ है ही नहीं, इसलिए आप निष्किञ्चन हो ही। इस पद का दूसरा अर्थ जो दरिद्रता होता है, वह बन नहीं सकता है कारण कि दूसरों से बलि लेने वाले ब्रह्मा आदि देव भी आपको बलि देते हैं, तो आप निष्किञ्चन (दरिद्री) कैसे हो सकते हैं? कदापि नहीं और आपने कहा मुझे निष्किञ्चन जन प्यारे हैं, मैं उनको प्यारा हूँ, यह भी यथार्थ है, जिनको देह आदि में

अभिमान नहीं है, वैसे अजादि आपको प्यारे हैं, उनको आप प्यारे हैं और आपने कहा कि समृद्धि वाले भुक्तों नहीं भजते हैं, वह भी सत्य है, वे धनान्व तो धन के अभिमानी आप काल रूप को नहीं जानते हैं, जिससे वे धन से इन्द्रियों को ही तृप्त करने में सलग्न होने से आपका भजन नहीं करते हैं ॥३७॥

सुबोधिनी - निष्किञ्चनपदं योगिकमत्र, न तु रूढं निर्धनार्थम् । योगमाह न यतोऽस्ति किञ्चिदिति । नन्विति निश्चयेनैव । भवान् निष्किञ्चनः । यस्य किञ्चन नास्ति, किन्तु सर्वमेव । यतो हेतोर्वा किञ्चिन्नास्ति, किन्तु सर्वमेवास्ति । यतो भिन्नं वा । अत्रापि ज्ञानोदये सर्वं भगवतः सकाशादल्पमेव भविष्यतीति यतः सर्वं किञ्चिदेवेति नन्वर्थः । अथवा । निरुपसर्गो निर्गतार्थः । यतो भगवतः सकाशात् सर्वमेव निर्गतमिति । नयतः सर्वं प्रापयतो भगवतः सकाशात्किञ्चिदस्त्यर्थः । ननु रूढिं परित्यज्य, किमिति योग आश्रीयते इति चेत्, तत्राह यस्मै बलिं बलिभुजोऽपि हरन्तीति । न हि बाधितोर्थः स्वीकृतुं शक्यते । यथा प्रकरणवशात्सैन्धवादपदेषु युद्धार्थं प्रवृत्तौ, सिन्धुजत्वमेव पुरस्कृत्य, अश्व एव प्रतीयते, न तु लवणम् तथात्रापि बलिभुज इन्द्रादयोऽपि सर्वोपास्या यस्मै बलिं हरन्ति । चरणक्षालने अजः प्रसिद्ध इति तेनापि बलिर्दत्तो भविष्यति । चरणसेवका इति ज्ञापयितुं वा तदादित्वम् । अनेन स्वतो धनाभावपक्षः परिहृतः । परतो धनाभावपक्षे सिद्धान्तमाह न त्वां विदन्तीति ज्ञात्वा हि भजनम् । नन्वज्ञानमपि दोषाभावप्रतिपादकमिति चेत् । सत्यम् । यदि प्रतिबन्धाभावेऽप्यज्ञान भवेत् । अत्र तु त्वदज्ञाने हेतुरस्तीत्याह असुप्तप

इति । प्राणतर्पण एव व्यापृता न जानन्ति । ज्ञापनार्थं प्रयत्ने अवकाशाभावात् । नन्वनावश्यकत्वं तथासति जातमिति प्राणापेक्षया अपकर्षात्, अज्ञानमदोषायेवेति चेत्, तत्राह अन्तकमिति । स हि मारकः सर्वसंहर्ता । अतः सर्वैरेव ज्ञातव्यः । तथाप्यज्ञानं बहिर्मुखत्वादेव । हेत्वन्तरमप्याह अन्तर्गतान्धा इति । आन्ध्रतया अन्धोऽपि न हि चक्षुषि द्रव्यादिना पिहिते कश्चित्पश्यति । तथाऽन्धता सर्वत्र व्यापृता निरन्तरा अन्धत्वमेव सम्पादयति । परिमितमेव गुणो, नत्वपरिमितं धनम् । अजीर्णान्नवत् । अतो ज्ञानाभावात् परतो धनाभावो युक्तः । न ह्यन्धत्वापादकं धनं भवति । यदप्युक्तं 'निष्किञ्चनजना एवास्माकं प्रियाः, नत्वाढ्या' इति स्वरुचिनिर्माणम्, तदपि युक्तमेवेत्याह प्रेष्ठो भवानिति । बलिभुजां विरक्तानां देवानां वा भवान् प्रियः, पुरुषार्थसाधकत्वात् । अपिशब्देनोभये सङ्गृहीताः । तदनुगामिनश्च । तेऽपि तुभ्यं त्वदर्थमेव जातास्तव प्रियाः । यो हि यदर्थमेवोत्पद्यते, स तु तस्य प्रियः । नात्रार्थशब्दो निवृत्तिवाचो । अतोऽन्योन्य प्रियत्वात् निष्किञ्चना एव जनाः प्रियाः, न तु धनवन्तः, पुरुषार्थापेक्षाभावात् । अतदर्थत्वाच्च । अनेन 'तस्मात्प्रायेण न ह्य' ऋत्या' इत्यभजनं समर्थितम् ॥३७॥

व्याख्यानार्थ - यहाँ 'निष्किञ्चन' पद योगिक है, न कि 'निर्धन' अर्थ वाला रुढ़ि, योगिक अर्थ कहते हैं कि 'न यतोऽस्ति किञ्चित्' निश्चय से ही आप निष्किञ्चन हैं जिसका कुछ नहीं है परन्तु सर्व ही है, जिससे भिन्न कुछ नहीं है, उसका तात्पर्य है, कि अन्य वस्तु न होने से उनका कुछ नहीं और सर्व आप ही भिन्न कुछ नहीं है इसलिये सर्व आप ही हैं, वा आपका ही है, जब ज्ञान का उदय होता है उस समय में भगवान् से सर्व जो कुछ भी है वह अल्प ही दीखता है, यह 'ननु' पद कहने का भाव है, अथवा 'निष्किञ्चन' पद में 'निर्' उपसर्ग निकलने के अर्थ में है जिससे इस पद का अर्थ होता है

कि जो कुछ है वह सर्व भगवान् से ही निकला है; 'नयतः' पद देकर अर्थ करते हैं कि जो कुछ है वह सब भगवान् के पास से ही प्रकटा है, 'ननु' शङ्का होती है कि रुद्धि को छोड़ कर योगार्थ क्यों लेती हो, जिसके उत्तर में कहती है कि, जिसको बलि लेने वाले भी बलि देते हैं, बाधित अर्थ हो तो स्वीकार नहीं किया जाता है, जैसे प्रकरण वश जब युद्ध के समय कोई कहे कि 'सन्धव' ने आग्री तो वहां सन्धव का अर्थ अश्व किया जावेगा न कि नमक, और घोड़ा ही लाया जायगा, वंसे ही यहां भी, सब जिनकी उपासना करते हैं, ऐसे बलि लेने वाले इन्द्र आदि भी जिनको बलि देते हैं, ब्रह्मा ने चरणों को धोया, यह कथा प्रसिद्ध ही है, जिससे उसने भी बलि दी, अन्न आदि कहने से सब का चरण सेवकत्व बना दिया, यों वह कर स्वतः धन का अभाव है यह पक्ष मिटा दिया, अर्थात् आप दरिद्र नहीं हैं पद से घनाभाव के पक्ष में सिद्धान्त कहती है, 'न त्वां विदन्ति' जान कर ही भजन किया जाता है, शङ्का होती है कि अज्ञान भी दोष' प्रतिपादक है यदि यों कहा जाय तो सत्य है जिसका उत्तर यह है कि यदि प्रतिबन्ध न होने पर भी अज्ञान रहे तो वह अज्ञान, दोष प्रतिपादक है, यहां तो आपके अज्ञान में 'अमृत्युः' हेतु है, जो प्राणों का ही पोषण कर रहे हैं, वे आपको नहीं जानते हैं, जानने के लिये प्रयत्न करने का उनको अवकाश नहीं है, प्राणों से इस ज्ञान के प्रयत्न करने को कम समझते हैं, जिससे अनावश्यक जानते हैं प्राणों की रक्षा आवश्यक जानते हैं, इसलिये अज्ञान हो तो कोई दोष नहीं यदि यो है तो इसका उत्तर देती है कि 'अन्तकं' वह भगवान् ही सब का संहार करने वाले हैं, अतः सब को उसके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये अतः अज्ञान दोष है, 'अज्ञानं' बहिर्मुख होने से ही होता है, दूसरा हेतु देते हैं, कि धन के अभिमान से अन्ये हो गये हैं, द्रव्य आदि के अहङ्कार से आँखे बन्द हो जाने से कोई देख नहीं सकता है यदि अभिमान सर्वत्र फैल जाता है तो वे निरन्तर सदैव अन्ये ही हो जाते हैं, गुण परिमित हैं न कि धन अपरिमित है, अजीर्ण हुए अन्न की तरह है, अतः ज्ञान के अभाव से, परतः धन का अभाव उचित ही है, धन अन्धत्व करने वाला नहीं होता है, आपने जो कहा है कि निष्किञ्चन जन ही मुझे प्यारे हैं न कि धनी अभिमानी प्यारे हैं यों अपनी रुचि के अनुसार निरूपण किया है, यह आपका कहना भी उचित है, क्योंकि बलि लेने वालें, विरक्त और देवों के पुरुषार्थों के साधक होने से आप उनको प्रिय हैं 'अपि' शब्द से दोनों लिये हैं, एक उपरोक्त और दूसरे उनके अनुगामी, वे भी आपके लिये उत्पन्न होने से आपको प्यारे हैं, जो जिसके लिये उत्पन्न होता है, वह तो उसको ही प्यारा लगता है, यहाँ 'अर्थ' शब्द निवृत्ति वाला नहीं है, अतः परस्पर प्रिय होने से निष्किञ्चन जन ही प्यारे होते हैं न कि धनवान प्रिय होते हैं, क्योंकि उनको पुरुषार्थ की कुछ अपेक्षा नहीं है, और तदर्थ न होने से, इससे 'तस्मात्प्रायेण न ह्यः' इस श्लोक से यह सिद्ध कर बताया कि धनिक अभिमानी भजन नहीं करते हैं, यह समर्थन कर बताया । ३७।

आभास—यदुक्तं भगवता 'ययोरात्मसमं वित्त'मिति विवाहयोग्यत्वाय, तत्र निर्णयमाह त्वं वै समस्तपुरुषार्थमय इति ।

१—पुस्तक में 'दोषाभाव प्रतिपादकम्' छपा है, और नीचे फुट नोट में 'दोषप्रतिपादकम्' छपा है,

२—पुस्तक में 'प्रदोषाय' और फुट नोट में 'दोषाय' छपा है ।



आभासार्थ—यह जो भगवान् ने कहा कि जिनकी धनादि से समानता हो उनका परस्पर विवाह होगा चाहिये, इस विषय में 'त्वं वै' श्लोक से निर्णय कहती है।

श्लोक—त्वं वै समस्तपुरुषार्थमयः फलात्मा

यद्वाञ्छया सुमतयो विसृजन्ति कृत्यम् ।

तेषां विभो समुचितो भवतः समाजः

पुंसः स्त्रियाश्च रतयोः सुखदुःखिनोर्न ॥३८॥

श्लोकार्थ—आप (भगवान्) ने कहा कि असमानों में परस्पर विवाह नहीं होना चाहिए, यह भी सत्य है; क्योंकि आप पुरुषार्थ रूप और फलात्मा हैं, ऐसा जानकर तट्टिमान लोग आपकी इच्छा से अन्य सर्व कृत्य छोड़ देते हैं। हे प्रभो! उनका आप से सम्बन्ध होना उचित हो है, परन्तु सुख-दुःख से व्याप्त और परस्पर प्यार की ग्रन्थि बाँधे हुए पामर स्त्री-पुरुषों से आपका सम्बन्ध होना योग्य नहीं है ॥३८॥

सुबोधिनी—पुरुषार्थश्चेद्धर्मादिर्भवेत्, उभयातिरिक्तः, तत्र जन्मादयः पञ्च विचारणीयाः। क्षेत्रबीजयोर्वैजात्ये फलानुत्पत्तेः। नतु फलसाधन-योजन्मादिकं तुल्यमपेक्ष्यते। अतो लौकिकदृष्ट्या यो भवन्तं साधनत्वेन मन्यते, तं प्रत्येवैषा वाचो-युक्तिः, नत्वस्मान् प्रतीति असमतयाऽविवाहकथनं न मां प्रति न त्वा प्रतीति प्रकरणादिदं वाक्यमु-त्कर्षमेवाहंति। नतु प्रकरणे केनाप्यशेन सम्बध्यत इत्यभिप्रायेणाह। त्वं सर्वपुरुषार्थमयः। धर्मादयः पुरुषार्थाः त्वदवयवेषु वर्तन्ते। यथा गङ्गायां जलम्। ततोऽपि गङ्गा महती, तथा भवानिति मयडर्थः। साधनैः साधितास्तत्र भविष्यन्तीत्या-शङ्क्याह फलात्मेति। पुरुषार्थाः साधनरूपा अपि भवन्तीति साधनफलरूपत्वं वा प्रतिपाद्यते। सर्वेषामेव वा फलानां त्वमात्मा। नहि परमानन्दे कश्चित् स्वाधिकारो नास्तीति विलम्बते। भग-वतः फलत्वं साधनत्वं चार्षज्ञानेनोक्त्वा लौकिक-बुद्ध्या तदनङ्गीकारं मत्वा तेषामप्यनुग्रहाय युक्तिमाह यद्वाञ्छयेति। फलाकाङ्क्षायामेव विरुद्धानां च परित्यागः, साधनानां च ग्रहणम्, नतु फलयोः अन्यफलाकाङ्क्षया। न ह्यन्यत्फलं त्य-

ज्यते, वैषम्यादेकस्य सिद्धत्वादपरस्यासिद्धत्वात्, अतो राज्यं न फलम्, नापि फलसाधनम्, तदुच्यते यद्वाञ्छयापि त्यज्यत इति। ननु तथापि राज्य-मौहिकं फलं भवतीति तत्परित्यागे भ्रान्तत्वं स्था-दित्याशङ्क्याह सुमतय इति। कृत्यं कर्तव्यम्। साधनसाध्यरूपत्वात् भगवतः स एव ग्राह्यः नत्व-न्य इति कृत्यं छेदनमर्हतीति सुमतित्वे हेतु-प्युक्तः। अतस्त्वदर्थमेव ये सिद्धाः, तेषां तव च समाजो युक्त इत्याह तेषामिति। यद्यपि मंत्री विवाहश्च तेष्वपि न सम्भवति, तथाप्येकगोष्ठ्यां सम्बन्धमात्रमपि युज्यत इति तन्निरूप्यते। विभो इति सामर्थ्यम्। राज्यादिपरित्यागिनां परमसुकु-माराणां सन्तोषजनने। सम्यगुचितः समाजः राजमन्त्रिणामिव। सर्वथा आनुगुण्यं प्रतिपाद-यितुं दृष्टान्तमाह पुंसः स्त्रियाश्चेति। यथा पुंसः स्त्रियाः समाजः, चकारान्मित्रयोः समानशीलव्य-सनयोः। 'अश्वं न त्वा वारवन्तं' इतिवत् उपमा-र्थवाचकाभावेऽपि निरुक्तादिवोपमार्थत्वमुच्यते। तत्रापि प्रसङ्गं वारयति रतयोरिति। सर्वकेश-रहितत्वे सत्यन्योन्यं प्रीतयोः। प्रीत्यादिसङ्गावेऽपि बाधकं चेद्भवेत्, तदा न भवतीति व्यावर्तयति



सुखदुःखिनोर्नेति । एक सुखी, अपरो दुःखी रोगा- | सुखिनोर्वा समाज उक्तः ॥३८॥
दिना, तयोः कथमपि न समाजः । अनेन दुःखिनोः

व्याख्यानार्थ — भगवान् तो पुरुषार्थ रूप ही हैं, यदि धर्म आदि पुरुषार्थ होवे तो स्त्री पुरुष से अतिरिक्त होना चाहिये, वहाँ जन्म आदि पाँच पदार्थों का विचार करना चाहिये, क्षेत्र और बीज समान जाति के न हों तो फल पैदा नहीं होगा, न कि फल और साधन के जन्म आदि की समानता चाहिये, अतः लौकिक दृष्टि से ही जो आपको साधनरूप मानते हैं उनके लिये ही इस वाणी की युक्ति है, न कि हम लोगों के लिये है, असमान से विवाह न करना यह युक्ति आपके और हमारे लिये नहीं है क्योंकि साधन प्रकरण से ही यह वाक्य उत्कर्ष के योग्य है, न कि इस फल प्रकरण में किसी भी अंश से सम्बन्ध रखता है, क्योंकि आप ही सर्व पुरुषार्थ रूप हैं, धर्म आदि पुरुषार्थ आपके अवयवों में रहते हैं, जैसे गङ्गा में जल, जल से गङ्गा महान् है, वैसे ही आप पुरुषार्थों से महान् है, इसलिये 'पुरुषार्थमय' पद में मयट् प्रत्यय दिया है, पुरुषार्थ, साधनों से वहाँ सिद्ध होंगे ? यह शङ्का कर उत्तर देती है कि 'फलात्मा' पुरुषार्थ साधनरूप भी होते हैं, यों साधन और फल रूप का प्रतिपादन किया जाता है, अथवा सब फलों की आत्मा आप हैं यों भी नहीं है, कि परमानन्द में कुछ भी अपना अधि-कार नहीं है, इसलिये विलम्ब करते हैं, आर्ष ज्ञान से यह बताया, कि भगवान् ही साधन तथा फल हैं लौकिक बुद्धि से उनको न मान कर, उनके भी अनुग्रह के लिये युक्ति कहती है, 'यद्वाञ्छया' जब फल प्राप्त करने की इच्छा होती है, तब उसकी प्राप्ति में जो विरुद्ध कर्म हैं, उनका त्याग करना पड़ता है और साधनों को ग्रहण किया जाता है न कि अन्य फल की इच्छा से सिद्ध हुए फलों का त्याग किया जाता है, फलों में विषमता है क्योंकि एक सिद्ध है दूसरा सिद्ध नहीं है, इस कारण से जो सत्य सिद्ध फल है उसका त्याग नहीं किया जा सकता है, अतः राज्य न फल है और न साधन है, इसलिये कहा है कि जिस फल की प्राप्ति की इच्छा से राज्यादि को छोड़ दिया जाता है, शङ्का होती है, कि राज्य ऐहिक फल तो है, उसके त्याग से क्या भ्रान्तपन होगा ? जिसके उत्तर में कहा कि 'सुमतया' जो राज्यादि का त्याग करते हैं, वे ज्ञानी हैं, अतः भ्रान्त नहीं होते हैं, अब सुमतिपन में हेतु कहती है कि, कर्त्तव्य, साधन और साध्यरूप होने से भगवान् को वह ही ग्रहण करता है न कि दूसरा कोई, इस-लिये कृत्य का भावार्थ छेदन है, संसारासक्ति को तोड़ डालना, अतः आपके लिये ही जो, संसार तोड़ कर आपकी शरण लेकर सिद्ध हुवे हैं, उनका और आपका समाज ही उचित है, यद्यपि मैत्री और विवाह उनमें भी नहीं बन सकता है, तो भी एक गोष्ठो में सम्बन्ध मात्र भी बन जाता है, इसलिये वह निरूपण किया जाता है, हे विभो ! संबोधन से सामर्थ्य प्रकट किया है, राज्य आदि का त्याग करने वाले, बहुत सुकुमारों के सन्तोष करने में यह समाज राज मन्त्रियों के समान अच्छी तरह उचित है, सर्व प्रकार उनकी समानता प्रतिपादन करने के लिये दृष्टान्त देती है, 'पुंसः स्त्रियाश्च' जैसे पुरुष और स्त्री का समाज, 'च' पद से समान शील और व्यसनवाले मित्रों का समाज, 'अश्वं न स्वा वारवन्त' इस वाक्यानुसार, उपमार्थ को कहने वाले पदों के अभाव होते हुए भी निरुक्त की तरह उपमार्थत्व कहा जाता है, वैसे यहाँ भी, वहाँ भी प्रसङ्ग को 'रतयोः' कह कर निषेध करती है । सर्व प्रकार के क्लेश रहित होने पर, परस्पर प्रेम वाले, यदि प्रेम आदि होते हुए भी बाधक हो पड़े

तो, तब नहीं होता है, सुखदुःखितोर्त' एक सुखी है, दूसरा रोग आदि से दुःखी है, उनका समाज रस-जनक नहीं बन सकता है, इससे दोनों सुखी अथवा दोनों दुःखी हो तो समानताओं में समाज बनता है ॥३८॥

आभास—यदप्युक्तं 'भिक्षुभिः श्लाघिता मुधे'ति अज्ञानसमर्थनार्थम्, तत्रापि निर्णयमाह त्वं न्यस्तदण्डमुनिमिरिति ।

आभासार्थ—यह भी जो आपने कहा कि भिक्षुओं ने व्यर्थ मेरी अज्ञान समर्थनार्थ बड़ाई की है, इस विषय का भी त्वं न्यस्तदण्डश्लोक से निर्णय देती है ।

श्लोक — त्वं न्यस्तदण्डमुनिभिर्गदितानुभाव

आत्मात्मदश्च जगतामिति मे वृतोऽसि ।

हित्वा भवद्भ्रुवन्मदीरितकालवेग-

ध्वस्ताशिषोऽजभवनाकपतीन् कुतोऽन्ये ॥३९॥

श्लोकार्थ—आपने कहा हमें भिक्षुक व्यर्थ में सराहते हैं, किन्तु वे साधारण भिक्षुक नहीं हैं, किन्तु जो सर्व त्याग कर सन्यास ले मुनि हुए हैं, वे आपकी प्रशंसा करते हैं, आपने कहा तुमने मुझे भूल से वरा है, किन्तु मैंने भूल से नहीं बल्कि उनको वरा है, जो आत्मा रूप से सबको प्रिय लगते हैं और जो आत्मा का दान भी करते हैं, आप हो वह हैं, ऐसा जान आपको वरा है । मैंने बहुत आगा-पीछा विचार कर और आपके स्वरूप को पहचान कर वरा है, दूसरों की तो बात ही क्या ? परन्तु ब्रह्मा, शिव इन्द्रादि भी जिनकी भ्रुकुटी से प्रेरित काल के वेग से नाश हो जाते हैं, ऐसे आपको जानकर, उनको छोड़, आपको वरा है ॥३९॥

सुबोधिनी—भिक्षुभिः परमहंसैरिति व्याख्येयम् । मुधेति फलाकाङ्क्षारहितैश्च । अन्यथा नारदादिषु लौकिकभिक्षुकत्वाभावात् श्लाघितार्थता स्यात् । अन्ये च भिक्षवः न श्लाघां कुर्वन्ति । तदाह । न्यस्तो दण्डो भूतेषु योः । अनेन दोषाभाव उक्तः । ते च ते मुनयश्चेति गुणाः । व्यक्ताण्या आराक्षवचनं (उक्तः) अनुभावो यस्य । श्लाघामात्रं न किन्तु यथा कृतं तथेत्यनुभावपदेनोच्यते । तत्त्वानुभवसिद्धं तेषाम् । अन्यथा कथं तादृशा जाताः । अतस्तत्पां वचनं सार्थकमिति तद्वाक्यैर्जा

त्वा भवान् सम एव वृतः । समत्वे हेतुरात्मेति । यथा बहिर्दृष्टी समत्वापादका जन्मादयः, तथा-न्तर्दृष्टावात्मत्वमेव । न हि कस्यचिदपि स्वात्मानं समः । तर्हि वरणेन किमित्यत आह आत्मदश्चेति । जीवः खण्डितात्मान एव स्थिताः । तेषामात्मानं स्वत्मानं वा प्रयच्छतीति । अनेन त्वं स्वात्मानं दास्यसीति ज्ञात्वा एव मया वृत इत्युक्तम् । चकाराद्धर्मादीनपि । नन्वहं कथं तव त्मेत्याशङ्क्य साधारण्येनाह जगतामिति । इति बुद्ध्यैव वृतः । अत एव तेषां परित्यक्ता इत्याह हित्वा भवद्भ्रु-

अब उदारितकालवेगध्वस्ताशिष इति । न केवलं मयेदानीमेव भवान् वृतोऽन्यपरित्यागेन, किन्तु पूर्वमेव लक्ष्मीस्वयंवरे अब्जभवनाकपतिप्रभृतीन् परित्यज्य जन्मैश्वर्योत्कर्षयुक्तान् भवानेव वृत इति सम्बन्धः । तेषां परित्यागे हेतुमाह । भवतो भ्रूः कालजनिका, तस्याः सम्बन्धी, तेनैवोदीरितो यः कालः, तस्य वेगेन ध्वस्ताः आशिषो येषाम् । क्षणमपि विसम्मतौ भ्रूवक्रतायां सर्वनाश एव

तेषां भवतीति किं तेषां वरणेन । नहि मुमूर्षुः कयाचिद्व्रियते । ब्रह्मादीनामेव चेदियमवस्था, कुतोऽन्ये वरणयोग्या भवन्तोत्याह कुतोऽन्ये इति । अतो ज्ञात्वैव भवान् वृतः । नाप्यन्ये वरणीयाः । अन्यद्भगवदुक्तं नास्माकं बाधकम्, उदासीनत्वं च आत्मात्मदत्त्वेन अस्मदिष्टमेव । अहमपि तथा भविष्यामीति ॥३६॥

व्याख्यानार्थ — 'भिक्षुभि', पद का अर्थ परम हंस करना चाहिये, और 'मुधा' का अर्थ फल की इच्छा रहित करना चाहिये अर्थात् जो सांसारिक फल की इच्छा त्याग परमहंस बने है, वे भिक्षुक हैं यदि यों अर्थ किया जायेगा, तो नारद आदि मुनिओं में लौकिक भिक्षुत्व न होने से आपका कहना बाधित अर्थ वाला हो जायगा और जो दूसरे साधारण भिखारी हैं, वे तो आपका गुण गान नहीं करते हैं, इस विषय को स्पष्ट करते हैं कि जिन परमहंस मुनियों ने भूतों पर भार छोड़ स्वयं दोष रहित हो गये हैं, वे मुनि स्फुट वाणी से गुणों द्वारा आपका प्रभाव प्रत्यक्ष प्रकट कर रहे हैं, केवल बड़ाई नहीं कर रहे हैं, किन्तु जैसा भी किया है, वैसा ही अनुभाव प्रकट कर रहे हैं, वह जो कुछ उन्होंने प्रकट किया है वह उनका अपने अनुभव से सिद्ध है, यदि इस प्रकार अनुभव न किया हो तो, ऐसे मुनि परमहंस कैसे बन सकें, अतः उनके कहे हुए वचन सार्थक सत्य हैं, उनके वचनों से जानकर, आप सम हो इसलिये मैंने आपको वरा है, समान कैसे ? जिसका उत्तर देती हैं, कि आप सबकी आत्मा होने से मेरी भी आत्मा हैं, यह सम में हेतु है जिस प्रकार बाहर की दृष्टि से समानता बताने वाले जन्म आदि हैं, वैसे ही अन्तर्दृष्टि में समता सिद्ध करने वाला 'आत्मपन हो' है, किसी की भी अपनी आत्मा समान नहीं है, यों नहीं है, किन्तु सम ही है, तो फिर वरण की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर देती है कि आप केवल आत्मा नहीं किन्तु आत्मा देने वाले भी हैं, जीव खण्डित आत्मा वाले हैं क्योंकि पूर्ण आत्मा सत् चित् और आनन्द रूप हैं, जीवात्माओं में आनन्दांश तिरोहित होने से वे लब्ध आत्माएँ हैं, उनकी आत्मा को आप अपनी आत्मा, यानि आनन्दांश देते हो । इससे मैंने समझा, आप अपनी आत्मा देंगे, इसलिये मैंने आपको वरा है 'च' शब्द से से यह भी बताया कि अपने धर्मादि भी दोगे ? मैं तुम्हारी आत्मा कैसे ? इसका उत्तर साधारण रीति से देती है कि 'जगताम्' सब की आत्मा हो जिससे मेरी भी हो, इस बुद्धि से ही वरा है, इसलिये उन ब्रह्मादि को भी छोड़ आपको वरा, मैंने ही उनका त्याग कर आपको वरा यों नहीं है, किन्तु मुझ से पूर्व हो लक्ष्मी स्वयंवर में जन्म और ऐश्वर्य आदि से युक्त ब्रह्मा, शिव और इन्द्र आदि को छोड़ लक्ष्मी ने भी आपको ही वरा था, तूने और उसने ऐसा क्यों किया ? जिसका उत्तर देती है कि क्षण भी विसमृति होने से आपके भ्रुकुटि रूप काल के वेगसे ही उनका सर्व नाश हो जाता है, उनके वरण से क्या लाभ ? कोई भी स्त्री जो मरने वाला है उसको नहीं वरती है, जब ब्रह्मा आदि को यह दशा है तो दूसरे 'वरण' योग्य कैसे होंगे, अतः जानकर ही आपको वरा है, दूसरे वरण योग्य भी नहीं है, भगवान्



का कहा हुआ वाक्य हमको वरने में बाधक नहीं है और उदासीनत्व भी बाधक नहीं है, क्योंकि आप आत्मा और आत्मा को देने वाले होने से मुझे (हमको) इष्ट ही हो कारण कि मैं भी वैसी बन जाऊँगी ॥३६॥

आभास—एवं बाधकानि पदानि साधकत्वेन व्याख्याय, वाक्यार्थं चोक्त्वा, यथा-श्रुतं भगवद्वाक्यं लोकदृष्टिपरत्वेऽपि विरुध्यते, तस्माद्वाक्यानि विपरीततया स्वोत्कर्षमेव प्रतिपादयन्तीति वक्तव्यमित्यभिप्रायेणाह जाड्यं वच इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार बाधक पदोंका साधनपन से विवेचन कर और वाक्य का तात्पर्य कह कर, सुने हुए भगवाद्वाक्य लोक दृष्टि से भी विरुद्ध भासते हैं, इससे विपरीत होने से अपने उत्कर्ष ही प्रतिपाद करते हैं, यों कहना चाहिये, इस अभिप्राय से 'जाड्यं वचः' श्लोक कहती है ।

श्लोक—जाड्यं वचस्तव गदाग्रज यश्च भूयान्वि-

द्राव्यं शार्ङ्गनिनदेन जहथ मां त्वम् ।

सिंहो यथा स्वबलिमीश पशून्स्वभागं

तेभ्यो भयाद्यदुदधिं शरणं प्रपन्नः ॥४०॥

श्लोकार्थ—हे गदाग्रज ! शार्ङ्गधनुष के टङ्कार से राजाओं को भगाकर, जैसे सिंह अपना भाग पशुओं को भगाकर ले आता है, वैसे ही मुझे आग ले आए हैं, उनसे डर कर भय के मारे आपने समुद्र की शरण ली है, यह कहना वाणी की ही मूर्खता है ॥४०॥

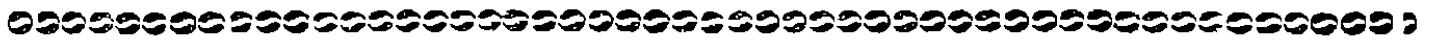
सुबोधिनी—अतः परं पुनः सर्वे श्लोकाः लोक-दृष्ट्यापि विरुध्यन्त इति व्याख्यास्यते । यतो विपरीततया स्वोत्कर्षमेव प्रतिपादयेयुः । तदा ध्वनिपरत्वेन तान्येव वाक्यानि योजितानि भवन्ति । यदुक्तं प्रथमत एव 'राजभ्यो बिभ्यत' इति, तत्रोत्तरमुच्यते । 'मुखं च प्रेमसंरम्भस्फुरिताधरमीक्षितु'मिति भगवतोक्तत्वात्तामसप्रकारेणापि क्रोधाविष्टा वाक्यानि खण्डयतीति पूर्वस्माद्विशेषः । भयं हि जडस्य भवति । जाड्यादेव कम्पो दृश्यते । तत्र भगवति भयहेतोरभावात् वक्तुर्भयवाचकः शब्दः । भट्टानामिव शब्दस्यैव शक्तिद्वयं परिकल्प्य वक्तृत्वं वाच्यत्वं च । सार्थकता सम्पादनीयेत्याह जाड्यं वच इति । वच

एव जाड्यं जडता भीतत्वमिति यावत् । तवेति भेदार्थमसमासः । ननु विद्यमाने वक्तरि मुख्यार्थपरित्यज्य वचो जडता कथं सम्पाद्यत इत्यत आह गदाग्रजेति । यथा गंदोत्पत्तिपर्यन्तं स्वयमभीतोऽपि क्रियां जडां सम्पादितवान् । एवं वाचमप्यत्र तथा सम्पादयति । तेन भगवदिच्छयैव तथा कायिक-वाचिकयोजितत्वात् किञ्चिद्दूषणम् । वच इति वाच इति वचस इति वा छान्दसम् । अथवा । केनचिद्धर्मेण ज्ञानाभावेन लोके जडो भवति । प्रकृते तु जडत्वसम्पादकत्वं वच एव । केवलं वाक्यादेव प्रतीयते जाड्यम् । न त्वर्थत इत्यर्थः । चकारात् । पूर्व बहुधा भगवज्जयं समुच्चिनोति । यस्त्वं भूपान् शार्ङ्गनिनदेनैव विद्राव्य, पशुतुल्यान्

कृत्वा, मां जहृथ । पशव एव हि शब्दमात्रेण पलायन्ते । पूर्ण निनदेनेवाभिभूय समाहृता, पश्चात् युद्धार्थं प्रवृत्ती बलेन सर्वे हता इत्य-विरोधः । ये हि शब्दमात्रेण पलायन्ते, तेन तेभ्यो भयं सम्भाव्यते । शाङ्गं निनदेनेति हेतुरत्रोक्त इति पूर्वा धनुषङ्कारं कृतवानिति लक्ष्यते । राजन्यचक्रं पारभूषेत्यत्र शाङ्गं निनदेनेति योजनीयम् । देवा-दगृहीत्वा अनवहितेषु तेषु समागत इति पक्षं व्या-वर्तयति सिंहो यथेति । बलादग्रहणदोषं व्यावर्त-यति स्वभागमिति । अदत्तस्यापि ग्रहणे दोषाभावं सामर्थ्यं चाह ईशेति । यथा बलुप्तोऽपि भागो दैवैर्न गृह्यते, अहृतश्चेत्, तथेश्वरो न भवती-त्यर्थः । लोके स्वभागस्य बलादपि ग्रहणं दृष्टे-मिति । मां त्वमिति प्रत्यक्षं प्रमाणमुक्तम् । पशू-निति सिंहव्यावृत्तिः । न हि सिंहस्य कन्या सिंहेन बलादग्रहीतुं शक्या । यद्यपि स्वभागरूपा । देवा-

दीनां रक्षाभावाय स्वबलमिति ! स्वार्थमेव देवैः क्लृप्तमिति । यथा सिंहः पशून् विद्राव्य, स्वभाग-भक्षकान् व्याघ्रादीन् नादेनेव निवार्य, स्वभाग-कुम्भस्थलस्यमांसं हरति, एवं निःशङ्कं हतवतः ते कथं भयमिति । भयवाक्यमनुवर्तति, विरुद्धा-र्थमिति वक्तुम् तेभ्यो भयाद्यदुर्दधि शरणं प्रपन्न इति । यस्मात्तेभ्यो भयात्त्वमुदधि शरणं प्रपन्नः, अस्माद्वचो जाह्न्यमित्यर्थः । उत्तरवाक्यगतो यच्छब्दः तच्छब्द न अपेक्षत इति न तच्छब्दाध्या-हारः । पशुनुत्येभ्यो विद्रावितेभ्यो भयवचन बाधितार्थं भवत्येवेति विपरीततयैवार्थो वक्तव्य इति भावः । अनेनैव 'बलवद्भिः कृतद्वेषा' निति व्याख्यातम् । न हि पशवः पलायनपरा बलवन्तो भवन्ति । स्वयमेव त्यक्तनृपासनत्वमुत्कर्ष एव ॥४०॥

व्याख्यार्थ—इसके बाद सब श्लोक लोक दृष्टि से भी विरुद्ध हैं, इसलिए फिर उनकी व्याख्या करती है; क्योंकि वास्तव में वे श्लोक विपरीत व्याख्या से अपना उत्कर्ष ही प्रतिपादन करते हैं, तब वे वाक्य ध्वनि पर होने से उनकी योजना उसी प्रकार से करनी ही चाहिए । पहले ही जो कहा कि राजाओं से डरकर हमने समुद्र की शरण ली है, इसका उत्तर देती है— 'प्रेम प्रकोप से कम्पित अधर वाले मुख को देखने के लिए' यह भगवान् की कही हुई वाणी है, वह तामस प्रकार से क्रोधाविष्ट होकर वाक्यों को खण्ड-खण्ड करती है, इसलिए पहले से विशेष है । भय जड़ को होता है, जड़ता से कम्पन होता है, भगवान् में तो भय के हेतु का अभाव है, वक्ता का शब्द भयवाचक है अर्थात् शब्द में भय रहता है न कि भगवान् में । भट्टों की तरह शब्दों की दो वृत्ति वक्तृत्व और वाचत्व की कल्पना कर वाणी की सार्थकता सिद्ध करनी चाहिए, इसलिए कहा है 'जाह्न्यं वचः' वाणी में ही जड़ता और भीतत्व है न कि वक्ता में जड़ता अर्थात् भय है । 'तव' समास कर नहीं कहा, जिसका कारण है कि भेद दिखाना था यानि वाणी से भय है, वक्ता में नहीं है । 'ननु' शङ्का होती है कि वक्ता उपस्थित है तो भी मुख्य अर्थ को छोड़कर वाणी की जड़ता कैसे प्रतिपादन की जाती है ? इसलिए कहती है कि गदाग्रज ! आप गदाग्रज होने से जैसे गद् की उत्पत्ति तक आपने निर्भय होते हुए भी जड़ क्रिया का सम्पादन किया था, वैसे ही यहाँ वाणी का भी सम्पादन किया है, इससे भगवान् की इच्छा से ही कायिक, वाचिक की उत्पत्ति होने से किसी प्रकार दूषण नहीं है । वच, वाच वा वचस वो छान्दस है अथवा किसी घम से, ज्ञान के अभाव से लोक में जड़ होते हैं, प्रकृत में तो जड़पन का सम्पादकत्व वाणी का ही है, केवल वाक्य से ही भय प्रतीत होता है न कि अर्थ से । 'च' पद से यह सूचन करती है कि भगवान् की बहुत प्रकार से जय हुई है, जो आप शाङ्ग धनुष की ध्वनि से ही राजाओं को



डराकर पशु के समान बताकर मुझे ले आए, पशु ही केवल शब्द से डरकर भाग जाने हैं, प्रथम ध्वनि से ही दवाकर बुलाए थे, पश्चात् पुद्ग के लिए प्रवृत्त होने पर बल से सबको मारा, इसलिए कोई विरोध नहीं है, जो शब्द मात्र से भाग जाते हैं, उनको उससे भय की सम्भावना होती है। धनुष के ध्वनि से ही यह हेतु यहाँ बताया है, जिससे यह जाना जाता है कि पहले धनुष की टङ्कार की है। 'राजन्य चक्रं परिभूय इति' इसमें यहाँ 'शाङ्गनिनदेन' इसकी योजना करनी चाहिए, वे असावधान थे, इसलिए देववश मुझे ले आए, इस पक्ष का खण्डन करती है कि जोसे सिंह बलपूर्वक बलि को ले आता है, वैसे छीन लाना तो दोष है, इसके उत्तर में कहती है कि दोष नहीं है; क्योंकि आप अपना भाग ले आए हो, दूसरे का भाग ले आते तो दोष था, नहीं दिए हुए को लाने में भी आपको दोष नहीं है और आपने इससे अपना सामर्थ्य प्रकट किया, इसको सिद्ध करता है कि 'ईश' आप स्वामी हैं, जो भाग होमा नहीं गया है, वह वलृप्त भाग भी देवता नहीं लेते है। ईश्वर यों नहीं करते है, लोक में अपना भाग बलपूर्वक ले लेना देखा गया है जैसे आप मुझे बलपूर्वक ले आये यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। सिंह पशुओं को ले आता है; क्योंकि वे उसका भाग है, किन्तु सिंह एक सिंह की कन्या को बल से नहीं ला सकता है, यद्यपि अपना भाग है, देवादिकों की रक्षा के अभाव से अपनी बलि है, यों समझ लाए हो, अपने लिए ही देवों से। जैसे सिंह अपना भाग ले जाकर खाने वाले पशुओं को डराकर नाद से ही भगाकर अपना भाग जो गण्डस्थल का मांस है, उसको ले जाता है। इस प्रकार बिना सङ्कोच के निडर हो ले आने वाले आपको भय कैसे? आप विरुद्ध अर्थ को बताने के लिए भय के वाक्यों का केवल अनुवाद करते हैं, उनके डर से आपने समुद्र की शरण ली है, यों कहना केवल वाक्यों का जाड्य यानि अज्ञान है, श्लोक के उत्तर भाग में जो यह शब्द आया है, वह 'तत्' शब्द की अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिए यहाँ 'तत्' शब्द के अध्याहार' की आवश्यकता नहीं है, पशु तुल्य जो डराये गए हैं, उनके लिए भय वचन बाधितार्थ होते हैं, इसलिए विपरीतपन से अर्थ कहना चाहिए, यह भाव है, इस कारण से ही 'बलवद्भिः कृतद्वेषात्' यों कहा है। जो पशु भाग जाते हैं, वे कभी बलवान् नहीं होते हैं, आपने आप ही 'राज्यासन' छोड़ दिया, जिसमें आपका उत्कर्ष ही है ॥४०॥

आभास—यदुक्तं भगवता 'अस्पष्टवर्त्मना'मिति 'तन्मागनुवर्तिनः सीदन्ती'ति, तत्राप्यन्याथप्रतीतेः अवाक्यार्थधीजनकत्वात् ध्वनिप्रकारेणैव निर्णय इत्याह यद्वाञ्छयेति ।

आभासार्थ—भगवन् आपने जो यह कहा कि हमारा मार्ग अस्पष्ट है और उस मार्ग पर चलने वाले दुःखी होते हैं, इन वाक्यों में भी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वाक्य का अर्थ ज्ञानजनक न होने से इसका निर्णय ध्वनि प्रकार से करना चाहिए। वह 'यद्वाञ्छया' श्लोक में कहती है।

श्लोक—यद्वाञ्छया नृपशिखामणयोऽङ्गवैन्य-

जायन्तनाहुषगयादय ऐकपत्यम् ।

राज्यं विसृज्य विविशुर्वनमम्बुजाक्ष

सीदन्ति तेऽनुपवर्षो त इहास्थिताः किम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—आपने जो कहा हमारे मार्ग का जो आश्रय लेते हैं, वे दुःखी होते हैं, यों कहने का भावार्थ अन्य है; क्योंकि राजाओं के शिरोमणि अङ्ग, पृथु, भरत, ययाति, गय आदि राजा आपका भजन करने के लिए चक्रवर्ती राज्य छोड़ वन में गए। हे कमल नयन ! जो आपके मार्ग का इस प्रकार आश्रय लेते हैं, क्या वे दुःखी होते हैं ? नहीं, किन्तु आपके स्वरूपानन्द को प्राप्त करते हैं ॥४१॥

सुबोधिनी—योषित इति पदमुपलक्षकम् । तेन पुरुषा अपि सीदन्तीति वक्तव्यम् । स्त्रीपदम-
प्रौढानन्यवृत्तीति । अवसादस्तत्रैव लयः । भगवान्-
नग्रे गत इति तेन मार्गेण जिगमिषया राज्यादिकं
विसृज्य, राज्यादिभ्यो भगवद्दर्शनं महदिति तद्वा-
ञ्छया नृपशिखामणयः अम्बरीषप्रभृतयः वनं
विविशुः । भगवति समागतेऽपि ते न समागता
इति पूर्वमपि न व्याधुस्त्यागता इति पदवीमन्वेव
अवसन्नाः भगवन्मार्गं एव मार्गप्रदर्शका इव
स्थिताः । अन्यथा भगवन्मार्गो न प्रवर्तते । अतः
अवसादवाक्यं यथार्थम् । तथापि बहव एव प्रव-

र्तन्ति इति न दूषणम् । नन्वेकत्र निरूपणे कृते कथं
सर्वत्र युज्यते, तत्राह ते इहास्थिताः किमिति । ते
अङ्गादयः । अङ्गः पृथोः पितामहः । वैन्यः पृथुः ।
जायन्तो भरतः जयन्त्याः पुत्रः । नाहुषो ययातिः ।
गयः प्रियव्रतवंशजः । एते इह आस्थिताः किम्,
आमरणान्ते किं गृह एव स्थिताः, अपि तु वने
प्रविष्टाः । तत्रैवावसन्नाः । तेन विपरीतार्थे ये
गृहे स्थिताः, त एवावसन्नाः, नतु त इति वाञ्छा-
मात्रेण स्वकीयं सिद्धमपि राज्यं परित्यजन्ति ।
वने स्वावसादमपि सहन्ते । तत्र भगवन्तं प्राप्य
अघमराज्यपरित्यागः किमाश्चर्यमिति भावः ॥४१॥

व्याख्यार्थ—‘योषित’ यह पद उपलक्षक’ मात्र है, इससे पुरुष भी दुःखी होते हैं, यों कहना
वा समझना चाहिए । स्त्री पद प्रौढ़ा^१ में अनन्य वृत्तिवाला नहीं है, इसलिए पुरुष भी समझे जाते हैं ।
‘अवसादः’ का अर्थ है—वहाँ ही लय होना, भगवान् आगे गए, उस मार्ग से जाने को अभिलाषा से
राज्यादि का त्याग कर राजाओं के शिरोमणि अम्बरीष आदि वन में गए; क्योंकि उनको भगवद्दर्शन
को इच्छा थी, भगवान् के दर्शन राज्यादि से महान् हैं । भगवान् पृथ्वी पर पधारे तो भी वे वहाँ
आनन्दमग्न होने से यहाँ फिर लौट न आए, पहले भी पीछे लौटकर न आए, किन्तु जब आए, तब
प्रभु चरणारविन्द में लीन होकर भगवन्मार्ग दिखाने वालों की भाँति स्थित रहे, यदि वे न आकर यों
न रहते तो भगवान् की प्राप्ति का मार्ग प्रवृत्त न होता, अतः आपका कहा हुआ दुःख का वाक्य यथार्थ

१- अन्य सम्बन्धी का भी ज्ञान कराने वाला है । जैसे कहा जाय कि कौश्यों से दही की रक्षा करो,
जो इसका भावार्थ अन्य कुत्ते आदि से भी दही की रक्षा कीजिए । इसको ‘उपलक्षक’ कहते हैं ।

२- प्रौढ़ा पद पाठ है, यों पुस्तक में फुट नोट में दिया है ।



है, तो भी बहुत उस पर चलते हैं, इसलिए दूषण नहीं है, एक स्थान पर कहा हुआ सर्वत्र कैसे जोड़ा जाता है ? इसका उत्तर देती है कि 'ते इहास्थिताः किम्' वे अङ्ग आदि यहाँ घर में ही सदैव रहे क्या ? नहीं रहे । अङ्ग राजा पृथु का दादा था, 'वैन्य पृथु' है, 'जायन्त' जयन्ती का पुत्र भरत है, 'नाहुष' ययाति है, 'गय' प्रियव्रत के वंश में उत्पन्न कोई राजा हुआ है । वे क्या मरण पर्यन्त घर में ही रहे ? घर में नहीं रहे, किन्तु आपको पाने के लिए वन में जाकर रहे, वहाँ ही मृत्यु को प्राप्त हुए, इससे यह सिद्ध हुआ कि जो लौकिक के लिए घर में ही रहे, सचमुच ये मरे, वे तो मरे नहीं; क्योंकि स्वतः प्राप्त राज्य का त्याग कर वन में कष्ट भी सहन करते हैं, किन्तु भगवान् के आनन्द को प्राप्त कर लेते हैं, जिससे अधम राज्य का छोड़ना एवं वन के श्रम को सहन करने में उनके लिए कौनसी आश्चर्य की बात है ? यह भाव है ॥४१॥

आभास—'निष्किञ्चना वयं शश्व'दिति भयन्यायेनैव निवारितमपि लक्ष्म्याश्रयत्वेन सन्निवारयन्त्याभजनमपि विपरीततया व्यावर्तयति कान्यं श्रयीतेति ।

आभासार्थ—'निष्किञ्चना वयं शश्व' यों भय न्याय से ही निवारण किया हुआ भी लक्ष्मी के आश्रयत्व से उसको हटाते हुए आढ्य के भजन न करने को भी विपरीत होते हुए दूर करती है 'कान्यं श्रयीत' इस श्लोक से ।

श्लोक—कान्यं श्रयीत तव पादसरोजगन्ध-

माघ्राय सन्मुखरितं जनतापवर्ग्यम् ।

लक्ष्म्यालयं त्वविगणय गुणालय-

स्य मर्त्या सदोरुभयमर्थविविक्तदृष्टिः ॥४२॥

श्लोकार्थ—हम निष्किञ्चन हैं, इसलिए तू किसी योग्य आढ्य क्षत्रिय को वर ले, यह आपका कहना तब मैं मानूँ, जब आपके गुणों के आश्रय चरण कमल की गन्ध का रस न लिया हो, जगत् में कौनसी स्त्री है, जो आपके चरण कमल की गन्ध को लेकर फिर दूसरे का आश्रय करे; क्योंकि आपका चरण लक्ष्मी का निवास स्थान है, सत्पुरुषों ने उनकी महिमा गाई है, लोगों के मोक्ष का स्थान है और गुणों का आश्रय है, ऐसे चरणों को त्याग, सदैव मृत्यु से दबे हुए स्वार्थी अन्य को कैसे वरेगी अर्थात् नहीं वरेगी ॥४२॥

सुबोधिनी—का वा स्त्री तव पादसरोजगन्ध-
माघ्राय अन्यं लशुनामेध्यरूपं आश्रयेत् । अनेनो-
त्कर्षविषयः तत्र स्वरुचिश्चेति निरूपितम् । क्व-
चिन्निन्दितमप्येतादृशं भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह

सन्मुखरितमिति । सद्भिर्मुखरवत् भगवच्चरणार-
विन्दो वर्णित इति । फलसाधकत्वमाह जनता-
पवर्ग्यमिति । जनतायाः प्राणिमात्रस्य आपवर्ग्य-
मपवर्गमभिव्याप्य यावत्सुखं तत्सर्वं यस्मादिति ।



प्रमाणं फलं चोक्तम् । किञ्च । स्त्रीणां मुख्या लक्ष्मीः सम्पत्तिरूपा च । तस्यास्तदेव गृहपति स्त्रीभिः सर्वाभिस्तत्रैव स्थातव्यम् । नन्वेव सति कथं सर्वासामन्य एव भर्तारः । तत्र तुशब्देन पूर्व-पक्षं निराकरोति अविगण्येति । समागतमुप-स्थितं भगवन्मविगण्य कापि नान्यं श्रयने । किञ्च । मर्त्या स्वयं मरणधर्मा मरणनिवर्तकमा-त्मदं भगवन्तमेव सेवितुमर्हन्ति, नतु सरोरुभयं सर्वदेव कालादेः सकाशात् अधिकं भयं यस्येति । महद्भयं मरणात्मकम् । स्वस्य कदाचिद्वा तद्भ-वेत् । सेव्यस्तु सर्वदेव तादृशमप्रवानित्यभजनेहेतु-रुक्तः । किञ्च । गुणालयस्य तव । अनन्तगुणा-

नामालयरूपो भवानेव । तनो या गुणरूपा भवि-ष्यति । सा त्वामेव श्रयते, दोषरूपा त्वन्यमिति स्थितिः । ननु बह्व्य एव गुणरूपाः अन्यमपि भजन्ति । अन्यथा भगवत्पमानकाले अन्येषां विवाहो न स्यात्, तत्राह । अर्थे विवक्ता दृष्टिः यस्या इति । अविचारेण अर्थविवेचनासामर्थ्येन वा अन्यभजनम् । प्रयोजनतारतम्यदृष्टौ तु मर्त्यायाः गुणरूपायाः लक्ष्म्यंशायाः पूर्वोक्तन्यायेन भगवदाश्रयणमेव युक्तमित्यर्थः । अनेन समता-विवाहः साधारणः, उत्कृष्टविवाह एव कर्तव्य इति 'तयोर्विवाहो मैत्री' इति पक्षः पतिहृतः । अन्यथा लक्ष्म्यादीनां विवाहो नोपपद्येत ॥४२॥

व्याख्यानार्थ—कोनसी ऐसी स्त्री है, जो आपके चरण कमल की गन्ध लेकर, लहसुन की दुर्गन्ध समान अन्य को वरना चाहेगी ? इससे बताया कि, जो पदार्थ उत्तम है, उसमें ही क्वचित् रुचि होती है, ऐसा निन्दित भी होता है, इसके उत्तर में कहती है, कि इसकी निन्दा, किसी ने भी, कहीं भी, कैसे भी नहीं की है, सर्वथा अनिन्दित ही है, इतना ही नहीं किन्तु सर्वथा श्लाघ्य गुण एवं सुख निधि हैं, जैसा कि चरणों की बड़ाई तो सत्पुरुषों ने इस प्रकार बार बार की है जैसे कोई मुखर बोलते हुए सकता नहीं है, वैसे सत्पुरुष भी आपके चरणों का गुण गान करते ही रहते हैं तो भी उनकी तृप्ति नहीं होती है, आपके चरण फल को सिद्ध करने वाले हैं, इसलिये प्राणि मात्र जो भी उनका आश्रय लेता है उसको मोक्ष देते हैं साथ में सर्व प्रकार के सुख भी देते हैं, यों प्रमाण और फल हो तो आपके चरणा-श्रय से प्राप्त होते हैं, यह सिद्ध किया, किन्तु स्त्रियों में मुख्य लक्ष्मी सम्पत्ति रूपा है, उसका गृह वह चरण कमल ही है इसलिये सर्व स्त्रियों को वहाँ ही स्थिति करनी चाहिये, ननु शङ्का होती है कि यदि यों है, तो सर्व के अन्य पति कैसे हैं ? इस शङ्का निवारण के लिये 'तु' शब्द कहा है, 'अवि-गण्य' आये हुए वा प्राप्त हुए भगवान् का विचार न कर, कोई भी स्त्री, दूसरे का आश्रय न लेगी, विशेष में कहती है कि जो स्वयं मरण धर्म वाले हैं, वे तो, मरण मिटा कर आत्मा देने वाले भगवान् की ही सेवा करने के लिये योग्य हैं । न कि जिनको सदैव काल रूप मरण का महान् भय बना रहता है उनका भजन आश्रय नहीं करना चाहिये, किन्तु गुणालय भय रहित आनन्द रूप एवं आत्मानन्द देने वाले आपका करना चाहिये, अतः जो गुणरूपा होगी वह तो आपका ही आश्रय लेगी, जो दोषरूपा होगी वह दूसरे का आश्रय ग्रहण करेगी, शङ्का होती है कि देखा जाता है कि बहुत गुण वालीयाँ भी अन्य को वरण करती है यदि यों न होवे तो भगवान् के विराजते हुए दूसरों का विवाह ही नहीं होना चाहिये, किन्तु वह तो होता ही है, इसके उत्तर में कहती है कि, जो तात्पर्य का विचार नहीं कर सकती है, यथार्थ को नहीं जान सकी हैं वे अन्य भजन करती हैं । लक्ष्मी की अंशरूपा होने से जो गुण-रूपा स्त्री अन्य को वर लेती है उसके प्रयोजन स्वार्थ में तारतम्य रहता है, किन्तु वास्तव में उसको भगवदाश्रय करना ही उचित है, इससे यह सिद्ध कर बताया कि समानता में विवाह करना यह साधारण नीति विवाह है, इसलिये साधारण ही करते हैं, किन्तु उत्कृष्ट विवाह करना चाहिये, 'उन दोनों का विवाह और मैत्री' इस पक्ष का निराकरण किया है, यदि आपका कहा हुआ यह पक्ष



लिया जाय तो लक्ष्मीजी आदि का विवाह बन नहीं सके, क्योंकि लक्ष्मी आदि और आपकी समानता कहां है ॥४२॥

आभास—‘वैदर्भ्येतदविज्ञाये’त्यस्योत्तरमाह तं त्वानुरूपमिति ।

आभासार्थ—‘वैदर्भ्येतदविज्ञाये’ इस श्लोक का उत्तर ‘तं त्वा’ श्लोक में देती है ।

श्लोक—तं त्वानुरूपमभजं जगतामधीशमा-

त्मानमत्र च परत्र च कामपूरम् ।

स्यान्मे तवाङ्घ्रिशरणं सृतिभिर्भ्रम-

न्त्या यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्गः ॥४३॥

श्लोकार्थ—अतएव सर्व प्रकार योग्य जगत् के स्वामी इस लोक तथा परलोक की कामनाओं के पूरक, आत्मरूप आपको ही मैं वरी हूँ, चाहे मैं अनेक प्रकार की योनियों में भटका करूँ तो भी मेरी यही प्रार्थना है कि वहाँ भी संसार का नाश करने वाला भक्तों को अपना बनाने वाला, आपका चरण कमल ही मेरा आश्रय हो ॥४३॥

सुबोधिनी—अज्ञानेन विवाहे हि अन्यवरणं कर्तव्यं भवेत् । ज्ञात्वैव वृत इति स्वज्ञातमर्थमनुवदति । तं पूर्वोक्तलक्ष्मीपतित्वादिधर्मयुक्तम् । त्वामिति तादृश एवावतारेऽपि न प्रच्युतस्वरूपस्त्वम् । ननु तथापि समविवाह एवोचित इति चेत् । तत्राह अनुरूपमिति । मम तु त्वमनुरूप एव, उत्कृष्टत्वात्, तव परमहं नानुरूपा । तस्मादयमुपालम्भः न मां प्रति वक्तव्यः । किञ्च । अतिनिकृष्टैरपि ईश्वरः सेव्य एव स्वशक्त्यनुपारेण, तदाह जगतामधीशमिति । किञ्च । सर्वेषामात्मा सेव्यः । सर्वं स्वार्थमिति । भवांस्त्वात्मा । किञ्च । पुरुषार्थप्रदः सेव्यः । स भवानित्याह अत्र च परत्र च कामपूरमिति । चकारादिह लोके परलोकमुखानि प्रयच्छति । स्वर्गादिमुखानि । परलोके च जातिस्मरणादिना ऐहिक फल प्रयच्छ-

तीति चकारो । काममभिलषितार्थं तस्य पूरूपं पूरयति प्रवाहरूपं वा । ननूक्तं ‘वयमुदासीना’ इति, अतः कामाभावात् कथं त्वत्कामपूरणमिति चेत् । तत्राह स्यान्मे तवाङ्घ्रिशरणमिति । संसारे निराश्रये परिभ्रमन्त्या मम तव चरणः आश्रयोऽस्तु । कामनापूरणायभावेऽपि चरणे आश्रयत्व न विहन्यते । नन्वाश्रयमात्रेण भगवांश्चेन्न किञ्चित्कुर्यात् तदा किं भवेदित्याशङ्क्याह यो वै भजन्तमुपयात्यनृतापवर्ग इति । अनृतापवर्गो मोक्षः, विशेषेण अप्राथितोऽपि भगवता अदत्तोऽपि, भगवद्भक्तमुपयाति, भगवच्चरणामोद इव । अनृतस्य भगवत्पवर्ग एव । तत्र गतः मीमान्ते गत इव तदभावमवश्यं प्राप्नोति । अतो विशेषकनाभावेऽपि मोक्षस्तु सिद्ध एव इति ।

॥४३॥

व्याख्यानार्थ—यदि मैंने अज्ञान से वरण किया होता तो आपको न वर कर दूसरे को वरती किन्तु मैंने समझ कर ही वरण किया है, इसलिये अपना जाना हुआ अर्थ कहती है, जो पहले वहे हुए लक्ष्मीपतित्व आदि धर्म से युक्त हैं, उसको वरा है, वह अ प अवतार दशा में भी वैसे ही स्वरूप वाले

हैं किसी प्रकार वह स्वरूपच्युत नहीं हुआ है यदि कहो कि तो भी समान में विवाह करना उचित है, जिसका उत्तर यह है कि उत्कृष्ट होने से आप मेरे अनुरूप^१ ही हैं, किन्तु, मैं आपके अनुरूप नहीं हूँ, इस कारण से यह उलाहना मुझे नहीं देना चाहिये, क्योंकि बहुत जो निकृष्ट हैं वे भी अपनी शक्ति के अनुसार ईश्वर की सेवा कर सकते हैं, कारण कि आप समस्त जगत् के ईश है, आप सबकी आत्मा होने से सेव्य है, सब सेवा से स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं, आप तो आत्मा हैं और पुरुषार्थ देने वाले हैं, जिससे सेव्य ही हैं, वह हो आप इस लोक और परलोक की कामनाओं के पूरक हैं, दो चकार देने का भावार्थ यह है कि, एक चकार से बताया कि आप इस लोक में परलोक के सुख भी देते हैं और परलोक में जाति स्मरण आदि से इह लोक के फल देते हो, एवं अभिलाषित अर्थ की जलरूप से वा प्रवाह रूप से पूरण करते हो, यह जो कहा कि हम उदासीन हैं, अतः हम से कोई कामना नहीं है तो आपकी वा शरण आये हवों की कामनाएँ कैसे पूरण करूँगा ? यदि यों कहो तो इस पर मेरा प्रार्थना पूर्वक यह कहना है कि संसार में निराश्रय हो कर भ्रमण करती हुई जो मैं हूँ उसका आपके चरण ही आश्रय होवे. कामनाओं की पूर्ति आदि न होने पर भी चरण का आश्रयत्व नहीं टूटता है, अथवा चरण का आश्रय आप नहीं छुड़ाते हैं । यदि केवल आश्रय से भगवान् कुछ भी न करे तो क्या होगा ? यह शङ्का कर कहता है कि, जो भगवद्भक्त भजन करता है उसको यदि भगवान् न देवें और भक्त याचना भी न करे, तो भी मोक्ष स्वतः भगवद्भक्त को पा लेता है अर्थात् शरणागत भक्त का मोक्ष हो ही जाता है जैसे शरणागत को चरण कमल की गन्ध स्वतः मिल जाती है जो भगवान् की शरण गया वह सोमा के अन्त में पहुँचने वाले के समान पार हो ही जाता है, अतः विशेष फल नहीं भी मिले तो भी मोक्ष तो सिद्ध ही है ॥४३॥

आभास—नन्वेतावदेव चेत् प्रार्थ्यम्, तदा विषयभोगानन्तरमन्यभजनेऽपि शास्त्रार्थानुसारेणापि भजने मोक्षो भवेत्, अत उभयं परित्यज्य विषयाधिकारिणः कथं मद्भजनमिति चेत् । तत्राह तस्याः स्युरिति ।

आभासार्थ—यदि यों इतना ही है तो प्रार्थना करनी चाहिये, तब विषय भोग के अनन्तर अन्य के शास्त्रानुसार भजन करने से भी मोक्ष होगा, अतः विषयाधिकारी के दोनों कार्यों को छोड़ कर, मेरा भजन कैसे ? यदि यों कहते हो तो जिसका उत्तर 'तस्याः स्युः' श्लोक में है ।

श्लोक—तस्याः स्युरच्युत नृपा भवतोपदिष्टाः स्त्रीणां गृहेषु खरगोश्वबिडालभृत्याः ।
यत्कर्णमूलमरिक्पर्षण नोपयाता युष्मत्कथा मृडविरिञ्च्यसभासु गीताः ४४

श्लोकार्थ—हे अच्युत! हे शत्रु दमन! आपने कहा कि बड़े बड़े वैभव वाले राजा तुम्हें चाहते थे, उनको न वर मुझे वरा वह उचित नहीं किया, यह आपका कहना उनके लिये योग्य है, जिनके कर्णमूल में आपके गुण न गाये हों वैसे स्त्रियों के वे नृप



भले योग्य हो, आपने जिन राजाओं का उपदेश दिया, ये तो स्त्रियों के घरों में गधे के समान केवल भार उठाने वाले बैल के समान क्लेश पाने वाले, श्वान के सदृश अपमान सहन करने वाले, बिड़ाल की तरह कृपण एवं क्रूर, सेवक की तरह पराधीन होकर रहते हैं ऐसे वे पति तो मन्द भागिनी जो हो उसको मिलना चाहिये, मैंने तो ब्रह्मादि की सभाओं में गाये हुए आपके गुण सुने हैं, ऐसी मैं आपको छोड़ दूसरों को कैसे वर सकती हूँ ॥४४॥

सुबोधिनी—सत्यं या तादृशी प्राकृती, तस्याः पतयः त्वया गणिताः चैद्यादयो भवन्तु सर्वथा विषयपूरकाः । या केवलं विषयानपेक्षते । सर्वा एवापेक्षन्त इति चेत् तत्राह यत्कर्णमूलं नोपयाता युष्मत्कथा इति । कथानां कर्णप्रवेशे यथा विषयाभिलाषा गच्छति, तद्वक्ष्यति । कथं राजां सर्वथा विषयपोषकत्वम्, न भगवत इति वैलक्षण्यं निरूपयति स्त्रीणां गृहेष्विति । स्त्रीणां शयनभोजनविहारमलत्यागादिगृहेषु ये स्वोत्कर्षं परित्यज्य तत्सेवापरा भृत्या भवन्ति, यथा गृहदासाः । दास्येऽपि चतुर्धा विशेषमाह खरादिपदैः । गर्दभो हि तदपेक्षितं जलादिकं तत्कृतव्यं स्वयं करोति । तथा ये भार्याकर्तव्यं स्वयं कुर्वन्ति निरालस्याः । यथा वा गावो वृषभाः शकटेस्ता वहन्ति दुहन्ति वा, स्वसर्वस्वं प्रयच्छन्ति, इष्टदेशेषु स्वयं भारं मूढ्वा, तथा ताः प्रापयन्ति । यथा वा श्वानः रात्रौ गृहस्वामिनि शयाने स्वयमनिद्रः तत्पालनं करोति, तथा नीचा भूत्वा शरीरेण पालयन्ति । एवं स्थितिगतिशयनेषु सेवकत्वमुक्तम् । एवमपि सति यदि भोगस्तुल्यो भवेत्, भोगार्थं वा भवेत्, तदा न काचिच्चिन्ता, किन्तु तच्छेषस्य निकृष्टस्यैव तदुच्छिष्टस्य तदनुपयुक्तस्य वा भोग इति बिडालदृष्टान्तमाह । स हि स्त्रीणां पादयोः भक्षणयाचनार्थं अनेकां चेष्टां करोति, ततस्ता दुग्धं पीत्वा भाण्डनिर्यासमिव प्रयच्छन्ति कदाचित्, तथा ये निकृष्टा नियतभोगाः तादृशैरेव

स्त्रीणां भोगः सम्पादयितुं शक्यते । विषयाभिलाषिण्यः तादृशमेवापेक्षन्ते । कथः कर्णं साधारण्येन प्रविशन्ति सर्वेषामेवेति यादृशप्रवेशेन कार्यं कुर्वन्ति तद्वक्तुमाह कर्णमूलमिति । अन्तःप्रवेशे मूलसम्बन्धः कथानाम् । विषयाभिलाषनाशकत्वे हेतुमाह अरिर्कर्षणेति । विषं यान्तीति विषयाः अरयः तान् कर्षत इति शत्रुनाशको विषयनाशको भवति । तत्कथास्तद्रूपाः । ता अप्यच्युताः स्वनाशशङ्कारहिताः । विषयैस्तन्नाशः कर्तुं न शक्यत इति । तत्रापि बहुरूपाः एकरूपाद्भगवतोऽतिबलिष्ठाः । तत्राप्युप समीपे स्वयमेव समागता बह्वयः । युष्मत्कथा इति समासेन तासां नित्यं भगवत्सहभाव उक्तः । तासां विषयनिवर्तकत्वे युक्तिमुक्त्वा, प्रमाणमाह मृडविरञ्ज्यसभासु गीता इति । प्रलयोत्पत्तिकर्तारो तौ । तदुभय तदधीनमेवेति तेषामपेक्षितम् । तत्सभासु गीयते, यत्तयोर्दुर्लभमभिलषितं च । प्रत्यहं क्रियमाणसु सर्वास्वेव सभासु भगवत्कथा एव गीयन्ते । अनेन तयोरपि उत्कृष्टो भगवानिति निरूपितम् । ताभ्यां कथानां फलं निर्णीतमिति प्रमाणनिरूपणे तथोक्तम् । तावेव हि मुख्याविति । अनेन स्त्रीणां शापो निरूपितः । या भगवत्कथा न शृणोति, सा तादृशं पतिं प्राप्नोतीति । समान्यतः स्त्रियो दुष्टा इति हि योनिदोषं मत्वा, भगवानेवं निराकरोतीति सा मन्यते । अन्यथा पुरुषानसमानपि भजने अनिषिध्य मामेव कथं निषेधतीति ॥४४॥

व्याख्यार्थ—आपका कहना सत्य है, जो वैसी प्राकृती हो उसके, आपने जो चैद्या आदि वहे, वे सर्वथा विषयों की ही पूर्ति करने वाले राजा पति होवे, जो केवल विषयों की ही चाहती है, यदि

सब स्त्रियां विषय को ही चाहती है; इस पर मेरा कथन यह है कि वे विषय को तथा विषयी पुरुषों को चाहती हैं जिन के कर्णमूल में आपको कथा न पड़ी है, कथा कर्ण मूल में प्रवेश कर जैसे विषया-भिलाषा को दूर करती है वह प्रकार कहती है, राजा सर्वथा विषयों के पोषण कैसे हैं, और भगवान् नहीं है, यह दोनों में विलक्षणता है, जिसको सिद्ध कर दिखाती है 'स्त्रीणां गृहेण' स्त्रियों के सोने, भोजन, विहार और मल त्याग आदि घरों में, जो राजा अपना उत्कर्ष छोड़, उन स्त्रियों के भृत्य हो सेवा करते हैं, जैसे घर के सेवक हो सेवा करें, दासता में भी चार प्रकार विशेष कहती है, जल आदि ले आना जो स्त्रियों का कर्त्तव्य है वह उनसे न करा कर स्वयं करते हैं, इसलिये गर्दभ^१ के समान हैं, तथा जो स्त्रियों का अन्य कर्त्तव्य भी आलस्य त्याग कर स्वयं करते हैं, वे उनके गर्दभ ही हैं इसी प्रकार गायों को दुहने का स्त्रियों का कार्य भी आप ही करते हैं और शकटों^२ में बिठाकर, ब्रंलों को तरह आप खींच कर ले जाते हैं, अपना सर्वस्व दे देते हैं, जिन देशों में जाना चाहती है उन देशों में उनका भार भी उठा कर उनको वहां पहुँचा देते हैं, जैसे कुत्ते रात्रि को घर के स्वामी के सो जाने पर स्वयं जाग कर घर की रक्षा करते हैं, वैसे ये भी नोचे बन कर शरीर से स्त्रियों को पालन करते हैं, इस प्रकार उपरोक्त कार्यों से इनका सेवक पन बताया, इस प्रकार होते हुए भी यदि भोग समान होवे वा भोग के लिये होवे तो कोई चिन्ता नहीं, किन्तु उसके शेष, एवं निकृष्ट उच्छिष्ट तथा अनुप-युक्त का ही भोग होता है इसलिये विडाल का दृष्टान्त दिया है, जिस कारण से वह भोजन की माँग करता हुआ स्त्रियों के चरणों में पड़ कर अनेक चेष्टाएँ करता है, यों चेष्टाएँ करने के अनन्तर ही स्त्रियां स्वयं दूध पीकर बाद में बतन में बचा हुआ कदाचित् उसको देती है। जो निकृष्ट सदा भोग चाहने वाले हैं, उनसे ही स्त्रियों का भोग सम्पादन किया जा सकता है, विषय को चाहने वाली ही ऐसे पुरुषों को चाहती हैं, भगवत्कथाएँ सब के कानों में साधारण रूप से प्रवेश करती ही हैं, जिस प्रकार के प्रवेश से कार्य करती है वह बताती है कर्णमूलम्^३ भीतर प्रवेश में सम्बन्ध कथाओं का है, कथाओं के सुनने से विषय की चाहना मिट जाती है, जिसमें कारण बताती है 'अरिकर्षण' आप शत्रुओं को नाश करने वाले हैं इसलिये कथाएँ आप का ही रूप है जिससे वे 'विषय' पद का अर्थ शत्रु है वे भी इन शत्रुओं को नाश कर देती है अतः वे 'कथाएँ भी अच्युत रूप है जिस कारण से उनके नाश होने की शङ्का ही नहीं है, अर्थात् विषय रूप शत्रु उन कथाओं को तो नाश नहीं कर सकते हैं, प्रत्युत उनसे स्वयं नाश हो जाते हैं, इसमें भी कथाएँ बहु रूप वाली होने से एक रूप भगवान् से बलिष्ठ हैं, उसमें भी स्वयं ही समीप में आई हैं क्योंकि बहुत हैं, 'युष्मत्कथा', समास है करने का कारण यह है कि कथा और भगवान् का नित्य सह भाव रहता है, कथाएँ विषयों को नाश करती हैं इसमें युक्ति बताकर अब इसमें प्रमाण कहती है कि, आपकी कथाएँ ब्रह्मा शिव आदि की सभाओं में गाई जाती हैं, वे दो उत्पत्ति और प्रलय करने वाले हैं, वे दो उनके आघोन हैं, इस लिये उनको इन कथाओं की अपेक्षा है, जिससे वे अपना-२ सभा में इन (कथाओं) को गाते हैं, नित्य प्रति की हुई सर्व सभाओं में भगवान् की कथाएँ गाई जाती हैं, इससे यह सिद्ध किया है कि ब्रह्मा और शिव से भी भगवान् उत्तम हैं इन दोनों ने कथाओं के फल का निर्णय किया है यह प्रमाण निरूपण में कहा हुआ है, इस निर्णय करने में वे दो ही मुख्य हैं इससे स्त्रियों के शाप का निरूपण किया, जो स्त्रा भात्रान् की कथा नहीं सुनती है वह वैसे पति को स्वीकार करती है, सामान्य रूप से स्त्रियां दुष्ट हैं यों

योनो दोष मान कर भगवान् इस प्रकार निषेध करते हैं, यो वह (स्वमणी) मानतो है नहीं तो असमान पुरुषों का भजन में निषेध न कर, मुझे हों कैसे निषेध करते हैं यो ॥४४॥

ग्रामास—तहि तासामेहिकं सुखं तौर्भविष्यति, ऐहिकामुष्मिकयोस्तुल्यत्वादप्रयोजकः शाप इत्याशङ्क्याह त्वगिति ।

आभासार्थ— उन स्त्रियों को ऐहिक सुख उन पुरुषों से प्राप्त होगा, ऐहिक पारलौकिक समान होने से शाप अप्रयोजक है, यों शङ्का कर इस श्लोक 'त्वक्' में उत्तर देती है ।

श्लोक—त्वक्शमश्रुरोमनखकेशपिण्डमन्तर्मासास्थिरक्तकृमिविट्कफपित्तवातम् ।

जीवच्छ्रवं भजति कान्तमतिविमूढा या ते पदाब्जमकरन्दमजिघ्रती स्त्री ४५

श्लोकार्थ— जिसने आपके चरण कमल को मकरन्द गन्ध नहीं सूंघी है वह भूर्ख स्त्री, जिसका शरीर बाहर खाल, दाढ़ी, मूछ, नख केशों से मढ़ा हुआ है, उसके भीतर मांस, हड्डी, लोहू, विष्ठा, कफ़, पित्त और वायु से युक्त है ऐसे जीते हुए शव को, पति समझ भजती है ॥४५॥

सुबोधिनी—न हि शवाल्लङ्घने कश्चन भोगो-
ऽस्ति । स्वप्नेऽपि तथा दर्शने मृत्युर्भवति । अग्नि-
प्रवेशे तु शवाल्लङ्घने स्पष्ट एव मृत्युः । यदि
तस्मिन् देहे चेतनः कश्चिदिन्द्रियवान् भवेत् तदा
स न गर्दभादिभावं प्राप्नुयात् । अतः केवलं शव
एव, परं जीवच्छत्र । प्रसिद्धात् प्राणा अत्र
विशिष्टाः । न केवलं शवत्वमात्रमेव दूषणम्,
किन्तु अवयवशोऽपि विचारे तत् दुष्टमित्याह ।
‘‘अतश्चाप्यन्तरेन्दवः । तस्यैवैवमस्ति तत्त्वम् ।
ऊर्ध्वं लम्बितभागे उमश्रूणि । यथाष्टदिशः पूर्व-
भागः । सर्वत्र लोमानि यथा तृणानि । अन्तेषु
नखाः, यथा प्राकारे शृङ्गाणि शूलानि वा ।
पश्चात्केशाः । एवं सर्वतो बहिः पिनद्धम् । अन्त-
स्तु मांसम्, तस्याप्याचारभूतमस्थि च । तत्रापि
मध्ये नाडीषु लोहितम् । नाड्यो बहिरप्याया-
न्तीति रुधिरं मांसाद्बहिरप्युपलभ्यते । वस्तुत-
स्त्वन्तः । तत्र च कृमयः क्षुद्रा जीवाः । ततोऽपि
मध्ये पुरीषम् । कफपित्तवाताः शास्त्रसिद्धा रोगा-

दिसूचकाः । एवं दृष्टादृष्टदोषा निरूपिताः ।
नन्वेनादृशं चेत्कुत्सितम्, तदा कथं भजेतेत्याशङ्क-
याह कान्तमतिरिति । अयं कान्तः परमसुन्दर-
इति तस्मिन्नुत्कृष्टबुद्धिः । ननु प्रत्यहं मलादि-
रूपत्वं दृश्यत इति कथं तस्मिन् कान्तबुद्धिः स्यात्,
तत्राह विमूढेति । ननु सर्वसामेव स्त्रीणामियमेव
व्यवस्थेति साधारण्यादस्यैव भोगशब्दवाच्यत्वात्
सुखजनकत्वस्य दृष्टत्वात्तादृशेनैव सुखं भविष्य-
तीति, नष्टं, नष्टोद्देशं, नष्टमप्यपि, नष्टं, नष्टं, नष्टं,
ते पदाब्जमकरन्दमिति । यथा श्रोत्रं कथा गृह्णाति,
तथा घ्राणमपि भगवन्तमासेव्य भगवच्चरणार-
विन्दरजो गृह्णाति चेत्, तदा शवं न गृह्णाति ।
यो हि कमलगन्धमाजिघ्रति, स शवगन्धात् विचि-
कित्सते । विशेषानभिज्ञस्तु काकादिः न विचिकि-
त्सत इति नायं सर्वात्मना भोगरूपः । स्त्रीपदं
पतिव्रताव्युदासार्थम् । सा हि धर्मार्थमेव भगवद्-
बुद्ध्या तं भजत इति । नापि तस्या विषयापेक्षा ।



व्याख्यानार्थ—शव का आलिङ्गन करने से कोई भोग नहीं होता है स्वप्न में यदि ऐसा दर्शन हो जावे तो मृत्यु होती है, अग्नि प्रवेश और शव का आलिङ्गन होने से तो स्पष्ट मृत्यु हो जाती है, यदि उस देह में कुछ इन्द्रियवान् चेतन हो, तब वह गर्दभादिभाव को प्राप्त नहीं होता है अतः केवल शव ही है, परन्तु जीवित होते हुए भी शव के समान है। जीवच्छत्र में प्रसिद्ध रूप से प्राण मौजूद हैं, केवल शवत्व के कारण ही दूषण है, किन्तु उसके अवयव के अंश भी विचार करने पर बाह्य और भीतर दोनों भेद से दृष्ट दीखते हैं, इस जीते हुए शव के चारों तरफ, चमड़ी लपेटी हुई है, ऊपर के लम्बे भाग में दाढ़ी मूछ आदि हैं, जैसे पूर्व भाग आठ दिशाओं वाला है, जंसे सर्वत्र तृण होते हैं, वैसे लोम हैं, जैसे महल पर शृङ्ग वा त्रिशूल होते हैं, वैसे नख हैं, पश्चात् केश हैं, इस तरह इनसे बाह्य लपेटा हुआ बन्द है, भीतर इसके मांस उस मांस के आधार हड्डियाँ हैं उसके मध्य नाड़ियों में लोहू है नाड़ियाँ बाहिर भी आती है इसलिये खून मांस से बाहिर भी दीखता है, वास्तविक रीति से तो भीतर है, वहाँ कीड़े क्षुद्र जीव उससे भी मध्य में विष्ठा, कफ वात और पित्त ये शास्त्र सिद्ध रोग के सूचक हैं, इस प्रकार दृष्ट अदृष्ट दोष निरूपण किये हैं यदि ऐसा है तो कुत्सित है, तब वैसे को कैसे भजती है, जिसका उत्तर देती है कि, यह मेरा कान्त^१ है, इस उत्कृष्ट बुद्धि से भजती है। हर रोज उसका मलत्व आदि देखती है फिर भी उत्कृष्ट बुद्धि कैसे होती है। जिसका निराकरण करती है कि 'विमूढ़ा' विशेष मूर्ख है, यदि कहो कि सब स्त्रियों की यह ही दशा है, साधारण रीति से इस को ही भोग कहा वा समझा जाता है: इसको ही सुख देने वाला देखने से यों करने से ही सुख होगा इसलिये इस पर दोषारोपण करना व्यर्थ है, इस पर कहती है, कि जैसे श्रोत्र^२ कथा रस को ग्रहण करता है, वैसे घ्राणेन्द्रिय^३ भी भगवान् की सेवा कर, भगवान् के चरण कमल की रज गन्ध ग्रहण करती है, ऐसी दशा में वे शव को ग्रहण नहीं कर सकती है, जो कमल की गन्ध को सूँघता है वह शव^४ की गन्ध को लेने में दूर से ही शङ्का करता है अर्थात् नहीं ले सकता है, विशेष उत्तम गन्ध को न जानने वाले काक^५ आदि तो शव की गन्ध लेने से शङ्कित नहीं होता है, बल्कि ले लेता है, इसलिये यह सर्व प्रकार से भोग रूप नहीं है, केवल 'स्त्री' शब्द देने का यह भाव है कि जो स्त्री पतिव्रता है उसका यहाँ ग्रहण नहीं किया गया है, कारण कि पतिव्रता तो धर्म के लिये ही, भगवद्बुद्धि से उसकी सेवा करती है, उस पतिव्रता को विषय भोग की अपेक्षा नहीं है ॥४५॥

आभास—एवमितरभजने स्त्रियं पुरुषं च निन्दित्वा, स्वस्य विषयाधिकार एवेति सर्वथा विषयाभावे केवलमोक्षाधिकारात् स्वस्यापि प्रवृत्तिर्व्यर्थेत्याशङ्क्याह अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार अन्य के भजन करने पर स्त्री तथा पुरुष की निन्दा कर, अपने को विषयाधिकार ही है, इस सर्वथा विषयों के अभाव से तथा केवल मोक्ष में^६ अधिकार होने से अपनी प्रकृति भी व्यर्थ है, यों शङ्का कर इसका समाधान 'अस्त्वम्बुजाक्ष' श्लोक से करती है ।

१—परम सुन्दर पति, २—कान, ३—नाक, ४—मृतक, मुड़दा, ५—काग. कौवा ।

६—पुस्तक में, केवल मोक्षाधिकारात् पाठ है, और नीचे फुट नोट में 'केवल मोक्षाधिकारा-भावात्' पाठ है जिसका अर्थ 'केवल मोक्ष के अधिकार के अभाव से



श्लोक—अस्त्वम्बुजाक्ष मम ते चरणानुराग

आत्मव्रतस्य मयि चानतिरिक्तदृष्टेः ।

यह्यस्य वृद्धय उपात्तरजोऽतिमात्रो

मामोक्षसे तदु ह नः परमानुकम्पा ॥४६॥

श्लोकार्थ—आपने कहा—हम तो उदासीन हैं, हमें किसी को अपेक्षा नहीं है, यह आपका कथन सत्य है और आप मुझे भी उत्कृष्ट नहीं समझते हो तो भी मैं तो चाहती हूँ कि मेरा प्रेम आपके चरणारविन्द में ही होवे कारण कि यह प्रेम ही मेरे लिए बड़ा लाभदायी है, इस जगत् की वृद्धि के लिए जब रजोगुण की भारी मात्रा को लेकर माया रूप मुझ पर प्रेम से देखते हो, तब मैं कृत्यवृत्त्य हो जाती हूँ, यह ही मुझ पर बड़ी कृपा है ॥४६॥

सुबोधिनी - अम्बुजाक्षेति दृष्ट्यैव परमसुख-
दातृत्वं निरूपितम् । ते चरणानुरागो ममास्तु ।
उभयोरनुरागे उभयोः सुखं भवति, स्पर्शादिना,
न त्वननुरागे । तत्र भगवतश्चेन्मयि नानुरागः,
तदा पूर्णानन्दत्वात् मत्स्पर्शादिकृतसुखाभावेऽपि
न काचित् क्षतिः । मम तु पूर्णानन्दत्वाभावात्
अन्यत्र स्पर्शे धाष्ट्यं भवतीति चरणस्पर्शे विरो-
धाभावात् तत्रानुरागोऽस्तु । प्रार्थनायां लोट् ।
मम त इति अव्यवहितसम्बन्धः प्रार्थनाधिकारे
हेतुः । भगवतो नापेक्षित इति द्वितीयस्य स्नेहः
कदाचित् प्रतिबन्धकत्वेन अनपेक्षितः स्यात् । ततो
भगवदिच्छाभावे रागो न भवेदिति प्रार्थना ।
भगवतोऽनपेक्षत्वे हेतुः आत्मव्रतस्येति । तर्ह्यत्मा-
रामो विषयेष्विव त्वय्यपि भगवान् सम्बन्धं न
करिष्यतीत्याशङ्क्याह मयि चेति । यथा भग-
वानात्मनि रमते, एवं प्रपञ्चेऽपि रमते । तत्र
प्रपञ्चस्य मूल स्वरूपमहमिति सृष्टिप्रलययोः

सिद्धत्वान्मत्सङ्गं न बाधिष्यत इत्यर्थः । नन्वेवं
सति संसारिणामात्मारामाणां च को विशेष
इति चेत् । तत्राह अनतिरिक्तदृष्टेरिति । सर्वा-
त्मनो भगवतः आत्मनि वा मयि वा न अतिरिक्ता
दृष्टिर्यस्य । सर्वं यैवात्मत्वादेकैव दृष्टिः सर्वत्र ।
तर्हि तव कथं स्त्रीरूपः पुरुषार्थः सिध्येत्, अन्यथा
स्त्रीत्वं व्यर्थं स्यादिति चेत् । तत्राह यह्यस्य
वृद्धय इति । यर्हि भगवान् अस्य जगतो वृद्धय,
आत्ता रजसः अतिमात्रा अधिकमात्रारूपः कामः
येन । तर्हि मामोक्षिष्यते । 'वर्तमानसामीप्ये वर्त-
मानवद्धे'ति । तर्हि तदेव नोऽस्मभ्यं सर्वशक्तिभ्यः
परमानुकम्पा । अस्मासु महती कृपेत्यर्थः । 'मम
योनिमहद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' । सम्भवः
सर्वभूतानां ततो भवति भारतेति वाक्यात् ।
ईक्षणेनैव विच्छिन्त्याधानमुक्तम् । सम्बन्धस्तु
भगवता सह नित्य इतीक्षणमेव विशेषः ॥४६॥

व्याख्यार्थ—'अम्बुजाक्ष' संबोधन से यह कहा कि आप दृष्टि से ही परम सुखदाता हैं, मेरा आपके चरणारविन्द में यानि आप में अनुराग (प्रेम) होवे, दोनों के अनुराग होने से ही दोनों को स्पर्शादि से सुख प्राप्त होता है, अनुराग न होवे तो सुख प्राप्त नहीं होता है, उसमें यदि भगवान् का मुझ पर अनुराग न हो तब भगवान् के पूर्णानन्द होने से मेरे स्पर्श आदि से उत्पन्न सुख के अभाव होने पर भी किसी प्रकार क्षति नहीं है, मुझे तो मुझ में पूर्णानन्दत्व के अभाव में दूसरे के स्पर्श में



घृष्टता होती है, इसलिये चरण स्पर्श कोई विरोध नहीं, उसमें अनुराग हो 'अस्तु' यह लोट् लकार प्रार्थना में दिया है, अर्थात् रुक्मिणी प्रार्थना करती है कि मेरा अनुराग आपके चरण में हो, प्रार्थना करने के अधिकार का हेतु मेरा आपके साथ नित्य सम्बन्ध है, भगवान् को तो अपेक्षा नहीं है, कदाचित् दूसरे का स्नेह प्रतिबन्धक होने से भगवान् को अपेक्षित न होवे, इस कारण से भगवान् को इच्छा न हो तो अनुराग भी न होगा, इसलिये ही प्रार्थना की है। भगवान् क्यों नहीं चाहता है ? जिसका हेतु देती है वे अपनी आत्मा में ही रत हैं। इस कारण से जैसे आत्माराम विषयों की अपेक्षा न कर उनसे सम्बन्ध नहीं करता है वैसे तुझ से भी सम्बन्ध न करेंगे। इस शङ्का का समाधान करती है कि, जैसे भगवान् आत्मा में रमण करते हैं। वैसे प्रपञ्च में भी रमण करते हैं, तो प्रपञ्च का मूल स्वरूप तो मैं हूँ सृष्टि और प्रलय दोनों सिद्ध हैं, मेरा सङ्ग किसी प्रकार भगवान् को रमणादि में बाध न करेगा, फिर शङ्का उठाती है कि यदि यों है तो संसारी और आत्मारामों में कौन विशेष है अर्थात् दोनों में क्या भेद है ? इसका उत्तर देती है कि, सर्वात्मा भगवान् का मेरे में वा आत्मा में भेद दृष्टि नहीं है। सर्व आत्मा है इसलिये सर्वत्र एक ही दृष्टि है, तब तेरा स्त्री रूप पुरुषार्थ कैसे सिद्ध कर सके ? यदि कर सक तो स्त्रीत्व व्यर्थ हो जावे, यदि यों कहो तो, इसका उत्तर यह है कि, जब भगवान् जगत् की वृद्धि के लिये रजोगुण की मात्रा को बढ़ा कर रचना की इच्छा करते हैं, तब मेरे सामने दृष्टि करते हैं, तब ही तो सर्व शक्तिरूप हम पर अनुकम्पा होती है, 'ममयोनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्' सम्भवः सर्व भूतानां ततो भवति भारत' इस वाक्यानुसार, हम पर महती कृपा की जाती है, दृष्टि मात्र से ही चित्शक्ति का आधान कहा है, सम्बन्ध तो भगवान् के साथ नित्य है ही, इसलिये ईक्षण (दृष्टि) ही विशेष है ॥४६॥

आभास—एवमुदासीनत्वेऽपि स्वस्य सर्वपुरुषार्थसिद्धिमुक्त्वा, सुखप्रस्तावनायां भगवानकस्मादेवं यदुक्तवान्, तत्र को हेतुरित्याशङ्क्य, परीक्षार्थं तेषामुपयोग इति भावं वर्णयति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ— इस प्रकार उदासीन होते हुए भी अपनी सर्व पुरुषार्थ की सिद्धि कह कर सुख की प्रस्तावना में भगवान् ने अचानक, जो यों कहा, उसका क्या कारण है ? इस शङ्का का उत्तर, दो श्लोकों से देती है, कि परीक्षा के लिये भगवान् ने यों कहा है ।

श्लोक— नैवालीकमहं मन्ये वचस्ते मधुसूदन ।

अम्बाया इव हि प्रायः कन्यायाः स्याद्व्रतिः क्वचित् ॥४७॥

व्यूढायाश्चापि पुंश्चल्या मनोऽभ्येति नवं नवम् ।

बुधोऽसतीं न बिभृयात्तां बिभ्रदुभयच्युतः ॥४८॥

श्लोकार्थ— हे मधुसूदन ! आपके कहे हुए वचन में भूठ है, यों नहीं कहती हूँ; क्योंकि जैसे काशिराज की कन्या अम्बा की कुमारिकावस्था में ही दूसरे पुरुष पर

प्रीति हुई, वैसे किसी समय कुमार अवस्था में भी कदाचित् किसी पुरुष पर प्रेम हो जाय, यह असम्भव नहीं है ॥४७॥

और कभी ब्याह होने के अनन्तर भी बड़ी स्त्री व्यभिचारिणी हो जाय तो नये-नये पति पर उसका मन जाता है, इसलिए बुद्धिमान् को चाहिए कि ऐसी व्यभिचारिणी को घर में रखकर पालन न करे, यदि पालन करता है तो ऐसा पुरुष दोनों लोकों से भ्रष्ट होता है ॥४८॥

सुबोधिनी—नैवालीकमहं मन्य इति । यथा-श्रुताथत्वेऽपि ते वचः अहमलीक न मन्ये । असम्भावितवचनमलीकम् । मधुसूदनत्वात् परमसमर्थस्य सर्वापेक्षारहितस्य क्लिष्टकरणे प्रयोजनाभावात् परीक्षयैव सम्बन्धः कर्तव्य इति सूचितम् । सम्भावनायां स्त्रीत्वमेव हेतुः । यतः महति कुले जातायाः काशिराजसुतायां अम्बायाः कन्याया इव क्वचित् साल्वे रतिर्दृश्यते । अम्बा अम्बिका अम्बालिकेति तिस्रः काशिराजकन्याः भीष्मेण विचित्रवीर्यार्थे स्वयंवरे आहूताः । ततो ज्येष्ठा

भीष्मं प्रति स्वागिप्रायमुक्तवती 'साल्वे मन्मन' इति । ततो भीष्मेण प्रेषिता, साल्वेनान्याहूतेत्यगृहीता, पुनर्भीष्मं प्राप्ता । परशुरामवाक्यादपि भीष्मेणासङ्गृहीता, तपसा देहं त्यक्त्वा शिखण्डी भूत्वा, भीष्मवधार्थमुत्पन्नेति भारतकथा । व्यूढाया अपि पुंश्चल्याः । जन्मसंस्काराद्यहैर्वा बहुपुरुषसम्बन्धिनी भवति । ततस्तस्या मनः नवं नवपुरुषमभ्येति । तदवश्यं परीक्षणेन ज्ञातव्यम् । तत्र प्रयोजनमाह बुधः असतीं न बिभृयादिति । तां बिभ्रदुभयच्युत इति बाधकम् ॥४७-४८॥

व्याख्यान—यथाश्रुत होते हुए भी आपका वचन मैं झूठा नहीं मानती हूँ, झूठ उसे कहते हैं जो असम्भव होवे, मधुसूदन होने से, सर्व अपेक्षा रहित सर्व समर्थ को इस प्रकार क्लिष्ट कर्म करने में कोई प्रयोजन नहीं है, अतः इन वचनों से यह सूचना दी है कि, परीक्षा करने के अनन्तर ही सम्बन्ध करना चाहिये, अतः आपके वचनों को मैं इस प्रकार की सूचना समझती हूँ, जिससे वे झूठे नहीं हैं, इस प्रकार सम्भावना है, जिसमें कारण स्त्रीपन है, क्योंकि बड़े कुल में उत्पन्न काशिराज की बेटो अम्बा की साल्व में रति हो गई थी, यह प्रत्यक्ष प्रमाण है, अम्बा अम्बिका अम्बालिका तीन काशिराज की कन्याओं को भीष्म विचित्रवीर्य के लिये लाया था, पश्चात् बड़ी अम्बा ने भीष्म को कहा कि मेरा मन साल्व में आसक्त है, जब भीष्म ने उसने वहाँ भेजा, साल्व तो दूसरी ले आया था अतः इसको ग्रहण नहीं किया, जिससे वह लौट कर भीष्म के पास आई । परशुराम के कहने पर भी भीष्म ने ली नहीं, जिस कारण से तपस्या से देह का त्याग कर, शिखण्डी बन भीष्म को मरने के लिये उत्पन्न हुई, यह कथा महाभारत में है, विवाहित भी व्यभिचारिणी होती है, क्योंकि पूर्व जन्म के संस्कारों से, व ऐसे ग्रहों के योग से, बहुत पुरुषों से सम्बन्ध वाली होती है, इस कारण से उसका मन नये नये पुरुष को चाहता है, वह परीक्षा कर इस बात को जानना चाहिये, परीक्षा करने का प्रयोजन कहती है कि, बुद्धिमान् को चाहिये कि ऐसी व्यभिचारिणी का पालन न करे अर्थात् घर में उसको न रखे, यदि उसको रख कर पालन करता है तो वह दोनों लोकों से भ्रष्ट होता है, इस प्रकार उसको रखना बाधक है ॥४८॥



आभास—एवं साभिप्रायं प्रकारद्वयेन भगवद्वाक्यानि व्याख्यातानि । तत्र व्याख्याने सान्त्वनार्थं प्रकाशितं स्वाभिप्रायं तथा वर्णितं श्रुत्वा, अनन्यत्वं परिज्ञाय, दीनत्वस्य हीनभावत्वस्थ च प्रकाशितत्वात् गर्वाभावमपि ज्ञात्वा, सन्तुष्टो भगवान् तस्या वाक्यमभिनन्दति साध्येतदिति ।

आभासार्थ—रुक्मिणी ने भगवान् के वचनों का दो प्रकार से विवेचन कर यह सिद्ध किया कि भगवान् का अभिप्राय मुझे त्यागने का नहीं था किन्तु इस प्रकार परीक्षा करना योग्य था जिसको सुनकर भगवान् ने जान लिया कि, रुक्मिणी अनन्यभाव रखती है, और दीनत्व तथा हीनत्व के प्रकाशन से इसमें गर्व भी नहीं है, जिससे भगवान् प्रसन्न हो 'साध्येतदभिज्ञाय' श्लोक में उसके वाक्य का अभिनन्दन करते हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—साध्येतदभिज्ञाय त्वं राजपुत्रि प्रलम्बिता ।

मयोदितं यदन्वात्थ सर्वं तत्सत्यमेव हि ॥४६॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे साध्वी राजपुत्री ! मैंने जो तुमसे हँसी की, उसका भावार्थ समझकर तुमने जो कुछ कहा, वह सर्व सत्य ही है ॥४६॥

सुबोधिनी—एतद्व्याहृतमुक्तं साध्वेव । हे साध्वीति वा । पूर्वमेव त्वमेव वक्ष्यसीत्यभिज्ञाय प्रलम्बिता वक्रोक्त्या वञ्चिता । एवं वचने सामर्थ्यं राजपुत्रीति । साध्वीत्येतदमर्मेति ज्ञापितम् । व्याख्यानं यथा व्याख्यातमेवेत्याह मयोदितं यद-

न्वात्थेति । उदितस्यानुवचनं व्याख्यानम् । अतः मयोदितं यदन्वात्थ व्याख्यातवती, तत्सर्वं सत्यमेव । हि युक्तश्रायमर्थः । अन्यथा वाक्यानामसम्बद्धार्थता स्यात् ॥४६॥

व्याख्यार्थ—यह जो तुमने व्याख्यान किया वह ठीक ही है, हे साध्वी ! तुम पतिव्रता हो । इसलिये ऐसा ही व्याख्यान करोगी, यह जान कर ही मैंने इस प्रकार वक्र उक्ति से परिहास किया था, इस प्रकार व्याख्यान करने की सामर्थ्य तो राजपुत्री होने से तुम में उत्पन्न हुई है, साध्वी तो वचनों के मर्म को इस प्रकार नहीं समझ सकती है, अतः मैंने जो अक्षर कहे उनका अक्षरशः अनुवाद पूर्वक व्याख्यान तुमने यथार्थ किया है, इस प्रकार का भावार्थ उचित ही है, यदि यों अर्थ नहीं किया जाय तो अर्थ असम्बद्ध हो जाता ॥४६॥

आभास—प्रसन्नः सन् प्रार्थितचरणारविन्दरतिदानप्रस्तावे बह्वेव प्रयच्छति यान्यान् कामयसे कामानिति ।

आभासार्थ—भगवान् के प्रसन्न होने से रुक्मिणी ने चरणारविन्द में अनुराग मांगा था, उसके देने के प्रस्ताव में आप 'यन्यान्कामयसे' श्लोक में उससे भी विशेष देने की इच्छा प्रकट करते हैं ।



श्लोक—यान्यान्कामयसे कामान्मय्यकामाय मानिनि ।

सन्ति ह्येकान्तभक्तायास्तव कल्याणि नित्यदा ॥५०॥

श्लोकार्थ—हे मानिनी ! तुम जो-जो मुझ अकाम से चाहोगी, वह सर्व एकान्त-भक्ति वाली जो तू है, उसके लिए हे कल्याणी ! नित्य ही हैं ॥५०॥

सुबोधिनी—मत्सम्बन्धिनः सर्व एव सकामा निष्कामाश्च व्यवहाराः निष्कामा एव । सिद्धवदनुवादेनायं वरो दत्तः । यान् कामान् कामयसे, तानकामाय कामयस इति । यतो मयोत्थावृत्त्या योजना । वीप्सा नानाविधत्वाय । तस्मात्तव कामा निष्कामा भवन्त्वित्युक्तं भवति । मानिनीति सम्बोधनं मानापनोदनार्थमेवमुच्यते इति सूचयति निष्कामा मानवती न भवतीति । एव कामानां निष्कामत्वमुक्त्वा, सर्वानेव कामान्

प्रयच्छति सन्ति होति । अर्थात् कामाः । तत्र दानव्यतिरेकेणैव विद्यमानत्वे हेतुः एकान्तभक्ताया इति । हि युक्तश्चायमर्थः । या ह्यनन्यभक्ता, सा सर्वं प्राप्नोतीति । एकान्ते वा भजते, साप्यपेक्षितं कामसुखं प्राप्नोतीति । तवेति तत्रानुभवो निरूपितः । कल्याणीति स्वरूपयोग्यता विवाहितत्वाद्भाष्यं चोक्तम् । नित्यदेति सर्वदा । छान्दसः ॥५०॥

व्याख्यार्थ—मुझ से जिनका सम्बन्ध हो जाता है वे सर्व व्यवहार निष्काम हों चाहे सकाम हों तो भी निष्काम हो ही जाते हैं, यह वर सिद्ध के समान अनुवाद से वर दे दिया है, जिन कामनाओं की पूर्ति मुझ में से करनी चाहती हो, यद्यपि मैं अकाम हूँ किन्तु मुझ से ही चाहती हों । इस कारण से तेरी विशेष इच्छा अनेक प्रकार की होने से पूर्ण होगी किन्तु वह इच्छा स्वतः निष्काम बन जायगी, मानिनी, यह संबोधन मान तोड़ने के लिये ही दिया गया है, यों सूचित करते हैं, मान वाली निष्काम नहीं बन सकती है, इस प्रकार वे तुम्हारी कामनाएं निष्काम हो जावेगी, यह समझाने के अनन्तर कहते हैं कि सब कामनाएं तुम्हें प्राप्त होगी, देने के सिवाय, उनकी विद्यमानता में कारण बताते हैं कि तू मेरी एकान्तिक अनन्य भक्ता है अतः जो मेरी अनन्य भक्ता होती है वह सब प्राप्त करती है, अथवा जो एकान्त में मेरा भजन करती है, वह भी जो काम सुख चाहती है वह प्राप्त करती है 'तव' पद से यह कहा कि मुझे अनुभव ही है, कल्याणी संबोधन से यह बताया कि तेरे स्वरूप की योग्यता है तथा मुझ से विवाहित होने से तेरा भाग्य भी उत्तम है, स्वरूप समय के लिये नहीं किन्तु 'नित्यदा', यह पद छान्दस अर्थात् वैदिक है, सर्वदा हमेशा के लिये ऐसा भाग्य है ॥५०॥

आभास—तदा पतनक्रियया यज्ज्ञातं तदप्याह उपलब्धं पतिप्रेमेति ।

आभासार्थ—तब पतन क्रिया से जो हुआ वह भी 'उपलब्धं पतिप्रेम' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—उपलब्धं पतिप्रेम पातिव्रत्यं च तेऽनघे ।

यद्वाक्यंश्चाल्यमानाया न धीमन्यपकर्षिता ॥५१॥



श्लोकार्थ—हे निष्पापिनो ! मैंने ऐसे वाक्य कहे जिनसे बुद्धि चलायमान हो जावे, किन्तु तेरी बुद्धि मुझ में से दूर न हुई, जिससे तुमने पतिप्रेम तथा पातिव्रत्य दोनों प्राप्त किए ॥५१॥

सुबोधिनी—परित्यागसम्भावनायामेव शरीर-
रत्यागस्य कृतत्वात् पतिप्रेम उपलब्धम् । पाति-
व्रत्यं चोपलब्धम् । व्रतभङ्गे मरणमेवाङ्गीकृत-
मिति । चकारान्मयि स्थिरापि बुद्धिः, मत्स्पर्शेनैव

जीवनस्य प्राप्तत्वात् । चकारात् हेत्वन्तरमप्याह
यद्वाक्यैरिति । यस्मात् कारणात् वाक्यैश्चात्य-
मानाया अपि तव धोः मयि नापकर्षिता, अपकर्षं
न प्राप्तवती । सर्वथाभावस्तु दूरापास्तः ॥५१॥

व्याख्यार्थ—मेरे वचनों से त्याग की सम्भावना मात्र देख शरीर का त्याग करने लगी, जिससे पति प्रेम पाया, तथा पातिव्रत्य प्राप्त किया, व्रत का भङ्ग होने पर मरण का ही निश्चय किया, 'च' शब्द का भाव प्रकट करते हुए कहते हैं कि मुझ में स्थिर हुई भी बुद्धि, मेरे स्पर्श से जीवन को प्राप्त हुई और 'च' कहने का दूसरा हेतु भी कहते हैं, जिस कारण से मेरे वचनों से विचलित बुद्धि भी मुझ से दूर न गई, अर्थात् मुझे नहीं छोड़ा, सर्वथा अभाव तो दूर रहा ॥५१॥

आभास—तया यद्विरक्ततया भक्तिमार्गानुसारेण भक्तिमेवोररीकृत्य, कादाचित्कः
कामः समर्थितः, तदेव युक्तम्, न तु लौकिकवन्मद्भजनमिति स्वयं सम्मतिं वक्तुं विप-
रीते बाधकमाह ये मां भजन्तीति ।

आभासार्थ—उस (स्वमणी) ने जो विरक्तपन से भक्ति मार्गानुसार भक्ति को स्वीकार कर कादाचित्क काम का समर्थन किया, वह ही उचित है, न कि लौकिक की भाँति मेरा भजन उचित है, इसलिये उसने जो कहा उसमें अपनी सम्मति प्रकट करते हैं और विपरीत में बाधकता दिखाते हैं 'ये मां भजन्ति' श्लोक से ।

श्लोक—ये मां भजन्ति दाम्पत्ये तपसा व्रतचर्यया ।

कामात्मनोऽपवर्गेशं मोहिता मम मायया ॥५२॥

श्लोकार्थ—जो कामी पुरुष, मोक्ष के स्वामी मुझको, तप तथा व्रतों द्वारा इसीलिए भजते हैं कि दम्पतीवत् सुख भोग की प्राप्ति होवे तो वे मेरी माया से मोहित हुए हैं, यों समझना चाहिए ॥५२॥

सुबोधिनी—दाम्पत्ये दम्पत्योरिव भावार्थे ।
भक्तिमार्गे एवं नास्तीति, अन्यत्र भगवद्भजनं न
लोकसिद्धमिति, स्वयं कर्ममार्गे तत् वक्तुं साधन-
माह तपसा व्रतचर्ययेति । तपः पुरुषस्य, व्रतचर्या
स्त्रियः । कथं भगवन्तमपि तथा भजन्ति । न हि ।

शैत्यार्थं कश्चिद्वह्निं सेवत इति, तत्राह कामात्मान
इति । कामात्मानः काममेव पुरुषार्थं मन्यन्ते ।
भगवानपवर्गेशः मोक्षदाता । एवं विरुद्धयो सेव्य-
सेवकयोरपि सतोः यद्भजनं सिध्यति, तन्मायामो-
हनेनैवेत्याह मोहिता मम माययेति ॥५२॥



व्याख्यार्थ—लोक में दाम्पत्य से जिस प्रकार जैसा सुख होता है, भक्ति मार्ग में वैसा सुख नहीं है। अन्यत्र भगवद्भजन लोक सिद्ध नहीं है, आप कर्म मार्ग में उसको कहने के लिये साधन कहते हैं 'तपसा व्रतचर्यया' तपस्या पुरुषों का, व्रतचर्या स्त्रियों की, भगवान् को भी इस प्रकार वैसे भजते हैं, ठंडी हो, इसलिये कोई अग्नि का ताप नहीं लेता है। इस विषय में कहते हैं कि, जो काम को ही पुरुषार्थ मानते हैं, और भगवान् तो मोक्ष के दाता हैं, इस प्रकार सेवक और सेव्य दोनों परस्पर विरुद्ध देखने में आते हैं, फिर भी, जो भजन सिद्ध हुवा दीखता है, वह माया से मोहित होने के कारण है ॥५२॥

आभास—साधारणसेवकानां स्थितिमुक्त्वा, ये पुनर्विशेषेण भगवन्तं प्राप्ताः, तेऽपि चेत् सकामा भवेयुः, तदा कालेन तेषां बुद्धिर्नाशित इति निन्दति सां प्राप्य मानिनीति ।

आभासार्थ—साधारण सेवकों की स्थिति कह कर अब फिर कहते हैं कि जो विशेष प्रकार से मुक्त (भगवान्) को प्राप्त हुवे हैं, यदि वे भी सकाम होने लगे, तो समझना चाहिये कि काल से उनकी बुद्धि नाश हो गई, यों कह कर उनकी 'सां प्राप्य' श्लोक से निन्दा करते हैं ।

श्लोक—सां प्राप्य मानिन्यपवर्गसम्पदं वाञ्छन्ति ये सम्पद एव तत्पतिम् ।

ते मन्दभाग्या निरयेऽपि ये नृणां मात्रात्मकत्वान्निरयः सुसङ्गमः ॥५३॥

श्लोकार्थ—हे मानिनी ! जिसमें मोक्ष तथा सब सम्पदाएँ भी रहती हैं, ऐसे मुझे प्राप्त करके भी जो लोग लौकिक सम्पदाएँ माँगने लगते हैं, उनको मन्दभागी समझना चाहिए; क्योंकि विषय सुख तो नरक में भी मिलता है, विषयों में आसक्त होने से उनको नरक ही सरलता से प्राप्त होगा ॥५३॥

सुबोधिनी—अपवर्गस्य सम्पद्यस्मात् । मानिनीति सम्बोधन मानस्य विद्यमानत्वात् त्वं प्रार्थयिष्यसीति सूचितम् । ये केवलमैहिकसम्पद एव प्रार्थयन्ति, ते मन्दभाग्याः । यथा मन्दभाग्यो निधिमपि प्राप्य, पाषाण इति पदा प्रक्षिपति, एतन्मन्दभाग्यस्य लक्षणम् । ननु विषया अपि दुर्लभाः स्त्रीषणादयः, तत्कथं मन्दभाग्यत्वमिति चेत् । तत्राह । ये विषया निरयेऽपि नृणां भवन्ति । तत्र हेतुः मात्रात्मकत्वादिति । न हि क्व-

चिद्विषयाभावोऽस्ति । आदियोनावपि विषयोपभोगस्य दृष्टत्वात् । दुःखं तु विषयसम्बन्धे नियतम् । तारतम्यं त्वप्रयोजकम् । तर्हि तादृशो निरयोऽपि सम्पत्तियुक्तः समीचीन इति चेत्, तत्राह निरयः सुसङ्गम इति । सुष्ठु सङ्गमो यस्येति । न तदर्थं तपः कर्तव्यं मद्भजनं वा । अतः अक्लेशसिद्धे क्लेशकरणात् दुर्भाग्यत्वम् । पूर्णादित्पप्रार्थनायां मन्दभाग्यत्वं वा स्यादिति तथा न भावनीयमित्युपदेशः ॥५३॥

व्याख्यार्थ—जिससे मोक्षरूप सम्पदा प्राप्त होती है ऐसे मुझ से तुम वह भी नहीं माँगती हो, कारण कि तुम में मान मौजूद है, यह 'मानिनि' संबोधन से सूचित किया है, और जो केवल लौकिक सम्पदाएँ माँगते हैं, वे तो मन्द भाग्य वाले हैं, जैसे अभागे को मणि भी प्राप्त हो, तो उसको पत्थर

समझ ठुकराता है, इसलिये यह मन्द भाग्य का लक्षण है, इसी प्रकार मोक्षदाता मुझ से मुक्ति की प्रार्थना न कर, उसको ठुकराके नाशवान् लौकिक सम्पदाएँ माँगते हैं, जिससे वे मन्द भागी हैं विषय स्त्री धन पुत्रादि की प्राप्ति भी दुर्लभ है उनके माँगने वाले अभाग्य कैसे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि, ये पदार्थ नरक आदि में भी मिलते हैं, इनका अभाव कुत्ते आदि योनियों में भी नहीं है, उनको भी विषयोपभोग करते हुए देखा जाता है, विषयों से सम्बन्ध होने पर दुःख प्राप्ति तो नियत है अर्थात् अवश्य होती ही है स्वल्प वा अधिक वह तो अप्रयोजक है, यदि कहो कि जहाँ इस प्रकार सम्पत्ति सुख मिलता है तो वह नरक भी अच्छा है, वहाँ कहते हैं कि नरक तो सरल स्वयं प्राप्त होता ही है, जिसके लिये तपस्या वा मेरे भजन करने की आवश्यकता नहीं है, अतः जो पदार्थ बिना क्लेश के प्राप्त होवे उसके वास्ते क्लेश करना भी मन्द भाग्य पन है, जो पूर्ण है विशेष देने वाले हैं उनसे स्वल्प के लिये प्रार्थना करनी मन्द भाग्य ही है, अतः यों न करना चाहिये, इस प्रकार उपदेश है । ५३॥

॥ आभास—तया यदुक्तं मामीक्षसे, तर्हि नः परमानुकम्पेति तदभिनन्दति 'दिष्ट्येति ।

आभासार्थ—उस (स्वमणी) ने जो कहा आप मुझे देखते हैं, यह तो मेरा विशेष अनुग्रह है, इसलिये उसको अभिनन्दन 'दिष्ट्या' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—दिष्ट्या गृहेश्वर्यसकृन्मयि त्वया कृतानुवृत्तिर्भवमोचनी खलैः ।

सुदुष्करासौ सुतरां दुराशिषो ह्यसुभराया निकृतिजुषः स्त्रियाः ॥५४॥

श्लोकार्थ—हे गृहेश्वरी ! संसार से छुड़ाने वाली, निष्काम मन की वृत्ति मुझ में बार-बार अर्पण कर लगाई है, यह बहुत अच्छा किया, यों करना प्रसन्नता का विषय है, खलजनों की चित्त वृत्ति मुझ में लगनी बहुत कठिन है; क्योंकि उनका अभिप्राय दोषों से भरा हुआ है तथा प्राणादिक के पोषण करने वाले विषयों के पोषक वृत्ति वाली वे स्त्रियाँ हैं ॥५४॥

सुबोधिनी—असकृन्मयि त्वया या अनुवृत्तिः कृता, सा दिष्ट्या कृता । यतः सा भवमोचनी । गृहेश्वरोति सम्बोधनं लोकप्रसिद्धसंसारसुख तव सिद्धमेवेति सूचयति । अनुवृत्तिर्नामोदासीनेऽपि भगवति तदनुसरणम् । तत्प्रथमं पत्रप्रेषणेनात्म-समर्पणरूपा । ततो रुक्मिवधे प्रार्थनया वाक्सम-पर्णरूपा । तत इदानीं मूर्च्छया मनःसमर्पण-रूपा । स्वाभिप्रायप्रतिपादकैर्विषयैश्च सर्वसमर्पण-रूपा । ईश्वरार्द्धितया-स्थितौ संसारः ईशादपे-

तस्येत्युत्तरत्र वक्ष्यते । अत इयं भवमोचनी भवति । ननु किमाश्चर्यम् भार्या करोत्येवेति चेत् । तत्राह खलैः सुदुष्करेति । दुष्टैरुक्मिप्रभृ-तिभिः कृत्वा सुतरां दुष्करा । खला दुष्टस्वभावाः मात्सर्येण परकार्यनाशकाः । किञ्च । अन्तरपि तव बाधकं न जातमित्याह दुराशिष इति । दुष्टा प्राकृती आशीर्यस्य तस्याः मदनुवृत्तिः सुतरामेव दुर्लभा । तत्राप्यसावेतादृशी । तत्रापि असुभरायाः प्राणपोषिकायाः । तत्रापि निकृतिजुषः नरक-

सेविकायाः । स्त्रियश्च । अन्तःकरणप्राणेन्द्रियशरीरदोषाणां प्रत्येकसद्भावेऽपि दुर्लभा, समुदाये । किं वक्तव्यमित्यर्थः । इमामेवोपपत्तिं हिशब्द आह ॥५४॥

व्याख्यार्थ—तूने मुझ में कई बार अपने को अर्पण कर अपना अनन्य प्रेम प्रदर्शित किया है, वह बहुत प्रसन्नता का उचित कार्य है, क्योंकि ऐसी वृत्ति संसार से छुड़ाने वाली है । हे गृहेश्वरी! यह संबोधन कह कर सूचित किया है कि, लोक प्रसिद्ध सांसारिक सुख तो तुझे प्राप्त ही हैं, अनुवृत्ति' शब्द का भाव प्रकट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं कि भगवान् ने इस से यह सिद्ध किया है कि मैं उदासीन हूँ, तो भी तुमने सर्व प्रकार मुझ में अपने को बार बार अर्पण कर अपनाया है, इसका स्पष्टीकरण करते हुए कहते हैं कि जैसे पहले पत्र लिख कर अपनी देह को मुझे अर्पण कर दिया, पश्चात् रुक्मि वध होने पर, प्रार्थना से 'वाणी' को अर्पण किया, अब मूर्च्छा से मन को समर्पण किया, और अपने अभिप्राय को प्रकट करने वाले वाक्यों से, सर्व समर्पण किया, ईश्वर से भिन्न स्थिति में संसार होता है जिसका उत्तर 'ईशादपेतस्य' श्लोक में कहा जायगा, अतः यह तुम्हारी चित्त वृत्ति संसार छुड़ाने वाली है, यदि कहो कि इसमें क्या आश्चर्य है ? पत्नी इसी प्रकार अर्पण करती है जिसके उत्तर में कहते हैं कि, दुष्ट स्वभाव वाले मत्सरता से अन्यो के कार्य को नष्ट करने वाले, रुक्मि प्रभृति जो खल है, वे यों नहीं कर सकते हैं, तेरा अन्तःकरण भी यों करने में बाधक नहीं हुआ किन्तु जिनकी प्रकृति दुष्य है उनके अन्तःकरण में मेरे लिये अनुवृत्ति बिलकुल कठिन है, उसमें भी, यह तथा वैसी होनी तो सम्भव ही नहीं, क्योंकि वे प्राणों को ही पोषण करने वाली है, जिससे वे नरक की सेविकाएं हैं, अन्तःकरण, प्राण, इन्द्रियाँ और शरीर के दोषों का प्रत्येक में होने से भी आप जैसी वृत्ति स्त्रियों की होनी कठिन है, तो यदि सब दोष पूर्ण हो तो वहाँ क्या कहा जावे, इस ही उपपत्ति को 'हि' निश्चय वाचक शब्द कहता है ॥५४॥

आभास—एतादृश्योऽन्या अपि बह्व्यः सन्तोति स्त्रीणामपि मध्ये तामुत्कृष्टत्वेन स्तौति न त्वादृशीमिति ।

आभासार्थ—ऐसी स्त्रियां तो बहुत ही हैं किन्तु स्त्रियों में यह उत्तम है इसलिये 'न त्वादृशी' श्लोक से इसकी प्रशंसा करते हैं ।

श्लोक—न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु पश्यामि मानिनि यया स्वविवाहकाले ।

प्राप्तान्नृपानविगणय्य रहो श्रो प्रे स्थापितो द्विज उश्रुनसत्कथस्य ॥५५॥

श्लोकार्थ—हे मानिनि! यद्यपि घरों में बहुत स्त्रियाँ हैं, किन्तु तेरे समान प्रेमवाली दूसरी कोई नहीं है कारण जिस(तुम)ने अपने विवाह काल में आए हुए राजाओं को ध्यान में भी न लाकर अर्थात् तुच्छ मानकर, केवल मेरे यश सुनने के कारण मुझ को प्राप्त करने के लिए गुप्त रूप से ब्राह्मण भेज मुझे बुलाया ॥५५॥

सुबोधिनी—प्रणयिनी गृहिणी दुर्लभा । लौकिकधर्माभिनिविष्टा गृहिणी । तथाभूतापि परमप्रेमयुक्ता आत्मनोऽप्यधिकस्नेहवती दुर्लभा भवति । गृहेषु गृहस्थाश्रमेषु मम बहुरूपेषु । न

पश्यामीति तादृश्या अभावे प्रमाणम् । मानिनीति मानसद्भावेन अन्यसक्तिनिवृत्तिः अपकीर्तिलेशस्याप्यसहनं च सूच्यते । कथमित्याकाङ्क्षायामुपपादयति । यया स्वविवाहकाले प्राप्तान् सर्वप्रकारेण



शिशुपालादीनविगणय्य. रहः एकान्ते द्विज प्रस्था-
पितः । नापि मया सह परिचयः. किन्तु उपश्रुता
सद्भिः कृता कथा यस्य, सत्कथा वा । अहो
आश्चर्ये । नह्ये तादृशं क्वचिदपि लोके जातमिति ।

स्वयंवरे तु वरणं युक्तम्, नत्वेतादृशम्, अन्याः
सर्वा एव लौकिकप्रकारेणानीताः । अनेन सम्बन्ध-
प्रकारः त्वत्सदृशो नान्यासामिति निरूपितम् ॥५५॥

व्याख्यानार्थ - प्रेमवाली स्त्री मिलनी दुर्लभ है । स्त्री लौकिक धर्मों में आसक्त होकर भी, परम प्रेम से युक्त हो अपने से भी पति में अधिक स्नेह करे ऐसी स्त्री मिलनी बहुत कठिन है, मेरे अनेक प्रकार के गृहस्थाश्रम के घर हैं उनमें तेरे समान कोई स्त्री नहीं देखता हूँ जिसका प्रमाण यह है कि तू मानिनी है, जिससे अल्प भी अपकीर्ति सहन नहीं कर सकती है, एवं इससे यह बताती हो, कि अन्य में मेरी आसक्ति नहीं है यदि कहो कि आपने यह कैसे जाना ? इसका उत्तर यह है कि जिस (तुम ने अपने विवाह के समय में आये हुए शिशुपाल आदि राजाओं को सर्व प्रकार ध्यान में न लाकर तथा तुच्छ समझ कर गुप्त रीति से मेरे पास मुझे बुलाने के लिये ब्राह्मण भेजा, मेरे साथ कोई परिचय न था, केवल सत्पुरुषों द्वारा की हुई मेरे गुणों की कथा सुनी थी, यों करना आश्चर्य है, लोक में इस प्रकार कहीं भी नहीं हुआ है, स्वयंवर में वरण करना तो उचित है, न कि इस प्रकार वरण करने की रीति है, दूसरी सब स्त्रियाँ मैं लोक रीति से लाया हूँ इससे तुझ से जिस प्रकार सम्बन्ध हुआ है वैसा दूसरियों से नहीं हुआ है ॥५५॥

आभास—अपराधसहनं च त्वत्सदृशं नान्यासामित्याह भ्रातुर्विरूपकरणमिति ।

आभासार्थ—अपराध का सहन भी जैसा तुमने किया है वैसा दूसरियों ने नहीं किया है, यह 'भ्रातुर्विरूप' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—भ्रातुर्विरूपकरणं युधि निजितस्य प्रोद्धाहपर्वणि च तद्वधमक्षगोष्ठ्याम् ।

दु खं समुत्थमसहोऽस्पदयोगभीत्या नैवाब्रवीः किमपि तेन वयं जितास्ते ५६

श्लोकार्थ—तेरे भाई को युद्ध में जीतकर विरूप किया, तथा अनिरुद्ध के विवाह में जुगारियों की गोष्ठी में उसको मार डाला, यह असह्य दुःख हृदय में, उठते हुए भी केवल हमारे वियोग के भय से सहन कर रही हो, उसके लिये हम को कुछ भी नहीं कहा, जिससे हमको तुमने जीत लिया है ॥५६॥

सुबोधिनी—विवाहसमये रुक्मिणी ज्येष्ठभ्रातु-
र्विरूपकरणं मुण्डनम्, तत्रापि युधि निजितस्य ।
प्रोद्धाहपर्वणीत्युभयत्र सम्बध्यते । यद्यपीयं कथा
प्रद्युम्नोत्पत्तेः पूर्वमेव, अन्यथा भगवान् अन्य-
भजनं न वदेत् । न हि पुत्रपौत्रादियुक्ता कचिदेव-
मुच्यते । प्रथमसङ्ग एवैवं भवति । सर्वथा हृदया-

नभिज्ञदशायां तस्या अपि पतनादिसम्भवः, न तु
निरन्तरप्रवृत्ती । अनिरुद्धविवाहे तु अक्षगोष्ठ्यां
तद्वधः । तदुत्तराध्याये वक्ष्यते । तथापि यथा तथा
आर्षज्ञानेन सर्वं निरूपितम् तथा भगवानपि तां
तादृशीं मत्वा भाव्यर्थमपि सिद्धवत्कारेण निरूप-
यति । भूतप्रत्ययस्तु लङ्प्रयोगः । छन्दसि लुङ्-



ङ्लिटः' इति दश लकारार्थेषु भवन्तीति आवृत्त्या योजनायां द्वितीयवाक्ये भविष्यदर्थे ज्ञातव्यः । ताभ्यां समुत्थं दुःखमसह इत्यपि तथा । अस्मद-योगः अस्मत्सम्बन्धो निवर्तिष्यत इति भयेन उत्पत्तिबलिष्ठभ्रातृसम्बन्धापेक्षयापि अस्मत्सम्बन्धाभावशङ्कापि महतीति सर्वोत्तमा त्वमेव ।

चकारान्मध्ये प्रद्युम्नविवाहादौ तदवगणनादि संगृह्यते । समुत्थं दुःखं सोढुमशक्यम् । बलभद्रोपदेशात् समुत्थमिति ज्ञायते । एकक्रियोपात्तत्वात् द्वितीयमपि तादृशमेव । तेन दुःखसहनेन ते त्वया वयं जिताः । तव वयमित्यपि । जयोऽप्यङ्गीकृतः । त्वदीयत्वं च ॥५६॥

व्याख्यार्थ—विवाह के समय युद्ध में हारे हुए तेरे बड़े भाई का मुण्डन किया, यद्यपि यह कथा प्रद्युम्न की उत्पत्ति से पहले की ही है, नहीं तो भगवान् अन्य भजन नहीं कहते, जिसके पुत्र पौत्रादि हो उसको यों नहीं कहा जा सकता है, प्रथम हुए मिलाप के समय ही यों कहा जा सकता है, सर्व प्रकार, हृदय के भावों के न जानने की दशा में, उसके भी पतन का सम्भव है, न कि निरन्तर प्रवृत्ति हो जाने पर, अनिरुद्ध विवाह के समय जुआ की गोष्ठी प्रसंग में उसका वध हुआ वह उत्तराध्याय में कहा जाएगा, तो भी जैसे उसने अर्षज्ञात से सब निरूपण किया, वैसे भगवान् भी उसको वैसी अर्ष जान वाली समझ कर ही भावी अर्थ को भी होते हुए की तरह निरूपण करते हैं, भूत प्रत्यय में तो लङ् का प्रयोग हुवा है, जैसे कि 'छन्दसि लुङ् लङ् लिट्' इस प्रकार दश लकारों के अर्थ में होते हैं, इसलिये आवृत्ति से योजना में द्वितीय वाक्य में भविष्यदर्थ में जानना है इन दोनों कारणों से उत्पन्न दुःख इस प्रकार असह्य है किन्तु हमारा सम्बन्ध टूट जायगा, इस भय से उत्पन्न दुःख भ्राता के कारण हुए दुःख से भी तूने विशेष समझा है इसलिये तू ही सब से उत्तम स्त्री है । 'च' पद से यह बताया है कि प्रद्युम्न विवाहादि में भी उसकी अब गणनादि की है, इन सर्व प्रकार के कर्म से उत्पन्न दुःख सहन करना अशक्य है, बलभद्र के उपदेश से विशेष उत्पन्न हुआ, यों जाना जाता है, एक ही क्रिया के बहने से दूसरा भी वैसा ही है, अशक्य सहने जैसे दुःख को सहन करने से तूने हमको जीत लिया है, हमने तेरी जय भी अङ्गीकार की और त्वदीयत्व भी मान लिया ॥५६॥

आभास—अन्यदेकं तव चरित्रं अनन्यदपि अनुपमेयमपि जयाद्यङ्गीकारेऽप्यप्रती-
कार्यमपीत्याह दूत इति ।

आभासार्थ—तेरा एक दूसरा चरित्र, अनन्य एवं अनुपमेय होते हुए भी तथा जयादि के अङ्गीकार करने पर भी ऐसा है, जिसका बदला चुकाया नहीं जा सकता है, जिसका निरूपण 'दूत' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—दूतस्त्वयात्मलमने सुविविक्तमन्त्रः प्रस्थापितो मयि चिरायति शून्यमेतत् ।
मत्वा जिहास इदमङ्गमनन्ययोग्यं तिष्ठेत तत्त्वयि वयं प्रतिनन्दयामः ५७

श्लोकार्थ—मेरी प्राप्ति के लिये तूने मन से विचार पूर्वक गुप्त मन्त्रणा की, वह दूत द्वारा मुझे कहलाई, मेरे आने में विलम्ब होने पर यह सब शून्य देखने लगी, तथा उस समय यह विचार किया कि अब इस शरीर का त्याग ही करना चाहिये, कारण कि यह दूसरे के योग्य नहीं है मुझ में तेरी ऐसी अनन्यता तुझ में ही है, हम तो तेरी श्लाघा (प्रशंसा) कर तुझे प्रसन्न कर सकते हैं ॥५७॥



सुबोधिनी—आत्मलभने कृष्णाप्राप्त्यर्थम् ।
सुष्ठु विविक्तो मस्य तादृशो द्विजः प्रस्थापितः ।
अनेन मयि सिद्धवद्विश्वासः प्रथमत एव कृत इति
निरूपितम् । ततो मयि चिरायति विलम्बमाने
एतज्जगच्छून्यमेव मत्वा, इदमङ्गं शरीरमनन्य-
योग्यं केवलं भगवदेभोग्यं जिहास इति मत्वा

द्विजः प्रस्थापित इति पूर्वैर्गौव सम्बन्धः । प्रस्थापनस-
मय एवैते पक्षा विचारिताः । इति एतत्त्वय्येव
तिष्ठेत । विध्यर्थोऽयम् । नास्य प्रतीकारः सम्भव-
तीति । अप्रयोजकत्वेन तथात्वमाशङ्क्य निराक-
रोति तत्त्वय्येव तिष्ठेत, वयं तु प्रतिनन्दयाम
इति । अस्मिन्नर्थे वयं ऋणिन इति भावः ॥५७॥

व्याख्यार्थ—मेरी प्राप्ति के लिये दूत को गुप्त मन्त्र देकर मेरे पास भेजा, यों करने से तुमने
मुझ में सिद्धवत् विश्वास पहले ही प्रकट कर दिखाया है मेरे आने में विलम्ब देख इस जगत् को शून्य
देख, यों विचार करने लगी कि यह देह त्याग करने योग्य है, कारण कि मेरे सिवाय दूसरे के योग्य
यह अङ्ग नहीं है, ये सब प्रथम ही विचार कर दूत भेजा था, इस प्रकार प्रेम तुझमें हो रहे, 'तिष्ठेत'
यह क्रिया आज्ञा अर्थ में दी हुई है, आपने जो इतना ऐसा विशुद्ध प्रेम दिखाया है उसका बदला हम
दे नहीं सकते ऐसा प्रेम अप्रयोजक है ऐसी शङ्का के निराकरण के लिये ही कहा है कि, यह तुझ में
ही है अन्य में नहीं हो सकता है, हम तो इसके लिये तुम्हारी बड़ाई ही कर सकते हैं, वास्तव में तो
इस प्रेम व्यक्त करने से हम तुम्हारे ऋणी हैं यों कहने का यह भाव है ॥५७॥

आभास—एवं सान्त्वनं कृतमुपसंहरन् अन्यास्वप्येवंभावमतिदिशत्येवमिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इस प्रकार सान्त्वना देकर अब विषय का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि
दूसरियों में जो जिस प्रकार का भाव है वह दिखाते हैं 'एवं' इन श्लोकों से।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—एवं सौरतसंलापेर्भगवान् देवकीसुतः ।

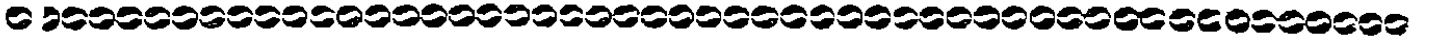
स्वरतो रमया रेमे नरलोकं विडम्बयन् ॥५८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि, देवकी पुत्र भगवान् यद्यपि आत्माराम हैं,
तो भी मनुष्य लोक की लीला का अनुकरण करते हुए, सुरति संबन्धी हंसी की बातों
से लक्ष्मी' से रमण करने लगे ॥५८॥

श्लोक—अथान्यासामपि विभुर्गृहेषु गृहवानिव ।

आस्थितो गृहमेधोयान् धर्मान् लोकगुरुहरिः ॥५९॥

श्लोकार्थ—वैसे ही अन्य घरों में भी दूसरी रानियों से जैसे एक गृहस्थी, गृह
सम्बन्धी धर्मों का आचरण करता हो, वैसे आचरण करते हुए जगत् के गुरु प्रभु हरि
विराजते थे ॥५९॥



सुबोधिनी—सौरताः सुरतयोग्याः संलापाः, येन सुरतं वर्धते । भगवानिति लीलायां योग्यता । देवकीमुत इति स्त्रीणां प्रियार्थे भक्तहितैकसाधकत्वात् तथा करोतीति सूचितम् । स्वरतोऽपि रमया लक्ष्म्या रुक्मिण्या सह रेमे । न तु वाक्यैरेव निवृत्तव्यापारः । परब्रह्मणस्तदयुक्तमाशङ्क्य लीलानुकरणमाह नरलोकं विडम्बयन्निति । अन्यथा नरोऽयमिति लीकानां प्रतीतिर्न स्यात् । अतिदिशति अथाऽन्यासामपीति । अयमेव न

तास्वपि प्रकारः, किन्त्वतिरिक्तस्तत्तद्योग्यः । तदाह अथशब्दः । अन्यासामपि रुक्मिणीव्यतिरिक्तानां गृहेषु गृहवानिव प्राकृत इव तदनुकरणं कुर्वन् गृहमेधीयान् धर्मानास्थितः, लौकिकान् वैदिकांश्च । विडम्बनार्थं लौकिकाश्रयणम्, तत्पूर्वमुक्तम् । वैदिकाश्रयणे विशेषमाह लोकगुरुरिति । तथागत्य सर्वहरणे बहुकालस्थितौ च हेतुः हरिरिति ॥५६॥

व्याख्यानार्थ—जिनसे सुरत (गाढ प्रेम) बढ़े वैसे सुरत योग्य वचन कहने लगे, 'भगवान्' शब्द से आप में लीला की योग्यता वही है, 'देवकीमुत' नाम कह कर यह सूचित किया है, कि स्त्रियों के प्रिय जो अर्थ है उसमें रुचि वाले हैं, कारण कि भक्तों के हित को आप ही एक सिद्ध करने वाले हैं इसलिये यों करते हैं । अपने में ही रमण करने वाले आत्माराम हो कर भी लक्ष्मी की अवतार रुक्मिणी के साथ रमण करने लगे, न कि केवल शब्द ही कह कर निवृत्त हो गये, आप परब्रह्म हैं, इसलिये आपको यों करना उचित नहीं, जिसका उत्तर यह है, नर लोक का अनुकरण कर दिखाते हैं, यदि यों नहीं करे तो मनुष्यों को यह प्रतीति न होवे कि यह मनुष्य हैं अब अन्याओं के पास यह प्रकार नहीं है, वह कहते हैं कि वह दूसरा प्रकार जो जिसके योग्य थी वहाँ वैसी लीला करते थे, अन्य घरों में प्राकृत गृहस्थी की तरह अनुकरण करते हुए गृह मेधीय लौकिक व वैदिक धर्मों का पालन करते हुए विराजते थे, लौकिक कर्म विडम्बना के लिये करते थे वह पहले ही कहा है, वैदिक कर्मों के करने का विशेष कारण बताते हैं कि आप लोक 'गुरु' हैं यों कर लोक को शिक्षा देनी है, वैसे आकर सर्व कर्म करने में हेतु बहुत काल रहता है एवं 'हरि' है जिससे सब के दुःख दूर करते हैं ॥५६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे एकादशमोऽध्यायः ॥१०॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध (उत्तरार्ध) ५६वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-फल
अवान्तर प्रकरण का चौथा अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।



इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें ।

रुक्मिणी परीक्षा

राग बिलावल

भक्त बछल हरि भक्त उधारन । भक्त परीच्छा के हित कारन ॥
 रुक्मिणि सौं बोले या भाइ । हम जानी तुम्हरी चतुराई ॥
 राउ चंदेरी कौ सिसुपाल । जाकौं सेवत सब भूपाल ॥
 तासौं तेरी भई सगाई । तैं पाती क्यो हमैं पठाई ॥
 जाति पाँति उन सम हम नाहीं । हम निरगुन सब गुन उन पाहीं ॥
 इन सम नहिं हमरी ठकुराई । पुरुष भले तैं नारि भलाई ॥
 निःकिंचन जन मै मम वास । नारि संग तैं रही उदास ॥
 जो कहै मोहिं काहे तुम त्याए । ताके उत्तर द्यो समुझाए ॥
 कुंडिनपुर बहु भूपति आए । तिनके हृदय गरब सौं छाए ॥
 बरजोरी मै तोहिं हरि त्यायो । उनके मन की गरब नसायो ॥
 यह सुनि रुक्मिणि भई बिहाल । जानि परचौ नहिं हरि को ख्याल ॥
 लै उसाँस नैननि जल ढारे । मुख तैं बचन न कछु उचारे ॥
 ताकी दसा देखि हरि जानी । इन मम भक्ति भलैं पहिचानी ॥
 हँसि बोले तब साँरगपानी । प्रान प्रिया तुम क्यो बिलखानी ॥
 मै हाँसी की बात चलाई । तुम्हरे मन यह साँची आई ॥
 आँसू पोछि निकट बैठारी । हँसी जान बोली तब प्यारी ॥
 कहैं तुम त्रिभुवन पति गोपाल । कहाँ बापुरी नर सिसुपाल ॥
 कहाँ चंदेरी कहं द्वारावति । जा कै सरवरि नहिं अमरावति ॥
 तुम अनभव वह जन मै मेरे । मूरख वह तुम सरवरि करें ॥
 तुम सम और नही जदुराई । यहै जानि मै सरनहिं आई ॥
 यह सुनि हरि रुक्मिणि सौं कह्यो । जो तुम मोको चितकरि चाह्यो ॥
 त्यो ही मम चित चाहत तुमको । नहिं अंतर कछु तुम सौं हमको ॥
 जदुपति की यह सहज स्वभाव । जो कोइ भजें भजै तिहिं भाउ ॥
 जो यह लीला हित करि गावे । सूर सो प्रेम भक्ति की पावे ॥
 'सूरसागर से'



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत सहापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६१वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ५८वाँ अध्याय
उत्तरार्ध का १२वाँ अध्याय

राजस-फल-अवान्तर प्रकरण

“पञ्चम अध्याय”

भगवान् की सन्तति का वर्णन तथा रुक्मी का मारा जाना

कारिका—द्वादशे रमणं प्राह पुत्रपौत्रयुतस्य हि ।

प्रसङ्गान्मारणं चोक्तं रुक्मिणः प्रतिबन्धनुत् ॥१॥

कारिकार्थ—पुत्र तथा पौत्रवाले का रमण १२ अध्यायों में कहा है और प्रसङ्ग से रुक्मी का वध भी कहा है; क्योंकि रुक्मी भजन में प्रतिबन्ध करने वाला था, कारण कि वह अविद्या के पाँच पर्वों में अज्ञान रूप पर्व था, इसलिए उसके मारने से भजन में प्रतिबन्ध टल गया ॥१॥

कारिका—भगवान् केवलं लोके क्रीडार्थं न समागतः ।

किन्तु सर्वोद्धारणाय तदुद्वाहेऽपि मारणम् ॥२॥



कारिकार्थ—भगवान् लोक में केवल क्रीड़ा के लिए नहीं, किन्तु सबका उद्धार करने के लिए आए है, इसलिए विवाह का समय होने पर भी रुक्मी को मार डाला ॥२॥

कारिका—कलौ शुद्धक्षत्रियो हि न स्थाप्य इति निश्चयात् ।

पापं विवाहमकरोत् फलं तस्याप्यसूचयत् ॥३॥

कारिकार्थ—कलियुग में शुद्ध क्षत्रिय नहीं रहे, यों निश्चय करने से पाप विवाह किया, जिसका फल भी रुक्मी के वध से सूचित कर दिखाया ॥३॥

कारिका—देवकीप्रीतये वंशः स्थाप्य एवेति तत्तथा ।

तदानीं सर्वधर्माणां सम्यक् स्थितिनिरूपणे ॥४॥

कारिकार्थ—उपरोक्त विवाह से अशुद्ध को सम्पादन कर अर्थात् शुद्ध क्षत्रिय न रहे, यह कार्य पूर्ण करके भी फिर वंश की स्थापना क्यों की ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि देवकी को प्रसन्न करने के लिए भगवत्सदृश सुतों को स्वीकार किया, जिनसे वंश स्थापना की, यों करने से सर्व धर्मों की स्थिति के निरूपण में योग दिया ॥४॥

कारिका—‘दशास्या’मिति वाक्येन दशपुत्रनिरूपणम् ।

यथोक्तं श्रुतिसिद्धं हि कर्तुं नान्यः क्षमो भवेत् ॥५॥

लोकवेदौ पुरस्कृत्य रमणं तत्तथोच्यते ।

कारिकार्थ—‘दशास्यां’ इस वाक्य से दस पुत्रों की उत्पत्ति का निरूपण किया, जैसे कहा, वैसे श्रुति से सिद्ध कार्य अन्य कोई करने में समर्थ नहीं है ॥५॥

लोक और वेद के अनुसार रमण किया, वह उसी तरह कहा जाता है ॥५॥

— इति कारिका सम्पूर्णा —

आभास—पूर्ण लौकिकं रमणमुक्तम्, इदानीं वैदिकं रमणमाह एकैकश इति ।

आभासार्थ—प्रथम लौकिक रमण कहा अब वैदिक रमण ‘एकैकशः’ श्लोक से लेकर ‘कथं रुक्म्यरि पुत्राय’ तक कहते हैं ।



श्लोक—श्रीशुक उवाच—एकैकशस्ताः कृष्णस्य पुत्रान्दश दशाबलाः ।

अजीजनन्नवमान् पितुः सर्वात्मसम्पदा ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि एक एक रानी में से श्रीकृष्ण को दश दश पुत्र हुए, जो सर्व प्रकार श्रीकृष्णचन्द्र से न्यून नहीं थे ॥१॥

सुबोधिनी—‘कथं रुक्म्यरिपुत्राये’ त्यन्तेन । धर्मो हि द्विविधः, विहितकरणं निषेधपरिपालनं च । ‘त्रयोद्विषो हन्तव्या’ इति, नोपेक्षितव्या इति, दैत्यानां रुक्मिप्रभृतीनां वधोऽप्यतोऽग्रे निरूप्यते । तत्र प्रथमं ‘दशास्यां पुत्रानाधेही’ति वेदवाक्यात् सर्वास्वेव दश पुत्रान् नाधिकान् न न्यूनान् श्रोत्पादितवानिति निरूप्यते । भगवत एकैकशः स्त्रियः ताः सर्वा एव कृष्णस्य स्वप्रियस्य अबलाः स्त्रियः

दश दश पुत्रान् अजीजनन् । तासु पुत्रजनने भगवतः सर्वोऽपि भवाऽस्तीति ज्ञापयति । पितुः अन्नवमान् अन्यूनान् । केनचिदंशेन तथात्वं वारयति सर्वात्मसम्पदेति । सर्वा याः आत्मसम्पदः शरीरेन्द्रियादिसम्पत्तयः ताः समुदिताः प्रत्येकं भवन्तीति ज्ञापयितुमेकवचनं तासामेवोत्कर्ष इति कदाचित् स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थम् ॥१॥

व्याख्यानार्थ—धर्म दो तरह का है, एक शास्त्र में जो आज्ञा है उसको करना, दूसरा जिसका निषेध है, उसको न करना, ‘त्रयोद्विषो हन्तव्या’ इति ‘नोपेक्षितव्या’ इति, तीन प्रकार के शत्रु हैं उनका नाश ही करना चाहिये, कभी भी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये अतः रुक्मी प्रभृति दैत्यों के वध का भी निरूपण आगे किया है, वहाँ प्रथम ‘दशास्यां पुत्रानाधेहि’ इस स्त्री में दश पुत्रों का आधान कर, अर्थात् इस स्त्री द्वारा दश पुत्र पैदा कर, इस वेद वाक्यानुसार प्रत्येक स्त्री से दश पुत्र उत्पन्न किये, न कम और न विशेष, अपने प्रिय कृष्ण की अबला प्रत्येक स्त्री ने पति की इच्छानुसार दश दश पुत्रों को जन्म दिया, इससे यह जताया कि, उन स्त्रियों में पुत्र उत्पन्न करने के भगवान् के सर्व भाव है, अतः उन पुत्रों में सब अपनी (श्रीकृष्ण की) पूर्ण शरीर इन्द्रिय आदि सम्पदा आयी, जिससे इन अबलाओं का ही उत्कर्ष कब हो, इसकी निवृत्ति के लिये कहा कि इनमें भगवान् के सर्व भाव थे अतः इनका हमेशा उत्कर्ष है ॥१॥

आभास—प्राकृतत्वमाह पञ्चभिः ।

आभासार्थ—पांच श्लोकों से ‘प्राकृतपन’ कहते हैं ।

श्लोक—गृहादनपगं वीक्ष्य राजपुत्र्योऽच्युतं स्थितम् ।

प्रेष्ठं न्यमंसत स्वं स्वमतत्तत्त्वविदः स्त्रियः ॥२॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णचन्द्र का घर से बाहर न जाना और वहाँ ही स्थित रहना देख, प्रत्येक स्त्री श्रीकृष्ण को अपना ही प्यारा पति समझने लगी, कारण कि वे तत्व को नहीं जानती थीं ॥२॥



सुबोधिनी—गृहादनपगमिति । आदौ साभि-
माना जाताः । तत्र हेतुः गृहादनपगं भगवन्त
वीक्ष्येति । सर्वदा गृह एव भगवांस्तिष्ठति । भग-
वत्सम्बन्धेऽपि तथा दोषोत्पत्तौ औत्पत्तिकराज-
कन्यात्वं हेतुः । अच्युतत्वात् न स्वतः सुरत-
विच्छेदः । अतः स्वेच्छापूरकत्वं च ताभिर्ज्ञातम् ।
व्यापकत्वेनागमनमाशङ्क्य, लौकिकन्यायेन तथा-

त्वमित्याह स्थितमिति । गृहेष्वेव लौकिकवत्
स्थितम् । एवं भगवतो गुणत्रयेण कृत्वा आत्मानं
प्रेष्ठं भगवतः प्रियममंसत । ननु सत्यमेव आत्मा
प्रेष्ठः, भगवतोऽप्यात्मैवेति, तत्राह अतत्तत्त्वविद
इति । तस्य तत्त्वं तत्तत्त्वं च न जानन्ति । भगवद-
भिप्रायं वस्तुतत्त्वं च न जानन्तीत्यर्थः । यतः
स्त्रियः ॥२॥

व्याख्यानार्थ—पहले तो उनको अभिमान होने लगा, कारण कि उन्होंने देखा कि श्रीकृष्ण घर में
ही रहते हैं बाहर दूसरी के यहा जाते ही नहीं हैं, भगवान् से सम्बन्ध होने पर भी ऐसा दोष उन में
उत्पन्न हुआ जिसका कारण राजकन्याओं में उत्पत्ति का हेतु कारण था, अच्युत का सुरत सम्बन्ध
अच्युत होने से उसका स्वतः विच्छेद नहीं, अतः उन्होंने अपनी इच्छा की पूर्ति करने वाला समझा,
यों तो भगवान् व्यापक हैं जिससे वे कहीं न जाते हैं न आते हैं, फिर उन्होंने ऐसे क्यों समझा कि
कहीं गये नहीं, हमारे ही यहां हैं । लौकिक दृष्टि से यों समझा, कारण कि, तत्त्वविदा नहीं है, अतः
घरों में ही लौकिक की भांति स्थित समझा, भगवान् के गुणत्रय के कारण भगवान् को अपना ही
प्रिय प्रेष्ठ समझने लगीं । यह तो सत्य ही है, कि आत्मा प्रेष्ठ ही है, भगवान् भी आत्मा ही हैं, यदि
यों कहो कि ऐसा समझने में क्या है ? इस पर कहते हैं कि भगवान् आत्मा होने से प्रेष्ठ हैं किन्तु ये
इस तत्त्व को नहीं जानती हैं, अर्थात् न भगवान् के अभिप्राय को और न वस्तु के तत्त्व को जानती है,
लौकिक दृष्टि से लौकिकवत् प्रेष्ठ कहती हैं क्योंकि स्त्रियाँ हैं ॥२॥

आभास—तत्सम्बन्धाद्भगवतोऽपि कदाचित्तद्धर्मसम्बन्धः स्यादित्याशङ्क्य निराक-
रोति चार्वाककोशेति ।

आभासार्थ—उसके सम्बन्ध से कदाचित् भगवान् को भी उसके धर्म का सम्बन्ध हो जावे तो ?
इस शङ्का का 'चार्वाककोश' श्लोक से निराकरण करते हैं ।

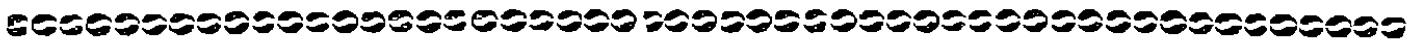
श्लोक—चार्वाककोशवदनायतबाहुनेत्रसप्रेमहासरसवीक्षितवल्गुजल्पैः ।

संमोहिता भगवतो न मनो विजेतुं स्वैविभ्रमैः समशकन्वनिता विभूम्नः ॥३॥

श्लोकार्थ—भगवान् के सुन्दर कमलकोश के सदृश मुख, लम्बी भुजा और विस्तीर्ण
नेत्र एवं प्रेम सहित हास्य रस के साथ जो अवलोकन तथा मनोहर भाषण, इन सब
से; ये स्त्रियाँ मोहित हो जाने से, अपने अनेक भ्रूविलासों से भगवान् के मन को
जीत न सकीं ॥३॥

सुबोधिनी—भगवद्धर्मैः संमोहिताः भगवन्तं
व्यामोहयितुं न समशकन् । स्वयं वनिताः वनं

प्राप्तः, यत्र संसाराटवी सम्पद्यत इति । स तु
विभूमा । विगतो भूमा यस्मादिति । स्वयमुज्जट-



प्रायाः, स तु सर्वाधिवास इति यावत् । तासु भगवतः षड्धर्मान् मोहकानाह । चार्वञ्जकोशवत् वदनम् । आयता बाहवः । नेत्रे च । सप्रेमहासः । रसपूर्वकं वीक्षितम् । वल्गुजत्राः मनोहरकथाः । पूर्णरसाख्यापनार्थं चार्वञ्जकोशत्वम् । परिष्वङ्गक्रिया पूर्णैति ख्यापयितुं आयतपदम् । नेत्रं सौन्दर्यार्थं भिन्नम् । तद्धि स्वरूपतोऽपि रसोद्बोधकम् । ऐतत्त्रयं कायिकं रसाथम् । मानसिकमाह सप्रेमहासरसवीक्षितमिति । प्रेम हास्यं रसवी-

क्षितानीति त्रयम् । स्नेहाभावे तत्र रसालं भवतीति सहभावो निरूपितः । हासो रसोद्बोधकः, रसवीक्षितानि प्रलोभकानि । वाचनिकान्याह वल्गुजत्पैरिति । मनोहरार्थानि वाक्यानि स्वपक्ष-स्थापकानि परपक्षदूषकाणीति, तान्यपि त्रिविधानि । एवं कायवाङ्मनोभिः सम्मोहिताः, अतः एव दुर्बलाः भगवतो मनो विजेतुं वशीकृतुं नाशकन् । अनेन भगवच्चित्तं तासु नासक्तमित्युक्तम् ॥३॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के धर्मों से मोहित हुई स्त्रियाँ भगवान् को मोहित न कर सकीं, ये स्त्रियाँ वनिताएँ हैं अर्थात् संसार रूप वन में घूम रही हैं अर्थात् संसारिणी हैं, किन्तु भगवान् विभूमा हैं अर्थात् जिनमें बहुतायत नहीं है, एक रस ही है और सर्व का निवास है किन्तु स्त्रियाँ प्रायः सकुचित हैं, उनको मोहित करने वाले भगवान् के जो छः गुण हैं, वे कहते हैं, सुन्दर कमल के कोश की भाँति मुखारविन्द, बड़ी भुजाएँ, वैसे नेत्र, प्रेम पूर्वक हास, रस पूर्ण दृष्टि, सुन्दर व मनोहर कथाएँ, इन छहों को सुन्दर कमल की उपमा का तात्पर्य है कि ये उसकी तरह पूर्ण रस देने वाले हैं, यों प्रकट करने के लिये हैं । 'आयत' पद देकर यह बताया कि आलिङ्गन की क्रिया पूर्ण हुई है, नेत्र पृथक् देकर सौन्दर्य प्रकट किया, वे नेत्र स्वरूप से भी रस प्रकट करने वाले हैं, ये तीनों कायिक रसके लिये हैं अब प्रेम, हास, ईक्षण से तीन मानसिक रस के लिये कहे हैं । स्नेह न हो तो हास्य और ईक्षण भी रसाल नहीं होते हैं इस लिये इन तीनों को साथ में कहा है, हास रस को प्रकट करता है, रस सहित देखना मोहित करने वाला है, सुन्दर मनोहर वचन, अपने पक्ष को स्थापना और पर पक्ष को अवहेलना करते हैं, वे भी तीन प्रकार के हैं, इस प्रकार काया, वाणी तथा मन से मोहित हो जाने से वे निर्वल हो गई हैं जिससे भगवान् के मन को जीतने में समर्थ नहीं हैं इसलिये भगवान् का मन उनम आसक्त नहीं होता है ॥३॥

आभास—नापि क्षोभं जनयितुं शक्ता इत्याह स्मायावलोकेति ।

आभासार्थ—क्षोभ को भी उत्पन्न करने में समर्थ न हुई, स्मायावलोक' श्लोक से कहते हैं

श्लोक—स्मायावलोकलवदर्शनभावहारिभ्रूमण्डलप्रहितसौरतमन्त्रशौण्डः ।

पत्न्यस्तु षोडशसहस्रमनङ्गबाणैर्यस्येन्द्रियं विमथितुं कुहकंन शेकुः ॥४॥

श्लोकार्थ—मद युक्त दृष्टि से भाव को हरण करने वाले भ्रुकुटि मण्डल से प्रेरित सुरत सम्बन्धी विचारों प्रगल्भ जो कामदेव के बाण हैं और शास्त्र प्रसिद्ध काम की उत्पत्ति के जो उपाय है, उनसे ये सोलह हजार स्त्रियाँ भगवान् के मन को सहस्र प्रकार से भी मोहित कर न सकी तथा कपट धर्म तरीकों से भी मोहित करने में समर्थ नहीं हुई ॥४॥

सुबोधिनी—आसक्तिरन्या, मनःक्षोभोऽन्यः । कदाचिद्वशीकरणार्थं भावानुत्पाद्य कथञ्चित्स्व-
मोहमपि प्रतिबध्य विलम्बमाना भवेयुः, तथा-
करणोऽपि न क्षोभका जाता इति सम्बन्धासम्बन्धा-
भ्यां भगवति दोषमुत्पादयितुं न शक्ता इति
निरूप्यते । स्मायावलोकः गर्वपूर्वकं दर्शनम्, तेन
सम्बन्धे विलम्बं सूचयन्ति, मानापनोदनार्थमुपेक्षां
बाधितुं लवदर्शनानि च कुर्वन्ति, कटाक्षः अलस-
वलितादिभिः स्वासक्तिं कुर्वन्ति, ततो भावहारि-
भ्रूमण्डलं कुर्वन्ति, तेन यथैव भगवतो भावः मनी-
धर्मः, स्वस्मिन्नासक्तं भवति, तादृशं कामशास्त्र-
सिद्धं भ्रूमण्डलं कुर्वन्ति, तैस्त्रिभिः प्रहिता याः
चेष्टाः सौरतमन्त्रैश्च शौण्डाः बलिष्ठाः । सुरतोद्बो-
धकानि यानि गुह्यभाषणानि । अनेन दृष्टादृष्ट-

साधनानि निरूपितानि । सर्वाश्च पत्न्यः यथासुखं
प्रवृत्ती सङ्कोचरहिताः प्रतिबन्धरहिताश्च । तत्रापि
षोडशसहस्रं षोडशकलस्य मनसः सहस्रप्रकारेण
व्यामोहनसमर्थाः । अनङ्गबाणाः चेष्टासहितावय-
वविशेषाः यैर्जयो भवत्येव । मन्त्रसहिता बाणाः
कार्यसाधका इति ब्रह्मास्त्रादिषु प्रसिद्धिः ।
मण्डलीकृतकामुर्का दृष्टिमुष्ट्योरेकत्वाय लवद-
शितानि । वीरसाविष्काराय स्मायावलोक इति ।
एवं सर्वसाधनसम्पत्तियुक्तरपि बाणैः यस्येन्द्रियं
मनश्च विमथितुं ग्लानियुक्तं अस्तम्भयुक्तं वा कर्तुं
न शक्नुः । सहजानामेतादृशैर्जयो न भवतीति
कठिनदुर्गस्थेषु राजधर्मेषु कापट्यं निरूपित-
मिति कुहकैः कपटधर्मैरपि न शक्ताः ॥४॥

व्याख्यानार्थ—आसक्ति अन्य वस्तु है और मन का क्षोभ दूसरी वस्तु है कदाचित् वश करने के
लिये किसी तरह अपने मोह को भी रोक कर, विशेष समय ठहर कर भावों को उत्पन्न करती थीं,
तो भी भगवान् के मन में क्षोभ उत्पन्न न करा सकी, इसका निरूपण करते हैं, गर्व से देखने लगी,
उससे सम्बन्ध में विलम्ब का सूचन करती हैं, मान का उपमर्दन करने के लिये, उपेक्षा का बाध करने
के वास्ते लेश मात्र दर्शन करती हैं, इस प्रकार देखने से आशय यह था कि भगवान् का भाव हम में
आसक्त हो जावे, वैसे ही काम शास्त्र में सिद्ध भ्रूमण्डल करने लगी, उन तीन भावों से चेष्टाएं कर
दिखाई और सुरत को जगाने वाले गुप्त भाषण भी किये, जिनसे वे चेष्टाएं बलिष्ठ होने लगीं, इससे
दृष्ट तथा अदृष्ट साधन निरूपण कर बताये, समस्त पत्नियाँ सङ्कोच को त्याग प्रतिबन्ध रहित होकर
सुख पूर्वक मन को क्षोभ करने के कार्य में प्रवृत्त हुई, स्त्रियाँ सोलह हजार थीं और मन १६ कला का
था, उसको मोहित करने में समर्थ थीं, क्योंकि इनके पास अनङ्ग के बाण जिनसे जय होती है, वे हैं,
मन्त्र सहित बाण, कार्य को सिद्ध करने वाले होते हैं यह ब्रह्मास्त्र आदि के कार्यों से प्रसिद्ध ही है,
दृष्ट द्वारा, इकट्ठे किये हुए घनुष, तथा दृष्टि और मुष्टि का एकत्व दिखाने के लिये लेश मात्र देखना
कहा है, गर्व से देखने का भाव यह है कि इस प्रकार की दृष्टि से वीर रस का आविष्कार होता है, इस
प्रकार समस्त साधनों की सम्पत्ति से युक्त भी बाणों से जिसके मन और इन्द्रिय को मथन करने के
लिये, अथवा ग्लानि से युक्त एवं अस्थिर करने में समर्थ न हुई सरल स्वाभाविक साधनों की ऐसे
कार्य में जय नहीं होती है, कठिन दुर्गों में स्थित राजधर्मों में कापट्य से कार्य सिद्ध होता है, किन्तु
यहां कपट धर्मों से भी मन को वश न कर सकीं ॥४॥

आभास—एवं तासां दोषं तत्सम्बन्धेन भगवति दोषाभावं च प्रतिपाद्य, भगवत्सा-
मर्थ्येनैव तासु धर्मः स्थापित इति पुत्रोत्पादनमुक्त्वा, 'पतिमेकादशं कृधी'ति वेदवाक्या-
नुसारेण भगवत्सेवां कृतवत्य इत्याह द्वाभ्याम् ।

श्रीभासार्थ—इस प्रकार स्त्रियों के दोषों के सम्बन्ध से भगवान् में दोषों का प्रवेश न हुआ, यह प्रतिपादन, भगवान् के सामर्थ्य से उनमें धर्म स्थापित हुआ। इसलिये पुत्रों का उत्पादन कह कर 'पति मेकादशं कृषी'ति इस वेद वाक्य के अनुसार भगवान् की सेवा करने लगीं, जिसका वर्णन निम्न दो श्लोकों से करते हैं।

श्लोक— इत्थं रमापतिमवाप्य पतिं स्त्रियस्ता
ब्रह्मादयोऽपि न विदुः पदवीं यदीयाम् ।
भेजुमुं वाविरतमेधितयानुराग-
हासावलोकनवसङ्गमलालसाढ्यम् ॥५॥

श्लोक— प्रत्युद्गमासनवराहणपादशौचताम्बूलविश्रमणवोजनगन्धमात्यैः ।
केशप्रसारशयनस्तपनोपहार्यैर्दासीशता अपि विभोर्विदधुः स्म दास्यम् ॥६॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मादिक भी जिनकी पदवी को नहीं जानते ऐसे लक्ष्मीपति भगवान् से पति पाकर, ये स्त्रियां निरन्तर बढ़ते हुए प्रेम से इस प्रकार स्नेह सहित हास्य, कटाक्ष और नव सङ्गम में, उत्सुकता इत्यादि विलासों का सेवन करती थीं ॥५॥

श्लोकार्थ—यद्यपि प्रत्येक के पास सैकड़ों दासियाँ थीं, तो भी, सन्मुख जाना, आसन देना, श्रेष्ठ पूजन करना, पाद धोना; बीड़ा देना, हवा करनी, चन्दन चरचना, पाँव चांपना, पुष्पों की माला पहिराना, केश सँवारना, सेज सँवारना, स्नान करवाना और भोजन करवाना, इत्यादि उपचारों से वे भगवान् की दास्य भाव से सेवा करती थीं ॥६॥

सुबोधिनी - इत्थमिति । पूर्वमेतच्छ्रुत्वा नोक्तद्वयं व्याख्यातम् । विवाहप्रसङ्गे उक्तमपि पुनः स्वस्थाने तदेवोक्तवान् । तस्मात्सर्वोऽप्यर्थः स एव । भ्रमव्यावृत्त्यर्थं पाठविशेषमाह लालसाढ्यमिति । पूर्वमनुरागादयः स्त्रीनिष्ठाः । इदानीं भगवन्निष्ठाः । अनुरागपूर्वको हासो मानसः अवलोक ऐन्द्रियः, नवसङ्गमः कायिकः । त्रिभिरपि

या लालसा तदिच्छाविशेषः तथा आढ्यो भगवान् । स्त्रीनिष्ठानेतान् धर्मान् स्वस्मिन् भावयतीति भगवन्निष्ठा धर्माः । प्रत्युद्गमादिभिः दास्यं च विदधुः । सेवा तदपेक्षिता कामकृता, दास्यं साधारणमिति विशेषः । स्त्रीत्वं भक्तत्वं देहमन्तःकरणं च कृतार्थीकृतवत्य इत्यर्थः ॥५-६॥

व्याख्यार्थ— इन दो श्लोकों की व्याख्या पहले विवाह प्रसङ्ग में की है, विवाह, प्रसङ्ग में कहे हुए भी यहां फिर अवसरानुसार वे ही कहे हैं, इससे इन दोनों का अर्थ वही है जो वहाँ पहले कर दिया है, भ्रम के मिटाने के लिये कुछ विशेष पाठ कह दिया है जैसा कि 'लाल साढ्यम्' प्रथम अनुराग आदि स्त्रियों में स्थित थे, अब भगवान् में है अभिमान के साथ देखना मानस है यों ही अवलोकन ऐन्द्रिय है, नव सङ्गम कायिक है, इन तीनों से जो लालसा उत्पन्न हुई, उसकी जो इच्छा



विशेष उससे युक्त भगवान् हैं, स्त्रियों में निष्ठ इन धर्मों की भावना भगवान् अपने में करते हैं, इसलिये ये धर्म भगवन्निष्ठ हैं, सामने जाना आदि धर्मों से वे स्त्रियां अपना दास भाव सिद्ध करने लगी, उनको अपेक्षित कामकृत सेवा थी, दास्य तो साधारण, यह विशेष है, स्त्रीत्व, और भक्तत्व इन दोनों से देह तथा अन्तःकरण को कृतार्थ कर लिया ॥६॥

आभास—विधिप्राधान्यात् विधिसिद्धानामष्टमहिषीणां पुत्रान् गणयितुमारभते ।
येन भगवान् धर्मरक्षार्थमेतावद्रूपो जात इति तन्नामग्रहणे राज्ञः पापक्षयो भवतीति,
तदर्थं प्रसिद्धान्यपि नामानि निरूपयति ।

आभासार्थ—शास्त्र विधि प्रधान है इसलिये विधि से सिद्ध आठ पटरानियों के पुत्रों की गणना प्रारम्भ करते हैं, जिससे भगवान्, धर्म की रक्षा के लिये, इतने रूप हुवे, उनके नाम ग्रहण करने से राजा के पापों का क्षय होगा, जिसके लिये प्रसिद्ध नाम निरूपण करते हैं—

श्लोक—तासां या दशपुत्राणां कृष्णस्त्रीणां पुरोदिताः ।
अष्टौ महिष्यस्तत्पुत्रान्प्रद्युम्नादीन्गृणामि ते ॥७॥

श्लोकार्थ—भगवान् के उन स्त्रियों से दस-दस पुत्र हुए, प्रथम कही हुई आठ पटरानियों के जो प्रद्युम्न आदि पुत्र हैं, उनके नाम तुम्हें कहता हूँ ॥७॥

सुबोधिनी—तासां कृष्णस्त्रीणां दशपुत्राणाम् । प्रद्युम्नादीन्, ते त्वद्वितार्थं गृणामि । अन्याः
सर्वा एव दशपुत्रयुक्ताः । तासां मध्ये याः पूर्व- कामकृता इति न तेषां नामग्रहणम् ॥७॥
मुक्ता अष्टौ महिष्यः रुक्मिणीप्रभृतयः तत्पुत्रान् ।

व्याख्यानार्थ—उन कृष्ण की सर्व स्त्रियों से दस दश पुत्र हुए, उनमें से जो पहले कही हुई आठ रुक्मिणी प्रभृति पटरानियां जिनका विवाह विधिवत् हुआ है, उनसे उत्पन्न प्रद्युम्न आदि दश पुत्रों के नाम तेरे हित के लिये कहता हूँ अन्य जो काम कृत हैं, इसलिये उनके नाम नहीं कहता हूँ ॥७॥

श्लोक—चारुदेष्णः सुदेष्णश्च चारुदेहश्च वीर्यवान् ।
सुचारुश्चारुगुप्तश्च भद्रचारुस्तथापरः ॥८॥
चारुचन्द्रो विचारुश्च चारुश्च दशमो हरेः ।
प्रद्युम्नप्रमुखा जाता रुक्मिण्यानवमाः पितुः ॥९॥

श्लोकार्थ—रुक्मिणी से प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, सुदेष्ण, चारुदेह, सुचारु, चारुगुप्त,

भद्रचारु, चारुचन्द्र, विचारु और चारु; ये दस हरि के पुत्र वीर्य (पराक्रम) वाले थे तथा भगवान् से गुणों में न्यून नहीं थे ॥८-६॥

सुबोधिनी—चारुदेष्णादयो नव प्रद्युम्नानन्तरभाविनः । यथा नामावयवास्तद्गुणाः । वीर्यवानिति विशेषणं सुन्दरदेहस्य शौर्यशङ्काभावेनोक्तम् । चकाराः सर्वत्र पूर्वधर्मसमुच्चयार्थाः । अन्तिमः कन्यासमुच्चयार्थः । अन्येऽपि कन्यासमुच्चयार्था इति केचित् । यदनन्तरं कन्या, तत्र चकार इति । तथेति वीर्यवान् । तेन सह वीर्यवत्त्वमा-

शङ्क्य पृथगुपदिशति अपर इति । परः सर्वेभ्यः श्रेष्ठो वा । दशम इति क्रमोऽत्र विवक्षित इत्युक्तम् । हरेः सकाशात् प्रद्युम्न एव प्रमुखो येषाम् रुक्मिण्या जाताः । करणमात्रं रुक्मिणी, नत्वेते मातृपुत्रा इति । तत्र हेतुः यतः पितुरनवमाः । अवमो न्यूनभावः ॥८-६॥

व्याख्यार्थ—प्रद्युम्न के अनन्तर चारुदेष्णा आदि नव पुत्र हुए. नामों के अनुसार ही उन में गुण थे, 'वीर्यवान्' विशेषण से यह बताया है, कि ये सब सुन्दर एवं शूरवीर थे । इनकी वीरता में शङ्का करनी ही नहीं चाहिये, प्रत्येक के पीछे 'च' पद देकर यह जताया है कि पूर्व में कहे वीर्य आदि सब धर्म उनमें हैं, अन्त में कहे हुए 'च' का आशय कन्या-समुच्चय के लिये है कोई कहते हैं कि सब 'च' कन्या समुच्चय के लिये है अर्थात् जिसके बाद कन्या हुई वहाँ 'च' दिया है, वीर्यवान् भी सब का विशेषण है, इस प्रकार कोई समझे तो उस शङ्का के मिटाने के लिये 'अपर' विशेषण पृथक् दिया है, जिसका अर्थ है सब से श्रेष्ठ, अर्थात् वीर्यवान् विशेषण विशेष प्रद्युम्न के लिये ही है, 'दशम' अर्थात् प्रद्युम्न पहला एवं सब से उत्तम वीर्यवान् है इस प्रकार क्रम कहना चाहिये था, क्योंकि हरि से प्रद्युम्न ही प्रमुख रूप से उत्पन्न हुवे हैं रुक्मिणी से प्रकट हुए, किन्तु रुक्मिणी केवल साधन थी, ये सब माता के पुत्र नहीं, क्योंकि पिता से कम नहीं थे, उनमें किसी प्रकार की न्यूनता नहीं थी ॥८-६॥

श्लोक—भानुः सुभानुः स्वभानुः प्रभानुभानुमांस्तथा ।

चन्द्रभानुर्बृहद्भानुरतिभानुस्तथाष्टमः ॥१०॥

श्रीभानुः प्रतिभानुश्च सत्यभामात्मजा दश ।

श्लोकार्थ—भानु, सुभानु, स्वभानु, प्रभानु तथा भानुमान्, चन्द्रभानु, बृहद्भानु तथा आठवाँ अतिभानु, श्रीभानु और प्रतिभानु; ये दस सत्यभामा के पुत्र हैं ॥१०॥

सुबोधिनी—भानुप्रभृतयो दश सत्यभामायाः । तथेति यस्य कर्माणि न प्रसिद्धानि, सोऽपि प्रसिद्धवदेव ज्ञातव्य इति तथेत्युच्यते क्वचित् । अष्टम इति तस्य स्वतन्त्रता महत्त्वं च । सङ्ख्यायां पृथ-

गुपदेशात् । सत्यभामात्मजा इति परिज्ञानार्थमेव मातृनिरूपणम् । सर्वेषां पुत्राणां सर्वासु मातृव्यवहारस्तुल्य इति ॥१०॥

व्याख्यार्थ— भानु से लेकर प्रति भानु तक सत्यभामा के दश पुत्र हैं, जिनके कार्य प्रसिद्ध नहीं



हुवे हैं, वह भी प्रसिद्ध कार्य करने वालों के समान ही ववचित् जानते हैं, इसलिये श्लोक में 'तथा' पद दिया है, आठवें अतिमानु की स्वतन्त्रता तथा महत्व सब से पृथक् है इसलिये उसकी संख्या 'अष्टम' दी है, 'सत्यभामात्मजा' पद केवल ज्ञान कराने के लिये माता का निरूपण किया है, यों तो सत्यभामा भी साधनमात्र ही है सर्व पुत्रों का सब में मातृ व्यवहार समान ही है ॥१०३॥

श्लोक—साम्बः सुमित्रः पुरुजिच्छतजिञ्च सहस्रजित् ॥११॥

विजयश्चित्रकेतुश्च वसुमान्द्रविडः क्रतुः ।

जाम्बवत्याः सुता ह्येते साम्बाद्याः पितृसंमताः ॥१२॥

श्लोकार्थ—साम्ब, सुमित्र, पुरुजित्, शतजित्, सहस्रजित्, विजय, चित्रकेतु, वसुमान्, द्रविड़, क्रतु; ये जो दस पुत्र जाम्बवती के हुए, वे पिता को मान्य थे ॥११-१२॥

सुबोधिनी—साम्बादयो दश जाम्बवत्याः । दशानां द्विःस्वभावत्वं द्योतयति । ततो भगवतो-
सुताः । एते इति तेषां देवतात्वात् निरूपणसमये । ससम्मतिमाशङ्क्य पितृसम्मतिमाह पितृसम्मता
उपस्थितिमाह । पुनः साम्बाद्या इति वचनं । इति ॥११-१२॥

व्याख्यानं—जाम्ब से लेकर क्रतु तक दश पुत्र जाम्बवती के थे, 'एते' पद से उनके देवतापन से निरूपण के समय, उपस्थिति को कहते हैं, फिर 'साम्बाद्याः' यह वाक्य कह कर बताते हैं कि दश ही पुत्र दो स्वभाव वाले हैं, जिससे भगवान् की इसमें सम्मति नहीं है यों किसी को शङ्का उत्पन्न हो तो उसके निवारण के लिये 'पितृ सम्मताः' पद दिया है, जिसका अर्थ है पिता के मान्य हैं ॥११-१२॥

श्लोक—वीरश्चन्द्रोऽश्वसेनश्च चित्रगुर्वेगवान्वृषः ।

आमः शङ्खुर्वसुः श्रीमान्कुन्तिर्नाग्नजितेः सुताः ॥१३॥

श्रुतः कविर्वृषो वीरः सुबाहुर्भद्र एकलः ।

शान्तिदर्शीः पूर्णमासः कालिन्द्याः सोमकोऽवरः ॥१४॥

सुघोषो गात्रवान्सिंहो बलः प्रबल ऊर्ध्वगः ।

माद्रिचाः पुत्रा महाशक्तिः सह ओजोऽपराजितः ॥१५॥

श्लोकार्थ—नाग्नजिती के वीर, चन्द्र, अश्वसेन, चित्रगु, वेगवान्, वृष, आम, शङ्खु, वसु और श्रीमान् कुन्ति; ये दस पुत्र हुए ॥१३॥

कालिन्दी के श्रुत, कवि, वृष, वीर, सुबाहु, भद्र, शान्ति, दर्शी, पूर्णमास और सब से छोटा सोमक; ये दस पुत्र हुए ॥१४॥

माद्रि के सुघोष, गात्रवान्, सिंह, बल, प्रबल, ऊर्ध्वग, महाशक्ति, सह और ओज, अपराजित; ये दस पुत्र हुए ॥१५॥



सुबोधिनी - श्रीमानिति विशेषणं । नाग्न-
जितेः सत्यायाः पुत्राः । श्रुतादयो दश कालि-
न्याः । एकल इति विशेषणं एक एव सन् सर्वान्
शत्रून् लातीति । सोमकस्त्ववरो दशमः । सङ्घ-

चापूरणार्थं पश्चादुत्पन्नः । सुघोषादयः माद्र्याः
लक्ष्मणायाः पुत्राः । ऊर्ध्वग इति नाम । महा-
शक्तिरेकः । सहो भिन्नः । ओजश्च । अपराजित
इति नाम ॥१३-१४-१५॥

व्याख्यार्थ — श्रीमान् यह नाम नहीं है, किन्तु विशेषण है, नाग्नजिति सत्या का नाम है जिसके वीरादि दश पुत्र हैं, श्रुत आदि दश कालिन्दी के पुत्र हैं, इनमें 'एकल' यह विशेषण है जिसका अर्थ है, एक ही सर्व शत्रुओं को मारने में समर्थ है, दशवां सोमक अवरो है, अर्थात् संख्या पूर्ति के लिये पीछे उत्पन्न हुआ सुघोष आदि माद्री अर्थात् लक्ष्मणा के दश पुत्र हैं ऊर्ध्वग यह नाम है महाशक्ति एक है, यह पृथक् है, और ओज, अपराजित यह भी नाम हैं ॥१३-१४-१५॥

श्लोक—वृको हर्षोऽनिलो गृध्रो वर्धनोऽन्नाद एव च ।

महाशः पावनो वह्निमित्रविन्दात्मजाः क्षुधिः ॥१६॥

श्लोकार्थ—वृक, हर्ष, अनिल, गृध्र, वर्धनु, अन्नाद, महाश, पवन, वह्नि और क्षुधि; ये मित्रविन्दा के दस पुत्र हैं ॥१६॥

सुबोधिनी—वृकादयो दश मित्रविन्दायाः । पुरकः ॥१६॥
महाश इति नाम । क्षुधिर्दशमः सङ्घचा-

व्याख्यार्थ—वृक आदि दश पुत्र मित्रविन्दा के हैं, 'महाश' यह नाम है 'क्षुधि' संख्या पूरक दशवां है । १६॥

श्लोक—संग्रामजिद्वृहत्सेनः शूरः प्रहरणोऽरिजित् ।

जयः सुभद्रो भद्राया वाम आयुश्च सत्यकः ॥१७॥

दीप्तिमांस्ताम्रपत्राद्या रोहिण्यास्तनया हरेः ।

श्लोकार्थ—भद्रा के संग्रामजित्, वृहत्सेन, शूर, प्रहरण, अरिजित्, जय, सुभद्र, वाम आयु और सत्यक; ये दस पुत्र हुए, भगवान् की रोहिणी स्त्री से दीप्तिमान् और ताम्रपत्र आदि दस पुत्र हुए ॥१७॥

सुबोधिनी—सङ्ग्रामजिदादयो दश भद्रायाः । सत्यको दशमः । रोहिणी षोडशसहस्राणां शताधिकानां मुख्या । क्वचिदेषेवाष्टमहिषीमध्य इति भद्र याः स्थाने मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धा । तस्या दीप्तिमान् पुत्रः अष्टमहिषीपुत्रतुल्यः । तेनैकाशीति

पुत्राः एकाशीति भक्तिप्रकारा इव भगवता प्रक-
टोक्तता इति द्योतितम् । ताम्रपत्राद्या रोहिण्या-
स्तनयाः साधारणाः । अस्या दशपुत्रागणनम-
न्यासां दशपुत्रत्वख्यापकम् ॥१७॥



व्याख्यार्थ—संग्रामजित् से लेकर सत्यक तक भद्रा के दश पुत्र हुए, सोलह हजार एक सौ में रोहिणी मुख्य थी, कहीं मन्त्र शास्त्र में यह रोहिणी आठ पटराणियों में भद्रा के स्थान पर प्रसिद्ध है. उसका दीप्तिमान् पुत्र आठ पटराणियों के पुत्र तुल्य है, जिससे ये इवयासी पुत्र इवयासी भक्ति के प्रकार की भाँति प्रकट किये, यों प्रकाशित किया, रोहिणी के ताम्र, पत्र आदि पुत्र साधारण थे, इनके दश पुत्र इसलिये नहीं गिने जिससे अन्यो के दश पुत्र प्रसिद्ध देखने में आवें ॥१७३॥

आभास—पौत्रान् निरूपयन् एकं निरूप्य तत्सदृशा अन्य इत्यतिदिशति प्रद्युम्ना-
निरुद्धोऽभूदिति ।

आभासार्थ—पौत्रों का निरूपण करते हुवे एक का निरूपण कर यह बताते हैं कि अन्य भी इसके समान ही हुवे हैं, प्रद्युम्न से अनिरुद्ध हुआ, इस प्रकार निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—प्रद्युम्नाञ्चानिरुद्धोऽभूद्रुक्मवत्यां महाबलः ॥१८॥

पुत्र्यां तु रुक्मिणी राजन्नाम्ना भोजकटे पुरे ।

एतेषां पुत्रपौत्राश्च बभूवुः कोटिशो नृप ।

मातरः कृष्णजातानां सहस्राणि च षोडश ॥१९॥

श्लोकार्थ—प्रद्युम्न की स्त्री, रुक्मी की पुत्री रुक्मवती से भोजकट नगर में अनिरुद्ध का जन्म हुआ ॥१८॥

हे राजन् ! इनके पुत्र-पौत्र करोड़ों हुए, कृष्ण के पुत्रों की सोलह हजार माताएँ थीं ॥१९॥

सुबोधिनी—रुक्मवती रुक्मिणीः पुत्री मातुल-
कन्या । प्रद्युम्नस्तत्रैव क्रियत्कालं स्थितः । तत्रैव
विवाहं कृत्वा पुत्रमुत्पादितवान् । शत्रुगृहे कथमे-
काकी स्थित इति शङ्कां वारयति महाबल इति ।
चस्त्वर्थे । भगवदविष्टात् प्रद्युम्नादनिरुद्धो जात
इति ज्ञापयितुं चकारः । अन्यथा कामाज्जातो-
ऽप्रयोजकः स्यात् । मायावत्यामुत्पादनं वारयति
पुत्र्यां तु रुक्मिणी इति । मायावत्या नामान्तर-
मावेशो वा स्यादिति तुशब्दः असम्भावनां व्याव-
र्तयति । राजन्निति सम्बोधनं प्रद्युम्नस्य द्वारका-

प्रेषणाभावं द्योतयति । सोऽपि राजा तत्रैव
जामातरं दुहितरं च स्थापितवानिति । पुरे स्व-
नगरे । नाम्ना भोजकटे । एकं पौत्रमुक्त्वा अन्या-
नतिदिशति । एतेषां पुत्रपौत्राश्च पुत्राः पौत्राश्च
कोटिशो जाताः । न तेषु दशसङ्ख्यानियमः ।
सर्वेषामेकमत्यार्थमाह मातरः कृष्णजाताना-
मिति । सर्वेषामेव भगवत्पुत्राणां सर्वा एव भग-
वत्स्त्रियो मातरः । यथा जननी, तथैव सर्वा इति
सापत्न्याभावो निरूपितः । चकारादष्टोत्तरशतम् ।

॥१८-१९॥

व्याख्यार्थ—रुक्मवती, रुक्मी की पुत्री प्रद्युम्न के मामे की पुत्री थी, प्रद्युम्न कितना ही समय

वहाँ मामा के घर रहे थे, वहाँ ही विवाह कर पुत्र पैदा किये, अकेला शत्रु के घर में कैसे रहा ? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'महाबल' प्रद्युम्न बहुत बल वाला था, इसलिये वहाँ रहने में इसको किसी प्रकार डर न लगा, 'च' शब्द 'तु' शब्द के अर्थ में है तथा 'च' पद का यह भाव है कि प्रद्युम्न में भगवान् के आविष्ट होने से ही अनिरुद्ध का जन्म हुवा है, यह जताने के लिये 'च' कहा है यदि प्रभु का आवेश न होता तो काम से उत्पन्न होने से प्रयोजक न हो सकता, रुक्मी की पुत्री कह कर मायावती का निषेध किया, 'तु' शब्द से यह जताया है कि मायावती का दूसरा नाम अथवा आवेश हो, इस असम्भावना को दूर करता है । राजन् यह सम्बोधन देकर, प्रद्युम्न का द्वारका भेजने का निषेध सूचन करते हैं, वह रुक्मी भी राजा था, इसलिये वहाँ ही जँवाई और पुत्री को अपने नगर में रखा था, जिस नगर का नाम भोजकट (वर्तमान 'भुज' जो कच्छ में है) था, एक पौत्र का वर्णन कर, दूसरों के लिये कहते हैं कि इनके पुत्र और पौत्र करोड़ों हुए, उनमें दश संख्या का नियम नहीं था, सर्व के ऐकमत्य से कहते हैं, कि भगवान् के जो सोलह हजार स्त्रियाँ थीं वे सब भगवान् के प्रत्येक पुत्र की माताएँ थी, जैसे जैसे जन्म देने वाली माता, वैसे ही सब माताएँ थीं, सौतिल का भाव किसी में नहीं था, 'च' से १०८ भी वैसी ही माताएँ मानी जाती थीं ॥१८-१९॥

आभास—रुक्मिकन्याविवाहः असम्बद्ध इति तत्र हेतुं पृच्छति कथमिति ।

आभासार्थ—रुक्मी की कन्या का प्रद्युम्न से विवाह अयोग्य है, यों अयोग्य विवाह करने में क्या कारण है वह 'कथं' श्लोक में पूछता है ।

श्लोक—राजोवाच—कथं रुक्म्यरिपुत्राय प्रादाद्दुहितरं युधि ।

कृष्णेन परिभूतस्त हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते ।

एतदाख्याहि मे विद्वन्दिषोर्वैवाहिकं मिथः ॥२०॥

श्लोकार्थ—राजा कहता है—हे विद्वन् ! रुक्मी ने अपने शत्रु के पुत्र को अपनी कन्या कैसे दी ? वह युद्ध में श्रीकृष्ण से पराभव पाकर उसको मारने के लिए छिद्र देख रहा था, ऐसी स्थिति में शत्रुओं का यह विवाह सम्बन्ध किस प्रकार हुआ ? यह बताईये ॥२०॥

सुबोधिनी - विवाहः स्नेहकृतः पुत्रः पितुरिति अयंपेक्षया अरिपुत्रो द्वेष्यो भवति, दुहिता चात्यन्तं प्रिया । द्वेषकारणमाह युधि कृष्णेन परिभूत इति । विस्मृतो द्वेष इति चेत् । तत्राह हन्तुं रन्ध्रं प्रतीक्षते इति । अद्यापि द्वेषव्यापारान्न निवृत्तः । रन्ध्रमिति साक्षाद्विरोधे असामर्थ्यं

सूचितम् । प्रसिद्धसम्बन्धहेतोरभावात् हेत्वन्तरं पृच्छति एतदाख्याहीति । विद्वन्निति कथने ज्ञान हेतुभूतं निदिशति । द्विषोः परस्परं द्वेषविषययोः मिथो वैवाहिकं विवाहसम्बन्धि व्यवहरणं कारणं वा ॥२०॥

व्याख्यानार्थ—विवाह प्रेम से होता है अर्थात् जिनका आपस में प्रेम होता है वे परस्पर विवाह

सम्बन्ध करते हैं, पिता का ही रूप पुत्र है, शत्रु की अपेक्षा शत्रु का पुत्र द्वेष के योग्य है, और पुत्री तो अपार प्यारी होती है, शत्रुता का कारण कहते हैं. लड़ाई में कृष्ण से हार गया था; यदि कहो कि वह द्वेष मिट गया, तो यह कहना यथार्थ नहीं है, क्योंकि आज तक शत्रुता के कार्य चालू है, साक्षात् विरोध करने में रुक्मी असमर्थ है, सम्बन्ध करने का कोई प्रसिद्ध कारण देखने में नहीं आता है, इसलिये पूछता है कि बताईये कि क्या कारण है ? 'विद्वन्' संबोधन से यह सूचित करता है कि आप ज्ञानवान् हैं इसलिये आप इसके तत्व को जानते हैं कि, दोनों शत्रुओं का आपस में परस्पर विवाह करने का क्या कारण है, वह कृपा कर बताईये ॥२०॥

आभास—नन्वेतत्पूर्वं न श्रुतम्, समाध्यभावादधुना न चिन्त्यत इति तज्ज्ञानं कथमिति चेत्, तत्राह अनागतमतीतं चेति ।

आभासार्थ—यह पहले नहीं सुना, समाधि के अभाव से अब भी उसका चिन्तन नहीं कर सकते हैं, इसलिये उसका ज्ञान कैसे हुआ ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर 'अनागत' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—अनागतमतीतं च वर्तमानमतीन्द्रियम् ।

विप्रकृष्टं व्यवहितं सम्यक् पश्यन्ति योगिनः ॥२१॥

श्लोकार्थ—जो वस्तु भविष्य, भूत और वर्तमान तथा इन्द्रियों से अगम्य है एवं दूर और किसी की ओट में हो, उसे भी योगीजन अच्छी तरह देखते हैं ॥२१॥

सुबोधिनी—योगिनां देशकालव्यवधायकानि ज्ञाने न प्रतिबन्धकानि । यथा चक्षुःसन्निकर्षः प्रत्यासत्तिः प्रत्यक्षे, तथा सर्वत्र योगिनां योगजधर्मः प्रत्यासत्तिः । कालो हि वस्तूनि नयति, यथा नदी जलम् । यद्यपि जलमभिज्ञानद्रव्यसहितं क्वचिद्देशे स्थितं तस्मिन् समये तद्देशस्थितः पश्यति, तथापि प्रदेशान्तरे गतं न पश्यति तद्देशस्थितः । सहगतो वा तदपि पश्यति । यथा वा मनुष्यैर्द्रष्टुमयोग्यमपि देवाः पश्यन्ति, यथा सर्वैराच्छन्नं

कालज्ञाः पश्यन्ति, एवं सर्वसामर्थ्ययुक्तो योग एव सर्वसमर्थः । वर्तमानस्य विशेषणमतीन्द्रियमिति । अतीतं यन्नानुभूतम् । अनागतं यत् ज्ञापकरहितम् । चकाराद्धमन्तिरमापन्नम् । विप्रकृष्टं देशव्यवहितम् । निकटस्थमपि व्यवहितं भित्त्यादिना । सर्वमेव योगिनः सम्यक् पश्यन्ति । ध्यानेन ज्ञानं ज्ञानिनाम् । योगिनां तु भगवत इव योगजधर्मे प्रकटे सर्वज्ञत्वमिति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—देश काल आदि में रुकावट डालने वाले, योगियों के ज्ञान में प्रतिबन्ध नहीं डाल सकते हैं, जिस प्रकार नेत्र की निकटता प्रत्यक्ष में प्रत्यासत्ति^१ है वैसे ही सर्वत्र योगियों का योग से उत्पन्न धर्म प्रत्यासत्ति है, काल वस्तुओं को ले जाता है, जैसे नदी पानी को ले जाती है, यद्यपि जाते हुए द्रव्य सहित जल, किसी देश में स्थित हो, तो उस समय उस देश में स्थित मनुष्य उसको देख सकता



है, तो भी, दूसरे स्थान पर गये हुए को यह पहले ही स्थान पर स्थित नहीं देख सकता है, उसके साथ गया हुआ ही उसको देख सकता है, अथवा जैसे जिन पदार्थों को मनुष्य नहीं देख सकते हैं, उनको देवता देख सकते हैं, जैसे काल-ज्ञानी, सब से ढका हुआ पदार्थ जान सकते हैं, इसी प्रकार सर्व सामर्थ्य से युक्त योग ही सबको जानने में समर्थ है अतीन्द्रिय पद वर्तमान का विशेषण है अर्थात् चालू समय में भी जो इन्द्रियों से न जाना जा सकता है 'अतीत' पद का भावार्थ है, जिसका अनुभव नहीं किया गया है 'अनागत' पद का तात्पर्य है जिसकी कोई खबर नहीं है 'च' पद कहने का आशय है । जो वस्तु अन्य धर्म को प्राप्त हुई हो, 'विप्रकृष्ट' उसको कहते हैं जिसमें देश का भेद हो निकट हो किन्तु दीवार से जिसमें रुकावट आई हो, इत्यादि सबको ही योगी अच्छी तरह देख सकते हैं, ज्ञानियों को ध्यान करने से ज्ञान होता है, किन्तु योगियों में तो योग से उत्पन्न धर्म के प्रकट होने पर भगवान् की भांति सर्वज्ञत्व आता है ॥२१॥

आभास—तत्र प्रद्युम्नविवाहे हेतुद्वयमाह यद्यप्यनुस्मरन्निति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—यद्यप्यनुस्मरन्' से दो श्लोकों में प्रद्युम्न के इस प्रकार विवाह होने में दो कारण देते हैं ।

श्लोक—यद्यप्यनुस्मरन्वैरं स्वमी कृष्णावमानितः ।

व्यतरद्भागिनेयाय सुतां कुर्वन्स्वसुः प्रियम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—श्री कृष्णचन्द्र से अपमानित स्वमी, यद्यपि वैर को भूला नहीं था, तो भी बहिन को प्रसन्न करने के लिए उसने अपनी पुत्री बहिन के पुत्र को दे दी ॥२२॥

सुबोधिनी—'स्वसुः प्रियं कुर्वन्' इत्येकम्, 'स्वयंवरे कन्ययैव वृत्' इत्यपरम् । तत्र प्रथममुपपादयति । कृष्णावमानितः वैरमनुस्मरन् यद्यपि वर्तते, यथापि स्वसुः प्रियं कुर्वन् भागिनेयाय भगिनीपुत्राय मातृपक्षपातिने सुतामदात् । अनु-

रोध्या स्वसा, सा पूर्वमपकृता तदभिप्रायमज्ञात्वा पश्चात् ज्ञात्वा कथं प्रसन्ना भवतीति विचार्य, प्राणश्च तया रक्षित इति, स्वकन्यां तत्पुत्राय प्रायच्छत् । प्रियं प्रियाय चेद्दीयते, तदा प्रसन्नः सर्वोऽपि भवतीति ॥२२॥

व्याख्यार्थ—बहिन को प्रसन्न करना, यह एक कारण, दूसरा कारण 'स्वयंवर में कन्या ने ही स्वतः वरा', इनमें पहले का प्रतिपादन करते हैं, यद्यपि स्वमी को कृष्ण का वैर याद था, तो भी, बहिन की प्रसन्नता के लिये, (माता के पक्ष वाले) बहिन के पुत्र को बेटी, बहिन की इच्छानुसार ही कार्य करना चाहिये जिससे वह प्रसन्न होवे, यों न कर, उसका अपमान किया, इस अभिप्राय को पहिले नहीं जाना, पश्चात् जान कर, अब बहिन कैसे प्रसन्न होगी, जिसका विचार किया, ध्यान में आया कि मेरे प्राण तो बहिन ने बचाये, वरना कृष्ण मुझे मार डालता, जब यों समझा, तब बहिन का उपकार माना, इसलिये, उसको प्रसन्न करने का यही मार्ग जान, उसके पुत्र को अपनी पुत्री दी, प्रिय पदार्थ, प्रिय को ही यदि दिया जाता है, तब सब ही प्रसन्न होते हैं ॥२२॥



आभास—द्वितीयमाह वृतः स्वयंवरे साक्षादिति ।

आभासार्थ—दूसरा कारण 'वृतः स्वयंवरे' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—वृतः स्वयंवरे साक्षादनङ्गोऽङ्गयुतस्तथा ।

राजः समेतान्निजित्य जहारैकरथो युधि ॥२३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं—उसने स्वयंवर में साक्षात् मूर्तिमान् कामदेव प्रद्युम्न को वर लिया, तब वह युद्ध में एक रथी होकर भी इकट्ठे सब राजाओं को जीत कर, इसको हर ले आया ॥२३॥

सुबोधिनी—यद्वशादन्येऽपि त्रियन्ते, स एव साक्षात् पूर्वमनङ्गः । अतः कयाप्यवृतः इदानीमङ्गयुतो जात इति तथाभिज्ञया वृतः । स्वयंवरे वृतो न प्रत्याख्यायत इति स महाभिमानी कन्यायाः स्वयंवरं कृतवान्, पश्चाद्विधानपूर्वकमपि सन्तोषेण दत्तवानिति व्यतरदित्युक्तम् । तस्य

रूपमेव महत्, न पौरुषं भविष्यतीत्याशङ्क्याह राज्ञः समेतान्निजित्य जहारेति । युधि सावधानान्, तत्रापि मिलितान् सर्वान् नितरां जित्वा । एकरथ इत्यसहायः, हत्वा मातुलगृहमेव गत इति पूर्व-श्लोकानुरोधादवसीयते । एकरथत्वादिधर्मः प्रतीत्या पितुरधिकत्वमुक्तम् ॥२३॥

व्याख्यानार्थ—जिस अङ्गरहित काम के वश होने पर अन्य भी वरे जाते हैं, अनङ्ग होने से जिसको किसी ने भी वरा नहीं, अब वह अङ्ग सहित हो गया है इस को रुक्मी की पुत्री ने जान लिया अतः इसको वर लिया, स्वयंवर में वर लेने से निन्दा न होगी इसलिये उस अभिमानी ने कन्या का स्वयंवर रचा, अनन्तर विधि पूर्वक सन्तोष से ही, प्रद्युम्न का रूप ही महान् अर्थात् अति सुन्दर होगा, किन्तु वीरता उसमें नहीं होगी ? इस शङ्का का निवारण करने के लिये कहते हैं, कि सब राजा इकट्ठे होकर लड़ने के लिये सावधान हो गये थे, किसी की बिना सहायता के आप ही एक रथी होते हुए भी उन सबको जीत कर मामे की पुत्री को हर कर मामे के घर गए, यों पूर्व श्लोक से समझा जाता है, एक ही रथ था इत्यादि धर्मों की प्रतीति से, पिता से भी अधिक बली कहा है ॥२३॥

आभास—एवं धर्मप्रस्तावे पुत्रस्योत्पत्तिं विवाहं चोक्त्वा कन्यादानमपि भगवत्कृतमाह रुक्मिण्यास्तनयामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार धर्म के प्रस्ताव में पुत्र की उत्पत्ति तथा विवाह कह कर भगवान् के किये हुए कन्या दान को भी 'रुक्मिण्यास्तनयां' इस श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—रुक्मिण्यास्तनयां राजन्कृतवर्मसुतो बली ।

उपधेमे विशालाक्षीं कन्यां चारुमतीं किल ॥२४॥



श्लोकार्थ—बड़े नेत्रवाली चारुमती नाम वाली रुक्मिणी की कन्या को कृतवर्मा के पुत्र बली से पाणिग्रहण कराया ॥२४॥

सुबोधिनी—कृतवर्मा यादवः, बलीति नाम । विशालाक्षीमिति सौन्दर्यम् । चारुमतीमिति नाम । कन्यामाहूय दत्ताम् । रुक्मिण्यास्तनयामित्यनेन अन्यासामपि कन्या उक्ताः सन्तीति तथा तासां विवाहोऽपि ज्ञातव्यः । विशालाक्षीमिति सौन्दर्यं तस्या विवाहे प्रयोजकमुक्तम्, नतु महतः

कन्यात्वम् । चारुमतीमिति नाम्ना अन्या अपि कन्याः सन्तीति सूचितम् । तेन रुक्मिण्याः पञ्च कन्याः पञ्चचकारैरुक्ताः अध्यवसेयाः, अन्यासामपि यथाचकारं कन्यका ज्ञेयाः । किलेति प्रसिद्धे । न तु व्यासादिभिरेतदुपदिष्टमिति । महत्त्वाख्यापकत्वात् केवलं लौकिकत्वात् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—कृतवर्मा यादव था, उसके पुत्र का नाम बली था, रुक्मिणी की पुत्री चारुमती नाम वाली, विशाल नेत्र वाली थी जिससे वह सुन्दर थी, यह जताया उस कन्या को बुला कर उससे पाणिग्रहण कराया, रुक्मिणी की कन्या का 'चारुमती नाम कहने से जाना जाता है कि इसको अन्य कन्याएँ भी थीं, पांच चकारों से ज्ञान होता है, कि रुक्मिणी को, पांच कन्याएँ थीं, 'किल' पद प्रसिद्धि अर्थ में दिया है, रुक्मिणी की कन्या कहने से दूसरी पत्नियों की कन्याओं का भी विवाह किया यों समझना चाहिये, यह व्यासादि ने नहीं कहा है, महत्व की प्रसिद्धि के कारण केवल लौकिक-पन से जाना जाता है ॥२४॥

ग्रामाल—ततोऽनिरुद्धस्तत्रैव भोजकटौ जातः । तस्यापि विवाहं तत्रैवाह दौहित्रा-यानिरुद्धायेति ।

ग्राभासार्थ—अनन्तर अनिरुद्ध ने वहाँ ही भोजकट में जन्म लिया उसका विवाह भी वहाँ ही हुआ, जिसका वर्णन 'दौहित्रायानिरुद्धाय' इस श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—दौहित्रायानिरुद्धाय पौत्रो रुक्म्यददाद्धरेः ।

रोचनां बद्धवेरोऽपि स्वसुः प्रियचिकीर्षया ।

जानन्नधर्मा तद्यौनं स्नेहपाशानुबन्धनः ॥२५॥

श्लोकार्थ—यद्यपि रुक्मी का अब तक कृष्ण से वैर था तो भी बहिन को प्रसन्न करने के लिए तथा स्नेह के पाश में फँसा होने से अपनी पौत्री रोचना श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध को यौनि सम्बन्धी अधर्म जानकर भी अर्पण की ॥२५॥

सुबोधिनी—स्वकुलस्थां कन्यामन्यो विवाहं मा करोत्विति । तस्या नाम रोचनेति । साप्यनिरुद्धस्य मातुलकन्या । तावता द्वेषः शान्तो भविष्यतीत्याशङ्क्याह बद्धवेरोऽपीति । स्वसुः प्रिय-

चिकीर्षयेति पूर्ववद्धेतुः । यावज्जीवं यदेव किञ्चिदुत्कृष्टम्, तदेव भगिनीप्रोत्यर्थं दत्तवानित्यध्यवसीयते । अन्यथा पुनः पुनः तद्धेतुत्वेन नोच्येत । ननु तस्मै देयं दत्तवान्, कथमेतावता स्वसा प्रीता



भवतीति चेत् । तत्राह स्वसुः प्रियचिकीर्षया जानन्नधर्मं तद्यौनमिति । स्त्रीसम्बन्धः अधर्मो भवति । 'माता पितामही यस्य तथैव प्रपितामहो । तिस्र एककुले जाताः सोऽभिषस्तो निगद्यत' इति तस्यामुत्पन्नस्याभिषस्तदोषात् तद्यौनमधर्मरूपं भवति । अधर्ममप्यङ्गीकृत्य स्वसुः

प्रियार्थं दत्तवान् । ननु निषिद्धाचरणे कथं प्रियम्, न वा तत्प्रियं प्रियं भवतीत्याशङ्क्याह स्नेहपाशवशं गत इति । स्नेहे सर्वमेव समीचीनं भासते । उभयोः परमस्नेहात् तद्गतो दोषो न भासते । अतो जानन्नपि एवं कृते प्रियं भवतीत्युभयोर्लौकिकबुद्ध्या तथा कृतवानित्यर्थः ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—अपने कुल की कन्या से दूसरे कुल का विवाह न करे, इसलिये रुक्मि ने अपनी रोचना नाम वाली पोती श्रीकृष्ण के पोते अनिरुद्ध को दी, वह अनिरुद्ध के मामले की बेटी थी, इसके देने से द्वेष शान्त हो जायेगा, यदि कोई यों समझे तो कहते हैं कि वैर शान्त न हुआ वैर तो वैसा ही रहा, तब क्यों दी ? इस पर पूर्व दिया हुआ हेतु फिर भी दोहराते हैं कि बहिन को प्रसन्न करने के लिये ही, जब तक मैं जीवित हूँ तब तक जो कुछ उत्कृष्ट होवे वह बहिन को प्रसन्न करने के लिये दे जाऊँ, यदि यह इच्छा न होती तो बार बार वही हेतु न कहते जो देना या वह दे दिया, इतने से बहिन कैसे प्रसन्न होगी ? यदि यों कहते हो तो, इसके उत्तर में कहा कि यद्यपि यह यौन सम्बन्ध अधर्म है यों जानता था, तो भी भगिनी के प्रीत्यर्थ इस प्रकार किया, इस प्रकार का सम्बन्ध अधर्म है 'माता पितामही यस्य तथैव प्रपितामही' 'तिस्र एक कुले जाता सोऽभिषस्तो निगद्यत' जिसकी माता, दादी और परदादी एक ही कुल में जन्मी हुई हो उस कुल में जन्मी हुई कन्या से जो विवाह करता है, वह लम्पट और दोष दूषित कहा जाता है, क्योंकि वह विवाह अधर्म है, इस अधर्म को भी अङ्गीकार कर बहिन को प्रिय करने के लिये पुत्री और पौत्री दी, अधर्म आचरण तो अप्रिय लगता है, वह प्रिय कैसे ? इस पर कहते हैं कि 'स्नेहवशं गतः' स्नेह के आधीन हो गया, स्नेह होने पर सब अच्छा देखने में आता है, दोनों का परस्पर प्रेम होने से, उस कार्य में जो दोष होता है वह देखने में नहीं आता है, अतः जानते हुए भी यों करना प्यारा लगता है, यों दोनों ने लौकिक बुद्धि से इस प्रकार के विवाह किये ॥२५॥

आभास—अयं विवाहः लौकिकवदिति दत्तायां कन्यायां वरयात्रिकाः भगवदादयः सर्व एव समागता इत्याह तस्मिन्नभ्युदय इति ।

आभासार्थ—यह विवाह लौकिक की भाँति हुआ, इसलिये जिस समय कन्या का विवाह संस्कार होता था, उस समय वर की शोभायात्रा में भगवान् आदि सब ही आये थे, यह 'तस्मिन्नभ्युदये' श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक—तस्मिन्नभ्युदये राजरुक्मिणी रामकेशवौ ।

पुरं भोजकटं जग्मुः साम्बप्रद्युम्नकादयः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! उस विवाहोत्सव के समय साम्ब, प्रद्युम्न आदि को लेकर, रुक्मिणी, राम और केशव भी भोजकट नगर में गए ॥२६॥

सुबोधिनी—विवाहोत्सवे रुक्मिणी मुख्या ।
निमित्तत्वात् । ततो लौकिकमिति ज्येष्ठानुक्रमेण
रामकृष्णौ पुरत्वमापन्नं भोजकटस्थानं प्रतिज्ञा-
स्थानं जग्मुः । रामकेशवाविति ययोर्गमनमस-

म्भावितं तौ निरूप्य, साम्बप्रद्युम्नादयः वरया-
त्रिका निरूप्यन्ते । सुन्दरः साम्ब इति प्रद्युम्ना-
दपि प्रथमं निर्दिष्टः, कप्रत्ययोऽनादरे, निषिद्ध-
त्वात् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—विवाहोत्सव में रुक्मिणी मुख्य थी, क्योंकि इस विवाह के होने में यह ही कारण थी, पश्चात् लौकिक क्रिया बताते हैं कि बड़े फिर छोटे इस प्रकार सब साथ हो साम्ब प्रद्युम्न आदि को लेके जिनका वहाँ जाना असम्भव था, वे राम और कृष्ण भी वर शोभा यात्रा बना कर भोज कट नगर को गये, वह नगर, रुक्मी का प्रतिज्ञा स्थान है, साम्ब सुन्दर था, इसलिये प्रद्युम्न से पहले उसका नाम कहा है, 'क' प्रत्यय अनादर में है निषिद्ध होने से ॥२६॥

आभास—निषिद्धाचरणस्य फलमाह तस्मिन्निवृत्त उद्धाह इति ।

आभासार्थ— 'तस्मिन्निवृत्त' इस श्लोक में 'निषिद्ध आचरण' का फल कहते हैं ।

श्लोक—तस्मिन्निवृत्त उद्धाहे कालिङ्गप्रमुखा नृपाः ।

दृष्टास्ते रुक्मिणं प्रोचुर्बलमक्षौविनिर्जय ॥२७॥

श्लोकार्थ—विवाह कार्य के पूर्ण रीति से सिद्ध हो जाने के अनन्तर कालिङ्ग जिनमें मुख्य है, वैसे राजा लोग रुक्मी को कहने लगे कि पासों से खेल कर बलराम को जीत ले ॥२७॥

सुबोधिनी—कन्यादानानन्तरं वरयात्रायामपि
सिद्धायां कलिङ्गदेशाधिपतिः देशनाम्नैव प्रसिद्धः ।
स्वतः स्नेहेन तूष्णींभूतमपि रुक्मिणं प्रोचुः । यतो

दृष्टाः । नापि तस्य तथा करणे किञ्चित्प्रयोजन-
मस्ति ॥२७॥

व्याख्यार्थ—कन्यादान के अनन्तर, वर की शोभा यात्रा भी पूर्ण हो जाने के पीछे कलिङ्ग देश का राजा, जो देश के नाम से प्रसिद्ध है वे अभिमानी कालिङ्ग आदि राजा, स्वतः स्नेह के कारण चुप रहे थे, तो भी रुक्मी को कहने लगे के पासों से बलराम को जीत ले, यद्यपि उनका इस प्रकार होने में कुछ प्रयोजन नहीं था ॥२७॥

आभास—नन्वक्षजयः कथमेकान्ततो ममैव भविष्यतीत्याशङ्कायामाह अनक्षज इति ।

आभासार्थ—मेरी ही पासों की क्रीड़ा में जय होगी ऐसा रुक्मी को कैसे निश्चय हुआ ! इसका उत्तर 'अनक्षजो' श्लोकों से देते हैं—

श्लोक — अनक्षजो ह्ययं राजन्नपि तद्व्यसनं महत् ।
 इत्युक्तो बलमाहूय तेनाक्षै रुक्म्यदीव्यत ॥२८॥
 शतं सहस्रमयुतं रामस्तत्रादधे पणम् ।
 तं तु रुक्म्यजयत्तत्र कालिङ्गः प्राहसद्बलम् ।
 दन्तान्संदर्शयन्नुच्चैर्नामृष्यत्तद्वलायुधः ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! यह बलराम जुग्रा खेलना नहीं जानते थे, किन्तु इनको जुग्रा खेलने का बहुत व्यसन है; इस प्रकार कालिङ्ग राजा ने कहा तब रुक्मी बलरामजी को बुलाकर, उनसे जुग्रा खेलने लगा, बलरामजी ने प्रथम सौ, फिर हजार पीछे दस हजार के दाव लगाए, ये सब दाव रुक्मी जीत गया, तब कालिङ्ग दौंति दिखाता हुआ जोर से बलराम पर हँसने लगा, राम इस हँसी को सहन न कर सके ॥२९॥

सुबोधिनो—ये हि वैदिककर्मपरा धर्मपरा वा ते ह्यक्षजा भवन्ति । बलस्यानुभयरूपत्वात् युक्तमेवाक्षाज्ञानमिति हिशब्दः । राजन्निति सम्बोधनात्त्वमक्षज इति । अपि तद्व्यसनं महदिति अज्ञो न कीडिष्यतीति शङ्कां वारयति । अत आदौ प्रवृत्तः पश्चान्न निवर्तिष्यत इति पराजितो भविष्यति । एवमुपपत्त्या प्रबोधितः तथा कृतवानित्याह इत्युक्त इति । बलः पूर्वं ज्ञानोपदेशात् सान्त्वनात् हित इति बलमेवाहूय, भगवतः सकाशात् पृथक्कृत्य, रुक्मी दुर्बुद्धिरदीव्यत, तत्राक्षान्गृहीत्वा रुक्मी प्राह 'पणः क्रियता'मिति । भिक्षा

सङ्ख्या चतुर्दिक्ष्वक्षेषु लिख्यते । तत्र कस्यचित् समसङ्ख्या, कस्यचिद्विषमसङ्ख्या इति पूर्वमेव प्रतिज्ञाय, कीडार्यं प्रवृत्तौ । ततोऽक्षहस्तेन रुक्मिणा आज्ञप्तः शतं सहस्रमयुतं उत्तरोत्तरं दशगुणं रामस्तत्र पणमादधे । तं तु पणं स्वानुकूलतया अक्षान् पातयित्वा रुक्मी अजयत् । तत्रानक्षजता कालिङ्गेन प्रथमतो निरूपितेति बलं प्राहमत् । तदपि हसनं प्रकटमित्याह दन्तान्संदर्शयन्नुच्चैरिति । तन्मनसि कापट्येन हसतीति हलायुधो नामृष्यत् । ननु नीतिज्ञेनावश्यं हास्यं सोढव्यम्, तत्राह हलायुध इति ॥२८-२९॥

व्याख्यार्थ — जो वैदिक कर्म के परायण हैं अथवा धर्म पर हैं वे ही जुग्रा करना (खेलना) जानते हैं बलराम में ये दोनों धर्म नहीं थे इसलिये वे जुग्रा खेलना नहीं जानते थे यह योग्य ही है । हे राजन् ! संबोधन से बताया है, कि आप राजा होने से जुग्रा खेलना जानते हैं. जब बलरामजी जुग्रा खेलना नहीं जानते हैं तो फिर खेलेंगे कैसे ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि उनको खेलने का बहुत व्यसन है, इसलिये खेलेंगे, प्रथम जुग्रा खेलने में प्रवृत्त हुए तो पीछे हटेंगे नहीं, इसलिए वे हारेंगे, इस प्रकार उपपत्ति पूर्वक समझाने पर रुक्मी ने बलरामजी से खेलने का निश्चय किया, बलराम मेरा हितकारी है, क्योंकि ज्ञानोपदेश देकर शान्ति कराई थी, यह विचार कर रुक्मी ने बल को ही बुला लिया, जिससे वह भगवान् से पृथक् हो कर अकेले आये, तब दुर्बुद्धि रुक्मी उनसे जुग्रा खेलने लगा, रुक्म ने पासा लेकर बलरामजी को कहा कि दाव लगाईये, पासों के चारों तरफ अलग-२ संख्या लिखी जाती है

वहां कोई संख्या समान कोई विषम संख्या होती है यों पहले ही प्रतिज्ञा कर, खेलने में दोनों प्रवृत्त हुए, पश्चात् हाथ में पासा लिये हुए रुक्मी ने कहा कि अब दाव लगाईये, तब राम ने सौ, हजार और दश हजार के दाव लगाये, उन दावों को रुक्मी ने कपट (चालाकी) से पासों को अपनी जीत हो इस प्रकार गिराये, जिससे जीत गया, कालिङ्ग ने प्रथम ही बता दिया था कि राम खेलना जानते नहीं, अतः वह दाँतों को दिखाता हुआ जोर से ऐसे हँसने लगा जैसे बलराम का अपमान देखने में आवे, बलरामजी ने मन में समझा कि हंसना कापट्य से है, अर्थात् मेरी हँसी करता है, अतः इस हँसी को राम सहन न कर सके, नीति को जानने वाले तो हँसी को सहन करते हैं अतः नीतिज्ञ राम को भी सहन करनी चाहिये, जिसके उत्तर में कहते हैं कि ये हलायुध हैं इसलिये सहन नही कर सकते हैं ॥२८-२९॥

श्लोक — ततो लक्षं स्वम्यगृह्णाद् ग्लहं तत्राजयद्बलः ।

जितवानहमित्याह रुक्मी कंतवमाश्रितः ॥३०॥

श्लोकार्थ—पीछे रुक्मी ने लक्ष का दाव लगाया, वह बलरामजी जीत गए, तब रुक्मी छल से कहने लगा कि मैं जीत गया हूँ ॥३०॥

सुबोधिनी—ततो वारत्रयानन्तरं जये वा पराजये वा विपर्यस्य अन्यः पातयेदित्यक्षशास्त्रात् कपटादिशङ्कानिवृत्त्यर्थं बलः स्वयमक्षान् गृहीत्वा अपातयत् । ततः अयुतादशगुणं रुक्मी लक्षं ग्लहं परात्मकं द्रव्यं प्रतिज्ञातवान् । तत्र तस्यां कीडायां बलः अजयत् । एकान्ते क्रीडतीति न

स्वकीयाः साम्बादयः साक्षिणः, परं तदीया एव सर्वे । अत एकवारमेव भूयान् पराजयो जात इति, द्यूते मृषा भाषणं न विगीतमिति, जितवानहमित्याह रुक्मी । तानक्षान् विपरीततया घृत्वा प्रदर्श्य कंतवमाश्रितः कपटेनैव जेष्यामीति निश्चित्य मृषोक्तवान् ॥३०॥

व्याख्यार्थ— जुए के शास्त्र की यह विधि है कि तीन बार दाव हो जावे तो इसके पीछे विरुद्ध पक्ष वाला पासों से खेले, अतः अब बलरामजी ने पासे हाथ में लिए रुक्मी ने लक्ष का दाव लगाया बलरामजी ने पासे फेंके तो पासे इस प्रकार गिरे जिनसे बलरामजी, जीत गये, यह खेल तो एकान्त में हो रहा था, जिससे अपने साम्ब आदि साक्षी तो थे नहीं, किन्तु सब उसके ही पक्ष के थे, अतः एक बार ही बड़ा भारी पराजय हुआ, क्यों कि जुए में झूठ बोलने से निन्दा नहीं होती है, इसलिये रुक्मी ने कहा कि मैंने जीता है, उन पासों को उलटा कर दिखाने लगे कि देखो मैंने जीता है; कपट कर भी मैं जीतूँगा यह ही निश्चय कर हुआ खेलना प्रारम्भ किया था, अतः झूठ कहने लगा ॥३०॥

श्लोक — मन्थुना क्षुभितः श्रीमान्समुद्र इव पर्वणि ।

जात्यारुणाक्षोऽतिरुषा न्यबुद्धं ग्लहमादधे ॥३१॥

श्लोकार्थ — जिस प्रकार पूनम के दिन समुद्र क्षोभयुक्त होता है, वैसे ही श्रीमान्

बलदेवजी क्रोध से क्षोभयुक्त हो गए, स्वभाव से लाल नेत्रवाले बलदेवजी ने अतिशय क्रोध से दस करोड़ का दाव लगाया ॥३१॥

सुबोधिनी—तदा मन्युना क्षुभितस्तदसह-
मानः । देवाभावादसहन भविष्यतीत्याशङ्क्य
निराकरोति श्रीमानिति । पूर्णधनः । निवार्यमा-
णोऽपि सहज एव तादृश इति । तस्मिन् काले
तथैव युक्तमिति दृष्टान्तमाह । समुद्रः पूर्णमा-
स्यामिवेति । स हि पूर्ण चन्द्रमभिमुखो गच्छति,
तथायमपि मच्छिष्य एव मत्तोऽप्युत्कर्षं वाञ्छति,
अनृतं च वदतीति चन्द्रमिव जिघृक्षुर्जातः । जात्या

स्वभावेन च अरुणाक्षः, अक्रुद्धोऽपि क्रुद्ध इव
प्रतीयते, क्रोधे तु का वार्त्तत्यर्थः । अतिरुषा
सुतरामरुणाक्षो जातः । अतो मनसि मारणीयो-
ऽयमिति भावो निरूपितः । ततो वारत्रयं क्रोडि-
तव्यमिति पुनरक्षान् बलो गृहीतवान् । तदा
रुक्मी न्यर्बुद ग्लहमादधे, प्रतिज्ञातवान् दशको-
टिमितम् । वारत्रयेण यावद्दशगुणं तावत्सकृदेवा-
दधे, यथैकानृतेनैव सर्वमनृत भवति ॥३१॥

व्याख्यानार्थ— तब क्रोध से क्षुभित हृदय बलरामजी इसको सहन न कर सके, इतने पैसे दे नहीं
सके होंगे इसलिये क्रोध में आये होंगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'श्रीमान्'
बलदेवजी पूर्ण धनवान् हैं, अतः न दे सकने से क्रोध नहीं आया था, रुके हुवे भी, स्वभाविक ही जुआ
खेलने में रुचिवाले हैं, उस समय यों करना ही उचित था, जिसमें दृष्टान्त देते हैं, कि पूनम के दिन
समुद्र जैसे क्षुभित होता है, वह पूर्ण चन्द्र के सन्मुख जाता है वैसे यह भी मेरा शिष्य होकर मुझसे
भी ऊँचा बनना चाहता है, और झूठ बोलता है, इसलिये चन्द्र की तरह हुए, स्वभाव से तो आपके
नेत्र लाल थे ही, जिनसे क्रोध न होता तो भी क्रोध वाले जाने जाते, क्रोध हो तो फिर क्या कहना ?
विशेष क्रोध से बहुत ही लाल नेत्र वाले हो गये, बहुत लाल नेत्र वाले होने से मन का यह भाव
बताया कि इस (रुक्मी) को मारना ही चाहिये, पश्चात् बलराम ने फिर पासे हाथ में लिये क्योंकि
तीन बार खेलना चाहिये, तब रुक्मी ने दश करोड़ का दाव लगाया । तीन बार जितना दश गुणा
हो, उतना एक ही बार दाव लगाया, जैसे एक अनृत (झूठ) कहने से ही सब अनृत जाना
जाता है । ॥३१॥

आभास—पूर्ववत् तं चापि रामो जितवान्, अभिज्ञतया न, किन्तु दैवगत्येत्याह
धर्मोति ।

आभासार्थ— अब भी राम ने पहले की भांति जीत लिया, जुआ खेलना जानते हैं इसलिये
नहीं किन्तु, धर्म से, यह 'धर्मो' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तं चापि जितवाग्रामो धर्मो च्छुलमाश्रितः ।

रुक्मी जितं मयात्रेमे वदन्तु प्राश्रिका इति ॥३२॥

श्लोकार्थ—यह दाव भी धर्म से बलरामजी ने ही जीता, परन्तु रुक्मी कपट कर
के कहने लगा कि मैंने जीता है, इस विषय में ये सभासद् निर्णय देवें ॥३२॥



सुबोधिनी—तदा महतीं विनष्टिं दृष्ट्वा, छल-
माश्रितः कापट्यमेव कर्तव्यमिति निश्चय्य, रुक्मी
आह । चकारेण आहेति पूर्वक्रिया आकृष्यते ।
मया जितमत्रेमे प्राशिका ब्रुवन्त्वित्याह । प्राशिक-
कानामपि । स्वानुगुण्यवचने बलस्य स्वज्ञानमेव

भ्रान्तमिति प्रतीतिः स्यात्, तदर्थं प्राशिकानां
सभासदाम् । येषामग्रे प्रश्नः सम्भवेति सन्दिग्धे,
ते प्राशिकाः । तत्र देशादिदेवाः साक्षिण इति,
कालिङ्गादिषु ते अनिविष्टाः, दृष्टत्वात्तेषाम् ।
॥३२॥

व्याख्यार्थ— रुक्मी ने देखा अब तो बड़ी हानि होगी अतः निश्चय किया कि कापट्य ही
करना चाहिये, जिससे फिर भी कहने लगा कि यह दाव भी मैंने जीता है ये सभासद कहेंगे कि किसने
जीता है ? बलरामजी ने जैसा समझा है वह भ्रान्ति है, अतः सभासद ही कहेंगे, जिनके आगे निर्णय
के लिये प्रश्न रखा जावे, वे सभासद कहे जातें हैं, उसमें देशादि देव साक्षी हैं, कालिङ्ग आदि में
वे प्रविष्ट नहीं हुवे हैं क्योंकि वे दुष्ट हैं ॥३२॥

आभास—तत्रत्यानां वचनात् पूर्वमेव आकाशवाणी सर्वदेवतामयी सन्देहनिवृत्त्यर्थ-
माह बलेनैव जितो ग्लह इति ।

आभासार्थ— सभा सदों के कहने से प्रथम ही सर्व देवतारूप आकाश वाणी ने कह दिया कि,
यह दाव बलरामजी ने ही जीता है, जिससे सन्देह की निवृत्ति हो गई ।

श्लोक—तदाब्रवीन्नभोवाणी बलेनैव जितो ग्लहः ।

धर्मतो वचनेनैव रुक्मी वदति वै मृषा ॥३३॥

श्लोकार्थ—तब आकाशवाणी ने कहा कि मैं धर्म से कहती हूँ कि रुक्मी झूठ
बोलता है, धर्म से यह दाव बलरामजी ने ही जीता है ॥३३॥

सुबोधिनी—यद्यप्यक्षक्रीडां न जानाति, कर्तव्यः । लौकिकत्वमपि तद्वाक्यस्य निवारयति
तथापि धर्मतः जितवान् । वचनेनैव केवलेन धर्म- मृषेति । लौकिकाः अप्येतादृशे न मृषा वदन्ति ।
रहितेन रुक्मी वदति । वै निश्चयेन । नात्र सन्देहः ॥३३॥

व्याख्यार्थ— यद्यपि बलरामजी जुआ खेलना नहीं जानते हैं, तो भी धर्म से ही जीता है, रुक्मी
केवल अधर्म से ये वचन कह रहा है, 'वै' पद देकर यह बताया है, कि रुक्मी जो कुछ कहता है वह
बिना सन्देह झूठ है, इसका वाक्य केवल लौकिक है, जिसका भी 'मृषा' शब्द से निवारण करता
है, लौकिक मनुष्य भी ऐसे प्रसङ्ग पर झूठ नहीं बोलते हैं ॥३३॥

श्लोक—तामनादृत्य वंदर्भो दुष्टराजन्यचोदितः ।

संकर्षणं परिहसन्बभाषे कालचोदितः ॥३४॥

श्लोकार्थ—दुष्ट राजाओं का सिखाया हुआ स्वमी आकाशवाणी का अनादर कर काल से प्रेरित होने से बलदेवजी की हँसी करता हुआ, यों कहने लगा ॥३४॥

सुबोधिनी—ततः को वायं कृत्रिमः शब्दः प्रमाणम्, साक्षात् प्राश्नकेषु विद्यमानेष्वतितामनाहत्य दुष्टराजन्यैः तथैव वक्तव्यम्, इदं नाङ्गीकर्तव्यमिति प्रेरितः सकर्षणं परिहसन् वमाषे । यतो वैदर्भः, न धर्मप्रधानदेशस्थः दुःस-

ङ्गश्च । स हि जगदेवाकर्षति लयार्थम् । तादृश-सामर्थ्यवन्तं परिहसन् कटाक्षहास्यादिभिः अयुक्त-मुक्तवान् । ननु वचनस्य किं प्रयोजनम्, तूष्णीं स्थातव्यम्, उत्थाय वा गन्तव्यमिति तत्राह काल-चोदित इति ॥३४॥

व्याख्यार्थ—आकाश वाणी सुन कर दुष्ट राजाओं ने स्वमी को सिखाया कि, जब कि, यहां सभासद निर्णय करने वाले हैं तो इस कृत्रिम शब्द को ध्यान में नहीं लाना चाहिये जैसे आपने कहा है, उस पर ही डटे रहो आकाश वाणी के कहे शब्द मत मानो इस प्रकार प्रेरित स्वमी बलदेव की हँसी करता (मजाक उड़ाता) हंसता हुआ कहने लगा, स्वमी जिस देश में जन्मा है वह देश, धर्म प्रधान देश नहीं है जिससे और दुःसङ्ग के कारण, जो समग्र जगत् को लय के लिये खेंच सकते हैं, ऐसी सामार्थ्य वाले सङ्कर्षण पर, कटाक्ष हास्यादि करता हुआ अनुचित कहने लगा, कहने की क्या आवश्यकता थी, चुप हो कर बैठ जाना था अथवा उठकर चला जाता, यों नहीं किया, जिसका कारण यह है कि इसके सिर पर काल सवार था जिसने इसको ऐसी बुद्धि दी ॥३४॥

आभास—भगवता गोपालत्वं समर्थितमिति तदन्तर्याम्यपि तथैव प्रेरितवान् । बाह्ये हि विद्याभ्यासः, क्षत्रियाणां च शस्त्राभ्यासः, तस्मिन् समये वने गोचारणमेव कृतमिति लोकविश्वासात् मर्मभेदमाह ।

आभासार्थ—भगवान् ने कहा है, कि हम गोपाल हैं, इसलिये स्वमी को अन्तर्यामी ने ऐसी ही प्रेरणा की, जिससे उसने कहा कि बचपन में विद्याभ्यास करते हैं, परंतु क्षत्रिय शस्त्राभ्यास करते हैं और गोप बचपन में वन में गौओं को चराते हैं, इस प्रकार लोकों को विश्वास कराने के लिये मार्मिक वचन कहने लगा, जिनसे बलराम को क्रोध हो—

श्लोक—नैवाक्षकोविदा यूयं गोपाला वनगोचराः ।

अक्षैर्दीव्यन्ति राजानो बाणैश्च न भवादृशाः ॥३५॥

श्लोकार्थ—तुम पासा खेलना नहीं जानते हो; क्योंकि गोपाल होने से वन में गौओं को चराना ही जानते हो, पासों से और बाणों से खेलना तो राजा लोग जानते हैं, आप जैसे नहीं ॥३५॥

सुबोधिनी—यूयं नाक्षकोविदाः, यतो गोपालाः । न हि सर्वविद्यासु सर्वे अभिज्ञाः, तस्माद्वने गोचरा एव । उभयमपि ज्ञायत इति चेत् । तत्राह अक्षैर्दीव्यन्ति राजान इति । अभ्या-



सव्यतिरेकेण न विद्या समायातीति अक्षाणाम-
प्रयोजकत्वमागङ्क्य द्यूतक्रीडापरा अधमा इति
शङ्काव्युदासार्थं जयमाधकत्वात् बाणे तुल्यतां
वक्तुमाह बाणैश्चेति । ननु क्षत्रिया वयमित्युभयं

जानीम इति चेत् । तत्राह न भवादृशा इति ।
परगृहे पुष्टा आवात्यं नोचकर्मणि नियुक्ताः
नाक्षत्राणकोविदा भवन्तीति निषेधति न भवादृशा
इति ॥३५॥

व्याख्यानार्थ - तुम पासा खेलना नहीं जानते हो क्योंकि गोपाल हो, सब विद्याओं में सब निपुण नहीं होते हैं । इसी कारण से, तुम बन में गौग्रों चराना जानते हो, यदि कहो कि हम दोनों ही काम जानते हैं, तो इसके उत्तर में कहते हैं, राजा लोग पासों से खेलते हैं, बिना अभ्यास के विद्या नहीं आती है, पासों के सीखने के लिये अभ्यास करना आवश्यक नहीं क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता नहीं है ? तथा जो जुए के परायण होते हैं, वे अधम कहे जाते हैं इस शङ्का को मिटाने के लिये, जुग्रा भी जीत कराती है इसलिये राजाओं के वास्ते बाणों के समान है, इसलिये कहा है कि क्षत्रिय दोनों का अभ्यास कर दोनों में प्रवीण होते हैं । यदि कहो कि हम भी क्षत्रिय हैं इसलिये दोनों जानते हैं, इसका उत्तर देता है 'न भवादृशाः' आप जैसे क्षत्रिय नहीं, आपने दूसरे के गृह में पोषण पाया है । बचपन से नीचे कर्म में प्रवृत्त हुये हैं, जिससे आप पासा और बाण चलाना नहीं जानते हैं, इसलिये रुक्मी ने कहा है, कि 'न भवादृशाः' ॥३५॥

श्लोक—रुक्मिणोवमधिक्षिप्तो राजमिश्रोपहासितः ।

क्रुद्धः परिघमुद्यम्य जघ्ने तं नृप संसदि ॥३६॥

श्लोकार्थ—रुक्मी ने जब इस प्रकार तिरस्कार किया और दूसरे राजा इस पर हँसे, तब बलदेवजी क्रुद्ध हो, परिघ उठाकर, सभा में ही उसको मार डाला ॥३६॥

सुबोधिनो—ततः सर्वेरेव 'सत्यं वदती'त्युक्ते,
उपहासे च कृते, कालप्रेरितो बल तत्रैव दैवगत्या
कालमुद्गररूपं परिघमुद्यम्य, संसदि सभायामुप-
विष्टं एव तं जघ्ने । पक्षपातिभिः तस्य पक्षः
पोषणीय इति ज्ञापयन्निव सभायामेव जघ्ने ।

नृपेति । राज्ञां तथाकरणं युक्तमिति ज्ञापयति ।
क्रुद्ध इत्यविचारः । परिघमुद्यम्येत्यन्या क्रिया
निवर्तिता । चकारात्तदीर्यः सेवकैरप्युप-
हसितः ॥३६॥

व्याख्यानार्थ— पश्चात् सर्व सभासदों ने कहा कि रुक्मी सत्य कहता है, यों कहने और हँसी करने लगे, तब काल प्रेरित बलरामजी वहाँ ही दैव की गति से काल रूप मुद्गर (परिघ) उठा कर सभा में बैठे हुये हो उस (रुक्मी) को मार डाला, पक्षपातियों को उसका पक्ष लेना ही चाहिये, मानों यह जताते हैं इसलिये सभा में ही मारा, नृपः संबोधन से यह बताया है कि राजाओं को यों करना उचित हो है, विचार क्यों नहीं किया ! इतनी शीघ्रता क्यों की ! जिसके उत्तर में कहा है, कि 'क्रुद्ध' इन अनगल वचनों के सुनने से एवं हँसी आदि से अपमानित होने के कारण 'क्रुद्ध' हो गए, अर्थात् क्रोध आ जाने से परिघ ही लेकर मारा, जिससे दूसरी कोई क्रिया नहीं की 'च'पद से यह भाव बताया है, कि उनके सेवक भी हँस कर हँसी करने लगे ॥३६॥



आभास—वाक्यापराधे वधं कृत्वा, मानसिकापराधे ताडनमाह कलिङ्गराजमिति।

आभासार्थ— वाणी के अपराध कर्त्ता स्वामी को मार डाला, जिन्होंने मानसिक अपराध किया उनकी ताड़ना की, यह 'कलिङ्गराज' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—कलिङ्गराजं तरसा गृहीत्वा दशमे पदे ।

दन्तानपातयत्क्रुद्धो योऽहसद्विवृतद्विजैः ॥३७॥

श्लोकार्थ—जो कलिङ्ग का राजा दाँत खोलकर हँसा था, उसको शीघ्र दशवें पैर (कदम) में पकड़ कर, क्रुद्ध बलराम ने उनके दाँत गिरा दिए ॥३७॥

सुबोधिनी—येनोपहसितः, पलायमानं तं दशमे पदे धृत्वा, क्रियाशक्तिः प्राणस्येति, 'नव वै पुरुषे प्राणा' इति श्रुतेः प्राणानुरोधेन नव प्रयत्नानुपेक्ष्य, दशमे पदे तं गृहीतवान् । ततो लोके-

भ्यः दन्ताः प्रदर्शिता इति पुनः प्रदर्शननिवृत्तये दन्तानपातयत् । अत्रापि क्रुद्ध इत्यविचारः । तस्य दोषमाह योऽहसदिति । विवृतद्विजैरिति दन्तानामेव पातने हेतुः ॥३७॥

व्याख्यार्थ— जिसने हँस कर हँसी की थी, वह भाग रहा था उसको दशवें कदम पर पकड़ के उसके दाँत इसलिये गिरा दिये, कि वह फिर इस प्रकार दाँत दिखाकर हँस न सके, क्योंकि वह लोकों को दाँत दिखाते हुवे हँसा था, क्रोध आ जाने से यहाँ भी कुछ विचार नहीं किया, दशवें कदम पर क्यों पकड़ा ? जिसको समझाने के लिए आचार्य श्री इसका रहस्य प्रकट करते हैं, क्रिया शक्ति प्राणों में रहती है, 'नव वै पुरुषे प्राणाः' इति श्रुतेः पुरुष में नव प्राण रहते हैं, यों श्रुति कहती है, इसलिये प्राणों के अनुरोध से प्रयत्न रूप नव कदमों की उपेक्षा कर दशवें कदम पर उसको पकड़ लिया ॥३७॥

श्लोक—अन्ये निभिन्नबाहुरशिरसो रुधिरोक्षिताः ।

राजानो दुद्रुवुर्भाता बलेन परिघादिताः ॥३८॥

श्लोकार्थ—बलरामजी के परिघ से पीड़ित और जिनके भुज, ऊरु और मस्तक टूट गए हैं तथा रुधिर से जो लबालब हो गए हैं, वे डरकर भाग गए ॥३८॥

सुबोधिनी—अन्येऽप्यनुमोदनकर्तारः निभिन्नाः बाहवः ऊरवः शिरांसि च येषां तादृशा जाताः । तत्राभिज्ञानं रुधिरोक्षिताः रुधिरेणोक्षिता इति ।

ततो भीताः सन्तः दुद्रुवुः । स्वतोऽपि भयेन पलायने बलोत्कर्षो न भवतीति पलायने तत्क्रियां साधनमाह परिघादिता इति ॥३८॥

व्याख्यार्थ— दूसरे जो इसके पक्ष पाती थे जो इसकी राय का अनुमोदन करते थे, उनके भी भुजा, ऊरु और मस्तक परिघ से टूट गये थे, जिससे समग्र शरीर रक्त से लबालब देखने में आ-



रहा था, एवं निश्चय हो गया कि इनके अङ्ग टूटे हुवे हैं, अतः डर कर भाग गये, अपने आप भय से भाग जाने में बल का उत्कर्ष नहीं होता, इसलिये कहते हैं, कि भागने की क्रिया में साधन यह था कि परिघ से पीड़ित थे ॥३८॥

आभास—नन्वेवमनर्थे पौत्रविवाहे जाते भगवता कि कृतमित्यत आह निहत इति ।

आभासार्थ— इस प्रकार पौत्र के विवाह में अनर्थ होने पर भगवान् ने क्या किया ? वह 'निहत' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—निहते रुक्मिणी श्याले नाब्रवीत्साध्वसाधु वा ।
रुक्मिणीबलयो राजन्स्नेहमङ्गमयाद्धरिः ॥३९॥

श्लोकार्थ—साले रुक्मी के मर जाने पर भगवान् ने अच्छा हुआ अथवा बुरा हुआ, कुछ नहीं कहा । हे राजन् ! भगवान्, रुक्मिणी तथा बलदेवजी में से किसी का मुझ से स्नेह न टूट जाए, इस भय से चुप हो गए ॥३९॥

सुबोधिनी— एक एव श्यालो हतः । विवाहे श्यालः पावित्र्यहेतुर्भवति । अतः किञ्चिद्वक्तव्यम् । धर्मस्थापनायां दुष्टो मारणीय एव । अतो न वक्तव्यमेव । तदुभयं निषेधति । श्याले निहते साधु असाधु वा नाब्रवीदिति । ननु 'अप्रतिषिद्धमनुमतं भवतो'ति तूष्णींभावेऽपि बलभद्रपक्षः स्यात्, तर्हि साध्ववचनेनेति चेत्, तत्राह निहत इति । कृते कार्ये वचनं व्यर्थमेव स्यात् । अनेन वक्तव्यो भवति, असाधु कृतमिति, तथापि नोक्तमिति सूच्यते । तत्र हेतुः । रुक्मिण्याः स्नेहमङ्गमयादिति । भक्तत्वेऽपि मायायाः कार्यरूपा अवि-

द्येति उत्पत्तिविचारेण स्नेहमङ्गः सम्भाव्यते । ततः प्रपन्नायाः तथात्वे ममापि तथात्वमुचितमिति सर्वथा स्नेहे भग्ने भक्तिमार्गो नश्यतोति भयम् । नन्वीश्वरस्य नष्टेऽपि मार्गो किं भयमिवेति चेत् । तत्राह हरिरिति । स हि सर्वदुःखहर्ता । अन्यथा सर्वेषां दुःखं न गच्छेदिति । तथैवासाध्ववचने बलस्य स्नेहमङ्गमयं हेतुः । तस्य स्नेहमङ्गे अवतारप्रयोजनं न भवेदिति । भगवद्व्यतिरिक्ता-नामन्यधर्मः प्रवर्तत इति स्नेहमङ्गसम्भवः, शक्ति-विभक्तेति ॥३९॥

व्याख्यानार्थ— साला एक ही था, वह भी मर गया, विवाह में साला पवित्रता का कारण होता है अतः कुछ कहना चाहिये, धर्म की स्थापना के लिये दुष्ट को मारना ही चाहिये, अतः कुछ कहना ही नहीं, इसलिये दोनों का निषेध करते हैं, साले के मरने पर अच्छा हुआ वा बुरा हुआ कुछ नहीं कहा, चुप रहना भी सम्मति है अतः चुप रहने से यों जाना जाएगा कि आपने बलरामजी के पक्ष का समर्थन किया है, तो अच्छा किया इतना कह देने में क्या है ? यदि यों कहो, तो कहते हैं कि 'निहत' वह तो मारा गया, कार्य होने के पीछे कहना व्यर्थ ही है, इससे कहना चाहिये कि अच्छा नहीं किया, ऐसा भी नहीं कहा यों सूचित होता है, वहाँ कारण है कि रुक्मिणी के स्नेह टूटने के भय से शान्ति धारण कर ली, भक्ता होते हुए भी, माया की कार्य रूपा अविद्या है, यों उत्पत्ति के विचार से स्नेह मङ्ग की सम्भावना होती है, इस कारण से शरणागत जैसी हो मुझे भी वंसा ही



होना चाहिये, यों ही उचित है, यदि सर्वथा स्नेह टूट जावे तो भक्ति मार्ग ही नाश हो जावे, यह भय था, मार्ग नष्ट हो जावे तो भी ईश्वर को कौनसा भय है ! यदि यों कहो तो कहते हैं, 'हरिः' वे ही सर्व के दुःख हर्ता है, मार्ग नष्ट हो जाने से सर्व का दुःख नष्ट न होगा, इस कारण से भय था, अच्छा नहीं किया, यों भी न कहने का कारण यह था कि बलरामजी के स्नेह टूटने का भय था, यदि उनका स्नेह टूट जावे तो अवतार का प्रयोजन ही न रहे, भगवान् से भिन्न अन्य धर्म की प्रवृत्ति हो जावे, इस प्रकार स्नेह भङ्ग का सम्भव है, केवल शक्ति विभक्त है स्वरूपत्व तो एक है ॥३६॥

आभास—उभयोर्विनियोगमुक्त्वा, त्रिषूत्साहरहितेषु सत्सु शिष्टानां कृत्यमाह ततोऽनिरुद्धमिति ।

आभासार्थ—दोनों का विनियोग कह कर तीन उत्साह रहित हो गये शिष्टों का कृत्य 'ततोऽनिरुद्ध' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—ततोऽनिरुद्धं सह सूर्यया वरं रथं समारोप्य ययुः कुशस्थलीम् ।

रामादयो भोजकटादृशार्हाः सिद्धाखिलार्था मधुसूदनाश्रयाः ॥४०॥

श्लोकार्थ—नवीन बहू के साथ अनिरुद्ध वर को रथ में बिठाकर राम आदि यादव, मधुसूदन के आश्रय से सर्व कार्य सिद्ध कर भोजकट से कुशस्थली को गए ॥४०॥

सुबोधिनी—तदीयानां प्रतिबन्धनिवृत्तये रामः पुनरादित्वेन गृहीतो वरयात्रिकाणाम् । सूर्यया नवोदया सह । रथं समारोप्येति दुःखितत्वात् बलात् समारोपणमुक्तम् । मातामहः पितामहो मारित इति । कुशस्थलीमिति प्रदेशस्य विषमत्वं सूचितम् । दशार्हा यादवविशेषाः । तां

दशमर्हन्तीति । शिष्टानामुभयमपीष्टमित्याह सिद्धाखिलार्था इति । शत्रुमरणमिष्टप्राप्तिश्च अखिलार्थाः । तथात्वे हेतुः मधुसूदनाश्रया इति । एवं धर्मप्रस्तावे अनिरुद्धो धर्मरक्षक इति तत्कथायां दुष्टनिवारणमुक्तम् । ४० ।

व्याख्यानार्थ—तदीयों के प्रतिबन्ध निवृत्ति के लिये, बरातियों में श्री बलदेवजी को अगुवा बनाया, 'सूर्यया' शब्द का भावार्थ नवीन बहू के साथ, दुःखी होने से बल पूर्वक बहू को रथ में बिठाया, क्योंकि दुःखित थी ! इस पर कहते हैं, कि नाना 'कुशस्थली' पद से बताया कि वह प्रदेश विषम (ऊँचा नीचा) है दशार्ह पद से यादव विशेष कहे हैं, उस दशा के योग्य हैं, शिष्ट अर्थात् सदाचारियों को दोनों कार्य इष्ट हैं, सम्पूर्ण अर्थ सिद्ध हो गये, जैसे कि शत्रु मारा गया, और इष्ट की प्राप्ति हुई अर्थात् दुलहिन मिल गई, यों दोनों में कारण भगवान् का आश्रय है, धर्म प्रस्ताव में धर्म रक्षक अनिरुद्धजी हैं, इसलिये उनकी कथा से दुष्ट का निवारण कहा है ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे द्वादशमोऽध्यायः ॥१२॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध (उत्तरार्ध) ५८वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभभाचार्य-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-फल

अवान्तर प्रकरण का पाँचवाँ अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६२वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ५९वाँ अध्याय

उत्तरार्ध का १३वाँ अध्याय

राजस-फल-अवान्तर प्रकरण

“४४१ अध्याय”

ऊषा - अनिरुद्ध - मिलन



कारिका—निरोधे राजसफले देवानां विजयः स्फुटः ।

निरूप्यते यतो रुद्धाः नान्य सम्भावयन्ति हि ॥१॥

कारिकार्थ—भागवत् के राजस फल प्रकरण में देवों की विशेष जय प्रकट, निरूपण की जाती है; क्योंकि जो विरुद्ध हैं, वे अन्य का ध्यान नहीं रखते हैं ॥१॥

कारिका—त्रयोदशे ततोऽध्याये हेतुस्तस्य निरूप्यते ।

अनिरुद्धप्रसङ्गेन धर्मः सिध्यति तेन हि ॥२॥

कारिकार्थ—पश्चात् उत्तरार्ध के तेरहवें अध्याय में उसका कारण कहा जाता है, उस अनिरुद्ध के प्रसङ्ग से निश्चय धर्म सिद्ध होता है ॥२॥



कारिका—सर्वथाप्युपकारित्वात्सर्वतो भयशङ्कया ।

परमानन्दरूपत्वात्सफलो राजसः स्मृतः ॥३॥

कारिकार्थ—सर्व प्रकार से उपकारी होने से, सब तरफ से भय की शङ्का होने पर भी परमानन्द रूप होने के कारण राजस सफल हुआ ॥३॥

कारिका—अनिरुद्धो निरोद्धव्यो निरुद्धो येन केनचित् ।

तन्मूलाः सर्व एवैते विनिरुद्धा भवन्ति हि ॥४॥

कारिकार्थ—जिस किसी से निरुद्ध हुआ, अनिरुद्ध भगवान् को अपने में निरुद्ध करना ही चाहिए; कारण कि मन का आधिदेव होने से भक्तों की इन्द्रियादि सबकी जड़ अनिरुद्ध है, जिससे अनिरुद्ध का भगवान् में निरोध हो जाने से, अब इन्द्रियादि का भी निरोध स्वतः भगवान् में ही हो जाएगा ॥४॥

—: इति कारिका सम्पूर्ण :—

श्रामास—सर्वदेवजयार्थं प्रथममनिरुद्धस्य बन्धनं निरूप्यते । निरुद्ध मनः सर्वहेतु-
र्भवतीति । तत्रानिरुद्धबन्धनं कालेनैवेति उषोपाख्यानमुच्यते । कालेऽपि विषयवैचित्र्ये
हेतुरिति चित्रलेखा नेत्री ।

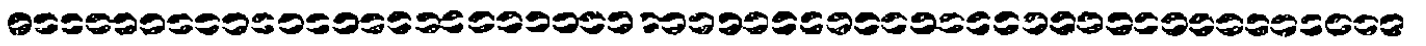
श्रामासार्थ—सर्व देवों की जय के लिए प्रथम अनिरुद्ध के बन्धन का निरूपण किया जाता है, निरुद्ध मन सर्व के निरोध का कारण होता है, वहाँ अनिरुद्ध का बन्धन काले के सेवक दैत्य, काल रूप होते हैं, अतः दैत्य की पुत्री उषा कालरूप है, इससे उषा से अनिरुद्ध का बन्धन काले का ही बन्धन कहा है, इसलिये उषा की कथा कहते हैं, काल में भी विषय विचित्रता कारण है, जिसके होने पर मन का बन्धन अच्छी तरह होता है यों यहाँ चित्रलेखा चलानेहारी है—

कारिका—स्वप्नेऽपि चेत्प्रसङ्गः स्याद्बद्धो भवति मानवः ।

अन्येन वा तथा ज्ञातः किमु साक्षात्तथाविधः ॥१॥

कारिकार्थ—यदि स्वप्न में भी कालोपासक असत्य दैत्यों से सम्बन्ध हो जावे, तो मनुष्य बन्धन में आ जाता है अथवा अन्य से वैसा जाना जाय तो भी बद्ध हो जाता है, तब साक्षात् सम्बन्ध होने पर बन्धन होवे, इसमें कहना ही क्या है ! ॥१॥

श्रामास—प्रथममनिरुद्धबन्धनहेतुसम्बन्धनिरूपकनयनार्थं प्रस्तावनामाह बाणः पुत्र-
शतज्येष्ठ इति सप्तदशभिः ।



आभासार्थ— प्रथम अनिरुद्ध के बन्धन-का हेतु जो उषा है और उसके निश्चयात्मक सम्बन्ध की निरूपिका चित्रलेखा है जिसकी 'बाणा पुत्रशत' श्लोक से सत्रह श्लोकों से प्रस्तावना कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—बाणः पुत्रशतज्येष्ठो बलेरासीन्महात्मनः ।

सहस्रबाहुर्वाद्येन ताण्डवेऽतोषयन्मृडम् ॥१॥

श्लोकार्थ—महात्मा बली राजा के सौ पुत्रों में बड़ा पुत्र बाणासुर था, जिसने ताण्डव क्रीड़ा के समय वाद्य से महादेव को प्रसन्न किया था, उनकी कृपा से सहस्र-बाहु हुआ था ॥१॥

सुबोधिनी— पुत्राणां शतमध्ये ज्येष्ठ आसीत् । भगवता स बद्ध इति तन्निष्कृतिसूचनार्थं भगवदं-
शोऽनिरुद्धः तत्पुत्रेण बद्ध इति सूचयितुं बलेः
पुत्रत्वं निरूप्यते । ननु तेनैव कथं न बध्यते,
तत्राह महात्मन इति । स हि महात्मा नाप-
करोति । पुत्रशतज्येष्ठ इति तत्कृतं पितृकृतमेवेति
ज्ञापयति । बलेरिवास्यापि बन्धशङ्कापि व्याव-
र्त्यते, पाष्णिग्राहा बहवः सन्तीति । तथापि भग-

वता सह विरोधे न सामर्थ्यं भवतीति तस्य महा-
देवोपासनमाह सहस्रबाहुरिति । सहस्रबाहुत्वं च
तत्कृपयैव । तेन बहुधा लब्धप्रसादः महादेवात् स
इति सूचितम् । ताण्डवे उत्साहवृद्धयर्थं वाद्यभूय-
स्त्वमपेक्ष्यते । तत्र बहुभिर्वादिने व्यधिकरणप्रय-
त्नानां समता न भवतीति । एकेन बहुवाद्यकरणं
तोषहेतुर्भवतीति, सहस्रबाहुभिर्वाद्यैः ताण्डवे
मृडमतोषयत् ॥१॥

व्याख्यानार्थ— बलि राजा के सौ पुत्रों में यह बाणासुर बड़ा था, यहाँ केवल बाणासुर नाम न देकर बलि का पुत्र कहा जिसका आशय है, कि भगवान् ने बलि को बान्धा था, उसके बंदला लेने को सूचना के लिए भगवान् के अंश अनिरुद्ध को उसके पुत्र ने बांधा है । बलि स्वयं ने क्यों नहीं बान्धा ? इसके उत्तर में कहा है कि वे महात्मा थे, महात्मा अपकार नहीं करते हैं, बड़ा पुत्र जो करता है वह पिता का किया हुआ है, यों जनाता है, बलि की तरह भगवान् इसको बान्ध देंगे यह शङ्का भी मिटा देने के लिए कहते हैं कि, पीछे रहने वाले के शत्रु बहुत हैं, तो भी भगवान् के साथ विरोध करने में सामर्थ्य नहीं है, इसलिए उसकी महादेव की उपासना कहते हैं, सहस्रबाहु महादेवजी की कृपा से ही हुआ है, उसने महादेव से बहुत प्रकार अनुग्रह प्राप्त किया है, यों सूचन किया, ताण्डव क्रीड़ा के समय उत्साह बढ़ाने के लिये अनेक वाद्यों की अपेक्षा होती है, वहाँ यदि बजाने वाले बहुत हो तो सब की समानता हो नहीं सकती है, एक ही बहुत वाद्य की किया करे तो वह प्रसन्नता का कारण बनता है, बाणासुर एक ने ही बहुत वाद्यों से ताण्डव नृत्य में महादेव को प्रसन्न किया था ॥१॥

आभास—तुष्टस्य कृत्यमाह भगवानिति ।

आभासार्थ— प्रसन्न हुए महादेव ने जो किया वह 'भगवान्' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—भगवान् सर्वभूतेशः शरण्यो भक्तवत्सलः ।

वरेण छन्दयामास स तं वरे पुराधिपम् ॥२॥



श्लोकार्थ—सर्व भूतों के स्वामी शरण देने वाले भक्तवत्सल भगवान् महादेव ने वर लेने को कहा, जिससे उसने यह वर माँगा कि आप मेरे पुर के पालक बनो ॥२॥

सुबोधिनी - वरदानसामर्थ्यं भगवच्छब्देनोक्तम् । तद्वत्तं कोऽप्यन्यथा न करिष्यतीति सूचयितुमाह सर्वभूतेश इति । सर्वनियामकः । स एव भूतश्चेत् शरीरसम्बन्धेन जातः साहङ्कारः, तदावश्यमहङ्कारनियामकवश्यो भवति । अहङ्कारे सात्त्विकादिव्युदासं मत्वा आह सर्वेति । सामर्थ्यप्रतिधातो निरूप्य दातृस्वभावं निरूपयति शरण्य इति । शरणार्हः स एव भवति, यः प्रपन्नदुःखनिवारकः । तथाप्युचितदाता चेत् परिमितमेव यच्छेदिति, विशेषदानार्थमाह भक्तवत्सल इति ।

यथा वत्सला गौरन्तःस्थितमपि दुग्धं तल्लोभेनान्येभ्योऽपि यच्छति, तथा भगवान् भक्तेभ्यः अदेयमपि यच्छतीति 'वरं ब्रूही'ति छन्दयामास । छन्दनं कामचारनियोगः । ततः स गुह्यं चिकीर्षुर्बाणः सर्वत्र स्वयं गच्छन् शत्रुबाहुत्यादगृहरक्षार्थं चिन्ताकुलितः तं महादेवं पुराधिपं पुररक्षकं वव्रे । अनेन तस्य पुरस्य सर्वाभेद्यता निरूपिता । तेन देवादीनामपि तत्र प्रतीकारो निवर्तितः ॥२॥

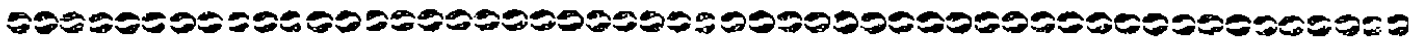
व्याख्यानार्थ— 'भगवान्' पद से यह बताया कि आप में वर देने की सामर्थ्य है । वर जो आपने दिया है, उसको अन्यथा कोई नहीं कर सकता है, इसलिये आपको 'सर्वभूतेशः' सबके नियामक कहा है । यदि केवल भूत कहा हो, तो शरीर से सम्बन्ध होने से उत्पन्न अहङ्कारी हो, तब अवश्य अहङ्कार के नियामक के आधीन हो जाते, अहङ्कार सात्त्विक आदि का निराकरण समझ कर 'सर्व' शब्द दिया है, सामर्थ्य और आपके किये का कोई भी प्रतिधान नहीं कर सकता है । ये दोनों निरूपण कर अब आपका दान देने का स्वभाव निरूपण करते हैं कि आप 'शरण्य' हैं, शरण लेने के योग्य वह होता है जो शरण आये हुवे के दुःख को मिटा देवे, ऐसा हो फिर भी वह तो उचित दाता होने से परिमित ही देगा, इस पर कहते हैं कि आप तो भक्तवत्सल हैं जिस कारण से आप गौ की भाँति विशेष दानी हैं, जैसे गौ बछड़े को दूध पिलाने के लिए अन्तःस्थित दूध को निकाल दूसरों को भी दे देती है, वैसे ही आप भक्तों को जो नहीं दिया जा सकता है वह भी दे देते हैं, इसलिये कहा कि जो चाहिये सो माँग ले, यों सुनकर, गुप्त करने की इच्छा वाला, वह बाण बहुत शत्रु होने के कारण, स्वयं सब जगह जाता था, अतः अपने घर की रक्षा की चिन्ता से व्याकुल था, इसलिये महादेवजी से अपने घर की रक्षा के लिये उनको ही माँगा अर्थात् मेरे घर की पालना रक्षा आप करते रहो, इससे यह निश्चय हुआ कि उसके घर को कोई तोड़ न सकेगा इससे देवादि भी उसका प्रतीकार करने में समर्थ न रहें ॥२॥

आभास—तर्हि तादृशस्य कथं नाश इत्याशङ्क्य, तस्यैव क्रोधेनेति वक्तुं प्रसङ्गान्तरमाह स एकदेति षड्भिः ।

आभासार्थ— तब ऐसे का नाश कैसे ? इसका उत्तर देते हैं कि उसके ही क्रोध से यह कहने के लिए दूसरा प्रसंग 'स एकदाह' श्लोक से १२ श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—स एकदाह गिरिशं पार्श्वस्थं वीर्यदुर्मदः ।

किरीटेनार्कवर्णेन संस्पृशंस्तत्पदाम्बुजम् ॥३॥



नमस्ये त्वां महादेव लोकानां गुरुमोश्वरम् ।

पु सामपूर्णकामानां कामपूरामराङ्घ्रिपम् ॥४॥

श्लोकार्थ—एक समय पराक्रम के कारण मदोन्मत्त बना हुआ बाणासुर पासमें स्थित महादेवजी के चरण कमल को अपने सूर्य समान तेज वाले मुकुट से स्पर्श करता हुआ उनको कहने लगा, हे लोकों के गुरु ! ईश्वर ! महादेव ! मैं आपको नमन करता हूँ; आप जिनकी कामनाएँ पूर्ण नहीं हुई हैं, उनकी कामनाओं को कल्पवृक्ष की तरह पूर्ण करते हैं ॥३-४॥

सुबोधिनी—गिरिशो महादेवः, तत्रैव गिरौ शेते इति निरन्तरस्थित्या धाष्ट्यं सूचितम् । पार्श्वस्थमिति तत्रापि भक्तकृपया तस्यैव पार्श्वं वर्तमानम्, तेन सुतरामेव तस्य स्मयः । वीर्यस्य दुष्टो मदो यस्य । उपजीव्यातिक्रमकर्ता । वीर्य-स्मयेन विवेकरहितस्य कृत्यमाह किरीटेनाकंवर्णेनेति । विनीतो हि मुकुटोष्णीषादिकं स्थापयित्वा साष्टाङ्गं प्रणतः विज्ञापयेत् । अयं तु किरीटमेव परिधाय, तत्राप्यग्निवर्णं स्पर्शस्त्यन्त-पुरुषम्, तेन चरणाम्बुजमतिकोमलं स्पृशन् आह नमस्ये इति । स्तोति । वाचा नमस्कारो वा ।

महादेवेति न त्वत्सदृशोऽन्योऽस्ति, य उपास्यः स्यादिति । लोकानां गुरुमिति । उपदेष्टा फलदाता च भवानेवेति साधनफलरूपत्वं निरूपितम् । तेन त्वमेव प्रार्थनीयः, न त्वन्य इति प्रार्थनायां हेतु-रुक्तः । किञ्च । प्रार्थितं सर्वमयुक्तमपि प्रयच्छति । नापि यत्किञ्चित्प्रार्थनायामपि क्रोध मन्यत इति दृष्टान्तमिवाह पुं सामपूर्णकामानामिति । देवता-न्तरतपःप्रभृतिसाधनैः यदा कामना न सिद्धा भवन्ति, तेषां सर्वोपायपरिभ्रष्टानामाश्रयमात्रेण सर्वपूरकममराङ्घ्रिपवत् कल्पवृक्षवत् कामपूरः अमराङ्घ्रिपः यः ॥४॥

व्याख्यानार्थ— गिरिश महादेव का नाम है, क्योंकि वहाँ पर्वत पर ही सोते हैं, इस प्रकार निरन्तर स्थिति से धृष्टता सूचित की है । महादेवजी पास में ही स्थित थे, जिससे जताया कि इस पर महादेवजी की कृपा थी अतः आप इसके ही पास में रहते थे इस कारण से उसको बहुत ही गर्व हो गया, पराक्रम का मद, दुष्ट होता है, जिससे आश्रय का भी अतिक्रम होता है । पराक्रम से उत्पन्न अहङ्कार से विवेकहीन बने हुये का कार्य कहते हैं, जो अहङ्कारी नहीं है, नम्रतावाला है वह तो मुकुट और पाग आदि कहीं धर कर पश्चात् साष्टाङ्ग प्रणाम कर प्रार्थना करता है इसने तो अग्नि सम स्पर्श से जलाने वाले मुकुट को धारण कर ही कोमल चरण कमल का स्पर्श कर बाद में कहने लगा कि मैं नमन करता हूँ व वाणी से स्तुति करता हुआ नमस्कार करता है, हे महादेव ! इस सम्बोधन से यह आशय प्रकट किया है, कि आप जैसा दूसरा कोई नहीं जिसकी उपासना की जावे "लोकानां गुरु" इस विशेषण से जताया कि उपदेश करने वाले तथा फल देते वाले आप ही हैं इस प्रकार कहने से सिद्ध किया कि साधन और फल रूप आप ही हैं, इसलिए आप ही प्रार्थना करने के योग्य हैं न कि कोई दूसरा । प्रार्थना करने में यह हेतु है, प्रार्थना में अयुक्त भी माँगा जाय तो वह भी देते हो, जो कुछ माँगा जाय तो भी क्रोध नहीं करते हो इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जिनकी अन्य देवताओं से तप आदि साधनों के करने पर भी, यदि कामनाएँ पूर्ण नहीं होती, वैसे निराश बने हुए शरणागतों की शरणमात्र से सब कामनाएँ कल्पवृक्ष की तरह पूर्ण करने वाले हो ॥३-४॥



आभास—एवं प्रार्थितार्थसिद्धयर्थं व्याजेन युद्धं याचते दोःसहस्रं त्वया दत्तमिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार प्रार्थित अर्थ की सिद्धि के लिये कपट से 'दोः सहस्र' श्लोक से युद्ध माँगता है ।

श्लोक—दोःसहस्रं त्वया दत्तं परं भाराय मेऽभवत् ।

त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारं न लेभे त्वदृते समम् ॥५॥

श्लोकार्थ—आपने मुझे हजार भुजाएँ दी, वे अब भाररूप हो रही हैं; क्योंकि त्रिलोकी में आपके सिवाय मेरे साथ लड़ने वाला कोई नहीं देखता हूँ ॥५॥

सुबोधिनी—क्रियाशक्तिबाहुत्वार्थं सहस्रं बाह्वो दत्ताः । ते निविषयाः सार्थका न भवन्ति विषयस्तु समानेनाधिकेन वा सङ्ग्रामः, तदभावात् भाराय परमभवत् । यथा शीताभावे वस्त्राणि भारायन्ते, युद्धाभावे वा शस्त्राणि । वीर्यार्थं प्रकटयति त्रिलोक्यां प्रतियोद्धारमिति । तर्हि शशशृ-

ङ्गाभावे किं चक्षुः निष्फलं तद्वद्विद्यमानैरेव यथा-योग्यं क्रियतामित्याशङ्क्य, समेनैव युद्धं कर्तव्यमिति समस्य तव विद्यमानत्वात्त्वदृते अन्यं समं न लेभे । अनेन भगवान् अस्ति, परं स न इन्द्रियविषय इति न लेभ इत्युक्तम् ॥५॥

व्याख्यार्थ— क्रिया शक्ति की विशेषताके लिये हजार भुजाएँ जो दी, वे अब कार्य न मिलने से निरर्थक हो रही हैं, कार्य तो यह है, कि किसी से भी युद्ध हो वह छोटा हो चाहे बड़ा होवे, उनके न होने से यह भुजाएँ भाररूप ही हैं, जैसे ठंड के अभाव में वस्त्र भाररूप लगते हैं वैसे ही युद्ध के अभाव में शस्त्र भाररूप हैं, यदि कहो कि शान्त क्यों हो लड़ो, खरगोश के सींग नहीं इसलिये चक्षु निष्फल नहीं होते हैं अतः जो विद्यमान हैं उनसे लड़ो जिसके उत्तर में कहता है कि समान से ही लड़ाई की जाती है, तीन लोक में आपके सिवाय कोई मेरे साथ लड़ने योग्य नहीं मिला है, जिससे मैं लड़ूँ 'न लेभे' पद कहने का आशय है कि आप तो भगवान् हैं अतः इन्द्रियों से देखते ही नहीं हो इसलिये कहा है कि 'न लेभे' नहीं मिला है ॥५॥

आभास—तर्हि मास्तु, सुप्यतामित्याशङ्क्येह कण्डूत्येति ।

आभासार्थ— जो कोई नहीं मिला है तो सो रहो अर्थात् शान्त रहो इसका उत्तर 'कण्डूत्या' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—कण्डूत्या निभृतेर्दोभिर्युत्सुदिग्गजानहम् ।

अन्वयां चूर्णयन्नद्वीन् भीतास्तेऽपि प्रदुद्रुवुः ॥६॥



श्लोकार्थ — मेरी भुजाओं में खुजली होने लगी, तब उसको मिटाने के लिए मैं दिग्गजों से लड़ने के लिए पर्वतों को चूर्ण करता हुआ उनके पास गया, डर के मारे वे भी भाग गए ॥६॥

सुबोधिनी—निभृताः पूर्णाः, अतः स्थातुम-
शक्ताः । तर्हि युद्धाभावे अन्य एव काश्चित् कण्डू-
तिनिवृत्त्यर्थमुपायः क्रियतामित्याशङ्क्य, दिग्ग-
जानहं युयुत्सुः चूर्णयन्नन्दीन् अन्वयाम् । पर्वता

अपि चूर्णीकृताः । दिग्गजा अपि युद्धार्थमन्विष्टाः ।
बलमुभयथा क्षीणं भवति, शौर्यरूपं युद्धेन, बल-
रूपं पराक्रमेण, तत्राचेतनाश्चूर्णीभूताः, चेतना-
स्तु पलायिता इति वयमर्थमेव जातमित्यर्थः ॥६॥

व्याख्यान — मेरी भुजाएँ पूर्ण बल युक्त होने से युद्ध के सिवाय रह नहीं सकती हैं, यदि यों है तो युद्ध के अभाव में दूसरा कोई मार्ग खुजली मिटाने के लिये ग्रहण कर, जिसके उत्तर में कहता हूँ कि मैं दिग्गजों से लड़ने के लिये पर्वतों को चूर्ण करता हुआ उनके वहाँ गया, पर्वतों को भी चूर्ण कर छोड़ा, युद्ध के लिये दिग्गज भी गतिहीन देखे, दोनों प्रकार बल क्षीण होता है, शौर्य रूप युद्ध से पराक्रम से बलरूप वहाँ, अचेतन पर्वत चूर्ण हो गये, और चेतन दिग्गज भाग गये, इस प्रकार सर्व व्यर्थ हो गया क्योंकि खुजली मिटी नहीं ॥६॥

आभास—एवं गर्वां श्रुत्वा क्रुद्धो भगवानित्याह तच्छ्रुत्वेति ।

आभासार्थ— इस प्रकार के अहङ्कार युक्त वचन सुनकर भगवान् महादेव को क्रोध उत्पन्न हुआ, जिसका वर्णन 'तच्छ्रुत्वा' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—तच्छ्रुत्वा भगवान्क्रुद्धः केतुस्ते भज्यते यदा ।

त्वद्दर्पघ्नं मवेन्मूढ संयुगं मत्समेव ते ॥७॥

श्लोकार्थ—ये वचन सुनकर महादेवजी क्रोधित हो कहने लगे कि जब तेरी ध्वजा टूट जाय, तब हे मूर्ख ! समझ लेना कि तेरे गर्व को नाश करने वाले भगवान् से तेरा युद्ध होगा, वे भगवान् मेरे समान हैं; क्योंकि जो सर्व समान हैं, वे महादेव के समान भी हैं ॥७॥

सुबोधिनी—भगवान् सर्वज्ञः महादेवः क्रुद्धः
आहेति पूर्वोक्तैव क्रिया अनुवर्तनीया । यदा ते
केतुः भज्यते, तदेव तवाभिज्ञापकं युद्धप्राप्ती ।
केतुर्ध्वजः वंशस्य । कन्या जारोपभुक्ता भग्नकेतु-

रुच्यते । अकस्माद्रसस्थे तस्मिन् केतुभङ्गश्च ।
तदा त्वद्दर्पघ्नं त्वद्दर्पहननार्थमेव संयुगं मत्समेव
भगवता भविष्यति । मया समः भगवान् । सर्वसम
इति महादेवेनापि समः ॥७॥

व्याख्यान— सर्वज्ञ भगवान् महादेव क्रोधित हो कहने लगे — इस श्लोक में क्रिया नहीं है अतः "आह" यह क्रिया पहले दी हुई है, वह ले लेनी — जब तेरी ध्वजा टूटे, समझ लेना कि अब

तेरे साथ युद्ध करने वाले मेरे समान प्रादुर्भूत हो गये हैं, जिसका चिन्ह ध्वजा टूटना है, वह ध्वजा वंश की है, अर्थात् जिस वंश की कन्या का जार उपभोग कर लेता है, उस वंश को कहते हैं, इसको ध्वजा टूट गई अर्थात् इस कुल की मान-मर्यादा नष्ट हो गई। अचानक उसके रस में स्थित होने पर केतु का भङ्ग होता है—तब तेरे साथ युद्ध कर तुम्हारा गर्व भंग करने वाले, तेरे अहङ्कार को मिटाने के लिये ही मेरे समान भगवान् से तेरा युद्ध होगा, मेरे समान भगवान् ही हैं, जो भगवान् सर्व के समान हैं वह महादेवजी के समान भी हैं। ७।

आभास—एवं युद्धसम्भवमाकर्ण्य प्रोतो जात इत्याह इत्युक्त इति ।

आभासार्थ— इस प्रकार युद्ध का होना सुनकर प्रसन्न हुआ, यह इत्युक्तः' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—इत्युक्तः कुमतिर्हृष्टः स्वगृहं प्राविशन्नृप ।

प्रतीक्षन् गिरिशादेशं स्ववीर्यनशनं कुधीः ॥८॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! महादेवजी ने जब ऐसा कहा, तब वह कुबुद्धि प्रसन्न हो अपने घर गया, दुर्बुद्धि वह अपने पराक्रम के नाशकारक, महादेव के आदेश की प्रतीक्षा (इन्तजार) करने लगा ॥८॥

सुबोधिनी—महादेवेनैवमुक्तः हृष्टो जातः, यतः कुमतिः । तस्य महादेववाक्ये विश्वासमाह स्वगृहं प्राविशदिति । स्वयमुद्यममकृत्वा स्वगृहं

प्रविष्टः गिरिशादेशं प्रतीक्षन् आस्ते । यद्यपि स आदेशः स्ववीर्यनाशकः, तथापि कुधीः ॥८॥

व्याख्यान— महादेवजी ने यों कहा तो प्रसन्न हुआ, क्योंकि कुमति था, महादेवजी के वचनों में श्रद्धा होने से प्रसन्न हो घर को चला गया, अपना कोई उद्यम न करने लगा, केवल महादेवजी की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगा, यद्यपि वह आज्ञा अपने वीर्य को नाश करने वाली थी, तो भी प्रतीक्षा करने लगा, कारण कि पाप बुद्धि था ॥८॥

आभास—तस्य केतुभङ्गप्रकारमाह तस्योषा नाम दुहितेति ।

आभासार्थ— उसके केतु भङ्ग का प्रकार 'तस्योषा नाम दुहिता' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—तस्योषा नाम दुहिता स्वप्ने प्राद्युम्निना रतिम् ।

कन्यालभत कात्तेन प्रागदृष्टश्रुतेन च ॥९॥

श्लोकार्थ— उसकी उषा नाम पुत्री थी, जिसने कुआरी अवस्था में ही, पहले नहीं देखे और न सुने प्रद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध के साथ स्वप्न में रति को प्राप्त किया ॥९॥

सुबोधिनी—अत्र पुराणान्तरे उषा पत्यर्थं पार्वतीं प्रार्थितवती । ततः सा तुष्टा अद्य यः स्वप्ने त्वां भजिष्यति स तव पतिरिति पार्वत्योक्ता, आधिदैविकः प्राद्युम्निरूपो भगवान् स्वप्नसृष्टौ मायिक्यां तामालिङ्ग्य, स्वभाव तत्र स्थापितवान् । ततः सा वस्तुत आधिदैविकेन प्राद्युम्निना

रतिमलभत । कन्याया रतिक्रतुभङ्गहेतुर्भवति । मनोरथमात्रं निवारयति कान्तेनेति । तद्भि भावनयं न मनोरथतुल्य स्वप्नः तथा जात इत्याशङ्क्याह प्रागदृष्टश्रुतेनेति । प्राक् ततः स्वप्नात्पूर्वं न दृष्टः श्रुता वा कदाचिदपि तथा । वं निश्चयेनेति दैवोपपत्तिरुक्ता ॥६॥

व्याख्यार्थ— इस प्रसंग में अन्य पुराण में कथा है, कि उषा ने पति प्राप्ति के लिये पार्वती को प्रार्थना की, वह प्रसन्न हो के उषा को कहने लगी कि आज जो स्वप्न में तुझ भजेगा वह तेरा पति होगा । आधिदैविक अनिरुद्ध रूप भगवान् ने स्वप्न सृष्टि में मायिकी उसको आलिङ्गन कर उसमें अपना भाव स्थापित किया अनन्तर उसने वास्तविक आधिदैविक अनिरुद्ध के साथ रति को प्राप्त किया । कुआरी का किसी से रतिक्रीड़ा करना प्रतिव्रत्य व्रत के भङ्ग का कारण होता है रतिक्रीड़ा हुई न होगी, केवल भावना हुई होगी, इस शंका को मिटाते हुए कहते हैं, कि नहीं केवल भावना नहीं किन्तु वास्तव में रति क्रीड़ा की, क्योंकि 'कान्तेन' जिससे क्रीड़ा की, वह कान्त था । तब तो भावना से ही मनोरथ के समान वंसा स्वप्न हुआ, इस शङ्का का निवारण करते हुए कहने हैं कि, स्वप्न से पहले उसको न देखा था और न सुना था कि ऐसा है कि वैसा है, जिससे कि भावना हो सके, इसलिए यह भावना आदि नहीं थी किन्तु निश्चय से दैव ही उचित कारण था ॥६॥

श्लोक— सा तत्र तमपश्यन्ती क्वासि कान्तेति वादिनी ।

सखीनां मध्य उत्तस्थौ विह्वला व्रीडिता भृशम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—वह वहाँ उसको न देख कहने लगी कि हे कान्त कहाँ हो ? सखियों के बीच खड़ी रही विह्वल होने से बहुत लज्जित होने लगी ॥१०॥

सुबोधिनी—ततस्तस्या व्रतसमाप्तिं कृत्वा गते, स्वप्नान्ते उत्थिता, तत्र शय्यायां स्वप्नस्य समानदेशे तमनिरुद्धमपश्यन्ती, 'क्वासि कान्ते'ति भाषन्ती, सखीनां मध्ये उत्तस्थौ । सा हि परितः

सख्यो मध्ये शेते । गुप्तं सखीषु अन्वेषयन्तीव सा उत्थिता । उत्थिताया अप्युपभोगलक्षणमाह विह्वलेति । अन्तर्व्रीडिता । भृशमत्यर्थं स्थावस्थां स्मृत्वा ॥१०॥

व्याख्यार्थ— पश्चात् उसकी व्रत समाप्ति कर अनिरुद्ध के जाने पर स्वप्न पूर्ण हुआ तब वह जगी, वहाँ शय्या पर स्वप्न वाले स्थान पर उस अनिरुद्ध को न देख हे कान्त ! कहाँ गए, यों कहने लगी, सखियों के मध्य में ही जगी थी, कारण कि चारों तरफ सखियाँ सोती थीं और बीच में वह सोती थी चुपचाप मानो गुप्त रीति से दूँढ़ती हो, वैसे कहती थी हे कान्त ! कहाँ गये, सोने के बाद जगने के समय, भी इसके लक्षणों से मालूम होता था कि इसका अब भोग हुआ अर्थात् उपभुक्ता है, इसलिए कहा है कि 'विह्वला' घबराई हुई दिखती थी, और लज्जायुक्त सी अर्थात् भीतर लज्जा होने से शर्मिन्दा हो रही थी 'भृशम्' पद से कहा है कि अपनी अवस्था को याद कर हृदय में बहुत लज्जित हो रही थी ॥१०॥



आभास—पूर्वमेव पार्वत्या चित्रलेखा नाम योगिनी तस्याः सखी निष्पादिता, यया तस्या मनोरथः सर्वोऽपि सिद्धो भवति । यद्यप्यन्या अपि जिज्ञासां कृतवत्यः, तथापि सा प्रयोजिकेति चित्रलेखाया उपाख्यानमुच्यते बाणस्य मन्त्रीति ।

आभासार्थ— पार्वतीजी ने प्रथम ही 'चित्रलेखा' नामवाली योगिनी उसकी सखी बना दी थी जिससे इसका सम्पूर्ण मनोरथ सिद्ध हो जाय, यद्यपि दूसरी भी जानना चाहती थी तो भी वह प्रेरक कर्त्री थी अब चित्र लेखा की कथा कही जाती है 'बाणस्य मन्त्री' इस श्लोक से ॥

श्लोक—बाणस्य मन्त्री कुम्भाण्डश्चित्रलेखा च तत्सुता ।

सख्यपृच्छत्सखीमूषां कौतूहलसमन्विता ॥११॥

श्लोकार्थ—बाण के मन्त्री कुम्भाण्ड की कन्या चित्रलेखा थी, वह उषा की सखी थी, उषा के इस प्रकार के कहने पर जब अचम्भे में पड़ गई, तब उससे पूछने लगी ॥११॥

सुबोधिनी—मन्त्र्यधीनं राज्यमिति स महा- देवेन दत्त इति ज्ञापितम् । कुम्भाण्ड इति नाम । नतु कुम्भाकारावण्डाविति । तस्य दुहिता चित्र- लेखा । चकारादन्या अपि तस्य कन्या उषासख्यः ।	सखी उषायाः । उभयोरन्योन्यसखित्वे न गोप्यं किञ्चिदवशिष्यते वक्तव्ये इति सखीमूषामित्यु- क्तम् । अद्यैव पार्वत्युक्तम्, अद्यैवेयं विह्वलेति कौतुकसमन्विता ॥११॥
---	--

ध्याख्यार्थ— राज्य, मन्त्री के आधीन होता है, वह मन्त्री महादेव ने दिया, जिसका नाम 'कुम्भाण्ड' था न कि कुम्भ के आकार के समान जिसके अण्डे हैं, वैसा होने से उसको कुम्भाण्ड कहते हैं, उसकी पुत्री चित्रलेखा थी; 'च' पद का आशय है कि उसकी दूसरी कन्याएँ भी उसकी सहेलियाँ थीं, किन्तु चित्रलेखा विशेष सखी थी जिससे दोनों का परस्पर प्रेम होने से कुछ मो छिपाया नहीं जा सकता, अतः चित्रलेखा ने सखी उषा से पूछा कि क्या है ? आज ही पार्वती ने कहा, वह हुआ ? यह आज ही घबरा गई है, इसलिए चित्रलेखा अचम्भे में पड़ गई ॥११॥

आभास—तस्या वाक्यमाह कान्तं मृगयस इति ।

आभासार्थ— चित्रलेखा ने जो कहा, वे अक्षर 'कान्तं मृगयसे' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—कान्तं मृगयसे सुभ्रु कीदृशस्ते मनोरथः ।

हस्तग्राहं न तेऽद्यापि राजपुत्र्युपलक्षये ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे सुन्दर भौंहवाली ! तू कान्त को ढूँढ़ रही है, कैसा तेरा मनोरथ

है ? हे राजपुत्री ! अब तक तो तेरा पाणिग्रहण भी नहीं हुआ, फिर यह क्या? ॥१२॥

सुबोधिनी - सुभ्रु इति भ्रूभङ्गादिभावो दृश्यत इति अकन्यात्व तस्या ग्राह । ननु कान्ता-
न्वेषणं युक्तमेवेति चेत्, तत्राह कीदृशस्ते मनोरथ
इति । मनोरथे कृते स्वप्ने तथा दृश्यत इति दृष्ट
एवोपाय इति तं मनोरथमेव पृच्छति । कश्चिन्म-
नोरथो भविष्यतीति चेत्, तत्राह हस्तग्राहमिति
हस्तो गृह्यते अनेनेति हस्तग्राहः पतिः, अस्मि-

न्निति विवाहो वा । अद्यापि ते विवाहं न लक्षये ।
कस्याश्चिद्बाल्य एव विवाहो भवति, पश्चात्
सखीभिः सम्बन्धः, तदापि विवाहो जात इति
लक्ष्यते, विवाहे तु कुलकन्यायाः । तत्र मनोरथो
युक्तो भवति । राजपुत्रीतिपदात् निरोधेन यथे-
च्छया सम्बन्धो निवारितः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—भ्रूभङ्ग आदि भाव से जाना जाता है कि अब इसमें कन्यापन नहीं रहा है, कान्तको ढूँढ़ना तो उचित ही है यदि यों कहो तो कहती है, कि तेरा मनोरथ कैसा है ? जैसा मनोरथ किया जाता है वैसा ही स्वप्न में देखा जाता है अतः उपाय दृष्ट ही हैं । इसलिए उस मनोरथ को पूछती है, कोई मनोरथ होगा यदि यों है तो कहो किन्तु तेरा आज तक किसी ने हाथ नहीं पकड़ा है अर्थात् तेरा विवाह आज तक तो हुआ ही नहीं है, किसी का बचपन में विवाह हो जाता है, अनन्तर सखियों से सम्बन्ध होता है, तो भी विवाह हुआ है, यह समझा जाता है, विवाह हो जाने पर ही कुल की कन्या का उसको प्राप्ति के लिये मनोरथ उचित है । हे राजपुत्री! यों सम्बोधन देने से निरोध से, यथेच्छ से विवाह सम्बन्ध करने का निवारण किया ॥१२॥

आभास—उत्तरमाह दृष्ट इति ।

आभासार्थ—‘दृष्टः’ इस श्लोक से उषा उत्तर देती है ।

श्लोक—उषोवाच-दृष्टः कश्चिन्नरवरः श्यामः कमललोचनः ।

पीतवासा बृहद्बाहुर्योषितां हृदयङ्गमः ॥१३॥

श्लोकार्थ—उषा ने कहा कि मैंने किसी एक श्यामवर्ण, कमललोचन, पीतपट-
पहिने हुए, लम्बी भुजावाले, स्त्रियों के मनों को हरण करने वाले, सुन्दर पुरुष को
देखा, ॥१३॥

सुबोधिनी - कश्चिद्विशेषतो निर्वक्तुमशक्यः ।
नरवरः मनुष्यश्रेष्ठः । सर्वेषामाकृतिभिन्नेति स न
देवः, नापि दैत्यः, अन्यो वा, किन्तु नरश्रेष्ठ एव ।
स्वप्ने कात्स्न्यानिभिव्यक्तिरिति केवलं भ्रमः
स्यात्, तत्प्रकृते नास्तीति आकृतिरूपगुणादीन्

वर्णयति । सर्वलक्षणसम्पन्नरत्वं आकृतिः ।
श्याम इति रूपम् । कमललोचन इति सौन्दर्यम् ।
पीतवासा इति भूषितत्वम् । बृहद्बाहुरिति भोग-
योग्यता । योषितां हृदयङ्गम इति संभोगसाम-
र्थ्यम् ॥१३॥



व्याख्यान्य — कोई विशेष पुरुष देखा जिसका वर्णन करना अशक्य है, वह मनुष्यों में उत्तम था, सर्व की आकृति पृथक्-पृथक् होती है, इस आकृति से जाना गया है कि वह न देव है न कोई दैत्य है और न कोई दूसरा है किन्तु मनुष्यों में ही उत्तम मनुष्य है, स्वप्न में सम्पूर्ण प्राकट्य नहीं होता है इसलिए केवल भ्रम हुआ होगा ? इसका उत्तर देती है कि इस प्रकृत विषय में भ्रम नहीं हुआ है, इसलिये उसकी आकृति, रूप और गुण आदि का वर्णन करती है, सर्व लक्षण युक्त मनुष्यत्व वाला आकार था, श्याम स्वरूप था, कमललोचन होने से रूप भी सुन्दर था, पीत वस्त्र धारण करने से सौन्दर्य प्रकट था, बड़ी भुजा वाला था जिससे उसमें भोग की योग्यता भी थी, स्त्रियों के हृदय को हरण करने वाला था जिससे संभोग की उसमें सामर्थ्य थी ॥१३॥

आभास—ननु दर्शनमात्रेण कथं कान्तत्वम्, तत्राह तमहं मृगये कान्तमिति ।

आभासार्थ — केवल दर्शन होने से ही कान्तपन कैसे ? जिसका उत्तर 'तमहं' 'मृगये' श्लोक में देती हैं ।

श्लोक—तमहं मृगये कान्तं पाययित्वाधरं मधु ।

कापि यातः स्पृहयतीं क्षिप्वा मां वृजिनार्णवे ॥१४॥

श्लोकार्थ—अधर की मधु पिलाकर, उस मधु की इच्छावाली जो मैं हूँ, उसको दुःख समुद्र में फेंककर कहीं भी चला गया, उस कान्त को मैं ढूँढ़ रही हूँ ॥१४॥

सुबोधिनी—स मम कान्तो जातः, अतो मृगये । कथं जात इत्याकाङ्क्षायामाह पाययित्वाधरं मधु इति । अनेन सर्वेऽपि सम्बन्धा निरूपिताः । बहुधा सम्बन्धे हि सामर्थ्यक्षये स्त्रियाः पुरुषाधरपानम् । अनेन बहुकालावस्थानं

सूचितम् । ततः क्वापि यातः, न तु विलीनः, भोगलक्षणानां विद्यमानत्वात् । विशेषसुखमदत्त्वा गत इति युक्तमन्वेषणमिति वक्तुमाह स्पृहयतीं मां वृजिनार्णवे क्षिप्त्वेति । रसेच्छामुत्पाद्य तद-पूरणाददुःखम् ॥१४॥

व्याख्यान्य — वह मेरा पति बन गया इसलिये मैं उसको ढूँढ़ रही हूँ, तेरा पति केवल देखने से कैसे बना ? जिसका उत्तर देती है कि उसने मुझे अधरामृत पिलाया, यों कहने से सब प्रकार के सम्बन्ध हुए यों बताया है प्रायः जब सम्बन्ध करते हुए सामर्थ्य क्षय होती है, तब स्त्री पुरुष का अधर पान करती है, जब तक सामर्थ्य क्षय नहीं होती है, तब तक स्त्री को सम्बन्ध की इच्छा बनी रहती है, इससे यह बताया कि केवल दर्शन नहीं हुवा है किन्तु बहुत समय वह ठहरे हैं जिससे सम्बन्ध हुवा है, अधरामृत पिलाते के बाद, कहीं ही चला गया न कि विलीन हो गया क्योंकि अब भी भोग के लक्षण विद्यमान हैं, स्वल्प सुख देकर चला गया इसलिए विशेष सुख लेने के लिए उसको ढूँढ़ना उचित ही है, यों कहने के लिए कहती है कि, रस को प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न की जिससे मैं उस रस को चाह रही हूँ किन्तु वह न देकर दुःख समुद्र में फेंककर चला गया अतः मैं ढूँढ़ रही हूँ ॥१४॥

आभास—ततः संख्याः प्रतिज्ञामाह व्यसनं तेऽपकर्षमिति ।

आभासार्थ— 'व्यसनं ते' श्लोक से सखी की प्रतिज्ञा कहते हैं ।

श्लोक—चित्रलेखोवाच—व्यसनं तेऽपकर्षमि त्रिलोक्यां यदि भाव्यते ।

तमानेष्ट्ये नरं यस्ते मनोहर्ता तमादिश ॥१५॥

इत्युक्त्वा देवगन्धर्वसिद्धचारणपन्नगान् ।

दैत्यविद्याधरान्यक्षान्मनुजांश्च यथालिखत् ॥१६॥

मनुजेषु च सा वृष्णीन् शूरमानकदुन्दुभिम् ।

व्यलिखद्रामकृष्णौ च प्रद्युम्नं वीक्ष्य लज्जिता ॥१७॥

श्लोकार्थ—चित्रलेखा ने कहा कि यदि त्रिलोकी में कहीं भी होगा, तब तेरा दुःख मैं मिटाऊँगी, जो मनुष्य तेरा मन हरने वाला है, वह तूँ बता दे तो उसको मैं ले आऊँगी; यों कहकर उसने देव, गन्धर्व, सिद्ध, चारण, पन्नग, दैत्य, विद्याधर, यक्ष और मनुष्य आदि के चित्र लिखे, मनुष्यों में से उसने यादवों के चित्र लिखे, वसुदेवजी राम और कृष्ण के चित्र तथा प्रद्युम्न का चित्र निकाला. तब उषा उसको देख लज्जा करने लगी ॥१५-१६-१७॥

सुबोधिनी—यदि त्रिलोक्यां सः, तदा ते व्यसनमपकर्षमि । कथमित्याकाङ्क्षायामाह भाव्यते इति । चित्रे मया लिख्यते । तत्र यस्ते मनोहर्ता तमादिश । तमहमानुषिष्यामीति व्यसनापकर्षणप्रकारः । यद्यपि नरवर इति विशेषकथनात् देवादीनां लेखनमसङ्गतम्, तथापि देवादयो रूपान्तरेणोपभोगार्थमायान्तीति देवादयो नररूप एवात्र लिख्यन्ते । ऊर्ध्वादधःपर्यन्तं स्त्रीणां दृष्टिः । अत आदौ देवलेखनम् । एते त्रिगुणास्त्रयो गुणाः देवादयोः नव सामान्यतो लिखिताः । चकारान्मनुष्येषु सर्वप्रकाराः, देवादिव्वपि वा । मनुष्येषु श्यामत्वादिधर्मा उक्ता इति तत्साम्यं यादवेष्वेव वर्तत इति मनुजेषु सा वृष्णीनलिखीत् । ततोऽपि हृदयङ्गमादिधर्मैः उत्तरोत्तरवैशिष्ट्यरूपत्वात् वृष्णिषु शूरमलिखत् । तत्र च पुत्रमा-

नकदुन्दुभि वसुदेवम् । तत्र यद्यपि रामो न श्यामः, तथापि रूपान्तरेण तथा कुर्यादिति रामोऽपि लिखितः । रामकृष्णौ चेति । चकारादुगदादयोऽपि लिखिताः । प्रद्युम्नं लिखितं वीक्ष्य ईषद्वैलक्षण्यात् तत्पुत्रो भवितुमर्हतीति निश्चित्य विलज्जिता । यद्यपि भगवान् तां दृशमकृत्रिमं रूपं कर्तुं शक्तः, तथापि मयादायामेकैकस्य गुणस्याभिव्यक्त्यर्थं एक एव पदार्थो निर्णीयते । ततो यादवो गुणोऽनिरुद्धनिदानभूतः, तेनानिरुद्धो निष्पादित एव । अन्यः क्रियमाणः कृत्रिम एव भवतीति वैलक्षण्यं भवत्येव । आधिदैविको दृष्ट इति, अनिरुद्धो वा स्वयं मायया तथा आगत इति न वैलक्षण्यं लज्जया ज्ञातवती । एतत्पुत्रो भविष्यतीति । भर्तृपितामहादिभ्यो न लज्जेति लौकिकाः ॥१५-१६-१७॥



व्याख्यानार्थ— यदि वह त्रिलोकी में होगा तो तेरा दुःख दूर करूँगी, कैसे मिटाओगी ? मैं चित्र बनाती हूँ, उनमें तेरे मन का हरण करने वाला हो वह मुझें बता दे, उसको मैं ले आऊँगी, यह तेरे दुःख मिटाने का उपाय है। यद्यपि 'नरवर' कहा है, तब देव आदि के चित्र लिखने व्यर्थ हैं, तो भी कदाचित् देवादि रूपान्तर धारण कर भोग-भोगने के लिये आए हों, इसलिये मैं जो देवों के चित्र बनाती हूँ वे भी मनुष्य रूप के ही बनाती हूँ, स्त्रियों की दृष्टि ऊपर से नीचे तक होती है अतः प्रथम देवादि के चित्र बनाए, गुण तीन हैं, गुणों के मिलने से देव सगुण हो नव प्रकार के होते हैं, वे 'नवर्त' हैं, 'सामान्यरूप' में लिखे जाते हैं, 'न' पद से, 'देव' तथा 'मनुष्य' के, मर्त्य प्रकार लिखे, मनुष्यों में, 'न' पद से, 'देव' आदि धर्म कहे, इसलिये इस श्यामत्व की समानता यादवों में होती है, अतः मनुष्यों में यादवों के चित्र लिखे, उससे भी जो हृदय हरण करने वाले आदि एक दूसरे से विशेष धर्म कहे, जिससे यादवों में भी श्रेष्ठ शूरसेन और उसके पुत्र वसुदेव एवं राम तथा श्रीकृष्ण के चित्र बनाये, यद्यपि राम का स्वरूप गौर है तो भी रूपान्तर से श्याम भी होते हैं, इसलिये उनका भी चित्र लिखा 'च' पद से गद आदि के भी चित्र बनाये, प्रद्युम्न का चित्र देख थोड़ा सा भेद समझ, जान लिया कि वह इसका पुत्र होगा, यों निश्चय कर इनको श्वसुर समझ लज्जित हुई, यद्यपि भगवान् वंसा अकृत्रिम रूप करने में समर्थ है, तो भी, मर्यादा में एक एक गुण को प्रकट करने के लिये एक ही पदार्थ का निर्णय किया है, इस कारण से जैसा गुण अनिरुद्ध का कारण है उससे ही अनिरुद्ध का सम्पादन किया है, अन्य किया हुआ कृत्रिम ही होता है इसलिये विलक्षणता तो होती ही है, आधिदैविक स्वरूप देखा अथवा स्वयं अनिरुद्ध माया से यों आये हैं इसलिए लज्जा के कारण विलक्षणता न जान सकी, इसका पुत्र होगा, भर्ता के पितामह आदि से लज्जा नहीं, यों लौकिक कहते हैं ॥१५, १६, १७॥

आभास—ततोऽनिरुद्धोऽकृत्रिमो लिखित इत्याह अनिरुद्धमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् अनिरुद्ध का चित्र वास्तविक निकला यह 'अनिरुद्ध' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—अनिरुद्धं विलिखितं वीक्ष्योषावाङ्मुखो ह्रिया ।

सोऽसावसाविति प्राह समयमाना महीपते ॥१८॥

श्लोकार्थ—उषा अनिरुद्ध का वह चित्र देख लज्जा से नीचे मुख करने लगी और प्रसन्न हो कहने लगी कि वह यह है, यह है। हे महीपते ! सम्बोधन भ्रम निवारण के लिए है ॥१८॥

सुबोधिनी—विशेषेण लिखितं सहजरूपं स्वप्नदृष्टसमानं दृष्ट्वा, उषा तं साक्षादेव मत्वा, पूर्व-सम्बन्धं स्मृत्वा, अधोमुखी जाता । तत आदरेण अन्यं मा लिखत्विति, स एवासावसाविति द्विरु-

क्तवती । समयमानेति तस्याः प्राप्स्यामीति हर्षः सूचितः । महीपते इति सम्बोधनं भ्रमाभावाय ॥१८॥

व्याख्यानार्थ—विशेष प्रकार से बनाया हुआ वह अनिरुद्धजी का चित्र देख, उसका स्वप्न में देखा हुआ सहज रूप जान प्रथम हुआ सम्बन्ध स्मरण कर उषा ने नीचे मुख कर लिया, पश्चात्



आदर से यों कहने लगी कि यह ही वह है, यह ही वह है, अतः अब आप दूसरा चित्र मत बनाओं, अब इसको प्राप्त कर सकूंगी जिससे इसको, हर्ष हुआ जिसके लिये 'स्मयमाना' पद दिया है, महीपते ! यह सम्बोधन भ्रम के अभाव के लिये दिया है ॥१८॥

आभास—ततो वरं निश्चित्य तमानेतुं गतेत्याह चित्रलेखेति ।

आभासार्थ—वर का निश्चय कर पश्चात्, उसको ले आने के लिये गई, जिसका वर्णन 'चित्र लेखा' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—चित्रलेखा तमाज्ञाय पौत्रं कृष्णस्य योगिनी ।

ययौ विहायसा राजन् द्वारकां कृष्णपालिताम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—योगिनी चित्रलेखा उसको कृष्ण का पौत्र ज्ञानकर है राजन् ! शीघ्र ही कृष्ण से पालन की हुई द्वारका गई ॥१९॥

सुबोधिनी—कृष्णस्य पौत्रमिति स्त्रीणां हितकारी भविष्यति । स्वयं च योगिनी तस्याग्रे रमणं योगाभ्यासेन ज्ञातवती । अत एव विहायसा ययौ । अन्यथा रक्षकैर्गमनागमनाशक्तेः ।

राजन्निति सावधानार्थम् । कृष्णपालितामिति । तदानीं कृष्ण एव पालकः पुराध्यक्षः स्वयं जातः, इदमेव कार्यमुद्दिश्य । अन्यथा देवैः सानुभावैश्च रक्षिता पुरीति नान्यः प्रवेशमर्हति ॥१९॥

व्याख्यार्थ—यह कृष्णचन्द्र का पौत्र है, इसलिये स्त्रियों का हितकारी ही होगा, स्वयं योगिनी है, इसलिये योगाभ्यास से उसके आगे रमण करना जान गई, इसी कारण से ही शीघ्र गयी, अन्य प्रकार आने-जाने की शक्ति रक्षकों में नहीं है, राजन्, यह सम्बोधन सावधान होने के लिये दिया है, इस समय इस कार्य का उद्देश्य लेकर द्वारका का स्वयं श्रीकृष्ण, पालन करने वाले थे, अर्थात् नगर के अध्यक्ष थे, यदि आप न होते, देवता आदिकों से रक्षित होती, तो दूसरा कोई प्रवेश नहीं कर सकता ॥१९॥

श्लोक—तत्र सुप्तं स्वपर्यङ्कुं प्राद्युम्नि योगमास्थिता ।

गृहीत्वा शोणितपुरे सख्यं प्रियमदर्शयत् ॥२०॥

श्लोकार्थ—वहाँ वह अनिरुद्ध अपने पलङ्ग पर सो रहा था, यह योग धारण कर उसको लेकर शोणितपुर आ गई और अपनी सखी को अपना प्रिय दिखा दिया ॥२०॥

सुबोधिनी—तत्रापि भगवदिच्छया अनिरुद्धोऽपि न जागति, अन्यथा स एव न गच्छेत् ।

स्वपर्यङ्कु इति निर्भरनिद्रात्वाय । ननु राजन्याः सावधाना भवन्ति, कथमेवं निर्भरनिद्रात्वम्, तत्राह

प्राद्युम्निमिति। स हि प्रद्युम्नस्य पुत्रो निर्भयः । प्रद्युम्नोऽपि हृतः, सोऽपि हृतो, भगवदिच्छयेति वा । पराभवः स्त्रीप्राप्तिश्चोभयत्र तुल्या । अक्ति-
हासस्तु नैमित्तिक इति बोध्यते । सापि तं नेतुं लौकिकमुपायं परित्यज्य योगमास्थिता । अलो-

किक उपायो योगः । आस्थितिः सर्वभावेन तत्रा-
तिभरं दत्त्वा । गृहीत्वा पर्यङ्कात्तमेव बालकमिव ।
अप्रबोधो योगानुभावः । शोणितपुरे इति नाम्नैव
भयानकत्वमुक्तम् । सख्यै उपायै । तस्याः प्रियम-
निरुद्धं 'अयं तव प्रिय' इति प्रदर्शितवती ॥२०॥

व्याख्यार्थ—वहाँ भी भगवदिच्छा से अनिरुद्ध भी नहीं जागता था, यदि जागता हो तो वह स्वयं न जावे । अपने पलङ्ग पर कहने का भावार्थ है कि गाढ़ निद्रा में सो रहा था, राजा लोग तो सावधान रहते हैं, यह इस प्रकार कैसे सो रहे थे ? इस शङ्का का समाधान करते हैं कि प्रद्युम्न का बेटा है अतः जैसे पिता निर्भय थे वैसे यह भी निर्भय है, जिससे गाढ़ निद्रा में थे, जिस गाढ़ निद्रा के कारण प्रद्युम्न का हरण हुआ तो यह भी हरण हो रहा है अथवा भगवदिच्छा से हरण हुवा है, शत्रु का पराभव और स्त्री की प्राप्ति ये दोनों कार्य, दोनों के, समान हुवे हैं, शक्ति का हास तो निमित्त मात्र हुआ है, यों समझा जाता है, वह उसको ले आने के लिये लौकिक उपाय न कर योग में पूर्ण रीति से स्थित रही, योग अलौकिक उपाय है वह करने लगी उसको ही बालक की भाँति पलङ्ग से लेकर शोणितपुर में आ के उषा को 'यह तेरा प्यारा ले आई हूँ' यों कह कर उसको 'अनिरुद्ध' दिखाया, पलङ्ग पर से उठाकर लाने से क्या वह जगे नहीं ? जिस के लिये कहा है कि यह योग का प्रभाव है 'शोणितपुर' नाम से ही उसका भयानकपन दिखाया है ॥२०॥

श्लोक—सा च तं सुन्दरवरं विलोक्य मुदितानना ।

दुष्प्रेक्ष्ये स्वगृहे पुम्भी रेमे प्राद्युम्निना समम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—वह भी उस सुन्दर पति को देखकर प्रसन्नमुखी हुई, जिस गृह को पुरुष नहीं देख सके, ऐसे अपने गृह में अनिरुद्धजी के साथ रमण करने लगी ॥२१॥

सुबोधिनी—तत्र गतः प्रबुद्धः स्त्रीमण्डले । ततः सा मुदितानना तेन सह रेमे । चकाराः सोऽपि तथा सह । मुदिताननेति तस्या भयाद्यभाव उक्तः, विषयसौन्दर्यात् । लौकिकोऽपि हेतुरस्तीत्याह

दुष्प्रेक्ष्ये स्वगृहे इति । स्त्रियः सर्वाः कन्यायां तस्मिन्नुक्तः ऐकमत्यं प्राप्ताः । मात्रादयोऽपि । प्राद्युम्निनेति सर्वथा कामपूरकत्वम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—शोणितपुर में पहुँच जाने के अनन्तर स्त्री मंडल में जब गया तब जगा, पश्चात् प्रसन्न मुख वाली वह उषा उसके साथ रमण करने लगी 'च' पद से यह बताया कि वह भी उषा के साथ रमण करने लगी, प्रसन्न मुखी कहने से इसका निर्भयपन प्रकट किया है, क्योंकि विषय का सौन्दर्य है, जिससे भय नहीं लौकिक भी हेतु हैं, जिसके लिये कहा है कि जिस गृह पर पुरुषों की दृष्टि न पड़ सके, ऐसे अपने घर में रमण का कार्य करने लगे, स्त्रियाँ, मातादि भी सब कन्या में एवं अनिरुद्ध में प्रेम युक्त थीं इसलिए सब का एक मत था जिससे किसी को मालूम होने न दिया । प्रद्युम्न का पुत्र कहने का भावार्थ यह है, कि सर्व प्रकार काम की पूर्ति करने वाला है ॥२१॥



आभास—निलीय क्लेशरमणं व्यावर्तयति पराध्यति ।

आभासार्थ—छिपकर जो रमण होता है, वह क्लेश रमण है 'उसका निषेध परार्ध्य' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—पराध्यवासःस्नागन्धधूपदीपासनादिभिः ।

पानभोजनभक्ष्यैश्च वाक्यैः शुश्रूषयाचितः ॥२२॥

श्लोकार्थ—अमूल्य वस्त्र, माला, सुगन्धित पदार्थ, धूप, दीप और आसन आदि एवं पान, भोजन तथा भक्ष्य, मधुरवचन और सेवा से उषा ने पूजन किया ॥२२॥

सुबोधिनी—पराध्यन्यमूल्यानि सर्वाण्येव । धूपदीपासनादिभिरिति देववत्पूजनमुक्तम् । स्ना-
तस्य प्रथमं वस्त्रम्, ततः स्नजः, ततो गन्ध इति ।
केशेषु संस्कारार्थं धूपः । ततो गृहे प्रविष्टस्य
आरात्रिकम् । तत उपवेशनार्थमासनम् । ततः
पानभोजनभक्ष्याणि । पान मादकरुच्युत्पादक-

द्रव्यकृतम् । भोजनं प्रकृतम् । भक्ष्यं ताम्बूलादि ।
अथवा । कदाचित्पानम्, कदाचिद्भक्ष्याणि ।
चकारात्तत्सम्बन्धोगि । मानसस्तु सिद्ध एवेति
बाह्या एते निरूपिताः । वाक्यैरिति वाचनिकी ।
शुश्रूषा कायिकी । सर्वभावेनाचितः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—सर्व, वस्त्र आदि पदार्थ, जो कुछ पूजा के लिये आवश्यक थे वे सब अमूल्य थे, धूप, दीप, आसन आदि इनसे देव का तरह पूजा हुई, स्नान किये हुए को पहले वस्त्र उसके बाद माला पीछे गन्ध, केशों को संस्कार करने के लिये धूप, इसके बाद घर, में प्रवेश होने पर आरती पीछे बैठने के लिये आसन पश्चात् रुचि उत्पन्न करने वाले मादक पदार्थों से बनाया हुआ पेय वस्तु भोजन और ताम्बूल ये क्रमशः तृप्ति पर्यंत बार-बार देने, 'च' का भावार्थ है, उपर्युक्त पदार्थों से सम्बन्ध रखने वाले अन्य पदार्थ भी थे, मानस पदार्थ तो सिद्ध ही थे इसलिये वे बाहर के पदार्थ निरूपण कर बताये हैं, बाणी तथा काया से सेवा को, इस प्रकार सर्व भाव से पूजित हुआ ॥२२॥

आभास—सोऽपि तासां इच्छानुरोधी जात इत्याह गूढः कन्यापुर इति ।

आभासार्थ—वह भी उनकी इच्छानुसार कृति करने लगा जिसका बर्णन 'गूढः कन्यापुरे' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—गूढः कन्यापुरे शश्वत्प्रवृद्धस्नेहया तथा ।

नाहर्गणान्स बुबुवे ऋषयापहृतेन्द्रियः ॥२३॥

श्लोकार्थ—बढ़े हुए स्नेह वाली उस उषा ने अनिरुद्ध की इन्द्रियों को हर लिया, जिससे वह कन्या के अन्तःपुर में गुप्त रहने लगा, उसको यह भान न हुआ कि यहाँ

रहते हुए कितने दिन बीत गए हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—शश्वन्निरन्तरमुपचाराणां प्रताय-
मानत्वादनुरोधः । प्रवृद्धस्नेहयेति निरन्तरं साध-
नेषु हेतुः । तस्य क्रियान्तरस्मरणाभावायाह

नाहर्गणान्स बुबुध इति । ऊषयेति । पूर्वस्त्रीणाम-
प्यस्मरणं सर्वोत्तमैवेति च द्योतितम् । अग्रहृतं
वशीकृतं तदधोनं जातमिन्द्रियं यस्य ॥२३॥

ध्यास्त्यर्थ—निरन्तर सेवाओं की विविध प्रतीति होने से वहाँ रुक गये, उषा का स्नेह बढ़ने लगा जिससे निरन्तर नवीन-नवीन साधन प्राप्त होते थे, इसी कारण से उसको दूसरी किसी क्रिया का स्मरण ही नहीं रहा, इसलिए कितने ही दिन यहाँ रहते हुवे हुए हैं, इसका भान तक न रहा, उषा ने इन्द्रियों का हरण कर लिया था, जिससे पूर्व की स्त्रियों को भी भूल गया, यों समझने लगा कि सर्वोत्तम यह ही है ॥२३॥

श्लोक—तां तथा यदुवीरेण भुज्यमानां हतव्रताम् ।

हेतुभिलक्षयांचक्रुरापीतां दुरवच्छदेः ॥२४॥

भटा आवेदयांचक्रु राजस्ते दुहितुर्वयम् ।

विचेष्टितं लक्षयामः कन्यायाः कुलदूषणम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—यादवों में वीर अनिरुद्ध से भुक्त हो जाने से नष्ट व्रतवाली उस उषा को पहरेदारों ने लक्षणां से पहचान लिया और वे आकर कहने लगी कि हे राजन् ! हम आपकी कन्या की चेष्टाओं से पहचान गए हैं कि इस कन्या ने कुल को कलङ्कित किया है ॥२४-२५॥

सुबोधिनी—ततः पुरुषोपभुक्ता गर्भकृतैर्ल-
क्षणेः भोगकृतैरेव वा हतं व्रतं यस्याः । कन्याया
ब्रह्मचर्यं व्रतम्, तदा हतव्रतां तां लक्षयांचक्रुः ।
यदुवीरेणेति निर्भरो भोग उक्तः । तेन स्पष्टानि
चिह्नानि । आसमन्तात् पीतां पीतवर्णा, श्रमाद्-
गर्भेण वा स्त्रीणां तथात्वं भवति । दुरवच्छदे-
रिति । आच्छादयितुमशक्यैः धर्मैः रूपेण च
ज्ञात्वा । स्वापराधशङ्कया भटा आवेदयांचक्रुः ।

तेषां रक्षकाणां कन्यान्तःपुराधिकारिणां वाक्य-
माह राजन्निति । अयुक्तं कथं श्राव्यत इत्याशङ्क्य
संबोधनेन पश्चान्महदनिष्टं सूचयन्ति । विचेष्टितं
व्यभिचारम् । लक्षयाम इति प्रमाणं तर्कितमा-
त्रम् । नन्वस्तु को दोष इति चेत्, तत्राह कुलदूष-
णमिति । यद्यपि पापादिना न तेषां भयम्, तथापि
दैत्याः न व्यभिचारिणो भवन्तीति । तेषां कुले
व्यभिचारो दूषणम्, यथा देवानामनृतम् ॥२५॥

ध्यास्त्यर्थ—पुरुष से भुक्त होने के कारण से जिस का ब्रह्मचर्य व्रत नष्ट हो गया है, जिसका ज्ञान गर्भ के ठहरने के लक्षणों से अथवा भोग होने से जो कन्या में भाव उत्पन्न हो जाते हैं, उन लक्षणों से जाना जाता है, कि इस कन्या ने अपना ब्रह्मचर्य व्रत तोड़ दिया है, उस नष्ट ब्रह्मचर्य व्रत वाली को पहरेदारों ने पहचान लिया, 'यदुवीर' पद से यह बताया कि पूर्णतया भोग हुआ है, उससे

चिन्ह स्पष्ट देखने में आते हैं, जैसे कि वह पीतवर्ण बानी हो गयी थी, भोग के भ्रम से अथवा गर्भ स्थिति से स्त्रियों का पीतवर्ण हो जाता है, जिन लक्षणों को छिपाया नहीं जा सकता है, ऐसे लक्षण देख पहरदारों ने जाकर राजा को कह दिया, क्योंकि उनको भय लगा कि हम न बतावेगें तो दोष बनेंगे कन्या के अन्तपुर के जो पहरदार थे उन्होंने इस प्रकार कहा, हे राजन् ! इतना सम्बोधन कर क्यों कहा, इसलिये वह सम्बोधन दिया कि अब तो यह कहना अनुचित दीखता है, किन्तु इससे बाद में बहुत अनिष्ट होने वाला है, क्योंकि यह विचेष्टित है अर्थात् व्यभिचार है 'लक्षयामः' पद से बताया कि यह अब केवल तर्क मात्र से प्रमाणित है । यों है तो कोनसा दोष है ? वहाँ कहते हैं कि 'कुलदूषणम्' यद्यपि पापादि से उनको भय नहीं है, तो भी दैत्य व्यभिचारी नहीं होते हैं, उनके कुल में व्यभिचार दूषण है, जैसे देवकुल में झूठ बोलना दूषण है ॥२४-२५॥

आभास—तहि कः समायातीति शङ्कायामाहुः अनपायिभिरिति ।

आभासार्थ—तो कौन आता है ? इस शङ्का का उत्तर अनपायिभिः श्लोक से देते हैं ।

श्लोक—अनपायिभिरस्माभिर्गुप्तायाश्च गृहे प्रभो ।

कन्याया दूषणं पुष्मिर्दुःप्रेक्षया न विद्महे ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे प्रभो ! घर में गुप्त रहने वाली कन्या के घर का हम अखण्ड पहरा दे रहे हैं, जिससे उसको कोई देख भी न सके; कन्या को दूषण पुरुष द्वारा ही लगता है, किससे, कैसे लगा; वह हम नहीं जानते हैं? ॥२६॥

सुबोधिनी—स्वतो विवाहं व्यावर्तयति । बाधोऽप्युक्तः । अत एव दूषणं लक्षयामः, न विद्महे कन्याया इति । अनेन तर्कितस्यार्थस्य युक्त्या च । अन्यथानिधरि तेऽपि हन्तव्याः स्युः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—अपने आप ही उसने विवाह कर लिया है, इसका भी 'कन्याया' शब्द कह कर निषेध करते हैं; इससे तर्क से जिस विषय का ज्ञान हुवा है, उसका युक्ति से बोध भी कहा है, विवाह न होने से ही दूषण लगा है, यों हम समझते हैं, कैसे लगा है वह हम नहीं जानते हैं, यदि वह कह दे कि यों लगा है तो ये भी मारने के योग्य हो जावे ॥२६॥

आभास—ततो निर्धारार्थं स्वयं प्रवृत्त इत्याह तत इति ।

आभासार्थ—पश्चात् निर्णय करने के लिये स्वयं राजा प्रवृत्त हुवा यह 'ततः' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—ततः प्रव्यथितो बाणो दुहितुः श्रुतदूषणः ।

त्वरितः कन्यकागारं प्राप्नोऽद्राक्षीद्यद्वहम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—बाणासुर कन्या का दूषण सुन दुःखी हुआ, तुरन्त ही कन्या के घर आया तो वहाँ अनिरुद्ध को देखा ॥२७॥

सुबोधिनी—प्रकर्षेण व्यथितः शस्त्रादिभ्यो- | द्रुहमेव दृष्टवान् । सर्वानिव यदून् उद्वहतीति महा-
ऽपि । ततस्त्वरितः कन्यकागारं प्राप्तः प्रथमं यदू- | शूरत्वं यदुकुलोत्पन्नत्वं च ज्ञातवान् ॥२७॥

व्याख्यान—शस्त्र आदि से जैसे कोई व्यथित होता है उससे भी बाणासुर विशेष व्यथित हुआ, इस कारण से तुरन्त कन्या के घर पहुँच गया, वहाँ प्रथम अनिरुद्ध को देखा, उसको यदूद्रुह कहने का भावार्थ यह है कि वह महान् शूरवीर है, और यदुकुल में उत्पन्न हुआ है ॥२७॥

आभास—तद्दृष्टमनिरुद्धं वर्णयति, निर्भयत्वाय, कामात्मजमिति ।

आभासार्थ—“कामात्मज” श्लोक से देखे हुए अनिरुद्ध के निर्भयपन का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—कामात्मजं तं भुवनैकसुन्दरं श्याम पिशङ्गाम्बरमम्बुजेक्षणम् ।

बृहद्भुजं कुण्डलकुन्तलत्विषा स्मितावलोकेन च मण्डिताननम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—कामदेव के पुत्र, लोक में सब से विशेष, सुन्दर, श्यामवर्ण, पीताम्बर धारी, कमलसम नेत्र, लम्बी भुजावाले, कुण्डल और केशों की कान्ति से तथा मन्द-हास्य से शोभायमान मुखवाले उसको देख अचम्भे में पड़ गया, ॥२८॥

सुबोधिनी—स्त्रीणामत्यन्तहितार्थाय कामा-
त्मजत्वमुक्तम् । भुवनैकसुन्दरमिति सर्वेषामेव
मोहकम् । श्यामं पिशङ्गाम्बरम् । पीताम्बरमिति
भगवत्सारूप्येण भगवदीयत्वं ज्ञापितम् । अम्बुजे-
क्षणमिति दृष्ट्यैव सर्वाङ्गादकत्वमुक्तम् । बृहद्भु-

जमिति । भोगयोग्यता वीरत्वं च । स्वभावतो-
ऽप्ययं महानिति कुण्डलकुन्तलैर्मण्डितमाननं
यस्येत्युक्तम् । स्मितावलोकेनेति मनोहरस्वभाव
उक्तः । अनेन सर्वलक्षणसम्पूर्णोऽयं वर इत्यु-
क्तम् ॥२८॥

व्याख्यान—काम का पुत्र कहने से यह बताया है, स्त्रियों का अत्यन्त हितकारी है, भुवन में ऐसा कोई दूसरा सुन्दर नहीं, यों कहने से बताया है, कि सबों को मोह लेता है, श्यामस्वरूप, पीत-वस्त्र वाला कहने से भगवत्सारूप्य एवं भगवदीयत्व जताया है, कमल नयन कहने से सब को आनन्द देने-वाला कहा है, बड़ी भुजा कहने वाला कहने से, वीरपन तथा भोग योग्यता प्रकट की है, स्वभाव से ही महान् है क्योंकि कुण्डल और कुन्तलों से शोभित मुख वाला है, मन्दहास्य युक्त अवलोकन से बताया है कि स्वभाव से ही मनोहर है, यों कहने से सिद्ध किया है, कि यह वर सर्व लक्षणों से पूर्ण है ॥२८॥

आभास—तस्य चौर्येण व्यभिचारसम्बन्धं निवारयति ।



आभासार्थ—इसने चोरी से (छिपकर) व्यभिचार किया है. इसका भी निषेध 'दीव्यन्त' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—दीव्यन्तमक्षीः प्रिययाऽभितृष्णया तदङ्गसङ्गस्तनकुङ्कुमस्रजम् ।

बाह्वोर्दधानं मधुमल्लिकाश्रितां तस्याग्र आसीनमवेक्ष्य विस्मितः ॥२६॥

श्लोकार्थ—बहुत तृष्णावाली प्यारी के साथ पासों से (पोपड़) खेलता हुआ, उसके अङ्ग सङ्ग से जिसके स्तनों की केसर लगी थी, ऐसी माला छाती पर धारण की हुई थी, वह माला बसन्त ऋतु के पुष्पों से बनी हुई थी, इस प्रकार उषा के पास ही बैठे हुए उसको देख अचम्भे में पड़ गया ॥२६॥

सुबोधिनी—यथा कृतविवाही स्त्रीपुरुषावक्षः क्रीडतः, एवं प्रियया सह तदेकनिष्ठया अक्षैर्दीव्यन्तम् । सा च क्रीडा न क्रीडार्था, किन्तु रसपोषिकेत्याह अभितृष्णयेति । अभितः तृष्णा यस्याः सर्वतः सम्बन्ध वाञ्छतीति । अभितृप्ता वा सम्भोगनितान्ततृप्ता । अभितृप्ता वा । तृप्तामिति प्रकाशनाम । वैदिकशब्दो नृम्णं 'नृम्णाय नृम्ण'मित्यत्र प्रसिद्धम् । प्रकाशमाने प्रकाशमानमित्यर्थः । अभितः प्रकाशमानया, न तु सङ्कोचेन केनचिदप्यंशेन स्थितया । तत्सम्बद्ध एव क्रीडतीति

सर्वसन्देहनिवृत्त्यर्थमाह तदङ्गसङ्गस्तनकुङ्कुमस्रजमिति । तस्या अङ्गसङ्गेन यत् कुचकुङ्कुमस्रजि संबद्धं तादृशीं स्रजं बाह्वोर्मध्ये दधानम् । अत्यन्तरसालसमये दृष्टवानिति । मधुयुक्ता या मल्लिका तयाश्रितां स्रजमिति तत्र अमरादिसम्बन्धो निरूपितः । गन्धेन रूपेण च मल्लिका रसपोषिका । तस्यैवाग्रेऽप्यासीनं बाणेऽप्यागते तथैवासीनमित्यर्थः । स्वस्याग्र आसीनमिति वक्तव्ये तस्य तथा विचारो न जात इति शुक एवाह तस्याग्रेऽप्यासीनमिति । अत एव विस्मितः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—जिस प्रकार विवाह किये हुए स्त्री पुरुष आपस में पासों से खेलते हैं वैसे उसमें ही निष्ठवाली प्रिया से पासों से खेलते हुए को देखा, वह क्रीडा के लिये नहीं थी, किन्तु रसका पोषण करने वाली थी, इसलिये कहा है कि अभितृष्णया', वह प्रिया उषा सर्व प्रकार सम्बन्ध चाहती है, अथवा 'अभितृप्ता' सम्भोग से अत्यन्त तृप्त हुई है, अथवा सर्व प्रकार प्रकाशमान अर्थात् बिना संकोच के आनन्दित हो, रस पोषार्थ निर्भय क्रीडा कर रही है । ऐसी उषा से मिल कर ही अनिरुद्ध क्रीडा कर रहे थे, सर्व सन्देह निवृत्ति के लिये कहते हैं कि उसके अङ्ग के सङ्ग से स्तनों का कुङ्कुम जिस माला में लगा हुआ है वैसे माला को भुजाओं के मध्य अर्थात् छाती पर धारण किये हुए अनिरुद्धजी थे, जिस समय उसको देखा वह समय अतिशय रस वाला था, बसन्त के पुष्पों से बनी हुई माला थी जिस पर अमर गुंजार कर रहे थे वह माला सुगन्ध और रूप दोनों से रस का पोषण कर रही थी, बाणासुर के आने पर भी उसके आगे उसी प्रकार निर्भय बंठे रहे, उसके आने से इसको किसी प्रकार का विचार व भय न हुआ, इस कारण से बाणासुर अचम्भे में पड़ गया ॥२६॥

आभास—ततो युद्धार्थं तदीया असहमानाः प्रवृत्ता इत्याह स तं प्रविष्टमिति

शाभासाथं—पश्चात् उसके सेवक, सम्बन्धी इस कार्य को सहन न कर सके जिससे लड़ने लगे, जिसका वर्णन 'स तं प्रविष्टं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—स तं प्रविष्टं वृत्ताततायिभिर्भटेरनीकैरवलोक्य माधवः ।

उद्यम्य मौर्वं परिधं व्यवस्थितो यथान्तको दण्डधरो जिघांसया ॥३०॥

श्लोकार्थ—शस्त्रधारी अनेक योद्धों से आवृत्त उस बाणासुर को घर में आया हुआ देख अनिरुद्ध भी उनको मार डालने की इच्छा से लोह का परिध लेकर दण्डधर यमराज के समान उठ खड़ा हो गया ॥३०॥

सुबोधिनी—अन्तःप्रविष्टम् । तं श्वशुरम् । आततायिभिर्वृत्तमिति शस्त्रपाणिभिः सह समागच्छन्तम् । मारयिष्यतीति निश्चित्य मधुवंशोत्पन्नः अन्यस्यापि स्वसम्बन्धेन मदं जनयति, किं पुनः स्वस्य साक्षात् । अतो युद्धार्थमेकाकी प्रवृत्त इत्याह उद्यम्य मौर्वं परिधमिति । लोहबद्धं तृण-

विशेषबद्धं वा । मौर्वी काचित् तृणजातिर्लोहजातिर्वा । विशेषेणावस्थितः । सर्वथा निकटगमने प्राणान् ग्रहीष्यतीति ज्ञापनार्थमाह यथान्तको दण्डधर इति । जिघांसया व्यवस्थित इति स्वरूपेण भयानकत्वं निवारितम् ॥३०॥

व्याख्यानार्थ— शस्त्र हाथ में लिये सेवकों सहित श्वशुर को भीतर आया हुआ देख, यह - मारेगा यों निश्चय जानकर, मधुवंश में उत्पन्न होने से, अपने सम्बन्ध होने पर मद उत्पन्न कर देता है-वह अपना मद प्रकट करे इसमें क्या आश्चर्य है, क्योंकि आप साक्षात् स्वयं मदर्ह्य ही हैं, अतः युद्ध के लिये आप अकेले तैयार हो गये, कैसे तैयार हुवे जिसका वर्णन करते हैं, 'लोह से बना हुआ अथवा मौर्वी कोई तृण की जाति वा लोह की जाति होती है उससे बना हुआ 'परिध' लेकर विशेष प्रकार से खड़े हो गये, निकट आने पर सर्वथा प्राण ग्रहण कर लेंगे यों जताने के लिए कहते हैं कि 'यथान्तको दण्डधर' जैसे दण्ड धारी यमराज मारने की इच्छा से खड़ा होता है, वैसे ही ये भी खड़े हो गये ॥३०॥

आज्ञासा—ततो यज्जातं तदाह जिघृक्षयेति ।

आभासाथं—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'जिघृक्षया' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—जिघृक्षया तान्परितः प्रसर्पतः शुनो यथा सूकरयूथोऽहरत् ।

ते हन्यमाना भवनाद्विनिर्गता निर्भिन्नमूर्धोऽभुजाः प्रदुद्रुवुः ॥३१॥

श्लोकार्थ—एकड़ लेने की इच्छा से चारों ओर से आते हुए इन योद्धाओं को जैसे बड़ा सूकर कुत्तों को मारे, वैसे मारने लगे, मार खाते हुए उनके सिर फूट गए



और हाथ-पाँव आदि टूट गए, जिससे वे योद्धा घर से बाहर निकलकर भाग गए ॥३१॥

सुबोधिनी—धर्तव्य एवायम् । न तु हन्तव्य इति परितः समागताः । ततः स्वयमपि तान् परितः प्रसर्पतः अहरत् हतवान् । दूरे नीतवान् । अहनद्वा । यथा दन्तैर्निकटे गत्वा शुनो हन्ति । नतु केनचित्पराभूतः । दूरादेव तेषां शब्दाः, न तु

निकटे समागन्तुं शक्ताः । ततो यज्जातं तदाह ते हन्यमाना इति । नितरां भिन्ना मूर्धा ऊर्वाहवश्च येषामिति हननासहने हेतुः । अतः प्रथमं सङ्कीर्णत्वाद्भवनाद्विनिर्गताः, पुनस्तत्रापि निभिन्नावयवाः प्रदुद्रुवु ॥३१॥

व्याख्यान— इसको पकड़ना ही चाहिए न कि मारना चाहिए, इस विचार से चारों ओर से पकड़ने के लिये आने लगे, पश्चात् आप भी चारों ओर से आते हुए उनको पकड़ कर दूर ले गये अथवा मारने लगे, जैसे सूकर निकट जाकर दाँतों से कुत्तों को मारते हैं आप तो किसी से पराभूत न हुवे, वे दूर से ही शब्द करते रहे निकट आने की सामर्थ्य उनमें नहीं थी, पश्चात् जो हुआ उसको कहते हैं, वे मारे गये, मस्तक फूट गये और भुजा पाँव आदि भी टूट गये यह मरने के असहन में हेतु है अतः प्रथम सङ्कीर्ण होने से घर से निकले, फिर वह भी टूटे हुवे अवयव वाले हो भाग गये ॥३१॥

आभास—तेषु निवृत्तेषु अलौकिकप्रकारेण तं निगृहीतवानित्याह तं नागपाशैरिति ।

आभासार्थ— वे जब भाग गये तब अलौकिक प्रकार से इस को बांध लिया यह 'त नागपाशै' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तं नागपाशैर्बलिनन्दनो बली घनन्तं स्वसैन्यं कुपितो बबन्ध ह ।

ऊषा भृशं शोकविषादविह्वला बद्धं निशम्याश्रुकलाक्षरौदिषीत् ॥३२॥

श्लोकार्थ—अपनी सेना को मारते हुए उस अनिरुद्ध को कुपित बलवान् बाणासुर ने नागपाशों से बाँध लिया, अनिरुद्ध को बाँधा हुआ सुनकर उषा शोक और दुःख से व्याकुल हो आँखों में से आँसू डालती हुई रुदन करने लगी ॥३२॥

सुबोधिनी—बलिनन्दन इति पितुर्वैरादबन्धनं कृतवान् । नागपाशा अवतारविशेषे भगवतोऽपि तथात्वं सम्पादयन्ति, किमुत तदंशानाम् । ततोऽनिरुद्धाद्बली । दंवेन बलेन बन्धने हेत्वन्तरमप्याह घनन्तं स्वसैन्यमिति । यदि न मारयेत्, तदा जिज्ञासां कृत्वा पश्चात्तथा अयुक्तत्वं नास्तीति स्वतो महादेवं वा पृष्ट्वा विवाहवदनुमोदनं कुर्यात् ।

अतः स्वसैन्यं मारयतीति, जामाता भवतीति विनिश्चित्य, बन्धनमेव कृतवान् । तच्च बन्धन दूरे गतस्य । तदाह ऊषा भृशमिति । आश्चर्यं तस्य बन्धनं निशम्य भर्तृत्वे सन्देहाभावादश्रुकलाक्षी सती स्वाभिप्रायं ज्ञापयन्ती अरोदीत् । अनेन तस्य जारत्व परिहृतम् ॥३२॥

व्याख्यान— नागपाशों से क्यों बान्धा ? जिसका कारण यह था कि भगवान् ने इसके पिता बलि को नागपाशों से बान्धा था, अतः इसको बान्ध कर पिता के वंश का प्रतीकार लिया, इसलिए यहां 'बलिनन्दन' नाम दिया है, अलौकिक बल से बान्धने में दूसरा कारण देते हैं कि अपनी सेना को मारते देखा इसलिये भी बान्धा कि अवतार विशेष में जो नागपाश भगवान् को भी बान्धते हैं तो उसके अंशों को बान्धे इसमें कहना ही क्या है ? नागपाश से बान्धने के कारण अनिरुद्ध से बाणासुर



बलवान था, अनिरुद्ध को न मारते तब जानने की इच्छा करके बाद में वैसा करना (मारना) अनुचित नहीं है, इस प्रकार स्वयं आप'ही महादेव से पूछकर विवाह की तरह अनुमोदन करे, अतः यदि अपनी सेना को मारता है, तो भी जामाता है, यों निश्चय कर बन्धन ही किया मारा नहीं और वह बन्धन भी दूर गये हुए का, तब ऊषा आश्चर्य से उसका बन्धन सुनकर, भर्ता होने में कोई सन्देह नहीं है जिससे आंखों में आंसू आ जाने से अपना अभिप्रायः प्रकट करती हुई रोने लगी, इससे अनिरुद्ध जार है, यह शंङ्का मिटादी ॥३२॥

इति श्रीभगवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभाक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

इति श्रीमद्भगवत महापुराण दशम-स्कन्ध (उत्तरार्ध) ५६वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) राजस-फल

अवान्तर प्रकरण का छठा अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

५८ वे व इस अध्यायों में वर्णित लीलाओं का निम्न पदों से अवगाहन करें

“प्रद्युम्न विवाह”

राग मारू—

स्याम बलराम को सदा गाऊँ ।

यहै मम जप यहै तप यहै नेम व्रत प्रेम मम यहै फल यहै पाऊँ ॥

स्याम बलराम प्रद्युम्न के व्याह हित, रुक्म के देस जबहोँ सिघाए ।

कलिंग को राउ अरु रुक्म बलभद्र को, कपट करि सार पासा खिलाए ॥

दाउ बलराम को देखि उन छल कियौ, रुक्म जित्यो कहन लगे सारे ।

देवबानी भई जोति भई राम की, ताहु पे मूढ नाहोँ सम्हारे ॥

रुक्म अरु कलिंग को राउ मारघी प्रथम, बहुरि तिनके बहु सुभट मारे ।

सूर प्रभु स्याम बलराम सजीत भए, ब्याहि प्रद्युम्न निज पुर सिघारे ॥

“अनिरुद्ध विवाह”

राग मारू—

कुँवर तन स्याम मनु काम है दूसरी, सुपन मैँ देखि ऊषा लुभाई ।

चित्रलेखा सकल जगत के नृपति की, छिनक मैँ मूर्ति तब लिखि दिखाई ॥

निरखि जदुबंस की हरस मन मैँ भयौ, देखि अनिरुद्ध को मूरछाई ।

जाई द्वारावती सोवतै कुँवर को, चित्रलेखा तहाँ तुरत ल्याई ॥

बान दरवान सौँ सुनत आयौ तहां, घाई अनिरुद्ध सौँ जुद्ध माँड्यौ ।

सूर प्रभु ठ्यो ज्योँ भयौ चाहै सु त्योँ, फाँसि करि कुँवर अनिरुद्ध बाँध्यौ ॥



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वादपतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ६३वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६०वाँ अध्याय

उत्तरार्ध का १४वाँ अध्याय

राजस-फल-अवान्तर प्रकरण

“७वाँ अध्याय”

भगवान् श्रीकृष्ण के साथ बाणासुर का युद्ध



कारिका—चतुर्दशे तु विजयः शिवादीनां निरूप्यते ।

निरोधो राजसः पूर्णो भविष्यति यतः फले ॥१॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस चौदहवें अध्याय में शिव आदि को हराने का निरूपण है, जिससे फल में राजस निरोध पूर्ण होगा ॥१॥

कारिका—भक्तवत्सलता दृष्टा न निरोधः कचित्तथा ।

अतोऽन्यनाशशङ्कापि भजनान्तरबाधिका ॥२॥

कारिकार्थ—भक्तों पर वात्सल्य भाव देखा, किन्तु इस प्रकार वहाँ भी निरोध देखने में नहीं आया है अर्थात् किसी अन्य देव के साथ विरोध कर निरोध करना



नहीं देखा है अतः अन्य देव से नाश हो जाने की शङ्का' भी भजन में बाध करने वाली है ॥२॥

कारिका—न बाधते हरिः क्वापि विरुद्धोऽपि कथञ्चन ।

अक्लिष्टत्वाय तु हरेरुपेक्षात्र निरूप्यते ॥३॥

कारिकार्थ—विरुद्ध होने पर भी भगवान् उसको किसी भी प्रकार से कभी भी दुःख नहीं देते हैं, हरि की उपेक्षा का वर्णन इसलिये है कि वह बिना क्लेश कर्म करे ॥३॥

कारिका—प्रद्युम्नवत्तु तस्यापि नयनेन्वेषणं नहि ।

अत्रापि नारदः प्रोक्तः प्रमाणं चिन्तनाधिके ॥४॥

कारिकार्थ—प्रद्युम्न की तरह अनिरुद्ध का अन्वेषण (तलाश) नहीं हुआ, किन्तु अधिक चिन्तन होने पर यहाँ भी नारदजी ने सूचना दी है ॥४॥

कारिका—सर्वभावेन युद्धाय ज्वरोपाख्यानमुच्यते ।

तामसस्तु ज्वरोऽत्रैव समुत्पन्नस्तथोत्तमः ॥५॥

कारिकार्थ—सम्पूर्ण रोग से युद्ध का वर्णन हो, इसलिये ज्वर का उपाख्यान कहा गया है, तामस ज्वर यहाँ ही उत्पन्न हुआ है, प्रसिद्ध ज्वर आगे ही उत्पन्न था शेष वैष्णव उत्तम ज्वर भी यहाँ ही उत्पन्न हुआ है ॥५॥

कारिका—शीतरोरौ पृथक् पूर्वमुत्पन्नौ मिलितौ नहि ।

अतो हि भगवानत्र मेलयामास सर्वथा ॥६॥

कारिकार्थ—शीत और उष्ण ज्वर तो पूर्व ही पृथक् उत्पन्न हुवे हैं, साथ में नहीं हैं, यहाँ तो ज्वर शिव की कला रूप तामस हुवा है अतः भगवान् ने सर्व प्रकार से उनका मेल कराया है ॥६॥

आमास—पूर्वाध्यायान्ते बन्धनमुक्तम् । एवं शोणितपुरकथायां जातायां द्वारका-कथा वक्तव्येति हेतुत्वेन पूर्वोक्तां कथामाह अपश्यतां चानिरुद्धमिति ।

१—शङ्का अर्थात् भय, इस को मिटाने के लिये अन्य देवों पर विजय पाने की कथा का निरूपण किया है ।



आभासार्थ — पूर्व अध्याय के अन्त में अनिरुद्ध के बन्धन की कथा कही है, इस प्रकार शोणितपुर की कथा हो जाने पर अब द्वारका में क्या हुआ वह कहना चाहिये, इस कारण वहाँ जो प्रथम हुआ वह 'अपश्यतां' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—अपश्यतां चानिरुद्धं तद्वन्धूनां च भारत ।

चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरनुशोचताम् ॥१॥

श्लोकार्थ—हे भारत; वर्षा ऋतु के चार मास बीत गये, किन्तु अनिरुद्धजी का कहीं भी पता न लगा जिससे उसके बान्धव शोक कर रहे थे ॥१॥

सुबोधिनी—चकारेण गमनप्रकारज्ञानादयः सङ्गृहीताः । अनिरुद्धोऽपि चेन्निरुद्धः, तदा सर्वमन्यथा भविष्यतीति शोकः तद्वन्धूनाम्, चकारादन्येषाम् । भारतेति विश्वासार्थम् । तूष्णीभावे हेतुः चत्वारो वार्षिका मासा व्यतीयुरिति ।	वर्षायां युद्धादिगमनं बाधितमिति । अनुशोचतामिति यन्तः तदेकपरत्वम् । अप्रसिद्धत्वाल्लौकिकप्रकारेण न प्रमाणं सिद्धमित्यन्वेषणोऽपि नोपलब्धिः ॥१॥
--	---

व्याख्यार्थ — 'च' पद से किस प्रकार अनिरुद्ध गया जिसका भी सङ्ग्रह किया है अर्थात् उसके जाने के प्रकार को जानना चाहा किन्तु जान नहीं सके, अनिरुद्ध का भी यदि निरोध हो जावे तो सब अन्यथा हो जायगा, इसलिये शोक उसके बान्धवों को तो हुआ किन्तु दूसरों को भी हुआ यह दूसरा 'च' पद देकर कहा है, भारत ! यह सम्बोधन विश्वासार्थ कहा है, जब पता न लगा तो चुप क्यों बैठ गये ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि वर्षा ऋतु थी जिससे उस ऋतु में युद्धादि के लिये जाने का निषेध है अतः वर्षा के चार मास यों ही चले गये, किन्तु सर्व का उसमें प्रेम था इसलिये सब शोक कर रहे थे, किस प्रकार गया, इसकी प्रसिद्धि न होने से लौकिक प्रकार से उसका कोई प्रमाण (सबूत) न मिल सका, इसलिये ढूँढ़ने पर भी पता न लगा ॥१॥

आभास—अतो नारदवाक्याद्वैष्णवप्रीत्यर्थं कलहार्थमुद्यता इत्याह नारदादिति ।

आभासार्थ—अतः नारदजी के वाक्य से, शोकमग्न वैष्णवों को प्रसन्न करने के लिये, युद्ध के लिये प्रवृत्त हए, 'नारदात्' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—नारदात्तदुपाकर्ण्य वार्ता बद्धस्य कर्म च ।

प्रययुः शोणितपुरं वृष्णयः कृष्णदेवताः ॥२॥

श्लोकार्थ—अनिरुद्ध के कर्म तथा बान्धे जाने का समाचार नारदजी से सुन कर, कृष्ण है देव जिनका, ऐसे यादव शोणितपुर गये ॥२॥

सुबोधिनी—तद्वृत्तान्तं फलितं वा । वार्ता । सह रमणम् । चकाराद्युद्धं च । ततः शोणितपुरं आदितः कथां बद्धस्य वार्ताम् । कर्म च । तत्कन्यया । प्रययुः युद्धार्थम् । ननु महादेवाधिष्ठितं तत्, अतस्त-	सह रमणम् । चकाराद्युद्धं च । ततः शोणितपुरं आदितः कथां बद्धस्य वार्ताम् । कर्म च । तत्कन्यया । प्रययुः युद्धार्थम् । ननु महादेवाधिष्ठितं तत्, अतस्त-
---	--



द्विरोधसम्भवात् कथं गता यादवा इत्याशङ्क्याह । अनेन सामर्थ्यमपि द्योतितम् ॥२॥
कृष्णदेवता इति । कृष्ण एव देवता येषाम् ।

व्याख्यार्थ—अनिरुद्ध का वृत्तान्त, और बन्धन, प्रारम्भ से कथा अर्थात् वहां ले जाना, बाणासुर की कन्या से रमण एवं युद्ध पश्चात् बन्धन आदि नारदजी से सुन कर, युद्ध के लिये शोणितपुर गये, वह शोणितपुर महादेव से रक्षित है उनसे विरोध होने का सम्भव होने से वहां यादव कैसे गये ? इस शङ्का के मिटाने के लिये कहा है कि 'कृष्ण देवताः' यादवों के रक्षक-देव श्रीकृष्ण हैं अतः उनमें किसी से भी लड़कर जीत जाने की सामर्थ्य है इसलिये निःशङ्क होके गये ॥२॥

आभास—लौकिकं सामर्थ्यं वक्तुं महतां नामानि गृह्णाति प्रद्युम्न इति ।

आभासार्थ—लौकिक सामर्थ्य भी है, यह कहने के लिये महत्पुरुषों के नाम 'प्रद्युम्नो' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—प्रद्युम्नो युयुधानश्च गदः साम्बोऽथ सारणः ।

नन्दोपनन्दभद्राद्या रामकृष्णानुवर्तिनः ॥३॥

अक्षौहिणीभिर्द्वादशभिः समेताः सर्वतो दिशम् ॥३॥

रुधुर्बाणनगरं समन्तात्सात्वतर्षभाः ॥४॥

श्लोकार्थ—राम, कृष्ण के अनुयायी प्रद्युम्न, सात्यकि, गद, साम्ब, सारण, नन्द, उपनन्द और भद्र आदि यादवों ने बारह अक्षौहिणी सेना ले बाणासुर के पुर को चारों ओर से घेर लिया ॥३-४॥

सुबोधिनी—युयुधानः सात्यकिः । गदो बल-
भ्राता । साम्बः भगवत्पुत्रः । एते महारथाश्चत्वारः
मुख्या गणिताः अथ भिन्नप्रक्रमेण प्रकीर्णकान्
गणयति अथेति । चकारात्तदीयाः सारणादयो
भगवद्भ्रातरः । तेऽपि चत्वारो गणिताः । एव-
मष्टविधा आदिभूता येषां मुख्यानां गौणानां च ।
सर्व एव रामकृष्णानुवर्तिनः, नतूद्धताः, स्वतन्त्रा

वा । उभयोर्ग्रहणं सम्पूर्णशक्त्यर्थम् । तेषां
स्वाभाविकं बलं द्वादशाक्षौहिणीयुतम् । समेता
मिलिताः अन्योन्यवेमनस्यं परित्यज्य सर्वतो दिशं
रुधुः । बाणनगरमिति प्रसिद्धम् । समन्तादिति ।
न क्वचित्सेनाया विच्छेदः, । सात्वतर्षभा इति ।
न तेषां कुचिद्भयमिति सूचितम् ॥३॥४॥

व्याख्यार्थ—सात्यकि, बलभद्र का भ्राता गद भगवान् का पुत्र साम्ब और प्रद्युम्न ये चार मुख्य महारथी गिनाये 'अथ' पद से भिन्न प्रक्रम से सामान्य यादवों को गिनते हैं, और 'च' से भगवान् के सारण आदि भ्राताओं को कहा है वे भी चार सारण, नन्द उपनन्द और भद्र आदि गिने हैं. इस प्रकार मुख्य तथा गौणों में आठ प्रकार के आगेवान कहे हैं, सब ही रामकृष्ण की आज्ञानुसार चलने वाले थे कोई भी उद्धत वा स्वतन्त्र नहीं था. दोनों को इसलिये कहा जिससे सम्पूर्ण शक्ति का

ज्ञान हो जावे, उनकी स्वाभाविक बारह अश्विहिणो सेना है वह सेना ले आये, सब परस्पर का वैमनस्य छोड़ एक होके, बाणासुर के नगर को सब तरफ से घेर लिया, कहीं-भी सेना का विच्छेद न हुआ 'सात्वतर्षभा' पद से यह बताया है, यादवों में श्रेष्ठ हैं जिससे उनकी निर्भयता प्रकट की है ॥३-४॥

आभास—गतमात्राः पूर्वमेव तदपराधस्य सिद्धत्वात् परितो नाशयाश्चक्रुरित्याह
भज्यमानेति ।

आभासार्थ - बाणासुर ने जो अपराध किया, वह तो पहले ही सिद्ध हो चुका था इसलिये जाते ही चारों तरफ नाश करने लगे, जिसका वर्णन 'भज्रमान' श्लोक से कहते हैं -

श्लोक—भज्यमानपुरोद्यानप्राकाराट्टालशोपुरम् ।

प्रेक्षमाणो रुषाविष्टस्तुल्यसैन्योऽभिनिर्ययौ ॥५॥

श्लोकार्थ—चारों तरफ पुर, बगीचे, गढ़, कोठे और दरवाजे टूटने लगे, यह देख बाणासुर कोपविष्ट हो उतनी ही सेना ले बाहर आया ॥५॥

सुबोधिनी—पुराणि मध्यखण्डाः, यथा महा-
नगरेष्ववान्तरपुराणि भवन्ति । उद्यानमुपवनम् ।
प्राकारः आवरणम् । अट्टालाः सौवगृहोपरिभागाः ।
गोपुरं पुरद्वारम् । एतानि भज्यमानानि यस्य
नगरस्य । भगवदीयैः कृतं स्वनगरं तथाविधं दृष्ट्वा

स्वप्रौढिख्यापनार्थं तुल्यमेव बलं गृहीत्वा अभि-
निर्ययौ नगरात् । होनबलत्वे अप्रतिष्ठा स्यात् ।
अधिकबलत्वे पलायनं सम्भाव्य तन्निषेधार्थं तुल्य-
बल एव निर्गतः ॥५॥

व्याख्यानार्थ—नगर के बीच वाले खण्डों^१ को, जैसे बड़े नगरों में बीच में छोटे छोटे पुर होते हैं, फुलवारियाँ, कोट, महलों में ऊपर बने हुए कोठे, नगर के द्वार, इनको भगवदीयों द्वारा टूटता हुआ देख अपनी वीरता दिखाने के लिये उतनी ही सेना लेकर नगर से बाहिर आया, जो सेना कम ले आवे मान कम हो जावे, अधिक सेना ले आवे तो, कदाचित् यादव भाग जावे, इसलिये समान सेना ले आया ॥५॥

ग्रामास—ततो भ्रान्तः स इति मत्वा कृष्णस्तत्र रक्षकः । ततः कोऽपि न हतो भविष्यतीति स्वयमप्यत्र पाष्णिग्राहो जातः शिव इत्याह बाणार्थमिति ।

आभासार्थ— शङ्कर भगवान् ने समझ लिया कि श्रीकृष्ण जिनके रक्षक हैं, उनको यह मार न सकेगा, इसलिये यह भूला है क्योंकि मूर्ख है अतः इसकी रक्षा के लिये स्वयं शिव शत्रु बन कर आये-जिसका वर्णन 'बाणार्थ' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—बाणार्थं भगवान् रुद्रः समुतः प्रमथौवृ तः ।

आरुह्य नन्दिवृषभं युयुधे रामकृष्णयोः ॥६॥

श्लोकार्थ—बाणासुर के लिये भगवान् शङ्करजी आप, अपने पुत्र तथा पार्षदों को संग ले नन्दी पर सवार हो राम कृष्ण से युद्ध करने के लिये आये ॥६॥

सुबोधिनी—मिथ्यात्वाय भगवत्त्वम् । रुद्र इति रुद्रोगान् द्रावयतीति । समुतः कार्तिकेय-सहितः । तेन सर्वेऽपि देवाः अत्र समागता इति बोद्धव्यम् । स हि चमूपतिः । प्रमथ्यवृत्त इति स्वभूतगणावृतत्वमुक्तम् । दैत्यत्वाद्बाणस्य दैत्याः

सहजाः । अनेनैकत्र भगवान् संवत्सरात्मककाल-सहिता, अन्यत्र सर्व एवेति बहुत्वमप्रयोजकत्वं चोक्तम् । आरुह्य नन्दिवृषभमिति । स्वस्य वृद्धं बलवदमारुह्य, नाट्यमिव कुर्वन्, रामकृष्णयोर्यु-युधे, ताभ्यां सह । वस्तुतस्तयोरेवायम् ॥६॥

व्याख्यानार्थ—रुद्र का विशेषण 'भगवान्' पद देकर यह सिद्ध किया है कि यह रुद्र बनावटी नहीं है किन्तु साक्षात् स्वयं है. 'रुद्र' पद से यह बताया है कि रोगों को नाश करने वाले होने से यह रोग भी मिटा देंगे, अकेले नहीं आये है किन्तु अपने पुत्र कार्तिकेय के साथ आये हैं जिसका भावार्थ है कि सर्व देव भी आये हैं क्योंकि कार्तिकेय देवताओं के सेनापति हैं, जहां सेनापति लड़ने जावे वहां सेना तो अवश्य जायेगी ही, देवगण तो थे किन्तु महादेवजी, अपने भूतगणों से भी आवृत्त थे, बाण दैत्य है अतः वे भूत गण इसके सहज साथी हैं, इससे एक तरफ संवत्सरात्मक काल सहित भगवान् और दूसरी तरफ सब ही थे किन्तु यह बहुत कामका नहीं था, अपने बूढ़े नन्दी पर सवार हो मानो नाट्य करते हों यों राम कृष्ण के साथ युद्ध करने लगे, वास्तविक तो शिवजी उन दोनों (रामकृष्ण) के ही हैं ॥६॥

आभास—ततो युद्धं वर्णयति द्वाभ्याम् आसीदिति ।

आभासार्थ—'आसीत्' इन दो श्लोकों से युद्ध का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—आसीत्सुतुमुलं युद्धमद्भुतं रोमहर्षणम् ।

कृष्णशङ्करयो राजन्प्रद्युम्नगुहयोरपि ॥७॥

कुम्भाण्डकूपकर्णाभ्यां बलेन सह संयुगः ।

साम्बस्य बाणपुत्रेण बाणेन सह सात्यकेः ॥८॥

श्लोकार्थ—आपस में बड़ा तुमुल (भयंकर) युद्ध ऐसा होने लगा जिसको देख रोयें खड़े हो गये, हे महाराज ! श्रीकृष्ण और महादेवजी का, प्रद्युम्न और स्वामि-कार्तिक का, कुम्भाण्ड और कूपकर्ण दोनों का बलरामजी के साथ, सांब और बाणा-सुर के पुत्र का, बाणासुर और सात्यकि का द्वन्द्व युद्ध होने लगा ॥७-८॥



सुबोधिनी—सुतुमुलमत्यधिकं निरन्तरशस्त्र-
पातसहितम् । रोमहर्षणं श्रुते रोमाश्चो भवतीति ।
विशेषत आह कृष्णशङ्करयोरिति । राजन्निति
कदाचिन्महान्तोऽपि युद्धं कुर्वन्तीति । प्रद्युम्न-

गुह्योः उभयोः पुत्रयोः । कुम्भाण्डकूपकणौ दैत्य-
सिद्धौ । उभाभ्यां बलेन सह संयुगः । साम्बस्य
बाणपुत्रेणैव । बाणपुत्र इत्येव प्रसिद्धिः, न तु
नाम्नेति । बाणेन सह सात्यकिमहारथः ॥७॥

व्याख्यार्थ— यह युद्ध ऐसा भयङ्कर होने लगा जिसमें निरन्तर शस्त्रपात हो रहा था, सुनते ही रोंचे खड़े जो जाते हैं । किनका किनसे युद्ध हुआ जिसका वर्णन करते हैं कि, श्रीकृष्ण और शङ्कर से, हे राजन् ! संबोधन से बताया है, कि कदाचित् महान् भी युद्ध करते हैं, प्रद्युम्न श्रीकृष्ण के पुत्र और कार्तिकेय श्री शिव के पुत्र दोनों की लड़ाई होने लगी, कुम्भाण्ड और कूपकण दोनों की, बलभद्र के साथ, ये दैत्य और सिद्ध थे, बाण के पुत्र के साथ साम्ब को हुई, बाण के पुत्र का नाम प्रसिद्ध नहीं है केवल बाण पुत्र ही कहा जाता है, बाणासुर के साथ महारथी सात्यकि भिड़ गये ॥७-८॥

आभास—पञ्चद्वन्द्वान्युक्त्वा तस्य युद्धस्य सर्वोत्कर्षं वक्तुं ब्रह्मादीनामप्याश्चर्या-
दर्शनमित्याह ब्रह्मादय इति ।

आभासार्थ— ऊपर के श्लोक में पांच जोड़ों की आपस में युद्ध हुआ कहकर अब वह ऐसा सर्वोत्कृष्ट युद्ध हुआ जिसको देख ब्रह्मादिकों को भी आश्चर्य होने लगा, जिसका वर्णन 'ब्रह्मादयः' श्लोक में करते हैं —

श्लोक—ब्रह्मादयः सुराधीशा मुनयः सिद्धचारणाः ।

गन्धर्वाप्सरसो यक्षा विमानैर्द्रष्टुमागमन् ॥९॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मा आदि देवों के स्वामी, मुनिगण, सिद्ध, चारण, गन्धर्व, अप्सराएँ और यक्ष विमानों में बैठ देखने के लिये आये ॥९॥

सुबोधिनी—देवानामीशा इन्द्रादयः । मुनयः
सनकादयः । सिद्धाः कपिलादयः । एते त्रिविधा
उत्तमाः । सिद्धचारणाः गन्धर्वाप्सरसो यक्षाश्चेति

त्रिविधा निकृष्टाः । एवं षड्विधेषु निरूपितेषु सर्व
एव निरूपिता भवन्ति । विमानैरागमन् युद्धा-
भिनिवेशेन देहविस्मरणोऽपि अपातार्थम् ॥९॥

व्याख्यार्थ— देवों के स्वामी इन्द्र आदि, सनकादि मुनिगण कपिल आदि सिद्ध, ये तीन उत्तम, सिद्ध, चारण, गन्धर्व अप्सराएँ और यक्ष थे निकृष्ट कोटि के हैं, इस प्रकार छ प्रकार के देवों के वर्णन से सर्वदा निरूपण किया है, अर्थात् सब प्रकार के देव विमानों से आये, जिसका कारण यह था कि युद्ध के देखने में लीन होने पर देह का भान भूल जाने से पतन न हो जावे ॥९॥

आभास—ततः प्रतिपक्षाणां खण्डनमाह शङ्करानुचरानिति ।

आभासार्थ — पश्चात् दोनों लड़ने वाले पक्षों का आपस में लड़ने का वर्णन 'शङ्करानुचरान्' श्लोक से तीन श्लोकों में करते हैं—

श्लोक—शङ्करानुचरान् शौरिर्भूतप्रमथगुह्यकान् ।

डाकिनीर्यातुधानांश्च वेतालान्सविनायकान् ॥१०॥

भूतमातृपिशाचांश्च कूष्माण्डान् ब्रह्मराक्षसान् ।

द्रावयामास तीक्ष्णाग्रैः शरैः शार्ङ्गच्युतैर्भूथम् ॥११॥

श्लोकार्थ—महादेवी के अनुचर (नौकर), जो भूत, प्रमथ, गुह्यक, डाकिनी, यातुधान, वेताल, विनायक प्रेत, मातृगण, पिशाच, कूष्माण्ड और ब्रह्मराक्षस हैं, उनको श्रीकृष्ण भगवान् ने शार्ङ्गधनुष से छूटे, तीक्ष्ण अनी वाले बाणों से मार भगाया ॥१०-११॥

सुबोधिनी—देवास्तु तदीया एवेति शङ्करानुचरा एव ताडिताः । यैः पूर्वं प्रतिज्ञा कृता । शौरिरिति पितृनाम्ना निर्देशः । भूताः प्रमथाः गुह्यका इति त्रयः । डाकिनीरित्यादि त्रयः ॥१०॥ भूतमातृपिशाचाश्च कूष्माण्डा ब्रह्मराक्षसाः

विनायकाश्चेति द्वादशधा भवन्ति । तान् सर्वानेव कालग्रस्तान् तीक्ष्णाग्रैः शरैः शार्ङ्गच्युतैरिति समर्थैर्हेतुभिः कृत्वा भृशं द्रावयामास । तत्प्रहारैर्व्यथिताः पलायनपरा जाताः ॥११॥

व्याख्यानार्थ — देव तो अपने ही हैं, इसलिये शङ्कर के इन अनुचरों को ही मारने लगे, जिनने प्रथम प्रतिज्ञा की थी, 'शौरि' नाम पिता के नाम से निर्देश करने के लिये दिया है, भूत, प्रमथ और गुह्यक ये तीन और डाकिनी आदि तीन, भूत, मातृगण, पिशाच, कूष्माण्ड, ब्रह्म राक्षस और विनायक, इसी तरह ये बारह प्रकार के महादेव के गण हैं, कालग्रस्त इन सबों को; शार्ङ्गधनुष से फेंके हुए तीखी अनी वाले, समर्थ बाणों से बहुत दूर भगाने लगे, क्योंकि, बाणों के प्रहारों से व्यथित हो गये थे इसलिये ये भागने लगे ॥१०-११॥

श्लोक—पृथग्विधानि प्रायुङ्क्त पिनाकयस्त्राणि शार्ङ्गिणे ।

प्रत्यस्त्रैः शमयामास शार्ङ्गपाणिरविस्मितः ॥१२॥

श्लोकार्थ—महादेवजी पिनाक धनुष में अस्त्रों को चढ़ा कर श्रीकृष्ण पर फेंकने लगे, किन्तु शार्ङ्गधनुषधारी भगवान् कृष्ण ने अचम्भे में न पड़ कर हर एक अस्त्र को अपने अस्त्रों से शान्त कर दिया ॥१२॥

सुबोधिनी—ततो भृत्येषु निवृत्तेषु पिनाकी पिनाकेन पृथग्विधान्यस्त्राणि शार्ङ्गिणे भगवते प्रायुङ्क्त । आदौ तुल्यतानिरूपणार्थं धनुर्द्वयग्रहणम् । भगवान् पुनस्तस्य निराकरणमेव कृतवान्,

न तु तं दूरीकृतवानित्याह प्रत्यस्त्रैरिति । लौकिक-त्वाय शार्ङ्गपाणिरिति । अविस्मित इति जयेज्पि गर्वाभाव उक्तः । लौकिकाभिनिवेशद्योतकः ॥११-१२॥

व्याख्यान — महादेवजी ने देखा मेरे भृत्य भाग गये तब स्वयं महादेव अपने पिनाक धनुष से अनेक प्रकार के अस्त्र भगवान् पर फेंकने लगे, आदि में समानता दिखाने के लिये दो धनुष का ग्रहण कहा है, भगवान् ने उसका निराकरण ही करा दिया है न कि उनको दूर किया, जिसका वर्णन करते हैं 'प्रत्यस्त्रैः' हर एक अस्त्र का अस्त्र से निराकरण किया है, युद्ध लौकिक होने से, शार्ङ्ग धनुष को भगवान् ने हस्त में धारण किया है, अस्त्र को निराकरण कर जय प्राप्त की, तो भी गव नदी, इत्यादि 'अविस्मितः' विशेषण दिया है, यह लौकिक आग्रह का द्योतक (प्रकट करने वाला) है ॥१२॥

आभास—विशेष आह ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्रमिति ।

आभासार्थ—विशेष वर्णन ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्र' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—ब्रह्मास्त्रस्य च ब्रह्मास्त्र वायव्यस्य च पार्वतम् ।

आग्नेयस्य च पार्जन्यं नैजं पाशुपतस्य च ॥१३॥

श्लोकार्थ—ब्रह्मास्त्र को ब्रह्मास्त्र से, वायव्य को पर्वतास्त्र से अग्निअस्त्र को वर्षा के अस्त्र से, पाशुपत अस्त्र को नारायण अस्त्र से शान्त कर दिया ॥१३॥

सुबोधिनी—चकारात्सर्व एव ब्रह्मास्त्रभेदा गृहीताः । नात्र पूर्वात्परबलीयस्त्वम्, किन्त्वस्त्राभिज्ञानं बलं च प्रयोजकमिति लौकिकेऽपि भगवदुत्कर्ष एव । वायव्यस्य चेत्यत्रापि तथा । पार्वतास्त्रमेव तस्य निवारकम् । वायोर्वाय्वन्तरस्य निवारकत्वाभावात् । आग्नेयस्य च पार्जन्यम्, जलेनैवाग्निः शाम्यतीति । षष्ठ्यन्तस्य शमनार्थं

प्रथमान्तं प्रायुङ्क्तेति योजना । पृथग्विधानि प्रायुङ्क्तेत्यत एवानुवृत्तिः । नैजं नारायणास्त्रं पाशुपतस्य निराकरणार्थं प्रायुङ्क्तेति । दृष्ट एवान्धकारस्य निवारकः सूर्यः, तथैव सत्त्वं तमसः । चकारेणावान्तराण्यस्त्राण्यपि परिगृहीतानि ॥१३॥

व्याख्यान — श्लोक में प्रथम 'च' से सब प्रकार के ब्रह्मास्त्र कहे, यहाँ पहले से पीछे वाले बलवान् नहीं है, किन्तु अस्त्र का पूर्ण ज्ञान और बल ही इसमें प्रयोजक है, इसलिये लौकिक में भी भगवान् का उत्कर्ष दिखाया है, वायव्यास्त्र में भी उसके सर्व प्रकार समझने चाहिये, उसका पार्वतास्त्र ही निवारक है, वायु को दूसरी वायु नहीं मिटा सकता है—आग्नेय अस्त्र का जलास्त्र निवारक है क्योंकि अग्नि जल से ही शान्त होती है, षष्ठी विभक्ति के अन्त वाले अस्त्र के शमनार्थ प्रथमान्त अस्त्र को काम में लाया है, यों योजना करनी चाहिये, पृथक् पृथक् प्रकार के अस्त्र चलाये गये, इस कारण से ही अनुवृत्ति, अर्थात् योजना समझनी चाहिये, पाशुपत अस्त्र के निवारण करने के लिये अपना नारायणास्त्र काम में लाए, अन्धकार को मिटाने वाला सूर्य ही देखा गया है, वैसे तम का मिटाने वाला सतोगुण ही है 'च' से अन्य प्रकार के अस्त्र भी बीच में चलाये गये समझने चाहिये ॥१३॥

श्लोक—मोहयित्वा तु गिरिशं जृम्भणास्त्रेण जृम्भितम् ।

बाणस्य पृतनां शौरिर्जघानासिगेदधुभिः ॥१४॥



श्लोकार्थ— जूम्भणास्त्र से महादेवजी को मोहित किया तब वे उबासी खाने लगे, उस समय भगवान् खड्ग, गदा और बाणों से बाणासुर की सेना का संहार करने लगे ॥१४॥

सुबोधिनी— ततः क्षीणास्त्रं जूम्भणास्त्रेण मोहयामास । जूम्भणाख्यो गणस्तृतीये निरूपतिः । तदस्त्र तद्दैवत्यम् तुशब्दस्तु मोहाभावपक्षं व्यावर्तयति । तत्र हेतुः गिरिशमिति । महामोहः पर्व-तेष्वेव प्रतिष्ठितः । जूम्भितमिति देवताया अनुभावो	दर्शितः । अन्यथा अलौकिकप्रकारेण मोहसम्भावना स्यात् । ततो महादेवे मोहात्परावृत्ते तूष्णींभूते शयाने प्रतिकूले वा । ततो बाणस्य पृतनां शौरिर्जघान । लौकिकप्रकारेण असिगदे-षुभिः सर्वथा छेदकमारकाल्पच्छेदकैः ॥१४॥
--	---

व्याख्यान— महादेव के अस्त्र जब समाप्त हो गये तब भगवान् ने जूम्भणास्त्र से महादेव को मोह में डाल दिया, (अर्थात् मोहित बेहोश) कर दिया, जूम्भण नाम के गण का वर्णन तृतीय स्कन्ध में कहा है, जैसा अस्त्र वैसा उसका देवता है, 'तु' शब्द मोह के अभाव पक्ष को मिटाता है, अर्थात् इस जूम्भणास्त्र से महादेव को मोह हो सकता है, और हुआ है - जिसमें कारण कि महादेव पर्वतों का स्वामी है, इसलिये जब महा मोह पर्वतों में ही रहता है, तो, उनके ईश में मोह होना तो स्वयं सिद्ध है महादेव को उबासियाँ आने लगीं यह देवता का प्रभाव दिखाया है, नहीं तो अलौकिक प्रकार से मोह की संभावना होती, पश्चात् महादेव मोह से युद्ध से लोटते, न मौन धारण करते अथवा शयन करते यों युद्ध से विरुद्ध हो जाते, अनन्तर भगवान् बाण की सेना का नाश करने लगे, वह भी लौकिक प्रकार से जैसा कि तलवार, गदा और बाणों से काटना, मारना अल्प काटना आदि प्रकार से नाश किया ॥१४॥

आभास— तत एवं भगवद्युद्धमुक्त्वा, तथान्येषामाह स्कन्द इति ।

आभासार्थ— इस प्रकार भगवान् के युद्ध का वर्णन कर पश्चात् दूसरों के युद्ध का वर्णन 'स्कन्द' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक— स्कन्दः प्रद्युम्नबाणौघैरर्द्यमानः समन्ततः ।

असृग्विमुञ्चन् गात्रंभ्यः शिखिनापाक्रमद्रणात् ॥१५॥

श्लोकार्थ— स्वामीकार्तिक, प्रद्युम्न के बाण समूहों से पीड़ित होने से, उनके चारों ओर से शरीर से रक्त बहने लगा तब मयूर पर बैठ रण से भाग गये ॥१५॥

सुबोधिनी— बाणसमूहैरर्द्यमानः असृग्विमुञ्चन् मूर्च्छित इव शिखिना हेतुना कृत्वा रणादपा-	क्रमतः । मयूरस्तं गृहीत्वा पलायित इत्यर्थः ॥१५॥
---	--

व्याख्यान— बाण समूहों से पीड़ित, रक्त बहाते हुए मूर्च्छित जैसे मयूर द्वारा रण से भाग गये, (मयूर उनको लेकर भाग गया) ॥१५॥



आभास—बलभद्रस्तु विचाराभावात् मारितवानेवेत्याह कुम्भाण्ड इति ।

आभासार्थ— बलभद्रजी ने बिना विचार के मार ही डाला यह 'कुम्भाण्ड' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक— कुम्भाण्डः कूपकर्णश्च पेततुमुशलादितौ ।

दुद्रुवुस्तदनीकानि हतनाथानि सर्वतः ॥१६॥

श्लोकार्थ—मूशल से पीड़ित कुम्भाण्ड और कूपकर्ण दोनों गिर गये, नाथों के मरने पर उनकी सेनाएँ चारों ओर से भागने लगी ॥१६॥

सुबोधिनी—मुशलेन पीडितौ द्विधा विदीर्णौ । तयोरनीकानि । तौ हि सेनापती, हतौ नाथौ । सकृत्प्रहारेणैव अग्रमध्यभागभेदेन पेततुः भूमौ येषाम् । सर्वत इति केचिद्भ्रामाद्भगवत्कटकैऽपि मृतावेव । तत्स्पष्टं ज्ञापयति दुद्रुवुस्तदनीकानीति । गता इति वैक्लव्यं प्रदर्शितम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ— मूशल से पीड़ित वे दोनों एक ही प्रहार से, आगे और बीच के मध्य भाग में दो टुकड़े होते ही पृथ्वी पर गिरे, वहाँ ही मर गये वे दोनों सेनापति थे, उनके मरने से सेना अनाथ होने के कारण चारों ओर भागने लगी, कितने ही सैनिक भ्रम से भगवान् की सेना में चले गये यों उनकी व्याकुलता दिखाई ॥१६॥

आभास—एव तयोर्वधे बाण स्वयमागत इत्याह विशीर्यमाणमिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार उन दोनों के मरने पर बाण स्वयं आया जिसका वर्णन 'विशीर्य-माण' श्लोक से करते हैं—

श्लोक— विशीर्यमाणं स्वबलं दृष्ट्वा बाणोऽत्यमर्षणः ।

कृष्णमभ्यद्रवत्संख्ये रथी हित्वैव सात्यकिम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—अपनी सेना को तितर बितर हुई देख, बाणासुर अति क्रोधित हो, सात्यकि से न लड़ श्रीकृष्ण से लड़ने के लिये रथ में बैठ कर आया ॥१७॥

सुबोधिनी— सामान्ययुद्धं परित्यज्य विशेषतः । न करिष्यामीति । अन्यथा तेन प्रतिरुद्धः स्यात् । कथं युद्धं करोतीति क्रोधः । ततः सात्यकिं हित्वैव । अलौकिकं प्रकारं प्रदर्शयिष्यामीति लौकिकपरि- कृष्णमभ्यद्रवत् । अत्र त्यागोऽहं त्वया सह युद्धं । त्यागः ॥१७॥

व्याख्यार्थ— बाणासुर को क्रोध इसलिये हुआ कि सामान्य प्रकार में युद्ध करना छोड़, विशेष प्रकार से करने लगे, इस कारण से सात्यकि का त्याग कर, कृष्ण पर आक्रमण करने लगा, त्याग का भावार्थ यह है, कि बाण ने सात्यकि को दिखा दिया, कि मैं तुझ से न लड़ूँगा, यदि लड़ूँ तो श्रीकृष्ण से लड़ने में रुकावट पड़ेगी, अतः अलौकिक प्रकार के दिखाने के लिये लौकिक प्रकार का त्याग किया । १७॥

आभास—तस्य तं प्रकारमाह धनूष्याकृष्येति ।

आभासार्थ— उसका वह प्रकार 'धनूष्याकृष्य' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—धनूष्याकृष्य युगपद्बाणः पञ्चशतानि वै ।

एकैकस्मिन्शरी द्वौ द्वौ संदधे रणदुर्मदः ॥१८॥

श्लोकार्थ—रण में मदोन्मत्त बाणासुर ने एक साथ पांच सौ धनुष खेंच, एक एक धनुष में दो दो तीर चढ़ाये ॥१८॥

सुबोधिनी—साधनानां बहुत्वेऽपि प्रयत्न एक एवेति तस्य शीघ्रता श्लाघ्यते । युगपद्धनूष्या-कृष्य, बाणासुरः पञ्चशतानि योजयित्वा । आकृष्य धनुःपरीक्षा कृत्वा । एकैकस्मिन् धनुषि एकेन हस्तेन द्वौ द्वौ शरी संदधे । तदैकदा सहस्रं बाणा

भवन्ति । ननु किमित्येवमेकदैव बहुसाधनप्रक्षपं करोतीत्याह रणदुर्मद इति । रणे दुष्टो मदो यस्येति । न हि मत्तः संबद्धं करोति । सुतरां दुष्टो मत्तः ॥१८॥

व्याख्यार्थ— साधनों के बहुत होते हुए भी प्रयत्न एक किया जिससे कार्य शीघ्र हो जाय, इसलिये उसकी प्रशंसा की जाती है, साथ में ही सब धनुषों को खींचा, अर्थात् उनको परीक्षा कर ली कि कार्य करने योग्य है वा नहीं ? जब समझा कि इनमें कोई भी त्रुटि नहीं तब बाणासुर एक ही काल में पांचसौ धनुषों में दो दो बाण डाल कर धनुष तैयार किये, तब एक ही समय हजार बाण होते हैं, इस प्रकार एक ही समय में बहुत बाणों को फेंकने का यत्न क्यों किया ? जिसका उत्तर देते हैं, कि रण में उसका मद दुष्ट है, इसलिये मत्त पुरुष संबद्ध (उचित) कार्य नहीं करता है, कारण कि, मत्त स्वभाव से ही दुष्ट होता है ॥१८॥

आभास—अल्पेनैव निराकरणमाह तानि चिच्छेदेति ।

आभासार्थ— थोड़े से ही निराकरण किया, यह 'तानिचिच्छेद' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तानिचिच्छेद भगवान्धनूषि युगपद्धरिः ।

सारथि रथमश्वांश्च हत्वा शङ्खमपूरयत् ॥१९॥

श्लोकार्थ—हरि भगवान् ने वे पांच सौ धनुष एक साथ ही काट डाले, और सारथी, रथ तथा घोड़ों को मार कर 'पश्चात् शङ्खनाद किया ॥१९॥

सुबोधिनी—युगपदेकबाणेन कमलिनीशतपत्र-वेधवत् सर्वाण्येव धनूषि छिन्नानि । ततः सारथि रथमश्वांश्च । तेनैव न क्षतमात्रं बाणकार्यम्, किन्तु हत्वा । ततोऽपि युद्धादनिवृत्तं वीक्ष्य

तदन्तःकरणो भयजननार्थं शङ्खमपूरयत् । 'यस्य ध्वनिर्दानिवदर्पहन्ते'ति । ततो भीतः पलायनेऽप्य-शक्तः लज्जया रिपोः स्वपश्चाद्भागमदर्शयन् तथैव स्थितः ॥१९॥

व्याख्यार्थ— एक ही बाण से पांच सौ धनुषों की कमलिनी के एक सौ पत्रों के वीधने के समान छिन्न भिन्न कर दिये, पश्चात् सारथी, रथ और घोड़ों को नष्ट किया, बाण का कार्य इतना

ही नहीं था कि उनको क्षत करदे, किन्तु उनको पूर्ण रूप से मार डालना था अतः मार ही डाले, धनुष टूट जाने और सेना के नाश होते हुए भी युद्ध से निवृत्त न हुआ, तब उसके अन्तःकरण में भय पैदा करने के लिये शङ्ख की ध्वनि दानवों के दर्प का नाश करने वाली है, जैसा कि कहा है 'यस्यध्वनिर्दानवदर्पहन्ता' डर जाने के कारण भागने में भी असमर्थ होने से, लज्जित हुआ जिससे पीठ न दिखाता हुआ वैसे ही स्थित हो गया ॥१६॥

श्लोक— तन्माता कोटरा नाम नग्ना मुक्तशिरोरुहा ।

पुरोऽवतस्थे कृष्णस्य पुत्रप्राणरिरक्षयो ॥२०॥

श्लोकार्थ—उसकी माता 'कोटरा' नाम वाली पुत्र की रक्षा के लिये बालों को खोल कर एवं नग्न होके श्रीकृष्ण के सामने खड़ी हो गई ॥२०॥

सुबोधिनी—ततस्तस्य महादेवगणत्वे पार्वत्या अंशरूपा तस्य धर्मतो माता अभूत । गणमातृ-समाना, धात्री मातृतः, धर्ममातृतश्च विशिष्टा सा । ततः सा कचित्पार्वतीत्युक्ता पर्वतोद्भवा तदंशभूता वा, नाम्ना कोटरा, मातृगणे पठिता, 'कोटरा रेवती ज्येष्ठे' त्यत्रापि प्रसिद्धा, नग्ना भूत्वा

मुक्तशिरोरुहा पुत्रप्राणरिरक्षया कृष्णस्य पुरोऽव-तस्थे । अनेन तस्य देवसाहाय्यं द्योतितम् । धर्म-निष्ठा चोक्ता । अनेन गणमातेयमिति निरूपणात् साक्षाज्जननी या अशना, या वा तत्पत्नी विन्ध्या-वलिः, ते उभे निरस्ते ॥२०॥

व्याख्यार्थ— बाण महादेव का गण होने से उसकी कोटरा नाम वाली, मातृगण में प्रसिद्ध पार्वती की अंश रूपा धर्म से माता थी, गणमातृ समान होने से. धात्री माता से तथा धर्म माता से यह उत्तमा थी, इस कारण से इसको कहीं पार्वती भी कहा है, क्योंकि पर्वत से उत्पन्न होने से अथवा पर्वत से उत्पन्न पार्वती की अंशरूप होने से पार्वती कहा है, जहाँ मातृ गण का नाम कहे हैं वहाँ 'कोटरा, रेवती ज्येष्ठा' नाम प्रसिद्ध हैं, वह माता पुत्र की रक्षा करने की इच्छा से बालों को खोल कर नग्न हो कृष्ण के सामने खड़ी हो गई, यों करने का भावार्थ यह है कि इसको देव की सहायता है यह प्रकट किया, और इसकी धर्म में निष्ठा है यह भी प्रकाशित किया, यह गणमाता है यों निरूपण करने से, जो इसकी साक्षात् उत्पन्न करने वाली अशना थी वह और जो इसकी पत्नी विन्ध्यावलि थी वे दोनों ही निरस्ते हो गई ॥२०॥

श्रामास—तस्यास्तथाकरणेन यज्जातं तदाह ततस्तिर्यङ्मुख इति ।

श्रामासार्थ— उसके यों करने से जो हुआ, वह 'ततस्तिर्यङ्मुखो' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक— ततस्तिर्यङ्मुखो नङ्गामनिरीक्षणदाग्रजः ।

बाणश्च तावद्विरथश्छिन्नधन्वाविशत्पुरम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने मुख फिरा लिया जिससे उसको नंगा न देख सके, इतने में बाणासुर, विरथ हो के और धनुष टूट जाने से अपने पुर में चला गया ॥२१॥

सुबोधिनी—‘नग्नां स्त्रीं प्रकटस्तनो’ मिति निषेधात् अनिरीक्षन् तिर्यङ्मुखो जातः । किञ्च । गदाग्रजः । ततो भगवति परावृत्ते बाणश्च परा-

ङ्मुखो भूत्वा पुरमविशत् । पदातिः पलायितः । विरथश्छिन्नघन्वेति । चकारात्तदीयाः सर्व एव गताः ॥२१॥

व्याख्यानार्थ— शास्त्र में कहा है कि ‘नग्नास्त्रीं प्रकटस्तनो’ जिसके स्तन उत्पन्न हो गये हैं और जो नग्न है उस स्त्री को न देखे, अतः भगवान् ने मुख फेर लिया, और विशेष यह है कि आप गदाग्रज हैं, इसलिये भी यों करना योग्य है और पर स्त्री का नग्न दर्शन अमङ्गल करने वाला है, भगवान् के मुख फिरा देने पर बाण ने भी पराङ्मुख हो अपने पुर में प्रवेश किया पंदल सेना तो भाग गई आप भी विरथ हो गया और घनुष टूट गये, ‘च’ पद से बताया है कि सब ही चले गये ॥२१॥

आभास—एवंप्रथयुद्धमुक्त्वा, द्वितीयराजसयुद्धार्थं भगवच्छङ्करयोः प्रस्तावनामाह विद्राविते भूतगण इति ।

आभासार्थ— इस प्रकार पहला युद्ध कह कर अब द्वितीय राजस युद्ध के लिये भगवान् और महादेव के युद्ध को ‘विद्राविते’ श्लोक से प्रस्तावना करते हैं ।

श्लोक—विद्राविते भूतगणो ज्वरस्तु त्रिशिरास्त्रिपात् ।

अभ्यपद्यत दाशार्हं दहन्निव दिशो दश ॥२२॥

श्लोकार्थ—जब भूत गण भाग गये, तब तीन शिर तथा तीन पाँव वाला ज्वर, मानो दश दिशाओं को जलाता हुआ श्रीकृष्ण पर आया ॥२२॥

सुबोधिनी—यदेव भगवान् तिर्यङ्मुखः, तदेव स भावस्त्यक्त इति महादेवोऽपि मोहादुदगतः । तत आत्मविस्मरणात् साधनसेवकभूतानां भूतानां पलायनं दृष्ट्वा स्वस्य वैदिकभावेन आध्यात्मिकरूपं रुद्रं ज्वरं उत्पादयामासेत्याह । ‘रुद्रः पशुंश्छमायेते’त्यत्र रुद्रो ज्वर उक्तः । ‘न तस्य रुद्रः पशूनभिमन्यत’ इत्यत्रापि । वैदिकमार्गेणापि भगवता

सह युद्धं कर्तव्यमिति प्रवृत्त्यर्थं विद्राविते भूतगण इति । अत एव ज्वरोत्पत्तिरत्र नोक्ता । रूपान्तरात् रुद्र एव ज्वर इति । तुशब्दोऽन्यं ज्वरं व्यावर्तयति, स त्रिशिराः त्रिपाच्च । दाशार्हं शरणागत-रक्षामणि कोटराहितार्थं परावृत्तमभ्यपद्यत । स्वसामर्थ्यं प्रकटयन्निवाह दहन्निव दिशो दशेति ॥२२॥

व्याख्यानार्थ— जब भगवान् ने मुख फेर लिया अर्थात् लड़ने का भाव त्याग दिया, तब महादेव मोह से जगा, महादेव ने आत्म विस्मरण होने से जब देखा कि जो भूत साधन और सेवक बने थे, वे भाग गये हैं, तब वैदिक भाव से अपने आध्यात्मिक रूप, रुद्र ज्वर को उत्पन्न किया, ‘रुद्रः पशुंश्छमायेत’ इस वाक्य में रुद्र को ज्वर कहा है और ‘न तस्य रुद्रः पशूनभिमन्यत’ यहां रुद्र को ज्वर रूप कह कर ज्वर निवारकत्व कर्म कहा है वैदिक मार्ग से भी भगवान् के साथ युद्ध कर्तव्य है इसमें प्रवृत्ति कराने के लिये भूत गण भाग गया, यों कहा, इस कारण से ही ज्वर की उत्पत्ति यहां नहीं कही है, रूपान्तर से रुद्र ही ज्वर है ‘तु’ शब्द से दूसरे ज्वर का निषेध किया गया है, वह



तीन मस्तक वाला और तीन पांव वाला रुद्र ज्वर शरणागत की रक्षा करने में सबसे उत्तम भगवान् के पास आया, क्योंकि शरणागत कोटरा के कारण हो युद्ध से परावृत्त हुए थे, वह रुद्र ज्वर अपना सामर्थ्य दिखाने के लिये दश दिशाओं को मानो जलाता हुआ भगवान् के पास आया ॥२२॥

आभास—तदा भगवान् सर्वरूपोऽपि तन्निवारककर्मरूपं परित्यज्य, प्रकारान्तरेण पूर्वोत्पन्नं शीतं ज्वरं च योजयित्वा असृजदित्याह अथ नारायणो देव इति ।

आभासार्थ— तब सर्वरूप भी भगवान् ने उसके निवारक कर्म का त्याग कर दूसरे प्रकार से, पहले उत्पन्न हुवे शीत और रुद्र ज्वर दोनों को मिला कर, नारायण ज्वर उत्पन्न किया, जिसका वर्णन 'अथ नारायणो' दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—अथ नारायणो देवस्त दृष्ट्वा व्यसृजज्वरम् ।

माहेश्वरो वैष्णवश्च युयुधाते ज्वराबुधौ ॥२३॥

अलब्ध्वामयमन्यत्र भोतो माहेश्वरो ज्वरः ।

शरणार्त्रो हृषीकेशं तुष्टाव प्रयताञ्जलिः ॥२४॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने उस ज्वर को देख वैष्णव ज्वर को उससे लड़ने के लिये भेजा, तब माहेश्वर और वैष्णव दोनों परस्पर लड़ने लगे, जब वैष्णव ज्वर ने माहेश्वर को दबा लिया तब डरा हुआ माहेश्वर ज्वर दूसरी ठौर अपनी रक्षा होना न देख भगवान् की शरण आया और हाथ जोड़ भगवान् की स्तुति करने लगा ॥२३-२४॥

सुबोधिनी—तं ज्वररूपं महादेवं दृष्ट्वा । स ज्वरो रुद्रोऽष्टमूर्तेः शिवस्य कलारूपः 'यास्ते अग्ने घोरास्तनुवः क्षुब्ध । तृष्णा च । अस्तु क्वानाहुतिश्च । अशनाया च पिपासा च । सेदिश्चामतिश्च । एतास्ते अग्ने घोरास्तनुव' इति श्रुतेः । 'ताभिरमु गच्छ, योऽस्मान् द्वेष्टि, यं च, वयं द्विष्म' इति श्रुत्यर्थवशात् रुद्रेण प्रेरितास्तास्तनुव एकीभूताः ज्वरत्वमापन्ना भगवत्समीपं गताः । ततो नारायणो देवः पुरुषो यज्ञरूपः 'पुरुष ह वै नारायण' इति, तस्माद्देवतारूपमग्नि निःसारयितुं वृत्रादिवाग्नी-षोमी ज्वरं व्यसृजत् । श्रुतावपि 'इन्द्र आत्मनः शीतरोरावजनय' दित्यत्र आत्मा भगवानेव यज्ञः तत्प्रार्थनयैवासृजदिति । ततो ज्वरयोः परस्परं युद्धमासीदित्याह माहेश्वरो वैष्णवश्चेति । उभौ

प्रसिद्धौ । यथा विष्णुशिवौ पूर्वं युयुधाते, तथा तदोयावपीति । उभयोज्वरपत्वात् युद्धं समानम्, तथापि देवताया एव प्राबल्यात् माहेश्वरः वैष्णवेन बलेनादितः सम्यगाक्रन्दत्, रोदनं कुनवान् । रुद्र-प्रकृतित्वात् तामस एव पीडितो रोदिति, नेतरौ । कृतेऽपि रोदने तत्पीडायामनिवृत्तायां वैष्णवाद्धीतः स्वमूलभूतं पूर्वमेव पराजितं मत्वा शरणार्थी सन् हृषीकेशमेव शरणं गतः । अङ्गीकारार्थं तुष्टाव । हृषीकेशमिति भगवता तथैव प्रेरितः । किञ्च । अन्यत्रामयमलब्ध्वा पूर्वबाधां स्मृत्वा, भीतश्च । अङ्गीकारार्थं शरणार्थित्वम् । अन्तःकरणस्य तत्परत्वमनेन निरूपितम् । प्रयताञ्जलिरिति कायिको व्यापारो नम्रत्वरूपः ॥२४॥



व्याख्यानार्थ — ज्वर रूप इम महादेव को देख, वह ज्वर, अष्टमूर्ति महादेव का कला रूप रुद्र है, जिसमें निम्न प्रमाण देते हैं हे अग्नि^१ : तुम्हारे घोर रूप क्षुधा और तृष्णा, अस्तु क्वानाहुति, अशना और पिपासा, सेदि और अमति हैं, इन श्रुति प्रमाणों से वह रुद्र रूप ज्वर अष्ट मूर्ति महादेव का कला रूप शास्त्रों में कहा है। जो हमारा^२ द्वेष करते हैं, जिनसे हम द्वेष करते हैं उनके पास जाकर इस श्रुति के अनुसार रुद्र से प्रेरित वे घाठ रूप इकट्ठे हो ज्वर रूप धारण कर भगवान् के समीप गये, 'पुरुषो ह वै नारायणः' इस श्रुति के अनुसार नारायण देव यज्ञ रूप पुरुष हैं, इस कारण से देवता रूप अग्नि और सोम को जैसे वृत्र से बाहर निकाल के प्रकट किया, वैसे ही रुद्रज्वर से देवता रूप अग्नि को बाहर निकालने के लिये अपने वैष्णव ज्वर को भेजा। इन्द्र ने भी आत्मा से 'शोत और रुद्रज्वर' उत्पन्न किये, यह इन्द्र यज्ञ रूप आत्मा है, यह आत्मा यज्ञ भगवान् ही है, उसकी प्रार्थना से उत्पन्न किया, अनन्तर दोनों ज्वरों^३ का परस्पर युद्ध हुआ, दोनों प्रसिद्ध हैं जैसे विष्णु और शिव दोनों पहले लड़े, वैसे उनके सेवक भी दोनों ज्वर होने से युद्ध समानों में था, युद्ध भी समान था, किन्तु देवताओं के प्राबल्य से माहेश्वर ज्वर वैष्णव ज्वर से पिड़ित हुआ, माहेश्वर चिल्लाने लगा और रोने लगा, रोने क्यों लगा ? तो कहते हैं कि रुद्र प्रकृति होने से तामस प्रकृति वाला ही पीड़ित होने से रोता है, न कि दूसरा (सात्विक वा राजस), रोने से जब पीड़ा निवृत्त न हुई, वैष्णव ज्वर से डरा हुआ और अपने मूल भूत को प्रथम ही पराजित समझ, शरणार्थी होकर हृषीकेश भगवान् के शरण गया, शरण जाकर, अङ्गीकार करने के लिये ही स्तुति करने लगा। तामस ज्वर को एसी बुद्धि कैसे आई ? इस पर कहा कि, हृषीकेश होने से भगवान् इन्द्रियों के स्वामी हैं जिससे आप प्रेरक हैं अतः आपने ही ऐसी प्रेरणा का है। दूसरे स्थान पर अभय न पाकर पहली बाधा को स्मरण कर, डरा, शरणार्थी इन भी अङ्गीकारार्थ हो किया है, इससे यह बताया है कि इसका अन्तःकरण भगवान् के परायण है, हाथ जोड़ने से अपनी काया से नम्रता प्रकट की है ॥२३-२४॥

आभास—तस्य स्तोत्रमाह चतुभिः ।

आभासार्थ — उनकी स्तुति चार श्लोकों से करते हैं —

कारिका—स्वरूपबलकार्याणि जानतो मम सर्वथा ।

रक्षा त्वयैव कर्तव्येत्येवंरूपा स्तुतिः कृता ॥१॥

कारिकार्थ—ज्वर ने इस प्रकार स्तुति की कि, आप के स्वरूप, बल और कार्यों को जानता हूँ, अतः मेरी रक्षा सर्वथा आपको ही करनी चाहिये अर्थात् मेरी रक्षा अन्य कोई नहीं कर सकता है ॥१॥

तत्र प्रथमं स्वरूपमुक्त्वा नमस्यति ।

१— यास्ते—अग्ने घोरास्तनुवः, क्षुच्च तृष्णा च, अस्तु क्वानाहुतिश्च अशनाया च पिपासा च, सेदिश्चामतिश्च,

२— माहेश्वर और वैष्णव



उस स्तुति में प्रथम इस लोक में स्वरूप को कह कर नमन करेगा:—

श्लोक—ज्वर उवाच—नमामि न्वानन्तशक्ति परेशं सर्वात्मानं केवलं जप्तिमात्रम् ।
विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतुं यत्तद्ब्रह्म ब्रह्मलिङ्गं प्रशान्तम् ।

श्लोकार्थ—ज्वर ने कहा कि आप अनन्त शक्ति, ब्रह्मा आदि देवों के स्वामी, सब की आत्मा, शुद्ध, चैतन्यघन जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार के कारण, केवल ज्ञान रूप, ब्रह्म के लिङ्ग और शान्त स्वरूप हैं ऐसे आपको मैं नमन करता हूँ ॥२५॥

सुबोधिनी—शास्त्रसिद्धं स्वरूपं परिदृश्यमाना-
दन्यदिति शङ्कां व्यावर्तयितुं त्वामित्याह, इदमेव
तदिति वक्तुम् । नन्वष्टमूर्तेर्ज्वरोऽयं सर्वसंहारक-
शक्तिरूपः, कथमन्यं स्तौतीत्याशङ्क्य, तस्य
माहात्म्यमाह अनन्तशक्तिमिति । अनन्ताः शक्तयो
यस्येति । ननु कालादेर्ब्रह्मादेर्वा साहाय्ये रक्षा
भविष्यतीति किं शत्रोर्महतः शरणगमनेनेत्याश-
ङ्क्याह परेशमिति । ब्रह्मादीनामपि नियन्ता ।
ननु तथापि मरणं वरम् न तु शत्रोः शरणगमन-
मित्याशङ्क्याह सर्वात्मानमिति । स हि सर्वेषा-
मात्मा, न तु शत्रुः । अनेन वैषम्यनैर्धृष्ययो परि-
हृतयोरपि प्रकृतिसम्बन्धान् सर्वात्मनोऽप्यन्यथा-
भावमाशङ्क्य, तन्निराकरोति केवलमिति । न
प्रकृत्यादिभिः सम्बद्धं जीववत् । ननु प्रादुर्भूतस्य
काममयत्वात् कथं केवलत्वम्, तत्राह जप्तिमात्र-
मिति । चिद्रूप एवायं प्रकट इति स मन्यते ।
औडुलोमिवदात्मानं चतन्यमात्रं मन्यते । साङ्ख्य-
वद्वा । उभयोर्वैलक्षण्यं जीवत्वब्रह्मत्वकृतम् । सर्व-
ेषामेव दैत्यांशानां तत्पक्षपातिनां च चिन्मात्रपक्ष
एव सम्मतः तत्र केषाञ्चिज्जगत्कर्तृत्वं न भगवतः,

किन्तु प्रकृत्यादेरिति । तत्पक्षपातो भविष्यतीत्या-
शङ्क्य, निराकरोति विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहे-
तुमिति । विश्वस्य सृष्टिस्थितिप्रलयहेतुस्त्वमेव ।
केवलादेवाविकृतात् सर्वं जायत इति चिन्तामण्यादौ
दृष्टमिति चिन्मात्रस्यापि हेतुत्वं मन्यते । श्रुतिसिद्ध-
त्वात् । अत एवास्मिन्नर्थे अलौकिककर्तृत्वे प्रमाण-
माह यत्तदिति । लोकवेदप्रसिद्धम् । यल्लोके प्रसिद्धम्
तदेव वेदे प्रसिद्धमिति । ननु कृष्ण पुरस्कृत्य न
लोकवेदयोः प्रसिद्धिः क्वचिद्दृष्टा, तथाभूतशब्द-
स्याश्रुतत्वात्, तत्राह ब्रह्मेति । ब्रह्म त्वमेव
व्यवहार्यत्वात्कथमित्यशङ्क्याह ब्रह्मलिङ्गमिति ।
जगत्कर्तृत्वं तन्निर्वाहकत्वसेतुत्वविधरणत्वादीनि
तल्लिङ्गानि तान्येवात्र सन्तीति । अत्रापि प्रमाण-
माह प्रशान्तमिति । प्रकर्षेण शान्तिः प्रत्यक्षसिद्धा,
अन्यथा स्वतन्त्रः समर्थः किमस्मदादेः अपेक्षां
कुर्यात् । प्रशान्तत्वेन च ब्रह्मधर्मा लक्ष्यन्ते, धर्मैश्च
ब्रह्मत्वम् । ततो लोकवेदसमन्वयः, तेन जगत्क-
र्तृत्वमिति, गुणा उत्तरार्धे निरूपिताः, दोषा-
भावश्च पूर्वार्धे । एवं निर्दोषपूर्णगुणविग्रहत्वं
निरूपितम् ॥२५॥

व्याख्या— शास्त्रों से सिद्ध स्वरूप दूसरे प्रकार का है, यह जो देख रहा है वह नहीं है, इस भ्रम को मिटाने के लिये 'त्वां' कहा है, जिसका भावार्थ है, कि यह जो आपका स्वरूप देख रहा है यह ही आपका शास्त्र सिद्ध स्वरूप है, यह ज्वर, जब स्वयं शङ्कर का सर्व संहारक शक्तिरूप है तब अन्य को स्तुति कैसे कर रहा है ? जिसके उत्तर में कहता है, कि जिसकी स्तुति की जाती है उसका माहात्म्य अगाध है, क्योंकि वह अनन्त शक्ति है, यदि कहो, कि कोई आपदा पड़ेगी तो काल और ब्रह्मा आदि रक्षा में सहायता करेंगे, फिर क्यों महान् शत्रु की शरण लेते हो ? इसके उत्तर में कहता है कि 'परेश' यह शत्रु ब्रह्मा आदि सर्व का नियामक है, यदि कहो कि शत्रु को

शरण लेने से मरण अच्छा है, यह सर्व की आत्मा है अतः शत्रु के शरण नहीं क्यों कि सब की आत्मा होने से यह शत्रु नहीं है, अतः इसमें 'वैषम्यनैर्घृण्य' दोष नहीं है । यदि कहो कि प्रकृति के सम्बन्ध से सर्वात्मा का भी अन्यथा भाव अर्थात् शत्रु मित्र भाव हो जाता है । जिसका उत्तर देता है कि 'केवलम्' यह जोव की भांति प्रकृति से संबद्ध नहीं हैं । यदि कहो कि, प्रकट होना काममय होने से ही होता है फिर केवलपन कैसे कहते हो ? जिसके उत्तर में कहता है 'ज्ञप्तिमात्रम्' यह ज्ञान रूप होते हुए ही प्रकट होते हैं, इस प्रकार कह कर क्या ? औडुलोमि वा साङ्ख्य की भांति चैतन्य मात्र मानते हो ? वा दोनों में जोवत्व और ब्रह्म व कृत वैलक्षण है यों मानते हो, सर्व दैत्यांश और उनके पक्षपातियों को चिन्मात्र पक्ष ही इच्छित है, उनमें किन्हीका मत है कि जगत् कर्तृत्व प्रकृति का है न कि भगवान् का है, इसका उत्तर देता है कि मैं उस पक्ष को नहीं मानता हूँ 'विश्वोत्पत्तिस्थानसंरोधहेतु' मेरा मत तो शास्त्रानुसार यह है कि विश्व को सृष्टि, स्थिति और प्रलय का हेतु भगवान् ही है न कि प्रकृति, और वह आप ही हैं, आप केवल अविकृत होते हुए ही सृष्टि, स्थिति और प्रलय करते हैं, जैसे चिन्तामणि कल्पवृक्ष आदि में देखा है, चिन्मात्र का हेतुत्व भी माना जाता है, क्यों कि श्रुति सिद्ध है, अतएव इस विषय में अलौकिक कर्तापन में प्रमाण कहते हैं 'यत् तत्' जो लोक में प्रसिद्ध हैं वह वेद में भी प्रसिद्ध है इसलिये आप लोक वेद दोनों में प्रसिद्ध हैं । कृष्ण को लेकर लोक वेद प्रसिद्धि कहीं भी देखने में नहीं आई है, ऐसा शब्द सुनने में नहीं आया, यदि यों कहो तो इसका उत्तर है कि, 'ब्रह्म लिङ्गम्' ब्रह्म के जो चिन्ह हैं वे सब आप में हैं जैसे कि जगत्कर्तृत्व, उसका निर्वाहकत्व, सेतुत्व, और आधारत्व आदि चिन्ह आप में ही हैं । जिसमें भी प्रमाण कहता है, 'प्रशान्तम्' आप में शान्ति प्रत्यक्ष है, यदि शान्ति न होवे तो स्वतन्त्र और समर्थ आप हमारे जैसों की अपेक्षा किस लिये करो, प्रशान्त होने से आप में ब्रह्म के धर्म दीखते हैं । धर्मों से हो ब्रह्मत्व का ज्ञान होता है, इस से ही लोक और वेद का सम्बन्ध होता है । इससे जगत् कर्ता आदि गुणवान् आप हैं; गुण उत्तरार्ध में कहे हैं और पूर्वार्ध में दोषों का अभाव कहा है, इस प्रकार आपका निर्दोष पूर्ण गुण विग्रहत्व निरूपण किया है ॥२५॥

आभास—अनेन सर्वसामर्थ्या भगवत एव सर्वत्र, नान्यस्येति सिद्धमपि प्रतीत्या कालादीनां बलं सिद्धमनूद्य, तन्निराकरणेनैव निराकरोति कालो दैवमिति ।

आभासार्थ— इससे यह सिद्ध किया है, कि सर्व प्रकार की सामर्थ्य सर्वत्र भगवान् की ही है, न किसी दूसरे की । यों सिद्ध होने पर भी प्रतीति से कालादि का बल सिद्ध देख कर, उसके निराकरण करने से हो निराकरण होता है, अतः 'कालो दैव' श्लोक से इस प्रतीति का निराकरण करते हैं ।

श्लोक—कालो दैव कर्म जीवः स्वभावो द्रव्यं क्षेत्रं प्राण आत्मा विकारः ।

तत्सङ्घातो बीजरोहप्रवाहस्त्वन्मायैषा तन्निषेधं प्रपद्ये ॥२६॥

श्लोकार्थ—काल, देव, कर्म, जीव, स्वभाव, द्रव्य, देह, प्राण, अहङ्कार, विकार, उनका समूह, बीज और कार्य का प्रवाह; यह सर्व आपकी माया है, यह माया जिसमें नहीं है, उसकी शरण मैंने ली है ॥२६॥



सुबोधिनी—कार्यकारणरूपाणि वस्तुतस्त्वमेव, तेषु भिन्नतया प्रतीत्या यत्सामर्थ्यपरिरूप-
नम्, तदपि त्वन्मायैषा । अन्यथा सर्वप्रमाणसिद्धे
कथमन्यथाकल्पनं सम्भवति । तत्र कालः सर्व-
कारणमिति ज्योतिःशास्त्रादन्वयव्यतिरेकाभ्यां च
निश्चीर्यते । तदवान्तरभेदा ग्रहाः कालावयवास्त-
दिन्द्रियरूपाः दैवमित्युच्यन्ते, ततो धर्मशास्त्रे
तत्सर्वं कर्मवशादिति सामान्यविशेषकर्मभ्यां सर्व-
कार्योत्पत्तिमाहुः । साङ्ख्य्याः सर्वत्र बीजस्वभाव-
मेव कारणमाहुः । अन्येऽपि स्वभाववादिनः ।
जड़कार्यकारणवादिनामेवं सिद्धान्तः । जीवकार्य-
वादिनां मते जीवस्वभाव इति पाठः । सर्वमेव
जीवात्मकमिति । यद्यप्ययं ब्रह्मवादे निराकृतः,
तथापि पूर्वपक्ष एव निराकृत इति सर्वजीवपक्षो-
ऽपि युक्त एव । कालादयः पञ्च वा सामान्यका-
रणभूताः । कालो गुणक्षोभकः । दैवं प्राण्य-

दृष्टम् । कर्म जन्मनिमित्तं भगवद्रूपं सामान्यम् ।
जीवो भोक्ता । स्वभावः परिणामहेतुरिति ।
जीवः स्वभाव इति पाठे कार्यमाह द्रव्यमिति :
द्रव्यं तत्त्वानि । तेषां कार्यं देहः क्षेत्रम् । तत्र
प्राणः सर्वहेतुः । तस्यापि प्रभुरात्मा । अहङ्कारः
पुराध्यक्षो विकारः । तत्सङ्घातश्च देवतिर्यङ्मनु-
ष्यादिरूपः आद्यः । ततो बीजरोहप्रवाहः बीज-
भावापन्नानां तेषामेव रोहः । अङ्कुरोत्पत्तिः
कार्यमिति यावत् । तस्य प्रवाहोऽनादिसिद्धः
बीजाङ्कुरन्यायः । एतत्सर्वं भिन्नतया अखण्डा-
त्त्वतः परिज्ञातम् । त्वन्मायैव एषा एवं बुद्धि-
रूपा भवति । तस्या व्याप्तिः कामवज्जीवेष्वेव ।
अतो मायावशात्त्वमेव तथा भवसीति निराकर-
णार्थमाह तन्निषेधमिति । तस्या निषेधो यत्रेति ।
अतः सर्वसमर्थं त्वामेव प्रपद्ये ॥२६॥

व्याख्यानार्थ — वास्तविक तो कार्य और कारण रूप आप ही हैं उन (कार्य और कारण) में
पृथक् प्रतीति से जो सामर्थ्य की कल्पना की जाती है, वह भी, आपकी यह माया ही है, नहीं तो,
सर्व प्रमाण से सिद्ध में, अन्यथा कल्पना कैसे हो सकती है । ज्योतिः शास्त्र से एवं अन्वय व्यतिरेक
से काल, सर्व का कारण है । यह निश्चय किया जाता है, उसके अवान्तर भेद ग्रह, काल के अवयव
उसके इन्द्रिय रूप 'दैव' कहाता है, धर्म शास्त्र में, वह सर्व, कर्म के आधीन है, सामान्य तथा विशेष
कर्मों से सर्व कार्यों की उत्पत्ति कहते हैं । साङ्ख्य सिद्धान्त वाले सर्वत्र बीज के स्वाभाव को ही
कारण कहते हैं । दूसरे स्वभाववादी भी यों मानते हैं, जड़ कार्य वादियों का इस प्रकार सिद्धान्त है,
जीव कार्य वादियों के मत में जीव ही स्वभाव है, इसलिये सब ही जीव रूप हैं, यद्यपि इसका
ब्रह्मवाद में निराकरण किया है, तो भी, पूर्व पक्ष में ही निराकरण किया गया है । इसलिये
सर्वजीवात्मक है । यह पक्ष भी उचित ही है । अथवा काल आदि पांच सामान्य रूप से कारण
होते हैं, जैसे कि 'काल' गुणों में क्षोभ उत्पन्न करता है 'दैव' प्राणी का उदृष्ट है, कर्म जन्म का
निमित्त सामान्य भगवद्रूप है, जीव भोक्ता है 'स्वभाव' परिणाम का कारण है, 'जीवः स्वभावः'
यों पाठ में कार्य कहते हैं, 'द्रव्य' तत्त्व है, उनका कार्य देह क्षेत्र है, उसमें 'प्राण' सब का हेतु है
उसका भी प्रभु 'आत्मा' है 'अहङ्कार' पुर का अध्यक्ष विकार है उसका सङ्घात देव, तिर्यङ् और
मनुष्य आदि आद्य रूप हैं, पश्चात् बीज भाव को प्राप्त हुवे उनका ही उत्पत्ति प्रवाह है, अर्थात्
अङ्कुर की उत्पत्ति ही कार्य है, बीजाङ्कुर न्याय की तरह उसका प्रवाह अनादि सिद्ध है, यह सर्व
इसलिये अखण्ड होने से आप से उनका भिन्नता से ज्ञान होता है, ऐसी भिन्न ज्ञानवाली बुद्धि होती
है, वह भी आपकी ही यह माया है । उसकी व्याप्ति काम की तरह जीवों में ही होती है, अतः
माया के वश से आप ही वंसे होते हैं इसका निराकरण करने के लिये कहते हैं 'तन्निषेध प्रपद्ये'
इस माया का जिस आप में निषेध अर्थात् अभाव है, वैसे आपके में शरण आया है ॥२६॥

आभास—एवं स्वरूपसामर्थ्ये निरूप्य विशिष्टं कार्यमवतारकृतं निरूपयति ।
नानाभावैरिति ।

आभासार्थ — इस प्रकार भगवान् के स्वरूप तथा सामर्थ्य का निरूपण कर अब अवतार में किये हुए विशेष कार्यों का 'नानाभावैः' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—नानाभावैर्लिलयैवोपपन्नैर्देवान्साधून्लोकसेतुन्विभर्षि ।

हंस्युन्मार्गान्हिसया वर्तमानान् जन्मैतत्ते भारहाराय भूमेः ॥२७॥

श्लोकार्थ — लीला से ग्रहण किए हुए अनेक अवतारों से आप देवों की, साधुओं की और लोक में धर्म की मर्यादा की रक्षा करते हैं और वेद आदि शास्त्रों से विरुद्ध मार्ग पर जाने वालों को तथा हिंसकों को नाश करते हैं, आपका यह प्राकट्य भूमि के भार को उतारने के लिए हुआ है ॥२७॥

सुबोधिनी—नटवत् मत्स्यादिभावान् विभर्षि । आनन्दरूपः भावमात्रेण तथा जायत इति भाव-पदम् । तत्रापि नटवत् क्लेशेन न पदार्थसम्पादनम्, किन्तिवच्छयेन तथात्वमित्यर्थः । तेषां प्रयोजनमाह देवान् साधून् लोकसेतुन्विभर्षीति । त्रिविधा एते । साधवो भूमिष्ठाः । धर्ममर्यादाः सेतवः । ते भूमेरधः एव निरूपिताः, 'खाता हि वेदि'रिति । अनेन त्रिलोकस्थितभक्तरक्षार्थं अवतारा इत्युक्तं भवति । एवं गुणार्थतामुक्त्वा

दोषाभावार्थतामाह हंस्युन्मार्गानिति । उन्मार्गं धर्ममार्गविरोधिनः । किञ्च । हिसया वर्तमानान् मारणैकस्वभावान् । अत एतत्ते जन्म तादृशमुभयं कुर्वदपि विशेषकार्यमपि करोतोत्याह भारहाराय भूमेरिति । भारहारो भारहरणम् । अवतारान्तराणि भूम्युपजीवकानामेव दोषाभावं गुणं च सम्पादयन्ति । अयं त्ववतारः भूमेरेव भार दूरीकरोति । उपलक्षणमेतत् । परमानन्दं च सम्पादयति ॥२७॥

व्याख्यार्थ— नट की भांति आप मत्स्य आदि अवतार ग्रहण करते हैं, वैसे तो आप आनन्द रूप हैं । किन्तु भाव मात्र से वैसा रूप धारण करते हैं, यहां 'भाव' पद अवतार वाचक समझना चाहिये । यह अवतार ग्रहण करने का कार्य नट की तरह क्लेश से नहीं किन्तु इच्छा करते ही वह ग्रहण कर लेते हैं । इन अवतारों के ग्रहण करने का प्रयोजन बताते हैं, अवतार लेकर आप देव, साधु, और लोक धर्म की रक्षा करते हैं । ये तीन प्रकार के हैं, साधु पृथ्वी के ऊपर रहने वाले धर्म की मर्यादाएँ सेतु हैं, वे पृथ्वी के नीचे ही निरूपण किये हैं । खात ही वेदि है, यों कहने से यह बताया है कि तीनों लोकों में स्थित भक्तों की रक्षा के लिये भगवतावतार हैं । इस प्रकार गुणों का वर्णन कर दोषाभावार्थत्व कहते हैं, कि वेद विरुद्ध मार्ग पर चलने वालों को एवं हिंसक स्वाभाव वालों का नाश करते हैं, यह आपका प्राकट्य, वैसे दोनों कामों को करते हुवे भी इससे विशेष कार्य भी करते हैं, वह कार्य ये हैं, पृथ्वी का भार उतारना हैं, दूसरे अवतार भूमि के आधार पर ही जीवन बिताने वालों के दोषों के अभाव को तथा गुणों को सम्पादन करते हैं, यह अवतार तो भूमि का ही भार दूर करता है, यह तो उपलक्षण मात्र है और परमानन्द को भी सम्पादन करते हैं ॥२७॥



आभास—एवं स्तुत्वा प्रार्थयितुं स्वदुःखं (वि)ज्ञापयति तप्तोऽहमिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार स्तुति कर अपने दुःख को बताता है और उसकी निवृत्ति के लिये 'तप्तोऽहं' श्लोक से प्रार्थना करता है ।

श्लोक—तप्तोऽहं ते तेजसा दुःसहेन शान्तोग्रेणात्युल्बणेन ज्वरेण ।

तावत्तापो देहिनां तेऽङ्घ्रिमूलं नासेवेरन्यावदाशानुबद्धाः ॥२८॥

श्लोकार्थ—आपके इस दुःसह तेज से मैं तप्त हो गया हूँ, वह बाहर शीत और भीतर बहुत उग्र तेज वाला ज्वर है, इसका ताप तब तक देह धारियों को जलाता है, जब तक वे आशाओं का त्याग कर आपके चरणों की शरण नहीं आए हैं ॥२८॥

सुबोधिनी—ते दुःसहेन तेजसा क्रूरेण ज्वर-
रूपेण 'नाग्नेहि ताप' इति न्यायमपि बाधित्वा
संतप्तोऽहम् । 'न हि दृष्टे अनुपपन्नं नाम ।' ननु
वैष्णवं तेजः न तापं जनयति, तत्राह शान्तोग्रे-
णेति । बहिः शान्तः, अन्तरूपः, अत्यथा वैष्णव-
तेजसो न दैत्यनिवारकत्वं स्यात् । यथा भगवान्
'चक्षुषश्चक्षुः, श्रोत्रस्य श्रोतम्', तथायं धर्मो ज्वर-
स्यापि ज्वरः, निवर्तकः प्रवर्तकश्चेति आनुगुण्य-
सिद्धयर्थं तापमेव निवारयितुं तथानिरूपणम् ।
अत्युल्बणमसह्यं क्रूरादपि क्रूरत्वात् । ननु ज्वरे
निवृत्ते तापो निवर्तिष्यते, अतो ज्वर एव प्रार्थ-
नीयः । न हि शस्त्रे प्रयुक्ते शस्त्रपीडितः शत्रुं
प्रार्थयते इत्याशङ्क्य निराकरोति तावत्ताप इति ।
देहाभिमानिनां तावदेव तापः, यावत्तोऽङ्घ्रिमूलं

नासेवेरन् । अनेनान्यथा तापनिवृत्तिर्न भवतीत्य-
प्युक्तम् । ज्ञानेपि तापनिवृत्तौ अङ्घ्रिमूलाश्रयण-
मेव हेतुरिति किमन्तगंडुना ज्ञानेनेति भक्तेरुक्त-
र्षोऽप्युक्तः । तस्यैवने को हेतुः, तत्राह आशा-
नुबद्धा इति । भगवच्चरणारविन्दासेवायां न कामः
प्रतिबन्धकः । किन्तु तच्छक्तिराशा । अतो नैरा-
श्याभावात् सर्वत्र तत्तदाशापि न पूर्यत इति
तथानुबद्धाः । यावदित्ययमनुबन्धः सान्त इति
निरूपितम् । आशायोगेनाशा सत्या भवति, तदा
पूर्णा सती निवर्तते, कामनिवृत्तौ तु निवर्तत एव,
विषयदोषदर्शनादपि निवर्तते । तन्निवृत्तौ बहवः
प्रकारा इति सम्भावनाया विद्यमानत्वात् यावदि-
त्यवधिरुक्तः । अग्निरूपः काम इति । तेन ताप-
स्तावदेवेत्यपि युक्तम् ॥२८॥

व्याख्यानार्थ—आपके इस दुःसह क्रूर ज्वर रूप तेज से मैं अत्यन्त तप्त हूँ, अग्नि के ताप को भी इस ताप ने पराजित कर दिया है, मैं इसका अनुभव कर रहा हूँ, इसलिए यह कहना अयोग्य नहीं है, वैष्णव तेज (ज्वर) ताप को उत्पन्न नहीं करता है, इसके उत्तर में कहता है कि यह वैष्णव ज्वर बाहर शान्त है और भीतर उग्र है, यदि भीतर उग्र होता तो दैत्यों का निवारण न कर सके, जैसा भगवान् नेत्र के नेत्र हैं, श्रोत (कान) के श्रोत हैं, वैसे ही यह ज्वर का भी ज्वर है तथा ज्वर को प्रवृत्ति कराने वाला सहायक एवं उसको रोकने वाला भी है, इसलिए ताप की ही निवृत्ति के लिए प्रार्थना की है, न कि ज्वर के निवारण के लिए; क्योंकि ताप असह्य एवं क्रूर से भी क्रूर है, ज्वर की निवृत्ति होने पर ताप स्वतः मिट जाएगा, इससे ज्वर मिटने के लिए ही प्रार्थना करनी चाहिए, यदि कहो कि कोई भी शत्रु के शस्त्र से पीड़ित, शत्रु की प्रार्थना नहीं करता है तो इसका उत्तर यह



है कि देहाभिमानियों को तब तक ताप है, जब तक आपके चरण की शरण ग्रहण कर सेवा नहीं की है, यों कहने से यह बताया कि बिना इस उपाय के ताप की निवृत्ति नहीं होती है। ज्ञान से जो ताप निवृत्ति होती है, उसमें भी चरणाश्रय ही हेतु है, अतः निरर्थक ज्ञान का आश्रय लेना व्यर्थ है, यह कहने से ज्ञान से भक्ति का उत्कर्ष बताया है, तो उनकी सेवा क्यों नहीं करते ? जिसका उत्तर है कि भगवत्सेवा में काम रुकावट नहीं है, किन्तु भगवन् की शक्ति 'आशा' रुकावट है, असन्तोष होने से आशाओं की पूर्ति नहीं होती है, इसलिए आशा पाश में बँधे ही रहते हैं। जब तक यह बन्धन है, यों कहकर यह बताया है कि यह बन्धन अन्त वाला है, आशा के बन्धन में जब तक फँसा हुआ है, तब तक आशा सत्य दीखती है, वह तब निवृत्त होती है, जब पूर्ण होती है। कामना को निवृत्ति होने पर निवृत्त हो जाती है, विषय में दोष दीखने से भी निवृत्त हो जाती है, उसकी निवृत्ति के अनेक प्रकार हैं, ऐसी सम्भावना होने से जब तक यह अवधि कही है, काम अग्निरूप है, इससे ताप तब तक ही है, जब तक काम है, यों कहना उचित ही है ॥२८॥

आभास—एवं विज्ञापितो भगवान् गुह्यकर्ता मृत्योरयं ज्येष्ठः आतेति तं स्थापयितुं नियमबन्धेन निरूपयति त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽहमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार गुह्य करने वाले भगवान् की प्रार्थना करने पर मृत्यु का यह जो बड़ा भाई है, उसको नियम बन्धन से स्थापित करने के लिए 'त्रिशिरस्ते' श्लोक से भगवान् वर्णन करते हैं।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—त्रिशिरस्ते प्रसन्नोऽहं व्येतु ते मे ज्वराद्भयम् ।

यो नौ स्मरेत संवादं तस्य त्वन्त मवेद्भयम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा—हे त्रिशिरा ! मैं तुझ पर प्रसन्न हुआ हूँ, इसलिए मेरे ज्वर से अब कोई भय न होगा और जो अपना यह संवाद स्मरण करेगा, उसको तुझ से भय न होगा ॥२९॥

सुबोधिनी—त्रीणि शिरांसि यस्येति । वात-पित्तश्लेष्माणः धातुवैषम्यात् । न कर्माणि । कालकर्मस्वभावा वा शिरांसि भवन्ति । अतः सम्बोधनेन तस्याक्षयत्वं निरूपितम् । अहं प्रसन्न इति । तव सर्वमेव कार्यं सेत्स्यतीत्युक्तम् । यदर्थं प्रायितः, तदाह व्येतु ते मे ज्वराद्भयमिति । परं

यथा मदीयात्तव न भयम्, तथा त्वत्तोऽपि न मदीयानां भयमित्याशयेनाह यो नौ स्मरेत संवादमिति । नौ आवयोः स्तोत्रप्रसाररूपः संवादः । तस्य त्वत् त्वत्तः भयं न भवेदिति भगवदाज्ञा ॥२९॥

व्याख्यानार्थ—जिस ज्वर के धातुओं की विषमता से वात, पित्त और कफ; ये तीन सिर हैं, न कि सात्त्विक आदि तीन प्रकार के कर्म अथवा काल, कर्म और स्वभाव; ये तीन सिर हैं, अतः सम्बोधन से मैं प्रसन्न हूँ यों कहकर उसका अक्षयत्वं निरूपण किया है, तेरे वे सब कार्य सिद्ध होंगे, जिनके



लिए प्रार्थना की है, वे बताते हैं, मेरे ज्वर में तुझे कोई भय न होगा, परन्तु जैसे मेरे ज्वर से तुझे भय नहीं, वैसे ही तुझसे भी मेरे ज्वर को भय नहीं होगा, इस आशय से कहते हैं, कि यह दोनों का स्तोत्र प्रसाद रूप संवाद जो स्मरण करेगा उसको तुझ से भय न होगा यह भगवान् की आज्ञा है ॥२६॥

आभास—एवं कृतार्थः सन् भगवदाज्ञां प्राप्य व्याजेनात्र कस्यापि भयं न कर्तव्य-
मिति ज्ञापितः स्वस्थानमेव जगाम, मृत्योः समीपम् ।

आभासार्थ—इस प्रकार कृतार्थ हो, भगवान् की आज्ञा को प्राप्त कर, कपट वा बहाने से किसी को भी भय न दिखाना यों जताया हुआ अपने ही स्थान पर गया, मृत्यु के समीप गया ।

श्लोक—इत्युक्तोऽच्युतमानस्य गतो माहेश्वरो ज्वरः ।

बाणस्तु रथमारूढः प्रागाद्योत्स्यञ्जनार्दनम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने इस प्रकार कहा वह सुन अच्युत परमात्मा को प्रणाम कर माहेश्वर ज्वर रवाना हो गया और बाण तो रथ में चढ़कर जनार्दन से युद्ध करने के लिए आया ॥३०॥

सुबोधिनी—इत्युक्त इति । अच्युतत्वाद्वाक्य- मपि तथा । ततो माहेश्वरो ज्वरो गतः । तस्मिन् गते महादेवाल्लम्बवरः दं वं बलमाश्रित्य युद्धार्थ-	मागत इत्याह बाणस्त्विति । तुशब्दः पूर्वागमना- द्विशेषमाह । बाणोऽपि बाणवज्जनार्दन इति जनार्दनं योद्धुं योषयितुम् ॥३०॥
--	---

व्याख्यार्थ—भगवान् ने इस प्रकार कहा, भगवान् शब्द आप अच्युत हैं, 'इसलिए आपके वचन भी अच्युत हैं । वे सुनने के पश्चात् माहेश्वर ज्वर गया, उसके जाने के अनन्तर, महादेव से प्राप्त वर वाला बाण आगे से भी विशेष उत्साह से भगवान् से लड़ने के लिये आया, क्योंकि बाण ने समझा कि जनार्दन मेरे समान है ॥३०॥

आभास—ततः प्रत्येकं बाहुषु नानाशस्त्रा(स्त्रा)णि स्थापयित्वा युयुध इत्याह ततो
बाहुसहस्रेणेति ।

आभासार्थ—पश्चात् बाण हरेक भुजा में अनेक शस्त्र लेकर लड़ने लगा, यह 'ततो बाहु सहस्रेण' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—ततो बाहुसहस्रेण नानायुधधरोऽसुरः ।

मुमोच परमक्रुद्धो बाणांश्चक्रायुधे नृप ॥३१॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! अनन्तर अनेक आयुधों को लेकर वह बाणासुर अत्यन्त क्रोधित हो हजार भुजाओं से भगवान् पर बाणों को फेंकने लगा ॥३१॥

सुबोधिनी—नातायुधानि विभर्तीति । तत-
श्चक्रायुधं प्रति नानायुधानि मुमोच । ननु भग-
वता पूर्वमस्य प्राणरक्षा कृतेति कथं शस्त्राणि
मुमोच, तत्राह परमक्रुद्ध इति । मुमोच, परं
वस्तुतस्त्वक्रुद्धः । अन्यथा परमत्वं क्रोधविशेषणं

न सम्भवति । समासे वा असामर्थ्यं स्यात् ।
चक्रायुधमित्यनेन चक्रेण सर्वनिराकरणं द्योति-
तम् । एकतः सहस्रमायुधानि, एकतः सुदर्शन-
मिति ॥३१॥

व्याख्यार्थ—अनेक आयुधों को धारण करता है, इसके पश्चात् चक्रधारी भगवान् पर अनेक
शस्त्र फेंकने लगा, यदि कहो कि भगवान् ने तो पहले इसको रक्षा की है, यह अब भगवान् पर कसे
शस्त्र फेंकता है । इसके उत्तर में कहा है कि परमक्रुद्धः' बहुत क्रोध आने से फेंकने लगा, वास्तव में
तो उसको क्रोध था ही नहीं इसलिये कहा है 'परमक्रुद्धो' परम-अक्रुद्धः, किन्तु क्रोधित नहीं था,
अन्यथा परमत्व क्रोध का विशेषण हो नहीं सकता अथवा समास में असामर्थ्य है 'चक्रायुधं' इस नाम
देने का भावार्थ यह है कि इस चक्र से सब का निराकरण प्रकट किया है, एक तरफ सहस्र आयुध
और एक तरफ सुदर्शन चक्र है ॥३१॥

आसास—समतां प्राप्तां परिहरति तस्यास्यत इति ।

आभासार्थ—प्राप्त समता का परिहार करता है, जिसका वर्णन 'तस्यास्यतः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तस्यास्यतोऽस्त्राण्यसकृच्चक्रेण क्षुरनेमिना ।

चिच्छेद भगवान्बाहून् शाखा इव वनस्पतेः ॥३२॥

श्लोकार्थ—बार-बार अस्त्र चलाने वाले बाणासुर की भुजाओं को भगवान् ने
तीखी धार वाले अपने चक्र से वृक्ष की शाखाओं की तरह तोड़ डाला ॥३२॥

सुबोधिनी—अस्त्राण्यस्यतः क्षिपतः । लौकि-
कप्रकारार्थं क्षुरनेमिना चक्रेण चिच्छेद दशशतानि
बाहून् । मध्ये शिरश्छेदनं प्राप्तं निराकरोति
शाखा इवेति । वनस्पतेः । तेन महानिति न शिर-

च्छिन्नम्, किन्तु तस्य प्रसरणनिराकरणार्थं शाखा
इव बाहूनेव चिच्छेद । बाहव एव वरप्राप्ता
इति ॥३२॥

व्याख्यार्थ—अस्त्रों को फेंकते हुए उसके हजार भुजाओं को तीखी धार वाले चक्र से तोड़
डाला, इस प्रकार तोड़ने का कारण लौकिक प्रकार दिखाना है, बीच में आये हुए शिर को नहीं
काटा, जिसका दृष्टान्त देते हैं कि जैसे पेड़ की डालियां ही काटी जाती है, वैसे यहाँ भुजाओं को
काटा, इसलिये महान् होने से शिर नहीं काटा, किन्तु पेड़ के प्रसार को रोकने के लिये डालियां काटी
जाती हैं वैसे इसकी भुजाओं के कटने से इसकी वृद्धि भी रुक गई, भुजाएँ ही वर-प्राप्त थीं ॥३२॥

आमास—ततः स्ववरदत्तबाहुच्छेदने महादेवः सर्वोपायपरिभ्रष्टः भगवन्तं स्तोतुं
प्रवृत्त इत्याह बाहुष्विति ।



आभासार्थ - पश्चात् अपने वर से दी हुई भुजाओं के छेदन होने से सर्व उपायों से परिभ्रष्ट महादेव, भगवान् की स्तुति करने लगे, वह 'बाहुषु' श्लोक में कहते हैं।

श्लोक—बाहुषु छिद्यमानेषु बाणस्य भगवान्भवः ।

भक्तानुकम्प्युपव्रज्य चक्रायुधमभाषत ॥३३॥

श्लोकार्थ—बाणासुर की भुजाओं के टूटने पर भक्तों पर दया करने वाले भगवान् महादेवजी निकट जाकर चक्रायुध श्रीकृष्ण को कहने लगे ॥३३॥

सुबोधिनी—केवलं जये रुद्रादीनामभजनं नायाति । जयस्यानियतत्वात् । तद्वत्तत्वरच्छेदेऽपि तथा । स चेत् स्वतः स्वसामर्थ्याभावं निश्चित्य, भगवन्तमेव प्रार्थयेत्, तदा सर्वथा अन्ये सेवकाः, भगवानेव स्वामीति निरोधः फलति, नान्यथेति विज्ञापयितुं रुद्रस्तुतिः । भगवानित्युपायपरिज्ञानार्थमुक्तम् । अन्यार्थं स्वस्य लब्धप्रतिष्ठस्य हीनत्वावलम्बने हेतुमाह भक्तानुकम्पीति । उपव्रज्य

निकटे समागत्य । असम्पतिश्चेत्, अन्ततो मां मारयतु, न तु भक्तमिति ज्ञापयितुम् । अनेन भक्तहितार्थमेव पूर्वं लौकिकवैदिकप्रकारेण साहाय्यं कृतमिति ज्ञापितम् । तदभावे स्तोत्रेणापि तथा करोतीति । चक्रायुधमिति । छिन्नेष्वपि बाहुषु चक्रं गृहोत्वैव तिष्ठतीति शिरश्छेदमपि कुर्यात् । अतः अभाषत ॥३३॥

व्याख्यानार्थ—युद्ध में केवल जय हो जाने से रुद्र आदि को भगवान् के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि जय व पराजय का कोई नियम नहीं है उनके दिये हुए वर के असफल हो जाने पर भी वैसा ही है, अर्थात् इससे भी स्वरूप का पूर्ण ज्ञान तब तक सब को नहीं होता है, जब तक यह स्वयं अपनी सामर्थ्य का अभाव देख भगवान् को ही प्रार्थना करे, तब अन्य सेवकों को समझेंगे कि वास्तविक स्वामी भगवान् ही हैं, जिससे निरोध फलीभूत होगा, अन्य प्रकार से नहीं, इसलिये महादेव प्रार्थना रूप स्तुति करते हैं, महादेवजी को इस प्रकार के उपाय का ज्ञान होने का कारण यह है कि आप षड्गुणैश्वर्य सम्पन्न हैं अतः आपको भगवान् विशेषण दिया है, आप लब्ध प्रतिष्ठ होते हुए भी दूसरों के हितार्थ हीनता का अवलम्बन करते हैं, क्योंकि आप भक्तों पर दया करने वाले हैं, अतः प्रभु के निकट आकर प्रार्थना करने लगे, यदि प्रभु की यों करने में सम्पति न हो, तो मुझे मार डाले किन्तु मेरे भक्त को न मारें, इसलिये निकट आये हैं, इससे यह जताया कि पहले लौकिक और वैदिक प्रकार से भक्त हित के लिये ही सहायता की, उनसे कार्य नहीं होने पर, स्तुति से भी सहायता करते हैं, भुजाओं के छिन्न भिन्न होने के अनन्तर भी चक्र को धारण कर खड़े थे, इससे शिर का छेदन भी कर दं ऐसी अवस्था देख महादेव स्तुति करने लगे ॥३३॥

आभास—तस्य स्तोत्रमाह द्वादशभिः । संवत्सरात्मककालातिक्रमार्थम् । त्वं हि ब्रह्मेति ।

आभासार्थ—'त्वं हि ब्रह्म' से बाहर श्लोकों में महादेव ने जो स्तुति की उसका वर्णन करते हैं बारह श्लोकों में स्तुति करने का कारण है कि इससे संवत्सरात्मक काल का अतिक्रमण होगा ।

श्लोक—रुद्र उवाच—त्वं हि ब्रह्म परं ज्योतिर्गूढं ब्रह्मणि वाङ्मये ।

य पश्यन्त्यमलात्मान आकाशमिव केवलम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—महादेवजी कहते हैं कि वेद में गुप्त रूप से स्थित आप परम प्रकाश स्वरूप पर ब्रह्म हैं, ऐसे आपके आकाश के समान निरञ्जन रूप को शुद्ध अन्तःकरण वाली वांगमय आत्माएँ देखती हैं ॥३४॥

कारिका—यादृशो भगवान् कृष्णः स योगेनैव गम्यते ।

दृश्यमानस्तु शास्त्रेण विसंवादो हि दृश्यते ॥१॥

कारिकार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण जिस प्रकार के हैं, वह जो योग से ही जान सकते हैं, जो प्रतीत स्वरूप हो रहा है वह तो शास्त्र विरुद्ध दीखता है अर्थात् मनुष्यत्व से जो भान होता है, वह भान शास्त्र विरुद्ध है ॥१॥

कारिका—इति ज्ञापयितुं प्रोक्ता भूम्यादीनां तथाङ्गता ।

अङ्गान्यपि हरेर्लोके भिन्नानोति विदुर्यतः ॥२॥

कारिकार्थ—यह जताने के लिए भूमि आदि को अङ्ग कहा गया है, लोक में हरि के अङ्ग भी भिन्न-२ हैं, यों जानते हैं ॥२॥

कारिका—अस्मदर्थं च भगवान् समागत इति स्तुतिः ।

निर्दोषपूर्णगुणकोऽप्यस्मदादिभिरीयते ॥३॥

कारिकार्थ—भगवान् हमारे लिए ही पधारे हैं, इसलिए स्तुति है, हम से लेकर सब भी अधिकारानुसार भगवान् को निर्दोष और पूर्ण गुणों वाला कहते हैं ॥३॥

कारिका—यथाधिकारं तत्रापि हेतुर्हि भगवान्परः ।

अन्तरायस्त्वदज्ञाने यदासीत्तस्य च स्वयम् ॥४॥

कारिकार्थ—भगवान् तो जैसा श्लोकों में वर्णित है, वैसे हैं; किन्तु हम अपने



अधिकार के अनुसार वर्णन करते हैं, जिसका कारण अज्ञान है, उस अज्ञान के कारण वर्णन करने में रुकावट होती थी, जिसको मिटाकर ज्ञान देकर प्रबुद्धि के प्रकाशक साक्षात् उदार भगवान् ही हैं, अतः वे अपना हित करने वाले हैं ॥४॥

कारिका—प्रकाशको महान् साक्षादतोऽस्माकं हितो भवेत् ।

कृष्णोच्छ्रयैव सर्वेषामेव बुद्धिविपर्ययः ॥५॥

अन्यथा धनपुत्रादौ कथं मुग्धा विवेकिनः ॥५॥

कारिकार्थ—कृष्ण की इच्छा से ही सबकी बुद्धि विपरीत हो गई है, नहीं तो विवेक वाले, धन, पुत्र आदि में मोहित कैसे हों ? ॥५॥

कारिका—तस्मात्पूर्वापराधानां क्षमा नित्या हरी परे ॥६॥

तथापि चेन्न सेवन्ते व्यर्थजोवास्तु ते मताः ।

अनेन भजनं प्रोक्तं बाणोऽपि भजते यतः ॥७॥

कारिकार्थ—इसी से पहले किए हुए अपराधों की क्षमा भगवान् में नित्य है, अतः वे अपराधों को क्षमा करते हैं, तो भी जो भगवान् की सेवा नहीं करते हैं, उनका जीवन व्यर्थ समझना चाहिए, इससे कहा है कि भजन करना चाहिए; क्योंकि बाण भी भजन करता है ॥६-७॥

कारिका—प्राकृताभजने हेतुर्दुर्दृष्टं निरूप्यते ।

वयं तु लोकोत्थैव भवदुत्कर्षहेतवे ॥८॥

युद्धार्थमागताः किन्तु भक्ता एव न संशयः ।

प्रकटेन प्रकारेण शरणागतिरुच्यते ॥९॥

तादृशस्य हितं यस्मात् कर्तव्यमिति सार्थना ॥१०॥

कारिकार्थ—बुरे अदृष्ट के कारण जीव भजन नहीं करता है, हम तो लोक रीति से भगवान् का उत्कर्ष प्रकट करने के लिए युद्ध करने आए हैं, लेकिन हम भगवान् के भक्त हैं, इसमें किसी प्रकार संशय नहीं है । प्रकट प्रकार से शरणागति कही गई है, जिस शरणागति से प्रपन्न का हित होता है, यों इसकी उपयोगिता है ॥८-९-१०॥



सुबोधिनी — आदौ लोकदृष्ट्या दृष्टो भगवान् न ज्ञातो भवतीति भगवत्स्वरूपमुक्त्वा, स योगे-
नैव ज्ञातव्य इत्याह । त्वं निश्चयेन ब्रह्म । युक्त-
श्रायमर्थः । अन्यथा लौकिकवैदिकप्रकारा व्यर्था
न भवेयुः । प्रमेयमेव हि प्रमाणादवलिष्ठम् । एत-
दाह हिशब्दः । ननु तथापि प्रमाणात्कथं बलिष्ठ-
मिति चेत्, तत्राह परं ज्योतिरिति । किं ज्यो-
तिरयं पुरुष' इति ब्राह्मणे सूर्यादिनिराकरणप्रस्तावे
वागपि निराकृता । सुप्तायां वाचि किं ज्योति-
रयं पुरुष' इति वाक्यादतः परं ज्योतिर्भगवानेव ।
तद्यैवं सति साक्षात्पुराणपुरुषः परमात्मा देव-

वयामन्तरिष्यति, स एव वेदार्थ इति कथं वेदे न
श्रयते, तत्राह गूढं ब्रह्मणि वाङ्मय इति । वेद-
स्तेष्वैव प्रतिपाद्यते, परं गुप्तप्रकारेण । अत एव
गुप्तत्वाद्भगवानाह 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्य' इति ।
तर्हि कथं निश्चयेन प्रवृत्तिरित्यत आह यं पश्य-
न्तीति । ते हि प्रथमतो गूढं ज्ञात्वा सूक्ष्मदर्शनार्थं
अमलात्मानो भवन्ति । ततः पाञ्चभौतिकेषु घट-
पटादिषु आकाशमिव अप्रकटमपि शून्यवत्प्रति-
भासमानं सर्वत्र पश्यन्ति । तर्हि सङ्घातप्रविष्ट
त जीवरूपं जानीयुः, तत्राह केवलमिति । ननु
सङ्घाताविष्टम् ॥३४॥

व्याख्यानार्थ—पहले कहा कि लोक दृष्टि से जो देखा जाता है, उससे भगवत्स्वरूप का ज्ञान
एवं दर्शन योग द्वारा ही होता है न कि लोक दृष्टि से, इसको स्पष्ट करते हुए शिवजी कहते हैं कि,
निश्चय से आप ब्रह्म हैं यह अर्थ योग्य है, यों न होवे तो लौकिक और वैदिक प्रकार जो युद्ध में देखे
गये वे व्यर्थ न होते, अतः प्रमाण से प्रमेय बलवान् है यह 'हि' शब्द से कहा है, यदि कहो कि प्रमाण
से प्रमेय कैसे बलिष्ठ है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि परं ज्योतिः' आप परम ज्योति स्वरूप हैं,
ब्राह्मण ग्रन्थ में सूर्य आदि का निराकरण करते हुए वाणी का भी निराकरण कर यह सिद्ध किया
है कि 'पर ज्योति' भगवान् ही हैं । यदि यों है, तो साक्षात् पुराण पुरुष परमात्मा देवकीजी में से जो
प्रकट होगा वह ही वेदार्थ है यों वेद में क्यों नहीं सुना जाता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'गूढं
ब्रह्मणि वाङ्मये' वेद रूप ब्रह्म, उसका ही प्रतिपादन करता है किन्तु गुप्त रूप से, इसलिये अर्थात्
गुप्त होने से भगवान् स्वयं श्रीमुख से गीता में आज्ञा करते हैं कि वेदैश्च सर्वैरहमेववेद्यः' सर्व वेदों से
में ही जाना जाता है, अर्थात् वेद मेरा ही प्रतिपादन करते हैं, तब उसमें किस प्रकार निश्चय पूर्वक
प्रवृत्ति होवे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'यं पश्यन्ति' वे योगी प्रथम वह गुप्त हैं, ऐसा समझ उस
गुप्त सूक्ष्म के दर्शन के लिये निर्मल शुद्ध अन्तःकरण वाले होते हैं, पश्चात् पाञ्च भौतिक घट पट आदि
पदार्थों में आकाश की भांति गुप्त भी शून्य की तरह भासित होते हुए भी सर्वत्र उसको ही योग द्वारा
देखते हैं, यों तो सङ्घात में प्रविष्ट जीव स्वरूप को देखते होंगे, इस पर कहते हैं कि नहीं, केवल शुद्ध
सङ्घात में अप्रविष्ट स्वरूप को देखते हैं ॥३४॥

आभास—एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा विश्वरूपं वदन् प्रमाणप्रतिपादितप्रकारात्
अन्यथाज्ञानं प्रत्यक्षतो न प्रमाणविरोधीति ज्ञापयति नाभिर्नभोऽग्निरिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ — इस प्रकार केवल भगवत्स्वरूप का वर्णन कर अब उसके विश्वरूप को कहते हुए
सिद्ध करते हैं कि प्रमाण से जो प्रकार प्रतिपादित किया गया है उससे अन्यथा ज्ञान प्रत्यक्ष से
प्रमाण विरोधी नहीं है यह 'नाभिर्नभोऽग्नि' इन दो श्लोकों से कहते हैं ।



श्लोक—नामिनंमोऽग्निमुखमम्बुरेतो द्यौः शिषंमाशाश्रुतिरङ्घ्रिर्वी ।

चन्द्रो मनो यस्य हृगं आत्मा अहं समुद्रो जठरं भुजेन्द्रः ॥३५॥

रोमाणि वृक्षौषधयोऽम्बुवाहाः केशा विरञ्च्यो घिषणा विसर्गः ।

प्रजापतिर्हृदयं यस्य धर्मः स वं भवान्पुरुषो लोककल्पः ॥३६॥

श्लोकार्थ—भगवान् के विश्वरूप का वर्णन करते हुए कहते हैं कि 'आकाश' जिसकी नाभि है, अग्नि मुख है, जल 'वीर्य' है, स्वर्ग 'मस्तक' है, दिशाएँ 'कान' हैं, पृथ्वी 'चरण' है, चन्द्रमा 'मन' है, सूर्य 'नेत्र' हैं, शिव 'अहङ्कार' है, समुद्र 'उदर' है, इन्द्र 'भुजा' है, औषधियाँ 'रोम' हैं, बादल 'केश' हैं, ब्रह्मा 'बुद्धि' है, प्रजापति 'शिश्न' है, धर्म 'हृदय' है, जगत् रूप से स्थित यह विराट् स्वरूप भी आप ही हैं ॥३५-३६॥

सुबोधिनी—आदौ मध्ये दृष्टिर्भवतीति तन्नभः भगवतो नाभिस्थानमित्याह । ततो रूपवती दृष्टिर्भवतीति 'रूपमग्नौ प्रतिष्ठित'मिति अग्निमुखमित्युक्तम् । ततो रूपप्रसङ्गे स्त्रियो मुख्यतेति विषयं निरूपयितुं अम्बुनिरूपणम्, एकाश्रयं वा वाचो रसनमिति तदाधारत्वेन जलनिरूपणम् । सृष्टिक्रमेण वा त्रिवृत्करणे अग्न्यन्तरं जलमिति रेतो भगवतः । 'विश्वस्य भगवान् पिते'ति जलमेव बीजमिति तथोच्यते । तत उपरि सर्वतोऽधश्चेति भूमि त्रिधा निरूपयति । द्यौः शीर्षम्, आशाः परितः ताः श्रुतिः श्रवणेन्द्रियम् । उर्वी पृथ्वी अङ्घ्रिः । सर्वत्र जात्यपेक्षांयामेकवचनम् । माहात्म्यज्ञापनार्थं वा इन्द्रियप्रकरणत्वात् चन्द्रादीनां निरूपणम् । अयं चन्द्रो यस्य मनः । अर्को, हृक् । अहङ्कार आत्मा हृदयम् । समुद्रो जठरम् ।

इन्द्रो भुजाः । वृक्षौषधयो रोमाणि । रोमसु सूक्ष्मस्थूलभेदोऽस्तीति द्वयोनिरूपणम् । अम्बुवाहा मेघा भगवतः केशा । य एव कश्चित्सर्वात्मकत्वेन वक्तव्यः, स एवं निरूप्यते । तद्धर्मो वेदमूलको धर्म इति वेदात्मके शिवे निरूपितम् । ततः सन्देहे प्रमेये भगवतैव प्रदर्शित सर्वात्मकत्वमक्रूराय । ततोऽत्र प्रमाणेन वेदेनान्यथाबुद्धिनिराकरणार्थं निरूप्यत इति वक्तव्यं योजनयोर्भेदात् न पौनरुक्त्यम् । विरञ्च्यो ब्रह्मा भगवतो घिषणा बुद्धिः विशेषेण सर्गो यस्मादिति गुह्येन्द्रियम् । चतुर्मुखः प्रजापतिः । धर्मो यस्य हृदयम् । एवं सर्वोत्कर्षमुक्त्वा अन्ते सम्बन्धिनं निरूपयति सर्वत्रानुषङ्गार्थम्, तज्ज्ञादिमध्ययोः उपासनाव्यावृत्त्यर्थं आधिदैविकत्वादिभेदाभावार्थं च । एतादृशः पुरुषो यो नारायणः स एव भगवान् ॥३५ ३६॥

व्याख्यानार्थ—दृष्टि पहले मध्य भाग में जाती है, वह मध्यभाग आकाश है, अतः वह आकाश भगवान् की नाभि है, पश्चात् दृष्टि रूप वाली होती है, 'रूपमग्नौ प्रतिष्ठितम्' इसे वाक्यानुसार रूप अग्नि में स्थित है, इसलिये 'अग्निमुखम्' अग्नि मुख है यों कहा गया है, पश्चात् रूप प्रसङ्ग में स्त्री मुख्य है, इसलिये विषय के निरूपणार्थ 'जल' का निरूपण है, अथवा वाणी का एक आश्रय जिह्वा है जिसका आधार जल है इसलिये जल का निरूपण है, सृष्टि के क्रम से त्रिवृत् करने में अग्नि के बाद जल कहा है, इसलिये जल भगवान् का रेत है, जैसे कि कहा है 'विश्वस्य भगवान् पिता' इसलिये जल ही सृष्टि का बीज है क्योंकि भगवान् का वीर्य है, पश्चात् ऊपर, चारों तरफ और नीचे, इस



प्रकार भूमि का तीन प्रकार से वर्णन करते हैं, स्वर्ग शिर है, चारों तरफ की दिशाएँ कान है और पृथ्वी चरण है, जाति की अपेक्षा से एक वचन कहा है, महात्म्य जताने के लिये अथवा इन्द्रियों का प्रकरण है, इसलिये चन्द्र आदि भगवान् के कौनसे स्वरूप हैं जिनका निरूपण करते हैं, यह चन्द्रमा भगवान् का 'मन' है, सूर्य 'नेत्र' है, अहङ्कार, आत्मा अर्थात् हृदय है, समुद्र 'जठर' है, इन्द्र भुजाएँ हैं, वृक्ष और औषधियाँ 'रोम' हैं, वृक्ष और औषधियाँ ये दो रोम हैं, यों क्यों कहा ? जिसके उत्तर में कहते हैं, रोमों में स्थूल और सूक्ष्म दो भेद होते हैं, दृष्टान्त में वृक्ष बड़ स्थूल और औषधियाँ सूक्ष्म दिखाई हैं। बादल भगवान् के केश हैं, जो कोई सर्वात्मकपन से कहा जाता है, उसका इसी प्रकार निरूपण होता है, धर्म की जड़ वेद है, वह वेदात्मक धर्म शिव में निरूपित है, अतः वह प्रमाणिक वैदिक धर्म शिवजी ने वर्णन किया है, शेष प्रमेय स्वरूप के संशय का निवारण स्वयं भगवान् ने अपना सर्वात्मकत्व अक्रूर को दिखा कर, किया है, अनन्तर अन्यथा बुद्धि न होवे इसलिये यहाँ प्रमाण रूप वेद रूप शङ्कर ने निरूपण किया है, वक्तव्य और प्रयोजन में भेद है इसलिये पुनरुक्ति नहीं है, ब्रह्मा भगवान् की बुद्धि है, विशेष रूप सृष्टि जिस चतुर्मुख प्रजापति से हुई है, अतः वह भगवान् की गुह्य इन्द्रिय है, जिसका हृदय धर्म है, इसी भाँति भगवान् का उत्कर्ष कह कर, सर्वत्र सस्वन्ध है इसलिये अन्त में सम्बन्धि का निरूपण करते हैं, आदि और मध्य में उपासना के व्यावृत्ति के लिये और आधिदैविकत्व आदि भेद नहीं है इसलिये कहते हैं कि ऐसा पुरुष एक ही नारायण है, वह आप ही हैं ॥३५-३६॥

आभास—एवं विश्वरूपत्वमुक्त्वा तादृशस्यावतारे प्रयोजनमाह तवावतारोऽयमिति ।

आभासार्थ—इस विश्वरूप का वर्णन कर अब ऐसे आपके अवतार लेने का प्रयोजन 'तवावतारोऽयं' इस श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—तवावतारोऽयमकुण्ठधामन्धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय ।

वयं च सर्वे भवतानुभाविता विभावयामो भुवनानि सप्त ॥३७॥

श्लोकार्थ—हे अच्युत स्वरूप ! आपका यह अवतार धर्म की रक्षा और खलों के निग्रह दोनों के लिए हैं और हम सब आपसे अधिकार प्राप्त कर सात लोकों का पालन करते हैं ॥३७॥

सुबोधिनी—अकुण्ठो वैकुण्ठः स्वरूपप्रच्युतस्य समागमनं निवारयति सम्बोधनेन । अयं तवावतारः धर्मस्य गुप्त्यै खलनिग्रहाय च उभयार्थमवतारः । यत्र विरोधः, तत्रोभयसमर्थन विचारणीयमिति निरूप्यते । मदुक्ता भुजा धर्मः, स च खलः, उभयमत्र समाधेयम् । ननु प्रमाणभूतोऽपि भवान् पक्षपातेन करणादप्रमाणं जात इति शङ्कां

वारयति वयं चेति । जगतो भवायेति पाठेऽपि उद्धवार्थमयं मारणीय इति सिध्यति । येन वा धर्मेणोद्धवो भवति, दैत्यांशनिराकरणपूर्वकेण हि तथा । वयं च भवतैव सर्वार्थे अनुभाविताः, तथा भावनया प्रेरिताः, संस्कृता वा, सप्तभुवनानि विभावयामः । वयं तत्त्वाधिष्ठातृदेवाः ब्रह्माण्डदेवा वा । सर्वत्रैव यदि वयं त्वद्भावभाविताः,



तदा अस्मिन्नेव कः सन्देहो भवेत् । अनेन केवल- | त्सप्तभुवनेषु तदनुभावः सिद्ध इति उपरितना-
तामसभावकत्वमिति पक्षो निवारितः । अधस्ता- | न्येव सप्तभुवनानि गृहीतानि ॥३७॥

व्याख्यान—आपका घाम अकुण्ठ अर्थात् वैकुण्ठ है इसलिये आप अच्युत स्वरूप से ही पधारे हैं, आप का तेज कभी भी कुण्ठित वा च्युत नहीं होता है, यह भाव अकुण्ठ धामन् संबोधन से प्रकट किया है, ऐसे आपका यह अवतार धर्म की रक्षा के लिये और खलों के निग्रह इन दोनों कार्यों के लिये हुवा है जहाँ विरोध है वहाँ दोनों का समर्थन विचारणीय है यों निरूपण किया जाता है, वेद रूप जो मैं हूँ, उसमें दो हुई भुजाएँ हैं, अतः वे धर्म रूप हैं, और जिसको दी है वह खल है, यहां दोनों का समाधान करना चाहिये, आपने प्रमाण रूप होकर भी पक्षपात से जो यह कार्य किया है, इसलिये आप अप्रमाण हो गये हैं, इस शङ्का को मिटाने के लिये कहते हैं कि 'वयं च' और हम सब आप से सर्व विषय में अधिकार प्राप्त एवं भावना से प्रेरित अथवा संस्कृत हैं, अतः उस अधिकारानुसार अथवा भावना से प्रेरित अथवा संस्कारानुसार सप्त लोको का पालन करते हैं 'जगतो भवाय' इस पाठ के अनुसार जगत् के उत्कर्ष के लिये, यह खल मारने के योग्य है, यों सिद्ध होता है, अथवा जिस गुण से जगत् का उत्कर्ष होता हो उस गुण को प्रकट करना चाहिये अर्थात् जिस गुण से दैत्यांश का निराकरण हो उसको प्रकट कर जगत् का उत्कर्ष करना उचित है, हम तत्त्वों के अधिष्ठाता देव हैं, अथवा ब्रह्माण्ड के देव हैं, सर्वत्र ही हम आपके भाव से ही भावित हैं, तब इसमें ही है, जिसमें कोनसा सदेह होना चाहिये, यों कह कर यह सिद्ध किया है कि शङ्कर केवल तामस भाव वाले नहीं है, नीचे के सात लोकों में उनका प्रभाव तो सिद्ध है ही, अब यों कहने से ऊपर वाले सात लोक भी ग्रहण किये हैं, अर्थात् ऊपर के सात लोकों में भी उनका प्रभाव है ॥३७॥

आभास—ननु तथापि ममाग्रे अयमपकारं करिष्यति, ततो मया मारणीय इति; अस्मिन्ननुभावो न युक्त इति चेत्, तत्राह त्वमेक आद्य इति ।

आभासार्थ—यों है, तो भी आगे, यह मेरा अपकार करेगा इसलिये यह मारने के योग्य है, इसके पास प्रभाव अर्थात् सत्ता एवं अधिकार रहे ऐसा यह योग्य नहीं है, इस पर कहते हैं 'त्वमेक आद्य' ।

श्लोक—त्वमेक आद्यः पुरुषोऽद्वितीयस्तुर्यः स्वदृग्घेतुरहेतुरीश्वरः ।

प्रतीयसेऽथापि यथाविकारं स्वमायया सर्वगुणप्रसिद्धयै ॥३८॥

श्लोकार्थ—आप एक अद्वितीय आद्य पुरुष हैं, तुर्याविस्था में प्राप्त भी आप हैं, अपने में ही दृष्टि वाले हैं, कारण रूप एव अकारण रूप ईश्वर भी आप हैं, तो भी अपने गुणों की प्रसिद्धि के लिए अपनी माया से विकार वाले प्रतीत होते हैं ॥३८॥

सुबोधिनी यद्यपि भवान् सर्वत्र एक एव, | द्वानि, घटपटादीन्यपि, तत्र कारणे विचार्यमाणे
पूर्णगुणश्च, तथापि यावन्ति रूपाणि जगति प्रसि- | भगवानेव स्वस्यैकमेकं धर्मं मुख्यतया परिगृह्य,

तथाविधो जात इति मन्तव्यम् । तथा सति सह-
स्रभुजरूपो बाणो येन ।गुरोने। भवति, स एव
गुणः कारणभूतोऽङ्गीकर्तव्य इति तथैव करण-
मुचितम् । अस्माक सर्वत्र भेदप्रतीतावपि त्वमेक
एव । न हि निम्बबुद्ध्या भक्षिता शर्करा तिक्ता
भवति । तस्यैकत्वं साधयति आद्य इति । यथैक
एव ब्रौहिः अङ्कुरादिभावेन सहस्रं ब्रौह्यो
भवन्ति, तथैक एव भगवानाद्यः कारणभूतः ।
सङ्घातोत्पत्त्यर्थं ब्रौहिवत् । निराकारतामाशङ्क्य
कारणस्य बीजात्मकस्य स्वरूपमाह पुरुष इति ।
तस्य कारणतायां स्व्यपेक्षामाशङ्क्याह अद्वितीय
इति । कार्यकारणवैलक्षण्यं कार्यवैचित्र्यं च
चिन्तामणाविवात्राप्यध्यवसेयम् । तस्योपादान-
त्वमविकृतत्वं निमित्तत्वं च पूर्वमेव साधितम् ।
अत एव जगतः अनुपास्यतापि सिद्धा । ब्रह्मत्वे
च जगतस्तज्जलान्तत्वमेव । दृष्टान्तैः स्थितिप्रल-
यावन्यत्रेति निदर्शनमात्रत्वम् । बहवो दृष्टान्ता
एकोभूताः भगवति सर्वलक्षणां बुद्धिं सम्पादयन्ति ।
तर्कमात्रमूलत्वे अप्रामाण्यं स्यादिति दृष्टान्ता-
भावाच्च श्रुत्यैकसमधिगम्यमेव ब्रह्मेति स्था-
पितम् । कादाचित्कत्वेऽपि भगवानेव हेतुः अन्य-
स्मिन् कारणत्वेन परिकल्प्यमाने या उपपत्तिः,
सा भगवत्येव सम्पादनीया । सर्वसमर्थत्वात्
ब्रह्मणः । भिन्नाधिकरणत्वे यथा विरोधग्रहणः,
तथैकाधिकरणत्वेऽपि । युक्त्यपेक्षायामपि पत्रदा-
रुनिर्यासपुष्पफलेषु बीजमेकमेव कारणं सर्वविल-
क्षणं दृष्टमिति तस्यैव परम्परया साक्षाद्वा कार-
णत्वमध्यवसीयते, तथा श्रुतत्वादब्रह्मणोऽप्यध्य-
वसेयम्, अवधूतप्रामाण्यवेदात् । तथा सति श्रुति-
र्यथार्था समर्थिता भवति । वीर्यार्था च स्यात्,
प्रत्यक्षानुमानादिभिरेव वैदिकार्यस्यापि सिद्धेः ।
सङ्केतस्तु निरूपकग्रहणादेव । अन्यथा तत्तन्मते
आत्मादिपदानां सङ्केतः अलौकिकार्थानामसङ्गतः
स्यात् । अतोऽद्वितीयपुरुष एव आद्यो जगत्कार-
णम् । एवं भगवतः जगत्कारणत्वमुपपाद्य तत्रो-

त्पत्तिस्थितिप्रलया एव कार्यत्वेन सिद्धा इति
मोक्षसाधकत्वं भगवतो वदन् पुनर्विशेषणान्तरमाह
तुर्ये इति । समाधिगम्यः । यथा जाग्रत्स्वप्रसुषु-
प्तयः स्थित्युत्पत्तिप्रलयाभिज्ञापिकाः, एवं तुर्याव-
स्थापि मोक्षाभिज्ञापिका । तस्यां प्रादुर्भूतो भग-
वान् मोक्षद इति । तस्य मोक्षदाने प्रकारमाह
स्वदृगिति । यथाद्वितीयः पुरुषो जगत्कारणम्,
तथा स्वदृक् स्वस्मिन्नेव दृष्टियुक्तः आत्मानुभव-
तुष्टः मोक्षहेतुरिति । ननु स्वमोक्षमेव साधयेत्,
नतूपासकानामन्येषाम्, तत्राह हेतुरिति । अन्येषा-
मपि मोक्षे स्वदृक्त्वे तुर्यत्वे च स एव हेतुः ।
तर्ह्यन्यस्यास्मदादेः स्वयं स्वस्य ततोऽपि मूलभूतः
कश्चिद्भविष्यतीत्याशङ्क्याह अहेतुरिति । न तस्य
कश्चिद्धेतुरस्ति । ननु यथा भगवान् स्वेच्छया
सर्वं भवतीत्युच्यते, एवं सर्वोऽपि सर्वं भवतु,
अभेदश्च श्रुत्या प्रतिपाद्यत इति, तत्राह ईश्वर
इति । स हि सर्वसमर्थोऽपि स्वयं तथैव मूलभूतः ।
कार्यरूपस्तु स्वस्मादेव जायते, सर्वसामर्थ्यस्य
विद्यमानत्वात्, ईश्वरेच्छाया नियन्तुमशक्य-
त्वाच्च । एवं सर्वसामर्थ्यमलौकिकत्वं निर्दोषपूर्ण-
गुणविग्रहकत्वमुपपाद्य सर्वत्र पूर्णगुणकोऽपि यथा-
विकारं इक्षुक्षीराम्ललवणादिविकारमनतिर्क्रम्य
प्रतीयसे, सर्वात्मना अप्रतीतो भगवन्मायैव
नियामिका । ननु तस्याः स्वातन्त्र्यास्वातन्त्र्याभ्यां
पुनः स दोषस्तदवस्थ इति चेत्, तत्राह सर्वगुण-
प्रसिद्ध्या इति । अन्यथा भगवदीयाः सर्वे गुणाः
प्रत्येकं न प्रसिद्धा भवेयुः । यथा षड्रसापि हरी-
तकी नीरसैव, निसर्गतः कोऽपि रसः सर्वविल-
क्षणो न प्रतीयत इति, तथैव भगवान् सर्वत्र
सर्वगुणप्राकट्ये कृसरवत्प्रतीयेत । अतो भगव-
दिच्छारूपया मायया सर्वत्र पूर्णगुणकोऽपि यथा-
विकारं प्रतीयते । तथैव लीलायां यादवत्वमात्रं
प्रकटयितुमाविर्भूतः नान्यान् धर्मान् प्रकटितवा-
नित्यस्मदादीनामप्यज्ञानमिति भावः ॥३८॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि आप सर्वत्र एक हो हैं, तो भी जगत् में घट पट आदि जितने रूप प्रसिद्ध

हैं, उनके कारण का विचार करने पर, जाना जाता है कि भगवान् ही अपने एक एक धर्म को मुख्य रूप से ग्रहण कर उस प्रकार के हुवे हैं, यों मानना चाहिये यों होने पर बाण जिस गुण से सहस्र भुजा वाला होता है, वह ही गुण कारण भूत अङ्गीकार करना चाहिये, इसलिये वैसे ही मानना चाहिये, जो कि हमको सर्वत्र भेद की प्रतीति होती है तो भी सर्व पदार्थ मात्र आप एक ही हैं, शंकरा को निम्ब (कड़वी) समझ खाई जावे तो भी वह तो मधुर ही होगी, कड़वी नहीं लगेगी, उसका एकत्व सिद्ध करने के लिये कहते हैं, 'आद्यः' आप सब की आदि अर्थात् बीज हैं, जैसे एक ही ब्राहि अङ्कुर आदि भाव से सहस्र चावल हो जाते हैं वैसे ही एक भगवान् ही आदि होने से कारण है, सङ्घात की उत्पत्ति के लिये चावल की तरह, भगवान् तो निराकार हैं. चावल साकार है वह तो बीज कारण हो सकता है, निराकार कैसे कारण होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिये कारणात्मक बीज, जो भगवान् हैं उनका स्वरूप बताते हैं, 'पुरुष' पुरुष रूप होने से बीज है, पुरुष की कारणता में स्त्री की अपेक्षा होती है इस शङ्का के मिटाने के लिये कहते हैं कि 'अद्वितीयः' स्त्री आदि अन्य कोई नहीं, आप एक ही अकेले हैं, अतः कार्य और कारण में विलक्षणत्व और कार्य में विचित्रता, चिन्तामणि की भांति समझती चाहिये, उसकी उपादानता, अविकृतपन, और निमित्तत्व पहले ही सिद्ध किया है । अतः जगत् उपासना योग्य नहीं है, यह भी सिद्ध है, जगत् ब्रह्मरूप है, जिसका कारण यह है, कि जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय सब ब्रह्म से होती है । दृष्टान्तों से जो जगत् की स्थिति और प्रलय अन्य से कही है वह केवल उदाहरण ही है, बहुत दृष्टान्त इकट्ठे होने से अर्थात् भगवान् के स्वरूप को समझाने के लिये जो अनेक दृष्टान्त दिये जाते हैं वे पूर्ण रीति से घटित न होने से भगवान् में सर्व लक्षण वाली बुद्धि को उत्पन्न करते हैं, यदि ब्रह्म केवल तर्क से समझ में आजावे तो उसकी अप्रमाणिकता हो जावे, कोई ऐसा दृष्टान्त नहीं जो अर्थात् ब्रह्म का वह सत्य ज्ञान पूर्णतः नहीं है, ब्रह्म को समझा सके, अतः ब्रह्म केवल वेद से ही समझा जा सकता है । ब्रह्म रूप जगत् सदैव नहीं प्रतीत होता है, इसमें भी भगवान् ही हेतु है । दूसरे में, जो जगत् के कारणत्व की कल्पना की जावे, वह भगवान् में ही करनी चाहिये, क्योंकि भगवान् ही सर्व सामर्थ्य वाले हैं जैसे अलग २ अविकरण होने पर विरोध का परिहार हो जाता है अर्थात् विरोध स्वतः मिट जाता है, वैसे एक अधिकरण होते हुए भी विरोध मिट जाता है, जैसे पत्र, लकड़ी गोंद, पुष्प और फल इन सब का एक बीज ही कारण है, वह बीज सर्व उत्पन्न पदार्थों से विलक्षण है, उस विलक्षण बीज को ही साक्षात् अथवा परम्परा से कारणता समझी जाती है, इस युक्ति के अनुसार ब्रह्म की भी इस प्रकार वेद के कथना नुसार कारणता जाननी चाहिये, वेद प्रमाण है यह सिद्ध हो गया है यों मान लेने पर श्रुति का यथार्थ समर्थन होगा । यदि वैदिक अर्थ की सिद्धि प्रत्यक्ष और अनुमान आदि से की जायगी तो श्रुति की व्यर्थता हो जावेगी । सङ्केत तो विचार करनेवालों की स्वीकृत से ही होता है, यदि यों न माना जायगा तो उन उन के मतों में आत्मा आदि पदों का तथा अलौकिक अर्थों का 'सङ्केत' असङ्गत हो जायगा । अतः अद्वितीय आद्य पुरुष ही जगत् का कारण है, इस प्रकार भगवान् जगत् का कारण है यह सिद्ध कर, यह बताया है कि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ही कार्यत्व से सिद्ध हैं । भगवान् ही मोक्ष के साधक हैं इसलिये दूसरा विशेषण देते हैं 'तुर्य इति' वह स्वरूप जो समाधि में जाना जा सकता है । जैसे जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति स्थिति, उत्पत्ति और प्रलय को जताने वाली है, वैसे ही तुर्यावस्था भी मोक्ष को जताती है । उस अवस्था में प्रादुर्भूत भगवान् मोक्ष देने वाले हैं, उनके मोक्ष देने का प्रकार कहते हैं 'स्वहृक्' जैसे अद्वितीय पुरुष जगत् का कारण है, वैसे अपने में ही दृष्टि वाला, आत्मा के अनुभव से सन्तुष्ट मोक्ष का कारण है, अपना मोक्ष ही सिद्ध करे न कि अन्य उपासकों का ? इस पर

कहते हैं कि 'हेतुः' दूसरों के भी मोक्ष में अपने अंदर दृष्टि होने में और चतुर्थ अवस्था अर्थात् मोक्ष दशा होने में भी, भगवान् ही कारण हैं, अस्मदादि अन्य का, स्वयं अपने का, उससे भी कोई मूलभूत आधार वा आश्रयरूप कोई कारण होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि अहेतुः' उसका कोई कारण नहीं है, जैसे भगवान् की अपनी इच्छा से सब कुछ होता है, यों कहा जाता है, इस प्रकार सर्व भी सब होवें, क्योंकि श्रुति अभेद का प्रतिपादन करती है, इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं, कि 'ईश्वर' आप कर्तुं, अकर्तुं और अन्यथा कर्तुं समर्थ हैं अतः वह सर्व समर्थ भी स्वयं वैसा ही मूल भूत है, कार्यरूप तो अपने में से ही उत्पन्न होता है आप में सर्व सामर्थ्य विद्यमान होने से, और ईश्वर की इच्छा का कोई नियामक नहीं हो सकता है । इस प्रकार सर्व होने का सामर्थ्य, अलोकिकत्व और निर्दोष पूर्ण गुणकत्व प्रतिपादन कर सर्वत्र पूर्ण गुणवाला होकर भी, गन्ने, क्षीर, खट्टा खारा आदि विकारों का अतिक्रमण न कर, विकारानुसार प्रतीत हो रहे हो : सर्वात्मभाव से प्रतीति न होने में, भगवान् की माया ही नियामक है । यदि कहो, कि उस माया के स्वातन्त्र्य और अस्वातन्त्र्य होने से फिर भी वह दोष वैसा ही रहेगा ? इस पर कहते हैं 'सर्व गुण प्रसिद्धया' सर्व गुणों की प्रसिद्धि के लिये वैसा है, यदि यों न होवे तो भगवान् के सर्व गुण हर कोई में प्रसिद्ध न होंगे, जैसे षड्रस वाली हरड़े नीरस ही है, स्वभाव से कोई भी रस सब से विलक्षण प्रतीत नहीं होता है, वैसे ही भगवान् सर्वत्र सर्व गुणों को प्रकट करे तो कृसर की भाँति प्रतीत होने लगे अतः भगदिच्छारूप माया से सब स्थान पर पूर्ण-गुणवान् हो तो भी विकारानुसार प्रतीत होते हैं, वैसे ही लीला में, केवल यादव पन को प्रकट करने करने के लिये प्रकट हुवे हैं, अन्य धर्मों को प्रकट नहीं किया, इस प्रकार का हम लोगों को भी अज्ञान है यों भाव है ॥३८॥

आभास—ननु सर्वत्र कारणेषु कार्योत्पत्तौ कारणप्रत्यक्षता दृश्यते, नत्वप्रत्यक्षान्मृदादेः घटादिकमुत्पद्यते, तथा पदार्थोत्पत्तौ कारणत्वेन ब्रह्मप्रतीतिः स्यात्, तदभावात् प्रत्यक्षविरोधात् कथं कारणतेत्याशङ्क्याह यथैव सूर्य इति ।

आभासार्थ—जहाँ भी कारण से कार्य उत्पन्न होता है, वहाँ सर्वत्र कारण प्रत्यक्ष देखने में आता है, जो कारण, प्रत्यक्ष देखने में न आवे (तो) उस मृत्तिका आदि से घट आदि बन नहीं सकते, अतः ये पदार्थ यदि ब्रह्म से बने हैं, तो कारण ब्रह्म भी दृष्टिगोचर होना चाहिये, वह नहीं होता है, इसलिये ब्रह्म कारण है इसमें प्रत्यक्ष का विरोध होने से, ब्रह्म कारण कैसे बन सकेगा ? इस शङ्का का निवारण 'यथैव' सूर्यः श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—यथैव सूर्यः पिहितश्छायया स्वया छायां च रूपाणि च सञ्चकास्ति ।

एवं गुणेनापिहितो गुणांस्त्वमात्मप्रदीपो गुणिनश्च भूमन् ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे भूमन् ! जैसे सूर्य, उत्पन्न की हुई अपनी मेघरूप छाया से ढका हुआ प्रतीत होता है, तो भी सब पदार्थों को प्रकाशित करता रहता है, ऐसे ही स्वयं प्रकाश आप भी गुणों से ढके हुए होने पर भी गुणों को तथा गुणवालों को प्रकाशित करते हो ॥३९॥



सुबोधिनो—'मेघाः सूर्योद्भूता' इति श्रुतिः, 'यावदादित्यस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्यो वर्षती'ति श्रुतेः सूर्य एव पर्जन्यः, अन्यथा संवितृत्वं न स्यात् । ततः सूर्यादुत्पन्ना अपि मेघाः यथा सूर्याच्छादकाः, एवं जगदपि भगवदुत्पन्नमपि भगवदाच्छादकम् । यथा तान् मेघान् मेघान्तर्जायमानां वृष्टिं तस्याप्यधोभूमिं भूमिष्ठांश्च पदार्थान् स्वयमदृष्टोऽपि प्रकाशयति, एवं सर्वकारणभूतः भगवानेव सर्वत्र सर्वप्रकाशक इति न काप्यनुप-

पत्तिः । छायाया मेघोः । चकारात्तत्कार्या वृष्टिम् । मेघानां पृथक्त्वं निवारयति स्वयेति । रूपाणि घटादीनि । चकारात्तैर्जायमानां क्रियामपि लौकिकीं वैदिकीं च प्रकाशयति । एवं गुणेन स्वयमेव तथाभूतेनापिहितोपि सर्वथा गुप्तोऽपि गुणान् कारणभूतान् गुणिनः कार्याणि च प्रकाशयति, आत्मप्रदीपश्च भवति । सर्वथा)सामर्थ्यार्थं सम्बोधनं भूमन्निति ॥३६॥

व्याख्यानार्थ—वेद कहता है कि मेघ^१ सूर्य से उत्पन्न होते हैं, सूर्य^२ तपता है, उसकी किरणों से बादल वर्षा करते हैं, सूर्य ही मेघ है, यदि यों न होवे तो सवि + तृपन ही न रहे, इस कारण से सूर्य से उत्पन्न भी मेघ जैसे सूर्य को ढकने वाले हैं इस प्रकार भगवान् से उत्पन्न जगत् भी भगवान् का आच्छादक अर्थात् ढकने वाला है, जैसे उन मेघों को मेघ के भीतर रही हुई वृष्टि को, उसके भी नीचे की भूमि को और पृथ्वी पर पड़े हुए पदार्थों को स्वयं अदृष्ट होते हुए भी प्रकाशित करते हैं, इसी तरह सब का कारणभूत भगवान् ही सर्वत्र सर्व प्रकाशक हैं, इसलिये किसी प्रकार भी अनुपपत्ति नहीं है, छाया का आशय है बादल अर्थात् छाया से सूर्य ढका हुआ है, इसका तात्पर्य है बादलों से ढका हुआ है 'च' शब्द से मेघों का कार्य वृष्टि को समझना चाहिये, मेघ छाया से पृथक् नहीं हैं सर्व सूर्य रूप ही हैं इसलिये 'स्वया' पद दिया है 'रूपाणि,' पद का भावार्थ घट आदि पदार्थ है 'च' से यह सूचित किया है कि उन रूपों से उत्पन्न लौकिक और वैदिक क्रिया को भी प्रकाशित करते हैं इस प्रकार वैसे कहे हुवे गुण से स्वयं ही, सब प्रकार गुप्त होते हुए भी गुणी के कारण भूत गुणों को और कार्यों को प्रकाशित करते हैं और स्वयं स्व-स्वरूप से प्रकाशित हैं । भूमन् ! सम्बोधन से सर्व प्रकार तथा सर्वथा सामर्थ्य को सूचित किया है ॥३६॥

आभास—भगवत्कारणतायां हेत्वन्तरमप्युपपादयति यन्मायामोहितधिय इति ।

आभासार्थ—भगवान् कारण है, इसमें दूसरा हेतु^३ 'यन्माया मोहितधिय' श्लोक से प्रतिपादन करते हैं ।

१—मेघाः सूर्योद्भूताः इति श्रुति,

२—यावदादिस्तपति रश्मिभिस्ताभिः पर्जन्योवर्षति,

+ सूर्य का उत्पन्नकर्तृत्व ही न रहे—सविता का अर्थ है उत्पन्न करता वह सूर्य में न रहे—

३—पुत्र आदि मैत्रि प्रवृत्ति में भगवान् कारण है जिसमें दूसरा कारण कहते हैं कि भगवान् ही अपनी माया से पुत्र आदि में प्रवृत्ति कराते हैं ।

श्लोक—यन्मायामोहितधियः पुत्रदारगृहादिषु ।

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रसक्ता वृजिनारणवे ॥४०॥

श्लोकार्थ—जिसकी माया से, मोहित बुद्धिवाले, पुत्र, स्त्री, गृह आदि में जन्म लेते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं; क्योंकि विषय दुःख रूप होते हैं तो भी उनमें आसक्त रहते हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—विवेकिनोऽपि विषयान् दृष्ट्वापि दुःखदान् तत्रैवासक्ता भवन्ति । तत्रेष्टसाधनतायाः लौकिके कारणत्वात् तदभावेऽपि प्रवृत्तेरवश्यं कारणान्तरमाक्षिपति । प्रत्यक्षभ्रमस्य प्रत्यक्षमेव विशेषज्ञानं बाधकमिति दिङ्मोहादौ दृष्टमिति चेत्, तत्राह प्रसक्ता वृजिनारणवे इति । दृष्ट्वापि तदगतदोषान्, अनुभूयापि दुःखम्, पुत्रदारगृहादिषु उन्मज्जन्त्युत्पद्यन्ते, 'अन्ते या मतिः सा गति'रिति तत्रैवासक्ताः निमज्जन्ति, आसक्त्यैव तत्र स्थिता

यावज्जीवं तत्रैव म्रियन्ते । 'प्रजामनु प्रजायन्ते' इति पुत्रादुत्पद्यन्ते, पुत्रार्थमेव च क्वचित् म्रियन्ते च । तथैव भार्यायां पुत्ररूपेणोत्पद्यन्ते, भार्यार्थं म्रियन्ते च । गृहे तूत्पत्तिमरणे प्रसिद्धे । आदिशब्देनाश्वगर्दभादिष्वपि । 'अन्ते या मतिः सा गति'रिति भरतवत्तत्राप्युत्पद्यन्ते म्रियन्ते च । तस्मादेवं महामोहहेतुः भगवच्छक्तिरेव काचिदङ्गीकर्तव्या, या प्रत्यक्षशास्त्रैरप्यनुलङ्घ्या । ॥४०॥

व्याख्यार्थ—यह माया ही इष्ट पदार्थों को प्राप्त कराने वाली है, वैसा ज्ञान ही प्रवृत्ति होने का कारण है, न कि भगवान् कारण है । ऐसी शङ्का मिटाने के लिये कहते हैं कि, विवेक वाले भी विषय दुःख देने वाले हैं यों देख कर भी उनमें ही आसक्त हो जाते हैं, पुत्र आदि में आसक्ति इष्ट पदार्थ की प्राप्ति ही लौकिक में कारण है, इष्ट पदार्थों की प्राप्ति न होते हुए भी जो उसमें प्रवृत्ति होती है, जिसमें अवश्य अन्य कारण होगा, प्रत्यक्ष में जो भ्रम होता है, उस भ्रम का निवारण विशेष प्रत्यक्ष ज्ञान से हो जाता है यह दिङ्मोह आदि में देखा गया है, यदि यों कहें तो, उसका उत्तर है कि दुःख रूप सागर में आसक्त हैं अर्थात् डूबे हुवे हैं, जिससे उनके दोषों को देखकर भी दुःख का अनुभव करके भी पुत्र स्त्री गृह आदि में उत्पन्न होते हैं, 'अन्त में जैसी मति वैसी गति' होती है, पुत्र आदि में जीवन पर्यन्त आसक्त रहने से वहाँ ही मरते हैं । 'प्रजामनु प्रजायन्ते' इस वाक्य के अनुसार पुत्र से उत्पन्न होते हैं वहाँ पुत्र के लिये ही मरते हैं, वैसे ही स्त्री से पुत्र रूप से उत्पन्न होते हैं, और स्त्री के लिये मरते हैं, घर में तो उत्पन्न होना और मरना प्रसिद्ध ही है, श्लोक में आदि पद दिया है, जिसका भावार्थ है कि घोड़े, गदेह आदि में भी जन्म होता है, क्योंकि अन्त में जैसी मति होती है वैसी ही गति होती है, यों भरत की भाँति उन योनियों में भी उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं, इस कारण से यह अङ्गीकार करना चाहिये कि ऐसे महान् मोह का कारण कोई भगवान् की शक्ति ही है जिसको प्रत्यक्ष तथा शास्त्र भी उल्लङ्घन नहीं कर सकते हैं ॥४०॥



आभास — इदानीं अर्धभगवत्कृपायुक्तानां शोचन्नाह देवदत्तमिति ।

आभासार्थ — जिन पर भगवान् की आधी कृपा है शोक प्रदर्शित करते हुवे 'देवदत्तम्' इस श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक — देवदत्तमिमं लब्ध्वा नृलोके अजितेन्द्रियः ।

यो नाद्रियेत त्वत्पादौ स शोच्यो ह्यात्मवञ्चकः ॥४१॥

श्लोकार्थ — आप (भगवान्) के दिए हुए इस मनुष्य देह को पाकर, जो इन्द्रियों को न जीतने के कारण आपके चरणों का आदर नहीं करता है, वह आत्मवञ्चक शोक करने योग्य है ॥४१॥

सुबोधिनी — भगवता विवेकेन्द्रियादियुक्तं शरीरं दत्तं यस्मै, सोऽपि चेत् अर्धकृपायुक्तः पूर्णार्थं न यतेत, स मोहितैरपि शोच्यो भवति, देवेन भगवता दत्तम्, भगवदिच्छया नृलोके मनुष्यदेहे समागत इति । तर्ह्यनादरे को हेतुः, तत्राह अजितेन्द्रिय इति । इन्द्रियजयाभावादिन्द्रियैरपकृष्टोऽन्यत्र गच्छति । अतो न सेवते । ननु तर्हि तस्य को दोष इति चेत्, तत्राह नाद्रियेतेति । आदरमपि न करोति । तत्रासक्तिनियामिकेति ।

अतो विद्यमानमपि साधनं अन्यथा नाशयतीति स शोच्यो भवति । आत्मवञ्चकश्च । हिशब्द-सूचिता युक्तिरुक्ता । परार्थं तथा करोतीत्याशङ्क्य तदभावार्थं निराकरोति आत्मानमेव वञ्चयतीति । उपकारस्तु पर्यवसानवृत्त्या आत्मगाम्येव भविष्यतीति यत्रात्मवञ्चनं न भवति, तत्रैव परार्थ-करणं युक्तम्, अन्यथा स्वयमेवात्मघाती स्यात्, किं तस्योपकारेण ॥४१॥

व्याख्यार्थ — भगवान् ने विवेक और इन्द्रिय युक्त शरीर देकर जिस पर आधी कृपा की है, वह यदि पूर्ण कृपा प्राप्ति के लिये प्रयत्न नहीं करता है तो, वे जो अज्ञान से मोह को प्राप्त हुवे हैं उनसे भी शोक करने योग्य हैं अर्थात् अज्ञानी मोहित भी उस पर शोक करते हैं, भगवान् की इच्छा से ही जीव मनुष्य देह में आया है, यदि भगवदिच्छा से आया है तो फिर उनके चरणों में आदर क्यों नहीं करता है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि इन्द्रियों को न जीत सकने के कारण से दूसरी तरफ अर्थात् संसार की तरफ जाता है । अतः भगवत् सेवा नहीं करता है, इसमें उसका क्या दोष है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि सेवा तो दूर रही किन्तु आदर भी नहीं करता है इसमें आसक्ति नियामक है, अतः साधन होते हुए भी साधन को काम में न लाने से अपने को नाश करता है, इसलिये शोक करने योग्य हो जाता है, और अपने को ठगने वाला भी होता है, 'हि' शब्द यह युक्ति सूचित की है, यदि कहो कि दूसरों के लिये यों करता है तो वह भी सत्य नहीं है क्योंकि जो अपने को भी ठगता है वह दूसरों का क्या उपकार कर सकेगा ? दूसरों के उपकार से तो वहां अपना ही भला हो जाता है जहां आत्मा का वञ्चन नहीं होता हो, वहां परोपकार करना उचित है, अन्यथा स्वयं ही आत्मघाती बनता है, तो उसके उपकार से क्या लाभ ? ॥४१॥



आभास—अप्राप्तभगवन्तं निन्दित्वा, प्राप्यापि यस्त्यजति तं निन्दति, भगवदिच्छां मायां स्तोतुम्, अन्यथा वाक्यभेदप्रसङ्गः, यस्त्वां विसृजत इति ।

आभासार्थ—जिसने ऐसी मनुष्य देह प्राप्त कर भगवान् की प्राप्ति नहीं की है, उसकी निन्दा कर अब प्राप्त कर भी जो, त्याग कर देता है, उसकी निन्दा करते हैं, यों भगवदिच्छारूप माया की स्तुति करते हैं, यदि माया की इस प्रकार स्तुति न की जाय तो, वाक्य भेद का प्रसङ्ग आवे, अर्थात् ३४ वें श्लोक के आभास में जो कहा है कि महादेव १२ श्लोकों में स्तुति करते हैं वह कहना असत्य हो जाता है अतः माया की स्तुत्यर्थ ही 'यस्त्वां विसृजते' श्लोक कहा है ।

श्लोक—यस्त्वां विसृजते मर्त्यं प्रात्मानं प्रियमीश्वरम् ।

विपर्ययेन्द्रियार्थार्थं विषमत्यमृतं त्यजन् ॥४२॥

श्लोकार्थ—जो मनुष्य जड़ अप्रिय और अनीश्वर पुत्रादिकों के लिये अपने प्रिय, ईश्वर आप(आत्मा)को छोड़ देता है, वह अमृत त्याग विष का भक्षण करता है ॥४२॥

सुबोधिनी—प्रयोजनाभावमाशङ्क्याह मर्त्यं इति । मरणधर्मा । आवश्यकत्वायात्मेति । प्रियं प्रीतिविषयम् । अनावश्यकेऽपि प्रीतिवशादादरः क्रियते । तत्रापि ईश्वरमन्यथा मारकम् । एवं प्रकारत्रयेण वस्तुतो बाह्याभ्यन्तरव्यवहारेण च आवश्यकं विसृजते त्यजति, तत्रापि विपर्ययेन्द्रियार्थार्थम्, विपर्यया अनात्माप्रियानीश्वराः, ते

च ते इन्द्रियार्थाश्च रूपादयः । न हि कश्चिन्नदीं तितोर्षु नौकां दत्वा शिलां गृह्णाति, नौकां त्यक्त्वा वा । शिलार्थमेव वा नौकां त्यजति । तस्य गतिमाह विषमत्यमृतं त्यजन्निति । प्रियमाणोऽमृतं प्राप्य तदृत्वा यथा विषं गृहीत्वा भक्षयति, तस्य या अवस्था, सा एतस्यापीति भावः ॥४२॥

व्याख्यानार्थ—यदि कहा जाय कि भगवान् का कोई प्रयोजन नहीं है, तो कहते हैं मनुष्य 'मर्त्यः' मरण धर्म वाला है अतः उसको अमर्त्य आत्मा की आवश्यकता है, इसलिये 'आत्मानं' पद दिया है और यह प्रीतिका विषय है; जिस से आवश्यक न भी हो तो भी प्रीति वश होने से आदर किया जाता है । उसमें भी विशेषता यह है कि 'ईश्वर' है अतः आदर करने योग्य हैं, यदि आदर न किया जावेगा तो मारने वाला बन जायगा, वैसे तीन प्रकार से वास्तविक बाह्य तथा आभ्यन्तर व्यवहार से आवश्यक होने पर भी जो उनका त्याग करता है, उसमें भी जो इन्द्रियार्थ और रूपादिक जड़ है, अप्रिय है और अनीश्वर है उनके लिये त्याग करता है, वह अमृत त्याग विष भक्षण करता है, कोई भी ऐसा नहीं है, जिसको नदी पार करनी है वह नौका का त्याग कर वा नौका देकर शिला को लेता है, अथवा शिला के लिये नौका का त्याग करता है । जो यों करता है उसकी क्या गति होती है वह कहते हैं कि विष का भक्षण करता है अमृत का त्याग करता है, मरने वाला अमृत प्राप्त करने के अनन्तर उसको देकर विष को ग्रहण कर उसका भक्षण करता है तो उसकी जैसी अवस्था होती है वैसी इसकी भी होती है यह भाव है ॥४२॥



आभास—तथा भवदादीनामपीत्याशङ्क्याह अहं ब्रह्मेति ।

आभासार्थ—वैसी दशा आप जैसों की भी होगी, इस शङ्का का उत्तर 'अहं ब्रह्माय' श्लोक से देते हैं ।

श्लोक—अहं ब्रह्माय विबुधा मुनयश्चामलाशयाः ।

सर्वात्मना प्रपन्नास्त्वामात्मानं प्रेष्ठमोश्वरम् ॥४३॥

श्लोकार्थ—मैं, ब्रह्मा, देवगण, निर्मल अन्तःकरण वाले मुनिगण भी प्रिय ईश्वर और आत्मस्वरूप आपके सर्वात्मभाव से शरण हैं ॥४३॥

सुबोधिनो—यथाधकृपायुक्ताः अन्ये भ्रान्ताः, यथा वा प्राप्यापि विषयप्रवणाः, तथा न वयम्, किन्तु भिन्नप्रकारमाश्रिताः । भगवतः सात्त्विकत्वादितरो समानो प्रथमं गणयति । अहं रुद्रो ब्रह्मा चेति । ततो हीनास्तन्नियम्या विबुधाः । अधिकारिणो निरूप्य ज्ञानपरान् निरूपयति मुनयश्चेति । तेषां पृथङ्निरूपणे हेतुः अमलाशया

इति । साधनपराः सिद्धाश्चंति वा । अमलाशया मनुष्याः । मुनयः सनकादयोऽपि तथा । एते त्रिविधा अपि । चकारादेतदनुसारिणः सर्वे परिगृहीताः । ते वयं सर्वात्मना त्वां प्रपन्नाः । स्वस्य प्रवृत्ती हेतुभूतं ज्ञानं निदिशति आत्मानं प्रेष्ठमोश्वरमिति । पूर्वस्मात्प्रेमातिशयो विशेषः । तेनैव साधनानि अन्यानि सम्पन्नानि ॥४३॥

व्याख्यानार्थ—अर्ध कृपायुक्त अन्य, जैसे भ्रान्त हो, अथवा जैसे प्राप्त कर भी विषय में आसक्त हो जाते हैं, वैसे हम नहीं हैं, किन्तु भिन्न प्रकार से आपके आश्रित हैं भगवान् सात्त्विक होने से, दो जो समान हैं उनकी प्रथम गणना करते हैं, १ मैं (रुद्र) और २ ब्रह्मा, उनसे हीन उनसे नियमित देवगण, उन अधिकारियों का निरूपण करने के अनन्तर जो ज्ञान के परायण मुनि हैं उनका वर्णन करते हैं पृथक् निरूपण करने का कारण यह है कि वे निर्मल चित्तवाले हैं, साधन परायण अथवा सिद्ध हैं, निर्मल अन्तःकरण वाले मनुष्य और मुनि कहने से सनक आदि भी वैसे हैं, ये तीन प्रकार के भी, और 'च' शब्द से इनका अनुसरण करने वाले जो अन्य हैं उनका भी ग्रहण किया है, वे हम सब सर्वात्मभाव से आपके शरण हैं, हमारी वैसी प्रवृत्ति में जो ज्ञान कारण है वह बताते हैं, आप आत्मा हैं, प्रिय हैं एवं ईश्वर हैं, यह ज्ञान हमको है जिससे हम सर्वात्मभाव से आपके शरण हैं, पहले ४२ वें श्लोक में कहे हुए प्रेम से यहाँ विशेष प्रेम है, उस प्रेम से ही अन्य साधन सिद्ध हो गये हैं ॥४३॥

आभास—साम्प्रत विरोधमाशङ्क्य तत्परिहारार्थं शरणं ब्रजामोत्याह तं त्वामिति ।

आभासार्थ—यदि भगवान् कह दें कि अब तो आप लड़ाई करने आये हैं, जिसके उत्तर में 'तं त्वां' श्लोक में कहते हैं कि वह शङ्का न कीजिये मैं आपकी शरण ले रहा हूँ ।

श्लोक—तं त्वां जगत्स्थित्युदयान्तहेतुं समं प्रशान्तं सुहृदात्मदेवतम् ।

अनन्यमेकं जगदात्मकेतं भवापवर्गाय भजाम देवम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और उदय के कारणरूप, सम, अत्यन्त शान्त, मित्र आत्मा, देवतारूप, अनन्य तथा एक ही जगत् की आत्मा और स्थानरूप आप देव का हम भजन करते हैं; क्योंकि आप संसार से मुक्त करने वाले हैं, इसी-लिए आपका भजन करते हैं ॥४४॥

सुबोधिनी—एवं सर्वोपास्यं निर्दोषपूर्णगुण-विग्रहं त्वां भजाम । तमिति श्लोकद्वयार्थः परिगृहीतः, लोकवेदप्रसिद्धम् । त्वां परिदृश्यमानम् । जगत्स्थित्युदयान्तहेतुमिति ब्रह्मात्माय जगत्कारणत्वमुक्तम् । बहिर्दोषाभावाय समम् । प्रशान्तमिति अन्तर्दोषाभावाय । सुहृदिति विश्वासात्थम् । आत्मेति भयाभावाय । देवतमितीष्टसिद्धये । भावकृतवैलक्षण्याभावायाह अनन्यमिति । न

विद्यते अन्यो यस्मादिति । यस्य वा । अन्यबुद्धि-भंगवतो न कस्मिंश्चित् यत एक एव । कार्यमपि न ततः पृथक्, यतोऽयं जगतः आत्मा केतश्च । विशेषतो भजनस्य अपराधनिवर्तकत्वे प्रार्थिते । इष्टमग्रे प्रार्थयितुमशक्यमिति सर्वस्यापि दोषस्य निवृत्तिरूपं मोक्षमेव प्रार्थयति भवापवर्गायिति । एवं शरणागमनलक्षणं भजनं निरूपितम् ॥४४॥

व्याख्यानार्थ—इस प्रकार सब को उपासना करने योग्य, निर्दोष पूर्ण गुण विग्रह वाले आपको हम भजते हैं 'तं' उसको इस पद से दोनों श्लोकों का अर्थ ग्रहण किया है अर्थात् आप जो लोक वेद प्रसिद्ध हो उसको हम भजते हैं 'सम' विशेषण से बताया है कि बाहर के कोई दोष आप में नहीं है, 'प्रशान्त' विशेषण से अन्तर के दोषों का अभाव सिद्ध किया है, 'सुहृत्'-पद विश्वास के लिये दिया है, 'आत्मा' पद से सिद्ध किया है कि आप की शरण आये हुये की भय नहीं रहता है । 'देवत' शब्द से कहा है कि आपकी शरण लेने से इष्ट सिद्धि होती है । भाव से किये विलक्षणता के अभाव बताने के वास्ते 'अनन्य' विशेषण दिया है । जिसमे अन्य कोई है ही नहीं । भगवान् की भी किसी में अन्य बुद्धि नहीं है, क्योंकि एक आप ही हैं, कार्य भी उनसे पृथक् नहीं है, क्योंकि यह ही जगत् की आत्मा और निवास है, विशेष रूप से यदि भजन से अपराध की निवृत्ति की प्रार्थना की जावे तो आगे इष्ट की प्रार्थना करनी कठिन हो जावेगी, इसलिये जिससे सर्व दोष निवृत्त होवेंसे मोक्ष के लिये ही प्रार्थना करते हैं जिसके लिये 'भवापवर्गाय' पद दिया है इस प्रकार शरण आना जिसका लक्षण है ऐसे भजन का निरूपण किया है ॥४४॥

आभास—विज्ञापनामाह अयं ममेष्ट इति ।

आभासार्थ—'अयं ममेष्टो' श्लोक से प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—अयं ममेष्टो दयितोऽनुवर्तो मयाऽभयं दत्तममुष्य देव ।

संपद्यतां तद्भुवतः प्रसादो यथा हि ते दैत्यपतो प्रसादः ॥४५॥



व्याख्यार्थ—हे भगवन् ! यह संवोधन अपने से शिवजी का अभेद बताने के अभिप्राय से दिया वह भगवान् को एक ही समझकर भजते हैं आप जो कहते हैं वह हमारे लिये योग्य ही है, अथवा आप हमारे हैं अतः आपका प्रिय ही हम करेंगे, कारण कि जो अपने हैं उनका प्रिय करना ही चाहिये, वास्तविक आपके वचनों का समर्थन करना योग्य ही है, इसलिये भुजाओं को न तोड़नी चाहिये थी, वैसी शङ्का हो तो पहले जो आपने तो 'त्वदर्पन्धं भवेन्मूढ' श्लोक में कहा था उसकी स्मृति राते हुए कहते हैं कि हम इस वाक्य का अनुमोदन करते हैं क्योंकि वह उचित नहीं है, किया तो आपने है, मैंने तो केवल शास्त्र द्वारा उसका अनुमोदन किया है ॥४६॥

आभास—अभयं यत्प्रार्थ्यते, तत्राह अवध्योऽयं समाप्येष इति ।

आभासार्थ—तुमने बाण के अभय की जो मांग की है, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'अवध्योऽयं समाप्येष' ।

श्लोक—अवध्योऽयं समाप्येष वैरोचनसुतोऽसुरः ।

प्रह्लादाय वरो दत्तो न ते वध्यो मयान्वयः ॥४७॥

श्लोकार्थ—यह बाण बलि का पुत्र है, अतः मुझे भी इसको मारना नहीं है, कारण कि मैंने प्रह्लाद को वर दिया है कि तेरे वंश का वध मैं न करूँगा ॥४७॥

सुबोधिनी—प्रह्लादान्वयत्वज्ञापनाय पुरुषत्रयमाह वैरोचनसुत इति । विरोचनात्मजस्य बलेः सुतोऽयं बाणः । किमतो यद्येवम्, तत्राह प्रह्लादाय वरो दत्त इति । ते अन्वयो मया न वध्य इति । ननु भक्ते कथमेवं वचनम्, तत्राह असुर

इति । असुरा हन्तव्या एवेति । अनेन भक्तकृपालुत्वं भक्तापेक्षया आधिक्येन सूचितम् । स त्वेकस्यैव प्राणरक्षामाह, अहं तु वंशस्यैव कथयामीति ॥४७॥

व्याख्यार्थ—यह बाण प्रह्लाद के वंश में है यह बताने के लिये तीन पुरुष कहते हैं कि विरोचन का पुत्र बलि है जिसका यह बाण पुत्र है, यदि यों है, तो क्या हुआ ? इस पर कहते हैं कि प्रह्लाद को मैंने वरदान दिया है कि तेरे वंश का वध नहीं करूँगा, भक्त को ऐसा वचन कैसे दिया ? इस पर कहते हैं कि 'असुरः' असुर है, असुर तो वध के योग्य हैं जिससे मारे जाते हैं, इससे भगवान् में भक्त-कृपालुपन, भक्त से भी विशेष है, वह तो एक की रक्षा चाहता है किन्तु मैं तो उसके वंश की ही रक्षा कहता हूँ । ४७॥

आभास—तर्हि कथं छेदनमिति चेत्, तत्राह दर्पोपशमनायेति ।

आभासार्थ—तब भुजाओं का छेदन क्यों किया ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर 'दर्पोपशमनाय' श्लोक से देते हैं ।

श्लोकार्थः—हे देव ! यह मेरा प्यारा और इष्ट भक्त है, इसको मैंने अभय दान दिया है, इसलिए जैसी प्रह्लाद पर कृपा की है, वैसी इस पर भी कीजिए ॥४५॥

सुबोधिनी—इष्टानुवृत्तिलोकसिद्धा । दयित इति प्रीतिविषयः । इच्छा रुचिश्च निरूपिते । अनुवर्तते सर्वहेतुः, सर्वदा मामनुवर्तते इति तेन मयाप्यनुवृत्तिः कर्तव्येति । अमुष्याभयं मया दत्तमिति वाचनिकम् । एवं कायवाङ्मनोभिरयमनुरोध इति सर्वथा त्वया कृपा कर्तव्येत्याह संपद्य-

तामिति । तत्तस्मात्कारणाद्भवतः प्रसादः संपद्यताम् । अथवा । मदुक्तं त्वदुक्तमेव । अतः पूर्वोक्तः प्रसादः संपद्यताम्, आवयोर्भिन्नभावाभावात् । प्रसाद विशिनष्टि । यथा हि ते दैत्यपतौ प्रह्लादे प्रसाद इति ॥४५॥

व्याख्यानार्थः—प्रेमी की इच्छा के अनुकूल कार्य करना चाहिये, यह लोक से सिद्ध है, 'दयित' पद से बताया है कि यह मेरा प्रेम पात्र है, इन दोनों शब्दों से महादेव की क्या इच्छा और रुचि जिसका स्पष्टीकरण किया है, यों सब कुछ करने का कारण यह है, कि वह वाणी मेरा अनुवर्ती अर्थात् सेवक है, सदैव मेरे पीछे चलता है, इस कारण से मुझे भी यों करना चाहिये, इसको मैं अभय दान दिया है, जिससे वाणी की अनुकूलता बताई है । पहले 'सेवक' पद से कायिक अनुकूलता और 'दयित' प्रेम पात्र पद से मानसिक अनुकूलता कहो है, इसलिये इस पर आपको सर्व प्रकार कृपा करनी चाहिये, क्योंकि मेरा कहा हुआ वचन आपका ही है, अतः पहले कहा हुआ अनुग्रह प्रसाद इस पर करना चाहिये, अपने दोनों का भिन्न भाव नहीं है, प्रसाद किस प्रकार करना वह स्पष्ट क बताते हैं कि जैसे आपने प्रह्लाद पर कृपा की थी वैसी कृपा इस पर भी कीजिये ॥४५॥

आभास—ततो भगवान् प्रीतः कृतं कृतमेवेति वाचा शिवसान्त्वनं कृतवानित्यायदात्येति ।

आभासार्थः—पश्चात् प्रसन्न हुए भगवान् ने 'यदात्य' श्लोक से कहा कि जो आपने किया मैंने किया, इस प्रकार वाणी से शिवजी को सान्त्वना दी ।

श्लोकः—श्रीभगवानुवाच—यदात्य भगवंस्त्वं नः करवाम प्रियं त्व ।

भवता यद्वचसितं तन्मे साध्वनुमोदितम् ॥४६॥

श्लोकार्थः—भगवान् ने कहा—हे भगवन् ! जो आपने कहा, वह आपका प्रिय ह करेंगे, आपने जो वित्तिार किया है, उसका मैं अनुमोदन करता हूँ ॥४६॥

सुबोधिनी—भगवन्निति सम्बोधनमभेदाभिप्रायेण । स हि भगवन्तमपृथक्त्वेन भजते । त्वयदात्य तस्रोऽस्मान् प्रति । तद्युक्तमेवेति । नोऽस्माकं वा त्वम् । अतः प्रियं करवाम । स्वकीयानां प्रियं कर्तव्यमेवेति । तवेति । वस्तुतस्तव

वाक्यं च समर्थनीयम् । तदिदानीं बाहुच्छेदः भात्रमाशङ्क्य पूर्वोक्तं स्मारयति भवता यद्वचसितमिति । 'त्वद्वर्षणं भवेन्मूढ संयुगं मत्सते' इति । तत्साध्वेवानुमोदितम् । कृतं तु त्वत्तच्छस्त्रद्वारा अनुमोदनमात्रं कृतमिति ॥४६॥



श्लोक—दर्पोपशमनायास्य प्रवृक्का बाहवो मया ।

सूदितं च बल भूरि यच्च भारायितं भुवः ॥४८॥

श्लोकार्थ— इसके दर्प (अहंकार) को शान्त करने के लिए मैंने इसकी भुजाएँ तोड़ी हैं और जो पृथ्वी पर भारी बोझ था, उस सब बल को नाश किया ॥४८॥

सुबोधिनी—प्रकर्षेण छेदनं बाहुमूलकम् । ते वृक्का एवेति न तस्य प्रतीकारः । सेनावधस्य विलष्टकर्मत्वमाशङ्क्य निमित्तान्तरमाह यच्च भुवो भारायितम् । चकाराद्भक्तानां बुद्धिनाशकं तत्सर्वमेव बलं सूदितं भारितम् ॥४८॥

व्याख्यार्थ—भुजाओं का छेदन इसी प्रकार किया जिससे उनकी जड़ भी कट गई, वे कट गई इनका कोई उपचार (इलाज) नहीं है, सेना का वध तो क्लिष्ट कर्म है । इसका दूसरा निमित्त बताते हैं कि यह क्लिष्ट कर्म होते हुए भी इसलिये किया गया है कि, यह एक तो पृथ्वी पर बोझ था, दूसरा भक्तों की बुद्धि को नाश करने वाला था, अतः वह सर्व बल ही नाश किया है ॥४८॥

श्रामास—तर्हि मत्प्रार्थनायां को विशेष इत्याशङ्क्याह चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यन्तीति ।

श्रामासार्थ— तो मेरी प्रार्थना करने पर क्या विशेषता हुई अर्थात् क्या लाभ हुआ ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'इसकी चार भुजाएँ रहेंगी ।

श्लोक—चत्वारोऽस्य भुजाः शिष्टा भविष्यन्त्यजरामराः ।

पार्षदमुख्यो भवतो नकुतश्चिद्भयोऽसुरः ॥४९॥

श्लोकार्थ—इसकी चार भुजाएँ अजर-अमर बची रहेंगी, यह असुर आपका मुख्य पार्षद है, अतः इसको किसी से भी भय न होगा ॥४९॥

सुबोधिनी—महत्तं सहजं भुजद्वयं त्वद्दत्तमा-
गन्तुकं भुजद्वयमिति चत्वारोऽस्य भुजाः छिद्यमा-
नेषु भुजेषु अवशिष्टा भविष्यन्ति । अनेन सुदर्शनं
प्रक्षिप्तं साम्प्रतं छिनत्तीति सूचितम् । अधिकभुज-
द्वयदाने हेतुः पार्षदमुख्य इति । तयोः कालान्तरे-

ऽपि नाशाभावायाह अजरामरा इति । देवत्वं
निरूपितम् । युक्तमेव पार्षदमुख्यो भवत इति । न
कुतश्चिद्भय इति असुरत्वेऽपि न मत्तो न मदीयान्न
गुरोर्म्यो भयमित्यर्थः ॥४९॥

व्याख्यार्थ— मैं इसकी भुजाएँ तोड़ रहा हूँ, किन्तु उसमें से मेरी दी हुई दो भुजाएँ और जो भुजाएँ आपने दी हैं उनमें से दो भुजाएँ, इस प्रकार इसकी चार भुजाएँ बच जायेगी । इस प्रकार कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् ने भुजाओं को काटने के लिये इस समय सुदर्शन फेंका है विशेष



दो भुजा दान करने का कारण यह है कि महादेव के पार्षदों में यह मुख्य है, उनका कालान्तर में भी नाश न होगा, यह बताने के लिये कहते हैं कि 'अजरामरा' ये शेष भुजाएँ अजर और अमर हैं, अजर और अमरत्व कह कर इसका देवत्व सिद्ध किया है इसका देवत्व उचित ही है, क्योंकि तुम्हारा मुख्य पार्षद है, अब इसको असुर होते हुए भी मुझ से, मेरे भक्तों से और मेरे गुणों आदि से कोई भी भय न होगा ॥४६॥

आभास—एवमभये दत्ते भगवत्कृपावलोकितः स्वोचितं कृतवानित्याह इति लब्ध्वेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार अभय दान मिल जाने पर और भगवान् ने कृपा दृष्टि से अवलोकन भी किया, जिससे वह बाण अपने योग्य कर्त्तव्य पालने लगा ।

श्लोक—इति लब्ध्वाऽभयं कृष्णं प्रणम्य शिरसाऽसुरः ।

प्राद्युम्नि रथमारोप्य सवध्वा समुपानयत् ॥५०॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार वह असुर श्रीकृष्ण से अभय प्राप्त कर, उनको मस्तक से प्रणाम करने के अनन्तर प्राद्युम्न के पुत्र भगवान् के पौत्र की स्त्री सहित रथ में बिठला कर भगवान् के पास ले आया ॥५०॥

सुबोधिनी—अभयं लब्धा, कृष्णं प्रणम्य, कन्यादाने संतुष्टो भविष्यतीति । शिरसेति । तस्यैतदेव महत्, यतोऽयमसुरः । प्राद्युम्नि भगवत्पौत्रम् । अर्थाद्वन्धनादिकं त्याजयित्वा, वरमि-

वालङ्कृत्य, वध्वा उषया सह समुपानयत् । सम्यक् भगवत्समीपमुपानयत् । एतदर्थमेव समागत इति तावता सन्तुष्टः ॥५०॥

व्याख्यानार्थ—अभय प्राप्त कर, श्रीकृष्ण को प्रणाम कर, कन्या के दान देने पर प्रसन्न होंगे, शिर से प्रणाम करना ही इसके लिये महान् है, कारण कि, असुर है, असुर अभिमानी होते हैं किसी को शिर से प्रणाम नहीं करते हैं, किन्तु यहाँ यों कर अपना गर्वाभाव दिखाया है, 'प्राद्युम्नि' अर्थात् भगवान् के पौत्र को उसको जो बन्धन पड़े थे वे खोल कर, वर की तरह अलङ्कृत कर 'उषा' के साथ रथ में बिठला कर अच्छी तरह अर्थात् प्रेम से आदर के साथ भगवान् के समीप ले आये, भगवान् इस कार्य के लिये अर्थात् अनिष्ट को लाने के लिये आये थे, इसलिये बाण के इस प्रकार के कार्य से भगवान् प्रसन्न हुए ॥५०॥

श्लोक—अक्षौहिण्या परिवृतं सुवाससमलंकृतम् ।

सपत्नीकं पुरस्कृत्य ययौ रुद्रानुमोदितः ॥५१॥

श्लोकार्थ—अक्षौहिणी सेना से घिरा हुआ, सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित, पत्नी समेत पौत्र को आगे कर रुद्र से अनुमोदित श्रीकृष्ण द्वारका पधारे ॥५१॥

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

“अनिरुद्ध विवाह”

राग मारु :

स्याम बलराम यह सुनत धाए ।

आइ नारद कह्यो द्वारिकानाथ सो, बानासुर कुँवर अनिरुद्ध बंधाए ।

छोहिनी दोइ दस हुतो हरि सँग कटक, जात ही नगर ताकी लुटाए ॥

रुद्र भगवान् अइ बान सात्यकि भिरे, राम कुंभांड मांडी लड़ाई ।

सनपति कोपि कै प्रद्युमन सो भिरचो, सांब कूपकरन दोउ भिरे धाई ॥

तेज भगवान् को पाइ जादव भिरे, असुर दल चलयो सबही पराई ।

रुद्र तब कोप करि अग्नि बरषाकरी, स्याम जल बरषि डारयो बुझाई ॥

पुनि महादेव जो बान संधान कियो, आपु भगवान ताको प्रहारयो ।

देखि यह जुद्ध सुर असुर चक्रित भए, लख्यो तब बान जो रुद्र धारयो ॥

बान तब आइ भगवान सन्मुष भयो, बान बरषा लग्यो करन भारी ।

एकहू बान आयो न हरि कै निकट, तब गह्यो धनुष सारंगधारी ॥

एक ही बान संधानि रथ के तुंग, ध्वजा अरु धनुष सब काटि डारै ।

संख को सब्द करि लियो असुर तेज हरि, सुधुनि रही फैलि नभ पृथी सारै ॥

देखि यह असुर की मातु धाई नगन, कृपन भगवान कै निकट आई ।

नगन तिय देखिबो जुगत नाही कह्यो, जानि यह हरि रहे मुख फिराई ॥

असुर यह घात तकि गयो रन तँ सटक, तप्त जुर दियो तब सिव पठाई ।

सीत जुर जुद्ध करि कियो बिह्वल ताहि, तिन तब आइ बिनती सुनाई ॥

प्राण दाता तुम्ही स्थूल सूक्ष्म तुहो, सर्व आत्मा तुही धर्म पालक ।

ज्ञान तुहि कर्म तुहि बिस्वकर्मा तुहो, तू अखिल सक्ति प्रभु असुर धालक ॥

सीत अरु तप्त को बल चलै प्रभु तहाँ, जहाँ नहि होई सुगिरन तुम्हारो ।

करत दंडवत मैं तुम्हें करुना करन, कृपा करि ओर मेरै निहारो ॥

सुनत ये बचन हरि कह्यो अब भे न करि, मैं कृपा करी तोहि त्रिसिरधारी ।

सीत अरु तप्त को भय न ह्वै है ताहि, सुने यह कथा जो चित्तधारी ।

तप्त जुर गयो सिर नाइ हरि को तुंग, बानासुर बहरि रणभूमि आयो ।

चक्र परहार हरि कियो ताकी निरखि, रुद्र सिर नाइ तब कहि सुनायो ॥

प्रगट तुम गुप्त तुम तुमहि सन्वातमा, चक्र तुव अग्नि रुद्र कितक हारे ।

बुद्धि विधि चन्द्रमा मन अहकार मँ, धरि चरन रोम सब वृच्छ सारे ॥

सीस आकास अरु खवन दसहू दिसा, इन्द्र कर लोक त्रै बपु तिहारो ।

बान जगदीस मोहि जानि मम ईस तुम, राखि तिहि माथ अब हाथ चारो ॥

बिहंसि जगदीस कह्यो रुद्र जो तुहि भजै, तहाँ मँ जाउँ यह प्रन हमारै ।

कियो प्रह्लाद कुल प्रभय मैं प्रथमही, बान कियो अमर भाषै तिहारे ॥

करै जो सेव तुम्हरी सु मम सेव है, बिष्णु सिव ब्रह्म मम रूप सारे ।

बान अभिमान मन माहि धारयो हुतौ, तब बिहित हाथ तातै सँहारे ॥

रुद्र अरु बान अनिरुद्ध सनमान करि, तुरत भगवान कै निकट ल्याए ।

बहुरि ऊषा दई व्याहि दाइज सहित, हरि हरष करत निज पुरी आए ॥

यह सकल कथा जा रुद्र अस्तुति सहित, करै गिरन ताहि भय न होई ।

कही जो व्यास सुकदेव भागवत मँ, कही अब रूर जन गाइ सोई ॥

॥ ओ हरिः ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थ माला

दशम पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य विरचित
श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

श्रीमद्भागवतानुसार उत्तरार्ध अध्याय—६४ से ७०

श्री सुबोधिन्यानुसार अध्याय—६१ से ६७

उत्तरार्ध अध्याय—१५ से २१

सात्विक प्रमेय अवान्तर प्रकरण अध्याय—१ से ७

मायवादि करोन्द्रदर्प दलने नास्येन्दु राजोद्गत, श्रीमद्भागवताख्य दुर्लभ सुधावर्षेण वेदोक्तिभिः ।

राष्ट्रावहभसेवया तदुचितप्रेम्णोपदेशैरपि श्रीमद्वल्लभ नामवेय सहशोभावी न भूतीऽस्त्यपि ॥

‘श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण’

सहायक ग्रन्थ—

टिप्पणी— श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण

लेख— गो० श्री वल्लभजी महाराज

प्रकाश— गो० श्री पुरुषोत्तमजी महाराज

योजना— प० भ० श्री लालूभट्टजी

कारिकार्थ— प० भ० श्री निर्भयरामजी भट्ट

अनुवादक—

गो. वा. प. भ. पं० श्री फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री विद्याभूषण
जोधपुर (राजस्थान)

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल

मानधना भवन, चौपासनी मार्ग,

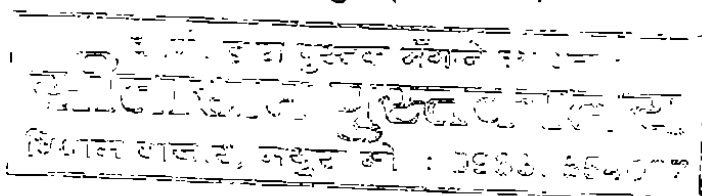
जोधपुर (राजस्थान)

मूल्य— १०००

अवधि— १० दिवस

आवृत्ति— २०३०

निर्माण— १९७३



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाष्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६४वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६१वां अध्याय

उत्तरार्ध का १५वां अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

“१ला अध्याय”

नृग राजा की कथा



कारिका—राजसप्रक्रिया पूर्णा तत्त्वैरिन्द्रियशोधिका ।

निरूपिता नातियत्ना सात्त्विकी त्वधुनोच्यते ॥१॥

अध्यायैरेकविंशत्या वसुदेवमखावधि ।

चतुर्धा रूप्यते षड्भिः षड्भिः षड्भिस्त्रिभिस्तथा ॥२॥

अर्थो धर्मस्तथा कामः मोक्षश्च त्रिविधोऽन्ततः ।

प्रकीर्णकारुणानवती प्रक्रियेयमिहोच्यते ॥३॥

नात्र क्रमविवक्षा हि नृगः पूर्णं निरूप्यते ।

गोप्यः पश्चात्ततो मिथ्यावासुदेवः प्रकीर्तितः ॥४॥

धर्मकामार्थयुक्ता हि प्रमाणेनैव पोषिताः ।

द्विविदो लक्ष्मणा चैव नारदश्च त्रयः स्मृताः ॥५॥



एतेषामर्थसिद्धिर्हि षड्विधा प्रोच्यते स्फुटैः ।

ततः साधारणो धर्मो विशिष्टः पञ्चमिस्ततः ॥६॥

यथा कामकथा षड्मिस्त्रिभिर्मोक्षस्तथोच्यते ।

अर्थोऽनर्थः सर्वथैव धर्मार्थमपि योजितः ॥७॥

तस्यापि भगवानर्थः स निरुद्धः फले परम् ।

अर्थो ब्राह्मणसम्बन्धरहितश्चेत् परः स्मृतः ॥८॥

दृष्टान्ततो निरूप्यादौ भगवानाह तत् स्फुटम् ।

उत्तरार्धे पञ्चदशे नृगमोक्षो निरूप्यते ॥९॥

शिक्षा च सात्त्विके भावे राजसा यादवा यतः ।

कारिकार्थ—तामस प्रकरण की लीलाओं के श्रवण से तामस अहंकार के कार्य-भूत देह की शुद्धि होती है, इसी प्रकार राजस प्रकरण लीलाओं के श्रवण से राजस अहंकार के कार्यभूत इन्द्रियों की शुद्धि होती है, इन्द्रियों को शुद्ध करने वाली राजस लीलाएँ अष्टाईस अध्यायों में पूर्ण की गई हैं । इस राजस लीला से निरोध करने में तामसों के निरोध करने में जो विशेष प्रयत्न करना पड़ा, वह न हुआ; क्योंकि तामस दृढ़ आग्रही होते हैं, राजसों में वैसा आग्रह नहीं, इसलिए विशेष प्रयत्न करने की वहाँ आवश्यकता नहीं है । सात्त्विकी लीलाओं का वर्णन अब किया जाता है, जिन लीलाओं के श्रवण से सात्त्विक अहंकार के कार्यभूत मन की शुद्धि होती है ।

सात्त्विक प्रकरण के तीन अवान्तर-प्रमेय, साधन और फल-प्रकरण ६, ६ और ६ (१८) अध्यायों से निरूपण किए हैं और तीन अध्याय धर्मों के निरूपण के हैं, इसी तरह इक्कीस अध्यायों से वसुदेव यज्ञ पर्यन्त चार प्रकारों से वर्णन है । प्रमेय, साधन और फल-प्रकरण में क्रमशः धर्म, अर्थ और काम का निरूपण है, अन्त में धर्म प्रकरण के तीन अध्यायों में तीन प्रकार के मोक्ष का वर्णन है ।

इस प्रकरण में प्रकीर्ण आख्यानोवाली प्रक्रिया कही गई है, यहाँ पूर्वोक्त कारिका में अध्याय विभाजक क्रम, विवक्षित नहीं है, किन्तु धर्मयुक्त नृग का चरित्र प्रथम कहा गया है । बाद में कामयुक्त गोपियों का चरित्र है । इसके अनन्तर अर्थयुक्त मिथ्या वसुदेव का आख्यान है, पश्चात् मोक्षत्रय का वर्णन किया है ।



इसी प्रकार धर्म, काम और अर्थ; ये तीन प्रमाण से ही पोषित हैं; जैसे कि नृग की शास्त्र प्रमाण में अधिक श्रद्धा थी, अतः वह प्रमाण से पोषित है। गोपियाँ वेद रूप बलदेव से रमण करने के कारण से, प्रमाण से पोषित हैं। मिथ्या वासुदेव पौंड्रक भी वेदात्मक महादेव के वर से पुष्ट होने से प्रमाण पोषित है। तीन प्रकार के मोक्ष के अधिकारियों को बताते हैं—(१) द्विविद वानर का 'ये च प्रलम्ब' इस श्लोक में मोक्ष कहा है, लक्षमणा का आवेश द्वारा भी हस्तिनापुर के खेंचने से भगवान् के महात्म्य का ज्ञान हुआ है, इसका यह ही मोक्ष है। बहुत नायिकायों से रमण करने में जो संशय हुआ था, उस संशय की निवृत्तिपूर्वक जो भगवद्धर्म का ज्ञान हुआ, वह ही मोक्ष है।

इनकी अर्थ सिद्धि छः प्रकार की कही है, यहाँ कारिका में कहा हुआ क्रम ही समझना चाहिए। छः अध्यायों से अर्थ, पश्चात् छः अध्यायों से धर्म, अनन्तर एक अध्याय से साधारण काम और पाँच अध्यायों से विशिष्ट काम कहा है। बाद में तीन अध्यायों से मोक्ष का वर्णन किया है।

अर्थ, धर्म के काम में लगाया जावे तो भी अनर्थकारी है, जैसे नृग के चरित्र से जाना जाता है। अनर्थपन को प्राप्त हुए का भी अर्थ भगवान् ही है, 'चक्षुषः चक्षुः' इस प्रमाणानुसार अर्थ का भी अर्थ रूप भगवान् हैं, परन्तु फल की कामना करने पर भगवान् निरुद्ध हो जाते हैं अर्थात् फल की कामना करने से भगवान् स्वयं प्रकट न होकर अनर्थ रूप पशु पुत्र आदि देते हैं, यदि अर्थ ब्राह्मण सम्बन्ध रहित है तो पर है। आदि में अर्थात् उत्तरार्द्ध के १५वें अध्याय में भगवान् ने यह विषय नृग का दृष्टान्त देकर समझाया है और आपने नृग की मुक्ति की है। यादव राजस थे, सात्त्विक धर्म में निपुण नहीं थे, इसलिए उनको शिक्षा दी गई है।

—: इति कारिका सम्पूर्ण :—

आभास—अतः परं स्कन्धसमाप्तिपर्यन्तं प्रकीर्णकाः कथाः निरोधोपयोगाय निरूप्यन्ते। तत्र प्रथमं नृगमोक्षो निरूप्यते। नृगो नाम कश्चिद्राजा अर्थवान् दानधर्मपरः ब्राह्मणार्थसंसर्गदिनर्थ प्राप्तः, तस्यापि भगवान् उद्धारकः, अधमभावादुद्धृत्य स्वर्गं प्रापयिष्यति, ततः स सर्वतो निरुद्धः भगवन्माहात्म्यं दृष्ट्वा विस्मृतप्रपञ्चः भगवदेकपरो भविष्यति। तदत्र भगवाननिरुद्धरूपः तमुद्धृत्य धर्मं ग्राहयामास। कथाक्रमे तु देवान्तरभक्तः



यथानर्थं प्राप्तवान्, एवं धर्मपरोऽपि नृग इति वदन् अर्थविषये धर्मतत्त्वमुच्यते । तत्र प्रथमं नृगस्य कृकलासशरीरादपगमो निरूप्यते एकदोषवनमिति षड्भिः ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर स्कन्ध समाप्ति तक निरोध की आवश्यकता के लिये प्रकीर्ण कथाएँ निरूपण की गई हैं । उनमें प्रथम नृग के मोक्ष का निरूपण किया जाता है, नृग नाम वाला कोई राजा धनवान् होने से दान धर्म के परायण था, ब्राह्मणार्थं संसर्ग से अनर्थ को प्राप्त हुआ उसके भी भगवान् उद्धारक हुए, उसका अधम भाव से उद्धार कर स्वर्ग की प्राप्ति कराएँगे, इस कारण से वह सर्व से निरुद्ध हो कर, भगवन्माहात्म्य देख कर, प्रपञ्च को भूल कर, केवल भगवान् के परायण होगा । सात्त्विक प्रकरण में भगवान् अनिरुद्ध रूप हैं, उस स्वरूप से उसका उद्धार कर धर्म को ग्रहण कराया, कथा के क्रम में तो अन्य देवता भक्त जिस प्रकार अनर्थ को प्राप्त हुआ, वैसे धर्म परायण भी नृग यों कहता हुआ अर्थ के विषय में धर्म का तत्त्व कहा जाता है, इसमें प्रथम नृग की कृकलास योनि से छूटने का 'एकदोषवन' श्लोक से छ श्लोकों में वर्णन श्री शुकदेवजी करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—एकदोषवनं राजन् जग्मुर्दुकुमारकाः ।

विहर्तुं साम्बप्रद्युम्नचारुभानुगदादयः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! किसी एक दिन साम्ब, प्रद्युम्न, चारु, भानु और गद आदि यादवों के कुमार खेलने के लिए उपवन में गए ॥१॥

सुबोधिनी—छियो हि भगवन्माहात्म्यं दृष्टवत्यः, बालकास्तु न जानन्तीति तेभ्य एवानर्थ उत्पत्स्यत इति ब्राह्मणातिक्रमो न कर्तव्य इति तान् बोधयितुं तद्द्वारैव नृगमोक्षो निरूप्यते । एकदा सर्व एव बालकाः क्रीडार्थं द्वारकाया उपवनं जग्मुः । दुर्गादुत्तीर्य पुराणद्वारका उपवनत्वेन स्थिता, 'क्रीडायां गुप्तस्थान'मिति रक्षकैरनिरुद्धमप्युपवनं यदुकुमारकाः रक्षकैरनिरोध्याः

जग्मुः । तत्र भगवत्पुत्राणां विशेषतो नामान्याह साम्बप्रद्युम्नेति । विहर्तुमेव गताः । साम्बोऽग्रेऽनर्थहेतुरिति स एव मुख्य उपदेष्टव्य इति प्रथमं निर्देशः । प्रद्युम्नः सर्वमान्यो महासमर्थः । तथापि नृगोद्वारे न समर्थ इति वक्तुं निरूपितः । चारु-स्तेषामेव दशमः । भानुर्नाग्नजित्याः प्रथमः । गदादयो भ्रातरः ॥१॥

व्याख्यानार्थ—स्त्रियों ने भगवान् का माहात्म्य देखा है, बालक उस माहात्म्य को नहीं जानते हैं, उनके लिये ही अनर्थ^१ उत्पन्न होगा, इसलिये ब्राह्मणों का अनादर नहीं करना चाहिये उनको बोध कराने के वास्ते उनके द्वारा ही नृग के मोक्ष का निरूपण किया जाता है, किसी दिन सब ही बालक खेलने के लिये द्वारका के उपवन में गये, कोट से उत्तर कर पुरानी द्वारका में उपवनपन से स्थित

हुए, वह स्थान क्रीडा के लिये गुप्त रखा गया था इसलिये वहाँ कोई न जा सके तदर्थ रक्षक पहरे पर खड़े थे किन्तु यादवों के कुमारों को रक्षकों ने रोका नहीं अथवा उनसे रुके नहीं, वहाँ पहुँच गये, उन कुमारों में से भगवान् के पुत्रों के विशेष प्रकार से नाम कहते हैं, ये सब खेलने के लिये ही गये प्रथम साम्ब का नाम इसलिये दिया है कि, यह ही अनर्थ का कारण है, अतः यह ही मुख्यतः उपदेश देने योग्य है, प्रद्युम्न का नाम द्वितीय श्रेणी में इस कारण से दिया है कि वह सर्वमान्य और सर्व समर्थ है, तो भी नृग के उद्धार करने में असमर्थ हुआ, चारु उनमें ही दशम है, भानु नाग्नजित्तीका पहला है, गद आदि भ्राता हैं ॥१॥

प्राप्तास—क्रीडां प्रस्तावनार्थमुक्त्वा प्रासङ्गिकमाह क्रीडित्वेति ।

प्राप्तासार्थ—प्रारम्भ के लिये क्रीडा कह कर अब 'क्रीडित्वा' श्लोक से प्रासङ्गिक कहते हैं ।

श्लोक—क्रीडित्वा सुचिरं तत्र विचिन्वन्तः विपासिताः ।

जलं निरुदके कूपे ददृशुः सत्त्वमद्भुतम् ॥२॥

श्लोकार्थ—वहाँ अच्छी तरह खूब खेलकर प्यासे हुए, जिससे प्यास मिटाने के लिए जल ढूँढ़ने लगे, ढूँढ़ते-२ दूर से एक कूप देखा, वहाँ जाकर देखा तो जल नहीं था, किन्तु उसमें एक अद्भुत सत्त्व^१ पड़ा था ॥२॥

सुबोधिनी—समुद्रतीरस्थाने मिष्टं जलं दुर्लभमिति जलान्वेषणार्थं प्रवृत्ताः, कूपास्तत्र सम्भवन्तीति । ते हि बालका अनभिज्ञाः अभिज्ञाश्च प्रवेशं न लभन्त इति जलं विचिन्वन्तः कूपे अद्भुतं

विचित्रं सत्त्वं ददृशुः । सर्वलोकविलक्षणत्वादद्भुतं तं वर्णयति । अनेन भगवद्गीयानां क्रीडास्थाने पूर्वकृतो धर्मः साधनतामापन्न इति निरूपितम् । सर्वस्यापि धर्मस्यैतावन्मात्रे उपक्षयात् ॥२॥

व्याख्यार्थ—समुद्र के किनारे पर मीठा जल दुर्लभ है इसलिये जल ढूँढ़ने लगे किनारे पर कूप होते हैं, उन बालकों में जानकार और वे समझ भी थे, कहां जल है यह प्राप्त नहीं कर सकते, इसलिये ढूँढ़ने लगे । एक कूप देखा जिसमें जल तो था नहीं, किन्तु एक अजीब प्राणी पड़ा था, वह प्राणी लोक में जो प्राणी होते हैं उनसे विलक्षण था इसलिये उसको अद्भुत कहा है, इससे यह जताया, कि भगवदीयों के क्रीडा स्थान में, पूर्व कृत धर्म साधनता को प्राप्त हुवा है, सर्व अधर्म का केवल इतने में ही नाश होने से ॥२॥

श्लोक—कृकलासं गिरिनिभं वीक्ष्य विस्मितमानसाः ।

तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुरते कृपयान्विताः ॥३॥

श्लोकार्थ—उन यदु कुमारों ने कूप में पर्वत समान एक गिरगिट को देखा, जिस-
 से वे अचंभा में पड़ गए और उनकी उस पर दया उत्पन्न हुई, अतः उसके निकालने
 का वे यत्न करने लगे ॥३॥

सुबोधिनो—कृकलासमिति जातिविशेषः । स भवति प्रायेण सूक्ष्मः । गिरिनिभत्वं तस्याश्चर्य-
 करम् । ततस्तान् दृष्ट्वा समारोढुमियेष, न तु शक्तः, अर्धस्थाने समागत्य पुनः पुनः पतति । ततस्तददृष्टवशात् हन्तव्येऽपि शरीरे दयोत्पन्नं ति-
 तेषामुद्धारार्थं प्रयत्नमाह तस्य चोद्धरणे यत्नं चक्रुरिति । चोऽपोत्यर्थः । वस्तुतस्तु हन्तव्य एव । 'अपि कृकलास'मित्यत्र श्रुती तथा निरूपणात् । ततो हस्तात्पतितं तं ब्रह्म एव बाधस्तादुत्तीर्य कृपया पीडिताः ॥३॥

व्याख्यार्थ—गिरगिट बहुत करके सूक्ष्म होता है, वह यहां पर्वत सदृश होने से अचंभा उत्पन्न करने वाला हुआ, पश्चात् उसका बाहर निकालने के लिये ऊपर खींचने लगे किन्तु निकाल न सके, आधे में आकर फिर गिर पड़ता था, प्रारब्धवश मृत शरीर में दया उत्पन्न हो गई, इसलिये उसको बाहर निकालने का भी यत्न करने लगे 'अ' शब्द का यह 'भी' अर्थ है, वास्तविक तो वह मारने योग्य ही है क्योंकि 'अपि कृकलास' इस श्रुति में यह आज्ञा है, पश्चात् कितनेक दया युक्त हो उसको निकालने के लिये नीचे से ऊपर कर ॥३॥

श्लोक—चर्मजैस्तान्तवैः पाशैर्बद्ध्वा पतितसर्भकाः ।

नाशक्नुवन्समुद्धतुं कृष्णायाचख्युत्सुकाः ॥४॥

श्लोकार्थ—उन बालकों ने उस गिरे हुए को ऊपर कर, चर्म पर उसको लिटाकर और चारों ओर चर्म के तन्तुओं से बनी पाशों से बांध के निकालने के लिए प्रयत्न किया, किन्तु निकाल न सके, तब उत्सुक हो श्रीकृष्ण को कहने लगे ॥४॥

सुबोधिनो—चर्मैः चर्मोपरितं पातयित्वा नमिति मत्वा कृष्णायाचख्युः । यद्यपि विशेष-
 परितस्तान्तवपाशान् बद्ध्वा सर्वतः स्थिताः तदु- साधनैर्बद्धतव्यो भवति, तथापि उत्सुकाः सन्तः
 द्धारैः यत्नं कृतवन्तः । तथापि समुद्धतुं नाशक्नु- कृष्णायाचख्युः । श्रीत्सुखं चित्तोल्लासो विवे-
 वन्, अलौकिकत्वात् । अलौकिके भगवानेव साध- कासहिष्णुः ॥४॥

व्याख्यार्थ—चर्म पर उसको गिरा कर चारों तरफ चर्म के तन्तुओं से बनी हुई पाशों से उसको बान्ध कर चारों तरफ स्थित हो के उसको निकालने का प्रयत्न करने लगे, तो भी निकाल न सके, क्योंकि अलौकिक कार्य था, अलौकिक किर्म करने में भगवान् ही साधन हैं, यों समझ कर श्रीकृष्ण को प्रार्थना करने लगे, यद्यपि विशेष साधनों से निकल सकता था तो भी शीघ्र निकले, ऐसी उत्सुकता के कारण श्रीकृष्ण को ही कहने लगे—उत्सुकता का तात्पर्य है, चित्त का उल्लास वह वस्तु है जिसमें विवेक सहा नहीं जाता है अर्थात् विना विचार किए वह कार्य उसी समय कर लिया जाता है ॥४॥



आभास — तदा भगवान् योनित एव तदुद्धारं कृतवानित्याह तत्र गत्वेति ।

आभासार्थ - तब भगवान् ने उसका उस योनि से ही उद्धार किया, यह 'तत्र गत्वा' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक — तत्र गत्वारविन्दाक्षो भगवान्विश्वमावनः ।

वीक्ष्योज्जहार वामेन तं करेण स लीलया ॥५॥

श्लोकार्थ — कमल नयन, विश्व के उद्धारक भगवान् ने वहाँ जाकर, उसको देख, लीला से वाम हस्त से उसका उद्धार किया ॥५॥

सुबोधिनी — दृष्ट्वा सर्वतापहारकः भगवान् सर्वसमर्थः विश्वमेवानुभावयतीति उद्धारकरूपमवलम्ब्यागत इति तदुद्धारोऽपि तस्य युक्त एव । उद्धारमाह वीक्ष्योज्जहारेति । ज्ञात्वास्य कर्मभोगक्षयो जात इति । वामेन करेणेति । लीलां साम-

र्थ्यातिशयं च ज्ञापयितुम् । वामो हस्तः दैत्यहितकारी, दक्षिणो देवानामिति देवपक्षपातिना तदुद्धारभावः सूचितः । लीलयेति । स्वस्य कारणाभावादपि यथा अन्या लीला कदाचिद्धर्ममपि बाधते ॥५॥

व्याख्यार्थ — दृष्टि से ही सर्व के ताप हरने वाले, सर्व समर्थ भगवान् उद्धारक स्वरूप का अवलम्बन कर वहाँ पधारे, उसका उद्धार करना भी आपको उचित ही था, अब उद्धार का प्रकाश कहते हैं, इसके कर्म भोग का क्षय हो गया है यह जान कर, लीला पद से सामर्थ्य की अधिकता जताई है, वाम हस्त दैत्यों का हितकारी है, दक्षिण हस्त देवों का कल्याण करने वाला है, इसलिये दक्षिण कर से इसका उद्धार नहीं किया है, वह लीला से अर्थात् अपनी अतिशय सामर्थ्य से किया है, अपने से उद्धार करने का कोई कारण नहीं था तो भी जैसे दूसरी लीलाएँ कभी धर्म का भी बाध करती हैं, वैसे इस लीला ने भी किया है ।

आभास — ततो यज्जातं तदाह स उत्तमश्लोकेति ।

आभासार्थ — पश्चात् जो हुआ वह 'स उत्तम' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक — स उत्तमश्लोककराभिमृष्टो विहाय सद्यः कृकलासरूपम् ।

संतप्तचामीकरचारुवर्णः स्वर्ग्यद्भुतालंकरणाम्बरस्रक् ॥६॥

श्लोकार्थ — उत्तम श्लोक भगवान् के हस्त के स्पर्श होते ही उसका शीघ्र ही गिर-गिट का रूप निवृत्त हो गया और तपे हुए वर्ण के समान सुन्दर, वर्ण वाला, अद्भुत अलङ्कार, वस्त्र तथा माला धारण किया हुआ देव स्वरूप हो गया ॥६॥



सुबोधिनी—करेणाभिमृष्टः भगवत्स्पर्शेन कारणदोषे निवृत्ते उपष्टम्भकाभावात् (तत्) शरीरे पतिते स्वर्गोपभोगयोग्यं शरीरं प्राप्तवानिति तद्वर्णयति संतप्तेति । आवर्त्यमानसुवर्ण-

वर्णः । स्वर्गि स्वर्गसम्बन्धि स्वर्गोऽस्यास्तोति । स्वर्गिणामपि वा अद्भुतानि अलङ्कारान्यम्बराणि सजश्च यस्मिन् । तादृशो जात इत्यर्थात् बभूवेति । अस्तिभवत्योः सर्वत्र प्रयोगात् ॥६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के हस्त स्पर्श से गिरगिट योनि के जो कारण दोष थे वे निवृत्त हो गये और उस देह को रोक रखने वाला दूसरा कोई नहीं था, इसलिये वह शरीर निवृत्त हो गया और भगवान् के स्पर्श रूप कारण से स्वर्ग का उपभोग करने योग्य शरीर प्राप्त किया, जिसका वर्णन 'सन्तप्त' श्लोकाद्ध से करते हैं, चमकते हुए सोने के समान वर्ण वाला स्वर्ग में रहने वालों को भी अद्भुत देखने में आवे वैसे अद्भुत अलङ्कार, वस्त्र और मालाओं से सुसज्जित शरीरधारी हो गया, अस्ति और भवति का सर्वत्र प्रयोग करने से । ६॥

आभास—ततो निर्धार्य स्वरूपं ज्ञापयित्वा प्रेषणीय इति स्वतः कथने विश्वासो न जायेतेति तद्द्वारैव वक्तुं तद्वृत्तान्तं पप्रच्छ ।

आभासार्थ—वह कौन है ? यह निर्धार कर और उसके स्वरूप का सबको ज्ञान कराके पश्चात् भेजना चाहिये, अपने कहने पर कदाचित् विश्वास न हो, इसलिये उसके द्वारा ही कहलाते हैं ।

श्लोक—पप्रच्छ विद्वानपि तन्निदानं जनेषु विख्यापयितुं मुकुन्दः ।

कस्त्वं महाभाग वरेण्यरूपो देवोत्तम त्वां गणयामि नूनम् ॥७॥

श्लोकार्थ—मुक्तिदाता भगवान् उसका कारण जानते हुए भी मनुष्यों में प्रसिद्ध करने के लिए पूछने लगे—हे महाभाग ! ऐसे सुन्दर रूपवाले आप कौन हैं ? मैं निश्चय से आपको देवों में उत्तम देव गिनता हूँ ॥७॥

सुबोधिनी—ज्ञात्वा प्रश्नो न कर्तव्य इति सर्वेषां सामान्यनिरोधं कर्तुं अयुक्तमपि करोतीति विद्वानपीत्युक्तवान् । विधिरत्र प्रमेयेन नियमक इति न भगवतो विहितं निषिद्धं वा किञ्चिदस्ति । वचनस्यापि प्रयोजनमाह जनेषु विख्यापयितुमिति । तस्य दानं लोके विख्यापनीयम्, अन्यथा 'धर्मः क्षरति कीर्तना'दिति तस्य धर्मक्षयो भवेत् । भगवता पृष्टेन तु वक्तव्यमेव । नन्वेतदपि किमर्थमिति चेत्, तत्राह मुकुन्द इति । अग्रे मोक्षो देयः, स च कीर्तिमत एव भवतीति कीर्तिख्यापनार्थं निरोधार्थं वा । अतिकृतिमानन्यत्र न प्रव-

र्तत इति निरोधानन्तरमेव मुक्तिलीलेति । प्रश्नमाह कस्त्वं महाभागेति । भाग्यं धर्मस्योत्तमं तेजः तदुपकरोति सर्वत्र, महद्भाग्यं यस्येति । महाभागेति सम्बोधनमकस्मादेवंभावे तव सुकृतमस्तीति ज्ञापितम् । वरेण्यरूप इति । सहजमेतन्न रूपम्, अत एव ज्ञायते किञ्चिदुत्कृष्टं कर्मास्तीति, अन्यथा अपृष्टं स्वधर्मं कथं वदेत्, कथिते स्वर्गो न भविष्यतीति तच्छङ्कां निवारयितुमाह देवोत्तमं त्वां गणयामि नूनमिति । देवेषु स्वर्गः प्रतिष्ठितः, तत्राप्युत्तमेषु, तत्राप्यहं गणयामि, नहि मद्गणितं कश्चिदन्यथा कुर्यात् ॥७॥



व्याख्यानार्थ — 'विद्वान्' जानकार पद भी कहा, जिसका आशय प्रकट करते हैं जिस विषय का ज्ञान हो उस विषय का प्रश्न नहीं करना चाहिये फिर भी भगवान् ने जानते हुए भी जो प्रश्न किया उसका कारण यह है कि भगवान् को इस लीला से सर्व का सामान्य निरोध करना था, अतः उचित न होने पर भी प्रश्न किया है और प्रमेय मार्ग में विधि नियामक नहीं होती है, इसलिये भगवान् जो करते हैं उसमें कोई विधि आदि निषेध नहीं कर सकता है इस प्रकार पूछने का प्रयोजन कहते हैं कि मनुष्यों में प्रसिद्ध करने के लिये यह प्रश्न है, उसने इतना विशेष दान किया है जिसकी लोक में प्रसिद्धि होनी चाहिये, भगवान् नहीं पूछते तो वह नहीं कहता क्योंकि 'धर्मः क्षरति कीर्त्तनात्' प्रसिद्ध करने से अर्थात् मैंने इतना धर्म किया है, यों कहने से किया हुआ धर्म नष्ट हो जाता है, किन्तु भगवान् ने पूछा है इसलिये उनकी आज्ञा पालनार्थ कहना ही चाहिये, यों भी क्यों कहना चाहिये ? इस पर कहते हैं कि आप ही तो मुक्ति देने वाले हैं, आगे मोक्ष देने योग्य हैं और वह कीर्त्तिमान् को ही होता है, इसलिये यश प्रकट करने के लिये अथवा निरोध के लिये पूछा है, अति कीर्त्तिवाला अन्यत्र प्रवृत्त नहीं होता है इसलिये निरोध के अनन्तर ही मुक्ति लीला होगी, यों अब प्रश्न कहते हैं, 'कस्त्वं महाभागः' धर्म का उत्तम तेज भाग्य है वह सर्वत्र उपकार करता है, जिस आपका बड़ा भाग्य है, महाभाग यह सम्बोधन इस प्रकार के भाव में अचानक तेरा सुकृत हुवा है यह जताने के लिये दिया है, आपका यह रूप वरण करने योग्य है अर्थात् सुन्दरतम है, ऐसा रूप सहज नहीं होता है इससे जाना जाता है कि आपने कोई विशेष उत्तम कर्म किया है ? बिना पूछे अपना किया हुआ धर्म कर्म कैसे कहे ? कहने पर धर्म के फलरूप स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिये भगवान् ने कहा है कि 'देवोत्तमं त्वं गणयामि' तुझे निश्चय से देवों में उत्तम गिनता हूँ, देवों के लिये स्वर्ग ही है, उनमें भी तुझे मैं उत्तम देवों में गिनता हूँ मेरे गिनने को कोई अन्यथा नहीं कर सकता है ॥७॥

आभास — दोषोऽपि वक्तव्य इत्याह दशामिमां वेति ।

आभासार्थ — 'दशामिमां वा' इस श्लोक से पूछते हैं कि इस दशा(गिरगट योनि)को प्राप्त कराने वाला दोष भी बताना ।

श्लोक — दशामिमां वा कतमेन कर्मणा संप्रापितो ह्यतदहं सुभद्र ।

आत्मानमाख्याहि विवित्सतां नो यन्मन्यसे चेत् क्षममत्र वक्तुम् ॥८॥

श्लोकार्थ — हे सुभद्र ! तुम इस दशा के योग्य नहीं हो, फिर भी इस दशा को प्राप्त हुए, तो वैसे कौनसा कर्म तुमने किया ? यदि बता सकते हो, तो बताईये । ८।

सुबोधिनी — उत्तमस्य अपकृष्टं कर्म न सम्भवति । येन कृकलासरूपं भवेत् । अत उत्कृष्टमेव कर्म प्रकारविशेषापन्नं सत्कर्मैव किञ्चिद्भविष्यतीति तं प्रकारं श्रोतुं प्रश्नः कतमेनेति । सम्यक् प्रापणं बहुकालस्थानं तत्र भूचयति । ननु जायन्ते

निकृष्टेष्वप्युत्कृष्टसुखजनकानि कर्माणि, उत्कृष्टेष्वपि निकृष्टभावजनकानि । तस्मात् प्रश्नो व्यर्थ इत्याशङ्क्याह अतदहं इति । दैवगत्योत्कृष्टत्वमिति चेत्, तत्राह सुभद्रेति । सुभद्रस्य भद्रं स्वाभाविकम्, अभद्रमेव वशेषिकमिति । किञ्च ।



आत्मानं पूर्वसिद्धमाख्याहि । विवित्सतामिति ।
 त्वन्मुखतो वेदितुमिच्छास्माकम् । नतु स्वतः ।
 लौकिकन्यायेन माहात्म्यज्ञानाभावे सङ्कोचः
 वदिष्यतीत्याह यन्मन्यसे नः क्षममत्र वक्तुमिति ।

नोऽस्माकं श्रोतुं क्षमं मन्यसे । क्षमत्वेऽपि अत्र
 वक्तुं चेन्मन्यसे, पञ्चानामग्रे तदा वक्तव्यमिति
 भावः ॥८॥

व्याख्यानार्थ—उत्तम पुरुष से ऐसा नीच कर्म नहीं होता है, जिससे गिरगिट योनि की प्राप्ति हो, अतः उत्तम कर्म ही विशेष प्रकार की प्राप्त होकर वैसे फल का दाता बना होगा, इसलिये उस प्रकार को सुनने के लिये प्रश्न किया है कि 'कतमेन' कौन से कर्म, कारण हुए हैं ? जो, बहुत समय तक इस योनि में आप रहे हैं, निश्चय से यों भी कदाचित् हो जाता है कि निकृष्टों से भी उत्कृष्ट मुख देने वाले कर्म हो जाते हैं और उत्कृष्टों से निकृष्ट भावों को उत्पन्न करने वाले कर्म बन जाते हैं यदि यों हो गया हो तो प्रश्न ही व्यर्थ है । इस शङ्का के उत्तर में कहा है कि 'अतदहं' उत्तम से अपकृष्ट कर्म हो नहीं सकता है, यदि कहो कि दैव गति से उत्कृष्टत्व है तो इस शङ्का को मिटाने के लिए 'सुभद्रः' सम्बोधन दिया है, जो सुभद्र है उसके कर्म स्वभाविक भद्र ही होते हैं विशेष अवस्था में अभद्र हो जाता है, पूर्व सिद्ध अपना कर्म बताईये, हमको वह आपके मुख से सुनने की इच्छा है, न कि स्वतः जान लेने की इच्छा है, हम उस कर्म को सुनने के योग्य है यों मानते हो तो और सबके आगे सुना सकते हो तो कहिये, इस प्रकार भगवान् ने कहा जिसका आशय यह है कि यदि भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान न होगा तो लौकिक न्याय^१ से सङ्कोच कर कहेगा नहीं और जो माहात्म्य ज्ञान होने पर भगवान् के समीप दास को सङ्कोच नहीं होता है इसलिये कहना ही चाहिये अतः कहेगा ही ॥८॥

आभास—ज्ञात्वा भगवत्स्वरूपं पुण्यवशेन लोकभाषापि बुद्धेति भगवदाज्ञां कर्तुं
 स्ववृत्तान्तमुक्तवानित्याह इतीति ।

आभासार्थ—पुण्यों के कारण भगवत्स्वरूप जाना और भगवान् ने जो लोक भाषा में प्रश्न किया वह भी समझ लिया, इसलिये भगवदाज्ञा पालने के लिये 'इति स्म' श्लोक से अपना जो वृत्तान्त कहा उसका वर्णन श्री शुकदेवजी करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इति स्म राजा संपृष्टः कृष्णोनानन्तमूर्तिना ।

माधवं प्रणिषत्त्याह किरीटेनार्कवर्चसा ॥९॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि अनन्तमूर्ति श्रीकृष्ण ने इस प्रकार जब

१—आयुर्वित्तं गृह छिद्रं मन्त्र मैथुन भेषजम्, तपो दानापमानं च नव गोप्यः नि यत्नतः ।
 लौकिक न्याय यह है कि ये नव १—आयु, २—धन, ३—गृह का छिद्र, ४—मन्त्र, ५—मैथुन, ६—औषध, ७—तपस्या, ८—दान और ९—अपमान ये नव किसी को भी बताने नहीं—यत्न पूर्वक छिपाने योग्य है ।



प्रश्न किया, तब सूर्य सम चमकने वाले मुकुट से माधव (अनिरुद्ध मूर्ति) को प्रणाम कर उत्तर देने लगा ॥६॥

सुबोधिनी - स्मेति प्रसिद्धे । प्रश्नः क्लिष्टं कर्म भवतीति स्वदोषनिवृत्त्यर्थं प्रसिद्धिः प्रमाणत्वेनोक्ता । परीक्षितोऽपि शङ्कां व्यावर्तयितुं राजेति । कृष्णेन सदानन्देन सम्भाषणेनापि सुखं भवतीति । भक्तिहितेन वा । अनन्तमूर्तिनेति । अनन्ता मूर्तयो यस्येति । तस्य न सर्वात्मना स्वरूपं प्रकाशितम् । तस्य तावन्मात्रेणैवाभिव्यक्तः ।

अथवा । पूर्वप्रकरणयोरन्या मूर्तिः, अस्मिन्प्रकरणे चान्या मूर्तिरिति ज्ञापयितुमनन्तमूर्तित्वम् । ततो भगवन्तं दृष्ट्वा, श्रीनिकेतत्वात् भगवानेवेति विज्ञाय, माधवं प्रणिपत्य, अर्कवर्चसा किरीटेनोपलक्षितः भगवतोऽपि चरणारविन्दं प्रबोधयन्, भक्तांश्चोद्दीपयन् महानप्येवं जायत इति ब्राह्मणातिक्रमाभावात् ॥६॥

व्याख्यार्थ—‘स्म’ प्रसिद्धि अर्थ में दिया है, प्रश्न क्लिष्ट कर्म होता है इसलिये अपने दोष निवृत्ति के लिये प्रसिद्धि, प्रमाणपन से कही है, परीक्षा किये हुए की भी ‘शङ्का मिटाने के लिये ‘राजा’ कहा है, श्रीकृष्ण रुदानन्द स्वरूप है, जिनके सम्भाषण से भी सुख प्राप्त होता है, अथवा ‘कृष्णेन’ नाम से यह भी बताया है कि भक्तों के हितकारी है, ‘अनन्तमूर्तिना’ विशेषण से बताया है कि आपकी अनन्त मूर्तियां हैं, उनका सर्वात्मभाव से स्वरूप प्रकाशित नहीं हुआ है, उसके आगे उतने ही प्रकट हूँ हैं, अथवा अनन्त मूर्ति कहने का यह आशय है कि पहले तामस और राजस प्रकरणों में दूसरी मूर्ति थी, अब इस प्रकारण में दूसरी मूर्ति है, पश्चात् भगवान् को देख कर, श्री के निवास स्थान होने से भगवान् ही है, यों जानकर सूर्य सम तेज वाले मुकुट से माधव को प्रणाम किया, ऐसे मुकुट से अपनी भी पहचान दी, तथा भगवान् के चरणारविन्द को भी जताया एवं भक्तों को प्रकाशित करने लगे, ब्राह्मणों के अतिक्रम के अभाव से महान् पुरुष भी इस प्रकार होते हैं ॥६॥

आभास—स्ववृत्तान्तमाह नृगो नामेति षोडशभिः ।

आभासार्थ—‘नृगो नाम’ इस श्लोक से लेकर १६ श्लोको में अपना वृत्तान्त कहता है ।

श्लोक—नृग उवाच—नृगो नाम नरेन्द्रोऽहमिक्ष्वाकुतनयः प्रभो ।

दानिष्वाख्यायमानेषु यदि ते कर्णमस्पृशम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! इक्ष्वाकु का पुत्र नृग नाम राजा मैं हूँ, दान करने वालों के नाम सुनते समय मेरे नाम ने भी आपके कान का स्पर्श किया होगा? ॥१०॥

सुबोधिनी—नृगः पूर्वमपि प्रसिद्ध इक्ष्वाको-स्तनयः । शतमध्ये विकुक्षिनिमिदण्डकान्तरमय-मेव प्रसिद्धः । प्रभो इति सम्बोधनं प्रभुस्थाने मिथ्याभाषणाभावं ज्ञापयति । ननु का प्रसिद्धिः, येन त्वं ज्ञायस इत्याशङ्क्याह दानिष्वाख्यायमा-

नेष्विति । दानिनो दानकर्तारः, ननु दातारः उदाराः । दानो विध्यपेक्षः, दाता तु निरपेक्ष इति । यदि ते कर्णमस्पृशम्, तदाहं प्रसिद्धः । राजेति, नृग इति, दानीति च ऋन् कीर्तिद्वारा गच्छतीति ॥१०॥



व्याख्यार्थ—इक्ष्वाकु का पुत्र नृग पहले भी प्रसिद्ध है, सौ के मध्य में, विकुक्षि, निमि और दण्डक के बाद यह ही प्रसिद्ध है, 'प्रभो' संबोधन इसलिये दिया है कि प्रभु के स्थान पर वा सामने मिथ्या भाषण नहीं किया जा सकता है, कौनसी प्रसिद्धि है ? जिससे तू जाना जा सका है, यदि यह शङ्का हो तो उसके मिटाने के लिये कहता है कि दान करने वालों के नामों में मेरे नाम ने यदि आपके कर्ण को स्पर्श किया हो तो मैं प्रसिद्ध हूँ, 'दानी' दान करने वाला भी होता है और 'दाता' उदार होता है, दोनों में भेद यह है कि 'दान' करने वाला शास्त्र की विधि की अपेक्षा रखता है अर्थात् शास्त्र की विधि के अनुसार देता है, और 'दाता' विधि की परवाह नहीं करता है, राजा नृग दानी है, जिस दान से कीर्ति द्वारा मनुष्य आदि में प्रसिद्धि वाला हुआ है ॥१०॥

आभास—श्रवणानन्तरं ज्ञानं प्रसिद्धिहेतुत्वेन साधारणं निरूप्य, असाधारणप्रकारेण ज्ञानमाह किं नु तेऽविदितं नाथेति ।

आसाभार्थ—प्रश्न श्रवण के अनन्तर विचारा कि उत्तर देने से प्रसिद्धि होगी, इसलिये साधारण ज्ञान का वर्णन कर, अब 'किं नु तेऽविदितं' श्लोक में असाधारण प्रकार से ज्ञान कहते हैं ।

श्लोक—किं नु तेऽविदितं नाथ सर्वभूतान्मसाक्षिणः ।

कालेनाव्याहृतदृशो वक्ष्येऽथापि तवाज्ञया ॥११॥

श्लोकार्थ—हे नाथ ! सर्वभूतों के अन्तःकरण के साक्षी आपसे क्या गुप्त है ? अर्थात् आप सर्व जानते ही हो, कारण कि काल आपकी दृष्टि का प्रतिबन्ध नहीं कर सकता है, तो भी आपकी आज्ञा से उत्तर दूँगा ॥११॥

सुबोधिनी—हे नाथ, अनेनोद्धारः त्वावश्य एवेत्युक्तम् । नु इति वितर्कः । किं वा ते अविदितम्, किन्तु सर्वमेव विदितमिति । तत्र हेतुः, सर्वभूतानां अन्तःकरणसाक्षिणः । ननु कालव्यवधाने जीवोऽपि स्वानुभूतं विस्मरति, तथा भगवतोऽपीति

कथं तत् ज्ञानमिति चेत्, तत्राह कालेनाव्याहृतदृश इति । तस्मात् ज्ञानार्थं प्रतिज्ञापनप्रयोजनाभावात् न वक्तव्यम्, तथापि तवाज्ञया वक्ष्ये, अन्यथा आज्ञोल्लङ्घनं स्यादिति ॥११॥

व्याख्यार्थ—हे नाथ ! इस संबोधन से यह आशय प्रकट किया है कि, आप स्वामी हैं, इसलिये आपको मेरा उद्धार अवश्य करना है, 'नु' पद विशेष तर्क में है, क्या आपको विदित नहीं है ? अर्थात् आप सब जानते हैं, मैं सब कैसे जानता हूँ ? जिसके उत्तर में कहता है कि आप सर्व जीवों के अन्तःकरण के साक्षी हैं काल बीच में प्रतिबन्धक होने से जीव भी अपने अनुभव को भूल जाता है वैसे भगवान् को भी, इसलिये उनको वह ज्ञान कैसे रहेगा, यदि यों कहते हो तो कहता है कि, आपकी दृष्टि को काल ने प्रतिबन्ध नहीं किया है, इसमें आपको सर्व ज्ञान है जिस कारण से आपको बताने का कोई प्रयोजन नहीं है, तो भी आपकी आज्ञा है इसलिये कहता हूँ, न कहने से आज्ञा का उल्लङ्घन होगा ॥११॥



आभास—आदौ स्वस्य दानित्वमाह यावत्यः सिकता भूमेरिति ।

आभासार्थ—आदि^१ में यावत्यः सिकताः' श्लोक से अपना दानीपन कहता है ।

श्लोक—यावत्यः सिकता भूमेर्यावत्यो दिवि तारकाः ।

यावत्यो वर्षधाराश्च तावतीरददं स्म गाः ॥१२॥

श्लोकार्थ—जितने पृथ्वी के रजः कण हैं तथा जितने आकाश में तारे हैं और जितनी वर्षा की धाराएँ हैं, मैंने उतनी गौ दान में दी हैं ॥१२॥

सुबोधिनी—रेणवस्तामसाः, तारकाः सात्त्विकाः, वर्षधारा राजसाः दृष्टान्तीकृताः, असङ्ख्यातास्तिस्रोऽपि । त्रिविधा अपि गावः असङ्ख्याता दत्ता इति । अहमददम् । स्मेति प्रमाणम् । तुल्यसङ्ख्यात्वे विवक्षिते तामेव सङ्ख्यां वदेत्, परार्धातिरिक्ता सङ्ख्यापि नास्ति । तस्मा-	दसङ्ख्यातदाने त्रिविधदाने च दृष्टान्ताः । त्रिविधदाने प्रयोजनं चोक्तम् । भूमिसिकता उपादान-भूताः, तारकाः प्रकाशकाः, वर्षधाराः पोषिका इति । असङ्ख्यातपदे प्रयुज्यमाने अल्पप्रतीतिः स्यात्, तत एवमुक्तम् ॥१२॥
---	---

व्याख्यार्थ—रजः कण तामस हैं, तारे सात्त्विक हैं, वर्षा की धाराएँ राजस हैं, इन दृष्टान्तों से यह जताया है कि जैसे ये, तीन असङ्ख्य हैं, वैसे ही मैंने जो गौ दी हैं वे भी तीन प्रकार की और अगणित थी, यदि सङ्ख्या की समानता होवे तो उस सङ्ख्या को कहे परार्ध से अतिरिक्त कोई सङ्ख्या भी नहीं है, इस कारण से अगणित तथा तीन प्रकार के गौओं के दान करने में ये तीन दृष्टान्त दिये हैं और निबन्ध में त्रिविध दान का प्रयोजन भी कहा^२ है पृथ्वी के रजः कण उपादान भूत हैं, तारे प्रकाशक हैं, वर्षा की धाराएँ पोषिका हैं, असङ्ख्यात पद श्लोक में नहीं जोड़ा है, जिसका कारण यह है कि उस पद के जोड़ने से अल्प की प्रतीति हो जाती, इसलिये असङ्ख्यात आदि पद न देकर यों ही कह दिया है ॥१२॥

आभास—गवां गुणानाह पयस्विनीरिति ।

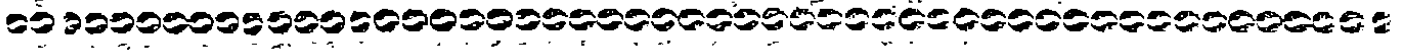
आभासार्थ—‘पयस्विनी’ श्लोक से गोओं के गुण कहते हैं ।

श्लोक—पयस्विनीस्तरुणीः शीलरूपगुणोपपन्नाः कपिला हेमशृङ्गीः ।

न्यायार्जिता रूप्यखुराः सवत्सा दुकूलमालामरणा ददावहम् ॥१३॥

१— दोषों के कहने से प्रथम

२— सत्वादिगुण वाला दान दोष वाला है और निर्गुण दान दोष रहित कहा है



श्लोकार्थ—अधिक दूध वाली, प्रथम ही प्रसूत हुई, शान्त स्वभाव वाली, सुन्दर, गुणों वाली, कपिलाएँ, सुवर्ण के शृङ्गों वाली, न्याय से इकट्ठी की हुई, चाँदी के खुरों सहित, बछड़ों वाली, वस्त्र युक्त, माला युक्त और आभूषण युक्त, इस प्रकार १३ गुणों वाली गौ दान में दी है ॥१३॥

सुबोधिनी—दुग्धाधिक्ययुक्ताः । तरुण्यः प्रथमप्रसूताः । शीलममारणादिशान्तस्वभावः । रूपं सौन्दर्यम् । एतैर्गुणैरुपपन्नाः । अथवा । गुणाः सत्पुत्राः । दुग्धे घृताधिक्यमारोग्यजनकत्वं च गुणाः । प्रायेण बह्वचः कपिलाः । दाने कपिला विशिष्टेति । हेमशृङ्गोः सुवर्णशृङ्गयुक्ताः । न्या-

याजिताः, नत्वतिक्रमेण प्राप्ताः । रूप्यजुराः सवत्सा इति विधिप्राशस्त्यार्थमुक्तम् । तेन विहिता एव दत्ताः, नत्वविहिताः, नाप्यविहितप्रकारेण । दुकूलानां माला यासु । दुकूले मालाः आभरणानि च वा । एवं त्रयोदशगुणाः कथिताः ॥१३॥

आभासार्थ—वे गौ दी, जिनमें अधिक दूध था, जिन्होंने पहले ही बच्चा जना था, किस को भी मारना नहीं इस प्रकार शान्त स्वभाव वाली जो गौ थी, जो रूप से सुन्दर थीं, इन गुणों से युक्त, अथवा 'गुण' का तात्पर्य 'सत्पुत्र' है, दूध भी वह था जिससे घृत विशेष निकलता था, यह आरोग्य उत्पन्न करने वाला गुण है, बहुत करके कपिला धेनु विशेष थी, क्योंकि दान में कपिला गौओं की विशेषता है, वे सब सोने के शृङ्ग और चाँदी के खुर तथा वस्त्र सहित थीं, एवं न्याय से इकट्ठी की हुई थीं, न कि अन्याय से लाई गई थी, दुपट्टों, माला तथा आभरणों से सुसज्जित करके दी थीं, इस प्रकार तेरह गुण कह सुनाये ॥१३॥

आभास—पात्राभावे सर्वं व्यर्थमिति पात्रधर्मानाह स्वलङ्कृतेभ्य इति ।

आभासार्थ—यदि जिनको दान दिया जावे वे सुपात्र नहीं हो तो दान व्यर्थ ही है, इसलिये 'स्वलङ्कृतेभ्यो' श्लोक में सुपात्रों के धर्म कहते हैं ।

श्लोक—स्वलङ्कृतेभ्यो गुणशीलवद्भूचः सीदत्कुटुम्बेभ्य ऋतव्रतेभ्यः ।

तपःश्रुतब्रह्मवदान्यसद्भूचः प्रादां युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्यः ॥१४॥

श्लोकार्थ—जिन ब्राह्मणों को दान दिया, वे विधि के अनुसार अपने गुणों से सुशोभित थे, अच्छे गुण तथा शीलवाले थे, दीन एवं कुटुम्बी थे निष्कपट, आचरण-वाले, तपस्वी थे, यथा विधि वेद और वेदार्थ जानने वाले, निर्लोभो और परोपकारी तरुण ऐसे ब्राह्मणों में जो श्रेष्ठ थे, उनको दान दिया ॥१४॥

सुबोधिनी—विधिप्रकारोलङ्कारणादि, गुणाः । इति । गृहीतस्य शीघ्रं सद्विनियोगः । ऋतव्रतं विद्या, शीलमाचारः सुस्वभावश्च । सीदत्कुटुम्बेभ्य येषामिति ब्रह्मणस्य सहजो धर्मो निरूपितः । तप

इन्द्रियनिग्रहः, श्रुतं यथाविधि, ब्रह्म वेदो वेदा- | ते वदान्याश्च सन्तश्च । युवभ्यो द्विजपुङ्गवेभ्य
र्थश्च, वदान्यत्वमलुब्धता, सत्त्वं परोपकारत्वं च । | इति द्वादशगुणा ब्राह्मणानामुक्ताः ॥१४॥
तपः श्रुतं ब्रह्म च येषां ते तपःश्रुतब्रह्माणः, ते च

व्याख्यान—जो सद्गुण, विद्या, शील, आचार और सुन्दर स्वभाव से अलङ्कृत थे, कुटुम्बी और दीन थे जिससे दान किये हुए पदार्थ का शीघ्र ही विनियोग हो जावे, सत्य ही जिनका व्रत है, यह ब्राह्मणों का सहज धर्म कहा है, तपस्या अर्थात् इन्द्रियों का निग्रह विधि अनुसार शास्त्र श्रवण, वेद तथा वेद का अर्थ सुन कर जान लेना, निर्लोभी और परोपकारत्व आदि गुण युक्त ऐसे तरुण ब्राह्मण श्रेष्ठों को दान दिया, इसी प्रकार ब्राह्मणों के १२ गुण कहे ॥१४॥

आभास—दानान्तराण्यप्याह गोभूहिरण्येति ।

आभासार्थ—'गोभूहिरण्य' इस श्लोक से दूसरे पदार्थों का दान भी किया वह वर्णन करते हैं ।

श्लोक—गोभूहिरण्यायतनाश्वहस्तिनः कन्याः सदासीस्तिलरूप्यशय्याः ।

वासांसि रत्नानि परिच्छेदात्रथानिष्टं च यज्ञश्चरितं च पूतैः ॥१५॥

श्लोकार्थ—गौ, पृथ्वी, सुवर्ण, घर घोड़ा, हाथी, दासी सहित कन्या, तिल चाँदी, शय्या, वस्त्र, रत्न और सर्व प्रकार का सामान, रथ; ये दान भी मैंने किए तथा यज्ञ तथा कूप आराम आदि के भी पदार्थ बनवाए ॥१५॥

सुबोधिनी—एकदा असह्यचातगोदानं बहु-
भ्यः । ततः पृथगपि गावो दत्ताः । भूमिवृत्ति-
करी । हिरण्यदानं स्वतन्त्रम् । आयतनदानं गृह-
दानम् । अश्वदानं हस्तिदानं च । कन्यादानं
ब्राह्मणाय, पोषितानां कन्यानाम् । औरस्याः
क्षत्रियानां विवाहितायां जातायाः राजकन्यायाः
स्वयंवर एव । सदासीरिति पारिवर्हसहिताः ।
दासीदानं वा कन्यादानेन सहोच्यते । तिलाः

तिलपर्वताः । रूप्यं रूप्यपर्वतः । शय्या सुखश-
य्यादानम् । वासांसि नानाविधानि । तथैव नव
रत्नानि । परिच्छेदान् कश्चुकवितानादीन् । रथाश्च
गजरथाश्चरथादिभेदाः । एवं पञ्चदशदानानि
सर्वदा क्रियन्ते । ततः यज्ञैरिष्टमग्निष्टोमादयश्च
कृताः । पूतैश्च चरितं कूपारामादयश्च धर्मार्थं
कृताः ॥१५॥

व्याख्यान—किसी समय असह्यपर्वतों से बहुत ब्राह्मणों को दी, उस के पश्चात् पृथक् भी
गायें दीं, जिससे आजीविका चले ऐसी पृथ्वी भी दी अर्थात् खेती के योग्य भूमि दी, सुवर्ण दान
स्वतन्त्र किया, घर बना कर दान किये, घोड़े और हस्तियों का भी दान दिया, पाली हुई कन्याओं
का दान दासियों के साथ तथा दहेज के साथ किया, विवाहित क्षत्राणी स्त्री से उत्पन्न और कन्याओं
का तो स्वयंवर ही होता है, तिल के तथा चाँदी के पर्वतसम ढेर दिये, सुख पूर्वक नींद लेने के लिये
शय्यादान किया, अनेक प्रकार के वस्त्र वैसे ही नव रत्न, अंगरखे चंदोबा आदि भी दान किये इस
प्रकार १५ दान हमेशा किये जाते हैं इनके अतिरिक्त अग्निष्टोम आदि यज्ञ किये, कूप, आराम आदि
के भी पदार्थ बनवाये ॥१५॥



आभास—एवं धर्मपरायणो मयि कर्मवशादधर्मः कश्चनोत्पन्न इत्याह कस्यचिद्द्विज-
मुख्यस्येति ।

आभासार्थ—इस प्रकार धर्म परायण मुझसे कर्म के वश से कुछ भ्रवं हो गया, जिसका वर्णन 'कस्यचिद्द्विजमुख्यस्यः' श्लोक में श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—कस्यचिद्द्विजमुख्यस्य भ्रष्टा गौर्मम गोधने ।
संपृक्ताऽविदुषा सा च मया दत्ता द्विजातये ॥१६॥

श्लोकार्थ—किसी उत्तम ब्राह्मण की गौ भूलकर मेरे गौओं के यूथ में मिल गई,
इस बात को न जानकर वह गौ किसी अन्य ब्राह्मण को दान कर दो ॥१६॥

सुबोधिनो—अयं राजा दानाभिनिविष्टचित्तः स्वसेवकेभ्यः यथाकथञ्चिद्देयान् गृह्णाति, न तु जिज्ञासते । एवं बहुधा प्रमादे कदाचिद्भगवान् तत्पापं प्रकटितवान् । कश्चिद्ब्राह्मणः राजप्रति-	ग्रहरहितः स्वधर्मनिष्ठ आसीत् । तस्य गौः स्व-स्थानादपगता राजगोषु प्रविष्टा । ततस्तामनव-लक्षणां तदधिकारिणो ज्ञात्वा दानार्थं नीत-वन्तः ॥१६॥
---	--

व्याख्यानार्थ—इस राजा का चित्त तो दान करने में ही आसक्त था, अपने सेवकों को दानार्थ गौ लाने के लिये कह रहा था वे जो गौ लाते थे वह बिना परीक्षा किये अच्छी देख कर दान कर देता था, इस प्रकार कई बार दान कर दिया, अचानक अब भगवान् ने उसके पाप को किया कोई ऐसा स्व धर्म निष्ठ ब्राह्मण था जो राजा का दान नहीं लेता था, उसकी गौ अपने स्थान को भूल कर राजा के गोधन में मिल गई, पश्चात् अधिकारी उस गौ को सुन्दर लक्षण वाली जानके दान के लिये राजा के पास ले आये थे ॥१६॥

श्लोक—तां नीयमानां तत्स्वामी दृष्ट्वा वाच ममेति तम् ।
ममेति प्रतिसंगृह्य नृगो मे दत्तवानिति ॥१७॥

श्लोकार्थ—उस गौ को ले जाते देखकर, गौ के स्वामी ने कहा कि यह गौ तो मेरी है, तब दान लेने वाले ब्राह्मण ने कहा कि यह गौ अभी मैं राजा नृग से दान में ले आया हूँ, अतः मेरी है ॥१७॥

सुबोधिनो—ततः प्रतिग्रहीतरि तां प्रतिगृह्य गच्छति सति तत्स्वामी मिलितो मध्ये ममेयं गौः कथं नीयत इति चाह । ततः प्रतिग्राही 'नृगो मे	दत्तवानिति ममेत्याह । प्रतिसंगृह्य । प्रतिग्रहं कृत्वा, प्रतिग्रहकथामप्युक्त्वा, नृगो दत्तवानिति ममेत्याह ॥१७॥
--	---



व्याख्यान—नृग से गौ का दान लेकर जाने वाले ब्राह्मण को मार्ग में गौ का स्वामी ब्राह्मण मिल गया, उसने गौ को पहचान कर कहा, यह गौ तो मेरी है, आप कैसे ले जा रहे हो, तब दान लेने वाले ने उत्तर में कहा कि यह 'गौ' अब ही मुझे नृग ने दान कर दी है, इसलिये यह गौ मेरी है, इस प्रकार दान आदि की सारी कथा सुना कर कह दिया कि आपको नहीं है, मेरी है ॥१७॥

श्लोक—विप्रौ विवदमानौ मामूचतुः स्वार्थसाधकौ ।

भवान्दातापहर्तेति तच्छ्रुत्वा मेऽभवद्भ्रमः ॥१८॥

श्लोकार्थ—अपना प्रयोजन सिद्ध करने वाले दोनों ब्राह्मण इस प्रकार विवाद करते हुए मेरे पास आ गए, एक ने कहा—यह गौ मेरी है, दूसरे ने कहा—अब दान कर आपने मुझे दी है, अतः मेरी है । गौ के स्वामी ने कहा—आपने मेरी गौ का अपहरण किया है, यह सुनकर मुझे भ्रम हुआ कि कदाचित् इसकी गौ मेरे यूथ में आ गई हो । इस प्रकार मैं विपद में फँस गया ॥१८॥

सुबोधिनी—एवमुभौ विप्रौ विवदमानौ स्वार्थसाधकौ । प्रतिग्रहे सिद्धे ब्राह्मणस्य गौर्भवति, राज्ञश्च ब्राह्मणगवापहारदोषो भवति । दानप्रतिग्रहयोरभावे ब्राह्मणस्यैव गौः, नापहारदोषः, लोकदृष्ट्या धर्मो सिद्धे प्रतिग्रहस्य सिद्धत्वादानस्य च प्रतिग्रहीतुरेव गौः, अपहारदोषप्रायश्चित्तं परं कर्तव्यम् । अलौकिकश्चेद्धर्मः देवाद्यधिष्ठितः, तदा अधर्मसिद्धं द्रव्यं धर्मविषयो न भवतीति न दानं सिध्यति । सुतरां प्रतिग्रहः । अतो विवादः । राजा चेदत्र दानमङ्गीकरिष्यति, तदा प्रतिग्रहः

सेत्स्यति, अपहारश्च । अपहारदोषस्याधिवशात् नाङ्गीकुर्याच्चेत्, तदा स्वामी गां नेष्यतीति स्वार्थसाधकौ विप्रौ अन्योन्यं विवदमानौ मां राजानमूचतुः । एकस्य वचनं 'भवान् दातेति' । तस्मिन् अङ्गीकृते द्वितीय आह अपहर्तेति । हेतुपूर्वकं वृत्तान्तवचनं अर्थात् ज्ञायते । पश्चादपहारवचनं श्रुत्वा मे भ्रमः अभवत् यदेको न प्राथितः । एकस्मिन् दोषे अङ्गीकृतं तत्प्रायश्चित्तं स्वेच्छया कृतं स्यात् ॥१८॥

व्याख्यान—इस प्रकार विवाद करने वाले दोनों ब्राह्मण अपना २ अर्थ सिद्ध करना चाहते थे, यदि सिद्ध है कि यह गौ, दान की गई है तो वह गौ, दान लेने वाले की होती है तो राजा पर गौ के अपहरण का दोष होता है, दान और प्रतिग्रह के अभाव में, अर्थात् राजा ने दान न की है और न ब्राह्मण ने दान में ली है तो गौ, मालिक की होती है, और राजा से अपहरण दोष मिट जायगा, लोक दृष्टि से धर्म सिद्ध हो जाने पर दान लेने और देने दोनों के सिद्ध हो जाने से दान लेने वाले की ही गौ होती है, किन्तु राजा पर अपहरण का दोष होने से उसका राजा को प्रायश्चित्त करना चाहिये, यदि धर्म अलौकिक, तथा देव आदि से अधिष्ठित है, अर्थात् अलौकिक आध्यात्मिक विचार से देखा जाय तो अधर्म से जो द्रव्य अपने पास आ गया है वह धर्म का विषय नहीं हो सकता है, सारांश यह है, यदि वास्तव में यह गौ दूसरे की है, राजा के यूथ में शामिल हो गई है, दूसरे का पदार्थ हाने से दान नहीं किया जा सकता है अर्थात् वह दान नहीं है, अतः विवाद है, यदि राजा स्वीकार करता है कि यह मैंने दान की है तो, प्रतिग्रह और अपहरण दोनों सिद्ध होंगे, यदि राजा अपहरण दोष दान से

विशेष है यों समझ राजा इसको दान न माने तो गौ का स्वामी गौ ले जायेगा, इस प्रकार विवाद करते हुवे दोनों ब्राह्मण मुझ को कहने लगे, एक ने कहा आप 'दाता' हो दातापन के अङ्गीकार करने पर दूसरे ने कहा कि तुम अपहरण करने वाले हो, दोनों वृत्तान्त हेतु पूर्वक समझे जाते हैं, अपहरण के वचन सुनकर मुझे भ्रम हुआ, एक ने प्रार्थना नहीं की है एक दोष में तो उसका अङ्गीकृत प्रायश्चित्त अपनी इच्छा से किया होता ॥१८॥

श्लोक—अनुनीताबुभौ विप्रौ धर्मकृच्छ्रं गतेन मे ।

गवां लक्ष प्रकृष्टानां दास्याम्येषा प्रदीयताम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—यों होने पर मैं धर्म संकट में फँस गया, अतः दोनों को मैंने प्रार्थना की कि जो गौ को दे देगा, उसको मैं बहुत उत्तम लाख घेनु दूँगा ॥१९॥

सुबोधिनी—भ्रमादेकमकृत्वा स्वतस्तत्त्वापरिज्ञानात् अन्यस्यापृष्टत्वात् द्वयमपि सन्देहे स्थापयित्वा उभावनुनीतौ । गौः त्यक्तव्येत्यस्मिन्नर्थे यथा द्वितीयोऽप्यपहारः सिध्यति । ननुभयोरनुनये

को हेतुः, तत्राह धर्मकृच्छ्रं गतेन मे इति । तस्य हृदये धर्मे निश्चयाभावात् कृच्छ्रं सङ्कटमेव प्राप्तवान् । अनुनयमाह । गवां लक्षं एतन्निष्कृतिस्त्वेन दास्यामि । एषा प्रदीयतामिति ॥१९॥

व्याख्यार्थ—मैं तो स्वतः इस बात के तत्त्व को नहीं जानता था, भ्रम से एक का कहा न मान सका और दूसरे से न पूछने पर दोनों के वचनों ने सन्देह में डाल दिया, अतः दोनों को प्रार्थना की है, गौ छोड़ देनी चाहिये यों कहने पर छोड़ने वाले को हानि होती है, दोनों को प्रार्थना करने का क्या कारण था ? इस पर कहता है कि मैं धर्म संकट में फँस गया था उसके हृदय में अब क्या धर्म है ? ऐसा निश्चय न हो सकने से सङ्कट को ही प्राप्त किया, प्रार्थना करता है, इस एक गौ के छोड़ देने के बदले में लाख गौ दूँगा यह गौ दे दो ॥१९॥

आभास—ननु निष्कृतिग्रहणे दोषः स्यात्, कथं ग्राह्य इति चेत्, तत्राह भवन्तावनुगृहीतामिति ।

आभासार्थ—यदि कहो बदला लेने में दोष होगा, अतः वह कैसे लिया जाय ? 'भवन्तावनुगृहीता' इस श्लोक में इस शङ्का के परिहार का उपाय कहता है ।

श्लोक—भवन्तावनुगृहीतां किङ्करस्याविजानतः ।

समुद्धरत मां कृच्छ्रात्पतन्तं निरयेऽशुचौ ॥२०॥

श्लोकार्थ—भ्रम में पड़े हुए इस अज्ञ किङ्कर पर कृपा कीजिए, सङ्कट से अपवित्र नरक में गिरते हुए मुझे उद्धारिये ॥२०॥



सुबोधिनी—मदुपर्यनुग्रहेण निषिद्धमपि कर्त-
व्यमिति भावः । अनुग्रहे हेतुमाह किङ्कुरस्येति ।
तथापि सापराधो दण्ड्य एवेति चेत्, तत्राह
अविजानत इति । विशेषेणायमर्थो न ज्ञात इति ।
अज्ञाते त्वल्यमेव प्रायश्चित्तमित्यनुग्रहेणापि
सिध्यति । तस्य भाव्यर्थः स्वत एव स्फुरितः
तन्निराकरणार्थं प्रार्थयति समुद्धरतेति । कृच्छ्रात्
सङ्कटात् निर्णयज्ञानाभावात् अशुचौ निरये पत-

न्तमिति । हीनभावः निरयो भवति, ततश्च गोत्व-
मश्वत्व वा चेद्भवेत्, तदा निरयत्वेऽपि नाशुचि-
त्वम् । श्वयोनी शूकरयोनी वा पाते तथात्वमिति ।
तामिस्रादौ तु न पातः, नरकभोग एव परम् ।
योनिस्सम्बन्धे तु अभिमान उत्पद्यत इति पातः ।
अशुचाविति । लोकप्रसिद्धमलादिप्रदर्शनेन दया
वा उत्पाद्यते ॥२०॥

व्याख्यार्थ—मेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिये, जो निषिद्ध है वह भी आपको करना चाहिये,
कहने का यह तात्पर्य है, यदि कहो कि अनुग्रह करने का क्या कारण है ? अनुग्रह क्यों करें ? इस पर
कहता है कि मैं आपका किङ्कुर हूँ, किङ्कुर भी यदि अपराधो हो उसको दण्ड देना चाहिये इसके
उत्तर में कहता है कि यह कार्य मैंने जान कर नहीं किया है अज्ञान से हो गया है, बेसमझों से अप-
राध हो भी जावे तो उसका प्रायश्चित्त अल्प ही होता है, वह प्रायश्चित्त अनुग्रह से ही सिद्ध हो जाता
है, उसका भावो अर्थ स्वतः ही स्फुरित हो गया है जिसके निराकरण के लिये प्रार्थना करता हूँ कि
'समुद्धरत' उद्धार करो अब मैं इसका क्या निर्णय करूँ ? यह न जानने से धर्म संकट में फँसा हूँ
जिससे अपवित्र हीन भाव को प्राप्त होता हूँ जिससे निकालो, इससे यदि गोत्व, अश्वत्व प्राप्त हो तो
वहाँ हीन भाव होते हुए भी अशुचिपन नहीं है, कुत्ते की वा शूकर की योनि में जाने से अशुचिपन
है, तामिस्र आदि में पात नहीं है नरक भोग हो है, योनि के सम्बन्ध होने पर उसका अभिमान होता
है, यह ही पात है, अपवित्र में, लोक में प्रसिद्ध मल आदि के प्रदर्शन से दया उत्पन्न कराता है ॥२०॥

श्लोक—नाहं प्रतीच्छे वै राजन्नित्युक्त्वा स्वाम्यपाक्रमत् ।

नान्यद्गवामप्ययुतमिच्छामीत्यपरो ययौ ॥२१॥

श्लोकार्थ—जिसकी गौ थी, वह ब्राह्मण कहने लगा कि इस गौ के बदले में
कितना भी धन मैं नहीं लूँगा, यों कहकर वह चला गया; अनन्तर दूसरा जिसको गौ
दान में मिली थी, वह भी कहने लगा कि मैं भी अयुतधन लेना नहीं चाहता हूँ, मुझे
तो यह गौ ही चाहिए, यों कहकर वह भी गया ॥२१॥

सुबोधिनी - तत्र मुख्यः स्वामी, गोविक्रयस्य
निषिद्धत्वात् । अन्यल्लक्षायुतादिसङ्ख्यापरिमितं
गोसमूहं ग्रहं न प्रतीच्छे इत्युक्त्वा, राजप्रार्थनां
त्यागांशे अङ्गोक्त्य, स्वाम्यपाक्रमत्, प्रतिग्रहस्य
राज्ञा स्थापितत्वात् पूर्वप्रतिग्रहस्यैव सिद्धत्वात् ।
विक्रयपक्षे प्रतिग्रहपक्षे वा दोषश्रवणात् । 'एका
गौर्न प्रतिग्राह्या द्वितीया न कदाचन । सा चेद्वि-

क्रयमापन्ना रौरवं नरकं व्रजे'दिति वाक्याद्गवा-
मयुतमपि एतन्निष्कृतित्वेन नाहं प्रतीच्छे इति
द्वितीयोऽपि ययौ । राजन्निति संबोधनात् अनि-
ष्कृतित्वेऽपि प्रतिग्रहोऽपि निषिद्ध इति सूचितम् ।
राजा सर्वेषामनुरोधः, अतिक्रमोऽपि सोढव्य
इति सूचितम् । लक्षं गावः राज्ञा दातुं शक्याः,
न तु ब्राह्मणेन, अयुतमेव परमा काष्ठा ब्राह्मण-

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥

स्य । कोऽर्हति सहस्रं पशून् प्राप्तुमिति सहस्रस्यैव महत्त्वात् । दशपुत्रविभागे सहस्रशो दानेऽपि अयुतस्यैव पर्याप्तत्वात् । प्राप्तमयुतं निषेधति गवामप्ययुतमिति । यद्यपि तावता पूर्णः कामो

भवेत्, तथाप्यव्यवस्थितत्वात् एकस्यामपि गवि यत्रायं सन्देहः, तत्र किमन्यद्वक्तव्यमिति भावः ॥२१॥

व्याख्यानार्थ—दोनों में जो गौ का स्वामी था, उसने कहा कि आप इस गौ के बदले में लक्षयुत आदि मूल्य दोगे तो भी वह मैं नहीं लूंगा, यों कह कर, राजा की प्रार्थना को ठुकरा कर चला गया, दूसरा जिसने गौ दान में ली थी वह भी कहने लगा कि दूसरी दस सहस्र गौ भी इसके बदले में न लूंगा, और यह गौ लौटा कर भी न दूंगा, क्योंकि यह गौ राजा ने दान कर मुझे दी है पहले मिले हुए दान ही सिद्ध हैं। यदि वह बेची जाय वा उसका बदला लेकर लौटा दी जावे तो दोनों में दोष है, अतः ली हुई लौटा कर, दूसरी गौ उसके बदले में न लेनी चाहिये, ली हुई गौ किसी प्रकार भी विक्रय की जावे तो वह बेचने वाला रौरव नाम वाले नरक में पड़ता है, इन वचनों के अनुसार इस गौ के बदले में दश हजार गौ भी लेना नहीं चाहता हूँ, यों कह दूसरा भी गया 'राजन्' संबोधन से यह सूचन किया है, मूल्य न होने की हालत में अशक्त को दान भी नहीं लेना चाहिये, लाख गौ राजा दे सकता है, न कि ब्राह्मण, ब्राह्मण के लिये दश सहस्र देना ही सीमा है, कौन है जो सहस्र पशु प्राप्त कर सकता है ? इसलिये हजार का ही महत्व है, दश पुत्रों के विभाग में और हजार के दान में भी दश हजार की ही पर्याप्तिता है, दश हजार लेने का भी निषेध करता है, यद्यपि उनसे सर्व काम की सिद्धि हो जाती है तो भी निषेध करता है, कारण कि तो भी अव्यवस्थिति हो जाती है, जब एक ही गौ में जहां यह सन्देह वहाँ दूसरा क्या करना चाहिये ? यह भाव है ॥२१॥

आभास—एवं ब्राह्मणद्वयक्षोभे दण्डार्थं यमः प्रवृत्तः, गोश्चापहारे आयुः क्षीणमिति तदैव यमदूतैः समागतमित्याह एतस्मिन्नन्तरे इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार दो ब्राह्मणों के अप्रसन्न होने पर राजा को दण्ड देने के लिये यम तैय्यार हुआ गौ के चुराने से आयु क्षय होती है। इससे उसी समय यम दूत आये यह 'एतस्मिन्नन्तरे' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—एतस्मिन्नन्तरे याम्यैर्दूतैर्नोतो यमक्षयम् ।

यमेन पृष्टस्तत्राहं देवदेव जगत्पते ॥२२॥

पूर्वं त्वमशुभं भुङ्क्षे उताहो नृपते शुभम् ।

श्लोकार्थ—हे देवदेव ! जगत्पते ! इतने में यमदूत मुझे यमपुरी ले चले, वहाँ मुझ से यम ने पूछा कि हे राजन् ! तू पहले पाप का फल भोगना चाहता है वा पुण्य का फल ? ॥२२॥



सुबोधिनी—यावदयं प्रतिविधानं कुर्यात् तन्मध्य एव याम्यैर्यमक्षयं नीतः । अनेन बलान्नयनं निरूपितम् । बलाद्गोहृतेति । तेनापि ब्राह्मणाः सम्बोधिना इति स्वेच्छयैव तैस्त्यक्त इत्यस्यापि स्वेच्छयैव नरकभोगो निरूप्यते । अत एव इच्छार्थं यमेन पृष्टः । अस्मिन्नर्थे सत्यतां निरूपयितुं देव-देवेति सम्बोधनम् । जगत्पते इति च । धर्मकर्तुः कथं यमदण्ड इति शङ्कां वा दूरीकर्तुम् । प्रमेय-बले वेदापेक्षया भगवदाज्ञा कर्तव्येति निरूपयन्

देवस्यापि त्वं देव इति त्वदाज्ञा यमेन कर्तव्या । जगत्पतित्वात् मयापि । अतस्त्वदिच्छयैवं जात-मिति नात्र किञ्चित्प्रतिकर्तव्यमस्तीति सूचितम् । हे नृपते, पूर्वं त्वमशुभं भुङ्क्षे । लण्मध्यमपुरुषैक-वचनम्, प्रश्नार्थे लट् । अशुभस्याल्पत्वात् नान्त-रीयकमिवाशुभं गमिष्यतीति प्रथममशुभभोग-प्रश्नः । अथवा । दुःखान्तता निषिद्धेति । अथवा । को वा दुःखानुभव मन्येत । अतः प्रथममेव हे नृपते अशुभं भुङ्क्षे ॥२२३॥

व्याख्यार्थ—जब तक राजा इसका उपाय करे, इस के मध्य में ही यमदूत उसको यम लोक ले गये, यों कहने का भावार्थ है कि गौ को ब्राह्मण, बल से ले गये हैं, उन्होंने अपनी इच्छा से ही राजा का देना छोड़ दिया, इस (राजा) का भी अपनी इच्छा से ही नरक का भोग निरूपण किया जाता है, इस कारण से ही यम ने इससे पूछा है, इस विषय में सत्यता का निरूपण करने के लिये देव और 'जगत्पते' संबोधन दिया है अथवा धर्म करने वाले को यम दण्ड कैसे हुआ ? इस शङ्का को मिटाने के लिये दिये हैं—प्रमेय बल से वेद की अपेक्षा भगवदाज्ञा कर्तव्य है, यों निरूपण करते हुए कहते हैं कि आप देवों के देव हैं अतः यम को आपकी आज्ञा का पालन करना चाहिये और आप जगत् के पति हैं इसलिये मुझे भी आपकी आज्ञा का पालन करना ही है, अतः आपकी इच्छा से ही यों हुआ है इस विषय में कुछ भी अन्य कर्तव्य नहीं है, यों सूचित किया, हे नृपते: प्रथम तू अशुभ भोगेगा ? अशुभ अल्प होने से अन्तरीय की तरह अशुभ जाएगा, अतः पहले अशुभ भोगने का प्रश्न किया है, अथवा दुःखान्तत्व का निषेध किया है, अथवा कौन दुःख का अनुभव करना मानेगा ? इत्यादि कारणों से प्रथम अशुभ भोगने का प्रश्न किया है ॥२२३॥

आभास—तदा स्वस्यालोचनामाह नान्तं दानस्य धर्मस्येति ।

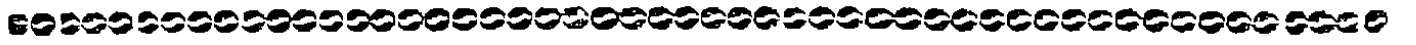
आभासार्थ—तब अपने विचार को 'नान्तं दानस्य' श्लोक में कहता है ।

श्लोक—नान्तं दानस्य धर्मस्य पश्ये लोकस्य भास्वरः ॥२३॥

पूर्वं देवाशुभं भुञ्ज इति प्राह पतेति सः ।

तावदब्राह्मणात्मानं कृकलासं पतन्प्रभो ॥२४॥

श्लोकार्थ—तेरे दान तथा धर्म का यश अनन्त है, तब मैंने कहा—हे देव ! पहले मैं पाप का फल भोगूँगा । उसी समय यम ने कहा कि तू नीच योनि में पृथ्वी पर गिर, हे प्रभो ! इतने में मैंने अपने को गिरगिट योनि में देखा ॥२३-२४॥



सुबोधिनी—दानस्यान्यस्यापि धर्मस्य अन्तो न विद्यते । गोदानप्रस्तावे कश्चिद्वस्त्रको धूर्त आसन्नमरणां गां वञ्चयित्वा ब्राह्मणाय दत्त्वा मुक्तिं गत इति श्रूयते । स हि नगरमध्यवासे मृतायाः गोनिर्हरणासमर्थः व्याजेन कश्चिद्ब्राह्मणमाकार्य, तस्मै दानं दत्तवान् । ततो मुहूर्तत्रयानन्तरं गोमृता । ततो ब्राह्मणः प्रतिग्रहीता स्ववस्त्रं चाण्डालेभ्यो दत्त्वा तां गां बहिः निःसारितवान् । एवं ब्राह्मणं वञ्चयित्वा पश्चान्मृतः, यमेन पृष्टः चित्रगुप्तेन, तस्य वृत्तान्ते कथिते पूर्वं शुभफलभोगं करिष्यामीत्युक्त्वा, तत्रापि कौटिल्यं कृतवान्, तादृशगोदानस्य हि फलं यावद्गौर्जीवति, तावत्परलोके कामधेनुस्तद्वशे तिष्ठतीति । तथा यमेनोक्तः मुहूर्तत्रयं कामधेनुस्त्वदधीना स्थास्यतीति । कामधेनुं प्रत्याह व्याघ्रो भूत्वा यमं भक्षयेति । ततो व्याघ्रोणोपमृतः यमः भीतो विष्णुं शरणं ययौ । यत्रास्ते भगवान् ब्रह्मादिभिवृत्तः । तत्र पश्चादयमपि गतः, कामधेन्वा नीतो, विष्णुसाक्षात्कारे मुक्त इति । यत्र तादृशगोदानस्याप्यनन्तफलत्वम्, तदा विधानपूर्वकं दत्तायाः किं वक्तव्यमिति । अन्यस्याप्येवं धर्मस्यानन्तफलत्वम् फलं हि द्विविधम् इह लोके यशः,

परलोके स्वयं इति । तदुभयमाह यशो लोकश्च भास्वर इति । अनन्तं यशः, अनन्तो लोक इति । तामसधर्मेऽपि तथेति तत्पातालोपभोग्यमिति तद्व्यावृत्त्यर्थं भास्वर इति । दानस्य फलरूपं यशः अनन्तम्, लोकश्चानन्त इति । लोकस्य भास्वत इति पाठे अनन्तं यशः शुभ चेति पूर्वोक्तं सङ्ग्राह्यम् । भुङ्क्ष इति भुञ्ज इति वा क्रिया । भास्वतो लोकस्योत्तमदेहस्य वा । पूर्वं सम्बन्धि अशुभं भुञ्ज इति । देवेति सम्बोधनं परिज्ञानार्थम् । उक्तवानित्यर्थादिति । एवं सति पतेति स यमः प्राह । यतः स ब्राह्मणातिव्रतं दृष्ट्वा क्रोधवान् । पतेति तस्माल्लोकात् भूलोके । नीचयोनिमूतो नरकः भूमावेव, नान्यत्रेति । ततो यज्जातं तदाह तावदद्राक्षमिति । पतन्नात्मानं कृकलासमद्राक्षम्, कर्मणा देहसम्बन्धेन । ग्रहणपरित्यागयोः परिज्ञानं योगज्ञानभक्तिष्वेव । तद्देहाद्वैतादात्म्यपदम् । बहिर्मुखत्वादस्य कर्मदोषो जात एव । प्रभो इति । त्वमेव समर्थस्तादृशकर्मभ्यो मोचयितुमिति सूचितम् । जीवस्य ग्रहणपरित्यागज्ञानमेव नास्ति, कुतो मोचनपरिज्ञानम् । एतादृशेऽर्थे भगवानेव शरणमिति ॥२३-२४॥

व्याख्यानार्थ—आपके किये हुए दान तथा अन्य धर्म के फल का अन्त ही नहीं है, कोई एक धूर्त ठग था, उसकी गो शीघ्र मरने वाली थी, उस धूर्त के पास नगर से मरी हुई गौ को निकालने जितना द्रव्य नहीं था, अतः उसने किसी ब्राह्मण को बुला कर कपट से गो दान की, पश्चात् क्या हुआ ? कि वह गौ तीन मुहूर्त के बाद मर गई, तब ब्राह्मण ने अपना वस्त्र चांडाल को देकर गो को शहर से बाहर निकलवाया, इस प्रकार ब्राह्मण को धोखा देने के अनन्तर वह धूर्त भी मर गया, चित्रगुप्त ने सारा वृत्तान्त यम को सुनाया, तब यमने उससे पूछा कि पहले कौनसा फल भोगेगा ? तब धूर्त ने कहा कि प्रथम शुभ फल भोगूँगा, वहाँ भी कुटिलता करने लगा, दान के अनन्तर दान की हुई गौ जितना समय जीवित रहती है, उतना काल कामधेनु, दान करने वाले के वश में रहती है, यम ने कहा तुमने जिस गो का दान किया था वह तीन मुहूर्त जीवित रही थी अतः कामधेनु तीन मुहूर्त तेरे वश रहेगी, यह फल तू पहले भोग, यह सुनते ही धूर्त ने कामधेनु को कहा कि तू व्याघ्र बनकर यम का भक्षण कर, यह सुन व्याघ्र के निकट आते ही डर कर भागता हुआ यम विष्णु के शरण गया, वहाँ विष्णु भगवान् के चारों तरफ ब्रह्मादि देव बैठे थे, इतने में इन धूर्त को भी कामधेनु वहाँ ले गई, विष्णु भगवान् के साक्ष-दर्शन करने से धूर्त मुक्त हो गया, जहाँ वैसी गो के दान का भी फल अन्त है तो विधि पूर्वक दान की हुई गौ का फल क्या कहना चाहिये, इसी प्रकार अन्य धर्म



का भी अनन्त फल है। फल दो प्रकार का है। इस लोक में यश और परलोक में स्वर्ग, वह बताता है कि 'यशो लोकश्च भास्वरः' दान का फल रूप यश अनन्त है तथा लोक भी अनन्त है, यदि 'लोकस्य भास्वतः' पाठ माना जाय तो इसका अर्थ अनन्त यश और शुभ पूर्वोक्त फल का ग्रहण करना चाहिये, वह फल भोगूँगा, भुङ्क्षे वा भुञ्जे' किया है, 'भास्वतः' का अर्थ लोक का अथवा उत्तम देह का समझना चाहिये, प्रथम अशुभ सम्बन्धी फल भोगूँगा : हे देव ! यह सम्बोधन कह कर बताया है, कि आपको सर्व ज्ञान है ही, यदि यों है तो इस लोक से भूलोक में गिर, नीच योनि का नरक तो पृथ्वी पर ही है, दूसरे लोक में नहीं है, यों कहने के बाद जो कुछ हुआ, वह कहता है कि, गिरते ही अपने को 'गिरगिट' रूप में देखा, कारण कि कर्म के फल स्वरूप ही देह से सम्बन्ध होता है, यह देह क्यों ग्रहण की और इस देह से क्यों और कब छुटकारा होगा, जिसका ज्ञान, योग, ज्ञान और भक्ति होने पर ही होता है अन्यथा नहीं होता है, 'आत्मा' पद देने का आशय यह है कि देह और जीव का द्वैत नहीं दोनों आत्मा के ही रूप हैं बहिर्मुख होने से इसको कर्म दोष हुआ हो, प्रभो ! यह सम्बोधन देकर यह सूचित किया कि वैसे कर्मों से छुड़ाने के लिये आप ही समर्थ हैं, जीव को ग्रहण और परित्याग का ज्ञान ही नहीं है, तो फिर कर्म से छुटकारा कैसे कर सकेगा ? अतः वैसे विषय मे भगवान् ही शरण है ॥२४॥

आभास—नन्वेतादृशस्यं तव कथं पूर्ववृत्तान्तपरिज्ञानमिति चेत्, तत्राह ब्रह्मण्य-
स्येति ।

आभासार्थ—वैसे तुमको पूर्व वृत्तान्त का ज्ञान कैसे रहा ? यदि यों कहे तो इसका उत्तर 'ब्रह्मण्यस्य' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव ।

स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्संदर्शनाथिनः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे केशव ! मैं ब्राह्मणों का भक्त, उदार और आपका दास हूँ तथा आपके दर्शन की इच्छा मन में लगी हुई है, इससे ही अब तक मेरी स्मृति का नाश नहीं हुआ है ॥२५॥

सुबोधिनी—अज्ञानं हि स्मृतिनाशकम्, तन्न ज्ञानसमानाधिकरणम् । ब्राह्मणाः स्वभावतो ज्ञाननिष्ठाः, 'ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्य'मिति वाक्यात् । अतो ब्रह्मण्यस्य ब्राह्मणभक्तस्य ब्रह्मधर्मा हितं कुर्वन्तीति न स्मृतिभ्रंशः । 'राजन्योऽपि सर्वदेव-मय' इति ब्रह्मक्षत्रयोस्तुल्यत्वात् 'क्षतान्त्रायत' इति धर्माच्च 'तत्र दानमीश्वरभावश्चे'ति वाक्यात्

'वदान्ये क्षत्रं प्रतिष्ठित'मिति 'अन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षत' इति वाक्यात् ज्ञानं क्षत्रिय-मपि पालयति । भगवान् सर्वेश्वर इति ज्ञानादय-स्तदधीनाः भगवद्भक्ते स्वोपकारं कुर्वन्तीति प्रकारत्रयेणापि स्मृतिर्न विध्वस्ता । अस्त्येको ज्ञाननाशप्रकारः चतुर्थे निरूपितः, 'इन्द्रियैर्विषया-कृष्टैराक्षिप्तं ध्यायतां मन' इत्यादिना । स इतः



पूर्ण न जात इत्याह अद्यापि न विध्वस्तेति ।
केशवेतिपदं उत्पत्तिप्रलयकर्त्रोरपि मोक्षं प्रयच्छ-
तीति भक्तज्ञानदाने कः प्रयासः स्यादिति सूचि-
तम् । किञ्च । स्मृतिनाशका यावन्तो मायादयः,

ते सर्वे मत्तो बिम्बतीत्याह भवत्संदर्शनायिन
इति । यो भगवद्धर्मान् प्रतीक्षते, तस्य नान्ये
धर्मा बाधका भवन्ति ॥२५॥

व्याख्यार्थ—अज्ञान ही स्मृति को नाश करने वाला है, वह ज्ञान के साथ रह नहीं सकता है, ब्राह्मण स्वभाव से ज्ञान निष्ठ है, इसलिये ब्राह्मणों के लक्षण 'ज्ञानं विज्ञान मास्तिक्यं' कहा है, इस कारण से वही ब्राह्मणों के धर्म ब्राह्मण भक्तों का हित करते हैं जिससे मेरी स्मृति नष्ट नहीं हुई है, क्योंकि मैं ब्राह्मणों का भक्त हूँ, राजा भी सर्व देव मय है इसलिये 'ब्रह्मक्षत्रयो स्तुल्यत्वात्' ब्राह्मण और क्षत्रिय की बराबरी कहो है, क्योंकि क्षत्रिय का धर्म है 'दुःख से बचाना' जिसके लिये 'तत्र दान मीश्वरभावश्च' कहा है, उदारता में दानी होने में क्षात्र धर्म ब्राह्मण और क्षत्रिय परस्पर एक दूसरे की अपने-२ धर्म से रक्षा करते हैं, ज्ञान क्षत्रिय का भी पालन करता है, भगवान् तो सर्वेश्वर हैं, इसलिये ज्ञान आदि सर्व उनके आधीन है, अतः भगवद्धर्मा पर अपना उपकार करते ही है, यों तीनों प्रकार से भी स्मृति नष्ट नहीं हुई है, 'इन्द्रियैर्विषयाकृष्टैराक्षिप्तं घ्रायतां मन' विषयों से आकृष्ट इन्द्रियों से व्याप्त मन संसारी वस्तुओं का ध्यान करता रहता है तब ज्ञान का नाश हो जाता है, यह एक ही ज्ञान के नाश का उपाय है, वह इससे पूर्व नहीं हुआ है, इसलिये स्मृति अब भी नष्ट नहीं हुई है । हे केशव ? संबोधन से यह बताया है कि उत्पत्ति करने वाले ब्रह्मा का और प्रलय करने वाले महादेव का भी आप मोक्ष करते हैं, तो भक्त को ज्ञान देने में कौनसा आपको परिश्रम है, स्मृति को नाश करने वाले जो माया आदि है, वे सर्व मुझ से डरते हैं क्योंकि मैं नित्य आपके दर्शन का चाह-वाला हूँ, जो भगवान् के धर्मों को मन में धारण करता है, उसके अन्य धर्म सत्पथ में बाधक नहीं हो सकते हैं ॥२५॥

आभास—एवं स्ववृत्तान्तमुक्त्वा भगवद्दर्शनं दुर्लभं सर्वप्राणिनां कथं ममाकस्मा-
ज्ञातमिति स्वभाग्यमभिनन्दयन्नाह स त्वं कथमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार अपना वृत्तान्त सुना कर, जो भगवत् दर्शन सर्व प्राणियों को दुर्लभ है वह मुझे अचानक कैसे हो गया, इसलिये 'स त्वं कथं' श्लोक में अपने भाग्य की बढ़ाई करता है ।

श्लोक—स त्वं कथं मम विमोक्षिष्यः परात्मा

योगेश्वरः श्रुतिदृशात्पलहृद्विभाव्यः ।

साक्षादधोक्षज उरुव्यसनान्धबुद्धेः स्या-

न्मेनुदृश्य इह यस्य भवापवर्गः ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! उपनिद्रूप नेत्रों से निर्मल हृदयवाले योगेश्वरों के हृदय में जो चिन्तन किए जा सकते हैं तथा इन्द्रियाँ जिसको पहुँच नहीं सकती हैं, ऐसे आप परमात्मा हैं । जिसके मैंने आज अचानक प्रत्यक्ष दर्शन किए हैं, उसका क्या कारण



है ? मैं तो महान् व्यसनों से अन्ध बुद्धि हूँ, किन्तु जिसका अन्तिम जन्म होता है, उसको ही आप दर्शन देते हैं, इसलिए मेरा यह अन्तिम जन्म है, जिससे मेरे जैसे अन्ध बुद्धि वाले को दर्शन देकर कृतार्थ किया है ॥२६॥

सुबोधिनी—तादृशस्त्वं ममाक्षपथः कथं वा जात इत्याश्चर्यम् । परात्मेति । आत्मनोऽपि परोऽन्तरः कथं देहादपि बहिर्दृश्येतेत्येकानुपपत्तिः । किञ्च । योगेश्वरैरपि योगानुसारेण, तत्रापि श्रुतिदृशा वेदबोधितज्ञानेनैव, न तु वैदिकप्रकारेण, तत्रापि अमला दृष्टिर्यस्य तादृशेन विभाव्यः । साधनप्रमाणाधिकाराः उत्तमा निरूपिताः । तैरप्येवं प्रत्यक्षो न भवति, किन्तु विशेषेण भाव्यः तत्पर्य एव । स मम साक्षात्कर्णं जात इत्याश्चर्यम् । अनेन प्रमाणविचारेण दर्शनायोग्यता निरूपिता, प्रमेयविचारेणापि दर्शनायोग्यतामाह अधोक्षजेति ।

अधः अक्षजं ज्ञानं यस्मादिति । किञ्च । स्वस्यानधिकारोऽपि । उरुव्यसनान्धबुद्धेः । अनेकव्यसनैः अन्वा बुद्धिर्यस्येति । नन्वकारणकार्योत्पत्तिर्न सम्भवतीति, अवश्य कारणं भगवद्दर्शने वक्तव्यमिति चेत्, तत्राह स्यान्मेनुदृश्य इति । मे अनुदृश्यः स्यात्, यस्य मम भवापवर्गः । प्रायेण मम मोक्षः सम्भाव्यते केनचित्कारणेन, तद्भगवद्दर्शनव्यतिरेकेण मोक्षो न भवतीति मोक्षसाधनानि फलोन्मुखानि सन्ति भगवद्दर्शनं कारयामासुः । तत्रापि मोक्ष इहैव, अस्मिन्नेव जन्मनि । अन्तिमजन्मन्येव भगवत्साक्षात्कारात् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—वैसे आपने मुझे प्रत्यक्ष दर्शन कैसे दिये ? यह आश्चर्य है, दर्शन देने में रुकावटें बताते हैं, १—आप आत्मा से भी पर हैं वह आप देह से भी बाहर दर्शन कैसे दे सकते हैं यह दर्शन से एक अनुपपत्ति है, २—योगानुसार योगेश्वर ही दर्शन कर सकते हैं, मैं वह भी नहीं, ३—योगेश्वर भी वेद से बोधित ज्ञान से ही दर्शन कर सकते हैं, न कि वैदिक तरीके से, उसमें भी जिनकी दृष्टि निर्मल हो गई है वैसे भी आपको तर्क से ही भावना कर देख सकते हैं, न कि साक्षात् ऐसा दर्शन करते हैं जैसा मैं कर रहा हूँ, साधन प्रमाण के उत्तम अधिकारों का निरूपण किया, वैसे आप मुझे साक्षात् दर्शन दे रहे हैं, यह आश्चर्य है, यों कह कर प्रमाण विचार से दर्शन की अपनी अयोग्यता सिद्ध की है, अब प्रमेय विचार से भी अपनी दर्शन में अयोग्यता दिखाता है, आपका ज्ञान इन इन्द्रियों से नहीं होता है, विशेष में अपना अनधिकार सिद्ध करता हुआ कहता है कि अनेक व्यसनों से जिसकी बुद्धि अन्ध हो गई है वैसे मैं हूँ, प्रमाण तथा प्रमेय से अपनी अयोग्यता दिखलाई तब शङ्का होती है कि बिना कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है, अतः भगवान् के दर्शन तो हुवे हैं, जिसमें अवश्य कोई कारण तो होगा ही, वह कारण कहता है, जिसका जन्म अन्तिम है अर्थात् जिसकी मुक्ति होने वाली है फिर जिसको जन्म लेना नहीं है उसको दर्शन होता है, जिससे यह मेरा अन्तिम जन्म होने से मेरी मुक्ति होने वाली है इस कारण से मुझे आपके साक्षात् दर्शन हुवे हैं, किसी कारण से मेरी मुक्ति होने वाली दीखती है वह भगवद्दर्शन के बिना मोक्ष नहीं होता है, मोक्ष के साधन फल के उन्मुख हैं जिन्होंने भगवद्दर्शन कराये हैं, इसमें भी इस जन्म में ही मुक्ति होने वाली है, क्योंकि अन्तिम जन्म में ही भगवान् का साक्षात् दर्शन होता है ॥२६॥

आभास—एवं दुर्लभदर्शनमुपपाद्य स्वर्गगमनार्थं भगवन्तं प्रार्थयितुं नवधा भगवन्तं सम्बोधयति देवदेवेति ।



आभासार्थ—इस प्रकार भगवद्दर्शन को दुर्लभता सिद्ध कर स्वर्ग को जाने के लिये भगवान् को प्रार्थना करने के लिये भगवान् को नव प्रकार के विशेषण देते हैं—'देव देव' इति

श्लोक—देवदेव जगन्नाथ गोविन्द पुरुषोत्तम ।

नारायण हृषीकेश पुण्यश्लोकाच्युताव्यय ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे देवदेव ! हे जगन्नाथ ! हे गोविन्द ! हे पुरुषोत्तम ! हे नारायण ! हे हृषीकेश ! हे पुण्यश्लोक ! हे अच्युत ! हे अव्यय ! ॥२७॥

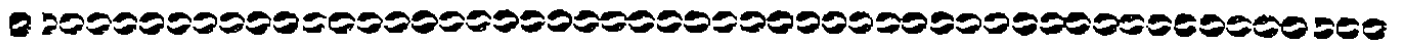
सुबोधिनी—लोके गमने देवानामपि यो देवः तदाज्ञयेव गमनं भवति । स चेत्स्वस्मिन् क्रीडति, तदा देवत्वं भवतीति । जगन्नाथत्वादवश्यमाज्ञा प्रार्थनीया । गोविन्देति । सतामिन्द्रः । एवं राजसतामससात्त्विकभावेन प्रभुत्वेन सम्बोधितो भगवान् । आज्ञां प्रार्थयितुं प्रेरकत्वेन त्रिविधं पुरुषमाह । पुरुषोत्तमः पूर्णः पुरुषः । नारायणः पुरुषो द्वितीयः । हृषीकेशोऽन्तर्यामी तृतीयः पुरुषः । 'विष्णोस्तु त्रीणि रूपाणि पुरुषाख्यान्यथो विदु'रिति वाक्यात् । अनेन भगवत्प्रेरणया भोगार्थं गच्छामीति स्वापराधाभावो निरूपितः । तत्र

गतस्य भगवत्स्मरणाद्यभावान्न निस्तार इत्याशङ्क्य भगवद्गुणाः सर्वत्र सन्तीति निरूपयन् विशेषणत्रयमाह पुण्यश्लोकाच्युताव्ययेति । पुण्या श्लोका कीर्तियस्येति । विषयसम्बन्धकृतदोषपरिहारः कीर्तिस्वाभाव्यादेव भवतीति सूचितम् । श्लोका विषयेष्वपि भवतीति न विषयैर्विरुध्यते । तेन सेवनसम्भवः । भगवतः सर्वतोऽच्युतत्वात् नित्या कीर्तिर्भवति, पूर्णा च । ततः सम्पादनसाधनानपेक्षता । न विद्यते व्ययो यस्मादिति । तेनान्यस्यापि नाशाभाव उक्तः । श्रोतुरप्यच्युतत्वं सम्पादयतीति षष्ठीबहुव्रीहिपक्षेऽपि न दोषः ॥२७॥

व्याख्यान—लोक में भी बड़ों की आज्ञा लेकर जाना होता है, आप तो देवों के भी देव हैं अतः आप की आज्ञा से ही वहाँ जाना हो सकता है, वह देव तब कहा जाता है जब अपने में ही क्रीड़ा करता है, आप तो देवों के भी देव हैं अतः आप की आज्ञा आवश्यक है, फिर उसमें भी आप जगत् के स्वामी हैं, इसलिये आज्ञा प्राप्त करनेके लिये, अवश्य प्रार्थना करनी चाहिये, आप भक्तों के इन्द्र होने से 'गोविन्द' हैं, इस प्रकार राजस तामस सात्त्विक भाव से प्रभुपन से भगवान् को सम्बोधित किया है, आज्ञा की प्रार्थना के लिये, जो प्रेरक हैं उन तीन प्रकार के पुरुषों का नाम कहता है, १-पुरुषोत्तम जो पूर्ण पुरुष हैं, २-नारायण द्वितीय पुरुष ३-इन्द्रियों का स्वामी अन्तर्यामी तृतीय पुरुष, जिनका प्रमाण कहते हैं 'विष्णोस्तु' त्रीणि रूपाणिपुरुषाख्यान्यथो विदु' इस वाक्य से इससे यह कहा कि भगवान् की प्रेरणा से भोग भोगने के लिये जाता है यों कहने से अपने अपराध का अभाव निरूपण किया, वहाँ जाने वाला भगवत्स्मरण नहीं करेगा तो विस्तार^२ नहीं होगा, इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि 'भगवद्गुणाः सर्वत्र सन्ति' भगवद्गुणों का गान सर्वत्र हो सकता है, तदर्थ तीन विशेषण दिये हैं-१-पुण्यश्लोकाच्युताव्यय' जिसकी कीर्ति पुण्य रूप है, कीर्ति से अर्थात् गुण गान

१-विष्णु के तीन रूप पुरुष नाम से जानी जानते

२- छुटकारा



से विषयों के सम्बन्ध से जो दोष उत्पन्न होते हैं वे नष्ट हो जाते हैं. विषयों में भी प्रशंसा होती है इसलिये विषयों से उसका विरोध नहीं है, किन्तु उनकी प्रशंसा से भगवत्सेवा में मन लगा जाता है, भगवान् सर्व प्रकार से अच्युत होने से उनकी कीर्ति नित्य है और पूर्ण है इस कारण से साधनों के सम्पादन की अपेक्षा नहीं है जिससे कुछ भी व्यय नहीं होता है. इससे दूसरे का भी नाश नहीं होता है. गुण गान सुनने वालों का भी च्युति नहीं होती है—षष्ठी बहुव्रीहि समास करने में भी दोष नहीं है ॥२७॥

आभास—एवं स्वर्गगमने सर्वाभ्युपपत्तिमुक्त्वा प्रार्थयति अनुजानीहोति ।

आसाभार्थ—इस प्रकार स्वर्ग जाने में सर्व प्रकार की हेतु पूर्वक युक्तियाँ कह कर अब 'अनु-जानीहि' श्लोक से प्रार्थना करता है ।

श्लोक—अनुजानीहि मां कृष्ण यान्तं देवगतिं विभो ।

यत्र कापि सतश्चेतो भूयान्मे त्वत्पदास्पदम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हे विभु ! देवगति को जाने वाले मुझे आज्ञा दीजिए, जहाँ कहीं भी मैं हूँ, वहाँ मेरा चित्त आपके चरण कमलों में रहे ॥२८॥

सुबोधिनी—मामिति । आवश्यकं पुण्यफल-भोगयुक्तम् । कृष्णेति । सर्वथा सर्वप्रकारेण मोचनसमर्थः । न हि तस्य विषयसम्बन्धे मोचनसामर्थ्याभावः । अन्यथा विशेषावतरणं न कुर्यात् । यान्तं देवगतिमिति गमनमावश्यकमुक्तम् । अनभिप्रेतत्वादभ्यनुज्ञाभावमाशङ्क्याह विभो इति । तथापि विषयसम्बन्धे नाशमावश्यकमाशङ्क्य प्रार्थयति यत्र कापि सतश्चेत इति । त्रिविधानि

स्थानानि सुखदुःखोभयरहितानि । दुःखे असामर्थ्यम्, सुखे अन्यासक्तिः, उभयाभावे मोहादिरिति सर्वत्रैव स्मरणाभावस्तुल्यः । तथापि कृपयैव स्मरणमिति स्थानविशेषस्याप्रयोजकत्वात् यत्र क्वापि सतो मे चेतः त्वत्पदे एव आस्पदं स्थानं यस्य । तथा सति सर्वत्र गच्छदपि चेतः त्वत्पदयोरेव स्थिरीभविष्यतीति न कापि चिन्ता ॥२८॥

व्याख्यानार्थ—पुण्यों का फल भोगना आवश्यक है, कृष्ण संबोधन से यह प्रकट किया कि आप सर्वथा अर्थात् सर्व प्रकार से मुक्त कराने में समर्थ हैं, कृष्ण स्वरूप को, विषयों से सम्बन्ध होने पर भी मुक्त कराने का सामर्थ्य है, यदि यों न होता तो विशेष प्रकार से प्रकट न होते, 'यान्तं देवगति' पद से बताया कि जाना आवश्यक है, आप सर्व समर्थ हैं अतः अनभिप्रेत होने पर आज्ञा न दे सकेंगे यों नहीं है, अर्थात् सर्व समर्थ होने से आज्ञा दे सकते हैं, तो भी विषय सम्बन्ध होने से नाश अवश्य होता है, यह शङ्का कर, प्रार्थना करता है, 'यत्र कापि सतश्चेतः' तीन प्रकार के स्थान है १-जहाँ सुख है २-जहाँ दुःख है, ३-जहाँ दोनों नहीं है, जहाँ दुःख है, वहाँ उसको मिटाने की जोब में सामर्थ्य नहीं है, २-जहाँ सुख है वहाँ भगवदतिरिक्त में आसक्ति हो जाति है, जहाँ दोनों नहीं है मोह उत्पन्न हो जाता है, इसलिये तीनों स्थानों में भगवान् के स्मरण का अभाव समान है, तो भी स्मरण तो कृपा से ही होता है स्थान विशेष इसमें प्रयोजक नहीं है, अतः जहाँ कहीं भी मैं हूँ वहाँ मेरा चित्त



आपकी कृपा से आपके चरण कमलों के स्मरण में आसक्त रहेगा इसलिये किसी प्रकार की चिन्ता नहीं है ॥२८॥

आभास—ततो गच्छन् नमस्यति नमस्ते सर्वभावायेति ।

आभासार्थ—पश्चात् जाते हुए 'नमस्ते' श्लोक से नमन करता है ।

श्लोक—नमस्ते सर्वभावाय ब्रह्मणोऽनन्तशक्तये ।

कृष्णाय वासुदेवाय योगानां पतये नमः ॥२९॥

श्लोकार्थ—सर्वभावरूप, अनन्त शक्तिमान्, ब्रह्म स्वरूप, कृष्ण, वासुदेव, योगों के स्वामी ऐसे जो आप हैं, इन आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥२९॥

सुबोधिनी—भगवान् षड्गुणयुक्त इति घमिणं निदिश्य षड्विशेषणान्याह । भक्तस्य गमनमनुचितमाशङ्क्य सर्वभावस्त्वमेवेति न त्वत्परित्यागः । अनेन कार्यरूपता निरूपिता । कारणरूपतामाह ब्रह्मण इति । अनन्तशक्तये इति । कारणत्वोपपादकं प्रकारमुक्तवान् । एवं साधन-

त्वेन त्रिरूपत्वमुक्त्वा, फलेऽपि त्रिरूपतामाह । कृष्णाय सदानन्दायेति शुद्धफलरूपत्वम् । वासुदेवाय मोक्षफलदात्रे । योगानां पतये इति । तस्य मोक्षफलदाने साधनत्वम् । आद्यन्तयोर्नमस्कारः सर्वत्रानुषङ्गार्थः ॥२९॥

व्याख्या—भगवान् षड्गुणों से युक्त हैं इस प्रकार धर्मों का निर्देश कर ६ विशेषण कहते हैं, भक्त को भगवान् का त्याग कर अन्यत्र जाना उचित नहीं है इस शङ्का को मिटाने के लिये कहा है कि 'सर्व भाव' आप ही है इसलिये आपका त्याग नहीं, अर्थात् जो स्वर्ग आदि कुछ हैं वे सब आप ही हैं अतः कहीं भी रहने से त्याग हो नहीं सकता है, इससे यह जताया कि आपका यह रूप कारण रूप है और अन्य सर्व आपका कार्यरूप हैं, अतः अन्य नहीं है, यदि कहो कि मैं कारण रूप कैसे ? इसके उत्तर में कहा कि 'ब्रह्मणो' आप ही ब्रह्मरूप हैं, इसलिये अनन्त शक्तिमान् भी आप ही हैं अनन्त शक्तिमान् कहकर कारणत्व को प्रकट करने वाला प्रकार बताया है, इस प्रकार साधनपन से तीन रूप कह कर फल के भी तीन रूप कहे हैं, कृष्णाय सदानन्द स्वरूप हो, जिस लिये शुद्ध फल रूप हो, 'वासुदेवाय' विशेषण से बताया कि मोक्ष फल दाता भी आप है 'योगानां पतये' विशेषण से यह सिद्ध किया है, मोक्ष फल देने में साधन भी आप हैं श्लोक के आदि में और अन्त में दोनों स्थान पर नमस्कार कहने का तात्पर्य है कि यह नमस्कार सर्व स्वरूपों के लिये हैं ॥२९॥

आभास—अङ्गीकारेणैवाम्यनुज्ञातः स्वर्गं गतिं गत इत्याह इत्युक्त्वेति ।

आभासार्थ—इस नमस्कार के स्वीकार करने से ही जाने की आज्ञा प्राप्त हो गई अतः स्वर्ग में चला गया, जिसका वर्णन 'इत्युक्ता' श्लोक में शुकदेवजी करते हैं ।



तेन सर्व एव कृतो धर्मो नष्टो भवतीति । किञ्च । राजन्यान् शिक्षयन् धर्मार्थं च धर्मः कर्तव्यः कार-
राजवंशे स्वयमपि प्रादुर्भावलीलां कृतवान् । अतो णायश्चेति ॥३१॥

व्याख्यार्थ—कृष्ण, अध्याय समाप्ति तक शिक्षा देते हैं, पहले सात्विकों को धर्म का उपदेश देना चाहिये, पुत्र पोत्र आदि यह परिजन सात्विक अतः पहले इनका नाम आया है, पश्चात् राजस राजाओं का है, भगवान् विशेषण से यह बताया है कि आगे भविष्य में क्या होने वाला है ? जिसको जानते हैं, ब्राह्मणों के अतिक्रम अर्थात् उल्लङ्घन से उनका अनिष्ट होगा देवकी के पुत्र विशेषण का भाव कहते हैं, वे भक्तों पर कृपा करने वाले हैं, ब्राह्मण का अतिक्रम हो इससे सहमत नहीं हैं, विशेष में ब्राह्मणों का भी हित चाहने वाले हैं, इस प्रकार के उपदेश मिलने से ब्राह्मणों का अतिक्रम न करेगे और धर्मात्मा विशेषण देकर यह समझाया है कि आपको धर्म का स्थापन करना ही है, ब्राह्मण की एक भी वस्तु अपने पास आजावे तो, किया हुआ सर्व धर्म नाश हो जाता है, आपने भी राजवंश में प्राक्ख्य लीला की है, अतः क्षत्रियों को शिक्षा देते हैं कि धर्म की रक्षा के लिये स्वयं धर्माचरण करना और दूसरों से भी करवाना चाहिये, यही राज धर्म है । ३१॥

आभास—उपदेशमाह द्वादशभिः दुर्जरं बत ब्रह्मस्वमिति ।

आभासार्थं दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं' इस श्लोक से १२ श्लोकों में उपदेश देते हैं ।

श्लोक—दुर्जरं बत ब्रह्मस्वं भुक्तमग्नेर्मनागपि ।

तेजीयसोऽपि किमुत राज्ञामोश्चरमानिनाम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण का धन थोड़ा भी खाया जावे तो अग्नि के समान तेजवान् पुरुष को भी जब पचाना कठिन है, तो मिथ्या अपने को बड़ा मानने वाले राजा उस-
को कैसे पचा सकेंगे ॥३२॥

सुबोधिनी—आदौ सात्त्विकान् प्रति उपदिशन् धर्मान्तरेण ब्रह्मस्वं गृहीतं परिहृतं व्यमिति पक्षं निराकरोति । बतैति खेदे । यथा बालकाः सर्प-समीपं चेद्गच्छेयुः, तदा यथा पित्रादयः खेदमा-विष्कुर्वन्ति, तथा भगवानाहेति लक्ष्यते । स्वतः उपायान्तरेण वा न जीर्णं भवतीति दुर्जरम् । यतो ब्रह्मं वाक्षयम्, तस्यापि स्वमिति । अत्यन्त-रङ्गम् । उपभुक्तं चेद्दुर्जरमिति । अजीर्णद्रव्यमिव मृत्युसाधकमुक्तम् । यत्र ब्राह्मणस्य ब्रह्मभूतस्य स्वामित्यभिमानः, तत्र दृष्टप्रकारेणैव दुर्जरं भवति, नृग इव, अन्यथात्वे शास्त्रद्वारेति दृष्टादृष्टाभ्यां

दुर्जरम् । यः सर्वमेवोपभुक्तं भस्मसात्करोति, तेनाप्यग्निना उपभुक्तं दुर्जरमेव भवति, न तु भस्मसाद्भवतीति ऐहिकदुर्जरत्वमेव निरूपितम् । ननु 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथेति' वाक्यात् ज्ञानेन ब्रह्मस्वजरणमिति चेत्, तत्राह तेजीयसोऽपीति । ज्ञानं फलोन्मुखं तेजः करोति, तद्वान् तेजस्वी, तस्यापि दुर्जरमुपजीव्यविरोधात् । न हि ज्ञानं स्वोपजीव्यमपि खण्डयति । यत्र ब्राह्मणस्यापि ब्रह्मस्वं दुर्जरम्, तत्र राज्ञां ब्रह्मस्वं कथं न दुर्जरं स्यात् । स्वतो ब्रह्मत्वाभावात् ब्राह्मणोपजीवकत्वाच्च । किञ्च । तत्रापि ये ईश्वर-

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३२ ॥

मानिनः, स्वस्य क्षात्रं धर्मं परित्यज्य, भगवद्धर्मं श्वर्यं मभिमन्यन्ते, तेन परधर्मनिष्ठत्वात् सुत- | रामेव ब्रह्मस्वं दुर्जरं भवति ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—यदि सात्त्विक कहे कि यों तो ब्राह्मण की वस्तु नहीं लेनी चाहिये, किन्तु धर्मान्तर से उसके ग्रहण का दोष मिटा कर फिर लेने में क्या दोष है ? तो इस पक्ष का भी भगवान् निराकरण करते हैं 'बत' पद से खेद प्रकट करते हैं, कि धर्मान्तर से दोष मिटा कर लेना भी हानि कारक है इसलिये खेद है जैसे बालक सर्प के समीप जाते हैं तो उनको देख पिता आदि खेद प्रकट करते हैं वैसे भगवान् भी कहते हैं, यों समझा जाता है, ब्राह्मण की आई हुई वस्तु स्वतः नहीं पचती है और न किसी दूसरे उपाय से पचाई जा सकती है, क्योंकि 'दुर्जर' है अर्थात् पचानी कठिन है क्योंकि प्रथम ब्रह्म ही अक्षय है उसमें भी फिर अक्षय ब्रह्म का सर्वस्व, जो अतिशय अन्तरङ्ग है वह यदि खाया जावे तो उसको पचा लेना कठिन है अर्जीण द्रव्य के समान मृत्यु को सिद्ध करता है, जहाँ ब्रह्मभूत ब्राह्मण का 'स्व' यह अभिमान अर्थात् सर्वस्व है, वहाँ प्रत्यक्ष देखे हुए नृग के दृष्टान्त से समझ लेना चाहिये कि वह 'दुर्जर' है, दूसरे शास्त्र प्रकार से भी दृष्ट और अदृष्ट दोनों से दुर्जर है, जो खाने पर सर्व को ही भस्म करता है, उससे भी अग्नि से उपभुक्त 'दुर्जर' ही हो जाता है, न कि भस्म हो जाता है, इसलिये ऐहिक दुर्जरत्व ही कहा है, शङ्का करते हैं कि गीता में कहा है कि ज्ञानाग्नि सर्वं कर्मों को भस्म कर देती है, तो ज्ञानाग्नि से इस ब्रह्मस्व को भी पचा लेंगे, इस शङ्का का उत्तर दिया है कि 'तेजीयसोऽपि' अर्थात् ज्ञान जो है वह फलोन्मुख तेज करता है उससे सम्पन्न तेजस्वी कहा जाता है वह भी इसको आश्रय के विरोध से पचा नहीं सकते हैं, ज्ञान अपने आश्रय को भी खण्डन नहीं कर सकता है, जहाँ ब्राह्मण भी ब्रह्मस्व को नहीं पचा सकता है तो वहाँ क्षत्रिय को ब्रह्मस्व क्यों न दुर्जर होगा ? क्षत्रिय में स्वतः ब्रह्मत्व का अभाव है ब्राह्मण ही उनके आश्रय है, वहाँ भी जो अपना क्षात्र धर्म त्याग कर भगवद्धर्म जो ईश्वर्य है उसको अपना धर्म समझते हैं, इससे पर धर्म में स्थित होने से उनको तो सुतरा ही ब्रह्मस्व दुर्जर है । ३२॥

आभास—एवं मरणपर्यवसायित्वमुक्त्वा तादृशान्यन्यान्यपि सन्तीति अनुपमार्थ-मितरं निषेधति नाहं हालाहलं मन्ये इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार यह ब्रह्म स्वरूप विष मृत्यु दाता है तो अन्य भी वैसे मृत्युप्रद विष मौजूद हैं, इस पक्ष का 'नाहं हालाहलं श्लोक' में निराकरण करते हुए कहते हैं कि वैसे विष अन्य नहीं हैं ।

श्लोक—नाहं हालाहलं मन्ये विषं यस्य प्रतिक्रिया ।

ब्रह्मस्वं हि विषं प्रोक्तं नास्य प्रतिनिधिर्भुवि ॥३३॥

श्लोकार्थ—मैं विष को 'हालाहल' नहीं मानता हूँ; क्योंकि उसके उतारने का

१—'न विषमित्याहुर्ब्रह्म स्वं विषमुच्यते, विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्व पुत्र पौत्रकं' अर्थ— ज्ञानी विष को विष नहीं कहते हैं ब्राह्मण के द्रव्य के उपभोग को विष कहते हैं, क्योंकि विष एक को नाश करता है ब्रह्मस्व वंश को नष्ट कर देता है—



उपाय है, सत्य विष तो ब्राह्मण का द्रव्य ही है; क्योंकि पृथ्वी पर इसका कोई प्रतिनिधि नहीं है ॥३३॥

सुबोधिनी - समुद्रोद्धूतं महादेवेन पीतं विषं हालाहलम् । न विषमात्रम् । तस्यापि महादेवभक्षितस्य प्रतीकारो दृष्ट इति तस्य विषत्वमेव नास्ति । यद्यपि वाक्यान्तरे 'न विषं विषमित्याहुर्ब्रह्मस्वं विषमुच्यते । विषमेकाकिनं हन्ति ब्रह्मस्वं पुत्रपौत्रक'मिति प्रकारान्तरेण क्रूरता निरू-

पिता, तथापि तस्याप्यनङ्गीकारार्थमप्रतिक्रियामेवाह । यतो ब्रह्मस्वस्य प्रतिक्रियाभावः, अन्यथा नृगप्रार्थनया सर्वमित्रयोर्ब्राह्मणयोर्दया स्यात् तदा प्रतिक्रियां कुर्वीताम् । ननु तस्यापि प्रतीकारो दृष्टः, कृकलासशरीरं प्राप्य मुक्त इति, तत्राह भुवीति । यथास्थितस्य न प्रतीकार इत्यर्थः ॥३३॥

व्याख्यानार्थ—समुद्र से निकला हुआ और जिसको महादेव ने पिया है, उसको हालाहल कहते हैं, वह केवल विष नहीं है, कारण कि उसका भी उपाय है इसलिये वह विष हो नहीं है क्योंकि सत्य विष तो वह है जिसका उपाय न हो और जो जड़ से वंश का नाश करदे, यद्यपि 'न विषं' इस दूसरे वाक्य में उसकी क्रूरता दिखाई है किन्तु यहाँ उस क्रूरता के अतिरिक्त इस ब्रह्मस्व विष को अनुपाय' भी कहा है, यदि यह ब्रह्मस्व उपाय वाला होता तो नृग की प्रार्थना करने पर, दोनों ब्राह्मणों को नृग के ऊपर दया आजाती कारण कि ब्राह्मण स्वभाव से सर्व के मित्र होते हैं, जिससे अवश्य उसके संकट का उपाय कहते, यदि कहो कि इसका भी यह उपाय देखा कि गिरगिट योनि को पाकर मुक्त हो गया, जिसका उत्तर देते हैं कि 'भुवि' पृथ्वी पर कोई उपाय नहीं है, अर्थात् जैसे विषवाले का विष उपाय से उतारने पर वह फिर वैसा ही पृथ्वी पर घूमता फिरता है, वैसा इसका उपाय नहीं है ॥३३॥

आभास—तमपि विशेषमाह हिनस्ति विषमत्तारमिति ।

आभासार्थ—उसकी विशेषता 'हिनस्ति' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—हिनस्ति विषमत्तारं वह्निरद्भिः प्रशाम्यति ।

कुलं समूलं दहति ब्रह्मस्वारणिपावकः ॥३४॥

श्लोकार्थ—विष तो केवल खाने वाले को मारता है, अग्नि जल से शान्त होती है, ब्रह्मद्रव्यरूप अरणि से उत्पन्न अग्नि कुल को समूल जला देती है ॥३४॥

सुबोधिनी - अप्रतीकारेऽपि विषमत्तारमेव हिनस्ति । विषादग्निः क्रूर इति तत्तुल्यो भविष्यतीत्याशङ्क्याह अद्भिरग्निः प्रशाम्यतीति । दृष्टवान्

न लौकिके हेतुर्वक्तव्यः, अलौकिकेऽपि आपो वा अग्ने भ्रातृव्या' इति श्रुतेः अद्भिः प्रशाम्यत्येव । ब्रह्मस्वस्य प्रशान्तौ हेतुमाह कुलं समूलं दहतीति ।



ब्रह्मस्वमेव अरणी याम्यां मथने अग्निर्भवति । स हि यजमानं यदर्थे आधीयते, तमपि दग्ध्वा शाम्यति, यावज्जीवाधिकारादग्निहोत्रस्य । ब्रह्मस्वलक्षणा स्वरणिः कुलार्थमेव प्रविष्टेति कुलमेव दग्ध्वा शाम्यति । न हि कश्चिद्धर्मार्थं परलोकार्थं वा ब्रह्मस्वं गृह्णाति । शरीरमपि कुलोद्भवमिति

वंशजनकमिति च कुलमेव पोषयति । निषिद्धार्थं ब्रह्मस्वग्रहणे उभाम्यां सर्वनाशः । कुलमित्युपलक्षणं वा । यत्रैव क्वचिद्ब्रह्मस्वं सम्ब्रूयते, तमेव दहतीति सर्वमविवादम् । समूलमिति । कुलरक्षकधर्ममपि उपजीवकत्वात् दहति ॥३४॥

व्याख्यानार्थ—यदि विष खाने पर उपाय न किया जावे तो भी वह विष केवल खाने वाले को ही मारता है, विष से अग्नि क्रूर है, इसलिये उसके समान होगा ? तो कहते हैं कि नहीं अग्नि तो जल से शान्त होती है, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है, इसलिये लौकिक में कारण बताने की आवश्यकता नहीं है, अलौकिक में भी श्रुति ने कहा कि 'जल अग्नि का भ्राता है, इसलिये अग्नि जल की प्राप्ति से शान्त हो जाती है, ब्रह्मस्व से उत्पन्न अग्नि शान्त नहीं होती है, किन्तु कुल को जड़ से जला देती है, ब्रह्मस्व ही अग्नि को उत्पन्न करने वाली अरणी है, अरणी से उत्पन्न अग्नि जिसके लिये लाई जाता है उस यजमान को जलाने के अनन्तर शान्त होती है, कारण कि 'अग्नि होत्र' जीवन पर्यन्त करना ही है, ब्रह्मस्वरूप जो अरणी है वह कुल के लिये ही प्रविष्ट हुई है, इसलिये कुल को जला कर ही शान्त होती है, कोई भी मनुष्य ब्राह्मण का धन धर्म के लिये वा परलोक के लिये नहीं लेता है किन्तु शरीर पोषणार्थ ग्रहण करता है, शरीर भी कुल में उत्पन्न होने से वंश को उत्पन्न करने वाला है, इससे जाना जाता है कि वह ब्राह्मण का धन कुल का ही पोषण करता है, निषिद्ध किया हुआ पदार्थ और ब्राह्मण का धन, इन दोनों के ग्रहण करने से सर्व का नाश होता है, यहां कुल' पद तो केवल उपलक्षण तरीके से कहा है, वास्तविक तो जहां भी वह ब्राह्मण-द्रव्य जाता है उस सर्व को जला के भस्म कर देता, जिसमें किसी प्रकार का विवाद नहीं है, कुलकी रक्षा करने वाला जो उपजीवक धर्म है उसको भी जला देता है ॥३४॥

आभास—सामान्यतः कुलनाशकत्वं ब्रह्मस्वस्योपपाद्य विशेषतो व्यवस्थामाह ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातमिति ।

आभासार्थ—ब्राह्मण के धन को सामान्य रीति से कुल नाशक प्रतिपादन कर, विशेष प्रकार से व्यवस्था 'ब्रह्मस्वं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—ब्रह्मस्वं दुरनुज्ञातं भुक्तं हन्ति त्रिपुरुषम् ।

प्रसह्य तु बलाद्भुक्तं दश पूर्वान्दशपरान् ॥३५॥

श्लोकार्थ—प्रेम से जिसकी आज्ञा देने वाले ने नहीं दी है, ऐसा ब्राह्मण का द्रव्य यदि खाया जावे तो वह द्रव्य तीन पुरुषों को (पीढ़ी का) नाश करता है, यदि बल से हठ कर लिया हुआ ब्राह्मण का द्रव्य खाया जाय तो वह द्रव्य दस पहली और दस होने वाली पीढ़ी को भस्म कर देता है ॥३५॥



सुबोधिनी—दुष्टतया अनुज्ञातम्, मनसि अद-
त्वेव वाङ्मात्रेणानुज्ञातम्, यथा बलाद्गृहीत्वा
अनुज्ञां प्रार्थयति । ततो बलिष्ठं ज्ञात्वा मारणा-
दिशङ्कया अनुगृह्णाति, तत् दुःसुज्ञातम् । तच्चेद्भु-
क्तम्, तदा त्रिपुरुष हन्ति भोक्ता तत्पुत्र, पौत्र-
श्चेति त्रयः पुरुषाः । चौर्यभुक्तं तु निषिद्धत्वान्म-
हापातके पर्यवस्यति । प्रसह्य धृत्वा अतिक्रमं

कृत्वा शास्त्रतः बलाह्लोकतश्च भुक्तमेकविंशतिपुरुषान्
दहति । तत्र दशपूर्वा, पितृपितामहादयः, परे पुत्र-
पौत्रादयः, स्वयमेकविंशः । प्रसहनबलयोरान्तरबा-
ह्यभेदेन व्यवस्था, वैदिकलौकिकभेदेन वा । कश्चित्
बलाद्गृह्यमाणं प्रयच्छति, स्वयं बलमकृत्वा,
कश्चित्तु स्वयमपि बलं करोतीति न पौनरुक्त्यम् ।
॥३५॥

व्याख्यार्थ—मन में तो देने की इच्छा नहीं है, केवल वाणी से आज्ञा दी है, जैसे जबर्दस्ती से पकड़ कर फिर उससे आज्ञा लेनी, जिससे वह उसको बलिष्ठ जान मार डालेगा आदि शङ्का से द्रव्य लेने की आज्ञा दे देता है, यह प्रेम रहित जबर्दस्ती से ली हुई आज्ञा है, ऐसी आज्ञा से प्राप्त ब्रह्मण द्रव्य खाने पर वह तीन पीढ़ी को नाश करता है, खाने वाला उसका पुत्र और पौत्र ये तीन पुरुष हैं, चोरी से लाकर खाये हुआ की महा पातक में गिनती होती है, शास्त्र, बल और लोक का अतिक्रम कर जबर्दस्ती से लाकर खाया जावे तो वह इक्कीस पीढ़ीयों को भस्म कर देता है, उसमें दश पहली पिता पितामह आदि दश पिछली पुत्र और पौत्र आदि को भस्म करता है, स्वयं इक्कीसवां समभक्ता चाहिये, जबर्दस्ती और बल इनका आन्तर और बाह्य भेद से व्यवस्था जाननी अथवा वैदिक और लौकिक भेद से व्यवस्था जाननी, कोई स्वयं, अपना बल प्रकट कर देना चाहता किन्तु लेने वाला बलिष्ठ होने से लेता है इसलिये पुनरुक्ति नहीं है ॥३५॥

आभास—नन्वेवं धर्मशास्त्रे प्रसिद्धे वथं ब्रह्मस्वापहारो भविष्यतीत्याशङ्क्याह
राजान इति ।

आभासार्थ—जब इस प्रकार धर्म शास्त्र में ब्रह्मस्व के लिये प्रसिद्ध कहा गया है तब ब्रह्म द्रव्य का अपहरण कैसे वा क्यों किया जाता है ? इस शङ्का का उत्तर 'राजानो' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—राजानो राजलक्ष्म्या च नात्मपातं विदन्ति ते ।

निरयं येऽभिमन्यन्ते ब्रह्मस्वं साधु बालिशाः ॥३६॥

श्लोकार्थ—प्रथम राजा होने से, फिर राजलक्ष्मी से वे अपना पतन होगा, यों नहीं समझते हैं, ऐसे जो राजा हैं, वे ब्रह्मस्व को नरक का साधन नहीं मानते हैं, किन्तु श्रेष्ठ समझते हैं; क्योंकि अज्ञ हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—प्रथमतो राजत्वादेव, तत्रापि
राजलक्ष्म्या । चकारादभिजनादिमदैः आत्मनः
पातं न विदन्ति, यतस्ते शास्त्रोक्ता राजानः,
अन्यथा 'राज्यान्ते नरकं ध्रुव'मिति न स्यात् ।
अन्यत् क्षत्रियस्य व्याप्यमेव, ब्राह्मण एव परं

व्यापका, ते चेद्ब्रह्मस्वं जानीयुः नरकसाधनत्वेन,
तदा न गृह्णीयुः । न हि कश्चिन्नरके पतति । अत
एव निरयरूपं ब्रह्मस्वं साधु मन्यन्ते । यतो
बालिशाः ॥३६॥



व्याख्यार्थ—ब्रह्म द्रव्य लेने से पतन होगा, यों राजा होने से तथा राज लक्ष्मी के मद से नहीं समझते हैं क्योंकि वे शास्त्र में जिनके लिये 'राज्य के अन्त में'; निश्चय से नरक लिखा है वे राजा हैं, क्षत्रिय में अन्य प्रकार से व्याप्य हैं और ब्राह्मण में ही यह अच्छी तरह व्यापक है अर्थात् ब्राह्मण ब्रह्मस्व को नरक का साधन समझते हैं क्षत्रिय नहीं जानते हैं, यदि वे इसको नरक का साधन जाने तो ग्रहण न करे, वे यों समझते हैं कि ब्रह्मस्व लेने से कोई नरक में नहीं पड़ता है, इस कारण से निरय रूप ब्रह्मस्व को श्रेष्ठ समझते हैं क्योंकि नासमझ हैं ॥३६॥

आभास—सामान्यतो नरकमुक्त्वा विशेषया गृह्णन्तीति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—सामान्य रूप से नरक का वर्णन कर गृह्णन्ति' आदि दो श्लोकों से विशेष प्रकार से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—गृह्णन्ति यावतः पांसून्क्रन्दतामश्रुबिन्दवः ।

विप्राणां हृतवृत्तीनां वदान्यानां कुटुम्बिनाम् ॥३७॥

राजानो राजकुल्याश्च तावतोऽब्दान्निरङ्कुशाः ।

कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते ब्रह्मदायापहारिणः ॥३८॥

श्लोकार्थ—लोभ आदि दोष रहित अर्थात् उदार और कुटुम्बी, ऐसे ब्राह्मणों की वृत्ति का जब हरण हो जाता है, तब उनके नेत्रों से अश्रुओं के बिन्दु गिर कर, जितने रज के कणों को भिगोते हैं, उतने वर्ष तक निरङ्कुश होकर ब्रह्मस्व अथवा वृत्ति का हरण करने वाले राजा लोग तथा राजकुल में जन्मे हुए कुम्भी पाक नरक में पकाये जाते हैं ॥३७-३८॥

बुद्धोपनिषद्—हृतवृत्तीनां रुदतामश्रुबिन्दवो यावतः पासून् गृह्णन्ति । अन्तःशोके हि रोदनम्, तस्य च परिमितिरश्रुभिर्भवति । अश्रूणां च परिमाणं कार्यवशात्, अतो रेणूनां सङ्ख्ययैव शोकसङ्ख्या । निमित्तान्तरं निराकर्तुं हृतवृत्तीनामिति । वदान्यानामिति लोभादिदोषनिषेधः । कुटुम्बिनामिति ह्ययमाणपदार्थविशयकत्वम् । तदा ब्रह्मस्वता सम्पद्यते अत्यावश्यकत्वात् । निषिद्धायाः क्रियायाः ब्राह्मणविषयाया पांसुद्धा-रैवानिष्टनिर्णयो वेदे निरूपितः । 'यावतः प्रस्कन्द्य

पांसून् संगृह्णात्, तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजाना'दिति श्रुतेः । एकेन निमित्तमुक्त्वा अपरेण कलमाह राजानो राजकुल्याश्चेति । राजकुल्याः राजकुलोत्पन्नाः । चकारात्तत्सम्बन्धिनोऽन्ये च, य एव हरणे समर्थाः । तावतः अब्दान् वर्षानभि-व्याप्य कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते । प्रासङ्गिकदोषपरि-हारार्थमाह ब्रह्मदायापहारिण इति । निरङ्कुशा इति । तेषां नियामकश्चेन्न स्यात्, अन्यथा तस्यैव दोषो भवेत् ॥३८॥

व्याख्यार्थ—वृत्ति (जीविका) हरण हो जाने से, रुदन करते हुए ब्राह्मणों के अश्रुओं के बिन्दु जितने रजः कणों को भिगोते हैं उतने वर्ष वे निरङ्कुश हो वृत्ति वा ब्रह्म धन हरण करने वाले



राजा अथवा राजकुल में उत्पन्न कुम्भीपाक नरक में पकाये जाते हैं। अन्तःकरण में जब शोक होता है तब रोना आता है, उसका माप आंसुओं से होता है कि इनको कितना दुःख हुआ है, आंसुओं का माप उसके कार्य से होता है, अतः रजः कणों की सङ्ख्या से ही शोक की सङ्ख्या गिनी जाती है, उन ब्राह्मणों के रोने का दूसरा निमित्त न हो किन्तु जीविका का हरण हो, वे ब्राह्मण भी लोभ आदि दोष रहित हो, और कुटुम्ब बाने हो क्योंकि उनको हंगरा किये हुए पदार्थ की आवश्यकता रहती है, जब ये सब कारण हो तब अति आवश्यकता से, वह पदार्थ ब्रह्मस्व होता है, ब्राह्मण सम्बन्धी जिस क्रिया का निषेध किया गया है यदि वह क्रिया को जावे तो उससे होने वाले अनिष्ट फल का रजः कण द्वारा ही वेद में निरूपण किया गया है, जैसा कि 'यावतः प्रस्कन्द्य पांसून् संगृह्णात् तावतः संवत्सरान् पितृलोकं न प्रजानात्' इति श्रुतिः, वेद कहता है कि ब्राह्मणों के अश्रुविन्दु जितने रजः कण को भिगोते हैं, उतने संवत्सर ब्रह्मस्व हरण करने वाला पितृ लोक में नहीं जा सकता है अर्थात् उनसे वर्ष नरक में पड़ा रहता है, एक श्लोक से कारण कह कर दूसरे से मूल कहता है, राजा तथा राजकुल में उत्पन्न और 'च' से उनके दूसरे सम्बन्धी भी समझते, जो हरण कर सकते हो, ये सर्व उतने वर्ष कुम्भीपाक नरक में पकाये जाते हैं, प्रासङ्गिक दोष के परिहार के लिये कहते हैं कि, वे अङ्कुश रहित हो ब्रह्मस्व हरण करते हैं उनका नियमन करने वाला यदि न होवे, तो उसका ही दोष गिना जायगा ॥३८॥

आभास—ब्रह्मस्वविशेषस्यापहारे दोषविशेषमाह स्वदत्तामिति ।

आभासार्थ—विशेष ब्रह्मस्व के हरण करने से विशेष दोष होता है जिसका वर्णन 'स्वदत्ता' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—स्वदत्तां परदत्तां वा ब्रह्मवृत्तिं हरेच्च यः ।

षष्टिवर्षसहस्राणि विष्टायां जायये कृमिः ॥३९॥

श्लोकार्थ—जो अपनी दी हुई अथवा अन्य की दी हुई ब्राह्मण की जीविका का हरण करता है वह साठ हजार वर्ष विष्टा में कोड़ा होकर रहता है ॥३९॥

सुबोधिनी—पूर्ण स्वेनैव दत्ता, पश्चाद्ब्राह्मणास्वारस्ये हता, परेण राज्ञा दत्ता, परराज्य-हरणेन हता, पित्रादिदत्तां स्वदत्तामेवाहुः स्वयमेव पितेति । नात्र धनं विषयः, किन्तु वृत्तिभूम्यादिः, यत्र निरन्तरं जीवनसाधनमुत्पद्यते । ब्रह्मवृत्तिर्ब्राह्मणानामेव जीवनसाधनोत्पत्तिस्था-

नम् । तादृशः षष्टिवर्षसहस्राणि नरकरूपायां विष्टायां कृमिभूत्वा तिष्ठति । षष्टिसंज्ञकः संवत्सरः । प्रभवादयः तस्य संज्ञाः । ते सहस्रधा आवृत्ता इति तावद्वर्षाणि । सर्वतो बोधत्सिता सेति उत्पत्तिरेव तत्रेति न वचिदपि तस्मिन् शरीरे सुखसम्बन्ध इत्युक्तम् ॥३९॥

व्याख्यानार्थ—प्रथम अपनी दी हुई जीविका ब्राह्मण से मेल न होने पर लौटा कर लेनी, दूसरे राजा ने दी हो, दूसरे का राज्य हरण करने पर, उस राजा की ब्राह्मण को दी हुई जीविका ले लेनी पिता आदि ने दी हो वह भी अपनी ही दी हुई समझनी चाहिये क्योंकि आप पिता का ही रूप है, यहां धन का



विषय नहीं है, किन्तु जीविका का विषय है, जीविका का साधन भूमि आदि है, जिसमें से सदैव जीविका के साधनों की प्राप्ति होती है ब्राह्मणों की जीविका भूमि आदि है क्योंकि उससे ब्राह्मणों के जीवन के साधनों की उत्पत्ति होती रहती है, वैसी भूमि आदि जो छीन लेता है वह साठ हजार वर्ष नरकरूप विष्टा में कीड़ा हो कर रहता है, प्रभव आदि संवत्सर के नाम हैं वे हजार बार आवृत्ति करे उतने वर्ष वहां रहता है, सब से डरने वाली वह विष्टा है, ऐसे की उत्पत्ति ही विष्टा में और इतना समय रहना भी वहां जिससे उस शरीर में थोड़ा भी सुख नहीं है ॥३९॥

आभास—एवं ब्रह्मस्वदोषानुक्त्वा स्वकीयेषु तदभावं प्रतिजानीते न मे ब्रह्मधनं भूयादिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्रह्मस्व हरण का दोष बता कर अपने जो है, उनमें यह न हो ऐसी प्रतिज्ञा 'न मे ब्रह्म धन' श्लोक में कहने हैं ।

श्लोक—न मे ब्रह्मधनं भूयाद्यद्गृध्राल्पायुषो नृपाः ।

पारिजिताश्च्युता राज्याद्भ्रवन्त्युद्वेजिनोऽहयः ॥४०॥

श्लोकार्थ—मेरे घर में ब्राह्मण का धन न आवे, जिस धन के लोभ से राजा लोग अल्प आयुष्य वाले, पराजित, राज्य से भ्रष्ट होते हैं, सर्प के समान उद्वेग वाले होते हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—स्वतो दैववशाद्वा ब्रह्मस्वं सङ्क्रान्तं भवतीति मे न भूयादिति देवप्रार्थनेव वचनम् । प्रमादादागते को दोष इति चेत्, तत्राह यद्गृध्राल्पायुष इति । यद्गृध्राः । यदभिकाङ्क्षिणश्च ते अल्पायुषश्च । ग्रहणमात्र एवायुःक्षयो भवतीत्युक्तम् । आपद्गतानां तथा दोषो न भव-

तीति नृपा इत्युक्तम् । दैवगत्या मरणाभावेऽपि शत्रुभिः पराजिता भवन्ति । राज्यान् च्युताः ततो मृताः स्थानभ्रष्टा जनोद्वेजनकर्तारः सर्पा भवन्ति । अत ऐहिकामुष्मिकदोषस्य विद्यमानत्वात् तत्सङ्क्रमो मा भवत्विति ॥४०॥

व्याख्यार्थ—अपने से अथवा दैव वश होके ब्रह्मस्व प्राप्त हो जाता है, किन्तु हमको तो वह नहीं चाहिये, इस प्रकार के वचन मानो देव की प्रार्थना के लिये ही कहे हैं, यदि कहो कि भूल से आजावे तो इसमें क्या दोष है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि जो उसको चाहते हैं उनकी आयु कम हो जाती है, केवल लेते ही आयु क्षीण होती रहती है, जो आपद् ग्रस्त हैं उनको यह दोष नहीं लगता है, इसलिये 'नृपाः' कहा है, दैव की गति से मरने के अभाव होते हुए भी वे शत्रुओं से पराजित हो जाते हैं राज्य से गिरने से मरे जैसे होते हैं तथा स्थान भ्रष्ट होते हैं और मनुष्यों को उद्वेग कर्ता होने वाले सर्प सम हो जाते हैं अतः ब्रह्मस्व में ऐहिक और आमुष्मिक दोष विद्यमान होने से उसका मिलन न हो, यह प्रार्थना है ॥४०॥



आभास—ननु ब्राह्मणः स्वयं चेदपराधं कुर्यादिसह्यम्, तदा किं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह विप्रं कृतागसमपीति ।

आभासार्थ—यदि ब्राह्मण स्वयं असह्य अपराध करे तो तब क्या करना चाहिये । इस प्रश्न का उत्तर 'विप्रं कृतागसं' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—विप्रं कृतागसमपि नैव द्रुह्यत मामकाः ।

घनन्तं बहु शपन्तं च नमस्कुरुत नित्यशः ॥४१॥

श्लोकार्थ—हे मेरे जन ! आप अपराधी ब्राह्मण का भी द्रोह मत करो, चाहे वह मारे वा गाली दे तो भी उनको हमेशा नमस्कार ही करो ॥४१॥

सुबोधिनी—मामका इत्यनेन ब्रह्मण्यदेवत्वात् स्वस्य देवता देवता सुतरां मान्या भवतीति अद्रोहे हेतुर्लुक्तः, नियमेन द्रोहं मा कुरुत । प्रमादापराध-विषयमेतदित्याशङ्क्याह घनन्तं बहु शपन्तं चेति । मानसापराधे किं वक्तव्यम्, कायिकवाचिकापराधेऽपि द्रोहं मा कुरुत । बह्वित्युभयत्र सम्बध्यते ।

हननमत्र ताडनम्, न तु शिरश्छेदः । 'जिघांसन्तं जिघांसीया'दिति वाक्यात् । शापोऽवगूरणम् । मदीयानां शापो न भवतीति भयाभावात् न केवलं तूष्णीं स्थातव्यम् । तथा सति ब्राह्मणस्य भयोत्पत्तिसम्भवात् पुनरपकारः स्यात् । किन्तु नित्यं नमस्कुरुत शङ्काभावार्थम् ॥४१॥

व्याख्या—अपराधी ब्राह्मण का भी क्यों न द्रोह किया जावे ? जिसमें कारण कहते हैं कि उनमें ब्रह्मण्य देवता रहता है, सुतरां मान देने योग्य है, अतः नियम से द्रोह न कीजिये यदि कहो कि यह विषय तो प्रमाद से अपराध हो जावे जिसका है, इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, यदि ब्राह्मण ताड़ना करे वा क्रोध में आकर गाली दे तो भी शाप न लगेगा इस प्रकार भय न होने से चुप हो कर मत बैठो किन्तु उनको नित्य नमस्कार ही करो क्योंकि चुप रहने से ब्राह्मण के हृदय में भय की उत्पत्ति होगी जिससे फिर अपकार होगा, अतः नमस्कार नित्य करते रहो, जहां कायिक वाचिक अपराध ब्राह्मण करे तो उनको नमस्कार ही करनी है तो मानस अपराध करे तो क्या कहा जाय ? अर्थात् इससे विशेष नम्रतापूर्वक नमन आदि ही करना चाहिये । ४१॥

आभास—ननु सर्वात्मकत्वाद्भगवतः व्यवहारस्यापि न तथाभावात् वेदलोकविरुद्धं कथं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह यथाहमिति ।

आभासार्थ—भगवान् सर्वात्मक है इसलिये यों करने से व्यवहार भी नहीं बन सकेगा, अतः लोक और वेद के विरुद्ध जो कर्तव्य है वह कैसे किया जावे ? जिस शङ्का को मिटाने के लिये 'यथाहं' श्लोक में उत्पत्ति बताते हैं ।

श्लोक—यथाह प्रणमे विप्रान्नुकालं समाहिनः ।

तथा नमत यूयं च योऽन्यथा मे स दण्डभाक् ॥४२॥



श्लोकार्थ—जिस प्रकार हम सावधान होकर हर समय ब्राह्मणों को नमन करते हैं, वैसे तुम भी नमन करो, जो यों नहीं करता है, वह मुझ से दण्ड पाता है ॥४२॥

सुबोधिनी—मदीयानां हि मत्कृतं कर्तव्यम्, किं लोकेन वेदेन वा । अहं तु त्रिकालं सावधानो भूत्वा भृगुमिव, विप्रत्वेनैव विप्रमात्रं प्रणमे, तथा यूयमपि नमत । न हि मत्तो यूयमधिकाः । चका-	राद्भगवदीयाश्च । अनङ्गीकारे बाधकमाह । योऽन्यथा सावधानतया ब्राह्मणं न नमस्करोति, स मे दण्डभाक्, मम दण्डयुक्तो भविष्यति ॥४२॥
--	---

व्याख्यार्थ—जो मेरे हैं, उनको, जैसा मैं कर रहा हूँ, वैसा ही करना चाहिये, उनका लोक तथा वेद से क्या सम्बन्ध है ? मैं तो तो तीन ही काल सावधान होके भृगु की तरह ब्राह्मणपन के कारण ब्राह्मण मात्र को नमन करता हूँ वैसे आप भी नमन करो, तुम मुझ से विशेष नहीं हो, 'च' शब्द कह कर बताया है कि जो भगवदीय हैं, उनको तो यों नमन अवश्य करना चाहिये, जो इस आज्ञा को नहीं मानता है अर्थात् सावधान हो नमन नहीं करता है, वह मुझ से दण्ड पाता है ॥४२॥

आभास—ननु किमेवं निर्वन्ध इति चेत्, तत्राह ब्राह्मणार्थ इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार आप्रह किस लिये ? इसका समाधान 'ब्राह्मणार्थ' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—ब्राह्मणार्थो ह्यपहतो हर्तारं पातयत्यधः ।
अज्ञानन्तमपि ह्येनं नृगं ब्राह्मणगौरिव ॥४३॥

श्लोकार्थ—जैसे अनजाने भी नृग राजा को ब्राह्मण की गौ ने नीच योनि में गिराया, वैसे ही अपहत ब्राह्मण का द्रव्य अपहरण करने वाले का अधः पात करता है ॥४३॥

सुबोधिनी—मदीया ऊर्ध्वगतिमेव यास्यन्ति, ब्राह्मणार्थस्त्वपहतः स हर्तारं पातयति । अपहारे कृतेऽधः पातयत्येव । अज्ञानन्तमपि अज्ञाने फले न	किञ्चिद्गुण्यम् । एनं नृगं ब्राह्मणगौरिवेति स्पष्टो दृष्टान्तः ॥४३॥
---	--

व्याख्यार्थ—मेरे जो भक्त हैं उनकी उच्च गति ही होती है, जो ब्राह्मण के द्रव्य का अपहरण करता है उसको वह ब्राह्मण द्रव्य नीच योनि में गिराता है, अपहरण करने पर निश्चय पूर्वक नीचे गिराता ही है, जानते वा अनजानते अपहरण का फल समान ही होता है, जैसे नृग राजा को ब्राह्मण की गौ ने गिराया, यह प्रत्यक्ष दृष्टान्त मौजूद है ॥४३॥

आभास—एवमुपदेशं कृत्वा प्रसङ्गात्पूर्वद्वारकायामगतः तत्रैव तिष्ठेदित्याशङ्क्य, ततो गतस्य मुख्यद्वारकास्थगृह एव स्थितिमाह एवं विश्राव्येति ।



व्याख्यार्थ—इस प्रकार उपदेश देकर प्रसङ्ग से प्रथम ही द्वारका में आये हुए वहाँ ही रहे, ऐसी शङ्का होने पर 'एवं विश्राव्य' श्लोक में कहते हैं कि उपदेश के पश्चात् ही द्वारका में स्थित मुख्य ग्रह में ही आकर विराजें ।

श्लोक—एवं विश्राव्य भगवान्मुकुन्दो द्वारकौकसः ।

पावनः सर्वलोकानां विवेश निजमन्दिरम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—मोक्ष देने वाले तथा सर्व लोकों को पवित्र करने वाले भगवान् द्वारकावासियों को इस प्रकार सर्व कथा सुनाते हुए, उपदेश देकर पश्चात् अपने मन्दिर में प्रविष्ट हुए ॥४४॥

सुबोधिनी—सर्वान् विशेषेण श्रावयित्वा भगवांस्तावर्तव कार्यं मत्वा सर्वेषां मोक्षदाता ब्राह्मणातिक्रमाभावे मोक्षो भविष्यतीति । द्वारकौकस इति । निरुद्धास्त एवेति मोक्षदात्रा संर-

क्षिताः, भगवत्स्थान एव स्थिताः, भगवतैव पूताः । तानुद्धृत्य संसारान्निजमन्दिरं स्वगृहं विवेश । अनेन सामान्यतः सात्त्विकानां निरोध उक्तः । ॥४४॥

व्याख्यार्थ — भगवान् ने सब को विशेष रूप से यह नृग चरित्र उपदेश सहित कहा जिससे ही कार्य पूर्ण समझा, इस उपदेश में ही मोक्षदाता भगवान् ने कह दिया कि ब्राह्मणों का प्रतिक्रम नहीं करेगा वह मुक्त होगा, यह उपदेश द्वारकावासियों को दिया है उनकी ही मोक्ष दाता ने रक्षा की है क्योंकि वे ही निरुद्ध हैं, वे ही भगवान् के स्थान में ही स्थित हैं और भगवान् ने उनको पवित्र किया है, उनका संसार से उद्धार कर पश्चात् अपने मन्दिर में प्रविष्ट हुए, इससे साधारण रूप से सात्त्विकों का निरोध दर्शाया गया ॥४४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे पञ्चदशोऽध्यायः ॥१५॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध (उत्तरार्ध) ६१वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय

अद्यान्तर प्रकरण का पहला अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें
राग सारंग- “नृग राजा उद्धार”

अविगत गति जानी न परै ।

राई तौ परबत करि डारै, राई मेरू करै ॥

नृग राजा नित गऊ सहस दै, करत हुतो जल-पान ।

तनक चूक तौ गिरगिट कीन्हो, को करि सकै बखान ॥

कूप माहँ तिहिँ देखि बालकनि, हरि सोँ कह्यो सुनाइ ।

कृपानिधान जानि अपनौ जन, आए तहँ जदुराइ ॥

अंधकूप तौ काटि बहुरि तेहिँ, दरसन दै ईनिस्तारा ।

सूरदास सब तजि हरि भजियै, जब कब करै उधारा ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वावपतिचरणकमलेश्वर्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६५वाँ अध्याय

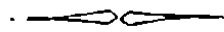
श्री सुबोधिनी अनुसार ६२वाँ अध्याय

उत्तरार्ध का १६वाँ अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

“२२१ अध्याय”

श्री बलरामजी का ब्रजगमन



कारिका — विशेषे सात्त्विके रोधे तामसादिविभागतः ।

पूर्व राजसमापन्नाः सत्त्वभावं तथानयत् ॥१॥

कारिकार्थ—१५वें अध्याय के अन्त में सामान्य निरोध का उपसंहार किया, इसके अनन्तर पञ्चाध्यायी का अर्थ जो विशेष निरोध है, उसका निरूपण करते हैं, तामस प्रकरण में लीला द्वारा तामस भाव का निवारण कर राजस भाव का सम्पादन किया, राजस प्रकरण में उसको भी निवृत्त कर सात्त्विक भाव प्रकट किया, सात्त्विक प्रकरण में निर्गुण भाव सम्पादन किया, पश्चात् मुक्ति के स्कन्ध में मोक्ष का वर्णन किया है, इस प्रकार निबन्ध में विभाग निरूपण किए हैं ॥१॥

कारिका—तेषां सात्त्विकरूपाणां सकामत्वाद्बलेन हि ।

निरोधं कारयामास षोडशे तन्निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—जो सात्त्विक भाव को प्राप्त हो गए, वे सकाम होने से उनका बल-रामजी द्वारा निरोध करवाया है, कारण कि काम तामस है, सङ्कर्षणजी भी वैसे ही हैं, इसलिए उनके द्वारा ही वीसों का निरोध हुआ है, जिसका वर्णन इस १६वें अध्याय में किया है, इससे निष्कामत्व सिद्ध हो जाने पर कुरुक्षेत्र के प्रसङ्ग में स्वयं आप निर्गुणत्व सिद्ध करेंगे, इसी तरह प्रकरण की सङ्गति है ॥२॥

कारिका—ततः स्वरूपभावानां दुष्टानां दोषनुद्धरिः ।

प्रसङ्गादिदमत्रोक्तं वाराणस्यास्तु दाहनम् ॥३॥

कारिकार्थ—यों विशेष निरोध के प्रकरण में प्रथम अध्याय का अर्थ कह कर द्वितीय अध्याय का अर्थ कहते हैं कि पौण्ड्रक आदि स्वरूप मात्र में तो भाव वाले हैं, किन्तु दोषयुक्त होने से हरि उनके दोषों का नाश करने वाले हुवे हैं, उनके केवल दोष ही नाश करने थे, सारूप्य तो स्वरूप में भाव होने से सिद्ध ही है, यहां प्रसङ्ग होने से दाराणसी का दाह कहा है ॥३॥

कारिका—बलस्तामसभावानां राजसानां तथैव च ।

सात्त्विकानां तथा मानखण्डकः सृनिरूप्यते ॥४॥

कारिकांथ—बलरामजी तामस भाव को प्राप्त यमुना, राजस भाव को प्राप्त द्विविध आदि और सात्त्विक भाव को प्राप्त भीष्म आदि के अभिमान के खण्डन करने वाले हैं, यह निरूपण इस अध्याय में है ॥४॥

कारिका—ततः स्त्रीणां तु भगवान् एकेनैव करिष्यति ।

सप्तमास्त्रय एकत्र धनिणः पृथगोरिताः ॥५॥

एवं प्रमेयबलतो निरोधः पञ्चधा भवेत् ।

कारिकार्य—पश्चात् पाँचवें अध्याय में नारद को बोध कराने के लिए विशेष रूप से स्त्रियों का निरोध एक ही से करेंगे, पहले की तरह यहां भी धर्मी निरूपण की आशङ्का कर कहते हैं कि 'सप्तमाः' धर्म धर्मी प्रकार से निरूपण में सप्तम हैं; क्यों-



कि तीन इवट्टे हैं, धर्मी के पृथक् कहे हैं ॥५॥

इस प्रकार विशेष प्रकार से निरूपण में प्रमेय बल से निरोध पाँच प्रकार का हुआ । यदि पूर्व अध्याय में कहे हुए सामान्य निरोध को भी गिना जाय तो निरोध छः प्रकार का होगा ॥

— इति कारिका समाप्त —

आभास—पूर्वाध्याये सात्त्विका निषिद्धात् व्यावर्तिताः । षोडशे त्वध्याये लौकिकात् सात्त्विकभावमापादिताः गोपिका निरुध्यन्ते । ततो वैदिकादपि काशीदाहे निरोधं वक्ष्यति । ततः अशास्त्रभक्तेः द्विविदादीनाम् । ततो भीष्मादीनां शास्त्रभक्तेश्च । ततः शास्त्रप्रवर्तकस्य नारदस्यापि मुख्यभावात् । स्वशक्तिद्विधा स्यापितेति साधनशक्तिरूपो बलभद्रः गोपिकानां निरोधं कृतवानिति निरूपणार्थं गोकुले बलभद्रगमनादिकमुच्यते ।

आभासार्थ—पूर्वाध्याय में सात्त्विकों को निषिद्ध से हटाया गया १६ वे अध्याय में तो लौकिक से सात्त्विक भाव को प्राप्त गोपिकाओं को निरुद्ध किया गया है, पश्चात् वैदिक से भी काशीदाह में निरोध कहेंगे, अनन्तर अशास्त्रीय भक्ति के द्विविध आदि का तथा शास्त्र भक्ति के भीष्म आदि का निरोध कहेंगे, ये दोनों सात्त्विक भाव को प्राप्त हुवे है बाद में शास्त्र प्रवर्तक नारद का भी मुख्य भाव होने से निरोध हुवा है, भगवान् ही जहाँ साधन और फल रूप होते हैं वैसे भाव ही मुख्य भाव है ।

भगवान् ने अपनी शक्ति दो तरह से स्यापित की है, १ क्रिया शक्ति अर्थात् साधन शक्ति दूसरी ज्ञान शक्ति, उनमें से साधन शक्ति रूप बलभद्र स्वरूप हैं जिस स्वरूप से इस गोपिका रमण में गोपियों का निरोध किया है, यह निरूपण करने के लिये बलभद्रजी का गोकुल में जाना आदि कहा है ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—बलभद्रः कुरुश्रेष्ठ भगवान् रथमास्थितः ।

सुहृद्दिक्षुस्तकण्ठः प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे कुरुश्रेष्ठ ! सुहृदों को देखने की इच्छा वाले भगवान् बलभद्रजी रथ में बैठ नन्द की गोकुल को गए ॥१॥

सुबोधिनी—बलभद्रः कुरुश्रेष्ठेति । विश्वासार्थं सम्बोधनम् । भगवानिति निरोधोन्त्यकर्तव्यो न भवतीति साधनरूपो भगवांस्तत्राविष्ट इति भगवान् । रथमास्थितः, न तु पूर्ववद्गुप्तः । सुहृ-

द्दिक्षुः नन्दादिदर्शनेच्छया । पूर्वभावमापन्नान् । तदर्थपरमोत्कण्ठा युक्तः नन्दगोकुलं प्रययौ । तेषां निरोधस्तत्र कर्तुं शक्य इति तत्र गतः ॥१॥



व्याख्यान— राजा को कुरु श्रेष्ठ संबोधन विश्वास कराने के लिये दिया है, बलभद्र को भगवान् यहां इसलिये कहा है कि निरोध तो भगवान् के सिवाय अन्य नहीं कर सकता है अतः जिस समय बलराम गोकुल पधारने के लिये रथ में बिराजमान हुवे उस समय साधन रूप भगवान् ने बलभद्र में प्रवेश किया, पहले की तरह^१ गुप्त नहीं, किन्तु प्रकट होकर प्रवेश किया जिससे बलभद्र गोपियों से रमण आदि लीला कर सके जिससे उनका निरोध सिद्ध होवे, वहां बलभद्र, नन्द आदि के दर्शन की इच्छा से गये हैं, सात्विक भाव प्राप्त हुवे उनके लिये विशेष उत्कण्ठा से युक्त राम नन्द की गोकुल गये, उनका निरोध वहां करने के लिये शक्य था इसलिये वहां पधारे ॥१॥

आभास— पूर्वं तदासक्तिद्वारा पश्चाद्भगवदासक्तिः सुलभेति प्रथमं लौकिकप्रकारेणैव तदासक्तिमाह परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैरिति ।

आभासार्थ— प्रथम श्री बलभद्र में आसक्ति होवे तो अनन्तर भगवान् में आसक्ति सुलभ हो सकेगी, इसलिये पहले लौकिक प्रकार से ही 'परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठै' श्लोक में उनकी आसक्ति कहते हैं ।

श्लोक—परिष्वक्तश्चिरोत्कण्ठैर्गोपैर्गोपीभिरेव च ।

रामोऽभिवाद्य पितरावाशीभिरमिनन्दितः ॥२॥

श्लोकार्थ— बहुत समय से उत्कण्ठा वाले गोप तथा गोपियों से मिले, अनन्तर माता-पिता को नमन कर उनका आशीर्वाद ग्रहण किया ॥२॥

सुबोधिनी— गोपानां गोपीनां एक एव परिचयलक्षणो भाव इति सह निरूपणम् । गोपीभिरेवेति । द्वयोरपि गोपैरालिङ्गितम्, परं वस्तुतो गोपीभिरेवाल्लिङ्गितः । चकारानन्दयशोदाम्याम् ।

तत्कृत्यमुक्त्वा बलभद्रकृत्यमाह रामोऽभिवाद्य पितराविति । पितृत्वमेव स्थापितमिति नान्यः शब्दो निरूपितः । तौ वैश्यावपि आशीभिरेवाभिनन्दितः ताभ्याम् ॥२॥

व्याख्यान— गोप और गोपियों का एक ही प्रणय रूप भाव था, इसलिये दोनों का साथ में निरूपण किया है, यद्यपि गोपों ने भी आलिङ्गन किया किन्तु वास्तविक आलिङ्गन गोपियों ने ही किया है, 'च' पद से जाना जाता है कि नन्द और यशोदा ने भी आलिङ्गन किया था, उनका कार्य कह कर अब राम का कृत्य कहते हैं कि राम ने नन्द यशोदा को पिता माता समझ ही नमन किया, इस भाव को प्रकट करने के लिये मूल में 'पितरो' पद दिया है दूसरा शब्द नहीं दिया, जो वे वैश्य हैं तो भी उनमें पितृ भाव स्थापित होने से उन्होंने आशीर्वाद दी है ॥२॥

आभास— पूर्वनिरोधस्य गमने उत्तरत्र क्रियमाणो व्यर्थः स्यादिति पूर्वसम्बन्धस्तथैव स्थित इति निरूप्यते चिरं नः पाहि दाशार्हेति ।



आभासार्थ—प्रथम किया हुआ निरोध यदि समाप्त हो जावे तो पश्चात् किया हुआ निरोध भी व्यर्थ हो जाता है अतः पहला किया हुआ सम्बन्ध वैसा ही स्थित रहा यों 'विर नः पाहि' श्लोक में निरूपण किया जाता है ।

श्लोक—चिरं नः पाहि दाशार्हं सानुजो जगदीश्वरः ।

इत्यारोप्याङ्कुमालिङ्ग्य नेत्रं सिषिचतुर्बलम् ॥३॥

श्लोकार्थ—आशीर्वाद के बाद कहने लगे कि हे दाशार्ह ! तुम जगदीश्वर हो, अपने छोटे भ्राता के साथ हमारी बहुत समय तक रक्षा करो, इस प्रकार कह गोदी में बैठकर जब आलिङ्गन किया, तब नेत्र से आंसुओं की धारा बहने लगी, जिससे उनको सींचने लगे ॥३॥

सुबोधिनी—अस्मान् चिरं परिपालय । यत-
स्त्वं दाशार्हः । उभयोरेव पुत्रभाव इति सानुज
इत्युक्तम् । कृष्णसहितः । जगदीश्वर इति । पूर्वा
माहात्म्यज्ञानं वृत्तमनूद्यते । लौकिकोऽपि स्नेहः

पूर्वसिद्ध एव प्रकटीकृत इत्याह इत्यारोप्येति ।
अङ्कुमारोप्य प्रौढमपि बालकमेव मत्वा, आलिङ्ग्य
नेत्रजं सिषिचतुः । बलमिति सर्वाङ्गम्, अन्यथा
शिखा अनुक्ता एव समागच्छेयुः ॥३॥

व्याख्यार्थ—तुम हमारी बहुत समय तक पूर्ण रीति से सर्वथा पालन करो क्योंकि दाशार्ह (विष्णु) हो, छोटे भाई के साथ हमारी रक्षा करो, अनुज पद से जताया है कि दोनों में नन्दजी का पुत्र भाव है, अतः कृष्ण सहित कहा जगत् के ईश्वर हैं, पहले जाना हुआ माहात्म्य ज्ञान कहा है प्रथम सिद्ध हुआ लौकिक स्नेह भी प्रकट किया, जिससे गोद में बिठाया, यद्यपि राम प्रौढ़ अवस्था वाले थे तो भी प्रकट पुत्र स्नेह के कारण उनको बाल हो जान गोद में बिठाया और आलिङ्गन कर आंसुओं से सींचा, 'बल' पद देने का आशय यह है कि आंसुओं से सर्वाङ्ग सींचे है, -अन्यथा नहीं कही हुई भी शिखाएँ सींची समझी जाती ॥३॥

आभास—आवश्यकानां प्रणिधानमुक्त्वा अनावश्यकानामाह गोपवृद्धांश्च विधिवदिति ।

आसाभार्थ—आवश्यकों का अभिवादनदि कह कर अब 'गोपवृद्धांश्च' श्लोक में अनावश्यकों का कहते हैं ।

श्लोक—गोपवृद्धांश्च विधिवद्यविष्टाभिवादितः ।

यथावयो यथासख्यं यथासम्बन्धमात्मनः ॥४॥

श्लोकार्थ—बलरामजी ने विधि के अनुसार बड़ों को अभिवादन किया और अन्यो को आयु, सखाभाव तथा अपने सम्बन्ध के अनुसार यथा योग्य था, वैसे किया ॥४॥

=====

सुबोधिनी—विधिर्गोत्रोच्चारणपूर्वकमभिवाद-
नम् । रामापेक्षया यविष्ठे श्वाभिवादितः । ज्ञातेऽपि
माहात्म्ये लोकिकभावस्थापनं निरोधान्तरङ्गम् ।
यथावयो यथासह्यं यथासम्बन्धमिति कालान्तः-

करणादेहधर्माणामनतिक्रम उक्तः । आत्मान
इति । यद्यपि ते सर्व एव माहात्म्यज्ञानाद्भगव-
द्भावमेव मन्यन्ते, तथापि स्वयं यथा तान्मन्यते,
तथा कृतवानित्यर्थः ॥४॥

व्याख्यानार्थ - मूल श्लोक में 'विधि' शब्द कहने का भाव यह है कि जैसे शास्त्र में गोत्र के उच्चारण के साथ अभिवादन करना कहा है वैसे ही बड़ों को अभिवादन किया, छोटीयों ने रामको प्रणाम किया. माहात्म्य जानते हुए भी लौकिक भाव का स्थापन करना निरोध का अन्तरङ्ग कार्य है, जैसी आयु, जैसा सखाभाव तथा जैसा अपना सम्बन्ध तदनुसार अभिवादनादि किया जिससे बताया कि काल अन्तःकरण, और देह धर्मों का अतिक्रम नहीं किया, यद्यपि वे सर्व ही माहात्म्य के ज्ञान से उनके भगवद्भाव को मानते हैं, तो भी आप जैसा उदको मानते हैं वैसे किया ॥४॥

श्लोक—समुपेत्याथ गोपालान्हास्यहस्तग्रहादिभिः ।

विश्रान्तं सुखमासीनं वप्रच्छु पर्युपागताः ॥५॥

श्लोकार्थ—श्री राम ने हास्य और हस्त मिलाने आदि द्वारा गोपों से मिलकर विश्राम किया पश्चात् जब सुख से बैठे, तब वे श्री राम के चारों तरफ बैठकर पूछने लगे ॥५॥

मुबोधिनी समुपेत्य सम्यक् मिलित्वा अभि-
वादित इति पूर्वेण सम्बन्धः । अथ गोपालान्
हास्यहस्तग्रहादिभिः यथायोग्यमभिवादितवानिति
अर्थं वशाद्विपर्ययेण योजनीयम् । होनेषु हस्तग्रहः
समेषु हास्यम्ः उत्तमेष्वभिवादनमिति । एवं

कार्यक्रममुपसहरन् वाचनिकमाह विश्वातं सुखमा-
सीनं पप्रच्छुरिति । ज्येष्ठा अपि सन्तीति आसीन-
मित्युक्तम् । परितः सर्वतः उपागताः, न तु कश्चि-
दपि तत्रोपेक्षां कृतवानित्यर्थः ॥५॥

व्याख्यान—वृद्ध गोपों से मिल कर उनका अभिवादन करने के अनन्तर अन्य गोपालों से हास्य और हस्त मिलाप करते हुए यथा योग्य अभिवादानादि किया, जैसे कि छोटों से हस्त ग्राह समानों से हास्य और उत्तमों से अभिवादन किया, इस प्रकार कायिका कर्तव्य पूर्ण कर वाचनिक कहते हैं, विश्राम पाये हुए तथा सुख पूर्वक विराजमान से पृच्छने लगे, बड़े भी है इसलिये 'आसीन' कहा है सब आकर चारों तरफ बैठ गये, किसी ने भी उपेक्षा नहीं की है ॥५॥

आभास—प्रथमं लौकिकमाह पृष्ठाथानामयं तेष्विति ।

आभासार्थ—‘पृष्ठाथानामयं’ श्लोक में पहले लौकिक कहते हैं ।

श्लोक—पृष्ठायातामयं तेषु प्रेमगद्गदया गिरा ।

कृष्णो कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराधसः ॥६॥



श्लोकार्थ—जिन गोपों ने श्री कृष्ण के लिए सर्व विषयों का त्याग कर दिया है, वे गोप प्रेमपूर्वक गद्गद वाणी से पूछने लगे ॥६॥

सुबोधिनी—पर्युपागताः प्रथमतः अनामयं पृष्ठा, अथ भिन्नप्रक्रमेण, प्रेमगद्गदया गिरा पप्रच्छुरिति संबन्धः । अयं विशेषो यद्यपि सर्वेषाम्, तथापि विशेषमाह । तेषु ये कृष्णे कमलपत्राक्षे संन्यस्ताखिलराघसः । सर्वा एव सिद्धयो लौकिका वैदिकाश्च भगवत्येव स्थापिताः । तत्र हेतुः कमलपत्राक्ष इति । दृश्यैव सर्वतापनाशं मोहं च सम्पादयतीति ॥६॥

व्याख्यानार्थ—पहले अनामय पूछने चारों तरफ बैठ गये, 'अथ' पृथक् प्रक्रम से प्रेम पूर्वक गद्गद वाणी से पूछने लगे, यों सम्बन्ध है, यद्यपि यह विशेष सब के लिये है—तो भी विशेष कहते हैं कि उनमें जिन्होंने ने कमल पत्र सरीखे नेत्र वाले कृष्ण के लिये सर्व विषयों को छोड़ दिया है, अर्थात् लौकिक और वैदिक सब सिद्धियां भगवान् में स्थापित की हैं कारण कि कमल पत्र के समान नेत्र वाले हैं जिस दृष्टि से ही सर्व ताप को नाश करते हैं और मोह उत्पन्न करते हैं ॥६॥

आभास—नन्दादीनां वाक्यान्त्याह कच्चिन्नो बान्धवा रामेति ।

आभासार्थ—'कच्चिन्नो बान्धवा राम' इस श्लोक से नन्दादिके वाक्यों को कहते हैं ।

श्लोक—कच्चिन्नो बान्धवा राम सर्वे कुशलमासते ।

कच्चित्स्मरथ नो राम यूयं दारसुतान्विता ॥७॥

श्लोकार्थ—हे राम ! हमारे सब बान्धव कुशल तो हैं ? तुम सब कभी हमको याद करते हो ? क्योंकि तुम सब स्त्री तथा पुत्र वाले हो ॥७॥

सुबोधिनी—सर्वे वसुदेवादयः कुशलमासत इति प्रसङ्गात् लौकिकमेतदुक्तम् । स्नेह च पृच्छन्ति कच्चित्स्मरथेति । नोऽस्मान् । रामेति स्नेहेन सम्बोधनम् । यूयं सर्व एव दारसुतान्विता इति विस्मरणे हेतुः । अतः प्रश्नः सोपालम्भ इव । ॥७॥

व्याख्यानार्थ—सर्व वसुदेव आदि प्रसन्न तो हैं ? इस प्रकार, यह लौकिक रीति से प्रश्न किया, अब उनका हम में स्नेह है या नहीं ? इसलिये पूछते हैं कि हमको वे याद करते हैं कि नहीं, क्योंकि आप सब स्त्री पुत्र वाले हैं, इसलिये भूल जाने का अदेशा रहता है, हे राम यह स्नेह सूचक संबोधन है, अतः प्रश्न उपालम्भ (उलाहने) के समान है ॥७॥

आभास—तेषां जातमभ्युदयादिकं स्वस्यात्यन्तमिष्टमिति ज्ञापयन्तोऽनुवदन्ति दिष्ट्या कंसो हतः पाप इति ।

आभासार्थ—उनका अभ्युदय अपने को अत्यन्त प्रिय हैं, यों जनाते हुए फिर कहते हैं कि प्रसन्नता है कि 'दिष्ट्या कंसो हतः पाप' इस श्लोक से पापी कंस मरा आदि प्रसन्नता के कार्य हुए ।



श्लोक—दिष्ट्या कंसो हतः पापो दिष्ट्या मुक्ताः सुहृज्जनाः ।

निहत्य निजित्य रिपून्दिष्ट्या दुर्गं समाश्रिताः ॥८॥

श्लोकार्थ—यह बहुत अच्छा हुआ जो पापी कंस मर गया, यह प्रसन्नता है कि सुहृद लोग बन्धन से छूटे तथा शत्रुओं को मार जय प्राप्त की, दुर्ग का आश्रय ले लिया यह भी हर्ष का विषय है ॥८॥

सुबोधिनी—भागेनगौ सुहृज्जनाः कंसात् स्वरूपगुणयोस्तस्यासामीचीन्यं प्रतिपादयन्तः तस्य वधो न दोषायेत्यपि सूचयन्तो जरासन्धकृतोपद्रव-निवृत्तिमाहुः निहत्य निजित्य रिपूनि । निहत्य कालयवनम्, बलं च निजित्य बहुधा जरासन्धा-

दीन् । दुर्गाश्रये जयस्याहेतुत्वात् जयसन्देह एव दुर्गाश्रय इति क्त्वाप्रत्ययेन पूर्वकाल एवोच्यते । एतत्सूचयति दिष्ट्येति । द्वारकासम्यगाश्रयणं सम्बन्धिभिः सह स्थितिः ॥८॥

व्याख्यानार्थ—निश्चय भाग्य के कारण ही सुहृज्जन कंस से मुक्त हुवे, कंस इसलिये मरा है जो उसके स्वरूप तथा गुण अच्छे नहीं थे, इसकी भी सूचना करते हुए जरासन्ध के लिये उपद्रवों की निवृत्ति कहते हैं कि शत्रुओं को मार तथा जीत कर पश्चात् दुर्ग का आश्रय किया, यह भी अच्छा हुआ, अतः हर्ष है, कालयवन को मार और बहुत बार जरासन्ध आदि को जीत एवं बल को जीता, दुर्ग का आश्रय जय का हेतु नहीं, किन्तु दुर्ग के आश्रय का कारण जय में सन्देह है यह 'क्त्वा' प्रत्यय से पूर्व काल ही कारण कहा है, 'दिष्ट्या' कहने से यह बताया है कि द्वारका में लच्छी तरह आश्रय का तात्पर्य है कि वहां सम्बन्धियों के साथ आनन्द से रहना ॥८॥

आभास—एवं सर्वेषां प्रश्नमुक्त्वा गोपीनां विशेषमाह गोप्यो हसन्त्य इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सर्व के प्रश्न कह कर 'गोप्यो हसन्त्यः' श्लोक में गोपियों का विशेष कहते हैं ।

श्लोक—गोप्यो हसन्त्यः पप्रच्छुः रामसन्दर्शनादृताः ।

श्लोकार्थ—श्री राम के दर्शन से आदरयुक्त होने के कारण हँसती हुई गोपियाँ पूछने लगीं ॥८३॥

सुबोधिनी—राजसप्रकरणे ताः शोकरहिताः कृता इति भगवत्स्मरणेऽपि तासां हर्ष एव जात इति हासयुक्ताः । ननु पूर्णानां पुनः किं प्रश्नेन-त्याशङ्क्याह रामसंदर्शनादृता इति । रामस्य

सम्यक् दर्शनेन स्नेहकृपापूर्वकेण आदृताः आदर-युक्ताः, ततो याः यथाभूताः तथानुवृत्तिः कर्तव्येति, अप्रश्ने ओदासीन्यं च भवतीति पप्रच्छुः ॥८३॥



व्याख्यार्थ— राजस प्रकरण में गोपियों का शोक नाश कर दिया, इसलिये भगवत्स्मरण होने पर भी उनको हर्ष ही उत्पन्न हुआ, इसलिये हँसती थीं, जो पूर्ण हो गई है उनको प्रश्न की क्या आवश्यकता थी ? इस शङ्का के मिटाने के लिये कहा है कि श्रीराम के स्नेह और कृपा पूर्वक दर्शन से आदरवाली होने से प्रश्न करने लगी, जो जैसी हो जाती हैं उनको उसी प्रकार करना चाहिये, यदि यो न करे अर्थात् प्रश्न न करे तो उदासीनता की प्रतीति होवे अतः पूछने लगी कि ॥८६॥

आभास—प्रश्नमाह कच्चिदास्त इति सार्धः पञ्चभिः ।

आभासार्थ—‘कच्चि दास्ते’ इससे ले साढ़े पांच श्लोकों से प्रश्न कहते हैं ।

श्लोक—कच्चिदास्ते सुखं कृष्णः पुरस्त्रीजनवल्लभः ॥८६॥

श्लोकार्थ—जिनको पुर की स्त्रियाँ वल्लभ हैं, वैसे कृष्ण आनन्द में विराजे हैं ? ॥८६॥

सुबोधिनी—अर्ध भावो न्यून इति । पूर्व बहु-विधा निरूपिता अपि । प्रकृते तस्याः कथायाः अनुपयोगात् पुराणान्तरस्थां तामाश्रित्य नन्द-गोपकुमारिकाः भगवता द्वारकायां नीता एव । याः पुनरन्यपूर्वाः, ता अपि विमर्शं क्रियमाणे तासामेव वाक्यानुसारेण उपालम्भवाक्यैः अग्रे च भगवद्वाक्यैः भिन्नाः एवेति प्रतिभाति । साधारण्य एव वा अत्र निरूप्यन्ते । सन्ति च ताः शङ्ख-चूडवधे निरूपिताः । अत एव सान्त्वनमासां पृथक् क्रियते । शब्दबलविवेके त्वाश्रीयमाणे अन्यपूर्वाः सर्वा एकरूपा एवेति प्रतिभाति । बल-भद्रोपि भगवानेवेति साम्प्रतं भगवच्छक्तिरत्र प्रविष्टेति । अतः पूर्वभावेन सान्त्वनम्, भगवद्भावेन रमणमित्युभयं न विरुध्यते । अत एव सान्त्वनेनात्र विशेष उक्तः । स हि स्वात्मानं भगवद्रूपं प्रदर्श्य तासां लौकिकभावेऽपि पञ्चात्कामनां पूरितवान्, उक्ततया अहमेकरूपेण समागतः, अत

एव ‘आयास्य’ इत्यपि वचनं यथाश्रुतम् । कृष्णः साक्षादविलष्टकर्म त आत्मानमेव रमयतीति यथाकथञ्चित्त्परतामेव सम्पादयतीति न बहिर्धर्मान् कामं च गणयति । भक्तिमार्गविरोधस्तु निरोधे नाशङ्कनीयः । लौकिकसहितभक्तिमार्ग एव विरोधश्च । अतो गोपिकानां भेदे अभेदे वा विशेषो नास्तीति न पृथङ्निरूपणम् । तथापि भेदेनैव व्याख्येयमिति सम्प्रदायः । लौकिकदृष्ट्या पृच्छन्ति । रामेण लौकिकन्यायेन आहता इति । कृष्णः स्त्रीणां हितकारो । तासां सुखदुःखैः तथा भवतीति वयं विलष्टा इति, अन्याश्च सुखिता इति, समानदेशस्थानामेव आनन्ददातृत्वे सुखित्वम्, साधारण्ये त्व(धं)सुखित्वमिति प्रायेणानु-क्तेऽप्यङ्गीकृते वा आहुः । सत्यं सुखी, यतः पुर-स्त्रीजनवल्लभ इति । अस्मद्वल्लभत्वे कदाचिदन्यथापि स्यादिति भावः ॥८६॥

व्याख्यार्थ— भगवान् षड गुण पूर्ण हैं तब श्लोक संख्या छ कहनी चाहिये वह न कह कर साढ़े पांच क्यों कहे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि ‘अर्ध भावो न्यूनः’ वक्ता में भाव आवरण सहित होने से आधे की कमी है प्रश्न वर्ता के भावानुसार श्लोक संख्या कहनी चाहिये ? जिसके उत्तर में कहा है कि तामसादि प्रकार से अनेक प्रकार से उन भावों के अनुसार ही श्लोक संख्या निरूपण की है अब



प्रकृत विषय में उन बहु विध कथाओं का उपयोग नहीं है क्योंकि अब आन्तर रमण करना ही स्थिर किया है, जो रमण एक ही सबका एक ही प्रकार का है अतः पुराणान्तर में कही हुई कथा को लेकर नन्द^१ गोप की कुमारिकाएं भगवान् द्वारका में लाए हैं, जो फिर 'अन्यपूर्वा' हैं वे भी विचार करने पर उनके ही वाक्यों के अनुसार उपात्म के वाक्यों से और आगे भगवद्वाक्यों से पृथक् ही है यों भासता है, अथवा यहां साधारण गोपियों का ही निरूपण है, उनका शङ्खचूड के वध में निरूपण है इस कारण से ही इनका सान्त्वन पृथक् किया जाता है, उन श्रुति रूपा और वेदात्मक बलदेव, दोनों के बल का विचार वा आश्रय करने पर अन्य पूर्वा सब^२ एक ही है यों भासता है, यदि वे ऐसी हैं तो उनके साथ बलराम ने रमण कैसे किया ? जिस शङ्खा के उत्तर में आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि बलभद्र इस समय भगवान् भी है क्योंकि अब भगवान् की शक्ति इनमें प्रविष्ट हुई है, अतः बलभद्र भाव से सान्त्वन किया है और भगद्भाव से रमण किया है, इसलिये दोनों में विरोध नहीं है अतएव सान्त्वन से यहां विशेष कहा है, बलभद्र ने अपने को भगवद्रूप दिखा कर उनका लौकिक भाव होते हुए भी पश्चात् उनकी कामना पूर्ण की है, एवं भगवान् के कहने से भगवान् के साथ एक रूप से यहां आया है, इसलिये ही भगवान् ने 'आयास्ये' आऊंगा कहा है, अक्लिष्ट कर्मा भगवान् कृष्ण हैं वैसे श्रीकृष्ण साक्षात् अपनी बलराम से आविष्ट आत्मा को ही रमण कराते हैं, अर्थात् इस प्रकृत लीला में जो रमण हुआ है वह आवेश स्वरूप से हुआ है न कि बलरूप से हुआ है, भगवान् कृष्ण अक्लिष्ट कर्मा होने से देह से रमण नहीं करते हैं क्योंकि देह के रमण में क्लेश होता है, बाहर के धर्मों^३ को और काम को ध्यान में भी नहीं लाते है, निरोध में भक्ति मार्गीय विरोध की शङ्का नहीं करनी चाहिये, लौकिक सहित भक्ति मार्ग में विरोध है निरोध रूप भक्ति में विरोध नहीं है, अतः गोपिकाओं में भेद वा अभेद में विशेष नहीं है। इसलिये पृथक् निरूपण नहीं किया है, तो भी भेद से ही व्याख्या करनी चाहिये, यह सम्प्रदाय है प्रश्न करने वाली गोपियां लौकिक दृष्टि से पूछती हैं, रामने लौकिक न्याय से ऊनका आदर सान्त्वन किया, श्रीकृष्ण स्त्रियों के हितकारी है, उनके सुख दुःख से वैसे होते हैं इसलिये कहा है, कि हम दुःखी है, अन्य^४ सुखी है, समान देश में स्थितों को ही आनन्द देने में सुखोपन है, साधारण में आघा सुखोपन है, अथवा प्रायः अङ्गीकृत न कहने पर भी कहती हैं कि यह सत्य है कि श्रीकृष्ण सुखी है क्योंकि पुर के स्त्री जनों का अब प्यारा हुआ है, हमारे बलभ^५ होने पर कदाचित् दुःखी भी हो जाय, यह भाव है ॥६॥

आभास—कदाचिदस्मत्स्मरणेनाप्यन्यथा भवतीति सम्भावनया आहुः कञ्चित्स्मरति वा बन्धुनिति ।

आभासार्थ—कदाचित् स्मृति (याद) आजाने से दुःखी होने की भी सम्भावना हो सकती है, यह कञ्चित्स्मरति' श्लोक में कहा है ।

१—'नन्द गोप सुतं देवी पति मे कुरु' इस प्रार्थना के अनुसार इनका रमण आवेश से नहीं हो सकता है जिससे आचार्य श्री ने 'भिन्न एव' सुबोधिनी में कहा है

२—दास में स्थित और शङ्खचूड के प्रसङ्ग में स्थित सब

३—देह स्थानीय बलरामजी के धर्मों को ४-पुरस्त्रियां वा एवं श्रीकृष्ण ५-प्यारे



श्लोक—कच्चित्स्मरति वा बन्धुन्पितरं मातरं च सः ।

अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवां महाभुजः ॥१०॥

श्लोकार्थ—वह महाभुज श्रीकृष्ण बान्धवों, पिता और माता को कभी याद करते हैं वा नहीं ? अथवा हमारों की हुई इच्छानुसार सेवा को याद करते हैं ? ॥१०॥

सुबोधिनी बन्धून् गोपान् गोपीश्र । आव-
श्यकस्मरणं पृच्छन्ति पितरं मातरं चेति । यद्यपि
त्वं स्मरसि, तथापि स कृष्णः स्मरति, न वेति
सन्देहः । एवं प्रसङ्गमुक्त्वा स्वस्मरणं सम्भावयन्ति
अपि वा स्मरतेऽस्माकमनुसेवामिति । अपेक्षिता

सेवा, इच्छानुसारिणी अनुसेवा भवति । महाभुज
इति क्रियाशक्तिः सर्वपेक्षया महती निरूपिता ।
अनेन नयने आगमने वा न तस्य
काचिच्छङ्का ॥१०॥

व्याख्यान—बान्धव, गोप और गोपियां इनका स्मरण करना पूछ के पश्चात् माता पिता का स्मरण आवश्यक पूछना है इसलिये उसको भी पूछती है। यद्यपि आप याद करते हैं तो भी वह कृष्ण स्मरण करते हैं वा नहीं इसमें सन्देह है इस प्रकार प्रासङ्गिक कह कर अपने स्मरण की सम्भावना करती हुई पूछती है, हमारी इच्छानुसूल सेवा को याद करते हैं कि नहीं ? जो अपेक्षित (आवश्यक) समझकर की जावे उसको सेवा कहते हैं, और जो सेवा की इच्छानुसार अथवा आज्ञानुसार की जावे वह अनुसेवा है महाभुजः इस सम्बोधन से सर्वपेक्षा से महती क्रिया शक्ति रूप अनु-सेवा है, वह सेवा सेव्य की इच्छानुसूल ही की जाती है अतः उनको ले जाने में अथवा आने में किसी प्रकार की कोई शङ्का नहीं है ॥१०॥

आभास—यद्यपि भगवत्यसूया त्यक्ता, तथापि कालविलम्बात् भवत्येव बुद्धिरन्य-
थेति पुनस्तासां दोषनिराकरणार्थं निरूपयति मातरं पितरमिति ।

आभासार्थ—यद्यपि भगवान् में असूया करनी छोड़ दी तो भी बहुत काल होने पर अन्यथा बुद्धि हो ही जाती, इसलिये उनके दोषों का फिर निराकरण करने के लिये—‘मातर पितरं’ श्लोक में निरूपण करते हैं ।

श्लोक—मातरं पितरं भ्रातृऋज्जातीन्पुत्रान्स्वस्त्ररपि ।

यदर्थं जहिम दाशार्हं दुस्त्यजान्स्वजनान्प्रभो ॥११॥

श्लोकार्थ—हे दाशार्ह ! हे प्रभु ! जिस आपके वास्ते हमने दुस्त्यज माता, पिता, भ्राता, बान्धव, पुत्र, बहन और स्वजन; इन सब का त्याग किया है, जो कठिनाई से छोड़े जा सकते हैं ॥११॥

सुबोधिनी—पञ्चावश्यकः । स्त्रीणां मुख्या
माता । भर्तार परित्यज्येति वक्तव्ये जातीनिति
साधारण्येनैव तन्निराकरणमपि कृतम् । भर्तृत्व-

स्य भगवत्येव स्थापितत्वात् । ‘पतीन् पुत्रा’निति
पाठे न कोऽपि सन्देहः । आद्यन्तयोः स्त्रीग्रहणं
तासां तदनुरोधो महानिति । सर्वेनिराक्रियमाणः



तदनुरोधं परित्यज्य भगवानेव गृहीत इति यदर्थं
जहिमेत्युक्तम् । दाशार्हं तसम्बोधनात् पश्चात्तापेन
कथनं वारयति । त्यागो महानिति वक्तुं तान्
विशेषयन्ति दुस्त्यजान् स्वजनानिति । अन्तःकर-

णदेहसम्बन्धो दृढो निरूपितौ । प्रभो इति सम्बो-
धनं सामर्थ्यस्य विद्यमानत्वात् परित्यागे उपा-
लम्भो युक्त इति बोधितम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—गृहस्थ में पांच वस्तु आवश्यक है उनका छोड़ना कठिन है, उनमें पहली वस्तु माता है स्त्रियों में मुख्य होने से माता की प्रथम गिनती की है, पिता भ्राता के पश्चात् पति न कह कर जातीन् कहा यह साधारणता से उनका भी निराकरण किया है पति शब्द न देने का यह भी आशय है कि पतित्व भगवान् में ही स्थापित किया है अतः उस पद के देने की आवश्यकता नहीं थी, यदि 'पति पुत्रात्' यों पाठ हो तो उसमें कोई भी सन्देह नहीं है, आदि और अन्त में स्त्री शब्द लेने का भाव यह है, कि वे पूछने वाली स्त्रियां थीं अतः उनका इस विषय में महान् अनुरोध है, सब से निराकरण की हुई उनने उनका अनुरोध त्याग कर भगवान् को ही ग्रहण किया है, इसलिये कहा है कि जिसके लिये सब छोड़े, दाशार्ह सम्बोधन से बताया है कि यह हमारा कथन पश्चात्ताप युक्त नहीं है, यह हमारा त्याग बड़ा है यह कहने के लिये, उनके दुस्त्यज और स्वजन विशेषण दिये हैं यों कहने से यह दिखाया है कि अन्तःकरण और देह का सम्बन्ध दृढ है, प्रभो ? यह सम्बोधन, सामर्थ्य को प्रकट करता है, सामर्थ्य के कारण परित्याग में उपालम्भ देना उचित है यह समझाया है ॥११॥

आभास—यदर्थमेतन्निरूपणं तमुपालम्भमाहुः ता नः सद्यः परित्यज्येति ।

आभासार्थ—जिस उपालम्भ के लिये वह निरूपण है उस उपालम्भ को 'तां नः सद्यः' श्लोक में कहती है ।

श्लोक—ता नः सद्यः परित्यज्य गतः संच्छिन्नसौहृदः ।

कथं नु तादृशं स्त्रीभिर्न श्रद्धीयेत भाषितम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—वैसी जो हम हैं, उनको छोड़ तुरन्त चले गए और स्नेह भी तोड़ डाला, किन्तु उनके वैसे मनोहर भाषण पर कौन सी ऐसी स्त्री है, जो विश्वास न करेगी ॥१२॥

सुबोधिनी—अन्तःकरणोऽपि परित्यागार्थमाहुः
संच्छिन्नसौहृद इति । सम्यक् छेदः मरणसमान-
बाधानामप्युपेक्षणात् । ननु ज्ञायत एव वसुदेव-
पुत्रो यथाकथञ्चिदत्रागत्य स्थितः, तत् किमिति
सर्वपरित्यागेन सेवित इति चेत्, तत्राह कथं नु

तादृशं स्त्रीभिरिति । युक्त्या यद्यपि त्यक्ष्यतीति
निश्चितम्, तथापि हृदयाद्यालम्भनेन यथा विश्वास
उत्पद्यते, तथा भाषितं कथं न श्रद्धीयेत । स्त्रियो
हि शुद्धभावा न कापञ्च्यं जानन्तीति स्वश्लाघा ।
अतो वाक्यविश्वासादेवं कृतमिति नास्माकं दोषः ।



‘सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज’ कौन्तेय | स्ति, यो विश्वासं न कुर्यादित्यसम्भावनापि
प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यतीत्यादिवाक्यानि सूचिता ॥१२॥
च शास्त्रदृष्ट्या । नु इति वितर्कः । कश्चिदेवमप्य-

व्याख्यार्थ—उनका परित्याग केवल बाहर से नहीं है किन्तु अन्तःकरण से है इसलिये तो सोहृद प्रेम भी तोड़ डाला है स्नेह तोड़ने से जो पीड़ा होती है वह मृत्यु से भी विशेष होती है, यह भी हम जाननी है कि वसुदेव का पुत्र जैसे कैसे भी यहाँ आकर स्थित हुवे हैं, क्या ? यों सर्व का परित्याग कर सेवा किया गया हुवा वह है ? यदि यों हैं, जो इस पर कहती हैं कि यद्यपि युक्ति से त्याग करेंगे, यह निश्चय है तो भी हृदय आदि को विश्वास देने वाले वाक्यों पर कैसे विश्वास किया जावे ? स्त्रियों का हृदय शुद्ध भाववाला होता है अतः वे कापट्य नहीं जानती हैं, इन वचनों से अपनी बड़ाई की है, इसलिये हमने जो कुछ किया है वह वाक्यों पर विश्वास रख कर किया है इसमें हमारा कोई दोष नहीं है, अन्य वचन जो शास्त्र दृष्टि से कहे हैं उन पर भी विश्वास किया जैसे कि ‘सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज’ कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति’ ‘नु’ पद वितर्क में दिया है, कोई वैसा भी है जो विश्वास न करे, यों असम्भावना भी दिखाई है ॥१२॥

आभास—एवं मात्सर्येण भगवति दोषं सम्भाव्य, साम्प्रतं पुरस्त्रीणां सम्बन्धं करोतीति स्मृत्वा, सुतरामीष्या जाता, ततस्तस्य तद्वैषयिकसुखं मा भवत्विति विचारयन्त्यः पुरस्त्रियोऽपि चेन्नवृत्ता भवेयुः, तदा भवेदिति ता निवर्तयितुं उपालभन्ते कथं नु गृह्णन्तीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार मात्सर्य से भगवान् में दोष की सम्भावना कर, अब नगर के स्त्रियों से सम्बन्ध होने का स्मरण करने से सुतरां ईर्ष्या उत्पन्न हुई, तब विचार करने लगी कि नगर की स्त्रियों का भी सुख इनको न मिले, वह तब होगा, जब वे भी निवृत्त कर दी जायगी, इसलिये उनको निवृत्त कराने को ‘कथं नु गृह्णन्ति’ श्लोक में उलाहना देती हैं ।

श्लोक—कथं नु गृह्णन्त्यनवस्थितात्मनो वचः कृतघ्नस्य बुधाः पुरस्त्रियः ।

गृह्णन्ति वै चित्रकथस्य सुन्दरस्मितावलोकोच्छ्वसितस्मरातुराः ॥१३॥

श्लोकार्थ—ये समझदार सयानी पुर की स्त्रियाँ, जिनके जीव एक विषय में स्थिर नहीं हैं और जो कृतघ्नी हैं, उनके वचनों पर कैसे विश्वास करती हैं, यह हमको विस्मय होता है, कदाचित् विचित्र बातें बनानेवाले श्रीकृष्ण के हास्यपूर्वक सुन्दर कटाक्ष चलाने से बड़े हुए कामदेव से आतुर होकर विश्वास करती होंगी ॥१३॥

सुबोधिनी—ननु सुखकराणि वाक्यानि सुखं | तत्राह अनवस्थितात्मन इति । न अवस्थिताः
च प्रयच्छन्ति, तत्कथं न विश्वसनीय इति चेत्, | एकत्र प्रतिष्ठिताः वेदे लोके वा आत्मानो जीवा



यस्य । न हि भगवत्सेवकाः क्वचित्प्रतिष्ठिता भवन्ति । तस्य हि वचनेन तत्सेवकत्वे स्वस्यापि (तथा) भविष्यतीति । अतो भगवदीयानां भगवद्व्यतिरिक्ते प्रतिष्ठितत्वाभावात् ऐहिकाभिलाषिण्यः । नु निश्चयेन कथं गृह्णन्ति । ननु प्रतिष्ठिते साधने कृते कथं प्रतिष्ठां न लभन्ते, 'अस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति, अमुष्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति, प्रतितिष्ठन्ति वा, य एता रात्रीरुपयन्ती'त्यादिवाक्यैः कृते कर्मणि कथं प्रतिष्ठां न लभन्त इति चेत्, तत्राह कृतघ्नस्येति । स हि कृतमपि हन्ति । अत एवोक्तं 'लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति । पुष्टिमागंस्थितो यस्मात् साक्षिणो भवताखिला' इति । नन्वेतन्न जानन्तीति चेत्,

तत्राह बुधा इति । बुधत्वे हेतुः पुरस्त्रियः इति । 'पुरवासिनो विचक्षणा भवन्तीति । तत्र स्वयमेव वचनग्रहणाग्रहणयोर्दुःखतारतम्यं विचार्य, अग्रहणे महदेव दुःखमिति ग्रहणोपपत्तिमाहुः गृह्णन्तीति । वं निश्चयेन नात्र पूर्वपक्षोऽपि । तत्र हेतुत्रयमाहुः । चित्रकथस्य कथावैचित्र्यात् वाचा वशीकृता गृह्णन्ति । सुन्दरस्मितावल्लोकाभ्यां च मनःकायाभ्यां व्यामोहिताः गृह्णन्ति । त्रयाणां कार्यं जातमित्याहुः । स्मितावल्लोकाभ्यामुच्छ्रितो यः स्मरः मर्यादागुल्लङ्घ्य उद्गतो जातः, तेन आतुराः । यथा ज्वरातुरो वैद्यवाक्यं शृणोति । वाक्यात् कटुतिक्तादिकमपि भक्षयति, तद्वदित्यर्थः ॥१३॥

व्याख्यानार्थ— निश्चय है सुखकर वचन सुख ही देते हैं, वैसे वचनों पर कैसे विश्वास न किया जावे, यदि यों कहो तो इस पर कहते हैं कि जिसके जीव, लोक वा वेद में एकत्र प्रतिष्ठित नहीं है, क्योंकि भगवान् के सेवक कही भी प्रतिष्ठित नहीं है, उनके ही वचन से उनके सेवकत्व के कारण अपना भी इस प्रकार होगा, अतः जो भगवदीय है उनका भगवान् के सिवाय दूसरे में प्रतिष्ठितपन के अभाव से ऐहिक अभिलाषावाली हैं, वितर्क कर कहती है कि निश्चय से कैसे ग्रहण करेंगी ? साधन तो प्रतिष्ठित किया है फिर प्रतिष्ठा को कैसे न प्राप्त करेंगी, जैसा कहा है 'अस्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति' 'अमुष्मिन्नेव लोके प्रतितिष्ठति, प्रतितिष्ठन्ति वा, य एता रात्री रुपयन्तीत्यादिवाक्यैः' इत्यादि वाक्यानुसार कर्म करने पर भी प्रतिष्ठा को क्यों नहीं प्राप्त होती है, यदि यों कहा जावे तो कहती है कि 'कृतघ्नस्य' वह कैसे है कि किये हुए उपकार को भूल जाते हैं, इसलिये ही कहा है कि 'लोके स्वास्थ्यं तथा वेदे हरिस्तु न करिष्यति पुष्टि मार्गं स्थितो यस्मात् साक्षिणो भविताखिलः' यदि कहो कि इस तत्व को ये नहीं जानती हैं तो उत्तर में कहती हैं कि यों नहीं हैं, ये स्त्रियां नगर में रहने वाली होने से सयानी हैं, इसलिये इनके वचन ग्रहण करने चाहिये वा नहीं ? ग्रहण करने में और न ग्रहण करने में दुःख का तारतम्य विचार कर निश्चय करती हैं कि जो इनके वचन ग्रहण नहीं किये जावेगे तो महान् दुःख की प्राप्ति होगी अतः निश्चय से ग्रहण करने चाहिये, इसमें किसी प्रकार पूर्व पक्ष नहीं है, जिसमें तीन हेतु देती हैं (१) कथा की विचित्रता के कारण वाणी से वश हो गई जिससे उनके वचन ग्रहण किये, (२) सुन्दरस्मित तथा (३) अवलोकन से, और मन तथा काया से मोहित हो गई, जिससे भी उनके वचन ग्रहण किये, इस प्रकार तीन हेतुओं का कार्य हुआ, वह कहती हैं कि स्मित और अवलोकन से मर्यादा का उल्लङ्घन कर जो स्मर प्रकट हुआ उससे नगर की स्त्रियां आतुर बन गई, जैसे ज्वर से पीड़ित वैद्य के वचन मानकर कटु तिक्त औषध खाता है वैसे इनने भी मान लिये ॥१३॥

ग्रामास—एव काश्चित्स्वयं दुःखमनुभूय अजानवजादोषनिवर्तके दोषं सम्भावयन्ति, तासां निषेधार्थमन्या आहुः किं नस्तत्कथया गोप्य इति ।



व्याख्यानार्थ — इस प्रकार कितनी ही स्वयं दुःख का अनुभव कर, अज्ञान के कारण दुःख की निवृत्ति करनेवाले में दोष की सम्भावना करती हैं कि इन्होंने हमको दुःख दिया है, उनकी इस असम्भावना दोष के निषेधार्थ दूसरी कि नस्तत्कथया' श्लोक में कहती हैं ।

श्लोक— किं नस्तत्कथया गोप्यः कथाः कथयतापराः ।

यात्यस्माभिर्विना कालो यदि तस्य तथैव नः ॥१४॥

श्लोकार्थ — हे गोपियाँ ! अपने को उनकी कथाओं से क्या प्रयोजन है ? दूसरी कथाएँ कहो, अपने बिना यदि उनका समय व्यतीत होता है तो उनके बिना अपना काल भी वैसे ही व्यर्थ जाता है ॥१४॥

सुबोधिनी हे गोपस्य त्रियः, पामर्यः, तत्कथया नः किम् । भक्तिनिरोधमुक्तीनां दोषोत्पत्तौ प्रयोजकत्वाभावात् सुतरां दोषजनकत्वाच्च तत्कथया नः कोऽपि तोषकारः । भक्तिमार्गे प्रतिबन्धान् दूरीकृत्य स्नेहेन भगवद्भजनं कृतं स्यात् । निरोधे तु क्षणमात्रमपि भगवददर्शने देहेन्द्रियादिकमपि त्यक्तं स्यात् । मुक्तौ वैषम्यग्रहणं न स्यात् । अतो दोषाणामनिवृत्तत्वात् गुणानां चाभावात् तत्कथया नः किम् । ननु कथापि श्रोतव्या, वक्तव्या वा, कथारसावेशादिति चेत्, तत्राहुः कथाः कथयतापरा इति । यासु न दोषोत्पत्तिः । ननु कथमेवमोदासीन्यं कर्तुं शक्यम्, तत्राह यात्यस्माभिर्विना काल इति । पारमाथिकप्रयोजनाभावात् लौकिकप्रयोजनार्थं भगवानपेक्ष्यः । तत्रोभयोः विषयता भोक्तृत्वं च । एवं सति अस्माभिर्विना यदि तस्य कालो गच्छति, तदास्माकमपि तं विना

गच्छत्येव । नहि वयं मृताः । येन विना यस्य न निर्वाहः, स उपालम्भो भवति । तदा न दोषः शास्त्रो, लोकेऽपि न विगानम् । यथा प्राणात्यये सर्वविषयपरिग्रहस्य । न हि त्रियमाणः निपिष्टादपि जलमन्त्रं वा गृह्णन् प्रत्यवैति । तथा भगवता विना चेदस्मत्प्राणा गच्छेयुः, तदोपालम्भो निर्दुष्टः । अन्यथा दोष एव स्यात् । उदासीनोपालम्भवत् । अथ भजनानुरूपेण भजनम्, तद्भगवति नास्त्येव । अस्माभिर्विना तस्य कालो गच्छतीति । अतः स्वस्य तथाधिकारे भगवच्छास्त्रप्रामाण्ये भगवानेव समागच्छेत्, अप्रामाण्ये तु मरणमेव स्यात् । उभयमपि नास्तीति वृथोपालम्भो न कर्तव्य इत्यर्थः । उभयविधा अप्येताः मूर्च्छापर्यन्तव्यापारयुक्ताः । अतो दुःखात्प्रथमा वदन्ति, मरणाभावाच्च परा निषेधन्ति ॥१४॥

व्याख्यानार्थ — हे गोप की मूर्ख स्त्रियाँ ! उनकी कथा से हमको क्या लाभ ? भक्ति निरोध और मुक्ति इनके दोषोत्पत्ति में प्रयोजकपन के अभाव से और सुतरा दोषजनक होने से उनकी कथा से हमारा कुछ भी उपकार होने वाला नहीं है । भक्ति मार्ग में जब प्रतिबन्धों को दूर कर, स्नेह से भगवद्भजन किया जावे तब उपकार होता है । निरोध में क्षणमात्र भवगान् के दर्शन न होने पर, देह इन्द्रियादि भी छूट जावें । मुक्ति में विषमता का ग्रहण नहीं होता है । उनकी कथा से दोषों की निवृत्ति नहीं होती है और गुणों का भी अभाव होता है अतः उनकी कथा से अपने को क्या सरोकार है ? यदि कहो, कि कथा भी सुननी और कहनी चाहिये क्योंकि इससे रसावेश होता है, तो भी दूसरी कथाएँ कहो जिनमें से दोषोत्पत्ति न होवे, ऐसी उदासीनता कैसे की जा इस पर कहती है कि 'यात्य-



स्माभिविना कालः यदि तस्य तथैव नः' जो कि पारमार्थिक प्रयोजन नहीं है तो भी लौकिक प्रयोजन के लिये भगवान् की अपेक्षा है, इसमें दोनों की विषयता है और भोक्तृत्व भी है, यों होने पर भी, यदि उनका काल अपने बिना जा सकता है तो अपना उनके बिना बीतता ही है, हम मरे हुवे नहीं, हैं, जिसके बिना जिसका निर्वाह न होगा, वह उलाहने योग्य होता है, तब शास्त्र में दोष नहीं है लोक में भी निन्दा नहीं होती है, जैसे प्राणों के जाने पर समस्त विषयों के परिग्रह का, और मरने वाला निषिद्ध से भी जल और अन्न ग्रहण करे तो दोष नहीं है, वैसे भगवान् के विरह में यदि अपने प्राण जावे तो, तब उपालम्भ दोष रहित है अन्यथा दोष ही प्राप्त हो, उदासीन के उपालम्भ के समान हो जावे, भजन के अनुरूप भजन, वह भगवान् में नहीं है, बिना हम लोगों के उनका काल जा सकता है, अतः भगवान् शास्त्र के प्रमाणानुसार अपना ऐसा अधिकार होने पर भगवान् स्वयं ही पधारने चाहिये प्रमाण न होने पर मरण ही होवे, दोनों नहीं हैं, इसलिये वृथा उपालम्भ नहीं देना चाहिये, दोनों प्रकार^१ की भी ये मूर्च्छापर्यन्त व्यापार युक्त है अतः दुःख के कारण पहली कहती हैं, मरण के अभाव से दूसरी निषेध करती है ॥१४॥

आभास—ततो मरणपर्यन्तं पीडिताः भगवदिच्छया अन्तस्तापं बहिःकृतवत्य इत्याह इति प्रहसितमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् मरण पर्यन्त पीडित वे भगवदिच्छा से भीतर के ताप को बाहर प्रकट करने लगी, जिसका वर्णन 'इति प्रहसित' श्लोक में वर्णन करती हैं ।

श्लोक— इति प्रहसितं शौरेर्जल्पितं चारुवीक्षितम् ।

गतिं प्रेमपरिष्वङ्गं स्मरन्त्यो मुमुहुः स्त्रियः ॥१५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार भगवान् के हास्य, भाषण, सुन्दर कटाक्ष, गति, प्रेम से आलिङ्गन को स्मरण करती हुई मूर्च्छित हो गई ॥१५॥

सुबोधिनी—प्रहसितमान्तरम् । बहिव्यामोह-
कम् । शौरेरिति सामर्थ्यमुक्तम् । जल्पितं वाच-
निकम् । चारुवीक्षितमैन्द्रियकम् । कायिकं द्विविध-

मध्याह गतिं प्रेमपरिष्वङ्गमिति । एवं पश्चाद्भ-
गवन्तं स्मरन्त्यः मोहं मूर्च्छां प्राप्ताः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—हास्य, आन्तर भाव (रति) है, प्रकट करता है बाहर व्यामोह करने वाला है शौरि नाम से सामर्थ्य दिखाया है, भाषण वाचनिक है सुन्दर कटाक्ष इन्द्रिय सम्बन्धी है, गति और प्रेम से आलिङ्गन ये दोनों कायिक है, इस प्रकार पांच अङ्ग वाले भगवान् का स्मरण करती हुई मूर्च्छित हो गई ॥१५॥

१—एक प्रकार की वे थी जिनकी भगवान् में दोष सम्भावना थी, दूसरे प्रकार की वे थी जो भगवान् में दोषों का निषेध करने वाली थी,



आभास—मरणे तु सम्भाविते भगवानेवागच्छेत्, सायुज्यं च दद्यात्, तदभावात् बलभद्रेण सान्त्वनं कृतमित्याह सङ्क्षर्षण इति ।

आभासार्थ—यदि मरण की संभावना होती तो भगवान् ही पधारते और सायुज्य देते, ऐसा न होने के कारण बलभद्र ने आकर सान्त्वना दी है, जिसका वर्णन 'सङ्क्षर्षणस्ताः' श्लोक में किया है ।

श्लोक—सङ्क्षर्षणस्ताः कृष्णस्य संदेशं हृदयङ्गमैः ।

सान्त्वयामास भगवान् नानानुनयकोविदः ॥१६॥

श्लोकार्थ—अनेक प्रकार की सान्त्वना (दिलासा) देने में चतुर भगवान् सङ्क्षर्षण, कृष्ण के हृदयङ्गम संदेशों से उनको सान्त्वना देने लगे ॥१६॥

सुबोधिनी - ताः पूर्व निरुद्धाः अपहतशोकाश्च । कोविदश्च । यथैव ताः सान्त्विता भवन्ति, तथैव पुनरुत्पन्ने दोषे उद्भवत् ततोऽपि विशेषप्रकारेण कृताः ॥१६॥
सान्त्वयामास । यतो भगवान् नानाप्रकारानुनये ।

व्याख्यार्थ—वे पहले निरुद्ध हुई हैं और शोक रहित भी हो गई थीं फिर दोष उत्पन्न होने पर उद्भव की तरह उससे भी विशेष प्रकार उनको सान्त्वना देने लगे, क्योंकि भगवान् सङ्क्षर्षण विधि प्रकार के आश्वासन देने में चतुर हैं, जैसे वे शान्त हो प्रसन्न होवे वैसे ही किये ॥१६॥

आभास—सान्त्वनार्थमेव ह्ययं गतः, वाक्यमात्रेण सान्त्वनं न भवतीति वसन्त-समये तत्रैव स्थितश्चेत्याह द्वौ मासौ तत्र चावात्सीदिति ।

आसाभार्थ—सान्त्वना देने के लिये ही ये गये हैं, केवल वचनों से ही सान्त्वना नहीं होती है, इसलिये वसन्त ऋतु के दो मास वहाँ ही विराजमान हुवे ।

श्लोक—द्वौ मासौ तत्र चावात्सीन्मधुं माधवमेव च ।

रामः क्षपासु भगवान्गोपीनां रतिमावहन् ॥१७॥

श्लोकार्थ—भगवान् राम रात्रि के समय गोपियों के रति को बढ़ाते हुए चैत्र और वैशाख दो मास वहाँ ही रहे ॥१७॥

सुबोधिनी—स हि बहुकालं यत्र क्वचित्तिष्ठति, तत्रापि स्थितः । मधुं माधवमेव चेति । विद्यमाने कामो न पीडयतीति । भगवान् उद्बद्ध-द्वारा अलौकिकसमाधान कृत्वा लौकिकन्यायन बलभद्रद्वारा कृतवानिति । रामोऽपि रतिवधनः ।
वसन्त एव कामकृता पीडा महतीति । तस्मिन्



क्षपासु भगवद्रूपो भूत्वा गोपीनां रतिमावहन् । पूर्वेण वा । चकारात् स वसन्तो मासत्रयात्मक स्वयमपि रेमे इत्यग्रेण सम्बन्धः । अवात्सीदिति । इति ज्ञातव्यम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—वे जहाँ जाते वहाँ बहुत समय ठहरते अतः यहाँ भी वसन्त के दो मास चैत्र और वैशाख ठहरे । वसन्त में ही काम की पीड़ा विशेष होती है, उनके विद्यमान होने पर काम, पीड़ा नहीं करता है, भगवान् ने उद्धव द्वारा अलौकिक समाधान कराके लौकिक न्याय से बलभद्र द्वारा समाधान किया, राम भी रति बढ़ाने वाले हैं, रात्रियों में भगवद्रूप हो गोपियों की रति को धारण करते हुए स्वयं भी रमण करने लगे, यह आगे के श्लोक की क्रिया 'रेमे' से सम्बन्ध है अथवा अवात्सीत् रहने लगे इस पूर्व क्रिया के साथ सम्बन्ध है 'च' पद दिया है जिसका भाव यह है कि वसन्त फाल्गुन से लेकर तीन मास का था यों समझना चाहिये ॥१७॥

आभास—अन्यार्थमेव चेद्रच्छेत्, तदा लोके अनौचित्यं भवतीति भगवदिच्छया स्वयमपि रतिं कृतवानित्याह पूर्णचन्द्रकलामृष्ट इति ।

आभासार्थ—दूसरों को सान्त्वना देने के लिये यदि जावे तो लोक में अयोग्यता देखने में आवे क्योंकि आप ज्येष्ठ हैं, इसलिये भगवदिच्छा से स्वयं भी रति करने लगे, यह 'पूर्णचन्द्र कलामृष्टे' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—पूर्णचन्द्रकलामृष्टे कौमुदीगन्धवायुना ।

यमुनोपवने रेमे सेविते स्त्रीगणैर्वृतः ॥१८॥

श्लोकार्थ—पूर्ण चन्द्रमा की किरणों से उज्ज्वल, कुमुद की सुगन्धित वायु से सेवित यमुना के उपवन में स्त्रीगणों से वृत हो रमण करने लगे ॥१८॥

सुबोधिनी—तत्पतिसम्बन्धे या न विरुध्यन्ते, ता बलभद्रेणापि न विरुध्यन्त एव । अनेन सर्वत्र भगवद्धर्मेषु भगवत्सिद्धयर्थं साक्षान्निलोपे सम्बन्धाभावात् अनुकल्पाः कृता इति सूचितम् । अनुकल्पोऽपि सानुभाव एव भवति, न तु निरनुभाव इति यमुनात्षणं वरुणादिसम्माननं च निरूपयिष्यति । त्याज्य एव देहादिरिति । यथा वस्त्रपावनार्थं जल वस्त्रे प्रक्षिप्यते, तथा एताः भगवद्धर्मप्रक्षप्ताः । रमणे साधनान्याह । पूर्णचन्द्रकलाभिः

मृष्टे उज्ज्वले यमुनोपवन इति । वनं नदी च रसपोषके । अपेक्षितो वायुरिति देशं निरूप्य निरूपयति कौमुदीगन्धवायुनेति । कुमुदसम्बन्धिनी कौमुदी नदी तत्सम्बन्धिगन्धयुक्तेन वायुना सेविते । कौमुदी ज्योत्स्ना वा । गन्धश्च । उभयसहितेन वायुना सेवितत्वादेव भन्दत्वम् । इदं रमणं पुष्पावचयादिरूपम् । बहिरिति ज्ञापयितुं स्त्रीगणैर्वृत इत्युक्तम् । गणशः सर्वविधा एव स्त्रियस्तत्र सन्तीति ज्ञापितम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—उनके पति के संबन्ध पर जो विरोध नहीं करती हैं वे बलभद्र से सम्बन्ध होने पर भी विरोध नहीं करेंगी ही, अर्थात् नहीं करती हैं, यों कहने से यह सूचित किया है कि सर्वत्र भगवान् के धर्मों में अर्थात् पूर्ण चन्द्र आदि सर्व पदार्थों में भगवान् की तरह रमण की सिद्धि के



लिये अनुकल्प ही किये हैं, क्योंकि जो साक्षात् निर्लेप भगवदीय पदार्थ है उससे बलभद्र का सम्बन्ध हो नहीं सकता है, अतः यहाँ गोपियाँ राम आदि सब पदार्थ अनुकल्प ही हैं, अर्थात् जैसे राम में भगवदावेश है वैसे सर्व पदार्थों में भगवदावेश होने से सर्व भगवदनुकल्प हैं, अनुकल्प भी उनकी सामर्थ्यवाला होता है, न कि बिना सामर्थ्य वाला होता है। जैसे राजा का प्रतिनिधि राजा न होते हुए भी राजा की सामर्थ्य से युक्त होता है, अतः यमुनाजी का आकर्षण और वरुणादि का सम्मान-निरूपण करेंगे देह आदि तो त्याज्य ही हैं, जैसे वस्त्रों को पावन करने के लिये जल में डाला जाता है, वैसे ये भगवद्धर्म में डाली गई हैं, रमण के समय के साधन कहते हैं, पूर्ण चन्द्रमा की कलाओं से उज्ज्वल यमुनाजी के उपवन में, यों वन और नदी दोनों रस पोषक हैं, वहाँ जैसे वायु की अपेक्षा है उसका निरूपण करते हैं कि नदी से सम्बन्ध वाली सुगन्धि युक्त वायु चल रही थी, अथवा कौमुदी का अर्थ ज्योत्सना भी हो सकता है, और सुगन्धि, दोनों से युक्त वायु से सेवित हाने से उसमें मन्द-पन था, यह रमण फूलों के चुनने रूप था, अर्थात् इस रमण में पुष्पों का चयन करते थे, बाहर रमण जताने के लिये कहा है कि स्त्रोगणों से आवृत थे, सर्व प्रकार के स्त्रियों के गण थे यह जताया है ॥१८॥

आभास — तस्यानुभावमाह वरुणप्रेषितेति ।

आभासार्थ — 'वरुण प्रेषित' श्लोक से बलभद्र का प्रभाव बताते हैं ।

श्लोक — वरुणप्रेषिता देवी वारुणी वृक्षकोटरात् ।

पतन्ती तद्वनं सर्वं स्वगन्धेनाध्रवासयत् ॥१९॥

श्लोकार्थ — वरुण की प्रेषित वा वारुणी देवी वृक्ष कोटर से बहती हुई सकल वन की अपनी गन्ध से वासित करने लगी ॥१९॥

सुबोधिनी — वारुणी काचिल्लक्ष्म्या सह अमृत-मथने उत्पन्ना सा अधिष्ठात्री देवता सर्ववृक्षेषु तिष्ठति । सा दैत्येभ्यो दत्तेति दैत्यराजाधीना सा यस्मिन्नेव वृक्षे अधितिष्ठति, तत एव मधुधारा उत्पद्यते । सङ्क्षरणश्च तामसी भगवन्मूर्तिः । मधुना

सम्प्रीतो भवतीति दैत्यराजेन वरुणेनाज्ञप्ता देवतात्वात् यथामुख यथाभिलषितगन्धरसरूपा पतति । अतो वृक्षकोटरात्पतन्ती सर्वमेव तद्वनं स्वगन्धेन अध्र-वासयत् । यथा स गन्धः सर्वव्यामोहको भवति । ॥१९॥

व्याख्यानार्थ — कं ई वारुणी नामक पदार्थ लक्ष्मी के साथ अमृत मन्थन के समय उत्पन्न हुआ था, उसकी अधिष्ठात्री देवता सर्व वृक्षों में रहती है, वह दैत्यों को दी थी, जिससे वह दैत्यों के राजा के आधीन है, जिस वृक्ष में आकर रहती है उससे ही मधुधारा पैदा होती है, और सङ्क्षरण भगवान् की तामसी मूर्ति अर्थात् स्वरूप है अतः मधु से प्रसन्न होता है, इसलिये दैत्य राज वरुण से आज्ञा पाकर देवता होने से मुख पूर्वक, अभिलाषानुरूप गन्ध युक्त रस वाली होकर बहती है, अतः वृक्ष कोटर से गिरती हुई वह वन अपने गन्ध से सुवासित करने लगी जैसे वह गन्ध सब को मोहित करने वाली हो गई ॥१९॥



आभास—अत एव गन्धेनैव वशीकृतो बलभद्रः पपावित्याह तद्गन्धं मधुधाराया इति ।

आभासार्थ—गन्ध से मोहित होने से बलभद्र ने उसका पान किया, यह 'तद्गन्धं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तद्गन्धं मधुधाराया वायुनोपहृतं बलः ।

आघ्रायोपगतस्तत्र ललनाभिः समं पपौ ॥२०॥

श्लोकार्थ—वायु से आई हुई मधुधारा की वह गन्ध सुगन्ध पाकर बलराम ने वहाँ आकर सब स्त्रियों के साथ उसका पान किया ॥२०॥

सुबोधिनी—तत्सर्ववनव्याप्तम् । वायुनोपहृतमिति दूरेपि क्रीडन् आघ्रायोपगतः । उभयेषां पूर्णरमणे भगवत्स्मरणेन कदाचित्सङ्कोचः स्यात्, रसो वा नोत्पद्येत, अत एतदर्थं ललनाभिः समं पपौ ॥२०॥

व्याख्यार्थ—वह गन्ध समस्त वन में फैली हुई थी, क्योंकि उसको सर्वत्र वायु ले गई थी, जिससे राम आदि दूर भी खेल रहे थे तो भी सुगन्ध पाकर यहाँ आ गये, उसका अकेले राम ने पान नहीं किया, किन्तु स्त्रियों के साथ पान किया, क्योंकि इनका राम से प्रथम रमण था उस समय यदि बलराम में आविष्ट होने से भगवान् का ज्ञान हो जावे, तो कदाचित् रमण में सङ्कोच हो जावे अतः स्त्रियों के साथ पान किया अर्थात् स्त्रियों ने भी वाहणी पान किया ॥२०॥

आभास—ततो गतक्लेशास्ताः रतिपोषिका जाता इति वक्तुं तासां गानमाह उपगीयमानचरित इति ।

आभासार्थ—पश्चात् विना क्लेश वाली वे रति का पोषण करने वाली हुई, यों कहने के लिये 'उपगीयमानचरितो' श्लोक में उनके गान का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—उपगीयमानचरितो वनिताभिर्हलायुधः ।

वनेषु व्यचरत्क्षीवो मदविह्वललोचनः ॥२१॥

श्लोकार्थ—स्त्रियां जिनका चरित्र गारही हैं और मद से घृणित जिसके नेत्र हो रहे हैं ऐसे बलदेवजी मत्त होकर वनों में विचरने लगे ॥२१॥

सुबोधिनी—उपगीयमानं चरितं यस्येति । तस्मिन् रुचिरुक्ता । यतो वनिताः वनमिताः इति । हलायुध इति तस्यापि विचाराभाव उक्तः । किञ्च । क्षीवो मत्तः । अनेन विचाराभावः सम्यक् निरूपितः । मदेन विह्वले लोचने यस्येति लोकान् पश्यन्नपि न पश्यतीत्युक्तम् ॥२१॥



व्याख्यार्थ—स्त्रियां चरित्र गान कर बलरामजी में अपनी रुचि प्रकट कर रही हैं, क्योंकि वन में आई हुई हैं और वह भी हलायुध हैं जिससे उन में विचार का अभाव है, और विशेष में फिर मधु-पान के कारण मत्त हैं, यों कहने से इनमें विचार का अभाव है यह अच्छी तरह निरूपण किया है, मद से नेत्र विह्वल हो जाने से देखते हुवे भी नहीं देखते हैं यों कहा है ॥२१॥

आभास—एवमवस्थापन्नस्य आधिदैविकं रूपं प्रकटीभूतमिति ज्ञापयितुं वर्णयति स्रग्व्येककुण्डलो मत्त इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार की अवस्था को प्राप्त का आधिदैविक रूप प्रकट हुआ, यह जताने के लिये, 'स्रग्व्येककुण्डलो मत्त' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—स्रग्व्येककुण्डलो मत्तो वैजयन्त्या च मालया ।

बिभ्रत्स्मितमुखाम्भोजं स्वेदप्रालेयरुषितम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—कैसे बलदेवजी हैं ! जिनके गले में वैजयन्ती माला है, एक कान में ही कुण्डल है । मदमत्त है, मन्द हास्य युक्त मुख कमल वाले हैं, प्रलय के स्वेद रूप हिम कणों से सुशोभित हैं ॥२२॥

सुबोधिनी—चत्वारि विशेषणानि चतुर्भूतित्वसम्पत्तये निरूपितानि । स्रग्वी पुष्पमालापरिवीताङ्गः, एकमेव कुण्डलं यस्य । सङ्कर्षणस्य तदसाधारणं चिह्नम् । योग एव, न साङ्ख्यमिति । मत्तः स्वभावतः । वैजयन्त्या नवरत्नखचितया

आपादलम्बिन्या मालया स हसितमुखाम्भुजं श्वेतमुखकमलं बिभ्रत् । स्वेदरूपाः प्रालेयाः हिमकणाः । तेन रुषितमिति । अनेन श्रमः सहज एव शोभाकरः, न तु क्लेशजनित इति सूचितम् । ते प्रस्वेदकणाः न शीतला भवन्तीति ॥२२॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में चतुर्भूतित्व सम्पत्ति के लिये चार विशेषण निरूपण किये हैं १-पुष्पमाला से युक्त अङ्ग वाले, जिनके एक ही कुण्डल है, सङ्कर्षण का यह असाधारण चिह्न है, कारण कि इस स्वरूप में केवल योग अर्थात् क्रिया शक्ति प्रकट है न कि साङ्ख्य^१ शक्ति, स्वभाव से मत्त हैं, नव रत्नों से खचित, पाद पर्यन्त लम्बी अर्थात् लटकने वाली वैजयन्ती माला से वह श्वेत मुख कमल को धारण करते हुए, स्वेदरूप जो प्रलय के हिम कण हैं उनसे सुशोभित, इससे यह जताया है कि श्रम सहज ही शोभा करने वाला है न कि क्लेश दायी है, वे पसीने के कण शीतल नहीं होते हैं ॥२२॥

१—साङ्ख्य शक्ति अर्थात् ज्ञान योग. उसमें आत्म और अनात्म विवेक है और सङ्कर्षण वेदात्मक है इसमें एक ही क्रियात्मक योग शक्ति है तथा वेद में सर्व आत्मरूप होने से आत्म अनात्म विवेक उसको सम्मत नहीं है,



आभास—तर्हि स्वरूपनाश एव वारुण्या जात इत्याशङ्क्य, तथा प्रतीतवन्तं देव-
मपि नाशयतीति ज्ञापयितुं यमुनां तथा मन्यमानां निग्रहं चिकीर्षुं राकारितवानित्याह
स आजुहावेति ।

आभासार्थ—तो मत्त होने पर, वारुणी से स्वरूप का नाश ही हुआ, यों शङ्का कर वैसे प्रतीत होने वाले देव को भी नाश करती है, यों जताने के लिये वैसे प्रकार वाली यमुनाजी का निग्रह करने की इच्छा वाले राम ने उसको बुलाया, यह 'स आजुहाव' श्लोक में कहा है।

श्लोक—स आजुहाव यमुनां जलक्रीडार्थमीश्वरः ।

निजं वाक्यमनादृत्य मत्त इत्यापगां बलः ।

अनागतां हलाग्रेण कुपितो विचकर्ष ह ॥२३॥

श्लोकार्थ—उन समर्थ बलदेवजी ने जल क्रीड़ा के लिए बुलाया, जब उन्होंने देखा कि मेरे वचनों का अनादर कर नहीं आई है, तब मत्त एवं कुपित बलरामजी क्रोधित हो उसको हल के अग्र भाग से खेंचा ॥२३॥

सुबोधिनी—केवल निग्रहार्थमाकारणे सुतरां मत्तता भवतीति यत्रैव पीत्वा तिष्ठति, तत्रैव जलक्रीडा कर्तव्येति जलक्रीडार्थमित्युक्तम् । नन्वेवं कृतेऽपि मत्तता भवत्येव, नहीश्वरमर्यादया स्थापिता नद्यः क्वचिदायान्ति, आगता वा कथं न मर्यादाभङ्गं कुर्युः, तत्राह ईश्वर इति । न हि स्वायंमेव मर्यादा भवति, अन्यथा क्रीडार्थं जगन्निर्माणमिति पक्षो न स्यात् । नहीश्वरः ईशित-

व्यमुपसर्पति । ततो यमुनया विचारितम्, मत्तोऽयम्, मत्त एव अविचार्यैवाकारयतीति बलवाक्यमनादृत्य, आपगां नदीं अनागतां हलाग्रेण विचकर्ष । हलस्याप्याधिदैविकत्वात् देवतासहितां नदीं कूलेऽपि निम्नभावं सम्पाद्य, कुल्यामार्गेण नीतवान् । तदा देवतासहितं जलं स्वभावमार्गेणागच्छत् तेनैव मार्गेण गन्तुं प्रवृत्तम् ॥२३॥

व्याख्यानार्थ—जल क्रीडार्थं श्री यमुनाजी को बुलाया यों कहने का कारण बताते हैं, कि यदि केवल निग्रहार्थ ही बुलाते तो सुतरां मत्तता आ जाती, इसलिये जहां ही पान कर ठहरे थे वहां ही जल क्रीड़ा करनी चाहिये, इसलिये यों कहा, यों करने पर भी मत्तता होती ही है, ईश्वर की मर्यादा से स्थापित जो नदियां हैं वे कहीं भी नहीं आती हैं, यदि आवें तो मर्यादा का भङ्ग होगा ही, इसका उत्तर देते हैं कि इसमें क्या हानि है ? बुलाने वाले भी तो ईश्वर हैं, ईश्वर के लिये ही मर्यादा नहीं होती है यदि मर्यादानुसारिणी ईश्वर की लीला होवे तो क्रीड़ा के लिये जगत् का निर्माण यह पक्ष भी नहीं बनता है, ईश्वर अपने ईश्वर पन को नहीं खींच लेता है, बुलाने पर श्री यमुनाजी ने विचार किया कि यह उन्मत्त हैं, जो मदमत्त होता है वह ही बिना विचारे बुलाता है, इसलिये बल के वचन का अनादर किया है, प्रार्थना नहीं आई, जब देखा कि नहीं आई तब उसको हल के अग्र भाग से खेंचा, हल भी आधिदैविक स्वरूप होने से, देवता सहित नदी का

कूल पर ही, निम्न भाव सम्पादान कर, नहर के मार्ग से लाये, तब देवता सहित जल, स्वाभाविक मार्ग से जाने लगा उस ही मार्ग से जाने के लिये प्रवृत्त हुवे ॥२३॥

आभास—एतदपि मत्तकार्यमेवेत्याशङ्क्य ज्ञानपूर्वकं तथाकरणमित्याह पापे त्वं मामवज्ञायेति ।

आभासार्थ—यह कार्य भी मत्त का ही है यों शङ्का हो तो कहते हैं कि ज्ञान पूर्वक यों किया है, जिसका वर्णन 'पापे त्वं मामवज्ञाय' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—पापे त्वं मामवज्ञाय यन्नायासि मयाहुता ।

नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेण शतधा कामचारिणीम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—बलरामजी ने कहा कि हे पापिनी ! मेरी बुलाई हुई तू मेरा अनादर कर नहीं आई है, तो तुझ कामचारिणी को हल के अग्र से शत विभाग कर डालूँगा ॥२४॥

सुबोधिनी—मयाहुता आहुता । अथवा । यस्मात्त्वं मामवज्ञाय नागता अतो मया हुता यथा हुता दग्धा भवति, एव शुष्केत्यर्थः । न केवल शुष्कमात्रं निग्रहः, किन्तु अगृहामपि करिष्यामि, यतो वृष्टिजलेनापि लोका नदीत्वं न मंस्यन्त इति

तदाह नेष्ये त्वां लाङ्गलाग्रेणेति । यथा केदारेण सिक्तं जल गच्छति ईश्वरवचनोल्लङ्घने महत्पापम्, पापे च दण्डादिक न दोषार्येति पाप इति सम्बोधनम् । तस्या अपराधमाह कामचारिणीमिति ॥२४॥

व्याख्यान—'मयाहुता, पद का अर्थ दो प्रकार के करते हैं, एक 'मया आहुता' मैंने तुमको बुलाया, दूसरा 'यस्मात् त्वं मां अवज्ञाय न आगता अतो मया हुता दग्धा भवति, एवं शुष्का इत्यतः' जिस कारण से, तू मेरा अपमान कर नहीं आई है, इस कारण से, मैंने तुझे जला दिया जिससे तू शुष्क हो जायेंगी, न केवल शुष्कमात्र तेरा निग्रह करूँगा, किन्तु बिना घर वाली भी करूँगा जिससे वृष्टि के जल पड़ने पर भी लोक तुझे नहीं मानेंगे, वह कहते हैं कि, हल के अग्र भाग से तेरे संकड़ों टुकड़े कर डालूँगा, जैसे केदार से सिञ्चित जल बह जाता है वहाँ जल न रहने से वह भूमि शुष्क हो जाती है वैसे तू भी हो जावेगी, ईश्वर के वचनों का उल्लङ्घन महा पाप है, पापी, को दण्ड देने में दोष नहीं है, इसलिये 'पापे' सम्बोधन दिया है, 'कामचारिणी' पद से उसका अपराध बताया है अर्थात् तेरा यह अपराध है कि तू आज्ञा न मान, बड़ों का तिरस्कार कर मन मानी करती है ॥२४॥

आभास—इयं न तस्य प्रतिज्ञा, किन्तु निर्भर्त्सनमात्रमित्याह एवं निर्भर्त्सितेति ।

आभासार्थ—यह उनकी प्रतिज्ञा नहीं है किन्तु केवल झिड़कना है वह 'एवं निर्भर्त्सिता' श्लोक में कहते हैं ।



श्लोक—एवं निर्भत्सिता भीता यमुना यदुनन्दनम् ।

उवाच चकिता वाचं पतिता पादयोर्नृप ॥२५॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार भिड़कने पर भयभीत यमुना आश्चर्य में पड़ गई, हे नृप ! राम के पैरों पर गिरकर वाक्य कहने लगी ॥२५॥

सुबोधिनी—आकर्षणसामर्थ्यं दर्शनादेव ज्ञातवती । सत्यमेव करिष्यतीति । ततो भीता । यदुनन्दनं भक्तकृपालुम् । चकिता आश्चर्ययुक्ता । सती प्रवाहस्थानात् दूरे नीता उवाच । पादयोः पतितेति अपराधक्षमापनार्थम् । नृपेति सम्बोधनं परिज्ञानार्थम् । अल्पो न विश्वसतीति ॥२५॥

व्याख्यान—बलराम के आकर्षण का सामर्थ्य देखने से ही समझ गई यह सचमुच यों करेगा, उससे डरी, 'यदुनन्दन' नाम देने का भाव प्रकट करते हैं कि 'भक्तों पर कृपा करने वाले हैं, प्रवाह स्थान से दूर खींच जाने से आश्चर्य में पड़ गई और पैरों पर गिर के अपराध की क्षमा मांगती हुई कहने लगी, नृप: यह सम्बोधन परिज्ञान वारते दिया है, अल्प विश्वास नहीं करता है यों ॥२५॥

आभास—तस्याः प्रार्थनामाह राम रामेति ।

आभासार्थ—उसकी प्रार्थना 'राम राम' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—राम राम महाबाहो न जाने तव पौरुषम् ।

यस्यैकांशेन विधृता जगती जगतः पते ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राम ! हे महाबाहो राम ! तुम्हारा पौरुष मैं नहीं जानती हूँ, हे जगत् के स्वामी ! जिस आपके एक अंश ने सारा भूमण्डल धारण किया है ॥२६॥

सुबोधिनी—आदरे वीप्सा । तेनावज्ञा परिहृता । महाबाहो इति स्वज्ञातं भगवत्सामर्थ्यमाह । तज्ज्ञानं सामान्यत एव,विशेषतो न जानामीत्याह न जाने तव पौरुषमिति । वस्तुतस्तव महाबाहुः । अहं परं न जान इति वा । ज्ञात्वैवापराधशान्त्यर्थं तथा वदतीत्याशङ्कयामाह यस्यैकांशेनेति । माहात्म्यं हि दृष्टं जानाति । नदी पुनः भूम्या एकदेशे भवति । 'भूमिरेव पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णा यस्य एकदेशेन विधृता भवति भूमण्डलं सर्वपायति यस्य मूर्ध्नी'ति वाक्यात् । तस्मादज्ञात्वा कृतोऽपराध इति क्षमा कर्तव्येति भावः । नन्वज्ञात्वा कृतेऽप्यपराधे दण्डो लोके दृष्ट इति चेत्, तत्राह जगतः पत इति । उदासीनव्यनस्थेयम् । पतिस्त्वज्ञानकृते न दण्डं करोति ॥२६॥

व्याख्यान—राम ! राम ! दो बार आदर भाव से कहा है, 'महाबाहो' सम्बोधन से यह बताया है कि भगवान् रामजी का सामर्थ्य हम सामान्यतः जो जानती है तदनुसार यह सम्बोधन कहा है । विशेष नहीं जानती हूँ, इसलिए स्पष्ट कहा है कि 'न जाने तव पौरुषं' आपका विशेष पराक्रम मैं नहीं जानती हूँ आप वास्तविक महाबाहु है, परन्तु मैं इसको समझ न सकी हूँ, यदि नहीं जानती है तो

अपराध के शान्त्यर्थ पैरों पर क्यों पड़ी ? इस शङ्का के उत्तर में कहती है कि देखा हुआ माहात्म्य जानती है, जैसे कि जिसके एक देश में घारण की हुई पश्चात् कोटि विस्तीर्ण भूमि वाला यह भूमण्डल जिसके मस्तक पर सर्पण जैसा भासता है, उस भूमि के एक देश में नदी होती है इस कारण से मैंने माहात्म्य नहीं जाना अतः अज्ञान से कृत अपराध क्षमा करना चाहिए, यदि कहो कि लोक में अज्ञान से किये हुए अपराध का भी दण्ड दिया हुआ देखा जाता है, तो इस पर कहते हैं आप जगत् के पति हैं, यह उदासीन व्यवस्था है पति तो अज्ञान से हुए दोष का दण्ड नहीं देता है ॥२६॥

आभास—ननु ज्ञायत एव संकर्षणो महानिति सर्वशास्त्रसिद्धम्, तत्कथमज्ञानमिति चेत्, तत्राह परं भावं भगवतेति ।

आभासार्थ—यदि कहो कि सब जानते हैं कि सङ्कर्षण शास्त्रों से सिद्ध महान् हैं, फिर अज्ञान कैसे ? इसका उत्तर 'परं भावं भगवतो' श्लोक में देती है ।

श्लोक—परं भावं भगवतो भगवन्मामजानतीम् ।

मोक्तुमर्हसि विश्वात्मन्प्रपन्नां भक्तवत्सल ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे विश्वात्मन् ! भगवन् आप भक्तवत्सल भी है, अतः भगवान् के परमभाव को न जानने वालों, शरणागत मुक्त को आप छोड़ देने के योग्य हैं ॥२७॥

सुबोधिनी— त्वयि मनुष्यभाव एव आधिभौतिकभावो वा लोकसिद्धः, न तु परो भावः । यथा भगवति कृष्णो । स एवात्राविष्ट इति न कोऽपि जानाति । अतः परं भावं साक्षाद्भगवतस्ते अजानतीं मां मोक्तुमर्हसि । भगवन्निति सम्बोधनात् इदानीं ज्ञातमिति नाग्रे अपराधः सम्भविष्यतीति सूचितम् ।

जातेऽप्यपराधे क्षमा कर्तव्येति सम्बोधनान्तरमाह विश्वात्मन्निति । आत्मापराधः कस्यापि न रोषकर इति । तथाप्यधिकारावेशेन भेददर्शनात् अक्षमेति चेत्, तत्राह भक्तवत्सलेति । आत्मनो भक्तत्वमाह प्रपन्नमिति ॥२७॥

व्याख्यान— आप में मनुष्य भाव अथवा आधिभौतिक भाव ही लोक सिद्ध है, जैसा भगवान् कृष्ण में परभाव है, वैसा परभाव आप में सिद्ध नहीं है, वह परभाव रूप कृष्ण अब आप में प्रविष्ट हैं, यों कोई नहीं जानता है, अतः अब जो साक्षात् परभावरूप भगवान् आप हैं उस परभाव को न जानने वाली मुक्त को छोड़ने के लिये योग्य हो, भगवान् इस सम्बोधन से यह सूचित किया कि अब आपके स्वरूप को जाना है, जिससे आगे अपराध नहीं होगा, अपराध होने पर भी क्षमा करना चाहिये क्योंकि आप विश्वात्मा है अपना किया हुआ अपराध किसी को क्रोधित नहीं करता है, यदि कहो कि, तो भी, अधिकार के आवेश से भेद के दोखने पर क्षमा नहीं की जा सकती है, जिसका उत्तर देती है कि आप भक्त वत्सल हैं, और मैं आपके शरण आने से भक्त हूँ इसलिये सर्वथा मैं क्षमा के योग्य हूँ और आप क्षमा देने के योग्य हैं ॥२७॥



आभास—एवं कर्मज्ञानभक्तिप्रकारैः प्रार्थनायां कृतायां तां त्यक्तवानित्याह ततो व्यमुञ्चदिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार कर्म, ज्ञान और भक्ति के प्रकारों से प्रार्थना करने पर उसको छोड़ दिया, यह 'ततो व्यमुञ्चत्' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—ततो व्यमुञ्चद्यमुनां याचितो भगवान्बलः ।

विजगाह जलं स्त्रीभिः करेणुभिरिवेभराट् ॥२८॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब यमुनाजी ने प्रार्थना की, तब भगवान् बलदेवजी ने उसे छोड़ दिया और जैसे गजराज हथिनियों के साथ जल में प्रवेश करता है, वैसे उन्होंने स्त्रियों के साथ जल में प्रवेश किया ॥२८॥

सुबोधिनी—तथैव मोचनार्थं याचितः, यतो भगवान् । महत् इयमेव व्यवस्था । पुनरपकार न करिष्यतीति बुद्ध्वा तथा कृतवानिति पक्षं व्यावर्तयति बल इति । स्वदलाभिनिवेशादेव तथा

कृतवान्, न तु ज्ञात्वेत्यर्थः । तस्यां प्रसन्न इति ज्ञापयितुं क्रीडामाह विजगाह जलं स्त्रीभिरिति । पूर्वदन्मर्यादां त्यक्तवानिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह करेणुभिरिवेभराडिति ॥२८॥

व्याख्यानार्थ—उसने ही अर्थात् यमुनाजी ने ही छोड़ने के लिये बलरामजी से याचना की थी, क्योंकि भगवान् है, महान् की यह ही व्यवस्था है कि अपकार न करेंगे यों समझ कर ही यह किया था इस पक्ष को बदलता है क्योंकि बलराम बल वाले है, अपने बल के अभिनिवेश से ही वैसे किया, न कि जान बूझ कर किया उस पर प्रसन्न हुए यह जताने के लिये क्रीड़ा को कहने लगे, स्त्रियों के साथ जल में प्रवेश किया, जैसे गजराज हथिनियों के साथ प्रवेश करता है, गजराज के दृष्टान्त देने का भाव यह है कि जैसे वह मर्यादा नहीं रखता है वैसे आपने भी पहले जैसी मर्यादा का त्याग किया ॥२८॥

आभास—एतावत्पर्यन्तं भगवत्त्वमुक्त्वा तिरोहितो भगवानिति ज्ञापयितुं तस्य वस्त्राणां कजेदनात् वस्त्रान्तरपरिधानमाह कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णयिति ।

आभासार्थ—यहां तक भगवत्त्व कह कर भगवान् तिरोहित हो गये यह जताने के लिये उनके वस्त्रों के गीले पन के कारण अन्य वस्त्रों का धारण 'कामं विहृत्य' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—कामं विहृत्य सलिलादुत्तीर्णयासिताम्बरे ।

भूषणानि महार्हाणि ददौ कान्तिः शुभां स्रजम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—अच्छी तरह जल कीड़ा कर जब बाहर निकले, तब कान्ति देवी ने बलरामजी को दो अमूल्य नील, दो वस्त्र, आभूषण और सुन्दर माला दो ॥२६॥

सुबोधिनी—कान्तिभगवतश्चतुर्थी शक्तिः । अत एव तामसी मूर्तिश्चतुर्थी तद्वितार्थं तस्य प्रिये नाले अम्बरे भूषणानि च तदीयानि शुभां स्रज कल्याणसूचिकां मालां ददौ । अन्यथा अपराध-स्मरणात् जीवितमेव न भवेत् । भगवदीयया सत्कृत इति तस्यान्तस्तापो निवृत्तः ॥२६॥

व्याख्यान्य—कान्ति देवी भगवान् की चतुर्थी शक्ति है, इस कारण से ही चौथी तामसी मूर्ति उनके हित के लिये उनके प्यारे नीले रंग के दो वस्त्र तथा आभूषण और कल्याण का सूचन करने वाली सुन्दर मालाएँ दी, यदि इस प्रकार यह चतुर्थी भगवान् की शक्ति बलरामजी का सत्कार न करती तो अपराध स्मरण से जीवन, हीन रहता, भगवच्छक्ति द्वारा सत्कार होने से उसका भीतर का ताप निवृत्त हो गया ॥२६॥

आभास—ततस्तत्परिधानात् बहिर्मालिन्यमपि निवृत्तमित्याह वसित्वा वाससी नीले इति ।

आभासार्थ—पश्चात् उन वस्त्र आदि के धारण करने से, बाहर की मलीनता भी निवृत्त हो गई, यह 'वसित्वा' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—वसित्वा वाससी नीले मालामुमुच्य काञ्चनोम् ।

रेजे स्वलङ्कृतो लिप्तो माहेन्द्र इव वारणः ॥३०॥

श्लोकार्थ—बलरामजी जब नील वस्त्र पहन, स्वर्णमयी माला धारण कर और चन्दन लगाकर सुन्दर अलङ्कृत हुए, तब इन्द्रराज के हस्ती के समान शोभा देने लगे ॥३०॥

सुबोधिनी -सजातीयेनैव सजातीयं व्यावर्त्यत इति नीले वाससी वसित्वा, मालां च कीर्तिमयी-मुमुच्य, काञ्चनीं स्वरूपतोऽप्यमृतमयीं नित्यसद्गुणरूपाम् । निर्दोषगुणवान् भूत्वा रेजे । एवं स्वाभाविकोमवस्थामापन्नः स्वलङ्कृतो जातः, लिप्तश्चाङ्गरागैः । सर्वेषां दर्शनीय एव जातः, न तु गुप्त इति दृष्टान्तमाह माहेन्द्र इव वारण इति । ऐरावत इव ॥३०॥

व्याख्यान्य—सजातीय से ही सजातीय सुन्दर सुसज्जित होता है इसलिये नीले वस्त्र धारण कर स्वरूप से अमृतमयी, नित्य सद्गुणरूप, कीर्तिमयी माला को गले में डाल कर और चन्दन आदि अङ्गराग से लेप लगा के निर्दोष गुणों वाले हो शोभित हुए, इस प्रकार स्वाभाविकी अवस्था को प्राप्त हो अलङ्कृत होने से सर्व को दर्शन योग्य ही हुए न कि गुप्त अलङ्कृत दीखे जिसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे इन्द्र का ऐरावत हस्ती शोभा देता है ॥३०॥



आभास—तस्य माहात्म्यमग्रेऽपि दृश्यत इत्याह अद्यापि दृश्यते इति ।

आभासायं—उनका माहात्म्य आगे भी देखने में आता है, वह 'अद्यापि दृश्यते' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—अद्यापि दृश्यते राजन् यमुनाकृष्टवर्त्मना ।

बलस्थानन्तवीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव हि ॥३१॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! हल से आकृष्ट यमुनाजी के देखने से आज भी उनका माहात्म्य प्रकट है; क्योंकि वह स्थान अनन्त वीर्य बलरामजी के वीर्य की मानो सूचना दे रहा है ॥३१॥

सुबोधिनी—अन्यथा अग्रे अपकीर्तिः स्यादिति । आकृष्टवर्त्मना हलाकर्षणमार्गेण । महत एव वीर्यस्य वीर्यं सूचयतीव सा जाता, न तु तावदेव बलमिति । वस्तुतस्तु तदप्रयोजकम्, न पूर्णमाहात्म्यसूचकं भवितुमर्हतीति इवशब्दः । ॥३१॥

व्याख्यायं—नहीं तो आगे अपकीर्ति होती, इसलिये यमुनाजी हल से आकृष्ट मार्ग से, बड़े ही वीर्य की मानों सूचना दे रही है, न कि इतना ही बल है किन्तु इससे अधिक विशेष बल है, वास्तव में यह तो अप्रयोजक है 'इव' पद देकर बताया है कि यह आकर्षण पूर्ण माहात्म्य सूचक होने के योग्य नहीं है ॥३१॥

आभास—एकमेकदिनकृत्यमुक्त्वा यावत्कालं स्थितः सर्वेष्वेव दिवसेषु तदतिदिशति ।

आभासायं—इस एक दिन को कृत्य कह कर, जितना समय रहे सर्व ही दिनों में वह दिखाता है ।

श्लोक—एवं सर्वा निशा याता एकेव चरतो व्रजे ।

रामस्याक्षितचित्तस्य माधुर्यैर्व्रजयोषिताम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—व्रजस्त्रियों के माधुर्यों से वशीकृत चित्त वाले व्रज में घूमते हुए राम को सर्व रात्रियाँ एक रात्रि के समान बीत गई ॥३२॥

सुबोधिनी—एवं सर्वा निशा याता इति । एकेवेति प्रकारे विशेषाभावः । व्रजे चरत इति न कृतवानित्यत्र हेतुमाह व्रजयोषितां माधुर्यैराक्षितचित्तस्येति । रामो हि साधनप्रधानः, भगव-

दृगुणाः तत्र प्रकाशन्त इति तत्साधनार्थमितरां- मतिर्माधुर्यैर्भगवद्धर्मैर्वशीकृतचित्तस्य एकेव निशा-
पेक्षया तत्समीचीनमिति तावत्मात्रेण पर्यवसित- यातेत्यर्थः ॥३२॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे षष्ठदशोध्यायः ॥ ४६ ॥

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

“श्री बलभद्र का ब्रज आगमन”

राग बिलावत

स्याम राम के गुन नित गाऊँ । स्याम राम ही सौँ चित लाऊँ ॥
 एक बार हरि निज पुर छए । हलधरजी वृंदावन गए ॥
 रथ देखत लोगनि सुख पाए । जान्यो स्याम राम दोउ आए ॥
 नंद जसोमति जब सुधि पाई । देह गेह की सुरति भुलाई ॥
 आगे ह्वं लंबे को घाए । हलधर दोरि चरन लपटाए ॥
 बल को हित करि गरें लगाए । दै असीस बोले या भाए ॥
 तुम तो भली करी बलराम । कहाँ रहे मन मोहन स्याम ॥
 देखो कान्हार की निठुराई । कबहूँ पातीहूँ न पठाई ॥
 आपू जाइ ह्वं राजा भए । हमको बिछुरि बहुत दुख ढए ॥



कही कबहुँ हमरी सुधि करत । हम तो उन बिनु बहु दुख भरत ॥
 कहा करेँ ह्वी कोउ न जात । उन बिनु पल पल जुग सम जात ॥
 इहिँ अंतर आए सब ग्वार । भेटे सबनि जथा व्योहार ॥
 नमस्कार काहूँ को कियो । काहूँ को अंकन भरि लियो ॥
 पुन गीषा जुरि मिल सब आँई । तिनहीँ हत साथ असीस सुनीई ॥
 हरि सुधि करि सुधि बुधि बिसराई । तिनको प्रेम कह्यो नहिँ जाई ॥
 कोउ कहै हरि व्याही बहुनार । तिनको बढ्यो बहुत परिवार ॥
 उनको यह हम देतिँ असीस । सुख सो जीवै कोटि बरीस ॥
 कोउ कहै हरि नाहो हम चीन्हो । बिनु चीन्है उनको मन दीन्हो ॥
 निसि दिन रोवत हमें बिहाइ । कही करेँ अब कहा उपाइ ॥
 कोउ कहै इहाँ चरावत गाइ । राजा भए द्वारिका जाइ ॥
 काहे को वै आवै इहाँ । भोग विलास करत नित उहाँ ॥
 कोउ कहै हरि रिपु छे किए । अरु मित्रनि को बहु सुख दिए ॥
 बिरह हमारी कहँ रहि गयो । जिन हमको अति ही दुख द्यो ॥
 कोउ कहै जे हरि की रानी । कौन भाँति हरि को पतियानि ॥
 कोउ चतुर नारि जो होइ । करै नहीँ पतिआरौ सोइ ॥
 कोउ कहै हम तुम कत पतियाई । उनकै हित कुल लाज गवाई ॥
 हरि कछु ऐसो टोना जानत । सबको मन अपनै वस आनत ॥
 कोउ कहै हरि हम सब बिसराई । कहा कहै कछु कह्यो न जाई ॥
 हरि को सुमिरि नयन जल ढारै । नैकु नहीं मन धीरज धारै ॥
 यह सुनि हलधर धीरज धारि । कह्यो आइहै हरि निरधारि ॥
 जब बल यह संदेस सुनायो । तब कछु इक मन धीरज आयो ॥
 बल तहें बहुरि रहे द्वै मास । ब्रज बासिनि सो करत बिलास ॥
 सब सो मिलि पुनि निजपुर आए । सूरदास हरिके गुन गाए ॥



। श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेश्वर्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६६वां अध्याय

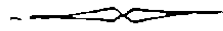
श्री सुबोधिनी अनुसार ६३वां अध्याय

उत्तरार्ध का १७वां अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

“३२१ अध्याय”

पोण्ड्रक और काशीराज का उद्धार



कारिका—कामस्य पूर्तिमुक्त्वात्र क्रोधस्यापि निरूप्यते ।
कंसादेरिव दुष्टानां मोक्षोऽत्र विनिरूप्यते ॥१॥
सस्थानस्य सदेवस्य पोषकैः सहितस्य च ।
विपक्षिणो नाशरूपः पूर्वस्माद्वचसा पृथक् ॥२॥
लौकिकैरपि वाक्यैर्यः कामादौ प्रविशेत् पुमान् ।
तं कृष्णो मोचयेत् सत्यं सर्वथेति निरूप्यते ॥३॥
पोण्ड्रकस्य समित्रस्य कर्मोपासनसंयुतौ ।
साधारवंशमात्रस्य नाशः सप्तदशोऽभवत् ॥४॥



कारिकार्थ—काम की कथा पूर्ण कर अब क्रोध की वार्ता निरूपण करते हैं, इस प्रकार निरूपण करने से कंसादि की तरह दुष्टों के मोक्ष का यहाँ उत्तरार्ध के इस सत्रहवें अध्याय में वर्णन करते हैं, बाण के प्रसङ्ग में भगवान् ने इसको स्थान दिया, इसके सहायक महादेव पर दया की एवं सहायक रुद्रगण ने जीवित किया तथा उसका गर्व दूर किया, यहाँ उससे सर्व कार्य विपरीत किए जैसे कि वहाँ प्रह्लाद को वंश रक्षा वचन देने का कारण सर्व की रक्षा की और यहाँ सर्व पोषण करने वालों का नाश किया, वहाँ विपक्षियों का वेवल दर्प दूर किया, यहाँ उनका नाश किया, इस प्रकार यह मोक्ष रूप निरोध बाणासुर के निरोध से पृथक् प्रकार का है । जो लौकिक वाक्यों से भी काम में प्रवृत्ति करते हैं, उनका भी भगवान् कृष्ण मोक्ष करते हैं जैसे कि गोपियाँ बलदेव के साथ काम में प्रवृत्त हुई, उनका भी मोक्ष किया है, यह सर्वथा सत्य है, यों निरूपण किया जाता है । अज्ञों (अज्ञानियों) के कहने से अपने को भगवान् समझ पौण्ड्रक ने भगवान् को कहलाया कि मैं भगवान् हूँ, तू भूठे ही मेरे चिन्ह धारण कर अपने को भगवान् प्रसिद्ध करता है, अतः वे चिन्ह छोड़ दे और अपने को भगवान् न कह अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जा ! इस प्रकार के वचन श्रवण कर भगवान् ने वहाँ पधार कर अपना ब्रह्मत्व सिद्ध कर दिखाने के लिए तथा अपने में निरोधार्थ इसके आश्रय स्थान काशी तथा मित्र काशीराज एवं सेना आदि सर्व का नाश कर दिखाया, इसका निरोध इसलिए किया है कि यह पहले भक्त था ॥१-४॥

— इति कारिका सम्पूर्ण —

आभास—पूर्वाध्याये पूर्वोक्तानां तामसप्रभृतीनां सात्त्विकत्वापादनात् गोपिकानां सकामत्वात् सात्त्विकप्रकरणे कामः पूरितः । अधुना कंसवत् प्राकृतैरपि वाक्यैः ये भावं कृतवन्तः, तेषां मोक्षरूपो निरोधो निरूप्यते । दैत्यांशानां द्विष्टानां साक्षान्मोक्षो नास्तीति निरोधरूप एव मोक्षो निरूप्यते । तत्रापि कामक्रोधयोः समानकाले प्रादुर्भाव इति शक्तिरपि विभक्तेति यदैव गोपिकानिरोधार्थं भगवान् रामो गतः, तदैव साक्षाद्भगवतोऽपि नियोगं वक्तुं काशीदाहकथा आरम्भ्यते । तस्याः प्रस्तावनामाह ।

आभासार्थ—सात्त्विक प्रकरण में पूर्व कहे हुए तामस प्रभृति भक्तों का पूर्व अध्याय में सात्त्विकत्व सिद्ध करने से और गोपियों सकाम थीं इसलिये उनका काम पूर्ण किया है, अब कंस के समान जो प्राकृत वचनों से भी वैसा भाव करते हैं उनका मोक्षरूप निरोध निरूपण किया जाता है । दैत्यांश



जो शत्रु है उनका साक्षात्^१ मोक्ष नहीं होता है, इसलिये उनका निरोधरूप मोक्ष ही वर्णन करने में आता है, वहां भी काम और क्रोध का समान काल में ही प्रादुर्भाव हुआ है, इसलिये शक्ति भी विभक्त हो गई है जब भगवान् राम गोपिकाओं के निरोध के लिये गये तब ही साक्षात् भगवान् भी पधारे वहां नियोग कहने के लिये काशीदाह की कथा आरम्भ की जाती है, जिसकी प्रस्तावना^२ कहते हैं।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—नन्दव्रजं गते रामे करुषाधिपतिर्नृप ।

वासुदेवोऽहमित्यज्ञो दूतं कृष्णाय प्राहिणोत् ॥१॥

श्लोकार्थ— श्री शुकदेवजी कहने लगे कि राम जब नन्द के व्रज में पधारे, तब करुष देश के मूर्ख राजा ने दूत भेजकर कृष्ण को कहलाया कि मैं सच्चा कृष्ण हूँ ॥१॥

सुबोधिनी—‘करुषान्मानवादास’न्निति कारुषा। एव करुषाः क्षत्रियाः, ते वस्तुतः उत्तरापथराजानः ब्राह्मणभक्ता धर्मापराश्च । तेषामधिपतिः कश्चित्कस्यचिद्वसुदेवनाम्नः पुत्रः पुराणेषु वासुदेवोऽवतरिष्यतीति श्रुत्वा, वसुदेवपुत्रत्वादहमेव वासुदेव इति भगवदिच्छया तस्य वासुदेवोऽहमिति निरन्तरं भावनोत्पन्ना । तद्देहात्मवादिन एवेति बहिर्मुखस्यैव वासुदेवभावनया स्वदेशं परित्यज्य काश्यां वासे बुद्धिरुत्पन्ना । ततः काशिराजेन सह मैत्री विधाय काश्यामेव स्थितः। एवं स्थितौ वासुदेवद्विविध्यं शाल्सिद्धं न भव-

तोति स्वस्मिन् वानुदेवभावना दृढेति अन्तर्बहिरे-करुषता युक्तेति बहिरपि भगवच्चिह्नान धृत्वा; स्थानवशान्महादेवकृपया च सानुभावोऽपि सन्, भगवतो दुर्गाश्रयणादिव्यामोहकलीलां संचिन्त्य वासुदेवे तदनुपपन्नमिति स्वयमेव वासुदेवः, नान्य इति निश्चित्य, मुख्यनिषेधार्थं कृष्णाय भगवते दूतं प्राहिणोत् । ननु स्वयं वासुदेवो भवत्येव, नापि द्वैधमस्ति, अवतारबाहुल्येऽपि समानकालीने न विरोध इति किमिति प्राहिणोदिति चेत् । तत्राह अज्ञ इति । नायं किञ्चिच्छास्त्रतोऽनुभवतो वा जानाति ॥१॥

व्याख्यानार्थ— करुषान्मानवादासन्’ इस वाक्य के अनुसार कारुष ही करुष क्षत्रिय कहे जाते हैं, वे सचमुच धर्म परायण और ब्राह्मण भक्त उत्तरापथ राजा हैं, उनका स्वामी किसी वसुदेव क्षत्रिय का पुत्र था, उसने पुराणों में सुना कि वासुदेव अवतार ग्रहण करेगा, अतः वसुदेव का पुत्र होने से मैं ही वासुदेव रूप से अवतरित हुवा हूँ, भगवदिच्छा से उसके मन में यह भावना निरन्तर होने से बढ़ती गई, उस देहात्मवादी बहिर्मुख की ऐसी भावना दृढ़ हो जाने से यह बुद्धि हुई कि मुझे काशी में चल कर रहना चाहिये, अनन्तर काशीराज से मैत्री कर काशी में आकर रहे । काशी में निवास के बाद मैं वासुदेव हूँ यह निश्चय हो जाने पर उसको विचार आया कि वासुदेव दो तो शास्त्र से सिद्ध न होंगे और वैसे चिन्ह भी मुझे प्राप्त नहीं है अतः प्रथम वे चिन्ह धारण किये, काशी में रहने से एवं काशीराज की मित्रता से प्रभाव वाला भी हो गया, तब भगवान् की व्यामोह में पटकने वाली द्वारका



रूप दुर्ग में पलायन करना आदि लीलाओं का स्मरण करते २ निश्चय कर बैठा कि इस प्रकार भाग जाना यह कार्य अवतार वासुदेव कभी नहीं करता अतः मैं ही वासुदेव रूप से अवतार हुवा हूँ, अन्य नहीं हुवा है, मुख्य के निषेधार्थ भगवान् कृष्ण के पास दूत को भेजा, शङ्का होती है कि दूत क्यों भेजा ? भले आप भी वासुदेव होवे इसमें किसी प्रकार दुविधा नहीं है, समान काल में यदि बहुत अवतार हो जावें तो इसमें कोई विरोध नहीं है तो फिर दूत के भेजने की आवश्यकता नहीं थी, इस शङ्का का निवारण करने के लिये श्री शुकदेवजी ने इसको 'अज्ञ' विशेषण दिया है, अर्थात् मूर्ख है यह शास्त्र अथवा अनुभव से कुछ जानता ही नहीं है अतः दूत भेजा ॥१॥

श्रामास— तर्हि कथमेवं कृतवानित्याशङ्क्याह त्वं वासुदेवो भगवानिति ।

श्रामासार्थ— यों किस लिये किया ? यह 'त्वं वासुदेवो' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक— त्वं वासुदेवो भगवानवतीर्णो जगत्पतिः ।

इति प्रस्तोभितो बालैर्मेन आत्मानमच्युतम् ॥२॥

श्लोकार्थ— बालकों ने इसको बहकाया कि जगत् के पति वासुदेव भगवान् आप ही अवतरित हुए हैं, जिससे अपने को अच्युत भगवान् मानने लगा ॥२॥

सुबोधिनी—बाला अनभिज्ञाः दुर्जमूर्खबालकाः ते वासुदेवो लोके अतवीर्ण इति श्रुत्वा सन्निहित-परित्यागे कारणाभावात् निकटस्थमेव तं वासुदेवं वासुदेवनामानं पौण्ड्रक इत्यपराभिधेयं त्वं वासुदेव इत्याहुः । अतो बालकवाक्यात् तौ प्रस्तोभित आत्मानमच्युतं मेने । वासुदेव इति	योगव्यावृत्त्यर्थं भगवानिति । तादृशस्य कथं जन्मेत्याशङ्क्याह अवतीर्ण इति । किमर्थमवतीर्ण इत्याकाङ्क्षायामाह जगत्पतिरिति । जगदुद्धारा-र्थमवतीर्ण इत्युक्तं भवति । एवं प्रस्तोभितः प्रोत्साहितो बालकवत् आत्मानमच्युतमेव मेने । ॥२॥
--	---

ध्याख्यायं— 'बाल' पद का भावार्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि जो उलटा समझते हैं, मूर्ख और बेसमझ हैं, वे बालक हैं, ऐसे लोगों ने यह सुना था कि वासुदेव ने लोक में अवतार लिया है, जो समीप है उसका बिना कारण त्याग करना योग्य नहीं, निकट स्थित उस वासुदेव को जिसका दूसरा नाम पौंड्रक था, उसको कहने लगे कि तुम ही वासुदेव हो, अतः ऐसों के बहकाने में आकर अपने को अच्युत मानने लगा, केवल वासुदेव अच्युत कैसे ? इसलिये भगवान् विशेषण दिया है, यदि भगवान् है तो उसका जन्म कैसे ? वे तो अजन्मा है, इस पर कहते हैं कि जन्मा नहीं है किन्तु, अवतार धारण किया है, क्योंकि जगत् के पति है इसलिये जगत् के रक्षायें प्रकट हुवे हैं । इस प्रकार उत्साह दिलाने पर बालक की तरह अपने को अच्युत ही समझने लगा ॥२॥

श्लोक— दूतं च प्राहिणोन्मन्दः कृष्णायाव्यक्तवत्सने ।

द्वारकायां यथा बालो नृपो बालकृतोऽबुधः ॥३॥



श्लोकार्थ—जैसे खेल करते हुए द्वारका में बालक किसी बालक को राजा बनाकर मुख्य राजा के पास अपना दूत भेजे, वैसे इस मूर्ख ने भी बालकों के कहने से अपने को अच्युत समझ, जिनकी गति को कोई नहीं जान सकता है, वैसे श्रीकृष्ण के पास अपना दूत भेज दिया ॥३॥

सुबोधिनी—तदा दृढतवुद्धिर्बाधिकेति अज्ञत्वात् बहिर्मुखत्वात् मुख्याद्वैतमज्ञात्वा बाह्यद्वैतं निराकर्तुं दूतं च प्राहिणोत् । बहिर्मुखस्य तथाभावनमेवैकोपराधः, सुतरां भगवते दूतप्रेषणमिति अपराधसमुच्चयार्थश्चकारः । ननु कथं सद्भिर्न निवारित इति चेत् । तत्राह मन्द इति । मन्दस्तुच्छः । हीनबुद्धिरिति यावत् । तेन सद्भिरुपेक्षित इत्यर्थः । तर्हि स्वापेक्षयापि भगवत्युत्कर्षं पश्यन् गोवर्धनोद्धरणदिकमपि शृण्वन् कथं प्रतिस्पर्धा कृतवानित्याशङ्क्याह अत्यक्तवर्त्मने कृष्णायेति । भगवन्मार्गः कुत्रापि नाभिव्यक्तः अतो माहात्म्यस्य अस्पष्टत्वात्तथाकरणमुचितमेवेत्यर्थः । तथापि

द्वारकायाम् । 'काश्येव द्वारका प्रोक्ता कलो नान्या कथञ्चने'ति वाक्यात् भ्रान्तपरिकल्पितादन्या द्वारकापि न भवतीति निश्चित्य, द्वारकायामेव स्थिताय भगवते नात्यक्कीडायामिव उन्मत्तवाक्यमिव प्रेषितवान् । सर्वथा अप्रसिद्धोऽर्थः पुरःस्फूर्तिकबाधे सर्वसम्मतो न भवतीति । एतादृशोऽपि लोके व्यवहारोऽस्तीति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह यथा बालो नृशो बालकृत इति । सोऽपि स्वक्कीडायामेव स्वकीयेषु वसति, न तु मुख्ये समागत्येति चेत् । तत्राह अबुध इति । एतदपि न जानातोऽत्यर्थः ॥३॥

व्याख्यान—तव दृढत बुद्धि बाध करने वाली हुई, ऐसी बुद्धि अज्ञ होने से और बहिर्मुख होने से ही हुई है, अतः मुख्य जो अद्वैत ज्ञान है उसको न जानने से बाहर का जो अद्वैत है उसके निराकरण करने के लिये दूत भेजा, बहिर्मुख का यों करना भी एक अपराध है, सुतरां भगवान् के पास दूत भेजना यों अपराध समुच्चय के लिये 'च' पद दिया है उसने तो भेजा सत्पुरुषों ने उसको क्यों नहीं रोका, इसलिये ही कहा कि वह हीन बुद्धि वाला एवं तुच्छ है इस कारण से सत्पुरुषों ने उसको उपेक्षा की है, स्वयं भी जानता है कि कृष्ण ने गोवर्धन धारण आदि बड़े २ कार्य किये हैं, जिससे मुझ से वे बड़े हैं, फिर भी उनसे ईर्ष्या क्यों की ? कृष्ण के रहस्य को कोई नहीं जान सकता है, जिससे उनका माहात्म्य प्रकट समझ में नहीं आ सकता है, इसलिये उसका यह करना अनुचित नहीं है तथा 'काश्येव द्वारका प्रोक्ता कलो नान्य कथञ्चने' कलियुग में काशी ही द्वारका कही है दूसरी द्वारका नहीं है इस भ्रान्त परिकल्पित से अन्य कोई द्वारका नहीं है, यह निश्चय कर, द्वारका में स्थित भगवान् को नात्यक्कीड़ा को भांति अथवा उन्मत्त के वाक्य की तरह यों कहलाया, सर्व प्रकार अप्रसिद्ध जो अर्थ है वह आगे स्फूर्ति बाध कहाने पर सर्व के सम्मत नहीं होता है, यों होने पर भी लोक में ऐसा व्यवहार होता रहता है, इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जैसे खेल में बालक कहते हैं, एक बालक को राजा बनाते हैं वह बालक अपने को राजा समझता है, यों होने पर भी वह सच्चे राजा के पास जाकर कहता नहीं है, फिर इसने कैसे कहा इस पर कहते हैं कि 'अबुधः' यह ऐसा बेसमझ है जो जितना बालक समझने हैं उतना भी नहीं समझता है, इसलिये दूत भेजा ॥३॥

आभास—दूतोऽपि स इव भ्रान्त इति तस्य वथं गमनमित्याशङ्कां निवारयन् कृत्यमाह दूतस्त्विति ।



आभासार्थ—दूत भी उसकी भांति भ्रान्त था वह कैसे गया ? इस शङ्का को मिटाने के लिये 'दूतस्तु' श्लोक में उसका कृत्य कहते हैं ।

श्लोक—दूतस्तु द्वारकामेत्य समायामास्थितं प्रभुम् ।
कृष्णं कमलपत्राक्षं राजसन्देशमब्रवीत् ॥४॥

श्लोकार्थ—दूत ने द्वारका में पहुँच कर सभा में स्थित कमल नयन, प्रभु कृष्ण को राजा का सन्देश सुनाया ॥४॥

सुबोधिनी—द्वारकां समागत्य, तत्रापि सभायां स्थितम्, प्रभुं तत्र सभायां स एव प्रभुरिति सर्व-
रङ्गीक्रियमाणम् । वस्तुतोपि कृष्णं सदानन्दम् । दृष्ट्यैव सर्वतापनाशकं सानुभावं कमलपत्राक्षम् ।
राजः पौण्ड्रकस्य सन्देशमब्रवीत् । अनेनावश्यक-
वक्तव्यत्वं दोषाभावश्च सूचितः ॥४॥

व्याख्यार्थ—द्वारका में आकर राजा का सन्देश कृष्ण को सुनाया, कहाँ सुनाया इस पर कहते हैं, सन्देश सुनते समय सभा में बैठे थे, जिससे सिद्ध था कि उनको सबने अपना प्रभु स्वीकार किया है, वास्तविक रीति से वे सदानन्द हैं जिससे दृष्टि से ही सर्व के तापों को नाश करते हैं, क्योंकि आप के नेत्र कमल पत्र जैसे हैं, राजा पौण्ड्रक का सन्देश कहा, इस प्रकार सन्देश देने से उसकी आवश्यकता दिलाई और दोष का अभाव सूचित किया ॥४॥

आभास—राजवाक्यमाह द्वयेन ।

आभासार्थ—दूत दो श्लोकों से राजा ने जो वाक्य कहे हैं वे कहता है ।

श्लोक—वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमेक एव न चापरः ।
भूतानामनुकम्पार्थं त्वं तु मिथ्याभिधां त्यज ॥५॥

श्लोकार्थ—मैं वासुदेव, जीवों पर दया करने के लिए प्रकट हुआ हूँ, मेरे सिवाय कोई दूसरा वासुदेव है ही नहीं, अतः तूने जो भूठा नाम अपने पर धरा है, उसका त्याग कर दे ॥५॥

सुबोधिनी—वासुदेवोऽवतीर्णोऽहमिति । स एक एव भवितुमर्हति । उभयोः प्रयोजनाभावात् । तर्हिदं वाक्यं विपरीतं कुतो न भवतीत्याशङ्क्याह न चापर इति । अपरः यो न राजा सामान्यभावं च प्राप्तः स न भवतीत्याशयः । किञ्च । कार्यमपि त्वयि विरुध्यते, न मयीत्याशयेनाह भूतानामनु-
कम्पार्थमिति । त्वया अक्षौहिणीबधेन भूतानु-

कम्पा न क्रियत इत्यभिप्रायः । नन्वेवमस्तु, दूतः किमिति प्रेष्यत इति चेत् । तत्राह त्वं त्विति । मिथ्याभिधां वसुदेवपुत्रत्वेन वासुदेव इति संज्ञाम् । सरस्वती तु 'सत्त्वं विशुद्धं वसुदेवशब्दित'मिति वाक्यात् शुद्धसत्त्वे आविर्भूतत्वमेव, अतो मिथ्या-
भिधात्वमिति ॥५॥



व्याख्यार्थ— मैं वासुदेव प्रकट हुआ हूँ, वासुदेव एक ही होता है दोनों का कोई प्रयोजन नहीं है, तब यह वाक्य विपरीत क्यों नहीं समझा जावे । इस प्रकार की शङ्का का उत्तर देता है कि दूसरा कोई नहीं है, दूसरा जो राजा नहीं है, केवल, सामान्य भाव को प्राप्त हुआ है वह वासुदेव नहीं बन सकता है, कहने का यह ही आशय है और विशेष यह है कि अवतार के कार्य से भी तेरे कार्य उलटे हैं, अवतार के कार्य भूतों पर दया करनी है, तुमने अक्षौहिणी सेना के नाश से भूतों पर दया न कर उनको कष्ट दिया है, मैं तो भूतों पर दया करने के लिये प्रकट हुआ हूँ, यदि यो है तो मेरे पास दूत क्यों भेजा है, जिसका उत्तर है कि मैंने दूत, तुमको अच्युत समझ नहीं भेजा है, किन्तु जो केवल वसुदेव नाम वाले का पुत्र हूँ, इसलिये 'वासुदेव' हूँ इस प्रकार जो भूठा नाम धर लिया है उसका त्याग कर दे एतदर्थ दूत भेजा है, वह वासुदेव भगवान् अवतरित मानता है जो विशुद्ध सत्व से प्रकट होता है, अतः तुमने मिथ्या नाम धरा है उसे त्याग दे ॥५॥

आभास— ननु योगस्य विद्यमानत्वात्कथं मिथ्यात्वम्, कथं वा त्यागः कर्तुं शक्यत इति चेत् । सत्यम् । नहि लोके पितृपुत्रत्वेन नाम भवति । अन्यथा नामकरणं व्यर्थं स्यात् । अतो योगो विद्यमानोऽपि व्यवहारे न वक्तव्यः । अयमेव च त्यागः यल्लौकिक-वैदिकव्यवहारेषु तन्नामाख्यापनम्, भ्रमजनकत्वात् मिथ्यात्वमिति मन्यते, वासुदेवः परब्रह्मणोऽपि नामेति, अन्यान्यपि चिह्नानि त्यक्तव्यानीत्याह यानि त्वमस्मच्चिह्नानीति ।

आभासार्थ— योग के विद्यमान होते हुवे उसको कैसे भूठा माना जावे, अथवा कैसे छोड़ा जा सकता है ? यदि यों कहो तो आपका कहना सत्य है, किन्तु लोक में केवल पिता के नाम सम्बन्ध से पुत्र का नाम नहीं धरा जाता है, यदि यों माना जाय तो शास्त्र में कहा हुआ नामकरण संस्कार करना व्यर्थ हो जावे, अतः योग होने पर भी व्यवहार में वह नहीं लाना चाहिये, यह ही त्याग है, जो लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों में वह नाम प्रसिद्ध नहीं हैं, अतः भ्रमजनक होने से उसका मिथ्या-पन माना जाता है । 'वासुदेव' परब्रह्म का भी नाम है, यानि त्वमस्मच्चिह्नानि' श्लोक में कहता है कि जो अन्य भी चिन्ह धारण किये वे भी त्याग के योग्य हैं अतः उनको भी त्याग दे ।

श्लोक— यानि त्वमस्मच्चिह्नानि मौढ्याद्विभर्षि सात्त्वत ।

त्यवत्वेहि मां त्वं शरणं नो चेद्देहि ममाहवम् ॥६॥

श्लोकार्थ— हे यादव ! मूर्खता से जो तूँ हमारे चिन्ह धारण कर रहा है, उन्हें त्याग दे और मेरे शरण में आजा, नहीं तो मुझ से लड़ाई कर ॥६॥

सुबोधिनी - पूर्ण स्वमिन् वासुदेवत्वं सिद्ध-
मिति अस्मच्चिह्नत्वं चक्रादीनाम् । नन्वस्मास्वन्य-
चिह्नानि कथं भवेयुः, अतोऽस्मच्चिह्नान्येव तानी-

त्याशङ्कयामाह मौढ्याद्विभर्षीति । अस्मन्मौ-
ढ्याच्चिह्नानि विभर्षीति वास्तवोर्थः । जीवा भग-
वदाविभवेऽपि भगवन्तं न जानन्तीति भगवान्

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥

चिह्नानि विभर्ति । अस्मदिति पञ्चमीबहुवचनम् ।
अस्मद्वेतोः । तत्रापि प्रयोजकधर्मात् मौढ्याद्धे तु-
त्वमुद्धारार्थमेव । नाशस्य पूर्वमेव सिद्धत्वात् ।
सात्त्वतेति वंशनाम्ना वैष्णवनाम्ना वा सम्बो-
धनम् । तेन वैष्णवव्यायेन शङ्खचक्रादिधारणं न
निषिध्यत इति सूचितम् । सत्त्वप्रधानाः सात्त्वाः ।
सात्त्वत इति तसिल् । विसर्गपाठो वा । लोपो वा
द्रष्टव्यः । भक्तजनानुरोधात् विभर्षीति । एवं
विरुद्धनिराकरणं स्वबुद्धयोक्त्वा, स्वस्य कृपालु-

तामाविष्कुर्वन्नाह एहि मां त्वं शरणमिति ।
लौकिकदृष्ट्या सामर्थ्यं न दृष्टमिति यदि नागमनम्,
तदा मम आह्वं देहि । आ समन्तात् त्वं मामेहि
प्राप्नुहि । यथा निकटे गते मम सायुज्यसिद्धिर्भ-
वति । अहमितः त्वत्स्थाने गन्तुमशक्त इति । इद-
मपि कृपाकार्यं स्वयमागत्योद्धरणम् । नोचेत्,
मम वं आह । मह्यमेतावत्सुखं दास्यामीति वद ।
तदा निश्चिन्तयता सन्देहाभावात् त्वत्समीपागमने
यत्नं करिष्यामीति । ६॥

व्याख्यानार्थ—हमारे चिन्ह त्याग दे, चिन्हों को हमारे इसलिये कहा कि प्रथम उसने अपने को
ही वासुदेव सिद्ध कर रखा है, हमारे चिन्ह चक्र आदि, दूसरे से चिन्ह हम में कैसे होंगे ? जिसके
उत्तर में कहता है, कि हमारी मूर्खता के कारण ही धारण करते हो, अर्थात् मैं वासुदेव प्रकट हुवा हूँ
वैसा ज्ञान न होने से धारण कर रहे हो, यदि यह ज्ञान होवे तो धारण न करो, जीव, भगवान् के
प्राकट्य होने पर भी उनको नहीं जानते हैं, इसलिये भगवान् चिन्हों को धारण करते हैं अतः आपने
भी अपने को भगवान् कहलाने के लिये चिन्ह धारण कर लिये हैं, अस्मत् पञ्चमी का बहु वचन है
वह हेत्वर्थ में है उसमें प्रयोजक धर्म मूर्खता है, इनके धारण करने का हेतु तो उद्धार करना ही है,
नाश तो प्रथम ही सिद्ध है, 'सात्त्वत' यह सम्बोधन, वंश वा वैष्णव नाम के कारण दिया है, इससे
यह सूचन किया है कि वैष्णव भाव से शङ्खचक्रादि धारण करना ही है, उसका निषेध हो नहीं सकता
है, सतोगुण जिनमें प्रधान है वे सात्व है, सात्त्वत पद में तसिल् प्रत्यय है, वा विसर्ग पाठ अथवा
लोप है यह देखना वा विचारना चाहिये, अथवा भक्त जनों के उद्धारार्थ धारण करते हो, इस प्रकार
अपनी बुद्धि से विरुद्ध का निराकरण कह कर अपनी कृपालुता प्रकट करते हुए कहते हैं कि तू मेरी
शरण आ, यदि लौकिक दृष्टि से सामर्थ्य नहीं देखी; इस कारण से नहीं आ सकता है तो मुझ से
युद्ध कर, सर्वथा तू मुझे प्राप्त हो, मेरे पास आजा, जिससे निकट आने पर मेरी सायुज्य सिद्धि
होगी । मैं यहां से आपके स्थान पर आने में असमर्थ हूँ, यह भी कृपा का कार्य है, जो स्वयं आकर
उद्धार करो यदि यों न कर सको, तो मुझे कह दीजिये कि तुम्हें इतना सुख दूँगा, तब निश्चित होने
से और सन्देह के अभाव से आपके पास आने का यत्न करूँगा ॥६॥

आभास—एतद्वाक्याद्भगवद्भक्तानां क्रोधे उत्पन्ने तस्य परलोकसिद्धिरपि न भव-
तीति तेषां तच्छ्रवणेन कौतुकरस एव जात इत्याह कथनं तदुपाकर्ण्येति ।

आभासार्थ— इसके वचनों से यदि भगवत् भक्तों को क्रोध उत्पन्न होगा तो उसकी परलोक
सिद्धि भी न होगी, किन्तु भक्तों को क्रोध के स्थान पर इन वाक्यों के श्रवण से कौतुक रस ही उत्पन्न
हुआ जिसका वर्णन 'कथनं तदुपाकर्ण्य' श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—कथनं तदुपाकर्ण्य पौण्ड्रकस्याल्पमेधसः ।

उग्रसेनादयः सभ्या उच्चकैर्जहसुस्तदा ॥७॥



श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि अल्प बुद्धि पौण्ड्रक की अपनी की हुई प्रशंसा सुनकर, सभा में स्थित उग्रसेन आदि सब सदस्य जोर से हँस पड़े ॥७॥

सुबोधिनी—कथनं स्वश्लाघाम् । पौण्ड्रकमिति नाम्ना तस्य हीनत्वमुक्तमेव । पुण्ड्रा हीनाः चण्डालविशेषाः, तद्भावादुत्पन्नः पौण्ड्रः, कुत्सितार्थे क प्रत्ययः, अधमस्वभावोत्पन्नेष्वप्यधम इति । तत्रापि न देह एव तस्य दुष्टः, किन्त्वन्तः-	करणमपीति ज्ञाययितुमाह अल्पमेधस इति । सभ्याः सभाहः । उग्रसेनो राजा येषामिति धर्म-विचारो निरूपितः । सर्व एव विचारकाः प्रमेय-मत्यन्तां बाधितमिति उच्चकैर्जहसुः । तदेति विचारात्पूर्वमेव ॥७॥
--	---

व्याख्यानार्थ—‘कथन’ शब्द जो श्लोक में आया है जिसका अर्थ है ‘अपनी प्रशंसा’ अपनी प्रशंसा वह करता है जो हीन, अर्थात् नीच श्रेणी का होता है यह नीचपन उसके पौण्ड्रक नाम से प्रकट हो रहा है, ‘पुण्ड्र’ जाति हीन चाण्डाल विशेष है, वैसे भाव से उत्पन्न पौण्ड्र भी वैसे ही है, जिसमें फिर ‘क’ प्रत्यय जुड़ने से विशेष हीनता आ गई है, अधम स्वभाव वालों में उत्पन्न भी अधम ही होता है, जिसमें भी इसकी केवल देह दुष्ट नहीं किन्तु अन्ताकरण भी वैसे ही है, यह दिखाने के लिये ‘अल्पमेधसः’ विशेषण दिया है, अर्थात् उसकी बुद्धि भी नीच जैसी हुई, सभ्य अर्थात् सभा में बैठने के योग्य जिनका राजा उग्रसेन था, जिससे दिखाया कि उस सभा में धर्म विचार ही होता था, वहाँ जो सब ही विचारक बैठे थे वे वे वाक्य सुन कर जोर से हँसने लगे, क्योंकि ऐसे शब्दों से प्रमेय बाधित होता है ‘तदा’ पद का भावार्थ विचार करने से पूर्व ही हँसने लग गये अर्थात् वे शब्द अविचारणीय ही थे । ७॥

श्लोक—उवाच दूतं भगवान् परिहासकथामनु ।

उत्स्रक्ष्ये मूढं चिह्नानि यैस्त्वमेवं विकल्पसे ॥८॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार हँसी होने के अनन्तर भगवान् ने दूत को कहा कि हे मूढ! जिन चिन्हों के कारण तू यों बक रहा है, वे चिन्ह मैं छोड़ दूँगा ॥८॥

सुबोधिनी—ततः परिहासकथां कृतवन्तः । अज्ञा इव भूत्वा कीदृशोऽयं वासुदेवः, कथं भक्त-परायण इत्यादिप्रस्तोभनावार्यैः । उपहासकथा-मुक्त्वा स्थितेषु तेषु भगवान् दूतमुवाच । भगवद्भावं प्राप्तो वदतीति तस्य वाक्याकरणे तस्याग्रे भगवत्त्वमपि न सेत्स्यतीति तद्वाक्यं यथाकथञ्चित्सत्यं करोति । उत्स्रक्ष्ये मूढं चिह्नानिति । यैर्धर्मैर्मोक्षं प्रतीतं भवति, जीवत्व वा प्राकृतत्वं वा । मूढेति सम्बोधनम् । लोकप्रतीत्या यैः कृत्वा

त्वमेवं विकल्पसे, आत्मानमेव बहु मन्यसे, यद्यहमज्ञत्वादिधर्मप्राकट्यं न कुर्याम्, तदा तवैवं विकल्पनं न भवतीति । अत एव प्रस्मच्चिह्नानिति जीवधर्माणां ग्रहणं निरूपितम् । मद्धर्मपरित्याग-द्वारा मामेव परित्यज्य मां शरणमेहि । शरण-रूपं मां प्राप्नुहि । जीवाप्रयो भगवान् भवतीति जीवाश्रितश्च तिष्ठतीति । शिष्टमङ्गीकृतं न विरुद्धमिति ॥८॥



व्याख्यानार्थ— दूत के शब्द श्रवण कर सभा में स्थित सम्यं जोर से हँसतें हुवे अज्ञां (प्रज्ञानियों) की तरह यों कहने लगे, कि किस प्रकार का यह वासुदेव है ? कैसे भक्त परायण है ? इत्यादि उपहास के वाक्यों से टट्टा करने लगे जिनके हो जाने के अनन्तर भगवान् दूत को कहने लगे कि भगवद्भाव को प्राप्त हो कर यों वह कहता है, अतः उसका कहना न मानने से उसके पास भगवत्त्व भी न रहेगा, इसलिये थोड़ा सा सत्य करते हैं, जिन धर्मों से मूढ़ता प्रतीत होती है, वा जीवपन अथवा प्राकृतपन को त्याग दूँगा, हे मूढ़ः ! इस सम्बोधन से उसकी मूढ़ता प्रकट की है, लोक प्रतीति से जिन धर्मों के कारण तू यों बक रहा है, अपने को बड़ा मानता है, जो, मैं अज्ञत्व आदि धर्मों को प्रकट न करूँ तो तुम यों बकवास न कर सकी, इसलिये ही तू ने हमारे चिन्ह कहे हैं अथात् जीव धर्म ग्रहण किया है, यों कहा है, मेरे धर्मों के त्याग द्वारा मुझे छोड़ कर मुझे शरण दे, शरण रूप मुझे प्राप्त हो भगवान् ही जीव का आश्रय हैं और जीव का आश्रय बन कर ही रहते हैं, शिष्ट जो अङ्गीकार करते हैं वह विरुद्ध नहीं है ॥८॥

आभास—यदुक्तमहं शरणार्हं इति, तज्जीवानां नाश्रयत्वम्, किन्तु ब्रह्मण एवेति प्राथितं च देयमिति शरणे निर्णयमाह मुखं तदपिधायेति ।

आभासार्थ— यह जो कहा, मैं शरण के योग्य हूँ, वह जीवों का आश्रय लेना नहीं है किन्तु ब्रह्म की ही शरण लेनी है, इसलिये जो प्रार्थना की है वह ही देने योग्य हैं, इसलिये 'मुखं तदपिधाय' श्लोक से शरण में निराणय कहते हैं—

श्लोक—मुखं तदपिधायाज्ञ कङ्कगृध्रबकैर्वृतः ।

शयिष्यसे हतस्तत्र भविता शरणं शुनाम् ॥९॥

श्लोकार्थ—कङ्क, गीध और बक पक्षियों से घिरा हुआ मुख ढक कर, मरा हुआ सोवेगा, तब कुत्तों के शरण जाएगा ॥९॥

सुबोधिनी—तत्रैव काशीनिकटे त्वं शुनां शरणं भविता । अहोरात्रसमसङ्ख्ययाताः तद्देवताः यमालये श्वानः तिष्ठन्तीति प्रसिद्धिः । जीवाश्च श्वान इत्यपरे । 'गतिसामान्यात्' । 'क्षुत्परीतो यथा दीन' इति वाक्यात् । इन्द्रियाणि वा कुत्सितरतानि । त एव हि तादृशं शरीरमाश्रयन्ति । कालावयवा जीवा इन्द्रियाणि वा । मुखपिधानकर्ता पुत्रादिर्भवति । सर्व एव मारणीया इति मुखस्यापिधानमेव । अज्ञेति । ज्ञानिनो ज्ञानेन देहो दग्धो भवतीति शेषप्रतिपत्तिः, यथाकथञ्चिदपि भवतीति अपिधानं 'तदा' न दूषणं भवेत् ।

अतस्तद्व्यावृत्त्यर्थं संबोधनम् । कङ्कास्तामसाः, गृध्रा राजसाः, बकाः सात्त्विका इति त्रिविधेरपि भक्षकैर्नेष्टितः । आधिभौतिकाद्यभिमानिन्यो देवताः सर्वाश्चातः परं न परिपालयिष्यन्तीति । शरणं हि तेषामनुद्वेजकं भवति, तज्जीवतो न भवतीति, हतः सन् यदा शयिष्यसे, तदा शुनां शरणं भवितेति सस्काराभावोऽप्युक्तः । देहस्य येयं प्रतिपत्तिरुक्ता, साऽऽमृता । अन्ते युद्धसमये तत्रासक्तो न भविष्यतीति बोधनार्था । तदेव तस्य मोक्षो भवेदिति मोक्षदात्रा तथैव वक्तव्यम् ॥९॥



व्याख्यार्थ - वहाँ ही काशी के समीप कुत्तों की शरण होगा दिन रात के समान सख्या वाले उसके देवता यमालय में कुत्ते रहते हैं यह प्रसिद्ध है, दूसरे कहते हैं कि वहाँ जीव कुत्ते कहे जाते हैं 'गति सामान्यात्' 'क्षुत्परीतो यथादोन' इस वाक्य से अथवा कुत्तित पदार्थ में रत इन्द्रियां, वे ही वैसा शरीर धारण करते हैं, जीव तथा इन्द्रियां काल के अवयव हैं मुख ढांकने वाला पुत्र आदि होते हैं, सर्व ही मारण योग्य हैं, इसलिये मुख को ढांकना ही है, जानो का लिङ्ग देह ज्ञानाग्नि से दग्ध हो जाता है, शेष की प्रतिपत्ति जैसे तैसे भी होता है, इसलिये तब न ढांकना दूषण नहीं है, अतः उसकी व्यावृत्ति के लिये 'अज्ञ' संबोधन दिया है, कङ्क पक्षी तामस हैं, गोध राजस हैं, बक सात्त्विक हैं यों तीनों प्रकार के भी भक्षकों से वेष्टित होंगे आधिभौतिकादि अभिमानो सब देवताएं इसके बाद पालन नहीं करेंगी, उनका शरण दुःखदायो नहीं होता है, वह जीते हुए नहीं होता है अतः मर कर जब शयन करेगा तब कुत्तों की शरण जायगा इससे यह बताया कि तुम्हारा संस्कार भी न होगा, देह की जो यह प्रतिपत्ति है, वह स्मरण न रहेगी, अन्त में युद्ध के समय उसमें आसक्ति न होगी इसके बोध कराने के लिये यह कहा है, तब ही उसका मोक्ष हावे इसलिये मोक्ष-दाता को इस प्रकार ही कहना चाहिये ॥६॥

आभास—स दूतस्तथैवोक्तवानिति दूतो गुरुस्थाने जात इत्याह इति दूत इति ।

आभासार्थ—उस दूत ने अपने स्वामी पौण्ड्रक को जैसा भगवान् ने कहा, वैसा ही आकाश कहा, जिससे वह गुरु के समान हुआ, यह वर्णन 'इति दूत' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—इति दूतस्तदक्षेपं स्वामिने सर्वमाहरत् ।

कृष्णोऽपि रथमास्थाय काशीमुपजगाम ह ॥१०॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने जो इस प्रकार तिरस्कार के वचन कहे, वे सब दूत ने अपने स्वामी को कह सुनाए, श्रीकृष्ण भी रथ में बैठ काशी को पधारे ॥१०॥

सुबोधिनी—तद्भगवतोक्तमाक्षेपं स्वामिने स पोषक इति तद्वितार्थं सर्वमेवाहरत्, न त्वन्यथा-भावं न्यूनं वा कृतवानित्यर्थः । वाक्यं प्रेषयित्वा स्वयमपि प्रस्थित इत्याह कृष्णोऽपि रथमास्थायेति । यद्यपि भगवान् तत्रैव प्रादुर्भूतः तस्य मुक्तिं दातुं शक्तः, तत्रापि कृष्णः फलरूपः भक्त-कृपालुर्वा । सोऽप्यभेदमार्गेण भक्तो भवतीति,

तत्स्त्रीणां दुःखं भवतीति, यद्यपि भगवता न गन्तव्यम्, तथापि रथमास्थाय रथस्थितः सुखो भक्त-कार्यं करोतीति काशीमुपजगाम । तामसस्थाने भगवदाविर्भावः सहसा न भवतीति स्वयमपि काश्यां न प्रविष्टः, अन्यथा काशीत्वमेव न स्यात् । अत एव उप समीप एव जगाम ॥१०॥

व्याख्यार्थ - भगवान् के कहे हुए तिरस्कार के सब वचन दूत ने स्वामि को उसके हित के लिये कह सुनाये, क्योंकि स्वामी दूत का पोषण करने वाला है, अतः दूसरी तरह का भाव वा किसी प्रकार की न्यूनता भी नहीं की । श्रीकृष्णचन्द्र इस प्रकार दूत द्वारा सदेश भेज कर आप भी रथ में बैठ काशी को पधारे, यद्यपि भगवान् होने से, वहाँ बिना गते हुए भी पौण्ड्रक के हृदय में प्रकट



होकर उस की मुक्ति करने में समर्थ थे इसलिये जाना उचित नहीं भासता है, तो भी पधारे, जिसका कारण आप कृष्ण होने से फलरूप तथा भक्तों पर कृपा करने वाले हैं अतः भक्तों के लिये जाना ही उचित समझ पधारे, वैसा करने से वह भी अभेद मार्ग से भक्त होता जिससे केवल मार्ग का भेद होता भगवत्प्राप्ति में भेद नहीं होता, किन्तु उसकी स्त्रियों को फलरूप कृष्ण के दर्शन न होने से दुःख होता अतः उनको भी दुःख न हो, इस प्रकार सर्व कार्य सुखपूर्वक हो, इसलिये रथ में बैठ सुस्थ हो भक्त कार्य करने के लिये काशी के समीप पधारे, किन्तु काशी में नहीं पधारे क्योंकि काशी तामस स्थान होने से वहां भगवान् का प्राकट्य सहसा नहीं हो सकता है, अतः स्वयं अपनी इच्छा से काशी में प्रवेश नहीं किया यदि प्रवेश करते तो काशीत्व न रहता, इसलिये काशी के समीप ही पधारे ॥१०॥

ग्रामास—सोऽपि ग्रामाद्बहिर्भगवन्तं द्रष्टुमागत इत्याह पौण्ड्रकोऽपीति ।

ग्रामासार्थ—‘पौण्ड्रकोऽपि’ श्लोक से कहते हैं कि वह भी ग्राम से बाहर भगवान् को देखने आया—

श्लोक—पौण्ड्रकोऽपि तदुद्योगमुपलभ्य महारथः ।

अक्षौहिणीभ्यां संयुक्तो निश्चक्राम पुराद्द्रुतम् ॥११॥

श्लोकार्थ—महारथ पौण्ड्रक भी उनका उद्योग देखकर दो अक्षौहिणी सेना लेकर नगर से शीघ्र बाहर आ गए ॥११॥

सुबोधिनी—अन्यथा तस्य काश्यां किं वा भवेदिति तस्य भगवत उद्योगमेतावद्दूरं समागमनम् । महारथ इति युद्धाभिनिवेशात् शौर्यलक्षणम् । स्वधर्म उक्तः । अक्षौहिणीभ्यां सहितः, तस्य	तावत् बलं सहजम् सर्वसामग्र्या सहितो भगवत्समीपं गच्छेदिति । द्रुतं पुरान्निश्चक्रामेति । भगवदिच्छया समागतः कालः तत्रैव शरीरं गृह्णीयादिति भयाद्द्रुतमेव पुरान्निर्गमनम् ॥११॥
--	--

व्याख्यान— पौण्ड्रक काशी से शीघ्र दो अक्षौहिणी सेना लेकर बाहर इसलिये आया कि भगवान् का काशी में कोई कार्य नहीं है तो भी इतनी दूर से उद्यम करने आये हैं, तो मैं भी महारथ हूँ, मुझे भी युद्ध करने का साहस है इस प्रकार अपना शौर्य धर्म प्रकट करने के लिये बाहर आया । अक्षौहिणी के साथ आने से दिखाया, मेरा इतना सहज बल है, इसलिये सर्व सामग्री सहित भगवान् के समीप जाना चाहिये अतः शीघ्र नगर से निकले, भगवदिच्छा से आया हुआ काल वहां ही शरीर ग्रहण करे, यों भय से शीघ्र ही नगर से निकलना हुआ ॥११॥

ग्रामास—काशिराजोऽपि तन्मित्रमिति तस्याप्यर्धगतिर्भविष्यतीति तस्याप्यागमनमाह ।

प्राभासार्थ— काशीराज भी इसका मित्र था अतः उसकी भी अर्घं गति होगी इसलिये वह भी आया—

श्लोक—तस्य काशिपतिमित्रं पाष्णिग्राहोऽन्वयान्नुप ।

अक्षौहिणीमिस्तिमृभिरपश्यत्पौण्ड्रकं हरिः ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! इसका मित्र काशीराज भी तीन अक्षौहिणी सेना ले, इसकी सहायता के लिए इसके पीछे आया, उस समय भगवान् ने पौण्ड्रक को देखा ॥१२॥

सुबोधिनी—तस्य काशिपतिरिति । मित्रत्वा-
त्पाष्णिग्राहो भूत्वा अन्वयात् । नृपेति सम्बोध-
नम् । राजधर्मस्तथाविध इति ज्ञापयितुम् । तिसृ-
भिरक्षौहिणीभिः सहित इति । तस्य तावदेव

बलम् । तत्र भगवान् प्रथमं कृपया पौण्ड्रकं दृष्ट-
वानित्याह अपश्यत्पौण्ड्रकमिति । भगवज्ज्ञानेन
विद्वः स्वाभाविकं दोषं त्यजतीति । यतो हरिः ।
॥१२॥

व्याख्यार्थ— काशीपति इसका मित्र था अतः इसकी सहायता के लिये हस्त में शस्त्र लेकर इसके पीछे आया 'नृप' संबोधन देकर यह भाव बताया है कि राज धर्म वंसा ही होता है, न केवल हस्त में शस्त्र लिया किन्तु तीन अक्षौहिणी भी साथ में ले आया था, उसके पास इतना ही बल था, वहाँ भगवान् ने कृपा कर पौण्ड्रक को देखा. भगवत्-ज्ञान से वीधे हुवे के सहज सर्व दोष नष्ट हो जाते हैं, क्योंकि वे हरि होने से पापों को हरण कर लेते हैं ॥१२॥

प्राभास—तथा कृपायां तस्य जीवत एव सारूप्यं हेतुत्वेन वर्णयति शङ्खेति ।

प्राभासार्थ— उसको जीते ही सारूप्य मिला जिसका कारण भगवत्कृपा है, उसका वर्णन 'शङ्खार्यसि' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—शङ्खार्यसिगदाशार्ङ्गश्रीवत्साद्युपलक्षितम् ।

बिभ्राणं कौस्तुभमणिं वनमालाविभूषितम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—शङ्ख, चक्र, गदा और शार्ङ्गधनुष तथा श्रीवत्स आदि से उपलक्षित एवं कौस्तुभमणि को धारण किया हुआ वन मालाओं से सुशोभित था ॥१३॥

सुबोधिनी—कृत्रिमसहजभुजेषु शङ्खं अरि-
श्रक्रं च सहजयोर्धृतवान् । गदाशार्ङ्गौ कृत्रि-
मयोः । श्रीवत्सादिचिह्नान्यपि कृतवान् । कौस्तु-
भसमानाकृतिमणिं कृत्वा कण्ठे स्थापितवान् ।

अन्ये तु श्रीवत्सकौस्तुभौ चर्म छित्वा तत्र स्था-
पितवानित्याहुः । तथा सत्यकृत्रिमता स्यादिति ।
वनमालाविभूषितमिति । यथैव नित्यनूतना
भवति, तथा वनमालां सम्पादयतीति ॥१३॥



व्याख्यानार्थ— पौण्ड्रक की चार भुजाओं में दो कृत्रिम थीं और दो स्वभाविक थीं, स्वभाविक दो भुजाओं में शङ्ख और चक्र धारण किये थे, और कृत्रिम (बनावटी) भुजाओं में गदा और शार्ङ्गधनुष धारण किये थे, श्रीवत्स आदि चिन्ह भी धारण किये हुवे थे कीस्तुभ के समान आकृति वाली मणि कण्ठ में पहनी थी. अन्य कहते हैं, कि चर्म का छेदन कर वहां श्रीवत्स और कीस्तुभ धारण की थी, वैसे सच्ची कृत्रिमता होवे, जिस प्रकार नित्य नवीनता देखने में आवे वैसे वनमाला का सम्पादन करता था ॥१३॥

श्लोक—कौशेयवाससी पीते वसानं गरुडध्वजम् ।

अमूल्यमौल्याभरणं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—पीले पीताम्बरधारी, गरुडध्वज, अमूल्य मुकुट तथा आभूषणधारी और जिसके मकराकृति कुण्डल झलक रहे थे ॥१४॥

सुबोधिनी—कौशेयवाससी पीते, भगवानिव वसानः समागतः, न तु कञ्चुकादिकं परिधाय, अन्यथा अन्ते वेषवशादन्यथा गतिः स्यात् । गरुडध्वजमिति । चित्रमयीं दारुमयीं वा गरुड-मूर्ति ध्वजे स्थापितवानिति । भजनीयोऽन्यो

नास्तीति, धर्मश्चान्यो न कर्तव्य इति, भक्तैः सह स्वयमात्मानमेव पूजयतीति, अमूल्यमेव मौलिमाभरणानि च सम्पादितवान् । तथैव मकराकृति-कुण्डले । ध्यानेन भगवदावेशाच्च सर्वे एव भगव-द्धर्मास्तत्राविष्टा इति स्फुरत्पदेन सूचितम् ॥१५॥

व्याख्यानार्थ— पौण्ड्रक, भगवान् के सदृश पीले पट्ट के वस्त्र धारण कर आया, कञ्चुक आदि को धारण नहीं किया, यदि भगवत् समान वेश धारणकर न आते तो अन्त में अन्य प्रकार की गति हो जाय, अपनी ध्वजा में भी भगवत्सदृश गरुड का चिन्ह किया था वह मूर्ति चित्रित थी अथवा लकड़ी की थी अन्य भजन करने योग्य नहीं है यो, और अन्य धर्म नहीं करना चाहिये, भक्तों के साथ स्वयं अपने को ही पूजता है, मुकुट और आभरण भी अमूल्य धारण किये थे वैसे ही मकर समान आकृति वाले कुण्डल पहने थे, ध्यान करने से और भगवदावेश से भगवान् के सब धर्मों ने उसमें प्रवेश किया था, यह भाव स्फुरत् पद से सूचित किया है ॥१४॥

आभास—तस्य रूपं दृष्ट्वा भगवान् संतुष्टः अभिनन्दनं कृतवानित्याह ।

आभासार्थ— उसका वैसा रूप देख कर भगवान् प्रसन्न हुवे और उसका अभिनन्दन करने लगे—

श्लोक—दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यं वेषं कृत्रिममास्थितम् ।

यथा नटं रङ्गगतं विजहास मृशं हरिः ॥१५॥

श्लोकार्थ—जैसे नट स्वांग बनाकर रङ्गभूमि में आया हो, वैसे अपने सम वेष बनाकर सामने खड़े उस कृत्रिम वासुदेव को देखकर,



सुबोधिनी—दृष्ट्वा तमात्मनस्तुल्यं वेषं कृत्रिम-
मास्थितमिति । परं कृत्रिमम् । आस्थितमिति
तत्रासक्तिमंहतीति वेषस्य न केनाप्यंशेन भङ्गः
भूचितः । कृत्रिमत्वे गतिर्न भविष्यतीत्याशङ्क्य,
रसोत्पादकत्वात् 'स्थायैव भावो रस' इति ।

‘अधिकं तत्रानुप्रविष्ट’मिति निरूपयितुमाह यथा
नटं रङ्गगतमिति । अतिहर्षात् भृशं विजहास ।
तस्य सर्वं भावं स्मृत्वा सर्वस्यैवाभिनन्दनं कृत-
वानित्यर्थः । यतो हरिः ॥१५॥

व्याख्यार्थ— सामने खड़े हुए उस कृत्रिम वासुदेव का अपने जैसा वेष देख कर, हरि अति
हर्ष से बहुत हँसे ‘आस्थित’ पद का आशय प्रकट करते हैं कि इस वेष में उसको बहुत आसक्ति थी
इस कारण वेष का कोई भी भाग भङ्ग नहीं था यह सूचन किया है, कृत्रिम था इस से गति न
होगी ? इस शङ्का का निवारण करते हैं कि वह वेष कृत्रिम होते हुए भी रसोत्पादक था, रस
स्थायी भाव ही होता है, विशेष उसमें उस रसरूप का प्रवेश हो गया था, यह निरूपण करने के
लिये कहते हैं, कि जैसे नर स्वांग धारण कर रङ्गभूमि में आता है तो रस प्रकट करता है वैसे ही
इसने भी रस प्रकट किया है इससे अति हर्षित हो बहुत हँसे, उसके सर्व भाव का स्मरण कर सर्व
का ही अभिनन्दन किया, क्योंकि ‘हरि’ हैं ॥१५॥

आभास—ततः सेनायाः प्रथमं भगवत्यतिक्रममाह शूलैरिति ।

आभासार्थ—‘शूलैर्गदादिभिः’ श्लोक से कहते हैं कि सेना ने पहले भगवान् पर आक्रमण किया—

श्लोक—शूलैर्गदभिः परिघैः श्वत्पृष्टिप्रासतोमरैः ।

अस्मिन् पट्टिशैर्बाणैः प्राहरन्नरयो हरिम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—अनन्तर सेना ने भगवान् पर त्रिशूल, गदा, परिघ, बरछी, ऋष्टि,
पास, भाला, खड्ग, पट्टिश और बाणों से प्रहार किया ॥१६॥

सुबोधिनी—शिवप्राधान्यात् प्रथमं शूलग्रह- स्थितं तान् गणयन्तं प्राहरन् ॥१६॥
णम् । दशभिरायुधैः सर्वप्रकारेण हरिं तूष्णीं ॥

व्याख्यार्थ— सेना में शिवजी का प्राधान्य था अतः प्रथम त्रिशूल ग्रहण किया, मोन धारण
कर स्थित हरि पर उनको तुच्छ समझ कर दश आयुधों से प्रहार किया ॥१६॥

आभास—ततोऽक्लिष्टकर्मा भगवान् तां सेनां दूरीकृतवानित्याह कृष्णस्त्विति ।

आभासार्थ— पश्चात् अक्लिष्ट कर्मा भगवान् ने उसे सेना से दूर कर दिया यह वर्णन
‘कृष्णस्तु’ श्लोक में करते हैं—

श्लोक—कृष्णस्तु तत्पौण्ड्रककाशिराजयोर्बलं गजस्यन्दनवाजिपत्तिमत् ।

गदासिचक्रेषुमिरादयद्भृशं यथा युगान्ते हुः पृथक्प्रजाः ॥१७॥



श्लोकार्थ—श्रीकृष्णचन्द्र ने भी हाथी, घोड़े, रथ व प्यादों वाली चतुरङ्गिणी पौण्ड्रक और काशीराज की सेना को, जैसे प्रलय समय में अग्नि सब प्रजा का संहार करती है, वैसे गदा, खड्ग, चक्र और बाणों से नाश किया ॥१७॥

सुबोधिनी - तुशब्देन भगवतो जयमाह । तद्वत् प्रहरणकर्तृ । पौण्ड्रककाशिराजयोरिति सात्त्विकतामसभावापन्नयोरपि । राजसा एव हन्तव्या इति तयोरमारणमाशङ्क्य नामग्रहणम् । अङ्गानि गणयति गजेति तयोरराजसत्वात् सेनाव्यवस्था कदाचिन्न भवेदिति तदर्थं गणना ।

गदादिभिः चतुर्भिरेव आसमन्तादादंयत् पीडित-
वान् । अस्त्रादिसहितैर्बाणैः कृत्वा दाहपर्यन्तं कृत-
वानिति वक्तुं दृष्टान्तमाह यथा गुगान्त इति ।
प्रजानां क्षयौ यस्मात् तादृशो हुतभुक् प्रलया-
ग्निः ॥१७॥

व्याख्यानार्थ—‘तु’ शब्द भगवान् की जय का सूचक है, सात्त्विक तामस भाव को प्राप्त पौण्ड्रक और काशीराज की प्रहार करने वाली जो सेना थी, उसके अङ्ग हाथी, रथ, घांड़े और प्यादे थे जिनसे वह चार अङ्गों वाली थी, राजस ही मारने योग्य हैं इसलिये उनको नहीं मारना चाहिये, ऐसी शङ्का से उनके नाम कहे हैं, पौण्ड्रक और काशीराज सात्त्विक तामस थे इसलिये उनसे कदाचित् सेना की व्यवस्था न हो सके अतः नाम देकर उनकी गणना की है अस्त्रादि सहित बाणों से दाह पर्यन्त कार्य किया, यह सिद्ध कर बताने के लिये दृष्टान्त देते हैं, ‘यथा युगान्ते’ जैसे युग के अन्त में प्रलयार्त्ति प्रजा का सम्पूर्ण क्षय करती है वैसे ही भगवान् ने इसकी सेना का नाश किया ॥१७॥

आभास—ननु महादेवः कथं तत्साहाय्यं न कृतवानित्याशङ्क्याह आयोधनमिति ।

आभासार्थ—महादेवजी ने उनकी सहायता क्यों न की ? इसका उत्तर 'आयोधन' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—आयोधनं तद्वथवाजिकुञ्जरद्विपत्त्ररोष्ट्रं ररिणावखण्डितैः ।

बभौ चितं मोदवह मनस्विनामाक्रीडनं भूतपतेरिवोल्बणम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—भगवान् के चक्र से दूक-दूक किए हुए रथ, घोड़े, हाथी, प्यादे, गधे और ऊँटों से व्याप्त हुई वह रण भूमि ढकी सी हो गई और शोभा पाने लगी, जिससे शूरवीरों की आनन्द दायिनी हो महादेव के रमण की स्थली बन गई तथा साधारणों को भयङ्कर देखने में आई ॥१८॥

सुबोधिनी—चक्रेण खण्डितै रथादिभिः कृत्वा
 आयोधन रणभूमिर्बभौ । तैश्चित्तं व्याप्तं प्रसा-
 रितम् । तर्हि तद्दृष्ट्वा मूलभूतो पलायितौ भवि-
 स्यत इत्याशङ्क्याह मोदवहं मनस्विनामिति ।

मोदं वहतीति भूतपतेर्महादेवस्याक्रीडनं क्रीडा-
स्थानं कृतवान् । तत्राप्युत्थ्वणमत्युत्कटम्, येन
भक्तोऽपि न स्मृतः ॥१८॥



व्याख्यानार्थ — भगवान् के चक्र से खण्डित रथ आदि से रंगभूमि सुशोभित होने लगी और उनसे व्याप्त थी, ऐसी रणभूमि को देख कर तो पौण्ड्रक और काशीराज तो भाग गये होंगे ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि ऐसी रणभूमि शूरवीर मनस्वियों को तो आनन्द देती है भगवान् ने भूमि को ऐसी बनाकर महादेवजी का क्रीड़ा-स्थान तैयार कर दिया ऐसा जबर्दस्त क्रीड़ा स्थान हो गया जिसमें खेलते हुए महादेव को, भक्त भी याद न रहा ॥१८॥

आभास—अथ पौण्ड्रकवधार्थमुद्यतः स्वोपदिष्टोर्थस्तेन विस्मृतो मा भवत्विति पुनः स्मारयति अथाहेति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—‘अथाह’ इन दो श्लोकों से पौण्ड्रक के वधार्थ तैयार हुए, भगवान् पौण्ड्रक को फिर दूत से कहलाया हुआ उपदेश याद दिलाते हैं ।

श्लोक—अथाह पौण्ड्रकं शौरिर्भो पौण्ड्रक यद्भवान् ।

दूतवाक्येन मामाह तान्यस्त्राण्युत्सृजामि ते ॥१९॥

त्याजयिष्येऽभिधानं मे यत्त्वयाज्ञ मृषा धृतम् ।

व्रजामि शरणं तेऽद्य यदि नेच्छामि संयुगम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् पौण्ड्रक को कहने लगे कि अरे रे पौण्ड्रक ! दूत के मुख से जो तूने मुझे कहलाया था, वे शस्त्र अब छोड़ता हूँ (तुझ पर फेंकता हूँ), हे मूर्ख ! तूने जो मेरा नाम भूठा धारण कर लिया, वह अभी छोड़ा दूँगा, यदि मैं युद्ध करना न चाहूँ तो तेरे शरण आऊँ, मैं तो युद्ध को चाहता हूँ, इसलिए आया हूँ ॥१९-२०॥

सूदोघिनी—शौरिरिति पितृपितामहनाम्ना भगवत उत्कर्षं पौण्ड्रकेति तस्यापकर्षं चाह भो भो पौण्ड्रकेति । तस्य सहजो दोषः भगवता कीर्तित इति तन्नाशो निरूपितः । यद्भवान् दूत-वाक्येन मामाह, तान्यस्त्राणि सहजानि ते तुभ्यं त्वदर्थं उत्सृजामि, यैस्त्वं सहजं स्तादृशो भविष्यसि । मे अभिधानं वासुदेवेति यत्त्वया मृषा धृतम्, भगवद्भावात् पूर्वमेव बालकवाक्येन स्था-

पितम्, तत्त्याजयिष्ये । सहजं तु दास्यामीति । यदि संयुगे न हनिष्यामि, तदा निकटे समागत्य सायुज्यं दास्यामि । इदानीं युद्धार्थमेवागत इति सारूप्यमेव प्रयच्छामि । अयं दोषः दूतप्रेषणा-जातः, अन्यथा सायुज्यमेव भवेत् । यदि तूष्णीं तिष्ठेदित्यर्थः । अनेनैवमपि सूचितम् । इदानीमपि चरणे चेत्यतति, सायुज्यमेव दास्यामीति ॥२०॥

व्याख्यानार्थ—‘शौरि’ नाम, पितृ, पितामह का द्योतक है जिससे भगवान् का उत्कर्ष प्रकट किया है, पौण्ड्रक नाम से इसका अपकर्ष दिखाया गया है, भो, भो, पौण्ड्रक ! कहने से भगवान् ने इसका सहज दोष वर्णन कर इसका नाश निरूपण किया है । भगवान् कहते हैं कि दूत द्वारा जो मुझे कहलाया था, वे सहज अस्त्र तेरे लिये अर्थात् तुझ पर छोड़ता हूँ, जिनसे तू जैसा सहज है वैसा बन



जायेगा, मेरा नाम जो वासुदेव है, वह तूने अपना घर लिया है, अर्थात् अपने को वासुदेव प्रसिद्ध कर रखा है, वह भी भगवद्भाव से, प्रथम ही वालकों के कहने से किया है, वह अब छुड़ाऊँगा जो महज है, वह दिला दूँगा, जो लड़ाई में मारूँगा नहीं तो निकट आकर सायुज्य का दान दूँगा, इस समय युद्ध के लिये आया हूँ इसलिये सारूप्य ही देता हूँ, यह दोष दूत भेजने से तूने किया है, यदि दूत न भेजता तो सायुज्य ही मिलती, अर्थात् चुप रहता तो सायुज्य मुक्ति पाता, इससे यह भी सूचन कर दिया है अब भी यदि चरणों में पड़ो तो सायुज्य ही दूँगा ॥२०॥

आभास—तथाप्यनिवृत्तं भगवान्मारितवानित्याह इति क्षिप्त्वेति ।

आभासार्थ—यों कहने पर भी, वह शरण न आया अतः भगवान् ने मार डाला यह 'इति क्षिप्त्वा' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—इति क्षिप्त्वा सितैर्बाणैर्विरथीकृत्य पौण्ड्रकम् ।

शिरोऽवृश्चद्रथाङ्गेन वज्रेणेन्द्रो यथा गिरेः ॥२१॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार तिरस्कार कर, तीक्ष्ण बाणों से पौण्ड्रक को विरथ कर, जैसे इन्द्र ने वज्र से पर्वत के पक्ष काट दिए, वैसे आपने चक्र से इसका सिर काट दिया ॥२१॥

सुबोधिनी—क्षेपो दोषस्मारणम्. सितैः तीक्ष्णैर्बाणैः अश्वान् हत्वा विरथीकृत्य चक्रेण शिरश्चिच्छेद । भक्तवधोऽनुचित इत्याशङ्क्य, परोपद्रवकारित्वात् मारितवानिति ज्ञापयितुं	दृष्टान्तमाह वज्रेणेन्द्र इति । यद्यपि 'विष्णुः पर्वतानामधिपतिः' इति तेषां पक्षच्छेदोऽनुचितः, तथापि लोकेत्युपद्रवकर्तृत्वाद्धननमिन्द्रद्वारा । पक्षावेव शिरःस्थानीयौ ॥२१॥
--	--

व्याख्यानार्थ—इस तरह उसको दोषों का स्मरण कराते हुए उसे अपमानित किया, अनन्तर तीक्ष्ण बाणों से घोड़ों का नाश कर उसे बिना रथ वाला बना के, चक्र से शिर भी काट डाला, पौण्ड्रक भक्त था जिसका वध अनुचित था, इसका उत्तर देते हैं कि वह दूसरों को कष्ट देने वाला था इस कारण से मारा गया जिसमें दृष्टान्त देते हैं, जैसे विष्णु पर्वतों का स्वामी है, किन्तु वे पर्वत दूसरों के लिए उपद्रव कर्ता बन गये, तब इन्द्र रूप से उनके पक्षों को तोड़ डाला उनके पक्ष शिर के समान हैं ॥२१॥

आभास—सात्त्विकवधमुक्त्वा तामसवधमप्याह तथा काशिपतेरिति ।

आभासार्थ—सात्त्विक वध कह कर 'तथा काशिपतेः' श्लोक से तामस का वध कहते हैं ।

श्लोक—तथा काशिपतेः कायाच्छिर उत्कृत्य पत्रिमिः ।

व्यपातयत्काशिपुर्वा पद्मकोशमिवानिलः ॥२२॥



श्लोकार्थ—इस प्रकार काशी के राजा का सिर जैसे वायु कमल कोश को उड़ाता है, वैसे उड़ाया, उसको बाण पर चढ़ाकर काशी में फेंक दिया ॥२२॥

सुबोधिनी विरथीकृत्य तमप्याक्षिप्य ।
चक्रेण हतो मुक्तो भविष्यतीति, छिन्नमपि शिर-
श्चेद्भगवान् पश्येत् तथापि मुक्तो भवेदिति
कालावयवभूतैः पत्रिभिर्बाणैः शिर उत्कृत्य काशि-
पुर्या व्यपातयत् । साहाय्यं शरीरेणैव कृतमिति

शरीरांशः तस्य मुक्तः कृतः । तस्य मध्ये पतनादि-
कमाशङ्क्य दृष्टान्तमाह पद्मकोशमिवानिल इति ।
अनेन व्याजेन भगवान् महादेवे तच्छिरःकमल-
पूजां कृतवानिति द्योतितम् । २२॥

व्याख्यार्थ—विरथी कर, उसको भी दोषों का स्मरण कराया, वैसे चक्र से मारा जाएगा और यदि कटा हुआ उसका शिर भगवान् देखेंगे तो मुक्त हो जायेगा, इसलिये काल के अवयव रूप बाणों से शिर काट कर और उनके ऊपर चढ़ा के काशीपुरी में गिराया, काशीराज ने पौण्ड्रक की सहायता शरीर से की थी, इसलिये शरीरांश ही मुक्त किया उसका मध्य में गिरने की शङ्का का उत्तर देते हैं कि जैसे वायु से उड़ाया हुआ कमल कोश बीच में गिर पड़ता है, वैसे यह भी मध्य में गिरा, इस विषय से भगवान् ने इसके शिर रूप कमल से महादेव की पूजा की यह भावार्थ प्रकट किया है ॥२२॥

श्राभास—युद्धमुपसहरन् भगवतो द्वारकागमनमाह एवं मत्सरिणं हत्वेति ।

श्राभासार्थ—युद्ध को पूर्ण करते हुए भगवान् द्वारका पधारने लगे जिसका वर्णन 'एवं मत्सरिणं हत्वा' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—एवं मत्सरिणं हत्वा पौण्ड्रकं ससखं हरिः ।

द्वारकामाविशत्सिद्धेर्गोपमानकथामृतः ॥२३॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जिसकी कीर्ति सिद्ध पुरुष गा रहे हैं, वैसे भगवान् मत्सरी पौण्ड्रक को सखा सहित मारकर द्वारका पधारे ॥२३॥

सुबोधिनी—भक्तस्यापि हनने मात्सर्यमेव हेतुः, काशिराजवधे तत्सखित्वं हेतुरिति । ततो भगवत्कृतं लोकशास्त्राविरुद्धमिति ज्ञापयितुं

सिद्धेर्गोपमानकथामृत इत्युक्तम् । एवं सर्वदुःख-
हर्ता तेषां दुःखं दूरीकृत्य द्वारकामाविशत् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—पौण्ड्रक भक्त था तो भी उसको मारा, जिसका कारण मात्सर्य ही था, वैसे ही काशीराज को मारा, जिसका कारण वह मत्सरी पौण्ड्रक का मित्र था, यह भगवान् का कार्य लोक शास्त्र विरुद्ध नहीं है, यह दिखाने के लिये कहते हैं कि सिद्ध पुरुष इस कथामृत का गान कर रहे हैं



जिससे सिद्ध है कि भगवान् का यह कार्य लोक शास्त्र विरुद्ध नहीं है अतः सिद्ध पुरुष इसका गुण गान करते हैं, इस प्रकार सर्व दुःख हर्ता प्रभु उनका दुःख दूर कर द्वारका में प्रविष्ट हुए ॥२३॥

आभास—पौण्ड्रकस्य हननानन्तरं या गतिर्जाता तामाह स नित्यमिति ।

आभासार्थ—पौण्ड्रक के मरने के अनन्तर जैसी गति हुई उसका वर्णन 'स नित्यं' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—स नित्यं भगवद्ध्यानप्रध्वस्ताखिलबन्धनः ।

विभ्राणश्च हरे रूपं स्वरूपं तन्मयोऽभवत् ॥२४॥

श्लोकार्थ—वह पौण्ड्रक नित्य भगवान् का ही ध्यान करता रहता था, जिससे उसके सर्व बन्धन नष्ट हो गए थे और भगवान् का रूप भी धारण किया था, अतः भगवत् स्वरूपमय हो गया ॥२४॥

सुबोधिनी—स तन्मयोऽभवत्, तेन व्याप्तोऽभवत् । आत्मनि परमात्मा आविष्ट तेनावेशी जातः । शरीरेन्द्रियप्राणान्तःकरणसद्भावे आधिदैविकानि शरीरादीनि तत्राविष्टानि, अन्यथा तु स्वतन्त्रावेशीव भगवद्गणो जातः, तत्र च भगवत इव तस्यापि लीला भविष्यतीति मुख्यः पक्षः । विष्णुदेवतानुरूपत्वे तु वैष्णवलोके तथात्वमिति शङ्खचक्रादिभावस्यैव प्राधान्यादिति केचित् । तस्य तथात्वे हेतुमाह । नित्यं भगवद्ध्यानेन प्रध्वरतानि अविद्याकामकर्मादीनि मात्सर्यादीनि च पश्चादुत्पन्नानि उभयविधान्यपि बन्धनानि

यस्य । अनेन देहान्तरोत्पादकं कर्म निवर्तितम् । भगवद्वेशे हेतुमाह विभ्राणश्च हरे रूपमिति । हरिः रूप्यते अनेनेति शङ्खचक्रादिभावसमुदायः । तं बहिर्विभ्रत् । स्वरूपं तु मनसा विभ्रत् । चक्रा-
रात्तत्क्रियादीनां सर्वेषामाधानमुक्तम् । एवं सर्व-
सामग्र्यां तन्मयत्वं युक्तमेव । पौण्ड्रकस्य गतिमु-
क्त्वा तेन सहागतस्य काशिराजस्यापि कथं सा
न गतिरिति शङ्कां वारयितुं तद्रूपज्ञानां तदी-
यानां सर्वेषामेव परमं दोषमाह यावदध्यायपरि-
समाप्तिः । अर्थात्तोऽपि निरुद्धाः, तीर्थमपि निरुद्धं
भवतीति निरूपितम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—वह भगवन्मय हो गया, आर्थात् भगवान् से व्याप्त हो गया, उसकी आत्मा में परमात्मा ने प्रवेश किया, इससे आवेशी हुआ, शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण के होते ही उनमें अधिदैविक शरीरादि प्रविष्ट हो गये, यों न हो तो स्वतन्त्र आवेशी के समान भगवद्गण हुआ, और वहां भगवान् की तरह उसकी भी लीला होगी, यह मुख्य पक्ष है, विष्णु देवता के अनुरूप होने पर तो वैष्णव लोक में ही तथात्व (वैसा पन) होता है, इसलिये वहां शङ्ख, चक्र आदि भाव का ही प्राधान्य है, इस प्रकार कोई कहते हैं, उसके वैसेपन में हेतु कहते हैं, नित्य भगवान् के ही ध्यान करने से जिसके अविद्या काम कर्मादि, और पश्चात् उत्पन्न मात्सर्य आदि ये दोनों बन्धन नष्ट हो गये हैं इससे यह सिद्ध हुआ कि, अन्य देह को उत्पन्न करने वाले कर्म नष्ट हो गये हैं जिससे इसको दूसरी देह धारण करनी न पड़ेगी, ऐसा भगवदावेश क्यों हुआ ? जिसका कारण बताते हैं कि हरि का शङ्ख,



चक्र, गदापद्म वाला रूप उसने धारण किया था जिससे भगवदावेश उसमें हो गया, इन आयुष्यों को तो उसने बाहर से धारण किया था किन्तु स्वरूप को तो मन से धारण कर लिया था 'च' शब्द से उसकी क्रिया आदि भी उसमें प्रविष्ट हो गई थी, इस प्रकार सर्व सामग्री सिद्ध हो जाने पर 'तन्मय' बन होना योग्य ही है। पौण्ड्रक की गति कहकर, उसके साथ आये हुए काशिराज को भी वैसी गति क्यों न हुई ? इस शङ्का को मिटाने के लिये उससे उत्पन्न सब के ही परम दोष, अध्याय समाप्ति पर्यन्त कहते हैं अर्थात् वे भी निरुद्ध हुए, तीर्थ भी निरुद्ध हुआ, यह निरूपण किया है ॥२४॥

श्लोक—शिरः पतितमालोक्य राजद्वारे सकुण्डलम् ।

किमिदं कस्य वा वक्त्रमिति संशिशियरे जनाः ॥२५॥

श्लोकार्थ—राजद्वार में गिरा हुआ कुण्डल सहित मस्तक देख, काशी के निवासी संशयग्रस्त होकर कहने लगे कि यह क्या वा यह किसका मुख है ? ॥२५॥

सुबोधिनी—यद्भगवता पत्रिभिः शिरश्छिन्नम् । तद्वाजद्वारं पतितम्, तदालोक्य । राजत्वज्ञापनाय सकुण्डलमिति । मुखं रुधिराविलमिति कुण्डले अभिज्ञापके निरूपिते । आदौ पतनसमये किमिदं ।	पतितमिति बुद्धिरुत्पन्ना, ततः शिर इति ज्ञात्वा कस्येति, ततो राज्ञो भविष्यतीति ज्ञातेऽपि वक्तु-मयुक्तत्वात्संशिशियरे । संशयं प्राप्ताः ॥२५॥
--	---

व्याख्यार्थ—भगवान् ने दाणों से जो शिर धड़ से अलग किया था वह काशिराज द्वार पर जाके गिरा, वह देख कर काशी निवासी संशय ग्रस्त हो गये, वह राजा है यह जताने के लिये 'स कुण्डलम्' पद दिया है, वह शिर कुण्डल सहित था, कुण्डल राजा धारण करते हैं मुख तो रुधिर से लिप्त होने से पहचानना बठिन था, अतः कुण्डल पहचान कराने वाले कहे, गिरने के समय, यह क्या गिरा ? ऐसी बुद्धि उत्पन्न हुई, बाद में यह है तो शिर किन्तु किसका है ? कुण्डल देखकर समझ गये कि राजा का होगा, यों समझ कर भी निश्चय से कह न सके, इस लिये कहा है कि काशी की जनता शङ्का शील हो गई ॥२५॥

आभास—ततोन्तरङ्गाः समागत्य निश्चयं चक्रुरित्याह राज्ञः काशिपतेरिति ।

आभासार्थ—पश्चात् अपने अन्तरङ्ग सम्बन्धी आये, जिन्होंने पहचान कर निश्चय किया कि 'काशीपति' राजा का शिर है जिसका वर्णन 'राज्ञः काशिपते' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—राज्ञः काशिपतेर्जात्वा महिष्यः पुत्रबान्धवाः ।

पौराश्च हा हता राजन्नाथ नाथेति प्रारुदन् ॥२६॥

श्लोकार्थ—रानियाँ, पुत्र, बान्धव और सेवक आदि ने यह काशीपति राजा का सिर है, यह निश्चय किया, तब हे राजन् ! हे नाथ ! हाय हम मर गए, यों कह कर जोर से रोने लगे ॥२६॥

सुबोधिनी—महिष्यः स्त्रियः बान्धवा गोत्रिणः,
पौराः सेवकाः, चकारादन्येऽपि साधारणाः तथा
वक्तुमनुचितमित्याशङ्क्य, तेषां तुल्यव्यसनत्वं
निरूपयितुमाह हा हता राजन्निति । माहात्म्ये

राजन्निति । स्नेहे नाथेति । यथा स्ववधे राजा
बोध्यते, तद्वद्बोधयांचक्रुरित्यर्थः । चकारात्पितः
स्वामिन्नित्याद्यपि । स्ववधे यथा क्लेशेन रोदनम्,
तथा मुखतो वदन्त एव रोदनं कृतवन्तः ॥२६॥

व्याख्यान—‘महिष्यः’ रानियां, बान्धवा’ गोत्र वाले, ‘पौराः’ सेवक ‘च’ पद से दूसरे भी, साधारणजन वंसा कहना अनुचित है, यह शङ्का कर उनका समान व्यसनपन कहा है ‘हा हता राजन्ः’ हे राजन् आप के जाने से हम मारे गये हैं, राजन् पद कहने से उसका माहात्म्य वर्णन किया, ‘नाथ’ पद से स्नेह प्रकट किया है, जैसे अपने वध पर राजा को सूचित किया जाता है वैसे सूचित करने लगे, ‘च’ शब्द से ‘पित’ ‘स्वामिन्’ हे पिता हे स्वामी आदि शब्द भी कह दिये, अपने वध होने पर जैसे क्रोध से रोना आता है, वैसे ही इस समय मुख से कहते हुए ही रोदन करने लगे ॥२६॥

प्राभास—ततः क्षत्रिय इति मानभङ्गार्थं भगवतैवं प्रदर्शितमिति नौरं सिसाघ-
यिष्ठुः विष्णोः समानौ ब्रह्मशिवौ ज्ञात्वा तयोराराधनार्थं प्रवृत्त इत्याह सुदक्षिणस्तस्य
सुत इति ।

आभासार्य— पश्चात् वह^१ क्षत्रिय है, उसने समझा कि मानभङ्ग करने के लिये भगवान् ने इस प्रकार प्रदर्शन किया है, इस लिये, वैर लेने वाले विष्णु के ही समान ब्रह्मा व शिव हैं यो समझ उनकी आराधना के लिये प्रवृत्त हुआ, जिसका वर्णन 'सुदक्षिणस्तस्य सुतः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—सुदक्षिणस्तस्य सुतः कृत्वा संस्थाविधिं पितुः ।

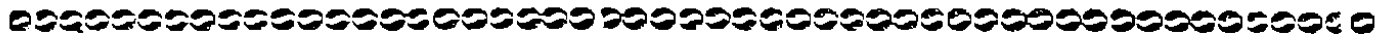
निहत्य पितृहन्तारं यास्याम्यपवित्रं पितुः ॥२७॥

श्लोकार्थ— उसका पुत्र 'सुदक्षिण' था, वह पिता की उत्तर क्रिया कर, पिता के हत्यारे को मार, पिता का गौर लूँगा तथा पितृ ऋण से उऋण हो जाऊँगा ॥२७॥

सुबोधिनी—ब्रह्ममहादेवो पितृहन्ता तस्य सहजो देहादिदोष इति तद्व्यर्थं प्रयत्नं करोतीति तूष्णीं स्थितो । जातश्चायंस्तथैव । बहुदक्षिण-यज्ञादुत्पन्नः । सुदक्षिण इति वैदिकप्रकारे तस्य श्रद्धा, अन्यथा राज्ञामनुवृत्तिमेव लौकिकीं कुर्यात् ।

संस्थाविधिः पारलौकिकी क्रिया । पितृत्वात्तदा-
वश्यकम् । ततोऽपि क्षत्रियो न निष्कृतो भवतीति
पितृहन्तारं स्वादृष्टशरीरादिकं हत्नैव अपचित्ति
यास्यामीति ॥२७॥

व्याख्यार्थ—पिता के मारने वाला, पिता का ही सहज देहादि दोष है; इसलिये उसको मारने के लिये सुदक्षिण प्रयत्न करता है, जिस कारण से ब्रह्मा महादेव मौन कर



स्थित हैं, वैसे ही अर्थ^१ सिद्ध हुआ, अर्थात् सुदक्षिण मारा गया, यह सुदक्षिण जिस यज्ञ में बहुत दक्षिणा दी गई थी उस यज्ञ से उत्पन्न हुआ है जिससे इसका नाम सुदक्षिण है और इसकी वैदिक प्रकार की क्रिया में श्रद्धा है, यदि ऐसा न हो तो जैसे राजा लोग वर लेने के लिये लौकिक क्रिया अर्थात् युद्ध करते हैं वैसे यह भी करता था किन्तु सुदक्षिण होने के कारण वैदिक प्रकार में श्रद्धा होने से यों नहीं किया, पिता की उत्तर क्रिया को, कारण कि पुत्र को यों करना आवश्यक है काशी पति इसका पिता था जिससे प्रथम उत्तर क्रिया की, केवल उत्तर क्रिया करने से क्षत्रिय इस प्रकार मरे हुए पिता के ऋण से उक्तृण नहीं होता है, इसलिये उसने निश्चय किया कि पिता के हन्ता, अपने अदृष्ट शरीरादि को मारकर ही उक्तृण बनूँगा तथा पिता का वर लिया यों समझूँगा ॥२७॥

आभास — स्वबुद्धयै विचारितवानित्याह इत्यात्मनाभिसंधायेति ।

आभासार्थ — 'इत्यात्मनाभिसंधाय' श्लोक में अपने विचारों का वर्णन करते हैं ।

श्लोक — इत्यात्मनाभिसंधाय सोपाध्यायो महेश्वरम् ।

सुदक्षिणोऽर्चयामास परमेण समाधिना ॥२८॥

श्लोकार्थ — इस प्रकार मन में निश्चय कर ब्राह्मण को साथ में लेकर, चित्त एकाग्र कर महादेव की पूजा करने लगा ॥२८॥

बुद्धिनी — सोपाध्यायो ब्राह्मणसहितः । महेश्वरमिति । ब्राह्मणादपि महादेवं महान्तं मन्यते । कदाचिद्ब्राह्मणाः, ब्रह्मण्यो भगवानिति पक्षपातं कुर्युरिति । परमेण समाधिनेति । योगेन

महादेवस्तुष्यतीति । परमः साक्षान्महादेवप्रोति-जनकः । समाधिः चित्तौकाग्र्यम्, तेन तुष्यतीति शैवतन्त्रसिद्धत्वात्तथा कृतवान् ॥२८॥

व्याख्यानार्थ — पूजा कराने वाला ब्राह्मण साथ में ले महादेव की पूजा करने लगा, ब्राह्मण (ब्रह्मा) से भी महादेव को विशेष मानता है कदाचित् ब्राह्मण (ब्रह्मा) भी उत्तम हैं, किन्तु भगवान् ब्रह्मण्य होने से उसका पक्षपात करे, इसलिये महादेव का ही अर्चन किया, परम समाधि से अर्थात् योग द्वारा पूजन किया, क्योंकि महादेव योग से प्रसन्न होता है, परम शब्द का भावार्थ है कि इस प्रकार की समाधि से साक्षात् महादेव प्रीति जनक है 'समाधि' का आशय चित्त की एकाग्रता है, यह विषय शैव तन्त्र से सिद्ध होने से वैसे ही किया । २८॥

आभास — ततः प्रीतो महादेवः । ननु भगवत्सान्निध्य एव समाधिः फलसाधक इत्याशङ्क्याह अविमुक्त इति ।



आभासार्थ—यों करने से महादेवजी प्रसन्न हुवे, समाधि तो भगवान् के सान्निध्य में ही फल दायिनी होती है तो यह सान्निध्य के बिना फलोभूत कैसे हुई इस शङ्का का 'प्रीतोऽविमुक्ते' श्लोक में निराकरण करते हैं।

श्लोक—प्रीतोऽविमुक्ते भगवांस्तस्मै वरमदाद्भुवः ।

पितृहन्तृवधोपायं स वव्रे वरमोप्सितम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—अविमुक्त क्षेत्र में काशी विश्वनाथ ने प्रसन्न होकर वर दिया, उसने जिससे पिता के हन्ता का वध हो, ऐसा इच्छित वर पाया ॥२६॥

सुबोधिनी—तत्र हि पूर्वं महादेवः पञ्चमं शिरो ब्रह्मणश्छित्वा, ब्रह्महत्याया व्याप्तः, नारायणाश्रमं गत्वा, पृष्ठो बदरीनाथः. कथं ब्रह्मवधाद्विमोक्त इति, तदाह भगवान्, स्वस्थान गच्छ, यत्र चास्य कपालस्य पतनम्, ततश्चाव्यावृत्तिः कर्तव्येति । ततः काश्यामागतस्य तथा जातमिति, ततः प्रभृति महादेवेन न तद्विमुक्तम् । अतो नित्यसान्निध्यात् महादेवस्तत्र प्रसन्नः, स च भगवान्

भवति । तामसकल्पेषु तद्रूप एव भगवानिति । यत उद्भवरूपः । अतस्तस्मै वरं दत्तवान् । वरं ब्रूहि, दास्यामीत्युक्तवानित्यर्थः । ततः स्वाभिलषितमाह पितृहन्तुरिति । ननु कथमस्य वरत्वम्, दुःखाभावसुखरूपत्वाभावात्, तत्राह ईप्सितमिति । न हि वरो नाम कश्चिन्नयतोऽस्ति । य एव कश्चन मनस्यभिलषितो भवति, स एव वर इति ॥२६॥

व्याख्यार्थ—पूर्व समय में, महादेव ने ब्रह्मा का पांचवाँ शिर काटा था, जिससे महादेव को ब्रह्महत्या लगी थी इस हत्या के निवारणार्थ नारायणश्रम में जाकर बदरीनाथ से पूछा कि यह ब्रह्महत्या कैसे मिटेगी ? तब नारायण भगवान् ने कहा कि अपने स्थान पर जाके रहो, जहां यह कमल गिरेगा वहां से बाहर न निकलना, पश्चात् महादेव काशी में आये, वैसे ही हुआ, उस दिन से महादेव ने उस स्थान को नहीं छोड़ा है अर्थात् काशी का त्याग नहीं किया जिससे इसको 'अविमुक्त' क्षेत्र कहा जाता है, अतः वहाँ नित्य सान्निध्य होने से ही महादेव प्रसन्न हुवे और वह भगवान् है, तामस कल्पों में वह ही भगवान् है क्योंकि उद्भवरूप हैं अतः उसको वर दिया अर्थात् कहा कि वर मांग, मैं दूंगा, इन वचनों को सुनकर उसने, जिससे मेरे पिता के हन्ता का वध हो ऐसा उपाय करो, इस प्रकार का वर मांगा, जो वर महादेव ने दिया, जिस वर से दुःख का अभाव नहीं और सुख की प्राप्ति नहीं वह वर, वर कैसे समझा जावे ? इस शङ्का का निवारण 'ईप्सित' पद से करते हैं कि उसको ऐसा ही चाहिये था 'वर से कोई निश्चित पदार्थ नहीं मिलता है, किन्तु सेवक जो कुछ अपनी इच्छा से चाहता है वह उसकी इच्छानुसार दिया जाता है, वह ही 'वर' है ॥२६॥

आभास—तदा महादेवः उभयथाप्यनिष्टमिति ज्ञात्वा, भक्तहितार्थं व्याजेन साधनमुपदिशति अन्यथा न निवृत्तो भवतीति । शिववाक्यमाह त्वं दक्षिणाग्निं परिचरेति ।

आभासार्थ—तब महादेवजी ने दोनों तरह अनिष्ट समझ, भक्त के हित के लिये बहाने से



साधन का उपदेश दिया, नहीं तो निवृत्त न होता 'दक्षिणाग्नि' श्लोक में शिव ने जो कहा वह कहता है ।

श्लोक—दक्षिणाग्नि परिचर ब्राह्मणैः सममृत्विजम् ।

अभिचारविधानेन स चाग्निः प्रमथैर्वृतः ॥३०॥

साधयिष्यति सङ्कल्पमब्रह्मण्ये प्रयोजितः ।

श्लोकार्थ—महादेवजी ने सुदक्षिण को कहा कि तू ब्राह्मणों के साथ ऋत्विज के समान दक्षिणाग्नि की अभिचार विधि से पूजन कर, वह प्रमथों के सहित तेरा मनोरथ पूर्ण करेगा, यदि वह प्रयोग अब्रह्मण्य पर किया जाएगा, तो पूर्ण होगा ॥३०॥

सुबोधिनी —‘अग्नये रुद्रवते पुरोडाशमष्टाकपालं निर्वपेदभिचरन् एषा वास्य घोरा तनूर्यद्रुद्रतस्मा एवैनमावृश्चति ता जगतिमाच्छ्रती’ति श्रुतेः । दक्षिणाग्नावेवाभिचारहोमः । अत आह त्वं दक्षिणाग्नि परिचरेति । तत्राप्येवाकिना न कर्तव्यमिति ब्राह्मणं सममित्युक्तम् । ऋत्विजां मध्ये ऋत्विजां सम्बन्धी वा । तेन चातुर्होत्रविधानेन कर्तव्यमिति, तत्राप्याभिचारविधानेन, इष्टिप्रकृतिकश्चेत्, न शरमयादि । पशुप्रकृतिकत्वे तु तू परः । पशुः स्फयो यूपः शरमयं बहिः वैभीतिक इधमः । अत्र तु पुरोडाश एव । यतोऽग्निरेव देवः । स च प्रमथैर्वृतः । अतो रुद्रवाने-

वाग्निः । अभिचारसामान्यात् शरमयादिर्वा । ततो यद्भविष्यति, तदाह स चाग्निरिति । तव कः प्रसाद इति चेत् । अग्निरपि प्रसन्नो मत्कृपया, अन्योऽपि प्रसाद इति वक्तुं प्रमथैर्भूतगणैर्वृत इत्युक्तम् । ततस्ते सङ्कल्पं साधयिष्यति । यदि अब्रह्मण्ये प्रयोजितो भविष्यति, अन्यथा विपरीतो भूत्वा त्वामेव भक्षयिष्यतीति भावः । ‘तस्मादग्निचिह्नाभिचरितो प्रत्यगेनमभिचारस्तृणुत’ इति श्रुतेः । सुदक्षिणस्तु भगवन्तं ब्रह्मण्य न जानाति । चकारात्तदङ्गदेवता अपि कार्यं करिष्यन्तीति सूचितम् ॥३०॥

ध्यातव्यार्थ—‘अग्नये रुद्रवते’ श्रुति के अनुसार दक्षिणाग्नि में ही अभिचार होम किया जाता है, इसलिये महादेवजी ने कहा है कि दक्षिणाग्नि की परिचर्या कर, वह भी अकेले नहीं करनी, किन्तु ब्राह्मणों के साथ करनी । ऋत्विक् ब्राह्मणों के मध्य में वा उनका सम्बन्धी हो कर करनी, अर्थात् चातुर्होत्र विधि से करनी चाहिये यों कहा, उसमें भी अभिचार विधान से करनी, यदि इष्टि प्रकृतिक हो तो शरमयादि विधि से नहीं करनी पशु प्रकृतिक होने पर तो, ‘तू पर’ करता, जैसे कि कहा है, ‘पशुः स्फयो यूपः शरमयं बहिवैभीतिक इधमः’ यहां तो ‘पुरोडाश’ ही है, क्योंकि यहाँ अग्नि ही देव है और वह प्रमथों से घिरा हुआ है अतः रुद्रवान् ही अग्नि है, अथवा अभिचार की समानता से शरमयादि है, उससे जो होगा वह कहते हैं कि वह तो अग्नि है, जो करना है वह करेगा आपकी कृपा कौनसी हुई ? इस पर कहते हैं कि मेरी कृपा से ही अग्नि देव प्रसन्न होगा इसके सिवाय दूसरी कृपा यह है, कि वह अग्नि मेरे भूतगणों से घिरी हुई है, उनके द्वारा ही तेरा सङ्कल्प सिद्ध करेगा, यदि वह अब्रह्मण्य पर काम में लायेगा तो लाभ होगा, नहीं तो विपरीत हो कर तेरा ही भक्षण होगा, यों



‘तस्मादग्निचिन्हाभिचरित’ श्रुति में कहा है, सुदक्षिण तो भगवान् को ब्रह्मण्य है यों नहीं जानता है, ‘च’ पद से वह जताया है कि उसके जो अङ्ग देवता हैं वे भी कार्य करेंगे ॥३०॥

आभास—एवं महादेवेनाज्ञप्तस्तथैव चक्रे, परमुद्देश्यो न तदुक्त इति ज्ञापयितुमाह कृष्णायाभिचरन्निति ।

आभासार्थ—इस प्रकार महादेव से आज्ञा प्राप्त कर वैसे ही करने लगा किन्तु उद्देश्य महादेव का कहा हुआ तथा, यह बताने के लिये कहते हैं कि वह ब्रह्मण्य कृष्ण पर करने लगा ।

श्लोक—इत्यादिष्टस्तथा चक्रे कृष्णायाभिचरन् कुधोः ॥३१॥

श्लोकार्थ—महादेवजी ने इस प्रकार आज्ञा की, किन्तु कुबुद्धि सुदक्षिण वह अभिचार का महादेवोपदिष्ट प्रयोग कृष्ण के ऊपर करने लगा ॥३१॥

सुबोधिनी—कृष्णो ब्राह्मणानां फलरूपः, ब्राह्मणहितश्च । अतः कुधोः ॥३१॥

व्याख्यानार्थ—श्रीकृष्ण ब्राह्मणों के फल रूप है और ब्राह्मणों के हितकारी हैं, ऐसे ब्राह्मण श्री-कृष्ण पर सुदक्षिण अभिचार करने लगा, ऐसा क्यों किया ? इस पर कहते हैं कि ‘कुधोः’ कुबुद्धि है इस कारण से यो किया ॥३१॥

आभास—उत्पादने वैगुण्याभावात् अग्निरुत्थित इत्याह अग्निरुत्थितः कुण्डादिति ।

आभासार्थ—उत्पादन में विगुणता के अभाव से अग्नि उत्पन्न हुई, यों ‘अग्निरुत्थितः’ श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—ततोऽग्निरुत्थितः कुण्डान्मूर्तिमानतिभोषणः ।

तप्तताम्रशिखाश्मश्रुरङ्गारोद्गारिलोचनः ॥३२॥

श्लोकार्थ—तब कुण्ड में से अतिभयानक मूर्तिमान् अग्नि निकली, जिसके नखे ताँबे के समान शिखा, दाढ़ी और मूँछ हैं, जिसके नेत्रों में से अङ्गारे बरस रहे हैं ॥३२॥

सुबोधिनी—दक्षिणाग्निकुण्डात् । ज्वाला-
रूपतां वारयति मूर्तिमानिति । प्रसन्नदेवतारूपतां
वारयति अतिभोषण इति । मृत्युरूपतां वक्तुं तं
वर्णयति तप्तताम्रेति द्वयेन । तप्तताम्रसदृशानि

श्मश्रूणि यस्य । अङ्गारानेवोद्गिरन्ति लोचनानि
यस्य । यथा कालीयादेः । अङ्गारोद्गारि-
लोचनः ॥३२॥



व्याख्यार्थ - दक्षिणाग्नि कुण्ड में से जो अग्नि निकली वह ज्वालारूप नहीं थी अतः 'मूर्तिमान्' पद दिया है, अर्थात् स्वरूप धारण कर प्रकट हुई, अग्निदेव प्रसन्न होने से स्वरूप धारण कर उद्भूत हुए होंगे ? इसकी प्रसन्नता का निवारण करने के लिये कहा है कि अति भयानक रूपधारी प्रकट होने से प्रसन्नता का अभाव प्रकट किया है मृत्युरूपता^१ का वर्णन करने के लिये दो विशेषण दिये हैं १-तपे हुए ताँबे के समान शिखा, दाढ़ी और मूछ वाली और दूसरा जिसके आँखों से कालीयादि की भाँति अंगार बरस रहे हैं ॥३२॥

श्लोक—दंष्ट्रोग्रभ्रुकुटीदण्डकठोरास्यः स्वजिह्वया ।

आलिहन्सृक्किणी नग्नो विधुन्वंस्त्रिशिख ज्वलन् ॥३३॥

श्लोकार्थ—दाढ़ें और उग्र भ्रुकुटी दण्ड से बिकराल मुखवाली वह अग्नि, अपनी जीभ से गलफरों को चाटती थी, नग्न होकर देदीप्यमान त्रिशूल को घुमा रही थी ॥३३॥

सुबोधिनी - दंष्ट्रया उग्रः, भ्रुकुटी च दण्ड-
रूपा. एताभ्यां स्वरूपतोऽपि वठोरमास्यं यस्य ।
स्वजिह्वया सृक्किणी आलिहन्ति कार्याभिनिवेशो
निरूपितः । नग्न इति स्वदेहमपि न जानातीत्यु-

क्तम् । तेनाविचार्यैव क्रूरं करिष्यतीति । साधन-
मपि तथाविधमाह विधुन्वंस्त्रिशिखमिति । ज्वल-
न्निति क्रोधादिना ॥३३॥

व्याख्यार्थ - दाढ़ों से उग्र, भ्रुकुटी दण्डरूप थी, इन दोनों से यह भान होता था कि स्वरूप से भी इसका मुख कठोर है, अपनी जिह्वा से गलफरों को चाटने से यह जताता था कि मेरा अपने कार्य करने में अभिनिवेश है 'नग्न' पद से जताया कि अपनी देह का भी इसको भान नहीं है, जिसको अपनी देह का भान नहीं है वह बिना विचार के ही क्रूर कर्म करेगी, जिसके पास साधन भी इसी प्रकार का है, त्रिशूल घुमा रही थी, वह त्रिशूल क्रोध आदि से चमक रहा था ॥३३॥

आभास—अग्नित्वात् स्वभावतोऽपि गतिसामर्थ्यार्थमाह पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यामिति ।

आसाभार्थ—अग्नि होने-से स्वभाव से भी गति सामर्थ्य उसमें होती है, जिसका वर्णन 'पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—पद्भ्यां तालप्रमाणाभ्यां कम्पयन्तवनीतलम् ।

सोऽभ्यधावदृतो भूतद्वारिकां प्रदहेन् दिशः ॥३४॥

१—संस्कृत सुबोधिनी के पुस्तक में यहां टीप्पणी में लिखा है कि 'मृत्युरूपतां वारयति' तप्तताम्रेति पाठः इस पाठ से अर्थ और भाव बदलता है, अतः विचारणीय है—अबूवादक



श्लोकार्थ— ताल जितने लम्बे पाँवों से पृथ्वी तल को कम्पाता हुआ, भूतगणों से घिरा हुआ, दिशाओं को जलाता हुआ द्वारका के सामने दौड़ा ॥३४॥

सुबोधिनी— अग्रे कार्यं भविष्यतीति ज्ञापयितुमिदानीं तस्य महत्सामर्थ्यमाह कम्पयन्नवनीत- लमिति । तस्योद्योगमाह सोऽम्यधावदिति । भूतैः प्रमथगणैर्वृतः ॥३४॥

व्याख्यान— आगे कार्य होगा यह जताने के लिये, उसका महान् सामर्थ्य कहते हैं—कम्पयन् अवनीतलं' पृथ्वी तल को कम्पाता था, उसके उद्यम का वर्णन करते हैं कि प्रथम गण भूतों से घिरा हुआ द्वारका के सामने दौड़ता था ॥३४॥

आभास— ततो द्वारकायामपि तद्दर्शनेन भयं जातमित्याह तमाभिचारदहनमिति ।

आभासार्थ— उसके देखने से द्वारका को भी भय हुआ, जिसका वर्णन 'तमाभिचारदहनं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक— तमाभिचारदहनमायान्तं द्वारकौकसः ।

विलोक्य तत्रसुः सर्वे वनदाहे मृगा यथा ॥३५॥

श्लोकार्थ— उस अभिचार की अग्नि को आतो देख सब द्वारकावासी जैसे वन में आग लगने पर पशु डरते हैं, वैसे ही ये भी डरने लगे ॥३५॥

सुबोधिनी— यतो दिशः प्रदहन् समागतः । अतस्तं दृष्ट्वा उत्पत्तिविचारेणापि आभिचारदहन इति । तत्राप्यायान्तम् । द्वारकौकस इति पूर्वमेव स्थानं त्यक्त्वा यथाकथञ्चिदत्र स्थितम् । अत्रापि भये किं वतंव्यमिति विलोक्यैव तत्रसुः । अहन्त्य- माना अपि । तत्र बलिष्ठाः शूरा न तथा भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह सर्व इति । उपजीव्यनाशात् प्रतिक्रियायामसामर्थ्यात् महतोऽपि भयमिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह वनदाहे यथा मृगा इति । ॥३५॥

व्याख्यान— डरने का कारण बताते हैं, कि वह अग्नि दिशाओं को जलाती हुई आ रही थी, अतः उसको देख डरे और इसकी उत्पत्ति का विचार किया तो यह 'अभिचार' की अग्नि थी तथा वह यहां आ रही है । द्वारकावासी विचारने लगे कि पहले ही अपना स्थान छोड़ कर जंसे तंसे यहां स्थित हुये हैं, यदि यह आकर जला देगी तो हम कहां जायेंगे ? अब क्या करना चाहिये यों विचार करते थे इतने में वह पास में आ गई, उसको देखते ही डर गये, मारे नहीं गये थे तो भी डर गये, वे बलिष्ठ और शूरवीर थे तो क्यों डरे ? वीर और बलिष्ठ तो कभी डरते नहीं फिर भी सब डर गये, कारण जो द्वारका हमारी रक्षा कर रही है, यदि वह जल गई तो, हमारे लिये आपत्ति हो जायेगी । आप डरते क्यों हो ? उसकी रक्षा कर लेना, इस पर कहते हैं कि प्रतिक्रिया करने की हम लोगों में सामर्थ्य नहीं है, जैसे वन में आग लगती है तो पशु डर जाते हैं, क्योंकि वे उस वन की आग को बुझाने में असमर्थ होते हैं वैसे ही हम भी हैं ॥३५॥



आभास—अन्यत्रालब्धशरणाः निश्चिन्तं भगवन्तं विज्ञापयामासुरित्याह अक्षीः सभायां क्रीडन्तमिति ।

आभासार्थ—दूधरा कोई रक्षक देखने में नहीं आया इसलिये निश्चित भगवान् की शरण जाकर प्रार्थना करने लगे उस समय भगवान् सभा में पासों से खेल रहे थे ।

श्लोक—अक्षीः सभायां क्रीडन्तं भगवन्तं मयातुराः ।

पाहि पाहि त्रिलोकेश बह्नेः प्रदहतः पुरम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—वे सब भय से आतुर हो गए, अतः सभा में पासों से खेलते हुए भगवान् के समीप जाकर प्रार्थना करने लगे कि हे त्रिलोकीनाथ ! पुरी को जलाने-वाली इस अग्नि से रक्षा करो ॥३६॥

बुद्धोद्दिनी—अनेनान्तर्वह्निः चिन्ताभावो निरूपितः । सभ्याधानार्थं क्रीडयतीति ज्ञापयितुं सभायामित्युक्तम् । यत उत्थानं न सम्भवति । भगवन्तमिति सर्वथा समर्थम् । मयातुरा इति न तेषामवसरानवसरपरिज्ञानमिति सूचितम् । भीतानां वाक्यमाह पाहि पाहि इति । त्राहि

आहोति क्वचित्पठः । तत्रापि परस्मैपदं छान्द-समिति केचित् । उभयपदी घातुरित्यपरे । त्रिलो-केशेति । महादेवादिनिराकरणेऽपि सामर्थ्यं सूचितम् । पुर प्रदहतो बह्नेः सकाशात् पालयेति, यथा पुरदाहो न भवति, तथा यत्नं कुर्विति ॥३६॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् उस समय पासों से सभा में खेल रहे थे, इससे यह जताया, कि प्रभु अन्दर और बाहर निश्चिन्त होने से आनन्द मग्न है, भगवान् सभा में खेलने से सभा के सम्य है, जिस कारण से, सभा से उठ भी नहीं सकेगे, इस विचार के अनन्तर कहने लगे, कि भगवान् होने से सर्व समर्थ हैं, वहाँ बैठे हुए ही कार्य पूर्ण कर देंगे, वे तो भय से आतुर हो गये थे, आतुरों को प्रार्थना करने का वह अवसर है वा नहीं, इसका ज्ञान नहीं रहता है । डरे हुएों के वे वचन कहते हैं, जो भगवान् को कहे हैं, हे त्रिलोकीनाथ अग्नि से जलने वाली इस पुरी की पालना करो, जैसे पुर का दाह न हो, वैसा यत्न करो मूल में 'पाहि पाहि' पाठ है किसी पुस्तक में 'त्राहि त्राहि' पाठ भी है, यहां त्राहि परस्मैपद दिया है, इस शब्दा के निवारण के लिये कितने ही कहते हैं, कि यह पद छान्दस है दूसरे कहते हैं कि यह घातु 'उभयपदी' है, त्रिलोकीनाथ पद से यह सूचित किया है, कि महादेवादि के निराकरण करने की आप में सामर्थ्य है ॥३०॥

आभास—क्षणं चेत्तो न वदेयुः, तदा भगवान् तूष्णीं स्थितः दाहप्रारम्भपर्यन्तम् । पश्चादतिक्रोधे पक्षान्तराणां मूलच्छेदमेव कुर्यात् । यथा न कदापि भगवद्विपक्षायामुद्गमः स्यात् । तावद्विलम्बं लोका न सहन्त इति भगवान् भक्तकृपालुः तद्वैक्रव्यात् सामिका-यमेव कृतवानित्याह श्रुत्वा तज्जनवैकल्यमिति ।



आभासार्थ—यदि वे द्वारकावासी एक क्षण भी प्रार्थना करने में विलम्ब करते तो भगवान् तब तक चुप रहते जब तक नगर को आग न लगती, आग लग जाने पर, भगवान् को विशेष क्रोध आता, जिससे शत्रुओं की जड़ ही काट डालते, जैसे कभी भी भगवान् के विपक्षी पैदा न होते । आग लगने पर्यन्त सहने की शक्ति लोकों में नहीं थी, इसलिये पहले ही आकर रक्षा के लिये प्रार्थना की, भगवान् तो भक्तों पर कृपा करने वाले हैं, उनकी विक्लवता देख आधा कार्य ही किया, जिसका वर्णन 'श्रुत्वा तज्जन' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—श्रुत्वा तज्जनवैक्लव्यं दृष्ट्वा स्वानां च साध्वसम् ।

शरण्यः सम्प्रहस्याह मा भैष्टेत्यवितास्म्यहम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—अपने भक्तों की व्याकुलता और भय देख, शरणागत की रक्षा करने में प्रवीण परमात्मा ने हँस कर कहा कि डरो मत, मैं आपका रक्षक हूँ ॥३७॥

सुबोधिनी—तत्प्रसिद्धं जनानां वैक्लव्यं दृष्ट्वा च निमित्तं तेषां साध्वसं भयं च दृष्ट्वा स्वयं शरणार्हः प्रहस्याह स्वनाशार्थं कृतवानिति । मा	भैष्टेत्याह । हेतुवाक्यव्यतिरेकेण भयस्यानिवृत्ता-वाह अवितास्म्यहमिति ॥३७॥
---	--

व्याख्यान—भक्तों की प्रकट व्याकुलता देख और उसका कारण तथा भय भी देख, स्वयं शरण के योग्य भगवान् हँसकर कहने लगे कि इसने यह सब अपने नाश के लिये किया है, आप डरो मत, क्योंकि मैं आपका रक्षक बैठा हूँ ॥३७॥

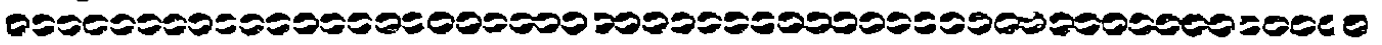
आमास—निदानापरिज्ञानेऽपि सुदर्शनं सर्वार्थमिति सुदर्शनावलम्बनेनैव कदाचित्प्रतीकारं कुर्यादित्याशङ्क्याह सर्वस्यान्तर्बहिःसाक्षीति ।

आभासार्थ—कारण, कि न जानने पर भी, 'सुदर्शन चक्र' सब के लिये है, इसलिये सुदर्शन के आश्रय से ही कदाचित् उपाय करे, यों शङ्का कर रहे थे इतने में भगवान् ने जो किया इसका 'सर्व-स्यान्तर्बहिः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—सर्वस्यान्तर्बहिःसाक्षी कृत्यां माहेश्वरीं विभुः ।

विज्ञाय तद्विघातार्थं पार्श्वस्थं चक्रमादिशत् ॥३८॥

श्लोकार्थ—अन्दर और बाहर सबके साक्षी विभु भगवान् ने महादेव की कृत्या को जानकर, उसके कार्य को नष्ट करने के लिए पास में स्थित चक्र को आज्ञा दी ॥३८॥



सुबोधिनी— माहेश्वरीं कृत्यां-विभुत्वाद्विज्ञाय तद्वधार्थं पार्श्वस्थं चक्रमादिशत्, चक्रं हि सचेतनं चक्ररूपेणैव । विभुत्वान्न चक्रसामर्थ्येन किञ्चित्, किन्तु स्वसामर्थ्येनैवेत्युक्तम् । तस्य विधातः अग्नेः कार्यप्रतिधातः, न तु स्वरूपनाशः । पार्श्वस्थ इति स सर्वथा हृदयाभिज्ञः ॥३८॥

व्याख्यान— आप विभु हैं, इसलिये जान गये कि यह महादेव की कृत्या है; उसके वध के लिये पास में रहे हुए सुदर्शन चक्र को आज्ञा दी, चक्र, चक्र रूप से ही चेतनोंवाला था, श्रीकृष्ण विभु अर्थात् सर्व प्रकार समर्थ हैं, अतः जो कुछ कार्य हुआ जैसे पुर को न जला सकना और सुदर्शन का नाश वह अपनी अर्थात् प्रभु की सामर्थ्य से ही हुआ न कि चक्र की सामर्थ्य से, उसका विधान पद का आशय है उसके कार्य पुर को जलाना जिसका नाश चक्र ने किया न कि कृत्या का स्वरूप से नाश किया, चक्र समीप में स्थित होने से भगवान् का हृदय सर्व प्रकार से जानता था ॥३८॥

आभास—ततो भगवदिच्छानुसारेण चक्रकृत्यमाह तत्सूर्यकोटिप्रतिममिति ।

आभासार्थ— 'तत्सूर्य कोटि प्रतिमं' श्लोक में भगवान् की इच्छानुसार जो किया वह चक्र का कृत्य कहते हैं ।

श्लोक— तत्सूर्यकोटिप्रतिमं सुदर्शनं जाज्वल्यमानं प्रलयानलप्रभम् ।

स्वतेजसा खं ककुभोऽथ रोदसी चक्रमुकुन्दास्त्रमथाग्निमार्दयत् ॥३९॥

श्लोकार्थ—करोड़ सूर्य के समान, प्रलय की अग्नि के सदृश कान्तिवाला, अपने तेज से आकाश, दिशा, स्वर्ग और पृथ्वी को पीड़ा करता हुआ, वह मुकुन्द का चक्र कृत्या के पीछे पड़ा ॥३९॥

सुबोधिनी— सूर्यकोटिसमानतेजस्वं स्वाभाविकी शक्तिः । जाज्वल्यमानमिति तस्योत्साहो निरूपितः । प्रलयानलप्रभमिति तस्य क्रोधावेशः । ततः क्रोधवशादुक्तदृष्टान्तसधर्मा जात इत्याह स्वतेजसा खं ककुभो रोदसी च अर्दयदिति । अन्तरिक्षं दश दिशः द्यावापृथिव्यौ च ज्वालयतीव । एतत्सामर्थ्यं न स्वस्य, किन्तु भगवत इति वक्तुं मुकुन्दास्त्रमित्युक्तम् । एवं सर्वं दग्ध्वेव, पश्चाद्भिन्नप्रक्रमेण अग्निमार्दयत् । आ सर्वतः सर्वथैव भग्नसङ्कल्पं कृतवान् ॥३९॥

व्याख्यान— चक्र का करोड़ सूर्य के समान जो तेज था वह उसकी स्वाभाविकी शक्ति थी, चमक रहा था इससे उसका उत्साह प्रदर्शित किया है, उसकी प्रभा प्रलय की अग्नि के समान थी जिससे दिखाया है, कि वह क्रोध पूर्ण है, पश्चात् क्रोध पूर्ण होने से दिये हुए दृष्टान्तों के समान धर्म इसमें भी प्रकट है, यह बताया है, जैसा कि कहते हैं, अपने तेज से आकाश, दिशा, स्वर्ग और पृथ्वी को पीड़ा करने लगा, मानो उनको जलाने लगा यह सामर्थ्य चक्र की अपनी नहीं थी, किन्तु (वह) भगवान् की है, इसलिये 'मुकुन्दास्त्र' पद दिया है, जिसका आशय है कि 'चक्र' साधारण अस्त्र नहीं है किन्तु मोक्षदाता भगवान् का अस्त्र है जिससे इसमें इतनी सामर्थ्य हुई है, इस प्रकार सब को

आभास—ततः सुदर्शनं भगवद्धृदयं जानातीति काशीमपि पीडितवदित्याह चक्रं च विष्णोरिति ।



आभासार्थ—अनन्तर भगवान् के हृदय की जाननेवाले सुदर्शन ने काशी को भी पीड़ित किया, जिसका वर्णन चक्र' श्लोक में करते हैं।

श्लोक—चक्रं च विष्णोस्तदनुप्रविष्टं वाराणसीं सादृतसभालयापणाम् ।

सगोपुराट्टालककोष्ठसंकुलां सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालाम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—उस कृत्यानल के पीछे भगवान् का चक्र भी गया, जिसने मंच, सभा, घर, हाट, दरवाजे, अट्टालिकाएँ, भण्डार, हस्तीशाला, अश्वशाला, रथशाला, अन्न के कोठे आदि सबको जला दिया ॥४१॥

सुबोधिनी—तदनु कृत्यानलमनुप्रविष्टं सत् वाराणसीं समदहदिति सम्बन्धः । विष्णोश्चक्र-त्वान्न तस्य भयम् । छदीष्येव दग्धानि इति शङ्कां वारयितुं सादृतसभालयापणामित्युक्तम् । अट्टादयः सौघगृहाः । सभास्थानान्यपि । तथा आपणः पण्यव्रीधी । एते अद्यापि लोके सुधाधवलित भवन्ति । साधारणा एत इति विशिष्टानामपि दाहं निरूपयति सगोपुरेति । पुरद्वारसहिताम्, अट्टालकाः हर्म्याः धनिनां गृहाः । कोष्ठानि दुर्गा-दावन्नसंग्रहस्थानानि । सगोकुलाट्टालसगोष्ठसंकु-

लामिति पाठे गोष्ठादीनां गोकुलस्य । तत्रापि प्रसिद्धगोपानां अट्टालकसहितस्य कदाचिदाह न कुर्यादिति शङ्का स्यात्, तन्निवृत्त्यर्थमेवमुक्तम् । लक्ष्म्या आयतनं न पीडयिष्यतीत्याशङ्क्याह सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालामिति । कोशा भाण्डा-रगृहाः । हस्त्याद्यन्नान्तानां च शालाः । रथनिर्माणं यत्र क्रियते, सा रथशाला । स्थापिता अपि रथा गृहेष्वेव तिष्ठन्ति । अन्यथा धर्माद्युपद्रवो भवतीति ॥४१॥

व्याख्यानार्थ - उस कृत्यानल के पीछे प्रविष्ट सुदर्शन ने वाराणसी को जला दिया, वह विष्णु का चक्र है, इसलिये निर्भय है, अलग ही जलाये होंगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिये ही 'सादृतसभालयापणाम्' कहा है, राजभवन, सभास्थान, तथा बाजार जहाँ दुकानें लगी रहती हैं ये सब जला दिये, ये इस समय भी, लोक में सुधा से धवलित अर्थात् स्वच्छ किये जाते हैं, ये जो जलाये वे तो साधारण थे, अब जो विशेष बड़े स्थान जलाये उनका वर्णन करते हैं, नगर के जो भीतर जाने के बड़े दरवाजे थे वे साहूकारों के सुन्दर महल, कोठे, दुर्ग आदि में जो अन्न के सङ्ग्रह के स्थान थे, किसी पुस्तक में 'सगोकुलाट्टाल सगोष्ठसंकुलां' यह पाठ है गोकुल जहाँ गौ आदि के रहने के स्थान हैं, जिसमें प्रसिद्ध गोपों के अट्टालकों (बड़े २ सुन्दर घर) के साथ सब को कदाचित् जलावें, इस शङ्का के मिटाने के लिये यो कहा है लक्ष्मी के निवास स्थान तो नहीं जलाये होंगे ? इस शङ्का का निवारण करने के लिये कहते हैं कि 'सकोशहस्त्यश्वरथान्नशालां' अर्थात् लक्ष्मी के निवास स्थान भी जलाये जैसे कोषागृह (खजाने) जहाँ थे वे स्थान, हस्ती, घोड़े रथ और अन्न आदि के गृह भी जला दिये, जहाँ रथ बनाये जाते हैं, वे रथ शालाएँ होती हैं । बनाए गये रथ तो घरों में स्थापित किये जाते हैं, वहाँ ही पड़े रहते हैं, यों नहीं करे तो धर्मादि उपद्रव हो जाता है ॥४१॥

आभास—एवं सामान्यविशेषप्रकारेण दाहमुक्त्वा सर्वदाहो न भविष्यतीत्याशङ्क्य, विशेषं वदन्नुपसंहरति दग्ध्वा वाराणसीं सर्वाभिति ।



आभासार्थ—यों सामान्य तथा विशेष प्रकार से जलाने को कहा, जिससे यह शङ्का होती है कि इससे समग्र काशी नहीं जली अतः विशेष 'दग्ध्वा वाराणसी' श्लोक में कह कर विषय का उप-संहार करते हैं ।

श्लोक—दग्ध्वा वाराणसीं सर्वा विष्णुचक्रं सुदर्शनम् ।

भूयः पार्श्वमुपातिष्ठत्कृष्णस्याक्लिष्टकर्मणः ॥४२॥

श्लोकार्थ—विष्णु का सुदर्शन चक्र इस प्रकार समग्र वाराणसी को जलाकर फिर अक्लिष्टकर्मा श्रीकृष्ण के पास शीघ्र ही आ गया ॥४२॥

सुबोधिनो—विष्णुचक्रत्वात् कार्यसिद्धिः । सुदर्शनमिति । एवं कर्तुरपि दोषाभावः । पुनरग्रेऽपि कार्य एतादृशं भविष्यतीत्याशङ्क्या कृष्णस्यैव पार्श्वमुपातिष्ठत् । ननु भगवान् स्वयमेव	करिष्यति, किं सुदर्शनेनेत्याशङ्क्याह अक्लिष्टकर्मण इति । न हि भगवान् विलष्टं करोति, कदाचिच्च तथा कर्तव्यं भवति, तदा गतः, अनेन सुदर्शनस्यापि निरोधो निरूपितः ॥४२॥
--	---

व्याख्यानार्थ—द्वारकावासियों की इच्छित कार्य-सिद्धि हो गई अर्थात् कृत्यान्त तथा उसके उत्पादक सब जल कर नष्ट हो गये, यह कार्य-सिद्धि इसलिये हुई कि सुदर्शन विष्णु का चक्र है, यों कर्त्ता दो भी दोष न लगा, फिर आगे भी ऐसा कार्य होगा ? इस शङ्का निवारण के लिये कहते हैं कि फिर नहीं होगा, क्योंकि श्रीकृष्णचन्द्र के पास लौट आया, भगवान् स्वयं करेंगे, सुदर्शन की क्या आवश्यकता है ? भगवान् क्लिष्टकर्म नहीं करते हैं और कदाचित् वैसा कर्त्तव्य होता है, यह कार्य पूर्ण किया तब सुदर्शन भगवान् के पास गया जिससे सुदर्शन का भी निरोध निरूपण किया ॥४२॥

आभास—कदाचिदियं कथा काशीदाहं प्रतिपादयतीति स्वधर्महेतुभिः न श्रोतव्या भवेत्, तदर्थमाह य एतच्छ्रावयेन्मर्त्य इति ।

आभासार्थ—यह कथा काशी के दाह का वर्णन करती हैं, जिससे अपने धर्म के हेतु वालों को अर्थात् काशी के भक्तों को यह कथा नहीं सुननी चाहिये, इस शङ्का का निवारण 'य एतच्छ्रावयेन्मर्त्य' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—य एतच्छ्रावयेन्मर्त्य उत्तमश्लोकविक्रमम् ।

समाहितो वा शृणुयात्सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥४३॥

श्लोकार्थ—जो मनुष्य भगवान् के पराक्रम का यह चरित्र सुनाता है और जो एकाग्र हो सुनता है, वे दोनों सर्व पापों से छूट जाते हैं अर्थात् उनके सर्व पाप नष्ट हो जाते हैं ॥४३॥



सुबोधिनी - हेत्वपेक्षायामाह उत्तमश्लोकस्य
विक्रममिति । उत्तमैः श्लोक्यते इति स्वभावत
एव भगवच्चरित्रं श्रोतव्यम् । तत्रापि विक्रमः
पराक्रमोऽयम् । यः श्रावयेत्, यो वा समाहितः

शृणुयात्, अवहेलां न कुपति, स सर्वपापैः प्रमु-
च्यत इति । भक्तरिव धर्मपरैरपि श्रोतव्यमिति
निरूपितम् ॥४३॥

व्याख्यार्थ - ये भगवान् उत्तम श्लोक हैं, जिसकी उत्तम पुरुष, भक्त, ज्ञानी सदैव प्रशंसा करते
हैं अतः स्वभाव से ही भगवान् के चरित्र श्रवण करने योग्य हैं, जिसमें भी फिर यह चरित्र तो परा-
क्रम का है इसलिये जो मनुष्य यह चरित्र अन्य को सुनाता है और जो यह चरित्र एकाग्र होकर
सुनता है, और जो तिरस्कार नहीं करते हैं, वे दोनों सब पापों से छूट जाते हैं, अर्थात् उनके पाप
नष्ट हो जाते हैं, इससे यह निरूपण किया है कि जैसे यह चरित्र भगवद्भक्त सुनते हैं, वैसे ही, धर्म
परायणों को भी सुनना चाहिये ॥४३॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभाक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध (उत्तरार्ध) ६३वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय

श्रवान्तर प्रकरण का तीसरा अध्याय हिन्दी

संवाद सहित संपूर्ण ।



इस अध्याय के वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

“पौराङ्क वध”

राग बिलावल

हरि हरि हरि सुमिरी सब कोइ । हरि कैँईसत्रु मित्र नहिँ होइ ॥
 ज्योँ सुमिरैँ त्योँ ही गति होइ । हरि हरि हरि सुमिरी सब कोइ ॥
 पौंड्रक अरू कासी के राइ । हरि कोँ सुमिरयो गेर सुभाइ ॥
 अह निसि रहे यह लवलाइ । क्योँ करि जीती जादवराइ ॥
 द्वारावति तिनि दूत पठायो । ताकीँ ऐसी कहि समुझायो ॥
 चारि भुजा मम आयुध चारि । बासुदेव मैँ ही निरधारि ॥
 योँ ही कहि जदुपति सौँ जाइ । कपट तजो कैँ करो लराइ ॥
 दूत आइ हरि सौँ यह कह्यो । हरि जू तिहिँ यह उत्तर दयो ॥
 जो तेँ वही सो सब हम जानी । पौंड्रक की आयुस सियरानी ॥
 कहौ जाइ करै जुद्ध बिचार । साँच भूठ ह्वै है निरधार ॥
 दूत आइ निज नृपहिँ सुनायो । तब उन मन मैँ जुध ठहरायो ॥
 जहाँ तहाँ तेँ सैन बुलाई । तब लगि जदुपति पहुँचे जाई ॥
 पौंड्रक सुनि तब सन्मुख आयो । पाँच छोहिनी दल सँग ल्यायो ॥
 सेना देखि सस्त्र संभारे । जदुपति के लोगनि परहारे ॥
 हरि कह्यो तू अजहूँ संभारि । साँच भूठ जिय देखि बिचारि ॥
 ताकी मृत्यु आइ नियरानी । जो हरि कही सो मन नहिँ आनी ॥
 तब जदुपति निज चक्र संभारयो । ताकी सेना ऊपर डारयो ॥
 सैन मारि पुनि ताकोँ मारयो । तासु तेज निज मुख मैँ धारयो ॥
 ऐसे हैँ त्रिभुवनपति राइ । जिनकी महिमा वेदनि गाइ ॥
 कोउ भजे काहू परकार । सूरदास सो उतरे पार ॥

“सुदक्षिण वध”

राग मारू

नृप सुदच्छिन महादेव व्यायो ।
 नाथ तुव कृपा पितु गेर लीयो चहोँ, पाईँ परि बहुरि योँ कहि सुनायो ॥
 अग्नि के कुण्ड तेँ असुर परगट भयो, द्वारिका देस ताकोँ बतायो ॥
 आइ उन दुंद जब कियो हरि पुरी मैँ, चक्र ताकी ह्वै तेँ भगायो ॥
 हति सुदच्छिन दई जाति वारानसी, कह्यो ते मोहिँ ह्वैँ क्योँ पठायो ॥
 सूर के प्रभु सौँ गेर जिन मन धरयो, आपुनौ कियो तिन आपु पायो ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वासुपतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ६७वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६४वां अध्याय

उत्तरार्ध का १८वां अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

“४था अध्याय”

द्विविद का उद्धार



कारिका—बलस्य चरितं वक्ष्यन् तदभावात्तु पीण्डकः ।

तथोक्तवानिति ह्युक्तं अथदितद्बलस्य हि ॥१॥

कारिकार्थ—पूर्वाध्याय १७वें में जो यह चरित्र वर्णन हुआ है, वह बलरामजी का ही है; पीण्डक ने जो कहा, वह बलरामजी का वहाँ न होना समझकर ही कहा; बलदेवजी के वहाँ प्रकट स्थिति के अभाव में जो कुछ चरित्र हुआ, वह वास्तव में बलरामजी का ही माहात्म्य है ॥१॥

कारिका—बलरूपहरेः कार्यं न समाप्तमिति स्थितिः ।

अतो विशेषतो वक्तुं प्रश्नो राज्ञो निरूप्यते ॥२॥



कारिकार्थ—कारण कि बलाविष्ट हरि का कार्य अभी तक सम्पूर्ण नहीं हुआ है, इसलिए पूर्वाध्याय में कहा हुआ माहात्म्य भी बलाविष्ट हरि का ही है, यह मर्यादा अर्थात् स्थिति है, इस कारण से अर्थात् पूर्वाध्याय में सामान्य प्रकार से कहा, अब विशेष प्रकार से कहने के लिए राजा के प्रश्न का निरूपण किया जाता है; क्योंकि बलरामजी के कार्य की समाप्ति नहीं हुई है ॥२॥

कारिका—अष्टादशे तु द्विविदवधः सम्यङ् निरूप्यते ।

गोपिकानामिवात्रापि स्त्रीणां माहात्म्यबोधने ॥३॥

कारिकार्थ—यहाँ अठारहवें अध्याय में भी बलराम की स्त्रियाँ जो गोपियाँ हैं, उनकी भाँति माहात्म्य ज्ञान की सिद्धि के लिए द्विविद के वध का सम्यक् प्रकार से निरूपण किया जाता है ॥३॥

कारिका—दलस्त्रियोऽन्यथा त्वत्र निरुद्धा न भवन्ति हि ।

तदा विभागो व्यर्थः स्यान्ननिरोधानुपयोगतः ॥४॥

कारिकार्थ—यहाँ दूसरे प्रकार से अर्थात् आवेशी स्वरूप के विना केवल साक्षात् भगवत्स्वरूप से बल की स्त्रियों का निरोध होना सम्भव नहीं था, यदि निरोध सिद्ध न होवे तो शक्ति का विभाग प्रथम किया हुआ है, वह व्यर्थ किया, यों सिद्ध होगा अर्थात् निरोध का न होना स्कन्ध के अर्थ से विरुद्ध होगा, यह बताने के लिए ही 'वि' उपसर्ग दिया है ॥४॥

कारिका—ततः सर्वजनीनं च चरित्रं हि करिष्यति ।

यस्यावेशस्य चरितमेवं तस्य किमद्भुतम् ॥५॥

कारिकार्थ—ऊपर गुप्त चरित्र कहा, उसके बाद लक्ष्मणा के प्रसङ्ग में सर्वजनीन चरित्र करेंगे, इसी तरह विशेष निरोध के प्रकरण में ४ अध्यायों से बलदेवजी के चरित्र का वर्णन किया है, जिसके आवेश स्वरूप का चरित्र ऐसा है तो आवेशी का स्वरूप कैसा अद्भुत होगा ? यह इससे ही समझा जा सकता है, कैमुतिक न्याय से यह भगवच्चरित्र ही है, यह भाव है ॥५॥



आभास—पूर्वाध्याये 'नन्दव्रजं गते राम' इति रामे विद्यमाने नैवं पौण्ड्रको वक्तुं शक्त इति प्रतिभातम् । अतो बलस्य विशेषं (चरित्रं) पृच्छति भूयोऽहमिति ।

आभासार्थ—पूर्वाध्याय में 'नन्दव्रजं गते राम' से बलरामजी का व्रज में जाना कहा, जिससे द्वारका में बलरामजी विद्यमान नहीं थे अतः पौण्ड्रक यों कहने में शक्तिमान् हो सका, यों भासने से 'भूयोऽहमिति' श्लोक से बल का विशेष चरित्र पूछता है ।

श्लोक—राजोवाच-भूयोऽहं श्रोतुमिच्छामि रामस्याद्भुतकर्मणः ।

अनन्तस्याप्रमेयस्य यदन्यत्कृतवान् प्रभुः ॥१॥

श्लोकार्थ—राजा ने कहा कि मैं, अद्भुतकर्मा अनन्त और अप्रमेय बलरामजी ने समर्थ होने से जो अन्य चरित्र किए हैं, वे भी सुनना चाहता हूँ ॥१॥

सुबोधिनी—यमुनाकर्षणादि माहात्म्यं श्रुतम् । अन्यदपि श्रोतुमिच्छामि । अद्भुतकर्मण इति । अलौकिकचरित्रं तस्य वर्तत एव तद्वक्तव्यमिति प्रश्नः । यथा भगवतः कार्यकरणार्थं गते तस्मिन् बह्वेव कार्यं भगवत् आपतितम्, तथान्यदपि भाविष्यतीत्याशयेन अद्भुतकर्मत्वमुक्तम् । अनन्त-

स्येति । चरित्राणामप्यनन्तता, तेन तादृशचरित्र-वाहुल्यम् । अप्रमेयस्येति । स्वतः कल्पयितुमश-क्यम् । अत एव तादृशस्य अन्यदपि चरित्रं श्रोतु-मिच्छामि । तच्च चरित्रं देवाज्जातं न वक्तव्यम्, किन्तु समर्थो भूत्वा यत् कृतवान्, तदेव वक्तव्य-मिति ॥१॥

व्याख्यार्थ—यमुना का आकर्षण आदि माहात्म्य वाले चरित्र सुने हैं, दूसरे भी सुनना चाहता हूँ, क्योंकि बलरामजी के चरित्र अद्भुत है, उनके चरित्र अलौकिक ही हैं वे कहने योग्य हैं इस कारण से राजा ने प्रश्न किया है, जैसे भगवान् के कार्य करने के लिये जाने के अनन्तर भगवान् के ऊपर बहुत कार्य आपड़े अर्थात् भगवान् को बहुत कार्य करने पड़े, वैसे दूसरे भी होंगे ? इस आशय से बलराम को अद्भुत कर्म कहा है, चरित्र एक नहीं अनन्त है, कारण कि आप अनन्त हैं, इसलिये उनके वैसे अद्भुत चरित्र भी बहुत हैं आप अप्रमेय हैं, जिससे उनके चरित्रों की भी कल्पना नहीं हो सकती है, अतएव वैसे बलरामजी के अन्य चरित्र सुनना चाहता हूँ और वे चरित्र दैव से हुवे न कहने चाहिये, किन्तु स्वयं समर्थ हो कर जो किये हैं वे ही कहने चाहिये ॥१॥

आभास—निरोधे स्त्रिय एव मुख्या इति तदर्थमेवान्यदिति निरूपयन् द्विविदवध-माह नरकस्य सखा कश्चिदिति ।

आभासार्थ—निरोध में स्त्रियाँ ही मुख्य हैं, इसलिये उनके लिये ही दूसरा चरित्र किया है यों निरूपण करते हुए द्विविद वध का चरित्र 'नरकस्य सखा कश्चित्' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-नरकस्य सखा कश्चिद्विविदो नाम वानरः ।

सुग्रीवसचिवः सोऽथ आता मौन्दस्य वीर्यवान् ॥२॥



श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि नरकासुर का मित्र कोई द्विविद नाम वाला वानर था, वह रामावतार में सुग्रीव का सचिव था और मन्द का भ्राता था तथा शूरवीर था ॥२॥

सुबोधिनी—नरकासुरो भगवता हत इति, स्त्रीणामेवार्थ इति च, तत्सखाप्येवमेव मारणीय इति, वध्योऽपि स एतावत्कालमुपेक्षित इत्युक्तम् । कश्चिदिति विशेषतः दैत्यत्वेन वा देवत्वेन वा न निर्वक्तव्यः । द्विविद इति । द्विधा वित् ज्ञानं यस्येति द्विःस्वभावोऽयम् । तेन रामावतारे भक्तोऽप्ययं सांप्रतमन्यथा जात इति । अनेन द्वि स्वभावा अपि वध्या एवेति निरूपितम् । वानर इत्युपेक्षायां हेतुः । भगवतैवार्धनराः कृताः, पुनः

किमर्थं वध्या इति । तर्हि तद्वधे रामस्य किं माहात्म्यमित्याशङ्क्य माहात्म्यमाह । अथ भिन्न-प्रक्रमेण । सुग्रीवसचिवः । चत्वारो मन्त्रिणस्तस्य हनुमदादयः, तन्मध्ये परिगणनात् तत्तुल्यतापि निरूपिता । स इति । स्वभावतोऽपि रामायणे प्रसिद्धः । मन्दस्य भ्रातेति रामायणे मन्दशौर्यं निरूपितम् । तद्भ्रातापि तत्तुल्य इति । ततोऽपि विशेषमाह वीर्यवानिति ॥२॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् ने नरकासुर को मारा वह भी स्त्रियों के लिये ही, उसका मित्र भी उसी तरह मरना चाहिये, वह मारने योग्य होते हुए भी इतने समय तक उसकी उपेक्षा की, यों कहा 'कश्चित्' पद कहा, स्पष्ट नहीं कहा कि दैत्य था वा देव था, जिसका नाम 'द्विविद' कहा जिससे यह जताया है कि उसका स्वभाव दो प्रकार का था क्योंकि उसको दो प्रकार का ज्ञान था, इसी कारण से रामावतार में भक्त होने पर भी इस जन्म में अभक्त हो गया, इससे यह बताया कि जो दो स्वभाव वाले हों वे मारने योग्य ही हैं । इतना समय उपेक्षा करने का कारण उसका वानर पन था, भगवान् ने ही उनको आधा मनुष्य बना दिया है तो फिर वे किस लिये मारने योग्य हैं ? उसका यदि वध किया जावे तो फिर रामचन्द्र का क्या माहात्म्य रहेगा ? यों उनके न मारने से राम का माहात्म्य बताया है, अब दूसरे प्रकार से कहते हैं, सुग्रीव के हनुमान् आदि ४ सचिव थे जिनमें एक द्विविद भी था जिससे इसकी उनसे समानता बताई, स्वभाव से भी रामायण में प्रसिद्ध है मन्द का भ्राता था, रामायण में मन्द की शूरवीरता निरूपण की गई है, उसका भ्राता भी उसके समान है उससे भी विशेष होने से 'वीर्यवान' विशेषण दिया है । २॥

आभास—तर्ह्येतादृशो महान् प्रसिद्धश्च कथं विरुद्धो जात इति चेत्, तत्राह सख्युः सोऽपचितिमिति ।

आभासार्थ—यदि कहो, कि ऐसा महान् और प्रसिद्ध विरुद्ध कैसे हो गया ? इसका उत्तर 'सख्युः सोऽपचिति'श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—सख्युः सोऽपचितिं कुर्वन् वानरो राष्ट्रविप्लवम् ।

पुरग्रामाकरान् घोषानदहद्वह्निनोऽसृजन् ॥३॥



श्लोकार्थ — वह बन्दर अपने मित्र का बदला लेने के लिए राष्ट्र में उत्पात करने लगा, जैसे कि पुर, गाँव, खान, घोष इनको जला देता था ॥३॥

बुधोधिनी—नरको भगवता मारित इति अपचिति कुर्वन् क्षुद्रः केनापि न प्रतिपक्षतया विचार्यत इति राष्ट्रविप्लवं कृतवान् । यथा सर्वमेव राष्ट्रं नष्टं भवति । नाशमेवाह पुरग्रामेति । राष्ट्रविप्लवो यथा भवति, तथेति सर्वक्रियासु सम्बध्यते । पुराणि नगराणि । ग्रामा अल्पाः ।

आकरा रत्नादिस्थानानि । घोषा आभोरग्रामाः । लौकिकास्त्रिविधा निरुक्ताः । वैदिकातिदोषसिद्ध-चर्य घोषा उक्ताः । वह्निना वह्निदहेन । अनेन चौर्येण दाहो निरूपितः । अन्यथा वह्निपदं व्यर्थं स्यात् ॥३॥

ध्यायार्थ — नरक को भगवान् ने मारा था वह द्विविद का मित्र था इसलिये उसका बदला लेने लगा, क्षुद्र (नीच) बदला लेते समय यह विचार नहीं करता है, कि किस प्रकार बदला लेना चाहिये, जैसा मैं बदला लेता हूँ वह योग्य है कि नहीं । तुच्छ होने से, इसका कुछ भी ध्यान नहीं करता है, शत्रु होने से जैसा भी भावे वैसा अयोग्य रीति से बदला लेने लगता है, अतः यह द्विविद भी तुच्छ होने से, राष्ट्र का विनाश करने लगा । किस प्रकार किया ? जिसका वर्णन करते हैं, बड़े नगर, छोटे ग्राम, रत्न आदि की खान, गोपालों के ग्राम, जहाँ गोधन आदि रहता है । तीन प्रकार के लौकिक कहे, घोष जो कहे उससे वैदिक दोष की सिद्धि बताई । इन सब को छुप कर आग लगादी, नहीं तो वह्नि पद व्यर्थ हो जाता ॥३॥

आभास — अग्निना उपद्रवमुक्त्वा पर्वतैराह क्वचित्स शैलानुत्पाट्येति ।

आभासार्थ — वह्नि से किये हुए उपद्रव का वर्णन कर, अब क्वचित्स शैलानुत्पाट्यं श्लोक से पर्वतादि से किये हुए उपद्रवों का वर्णन करते हैं ।

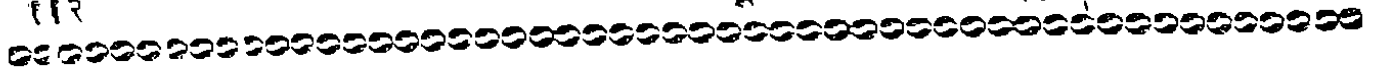
श्लोक — क्वचित्स शैलानुत्पाट्य तर्देशस्थानचूर्णयत् ।

आनर्तान्सुतरामेव यत्रास्तेऽमित्रहा हरिः ॥४॥

श्लोकार्थ — कहीं बड़े पर्वतों को उखाड़ कर देशों में स्थित मनुष्यादि को चूर्ण-कर देता था, आनर्त (देश) में तो विशेष उपद्रव करता; क्योंकि इसके मित्र का हन्ता हरि यहाँ विराजते हैं ॥४॥

बुधोधिनी—स्थानादुत्पाट्य देशोपरि पात-यानित्याह आनर्तान् सुतरामेवेति । तत्र हेतुः । यित्वा देशस्थानचूर्णयदिति । सुतरामेव भगवदी-यत्रास्ते नरकघातो गोविन्दः ॥४॥

व्याख्यार्थ — पर्वतों को स्थान से उखाड़ कर देश के ऊपर फेंक देशस्थों को चूर्ण कर देता था, अधिकतर तो भगवदीय अर्थात् जो आनर्त देश में रहते थे, (उनको) कारण कि, आनर्त देश में इसके मित्र नरकासुर का हन्ता हरि का निवास है ॥४॥



ग्रामास—जलकृतोपद्रवमाह क्वचित्समुद्रमध्यस्थ इति ।

आभासाय—'क्वचित् समुद्र मध्यस्थ' श्लोक जल से किये हुए उपद्रवों को कहते हैं।

श्लोक—क्वचित्समुद्रमध्यस्थो दोर्म्यामुद्धृत्य तज्जलम् ।

देशान्नागयुतप्राणो वेत्ताकूलानमज्जयत् ॥५॥

श्लोकार्थ—कभी समुद्र के बीच में जाकर दोनों हाथों से उसके जल को उछाल-उछाल कर तीर पर स्थित देशों को डूबा देता, यों इसलिए कर सकता था; क्योंकि इसमें दस हजार हस्तियों का बल था ॥५॥

सुबोधिनी—दोर्गामुद्धत्येति बाह्वीः स्थूलता निरूपिता । देशान् समुद्रतीरस्थान् । आपाततः केनापि मारयितुं न शक्य इति वक्तुं नागायुत- प्राण इत्युक्तम् । दशसहस्रहस्तिबलः । वेलाकूले यस्येति मञ्जने सौकर्यमुपपत्तिश्चोक्ता ॥५॥

व्याख्यान 'दोर्भ्यामुद्धृत्य' इससे भुजाग्रों की स्थूलता दिखाई है, 'देशान्' पद से समुद्र के किनारे पर स्थित देशों को कहा है 'नागायुतप्राणः' पद से दश हजार हस्तियों के समान बल वाला या जिससे कोई भी उसको मार नहीं सकता, किनारे पर स्थित कहने से डुबाने में सरलता कही है। १।

ब्रह्मास—साधारणानामुपद्रवमुक्त्वा वैदिकानामप्युपद्रवमाह आश्रमानृषिमुखा-
नामिति ।

आभासार्थ—साधारणों का उपद्रव कहकर 'आश्रमान्' श्लोक से वैदिकों का भी उपद्रव कहते हैं।

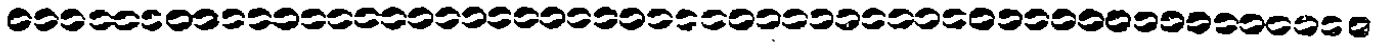
श्लोक—आश्रमानृषिमुख्यानां कृत्वा भगवनस्पतीन् ।

अदृश्यच्छकृन्मूत्रैरग्निन् वैतानिकान् खलः ॥६॥

श्लोकार्थ—ये खल, इतने उपद्रवों से तृप्त न हुआ, फिर मुख्य ऋषियों के आश्रमों के वृक्ष, वनस्पतियों को तोड़ डालता और आश्रम में जाकर विष्टा, मूत्र आदि से उनकी यज्ञ सामग्री तथा अग्नि को अपवित्र करता ॥६॥

सुबोधिनी - तेषां पूर्तस्येष्टस्य च नाशं करो-
तीति वक्तुं भगवन्स्पतीन् कृत्वा वैतानिकान्
वैदिकान् अग्नीन् गार्हपत्यादीन् अदूषयन् । नन्वेवं
कृते स्वस्य कं पुरुषार्थं, न हि ब्राह्मणा न गक-

स्यान्यस्य वा द्विष्टा भवन्ति, तत्राह खल इति ।
दुरात्मायम् । अतो निष्प्रयोजनमपि परोपतांपार्थ
करोताति ॥६॥



व्याख्यान—ऋषियों के यज्ञ का नाश करता था, जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि वन-स्पति को तोड़ता था, गार्हपत्य जो वैदिक अग्नि को मुत्रादि से अपवित्र करता था, यों करने से उसका कौनसा पुरुषार्थ सिद्ध होता था ? कारण कि ब्राह्मण तो नरक वा दूसरे किसी के शत्रु नहीं होते हैं ? फिर इमने ऐसों को क्यों कष्ट दिया ? जिसके उत्तर में कहते हैं 'खल' दुष्ट अन्तःकरण-वाला था, इसलिये बिना प्रयोजन भी दूसरों को दुःख देने के लिये यों करता है ॥६॥

आभास—देशोपद्रवं पृथिव्यप्तेजोभिरुक्त्वा, वैदिकान् देशस्थानपि निरूप्य, अन्यान् स्त्रीपुरुषसाधारण्येन तदुपद्रुतान् निरूपयति पुरुषान्योषितो हस इति ।

आभासार्थ—पृथ्वी, जल और तेजों से किये हुए देश के उपद्रवों को और देशस्थ वैदिकों से किये हुए उपद्रवों को कह कर, अब स्त्री पुरुषादि अन्य साधारणों को जो दुःख दिये, उनका वर्णन 'पुरुषान् योषितो हप्तः' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—पुरुषान् योषितो हप्तः क्षमाभृद्द्रोणीगुहासु सः ।

निक्षिप्य चाप्यधाच्छैलेः पेशस्कारीव कीटकम् ॥७॥

श्लोकार्थ—वह अभिमानो वानर फिर स्त्री और पुरुषों को पर्वतों की गुफा और दरारों में डालकर बड़ो-२ शिलाओं से वैसे बन्द कर देता, जैसे मकड़ी कीड़े को घर में डालकर रोक रखती है ॥७॥

सुबोधिनी—सहस्थितान् तत्सङ्गभङ्गार्थं रसं च बीभत्सयितुम् । हस उच्छृङ्खलः । क्षमाभृतः पर्वतस्य द्रोणीगुहासु द्रोण्यां उभयपर्वतमध्ये गुहासु च 'अत्र रमध्व'मिति उपहसन्निक्षिप्य अप्यधात् । शैलेस्तदुपरि पर्वतान् आरोपयति ।

तथाकरणे हेतुमाह पेशस्कारीव कीटकमिति । स हि स्वस्मरणेन स्वतुल्यः कीटो भवति तया करोति, तथायमपि विश्वस्यैव मदात्मकता भवतु, न भगवदात्मकतेति तथा कृतवान् ॥७॥

व्याख्यान—वह उच्छृङ्खल मनमानी करने वाला (उद्'ड' साथ में रहने वाले स्त्री पुरुषों के सङ्ग का भङ्ग करने के लिये तथा रस में विघ्न डालने के लिये, एवं उनको डराने के लिये, पर्वत के गुफाओं में और दरारों में फेंक कर कहता था, कि अब यहां रमण करो यों हंसी करता हुआ शिलाओं से बंद कर देता, यों करने का कारण बताते हैं कि जैसे मकड़ी कीड़े को अपने जैसा बनाने के लिये बंद करती है, वैसे इसने भी सारे विश्व को अपने समान बनाने के लिये यों किया है । यों न समझा कि विश्व भगवदात्मक स्वरूप है, वह मदात्मक कैसे होगा ? क्यों न समझा ? जिसका हेतु है कि उच्छृङ्खल था इसलिये 'हप्त' विशेषण दिया है । ७॥

आभास—एवं सह्यमुपद्रवं निरूप्य, तदुपसंहरन् असह्यं निरूपयति एवं देशान्वि-प्रकुर्वन्निति ।



आभासार्थ— इस प्रकार सहने योग्य उपद्रव वह कर उनका उपसंहार करते हुए एवं देशान्' श्लोक से असह्य उपद्रवों का वर्णन करते हैं ।

श्लोक— एवं देशान् विप्रकुर्वन् दूषयंश्च कुलस्त्रियः ।

श्रुत्वा सुललितं गीतं गिरि रैवतकं ययौ ॥८॥

श्लोकार्थ— इस प्रकार देशों में उपद्रव करता हुआ और कुल-स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करता हुआ, सुन्दर गीत सुनकर रैवतक पर्वत पर गया ॥८॥

सुबोधिनी— असह्यमेतन् दूषयंश्चेति । इतर-दूषणं न दोषायेति कुलपदम् । अनेन नरकगृहाद्भगवता समानीतास्ता इति तथा करोतीति सूचितम् । एवमुत्कृष्टे पापे तेनैव मरणार्थं स्वयमेव समुद्यत इत्याह श्रुत्वा सुललितं गीतमिति । यथा

सर्वे विषयास्तेन निराकृताः सर्वेषाम्, तथा सुललितमपि गीतम् । मयि स्थिते को वा गायतीति तन्निराकरणार्थं रैवतकं ययौ । तेनैव गीतानुमानात् ॥८॥

व्याख्यार्थ— उसका कुल की स्त्रियों का सतीत्व नष्ट करने वाला कार्य असह्य था, सामान्य स्त्रियों को दूषित करे तो इतना दोष नहीं, किन्तु ये स्त्रियाँ कुल की थीं, जिनको यह दूषित करना था, उन स्त्रियों को भगवान् नरक के गृह से लाये थे, इसलिये यों करता है, यह सूचन किया है । इस प्रकार कार्य करने से इसके पाप बढ़ गये अर्थात् पाप का घड़ा पूर्ण भर गया जिससे स्वयं ही मरने के लिये उद्यत होने लगा । उस समय इसने सुन्दर गीत सुना यद्यपि पशु होने से गाने के स्वर आदि का ज्ञान न था, तो भी सुन्दरता के कारण प्रत्येक मन का आकर्षक होने से गीत कहा है, जैसे इसने सर्व के सर्व विषयों का निराकरण किया है वैसे इस सुललित गीत का भी निराकरण करने के लिये रैवतक पर गया क्योंकि मेरे उपस्थित होते हुए अन्य कौन है ? जो गान कर रहा है, अतः इसका निराकरण करना ही चाहिये, यों निश्चय कर पर्वत पर गया ॥८॥

आभास— ततो गीतकर्तारं दृष्ट्वानित्याह तत्रापश्यदिति ।

आभासार्थ— वहाँ जाकर गानेवाले को देखा, जिसको वर्णन 'तत्रापश्यद्यदुपति' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक— तत्रापश्यद्यदुपतिं रामं पुष्करमालिनम् ।

सुदर्शनीयसर्वाङ्गं ललनायूथमध्यगम् ॥९॥

श्लोकार्थ— वहाँ तो कमलों की मालावाले, सुन्दर अङ्गवाले स्त्रियों के यूथ के मध्य में स्थित यदुपति राम को इसने देखा ॥९॥

सुबोधिनी तस्य मात्सर्योत्पत्त्यर्थं रामस्य तत्रादावैश्वर्यं दृष्ट्वानित्याह यदुपतिमिति । याद-
दशगुणान्वर्णयति । एतावन्त एव गुणा इति । वानां स्वामी । स्वामिचिह्नानि विभर्तीति । तथा



ज्ञानं परिचयोऽप्यस्तीति वा । अनेन कर्तुं मकर्तुं म-
न्यथाकर्तुं सामर्थ्यमुक्तम् । इदं लौकिकम् ।
अलौकिकमाह राममिति । विभक्तवीर्यत्वात् ।
सर्वलोकानुरञ्जनमपि तस्यासाधारणो गुणः ।
स्वरूपतः कार्यतश्चोत्कर्ष उक्तः । पुष्करमालिन-

मिति । कमलमालया लक्ष्म्या वृत इति ज्ञापयन्
भूषितत्वमाह इत्यैश्वर्यादयस्त्रय उक्ताः । सुष्ठु
दर्शनीयानि सर्वाण्यङ्गानि यस्येति । सौन्दर्येण
शारीरकीतिरुक्ता । ललनायूथमध्यगमिति । बहिः
कीतिरुक्ता । शोभाजनितेयं कातिरिति ॥६॥

व्याख्यानार्थ—उसकी मात्सर्य उत्पन्न हो जिसके लिये श्री बलरामजी के दश गुणों का वर्णन करते हैं इतने ही गुण हैं, उनमें प्रथम ऐश्वर्य गुण को देखा, वह कहते हैं कि यादवों के स्वामी हैं, स्वामी के चिन्ह धारण किये हुये थे जिनसे ज्ञान हुवा तथा परिचय भी है ही, इससे कर्तुं अकर्तुं और अन्यथा कर्तुं, सामर्थ्य इनके है यों कहा, यह लौकिक है, अब अलौकिक गुण कहते हैं 'राम' राम है, वीर्य के विभक्त होने से, सर्व लोकों को रमण से प्रसन्न करना इनका असाधारण गुण है, जिससे स्वरूप और वायं से उत्कर्ष कहा, कमलों की माला से आवृत थे, जिससे अलङ्कृतत्व 'दशाय', इस प्रकार ऐश्वर्य आदि तीन गुण कहे, जिनके सर्व अङ्ग देखने योग्य है, इस सौन्दर्य से शरीर की कीर्ति वही 'स्त्रियो' के यूथ के मध्य में स्थित कहने से बाहिर की कीर्ति बताई (जो) यहाँ की शोभा से उत्पन्न हुई है ॥६॥

श्लोक—गायन्तं वारुणी पीत्वा मदविह्वललोचनम् ।

विभ्राजमानं वपुषा प्रभिन्नमिव वारणम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—वारुणी मदिरा पीकर गान करते, मद से घूर्णित नेत्रवाले, मद भरते हुए हाथी के समान श्रीअङ्ग से शोभते हुए बलरामजी को देखा ॥१०॥

सुवोधिनी - गायन्तमिति । स्वानन्दपूर्णता
ज्ञानफलरूपा निरूपिता । वारुणी पीत्वेति । देह-
विस्मरणं ज्ञानफलं द्विविधमप्युक्तम् । मदेन विह्वले
लोचने यस्येति बहिर्जनदृष्टिः । विह्वला वैराग्य-
फलरूपा निरूपिता । विभ्राजमानं वपुषेति ।
विगतभ्राजनं वा विशिष्टभ्राजनं वा विकलतया

उभयमपि वैराग्यकार्यं भवति । शरीरेण विरा-
जमानम् । ततो वैराग्यस्वरूपमाह प्रभिन्नमिव
वारणमिति । स ह्यमर्यादो भवति, यः प्रकर्षेण
भिन्नः स्रवन्मदः । एवं कारणफलसहिताः षड्-
गुणा भगवति निरूपिताः ॥१०॥

व्याख्यानार्थ—'गायन्त' विशेषण से ज्ञान की फल रूप स्वानन्द की पूर्णता दिखाई 'वारुणी पीत्वा' वारुणी पीकर गा रहे थे, इससे ज्ञान का फल जो देह की विस्मृति है, यह दिखाया, इसी प्रकार दो प्रकार का ज्ञान फल कहा, मद से लोचन विह्वल हो रहे थे, वैराग्य की फलरूप बाहर की ज्ञान दृष्टि निरूपण की है । 'विभ्राजमानं वपुषा' इस पद से शरीर से पूर्ण शोभायमान कह कर यह बताया है कि दोनों वैराग्य के कार्य हैं, पश्चात् वैराग्य का स्वरूप वर्णन करते हैं 'प्रभिन्नमिव-वारणम्' वह हस्ति जिसका मद जल स्रव रहा है अमर्यादित होता है, इसी भाँति आप भी अमर्यादित थे, ऐसे बलरामजी में कारण फल सहित छ गुण निरूपण किये ॥१०॥

आमास—एतादृशमपि हंष्ट्वा स्वदौष्ट्यं प्रकटितवानित्याह दुष्टः शाखामृग इति ।

आभासार्थ—ऐसे बलरामजी को देख कर भी अपनी दुष्टता प्रकट करने लगा जिसका वर्णन 'दुष्टः शाखामृगः' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—दुष्टः शाखामृगः शाखामारूढः कम्पयन् द्रुमान् ।

चक्रे किलकिलाशब्दमात्मानं सम्प्रदशयन् ॥११॥

श्लोकार्थ—दुष्ट वानर शाखा पर चढ़कर वृक्षों को कम्पाने लगा और अपना गुप्त अङ्ग दिखाता हुआ किलकिला ध्वनि करने लगा ॥११॥

सुबोधिनी—भगवन्तं दृष्ट्वा किलकिलाशब्दं
चक्रे । तज्जातीयशब्दः तादृशः । यदा स्वस्मिन्मह-
त्त्वबुद्धिर्भवति, तदा स्वजातिशब्दं कुर्वन्ति । प्रकृते
तु भगवन्तमपि दृष्ट्वा तथाकरणे हेतुर्दुष्ट इति ।
लोपस्तस्य सहज इति ख्यापयितुं शाखामृग
इति । भूमि भूरुहं वा नाश्रयति, किन्तु शाखा
एव । शाखां चारूढ इति स्वल्पः स्वस्थाने स्थितो

मत्तो भवतीति सूचितम् । द्रुमान् कम्पयन्निति ।
स्वाश्रयाश्रयाणामप्यवगणना निरूपिता । तादृ-
शस्येश्वरावगणना युक्तेति । निलीय रसजनना-
र्थमपि तथा कुर्यादिति पक्षं व्यावर्तयितुमाह
आत्मानं सम्प्रदर्शयन्निति । स्वस्वरूपं गुह्यदेश
वा ॥११॥

ध्यास्थायं — भगवान् राम को देख कर किल किला शब्द करने लगा यह किल किला शब्द उसकी जातीय ध्वनि है जब अपने को वे महान् समझते हैं तब इस प्रकार ध्वनि करते हैं, प्रकृत विषय में तो भगवान् को भी देख कर वैसे ही करने का कारण इसकी दुष्टता है, इसलिये इसको 'दुष्ट' दुष्ट विशेषण दिया है, यह इसका स्वाभाविक दोष है इसलिये इसको शाखा मृग कहा है, पृथ्वी वा वृक्ष का आश्रय नहीं करता है, किन्तु शाखा का आश्रय लेता है, इसलिये शाखा पर बैठा, क्योंकि तुच्छ, छोटे स्थान पर स्थित होकर भी मदवाला हो जाता है, यों कहने से यह सूचन किया है, पेड़ों को कम्पाने लगा, इससे यह सूचित किया है कि दुष्ट जो होते हैं अपने आश्रय देने वालों को भी जो आश्रय देते हैं उनका भी तिरस्कार करते हैं अर्थात् उनकी भी अवगणना करते हैं—ऐसे को ईश्वर की अवगणना करना योग्य ही है, अर्थात् उसने अपनी योग्यतानुसार कार्य किया है, छिप कर रस पैदा करने के लिये भी वैसा करे वा करना चाहिये इस पक्ष को बदलने के लिये कहते हैं 'आत्मानं सम्प्रदर्शयन्' अपना स्वरूप अथवा गुह्य (गुप्त) भाग दिखाता हुआ यों करने लगा ॥११॥

ग्रामास—अल्पस्यैवंकरणमयुक्तमिति भण्डमिव तं दृष्ट्वा केवलेन तेन क्षोभो न भवेदपीति स्त्रीणां हास्यमाह तस्य धाण्ड्यं कपेर्वीक्ष्येति ।

प्रासाभार्थ— तुच्छ जीव को यों करना योग्य नहीं है, उसको भण्ड समझ कर केवल इस कार्य से श्री राम को क्षोभ न भी होवे, इसलिये स्त्रियों से हास्य करने लगा, जिससे राम को क्षोभ होवे जिसका वर्णन 'तस्य घाष्ट्यं श्लोक में करते हैं।



इति । निरीक्षतः सतस्तासामपि निरीक्षतीनां भवति । अस्य तु तथात्वेऽपि न जातमिति दोषं सतीनाम् । दर्शने सर्वेषां साधारणस्यापि सङ्कोचो वक्तुं वर्णितम् ॥१३॥

व्याख्यानार्थ - उन स्त्रियों का तिरस्कार वा अपमान मुख से तथा जाति की चेष्टा से करने लगा, जैसे कि भौंह चढ़ाने से सम्मुख आकर विकृत चेष्टाओं से, इस प्रकार का सम्मुख अपमान कह कर, अब पीठ से भी करने लगे वह कहते हैं कि उनको अपनी गुदा दिखाने लगा, जिससे राम का भी मानो तिरस्कार किया क्योंकि यह सब चेष्टाएँ राम देख रहे थे और वे भी इस प्रकार की अयोग्य चेष्टाएँ देख रही थी, ऐसी चेष्टाओं के देखने से साधारण जीव को भी सङ्कोच (लज्जा, हिचक) होता है, इसको तो यों करने में किसी प्रकार हिचक न आई इसलिये इसका अपराध दिखाने के लिये ऐसी क्रिया का वर्णन किया । १३॥

श्राभास—ततो विचारमकृन्वैव अल्पदोषे अल्पेव शिक्षेति वा ज्ञापयितुं पाषाण-प्रक्षेपमात्रं कृतवानित्याह तं ग्राव्णेति ।

श्राभासार्थ—श्री राम विचार करने के बिना अपने अल्प अन्वय के लिये अल्प ही शिक्षा देनी चाहिये, इसलिये वानर पर पाषाण फेंकने लगे, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक— त ग्राव्णां प्राहरत्क्रुद्धो बलः प्रहरतां वरः ।

स वञ्चयित्वा श्रावाण मदिरः कलशं कपिः ॥१४॥

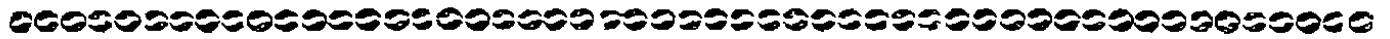
गृहीत्वा हेलयामास धूर्तगतं कोपयन् हसन् ।

निमिद्य कलशं धृष्टो वासांस्यास्फोटयद्बलम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—प्रहार करनेवालों में उत्तम क्रुद्ध बलरामजी ने उस पर पाषाण से प्रहार किया, वह धूर्त वानर अपने को पत्थर प्रहार से बचाकर श्रीराम का मदिरा का कलश ले गया और यों करने से बलराम का अपमान कर यों हँसने लगा, जैसे बलरामजी को क्रोध उत्पन्न हो, फिर उस कलश को तोड़ डाला और स्त्रियों के वस्त्र फाड़ने लगा एवं बलदेवजी के सामने मल्लों के समान भुजाओं पर थपेड़ करता हुआ लड़ने के लिए उनको बुलाने लगा ॥१४-१५॥

सुबोधिनी—वानराः कृतोपकारा दयाविषया-
श्चेति लपेक्षां परित्यज्य किमिति ग्राव्णाः प्राहरत्,
तत्राह क्रुद्ध इति । क्रोधे तस्याल्पस्य महदतिक्रमो
हेतुः । अनावेशात् हलमुशलस्मरणात्पूर्वं सर्व
कृतवान् । तेन नाविचारकृतो दोषः । बल
राम । तस्य माहात्म्यं ज्ञात्वापि स्वस्य

बलिष्ठत्वादेव तथा कृतवान् । काकादिविव केवलं
निवारणार्थं तां प्रहरणस्य निवारयति प्रहरतां वर
इति । ततस्तेनैव व्यथितो भवेदिति तथा प्रकार
कृतवान् । स तु पूर्व परमेश्वरस्य भक्त आसीदिति
भगवत्कृपयैव तस्य जातं मामथ्यमनुवदति स
वञ्चयित्वेति । तस्याद्धतस्य स्वत एव मरणार्थं



प्रवृत्तस्य अपराधे असह्ये क्रोधान्मारणमिति
वक्तुं तादृशमतिक्रममाह आवाणं वञ्चयित्वा
मदिराकलशं गृहीत्वा हेलयामासेति । यतो धूर्तः ।
पानव्यसनिनां तदपहारे महान् क्रोधो भवतीति
जानाति । अपकारार्थं नेदं करणम्, किन्तु कोप-
यन् । केवलं कोपार्थताप्रदर्शनार्थं हसन् । तर्हि
पानार्थं नयनं भविष्यतीत्याशङ्क्य अग्रे तत्कृत

चरित्रमाह निभिद्येते । कलशं निभिद्य । तथा
कृते जीवनमपि गमिष्यतीति शङ्काभावाय ह ।
ततः स्थापितानि जलक्रीडोत्तरं परिधेयानि स्त्रीणां
बलस्य च वासांसि च निभिद्य, बहुधा छित्त्वा,
ततो बलमास्फोटयत् । मल्ल इव युद्धाकारणार्थं
बाहुस्फोटं कृतवान् ॥१४॥१५॥

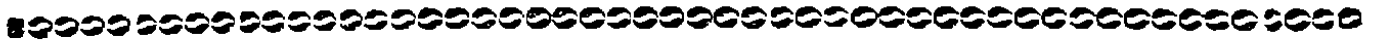
व्याख्यान—वानरों ने तो राम का बहुत उपकार किया है और जाति से दया के पात्र हैं इस लिये उनके दोषों की तो उपेक्षा करनी चाहिये, वह न कर, उस पर पापाण से प्रहार करने लगे, इस पर कहते हैं, कि उसके इस प्रकार के अयोग्य काय देख क्रोध में आ गये छुंटा होकर बड़े का अपमान करना ही क्रोध होने का कारण है उस समय आवेश न होने से हल मुसल को स्मरण करने से प्रथम यह सर्वं किया, जिससे बिना विचार से किये हुए कार्य का दोष नहीं, क्योंकि स्वयं बलदेव हैं, उसका माहात्म्य जान कर भी आपने उससे बलिष्ठ होने से ही यों किया, जैसे काकों को भगाने के लिये केवल पाषाण फेंकना ही अल (काफी) है वैसे आप प्रहार करनेवालों में श्रेष्ठ होने से पाषाण प्रहार ही किया, यह इसलिये भी किया कि इससे ही थकित हो जाय तो अच्छा है विशेष दण्ड न देना पड़े । वह तो पहले भगवान् का भक्त था, इसलिये भगवत्कृपा से उसमें उत्पन्न सामर्थ्य का वर्णन करते हैं, वह उस सामर्थ्य से उद्गत हो गया था, जिससे मरण के लिये ही वह ऐसे दूषित कार्य करने में प्रवृत्त हुवा है जिससे वह ऐसा अपराध करने लगा जो असह्य हो । उससे उत्पन्न क्रोध से मार डाले, यह कहने के लिये उसके ऐसे कर्तव्य का वर्णन करते हैं कि पापाण के प्रहार से अपने का बचा कर श्रीबलदेवजी के मदिरा का कलश लेकर उनका उपहास करने लगा क्योंकि धूर्त है, जो मदिरा पान करते हैं, वे मदिरा को चुराने वाले पर बहुत क्रोध करते हैं इस बात को वह धूर्त जानता है अपने अपकार के लिये यों नहीं किया, किन्तु क्रोधित करने के लिये अर्थात् चिढ़ाने के लिये यों किया है, बलरामजी क्रोध प्रदर्शित करे इसलिये ही हँसने लगा तो मदिरा पीने के लिये वह कलश लिया होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, वह घड़ा तो फोड़ दिया जिससे मदिरा वह गई, यों करने से जीवन भी जायगा ? इस शङ्का के मिटाने के लिये कहते हैं कि ऐसा विचार उस वानर को नहीं आया जिससे वह अन्य अपराध करने लगा । बलराम और स्त्रियों ने जल क्रीड़ा के अनन्तर पहनने के लिये जो वस्त्र रखे थे वे उठा कर फाड़ डाले, पश्चात् मल्लों के समान भुजाओं पर थपकी करता हुआ बलरामजी को युद्ध के लिये आह्वान करने लगा ॥१४-१५॥

आभास—तन्वल्पः कथमेवं करोतीत्याशङ्क्याह बलवानिति ।

आभासार्थ—अल्प होकर इस प्रकार कैसे करता है ? इस शङ्का की निवृत्ति बलवान् कह कर करते हैं ।

श्लोक—कदर्थीकृत्य बलवान् विप्रचक्रे मदोद्धतः ।

तं तस्याचिनयं दृष्ट्वा देशांश्च तदुपद्रुतान् ॥१६॥



श्लोकार्थ—वह वाजर अपने को बलवान् समझकर मद से उद्भूत हो गया, जिससे बलदेवजी का अपमान करने लगा उसका यह अविनय (घमंड) देख और देशों में किये उपद्रवों का भी स्मरण कर विचार किया ॥१६॥

सुबोधिनी—ननु बलोऽपि बलवान्, नहि तुल्येऽप्येवं क्रियते, तत्राह कदर्थोऽकृत्येति । तुच्छी-कृत्य । तदपि स्वमनस्येवेति वक्तुमाह मदोद्भूत इति । विप्रचक्रे अपकार कृतवान् । ततो बलः विचारपूर्वकं भगवदाविष्टः तद्विधार्थं यत्नं कृतवानित्याह तं तस्याविनयमिति । वस्तुतस्त्विदं द्वार-

मात्रम्, मुख्यस्तु अपराधः तदुपद्रुतान् देशान् विलोक्येति । यद्यपि पूर्वं दृष्टम्, तथापीदानीं स्मृतमित्येके । इदानीमेव भगवदावेश इति । तस्य चापरोक्षज्ञानमेव सर्वत्रेति इदानीमेव दृष्टुं युक्तम् ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—यदि यह बलवान् है तो बलदेवजी भी तो बलवान हैं, अतः समान बल वालों में भी इस प्रकार अवहेलना नहीं की जाती है, इस पर कहते हैं कि वह वाजर मद से उद्भूत हो गया था जिससे अन्तःकरण में बलदेवजी को मन में ही तुच्छ समझ, अपमान करने लगा, यों होने के अनन्तर बलराम भगवान् से आविष्ट हो विचारपूर्वक उसके वध के लिये प्रयत्न करने लगे, उसको अतः देखा, किन्तु यह अपराध तो द्वार मात्र है, मुख्य अपराध तो वह है, जो इसने देशों में उपद्रव किये थे, 'ये देश द्रोह तो पहले ही देखे थे अब तो स्मरण हो आये यों कोई कहते हैं' इस काल में ही बलराम ने भगवदावेश हुआ है, उनको तो सर्वत्र अपरोक्ष ज्ञान है ही, इसलिये 'इदानीमेव दृष्टवा' कहना उचित ही है ॥१६॥

आभास—भगवता सहैव मुसलादीनामप्यागमनात् मुसलं हलं च तज्जिघांसया आघत्त । आयुधवच्चिह्नार्थमग्रहणमाह क्रुद्ध इति ।

आभासार्थ—भगवान् के आवेश होने के साथ ही मुसल आदि भी आ गये, इसके मारने की इच्छा से उनको धारण किया । आयुध की तरह चिह्न के लिये ये धारण नहीं किये, जिसका वर्णन 'क्रुद्धो मुसलमाघत्त' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—क्रुद्धो मुसलमाघत्त हलं चारिजिघांसया ।

द्विविदोऽपि महावीर्यः शालमुत्पाट्य पाणिना ॥१७॥

श्लोकार्थ—क्रोधित श्री बलरामजी ने शत्रु को मारने की इच्छा से मुसल और हलको धारण किया, द्विविद ने भी एक हस्त से शाल वृक्ष को उखाड़ कर यह दिखाया कि मैं भी महान् पराक्रमी हूँ और लड़ने के लिये उसको ले लिया ॥१७॥

सुबोधिनी—भक्तत्वशङ्काव्यावृत्त्यर्थमरोति । अलौकिकं बलमपि ज्ञातव्यम् । तावतापि न चकागात् अन्येऽपि धर्मा भगवता आविष्कृता इति निवृत्त इति अक्लिष्टकर्मत्वं भगवतो वदन्नाह

द्विविदोऽपीति । युद्धं वक्तुं तस्य प्रसिद्धनाम- एकेन पाणिना शालवृक्षमुत्पाद्येति बलस्य कार्यम् ।
ग्रहणम् । महावीर्यं इति । रामायणादौ तत्परा- न तु केवलं प्रशंसापरमिति ज्ञापयितुम् ॥१७॥
क्रमो निरूपितः स्मार्यते, युद्धस्मरणामिनिवेशाय ।

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'अरि' शब्द देकर यह सूचित किया है कि द्विविद इस समय भक्त नहीं है किन्तु शत्रु है, 'च' पद से यह बताया है कि भगवान् ने अपने अन्य धर्म भी प्रकट किये हैं इसलिये अलौकिक बल भी है यों समझना चाहिये, इतने से भी वह निवृत्त न हुआ, इस प्रकार भगवान् का अत्किष्ट कर्मत्व बताते हुए कहते हैं कि 'द्विविदोऽपि' द्विविद भी बलौ है, उसको युद्ध करना है, इसलिये उसका प्रसिद्ध नाम कहा है, रामायण आदि में उसके पराक्रम कहे गये हैं उनका स्मरण कराने के लिये 'महावीर्यः' विशेषण दिया है, अर्थात् यह महान् पराक्रमी बलवान् है, युद्ध का स्मरण हो आने से यों कहा है—एक हस्त से शाल वृक्ष को उखाड़ना बल का कार्य है, यह कहना वास्तविक है न कि प्रशंसा के लिये है ॥१७॥

श्लोक—अभ्येत्य तरसा तेन बलं मूर्धन्यताडयत् ।

तं तु सङ्कर्षणो मूर्ध्नि पतन्तमचलो यथा ॥१८॥

श्लोकार्थ—उस द्विविद ने शीघ्र निकट आकर वह वृक्ष बलरामजी के मस्तक पर पटका, मस्तक पर पटके हुए वृक्ष को बलदेवजी ने यों समझा जैसे पर्वत पर वृक्ष गिरा ॥१८॥

सुबोधिनी—अभ्येत्य निकटे समागत्य, तरसा रामोद्यमात्पूर्वमेव तेन शालेन मूर्ध्नि प्रदेशे अताडयत्, गृहीत्वैव लकुटेनैव ताडितवान् । बलपदाच्छ्रोतुर्भयाभावः सूचितः । ततस्तन्निराकरणमाह । तं तु सङ्कर्षण इति । पर्वते वृक्षप्रक्षेपः न पर्वतस्य भयजनक इति । मूर्ध्नि पतन्तमपि वृक्षं यथा अचलः पर्वतो गृह्णाति ॥१८॥

व्याख्यार्थ—पास आकर राम के उद्यम करने से प्रथम ही उस शाल से बलदेवजी के मस्तक पर चोट की, शाल को लकड़ी की तरह लेकर प्रहार किया, राम का नाम बल इसलिये दिया है कि श्रोता को भय न हो, पश्चात् उसके निराकरण के लिये कहा कि 'तं तु सङ्कर्षण' उस प्रहार को बलदेवजी ने यों समझा जैसे पर्वत पर वृक्ष गिरे तो पर्वत को किसी प्रकार भय पैदा नहीं करता है वैसे सङ्कर्षण को भी इससे कुछ भी भय न हुआ ॥१८॥

श्लोक—प्रतिजग्राह बलवान् सुनन्देनाहनञ्च तम् ।

मुसलाहतमस्तिष्को विरेजे रक्तधारया ॥१९॥

श्लोकार्थ—द्विविद के इस वृक्ष को बलदेवजी ने हाथ से पकड़ लिया, और अपने सुनन्द नामक मुसल से उस पर प्रहार किया, जिससे उसके मस्तक की अस्थि भी टूट गई इसलिये रक्त की धारा से वह सुशोभित हो गया ॥१९॥



सुबोधिनी—तस्य हि वृक्षा लोमप्रायाः तं हस्तेन गृहीतवान्, वञ्चनेऽपि भूमिस्ताडिता भवतीति । ततः सुनन्देन मुसलेन तमाहनत् हतवान् । चकारात् वृक्षमपि तेनैव हत्वा तदुपरि प्रक्षिप्तवान् । तस्य वृक्ष इव मुसलमपि कार्यव्यभिचारि

भविष्यतीत्याशङ्क्याह मुसलाहतमस्तिष्क इति । मस्तिष्कं मस्तकास्थि । ततो रुधिरप्रवाहोऽपि जातः । तेनापि विरेजे, नतु मूर्च्छितः, हतो वा ॥१६॥

व्याख्यान—उसके वृक्ष प्रायः रोवांवाले थे, उनको बलरामजी ने हाथ से धाम लिया, यदि न धामते तो भूमि ताड़ित होती, भूमि भी ताड़ित न हो इसलिये धामना ही उचित था, पश्चात् सुनन्द मुसल से उसको पीटा, 'च' शब्द का आशय है कि वृक्ष को भी तोड़कर उस पर फेंका, उसके वृक्ष की तरह मुसल भी कार्य व्यभिचारी होगा ? यह शङ्का मिटाने के लिये कहते हैं कि मुसल ने अपना कार्य सिद्ध कर लिया जिससे वह कार्य व्यभिचारी नहीं, जैसे की द्विविद के मस्तिष्क को अस्थि तोड़ डाली, उस से रुधिर की धारा भी बहने लगी, उस धारा से वह द्विविद शोभा पाने लगा, न मूर्च्छित हुआ और न मरा ॥१६॥

आभास—ननु प्रहारेण सकार्येण कथं शोभेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह गिरिर्यथा गैरिकयेति

आभासार्थ—जिस प्रहार ने अस्थि प्रहार कर रक्त धारा बहायी उससे शोभा कैसे ? जिसके उत्तर में 'गिरिर्यथा गैरिकया' श्लोक में दृष्टान्त देकर समझाते हैं ।

श्लोक—गिरिर्यथा गैरिकया प्रहार नानुचिन्तयन् ।

पुनरन्यं समुत्क्षिप्य कृत्वा निष्पन्नमोजसा ॥२०॥

श्लोकार्थ—जैसे पर्वत गेरु की धारा से शोभा देता है वैसे यह भी शोभित हुआ, कपि ने प्रहार पर ध्यान न देकर दूसरा शाल का वृक्ष उखेड़, पराक्रम से उसके पत्ते तोड़ डाले ॥२०॥

सुबोधिनी—नन्वाकृतिसाम्येऽपि अन्तर्दुःखानुभवात् म्लानतैव युक्ता, न तु शोभेति चेत् तत्राह प्रहारं नानुचिन्तयन् रेज इति पूर्वेण सम्बन्धः । उत्तरत्र वा पुनरन्यं समुत्क्षिप्येति । 'त्रिषत्या देवा' इति समानमपि युद्धं वारत्रय-

मुच्यते । त्रिर्यजुषेतिवत् । अन्य मूलात्समुत्क्षिप्य निष्पन्नं च कृत्वा, अन्यथा सर्वाः शाखा अग्रभागे हस्ते धर्तुं न योग्या भवन्तीति मूलभागेन च ताडयितुं निष्पन्नकरणम् । ओजसेति शीघ्रम् । ॥२०॥

व्याख्यान—यद्यपि पर्वत और मस्तक की साम्यता से शोभा कही जा सकती है तो भी अन्तःकरण में दुःख के अनुभव से म्लानता ही कहना उचित था, न कि शोभा, यदि यों कहते हो तो इसका यह उत्तर है, कि वानर ने प्रहार पर कुछ भी ध्यान न दिया जिससे उसको अन्तःकरण में दुःख का



अनुभव हुवा ही नहीं, इसलिये कहा कि 'रेजे' शोभावान् हुआ, पश्चात् फिर दूसरा वृक्ष मूल से उखाड़कर उसके पत्तों को तोड़ कर हाथ में ले लिया, यदि पत्र न तोड़ता तो सर्व शाखाओं को हस्त में ले नहीं सकता, वृक्ष को शाखाओं से पकड़ने का आशय यह था कि मूल भाग से प्रहार करना था, वह प्रहार भी शीघ्र किया, 'त्रिषत्या देवाः' के अनुसार, समान भी युद्ध तीन बार कहा जाता है ॥२०॥

श्लोक—तेनाहनत् सुसंकुद्धस्तं बजः शतधाभिनत् ।

ततोऽन्येन रुषा जघ्ने तं चापि शतधाभिनत् ॥२१॥

श्लोकार्थ—वानर ने वृक्ष की जड़ से बलदेव पर प्रहार किया जिससे बलराम बहुत क्रोधित हो गये अतः उसके सैंकड़ों टुकड़े किये, पश्चात् उस वानर ने क्रोध में आकर दूसरे पेड़ से उनको मारा, बलदेवजी ने उसके भी सैंकड़ों टुकड़े बना दिये ॥२१॥

सुबोधिनी—सुतरां सम्यक् क्रुद्ध । प्रहार- | बलस्तं शतधाभिनत् विदीर्णं कृतवान् । तृतीय-
वीर्ययोराविभूतत्वात्तस्य प्रतिग्रहो न पौरुषायेति | पर्याये पुनराह ततोऽन्येनेति ॥२१॥

व्याख्यार्थ—विशेष क्रुद्ध हुए, यह क्रोध, प्रहार तथा वीर्य दोनों से आविर्भूत होने के कारण से उसका प्रतिग्रह पौरुष के लिये नहीं था इसलिये बलरामजी ने उसके सैंकड़ों टुकड़े किये, तीसरी बार भी क्रोध से दूसरे पेड़ से मारने लगा, उसके भी सैंकड़ों खण्ड बनाये ॥२१॥

आभास—ततोऽनन्तयुद्धमतिदिशति एवं युध्यन्निति ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर 'एवं युध्यन्' श्लोक से अनन्त युद्ध कहते हैं ।

श्लोक—एवं युध्यन् भगवता भग्ने भग्ने पुनः पुनः ।

आकृष्य सर्वतो वृक्षान्निर्वृक्षमकरोद्वनम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार लड़ते हुए भगवान् फिर फिर पेड़ तोड़ देते थे, जिससे उस वानर ने चारों ओर से वृक्षों को उखाड़ सम्पूर्ण वन पेड़ों से शून्य कर दिया ॥२२॥

सुबोधिनी—भगवता सह युध्यन् भगवतैव | वनभूमिं निर्वृक्षमकरोत् । लतागुल्मादीनां विद्य-
वृक्षे भग्ने क्रमेण सर्वेष्वेव वृक्षेषु पुनः पुनराकृष्य | मानत्वात् वृक्षमात्रमेव गतम्, न तु वनमेव ॥२२॥
इधुदण्डमिव मूलादुत्पाठ्य सर्वत्र एवकरणेन वनं

व्याख्यार्थ—भगवान् से लड़ना था, इससे भगवान् ने ही क्रम से वृक्ष तोड़ डाले, जिससे उस वानर ने ईख के समान बार बार वृक्षों को जड़ से उखाड़ दिये, सब जगह यों करने से वन भूमि को वृक्ष रहित कर छोड़ा, लता गुल्म आदि के विद्यमान होने से वन तो रहा किन्तु पेड़ एक भी नहीं रहा ॥२२॥

आभास—ततः पाषाणवृष्टिं भग्नोद्यमः सन् कृतवानित्याह ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षमिति ।

आभासार्थ—यों उद्यम के निष्फल होने पर पाषाण वृष्टि करने लगा, जिसका वर्णन 'ततोऽमुञ्चत्' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—ततोऽमुञ्चच्छिलावर्षं बलस्योपर्यमषितः ।

तत्सर्वं चूर्णयामास लीलया मुसलायुधः ॥२३॥

श्लोकार्थ—पश्चात् वह बलराम पर चट्टानों को वर्षा करने लगा, मुसलायुधधारी बलरामजी ने उन सब चट्टानों को खेल से चूर्ण कर दिया ॥२२॥

सुबोधिनी—तत् प्रक्षिप्तं सर्वमेव चूर्णयामासेति तस्य साधनस्य भगवत्प्रतिकूलस्य पुनः साधनतां निवारयति । तत्र क्लेशमाशङ्क्याह लीलयेति । अलौकिकप्रकारं वारयितुमाह मुसलायुध इति ॥२३॥

व्याख्यानार्थ—वे फेंकी हुई सब चट्टानें चूर्ण कर दी, भगवत्प्रतिकूल उस साधन की, साधनता ही न रही, उनको साधन हीन बनाने में क्लेश तो हुआ होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'लीलया' खेल से, अर्थात् जैसे खेल किया जाता है उसमें क्लेश नहीं होता है, वैसे ही चूर्ण करने में भी आपको क्लेश नहीं हुआ, तो, क्या अलौकिक प्रकार से यों किया ? तो कहते हैं कि नहीं, 'मुसलायुध' मुसल आयुध धारण किया था, जिससे यह खेल खेला है ॥२३॥

आभास—ततो भग्नसाधनो बाहुयुद्धार्थमागत इत्याह स बाहू इति ।

आभासार्थ—अनन्तर जब सब साधन निष्फल हो गये तब भुजाओं से युद्ध करने के लिये आया, जिसका वर्णन 'स बाहू' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—स बाहू तालसाङ्क्षौ मुष्टीकृत्य कपोश्वरः ।

आसाद्य रोहिणीपुत्रं ताभ्यां वक्षस्यरुरुजत् ॥२४॥

श्लोकार्थ—उस कपिराज ने ताल वृक्ष के समान अपने भुजाओं के हस्तों को मुठ्ठी बन्ध बलदेवजी के समीप आकर उनसे उनके वक्षःस्थल पर प्रहार किया ॥२४॥

सुबोधिनी—तालसङ्काशाविति दीर्घस्थूल्य-पृष्ठत्वं न्युक्तानि । मुद्गरवन्मुष्टीकरणम् । तथो-यमे मोहितत्वं शङ्कितं व्यावर्तयितुमाह कपोश्वर इति । मारणपर्यन्तं तूष्णीं स्थित इति रोहिणी-पुत्रमित्युक्तम् । ताभ्यां हस्ताभ्यां मिलिताभ्यां वक्षसि अरुरुजत् । पीडां कारितवान् ॥२४॥



व्याख्यान—ताल के समान भुजा कहने का आशय यह है कि उसके सदृश भुजाएँ स्थूल, दीर्घ और कठोर थी, मुद्गर की तरह मुठ्ठी बांधी, उद्यम करने में उसको कुछ भी भ्रम न हुआ, क्योंकि वानरों का राजा है, मारने तक (बलदेवजी) शान्त रहे, इसलिये रोहिणी पुत्र कहा है, बान्धे हुए मुक्के से छाती पर प्रहार किया, जिससे उनको पीडा होवे ॥२४॥

प्राभास—ततः स्वयमपि, अशस्त्रेण सह सशस्त्रो न युध्येदिति, स्वयमपि त्यक्त्वा मुसललाङ्गल दोर्म्या जत्रावभ्यर्दयत्, तथा सामर्थ्ये धर्मज्ञाने च लौकिकमेव साधनमित्याह यादवेन्द्र इति ।

प्राभासार्थ—बलदेवजी को धर्म का ज्ञान है, इसलिये वे जानते थे कि जिसके पास शस्त्र न हो उससे शस्त्र वाले को शस्त्र से नहीं लड़ना चाहिये, वानर के पास शस्त्र नहीं था इसलिये आपने भी मुसल और हल त्याग दिये, सामर्थ्य होने पर बिना शस्त्र लड़ने लगे, जिसका वर्णन 'यादवेन्द्रोऽपि' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—यादवेन्द्रोऽपि तं दोर्म्या त्यक्त्वा मुसललाङ्गले ।

जत्रावभ्यर्दयत्क्रुद्धः सोऽयतद्रुधिरं वमन् ॥२५॥

श्लोकार्थ—बलरामजी ने भी हल मुसल त्याग, क्रोधकर, दोनों हाथों से हँसलियों को तोड़ डाला, जिससे वह रक्त उगलते हुए गिर पड़ा ॥२५॥

सुबोधिनी—यतः पूर्वमपि स रामभक्त इति । तस्मिन्भग्ने म्रियत एवेति । अतो रुधिरं वमन् तथा करणम् । जत्रुः कण्ठावस्थितमस्थि । पतितः ॥२५॥

व्याख्यान—क्योंकि पहले भी वह राम भक्त था यों करना पड़ा, 'जत्रु' कण्ठ के नीचे स्थित अस्थि (हँसली) को कहते हैं उसके टूटने पर प्राणी मरता ही है, अतः रुधिर उगलता हुआ गिर पड़ा ॥२५॥

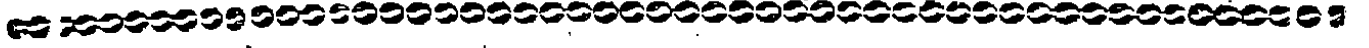
प्राभास—तस्य पराक्रममुक्त्वा देहस्यापि महत्त्वमाह चकम्प इति ।

प्राभासार्थ—उसके पराक्रम को कह कर उसके देह का भी महत्व 'चकम्पे' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—चकम्पे तेन पतता सटङ्कुः सवनस्पतिः ।

पर्वतः कुरुशार्दूल वायुना नौरिवाम्मसि ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे कुरुशार्दूल ! वह गिरने लगा, तब जैसे जल में वायु से नाव काँपती है, वैसे ही शिखर और वनस्पतियों के साथ पर्वत काँपने लगा ॥२६॥



सुबोधितो—सटङ्कः प्रसिद्धः पर्वतः वनस्पति-
नद्धः । सम्यक् परिज्ञानार्थमेतदुक्तम् सर्वतश्च-
ङ्गम् । टङ्कशब्देन उपरितनो भागः वलभीसदृशः
व्याप्यपर्यायः । तत्सहितः पर्वत एव भवति । स
ज्वलति इति पाठस्तु सुगमः । विश्वासार्थं सम्बोध-

नम् । अधिकदोलनार्थं दृष्टान्तः । तत्रत्यानां
भयोत्पादनार्थं वा । तेन तस्मिन् पतिते सर्वाः
स्त्रियो रामभालिङ्गितवत्य इति कामरसेन मध्ये
न विघ्नाः, किन्तु तत्पोषक एव जात इति फलति।
॥२६॥

व्याख्यानार्थ—वनस्पति सहित वह प्रसिद्ध पर्वत, उसका पूर्ण परिज्ञान हो, इसलिये यों कहा है,
उस तरफ काम्पने लगा टङ्क शब्द ऊपर का भाग शिखरादि समझना, शिखरादि होने पर ही पर्वत
ज्वल जाता है, 'स पर्वत' यह पाठ तो सरल है, 'कुशार्दूल' यह सम्बोधन विश्वास के लिये दिया है,
जो जल में वायु से नौका काम्पती है यह दृष्टान्त, वहां स्थिति करने वालों को भय उत्पादन करने
के लिये दिया है अथवा पर्वत बहुत काम्पने लगा इसलिये दिया है उसके गिरने से जब पर्वत काम्पने
लगा, तब डर कर सब स्त्रियों ने राम का आलिङ्गन किया, यों करने से काम रस से मध्य में विघ्न
न आया, किन्तु वह भय रस का पोषक ही हुआ यो फलितार्थ निकला ॥२६॥

ग्रामास—भक्तत्वादलात्वाच्च कदाचिदयुक्तो भवेदिति देवानां सम्मतिमाह जयशब्द
इति ।

ग्रामासार्थ—भक्त होने से तथा गलम होने से कदाचित् यह कार्य अनुचित हो, तो दिवाने हैं
कि अनुचित नहीं है, क्योंकि देवताओं की इस कार्य में सम्मति है, वह जयशब्दों श्लोक से स्पष्ट
मान करते हैं ।

श्लोक—जयशब्दो नमःशब्दः साधु साध्विति चाम्बरे ।

सुरसिद्धमुनीन्द्राणामासीत्कुसुमवर्षिणान् ॥२७॥

श्लोकार्थ—उस समय आकाश में देवता, सिद्ध और मुनि श्रेष्ठ जय शब्द, नमः
शब्द और साधु साधु शब्द करने लगे और उन्होंने पुष्प बरसाये ॥२७॥

सुबोधितो—उत्कृष्टानां जयशब्दः, मध्यमानां
नमःशब्दः, शिष्टः साधुशब्द इति त्रिविधानामपि
सम्प्रतिरुक्ता । पूर्वं जयशब्दः आशीरूपः, पश्चा-
न्त्यारणार्थं प्रार्थनारूपो नमःशब्दः, साधु साध्विति
त्यारणानन्तरम् । दिवीत्यन्यथावचने ततः पात

एव भवेदिति सूचितम् । सुरसिद्धमुनीन्द्राणामिति
त्रिविधानामपि तथात्वम् । कुसुमवर्षिणामिति ।
कायिको व्यापारः । एवं सर्वात्मना देवानामनु-
मोदनमुक्तम् ॥२७॥

व्याख्यानार्थ—बलदेवजी के द्विविद को मारने में देव आदि सर्व की सम्मति है जिससे उत्कृष्टों
ने जय शब्द का उच्चारण किया, मध्यमों ने नमः शब्द कहा शेष साधु साधु कहने लगे प्रथम जो जय
शब्द कहा वह आशीर्वारूप है, अर्थात् देवता आदि ने आशीर्वारु दी है, अनन्तर जो नमः शब्द कहा
उसने वानर को मारने के लिये बलदेवजी को प्रार्थना की है और मरने के बाद साधु साधु शब्द



बधाई एवं हर्ष का द्योतक है, 'आकाश' में यदि असत्य बोलें तो पात हो जाय देव, सिद्ध और मुनि-वर तीनों का भी वैसा ही है, तीनों ने ही कुसुम बसयि, यह उनका 'कायिक' व्यापार था, इस तरह सब प्रकार से देवों ने अनुमोदन किया, यह कहा है ॥२७॥

प्राभास—भूमिष्ठानामप्याह एवं निहत्य द्विविदमिति ।

आभासायं—भूमि पर स्थिती का भी अनुमोदन एवं निहत्य' श्लोक से कहते हैं

श्लोक—एवं निहत्य द्विविदं जगद्व्यतिकरावहम् ।

संस्तूयमानो भगवान् जनैः स्वपुरमाविशत् ॥२८॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब लोक नाश करने वाले द्विविद को मार कर अपनी पुरी की तरफ आते थे तब जनता ने आपके यश का गान किया, उसको सुनते हुए पुरी में प्रवेश किया ॥२८॥

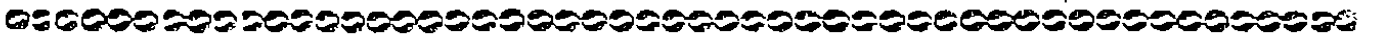
सुबोधिनी—इदं हेतुर्जगतो व्यतिकरं नाश-
मावहतीति । अत एव जनैः संस्तूयमानः । एता-
वत्स्वोपपत्तिर्भगवानिति । पूर्वं तस्य प्रत्यापत्तिरनु-

क्तेति । मध्ये भगवतः कार्यं पतितम् । अग्रेऽपि
तथा पतिष्यतीत्याशङ्क्य तस्य द्वारकाप्रवेश
उच्यते स्वप्नरमाविशदिति ॥२८॥

व्याख्यानार्थ-द्विविध के मारने का कारण दिखाते हैं कि जगत् को पीड़ा करने वाला तथा नाशकर्ता या इस कारण से जनता ने स्तुति की है, इतना ऐसा कार्य करने में उपपत्ति यह है कि 'भगवान्' हैं प्रथम उसकी प्रत्यापत्ति नहीं कही है, मध्य में भगवान् का कार्य आगे बढ़ा, आगे भी पड़ेगा, यह शङ्का कर, उसकी निवृत्ति के लिये कहा है कि आपने अपनी पुरी द्वारका में प्रवेश किया । २८॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदोषितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे सप्तदशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध (उत्तरार्ध) ६४वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय
प्रवान्तर प्रकरण का चौथा अध्याय हिन्दी
प्रनुवाद सहित सम्पूर्ण ।



इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

“द्विविद वध”

राग मारू —

द्विविद करि क्रोध हरिपुरी आयौ ।
 नृप सुदच्छिन जरचौ, जरी बाराणसी,
 घाइ धावन जब कहि सुनायौ ।
 द्वारिका माहि उतपात बहु भाँति करि,
 बहुरि रैवत अचल गयो घाई ॥
 तहाँ हैं देखि बलराम की सभा कौ,
 करन लाग्यो निडर ह्वै ठिठाई ॥
 लख्यौ बलराम यह सुभट बलवंत कोउ,
 हल मुसल सस्त्र अपनी सँभारचौ ।
 द्विविद लै साल कौ वृच्छ सनमुख भयौ,
 पुरति करि राम तन फटकि मारचौ ॥
 राम हल मारि सो वृच्छ चुरकुट कियौ,
 द्विविद सिर फूटि गयो लागत ताकै ।
 बहुरि तरु तोरि पाषान फँकन लग्यौ,
 बल मुसल करत परहार वाकै ॥
 वृच्छ पाषान को नास जब ह्वै भयौ,
 मुष्टिका जुद्ध दोऊ प्रचारी ॥
 राम मुष्टिक लगै गिरचौ सो घरनि पर,
 निकसि गए प्राण सुधि बुधि बिसारी ॥
 सुरनि आकास तैं पुहुप बरषा करी,
 करि नमस्कार जै जै उचारे ।
 देवता गए सब आपने लोक कौ,
 सूर प्रभु राम निज पुर सिघारे ॥



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वासुदेवचरणकमलेश्वर्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६८वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६९वां अध्याय

उत्तरार्ध १६वां अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

“पञ्चम अध्याय”

कौरवों पर बलरामजी का क्रोध और साम्ब का विवाह



कारिका—अत्यलौकिकमाश्चर्यचरित्रमधुनोच्यते ।

एकोनविंशे रामस्य सर्वलोकातिशायिनः ॥१॥

कारिकार्थ—अब इस उन्नीसवें अध्याय में सर्व लोकातीत श्रीराम का अति अलौकिक और आश्चर्य उत्पन्न करने वाला चरित्र कहा जाता है ॥१॥

कारिका—एवं रामस्य कृष्णस्य त्रितयं त्रितयं द्वयोः ।

चरित्रमीरितं च स्यात् षड्गुणानां विभागकृत् ॥२॥

कारिकार्थ—इस प्रकार राम और कृष्ण दोनों के षड्गुणों के विभाग करने वाले तीन-तीन प्रकार के चरित्र कहे हुए हैं ॥२॥



कारिका—धर्मः सिद्धो भगवति कामः सिद्धस्तथापरे ।

अद्वितीयहरित्वं तु कृष्णे सिद्धं फलत्वतः ॥३॥

कारिकायं—भगवान्^१ में धर्म सिद्ध है, वैसे अन्य^२ में काम सिद्ध है, फलत्व से मद्धितीय हरित्व तो कृष्ण में सिद्ध है ॥३॥

कारिका—जगद्दोषनिवृत्तिस्तु रामे सिद्धा हि साधने ।

अलौकिकं साधनस्थं रामे कृष्णे फलं तथा ॥४॥

कारिका—साधन द्वारा जगत् के दोष की निवृत्ति राम में ही सिद्ध है, जैसे साधन में स्थित अलौकिकत्व राम में है, वैसे कृष्ण में अलौकिक फल स्थित है ॥४॥

कारिका—प्रत्रावान्तरभेदानां धर्मिणः पृथगीरिताः ।

विभागज्ञापनाथपि यथैवं विनिरूप्यते ॥५॥

कारिष्यार्थ—यहाँ अवान्तर भेदों के विभागों को समझाने के लिए जैसे धर्मों पृथक् कहे हैं, वैसा विशेष प्रकार निरूपण किया जाता है ॥५॥

कारिका—यमुनायां पर्वते च कृतं पूर्वं निरूपितम् ।

गङ्गायासपि यत्कार्यं तदत्र स्फुटमुच्यते ॥६॥

कारिकार्थ—यमुनाजी और पर्वत पर जो किया, वह पहले निरूपण किया है, गङ्गा पर जो कार्य किया है, वह अब स्पष्ट कहा जाता है ॥६॥

कारिका—लक्ष्मणोद्वहने बद्धः साम्बो रामेण मोचितः ।

निगृहीता विपक्षाश्च तदत्र विनिरूप्यते ॥७॥

कारिकार्थ— लक्ष्मणा को ले आने पर साम्ब का जो बन्धन हुआ, उससे उसको राम ने छड़ाया और शत्रुओं को पकड़ा, वह चरित्र यहाँ वर्णन किया जाता है ॥७॥

—: इति कारिका सम्पूर्णः —



श्रीभास—पूर्वाध्याये दुष्टनिवारणलक्षणं चरित्रमुक्त्वा शिष्टशिक्षणरूपं चरित्रमाह ।
तत्र साम्बाहृतलक्ष्मणा प्रसङ्गभूता निरूप्यते दुर्योधनसुतामिति ।

श्रीभासार्थ - पूर्व अध्याय में दुष्टों का निवारण किया, ऐसे चरित्र को कहा, अब शिष्टों की शिक्षा दी है वह चरित्र कहते हैं उस प्रसङ्ग में साम्ब ने जो लक्ष्मणा का हरण किया जिसका निरूपण 'दुर्योधन सुता' श्लोक में करते हैं

श्लोक—श्रीशुक उवाच—दुर्योधनसुतां राजन्लक्ष्मणां समितिजयः ।

स्वयंवरस्थामहरत्साम्बो जाम्बवतीसुतः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! युद्ध में विजय पाने वाले जाम्बवती के पुत्र साम्ब ने स्वयंवर में स्थित दुर्योधन की कन्या लक्ष्मणा का हरण किया ॥१॥

सुदोषिनी—राजन्निति राजकन्यायाः स्वयं- वर एव धर्म इति ज्ञापयति । लक्ष्मणैर्विशिष्टेति लक्ष्मणा । सर्वत्र भगवदीयाः स्वयंवरे गच्छन्ति, तत्र सयामागकामां वा बल विचार्याविचार्य वा	हरन्ति । तथायमपि अविचार्यैव स्वयंवरस्थाने तूष्णीं स्थितामहरत् । समितिजय इति तस्य धाष्ट्यं हेतुः । जाम्बवतीसुत इत्यविचारे ॥१॥
---	---

व्याख्यानार्थ—राजन् ! इस सम्बोधन से यह सूचित किया कि राजकन्या का स्वयंवर ही धर्म है, अतः उत्तम लक्ष्मणों से युक्त होने से लक्ष्मणा नाम वाली दुर्योधन की कन्या भी स्वयंवर स्थान पर आकर मौन हो के स्थित थी, सब स्थानों पर जो भगवदीय क्षत्रिय है वे स्वयंवर में जाते हैं, वहां जाकर चाहने वाली अथवा न चाहने वाली को, अथवा बल और अबल का विचार किये बिना उसका हरण करते हैं, वैसे इस साम्ब ने भी बिना विचार के ही स्वयंवर स्थान में जो लक्ष्मणा चुप खड़ी थी उसका हरण किया, इस धृष्टता का कारण यह है कि सेना को जीतने वाला है, किन्तु विचार क्यों नहीं किया ? इस पर कहते हैं कि जाम्बवती ऋक्ष की पुत्री थी जिसका यह पुत्र है ऋच्छ जाति अविचारी होती है ॥ १ ॥

श्रीभास—एवं हरणे निमित्ते जाते कौरवाणां भगवन्मार्गोल्लङ्घनजातं अपराधं
निरूपयति कौरवाः कुपिता ऊचुरिति त्रिभिः ।

श्रीभासार्थ—साम्ब ने लक्ष्मणा का हरण किया, इस निमित्त से कौरवों ने भगवन्मार्ग उल्लङ्घन-
रूप अपराध किया है, जिस का निरूपण 'कौरवाः कुपिता' से तीन श्लोकों में करते हैं—

श्लोक—कौरवाः कुपिता ऊचुर्दुर्विनीतोऽयमभङ्कः ।

कदर्थोऽकृत्य नः कन्यामकामामहरद्बलात् ॥२॥



श्लोकार्थ—कौरव कुपित होकर कहने लगे कि यह बालक बहुत अविनीत है, हमको ध्यान में भी न लाकर बलपूर्वक उस कन्या का हरण कर गया है, जो इसको नहीं चाहती है ॥२॥

सुबोधिनी - पाण्डवा अपि कौरवाः, तथापि ते न तत्र तिष्ठन्ति यद्यपि भीष्मादयः भगवद्भक्ताः, तथापि मर्यादास्थिता इति शास्त्रव्यतिरेकेण भगवदीयानपि न मन्यन्ते । वरणानन्तरमेव कन्या तदीया भवतीति बलाद्धरणं सम्भाव्य कुपिता जाताः । कौरवा महान्तः कुलकर्मभ्यां श्रेष्ठाः । ऊचुः स्वगोष्ठ्यामेव । दुर्विनीतोऽयमर्भक इति । महतो बालकस्य विनयोऽपेक्ष्यते, तदत्र नास्तीति बन्धनेऽपि न दोष इति । अथवा । कैश्चिदुक्तं दुर्विनीतोऽप्रमिति, कैश्चिदर्भक इति ।

दोषाभावार्थमनेन हतापि न दुष्यतीत्यपि सूचितम् । नहि बालकस्पृष्टा दुष्यति । ननु को दोषः, कुतो निवार्यत इति चेत्, तत्र दोषमाह कदर्थो-कृत्येति । अस्मान् तिरस्कृत्य, क्षत्रियाणां मानं हत्वा, नोऽस्माकं कन्या कुलीनानाम् । अनेन ऋक्षनप्ता न कुलीन इति सूचितम् । किञ्च । कन्याप्यकामा । वरणं दूरे, इच्छापि तस्या नास्ति । नन्ववश्यं केनचित्प्रिया, देयैव च कन्या, तत्राह बलादिति । क्षत्रियाभासेभ्य एव बलिष्ठैर्नीयते बलात् ॥२॥

व्याख्यान—पाण्डव भी कौरव है किन्तु वे वहाँ नहीं थे, यद्यपि भीष्म आदि भगवद्भक्त हैं, तो भी मर्यादा में स्थित हैं, इसलिये बिना शास्त्र मर्यादा के भगवदीयों को भी नहीं मानते हैं स्वीकार करने के बाद ही कन्या उसकी होती है, इस कारण बलात् हरण देख कर वे भी क्रोध में आ गये । कौरव महान् पुरुष है, कुल तथा कर्म दोनों से श्रेष्ठ हैं, अपनी ही भाषा में बोलने लगे, कि यह बालक अविनीत है । महान् बालक में विनय चाहिये, वह नम्रता इसमें नहीं है, इसलिये इसको बान्धने में दोष नहीं है, अथवा कोई इसको दुर्विनीत कहने लगे तो कोई कहने लगे कि यह बालक है । यों कहने से, यह सूचित किया, कि बालक होने से, इसने लक्ष्मणा का हरण किया है, इसलिये वह दूषित नहीं हुई, क्योंकि बालक के स्पर्श से दूषण नहीं लगता है, इसमें कौनसा दोष है । क्यों लोटाया जाता है ? यदि यों कहते हो, तो इस पर दूसरे कहते हैं, कि वह बालक के स्पर्श से दूषित न भी है किन्तु हमारा तिरस्कार कर अर्थात् क्षत्रियों का मान भङ्ग कर हम कुलीनों की कन्या एक अकुलीन ऋच्छ की कन्या का पुत्र ले जा रहा है, यह बड़ा दोष इसने किया है, और फिर वह कन्या जिसकी इच्छा भी नहीं, वरण तो दूर की बात है। कन्या तो देने के ही योग्य है कोई तो ले जायगा? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'बलात्' (जबरदस्ती से) ले जाना बलिष्ठ होकर क्षत्रियाभासों से ही बल से कन्या हरण कर सकते हैं, यह अकुलीन होने से सर्वथा दोष-पात्र है अतः इसको बान्धना चाहिये जिसका स्पष्ट वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

आभास—तह्येवं सति कि कर्तव्यम्, तत्राहुः बध्नीतेमं दुर्विनीतमिति ।

आभासार्थ - तो इस प्रकार होने पर क्या करना चाहिये ? जिसका उत्तर 'बध्नीतेमं' श्लोक में कहते हैं -



श्लोक—बध्नोतेमं दुविनीतं किं करिष्यन्ति वृणयः ।

येऽस्मत्प्रसादोपचितां दत्तां नो भुञ्जते महीम् ॥३॥

श्लोकार्थ—इस दुविनीत को बाँधो, वे यादव क्या करेंगे, जो यादव कृपा कर दी हुई हम लोगों की पृथ्वी से अपना पोषण करते हैं ?

बुधोधिनी—दुविनय एव बन्धने हेतुः । नन्वेवं कृते यादवाः क्रोधं करिष्यन्तीति चेत् । तत्राहुः किं करिष्यन्ति वृणय इति । कथं न करिष्यन्तीत्याशङ्कयामाहुः येऽस्मत्प्रसादोपचितामिति । उपजीव्यत्वात् अस्मासु क्रोधं न करिष्यन्ति । स्वयमागत्य युद्धादिकरणसम्भावनैव नास्तीत्याहुः येऽस्मत्प्रसादोपचिताम् । जीवनपर्याया तु सेवयामपि प्राप्यते । कृष्यादिना च । अतः पुष्टा प्राप्स्या । सा यादवानां स्वाभाविकी न भवतीति

परकीया ग्राह्या । तत्र परस्य दुर्बलत्वेऽपि न्यायसिद्धत्वात् बलिष्ठः सेवया रक्ष्यते । तत्र पक्षपाते भूमिस्तस्य गच्छति । तथा यादवानामस्मत्प्रसादोपचिता भूमिर्भवति । किञ्च । मण्डलेश्वरराजा तत्तद्भूमिस्तेभ्यस्तेभ्यो दीयते, यदाभिषिक्तो भवति । अतो वयं पुरुवंशोद्भवत्वात् राजानः । अतः सामान्यविशेषप्रकारेण अस्मद्वृत्तामेवं भूमि भुञ्जते ॥३॥

व्याख्यानार्थ— इसके बान्धने का कारण ही दुविनीतपन है, यदि कहो कि यों करने से यादव क्रोध करेंगे ? इसका उत्तर देते हैं कि यादव हमारा क्या करेंगे ? क्यों न करेंगे, जिसका उत्तर देते हैं कि, यादव हम लोगों की कृपा से जीवन धारण कर रहे हैं अतः हम पर क्रोध नहीं करेंगे, स्वयं आकर युद्ध आदि करने की सम्भावना ही नहीं है, कारण कि, हम लोगों की कृपा से प्राप्त भूमि द्वारा ही पोषित हो रहे हैं, सेवा करने पर भी, जीवन पर्यन्त आजीविका कृषि आदि द्वारा प्राप्त की जाती है, अतः जो वैसी यह भूमि यादवों की अपनी नहीं होती है इसलिये वह पराई है यों सम्भरना चाहिये । यदि (कोई) दुर्बल हो जावे तो भी वह भूमि न्याय से प्राप्त होने से सेवा के कारण उससे छीनते नहीं, किन्तु वह यदि पक्षपात करे तो उसकी भूमि छीनी जाती है इसी प्रकार यादवों की यह भूमि हमारे प्रसाद से ही उनके पास अब तक रही है, और विशेष यह है कि मण्डलेश्वर जब सिंहासन पर अभिविक्त होता है अर्थात् सिंहासनारूढ हो राज्य तिलक कशके राज्य की कार्यवाही हस्त में लेता है तब माण्डलिक भूषों को पोषणार्थ भूमि प्रदान करता है अतः पुरुवंश में उत्पन्न होने से हम राजा हैं इसलिये सामान्य वा विशेष प्रकार से हमारी दी हुई भूमि पर ही अपना पोषण कर रहे हैं ॥ ३ ॥

आभास—ननु पुत्रे धृते भूम्यपेक्षामपि त्यक्ष्यन्तीति चेत्, तत्राहुः निगृहीतं सुतं श्रुत्वेति ।

आभासार्थ—यदि कहो कि पुत्र के पकड़े जाने पर भूमि की अपेक्षा छोड़ देंगे और लड़ने के लिये आएंगे, इसका 'निगृहीत' श्लोक में उत्तर देते हैं—



श्लोक—निगृहीतं सुतं श्रुत्वा यद्येष्यन्तीह वृष्णयः ।

भग्नदर्पाः शमं यान्ति प्राणा इव सुसंयताः ॥४॥

श्लोकार्थ—यदि पुत्र को कैद किया है, यह सुनकर यादव आवेंगे तो अपना गर्व नष्ट कराके वैसे शान्त हो जायेंगे, जैसे योगी के सयत प्राण शान्त हो जाते हैं ॥४॥

सुबोधिनी—भग्नो दर्पो यैरिति स्तुतिः । येषामिति निन्दा । यदीति श्रुत्वापि नायास्यन्त्येव यथा कृपयास्माभिर्भूमिर्दीयते । तत्र पुत्रमपि प्रेषयिष्यन्तीति विश्वासात्, तदा प्रेषयिष्यन्ति इति हृदयम् । अथ यदि अस्मास्वविश्वासं कृत्वा, स्वस्य वा वलोत्कर्षं मत्वा, आयास्यन्ति, तत्रापीह विषमदुर्गं, तदा पूर्वसिद्धोऽपि दर्पः अत्रोपक्षीणो

भविष्यतीति शमं शान्तिमेव यान्ति । ते नूनमुप-जीवका इति न निराकार्याः, किन्तु बहुकालं निरुद्धाः सन्तः गतदर्पाः प्रार्थनया गृहं गमिष्यन्तीति भावः । वशे वा स्थास्यन्ति । तत्र दृष्टान्तमाह प्राणा इवेति । यद्यप्यन्येषां प्राणाः स्वतन्त्रा भवन्ति, तथापि योगिनः संयता एवेति स्वात्मान योगिस्थानीयं मन्यन्ते ॥४॥

व्याख्यार्थ—आचार्य श्री 'भग्नदर्पाः' पद के दो अर्थ करते हैं एक—जिन्होंने शत्रु का दर्प तोड़ दिया है । इस अर्थ के करने से उनकी स्तुति होती है । दूसरा—जिनका दर्प शत्रुओं ने तोड़ा है वैसे वे हैं, इस अर्थ से उनकी निन्दा होती है, यदि पद का भावार्थ प्रकट करते हैं कि क्या हम पर वे ऐसा विश्वास न करेंगे कि पुत्र को वे कैद से निकाल कर यहाँ भेज देंगे क्योंकि जैसे कृपा कर भूमि दी है। वैसे पुत्र भी दे देंगे, ऐसा विश्वास न कर अपने को बलिष्ठ समझ कर युद्ध के लिये आ जायेंगे तो भी यहाँ इस विषम दुर्ग में उनके पूर्व-सिद्ध गर्व की उपेक्षा की जायेगी । इस प्रकार वे शान्त ही हो जावेंगे । वे निश्चयपूर्वक हमारे भरोसे पर ही जीवन धारण कर रहे हैं उनका निराकरण नहीं करना चाहिये, किन्तु बहुत समय यहाँ रोक रखने से जैसे इंद्रियों के दमन से योगी से प्राण संयत शान्त हो, स्थान पर स्थित हो जाते हैं, वैसे ही ये भी शान्त हो जावेंगे, तब प्रार्थना करने पर घर जावेंगे, अथवा हमारे अधीन होके रहेंगे इस प्रकार अपने को योगी की तरह मानते हैं ॥ ४ ॥

आभास—एतादृशं वाक्यं भीष्मादीनामपि चेत्, तदा सम्बद्धार्थमपि भवेदिति वक्तृकृन् गणयन्ति इतीति ।

आभासार्थ—यदि भीष्म आदि के भी ऐसे वचन हों तो उनको युक्त अर्थवाला समझना चाहिये, इसलिये कहनेवालों के नाम 'इति कर्णः,' श्लोक में गिनते हैं—

श्लोक—इति कर्णः शलो भूरियज्ञकेतुः सुयोधनः ।

साम्बमारेभिरे बद्धुं कुरुवृद्धानुमोदिताः ॥५॥

श्लोकार्थ—कुरु वृद्धों से अनुमोदित कर्ण, शल्य, भूरि यज्ञकेतु, सुयोधन; ये सब साम्ब को बाँधने लगे ॥५॥



सुबोधिनो इतिशब्दः प्रकारवाची । एवं विधान्यन्यान्यापि वाक्यानि । दुष्टाश्चत्वारोऽत्र वक्तारः ये भारते, कर्णः, शलः शल्यः भूरिश्रवसो भ्राता भूरिः, यज्ञकेतुश्च तेषामेव प्रधानभूतः । त्रय एते मध्ये दोषरूपा गणिताः । चतुर्णां प्रधानभूता-वाद्यन्तयोगंगणिता । दुःशासनोऽप्यत्रानुसन्धेयः । अग्रे 'षड्रथा'निति वचनात् । साम्बं बद्धुमारं-

भिरं । परितः समागत्य धृत्वा बन्धनीय इति । ननु जामातायं जात एव, तथा सति बन्धने कुले दूषणं भवेदित्याशङ्क्याह कुरुवृद्धानुमोदिता इति । अनेनतत्कथानिरूपणस्य दशमे प्रयोजनमुक्तम् । यतो भक्ता ग्रप्येते बहिर्मुखं जाताः । अतः सात्त्विका अपि निरोधयोग्या इति । अन्यथा निरोधो न युक्तः स्यात् ॥५॥

व्याख्यानार्थ — 'इति', शब्द, साम्ब को जिस प्रकार बान्धा गया वह बताता है, इस प्रकार के अन्य वाक्य भी हैं यहाँ इस प्रकार कहनेवाले भारत में जो चारों दुष्ट थे वे हैं १. कर्ण, २. शल्य ३- भूरिश्रवा का भ्राता भूरि, उनमें प्रधान यज्ञकेतु है ४- सुबोधन, जो तीन मध्य में नाम कहे हैं वे दोष रूप हैं, आदि और अन्त वाले इनमें प्रधान हैं यहाँ दुःशासन का भी अनुसंधान करना चाहिये, क्योंकि आगे 'षड्रथान्' यह वचन कहा है, साम्ब को चारों तरफ से घेर कर उसको पकड़ के बान्धना चाहिये, यह कार्य तो कुल पर कलङ्क जैसा है, क्यों कि साम्ब तो अब जामाता है, जामाता तो आदरणीय है जिसके बान्धने से कुल, कलङ्कित होगा, इस पर कहते हैं कि कुरुवंश के वृद्धों से यह कार्य अनुमोदित है, इस कारण से कलङ्क का विचार न कर उसको बान्धने लगे, इससे दशम में इस कथा कहने का प्रयोजन बताया है, क्योंकि ये भक्त भी बहिर्मुख हो गये हैं, अतः सात्त्विक भी निरोध के योग्य हैं यों । यदि यो न होवे, तो निरोध उचित न होवे ॥ ५ ॥

आभास—ततोऽस्य साम्बस्य त्रिधा गतिः सम्भवति । कन्यया सह पलायनम्, तां त्यक्त्वा वा सम्मुखतया युद्धम्, दैन्यं वेति । तत्र पलायनदैन्ये अकृत्वा युद्धार्थमुद्युक्त इत्याह दृष्टानुधावत इति ।

आभासार्थ— इससे साम्ब तीन काम कर सकता है, १- कन्या को लेकर भाग जावे २- उसको दूर कर सन्मुख आकर युद्ध करे, ३- दीनता प्रदर्शित करे, इनमें से भागना और दीनता दिखाना योग्य न समझकर, उन दोनों में से एक भी नहीं किया किन्तु युद्ध के लिये सद्यत हुआ, जिसका वर्णन 'दृष्टानुधावतः' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—दृष्टानुधावतः साम्बो घातेराष्ट्रान्महारथः ।

प्रगृह्य रुचिरं चापं तस्थौ सिंह इवैकलः ॥६॥

श्लोकार्थ—महारथी साम्ब धृतराष्ट्र के पुत्रों को अपने पीछे दौड़ते हुए आते देख, सुन्दर धनुष लेकर जैसे सिंह खड़ा रहता है, वैसे अकेला खड़ा हो गया ॥६॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १ ॥

सुबोधिनी—स्वपृष्ठभागे स्वात्मानं धर्तुं मनु-
ष्यावतः षड्रथान् दृष्ट्वा साम्बः । तेऽपि पुनः पितुरेव
पुत्रा धार्तराष्ट्राः । स्वयं तु महारथः, न पितुर्न
मातुरग्रे बद्ध इति इदानीं युध्यतीति रुचिरं स्वा-

भिलषितं चापं परिगृह्य स्वान्तरङ्गसेवकेष्वपि
पलायितेषु एकल एव तस्यौ । शङ्काभावात् सिंह
इवेति न हि सिंहः सहायमपेक्षते ॥६॥

व्याख्यान—साम्ब ने देखा कि मुझे पकड़ने के लिये मेरे पीछे छः रथ दौड़ते आ रहे हैं, वे
रथी भी धृतराष्ट्र के पुत्र ही हैं । स्वयं तो महारथी है, पिता वा माता के आगे भी नहीं बन्धा है,
इसलिये अब युद्ध करता है सुन्दर अपना अभिलषित धनुष लेकर अपने अन्तरङ्ग सेवकों के भाग
जाने पर अकेला ही युद्ध के लिये खड़ा हो गया । मन मे किसी प्रकार की शङ्का वा भय उत्पन्न न
हुआ, अतः सिंह की तरह खड़ा हुआ, जिसका आशय है, कि इसको किसी की सहायता की भी अपेक्षा
नहीं ॥ ६ ॥

श्लोक—ते तं जिघृक्षवः क्रुद्धास्तिष्ठ तिष्ठेति भाषिणः ।

आसाद्य धन्विनी बाणैः कर्णाग्रिणः समाकिरन् ॥७॥

श्लोकार्थ—कर्ण है नेता जिनका, ऐसे क्रोधित, उसको पकड़ने की इच्छा वाले वे
धनुषधारी, ठहर ! ठहर ! कहते हुए निकट आकर, उस पर बाणों की वर्षा करने
लगे ॥७॥

सुबोधिनी—ततस्ते स्थितमपि स्वप्रौढख्याप-
नार्थं ग्रहणेच्छया न मारणीय इति दूराद्बाण-
प्रयोगमकृत्वा, आसाद्य निकटे समागत्य, धन्विनी

भूत्वा, कर्ण एवाग्रणीर्येषां ते धनुर्विद्यायामति-
निपुणा. पश्चाद्बाणैः समाकिरन् ॥७॥

व्याख्यान—पश्चात् इन्होंने इसको मारने के लिये दूर से ही बाणों का प्रयोग नहीं किया,
क्योंकि इनकी इच्छा थी, कि हम अपनी वीरता प्रकट कर दिखावें कि हमने इसको पकड़ लिया है,
अतः समीप आकर कर्ण जिनमें अग्रणी है ऐसे धनुर्विद्या में निपुण कौरवों ने बाणों की वर्षा की ॥७॥

आभास—ततो भीतस्य दैन्यमाशङ्क्य निराकरोति सोऽपि विद्ध इति ।

आभासार्थ—बाण वर्षा से डर कर इसने दीनता प्रकट की होगी ? इस शङ्का का 'सोऽपि
विद्ध' श्लोक से निराकरण करते हैं—

श्लोक—सोऽपि विद्धः कुरुश्रेष्ठ कुरुभिर्यदुनन्दनः ।

नामृष्यत्तदचिन्त्यार्भः सिंहः क्षुद्रमृगैरिव ॥८॥

श्लोकार्थ—हे कुरुश्रेष्ठ ! कौरवों के बाणों से वींधा हुआ भगवान् का बालक यदु-

ष्यतीति यदुननः । तत्तेषां वेधनं नामृष्यत् ।
यतः अचिन्त्यस्य भगवतः अभो बालकः, यस्य
मिता अन्यैरपि न चिन्त्याः, स कथं स्वयं चिन्तां
कुर्यात् मौढ्यादप्येवं भवति, ज्ञानादपीति, तत्प-
क्षद्वयं निराकर्तुं दृष्टान्तमाह सिंहः क्षुद्रमृगैरि-
वेति । न हि शृगालादिपीडां सिंहो मन्यते ॥८॥

आभास—उतस्तस्य पौरुषमाह विस्फूर्ज्येति ।

श्लोक—विस्फूर्ज्य रुचिरं चापं सर्वान् विव्याध सायकैः ।

कर्णादिष्वङ्गान्वीरस्तावद्भिर्युगपत्पृथक् । ६॥

श्लोकार्थ — इस वीर ने अपने सुन्दर धनुष का टंकार कर, कर्ण आदि छः रथियों को साथ में और पृथक् पृथक् इतने ही वाणों से बीधा ॥६॥

सुबोधिनी - वरो हि क्षत्रियाणां शौर्येणो- | हस्ततां प्रदर्शयति । सर्वान् कणादीन् षड्भिः
त्कृष्टो भवति । अतः स्वपरीक्षां प्रयच्छन्निव लघु- | षड्भिर्बाणैः एकैकं युगपदविष्यत् ॥६॥

व्याख्यार्थ—क्षत्रिय जाति में वर की उत्तमता शूरवीरता दिखाने से मानी जाती है, अतः मानों परीक्षा देता हुआ साम्ब अपनी लघु हस्तता^१ दिखाने लगा, कर्ण आदि सबको छ छ बाणों से एक एक को साथ में बीन्वा ॥ ६ ॥

१- हलके हाथ, अर्थात् बाणों को जल्दी-जल्दी चलाना।



आभास—षड्बाणानां विनियोगमाह चतुभिश्चतुरो वाह निति ।

आभासायं—'चतुभिश्चतुरो वाहान्' श्लोक से षड् बाणों का उपयोग कहते हैं—

श्लोक—चतुभिश्चतुरो वाहानेकैकेन च सारथीन् ।

रथिनश्च महेष्वासांस्तस्य तत्तेऽभ्यपूजयन् ॥१०॥

श्लोकार्थ—चार-चार बाण चार घोड़ों के लगाए एक-एक सारथी के और एक-एक बड़े धनुषधारी रथियों को लगाए, साम्ब के इस कार्य की वे भी प्रशंसा करने लगे ॥१०॥

सुबोधिनी—एतदपि कोशलम्. यथा सर्व एव विद्धा भवन्ति समागताः । अन्यथा तं तथा न स्मरेयुः । एकैकेन सवनेव सारथीन्. एकैकेनैव रथिनः कर्णादीन् । तहि अप्रयोजकास्ते भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह महेष्वासानिति । अनवहिता भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह तस्य तत्तेऽभ्यपूजयन्निति ।

साम्बस्य तत्कर्म महारथिनोऽपि कर्णादयः अभ्यपूजयन् । साधु साध्विति प्रशंसां कृतवन्तः । एतदेव साम्बस्य बन्धने निमित्तं जातम् । तै. स्तुतः प्रतीकारं न कृतवान् । अन्यथा ब्रह्मास्त्रादिभिः युद्धं कर्त्तुं ॥१०॥

ध्याह्यार्थ—यह भी कुशलता है, जैसे आए हुए सब बीधे गये, यदि यह प्रवीणता न दिखाता तो वे इसको इस प्रकार स्मरण न करते अर्थात् प्रशंसा नहीं करते, एक २ से ही सर्व सारथियों को एक एक से ही सर्व कर्ण आदि रथियों को बीध दिया । वे भी महान् धनुषधारी थे, रिक्त हस्त नहीं थे, वे असावधान होंगे? इसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, पूर्ण सावधान थे, जिससे महारथी कर्ण आदि ने भी साम्ब के इस वर्म की साधु ! साधु ! (वाह वाह) कह कर प्रशंसा की, यह कार्य ही साम्ब के बान्धे जाने में कारण बना, जब उन्होंने प्रशंसा की, तब वे उसका प्रतीकार कैसे करेंगे, यदि प्रशंसा न करते तो ब्रह्मास्त्र आदि से युद्ध करते, वह न कर इसकी शूरवीरता से प्रसन्न हो केवल (इसे) बान्ध लिया ॥ १० ॥

आभास—एवं ते कपटं कृत्वा स्तोत्रेण मोहयित्वा युद्धं कृतवन्त इत्याह-तं तु ते इति ।

आभासायं—इस प्रकार इसकी स्तुति जो की वह कपट कर इसे बान्धने के लिये की थी, अनन्तर युद्ध करने लगे जिसका वर्णन 'तं तु ते' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तं तु ते विरथं चक्रुश्चत्वारश्चतुरो हयान् ।

एकस्तु सारथिं जघ्ने चिच्छेदान्यः शरासनम् ॥११॥



श्लोकार्थ—अनन्तर उन्होंने मिलकर उसको विरथ किया, चार जनों ने चार घोड़े मारे, एक ने सारथी को मारा और एक ने धनुष को तोड़ा ॥११॥

सुबोधिनी—तुशब्दः धर्मयुद्धं व्यावर्तयति । एकैकाश्ववधेन बहुभिरेव बाणादिभिः चत्वारो महारथाः तं विरथं चक्रुः एकस्तु पञ्चमः सारथि	जघ्ने । अन्यः षष्ठः शरासनं धनुश्चिच्छेद । एकै- कस्य आयुधानां प्रयोगाणां वा न सा साह्वय । ॥११॥
---	--

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'तु' शब्द से यह सूचित किया है कि कौरवों ने यह युद्ध धर्म युद्ध नहीं किया है । एक एक अश्व का वध कर, चार महारथियों ने मिलकर बहुत बाण आदि से उस अकेले को विरथी बनाया, पांचवे ने सारथी का वध किया, छठे ने धनुष तोड़ डाला, एक एक के आयुधों की और प्रयोगों की कोई सहाय न थी ॥ ११ ॥

आभास—ततो यज्ञातं तदाह तं बद्ध्वेति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह तं बद्ध्वा' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तं बद्ध्वा विरथीकृत्य कृच्छ्रेण कुरवो युधि ।

स्वकुमारं स्वकन्यां च स्वपुरं जयिनोऽविशन् ॥१२॥

श्लोकार्थ—कौरव, संग्राम में बड़े कष्ट से उसको विरथ^१ कर बांध और जीत कर अपनी कन्या सहित कुमार को लेकर अपने नगर में प्रविष्ट हुए ॥१२॥

सुबोधिनी—कृच्छ्रेण आदौ तं विरथीकृत्य, पश्चाल्लौकिकन्यायेन बद्ध्वा, यतः कुरवः; कुरुणा हि भूयान् धर्मः कृत इति, तदवश्यानामपि मनो-रथसिद्धिः । युधीति । बन्धनेऽपि लज्जाभाव उक्तः । युद्धे हि जयपराजययोरनियमात् । किञ्च । स्व-कुमारं स्वकन्यां चेति । सुतरामेव बन्धने न विगानम् । दुर्योधनो हि बलस्य जामाता, तस्य

जीषा कन्या, अत उभयोरपि स्वकीयत्वमेव । कुमारं स्वस्य कन्यामिति पाठे स्वकन्यासहितं कुमारमद्यापि विवाहरहितमिति बन्धने हेतुस्तः । मध्ये स्थापिते कश्चिन्नेष्यति, पलाय्य वा गमि-ष्यतीति स्वपुरं प्राविशन् । जयिन इति प्रवेशे सन्तोषो निरूपितः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—बड़े कष्ट से प्रथम उसको विरथ किया, पश्चात् लौकिक प्रकार से उसको बान्धा क्योंकि कौरव हैं । कुरु ने बहुत धर्म किया है, उसके वशीकृतों की भी मनोरथ सिद्धि हुई कारण कि युद्ध में जय प्राप्त की है, बान्धने में भी इनको लज्जा न हुई, युद्ध में कौन जीतेगा और कौन हारेगा इसका कोई नियम नहीं है, और विशेष में 'स्वकुमारं स्वकन्यां च' सुतराम् ही बन्धन में निन्दा नहीं



है, दुर्योधन बल का जामाता है, यह लक्ष्मणा उसकी कन्या है अतः दोनों में स्वकीय पन ही है यदि कुमारं स्वस्य कन्या' पाठ हो तो अर्थ इस प्रकार करना चाहिये कि अपनी कन्या सहित कुमार को बान्धा, अभी तक विवाह नहीं हुआ है इसलिये साम्ब कुमार है जिससे जामाता नहीं अतः बान्धा यदि अपने पुर में नहीं ले जावे और मध्य में किसी स्थान पर रखें, तो वहां से कोई ले जावे वा भाग कर चला जायगा इसलिये अपने पुर ले गये, नगर में प्रवेश से उनको सन्तोष हुआ कारण कि युद्ध में जय प्राप्त कर आये थे ॥ १२ ॥

आभास—नारदो हि निरोधनिदानमिति सात्त्विकानां स्वासक्तिसिद्धिचर्चा नारदः समागत्य वृत्तमित्याह तच्छ्रुत्वेति ।

आभासार्थ—निश्चय से नारदजी निरोध के कारण हैं, इसलिये सात्त्विकों की अपने (भगवान्) में आसक्ति की सिद्धि कराने के लिये, नारदजी ने आकर 'तच्छ्रुत्वा' श्लोक से वृत्तान्त कहा —

श्लोक—तच्छ्रुत्वा नारदेनोक्तं राजसञ्ज्ञातमन्यथः ।

कुरुप्रत्युद्यमं चक्रुरग्रसेनप्रचोदिताः ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! नारद से वह समाचार सुनकर यादव क्रोधित हुए तथा उग्रसेन की आज्ञा से कौरवों पर चढ़ाई का उद्यम किया ॥१३॥

दुर्दोषिनी—भगवान् क्लिष्टकर्मा पुत्रसाहाय्य	राजसम्बोधनम् । उषाहरणे विपक्षस्यैव दोषः,
न करिष्यतीति उग्रसेनेनैव प्रचोदिताः यादवाः	अत्र तु न तथेति तूष्णीभावा भगवतः ॥१३॥
कुरुप्रत्युद्यमं चक्रुः । सञ्ज्ञातमन्युत्वं युक्तमिति	

व्याख्यानार्थ—भगवान् तो अक्लिष्ट कर्मा हैं, पुत्र की सहायता नहीं करेंगे इसलिये उग्रसेन ने ही कौरवों पर आक्रमण की आज्ञा दी, राजन् ! सम्बोधन से यह दिखाया है कि ऐसे कार्य से क्षत्रियों को क्रोध आता ही है अतः यादवों को भी क्रोध आया, उषा के हरण में विपक्ष का दोष था, यहां तो विपक्ष का दोष नहीं है अपना दोष है, इसलिये भगवान् ने मौन धारण करली ॥१३॥

आभास—तदा साधनशक्तिर्मुख्या बल इति, अत्रत्यं कार्यं भगवत एवेति, कुरु-मूलभूतो भगवत इति, यदुवंश इव कुरुवंशेऽपि देवा एवावतीर्णा इति, देवानामन्योन्य-विरोधो धर्मनाशकः पापपोषक इति, तान् नत्प्रोपाख्याने शपथकरणाद्य एव प्रथमं द्रुह्यति, स नष्टो भवतीति, बहुदोषदुष्टत्वात् कलहस्य तन्निवारणार्थं रामः प्रवृत्त इत्याह सान्त्वयित्वेति ।

आभासार्थ—तब साधन शक्ति मुख्य है इसलिये 'बल' यों सान्त्वना देने लगे, यहां का कार्य भगवान् का ही है, कारण कि कुरु का मूल भगवान् है, यदुवंश की तरह कुरु वंश में भी देवताओं ने



अवतार लिया है, देवों का परस्पर युद्ध घर्म नाशक और पाप पोषक होगा। नाच्री के उपाख्यान में शपथ ली है कि जो पहले द्रोऽ करेगा वह नाश हो जायगा, इसलिये कलह बहुत दोषोंवाली होने से दृष्टा है इसलिये कलह नहीं करनी चाहिये, जिसको मिटाने के लिये राम प्रवृत्त हुए, यह 'सान्त्वयित्वा' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक— सान्त्वयित्वा तु तान् रामः सन्नद्धावृष्णिपुङ्गवान् ।

नेच्छत्कुरूणां वृष्णीनां कलिं कलिमलापहः ॥१४॥

श्लोकार्थ—कमर कसे हुए यदुपुङ्गवों को देख बलदेवजी ने उनको शान्त किया; क्योंकि कलियुग के मल को हरने वाले बलरामजी ने चाहा कि यादव और कौरवों के मध्य में लड़ाई न होवे तो अच्छा है ॥१४॥

सुबोधिनी - वृष्णिपुङ्गवानिति महत्त्वम् । सान्त्वने हेतुः सन्नद्धानिति । तत्कार्यं स्वयं चेत्कुर्यात्, तदेव सान्त्वितं भवन्तीति ज्ञापितम् । कार्यसामर्थ्यस्य सभायस्यऽनयनम्, तत्प्रीत्यैव चेद्भवति, तदा कलहो व्यर्थ इति कुरूणां वृष्णीनां नेच्छत् । उभयेषां देवभावात् । रामश्च कलिमलापहः । देवविरोधे सत्त्वस्य सर्वथा तिरोभावात्तमः केन हन्येत । कारणसत्त्वेन सह विरोधाभावात् । अन्यथा तमसः तत्कार्याणां च स्थितिर्न स्यात् ।

अन्यथा कलावृत्पत्स्यमानानामुद्धारो न भवतीति जन्मकारणनिर्धारो व्यर्थः स्यात् । तुशब्दः कुरुपक्षपातं व्यावर्तयति । तान् प्रसिद्धानिति हीनभावोऽपि नाश्रयणीय इति सूचितम् । तेन ऋजुमार्गेणासिद्धौ वक्रेणापि तत्करिष्यतीति सिद्धम् । ज्ञानशक्तिरत्र न पूर्णेति केचित् । लोकानुरोधी भगवानित्यपरे । नीतिमार्गानुसारिणी साधनशक्तिः, पुष्टिमार्गानुसारिणी फलशक्तिरिति सिद्धान्तः ॥१४॥

व्याख्यानार्थ—'वृष्णिपुङ्गव' यादवों में श्रेष्ठ अथवा श्रेष्ठ जो यादव शब्द कहने से इनकी महत्ता प्रकट की है। शान्त करने में हेतु यह था, कि वे लड़ने के लिये तैयार हो गये थे, वे शान्त तब होवे जब यह कार्य बलरामजी स्वयं करें, यह जताया है, काम यह था कि साम्ब को स्त्री सहित सकुशल ले आना, वह कार्य यदि प्रेम से हो जाय तो यादव और कौरवों का परस्पर कलह व्यर्थ है। इसलिए राम कलह न चाह कर प्रेम से कार्य पूर्ण कराना चाहते थे, क्योंकि दोनों में देव भाव था, और श्री बलरामजी कलि के मल का नाश करने वाले ठहरे, देवताओं का परस्पर युद्ध हो तो सतोगुण तिरोहित हो जायगा, उसके तिरोहित हो जाने पर तमोगुण का नाश कौन करेगा? यदि सतोगुण तिरोहित हो जायेगा तो तम से किसी का विरोध नहीं रहेगा जिससे तम और उसके कार्यों का नाश ही नहीं होगा, यदि सतोगुण होगा तो तम का नाश होने से उसकी तथा उसके कार्यों की स्थिति ही नहीं रहेगी। यदि देवताओं का परस्पर युद्ध हुआ तो सतोगुण का तिरोभाव हो जाने से तम की और उसके कार्यों की स्थिति रहेगी तो कलियुग में उत्पन्न जीवों का उद्धार नहीं है, यों जन्म के कारण का निर्धार व्यर्थ हो जायेगा। 'तु' शब्द से बताते हैं, कि राम कौरवों का पक्षपात करने के लिये नहीं पधार रहे हैं, 'तान्' शब्द से यह सूचित किया है, वे यादव, प्रसिद्ध हैं अतः हीन भाव का भी आश्रय नहीं करना है, अर्थात् यादवों को दीनता भी प्रकट नहीं करनी है। यों कहने से यह सूचित किया है

कि यदि कौरव सीधे मार्ग से नहीं समझेंगे तो वक्र^१ मार्ग से भी उनका यह कार्य करना ही पड़ेगा। कोई कहते हैं, कि ज्ञान शक्ति पूर्ण नहीं है, ये दुष्ट कौरव भूमि पर भार रूप हैं ही वे आगे चल कर मारने ही हैं, इसलिये युद्ध को क्यों रोका ? इस शङ्का का समाधान करने के लिये तीन कारण देते हैं, यहां अब ज्ञान शक्ति पूर्ण नहीं हैं, यों कोई कहते हैं, दूसरे फिर कहते हैं कि अब भगवान् लोका-नुकूल कार्य करना चाहते हैं, आचार्य श्री कहते हैं कि वास्तविक सिद्धान्त यह है कि साधन शक्ति नीति मार्ग के पीछे चलती है, और फल शक्ति पुष्टिमार्ग^२ के पीछे चलती है ॥१४॥

आभास — सान्त्वनसिद्धयर्थं रामस्य गमनमाह जगामेति ।

आभासार्थ — शान्ति की सिद्धि की लिये राम के पधारने का प्रकार 'जगाम' श्लोक में कहते हैं —

श्लोक — जगाम हास्तिनपुरं रथेनादित्यवर्चसा ।

ब्राह्मणैः कुलवृद्धैश्च वृत्तचन्द्र इव ग्रहैः ॥१५॥

श्लोकार्थ — सूर्य के समान तेजस्वी रथ में विराज कर, ब्राह्मणों और कुल वृद्धों को साथ में लेकर, जैसे ग्रहों के साथ चन्द्रमा शोभायमान होता है, वैसे ही शोभा पाते हुए बलदेवजी हास्तिनपुर पधारे ॥१५॥

सुबोधिनी—हस्तिनो नात्र सहभाव इति ऋजुभावेन गमनम् । आदित्यवर्चसेति तेषां प्रतिबोधनम् । नीतिमार्गोपयोगिन आह । ब्राह्मणैः कुलवृद्धैः, चकारादन्यैरपि शास्त्रिभिः । कुरूणाम-	नभिप्रेतं साम्बविमोचन भवतीति, तत्तापार्थं गच्छतीत्याशङ्क्य, तेषां तापापनोदार्थं गच्छतीति वक्तुं दृष्टान्तमाह चन्द्र इव ग्रहैरिति । वृहस्पति-प्रभृतिभिः ॥१५॥
---	--

व्याख्यानार्थ — हस्तिनापुर न कह कर हास्तिनपुर कहा है जिसका आशय यह है कि इनका सह-भाव नहीं है, अतः जहां सहभाव नहीं हो वहां ऋजुभाव से जाना नीति के विरुद्ध है । जिस रथ में विराज कर पधारे, वह रथ सूर्य के सदृश चमक रहा था, जिससे उनको अपने आने का वा स्वरूप का ज्ञान कराया है बलरामजी ने कार्य की सिद्धि नीति मार्ग से ही, इसलिये ब्राह्मणों को और कुल वृद्धों को अपने साथ में ले लिया था । 'च' शब्द देने का भाव है कि इनके सिवाय अन्य विद्वानों को भी साथ में ले चले थे, यदि किसी को शङ्का हो कि बलराम, कुरुओं को विशेष ताप देने के लिये पधार रहे हैं, क्योंकि साम्ब को बन्धन से छोड़ना उनको अभीष्ट नहीं, इसलिये यह बात सुन वे विशेष क्रोधित होंगे, इस शङ्का का परिहार करते हैं, कि नहीं, ये तो उनके ताप को मिटा कर

१—कौरव सम रीति से लक्ष्मणा सहित साम्ब को सादर न देंगे तो युद्ध से भी ले आऊंगा,

२—अनुग्रह मार्ग ।

शान्ति कराने के लिये पधार रहे हैं इसलिये इसी प्रकार का दृष्टान्त चन्द्रमा का दिया है कि जैसे चन्द्रमा बृहस्पति आदि ग्रहों सहित ताप मिटाने के लिये प्रकट होता है, वैसे ही राम भी ताप शान्त कराने के लिये जा रहे हैं ॥१५॥

आभास—नीतिपरंवेयं शक्तिरिति ज्ञापयितुं लोकदृष्ट्यापि द्विषतां पुरं न प्रविशेदिति बहिःस्थित एव स्वागमन ज्ञापितवानित्याह गत्वेति ।

आभासार्थ—यह शान्ति नीतिवाली है, यह जताने के लिये लोक दृष्टि से भी शत्रुओं के नगर में प्रवेश नहीं करना चाहिये, इसलिये आपने बाहर ही ठहर कर अपने आने की सूचना दी यह 'गत्वा' श्लोक में बताते हैं—

श्लोक—गत्वा गजाह्वयं रामो बाह्योपवनमास्थितः ।
उद्धवं प्रेषयामास धृतराष्ट्रबुभुत्सया ॥१६॥

श्लोकार्थ—बलरामजी हस्तिनापुर पहुँच कर नगर के बाहर उपवन में ठहरें और धृतराष्ट्र को मेरे आने का ज्ञान होवे, इस इच्छा से उद्धव को उसके पास भेजा ॥१६॥

सुबोधिनी—अत एव रामः । बाह्योपवनमिति शसहितो देवांशः । स बुध्यतामिति बुभुत्सा । नगरसीमाप्रवेश उक्तः । आस्थितिस्तत्र विमोचनम् । नीतिज्ञ उद्धवः । धृतराष्ट्रो गन्धर्वो दैत्यावे-
धृतराष्ट्रं प्रति बोधयितुमिच्छया वा ॥१६॥

व्याख्यार्थ—यह शक्ति, नीति परायण है इसलिये ही 'राम' कहा है, बाहर उपवन में ठहरे यों कहने से यह जताया है, कि नगर की सीमा में प्रवेश किया है । वहाँ उपवन में रथ आदि सब खड़े किये हैं, रथों से घोड़े छोड़ दिये हैं, धृतराष्ट्र, गन्धर्व देवांश होते हुए भी दैत्यावेश सहित देवांश है, धृतराष्ट्र को मेरे आने का पूर्ण ज्ञान होवे इसलिये राम ने नीतिज्ञ उद्धवजी को धृतराष्ट्र के पास भेजा ॥१६॥

आभास—तस्य यथोचितं करणमाह सोऽभिवन्द्येति ।

आभासार्थ—'सोऽभिवन्द्य' श्लोक में कहते हैं कि उद्धवजी ने जाकर यथोचित अभिवादन किया—

श्लोक—सोऽभिवन्द्याम्बिकापुत्रं भीष्मं द्रोणं च बाल्हिकम् ।
दुर्योधनं च विधिवद्राममागतमब्रवीत् ॥१७॥



इलोकार्थ—धृतराष्ट्र, बाह्लिक, भोष्म द्रोण और दुर्योधन और अन्य कृपाचार्य आदि ब्राह्मणों को विधि के अनुसार अभिवादन कर अनन्तर बलरामजी के आने का समाचार सुनाया ॥१७॥

सुबोधिनी— अम्बिकापुत्रो धृतराष्ट्रः, बाल्लिकः
शन्तनोभ्राता, चकारात्कृपादिब्राह्मणान् । दुर्यो-
धनो वरश्चशुर इति । चकारात्तत्पक्षपातिनः ।
एवमुभयविधा नमस्कृता बोधिनाश्च । विधिवदि-
त्यन्तेन तुल्यत्वाय । कथमागमनमिति प्रश्नप्रमये
राममागतमब्रवीत् ॥१७॥

व्याख्यान - धृतराष्ट्र, अम्बिका का पुत्र है, बाह्यिक शन्तनु का भ्राता है, 'च' शब्द से कृपाचार्य आदि ब्राह्मणों को और वर के श्वशुर दुर्योधन को तथा अन्य 'च' शब्द से जो पक्षपाती थे उन सब को प्रणाम किया, इस प्रकार दोनों प्रकार के जो वहां सभा में स्थित थे उनको नमन किया और श्रीराम के आने का ज्ञान कराया विधिवत् कहने का आशय यह है कि अन्त में समानता के लिये इस प्रकार प्रणाम किया, आपका पधारना कैसे हुआ ? इस प्रश्न के उत्तर में श्री बलरामजी के आने के समाचार सुनाये ॥१७॥

श्लोक--तेऽतिप्रोतास्तमाकर्ण्य प्राप्तं रामं सुहृत्तमम् ।

तमर्चयित्वाभिषेच्युः सर्वे मङ्गलपात्रायः ॥१८॥

श्लोकार्थ—अपने अत्यन्त सुहृत् राम का पधारना मुनकर वे सर्व बहुत प्रसन्न हुए, उद्धव का पूजन कर पश्चात् सर्व मङ्गल पदार्थ हस्तों में लेकर राम से मिलने के लिए उनके पास सामने गए ॥१८॥

सुबोधिनी—ते तां वार्तां श्रुत्वैव प्रीताः । स पाते परमन्यथा भविष्यति । तमुद्धवमर्चयित्वा
हि सुहृत्तमः दुर्योधनश्च सुरः गुरुश्च । यादवपक्ष- आभिमुख्येन ययुर्यथाशास्त्रम् । मङ्गलपाणयः ॥१८॥

व्याख्यानार्थ—वे उस वार्ता को सुन कर ही प्रसन्न हुए, वे एक विशेष सुहृद् है, दुर्योधन का मित्र है और बड़े हैं, यों है किन्तु यादवों के पक्षपाती होने से अन्य प्रकार के हो जायेंगे, उस उद्धव का पूजन कर शास्त्रानुसार मङ्गल-द्रव्य हस्तों में लेकर श्री राम से मिसने के लिये सामने गए ॥१८॥

आभास--सङ्गतावपि सौहार्दद्वयं माह तं संगम्येति ।

आभासायं—‘तं संगम्य’ श्लोक से कहते हैं कि मिलने पर भी सोहृद की दृढ़ता हुई—

श्लोक--तं संगम्य यथान्यायं गामर्घ्यं च न्यवेदयन् ।

तेषां ये तत्प्रभावजाः प्रणोमुः शिरसा बलम् ॥१६॥

श्लोकार्थ--उनसे यथा योग्य मिलकर गौ अर्पण की और अध आदि दिए । उनमें जो उनके प्रभाव को जानते थे, उन्होंने बलरामजी को मस्तक नमा कर प्रणाम किया। १६।

सुबोधिनो — प्रह्लादि गकारभेदैर्यथान्यायम् ।
अतिथिवन्मधुपर्कादिना पूजितवन्त इति ज्ञापयितु-
माह गामर्घ्यं चेति । तेषां पूजकानां मध्ये ये
तत्प्रभावाभिज्ञाः माहात्म्यविदः ते ज्येष्ठा अपि
लौकिकीं दृष्टिं दूरीकृत्य प्रणम्युः । अनेन सर्वे

लौकिकाः, केचनैव तत्प्रभावाभिज्ञा इति निरूपितम् । अभिज्ञा अपि वलं बलाधिक्येनैव, नत्वलौकिकानुभावेन । अन्यथा ते विषयान् बोधयेयुः ॥ ६॥

व्याख्यानार्थ — प्रणाम करने के अनेक भेद हैं जैसे कि छोटे, मोटे और समानों का प्रकार पृथक्-२ है, अतः कहा है कि यथा न्याय' न्याय के अनुसार प्रणाम किया, जैसे अतिथि की मधुपर्क आदि से पूजा की जाती है, वैसे मधुपर्क आदि से पूजन किया। इस प्रकार को प्रकट करने के लिये कहा है कि 'गामर्ध्य च' गो दी और अर्ध्य' दिया, उन पूजा करने वालों में जो बलरामजी के प्रभाव को जानते थे, वे माहात्म्य ज्ञान वाले बड़े थे, तो भी लौकिकी? दृष्टि का त्याग कर मस्तक से बलरामजी को प्रणाम किया। इससे यह बताया, कि बहुत से तो लौकिक दृष्टि वाले थे, कितने स्वल्प ही उनके प्रभाव को जानने वाले थे। वे जानने वाले भी बलरामजी के बल की अधिकता से माहात्म्य जानते थे, न कि उनके अलौकिक प्रभाव को जानते थे। यदि अलौकिक प्रभाव जानते होते तो वे दिव्यों को भी ज्ञान देते ॥१६॥

ग्राभास—एवं कायिकव्यवहारमुक्त्वा वाचनिकमाह बन्धुन्कृशलिन इति ।

श्राभासार्थ - इस प्रकार काया से जो पूजनादि व्यवहार किया जाता है वह वर्णन कर मन्त्र वाणी से जो कुशल धेप पूछा जाता है वह 'वन्धून्कुशलिनः' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक— बन्धूःकुशलिनः श्रुत्वा पृष्ट्वा शिवमनामयम् ।

परस्परमथो रामो वमाषेऽविकलवं वचः ॥२१॥

श्लोकार्थ-—परस्पर कल्याण व आरोग्य पूछ कर और बान्धवों के कुशल सुन कर बाद में श्री रामजी ने तेजस्वी वचन कहे ॥२०॥

सुबोधिनी— शिवं कल्याणं सुखरूपम्, अना-
मयं दुःखाभावरूपम् बन्धून् धमिणः परस्परं
कुशलिनः श्रुत्वा । एतदपि परस्परं पृष्ट्वा । अथो

भित्तप्रक्रमेण रामोऽविकलवं अदीनम्, अन्यथा
यादवानां दीनता स्यात्, भक्ताश्च ते ॥२०॥



व्याख्यान—‘शिव’ शब्द का अर्थ है कल्याण अर्थात् जिसमें सुख ही सुख है विशेष में वह सुख भी दुःख रहित है। इस प्रकार बान्धव सर्वथा सुखी हैं, यह सुन कर, यह समाचार भी परस्पर पूछ कर मालूम किया जिससे प्रसन्न हुए, अनन्तर बलरामजी दूसरा दिषय प्रारम्भ करते हैं— श्री राम ने दैन्य रहित तेजस्वी, ऐसे वचन कहे जिससे यादवों की दीनता देखने में न आवें, यदि इस प्रकार वचन न कहते, तो यादवों की दीनता देखने में आती। यह राम की इच्छा नहीं थी क्योंकि यादव मत्त थे।

आभास—सर्वदेवाधिपत्यं भगवतोऽग्रसेनाय दत्तमिति तदाज्ञा सर्वैरेव देवैः कर्तव्या, अतो यादवान् परित्यज्य उग्रसेनाज्ञापनमाह उग्रसेन इति ।

आभासार्थ—श्री बलरामजी ने कौरवों को कहा, कि भगवान् ने उग्रसेन को सर्व देवों का अधिपति बनाया है, इसलिये उनकी आज्ञा सर्व देवों को माननी चाहिये, आप देव हैं उग्रसेनजी देवाधिपति है इस कारण से, आपको भी यह आज्ञा माननी ही चाहिये, अतः यादवों का नाम न लेकर उग्रसेन की आज्ञा ‘उग्रसेनः’ श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—उग्रसेनः क्षितीशेशो यद्व आज्ञापयत्प्रभुः ।

तदव्यग्रधियं श्रुत्वा कुरुध्वं मा विलम्बितम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—महाराजाधिराज उग्रसेनजी प्रभु हैं, उन्होंने जो तुमको आज्ञा दी है, वह सावधान होकर सुनो और शीघ्र उसका पालन करो ॥२१॥

सुबोधिनी—तस्याज्ञा भिन्नं राजभिः कथं कर्तव्येत्याशङ्क्याह । क्षितीशनां सर्वेषामेव राज्ञामीश इति । यद्वो युष्मान् प्रति आज्ञापयत् । आज्ञापनावाक्यमग्रे वक्तव्यम् । साम्बः सभार्यः प्रस्थापनीय इति । तद्वाक्यात् पूर्वमेव अपराधक्षमावाक्य एव क्रुद्धाः पुरुषभाषिणो जाता इति ।

तदकथनम् । तदग्रे विवक्षितं कर्तव्यमिति हितोपदेशो रामस्य । मा विलम्बितमिति द्वितीयम् । अन्यथेश्वरः राज्ञां विलम्बं न सहति इति पश्चात् कृतमपि व्यर्थं स्यादिति । ईश्वरवचनोल्लङ्घने अनिष्टं शीघ्रमिति ज्ञापितम् । ईश्वरत्वमाह प्रभुरिति ॥२१॥

व्याख्यान—उन (उग्रसेन की आज्ञा अन्य भूपति क्यों माने ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिये ही कहा है कि सर्व भूपतियों के वे ईश है । इसलिये तुमको आज्ञा करते हैं, कौनसी आज्ञा की है ? वह आज्ञा आगे कही जायेगी, कि स्त्री सहित साम्ब को हमारे यहां भेज दो, ऐसे वचनों के सुनने से प्रथम ही क्रोध में आकर अश्लील वचन बोलने लग गये, वे कहने योग्य न होने से नहीं कहे हैं— उग्रसेन ने जो कहा है तदनुसार कार्य करो यही राम का उपदेश हितोपदेश है । देरी मत करो, शीघ्रता करो, क्यों कहता हूं, कि राजा लोगों की देरी को ईश्वर सहन नहीं करते हैं । किया हुआ भी कार्य देरी के कारण व्यर्थ होता है । ईश्वर के वचन का उल्लङ्घन करने से शीघ्र ही अनिष्ट हो जाता है । वह ईश्वर हैं, यह जताने के लिये ही मूल में ‘प्रभु’ कहा गया है ॥२१॥

आभास — कदाचित्कृतापराधस्य दण्डं करिष्यतीत्याशङ्कयामाह यद्युभयमिति ।

आभासार्थ - कदाचित् अपराध का दण्ड करेंगे ? इस शङ्का का उत्तर 'यद्यूयं' श्लोक से देते हैं—

श्लोक—यद्ययं बहवस्त्वेकं जित्वाऽधर्मेण धार्मिकम् ।

अवधनीताथ तन्मृष्ये बन्धूनामैक्यकाश्यया ॥२२॥

श्लोकार्थ-—उग्रसेनजी ने कहा है कि तुम बहुतों ने इकट्ठे होकर अधमं से जो हमारे धर्मिष्ठ अकेले बालक को जीत कर कैद कर लिया है। बान्धवों में एकता रहे, इस इच्छा से उस अपराध को सहन कर लेता हूँ, अब इसको शीघ्र छोड़ दो ॥२२॥

सुबोधिनी—यद्यपि भवन्तो दण्डार्हाः, तथापि बान्धवानामन्याोन्य कलहो भाव्यतेति तदपराधं मृष्ये । ईश्वरेणापि क्रियमाणो दण्डे बन्धुभिरेव कारितमिति कदाचिद्वैमनस्य स्यात्, तन्नाभि-
प्रेतम्, किन्तु ऐक्यमेवाभिप्रेतम्, शास्त्रनिषिद्धं ह्येकेन सह बहूनां युद्धम् । तथाकरणे च दण्डो

राज्ञावश्यं कर्तव्यः । ततस्तमपराधमनुवदति ।
यूयं बहवः । तुशब्देनान्यथाकरणं निवार्यते ।
महाछप्रयोगः पलायनं चाधर्मं इति । अधर्मेण
एककाले बहवो युद्धाभिज्ञा बालक स्त्रीरक्षायां व्यग्रं
खण्डशः साधननाशेन जितवन्त इति । बन्धन
चापगो दोषः ॥२२॥

ध्यात्यार्थ— यद्यपि तुम दण्ड के योग्य हो, तो भी बान्धवों के आपस में बलह होगी, वह न हो, इसलिये इस अपराध को सहन कर लेता हूँ अर्थात् क्षमा करता हूँ, यदि राजा दण्ड करे, तो भी, वह दण्ड बान्धवों ने ही कराया है, यों मान कदाचित् उनका परस्पर वैमनस्य हो जाय तो वह अच्छा नहीं, इसलिये वह वैमनस्य इच्छित नहीं है, एकता ही अभिप्रेत है। एक के साथ बहुतों का लड़ना शास्त्र से निषिद्ध है, वैसे निषिद्ध कार्य करने पर, राजा अपराधी को अवश्य दण्ड देवें। तुम्हारा कृप्य अपराध है वह सुनो, तुम बहुत थे, वह एक था, 'तु' शब्द से अन्य प्रकार करने का निवारण करते हैं, महान् अस्त्र का प्रयोग करना अथवा भागना अधर्म है, तुम युद्ध जानने वाले बहुत हो, एक ही समय में अधर्म से स्त्री की रक्षा करने में व्यग्र अकेले बालक को खण्डशः साधन नाश कर जीता है, यह एक अपराध है। दूसरा दोष, उसको बान्धना है, तो भी इन अपराधों को हमने सहन कर लिया है ॥२२॥

अभास—एतावच्छ्रुत्वा रुष्टा जाता इत्याह वीर्येति ।

माह्यार्थ—इतना सुन कर वे रुष्ट हुवे, 'वीर्य शौर्य' श्लोक से कहते हैं :—

श्लोक — वं यं शौर्यबलोद्भूमात्मशक्तिसमं वचः ।

कुर्वो हलदेवस्य निशम्योच्चुः प्रकोपिताः ॥२३॥



श्लोकार्थ—वीर्यं, शूरवीरता और बल से उत्तम और अपनी शक्ति के समान बलदेव के वचन सुनकर कौरव क्रोधित होकर कहने लगे ॥२३॥

सुबोधिनी—वीर्यं क्रियाशक्तिः, शौर्यं स्वभावः, बलं देहस्य, त्रिभिरुन्नद्धं वचः फलपर्यवसायीति । उग्रसेनो युष्मानाज्ञापयदिति वीर्येणोन्नद्धम् । क्षितिशेष इति शौर्येण । मा विलम्बितमिति बलेन । यद्ययमिति आत्मशक्तिसमम् । कुरव इति अभिमानार्थम् । तद्धमं एव युक्तः, न तु तदीयाः । राजानमप्रयोजक जानन्त्येव । बलस्य परं तादृशं वचनम् । यदि स्वयं वदेत्, ममाज्ञयैव एतत्कृतं व्यमिति, तदा क्रोधो न भवेत् । वस्तुत ईश्वरत्वात् अस्माक तेषामपि भक्तत्वाविशेषेपि यथादेवधेर्वैश्वर्यं स्थापयित्वा अस्मास्वीशितव्यत्वं

स्थापयति, तत्र हेतुर्न कुलीनत्वादि, तथा सत्यस्मास्वेवोचितं स्यात् । साधारणलीलेयं न भवतीति न स्वेच्छया यथामुखं करणम्, भक्तार्थं हि भगवानवतीर्णः, सा च भक्तिः कारणानुरोधादुद्गता कौरवेष्वेव पुष्टा भवितुमर्हति, नाकौरवेषु । ईश्वरत्वाद्भक्तिमपि तेभ्य एव प्रयच्छतीति चेत् । न । तथा सीतेनेषम्यं स्यात् । अतः सिद्धोमेव भक्तिमाश्रित्य भगवान् वदतीति कारणाधीनत्वं च भक्तेर्ज्ञात्वा स्वोत्कर्षं स्थापयितुं किञ्चिदुक्तवन्त इत्यर्थः । यतस्तेनैव वाक्यौ अन्तर्यामितया वा प्रकर्षेण कोपिताः ॥२३॥

व्याख्यानं - वीर्यं का आशय क्रिया शक्ति है, 'शौर्य' का मात्र बलदेवजी का स्वभाव ही ऐसा है, 'बल' शब्द से बलरामजी का शरीर ही बलरूप है यह प्रकट किया है, इन तीन कारणों से ही तेजस्वी उत्तम वाक्य बलरामजी ने वहे जो फल पर्यवसायी थे, अब एक एक पद का स्पष्टीकरण करते हैं उग्रसेन तुमको आज्ञा देते हैं ये वाक्य वीर्य पूर्ण होने से वीर्य को प्रकट करने वाले हैं । उग्रसेनजी पृथ्वी पतियों के भी स्वामी हैं, यह वाक्य शौर्य दिखाने वाला है । देरी न करो, यह वाक्य बल का द्योतक है । 'यत् यूयं' 'कुरव' पद से उनका अभिमानी स्वभाव प्रकट किया है, उनका धर्म ही युक्त है, न कि वे तदीय है । राजा की कोई आवश्यकता नहीं है, यों जानते ही है, यदि बल स्वयं यह वचन कहे कि मेरी आज्ञा से यों करो, तो उचित ही है, तब क्रोध उत्पन्न न होवे । क्योंकि वे वास्तविक हमारे ईश्वर हैं । वे विशेषतया हमारे समान भक्त नहीं है, तो भी उन यादवों में ही एश्वर्य स्थापन कर पश्चात् हममें ईशपन स्थापन करते हैं । उनमें ईश्वरत्व स्थापन करने में हेतु उनकी कुलीनपन नहीं है, यदि वह हो तो, हम में ही स्थापन करना उचित है । यह साधारण लीला नहीं है, इस लिये अपनी इच्छा से जैसा आवे वैसा करना उचित नहीं है, कारण कि, भगवान् ने भक्तों के हितार्थ अवतार धारण किया है । वह भक्ति कारण, के अनुरोध से उत्पन्न, कौरवों में पुष्ट होनी चाहिये, न कि कौरवेत्तर यादवों में, यदि कहो कि ईश्वर होने से भक्ति भी उनको ही देते हैं, प्रभु होने से ऐसी ही इच्छा है, इस पर कहते हैं कि, 'नहीं' यों न करना चाहिये इस प्रकार करने से विषमता होती है, अतः सिद्ध हुई, भक्ति का आश्रय कर भगवान् कहते हैं, इसलिये भक्ति को कारण के आधीन जान कर ही अपना उत्कर्ष दिखाने के लिए वा स्थापन करने के लिए कुछ कहने लगे, यों आशय है, क्योंकि उसने ही वाक्यों से अथवा अन्तर्यामिपन से उनमें क्रोध उत्पन्न किया है ॥२३॥

ग्रामास—स्वोत्कर्षख्यापकानि पञ्चवाक्यान्याह अहो महच्चित्रमिति ।

ग्रावासाय—अपना उत्कर्ष प्रसिद्ध करने वाले वाक्य 'अहो महच्चित्र' श्लोक में कहते हैं:—



श्लोक—कुरव ऊचुः—अहो महच्चित्रमिदं कालगत्या दुरत्यया ।

आरुक्षत्युपानद्वै शिरो मुकुटसेवितम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—कौरव कहने लगे कि काल की गति समझ में नहीं आती है, यह महान् अचम्भे की बात है कि जिस सिर पर मुकुट धरा जाता है, उस सिर पर जूती चढ़ना चाहती है ॥२४॥

सुबोधिनी - देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणात्मधर्मो उत्कर्षः क्रमान्तिरूप्यते । तत्र देहोत्कर्षं वस्तुतो विचार्यमाणे यादवा धर्मरहिताः स्वेच्छाचाराः चमपुटप्रायाः, कौरवास्तु देवाधिष्ठिताः मुकुटाश्रयशिरस्थानीयाः । अयमर्थः पारमार्थिकः । एवं सति कौरवेभ्योऽपि यादवोत्कर्षं वस्तुसामर्थ्यभावात् कालदशादेव तथा भवतीति, कालश्चे-

इवरो नियन्तुमशक्य इति, पूर्व कदाप्येवं न जातमिति, महच्चित्रं भवति । तत्र हेतुः दुरत्यया कालगत्येति । ईश्वरवाक्यात् दुरत्ययत्वम्, अन्यथा असम्बद्धवाक्यतायां न किञ्चिद्दूषणं स्यात् । वै निश्चयेन । उपानच्छिर आरुक्षतीति । मुकुटवन्त्रादिभिर्व्यासादिभिश्च सेवितम् ॥२४॥

व्याख्यानार्थ - देह इन्द्रियों, प्राण, अन्तःकरण और आत्मधर्मों का उत्कर्ष क्रम से निरूपण किया जाता है । पहले यादवों से अपनी देह का उत्कर्ष बताते हैं, देह के उत्कर्ष का वास्तविक रीति से विचार किया जावे, तो यादव धर्म रहित, स्वेच्छाचारी केवल चमड़े से बने हुये शरीर वाले हैं । कौरव तो देवाधिष्ठित और जिस पर मुकुट धरा जाता है ऐसे शीर्ष जैसे उच्च स्थानीय हैं, यह पारमार्थिक यों होने पर भी कौरवों से यादवों का उत्कर्ष हो, ऐसे किसी प्रकार की वस्तु के सामर्थ्य का आभाव है किन्तु कालवश ही यों होता है, काल को ईश्वर भी नियम में नहीं ला सकता है, पहले कभी भी इस प्रकार नहीं हुवा है अतः महान् आश्चर्य है, इसमें क्या कारण है ? जिसका उत्तर देते हैं काल की गति जानी नहीं जाती है, ईश्वर वाक्य होने से दुरत्ययपन है, यों न होवे तो अर्थात् ईश्वर वाक्य होने से काल की गति समझी न जावे तो असम्बद्ध वाक्यता^१ में निश्चय से कुछ दूषण न होवे, इसमें दृष्टान्त देते हैं, जिस मस्तक को मुकुट वस्त्र आदि और व्यास आदि महर्षियों ने उच्च स्थान दिया है वह माना तथा पूजा है जिससे उस मस्तक पर सदैव मुकुट व पुष्प आदि पवित्र वस्तु धरी जाती है उस पर क्या जूता चढ़ना चाहता है ? अर्थात् हम जो उच्च हैं उन पर जूते के समान यादव चढ़ना चाहते हैं ॥२४॥

आभास—ऐन्द्रियकव्यवहारे विवाहशयनादौ हीनत्वमाह एते यौनेन संबद्धा इति ।

आभासार्थ—‘एते यौनेन सम्बद्धाः’ श्लोक से इन्द्रिय सम्बन्धी विवाह शयन आदि व्यवहार में यादवों की हीनता कहते हैं—

श्लोक—एते यौनेन सम्बद्धाः सहशय्यासनाशनाः ।

वृणयस्तुल्यतां नीता अस्मद्गतनृपासनाः ॥२५॥

श्लोकायं—यादवों के साथ विवाह सम्बन्ध कर, राज्यासन देकर, इनके साथ सोना, बैठना और भोजन करके इनको अपने समान बनाया है ॥२५॥

सुबोधिनी - यूनो भावो विवाहो योनम्. तेन संबद्धाः । पूर्वमेकोत्पन्ना अपि व्यवहारे हीना इति त्यक्त्वा अपि पुनः योनेन संबद्धा इत्यर्थः । पृथादयः स्त्रियः तेभ्यः समानीता इति . ननु तथापि 'स्त्रीरत्नं दुष्कुलादपी'ति न्यायेन न समानयनमात्रेण तुल्यता भवतीति चेत् तत्राह सहशय्यासनाशना इति । शयनवासनं भोजनं चेत् सह.

येन सह तत्तुल्य एव भवतीति स्थितिः अत एव
वृष्णयस्तुल्यतां नीताः । अनेन अज्ञानान्निषिद्धा-
चरणे प्रायश्चित्तं कर्तव्यमिति पक्षो निवारितः ।
एवं कुलधर्मविचारेण स्वस्योत्कर्षमुक्त्वा ऐश्वर्य-
विचारेणाप्युत्कर्षमाह अस्मदत्तनृपासना इति ।
पूर्वं हि यथातिना पूरव एव राज्यं दत्तम्, अन्ये
ज्येष्ठा अपि तदधीनाः ॥२५॥

ध्यास्यार्थ—यद्यपि पूर्व में एक से उत्पन्न हुवे है, तो भी ये व्यवहार में हम से हीन थे, उस हीनता पर ध्यान न देकर इनसे विवाह सम्बन्ध जोड़ा, पृथा आदि स्त्रियाँ इनसे ली है यदि कहो कि 'स्त्री रत्न टुण्कुलादपि' इस न्याय से स्त्रियों के लाने से समानता नहीं होती है, जिसके उत्तर में कहते हैं, कि इनके साथ सोना, बैठना और भोजन आदि भी किये जिनसे इनकी समानता हो गई, इस प्रकार हमने इनको कृपा से अपने समान बनाया है, यो कहने से यह सूचित किया कि वह पक्ष अज्ञान से कोई निषिद्ध आचरण हो जावे तो उसका प्रायश्चित्त किया जाता है, वह पक्ष अमान्य कर दिया है, इसी तरह कुल के धर्म विचार से अपना उत्कर्ष बताकर, ऐश्वर्य के विचार से भी अपनी बड़ाई प्रकट करते हैं कि 'अस्मदत्त नृपासनाः' इनके राज्य था ही नहीं वह भी हमने दिया है, जैसे कि पहले ही ययाति ने पुरु को राज्य दिया, दूसरे बड़े भी उसके आधीन हुवे ॥२५॥

आभास—एवं साधनानि स्वाधीनान्युक्त्वा तेषां भोगोऽप्यस्मदधीन एवेत्याह
चामरव्यजने इति ।

ग्राभासार्थ—इस प्रकार साधन अपने ग्राधीन थे कहकर उनका भोग भी अपने ग्राधीन 'चामर व्यजने' श्लोक से बताते हैं —

श्लोक—चामरव्यजने शङ्खमातपत्रं च पाण्डुरम् ।

किरीटमासनं शय्यां भुञ्जन्त्यस्मदुपेक्षया ॥२६॥

श्लोकार्थ—ये यादव चँवर, व्यजन, शङ्ख, श्वेत छत्र आसन और शय्या; इन सबका भोग तब कर सकते हैं, जब हमने उपेक्षा कर दी है ॥२६॥



सुबोधिनी चामरव्यजने परितः । शङ्खो-
ऽग्रे आतपत्रं पश्चात्, तत्रापि पाण्डुरं श्वेतम् ।
किरीटमुपरि । आसनमधः । शय्या निद्रावस्था-
याम् एतानि सप्तमहाराजचिह्नानि अन्येषाम-

युक्तानि राजभिरवश्यं अन्यत्र दृष्टानि निषेद्ध-
व्यानि । तथापि तुल्यतां नीता इति राजभिर-
स्माभिरुपेक्षितानि भुञ्जते । भोगः प्राणधर्म इति
तदुत्कर्षो निरूपितः ॥२६॥

व्याख्यान—महाराजाओं के सात चिन्ह हैं चामर, व्यजन, शङ्ख, श्वेत छत्र, मुकुट, आसन और शय्या, ये महाराजाओं के पास अवश्य होने चाहिये, दूसरे इन चिन्हों को रखने के योग्य नहीं हैं, उन (दूसरों) के पास देखने में आवे तो निषेध किया जाता है, ये सात चिन्ह इस प्रकार काम में लाये जाते हैं, चामर और व्यजन चारों तरफ फिराये जाते हैं, जिससे वायु हो एवं मक्खी आदि महाराजा को श्रम न देवे शङ्ख आगे ध्वनि करते हुए महाराजा के आने की सूचना देता है, छत्र पीछे के भाग में ऊपर धरा जाता है, जिससे धूप आदि से रक्षा होती है, मुकुट शिर पर धरा रहता है, आसन बैठने के लिये नीचे रहता है, नींद के लिये शय्या की आवश्यकता रहती है, इस प्रकार सात चिन्ह महाराजाओं के पास रहने ही चाहिये जिनका वे उपभोग कर सकते हैं, किन्तु ये यादव हमारे दिये हुए राज्य और इन चिन्हों को इसलिए उपभोग कर रहे हैं, क्योंकि हमने उपेक्षा की है । भोग, यह प्राणों का धर्म है इसलिये उसका उत्कर्ष निरूपण किया है ॥२६॥

आमास—आज्ञापनादिरन्तःकरणधर्म इति तदसहमानाः तन्निषेधपूर्वकं तदपकर्ष-
माहुः अलं यदूनामिति ।

आभासार्थ—आज्ञा आदि देना अन्तःकरण का धर्म है, इसलिये उसको सहन न करते हुए ऐसी अवचित आज्ञा का हम कैसे पालन करें ? अतः इनका अपकर्ष 'अलं यदूनां' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—अलं यदूनां नरदेवलाञ्छनैर्दातुः प्रतीपैः फणिनामिवामृतम् ।

ये नः प्रसादोपचिता हि यादवा आज्ञापयन्त्यद्य गतत्रपा बत ॥२७॥

श्लोकार्थ—बड़े खेद का विषय है कि हम कौरवों की कृपा से बड़े हुए ये यादव आज निर्लज्ज होकर हम (दाताओं) को आज्ञा करते हैं, जैसे सर्प को दूध पिलाकर बढ़ाया जाता है, तो वह सर्प पिलाने वाले को काटते लज्जाता नहीं, वैसे ही ये यादव हमसे राज्य और राज्य-चिन्ह पाकर बड़े हैं और अब हमारा ही अपमान कर आज्ञा करते हैं, अतः इनसे राज-चिन्ह छीन लेने चाहिए ॥२७॥

सुबोधिनी—नरदेवलाञ्छनानि पूर्वोक्तानि
उपेक्षाविषयाणि । अलमिति निषेधार्थः । नरदेव-
लाञ्छनैरलम् । अतः परं पूर्यताम् । अग्रे न स्था-
पनीयमित्यर्थः । दत्तापहारे हेतुः दातुः प्रतीपै-

रिति । आज्ञानादत्तं स्वानिष्टसम्पादकत्वे निवार-
णीयमित्यत्र दृष्टान्तमाह फणिनामिवामृतमिति ।
'सर्पस्य हि पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थकृ'दिति । स
हि मत्ततां सम्पादयति, पश्चादन्धः सन् पोषकमपि



भक्षयति । तदस्मासु जानमित्याह । ये यादवाः नः । जापयन्तीति । बतेति सेदे ॥२७॥
प्रसादोपचिताः, अद्य गतत्रपाः सन्तः, अस्मानेवा-

व्याख्यार्थ— पहले बताये हुए राज-चिन्ह उपेक्षा के विषय हैं, 'अलं' यह शब्द निषेध अर्थ में है, अर्थात् अब ये चिन्ह यादवों के पास नहीं रहने चाहिये, अब तक रहे सो रहे आगे वहां रखने अनुचित हैं, देकर लौटाकर लेने का कारण कि मूल से दिये हुए है । अपने ही पदार्थ अपना अनिष्ट करे तो उनका निवारण करना चाहिये, जैसे सर्प दूध पिलाने वाले का अनर्थ करता है, दूध पीने से वह उन्मत्त हो अन्धा बन जाता है, पालन करने वाले को काटता है, वही अवस्था हम लोगों की हुई है, जो यादव हम लोगों के प्रसाद से पल कर बड़े हैं, वे ही निलंज हो हमको आज्ञा करते हैं । दुःख का विषय है ॥२७॥

आभास — वस्तुविचारेणात्मधर्ममाश्रित्याहुः कथमिन्द्रोऽपीति ।

आभासार्थ— वस्तु को विचारते हुए आत्म धर्म का आश्रय कर 'कथमिन्द्रोऽपि' श्लोक में इसका स्पष्टीकरण करते हैं—

श्लोक—कथमिन्द्रोऽपि कुरुभिर्भीष्मद्रोणार्जुनादिभिः ।

अदत्तमवरुन्धीत सिंहप्रस्तमिदोरणः । २८॥

श्लोकार्थ— जैसे सिंह के हाथ आई हुई भेड़ आदि वस्तु उसकी कृपा के बिना कोई नहीं ले सकता है, वैसे ही भीष्म, द्रोण और अर्जुन आदि कौरवों के दिए बिना इन्द्र भी साम्ब को (छुड़ाकर) नहीं ले जा सकता है ॥२८॥

सुबोधिनो—भीष्मो हि कालकामप'शुरामादीनां जेता । ततोऽप्यधिको द्रोणः विद्यया तुल्योऽपि ब्राह्मण्यादधिकः । ततोऽप्यर्जुनः तच्छिष्योऽपि महादेवादिप्रसादैरुपचितः । एते त्रय आधिभौतिकादिरूपाः आदिभूता येषां तैः अदत्तं इन्द्रोऽपि कथमवरुन्धीत । इन्द्रो वस्तुतः सर्वाधिपतिः, तथाप्येते अधिकृताः, न हि देहादिषु प्रतिकूलेषु

ईश्वरोऽपि भोगं प्राप्तुमर्हति । ननु स्वभागः, तेषां का दानपेक्षेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह सिंहप्रस्तमिदोरण इति । यद्यप्युरणस्याल्पमेषस्य पुत्रो भार्या वा भागो भवति, तथापि सिंहप्रस्तः तत्कृपयैव प्राप्यते, तथैव साम्बः सभार्योऽस्मदवरुद्ध इत्यर्थः ॥२८॥

व्याख्यार्थ— भीष्मजी, काल, काम और परशुराम आदि को भी जीतने वाले हैं, उससे भी अधिक द्रोणाचार्य विद्या में समान होते हुए भी ब्राह्मण होने से अधिक हैं, उससे भी विशेष अर्जुन है क्योंकि द्रोण का शिष्य होने पर भी महादेव आदि देवों के प्रसादों से युक्त है, ये आधिभौतिक तीन रूप जिनके आदि (अग्रगण्य) हैं वैसे कौरवों के दिये बिना इन्द्र भी इस पकड़े हुए साम्ब को नहीं ले सकता है, यद्यपि इन्द्र वास्तविक रीति से सर्व के अधिपति है, तो भी ये अधिकृत अर्थात् अधिकार



वाले हैं, देह आदि यदि प्रतिकूल हो तो समर्थ भी भोग प्राप्त करने योग्य नहीं होते, (तो फिर) यह तो अपना भाग है, जिसमें दान की कौनसी अपेक्षा है? इसको दृष्टान्त से समझाते हैं, सिंह प्रस्तमिवोरण' जैसे तुच्छ मेष की सन्तान अपना भोग है किन्तु जब उसको सिंह पकड़ लेता है तब वह कृपा कर देवे तो लिया जा सकता है अन्यथा नहीं, इसी प्रकार साम्ब उनका होते हुए भी हमने उसको स्त्री समेत पकड़ रखा है अतः भोष्म आदि कृपा कर देवे तो ले सकते हैं ॥२८॥

आभास—एवं पञ्चावयवमहङ्कारवाक्यं श्रावयित्वा निर्गता इत्याह जन्मेति ।

आभासाय इस प्रकार पांच अवयव वाला अहङ्कारयुक्त राम को सुना कर वहां से निकले यह वर्णन 'जन्म' श्लोक से श्री शुकदेवजी वर्णन करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—जन्मबन्धुश्रियोन्नद्धमदास्ते भरतर्षभ ।

आश्राव्य रामं दुर्वक्ष्यमसम्भ्याः पुरमाविशन् ॥२९॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे भरतर्षभ ! सत्कुल में जन्म से और बान्धवों की कृपा से प्राप्त लक्ष्मी के कारण जिनका मद बढ़ गया है, वैसे असम्भ्य कौरव दलरामजों को दुर्वक्ष्य कहकर अपने नगर में चले गए ॥२९॥

सुबोधिनी—वाचनिककायिकातिक्रमे निरूपिते मानसिकोऽपि निरूपितप्रायः । एवमतिक्रमे हेतुः जन्मबन्धुश्रियोन्नद्धमदा इति । जन्म सत्कुले, बन्धुः बान्धवः, श्रीः लक्ष्मीश्च । जन्मनि बन्धुकृता या श्रीः श्रौत्पत्तिकलक्ष्मीः, तथा वा उन्नद्धा मदो येषाम् । भरतर्षभेति सम्बोधनं राज्ञो मायामोहाभावाय । 'दोष्यन्तिरत्यगान्मायाम्' मिति वाक्यात् । अन्यथा क्षत्रियः स्वकीयापकर्षं न सहति इति । इयं

कथा श्रवणविधातिका स्यात् । इदं वाक्यं रामं प्रत्येव स्पष्टम् । नत्वन्तःकरणेनापि स्वीकीयेषु । तदाह दुर्वक्ष्यं राममाश्राव्य पुरमाविशन्निति । ननु गृहे समागते नैवं वक्तुमुचितमित्याशङ्क्याह असम्भ्या इति । सतामेवैषा कथा । श्रीमदेनैव तेषामसत्त्वम्; अन्यथा अग्रे ऋजुत्वं न स्यात् ॥२९॥

व्याख्यानार्थ—वाणी, काया और मन से किये हुए अतिक्रम का निरूपण हुआ, अब इस प्रकार अतिक्रम करने का कारण कहते हैं कि (१) सत्कुल में जन्म (२) बान्धव बहुत थे और (३) लक्ष्मी इन तीन कारणों से जिनका मद बढ़ गया है, वैसे कौरव, अथवा इस जन्म में बान्धवों के बल से वा कृपा से प्राप्त लक्ष्मी से जिनमें अहङ्कार की वृद्धि हुई है वैसे कौरव, दलरामजों को दुर्वक्ष्य कह कर पुर में प्रविष्ट हो गये, भरतर्षभः यह विशेषण राजा को इसलिये दिया कि राजा में माया मोह का अभाव है । जिसमें प्रमाण देते हैं कि 'दोष्यन्तिरत्यगान्मायाम्' दुष्यन्त कुल में उत्पन्न राजा माया को पार कर गये, अन्यथा क्षत्रिय अपना अपकर्ष सहन नहीं कर सके । यह कथा श्रवण को विशेष कर घात करनेवाली होवे यह वाक्य स्पष्ट रीति से राम के प्रति ही है, न कि अन्तःकरण से भी स्वकोश के प्रति है जैसा कि 'दुर्वक्ष्यं राममाश्राव्य पुरमाविशन्' कहा है गृह में जाने के अनन्तर यों करना

ग्राभासाथं—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'दृष्टु' कुर्यात्, श्लोक में कहते हैं—

प्रवोचत्कोपसंरब्धो दुष्प्रेक्ष्यः प्रहसन्प्रभुः ॥३०॥

श्लोकार्थ—कौगवो का दुष्ट स्वभाव देख और दुर्वचन सुन कोप से भर गए, जिससे देखे नहीं जाते, वैसे वे अच्युत और प्रभु होने के नाते हँसते हुए कहने लगे ॥३०॥

सुबोधिनो- अवगणनां कृत्वा गमनं दोःशी-
त्यम्, अन्यथा बान्धवानिक्कमो महदतिक्कमश्च न
भवेदिति । अवाच्यान्यपि श्रुतवान् । अवाक्यानि
तादृशवाक्यानि वा । अच्युत इति भयाभावाय ।
स्वयमपि तानि वाक्यानि दूषयितुं अवोचत् ।
अन्यथा देहेन निराकरणेऽपि वाक्येन (न) निरा-

कृताः स्युः । दोषसंरब्ध इति । भगवत्कृतं न
मन्यन्त इति । अन्तर्गुप्ते क्रोधे अपकार एव,
भटिति कृते क्लिष्टता स्यादिति क्रोधस्य वह्नि-
राविष्कारमाह दुष्प्रेक्ष्य इति । प्रहसन्निति दुःखा-
भावाय । यतः प्रभूः ॥३०॥

व्याख्यानार्थ—तिरस्कार कर चला जाना ही असम्यता है, यदि असम्यता न होती तो बान्धवों का अतिक्रम और महत्पुरुषों का अतिक्रम न करते, इस प्रकार न कहने योग्य वचन भी असम्यकों के सुने, वाणी में न आने योग्य वाक्य तथा अश्लील वाक्य सुने, ऐसे वाक्यों के सुनने पर भी भय का अभाव रहा अर्थात् राम को किसी प्रकार भय न हुआ, क्योंकि 'अच्युतः' आप च्युति रहित है, अनन्तर स्वयं भी उनके वाक्यों को दूषित करने के लिए कहने लगे अन्यथा देह से निराकरण होने पर भी वाक्य से (न) निराकृत होवे, भगवान् की आज्ञा नहीं मानी, इसलिये कोप से भर गये, यदि वह क्रोध भीतर समा लेवे तो उसमें अपकार ही होवे, शीघ्रता करे तो क्लिष्टता हो, इसलिये क्रोध को बाहर निकाला जिससे आपकी आकृति ऐसी हो गई जिसको कोई देख नहीं सकता किन्तु विशेषता यह थी, कि क्रोध प्रकट भी किया तो भी दुःख नहीं था इसलिये हंसते हुए कहने लगे क्योंकि 'प्रभु' सर्व प्रकार समर्थ है ॥३०॥

ग्रामास—पञ्चवाक्यानामर्थं स्थानत्रयेण नवभिर्निराकृत्य नवभिः कर्तव्यं प्रतिज्ञाय दशमेनाध्यवस्यति नूनमिति दशभिः श्लोकैः ।

ग्रामासायं — पांच वाक्यों के अर्थ को नव श्लोकों से स्थानात्रय से निराकरण कर तथा उनमें कर्त्तव्य की प्रतिज्ञा की है और दशवें श्लोक से क्रिया को कहते हैं वे १० श्लोक 'तून नाना' श्लोक से प्रारम्भ होते हैं —

श्लोक--तूनं नानामदोन्नद्धाः शान्तिं नेच्छन्त्यसाधवः ।

तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लकुटो यथा ॥३१॥

श्लोकार्थ—यह निश्चय है कि असाधु पुरुष जब अनेक मर्दों से मत्त हो जाते हैं, तब वे शान्ति नहीं चाहते हैं, उनको शान्त करने का उपाय डण्डा ही है, जैसे पशु डण्डे से ही शान्त होता है ॥३१॥

सुबोधिनी—'विद्यामदो धनमद' इत्यादि-
वाक्यैर्मदा निरूपिताः । तद्युक्ता नीतिवाक्यानि
न मन्यन्ते । अतस्तेषां प्रतीकारः क्रियैव, न
वाक्यानि । अतो यदेतन्निराकृतमनङ्गीकरण-
वाक्यैः तद्युक्तमेव । अतः शमार्थं प्रयुक्ता विफला
जाता इति क्रियैव दण्डरूपया शमः वर्तव्यः,
तदाह तेषां हि प्रशमो दण्ड इति । एतत्स्वोपक्रमा-
नुसारेणोपक्रमविचारेणोक्तम् । उपसहारे त्वन्यथा

वत्तव्यम् । शमभात्रमुपक्रमः, मारणमुपसंहारः,
ततो विरोधः । मारणोद्यम एव शमो भवतीति ।
ननु क्रियया दण्डे सुतरामेव प्रकोपः स्यादित्या-
शङ्क्य दृष्टान्तमाह पशूनां लकुटो यथेति । स हि
दण्डो लोकप्रसिद्धः । स यथा दृष्ट एव पशूनां
भयजनको भवति, उद्यतो वा, तथा सर्वस्वनाशः
उद्यतो ज्ञातो वा पशुतृत्यानां भयजनकः ॥३१॥

व्याख्यानार्थ—‘विद्यामदो धनमद’ आदि वाक्यों से शास्त्रों में मद के प्रकार कहे गये हैं, उन मद से जो युक्त होते हैं अर्थात् जिनमें इस प्रकार का मद स्थान पा लेता है, वे नीति के वाक्यों को नहीं मानते हैं, अर्थात् वे नीति से नहीं समझते हैं इसलिये इनके समझाने का उपाय क्रिया ही है, न कि वाक्य, इसलिये इनको नीति वाक्यों से समझाया गया किन्तु उनसे इन को समझ नहीं आई जिससे इन्होंने माना नहीं, कारण कि ये मद से मत्त हो गये हैं, अतः इन्होंने जो किया वह इनके अनुरूप ही है : अतः शान्ति के लिये जो वाक्य कहे वे निष्फल हो गये, इसलिये दण्ड स्वरूप क्रिया से ही इनको शान्त करना चाहिये । वह दृष्टान्त से समझकर कहते हैं कि ‘तेषां हि प्रशमो दण्डः पशूनां लकुटो यथा’ जैसे पशु डण्डे से शांत होते हैं वैसे ही मदमत्त भी डण्डे से शान्त होते हैं । ऊपर जो कहा वह उपक्रम के अनुसार, उपक्रम के विचार से कहा । उपसंहार में दूसरे प्रकार से कहना चाहिये, केवल शान्ति हो इतना ही उपक्रम है, मारना उपसंहार है । इससे विरोध है मारने का उद्यम ही शान्ति है, शंका करते हैं कि यदि क्रिया से सजा दी जायेगी तो सुतराम ही विशेष कोप होगा? जिसके उत्तर में दृष्टान्त देते हैं कि जैसे पशु डंडे को देखते ही शांत हो जाते हैं लगने पर तो सदैव के लिये शांत रहते हैं वैसे ही मदान्ध पशु तुल्य मनुष्यों को डंडा ही भय पैदा कर शांत करता है ॥३॥

१-अर्थ २- फुट नोट में 'नापि विशेष' पाठ दिखाया है जिसका अर्थ है कि यों कहते हुए भी विशेष नहीं है।



आभास—नन्वेवं सति-यादवाः किमिति निवारिता इत्याशङ्क्य तथा सति वैषम्यं स्यात्, न दण्डः, नहि शत्रुजयादिदण्डो भवति, अतो हिनकारिण एव वयमिति पूर्वोप-
क्रान्तां स्वक्रियामाह अहो इति ।

आभासार्थ—यदि यों है तो यादवों को क्यों रोका? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यदि यादवों को न रोका जाता तो आपस में विषमता पैदा होती, दण्ड (सजा) न होता । शत्रु को जीत लेना दण्ड नहीं है, अतः हम दोनों के हित करने वाले हैं, इसलिये पहले प्रारम्भ की हुई अपनी क्रिया का वर्णन इस 'अहो यदून्' श्लोक से करते हैं

श्लोक—अहो यदून्सुसंरब्धान्कृष्णं च कुपितं शनैः ।

सान्त्वयित्वाहमेतेषां शममिच्छन्निहागतः ॥३२॥

इत्युक्तार्थ—अहो ! कुपित यादव लड़ने के लिए उद्यत थे और श्रीकृष्ण भी कुपित थे, इनको धीरे-धीरे शान्त कराके, दोनों के हित की इच्छा से मैं यहाँ आया हूँ ॥३२॥

सुसोधिनी - शान्तिकर्तार प्रकोपश्चाश्रयम्
यादवः सर्वे सुसंरब्धाः मारणोन्मुखाः समर्थाश्च ।
नन्वदृष्टवशादुर्वरिताः, किं तव पौरुषमिति चेत् ।
तत्राह कृष्ण च कुपितमिति । भगवद्विचारमात्रे-
णैव सर्वं सिध्यति, किं पुनः कुपिते । कृष्ण इति
भक्ताधीनः, कालात्मा वा । तेनादृष्टादयस्तदनु-

गुणा एवेति तेषां सर्वमेव प्रतिकूलम् । तान् तद्वदि-
शनैः सान्त्वयित्वा, न तु बलात्, च स्वसामर्थ्य-
प्रकाशनेन, तथाकरणे हेतुः अहमिति । अहङ्का-
रादेते बन्धनं कृतवन्त इति तदधिष्ठाता चाहमिति
तेषां शान्तिमेव वाञ्छन्निहागतः ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—अहो ! शब्द कहने का भावार्थ बताते हैं कि शांति करानेवाले पर क्रोध करना आश्रय है । यादव सब तैयार थे मारने के लिये आक्रमण करने वाले थे और यों करने में समर्थ भी थे, अदृष्ट के वश होने से रुक गये आपका इस में कौनसा पौरुष है यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि केवल यादव कुपित नहीं थे किन्तु श्रीकृष्ण स्वयं भी क्रोध में आ गये थे, भगवान् के केवल विचार से सर्व सिद्ध हो जाता है, फिर कुपित होने पर क्या न होगा? 'कृष्ण नाम देने से यह बताया है कि वे तो भक्तों के आधीन हैं अथवा कालात्मा है इससे अदृष्ट आदि उनके पीछे ही चलने वाले गुण हैं, इस प्रकार उन (कोरवों) के प्रतिकूल था उन सर्व को धीरे-धीरे शांति कराई, न कि बल से और न अपना सामर्थ्य प्रकट करने से, यों करने में कारण 'अहम्'—मैं हूँ, क्योंकि इन्होंने अहंकार से साम्ब का बन्धन किया है, उस अहङ्कार का अधिष्ठाता मैं हूँ इसलिये उन अभिमानियों को शांति करने की इच्छा से ही मैं यहाँ आया हूँ ।

आभास - सा च शान्तिर्वाक्यैर्न जातेति क्रियार्थमाह त इम इति ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३३ ॥

आभासार्थ—वह शान्ति, वाणी के बोध द्वारा न हुई, इसलिये अन्य क्रिया से होगी, यह 'त इमे' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक— त इमे मन्दमतयः कलहाभिरताः खलाः ।

तं मामवज्ञाय मुहुर्दुर्भाष्यान्मानिनोऽब्रुवन् ॥ ३३ ॥

श्लोकार्थ— ये मन्द बुद्धि, कलह प्रिय, दुष्ट एवं अभिमानी मेरा तिरस्कार कर, न कहने योग्य वचन मुझे बार-बार कहने लगे । ३३॥

सुबोधिनी— यतो मन्दमतयः । तर्हि युद्धोद्यमे लौकिके शान्ता भविष्यन्तीत्याशङ्क्याह कलहाभिरता इति । परस्परकलह एव अभितो रतिर्येषाम् । कलहे तु युद्धे मरणमेव शान्तिर्नोति । नन्वन्तर्यामितया प्रेरणीया इति चेत्, तत्राह खला इति । मूलेच्छया तानन्तर्यामी तथैव प्रेरयतीति । तथापि त्वया समर्थमुद्यमः कृत इति

तदेव कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह तन्मामवज्ञायेति । तादृशशमकर्तारं माम् तत्तत्र वा । अङ्गीकारे हि वाक्यैः हिताचरणादिभिश्च प्रमोदो भवति, नान्यथा । ते त्ववज्ञांमेव कुर्वन्ति । मुहुरिति पुनः । परीक्षा निषिद्धा अवज्ञया मानसो दोष उक्तः । दुर्भाष्यान् दुष्टवाक्यानि चाब्रुवन् । अयं वाचनिको दोषः । मानिन इत्यग्रेऽप्यसमाधानम् ॥ ३३ ॥

व्याख्यानार्थ— जो वचन नहीं कहने चाहिये वैसे अयोग्य वाक्य मुझे कहने लगे, क्योंकि मन्द बुद्धि है, तब लौकिक प्रकार से युद्ध का उद्यम करने पर शांति होंगे? जिसके उत्तर में कहते हैं कि तो भी शांति न होंगे, कारण कि कलह प्रिय है, अर्थात् आपस से लड़ना ही जिनको प्यारा है वैसे हैं, कलह करने पर लड़ाई होगी जिससे निश्चय मरना ही पड़ेगा शान्ति न होगी, यदि यों है, तो अन्तर्यामी स्वरूप से प्रेरणा कर शांति करालो, जिसके उत्तर में कहते हैं कि यों भी न हो सकेगा, कारण कि 'दुष्ट' है, अर्थात् मूल इच्छा से अन्तर्यामी इनको वैसी ही प्रेरणा करते हैं, तो भी आपने शांति के लिए उद्यम किया है तो अब भी वैसी ही प्रेरणा कीजिये, जिसका उत्तर देते हैं कि वैसी शांति चाहने वाले मुझे अपमानित कर रहे हैं, वह भी बार बार कर रहे हैं, शांति तो तब हो, जब वे कहे हुए शांति के वचन माने, न मानने पर शांति हो नहीं सकती, ऐसे दुष्टों की परीक्षा करना निषिद्ध है । अवज्ञा करना मानस दोष है, यह बताया दोष पूर्ण दुर्वचन वहे यह उनका वाचनिक दोष प्रकट किया अहङ्कारी है यह कह कर बताया कि आगे भी शांति से समाधान न होगा ॥ ३३ ॥

आभास—ननु युक्तमेतेषां वाक्यम्, उग्रसेनवाक्यत्वेन त्वयापि किमित्युच्यत इत्याशङ्क्योग्रसेनस्य सर्वराजाधिपत्यं साधयति नोग्रसेनः किल विभुरिति ।

आभासार्थ—इनका उग्रसेन की आज्ञा विषयक कहना उचित है, उग्रसेन के वचनों से आप भी क्या कहना चाहते हो? जिसका उत्तर देते हैं 'नोग्रसेन' श्लोक से उग्रसेन सर्व राजाओं के स्वामी हैं यह सिद्ध करते हैं—



श्लोक—नोग्रसेनः किल विभुर्मोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।

शक्रादयो लोकपाला यस्यादेशानुवर्तिनः ॥३४॥

श्लोकार्थ—उग्रसेन केवल भोज, वृष्णि और अन्धकों के राजा नहीं है, किन्तु जिसके आदेश के पीछे शक्र आदि देव भी चलते हैं, अतः वे सर्व प्रकार समर्थ हैं ॥३४॥

सुबोधिनी—स्वतो वचनाभावायाह किलेति । नाम्नैव तस्येश्वरत्वं पूर्वसिद्धं सूचितम् । तत्रापि विभुः लौकिकन्यायेनापि समर्थः । अन्यथा तत्पुत्रः कंसो राजा न भवेत् । किञ्च । साम्प्रतं भोजवृष्ण्यन्धकानामीश्वरः । त्रिविधानामपि यादवानां

प्रभुः । अलौकिकं सामर्थ्यमाह शक्रादयो लोकपाला इति । भगवतः इच्छया आज्ञया वा । 'मयि भृत्य उपासीन' इत्यत्रैव तद्विवृतम् । यस्योग्रसेनस्य आदेशमाज्ञां अनुवर्तन्त इति । अन्यथा यथाभिलषितवृष्ट्यादि न भवेत् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—'किल' निश्चय वचन कह कर यह बताते हैं कि केवल मेरे वचनों से वैसे नहीं किन्तु नाम से ही उनका ईश्वरपन प्रथम ही सिद्ध है, यदि यों न होता तो उनका पुत्र कंस राजा न बनता, किञ्च अब भोज, वृष्णि और अन्धकों का ईश्वर अर्थात् स्वामी है, तीन प्रकार के ही यादवों का प्रभु है, इस प्रकार लौकिक सामर्थ्य दिखला कर अब अलौकिक सामर्थ्य दिखलाते हैं, 'शक्रादयो लोकपालाः' भगवान् की इच्छा से अथवा आज्ञा से शक्र आदि लोकपाल भी जिस (उग्रसेन) की आज्ञा का पालन करते हैं 'मयि भृत्य उपासीन' श्लोक में यह स्पष्ट किया है यदि यों न हो तो जैसी, जितनी और जब वृष्टि आदि न होवे अर्थात् जैसी चाहते हैं वैसी ही तब-तब होती है, इस प्रकार लोकपाल भी आज्ञा मानते हैं ॥३४॥

श्लोक—सुधर्माक्रम्यते येन पारिजातोऽमराङ्घ्रिपः ।

आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनाहंणः ॥३५॥

श्लोकार्थ—जो सुधर्मा सभा में अपने बल से बिराज सकते हैं, देवताओं का पारिजात वृक्ष जो स्वर्ग में है, उसको भी लाकर भोग करते हैं; क्या वे राज्य सिंहासन के योग्य नहीं हैं ॥३५॥

सुबोधिनी—किञ्च । येन सुधर्मा आक्रम्यते, इन्द्रादयोऽपि नमस्कृत्य तां सभामारोहन्ति, तादृशीमाक्रामति । अमराङ्घ्रिपश्च पारिजातः आक्रम्यते । तन्मर्यादादूरीकरणात्तस्याप्याक्रमणम् । इन्द्रादीनामननुमतौ कथमेतद्द्वयं स्यात् । भगवत्सामर्थ्यमेतादृशं नाशङ्कनीयम् । भगवतैवोग्रसेन

ऐश्वर्यकला स्थापितेति नरत्ववत्तदधीनत्वमप्यङ्गीकृतमिति । 'अङ्गीकृता ग्लानिनं दोषय' । अनधिकारिण एतेऽस्माभिस्तुल्यतां नीताः । राज्यं च दत्तमिति यदुक्तम्, तन्निराकरोति आनीय भुज्यते सोऽसौ न किलाध्यासनाहंण इति । न हि सर्वे राजाना भवन्ति । यद्येको राज्याहो न भवेत्,

तदैव तद्वचनं सार्थकं स्यात् । तत्र भाग्यं क्रिया- | श्यतीति चेत्, तत्राह सोऽसाविति । स एव भग-
 शक्तिश्च प्रयोजिके । तत्रापि क्रियाशक्तिः प्रयो- | वानिदानो ममाग्रे तिष्ठति, मैवं किलेत्युपलम्भार्थं
 जिका । यदिन्द्रं निजित्य पारिजातः आनीय | प्रसिद्धिः ॥३५॥
 भुञ्जते । ननु सा शक्तिः साम्प्रतं कुण्ठता भवि-

व्याख्यानार्थ - जो श्री कृष्णचन्द्र, सुधर्मा सभा को दबाकर उसमें विराजमान होते हैं, जिस सभा को इन्द्र आदि देव प्रणाम करने के पश्चात् वहां चढ़ते हैं अर्थात् उसमें बैठ सकते हैं, देवताओं के वृक्ष पारिजात को भी स्वेच्छा से लाकर अपने गृह में धरते हैं, पारिजात वृक्ष स्वर्गीय वृक्ष है अतः स्वर्ग में रहना चाहिये उसकी इस मर्यादा को दूर करना अर्थात् मिटाना यह ही उस पर आक्रमण कहा जाता है, इन्द्रादि लोकपालों की आज्ञा वा सम्मति लिये बिना ये दोनों कार्य कैसे हुवे होंगे? ये दोनों कार्य भगवान् के सामर्थ्य से हुवे हैं इसलिये इनमें शङ्का नहीं करना चाहिये, भगवान् ने ही उग्रसेन में ऐश्वर्य कला स्थापित की है, इसलिये नरत्व की तरह उनका आचिनत्व भी अङ्गीकार किया है, कारण कि शास्त्र में कहा गया है कि 'अङ्गीकृता ग्लानिर्नदोषाय' छोटी बात भी यदि अङ्गीकार की जाय तो फिर उसमें दोष नहीं लगता है, ये अधिकारी नहीं थे हम लोगों के तुल्य कर दिये हैं, कौरवों ने जो कहा कि हमने राज्य दिया है, उसका निराकरण करते हैं जो स्वर्ग से देवताओं का पारिजात वृक्ष पृथ्वी पर लाकर जिसका उपभोग कर रहे हैं वैसे भी सिंहासन पर बैठने योग्य नहीं हैं क्या? सर्व राजा नहीं हो सकते हैं, यदि एक राज्य के योग्य न हो तब तो वह वचन सार्थक हो सकता है, उसमें भाग्य और क्रिया (काम करने की) शक्ति दोनों प्रयोजक है किन्तु उनमें भी क्रिया शक्ति विशेष प्रयोजक है, जैसे कि इन्द्र को जीतकर पारिजात वृक्ष लाकर भोग किया जाता है, यदि कहो कि वह शक्ति अब कुण्ठित (मन्द) हो गई होगी, इस पर कहते हैं कि 'सोऽसौ' वह भगवान् अब भी मेरे पास ही है आप यों मत कहो कि वह शक्ति कुण्ठित हो गई होगी, 'किल' निश्चय से वह शक्ति अब भी वैसी ही विद्यमान (मौजूद) है, इस प्रकार कहना 'उपालम्भ' देने के समान है ॥३५॥

आभास--भाग्योत्कर्षमाह यस्य पादयुगमिति ।

आभासार्थ—‘यस्य पादयुगं’ श्लोक से भाग्य का उत्कर्ष कहते हैं ।

श्लोक—यस्य पादयुगं साक्षाच्छ्रीरुपास्तेऽखिलेश्वरी ।

स नार्हति किल श्रीशो नरदेवपरिच्छदान् ॥३६॥

श्लोकार्थ— जिसके चरणों की सेवा साक्षात् अखिलेश्वरी लक्ष्मी करती है, वह लक्ष्मीपति क्या राज्य चिन्ह धारण करने के योग्य नहीं है ? क्या यों कहना उचित है ? ॥३६॥

सुबोधिनी—सर्वेषां भाग्यं लक्ष्म्यधीनम् ।
अतः सा सर्वेश्वरी । सापि नीचतया भगवच्च-
रणारविन्दं सेवते । साक्षादित्याधिदैविकी, न तु
दिव्यस्त्रीरूपा, नापि राज्यलक्ष्मीरूपा । यदाहुः
'चामरव्यजने शङ्ख'मिति, तद्दूषणार्थं हेतु-

मुक्त्वा, तदनूद्य दूषयति स नार्हति किल श्रीश
इति । चामरव्यजनादयो नरदेवपरिच्छदाः ।
अनर्हत्वे हि तदुपेक्षया भोगो भवति । अन्यथा
इन्द्रादीनामपि तथात्वं यथात्वं स्यात् ॥ ३६ ॥

व्याख्यानार्थ—सब के भाग्य लक्ष्मी के आधीन है, अतः वह सबकी मालकिन है, वह सर्वेश्वरी होते हुए भी छोटी होकर भगवान् के चरणारविन्द की सेवा करती है वह सेवा करनेवाली लक्ष्मी, राज्य लक्ष्मी रूप नहीं है और न दिव्य रूप लक्ष्मी है किन्तु साक्षात् पद देकर यह बताया है कि आधिदैविक स्वरूपा श्री है, यह जो कौरवों ने कहा कि 'चामर व्यजने शङ्ख' चक्र आदि राज्य चिन्ह भी हमारे दिये हुवे हैं इस कहने के हेतु पूर्वक दूषण देकर कहते हैं कि 'स नार्हति किल श्रीश' क्या लक्ष्मी पति इनको नहीं धारण कर सकते हैं, चैत्र व्यजन आदि नृपति के चिन्ह हैं, अयोग्यत्व के कारण उसकी उपेक्षा से भोग किया जाता है नहीं तो इन्द्र आदि का भी तथात्वं यथात्वं हो जाय, अर्थात् वे भी वैसे बन जावे ॥३६॥

आभास—यदप्युक्तं अलं यदूनामिति, तत्तदा स्यात्, यदि स्वतः सिंहासनं न स्यादिति वक्तुं तस्य सिंहासनोपपत्तिमाह यस्याङ्घ्रिपङ्कजरत्न इति ।

आभासार्थ—कौरवी ने अलं यदूनां श्लोक में जो कहा वह तब हो सकता है, यदि उनको अपना स्वतः सिंहासन न होवे, यह बताने के लिये हेतु पूर्वक अपने सिंहासन की सिद्धि करते हैं—जिसका वर्णन 'यस्याङ्घ्रि, श्लोक में करते हैं—

श्लोक—यस्याङ्घ्रिपङ्कजरजोऽखिललोकपालं—

मौल्युत्तमैर्धृतमुपासिततीर्थतीर्थम् ।

ब्रह्मा भवोऽहमपि यस्य कलाः कलायाः

श्रीश्रोद्धहेम चिरमस्य नृपासनं क्व ॥३७॥

श्लोकार्थ—दश दिक्पाल जिसकी चरण रज को अपने उत्तम मुकुटों से सिर पर धारण करते हैं और जिसके चरणों से उत्पन्न होने के कारण श्री गङ्गाजी तीर्थों की भी तीर्थ रूप हुई है, जिसकी कला के भी कलारूप ब्रह्मा, महादेव और मैं तथा लक्ष्मी जी जिसकी चरण रज को बहुत समय से मस्तक पर धारण करते हैं उनको यह नृपासन ध्यान में भी नहीं है ॥३७॥



बुधोधिनी - अष्टौ लोकपालाः परितः, उपरि ब्रह्मा, अधः शेषोऽहम् । एतेषां दशानामा-
शापालकानां मध्ये प्रभुणा भाव्यम् । स एव
मुख्यो राजशब्दार्थः । प्रभुत्वं च दिक्पालकानां
सर्वथा हीनभावावलम्बने भवति । एतत्तु सर्वैरेव
दृष्टमिति सिद्धवन्निरूप्यते । यस्य चरणकमल-
रजः अखिललोकपालैः सर्वैरेव पूर्वोक्तैः । मोल्यु-
त्तमैरिति करणम् । तेषामपि भगवदीयत्वसि-
द्ध्यर्थं लौकिकन्यायेन स्वामिसेवायां वा ऐश्वर्यो-
त्कर्षमुक्त्वा धर्मोत्कर्षमाह । उपासिता तीर्थाना-

मपि तीर्थभूता गङ्गा यस्य । कीर्तिमाह ब्रह्मा
भवोऽहमपि यस्य कलाः कलाया इति । भगवतः
कला जगदुत्पत्तिस्थितिविनाशकर्त्री काचित् ।
तस्याख्योऽंशाः सत्त्वादयः । तत्र रजो ब्रह्मा ।
तमो भवः । अहं सत्त्वम्, भूधरत्वात् । श्रियमाह
श्रीश्चेति । चकारादन्तःस्थिते ज्ञानवैराग्ये निरु-
पिते । वयं सर्व एव यस्य रजः शिरसि स्थाप-
यामः, तस्य नृपासनं क्व भवतीति व्यङ्ग्योक्तिः
॥ ३७ ॥

व्याख्या - चारों तरफ आठ लोकपाल, ऊपर ब्रह्मा, नीचे शेष रूप में, दश दिशाओं के
पालक इनके मध्य में 'प्रभु' विराजते हैं, यह ही मुख्य 'राज' शब्द का अर्थ है, 'प्रभुत्व' तब होता है
जब दिशाओं के पालक अपना हीन भाव स्वीकार करे, इन दश दिक्पालों ने सर्वथा अपना हीन भाव
स्वीकार किया है, यह तो सर्व ने प्रत्यक्ष देखा है, इसलिये सिद्ध को हुई क्रिया को तरह कहा जाता है,
प्रथम कहे हुए सर्व लोकपालों ने चरण कमलों की रज को धारण करने के लिये अपने उत्तम मुकुटों
को माधन बनाया है, उन लोकपालों का भगवदीयत्व सिद्ध करने के लिये स्वामी की सेवा करने में
ही ऐश्वर्य का उत्कर्ष होता है यह लौकिक न्याय से सिद्ध कर अब धर्मोत्कर्ष कहते हैं, तीर्थों की भी
तीर्थ रूपी गङ्गा भी जिसकी चरण रज की उपासना करती है, अब भगवान् की कीर्ति का वर्णन
करते हैं, ब्रह्मा महादेव, मैं जो उनकी कला के भी कलाएँ हूँ । भगवान् की कोई कला है जो जगत्
को उत्पन्न पालन और नाश करती है, उस कला के तीन अंश हैं जिनके नाम सतो, रजो और तमो
गुण हैं, उनमें रजोगुण ब्रह्मा, तमोगुण महादेव, और सतोगुण मैं हूँ, क्योंकि पृथ्वी को धारण करता
हूँ। अब लक्ष्मी का वर्णन करते हैं और लक्ष्मी तथा 'च' पद से अन्तः स्थित ज्ञान वैराग्य का निरूपण
किया है हम सब ही जिसकी रज शिर पर चढ़ाते हैं उनके समक्ष नृपासन क्या वस्तु है? अर्थात् कुछ
नहीं है ॥३७॥

आभास - एतमभिप्रेतार्थं निरूप्य साक्षात्तदुक्तमर्थं खण्डयति भुञ्जते कुरुभिर्दत्तमिति ।

आभासार्थ - इस प्रकार अभिप्रेत अर्थ का निरूपण कर उन कौरवों ने जो कुछ कहा उसका
खण्डन 'भुञ्जते कुरुभिर्दत्तं' श्लोक से करते हैं -

श्लोक - भुञ्जते कुरुभिर्दत्तं भूखण्डं वृणयः किल ।

उपानहः किल वयं स्वयं तु कुरवः शिरः ॥३८॥

श्लोकार्थ - कौरवों का दिया हुआ पृथ्वी का एक छोटा हिस्सा ही यादव भोगते
हैं, इस प्रकार कहने का आशय यह है कि हम यादव जूते के समान और कौरव शिर
के सदृश हैं ॥३८॥



सुबोधिनी - यदुक्तं भूखण्डमात्रमेव भवति । वयमिति । उत्कर्षस्य निरूपितत्वाद्वाधितार्थत्वं तत्रापि स्वरूपतोऽपि हीनत्वम् । उपानहः किल । स्पष्टमेव ॥ ३८ ॥

व्याख्यान—जो कहा केवल भूखण्ड ही दिया है, उसमें भी स्वरूप से ही हीनपन है, हम जूते हैं, यों कहने से उत्कर्ष का निरूपण किया है, बाधित अर्थत्व तो स्पष्ट ही है ॥ ३८ ॥

आभास—तद्यो वं सति किं कर्तव्यमिति चेत्, तत्राह ग्रहो ऐश्वर्यमत्तानामिति ।

आभासार्थ—यों है तो क्या करना चाहिये जिसका उत्तर 'ग्रहो ऐश्वर्यमत्तानां' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—ग्रहो ऐश्वर्यमत्तानां मत्तानामिव मानिनाम् ।

असम्बद्धा गिरो रूक्षाः कः सहेतानुशासिता ॥ ३९ ॥

श्लोकार्थ—ग्रहो! मद्यपान किये हुए के समान, ऐश्वर्य मद से उन्मत्त ग्रहज्झारी पुरुषों की असम्बद्ध तथा रूक्ष वाणी को शिक्षा देने को समर्थ कौन सहन करेगा । अर्थात् कोई नहीं ॥ ३९ ॥

सुबोधिनी—तेषां वाक्यं न सोढव्यम् । ततो यत्कर्तव्यम्, तदग्रे वक्ष्यते । आदरणीयानां वाक्यं कर्तव्यम् । लोकेऽपि मत्तास्त्वनादरणीयाः । तत्राप्यैश्वर्येण नित्यमत्ताः । बहिव्यवहारे माननीयत्वमाशङ्क्य मत्तत्वाज्ञानादेव तथात्वमिति ज्ञापयन् दृष्टान्तमाह मत्तानामिवेति । इवेत्यग्रेऽपि सम्बध्यते । मानिनामिवेति च । आत्मानमेव बहु मन्यमाना उन्मत्ता भवन्ति । ते सर्वदैव न मान-

नोया इति दृष्टान्तद्वयम् । किञ्च । वाक्यान्यप्यसम्बद्धार्थानीत्याह असम्बद्धा गिरो रूक्षा इति । स्नेहेन बाधितार्था अपि प्रयोजका भवन्तीति, तदभावमाह रूक्षा इति । तत्र सहनमुभयेषां सम्भवति, विवेकिनामसमर्थानां च । वयं तु नोभयविधा इत्याह अनुशासितेति । लोके अनुशासनाधिकारिभिर्न सोढव्या इति ॥ ३९ ॥

व्याख्यान—उनके वचन सहने योग्य नहीं है अतः सहने नहीं चाहिये, अनन्तर जो करना चाहिये, वह आगे कहेंगे, जो आदर करने के योग्य हैं उनका कहना मानना चाहिये । लोक में भी उन्मत्त, आदर देने के योग्य नहीं है, उनमें भी जो ऐश्वर्य से सदैव उन्मत्त रहते हैं, यद्यपि बाह्य व्यवहार में मान देने के योग्य हैं, किन्तु ऐश्वर्य मद से मत्त होने के कारण अज्ञानी हो जाने से वैसे हो गये हैं जिसको जताने के लिये दृष्टान्त देते हैं, जैसे मनुष्य यों तो व्यवहार आदि में योग्य हैं किन्तु जब मद्य पान करता है तब मत्त होने से अपनी समझ गंवा देता है यथा तथा प्रलाप करता है, वैसे ही ऐश्वर्य से उन्मत्त भी होते हैं, किन्तु वे अपने को ही बड़े समझते हैं, जिससे सदैव उन्मत्त बने रहते हैं, अतः वे हमेशा मान देने योग्य नहीं हैं इसलिये दो दृष्टान्त दिये हैं, उनके वचन भी असम्बद्ध अर्थवाले होते हैं यदि वैसे भी वाक्य स्नेह से बहे जावें तो बाधित अर्थ वाले होने पर भी प्रयोजनवाले बन जाते हैं किन्तु उनमें स्नेह का अभाव है, जिससे वे रूक्ष होने से अप्रयोजक हैं (१) जो विवेकी होते हैं और (२) जो असमर्थ होते हैं, हम तो दोनों प्रकार के न होकर शासन करने वाले हैं, लोक में जो शासन करने वाले अधिकारी वर्ग हैं उनको सहन नहीं करने चाहिये ॥ ३९ ॥



आभास—ततो यत्कर्तव्यं तत्प्रतिजानीते अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामिति ।

आभासार्थ—अनन्तर जो कर्तव्य है उसकी 'अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामि' श्लोक में प्रतिज्ञा करते हैं—

श्लोक—अद्य निष्कौरवीं पृथ्वीं करिष्यामित्यमर्षितः ।

गृहीत्वा हलमुत्तस्थौ वहन्निव जगत्त्रयम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—आज मैं पृथ्वी को कौरव हीन कर डालूंगा, यों क्रोध में आकर, हल हाथ में लेकर उठ खड़े हुए जिससे यों समझ में आया कि अब त्रिलोकी को जलाने के लिये कदाचित् तैयार हुवे हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—यादवेभ्यः कौरवमात्रस्यैव तैत्कर्षो निरूपित इति, भगवद्वस्ते मृतानां स्वर्गोऽस्तीति भूमिमेव निष्कौरवीं प्रतिजानीते । आदौ मनसि तस्योद्यममाह अमर्षित इति । कायिकमाह गृहीत्वा हलमुत्तस्थाविति । तस्यो-

द्यमा सर्वजनीनो जात इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह दहन्निव जगत्त्रायमिति । सङ्कर्षणो हि प्रलये तथोत्तिष्ठति, यस्य मुखाद्वह्निर्दग्च्छति, अक्षश्च महादेवः, तद्रूपं प्रकटितवानित्यर्थः ॥ ४० ॥

व्याख्यानार्थ—उन्होंने यादवों से कौरव मात्र का उत्कर्ष निरूपण किया है, भगवान् के हस्त से जो मरते हैं उनको स्वर्ग मिलता है, इसलिये पृथ्वी को ही बिना कौरव वाली करने के लिये प्रतिज्ञा करते हैं, पहले मानसिक उद्यम किया जिसके 'लिये अमर्षित विशेषण दिया है अर्थात् क्रोध आने से मन में यह निश्चय किया है कि पृथ्वी पर से कौरव मात्र का नाश करूंगा, फिर कायिक उद्यम किया, जैसे हल उठा कर खड़े हो गये, उनका उद्यम सर्वजनिन हो गया, यह जताने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि मानों तीनों लोकों की अब जला देंगे । सङ्कर्षण प्रलय करने के समय इस प्रकार ही उठते हैं, जिनके मुख से अग्नि प्रकट होती रहती है, अक्ष अर्थात् महादेव का स्वरूप अब प्रकट किया है ॥४०॥

आभास—क्रियामाह लाङ्गलाग्रेणेति ।

आभासार्थ—अब कौरव नाश के लिये जो किया की उसका 'लाङ्गलाग्रेण' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—लाङ्गलाग्रेण नगरमुद्रोदार्य गजाह्वयम् ।

विचक्षणं स गङ्गायां प्रहरिष्यन्नमर्षितः ॥४१॥

श्लोकार्थ—हल के अग्र भाग से हस्तिनापुर को खोद कर गङ्गा में प्रवाहित करने के लिये खेंचने लगे ॥४१॥



सुबोधिनी- स्त्रियो बालाश्च युद्धे मारयि-
तुमशक्या इति तस्यां भूमावुत्पन्नाः कौरवा एवेति,
लोके प्रसिद्धा भविष्यन्तीति, नगरमेवोद्विदायं
जन्मान्तरेऽपि तथात्वाभावाय गङ्गायां प्रहरिष्यन्

विचकर्ष । क्रियाद्वयं निष्पन्नम्, तृतीयां क्रियां
निवारयितुं चकारः । प्रहरणे विलम्बहेतुमाह
अमर्षित इति । अतिक्रोधावेशान्न कृतवान् ।
अविचारे वा, प्रहरणसङ्कल्पे हेतुः ॥४१॥

व्याख्यानार्थ — युद्ध में स्त्रियां और बालक मारने कठिन हैं, इसलिये उस भूमि पर उत्पन्न कौरव ही मारे गये जो लोक में प्रसिद्ध होगा, नगर को ही उखाड़ कर गङ्गा में डालते हुए खींचने लगे, इस प्रकार दो कार्य पूर्ण किये, तीसरी क्रिया नहीं की इसलिये 'च' अक्षर मध्य में दिया है प्रहरण में विलम्ब का कारण 'अमर्षित' है अति क्रोध से नहीं किया अथवा विशेष क्रोध होने के समय विचार बराबर नहीं रहता है, ऐसे समय में मारने का सङ्कल्प किया था अतः तीसरी क्रिया नहीं हुई ॥४१॥

ग्रामास—कथमेतावता शिक्षा जातेत्याकाङ्क्षायामाह जलयानमिति ।

आभासायं - इतनी शिक्षा कैसे हुई ? जिसका उत्तर 'जलयानं' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—जलघातमिवाघूर्णं गङ्गायां नगरं पतत् ।

श्राकृष्यमाणमालोदय कौरवा जातसम्भ्रमाः ॥४२॥

तमेव शरणं जग्मुः सकुटुम्बा जिजीषवः ।

सलक्ष्मणं पुरस्कृत्य साम्बं प्राञ्जलयः प्रभुम् ॥४३॥

श्लोकार्थ— नाव की तरह घुर घुराते ओर किसी से खेंचे जाते नगर को गङ्गाजी में गिरते देख कर कौरव घबरा गये ॥४२॥

सकुटुम्ब, जीने की इच्छा वाले वे कौरव लक्ष्मणा सहित साम्ब को आगे कर हाथ जोड़ उन प्रभु श्री बलरामजी की शरण में गये ॥४३॥

सुबोधिनी—आ समन्तात् घूर्णा यस्मिन् तदा-
घूर्णं नगरम् । शत्रन्तं क्रिया वा । भिन्नं वाक्यं
गङ्गायां पतदिति । मरणावश्यकताप्रतिबोधनं
मरणं च ज्ञापितवान् । तत्र हेत्वन्तरनिराकरणाय
बलक्रियादर्शनं कौरवाणामाह आकृष्यमाणमिति ।
कौरवत्वात्सहजदोषाभावः । जातसम्भ्रमा भीताः ।
अनेन गर्वनिवृत्तिरुक्ता । अतो दोषस्य निवृत्तत्वात्

गुणस्य च विद्यमानत्वात् तमेव शरणं जग्मुः ।
 एकमत्यमाह सकुटुम्बा इति । मोक्षाभावायाह
 जिजीषव इति । निमित्ते विद्यमाने शरणागतिमपि
 नाङ्गीकुर्यादिति साम्बस्य सभार्यस्यानयनमाह
 सलक्ष्मणमिति । लक्ष्मणासहितम् । प्राञ्जलयो
 विज्ञापनार्थः । कथमपकर्षोऽङ्गीक्रियत इति चेत्,
 तत्राह प्रभुमिति ॥४२-४३॥

व्याख्यानार्थ—जिसमें चारो तरफ घुर घुरा शब्द होने लगा वैसा वह हस्तिनापुर नगर गङ्गाजी मे गिरता देख कर समझने लगे कि अब हम अवश्य मरेगे जिसका कारण अन्य कुछ नहीं है किन्तु



बलरामजी इसको खींच रहे हैं, कौरव होने का इनमें स्वाभाविक दोष तो था ही नहीं अतः भयभीत हुए, डर गये, यों कहने से यह बताया कि उनका अहङ्कार नष्ट हो गया, जिससे, दोष निवृत्त हो गये, गुण तो विद्यमान ही थे इसलिये उनकी ही शरण गये, यों नहीं था, कि कोई गया कोई नहीं गया सब साथ होकर सम्मत हो शरण गये। इसलिये कहा है कि 'सकुटुम्बा' कुटुम्ब सहित सब शरण गये। यदि प्रभु की क्रिया से मरते तो मुक्त हो जाते हैं, परन्तु वे मोक्ष न चाहकर जीना चाहते थे, 'निमित्त' विद्यमान होने पर शरणागति को भी अङ्गीकार न करे इसलिये स्त्री सहित साम्ब को साथ में ले आये, हाथ जोड़े, जिसका आशय प्रार्थना करनी है, ऐसे ऐश्वर्य मदोन्मत्तों ने अपना अपकर्ष कंसे अङ्गीकार किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'प्रभुः' श्री बलरामजी प्रभु हैं अर्थात् सर्व सामर्थ्य युक्त हैं, अतः यदि अपना अपकर्ष न मानते तो नष्ट हो जाते इसलिये नाश होने से आने को बचाने के लिये अपना अपकर्ष माना ॥४२-४३॥

आभास—ते हि पूर्वं वार्तामात्रहारित्वं भगवतो ज्ञातवन्तः पश्चात्क्रोधे कृते भीताः स्तोत्रमाहुः पञ्चभिः राम रामेति ।

आभासार्थ—उन (कौरवों) ने पहले यों समझा कि यह बलरामजी केवल संदेश ले आने वाले हैं, अनन्तर जब उन्होंने क्रोध किया उस क्रोध को देखकर डर गये जिससे पांच श्लोकों से स्तुति करने लगे

श्लोक—राम रामाखिलाधार प्रभावं न विदामहे ।

मूढानां नः कुबुद्धीनां क्षन्तुमर्हस्यधीश्वरः ॥४४॥

श्लोकार्थ—हे राम! हे राम! हे सबके आधार! हम आपके प्रभाव को नहीं जानते हैं, हम जो मूर्ख और कुबुद्धि हैं, उनके अपराध आपको क्षमा करने चाहिये, क्योंकि आप ईश्वरों के भी ईश्वर हैं ॥४४॥

पहले किये हुए अपराध की क्षमा का यह वर्णन करते हैं

कारिका—पूर्वं कृतापराधस्य क्षमापनमिहोच्यते ।

क्रीडार्थत्वं तत्र हेतुमहत्त्वं चायि सान्त्वने ।

अन्यार्थं च समारम्भः शरणं च वयं गताः ॥१॥

कारिकार्थ—इस प्रकार लीला करने का 'हेतु' क्रीडा है शान्ति कराने में ही महत्व होता है यह समारम्भ अन्य के लिये है, अतः हम (कौरव) शरण गये ॥१॥

सुबोधिनी—तत्रापराधक्षमायां पञ्चहेतूनाह । अयमपि हेतुः । परं भगवद्धर्मः । अखिलाधारेति । रामेति । रमणात्मकस्यादरेण द्विःसम्बोधनम् । वयमाधेयाः । न हि यो यं बिभर्ति, स तदपराधं



मन्यते । अज्ञानमपि हेतुरित्याह प्रभावं न विदामह इति । यद्यपि सहजः प्रभावो ज्ञायते, तथाप्यत्राविष्कारं (न) करिष्यसीति न जानीमः । सर्वत्रावतारेषु प्रतिज्ञातार्थमात्रपूरकत्वात् । नन्वेता-

दृशोऽप्यर्थः प्रतिज्ञासिद्ध एवेति कथमज्ञानम्, तत्राह मूढानामिति । विचाररहितानामिति । ननु सर्वेषां कथं विचाराभावः, तत्राह कुबुद्धीनामिति । दुर्बुद्धित्वात् कैश्चिदुक्तमपि न गृहीतमित्यर्थः ॥४४॥

व्याख्यार्थ—कौरवों ने अपराधों की क्षमा मांगी, जिसके पांच हेतु कहते हैं—राम! राम! दो बार आदर के लिये कहा, जो प्रभु रमण करते हैं उनके लिये आदर होना चाहिये, यह भी (१) हेतु है भगवत् धर्म है, (२) हेतु कहते हैं कि 'अखिलाधारः' सब के आधार हैं, जिससे हम आधेय हो गये अतः जो आधार होकर जिसका पालन करते हैं उसके अपराध को ध्यान में नहीं लाते हैं, (३) हेतु बताते हैं—कि हम आपके प्रभाव को नहीं जानते हैं क्योंकि हममें अज्ञान है, यद्यपि आपका प्रभाव सहज है, सब जान सकते हैं फिर भी आप यहां प्रकट नहीं कर रहे हैं, इसलिये नहीं जान सकते हैं, यद्यपि सर्वत्र अवतारों में प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ मात्र के आप पूरक हैं यों होने पर प्रतिज्ञा सिद्ध हो है, फिर प्रभाव को नहीं जान सकते हैं यों कैसे कहते हो इस पर कहते हैं कि 'मूढानां' हम मूढ़ अर्थात् विचार हीन हैं, सब तो विचार हीन नहीं हो सकते हैं? जिसका समाधान करते हैं कि हम सब कुबुद्धि हैं, दुष्ट बुद्धि वाले होने से किसी का भी कहना नहीं माना ॥४४॥

कारिका—बुद्धीर्न शुद्धा नो शास्त्रं नापि ज्ञानं स्वतः क्वचित् ।

प्रभुः स्वामी भवांश्चापि धारकः क्षन्तुमर्हति ॥२॥ ४४ ॥

कारिकार्थ—कौरवों को बलरामजी ने क्षमा दी जिसका कारण कौरवों में स्थित तीन हेतु हैं, (१)—देखा कि इनकी बुद्धि शुद्ध नहीं है (२)—शास्त्र भी पढ़ा नहीं है और (३)—न स्वतः कोई स्वाभाविक ज्ञान इनमें है, इसलिये इन्होंने जो किया अथवा कहा वह ध्यान में लाने योग्य नहीं है, बलरामजी में दो गुण स्वतः है (१) आप प्रभु हैं तथा स्वामी हैं अतः आश्रय देने वाले तो क्षमा करना ही अपना योग्यता समझते हैं—अतः क्षमा करते हैं—

आभास—किञ्च । अस्माभिरेवमपि न प्रार्थयितव्यम्, अतस्तवैव लीलास्थानं जगदिति तदाह स्थित्युत्पत्तीति ।

आभासार्थ—विशेष यह है कि हमको इस प्रकार भी प्रार्थना नहीं करनी चाहिये कारण कि यह जगत् आपका ही लीला स्थान है कौरवों के इस लीला स्थान जगत् की पुष्टि श्री शुकदेवजी 'स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स्थित्युत्पत्त्यप्ययानां त्वमेको हेतुर्निराश्रयः ।

लोकाःक्रीडनकानीश क्रीडतस्ते ददन्ति हि ॥४५॥

श्लोकार्थ—इस जगत् को स्थिति, उत्पत्ति और नाश का निराधार आप ही एक कारण हैं. हे ईश! ये लोक, आप खिलाड़ी के खिलौने हैं ॥४५॥

सुबोधिनी – एकेनैवोत्पत्त्यादिकं क्रियते, स्व-
स्मिन्नेव स्थितेन । तत्र तथा करणे प्रयोजनं
लीला । तदाह लोकान्क्रीडनकानिति । ईश इति
सम्बोधनमन्यथा न कुर्यादिति ज्ञापयति । क्रीड-

नका यन्त्रादयः । अन्यक्रीडार्थपक्षं व्यावर्तयति,
क्रीडतस्त इति । वदन्तीति प्रमाणं व्यासादयः ।
युक्तश्चायमर्थः । पूर्णस्यान्यथा प्रवृत्तिरयुक्ता । ४५ ।

व्याख्यानार्थ - अपने में ही स्थित एक, इस जगत् की उत्पत्ति पालन और नाश करते हैं, यों करने का कारण वा प्रयोजन 'लीला' है, इसकी पुष्टि के लिये कहते हैं, 'लोकान् क्रीडकान्' ये लोक खिलौने हैं, ईश! यह सम्बोधन देकर यह समझाया है कि स्वामी हैं अतः लीला करते हैं यदि स्वामी नहीं होते तो लीला न करते, खिलौने हैं तो कोई भी उनसे खेल सकता वा उनको अपना खिलौना बना सकता है, इस पर कहते हैं कि 'क्रिडतस्ते' आप ईश होने से खेलते हो, खिलाड़ी के खिलौने होते हैं दूसरे के नहीं। अतः ये खिलौने आप के हैं, इसमें प्रमाण क्या है? तो कहते हैं कि 'वदन्ति' व्यास आदि ऋषीश्वर यों कहते हैं - यह तात्पर्य उचित ही है, क्योंकि जो पूर्ण हैं उनकी लीला के सिवाय प्रवृत्ति उचित नहीं कही जाती ॥४५॥

ग्रामास—किञ्च । समानेषु दण्डः क्रियते, न तु मशकतुल्येषु अतोऽतितुच्छत्वादस्मासु क्रोधो न युक्त इत्याशयेनाह त्वमेव मूधर्नोदमिति

आभासार्य—किञ्च-समान हो उनको दण्ड किया जाता है, न कि मच्छर जैसे तुच्छों को, अतः हम जो अति तुच्छ हैं उन पर क्रोध करना उचित नहीं है इस आशय को 'त्वमेव मूढर्षी' श्लोक में व्यक्त करते हैं —

श्लोक—त्वमेव मूर्धनोदमनन्त लीलया भूमण्डलं बिभर्षि सहस्र मूर्धन् ।

अन्ते च यः स्वात्मनि रुद्धविश्वः शेषेऽद्वितीयः परिशिष्यमाणः ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे सहस्र मस्तक वाले हे अनन्त आप ही इस भूमण्डल को लीला से अपने शिर पर धारण करते हैं और प्रलय काल में अपने में जगत् को समा लेते हैं अन्त में आप ही एक शेष रहते हो जिससे आपका नाम शेष पड़ा है ॥४६॥

सुबोधिनी—अस्य नगरस्य कियती वार्ता, पञ्चाशत्कोटिविस्तीर्णं भूमण्डलं हे अनन्त मूढिन लीलया बिभर्षि । तादृशसहस्रमूर्धा भवान् । भूमण्डलादधिकमात्रपरिमाणमायाति, न व्यापक-तेत्यनन्तेति । न केवलमन्यप्रेरणया धारणम्,

किन्तु स्वरुच्या । यतः अन्ते स्वात्मनि रुद्धं विश्वं
यतस्तादृशो भवान् अद्वितीयः शेषे शिष्टो भवसि ।
यतः परिशिष्यमाणः स्वयमेव । अतः शेषनामेति
भावः ॥४६॥



व्याख्यान्यर्थ—हे अनन्त! इस नगर की क्या कहें. पञ्चाशत् कोटि जिसका विस्तार कहा जाता है वैसा भूमण्डल लीला से मस्तक पर धारण करते हो ऐसे आप सहस्र सूर्या हैं अतः भूमण्डल से आपका अधिक परिमाण आता है न कि व्यापकपन है इसलिये आप अनन्त हैं, इस भूमण्डल को अन्य की प्रेरणा से आपने धारण नहीं किया है. किन्तु अपनी प्रसन्नता से धारण किया है, क्योंकि अनन्त में अपने विश्व को समाकर आप ही एक शेष पर पोडे रहते हो जिससे आपका नाम शेष है ॥४६॥

अभास—एवमपि महतः अत्यल्पेषु क्रियाविष्कारोऽनुचित इति निरूप्य कृतस्य कोपस्यान्यथा विनियोगमाह कोपस्त इति ।

आभासार्थ—इस तरह भी महान् का अति तुच्छों पर क्रिया का आविष्कार करना उचित नहीं है. यह निरूपण कर कहते हैं कि आपके किये हुए क्रोध का विनियोग अन्य प्रकार से है, जिसका वर्णन 'कोपस्ते' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—कोपस्तेऽखिलशिक्षार्थं न द्वेषान्न च मत्सरात् ।

गृह्णतो भगवत्सत्त्वं स्थिति पालनतत्परः ॥४७॥

श्लोकार्थ—आप द्वेष से अथवा मत्सर से क्रोध नहीं करते हो किन्तु लोक की शिक्षा के लिये कोप करते हो. सतो गुण को धारण कर अब जगत् की मर्यादा की रक्षा करने में संलग्न हैं ॥४७॥

सुबोधिनी—लोके द्वेधा कोपो भवति, द्विष्टे वा महत्युत्कर्षसहनाद्वा । तदुभयं न प्रकृते. किन्तु शिक्षार्थमेव । सर्व एव भगवतो बालका इति ज्ञापयितुमखिलपदम् । तत्र हेतुः गृह्णतो भगवत्स-	त्वमिति । गुणान्तरैरसंस्पृष्टसत्त्वम् । अन्यथा बाधितं स्यात् । सत्त्वस्य च महत्प्रयोजनमित्याह स्थितिपालनतत्पर इति । जगतो मर्यादापालनं चान्यथा न स्यात् ॥४७॥
---	--

व्याख्यान्यर्थ—लोक में कोप दो प्रकार से होता है (१) शत्रु पर द्वेष से (२) बड़े का उत्कर्ष सहन न होने से ईर्ष्या से होता है. वे दोनों ही आप में इस समय नहीं हैं, किन्तु अखिल (सर्व के शिक्षार्थ कोप कर रहे हो, 'अखिल' पद देने का आशय यह है कि सब भगवान् के बालक हैं, जिसमें कारण यह है कि आपने इस समय सतो गुण को ग्रहण कर लिया है वह सतो गुण भी शुद्ध हैं अन्य रजो वा तमोगुण ने उसका स्पर्श मात्र नहीं किया है, यदि उनसे मिलित न होवे तो जा लीला जिस प्रकार आप कर रहे हैं वैसे न बनती, आप तो अब 'स्थित पालन तत्पर' मर्यादा को रक्षा में संलग्न हैं, यदि इस शुद्ध सत्त्व को धारण न करते तो मर्यादा का संरक्षण न हो सकता ॥४७॥

अभास—शरणगतिं प्रार्थयितुं नमस्यन्ति नमस्त इति

आभासार्थ—शरणगति की प्रार्थना के लिये नमस्ते, यह 'नमस्ते' श्लोक में कहते हैं—

विश्वकर्मन्मस्तेऽस्तु त्वां वयं शरणं गताः ॥४८॥

सुबोधिनी नमनमात्रेणैव प्रमादयोगाय ।
 सर्वभूतात्मन्निति । आत्मा स्वल्पेनापि तुष्यति ।
 सर्वशक्तिधरेत्यस्मदादितामसशक्तयोऽपि तत्रैव ।
 अस्मदीयं सर्वं धर्माधर्मश्च भवानित्युक्तम् । एवं
 सत्यरमदयदोषमम्बुधः स्यादित्याशङ्क्याह
 अध्ययेति । किञ्च । एतत्पुनर्भङ्गे पुनरप्येतत्कर्त-
 व्यं स्यादित्याशयेनाह विश्वकर्मन्निति । विश्वं कर्म
 यस्येति । अन्यदाप्यतिक्रमाभावाय नमनं प्रार्थ-
 यन्ते नमस्तेऽस्तिविति । एवं प्रसन्नं विधायाहुः
 त्वां वयं शरणं गता इति ॥४८॥

ग्रामास— तैः स्वाभिप्रायो ज्ञात इति प्रसन्नो जात इत्याह एवमिति ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच-एवं प्रपन्नैः संविग्नैर्देषमानायनैर्बलः ।

प्रसादित. प्रसन्नोऽसौ मा भेष्टेत्यमयं ददौ ॥४६॥

सुबोधिनी—प्रपत्तिः प्रतीकारः । संविग्ना मनसि पूर्वधर्मरहिताः । वेपमानमयनं स्थानं गृहं शरीरं च येषामिति भये हेतुः । शरीरे च गर्वाभाव उक्तः । अतस्त्रयोत्तमधर्मवद्भिः प्रसादितः प्रसन्नो जातः प्रसादकार्यं कृतवानित्याह मा भैष्टेत्यभयं ददाविति । वाचा सह कायिकमकृत्वा मानसमभयं ददौ ॥४६॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १७० ॥

व्याख्यान—शरणागत होना प्रतीकार (उपाय) है, मन में जो अहङ्कार था वह अब नहीं रहा, इतना ही नहीं किन्तु जिनका आश्रय स्थान ग्रह तथा शरीर काँप रहा था जिसको देख डर रहे थे अतः शरीर में गर्व न रहा, जिससे उत्तम धर्मवालों ने तीन प्रकार से बलदेवजी को प्रसन्न किया, प्रसन्न होने से जो कार्य किया वह कहते हैं कि 'मत डरो' यों कहने से उनको अभय दिया वाणी और कायिक कार्य न कर मानस अभय दिया ॥४६॥

आभास—भयात्कन्यासमर्पणं वारयितुं पारिवर्हदानमाह दुर्योधन इति ।

आभासार्थ—दुर्योधन ने भय से कन्या दी, जिसका निवारण करने के लिये 'दुर्योधनः' श्लोक में कहते हैं कि दहेज पूर्वक कन्या दी—

श्लोक—दुर्योधनः पारिवर्हं कुञ्जरान्पष्टिहायनान् ।
ददौ च द्वादशशतान्ययुतानि तुरङ्गमान् ॥५०॥

श्लोकार्थ—दुर्योधन ने कन्या-दहेज में ६० वर्ष की आयु वाले १२०० हस्ती और एक लक्ष बीस सहस्र घोड़े दिए ॥५०॥

सुबोधिनी—पष्टिहायनाः पूर्णसंवत्सराः । तुरङ्गमाः ॥५०॥
सहस्रं शतद्वयं च गजा द्वादशैवायुतानि ।

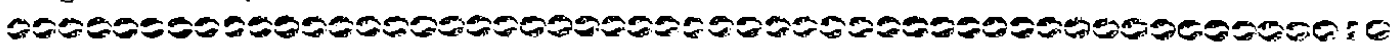
व्याख्यान—साठ वर्ष की आयु अर्थात् पूर्ण आयु वाले १२०० हस्ती और १ लाख २० हजार घोड़े दुर्योधन ने पुत्री को दहेज में दिये ॥५०॥

श्लोक—रथानां षट्सहस्राणि रौक्माणां सूर्यवर्चसाम् ।
दासीनां निष्ककण्ठानां सहस्रं दुहितृवत्सलः ॥५१॥

श्लोकार्थ—पुत्री पर वात्सल्य भाववाले दुर्योधन ने पुत्री को और भी ६ हजार सूर्य जैसे प्रकाश वाले सुनहरी रथ तथा पदक पहनी हुई हजार दासियाँ भी दी ॥५१॥

सुबोधिनी—रुक्मसम्बद्धानां रथानामिति । महादेवावतारः, बलश्च, तथा क्रोधश्च त्रयोऽपि वलप्रीतिः सूचिता । सूर्यवर्चसां सर्वलोकप्रसिद्धानाम् । मासाः संवत्सरा ऋतवश्च शतादिसङ्ख्यया प्रीणिता इति कालखेधा सन्तोषितः । साम्बश्च प्रीणिताः । अम्बां प्रीणयति दासीनामिति सहस्रेण । दुहितृवत्सल इति । दाने तस्याभिप्रायः । अदाने कदाचित्ते दुहितरि कोपं कुर्युरिति ॥५१॥

व्याख्यान—सुवर्ण जड़ित ६ हजार रथ देकर बलरामजी को प्रीति का सूचन किया, वे रथ सूर्यवत् चमक रहे थे यों कह कर उनकी सर्व लोक में प्रसिद्धि प्रकट की, इनकी संख्या से मास, संवत्सर और ऋतु तीन प्रकार के काल को प्रसन्न किया, अर्थात् काल को तीन प्रकार से प्रसन्न किया, साम्ब



महादेव का अवतार है जिसको, तथा बलदेवजी और क्रोध को भी प्रसन्न किया. हजार दासियों के दान से अम्बा को प्रसन्न करते हैं, क्योंकि पुत्री पर वात्सल्य भाव है. दान करने में इस (दुर्योधन) का अभिप्राय यह है कि यदि इस प्रकार दहेज में न दूँ तो मेरी पुत्री पर ये (समुराल वाले लोग) क्रोध करे अतः इतना भारी दहेज दिया ॥५॥

आभास—तेषां प्रणिपत्तिमुक्त्वा बलभद्रस्य तदङ्गीकारमाह प्रतिग्रह्येति ।

आभासार्थ—उनकी नम्रता आदि कह कर अब बलदेवजी ने दहेज स्वीकार किया यह वर्णन 'प्रतिग्रह्य' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—प्रतिग्रह्य तु तत्सर्वं भगवान्सात्त्वतर्षमः ।

ससुतः सस्नुषः प्रायात्सुहृद्भिरनुमोदितः ॥५२॥

इलोकार्थ—यादव श्रेष्ठ बलदेवजी ने वह सब दहेज लेकर, कौरवों से सम्मान प्राप्त कर बैठे और बहू के साथ द्वारका को प्रस्थान किया ॥५२॥

सुबोधिनी—दानाभिनन्दनार्थं प्रतिग्रहपदम् अभयं स्वयं दत्तवान्, स्वयं च तद्वत् ग्रहीतवान् । तत्सर्वमिति । असङ्कोचात् शुद्धभावः तस्य स्थापितः । तत्र हेतुर्न दानम्; किन्तु स्वपक्षे भगवान् तत्पक्षे सात्त्वतर्षम इति । भक्तानां स्वामी । अन्य-

जीवाः सापराधा एव भवन्तीति तथाविधस्यानङ्गीकारे भक्तिमार्ग उत्सन्नः स्यात् । स्वस्य तद्ग्रहणं वारयति ससुतः सस्नुष इति । सुहृद्भिरनुमोदित इति । पराक्रमेण वैषम्याभाव उक्तः । ॥५२॥

व्याख्यानार्थ—दुर्योधन ने जो दिया उसकी बलरामजी ने प्रशंसा की इसलिये 'प्रतिग्रह' पद दिया है, आप बलदेवजी ने तो अभय दिया है, और उनका दिया हुआ दहेज ग्रहण किया वह सब ग्रहण किया, सब शब्द कहने का आशय सङ्कोच न कर शुद्ध भाव स्थापित किया इसमें कारण दान नहीं है, किन्तु अपने पक्ष में भगवान् हैं उनके पक्ष में यादव श्रेष्ठ हैं, भक्तों के स्वामी हैं, दूसरे जीव अपराध वाले होते हैं यदि उनका दिया हुआ ग्रहण न किया जावे तो भक्ति मार्ग छिन्न भिन्न हो जाय अतः ग्रहण किया, किन्तु पुत्र तथा बहू के लिये लिया, जिसके लिये कहते हैं कि 'स सुतः-सस्नुष, बैठे और बहू के साथ मित्रों से सम्मान पाकर प्रस्थान किया, पराक्रम से विषमता का अभाव कहा ॥५२॥

आभास—बलभद्रचरित्रस्य प्रत्यापत्तिमाह ततः प्रविष्ट इति ।

आभासार्थ—बलभद्र चरित्र की प्रत्यापत्ति 'ततः प्रविष्टः' श्लोक में कहते हैं—

१-चतुर्थ अध्याय में भगवान् ने बलदेवजी में प्रविष्ट होकर निरोध रूप चरित्र किया अनन्तर बलदेवजी स्वयं निरोध करेंगे इस समय बलदेवजी में भगवदावेश नहीं है । अब बलदेवजी में विचार का अभाव है यह कह कर सिद्ध किया है—

[illegible]

श्लोक—ततः प्रविष्टः स्वपुरीं ह नायुधः समेत्य बन्धून्नुक्तचेतसः ।

शशंस सर्वं यदुपुद्गवानां मध्ये सभायां कुलषु स्वचेष्टितम् ॥५३॥

श्लोकार्थ—बलदेवजी अपनी पुरी में प्रविष्ट हुए, वहाँ प्रेमी बान्धवों से मिलकर, यादव श्रेष्ठों की सभा में सबके सामने जो कुछ वहाँ कौरवों के साथ चेष्टा की, वह सुनाई ॥५३॥

सुबोधिनी—अन्यथा 'नन्दव्रजं गत' इतिवत्
भगवतः किञ्चित्कर्तव्यशङ्का स्यात् । स्वपुरीं
द्वारकाम् । निविचारप्रवेशार्थमुक्तम् । हलायुध
इति विचाराभावः । सर्वान् ज पठित्वा समलङ्-
कृते पुरे प्रवेष्टव्यम् । विवाहे विरोधा वा न कर्त-

व्यः, मैत्री वेति उभयकरणाद्विचाराभावः । ततः
पुरप्रवेशानन्तरं बन्धून् समेत्य असम्पत्त्यभावा-
यानुरक्तचेतस इति । स्वपौरुषं च स्वयमेवोक्त-
वान् ! तन्निमित्तं च स्वचेष्टितं नगराकर्षणम् ।

॥५३॥

व्याख्यानार्थ - यदि आप ही अपनी चेष्टा न कह सुनाते तो 'नन्द व्रज' गत' की तरह भगवान् को कुछ वत्तव्य की शङ्का हो जाय. अतः स्वयं कहा. कारण कि अपनी पुरी में पधार गये है, पुरी में प्रवेश बिना विचारे ही किया क्योंकि हलायुद्धः' है जिससे उनमें विचार का अभाव रहता है, सर्व को जता कर समलङ्कृत नगर में प्रवेश करना चाहिये. अथवा दोनों में मैत्री होने से विचार करना आवश्यक न समझा वा अभाव ही था, नगर में प्रवेश के अनन्तर बान्धवों के पास आकर वा बान्धवों से मिल कर अपना पौरुष बिना पूछे अपने आप ही कहने लगे, सम्मति भी नहीं ली, कौरवों के अहङ्कार नाशार्थ आपने जो नगर का आकर्षण आदि किया वह सर्व कहा ॥५३॥

आभास—तस्य चरित्रस्य सर्वलोकप्रसिद्धत्वमाह अद्यापीति ।

प्राभासार्थ—उनका चरित्र लोक प्रसिद्ध हो गया है यह अद्यापि' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—अद्यापि च पुरं ह्येतत्सूचयद्रामविक्रमम् ।

समुन्नतं दक्षिणतो गङ्गायामनु दृश्यते ॥५४॥

श्लोकार्थ—अब भी यह हस्तिनापुर, बलदेवजी के पराक्रम की सूचना कर रहा है जैसा कि दक्षिण की ओर ऊँचा और गङ्गाजी की ओर ढालू मालूम हो रहा है ॥५४॥

सुबोधिनी एतत् हस्तिनपुरम् । गङ्गायां
गङ्गासमीपे गङ्गामध्य इव वा । तस्य महजरूपं
तत्र भवतीत्याह सूचयद्रामविक्रममिति अतो
दक्षिणतः समुन्नतं कूलस्थानम् । कूलदेश एवो-
न्नतो भवति नन्वपरः । इदं तु विपरीतमिति

रामपराक्रमस्य सूचकं भवति । इदानीं तु तन्नगरं
पतितम्, गङ्गायां पतितमिति ज्ञातव्यम् । 'गजा-
ह्वये हृते नद्या' द्वादशे वक्ष्यति । अतो न दर्शन-
विरोधः शङ्कनीयः । भागवतकथनसमये तु
दृश्यत एव ॥५४॥



व्याख्यान—यह हस्तिनापुर इस समय यों देखने में आता है कि गङ्गा के समीप अथवा मानों गङ्गा के मध्य में है, उसका यह रूप स्वाभाविक नहीं है, तो ऐसा क्यों दीखता है जिसका उत्तर देते हैं कि 'सूचयद्रामविक्रमम्' यों दीखने का कारण यह है कि इससे बलरामजी के पराक्रम को सूचना देकर कह रहा है कि मेरा रूप ऐसा नहीं था किन्तु बलरामजी ने ऐसा किया है, अतः दक्षिण से मेरा भाग उन्नत है, जिससे यों दीखता है कि अब नगर गङ्गाजी में गिरता है ऐसा होना तो विपरीत है कि यह रूप रामजी के पराक्रम का सूचक है, 'गजा ह्वये हते नद्या' यह द्वादश में कहेंगे अतः देखने में विरोध की शका नहीं करनी चाहिये, क्योंकि भागवत के कहने के समय तो यों दीखता ही था ॥५४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभशिक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे एकोनविंशोऽध्यायः ॥१६॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध (उत्तरार्ध) ६५वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय

अवान्तर प्रकरण का पांचवां अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

साम्ब विवाह

रान आसावरी :—

स्याम बलराम गुन सदा गाऊँ ।
स्याम बलराम बिनु दूसरे देव कौँ,
सपनहूँ मैं नहीं सीस नाऊँ ॥
स्याम सुत सांब गयो हस्तिनापुर तुरत,
लछमना तहूँ स्वयंवर रचायो ।
देखतैं सबनि कैं ताहि बौठारि रथ,
आपने देस कौँ पलटि धायो ॥
करन दुरजोधनादिक लियो घेरि तिहूँ,
करन ढिग आइ बहु बान मारे ।
सांब तिहिँ काटि निज बान सधान करि,
तुरंग रथ तासु के सब सँघारे ॥
हन्धौ पुनि सारथी एक ही बान करि,
परयो सो धरनि सब सुधि विसारी ।
एक इक बान भेज्यो सकल नृपति प,
मनौ सब साय कीन्ही जुहागी ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवद्धभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

।चार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ६६वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६६वां अध्याय

उत्तरार्ध २०वां अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

“४६३म अध्याय”

देवर्षि नारदजी का भगवान् की गृहचर्या देखना



—सात्त्विकानां निरोधे तु ब्रूह्यो नारद ईरितः ।

अतस्तस्यापि वक्तव्यं पूर्वबुद्धेर्निवारणम् ॥१॥

भक्तिमार्गानुरोधस्य पृथक्त्वं स्याद्यतः स्फुटम् ।

विंशे नारददृष्टानां कृष्णानां चरितं महत् ॥२॥

अलोकिकत्वसिद्धयर्थं निरोधे विनिरूप्यते ।

प्रकीर्णके प्रकरणे न सङ्गतिरिहोच्यते ॥३॥

तथापि साम्बकथने समायातस्तथाकरोत् ।

भ्रान्त्यभावाय भगवान् बोधयामास तादृशम् ॥४॥

निरोधस्तेन संसिद्धः सात्त्विकानामतः परम् ।

सुबोधिनो—केचित्तु इत प्रभृति सात्त्विक-
प्रकरणमाहुः त्रयस्त्रिणदध्यायै पूर्व इति च । नत्र
नारदः सात्त्विकेषु मुख्य इति स निरूप्य इति ।
नत्र वैकादशैकैकादशभिः तेषामवान्तरप्रकरण-
व्यवस्था । सात्त्विकास्तु द्विविधा एव सकाम-
नित्यामभेदेनेति । तेषां मते दशेन्द्रियाणि ग्रन्तः-
करणं च निरुध्यत इति निगोपसिद्धिः । एतन्म-
तमवष्ट्याम्माभिनिवर्त्ये निरूपित लक्षणाहर-
णावधीति । एतावता स्त्रिय समाप्ता । तासु
भोगो भगवत्कृत शास्त्रविरोधान्न मन्तव्य इति
प्रामाण्यार्थं नारदहृष्टिः नुवर्ण्यते । नारदो हि भग-
वदीयशास्त्रेषु अक्लिष्टचरित्राण्येव श्रुत्वानिति
नरकवधादिकं न पूर्वं श्रुतवान् । यद्यपि नरक-
वधमात्रं पूर्वसिद्धम्, तथापि तदवरोधाद्विवाह-
नाम्प्रतमेव श्रुत इति स विचारणीयः । इदं

चरित्रं न पूर्वं कृद्विभिन्नविचारितम् । अतः परं
न हस्तेष्वपि चरित्रेषु भीमासितमेव चरित्रं
विचार्यते । अत एव जाना लौकिकदृष्टिर्भगवतै-
वाग्रे निवान्गणीया । यदैव नरको हतः, तदैव
तेनैव प्रक्रमेण योषिताः पृष्ठहृश्च श्रुताः । एक-
स्मिन् धरणे नानागारेषु विद्यमानानां एकेन
कृष्णेन, नत्र यद्यपि नन्दभेद स्पष्ट एव, 'उरुहर्ष'
इति वाक्यात् । तथा गति अवतारान्तरस्यायेन
भिन्नावतारत्व स्यात् । न च कृष्णेनैव विवाहिता
न भवेयुः । न हि सर्वास्ता देवकीपुत्रवध्वो
भवन्ति । तन्मैवानन्तरूप-व तु पूर्वावतारेषु न
सिद्धमिति चेन्न कर्तुमशक्यम् । वाक्योक्तं तु
युक्त्या बाधितुं शक्यते, न तु दृष्टम् । 'न हि दृष्टं
प्रनुपपन्न नामेति । ब्रह्मीनामेकेन कृष्णेन उद्वाहो
विचित्रमिति तद्विद्वद्भर्तृनामो जात इत्यर्थः ॥१॥

व्याख्यानार्थ—कितनेक यहाँ से सात्त्विक प्रकरण कहते हैं तेतीन अध्यायों से पूर्व यों है। वहाँ नारद सात्विकों में मुख्य है, यों निरूपण कर दिया है। वहाँ ही पर ११-११ अध्यायों से अवान्तर प्रकरणों की व्यवस्था कही है, क्योंकि सात्त्विक दो प्रकार के है (?) सकाम सात्त्विक और दूसरे निष्काम सात्त्विक है। उनके मत में दश इन्द्रिया और एक अन्त करण का जब निरोध होता है तब निरोध की सिद्धि होती है, इस मत को लेकर हमने निबन्ध में लक्ष्मणा हरण की अवधि पर्यन्त निरूपण किया है, एतावता स्त्रियां समाप्त हुई। उनमें भगवत्कृत भोग शास्त्र से विरुद्ध होने से नहीं मानना चाहिये यों प्रमाण के लिये नारद की दृष्टि से वर्णन किया है, नारद ने भगवदीय शास्त्रों में भगवान् के अक्लिष्ट चरित्र ही सुने हैं। नरक वध आदि चरित्र पहले नहीं सुने हैं, यद्यपि केवल नरक वध पहले ही सिद्ध है तो भी उसके अवरोध से विवाह तो अब ही सुना है, इसलिए वह विचार करने योग्य है। इस प्रकार इस चरित्र का ऋषियों ने पहले विचार नहीं किया है इसके अनन्तर भगवान् के अनेक चरित्रों में से जो चरित्र मीमांसा करने योग्य हैं उसका विचार किया जाता है, अतएव इस चरित्र में से जो लौकिकी दृष्टि उत्पन्न हुई है, उसका निवारण भगवान् ही आगे करेंगे। जब ही नरकामुर मरा तब ही उन ही प्रक्रम से स्त्रियों का विवाह भी सुना, एक ही क्षण में अनेक गृहों में एक कृष्ण का विद्यमान होना यद्यपि वहाँ 'उत्तरूप' इस वाक्य से रूप भेद स्पष्ट ही है यदि यों है, तो अवतारान्तर न्याय से पृथक् अवतारत्वं होना चाहिये, इससे, कृष्ण से ही विवाहित हुई न होनी चाहिये, वे सर्व देवकी के पुत्र की पत्निया नहीं हो सकती हैं, उसके ही



अनन्त रूपत्व पूर्वावितारों में सिद्ध नहीं हुआ है, इसलिये इस पर विचार करना उचित ही है, वाणी में कहे हुए को नो युक्ति में बाध किया जा सकता है किन्तु प्रत्यक्ष देखे हुए का बाध नहीं हो सकता है देखे हुए में कुछ अनुपपन्न (अनुचित) नहीं है, बहुत स्त्रियों का एक कृष्ण से विवाह होना विचित्र चरित्र है इसलिये इसकी देखने की इच्छा से नारद जी वहाँ आये ॥१॥

आभास—ननु भगवच्चरित्रे किमिदमाश्चर्यम्, यतो नारदस्यापि दिदृक्षेत्याजङ्गच, वैचित्र्यमुपपादयति चित्रमिति ।

आभासार्थ—भगवान् के चरित्र में यह आश्चर्य कैसे ? जिससे नारद को देखने की इच्छा हुई यह अङ्ग कर इसकी विचित्रता 'चित्र वत' श्लोक से प्रतिपादन करते हैं—

श्लोक—चित्रं वत तदैकेन वपुषा युगपत्पृथक् ।

गृहेषु द्व्यष्टसाहस्रं स्त्रिय एक उदावहत् ॥२॥

श्लोकार्थ—यह बड़ी आश्चर्य की बात है कि जो अकेले भगवान् ने एक शरीर से एक साथ अलग-७ घरों में सोलह हजार स्त्रियों का पाणिग्रहण किया ॥२॥

सुबोधिनी—वत इति हर्षे । तदा सर्वत्रैव स्थिता भक्ता भगवता अनुग्राह्या इति न क्वापि गमनक्लेश इति । एकेन वपुर्षेति । वपुषो ब्रह्मवर्दाचिन्त्यैश्वर्यं न शास्त्रसिद्धम् । वपुर्भदे तु कृष्णपत्नीत्वं तामु न स्यात् । अतो वपुषो ब्रह्मधर्मत्वं वा अवपुष्टं वा कल्पनीयं स्यात् । तत्रावपुष्टे लौकिकधर्मसम्बन्धो न युक्तः । ब्रह्मधर्मत्वे तु वैलक्षण्यमावश्यकम् । ब्रह्मणोऽप्येकत्र यो धर्मः, स नान्यत्रेति । लोके तथा दर्शनात् । नारदश्च सूक्ष्मदर्शी । तत उभयमपि अनुपपन्नमिति

चित्रम् । युगपदेकारिमन् काले एकेन वपुषा करणेन पृथक् पृथक् गृहेषु स्थिता द्व्यष्टसाहस्र-सङ्ख्या व्याप्तः । कलानामिवानन्त्यपक्षेऽपि ध्रुवाया नानन्त्यमिति षोडशसहस्रे भवत्येव वैचित्र्यम् । स्त्रिय इति तासां योगजधर्मो निवारितः, येनैकत्र जातो दृश्येत । आकाशवत्परिच्छेदभेदेन मायावदयथात्वेन वा विवाहपक्षं व्यावर्तयति एक इति । उदाहश्च यावदवतारं परिपालनीय इति न प्रदर्शनमात्रपरत्वम् ॥२॥

व्याख्यानार्थ—श्लोक में 'वत' पद यहाँ हर्ष वाचक है, तत्र सब स्थान पर स्थित भक्तों पर भगवान् स्वतः स्वयं अनुग्रह करते हैं, इसलिये कहीं भी जाने का क्लेश नहीं, 'एक शरीर से' इसकी व्याख्या करते हुए विचार विमर्श करने हैं 'शरीर' है इसलिये इसमें ब्रह्म के समान अचिन्त्य ऐश्वर्य मान लेना शास्त्र से सिद्ध नहीं है, यदि शरीर में भेद माना जाय तो उन सर्व स्त्रियों में कृष्ण पत्निपन सिद्ध नहीं हो सकता है, अतः शरीर में ब्रह्म धर्म पन अथवा ब्रह्मत्व की कल्पना करनी चाहिये, यदि ब्रह्मत्व माना जाय तो लौकिक धर्म से सम्बन्ध उचित नहीं है । ब्रह्म धर्मत्व मानने से विलक्षणता आवश्यक है, ब्रह्म का भी जो धर्म एक स्थान पर है, वह दूसरे स्थान पर नहीं है, लोक में इस प्रकार देखने में आता है, नारद नो सूक्ष्मदर्शी है, इसमें दोनों उचित नहीं है, इसलिये आश्चर्य

है। एक ही काल में साधन रूप एक ही शरीर से भिन्न-भिन्न गृहों में १६ हजारों में व्याप्त हैं, आनन्त्य पक्ष में भी ध्रुवा का आनन्त्य नहीं होता है इसलिये सोलह हजारों में विचित्रता होती ही है, 'स्त्रियः' शब्द देकर उनका योगज धर्म का निवारण किया जिससे एक स्थान पर प्रकट हुआ देखने में आवे, आकाश की तरह परिच्छेद भेद से माया की तरह असत् पन से विवाह पक्ष को एक पद से असिद्ध करता है और विवाह जब तक अवतार है तब तक विवाहिताओं का पूर्ण रीति से पालन करना चाहिये, इसलिये यह विवाह केवल दिखावा नहीं है ॥८॥

आभास—अतो हेतास्तुको जात इत्याह इत्युत्सुको द्वारवतीमिति ।

आभासार्थ—इस कारण से नारदजी को इस लीला के देखने की लालसा उत्पन्न हुई, तदर्थ द्वायका आये जिमका वर्णन 'इत्युत्सुको' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—इत्युत्सुको द्वारवतीं देवर्षिर्द्रष्टुमागमत् ।

पुष्पतोषवनारामद्विजालिकुलनादिताम् ॥३॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार उत्प्लुत हो नारदजी द्वारका आए, जिसका वर्णन करते हुए कहते हैं कि जहाँ फुलवाड़ी और आरामों में पक्षी तथा भौरो के झुण्ड नाद कर रहे हैं ॥३॥

सुबोधिनी—स हि देवगुह्यमपि जानाति । नानि तेषु ये आरामाः क्रीडास्थानानि तेषु द्विजा-
 ऋतो देवपिः देवानामपि मन्त्रद्रष्टा । अयं हि नामलीना च यानि कुलानि अवान्तरजातिभेदाः ।
 गुप्तार्थोपदेष्टा । अतो द्रष्टुमागमत् । तैर्नादितां तच्छब्दप्रचुरामिति सहजो मधुरः
 द्वारकायां लौकिकबुद्धिसिद्धचर्चं तां वर्णयति शब्दस्तत्रत्यो निरूपितः ॥३॥
 पुष्पितोपवनामिति सार्धैस्त्रिभिः । पुष्पितान्युपव-

व्याख्यार्थ—वे नारदजी देवों की गुप्त बातें भी जानते हैं, इस कारण से देवों में भी ऋषि होने से, देवर्षि कहे जाते हैं, क्योंकि ये गुप्त अर्थों का उपदेश करने वाले हैं अतः देखने के लिये आये हैं। नारदजी की द्वारका में लौकिक बुद्धि सिद्ध करने के लिये द्वारका का साढ़े तीन श्लोकों से वर्णन इस तरह करते हैं कि जहाँ फुलवाड़ियों में जो आराम अर्थात् क्रीड़ा के स्थान थे, उनमें अनेक प्रकार के पक्षी तथा भौरे प्रचुर मधुर गूञ्जार कर रहे हैं ॥३॥

आभास—द्वारका वनजलस्थलरूपा त्रिविधा भवति, तत्र वनरूपा निरूपिता, जल-
रूपां निरूपयति उत्फुल्लेति ।

श्लोक—उत्पुल्लेन्दीवराम्भोजकल्हारकुमुदोत्पलैः ।

व्याख्यार्थ—जिस द्वारका में महान् पुरुषों के नव लाख घर थे, जिन घरों के स्तम्भ तथा भित्तियां (भीते) स्फटिक मणि एवं चान्दी से बनी हुई थी। चान्दी के स्तम्भ थे महा मरकत मणि से पृथ्वी जड़ी हुई थी, इस प्रकार से बने हुए महल प्रसिद्ध थे जैसे साधारण गृहों में काष्ठ (लकड़ी) के छज्जे होते हैं वैसे यहां रत्नों से बनाये हुए छज्जे थे परिच्छद शब्द से गृह के पात्र आदि भी कहे हैं अर्थात् वे उपकरण भी सोने के बने हुए तथा रत्नों से जड़ित थे, तो भी अक्सर ही न मिलता जो उन उपकरणों को काम में लाया जावे अर्थात् अनेक प्रकार के अनन्त उपकरण थे ॥५॥



आभास—एवं पुरीं बहिर्वर्णयित्वा अन्तस्तां वर्णयति विभक्तेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार पुरी के बाहर भाग का वर्णन कर भीतर का वर्णन करते हैं—

श्लोक—विभक्तरथ्यापथचत्वरापणैः शालासभाभी रुचिरां सुरालयैः ।

संसिक्तमार्गाङ्गणवीथिदेहलीं पतत्पताकाध्वजवारितातपाम् ॥६॥

श्लोकार्थ—जिस नगरी की गलियाँ संकीर्ण (सँकड़ी) नहीं थीं, अलग-२ थीं और राज मार्ग विशाल थे, वैसे चौहट्टे, दुकानों, शालाओं और सभाओं से तथा देव मन्दिरों से शोभायमान थे एवं सर्वत्र मार्ग, मैदान, गलियाँ और दहेलियों में छिरकाव हो गया था व उड़ती हुई ध्वजाओं और पताकाओं से धूप देखने में नहीं आती थी ॥६॥

सुबोधिनी—विभक्ताः पृथक् पृथक् कृता रथ्यादयः, न तु सङ्कीर्णाः रथ्या राजमार्गाः पन्थानः । चत्वरमङ्गणम् । आपणाः पण्य-वीथिका । गतिस्थानान्येतानि । स्थितिस्थानान्याह । शाला अन्नादिभोजनस्थानानि । सभा उपवेशनस्थानानि । ताभिः रुचिराम् । ऐहिकार्थ

द्वयमेव । पारलौकिकार्थमाह सुरालयैश्च रुचिरा-मिति । नमित्तिकातिशयमाह संसिक्तेति । सम्यक् सिक्ताः मार्गादिदेहन्यन्ता यस्याम् । उपरिशो-भामाह । पतत्पताकाध्वजैः वारितः आतपो यस्यामिति ॥६॥

व्याख्यार्थ—द्वारका की गलियाँ और राज-मार्ग अलग अलग बड़े बड़े थे सङ्कीर्ण नहीं थे जिससे आने जाने में किसी प्रकार घबराहट नहीं होती थी, अतः रथ, अश्व आदि और पैदल चलने वाले सरलता से निर्भय होकर आवागमन करते थे, मैदान, बाजार ये सब आने जाने के मार्ग वैसे स्वच्छ तथा बड़े थे । ठहरने के स्थानों को बताते हैं, 'शाला' अन्न आदि भोजन के स्थान 'सभा' बैठने के स्थान वे भी सुन्दर बने हुए थे जिससे नगरी सुन्दर दीखती थी, ये दो तो ऐहिकार्थ हैं, अब पारलौकिक के लिये कहते हैं कि देव मन्दिरों से मनोहर थी, निमित्त से उसकी विशेषता का वर्णन करते हैं कि जिसमें मार्गों पर देहली तथा सर्वत्र छिरकान से स्निग्धता एवं ठंडक दृष्टिगोचर होती थी, ऊपर की शोभा का वर्णन करते हैं उड़ती हुई ध्वजा तथा पताकाओं ने धूप को हटा दिया है ॥६॥

आभास—सामान्यतो नगरीं वर्णयित्वा विशेषतो भगवद्गृहं वर्णयति, नारददृष्टम् ।

आभासार्थ—नगरी का सामान्य प्रकार से वर्णन कर अब नारद ने जो भगवद्गृह की विशेषता देखी जिसका 'तस्यामन्तःपुरं' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—तस्यामन्तःपुरं श्रीमदचितं सर्वधिष्यपैः ।

हरेः स्वकौशलं यत्र त्वष्टा कात्स्न्येन दर्शितम् ॥७॥

श्लोकार्थ—उस द्वारका में सर्व लोकपालों की सम्पत्ति से सजाये और उनसे पूजित भगवान् का अन्तःपुर था, जिसमें विश्वकर्मा ने अपना सर्व चातुर्य दिखलाया है ॥७॥

सुवोधिनी—एवंप्रकारेण नारदो दृष्टवानिति । तदा लौकिकोत्कर्षः सम्पद्यते । तच्च तस्थानभिप्रेतमिति । सिद्धे हि लौकिकत्वे तत्र बुद्धिस्थैर्ये लौकिकस्य निरोधः सम्पद्यत इति । तस्यां द्वारकायाम् । हरेरन्तःपुरं श्रीमत्, स्वतः शोभायुक्तम् । अनेन वैकुण्ठातिरेकतत्र निरूपितः । लक्ष्मीस्थितिर्वा । अन्यत्रावतारेषु अवतीर्णं लक्ष्मीमिति, न मूलरूपेणेति । उपपत्त्या अन्तःपुरं वर्णयति । सर्वधिष्यपैरचितं रत्नकौशलं त्वष्टा कात्स्न्येन प्रदर्शितमिति प्रकारद्वयेन । रत्नस्वर्गादयस्तु पुरे एव निरूपिता न भगवद-

न्तःपुरे विशेषं सम्पादयन्ति । वक्तव्यश्च विशेषः । अतो भूमिष्ठाः पदार्थाः साधनभावान्निरूपिताः । इन्द्रादयो हि धिष्यपाः लोकपालाः । तेषामपि परम्परोपाजितान्यतिदुर्लभानि रत्नादीनि पूजासाधनानि भवन्ति । तैरचिनमिति । तन्निर्माणार्थं तैस्तानि दत्तानीत्येके, यतः अग्रे त्वष्टा विश्वकर्मणा शिल्पाचार्येण हरेरर्थं स्वकौशलं प्रदर्शितम्, अतिनैपुण्येन निमित्तम् । रत्नानि इन्द्रादिभिर्दत्तानि, विश्वकर्मणा तु सम्यग्योजितानीत्यर्थः । ७॥

व्याख्यार्थ—नारद ने इस प्रकार से जो देखा तो उससे लौकिक उत्कर्ष प्रकट होने लगा, वह उसको अभिप्रेत नहीं था लौकिक सिद्ध होने से उसमें बुद्धि की स्थिरता से लौकिक निरोध होता है, उस द्वारका में भगवान् का अन्तःपुर स्वतः शोभा से युक्त था, इससे उसमें वैकुण्ठ का आवेश निरूपण किया है अथवा लक्ष्मी यहां ही विराजती है यह सिद्ध किया है अन्य अवतारों में लक्ष्मी अवतार लेकर आती है, यहां तो मूलरूप से ही रहती है उपपत्ति से द्वारका में दो प्रकार से अन्तःपुर का वर्णन करते हैं (१) सर्व लोकपालों से पूजित और दूसरा विश्वकर्मा ने अपना कौशल्य सम्पूर्ण प्रकार प्रकट किया है । रत्न और सुवर्ण आदि का तो नगर में ही निरूपण किया है । भगवान् के अन्तःपुर में वर्णन नहीं किया, वहां तो विशेषता दिखाते हैं, और उसमें विशेष ही कहना चाहिये, अतः भूमि में स्थित पदार्थ साधन भाव ने निरूपण किये हैं । इन्द्र आदि जो लोकपाल हैं उनके पास परम्परा से इकट्ठे किये हुए जो दुर्लभ रत्न आदि हैं वे पूजा के साधन होते हैं अर्थात् वे पूजनीय होते हैं, उनसे वह अन्तःपुर सुशोभित था, कितनेक कहते हैं कि अन्तःपुर के निर्माण के लिये लोकपालों ने वे रत्न दिए थे, जिनसे शिल्प के आचार्य विश्वकर्मा ने भगवान् के लिये अन्तःपुर में अपना कौशल्य दिखलाया है अर्थात् विशेष निपुणता (चतुराई) प्रकट की है, शारांश (तात्पर्य) यह है कि वहां जो रत्न जड़े हुए थे वे लोकपालों ने दिये हैं और विश्वकर्मा ने उनको सम्यक् प्रकार से जोड़ा है, जिससे प्रभु का गृह विशेष दीप्तिमान् था ॥७॥

आभास—एवं सामान्यतोऽन्तःपुरं वर्णयित्वा, तत्रस्थान् गृहान् प्रत्येक वर्णयितुं विभागमुक्त्वैकं गृहं वर्णयति तत्र षोडशभिरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सामान्य रीति से अन्तःपुर का वर्णन कर उसमें स्थित प्रत्येक गृह का विभाग कर एक गृह का वर्णन 'तत्र षोडशभिः' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—तत्र षोडशभिः सद्मसहस्रैः समलङ्कृतम् ।

विवेशैकतमं शौरेः पत्नीनां भवनं महत् ॥८॥

श्लोकार्थ—वहाँ उस दीप्तिमान् अन्तःपुर में भगवान् की पत्नियों के सोलह सहस्र सद्य सुशोभित थे, जिनमें से एक बड़े भवन में नारदजी ने प्रवेश किया ॥८॥

सुबोधिनी—ते गृहाः स्वतः प्रधानभूता अपि परस्परमेकस्यापि सर्वे शोभाजनका भवन्ति । समप्राधान्ये तु विशिष्टो रसो नोत्पद्यत इति यदेव गृहं निकटे स्थितम्, तत्रैव नारदरय विशिष्टबुद्धिरुत्पन्नेति तत्र प्रविष्टः । एकमपि गृहं षोडशभिः सन्नसहस्रैः समलङ्कृतम् । ते च गृहाः

पत्नीनामेव । तन्निकटे गतस्य तदेव गृहं महत्त्वेन
भासत इति महदित्युक्तम् । न तु गृहेषु न्यूनाधिक-
भावोऽस्ति । तथा मति भगवतस्तत्र वैषम्यं
स्यात् । सर्वत्र त्रिवाहरमणपुत्रसम्पदां तुल्य-
त्वात् ॥८॥

व्याख्यानार्थ—वे सब गृह स्वतः अपने आप में प्रधान भूत होते हुए भी प्रत्येक गृह सर्व द्रष्टाओं को अपनी ओर आकर्षण कर रहा था, यदि सबको समान प्रधानता वा शोभा होती तो त्रिजिह्वा रम पैदा न हो सकता, इस कारण से जो गृह नारद के समीप होता, उसमें ही नारद की विलक्षण श्रेष्ठ बुद्धि उत्पन्न हो जाती, इसलिए उस एक में प्रवेश किया, एक भी गृह अर्थात् प्रत्येक गृह सोलह हजार मन्त्रों से समलङ्कित था, वे गृह भगवत्पत्नियों के थे, 'महत्' शब्द का भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि किसी भी घर के निकट जाने वाले को वह ही घर महान् देखने में आता था इसलिये भवन को 'महत्' विशेषण दिया है, घरों में न्यून वा अधिक भाव नहीं है, सर्व में समानता न होती तो भगवान् में वैषम्य दीखता, सर्वत्र विवाह रमण पुत्रादि सम्पदा समान थी अतः न्यूनधिक भाव नहीं था ॥८॥

आभास—अतस्तं वर्णयति स्थालीपुलाकन्यायेन विष्टब्धमिति ।

ग्राभासार्थ—अतः स्थाली पुलाक न्याय से उसका वर्णन 'विष्टब्ध' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—विष्टब्धं विद्रुमैः स्तम्भैर्वैडूर्यफलकोत्तमैः ।

इन्द्रनीलमयैः कुड्यैर्जगत्या चाहतत्त्रिषा ॥६॥

श्लोकार्थ—विद्रुम मणि के खम्भे जिसमें लगे हुए हैं, उन पर वैदूर्य मणि के उत्तम पट्टे लगे हैं, इन्द्र नील मणि की भीतें और अखण्ड कान्ति वाली इन्द्र नील मणियों के कारण सबकी कान्ति बढ़ रही है, जिससे महल की शोभा विशेष हो रही थी ॥६॥

सुबोधिनी— पुरुषार्थचतुष्टयसम्पन्नमिति । वैदूर्यनिर्मितफलकैस्तदाच्छन्नम् । अनेन स्तम्भज
ज्ञापयितुं चतुर्भिः । प्रवालस्तम्भैर्विष्टब्धं धृतम् । उपरिप्रसारितदारुणाश्च द्विविधा ज्ञातव्याः ।

नीलमयेर्मणिभिः कुड्यानि । जगती भूमिः
कुट्टिमा तत्रत्या । अलङ्कृतमिति सम्बध्यते । न
सूर्यादिभिरहता त्विड्यस्याः तादृश्या जगत्याल-
ङ्कृतमिति ॥८॥

व्याख्यानार्थ—प्रवान युक्त चारु स्तम्भों से यह जताया है कि यह गृह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चारों पुरुषार्थों से युक्त है। वे स्तम्भ वैदूर्य मणि के पट्टों से आच्छादित हैं, इससे यह समझाया है कि स्तम्भ दो प्रकार के थे। ऊपर जो प्रसारित थे वे काष्ठरूप थे, और उनके ऊपर जो पट्टे लगे थे वे वैदूर्य मणि के थे वे स्थूल बड़े-२ पट्टे काष्ठ के स्तम्भों पर जड़े गये थे इन चारों में भी जो कटि के अन्तर्गत स्तम्भ थे वे वैसे थे, और जो दूसरे जो पृथ्वी पर स्तम्भ खड़े किये गये थे वे विद्रुम मणियों से जड़ित थे, इन्द्र नील मणियों से भीते और पृथ्वी के फर्श भी उनके थे, जिससे सारा महल उत्तम प्रकार से चमक रहा था, वहाँ के प्रकाश को सूर्यादि का प्रकाश भी कम नहीं कर सकता था ॥६॥

श्लोक—वितानैर्निमित्तैस्त्वष्टा मुक्तादामविलम्बिभिः ।

दान्तौरासनपर्यङ्गं मण्युत्तमपरिष्कृतैः ॥१०॥

श्लोकार्थ—मोतियों की झालर लटक रही है, ऐसे विश्वकर्मा के बनाए हुए चंदोवा, हाथी दाँत के उत्तम मणियों से खचित आसन व पलङ्गों से घर सुशोभित था ॥१०॥

सुबोधिनी—वितानंश्चन्द्रातपस्त्वष्टा निर्मितै-
रित्यद्भुतत्वम् । भुक्तादामानि विलम्बन्ते
येष्विति । दन्तनिर्मितेरासनैः पर्यङ्कैश्चालङ्-

कृतम् । मण्युत्तमैर्मणिश्रेष्ठैरलङ्कृता ग्रासन-
पर्यङ्काः ॥१०॥

व्याख्यानार्थ--विश्वकर्मा के निमित्त चंदवाओं से अद्भुत शोभित हो रहा था उनमें मोतियों की झालरें लटक रही थी, हाथी दान्तों से बने हुए आसन और पलङ्गों से गृह सजाया हुआ था वे आसन और पलङ्ग उत्तम मणियों से अलङ्कृत थे ॥१०॥

आभास—स्त्रियः पुरुषाश्च दासीदासरूपा शोभायामवश्यं वक्तव्या इति तान्निदिशति दासीभिरिति ।

आभासार्थ—पुरुष तथा स्त्रियाँ दास और दासियों के रूप में जो वहाँ रहती थी उनकी भी प्रामाण्य कहनी चाहिये इसलिये 'दासीभिर्निष्कण्ठीभिः' श्लोक से उनका वर्णन करते हैं—

प्लोक — दासीभिर्निष्ककण्ठीभिः सुवासोभिरलङ्कृतम् ।

प्रुःभः सकञ्चुकोष्णीषसुवस्त्रमणिदुष्टलैः ॥११॥



श्लोकार्थ—गले में पदक पहिरे तथा सुन्दर वस्त्रों से अलङ्कृत दासियाँ और अङ्ग-रखा, पगड़ी एवं सुन्दर वस्त्र तथा मणियों के कुण्डलों में सुशोभित पुरुष थे, वैसे दास-दासियों से घर अलङ्कृत था ॥११॥

सुबोधिनी—नित्याभरणेषु सन्त्वेव पदक-भरणमिति निष्ककण्ठीभिरित्यनेन कटककुण्ड-लाद्याभरणानि सूचिनानि । सुवासोभिरिति । सर्वतः शोभार्थमुक्तम् । यादृशैरेव वस्त्रं शोभा सम्पद्यते । अन्यथा शोभाकथन व्यर्थ म्यान् ।

पुष्पिभरणयलङ्कृतम् । पाश्चात्यो वेष इति । उत्त-मानि कञ्चुकानि उष्णीषाणि मध्ये बन्धकानि मणियुक्तानि कुण्डलानि च येषामिति सर्वतोऽल-ङ्कारो भगवद्गृहदासानामुक्त ॥११॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'निष्ककण्ठीभि' पद का अणव स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आजा कहते हैं कि पदक आभूषण तो नित्य पहिना जाना है अतः यहाँ 'निष्ककण्ठीनां' कहने से बताया है कि पदक के सिवाय अन्य जो सुवर्ण के बड़े कुण्डल आदि होते हैं वे भी पहने थे सुन्दर सुन्दर वस्त्र भी धारण किये थे, जिसमें चारों तरफ शोभा का होना कहा है, जिन प्रकार के वस्त्रों से शोभा हो वैसे वस्त्र धारण किये थे नहीं तो शोभा का कहना ही व्यर्थ हो जाता, न केवल स्त्रियों से शोभित था किन्तु पुरुषों से भी अलङ्कृत था, पुरुषों का वेष पाश्चात्य था, उत्तम अङ्गरखा, पगड़ी और मणियों से जड़े हुए बड़े और कुण्डल जिन्होंने धारण किये हैं वैसे दास थे भगवान् के गृह में जो दास और दासियाँ थीं वे इस प्रकार अलङ्कारादि धारण किये हुए थे जिससे गृह को शोभा बढ़ रही थी ॥११॥

आभास—सार्वकालीनशोभामुक्त्वा रात्रौ विशेषतः शोभामाह रत्नप्रदीप-निकरेति ।

आभासार्थ—सर्व समय की सब शोभा का वर्णन कर रात्रि की विशेष शोभा 'रत्न प्रदीप' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—रत्नप्रदीपनिकरद्युतिभिर्निरस्तध्वान्तं विचित्रवलभीषु शिखण्डिनोऽङ्ग ।

नृत्यन्ति यत्र विहितागुरुधूपमक्षौर्निर्यान्तिमीक्ष्य घनबुद्धय उन्नदन्तः ॥१२॥

श्लोकार्थ—रत्नों के समूह की कान्ति से गृह का अन्धकार नाश हो रहा है और महल की जालियों से निकले हुए अगर के धूप को देख, उसे मेघ समझ मयूर छत्रों पर बैठ शब्द करते हुए नृत्य कर रहे थे ॥१२॥

सुबोधिनी—रत्नसमूहकान्तिभिर्निरस्त ध्वान्तमन्धकारो यत्र । रात्रौ गार्हस्थ्ये कामरसो वर्ण्यत इति उद्दीपनविभावान्वर्णयति । विचित्र-वलभीषु मणिमया निर्मितवक्रदंष्ट्र मयूरा

स्थिताः सन्तो नृत्यन्ति । अङ्गेति सम्बोधनं स्नेहसूचकम् । तेनास्याः कथायाः भगवद्भोगविषय-त्वाद्योगिचित्यत्वमेव । न तु बाह्यतया साधार-णत्वमिति सूचितम् । नृत्ये अलौकिक हेतुं वर्ण-



यति । यत्र विहितागुरुधूपं गृहसंस्कारार्थं कृतं
गवाक्षमार्गेण निर्यान्तं निरीक्ष्य घनोऽयमिति
तेषां बुद्धिरुपपन्नोति घनबुद्धयः । अत एव ऊर्ध्वं
नदन्तो जाताः । मेघागमे हि तेषां नृत्यं भवति ।

नृत्यदर्शने च रस आविर्भूतो भवतीति, गोता-
वाद्यरहितं नृत्यं न शोभां करोतीति, उन्नादो हि
द्विःस्वभावो निरूपितः ॥ १२ ॥

व्याख्यार्थ—जहाँ घर में रत्न समूह के प्रकाशों से अन्धकार नष्ट हो गया है, गार्हस्थ्य में रात्रि के समय काम-रस का वर्णन किया जाता है, इसलिये काम को जगाने वाले विभावों का वर्णन करते हैं, विचित्र भीतों पर बनाये हुए मणि निर्मित छज्जों पर मयूर खड़े हो नाच करते हैं, हे अङ्ग ! यह सम्बोधन स्नेह का सूचक है, इसमें यह कथा, भगवद्भोग सम्बन्धी होने से योगियों के ही चिन्तन करने योग्य है, न कि ब्राह्मण से इस कथा का साधारणत्व है यह सूचन किया है, मयूरों के नृत्य में अलौकिक हेतु का वर्णन करते हैं—गृह को शुद्ध एवं सुगन्धित करने के लिये जो अगुरु धूप किया है वह धूप जालियों से बाहर निकलता देख, मयूरों ने समझा कि ये मेघ हैं, जिसमें वे जोर से केका ध्वनि करने लगे, क्योंकि जब मेघ आते हैं तब उनको देख मयूर नृत्य भी करते हैं उनका नृत्य देखने से रम प्रकट होता है, गीत तथा वाद्य के बिना नृत्य की शोभा नहीं होती है, इसलिये यहाँ मयूरों की केका गीत तथा वाद्य दोनों को प्रकट करती है अतः दोनों प्रकार की है यह दिखाया है ॥ १२ ॥

आभास—यदर्थमेतन्निरूपितं तन्निरूपयति तस्मिन्निति ।

आभासार्थ—जिसके लिये इतना निरूपण किया, अब उसका 'तस्मिन्' श्लोक से निरूपण करते हैं—

श्लोक—तस्मिन्समानगुणरूपवयस्सुवेषदासीसहस्रयुतयानुसवं गृहिण्या ।

विप्रो ददर्श चमरव्यजनेन रुक्मदण्डेन सात्वतपतिं परिवीजयन्त्या ॥ १३ ॥

श्लोकार्थ—उस गृह में अपने समान वय रूप, सुन्दर वेष और गुणोंवाली सहस्र दासियों से मिलकर श्रीमती रुक्मिणीजी सोने के दण्ड वाला चँवर हस्त में लेकर जिस समय यादव पति श्रीकृष्ण को पवन कर रही थी, उस समय नारदजी ने भगवान् का दर्शन किया ॥ १३ ॥

सुबोधिनी—समाना गुणा आदर्यादयः रत्नयुगयोगिनो वा मृदुत्वादयः । रूपं सौन्दर्यम् । वयस्तारुण्यम् । सुवेषो वस्त्रादिभिः । रसो हि निबद्धः शङ्कां करोतीति, स्वल्पश्च न पोषको भवतीति, महारसानुभवार्थं दास्यो निरूप्यन्ते ।

नायिकानां मेलने भिन्नस्वभावत्वात् रसो नोत्पद्यत इति, तासां च कामना नैव विधेति, केवल-भोगस्वीत्वं वारयितुमाह गृहिण्येति । अनुसवं सर्वकालं दासीसहस्रयुतया भार्यया चमरव्यजनेन सात्वतपतिं वस्तुतः स्वपतिं परिवीजयन्त्या सह

सात्वतपति ददर्शति सम्बन्धः । चमरवृत्तं व्यजनं
उद्दीपनकरम्, तथा सुवर्णदण्डयुक्तं च । अयं
भगवत्यद्भुतः प्रकारो निरूपितः । नैवविधः

समानानां प्रकारो लोके सामान्यानां सम्भवति ।
अनेन रात्रावयं भोगकाले गत इति सूचितम् ।
॥१३॥

व्याख्यानार्थ—दासियों में भी श्री रुक्मिणीजी जैसे गुण थे उनका वर्णन करते हैं, १-उदारता
आदि गुण अथवा रति क्रीडा के उपयोगी मृदुत्व आदि गुण उनमें भी थे, २-सौन्दर्य, ३- युवावस्था
४-सुन्दर वस्त्र आदि इत्यादि में समानता प्रकट की है, इस प्रकार समानता वाली इतनी दासियों की
क्या आवश्यकता है ? शङ्का का समाधान करते हैं कि काम रस का भोग एकान्त में ही होता है,
जिससे उस समय मन में यह शङ्का बनी रहती है कि कोई प्रतिबन्ध करने वाला तो आता नहीं ?
मन में इस प्रकार शङ्का उत्पन्न होने से रस उत्पन्न नहीं होता है, इसलिये प्रतिबन्ध को रोकने के
लिये दासियों की आवश्यकता थी, यदि काम क्रीडा स्वल्प समय हो तो वह नायिका रूप विभाव
रस पोषक नहीं होता है उस समय रस पुष्ट न होने से पूर्ण महान् रस की प्राप्ति नहीं होती है,
अतः महान् रस के अनुभव करने के लिये दासियों का निरूपण करते हैं, यदि अनेक
नायिका रूप विभाव होवे तो रस उत्पन्न नहीं होता है क्योंकि प्रत्येक का स्वभाव पृथक् पृथक्
होता है अतः रसोत्पत्ति उनसे नहीं होती है, इसलिये नायिका एक ही गृहिणी दिखायी है, अन्य
दासियों अनेक प्रकार के कटाक्षादि से पोषित रस विशेष उद्दीप्त होता है जिसका अनुभव मुख्य नायिका
गृहिणी से प्राप्त होता है, इसलिये वे दासियां केवल उद्दीपन करने के लिये हैं न कि भोगार्थ हैं ।
भोगार्थ महान् रसानुभव के लिये तो 'गृहिणी' मुख्या नायिका है वह, सर्व काल सहस्र दासियों से
युक्त हो, चँवर के पवन से यादवपति को वस्तुतः अपने पति की सेवा कर रही थी, तब नारदजी ने
जाकर उस लीला के दर्शन किये, चँवर का वायु उद्दीपन करने वाला है, उसमें भी सुवर्ण दण्डवाला
विशेष है यह अद्भुत प्रकार भगवान् में निरूपण किया, वह प्रकार सामान्य और समानों में नहीं
होता है इससे यह दिखाया कि नारदजी रात्रि में भोग के समय वहाँ गये हैं ॥१३॥

आभास—तत्र भगवता आतिथ्यप्रकारमाह तं सन्निरीयेति त्रिभिः ।

आभासार्थ—'तं सन्निरीक्ष्य' से तीन श्लोकों में भगवान् ने जिस प्रकार अतिथि सत्कार किया
उसका वर्णन करते हैं—

श्लोक—तं सन्निरीक्ष्य भगवान्सहसोत्थितः

श्रीपर्यङ्कतः सकलधर्मभृतां वरिष्ठः ।

आनम्य पादयुगलं शिरसा किरीट-

जुष्टेन साञ्जर्जरवीविशदासने स्वे ॥१४॥

श्लोकार्थ—नारदजी को देखते ही सकल धर्मधारियों में परम श्रेष्ठ भगवान्
श्रीकृष्णचन्द्रजी तुरन्त रुक्मिणीजी के पलङ्ग से उठ खड़े हो गए और किरीट सहित
मस्तक से उन (नारदजी) के चरणों को प्रणाम कर हाथ जोड़ उनको अपने आसन
पर बिठाये ॥१४॥

सुबोधिनी—कार्यिकमानसिकवाचनिकः । कार्यिकपूजा सर्वेणापि स्वयोग्या कर्तव्या । अतो भगवानपि तं दृष्ट्वा स्वपदे निवेशितवानिति निरूप्यते । नह्येतस्मादधिका पूजा सम्भवति । अन्या या लौकिकी सा सर्वसाधारणी अन्यदोषत्वेन निरूप्यते । एवंकरणे हेतुमाह भगवानिति । अन्यथा अन्यस्माद्भगवति को विशेषः स्यात् । यदि स्वपदे नोपवेशयेत् । सहस्रोत्थित इति तं प्रति लौकिकभावस्थैर्यं सूचितम् । अन्यथा स्वधर्माविभवे मेवकं प्रति भगवदुत्थानं नोचितं स्यात् । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति भगवत्प्रतिज्ञा । स च लौकिकयुद्धा भगवन्तं दृष्टवानिति भगवानपि तथैव चकार । श्रीपर्यङ्कत इति । अनौचित्यं निरूपितम् । केवललौकिकप्रकारेणापि तथात्वं भवतीति वैदिकप्रकारमाह सकलधर्मभृतां वरिष्ठ इति । धर्मभृतो निरन्तरधर्मकर्तारः ।

ते जीवा एव भवन्ति । तेषां मध्ये श्रेष्ठ इति सजातीयोत्कर्षात् बहिर्दृष्टिरेव तस्य स्थिरीक्रियते । अत एव भगवान् पादयुगलमानम्य । तत्रापि शिरसा धर्मनिष्ठां सूचयितुम् । किरीटजुष्टेनेति लोकनिष्ठा । न केवलं स्वयं तद्वर्मावलम्बनं कृतवान्, किन्तु तं चापि स्वधर्मैर्योजितवानित्याह साञ्जलिः स्वे आसने अवीविशदिति । स्वासने तं निवेशयामासेत्यर्थः । अन्तर्भावितश्च प्रयोगः । भगवानेव तत्र वस्तुतः स्वधर्मस्थापितवानिति स्वयमेव तत्रोपविष्ट इति धर्मव्यत्यासं स्थापयितुं अवीविशदित्युक्तवान् । आसनं च श्रीपर्यङ्कमित्येव लक्ष्यते । तत एवोत्थित इति स्वपदेनापि तदेवेति गम्यते । आसनपदेन स्वसिंहासनमिति । तथापि अग्रे पृथुकोपाख्याने 'निवासित प्रियाजुष्टे पर्यङ्क' इति श्रावयान् पर्यङ्कमेवासनस्थानीयम् ॥ १४॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् ने नारदजी का कार्यिक, मानसिक और वाचिक तीनों प्रकार आतिथ्य किया जिसका तीन श्लोको से वर्णन करते हैं, काया से अतिथि का पूजन सत्कार सबको अपनी योग्यतानुसार करना ही चाहिये अतः भगवान् ने भी उनको देखते ही लाकर अपने स्थान पर विराजमान किया, यो निरूपण किया जाता है क्योंकि कार्यिक पूजन इससे विशेष अन्य कोई नहीं है और दूसरी जो लौकिक कार्यिक सेवा है वह अन्य शोषत्व से निरूपण की जाती है, इस प्रकार करने में कारण दिखाते हैं कि आप भगवान् हैं, यो न करे तो दूसरों से भगवान् में कौनसी विशेषता देखने में आवे, यदि अपने स्थान पर उनको विराजमान न करे, तुरन्त उठ खड़े हुये जिससे उनके प्रति लौकिक भाव की स्थिरता दिखाई, यदि लौकिक भाव न होवे तो और अपना भगवद्धर्म प्रकट करते तो सेवक के आने पर उठ कर खड़ा होना उचित न होता । भगवद्गीता में भगवान् ने प्रतिज्ञा की है कि 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' जो मेरे पास जिस भाव से आते हैं वा शरण लेते हैं उनका भजन मैं उसी भाव से करता हूँ, अतः नारद इस समय लौकिक भाव से भावित होकर आया था जिससे भगवान् ने भी उसका आतिथ्य लौकिक भाव प्रकट करते हुए किया है, 'श्रीपर्यङ्कत' रुक्मिणीजी के पलङ्ग से, यह तो अनुचित निरूपण किया है, केवल लौकिक प्रकार से भी वैसे हो सकता है, इसलिए वैदिक प्रकार भी दिखाते हैं कि आप समस्त धर्मधारियों में परमोत्तम हैं, 'धर्मधारी वे कहे जाते हैं, जो निरन्तर धर्मकर्ता होते हैं अर्थात् सर्व समय में धर्म पर चलने वाले हो, वे जीव होते हैं, उनमें श्रेष्ठ हैं', इस प्रकार सजातीय उत्कर्ष दिखाकर नारद की बहिर्दृष्टि ही स्थिर की जाती है, इस कारण से ही भगवान् ने नारद के चरणों में मुकुट सहित सिर से प्रणाम किया है, सिर से प्रणाम कर अपनी धर्म में निष्ठा प्रकट कर दिखाई है और मुकुट से लोक-निष्ठा को सूचित किया है, केवल आपने उसके धर्मों का अवलम्बन नहीं किया है, किन्तु उसमें भी अपने धर्मों को प्रवेश कराया है, वे कहते हैं कि

हाथ जोड़कर उसको अपने आसन पर विराजमान' किया, भगवान् ने ही वास्तविक रीति से अपने धर्म उसमें स्थापित किए, यों 'अवीविशत्' पद कह कर धर्म व्यत्यास स्थापन किया, यह दिखाया है अर्थात् जहाँ आप विराजे थे, वहाँ नारद को बिठाया और जहाँ नारद के बैठने का स्थान था, वहाँ आप विराजे; इस प्रकार धर्म व्यत्यास प्रकट दिखाया, यहाँ 'आसन' तो रुक्मिणीजी का पलङ्ग ही था, यों समझा जाता है, उससे ही आप खड़े हुए थे, 'स्व' अपना स्थान कहा, जिसमें भी पर्यङ्क ही आसन था, यों जाना जाता है, 'आसन' पद से 'अपना सिंहासन' इतना ही कहा है, तो भी पृथुकोपाख्यान में 'निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के' इस वाक्य से पलङ्ग ही आसन है ॥१४॥

श्लोक—तस्यावनिज्य चरणौ तदपः स्वमूर्ध्ना

बभ्रज्जगद्गुरुत्तरोऽपि सतां पतिर्हि ।

ब्रह्मण्यदेव इति यद्गुणानाम युक्तं

तस्यैव यच्चरणशौचमशेषतीर्थम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—जगत् के जो गुरु हैं, उनमें भी उत्तम भक्तों के पति भगवान् ने उसके चरण धोकर वह जल अपने मस्तक पर चढ़ाया, जिस भगवान् के चरणों का जल (गङ्गा) सबको पवित्र करने वाली तीर्थरूप है, ऐसे प्रभु ब्राह्मणों के हितकर होने से इसको देव मानते हैं, भगवान् ने अपने गुण और नाम के अनुरूप उचित कार्य ही किया ॥१५॥

सुबोधिनी—ततस्तस्य चरणाववनिज्येति कायिकोऽपि व्यापारः मानसशेषत्वेन निरूप्यते । स्वतः प्रक्षालनं भवत्यैव सम्भवति । तदपः पादावनेजनीरापः स्वस्मिन् नारदधर्मविशङ्कितानां भगवच्चरणारविन्दोदकं धार्यमेवेति स्वमूर्ध्ना अबिभ्रत् । नन्वेवमपि लोको भगवान्माहात्म्याभिज्ञः कथं मन्येत, तत्राह जगद्गुरुत्तरोऽपीति । यद्यपि जगतामत्यन्तं गुरुः शास्त्रप्रणेता उपदेशा प्रेरकः उपदेशश्च । तथापि सतां पतिर्भवति । 'यद्यदाचरति श्रेया'निति वाक्यात् भगवत्कृतमेव भगवदीयः करोतीति सतां पालनार्थं तथा कृतवान् । अन्यथा गजेन्द्रवद्वैष्णवानामुपद्रवोऽपि सम्भवेत् । तस्माद्भगवता युक्तमेव भक्तरक्षार्थं

कृतमिति हिशब्दार्थः । नन्वेवं सति भक्तिमार्गे विरोधः स्यात्, तत्राह ब्रह्मण्यदेव इति । ब्राह्मणानां हितस्तेषां कार्यसाधको देवः । ब्रह्मण्यश्चासी देवश्चेति तेषामेव पूज्यः । इदं भगवतो गुणानाम तदैव युक्तं भवति, यदि तन्मनोरथं साधयेत् । ब्राह्मणाश्च पूजां वाञ्छन्ति, नत्वन्नसत्रम् । तद्भगवत्येव तद्धर्मप्रवर्तके अन्यः प्रवर्तते, न तु यस्मिन्कस्मिन्चित् । ननु एतावतापि कथं लोकः प्रवर्तते, तत्राह तस्यैव यच्चरणशौचमिति । अशेषाणि तीर्थानि यस्मिन् गङ्गाजले 'तिस्रः कोट्योऽर्धकोटी चे'ति वाक्यात् । अनेन स्वापकर्षाभावोऽपि निरूपितः ॥१५॥

आभासार्थ—‘सम्पूज्य’ श्लोक ये स्तुति करते हैं—

नारायणो नरसखो विधिनोदितेन ।

तं प्राह प्रभो भगवते करवाम ते किम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—नर के मित्र नारायण, पुराण ऋषि देवर्षि श्रेष्ठ नारदजी का विधि अनुसार पूजन कर, अमृत समान मिष्ट स्वल्प वाणी से वातालाप कर पुछने लगे कि हे प्रभो ! आपके लिए मुझे क्या कर्त्तव्य है ? ॥१६॥



सुबोधिनी—पूजाया अनुवादः उत्तरशेष-
त्वेन । तेन पूजा वाक्यापेक्षया हीना निरूपिता ।
देवषिवर्यमिति । अनेन देवा ऋषयश्च पूजितेन
प्रीता भवन्तीति । गार्हस्थ्ये ऋणत्रयापाकरणे
आवश्यकं द्वयमनेनैव भवतीति तस्यावश्यकता
सूचिता । ऋषिरिति । नारायणोऽयं अनिरुद्धा-
शेनैवं करोतीति सूचितम् । पुराणः ऋषिनारा-
यण एव, तथापि वेदोद्गमरूपोऽपि भवतीति
तन्निराकरणार्थं नारायणो नरसख इति निरू-
पितम् । तस्य च अस्यैव प्रकरणस्यान्ते प्रत्या-

पत्तिं वक्ष्यति । 'प्रत्येष्यतां निकाशं म' इति
वाक्ये । विधिनोदितेनेति पूजायां प्रकार उक्तः ।
अन्यथा ऐश्वर्येण राजसी पूजा प्राप्नोति । वाण्या
अमृतया अतिमिष्टया आभाष्य, भो भो नारदेत्यु-
क्त्वा, तं नारदं प्राह । सर्वोत्कर्षः स्वस्वामित्व
स्वस्य च तदाज्ञाकारित्वं पदत्रयेणाह भगवते, हे
प्रभो, ते किं करवामेति । तृतीयं पदत्रयात्मकं
त्वत्सेवा त्रिविधाप्यत्र कर्तव्येति सूचनार्थम् ।
तदाज्ञापयेति वाक्यशेषाभिप्रायः ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—उत्तर शेषत्व से पूजा का अनुवाद है, इससे वाक्य की अपेक्षा से पूजा हीन निरू-
पण की है । 'देवषिवर्यमिति' इससे देव और ऋषि पूजित होने से प्रसन्न होते हैं, गृहस्ताश्रम में तीन
ऋणों का उतारना आवश्यक है, दो तो इससे ही उतर जाते हैं इसलिये उसकी आवश्यकता सूचित
की है, 'ऋषिरिति' इस पद का भावार्थ बताते हैं कि, यह नारायण अनिरुद्ध का अंश है अतः यों
करता है, पुराण ऋषि नारायण ही है तो वेदोद्गमरूप भी होते हैं इसलिये उसके निराकरण के
लिए कहा है कि यह नारायण नर का सखा है, उसकी और इसकी भी प्रकरण के अन्त में प्रत्या-
पत्ति (निर्णय) कहेंगे, 'प्रत्येष्यतां निकाशं म' इति वाक्ये । विधि नोदितेन पद से पूजा का प्रकार
कहा है, जो यों नहीं कहते तो ऐश्वर्य के कारण विधि अनुसार पूजा न होकर राजसी पूजा हो जाती ।
अति मिष्ट अमृत सम वाणी से भो भो नारद ! यों सप्रेम सम्बोधन कर नारद को तीन पदों-(१)
भगवते, (२) हे प्रभो, (३) ते- से सूचित करने लगे कि (१) आप सब ऋषि आदि में श्रेष्ठ हैं,
२-अपना स्वामीपन, ३-हम आपके आज्ञाकारी हैं, अतः आज्ञा कीजिए आपके लिये हमारा क्या
कर्तव्य है ? तीन पदों का यह भी भावार्थ है कि आपकी तीन प्रकार की सेवा भी हमको करनी
चाहिए, वह बतलाइए आज्ञा कीजिए ॥१६॥

आभास—तत्रोत्तरमाह नारदः नैवाद्भुतमिति ।

आभासार्थ—'नैवाद्भुतं' श्लोक से नारदजी उत्तर देते हैं—

श्लोक—नारद उवाच—नैवाद्भुतं त्वयि विभोऽखिललोकनाथे

मन्त्री जनेषु सकलेषु दमः खलानाम् ।

निःश्रेयसाय हि जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां

स्वेच्छावतार उरुगाय विदाम सुष्ठु ॥१७॥

श्लोकार्थ—नारदजी ने कहा कि हे सर्व समर्थ ! हे सकल लोकों के नाथ ! हे
उरुगाय ! आप सब सज्जनों पर स्नेह रखते हैं; क्योंकि लोकनाथ हैं, दुष्टों को दमन

अन्यथा त्रिविधानि कर्माणि लोकानां न शान्तानि
भवेयुः । सजातीयनिवर्तकाभावात् । एतज्जीवैरपि
वक्तुं शक्यत इति भगवतो विशेषं वक्तुमाह
जगत्स्थितिरक्षणाभ्यां सहेति । स हि जगत्
स्वात्मनि धारयति, पालयति च । स्वेच्छावतारेण
सम्बोधन तादृशस्यऽपि कर्मकरणं लीलार्थमिति
सूचयति । सप्तम्यन्त वा पद हेतुप्रकथनाय,
अन्यथा कथं लोकाः कीर्तयेयुः, कथं वा मुक्ता
भवेयुरिति । अत्र प्रमाणमाह विदामेति ।
सुष्ठ्विति अनुभवश्रुतिभ्याम्, न तु तर्क-
मात्रेण ॥ १३॥

व्याख्यानार्थ--कहने योग्य तो नवीन कुछ नहीं है केवल किये हुए कार्य का अनुमोदन करना है। यदि किये हुए कार्य की अङ्गीकृति न की जावे तो की हुई पूजा, मानों की ही नहीं है यों समझा जाय, स्वतः अङ्गीकार करने में भी अचिन्त्य नहीं, अतः भगवदीय धर्मपन से अभिनन्दन कहा जाता है, हे विभो ! अर्थात् सर्व करण समर्थ, यह जो आपने ब्राह्मण का पूजन किया है, वह आप में अद्भुत नहीं है, भगवान् होने से आप अखिल लोक नाथ है, जिससे सब लोकों को आपको शिक्षा देनी है, आप लोक रक्षा के लिये तीन प्रकार के कर्म करते हो ?—खलों का दमन करते हो, अन्तर्यामी होने से सब से मैत्री करते हो और इस प्रकार की ब्राह्मण पूजा करते हो। इस प्रकार त्रिविध कर्म करने से तो बन्धन होगा ? जिसके उत्तर में कहा है कि निःश्रेयसाय, यह कर्म दूसरों के भी मोक्ष के लिये करते हो, इन कर्मों के श्रवण करने वाले तथा कीर्तन करने वालों का भी मोक्ष हो, अतः यह अर्थ उचित है, अन्यथा ये लोकों के त्रिविध कर्म सजातीय निवर्तक के अभाव से, शान्त न हो सके, यह जीव भी तो कर सकते हैं तो भी भगवान् में इनकी विशेषता दिखाते हैं कि भगवान् ये कर्म जगत् की स्थिति तथा रक्षण के साथ करते हैं, जीव यों नहीं कर सकते हैं, प्रभु जगत् को अपने स्वरूप में धारण करते हैं एवं पालन करते हैं कारण कि स्वेच्छा-वतारी के भी ऐसे कर्म लीलार्थ ही हैं, यह सूचन होता है, 'त्वयि' सप्तमी विभक्ति हेतु कहने के लिये है, नहीं तो लोक, उन कर्मों का कीर्तन कैसे करे ? और उनकी मुक्ति कैसे हो ? इसमें प्रमाण देते हैं, कि हम अनुभव और शास्त्र श्रवण से अथवा वेदों की श्रुतियों से इसको अच्छी तरह जानते हैं, न कि केवल तर्कों से जानते हैं ॥१७॥

आभास—एवं कृताभिनन्दनं कृत्वा भगवदुक्तं नान्यथा कर्तव्यमित्यभिप्रेत्य स्वाभिलषितं किञ्चित् प्रसङ्गात् प्रार्थयते दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के किये कर्मों का अभिनन्दन कर भगवान् का कहा हुआ अन्यथा नहीं करना चाहिये, यों ध्यान में लाकर प्रसङ्ग से अपने कृछ अभिलषित को “दृष्ट” श्लोक से प्रार्थना करते हैं—

श्लोक—दृष्टं तवाङ्घ्रियुगलं जनतापवर्गं

ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।

संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं ध्यायं-

श्वराम्यनुगृहाण यथा स्मृतिः स्यात् ॥१८॥

श्लोकार्थ—अगाध ज्ञान वाले ब्रह्मादि देव, जिन चरणों का ध्यान करते हैं, जो चरण मनुष्य मात्र के मोक्ष रूप हैं और संसार कूप में पड़े हुआों का उससे निकलने के लिए आश्रय हैं, उन चरणों के मैंने दर्शन किए, अतः अब आप ऐसी कृपा करो जिससे उन चरणों का सदैव ध्यान करता हुआ भ्रमण करूँ एवं ऐसी स्मृति सर्वदा रहे ॥१८॥

सुबोधिनी—यदेतत् दृष्टम्, तद्वचायन् सर्वत्र चरामीति स्वाध्यवसायः । अत्र यथा स्मृतिः स्यात्, तथा अनुगृहाणेति कर्तव्यप्रार्थना । दुर्लभं ह्येतदेव । प्राप्तोऽपि बहवो बाधकाः । अतः स्मृतिर्भविष्यतीति न विश्वासः । कर्तव्यं च मम नान्यत् । अतश्चरणस्मरणार्थमनुग्रह एव कर्तव्यः । दृष्टमित्यनेन ज्ञानपक्षो निराकृतः । भगवच्चरणयोरेव जीवब्रह्मत्वात् स्वात्मपरमात्मसाक्षात्कारः सिद्ध एव । मोक्षपक्षमपि व्यावर्तयति । जनताया एवापवर्गं करोतीति । तत्रास्मदपवर्गे कः सन्देह इति भावः । एतास्मान्नान्यदुर्लभमस्तीत्यभिप्रायेणाह । अगाधबोधैः पूर्णज्ञानैरपि ब्रह्मादिभिर्हृदि विचिन्त्यमेव, न तु साक्षाद्दृष्टुं शक्यम् । तस्माद्ब्रह्मादीनामप्येतदेव

दुर्लभमिति नातः परतरं किञ्चिन्मृग्यम् । अनेन चरणस्य ऐहिकपारलौकिकफलेभ्योऽपि महत्त्वं निरूपितम् । किञ्च । भक्तिमार्गस्यैतदेव प्रवर्तक-
मित्याह संसारकूपेति । 'यावन्नुकाय'मिति न्या-
येन शास्त्रानुसारेण ये स्वहितं न कृतवन्तः,
'तान्नो चेत् प्रमत्त'मिति न्यायेन विषयाः
कूपे (निपातयन्ति । ते कूपे) पतिताः,
तेषामुत्तरणे तीर्थाभावात् पक्षाभावाच्च कर्मबल्ली
अन्तरेव संवृता नोपरिनयतीति, ज्ञानं च सूत्रवत्
नो पर्याकर्षतीति, भगवच्चरणारविन्दद्वयमेव
संसारकूपे पतितानां तत उत्तरणे अवलम्बनं
भवति । अतो मार्गत्रयेऽप्येतदेव शरणमिति
ध्यायंश्चरामि । एतावदुक्त्वा भगवता अनुज्ञातः
निर्गत इति ज्ञातव्यम् ॥१८॥

व्याख्यानार्थ—मेरा यही सदैव उद्यम वा कार्य रहे, जिन चरणों के दर्शन किए हैं, उनका ध्यान करता हुआ अटन करूँ, अध्यवसाय (व्यापार) की जैसे स्मृति बनी रहे, वैसी कृपा कीजिए, इस

१- अहन्ता समता एव कृष



सुबोधिनी—अन्यत्पूर्वोक्तं समानम् । कृष्ण-
पत्न्या इति । भगवान् पूर्वगृहे दृष्ट इति नारदस्य
भगवत्पत्नी वात्र स्थास्यतीति बुद्धिरिति कृष्ण-
पत्न्या इत्युक्तम् । स तु कृपां प्रार्थयित्वा निर्गतः ।
ततोऽपि बहिर्मुखत्वाद्गृहान्तरमेव प्रविष्टः । यतो
नारं द्यति खण्डयति व्यसनस्वभावः । तस्य

गृहान्तरप्रवेशे मनीषितमाह योगेश्वरेश्वरस्मेति ।
योगस्यैव गतिर्दुर्ज्ञेया, अलौकिकत्वात् । तत्रापि
योगेश्वरस्य । यो योगमपि वशीकृतवान्, तेषाम-
पीश्वरो भगवान् । तस्यापि योगमाया । तस्या
विविक्ता, यस्याः वैभवं भगवानपि न मन्यन्ते
एतावदिति । अङ्गैत्यप्रतारणार्थं सम्बोधनम् ॥

व्याख्यानार्थ—दूसरा सर्व, पहले कहे हुए के समान है, कृष्ण पत्नी के दूसरे गृह में गये, यां
कहने का आशय यह था कि नारदजी ने मन में समझा था कि इस घर में तो कृष्ण विराजते हैं
दूसरे गृह में केवल कृष्ण की दूसरी पत्नी ही होगी, इसलिये कृष्ण पत्नी के गृह में कहा है, वह नारद-
जी, कृपा हो, यह प्रार्थना कर वहां से निकले, इसके अनन्तर भी नारदजी में बहिर्मुखता थी जिससे दूसरे
गृह में देखने के लिए गये, क्योंकि नारदजी व्यसनों को खण्डन करनेवाले हैं इसलिये खण्डनार्थ व्यसनों
की पर्यालोचना करने के स्वभाव वाले होने से बहिर्मुख कहा है, उनका गृहान्तर प्रवेश में जो
विचार था वह कहते हैं, 'योगेश्वरेश्वरस्य' योग की ही गति नहीं जानी जाती है क्योंकि अलौकिक
है, उसमें फिर योगेश्वरों की गति कैसे जानी जायेगी? जो योगेश्वर योग को अपने वश में रखते हैं, उन
योगेश्वरों के भी थे, भगवान् ईश्वर हैं उनकी भी फिर योगमाया, उसको जानने की इच्छा से
गृहान्तर में प्रविष्ट हुए थे, जिसके वैभव को भगवान् भी नहीं जान पाता है, हे अङ्ग 'यह सम्बोधन
इसलिए दिया है कि, इसमें प्रतारणा (छल) नहीं है ॥१६॥

आभास—तत्र स्थितस्य भगवतः पूर्वदृष्टापेक्षया भिन्नमेव सन्निवेशमाह
दीव्यन्तमक्षैरिति ।

आभासार्थ—उस अन्य गृह में स्थित भगवान् पहले गृह में देखे हुए की अपेक्षा से दूसरी ही
लीला कर रहे हैं जिसका वर्णन 'दीव्यन्तमक्षै' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—दीव्यन्तमक्षैस्तत्रापि प्रियया चोद्धवेन च ।

(पूजितः परया भक्त्या प्रत्युत्थानासनादिभिः ॥२०॥)

श्लोकार्थ—वहाँ भी देखा तो भगवान्, उद्धवजी और प्रिया के साथ चौपड़ खेल
रहे हैं, भगवान् नारदजी को देखते ही उठ खड़े हो गए और परम प्रेम से आसन
आदि देकर उनकी पूजा की ॥२०॥

सुबोधिनी—सर्वत्र तादृश एव सन्निवेशो
वक्तव्यः, येन पूर्वगृहे स्थितस्य शीघ्रं समागमन-
शङ्कापि न सम्भवति । तत्रापि 'भगवन्तं ददर्श'ति

पूर्वा क्रियैवानुसन्धेया । परं प्रियया भार्यया उद्ध-
वेन च सह अक्षैर्दीव्यन्तमिति ॥२०॥



व्याख्यार्थ—सब स्थानों में वैसा ही सम्यक् प्रवेश कहना चाहिये, जिससे पहले घर में बैठे हुए की यहाँ शीघ्र आ जाने की शङ्का भी न हो सके, वहाँ भी भगवान् को देखा पहले कही हुई क्रिया का अनुसन्धान करना चाहिए, विशेष में प्यारी भार्या तथा उद्धवजी से चौपड़ खेलते हुए प्रभु को देखा ॥२०॥

आभास—तस्य नारदस्य भगवान् मायया तथा प्रदर्शयतीति वृद्धिव्यावृत्त्यर्थं भगवान् किञ्चिदुक्तवानित्याह पृष्टश्चाविदुषेवासाविनि ।

आभासार्थ—भगवान् यह सब माया से दिखा रहे हैं, नारद की ऐसी वृद्धि का बदलने के लिए भगवान् 'पृष्टश्चाविदुषेवासी' श्लोक में कुछ कहते हैं—

श्लोक—पृष्टश्चाविदुषेवासी कदायातो भवानिति ।

क्रियते किं नु पूर्णानाम्पूर्णैरस्मदादिभिः ॥२१॥

श्लोकार्थ—मानो अनजान है, ऐसे बन कर भगवान् ने नारदजी से पूछा कि आप कब पधारे हैं ? आप तो पूर्ण हो, हम अपूर्ण आपकी क्या सेवा कर सकते हैं? ॥२१॥

मुबोधिनी—असौ पूर्वदृष्ट एव भगवान् प्रत्यभिज्ञानस्य दृढत्वान्, तथापि कदायातो भवान् इति पृष्टवान् । असौ नारदो भगवता पृष्टः, यथा सः स्वाकारगोपन करोति परीक्षार्थम्, तथा भगवानपि कृतवानित्यभिप्रायेणाह तथा अविदुषेवेति । चकारात्पूजा । कृत सर्व कृतवान् । स्तुति च कृतवानित्याह क्रियते किं नु पूर्णाना-

मिति । पूर्ववद्भगवन्नारदयोः धर्मव्यत्यासो द्रष्टव्यः । तदोपपद्यत एव । पूर्णानां भवतां अपूर्णैरस्मदादिभिः किं कर्तव्यमिति । यथा अज्ञाननाश्व्यम्, एवं तत्कार्यनाश्व्यवाक्यमपीति केचित् । लौकिकी वा भाषा तन्मोहार्था, तद्बुद्धौ भगवान्परिच्छिन्नो भासत इति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति न्यायेन भगवद्वचनमित्यपरे ॥२१॥

व्याख्यार्थ—यह भगवान् पहले देखे हुए ही हैं इस प्रकार का पूर्ण ज्ञान दृढ़ है, तो भी आप कब आये? यों पूछे गये, इस नारद से भगवान् ने पूछा, जिस प्रकार नारदजी परीक्षार्थ अपने स्वरूप को छिपाते हैं, वैसे भगवान् भी अपने को छिपाते हैं, इसलिये कहा है कि 'अविदुषा' मानों अनजान की तरह पूछा 'च' पद से पूजा कही है, जो कर्तव्य करना चाहिये वह सब किया और स्तुति की, वह कहते हैं कि 'क्रियते किं नु पूर्णानाम्' हम अपूर्ण, आप पूर्णों की क्या सेवादि कर सकते हैं, यो कहकर नारद और भगवान् के धर्म का परस्पर व्यत्यास^१ बताया है, अथवा यों कहने से भगवान् और नारद में धर्म का व्यत्यास देखना चाहिये, तब ही यह कहना बन सकता है, पूर्ण जो आप^२ हैं उनका अपूर्ण

हम क्या करहैं ? जैसे अज्ञान से नाश्र्य किया जाता इसी तरह यह कार्य नाश्र्य का वाक्य भी है, यों कोई कहते हैं, अथवा यह लौकिकी भाषा उसको मोहित करने के लिये हैं उसकी' बुद्धि में भगवान् परिछिन्न भासते हैं, यों 'ये यथा मा प्रपद्यन्ते' इस न्यायानुसार भगवान् के वाक्य हैं, यों अन्य कहते हैं ॥२१॥

आभास—तथापि समागतस्य भगवद्गुणनिर्धारार्थं प्रवर्तमानस्य हितं कर्तव्यमिति भक्तिशास्त्रमनुसृत्याह अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मन्निति ।

आभासार्थ—तो भी भगवान् के गुणों का निर्धार करने के लिये जो सभा में आया है उसका हित करना चाहिये, यों भक्ति शास्त्र का अनुसरण कर 'अथापि' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—अथापि ब्रूहि नो ब्रह्मज्जन्मैतच्छोभनं कुरु ।

स तु विस्मित उत्थाय तूर्णमन्यदगाद्गृहम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—तो भी हे ब्रह्मन् ! कुछ आज्ञा कर जन्म सफल करो, नारदजी तो विस्मय में पड़ गए और वहाँ से उठकर अन्य गृह में शीघ्र चले गए ॥२२॥

सुबोधिनी—अस्मान्प्रति ब्रूहि, किञ्चित्प्रार्थयेत्यर्थः । ब्रह्मन्निति ब्राह्मणस्य याचनमुचितमिति । किञ्च । एतन्मम जन्म अवतारः भक्तोद्धारक एवेति । तत्र मुख्यो भवानिति स्वात्मानं पूर्णं कुर्वन् जन्म शोभनं कुरु । स्वजन्म वा । ततो यज्जातं तदाह स तु विस्मित उत्थायेति ।

पारमार्थिकमेतद्वचन न भवतीति स्वमनसि निश्चित्य, मां वञ्चयति, शीघ्रं तत आगत्येति सम्भावनां कुर्वन्, शीघ्रमुत्थाय, ततो गत इत्याह । हेत्वदर्शनाद्विस्मितो जातः । भगवतो वैभवेन समागमनं निराकरोति तुशब्दः । उत्थाय तूर्णमेव अन्यद्गृहमगात् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—हमको कहो, अर्थात् प्रार्थना करो, हे ब्रह्मन् ! इस सम्बोधन देने का आशय प्रकट करते हैं कि ब्राह्मण को याचना करनी योग्य ही है, और विशेष यह है कि मेरा यह अवतार भक्तों के उद्धार के लिये ही है, उनमें मुख्य भक्त आप हैं, इसलिये अपनी आत्मा को पूर्ण बना कर मेरा जन्म वा अवतार सफल करो अथवा अपना जन्म सफल करो, भगवान् के इन वचनों के कहने के पश्चात् जो कुछ हुआ वह कहते हैं नारद ने सोचकर निश्चय किया, भगवान् जो कुछ वचन कह रहे हैं वे पारमार्थिक नहीं हैं, यों कहकर मुझे ठगते हैं, इस प्रकार सम्भावना कर, वहाँ से शीघ्र उठकर दूसरे गृह में गये, भगवान् ने कोई हेतु नहीं दिखलाया इससे अचम्भे में पड़ गये, 'तु' शब्द से भगवान् के वैभव से समागमन का निराकरण करते हैं ॥२२॥

आभास—तत्र सन्निवेशान्तरमाह तत्राप्यचेति ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १६ ॥

आभासार्थ—वहाँ प्रवेश के अनन्तर जो देखा वह 'तत्राप्यचष्ट' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तत्राप्यचष्ट गोविन्दं लालयन्तं सुतान् शिशून् ।

ततोऽन्यस्मिन्गृहेऽपश्यन्मज्जनाय कृतोद्यमम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—वहाँ भी भगवान् को छोटे-२ बालकों को खिलाते देखा, वहाँ से फिर अन्य गृह में देखा तो भगवान् स्नान की तैयारी कर रहे हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—शिशून् पुत्रादीन् । तत्र भगवन्तं दृष्ट्वा, तत्त्वमह्मचा-
पर्यन्तं तनद्वावस्थितं भगवन्तं पश्यन्, तत्र तत्र प्रविश्य, ततस्ततो निर्गत इत्याह ततोऽन्यस्मि-
न्नित्यादि । अथोवाचेत्यतः प्राक्तनेन । मज्जनाय मर्दनानन्तरं स्नानाय कृत उद्यमो येन ॥२३॥

व्याख्यार्थ—छोटे छोटे पुत्रादिकों को न कि प्रोढ़ों को खिलाते भगवान् स्थित थे, वहाँ दूर से ही प्रवेशानन्तर, भगवान् को उस उस भाव में स्थित अन्य अन्य गृहों में और प्रवेश कर २४ प्रकार के देखता हुआ निकल गया, अन्यत्र देखा तो प्रभु शरीर का मर्दन (मालिश) कर स्नान के लिये तैयारी कर रहे हैं ॥२३॥

श्लोक—जुह्वन्तं च वितानाग्नीन्यजन्तं पञ्चभिर्मखैः ।

भोजयन्तं द्विजान्क्वापि भुञ्जानमवशेषितम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—कही आह्वनीय अग्नि में होम करते थे, कहीं पञ्च यज्ञ कर रहे थे, कहीं ब्राह्मणों को भोजन कराते थे और कही पाँच यज्ञों से शेष अन्न से स्वयं भोजन करते थे, इस प्रकार भगवान् को पृथक्-२ कार्य करते नारद ने देखा ॥२४॥

सुबोधिनी—वितानाग्नीन् यज्ञविताने स्थितान् गार्हपत्यादीन् । 'सोमं विधाय श्रवभृथस्तानानन्तरं सा यावद्रात्रेः संतिष्ठत' इति न्यायेन मध्यरात्रावप्यग्निहोत्रहोमः । तथैवान्यत्र पञ्च मखाः देवयज्ञादयः पञ्चगृहेषु । क्वापि गृहे द्विजान् भोजयन्तं रात्रिभोजनेन । ततोऽवशेषितं भुञ्जानं गृहान्तरे । एते नव-गृहाः पूर्वोक्तैः सह द्वादश । ॥२४॥

व्याख्यार्थ—गार्हपत्य आदि अग्नि में होम कर रहे थे, 'सोमं विधाय' मन्त्र में कहा है कि, सोम यज्ञ को करने के बाद यज्ञीय स्नान कर उसके अनन्तर रात्रि हो जाय तो मध्य रात्रि में भी अग्नि होत्र होम करना ही चाहिये इसी प्रकार अन्य गृहों में पञ्च यज्ञ अर्थात् देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, भूत यज्ञ, मनुष्य यज्ञ, और ब्रह्म यज्ञ आदि पाँच यज्ञ गृहों में कर रहे थे, किसी गृह में, ब्राह्मणों को रात्रि भोजन से, भोजन कराते थे, दूसरे गृह में उससे बचे हुए अन्न से स्वयं भोजन करते थे, ये नव गृह, पूर्व कहे हुए गृहों सहित द्वादश हुए ॥२४॥

आभास—पुरुषार्थचतुष्टयं साधयन्तमाह ।

ग्रामासार्य—पुरुषार्थ चतुष्टय की सिद्धि कर रहे भगवान् का 'क्वापि सन्ध्या' श्लोक में कन्ते है—

श्लोक—क्वापि सन्ध्यासुपासीनं जपन्तं ब्रह्म वाग्यतम् ।

एकत्र चासिचर्मभ्यां चरन्तमसिवर्त्मसु ॥२५॥

श्लोकार्थ—कहीं सन्ध्योपासना कर रहे थे, कहीं वाणी का संयम कर ब्रह्म का जप करते थे. कहीं तो तलवार और ढाल लेकर यह किस प्रकार चलानी चाहिए ? इसका शास्त्रों में कही हुई नीति-अनुसार अभ्यास करते थे ॥२५॥

सुबोधिनी—तत्र धर्मे क्वापि सन्ध्यामुपासी-
नम् अन्यत्र जपन्तम्, तस्यैव विशेषणं वाग्यत-
मिति । सौनव्रतधर भिन्नमिति विमर्शः । एकत्र

असिचर्म्यां चरन्तं असिवत्सु शास्त्रोक्तखड्ग-
मार्गशिक्षासू ॥२५॥

व्याख्यार्थ—वहां धर्म पुरुषार्थ की सिद्धि के लिये कहीं सन्ध्योपासना करते थे, अन्यत्र जप करते थे, 'वाग्यतं' पद 'जपन्तं' का विशेषण है, अतः मौन व्रत धारण के साथ ब्रह्म का जप कर रहे थे, एक किसी स्थान पर तलवार और दाल का अभ्यास शास्त्रानुसार कर रहे थे ॥२५॥

श्लोक—अश्वै रथैर्गजैक्वापि विचरन्तं गदाग्रजम् ।

क्वचिच्छ्रयानं पर्यङ्कु स्तूयमानं च बन्दिभिः ॥२६॥

श्लोकार्थ—नारद ने कहीं घोड़े, हस्ती और रथ पर बैठे फिरते हुए भगवान् को देखा, कहीं तो आप पलङ्ग पर पड़े-र बन्दीजनों की स्तुति सुन रहे हैं ॥२६॥

सुबोधिनी—तथैव अथ रथैर्गजैः सह विच-
रन्तम् । गदाग्रजं भक्तरक्षार्थं तथा यतमानमि-

त्यर्थः पर्यङ्के कचिच्छयानम् । अन्यत्र वन्दिभिः
स्तूयमानम् । दशधाऽयं धर्मो निरूपितः ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—कहीं देखा तो भगवान् भक्तों की रक्षा के लिये घोड़े, रथ और हस्ती पर चढ़ फिर रहे हैं, कहीं पलङ्ग पर पोढ़े हुए वन्दी जनों की की हुई स्तुति सुन रहे हैं ॥२६॥

आभास—अर्थ निरूपयति मन्त्रयन्तमिति ।

आभासार्थ—‘मन्त्रयन्त्र’ श्लोक में ‘अर्थ’ का निरूपण करते हैं—



श्लोक—मन्त्रयन्तं च कस्मिंश्चिन्मन्त्रिभिश्चोद्धवादिभिः ।

जलक्रीडारतं क्वापि वारमुस्याबलावृतम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—किसी गृह में उद्धवादि मन्त्रियों से मन्त्रणा कर रहे हैं, कहीं वारविलासितियों से वेष्टित हो जलक्रीडा कर रहे हैं ॥२७॥

सुबोधिनी—कामं निरूपयति जलक्रीडारतमिति ॥२७॥

व्याख्यार्थ—इस २७ वें श्लोक के प्रथम अर्द्ध 'मन्त्रयन्तं' में अर्थ विषयक मन्त्रणा का वर्णन है और उत्तरार्द्ध 'जल क्रीडारतं' में काम का निरूपण है ॥२७॥

आभास—मोक्षं निरूपयन् सर्वाण्यङ्गानि निरूपयति कुत्रचिद्द्विजमुख्येभ्य इति ।

आभासार्थ—मोक्ष का निरूपण करते हुए सर्व अङ्गों का 'कुत्रचित्' श्लोक से निरूपण करते हैं—

श्लोक—कुत्रचिद्द्विजमुख्येभ्यो ददतं गाः स्वलंकृताः ।

इतिहासपुराणानि शृण्वन्तं मङ्गलानि च ॥२८॥

श्लोकार्थ—किसी स्थान पर देखा तो अलङ्कृत की हुई गौ ब्राह्मणों को दान कर रहे हैं और अन्यत्र इतिहास, पुराण और भगवद्गुणों को सुन रहे हैं ॥२८॥

सुबोधिनी—शृण्वन्तमिति इतिहासपुराणानीति विशेषः । मङ्गलानि भगवद्गुणान् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—इतिहास पुराण सुनते थे यह विशेष है, मङ्गलानि भगवद्गुणों को भी सुन रहे थे ॥२८॥

आभास—ऋणमपाकुर्वन्निवाह हसन्तमिति ।

आभासार्थ—मानों ऋण को उतार कर 'हसन्तं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—हसन्तं हास्यकथया कदाचित्प्रियया गृहे ।

क्वापि धर्मं सेवमानमर्थकामौ च कुत्रचित् ॥२९॥

श्लोकार्थ—कभी गृह में हास्य कर प्यारी के साथ हँस रहे हैं, कहीं धर्म का कार्य कर रहे हैं और कहीं अर्थ तथा काम का सेवन कर रहे हैं ॥२९॥



किया, अर्थात् सन्धि के समय सन्धि और विग्रह के समय विग्रह करते थे, इस कारण से लोक न्यायानुसार बलभद्र के साथ यह मन्त्रणा करते थे कि सत्पुरुषों का कल्याण कैसे हो ? कलियुग में उत्पन्न हुए पुरुषों का तो अलौकिक प्रकार से ही कल्याण हो सकेगा ॥३१॥

श्लोक—पुत्राणां दुहितृकृणां च काले विध्युपपादनम् ।

दारैर्वरैस्तत्सदृशैः कल्पयन्त विभूतिभिः ॥३२॥

श्लोकार्थ—कहीं बड़ी धूम-धाम के साथ पुत्रों का योग्य वधूओं के साथ और कहीं कन्याओं का योग्य वरों के साथ विधिवत् विवाह कर रहे हैं ॥३२॥

सुबोधिनी—पुत्राणां विवाहो दुहितृकृणां च । विधिपूर्वकमुपपादनं काले युक्तसमये । विध्व । पुत्राणां दारैः सह विभूतिभिः कल्पयन्तम् । ववचिद्गृहे पुत्रं सभार्य परमोत्सवयुक्तं । करोतीत्यर्थः । तथा दुहितृकृणामपि तत्सदृशैर्वरैः सहितानां विभूतिभिः कल्पयन्तम् । जामातृसहिता दुहितरः ऐश्वर्यादिमम्पन्नाः कृता इत्यर्थः । ॥३२॥

व्याख्यार्थ—पुत्रों का और कन्याओं का, उचित समय में अर्थात् शुभ मृहूर्त योग्यवय में शास्त्र विधि अनुसार कर रहे थे और विशेष में कहते हैं कि पुत्र तथा पुत्रवधुओं को बहुत आभूषण वस्त्रादि विभूतियों से विभूषित किया था, किसी गृह में स्त्री सहित पुत्र को परमोत्सव युक्त करते थे, वैसे ही कन्याओं को भी उनके समान वरों के साथ अलङ्कार वस्त्र आदि विभूतियों से सुसज्जित किया था, अर्थात् जवाईयों सहित वेदियों को ऐश्वर्यादि युक्त किया था ॥३२॥

श्लोक—प्रस्थापनोपनयनैरपत्यानां महोत्सवान् ।

वीक्ष्य योगेश्वरेशस्य येषां लोका विसिस्मिरे ॥३३॥

श्लोकार्थ—कहीं अपनी (सन्तानों को) कन्याओं को वर के घर खाने करते और कहीं पीछा बुलाने के कार्यों में तत्पर तथा योगेश्वरों के ईश्वर के किए हुए अपने बालकों के महोत्सवों को दिखाकर लोगों को विस्मय में डालते हुए भगवान् को नारदजी ने देखा ॥३३॥

सुबोधिनी—तासामेव प्रस्थापनं उपनयनं च भर्तृगृहात्स्वगृहे समानयनम् । पुत्रवधूनां वा अपत्यानां महोत्सवान् कल्पयन्तमिति सम्बन्धः । आवश्यकत्वादनभिनिवेशेन करणं सम्भवतीति तद्व्यावृत्त्यर्थं महतीं समृद्धिमुपपादयति वीक्षेति । योगेश्वराणामपीश्वरत्वात्सामग्रीमनेकविधां अनायासेन शीघ्रं सम्पादयति । ततो येषां महोत्सवानां सम्बन्धिनो लोकाः तां दृष्ट्वा अभूतपूर्वत्वाद्विसिस्मिरे ॥३३॥

व्याख्यार्थ—कन्याओं को ससुराल भेजते फिर वहाँ से मंगाने, और पुत्रवधुओं का तथा पुत्रों

का महोत्सव करते हुए भगवान् को नारद ने देखा, ये कार्य आवश्यक करने, होने से, अभिनिवेश के सिवाय करना सम्भव होता है जिसकी व्यावृत्ति के लिये महती समृद्धि तैयार करते हैं, जिसका वर्णन 'वीक्ष्य योगे विसिस्मिरे' कहकर किया है, आप योगेश्वरों के भी स्वामी हैं अतः बिना परिश्रम के अनेक प्रकार की सामग्री आपने शीघ्र तैयार करली है, महोत्सव से सम्बन्ध रखने वाले लोक उन अभूतपूर्व सामग्रियों को देख कर चकित हो गये ॥३३॥

आभास—एवं लौकिकधर्मेषु केवललौकिकानुपपाद्य तदनुरूपधर्मानुपपादयति यजन्तं स्वकलान् देवानिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार लौकिक धर्मों में केवल लौकिक का वर्णन कर उनके योग्य धर्मों को 'यजन्तं स्वकलान्' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—यजन्तं स्वकलान् देवान्ववापि ऋतुभिरुज्जितैः ।

पूर्तयन्तं क्वचिद्धर्मं कूपाराममठादिभिः ॥३४॥

श्लोकार्थ—कहीं बड़े-२ यज्ञों द्वारा अपनी कलायुक्त देवों का यजन करते हुए और कहीं कूप, आराम और मठ आदि बनाकर उनके वास्तु पूजन धर्म को करते हुए भगवान् को नारदजी ने देखा ॥३४॥

सुबोधिनी—स्वस्य कला येषु । भगवदावेश-युक्तान् । उज्जितं लौकिकसाधनैः पुष्टं । ऋतु-भिर्यज्ञादिभिः शान्तिकपौष्टिकैर्वा । पूर्तमप्याह पूर्तयन्तमिति । कूपारामादिप्रतिष्ठार्थं देवतावाहनं

कृत्वा अधिवासने उपविष्टमित्यर्थः । आरामावाटिकाः, तत्र आलयाः गृहाः, देवस्थानानि वा । तामसादिभेदा उक्ता इति । अन्येषां तदादित्वम् । ॥३४॥

व्याख्यार्थ—जिन देवों में अपनी कला है, अर्थात् जो देव भगवदावेश युक्त हैं, उनका पूजन, लौकिक साधनों से पुष्ट, शान्तिक और पौष्टिक यज्ञों द्वारा कर रहे हैं, भगवान् को नारदजी ने देखा और कहीं देखा तो प्रभु कूप, आराम एवं मठ आदि की प्रतिष्ठा के लिये देवताओं का आवाहन कर अधिवासन में बैठे हैं, आराम (वाग) उसमें विश्राम के लिये गृह अथवा देव स्थान, तामस आदि भेद कहे हैं, 'आदि पद से अन्य भी समझ लेने ॥३४॥

श्लोक—चरन्तं मृगया क्वापि हयमारुह्य सैन्धवम् ।

धनन्तं ततः पशून्मेध्यान्परीतं यदुपुङ्गवैः ॥३५॥

श्लोकार्थ—कहीं तो सैन्धव (अश्व) पर चढ़कर शिकार खेलते हुए, वहाँ यादव श्रेष्ठों से घिरे हुए, पवित्र पशुओं को मारते हुए, श्रीकृष्ण को नारदजी ने देखा ॥३५॥

सुबोधिनी—ततोऽन्तःपुरस्थपर्वतोपवनादिषु
सैन्धवं समुद्रोद्भवं हयमारुह्य मृगयां चरन्तम् ।
रात्रावपि गृहे प्रविष्टः गृहस्थैस्तथोक्तः मृगया-
स्थाने तथाविधं दृष्टवानित्यर्थः । तथैव क्वचिन्मे-

ध्यान्पशून् श्राद्धाद्यर्थं घ्नन्तम् । तत्रान्येषामप्यर्थे
तथा करोतीति स्थापयितुं परीतं यदुपुङ्गवैरि-
त्युक्तम् ॥३५॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् अन्तःपुरस्थ पर्वत और उपवन आदि में समुद्र से उत्पन्न अश्व पर बैठ कर शिकार खेलते हुए प्रभु को नारद ने देखा, रात्रि के समय गृह में प्रविष्ट हुए, गृहस्थो ने वैसा ही कहा, अर्थात् शिकार खेलने के स्थान पर वैसा देखने में आये, उसी तरह कहीं श्राद्ध आदि के लिये पवित्र पशुओं का वध करते हुए प्रभु को नारद ने देखा, यादव श्रेष्ठों से घिरे हुए थे जिसका आशय है कि पवित्र पशुओं का वध दूसरों के लिये भी कर रहे थे ॥३५॥

आभास—गुप्तचर्यां चरन्तं दृष्टवानित्याह अव्यक्तलिङ्गं इति ।

आभासार्थ—छिपे हुए कार्य करते हुए को देखा जिसका वर्णन 'अव्यक्त लिङ्ग' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—अव्यक्तलिङ्गं प्रकृतिष्वन्तःपुरगृहादिषु ।

क्वचिच्चरन्तं योगेशं तत्तद्भावबुभुत्सया ॥३६॥

श्लोकार्थ—अपनी प्रजा अथवा अन्तःपुर वाला कोई भी न जान सके, इसी प्रकार प्रजा तथा अन्तःपुरस्थों के भावों को जानने की इच्छा वाले प्रभु गुप्त प्रकार से फिर रहे थे, जिनको नारद ने देखा ॥३६॥

सुबोधिनी—अव्यक्तानि लिङ्गानि सत्त्वास-
त्त्वस्थापकानि । यासां प्रकृतीनां स्त्रीणामन्तःपुरे
गृहादिकं येषां तेषामपि तस्य तस्य सतोऽसतो
वा भावबुभुत्सया क्वचिच्चरन्तम् । गूढरीत्या

यथा राज्ञां गुप्तचर्या भवति । तत्रैव नारदः स्व-
यमपि तादृशघर्मपर इति । नारदादीन् भगवान्
पुनरन्वेषतीति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति
समानशीलत्वात्तत्र भगवत्साक्षात्कारो जातः ॥

व्याख्यार्थ—जिनके चिन्ह (भावादि) प्रकट नहीं ऐसी स्त्रियों के, और अन्तःपुर में गृहों वाले पुरुषों के, सत् अथवा असत् भावों को जान लेने की इच्छा से राजाओं की तरह गुप्त रूप से फिरते हुए भगवान् को नारद ने देखा, उस समय नारद भी गुप्त रूप में था 'नारदादीन् भगवान् पुनरन्वेष-
तीति', 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इन वाक्यों के अनुसार समान शील होने से भगवान् ने नारद को देखा और नारद ने भगवान् का साक्षात्कार किया ॥३६॥

आभास—ततो निकटे मिलितः, पलायनेऽप्यशक्तः, लज्जितः सन् किञ्चिद्भगवन्त-
मुवाचेत्याह अथोवाचेति ।

आमासार्थ—पश्चात् ऐसे निकट में मिले जो नारद भाग भी न सका, अतः लज्जित होके भगवान् को कुछ 'अथोवाच' श्लोक में कहने लगा—

श्लोक—अथोवाच हृषीकेशं नारदः प्रहसन्निव ।

योगमायोदयं वीक्ष्य मानुषीमीयुषो गतिम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—इन्द्रियों के ईश भगवान् ने मनुष्य भाव को स्वीकारते हुए जो योग माया का प्रभाव नारद को दिखाया, उसको देख मानी हँसता हुआ भगवान् को कहने लगा ॥३७॥

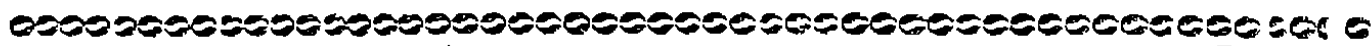
सुबोधिनी—हृषीकेशत्यनेन स्वापराधो निवारितः । भगवतैव तथा प्रेरित इति । आदा-
बन्योन्यदर्शनेन प्रहसनम् । ततो लज्जया विषादा-
दिवेति । एतावद्दर्शनेन नारदस्य किं मौढ्यमा-
सीत्, आहोस्विद्भगवदचिन्त्यैश्वर्यं परिज्ञानेन तथा-
त्वम्, अथवा मायैवैवेति । मायापक्षे सर्वथा
प्राकृतबुद्धिः । प्रथमपक्षे तु नारदस्य सर्वथा
प्राकृतत्वम् । मध्यमे तूभयोरुत्तमत्वमिति । त्रयो-
ऽपि बुद्धिविशेषा नारदबुद्धौ न स्फुरिताः, किन्तु

योगपतिरेषेति स्वस्य भगवतश्च तुल्यतया परि-
ज्ञानं मध्यमभावश्च स्फुरित इति ज्ञापयन्नाह
योगमायोदयं वीक्ष्येति । योगमाय(१)या दिव्या
अपि गतयो भवन्तीति कथमियमेव लीला दृष्टे-
त्याशङ्क्याह मानुषीमीयुषो गतिमिति । योगे-
श्वरो हि यादृशीं रतिं वाञ्छति, तदनुरूपा
भवति । योगमाया योगस्याधिदैविकी देवता,
साधनरूपा वा भगवच्छक्तिस्तथेति ॥३७॥

व्याख्यानार्थ—नारद ने भगवान् को हृषीकेश कहा, जिसका भावार्थ है कि आप इन्द्रियों के स्वामी हैं जैसे इन्द्रियों को प्रेरणा देते हो वैसे ही इन्द्रियाँ करती हैं, अतः मेरी इन्द्रियों को भी आपने ही इस प्रकार प्रेरित किया है जिससे यों करने में मेरा दोष नहीं है, परस्पर देखने से पहले हँसने लगे, पश्चात् लज्जा आई, मानों अपना विषाद प्रकट करने लगा इस प्रकार दर्शन करने से क्या मूर्ख वा अज्ञान हुआ ? या भगवान् के अचिन्त्यैश्वर्य ज्ञान के होने से पुरुषोत्तम के स्वरूप का ज्ञान हुआ ? अथवा नारद ने यों समझा कि यह माया ही है, यदि यह माया ही है ऐसा ज्ञान हुआ तो सर्वथा बुद्धि प्राकृत बनी रहेगी, प्रथम^१ पक्ष में तो नारद का सर्व प्रकार से प्राकृतपन हीगा, मध्यम पक्ष में^२ तीनों भी बुद्धि विशेष, नारद की बुद्धि में स्फुरित न हुवे, किन्तु यह योग गति है अपना और भगवान् का सादृश्य है ऐसा मध्यम भाव का ज्ञान स्फुरित हुवा यह जताते हुए कहते हैं कि 'योगमायोदयं' योग माया की गतियाँ दिव्य होती हैं तो कैसे यह ही लीला देखी । इस शङ्का के निवारण के लिये कहते हैं कि 'मानुषी मीयुषो गति' योगेश्वर जिस रति की इच्छा करते हैं उसके

१- मौढ्य पक्ष में नारद का प्राकृतत्व होगा तो भगवत्स्वरूप का अज्ञान रहेगा ।

२- मध्यम पक्ष में ब्रह्म ही अनन्त मूर्ति है यह भाव उत्तम है, अर्थात् योग बल से नाना रूप धारण करते हैं यह मध्यम भाव उत्तम है, यह मध्यम भाव प्रमाण मार्ग में उत्तम है।



आभास—तावन्मात्रं ज्ञातं विनिश्चित्य तत्रैव पर्यवसितमतिः अधिकार्थापरिज्ञानात्
 नायकोत्कर्षाभावे प्रमेयभक्तिमार्गो न साधीयानिति ततो निवृत्ति वाञ्छन्निव प्रमाण-
 वलेनैव भक्तिमार्गमुपदेक्ष्यामीति निश्चित्य भगवन्तं प्रार्थयते विदामेति द्वाभ्याम् ।

श्लोक—विदाम योगमायास्ते दुर्दर्शा अपि योगिनाम् ।

अनुजानीहि मां देवल्लोकांस्ते यशसाप्लुताः ।

पर्यटामि तवोद्गायंल्लीला भुवनपावनीः ॥३६॥

आप मुझे अब आज्ञा दो कि मैं जगत् को पवित्र करने वाली आपकी लीलाओं का गान उन लोगों में करता फिरूँ, जो लोग आपके यश से पूर्ण हो अर्थात् आपके भक्त हो । ३९॥

सम्बोधनम् । चरणसेवा तु योगमायापरिज्ञाने हेतुः । अत एतावत्कालं कृता प्रमेयबलभक्तिः एतदर्थपरिज्ञान एवोपक्षीणा जातेति एतन्मतपरित्यागेन कीर्तनमार्गेणेव स्थास्यामीति प्रार्थयते अनुजानीहोति देवलोकानिन्द्रादिस्थानानि ते यशसा आप्नुतान् व्याप्तानि उद्गायन् पर्यटामि । भुवनपावनीः लीलाः पूर्वसिद्धा एव । एतासामदृष्टानां शास्त्रे प्रसिद्ध्यभावात् एता असम्मता इत्यर्थादुक्तं भवति ॥३८-३९॥



व्याख्यार्थ—हम जानते हैं कि आपकी योगमायाएँ, जो मनुष्य जैसी जैसी इच्छा करते हैं, उनकी वे इच्छाएँ पूर्ण करती हैं। यह ज्ञान मुझे ही असाधारण है, यह जताने के लिये कहता हूँ कि आपकी योग मायाओं के प्रभाव का ज्ञान योगियों को भी दुर्दर्शा है अर्थात् जानने में नहीं आता है, इसका क्या कारण है जिसको योगी भी नहीं जान सकते हैं लौकिक परिज्ञान होने से कार्य के कारण की जिज्ञासा (जानने की इच्छा) ही उत्पन्न नहीं होती है यदि यों है तो तुझे जानने की इच्छा कैसे जगी ? इसके उत्तर में कहता हूँ कि 'योगेश्वरात्मन् भवत्पाद निवेवया निर्भाता' अस्मदादि योगेश्वरों की आप आत्मा हैं, ऐसी स्फुरणा होने से ही आपके चरणों के भजन करने में प्रवृत्ति हुई अर्थात् हम लोग आपके चरणों का भजन करते हैं इसमें आत्मा होने से आप ही हेतु हैं, इसलिए 'योगेश्वरात्मन्' सम्बोधन दिया है, चरण सेवा तो योगमाया के परिज्ञान में हेतु है, अतः इतने समय तक की हुई प्रमेय बल भक्ति इसके अर्थ के परिज्ञान में समाप्त हो गई, इसलिये यह मत छोड़ कीर्तन मार्ग से ही रहूँगा, यों प्रार्थना करता हूँ कि आज्ञा दीजिये कि आपके यश से पूर्ण इन्द्रादि देवों के स्थानों में भुवनों को पवित्र करने वाली आपकी पूर्व सिद्ध लीलाओं का गान करता हुआ भ्रमण करता रहूँ इन अदृष्ट गुप्त लीलाओं की शास्त्रों में प्रसिद्धि होने से वे असम्मत हैं ॥३८-३९॥

आभास—तत्र भगवान् विचारार्थं प्रवृत्तोऽपि अपरिज्ञानात् खिन्नो जातः मार्गमेव परित्यक्तुं वाञ्छतीति निश्चित्य प्रबोधयति ब्रह्मन् धर्मस्येति ।

आभासार्थ—इस विषय का विचार कर भगवान् ने जान लिया कि नारद इसके तत्त्व को न जानने से खिन्न हुआ है, अतः इस मार्ग को छोड़ना ही चाहता है, इसलिये 'ब्रह्मन् धर्मस्य' श्लोक से नारद को समझाते हैं—

श्लोक—श्रीभगवानुवाच-ब्रह्मन् धर्मस्य वक्ताहं कर्ता तदनुमोदिता ।

तच्छिष्यल्लोकमिममास्थितः पुत्र मा खिदः ॥४०॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे ब्रह्मन् ! धर्म का वक्ता, कर्ता और अनुमोदक भी मैं हूँ, अतः उसकी शिक्षा के लिए मैं आचरण करता हुआ रहता हूँ, हे पुत्र ! खेद मत कर ॥४०॥

सुबोधिनी—केवलकथने वेदादौ क्रियाप्रवे-
शाभावे लोको न मन्यत इति धर्मस्याहं कर्तापि
यदि क्रियमाणस्यानुमोदनं न कुर्या वचनाचरणा-
दिभिः, तदापि लोको न प्रवर्तेतेति तस्य धर्मस्या-
नुमोदिताप्यहम् । अतो लोके धर्मप्रवृत्त्यर्थं तच्छि-
ष्यन् लोके धर्मं ग्राह्यन् इमं लोकमास्थितः ।

अयं भावः समाश्रित इत्यर्थः । इति स्वकृतस्य
नानाविधधर्मस्याभिप्रायो वर्णितः । ननु त्वद्वच-
नार्थं माया प्रदर्शितेति पक्षं निवारयितुं सम्बोध-
नमाह पुत्रेति । लीलायाः तत्त्वापरिज्ञानात्मा
खिदः । तत्त्वं तूक्तमिति ॥४०॥

व्याख्यार्थ—यदि मैं धर्म का केवल वक्ता रहूँ और वैसे आचरण न करूँ तो लोग मेरे कथन

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ४० ॥

को माने ही नहीं, तथा लोग धर्म का आचरण ही न करें, इसलिये मैं आचरण कर उसका अनुमोदन भी हूँ, अतः लोक में धर्म की प्रवृत्ति हो, तदर्थ उसको सिखाते हुए, लोक में मनुष्यों को धर्म का ग्रहण कराते हुए स्थित हूँ, इसलिए यह मानुष भाव स्वीकार किया है, यों आपने जो नाना प्रकार के कर्म किये, उनका अभिप्राय वर्णन किया, 'पुत्र' यह सम्बोधन देकर नारद को निश्चय कराया कि यह जो मैंने लीलाएँ तुम्हें दिखाई वह माया नहीं थी किन्तु लोगों के शिक्षार्थ आचरण था, तू इस तत्त्व को नहीं जानता है इसलिये खेद करता है अतः खेद न कर मैंने अब तत्त्व तुम्हें बतला दिया है ॥४०॥

आभास—ततस्तस्य दृष्टं दर्शनानन्तरमध्यवसायं च श्लोकद्वयेनाह इत्याचरन्तमिति।

आभासार्थ—पश्चात् देखा, देखने के अनन्तर उसने जो उद्यम किया उसका वर्णन दो श्लोकों से शुकदेवजी कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इत्याचरन्तं सद्धर्मान्पावनान्गृहमेधिनाम् ।

तमेव सर्वगेहेषु सन्तमेकं ददर्श ह ॥४१॥

कृष्णस्यानन्तवीर्यस्य योगमायामहोदयम् ।

मुहुर्दृष्ट्वा ऋषिरभूद्विस्मितो जातकौतुकः ॥४२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि इस तरह गृहस्थ को पवित्र करने वाले, पवित्र सद्धर्मों का सब गृहों में आचरण करते हुए एक ही उसी श्रीकृष्ण को नारदजी ने देखा । ४१॥

अनन्त शक्ति भगवान् की योग माया का महान् उदय बार-बार देखकर नारदजी को अचम्भा लगा और कौतुक में पड़ गए ॥४२॥

सुबोधिनी—सतां त्रिविधानां सर्वविधान् धर्मान् गृहमेधिनां पावनान् पवित्रकरान् । एवं चेत्कश्चिदाचरति भगवानाचचारेति, तदा पवित्रो भवतीति । अतोऽनन्तमूर्ति तमेव सर्वगेहेषु सन्तं ददर्श । ततो यज्जातं तदाह कृष्णस्येति । अनन्तानि वीर्याणि यस्येति । लीलया च स्त्रीषु स्थितिः, न तु वस्तुतः । यतोऽयं सर्वशक्तिः । तत्रापि योगमायायाः महानुदयोऽयम् । न कदाप्येवं दृष्टः । अतो धर्मधर्मिणोरलौकिको भावो दृष्ट इति विस्मितः । पुनर्दर्शने जातकौतुकश्च जातः ॥४१-४२॥

व्याख्यानार्थ—धर्म, अर्थ और काम इन तीन पुरुषार्थों वाले गृहस्थी सत्पुरुषों के जो भी पवित्र करने वाले सब धर्म है उनको इस प्रकार यदि कोई करता है, तो भगवान् ने कर दिखाये हैं, इनको जब गृहस्थी करता है तब पवित्र होता है, अतः उस एक ही अनन्त मूर्ति को सब गृहों में देखा, पश्चात् जो हुआ वह कहते हैं, 'कृष्णस्य.....कौतुक' अनन्त वीर्य वाले कृष्ण की स्त्रियों में जो इस प्रकार स्थित है, वह लीला से है, न कि वस्तु स्वल्पा से है क्योंकि यह सर्व शक्तिमान् है। इसमें भी यह

तोला योगमाया का महान् उदय है, इस प्रकार कभी भी न देखा, अतः धर्म और धर्मो दोनों का
अलौकिक भाव देखा, इसलिये चकित हुआ, फिर दर्शन किया तो पुनः कौतुक में पड़ गया ॥४१-४२॥

श्लोक--इत्यर्थक। भधर्मेषु कृष्णेन श्रद्धितः तमना ।

सम्यक् सभाजितः प्रीतस्तमेवानुस्मरन्त्ययौ । ४३॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार धर्म, अर्थ और काम में जिसकी श्रद्धा है, वैसे श्रीकृष्ण ने नारदजी की सम्यक् प्रकार से पूजा की, जिससे नारदजी प्रसन्न हो, उनका ही स्मरण करते हुए खाने लगे । ४३॥

सुबोधिनी—ततः सादरदर्शनानन्तरमर्थका-
मधर्मेषु श्रद्धितात्मना भगवता सभ्यक् सभाजितो
ब्राह्मणवृद्ध्या ऋषिवृद्ध्या च यथेष्टं भोजनादिना

व्याख्यार्थ--आदर सहित दर्शन कर लेने के बाद अर्थ, काम और धर्म में श्रद्धा वाले भगवान् श्री कृष्ण ने ब्राह्मण बुद्धि से और ऋषि बुद्धि से नारदजी को यथेष्ट भोजनादि से सन्तुष्ट करते हुए सत्कार किया, अनन्तर उन ही श्रीकृष्ण को स्मरण करते हुए नारदजी ने प्रस्थान किया प्रमेय, मार्ग का त्याग करने की इच्छा वाले नारदजी का भगवान् ने जो सत्कार किया, वह प्रमेय बल का आश्रय लेकर ही किया न कि प्रमाण बल का आश्रय लिया ॥४३॥

आभास—एवं नारददृष्टां भगवल्लीलामुपपाद्योपसंहरति एवं मनुष्यपदवीमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार नारद की देखी हुई लीला का प्रतिपादन कर अब 'एवं मनुष्य पदवी' श्लोक से उपसंहार करता है—

श्लोक—एवं मनुष्यपदवीमनुवर्तमानो नारायणोऽखिलभवाय गृहीतशक्तिः ।

मेनेऽङ्ग षोडशसहस्रवराङ्ग नानां सत्रीडसौहृदनिरीक्षण हासजुष्टः ॥४४॥

श्लोकार्थ—जिन्होंने सबके उद्धार के लिए सकल शक्तियों को धारण कर मनुष्यों के मार्ग का स्वीकार किया है, वे प्रभु नारायण ये ही हैं, सोलह हजार उत्तम त्रियों ने लज्जा, सौहृद और हास्य से जिनकी सेवा की है, वे नारायण ही हैं, यों नारद ने मन में निश्चय कर लिया । ४४॥

सुबोधिनी—तद्वर्माणामनाचरणे तत्तदनुस- | सहस्रवराङ्गनाना सत्रीडादिभिर्जुष्टो मेने । मनु-
पणं न भवतीति मनुष्यपदवीमनुवर्तमानः षोडश- | प्यपदव्यामप्यागतः मूलरूप एवेत ज्ञापयितुमाह

नारायण इति । तस्यैवकारणे किं प्रयोजनमित्याशङ्क्याह अखिलभवाय गृहीतशक्तिरिति । सर्वेषामुद्भवार्थं सात्त्विकवयः शक्तयः सर्वाः संगृहीताः । तत्र मनुष्येषु धर्माप्रवृत्तौ सर्वेषामुद्भवो न भवतीति तथा करणम् । अङ्गेत्यप्रतारणाय सम्बोधनम् । अष्टमहिषीणां न विवाद इति नर-

कामुरपरिगृहीतानामेव षोडशसहस्रवराङ्गनानामिति वरशब्देन तत्तदास्यो व्यावर्तिताः । अन्या वा गोप्यः संगृहीताः । व्रीडापूर्वको योयं सौहृद-निरीक्षणविशेषः तत्पूर्वको हासः तेन जुष्ट इति । त्रिविधो भावो निरूपितः तामससात्त्विकादिभेदेन ॥४८॥

व्याख्यार्थ—यदि प्रभु स्वयं धर्म, अर्थ और काम का आचरण कर स्वयं न दिखाते तो लोक में उनका आचरण कोई नहीं करता, अतः भगवान् ने मनुष्य नास्त्य कर स्वयं आचरण कर मनुष्यों को आचरण की शिक्षा दी है। मनुष्य रूप में सोलह हजार उत्तम स्त्रियों से लज्जा सौहृद से निरीक्षण तथा हास्य द्वारा सेवित हो रमण कर रहे हैं, इस प्रकार मनुष्य रूप में आकर लीला करते हुवे भी आप मूल रूप ही हैं। यह सिद्ध करने के लिये श्लोक में नारायण कहा है, जब आप नारायण ही हैं तो इस प्रकार मानव रूप क्यों धारण किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि, सकलों के उद्धार के लिये ही सब सात्त्विक शक्ति का धारण कर मनुष्य रूप से प्रकट हुवे हैं मनुष्य धर्माचरण में स्वतः स्वयं प्रवृत्त न होगे यदि धर्माचरण न करेंगे तो उद्धार न होगा, इसलिये आपने शिक्षार्थ स्वयं करके दिखाया है, हे अङ्ग ! यह सम्बोधन देकर बताया है कि इसमें किसी प्रकार प्रतारणा (ठगी) नहीं है यहां आठ पटराणियों का विवाद नहीं है, इसलिये नरकामुर के यहाँ से लाई हुई सोलह हजार अष्ट स्त्रियों को कहा है, 'वर' शब्द से वहा से लाई दासियों को पृथक् कर दिया है, अथवा अन्य गोपियों का संग्रह किया है, व्रीडा सहित जो यह सौहृद निरीक्षण पूर्वक हास उससे सेवित, अर्थात् उन षोडश सहस्र वराङ्गनाओं ने भगवान् की सेवा लज्जायुक्त प्रेम सहित निरीक्षण कर हास करते हुए की है, जिसमें तामस सात्त्विक राजस भेद से त्रिविध भाव निरूपण किया है ॥४८॥

आभास—एवं रमणमुपसंहृत्य लौकिकीयं लीला धर्मास्थिभिर्न श्रोतव्येति शङ्कां वारयितुं फलश्रुतिमाह यानीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार रमण का उपसंहार कर, अब यह लौकिकी लीला धर्मास्थियों को न सुननी चाहिये इस शङ्का का समाधान करने के लिये इसको सुनने का फल क्या होगा ? वह बताते हैं—

श्लोक—यानीह विश्वविलयोद्भववृत्तिहेतुः

कर्माण्यनन्यविषयाणि हरिश्चेकार ।

यस्त्वङ्ग गायति शृणोत्यनुमोदते

वा भक्ति लभेत भगवत्यपवर्गमार्गे ॥४९॥

श्लोकार्थ—विश्व की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय के कारण रूप हरि ने जो असाधारण कर्म किए हैं, वे दूसरा कोई नहीं कर सकता है अथवा समझो कि ये कर्म

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १४४ ॥

अपने लिए ही किए हैं, हे अङ्ग ! उन्हें जो मनुष्य गाते हैं, सुनते हैं और अनुमोदन करते हैं, वे मोक्ष मार्ग रूप भगवान् में भक्ति प्राप्त करते हैं ॥४४॥

सुबोधिनी—सर्वविश्वकर्मकरणे भगवतो हेतु-माह । विश्वस्य विलयः । उद्भव उत्पत्तिः, वृत्तिः स्थितिः, तेषां हेतुः । अत एवानन्यविषयाणि कर्माणि चकार । नान्यो जगदुत्पत्त्यादिहेतु-भंवति, लीलायां च नान्य प्रवेगयति, किन्तु स्वयमेव तत्र तत्राविष्ट तथा करोति । अतो नान्यो विषयः । विशेषलीलायाः प्रयोजनं हरिरिति । ।

अतो य एनां लीलां गायति, स्वत एवानन्देन कीर्तयति वा, अन्यैर्गीयमानां शृणोति, अमन्त्रि-हितो वा, कालान्तरे कथावमाने वा, अनुमोदते, श्रोतृवत्तृकथाः, सः भक्ति लभेत, भगवति पूर्ण-पुरुषे । भक्तेरन्यत्र विनियोगाभावायाह अपवर्ग-मार्ग इति । मोक्षे नान्यो मार्गोऽनीत्यर्थः ॥४५॥

व्याख्यान—भगवान् जो कुछ कार्य करते हैं उसमें कोई कारण होता है, अतः सर्व प्रकार के इतने कर्म करने में हेतु कहते हैं, प्रथम विश्व के संहार, उत्पत्ति और पालन इनका हेतु कहते हैं भगवान् ने वे कर्म किये जो अन्य नहीं कर सकते हैं अतः आप ही इनके कारण हैं दूसरा जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और संहार नहीं कर सकता है, जिससे दूसरा इनका कारण बन ही नहीं सकता है । लीला में दूसरे का प्रवेग नहीं कराते हैं, किन्तु स्वयं ही वहाँ वहाँ प्रविष्ट हो वैसी वैसी लीला करते हैं, अतः अन्य विषय नहीं है अर्थात् केवल भगवान् की लीला ही है, लीला कार्य है भगवान् कारण है । कार्य कारण से पृथक् वस्तु नहीं है, इसलिये यह सर्व लीला मात्र जगत् भी भगवद्रूप ही है, जिसका कारण भी भगवान् ही है, अतः कहते हैं कि विशेष लीला का प्रयोजन हरि है, अतः जो इस लीला का गान करता है स्वतः ही आनन्द से कीर्तन करता है और दूसरो से गाई हुई श्रवण करता है निकट वा दूर बैठ कर अथवा कालान्तर या कथा के अन्त में सुनता है वा श्रोता एवं वक्ता की कथा का अनुमोदन करता है वह पूर्ण पुरुष भगवान् में भक्ति को प्राप्त करता है, उस भक्ति का विनियोग भी मोक्ष मार्ग में होता है अर्थात् उस भक्ति से मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है, इस भक्ति के बिना मोक्ष की प्राप्ति का दूसरा मार्ग नहीं है ॥४५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीतक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे विशोध्यायः ॥२०॥

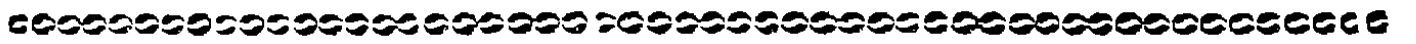
इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध (उत्तरार्ध) ६६वें अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय

अवान्तर प्रकरण का छठा अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।





इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

“नारद संशय”

राग धनाश्रो :—

हरि की लीला देखि नारद चकित भए ।
 मन यह करत विचार गोमती तट गए ॥

अनख निरंजन निराकार अच्युत अविनासी ।
 सेवन जाहि महेस सेस, सुर माया दासी ॥

धर्म स्थापन हेत पुनि, धारचौ नर औतार ।
 ताकौ पुत्र कलत्र सौ, नहिं संभवत पियार ॥

हरि के षोडस सहस, आठ पतिवर्ता नारी ।
 सबको हरि मौं हेन, सबै हरि जू की प्यारी ॥

जार्क गृह द्वै नागि हैं ताहि कलह नित होइ ।
 हरि विहार किहिं विधि करत नैननि देखौं जोइ ॥

द्वारावति रिषि पैठि, भवन हरिजू के आए ।
 आगे ह्वै हरि नारि सहित, चरननि सिर नाए ॥

सिंहासन बैठारि के, धोए चरन बनाइ ।
 चरनोदक सिर धरि कहुँ, कृपा करि रिषिराइ ॥

तब नारद हँसि कहुँ, सुनौ त्रिभुवनपति राई ।
 तुम देवनि के देव, देत हो मोहिं बड़ाई ॥

विधि महेस सेवत तुम्है, मै बपुरा किहिं माहिं ।
 कहै तुम्है प्रभु देवता, या मै अचरज नाहिं ॥

और गेह रिषि गए, तहाँ देखे जदुराई ।
 चँवर दुरावति नारि, करति दासी सेवकाई ॥

रिषि की आवत देखि हरि कियो बहुत सनमान ।
 ह्याँ हैं तैं नारद चले, करि ऐसी अनुमान ॥

जा गृह मै हौं जात जात, स्याम आगे ही आवत ।
 तातैं छाँड़ि सुभाव जाउ अबकैं मै धावत ॥

जहें नारद सम करि गए, तहें देखे धनस्याम ।
 बालनि सौं क्रीडा करत, कर जोरे खरी वाम ॥

जहाँ जहाँ रिषि जाइँ तहाँ तहें हरि कौ देखै ।
 कहै कछु लीला करत, कहै कछु लीला पेखै ॥

यो ही सब गृह मै गए, लह्यौ न मन विस्राम ।
 तब ताकौ व्याकुल निरखि हँसि बोले धनस्याम ॥



नारद मन कौ भरम तोहिँ एतौ भरमायौ ।
मैँ व्यापक सब जगत, बेद चारौ मोहिँ गायौ ॥

मैँ करता मैँ भोगता, मो बिनु और न कोइ ।
जो मोकौँ ऐसौ लखै, ताहिँ भरम नहिँ होइ ॥

बूझौ सब गृह जाइ, सबै जानत मोहिँ यौँ ही ।
हरि कौँ हमसौँ प्रीति, अनत कहूँ जात न क्यौँ ही ॥

मैँ उदास सब सौँ रहौँ, यह मम सहज सुभाइ ।
ऐसौ जानै मोहिँ जो, मम माया तरि जाइ ॥

तव नारद कर जोरि कह्यौ, तुम अज अनंत हरि ।
तुम से तुम ही ईस नहीँ द्वितीया कोउ तुम सरि ॥

तुव माया तुव कृपा बिनु, सकै नहीँ तरि कोइ ।
अब मोकौँ कीजै कृपा, ज्यौ न बहुरि भ्रम होइ ॥

रिषि चरित्र मम देखि, कछु अचरज मति मानौ ।
मो तैँ द्वितीया और कोउ मन माहँ न आनौ ॥

मैँ करता मैँ भोगता, नहिँ या मैँ कछु संदेह ।
मेरे गुन गावत फिरौ, लोगनि कौ सुख देहु ॥

नारद करि परनाम, चले हरि के गुन गावत ।
बार बार हरि रूप ध्यान, हिरदै मैँ ध्यावत ॥

यह लीला अचरज की, सूरदास कही गाइ ।
ताकौँ जो गावै सुनै, सो भव जल तरि जाइ ॥



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥ .
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वासुदेवतिचरणकमलेश्वर्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

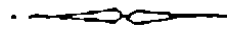
श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७०वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ६७वां अध्याय
उत्तरार्ध २१वां अध्याय

सात्त्विक-प्रमेय-अवान्तर-प्रकरण

“सप्तम अध्याय”

भगवान् श्रीकृष्ण की नित्यचर्या और उनके पास जरासन्ध के
कैदी राजाओं के दूत का आना



कारिका—सात्त्विकानां निरोधे तु प्रमेयबलतः पुरा ।

षड्भिः सर्वे निरुद्धास्ते साधनेनोच्यतेऽधुना ॥१॥

कारिकार्थ—पहले ६ अध्यायों से सात्त्विकों का निरोध प्रमेय बल से भगवान् ने
किया, अब इस अध्याय में साधन से करेंगे, जिसको कहा जाता है ॥१॥

कारिका—षड्भिरेव तथाध्यायैर्धर्मोऽत्र भगवत्कृतः ।

कारितश्च द्विरूपो हि वर्ण्यतेऽन्यनिषेधेन ॥२॥

कारिकार्थ—निरोध प्रकरण में छः अध्यायों से करया हुआ भगवत्कृत धर्म दो
रूपों से अन्य का निषेध करते हुए वर्णन किया है ॥२॥



आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने छः अध्यायों में प्रमेय बल का आश्रय कर अर्थात् प्रमेय बल द्वारा सबको अपनाया, अब धर्मादि साधनों से अपनाते है अर्थात् निरुद्ध कर अपनी शरण में लेते है, वहाँ पहले भगवान् के आह्निक धर्म का निरूपण किया जाता है, पश्चात् धर्म परायण के जो कृत्य हैं, वे काल निमित्तक हैं, अरुणोदय तक सर्व पूर्वोक्त कृत्य 'अथोषसि' श्लोक से निरूपण करते है—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—अथोषस्युपवृत्तायां कुक्कुटान् कूजतोऽशपन् ।

गृहीतकण्ठ्यः पतिभिर्माधव्यो विरहातुराः ॥ १॥

श्लोकार्थ—गले में बाँह डाल पतियों से आलिङ्गन की हुई श्रीकृष्णचन्द्र की पत्नियाँ उषा काल होते ही मुर्गों के शब्द सुन समझने लगी कि अब प्यारे उठ जायेंगे, अतः विरह होगा, जिससे आतुर हो उन मुर्गों को शाप देने लगी ॥ १॥

सुबोधिनी—अवान्तरप्रकरणभेदप्रतिपादको-
ऽयनशब्दः । उषसरुणोदये । उपवृत्तायामार-
ब्धप्राये । चतस्रो घटिकाः प्रातररुणोदय उच्यत
इति धर्मार्थकामानां आवृत्तिर्भगवता क्रियत इति
जापयितुं कामपराणां स्त्रीणां धर्मासहिष्णुत्वमाह
कुक्कुटान् कूजतोऽशपन्निति । तत्र हेतुः । पतिभिः
कृष्णैर्गृहीतकण्ठ्यः । ननु गार्हस्थ्यं भोजनवत्
भोगस्यापि नियतत्वात् प्रातःकालसूचककुक्कुट-

शापः कथमिति जेतुं । तत्राह विरहातुरा इति ।
तत्र हेतुः माधव्य इति । माधवस्य स्त्रियः ।
मायाधव इति स्वस्त्रिभूषमात्रेणैव लक्ष्म्याः सम्ब-
न्धसम्भवात् । अतो विरहः सम्भावित इति,
प्राप्तफलानां साधने द्वेषो युक्त इति । भगवत्कृत-
धर्मस्य च सात्त्विकनिरोधपरत्वात्सम्बद्धानामि-
च्छामात्रेणैव निरोधः सिद्ध इति कुक्कुटशापो
युक्तः ॥ १॥

व्याख्यार्थ—यहाँ श्लोक में 'अथ' शब्द अवान्तर प्रकरण में भेद का प्रतिपादन करने वाला है, प्रातःकाल की चार घड़ी अरुणोदय है, जिसका अब प्रारम्भ हुआ है, अतः भगवान् धर्म, अर्थ और काम धर्म की आवृत्ति करते हैं अर्थात् आह्निक कर्म करना प्रारम्भ करते हैं, जिससे भगवान् उठ रहे हैं, यह प्रभु का धर्म कार्य काम परायण स्त्रियाँ सहन न कर सकी, अतः शब्द करने वाले कुक्कुटों (मुर्गों) को शाप देने लगी, इसका कारण यह था कि उस समय वे गले में बाँह डाल पतियों से आलिङ्गन की हुई थीं, वे समझ गईं कि कुक्कुटों ने शब्द कर प्रातःकाल की सूचना दी है । अब प्यारे उठेंगे तो हमको विरह से व्याकुल होना पड़ेगा, जिससे शाप दिया । भोजन की तरह गृहस्थ धर्म में भोग का भी समय नियत होने से कुक्कुटों ने शब्द कर प्रातःकाल की सूचना दी, जिसमें कुक्कुटों ने कौनसा दोष किया, जो उनको शाप दिया । उनका दोष यह हुआ कि इनके शब्दों से माधव की स्त्रियों को विरह दुःख सहना पड़ा । इन पत्नियों ने समझा कि श्रीकृष्ण लक्ष्मीजी के पति हैं, अब हमसे पृथक् होते ही लक्ष्मी से सम्बन्ध होगा । हमको विरहाग्नि में जलना पड़ेगा । जिसका कारण कुक्कुटों की ध्वनि है, यही दोष कुक्कुटों का है, अतः उनको शाप दिया । अपने को जो फल मिल रहा है, वह यदि दूसरे को मिले और उसके मिलने में जो साधन होगा, उससे द्वेष होना उचित है यों और भगवत्कृत धर्म सात्त्विकों के निरोध के परायण होने से जो उससे सम्बन्धित



होते हैं, उनका निरोध इच्छा मात्र से ही सिद्ध हो जाता, इसलिए कुक्कुटों को शाप देना योग्य है ॥१॥

आभास—ननु कुक्कुटादयो वा किमिति भगवदनभिप्रेतं कुर्वन्तीत्याशङ्क्यामामाह वयांस्यरुहवन्निति ।

आभासार्थ—कुक्कुटादि भगवान् अनभिप्रेत क्यों करने लगे ? इन शङ्का के होने पर कहने हैं—

श्लोक—वयांस्यरुहवन् कृष्णं बोधयन्तीव बन्दिनः ।

गायत्स्वलिष्वनिद्रारिः मन्दारवनवायुभिः ॥२॥

श्लोकार्थ—मन्दार वन के वायु से आनन्दित भ्रमरों के गान करने पर, जगे हुए पक्षी भी वन्दियों की तरह श्रीकृष्ण को जगाने के लिए शब्द करने लगे ॥२॥

सुबोधिनी—वदसामपि पक्षिणां भगवत्त्वाव-
ण्यामृतप्राप्तिरभीष्टेति स्वार्थमेते बोधयन्ति ।
तथा सत्यपराधो भवेदिति शङ्का वारयितुं दृष्टा-
न्तमाह बन्दिन इवेति । तेन प्रबोधने अधिकृता
अपि पक्षिण इति सूचितम् । ननु बहिरङ्गा एते
भगवदभिप्रायमजात्वा कथं नित्यं बोधयन्तीत्या-
शङ्क्यामामाह गायत्स्वलिष्विति । ये ह्यन्तरङ्गाः

अलया भगवदभिप्रेतं ज्ञात्वैव गायन्ति । न च
स्वभावादेव वयांस्यरुहवन्नित्याशङ्कनीयम् । यतः
अनिद्रारिणः । तत्रापि निद्राभावः सहेतुक इत्याह
मन्दारवनवायुभिरिति । आमोदेनाकृष्टचित्तानि
देवताधिष्ठानाच्च साक्षाद्भोगेऽप्यशक्तानि । अतः
आकाङ्क्षाया विद्यमानत्वात् अनिद्राप्येव ॥२॥

व्याख्यान—ये पक्षी भी अपने स्वार्थ के लिए भगवान् को जगाते हैं, इनकी भी इच्छा थी कि
कृष्ण जगे तो हम उनके लावण्यामृत का पान करें, यों स्वार्थ के लिए तो करते हैं तो भी अपराध तो
होगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'बन्दिन इव' जैसे वन्दीगणों को राजा के जगाने का
अधिकार मिला हुआ होता है वैसे इन पक्षियों को भी जगाने का अधिकार था, यह इस दृष्टान्त से
सूचित किया है । ये पक्षी तो बहिरङ्ग हैं जब इनको भीतर का अधिकार नहीं है तब भगवदभिप्राय न
जानकर कैसे नित्य शब्द कर जगाते हैं ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि जो अन्तरङ्ग भ्रमर है वे
भगवान् के अभिप्राय को जानकर ही जब गाते हैं, जब ये जगते हुए पक्षी भी उनकी गुञ्जार सुन कर
शब्द करने लगते हैं न कि स्वतः स्वभाव से पक्षी शब्द करते हैं । जगने के कारण भ्रमरों की गुञ्जार
समझते हैं, कि रात्रि सम्पूर्ण हो गई प्रातः काल हुआ है अतः शब्द करना चाहिये, मन्दार वन की
वायु के आमोद से आकृष्ट चित्त होने से ही पक्षियों को नीद न थी, देवता के अधिष्ठान होने से साक्षात्
भोग में भी अशक्त थे, अतः आकाक्षा के विद्यमान होने से जगे हुए ही थे ॥२॥

आभास—एतत्सर्वस्त्रीणां न भविष्यतीत्याशङ्क्य मुख्याया रुक्मिण्या अप्येतदित्याह
सूहृत्तमिति ।



आभासार्थ—यह समस्त स्त्रियों को न हुआ होगा ? इस शङ्का को दूर करने के लिये, 'मुहूर्त' श्लोक में कहते हैं रुक्मिणी को भी हुआ—

श्लोक—मुहूर्तं तं तु वैदर्भी नामृष्यदतिशोभनम् ।
परिरम्भणविश्लेषात्प्रियबाह्वन्तरं गता ॥ ३॥

श्लोकार्थ—प्यारे के भुजान्तर्गत रुक्मिणी ने, प्यारे से अब विग्रह होगा, यों जान-कर इस उत्तम ब्राह्म मुहूर्त को उत्तम न माना ॥ ३॥

सुबोधनी—तं प्रमिद्धं ब्रह्मसम्बन्धिनम् । नुण्वदेनान्यथापक्ष आवर्तयति । ननु लक्ष्म्या अवतारः कथमेवमवददित्याह वैदर्भीति । दर्भा- भावेन कर्मराहित्यमुक्तम् । अतिशोभनमपि सर्वो-	द्वोधकत्वात्सर्वपुरुषार्थसाधकत्वाच्च । तथापि नामृष्यत् । तत्र हेतुः फलानुभव इत्याह प्रिय- बाह्वन्तरं गतेति । तादृश्या परिरम्भणविश्लेषः अनङ्गीकारे हेतुः ॥ ३॥
--	---

व्याख्यार्थ—ब्रह्म ने सम्बन्ध रखने वाले उस सुन्दर समय को 'तु' शब्द से अन्यथा पक्ष का निवारण करते हैं, रुक्मिणी लक्ष्मी का अवतार है वह यों कैसे कहती है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि लक्ष्मी का अवतार होते हुए भी 'वैदर्भी' है अर्थात् विदर्भ देश में उत्पन्न हुई है, उस देश में कर्म की मुख्य वस्तु दर्भों का अभाव होता है जिससे रुक्मिणी में कर्म निष्ठा का अभाव होने से जो सर्व को जगाने वाला तथा सर्व पुरुषार्थ साधक है ऐसे अति पवित्र सुन्दर समय को भी रुक्मिणी ने सुन्दर न समझा कारण कि प्यारे की भुजाओं के अन्तर्गत हो फल का अनुभव कर रही थी, अब यह समय इस फलानुभव से वञ्चित करेगा, अतः यह उत्तम नहीं है ॥ ३॥

आभास—एवं सर्वासामनभिप्रेतत्वे तद्वश्यश्चेद्भगवानपि नोत्तिष्ठेदिति तन्निराकर-
णार्थं भगवत उत्थानपूर्विका सर्वा क्रिया निरूपयति ब्राह्म मुहूर्ते इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार यह ब्राह्म मुहूर्त श्रीकृष्ण की सर्व स्त्रियों को अच्छा न लगा, अतः यदि भगवान् स्त्रियों के आधीन होते तो वे भी न उठते, इसका निराकरण करने के लिये भगवान् ने उठकर जो क्रियाएँ की उन सब का 'ब्राह्म मुहूर्त' श्लोक में निरूपण करते हैं—

श्लोक—ब्राह्मे मुहूर्तं उत्थाय वायुं पस्पृश्य माधवः ।
दध्यौ प्रसन्नकरण आत्मानं तमसः परम् ॥ ४॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णचन्द्र ने ब्राह्म मुहूर्त में उठकर पहले आचमन किया, फिर प्रसन्न चित्त होकर तम से परे जो आत्मा उसका ध्यान किया ॥ ४॥

रोतीति । मधुवंशे चावतीर्ण इति । यथैषा
लीला, तथा ध्यानमपीत्यर्थः । प्रसन्नानि करणानि
इन्द्रियाणि यस्येति शुद्धसत्त्वस्य सर्वत्राविर्भावः
सूचितः । तत आत्मानमेव दध्या । 'अथ योऽन्यां
देवतामुपास्त' इति आत्मातिरिक्तदेवतायाः ध्या-
ननिषेधात् । नन्वात्मन प्रत्यक्षस्य स्फीतालोक-
वर्तिवद्वत् प्रकाशमानस्य किं ध्यानेनेत्याशङ्क-
याह तमसः परमिति । कालस्याप्यग्रे तमस्ति-
ष्ठति, तस्याग्रे भगवान् । स एव तमोगुण इति
केचिन् । सत्त्वगुणो वह्निगवर्गमिव ॥४॥

भगवान् तो परमानन्द स्वरूप ही हैं अतः उनमें अन्तःकरणादि का अभाव है, फिर ध्यान कैसे किया होगा ? जिसके उत्तर में कहने हैं कि 'माधव.' लक्ष्मी शक्ति का इस समय स्वीकार किया है, और मधुवंश में अवतार लिया है, जैसे यह सब लीला है वैसे ध्यान भी लीला ही है, प्रसन्न इन्द्रिय वाले थे, यों कहकर सूचित किया है कि, सर्वत्र शुद्ध सतो गुण का आविर्भाव हुआ है, इस कारण से आत्मा का ही ध्यान किया क्योंकि आत्मा से अतिरिक्त देवता के ध्यान का 'योऽन्या देवतामुपासत' यह श्रुति निषेध करती है ।

आभास—सर्वस्यैवात्मत्वात् सर्वोपासकानामात्मोपासकत्वमाजङ्ग्य केवलमात्मोपासकत्वसिद्धयर्थं आत्मानं विशिनष्टि एकमिति ।

श्लोक—एकं स्वयंज्योतिरनन्यमव्ययं स्वसंस्थया नित्यनिवृत्तकल्मषम् ।

ब्रह्माख्यमस्योद्भवनाशहेतुभिः स्वशक्तिभिर्लक्षितभावनिवृत्तिम् ॥५॥

चेति वा । अनेन प्रपञ्चकर्ता प्रपञ्चग्रहितश्चेति विरुद्धसर्वधर्माध्ययत्वेन निरूपितम् । अनेन वा वैराग्यम् । ब्रह्माख्यमिति धर्मी । आत्मत्वेन सर्वत्र भेदनिराकरणार्थं पञ्चभेदनिराकरणार्थं वा एकपदम् । प्रमाणा भावाय स्वयंज्योतिष्टुम् । अनन्यत्वं भिन्नधर्मनिराकरणाय । अव्ययत्वं ब्रह्मधर्माणां नित्यत्वाय । साङ्ग्यादिमते अब्रह्मधर्मा एव ब्रह्मणि समागत्य गच्छन्तीति तन्निराकरणार्थमेतदवश्यं वक्तव्यम् । स्वरूपस्थितिश्च संसारात्मवदविद्यानिराकरणाय । नित्यपदेन ज्ञानानन्तरनिवृत्तिनिराकृता । ब्रह्मपदेन सर्वश्रुतिममन्वयः । सर्वेषां बन्धमोक्षदातृत्वाय विरुद्धधर्माः । ५॥

व्याख्यार्थ—छ ऐश्वर्यादि गुणों से युक्त वह आत्म स्वरूप ब्रह्म ही है। यों कहने के लिये आत्मा के सात विवेक्षण बहे जाते हैं— १- एक है, यों कहकर बताया कि उसको किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि स्वयं 'ऐश्वर्य' गुण वाला है। २- 'स्वयं ज्योति' स्वयं ही प्रकाशमान स्वरूप है। इससे आपमें अलौकिक वीर्य गुण है यह सूचित किया है। ३- 'अनन्य' है आपके समान गुणावन् कोई अन्य नहीं है इससे 'कीर्तिगुण' का सूचन किया है। ४- 'अव्यय' आपमें कभी भी विकार उत्पन्न ही नहीं होता है नित्य एक रस होने से 'श्री गुण' का सूचन किया है, ५- अपने स्वरूप में स्थिति से ही जिसके कल्मषादि नित्य के लिये निवृत्त हुए हैं। ६ जिसका 'ब्रह्म' नाम है जिससे दिखाया है कि प्रापञ्चिक सर्व पदार्थों से आत्मा विलक्षण है। इससे वैराग्य गुण सूचित किया है, आत्मा के धर्म स्वरूप का वर्णन कर अब धर्मी स्वरूप को कहते हैं, 'जन्माद्यस्ययतः' इस सूत्र के न्याय से, इस जगत् की उत्पत्ति में सत्तोगुण हेतु है, नाश में तमोगुण हेतु है, स्थिति में रजोगुण हेतु है, ये तीन ही शक्तियां अपनी अर्थात् आत्मा की हैं, उन हेतुओं से लक्षित सात्विक आदि भाव अन्तःकरण के हैं। उन भावों की आत्मा में निवृत्ति है, अथवा भावों के सहित जो आनन्द है, उससे आत्मायुक्त है, इस प्रकार दोनों पक्ष कहकर सिद्धान्त बताया है कि आत्मा विरुद्ध धर्माश्रयी होने से प्रपञ्चकर्ता और प्रपञ्च रहित भी है अतः धर्मी स्वरूप का निरूपण किया है, अथवा इससे^२ वैराग्य कहा है, ब्रह्म नाम

१- वृद्धि में २- इस पाठ में वैसे भाव वाले होने से ब्रह्म में प्रपञ्च कर्त्ता बन है 'निर्वृत्तपन प्रपञ्च राहित्य' कहा है—



से धर्मों का सूचन किया है आत्मपन से सर्वत्र भेद का निराकरण किया है । 'एक' पद कह कर पांच धर्मों के भेद का निराकरण किया है । प्रमाण के अभाव के लिये 'स्वयं ज्योतिषत' कहा है । 'प्रनन्य-पन' भिन्न धर्मों के निराकरण के लिए कहा है । 'अव्यय' पद से ब्रह्म धर्मों को नित्यता दिखाई है । साङ्ख्यादिकों के मत में जो ब्रह्म के धर्म नहीं हैं, वे भी ब्रह्म में आ जाते हैं, इस सिद्धान्त के निराकरण के लिये यह 'अव्यय' विशेषण अवश्य कहना चाहिए । 'स्वरूप स्थिति' इसलिए कही है, जो उससे संसारी आत्माओं की अविद्या नष्ट होती है । 'नित्य' पद से ज्ञान के अनन्तर निवृत्ति का निराकरण किया है । 'ब्रह्म' पद से सर्व श्रुतियों का समन्वय किया है, सब को बन्ध मोक्ष देने वाले होने से आप विरुद्ध धर्म वाले कहे गए हैं ॥५॥

आभास—एवं भगवत्त्वं भावयित्वा तत्कार्यं च स्वनिष्ठः सन्नपि तां निष्ठां परित्यज्य वहिर्धमनिव अन्तस्तथाभूतोऽपि भिन्नप्रक्रमेण कृतवानित्याह अथेति ।

आभासार्थ— इस प्रकार भगवत् पन को धारण कर उसका कार्य स्वनिष्ठ होते हुए भी उन निष्ठा का त्याग कर भीतर बंसे होते हुए भी भिन्न प्रक्रम से लोक शिक्षार्थ धर्मों का ही करने लगे, जिनका वर्णन 'अथाप्नुतो' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—अथाप्नुतोऽम्भस्यमले यथाविधि क्रियाकलापं परिधाय वाससी ।

चकार संध्योपगमादि सत्कृतो हुतानलो ब्रह्म जज्ञाप वाग्यतः । ६॥

श्लोकार्थ—जिस स्वरूप का ध्यान करते थे, वह स्वरूप स्वयं ही हैं, तो भी लोक शिक्षा के लिए ही धर्मों को बाहर कर दिखलाते हैं । पवित्र जल में स्नान कर शुद्ध हो वस्त्र धारण किया । अनन्तर मौन हो सन्ध्यावन्दनादि क्रिया की, पश्चात् अग्नि-होत्र होम किया, शान्त होकर जप करने लगे ॥६॥

सुबोधिनी—अम्भसि आसुत इति । गोम-
त्यादाववगाह्य स्नानम्, नतूद्धृतजलैः । अमले
वाससी परिधायेति विशेषणविशेष्ययोर्दूरे सम-
न्वयः । स्नानेऽपि रात्रिवासःपरित्यागेनामले
वाससी परिधाय पुनः स्नात्वामलवाससोः परि-
धानमाह । यथाविधीति स्नानपरिधानयोः
क्रियाकलापे चान्वेति । क्रियाकलापमेव विशेषे-
णाह संध्योपगमादीति । वाग्यत इति सन्ध्यायां

मौनं कर्माङ्गत्वेनैव कृतवानिति ज्ञापयति ।
अर्घ्यदानान्ता सन्ध्या, ततोऽग्निहोत्रहोमः, ततो
ब्रह्मजपः गायत्रीमन्त्रजपः । सत्कृत इति तिल-
कावश्यकभूषणादिपरिधानमुक्तम् । एवमेव कृतः
धर्मो भवतीति क्रमविधाने निरूपिते । अरुण-
करग्रासात्पूर्वं ध्यानम्, अरुणकरग्रासे स्नानम्,
ततः सन्ध्या अर्घ्यान्ता, ततोऽग्निहोत्रम्, ततो
जपः सूर्योदयावधि ॥६॥

व्याख्यार्थ—गोमती आदि नदियों में डुबकी मारकर स्नान करना चाहिये, न कि नदी से जल बाहर निकाल उससे स्नान करना चाहिये, अतः नदी में भीतर जाकर डुबकी लगा के स्नान करने के अनन्तर, शुद्ध हो वस्त्र धारण कर लिए, यहां 'अमले' विशेषण 'वाससी' विशेष्य का है, यों तो 'अमले'

और 'अम्भसि' साथ में है किन्तु 'अमले पद' 'अम्भसि का विशेषण नहीं है इसलिए आचार्य श्री ने विशेषण विशेष्ययोर्दूरे समन्वयः' पंक्ति कहकर बता दिया है कि दूर होते हुए भी 'अमले' विशेषण का 'वाससी' विशेष्य से समन्वय है, स्नान करते समय भी रात्रि में पहने हुए वस्त्रों का त्याग कर शुद्ध वस्त्र पहनने चाहिये। स्नान के बाद पुनः अन्य शुद्ध वस्त्र धारण करने चाहिये अतः प्रभु ने लोक जिश्नार्थ यो ही किया। रात्रि के पहने हुए वस्त्रों को त्याग, धुले हुए वस्त्रों को पहन स्नान किया स्नानानन्तर शुद्ध हो, वस्त्र धारण कर सर्व सन्ध्यावन्दनादि क्रिया कलाप करते समय मौन रखा, क्योंकि मौन कर्माङ्ग है अन्यथा अङ्ग विच्छिन्न से कर्ममाङ्ग सिद्ध नहीं होता है। अर्घ्यदान तक सन्ध्या है पश्चान् 'अग्निहोत्र' होम है वह किया, बाद में गायत्रीमन्त्र का जप किया। जप के अनन्तर निनक यदि आवश्यक भूषणादि से अपने को सुसज्जित किया। इस प्रकार ही किया हुआ 'धर्म' धर्म होता है जो क्रिया कर कर्म करने का क्रम और विधान दोनों बताये। अरुणों की किरणों के ग्रास होने से प्रथम ध्यान करना चाहिए, उनके ग्रास होने के बाद स्नान करना उचित है पश्चान् अर्घ्य पर्यन्त सन्ध्या करनी चाहिए, अनन्तर 'अग्निहोत्र' कर जब तक सूर्योदय हो तब तक जप करना चाहिये। ६॥

आभास—उदिते सूर्ये तूपस्थानम्, तदाह उपस्थायाकमुद्यन्तमिति ।

आभासार्थ—सूर्य के उदय होने पर 'उपस्थान' करना चाहिए, यह 'उपस्थायाकमुद्यन्त' श्लोक ने कहते हैं—

श्लोक—उपस्थायाकमुद्यन्तं तर्पयित्वात्मनः कलाः ।

देवानृषीन् पितृऋन् वृद्धान् विप्रानभ्यर्च्य चात्मवान् ॥७॥

श्लोकार्थ—उदय हुए सूर्य का उपस्थान कर आत्मवान् भगवान् ने अपनी कला-हय देव, ऋषि, पितर, वृद्ध और ब्राह्मणों का पूजन किया ॥७॥

सुबोधिनी—ततो देवर्षिपितृतर्पणमाह आत्मनः कलास्तर्पयित्वेति । 'ऋषयो मनवो देवा' इति वाक्यात् भगवत्कला एव । यथा अवयवादोनां पुष्ट्यर्थमवयविना यत्नः क्रियते, एवं कलानां पोषार्थं यत्नः, न तूपास्यत्वेनेति जापनार्थं कलापदम् । 'ततः प्रभृति पूज्यन्त' इति वाक्यात् लोकशिक्षापरत्वेनापि सिध्यति । सप्तम इति

पाठे सप्तमो भगवान् षड्विधं देशादिनिरूपितं धर्मं कृतवानिति सूचितम् । कला एव गणयति देवानृषीन्पितृऋनिति । वृद्धान् स्वजातीयान् क्षत्रियान्, विप्रान् सर्वानेव । एतेषामभ्यर्चनं गन्धादिभिः । आत्मवानिति । निष्कामत्वमुक्तम् । कामनयाप्येतेषां पूजनसम्भवात् । अग्रेऽप्येतद्विशेषणं सम्बध्यते ॥७॥

व्याख्यार्थ—'आत्मनः कलास्तर्पयित्वा' इससे देवर्षि पितृ' तर्पण कहते हैं— 'ऋषयो मनवो देवाः' इस शास्त्र वाक्यानुसार ये भगवान् की कला ही हैं जैसे अवयवों अवयव आदि की पुष्टि के लिए



यत्न करता है प्रभु का भी कलाओं के पुष्ट करने के लिए यह यत्न है । 'कला' पद देकर यह बताया है, कि यह मेरा कर्म इनकी उपासना नहीं है, किन्तु इनका पोषण है क्योंकि मैं अवयवी कलाधारी हूँ अतः मुझे अपनी कलाओं का पोषण करना आवश्यक है । 'ततः प्रभृति पूज्यते' इस वाक्य से यह भी सूचित किया है, कि यह कर्म लोक शिञ्जार्थ है यों भी सिद्ध होता है, यदि 'सप्तम' यों पाठ माना जाय तो जिसका अर्थ इस प्रकार करना चाहिये, कि सातवां धर्मो भगवान् है, जिन्होंने देशादि निरूपित षड्विध धर्म किए, इस 'सप्तम' पद से इस प्रकार के अर्थ को सूचित किया है, भगवत्कलाओं को गिनते हैं । देवान्, ऋषीन्, पितृन्, वृद्धान् (स्वजातीयान् क्षत्रियान्) विप्रान् सर्वानेव, इनका गन्ध आदि से पूजन किया, 'आत्मवान्' पद से भगवान् की निष्कामता प्रकट की है अर्थात् यह सर्व कर्म कामना रहित होकर किया है, यों कहने का कारण यह है कि इनका पूजन कामना से भी होता है, इस विशेषण का आगे भी सम्बन्ध है ॥७॥

आभास—ततो गोदानस्य नित्यत्वात्प्रत्येकापेक्षया समुदायस्योत्कृष्टत्वात् समुदाये अलङ्करणं न सम्भवतीति विचार्य अलङ्कारगुणान्निरूपयन् दानमाह धेनूनामिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—गौ का दान प्रति दिन करना चाहिए, एक गौ के दान की वजाय समुदाय का दान उत्तम है, किन्तु समुदाय दान में शृङ्गार कराना (बनाना) कठिन है, यह विचार कर अलङ्कारों के गुणों का निरूपण करते हुए 'धेनूनां' 'ददौ' इन दो श्लोकों से दान का वर्णन करते हैं —

श्लोक—धेनूनां स्वमशृङ्गीणां साध्वीनां मौक्तिकस्रजाम् ।

पयस्विनीनां गृष्टीनां सवत्सानां सुवाससाम् ॥८॥

ददौ रूप्यखुराग्राणां क्षौमाजिनतिलैः सह ।

अलंकृतेभ्यो विप्रेभ्यो बद्धं बद्धं दिने दिने ॥९॥

श्लोकार्थ—सुवर्ण के शृङ्गों वाली, शान्त स्वभाव वाली, मुक्तामालाओं वाली, दूध वाली, प्रथम ही ब्याही हुई, वत्सों सहित, सुन्दर वस्त्रों से सुसज्जित, रूपे के खुरों वाली गौ, जो भी गोष्ठ में बँधी हुई थीं, वे सब नित्य अलङ्कृत ब्राह्मणों को दान में देते थे और साथ में रेशमी वस्त्र और तिल भी दान में देते थे ॥८-९॥

सुबोधिनी—आदौ गावः सवत्साः दोग्ध्रचः । एतादृश एव समुदाय इति पशूनां भाग्यातिशयो निरूपितः, न हि द्वारकायां कश्चिद्विसहशादृष्टो भवतीति ज्ञापनार्थमुक्तम् । अन्यथा धेनूनां बद्धता न सम्भवेत् । स्वममये सुवर्णमये शृङ्गे यासाम् । रौप्यमयाः अङ्घ्रयो यासां प्रत्येकम् । मुष्टं

वाससी प्रत्येकं यासाम् । साध्व्यः शान्तस्व-भावाः । पयस्विन्यः बहुदोग्ध्रचः, गृष्ट्यः सकृत्प्रसूताः । सर्वासां जीवद्वत्सत्वाय सवत्सानामित्युक्तम् । मौक्तिकानां स्रजो माला यासाम् । पूर्वार्धविशेषणमेतत् । एतादृशी गाः ददौ दान-क्रियाणां समुदाये वद्धसङ्ख्या सम्बध्यत इति

केचित् । समुदाय एव दानमित्यपरे । क्षौमाजि-
नतिलानां सहभावः शास्त्रीयः । तदैकमेव विशिष्टं
दानं भवति । अलंकृतेभ्यो विप्रेभ्य इति देयसम-
सङ्ख्या ब्राह्मणानां निरूपिता । गोसमसङ्ख्या
वृद्धसमसङ्ख्या वा । वृद्धं वृद्धमित्येव पाठः ।
वृद्धं वृद्धमिति वैदिकः शब्दः, स नात्रानुसन्धेयः ।
तत्रापि वृद्धशब्दो वृद्धपर्यायः । चतुरशोत्यग्रसह-

स्राणि त्रयोदशेति केचित् । तन्नत्रमे विचारितं
निराकृतं च । तस्माद्गोष्ठपर्यायो वृद्धशब्दः । अत्र
च विशेषसङ्ख्या उपयोगाभावः । अयुतलक्षादी-
नामेव नित्यदाने उपयोगाच्च । दिने दिने, न तु
गार्हस्थ्ये । नापि वर्षे प्रतिगृहमिति । उपक्रमे
बहुवचनस्योक्तत्वादध्यवसेयम् ॥८-९॥

व्याख्यार्थ—गोष्ठ में जो गौ थी, वे सब बछड़ों वाली तथा दूध देने वाली थी, इससे पशुओं के
विशेष आग्य का निरूपण किया है तथा इसलिए भी यों कहा है कि द्वारका में कभी भी कोई अनुचित
जड़ष्ट्र नहीं होता है यों न कहते तो गौओं की वृद्धता नहीं बन सकती, गौओं के गुणों का वर्णन करते
हैं, गौओं के सोने के सींग थे, चान्दी के खुर थे, सुन्दर बल्ल थे, और उनका स्वभाव शान्त था, उनमें
बहुत दूध था एवं वे पहली बार ही व्याही थी, सबके बछड़े जीते थे इसलिए उनको बछड़ों वाली कहा
हैं, गले में मोतियों की माला पड़ी थी, यह पूर्वार्ध का विशेषण है, ऐसी गौ भगवान् ने दान में दी,
कोई कहते हैं कि दान क्रियाओं के समुदाय से वृद्ध संख्या का सम्बन्ध है, दूसरो का कहना है कि समु-
दाय का ही दान है, पट बल्ल और तिलों का दान गौ दान के साथ करना शास्त्रीय पद्धति है । तब एक
ही उत्तम दान हो जाता है, केवल अलङ्कृत ब्राह्मणों को कहा, उनकी सङ्ख्या न कही, जिसका
आशय है गौओं के समान ब्राह्मणों की भी सङ्ख्या थी, गौ के समान सङ्ख्या अथवा वृद्ध समान
सङ्ख्या ब्राह्मणों की कही, 'वृद्ध' वृद्ध' यह ही पाठ है 'वृद्ध' वृद्ध' यह वैदिक शब्द है, वह यहां नहीं
लेना चाहिए, वहां (वेद में) भी 'वृद्ध' शब्द 'वृद्ध' पर्याय है, कोई कहते हैं कि तेरह सहस्र ८८ गौ दान
की है जिसका नवम में विचार कर निराकरण किया है, इससे वृद्ध गोष्ठ वाचक है, यहां विशेष
सङ्ख्या कही है, इसके उपयोग का अभाव है कारण कि नित्य दान में अयुत लक्षादि के दान का
उपयोग है, प्रति दिन उपयोग है, गार्हस्थ्य में नहीं है तथा प्रत्येक गृह वर्ष में भी नहीं आ सके, अतः
उपक्रम में बहुवचन कहने से यों ध्यान में लेना चाहिये ॥८-९॥

आभास—ततो नमस्कारादिकमाह गोविप्रेति ।

आभासार्थ—दानान्तर प्रणाम किया, जिसका वर्णन 'गो विप्र देवता' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—गोविप्रदेवतावृद्धगुरुन् भूतानि सर्वशः ।

नमस्कृत्यात्मसम्भूतीर्मङ्गलानि समस्पृशत् ॥१०॥

श्लोकार्थ—गौ, ब्राह्मण, देवता, वृद्ध और भूतों को अपने से उत्पन्न विभूति जान-
कर नमस्कार की, अनन्तर मङ्गल पदार्थों को स्पर्श किया ॥१०॥



सुबोधिनी—गावो हविविप्रा मन्त्राः देवताश्च त्रितयं मिलितं यागो भवतीति क्रमो निरूपितः । यथा स्वयं स्वपादक्षालनं करोति, तद्वदित्यर्थः । वृद्धाः सर्वे सभासदः । गुरवः कर्मोपदेष्टारः । ततो मङ्गलानि सम्यगस्पृशन्तु । गोहिरण्यादीनि सर्वश इति शिष्यप्रशिष्यादिसहितान् । एतेषां मङ्गलानि ॥१०॥ नमस्कारे हीनता भवतीति शङ्कां निवारयति ।

व्याख्यानार्थ—गौ हवि और विप्र तथा मन्त्र एवं देवता, ये तीनों मिल याग होता है, इस प्रकार क्रम का निरूपण किया है, सब सभासद वृद्ध हैं, कर्म के उपदेष्टा गुरु हैं, सब कहने से शिष्य प्राशिष्यों के साथ उनको नमस्कार कर अनन्तर मङ्गल पदार्थों का स्पर्श किया, इनको नमस्कार करने से हीनता होती है, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि ये सब आपकी ही सम्भूति रूप थे, अतः जैसे अपने पाद प्रक्षालन से हीनता नहीं होती है क्योंकि पाद अपनी सम्भूति है, उसी तरह ये भी श्री कृष्ण की सम्भूति हैं जिससे हीनता नहीं ॥१०॥

आभास—धर्मपरिष्कारमुक्त्वा धर्मपरिष्कारमाह आत्मानं भूषयामासेति ।

आभासार्थ—धर्म की शोभा कहकर अब 'आत्मानं भूषयामास' श्लोक में धर्मों की शोभा वर्णन करते हैं—

श्लोक—आत्मानं भूषयामास नरलोकविभूषणम् ।

वासोभिर्भूषणैः स्वीयैर्दिव्यगन्धानुलेपनैः ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—नर लोक^१ के विशेष भूषण रूप अपनी आत्मा को वस्त्र, आभूषण, दिव्य गन्ध आदि से भूषित किया ॥ ११ ॥

सुबोधिनी—स्वस्य सच्चिदानन्दं रूपं देहं भूषयतीति यदा व्यावर्तयितुनात्मपदम्, किन्त्वात्मानमेव । अध्यासादात्मपदं शरीरेऽपि वर्तते जीवेषु, न तु भगवतीति । भूषणस्य प्रयोजनमाह नरलोकविभूषणमिति । न हि स्वार्थमलङ्करणं करोति । निरतिशयानन्दत्वात् । किन्तु जगतो भूषणं तद्रूपं जगच्च लौकिकोत्कर्षमपेक्षते । अतो यथा भूषणसंस्कारे भूषितः संस्कृतो भवति, एवं

जगद्भगवता संस्कृतमित्यर्थः । पूर्वपरिधानीयवस्त्राद्यपेक्षया भिन्नान्येतानीति ज्ञापयितुं भूषणकरणानां नामतो निरूपणमाह वासोभिरिति । कञ्चुकोष्णीषादिभिः भूषणरूपैः स्वीयैः असाधारणैः मकरकुण्डलादिभिश्च । दिव्यो गन्धो यस्य एतानि अनुलेपनानि बहुविधानि । ततः सर्वाभरणभूषितः ॥ ११ ॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् ने वस्त्र आभूषण दिव्य गन्ध आदि के अनुलेपन से आत्मा को ही भूषित



किया है, न कि देह को, यद्यपि आत्मा शब्द अध्यास से देह के लिये भी दिया जाता है, किन्तु वह जीवों के विषे हैं, न कि भगवान् के विषे होता है, अतः अपने सच्चिदानन्द रूप देह को भूषित करते हैं, इस पक्ष का निवारण किया, जिसके लिए ही 'आत्मानं' शब्द दिया है, भूषित करने का प्रयोजन कहते हैं कि 'नरलोक विभूषण' अपने लिए शृङ्गार नहीं करने है, क्योंकि आप निरतिशय आनन्द रूप है ही उनको भूषित होकर आनन्द प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है, किन्तु उनका रूप जो जगत् रूप है वह लौकिक में अपना उत्कर्ष चाहता है, अतः जैसे नस्कार किया हुआ आभूषण विशेष शोभित होता है वैसे ही यह जगत् भी भगवान् ने संस्कृत अर्थात् भूषित वा शोभित किया, प्रथम पहने हुए वस्त्रादि की अपेक्षा से ये वस्त्रादि भिन्न हैं जो जताने के लिये उनके नाम का निरूपण करते हैं, कञ्चुक, उष्णीष आदि वस्त्र और अपने असाधारण मकर कुण्डलादि आभूषण धारण किए, तथा दिव्य गन्धों का अनुलेपन आदि लगाये, इस तरह सर्व आभरणों से आत्मा को भूषित किया ॥११॥

श्लोक—अवेक्ष्याज्यं तथादर्श गोवृषद्विजदेवताः ।

कामगं सर्ववर्णानां पौरान्तःपुरचारिणाम् ।

प्रदाप्य प्रकृतीः कामैः प्रतोष्य प्रत्यनन्दत ॥१२॥

श्लोकार्थ—धृत को देख तथा आरसी देख, गौ, बैल और देवता के दर्शन कर, नगरी तथा जनाने के सर्व वर्ण के लोगों के मनोरथों को गुप्त प्रकार से पूर्ण कर, सब को संतोषित कर आप प्रसन्न हुए ॥१२॥

सुबोधिनो—आत्मानं तेजोमयं कर्तुं माज्या-
वेक्षणं कृतवान् । तेन सर्वं एव लोकदृष्ट्या रोगा-
दयो निवृत्ता भवन्ति । ततः कान्तियोगार्थमादर्श
दृष्टवान् । गोवृषद्विजदेवतानां च दर्शनं कृतवान् ।
अत्र देवा देवालयस्थाः । ततो लौकिकोचितदा-
नमाह कामगमिति । कामं गच्छति पूरयति
प्राप्नोतीति वा कामगाः मनोहरा विषयाः, सर्व-

पामेकं न भवतीति ज्ञापयितुं सर्ववर्णानां मुख्यानां
गौणानां चेत्युक्तम् । पौरान्तःपुरचारिणामिति ।
लौकिकप्राधान्यार्थमुक्तम् । साक्षात्तेषां दानं तेषा-
मभीष्टं न भवतीति गोप्यार्थं प्रदाप्येत्युक्तम् ।
प्रकृतीः । मन्त्रिणः अन्तःपुरस्त्रियो वा । कामैः
प्रतोष्य ततस्तत्कृतां पूजां प्रत्यनन्दत ॥१२॥

व्याख्यार्थ—अपने को तेजोमय करने के लिये धृत का दर्शन किया, जिससे लोक दृष्टि द्वारा सब ही रोग निवृत्त होते हैं, अनन्तर कान्ति के लिए आरसी देखी, गौ, बैल और देवालय में स्थित देवों के दर्शन किये, पश्चात् लौकिक में उचित दान किया जिसका वर्णन करते हैं, सबको एक विषय (वस्तु) इच्छित नहीं होती है, यह जताने के लिए गौण और मुख्य सब तरह के नगरी तथा अन्तःपुर में फिरने वालों को दान दिया, किन्तु प्रत्यक्ष मिला हुआ दान उनको अभीष्ट नहीं होता है, अतः गुप्त दिया अर्थात् अन्य द्वारा दिया, इसलिए 'प्रदाप्य' पद दिया है, 'प्रकृतीः' पद से मन्त्री और अन्तःपुर की स्त्रियाँ कही हैं, उनके रुच्यनुसार देकर उनको प्रसन्न किया उनका जो दानादि से सत्कार किया, उससे स्वयं भी प्रसन्न हुए ॥१२॥

आभास—ततो भोगं वक्तुं मुख्यत्वात्ताम्बूलादिस्वीकारमाह संविभज्येति ।

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १३ ॥

आभासार्थ—पश्चात् भोग को कहने के लिए मुख्यपन से ताम्बूलादि के स्वीकार का 'सवि-
भज्य' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—सविभज्याग्रतो विप्रान् सक्ताम्बूलानुलेपनैः ।

सुहृदः प्रकृतीदरानुपायुङ्क्त ततः स्वयम् । १३ ।

श्लोकार्थ—माला, ताम्बूल तथा अनुलेपन आदि ब्राह्मणों को, सुहृदों को,
मन्त्रियों को और स्त्रियों को देकर अनन्तर अपने उपयोग में लिया ॥१३॥

सुबोधनी—अग्रतः प्रथमं विप्रान् सविभज्य विप्रेभ्यो दत्त्वा सक्ताम्बूलानुलेपनानि । सर्वे सर्वेषां सविभागः । लौकिकदाने सुहृदः प्रथमाः, प्रकृतयः मन्त्रिणः, ततो दाराः । यद्यपि प्रथम	स्वस्योपयोगः, तथापि सविभागः सर्वेषां प्रथम एव । भगवदुपभोगानन्तर पदार्थोत्पत्त्यसम्भवात् । अतः पश्चात्स्वयमुपायुङ्क्त । शिष्टस्य सेवकगामित्वात् ॥१३॥
---	--

व्याख्यार्थ—प्रथम ब्राह्मणों को माला, ताम्बूल और अनुलेपन आदि दिया, अनन्तर सबको सब पदार्थों का विभागानुसार दिया, लौकिक प्रकार में देने के समय पहले सुहृदों को, बाद में मन्त्री उनके पञ्चान् स्त्रियों को देना चाहिए, यो ही किया. यद्यपि प्रथम अपने को उपयोग में लेना चाहिए था, किन्तु यों नहीं किया, कारण कि भगवान् के उपभोग के अनन्तर पदार्थ शेष नहीं रह सकता है जो किसी को दिया जा सके, अतः प्रथम ही सबको पूरे हिस्से से क्रमानुसार देकर पश्चात् आपने ग्रहण किया, शिष्ट पुरुष सदैव सेवकों को देकर अथवा भोजन कराकर बाद में स्वयं लेते हैं जिससे वे (सेवकादि) प्रसन्न रहते हैं ॥१३॥

आभास—ततस्त्रैलोक्यरक्षार्थमुद्यतस्य सुधर्माणां गमनं निरूप्यते तावत्सूत इति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार आह्निकादि सर्व प्रातःचर्या कर त्रैलोक्य की रक्षा के लिए सुधर्मा सभा में जाने के लिए तैयार हुए, जिसका वर्णन 'तावत्सूत' श्लोक से ४ श्लोकों में करते हैं—

श्लोक—तावत्सूत उपानीय स्यन्दनं परमाद्भुतम् ।

सुग्रीवाद्यैर्हयैर्युक्तं प्रणम्यावीस्थतोऽग्रतः ॥१४॥

गृहीत्वा पाणिना पाणिं सारथेस्तमथारुहत् ।

सात्यक्युद्धवसंयुक्तः पूर्वार्द्रमिव भास्करः ॥१५॥

ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणां सत्रीडप्रेमवीक्षितैः ।

कृच्छ्राद्विसृष्टो निरगाज्जातहासो हरन्मनः ॥१६॥



सुधर्माख्यां सभां सर्ववृष्णिभिः परिवारितः ।

प्राविशद्यन्निविष्टानां न सन्त्यङ्गः षड्रमयः ॥१७॥

श्लोकार्थ—इतने में दारुक सारथी सुग्रीव आदि घोड़ों से जोड़े हुए रथ को लाकर प्रणाम कर सामने खड़ा हुआ ॥१४॥

अपने हाथ से सारथी का हाथ पकड़ सात्यकि और उद्धवजी के साथ जैसे सूर्य उदयाचल पर्वत पर चढ़ता है, वैसे आप रथ पर चढ़े ॥१५॥

अन्तःपुर की स्त्रियाँ जो बड़े कष्ट से भगवान् को छोड़ सकी थीं, वे लाज भरी प्रेम युक्त दृष्टियों से देख रही थीं, मुस्कराते हुए भगवान् उनका मन हरण कर बाहर निकले ॥१६॥

सब यादवों से वेष्टित प्रभु सुधर्मा सभा में पधारे, जिस सभा में बैठे हुए सभ्यों को, धुधा और प्यास आदि छ, ऊर्मियाँ नहीं थीं ॥१७॥

सुबोधिनी—परमाद्भुतमिति । वैकुण्ठात्समागतरथव्युदासः, किन्तु धर्ममयो रथः, स तु सङ्कर्षणोपकारी । अश्वाः मृतश्च त एवेत्याह सुग्रीवाद्यं हंयैर्युक्तमिति । अनिरुद्धप्राधान्यात्सुग्रीवाद्यं रित्युक्तम् । प्रणामः पूर्वस्माद्वैशिष्ट्यद्योतकः, अग्रे तूष्णीमवस्थानं कार्यस्य लौकिकत्वाभावाय । ततः अप्रेरितोऽपि भगवान् सारथेः पाणि पाणिना गृहीत्वा रथमारुहत् । तस्य क्रियाशक्तिः स्वक्रियाशक्त्या निबद्धा, अन्यथा धर्मप्रेरकोऽन्यथा प्रेरयेत् । पूर्वाविशिष्टत्वात् । तं रथमारुहदिति । भगवदारूढो धर्मः सर्वत्र सुस्थिरो भवतीति तमित्युक्तम् । रक्षारूपा क्रियाशक्तिः । भक्तिश्च साधनत्वे धर्मे ग्राह्येति सात्यक्युद्धवसंयुक्त इत्युक्तम् । उद्धवो भक्तिः अधिकारिणामेव प्रकाशको भविष्यतीत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह पूर्वाद्भिमिव भास्कर इति । प्रातः सर्वेषामेव प्रबोधो भवति, न केवलमधिकारिणाम् । ततो धर्मे कामनिवृत्तिमाशङ्क्य तन्निराकरणार्थमाह । ईक्षितोऽन्तःपुरस्त्रीणामिति । स्त्रीणामिति । षष्ठीबहु-

वचनं न केवलं दर्शनमात्रम्, किन्तु तासां सम्बन्धपि भगवानिति द्योतयति । ज्ञानद्वारा सम्बन्धः । आन्तरः बाह्यो निवर्तक इति ज्ञाने त्रैविध्यमाह सत्रोडप्रेमवीक्षितैरिति । ब्रीडातामसी, प्रेम राजसम्, वीक्षितं सात्त्विकमिति । ततो भावेन बद्धः । 'ये यथा मां प्रपद्यन्त' इति न्यायेन । तासामपेक्षया स्वच्छन्दं धर्मपरता न भविष्यतीति तासां निर्बन्धाभावमाह कृच्छ्राद्विसृष्ट इति । कष्टेन ताभिविसृष्टः, धर्मानुरोधान्निर्गच्छत्विति विचारितः । ततो निरगात् । जातहास इति । तासामपि धर्मानुरोधमालक्ष्य हास्यम् । न हि स्त्रीणां कामादुपरतिरस्ति । तथापि धर्मपरताप्यासां मा भूदिति ज्ञापनार्थं धर्मपरत्वम् । हरन्मन इति निरोधार्थम् । अन्यथा लोके धर्मे वा चित्तमासक्तं भवेत् । भगवान् विसृष्ट इति । सुधर्माख्यामिति । सुष्ठु धर्मो यत्रेति नाम्नेनैव धर्मपरत्वं सिध्यति । सभा स्वभावतोऽपि धर्मनिर्णयस्थानम् । सर्ववृष्णिभिः परिवारित इत्येकमत्यम् । तस्यामाधिदैविकधर्मत्वज्ञापना-

थम् । कालधर्मातिक्रममाह यन्निविष्टानामिति । अपि न सन्ति, तत्रानावश्यकः सुतरामेव न यत्रोपविष्टानां षडूर्मयो देहादिधर्माः आवश्यका भविष्यन्तीति अर्थादुक्तम् ॥ १४-१७॥

व्याख्यानार्थ—रथ परम अद्भुत है, यों कहकर यह सूचित किया है कि यह रथ वैकुण्ठ से नहीं आया है किन्तु 'धर्ममय' रथ है। वह सङ्कर्षण का उपकारी है क्योंकि सङ्कर्षण के कार्य में सैन्याश्व की प्रधानता है इसलिए वे आदि में कहे हैं। अनिरुद्ध की प्रधानता से सुग्रीव आदि कहे हैं, सुग्रीव का भावार्थ है कि यहाँ रज और तमोगुण का अभाव होने से यह रथ धर्मोपयोगी है। वह तो सैन्य की तरह संहारक होने से अधर्म के संहार करने में उपयोगी है जिससे धर्मोपयोगी है। दारुक ने आकर प्रणाम किया यह प्रथम से विशिष्टता प्रकट करता है, आगे मौन रहना इसलिये है, कि यह कार्य लौकिक नहीं है। पश्चात् बिना कहे हुए भी भगवान् सारथी के हस्त को अपने हाथ से पकड़कर रथ में चढ़े, उसकी क्रिया शक्ति अपनी क्रिया शक्ति से जोड़ली, यों न करते तो धर्म के प्रेरक अन्य प्रकार प्रेरण करते, तो संहारार्थ रथारोहण जो किया उसमें प्रतिबन्ध हो जाता, क्योंकि पूर्वाविशिष्ट हो जाने से, भगवदारूढ धर्म सर्वत्र अच्छी तरह स्थिर हो जाता है, इसलिए 'त' शब्द दिया है, अर्थात् भगवान् धर्ममय रथ पर आरूढ़ हुए हैं अतः धर्म ही स्थिर होगा अधर्म का नाश होगा। रक्षारूप क्रिया शक्ति है, धर्म में भक्ति साधनपन में ग्रहण करने योग्य है, इसलिए सात्यकि और उद्धवजी को साथ में लिए हैं। उद्धव भक्ति रूपा है, अधिकारियों का ही प्रकाशक होगा ? इस प्रकार की शङ्का को दृष्टान्त द्वारा मिटा देते हैं, कि जैसे प्रातःकाल में जब सूर्य उदय होता है तब सब ही जगते हैं, न कि केवल अधिकारी, अर्थात् सब उजाला देख अपने कार्य में तत्पर होते हैं, धर्म में काम की निवृत्ति होगी, ऐसी शङ्का का निवारण करने के लिए 'ईक्षितोऽन्तः-पुर स्त्रीणां' कहा है, यहाँ 'स्त्रीणां' पशु विभक्ति कहकर सूचित किया है कि स्त्रियाँ केवल देख न रही थी किन्तु भगवान् उनके सम्बन्धी भी थे, ज्ञान द्वारा सम्बन्ध है, आन्तर, बाह्य और निवर्त्तिक, इस तरह ज्ञान में त्रैविध्य दिखलाया है, 'सब्रीड प्रेम वीक्षितैः' ब्रीडा (लज्जा) तामसी है, प्रेम राजस है, देखना सात्विक है, ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस न्यायानुसार भाव से बद्ध है, उनकी अपेक्षा से स्वच्छन्द धर्म परता न होगी, इसलिए उनके निर्वन्ध का अभाव कहते हैं कि उन्होंने भगवान् को बहुत कष्ट से जाने दिया है, यों तो जाने नहीं देती किन्तु विचार किया कि धर्म के लिए पधार रहे हैं अतः भले जावें, पश्चात् पधारते हुए प्रभु हँसते हुए जाने लगे, क्योंकि भगवान् को उनका धर्मानुरोध देखकर हँसी आई, स्त्रियों की काम से शान्ति नहीं है, तो भी वे धर्म परायण भी न होनी चाहिए अतः भगवान् ने हँसकर इनके मन का निरोध करने के लिए अपनी तरफ खींच लिया, यदि भगवान् मन को अपनी तरफ खींच अपने में आसक्त न करते तो ये लोक वा धर्म में आसक्त हो जाती भगवान् इनसे बाहर से अलग हो सुधर्मा सभा में पधारे, सभा के नाम से ही प्रसिद्ध होता है कि यहाँ उत्तम धर्म है, 'सभा' स्वभाव से भी धर्म निर्णय का स्थान है। सब यादव साथ में थे जिससे दिखाया है, सबकी एक ही राय है, उस सभा में आधिदैविक धर्म पन जताने के लिए कहा है कि वहाँ काल के धर्म बाधा नहीं कर सकते हैं। सभा में बैठे हुआँ को देह धर्म, भूख प्यास आदि छ ऊर्मियाँ, हैं ही नहीं जब ये आवश्यक भी नहीं है तो अनावश्यक तो सुतराम् ही नहीं होंगे ॥१७॥

ग्राभास—एवं सुधर्माहात्म्यमुक्त्वा तत्रोपवेशने धर्म एव केवल इत्याशङ्क्य सच निर्बन्धात्मक इति सुखोपवेशनमाह तत्रोपविष्ट इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सुधर्मा सभा के माहात्म्य का वर्णन कर वहां बैठने में केवल धर्म ही है यों गङ्गा कर उत्तर देते है कि वह तो निर्बन्धात्मक होता है यो कहकर तत्रोपविष्ट' श्लोक से सुख से विराजने का वर्णन करते हैं—

श्लोक—तत्रोपविष्टः परमासने विभुर्वभौ स्वभासा ककुभोऽवभासयन् ।

वृतो नृसिंहैर्यदुभिर्यदुत्तमो यथोदुराजो दिवि तारकागणैः ॥१८॥

श्लोकार्थ---वहाँ उत्तम आसन पर विराजमान यदूतम भगवान्. अपनी कान्ति से दिनाग्रों का प्रकाशमान करते हुए पुरुष सिंह यादवों के साथ यों सुशोभित लगते थे, जैसे आकाश में तारागण के साथ चन्द्रमा शोभायमान होता है । १८॥

सुबोधिनी—तत्र सभायाम् । तत्रापि मध्ये भगवद्वपवेणनस्थान परमासनम् । प्रान्ते पश्चिम-भागे कुड्यसमीपे राज्ञः स्थानम्, मध्ये तत्सम्मुखे भगवत्स्थानमिति विमर्शः । सभासदां मध्ये भगवतोऽनुप्रवेशं निवारयितुमाह स्वभासा ककुभो-ऽवभासयन्निति । तत्र सामर्थ्यं विभुरिति । राज्ञो मुख्यत्वादभानमाशङ्क्याह वभाविति । सभा-धर्मेण देवधर्मेण वा तथात्वमाशङ्क्य स्वभासेति । अप्रधानेनापि प्रधानभानं सम्भवतीति तन्निराक-रणार्थं दश दिश एवोक्ताः । ननु तत्रत्या एव केवलाः । अनेन सभया भगवद्भानं निवारितम् । एव तर्हि सभासदामप्रयोजकत्वमेव स्यादित्या-

शङ्क्य निराकरोति वृत्तो नृसिंहैरिति । तेषामाग-
न्तुकत्वं निराकरोति षडुभिरिति । अन्यथा
नृसिंहाः परशुरामव्यासादयो भवेयुः । तुल्यता-
माशङ्क्याह यदूत्तम इति । तेषामेकत्र निवेशन-
मात्रं भगवतरततोऽप्युत्तमत्व एव स्यात् । नतु
नियामकत्वम् । ततो धर्म एकमखो न भवेदिति
तेषां प्रतिर्भगवानिति दृष्टान्तेन निरूपयति यथो-
द्भुराज इति । दिवीत्याधिभौतिक निवारितम्,
यथा देवरूपम् । ग्रहनक्षत्राणां गपि केनचिदंशेन
तुल्यतापोषकत्वं चास्तीति तारकागणैरित्युक्तम् ।
उद्भुराज इत्यनेन स्वकीयानां तदधीनत्वमुक्तमेव ।

॥ १८॥

व्याख्यानार्थ—वहां सभा में भी भगवान् के विराजमान होने का स्थान उच्च सुन्दर सिंहासन था, पश्चिम भाग के एक तरफ मित्ति के समीप राजा के बैठने का स्थान होता है। बराबर मध्य में उसके सामने भगवान् के विराजने का स्थान था, सभासदों के बाद भगवान् ने प्रवेश किया, जिसका निवारण करने के लिए कहते हैं कि, अपने तेज से दिशाओं को प्रकाशित करते हुए प्रवेश किया जिसका भावार्थ है कि सभासद भगवान् के पीछे आ रहे थे जिससे सभा में चारों तरफ भगवान् का पूर्ण प्रकाश मित्ति आदि पर हो रहा था, इस प्रकार प्रकाशित करने का सामर्थ्य आप में है क्योंकि 'विभु' सर्व समर्थ हैं, सभा में राजा मुख्य होता है उसका ही तेज वा प्रकाश देखने में आता है इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि 'वर्भा' राजा से भी आप विशेष प्रकाशमान हो रहे थे, भगवान् सभा धर्म से अथवा देव धर्म से प्रकाशमान होते होंगे इस शङ्का को 'स्वभासा' पद से



मिटाने हैं कि भगवान् सभा वा देव धर्म से नहीं किन्तु अपने तेज से प्रकाशमान हो रहे थे, कभी-कभी अग्रधान से भी प्रधान का मान हो जाता है इस प्रकार के भ्रम वा गड़्ढा के निवारणार्थ कहते हैं कि न केवल वहाँ बैठे हुए प्रकाशित हुए किन्तु दश दिशाएँ भी प्रकाशित होने लगी, इससे सभा से भगवान् का प्रकाश हुआ इसका निवारण किया, यदि यों है तो नभासदों का कोई प्रयोजन न रहा, इस गड़्ढा को मिटाते हैं कि मनुष्यों में सिंह^३ यादवों से घिरे हुए पधारे थे, वे पिछे नहीं आये थे, यदि नृसिंह शब्द का विशेष्य 'यदुभिः' न कहते तो 'नृसिंह' में परशुराम, व्यास आदि समझे जाते, तब उनसे उनकी समानता होगी ? इसके निराकरण करने के लिए कहा है कि ये यादवों में श्रेष्ठ हैं, उनका एक स्थान पर ही बैठना है, अतः भगवान् का उससे भी उत्तमपन ही होना चाहिए अर्थात् है, न कि नियामकत्व ही है, इस कारण से धर्म एक मुख नहीं होता है, क्योंकि उनका स्वामी भगवान् है, जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, 'दिवि' पद देकर आधिभौतिकता का निवारण किया है जैसे देव-रूप, 'तारकागणै' पद से बताया है कि नक्षत्रों का भी किसी अंश में समतापोषकत्व है 'उदुराज' कह कर बताया है कि जैसे तारागण चन्द्रमा के आधीन हैं क्योंकि वह उनका स्वामी है वैसे ही स्वकीयों का भी अपने स्वामी का आधीनत्व कहा हुआ समझना चाहिए ॥१८॥

आभास—ततो धर्मफलमिव वदन् मनसः परितोषार्थमाह तत्रोपमन्त्रिण इति ।

आभासार्थ—पश्चात् मानों धर्मफल कहते हुए, तत्रोपमन्त्रिणो' श्लोक में मन के प्रसन्नतायें कहते हैं—

श्लोक—तत्रोपमन्त्रिणो राज्ञानाहास्यरसैर्विभुम् ।

उपतस्थुर्नटाचार्या नर्तक्यस्ताण्डवैः पृथक् ॥१९॥

श्लोकार्थ—वहाँ जो उपमन्त्री आए थे, वे हास्य रस की वार्ताओं से भगवान् को प्रसन्न करते थे, नटाचार्य तथा नृत्य करने वाली स्त्रियाँ पृथक्-पृथक् ताण्डवों से भगवान् की सेवा करती थीं ॥१९॥

सुबोधिनी—उपमन्त्रिणः कौतुकिनः । राज-
न्निति ज्ञापनार्थं सम्बोधनम् । नानाविधा हास्य-
रसाः । लौकिकीभाषेयं धर्मे चित्तोद्वेगनिवारणा-
र्थमुक्ता । विभुत्वादप्रेरिता अपि तथा उपतस्थुः ।
न केवलं हास्यरसा एव, किन्तु शृङ्गारादयोऽपि

विभावादिभिः प्रकाशिता इत्याह उपतस्थुरिति ।
नटाः रसाभिनयनकर्तारः शुद्धस्वाङ्गप्रदर्शकाः ।
स्त्रियो नर्तक्यः लास्यप्रदर्शिकाः । उभयविधा अपि
सभात्वात् ताण्डवैरेव पृथक् पृथक् उपतस्थुः ।
नरा नार्य इति वा पाठः ॥१९॥

व्याख्यार्थ—हे राजन् ! यह सम्बोधन सभा में क्या क्या होता है उसका तो आपको ज्ञान हो

है, इसलिए दिया है, देश विदेश से कला^१ दिखाने के लिए आए हथों की पहचान 'उपमन्त्रिणः' पद से दी है, उन्होंने भगवान् के पास आकर उनको प्रसन्न करने के लिए अनेक प्रकार की हास्य रस की कलाएँ दिखाई क्योंकि धर्म में चित्त के उद्वेग का होना अच्छा नहीं, इसलिए उस उद्वेग को मिटाने के लिए इन कलाओं का दिखाना आवश्यक है, यह लौकिकी भाषा है, भगवान् ने उनको यों कर दिखलाने की प्रेरणा नहीं की, तो भी उन्होंने यों किया जिसका कारण है कि भगवान् 'विभु' हैं अर्थात् सर्व समर्थ है। प्रत्यक्ष प्रेरणा दिये बिना भी कार्य करा सकते हैं, केवल हास्य रस ही नहीं किए, किन्तु विभावा-दिकों से शृङ्गार आदि भी दिखाए, इसलिए 'उपतस्थुः' पद दिया है, 'नट'वे हैं जो ऐसा अभिनय करके दिवावे जिसमें रस उत्पन्न हो जाय, तथा शुद्ध स्वाङ्ग कर सकें, स्त्रियाँ जिनको 'नर्तक्यः' कहा है वे नाच कर प्रसन्न करने वाली होती हैं, यह सभा है इसलिए दोनों प्रकार के स्त्रियों अथवा पुरुष अपनी अपनी कला ताण्डवों से पृथक् पृथक् दिखाने आये ॥६६॥

आभास—भगवतः सभायां गमनमुत्सवरूपमिति ज्ञापयितुं वाद्यमाह मृदङ्गोति ।

आभासार्थ—सभा में भगवान् का पधारना उत्सव रूप है इसको बताने के लिए 'मृदङ्गवीणा' श्लोक में वाजों का वजना कहते हैं—

श्लोक—मृदङ्गवीणामुरजवेणुतालदरस्वनैः ।

ननृतुर्जगुस्तुष्टुबुधसूतमागधबन्दिनः ॥२०॥

श्लोकार्थ—सूत, मागध और बन्दीजन मृदङ्ग, वीणा, मुरज, वेणु ताल तथा शङ्ख; इन शब्दों के साथ नाचते थे, गाते थे और स्तुति करते थे ॥२०॥

मुद्राङ्गिका—षड्विधानां स्वनैः सह ननृतुर्ज- | सूतादीन्निदिशति सूतमागधबन्दिन इति ॥२०॥
गुस्तुष्टुबुधः । स्तोत्रे नटादयो नात्यन्तमभिज्ञा इति

व्याख्यार्थ—छ प्रकार के वाद्यों की ध्वनि के साथ सूत, मागध और बन्दीजन नाचते, गाते और स्तुति करते थे, नट आदि स्तोत्र को अच्छी तरह नहीं जानते इसलिए सूत मागध और बन्दी को कहा है ॥२०॥

आभास—लौकिकोत्सवमुक्त्वा तस्य धर्मफलत्वं ज्ञापयितुमाह तत्रस्था ब्राह्मणाः केचिदिति ।

आभासार्थ—लौकिक उत्सव का वर्णन कर उसके धर्म फलपन को 'तत्रस्था' श्लोक में बताते हैं—

१- कौतूकिन-आश्चर्य में डालने वाले तमाशे दिखाने वाले,

पूर्वेषां पुण्ययशसां राज्ञां चाकथयन्कथाः ॥२१॥

सुबोधिनो—ते हि सभासदः सभायामधि- । सामिति । इक्ष्वाकुप्रभृतीनां धर्मो यादृशं वर्तनम् ।
 ताः धमनिर्णयार्थम्, यतो ब्रह्मवादिनः सर्वज्ञाः । पुण्यं यशो येषामिति लोकेऽप्यविगीतानाम् ।
 न्ये हि धर्मं न विदुः । केचिदिति साधारणाः, चकाराद्ब्राह्मणादीनामपि कथाः धर्मोऽयुक्ताः
 तु वसिष्ठादयः । धर्मः परम्परागत एव कर्तव्य- । अकथयन् । यतो धर्मवार्तैव सभायाम्, न त्वन्यवा-
 ति तादृश एव भगवता क्रियत इति ज्ञापयितुं- । तैति ज्ञापितम् ॥२१॥
 । ह्यणैस्तथा निरूप्यत इत्याह पूर्वेषां पुण्ययश-

आभास—यदर्थमेषा धर्मकथा निरूपिता, तं सात्त्विकानां निरोधं निरूपयितुं प्रस्तावनामाह तत्रैकः पुरुष इति त्रिभिः ।

आभासार्थ—जिस निरोध के लिए यह धर्म कथा निरूपण की सात्विकों के उस निरोध का निरूपण करने के लिए 'तत्रैकः' श्लोक से तीन श्लोको में उसकी प्रस्तावना कहते हैं—

श्लोक—तत्रैकः पुरुषो राजन्नागतोऽपूर्वदर्शनः ।

विज्ञापितो भगवते प्रतीहारैः प्रवेशितः ॥२२॥

स नमस्कृत्य कृष्णाय परेशाय कृतञ्जलिः ।

राज्ञामविदयद्दुःखं जरासन्धनिरोधजम् ॥२३॥

ये च दिग्विजये तस्य संनति न ययुर्नृपाः ।

प्रसह्य रुद्धास्तेनासन्नप्लुते द्वे गिरिव्रजे ॥२४॥

नमस्कार तो दूत ने की अनन्तर प्रार्थना के लिये हस्त जोड़कर खड़ा हुआ, जिससे दूत सात्विक है यह निरूपण किया, राजापन से दुःख का अनुभव था, इस कारण से ही जरासन्ध द्वारा कैद होने से ही उत्पन्न हुआ दुःख भगवान् को कहने लगा, भगवद्भक्तों को दुःख होना उचित नहीं है इस शङ्का का समाधान करते हैं कि भक्ति के विरुद्ध यह धर्म इसलिए दुःख है यों कहने के लिए अभिमान प्रकट करता है कि 'ये च दिग्विजये' जरासन्ध ने जब दिग्विजय की उस समय दूसरे राजा गए किन्तु जो भगवदीय थे वे इसके शरण न गये क्योंकि वे तो भगवान् के शरण जाते हैं न कि राजा के, यह राजा था इसलिए इसकी शरण न ली, यह जरासन्ध राजा भगवद्विमुख है, अतः अन्तर्द्वार की प्रेरणा से उसने ही बीस सहस्र (२०,०००) राजाओं को कैद कर बलात्कार (जवर्दस्ती) से गिरीव्रज दुर्ग में बन्द कर रखा है, अहन्ता और ममता के चौदह चौदह स्थान हैं. उनकी हजार और सौ वृत्तियां हैं, यों गिनती से बीस हजार आठ सौ की संख्या होती है, आठ सौ का निरूपण उपसंहार में है शेष बीस हजार (२०,०००) अब कहा है, जहां कूटवद् चारो तरफ पर्वत ही पर्वत है, इसलिये उसको गिरिव्रज कहा है उसमें बीस हजार कैद कर रखे हैं ॥२४॥

आभास—दूतस्तेषां वचनान्याह कृष्ण कृष्णेति षड्भिः ।

आभासार्थ— दूत उनके^१ वचन (कृष्ण कृष्ण) श्लोक से ६ श्लोको में कहता है ।

श्लोक—कृष्ण कृष्णाप्रमेयात्मन्पन्नभयभञ्जन ।

वयं त्वां शरणं यामो भवतीताः पृथग्धियः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हे अप्रमेयात्मा ! हे भय को नाश करने वाले ! हम संसार से भय पाकर, भेद बुद्धि वाले हो गए हैं, वैसे हम सब आपकी शरण में आए हैं ॥२५॥

सुबोधिनी—ऐश्वर्यादयो धर्मा भगवदीयाः क्रमेण निरूप्यन्ते । भगवानेव हि जीवानां स्व-
गुणैर्मोचक इति । तत्रैश्वर्यं निरूपयन्ति । आदरे
वीप्सा स्नेहादरयोर्नैश्वर्यं बाधकम् । अदृष्टकाला-
दीनां बाधकत्वात् साधारणाधिकारित्वाच्च । कथं
भवतां दुःखनिवृत्तिरिति चेत् । तत्राह अप्रमेया-
त्मन्निति । प्रमातुं योग्ये हि कालादिविचारः,
नत्वयोग्ये । तथाप्युदासीनो भवेदित्याशङ्क्याहुः

प्रपन्नभयभञ्जनेति । 'सङ्ग्रामे विप्रपन्नाना'मित्यादिवाक्यात् प्रपन्नभयनिवारकत्वं तत्रावश्यकम् । अतो वयं प्रपन्ना भवाम इत्याहुः वयं त्वां शरणं याम इति । जरासन्धाद्विमोक्षकं वारयन्ति भवभीता इति । नह्येकस्माद्भयात्कश्चिन्निवृत्तिं वाञ्छति, सर्वभयनिवृत्तिसम्भवे । बहिर्मुखानां संसारे सर्वतोभयम्, तदाहुः पृथग्धिय इति । अनेन ज्ञानादिपक्षा निवारिताः ॥२५॥

व्याख्यार्थ— भगवदीय ऐश्वर्यादि धर्म क्रम से निरूपण किए जाते हैं, भगवान् ही जीवों

को अपने गुणों द्वारा संसार भय से छुड़ाने वाले हैं, उनमें से ऐश्वर्य गुण का निरूपण करते हैं। स्नेह और आदर में ऐश्वर्य बाधक नहीं है, अदृष्ट तथा काल आदि ही बाधक होते हैं, क्योंकि साधारण अधिकारी हैं। यदि आप कहो, कि तुम्हारे दुःखों की निवृत्ति कैसे होगी? जिसके उत्तर में कहता है, कि आप अप्रेमयात्मा हैं अतः कैसे दुःखों की निवृत्ति होगी? इसका विचार आपके आगे ठहर नहीं सकता है। जो प्रमा करने योग्य है उसके आगे काल आदि का विचार हो सकता है, यों है, किन्तु यदि हम उदासीन होवें तो? जिसका समाधान करता है कि आप उदासीन नहीं हैं, क्योंकि शरणागतों के दुःखों को नाश करने वाले हैं, 'संग्रामे विप्रपन्नानां' इस वाक्य के प्रमाणानुसार शरण आए हुआओं के भय का निवारण करना आपके लिए आवश्यक है, अतः हम शरण हुए हैं, केवल जरासन्ध से ही हम छुटकारा चाहते हैं यों नहीं है, किन्तु संसार से भी अब डर गए हैं, जब आप से सर्व भयों का नाश हो सकता है तो कोई भी एक भय से निवृत्ति कैसे चाहेगा? वहिर्मुखों को संसार में चारों तरफ से भय रहता है जिसके लिए कहा है कि हम 'पृथग्बिधयः' भेद वृद्धि वाले हैं, इससे जानादि पक्षों का निवारण किया ॥२५॥

आभास—ननु सर्वे येन प्रकारेण संसारनिवृत्तिं वाञ्छन्ति, तेनैव प्रकारेण संसारो निवर्तनीयः, किं मच्छरणागमनेनेत्याशङ्क्यामाहुः लोको विकर्मनिरत इति ।

आभासार्थ—सब जिस प्रकार से संसार से निवृत्ति चाहते हैं, उसी प्रकार तुमको भी संसार निवृत्त करना चाहिए मेरी शरण आने से क्या लाभ है? इसका उत्तर 'लोको विकर्म निरतः' श्लोक में देता है।

श्लोक—लोको विकर्मनिरतः कुशले प्रमत्तः

कर्मण्ययं त्वदुदिते भवदर्चने स्वे ।

यस्तावदस्य बलवानिह जीविताशां

सद्यश्छिनत्त्यनिमिषायनमोऽस्तु तस्मै ॥२६॥

श्लोकार्थ—यह लोक, जो कर्म करने के योग्य नहीं हैं, उन कर्मों में लग्न है और जो सत्कर्म करने योग्य हैं, उनमें उदासीन है, वह सत्कर्म जिनको आपने कहा है, वे उन भगवत्सेवा आदि में आलस्य कर रहे हैं, तो भी उसको जीने की बलवती आशा है, उसको बलवान् काल तोड़ देता है, वह काल भी आपका ही स्वरूप है, उसको नमस्कार है ॥२६॥

सुबोधिनी—कालरूपश्च त्वमेव । अतस्त्वच्छरणागमनेनैव भयनिवृत्तिः, नान्यथा । यतस्तवाज्ञोल्लङ्घने त्वमेव भक्षयसि । आज्ञोल्लङ्घनं प्रपञ्चयन्ति विकर्मणि निषिद्धे विहितोल्लङ्घने वा ।

निरतः तदेवादरेण करोति । लोकस्य तत्रैव महती श्रद्धा । कुशले विहिते प्रमत्तः असावधानः । तत्पुनरीश्वरवाक्योल्लङ्घनरूपमिति वक्तुमाहुः त्वदुदित इति । वीर्यवता वेदादिकर्त्रा त्वयैव

तन्निरूपितम् । तत्रापि भवदर्चने भवत्पूजारूपे तन्त्रोक्ते साक्षाद्भगवतैवावतीर्णन निरूपिते । तत्रापि स्वे श्रवणादिरूपे । त्रिविवं कर्म भगवता निरूपितम्, वैदिकं पाञ्चरात्रं भागवतं च । उत्तरोत्तरं प्राणिनामश्रद्धातिशयः । अतः प्रमत्तः । भगवानपि प्रमत्त इव न तूष्णीं तिष्ठति, यतो जगत्कर्ता, तदाहुः यस्तावदिति । सह्यधिकृतः, अन्यथा प्रलयो न सम्भवेत्, जीवधर्मपिक्षया ब्रह्मधर्मा विशिष्टा इति । तावदिति यावत् प्रमत्त एव तिष्ठति । आज्ञोल्लङ्घनसमनन्तरमेव अथः तत्तरणं प्रमाणं वा स्वानुभवरूपं निरूप्यते । एत-

त्करणे यो गुणः प्रधानभूतः तं निर्दिशति वलवानिति । साक्षान्मारणे न जानीयात् । न हि मरणे जन्मान्तरे वा मरणक्लेशस्मृतिरस्ति । अतो जीविताशामेव रोगादिना निराकरोति, येन सर्वेषामेव मरणप्रतीतिर्भवेत् । सर्वथा आज्ञोल्लङ्घने महान्तं व्याध्यादिकमुत्पादयतीत्यर्थः । जीववद्भगवानपि कदाचिदसावधानो भवेदित्याशङ्क्यामाहुः अनिमिषायेति । अतिसावधानाय । अतस्तस्मै नमः पूर्वापराधक्षमापनार्थम् । शरणागतस्तु मोक्षार्था । अपराधे विद्यमाने साधनैरपि मोक्षो दुर्लभ इति ॥२६॥

व्याख्यानार्थ— काल रूप आप ही हैं अतः आपकी शरण लेने से ही भय की निवृत्ति होती है, अन्य प्रकार से नहीं, क्योंकि आपकी आज्ञा के उल्लङ्घन करने पर आप ही भक्षण करते हैं, आज्ञा के उल्लङ्घन करने का वर्णन करते हैं, जैसा कि जिन कर्म करने का शास्त्र में निषेध है उनको आदर से करते हैं, और जिन शुभ कर्मों के करने की आज्ञा है उनका उल्लङ्घन कर रहे हैं, लोक की निषिद्ध कर्म में ही विशेष श्रद्धा होती है, इसलिए शास्त्र में कहे हुए कर्मों में असावधान रहते हैं, शास्त्र में जो कर्म हैं वे आपके ही कहे हुए हैं अतः ईश्वराज्ञा का उल्लङ्घन रूप दोष भी करते हैं क्योंकि वेदादि शास्त्र कहने वाले आप ही हैं अतः सर्वत्र तन्त्र आदि में आपकी सेवा पूजा आदि भी साक्षात् भगवद्रूप से अवतीर्ण होकर ही कही है, वहां भी श्रवणादि रूप भी कहे हैं, यों भगवान् ने तीन प्रकार के कर्म कहे हैं, १- वैदिक, २- पाञ्चरात्र और ३- भागवत, वैदिक से पाञ्चरात्र धर्म में उससे भी भागवत धर्म में कम श्रद्धा है, अतः लोक प्रमत्त हैं, भगवान् प्रमत्त की तरह मौन कर नहीं रहते हैं, क्योंकि वेदादि^१ के आप ही बनाने वाले हैं, आपके ही अधिकार में सब है, काल को भी मारने का अधिकार आपने दिया है, क्योंकि आप का ही रूप है अर्थात् आप ही है यदि यों न होता तो प्रलय न हो सकता, जीवों के धर्मों से ब्रह्म के धर्म महान् हैं, जब तक लोक संसार में प्रमत्त हो रहता है तब तक जीविताशा बनी रहती है इतने में ही, काल उस आज्ञा को तोड़ देता है, आज्ञोल्लङ्घन के बाद ही नीचे गिरते हैं, उससे ऊपर आना, उसमें अपना अनुभव रूप प्रमाण कहते हैं इसको करने में जो गुण मुख्य है उसको दिखाते हैं कि, वह बलवान है, वह साक्षात् मारना नहीं जानता है, मरने में वा जन्मान्तर में मरने के क्लेश की स्मृति नहीं रहती है, अतः रोग आदि से जीविताशा का निराकरण करता है, जिससे सबको मरने की प्रतीति हो जावे, आज्ञा का उल्लङ्घन करने पर सर्व प्रकार से महान् रोगों को उत्पन्न करता है, जीव के समान कभी भगवान् भी असावधान हो जावे तो, जिसके उत्तर में कहा है कि, आप बहुत सावधान हैं, अतः आप, काल रूप भगवान् को पूर्व अपराधों के क्षमा करने के लिए हम नमन करते हैं, शरणागति तो मोक्ष के लिए ली है, अपराधों के होते हुए साधनों से भी मोक्ष दुर्लभ है ॥२६॥



अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद्धतं मम' जो कोई मनुष्य मेरी शरण आता है वह फिर शोक करने के योग्य नहीं ही सकता है, अर्थात् उसको किसी प्रकार दुःख नहीं होता है, और जो संग्राम के समय शरण आकर कहते हैं कि 'तवास्मि' "आपके हैं," केवल इतना जो कहता है वह भी निर्भय हो जाता है, सर्व प्राणी मात्र को मैं अभयदान देता हूँ यह तो मेरा व्रत है ।

साधारण तो अपने प्रारब्ध के भोग का अनुभव करता है, यह 'किंवा जन' पद से कहते हैं— इस प्रकार भगवद्वाक्य साधारण है यों मानते हुए हम दुःख का अनुभव करें, यहां यों निर्णय किया है क्या ? वह हम नहीं जान सकते हैं, दुःख का अनुभव तो निर्णय कराने वाला नहीं है, यों हो तो शास्त्र मात्र के उच्छेद का प्रसंग आ जाएगा, यों कहने का तात्पर्य यह है कि अपने वाक्यों का पालन करने के लिए हमको छुड़ाओ ॥२७॥

आभास—ननु प्रत्यक्षविरोधिनं संदिग्धमिमं मार्गं विहाय ज्ञानमार्ग एव सर्वत्यागात्मको निरभिमानात्मको वा कुतो नाश्रीयत इत्याशङ्कां परिहरन्तो भगवच्छ्रियं निरूपयन्ति स्वप्नायितमिति ।

आभासार्थ—प्रत्यक्ष के विरोधी इस सन्देह वाले मार्ग का त्याग कर सर्व त्याग रूप, अभिमान रहित ज्ञान मार्ग का आश्रय क्यों न लेते हो ? इस शंका को मिटाते हुए, भगवान् के 'श्री' का 'स्वप्रायितं' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—स्वप्नायितं नृपसुखं परतन्त्रमीश

शश्वद्भूयेन मृतकेन धुरं वहामः ।

हित्वा तदात्मनि सुखं त्वदनी-

हलभ्यं विलश्यामहेऽतिकृपणास्तव माययेह ॥२८॥

श्लोकार्थ—हे ईश ! यह राज्य सुख स्वप्न समान तथा परतन्त्र है, हम निरन्तर भय से मृतक के समान हो इस भार को वहन कर रहे हैं, बिना किसी भी चेष्टा के प्राप्त होने वाले आत्म सुख को त्याग आपकी माया से मोहित होने से दीन बन दुःख भोग रहे हैं ॥२८॥

सुबोधिनी—वस्तुतो ज्ञानमार्गयोग्यो विषयो-
ऽस्ति, तथाप्यपरित्यागे हेतुः तव माया श्रीरूपा ।
अतो वाक्यं वा पालय, मायां वा व्यावर्तयेति ।
स्वप्नो मायामात्रमिति स्थितम् । नृपाणां सुखं
लोके प्रसिद्धम्, तन्मायिकमेव, व्यवहारे कापट्या-
धिक्यात्, माया हि कुहकाधीना, अन्तर्यामिप्रति-

निधित्वेन लोकं निरूपयन् भगवान् प्रतिकूल इति
ज्ञापयितुं सुखं विशिनष्टि परतन्त्रमिति । अन्त-
र्यामिणः सख्युः अनुचितमेतदित्याशङ्क्य सम्बो-
धयति ईशेति । माया स्वकार्यभोग्या, नत्वात्म-
भोग्येति ज्ञापयितुं साधनमाह मृतकेनेति । चेत-
नसंबन्धाभावाय तथा वचनम् । मायाकार्य साधने



स्पष्टमित्याह शश्वद्भूयेनेति । तेन भारवहनमत्यन्तं मायामोहितकार्यम् । लोका मृतकमेव कथञ्चिद्ब्रूयन्ति, त्यजन्ति वा, न तु मृतकेन किञ्चिद्ब्रूयन्ति, वयं तु तेन धुरं वहाम इति स्पष्टोऽस्मामुच्यते । ननु सुखासक्त्या असाधनेऽपि प्रवर्तते, प्रकारान्तरेण सुखमलभमान इति चेत्, तत्राह हित्वा तदात्मनीति । सुखस्य परमोत्कर्षमाह तदिति । आत्मनीति गमनक्लेशाभावः । क्रियाप्रयास व्यावर्तयति अनीहलभ्यमिति । तुशब्देन न्यायसिद्धान्तवन्निरानन्दात्मपक्षो व्यावर्त्यते । सुखप्राप्तिर्जानादनीहया च । निरोधादनीहा सम्भवतीति 'सर्वेहोपरतिस्तनु'रिति वाक्यात्

सुखप्राप्तिः । तथाप्यन्याभिनिवेशाद्वीनम् । 'भोक्ता तारतम्यं जानाती'ति न्यायात् विषयसुखमेव सर्वोत्कृष्टं भविष्यति, अन्यथा चित्तं कथं प्रवर्ततेत्याशङ्क्याह क्लिष्यामह इति । त्वदनीहलभ्यमिति पाठे त्वत्स्मरणेन तत्सुखस्य सुलभता निरूपिता । क्लेशस्यानुभवसिद्धत्वाद्विपरीतहेतुत्वेन अलौकिकत्वेनानान्तरीयत्वाच्च क्लेशपर्यवसानानुभवेऽपि अनिवृत्तत्वादतिकृपणा । अनालोचनेन याचनादिना अतिदीनाः । तत्र हेतुस्तवैव माया, अतो विज्ञापना । अन्यथेह विषयेच्छा न स्यात्, वैराग्यहेतूनामानन्त्यात् ॥२८॥

व्याख्यानार्थ— वास्तविक रीति से यह विषय ज्ञान मार्गीय त्याग के योग्य है, तो भी उस प्रकार के त्याग न हो सकने के कारण आपकी 'श्री' रूपा माया है, अतः आप आपके वचनों का पालन करो अथवा माया को मिटाओ, माया मात्र स्वप्न है, लोक में राजाओं का सुख प्रसिद्ध है वह मायिक ही है, उसके व्यवहार में कापट्य विशेष है क्योंकि माया कपट के आधीन है, लोक के अन्तर्यामी के प्रतिनिधित्व से निरूपण करते हुए कहते हैं कि भगवान् ही प्रतिकूल हैं, जिससे यह प्राप्त राजसुख परतन्त्र है, यहां भगवान् क्यों प्रतिकूल हैं इसको समझाया है कि भगवान् अन्तर्यामी रूप से जैसी प्रेरणा करते हैं मनुष्य त्यों करता है अतः अन्तर्यामी सखा है । यों कहना अनुचित है इस प्रकार शंका कर सम्बोधन देते हैं कि हे ईश ! आप सबके ईश हैं, अर्थात् ईश होने से सबके सखा है, जो कुछ कराते हो वह हित के लिये ही है, माया, अपने कार्य से भोग्य है नहीं कि आत्मा से भोग्य है, यह जताने के लिए साधन कहते हैं 'मृतकेन' चेतन के सम्बन्ध न होने के लिए यह वचन कहा है, माया का कार्य साधन से स्पष्ट है, यों कहते हैं 'शश्वद्भूयेन' निरन्तर भय से, इस कारण से भार का वहन करना अत्यन्त माया से मोहित होने का कार्य है, लोक मरे हुए को ही उठा के ले जाते हैं अथवा वहां ही छोड़ देते हैं, मर चुका, किसी को नहीं ले जा सकता है, हम तो उससे अच्छी तरह भार को वहन कहते हैं सुख में आसक्ति होने से मनुष्य जो असाधन है उसमें भी प्रवृत्त होता है, यदि अन्य प्रकार से सुख को प्राप्त न हो तो कहते हैं कि 'हित्वायेदात्मनि' तत्पद से सुख का परमोत्कर्ष कहा 'आत्मनि' पद से बताया कि जाने का कोई क्लेश नहीं है, उसकी प्राप्ति में किसी प्रकार की क्रिया करने का भी कष्ट नहीं है क्योंकि 'अनीहलभ्य' विना चेष्टा के प्राप्त करने योग्य है, 'तु' शब्द से न्याय सिद्धान्त में आत्मा निरानन्द कहा है उस पक्ष का निराकरण किया है, सुख की प्राप्ति ज्ञान से और चेष्टा के बिना होती है, यह निरीहा तब होती है जब निरोध सिद्ध हो जाता है, निरोध सिद्ध होने से 'सर्व प्रकार की इच्छा शान्त हो जाती है' इस वाक्यानुसार तब सुख की प्राप्ति हुई समझी जाती है, तो भी अन्य के अभिनिवेश से वह हीन है, 'भोक्ता तारतम्य को जानता है' इस न्याय से विषय सुख ही सर्वोत्कृष्ट वन जायगा, यों नहीं होवे तो चित्त की उसमें कैसे प्रवृत्ति होगी ? यों शंका कर कहते हैं कि 'क्लिष्यामहे' उससे तो हम दुःखी हो रहे हैं, 'त्वदनीहलभ्यम्' इस पाठ में आपके स्मरण से उस सुख प्राप्ति को सुलभता

दिखाई है अनुभव से सिद्ध है कि क्लेश पा रहे हैं, क्योंकि विषय सुख के भोगने से, अन्त में क्लेश ही होता है, अलौकिक सुख प्राप्ति में अनेक अन्तरीय होते हैं, अन्त में क्लेश का अनुभव करते हुए भी उसको त्यागते नहीं है जिसका कारण कि हम अति कृपण हैं। आलोचना न करने से, याचना आदि से, अति दीन हैं, इसमें कारण आपकी ही माया है इसलिए प्रार्थना करते हैं। यदि आपकी माया न होवे, तो इस जगत् में विषयों की इच्छा ही न होवे, वैराग्य के अनन्त कारण हैं ॥२८॥

आभास—एवं श्रियं निरूप्य भगवतो ज्ञानशक्ति निरूपयन्तः तत्फलं मोक्षं प्रार्थयन्ते तन्नो भवानिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार श्री का निरूपण कर भगवान् की ज्ञान शक्ति का निरूपण करते हुए उसके फल मोक्ष की 'तन्नो भवान्' श्लोक से प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—तन्नो भवान्प्रणतशोकहराङ्घ्रियुग्मो

बद्धान्वियुङ्क्ष्व मगधाह्वयकर्मपाशात् ।

यो भूभुजोऽयुतमतङ्गजवीर्यमेको

बिभ्रद्गुरोध भवने मृगराडिवावीः ॥२९॥

श्लोकार्थ—जैसे भेड़ी को सिंह रोक रखता है, वैसे दस सहस्र (हजार) हस्तियों के समान वीर्य वाले हमको इस जरासन्ध ने पकड़ रखा है, अतः हे शरणागतों के शोक को नाश करने वाले आपके चरण हैं, अतः आप जरासन्ध के कर्म बन्धन में पड़े हुए हमको छुड़ाओ ॥२९॥

सुबोधिनी—ब्रह्मज्ञानं मोक्षहेतुः, तदक्षरम्, अवतारे तस्य पादत्वम्, भक्तार्थमेव अवतार इति अस्मद्व्यापारव्यतिरेकेणापि स्वत एव तवाङ्घ्रिद्वयं प्रणतशोकहरं भवति । तेन तव या ज्ञानशक्तिः, सा चरणेन संवलिता प्रणतानां शोकं हरति । तत्रापि नो भवान् समानकालावतारान् अतो बद्धान् वियुङ्क्ष्व । नन्वेतादृशलौकिकबन्धनान्मोक्ष इति न ज्ञानसाध्यम्, तत्कथमसाधनेन साध्यप्रार्थनेति चेत् । तत्राहुः । 'मगधो मागधो जरासन्धः कर्मपाशस्यैव नामान्तरं तत् । 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि'ति वाक्यात् । देशगाम्नास्थित्या अधिककर्मणोत्पत्तिसम्भवात् न भोगेन क्षयसिद्धिः ।

ननु मागधस्य कर्मत्वे किं प्रमाणम्, तत्राहुः यो भूभुज इति । न हि कर्माधीनः कश्चिदयुतमतङ्गजवीर्यो भवति । अतो भूभुजामस्माकं भोगहेतुभूतमाधिभौतिकं कर्म निवार्य स्वयमाधिदैविकः । केवलं ज्ञानैकनिवर्त्यो भवति । तर्हि तस्मै राज्यं दत्त्वा तत्सेवका एव कुतो न भवन्ति, तत्राहुः मृगराडिवावीरिति । स हि भक्षणार्थमेव मेषीः स्थापयति । तथायमपि प्रमथनाथमखाय वधार्थमेव स्थापितवानित्यर्थः । अतस्तामसदेवतायै समर्पितानां तत्रैव प्रवेशात् कालान्तरेऽपि मोक्षो नास्तीति मरणात्पूर्वमेव वयं मोचनीया इति भावः । तद्भुवने निरोधो न पलायनसम्भावना ।



व्याख्यान—ब्रह्म ज्ञान, मोक्ष होने का कारण है, वह ब्रह्म अक्षर है, अवतार समय में उस अक्षर का पादत्व है, क्योंकि भक्तोद्धार के लिए ही अवतार है, इसलिए हम लोगों के बिना व्यापार के भी स्वतः ही आपके चरण युगल, शरणागतों के शोक का हरण करने वाले हैं, इससे आपकी जो ज्ञान शक्ति है, वह धर्म रूप ज्ञानात्मक चरणों से मिलकर शरणागतों के शोक को हरती है, उसमें भी समान काल में जन्मे हुए हम जो बन्धन में पड़े हैं उनको छुड़ाओ। इस प्रकार का यौक्तिक बन्धन, ज्ञान से नहीं छुड़ाया जाता है, इसलिए असाधन से साध्य की प्रार्थना कैसे करते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि मागध (जरासन्ध) कर्मपाश का ही दूसरा नाम है, 'क्षीयन्ते चास्य वर्माणि' इस वाक्य से, देश नाम से स्थिति होने से अधिक कर्मों की उत्पत्ति का सम्भव है, जिससे उनका भोग से क्षय होने का नहीं, मागध कर्म है, इसमें क्या प्रमाण है ? इसके उत्तर में 'यो भूभुजोऽयुत' कहा है, दश सहस्र हस्तिओं में जितना पराक्रम होता है उतना इस एक में है, इतना दीर्घ किसी एक कर्माधीन में नहीं होता है, इसलिए वह कर्म रूप है, अतः हम राजाओं का भोग का हेतु आधिभौतिक कर्म निवारण कर स्वयं आधिदैविक बन बैठा है, अतः केवल एक ज्ञान से निवृत्त के योग्य है, यदि यों है तो उसको राज्य देकर उसके सेवक ही क्यों नहीं बन जाते हो, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'मृगराडिवावीः' जैसे सिंह भेड़ को खाने के लिए ही पकड़ लेता है वैसे ही इसने भी हमको प्रमथ नाथ के यज्ञ में बलि देने के लिए बन्धन में रखा है, अतः तामस देवता को जो समर्पित हो, उनका वहां ही प्रवेश होने से कालान्तर में भी मोक्ष नहीं होता है, इसलिए मरण से पहले ही हम छुड़ाने के योग्य हैं, कहने का यह ही भाव है, यदि कहो कि भाग जाओ तो वह भी सम्भव नहीं है क्योंकि उसके घर में हम कैद हैं ॥२६॥

आभास—भगवतो भोगासक्ति निवारयन्त इव, रक्षासक्ति प्रकटयन्तः भगवदीय-
त्वं स्वस्य वदन्तः भगवतो वैराग्यशक्तिमुररीकुर्वन्तः वैषम्यनैर्घृण्यपरिहारार्थं पूर्व भग-
वद्वृत्तान्तमाहुः यो वै त्वयेति ।

आभासार्थ—भगवान् की भोगासक्ति का मानो निवारण करते हुए, रक्षा शक्ति को प्रकट करते हुए, अपना भगवदीय कहते हुए, भगवान् की वैराग्य शक्ति को स्वीकार करते हुए भगवान् के वैषम्य नैर्घृण्य^१ दोषों के परिहार करने के लिए भगवान् के पूर्व वृत्तान्त को 'यो वै त्वया' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—यो वै त्वया द्विनवकृत्व उदात्तचक्रः

भग्नो मृधे खलु भवन्तमनन्तवीर्यम् ।

जित्वा नृलोकनिरतं सकृदूढदर्पो

युष्मत्प्रजा रुजति नोऽजित तद्विधेहि ॥३०॥

१—पूर्व वृत्तान्त कहने से यह दिखाया है कि यह अभिमानी हो गया है, अतः इसके हित के लिए आपको मारना चाहिये, यो कह कर वैषम्य नैर्घृण्य दोष का परिहार किया है ।

श्लोकार्थ—जिसको आपने अठारह बार युद्ध में अपने चक्र से भगाया है, वह आपको केवल एक बार जीतकर अभिमान में आ गया है, जिससे आपकी प्रजा जो हम हैं, उनको दुःख दे रहा है, अतः हे अजित ! हम लोगों की रक्षा कर इसको जीत अपने 'अजित' नाम को सार्थक करो ॥३०॥

सुबोधिनी— वस्तुतस्तुष्ट्वादशेषऽपि कार्यस्या-
निष्ठत्वाद्भङ्ग एव, अत आह द्विनवकृत्व इति
प्रजापतिर्वा विद्या वा न तस्य जयहेतुरिति रज-
स्तमोगुणावेव इतरसंश्लेषादाधिदैविकादिभेदा-
पन्नौ हेतू इति नवसङ्ख्यायाः आवृत्तिरुक्ता ।
भगवन्माहात्म्यात्तद्गताधिदैविकैरेव भङ्गं व्याव-
र्तयितुमाह उदात्तचक्रेति । चक्रेण कालशक्त्यैव
भक्षणार्थं व्यात्तया मृधे स भग्नः । खल्विति ।
नात्र तिरोहितं किञ्चिदिति सूचितम् । ननु जया-
पजययोरव्यवस्थितत्वात् कथमेकस्यैव पराजय
इति चेत् । तत्राहुः भवन्तभनन्तवीर्यमिति ।
परिमितदलानामेव जयाजयव्यवस्था । तथापि

कपटवैपलीलायाः प्रकटितत्वात्तद्विरोधाभावाच्च
नृलोकनिरतम् । सकृद्दुष्पुगाक्षरन्यायेन गृह्यहेतोर्वा
जित्वा ऊढदर्पो जातः । वयं तु केवलं भवत्परि-
पालया एव, मर्यादापरित्यागेन पुष्टिमागविलम्ब-
नात् । अतो यस्य भवदपेक्षाभावः तेन सर्वथैव
बाध्याः । यतो युष्मत्प्रजाः रुजति पीडयति ।
तर्हि लोकन्यायस्य स्वीकृतत्वात् कथं सोऽन्नमिति
चेत् । तत्राहुः हे प्रजितेति । तत्र स्वरूपमजि-
तेति । 'द्रव्यसंस्कारविरोधे द्रव्यं बलीय' इति
न्यायेन लीलाप्रदर्शनं दूरीकृत्य अस्मात् पान्दवन्
तत्स्वस्याजितत्वं विधेहि । अनेन सर्वे भन्देहा
ग्रन्थपक्षयश्च निवारिताः ॥३०॥

व्याख्यानार्थ— वास्तविक रीति से तो अठारहवें में भी कार्य असिद्ध होने से भग्न हो हुआ, अतः 'द्विनवकृत्व' यों कहा प्रजापति अथवा विद्या उसके जय का कारण नहीं, इसलिए रजोगुण और तमोगुण परस्पर मिलने से आधिदैवादिकादि भेद को प्राप्त हुए वे ही हेतु हैं, इसलिए नव सङ्ख्या की आवृत्ति कही है, 'उदात्तचक्रभग्न' पद से यह सूचित किया है कि आधिदैविकादि भेद को प्राप्त हेतुओं से भग्न न हुआ है, किन्तु भगवान् के माहात्म्य से भक्षण के लिए व्याप्त काल शक्ति से ही युद्ध में चक्र द्वारा वह भग्न हुआ निश्चय से इसमें कुछ भी तिरोहित नहीं है यह सूचित किया है, जय और पराजय निश्चित न होने से कैसे एक को ही पराजय कहते हो ? यदि यों कहो तो कहते हैं कि जय और पराजय की व्यवस्था परिमित बल वालों की ही कही जाती है, आप तो अनन्तवीर्य हैं वहां यह व्यवस्था नहीं है वहां तो जय ही निश्चित है, तो भी कपट वेष की लीला के प्रकट होने से उसका विरोध न होवे इसलिए मनुष्य लोक में आप नितराम् रत हैं, अतः एक बार धुराक्षर न्याय से अथवा इसमें कोई गूढ़ हेतु छिपा हुआ है जिससे वह जीत कर महान् अभिमानी हो गया है, हम तो केवल आपके परिपात्य ही हैं, क्योंकि हमने मर्यादा का त्याग कर अनुग्रह मार्ग का आश्रय लिया है अतः जिसको आपकी अपेक्षा नहीं है उससे सर्व प्रकार से ही हम दुःखी हो रहे हैं इसलिए आपकी प्रजा जो हम हैं वे दुःखी हो रहे हैं कारण कि वह हमको पीड़ा कर रहा है, हमने तो अब लोक न्याय का स्वीकार किया है अतः कैसे छुड़ावें ? यदि यों कहते हो तो कहते हैं कि आप 'अजित' हैं आपका स्वरूप किसी से जीता नहीं जाता है, 'द्रव्य और संस्कार का जहां विरोध होता है वहां द्रव्य बलवान् होता है' इस न्याय से लीला का प्रदर्शन दूर कर हमारी पालना करते हुए, वह अपना अजित पन पालन करो, यों कह कर सर्व सन्देह और अनृपपत्तियों का निवारण किया ॥३०॥

बिभ्रत्पिङ्गजटाभारं प्रादुरासीद्यथा रविः ।

सुबोधिनी—देवानामपि मन्त्रद्रष्टृत्वात् तदानीमागमनमुचितम् । अन्येषां बाधकानां तेजोदूरीकरणाय परमद्युतिरिति । अधिकारिणो नात्यन्तं वचनमादरणीयमिति शङ्कां वारयितुमाह विभ्रत्पिङ्गजटाभारमिति । तपोरूपमेतत् । तत्र-

आभास—ततः तस्यागतस्य वाक्यसन्माननार्थं लौकिकसन्माननं निरूप्यते तं दृष्ट्वेति त्रिभिः ।

ववन्द उत्थितः शीर्ष्णा ससभ्यः सानुगो मुदा ॥३३॥

श्लोकार्थ—सब लोकपालों के ईश्वर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र सब सभासदों और अनुजों के साथ नारदजी को देखते ही उठकर खड़े हो गए और सिर नमाकर प्रणाम किया ॥३३॥

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ ३३ ॥

सुबोधिनी—कायिकमानसिकवाचनिकैः । तादीति ज्ञापयितुमाह सर्वलोकेश्वरेश्वर इति । तत्र कायिकमुत्थानं वन्दनं च सर्वैः सहेति त्रयम् । ऋषित्वाल्लोकस्थानीयः गुरुत्वादीश्वरो वा । हर्षो मानसः । भगवत्त्वादनुचितत्वेऽपि कृष्ण- अतोऽवनतिर्न दोषाय । सर्वपदेन देवपितृवृत्तो- त्वेनावतीर्ण इति तथात्वमुचितम् । शिक्षार्थमे- ऽप्युत्कर्षो निवारितः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—कायिक, मानसिक और वाचनिक; यों तीन प्रकार से सन्मान किया । उनमें से प्रथम कायिक किस प्रकार किया ? वह कहते हैं, सब गभासद एवं अनुजों के साथ उठकर खड़े हुए और नमस्कार किया । हर्ष से किया, यह मानस आदर किया । यद्यपि भगवान् होने से नारदजी के आने पर उठना तथा उनको प्रणाम करना उचित नहीं था, तो भी अब कृष्ण रूप से अवतार लिया है, अतः अवतार दशा में यों करना योग्य है । यों करना अन्यो को शिक्षा देने के लिए है कि गृह में आए हुए का इस प्रकार सन्मान करना चाहिए । देखो ! कि मैं सर्व लोकपालकों का ईश्वर होकर भी गृहागत का किस प्रकार आदर करता हूँ ? नारदजी का इस प्रकार आदर करने से भगवान् की हीनता, दोष के लिए नहीं है; क्योंकि ऋषिपुत्र से लोक स्थानीय है अर्थात् लोक में मन्त्रद्रष्टा होने से श्रेष्ठ हैं, गुरु होने में ईश्वर सम है । 'सर्व' पद से देवपितृपुत्र से जो उत्कर्ष है, उसका भी निवारण किया ॥३३॥

श्लोक—सभाजयित्वा विधिवत्कृतासनपरिग्रहम् ।

वभाषे सुनृतैर्वविदैः श्रद्धया तर्पयन्मुनिम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—नारदजी का विधि अनुसार पूजन कर, उनको आसन दिया, मधुर वचनों से और श्रद्धा से मुनि को प्रसन्न करते हुए भगवान् बोलने लगे ॥३४॥

सुबोधिनी—सभाजनं तन्मनःप्रीतिकरणं लौकिकम् । ऋषित्वाद्देवाभिनिवेश इति, तदप्याह विधिवदिति । ईश्वरधर्मविचारेण कदाचिदन- ग्रहमिति । दत्तासनस्वीकारः परिग्रहः । ततो वाचनिकारम्भमाह वभाषे सुनृतैरिति । स हि श्रद्धया परितुष्यति, तदाह श्रद्धया तर्पयन्निति । ङ्गीकारे कृतं व्यर्थं स्यादित्यत आह कृतासनपरि- मानसमेतत् । सोऽपि मुनिस्तेनैव परितुष्यति ॥

व्याख्यार्थ—'सभाजनं' अर्थात् उनके मन को प्रसन्न करना; यह लौकिक है, ऋषिपुत्र से वेद में भी पूर्ण प्रवेश है, अतः उनका पूजनादि से आदरादि विधिवत् किया । ईश्वर धर्म के विचार से यदि कदाचित् वह पूजनादि स्वीकार न करे तो किया हुआ व्यर्थ होगा, इसके उत्तर में कहते हैं कि उन्होंने पूजन स्वीकार किया जैसा कि 'कृतासन परिग्रह' भगवान् के दिए हुए आसन पर बिराजे, पश्चात् वाचनिक सत्कार करने लगे, वह कहते हैं कि 'वभाषे सुनृतैः' मधुर वाक्य कहने लगे, वे भी श्रद्धापूर्वक कहकर उनको प्रसन्न किया; क्योंकि श्रद्धा मानस-पूजन है, वह मुनि भी उससे ही प्रसन्न होता है ॥३४॥

आभास—वाचनिकं दृष्टेनाह अपि सिद्धिति ।

आभासार्थ—वाचनिक 'अपि स्वित्' दो श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—प्रपि स्विदद्य लोकातां त्रयारणामकुतोभयम् ।

ननु भूयान् भगवतो लोकान् पर्यटतो गुणः ॥३५॥

श्लोकार्थ—भला अभी तीनों लोक निर्भय हैं, आप भगवान् के लोकों में पर्यटन से महान् लाभ है ॥३५॥

सुबोधिनी—सर्वलोकाधिकारिणो लोकत्रय-
स्य गृहत्वात् तत्कुशलप्रश्न एव कर्तुं मुचितः स्तु-
तिरूपश्च भवति । अपि स्विदिति सन्देहर्गमित-
सम्भावना । राज्ञां वन्धनस्य श्रुतत्वात् सन्देहः ।
अकृतोभयमिति । स्वत एवाज्ञानाद्भयम्, न त्व-

न्यत इति रहस्यम् । ननु लोकेश्वरस्य कथं पर्य-
टनमित्याशङ्क्याह ननु भूयान् भगवत इति ।
लोकान् पर्यटतो भगवतस्तव सतः भूयानेव गुणो
भवतीत्यर्थः । अतः सर्वलोकहितार्थं परिभ्रमण-
मित्यर्थः । अनेन तस्य स्तुतिरुक्ता ॥३५॥

व्याख्यार्थ—सर्व लोकों में जाने के अधिकारी के तीनों लोक गृह हैं, उससे कुशल प्रश्न ही करना योग्य है और वह स्तुति रूप होता है। 'अपि स्वित्' इस पद से सन्देह की गभित सम्भावना जानने में आती है, राजाओं के बन्धन सुनने से सन्देह होता है। 'अकुतोभयम्' पद का निगूढ आशय यह है कि अन्य किसी से भय नहीं है, किन्तु केवल अपना अज्ञान होने से ही भय है। लोकेश्वर भ्रमण कैसे करते हैं ? इसके उत्तर में कहते हैं कि लोकों में भगवान् के भ्रमण होने से बड़ा गुण है अर्थात् लाभ है कारण कि इनका भ्रमण सर्व लोकों के हित के लिए है, यों कहने से उनकी स्तुति कही है ॥३५॥

आभास—प्रकृतोपयोगिकार्यं प्रष्टुं तस्य ज्ञानमाह न हि तेऽविदितं किञ्चिदिति ।

आभासार्थ—प्रकृतोपयोगी कार्य के पृच्छने के लिए उसका ज्ञान 'न हि ते' श्लोक से कहते हैं।

श्लोक—न हि तेऽविदितं किञ्चिल्लोकेऽवोश्चरकर्तृषु ।

अथ पृच्छामहे युष्मान्पाण्डवानां चिकीर्षितम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—ईश्वर के बनाए हुए लोकों में जो कुछ है, वह आप से गुप्त नहीं है, इसलिए पाण्डवों की क्या इच्छा है ? वह आप से पूछते हैं ॥३६॥

सुबोधिनी—अयं हीश्वरस्येच्छाशक्तेराधि-
भौतिकरूपः, यावद्भगवानिच्छति, करोति च,
तत्सर्वमस्य विदितम् । ईश्वर इति । मूलभूतः
काल इति विमर्शः । अतु ईश्वरेच्छया पाण्डवानां

यच्चिकीर्षितम्, तत्तव विदितमेवेति युष्मान्
पृच्छामहे । हे आयुष्मन्निति वा । अथशब्दो
हेत्वर्थः आनन्तर्यपर्यायः ॥३६॥

आभासार्थ—भगवान् ने जो कायिक और वाचनिक जिस प्रकार किया, वह उचित नहीं, यों कदाचित् उपस्थित भगवत्प्रश्न मेरा जन अन्य प्रकार से करे अर्थात् अनुचितत्व ज्ञान होने पर न कहे, भगवान् के किए हुए कार्य की अनुचितता का जो ज्ञान होता है, वह माया का कार्य है, इस-लिए उस माया का अभाव हो, वैसी प्रार्थना 'दृष्ट्वा' श्लोक से तीन श्लोकों में करते हैं ।

च्छन्नरुचो न मेऽद्भुतम् ॥३७॥

सुबोधिनी—अनेकधा सर्वजनव्यामोहिकाः
बहुधा प्रवर्तमाना मया दृष्टाः । तत्र स्वाज्ञान-
प्रकटनेन हीनभावप्रकटनेन च केवलमेकस्य मम
व्यामोहनं किमाश्चर्यमिति वाक्यार्थः । मायायाः
स्वरूपज्ञानमेवात्ययोति क्रमः । तद्भ्रगवन्मायासु
न कस्यापि भवतीति दुरत्ययाः । वस्तुव्यभिचारे
सकृदवगते पुनः प्रदर्शिता माया ज्ञाता भवतीति
शङ्कां वारयितुं बहुश इत्युक्तम् । एका सहस्रधा
प्रदर्शितापि न बुध्यत इति । एवं करणे सामर्थ्य-
माह विभो इति । प्रयोजनमाह विश्वसृज इति ।
मायया जीवव्यामोहाभावं विश्वोत्पत्तिर्न स्यात् ।

चकारातिस्थितिप्रलयौ । किञ्च । मायी भगवान्,
मायानामेक एवाश्रयः, तासामप्रदर्शने प्रचार एव
न स्यादित्यावश्यकत्वमुक्तम् । किञ्च । माया-
नामप्रकटीकरणे महत्त्वे वानुपपत्तिरित्यभिप्राये-
णाह मूतेषु भूमंश्चरत इति । चरणावश्यकत्वाय
संबोधनम् । सकलभूतसम्बन्धो हि भूमा । तद्गत-
दोषसम्बन्धाभावाय स्वशक्तिभिरित्यसाधारण-
सामर्थ्यं । अन्यथाभिमानमात्रे जीवे सर्वावस्थाः
प्रवृत्तयश्च न भवेयुः । ननु भगवतः सर्वे गुणाः
रावेत्र प्रसिद्धाः, मायागुणाः क्व प्रसिद्ध इत्याशङ्क्य
दृष्टान्तमाह वह्नेरिव छन्नरुच इति । वह्निर्जलादौ



प्रविष्टः स्वकार्यं कुर्वन्नपि छन्नरुभवति । रूप-
स्पर्शयोर्मध्ये अन्यतरप्राकट्यं ज्ञातधर्मस्य मायया
विना न सम्भवतीति बह्वैः प्रथमोत्पन्नस्य स्व-
धर्मः प्रकट इत्यर्थः । यस्तु भगवतो माहात्म्यं
जीवेषु समत्वादिकं च पश्यति, तस्य विरुद्धधर्म-

दर्शनादद्भुतज्ञानं भवति । मम तु दर्शनेऽपि
सिद्धान्तार्थपरिज्ञानान्नाद्भुतं आश्चर्यज्ञानजनकं
न भवतीत्यर्थः । इममेवार्थं पुरस्कृत्य मायया
विरोधसमाधानमिति वाक्यं भ्रमादन्यथा कैश्चि-
द्योजितम् । ३७॥

व्याख्यार्थ—नारदजी कहते हैं कि मैंने जहाँ अनेक प्रकार सर्व जनों को मोहित करने वाली, विविध प्रकार से प्रवृत्त हुई आपकी मायाएँ देखी हैं, वहाँ अपने अज्ञान प्रकट करने से और हीन भाव प्रकट करने से, केवल अकेले मुझको मोहित करना, इसमें मुझे कौनसा आश्चर्य होगा ? यों वाक्यार्थ है । माया के स्वरूप का ज्ञान ही उसका अतिक्रमण करना है । भगवन्मायाओं का वह स्वरूप ज्ञान किसी को भी नहीं होता है, इसलिए मायाएँ दुरत्यय हैं अर्थात् उनका अतिक्रमण कर पार पहुँच जाना कठिन है । यदि कहो कि वस्तु का व्यभिचार करने से देखने में आई माया को एक बार समझा जावे, तो माया के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है, इस प्रकार की शङ्का को मिटाने के लिए 'बहुशः' एक, हजार प्रकार से वा हजार बार दिखाई हुई भी समझ में नहीं आती है, यों करने में सामर्थ्य है, जिसको कहते हैं कि 'विभो' आप सर्व प्रकार सामर्थ्यवान हैं, प्रयोजन कहते हैं, 'विश्वसृजः' आप विश्व को रचते हैं, यदि माया से जीव व्यामोह में न पड़े तो विश्व की उत्पत्ति ही न हो सके । 'च' पद से विश्व की स्थिति और प्रलय भी कही है, 'किञ्च' और विशेष भगवान् मायी हैं, मायाओं के एक आप ही आश्रय स्थान है, उन मायाओं का यदि प्रदर्शन न किया जाय तो प्रचार ही न हो सके, इसलिए यों करना आवश्यक कहा है, मायाओं के प्रकट न कर दिखाने में महत्व की उत्पत्ति नहीं होगी, इस अभिप्राय से कहा है । 'भूतेषु भूमंश्चरत' चरण की आवश्यकता सिद्ध करने के लिए भूमन् ! यह पद सम्बोधन में कहा है, समस्त भूतों में जिसका सम्बन्ध है, ऐसा भूमा है अर्थात् भूत मात्र से उसका सम्बन्ध है, यदि भूतों से सम्बन्ध वाला भूमा है, तो उनके दोष भूमा में आ गए होंगे, उनके दोषों का सम्बन्ध भूमा से नहीं है यह जताने के लिए कहा है कि 'स्वशक्तिभिः' अपनी असाधारण शक्तियों के होने से दोषों का सम्बन्ध नहीं होता है, अन्यथा का तात्पर्य 'अभिमान मात्रे' पद है, सचमुच भूतों में 'चरण' नहीं है, किन्तु केवल अभिमान है, ऐसे जीव में सर्व प्रकार की अवस्थाएँ और प्रवृत्तियाँ नहीं होनी चाहिए, भगवान् सर्वगुण सर्वत्र प्रसिद्ध हैं, मायागुण कहाँ प्रसिद्ध है ? अर्थात् प्रसिद्ध नहीं है, इस शङ्का को मिटाने के लिए दृष्टान्त देते हैं । 'बह्वैरिवच्छन्न रुचः' जैसे अग्नि उष्ण जल आदि में प्रविष्ट होकर अपना कार्य धूम्र आदि करती हुई भी प्रकट देखने में नहीं आती है तथा अग्नि से जल उत्पन्न होने से जल अग्नि का कार्य है अर्थात् धर्म है, उस धर्म रूप जल से अग्नि छादित है, जिससे देखने में नहीं आती है, वैसे भगवान् सबको प्रकाशित करते हुए भी स्वयं अपनी शक्ति माया से अपने स्वरूप को छिपा देते हैं, जिससे मायागुण की प्रसिद्धि है, अग्नि के धर्म, रूप और स्पर्श को जानने वाले पुरुष के आगे बह्वै का रूप और वायु के मिलाप से आया हुआ स्पर्श, इन दोनों में से जैसे एक स्पर्श का ही प्राकट्य होता है, वैसे ही जल की भाँति माया ने ही भगवान् के स्वरूप का आच्छादन किया है । इस माया गुण से ही माया की प्रपञ्च में प्रसिद्धि हुई है । जो मनुष्य जीवों में समानतादि भगवान् के माहात्म्य को देखता है, उसको विरुद्ध धर्मों के दर्शन से अद्भुत ज्ञान होता है, मुझे दर्शन में भी सिद्धान्त के तत्त्वज्ञान होने से,

अन्य कुछ नहीं है तो भी अविद्यमान जो घटत्व है, उसका ही विद्यमानत्व निश्चय किया जाता है, अतः भगवान् के ज्ञानाभाव से इस प्रकार के भगवान् की स्थिति होने पर प्रपञ्च का हीनत्व कथन ही बाधितार्थ है, इस प्रकार के ज्ञानाभाव से आच्छादन करने वाला माया तत्व भी नहीं जाना जाता है। हममें ज्ञान का अभाव है, इसलिए हम वैसे आपको केवल नमस्कार ही करते हैं, आपका स्वरूप स्वतः ही सर्व विलक्षण है, जिससे जीव स्वरूप हम आपको नमस्कार करने के ही योग्य है ॥३८॥

आभास—नन्वेवं सति भगवाननर्थहेतुः कथं सेव्य इति चेत्, तत्राह जीवस्येति ।

आभासार्थ—यदि यों है तो अनर्थ के हेतु भगवान् कैसे सेवन के योग्य हैं ? इसका उत्तर 'जीवस्य' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—जीवस्य यः संसरतो विमोक्षणं न जानतोऽनर्थवहाच्छरीरतः ।

लीलावतारैः स्वयशःप्रदीपकं प्राज्वालयत्वा तमहं प्रपद्ये ॥३९॥

श्लोकार्थ—अनर्थ रूप शरीरों को ग्रहण कर संसार में विचरण करता हुआ जीव संसार से कैसे छूटे, इसको नहीं जान सकता, यदि आप लीलावतारों से प्रकट होकर अपना यश रूप दीपक प्रज्वलित कर अज्ञानान्धकार मिटा कर शरण मार्ग न दिखाते, वैसे जो आप दयालु हैं, उनकी हम शरण आए हैं ॥३९॥

सुबोधिनी—यः स्वयशःप्रदीपकं प्राज्वालयत्, तं त्वामहं प्रपद्ये इति सम्बन्धः । तदा भगवाननर्थहेतुः स्यात्, यद्यनन्तं संसारं सृजेत्, द्वाराभावं वा सर्वथाऽज्ञानं वा । प्रत्युत सर्वपदार्थज्ञानाय स्वयशःप्रदीपकं वेदपुराणेषु प्रसिद्धमवतारं गृहीत्वा प्राज्वालयत् । अन्यथा शब्दैकनिष्ठस्य न

कदापि धर्मः प्रसिद्धो भवेत् । भगवन्मायान्धकारे यश एव प्रदीपो भवति, न ज्ञानादि, 'ज्ञानकाशये'ति वाक्यात् । प्रज्वालनहेतवोऽपि न दुःखसम्पाद्याः, किन्तु लीलावताराः । तत्प्रपन्नार्थैव प्रज्वालयतीति तं त्वामहं प्रपद्ये ॥३९॥

व्याख्यार्थ—जिसने अपने यश रूप दीपक जलाये हैं, उस आपकी शरण मैं ले रहा हूँ, यों सम्बन्ध है । भगवान् अनर्थ के हेतु तब बने, जब अनन्त संसार को रचे, किन्तु उनसे छूटने का द्वार न रखे अथवा सर्वथा अज्ञान ही रहे । बल्कि आपने तो उनसे छूटने के लिए, सर्व पदार्थों का जैसे सत्वा ज्ञान हो जावे, इसके लिए वेद और पुराणों में प्रसिद्ध लीलावतार धारण कर अपना यश रूप दीपक जला दिया है, जिस प्रकाश से जीव का अज्ञानान्धकार मिट जाता है । जीव बिना क्लेश शरण लेकर संसार से पार हो जाता है । यदि आप (भगवान्) यो कृपा कर न करते तो शब्द मात्र में निष्ठा वाले को कभी भी धर्म सिद्ध न होता । भगवान् के मायान्धकार का नाश करने के लिए यश ही दीपक है, न ज्ञान आदि । 'ज्ञानकाशये' इस वाक्य से दीपक प्रज्वलित करने वाले कारण भी दुःख से सम्पादन करने योग्य नहीं अर्थात् वे भी सरल है; क्योंकि वे 'लीलावतार' है, उनकी

ॐ नमो भगवते वासुदेवाय ॥ १३६ ॥

शरण जाते ही वे यज्ञ दीपक स्वतः प्रकाश दे देते हैं, इसलिए ऐसे आपकी शरण मैं आया हूँ ॥३६॥

आभास—अतो यद्यपि ज्ञात्वैव व्यामोहार्थमज्ञाननाट्यं करोषि, तथापि पृष्टेर्था उत्तरं दास्ये इत्याह अथापीति ।

आभासार्थ—अतः यद्यपि जानकर ही ऋज्ञान का नाट्य करते हैं तो भी जो आपने प्रश्न किया है, उसका उत्तर दूँगा, यों 'अथापि' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—अथाप्याश्रावये ब्रह्मन् नरलोकविडम्बनम् ।

राजः पैतृष्वस्त्रे यस्य भक्तस्य च चिकीर्षितम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! यद्यपि आप मनुष्य नाट्य दिखा रहे हैं, तो भी आपकी वृत्ता (भूवा) के बेटे एवं आपके भक्त राजा युधिष्ठिर की इच्छा को सुनाऊँगा ॥४०॥

सुबोधिनी—भूमन्निति । तवात्मसङ्गोपनमा-
वश्यकमिति । कथने हेतुः ब्रह्मन्निति । वेदवत्त-
वाज्ञा सर्वैरेव वक्तुं शक्येति सूचितम् । यदस्मत्स-
न्तोषार्थं लोवकुशलं पृष्टम्, तस्य स्तुतिपरत्वात्त-
त्रोत्तरं न दास्यामि, किन्तु पैतृष्वस्त्रे यस्य भुधि-

ष्ठिरस्य चिकीर्षितमाश्रावयिष्ये । राजो हि
चिकीर्षितं प्रजानां हितकारि भवति, बन्धोर्वन्धूनां
भक्तस्य भगवतः चकारात्सर्वेषां हितकारि
गुणवतः ॥४०॥

व्याख्यानार्थ—आपको अपने को छिपाना आवश्यक है; क्योंकि आप 'ब्रह्म' हैं, यों कहने से यह सूचित किया कि वेद की तरह आपकी आज्ञा सबको माननी चाहिए । आपने जो मुझ से लोक कुशल पूछा, वह मेरे सन्तोष करने के लिए पूछा है और वह स्तुति परायण है, अतः उसका उत्तर न दूँगा, किन्तु आपके भक्त तथा वृत्ता के बेटे राजा युधिष्ठिर की क्या करने की इच्छा है, वह बताऊँगा, राजा जो करना चाहता है, वह कार्य प्रजाओं का हित करने वाला होता है, बन्धु जो करना चाहता है, वह बान्धवों का हितकारी होता है, भक्त जो करना चाहता है, वह भगवान् का हितकारी होता है । 'च' पद से यह जताया है कि भगवान् जो करना चाहते हैं, वह सबका हितकारी होता है ॥४०॥

आभास—तदेवाह यक्ष्यतीति ।

आभासार्थ—जो युधिष्ठिर करना चाहता है, वह 'यक्ष्यति' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—यक्ष्यति त्वां मखेन्द्रेण राजसूयेन पाण्डवः ।

पारमेष्ठ्यकामो नृपतिस्तद्भुवाननुमोदताम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर पारमेष्ठ्य सम्पत्ति प्राप्त करने की इच्छा से राजसूय यज्ञ से आपका यजन करना चाहता है, उसका आप अनुमोदन करो ॥४१॥

सुबोधिनी—त्रिधा हि यज्ञकृतिः, फलार्था भौतिकी, शुद्धचर्थाध्यात्मिकी, भगवदर्थार्थिदैविकीति । ‘यज्ञेन यज्ञमयजन्ते’ति श्रुत्या सैव निरूपिता । तत्र प्रतिबन्धकनिवृत्तिः भगवत्तैव कर्तव्या, इज्यान्तराभावादित्यभिप्रेत्याह त्वां यक्ष्यतीति । ‘यज्ञो वै मख’ इति श्रुतेः । आधिदैविक एव यज्ञो मखो भवति । प्रकरणवशात् क्षत्रियस्य राजसूयादन्यः यज्ञः श्रेष्ठो नास्तीति । उपरतानां क्षत्रियाणां ब्राह्मणानामेव दीर्घसत्रेष्वधिकारात् । महति च बहवो विघ्नाः । पाण्डव इति पण्डुवाक्यात् अवश्यकर्तव्यत्वम् । भगवान् सर्वभावेन सेव्यः प्राणिना (तदा), यदा कदाचित्

तादृशी सेवा नियतकालसाधनसम्पत्तौ भवति । सा सम्पत्तिः परमेष्ठिन एव, नान्यस्य इति पार-
मेष्ठ्यकामः । अन्तस्तथा सेवायामनधिकारमाह
नृपतिरिति । तत्रेज्यानुमतिः प्रयोजिका, तदभावे
तोषामावात् । देवतातः फलमिति पक्षे न फलं
कर्मणः । कर्मणः फलमित्यपि पक्षे देवताप्रीतिः
साधनत्वेन सिद्धेति तदभावे न फलम् । 'तृप्त
एवैनमिन्द्रः प्रजया पशुभिस्तर्पयती'ति श्रुतेः ।
अतः पूजायां पूज्यानुमोदनमावश्यकमिति भवा-
ननुमोदताम् । इदमनुमोदनं समीपे स्थित्वा ।
पूजापूज्ययोः देशान्यत्वासम्भवात् । अनेनैव यशः
स्वर्गहेतुभूतमन्तःकरणशुद्धिश्च भविष्यतः ॥४१॥

व्याख्यानार्थ—यज्ञ तीन कार्यों के लिए होता है, इसलिए उसकी 'कृति' तीन प्रकार की है, जो यज्ञ फल की कामना से किया जाता है, वह भौतिक 'कृति' है, जो अन्तःकरणादि की शुद्धि के लिए किया जाता है, आध्यात्मिकी 'कृति' है और जो निष्काम भगवदर्थ किया जाता है, वह 'आधि-दैविकी' कृति है। 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' श्रुति से वह आधिदैविकी कृति का वर्णन किया है, उसमें यदि कोई प्रतिबन्ध करने वाला होता है तो उसका निवारण भगवान् ही करते हैं, यह यज्ञ किसी प्रकार दूसरा नहीं है, इसमें आपको ही पूजेगा; क्योंकि 'यज्ञो वै मखः' इस श्रुत्यनुसार आधिदैविक यज्ञ ही 'मख' है, प्रकरण वश क्षत्रिय के लिए राजसूय से श्रेष्ठ दूसरा कोई यज्ञ नहीं है, संसार में उपरत क्षत्रियों का और ब्राह्मणों का ही लम्बे समय में होने वाले बड़े यज्ञों में अधिकार है और बड़े यज्ञों में बहुत विघ्न पड़ते हैं, यदि यों है तो क्यों करते हैं? जिसका उत्तर देते हैं कि 'पाण्डवः' पण्डु वाक्य कहकर बताया है कि इनका अवश्य कर्त्तव्य है, भगवान् प्राणी से सर्व भाव से सेवा के योग्य हैं, किन्तु वैसी सेवा कदाचित् बन सकती है, जब नियत काल में साधन सम्पत्ति हो, तब अवश्य करनी चाहिए, वह सम्पत्ति परमेश्वर की ही है, न अन्य की। अतः उसकी कामना वाला है, उस सम्पत्ति की प्राप्ति से ही नित्य सेवा पूर्ण रीति से हो सकेगी।

वैसे अन्तः सेवा में अनधिकार है; क्योंकि राजा है, इसलिए यज्ञ करने की सम्मति प्रयोजिका है, सम्मति के अभाव में प्रसन्नता न होगी, फल देवता से मिलेगा, इस पक्ष में कर्म का फल नहीं, कर्म का फल है इस पक्ष में देवता की प्रीति साधनपन से सिद्ध होगी, इसलिए उसके अभाव में फल की प्राप्ति नहीं। 'तृप्त एवैनमिन्द्रः प्रजया पशु-भिस्तर्पयति' इस श्रुति के अनुसार प्रसन्न हुआ इन्द्र इस यज्ञ करने वाले को सब तरह समृद्ध कर प्रसन्न करता है, अतः पूजा करने के लिए पूज्य का अनुमोदन आवश्यक है, इसलिए आप अनुमोदन कीजिए, यह अनुमोदन भी समीप में स्थित होकर कीजिए, पूजा और पूज्य दोनों का दूसरा

देश होना असम्भव होने से, इससे ही स्वर्ग का हेतुभूत यश और अन्तःकरण की शुद्धि दोनों होंगे ॥४१॥

आभासः—अत एकेनैव त्रैविध्यमपि सेत्स्यतीत्यभिप्रायेणाह तस्मिन् देव इति
द्वान्याम् ।

आभासार्थ—अतः एक से ही तीन प्रकार के कार्य सिद्ध होंगे, इस अभिप्राय को 'तस्मिन्' श्लोक में प्रकट करते हैं ।

श्लोक—तस्मिन् देव क्रतुवरे भवन्तं वै सुरादयः ।

दिदृक्षवः समेध्यन्ति राजानश्च यशस्विनः ॥४२॥

श्लोकार्थ—हे देव ! इस उत्तम यज्ञ में देवों और यशस्वी राजागण आपके दर्शन करने की इच्छा से आएँगे ॥४२॥

सुबोधिनी—कीर्तिलोकद्वये राजभिर्देवैश्च यश इति । देवेति सम्बोधनम् । ऋतुवरे यथा भवति । तत्र यद्यपि भागाभावात् यागार्थं देवा- महोत्सवे देवदर्शनं महोत्सवकर्तुर्यंशस्करं भवति । नामनागमनेऽपि त्वां दिदृक्षवः समेष्यन्ति । यशस्विन इति । तेषामपि यणोऽत्र मिलितं भव- राजानश्च स्पर्धिनाऽपि । कौतूकार्यमागमने तु न तीत्युक्तं भवति । आदिशब्देन सिद्धादयोऽपि ॥

व्याख्यानार्थ—दोनों लोकों में देवता और राजाओं द्वारा यज्ञ होता है। वहाँ यद्यपि यज्ञ में देवों का भाग न होने से वे नहीं आवेंगे, तो भी अन्य देखने की इच्छा वाले तो आएँगे, राजा लोग ईर्ष्या (डाह) व क्रोध वाले होते हैं, तो भी कौतुक के लिए आवेंगे, यद्यपि इस प्रकार आने में यज्ञ नहीं है। देव ! यह सम्बोधन है, जैसे महान् उत्सव करने वाले का, महोत्सव में देव दर्शन, यज्ञ करने वाला होता है अर्थात् यदि कोई भक्त भगवान् के यहाँ अन्नकूट आदि महोत्सव कराता है तो दर्शनार्थी भगवद्दर्शन के लिए आते हैं। दर्शन करते हुए उत्सव कराने वाले का यशोगान करते हैं एवं यहाँ उत्तम यज्ञ में जो दर्शनार्थ आवेंगे, वे आपका दर्शन कर, प्रसन्न हो यज्ञ कराने वाले युधिष्ठिरजी का यशोगान करेंगे, उनका भी यज्ञ यहाँ मिला हुआ होता है, यों कहा हुआ है। 'आदि' शब्द से सिद्ध आदि भी समझने चाहिए ॥४२॥

आभास—प्रसङ्गादेव शुद्धिमप्याह श्रवणादिति ।

आम सार्न—प्रसङ्ग से ही 'श्रवणात्' श्लोक से शुद्धि भी कहते हैं ।

श्लोक—श्रवणात्कीर्तनाद्ब्रह्मनात्पूयन्तेऽन्तेवसायिनः ।

तव ब्रह्ममयस्येश किमुतेक्षाभिर्मशिनः ॥४३॥

श्लोकार्थ—हे ईश ! जिसके ध्यान, कीर्तन और श्रवण से चाण्डाल भी पवित्र होते हैं, वैसे ब्रह्ममय आपके साक्षात् दर्शन और स्पर्श करने वालों के लिए शेष क्या बचेगा ? अर्थात् उन्होंने सब पाया ॥४३॥

सुबोधिनी—प्रमाणवले आदौ श्रवणकीर्तन-
स्मरणान्येवोक्तानि । ध्यानमेकाग्रतया स्मरणम् ।
एवं भक्ता एव कर्मत्यागादिभिः तथात्वमापन्नाः
पूर्ववासनया श्रवणादिना तद्दोषं परिहरन्तीति
केचित् । अन्यथाप्यन्तेवसायिनां श्रवणादिसम्भवे
तादृशजन्मसम्पादकदोषनाशक इति विमर्शः ।
तवेति सम्मत्यर्थं युष्मच्छब्दप्रयोगः । प्राकृत-
बुद्ध्या श्रवणादौ मर्यादाभक्तानां मते प्रमेयवला-
भावात् न फलम् । अन्यथा सर्वेषामेव नाम्नां

भगवद्वाचकत्वात् कस्यापि बन्धो न स्यात् । तत
 आह ब्रह्ममयस्येति । ब्रह्मप्रचुरस्य परमानन्दमूर्तेः
 सच्चिद्रूपप्राचुर्यात् सर्ववेदमयस्य वा । ईशेति ।
 शुद्धौ सामर्थ्यम् । ईक्षाभिमर्शनं प्रमेयबलम् ।
 साक्षात्कारसम्बन्धौ हि फलरूपाविति तत्सिद्धौ
 साधनसिद्धिर्नान्तरीयकेति कैमुतिकन्यायेनाह
 किमुतेति । अन्तेवमायिव्यावृत्त्यर्थमीक्षाभिमर्शयोः
 सहप्रयोगः ॥४३॥

व्याख्यानार्थ—प्रमाण बल जहाँ है, वहाँ प्रथम श्रवण, कीर्तन और स्मरण कहे हैं, एकाग्रचित्त होकर जो स्मरण किया जाता है, उसको ध्यान कहते हैं, इस प्रकार भक्त ही कर्म त्याग आदि से वैसे पन को प्राप्त हुए, इस प्रकार ध्यान किया। पूर्व वासना से श्रवणादि किया, जिससे उसके दोष को नष्ट करते हैं, यों कोई कहते हैं। अन्य प्रकार से चाण्डाल आदि को भी श्रवणादि का सम्भव होने पर, उस प्रकार (चाण्डालादि) के जन्म को देने वाला दोष नाश होता है। 'तव' यह युष्मत् का प्रयोग आपकी सम्मति के लिए है, मर्यादा भक्तों के मत में प्रमेय बल नहीं है, इसलिए वे मानते हैं कि प्राकृत बुद्धि से श्रवण आदि करने का कोई फल नहीं है, यदि तो भी फल माना जायगा तो सब नाम भगवद्वाचक है, अतः हर एक कोई न कोई नाम सर्वदा लेता रहना है, अतः सबका मोक्ष हो जायगा, किसी का भी बन्ध न होगा, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'ब्रह्ममयस्य' ब्रह्म प्रचुर परमानन्द स्वरूप सच्चिदानन्द रूप और सर्व वेदमय आपके नाम लेने से बन्ध का नाश, आनन्द की प्राप्ति होती है, आपके दर्शन को, शुद्धि करने की सामर्थ्य है, दर्शन और विचार यह प्रमेय बल है, साक्षात्कार और सम्बन्ध ये दोनों फल रूप हैं, उनके सिद्ध हो जाने से साधन सिद्धि अन्तरीय की नहीं होती है, यह कैमुतिक न्याय से है, अतः कहते हैं 'किमुत' चाण्डाल आदि की व्यावृत्ति के लिए ईक्षा और अभिमर्श का साथ में प्रयोग किया है ॥४३॥

आभास—भगवद्दर्शनादेः शोधकत्वं कैमुतिकन्यायेन वक्तुं चरणोदकस्य माहा-
त्स्यमाह यस्यामलमिति ।

आभासार्थ—भगवद्दर्शन स्पर्श पवित्र करने वाले हैं, जिसको कैमुतिक न्याय से सिद्ध करने के लिए, चरणोदक का माहात्म्य 'यस्यामल' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक--यस्यामलं दिवि यशः प्रथितं रसायां

भूमौ च ते भुवनमङ्गल दिग्वितानम् ।

मन्दाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो

गङ्गाति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम् ॥४४॥

श्लोकार्थ--हे भुवन मङ्गल ! आपका निर्मल यश स्वर्ग और सर्व दिशाओं को पवित्र करता है तथा आपका चरण जल आकाश में मन्दाकिनी रूप से, रसातल में भोगवती रूप से एवं पृथ्वी में गङ्गा रूप से तीन लोक को पवित्र करता है ॥४४॥

सुबोधिनी--भगवतः कीर्तिद्वय तीर्थरूप चरणद्वयान्निर्गत भक्तानां हितार्थम् । तत्रैकममल यशः दिवि । रसायां भूमौ च प्रथितम् । सर्वाणि कर्माणि दोषसहितानीति 'सर्वारम्भा हि दोषेणो'ति वाक्यादवगत्याह अमलमिति । सन्नि-योगशिष्टदोषरहितगुणत्वाद्भगवतः । अतो भग-

वान् सर्वभुवनेषु मङ्गलरूपः, भुवनमङ्गलत्वाद्वा । तत्रत्यानां यशोगानं लोकत्रयेऽपि । प्रान्तभावेषु तदभावमाशङ्क्याह दिग्वितानमिति । दिशामाच्छादकम् । द्वितीयमाह मन्दाकिनीति । दिवि मन्दाकिनी, अधो भोगवती, पृथिव्यां गङ्गाति चरणाम्बु कमण्डलुसम्भूतं विश्वं पुनाति ॥४४॥

व्याख्यार्थ--भगवान् के दो चरणों से निकले हुए दो तीर्थ हैं, एक यश रूप और दूसरा जल रूप, वे दोनों ही भक्तों के हित करने के लिए निकले हैं । उनमें से एक पवित्र निर्मल यश आकाश अर्थात् 'स्वर्ग' में है और दूसरा पृथ्वी पर है । 'सर्वारम्भा हि दोषेण' इस वाक्यानुसार सर्व कर्म दोष वाले हैं, यों माना जाता है, किन्तु भगवान् का यह 'तीर्थ द्वय' वैसा नहीं है, किन्तु निर्दोष स्वच्छ है; क्योंकि भगवान् निर्दोष हैं । इसलिए उनके वे गुण रूप भी निर्दोष हैं, अतः भगवान् समस्त भुवनों में मङ्गल रूप हैं अथवा भुवनों के मङ्गल रूप होने से वहाँ वालों का तीनों लोकों में यशोगान हो रहा है, वह यश किन हिस्सों में होगा ? जिसके अभाव को दिखाते हैं कि 'न हि सर्वत्र' है । यह बताने के लिए 'दिशामाच्छादकम्' कहा है अर्थात् यश से सब दिशाएँ आच्छादित हो गई हैं, अब दूसरे जल रूप को कहते हैं, स्वर्ग में मन्दाकिनी रूप से, नीचे भोगवती रूप से और भूमि पर गङ्गा रूप से व्याप्त है, चरणाम्बु रूप कमण्डलु से उत्पन्न यह तीर्थ रूप जल समग्र विश्व को पवित्र कर रहा है ॥४४॥

आभास--एवमुभयोर्दूतनारदयोः स्वस्वार्थं प्रार्थनायां यज्जातं तदाह तत्र तेष्विति ।

आसाभार्थ--अब श्री शुकदेवजी, दूत और नारद दोनों ने जो-जो अपना-२ आशय प्रार्थना में कहा उसका वर्णन 'तत्र तेष्वात्म' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—तत्र तेष्व्वात्मपक्षेष्वगृह्णत्सु विजिगीषया ।

वाचःपेशैः स्मयन्भृत्यमुद्धवं प्राह केशवः ॥४५॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि दूत और नारद के वचनों को सुन लेने के बाद अब क्या करना चाहिए ? भगवान् की इच्छा तो युधिष्ठिर के यहाँ जाने की थी, किन्तु उद्धवजी यों न कहे, इसलिए चतुर वाणी से अपनी माया रूप स्मय प्रकट करते हुए उद्धवजी से पूछने लगे ॥४५॥

सुबोधिनी—तत्र प्रसङ्गे अन्यतरदेशगमने । तेषु तत्रत्येषु सहायभूतेषु । विजिगीषया गृणत्सु सत्सु जरासन्धवधार्थमेव गन्तव्यमिति लौकिक-वुद्धेः प्राथम्यात् नारदेष्यकरणे सति । उभयसमाधानार्थं स्वस्य मध्यस्थत्वात् उभयमताभिज्ञं उद्धवं ब्रह्मशिवयोरपि नियन्ता सुखदाता च वचनोत्तमैः प्राह । स्मयेन तमपि मोहयन् वाङ्माधु-

र्यात्सादरं शृणुयान् । अन्यथा सर्वेश्वरत्वं जानातीति न शृणुयादपि । नारदहिताकरणे ब्रह्मपक्षहानिः, जरासन्धवधे महादेवपक्षनाश इति यज्ञार्थमेव गमनमायानि । अतोऽङ्गप्रधानयोर्विरोधे क्रीडा सुखदा न भवतीति तदभिज्ञमुद्धवं सर्वसम्मतं बोधयामास ॥४५॥

व्याख्यानार्थ—अब इस प्रसङ्ग में किस स्थान पर जावे तो प्रथम लौकिक बुद्धि से जरासन्ध के वध के लिए ही जाना चाहिए; क्योंकि अपने पक्ष वाले यादव उसको जीतना चाहते हैं । यों करने से नारदजी का इच्छित न होगा तो उनके पक्ष की हानि होगी एव जरासन्ध के मारने से महादेव के पक्ष की हानि होगी; क्योंकि जरासन्ध महादेव का भक्त है, इसलिए तो नारद का ही कहना करना चाहिए । दोनों पक्षों के समाधानार्थ उभय मतों के जानने वाले, उद्धवजी को अपना मध्यस्थ बनाकर ब्रह्मा और शिव का भी नियन्ता और सुखदाता प्रभु, मुसक्यान से उनको भी मोहित करते हुए मीठी और उत्तम वाणी से कहने लगे, जिससे वह आदर से सुने अन्यथा मेरे सर्वेश्वरत्व को जानता ही है, इसलिए न सुने, इसलिए मोहिनी स्मित एवं मधुर वाक्यों से कहने लगे, नारदजी का पक्ष न लेंगे तो ब्रह्म पक्ष की हानि होगी, जरासन्ध वध के लिए जावें तो इससे महादेव का पक्ष नाश होगा, इसलिए यज्ञ के लिए युधिष्ठिर के यहाँ जाना ही योग्य जचता है, अतः अङ्ग और प्रधान के विरोध हो जाने पर क्रीड़ा सुख देने वाली नहीं होती है, इसलिए अभिज्ञ सर्व सम्मत उद्धवजी से सलाह लेने लगे ॥४५॥

आभास—भगवद्वाक्यमाह त्वं हि न इति ।

आभासार्थ—भगवान् के वचन 'त्वं हि नः' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—त्वं हि नः परमं चक्षुः सुहृन्मन्त्रार्थतत्त्ववित् ।

अथात्र ब्रूह्यनुष्ठेयं श्रद्धामः करवाम तत् ॥४६॥

न इति बहुवचनम् । केवलं शास्त्रपरतां वारयितु-
माह सुहृदिति । पर्यवसानज्ञानमाह । मन्त्रार्थस्य
फलस्य तत्त्वं पर्यवसानं वेत्तीति । अथ अतः
कारणादत्रार्थे अनुष्ठेयं ब्रूहि । उभये वयं श्रद्-
धमः । तदेव च करवाम । अन्यतरस्याप्यश्रद्धां
करणाभावं च वारयति ॥४६॥

व्याख्यानार्थ -- सर्वज्ञ को तो स्वयं ही जानकर करना चाहिए न कि जो सर्वज्ञ नहीं है, उसके कहने से करना चाहिए । वह मोह में डालने वाला हो जावे, उद्धवजी इस प्रकार कहे, जिसके परिहार के लिए उद्धवजी को अपना अङ्ग बताते हैं कि आप मेरे नेत्र हैं, आधिदैविक परमानन्द रूप हैं । 'चक्षुषश्चक्षुर्वा' इस श्रुति से उनका ही यह अवतार है और लोकोक्ति भी है कि 'मन्त्री ज्ञानचक्षुः' मन्त्री ज्ञान रूप नेत्र हैं, आप मन्त्री हैं, इसलिए ज्ञान नेत्र हैं, अतः 'नः' यह बहुवचन दिया है, केवल शास्त्रीय विषय नहीं है, इसलिए कहते हैं कि आप हमारे सुहृद भी हैं एवं मन्त्र के अर्थ एवं फल के तत्त्व को जानते हो, इस कारण से इस विषय में जो उचित कर्तव्य है, वह कहिए, हमारी दोनों में श्रद्धा है, जो आप कहेंगे वह ही हम करेंगे, एक में भी अथर्द्धा और न करने का विचार नहीं है ॥४६॥

आभास--तत उद्धवो महामन्त्री तद्वाक्यममोहकं मत्वा उत्तरकथनार्थमुद्युक्त
इत्याह इत्युपामन्त्रित इति ।

आभासार्थ—पश्चात् महामन्त्री उद्धव भगवान् के वचनों को मोहक न मानकर उत्तर देने के लिए तैयार हुए ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इत्युपासन्त्रितो भर्त्रा सर्वज्ञेनापि सुगधवत् ।

निदेशं शिरसाधाय उद्धवः प्रत्यभाषत ॥४७॥

इलोकार्थ--श्री शुकदेवजी ने कहा कि आप सर्वज्ञ होते हुए भी मृग्य की



तरह उद्धवजी से पूछने लगे, स्वामी (भगवान्) की आज्ञा को शिरोधार्य कर उद्धवजी उत्तर देने लगे ॥४७॥

सुबोधिनी—उद्धवो हि न युद्धादावुपदिश्यते, ज्ञानाशत्वात् । यदि ज्ञानेऽपि न विनियुज्येत, तस्य भरण व्यर्थ स्यात् । एतत्सूचयति भर्त्रेति ।	दोषं निवारयति सर्वज्ञेनापीति । निदेशमाज्ञां प्रति शिरसा आधाय अभापत अङ्गीकृतवान्, उत्तरं विचार्य वक्ष्यामीति उक्तवानित्यर्थः ॥४७॥
--	---

व्याख्यानार्थ—उद्धवजी ज्ञानांश होने से युद्ध आदि का उपदेश नहीं करते हैं, यदि ज्ञान में न जोड़े तो उसका भरण व्यर्थ हो जाय, इसका सूचन 'भर्त्रा' पद से करते हैं ! 'सर्वज्ञेन' पद से दोष का निवारण करते हैं, इसलिए आज्ञा को शिरोधार्य कर कहने लगे कि विचार कर उत्तर दूँगा ॥४७॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभशिक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे एकविंशोऽध्यायः ॥२१॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ७०वें अध्याय, उत्तरार्ध २१ वे अध्याय की श्रीमद्वल्लभाचार्य-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) का सात्त्विक प्रमेय

प्रवान्तर प्रकरण का सातवाँ अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।



इस अध्याय में वर्णित लीला का निम्न पद से अवगाहन करें

“कैदी राजाओं के दूत का आना”

राग धनाश्री :—

नाथ और कासौ कहीं गहड़गामी ।
दीनबन्धु दयासिन्धु असरन सरन,
सत्य सुख धाम सर्वज्ञ स्वामी ॥

इहिँ जरासंध मद अंध मम मान मथि,
वाधिँ विनु काज बल इहाँ आने ।
किए अवरोध अति क्रोध गहि गिरिगुहा,
रहत भृंगि कीट ज्यौँ त्रास माने ॥

नाहिनैँ नाथ जिय सोच धन धरनि कौ,
मरन तैँ अधिक यह दुख सतावै ।
भृत्य की रीति हम होत मागध सकल,
नाथ जिय दमत उद्वेग पावै ॥

मधु कैटभ मथन मुर मौम केसी दलन,
कंस कुल काल अरु सालहारी ।
जानि जग जूष भय भूप तद्रप्ता,
बहुरि करि है कलुष भूमि भारी ॥

बढत नृप दूत अनुभूत उर भीरुता,
सुनत हरि सूर सारथि बुलायौ ।
भयै आरूढ तकि ताहि उत्तर दियौ,
जाहि सुधि देहु हौँ यहै आयौ ॥



॥ श्री हरि ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला

* एकादश पुष्प *

सात्त्विक साधन अवान्तर प्रकरण

श्रीमद्भागवत एकादशस्कंध अध्याय ७१-७७



श्रीमद्वल्लभाचार्य (महाप्रभु)

प्रकाशक

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मण्डल (रजि०) जोधपुर (राज ०

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवद्धभाय नमः ॥

॥ श्री वावपतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

10
2

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७१वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६८वाँ अध्याय

उत्तरार्ध २२वाँ अध्याय

सात्विक-साधन-अवान्तर-प्रकरण

“अध्याय — १”

भगवान् श्रीकृष्ण का इन्द्रप्रस्थ पधारना



कारिका—द्वाविंशे धर्मरक्षार्थं धर्मस्थानगतिर्हरेः ।

सर्वसंमतियुक्तस्य शोभा युक्ता निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस २२वें अध्याय में धर्म की रक्षा के लिए भगवान् सर्व सम्मति से इन्द्रप्रस्थ पधार रहे हैं, इससे उनकी जो शोभा होने लगी, उसका निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—एका कृतिर्हरेरत्र बहुकार्यनिरूपिका ।

निर्धार्यते सर्वसुखा धर्मे सर्वाधिकारिणी ॥२॥

कारिकार्थ—भगवान् की एक क्रिया बहुत कार्यों को सिद्ध करने वाली होगी, अतः प्रथम धर्मावतार युधिष्ठिर के यहाँ जाने के लिए तैयारी की, वह क्रिया सर्व की

अधिकारिणी और सर्व को सुख देने वाली होगी, यह निर्धार किया जाता है, इस सुहृत् कार्य द्वारा भक्त रक्षण भी सिद्ध होगा एवं नारद तथा दूत दोनों का कथन विना विरोध के सिद्ध हो जाएगा ॥२॥

---: इति कारिकार्थ सम्पूर्ण :—

आभास—पूर्वाध्यायान्ते भगवद्वाक्यं शिरसा स्वीकृतम्, ततो भगवदिच्छानुसारेणैव कथने मन्त्रित्वं व्याह्रन्येतेति पूर्वापरानुसंधानार्थं उद्धवस्य प्रकरणज्ञानपूर्वकं उत्तरारम्भमाह इत्युदीरितमिति ।

आभासार्थ—पूर्वाध्याय के अन्त में उद्धवजी ने भगवान् के वाक्य को शिरोधार्य किया, उसके अनन्तर यदि केवल भगवदिच्छानुसार ही कहने में मन्त्रीपन की हानि होती है, इसलिए उद्धवजी को पूर्वापर का अनुसन्धान है, यह सिद्ध करने के लिए उद्धवजी का प्रकरण ज्ञान पूर्वक 'इत्युदीरित-माकर्ण्य' श्लोक में उत्तर देने का आरम्भ करते हैं, यों श्री शुकदेवजी वर्णन करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इत्युदीरितमाकर्ण्य देवर्षेरुद्धवोब्रवीत् ।

सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य च महामतिः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि देवर्षि नारदजी का इस प्रकार का कहना सुनकर, श्रीकृष्ण और सभासदों का मत भी जानकर, महाबुद्धिमान् उद्धवजी कहने लगे ॥१॥

सुबोधिनी—दूतवाक्ये न कस्यापि विवाद इति देवर्षेरुदीरितमित्युक्तम् । भगवद्वाक्यश्रवणानन्तरमुत्तरस्य वक्तव्यत्वेपि पुनर्नारदवाक्यानुसंधानात् तत्समाधानार्थमेव उद्धवोब्रवीत् । धर्मब्राह्मणावेव पुष्टिमार्गे बाधकौ, तयोः प्रतिविधानं किञ्चित्पुष्टिविरोधार्थेनेति प्रकरणार्थः । विवादे हि मन्त्रिणो वचनमिति पक्षद्वयं निरूपयति सभ्यानां मतमाज्ञाय कृष्णस्य चेति । सभ्यानां

मतं युद्धार्थं गमनं मुख्यं धर्मार्थं पश्चात् । दुःखाभावसुखयोः आदौ दुःखं प्रतिविधातव्यमिति, भगवतोप्येवं मतं चकाराद्विपरीतं च । एवं पौर्वापर्यसंदेहे निर्णयार्थमस्य बुद्धिरस्तीत्याह महामतिरिति । भक्तिमार्गनारदयोः कोपः प्रतिविधातव्यः, मर्यादा च स्थाप्यः यावच्छक्यम् । अतो धर्मब्राह्मणमर्यादात्रयमेकत्र विरुध्यते, अपरत्र भक्तिमार्ग एवैकः ॥१॥

व्याख्यानार्थ—श्री शुकदेवजी ने श्लोक में 'देवर्षेरुदीरितम्' कहा, 'दूतस्योदीरितम्' भी न कहा, जिसका आशय आचार्य श्री प्रकट करते हैं कि दूत के कहे हुए वाक्य में किसी का भी विवाद नहीं था, केवल नारदजी के वाक्य में विवाद था, इसलिए विवादग्रस्त वाक्यों को ही उद्धवजी ने ध्यानपूर्वक सुना, उन पर ही विचार कर निर्णय देना था कि क्या किया जाय? भगवान् के वाक्यों के श्रवण के अनन्तर उत्तर कहना था, तो भी फिर नारदजी के वचनों के अनुसंधान से ही उसका समाधान करना है, यों विचार कर उद्धवजी कहने लगे ।

धर्म और ब्राह्मण ही पुष्टिमार्ग में बाधक हैं अर्थात् यहाँ राजाओं पर अनुग्रह होने में धर्म^१ और ब्राह्मण^२ प्रतिबन्धक हुए हैं, उन दोनों का जो प्रतिविधान है, वह कुछ पुष्टि के निरोधार्थ होने से प्रकरणार्थ है ।

जब मत भेद हो, तब मन्त्री के वचन मान्य होते हैं, इसलिए दोनों पक्षों का निरूपण करते हैं, सम्भ्यों का तथा श्रीकृष्ण का मत पूर्ण रीति से समझकर पीछे नारद के वचनों को भी सुना और विचार कर कहने लगे । सभासदों का मत था कि प्रथम जरासन्ध से युद्ध के लिए जाना चाहिए, उसको जीतकर पश्चात् युधिष्ठिर के पास यज्ञ के लिए चलना चाहिए, दुःख का अभाव करना और सुख करना; इन दोनों में से प्रथम दुःख का कार्य^३ कर दुःख का अभाव करना अर्थात् युद्ध द्वारा जरासन्ध वध कर राजाओं को छुड़ाकर उनको सुखी करना, पश्चात् सुख कार्य राजसूय में चलना चाहिए. भगवान् का भी यह मत है । 'च' पद से विपरीत भी है अर्थात् राजसूय में युधिष्ठिर के पास चलने में भी सम्मति थी, इस प्रकार विचारों में विभिन्नता होने पर निर्णय की आवश्यकता है, किन्तु इसके निर्णय के लिए बुद्धि की आवश्यकता है, वैसा निर्णय कर्त्ता हो जो बुद्धिमान् हो, इस पर कहते हैं कि उद्धवजी 'महामति' बड़े बुद्धिमान् है, अतः उनसे निर्णय कराना योग्य जानकर भगवान् ने उद्धवजी से पूछा कि क्या करें? भक्ति मार्ग और नारदजी का कोप भेला(सम्हाल)लेना, जहाँ तक वन सके मर्यादा की भी स्थापना करनी चाहिए, अतः धर्म, ब्राह्मण और मर्यादा; ये तीन एकत्र विरुद्ध होते हैं और दूसरी ओर भक्ति मार्ग एक ही है ॥१॥

आभास—अतो बहूनामनुग्रह इतिन्यायेन वक्तव्यमिति निश्चित्य पक्षद्वयमनुवदति यदुक्तमिति ।

आभासार्थ—अतः 'बहूनामनुग्रहः' इस न्यायानुसार कहना चाहिए. यों निश्चय कर दोनों पक्षों का अनुवाद 'यदुक्तम्' श्लोक से उद्धवजी कहते हैं ।

श्लोक—उद्धव उवाच—यदुक्तमृषिणा देव साचिव्यं यक्ष्यतस्त्वया ।

कार्यं पैतृष्वस्त्रेयस्य रक्षा च शरणैषिणाम् ॥२॥

श्लोकार्थ—उद्धवजी ने कहा कि हे देव ! नारदजी के कहने के अनुसार यज्ञ करने की इच्छावाले वृत्रा के बेटे राजा युधिष्ठिर का मन्त्रीत्व करना है और दूत के कहने से शरणागत राजाओं की रक्षा करनी है ॥२॥

सुबोधिनी—देवेति संबोधनम् । साचिव्यं मन्त्रोपदेशः. न तु युद्धेन सहायकरणम्, अलौकिकप्रकारस्तु मन्त्रे न वक्तव्यः, अतः साचिव्यमेव नारदेनोक्तमनुवदति । 'कर्तुं' शास्त्रानुज्ञा तु' इति वाक्यात् तथाकरणे धर्मः । पैतृष्व-

स्त्रेयकार्यकरणं लौकिकम्, तस्मादत्र लोकवेदौ विरुद्धौ न भवत इति द्वयं निरूपितम् । द्वितीयः पक्षः शरणैषिणां रक्षा । चकाराद्वन्धूनां वाक्यं च । तथासति द्वयोरैक्यं यथा भवति तथा कर्तव्यम् ॥१॥

व्याख्यार्थ—‘देव’ यह सम्बोधन है। ‘साचिव्य’ पद से यह कहा है कि आप केवल परामर्श देना, न कि युद्ध से सहायता करनी। परामर्श में अलौकिक प्रकार तो नहीं कहना चाहिए, अतः नारद ने जो साचिव्य कहा, उसका ही अनुवाद करते हैं। ‘कर्तुः शास्तुरनुज्ञातुः’ इस वाक्य के अनुसार उसी प्रकार करने में धर्म है। ब्रूमा के बेटे का कार्य करना, यह लौकिक है, इससे इसमें लोक और वेद विरुद्ध नहीं है, इसलिए दोनों कहे हैं। दूसरा पक्ष कहते हैं कि शरणागतों की रक्षा करनी, ‘च’ बान्धवों के वाक्य भी मानने; दोनों पक्ष हैं तो भी इस प्रकार किया करनी चाहिए, जैसे दोनों में एकता हो, यों देखने में आवे ॥२॥

आभास—तत्र यज्ञो मोचने विनियोक्तुमशक्य इति मोचनमेव यज्ञे विनियोक्तव्यमित्याह यष्टव्यमिति ।

आभासार्थ—इन दोनों पक्षों में राजाओं के छुड़ाने के कार्य में यज्ञ का कार्य भी हो सके, यह अशक्य है, इसलिए छुड़ाने का कार्य यज्ञ के साथ हो सकेगा। अतः छुड़ाने का कार्य यज्ञ के साथ जोड़ लो अर्थात् यज्ञ में पधार कर दोनों कार्य सिद्ध कर लो, इसलिए ‘यष्टव्यं’ श्लोक में वह मार्ग उद्धवजी बताते हैं।

श्लोक—यष्टव्यं राजसूयेन दिक्चक्रजयिना विभो ।

अतो जरासुतजय उभयार्थो मतो मम ॥३॥

श्लोकार्थ—हे विभो ! राजसूय यज्ञ दिग्विजय कर लेने के पश्चात् होता है, अतः प्रथम दिग्विजय अवश्य करना है, उस प्रसङ्ग से जरासन्ध भी जीता जाएगा, इसलिए इन्द्रप्रस्थ चलने से दोनों कार्य सिद्ध होंगे, मेरा तो यह मत है ॥३॥

सुबोधिनी—दिशां चक्रं दश दिशः, तत्र जयशीलेन राजसूयः कर्तव्यः, अत एव स एव जरासन्धं घातयिष्यति, यज्ञार्थं वधे तु न दोषः, एवं सति ये दोषास्ते अग्रे परिहर्तव्याः। आदौ यज्ञार्थं तद्वधं स्थापयति अतो जरासुतजय इति ।

तर्हि भक्तिमार्गो बाधित एवेत्याशङ्कयामाह उभयार्थ इति । यज्ञार्थं मोचनार्थं च, अयं पक्षो मम संमतः । युक्तश्रायम्, नारदादेः कोपाभावात् ॥३॥

व्याख्यार्थ—दिशाओं का चक्र अर्थात् दस दिशाओं को जीतने वाले को ही राजसूय यज्ञ करना चाहिए, अतः जो दिशाओं को जीतेगा, वह ही जरासन्ध का घात करेगा। यज्ञ के लिए मारने पर कोई दोष नहीं लगता है, यों होने पर जो दोष लगते हैं, उनका परिहार आगे हो जाएगा। ‘आदि’ में यज्ञ के लिए उसके वध को स्थापन करता है, वहाँ चलकर दिग्विजयार्थ जाने से वहाँ जरासन्ध का वध होगा, तब तो भक्ति मार्ग बाधित ही होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि मैं जैसा कहता हूँ, यों करने से दो अर्थ सिद्ध होंगे। (१) यज्ञ की सिद्धि होगी और (२) राजाओं का छुटकारा होगा; यह पक्ष मुझे पसन्द है, यह ही उचित है, यों करने से नारदादि भी प्रसन्न होंगे, उनको किसी प्रकार से क्रोध करने का अवसर नहीं मिलेगा ॥३॥

आभास—अस्मिन् पक्षे दोषान् परिहरति अस्माकं चेति सार्धाभ्याम् ।

आभासार्थ—जो पक्ष मैंने कहा है, उसमें जो दोष हैं, उनका परिहार 'अस्माकं च' से २३ श्लोकों में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—अस्माकं च महानर्थो ह्येतेनैव भविष्यति ।

यशश्च तव गोविन्द राज्ञो बन्धाद्विमुञ्चतः ॥४॥

श्लोकार्थ—अपने पक्ष को यों करने से महान् लाभ होगा, हे गोविन्द ! राजाओं को छुड़वाने से आपका बहुत यश फैलेगा ॥४॥

सुबोधिनी—पराक्रमेण जरासंधवधे तद्धन-
मस्माभिः प्राप्तव्यम्, यज्ञार्थवधपक्षे तु तस्या-
भावः । पूर्व भगवद्धनं च तेनापहतं यवनजयोद्धवं
तस्य प्रत्यावृत्तिश्चकारार्थः मोचितेभ्यश्च, एत-
त्सर्वमपि यज्ञार्थवधेनापि भविष्यतीत्याह एतेनैव
भविष्यतीति । तेन धनेन मोचिता भक्ताः पोष-
णीया इति । अन्यसंमेलनाद्यशो न भविष्यती-

त्याशङ्क्याह यशश्च तव गोविन्देति । चकारा-
त्प्रतिज्ञा 'अभयं सर्वभूतेभ्यः' इति । बन्धाद्विमु-
चनं न तद्वधमात्रेण भवति, तत्पुत्रेणापि तत्सभ-
वात् । अतो विशेषतो मोचनं हेतुत्वेनोपदिशति
राज्ञो बन्धादिति । राज्ञो राजशरीराणि
आत्मनश्च बन्धादुभयविधात्, विशेषतो मोचनं
तदेव, विमुञ्चतस्तव ॥४॥

व्याख्यानार्थ—पराक्रम से जरासन्ध का वध करने से उसका धन हमको मिलेगा, यज्ञार्थ वध
किया जायगा तो धन नहीं मिलेगा । यवन के जीतने से जो धन प्राप्त हुआ था, वह भगवान् का
धन उसने हड़प लिया था, उसको लौटा कर लेना । 'च' पद से छुड़ाए हुए राजाओं से भी जो
धन लिया, वह भी लौटा कर लेना, यह सब यज्ञ के लिए मारने से भी हो जायगा; क्योंकि युधिष्ठिर
वह धन अपने को ही दे देंगे, कारण कि वे समझेंगे कि यह भगवत् कार्य है और दूसरा समझेंगे कि
यवन जय का भी धन वहाँ है, अतः स्वयं नहीं लेंगे । उस प्राप्त धन से जो भक्त छुड़ाए जायेंगे,
उनका पोषण होगा, अन्य के मेल से यदि उसको मार, राजाओं को छुड़वाएँगे तो यश नहीं होगा,
यों करने से आपका ही यश होगा । 'च' शब्द से आपकी 'अभयं सर्व भूतेभ्यः' प्रतिज्ञा का भी
पालन हो जायगा, केवल उसके मार डालने से राजाओं का बन्धन से छूटना न होगा; क्योंकि उसके
पुत्र से भी बन्धन हो सकता है, अतः विशेष प्रकार से बन्धन से छुड़ाने में हेतुपन से उपदेश देते हैं ।
'राज्ञो बन्धात्' बन्धन दो प्रकार का है, एक शरीर का और दूसरा आत्मा का; दोनों प्रकार के
बन्धन से छुड़वाना ही विशेष मोचन है, उसके करने से आपका यश होगा ॥४॥

आभास—ननु को विशेषः ऋषिरेव वक्तव्य आवश्यको जरासंधवधः तं कृत्वा
समागमिष्यतीति, अस्मिन् पक्षे स्त्रीभिः सह लीलया गमनं बाध्यते । मर्यादायामव-
श्यश्चायं पक्ष इति वक्तुं जरासंधस्वरूपमाह द्वाभ्यां स वै दुर्विषह इति ।

आभासार्थ—इसमें क्या विशेषता है ? ऋषि को ही कह देना चाहिए कि जरासन्ध का वध आवश्यक है । उसे कर फिर यहाँ इन्द्रप्रस्थ पधारेंगे । यदि यह पक्ष स्वीकार किया जायगा तो इन्द्रप्रस्थ स्त्रियों के साथ लीला से जाने में जो शोभा आदि होगी, उसका बाध होगा, मर्यादा में यह पक्ष अवश्य है, यो कहने के लिए जरासन्ध के स्वरूप का 'स वै दुर्विषह' से दो श्लोकों में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—स वै दुर्विषहो राजा नागायुतसमो बले ।

बलिनामपि चान्येषां भीमं समबलं दिना ॥५॥

श्लोकार्थ—दस हजार हस्तियों के समान बलवान् होने से, सबसे बलवान् है, किन्तु समान बल वाले भीम के सिवाय अन्य बलवान् राजाओं से भी वह (जरासन्ध) जीता नहीं जाएगा ॥५॥

सुबोधिनी—केनापि यादवेन स तोदु न शक्यः । यतो राजा क्षत्रियः अनपोह्यः प्रायेण, गनदलौकिकं बलम् । लौकिकमप्याह नागायुतसम इति । बलविषये अयुतहस्तिसमः । एतादृशा अन्येऽपि सन्तोति तद्व्यावृत्त्यर्थमाह बलिनामपि

चान्येषामिति । महाबलिनां सर्वेषामेवाय मिलितानां समः । चकाराद्ब्राह्मणादिवरसिद्धमपि तस्य बलम् । तर्हि मर्यादायामवध्य एवेत्याशङ्क्याह भीमं समबलं विनेति । भीमोप्येतादृशः तथापि यथा जयस्तदग्रे वक्ष्यते ॥५॥

व्याख्यानार्थ—कोई भी यादव इसके बल को सहन न कर सकेगा; क्योंकि यह क्षत्रिय राजा बहुत कर दवाने योग्य नहीं है, यह अलौकिक बल है । उसके बल का वर्णन करते हैं कि दस हजार हस्तियों के बल के समान बल इसमें है, ऐसे तो अन्य राजा लोग भी हैं । इसके उत्तर में कहते हैं कि दूसरे जो बलवान् हैं, उन सबसे यह विशेष बलवान् है, अन्य सब बली राजाओं का बल इकट्ठा किया जाय तो वह जितना हो, उतना इस एक में बल है । 'च' शब्द से यह बताया है कि ब्राह्मणादि के वरदान से भी इसका बल सिद्ध है, यदि यों है तो मर्यादानुसार तो यह अवध्य ही है । इसका उत्तर देते हैं कि अन्य से जीता नहीं जायगा, केवल एक भीमसेन ही इससे लड़ सकेगा और जीत जायगा; क्योंकि वह भी वैसा ही बलवान् है तो भी जैसे भीम की जीत होगी, वह आगे कही जाएगी ॥५॥

आभास—किञ्च तस्यान्यदपि वरप्राप्तं सामर्थ्यमस्तीत्याह द्वैरथे स तु जेतव्य इति ।

आभासार्थ—जरासन्ध में वर से प्राप्त अन्य सामर्थ्य भी है, यह 'द्वैरथे स तु जेतव्यो' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—द्वैरथे स तु जेतव्यो मा शताक्षौहिणीयुतः ।

ब्रह्मण्योर्म्यथितो विप्रैर्न प्रत्याख्याति कर्हिचित् ॥६॥

श्लोकार्थ—शत अक्षौहिणी से भी यह नहीं जीता जाएगा, किन्तु बाहु युद्ध से ही इसको जीतना चाहिए, यह ब्राह्मणों का भक्त है, यदि ब्राह्मण इससे कुछ भी याचना करे तो वह कभी भी देने में आनाकानी किए बिना दे देता है ॥६॥

सुबोधिनी—द्वन्द्वयुद्धे नैव जेतव्यं न त्वपरिमिताक्षौहिणीयुतः । अनेन तस्य मेनाधिक्यमपि सूचितम् । एवं तस्य गुणानुक्त्वा एको गुणः समयविशेषे दोषत्वमापद्यत इति तदाह ब्रह्मण्य

इति । स्वभावतो हि ब्राह्मणहितकारी, अस्म्यथितश्चेन्न प्रत्याख्याति कर्हिचिदिति । कपटं जात्वापि धर्मदाढ्यादिदमेकं तस्य मारणे द्विद्रम् ॥६॥

व्याख्या—इसको द्वन्द्व युद्ध से ही जीतना चाहिए, अगणित अक्षौहिणी ले जाकर भी नहीं जीतना चाहिए, यों कहने से यह इंगित (इशारा) किया है कि इसके पास अधिक सेना है। इस प्रकार उसके गुणों को कहकर कहते हैं कि कोई एक ऐसा गुण भी होता है, जो किसी विशेष समय पर दोष रूप हो जाता है, जिससे हानि होती है । वह गुण कहते हैं कि वह ब्राह्मण भक्त है, स्वभाव से ब्राह्मणों का हित करने वाला है । यदि कोई ब्राह्मण उससे कुछ याचना करे तो उसको मना नहीं करता है, यह ब्राह्मण नहीं है, किन्तु ब्राह्मण-वेश धारण कर आया है तो भी अपने धर्म की दृढ़ता सिद्ध करने के लिए उसकी माँग को स्वीकार कर लेता है, अतः यह एक ही इसके मारने के लिए अवसर है ॥६॥

आभास—तर्हि क्षत्रियाणां किमायातमित्याशङ्क्योपायमाह ब्रह्मवेषधर इति ।

आभासार्थ—तो क्षत्रियों को क्या करना चाहिए ? इस शङ्का का उत्तर 'ब्रह्मवेष' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—ब्रह्मवेषधरो गत्वा तं भिक्षेत वृकोदरः ।

हनिष्यति न संदेहो द्वैरथे तव संनिधौ ॥७॥

श्लोकार्थ—भीमसेन ब्राह्मण का वेष धारण कर इससे द्वन्द्व युद्ध की याचना करे, आप भी उसके साथ होंगे, जिससे द्वन्द्व युद्ध में भीम जरासन्ध को जीत जाएगा, इसमें संशय नहीं है ॥७॥

सुबोधिनी—कञ्चुकाद्यभावसहितं सोपवीत-वस्त्रद्वयं तिलकादिसहितं ब्रह्मवेषः । यद्यपि तेजो

न संपादयितुं शक्यं तथापि प्रार्थितदाने मारणे च सामर्थ्यमाह तव संनिधाविति ॥७॥

व्याख्यार्थ—चोला, अचकन आदि के बिना (केवल) दो वस्त्र, एक धोती, एक उपरना एवं यज्ञोपवीत तथा तिलक यह ब्राह्मण-वेश है, यद्यपि इस वेशमात्र से ब्रह्मतेज तो नहीं आवेगा तो भी जिस दान को माँगेगा, वह मिल जायगा और युद्ध में जरासन्ध को मार सकेगा, ऐसा सामर्थ्य आपकी सन्निधि से उसमें हो जाएगी ॥७॥

आभास—नन्वहं परब्रह्म चेत् तदोदासीनः सर्वात्मा च, विष्णुश्चेत्पालक एव न घातक । तेजसा आप्यायनपक्षे ब्रह्मण्ये न वैष्णवं तेजः प्रभवति, अतः कथं वध इति चेत्तत्राह निमित्तं परमीशस्येति ।

आभासार्थ—यदि मैं परब्रह्म और सर्वात्मा हूँ तो उदासीन हूँ, यदि विष्णु हूँ तो पालक हूँ, घातक नहीं हूँ, यदि कहो मेरा तेज यों करेगा तो ब्रह्मण्य में वैष्णव तेज कुछ नहीं कर सकता है, अतः वध कैसे होगा ? जिसका उत्तर 'निमित्तं परमीशस्य' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—निमित्तं परमीशस्य विश्वसर्गनिरोधयोः ।

हिरण्यगर्भः सर्वं कालस्यारूपिणस्तव ॥८॥

श्लोकार्थ—निराकार कालरूप ईश्वर आप ही जगत् की सृष्टि और प्रलय करते हैं, जैसे ब्रह्मा और शिव तो निमित्त मात्र हैं, वैसे यहाँ भीमसेन निमित्त मात्र होगा ॥८॥

सुबोधिनी—ईश्वर, कालरूपोपि भवान्, सन्निधिमात्रेणैव स्वभीष्टमये विश्वमेवोत्पादय-
तिहसि च, ब्रह्मरुद्रयोस्तु खड्गादिवन्निमित्तत्व-
मेव, यतः कालस्य तव कालेनाक्रोडितानामेवो-
त्पत्तिप्रलयौ । यथा कर्मक्रोडीकृतानां पितृव्याघ्रौ

सृष्टिप्रलययोर्निमित्तमेव । नन्वहमेव चेत्सर्वदा
मारकस्तदा कथं सर्वेषामनुपलम्भ इति तत्राह
अरूपिण इति । स एव त्वमिदानीं रूपमधिक-
मित्यर्थः ॥८॥

व्याख्यानार्थ—कालरूप ईश्वर भी आप ही हैं, जब अपनी इच्छा की पूर्ति करनी चाहते हो, तब सन्निधि मात्र से इस विश्व को उत्पन्न करते हो तथा लीन भी कर लेते हो, ब्रह्मा और महादेव तो तलवार की तरह निमित्तमात्र हैं; क्योंकि कालरूप आपने काल की गोद में जिनको लाए हो, उनकी ही उत्पत्ति और प्रलय होती है, जैसे जो कर्म की गोद में बैठे हैं, उनकी सृष्टि का निमित्त कारण 'पिता' और नाश का कारण 'व्याघ्र' कहा जाता है । यदि मैं ही सर्वदा मारने वाला हूँ तो तब तबका अनुपलम्भ कैसे है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि आप निराकार हैं, वह निराकार ही आप अब यहाँ रूप से विजमान होकर जगत् को सुशोभित कर रहे हो यह ही तात्पर्यार्थ है ॥८॥

आभास—नन्वेवमपि तथा यशो न भविष्यतीत्याशङ्कयामाह गायन्ति ते विशदकर्मेति ।

आभासार्थ—यों हैं तो भी यश न होगा ? इस शङ्का के उत्तर में "गायन्ति ते" श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—गायन्ति ते विशदकर्म गृहेषु देव्यो

राज्ञां स्वशत्रुवधमात्मविमोक्षणं च ।

गोप्यश्च कुञ्जरपतेर्जनकात्मजायाः

पित्रोश्च लब्धशरणा मुनयो वयं च ॥६॥

श्लोकार्थ—आपका यश त्रिलोकी में फैला हुआ है, जब आपने हिरण्यकशिपु को मार, देवों को छुड़ाया, तब देवों की स्त्रियों ने अपने शत्रु का नाश होना, स्वयं शत्रु-भय से मुक्त हुई, यह जानकर आपका यश गाने लगी है, गजेन्द्र को आपने नक्र से छुड़ाया, जिससे उनकी स्त्रियाँ आपका यश गा रही है, सीता भी आपका यशोगान कर रही है; क्योंकि उसने भी देखा कि मुझे हरण करने वाले मेरे शत्रु को आपने ही नाश किया है, गोपीजन भी शङ्खचूड़ वध से आपका गुणगान कर रही हैं, आपने कंस को मारकर माता-पिता को कैद से छुड़ाया, जिससे वे भी आपका यश गा रहे हैं, मुनिगण और हम आपकी शरण से रक्षित हैं, अतः हम भी आपका यश गा रहे हैं ॥६॥

सुबोधिनी—तव यशः पूर्वमेव लोकत्रये व्याप्य तिष्ठति किमद्योत्पादतक्लेशेनेति वाक्यार्थः । अनेन भगवतो भगवदीयानां वा भगवत्त्वाद्भगवदीयत्वाच्च सिद्धमेव यशो न नूतनमुत्पादनोयम् । ते विशदकर्म हिरण्यकशिपुरावणवधादिरूपं देव्यो देवस्त्रियः सहजं भगवच्चरित्रं स्वशत्रूणां हिरण्यकशिपुप्रभृतीनां वधं आत्मनो वन्दीकृतानां विशेषेणाविद्यातो मोचनं च स्वस्वगृहेषु गायन्ति ते गृहेषु वा । देव्यो नरकासुरगृहीताः । पूर्ववत् सर्वं योजनीयम् । ते राज्ञामुग्रसेनादीनां देव्यो वा भाविनि भूतवदुपचारेण वा मोक्ष्यमाणानाम् । किञ्च । अन्येऽपि बहवो गायन्तीत्याह गोप्य-श्चेति । चकारात्संबन्धिस्त्रियोपि, स्वशत्रोः शङ्खचूडादेर्वधं अविद्यालज्जादीनां वा । यथा स्वशत्रो-

र्वधं गायन्ति एवं कुञ्जरपतेरपि गजेन्द्रस्य शत्रो-
नक्रस्य वधं तथा जनकात्मजायाः सीतायाः
शत्रोः रावणस्य, पित्रोरपि देवकीवसुदेवयोः
शत्रोः कंसस्य । एवं प्राकृता अपि स्वस्यान्यस्य
वा त्रिविधा गायन्ति । तथा अन्येपि त्रिविधा
गायन्तीत्याह लब्धशरणा मुनयो वयं च ।
कर्मिणो ज्ञानिनो भक्ताः । लब्धशरणा इति
विशेषणं वा सर्वत्र, 'मा भैष्टेत्यभयारावौ'
'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठम्' 'एतद्व्रतं मम' इत्यादि-
वाक्यसहस्रैः । पाण्डवा लब्धशरणा इति
केचित् । मुनयोपि दण्डकारण्यवासिनः विश्वा-
मित्रादयश्च, वयं सर्वे एव भक्ताः । चकारान्नि-
गुणा अपि अन्यशत्रुवधं गायन्ति । तस्मात्सि-
द्धैव कीर्तिरित्यर्थः ॥६॥

व्याख्यार्थ—आपका यश प्रथम ही त्रिलोकी में फैला हुआ है। अब उस यश को उत्पाद करने का क्लेश क्यों किया जावे ? यों वाक्यार्थ है । इससे भगवान् का भगवान्पन से और भगवदीयों का भगवदीयपन से यश सिद्ध ही है, नूतन यश उत्पादन नहीं करना है ।

आपके विशद कर्म है, जैसे हिरण्यकशिपु, रावण वध आदि अनेक कर्म है । देवों की स्त्रियाँ

जिनको हिरण्यकशिपु आदि ने बन्दीखाने में बन्द किया था, उन शत्रुओं को आपने मारा तथा विशेषता यह है कि अविद्या से भी छुड़ाया आदि कर्मों का यश घरों में गा रही हैं। इसी तरह जिनको नरकासुर ने कैद किया था, वे भी आपके यश गा रही हैं; क्योंकि नरकासुर का भी आपने नाश किया था, इसी प्रकार कंस को मारकर उग्रसेनादि राजाओं को मुक्त किया और राज्य दिया इत्यादि आपका यश स्त्रियाँ सर्वत्र गा रही हैं, पिता वसुदेव, माता देवकी भी आपके गुणों का गान कर रहे हैं, अन्य भी बहुत गा रहे हैं। अपने शत्रु शङ्खचूड आदि को मारा, जिससे गोपियाँ तथा 'च' से सम्बन्ध वाली अन्य स्त्रियाँ भी आपका यशोगान करती हैं, जिस प्रकार अपने शत्रु के वध की कथाओं का गान करती हैं, वैसे ही गजेन्द्र के शत्रु मगरमच्छ के वध का तथा जनक की पुत्री सीता के शत्रु रावण के वध का एवं वसुदेव-देवकी के शत्रु कंस के वध का गान करती रहती हैं। इसी तरह त्रिविध प्राकृत मनुष्य भी अपने अथवा अन्य के दोषों का नाश आपके द्वारा होने से आपका यश गाते हैं, वैसे ही जिन कर्मिष्ठ, ज्ञानी तथा भक्तों को आपकी शरण प्राप्त हुई है, वे तीनों ही आपका गुण गान करते हैं। 'माभैष्टेत्यभयारावौ' 'तस्मान्मच्छरणं गोष्ठम्' 'एतद्व्रतं मम' इत्यादि सहस्रों वाक्यों में निष्ठावाले, कर्मों, ज्ञानी और भक्तों ने आपकी शरणागति ग्रहण की है। पाण्डवों ने आपकी शरण प्राप्ति की है, वे भी गुण गाते हैं, यों कोई कहते हैं। 'मुनि' शब्द से दण्डकारण्य-वासी व विश्वामित्रादि और हम सब ही भक्त लिए जाने चाहिए। 'च' पद से यों समझना चाहिए कि जो निर्गुण हैं, वे भी अन्यो के शत्रुओं का वध गाते हैं; क्योंकि वे समदृष्टि हैं, अतः उनकी दृष्टि में कोई उनका शत्रु नहीं है, इससे आपकी कीर्ति तो सिद्ध ही है, कहने का तात्पर्य यों है ॥६॥

आभास—नन्वलौकिकोपायेन राज्ञां मोचनं शीघ्रं कृत्वा कथं न यागार्थं गम्यत इत्याशङ्क्याह जरासन्धवध इति ।

आभासार्थ—अलौकिक उपाय से राजाओं को शीघ्र छुड़वाकर क्यों नहीं राजसूय यज्ञ के लिए युधिष्ठिर के पास पधारते हैं ? जिसका उत्तर 'जरासन्धवधः' श्लोक में देते हैं।

श्लोक—जरासन्धवधः कृष्ण भूर्यथायोपकल्पते ।

प्रायः पाकविपाकेन तव चाभिमतः क्रतुः ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! जरासन्ध के वध से कई प्रयोजन सिद्ध होंगे, मैं समझता हूँ कि जरासन्ध के कर्मों का विपाक आ गया है, इसलिए आपकी भी रुचि यज्ञ होने के लिए हुई है ॥१०॥

सुबोधिनी—कृष्णेति कालरूपस्यैतदेव कृत्य-मिति सूचितम् । केवलं संबोधनं वक्तृत्वाभिनि-वेशात् प्रमादात् पापक्षयार्थं वा । भूर्यथैत्यनेक-प्रयोजनाय । भक्तद्रोहे विनश्यतीति भक्तिमार्ग-

सिद्धिः शरणागतरक्षा यज्ञः कीर्तिः पूर्ववैरप्रती-कारः भूभारहरणमित्यादिसहस्रप्रयोजनानि सिध्यन्ति । भक्तिमार्गश्च सर्वेभ्योतिरिच्यते । किं च । प्रायः पाकविपाकेनेति । जरासन्धकर्मणां

परिपाकस्य विपाकेन समाप्त्वा । पाकविपाकेन वा बहुद्रोहाद्, राजसूयो हि भूमेर्निर्वोरत्वं संपादयति तेन कारणेन तवाप्यभिमतः क्रतुः । चका-

रात्क्रतुश्च भूर्यर्थोपकल्पते शिशुपालवधदुर्योधनमानभङ्गाद्यर्थत्वात् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—‘कृष्ण’ यह सम्बोधन कहकर सूचित किया है कि बालरूप का यही क्रतु है, ‘केवल’ सम्बोधन कर्त्तापिन के अभिनिवेश से, प्रमाद से वा पापक्षयार्थ है । जरासन्ध का वध अनेक प्रयोजन सिद्ध करने के लिए करना है, भक्तद्रोह करने पर नाश होगा, यों भक्तिमार्ग की सिद्धि शरणागतों की रक्षा, यज्ञ, कीर्ति, पूर्व-वैर का प्रतिकार और भू भार हरण इत्यादि सहस्र प्रयोजन सिद्ध होंगे । भक्ति मार्ग सबसे विशेष है, ‘किं च’ और विशेष (बहुत) करके जरासन्ध के कर्मों की समाप्ति हुई है अर्थात् बहुत द्रोह से पुण्यों की समाप्ति हो गई है, राजसूय यज्ञ से यह सिद्ध होगा कि पृथ्वी पर अब कोई वीर नहीं है, इसलिए आपको भी यज्ञ करना पड़ा । ‘च’ से यह आशय है कि यज्ञ से बहुत कार्य सिद्ध होंगे जैसे कि शिशुपाल-वध और दुर्योधन का मान भङ्ग आदि अर्थ सिद्ध होंगे ॥१०॥

आभास—प्रकारान्तरेण वध्यो न भवतीत्यनेनैव युद्धार्थमुद्युक्ता निवारिताः । सिद्धत्वाद्यशोपेक्षा च निवारिता । मोचनार्थं समायातीति शङ्कायां प्रमथनाथार्थं प्रथममेव दद्यात् अत उद्धववाक्यमेव सर्वतोभद्रमिति भगवता तदेव गृहीतमित्याह इत्युद्धववच इति ।

आभासार्थ—यद्यपि यादवादि जरासन्ध के वधार्थ युद्ध करने के लिए उद्यत थे, किन्तु युद्ध से वह न मरेगा, इसलिए युद्ध से उनको रोका, युद्ध न किया जायगा, तो यश प्राप्ति कैसे होगी? इसका उत्तर देते हैं कि उसका वध तो यज्ञ में जाने से सिद्ध ही होगा, इसलिए यश की उपेक्षा नहीं की है, छुड़ाने के लिए आते हैं, यह शङ्का उसके मन में हो जायगी तो महादेव के लिए पहले ही दे देंगे, ऐसा विचार उसके मन में उत्पन्न न होवे, इसलिए उद्धव का वाक्य ही सर्व प्रकार कल्याणकर है, इससे भगवान् ने उद्धव का कहा हुआ वाक्य ग्रहण किया, यह ‘इत्युद्धववचः’ श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इत्युद्धववचो राजन् सर्वतोभद्रमच्युतम् ।

देवर्षिर्यदुवृद्धाश्च कृष्णश्च प्रत्यपूजयन् ॥११॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! इस उद्धवजी के वाक्य को देवर्षि नारद, वृद्ध यादव और श्रीकृष्णचन्द्र ने सर्व प्रकार श्रेष्ठ माना ॥११॥

सुबोधिनी—एवं कापट्येन वधे न किञ्चिद्दूषणम् । ‘मायेत्यसुरा’ इति श्रुतेः । ‘तद्वैतान् भूत्वावति’ इति च । कापट्यव्यतिरेकेण न दैत्य-

वधः सिद्धयतीति न कापट्यस्वीकरणं दोषाय । राजन्निति सम्बोधनं राजधर्मोपि तादृश इति ज्ञापनार्थम् । सर्वतोभद्रता निरूपितैव । अच्युत-

मिति न च्युतं कापि क्षतिर्यत्रेति । भगवद्रूपोयं प्रकारः निर्दोषपूर्णगुणरूपः । अत एव सर्वेषां संमतं जातमित्याह देवर्षिरिति, यादवेषु वृद्धाः, चकारादन्येऽपि । तरुणानां परं शौर्योत्सिक्तानां

नागतं मनसीति सूचितम् । कृष्णश्चेति चकाराद्वसुदेवादयो भगवद्भक्ताश्च । प्रतिपूजनं साधु साध्विति वचनम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कपट से जरासन्ध को मारने में कोई दूषण नहीं है; क्योंकि 'मायेत्यसुराः' असुरों का प्रभु माया है अर्थात् कपट है, इस कारण [से दोष नहीं है] । 'तद्धैतान् भूत्वावति' यह माया इनको बार-बार बचाती है, अतः बिना कापट्य के दैत्यों का वध सिद्ध नहीं होता है, इसलिए कापट्य के स्वीकार करने में दोष नहीं है । 'राजन्' सम्बोधन से बताया है कि राजधर्म भी वैसा ही है अर्थात् इसमें भी बिना कापट्य किए सिद्धि नहीं मिलती है, इस उद्धव की कही हुई रीति से कार्य करने में किसी प्रकार त्रुटि नहीं है, इसलिए 'अच्युतम्' विशेषण दिया है, त्रुटि न होने से सर्व प्रकार हित कर निरूपण किया है, यह प्रकार भगवद्रूप है, अतः दोष रहित पूर्ण गुणों वाला है, इसी कारण से ही सबको पसन्द है । देवर्षि नारद, वृद्ध यादव 'च' से दूसरे भी जो सम्मत् थे, उन सबको यह मत जच गया, ये नाम आदि कहकर यह सूचित किया कि जो वीर युवक लड़ने के उत्सुक थे, उनके मन में यह राय अच्छी नहीं लगी । 'कृष्णश्च' कृष्ण और 'च' से वसुदेव तथा जो भगवद्भक्त थे, उन सबने उद्धव का वाक्य हितकर जाना, जिससे सबने साधु-साधु कहकर उद्धव के वाक्य को समादर किया और मान लेने की प्रतिज्ञा की ॥११॥

आभास—अथ भिन्नप्रक्रमेण लौकिकानां सुखार्थं गृहस्थितिक्लेशाभावाय निर्गमनोत्सवं निरूपयति अथेति साद्धः षड्भिः ।

आभासार्थ—अब भिन्न प्रक्रम से कहते हैं कि लौकिकों के सुखार्थ और गृह की स्थिति में किसी प्रकार क्लेश नहीं है, यह जताने के लिए प्रस्थान के उत्सव का 'अथादिशत्' से ६३ श्लोकों में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—अथादिशत्प्रयाणाय भगवान् देवकीसुतः ।

भृत्यान् दारुकजैत्रादीननुज्ञाप्य गुरुन् विभुः ॥१२॥

श्लोकार्थ—देवकी के पुत्र भगवान् ने बड़ों से आज्ञा लेकर दारुक जैत्र आदि भृत्यों को प्रयाण के लिए आज्ञा की ॥१२॥

सुबोधिनी—लौकिक्येषा भाषा । देवकीसुत इति स्त्रीप्रभृतीनां सुखदायकः । भृत्या अन्तरङ्ग-सेवकाः कर्मकराः । जैत्रोपि जयशीलः कश्चिद्रथ-

योजकः । गुरुन् पित्रादीन् ब्राह्मणान् वा । विभुरिति सर्वकरणासमर्थः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—यह लौकिकी भाषा है, देवकी सुत कहने का भाव यह है कि स्त्री प्रभृति सबको सुख देने वाले हैं । 'भृत्य' पद का आशय है कि काम करने वाले अन्तरङ्ग सेवकों से हैं । 'जैत्र'

का तात्पर्य जो रथ का योजक जयशील है। 'गुरुन्' पद से पिता आदि अथवा ब्राह्मण समझने चाहिए। 'विभुः' शब्द से यह कहा कि देवकी का सुत कहने से साधारण मानव न समझना, किन्तु ये सर्वकरण समर्थ भगवान् हैं ॥१२॥

श्लोक—निर्गमय्यावरोधान् स्वान् समुतान् सपरिच्छदान् ।

संकर्षणमनुज्ञाप्य यदुराजं च शत्रुहन् ।

सूतोपनीतं स्वरथमारुहद्गरुडध्वजः ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे शत्रु घातक! अन्तःपुर से पुत्र और सामान सहित सब को निकाल आगे कर सङ्कर्षण और उग्रसेनजी से आज्ञा लेकर, आप(श्रीकृष्णचन्द्र)सारथी के लाये हुए अपने रथ पर चढ़े ॥१३॥

सुबोधिनी—प्रथमत एवान्तःपुरस्त्रियो निर्गमय्य, अवरोधोन्तःपुरस्त्रियः पुल्लिङ्गनिर्देशः स्त्री-भावाभावाय । संकर्षणः सहायार्थम्, यदुराजः उग्रसेनः । अनेन राजसतामसौ परित्यज्य अन्ये सर्वे निर्गता इति सूचितम् । शत्रुहन्निति वहिर्मु-

खताभावाय, प्रद्युम्नादयोपि कौतुकाद् भगवद्रथ-मानयेयुः, भगवान् वा कौतुकादन्यरथमारोहेत्, स्त्रीभिः परिवृतो वा गच्छेदतः सूतोपनीतं स्वरथमित्युक्तम् । गरुडध्वजत्वान्न सहायापेक्षा । ॥१३॥

व्याख्यानार्थ—पहले ही अन्तःपुर से स्त्रियों को बाहर किया, 'अवरोध' शब्द पुल्लिङ्ग है, वह स्त्रियों के लिए देने का आशय यह है कि उनमें स्त्रीभाव का अभाव था । 'सङ्कर्षण' नाम इसलिए दिया है कि वह सहाय करने वाले हैं । 'यदुराज' शब्द उग्रसेन के लिए दिया है, इन नामों को देने का भाव यह है कि भगवान् ने राजस और तामस को यहाँ ही छोड़ा, शेष अन्य को साथ ले गए । 'शत्रुहन्' विशेषण से वहिर्मुखता का अभाव दिखाया है, सूत के लाए हुए अपने रथ में चढ़े, लिखने का तात्पर्य यह था कि कदाचित् कौतुक से प्रद्युम्नादिक रथ ले आए हो अथवा कौतुक से भगवान् अन्य रथ में बैठे अथवा स्त्रियों से परिवृत होकर पधार जावें, इन शङ्काओं को यह वाक्य देकर टाल दिया है कि वह रथ गरुड की ध्वजा वाला है, इसलिए सहायता की अपेक्षा नहीं है ॥१३॥

श्लोक—ततो रथोद्वेपभटसादिनायकैः करालया परिवृत आत्मसेनया ।

मृदङ्गभेर्यानिशङ्खगोमुखैः प्रघोषघोषैः ककुभो निराक्रमत् ॥१४॥

श्लोकार्थ—रथ, हस्ती, प्यादल, घोड़े सवार और इनके नायकों से भयंकर दीखती हुई अपनी सेना से आवृत हो, मृदङ्ग, शङ्ख, भेरी, आनक और गोमुख इनके शब्दों से दिशाएँ व्याप्त हो गई, इस प्रकार भगवान् रवाना हुए ॥१४॥

सुबोधिनी—ततः सेनासहितः नानाविधवा-
द्यसहितोपि दिशां प्रतिध्वनिसहितोपि निराक्र-
मत् । सादयोश्चवाराः । चतुरङ्गनायकैः सहिता

दर्शनमात्रेणैव भयजनिकां केवलं भगवत् एव
सेना ॥१४॥

व्याख्यार्थ—वहाँ से सेना के साथ एवं अनेक प्रकार के वाद्यों सहित तथा उन वाद्यों के ध्वनि की प्रतिध्वनि दिशाओं में जिस समय आ रही थी, उस समय रवाना हुए चतुरङ्ग नायकों वालो रथ, हस्ती, घोड़े सवार आदि सहित एक ही भगवान् की सेना थी, जिसके दर्शन मात्र से भय उत्पन्न होता था ॥१४॥

आभास—ततः असाधारणीनां साधारणीनां च प्रयाणप्रकारमाह नृवाजीति
द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—पश्चात् असाधारणीय और साधारणीयों के प्रस्थान प्रयाण का प्रकार 'नृवाजि' से दो श्लोकों में कहते हैं ।

श्लोक—नृवाजिकाञ्चनशिबिकाभिरच्युतं सहात्मजाः पतिमनु सुव्रता ययुः ।

वराम्बराभरणविलेपनस्त्रजः सुसंवृता नृभिरसिचर्मपाणिभिः ॥१५॥

श्लोकार्थ—तलवार और ढाल हस्त में लिये हुए पुरुषों से वेष्टित हो, उत्तम आभूषण वस्त्र अरगजा और मालाओं को धारण कर, पुत्रों को सङ्ग ले प्रभु की पतिव्रता स्त्रियाँ बाघी (बग्घी), पालकी तथा तामजाम (चोंडोल) में बैठ भगवान् के पीछे-२ जाने लगी ॥१५॥

सुबोधिनी—नृशब्देन नरयानं दोला, वाजि-
नोश्वाः केवलाः शकटयोजिताश्च, काञ्चनशिबि-
काश्चतुर्दोलाः चोंडोल इति भाषायां नृभिर्वाजि-
भिर्वा युक्ताः । अच्युतं पतिमनु सुव्रताः पतिव्रताः

रुक्मिण्यादयः सपुत्रा ययुः । चतुर्विधालकरण-
युक्ताः मार्गेऽपि । स्वतोपि रक्षिताः नृभिरपि
सुसंवृताः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—'नृ' शब्द से 'डोली' कही है, केवल घोड़े और रथों में जोड़े हुए ऐसे दो प्रकार के अश्वों के थे, सोने की शिबिकाएँ जिनको चोंडोल वा तामजाम कहते हैं, उनमें मनुष्य वा घोड़े जुड़े हुए थे अर्थात् शिबिकाओं को मनुष्य खेंचते थे अथवा घोड़े खेंचते थे, अपने अच्युतपति के पीछे मार्ग में भी चतुर्विध अलङ्कार धारण की हुई रुक्मिणी आदि पतिव्रता स्त्रियों पुत्रों सहित जाने लगी, स्वतः भी रक्षित थीं एवं मनुष्यों से भी अच्छी तरह घिरी हुई थीं ॥१५॥

आभास—साधारणीनामाह नरेति ।

आभासार्थ—साधारण सेना आदि का वर्णन 'नरोष्ट्र' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—नरोष्ट्रगोमहिषखराश्वतर्यनःकरेणुभिः परिजनवारयोषितः ।

स्वलंकृताः कटकुटिकम्बलाम्बराद्युपस्करा ययुरधियुज्य सर्वशः ॥१६॥

श्लोकार्थ—मनुष्य, उष्ट्र (ऊँट), घोड़े, महिष (भैंसे), गर्दभ (गधे), खच्चर, रथ और हस्तिनियाँ; ये सब सुसज्जित थे, परिचारगी करने वाले मनुष्य तथा वाराङ्गनाएँ आदि तथा चटाईयों के डेरे, कम्बल तथा वस्त्र आदि सब समान उन पर लाद तथा मनुष्य आदि रथ पर बैठ नगर से जाने लगे ॥१६॥

सुबोधिनी—नरादिभिरष्टभिः परिजना वार-
योषितश्च निर्गताः, गावो वृषभाः । अश्वतरी,
अनः शकटं, करेणुः करिणी, सर्वा एव स्वलं-
कृताः । तासां जातिस्वभावसामग्रीं वर्णयति

कटकुटीति । कटानामेव कुटी कटः पटकुटी वा,
कम्बलादयो वृष्टिनिवारकाः । तासां कृष्णमन्विति
न नियमः किंतु सर्वश एव ॥१६॥

व्याख्यार्थ—मनुष्य से लेकर हस्तिनियों तक के आठ, परिचारगी करने वाले और वाराङ्ग-
नाएँ ये सब नगर से जाने के लिए निकले । 'गौ' शब्द यहाँ बैलों के अर्थ में है । अश्वतरी (खच्चर)
'अनः' शकट और करेणु यानि हस्तिनी; ये सब ही अलंकृत थे, अब उनकी अपनी जाति स्वभावानु-
सार जो सामान उनके पास था, उसका वर्णन करते हैं, चटाईयाँ, कम्बल आदि वस्त्र जिनसे वृष्टि से
अपनी रक्षा की जाती है । केवल पत्नियाँ ही पीछे गई, यों नहीं है, किन्तु सर्व ही पीछे चलने
लगे ॥१६॥

आभास—सामान्यतो भगवत्कटकं वर्णयति समुद्रतुल्यतया बलमिति ।

आभासार्थ—सामान्य रूप से भगवान् की सेवा का 'बलं' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—बलं बृहद्ध्वजपटछत्रचामरैर्वरायुधाभरणकिरीटवर्मभिः ।

दिवांशुभिस्तुमुलरवं बभौ रवेर्यथार्णवः क्षुभिततिमिङ्गिलोमिभिः ॥१७॥

श्लोकार्थ—जैसे क्षुभित समुद्र, तिमिङ्गिल मत्स्य और बड़े तरङ्गों से शोभा पाता
है, वैसे ही बड़ी ध्वजा, छत्र, चँवर, उत्तम आयुध, आभरण, किरीट तथा जो कवच
(वस्त्र) थे, उन पर पड़ती हुई सूर्य की किरणों से तुमुल ध्वनि वाली सेना
शोभावती हुई ॥१७॥

सुबोधिनी—वस्त्रैरायुधैः सूर्यरश्मिभिश्चिवि-
घर्बभौ उपर्याच्छादकाः बृहन्तो ध्वजादयः । पट-
सहितानि छत्राणि भिन्नानि वा, आयुधानि
आभरणानि किरीटानि कवचानि च । तुमुलो

रवो यत्रेत्यन्तःशौर्यम्, तस्यापरिमितत्वाय
यथार्णव इति । क्षुभितास्तिमिङ्गिलाः
ऊर्मयश्च ॥१७॥

व्याख्यार्थ—वस्त्र, आयुध और सूर्य की किरणों से सेना शोभा पाने लगी, बड़ी-२ ध्वजाएँ, ऊपर ढाँकने वाली थीं, वस्त्र सहित छत्र अलग थे, आयुध आभरण किरीट और कवच थे, सेना में तुमुल ध्वनि हो रही थी, जिससे भीतर का शौर्य प्रकट हो रहा था, वह शौर्य अगणित था, जिसके लिए समुद्र का दृष्टान्त दिया है कि जैसे तिमिङ्गल मत्स्य (मगरमच्छ) और लहर क्षुभित हो (ऊपर उठ-उठ कर) समुद्र के भीतर का अपना शौर्य प्रकट करते हैं ॥१७॥

आभास—एवं निर्गम्य नारदवाक्यमिव कृत्वा ततोऽग्रे नारदं प्रेषयामासेत्याह अथो मुनिरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार निकल कर जैसे नारद ने कहा, मानों उसी प्रकार किया, उस कारण से नारदजी को प्रथम भेजा । जिसका वर्णन 'अथो मुनिः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—अथो मुनिर्यदुपतिना सभाजितः प्रणम्य तं हृदि विदधद्विहायसा ।

निशम्य तद्वचसितमाहूताहंणो मुकुन्दसंदर्शननिवृत्तेन्द्रियः ॥१८॥

श्लोकार्थ—फिर नारदजी भगवान् से आदर पाकर, भगवान् के दर्शन से परमानन्द में मग्नचित्त वाले होकर भगवान् का निश्चय सुन, उन्हें प्रणाम कर हृदय में उनका स्मरण करते हुए पूजा को स्वीकार कर आकाश मार्ग से चले ॥१८॥

सुबोधिनी—भिन्नप्रक्रमः समाधिभाषार्थः । भगवन्तं विहाय भक्तस्य पुरतो गमनमनुचितमित्याशङ्क्याह तं हृदि विदधदिति । विहायसा तु आकाशमार्गेण, तस्य भगवतो व्यवसायं गमनात्मकं निशम्य निर्धारितं श्रुत्वा । बहिरन्तश्चान-

न्दपूर्णो निर्गत इति वक्तुं विशेषणद्वयम्, आहूतमहंणं यस्मै मुकुन्दसंदर्शनेन निवृत्तानीन्द्रियाणि यस्य । एवं स्वतः कार्यतश्च सिद्धो गत इत्यर्थः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—यह प्रक्रम पृथक् है क्योंकि समाधिभाषा है भगवान् को छोड़ भक्त का पहले जाना उचित नहीं ? इस शंका की निवृत्त्यर्थ कहते हैं कि मनमें भगवान् को विशेष प्रकार से धारण करते हुए जाने लगे, आकाशमार्ग से चले चलने से पहले, भगवान् इन्द्रप्रस्थ में युधिष्ठिर के यहां प्रधारेंगे, यह निश्चय निर्णय सुन लिया था, बाहर और भीतर आनन्दपूर्ण होकर चले, जिसके लिए दो विशेषण "आहूतमहंणं" "मुकुन्दसंदर्शननिवृत्तेन्द्रियः" दिए हैं, जाते समय भगवान् से पूजित होकर गए मुकुन्द के दर्शन से जिसकी इन्द्रियाँ आनन्दपूर्ण हो गई हैं अतः स्वतः और कार्य से सफल होकर रवाना हुए ॥१८॥

आभास—ततो दूतसमाधानमाह राजदूतमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् दूत का समाधान "राजदूत" श्लोक से कहते हैं

श्लोक—राजदूतमुवाचेदं भगवान् प्रीणयन् गिरा ।

मा भैष्ट दूत भद्रं वो घातयिष्यामि मागधम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—भगवान् वारणी से दूत को प्रसन्न करते हुए कहने लगे, मत डरो, आपका कल्याण होगा; क्योंकि मागध का नाश कराऊँगा ॥१६॥

सुबोधिनी—इदं वक्ष्यमाणम्, वाक्येनैव तस्य प्रीति जनयन् मा भैष्टेतिवाक्यं मध्यम-पुरुषबहुवचनं राज्ञः प्रति । दूतेति केवलस्यैव संवोधनं तथा कथनाय । अन्यथा भगवतैव

राजानो बोधिता इति दूतो व्यर्थः स्यात्, न केवलं मोचनं किं तु वो भद्रमपीत्याशीः । हेतु-भूतं कर्तव्यमाह घातयिष्यामीति ॥१६॥

व्याख्यार्थ—“इदं” पद का भावार्थ है कि यह, जो अब कहना है, वाक्य से ही उसको प्रसन्न करते हुए कहने लगे कि “मा भैष्ट” मत डरिये । “भैष्ट” यह क्रिया मध्यम पुरुष का बहुवचन है जिसका भावार्थ है कि “मतडरो” यह शब्द राजाओं को कहें है । “दूत” यह सम्बोधन इसको इसलिए दिया है, राजाओं को जाकर कहना कि आप डरो नहीं, यदि सम्बोधन का यह आशय नहीं तो भगवान् ने ही राजाओं को यों कहा तो दूत का आना और राजाओं का संदेश सुनाना व्यर्थ हुआ भगवान् ने ‘भद्र’ शब्द कहकर यह बताया है कि आप केवल बन्धन से नहीं छूटोगे किन्तु आपका कल्याण भी होगा, यह आशीर्वाद भी दिया है, यों होने में जो हेतुभूत कर्तव्य है वह भी प्रकट कह देते हैं कि मागध का घात कराऊँगा ॥१६॥

आभास—ततो दूतकर्तव्यतादिकमाह इत्युक्त इति ।

आभासार्थ—पश्चात् दूत ने कर्तव्यादि कहा (वह) “इत्युक्तः” श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—इत्युक्तः प्रस्थितो दूतो यथावदवदन्तृपान् ।

तेपि संदर्शनं शौरेः प्रत्यैक्षन्त मुमुक्षवः ॥२०॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने जो इस प्रकार कहा, वह सुनकर दूत रवाना हुआ, वहाँ जाकर जैसे भगवान् ने कहा था, वैसे सब राजाओं को कहा, वे भी मुक्त होने की इच्छा वाले भूपतिगण भगवान् के दर्शन की प्रतीक्षा करने लगे ॥२०॥

सुबोधिनी—यथावज्ज्ञातानुपूर्व्या । श्रुतानां मनोवृत्तिमाह तेपीति । भगवतैव मोक्ष इति

भगवत्संदर्शनमेव काङ्क्षन्तः स्थिताः । अयमेव मोक्षोपायः सर्वेषामिति सूचितम् ॥२०॥

व्याख्यार्थ—जैसा जो कुछ हुआ वह सब प्रारम्भ से लेकर अन्त तक दूत ने राजाओं को सब सुनाया, सुनने वाले राजाओं के मन की वृत्ति तब कैसी होने लगी, वह कहते हैं कि भगवान् द्वारा

ही मोक्ष होगा और भगवान् के दर्शन भी होंगे, यह कब होगा ऐसी प्रतीक्षा में ही स्थित हुए, यों करने से यह सूचित किया है कि मोक्ष का एक ही उपाय मेरी शरण आना है ॥२०॥

आभास—इन्द्रप्रस्थपर्यन्तं भगवत आगमनमाह आनर्तेति द्वाभ्यां स्थलजलोत्तरण-
प्रयत्नभेदात् ।

आभासार्थ—इन्द्रप्रस्थ तक भगवान् पहुँचे मध्य में जो देश और नदी आदि आए उनका वर्णन “आनर्त” श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—आनर्तसौवीरमरुंस्तीर्त्वा विनशनं हरिः ।

गिरीन्नदीरतीयाय पुरग्रामव्रजाकरान् ॥२१॥

श्लोकार्थ—ओखामण्डल, सौराष्ट्र, मारवाड़, कुरुक्षेत्र देशों से होते हुए, गिरि और नदियों को पार कर पुर ग्राम, व्रज और खानों के देशों का उल्लङ्घन कर इन्द्रप्रस्थ पधारे ॥२१॥

सुबोधिनी—आनर्तो द्वारकादेशः, सौवीर सुराष्ट्रदेशः, मरुवो मरुदेशः । ततो विनशनं कुरुक्षेत्रदेशः । अल्पपरिभ्रमणेनागमनं पर्वतव-
नाद्यभावात् । यतो हरिः, गिरीन् रेवतकादीन्,

तत्प्रभवा नदीश्च अतीयाय पादगत्यैवातिक्रान्त-
वान् । पुरग्रामव्रजाकराश्चत्वारो भेदाः
जनस्थानानाम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—“आनर्त” द्वारकादेश “सौवीर” सु “सौ” राष्ट्रदेश “मरुवो” मरुदेश (मारवाड़) वहाँ से हो कुरुक्षेत्र में आए, यों घूमकर भी जल्दी पहुँचने का कारण यह है कि वहाँ बड़ी नदियां व पहाड़ तथा वन नहीं आए, क्योंकि आप “हरि” हैं । बाद में रेवतक पर्वत और उनसे निकली हुई नदियों को पैदल ही पार कर, पुर, गांव व्रज और खान वाले देशों का उल्लंघन कर “अन्त में” इन्द्रप्रस्थ पधारे ॥२१॥

श्लोक—ततो दृषद्वतीं तीर्त्वा मुकुन्दोद्य सरस्वतीम् ।

पाञ्चालानथ मत्स्यांश्च शक्रप्रस्थमथागमत् ॥२२॥

श्लोकार्थ—पश्चात् मुक्ति देने वाले भगवान् श्रीकृष्ण दृषद्वती और सरस्वती को पार कर, पाञ्चाल और मत्स्य देशों का अतिक्रमण कर इन्द्रप्रस्थ आए ॥२२॥

सुबोधिनी—दृषद्वती सरस्वती च तदानीम-
तिगम्भीरनद्यौ । दृषद्वतीसरस्वत्योर्मध्ये । मुकुन्द
इति पदमग्रे तत्र मोक्षं दास्यतीति सूचयति ।
अथेत्यग्रे शनैर्गमनं सूचितम् । पाञ्चालदेशो

मत्स्यदेशश्च मध्येमार्गं एवांशभेदेनेति विमर्शः ।
शक्रप्रस्थमिन्द्रप्रस्थं अन्वर्थसंज्ञा स्थानस्येति ज्ञाप-
यितुं तथा वचनम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—दृषद्वती और सरस्वती उस समय में बहुत बड़ी और गम्भीर नदियां थीं। दृषद्वती और सरस्वती के मध्य भाग में जो देश हैं उनमें से होकर पधारे, पधारने का कारण मोक्ष देना है इसलिए “मुकुन्द” नाम दिया है। “अथ” पद से यह जताया है कि आगे धीरे-२ पधारेंगे, पांचाल देश तथा मत्स्यदेश, मार्ग के बीच में ही आएंगे किन्तु यहां उनका अंश भेद से विचार किया अर्थात् मत्स्यदेश अथवा पांचालदेश का समग्र भाग नहीं फिरे किन्तु मध्य भाग भी अंश भेद से फिर कर इन्द्रप्रस्थ आ गए “इन्द्र” नाम से ही उसके गुणों का ज्ञान हो जाता है ॥२२॥

आभास—ततो निकटे समागमने युधिष्ठिरस्य स्नेहपूर्वकं कृत्यमाह तमागतमिति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—अनन्तर जब सुना कि भगवान् निकट आ गए हैं तब महाराजा युधिष्ठिर ने जो स्वागत कृत्य प्रेमपूर्वक किया जिसका वर्णन “तमागतं” श्लोक से चार श्लोकों में करते हैं।

श्लोक—तमागतमुपाकर्ण्य प्रीतो दुर्दर्शनं नृणाम् ।

अजातशत्रुनिरगात्सोपाध्यायः सुहृद्वृतः ॥२३॥

श्लोकार्थ—जिनका दर्शन प्राणी मात्र को कठिन है, वे निकट पधार गए हैं, यों सुन प्रसन्न हुए युधिष्ठिर उपाध्याय और मित्रों सहित महल से बाहर निकले ॥२३॥

सुबोधिनी—नृणां प्राणिमात्रस्य दुर्दर्शनमि- | धिकारः । विद्यापरिजनाभिमानाभावाय सोपा-
त्यलभ्यलाभोक्तिः । अजातशत्रुरिति भगवद्दर्शना- | ध्यायः सुहृद्वृत इति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—प्राणि मात्र को जिनका दर्शन होना दुर्लभ है उनका दर्शन होता है जो यों कहकर बताया है कि यह अलभ्य लाभ प्राप्त हुआ है, युधिष्ठिर के “अजातशत्रु” कहकर यह सूचित किया है कि इस गुण से ही वह भगवान् के दर्शन करने का अधिकारी हुआ है, उपाध्याय और सुहृदों को साथ यह बताने के लिए लाए कि हमको तो अभिमान नहीं है किन्तु हमारे यहां जो विद्यावाले हैं और जो हमारा परिजन (मित्र बान्धवादि) हैं उनमें भी अभिमान नहीं है तथा उनमें आप के लिए आदर और प्रेम भी है ॥२३॥

श्लोक—गीतवादित्रघोषेण ब्रह्मघोषेण भूयसा ।

अभ्ययात्स हृषीकेशं प्राणः प्राणमिवावृतः ॥२४॥

श्लोकार्थ—गाजे-बाजे और भारी वेद ध्वनि के साथ भगवान् से मिलने के लिए गए, जैसे प्राण फिर प्राणों में लीन हो जाते हैं, वैसे युधिष्ठिर प्रेम से भगवान् से मिले ॥२४॥

सुबोधिनी—ततो निकटमागतः । गीतादि-
सहितः यतः स प्रसिद्धः निकटागमनयोग्यः ।
ननु भक्त्या मध्ये विकलः कथं न जातः कथमा-
गत इति शङ्कां वारयति हृषीकेशमिति । इन्द्रि-
याधिपतित्वादिन्द्रियाण्येव गतानि न तु तत्प्रय-

त्नः तत्र जात इत्यर्थः । स्वत एव गमने दृष्टान्तः
प्राणः प्राणमिवेति । बहिर्निर्गतः प्राणः यथा-
नायासेन प्राणमेव समागच्छति । ततः परमाद-
रयुक्ते जातः ॥२४॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् निकट आए, गीत बाद्य वेद घोष के साथ आए, क्योंकि वह प्रसिद्ध
निकट आने के योग्य था, इतना प्रेम जब था तो भक्ति से मार्ग में ही विकल क्यों न हो गए । यहां
कैसे आ गए ? इस शंका का निवारण करते हैं कि जिनके पास आए हैं वे इन्द्रियों के स्वामी हैं,
अतः वहां इन्द्रियां स्वतः स्वयं पहुँच गईं न कि युधिष्ठिर अपनी इन्द्रियों के प्रयत्न से पहुँचे जिसको
समझाने के लिए दृष्टान्त देते हैं कि जैसे बाहर निकला हुआ प्राण बिना प्रयत्न के प्राण में ही
पहुँच जाता है वैसे ही यह भी भगवान् से मिले और महान् आदर पाया ॥२४॥

आभास—निकटे समागतस्य कृत्यमाह दृष्टेति ।

आभासार्थ—निकट में आकर युधिष्ठिर ने जो कृत्य किया वह 'दृष्टा विक्लिन्न' श्लोक में
कहते हैं ।

श्लोक—दृष्टा विक्लिन्नहृदयः कृष्णं स्नेहेन पाण्डवः ।

चिराद्दृष्टं प्रियतमं सस्वजे स्म पुनः पुनः ॥२५॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण का दर्शन करते ही युधिष्ठिर का हृदय स्नेह से आर्द्र
हो गया और चिरकाल से देखे हुए प्रियतम का बार-बार आलिङ्गन करता
रहा ॥२५॥

सुबोधिनी—स्मेति प्रसिद्धे । अन्यथा जीव-
स्यैवं घाष्ट्यं वर्णयितुमनुचितम् । भगवता कथ-
मङ्गीकृतमिति शङ्कां वारयितुमाह विशेषेण

क्लिन्नहृदय इति । तस्य विचाराभावेनालिङ्गने
हेतुः प्रियतममिति । पुनः पुनरिति अन्तरानन्देन
अन्तरानन्देन बहिःसंभूता सूचिता ॥२५॥

व्याख्यार्थ—“स्म” पद यहां प्रसिद्धि के अर्थ में दिया है, अन्यथा जीव इस प्रकार
धृष्टता करे जिसका वर्णन करना अनुचित है, भगवान् ने इस की धृष्टता कैसे स्वीकार की ?
जिसके उत्तर में कहते हैं कि उसका स्नेह से आर्द्र हृदय हो गया था वह देख कर भगवान् ने धृष्टता
को स्वीकार किया । युधिष्ठिर बिना विचार किये बार-बार आलिङ्गन करता रहा जिसका
कारण कृष्ण भगवान् को वह अपना प्रिय नहीं बल्कि प्रियतम समझता था जिससे अन्तःकरण के
आनन्द में लीन हो गया जिससे बाहर का ज्ञान ही न रहा यह सूचित किया ॥२५॥

आभास—ततो यज्ज्ञातं तदाह दोर्भ्यामिति ।

आभासार्थ—अनन्तर जो कुछ हुआ वह “दोर्भ्या” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—दोर्भ्यां परिष्वज्य रमामलालयं मुकुन्दगात्रं नृपतिर्हताशुभः ।

लेभे परां निर्वृतिमश्रुलोचनो हृष्यत्तनुर्विस्मृतलोकविभ्रमः ॥२६॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मीजी का निर्मल निवास स्थान जो भगवान् का श्रीअङ्ग उसको आलिङ्गन किया, जिससे उसी क्षण उसके सब अशुभ नष्ट हो गए और ऐसे आनन्द मग्न हो गए, जो नेत्रों में से प्रेमाश्रु बहने लगे, शरीर पुलकित हो गया, जिससे सर्व लौकिक व्यवहार भूल गया ॥२६॥

सुबोधिनी—रमायाः अमलमालयम् । अनेन लौकिकन्यायेनापि दोषाभावाय सुखाय च हेतुः क्तः । मुकुन्दगात्रमिति मोक्षानन्दोपि । ततः	सर्वपापक्षयः, ततः परमानन्दस्फूर्तिरन्तर्बहिर्लोचनयोः शरीरे च तदुल्लासः, ततो लौकिकमोहनिवृत्तिः ॥२६॥
--	--

व्याख्यार्थ—महाराज गृधिष्ठिर ने भगवान् के श्रीअङ्ग का आलिङ्गन किया, प्रभु का श्रीअङ्ग लक्ष्मी का निर्मल निवास स्थान है, अतः उस श्रीअङ्ग के आलिङ्गन आदि से महाराज के सब दोष नष्ट हो गए और सुख की प्राप्ति हुई, यों कहकर लौकिक न्याय से भी दोषों के अभाव तथा सुख के लिए यह हेतु कहा है “मुकुन्दगात्र” पद से यह बताया कि इससे मोक्षानन्द भी मिला, उससे सर्व पापों का क्षय हो जाने से परमानन्द की भी स्फूर्ति हो गई, नेत्र और शरीर में अन्दर और बाहर उसका उल्लास हो गया, जिससे लौकिक मोह की निवृत्ति हो गई ॥२६॥

आभास—उत्तमाधिकारित्वादस्यैतावन्निरूप्य ततो न्यूनं भीमकृत्यं निरूपयति तं मातुलेयमिति ।

आभासार्थ—उत्तम अधिकारी होने से इसका इतना निरूपण कर, उससे भीम का कृत्य न्यून है, यों “तं मातुलेयं” श्लोक से निरूपण करते हैं ।

श्लोक—तं मातुलेयं परिरभ्य निर्वृतो भीमः स्मयन्प्रेमज्वाकुलेन्द्रियः ।

यमौ किरीटी च सुहृत्तमं मुदा प्रवृद्धबाष्पाः परिरिभिरेऽच्युतम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—भीमसेन, मामा के पुत्र, श्रीकृष्ण से हँसते हुए मिला, तब प्रेम के वेग से उसकी इन्द्रियाँ व्याकुल हो गई । अर्जुन, नकुल और सहदेव प्रिय श्रीकृष्णचन्द्र से आनन्दपूर्वक मिले, तब उनके नेत्रों से प्रेमाश्रुओं की धारा बहने लगी ॥२७॥

सुबोधिनी—सम्बन्ध एव तस्य हृदये प्रति-
भातः तथापि वस्तुसामर्थ्यान्निवृत्तिः, भगवत्सम्ब-
न्धाद्वलाद्विभवे जाते । समयन् मन्दहासं कुर्वन् ।
ततोधिकारित्वात्प्रेमजवेनाकुलानीन्द्रियाणि
यस्य । यमौ माद्रीपुत्रौ, तयोरपि लौकिकत्वाद्भौ-

मानन्तरं कथनम् । किरोटी अर्जुनः । तत्र
चकारः राजधर्ममन्यधर्म च समुच्चिनोति । परि-
ष्वङ्गे हेतुः सुहृत्तममिति मुदा । प्रवृद्धबाष्पा
इत्यविचारे । भगवांस्त्वच्युत इति न कापि तस्य
क्षतिरित्यनुमोदनं सूचितम् ॥२७॥

व्याख्यानार्थ—यद्यपि भीमादि के हृदय में सम्बन्ध ही देखने में आया तो भी वस्तु के सामर्थ्य से उसकी निवृत्ति होकर आनन्द की प्राप्ति हुई, क्योंकि भगवत्सम्बन्ध से बल का आविर्भाव हो गया था । 'समयन्' पद का तात्पर्य है कि मिलने के समय मन्द हास करते थे, भगवान् से मिलने के अधिकारी होने से अन्तःकरण में जो प्रेम का वेग बढ़ा, उससे इन्द्रियाँ व्याकुल होने लगी, नकुल और सहदेव ये दोनों लौकिक होने से भीम के पीछे कहे हैं और अर्जुन भी । 'च' पद राजधर्म और अन्य धर्मों को दिखाता है, मिलने में कारण बताते हैं कि श्रीकृष्ण इनके हार्दिक मित्र थे, इसलिए प्रसन्नता से मिले । विशेष में नेत्रों से आँसू आने लगे, इससे अविचार प्रकट किया है, भगवान् स्वयं तो अच्युत हैं, इसलिए उनकी तो कुछ भी हानि नहीं हुई, इससे भीम आदि को मिलने के कार्य का अनुमोदन किया, यह सूचित होता है ॥२७॥

आभास—प्रेमकार्यं निरूप्य लौकिकं कृत्यमर्जुनादीनां निरूपयति अर्जुनेनेति-
द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—अर्जुन आदि का प्रेम कृत्य कहकर अब लौकिक कार्य का 'अर्जुनेन' दो श्लोकों से निरूपण करते हैं ।

श्लोक—अर्जुनेन परिष्वक्तो यमाभ्यामभिवादितः ।

ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्च यथार्हतः ॥२८॥

श्लोकार्थ—अर्जुन से भगवान् आलिङ्गन कर मिले, नकुल और सहदेव ने भगवान् को प्रणाम किया, अनन्तर भगवान् ने ब्राह्मणों को और बड़ों को जैसे योग्य था, वैसे ही प्रणाम किया ॥२८॥

सुबोधिनी—समस्यालिङ्गनम्, कनिष्ठौ चेद-
भिवादनम्, अतः अर्जुनेन परिष्वक्तः यमाभ्यां
चाभिवादितः । ततो भगवान् भीमादयो ज्येष्ठा

इति तान् सर्वानेव नमस्करोतीत्याह ब्राह्मणेभ्यो
नमस्कृत्य वृद्धेभ्यश्चेति । यथार्हतः यथायोग्यतः ।
॥२८॥

व्याख्यानार्थ—समान से आलिङ्गन, छोटे हो वे प्रणाम करें, इस लौकिक नीति के अनुसार अर्जुन समवय (बराबर उमर) वाला था, इसलिए भगवान् अर्जुन से आलिङ्गन द्वारा परस्पर मिले । नकुल और सहदेव छोटे थे, इसलिए उन्होंने भगवान् को प्रणाम किया, अनन्तर भीम

आदि जो बड़े थे, उनको भगवान् ने नमन किया और जो वृद्ध थे, उनको भी नमस्कार किया; जैसा योग्य था, वैसा सबने किया ॥२८॥

श्लोक—मानितो मानयामास कुरुसृञ्जयकैकयान् ।

सूतमागधगन्धर्वान् बन्दिनश्चोपमन्त्रिणः ॥२९॥

श्लोकार्थ—प्रथम कौरवादि द्वारा मान पाकर अनन्तर आपने कौरव, पाण्डव और कैकयों का आदर सत्कार किया, बाद में सूत मागध, गन्धर्व, बन्दी और उपमन्त्रियों को मान दिया ॥२९॥

सुबोधिनी—सर्वैर्मानितः सर्वानेव मानयामास । ‘ये यथा मां प्रपद्यन्ते’ इति लौकिकभावेन प्रपन्नान् लौकिकभावं बोधयतीति निरूप्यते । कुरवः सृञ्जयाः कैकयाश्च सात्त्विकादिभेदा इव

त्रिविधा निरूपिताः । बन्धुत्वोपजीवकानुक्त्वा सूतमागधगन्धर्वानिति । गन्धर्वा गायकाः, उपमन्त्रिणः परिहासकर्तारः समीचीनाः ॥२९॥

व्याख्यार्थ—सबने भगवान् का सन्मान किया, आपने भी सबका आदर किया । “ये यथा मां प्रपद्यन्ते” इस श्लोक के अनुसार लौकिक भाव से जो शरण आए, उनको लौकिक भाव ही दिखाया है, यों निरूपण करते हैं । कौरव, सृञ्जय और कैकेय; ये तीन सात्त्विकादि भेद वाले हैं, अतः तीन प्रकार के कहे हैं, बन्धुत्व से जो जी रहे हैं, उनका वर्णन कर विद्या से जीविका करने वालों को कहते हैं । सूत, मागध, गन्धर्व^१ और बन्दीजन तथा उपमन्त्री^२ थे, इनका भी यथायोग्य सन्मान किया गया ॥२९॥

आभास—ततो भगवता मानिताः भगवन्तं मानयामासुरित्याहुर्मृदङ्गैति ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् से सत्कार पाकर भगवान् को मान देने लगे, जिसका वर्णन ‘मृदङ्गशङ्ख’ श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—मृदङ्गशङ्खपटहवीणापणवगोमुखैः ।

ब्राह्मणाश्चारविन्दाक्षं तुष्टुवुर्नृतुर्जगुः ॥३०॥

श्लोकार्थ—उस समय मृदङ्ग, शङ्ख, ढोलक, वीणा, पणव और गोमुख बाजे बजने लगे, ब्राह्मण स्तुति करने लगे, भक्त नाचने लगे और सामवेदी ब्राह्मण सामवेद का गान करने लगे ॥३०॥

सुबोधिनी—चकारात् क्षत्रियादयोपि । अर-
विन्दाक्षमिति दृष्ट्यैवाप्यायिताः । ज्ञानिन-
स्तुष्टुवुः । भक्ता ननुतुः, जगु. कर्मिणः सामगाः ।
॥३०॥

व्याख्यार्थ—‘च’ शब्द से बताया है कि क्षत्रिय आदि भी मान देने लगे । ‘अरविन्दाक्ष’ नाम देकर यह सूचित किया है कि भगवान् ने दृष्टि से ही सबको आनन्द देकर तृप्त कर दिया है, ज्ञानी ब्राह्मण स्तुति से भगवान् का सत्कार करने लगे, भक्त नृत्य द्वारा अपना प्रेम प्रकट कर भगवान् को प्रसन्न करने लगे, कर्मकाण्डी सामगान कर भगवान् का आदर करने लगे ॥३०॥

आभास—दर्शनस्थानकृत्यमुपसंहारन्नग्रिमकृत्यमाह एवं सुहृद्भिरिति ।

आभासार्थ—दर्शन और स्थान पर जो कृत्य हुआ, उसका उपसंहार करते हुए आगे के कृत्य का ‘एवं सुहृद्भिः’ श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—एवं सुहृद्भिः पर्यस्तः पुण्यश्लोकशिखामणिः ।
संस्तूयमानो भगवान्विवेशालंकृतं पुरम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार के पुण्यश्लोको के मुकुट मणिरूप जिनकी स्तुति नागरिक कर रहे हैं, वैसे भगवान् ने सुहृदों के साथ सिंगारे हुए नगर में प्रवेश किया ॥३१॥

सुबोधिनी—एवंभूतैः सुहृद्भिः पर्यस्तो व्या-
प्तस्तैरेव संस्तूयमानः पुरमविशत् । भगवतो
महतो नगराद्बहिरेव स्थातुं युक्तं कथमन्तः -
प्रवेशनमिति शङ्कां वारयति पुण्यश्लोकशिखा-
मणिरिति । पुण्यश्लोका युधिष्ठिरादयः तेषां
शिखामणिमुकुटमणिः । भगवतः प्रवेशाभावे
कोपि पुण्यश्लोको न प्रविशेदिति तदनुरोधेन
प्रार्थनया प्रविष्ट इत्यर्थः । भगवत्त्वादनन्यत्वम्,
सर्वैरेव स्तूयमानत्वान्न लज्जा । सर्वानुमोदनार्थं
विशेषणमलंकृतमिति ॥३१॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार के सुहृदों से घिरे हुए और उनसे ही स्तुत होते हुए भगवान् पुर में प्रविष्ट हुए, भगवान् को तो नगर से बाहर ही रहना उचित था तो नगर में भीतर क्यों पधारे ? इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि यदि नगर में भीतर भगवान् प्रवेश न करते तो नगर में कोई भी पुण्यश्लोक नहीं जाता और न रहता । युधिष्ठिरादि पुण्यश्लोक भी फिर वहाँ न रहते, अतः युधिष्ठिरादि के अनुरोध पूर्वक प्रार्थना से भीतर पधारे । आप भगवान् हैं ही, इसलिए आपके लिए अन्य कुछ नहीं अर्थात् उनके लिए बाहर और भीतर पृथक् नहीं हैं, सब कुछ आप ही हैं, फिर लौकिक से भी जब बाहर और भीतर के सब लोग स्तुति कर रहे हैं तो भीतर जाने में कोई लज्जा नहीं है, पुर का विशेषण ‘अलंकृत’ देकर यह सूचन किया है कि भगवान् के भीतर पधारने का सब अनुमोदन कर रहे हैं ॥३१॥

आभास—भगवत्प्रविष्टं पुरं वर्णयति द्वाभ्यां संसिक्तेति ।

आभासार्थ—भगवान् जिस नगर में पधारे उसके सजाने का दो श्लोकों से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—संसिक्तवर्त्म करिणां मदगन्धतोयै-

श्चित्रध्वजैः कनकतोरणपूर्णकुम्भैः ।

मृष्टात्मभिर्नवदुकूलविभूषणस-

गन्धैर्नृभिर्युवतिभिश्च विराजमानम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—जहाँ मार्ग में हाथियों के मदवाले सुगन्धित जल से छिरकाव हो रहा था, चित्र ध्वजा, सुवर्ण के तोरण, जल से भरे घड़े घरों पर धरे हुए थे, जिनकी अपूर्व शोभा हो रही थी, स्नान कर उज्ज्वल हो, नवीन वस्त्र, आभूषण, माला व सुगन्धित पदार्थों को धारण किए हुए पुरुष और युवतियों से वह नगर विशेष शोभा वाला हो रहा था ॥ ३२॥

सुबोधिनी—करिणां मदगन्धतोयैः संसिक्त-
वर्त्मति अधो वर्णितम् । कनकतोरणैः पूर्णकु-
म्भैश्चेत्युपरि । मध्ये वर्णयति मृष्टात्मभिरिति ।
मृष्टा उद्धर्तनादिभिः शोधिताः आत्मानो देहा

येषां, नवानि दुकूलानि स्रजो माला गन्धाश्च
येषा एतादृशैर्नृभिर्युवतिभिः स्त्रीपुरुषैर्विराजमा-
नमिति साधारणपुरुषाणां शोभा निरूपिता ।
प्रसिद्धपुरुषाणां तु पुरमेव शोभाकरम् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—नगर के नीचे के भाग पृथ्वी का वर्णन करते हैं कि उस पर हस्तियों के मद से सुगन्धित जलों से छिरकाव होने से नीचे के भाग पृथ्वी सुगन्धित हो रही थे, नगर के भवनों की शोभा से ऊपर के भाग की शोभा को कहते हैं कि सुवर्ण के तोरण और जल से पूर्ण घड़े भवनों पर धरने से ऊपर की शोभा हो रही थी, मध्य भाग की शोभा कहते हैं अर्थात् कि नगर के साधारण स्त्री-पुरुषों की शोभा से नगर का मध्य भाग सुशोभित हो रहा था, जैसे कि पुरुष तथा युवा स्त्रियाँ इतर, फुलेल आदि उवटन कर, नवीन वस्त्र और पुष्प माला धारण कर चन्दन आदि लगाकर घूम रही थी, ऐसे नगर में आपने प्रवेश किया ॥३२॥

आभास—साधारणं पुरं वर्णयित्वा राजगृहात्मकं वर्णयति उद्दीपेति ।

ग्रामासार्थ—साधारण नगर का वर्णन कर राजगृह रूपी नगर का 'उद्दीपदीप' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—उद्दीपदीपवलिभिः प्रतिसद्मजाल-

निर्यातघूपरुचिरं विलसत्पताकम् ।

मूर्धन्यहेमकलशै रजतोरुशृङ्गै-

र्जुष्टं ददर्श भवनैः कुरुराजधाम ॥३३॥

श्लोकार्थ—जहाँ प्रत्येक गृह दीप तथा पुष्प मण्डलियों से सुशोभित हो रहा था, भवनों की जालियों से सुन्दर धूप का सुगन्धित धूम निकलता था, सुन्दर पताकाओं से प्रत्येक सदन (महल) सुशोभित था, उन महलों के ऊपर सोने के कलश, उनके नीचे के भाग में चाँदी के बड़े-बड़े शिखर थे, ऐसे सुन्दर राज भवनों से सुशोभित कुरु राज की राजधानी भगवान् ने देखी ॥३३॥

सुबोधिनी—राजगृहाः सर्वे भोगस्थानभूता इति तत्र उद्दीप्ता दीपा वलयश्च पुष्पमण्डलानि पूजासाधनानि भवन्ति । प्रतिसद्य सर्वेष्वेव गृहेषु ये जाला गवाक्षाः तन्मार्गेण निर्याता ये धूपास्तै रुचिरम् । विलासयुक्ताः पताका यस्मिन् । सात्त्विकराजसतामसोत्कर्षो निरूपितः क्रमेण

पदत्रयेण । गृहाणां स्वाभाविकोत्कर्षमाह मूर्धन्येति । गृहमूर्धनि स्थितैः हेमकलशैः, राजतानि उरु शृङ्गाणि च तंजुष्टं सेवितम्, ज्ञापकत्वेन तानि स्थितानि । अयमर्थः । भगवान् दूरादेव दीपविशेषैः पताकाभिः सुवर्णकुम्भैः राजत-शृङ्गैश्च राजगृहमिदमिति ज्ञातवानिति ॥३३॥

व्याख्यानार्थ—सब राजगृह भोग के स्थान बन गए थे उन भवनों में तेज दीपक जल रहे थे और पुष्प मण्डलियां रखी थी, ये दोनों दीप और पुष्प पूजा के साधन होते थे प्रत्येक घर में जो जालिया थीं उनमें से धूप का सुगन्धित धूप निकलता था, उनसे वे सुन्दर लगते थे, जिन भवनों पर पताकाएं विलास कर रही थी अर्थात् हिलती हुई मानों क्रीड़ा कर रही थी इन तीनों पदों से सात्त्विक राजस और तामस तीन प्रकार का उत्कर्ष वर्णन किया है, अब राजगृहों का स्वाभाविक तीन प्रकार उत्कर्ष कहते हैं, गृहों के ऊपर सोने के कलश स्थापित थे, उनके नीचे चाँदी के बड़े बड़े शिखर थे, उनसे वे पहचाने जाते थे कि यह भवन राजगृह हैं, इस कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् दूर से ही विशेष दीपों से, पताकाओं से सुवर्ण के घड़ों से चाँदी के शिखरों से जान गए कि ये सब राज महल हैं ॥३॥

आभास—ततः पुरं प्रविष्टस्य भगवतः प्रकारान्तरेण स्वरूपं वर्णयितुं तत्रत्यानां औत्सुक्यमाह प्राप्तं निशम्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् नगर में प्रविष्ट भगवान् का अन्य प्रकार से स्वरूप वर्णन करने के लिये, वहाँ के निवासियों की उत्सुकता का वर्णन “प्राप्तं निशम्य” श्लोक से करते हैं—

श्लोक—प्राप्तं निशम्य नरलोचनपानपात्र-

मौत्सुक्यविश्लथियकेशदुकूलबन्धाः ।

सद्यो विसृज्य गृहकर्म पतोंश्च तल्पे

द्रष्टुं ययुर्बतयः स्म नरेन्द्रमार्गे ॥३४॥

श्लोकार्थ—मनुष्य नेत्रों से जिस पान पात्र में से लावण्यामृतरस का पान करते

हैं, वह पान पात्र भगवान् पधार गए हैं, यह सुनते ही उत्सुकता से जिनके केश और वस्त्र के बन्धन शिथिल पड़ गए हैं, ऐसी तरुण स्त्रियाँ घर का कार्य त्याग तथा पतियों को शय्या पर ही सोया हुआ छोड़कर भगवान् के दर्शनार्थ राज मार्ग पर आ गई ॥३४॥

सुबोधिनी—नराणां यानि लोचनानि लावण्यामृतसारज्ञानयुक्तानि तेषां लावण्यामृतपानं भगवान्पानपात्रं यत्रत्यं रूपामृतं चक्षूषि पिबन्ति । ततो रूपदर्शनेन उन्मथिताशयानां देहवैक्लव्यमाह प्रोत्सुव्येति । दर्शने दर्शनानन्तरं वा या उत्सुकता प्रोत्सुव्यं तेन विश्लथिताः केशदुकूलयोर्बन्धा यासाम्, केशबन्धापगमे मनोवैवल्यम्, दुकूलबन्धापगमे देहकार्श्यम्, अन्तर्वहिः - क्लेशो निरूपितः । ततः पूर्वावस्थायां स्थातुम-

शक्ताः सद्य एव गृहकर्म पतींश्च तल्पे त्यक्त्वा क्रियाः क्रियाफलानि च त्यक्त्वा नरेन्द्रस्यैव मार्गे राजमार्गे युवतयो भगवन्तं द्रष्टुं ययुः । तल्पे पतीनां निरूपणान्न ते भगवद्भक्ताः । राजा तु भगवत्संमुखं गत इति पतिगृहेभ्यः राजमार्ग एव श्रेष्ठ इति तत्रैव निविष्टा येन भगवान् दृश्येतेत्यर्थः । गृहाः कर्माणि पतयश्चेति वा । तामसादिभेदाद्वयः त्यागार्हा एव अर्थाद्राजमार्गो गुणातीत एव भवति ॥३४॥

व्याख्यार्थ—लावण्यामृतरस के ज्ञाता जो मनुष्यों के नेत्र हैं, उन नेत्रों के लावण्यामृतपान का पात्र भगवान् है क्योंकि मनुष्य भगवान् के रूपामृतरस का पान नेत्रों से ही करते हैं । नेत्रों से रूपरस का पान करने से जो भगवान् के मिलने की उत्सुकता बढ़ गई, जिससे देह में जो बेचैनी हुई उससे उनके केश तथा वस्त्रों के बन्धन खुल गए, केशों के खुलने से मनमें विकलता होने लगी वस्त्रों के खुलने से यह सूचित हुआ कि देह कृश हो गई है, इससे भीतर और बाहर का क्लेश वर्णन किया, यों होने से पहले की तरह रहने में असमर्थ हो गई, अतः शीघ्र ही गृह के कार्य और पतियों को शय्या पर ही छोड़, अर्थात् क्रियाएं और उनके फलों को छोड़ कर, वे युवतियाँ राजमार्ग पर प्रभु के दर्शनार्थ गई, पतियों को शय्या पर ही छोड़ा जिससे यह सूचित होता है कि वे (पुरुष) भगवान् के भक्त नहीं थे, यदि भगवद् भक्त होते तो, वे भी उठकर दर्शनार्थ जाते । राजा तो भगवान् को पधाराने के लिए सामने गए हैं इसलिए पतिगृह से राजमार्ग ही श्रेष्ठ है वहां ही बैठ गई जिससे भगवान् देखने में आवें, गृह, कर्म और पति, ये तीन ही तामस आदि भेद से तीन प्रकार के हैं अतः त्यागने के योग्य ही है अर्थात् राजमार्ग गुणातीत ही हैं, क्योंकि वहाँ भगवद् दर्शन होते हैं ॥३५॥

आभास—अत एव तत्र गतानां भगवद्दर्शनं जातमित्याह तस्मिन्निति ।

आभासार्थ—इस कारण से ही वहां जो गए उनको भगवान् के दर्शन हुए यह “तस्मिन्” श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तस्मिन्सुकुल इभाश्चरथद्विपद्भिः

कृष्णं सभार्यमुपलभ्य गृहाधिरूढाः ।

नार्यो विकीर्य कुसुमैर्मनसोपगुह्य

सुस्वागतं विदधुरुत्समयवीक्षणो ॥३५॥

श्लोकार्थ—कितनी ही स्त्रियाँ घर के ऊपर के भाग पर चढ़कर दर्शनार्थ बैठ गई, उन्होंने चतुरङ्गिणी सेना की भीड़ में पटरानियों सहित श्रीकृष्ण को पाकर उन पर पुष्प वर्षा करने लगीं तथा मन से आलिङ्गन कर मुस्कान युक्त दृष्टि से उनका स्वागत करने लगीं ॥३५॥

सुबोधिनी—चतुरङ्गसेनासंकुले तस्मिन् मार्गे समार्यं भगवन्तमुपलभ्य गृहाधिरूढाः सत्यः आरोहदोषपरिहाराय कुसुमैविकीर्य विवाहमिव कृत्वा पश्चान्मनसोपगुह्य उत्समयवीक्षणेन हास-पूर्वकनिरीक्षणेन सुष्ठु स्वागतं विदधुः, सर्वनिरूपणेन ह्यपराधक्षमा । तत्र विधानपूर्वकं भगवन्तं

परिगृह्य प्रमाणविरोध परिहृत्य आत्मानं भगवति योजयित्वा प्राप्तं भगवन्तं पूरितमनोरथं पूर्णमनोरथाः हासेनाधिकरति दास्याम इति सूचयन्त्यः मोहयन्त्यो वा ततः साभिलाषं भगवन्तं सम्यगागतमिति सन्माननां कृतवत्य इत्यर्थः । ॥३५॥

व्याख्यार्थ—चतुरङ्गिणी सेना से युक्त उस मार्ग में पटरानियों के साथ भगवान् को पाकर पुष्पों को वर्षा करने लगीं मानो अब विवाह ही रहा है स्त्रियों ने घरों के ऊपर के भाग में बैठने का जो दोष किया था, क्योंकि भगवान् नीचे थे आप ऊपर बैठी थी उस दोष के मिटाने के लिए भी पुष्प वर्षा की, जिससे यह भी सूचन किया कि हम इसके लिए ऊपर बैठी है पश्चात् पुष्प वसने के अनन्तर मन से भगवान् का आलिङ्गन कर हास पूर्वक दर्शन करने से सुन्दर स्वागत किया यों सर्व प्रकार स्वागत करने से अपराध की क्षमा भी मांगली, यों करने का तात्पर्य यह है कि विधिपूर्वक भगवान् को पाकर प्रमाण के विरोध का परिहार किया आत्मा को भगवान् में मिलाकर जिससे मनोरथ पूर्ण हुए हैं ऐसे प्राप्त भगवान् को इंगति से कहने लगी कि यद्यपि हमारे मनोरथ पूर्ण हो गए हैं तो भी हास्य से अधिक रति का दान करूँगी यों सूचन करती थी अथवा मोहित करती थीं उससे अभिलाषा वाले भगवान् को कहने लगी कि आप भले पधारें, यों सन्मान करने लगीं ॥३५॥

आभास—एवं भगवति स्त्रीणां भावमुक्त्वा पुरुषाणां भावमाह तत्र तत्रेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् में स्त्रियों के भाव को कहकर अब “तत्र तत्र” श्लोक में पुरुषों के भाव को कहते हैं—

श्लोक—तत्र तत्रोपसंगम्य पौरा मङ्गलपाणयः ।

चक्रुः सपर्यां कृष्णाय श्रेणीमुख्या हतैनसः ॥३६॥

श्लोकार्थ—निष्पाप पुरवासी, मुख्य-मुख्य कारीगर विशेष वैश्य, व्यापारी, जहाँ-तहाँ माङ्गलिक पदार्थ हस्तों में लेकर समीप आकर भगवान् का गन्धादि से पूजन करने लगे ॥३६॥

सुबोधिनी—पौराः पुरवासिनः सर्व एव कृष्णस्य सपर्या पूजा चक्रुः । श्रेणीमुख्यानां विशेषमाह एकशिल्पोपजीविनः वणिग्विशेषाः श्रेणीमुख्याः ते भगवता तत्तच्छिल्पसहिता विशेष-

षतो दृष्टाः सर्वात्मना हतैनसो जाता इत्यर्थः । मङ्गलद्रव्ययुक्तपाणित्वं तु समानमेव, सपर्या गन्धपुष्पादिभिः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—पुर में रहने वाले सब ही भगवान् की पूजा करने लगे एक ही शिल्प से आजीविका करने वाले विशेष वैश्यों को “श्रेणी मुख्याः” कहा है, भगवान् ने उनको उस शिल्प सहित विशेष प्रकार से देखा, जिससे उनके सर्व प्रकार से सर्व पाप नष्ट हो गए, मङ्गलद्रव्य तो सबके हाथों में था वह सर्व में समान ही है—सपर्या-पद से जताया है कि गन्ध पुष्पादि से पूजा की ॥३६॥

आभास—एवं सर्वैः सभाजनमुक्त्वा स्त्रीभिः कृतं मुकुन्दपत्नीनां पुनराह ऊचुरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सबने सन्मान किया यह कहकर अब स्त्रियों ने जो भगवान् की पत्नियों का सन्मान किया वह “ऊचुः” श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—ऊचुः स्त्रियः पथि निरीक्ष्य मुकुन्दपत्नी-

स्तारा यथोडुपसहाः किमकार्यमूभिः ।

यच्चक्षुषां पुरुषमौलिरुदारहास-

लीलावलोककलयोत्सवमातनोति ॥३७॥

श्लोकार्थ—जैसे तारों के साथ चन्द्रमा, वैसे इनके साथ भगवान् शोभा दे रहे हैं, इनको देख कर इन्द्रप्रस्थ की स्त्रियाँ बातें करने लगीं कि अहो इन्होंने क्या पुण्य किया होगा, जो भगवान् इनके नेत्रों को अपने उदार मन्द हास्य और लीलापूर्वक अवलोकन की कला से आनन्द दे रहे हैं ॥३७॥

सुबोधिनी—स्त्रीत्वभक्तत्वाविशेषेऽपि एता एव धन्या न तु वयम् । यद्यपि वयमुपरि तथापि भगवान् भूमौ समागत इति भूमिरेव स्वर्गं इति निरूपयन्त्यो दृष्टान्तमाहुः तारा यथोडुपसहा इति ! ‘देवगृहा वै नक्षत्राणि’ इति श्रुत्या तासामिन्द्रियाणां देवद्भोगाधिक्यं सूचितम् । केन धर्मेणायमर्थः प्राप्त इति तासां विमर्शनमाहुः किमकार्यमूभिरिति । ननु किमाश्चर्यं बह्वीनामेव तथाभावादित्याशङ्क्य तासां सर्वोत्तमफल-

भोगमाह यच्चक्षुषामिति । यासां चक्षुषां भगवान् स्वयमुत्सवमातनोति । भगवानेव सर्वकर्तेति किमाश्चर्यमिति शङ्कां वारयितुं भगवति विशेषमाह पुरुषमौलिरिति । न हि पुरुषोत्तमः स्त्रिया उत्सवं संपादयति तथा सत्युत्तमत्वमेव चिन्त्यं स्यात् । तत्रापि उदारो यो हासः सर्वेषामनायासेन सर्वपुरुषार्थदाता, तत्सहितो यो लीलावलोकः पूर्णसर्वपुरुषार्थोपि भक्तिज्ञानसहितः, उदारो नृणः वयाणां च हासलीलावलोकानां तेषामपि

या कला नैपुण्यातिशयः तेन स्वसर्वस्वेनापि तासां | स्तुतिः ॥३७॥
नेत्राणामुत्सवं करोतीति तासां महती

व्याख्यार्थ—यद्यपि इनका और हमारा स्त्रीत्व और भक्तत्व समान ही है तो भी ये ही धन्य हैं न कि हम धन्य है, यद्यपि हम ऊपर हैं तो भी भगवान् भूमि पर पधार रहे हैं, अब भूमि ही स्वर्ग है, इसका निरूपण करती हुई दृष्टान्त देती है कि तारे जैसे चन्द्रमा के साथ शोभते हैं "देवगृहा वे नक्षत्राणि" इस श्रुति से उनकी, इन्द्रियों के भोग की देव की तरह अधिकता वर्णन की है, इन्होंने कौनसा धर्म किया है जो यह धन इनको प्राप्त हुआ है ? इसमें क्या आश्चर्य है कि बहुतां का ही वैसे भाव होने से यह फल मिला हो ? उनके सर्वोत्तम फल के भोग को कहते हैं कि "यच्चक्षुषा" जिनके नेत्रों को भगवान् स्वयं आनन्द दे रहे हैं, भगवान् ही सर्व कर्ता हैं इसमें क्या आश्चर्य है ? इस शंका को निवारण करने के लिए कहती है कि भगवान् में सबसे विशेषता है क्योंकि 'पुरुषमोलिः' पुरुषों में उत्तम है, पुरुषोत्तम स्त्री से उत्सव सम्पादन नहीं करते हैं यदि यों हो तो उत्तमत्व ही विचारणीय हो जावे, उसमें भी जो आपका उदार हास है वह सबको विना परिश्रम के सर्व पुरुषार्थ देने वाला है, उस उदार हास के साथ जो लीला से अवलोकन है वह पूर्ण सर्व पुरुषार्थ भी भक्ति ज्ञान सहित है, उदार गुण के साथ, हास्य लीला और अवलोकन का जो अतिशय नैपुण्य है, उससे अपने सर्वस्व से भी उनके नेत्रों को आनन्दित कर रहे हैं, इससे उनकी यह बड़ी भारी स्तुति है, ॥३७॥

आभास—पुरवासिनां कृत्यमुक्त्वा अन्तःपुरवासिनामाह अन्तःपुरजनैरिति ।

आभासार्थ—नगर वासियों ने जो सत्कार आदि किया वह कह कर अब अन्तःपुर वासियों का कृत्य "अन्तपुर" श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—अन्तःपुरजनैः प्रीत्या मुकुन्दः फुल्ललोचनैः ।

ससंभ्रमैरभ्युपेतः प्राविशद्राजमन्दिरम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—प्रेम से प्रफुल्लित नेत्र वाले अन्तःपुर के जन बड़े सम्भ्रम से सन्मुख जाकर भगवान् का सत्कार करने लगे, अनन्तर प्रभु राजमन्दिर में पधारे ॥३८॥

सुबोधिनी—अन्तःकरणेन्द्रियशरीराणि तेषां | सर्वभावैः प्रपन्नैरभ्युपेतः सन् राजमन्दिरं
भगवत्पराणीति वक्तुं विशेषणत्रयम् । प्रीत्या | प्राविशत् ॥३८॥
फुल्ललोचनैः ससंभ्रमैरिति संभ्रमो देहधर्मः । एवं

व्याख्यार्थ—अन्तःपुरवासी जनों के अन्तःकरण, इन्द्रियां और शरीर तीनों ही भगवत्परायण थे, यों कहने के लिए तीन विशेषण दिये हैं १-प्रीत्या २-फुल्ललोचनैः और सम्भ्रमैः, सम्भ्रम पद से देह धर्म कहा है, इस प्रकार सर्वात्म भाष वाले शरणागती सामने आए जिनसे सत्कार पाते हुए उनके साथ राजमन्दिर में प्रभु प्रविष्ट हुए ॥३८॥

आभास—संमाननाया अविच्छेदं वक्तुं पृथादिकृतं संमानमाह पृथा विलोक्येति ।

आभासार्थ—सत्कार का विच्छेदन हो, इसलिए पृथा आदि ने किए सत्कार का “पृथा विलोक्य” श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—पृथा विलोक्य भ्रात्रेयं कृष्णं त्रिभुवनेश्वरम् ।

प्रीतात्मात्माय पर्यङ्कात्सस्नुषा परिषस्वजे ॥३६॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण त्रिलोकी के नाथ हैं तो भी अपने भतीजे हैं, अतः उनको देखकर पृथा (कुन्ती) प्रसन्न हुई, अपनी बहू के साथ, पलङ्ग से उठ(आ)कर उनसे मिली ॥३६॥

सुबोधिनी—भ्रातृपुत्रोपि कृष्णस्त्रिभुवनेश्वरः महान् सम्बन्धीति प्रीतात्मा सती सस्नुषा पर्यङ्कादुत्थाय परिषस्वजे महति लज्जाभये भवतः ते च परित्यज्य परिष्वङ्गाज्जातिदेहधर्मनिवृत्तिः । पर्यङ्कादुत्थायेति सुखसाधनपरित्यागः । सस्नुषेति

निरन्तरत्वम् । अन्तःकरणप्रीत्या दोषाभावपूर्वकं सर्वगुणा निरूपिताः । पर्यङ्कस्थितिः भगवत्कृपा सूचयति । भगवदर्थं गृहकार्ये स्थिताया विकलाया वा पर्यङ्के स्थितिः । एतावदेव तयोः कृत्यं प्रेम्णा विकलयोर्नाधिकम् ॥३६॥

व्याख्या—भ्राता का पुत्र श्रीकृष्ण त्रिभुवनेश्वर है, महान् सम्बन्धी है इसलिए प्रसन्न हुई पृथा (कुन्ती) बहू के साथ पलंग से उठकर आके उनसे मिली, यद्यपि बड़े से मिलने में लज्जा और भय होता है किन्तु उन दोनों का त्यागकर मिलने से जाति और देह के धर्म से अपनी निवृत्ति दिखाई पलंग से उठने से बताया है कि भगवान् से मिलने के लिए सुख के साधन छोड़ने चाहिए बहू को साथ लाने से यह सूचन किया कि सतत भगवान् से मिलना चाहिए, अर्थात् गृहस्थ छोड़ अकेले होने से ही भगवान् मिलते हैं यों नहीं है, केवल अन्तःकरण में उनके लिए प्रेम चाहिए, पृथा के अन्तःकरण की प्रीति से दोष रहित सर्वगुण निरूपण किए, पलंग पर बैठना, भगवत्कृपा का सूचन है, गृह के कार्य में स्थित अथवा विकलता से पलंग पर जो बैठता है वह भगवान् के लिए है, प्रेम से विकल उन दोनों “पृथा और बहू” का इतना ही कृत्य है इससे विशेष नहीं हैं ॥३६॥

आभास—ततो गृहागते भगवति राज्ञः कृत्यमाह गोविन्दमिति ।

आभासार्थ—गृह में पधारे हुए भगवान् में राजा का कृत्य ‘गोविन्दं गृह’ श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—गोविन्दं गृहमानीय देवदेवेशमाहृतः ।

पूजार्थं नाविदत्कृत्यं प्रमोदोपहृतेन्द्रियः ॥४०॥

श्लोकार्थ—देवों के देव गोविन्द को घर में पधरा कर आया, तब महाराज की सब इन्द्रियाँ आनन्द में मग्न हो गई, जिससे प्रभु के लिए आदर होते हुए भी जान न सके कि उनकी पूजा कैसे करूँ ? ॥४०॥

सुबोधिनी—देवमात्रेऽपि गृहागते महती पूजा कर्तव्या भगवांस्तु देवानामपि देवः तस्मिन्नप्यागते स्वयमेव गृहानानीय पूजायां कर्तव्याया आदरे विद्यमानेऽपि सति कृत्यं कर्तव्यं नाविदत् ।

भगवद्व्यतिरेकेण तस्यान्यत्र पूजासाधने दृष्ट्यभावात् । वलञ्चित्तप्रेरणे वैकल्यसंभवात् न पूजाज्ञानम् । प्रमोदेन च उपहतानोन्द्रियाणि सुखासक्तानि न क्रियायां प्रवर्तन्त इत्यर्थः ॥४०॥

व्याख्यान—केवल देवता भी घर में आवे तो उसकी विशेष पूजा करनी चाहिए भगवान् तो देवों के भी देव हैं उनके आने पर भी महती पूजा करनी चाहिए किन्तु यहां तो स्वयं भगवान् को पधरा कर लाए हैं, अतः पूजा में आदर होते हुए भी किस प्रकार पूजादि कृत्य किया जाय वह समझ न सके, कारण कि उन (महाराज) की भगवान् के अतिरिक्त अन्य किसी पूजादि साधनो में दृष्टि अर्थात् ध्यान ही नहीं था, बलपूर्वक चित्त को खींचे तां विकलता होने का सम्भव होने से पूजा विधि का ज्ञान न रहे, भगवान् के पधारने से जो सुख मिला उस सुख में सब इन्द्रियाँ आसक्त हो गई थीं, मुख में आसक्त इन्द्रियाँ कार्य में प्रवृत्त हो नहीं सकती हैं ॥४०॥

आभास—एवं सर्वेषु प्रेम्णा विकलेषु सत्सु भगवत्कृत्यमाह पितृष्वसुरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार जब सब प्रेम से विकल हो गये तब भगवान् ने जो किया । उसका वर्णन “पितृष्वसुः” श्लोक से करते हैं—

श्लोक—पितृष्वसुर्मुखीणां कृष्णश्चक्रेभिवादनम् ।

स्वयं च कृष्णया राजन्भगिन्या चाभिवन्दितः ॥४१॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने अपनी भूवा और बड़ों की स्त्रियों को प्रणाम किया, हे राजन् ! द्रौपदी और सुभद्रा ने श्रीकृष्ण को प्रणाम किया ॥४१॥

सुबोधिनी—येन भगवच्चरित्रेण मोहकेन तेषां सावस्था दूरे भवति अन्यथाग्रिमकार्यं न स्यात् तच्चरित्रमाह । स्वापेक्षया ज्येष्ठानां स्त्रीणां पितृष्वसुश्च भगवानभिवादनं चक्रे । ततस्तानां देहधर्मयुक्तानां कृत्यमाह स्वयं चेति । स्त्रीत्वैकगृह-

त्वैकगोत्रत्वादिभिः सर्वा एकभावमापन्ना इति वृद्धनमस्कारेऽप्यन्यासामपि देहधर्मसंबन्धः । कृष्णा द्रौपदी । भगिनी सुभद्रा चकारादन्या अपि ॥४१॥

व्याख्यान—भगवान् के जिस मोहक चरित्र से उनकी वह विकल अवस्था मिट जावे, नहीं तो आगे का कार्य नहीं हो सकेगा वह चरित्र कहते हैं— अपनी अपेक्षा जो बड़े थे उनकी स्त्रियों को

और भूआ को भगवान् ने अभिवादन किया, पश्चात् देह के धर्मवालों के कृत्य को कहते हैं—
स्त्रीपन, एक ही गृह और गोत्र आदि से सब एक भाववाली होने से वृद्धाओं के नमस्कार में भी
अन्यों के देह धर्म का सम्बन्ध आ गया, अर्थात् सबसे यथोचित अभिवादन हुआ कृष्णा (द्रौपदी)
और भगिनी (सुभद्रा) और “च” पद से अन्यों ने भी भगवान् को अभिवादन किया ॥४१॥

आभास—ततो भगवत्पत्नीनां पूजामाह श्वश्वरेति ।

आभासार्थ—भगवान् की पत्नियों की पूजा “श्वश्वर” श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—श्वश्वरा संचोदिता कृष्णा कृष्णपत्नीस्तु सर्वशः ।

आनर्च रुक्मिणीं सत्यां भद्रां जाम्बवतीं तथा ॥४२॥

कालिन्दीं मित्रविन्दां च शैव्यां नाग्नजितीं सतीम् ।

श्लोकार्थ—सास की प्रेरणा से द्रौपदी ने रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा, जाम्बवती,
कालिन्दी, मित्रविन्दा, शैव्या, नाग्नजिती आदि सब कृष्ण की स्त्रियों का यथाविधि
पूजन किया ॥४२॥

सुबोधिनी—पृथया संप्रेषिता कृष्णा । सर्वशः
सर्वप्रकारेण, कृष्णपत्नीरर्चयामास । तुशब्देन
न्यूनाधिकभावेन पूजा निवारिता । समुदायेन
पूजां निवारयितुं प्रत्येकं नामान्याह रुक्मिण्यादि-

पदैः । सत्या सत्यभामा, शैव्या लक्ष्मणा, नाग्न-
जित्येव सती सत्या । एवमष्टमहिष्यो नाम्ना
निरूपिताः ॥४२॥

व्याख्यार्थ—पृथा ने द्रौपदी को पूजा के लिए, भेजा, उसने आकर सर्व प्रकार से कृष्ण की
स्त्रियों का पूजन किया ‘तु’ शब्द का यह भाव है कि सबकी समान रूप से पूजा की न्यूनाधिक भाव न
किया, वह पूजन प्रत्येक का पृथक् पृथक् किया न सबका इकट्ठा कर दिया, इसलिए प्रत्येक के नाम
दिये हैं रुक्मिणी, सत्यभामा, भद्रा जाम्बवती, कालिन्दी, मित्रविन्दा, लक्ष्मणा, नाग्नजिती ही सती
(सत्या) है, इस प्रकार अष्ट पटरानियों के नाम कहे जिनकी पूजा द्रौपदी ने सर्व प्रकार से
की है ॥४२॥

आभास—षोडशसहस्राण्यवशिष्टानि एकभावापन्नत्वात् समुदायेनाह अन्याश्चेति ।

आभासार्थ—शेष षोडश सहस्र रह गई, वे एक-भाव वाली है अतः उनका नाम न कहकर
समुदाय से उनका पूजन हुआ वह “अन्याश्च” श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—अन्याश्चाभ्यागता यास्तु वासःसङ्मण्डनादिभिः ॥४३॥

श्लोकार्थ—अन्य स्त्रियां भी जो आई थीं, उनका वस्त्र, माला और आभूषणादि से पूजन किया ॥४३॥

सुबोधिनी—किं बहुना प्रद्युम्नादिपत्न्योपि | मण्डनादिभिः आनर्चेतिसंवन्धः ॥४३॥
याः काश्चन समागताः ताः सर्वा एव वासःस्रङ्-

व्याख्यार्थ—बहुत कहने से क्या ? भगवान् की पौड़श सहस्र पत्नियों के अतिरिक्त जो कोई प्रद्युम्न आदि की स्त्रियां भी आई थीं उनका सबका ही वस्त्र, माला और आभूषणादि से पूजन किया ॥४३॥

आभास—तात्कालिकं पूजाविशेषमुक्त्वा राज्ञः स्थिरं कृत्यमाह सुखं निवास-
यामासेति ।

आभासार्थ—उस समय की पूजा विशेष का वर्णन कर, राजा के स्थिर कृत्य को "सुख निवा-
सयामास" श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—सुखं निवासयामास धर्मराजो जनार्दनम् ।
ससैन्यं सानुगामात्यं सभार्यं च नवं नवम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—धर्मराज भी भगवान् को तथा उनकी सेना, अनुचर और रानियों को प्रतिदिन नवीन प्रकार से सुख पूर्वक निवास कराने लगा ॥४४॥

सुबोधिनी—वस्तुतस्तु सुखरूपं भगवन्तं सर्वेषामित्याह ससैन्यमिति । भगवत्तत्त्वार्थज्ञानि
स्थापयित्वा स्वयं सुखी जात इत्यर्थः । जनार्दन-
मविद्यानाशकम् । यथैव भगवतो मनःप्रीतिर्भवति सैन्यं सेवकाः अमात्या भार्याश्चेति । तत्सहितं
तथा स्थापितवान् । न केवलं भगवतः किंतु प्रत्यहं नवं नवं यथा भवति ॥४४॥

व्याख्यार्थ—सचमुच तो सुखरूप भगवान् को अपने पास स्थापित करने से राजा स्वयं सुखी हुआ, "जनार्दन" नाम से बताया कि भगवान् अविद्या का नाश करने वाले हैं, जिस प्रकार भगवान् का मन प्रसन्न हो उसी प्रकार भगवान् को स्थापित किया, केवल भगवान् को इस प्रकार स्थापित नहीं किया, किन्तु सबको अर्थात् भगवान् के चारों अंग सैन्य, सेवक, अमात्य और स्त्रियां, इनके साथ हर रोज जैसे-जैसे नवीनता देखने में आवे वैसे सुख पूर्वक सबको विराजमान किया ॥४४॥

आभास—एवं सर्वभावेन सेवायां क्रियमाणायां लौकिकधर्माभिनिविष्टे राजनि
भगवता यत्कृत्यं तदाह तर्पयित्वेतिद्विभ्याम् ।

आभासार्थ—इस प्रकार सर्वभाव से सेवा करने पर लौकिक धर्मयुक्त राजा के लिए जो कृत्य भगवान् ने किया वह "तर्पयित्वा" से दो श्लोकों में कहते हैं—

श्लोक—तर्पयित्वा खाण्डवेन वह्निं फाल्गुनसंयुतः ।

मोचयित्वा मयं येन राज्ञे दिव्या सभा कृता ॥४५॥

श्लोकार्थ—भगवान् अर्जुन को साथ लेकर, अग्नि को खाण्डव वन का भोजन देकर उसको प्रसन्न किया और मय को छुड़ाया, जिससे राजा के लिए अलौकिक सभा बनाई ॥४५॥

सुबोधिनी—देवेऽग्निः प्रधानभूत इति खाण्डवेन तमादौ तर्पयामास । दैत्याधिपति मयं च मोचयामास । एवं देवासुररूपाणीन्द्रियाणि स्वाधिदैविकतर्पणेन तृप्तानि सन्ति युधिष्ठिरं

सर्वथा लौकिकवैदिकभावेन तर्पयिष्यन्ति । दैत्य-भागस्य शीघ्रफलत्वज्ञापनय मयकृतोपकारमाह येन मयेन राज्ञे दिव्या सभा कृतेति । क्त्वाप्रत्ययान्तयोः उवासेत्यनेन संबन्धः ॥४५॥

व्याख्यार्थ—देवों में अग्नि देव मुख्य देवता है, इसलिए भगवान् ने प्रथम उस देव को खाण्डव वन का भोजन दिया जिससे वह प्रसन्न हुआ और मय देव को बचाया, जिस मय ने राजा के वास्ते अलौकिक सभा बनाई इस प्रकार देव और असुर रूपी इन्द्रियां अपने आधिदैविक की प्रसन्नता से प्रसन्न हैं, अतः वे लौकिक वैदिक भाव से युधिष्ठिर को प्रसन्न करेंगी अर्थात् तृप्त करेंगे, दैत्य शीघ्र प्रसन्न होते हैं अतः वे शीघ्र फल दे देते हैं, जैसे मय असुर को छुड़ाकर प्रसन्न किया तो उसने शीघ्र ही सभा बनाकर फल देके कृतज्ञता प्रकट की है, 'क्त्वा' प्रत्यय के अन्त काले शब्दों का "उवास" पद से सम्बन्ध है ॥४५॥

आभास—न केवलं कृत्यैव तं सुखीचकार किन्तु स्थित्यापीत्याह उवासेति ।

आभासार्थ—केवल अपने कृत्यों से उसको सुखी नहीं किया किन्तु वहां विराजमान होकर भी प्रसन्न किया यह "उवास" श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—उवास कतिचिन्मासात्राज्ञः प्रियचिकीर्षया ।

विहरन्नथमारुह्य फाल्गुनेन भटैर्वृतः ॥४६॥

श्लोकार्थ—अर्जुन के साथ रथ में विराजकर, योद्धाओं को साथ में लेकर, विहार करते हुए भगवान् राजा को प्रसन्न करने की इच्छा से कितने ही मास वहाँ इन्द्रप्रस्थ में विराजे ॥४६॥

सुबोधिनी—कतिचिन्मासानिति कार्यान्तर-मकृत्वा राज्ञः प्रियार्थं निरन्तरं राजसन्निधानं

एवोवास मासचतुष्टयमिति विमर्शः भगवतः शयनकाल एव तादृश इति । निर्वन्धेन स्थितिं वार-

यति विहरन् रथमारुह्येति । तत्रत्यान् स्वकी-
यांश्च प्रीणयन्निति वक्तुं फाल्गुनेन भटेवृत
इत्युक्तम् । फाल्गुनस्तत्रत्योपलक्षकः । मटाः

स्वकीयाः उभयैवृतः । वेष्टनेन निरन्तरं सर्वेषां
सुखदानं निरूपितम् ॥४६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीसकलभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचिताया
दशमस्कन्धविवरणे उत्तरार्धे द्वाविंशाध्यायः ॥२२॥

व्याख्यानार्थ—कितने मास अर्थात् चार महिने अन्य कोई कार्य न कर राजा को प्रसन्न करने के लिए राजा के पास ही विराजने लगे, ये चार मास भगवान् के पोढ़ने का समय हैं, क्या वहां आग्रह से बन्धन में रहे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं “विहरन् रथमारुह्य” रथ में बैठकर विहार भी करते रहे, न केवल राजा को ही प्रसन्न करते थे किन्तु वहां के निवासी तथा जो अन्य अपने थे उन सबको भी प्रसन्न करते थे जैसे कि “फाल्गुनेन भटेवृत” अर्जुन और योधाओं को भी साथ में लेकर विहार करते थे, फाल्गुन शब्द से वहां वाले सब कहे और भट शब्द से स्वकीय अर्थात् अपने कहे साथ में लेने से बताया है कि सबको निरन्तर सुख दान करते थे ॥४६॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ७१वें अध्याय (उत्तरार्ध २२वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनो (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन
अवान्तर प्रकरण का प्रथम अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस तथा अगले अध्याय में वर्णित भगवल्लीलाओं का
निम्न पद से मनन करने को विनम्र प्रार्थना है

राग मारू

चले हरि धर्म सुवन के देस ।
संतन हित भू भार उतारन, काटन बंदि नरेस ॥
जव प्रभु जाइ संख धुनि कीन्ही, होत नगर परवेस ।
सुनि नृप वंधु सहित उठि धाए, भारत पद रज केस ॥
आसन दै भोजन विधि पूछी, नारद सभा सुदेस ।
तच्छन भीम धनंजय माघौ, घरचौ विप्र कौ भेस ॥
पहुँचे जाइ राजगिरि द्वारे, घुरे निसान सुदेस ।
मांग्यौ जुद्धहिं जरासिंधु पै, छत्री कुल आवेस ॥
जरासंध कौ जुद्ध अर्थ, बल रहत न छत्री लेस ।
सूरज प्रभु दिन सात बीस मै, काटे सकल कलेस ॥



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भामवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ७२वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ६६वाँ अध्याय

उत्तरार्ध २३वाँ अध्याय

सात्त्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

“अध्याय—२”

पाण्डवों के राजसूय यज्ञ का आयोजन और जरासन्ध का उद्धार



कारिका—निरोधः सात्त्विकानां हि सगुणानां निरूपितः ।

धर्मप्रसङ्गे शुद्धानां तेषां दुःखं निवार्यते ॥१॥

कारिकार्थ—सगुण सात्त्विकों के निरोध का निरूपण किया, (अब) यज्ञ के प्रसङ्ग में उन शुद्ध हुए सात्त्विकों का दुःख निवारण किया जाता है ॥१॥

कारिका—त्रयोविंशे जरासन्धवधः क्लेशहरो महान् ।

निरूप्यते यतः सर्वसात्त्विकाः सुखिनोऽभवन् ॥२॥

कारिकार्थ—मूल से उत्तरार्ध के इस २३वें अध्याय में अर्थात् सात्त्विक साधन उप-प्रकरण के दूसरे अध्याय में जरासन्ध का वध कहा जाएगा । जो वध महान् क्लेश को मिटाने वाला होगा, जिससे सब सात्त्विक सुखी होंगे ॥२॥

कारिका—त्रिविधाः सात्त्विकाः प्रोक्ता राजानो यादवास्तथा ।

पाण्डवाश्च ततस्तेषु द्वयोरिष्टो वधः स्फुटः ॥३॥

कारिकार्थ—सात्त्विक तीन प्रकार के हैं—(१) राजा, (२) यादव और (३) पाण्डव; इन तीनों में से दो को जरासन्ध का नाश इष्ट है, यह स्पष्ट समझ में आता है ॥३॥

कारिका—पाण्डवानामिष्टतायै प्रसङ्गोप्यत्र रूप्यते ।

भक्तानां कर्मणां चेत्स्यादिष्टं मागधनाशनम् ॥४॥

तदेव नाशनं युक्तं ब्रह्मण्यस्य दयावतः ।

ब्राह्मणस्याप्यालभनं यज्ञार्थं हि निरूप्यते ॥५॥

कारिकार्थ—पाण्डवों के इच्छित की पूर्ति के लिए यहाँ प्रसङ्ग का भी निरूपण किया जाता है, भक्त और कर्मियों को भी यदि जरासन्ध का वध इष्ट हो, तब ही तो दयावान् और ब्रह्मण्य का वध करना उचित है । वेद ने यज्ञ के लिए ब्राह्मण का भी नाश निरूपण किया है ॥४-५॥

कारिका—ब्रह्मण्ये तत्र को मर्षः क्षत्रिये विमुखे हरेः ॥

कारिकार्थ—हरि के विमुख ब्रह्मण्य क्षत्रिय के (फिर) मारने में कौनसा दोष है ?

॥ इति कारिकार्थं सम्पूर्णं ॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते स्वगृहे भगवन्तं सुखेन स्थापितवानित्युक्तम् । ततो यदर्थं स्थापनं तद्विज्ञापनार्थं प्रसङ्गमाह एकदा त्विति द्वाभ्याम् । साधारणासाधारणसंबन्ध-सहभावभेदात् ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में कहा कि महाराजा युधिष्ठिर ने भगवान् को अपने गृह में सुख पूर्वक विराजमान किया, पश्चात् जिस कार्य के लिए घर में स्थापित किया, उसकी प्रार्थना करने के लिए प्रसङ्ग की 'एकदा' श्लोक से दो श्लोक में कहते हैं, दो श्लोकों में कहने का भावार्थ यह है, जो कार्य कहता है वह साधारण और असाधारण सम्बन्धि भाव से दो प्रकार का है ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—एकदा तु सभामध्य आस्थितो मुनिभिर्वृतः ।

ब्राह्मणैः क्षत्रियैर्वैश्यैर्भ्रातृभिश्च युधिष्ठिरः ॥१॥

आचार्यैः कुलवृद्धैश्च जातिसंबन्धिबान्धवैः ।

शृण्वतामेव चैतेषामाभाष्येदमुवाच ह ॥२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि एक दिन महाराजा युधिष्ठिर मुनि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, भ्राता, आचार्य, कुलवृद्ध, ज्ञाति-सम्बन्धी बान्धवों से वेष्टित हुआ बैठा था, फिर सभा के बीच खड़ा हो, वहाँ बैठे हुए सर्व सभासदों को सम्बोधन कर यों कहने लगा ॥१-२॥

सुबोधनी—एकान्ते विज्ञापनमभिमाननिवर्तकं न भवतीति संभावनायां सर्वसंनिधानं निरूप्यते । एकदा शुभलग्ने, तुशब्दः कालान्तरसंनिधानं वारयति । आस्थित उत्थितः । धर्मार्थमेव विज्ञापनमिति ज्ञापयितुमादौ मुनीनां सहभावः । अन्ये साधारणा ब्राह्मणाः त्रयो वर्णाः क्रमेण निरूप्यन्ते । शूद्रस्तु यज्ञे अनवकल्मषः । भ्रातरो भीमादयः, चकाराद्दुर्योधनादयश्च ॥१॥

आचार्या द्रोणादयः, कुलवृद्धाः भीष्मादयः, ज्ञातयोन्धे गोत्रजाः । संबन्धिनो विवाह्याः । बान्धवा दूरस्थाः सर्व एव । तद्द्वारा तत्स्त्रीणामभ्यनुज्ञा सिद्धेति न कस्यापि परोक्षता । सर्वे सावधानाः शृण्वन्त एव स्थिताः । एवकारेण व्यासङ्गो निवार्यते चकारेणानुद्दिष्टनामपि । आभाष्य हे कृष्ण स्वामिन्नित्युक्त्वा । एवमभिमानपरित्यागः आश्चर्यायेति हेत्युक्तम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—युधिष्ठिर ने सभा के मध्य में सबके सामने यज्ञ करने की भगवान् को प्रार्थना की, इससे उसने अपना निरभिमानत्व प्रकट किया है, यदि अभिमान होता तो एकान्त में प्रार्थना करता, 'एकदा' पद से वह प्रार्थना का समय शुभ लगनवाला था, यह सूचन किया है 'तु' शब्द से अशुभ काल के सानिध्य का भी निषेध करते हैं, यह प्रार्थना धर्म कार्य के लिये थी । इसे बताने के लिए प्रथम मुनियों का साथ कहा है, दूसरे साधारण ब्राह्मण आदि तीन वर्ग क्रम से निरूपण किए गए हैं । शूद्र तो यज्ञ में अनधिकारी हैं 'भ्राता' पद से भीम आदि कहे हैं और च शब्द से दुर्योधनादि भी कहे हैं ॥१॥

'आचार्य' पद से द्रोण आदि कहे, कुल वृद्ध पद से भीष्म आदि कहे, 'ज्ञाति' पद से दूसरे जो गोत्र में उत्पन्न हुवे बान्धव हैं । 'बन्धिनो' पद से वे कहे हैं जिनसे कन्या लेनदेन का सम्बन्ध है, 'बान्धव' पद से दूर के जो सम्बन्ध वाले हैं उनको कहा है, उनसे आज्ञा लेने से उनकी स्त्रियों की भी आज्ञा मिल गई यों समझना चाहिए, जिससे किसी की परोक्षता नहीं रही, सब सावधान हो सुनने लगे 'एव' पद कह कर बताया है कि दूसरी किसी प्रकार की आसक्ति नहीं थी, 'च' पद से जिनका प्रत्यक्ष नाम नहीं कहा है वे भी सावधान हो सुन रहे थे । आभाष्य का भावार्थ प्रकट करते हैं कि हे कृष्ण ! हे स्वामिन् ! यों कह कर अपनी सब दीनता दिखाई है, 'ह' पद से आश्चर्य प्रकट किया है ॥१॥

आभास—विज्ञापनामाह क्रतुराजेनेति ।

आभासार्थ—'क्रतुराजेन' श्लोक से प्रार्थना कहता है।

श्लोक—युधिष्ठिर उवाच—क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः ।

यक्ष्ये विभूतीर्भवतरतत्संपादय नः प्रभो ॥३॥

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर ने कहा कि हे गोविन्द ! सब यज्ञों का राजा जो राजसूय यज्ञ है, उससे मैं आपकी पवित्र विभूतियों का पूजन करूँगा, अतः हे प्रभो ! इस कार्य को आप सिद्ध करो ॥३॥

सुबोधिनी—गोविन्देति संबोधनमिन्द्र एव यष्टव्य इति मर्यादास्थापनार्थम् । यथा राजा पुरुषाणां तथा राजसूयो यज्ञानामिति ऋतुराजत्वम् । यद्यपि नारदेन त्वां यक्ष्यतीत्युक्तं तथापि सर्वरूपस्य परिच्छेदः समायातीति भगवदंशाना-

मेव विभूतिरूपाणां देवानां यागं निरूपयति पावनीस्तव विभूतीर्यक्ष्य इति । पावनीरित्याधिदैविकीः दैत्यसंबन्धव्यावृत्त्यर्थं वा । तत्तस्मात् तद्वा यजनं नोस्माकं संपादय । सामर्थ्याय संबोधनम् ॥३॥

व्याख्यानार्थ—‘गोविन्द’ नाम से यह सूचन किया है कि इन्द्र ही यज्ञ में पूजनीय है, आप इन्द्र हैं इसलिए अन्य का पूजन मैं नहीं करता हूँ । यज्ञ में तो दूसरे देवों का भी पूजन करना पड़ेगा ? जिसके उत्तर में कहता है कि, यद्यपि नारद ने कहा है कि ‘त्वां यक्ष्यति’ आपका पूजन करेगा तो भी आपके पूजन कहने में आपके सर्वरूपों का पूजन कहा गया है । इसलिए आपके अंशरूप पवित्र विभूति रूपों का ही पूजन करूँगा, यो कह कर अन्य पूजन का निषेध कर दिया । अर्थात् ‘पावनी’ पवित्र शब्द से आधिदैविकी विभूतियों का पूजन कहकर दैत्य सम्बन्ध की निवृत्ति कही है, जैसे मनुष्यों का राजा सम्राट कहा जाता है वैसे ही यह राजसूय यज्ञों का राजा है इसलिए ‘ऋतुयज्ञ’ कहा है इस कारण से यह यज्ञ का मेरा कार्य आप सिद्ध करो, क्योंकि आप प्रभु होने से सर्व समर्थ हैं ॥३॥

आभास—ननु भगवद्भक्ता न किञ्चन वाञ्छन्ति ‘पुंसां किलैकान्तधियाम्’ इति शास्त्रानुसारेणापि भगवदीयानां कार्यसिद्धिः तत्कथं प्रार्थनेत्याशङ्क्याह त्वत्पादुके इति ।

आभासार्थ—भगवद्भक्त तो कुछ मांगते ही नहीं है क्योंकि ‘पुंसां किलैकान्तधियाम्’ इस प्रमाणानुसार उनकी कार्य सिद्धि स्वतः हो जाती है तो फिर प्रार्थना क्यों ? जिसका उत्तर त्वत्पादुके श्लोक में देता है ।

श्लोक—त्वत्पादुके अविरतं परि ये चरन्ति

ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति ।

विन्दन्ति ते कमलनाभ भवापवर्ग-

माशासते यदि त आशिष ईश नान्ये ॥४॥

श्लोकार्थ—हे पद्मनाभ ! हे ईश ! जो लोग पवित्र हो, दुःख नाश करने वाले आपकी पादुकाओं का निरन्तर देह से सेवन करते हैं, मन से ध्यान करते हैं, वाणी

से गुणगान करते हैं व मोक्ष को प्राप्त करते हैं और यदि जिनको संसार के सुख की इच्छा होती है, उनकी वह इच्छा भी पूर्ण होती है, जो यों (सेवा ध्यानादि) नहीं करते हैं, उनको कुछ भी नहीं मिलता है ॥४॥

सुबोधिनी—यद्यपि कायवाङ्मनोभिस्त्वां प्रपन्नाः नैतादृशं वाञ्छन्ति, तथापि यदि वाञ्छन्ति तदा प्राप्नुवन्तीति सिद्धान्तः । तेषां सहजं फलं निरूपयति ये त्वात्पादुके भक्तिमार्गानुसारेण परिचरन्तीति कायिको व्यापारो निरूपितः । ध्यायन्तीति मानसः । चित्तमस्थिरं योगव्यतिरेकेण कथं ध्यानसिद्धिरित्याशङ्कां वारयितुं विशेषणमाह अभद्रनशने इति । पापवशादेव चाञ्चल्यम् । ध्यानार्थमुद्यतस्य प्रथमस्मरणेन पापनाशे उत्तरोत्तरस्मरणसिद्धिः, ततः शुचयो गृणन्ति तेन कायिकान्यव्यापारनिवृत्तिः सर्वपापक्षयः शुद्धिश्च तेषां प्रसङ्गादुक्ता । अतस्ते भवस्य संसारस्यापवर्गं समाप्तिं विन्दन्ति । ननु

कर्मज्ञानाभावे कथं भगवद्भजनमात्रेण प्रमाणाभ्यनुज्ञाभावात् भवापवर्ग इत्याशङ्क्य संबोधनमाह कमलनाभेति । भुवनकोशात्मकं कमलनाभौ यस्य, एतत् प्रवर्तित एव सर्वोऽपि संसार इति एतत्परिचर्यायां न प्रमाणाभ्यनुज्ञापेक्षेति भावः । ते यदि बहिर्मुखाः सन्तः बालपुत्रवदाशिष आशासते लौकिकीर्वैदिकीर्वा तदा त एव विन्दन्ति । अन्ये तु कर्मादिभिः क्लृप्तमेव प्राप्नुवन्ति नाक्लृप्तमिति भावः । 'एकान्तधियाम्' इत्यत्रान्तनिष्ठा एव गृहीता इति न विरोधः । प्रथमप्रवृत्तस्यैव धनादिहरणमन्यथा सर्वसेव्यता न स्यात् ॥४॥

व्याख्यानार्थ— यद्यपि जो, काया, वाणी और मन से आपकी शरण आते हैं वे वैसा कुछ भी नहीं मांगते हैं । यदि मांगते हैं तो पाते हैं यह सिद्धान्त है । उन शरणागतों को जो सहज फल मिलता है उसका निरूपण करते हैं । जो आपके पादुकाओं की भक्ति मार्ग के अनुसार सेवा करते हैं यों कहकर देह का व्यापार बताया, ध्यान करते हैं यह मन का व्यापार कहा, चित्त चञ्चल है । बिना योग के ध्यान की सिद्धि कैसे होगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'अभद्रनशने' आपकी पादुकाएँ पापों का नाश करने वाली हैं अतः चित्त में जो चञ्चलता है वह पापों के कारण है यदि पाप नाश हो जायँगे तो चञ्चलता स्वतः नष्ट हो जाएगी, जिससे चित्त स्थिर हो जाने से ध्यान कर सकेगा । ध्यान करने के लिए जो उद्यत होता है उसके प्रथम स्मरण से पाप नाश हो जाने से उत्तरोत्तर स्मरण की सिद्धि होती है, यों वे पवित्र होकर देह, मन और वाणी से सर्व परिचर्या करते हैं जिससे कायिकादि से होने वाले अन्य कार्य छूट जाते हैं । उनके सर्व पापों का नाश और उनकी शुद्धि भी हो जाती है यह प्रसङ्ग से कह दिया है, अतः वे संसार की समाप्ति को प्राप्त करते हैं । अर्थात् उनका जन्म मरण का रोग नष्ट हो जाता है । कर्म और ज्ञान के अभाव में के केवल भगवद्भजन से प्रमाण न होने पर संसार से आवागमन निवृत्त कैसे होगा ? जिसके उत्तर में कहा कि आप कमलनाभ हैं, आपकी नाभि में भुवन कोश रूप कमल है, इसके प्रवृत्त होने से ही समग्र संसार प्रवृत्त होता है, इनकी सेवामें प्रमाण और आज्ञा की अपेक्षा नहीं है, यदि बहिर्मुख भी हो जावे किन्तु छोटे (अज्ञानी, मूर्ख) पुत्र की भाँति लौकिकी अथवा वैदिकी आशीर्वाद चाहते हैं तो वे भी प्राप्त कर सकते हैं, दूसरे तो कर्म आदि से स्वल्प ही पाते हैं न कि पूर्ण फल पा सकते हैं । 'एकान्तधियो' श्लोक से अन्तनिष्ठा ही ग्रहण की गई है, इसलिए उससे भी विरोध नहीं पहले है ।

तो भक्तिमार्ग में प्रविष्ट होता है उसका ही भगवान् धन आदि हरण करते हैं, यदि सर्व का हरण करें तो सर्वदा सब सेवा नहीं कर सकें ॥४॥

आभास—ततो लोके ये स्वोत्कर्षं वाञ्छन्ति भक्ताः सन्तः भक्तिमार्गोत्कर्षार्थं वा तेषामानुगुण्यं भगवता कर्तव्यमित्याह तद्देवदेवेति ।

आभासार्थ—लोक में, जो भक्त होके भी अपना उत्कर्ष चाहते हैं अथवा भक्ति मार्ग के उत्कर्ष के लिये अपना उत्कर्ष चाहते हैं उनकी इस इच्छा को पूर्ण करना, भगवान् का कर्तव्य है यह 'तद्देवदेव' श्लोक में युधिष्ठिर कहता है ।

श्लोक—तद्देवदेव भवतश्चरणारविन्द-

सेवानुभावमिह पश्यतु लोक एवः ।

ये त्वां भजन्ति न भजन्त्युत वोभयेषां

निष्ठां प्रदर्शय विभो कुरुसृञ्जयानाम् ॥५॥

श्लोकार्थ—इसलिए हे देवों के देव ! आपके चरणारविन्द की सेवा का प्रभाव यह जगत् देखे, जो (पाण्डव) आपका भजन करते हैं और जो (कौरव) आपको नहीं भजते हैं, उन दोनों की निष्ठा का फल दिखलाईये ॥५॥

सुबोधिनी—तथापि कस्यचिद्वधं सर्वात्मा न करिष्यतीत्याशङ्क्य संबोधनं हे देवदेवेति । अनेन दैत्यवधोभिप्रेत इति सूचितम् । तत्तस्मात्कारणात् । अस्योत्कर्षस्य केवलवहिर्मुखविषयत्वादयुक्तकथनत्वमाशङ्क्य लोकप्रतीत्यर्थतामाह भवतश्चरणारविन्दसेवानुभावमिह लोकः पश्यत्विति । ननु राज्यवद्राजसूयसिद्धावपि कथमेतद्भक्तस्यैव नान्यस्येति ज्ञायते तत्राह ये त्वां भजन्तीति । ये पाण्डवादयस्त्वां भजन्ति ये वा शिशुपालदुर्योधनजरासन्धादयः त्वां न भजन्ति तेषामुभयेषां निष्ठां

फलपर्यवसानं त्वमेव दर्शय । मरणात्मानभङ्गवञ्चितत्वादयः विमुखेषु, कीर्तिधनधर्मादयः सेवकेष्विति । तान् सर्वान् सङ्क्षेपतो निर्दिशति कुरुसृञ्जयानामिति । सृञ्जयवंशः द्रुपदस्य, अतस्तत्पक्षपातेन पृष्टा इति कुर्वाख्याति परित्यज्य पाण्डवाः सृञ्जयाख्यातिमेव मन्यन्ते । तेन कौरवाः धार्तराष्ट्राः विमुखाः, सृञ्जयाः पाण्डवा भक्ता इति । अनेन स्वस्य मात्सर्याभिनिवेशः सूचितः ॥५॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् सर्व की आत्मा होने से वध नहीं करेंगे, ऐसी शङ्का का निवारण करने के लिये श्लोक में भगवान् का संबोधन 'हे देवदेव' ! दिया है, अर्थात् आप देवों के अधिदेव हैं न कि दैत्यों के अधिदेव हो अतः आप दैत्यवध कर सकते हैं, युधिष्ठिर को यही अभिप्रेत था इसलिए ऐसा संबोधन दिया है । इसी कारण से, यह उत्कर्ष केवल बहिर्मुखों का विषय होने से, यह कथन उचित नहीं ऐसी शङ्का को मिटाने के लिये कहता है यों करना लोक प्रतीति के लिये है, अर्थात् लोग, आपके चरणारविन्दकी सेवा का प्रभाव देखें ।

राज्य की तरह राजसूय की सिद्धि भी होगी यह भक्त की ही हो, अन्य को नहीं यह कैसे जाना जाए ? इसके उत्तर में कहता है, जो पाण्डवादि आपका भजन करते हैं, और जो शिशुपाल दुर्योधनादि आपको नहीं भजते हैं, उन दोनों की निष्ठा अर्थात् अन्तिम क्या होगा ? यह आपही दिखाईये ? जो विमुख हैं अर्थात् प्रभु को नहीं भजते हैं उनको मरण, मानभङ्ग और ठगा जाना आदि फल प्राप्त होगा, और जो प्रभु के सेवक हैं उनको कीर्ति, धन और धर्मादि की 'प्राप्ति होगी' इन सबका संक्षेप में निर्देश करता है, सृञ्जय वंश द्रुपद का है अतः उसके पक्षपात से पुष्ट हुवे पाण्डव कुरुवंश से अपनी प्रसिद्धी को त्याग कर सृञ्जय वंश से अपनी प्रसिद्धी स्वीकार करते हैं इससे वे धृतराष्ट्र के पुत्र कौरव प्रभु से विमुख हैं और सृञ्जय अर्थात् पाण्डव भक्त हैं, यो कहकर अपने में मत्सरता का अभिनिवेश है यह सूचित किया है ॥५॥

आभास—नन्वेतदल्पदेवानां परिच्छिन्नमतीनामेव कार्यं न ममेत्याशङ्क्य, सत्यं परं भक्तानुरोधेन कर्तव्यमिति प्रार्थयन्नाह न ब्रह्मणः इति ।

आभासार्थ—यदि भगवान् कहें कि यह परिच्छिन्नमति वाले देवों का कार्य है, मेरा नहीं है, तो इसके उत्तर में कहता है कि आपका कहना सत्य है, किन्तु यह कार्य भक्तों के अनुरोध से करना चाहिये, यों 'न ब्रह्मणः' श्लोक में प्रार्थना करता है—

श्लोक—न ब्रह्मणः स्वपरभेदमतिस्तव स्यात्

सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेः ।

संसेवतां सुरतरोरिव ते प्रसादः

सेवानुरूपमुदयो न विपर्ययोऽत्र ॥६॥

श्लोकार्थ—आप परब्रह्म हैं, जिससे आप समान दृष्टिवाले, स्वसुख को अनुभव करने वाले हैं, अतः आपको यह अपना, यह पराया; ऐसी मति नहीं है, किन्तु जैसे कल्पवृक्ष, अपने सेवकों के इच्छित कार्य पूर्ण करता है, वैसे आप भी चरणाश्रितों के मनोग्थ पूर्ण करते हैं, इससे आप में विषमता, दोष नहीं आता है, उनको जो फल मिलता है, वह सेवा के अनुरूप ही मिलता है, इसमें कभी अन्तर नहीं पड़ता है ॥६॥

सुबोधिनी—भगवान् स्वार्थं चेत्कुर्यात्तदैवं कुर्यात् अन्यार्थत्वे त्वन्येच्छानुमारेणैव कर्तव्यम् । अन्यथा भगवतः पुरुषार्थमाधत्वं न यात् । प्रथमपक्षमङ्गीकृत्याह तव ब्रह्मणः सर्वमस्य यद्यपि स्वपरभेदमतिनाम्नि तथापि तव

वा । स्वपरभेदमतिः त्रिविधानां भवति ये देहात्मभावेन परिच्छिन्नाः ततो भोगसिद्धयर्थं विषयेषु विषमदृष्टयः ततो विषयसुखभोक्ताः । भगवांस्तु नैवविध इति विशेषणत्रयं, सर्वात्मनः समदृशः स्वसुखानुभूतेरिति । अन्यार्थत्वे तु तत्त्वे एतादृश-

मिति । सुरतरुः स्वभावत एव तथा । तथा भगवानपि, भगवद्धर्माभिव्यक्तिरेव सर्वत्रेति स धर्मो-
ऽस्मदर्थे प्रकटीकर्तव्य इति भावः । धर्मिणि तु

दोषो न भविष्यति धर्मानुरोधे, अतः सेवानुरूप-
मुदयोस्तु । अतोत्र धर्मसंबन्धाभावाच्च
विपर्ययः ॥६॥

व्याख्यार्थ— भगवान् यदि अपने लिये करे तो यों (वध आदि) न करें, यदि दूसरों के लिए करना पड़े तो दूसरों की इच्छा के अनुसार ही करना चाहिये, अर्थात् करना पड़ता है, यदि न किया जाय तो कहा जाएगा कि भगवान् में पुरुषार्थ सिद्ध करने का बल नहीं है । पहला पक्ष अङ्गीकार कर कहता है कि सर्व में समान दृष्टि वाले आप ब्रह्मा को यह अपना है और यह पराया है ऐसी बुद्धि नहीं है तो भी भक्तों के अनुरोध से यों होना पड़ता है यों हो जाने में विधि नहीं है । अपना और पराया ऐसी भेद बुद्धि तीन प्रकार के पुरुषों की होती है १— जो देह को आत्मा समझ परिच्छन्न बुद्धि वाले होते हैं २— जो विषय सुखों को भोग करने वाले हैं, ५— जो भोग को सिद्ध करने के लिये विषयों में विषय बुद्धि वाले हैं, भगवान् तो वैसे नहीं हैं, इसलिये ही भगवान् के तीन विशेषण कहे हैं, १— सर्व की आत्मा २— सर्वमें समान दृष्टि वाले ३— अपने आनन्द का ही अनुभव करने वाले, ऐसे गुणोंवाले भी दूसरों के हित के लिये विषम कार्य करते हैं दृष्टान्त देकर समझाता है कल्पवृक्ष अपने सेवकों के मनोरथ कैसे भी हों तो पूर्ण कर देता है जिससे कल्पवृक्ष में विषमतादि दोष नहीं आता है क्योंकि कल्पवृक्ष का स्वभाव ही दूसरों का अभीष्ट पूर्ण करना है, वैसे ही आप भगवान् भी हैं, सर्वत्र भगवान् के धर्म का ही प्राकट्य होता है, वह धर्म हम लोगों के लिए भी प्रकट करना चाहिये धर्मानुरोध में धर्मों में कोई दोष न आएगा, अतः सेवा के अनुरूप ही उदय होना चाहिये, अतः यहाँ धर्मों के सम्बन्ध के अभाव होने से किसी प्रकार उलट फेर न होगा ॥६॥

आभास—भगवांस्तु तेन स्वान्तरो दोषो निरूपित इति संतुष्टः सन् चिकीर्षितस्य गुणरूपत्वं वदन्नभिनन्दति सम्यग्व्यवसितं राजन्निति ।

आभासार्थ— उसने अपना आन्तर दोष निरूपण किया, जिससे भगवान् प्रसन्न हुवे, अब युधिष्ठिर की जिस यज्ञ करने की इच्छा है, उसका गुणरूपयम् कहते हुए उसका अभिनन्दन 'सम्यग्' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवा—सम्यग्व्यवसितं राजन् भवता शत्रुकर्षण ।

कल्याणी येन ते कीर्तिलोकाननुभविष्यति ॥७॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे राजन् ! तुम्हारा यह उद्यम उत्तम है, हे शत्रुकर्षण ! यज्ञ करने से कल्याण रूप तुम्हारी कीर्ति का लोग अनुभव करेंगे ॥७॥

सुबोधिनी—प्रकारान्तरेण नेष्टं सिद्धयतीति ।
राजन्निति संबोधनात् राज्ञो बहिर्मुखता युक्तेति

सूचितम् । तत्रापि स्वराज्यपरिपालनमात्रतायां
तथा न भवेदिति विशेषणान्तरं शत्रुकर्षणेति ।

एव कृते धर्मभगवत्प्रोत्थादेरभावात् यत्फलं
तीतिदशाति कल्याणी येन ते कीर्तिरिति । वध-
जशदिनापि कीर्तिर्भवति परं सा न कल्याणी

पुष्टा च भविष्यतीत्याह लोकाननुभवविष्यतीति ।
'यशःश्रियामेव परिश्रमः' इति पक्षो निरूपितः ।
॥७॥

व्याख्यान— दूसरी तरह अर्थात् यज्ञ किए बिना इष्टकी सिद्धि नहीं होगी, हे राजन् ! इस संबोधन से यह सूचन किया है कि राजा की बहिर्मुखता उचित है, उसमें भी केवल अपने राज्य का ध्यान करने से यों न हो सके, तो इसलिये दूसरा विशेषण देते हैं कि हे शत्रुकर्षण ! राजा शत्रुओं को भी नाश करते हैं, यों कहने का सारांश यह है कि राजा लोग राज्य के पालन के साथ शत्रुओं को भी नाश करते रहते हैं जिससे वे धर्म और भगवत्प्रोति आदि में रुचि नहीं कर सकती हैं । अतः वे बाहिर्मुख रहते हैं, यद्यपि जय और शत्रुओं के नाश से भी कीर्ति हो सकती है किन्तु यह कल्याणकारी नहीं है, अतः अब तुमने जो धर्म (यज्ञ) कार्य उद्यम किया है, इससे तेरी कल्याणी और पुष्ट अर्थात् स्थिर कीर्ति का लोग अनुभव करेंगे, 'यशः श्रियमिव परिश्रमः' इस पक्ष का निरूपण किया है ।

आभास—अन्येनापि धर्मेण यज्ञो भवति तथापि राजसूय एव कर्तव्य इति प्रारि-
प्सितं स्तौति ऋषीणामिति ।

आभासार्थ— अन्य धर्म से भी यज्ञ होता है तो भी राजसूय यज्ञ ही करना चाहिये, इसलिये उनके करने की इच्छा कर उद्यम किया है उसकी 'ऋषीणां' श्लोक से भगवान् स्तुति करते हैं ।

श्लोक—ऋषीणां पितृदेवानां सुहृदामपि नः प्रभोः ।

सर्वेषामपि भूतानामीप्सितः क्रतुराडयम् ॥८॥

श्लोकार्थ—ऋषि, देव पितर, सुहृद, प्रभु तथा मनुष्य मात्र को यह यज्ञों का राजा सोमयाग इच्छित है अर्थात् चाहते हैं कि यह यज्ञ हो ॥८॥

सुबोधिनी—राजसूय तथा स्वाध्यायनिष्ठताभा-
वात् राजसूयेनैव ऋषयः प्राप्ता भवन्ति । राज-
सूयकर्तुं देव पितर इन्द्रसभायां निष्ठन्ति, अन्ये
नृपसभायां । तथा देवानां सायस्कप्रयोगाद्
त्रिविम्बाभावाद् विशेषतृप्तिः । सुहृदामपि स्वकी-

योत्कर्षहेतुत्वात्, तत्रापि नोस्माकमेव न दुर्योध-
नादीनाम् । प्रभोः कालस्यापि भूभारहरणहेतु-
त्वात् । उद्धतहननात्सर्वेषामेव भूतानां क्रतुराड-
राजसूय ईप्सितः । तत्राप्ययं त्वया क्रियमाणः
उत्तमप्रकारत्वात् न तु वरुणादिकृतः ॥८॥

व्याख्यान— ऋषिगण वेदादि स्वाध्याय करने वाले पर प्रसन्न होते हैं, राजा लोगों में उसका अभाव है अतः ऋषियों को प्रसन्न करने के लिये राजसूय यज्ञ करना चाहिये, राजसूय यज्ञ करने वाले तृप्ति के पितर इन्द्र सभा में बैठ सकते हैं । जो राजा राजसूय यज्ञ नहीं करते हैं, उनके पितर प्रसन्न सभा में बैठते हैं, वेम सायस्क प्रयोग से यज्ञ करने में विजम्ब न होने से देवताओं की विशेष तृप्ति होती है, अपने उत्कर्ष का कारण होने से सुहृदों को भी प्रसन्नता प्राप्त होती है, उन सुहृदों में

भी अपने को आनन्द है, न कि दुर्योधन आदि को । 'प्रभोः' काल का प्राकट्य भी भूमि के भार के हरण के लिए हुआ है। उद्भूतों के नाश होने से सर्व भूतों को यह ऋतुराज राजसूय का होना इच्छित है। उसमें भी यह राजसूय तुम जिस उत्तम प्रकार से कर रहे हो, वैसा वरुणादि ने नहीं किया ॥८॥

आभास—अतः प्रथममेव आरम्भमकृत्वा स्वाधिकारं संपादयेत्याह विजित्येति ।

आभासार्थ—अतः यज्ञ के आरम्भ करने से पहले यज्ञ के लिए अधिकार प्राप्त करो, बाद में यज्ञ प्रारम्भ करना । यह 'विजित्य' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—विजित्य नृपतीन् सर्वान् कृत्वा च जगतीं वशे ।

संभृत्य सर्वसंभारानाहरस्व महाक्रतुम् ॥९॥

श्लोकार्थ—सब राजाओं को जीत, पृथ्वी को वश में कर, सब तैयारी कर महायज्ञ को प्रारम्भ करो ॥९॥

सुबोधिनी—सर्वराजजयाभावे न राजसूयाधिकारः सार्वभौमस्यैवाधिकारात् । यं च लोका न मन्यन्ते तस्यापि नाधिकार इति अत आह कृत्वा च जगतीं सर्वमेव वशे । ततो यज्ञसंभाराः आदावेव साधनीयाः अन्यथा यज्ञः संभृतो न भवतीति तत्कालसंभरणेन समारम्भे न सर्वः समारब्धो भवेदिति । यथा जनने हस्तपादादयः यद्यपि तदा नोपयुज्यन्ते तथाप्यविकलेनैव भाव्यं

तथा संभाराः । तदनन्तरमाहरस्व । नित्यमेव भगवद्रूपं हृदयात् प्रतिमायामिव मूलस्थानात्स्वस्मिन्नाहरणं कर्तव्यमिति भावः । 'तमाहरत्तेनायजन्त' इति पृथङ्निर्देशात् । केचिदारम्भमाहरणमाहुः तन्न श्रौतं किंतु महातेजो बल्लेः स्वस्थानादाहरणमेव । महाप्रयत्नहेतुमाह महाक्रतुमिति ॥९॥

व्याख्यार्थ—राजसूय यज्ञ करने का अधिकार उसको है जिसने भूमि के सब भूपतियों को जीता है, उनको जीते बिना राजसूय यज्ञ करने का अधिकार नहीं है, अतः प्रथम सब राजाओं को जीतकर तुम सार्वभौम बनकर अधिकारी बनो और सर्व लोगों को अपने वश में करो, यों किए बिना यज्ञ के अधिकारी नहीं होवोगे; ये दो कार्य पूर्ण कर पश्चात् यज्ञ की समस्त सामग्री इकट्ठी करो, जिसके बिना भी यज्ञ सम्पूर्ण नहीं हो सकेगा, यदि यज्ञ आरम्भ करने के बाद उस समय उपकरण मँगावोगे तो हो नहीं सकेगा, जैसे जन्म के समय ही हस्तपादादि इन्द्रियाँ काम में नहीं आती हैं तो भी वे पूर्ण रीति से गर्भ में ही तैयार हो जाती हैं, वैसे ही यज्ञ की सामग्री भी यज्ञ के कार्य में आवे, उससे पहले ही तैयार कर लेनी चाहिए, उसके बाद यज्ञ को आरम्भ करना चाहिए । जैसे नित्य ही प्रतिमा से भगवत्स्वरूप को अपने चित्त में पधराया जाता है, वैसे ही नित्य मूल स्थान हृदय से भगवद्रूप को अपने में पधराना चाहिए, जिसमें 'तमाहरत्तेनायजन्त' प्रमाण है, अतः इसका पृथक्

निर्देश किया है, कितने ही आरम्भ को आहरण कहते हैं, वह श्रौत नहीं है अर्थात् वेद सम्मत सिद्धान्त नहीं है, किन्तु महातेज बल्लि का अपने स्थान से लाना ही सिद्धान्त है। महान् प्रयत्न का कारण कहते हैं कि यह यज्ञ 'महाक्रतु' है ॥६॥

आभास—तत्र दिग्विजये साधनं बोधयति एते ते भ्रातर इति ।

आभासार्थ—अधिकार प्राप्त करने के लिए जो दिग्विजय करनी है, उसके साधन 'एते ते भ्रातरः' श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक—एते ते भ्रातरो राजन् लोकपालांशसंभवाः ।

जितोऽस्म्यात्मवता तेऽहं दुर्जयो योऽकृतात्मभिः ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! ये तुम्हारे भ्राता लोकपालों के अंश से उत्पन्न हुए हैं, अतः ये सबको जीतेंगे । जिन्होंने अपने अन्तःकरण को वश नहीं किया है, वे मुझे जीत नहीं सकते अर्थात् वश नहीं कर सकते, तुमने तो आत्म संयम से मुझे वश कर लिया है ॥१०॥

सुबोधिनी—तव एते भीमादिभ्रातरः लोकपालानां वाय्यादीनामंशैः संभवो येषाम्, अनेन देवानां मनुष्यजयः सुगम इति दिग्विजयो निः-संदिग्धो निरूपितः । अनेनैव जगतीवशीकरणं च सिद्धयति । राजन्निति संबोधनं भ्रातृत्वा-मपि सेवकत्वात्तज्जये स्वजय एवेति सूचयितुम् । यज्ञावेशस्तु मन्त्रादिना न भवति, भगवद्रूपत्वात् स्वतन्त्रत्वाच्च भगवतः । परमन्येनैवोपायेन यदि भगवान् वशे भवति सोऽपि तवास्तीत्याह जितो-ऽस्म्यात्मवता तेऽहमिति । हृषीकेशो हि भगवान्

हृषीकाणामत्यन्तजये जितो भवति तद्रूपः अने-नासिधाराव्रतं कृतमित्यन्यत्र प्रसिद्धम् ।

'सर्वालङ्कुरणोपेता भार्यैकशयने यदा ।

शेते संवत्सरं पूर्णं स्वयं पुष्टस्तथाविधः ॥

मनसापि न तां वाञ्छेत् स्पृशन्नपि शिलामिव ।

असिधाराव्रतमिदं विष्णुप्रीतिकरं महत् ॥ इति ॥

इयमेव आत्मवत्ता मर्यादामार्गः । अनेनैव प्रका-रेण भगवज्जयः । अकृतात्मभिरजितान्तः-करणैः ॥१०॥

व्याख्यानार्थ—तुम्हारे ये भीम आदि भाई वायु आदि लोकपालों के अंश से उत्पन्न हुए हैं, इससे देवों के लिए मनुष्यों को जीतना सरल है, यों कह कर यह सूचित किया है कि दिग्विजय में शङ्का ही नहीं है । इस विजय से ही लोगों का वशीकरण भी स्वतः सिद्ध हो जाएगा । 'हे राजन्!' संबोधन से यह बताया है कि छोटे भाई भी सेवक-समान हैं, अतः उनकी जय से अपनी ही जय है, यज्ञ का आवेश मन्त्र आदि से नहीं होता है; क्योंकि यज्ञ भगवद्रूप है और भगवान् स्वतन्त्र हैं, किन्तु अन्य उपाय से यदि भगवान् को वश में किया जाय तो हो सकता है । वह उपाय तुम्हारे पास है जिससे तुमने मुझे जीत (वशकर) लिया है, वह उपाय है—इन्द्रियों को अपने वश में रखना, या यह कार्य जिसने किया, उसने मुझे जीत लिया; क्योंकि हृषीकेश ही भगवान् हैं अर्थात् इन्द्रियों के

जीतने वाला इन्द्रियों का स्वामी मैं हूँ, अतः जिसने इन्द्रियों को जीता, वह हृषीकेश होने से मुझे जीतने वाला हुआ । वह उपाय 'असिधाराव्रत' है, वह आपने किया है, यह अन्यत्र प्रसिद्ध है ।

‘सर्वालङ्कुरणोपेता भार्यैकशयने यदा । शेते संवत्सरं पूर्णं स्वयं पुष्टस्तथाविधः ॥

मनसापि न तां वाञ्छेत् स्पृशन्नपि शिलामिव । असिधाराव्रतमिदं विष्णुप्रीतिकरं महत्’ ॥ इति ॥

जो पुरुष यह असिधाराव्रत करता है, वह विष्णु को प्रसन्न कर वश में कर लेता है । इस व्रत की विधि बताते हैं कि एक ही शय्या पर सर्व प्रकार के शृङ्गारों से सुसज्जित युवती (स्त्री) और वैसा ही सुन्दर बलवान् पुरुष एक वर्ष साथ सोये हों, तो भी उस स्त्री को पत्थर की शिला समझ मन से भी उसकी चाहना न करे, इस प्रकार यह व्रत विष्णु भगवान् को बहुत प्रिय (प्रसन्न) करने वाला है । यह ही मर्यादा मार्ग में आत्मवृत्ता है अर्थात् भगवान् को अपना करना है । इस प्रकार से ही भगवान् जीते जाते हैं, जिन्होंने अन्तःकरण को वश नहीं किया है, वे भगवान् को जीत नहीं सकते अर्थात् वश नहीं कर सकते हैं ॥ १० ॥

आभास—कदाचिज्जयारम्भे भ्रातुः कस्यचिदभिभवे किं कर्तव्यमित्याशङ्कयामाह न कश्चिदिति ।

आभासार्थ—कदाचित् जय के लिए आरम्भ करते ही किसी भ्राता का अभिभव हो जाय तो क्या करना चाहिए ? इस शङ्का का उत्तर ‘न कश्चित्’ श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—कश्चिन्मत्परं लोके तेजसा यशसा श्रिया ।

विभूतिभिर्वाभिभवेद्देवोऽपि किमु पार्थिवः ॥ ११ ॥

श्लोकार्थ—मेरे परायण पुरुष का इस लोक में तेज से, यश से, श्री से अथवा अन्य सम्पत्तियों से देव भी पराभव नहीं कर सकते हैं तो राजा क्या कर सकते हैं ? कुछ नहीं ॥ ११ ॥

सुबोधिनी—अहमेव परो नियन्ता स्वामी यस्य, तं कोप्यभिभवितुं न शक्तः । अभिभव-
स्त्रेधा भवति विषयातिक्रमेण शरीरातिक्रमेण
यशोतिक्रमेण च । ततो विशेषणत्रयं तेजसा
यशसा श्रियेति । तेजोभिभवे तं विभृयात् मान-
येद्वा, यशोभिभवे अकीर्त्या मृत एव, श्रिया अभि-
भवे मानभङ्गः, साधारणानां त्रयम् । राज्ञां

विशेषमाह विभूतिभिर्वेति । यथा आरण्यके
घोषयात्रायामभिभवार्थमुद्यमः । त्रैलोक्यजया-
काङ्क्षायां त्रिलोकीमपि जीयात् तत्र देवस्यापि
जयः प्राप्नोति । तादृशे देवोपि तं नाभिभवितुं
शक्त इति वाक्यसंभवः । पार्थिवो राजा पृथिवी-
विकारः कथं शक्त इति मत्परत्वान्मज्जयव्यति-
रेकेण न तज्जय इति ॥ ११ ॥

ध्यास्याथे—मैं ही जिनका स्वामी चलाने वाला हूँ, उनका परिग्रह

अपयश होता है जिससे वह मरा ही समझना चाहिये श्री के अभिभव हो जाने पर मान नष्ट हो जाता है, साधारणों के लिए ये तीन प्रकार हैं, राजाओं के लिए विशेष कहते हैं 'विभूतिभिर्वा' जैसे आरण्यक में घोष यात्रा प्रसङ्ग में अभिभव के लिए उद्यम है, त्रैलोक्य के जीतने की इच्छा से त्रिलोकी को भी जीत जावे, उस जीत में देव भी जीते जाते हैं वैसे अर्थात् जो मेरे हैं मेरे परायण हैं देव भी (जब) उनको जीतने में समर्थ नहीं है, (तो फिर) पार्थिव, जो पृथ्वी के विकार हैं वे कैसे समर्थ होंगे। जो मेरे परायण हैं वे ही मुझे वश कर सकते हैं अर्थात् जीत जाते हैं, बिना मुझे जीतने के उनकी जीत नहीं है अर्थात् जो मेरे परायण हैं वे ही सर्वत्र जय पाते हैं उनका अभिभव कोई नहीं कर सकता है ॥११॥

आभास—भगवदाज्ञां प्राप्य तथा कृतवानित्याह निशम्येति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् की आज्ञा पाकर वैसे ही किया यह 'निशम्य' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—निशम्य भगवद्गीतं प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजः ।

भ्रातृऋन्दिग्विजयेऽयुङ्क्त विष्णुतेजोपवृंहितान् ॥१२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि भगवान् के वचन श्रवण कर युधिष्ठिर का मुख प्रेम से प्रफुल्लित हो गया, भगवान् ने तेज से बड़े हुए अपने भ्राताओं को दिग्विजय करने के लिए भेजा ॥१२॥

सुबोधिनी—गीतं भगवता सर्वेषां श्रुतिप्रिय- करं प्रोक्तम् । प्रीत्या उत्फुल्लं मुखाम्बुजं यस्य । प्रीतिः संतोषः चिकीर्षितं सेत्स्यतीति । भगव-	तस्पर्शाद्विष्णुतेजोपवृंहिता भ्रातरः । पालकं हि तत्तेजो दैत्यनाशकम् ॥१२॥
---	---

व्याख्यार्थ—'गीत' शब्द कहने का भावार्थ यह है कि जो भगवान् ने गाया अर्थात् कहा वह सबके कानों को प्रिय लगा, प्रिय होने से युधिष्ठिर का मुख कमल प्रफुल्लित हो गया, प्रीति शब्द का भावार्थ है कि उन वाक्यों के सुनने से संतोष हो गया, कारण कि यह निश्चय हुआ कि मैं जो चाहता हूँ वह अवश्य पूर्ण होगा। भगवान् के स्पर्श से भ्राता विष्णु तेज से युक्त हो गए हैं। भगवान् का तेज 'पालक' है अतः दैत्यों का नाश करने वाला है ॥२॥

आभास—प्रत्येकं भगवता तेजःसमर्पितमिति ज्ञापयितुं विभागेन दिग्विजयार्थं प्रेषणमाह सहदेवमिति ।

आभासार्थ—प्रत्येक को भगवान् ने तेज दिया, यह जताने के लिए दिग्विजय, करने को पृथक् पृथक् दिशा बताई वह 'सहदेव' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—सहदेवं दक्षिणस्यामादिशत्सह सृञ्जयैः ।

दिशि प्रतीच्यां नकुलमुदीच्यां सव्यसाचिनम् ।

प्राच्यां वृकोदरं मत्स्यैः केकयैः सह मद्रकैः ॥१३॥

श्लोकार्थ—क्षत्रिय विशेषों के साथ सहदेव को दक्षिण दिशा में जय करने के लिए आज्ञा की, नकुल को पश्चिम में, अर्जुन को उत्तर में और भीम को पूर्व में भेजा, जिसके साथ में मत्स्य केकय और मद्र के पति (राजा) दिए ॥१३॥

सुबोधिनी—दक्षिणस्यां दिशि जयार्थं सृञ्जयैः क्षत्रियविशेषैः सह, सहदेवमादिशत् स्वदेशात् प्रौढप्रकारेण दिग्विजयः । तथा नकुलं प्रतीच्याम्, अनन्तमुत्तरापथमिति तत्र समर्थोर्जुनः ।

प्राच्यां जरासन्धादयस्तिष्ठन्तीति, सेनाधिक्यं बलिष्ठस्य भीमस्य च प्रेषणम् । कनिष्ठक्रमेण विनियोगो धर्म्यः उत्तमानामेवावशेषात् । ॥१३॥

व्याख्यार्थ—दक्षिण दिशा में जीतने के लिए सहदेव को सृञ्जय अर्थात् क्षत्रिय विशेषों के साथ भेजा, स्वदेश से जाकर पूर्ण प्रकार से दिग् विजय कर आना ऐसी आज्ञा दी, इसी तरह नकुल को पश्चिम में, उत्तर दिशा में अर्जुन को भेजा क्योंकि वहां जीतने के लिये अर्जुन समर्थ थे, शेष पूर्व दिशा में जरासन्ध आदि बलवान रहते हैं अतः सेना अधिक देकर वहां बलिष्ठ भीमसेन को भेजा, यह भेजने का क्रम छोटे से रखा वह धर्मानुकूल था क्योंकि शेष जो पूर्व दिशा रही थी उसमें उत्तम जरासन्ध आदि रहते थे, इसलिए यह दिशा भीम के लिए रख छोड़ी थी, वहां जय कर सकने योग्य भीम था अतः उसको वहां भेजा ॥१३॥

आभास—तेषां कार्यसिद्धिमाह ते निजित्येति ।

आभासार्थ—‘ते निजित्य’ श्लोक में उनके कार्य की सिद्धि कहते हैं ।

श्लोक—ते निजित्य नृपान् वीरा आजहृदिग्भ्य ओजसा ।

अजातशत्रवे भूरि द्रविणं नृप यक्ष्यते ॥१४॥

श्लोकार्थ—वे वीर राजाओं को जीतकर अपने बल से दिशाओं में से बहुत द्रव्य ले आए, वह द्रव्य यज्ञ के लिए अजातशत्रु अपने आता युधिष्ठिर को दिया ॥१४॥

सुबोधिनी—ओजसा स्वपीरूपेण, न तु धर्मार्थं स्नेहेन वा तैर्दत्तम् । नन्वेवं सर्वद्रोहकर्तुः कथं यागाधिकार इत्याशङ्क्यामाह अजातशत्रव इति । आजयैव तथा कृतवान् न तु तस्य हृदये

कश्चिच्छत्रुरस्ति । आत्क्रूणां वा वैषम्याभावाय, कृषीवलादिव राजभ्यो द्रव्यसमानयनं स्वद्रव्येणैव याग इति । यक्ष्यते अजातशत्रव इति तादर्थ्यमुक्तम् ॥१४॥

व्याख्यार्थ—‘ओजसा’ पद का भावार्थ बताते हैं कि, अपने पौरुष अर्थात् पुरुषार्थ से द्रव्य ले आए हैं, न कि उन राजाओं ने स्नेह से वा दान कर दिया है। शङ्का करते हैं, कि इस प्रकार सबका द्रोह करने वाला यज्ञ का अधिकारी कैसे हो सकेगा ? जिसका उत्तर देते हैं कि ‘अजातशत्रु’ जो इस द्रव्य से यज्ञ करने वाला है उसके हृदय में किसी के लिए भी शत्रुभाव नहीं है, भगवदाज्ञा से ही यों किया है। मानलो, कि युधिष्ठिर में शत्रुभाव नहीं है, किन्तु भ्राताओं में तो वैषम्य है, जिसके उत्तर में कहते हैं कि उनमें भी विषमता नहीं है जैसे खेती हर पृथ्वी से अन्न उत्पन्न कर लाता है वैसे ही राजा, राजाओं को जीतकर द्रव्य ला सकता है जिसमें कोई दोष वा विषमता नहीं है, वह द्रव्य अपना ही है अतः अपने द्रव्य से यज्ञ होगा, भ्राताओं ने भी, लाया हुआ धन यज्ञ करने वाले अजातशत्रु को दे दिया। इससे यह सूचित किया कि वह द्रव्य अपने भोगादि के काम के लिए नहीं लाये थे। किन्तु भगवान् की सेवा के लिये लाए थे ॥१४॥

श्लोक—श्रुत्वाऽजितं जरासंधं नृपतेर्ध्यायतो हरिः ।

आहोपायं तमेवाद्य उद्धवो यमुवाच ह ॥१५॥

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर ने दिग्विजय में जरासन्ध के सिवाय सब राजाओं की पराजय सुनी, जिससे उसको चिन्ता होने लगी, राजा को चिन्तित देख भगवान् ने जो उपाय उद्धव को बताया था, वह आज सुना दिया ॥१५॥

सुबोधिनी—तत्र ब्रह्मण्यं विष्णुतेजो नाभि-
भवतीति जरासंधो न जितः । तस्याप्यजये यागो
न भवेदिति नृपतेर्ध्यानं चिन्तारूपम् । पूर्वमेव
भगवान् विनियुक्त इति तस्याप्यशत्रयभावनया

चिन्ता । तथापि तस्यापि दुःखनिवारको हरिः
स्वस्मिन् तस्य लौकिको भावो जात इति उपाय-
मेवाह तत्रापि उद्धवो यमुपायमाह । अन्यथा
भगवान् कृत्रिमं वेपं न संपादयेत् ॥१५॥

व्याख्यार्थ— जो ब्रह्मण्य है उसको विष्णु तेज भी नहीं दबा सकता है इसलिए जरासन्ध नहीं जीता गया, जब तक वह जीता नहीं जाएगा तब तक यज्ञ न हो सकेगा, इस प्रकार का राजा का ध्यान ही चिन्ता रूप था, भगवान् को पहिले ही विनियुक्त किया तो भी उससे भी कुछ न हो सका इससे राजा को चिन्ता होने लगी उस चिन्ता का हरण करने वाला भी हरि ही है, भगवान् ने देखा कि इसका मुझमें लौकिक भाव उत्पन्न हुवा है इसलिए भगवान् राजा को वह उपाय बता देते हैं जो उद्धवजी ने पहले ही बता दिया था, यदि ऐसा विचार राजा को न होवे तो भगवान् कृत्रिम वेष धारण न करें अर्थात् कृत्रिम वेष धारण के कारण ही राजा की बुद्धि डावांडोल होने लगी ॥१५॥

श्लोक—भीमसेनोऽर्जुनः कृष्णो ब्रह्मलिङ्गधराख्यः ।

जगद्गिरिव्रजं तात बृहद्रथमुतो यतः ॥१६॥

श्लोकार्थ—भीमसेन, अर्जुन और कृष्ण; ये तीनों ब्राह्मण वेष धारण कर गिरिव्रज गए; क्योंकि जरासन्ध वहाँ था ॥१६॥

सुबोधिनी—अर्जुनस्य तदंशत्वात् नरनारा-
यणयोर्धर्मावितारात् पूर्णत्वायार्जुनस्य गमनम् ।
अद्येदानीं भगवतोपि तथा वचनमाश्चर्यम् । भग-
वान् सर्वरूप इति ब्रह्मलिङ्गधरत्वं न दोषः,
तथार्जुनोऽपि, पूर्वजन्मनि तथाभावात् । अत एव
वासनया सन्यासिवेषः पूर्वमपि कृतः । अत एवो-

द्धवो भीमस्यैव वेषमाह । अनुवादे त्रयाणां वेषः
क्रमेण निरूप्यते । वेषान्तरे समानशीलत्वं नोप-
पद्यत इति । अतो नूतनत्वाद्भीमसेनपुरःसुराः
गिरिव्रजं जग्मुः । इदानीं राजगृहमिति प्रसिद्धम् ।
यतो यस्मात्कारणात् तत्र बृहद्रथसुतो जरासन्धः ।
यत इति सप्तम्यर्थे वा ॥१६॥

व्याख्यार्थ—नर और नारायण धर्म के अवतार हैं अर्जुन भी उनके अंश है अतः पूर्णत्व के कारण अर्जुन का गमन कहा है, आज अब भगवान् का भी वैसा वचन कहना आश्चर्य कारक है, भगवान् तो सर्वरूप हैं इस ब्राह्मण वेष धारण करने में उनको कोई दोष नहीं है वैसे ही अर्जुन को भी दोष नहीं है क्योंकि पूर्व जन्म में वैसा भाव था इस कारण ही वासना से पहले भी सन्यासी वेष धारण किया था, इसलिए ही उद्धवजी भीम का ही वेष कहते हैं, अनुवाद में तीनों के वेष क्रम से निरूपण किए जाते हैं, पृथक् अन्य वेष हो तो समान शीलपन उत्पन्न न हो सके अतः नूतनपन से भीमसेन को आगे कर गिरिव्रज गए, अब वह राजगृह से प्रसिद्ध है क्योंकि वहां बृहद्रथ का पुत्र जरासन्ध रहता है अथवा 'यतः' यह सप्तमी के अर्थ में लिया जा सकता है तब इस 'यतः' का अर्थ 'क्यों' न कर जिसमें बृहद्रथ का पुत्र जरासन्ध रहता है ॥१६॥

आभास—गतानां कृत्यमाह तं गत्वेति ।

आभासार्थः—'तं गत्वा' श्लोक में गए हुएों का कार्य कहते हैं—

श्लोक—तं गत्वातिथ्यवेलायां गृहेषु गृहमेधिनम् ।

ब्रह्मण्यं समयाचेरत्राजन्या ब्रह्मलिङ्गिनः ॥१७॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण भक्त, गृहस्थ धर्म पालने वाले जरासन्ध के पास उस समय गए, जिस समय वह अतिथियों की कामनानुसार उनको देते हैं; ब्राह्मण वेषधारी राजाओं ने जाकर याचना की ॥१७॥

सुबोधिनी—अतिथिवेला वैश्वदेवः अप्रत्या-
ख्येयातिथिः । महाराजत्वात् कथमन्तःप्रवेश
इत्याशङ्क्यायामाह गृहमेधिनमिति । सर्वथा गृह-

स्थन्यायेन स्थितम् । तत्र हेतुः ब्रह्मण्यमिति ।
अन्यथा ब्राह्मणाः पराङ्मुखाः गच्छेयुः । एतेऽपि
ब्रह्मलिङ्गिनः प्रविष्टाः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—वैश्वदेव करने के समय अतिथियों का सन्मान करने में आता है अतः वह अतिथि वेला कही जाती है, जरासन्ध महाराजा है तो उसके पास बिना आज्ञा के कैसे प्रवेश किया ? जिसके उत्तर में कहा है कि जैसे अन्य गृहस्थ धर्म में रहते हैं, वैसे यह भी सर्वथा गृहस्थी की तरह रहता है विशेष में ब्राह्मणों का सन्मान करने वाला अर्थात् ब्राह्मण भक्त है अतः प्रवेश में रुकावट नहीं थी, जो गृहस्थ न्याय से नहीं रहता और ब्राह्मण भक्त न होता, तो ब्राह्मण इसके गृह से लौट जाते, यह भी ब्राह्मण वेष धारी थे इसलिए राजगृह में प्रविष्ट हुए ॥१७॥

आभास—नटवद्याचनमपि कृतवन्तः सर्वथा अनृतत्वाभावाय राजन्निति ।

आभासार्थ—सर्व प्रकार असत्यता के अभावार्थ नर की तरह याचना भी करने लगे, यह 'राजन्' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—राजन् विद्वद्यतिथोन्प्राप्तान्तिथिनो दूरमागतान् ।

तन्नः प्रयच्छ भद्रं ते यद्वयं कामयामहे ॥१८॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! हम अतिथि याचना करने के लिए दूर से आए हैं यों आप जानो, इसलिए हम जो कुछ आप से मांगें वह हमको दीजिए जिससे आपका कल्याण होगा ॥१८॥

सुबोधिनी—अतिथिशब्दो ग्रामब्राह्मणव्युद-
सार्थः । दूरमागतानिति बहुदानाय दयार्थं च ।
अस्मद्दाने कीर्तिरपि भविष्यतीति सूचितम् ।
अतः साधारण्येन वचनमाहुः तन्नः प्रयच्छेति ।

ब्राह्मणत्वज्ञापनाय मध्ये आशीः । मिथ्यावेश
इति ब्राह्मणवाक्यस्याप्यफलत्वम् । वस्तुतस्तु
मोक्षपर्यवसानाद्भद्रमेव । अथवा ते भद्रं प्राणादि-
रूपं कामयामहे तत् प्रयच्छेत्यर्थः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—अतिथि शब्द कहने का भावार्थ यह है कि हम गांव के भिक्षुक ब्राह्मण नहीं हैं, जिसके कहने का आशय यह है हमको आपसे बहुत बड़ा दान लेना है और दया भी करो क्योंकि दूर से आए हैं दूर से आने में हमने कितना कष्ट पाया होगा अतः दयाकर हम जो मांगें वह दीजिए निराश न कीजिए, हमको जो मांगा हुआ दान दोगे तो आपका यश भी होगा, यह सूचित किया, हम ब्राह्मण हैं यह बताने के लिए मध्य में आशीर्वाद भी दी है, वास्तव में तो यह ब्राह्मण वेप मिथ्या था इसलिए यशरूप अशीर्वचन निष्फल होगा वास्तव में तो 'भद्र' कल्याण ही प्राप्त करोगे अर्थात् मोक्ष पाओगे, अथवा 'तेभद्र' तेरा भद्र जो प्राण आदि है उसकी कामना करते हैं, वह दीजिये ॥१८॥

आभास—ननु दानं धर्मत्वात्सुखार्थं भवति तद्यस्मिन् दत्ते महद्दुःखं भवेद्वृत्तिर्वा विपद्येत न तद्देयमिति कथं सामान्येन प्रार्थनायां दानप्रतिज्ञासंभव इत्याशङ्क्याह किं दुर्मर्षं तितिक्षूणामिति ।

आभासार्थ—दान देना धर्म है वह सुखार्थ ही होता है जिसके देने से यदि दुःख प्राप्त वा वृत्ति नष्ट हो वह दान नहीं देना चाहिए इसलिए सामान्य रीति से प्रार्थना करने पर दान की प्रति का सम्भव कैसे ? इस प्रकार की शङ्का का उत्तर 'किं दुर्मर्षं श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—किं दुर्मर्षं तितिक्षूणां किमकार्यमसाधुभिः ।

किं न देयं वदान्यानां कः परः समदर्शिनाम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—सहनशील सब कुछ दुःख सह लेते हैं, नीच पुरुष क्या नहीं करते हैं ?

अर्थात् कैसा भी नीच कर्म हो तो वह उसके करने में हिचकते नहीं । उदार पुरुष क्या नहीं दे सकते हैं ? अर्थात् सब कुछ देने में समर्थ हैं, जिनकी समान दृष्टि है उनके लिए पराया कौन है, अर्थात् कोई पराया नहीं सब अपने हैं ॥१६॥

सुबोधिनी—ये तितिक्षवः सर्वातिक्रमसहन-
शीलाः, अन्यथा ब्रह्मण्यता न स्यात् । तथा चेत्
किं दुर्मर्षम्, महद्दुःखमपि सोढव्यमित्यर्थः ।
नाप्येवं मन्तव्यमेते महद्दुःखं न दास्यन्तीत्यभि-
प्रायेणाहुः किमकार्यमसाधुभिरिति । असाधुभि-
र्बैषान्तरस्थैः साधवः सहजवेषा भवन्ति । अश्च
सा सहितश्च धूर्त् कम्पन इति धूर्वायुश्च त एते
त्रयः । अथवा । किमित्येवमस्मभ्यं दुःखं दीयत
इति आशङ्क्यामाहुः किमकार्यमिति । दुष्टैर्भव-
द्भिर्जीवद्भिः किमकर्तव्यम् । यज्ञविघातमपि
करिष्यन्तीति मारणमुचितमिति भावः । ननु
दानं शास्त्रसिद्धं तद्येषामेव विधिर्भवति तान्येव

दातुं शक्यन्ते न तु निषिद्धानि । 'आत्मा च
धर्मदासश्च धर्मपत्नी तथैव च । सर्वस्वं च प्रपन्नश्च
न देयानि विदुर्बुधाः' इति विशेषनिषेधात्तत्राहुः
किं न देयं वदान्यानामिति । वदान्या दध्यङ्शि-
बिप्रभृतयः । अयं साधारणानामेव विषयः न तु
वदान्यविषयः ते ह्यात्मानमेव प्रयच्छन्ति कः
संदेहोऽन्येषु, अनेन तस्य स्तुतिरपि कृता । तथापि
शत्रुभ्यो न देयम्, अन्यथा नीतिशास्त्रं विरुद्ध्येत ।
हीनाः शत्रवो मरणं प्रार्थयेयुरिति तत्राऽऽहुः कः
परः समदर्शिनमिति । समदर्शिनः सर्वत्र ब्रह्म-
दृष्टीनां कः परः शत्रुः सर्वस्यैवात्मत्वात् ॥१६॥

—व्याख्यानार्थ—जो सर्व प्रकारों के अतिक्रमों को सहन कर सकते हैं वे ही ब्रह्मण्य होते हैं ।
जिनमें पूर्ण सहन शीलता नहीं है वे ब्राह्मणों का सन्मान पूजादि नहीं कर सकते हैं, जिससे वे
ब्रह्मण्य नहीं कहे जाते, जब वे सहन शील हैं तो वे महान् दुःखों को भी सहन करने में समर्थ होते
हैं, यों भी नहीं समझना चाहिए कि, वे विशेष दुःख नहीं देंगे, क्या कारण है जो हमें दुःख देंगे, इस
अभिशाप को प्रकट करने के लिए कहते हैं 'असाधुभिः किमकार्यं' जो वास्तविक साधु नहीं है, किन्तु
साधुओं का (ब्राह्मणों का) वेष धारण किया है वे ढोंगी हैं, अतः कोई सा भी नीच कार्य करने में
वे नहीं हिचकते हैं, अथवा तुम्हारे जैसे दुष्ट यदि जीवित होंगे तो अच्छे यज्ञादि कार्यों को भी नाश
करेंगे इसलिए ऐसे को हम मारें यह ही हमारे लिए उचित है । शास्त्र सिद्ध दान, उनको देना चाहिए
जिनके लिये देने की शास्त्रों में आज्ञा है, और जिस दान के देने का निषेध है वह नहीं देना चाहिए,
जैसा कि कहा जाता है, कि 'आत्मा च धर्मदासश्च धर्मपत्नि तथैव च सर्वस्वं प्रपन्नश्च न देयानि
विदुर्बुधाः ।' "शरीर, धर्म से जो दास बना है, धर्मपत्नी, सर्वस्व और जो शरण में आया हो ये
वस्तु दान में नहीं देनी चाहिये" इस प्रकार का निषेध विशेष निषेध है, इसके उत्तर में कहते हैं कि
'किं न देयं वदान्यानां' । उदार हृदय शिवि, दधीचि आदि जैसों ने जैसे शरीर आदि सर्वदान में
दे दिया है, वैसे उदार चित्त वाले सब कुछ दान में देते हैं, ऊपर दिया हुआ प्रमाण साधारणों के
लिए है, यों कहकर उसका स्तुति भी की है, फिर कहते हैं कि यों है किन्तु शत्रुओं को दान नहीं
देना चाहिए यदि शत्रु को दिया जाएगा तो नीति शास्त्र का विरोध होगा, जो हीन और शत्रु है
वह तो मारने का दान मांगेगा, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'कः परः समदर्शिनम्' जिसकी सर्वत्र
ब्रह्मदृष्टि है उनका पराया कोई नहीं है सब समान हैं क्योंकि सर्व आत्मा होने से अपने ही हैं ॥१६॥

आभास—तथापि देहाध्यासो दृढ इति देहव्यतिरिक्तं सर्वमेव दास्यामीत्याशङ्क्या-
माहुः योऽनित्येन शरीरेणेति ।

आभासार्थ—यों है, तो भी देहाध्यास दृढ है, इसलिए देह के सिवाय सब ही दूँगा; यदि यों कहे तो उसका उत्तर 'योऽनित्येन' श्लोक से देते हैं ।

श्लोक—योऽनित्येन शरीरेण सतां गेयं यशो ध्रुवम् ।

नाचिनोति स्वयं कल्पः स वाच्यः शोच्य एव सः ॥२०॥

श्लोकार्थ—जो पुरुष समर्थ होते हुए भी इस अनित्य शरीर से, जिसकी कीर्ति सत्पुरुष गाते हैं ऐसे नित्य स्थिर रहने वाले यशः शरीर को प्राप्त नहीं करता है उसकी इस लोक में निन्दा होती है और परलोक में भी हीन योनि पाने से शोक करने योग्य होता है ॥२०॥

सुबोधिनी—अदाने अयशः नित्यम्, शरीर-मनित्यं दाने तु यशो नित्यं, शरीरमपि नित्यमेव । यशसा नित्यं दिव्यं शरीरमिति, अयशसा नार-किशरीरम् । एवं तारतम्यं ज्ञात्वा यः अनित्येन शरीरेण सतां गेयं वैकुण्ठादिशरीरजनकं यशः ध्रुवं निश्चलं च यशो नाचिनोति सर्वतोपगच्छन्न संचिनोति यथा वस्त्राभासेन हीरकाबन्धनं वस्त्र-

नाशो भविष्यतीति शङ्कया स्वयं समर्थो भूत्वा स वाच्यः अस्मिन् लोके निन्द्यो भवति शोच्यश्च परलोके हीनशरीरप्राप्त्या । एवकारेणोत्तमशरीरशङ्कां वारयति । यतः सोधुना यशःसंचयम-कुर्वन् कथमन्यथा करिष्यति । न हि कदाचिदपि सोऽन्यथा भवति ॥२०॥

व्याख्यार्थ—दान न देने से, सदैव अपयश होता है यह शरीर तो अनित्य है दान करने से यश प्राप्त होता है वह नित्य रहता है और दान करने से जो यश मिलता है उससे नित्य दिव्य शरीर प्राप्त होता है अपयश से नारकीय शरीर की प्राप्ति होती है, इस प्रकार दोनों में तारतम्य जान कर जो इस अनित्य शरीर से सत्पुरुष जिसका गान करते हैं वैसा वैकुण्ठादि के शरीर को उत्पन्न करने वाला यश ध्रुव और निश्चल है । जैसे कोई पुरुष वस्त्र के कोने में हीरे को इस डर से नहीं बांधता है कि वस्त्र फट जाएगा, वैसे ही जो पुरुष समर्थ होते हुए भी शरीर चला जाएगा, इस डर से ध्रुव यश का संचय नहीं करता है तो वह इस लोक में निन्दा का पात्र होता है और परलोक में हीन योनि पाकर पश्चात्ताप करता है 'लोक में 'एवं' पद से यह सिद्ध किया है कि ऐसे पुरुष को उत्तम शरीर नहीं मिलेगा, जिससे उसके मन की शङ्का को मिटा दिया है, क्योंकि वह अब समय होते हुए भी यश का सञ्चय नहीं कर सकता है तो फिर कैसे करेगा ? वह कभी भी अन्य प्रकार का नहीं होता है ॥२०॥

आभास—ननु तथापि यत्कैश्चिदपि न दत्तं तत्कथं देयमिति शङ्कयामाहुः हरिश्चन्द्र इति ।

आभासार्थ—तो भी जो किसी ने भी नहीं दिया है वह कैसे देना चाहिये ? इस शङ्का का उत्तर 'हरिश्चन्द्रो' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उच्छ्वृत्तिः शिबिर्बलिः ।

व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः ॥२१॥

श्लोकार्थ—हरिश्चन्द्र रन्तिदेव, उच्छ्वृत्ति, शिवि, बलि, व्याध और कपोत ऐसे बहुत अध्रुव (अनित्य) इस शरीर से ध्रुव को प्राप्त हुए हैं ॥२१॥

सुबोधिनी—स हि सर्वस्वमपि दत्त्वा चण्डालत्वमङ्गीकृतवान् । रन्तिदेवः पिपासया म्रियमाणः पुक्लसायापि जलं दत्तवान्, तथोच्छ्वृत्तिः क्षुधा म्रियमाणः सर्वमेवात्र दत्तवान् । शिबिश्च स्वमांसं दत्तवान्, श्येनकपोतसंवादे । बलिः सर्व-

स्वं विष्णवे । व्याधो ब्राह्मणरक्षाया व्याघ्रेण भक्षितः । कपोतः चोररूपातिथिसंतर्पणार्थं तदग्नौ स्वयं पतितः सभार्यः । एवं बहव एवाध्रुवेण शरीरेण ध्रुवं फलं गताः ॥२१॥

व्याख्यान—हरिश्चन्द्र ने सर्वस्व देकर भी, चाण्डालपन अङ्गीकार किया, रन्तिदेव स्वयं व्यास से मर रहा था तो भी डोम को अपने पीने का पानी दे दिया, इसी प्रकार उच्छ्वृत्ति ने क्षुधा से मरते हुए भी सर्व अन्न दे दिया, शिवि ने अपना मांस कपोत को बचाने के लिए दे दिया बलि ने अपना सर्वस्व विष्णु को दान में दिया, व्याध ने ब्राह्मण की रक्षा करते हुए अपना शरीर व्याघ्र को अर्पण किया, स्त्री समेत कबुतर ने चोर रूप अतिथि को भोजन कराने के लिए अपना शरीर अग्नि में डालकर नष्ट किया इस भांति बहुतों ने इस अध्रुव शरीर से ध्रुव फल को पाया है ॥२१॥

आभास—एवं दाने प्रोत्साहं प्राप्तः क एत एवं धर्मवक्तार इति तान् विचार्य निश्चित्य स्वमनस्याह स्वरैराकृतिभिरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार दान करने लिए प्रोत्साहन पाया तब विचार करने लगा कि इस प्रकार धर्म को कहने वाले ये कौन हैं ? उनको अच्छी तरह जांच कर निश्चित जान लेने के बाद जो मन में कहने लगा वह 'स्वरैराकृतिभिः' श्लोक से' शुकदेवजी बताते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—स्वरैराकृतिभिस्तांस्तु प्रकोष्ठं ज्याहतैरपि ।

राजन्यबन्धून् विज्ञाय दृष्टपूर्वनिचिन्तयत् ॥२२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी बोले कि स्वर, आकृति और धनुष की प्रपञ्चा के घातु चिन्ह वाले भुजाओं से उनको क्षत्रिय जाना और मनमें आया कि पहिले कदाचिन् इनको कहीं देखा है ॥२२॥

सुबोधिनी—प्रथमेन विमर्शः ततश्चतुर्भिर्वाक्यानि ततो निश्चित्य प्रतिज्ञा । स्वरा मेघगम्भीराः क्षत्रियाणामेव भवन्ति । आकृतयः आजानुवाहूरूपाः अन्तर्बहिर्धर्मस्तु क्षत्रियत्वनियामका उक्ताः । तत्कर्मपरत्वनियामकानाह प्रकोष्ठं ज्याहतैरपीति ।

त्रिभिर्धर्मैर्ह्यभिचारिभिः राजन्यबन्धव एत इति ज्ञातवान्, प्रायेण तैः सह युद्धमपि कृतमिति दृष्टपूर्वत्वात् क एते इत्यचिन्तयत् । कथं क्षत्रिण एवमेवेण समागता इति ॥२२॥

व्याख्यार्थ— पहले से विचार किया, अनन्तर चारों से वाक्य, उनसे निश्चय फिर प्रतिज्ञा की, वादल जैसे गंभीर स्वर क्षत्रियों के ही होते हैं, आकृतियाँ, घुटनों तक लम्बी भुजाएँ ये भीतर और बाहर के धर्म क्षत्रियपन के ही नियामक कहे हैं । क्षत्रियों के कर्मपन के नियामक धर्म भी इनमें हैं जैसा कि इनकी कलाई धनुष के प्रत्यञ्चा के घात वाली है, इन अव्यभिचारों तीनों धर्मों से ये क्षत्रिय बान्धव हैं यों जंरासन्ध ने समझ लिया, बहुत कर पूर्व में इनसे युद्ध भी किया है इसलिए ये आगे देखे हुए लगते हैं किन्तु वास्तव में ज्यों मुझे भासते हैं त्यों हैं वा अन्य हैं, यों विचार करने लगा, यदि क्षत्रिय है तो इस वेश से यहां क्यों आये है ? ॥२३॥

श्लोक—राजन्यबन्धवो ह्येते ब्रह्मलिङ्गानि बिभ्रति ।

ददामि भिक्षितं तेन्य आत्मानमपि दुस्त्यजम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—ये कोई राजबन्धु देखने में आते हैं, किन्तु ब्राह्मण का वेश धारण किए हुए हैं, ब्राह्मण वेश के कारण माँगी हुई भिक्षा इनको दूँ, यदि ये न देने योग्य शरीर माँगे, तो वह भी दूँगा ॥२३॥

सुबोधिनी—स्वधर्मनिरतत्वाभावाद् राजन्य-
बन्धुत्वं मन्यते, बन्धुशब्दो वा अप्रौढक्षत्रिये ।
आत्मा अदेयः । क्षत्रियाश्चेत्स्वजात्यभिमानं
परित्यज्य ब्राह्मणवेपेण मद्याचका जाताः तदा

अहं क्षत्रियाणां मानरक्षार्थं दध्यङ्गिष्विवत्
आत्मानं शरीरमपि ददामि तद्वस्तुतो दुस्त्यजम्
॥२३॥

व्याख्यार्थ—क्षत्रिय न कहकर इनको क्षत्रिय बान्धव कहा है जिसका कारण यह है कि ये अपने क्षत्रिय धर्म में रत नहीं हैं अथवा बन्धु अप्रौढ क्षत्रिय के लिये दिया जाता है यद्यपि 'आत्मा' देने योग्य नहीं है, तो भी यदि क्षत्रिय अपनी जाति का अभिमान छोड़े ब्राह्मण वेश से मेरे यहां भिखारी हो के आए हैं तो मैं क्षत्रियों का मान (इज्जत) बचाने के लिए दधीचि और शिवि के समान अपना शरीर भी देता हूँ वह वास्तव में देना कठिन है ॥२३॥

आभास—कपटेन समागतस्य बलिरेव दातेति तस्य प्रशंसां स्वहृदये समागतां
निरूपयति बलेन श्रूयते कीर्तिरिति ।

आभासार्थ—कपट रूप से आए हुए वामन को बलि ने सर्वस्व दिया जिससे उसकी सर्वत्र प्रशंसा हो रही है इस प्रशंसा को मनमें लाकर उसका 'बलेन' श्लोक में निरूपण करते हैं—

श्लोक—बलेन श्रूयते कीर्तिवितता दिक्वकल्मषा ।

ऐश्वर्याद्भ्रंशितस्यापि विप्रब्याजेन विष्णुना ॥२४॥

श्लोकार्थ—विष्णु से (ब्राह्मण मिष से) ऐश्वर्य से भ्रष्ट किए गए बलि राजा की भी निष्कलङ्क कीर्ति चारों दिशाओं में व्याप्त हो गई है, यों सुनने में आता है ॥२४॥

सुबोधिनी—दैत्यांशत्वाद्वैत्यकृतिरेव हृदये समायाति दिक्षु विततेति । तादृशी कीर्तिस्तस्याभिलषितेति जापितम् । अकल्मषा शुद्धभावयुक्ता । आत्मदानमभिप्रेत्याऽऽह ऐश्वर्याद् अंशितस्यापि ।

संकल्पस्तु अंशात्पूर्वमेव जातः त्रैलोक्यपरिग्रहश्च । अंशो बन्धनात्मकः । तत्राप्येवं विष्णुर्ब्राह्मणरूपेणैव समागतः तेन मत्तुल्यता । अतस्तद्धर्मिणामनुवादः ॥२४॥

व्याख्यार्थ—दैत्यांश होने से दैत्य का कार्य ही हृदय में आता है, 'दिक्षु वितता' उस बलि दैत्यकी निष्कलङ्क शुद्ध भाव वाली कीर्ति सर्वत्र फैली हुई है, यों कहने का इसका आशय यह है कि मेरी भी वैसी कीर्ति हो, आत्मा का दान करने की अभिलाषा कर, कहता है, कि बलि ने ऐश्वर्य भ्रष्ट होकर भी सर्वस्व दान दे दिया, देने का सङ्कल्प तो अंश (बन्धनरूप होने) से प्रथम ही हुआ था और त्रैलोक्य देने का स्वीकार वहां भी इस प्रकार विष्णु ब्राह्मण रूप से ही पधारे थे । इससे मेरी और उसकी तुल्यता (समानता) है, अतः उसके धर्मों का यह अनुवाद है ॥२४॥

आभास—एतदर्थमेव ज्ञात्वा दानमनुवदति श्रियमिति ।

आभासार्थ—इसलिये ही जानकर दान का 'श्रियं' श्लोक से अनुवाद करता है ।

श्लोक—श्रियं जिहीर्षतेन्द्रस्य विष्णवे द्विजरूपिणे ।

जानन्नपि महीं प्रादाद्वार्यमाणोऽपि दैत्यराट् ॥२५॥

श्लोकार्थ—इन्द्र के लिए बलि की लक्ष्मी ले लेने की इच्छा वाले ब्राह्मण रूप विष्णु को गुरु शुक्राचार्य के रोकने पर भी दैत्यराज बलि ने पृथ्वी दे दी ॥२५॥

सुबोधिनी—जिहीर्षत इन्द्रस्येति वक्तव्ये संधिरार्षः । इन्द्रस्यार्थे राज्यश्रियं जिहीर्षते विष्णवे जानन्नपि प्रादादिति संबन्धः । शुक्राचार्येण वार्यमाणोऽपीति । यदि मां कश्चिद्धार-

यिष्यति तदापि दास्यामीत्येतदर्थमुक्तम् दैत्यराडिति । राजधर्मः प्रजाभिरपि कर्तव्य इति निश्चयः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—श्लोक में 'जिहीर्षतेन्द्रस्य' वाक्य में जो सन्धि है वह आर्ष प्रयोग है 'जिहीर्षते' यह पद विष्णवे का विशेषण है चतुर्थी विभक्ति में है अतः व्याकरणानुसार यों सन्धि हो नहीं सकती है, इन्द्र के लिए राज्य श्री को हरण की इच्छा वाले विष्णु को, जानता था तो भी दान दिया, गुरु शुक्राचार्य ने रोका, तो भी दिया, यों कहने का जरासन्ध का यह आशय था कि यदि मुझे भी कोई रोकेगा तो भी मैं दूँगा क्योंकि बलि दैत्यों का राजा था, राजा का धर्म प्रजा को भी पालना चाहिए यह निश्चय है ॥२५॥

आभास—ननु तथापि वाक्यात्तस्य तथा न निश्चयः प्रतिज्ञा च पूर्वमेव तेन कृता तव तु बलिनाशदर्शनात् प्रतिज्ञाभावाच्च कथं न निवृत्तिरित्याशङ्कयामाह जीवतेति ।

आभासार्थ— बलि ने केवल वाक्य से वैसा निश्चय नहीं किया था, किन्तु वह पहले ही प्रतिज्ञा कर चुका था, तुमको तो ऐसे कपट वेशधारियों को दान देने से बलि का नाश हुआ है यह जानकर और तुमने बलिवत् प्रतिज्ञा भी नहीं की है, अतः क्यों नहीं, दान से निवृत्त हो जाओ अर्थात् दान न दो ऐसी शङ्का का निवारण 'जीवता' श्लोक से करता है ।

श्लोक—जीवताऽब्राह्मणार्थाय कोन्वर्थः क्षत्रबन्धुना ।

देहेन पतमानेन नेहता विपुलं यशः ॥२६॥

श्लोकार्थ—क्षत्रिय होकर इस जीवन से ब्राह्मण के कार्य को सिद्ध कर महती कीर्ति उपार्जन न करे तो फिर इस नाशवान शरीर धारण का क्या प्रयोजन है ? ॥२६॥

सुबोधिनी— अब्राह्मणार्थाय ब्राह्मणप्रयोजनाभावाय प्रयोजनान्तराय वा जीवता क्षत्रबन्धुना किम् । न किञ्चित् प्रयोजनमित्यर्थः । एवं जीवन-वैफल्यमुक्त्वा देहवैफल्यमाह देहेनिति । स्वतः

एव पतमानेन यस्योपचयस्तस्यापचय इति विपुलं यशो नेहता न संपादयता ब्राह्मणार्थप्राणत्वं तस्य स्वाभाविकं यशःसंचयनं त्वेतैरेवोपादिष्टं बलि-धर्मास्तु स्मारिताः ॥२६॥

व्याख्यार्थ— यदि यह क्षत्रिय शरीर, ब्राह्मण के काम न आवे अथवा किसी दूसरे के काम में भी न आवे तो उस क्षत्रिय के जीते रहने से क्या लाभ ? अर्थात् कोई प्रयोजन नहीं है इसी तरह जीवन की विफलता दिखाकर अब देह की व्यर्थता कहना है. जो देह गिरने वाली है, जो बढती है वह घटती भी है इसलिए वैसी नाश होनेवाली अनित्य देह से यदि विपुल यश सम्पादन न किया, अर्थात् ब्राह्मण के लिए प्राण देने से स्वाभाविक यानि अवश्य ही यश का संचय होगा यह उपदेश उन्होंने ही दिया है और बलि के धर्म भी स्मरण करवाये हैं ॥२६॥

आभास—एवं त्रिभिः कृत्वा दास्यामीति निश्चित्य प्रतिज्ञां कृतवानित्याह इत्युदारमतिरिति ।

आभासार्थ— वैसे तीन श्लोकों से 'दूंगा' यह निश्चय कर 'इत्युदार' श्लोक से प्रतिज्ञा की है ।

श्लोक—इत्युदारमतिः प्राह कृष्णार्जुनवृकोदरान् ।

हे विप्रा त्रियतां कामं ददाम्घात्मशिरोऽपि वः ॥२७॥

श्लोकार्थ—उदार बुद्धिवाला जरासन्ध कृष्ण, अर्जुन और भीम को इस प्रकार कहने लगा—हे भूदेवों ! आप प्रसन्नता से जो चाहिए, वह माँगें, मैं अपना सिर भी आपको देने के लिए तैयार हूँ ॥२७॥

सुबोधिनी—एवं वलिधर्माभिनिवेशेन उदार-
मतिर्भूत्वा प्रत्येकं तान् व्रियतामित्याह । दान-
सिद्धयर्थं तेषां ब्राह्मण्यं स्थापयति हे विप्रा इति ।
कामं स्वाभिलषितम् । कदाचिदेते मया सह युद्धे

अशक्ताः मच्छिरः प्रार्थयिष्यन्ति चेत्तदपि देय-
मित्याह ददाम्यात्मशिरोऽपीति । वो युष्मभ्यं
ब्राह्मणेभ्यः ॥२७॥

व्याख्यार्थ— इस प्रकार अन्तःकरण में वलि के धर्म के प्रवेश से जरासन्ध भी वैसा ही उदार मति वाला हो गया, जिससे प्रत्येक को कहने लगा कि जो कुछ चाहिए वह मांग लो, दान की सिद्धि हो इसलिए उनका ब्राह्मण पन स्थापित करता हुआ कहता है कि हे विप्राः (ब्राह्मणों) ! आप अपनी इच्छानुसार मांगलो, कदाचित् ये मेरे साथ युद्ध करने में अशक्त हैं, इसलिए यदि मेरा शिर मांगोगे तो वह भी आप ब्राह्मणों को दे दूंगा ॥२७॥

आभास—एवं सत्यप्रतिज्ञस्य प्रतिज्ञां श्रुत्वा कर्तव्यमूढयोर्भीमार्जुनयोः सतोः
भगवांस्तन्मनोरथं दूरीकर्तुं कापत्यं दूरीकृत्य सत्यमाह युद्धं नो देहि इति ।

आभासार्थ— सत्य प्रतिज्ञ की इस प्रकार सत्य प्रतिज्ञा सुनकर क्या करना चाहिए इस विचार में मूढ़ हुवे भीमार्जुन को देखकर भगवान् कापत्य को दूर कर 'युद्धं नो' श्लोक में सत्य कहने लगे ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—युद्धं नो देहि राजेन्द्र द्वन्द्वशो यदि मन्यसे ।

युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता राजन्या नान्नकाङ्क्षिणः ॥२८॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा—हे राजेन्द्र ! यदि हम जो चाहते हैं, वह देना स्वीकार करते हो तो, हमको द्वन्द्व युद्ध दो, हम युद्ध के लिए यहाँ आए हैं, हम क्षत्रिय हैं, अतः अन्न नहीं चाहते हैं ॥२८॥

सुबोधिनी—युद्धप्रार्थना क्षत्रियस्य नापकर्ष-
हेतुः । राजेन्द्रेति क्षत्रियमात्रस्य राजेन्द्रेण सह
युद्धार्थमागमनमनुचितमिति सूचितम् । तेन
युद्धप्रार्थना सर्वथायुक्तेति भावः । किञ्च । युद्ध-
विशेषं प्रार्थयितुमागता इत्याह द्वन्द्वश इति ।
एको भवान् त्वं अस्मासु चैकः त्रयाणां मध्ये
कोऽपि । एतदपि न छलवाक्येनाङ्गीकारं
कारयित्वा वदामः कितु यदि मन्यसे कथंचि-
द्वन्द्वयुद्धे श्रद्धा भवतीत्यर्थः । न तु निर्वन्धेनाय-
मर्थः स्वीकर्तव्यः अस्माकं तु युद्धस्वीकारे
युद्धानन्तरं जयपराजयनिर्णयः । अस्वीकारे तु
प्रथमत एवेति उभयथापि समीचीनम् । इद-

मत्यन्तं स्वोत्कर्षख्यापकं वचनम् । किञ्च । जगति
द्वन्द्वयुद्धं कोऽपि कर्तुं न शक्त इति त्वत्समीप-
मागता इत्यभिप्रायेणाह युद्धार्थिनो वयं प्राप्ता
इति । देवदैत्यरक्षसामन्यतरत्वे भयान्नाङ्गी-
करिष्यतीत्याशङ्क्याह राजन्या इति । तर्हि
ब्राह्मणवेषः किमर्थं कृत इत्याशङ्क्याह नान्न-
काङ्क्षिण इति । ब्राह्मणो भोजनप्रिय इति, अन्न-
काङ्क्षिणो ब्राह्मणा न भवामः । अन्नार्थं वा न
ब्राह्मणवेषः । कितु महान् क्षत्रियः अल्पेन सह
युद्धं न करोति ब्राह्मणेन तु सह तदिच्छापूर्त्यर्थं
अल्पेनापि करोतीति ब्राह्मणवेष इत्यर्थः ॥२८॥

व्याख्यान्य—युद्ध के लिए मांग करने से क्षत्रिय का अपमान नहीं होता । राजेन्द्र ! इस प्रकार के सम्बोधन से यह सूचित किया है कि साधारण क्षत्रिय को राजेन्द्र के साथ बल से युद्ध करने के लिए आना उचित नहीं है इस कारण से युद्ध के लिए प्रार्थना करना सर्व प्रकार से योग्य है, यह भाव है, उसमें भी विशेष प्रकार के युद्ध की प्रार्थना करने के लिए ही आए हैं वह प्रकार बताते हैं कि 'द्वन्द्वशः' एक एक से आमने सामने लड़ें अतः आप एक हैं हम तीनों में से किसी एक को आप चुनलो, यह भी किसी छल द्वारा अङ्गीकार नहीं करवाता हूँ, किन्तु यदि कंसे भी द्वन्द्व युद्ध में श्रद्धा हो तो स्वीकार कीजिए यह मन्तव्य किसी भी आग्रह से स्वीकार नहीं करना, हमको तो युद्ध के स्वीकार करने पर जय वा पराजय का निर्णय युद्ध के बाद होगा, यदि स्वीकार न करोगे तो पहले ही यों है अतः हमारे लिए दोनों ही समीचीन हैं, अपने अत्यन्त उत्कर्ष के प्रसिद्ध करने वाले वचन हैं और विशेष जगत् में द्वन्द्व युद्ध करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं है इसलिए युद्ध को चाहने वाले हम आपके पास आए हैं देव, दैत्य और राक्षसों में से आप कोई हैं । इस भय से यदि युद्ध देना अङ्गीकार न करो तो इस भय का निवारण करते हैं कि हम क्षत्रिय हैं यदि क्षत्रिय हो, तो ब्राह्मण वेश क्यों धारण किया है जिसके उत्तर में, हमने वेश धारण इसलिए नहीं किया है कि हमको भोजन दो, ब्राह्मण भोजनप्रिय होते हैं, हम भोजन चाहने वाले ब्राह्मण नहीं हैं । अन्न के लिए ब्राह्मण वेश धारण नहीं किया है, हमने इस विचार से ब्राह्मण वेश धारण किया है कि महान् क्षत्रिय, छोटे से युद्ध नहीं करता है, ब्राह्मण से तो उसकी इच्छा पूर्ण करने के लिए छोटे से भी करता है इसलिए ब्राह्मण वेश धारण किया है ॥२८॥

आभास—यथा रूपमन्यथा तथा वागपि भविष्यतीत्याशङ्क्य क्षत्रियत्वसिद्धयर्थं स्वनामान्याह असौ वृकोदर इति ।

आभासार्थ—जैसे आपका रूप सत्य नहीं है, वैसे वाणी भी सत्य न होगी, इस शङ्का को मिटाने के लिए, अपने क्षत्रियपन की सिद्धि करते हुए 'असौ वृकोदरः' श्लोक में अपने नाम प्रगट कर बताते हैं ।

श्लोक—असौ वृकोदरः पार्थस्तस्य भ्रातार्जुनो ह्ययम् ।

अनयोर्मतुलेयं मां कृष्णं जानीहि ते रिपुम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—यह भीमसेन है और दूसरा पृथा का पुत्र इसका भ्राता अर्जुन है, इन दोनों के मामे का पुत्र तेरा शत्रु मैं कृष्ण हूँ, यों समझ ले ॥२९॥

सुबोधिनी—वृको दशविधः प्राण उदरे यस्येति बलं च सूचितम् । पार्थ इति स्वसंबन्धार्थं कपटागमनार्थं वा न त्वप्रयोजकत्वाय । तस्यैव भ्राताः पार्थः अर्जुनोऽयं द्वितीयः । हि युक्तश्चायमर्थः । आकृतिसाम्यात् । यदर्थमेतयोर्मतृभाम्ना

निरूपणं तदाह अनयोर्मतुलेयं मां कृष्णं जानीहीति । तर्हि प्रसिद्धाः कथं वेपेण समागता इत्याशङ्क्याह ते रिपुमिति । रिपोः स्थाने कार्यपर्यन्तं वेपेणैव स्थातव्यमिति नीतिः ॥२९॥

व्याख्यान—वृक पद का अर्थ है दश प्रकार के प्राण, वे जिसके उदर में है वैसा यह वृकोदर है यों कहने से उसकी महती शक्ति का सूचन किया है जिसको 'पार्थ' भी कहते हैं, यह नाम अपने सम्बन्ध प्रकट दिखाने के लिए कहा है अथवा कपट से आने के लिए कहा है अप्रयोजकपन के लिए नहीं, उसका ही भ्राता अर्जुन दूसरा भी पार्थ है, 'हि' पद से बताया है कि यह अर्थ उचित है, कारण कि दोनों की आकृति समान है इनका मातृ नाम से परिचय जिस कारण से दिया वह प्रकट करते हैं कि, इन दोनों के मामे का पुत्र कृष्ण मुझे समझ लो, जब आप ऐसे प्रसिद्ध हैं तो वेशान्तर धारण कर क्यों आए ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'तेरिपुम' तुम्हारे शत्रु हैं शत्रु के स्थान पर कार्य पूर्ण हो तब तक वेशान्तर से ही रहना चाहिए यह नीति है ॥२९॥

आभास—एवं भगवता पार्थै निरूपिते अतिथिश्रद्धायां गतायां बालभावेनैते समा-
गता इत्यवहेलेव तेषुत्पन्ना तट आगमनमाश्चर्यमिव मत्वा प्रथमतो हास्यमुत्पन्नमित्याह
एवमावेदित इति ।

आभासार्थ—भगवान् ने जब ये पार्थ नाम से प्रसिद्धि की तब जरासन्ध के हृदय से अतिथि श्रद्धा निकल गई । ये तो लड़के से आए है इसलिए उन्होंने तिरस्कार जैसा भाव उद्भूत हुआ, इस कारण से इनका आना आश्चर्य जैसा माना, जिसमें पहिले उसको हँसी आई जिसका वर्णन 'एवमावेदितो' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—एवमावेदितो राजा जहासोच्चैः स्म मागधः ।

आह चामषितो मन्दा युद्धं तर्हि ददामि वः ॥३०॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जब इसको अपने स्वरूप का ज्ञान कराया, तब राजा मागध जोर से हँसने लगा और क्रोधित हो कहने लगा कि हे मूर्खों ! यदि आप द्वन्द्व युद्ध ही माँगते हो तो तुमको वही देता हूँ ॥३०॥

सुबोधिनी—आवेदनं स्वरूपख्यापनम् । यतो राजा राज्यमत्तः उच्चैर्जहासेति कथमेते अक-
स्माच्छत्रुगृहे पतिताः दैवगत्येति । ननु भगवन्तं दृष्ट्वा भक्तिः कथं नोत्पन्ना वस्तुसामर्थ्यात्, कथम-
वहेलेत्याशङ्कयामाह मागध इति । देशदोषान्न सद्वुद्धिः । तस्य पेक्षा भवितुमर्हतीत्याशङ्क्याह
आह चेति । पूर्व भगवदतिश्रमं श्रुत्वा अमषितः ततः क्रोधेन मारयिष्यामीति विचार्य स्वप्रतिज्ञां

च स्मृत्वा उभयथापि मारणं संभवतीति किमिति प्रतिज्ञा हातव्येति स्वस्य कार्यमुभयथापि समी-
चोनमेवेति तेषामेवोभयथाऽसमोचीनमिति ज्ञाप-
यितुं मन्दा इति संबोधनमाह । अस्तु वा तेषां मन्दत्वं स्वप्रतिज्ञां तु पूरयाम्येवेत्याशयेनाह युद्धं तर्हि ददामि व इति । व इति बहुवचनात् त्रयोऽपि भवन्त एकतो भवन्तु अहमेकत इति सूचितम् ॥३०॥

व्याख्यान—आवेदन का तात्पर्य है अपना स्वरूप प्रकट कर देना, स्वरूप प्रकट जानकर 'राजा' राज्य के कारण मदमत्त होने से जोर से हँसने लगा इसलिए कि ये अचानक शत्रु के गृह

में कैसे आ गए ? देव गति से आए हैं, भगवान् का दर्शन कर वस्तु में ऐसी सामर्थ्य होते हुए भी भक्ति क्यों न उत्पन्न हुई ? कैसे तिरस्कार जगा ? इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि वह राजा तो था किन्तु साथ में मगध देश में उत्पन्न होने से मागध भी था अतः देश दोष से सुबुद्धि न आई उसके न आने से उपेक्षा होना ही योग्य, है इस शङ्का के होने पर कहते हैं कि भगवान् का अतिक्रम सुनकर क्रोधपूर्ण हो गया पश्चात् विचार कर कहने लगा कि इनको मारूंगा और अपनी प्रतिज्ञा का भी स्मरण किया, जिससे यों निश्चय किया कि ये युद्ध की भिक्षा मांग रहे हैं और मेरी प्रतिज्ञा है कि ब्राह्मण जो मांगे वह देना ही अतः दोनों प्रकार मारना ही सम्भव होता है इससे क्या प्रतिज्ञा छोड़नी ? नहीं जरासन्ध ने समझा कि हमारा कार्य दोनों प्रकार उचित है और उनका ही दोनों प्रकार अनुचित है, यह जानने के लिए उनको 'मन्दा' यह सम्बोधन दिया है, वे भले ही मूर्ख हो अपनी प्रतिज्ञा तो पूर्ण करूंगा ही, इस आशय से कहता है कि 'युद्धं तर्हि दादामि' आप तीनों को द्वन्द्व युद्ध देता हूँ अर्थात् एक तरफ भले तुम तीनों हो जाओ दूसरी तरफ मैं एक ही रहूंगा यों सूचित किया ॥३०॥

आभास—तथापि द्वन्द्वतायां निर्वन्धो यदि तदाह न त्वयेति ।

आभासार्थः—तो भी यदि द्वन्द्व में आग्रह है तो इस पर जो कहना है वह 'न त्वया' श्लोक में कहता है ।

श्लोक—न त्वयाऽभीरुणा योत्स्ये युधि विक्लवचेतसा ।

मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वा समुद्रं शरणं गतः ॥३१॥

श्लोकार्थ—जरासन्ध ने भगवान् को कहा कि लड़ाई में अस्थिर चित्तवाले डरपोक तुझ से मैं नहीं लड़ूंगा, तू ऐसा डरपोक है, जो तुमने अपनी पुरी मथुरा का त्याग कर समुद्र की शरण ली है ॥३१॥

सुबोधिनी—त्वया न योत्स्ये अभीरुणेति परमार्थः । व्याजेन भीरुणेत्याह । भीरुत्वे कथमेवमागमनमित्याशङ्क्याह युधि विक्लवचेतसेति । युद्धे चेत् स्थिरता बुद्धेर्भवेत् तदा क्षत्रियो युद्धसंभवभूमिं परित्यज्य युद्धरहितभूमौ न गच्छेत्

इत्याशयेनाह मथुरां स्वपुरीं त्यक्त्वेति । आप-
त्स्वपि स्वदेशो न त्याज्य इति जापयितुं स्व-
पुरीमिति । मध्ये समुद्रस्थितिः समुद्रशरणागतिः
दुर्गाश्रयवत् ॥३१॥

व्याख्यानार्थ—तुम डरपोक हो इसलिए तुम से नहीं लड़ूंगा, यदि मैं डरपोक होता तो यहां कैसे आता ? जिसका उत्तर देता है कि लड़ाई में तुम स्थिर चित्त वाले नहीं हो, यदि युद्ध में चित्त स्थिर हो तो क्षत्रिय कभी जहां लड़ाई होने की भूमि है उस भूमि का त्याग कर वैसी भूमि पर क्षत्रिय कभी नहीं जाते हैं जहां लड़ाई न हो सके, आपने यों किया है जैसे अपनी मथुरा पुरी का

त्याग कर जैसे कोई किले का आश्रय ले वैसे समुद्र के मध्य में स्थिति की है, जो स्थान युद्ध के योग्य नहीं है, नीति शास्त्र तो यों कहता है कि 'आपत्स्वपि स्वदेशो न त्याज्यः', आपदाओं में भी अपना देश नहीं छोड़ना चाहिए ॥३१॥

आभास—अर्जुनं च निराकरोति अयमिति ।

आभासार्थ— अर्जुन से भी लड़ाई करने का 'अयं तु' श्लोक में निराकरण करता है ।

श्लोक—अयं तु वयसाऽतुल्यो नातिसत्त्वो न मे समः ।

अर्जुनो न भवेद्योद्धा भीमस्तुल्यबलो मम ॥३२॥

श्लोकार्थ—यह अर्जुन छोटा है और महाबली नहीं है तथा मेरे समान नहीं है, इसलिए अर्जुन योद्धा, मुझ से लड़ाई करने वाला नहीं हो सकता है, किन्तु भीम, समान बल होने से मुझ से लड़ सकता है ॥३२॥

सुबोधिनी—अयं तु योद्धा भवति परंतु वयसा अतुल्यः वयोऽत्र बलहेतुभूतम्, अन्यथ भीमोऽपि वयसा न तुल्यः भीमार्जुनयोर्वर्षत्रय-व्यवधानात् तदेव ज्ञापयितुमाह नातिसत्त्व इति । यादृशे लग्ने उत्पन्ने तादृशं बलं भवति तद्धीम-बलभद्रमद्राजादीनामेव अतः एव न मे समः । दैव्यं तु बलं ममापि ब्रह्मण्यत्वादधिकमेवेति न

तन्मन्यते । कनिष्ठ इति । भीमस्यापि निराकरणे व्याजोत्तरत्वं भविष्यतीति तमङ्गीकरोति भीम-स्तुल्यबलो ममेति । वस्तुतस्तु नरनारायणौ परित्यज्य कालकन्यापुत्रत्वात् मुख्यप्राणं तुल्यं मन्यते सोऽपि दैत्यप्राणरूप इति 'जीव जीव' इति वाक्यात् ॥३२॥

व्याख्यानार्थ— यह अर्जुन तो योद्धा बन सकता है, किन्तु आयु में छोटा है बल का कारण वय भी होता है, यदि यों है तो भीम भी आयु में आपके बराबर नहीं है, भीम और अर्जुन का केवल तीन वर्ष का ही अन्तर है, जिसके उत्तर में कहता है कि अर्जुन विशेष बलवान भी नहीं है और न मेरे समान है, क्योंकि जैसे लग्न में जन्म होता है तदनुसार बल होता है वह बल भीम, बलभद्र मद्र आदि राजाओं में हैं इस कारण ही यह अर्जुन मेरे समान नहीं है अतः मुझसे द्वन्द्व युद्ध कर नहीं सकता, दिव्य बल तो ब्रह्मण्यत्व के कारण मुझ में विशेष है भीम के भी निराकरण में दूसरा कोई कारण होगा जिसके उत्तर में कहता है कि नहीं भीम तो मुझ से बल में समान है उससे द्वन्द्व युद्ध करूँगा । वास्तव में तो नर नारायण को त्यागकर काल कन्या के पुत्र होने से मुख्य प्राण को समान मानता है, वह भी दैत्य प्राण रूप है, यों 'जीव जीव' इस वाक्य से मानता है ॥३२॥

आभास—एतेषां तु सर्वत्रैवाभ्यनुज्ञा, बलं तु भगवतः क्वापि संचारस्तीयमिति तदङ्गीकारे जरासंधकृत्यमाह इत्युक्त्वेति ।

आभासार्थ—इनको तो सर्वत्र ही अनुमति है । भगवान् का बल तो कहीं भी चलाने योग्य है अर्थात् चलाया जा सकता है उनके अङ्गीकार करने पर जरासन्ध के कृत्य का वर्णन 'इत्युक्त्वा' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—इत्युक्त्वा भीमसेनाय प्रादाय महतीं गदाम् ।

द्वितीयां स्वयमादाय निर्जंगम पुराद्वहिः ॥३३॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार कहकर जरासन्ध ने भीमसेन को एक बड़ी गदा दी और दूसरी गदा स्वयं लेकर नगर से बाहर निकले ॥३३॥

सुबोधिनी—द्वन्द्वयुद्धं शरीरबलनिमित्तक- मिति गदायामेव शरीरबलं योजयितुं शक्यमिति निरायुधेन युद्धं न युक्तमिति तस्मै महतीं गदां प्रादात् । द्वितीयां तत्तुल्या स्वयमादाय स्वरूपतः	साधनतश्च फलरूपो भूत्वा स्थानबलं स्वगृहे स्व- स्याधिकमिति स्वपुरं परित्यज्य युद्धार्थं पुराद- वहिर्निर्गतः ॥३३॥
--	---

आभासार्थ—द्वन्द्व युद्ध शरीर बल प्रदर्शित करने वाला है वह बल गदा में ही जोड़ने का है अर्थात् गदा से ही दिखलाया जा सकता है । विना आयुध के युद्ध करना उचित नहीं है, इसलिए भीम को बड़ी गदा दी, उसके समान दूसरी गदा स्वयं जरासन्ध ने ली, स्वरूप से और साधन से फलरूप होकर अपने गृह में अपना स्थान बल विशेष होता है, इस कारण से अपने पुर का त्याग कर युद्ध के लिए बाहर निकला ॥३३॥

आभास—ततो युद्धप्रकारं लौकिकमाह ततः समे खले इति ।

आभासार्थ—'ततःसमे खले' श्लोक में लौकिक युद्ध का नमूना कहते हैं—

श्लोक—ततः समे खले वीरौ संयुक्तावितरेतरौ ।

जघ्नतुर्वज्रकल्पाभ्यां गदाभ्यां रणदुर्मदौ ॥३४॥

श्लोकार्थ—फिर वे, रण में मदोन्मत्त वीर, युद्ध में आकर आपस में भिड़े और वज्र के समान गदाओं से प्रहार करने लगे ॥३४॥

सुबोधिनी—कोमला भूमिः खलशब्देनोच्यते । असहायसमागमने हेतुः वीरौ इति । संयुक्तावित- रेतरौ इति समारम्भे तुल्यता निरूपिता । वज्र-	कल्पाभ्यामिति गदामाहात्म्यम् । रणदुर्मदौ इति तयोः ॥३४॥
---	---

व्याख्यार्थ—कोमल और समान भूमि पर, द्वन्द्व युद्ध प्रारम्भ की, सेना आदि की सहायता बिना आने का कारण यह था कि 'वीरों' (बहादुर) थे 'परस्पर आपस में भिड़ गए, इससे समारम्भ में

वरावरी (समानता) निरूपण की है, वज्रकल्पाभ्यां' पद से गदा का महात्म्य वर्णन किया है 'रण दुर्मदों' पद से दोनों का महात्म्य दिखाया है ॥३४॥

श्लोक—मण्डलानि विचित्राणि सव्यं दक्षिणमेव च ।

चरतोः शुशुभे युद्धं नटयोरिव रङ्गिणोः ॥३५॥

श्लोकार्थ—जैसे रङ्गभूमि में नट खेलते हैं, उनकी तरह बाँए और दाहिने विचित्र मण्डलों में फिरते इन दोनों का युद्ध शोभा देने लगा ॥३५॥

सुबोधिनी—मण्डलानि गदायुद्धे प्रोक्तानि सव्यं यथा भवति दक्षिणं यथा भवति । एवेत्युभयोरवधारणम् । चकाराट्टभयोरुभयं कदाचित् । एवं चरतोर्युद्धं शुशुभे द्रष्टृणां तद्युद्धं सुखदं जातमित्याह नटयोरिवेति । युद्धाभास एवायमनुकरणमिति शङ्कायामाह रङ्गिणोरिति । रङ्गो नयोर्वर्तत इति युद्धे रसयुक्तौ, न त्वाभासवित्यर्थः ॥३५॥

व्याख्यार्थ—गदा युद्ध में मण्डल कहे हैं, कभी एक बाँए जाता है तो दूसरा दाहिने जाता है 'एव' पद से दोनों का यों करना दिखाया है, 'च' पद से कभी दोनों का दोई कदाचित् हो जाते थे । यों फिरते रहने से युद्ध शोभा देने लगा, देखने वालों को वह युद्ध सुखदायी हुआ, इसलिए दृष्टान्त देते हैं नटों की तरह युद्ध का खेल खेलने लगा, यह सच्चा युद्ध नहीं किन्तु युद्ध का आभास है अतः यह अनुकरण है इस शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि 'रङ्गिणोः' इन दोनों में रङ्ग है इसलिए युद्ध में रसवाले हैं न कि आभास है यह तात्पर्य है ॥३५॥

आभास—लोकानां रसजननान्यथानुपपत्त्या आभास एव भविष्यतीत्याशङ्क्य युद्धे शब्दं वर्णयति ततश्चटचटाशब्द इति ।

आभासार्थ—लोगों को अन्य प्रकार रस की उपपत्ति न होने से यह आभास ही होगा, यह शङ्का कर युद्ध करते हुए जो शब्द होने लगे उनका वर्णन 'ततश्चटचटा' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—ततश्चटचटाशब्दो वज्रनिष्पेषसंनिभः ।

गदयोः क्षिप्तयोरेष दन्तयोरिव दन्तिनोः ॥३६॥

श्लोकार्थ—जैसे हाथियों के लड़ते हुए उनके दन्तों के शब्द होते हैं, वैसे ही आपस में चलाई जाती हुई गदाओं का वज्रपात के समान चटचटा शब्द होता था ॥३६॥

सुबोधिनी—वज्रनिष्पेषो वज्रपातस्तत्संनिभः तत्सदृशः । अन्योन्यं क्षिप्तयोर्गदयोरेषः, शब्दादपि महद्भूयं संभवति सर्वेषां तेषां प्रहारेऽपि न तदिति माहात्म्यम् । गदयोः परित्यागशङ्काभावाय अपरित्यागाय वा दृष्टान्तः दन्तयोरिव दन्तिनोरिति ॥३६॥

व्याख्यार्थ—एक दूसरे पर फेंकी हुई गदाओं के वज्र के गिरने के समान चटचटा शब्द हो रहे थे, इन शब्दों से ऐसा बड़ा भय होता था वैसा उन सबको गदा को चोट से न होता था यह माहत्म्य है। गदाओं के परित्याग को शङ्का के अभाव के लिए अथवा अपरित्याग के लिए दृष्टान्त देते हैं जैसे हाथियों के युद्ध में उनके दान्तों का शब्द होता है तो भी वे लड़ना छोड़ते नहीं ॥३६॥

आभास—गदयोरेवान्योन्यं प्रहारो न तु देहयोरिति शङ्कां वारयितुं प्रहारं वर्णयति ते वै गदे इति ।

आभासार्थ—यह प्रहार परस्पर गदाओं का ही होता था न कि देहों का, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'ते वै गदे' श्लोक में प्रहार का वर्णन करते हैं—

श्लोक—ते वै गदे भुजजवेन निपात्यमाने

अन्योन्यतोऽसकटिपादकरोरुजत्रून् ।

चूर्णोऽवभूवतुरुपेत्य यथार्कशाखे

संयुद्धचतोऽद्विरदयोरिव तीव्रमन्वोः ॥३७॥

श्लोकार्थ—उद्दीप्त क्रोध वाले हस्ती लड़ते हुए आक पर पड़ते हैं तो उनकी टहनियाँ जैसे टूट जाती हैं, वैसे ही भुजाओं के वेग से चलाई हुई गदाएँ जब एक-दूसरे के कन्धे, कमर, हाथ, पाँव, जाँघ (साथल) और हँसियों पर पड़ती थी, तब गदाएँ चूर्ण हो जाती थी ॥३७॥

सुबोधिनी—गदापेक्षया देहोऽत्यन्तं कठिन इति देहस्पर्शं गदानाश उच्यते । भुजजवेनान्येनान्यस्योपरि निपात्यमाने असकटिपादकरोरुजत्रून् षडङ्गान्युपेत्य चूर्णोऽवभूवतुः । देहगदयोस्तारतम्यार्थं दृष्टान्तमाह यथार्कशाखे हस्तिभ्यां निक्षिप्ते यथार्कवृक्षशाखे । तदभावे युद्धाभावो

भविष्यतीत्याशङ्क्याह संयुद्धचतोरिति । साधनमवयवा एवेति दृष्टान्तः द्विरदयोरिवेति । नन्ववयवस्य कथं साधनत्वं प्रहारे स्वस्यापि व्यथासंभवादित्याशङ्क्याऽऽह तीव्रमन्वोरिति । तीव्रो मनुर्मन्युर्ययोः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—गदा की तुलना में देह अत्यन्त कठिन थी इसलिए देह के स्पर्श होते ही गदा का नाश कहा जाता है भुजाओं के वेग से एक दूसरे पर गिसई हुई गदाएँ कन्धे, कमर, पाँव, हाथ, हांसल और हासिया इन छ अङ्गों पर पड़ती थी तब चूर्ण हो जाती थी, देह और गदा के तारतम्य दिखाने के लिए दृष्टान्त देते हैं कि हस्तियों के पड़ने पर आक की टहनियों टूट जाती हैं किन्तु यहां गदाएँ चूर्ण हो गईं । जिससे सिद्ध होता है कि गदाओं से देह कोमल थी और यहां आक की टहनियाँ कोमल हैं जो टूट गई हैं— तब युद्ध नहीं हुआ होगा, इस शङ्का के मिटाने के लिए कहते हैं कि 'संयुद्धचर्त्तौ' लड़ते हुए हस्तियों के पड़ने से, साधन अवयव ही हैं इसलिए दृष्टान्त है 'द्विरदयोरिव' हस्तियों की तरह अवयव साधन कैसे हैं ? प्रहार होने पर अपने को भी व्यथा होने का संभव होने

से यों शङ्का कर उत्तर देते हैं कि तीव्र (जवरदस्त) क्रोध से पूर्ण थे इसलिए उनको चोट का भान नहीं रहता था ॥३७॥

आभास—एवं गदायुद्धमुपसंहृत्य मुष्टियुद्धमाह इत्यमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार गदा युद्ध पूर्ण कर 'इत्थं' श्लोक से 'मुष्टियुद्ध' का वर्णन करते हैं—

श्लोक—इत्थं तयोः प्रहतयोगदयोर्नृवीरौ

क्रुद्धौ स्वमुष्टिभिरयःस्पर्शरपिष्टाम् ।

शब्दस्तयोः प्रहरतोरिभयोरिवासीन्

निर्घातिवज्रपरुषस्तलताडनोत्थः ॥३८॥

श्लोकार्थ—इस तरह गदाओं के टूट जाने से उन दोनों वीरों ने क्रोध में आकर, लोहे के समान कठोर स्पर्श वाली मुक्कियों से आपस में मुक्क-मुक्का की, जिससे एक-दूसरे के अङ्ग को चूर्ण करने लगे । हाथी के समान प्रहार करते हुए इन दोनों वीरों के चपेट मारने का शब्द वज्रपात के समान कठोर होता था ॥३८॥

सुवोधिनी—तयोर्गदयोः प्रहतयोः सत्योः तथापि नृवीरौ क्रुद्धौ सन्तौ अयःसदृशमुष्टिभिः अपिष्टां अन्योन्यशरीरं पेषयामासतुः । तत्रापि पूर्ववच्छब्दमाह शब्दस्तवोरिति । तयोर्देहयोः संबन्धी शब्दः इभयोरिव गर्जनरूपो जातः । वीररसेन तयोरेव वा वाक् शब्दः उभयोरपी-

त्येके । अन्योऽपि तत्र शब्दो जात इत्याह निर्घातिवज्रपरुषस्तलताडनोत्थ इति । निर्घातो निर-
अविद्युत्पातः तादृशपातयुक्तो वज्रः ततोऽपि यः परुषः तलताडनं चपेटः तेनोत्थानं यस्य । अनेन महाप्रहारो निरूपितः ॥३८॥

व्याख्यान—उनकी गदाओं के चूर्ण हो जाने पर भी दोनों नरवीर क्रोध पूर्ण हो, लोहे के समान कठोर मुक्काओं से चूर्ण न हुए परस्पर के शरीर को चूर्ण करने लगे, वहां पहले की भांति शब्द हुए यों कहते हैं दोनों देहों के शब्द हस्तियों के समान गर्जना रूप होने लगा, कोई कहते हैं कि वीर रस के कारण उन दोनों के वाणी का शब्द वैसा होने लगा, वहां दूसरे प्रकार का भी शब्द हुआ, बिना बादल होते हुए गिरि हुई बिजली के पात के समान जो वज्र होता है उससे भी जो कठोर थप्पड़ है उससे निकला हुआ शब्द जोर से होने लगा, यों कहने से महान् प्रहार का निरूपण किया ॥३८॥

आभास—उपसंहरति तयोरेवमिति ।

आभासार्थ—'तयोरेव' इस श्लोक से विषय का उपसंहार करते हैं—

श्लोक—तयोरेवं प्रहरतोः समशिक्षाबलौजसोः ।

निविशेषमभूद्युद्धमक्षीणजवयोर्नृप ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! अभ्यास, बल और प्रभाव से समान बल वाले भीम और जरासन्ध का बल, इतना लड़ते हुए भी कम नहीं हुआ, अतः दोनों में विशेष समान युद्ध होने लगा ॥३६॥

सुबोधिनी—समतायां हेतूनाह समशिक्षा-
बलौजसोरिति । युद्धे पराक्रमो बलं शिक्षा च
हेतवः । तत्तुल्यत्वात् युद्धे विशेषाभावः । आवृ-
त्त्यान्यबलक्षये युद्धे विशेषो भविष्यतीत्याशङ्क-
चाह अक्षीणजवयोरिति । नृपेति संबोधनं

विश्वासाय । आवृत्त्या जरासन्धस्य क्षीणता भवि-
ष्यतीत्यभिप्रेत्य आवृत्तिः कृता । तज्जरया निर्मि-
तोऽयमिति सर्वस्माद्बलं समाहृत्य जरास्मै
प्रयच्छतीति न कदाचिदप्यस्य बलक्षयः, आस-
न्यत्वाद्भीमस्य नास्त्येव ॥३६॥

व्याख्यार्थ—भीम और जरासन्ध की समानता में हेतु कहते हैं शिक्षा, बल और ओज दोनों का एक जैसा है, युद्ध में पराक्रम बल और शिक्षा कारण हैं, वे बराबर होने से विशेषता का अभाव है, आवृत्ति से दूसरे के बल का क्षय होने से युद्ध में कोई प्रबल हो जाएगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहता कि 'अक्षीण जवयो' आवृत्ति होते हुए भी किसी का बल क्षीण नहीं हुआ, नृप ! यह संबोधन विश्वास उत्पन्न करने के लिए कहा है, आवृत्ति से जरासन्ध का बल कम होगा, यों विचार कर आवृत्ति की, किन्तु बल क्षीण नहीं हुआ, क्योंकि यह जरा का निर्माण किया हुआ है अतः जरा सब ठोर से बल लागर इसको देती है, इसलिए कभी भी इसका बल नाश होने का नहीं है, आसन्य प्राणरूप होने से भीम का भी बल क्षय नहीं होता है ॥३६॥

आभास—एवं तुल्यत्वे प्रयोजनं न सिद्धयतीति भगवान् भीममधिकबलं कृतवानि-
त्याह शत्रोरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार तुल्य बल होने से कार्य की सिद्धी न होगी इसलिए भगवान् ने भीम को अधिक बल वाला किया यह 'शत्रोर्जन्ममृती' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—शत्रोर्जन्ममृती विद्वाञ्जीवितं च जराकृतम् ।

पार्थमाप्याययत्स्वेन तेजसाचिन्तयद्धरिः ॥४०॥

श्लोकार्थ—भगवान् शत्रु (जरासन्ध) के जन्म-मरण को जानते हैं, इसके दो भागों को जरा नाम वाली राक्षसी ने जोड़ा है, यह राक्षसी जरासन्ध को बल देती रहती है, यह विचार कर भगवान् ने अपना तेज भीम में स्थापन कर उसके वध का उपाय सोचने लगे ॥४०॥

सुबोधिनी—शत्रोर्जरासन्धस्य सिद्धफलाच्छ-
कलभूताज्जन्म शकलभूतस्यैव, शकलयोश्चाक्षयत्वं
जराकृतसंधानेनैव च जीवितं शकलयोः स्वरूपतो
नाशाभावात् विश्लेषादेव मरणं अतिवलादेव च
विश्लेषः संभवतीति पार्थ स्वेन तेजसा आप्या-

यदत् । स्वकालशक्तिं तत्र स्थापितवानित्यर्थः ।
कालकन्यापेक्षया कालशक्तेराधिक्यात्, ततस्त-
स्य वधोपायं अचिन्तयत् । यतः सतां
दुःखहर्ता ॥४०॥

व्याख्यार्थ—हमारे शत्रु जरासन्ध का दो टुकड़े हुवे सिद्ध फल से जन्म हुआ है, इन दो
टुकड़ों का अक्षयपन और जीवन जरा राक्षसी के किए हुए जोड़ान से ही हुवा है दोनों टुकड़ों
का स्वरूप से नाश होने का नहीं है, अतः उन टुकड़ों के पृथक् होने से ही इसकी मृत्यु होगी वह
पृथक्पन अतिशय बल से ही होगा, इललिये भीम को अपने तेज से युक्त किया अर्थात् अपनी काल
शक्ति उसमें स्थापित की, काल कन्या की अपेक्षा काल शक्ति अधिक बलवती है उससे उसके
वध का उपाय सोचने लगे क्योंकि सत्पुरुषों के दुःख के हरण करने वाले हैं ॥४०॥

श्लोक—संचिन्त्यारिवधोपायं भीमस्यामोघदर्शनः । .

दर्शयामास विटपं पाटयन्निव संज्ञया ॥४१॥

श्लोकार्थ—अमोघ ज्ञान वाले हरि ने शत्रु के वध का उपाय विचार कर एक
टहनी को चीरते हुए, उस संकेत से भीम को जरासन्ध के मारने का उपाय बता
दिया ॥४१॥

सुबोधिनी—ततो विश्लेषमेवोपायं विनि-
श्चित्य भीमस्य दर्शयामास । चिन्तनमन्यथा न
भवतीति ज्ञापनार्थमाह अमोघदर्शन इति । भीम-
स्य वा ज्ञानार्थं विशेषेण दर्शनम् । स्वयं भीम-

संमुखो भूत्वा विटपं कस्यचिच्छाखां मध्ये विपा-
टयन् संज्ञया अभिज्ञानेन पटयामास एवमयं
पाटनीय इति ॥४१॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् भगवान् ने जरासन्ध को मारने का उपाय दो टुकड़े करना ही है वह
संकेत से भीम को दिखाया, भगवान् का निश्चित किया हुआ विचार अन्यथा नहीं होता है, क्योंकि
भगवान् अमोघ दर्शन हैं, वह प्रकार भीम को समझाने के लिए विशेष प्रकार से दिखाया, स्वयं
भगवान् भीम के सामने होकर वृक्ष की शाखा में से किसी टहनी को लेकर उसको मध्य से चीर
डाला, इस संकेत से भीम को सूचित किया कि जरासन्ध इस प्रकार मध्य में से चीरने से मरेगा अतः
उसके भी बीच से दो टुकड़े कर डालो तो मरेगा ॥४१॥

श्लोक—तद्विज्ञेय महासत्त्वो भीमः प्रहरतां वरः ।

गृहीत्वा पादयोः शत्रुं पातयामास भूतले ॥४२॥

श्लोकार्थ—प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ महा दलवान भीमसेन ने उस उपाय को समझकर बैरी के पांवों को पकड़ कर पृथ्वी पर गिरा दिया ॥४२॥

सुबोधिनी—एवं भगवत्कृपया ज्ञानक्रिया-शक्तियुक्तः प्रहरतां मध्ये श्रेष्ठः मलयुद्धमिषेण तं भूमौ पातयामास । पूर्ववदेव यथा तस्य शङ्का नोदेति । नन्वेवं मारणमनुचितमित्याशङ्क्याह शत्रुमिति । शत्रुः शातयिता यथाकथंचिद्वध्यः पादयोगृहीत्वा पातने विकलता च जाता ॥४२॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् की कृपा से ज्ञान क्रिया शक्ति से युक्त, प्रहार करने वालों में श्रेष्ठ मल्ल युद्ध के मिष से उसको पृथ्वी पर गिराया जैसे पहले यह शङ्का पैदा नहीं होती है इस प्रकार मारना उचित नहीं है, इस प्रकार की शङ्का का उत्तर देते हैं कि 'शत्रु' है, इसलिए यों मारने में कोई दोष नहीं है । शत्रु को जिस किसी तरह भी हो मारना चाहिए, दोनों पांवों को पकड़ कर गिराने में विकलता तो हुई है ॥४२॥

आभास—ततो मारणप्रकारमाह एकं पादमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् 'एकं पादं' श्लोक में मारने का प्रकार बताते हैं—

श्लोक—एकं पादं पदाक्रम्य दोभ्यामन्यं प्रगृह्य तः ।

गुदतः पाटयामास शाखाभिव महागजः ॥४३॥

श्लोकार्थ—एक पाँव को पाँव से दबा कर दूसरा पाँव हाथों से पकड़ कर जैसे गजराज वृक्ष की शाखा को चीर डालता है ऐसे जरासन्ध को, गुदा से लेकर ऊपर तक बराबर चीर कर दो टुकड़े कर डाले ॥४३॥

सुबोधिनी—पादौ त्वश्लिष्टौ एव अतो गुदतः पाटयामास । पूर्व तस्मिन् ब्राह्मणबुद्धिर्जातेति कालशक्त्या गृहीत इति न प्रयत्नं कमपि कृत-
वानिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह शाखामिवेति । अनायासे दृष्टान्तो महागज इति ॥४३॥

व्याख्यार्थ—पाँव तो जुड़े हुवे नहीं हैं अतः गुदा से चीर डाला, पहले तो उसमें ब्राह्मण बुद्धि उत्पन्न हुई, इसलिए कालशक्ति ने इसको अपनी तरफ खींच लिया जिससे इसने कुछ भी प्रयत्न नहीं किया यों जताने के लिए दृष्टान्त दिया है कि जैसे गजराज बिना प्रयत्न के लीला करते ही वृक्ष की शाखा को तोड़ देता है वैसे ही काल शक्ति ने भी इसके दो टुकड़े कर डाले ॥४३॥

आभास—ततस्तस्य वधः सर्वजनीनो जात इत्याह एकपादेति ।

आभासार्थ—उसका वध सर्वजनीन हुआ यह 'एक पादों' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—एकपादोरुवृषणकटिपृष्ठस्तनांसके ।

एकबाह्वक्षिभ्रूकर्णे शकले ददृशः प्रजाः ॥४४॥

श्लोकार्थ—प्रजा ने उसके दो खंड समान देखे, जैसे प्रत्येक में एक पांव, एक उरु एक वृषण, एक कटि एक पृष्ठ, एक स्तन, एक कन्धा, शिर एक हाथ, एक आँख एक भौंह और एक कान देखा ॥४४॥

सुबोधिनी—एकपादः पादादिर्यस्य पादः ऊरुः वृषणः कटिः पृष्ठस्तनमंसः कं चेत्यष्टाङ्गानि द्वन्द्व-
रूपाणि भिन्नानि जातानि । द्वादशाङ्गेष्वप्यप- राणि चत्वार्याह बाहुरक्षिभ्रूः कर्णश्च एको यय्येः । एतादृशे शकले सर्वा एव प्रजा ददृशुः । ॥४४॥

व्याख्यार्थ—गुदा से चीरने के कारण पांव उपर आ गया था इसलिए कहा है, कि यह पाद है आदि जिसके ऐसे आठ अङ्ग, पाद, उरु, वृषण कटि, पीठ, स्तन, कन्धा और कं (शिर) । जो दो थे वे पृथक् हो गए, सर्व द्वादश अङ्गों में आठ ऊपर कहे शेष चार कहते हैं कि बाहु, आँख भौंह, और कान, दोनों टुकड़ों में यों एक एक १२ अङ्गों को प्रजा ने देखा ॥४४॥

आभास—ततो यज्ज्ञातं तदाह हाहाकार इति ।

आभासार्थ—मरणानन्तर जो कुछ हुआ वह 'हाहाकारो' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—हाहाकारो महानासीन्निहते मगधेश्वर ।

पूजयामासतुर्भीमं परिरम्य जयाच्युतौ ॥४५॥

श्लोकार्थ—जरासन्ध के मरने पर बड़ा हाहाकार हुआ और अर्जुन तथा श्री कृष्णचन्द्र ने आलिङ्गन कर भीमसेन का सत्कार किया ॥४५॥

सुबोधिनी—महान् सर्वैः कृतत्वात् बद्धाना-
मपि यथा श्रवणं भवति । भगवान् तथा संपा-
दितवान् मगधेश्वरमरणानन्तरमेव तथा भवतीति
बोधयितुं तदानन्तर्यमनूदितम् । ततो भीमार्जो
ग्रहीतुं व्याजेनालिङ्गनं प्रशंसां च कृतवानित्याह
पूजयामासतुर्भीममिति । अर्जुनोऽपि भगवदंश
इति द्वयोर्निरूपणम् । स्तोत्रेण स्मये जाते तेजो-
पगच्छतीति स्तुतिः । जयोऽर्जुनः अच्युतश्च ।
उभयोर्गुणस्तस्मिन्न गच्छतीति तथापदम् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—मगधेश्वर के मरने के बाद सर्व ने ऐसा महान् हाहाकार किया जो जहां बन्धे हुए राजा थे उन्हीं की भी सुनने में आया, भगवान् ने ही वसा सम्पादन करवायी कि मगधेश्वर के मरजाने के बाद यों महान् हाहाकार होवे तो बंधन में पड़े हुए राजा सुनकर प्रसन्न होवे और समझें कि हम अब बन्धन से छूटेगे, पश्चात् भगवान् ने भीम में जो तेज स्थापित किया था वह ग्रहण करने के लिए आलिङ्गन और प्रशंसा रूप मिश्र कर भीम का आलिङ्गन और प्रशंसा की, अर्जुन ने भी अलिङ्गनादि किया, क्योंकि भगवदंश है इसलिए श्लोक में 'जयाच्युतौ' जय अर्जुन और अच्युत

दृष्ट्वा दोनों के नाम दिए हैं, स्तुति से प्रसन्नता होती है जिससे तेज चला जाता है दोनों ने इसलिए आलिङ्गन किया कि हम दोनों के गुण इस (भीम) में नहीं जावे इसलिए तथा पद दिया है ॥४५॥

श्लोक—सहदेवं तत्तनयं भगवान् भूतभावनः ।

अभ्यषिञ्चदमेयात्मा मगधानां पतिं विभुः ।

मोचयामास राजन्यान् संरुद्धा मागधेन ये ॥४६॥

श्लोकार्थ—अप्रमेय स्वरूप, भूत भावन भगवान् ने उसके पुत्र सहदेव को मगध के राज्यासन पर अभिषेक कर इसको मगध का राजा बनाया और जरासन्ध ने जिन राजाओं को कैद किया था उन्हें कैद से छुड़ा दिया ॥४६॥

सुबोधिनी—ततः अराजकराज्ये स्थितिर-
युक्तेति अन्यस्तस्मिन् देशे स्थापयितुमयुक्त इति
अनुकूलस्तत्पुत्र इति सहदेवं तत्तनयं तत्रत्यानां
भूतानामनुकम्पार्थमभ्यषिञ्चत् । यतो भगवान्
सर्वसमः । ननु शत्रुं हत्वा तद्राज्यं स्वयं ग्राह्यं
कथं तत्तनयाय दत्तवानित्याशङ्क्यामाह अमेया-
त्मेति । भगवान् हितमहितं वा करोतीति न

कस्यापि मेयः आत्मा यस्य । मगधानां स्वभाव-
तोपि स पतिर्भवति तस्य विपरीतत्वेपि न काचित्
क्षतिरिति ज्ञापयितुमाह विभुरिति । यदर्थमेता-
वत् कृतं तदाह मोचयामासेति । ननु येन निमि-
त्तेन ते धृताः तदपगमाभावे कथं मोचनमित्या-
शङ्क्याह मागधेन संरुद्धा इति । मागधस्यैव मृत-
त्वात् हेत्वपगमः सुतरामेव जात इत्यर्थः ॥४६॥

व्याख्यार्थ—बिना राजा के राज्य में स्थिती उचित नहीं है और उस देश में दूसरे देश का राजा राज्य पर बिठाना अयोग्य है अतः उसका पुत्र ही अनुकूल है, इसलिए उसके पुत्र सहदेव को वहाँ के रहवासी प्रजा की सहानुभूति के लिए राज्याभिषेक किया अर्थात् राजसिंहासन पर बिठाकर उसको वहाँ का राजा बनाया क्योंकि भगवान् को सर्व समान है, शत्रु को मार कर उसका राज्य अपने को ग्रहण करना चाहिए था उसके पुत्र को कैसे दिया ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि भगवान् 'अमेयात्मा' है अर्थात् भगवान् यह कार्य कर हित कर रहे हैं वा अहित कर रहे हैं इसको कोई नहीं समझ सकता है मगधों का स्वभाव से भी भगवान् ही पति है ही यदि जरासन्ध उनके विरुद्ध हुआ तो भगवान् की किसी प्रकार क्षति नहीं हुई यह जताने के लिए कहते हैं कि 'विभु' सर्व समर्थ हैं, भगवान् ने जिस कार्य के लिए यह लीला की है, वह कार्य कहते हैं कि 'मोचयामास' छुड़ाये, जिस निमित्त वे कैद में रखे गए उस निमित्त (कार्य) के पूर्ण हुए बिना क्यों छुड़ाया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'मागधेन संरुद्धा' मागध ने इनको कैद में रखा था मागध ही मर गया तो उनके कैद में रखने का हेतु आप ही समाप्त हो गया ॥४६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदोक्षितविरचितायां

त्रयविंशाध्यायविवरणम् उत्तरार्धे द्वाविंशाध्यायः ॥२२॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७१वें अध्याय (उत्तरार्ध २२वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य-
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन

भवान्तर प्रकरण का द्वितीय अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

राग भारू

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्ब्रह्माचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ७३वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७०वाँ अध्याय

उत्तरार्ध २४वाँ अध्याय

सात्त्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

“अध्याय—३”

जरासन्ध के बन्दीगृह से छूटे हुए राजाओं की विदाई और भगवान् का
इन्द्रप्रस्थ लौट आना ।



कारिका — चतुर्विंशे विमुक्तानां ज्ञानेनाज्ञानमोचनम् ।

विषयात्मसमृद्धिं च प्राह कृष्ण इतीर्यते ॥१॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस २४वें अध्याय में जरासन्ध को नाश कराके राजा जो कैद से छुड़ाये हैं उनको कृष्ण ने ज्ञान देकर उनका अज्ञान नष्ट किया यह कथा कही जाएगी ॥१॥

कारिका—स्वधर्मैश्चेन्न पुष्टाः स्युर्निरोधस्तर्ह्यनर्थकः ।

अतः स्वासक्तिसिद्धयर्थं ज्ञानराज्ये ददौ हरिः ॥२॥

कारिकार्थ—उनको ऐसा उपदेश दिया है कि अयत्न सिद्ध विषयों से समृद्धि बढ़ानी, यदि ये राजा अपने धर्म से पुष्ट न हों तो इनका निरोध निरर्थक हो जावे,

अतः भगवान् ने इनका निरोध सार्थक करने के लिए इनको राज्य दिया, राज्य मद से भगवान् को भूल न जावें तदर्थ हरि ने ज्ञान भी दिया ॥२॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते निरुद्धा राजानो मोचिता इत्युक्तं तेषां मुक्तानां भक्त्या-
धिक्येन पूर्ववत् स्थितिर्निरूप्यते, तत्र प्रथमं निरोधस्थानान्निर्गमनमाह अयुते द्वे इति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में यह कहा कि जरासन्ध के बन्धन में पड़े हुवे राजाओं को बन्धन से छुड़ाया, छुड़ाये हुवे उन राजाओं की भक्ति की अधिकता से पूर्व की भांति स्थिति निरूपण की जाती है, उसमें प्रथम निरोध स्थान से निकलना 'अयुते द्वे' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—अयुते द्वे शतान्यष्टौ लीलया युधि निर्जिताः ।

ते निर्गता गिरिद्रोण्या मलिना मलवाससः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि, बीस हजार आठ सौ राजा जिनको लीला मात्र से युद्ध में जीत कर, जरासन्ध ने कैद किया था, वे मलीन वस्त्र और रूप वाले पर्वत की घाटी से बाहर निकल आए ॥१॥

कारिका—एकविंशतिसाहस्रं वधस्तेषां हि संमतः ।

ततः शतद्वयन्यूनास्तेन पूर्वं न मारिताः ॥

कारिकार्थ—जरासन्ध की इच्छा थी कि इक्कीस हजार राजा जब वन्दी बनेंगे तब उनका वध कर प्रमथनाथ को बलि दूँगा, किन्तु दो सौ कम थे इसलिए इनका वध नहीं किया ।

सुबोधिनी—एतज्ज्ञापयितुं संख्यामाह अयुते द्वे शतान्यष्टविति । उलूखलबन्धनवदत्रापि शत-
द्वयन्यूनता । एतावतामेकत्र कथं स्थितिरित्यत्र हेतुमाह लीलया युद्धि निर्जिता इति । गिरि-

द्रोण्याः सकाशान्निर्गताः मलिना असंस्कृतदेहाः ।
मलवाससोऽप्रक्षालितवाससः । अनेन बहिःस्थि-
तिरधमा निरूपिता ॥१॥

व्याख्यार्थ—यह जताने के लिए संख्या बताते हैं कि, बीस हजार आठ सौ भगवान् को यशोदा ने जब उलूखल में बान्धना चाहा तो वह रज्जु दो अङ्गुल न्यून रही जिससे भगवान् बन्धन में न आ सके उसी तरह यहां भी दो सौ राजा कम हुवे इतमें बीस हजार राजाओं की एकत्र स्थिति कैसे हुई ? यों होने का कारण कहते हैं कि 'युद्धि निर्जिता' युद्ध में जरासन्ध जीत कर लाया था । पर्वत की घाटी से जब बाहर आए तब मलीन देह वाले थे और कपड़े भी मैले पहने थे इससे उनकी बाहर आने के समय बाहर की हालत खराब थी ॥१॥

आभास—अन्तःस्थिति निरूपयति ।

आभासार्थ—भीतर की स्थिति का निरूपण करते हैं—

श्लोक—क्षुक्षामाः शुष्कवदनाः संरोधपरिकृशिताः ।

ददृशुस्ते घनश्यामं पतिकौशेयवाससम् ॥२॥

श्लोकार्थ—भूख से दुबले, शुष्क मुख और कँद में रहने से बहुत कृश हो गए थे उन्होंने बाहर आके मेघ से श्याम, पीले कौशेय वस्त्र धारण किए हुए भगवान् का दर्शन किया ॥२॥

बुद्धोविनी—क्षुक्षामाः रोगाद्यभावेऽपि भक्ष्या-
भावात् कृशाः । अन्तःसन्तोषाभावात् शुष्क-
वदनाः । इन्द्रियाणां पीडामाह संरोधपरिकृशिता
इति । परितः कृशिताः क्लिष्टाः सर्वेन्द्रियेषु
जातक्लेशाः । एवं बाह्याभ्यन्तरभेदेन परमापद-
मापन्नाः तत्क्षणादेव सर्वनिवृत्त्यर्थं भगवन्तं दृष्टवन्त
इत्याह ददृशुस्ते घनश्याममिति । यादृशमात्मानं
भगवान् प्रदर्शितवान् द्वादशलक्षणोपेतं तादृशमनु-
वर्णयति घनश्यामादिभिः पदैः । मानसो हि

द्वादश वृत्तयः क्लिष्टा इति सर्वक्लेशनिवृत्त्यर्थं
द्वादशधर्मप्राकट्यम् । तत्र शुष्काणामाप्यायनार्थं
घनवत् श्याममिति । नीलमेघो ह्याप्यायकः ।
अनेन देहक्लेशो निवारितः । वाक्क्लेशव्यावृत्त्यर्थ-
माह पीतकौशेयवाससमिति । पीतं वासो हि
वेदात्मकं तत्रापि स्वकर्मबद्धजीवकोशनाशेन
प्रादूर्भूतम् । निवृत्तिषोधिका श्रुतिरिति यावत् ।
अनेन ज्ञानसहिता वागाविर्भवतीति सूचितम्
॥२॥

व्याख्यार्थ—रोगी नहीं थे तो भी कृश थे कारण कि उनको पूरा भोजन नहीं मिला था जिससे भूख से दुबले हो गए थे, अन्तःकरण में सन्तोष न होने से सब के मुख मुरझा के सूख गए थे, कँद में बन्द रहने से सब इन्द्रियों में क्लेश होने से कृश हो गये थे, इस प्रकार बाहर और भीतर महान् आपदा में फँसे हुए उन राजाओं ने उसी क्षण ही आपदाओं से निवृत्ति के लिए भगवान् के दर्शन किए, द्वादश लक्षण युक्त भगवान् ने जैसे स्वरूप से उनको दर्शन दिये वैसे स्वरूप का वर्णन करते हैं । भगवान् ने द्वादश धर्म इस लिए प्रगट किये थे जो मन की १२ वृत्तियाँ हैं वे सब दुःखी थी उनके दुःखों को छुड़ाना था उसमें शुष्कों को स्निग्ध करने के लिए मेघ की तरह श्याम धर्म धारण किया, श्याम मेघ ही स्निग्ध करता है । इससे देह का क्लेश निवृत्त किया, वाणी के क्लेश को मिटाने के लिए पीले कौशेय वस्त्र धारण किये हैं, पीले वस्त्र वेद रूप हैं उसमें भी अपने कर्म से बद्ध जीव कोश के नाश से उत्पन्न हुआ है यह श्रुति (वेद) निवृत्ति का बोध कराने वाली है, इससे ज्ञान सहित वाणी प्रकट होती है, यह सूचन किया ॥२॥

श्लोक—पद्महस्तं गदाशङ्खचक्राङ्गं रूपलक्षितम् ।

किरीटहारकटकटिसूत्राङ्गदाचितम् ॥३॥

श्लोकार्थ—एक श्री हस्त में कमल धारण किया है, गदा, शङ्ख और चक्र से शेष

तीन श्री हस्त सुशोभित हैं, किरीट, हार कड़ा, कंदोड़ा तथा बाजूबन्द आदि आभूषणों से विभूषित ॥३॥

सुबोधिनी—ततो वसनक्लेशाभावाय अपा-
मोपधीना च रसरूपं पद्मं हस्ते प्रदर्शनार्थं यस्य ।
ततो ममेत्यहंकारस्त्रिध इति तन्निवृत्त्यर्थं गदा-
शङ्खरथाङ्गैः उपलक्षितं स्त्रीपु नपुंसकहेतिप्रयो-
गेण त्रिविधानामपि छेदनम् । एतावन्त एव हि

ममताविषयाः । उपलक्षणत्वं तु सकृदेव निरा-
करणात् पुनः प्रयोजनाभावं ज्ञापयति किरीटा-
दिभिः पञ्चविधैरलङ्कारैः पूजितश्चक्षुःक्लेशा-
भावाय । पञ्चविधं हि रूपमिति नीलश्वेतपी-
तरक्तचित्रभेदाद् अन्येषामत्रैवान्तर्भावि ॥३॥

व्याख्यान—श्री हस्तमें कमल इसलिए धारण किया है कि जल एवं औषधियों का यह कमल
रम रूप है अतः इसके धारण से वस्त्रों के पहिनने का क्लेश नाश हो गया है, पश्चात् तीन प्रकार के
अहङ्कार की निवृत्ति के लिए तीन आयुध शेष तीन हस्तों में धारण किए हैं, जिनसे स्त्री पुम् और
नपुंसक रूप इन शस्त्रों से तीनों प्रकार के अहंकार का छेदन किया है, इतने ही ममता के विषय है,
उपलक्षणत्व वो तो एक बार ही निराकरण करने से फिर कोई प्रयोजन नहीं रहता है, यह जताने
के लिए किरीट आदि पांच प्रकार के आभूषणों से पूजित अर्थात् सुशोभित नेत्रों के क्लेश का अभाव
करने के लिए रूप नील, श्वेत, पीत, रक्त और चित्रित भेद से पांच प्रकार का ही होता है अन्यो का
उनमें ही अन्तर्भावि है ॥३॥

आभास—श्रीवत्साङ्गमिति ।

अभासार्थ—श्रीवत्साङ्ग श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—श्रीवत्साङ्गं चतुर्बाहुं पद्मगर्भाणोक्षणम् ।

चारुप्रसन्नवदनं स्फुरन्मकरकुण्डलम् ॥४॥

श्लोकार्थ—श्रीवत्स के चिन्ह वाले, चार भुजा धारी कमल के गर्भ के समान नेत्र
वाले सुन्दर और प्रसन्न मुख वाले झलकते कुण्डल वाले ॥४॥

सुबोधिनी—पादक्लेशाभावः ब्राह्मणपाद-
क्लेस्तत्रैव निवारितः । चतुर्बाहुमिति हस्तयोः
क्रियाया द्विगुणीकरणात् । पद्मगर्भवदणो
ईक्षणेयस्येति मनसःक्लेशाभावः । नासिकयोर्वा ।

चारु प्रसन्नं वदनं यस्येति सर्वकामनापूर्त्या
कामक्लेशनिवृत्तिः । स्फुरन्मकरकुण्डलमिति
श्रोत्रस्य ॥४॥

व्याख्यान—श्रीवत्स के चिन्ह से भृगु के चरण के क्लेश की निवृत्ति दिखाई । चतुर बाहु का
भावार्थ है कि हस्तों के क्रिया को दुगुना किया है, कमल के गर्भ के समान नेत्र कहने से बताया है
कि म. नासिक क्लेश नहीं है अथवा नासिकाओं के क्लेश का अभाव दिखाया है । सुन्दर प्रसन्न मुख
होने से यह दिखाया है कि सर्व काम पूर्ण होने से काम क्लेश की निवृत्ति हो गई है, मकराकृति
कुण्डलो की चमक से श्रोतों के क्लेश का अभाव प्रकट किया है ॥४॥

श्लोक—भ्राजद्वरमणिग्रीवं निवीतं वनमालया ।

पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां लिहन्त इव जिह्वया ॥५॥

श्लोकार्थ—कौस्तुभ मणि जिनके कण्ठ में देदीप्यमान हो रही है, वनमाला जिन्होंने धारण की है ऐसे भगवान् को, मानो नेत्रों से पीते हैं और जीभ से चाटते हैं ॥५॥

सुबोधिनी—भ्रातृप्रकाशमानो यो मणिः स ग्रीवायां यस्येति । ज्ञानक्रिययोर्मध्यस्थेन जीवोत्क्रमक्लेशो निवारितः । निवीतं वनमालयेति व्यापिका कीर्त्या त्वक्स्पर्शक्लेशो निवारितः । एतादृशं भगवन्तं दृष्ट्वा सर्वेन्द्रियाण्यहमहमिकतया रूपरसगन्धस्पर्शार्थं प्रवृत्तानि इति वदन् तेषां भगवति सर्वभावप्रवृत्तिमाह पिबन्त इव चक्षुर्भ्या-

मिति । चक्षुषा हि रूपलावण्यामृतं पीयते, दर्शनं वहिःस्थितावेव, पानमन्तःप्रवेशनमिति विशेषः । उभाभ्यां पानं द्विहस्तभोजनवदत्यासक्तिं बालभावं वा बोधयति । रसग्रहणार्थमाह लिहन्त इव जिह्वयेति गौर्वत्समिव । तथाभूतं भगवन्तं दृष्ट्वा तेषां तथाभावो जात इत्यर्थः ॥५॥

व्याख्यानार्थ—दीप्तिमान् मणि जिनके कण्ठ में है, जिससे बताया है, कि ज्ञान और क्रिया का मध्य भाग कण्ठ है, क्योंकि ज्ञान मस्तक में रहता है और क्रिया शरीर में, इन दोनों को मिलाने वाली ग्रीवा है जो मध्य में है, उस ग्रीवा में मणि अर्थात् चैत्य तत्त्व धारण किया है जिससे जीव के उत्क्रम में क्लेश न होगा । सारे शरीर पर वनमाला व्याप्त थी, वनमाला कीर्तिरूप है, जिससे त्वचा के स्पर्श के क्लेश का निवारण किया, ऐसे भगवान् का दर्शन कर समस्त इन्द्रियाँ रूप-रस गन्ध के स्पर्श के लिए यों चाहने लगी कि मैं पहले जाकर पान करूँ-जिसका वर्णन करते हैं कि 'पिबन्त इव चक्षुर्भ्यां' नेत्रों से ही लावण्यामृत पीया जाता है । दर्शन तो बाहर स्थित होकर किया जाता है । पान तो भीतर प्रवेश से होता है, इतना विशेष है । दोनों नेत्रों से पीना लिखा है जिसका भावार्थ यह है कि जैसे दो हस्तों से भोजन बालक करते हैं तो आपने भी दो नेत्रों से पान कर बाल भाव प्रकट किया है अथवा यों पीने से अत्यासक्ति दिखाई है । 'लिहन्त इव जिह्वया' लिख कर यह प्रगट किया है कि रस का ग्रहण कर रहे हैं जैसे गौ का बछड़ा चाटता है वैसे ही भगवान् को देख उनमें वैसा भाव प्रकट हो गया, यह तात्पर्य है ॥५॥

आभास—गन्धानुभवार्थमाह जिघ्रन्त इव नासाभ्यामिति ।

आभासार्थ—गन्ध के अनुभावार्थ 'जिघ्रन्त इव' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—जिघ्रन्त इव नासाभ्यां रम्भन्त इव बाहुभिः ।

प्रणमुर्हतपाप्मानो मूर्धभिः पादयोर्नृपाः ॥६॥

श्लोकार्थ—नासिकाओं से मानो सूँघते हुए, भुजाओं से मानो आलिङ्गन करते हुए राजाओं के सर्वपाप व कष्ट नष्ट हो गए । जिससे हे राजा ! वे मस्तकों से चरणों में पकड़कर प्रणाम करने लगे ॥६॥

सुबोधिनी—पूर्ववद्याख्येयम् । स्पर्शार्थमाह रम्भन्त इव बाहुभिरिति । रम्भणमालिङ्गनं परिरम्भ इति यावत् । अत्र बहुवचनं नानाविध-स्पर्शग्रहणार्थमवयवगतमभिप्रेतं चतुर्भुजत्वलक्षणं सारूप्यदानं वा बोधयति । एवं लौकिकभावेन भगवन्तमात्मसात्कृत्वा ततस्तृप्ताः सन्तः क्लेश-नाशे जानोदये विदितभगवदैश्वर्याः 'नमो नम इत्येतावत्सदुपशिक्षितम्' इति शास्त्रानुसारेण कर्तव्यान्तराभावात् स्नेहपूर्वकं नमस्कारं कृतवन्त इत्याह प्रणेमु रिति । प्रशब्देन स्नेहं बोधयति ।

नमो नम इति वीप्सया स एवाभिप्रेत इति । नन्वेतादृशी बुद्धिः कथमेतेषां संजाता, तादृशा एवेति न मन्तव्यं निरुद्धत्वादित्याशङ्क्याह हत-पाप्मान इति । दर्शनेन भोगस्मरणाम्यां च त्रिविधमपि पापं नष्टं ततः शुद्धाः सन्तः स्वस्य ज्ञानरूपमात्मानं परब्रह्मण्यक्षरे भगवच्चरणार-विन्दे योजयन्त इवान्तर्याम्यवतारभेदेनोभय-त्राप्यन्तर्बहिःसायुज्यार्थं पादयोः मूर्धभिरित्युक्तम् । नृपा इति विचक्षणाः । अनेनैव राज्यभोगार्था-भावः सूचितः ॥६॥

व्याख्यार्थ—जैसे नेत्रों से लावण्यामृत पान किया वैसे नासिकाओं से गन्ध का ग्रहण किया, भुजाओं से आलिङ्गन कर भगवान् के श्री अङ्ग के अवयव गत जो आनन्द है उसको अनेक प्रकार के स्पर्श करते हुए ग्रहण किया अथवा आलिङ्गन से सारूप्य दान का ग्रहण किया, यों लौकिक भाव से भगवान् के आत्मसात् से तृप्त हो गए अतः क्लेश नष्ट हो गया जिससे ज्ञान का उदय हुआ । उस ज्ञान से भगवान् के ऐश्वर्य को जान गए । जिससे 'नमो नम' यह इतना उपदेश सीख गए यों शास्त्र के अनुसार दूसरा कर्तव्य न होने से स्नेह पूर्वक नमस्कार करने लगे, 'प्रणयु' पद में 'प्र' शब्द स्नेह बोधक है 'नमो नम' यों वीप्सा से वह ही अभिप्रेत है, इनकी ऐसी बुद्धि कैसे हो गई ? वे ऐसे ही थे यों तो माना नहीं जा सकता है क्योंकि वे कैद में थे, इस शङ्का का निवारण करते हैं कि 'हतपाप्मान' भगवान् के दर्शन और भोग से तथा स्मरण से तीन प्रकार के सब पाप नष्ट हो गये, उससे शुद्ध हुवे अपने ज्ञान रूप आत्मा को परब्रह्म के अक्षर स्वरूप चरणारविन्द में मानो जोड़ते हुए, अन्तर्यामी और अवतार के भेद से दोनों में भी भीतर बाहर सायुज्य के लिए चरणों में मस्तकों से प्रणाम करने लगे । 'नृपाः' ! संबोधन से बताया कि विचक्षण थे, इससे राज्य भोग अर्थ का अभाव दिखाया है ॥६॥

आभास—ननु क्लेशाभावार्थं कथं न नमस्कृत इत्याशङ्क्याह कृष्णसंदर्शनाह्लाद-ध्वस्तसंरोधनक्लमाः इति

आभासार्थ—क्लेश के अभाव के लिए क्यों नमस्कार नहीं की ? इस शङ्का निवारण के लिए 'कृष्ण संदर्शनाह्लाद' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—कृष्णसंदर्शनाह्लादध्वस्तसंरोधनक्लमाः ।

प्रशशंसुर्हृषीकेशं गोभिः प्राञ्जलयो नृपाः ॥७॥

श्लोकार्थ—श्री कृष्णचन्द्र भगवान् के दर्शन से उत्पन्न आनन्द से जिनके कैद होने के क्लेश नष्ट हो गये हैं; ऐसे राजा लोग हाथ जोड़कर वचनों से स्तुति करने लगे ॥७॥

सुबोधिनी—सदानन्दस्यान्तःप्रवेशरूपेण दर्शनेन जातानन्देन सूर्योदये तम इव ध्वस्तः संरोधन-बलमः श्लानिर्येषां एवं सर्वभावेन सिद्धसमस्त-पुरुषार्थाः एतादृशस्थितिदाढ्यार्थं भगवत्प्रेरणायैव भगवत्संतोषार्थं भगवत्स्तोत्रं कृतवन्त इत्याह

प्रशशंसुरिति । भगवत्प्रेरिता वाक् यथासुखं तं स्तौति तेषां न कापि चिन्तेति बोधयति हृषीकेश-मिति । प्राञ्जलय इति चित्तशरीरसावधानता । नीतिज्ञानार्थमाह नृपा संबोधनपक्षेऽपि तथोचित-त्वं बोधयति ॥७॥

व्याख्यानार्थ—राजाओं को जो भगवान् का दर्शन हुआ वह केवल साधारण बाहर दर्शन नहीं हुआ था, किन्तु सदानन्द स्वरूप के भीतर प्रवेश होने से जो दर्शन हुआ उससे आनन्द प्रगट हुआ जिस आनन्द के प्रकट होने से जैसे सूर्योदय से अन्धकार नाश होता है वैसे राजाओं के कैद के क्लेश नष्ट हो गए, इस प्रकार सर्व भाव से समस्त पुरुषार्थ सिद्ध हो गए, इस प्रकार की स्थिति को दृढ़ करने के लिए, भगवत्प्रेरण से ही भगवान् के सन्तोषार्थ भगवान् की स्तुति करने लगे । इस लिए कहा है कि 'प्रशशंसु' : भगवान् से प्रेरित की हुई बाणी जैसे सुख की प्राप्ति हो वैसे भगवान् की स्तुति करती है, इसलिए उन राजाओं को कुछ भी चिन्ता नहीं, इसलिए समझाते हैं कि भगवान् इन्द्रियों के स्वामी हैं अतः उनकी प्रेरित इन्द्रियाँ उनके सुखानुकूल ही कार्य करेगी, 'प्राञ्जलय' : पद से यह बताया है कि हाथ जोड़ने से सावधान शरीर वाले हो गए, नृप कहने से बताया है कि इनको नीति का ज्ञान है यदि 'नृपा' संबोधन माना जाय तो भी जो किया है वह उचित ही है ॥७॥

कारिका—सगुणास्ते महात्मानो गुणातीतं हरिं मुदा ।

नवभिः श्लोकयामासुर्निर्गुणत्याय सर्वशः ॥

प्रार्थना मत्सराभावो गतराज्यानुमोदनम् ।

युक्तिस्तत्र स्वदोषोक्तिः स्वभाग्यस्याभिनन्दनम् ॥

वैराग्यमुपदेशस्य प्रार्थना स्वाधिकारिता ।

क्रमान्विरूपिता ह्यर्था यतस्तान् सुष्ट्वबोधयत् ॥

कारिकार्थ—वे राजा लोग सगुण हैं, अतः निर्गुण होने के लिए गुणातीत हरि की नव श्लोकों से स्तुति करते हैं ॥१॥

पहले श्लोक में-प्रार्थना, दूसरे श्लोक में मत्सर का अभाव, तीसरे में गए हुए राज्य का अनुमोदन, चौथे में युक्ति, पाँचवे में अपने दोष की प्रसिद्धि, छठे में अपने भाग्य का अभिनन्दन, सातवे में उपदेश की प्रार्थना, आठवे में अपना अधिकारपन दिखाना, नवम से भगवान् के उपदेश का प्रारम्भ, उपदेश द्वारा उनको सुन्दर ज्ञान दिया ।

आभास—आदौ प्रार्थयितुं नमस्यन्ति नमस्त इति ।

आभासार्थ—पहले प्रार्थना करने के लिए 'नमस्ते श्लोक में प्रणाम करते हैं—

श्लोक—राजान ऊचुः—नमस्ते देवदेवेश प्रपन्नातिहराव्यय ।

प्रपन्नान् पाहि नः कृष्ण निविण्णान् घोरसंसृतेः ॥८॥

श्लोकार्थ—राजाओं ने कहा, हे देवों के देवों के ईश! शरणागतों के दुःखों का हरण करने वाले हे अविकारी ! घोर संसार से व्याकुल होकर आपकी शरण ली है, अतः हे कृष्ण ! शरणागतों की रक्षा करो ॥८॥

मुबोधिनी—तुभ्यं नमः । प्राधितदानसामर्थ्यमाह देवदेवेश इति । देवानामपि देवाः कालादयस्तेषामपि नियन्तेति । विद्यमानेऽपि नामर्थ्यं परदुःखप्रहाणेच्छा मृग्यत इति तामाह प्रपन्नातिहरेति अनुभवसिद्धश्चायमर्थः । भक्तार्थं व्यावृत्तावपि भगवतो न काचित् क्षतिरित्याह

अव्ययेति । प्रपन्नानामेवाति हरतीति । तस्य स्वाभावमुक्त्वा स्वस्य प्रपत्तिमाहुः प्रपन्नान् पाहि नः कृष्णेति । रक्षणस्थानं निदिशन्त इवाहुः निविण्णान् घोरसंसृतेरिति । घोरत्वमर्तु भूतमेव । जन्ममरणपरंपरा संसृतिः ॥८॥

व्याख्यार्थ—आपको नमस्कार है आप देवों के देव जो कालादि हैं उनके भी स्वामी हैं अतः हमारी प्रार्थनानुकूल दान देने में समर्थ हैं, सामर्थ्य होने पर भी दूसरों के दुःखों के नाश की इच्छा है या नहीं ? इस पर कहते हैं कि शरणागतों की आर्ति को आप हरने वाले हैं, यह अर्थ अनुभव से सिद्ध है, भक्त के लिए कुछ भी करने में व्यावृत्त होने पर भी आप (भगवान्) की किसी प्रकार हानि नहीं है क्योंकि 'अव्यय' अर्थात् अविकारी हो, शरणागतों के दुःखों को हरण करना यह प्रभु का स्वभाव ही है यह कहकर अनन्तर कहते हैं कि हम शरण पड़े हैं अतः हम शरणागतों की रक्षा कीजिये, घोर जो जन्म मरण का दुःख है उससे हम व्याकुल हो गए हैं इस प्रकार इस प्रथम श्लोक में प्रार्थना की है ॥८॥

आभात—एवं पालनं प्रार्थयित्वा पूर्वं भगवता कृतं मोचनं लौकिकं चेत्फलत्वेन मन्यते तदा दुःखहानिवत्सुखमपि भगवान् लौकिकमेव दास्यतीति तन्निषेधार्थं दुःखदातरि मात्सर्याभावमाहुः नैनं नाथान्वसूयाम इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार पालन की प्रार्थना की, भगवान् ने जो आपको छुड़ाया यह लौकिक फल मानते हो तो दुःख नाश की तरह भगवान् सुख भी लौकिक ही देंगे, भगवान् यों कभी न करेंगे, क्योंकि उस दुःख दाता में असूया नहीं है यह 'नैनं नाथान्वसूयामो' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—नैनं नाथान्वसूयामो मगधं मधुसूदन ।

अनुग्रहो यद्भवतो राजां राज्यच्युतिविमो ॥९॥

श्लोकार्थ—हे नाथ ! है मधुसूदन ! हम मगध से असूया नहीं करते हैं, हे सर्व समर्थ ! राजाओं का राज्य से अष्ट होने को हम आपका अनुग्रह ही समझते हैं ॥९॥

सुबोधिनी—एनं हतं पातितं जरासन्धम् ।
ननु त्वदर्थमेवायं मारितः कथमेवमुच्यत इत्या-
शङ्कयामाह हे नाथेति । नाथत्वादेव कृतं न
त्वस्मत्प्रेरणयेत्यर्थः । असूया दोषारोपेण
दर्शनं निर्दुष्टानस्मान् दोषयुक्तानकरोदिति दुष्टोऽयं
मिति । किञ्च । मागधोऽयं देशदोषादस्याप्येवं
बुद्धिः । तव च नाथं पराक्रमः यतस्त्वं मधुसूदनः ।

असूयाभावे हेतुं स्पष्टयन्ति अनुग्रहो यद्भवत
इति । राज्ञां राज्यच्युतिः सन्निपातिनामिव सन्नि-
पातनिवृत्तिर्भवतोऽनुग्रहः । न ह्यनुग्रहसंपादकः
असूयाहो भवति । नन्विष्टसाधनं राज्यं तस्मिन्
गते कथमिष्टं भविष्यतीत्याशङ्कयामाहुः विभो
इति ॥६॥

व्याख्यार्थ—राज्य से गिराये तथा मारे हुए इस जरासन्ध से हम असूया नहीं करते हैं, आपके
लिए ही तो इसको हमने मारा है फिर आप यों कैसे कहते हो? इसका उत्तर देते हैं कि, हे नाथः
आप नाथ हैं, नाथ होने से ही किया है, न कि हमारी प्रेरणा से किया है, यह भाव है, यह जरासन्ध
दुष्ट है इसलिए हम लोग, जो दोष रहित हैं, उनको असूया से दोषी बनाया है, और विशेष यह है,
कि इसको ऐसी बुद्धि देश दोष से भी हुई है, इसको मारा, इससे कोई आपका पराक्रम प्रकट नहीं
होता है, क्योंकि आप तो मधुसूदन हैं, असूया के न होने में हेतु देकर स्पष्ट करते हैं 'अनुग्रहो यद्भवत'
राजाओं को राज्य से भ्रष्ट करना तो उन पर अनुग्रह है, जैसे सन्निपात के रोगियों को सन्निपात से
छुड़ाना उन पर अनुग्रह है । अनुग्रह करने वाला मात्सर्य के योग्य कभी नहीं होता है अर्थात् वह
मात्सर्य वाला नहीं कहा जाता है, वह तो कृपालु है जो उसने रोग से छुड़ाकर नीरोगा बनाया है, इष्ट
को सिद्ध करने वाला राज्य जावे तो फिर इष्ट की प्राप्ति कैसे होगी ? जिसके उत्तर में कहते हैं
कि आप 'विभू' है अर्थात् सर्व समर्थ हैं अतः राज्य विना सद्वा इष्ट सिद्ध करा सकते हैं ॥६॥

आभास—राज्यस्यानर्थहेतुत्वमाहुः राज्यैश्वर्येति ।

आभासार्थ—'राज्यैश्वर्य' श्लोक से कहते हैं । कि राज्य अनर्थ का हेतु है—

श्लोक—राज्यैश्वर्यमदो नद्धो न श्रेयो विन्दते नृपः ।

त्वन्मायामोहितो नित्या मन्यते संपदोऽचलाः ॥१०॥

श्लोकार्थ—राज्य के ऐश्वर्य से उत्पन्न मद से उन्मत्त बना हुआ राजा अपने
कल्याण को समझ नहीं सकता है और आपकी माया से मोहित होकर सम्पदाओं को
स्थिर एवं नित्य समझता है ॥१०॥

सुबोधिनी—राज्ये यदैश्वर्यं इश्वरोऽहं यथा-
सुखं करिष्यामीति यो मदः तेन उन्नद्धो मत्तः यत्
स्वस्य श्रेयो धर्मादिकं तन्न जानाति कदापि न
प्राप्नोति वा । न च तस्य कामदशा सेति धर्मा-
दिकं नास्त्येवेति मन्तव्यं यतो नृपः प्रजारक्षाधर्म-
वान्, तदपि न करोतीति तात्पर्यम् । नन्वर्थोऽपि
श्रेयो भवति तत् संपादनं करोतीति कथमेव-

मुच्यत इत्यत आहुः त्वन्मायामोहित इति ।
सत्यं संपदः श्रेयो भवति परं समूलाश्चेत् तासां
मूलं धर्मादिः तदभावे अमूलाः सत्यः क्षणान्निव-
र्तन्ते एतादृशीः संपदः भगवन्मायामोहितः नित्या
एव मन्यते अचलाश्च । अल्पनाशश्चलनं सर्वनाशो
ऽनित्यता तस्मान्मोहजनकत्वात् निर्मूलाः संपदः
न समीचीनाः ॥१०॥

व्याख्यान—राज्य प्राप्त होने पर जो ऐश्वर्य मिलता है जिससे समझने लगता है कि मैं ईश्वर हूँ, सब कुछ सुख पूर्वक करूँगा इस प्रकार का जो मद उससे मत्त हो जाता है जिससे अपना जो श्रेय प्रजारक्षा धर्मादिक उसको नहीं जान सकता है, अथवा कभी भी श्रेय को प्राप्त नहीं होता है, उसकी वह कामदशा नहीं है, किन्तु धर्मादिक उसमें नहीं है यों समझना चाहिए क्योंकि राजा का धर्म है प्रजा की रक्षा करना, वह भी अभिमान में आकर नहीं करता है, कहने का यही तात्पर्य है। अर्थ भी श्रेय होता है उसका सम्पादन करता है तो फिर इस प्रकार आप कैसे कहते हैं ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि आपकी माया से मोहित हो सत्य सम्पदाएँ जो श्रेय हैं यदि वे समूल हो जिसका मूल धर्मादि है उस धर्मादि के अभाव में वे श्रेय सम्पदाएँ निर्मूल होने से क्षण में नष्ट हो जाती है, ऐसी क्षणिक सम्पदाओं को भगवान् की माया से मोहित नित्य तथा स्थिर मानता हैं, अल्प नाश को चलन कहते हैं, सर्वनाश को अनित्यता कहते हैं इस कारण से मोह पैदा करने वाली सम्पदाएँ निर्मूल होने से अच्छी नहीं हैं ॥१०॥

आभास—किंच । संपदां सर्वथा दुष्टत्वं नास्ति किंतु निर्मूलानामेवेति निरूप्य सर्वथा दुष्टत्वं दृष्टान्तेनाहुः मृगतृष्णामिति ।

आभासार्थ—सम्पदाएँ सर्वथा दुष्ट नहीं हैं किन्तु जो निर्मूल सम्पदाएँ हैं वे दुष्ट हैं यों निरूपण कर अब संपदाओं की दुष्टता सर्वथा है यह दृष्टान्त देकर 'मृगतृष्णा' श्लोक में समझाते हैं—

श्लोक—मृगतृष्णां यथा बाला मन्यन्त उदकाशयम् ।

एवं वैकारिकीं मायामयुक्ता वस्तु चक्षते ॥११॥

श्लोकार्थ—यद्यपि ये सम्पदाएँ अनित्य हैं तो भी ये सदा स्थिर रहेगी यों वे मानते हैं जैसे बालक मृगतृष्णा के जल को जलाशय समझते हैं वैसे जो आपका भजन करते हैं वे विकार वाली माया को सत्य वस्तु समझते हैं ॥११॥

सुबोधिनी—दृष्टिमात्रेण संपदात्वं वस्तुतस्त्वर्थशून्यत्वादात्वमेव यथा मरुमरीचिकायां जलबुद्धिः । प्रत्युत ग्रीष्मे धावनं कारयन्ती अनर्थहेतुरेव । तथापि बाला विवेकशून्याः युक्त्या बाधितजलदेशेपि तां जलाशयमेव । मन्यते एवमयुक्ता-

स्त्वच्चरणारविन्दयोग रहिताः वैकारिकीं नाना विकाररूपां बाधितार्थमपि मायां वस्तु चक्षते । न ह्यात्मनि विकल्पो नानाविधत्वं वा भवति तथापि विकारजातं वस्तुत्वेन मन्यमानः मायामोहित एव भवति । ॥११॥

व्याख्यान—केवल देखने में तो सम्पदा आवे वास्तव में कोई पदार्थ उसमें नहीं जिससे आपदा ही प्राप्त होती है, जैसे मरुमरीचिका (बालु रेत) में जल की बुद्धि, जो ग्रीष्म ऋतु में उस तरफ दौड़ती है किन्तु अन्त में जल न मिलने से अनर्थ हेतु ही होती है, जैसे बालक अर्थात् मूर्ख, युक्ति से वह प्रदेश जल हीन है तो भी उसको बड़ा नद ही मानते हैं इस प्रकार जिनका आपके चरणारविन्द से योग नहीं हुआ अर्थात् जो आपका भजन नहीं करते हैं वे इस विकार वाली और जो कुछ पदार्थ है ही नहीं उसको पदार्थ समझते हैं, आत्मा में विकल्प वा नाना प्रकार नहीं होता है तो भी विकार जात की माया से मोहित हो वस्तुपन से मानते हैं ॥११॥

आभास—ननु भ्रान्तानामेव संपदोनर्थहेतव न युष्माकमित्याशङ्कयामाहुः वयं पुरेति ।

आभासार्थ—जो भ्रान्त हैं उनके लिए ही सम्पदाएं अनर्थ हेतु हैं न कि तुम्हारे लिए, इस शङ्का का उत्तर 'वयं पुरा' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—वयं पुरा श्रीमदनष्टबुद्धयो जिमीषयास्या इतरेतरस्पृधः ।

धनन्तः प्रजाः स्वा अतिनिर्धृणाः प्रभो मृत्युं पुरस्त्वावगणय्य दुर्मदाः ॥१२॥

श्लोकार्थ—हमारी भी पहले लक्ष्मी के मद से बुद्धि नष्ट हो गई थी, जिससे हम इस पृथ्वी को जीतने की इच्छा से आपस में ईर्ष्या करते थे, हे प्रभु ! हम दुर्मद हो, सामने स्थित मृत्यु को ध्यान में न लाकर अति निर्दयी बन अपनी प्रजाओं का हनन करते थे ॥१२॥

सुबोधिनी—श्रीमदेन नष्टा बुद्धिर्येषां वयं तु सुतरामेव पुरैव नष्टाः । यतः प्रस्याः पृथिव्याः जिमीषया इतरेतरस्पृधो जाताः । स्पर्धा ह्यात्मनो मुख्यो नाशहेतुः । न केवलं समानशीलेषु स्पर्धैव दोषः किंतु तदीयाः प्रजाः अतिनिर्धृणाः सन्तः जाताः । स्वा अपि प्रजा वृथादण्डादिभिः । प्रभो इति संबोधनं तेषामप्रभुत्वं सूचयति । ननु राज्य-

दानसमय एव भगवताः राज्यस्थिताः सर्व एव तेभ्यो दत्ता इति स्वकीया यथा सुखं कुर्वन्तु को दोष इति चेत् तत्राहुः त्वां मृत्युं पुरः स्थितमवगणयेति । स हि मृत्युर्भगवान् किमयं करिष्यतीत्यग्रे निलीयतिष्ठति अन्यथाकृते मारयिष्यतीति ज्ञात्वपि तमवगणय्य स्थिताः । एवं मतिविभ्रमे हेतुः दुर्मदा इति ॥१२॥

व्याख्यानार्थ—लक्ष्मी के मद से जिनकी बुद्धि नष्ट हो गई है, हम तो पहले ही इसलिए ही नष्ट हो चुके थे, क्योंकि इस पृथ्वी को जीतने की इच्छा से परस्पर ईर्ष्या वाले हो गए थे । ईर्ष्या ही अपने नाश का मुख्य कारण है, समान शील वालों में ही केवल स्पर्धा हो यह दोष नहीं था, किन्तु अपनी जो प्रजाएं थी उनको भी अति निर्दयी हो व्यर्थ दण्ड आदिकों से दुःख देते थे, प्रभो ! इस सम्बोधन से अपना अ प्रभुत्व सूचित करते हैं, भगवान् ने राज्य देने के समय ही राज्य में स्थित सर्व द्रव्यादि इनको दे दिया क्योंकि अपने हैं अतः जैसे सुख मिले वैसे भले करें इसमें कौनसा दोष है ? यदि यों कहो तो कहते हैं कि आप जो मृत्यु रूप सामने खड़े हो उसका भी तिरस्कार कर रहे हैं यह भगवान् मृत्यु है किन्तु क्या करेगा ? छुप कर रहता है अन्यथा करने पर मारेंगे यह जान कर भी उसका तिरस्कार करते रहते हैं क्योंकि मति का विभ्रम हो गया है जिसमें कारण है कि 'दुर्मदा' दुष्ट जो मद उससे हम युक्त हैं अर्थात् हम मद में आ गए हैं ॥१२॥

आभास—तहि भगवान् किमुपेक्षां कृतवान् मारितवान् वेत्याशङ्कयामाहुः त एवेति ।

आभासार्थ—तो भगवान् ने क्या उपेक्षा की अथवा मारा ? इस शङ्का का उत्तर 'त एव' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—त एव कृष्णाद्य गभीररंहसा दुरन्तवीर्येण विचालिताः श्रियः ।

कालेन तन्वा भवतोऽनुकम्पया विनष्टदर्पाश्चरणौ स्मराम ते ॥१३॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! वे ही हम आज आपकी कृपा से, गंभीर वेग वाले, आपके शरीर रूप, अपार बल वाले काल ने लक्ष्मी छीनली जिससे गर्वहीन हो आपके चरणों का स्मरण करते हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—कृष्णेति स्नेहात् संवादेन जात-
धाष्ट्र्यान्तां संबोधनम् । अद्येति नैतत्परोक्षम् ।
किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह गभीररंहसा
गभीररयेण कालेन श्रियः सकाशाद्विचालिता ।
कालस्य सामर्थ्ये तत्र द्वेषाभावे च हेतुः भवतस्त-
न्वेति । काल दञ्चयितुं देवान्तरगमनं वारयति
गभीररंहसेति । प्रतीकारं वारयति दुरन्तवीर्ये-
णेति । ननु मम तत्त्वेति कथं निश्चितं तत्राहुः

यतो राज्य भ्रंशानन्तरं भवतोऽनुकम्पया विनष्ट-
दर्पाः । गतदोषाः सन्तः चरणौ स्मराम ते ।
महान्तं गुणं प्राप्ता यदि भगवानेव तथा न कुर्या-
त्तदा राज्यभ्रंशे सुतरामेव सद्बुद्धिर्न स्यात्
भगवांस्त्वत्कृपालुः अनर्थात्याजयित्वा परमार्थं
योजितं वानिति कार्यानुरोधात् कालस्य तव
शरीरत्वमध्यवसीयते ॥१३॥

व्याख्यानार्थ—कृष्ण! यह संबोधन राजाओं ने तब दिया है जब उनमें स्नेह से भगवान् से संवाद करते हुए धृष्टता उत्पन्न हो गई । 'अद्य' पद से यह बताया कि यह परोक्ष नहीं किन्तु सामने ही है अर्थात् आज क्या हुआ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि गभीर वेग वाले काल से हम लक्ष्मी से दूर हो गए, काल में इतनी सामर्थ्य कहाँ से आई? द्वेष के भी अभाव में हेतु देते हैं 'भवतः तन्वा' आप का ही शरीर है, अतः आपके शरीर में दूसरे से तो सामर्थ्य आने की नहीं है, स्वयं शक्तिमय हैं, और आप होने से द्वेष का भी अभाव स्वतः सिद्ध है, काल को ठगने के लिए दूसरे देश में चला जाना था जिसके उत्तर में कहते हैं 'गभीर रहसा' वह काल जवदंस्त वेग वाला है वहाँ भी पहुंच जाने में जिसको देरी नहीं लगती है, यों नहीं कर सकते तो प्रतीकार करना था, जिसका उत्तर देते हैं कि उसमें इतना वीर्य है जिसका अन्त लेना कठिन है, काल मेरा शरीर है यह कैसे जाना, तो कहते हैं कि आप की कृपा से अभिमान नष्ट हो गया, अभिमान नाश होने से सब दोष निकल गए, जिससे आपके चरणों का स्मरण करता हूँ, अतः महान् गुण को प्राप्त हुए यदि भगवान् ही वैसा न करे तो राज्य भ्रंश होने पर भी आपही सद्बुद्धि नहीं आती है भगवान् ने तो, बहुत कृपालु होने से, अनर्थ से छुड़ा कर परमार्थ में लगा दिया, यों कार्य के अनुरोध से 'काल' आपका शरीर समझा जाता है ॥१३॥

आभास—ननु दोषसहितानामेव राज्यमनर्थहेतुः यथा ज्वरसहितानामन्नम् । अतः
सांप्रतं दोषस्य निवृत्तत्वात् राज्यं ग्रह्णन्वित्याशङ्क्यामाहुः अथो न राज्यं मृ तृष्णि-
हपितमिति ।

आभासार्थ—दोष वालों के लिए ही राज्य अनर्थ का हेतु है जैसे ज्वर वालों को अन्न अनर्थ का हेतु है, अतः अब दोष निवृत्त हो गए हैं राज्य ग्रहण करे, इसके उत्तर में कहते हैं कि 'अथो न राज्य'—

श्लोक—अथो न राज्यं मृगतृष्णिरूपितं देहेन शश्वत्पतता रुचां भुवा ।

उपासितव्यं स्पृहयामहे विभो क्रियाफलं प्रेत्य च कर्णरोचकम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—रोग के गृह और निरन्तर नाश होने वाली देह से मृगतृष्णा समान राज्य को भोगना हम नहीं चाहते हैं, केवल इतना ही नहीं किन्तु परलोक में कर्णप्रिय फल वाले स्वर्ग को भी नहीं चाहते हैं ।

सुबोधिनी—अनेन इहामुत्र दोषप्रदर्शनपूर्वकं वैराग्यं निरूप्यते । अथो दोषगमनान्तरं राज्यं न स्पृहयामहे । राज्यस्य स्वरूपतो दोषमाह मृगतृष्णिरूपितमिति । अर्थशून्यमिति यावत् । अस्य करणं त्वत्तिदुष्टमित्याह देहेनोपासितव्यमिति । न हि राज्यमात्मना सेव्यं किंतु देहेनैव देहस्तु विद्यमानदशायाम् । अग्रे च दुष्टमिति दोषद्वयमाह शश्वत्पतता सर्वदा मृत्युग्रस्तेन रुचां भुवा रोगोत्पत्तिस्थानेन अतः स्वतः परिकरतश्च दुष्टत्वात्

वयं न स्पृहयामहे । एवमैहिकफले दोष उक्तः । पारलौकिकेप्याह क्रियाफलं च प्रेत्य न स्पृहयामाह इति । क्रिया यागादिस्तस्य फलं स्वर्गादिः तदपि प्रेत्यैव मृत्युवैव प्राप्तव्यं लोका जातिभ्रंशप्राप्यमपि न मन्यन्ते कथं मृत्युप्राप्यं बुधो मन्यते । तत्रापि कर्णमात्ररोचकं दूरात् समीचीनमिति श्रूयते न तु समीचीनं स्पर्धासूयाभयादीनां तत्रैवाधिक्यात् ॥१४॥

व्याख्यानार्थ—इससे इस लोक और परलोक में दोष दिखाकर उनसे अपना वैराग्य निरूपण करते हैं, 'अथो' का अर्थ है दोषों के जाने के अनन्तर अर्थात् हमारे दोष नष्ट हो गए हैं तो भी, हम राज्य को नहीं चाहते हैं, राज्य के स्वरूप से दोष बताते हैं, मृगतृष्णा के समान अर्थ, शून्य है फिर इसका साधन, अर्थात् जिस देह से राज्य भोग किया जायगा वह देह भी बहुत दोषों वाली है, राज्य आत्मा से भोगा नहीं जाता है देह से ही भोगा जाता है, देह तो वर्तमान (मौजूद) दशा में सदा नहीं रहती है, आगे दोष युक्त हो जाती है, जैसे कि सर्वदा मृत्यु से ग्रस्त है और रोगों की उत्पत्ति का क्षेत्र है, अतः स्वयं और परिकर दोनों से राज्य दुष्ट होने से हम अब नहीं चाहते हैं, इस प्रकार इस लोक के फल में दोष बताया, अब परलोक में भी दोष कहते हैं, यज्ञ आदि क्रियाओं के फलस्वरूप स्वर्ग आदि जो मरने के अनन्तर मिलता है वह भी नहीं चाहिए, क्योंकि लोक जाति भ्रंश होने से जो मिलता है वह भी लेना नहीं मानते हैं तो मृत्यु से प्राप्य समझदार लेना कैसे पसंद करेगा ? फिर उसमें भी वहां का सुख केवल कर्ण प्रिय है, दूर से ही अच्छा लगता है, वास्तव में अच्छा नहीं है क्योंकि वहां स्पर्धा, असूया और भय यहां से विशेष है ॥१४॥

. आभास—एवमैहिकामुष्मिकफलवैराग्यं निरूप्य ज्ञानोपदेशे स्वयमधिकारी इति ज्ञापयित्वा प्रार्थयन्ते तन्नः समादिशोपायमिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार इस लोक और परलोक से अपना वंराग्य निरूपण कर दिखाया कि हम अब ज्ञानोपदेश के अधिकारी हैं इसलिए 'तन्नः समादिशोपायं' श्लोक से प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—तन्नः समादिशोपायं येन ते चरणाब्जयोः ।

मतिर्यथा न विरमेदपि संसरतामिह ॥१५॥

श्लोकार्थ— इस संसार में भ्रमण करने वाले हमको ऐसा उपाय बतलाईए कि जिससे हम आपके चरणारन्धि को भूल न जावें ॥१५॥

सुबोधिनी— चरणस्मरणेनैवैतावद्दूरे समागतमिति निरन्तरस्मरणहेतुमेव प्रार्थयन्ते, उपायश्चेत् ज्ञायते तदैव साध्यं स्वाधीनं भवत्यतो यथा येनोपायेन ते चरणाब्जविषयिका मतिर्न विरमेत् । स्वतो मतिस्थापनमशक्यमिति वक्तुं तद्विधातकं

निदिशति अपि संसरतामिह इति । संवृतिरेव जननमरणरूपा भगवच्चरणविस्मारिका । तर्हि तदभाव एव प्रार्थनीयः स्यात् कथं स्मरणोपाय-प्रार्थना तत्राहुः अपीति । संसरणं त्वभीष्टं भगवदीयमार्गोपयोगित्वादिति भावः ॥१५॥

व्याख्यार्थ— चरणों के स्मरण करने से ही इतने दूर पहुँच गए हैं, इसलिए सदैव स्मरण रहे जिसके वास्ते प्रार्थना करते हैं, यदि उपाय का ज्ञान हो जाय तब ही साध्य अपने आधीन होता है, अतः जैसे जिस उपाय से आपके चरण कमल के विषय वाली मति हो जावे वहाँ से कभी भी विराम न पावे वह उपाय कृपया कहिये, स्वयं स्वतः आपके चरणों में मति स्थापित करनी अशक्य है, क्योंकि हम जन्म मरण रूप संसार चक्र में भ्रमण कर रहे हैं, वह भ्रमण भगवान् के चरणों को विस्मरण कराने वाला है, वह ही विधातक है, यदि यों है तो उसके अभाव की प्रार्थना कीजिए, स्मरण के उपाय की प्रार्थना क्यों करते हो, "अपि" शब्द से इसका उत्तर दिया है कि यह संसार तो अभीष्ट है क्योंकि भगवद्भक्तों के मार्ग के लिए उपयोगी है यों भाव है अतः चरण स्मरण रहे उसका उपाय ही हम चाहते हैं वह बताईए ॥१५॥

आभास— एवं प्रार्थयित्वा भगवतः षड्गुणख्यपकानि नामान्यनूद्य नमस्यन्ति कृष्णायेति ।

आभासार्थ— इस प्रकार प्रार्थना कर भगवान् के छ गुणों के प्रसिद्ध करने वाले नाम कहकर नमन करते हैं 'कृष्णाय' श्लोक से ।

श्लोक—कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने ।

प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ॥१६॥

श्लोकार्थ— कृष्ण, वासुदेव, हरि, परमात्मा, प्रणत लोगों के क्लेश मिटाने वाले गोविन्द भगवान् आपको हम नमस्कार करते हैं ॥१६॥

सुबोधिनी— सदात्मकत्वात्कालरूपत्वाद्वा वैराग्यहेतुः । वासुदेवो ज्ञानहेतुः, शुद्धसत्त्वं वसुदेव इति । हरिः श्रीहेतुः बाह्यं दुःखं श्रियैव गच्छतीति । परमात्मा यशोहेतुः, सर्वोत्कर्ष एव यशः ।

कारणम् प्रणतानां क्लेशनाशो हेतुः दीर्यकार्यम्, गोविन्द इन्द्रत्वादीश्वरः, आदरे वीप्सा । आदरेण नमनं सर्वकार्यसाधकमिति सूचितम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ— श्रीकृष्ण सदात्मकपन से अथवा कालरूप पन से वैराग्य के हेतु हैं, 'वासुदेव' होने से ज्ञान के कारण है क्योंकि वसुदेव शुद्ध सत्त्व है अतः सत्त्व से उत्पन्न वासुदेव ज्ञान के कारण है, 'हरि' होने से श्री के कारण हैं क्योंकि बाहर का दुःख श्री से ही नाश होता है, 'परमात्मा' होने से यश के कारण है क्योंकि सर्वोत्कर्ष ही यश का कारण है, परमात्मा के अतिरिक्त कोई वस्तु सर्वोत्कर्ष वाली नहीं है, शरणागतों के क्लेशनाश के कारण है यह काय वीर्य गुण का है, गोविन्द नाम से इन्द्र का सत्त्वन कर ऐश्वर्य गुण दिखाया है, यह आदर में वीप्सा, है आदर से नमन करने से सर्व कार्यों की सिद्धि होती है क्योंकि आदर से प्रणाम करना सर्व कार्यों की सिद्धि का कारण है यो सूचित किया है ॥१६॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह संस्तूयमानो भगवानिति ।

आभासार्थ— पश्चात् जो कुछ हुआ उसका वर्णन शुकदेवजी 'संस्तूयमानो' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच —संस्तूयमानो भगवान् राजभिर्मुक्तबन्धनैः ।

तानाह करुणस्तात शरण्यः श्लक्षण्या गिरा ॥१७॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि बन्धन से मुक्त हुए राजाओं ने इस प्रकार जब स्तुति की, तब दयालु और शरणागत वत्सल भगवान् मधुर वाणी से हे तात ! संबोधन देकर कहने लगे ॥१७॥

सुबोधिनी—महान् स्तुतिप्रियो भवत्येव । अत उक्तं भगवानिति । महद्भिः स्तुतस्तुष्यतीति जापयितुं राजभिरिति । मोचनेन गतार्थतां वारयति मुक्तबन्धनैरिति सकृत्प्राप्तफलैर्वा । धाष्ट्र्यं क्रोधमकृत्वा वरदाने हेतुः करुण इति । तातेति

परीक्षित्संबोधनमप्रतारणाय । शरण्य इति स तस्य सहजो धर्म इति । श्लक्षणा वाणी श्रवणमात्रेण सुखदात्रीति । शब्दोऽपि पञ्चमो विषयो निरूपितः ॥१७॥

व्याख्यार्थ— जो महान् होता है वह स्तुति प्रिय होता ही है इसलिए कहा 'भगवान्' अर्थात् पङ्गुण सम्पन्न होने से महान् है फिर 'राजभिः' पद से दिखाया है कि स्तुति करने वाले भी राजा होने से महान् है अतः महान् पुरुषों से स्तुत होने से आप प्रसन्न होते हैं, बन्धन से छूटने का आशय है कि एक ही कार्य से फल की प्राप्ति हो गई है । राजाओं ने घृष्टता की है, तो भी, क्रोध न कर वरदान दिया, जिसका कारण यह है, कि आप दयानु है 'तात' यह संबोधन देकर बताया है कि

हम आपको ठगते नहीं, सत्य भाव कहते हैं 'शरण्य' पद से दिखाया है कि आप में शरणागतों पर दया कर उनकी रक्षा करने का सहज गुण है, सुन्दर मधुर वाणी सुनते ही आनन्द देनेवाली है 'शब्द' भी पाँचवाँ विषय निरूपण किया है (पिबन्ते इव चक्षुर्भ्यां श्लोक में 'रूप', 'रस', 'गन्ध' और 'स्पर्श' ये चार कहे हैं यहां 'शब्द' पाँचवाँ विषय भी कह दिया है) ।

कारिका—जिज्ञासार्तो तदधिकारे द्वयमस्तीति वै हरिः ।

सात्त्विकेभ्यो मुख्यशास्त्रं सगुणं प्राह योग्यतः ॥

स्वकीयान् षड्गुणान्प्राह षड्भिः सर्वत्र दुर्लभान् ।

भक्तिदानं बुद्धिशंसा राज्यदोषः कृपाकृतिः ॥

ऋणत्रयं निराकृत्य तत्र चिन्ता विरागता ।

एवं म्धमैर्हरिप्राप्तिरिति वाक्यार्थसङ्ग्रहः ॥

कारिकार्थ—भगवान् ने राजाओं में 'जिज्ञासा' और आर्ति, ये दो धर्म उनमें उपदेश योग्य अधिकार के देखे, अतः उन सात्त्विकों को सगुण मुख्यशास्त्र सुनाने लगे, आपके छ गुण जो सर्वत्र दुर्लभ हैं उनको निम्न प्रकार क्रम से कहा १-भक्ति का दान २-बुद्धि की प्रशंसा ३-राज्य का दोष ४-उन पर कृपा की ५-तीन ऋणों से मुक्ति ६-वैराग्य ये छ गुण छ श्लोकों से कहे हैं जिनसे भक्त को भगवान् की प्राप्ति होती है ।

आभास—जरासंधवधेन तेषां शरीराणि मोचयित्वा स्तुत्या तुष्ट आत्मनो मोचयति अद्यप्रभृतीति षड्भिः ।

आभासार्थ—जरासन्ध के वध से इन राजाओं के शरीरों को बन्धन से छुड़ाया, अब स्तुति से प्रसन्न होकर इनके आत्माओं को संसार रूप कैद से छुड़ाने के लिए भगवान् 'अद्य प्रभृति' श्लोक से ६ श्लोकों में राजाओं को उपदेश देते हैं ।

श्लोक—श्री भगवानुवाच—अद्यप्रभृति वो भूपा मय्यात्मन्यखिलेश्वरे ।

सुहृदा जायतां भक्तिर्बाढिमाशंसितं तथा ॥१८॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे भूपतिओं ! सब का ईश्वर और आत्मा जो मैं हूँ, उसमें जैसी भक्ति तुम चाहते हो वैसी ही आज से लेकर दृढ भक्ति होवे ॥१८॥

सुबोधिनी—आदौ तैर्यत्प्रार्थितं स्मृतिविच्छेदो मयि सुहृदा भक्तिर्जायतामिति । अत्यन्तस्नेह एव मा भवत्विति तत्रोत्तरमाह अद्यप्रभृति यो युष्माक नित्यं स्मरणमिति सिद्धान्तः प्रयोजनसाधकत्वं

त्वौपाधिकं संस्मरणहेतुः, तदप्याह मयि आत्मनि | यथेष्टं इदं यथावदाशंसितमेव दत्तं न त्वपूर्वम्
अखिलेश्वर इति । अन्तर्बहिरावश्यकसेव्य इति । ॥१८॥
भूपा इति संबोधनं तारतम्यज्ञानार्थम् । बाह्यं

व्याख्यार्थ— पहले जो इन राजाओं ने मांगा था कि आपका स्मरण सदा बना रहे कभी भी आपको भूल न जाए, इसका उत्तर कहते हैं, आज से लेकर तुम्हारी मुक्त मे सुदृढ़ भक्ति होवे नित्य स्मरण ही अत्यन्त स्नेह है यह सिद्धान्त है, प्रयोजन की सिद्धि के लिए स्मरण तो औपाधिक है, वह भी कहते हैं । मैं जो सबकी आत्मा और सब का ईश्वर हूं वह मैं अन्दर और बाहर अवश्य ही सर्वदा सेवा के योग्य हूं, 'भूपा' यह संबोधन, तारतम्य के ज्ञान के लिये है, जो आपको इष्ट है और जो आपने चाहा है वह ही दिया है न कि अपूर्व दिया है ॥१८॥

आभास—तहि आशंसायां दोषो भविष्यतीत्याशङ्क्य साध्वाशंसितमित्वाह दिष्ट्या व्यवसितं भूपा इति ।

आभासाथं— तो प्रार्थना में दोष होगा ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि नहीं प्रार्थना तो अच्छी की है यह 'दिष्ट्या' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—दिष्ट्या व्यवसितं भूपा भवन्त ऋतभाषिणः ।

श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं पश्य उन्मादकं नृणाम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे भूपतिओं ! तुम्हारा उद्यम श्रेष्ठ है, आप सत्य बोलने वाले हैं, श्री के साथ जो ऐश्वर्य है उससे मनुष्यों में उत्पन्न सर्वदा मद की जो स्थिति है उसको देखने से मालूम होता है कि मद की स्थिति भ्रम को जगाती है ॥१९॥

सुबोधिनी—एतादृशो व्यवसायो न साधारणानां | श्रियैश्वर्यमदोन्नाहं नृणामुन्मादकमेव पश्ये ।
भवति । निरन्तरस्मरणोपायप्रार्थनाविषयः । किंच । श्री सहितं यदैश्वर्यं तेन यो मदोन्नाहः मदबन्धनं
भवन्त ऋतभाषिणः राज्यस्यानर्थहेतुत्वभाषणं सर्वदा मदस्थितिः तत् नृणामुन्मादकं भ्रान्ति
भवतामन्तःकरणपूर्वकं सत्यमेव यतः अहमपि जनयतीत्यर्थः । अत्र प्रमाणमहं पश्य इति ॥१९॥

व्याख्यार्थ— ऐसा व्यवसाय साधारण पुरुषों को नहीं होता है निरन्तर स्मरण होता रहे जिसके उपाय बताने के लिए प्रार्थना है, तुम, सत्य बोलने वाले हो यों कैसे कहते हो, तो उसका उत्तर देते हैं कि राज्य अनर्थकारो है, यों हमारे सामने तुम अभी कह चुके हो, अतः तुम्हारा अन्तःकरण सत्य ही है क्योंकि मैं भी मनुष्यों को लक्ष्मी के मद से भ्रमित और अभिमानी देख रहा हूं जिस मद की अधिकता से भ्रान्ति होनी है, मेरा इस प्रकार देखना ही इसमें प्रमाण है ॥१९॥

आभास—अत एव बहवो मया तस्माद्मदात्त्याजिता इत्याह हैहय इति ।

आभासार्थ—मैंने उस मद से बहुतों को छुड़ाया है 'हैहय' श्लोक में वह बताते हैं—

श्लोक—हैहयो नहुषो वेनो रावणो नरकोऽपरे ।

श्रीमदाद्भ्रंशिताः स्थानाद्देवदैत्यनरेश्वराः ॥२०॥

श्लोकार्थ—सहस्रार्जुन, नहुष, वेन, रावण, नरकासुर, और दूसरे भी देव, दैत्य तथा राजा लोग 'श्री' के मद होने से अपने स्थान से गिरे हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—यद्यद्यैव एव एव त्याजिताः स्युः तदा अविवेकदशायां मात्सर्यमपि भवेत् पूर्वमप्येवंभावे तु 'न दुःखं पञ्चभिः सह' इति वन्न दोषः संभवति सुतरां ते चेन्महान्तः अतस्तेषां महत्त्वसिद्धयर्थं नामानि गृह्णाति । हैहयः सहस्रार्जुनः । नहुषः ययातिपिता । परशुरामेण इन्द्राण्या च

भ्रंशितौ । वेनो ब्राह्मणः । रावणो रामेण । नरको मयैव । अपरे चैवंभूताः हिरण्यकशिपुप्रभृतयः शतशः सन्ति श्रीमदात् स्थानाच्च च्याविता-राज्यं शरीरं च दूरी कृतमिति । देवा नहुषादयः दैत्या हिरण्यकशिपुप्रभृतयः नरेश्वरा अर्जुनादयश्चेति त्रिगुणा अपि स्थानभ्रष्टाः क्रियन्ते ॥२०॥

व्याख्यानार्थ—यदि आज ही केवल ये ही गिराए जावें तो अविवेक दशा में इनको मात्सर्य भी हो जाय, किन्तु आगे भी यों हुवा है, अतः 'न दुःखं पञ्चभिः सह' इस उक्ति के अनुसार बहुतों से जो कुछ दुःख हुवा है यदि वैसा अपने को भी हो जाय तो उसमें दोष नहीं है, यदि वे बहुत कर महान् पुरुष होवे तो, इसलिए उनके नाम कहते हैं ।

१- सहस्रार्जुन, नहुष इनको परशुराम और इन्द्राणी ने गिराया है । वेन को ब्राह्मणों ने गिराया, रावण को रामने गिराया है, नरकासुर को मैंने गिराया है और दूसरे भी ऐसे लक्ष्मीमदान्ध हिरण्यकशिपु प्रभृति सैकड़ों 'श्री' मद के कारण स्थान से गिरे, राज्य और शरीर दोनों गए, नहुष आदि देव थे हिरण्यकशिपु आदि और अर्जुन आदि नरेश्वर भी गिरे, तीन गुण वाले स्थान भी भ्रष्ट किए जाते हैं ॥२०॥

आभास—अतो मदे सति स्थानभ्रंशो भविष्यतीति निश्चित्य मदं परित्यज्य मदुक्तं कुरुतेत्याह भवन्त इति ।

आभासार्थ—अतः मद होने पर स्थान भ्रष्ट होगा यह मन में निश्चय से समझ कर मद का त्याग कर मेरा कहा करो, यह 'भवन्त' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—भवन्त एतद्विज्ञाय देहाद्युत्पाद्यमन्तवत् ।

मां यजन्तोऽध्वरैर्युक्ताः प्रजा धर्मेण रक्षथ ॥२१॥

श्लोकार्थ—ऊपर दिए हुए दृष्टान्तों से तुम समझ लो कि देह, राज्य आदि सब अन्त वाले हैं अतः यज्ञ आदि से मेरा यजन करो तथा धर्म से प्रजा की रक्षा करो ॥२१॥

सुबोधिनी—एतत् पूर्वोक्तं भ्रंशरूपमनुभव-
युक्तिभ्यां विशेषतो ज्ञात्वा । देहादी वैराग्यं
कर्तव्यमिति वदन् प्रथमं देहदोषमाह देहादि देह-
राज्यादिकम् । उत्पाद्यं केनचिदुत्पाद्यते न तु
नित्यं सहजम् । अत एव अन्तवत् नश्वरं एतत्

ज्ञात्वा देहरक्षायां शिथिलप्रयत्नाः सन्तः तेन स्वतः
एव दैववशात् विद्यमानेनाध्वर्युर्गैर्मां यजन्तः
धर्मेण प्रजा रक्षथ । राज्ञः प्रजापालनं यज्ञाश्च
धर्माः ॥२१॥

व्याख्यार्थ— यह पहले कहा हुआ राजाओं के गिरने का कारण अनुभव और युक्ति से
विशेष जानकर देह आदि में वैराग्य करना चाहिए, यों कहते हुए प्रथम देह दोष कहते हैं, देह राज्य
आदि यह सब किसी प्रकार से भी पैदा होते हैं, अतः ये नित्य स्वभाव सिद्ध नहीं हैं, इसलिए इनको
अन्तवाला अर्थात् नाशवाला समझकर देह (राज्य) की रक्षा में स्वल्प प्रयत्न करो स्वतः ही दैव
वश से जो विद्यमान हो उससे यज्ञ द्वारा मेरा पूजन करो और धर्म से प्रजा की रक्षा करो, प्रजा
की रक्षा करना और यज्ञ करना राजा के धर्म हैं ॥२१॥

आभास—साधारणं धर्ममाह वितन्वन्तेः प्रजातन्तूनि ।

आभासार्थ— 'वितन्वन्तः प्रजातन्तून्' श्लोक में साधारण धर्म कहते हैं ।

श्लोक—वितन्वन्तः प्रजातन्तून् सुखं दुःखं भवाभवौ ।

प्राप्तं प्राप्तं च सेवन्तो मञ्जिता विचरिष्यथ ॥

श्लोकार्थ—पुत्र आदि सन्तति उत्पन्न करते हुए और सुख दुःख लाभ और अलाभ
जो आ जाय, उसका सेवन करते हुए मुझमें चित्त लगाकर विचरते रहो ॥२२॥

सुबोधिनी—गृहस्थस्यैवैष धर्मः सर्वत्रैव पुरु-
सार्थसिद्धिरिति वक्तुं नाश्रमान्तरमुपदिशति
प्रजातन्तून् सन्ततिपरंपराम्, वितन्वन्तः विशेषेण
संपादयन्तः, तदनन्तरं सुखं दुःखं भव उद्भवः,
अभवो हानिः । एतच्चतुष्टयं साध्यसाधनरूपं दैवव-
शात् प्राप्तं प्राप्तं सकृत् क्लेशं प्राप्य निवृत्तो रोगे

पुनरागते पूर्वानुभूतदुःखभयात्तन्निराकरणार्थं
यत्नो न कर्तव्य इति सूचयितुं वीप्सा । चकारा-
दन्यान्यपि सुखदुःखसाधनानि प्राप्तानि । सहने
साधनं मञ्जिता इति कृष्णोऽस्ति मम, किमनेन
समीचीनेनासमीचीनेन वेति निश्चित्य यथाप्राप्ता-
र्थानुभवः कर्तव्य इत्यर्थः ॥२२॥

व्याख्यार्थ— सर्वत्र ही पुरुषार्थ सिद्ध करना यह गृहस्थ का ही धर्म है, यों कहने के लिए
दूसरे आश्रमों का उपदेश नहीं करते हैं, अतः कहते हैं कि पुत्रादि सन्तति का विस्तार करते हुए,
सुख, दुःख, लाभ और हानि ये चार साध्य और साधन रूप प्रारब्ध वश प्राप्त होवे तो उससे प्राप्त
क्लेश का एक बार अनुभव कर लेना चाहिए । रोग निवृत्त हो जाकर पुनः आजावे तो पहले
अनुभव किए हुए दुःख के भय से उसके निराकरणार्थ यत्न नहीं करना चाहिए, ऐसी शिक्षा देने के
लिए दो बार 'प्राप्तं प्राप्तं' कहा है, 'च' पद से यह सूचित किया है कि दुःख के मिटाने के अन्य
साधन प्राप्त भी हो एवं सुख प्राप्त्यर्थ दूसरे साधन होवें तो भी उनका उपयोग नहीं करना चाहिए,
दुःखादि के सहन में उनका साधन यही है कि उनका चित्त मुझमें है, वे यो हो रटते हैं कि जो कुछ

है वह मेरे तो कृष्ण ही हैं, (अणक्ये वा सुशक्ये सा सर्वथा शरणं हरिः) इस अच्छे सुख अथवा बुरे दुःख से क्या ? यों निश्चय कर जैसा भी अर्थ प्राप्त हो उसका अनुभव करते रहना चाहिए यों तात्पर्य है ॥२२॥

आभास—एवं कृते यद्भविष्यति फलं तत्साधनसहितं निर्दिशति उदासीना इति ।

आभासार्थ—यो करने से जो फल होगा वह साधन सहित 'उदासीना' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—उदासीनाश्च देहादावात्मारामा धृतव्रताः ।

मय्यावेश्य मनः सम्यङ् मामन्ते ब्रह्म यास्यथ ॥२३॥

श्लोकार्थ—जो तुम देह आदि सब पदार्थों से उदासीन एवं आत्माराम होकर नियम पूर्वक रहोगे और मुझमें मन अच्छी तरह लगाओगे तो अन्त में परब्रह्म रूप मुझको प्राप्त करोगे ॥२३॥

सुबोधिनी—स्वेषु धनबन्धवादिषु देहधर्मादिषु च उदासीना भवन्तु मा भवत्विति रागद्वेष-रहिताः । न केवलं बहिर्मुखताभाव एव ज्यो-जकः कित्वात्मरणमपि एतदुभयसिद्धयर्थं धृत-भगवद्व्रताः । एवं साधनैर्यावज्जीवं मयि सम्यङ् मन आवेश्य अन्ते मरणसमये ब्रह्मस्वरूपं मां

यास्यथ गमिष्यथ । मध्ये देहनाशार्थं प्रयत्ने देहे बीजं तिष्ठेत, अतो देहान्तं स्यैव प्रतीक्षा कर्तव्या । मत्स्मरणमेव कर्तुं शक्यं कार्यसाधकं च ततश्च मत्प्राप्तिरेव भविष्यति । मम ब्रह्मत्वात्तत्फलं मोक्ष एवेति फलं तत्स्तुतिश्चोक्ता ॥२३॥

व्याख्यानार्थ—अपने धन बन्धु आदि में तथा देह के धर्मादि में राग द्वेष रहित होकर रहो अर्थात् इनमें न प्रेम रखो और न द्वेष रखो, ऐसी, वृत्ति को उदासीन वृत्ति कहते हैं । आप वैसे बन के रहो, केवल बहिर्मुखता का अभाव नहीं होना चाहिए किन्तु आत्मा में स्मरणभी चाहिए । इन दोनों की सिद्धि के लिए साधन बताते हैं कि 'धृतव्रता' अर्थात् भगवान् का ही व्रत धारण करिए, इस प्रकार साधनों से जब तक जीवन है तब मुझ में मन को पूर्णरीति से प्रवेश कराके, अन्त में अर्थात् मरण समय में ब्रह्म स्वरूप मुझको पाओगे, मध्य में देह नाशार्थ प्रयत्न होने पर भी देह में बीज रहे अतः देहान्त की ही प्रतीक्षा करनी चाहिए, कार्य की सिद्धि करने वाला मेरा स्मरण ही करना शक्य है उससे मेरी ही प्राप्ति होगी, मैं ब्रह्म हूँ जिसका फल मोक्ष ही है इस प्रकार फल और उसकी स्तुति दोनों कही है ॥२३॥

आभास—एवं निरभिमानस्थितिं प्रेमभक्तिं निरन्तरस्मरणमन्ते मोक्षां च तेभ्यो दत्ता कृतार्थानपि लोकपुरस्कारार्थं लौकिक्य परिचर्यया संस्कृतान् कृतवानित्याह इत्यादिश्येति त्रिभिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार अभिमान रहित स्थिति, प्रेमभक्ति, निरन्तर स्मरण और अन्त में मोक्ष देकर कृतार्थ किया, कृतार्थ हुए उनको लौकिक पुरस्कार के लिए लौकिक परिचर्या से संस्कृत करने लगे, यों 'इत्तादिश्य' से तीन श्लोकों में कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच - इत्यादिश्य नृपान् कृष्णो भगवान् भुवनेश्वरः ।

तेषां न्ययुङ्क्त पुरुषान् स्त्रियोमज्जनकर्मणि ॥२४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि लोकनाथ भगवान् श्रीकृष्ण ने राजाओं को इस प्रकार आज्ञा कर उन्हें स्नान आदि कराने के लिए कितनेक पुरुष व स्त्रियों को आज्ञा दी ।

सुबोधिनी—यतः कृष्णः सदानन्दः भक्तपु-
खार्थं मेव गृहीतावतारः । साधनसंपत्त्यर्थमाह
भुवनानामीश्वर इति । तेषां प्रथमं मज्जनकर्मणि
स्नान कर्मणि पुरुषान् स्त्रियश्च न्ययुङ्क्त । श्रमा-

पनोदपुरुषैः सौष्ठवं स्त्रीभिरित्युभयविनियोगः ।
अमज्जनकर्मणि मज्जनकर्मणि वा येषु कर्मसु कृतेषु
मज्जनममज्जनं वा प्राप्नोतीति श्मश्रुकर्मोन्मर्दना-
दिषु मज्जनं तिलकादिष्वमज्जनमिति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—क्योंकि श्रीकृष्ण सदानन्द ने भक्तों को सुखदान देने के लिए अवतार धारण किया है, साधन सम्पत्ति के लिए कहते हैं कि लोकों के ईश्वर हैं, पहले उन राजाओं के स्नान आदि कर्म कराने के वास्ते पुरुष और स्त्रियों को लगाया अर्थात् आज्ञा दी, उनका श्रम अर्थात् थकावट दूर करना आदि कार्य पुरुष करा सकेंगे, सुख से स्नान आदि स्त्रियों करा सकेगी इसलिए दोनों को इस कार्य में लगाया, दो प्रकार के कार्य हैं एक प्रकार वह जिसके करने से स्नान आदि करना पड़े वह मज्जन कर्म, जिस कर्म करने से स्नानदि न करना पड़े वह अमज्जन कर्म है, जैसे कि बाल बनवाना, तेल की मालिश आदि कर्म के अनन्तर स्नान करना पड़ता है अतः वह मज्जन कर्म है, तिलक आदि कर्म करने पर स्नान नहीं करना पड़ता है अतः वह अमज्जन कर्म हैं ॥२४॥

श्लोक—सपर्या कारयामास सहदेवेन भारत ।

नरदेवोचितैर्वस्त्रैर्भूषणैः स्त्रग्विलेपनैः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे भारत ! राजाओं के योग्य वस्त्र, आभूषण, माला और चन्दन लेपन आदि से पूजन सहदेव से कराया ॥२५॥

सुबोधिनी—ततस्तो राजानो गृहे समागता
इति सहदेवेन जरासंधपुत्रेण कृत्वा तेषां सपर्या
पूजां विधिवत्कारयामास । भारतेति धर्मकर्मणि

विश्वासार्थम् । पूजायां प्रकारमाह नरदेवोचितै-
रिति । उष्कृष्टैः कञ्चुकोष्णीषादिभिर्भूषणैः
कुण्डलादिभिः स्त्रग्निभ्रन्दनादिभिः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् वे राजा घर आए, तब जरासन्ध के पुत्र सहदेव से उनकी विधिवत् पूजा करवाई, 'हे भारत !' सम्बोधन से बताया कि धर्म कर्म में आपका विश्वास है पूजा का प्रकार कहते हैं कि, राजाओं के योग्य जैसी पूजा होनी चाहिए वैसी करवाई, उत्कृष्ट कञ्चुक, पगंडी (पाग) आदि वस्त्रों से और कुण्डल आदि आभूषणों से माला और चन्दन के लेप आदि से पूजा की ॥२५॥

श्लोक—भोजयित्वा वरान्नेन सुस्नातान् समलङ्कृतान् ।

भोगैश्च विविधैर्युक्तांस्ताम्बूलाद्यैर्नृपोचितैः ॥२६॥

श्लोकार्थ—अच्छी तरह स्नान किए हुए और सुन्दर आभूषण वस्त्रादि पहने हुए, माला चन्दन आदि से सुशोभित राजाओं को सुन्दर अन्न का भोजन कराया, अनन्तर राजाओं के योग्य ताम्बूल आदि दिये यों सत्कार किया ॥ २६ ॥

सुबोधिनो—ततो वरान्नेन पक्वेन भोजयित्वा पुनः सायं सुस्नातान् समलङ्कृतान् विविधैर्भोगै-
नृत्यगीतादिभिर्युक्तां चकार । नृपभोगे प्रथमं ताम्बूलमिति अन्नवस्त्राणां सर्वसाधारणत्वाद्
अवान्तरभेद एव भवति । तत्रापि नृपोचितैः ॥ २६ ॥

व्याख्यार्थ— पश्चात् सुन्दर पक्वान्न आदि पदार्थों से भोजन कराया फिर शाम को स्नान कराके वस्त्र आभूषणों से समलङ्कृत किया और अनेक प्रकार के भोग नृत्य आदि से उनको प्रसन्न किया. राजाओं के भोग में पहिले ताम्बूल का आदर है, उनके यहां अन्न वस्त्रादि तो साधारण है वह अवान्तर है, उसमें भी यह सर्व राजाओं के योग्य किया गया ॥२६॥

आभास—भगवत्संस्कृतांस्तान् वर्णयति ते पूजिता इति ।

आभासार्थ— भगवान् से संस्कृत उन राजाओं का वर्णन करते हैं । 'ते पूजिता' श्लोक में ।

श्लोक—ते पूजिता मुकुन्देन राजानो मृष्टकुण्डलाः ।

विरेजुर्मोचिताः क्लेशात् प्रावृडन्ते यथा ग्रहाः ॥२७॥

श्लोकार्थ—मुक्तिदाता भगवान् ने उनका सत्कार किया, तब वे उज्ज्वल कुण्डल धारण किए, क्लेश से मुक्त हो वैसे शोभा देने लगे जैसे वर्षा ऋतु के अन्त में ग्रह शोभा देते हैं ॥२७॥

सुबोधिनो—पूर्वमन्यद्वारा संस्कृता अपि वाक्यैरुत्तमपदार्थदानेश्च मुकुन्देन पुनः पूजिताः सर्व एव राजानः मृष्टकुण्डलाः रत्नोज्ज्वलकुण्डलाः सन्तः राज्यलक्षणं प्राप्य विशेषेण रज्जुः पूर्वाविस्थापेक्षयापि । तत्र हेतुः क्लेशाद्विमोचिता इति । क्लेशभोगानन्तरं पुनः संस्कारे अधिका कान्तिर्भवति । अत्र दृष्टान्तमाह प्रावृडन्ते यथा ग्रहा इति पूर्वपेक्षयापि मेघापगमे ग्रहाः शुक्रादयः सोज्ज्वला भवन्ति वृष्ट्या मेघगत्या च मध्ये स्थिताः भूरेणवः अपगच्छन्तीति मलिनानां व्यवधायकत्वाभावात् ग्रहा उज्ज्वला भवन्ति । एवं पुरुषा अति भोगेन पापनाशात् संस्कारेण वहिर्मालिन्याभावाच्च भूषणैरत्युज्ज्वला भवन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

व्याख्यार्थ— पहले अन्य द्वारा पूजित थे, तो भी वचनो और उत्तम पदार्थों के दानों ने मुकुन्द ने फिर उनका पूजन किया, तब रत्नों से उज्ज्वल कुण्डलों को धारण करने से राज्य के

लक्षण को प्राप्त किया अर्थात् राजा देखने में आए जिससे आगे से भी विशेष शोभा देने लगे, उसमें भी कारण यह है, कि क्लेश से छूट गए । क्लेश भोगने के अनन्तर फिर संस्कार होने से विशेष कान्ति अर्थात् शोभा होती है जिसमें दृष्टान्त देते हैं, वर्षा के अनन्तर जैसे शुक्र आदि ग्रह विशेष चमकने लगते हैं, वृष्टि से और बादलों की गति से मध्य में स्थित जो भू रेणु थे वे चले जाते हैं, इसलिए मलीन करने वाले पदार्थों का अभाव हो जाने से ग्रह चमकने लगते हैं, इस प्रकार पुरुष भी भोग से पापों का नाश हो जाने पर संस्कार से बाहर मलीनता का अभाव होने से और आभूषणों से बहुत उज्ज्वल होते हैं ॥२७॥

आभास—ततो भगवान् स्वसङ्गे समानेष्यतीति शङ्कां वारयितुमाह रथान् सदश्वानिति ।

आभासार्थ— राजा लोग मन में यों विचार रहे थे कि कदाचित् भगवान् हमको अपने साथ ले चलेंगे, इस शङ्का का 'रथान्' श्लोक से निवारण करते हैं ।

श्लोक—रथान् सदश्वानारोप्य मणिकाञ्चनभूषितान् ।

प्रीणय्य सूनृतैर्वक्त्रैः स्वदेशान् प्रत्ययापयत् ॥२८॥

श्लोकार्थ—श्रेष्ठ घोड़ों वाले, रत्न व सुवर्ण से शोभित रथों पर बैठकर मधुर वचनों से प्रसन्न कर राजाओं की अपने देश को रवानगी की ॥२८॥

सुबोधिनी—सर्वे रथारूढाः कृताः । उत्तमा-
श्वाश्च रथेषु योजिताः तै च रथाः मणिकाञ्चना-
दिभिर्भूषिताः । ततः सूनृतैरपि वाक्यैः तान्
नृणान् प्रीणय्य । एवं कायवाङ्मनोभिः तान्स-
वात्मना सुखिनः कृत्वा स्वदेशान् तत्तद्देशान्
प्रत्ययापयत् प्रस्थापितवान् । प्रत्यापत्तिः निरोधे
आवश्यकी सा च गृहस्थितिपर्यन्ता अन्यथा
सामिकृता स्यात् ॥२८॥

व्याख्यार्थ— सबको रथों में बैठाया, रथों में उत्तम घोड़े जोड़े और रथों को मणि तथा सुवर्ण आदि से सुशोभित किया था, पश्चात् मधुर वाक्यों से उन राजाओं को प्रसन्न कर, इसी प्रकार काया, वाणी, और मन से उनको सब तरह सुखी कर जिनके जो देश थे उन उन देशों में उन उन को भेजा, निरोध में प्रत्यापत्ति आवश्यकी है किन्तु वह जब तक अपने घर में रहे अन्यथा आधी की हुई मानी जायगी ॥२८॥

आभास—एवं भगवत्पुरस्कृतानां स्वदेशगमनमाह त एवमिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार भगवान् से आदर पाए हुवे राजाओं का स्वदेश गमन का वर्णन 'त एवं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—त एवं मोक्षिताः कृच्छ्रात्कृष्णेन सुमहात्मना ।

ययुस्तमेव ध्यायन्तः कृतानि च जगत्पतेः ॥२९॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जगत् के पति, महात्मा श्रीकृष्ण के छुड़ाए हुवे कष्ट से मुक्त राजा लोग उनको और उनके चरित्रों का ध्यान करते हुए अपने अपने देशों को गए ॥२६॥

सुबोधिनी—लोके ये मोक्ष्यन्ते तेभ्यः प्रत्युत किञ्चिद्गृहीत्वा अंगृहीत्वा वा शृङ्खलादिभ्यः केवलं पृथक् क्रियन्ते न त्वेवं सर्वसुखसाधनैः संयुज्यन्ते एते त्वेवं मोक्षिताः तत्रापि कृच्छ्रात्किञ्चिद्विलम्बे प्रमथनाथाय छिन्ना भवेयुरिति । यतः कृष्णेन सदानन्देन मोक्षे मोचकधर्मानुप्रवेशादेव

मित्यर्थः । महात्मा परं स्वोपकार-व्यतिरेकेणैव परं मुञ्चति अयं तु अयं तु सुमहात्मेति स्वतः सर्वदानं युक्तं अतस्तमेव ध्यायन्तो ययुः भगवत्कृतानि च संमाननादीनि । एतच्च स्मरणं तेषां युक्तमेव भगवान् भर्तेत्यावश्यकत्वात् न त्वनेनापि कृतनिष्क्रिया इति ज्ञापनाह जगत्पतेरिति ॥२६॥

व्याख्यान—लोक में यह परिपाटी है कि जो छोड़े जाते हैं, उनसे कुछ लेकर अथवा न लेकर केवल अलग किए जाते हैं, न कि इसी भाँति सर्व प्रकार के सुख के साधन उनको देते हैं, ये तो भगवान् ने इस प्रकार छुड़ाये अर्थात् छुड़ाने के बाद सर्व प्रकार के सुख के साधन भी दिए, उसमें भी, बड़े क्लेश में पड़े हुए थे वहाँ से छुड़ाए, यदि थोड़ा विलम्ब हो जाता तो प्रमथनाथ के लिए नष्ट किए जाते थे जिससे सदानन्द कृष्ण द्वारा मोक्ष कराने (मुक्त किए हुए राजाओं) में मोचक के धर्म के प्रवेश से, यों हुवा है यह तात्पर्य है, जो महात्मा होता है वह ही जब अपना लाभ सामने वाले से होगा ऐसा विचार त्याग, शत्रु को छोड़ देते हैं तो ये तो 'सुमहात्मा' हैं अर्थात् बड़े सच्चे महात्मा हैं, इसलिए ऐसे महान् सुन्दर आत्मा तो स्वतः सर्व दे दे यह उचित है अतः उनका और भगवान् के किये हुए सम्मान आदि का ही ध्यान करते हुए गए, यों यह स्मरण करना इनको उचित ही है, क्योंकि भगवान् ही भरण करने वाले हैं, इसलिए आवश्यक है, न कि इससे भी निष्क्रिय किए हैं यों जताने के लिए कहा है कि 'जगत् पति' है जगत् के पति सबके हितैषी होने से किसी को भी अक्रिय नहीं बताते हैं ॥२६॥

आभास—स्वगृहं गताः आश्रयाभिनिविष्टेभ्यः स्वगृहस्थेभ्यो जगुरित्याह जगदुः प्रकृतिभ्यस्त इति ।

आभासार्थ—अपने घर गए तो घर वाले इन को देख, आश्रय करने लगे ऐसे अपने घर वालों को 'जगदुः' श्लोक में सारा हाल बताते हैं ।

श्लोक—जगदुः प्रकृतिभ्यस्ते मयापुरुषचेष्टितम् ।

यथान्वशासद्भगवांस्तथा चक्रुरतन्द्रिताः ॥३०॥

श्लोकार्थ—वहाँ जाकर अपनी प्रजा से भगवान् का सर्व चरित्र कहा और भगवान् ने जो आज्ञा की थी वह आज्ञा आलस त्याग पालन की ॥३०॥

सुबोधिनी—एवमेव हि महापुरुषचेष्टितं भवतीति महापुरुषस्य भगवतश्चेष्टितम् । ततो निर-

भिमानतयैव पालनं कृतवन्त इत्याह यथान्वशासदिति ॥३०॥

व्याख्यार्थ— इस प्रकार ही महापुरुषों का इच्छित होता है, इस कारण से वे राजा निरभिमान होकर पालन करने लगे ॥३०॥

आभास— एवं तेषां जीवन्मुक्तावस्थां निरूप्य जरासंधवधस्य भुवत्युपयोगित्वमुक्त्वा भक्तिधर्मोपयोगित्वं वक्तुमिन्द्रप्रस्थं प्रत्यागमनमुच्यते जरासंधं घातयित्वेत्यादिपञ्चभिः ।

आभासार्थ— इस प्रकार उन राजाओं की जीवन्मुक्त अवस्था का निरूपण कर, जरासन्ध के वध का मुक्ति के उपयोगिपन कह कर, भक्ति और धर्म का उपयोगिपन कहने के लिए इन्द्रप्रस्थ लौट कर आने का वर्णन 'जरासंधं घातयित्वा' श्लोक से पांच श्लोको में कहते हैं ।

श्लोक—श्री शुक उवाच—जरासंधं घातयित्वा भीमसेनेन केशवंः ।

पार्थाभ्यां संयुतः प्रायात् सहदेवेन पुजितः ॥३१॥

श्लोकार्थ— भीमसेन द्वारा जरासन्ध का नाश कराके, सहदेव से पूजित भीम और अर्जुन के साथ केशव जाने लगे ॥३१॥

सुबोधिनी—भीमसेनेन करणेन जरासंधहन- नम् । ब्रह्ममहादेवयोः तद्रक्षाभावे हेतुः केशव इति । कश्च ईशश्च तयोर्मोक्षदातृत्वादुपजीव्य इति । ततः अक्षताभ्यां पार्थाभ्यां संयुतः सन्	पितृवधमस्मृत्वापि सहदेवेन देवासेन पुजितः प्रायात् । पूर्ववत् द्वेषं परित्यज्य प्रकर्षेण निर्गत इत्यर्थः ॥३१॥
--	---

व्याख्यार्थ— भीमसेन को साधन बना कर उस साधन से जरासन्ध को मरवाया, ब्रह्मा और महादेव, दोनों में से एक ने भी क्यों नहीं बचाया? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'केशव' स्वयं केशव हैं ब्रह्मा और शिव दोनों को मोक्ष देने वाले होने से उपजीव्य हैं, पश्चात् किसी प्रकार का घाव जिनको नहीं हुआ है वैसे दोनों भ्राताओं, (भीम और अर्जुन) के साथ और पिता के वध को स्मरण न कर सहदेव द्वारा पूजित केशव ने इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान किया, पूर्व की तरह द्वेष छोड़ कर प्रसन्नता से रवाना हुए यों अर्थ है ॥३१॥

आभास— एवं समागत्य दूरादेव स्वागमनं ख्यापितवन्त इत्याह गत्वा ते खाण्डव-
प्रस्थमिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार अच्छी तरह आकर दूर से ही अपने आने की प्रसिद्धि करने लगे वह 'गत्वा ते' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक — गत्वा ते खाण्डवप्रस्थं शङ्खान् दध्मुजितारयः ।

हर्षयन्तः स्वमुहदो दुर्हदां चासुखावहाः ॥३२॥

श्लोकार्थ—वहाँ से खाण्डवप्रस्थ जाकर शत्रु को जीत कर आए हैं उसके सूचक शङ्ख की ध्वनि की, जिससे शत्रुओं को दुःख दिया और मित्रों को आनन्दित किया ॥३२॥

सुबोधिनी—इन्द्रप्रस्थनिकटे खाण्डवदाहानान्तरं तत्र नगरं निर्मितमस्ति भगवता कौतुकातिशययुक्तं तत्र गत्वा । इन्द्रप्रस्थस्थज्ञापनार्थं शङ्खान् दध्मुः 'पाञ्चजन्यं हृषीकेशः' इति श्लो-

कोक्तान् । यतो'जितारयः उत्साहेन वादितवन्तः । तस्य वादनस्य स्वसुहृदां हर्षजननं प्रयोजनं दुर्हृदां दुःखजननं च । प्रायेण रात्रौ समागताः ॥३२॥

व्याख्यानार्थ— इन्द्रप्रस्थ के समीप, खाण्डव के दाह होने के बाद वहाँ नगर बसाया है, भगवान् अतिशय कौतुक युक्त हो वहाँ जाकर इन्द्रप्रस्थ में मालूम हो जाए कि हम आए हैं इसलिए शङ्खों को बजाये । 'पाञ्चजन्यं हृषीकेशः' इस श्लोक में कहे अनुसार बजाए उत्साह से बजाए क्योंकि शत्रुओं को जीत कर आए थे जिससे उत्साह था, उनको बजाने का प्रयोजन यह था कि अपने मित्रों को इस ध्वनि से हर्ष होगा और शत्रुओं को दुःख उत्पन्न करेंगे, बहुत कर रात्रि को आए थे ॥३२॥

आभास—यदर्थं वादितवन्तः तज्जातमित्याह तच्छ्रुत्वेति ।

आमासार्थ— जिसके लिए बजाए वह हुआ, यह 'तच्छ्रुत्वा' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तच्छ्रुत्वा प्रीतमनस इन्द्रप्रस्थनिवासिनः ।

मेनिरे मागधं शान्तं राजा चाप्तमनोरथः ॥३३॥

श्लोकार्थ—इन्द्रप्रस्थ के रहने वालों ने यह शङ्खनाद सुनकर जान लिया कि जरासन्ध मर गया, उनका चित्त प्रसन्न हुआ और राजाओं के मनोरथ भी पूर्ण हुए ॥३३॥

सुबोधिनी—इन्द्रप्रस्थनिवासिनः सर्वे प्रीतमनसो जाताः । शब्दं श्रुत्वैव मागधं शान्तं मेनिरे । राजा च प्राप्तमनोरथो जातः ॥३३॥

व्याख्यानार्थ— सब इन्द्रप्रस्थवासी प्रसन्न चित्त वाले हो गए शङ्ख का शब्द सुनते ही समझ गए कि जरासन्ध शान्त हो गया अर्थात् मर गया और राजा युधिष्ठिर का मनोरथ पूर्ण हो गया ॥३३॥

आभास—एवमानन्दयुक्तेषु पुरवासिषु पश्चान्नयनानन्दं दातुं समागता इत्याह अचिवन्द्याथराजानमिति ।

आमासार्थ— इस प्रकार आनन्दित नगरवासियों को नयनानन्द देने के लिए आ गए यह 'अचिवन्द्याथ' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—अचिवन्द्याथ राजानं भीमार्जुनजनार्दनाः ।

सर्वमाश्रावयाञ्चक्रुरात्मना यदनुष्ठितम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—भीम, अर्जुन और श्रीकृष्ण ने आकर युधिष्ठिर को प्रणाम कर आपने जो कुछ किया वह सब राजा को सुनाया ॥३४॥

सुबोधिनी—त्रयोऽपि क्रमेण प्रस्तावना-
नुसारेण वृत्तान्तमाश्रावयाञ्चक्रुः । आत्मनाः
भगवता स्वेन वा । यद्यप्यर्जुनेन कृतं न स्पष्ट

शास्त्रयुद्धादिमंप्राप्तौ रक्षा तेनैव कृतेति ज्ञातव्यम् ।
तथापि अनुष्ठितस्य साधारण्येन निरूपणात् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—तीनों ने क्रम से (प्रारम्भ से) लेकर सर्व वृत्तान्त सुनाया, भगवान् स्वयं ने स्पष्ट कर सुनाया, यद्यपि अर्जुन ने जो किया वह स्पष्ट नहीं था तो भी शास्त्र युद्ध आदि आ पड़ने पर अर्जुन ने ही रक्षा की थी यों जान लेना चाहिए, किये हुवे कार्य का साधारण रीति से निरूपण होने से ॥३४॥

आभास—एवं श्रावणे युधिष्ठिरस्य भगवति मतिजितित्याह निशम्येति ।

आभासार्थ— इस प्रकार सुनने से युधिष्ठिर की भगवान् में वृद्धि हुई ।

श्लोक—निशम्य धर्मराजस्तत्केशवेनानुकम्पितम् ।

आनन्दाश्रुकणान् मुञ्चन् प्रेम्णा नोवाच किञ्चन ॥३५॥

श्लोकार्थ—भगवान् की कृपा से सब कुछ हुवा यह सुनकर धर्मराज के नेत्रों से आसुओं की धारा बहती रही अतः प्रेम के कारण राजा कुछ कह न सके ॥३५॥

सुबोधिनी—यतो धर्मराजः अधिकारी ।
एतत्सर्वं केशवेनानुकम्पितं कृपया कृतमिति ज्ञात-
वान् न तु स्वभ्रातृपौरुषमिति । ततः प्रेमातिश-

यादानन्दाश्रुकणान्मुञ्चन् वाक्स्तम्भे जाते
प्रशंसाभिनन्दनादिकं किमपि नोक्तवानित्यर्थः ।
॥३५॥

व्याख्यार्थ— ऐसा क्यों हुआ ? धर्मराज अधिकारी हैं इसलिए हुआ । यह सब भगवान् ने कृपा कर किया है, यों समझा, मेरे भ्राताओं को यह पौरुष नहीं है विशेष प्रेम के कारण नेत्रों से आँसू बहने लगे जिससे वाणी रुक गई अतः प्रशंसा अभिनन्द आदि कुछ भी न कर सके ॥३५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां

त्रयविंशाध्यायविवरणे उत्तरार्धे चतुर्विंशाध्यायविवरणम् ॥२२॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कंध के ७०वें अध्याय (उत्तरार्ध २४वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन

अवान्तर प्रकरण का तृतीय अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ७४वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७१वाँ अध्याय

उत्तरार्ध २५वाँ अध्याय

सात्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

“अध्याय—४”

भगवान् की अग्र पूजा और शिशुपाल का उद्धार



कारिका—पञ्चविंशे निरुद्धस्य राज्ञो धर्मो निरूप्यते ।

प्रतिबन्धविहीनस्य प्रेमगद्गदचेतसः ॥१॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस पच्चीसवें अध्याय में, निरोध किए हुए, निरोध रहित और प्रेम से गद्गद् चित्त वाले राजा का धर्म निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—आधिदैविकयज्ञोऽपि धर्मोऽत्र विनिरूप्यते ।

तत्रापि बाधकं कृष्णो न्यवारयदितिर्यते ॥२॥

कारिकार्थ—इस धर्म (यज्ञ रूप कर्म) में आधिदैविक यज्ञ (श्रीकृष्ण की पूजा) का भी निरूपण किया जाता है, उस आधिदैविक यज्ञ में अर्थात् श्रीकृष्ण की पूजा में भी विघ्न करने वाले शिशुपाल को श्रीकृष्ण ने दूर कर दिया अर्थात् नाश किया यह निरूपण है ॥२॥

कारिका - मोचनादेव राज्ञां हि तत्सेवाऽत्र निरूपिता ।

ब्रह्मण्यत्वान्मागधस्य ब्राह्मणेष्वत्र संशयः ॥३॥

कारिकार्थ—जिन राजाओं को जरासन्ध के बन्धन से मुक्त किया था, उन्होंने जो सेवा की, उसका भी वर्णन यहाँ कहा है । जरासन्ध ब्राह्मणों का भक्त था जिससे ब्राह्मणों में यहाँ संशय होगा ॥३॥

कारिका—अतः सर्वेऽत्र ऋषयो निरूप्यन्ते स्वनामतः ।

आधिदैविकयज्ञस्य सर्वोऽप्युत्कर्ष उच्यते ॥४॥

कारिकार्थ—इस संशय निवृत्ति के लिये समस्त ऋषियों का नाम ले लेकर वर्णन किया है और यहां आधिदैविक यज्ञ (श्रीकृष्ण की पूजा) की सर्व प्रकार से उत्कृष्टता कही जाती है ॥४॥

कारिका—आध्यात्मिकस्तु तच्छेषः प्रधानार्थो यतः परः ।

कारिकार्थ—आध्यात्मिक यज्ञ तो उसका शेष भाग है, कारण कि मुख्य प्रयोजन-वाला दूसरा यज्ञ तो आधिदैविक यज्ञ ही है ॥५॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते भक्त्यानन्दपूर्णो जात इति निरूपितम् । इदानीं तादृशस्य मनोरथसिद्धिनिरूप्यते । आदौ स भक्तो जात इति वक्तुं पूर्वमाज्ञापनेन भक्तविरुद्धकारी भूत्वा सांप्रतं तत्परिहारं कृतवानिति निरूप्यते पञ्चभिः । तत्र दोषपरिहारार्थं प्रथम-मुद्यममाह एवं युधिष्ठिर इति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में कहा है, कि युधिष्ठिर भक्ति से उत्पन्न आनन्द में मग्न हो गया, अब वैसे राजा के मनोरथ की सिद्धि का वर्णन किया जाता है, प्रारम्भ में वह भक्त था, इसलिए प्रथम आज्ञापालन करने से, भक्त विरुद्ध कार्य करने वाला हुआ था, अब उसका त्याग किया है जिसका पांच श्लोकों में वर्णन किया है, वहां दोष के परिहार करने के लिए 'एवं युधिष्ठिरो' श्लोक में श्री शुकदेवजी प्रथम उद्यम का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—श्री शुक उवाच—एवं युधिष्ठिरो राजा जरासंधवधं विभोः ।

कृष्णस्य चानुभावं तं श्रुत्वा प्रीतस्तमब्रवीत् ॥१॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार, युधिष्ठिर राजा, जरासंध का वध और सर्व समर्थ प्रभु

श्रीकृष्ण का वह प्रभाव सुनकर प्रसन्न हुआ जिससे श्रीकृष्ण को निम्न प्रकार कहने लगा ॥१॥

सुबोधिनी—स्व धर्मनिष्ठो महान् भगवदु-
पकारं श्रुत्वा ज्ञातभगवन्माहात्म्यः । विभोः
स्वामिनः कृष्णस्य भक्तिरूपं स्वस्मिन्मानुभावं । ज्ञात्वा नारदादिमुखतस्तन्निर्धारं च श्रुत्वा कृता-
र्थता जातेतिः प्रीतः सन् पूर्वकृतस्वापराधनिवृ-
त्त्यर्थं तं भगवन्तं प्रति किञ्चित् अब्रवीदित्यर्थः ॥१॥

व्याख्यार्थ—अपने धर्म में विश्वास वाले, बड़े युधिष्ठिर ने भगवान् का अपने ऊपर किया हुआ उपकार सुन कर, भगवान् का माहात्म्य जाना स्वामी श्रीकृष्ण का अपने ऊपर भक्ति रूप प्रभाव जानकर, एवं नारद के मुख से उनका निर्णय सुनकर अपनी कृतार्थता समझ गया, इससे प्रसन्न होकर, प्रथम किए हुए अपराध की निवृत्ति के लिए उन भगवान् के आगे कुछ कहने लगा ॥१॥

आभास—आदौ भगवन्माहात्म्यमाह ये स्युरिति ।

आभासार्थ—प्रथम 'ये स्यु' इस श्लोक से भगवान् का माहात्म्य युधिष्ठिर कहता है ।

श्लोक—युधिष्ठिर उवाच—ये स्युस्त्रैलोक्यगुरवः सर्वे लोकाः सहेश्वराः ।

वहन्ति दुर्लभं लब्ध्वा शिरसैवानुशासनम् ॥२॥

श्लोकार्थ—जो तीन लोक में गुरु हैं और जो ईश्वर सहित सकल लोक हैं, वे सर्व जिनकी आज्ञा को मस्तक पर धारण करते हैं ॥२॥

सुबोधिनी—त्रैलोक्यगुरवः त्रैलोक्ये उपदेष्टारः
आज्ञापकाः ब्रह्मादयः वेदोक्तऋषयो वा । सर्वे च
लोकाः प्राणिनो भूराद्यभिमानिदेवा वा । भगवतः अनुशासनं स्वस्या तधिकारित्वेन दुर्लभं
लब्ध्वा शिरसा वहन्ति अत्यादरेण कुर्वन्तीत्यर्थः
सहेश्वरा इन्द्रादिसहिताः । एवं वेदलोकपराः ॥२॥

व्याख्यार्थ—तीन लोक में गुरु, अर्थात् उपदेश देने वाले एवं आज्ञा करने वाले ब्रह्मादि देव अथवा वेदोक्त ऋषि और सर्व प्राणी मात्र अथवा भू आदि के अभिमानी देवता लोग इन्द्र आदि समेत, इस प्रकार वेद और लोक के परायण ये सर्व अधिकारी न होने से दुर्लभ जो भगवदाज्ञा उसको प्राप्त कर उसका आदर सहित पालन करते हैं ॥२॥

आभास—किमतो यद्येवं तदाह स भवानरविन्दाक्ष इति ।

आभासार्थ—यदि यों होवे तो भी क्या ? इसके उत्तर में 'स भवानरविन्दाक्षो' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—स भवानरविन्दाक्षो दीनानामीशमानिनाम् ।

धत्तेऽनुशासनं भूमस्तदत्यन्तविडम्बनम् ॥३॥

श्लोकार्थ—वे आप, कमल नयन पुरुषोत्तम, दीन होकर भी, अपने को ईश मानने वालों की आज्ञा का पालन करते हो, यह केवल अत्यन्त अनुकरण मात्र ही है ॥३॥

सुबोधिनी—स एव सर्वेश्वरः पुरुषोत्तमो भवान् भक्तानुकम्पार्थमरविन्दाक्षः दृष्ट्यैवाप्या- यनकर्ता जातः । एतादृशः दीनानां शोच्यानां । तत्रापि ईशमानिनां दोषयुक्तानामनुशासनं स्वयं धत्ते । तत्कपटमानुषलीलाप्रदर्शनापेक्षयापि प्रत्यन्तविडम्बनमनुकरणम् ॥३॥

व्याख्यार्थ—वे ही सर्वेश्वर पुरुषोत्तम आप है भक्तों पर दया करने के लिये कमल नेत्र वन दृष्टि से ही भक्तों को आनन्द रस देकर तृप्त करते हैं । वैसे आप जो दीन अर्थात् शोक करने योग्य हैं, उनमें भी अपने को ईश मानने का दोष भरा पड़ा है ऐसों की आज्ञा का पालन करते हो ? यह कार्य तो कपट रूप मानुषी लीला प्रदर्शित करने से भी विशेष अनुकरण है ॥३॥

आभास—हीनानुशासनकरणस्य युक्तत्वं स्थापयित्वा अयुक्तं करोतीत्यप्ययुक्तमिति भूम्नोपि तद्युक्तमिति निरूपयति न ह्येकस्येति ।

आभासार्थ—हीनों की आज्ञानुसार आचरण करना अनुचित है यो सिद्ध कर भगवान् यों करते हैं वह भी अयोग्य है वैसे कहना भी अनुचित है इसलिए 'न ह्येकस्य' श्लोक में कहता है कि यों करना भूमा के लिए उचित ही है ।

श्लोक—न ह्येकस्याद्वितीयस्य ब्रह्मणः परमात्मनः ।

कर्मभिर्वर्धते तेजो ह्रसते च यथा रवेः ॥४॥

श्लोकार्थ—एक अद्वितीय, ब्रह्म परमात्मा का तेज कर्मों से कम वा विशेष नहीं होता है, जैसे सूर्य का तेज न कम होता है और न बढ़ता है ॥४॥

सुबोधिनी—यदि बहवो भवन्त्यात्मानः तदा गौणप्रधानभावे अन्यधर्माश्रयणं निषिद्धं भवति, एकत्वे तु जघन्यस्याप्यधमाङ्गस्य उत्तमाङ्गं सेवां करोतीति यथा पादप्रक्षालनं हस्तेन क्रियते तदा न विरोध इति भगवत एव जगत्प्रेरकस्य सत्त्वान्न विरोधः । युक्तिस्तु हिण्वदवाच्या निरूपिता । किञ्च यत्र द्वैतामिव भवति तत्रान्योन्यस्य हीनभावं मन्यते । अद्वितीयो भगवानेव सर्वत्र जगति वर्तते इति न भगवति किञ्चिद्दूषणमित्याह अद्वितीय-स्येति । किञ्च । जीवानामयं धर्मः यत्कार्यप्रेरण कार्य कारणं चेति न तु ब्रह्मणः शुद्धस्य । लीलयान्यधर्म-स्वीकारे तु क उत्कर्षापकर्ष इत्याह ब्रह्मण इति । किञ्च । सर्वेषां नियन्ता भगवान् परमात्मा प्रेरकः सर्वानेव यथासुख सर्वत्र प्रेरयति तत्र किमुत्कृष्टम-पकृष्टं वा सर्वत्रयापि भगवदधिष्ठितत्वाविशेषात् अन्यधर्मसंबन्धेऽपि न काचित् क्षतिः । यथा

आकाशे अभ्रतमः प्रकाशः तद्वद्भगवतीत्याशयेनाह । रवेरिति । उच्चनीचस्थाने किरणानां संबन्धेऽपि परमात्मन इति । अत एव कर्मभिः स्वकीयैः कर्म न काचिन्न्यूनता सर्वग्रहसंबन्धे वा न क्वाप्युदया- रूपस्य परमकाष्ठापन्नस्य निर्लेपस्य तेजो न वा स्तमयी ॥४॥

वर्धते न वा ह्रसते अलौकिकत्वादृष्टान्तमाह यथा

व्याख्यानार्थ—जो आत्माएं बहुत हों तो गौण और मुख्य धर्मों के आश्रय का शास्त्रों में निषेध हो, एक होने पर तो हलके की सेवा महान् करे तो भी उसमें दोष वा विरोध नहीं है । जैसे शरीर एक होने से हस्त उच्च होते हुए भी अधम अंग पाद की प्रक्षालन (धोने) से सेवा करता है जिसमें न दोष है और न कोई शास्त्र विरोध है इस प्रकार जगत् में भगवान् के सिवाय अन्य कोई वस्तु नहीं है, सब एक भगवान् ही है अतः यों करने में किसी प्रकार विरोध नहीं है 'हि' शब्द से युक्ति का निरूपण किया है पुनः यदि जहाँ द्वैत जैसा हो वहाँ एक दूसरे में हीन भाव उत्पन्न होता है, अद्वितीय भगवान् ही सब ठिकाने जगत् में विराजते हैं इसलिए भगवान् में कोई दूषण नहीं है, इस कारण से भगवान् के लिये 'अद्वितीयस्य' पद दिया है ।

कार्य करने की प्रेरणा करनी और कार्य कराना यह जीवों का धर्म है न कि शुद्ध ब्रह्म का, लीला से दूसरे के धर्म स्वीकार करने में कौनसा उत्कर्ष वा अपकर्ष है ? यह भाव श्रीकृष्ण को ब्रह्म कह कर प्रकट किया है ।

सर्व को नियम में रखने वाला भगवान् परमात्मा प्रेरक है अतः सबको ही जैसे सुख प्राप्त हो वैसे ही प्रेरणा करते हैं, उसमें उत्कृष्ट (उत्तम) अथवा अपकृष्ट (हीन) क्या है ? सब में भगवान् ही अधिष्ठित हैं, इसलिए अन्य धर्म का सम्बन्ध होते हुए भी किसी प्रकार हानि नहीं है ।

जैसे आकाश में बादलों के कारण अन्धकार और प्रकाश देखने में आता है वास्तव में आकाश में अन्धकार वा प्रकाश आदि धर्म नहीं हैं वैसे ही भगवान् में अनेक धर्म मात्र देखने में आते हैं इस आशय को प्रकट करने के लिये 'परमात्मा' कहा है इसलिए अपने कर्मों से कर्मरूप परम स्थिति को प्राप्त एवं निर्लेप परमात्मा का तेज न बढ़ता है और न घटता है, अलौकिक होने से दृष्टान्त देते हैं कि जैसे सूर्य का उच्च वा नीच स्थान में किरणों का सम्बन्ध होने पर भी सूर्य की हानि नहीं होती है और सूर्य की किरणों का सर्व ग्रहों से सम्बन्ध हो जाने पर भी उसका उदय अथवा अस्त नहीं होता है ॥४॥

आभास—नन्वेवं सति कथं भगवान् सर्वेश्वरत्वमेव मन्यते न हीनभावं तथा सति जीवानामपकर्षबुद्ध्या नाशो भविष्यतीति चेत्तर्हि प्रकृतेऽपि तथेत्याशङ्क्यामाह न च तेऽजित इति ।

आभासार्थ—यदि यों है, तो भगवान् अपने को केवल सर्वेश्वर ही क्यों मानते हैं ? हीन भाव वाले क्यों नहीं मानते हैं ? यदि यों करें तो जीवों की भगवान् में हीन भावना होने से उनका नाश होगा यदि यों कहो तो चालू प्रसंग में भी वैसा होगा इस शंका के होने पर उसको मिटाने के लिए 'न च तेऽजित' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—न वै तेऽजितभक्तानां समाहमिति माधव ।

त्वं तवेति च नानाधीः पशूनामिव वैकृता ॥५॥

श्लोकार्थ—हे अजित ! हे माधव ! मेरा और मैं, तू और तेरी ऐसी पशु समान विकार वाली भेद बुद्धि आपके भक्तों की नहीं होती हैं ॥५॥

सुबोधिनी—हे अजित कस्याप्यवश । ते भक्तानां समाहमिति स्वाभिमानः कदाचिदपि स्वोत्कर्षस्यापको न भवति, उत्कर्षस्तु जीवानां पाञ्चभौतिकदेहयुक्तानां लक्ष्मीकृत एव भवति तस्यास्तु त्वमेव धवः । अतस्त्वयि को वाभिमानो भविष्यतीति भावः । किञ्च त्वद्भक्तानां न कस्मिंश्चिदपि त्रिविधाद्वैतयुक्तानाम् । द्रव्यादिभेदार्थं त्वं तवेति च बुद्धिर्न भवति । 'यो यच्छ्रद्धः स एव स'

इति शास्त्रार्थानुसारेण त्वद्रूपा एव भवन्तीति तेषां सर्वात्मकता नित्यं स्फुरतीति न नानाधीर्भेद-बुद्धिर्भवति । ननु सर्वेषामेव बुद्धिरयुक्ता को विशेषो भक्तानामिति चेत् तत्राऽहं पशूनामिवेति । अयुक्तापि बहिर्मुखानां भवतीति नानाबुद्धेर्भगव-द्विषयत्वे न कोऽपि विशेष इत्याशङ्क्याह वैकृ-तेति । विकारविषयिणी सा, न हि वस्तुतो नानात्वमिति भावः ॥५॥

व्याख्यान—हे अजित ! अर्थात् किसी ने भी आपको जीत कर वश में नहीं किया है, आपके भक्तों को मेरा और मैं इस प्रकार का स्वाभिमान, कभी भी अपने उत्कर्ष को दिखाने वाला नहीं होता है, पांच भौतिक देह वाले जीवों की बड़ाई तों लक्ष्मी की, की हुई होती है, उस लक्ष्मी के स्वामी तो आप हैं, जिससे आप में अभिमान किसका होगा कहने का यही भाव है ।

आपके भक्तों में तीन प्रकार का अद्वैत स्थिर रहता है जिससे उनको किसी पदार्थ में भेद के लिए स्वत्व वा परत्व बुद्धि अथवा तू और तेरा इस प्रकार की बुद्धि नहीं होती है, गीता में कहे हुए 'यो यच्छ्रद्धः स एव स' इस वाक्यानुसार जो जिसमें श्रद्धा वाला होता है वह वैसा ही हो जाता है अतः आपके भक्त आपके ही रूप हो जाते हैं जिससे उनको सदैव सर्वात्म भाव का स्फूरण होता रहता है न कि अनेकता वाली भेद बुद्धि जागृत होती है ।

सकल जीवों की बुद्धि दोष युक्त है, भक्तों में क्या विशेषता है ? जिसका उत्तर देते हैं कि अन्य जीवों की बुद्धि पशुओं के समान विकार वाली होने से भगवद्विमुख होती है वास्तव में नानापन (प्रकारपन) है ही नहीं ॥५॥

आभास—एवं स्वपराधं भगवतः सर्वात्मकत्वादिधर्मेणानुसंधानतः परिहृत्य निष्प्र-त्यूहः सन् अभिप्रेतं राजसूयमारब्धवानित्याह इत्युक्त्वेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के सर्वात्मपन धर्म के अनुसन्धान से अपना अपराध मिटा कर, निर्विघ्न होके, अपने अभीष्ट राजसूय यज्ञ का प्रारम्भ किया जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'इत्युक्त्वा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—श्री शुक उवाच—इत्युक्त्वा याज्ञिये काले वव्रे युक्तान्स ऋत्विजः ।

कृष्णानुमोदितः पार्थो ब्राह्मणान् ब्रह्मवादिनः ॥६॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि, युधिष्ठिर ने यों कहकर यज्ञ करने के काल में श्रीकृष्ण का अनुमोदन प्राप्त कर ब्रह्मवादी ब्राह्मणों का ऋत्विज रूप से वरण किया ॥६॥

सुबोधिनी—कालस्य प्राधान्यात् याज्ञिये काल इत्युक्तम् । राजसूयस्यापि द्वादशाहप्रकृति-त्वात् माघे मास्येवारम्भः सांवत्सरिकाणामपि स एव कालः । युक्तान् ऋत्विजः परंपरया प्राप्तान् अनिषिद्धान्वा प्रायेण सर्वानेव स्थविरान् विद्या-तपोवृद्धान् अर्धवर्षादिभावेन वव्रे । विघ्नशङ्कां

वारयति । कृष्णानुमोदित इति । पार्थ इति भगवतः साहाय्यं निश्चितं सूचितम् । ब्राह्मणा-निति ब्राह्मणानामेवाऽऽत्विज्यं सर्वं ऋत्विज्यं विद्या-तपोवृद्धक्षत्रियव्युदासः । ब्रह्मवादिन इति ब्राह्म-णानामयमुत्कर्षः ॥६॥

व्याख्यार्थ—काल की प्रधानता है इसलिए कहा है, जिस समय यज्ञ करना चाहिए वह काल जब हुआ तब उस समय में यज्ञ प्रारम्भ किया, राजसूय यज्ञ १२ दिन में होता है, उसका काल माघ मास है अतः माघ मास में ही प्रारम्भ किया, एक वर्ष में जो यज्ञ पूर्ण होते हैं उनके प्रारम्भ का भी यही समय है, योग्य ऋत्विजों का वरण किया, वे कैसे योग्य थे उनका विश्लेषण करते हैं कि ये परम्परा से यज्ञ कर्म कराते आये हैं, उनमें ऐसा कोई दोष नहीं है जिससे वे यज्ञ में ऋत्विज न बन सकें और वृद्ध तथा विद्या और तप से समृद्ध थे । यज्ञ में विघ्न भी नहीं होगा क्योंकि श्रीकृष्ण ने यज्ञ प्रारम्भ करने का अनुमोदन किया है । 'पार्थ' कहने से यह सूचित किया है कि भगवान् की पूर्णरूपेण निश्चित सहायता प्राप्त है 'ब्राह्मणान्' पद देकर यह बताया है कि सर्व यज्ञों में ब्राह्मण ही ऋत्विज हो सकते हैं ॥ चाहे क्षत्रिय विद्या और तपस्या से बड़े ही, तो भी यज्ञों में ऋत्विज नहीं हो सकते हैं, 'ब्रह्मवादी' पद से यज्ञ में बैठे हुए ऋत्विजों का उत्कर्ष बताया है ॥६॥

आभास—तान् गणयति द्वैपायन इत्यादिना ।

आमासार्थ—'द्वैपायन' श्लोक से तीन श्लोकों से, उन ब्राह्मणों के नाम कहते हैं—

श्लोक—द्वैपायनो भरद्वाजः सुमन्तुर्गौतमोऽसितः ।

वसिष्ठश्चयवनः कण्वो मैत्रेयः कवषस्त्रितः ॥७॥

विश्वामित्रो वामदेवः सुमतिर्जमिनिः क्रतुः ।

पैलः पराशरो गर्गो वैशम्पायन एव च ॥८॥

अथर्वा कश्यपो धौम्यो रामो भार्गव आसुरिः ।

वीतिहोत्रो मधुच्छन्दा वीर सेनोऽकृतव्रणः ॥९॥

श्लोकार्थ १ द्वैपायन, २ भरद्वाजः, ३ सुमन्तु, ४ गौतम, ५ असित, ६ वसिष्ठ, ७ च्यवन, ८ कण्व, ९ मैत्रेय, १० कवष, ११ त्रित ॥७॥

१२ विश्वामित्र, १३ वामदेव, १४ सुमति, १५ जैमिनी, १६ ऋतु, १७ पेल, १८ पराशर, १९ गर्ग और २० वैशम्पायन ॥८॥

२१ अथर्व, २२ कश्यप, २३ धौम्य, २४ राम, २५ भार्गव, २६ आसुरि, २७ वीति होत्र, २८ मधुच्छन्दा, २९ वीरसेन, ३० अकृतव्रण ॥९॥

सुबोधिनी—त्रिंशद्विंशत्योऽत्र गणिताः अकृत-
व्रणान्ताः । यद्यप्यत्र बहवो ब्राह्मणा मृग्यन्ते
तथापि उत्तमा एतावन्त एवेति । सप्तदश
ऋत्विजः, दश चमसिनः, एकधनिनस्त्रय इति दश
दश उत्कर्षादिभावापन्ना वा उपलक्षणविधया

गणिताः । एकादश प्रथमश्लोकोक्ताः ब्राह्मणा
एव ब्रह्मविदः, विश्वामित्रादयो नव मध्यमा,
अथर्वदिदयो दश नव वा । रामो भार्गव एक इति ।
एते सर्वे महोपाख्यानाः ॥७॥८॥९॥

व्याख्यार्थ—इस यज्ञ में द्वैपायन से अकृत व्रण तक तीस ऋषि ही गिने हैं । जब कि यहां बहुत ब्राह्मणों की आवश्यकता है किन्तु उत्तम इतने ही मिले हैं जिनके नाम कहे हैं, उनमें से सत्रह ऋत्विज हैं । दश चमस^१ रखने वाले हैं और तीन 'एकधन'^२ वाले हैं । इस प्रकार उत्कर्ष आदि भाव को प्राप्त, दश, दश अन्य भी उपलक्षण विधि से अपने समान कहे हैं प्रथम (७) श्लोक में कहे हुए एकादश (११) ब्राह्मण ही ब्रह्मवेत्ता थे । विश्वामित्र से लेकर नव ब्राह्मण मध्यम थे, अथर्व से लेकर अकृतव्रण तक नव वा दश सामान्य थे, राम और भार्गव को एक गिना जाय तो नव होते हैं, पृथक् गिनने से दश होते ये सब महान् उपाख्यान वाले हैं ॥७-८-९॥

आभास—अन्येऽपि राजानः ब्राह्मणाश्च समाहूता इत्याहुः उपहूतास्था चान्ये इति ।

आभासार्थ—केवल इतने का ही यज्ञ में आव्हान नहीं किया था किन्तु दूसरे राजाओं तथा ब्राह्मणों को भी बुलाया था वह 'उपहूत' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—उपहूतास्था चान्ये द्रोणभीष्मकृपादयः ।

धृतराष्ट्रः सहसुतो विदुरश्च महामतिः ॥१०॥

श्लोकार्थ—वैसे ही दूसरे द्रोण, भीष्म, कृप आदि पुत्रों के साथ धृतराष्ट्र और महान् बुद्धिमान विदुरजी को भी आमन्त्रण देकर बुलाया था ॥१०॥

१—यज्ञ में सोमपान करने के 'चमच' को चमस कहते हैं ।

२—यज्ञ में जलभर रखने का जो कलश होता है उसको 'एकधन' कहते हैं ।

सुबोधिनी—भीष्मादयो बन्धुश्रेष्ठाः, द्रोणा-
दयोऽगुरुवः, कृपादयोऽपि मान्याः । सर्वमैत्री
कृतेति शपनार्थं धृतराष्ट्रादीनामाकारणमाह धृत-

राष्ट्रः सहसुत इति दुर्योधनादिसहितः । विदुर
अपि शूद्रयोनिरपि महामतिरिति बीजप्राधान्येन
स्मार्तज्ञानपूर्णत्वात्समाकारणमुचितम् ॥१०॥

व्याख्यार्थ—बान्धवों में श्रेष्ठ भीष्म आदि द्रोण आदि गुरु, कृप आदि माननीयों को भी
आन्वहान किया था तथा सबसे मित्रता की है यह जताने के लिये धृतराष्ट्र आदि को भी आमन्त्रित
किया है दुर्योधन आदि पुत्रों के साथ धृतराष्ट्र को आमन्त्रण भेजा है चूंकि विदुर शूद्र योनि है
तो भी महान् बुद्धिमान है कारण कि बीज का ही प्राधान्य होने से स्मार्त ज्ञान पूर्ण होने से उसका
आन्वहान करना उचित ही है ॥१०॥

आभास—किं बहुना चत्वारो वर्णा जगति विद्यमाना. समाहूता इत्याह ब्राह्मणा
इति ।

आभासार्थ—बहुत कहने से क्या ? जगत् में चार वर्ण हैं अतः चारों वर्णों को बुलाया है
यह 'ब्राह्मण' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा यज्ञदिदृक्षवः ।
तत्रेयुः सर्वराजानो राज्ञां प्रकृतयो नृप ॥११॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों तथा अपनी स्त्रियों समेत सब राजा
यज्ञ के दर्शन की इच्छा से वहां आए ॥११॥

सुबोधिनी—यज्ञदिदृक्षायुक्ताः श्रद्धया अत्रा-
धिकारो निरूपितः । न केवलमाकारणमात्रं किंतु
सर्वे समागता इत्याह तत्रेयुरिति । अन्येषां स्त्रियः
समायास्यन्त्येव । राज्ञां नायास्यन्तीति तासां
राज्ञां प्रकृतय इति । नृपेति संबोधनं सादरम्
॥११॥

व्याख्यार्थ—यहां जो भी आए उनको यज्ञ के दर्शन की लालसा थी इस श्रद्धा के कारण
वे सब अधिकारी हैं यह बताया है, केवल आन्वहान वाले ही नहीं आए किन्तु अन्य सर्व भी श्रद्धा से
आए, दूसरों की स्त्रियां तो आएंगी किन्तु राजाओं की नहीं आएंगी इसलिए कहा है कि उनकी
स्त्रियां भी आई हैं, नृप ! यह संबोधन आदर सूचक है ॥११॥

श्लोक—ततस्ते देवयजनं ब्राह्मणाः स्वर्णलाङ्गलैः ।
कृष्ट्वा तत्र यथाम्रायं दीक्षयांचक्रिरे नृपम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—पश्चात् ब्राह्मणों ने यज्ञ भूमि को सुवर्ण के हल से शुद्ध कर, वहां
वैदिक रीति से राजा को यज्ञ में दीक्षित किया ॥१२॥

सुबोधिनी—राजसूयः साग्निचित्यो भवतीति 'इयं वा अग्नेरतिदाहादबिभेत्' इत्युपाख्यानेन कर्षणं विहितम् । ततो देवयजनं देवा इज्यन्ते अस्मिन् स्थाने इति तत्स्थानम् । ब्राह्मणाः स्वयं

स्वर्णलाङ्गज्ञैः षड्गवैर्द्विदशगवैर्वा कृष्ट्वा उप्त्वा च तत्रैव यथाग्नायं आग्नातानुसारेण दीक्षयाञ्च-
किरे दीक्षां चक्रुरित्यर्थः । अभ्युत्सादयामित्या-
दिवत् अस्यापि 'आम्' प्रत्ययश्छान्दसः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—राजसूय यज्ञ की इच्छा अग्नि वाला ही कर सकता है यह भूमि अग्नि के विशेष दाह होने से भयभीत हुई, अतः वहाँ कहा है कि भूमि को जोत कर शुद्ध करना अनन्तर यज्ञ प्रारम्भ करना चाहिये जहाँ देवों का पूजन किया जावे, इसलिए ही ब्राह्मणों ने सोने के हल में छ अथवा द्वादश बैलों से भूमि को जोतकर शुद्ध किया और उसमें बीजों को बोया, वहाँ ही वेदानुसार राजा को दीक्षा दी 'दीक्षयाञ्च किरे' इस पद में 'आम्' प्रत्यय वैदिक है ॥१२॥

आभास—यज्ञे पदार्थसमृद्धिमाह हैमा इति ।

आभासार्थ—नीचे के तीन श्लोकों में यज्ञ की समृद्धि आदि बताते हैं ।

श्लोक—हैमाः किलोपकरणा वरुणस्य यथा पुरा ।

इन्द्रादयो लोकपाला विरिञ्चिशिवसंयुताः ॥१३॥

श्लोकार्थ—पूर्व, जैसे वरुण के यज्ञ में सब उपकरण (पात्रादि सामान) सोने के थे वैसे ही यहाँ भी थे, ब्रह्मा और शिव सहित इन्द्र आदि लोकपाल भी बुलाये गये थे । ॥१३॥

सुबोधिनी—किलेति, लोकोवु प्रमाणम् । वरुणो निधिपतिरिति सोऽत्र दृष्टान्तोक्रियते । पुरेति तस्यापीदानों दुर्लभ इति सर्वोत्कर्षः । देवा-

दयो लोकपालाः द्वीपान्तरस्था राजानश्च नागता भविष्यन्तीति तेषामाकारणमागमनं चाह इन्द्रा-
दय इति । विरिञ्चिशिवाभ्यां संयुताः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—किल पद का आशय है कि, यहाँ सर्व, सामग्री निश्चय से वरुण के यज्ञ जैसी सोने की थी जिसमें प्रमाण लोक ही है, क्योंकि उन्होंने प्रत्यक्ष देखी थी, वरुण का दृष्टान्त इसलिए दिया है कि वह निधि का स्वामी है, किन्तु 'पुरा' पद कह कर यह भाव प्रकट किया है कि उसको (वरुण को) भी अब ऐसी सामग्री मिलनी दुर्लभ है, इसलिए युधिष्ठिर के यज्ञ का सबसे उत्कर्ष है, अन्य तो आए होंगे किन्तु इन्द्र आदि लोकपाल और अन्य द्वीपों में रहने वाले राजा लोग आदि तो नहीं आए होंगे ? इस शंका के मिटाने के लिए कहते हैं कि ब्रह्मा और शिव समेत उनको भी निमन्त्रित किया गया है ॥१३॥

श्लोक—सगराः सिद्धगन्धर्वा विद्याधरमहोरगाः ।

मुनयो यक्षरक्षांसि खगाः किन्नरचारणाः ॥१४॥

श्लोकार्थ—गणों के साथ सिद्ध और गन्धर्व, विद्याधर, बड़े सर्प, मुनिगण, यक्ष तथा राक्षस, पक्षी किन्नर एवं चारण भी बुलाए हैं । ॥१४॥

सुबोधिनी—सगणाः सेवकसहिताः आदित्य-विश्वाद्यो वा गणदेवाः सिद्धगन्धर्वादयश्च । कुबेरपुलस्तिविभीषणादयः । खगा गरुडापयः । मुनयौऽधिकारिणः सप्तषिरूपाः । यक्षरक्षांसि किन्नराश्चारणाश्च ॥१४॥

व्याख्यार्थ—‘सगणा’ पद का अर्थ सेवकों सहित देवगण अथवा आदित्य विश्वादि गणदेव और सिद्ध, गन्धर्व आदि, अधिकारी सप्तषिरूप मुनि, यक्ष राक्षस कह कर यह बताया है कि, कुबेर पुलस्ति एवं विभीषण आदि पक्षियों से गरुड़ आदि पक्षी कहे हैं, किन्नर और चारण भी आमन्त्रित किये थे ॥१४॥

श्लोक—राजनश्च समाहूता राजपत्न्यश्च सर्वशः ।

राजसूयं समीयुः स्म राज्ञः पाण्डुसुतस्य वै ॥१५॥

श्लोकार्थ—रानियों सहित राजाओं को भी बुलाया गया था, इस प्रकार आमन्त्रित सब पाण्डु के पुत्र राजा युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में आए थे ॥१५॥

सुबोधिनी—ततो द्वीपान्तरस्था राजानश्च समाहूताः चकाराद्ब्राह्मणा वैश्यादयश्च । राजपत्न्यश्च सर्वश इति । अगम्यस्थानेभ्योपि यतो राजसूयं समीयुः । स्मेति प्रमाणम् । राज्ञः पाण्डुसुतस्येति । महता क्रियत इति तत्रागमनं न लज्जाये ॥१५॥

व्याख्यार्थ—अनन्तर अन्य द्वीपों में रहने वाले राजाओं को बुलाया था ‘च’ पद से ब्राह्मण और वैश्यों का भी आवाहन किया था, न केवल राजाओं को, किन्तु जितनी भी राज महिषियाँ थीं उनको भी बुलाया था । जिस स्थान का मार्ग आने जाने में कठिन था वहाँ से भी राजसूय यज्ञ में आ गए । ‘स्म’ यह पद प्रमाण रूप में दिया है । राजा युधिष्ठिर पाण्डु के पुत्र थे इसलिए वे महान् हैं वे यज्ञ कर रहे हैं वहाँ चलने में किसी प्रकार की लज्जा नहीं है ॥१५॥

आभास—ननु सर्वेषां निःशङ्कमागमने को हेतुरित्याशङ्क्य तमाह मेनिरे कृष्णभक्तस्येति ।

आभासार्थ—सब बिना शंशय के आ गए जिसका क्या कारण था ? इस पर ‘मेनिरे’ श्लोक में कहते हैं कि वह कृष्ण भक्त हैं इसलिए निःशंशय आने लगे थे ।

श्लोक—मेनिरे कृष्णभक्तस्य सूपपन्नमविस्मिताः ।

अयाजयन् महाराजं याजका देववर्चसः ।

राजसूयेन विधिमतु प्राचेतसमिवामराः ॥१६॥

श्लोकार्थ—उन्होंने यों माना कि महाराजा युधिष्ठिर श्रीकृष्णचन्द्र का भक्त है,

इसलिए इसका यह यज्ञ निर्विघ्न सरलता से हो जायगा, अतः इनको किसी प्रकार विस्मय न हुवा । जिस प्रकार देवों ने वरुण को यज्ञ कराया था उसी प्रकार देवों जैसे तेजस्वी ब्राह्मणों ने विधि अनुसार यह यज्ञ युधिष्ठिर द्वारा ही करवाया ॥१६॥

सुबोधिनी—अन्यस्य देशादिशुद्धिर्न भवतीति सूत्रपक्षत्वम् । अत एवातिसमृद्धिमपि । दृष्ट्वा अविस्मिताः । ततो याजका ऋत्विजः राजसूयेन मदारराजमयाजयन् । देववर्चसः इति तेषां यज्ञा-

भिव्यक्तिसामर्थ्यं सूचितम् । विधिवदिति नानु-
कल्पः कस्मिन्नप्यंशे । पूर्ववदेव दृष्टान्तः प्राचेत-
समिवामरा इति ॥१६॥

व्याख्यार्थ—दूसरों को यज्ञ करने के लिये देश आदि की शुद्धि चाहिए वह उनके लिए कठिन है किन्तु युधिष्ठिर को तो इस शुद्धि के लिए किसी प्रकार श्रम नहीं हुआ, इस कारण विशेष समृद्धि देख कर किसी को अचम्भा न हुआ, पश्चात् यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों ने महाराज युधिष्ठिर से राजसूय यज्ञ कराया, ऋत्विजों को 'देववर्चसः' विशेषण देकर यह बताया है कि इनमें यज्ञ के स्वरूप को प्रकट करने का सामर्थ्य है 'विधिवत्' विधि के अनुसार, कहने का यह आशय है कि इस यज्ञ में वही वस्तु लाई गई थी जो शास्त्र में लिखी थी, उसके बदले में अन्य वस्तु लाकर कार्य नहीं चलाया था, पूर्व की तरह ही यहाँ भी दृष्टान्त वरुण का दिया गया है जैसे देवों ने वरुण को यज्ञ कराया वैसे देव जैसे तेजस्वी ऋत्विजों ने महाराजा युधिष्ठिर को कराया है ॥१६॥

श्लोक—सुत्येऽहन्यवनीपालो याजकान् सदसस्पतीन् ।

अपूजयन् महाभागान् यथावत् सुसमाहितः ॥१७॥

श्लोकार्थ—यज्ञ में जिस दिन सोम निकाला जाता है वह मुख्य दिन होता है अतः उस दिन राजा ने सावधान हो, यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणों का तथा अन्य आए हुए ब्राह्मणों का दक्षिणा आदि से पूजनादि सत्कार किया ॥१७॥

सुबोधिनी—ततो मुख्ये सुत्येऽहनि 'माध्यं-
दिनसवने दक्षिणा नीयन्ते' इति 'यावन्तो वै
सदस्यास्ते सर्वे दक्षिण्याः' इति च दक्षिणादान-
प्रस्तावे सुत्येऽहनि राजा याजकान् ऋत्विजः,

सदसस्पतीन् सभ्यान्, अन्यानपि महाभागान्
अपूजयत् । यथावदात्रेयादिपूजाप्रकारेण । सुस-
माहित इति क्रोधलोभादिरहितः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—सोम निकालने के मुख्य दिन में जब दक्षिणा देने का समय आया, तब महाराजा ने यज्ञ कराने वाले ऋत्विजों की, सभासदों की और अन्य भी वहाँ जो भाग्यवान् थे उन सब की जैसे आत्रेय पूजा की विधि कही है वैसे ही क्रोध, लोभ आदि त्याग कर पूजा की, इस प्रकार महाराजा ने जो पूजा की वह 'माध्यंदिनसवने दक्षिणा नीयन्ते' इति 'यावन्तो वै सदस्यास्त सर्वे दक्षिण्याः' इस शास्त्र के वचनानुसार किया ।

१—मध्याह्न सत्र में सोम निकालने के समय ऋत्विज दक्षिणा लेकर जाते हैं ।

२—जितने सभासद हो वे सब दक्षिणा देने के योग्य हैं ।

आभास—अत्राधिदैविकपूजार्थं मुख्योऽयमेव याग इति विचार आरभ्यते । सदस्ये-
त्यादि ऋत्विग्भ्य इत्यन्तेन ।

आभासार्थ—आधिदैविक की पूजा ही मुख्य यज्ञ है इसलिए अब 'सदस्याग्र्यार्हणार्ह' १८ के श्लोक से 'ऋत्विग्भ्य' ४७ श्लोक तक के श्लोकों में यही विचार किया जाता है कि कौन पूजा रूप करने के योग्य है जिससे आधिदैविक यज्ञ की सिद्धि हो सके । आप

श्लोक—सदस्याग्र्यार्हणार्ह वै विमृशन्तः सभासदः ।

नाध्यगच्छन्ननैकान्त्यात् सहदेवस्तदाब्रवीत् ॥१८॥

श्लोकार्थ—इस सभासदों में से कौन अग्र पूजा के योग्य हैं ? यह निर्णय करने के लिए सभासद विचार करने लगे, किन्तु इसका अन्तिम निर्णय जब न कर सके तब सहदेव कहने लगा ॥१८॥

सुबोधिनी—सदस्याग्र्यार्ह बहुदक्षिणो यागे सुप्रसिद्धाः । यथा याज्ञवल्क्याय गोसहस्ररूपा दत्ता । ब्राह्मणेषु ब्रह्मविदेव तदर्हतीति । यद्यत्र परब्रह्म न भवति मूर्ति धृत्वा तत्र जीवानां मध्ये तदभिज्ञोऽपि महाम् भवति यत्र पुनर्भगवानेवा-
विलुप्तमहिमा मूर्तीः परिगृह्य तिष्ठति तत्र कि पूर्वन्यायेन अनुकल्प एव कर्तव्यः आहोस्विद्भगवते देयमिति अनुकल्पेनापि समारम्भे तेनैव समाप्तिः कर्तव्येति । सर्वयागेषु ऋषिभिरनुकल्प एव समा-
रब्धः तस्मादत्रापि ब्रह्मविदां मध्ये केनाप्यतिश-
येन यो महान् भवति स एव पूजामर्हतीति केचित् ।
तथा सति व्यासो वसिष्ठो वा भवति यज्ञानां सर्वत्र संस्थितेः उक्तत्वात् । प्रक्रियान्तरे मुख्ये संभ-
वति गौणकल्पनाया अन्याय्यत्वात् भगवानेवार्ह-
तीत्यन्ये । एवमपि व्यासस्योभयरूपत्वात् कुल-
वृद्धत्वात् पितामहत्वाच्च स एवार्हतीत्यपरे । सर्व-

धर्माभिज्ञः भीष्मस्ततोऽपि ज्येष्ठ इति मु-
तीति केचित् । तस्यापि गुरुः परशुराम इ-
सर्वत्र च नानाविधा युक्तयः प्रसरन्ति तत्र स-
हेतुः कोऽप्यव्यभिचारी नास्ति । ब्रह्मविस्व-
वत्त्वं मान्यत्वं श्रेष्ठत्वमन्यद्वा साक्षात्परब्रह्म-
सर्वकलापूर्णत्वं सच्चिदानन्दविग्रहत्वं कृष्णस्य
भगवतः कश्चिदेव जानाति । अतोऽंशत्वमेव
साधारणमिति न सर्वेषां प्रथमतः संमतिः । ततः
श्रेष्ठत्वं विमृशन्तः सर्व एव सभासदः कमपि
सर्वोत्कृष्टं नाध्यगच्छन् । तत्र हेतुः हेतोरनैकान्त्या-
दिति । तत्र सहदेवः साक्षात्पूर्णपरब्रह्मत्वं सर्व-
दोषरहितं हेतुं मन्यमानः कृष्णे भगवति तत्सा-
धयितुमब्रवीत् । स हि ज्ञानकलावतारः सर्वज्ञो
द्वादशवाषिकमेष्ट्यं जानाति तथाप्यपृष्टो न वदति ।
अत्र तु जिज्ञासायां सर्व एव पृष्टा भवन्तीति भग-
वत्प्रेरणया अब्रवीत् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—बहुत दक्षिणा वाले यज्ञ में, सभासदों में अग्र पूजा के योग्य अनेक प्रसिद्ध हैं, जैसे कि ब्राह्मणों में उत्तम वह है, जो ब्रह्म को पहचानता है, इसलिए ब्रह्मज्ञ याज्ञवल्क्य को जनक के यज्ञ में एक सहस्र गौ दक्षिणा में दी गई थी । ब्राह्मणों में वही पूजन के योग्य होता है जो ब्रह्मवेत्ता अर्थात् ब्रह्म को जानने वाला हो, यों है, यदि यहाँ स्वरूप को धारण कर प्रकट परब्रह्म विद्यमान (मौजूद) न हो तो वैसी स्थिति में, जीवों के बीच में से उस परब्रह्म को जानने वाला महान् माना जाता है जहाँ फिर जिनकी महिमा प्रकट ही हैं वैसे भगवान् स्वरूप धारण कर

बिराजते हैं वहां पूर्वं न्याय के अनुसार क्या अनुकल्प ही किया जाय ? अथवा भगवान् की अग्र पूजा की जाय ? यदि अनुकल्प से ही प्रारम्भ किया है तो अनुकल्प से ही समाप्ति करनी चाहिए ।

इस विषय पर सभासदों के विचार पृथक् थे जिससे निर्णय न हो सका ।

१- मत यह था कि प्रायः यज्ञों में ऋषिगण जब अनुकल्प से ही कार्य पूर्ण करते हैं, तब यहाँ भी ब्रह्मजों में जो किसी प्रकार श्रेष्ठ हो उसकी अनुकल्प विधि अनुसार पूजा कर लेनी चाहिए, इसलिए व्यास और वसिष्ठ ही पूजा योग्य हैं क्योंकि यज्ञों में सर्वत्र ये स्थित (मौजूद) रहते हैं ।

२- दूसरों का मत था कि जब मुख्य वस्तु विद्यमान हो तब अनुकल्प से कार्य पूर्ण करना अन्याय है अतः भगवान् ही पूजा के योग्य हैं ।

३- तीसरों का मत था कि व्यासजी में दोनों प्रकार मुख्यता है भगवान् का ज्ञानावतार होने से ब्रह्म भी है और ब्रह्मज्ञ भी हैं तथा कुलवृद्ध एवं पितामह होने से यह ही पूजा योग्य हैं ।

४- चौथों का मत था कि सर्व धर्म को जानने वाले भीष्म उससे भी बड़े हैं अतः वह ही पूजा के योग्य हैं ।

५- पाँचवों का मत था कि भीष्म के भी गुरु परसुराम हैं उनका पूजन होना चाहिए ।

इस प्रकार सर्वत्र अनेक प्रकार की युक्तियाँ दी जा सकती हैं । वहाँ विषय की पूर्ण रीति से सिद्ध करने वाला अव्यभिचारी हेतु कोई नहीं है । ब्रह्मजता, भगवत्त्व, मान्यत्व, श्रेष्ठत्व अथवा अन्य गुण और साक्षात्-परब्रह्मत्व, सर्व कलाओं से पूर्णता सच्चिदानन्द विग्रहपन भगवान् कृष्ण के इत्यादि गुण कोई ही जानता हैं, अतः अंशपन सबमें समान होने से किसी की भी, पहले श्रीकृष्ण के पूजन में सम्मति न हुई । सर्व सभासद विचार विमर्श करते हुए किसी को भी सर्वोत्कृष्ट (सब से उत्तम) न जान सके, उसमें कारण यह था कि उनको कोई हेतु निर्णय कारक नहीं मिला ।

वहाँ भगवान् कृष्ण में ही साक्षात् पूर्ण परब्रह्मपन एवं सर्वदोष रहितपन पूजा का हेतु है यों मानने वाला सहदेव उस हेतु को सिद्ध करने के लिये बोलने लगा, कारण कि वह ज्ञानकला-वतार एवं सर्वज्ञ था, उसकी आयु १२ वर्ष की ही थी, यों होते हुए भी बिना पूछने के बोलने की इच्छा नहीं थी, इस विषय पर जिज्ञासा के कारण, सर्व ही पूछे हुए समझने चाहिये, तो भी भगवान् को प्रेरणा से कहने लगा ॥१८॥

आभास—आदौ साध्यं निर्दिशति अर्हति ह्यच्युतः श्रेष्ठ्यमिति ।

आभासार्थ—पहिले जिसको सिद्ध करना है वह विषय हेतु देकर 'अर्हति' श्लोक में सिद्ध करता है ।

१-अनुकल्प का तात्पर्य है कि यदि मुख्य वस्तु न मिले तो उसके ब्रह्म में जिसमें वैसे स्वल्प भी गुण हो उस वस्तु से कार्य किया जाय ।

श्लोकार्थ—अर्हति ह्यच्युतः श्रेष्ठं भगवान् सात्वतां पतिः ।

एष वै देवताः सर्वा देशकालधनादयः ॥१६॥

श्लोकार्थ—सहदेव ने कहा कि वैष्णवों के पति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अग्र पूजा के योग्य हैं क्योंकि देवता, देश, काल और धन आदि सर्व ये ही हैं और अच्युत हैं ॥१६॥

सुबोधिनी—तत्र हेतुर्भगवानिति । भगवत्त्वं व्यासादिष्वप्यस्तीत्याशङ्क्याह सात्वतां पतिरिति । अन्ये हि कार्यार्थं भगवदंशपुरुषनिमित्तप्रपञ्चैकदेशार्थसिद्धयर्थं केनचिदंशेनावतीर्णाः कृष्णस्तु वैष्णवानां पतिरिति कालगृहे समागतान् कालं वञ्चयित्वानेतुमागत इति मर्यादारक्षार्थं पतित्वात् समागतः । अतो भगवदिच्छयैव कालसंबन्धिनो न तं जानन्ति । तस्मादयमव्यभिचारी हेतुः पूर्णभगवत्त्वमिति । ननु तथापि प्रकरणानुरोधेन पदार्थनिर्णयः कर्तव्यः प्रकरणमत्र देवानां प्रीतिः 'यक्ष्ये विभूतीः' इतिवाक्यात् न हि यत् सेवकेभ्यो देयं तत् स्वामिने दातुं शक्यते । लोकाः स्वामिदर्शनेऽपि न सेवकेभ्यः प्रवच्छन्तीत्याशङ्क्यामाह एष वै देवताः सर्वा इति । यदि सर्वे देवाः प्रीणनीयाः तदा स्थानापेक्षया स्वरूपमुत्तममिति 'यावतीर्वै देवताः' यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्य-किचना' इति वाक्यानुरोधं परित्यज्य साक्षात्सर्वदेवतारूपं भगवन्तमेव पूजयन्तिवत्यर्थः । वै निश्चयेनेति उपचारव्यावृत्तिरुक्ता । यथा 'अग्निः सर्वा देवताः' 'आपो वै सर्वा देवताः' इति तत्र तत्रोपा-

ख्याने सर्वदेवत्वं तेषां गौणभावत्वेन निरूपितम् । यथा 'देवासुराः संयत्ताः आसन् ते देवा विभ्यतोऽग्निं प्राविशन् तस्मादाहुरग्निः सर्वा देवता' इति तथाग्निरपि अपः प्राविशत् । 'स निलायत सोऽपः प्राविशत्' इति । एवं केनचिन्निमित्तेनैव सर्वेषां सर्वदेवतारूपत्वं गौणमेव स्वभावत एव भगवान् सर्वदेवतारूपः 'कदाचित्सर्वमात्मैव भवति' इति पक्षे त एव देवा अत्र पूज्याः 'इन्द्रादयो बाहवः' इत्यादिवाक्याद्वा अधिदैविका एव वज्रभाज इति । ननु तथापि योग्य कस्मिंश्चिद्देशे कस्मिंश्चित्काले तत्र प्रवर्तमानस्य यागस्य ऋषीणां तदधीनत्वात् तद्देशतत्कालाभिमानिनां देवतैव प्रकरणवशात् पूजा महंतित्याशङ्क्याह देशकालेति । ननु तथापि योग्यं योग्येन संबध्यत इति प्राकृता धनादयः पदार्थाः कथं साक्षाद्भगवते दातुं शक्याः । लोकेपि विप्राय गुरवे स्वामिने नहि शूद्रः स्वकन्यां प्रयच्छति किंतु शूद्रायैवाधमायापि दातुं वाञ्छतीत्याशङ्क्याह धनादय इति । आदिशब्देन वस्त्राभरणानि गवा-दयश्चोच्यन्ते ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—श्रीकृष्ण की पूजा में कारण देता है कि वे 'भगवान्' हैं यदि कोई कहे कि भगवान्पन तो व्यासादि में भी है तो उसके उत्तर में कहते हैं कि वैष्णवों के पति हैं व्यासादि वैष्णवों के पति नहीं हैं, दूसरे जिनमें भगवत्पन है वे कार्य के लिये भगवान् के अंश पुरुष के रचे हुए प्रपञ्च में किसी एक देश के कार्य को सिद्ध करने के लिए किसी अंश से अवतार लिए हुए हैं, श्रीकृष्ण तो वैष्णवों के पति हैं अतः जो जीव इस कालगृह संसार में आए हैं उनको लेने के लिए आए हैं । काल की भी वञ्चना कर कालगृह से निकाल ले जायेंगे, क्योंकि आप पति हैं अतः पतिपन की मर्यादा रखने के लिये स्वयं पधारें हैं, काल से जिनका सम्बन्ध है वे भगवान् की इच्छा से उनको नहीं पहचान सकते हैं । इसी कारण से ही श्रीकृष्ण का पूर्ण भगवत्त्व ही पूजा के लिए अव्यभिचारी कारण है ।

यों हो, तो भी प्रकरणानुसार ही विषय का निर्णय करना चाहिए यहाँ प्रकरण है, देवों की प्रीति अर्थात् देवों को प्रसन्न करना, क्योंकि पहिले ही महाराजा ने कहा है कि 'यक्ष्ये विभूतीः' आपकी विभूतियों का पूजन करूँगा, जो वस्तु सेवकों को देनी है, वह स्वामी को नहीं दी जाती है। यदि कहो कि लोग स्वामी के दर्शन (मौजुद) होते हुए भी सेवकों को देते हैं, तो इसके उत्तर में कहते हैं कि 'एष वै देवताः सर्वा' यह निश्चय सर्व देव रूप हैं, यदि सकल देवों को प्रसन्न करने की इच्छा होवे तो देवताओं के वास के स्थान से देवताओं का स्वरूप उत्तम है अतः जितने देवता हैं वे ब्रह्म जानने वाले ब्राह्मण में रहते हैं, जिनकी भगवान् में निष्प्रयोजन भक्ति है उनमें सर्व देव रहते हैं। इन वाक्यों में आदर त्याग कर साक्षात् सर्वदेव स्वरूप भगवान् की ही पूजा करिए।

'अग्नि सर्वदेव रूप है' 'जल सर्वदेव रूप है' ऐसा जो उपाख्यानों में इनको सर्वदेव रूप कहा है वह गौणता से कहा है, इसलिए इस प्रकार का उपचार नहीं हुआ है, यह जताने के लिए 'एष वै देवताः सर्वा' इस मन्त्र में 'वै' निश्चयवाचक पद दिया है। जैसा कि कहा है—देव असुरों के युद्ध में, देवता डर कर अग्नि में प्रविष्ट हुए इसलिए ही कहते हैं कि अग्नि सर्वदेव रूप है वैसे ही अग्नि देव भी जल में प्रविष्ट हुआ, इस प्रकार किसी निमित्त से ही सबका सर्वदेव रूपपन जो कहा है वह गौण ही है। स्वभाव से तो भगवान् ही सर्व रूप हैं। 'कदाचित्सर्वमात्मैव भवति' किसी समय आत्मा ही सब होता है, इस मतानुसार वे देव भी श्रीकृष्ण स्वरूप में ही पूज्य हैं। 'इन्द्रादयो बाहवः' इन्द्र आदि देव भुजाए है, इत्यादि प्रमाण से आधिदैविक ही यज्ञ का भाग लेने वाले हैं। यों हैं, तो भी किस देश में, किस काल में, वहाँ प्रारम्भ किया हुआ यज्ञ ऋषियों के आधीन होने से उस देश और काल के अभिमानी देव ही प्रकरण वश पूजा के योग्य होते हैं। इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हैं कि देश, काल, धन भी वही है। शंका करते हैं कि योग्य का सम्बन्ध योग्य से ही होना चाहिए, धनादि पदार्थ प्राकृत हैं, वे साक्षात् अप्राकृत भगवान् को कैसे दिए जा सकते हैं? लोक में शुद्र भी अपनी कन्या ब्राह्मण, गुरु वा स्वामी को नहीं देता है, किन्तु अधम शुद्र को ही देना चाहता है, आदि शब्द से वस्त्र आभूषण गौ आदि कही जाती हैं ॥१६॥

आभास—एवं ब्रह्मत्वमङ्गीकृत्य तस्मिन् दानं समर्पितं ब्रह्मत्वं तु साधयति यदात्मकमिदं विश्वमिति ।

आभासाथं—श्रीकृष्ण में ब्रह्मत्व है अर्थात् श्रीकृष्ण ब्रह्म है इसलिए इनकी ही अग्र पूजा करनी चाहिए, इस ब्रह्मत्व को 'यदात्मकमिदं विश्वं' श्लोक में सिद्ध करता है।

श्लोक—यदात्मकमिदं विश्वं कतवश्च यदात्मकाः ।

अग्निराहुतियो मन्त्राः सांख्ये योगश्च यत्परः ॥२०॥

श्लोकार्थ—यह विश्व और यज्ञ जिस श्रीकृष्ण के रूप हैं अग्नि, आहुतियाँ एवं मन्त्र भी जिसके रूप हैं सांख्य तथा योग भी जिसके परायण हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—विश्वस्येतदात्मकत्वे यशोदा वेदार्थरूपत्वमप्याह कतवश्च यदात्मका इति । प्रमाणं न केवल लौकिकात्मत्वे ब्रह्मत्वमिति त्रुतूनां तदात्मकत्वे ब्रह्मत्वत्तार एव प्रमाणम् ।

सर्वयज्ञस्वरूपत्वं प्रकटयन् तेन रूपेण प्रादुर्भूतो भगवान् । सर्वमग्नौ हूयत इति अग्निप्रीतिः कर्तव्येति प्रकरणपक्षेऽप्याह अग्निरिति । अयमेवाग्निः 'ब्रह्मा तर्हि अग्निः' इति श्रुतेः तादृश एव च होमः । योग्यत्वाय आहुतीनां भगवत्त्वमाह आहुतय इति । मन्त्राभिमानिनी देवता प्रकरणवशान्मुख्येत्याशङ्क्याह मन्त्रा इति । तथापि शास्त्रनुसारेण यो महान् भवति स एव ग्राह्यो न युक्त्या किञ्चित् कर्तव्यमित्याशङ्क्यामाह सांख्यं योगश्च यत्पर इति । वेददीनि पञ्चशास्त्राणि तत्र ब्रह्मत्वे यज्ञत्वे

च सिद्धे वेदार्थः सिद्धः । सांख्यस्य त्वत्रैव तात्पर्य एतस्यैव सर्वात्मत्वं स्नेहानिश्चितम् । योगस्यापि ध्यानमूर्तिरयमेवेति आत्मेति च एतदर्थमेव चित्तवृत्तिरोधोमिति 'आत्मन्येव वशं नयेत्' इति वाक्यात्तात्पर्यम् । चकारात्पशुपतिमतस्याप्यत्रैव । स्कन्दपुराणे महादेवेन स्कन्दं प्रत्युक्तवात् 'परमो विष्णुरेवैकस्तज्ज्ञानं परमं मतम् । शास्त्राणां निर्णयस्त्वेष्टस्तदन्यन्मोहनाय हि' इति । वैष्णवसिद्धान्ते तु न सन्देह एव । अतः सर्वशास्त्राणामत्रैव तात्पर्यमित्यर्थः ॥२०॥

व्याख्यार्थ—यह विद्वद् इन (श्रीकृष्ण) का रूप है जिसमें यशोदा प्रमाण है केवल विश्व की आत्मा होने से ही श्रीकृष्ण का ब्रह्मत्व नहीं है किन्तु वेद के अर्थ जो यज्ञ है इनके भी आत्मा ये ही हैं अर्थात् यज्ञ भी इनके रूप है, यज्ञ इनके रूप है जिसमें वराह अवतार प्रमाण है । सर्व यज्ञों का स्वरूप प्रकट करते हुए इस (वराह) रूप से भगवान् प्रकट हुए, सब अग्नि में होमा जाता है, इससे अग्नि की प्रीति करनी चाहिए, इस मत के प्रकरणानुसार ही कहा है कि अग्नि भी यह ही है, अग्नि ही ब्रह्म होने से अग्नि पूजा के योग्य है, आहुतियाँ भी इनके ही रूप होने से पूजनीय हैं । प्रकरण वश मन्त्र का अभिमानि देवता पूज्या है इसलिए कहा मन्त्र भी इनके ही रूप है, तो भी शास्त्र के अनुसार जो महान् होवे वह ही महान् समझना चाहिए और उसकी पूजा करनी चाहिए, युक्ति से कुछ नहीं करना चाहिए, इस प्रकार की शंका का उत्तर देते हैं कि 'सांख्यं योगश्च यत्परः' सांख्य और योग का भी इनमें ही तात्पर्य है । वेद आदि जो पांच शास्त्र हैं वहाँ ब्रह्मत्व और यज्ञत्व सिद्ध हो जाने से वेद का अर्थ सिद्ध हो गया । सांख्य का तात्पर्य इनमें इसीलिए है कि रनेह से सबका आत्मापन सिद्ध हुआ है, सब आत्मा है, इस सांख्य ज्ञान के कारण ही सब प्रिय लगता है योगानुसार ध्यान योग्य मूर्ति भी ये ही हैं इसलिए कि आत्मा हैं, इसके लिए ही इनमें चित्त की वृत्ति का निरोध योग कहा है चित्त को आत्मा के ही अधीन करें, इस प्रकार वाक्य से तात्पर्य है, 'च' पद से पशुपति मत का भी यहां ही (श्रीकृष्ण में ही) तात्पर्य है, जैसा कि स्कन्द पुराण में महादेवजी ने स्कन्द को कहा है कि 'परमो विष्णुरेवैकस्तज्ज्ञानं परमं मतम् । शास्त्राणां निर्णयस्त्वेष्टस्तदन्यन्मोहनाय हि' एक विष्णु ही बड़ा है, उनका ज्ञान ही परम ज्ञान है शास्त्रों का यह ही निर्णय है, अन्य प्रकार जो कुछ कहा है वह मोहित करने के लिए कहा गया है, वैष्णव सिद्धान्त में तो इस विषय में कोई सन्देह ही नहीं है । अतः सर्व शास्त्रों का इन (श्रीकृष्ण) में ही तात्पर्य है, इस प्रकार अर्थ (तत्त्व) है ॥२०॥

आभास—ननु तथापि ब्रह्मलक्षणाभावे कथं ब्रह्मत्वमिति चेत्तत्राह एक एवाद्वि-
तीयोऽप्राविति ।

आभासार्थ—तो भी यदि श्रीकृष्ण में ब्रह्म के लक्षण नहीं हो तो वे ब्रह्म कैसे ? इसका उत्तर 'एक एवाद्वितीयो' श्लोक में देता है ।

श्लोक—एक एवाद्वितीयोऽसादंतदात्म्यमिदं जगत् ।

आत्मनात्माश्रयः सभ्याः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥२१॥

श्लोकार्थ—ये श्रीकृष्ण ही एक और अद्वितीय हैं तथा इस जगत् के आत्मा भी ये श्रीकृष्ण ही हैं, हे सभासदों ! आप ही अपने आश्रयरूप और अजन्मा ये ही जगत् को बनाते हैं पालते हैं और लीन करते हैं ॥२१॥

सुबोधिनी—वेदान्तेषु एकं ब्रह्म अद्वितीयं ब्रह्मेति क्वचित् ब्रह्मलक्षणं क्वचिन्निर्णयशास्त्रे विश्वं ब्रह्मेति अत एव विश्वमित्प्रथमनाम । किंच, स आत्मानं स्वयमकुर्वत इति श्रुतेः । 'यो ह्यात्मानं स्वयं करोति स आत्मा ब्रह्मेति' 'यस्त्वात्माश्रयः स ब्रह्मेति' 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतिभिः सृष्टिप्रलयकर्ता ब्रह्मैव यस्तु सर्वान्तर्यामी सर्वप्रेरकः स ब्रह्मेति 'अन्तरो यमयति' इति श्रुतेः । एवं बहुवाक्यानु-रोधेन सर्वमेव धर्मजातं भगवद्भूतमित्प्रनुवदति । एक एवायं महता दृष्टिरत्र प्रमाणं । तं हि सर्वत्र

दृष्टमेव पश्यन्ति अद्वितीयश्च 'ज्योतीषि विष्णुः' इत्यादिवाक्यात् । तेषामनुभवोऽपि प्रमाणं सोऽन्यो भविष्यतीत्याशङ्क्याह असाविति । सर्वेषामेव भूतानां पिता माता स माधवः । तमेव शरणं यात शरण्यं कौरवर्षभाः' इति मार्कण्डेयवाक्यात् पर्ण-पुटे तेनायमेव दृष्ट इत्यभिज्ञानाच्च । किंच । ऐतदा-त्म्यमिदं जगत् दुर्वाससा आरण्यके पर्वणि निर्धा-रितं अन्यथा शाकान्नमुष्टिभक्षणो न कथं ते तृप्ता भवेयुः । किंच । अयमेवात्मनात्माश्रयो भूत्वा जगत् आत्मस्वरूपं सृजत्यवति हन्ति स्वयं त्वजः । अत्र प्रमाणं सभ्या इति संबोधनं संमत्यर्थम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—वेदान्तो' में ब्रह्म एक है एवं अद्वितीय है, इसी प्रकार का लक्षण कहीं कहा गया है, किसी निर्णय करने वाले शास्त्र में कहा है कि 'विश्वं ब्रह्म' विश्व ब्रह्म है इस कारण से ही 'विश्व' यह पहला नाम है फिर अन्यत्र 'स आत्मानं स्वयमकुर्वत' इस श्रुति में कहा है कि उन्होंने अपने को आप ही किया । जो अपने को आप ही अनेक रूप विश्व कर सकते हैं वे ही आत्मा ब्रह्म हैं और जो अपना आश्रय भी आप ही है, वह ब्रह्म है और जिससे ये प्राणी मात्र उत्पन्न होते हैं, इन और अन्य श्रुतियों से सिद्ध है कि सृष्टि और प्रलय करने वाला ही ब्रह्म है, जो कि सर्व के अन्तर्यामी, सर्व के प्रेरक वे ही ब्रह्म हैं, 'अन्तरो यमयति' इस श्रुति के अनुसार जो अन्दर विराजमान है वे ही वश करते हैं अर्थात् सर्व के अन्तर्यामी भीतर ही बैठ कर जो सबको प्रेरणा कर रहे हैं, वे ही ब्रह्म हैं, इसी भाँति अनेक वाक्यों के आग्रह से सर्व धर्म से उत्पन्न जो कुछ है वह सर्व भगवान् में रहा हुआ है यों कहने लगा ।

ये एक ही हैं, इस विषय में महापुरुषों की दृष्टि ही प्रमाण है, क्योंकि वे ही सर्वत्र सर्व में श्रीकृष्ण का ही दर्शन कर रहे हैं, और वे ही अद्वितीय हैं, क्योंकि 'ज्योतीषि विष्णुः' इस श्रुति में बारों को भी विष्णु कहा है, इस तरह उन महापुरुषों का अनुभव भी इस विषय में प्रमाण है । वे अन्य होंगे ? इस शंका के उत्तर में कहता है कि 'असौ' वे ये ही हैं जैसे कि कहा है 'सर्वेषामेव भूतानां' पिता माता स माधव. तमेव शरणं यात शरण्यं कौरवर्षभाः' यह श्लोक मार्कण्डेय पुराण

का है, मार्कण्डेय ऋषि ने दोनों में इनको ही देखा था, अतः कौरवों को इस श्लोक में यह उपदेश दिया है कि सब ही प्राणियों के माता पिता वे 'माधव ही है अतः हे कौरव श्रेष्ठों ! उन शरण्य की शरण लो और फिर 'ऐतदात्म्यमिदं जगत्' इस जगत् की आत्मा वे ही हैं इसका प्रत्यक्ष प्रमाण दुर्वासा ने देखकर आरण्यक पर्व में कहा कि ये ही सबकी आत्मा हैं अन्यथा इनके शाक के पत्ते खाने से सब तृप्त कैसे हो जाय ? और विशेष में ये ही अपने आपके ही आश्रय होकर आत्म स्वरूप जगत् को बनाते हैं, पालते हैं और लीन करते हैं किन्तु आप अजन्मे ही रहते हैं इसमें प्रमाण आप सभ्य है यह सम्बोधन सम्मति लेने के लिये दिया है ॥२१॥

श्लोक—विविधानीह कर्माणि जनयन् यदवेक्षया ।

ईहते हृदयं सर्वः श्रेयो धर्मादिलक्षणम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—ये ही भगवान् इस जगत् में अनेक प्रकार के कर्म उत्पन्न करते ही रहते हैं, उनकी ही कृपा से सब लोग अनेक प्रकार के शुभ कर्म कर धर्मादि पुरुषार्थ सिद्ध कर कल्याण प्राप्त करते हैं ।

सुबोधिनी—किञ्च । इहैव जगति विविधानि कर्माणि जनयन् यो वर्तते । सर्वकर्मण्ययमेवोत्पादयति 'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचम्' इति वाक्यानुसारेण । अत्रापि प्रमाण 'सभ्या' इत्येव । किञ्च ।

साक्षी चायं यतः सर्वोऽपि लोकोऽस्मदादिः धर्मादिलक्षणं श्रेय ईहते यदवेक्षयैव, न हि भगवदवेक्षाभावे श्रेयः सिद्धयति । अत्र वयमेव प्रमाणम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—जो श्रीकृष्ण इस जगत् में अनेक कर्म उत्पन्न करते हुए विराजते हैं 'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचम्' इस वाक्य के अनुसार अन्दर प्रवेश कर, जो मेरी वाणी को प्रेरणा करते हैं ये भगवान् ही सर्व कर्मों को उत्पन्न करते हैं इसमें भी आप सभ्य होने से प्रमाण हैं साक्षी तो ये ही हैं क्योंकि हम सब लोग जिनके सहारे सेवा कृपा दृष्टि से ही धर्म आदि रूप कल्याण प्राप्त करने के लिए प्रयत्न कर सकते हैं, भगवान् की कृपा दृष्टि के बिना श्रेय की सिद्धि नहीं हो सकती इस त्रिषय में हम ही प्रमाण हैं ॥२२॥

श्लोक—तस्मात्कृष्णाय महते दीयतां परमार्हणम् ।

एवं चेत्सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेत् ॥२३॥

श्लोकार्थ—इसलिए महात्मा श्रीकृष्णचन्द्र को ही अग्र पूजा दीजिए यों करने से सब प्राणियों की और अपनी भी पूजा हो जायगी ॥२३॥

सुबोधिनी—तस्मात् साक्षात्पूर्ण परब्रह्मत्वात् सर्वानुपपत्त्यभावाच्च । कृष्णायैव दीयतां परमार्हणम् । तथाप्यस्मदपेक्षया कनिष्ठः मातुलेयः कथं दानमर्हतीत्याशङ्क्यामाह महत इति । विश्व-

रूपप्रदर्शनाद् 'पिता माता' इति वाक्याच्च महत्त्वं सिद्धं मोहार्थमेव च तस्याल्पत्वमिति, परत्थत्वा-
र्हणं न देयं किन्तु परमार्हणम् । नन्वेवं कृते को विशेषः अलौकिकं च भवति अतो व्याज्यादिरेव

कश्चित्पूजाहो भवत्वित्याशङ्गायामाह एवं चेदिति । इति श्रुतिविरोधश्च । अतस्तादृशाय देयं यस्मिन्
अत्र बहवः एव समानास्तिष्ठन्ति सर्व एवैकदा दाने सर्व एव तृप्ता भवन्ति सोयमेवेत्याह एवं
पूजयितुमशक्याः तत एकपूजायामन्यद्रोहो भव- चेत्सर्वभूतानामात्मनश्चार्हणं भवेदिति ॥२३॥
तीति प्रत्यक्षविरोधः । अथ 'योऽन्यां देवतामुपास्ते'

व्याख्यानार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् पूर्ण परब्रह्म हैं जिस में किसी प्रकार अयोग्यपन नहीं है
सब प्रकार की उपपत्तियाँ विद्यमान (मौजूद) हैं इसलिए इनकी ही अग्रपूजा कीजिए ।

यों है तो भी हमारी अपेक्षा वे छोटे हैं, मामा के बेटे हैं वे दान कैसे लेंगे ? इस शंका को
मिटाने हैं कि ये 'महान्' हैं क्योंकि उन्होंने अपने में विश्वरूप का दर्शन कराया है तथा 'माता पिता'
है यों पहले कह आए हैं, इस वाक्य से भी उनका महान्पन सिद्ध है, उनका अल्पत्व मोह के कारण
ही हम लोग समझते हैं, अथवा हमको मोह में फँसाने के लिए अल्पत्व प्रकट करते हैं, अतः इनका
पूजन साधारण नहीं करना किन्तु महान् पूजन करना चाहिये ।

यों करने पर क्या विशेषता अथवा अलौकिक होगा ? अतः जैसे व्यासादि ही कोई ऋषि
पूजा के योग्य हो वैसे ही करना चाहिए इसके उत्तर में कहता है कि यदि यों किया जायेगा तो
असमञ्जसता होगी, क्योंकि यहां बहुत एक समान बैठे हैं सबकी साथ में पूजन करना अशक्य है
तो एक की पूजा से दूसरे का द्रोह^२ होगा, इस प्रकार प्रत्यक्ष विरोध है और 'योऽन्यां देवतामुपास्ते'^३
इस श्रुति का भी विरोध होगा, अतः उसका यह अग्रपूजन किया जाय जिसके करने से सब प्रसन्न
एवं तृप्त हों ऐसे तो ये श्रीकृष्ण ही हैं इस प्रकार यदि पूजा दान करने में आवे तो सर्वभूतों का,
अपना भी पूजन हो जाएगा ॥२३॥

आभास—तत्र हेतुः सर्वभूतात्मभूतायेति ।

आभासार्थ—'सर्वभूतात्मभूताय' श्लोक से इसमें कारण बताता है ।

श्लोक—सर्वभूतात्मभूताय कृष्णायानन्यदर्शने ।

देयं शान्ताय पूर्णाय दत्तस्यानन्त्यमिच्छता ॥२४॥

श्लोकार्थ—जो मनुष्य दान का अनन्त फल चाहता हो उसको चाहिए कि सर्व
प्राणी रूप और आत्म रूप हुवे अन्य कुछ भी न देखने वाले, शान्त और पूर्ण स्वरूप
इन श्रीकृष्ण को ही पूजा दान देवें ।

सुबोधिनी—सर्वभूतभूतः आत्मभूतश्च । वेद- तथापि गृहीत्वावतारः कदाचिदपि आत्मानं परि-
व्यासव्यावृत्त्यर्थं कृष्णायैत्येकवचनकथनम् । ननु चिच्छन्न मन्यते तदा दोषादानमनुचितं स्यादित्या-

शङ्क्याह । अनन्यदर्शन इति । न तस्य क्वचिद-
प्यन्यदर्शनमस्ति किंतु सर्वमात्मत्वेनैव पश्यती-
त्यर्थः प्रसङ्गाद्दोषान्तरमपि वारयति शान्ताय

पूर्णयेति । शान्तो दानपात्रं पूर्णश्च, लोलुपता
क्रोधश्च, दोषी । एवं निर्दोषपूर्णगुणपात्रे दाने
अनन्तं फलं भवति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—सर्व प्राणिरूप और आत्मरूप बने हुए को ही दान करना चाहिए, वेद व्यास को दान नहीं करना चाहिए इसलिए 'कृष्णाय' एक वचन देकर स्पष्ट कर दिया है कि कृष्ण के सिवाय अन्य किसी को भी पूजा दान नहीं देना चाहिए ।

यों होते हुए भी यदि अवतार धारण कर श्रीकृष्ण किसी समय अपने को अवच्छिन्न मानले तो इस दोष के कारण, दान लेने के योग्य न होंगे, इस प्रकार की शंका होने पर यह दूसरा विशेषण 'अन्य कुछ भी नहीं देखते हैं' दिया है, अर्थात् सब मैं ही हूँ, यों ही देखते हैं, प्रसंग के कारण दूसरा कोई भी दोष उनमें नहीं है क्योंकि शान्त और पूर्ण दो विशेषण दूसरे भी दिये हैं जिसका तात्पर्य है कि शान्त होने से दान के पात्र है पूर्ण होने से लोभीपन, और क्रोध ये दोष भी नहीं हैं । इस प्रकार जो निर्दोष और पूर्ण गुण वाले हैं उनमें दान अत्यन्त फलदायी होता है ॥२४॥

श्लोक—इत्युक्त्वा सहदेवोऽभूत्तूष्णीं कृष्णानुभाववित् ।

तच्छ्रुत्वा तुष्टुवः सर्वे साधु साध्विति सत्तमाः ॥२५॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानने वाले सहदेव ने इतने वचन कहकर मौन धारण किया, ये वचन सुनकर सब प्रसन्न हुए और धन्य धन्य कह कर प्रशंसा करने लगे ॥२५॥

सुबोधिनी—एवं युधिष्ठिरमुक्त्वा स्वयमुद्यम-
मकृत्वा तूष्णीभूतः अन्यथा पूजार्थं स्वयमेव
बलात्सामग्रीं संपादयेत् । तत्र हेतुः कृष्णानुभाव-
विदिति । स्वयमेव भगवदनुभावः सर्वेषां हृदय
प्रेरयिष्यति यद्यभिप्रेतोर्थो भविष्यति । अत्र भग-
वद्धर्माः प्रकटा भवन्तीति भगवदिच्छायां संदेहात्

तूष्णींभावः । ततो भगवदिच्छया तद्वाक्यं सर्व-
संमतं जातमित्याह तच्छ्रुत्वेति । सर्व एव सोऽर्थः
सर्वयुक्तिसह इति साधुसाध्वित्युक्त्वा भगवन्तं
सहदेवं तुष्टुवुः । दैत्यांशानां स्तोत्र तेषां नाश-
प्रतिबन्धकमिति तत्र भगवदिच्छाभावात् सत्तमा
एव तथोक्तवन्तः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार युधिष्ठिर को कह कर, स्वयं कुछ उद्यम न कर चुप रह गये, नहीं तो स्वयं (खुद) पूजा के लिए बलपूर्वक पूजा की सामग्री सिद्ध करते, जिसमें (सामग्री सिद्ध न करने में) कारण कि श्रीकृष्ण के प्रभाव को जानने वाले थे, भगवान् स्वयं यदि अग्रपूजा चाहते होंगे तो सबके हृदय में वैसी ही प्रेरणा करेंगे, जिससे इच्छित कार्य सिद्ध हो जायगा, यहाँ भगवान् के धर्म प्रकट होते हैं, भगवान् की इच्छा क्या है ? इसका निश्चय न जानने से मौन धारण की । पश्चात् भगवान् की इच्छा से उसके वाक्य सबको योग्य लगे (पसन्द आए) । इसलिए कहते हैं कि वे वचन सुनकर सब ही कहने लगे कि इसके कहे हुए वचन युक्ति युक्त हैं इसलिए सबने धन्य धन्य कहा जिससे भगवान् एवं सहदेव प्रसन्न हुए, यहाँ दैत्यांशों ने सहदेव के वचनों की स्तुति (प्रशंसा) नहीं की, यदि करते तो उनके नाश में वह स्तुति रुकावट हो जाती अर्थात् वे मरते नहीं, उनके वचने में भगवान् की इच्छा भी नहीं थी, इसलिए ही जो दैत्यांश न थे, उत्तम ही थे उन्होंने स्तुति की ॥२५॥

आभास—ततः सर्वं संमतिः ज्ञात्वा शापादिभयं परित्यज्य भगवत्पूजार्थं प्रवृत्त इत्याह श्रुत्वा द्विजेरितमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् सबकी सम्मति जान, शाप आदि के भय को त्याग भगवान् की पूजा के लिए युधिष्ठिर प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन 'श्रुत्वा द्विजेरितं' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—श्रुत्वा द्विजेरितं राजा ज्ञात्वा हार्दं सभासदाम् ।

समर्हयद्धृषीकेशं प्रीतः प्रणय विह्वलः ॥२६॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों के वचन सुन, सभासदों का अभिप्राय जानकर, प्रसन्न तथा प्रेम से विह्वल राजा ने इन्द्रियों के ईश भगवान् का पूजन किया ॥२६॥

सुबोधिनी—सर्वेरेव द्विजेरितं राजत्वात्तोषां तत इन्द्रियप्रेरकमन्तर्यामिणं तत्प्रेरितः सन् सम-
भावमपि जानाति तदाह ज्ञात्वा हार्दं सभासदा-
मिति । अत्र वादिनामविवादं मन्यते सभासदः हंयत् । प्रीत इत्यन्तःकरणेन पूजनम् । प्रणय-
विह्वल इतीन्द्रियैः । शरीरेण तु पूजयत्येव ॥२६॥

व्याख्यार्थ—वहाँ जो भी ब्राह्मण उपस्थित थे सबने सहदेव के वचनों से सम्मति दिखलाते हुए धन्य धन्य कहा, उनके यह वचन सुन, आप राजा हैं अतः उनका आशय भी समझ कर तदनुसार करने लगा, क्योंकि वहाँ वादियों ने कोई विवाद भी नहीं किया, जिससे राजा उनकी भी सम्मति जान कर, पश्चात् इन्द्रियों के प्रेरक अन्तर्यामी की, उनकी प्रेरणा से पूजा करने लगा, प्रसन्न हो पूजा करने लगा, इससे यह जताया है कि अन्तःकरण से पूजा करने लगा न कि ढोंग से दिखावा करने लगे, प्रेम से विह्वल का भावार्थ है कि इन्द्रियों से भी पूजा की, शरीर से, तो (जो) कर रहे हैं वह सब देखते ही हैं ॥२६॥

आभास—तत्पूजाप्रकारमाह तत्पादाववनिज्येति ।

आभासार्थ—उनकी पूजा का प्रकार 'तत्पादाववनिज्यापः' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तत्पादाववनिज्यापः शिरसा लोकपावनीः ।

सभार्यः सानुगामात्यः सकुटुम्बोवहन्मुदा ॥२७॥

श्लोकार्थ—भगवान् के चरण धोकर जगत् को पवित्र करने वाला यह जल, राजा ने स्त्रियों, छोटे भाई, अमात्य और कुटुम्ब के साथ आनन्द पूर्वक शिर पर चढ़ाया ॥२७॥

सुबोधिनी—चरणोदकधारणमतिश्रद्धाबोधकं सम्पूर्णः सानुगामात्य इतिसेवकामात्यसहितः
अन्यथा 'अश्रद्धया' इति दान व्यर्थ स्यात् । अतः सकुटुम्बश्च । अनेन सर्वथा श्रद्धा संमतिश्चोक्ता
अपः लोकपावनीः शिरसा अबहत् । सभार्य इति ॥२७॥

व्याख्यार्थ—चरणों का जल शिर पर धारण करना श्रद्धा का बोधक है, यदि श्रद्धा न होवे तो दिया हुआ दान व्यर्थ है, अतः लोकों को पवित्र करने वाला चरणों का जल स्वयं ने, स्त्रियों छोटे भाई, सेवक, मन्त्री और कुटुम्ब सहित अपने २ शिर पर चढ़ाया, यों करने से सबकी श्रद्धा और सम्मति प्रदर्शित की है ॥१७॥

आभास—ततः पीताम्बरादिभिः पूजनमाह वासोभिरिति ।

आभासार्थ—‘वासोभिः’ श्लोक से पीताम्बर आदि वस्त्रों से पूजन कहते हैं ।

श्लोक—वासोभिः पीतकोशेयैर्भूषणैश्च महाधनैः ।

अर्हयित्वाश्रुपूर्णाक्षो नाशकत् समवेक्षितुम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—पीले रेशमी वस्त्र और अमूल्य आभूषणों से जब पूजन किया, तब राजा के नेत्र आँसुओं से भर गये जिस कारण से वे देख भी नहीं सके ॥२८॥

सुबोधिनी—योग्यत्वाय पीतकोशेयैः पीतपट्ट-
वस्त्रैर्महाधनैर्भूषणैश्च पूजनम्, हर्षश्चान्तरस्थः ।
भक्त्या पूजनं नाङ्गविकलं भवतीति जापयितुमाह
अर्हयित्वेति । अश्रुभिः पूर्णो अक्षिणी यस्येति
भगवद्दर्शनेन चक्षुस्तेजःप्रसवसहितं जातमित्यर्थः ।

ततो यथाभिलषितमपि न द्रष्टुं शक्त इत्याह
नाशकत्समवेक्षितुमिति । दर्शनोपभोगेनापि तन्न
व्ययितमिति तस्याधिदैविकसमाराधनं पूर्णमेव
स्थितमिति सूचितम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण पूजन करने के योग्य थे, इसलिए उनका पीले रेशमी वस्त्रों से और अत्यन्त कीमती अलंकारों से पूजन किया, प्रसन्नता तो भीतर हृदय में ही स्थित थी, भक्ति से जब पूजन किया जाता है, उस समय अंग में विकलता नहीं होती है, इसलिए कहा है कि ‘पूजयित्वा’ अर्थात् पूजा करने के अनन्तर जो प्रेमानन्द उत्पन्न हुआ उससे नेत्रों में जल भर गया जिस कारण से युधिष्ठिर, अभिलषित के दर्शन भी न कर सका, जिसका अन्तः तात्पर्य यह है कि भगवान् के दर्शन के उपभोग से वह व्यथित नहीं हुआ अर्थात् उसका आधिदैविक पूजन पूर्ण ही हुआ ॥२८॥

आभास—अयमुत्तमाधिदैविको धर्मो भवतीति जापयितुं सर्वसभाजनमाह इत्थं सभाजितमिति ।

आभासार्थ—यह आधिदैविक धर्म उत्तम है यह बताने के लिए सर्व ने धन्यवाद दिया, यह ‘इत्थं’ श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—इत्थं सभाजितं वीक्ष्य सर्वे प्राञ्जलयो जनाः ।

नमो जयेति नेमुस्तुं निपेतुः पुष्पवृष्टयः ॥२९॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार मनुष्य, भगवान् का सत्कार हुआ देख हाथ जोड़ ‘नमो जय’ ऐसा शब्द उच्चारते हुए प्रणाम करने लगे, तब पुष्पों की वर्षा होने लगी ॥२९॥

सुबोधिनी—कायवाङ्मनोभिः स्तोत्रं मात्सर्या-भावश्च । न केवल तत्रत्यानां किंतु दिविष्ठानाम-
भावश्चोच्यते । प्राञ्चल्य इति कायिको व्यापारः । पीति ज्ञापयितुमाह निपेतुः पुष्पवृष्टय इति । अयं
नेमुरिति मानसः । जयेति वाचनिको, मात्सर्या-धर्मः सर्वोत्तमो जात इति ज्ञापनार्थम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—ईर्ष्या विना काया, वाणी और मन से स्तुति की 'हाथ जोड़े' यह काया की क्रिया की है, 'प्रणाम किया' यह मन की क्रिया की है 'नमो जय' यह वाणी की क्रिया की है अर्थात् लोगों ने इस प्रकार काया, वाणी और मन की क्रिया से विना मत्सर के स्तुति की है न केवल पृथ्वी पर स्थित लोगों ने किन्तु देव लोकों में रहने वालों ने भी पुष्प वृष्टि कर अपने में मात्सर्य का अभाव दिखाया एवं स्तुति करने का भी प्रमाण दिया, यह भगवान् का सत्कार रूप धर्म सबसे उत्तम हुआ है यह भी यों करने से बताया है ॥२६॥

आभास—दैत्यांशस्यानभिनन्दनं प्रद्वेषो निन्दा च भगवतश्चाभिप्रेतोर्थ इति स्वत-
स्तन्मारणं सर्वात्मकत्वात् तस्यापि भोगार्थं बाधकांशं निराकृत्य सायुज्यमपि निरूप्यते ।
तत्रादौ तद्दर्शनेन दैत्यक्षोभमाह इत्थं निशम्येति ।

आभासार्थ—दैत्यांशने अभिनन्दन नहीं किया, किन्तु भगवान् की निन्दा कर शत्रुता प्रकट की । यह हो अर्थ (कार्य) भगवान् को इच्छित था, उनके यों करने से स्वयं (खुद) ही अपनी मृत्यु का कारण बना जिससे स्वयं भगवान् ने उसको मारा, भगवान् सर्वात्मा होने से उसकी भी आत्मा हैं, अतः उसके भी भोग के लिए बाधकांश का निराकरण कर दिए हुए सायुज्य का भी निरूपण करते हैं, वहाँ प्रथम भगवान् की अग्रपूजा देख दैत्य को क्षोभ हुआ, जिसका वर्णन 'इत्थं निशम्य' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—इत्थं निशम्य दमघोषसुतः स्वपीठा दुत्थाय कृष्णगुणवर्णनजातमन्युः ।

उत्क्षिप्य बाहुमिदमाह सदस्यमर्षी संश्रावयन् भगवते परुषाण्यभीतः ॥३०॥

श्लोकार्थ—दमघोष का पुत्र, शिशुपाल इस प्रकार, श्रीकृष्ण के गुणोत्कर्ष के वचन सुनकर, अपने आसन से उठा, भगवान् के गुण वर्णन से क्रोध में भर गया, भगवान् का महत्त्व न सह सकने से भुजा उठा, निर्भय हो सभा के मध्य में भगवान् को निम्न प्रकार के अपशब्द सुनाने लगा ॥३०॥

सुबोधिनी—सर्वेषामनुमोदनं स्तोत्रं च निशम्य विपरीतमदस्य, दुष्टमदस्य यो घोषः सर्वलोकेषु बम्बारवः तदात्मको दमघोषः तत्सुतः बीजयोनि-
दोषेण दुष्टः स्वतोऽपि उपविष्टश्चेद्ब्रूयात्तदा सर्वो-
ऽपि न श्रोष्यतीति स्वपीठादुत्थाय, भगवता स्व-
धर्मप्राकट्ये कृते सिंहासने भगवद्धर्मः प्रकटो जात इति स तत उत्थापित इति वस्तुस्थितिः । तस्या-
नधिकारं सूचयति कृष्णगुणवर्णनेन जातो मन्युर्य-

स्येति । स एव दैत्यांशो ज्ञेयः यो भगवत्संबन्धिन-
मर्थं श्रुत्वा न सहते संतप्तश्च भवति, प्रतिकूलं च
वदति ततश्च दैत्यसंधानं यज्ञे न युक्तमिति भग-
वत्प्रेरणयैव तस्यातथावचनम् । अन्यथा वध्यो न
भवतिः देवा मनुष्याः पितर एकत्र, असुरा रक्षांसि
पिशाचाश्चैकत्र, 'अपाहता असुरा रक्षांसि पिशाचा
वेदिषदः' इति मन्त्रलिङ्गात्सर्वथा निराकार्याः
असुरादयः तत्रायं बन्धुवेपेण गुप्त इति अशक्य-

वधो भवति तदर्थमेतावन्निरूप्यते उत्तिष्ठप्य बाहु-
मिति । क्रियाशक्तिः स्वस्य महती इति सूचयति ।
इदं वक्ष्यमाणमाह सदसीति । तस्यापराधः सर्व-
जनीनो भवत्विति ज्ञापितम् । सदसि सर्वानेव

भगवने परुषाणि अभीक्षणशः श्रावयन्निति सर्वेषा-
मेव शत्रुरयमिति ज्ञापितम् । श्रमीत इति सर्वेषा-
मशक्यवधः ॥३०॥

व्याख्यानार्थ—सर्व लोगों ने, जो भगवान् की अग्रपूजा का अनुमोदन किया और स्तुति की, उसको सुनकर, दूषित अहंकार की जो लोकों में गर्जना उसका रूप 'दमघोष' था जिसका पुत्र यह शिशुपाल था अतः बीज और योनि के दोषों के कारण वह भी दुष्ट ही हुआ है, अपने आसन से उठ कर खड़े हो बोलने लगा, क्योंकि उसने समझा कि बैठ कर बोलूंगा तो सब नहीं सुनेंगे आसन से उठने का वास्तविक आशय यह था कि 'भगवान् ने अपने गुण जब प्रकट किये तो सिंहासन में भी भगवान् के गुण प्रकट हुए, जिससे वह उस सिंहासन पर बैठ न सका, उससे उसको उठना ही पड़ा क्योंकि वैसे आसन पर ऐसा दुष्ट बैठ नहीं सकता है, वह भगवान् के गुणश्रवण का अधिकारी ही नहीं था, जिससे गुणों के सुनने से आनन्द के स्थान पर उसको क्षोभ (दुःख) हुआ, इससे यह प्रमाणित होता है कि वह दैत्यांश है जो भगवत्सम्बन्धो विषय सुनकर सहन नहीं करता है प्रत्युत सन्तप्त होता है और उसके विरुद्ध बोलने लगता है । यज्ञ में दैत्य का सम्बन्ध योग्य नहीं होने से भगवत्प्रेरणा से ही वह अयोग्य वचन कहने लगा, जो वैसे शब्द न बोले तो मारने के योग्य न होता, देव, मनुष्य और पितर एक तरफ और असुर, राक्षस तथा पिशाच दूसरी तरफ 'अपाहता असुरा रक्षांसि पिशाचा वेदिषदः' इस मन्त्रालिङ्ग से सर्वदा असुरादि निराकरण के योग्य है, किन्तु यह दैत्यांश होते हुए भी बान्धव वेषधारी होने से प्रकट देखने में नहीं आता था इसलिए इसका वध कठिन था, उसके लिए इतना कहा जाता है । हाथ ऊपर लम्बा कर बताया कि मेरी क्रियाशक्ति बलवान (जवर्दस्त) है अतः सभा में निम्न ढंग से बोलने लगा, सभा में इस तरह कहने लगा कि जिससे वहाँ बैठे हुए लोगों को एवं भगवान् को कहे हुए अपशब्दों का ज्ञान सबको हो जाय, सबको और भगवान् को बार बार कठोर तथा अपशब्द सुनाता हुआ यह सिद्ध कर रहा था कि यह सबका शत्रु है । बोलते हुए डरता ही नहीं था ज्यों आया त्यों अनर्गल बोलने लगा जिससे अपना वध होना सबके लिए अशक्य है यह सूचित करता था ॥३०॥

आभास—तादृशस्य सर्वोपालम्भवाक्यमाह ईशो दुरत्ययः काल इति ।

आभासार्थ—वैसे ने सबको जो उपालम्भ दिए अर्थात् जिस तरह सब की निन्दा की, वे वचन 'ईशो' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—ईशो दुरत्ययः काल इति सत्यवती श्रुतिः ।

वृद्धानामपि यद्बुद्धिर्बालवाक्यैर्विभिद्यते ॥३१॥

श्लोकार्थ—शिशुपाल कहने लगा कि काल और ईश अलङ्घ्य हैं यह श्रुति सत्य है, क्योंकि समय बल से, वृद्धों की बुद्धि भी बालकों के कहने पर बदल जाती है ॥३१॥

सुबोधिनी—सदसस्पतयो हि सभायां युक्ता-
युक्तं विचारयन्ति, अतस्तान् प्रत्युपालम्भ उचितः ।
यदैत्यांशः समीपे स्थितोऽपि न निवार्यत इति ।
यदत्रानुचितं जायते धर्मस्थाने तत्र हेतुः काल एव ।
स हि कदाचिद्धर्ममङ्गीकरोति कदाचिद्धर्ममिति
द्विःस्वभावः स च ईशः कस्याप्यनुलुङ्घ्य इति
कालमाहात्म्यवादिनी श्रुतिः सत्येव । 'स कालो
यद्वशे लोक' इति । कः कालस्य त्वया विपरीतो
धर्मो दृष्ट इत्याकाङ्क्षायामाह वृद्धानामपि यद्-

बुद्धिरिति उभयथापि सभासदो वृद्धाः निन्दापक्षे
सहदेवो बालः स्तुतिपक्षे शिशुपालः नाम्ना शिशु-
श्वासौ पालश्चेति । पलसमूहः पालः मांसराशिः
न तु कश्चित्तत्र धर्महेतुरिन्द्रियवर्गो जीवो वा
तिष्ठतीति पलाशानामेव योग्यः कालस्यैतद्विपरीतं
यदेतद्वाक्येनापि वृद्धानामपि बुद्धिः भेदं प्राप्स्य-
तीति । स्वस्यानुगुणः काल इति एकोपि सभायां
तथा विरुद्धं वदामिति जापितवान् । एतद्वितीयं
सभासदां दूषणम् ॥३१॥

व्याख्यार्थ—सभासद ही सभा में अच्छे और बुरे को विचारते हैं अतः उनको उपालम्भ
(उल्हाना) देना उचित है, यहाँ जो दैत्यांश समीप में स्थित हैं तो भी उसको नहीं निकालते हैं,
यहाँ धर्मस्थान में जो अयोग्य हो रहा है उसका कारण काल ही है, क्योंकि उसका स्वभाव दो
प्रकार का है कभी धर्म को अंगीकार करता है अर्थात् कभी धर्म में प्रवृत्ति कराता है और कभी
अधर्म को अंगीकार करता है अर्थात् कभी अधर्म में प्रवृत्ति कराता है, कारण कि 'ईश' होने से
सर्व समर्थ हैं, कोई भी उसका उल्लंघन नहीं कर सकता है, इसलिए काल के माहात्म्य को बोलने
वाली श्रुति सच्ची है । 'स कालो यद्वशे लोकः' जिसके वश में लोक है वह 'काल' है, तूने कोई काल
का विपरीत धर्म देखा ? इसके उत्तर में कहता है कि हाँ, मैंने देखा । कैसे ? जो मैंने देखा वह
सब आप क्या नहीं देख रहे हैं कि काल ने एक बालक के वचनों से वृद्धों की बुद्धि भी बदला दी
है, दोनों प्रकार सभासद वृद्ध है यदि उनकी निन्दा करता है तो सहदेव अभी बालक है उसके
कहने से कृष्ण की अग्रपूजा में सम्मति देकर वह कराई है, यदि स्तुति करता है तो यों अर्थ होता है
कि शिशुपाल मांस का ढेर है उसमें कोई धर्म का कारण, इन्द्रिय वर्ग वा जीव नहीं है अतः वह
राक्षसों के योग्य है, काल का यह विपरीत गुण है जो ऐसे मांस के ढेर के कहने से वृद्धों की बुद्धि
फिर जायगी । (तात्पर्य यह है कि शिशुपाल के कहने में यद्यपि सहदेव बाल है इसलिए निन्दा
देखने में आती है किन्तु शिशुपाल जो मांस का ढेर है यदि उसका कहना वृद्ध मानलें तो सहदेव का
कहना योग्य होने से उसकी स्तुति हो जाती है उसका ही कहना योग्य समझ वृद्धों ने माना है
परन्तु शिशुपाल का नहीं) शिशुपाल अकेला ही सभा में, जहाँ त्यों विरुद्ध कहने लगा जिससे
जताया है कि काल मेरे अनुकूल है, यह सभासदों का दूसरा दोष है ॥३१॥

आभास—पुनः स्ववाक्यश्रवणार्थं तान् स्तौति यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा इति ।

आभासार्थ—फिर सभासद मेरे वचन सुने इसलिए उनकी 'यूयं पात्र' श्लोक से स्तुति करता है।

श्लोक—यूयं पात्रविदां श्रेष्ठा मा मन्धवं बालभाषितम् ।

सदसस्पतयः सर्वे कृष्णो यत्संमतोर्हणे ॥३२॥

श्लोकार्थ—हे सभासदों ! आप सब पात्र के जानने वालों में उत्तम हैं, इस बालक
का कहा मत मानों, भला यह कृष्ण अग्र पूजन के योग्य है ? नहीं । ॥३२॥

सुबोधिनी—‘न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता’ इति पात्रस्वरूपं ये जानन्ति ते पात्रविदः तेषां श्रेष्ठाः पात्रसूक्ष्मविदः अत एव बालभाषितं मम सहदेवस्य माङ्गीकुरुत बालवाक्येन पात्रनिर्द्धारो न कर्तव्यः । स्वबुद्धयैव कर्तव्यः । यतो यूयं सदसस्पनयः सभायां निवृत्तिप्रवृत्तिहेतवः तादृशा एव सर्वे भवन्त इत्यपि स्तुतिः । तादृशा-

नामनुचितांशमाह कृष्ण इति । कृष्णशब्दो दुष्ट-मुखान्निर्गन्तः मालिन्ययोगान्मलिनमेव वक्ति तथैव शिशुपालाभिप्रायश्च । ततो योगात् तादृशः शिशुपाल एव भवति तादृशोयं यद्यस्मात् अर्हणे समीपे संमतः तिष्ठत्विति संमतः इदं सभासदामनुचित-मित्यर्थः । यतो यज्ञे कालविलम्बो भविष्यति ॥३२॥

व्याख्यार्थ—केवल विद्या वा तपस्या से भी योग्यता प्राप्त नहीं होती है इस प्रकार अधिकारी के स्वरूप को जो जानते हैं उनमें श्रेष्ठ आप अधिकारीपन की सूक्ष्मता को जानने वाले हैं इसलिए बाल का कहा हुआ अथवा मेरा कहा हुआ मत मानो, बालक के कहने से पात्र का निर्णय नहीं करना चाहिए, किन्तु आप अपनी बुद्धि से ही निर्णय करो, क्योंकि आप सब ही ऐसे हैं जो सभा में प्रवृत्ति और निवृत्ति कराने के हेतु हैं यों कहना भी स्तुति ही है, अब सभासदों ने जो अनुचित कार्य किया, वह भाग कहता है कि ‘कृष्ण’ कृष्ण की पूजा में समीप रह सम्मति दिखाई यह अनुचित किया, कृष्ण यह नाम दुष्ट के मुख से निकलने के कारण मलीनता के संयोग से मलीन ही निकलना है, यही शिशुपाल के कहने का सार है, अर्थात् शिशुपाल स्वयं काला मलिन है अतः उसने कृष्ण शब्द भी उसी भाव से कहा है, यों अनुचित कार्य सभासद करेंगे तो यज्ञ के कार्य में विलम्ब होगा ॥३२॥

आभास—ननु भवानपि क्षत्रियः सन्निहितबन्धुः ततश्च समीपस्थितौ को दोष इति चेत्तत्राह तपो विद्याव्रतधरानिति ।

आभासार्थ—आप भी क्षत्रिय हैं जिससे समीप वाला बान्धव है, इससे समीप रहने से कौनसा दोष है ? इस प्रकार की शंका का उत्तर ‘तपो विद्या’ श्लोक से देता है ।

श्लोक—तपोविद्याव्रतधराञ्ज्ञानविध्वस्तकल्मषान् ।

परमर्षोन्ब्रह्मनिष्ठान्लोकपालैश्च पूजितान् ॥३३॥

श्लोकार्थ—तपस्या, विद्या और व्रतधारी, ज्ञान से कल्मषों को नाश किए हुए और लोकपालों से पूजित तथा ब्रह्मनिष्ठ परम ऋषियों का अतिक्रमण कर कुल कलङ्क कैसे पूजा जाता है ? ॥३३॥

सुबोधिनी—निन्दापक्षे लोकप्रसिद्ध एवार्थः तपोविद्ययोः पात्रलक्षण एव साधनं स्पष्टं व्रतस्यापि हेतुत्वम् ‘आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः’ । व्रतशब्दो नियमवाचकः । किंबहुना भगवद्व्रतपर्यन्तं व्रतधारकाः अत्र सन्ति । पात्रगुणानुवत्वा

दोषाभावमाह ज्ञानविध्वस्तकल्मषानिति । ‘ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि’ इतिवाक्यात् सर्वापेक्षया ज्ञानं पापनिवर्तकम् । एतावत्साधारणब्राह्मेण्यपि संभवति यूयं तु परमर्षयः मन्त्रद्रष्टारः । अनेन पूर्वकाण्डप्रवर्तकत्वमुक्तम् । तत्रापि ब्रह्मनिष्ठाः

उत्तरकाण्डस्य प्रवर्तकाः । लोके च तथात्वेन । पालानामपि फलं दातुं शक्ताः ॥३३॥
संमता इत्याह लोकपालश्च पूजितानिति । लोक-

व्याख्यान्यर्थ—श्रीकृष्ण की निन्दा के पक्ष का जब समर्थन किया जाता है तब लोक प्रसिद्ध अर्थ ही लिया जाता है, पूजन के योग्य पात्र में तपस्या और विद्या ये दो लक्षण होने चाहिए, वशिष्ठ स्मृति में कहा है कि 'आचार हीनं न पुनन्ति वेदाः' आचारों से जो हीन है उसको वेद भी पवित्र नहीं करते हैं, इससे व्रत अर्थात् नियम में रहने वाला ही पूजन के योग्य है यों बताया है, विशेष क्या कहा जाय यहाँ तो भगवान् के व्रत पर्यन्त व्रत धारण करने वाले यहाँ उपस्थित हैं, पात्र में जो गुण चाहिए वे दिखाकर अब उनमें दोषों का अभाव भी है यों दिखाता है, 'ज्ञानविध्वस्त कल्मषानिति' ज्ञान द्वारा सब दोष जिन्होंने भस्म कर दिए हैं जैसा कि गीता में कहा है 'ज्ञानाग्निः सर्वं कर्माणि' ज्ञान रूप अग्नि सर्वं कर्मों को नाश कर देती है अर्थात् सर्व की अपेक्षा ज्ञान पाप को मिटाने में समर्थ हैं, इतना तो साधारण ब्राह्मणों में भी होता ही है, आप तो मन्त्रदृष्टा महान् ऋषि हैं यों कह कर बताया है कि तुम पूर्वकाण्ड (कर्मकाण्ड) के प्रवर्त्तिक हो, फिर विशेषता यह है कि पूर्वकाण्ड के प्रवर्त्तिक होते हुए ब्रह्मनिष्ठ भी हो, अर्थात् उत्तर काण्ड के प्रवर्त्तिक भी आप ही हैं, इस कारण से लोक में मान पात्र हुए हो, यों बताने के लिए कहता है 'लोकपालश्च पूजितान्' लोकपालों को भी फल देने में समर्थ हो ॥३३॥

श्लोक—सदसस्पतीनतिव्रज्य गोपालः कुलपांसनः ।

यथा काकः पुरोडाशं सपर्या कथमर्हति ॥३४॥

श्लोकार्थ—ऐसे योग्य लक्षण वाले सभा के स्वामी, बड़े ऋषिरूप सभासदों का उलङ्घन कर, इन्द्रियों के पोषक, कुलाधम जैसे कौआ यज्ञ के चरु के समीप रहने के भी योग्य नहीं है, वैसे यह भी पूजा के योग्य कैसे बन सकता है ? ॥३४॥

सुबोधिनी—एतादृशान् सदसस्पतीन् अतिव्रज्येति । अतिक्रमदोषोऽप्युक्तः । तेषामेव समीपे स्थितिरुचिता न ममेति तत्र हेतुत्वेन स्वदूषणान्याह गोपाल इति । कुलपांसन इति यथा काक इति च । पञ्च गुणाः सदसस्पतिषु । त्रयो दोषाः स्वस्य । इन्द्रियपालकः भूपालको वा क्षत्रियाधमः 'दशवेष्ट्यासमो नृपः' इति दोषश्रवणात् । तत्रापि कुलपांसनः कुलाधमः येन चैद्यवंशः सर्वोऽपि निन्दितः । ते तु आसहस्रात्पङ्क्ति पुनन्ति । किंच । यथा काक पुरोडाशं यदि कृष्णशकुनिरुपरि अतिपतेदिनि सामीप्येऽपि दोषश्रवणात् । स बहिःस्थितमेव बलिमर्हति न तु वेद्या स्थितं पुरोडाशं

तत् सामीप्येऽपि हविषो नाशात्तथा अहं सपर्या पूजां सामीप्येन कथमर्हामि । निन्दायां तु बाल्ये ऽन्यायवृत्तित्वं पश्चात्परस्त्रीहरणादिनाऽकीर्तिजनकत्वम् । यथा वा अकाकः पुरोडाशं नार्हति कं सुखमकं दुःखं उभयरहितः अकाकः शुकादितुल्यः स यथा पुरोडाशं कर्ममार्गं नार्हति तथा अहमपि सपर्या नार्हामीत्यर्थः । वेदरक्षकः कुलपान् कुलपवित्रकरणदक्षान् कुलरक्षकान्वा असेन नयतीति सत्परिपालकत्वं निरूपितम् । भौतिककर्माध्यक्षत्वं च नार्हतीति भगवत्परत्वेऽपि केचिद्योजयन्ति तच्छब्ददुष्टवादुपेक्ष्यम् ॥३४॥

व्याख्यान्यर्थ—इस प्रकार के सभा के स्वामियों का उल्लंघन करना यह अतिक्रम दोष है,

उनके समीप में मेरी स्थिति योग्य नहीं है, किन्तु सभासदों की ही पूजन के समीप स्थिति योग्य है। जिसमें कारण अपने दूषण कहता है 'गोपालः' 'कुल पांसनः' १-इन्द्रियों का पोषक हूं २-कुल कलंक हूं ३-कौए जैसा है अर्थात् जैसे कौआ यज्ञ की बलि के पास रहने अथवा लेने योग्य नहीं वैसे मैं भी हूँ। इस प्रकार ये अपने ही दूषण प्रकट करता है, पांच गुण सभासदों के कहे और तीन दोष अपने कहे, आचार्य श्री इसको स्पष्ट कर समझाते हैं कि पृथ्वी की पालना करने वाला राजा यह दोष शिशुपाल में हैं, क्योंकि 'दश वेश्या समो नृपः' इस वाक्य के अनुसार राजा दश वेश्या के समान है, अतः पृथ्वीपालक क्षत्रियाधम शिशुपाल है, जिससे सारा चैद्यवंश निन्दा का पात्र हुवा है वास्तविक वे राजा लोग तो सहस्रों में पङ्क्ति को पवित्र करने वाले हैं, फिर जैसे कौआ यज्ञ की बलियों के समीप रहने के योग्य नहीं वैसे मैं भी पूजा के पास रहने के योग्य नहीं हूँ, कारण कि यदि कौआ यज्ञ बलि के ऊपर से उड़े तो भी दोष है क्योंकि ऊपर उड़ने से कौए की समीपता हो जाती है वह उचित नहीं हैं, वह तो दूर रह कर ही बलि के लेने के योग्य है समीप में रहने के योग्य नहीं कारण कि कौए के सामीप्य से बलि का नाश हो जाता है वैसे मैं भी पूजा के समीप रहने योग्य कैसे बन सकता हूँ, श्रीकृष्ण की निन्दा के पक्ष में 'गोपालः' 'कुल पांसनः' का भावार्थ यों है कि वचन में तो अन्यायी व्यवहार पश्चात् पर स्त्रियों का हरण आदि अपकीर्ति के कार्य किये हैं।

अन्य प्रकार से भावार्थ प्रकट करते हैं 'काकः' पद न लेकर 'अकाकः' पद लेते हैं जिसका अर्थ करते हैं कि 'कम्' सुख 'अकम्' दुःख ये दोनों जिसमें नहीं वह अकाक है, सुख दुःख जिसको नहीं वैसे शुक आदि हैं वे 'पुरोडाश' अर्थात् कर्म मार्ग के पास नहीं रह सकते हैं, वैसे मैं भी पूजन के समीप नहीं रह सकता हूँ।

'गोपाल' पद का भावार्थ कहते हैं कि जो वेद रक्षक है और कुल पवित्र करने में प्रवीणों को अथवा कुल रक्षकों को कन्धे पर चढ़ा कर ले जाते हैं वैसे श्रीकृष्ण गोपाल हैं, इस नाम से वास्तव में भगवान् को सत्पुरुषों के रक्षक कहा है अतः वैसे भगवान् भौतिक कर्म के अध्यक्षपन के योग्य नहीं हो सकते हैं, कितने ही इस प्रकार इन शब्दों को भगवत्परायण लगाते हैं वह भाव दोषयुक्त शब्द 'कुल पांसन' होने से उपेक्षा के योग्य है ॥३४॥

आभास—पुनः स्वनिन्दार्थं दूषणान्तरमाह ययातिनेति ।

आभासार्थ—फिर अपनी निन्दा हो इसलिए कृष्ण की पूजा करने में दूसरा दूषण 'ययातिन' श्लोक से देता है।

श्लोक—ययातिनैषां हि कुलं शप्तं सद्भिर्बहिष्कृतम् ।

वृथापानरतं शश्वत्सपर्यां कथमर्हति ॥३५॥

श्लोकार्थ—इनके कुल को ययाति ने शाप दिया है और इनके कुल का सत्पुरुषों ने बहिष्कार किया है तथा यह कुल निरन्तर मदिरा पीने में लगा रहता है ऐसे कुल में उत्पन्न पूजन के योग्य कैसे हो सकता है ॥३५॥

सुबोधिनी—ययातिना हि चत्वारः । पुत्रा निन्दिताः । एकः पूरुः स्तुतः । अथवा । ययातीना एषां पाण्डवानां कुलं शप्तं यत् पुत्र-वयसा मातुः संभोगः कृतः । स कथं परंपरयापि दोषसंबन्धात् कथं पूतो भवेत् । अत एषां गृहे कथं

भगवान् सपर्यामर्हति सद्भिश्च तेन वा हेत्वन्तरेण वा विगर्हितं शश्वद्वृथापानरतं च । एवमेतत्साधारणदूषणम् । तद्ययातिवंशोद्भवः सपर्या समीपं वा कथमर्हति ॥३५॥

व्याख्यार्थ—ययाति ने ४ पुत्रों की निन्दा की है केवल एक पूरु की प्रशंसा की है, अथवा ययाति ने इन पाण्डवों के कुल को शाप दिया है क्योंकि पुत्र के यौवन से माता के साथ सम्भोग हुआ है । वह जो परम्परा से दोषवान है वह पवित्र कैसे हो सकता है ? अतः इनके गृह में उत्पन्न श्रीकृष्ण पूजा के योग्य कैसे हो सकता है ? सत्पुरुषों ने इस दोष के कारण अथवा अन्य किसी कारण से इस कुल का बहिष्कार किया है और यह कुल सदैव मदिरा पान में रत होने से निन्दित है, इस प्रकार यह साधारण दूषण है इसी कारण से ययाति वंश में उत्पन्न हुआ कैसे पूजा के समीप आ सकता है ॥३५॥

आभास—कुलनिन्दां कृत्वा कुलोद्भवं निन्दति वर्णाश्रमेति ।

आभासार्थ—कुल की निन्दा कर अब कुल में उत्पन्न हुए की 'वर्णाश्रम कुलापेतः' श्लोक से निन्दा करता है ।

श्लोक—वर्णाश्रमकुलापेतः सर्वधर्मबहिष्कृतः

स्वैरवर्तो गुणैर्हीनः सपर्या कथमर्हति ॥३६॥

श्लोकार्थ—वर्ण, आश्रम और कुल से भ्रष्ट सर्व धर्मों से बहिष्कृत स्वच्छन्द आचरण करने वाला, गुणों से हीन यह कृष्ण पूजा के योग्य कैसे हो सकता है ? ॥३६॥

सुबोधिनी—वर्णा आश्रमाश्च चत्वारः कुलं क्षत्रियत्वजातिः एतत्त्रितयेनाप्यपेत भगवानेव वर्णाश्रमकुलरूप इति तदपेतः शिशुपाल इति तस्य तथात्वम् । सर्वैरेव धर्मैर्भगवद्वैमुख्याद्बहिष्कृतः । ततः स्वैरवर्तो स्वैर्बन्धुभिः सह वर्तनशीलोऽपि न भवति अन्यथा स्नेहमेव कुर्यात् । अत एव गुणैः तपस्यादिभिर्विहीनः सपर्या समीपं

वा कथमर्हतीत्यर्थः । केचिद्भगवत्पक्षेऽपि गुणातीति इति वर्णाश्रमकुलरहितत्वं देहाभावात्, धर्मराहित्यं इन्द्रियाभावात् स्वैरवर्तित्वं स्वेच्छावर्तित्वं तेनान्तःकरणाभावश्चेति तेन त्रितयरहितः त्रितयसहितयोग्यसपर्या कथमर्हतीत्याहुः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—'ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र' चार वर्ण हैं और 'ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और सन्यास चार आश्रम हैं एवं क्षत्रिय जाति कुल है, इन तीनों से भ्रष्ट (गिरे हुए) हैं, यद्यपि

१-शिशुपाल भी ययाति के पुत्र यदु के वंश में उत्पन्न हुआ है अतः वह पूजा के योग्य या समीप भी आने योग्य नहीं है ।

शिशुपाल ने ये वाक्य श्रीकृष्ण के लिए कहे हैं, किन्तु वाणी सरस्वती उससे सत्य कहलाती है क्योंकि भगवान् स्वयं ही वर्ण, आश्रम और कुलरूप हैं अतः वह भ्रष्ट हो नहीं सकते, किन्तु शिशुपाल स्वयं तीनों से भ्रष्ट है यही वाणी ने सत्य कहा है क्योंकि शिशुपाल ही भगवान् से विमुख होने के कारण सर्व धर्म वहिष्कृत है भगवान् सर्व धर्म रूप होने से भ्रष्ट हो नहीं सकते । शिशुपाल ही स्वच्छन्द आचरण करने वाला है जिससे अपने बान्धवों से व्यवहार ही नहीं रखता है यदि व्यवहार करते तो प्रेम ही करता । इस कारण से ही गुणों से अर्थात् तपस्या आदि से रहित है, जिससे पूजा के योग्य कैसे हो सकता है एवं समीप भी कैसे रह सकता है ? कितने ही इस श्लोक का भावार्थ यों भी कहते हैं कि भगवान् को देह नहीं हैं अतः गुणातीतपन एवं वर्णाश्रम कुलपन उनमें है ही नहीं अथवा हो नहीं सकता है । इन्द्रियों के न होने से कोई धर्म भी नहीं रह सकता है, अन्तःकरण के अभाव से स्वेच्छा से ही आचरण होता रहता है अतः तीनों से रहित, तीनों से लेने योग्य पूजा कैसे ग्रहण कर सकते हैं ॥३६॥

आभास—कुलस्वरूपनन्दे निरूप्य व्यवहारतो निन्दामाह ब्रह्मर्षिसेवितानिति ।

आभासार्थ—कुल और स्वरूप की निन्दा कर 'ब्रह्मर्षि' श्लोक से व्यवहार की निन्दा करता है—

श्लोक—ब्रह्मर्षिसेवितान्देशान्हित्वैतेऽब्रह्मवर्चसम् ।

समुद्रं दुर्गमाश्रित्य बाधन्ते दस्यवः प्रजाः ॥३७॥

श्लोकार्थ—ये यादव ब्रह्मर्षियों से सेवित देशों को छोड़कर ब्रह्म तेज रहित मुद्रा वाले दुर्ग (समुद्र) का आश्रय कर लुटेरे बन प्रजा को पीड़ा देते हैं ॥३७॥

सुबोधिनी—ननु को दोषो भवत्स्वित्याशङ्कामाह एते वयं ब्रह्मर्षिसेवितान् कुरुक्षेत्रादिदेशान् विद्याद्यर्थमनाश्रित्य अब्रह्मवर्चसं समुद्रं मुद्रासहितं पाखण्डमाश्रित्य दस्यवो भूत्वा प्रजा बान्धत इति । अथवा । भगवत्सान्निध्यात् तान् स्तौति एते ऋषयः ब्रह्मर्षिसेवितान् देशान् ज्ञानकर्मादिसहितान् परित्यज्य ब्रह्मणोऽपि वर्चो दीप्तिर्यस्मात् तादृशं समुद्रं मुद्रासहितं भगवन्तं चक्रपाणिं दुर्गमाश्रित्य अदस्यवो भूत्वा इन्द्रियादिद्वारा कस्यापि

विषय ग्रहणमकृत्वा प्रकर्षेण जाताः इन्द्रियवृत्तीर्वलिष्ठाः बाधन्त इति भगवदाश्रयत्वादेव भवन्तः कृतार्था इति तेषां स्तुतिः समुद्रस्याब्रह्मवर्चस्त्वं प्रदरत्वात् शप्तत्वात् 'सिन्धोस्तटं चन्द्रभागाम्' इति वाक्यानुसारेण अब्रह्मवर्चस्विस्थित्या वा । वस्तुतस्तु भगवन्मोहितः क्रीडार्थं स्वीकृतानिबान्यधर्मान् स्वीकृत्य निन्दतीति स्वकीयस्योपालम्भ इव महत्त्वख्यापका स्तुतिरेव भवति ॥३७॥

व्याख्यान्य—आप में कौनसा दोष है ? इस शङ्का का उत्तर देता है कि ये हम ब्रह्मर्षियों से सेवित कुरुक्षेत्र आदि देशों का विद्या आदि प्राप्त करने के लिए आश्रय न कर जिसमें ब्रह्मवर्चस आदि नहीं है ऐसे मुद्रा वाले पाखण्ड का आश्रय कर लुटेरे बन प्रजाओं को पीड़ा देते हैं ।

दूसरे प्रकार से भावार्थ प्रकट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि भगवान् की वहां समीपता है अतः उन देशों की स्तुति करता है, ये ऋषि ब्रह्मर्षियों से सेवित देशों को अर्थात् ज्ञान

कर्म आदि सहित देशों का त्याग कर जिस समुद्र से ब्रह्म का भी तेज बढ़ा है ऐसे समुद्र रूप दुर्ग का आश्रय किया है क्योंकि वहाँ चक्रपाणि भगवान् विराजते हैं उनका आश्रय प्राप्त हो गया है जिससे इन्द्रियादि द्वारा किसी भी विषय का ग्रहण होना नष्ट हो गया है इससे वे साधु बन गए हैं क्योंकि बलिष्ठ इन्द्रियों की वृत्तियों को बान्ध लिया है, भगवान् के आश्रय लेने से हो आप कृतार्थ हो गए हैं, इस प्रकार उनकी स्तुति की है अन्य प्रकार से समुद्र का अब्रह्मवर्चस् बताते हैं कि वह (समुद्र) एक प्रकार का गड्ढा है और उसको शाप मिला हुआ है अथवा 'सिन्धोस्तटं चन्द्रभागाम्' इस श्रीमद्भा-वगत के वाक्य अनुसार समुद्र के तट से चन्द्रभागा नदी के तट तक के देश को शुद्र भोगेंगे, अतः वहाँ ब्रह्मतेजरहितों की स्थिति होने से वह ब्रह्मतेज हीन है, वस्तुतः भगवान् मे मोहित शिशुपाल भगवान् ने जो गुण क्रीड़ा के लिये ग्रहण नहीं किये हैं तो भी दूसरों के गुणों को भगवान् से गुण मान निन्दा करता है, इस प्रकार करने का सार यह निकलता है कि अपने को उलाहना देने की तरह भगवान् की वह निन्दा, महत्ता प्रकट करने वाली स्तुति ही हो जाती है ॥३७॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह एवमादीनीति ।

आभासार्थ—पीछे से जो हुआ वह 'एवमादीन्य' श्लोक में कहता है

श्लोक—एवमादीन्यभद्राणि बभाषे नष्टमङ्गलः ।

नोवाच किञ्चिद्भूगवान् यथा सिंहः शिवारुतम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि उस क्षीण पुण्य शिशुपाल ने ऐसे बहुत से बुरे वचन कहे किन्तु जैसे सिंह श्यारिनी का शब्द सुनकर नहीं गर्जता है वैसी ही भगवान् शान्त रहे उनने कुछ नहीं कहा ॥३८॥

सुबोधिनी—अभद्राण्यमङ्गलवाक्यानि अन्त-र्मङ्गलस्य नष्टवात् 'यद्वि मनसा ध्यायति' इति वाक्याच्च अमङ्गलवाक्यान्वेवोक्तवान् । तदा भग-वानप्येतच्छ्रुत्वा न किञ्चिदुवाच । प्रतीकारार्थ कायिकं वाचिकं वा न संपादितवान् । तूष्णींभावो वधानुकल्प इति केचित् । अवगणनायाः कृत-त्वात् । 'वधानुकल्पः स्वद्रोहे' इति वस्तुतस्तु । धर्मे तद्वाक्यानां बाधकत्वाभावात् कुबुद्धिरयमित्यु-पेक्षितः । ननु वाग्बाणाः बाणापेक्षया परुषाः इति कथमुपेक्षेत्याशङ्क्य दृष्टान्तमाह यथा सिंह

इति । न हि शृगालशब्दे सिंहसमीपेऽपि जायमाने सिंहनिन्दारूपोर्थोऽस्ति अभिमानेन कल्पायत्वा तं च सदृशीकृत्यान्य एव शृगालः शब्दं करोति न तु सिंहः सिंहतुल्यो सिंहपदेन मारको निरूप्यते वर्ण-विपर्ययात् अतो मारयिष्याम्येवैनम् । किं वाच-नेनेति तूष्णींस्थितः । नापि तदुक्ता घर्मा भगवति सन्ति येन मर्मभेदः स्यात् । नापि निन्दितानर्थान् भगवान् परिगृह्णाति येन निन्दके क्रोधः स्यात्, अतो भ्रान्तवाक्यादुपेक्ष्यमेव ॥३८॥

व्याख्यानार्थ—शिशुपाल के भीतर से पुण्य नष्ट हो गए थे, जिससे अमङ्गल का ही मन में ध्यान कर रहा था, अतः 'यद्वि मनसा ध्यायति' इस वाक्य के अनुसार अमङ्गल ही बोलने लगा, तो भी भगवान् वे वचन सुनकर भी कुछ बोले नहीं उसका बदला लेने के लिए शरीर अथवा वाणी से कोई उपाय नहीं किया, कितने ही यों कहते हैं कि भगवान् ने जो मौन धारण कर कुछ नहीं किया, यह भी एक

प्रकार का वध ही है, क्योंकि यह उसका तिरस्कार किया जो वध के ही समान है 'वधानुकल्पः स्वद्रोहे' अपने द्रोह होने पर वध जैसा कार्य भी वध ही है, वास्तव में तो उसके वाक्य धर्म में बाध करने वाले नहीं थे, भगवान् ने इसको कुबुद्धि जान इसकी उपेक्षा की है, बाणी के बाण जब लोहे के बाणों से भी कठोर होते हैं तब उनकी उपेक्षा कैसे की ? इस शङ्का को दृष्टान्त देकर मिटाता है कि जैसे जहां शृगाली का शब्द होता है वहां सिंह बोलता ही नहीं है, उसकी उपेक्षा ही करता है वैसे ही भगवान् ने भी किया, शृगाल का शब्द समीप भी होता हो तो भी सिंह की निन्दा करने के अर्थ वाला नहीं है। सिंह अपनी शक्ति के अभिमान से यों ही समझता है कि यह शब्द सिंह का तो है ही नहीं कोई शृगाल शब्द करता है अथवा सिंह जैसा कोई शब्द करता है, सिंह पद से इसका अर्थ मारने वाला वर्ण के बदलने से हो जाता है, इसको मैं मारूंगा यों कहने से क्या लाभ ? अतः मौन धारण करना उत्तम है, उसने जो निन्दा के योग्य धर्म भगवान् में आरोपित किए वे तो उनमें है ही नहीं जिनसे भगवान् को दुःख हो वा उनके मर्म स्थानों को चोट लगे, क्योंकि आपनिन्दित विषयों को ग्रहण भी नहीं करते हैं, जिससे निन्दा करने वाले पर क्रोध करे, अतः ये वाक्य कहने वाला भ्रान्त^२ है इसलिए उपेक्ष्य ही है ॥३८॥

आभास—अन्ये पुनर्वहिर्मुखाः भगवन्निन्दनमेतदिति मत्वा तच्च स्वस्य निरुद्धत्वान्न श्रोतव्यमिति शापं दत्त्वा गतवन्त इत्याह भगवन्निन्दनं श्रुत्वेति ।

आभासार्थ—फिर दूसरे वहिर्मुख सभा छोड़ गये, क्योंकि शिशुपाल के कहे हुए वचनों में भगवान् की निन्दा है, वह अपने विचारों के विरुद्ध हैं इसलिए सुनने योग्य नहीं, इसलिए शिशुपाल को शाप देकर चले गए यों 'भगवन्निन्दनं' श्लोक में कहता है

श्लोक—भगवन्निन्दनं श्रुत्वा दुःसहं तत्भासदः ।

कर्णो पिधाय निर्जग्मुः शपन्तश्चेदिपं रुषा ॥३९॥

श्लोकार्थ—असह्य भगवान् की निन्दा सुनकर, सभासद, कानों को बन्द कर क्रोध से शिशुपाल को शाप देते हुए सभा से बाहर चले गये ॥३९॥

सुबोधिनी—तत्तु दुःसहं कर्णयोरपि कठिनं | पिधाय चेदिपं शिशुपालं रुषा शपन्तो निर्जग्मुः निन्दासहितसभायां ये स्थिताः ते कर्णो स्वस्य ॥३९॥

व्याख्यानार्थ—वह (अपकर्ष अर्थान् तिरस्कार के वचन) तो कानों को भी कठोर लगने से सहने योग्य नहीं है, ऐसी निन्दा वाली सभा में जो सभासद बैठे थे वे अपने कान बन्द कर, शिशुपाल को क्रोध से शाप देते हुए चले गए ॥३९॥

आभास—एवं करणो धर्म इत्याह निन्दां भगवतः शृण्वन्निति ।

आभासार्थ—‘निन्दां भगवतः’ श्लोक में कहते हैं कि यों करना धर्म है—

श्लोक—निन्दां भगवतः शृण्वंस्तत्परस्य जनस्य वा ।

ततो नापैति यः सोऽपि यात्यधः स्वकृताच्च्युतः ॥४०॥

श्लोकार्थ—भगवान् की तथा भगवत्परायण मनुष्य की निन्दा सुनता रहता है वहां से बाहर नहीं होता है, वह भी पुण्य से भ्रष्ट हो अधोगति को प्राप्त होता है ॥४०॥

सुबोधिनी—अपकर्षवाक्यं निन्दा । येनैव वाक्येन भगवत्पकर्षप्रतीतिर्भवति तन्न श्रोतव्यं तथा भगवद्भक्तस्य जनस्य अपकर्षप्रतीतिर्भवति, जनस्येति साधारणस्यापि । ततः कर्णो पिधाय नापयति सोऽपि स्वकृताच्च्युतः सन्नधो याति । भगवदुत्कर्षज्ञानार्थं हि सर्वोऽपि प्रयत्नः तदपकर्षे

हृद्यागते विपरीतं जातमिति स्वकृतस्य धर्मस्य वृथानाशात्स्वयं विपरीतज्ञानादधो याति । इदम-शक्तविषयम् । शक्तानां तु धर्मश्चतुर्थे प्रतिपादितः । ‘छिन्द्यात् प्रसह्य रुशतीमसतीं प्रभुश्चेज्जिह्वाम-सूनपि ततो विसृजेत्स धर्मः’ इति ॥४०॥

व्याख्यार्थ—तिरस्कार के वचनों को ‘निन्दा’ कहते हैं, जिस वाक्य से भगवान् में अनादर की प्रतीति होवे वह नहीं सुनना चाहिए, वैसे ही भगवद्भक्त के तिरस्कार की जिस वाक्य से प्रतीति हो वह भी नहीं सुनने चाहिए, चाहे वह मनुष्य साधारण भी हो तो भी जो वहां से कान बन्द कर चला नहीं जाता है वह भी अपने पुण्यों से गिर कर अर्थात् पुण्यों को क्षय कर अधोगति को प्राप्त होता है । प्रत्येक यह ही प्रयत्न करता है कि, भगवान् के उत्कर्ष का ज्ञान होवे, यदि भगवान् का तिरस्कार हृदय में आ जाये तो विपरीत गति हो जाती है । इस प्रकार अपने किए हुए धर्म का वृथा नाश हो जाने से तथा विपरीत ज्ञान होने से स्वयं अधोगति प्राप्त करता है जो अशक्त हैं उनके विषय में यों कहा है । जो शक्त है उनके लिए भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में प्रतिपादन किया है कि जिसमें शक्ति होवे वह निन्दारूप क्लेश करने वाली दुष्ट जिह्वा को काट डाले, हो सके तो प्राणों को भी त्याग दे, किन्तु भगवान् की निन्दा न सुने, यह धर्म है ॥४०॥

आभास—पाण्डवास्तु मर्तुं मारयितुं च समर्था इति तन्मारणार्थं प्रवृत्ता इति ततः पाण्डुसुता इति ।

आभासार्थ—पाण्डव तो मरने और मारने की शक्ति वाले थे, इसलिए वे उसको मारने के लिए प्रवृत्त हुए, यों ‘ततः पाण्डुसुताः’ श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—ततः पाण्डुसुताः क्रुद्धा मत्स्यकैकयसृञ्जयाः ।

उदायुधाः समुत्तस्थुः शिशुपालजिघांसया ॥४१॥

श्लोकार्थ—फिर पांडु पुत्र मत्स्य, कैकय और सृञ्जय क्रोध कर शस्त्र उठाके

शिशुपाल को मारने की इच्छा से उठ कर खड़े हो गए ॥४१॥

सुबोधिनी—पितृनाम्ना शूरत्वाय व्यपदेशः ।
आदौ क्रुद्धाः अन्यथा मातृभगिनीपुत्रत्वात्स्नेहः
प्रतिबन्धको भवेत् । मत्स्या विराटवंशोद्भवाः,
कंकयाश्च भरतपूर्वजा वैष्णवाः, सृञ्जयाः द्रुपद-

वंशजाः । एते चतुर्विधा अपि उदायुधाः समुत्त-
स्थुः । स्वमरणसंदेहं वारयति शिशुपालजिघांस-
येति ॥४१॥

व्याख्यार्थ—ये शूरवीर हैं यों जताने के लिए उनके पिता के नाम से बताए हैं, आरम्भ में ही क्रोध किया, नहीं तो मासी के पुत्र होने से उसके मारने में स्नेह रुकावट होता, विराट वंश में उत्पन्न 'मत्स्य' थे भरत के पूर्वज 'कंकय' वैष्णव थे, द्रुपद वंश में उत्पन्न हुवे सृञ्जय थे, ये चारों ही शस्त्र उठा के खड़े हो गए, अपने मर जाने का उनकी संशय ही नहीं था, इसलिए कहा है कि शिशुपाल को मारने की इच्छा से शस्त्र ले खड़े हो गए ॥४१॥

श्लोक—ततश्चेद्यस्त्वसंभ्रान्तो जगृहे खड्गचर्मणी ।

भर्त्सयन्कृष्णपक्षीयान् राज्ञः सदसि भारत ॥४२॥

श्लोकार्थ—हे भारत ! तब शिशुपाल हाथ में ढाल तलवार लेकर निडर हो श्रीकृष्ण के पक्ष वालों को सभा में भिड़की बताते हुए कहने लगा ॥४२॥

सुबोधिनी—शिशुपालोऽपि क्रियाशक्तौ सर्वा-
धिक इति 'जिघांसन्तं जिघांसीयात्' इति पाण्डव-
वधार्थमसंभ्रान्तो भूत्वा खड्गचर्मणी जगृहे ततो-
ऽन्यैः अनुचितं क्रियत इत्युक्तः तान् निर्भर्त्सयन्

कृष्णपक्षीया एते इति साक्षाद्वधसाधनं गृहीत-
वान् । स्वस्य च रक्षासाधनं राज्ञः सदसि इति
नात्र ब्राह्मणशापशङ्केति सूचितम् । भारतेति
विश्वासार्थम् ॥४२॥

व्याख्यार्थ—शिशुपाल भी क्रिया शक्ति में सबसे अधिक था, इसलिये "जो मारने आवे उसको मारना ही चाहिए", इस नीति वाक्य के अनुसार उस (शिशुपाल) ने पाण्डवों को मारने के लिए बिना भय के अर्थात् निडर हो हाथ में ढाल और तलवार लेली । चेद्यने यों किया तब उसको दूसरों ने कहा कि तू यह कार्य अनुचित करता है, जिसके उत्तर में उसने समझा कि ये भी श्रीकृष्ण के पक्ष वाले हैं अतः उनको भिड़की देते हुए साक्षात् वध के साधन ग्रहण किए और अपनी रक्षा के साधन भी लिए, राजा की सभा में ऐसा बोला और किया । इससे यह बतलाया कि उसको ब्राह्मण के शाप का भय नहीं था, हे भारत ! सम्बोधन परीक्षित को विश्वास कराने के लिए दिया है ॥४२॥

आभास—ततो भगवान् एनं तदपेक्षया बलिष्ठं मत्वा अमोघवीर्यं च स्वार्थं यतन्त
इति 'भक्तद्रोहे वधः स्मृतः' इति शास्त्रं पुरस्कृत्य स्वयं मारणार्थं प्रवृत्त इत्याह
तावदुत्थायेति ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् ने सोचा कि यह शिशुपाल पाण्डवों से बलवान है और इसका पराक्रम निष्फल होने वाला नहीं है, ये पाण्डव तो मेरे लिए प्रयत्न कर रहे हैं क्योंकि मेरे भक्त हैं.

यह शिशुपाल मेरे भक्तों का द्रोह करता है, शास्त्रों में कहा है कि जो भक्त का द्रोह करे उसका वध करना चाहिए जैसे कि 'भक्त द्रोह वधः स्मृतः' इस शास्त्रानुसार भगवान् स्वयं शिशुपाल के मारने में प्रवृत्त हुए, यह 'तावदुत्थाय' श्लोक में वर्णन करते हैं।

श्लोक—तावदुत्थाय भगवान्स्वान्निवार्य स्वयं रुषा ।

शिरःक्षुरान्तचक्रेण चिच्छेदापततो रिपोः ॥४३॥

श्लोकार्थ—जब तक शिशुपाल पाण्डवों पर प्रहार करे तब तक न रुक कर आप उठ कर खड़े हो गए और अपने भक्तों को रोक लिया, फिर क्रोध से छुरे के समान धार वाले चक्र से दौड़कर आते हुए शत्रु का शिर काट डाला ॥४३॥

सुबोधिनी—भगवत्वात्स्वस्य पूर्णा शक्तिः अत एव स्वान् भक्तान् निवार्य स्वयं चक्रेण शिरःश्चिच्छेद । सोऽपि भक्तः कथमेवं कृतवानित्याशङ्क्यामाह रुषेति । भगवद्रोषधर्मेण स मारितः भगवद्भक्तेषु तस्य रोषजननात् तत्रापि शिरश्चिच्छेद । येन मार्गेण सा वाङ्निर्गच्छति । अलौ-

किकेन भगवत्सामर्थ्येन स मारित इति शङ्काव्यावृत्त्यर्थमाह क्षुरान्तेति । क्षुरान्तवत्तीक्ष्णेन । तथा सति लोके भगवन्माहात्म्यं न स्यात् । साधनोत्कर्षस्तु कर्तुर्नापकर्ष संपादयति । आपततो रिपोरिति तस्यापराधो वधहेतुरुक्तः ॥४३॥

व्याख्यान—श्रीकृष्ण आप भगवान् होने से पूर्ण शक्ति सम्पन्न है, अतः अपने सेवकों को रोक कर स्वयं (खुद) शिशुपाल के शिर को चक्र से काट डाला ।

वह भी आपका ही सेवक है तो उसका शिर कैसे काटा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'रुषा' क्रोध आने से । भगवान् को क्रोध क्यों हुआ ? शिशुपाल ने अपने कार्य से भगवद्भक्तों में क्रोध उत्पन्न किया । अतः भगवान् के क्रोध गुण ने उसको मारा, उसमें भी जिस स्थान से ऐसी दुष्टवाणी निकली थी वह दोष वाला शिर ही काट डाला, अलौकिक भगवत्सामर्थ्य से वह मारा गया, ऐसी शंका की निवृत्ति के लिए कहा है कि छुरे की धार के समान तीक्ष्ण चक्र से शिर काटा ।

यों करने से लोक में भगवान् का महात्म्य न बढ़ेगा, कार्य करने के जो उत्कृष्ट साधन हैं, उनसे कार्य करने पर, कार्यकर्ता का अपकर्ष नहीं होता है । शत्रु भक्तों को मारने के लिए दौड़ता आ रहा था, यह उसका अपराध था, यह अपराध ही उसके मारे जाने का कारण बना ॥४३॥

श्लोक—शब्दः कोलाहलोऽप्यासीच्छिशुपाले हते महान् ।

तस्यानुयायिनो भूपा द्रुवुर्जीवितैषिणः ॥४४॥

श्लोकार्थ—शिशुपाल के मरने पर महान् शब्द और कोलाहल हुआ और उसके अनुयायी राजा जो जीना चाहते थे वे भाग गए ॥४४॥

सुबोधिनी—ततस्तद्वधे महान् शब्दो जातः ।
कोलाहलश्च सर्वैः कृतः । शिशुपाले हत इति
निमित्तं अनायासेन तन्मारणं चोक्तम् । ततस्त-

त्यक्षपातिनः दैत्यांशाः सर्वे एव जीवरक्षार्थं युद्ध-
मकृत्वैव जीवनार्थं दुद्रुवुः ॥४४॥

व्याख्यार्थ—अतन्तर उसके वध से महान् शब्द हुआ और सबने कोलाहल किया, शिशुपाल के मरने पर, यों होने का यह निमित्त कारण था और इसका मारना अनायास हुआ है यों कहा है पश्चात् उसके पक्षवाले सब दैत्यांश अपने प्राण बचाने के लिए युद्ध न कर यों ही भाग गए ॥४४॥

आभास—एवं धर्मार्थं तस्य वधं निरूप्य स चेज्जीवो न मुक्तो भवेत्तदा स्मशानत्वं तस्य स्थानस्य भवेदिति तद्दोषपरिहारार्थं मुक्तिमाह चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार धर्म के लिए उसके वध का निरूपण किया यदि वह न मरता, जीता रहता तो, मुक्त न होता, जिससे उसका स्थान स्मशान ही होता । उसके दोष परिहार के लिए उसको मुक्ति कही जाती है “चैद्यदेहोत्थितं” इस श्लोक में

श्लोक—चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत् ।

पश्यतां सर्वभूतानामुत्केव भुवि खाच्च्युता ॥४५॥

श्लोकार्थ—आकाश से गिरी अग्नि जैसे पृथ्वी में समा जाती है वैसे ही प्राणियों के देखते हुए शिशुपाल की देह से उत्पन्न ज्योति वासुदेव में प्रविष्ट हो गई ॥४५॥

सुबोधिनी—हृदये स्थितं जीवाख्यं तज्ज्योतिः
भगवदिच्छया सहजक्रियायुक्तं वासुदेवं मोक्ष-
दातारमुपाविशत् । भगवत्पादयोः प्रविष्टं
वैकुण्ठात्मकं तत्पुनर्लोकाय अन्तिकमित्यादिपदैः
व्यापिवैकुण्ठस्यैव निरूपणम् । अन्यथा कृत्रिम-
वैकुण्ठात्पाजनं व्यर्थं स्यात् । ‘प्रक्षालनाद्वि-
पङ्क्तस्य’ इति न्यायात् । एतदन्यथानुपपत्त्यैव
आराग्रजीवपक्ष एव मुख्य इत्यङ्गीकर्तव्यम् ।
सात्त्विकशरीरांशेषेणेति मनमसङ्गतं ज्योति-

रिति वाक्यात् । अन्यत्रात्मज्योतिःप्रकाराच्च ‘गृही-
त्वंतानि सयाति’ इति वाक्यात्तस्य सहजक्रियापि
सिद्धा केवलजीवस्य यथैतादृशं रूपं सिद्ध्यति
तथोपपादितं निबन्धे । ‘पश्यतां सर्वभूतानाम्’
इति । सायुज्ये प्रमाणमुक्तं जीवस्वरूपनिर्धारश्च ।
प्रवेशः सर्वैर्न दृष्ट इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह उत्के-
वेति । निर्गमनप्रवेशनयोः तस्यादर्शनं खात्
आकाशाच्च्युता ॥४५॥

व्याख्यार्थ—हृदय में स्थित ‘जीव’ नाम की प्रसिद्ध वह ज्योति जो भगवदिच्छा से सहज क्रिया से युक्त है, वह मोक्ष देने वाले वासुदेव में प्रविष्ट हो गई । वह भगवान् का चरण वैकुण्ठ रूप है, ‘पुनर्लोकाय अन्तिक’ भगवान् के समीप, इन शब्दों से व्यापि वैकुण्ठ ही कहा है । यदि उसमें प्रवेश कराना न होता तो, ‘प्रक्षालनाद्वि, पङ्क्तस्य’ इस न्यायानुसार कीचड़ में पैर डाल फिर धोना जैसे व्यर्थ है, वैसे ही यह भी होता, अर्थात् कृत्रिम वैकुण्ठ से निकालना व्यर्थ होता । इसकी दूसरी तरह (जीव व्यापक) है । उपपत्ति न होने से ही, सुई के अग्रभाग समान जीव है यह पक्ष ही मुख्य है जो अङ्गीकार करना चाहिए ।

शरीर के शेष सात्विक अंश से उसने भगवान् में प्रवेश किया यह मत असंगत है क्योंकि वहां 'ज्योति' पद कहा है, अन्य स्थानों पर भी 'जीव' को तेज का प्रकार कहा है और 'वह जीव 'गृही-त्वैतानि संयाति' इन्द्रियों को साथ लेकर जाता है, यों कहने से वह क्रिया भी करता है यह सिद्ध होता है । जीव का ऐसा ही रूप होता है जिसका वर्णन निबन्ध में किया है कि सब सभासदों के देखते हुए, यह सायुज्य में प्रमाण है और जीव के स्वरूप का भी निर्णय किया है, प्रवेश सबने न देखा, इसको समझाने के लिए दृष्टान्त दिया है कि आकाश से गिरी अग्नि (बिजली) जैसे पृथ्वी में लीन हो जाती है वैसे वह भी हुआ ॥४५॥

आभास—एवं निःशङ्कप्रवेशमुक्त्वा भगवन्निन्दाकर्तुः कथं सायुज्यमिति शंकां वारयति जन्मत्रयेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार शिशुपाल का भगवान् में निःशङ्क प्रवेश कहकर अब भगवान् की निन्दा करने वाले को सायुज्य मुक्ति कैसे मिली ? इस शङ्का का 'जन्मत्रय' श्लोक से निवारण करते हैं

श्लोक—जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरम्भया धिया ।

ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम् ॥४६॥

श्लोकार्थ—तीन जन्मों में बार बार होने वाले वैर के कारण जो क्रोधवाली हुई बुद्धि उससे नित्य भगवान् का ही ध्यान कर रहा था जिससे भगवान् के स्वरूप को प्राप्त हुआ, कारण कि भाव ही जन्म का कारण है ॥४६॥

सुबोधिनी—वैकुण्ठात्पतितस्य हिरण्यकशिपु-
रावणशिशुपाललक्षण जन्मत्रये अनुगुणितमा-
वतितं यद्वैरं अपकारवधादिना तेन यः संरम्भः
क्रोधसंरम्भः तद्युक्तया धिया वैरबुद्ध्या तं भग-
वन्तं ध्यायन् तन्मयतामेव यातः । तेन पेशस्का-
रिवत् भगवद्भजनेन भगवद्रूपो भूत्वा भगवति

सायुज्यं प्राप्तवान् । अन्यथा जीवभावे भगवति
स्थितजगत् इव न सायुज्यं स्यात् । तस्मादिदं
भगवद्रूपेण जन्म, तत्र कारणं भाव एव निरन्तर-
स्मरणमेव । यमेवार्थं निरन्तरं स्मरति स एव
भवति ॥४६॥

व्याख्यानार्थ—ब्राह्मण शाप के कारण वैकुण्ठ से गिरे हुए का तीन जन्म, १-हिरण्यकशिपु
२-रावण और ३-शिशुपाल इन तीनों जन्मों में बराबर जो वैर होता आया, जिससे अपकार और
वध आदि जो हुए, उनसे उत्पन्न क्रोध वाली बुद्धि से उन भगवान् का ही ध्यान करते हुए उनके
स्वरूप को ही पाया, जैसे भमरी ध्यान करती तद्रूप हो जाती है वैसे ही इसने भी भगवान् का ध्यान
करते हुए भगवान् से सायुज्य प्राप्त कर लिया, यदि यों ध्यान न करता, तो जीव भाव में रहते हुए
तो जैसे जगत् भगवान् में स्थित है वैसे ही रहता, किन्तु सायुज्य को प्राप्त न करता, इस प्रकार
सायुज्य प्राप्त करने का कारण अर्थात् भगवद्रूप हो जाने का कारण 'भाव' ही अर्थात् निरन्तर
स्मरण ही है, जिस अर्थ को सदैव स्मरण करता वही रूप होता है ॥४६॥

आभास—एवं प्रसंगात् दोषनिवृत्तिं मोक्षं च निरूप्य प्रारब्धं यागं शिष्टं निरूपयति ऋत्विग्भ्य इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रसङ्ग के कारण दोष निवृत्ति और मोक्ष का निरूपण कर 'ऋत्विग्भ्य' श्लोक से प्रारम्भ किये हुए यज्ञ का रहे हुए भाग का वर्णन करते हैं—

श्लोक—ऋत्विग्भ्यः ससदस्येभ्यो दक्षिणां विपुलामदात् ।
सर्वान्संपूज्य विधिवच्चक्रेऽवभृथमेकराट् ॥४७॥

श्लोकार्थ—ऋत्विज और सभासदों को बहुत दक्षिणा दी, विधि के अनुसार सबकी पूजा की, अनन्तर चक्रवर्ती राजा ने अवभृथ (यज्ञान्त स्नान) किया ॥४७॥

सुबोधिनी—ततो ऋत्विग्भ्यो दक्षिणां ततः सदस्येभ्यः यावन्तो वै सदस्या इति सर्वेभ्य एव । विपुलां वाञ्छितादप्यधिकामदात् । ततः सवन-त्रयानन्तरं साद्यस्कृष्टिरात्रसत्रानन्तरं सवनेन	देवान् यज्ञभागभुजः तत्तत्स्थाने संपूज्य लौकिकानपि दानमानादिभिः । ततोऽवभृथस्नानं कृतवान् । एकराडिति एकराज्यं तस्य सिद्धमिति यागफलस्यानुवादः ॥४७॥
--	--

व्याख्यार्थ—अन्त में ऋत्विजों को दक्षिणा दी और जितने सदस्य थे उन सबको भी दक्षिणा दी । जितनी दक्षिणा वे चाहते थे उससे भी अधिक दक्षिणा दी । पश्चात् तीन प्रकार के तर्पण को कर, शीघ्र होने वाले और दो दिन होने वाले बलिदान को करने के बाद, यज्ञ के भाग का भोग करने वाले सबही देवों की उनके स्थानों पर पूजा की, पश्चात् लौकिक पुरुषों का भी दान मान से सत्कार किया, इत्यादि यज्ञ की सर्व क्रिया पूर्णकर पश्चात् महाराजा ने यज्ञान्त स्नान किया यों करने से युधिष्ठिर चक्रवर्ती हुए 'चक्रवर्ती होना यह यज्ञ का फल है,' अर्थात् युधिष्ठिर को यज्ञ का फल प्राप्त हो गया ॥४७॥

आभास—एवं सफलं यागमनूय भगवतैवैतत्सर्वं कृतमिति भगवच्चरित्रमुक्त्वा उपसंहरन् भगवतः प्रयाणमाह साधयित्वेति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इसी तरह यज्ञ फलीभूत हुआ यह कह कर कहते हैं कि यह सफलता भगवान् ने ही की है, इस प्रकार भगवान् के चरित्र कहकर विषय का उपसंहार (समाप्ति) करते हुए भगवान् के पधारने का समाचार 'साधयित्वा' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—साधयित्वा ऋतुं राज्ञः कृष्णो योगेश्वरेश्वरः ।
उवास कतिचिन्मासान् सुहृद्भिरभियाचितः ॥४८॥

श्लोकार्थ—महाराजा के यज्ञ को सम्पूर्ण सिद्ध कर योगेश्वरों के ईश्वर कृष्ण मित्रों के आग्रह पूर्वक विज्ञप्ति करने पर कुछ मास वहाँ विराजमान हुवे ॥४८॥

सुबोधिनी—राज्ञः क्तुं राजसूयं साधयित्वा कृष्णः फलात्मापि साधनसाधनत्वेन स्वविनियोगं कारयित्वा संमोहनमुत्पाद्य यथा न ज्ञातं तथा योगं साधयित्वा योगेश्वराणामपीश्वरो दुर्ज्ञेयः ।

योगवर्या दुर्ज्ञेयेति सिद्धेऽपि यागे ते स्वात्मानं न ज्ञास्यन्तीति निश्चित्य कौतुकार्थमज्ञैः सुहृद्भिरभियावितः सन् कतिविन्मासानुवास ॥४८॥

व्याख्यार्थ—राजा के राजसूय यज्ञ को सफल कराकर, श्रीकृष्ण स्वयं फलरूप होते हुए भी आपने साधन के साधन रूप बनकर बहुत मोह उत्पन्न किया, जैसे कोई न जान सके वैसा योग साध कर वहाँ रहे, योगेश्वरों के भी ईश्वर को कोई जान नहीं सकता है । योग की गति जानी नहीं जावे ऐसी है, यों यज्ञ की सिद्धि हो गई तो भी वे पाण्डव मुझे पहचान नहीं सकेंगे, वैसा निश्चय कर, अज्ञानी मित्रों ने कौतुक के लिए यहाँ रहने की प्रार्थना को, अतः कितनेही मास भगवान् वहाँ विराजे ॥४८॥

श्लोक—ततोऽनुज्ञाप्य राजानमनिच्छन्तमपीश्वरः ।

ययौसभार्यः सामात्यः स्वपुरं देवकीसुतः ॥

श्लोकार्थ—पश्चात् भगवान् पधार जावे ऐसी इच्छा राजा की नहीं थी तो भी उससे सम्मति लेकर, ईश्वर, देवकी के पुत्र, पत्नियों और मन्त्रियों सहित अपने नगर पधारे ॥४९॥

सुबोधिनी—ततो लीलान्तरं कर्तुं राजानमनुज्ञाप्य स्नेहवशादनिच्छन्तमपि ईश्वरत्वात्स्वानन्द्यमलम्ब्य यथागतं सभार्यः सानुगामात्यः स्वपुरं ययौ । ननु भगवत्कार्यं किमपि न सिद्धं

महत्या संभृत्या किमित्यागतः किमिति गत इत्याशङ्क्यामामाह देवकीसुत इति । भक्तवात्सल्येन देवक्याश्च पुत्रो जातः तथेदमपि कृतवानित्यर्थः ॥४९॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् अन्य लीला करने के लिए, स्नेह के कारण जाने देने की इच्छा वाला राजा न था तो भी, ईश्वर होने से अपनी स्वतन्त्रता का अवलम्बन कर राजा से सम्मति लेली, जैसे इन्द्रप्रस्थ पधारे थे उसी तरह पत्नियों और अमात्यों (मन्त्रियों) सहित अपने नगर को पधारे ।

भगवान् का कार्य तो कुछ भी सिद्ध न हुआ, बड़ी शान शोकत (दबदबे) से किस लिए आये, किस लिए लौट गये ? इस शंका के उत्तर में कहते हैं कि 'देवकी सुतः' देवकी के पुत्र हैं, भक्तों पर प्रेम होने से जैसे देवकी के पुत्र बने वैसे यह कार्य भी किया ॥४९॥

आभास—उपसंहरति वर्णितं तदुपाख्यानमिति ।

आभासार्थ—'वर्णितं तदुपाख्यानं' श्लोक से विषय को सम्पूर्ण करते हैं ।

श्लोक—वर्णितं तदुपाख्यानं मया ते बहुविस्तरम् ।

वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात्पुनः पुनः ॥५०॥

श्लोकार्थ—वैकुण्ठवासी दो पार्षदों का जन्म, ब्राह्मणशाप से बार बार हुआ है, वह कथा तुम्हें बहुत विस्तार से मैंने कही है ।

सुबोधिनी—नन्वत्र शिशुपालस्य स्वरूपं न सम्यगुक्तं तदकथने कथा न रसवतीत्याशङ्क्याह मया पूर्वमेव वैकुण्ठवासिनोर्जन्म विप्रशापात्पुनः पुनर्जातिमिति बहुविस्तारं यथा भवति तथा तस्य शिशुपालस्योपाख्यानं मया वर्णितं तृतीये सप्तमे च ॥५०॥

व्याख्यानार्थ—यहाँ शिशुपाल का स्वरूप पूर्ण रीति से नहीं कहा है, यों न कहने से कथा रस वाली नहीं हुई है ? इस शंका के उत्तर में कहा है कि मैंने प्रथम ही वैकुण्ठवासियों का जन्म ब्राह्मण शाप से बार बार हुवा है यह प्रसंग बहुत विस्तार से तृतीय और सप्तम स्कन्ध में (शिशुपाल चरित्र) मुना दिया है ॥५०॥

आभास—ततो राजः सर्वपापक्षये महती शोभा जातेत्याह राजसूयावभृथ्येनेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार यज्ञादि सत्कर्म करने से राजा के सर्व पाप नष्ट हो गए जिससे उनकी बहुत शोभा हुई, जिसका वर्णन 'राजसूयावभृथ्येन' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—राजसूयावभृथ्येन स्नातो राजा युधिष्ठिरः ।

ब्रह्मक्षत्रसभामध्ये शुशुभे सुरराडिव ॥५१॥

श्लोकार्थ—राजसूय यज्ञ के अवभृथ कर्म में यज्ञान्त स्नान करने से राजा के सकल पाप नष्ट हो गए जिससे ब्राह्मण और क्षत्रियों की सभा में वह इन्द्र के समान शोभा पाने लगा ॥५१॥

सुबोधिनी—राजसूयस्य आवभृथ्यमवभृथ-कर्म तत्र स्नातो राजा सर्वपापक्षये जाते ब्रह्मक्षत्र-सभामध्ये सर्वेभ्यः अधिकं शुशुभे । समानजातो-योऽपि ब्राह्मणाद्धीनोऽपि सर्वोत्कर्षेण भात इत्यत्र दृष्टान्तमाह सुरराट् देवेन्द्र इवेति । ॥५१॥

व्याख्यानार्थ—राजसूय के अवभृथ कर्म में यज्ञान्त स्नान करने से राजा के सर्व पाप क्षय हो गए, जिससे ब्राह्मण और क्षत्रियों के सभा में वह शोभा पाने लगा । क्षत्रियों से जाति में समान होते हुए भी और ब्राह्मणों से छोटा अर्थात् हलका होते हुए भी, सबसे अधिक शोभा पाने लगा जैसे इन्द्र सभा में शोभता है ॥५१॥

—आभास—राजसूयस्य साङ्गष्य फलमनूद्य प्रत्यापत्तिं वदन् सर्वेषां राज्ञां प्रतियानमाह राजा सभाजिता इति ।

आभासार्थ—अंग सहित पूर्ण हुए राजसूय यज्ञ का फल कह कर लौट कर जाने वाले राजाओं के प्रत्याग का प्रकार 'राज्ञा' श्लोक में बताते हैं ।

श्लोक—राज्ञा सभाजिताः सर्वे सुरमानवखेचराः ।

कृष्णं ऋतुं च शंसन्तः स्वधामानि ययुर्मुदा ॥५२॥

श्लोकार्थ राजा से देवता, मनुष्य और आकास में विचरने वाले सब सत्कार पाकर, श्रीकृष्णचन्द्र और यज्ञ की प्रशंसा करते हुए आनन्द पूर्वक अपने अपने धाम पधारे ।

सुबोधिनी— सर्वे सुरादयः सभाजिताः सात्त्विका राजसास्तामसाश्च । आधिदैविक-माध्यात्म च उभयसमाराधनमध्ये अंशत्वेन प्रस-
ङ्गाच्च स्वयं प्रीणिताः मुद्रास्वधामानि ययुः ॥५२॥

व्याख्यार्थ—देव आदि सब सात्त्विक राजस और तामस का राजा ने सत्कार किया, आधि-दैविक, आध्यात्मिक दोनों को प्रसन्न किया, उनमें अंश था और प्रसंग के कारण प्रसन्न किए हुए देवादि आनन्द से अपने २ स्थानों पर गए ॥५२॥

आभास—राजसूयस्य फलं स्वराज्यं सर्वसंतोषं चोक्त्वा भूभारहरणमपि तस्य प्रयोजनमिति तस्यापि बीजं तत्र जातमिति निरूपयति दुर्योधनमृते पापमिति ।

आभासार्थ—राजसूय का फल स्वराज्य और सर्व का संतोष किया वह वर्णन कर, अब पृथ्वी का भार हरण करना वह भी उसका ही प्रयोजन है जिसकी नींव वहाँ पड़ गई है, यह 'दुर्योधनमृते' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—दुर्योधनमृते पापं कलिं कुरुकुलामयम् ।

यो न सेहे श्रियं स्फीतां दृष्ट्वा पाण्डुसुतस्य ताम् ॥५३॥

श्लोकार्थ—पाण्डु के पुत्र युधिष्ठिर की इतनी समृद्धि बढ़ी देखकर दुर्योधन सहन न कर सका, क्योंकि कुरु कुल का रोगरूप, पापी, कलिरूप था ॥५३॥

सुबोधिनी—दैत्यांशाः पूर्वमेव निराकृताः । अयं संनिहितबन्धुत्वेन छन्नः अन्तः स्थितः तथापि फले सिद्धे स्वदोषं प्रकटितवान् । ततो मानभङ्गं प्राप्य विमना गतः, यतः स पापरूपः कलेरवतारः । तादृशः कथं बन्धुरिति चेत्तत्राह कुरुकुलस्यामय-मिति । ब्रह्मकल्पाद्येतत्पर्यन्तं कुरुवंशे यावत् पापमभूत् तदेवैकीभूतं दुर्योधनरूपेणाविर्भूतं अत-स्तस्य बन्धुत्वं पापत्वं चाविरुद्धमित्यर्थः । आमयो

रोगः प्राणिनां सहजः धात्वन्नवैषम्येण नित्यं भवति स कदाचित् प्रवृद्धः रोगव्यपदेशं प्राप्नोति तथायमपि पापरूप इति भावः । तस्योद्बोधे किं निमित्तमित्याकाङ्क्षायामाह यो न सेहे श्रियं स्फीतामिति । धर्मफलमधर्मो न सहते यथा आमयो गुरुभोजनम् । दृष्टादृष्टोपायाभ्यां पाण्डु-सुतस्य श्रीः स्फीता जाता तादृशीं प्रसिद्धां न सेहे इति कुरुकुले रोगत्वम् ॥५३॥

व्याख्यार्थ—दैत्यांश राजाओं को तो प्रथम ही निकाल दिया था, यह दुर्योधन निकट का बान्धव था, इसलिए छिप कर भीतर स्थित था, बान्धव था तो भी, जब युधिष्ठिर को यज्ञ का फल मिला

जिससे उसकी शोभा समृद्धि आदि बढी, तब उसने (दुर्योधन ने) अपना दोष (दुष्टता) प्रकट किया, पश्चात् मानभंग होने से दुःखी हुआ, क्योंकि वह पाप रूप कलि का अवतार है। वैसा पाप रूप कलि का अवतार धर्मराज युधिष्ठिर का बन्धु कैसे हो सका ? जिसका समाधान करते हैं कि यह कुरुकुल में रोगरूप है, ब्रह्मकल्प से लेकर अब तक कुरुवंश में जो पाप हुआ वह ही इकट्ठा होकर दुर्योधन रूप से प्रकट हुआ है, इस कारण से, उसका बन्धुपन और पापपन विरुद्ध नहीं है। प्राणियों का रोग होना सहज धर्म है, अन्नादि भोजन की और धातु की विषमता से नित्य होता ही है, वह कदाचित् बढ जाता है तब रोग कहलाता है, वैसे यह पाप रूप भी समझना चाहिए। इस पाप के जग जाने का क्या कारण है ? जिसके उत्तर में कहते हैं, कि जैसे शरीर में जब रोग होता है तब वह रोग गरिष्ठ भोजन को सहन नहीं कर सकता है अर्थात् पचा तो सकता नहीं है किन्तु स्वयं विशेष बढता है, वैसे ही यह अधर्म अर्थात् पापरूप रोगरूप दुर्योधन, युधिष्ठिर की सम्पत्ति आदि धर्मरूप भोजन को सहन नहीं कर सका, किन्तु विशेष हानि करने के लिए उद्यत हुआ, इसलिए कुरुकुल का 'रोग' इसको कहा है ॥५३॥

आभास—एतदुपाख्यानश्रवणस्य फलमाह य इदं कीर्तयेदिति ।

आभासार्थ—'य इदं कीर्तयेद्विष्णोः' श्लोक में इस उपाख्यान श्रवण का फल कहते हैं

श्लोक—य इदं कीर्तयेद्विष्णोः कर्म चैद्यवधादिकम् ।

राज्ञां मोक्षं वितानं च सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥५४॥

श्लोकार्थ—जो मनुष्य विष्णु के, चैद्य वध आदि, राजाओं को कैद से छुड़ाना और यज्ञ कर्म का कीर्तन करता है वह सर्व पापों से छूट जाता है ॥५४॥

सुबोधिनी—प्रत्यहं पठेत्, किमित्येतत्पठिष्यतीत्याशङ्कयामाह विष्णोः कर्मति । इदं तु राजसूयाख्यं राज्ञः कर्म कथं भगवत्कर्मैत्यत आह चैद्यवधादिकमिति । शिशुपाल वधः आदिर्यस्य । ततः प्रभृति सर्व भगवत्कर्मैव, तर्हि तावदेव श्रोतव्यमित्याशङ्क्याह राज्ञां मोक्षं वितानं चेति ।

त्रयमेतत् तामसं राजसं सात्त्विकं चेति एतत्कीर्तनेन श्रवणेन च सर्वपापैः प्रमुच्यते इति श्रवणादिफलं निरूपयन् तस्य धर्मस्योत्तमत्वमाह यथा स्वरूपत उत्तमत्वं वर्ण्यते । तथा दृष्टफलसाधकत्वेनापि माहात्म्यमिति फलोक्तिः ॥५४॥

व्याख्यानार्थ—इस चरित्र का नित्य पाठ करे, क्यों नित्य पाठ करे ? इस शंका का समाधान करते हैं कि 'विष्णोः कर्म' यह चरित्र भगवान् विष्णु की लीला है, यह आप कैसे कहते हो ? यह तो राजा का किया हुआ राजसूय यज्ञ रूप कर्म है, भगवान् की लीला कैसे है ? जिसका उत्तर देते हैं कि, शिशुपाल वध आदि से लेकर जो कर्म हुवे हैं वे सर्व कर्म भगवान् के ही कर्म (लीला) हैं, तब तो वही सुनना चाहिये, जिसके उत्तर में ही श्लोक के उत्तरार्द्ध में 'राज्ञां मोक्ष वितानं च' कहा है कि राजाओं को कैद से छुड़ाने और यज्ञ का भी श्रवण करना चाहिए, ये तीन कर्म तामस, राजस और सात्त्विक होने से तीन प्रकार के हैं इनके श्रवण तथा कीर्तन करने से मनुष्य सर्व पापों

से छूट जाता है, अर्थात् उसके सर्व पाप क्षय हो जाते हैं, इसके श्रवणादि के फल को निरूपण करते हुए, उस धर्म की उत्तमता कहते हैं । जैसे स्वरूप से उत्तमपन का वर्णन है वैसे ही दृष्टफल का साधन होने से भी इसका महात्म्य है, यों फल की उक्ति है ॥५४॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचिताया

दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे पञ्चविंशाध्यायविवरणम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ७१वें अध्याय (उत्तरार्ध के २५वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन

अवान्तर प्रकरण का चतुर्थ अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का पद

“पांडव यज्ञ शिशुपाल गति”

राग बिलावल:—

हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोइ । सत्रु मित्र हरि मनत न दोइ ॥
जो सुमिरै ताकी गति होइ । हरि हरि हरि सुमिरौ सब कोइ ॥
बैर भाव सुमिर्यौ सिसुपाल । ताहि राजसू मैं गोपाल ॥
चक्र सुदरसन करि संहार्यौ । तेज तासु निज मुख मैं धार्यौ ॥
भक्ति भाव भक्तनि उद्धारत । बैर भाव असुरनि निस्तारत ॥
कोऊ सुमिरौ काहु प्रकार । सूरदास हरि नाम उधार ॥



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाङ्मतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ७५वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७२वाँ अध्याय

उत्तरार्ध २६वाँ अध्याय

सात्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

“अध्याय—” ५

राजसूय यज्ञ की पूर्ति और दुर्योधन का अपमान



कारिका—षड्विंशे राजसूयस्य भूभारहरणे यथा ।

कारणत्वं तदर्थं हि मानभङ्गो निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—जिस तरह राजसूय यज्ञ, पृथ्वी के भार हरण करने में कारण बनता है उसी तरह दुर्योधन के मान भङ्ग में यज्ञ कारण है इसको जताने के लिये ही उत्तरार्ध के इस २६ वें अध्याय में दुर्योधन के मान भङ्ग का निरूपण किया जाता है ॥१॥

कारिका—यथान्यद्भगवत्कर्म मुख्यं कंसवधादिकम् ।

राजसूयकृतिस्तद्वत् भूभारहृतिकारणम् ॥२॥

कारिकार्थ—जैसे भगवान् का कंस वध आदि कर्म भूमि के भार हरण करने में मुख्य कारण है, वैसे ही राजसूय यज्ञ भी भू भार हरने में मुख्य कारण है ॥२॥

कारिका—स्वातन्त्र्ये तु हरेरत्र गौणतेति निरूपणम् ।

हरेः कथायां तस्यात्र न युक्तमिति निश्चयः ॥३॥

कारिकार्थ—यदि भू भार हरण करने में 'राजसूय' यज्ञ स्वतन्त्र कारण माना जाए, तो हरि गौण बन जायेंगे, इस प्रकार हरि की कथा में हरि को गौण बनाना उचित नहीं यों निश्चय होता है ॥३॥

कारिका—लोकिक्येव समृद्धिर्हि तस्याभिमतिकारणम् ।

अतः सैवात्र पूर्वोक्तादधिका वर्ण्यते स्फुटा ॥४॥

कारिकार्थ—उसके (युधिष्ठिर के) आदर के कारण लौकिकी ही समृद्धि है । इस कारण से प्रथम कही हुई समृद्धि से भी अधिक समृद्धि स्पष्ट वर्णन की जाती है ॥४॥

कारिका—तस्माद्भाषा लौकिकीयं भावादङ्गं न सर्वथा ।

न विरोधस्ततः पूर्वैनाग्रिमैरपि वाचकैः ॥५॥

कारिकार्थ—इस कारण से यह भाषा लौकिकी भाषा है शेष भगवान् तो प्रेम के कारण आधीन होते हैं न कि समृद्धि के कारण आधीन होते हैं । पहले कहे हुए वाक्य, अथवा अब जो कहे जायेंगे, उन वाक्यों में किसी प्रकार से भगवान् के स्वातन्त्र्य में विरोध नहीं है ॥५॥

आभास—एवं पूर्वाध्यायान्ते 'दुर्योधनमृते पापम्' इत्युक्तम् । तत्र राजा विस्तारं पृच्छति अजातशत्रोरिति द्वाभ्याम् । स्वयं सर्व सावधानतया श्रूयत इति ज्ञापयितुं सार्धेन पूर्वोक्तमनुवदति अजातशत्रोरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार पूर्व अध्याय में कहा है, कि पाप रूप दुर्योधन के सिवाय सबको निकाल दिया था । इस विषय में राजा "अजातशत्रो" इन दो श्लोकों में सर्व कथा विस्तार पूर्वक पूछता है, स्वयं तो सब सावधान होकर सुनता है यह जताने के लिए प्रथम सार्ध श्लोक से पूर्व कथा को कहता है ।

श्लोक—राजोवाच—अजातशत्रोस्तां दृष्ट्वा राजसूयमहोदयाम् ।

सर्वे मुमुदिरे ब्रह्मन्नुदेवा ये समागताः ॥१॥

दुर्योधनं वर्जयित्वा राजानः सर्षपः सुराः

इति श्रुतं नो भगवंस्तत्र कारणमुच्यताम् ॥२॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! राजसूय यज्ञ से बहुत वृद्धि को प्राप्त युधिष्ठिर की समृद्धि को देखकर, दुर्योधन के सिवाय, मनुष्य, देव, राजा, ऋषि और देव जो भी आए थे, वे सब प्रसन्न हुए, यों क्यों हुआ वह बतलाइये ।

सुबोधिनी—वैरे कारणाभावः तामलौकिकीं राजसूयेन महानुदयो यम्या इति तां समृद्धिं दृष्ट्वा । पुल्लिङ्गपाठो वा । तस्य सर्वाह्लादकत्वमाह सर्वमुमुदिर इति । ब्रह्मवादिनो वाक्यं सत्यमिति संबोधनम् । सात्त्विका राजसा एव निरूपिताः । नृदेवा इति नरश्च देवाश्चेति । राजानो ऋषयः

सुराश्च इति त्रिविधा लोकान्तरस्थाः । इति श्रुतमिति श्रुतं समर्थनीयमिति त्वत्त एव च श्रुतमस्ति नोऽस्माभिः सर्वैरेव । भगवन्निति ज्ञानार्थं प्रशंसा । दुर्योधनस्य बन्धोरपि कथं न मुत् तस्य सन्तोषाभावे कारणमुच्यतामित्यर्थः ॥१॥२॥

व्याख्यार्थ—युधिष्ठिर का नाम अजातशत्रु कह कर यह बताया है कि दुर्योधन को इसके साथ शत्रुता करने का कोई कारण नहीं था । युधिष्ठिर के पास उस 'अलौकिक समृद्धि' को जिस समृद्धि की राजसूय यज्ञ के कारण बहुत वृद्धि हुई है उसको देखकर सबको आनन्द प्राप्त हुआ, पुल्लिङ्ग पाठ लेने से अर्थ यों करना होगा, कि राजसूय यज्ञ का महान् उदय सबको आनन्द दायी हुआ, हे ब्रह्मन् ! सम्बोधन से यह कहा कि श्री शुकदेवजी ब्रह्मवादी है अतः उनके वचन कभी भूटे नहीं होते हैं । पहले जो मनुष्य और देव, यों कहा जिससे सात्त्विक तथा राजस बताये राजा ऋषि और देव ये तीन प्रकार जो कहे वे लोकान्तर (दूसरे लोक में) स्थित कहे हैं वे भी वहाँ प्रसन्न हुवे । इति श्रुतं, यों सुना है । इस 'श्रुत' पद के भाव से ही लोकान्तरस्थ कहा है, यह जो सबने सुना है वह भी आपसे ही सुना है भगवन् ! सम्बोधन देकर उनकी (शुकदेवजी की) प्रशंसा, ज्ञान के कारण की है, दुर्योधन युधिष्ठिर का बान्धव था फिर भी उसको आनन्द क्यों नहीं हुआ । उसको सन्तोष नहीं हुआ, इसका कारण बतलाइये ॥१--२॥

आभास—लौकिकसंपत्तिमाह पितामहस्यति ।

आभासार्थ—पिता महस्य श्लोक से लौकिक सम्पत्ति बताते हैं ।

श्लोक—ऋषिर्वाच—पितामहस्य ते यज्ञे राजसूये महात्मनः ।

बान्धवा परिचर्यायां तस्यासन्प्रेमबन्धनाः ॥३॥

श्लोकार्थ—तुम्हारे पितामह (दादा) महात्मा युधिष्ठिर के यज्ञ में प्रेम से बन्धे हुए बान्धव सर्व प्रकार की सेवा प्रेम से करने लगे ॥३॥

सुबोधिनी—संबन्धेन श्रवणप्रोत्साहो निरूप्यते, महात्मन इति महानुभावत्वात् । अन्येषां परिचर्यायां न काचन लज्जा, अत एव बान्धवा

परिचर्यायां तस्यासन् । यज्ञे बहूनि कार्याणि तत्र प्रतिनियत कार्यकर्तृत्वं सर्वेषां वक्तुं सामान्यतो निरूप्यते ॥३॥

व्याख्यार्थ—पितामह 'दादा' शब्द सुनने से सम्बन्ध के कारण परीक्षित को श्रवण में विशेष उत्साह हुआ । जिसका निरूपण करते हैं । 'महात्मा' विशेषण देकर उसका प्रभाव सिद्ध किया है, जिससे उसकी अर्थात् उसके प्रारम्भ किए हुए कार्य (यज्ञ) की सेवा में अन्य संकोच नहीं करते थे, इससे ही बान्धव उसकी सेवा में लग गये, यज्ञ में बहुत कार्य होते हैं, सबको अपना २ कार्य बांट दिया तदनुसार वे सेवा करने लगे यह सामान्य रूप से कहते हैं ॥३॥

आभास—विशेषतो निरूपयति भीमो महानसाध्यक्ष इति ।

आभासाथ—'भीमो महानसाध्यक्ष' श्लोक से विशेष निरूपण करते हैं ।

श्लोक—भीमो महानसाध्यक्षो धनाध्यक्षः सुयोधनः ।

सहदेवस्तु पूजायां नकुलो द्रव्यसाधने ॥४॥

श्लोकार्थ—भीमसेन पाकालय^१ का अध्यक्ष, सुयोधन कोषाध्यक्ष^२, सहदेव पूजाकार्य का अधिकारी और नकुल सामग्री इकट्ठी करनेवाला हुआ ॥४॥

सुबोधिनी—स एव तत्र नियुज्यते यो यस्मिन् कर्मणि महत्येव प्रीतो भवति । तत्र बहुभक्षकत्वात् भीम एव महानसाध्यक्षः कृतः, स हि बहु पाचयति । तथा धनाध्यक्षः धनरक्षकः दुर्योधनः, स हि पचहस्तः यमर्थं स्पृशति सोऽक्षयो

भवति । सहदेवो ज्ञानवान् ब्राह्मणादिपूजायां नियुक्तः । नकुलस्तु अश्विनीकुमारपुत्र इति द्रव्याणां गुणदोषाभिज्ञत्वात् द्रव्यसाधने द्रव्याणां विनियोगार्थं परीक्षायां नियुक्तः ॥४॥

व्याख्यार्थ—जिसकी जिस कार्य करने में प्रीति हो उसको उस कार्य में ही लगाना चाहिए जैसा कि भीम की भोजन में प्रीति थी । इसलिए उसको पाकशाला का कार्य दिया गया, दुर्योधन को कोषाध्यक्ष किया गया क्योंकि उसके हस्त में पद्म का चिह्न था जिससे वह जिस द्रव्य का स्पर्श करता था वह अखुट हो जाता इसलिए धन का अध्यक्ष इसको बनाया गया । सहदेव ज्ञानवान् था इसलिए ब्राह्मणादि की पूजा के कार्य में उसको लगाया गया, नकुल अश्विनी कुमारों का पुत्र था । जिससे पदार्थों के गुण और दोषों की परीक्षा करने में निपुण था । इसलिए द्रव्य इकट्ठे करने तथा उनकी परीक्षा करने के कार्य में इसको नियुक्त किया गया ॥४॥

श्लोक—सतां शुश्रूषणो जिष्णुः कृष्णः पादावनेजने

परिवेषणो द्रुपदजा कर्णो दाने महात्मनः ॥५॥

श्लोकार्थ—महान् आत्मा युधिष्ठिर के यज्ञ में अर्जुन सत्पुरुषों की सेवा करने लगा श्रीकृष्ण उनके पाद प्रक्षालन (धोने) की सेवा में तत्पर हुए परोसने का कार्य द्रोपदी करने लगी, दान का कार्य दानी कर्ण ने संभाल लिया ।

सुबोधिनी—तथा सतां सेवायां जिष्णुरर्जुनः, सहयुपासितवृद्धः सेवां जानाति कृष्णः पादावने-जन इति भगवतः अनङ्गत्वे दुर्योधनदृष्टौ सर्वोत्तमत्वं न स्फुरिष्यतीति ब्रह्मण्यत्वात्तत्र विनियोगो वर्ण्यते । इदमेव हि भगवत आधिक्यं भृगु-

परीक्षायां निरूपयिष्यते । परिदेष्टुं द्रुपदजा द्रोपदी अमृतहस्ता । कर्णोदाने अत्युदारत्वात् । महात्मन इति बहुदानेऽपि राज्ञः संतोष एवेत्येतदर्थमुक्तम् ॥५॥

व्याख्यार्थ—वृद्धों की सेवा करने से, अर्जुन को सेवा कार्य किस प्रकार करना, यह अनुभव था । इनलिए उसको सेवा का कार्य दिया गया । भगवान् को पाद-प्रक्षालन (पैर धोने) की ऐसी सेवा दी गई जिससे दुर्योधन को श्रीकृष्ण सबसे उत्तम देखने में न आवे, क्योंकि इस सेवा के भाव वा तत्त्व को न जानने से दुर्योधन कृष्ण को साधारण समझने लगा । युधिष्ठिर को सबसे उत्तम जाना, भगवान् तो ब्रह्मण्य हैं, जिस कार्य से ब्राह्मण प्रसन्न होवे वही कार्य पसन्द करने वाले हैं अतः उनको इस कार्य में लगाया गया, भृगु परीक्षा के समय भगवान् ने इस दीनता को प्रकट करने से अपने को सब देवों से उत्तम सिद्ध किया, यह कहा जाएगा ! परोसने के कार्य में द्रोपदी को नियुक्त किया, क्योंकि वह अमृत हस्ता थी । अर्थात् जिस भक्ष्य आदि को स्पर्श करे वह अमृत सम हो जाता था । कर्ण उदार था, इसलिए उसको दानाव्यक्ष बनाया, 'महात्मनः' युधिष्ठिर को विशेषण देने का भाव यह है कि कर्ण कितना भी दान देवे तो भी राजा को प्रसन्नता ही होती ॥५॥

श्लोक—युयुधानो विकर्णश्च हादिद्वयो विदुरादयः ।

वाह्लीकपुत्रा भूर्याद्या ये च संतर्दनादयः ॥६॥

श्लोकार्थ—सात्यकि विकर्ण, हादिक्य, विदुर आदि भूरि आदि वाह्लीक के पुत्र और जो सन्तर्दन आदि बान्धव थे ॥६॥

सुबोधिनी—युयुधानादयः सर्व एव नाना-कर्मसु वैषम्याभावार्थं नियुक्ताः । युयुधानः सात्यकिः यादवोऽप्यर्जुनशिष्यः । विकर्णादयोऽपि

बान्धवाः । वाह्लीकः शंतनोभ्राता, तस्य पुत्रा भूरिश्रवआदयः । संतर्दनादयश्च गोत्रजाः । सर्वेषां कथनं संभ्रमार्थम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—विषमता न होवे इसलिए सात्यकि आदि सबको पृथक् पृथक् कार्यों के अधिकारी बनाया, सात्यकि को युयुधान कहा है और वह यादव था, तो भी अर्जुन का शिष्य था । विकर्ण आदि भी बान्धव थे । वाह्लीक शन्तनु का भाई था, उसके पुत्र भूरीश्रवा आदि थे । सन्तर्दन आदि गोत्र में उत्पन्न हुए थे सर्व का कथन इसलिए है कि इन सबों का युधिष्ठिर के लिए आदर है ॥६॥

श्लोक—निरूपिता महायज्ञे नानाकर्मसु ते तदा ।

प्रवर्तन्ते स्म राजेन्द्र राज्ञः प्रियचिकर्षवः ॥७॥

श्लोकार्थ—हे महाराजा वे सब अपने अपने नियुक्त किये बड़े यज्ञ सम्बन्धी अनेक कामों में राजा को प्रसन्न करने की इच्छा से लग गए थे ॥७॥

सुबोधिनी—महायज्ञोऽयमिति आकारणप्रेषण-
द्रव्यसमानयनादिनानाकर्मसु नियुक्ताः सन्तः प्रव-
र्तन्ते स्म । राजसूयस्य परमधर्मत्वात् तत्कर्तुर्मनः-
प्रीतिं सर्वं एव कर्तुं प्रवृत्ताः । एवमारम्भे सर्वेषां
बन्धूनां विनियोगलक्षणः महान् संभ्रम् उक्तः
॥७॥

व्याख्यार्थ—यह राजसूय यज्ञ महान् यज्ञ है इसलिए इसमें बुलाने, भेजने, वस्तु लानी आदि बहुत कार्य थे । इसलिए सब अलग अलग कार्यों में नियुक्त होकर अपना अपना कार्य करते थे, राजसूय महान् धर्म कार्य होने से उसके करने वाले का मन प्रसन्न हो, इस वास्ते सब कार्य में प्रवृत्त हुए । इस प्रकार यज्ञ के प्रारम्भ होते ही सब बान्धव उनके कार्य में तत्पर हो गए, जिससे युधिष्ठिर का महान् आदर हुआ है यह प्रकट देखने में आ रहा था ॥७॥

आभास—अन्ते तु महानेव संभ्रमो जात इति वक्तुं मध्ये वैदिकं संक्षेपेणाह
ऋत्विक्सदस्येति ।

आभासार्थ—अन्त में तो बहुत आदर हुआ यों कहने के लिए 'ऋत्विक् सदस्य' श्लोक में बीच में हुए वैदिक आदर का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—ऋत्विक्सदस्यबहुवित्सु सुहृत्तमेषु स्विष्टेषु सूनृतसमर्हणदक्षिणाभिः ।

चैद्ये च सात्वतपतेश्वरणं प्रविष्टे चक्रुस्ततस्त्वभृथस्नपनं द्युनद्याम् ॥८॥

श्लोकार्थ—ऋत्विज, सभासद, बड़े ज्ञानी और उत्तम स्नेहियों का मधुर वाणी पूजन तथा दक्षिणा आदि से सत्कार हो जाने के बाद शिशुपाल भगवान् के चरण में प्रविष्ट हुआ इसके अनन्तर यमुनाजी में यज्ञान्त स्नान किया ॥८॥

सुबोधिनी—ऋत्विजः सदस्या बहुविदश्च
विहितदानेन संतर्पिताः । सुहृत्तमास्तु लौकिक-
दानेन । स्विष्टाः इच्छापूर्णेन प्रीणिताः । सूनृतं
वाचा तर्पणम् । समर्हणं कायिकम् । दक्षिणा
द्रव्यकृता । मानसं त्वेभिरेव ज्ञायते । एवं
मित्राणां संतोषं कृत्वा अमित्राणां च नाशव्या-

जेनेष्टं कृतवानित्याह चैद्ये च सात्वतपतेश्वरणं
प्रविष्ट इति । चक्रुस्ततस्त्वभृथस्नपनमिति ।
लौकिकोत्सवोऽवभृथे भवति । द्युनदी यमुनैव
देवरूपित्वात् । इयमपि सूर्यमण्डलादेव समागतेति,
वैदिकविरोधाभावे गङ्गायां वा गताः । अनेना-
लौकिकसामर्थ्यं च द्योतितम् ॥८॥

व्याख्यार्थ—ऋत्विज, सभासद और बड़े ज्ञानियों को शास्त्र में कहे अनुसार दान देकर तृप्त किया, उत्तम स्नेहियों का देवों की तरह पूजन कर लौकिक दान देके उनकी इच्छा पूर्ण की, मधुर वाणी से सर्व को प्रसन्न किया, शरीर से पूजन किया, द्रव्य से दक्षिणा का कार्य पूर्ण किया, इस प्रकार कार्य करने से मानसिक आदर समझ में आ जाता है, इस प्रकार मित्रों को प्रसन्न कर शत्रुओं का भी नाश के वहाने से हित ही किया, जिसका वर्णन करते हैं कि शिशुपाल ने भगवान् के चरण में प्रवेश किया, इसके अनन्तर यमुनाजी में यज्ञान्त स्नान किया अवभृथ में लौकिक उत्सव होता है

‘द्युनदी’ देव रूप होने से यमुनाजी ही हैं । यह भी सूर्य मण्डल से ही आई है अथवा वैदिक विरोध न होने से गंगा में स्नान करने के लिए गए इससे अलौकिक सामर्थ्य प्रकट किया है ॥८॥

आभास—तत्र मृदङ्गादिवाद्यानां वादनमाह मृदङ्गेति ।

आभासार्थ—वहां मृदङ्ग आदि बाजे बजने लगे यों ‘मृदङ्ग शङ्ख’ श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—मृदङ्गशङ्खपणवधुन्धुर्यानकगोमुखाः ।

वादित्राणि विचित्राणि नेदुरावभृथोत्सवे ॥९॥

श्लोकार्थ—उस अवभृथ स्नान के उत्सव में मृदङ्ग, शङ्ख, पणव, धुन्धुरी, आनक और गौमुख आदि विचित्र बाजे बज रहे थे ॥९॥

सुबोधिनी—लौकिकोत्कर्षार्थमेव वादित्राणां । सिद्धानामपि वर्णनम् ॥९॥

व्याख्यार्थ—बाजे प्रसिद्ध थे तो भी लौकिक उत्कर्ष दिखाने के लिए उनका वर्णन किया है ॥९॥

आभास—अवभृथनिमित्तमाश्रित्य लौकिके उत्सवे उत्सवकार्य सर्वमेवाह नर्तक्यो ननृतुरिति ।

आभासार्थ—अवभृथ के कारण का आश्रय लेकर जो लौकिक उत्सव हुआ उसके सर्व कार्य का नर्तक्यो ननृतु’ श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—नर्तक्यो ननृतुर्हृष्टा गायका यूथशो जगुः ।

वीणावेणुतलोन्नादस्तेषां स दिवमस्पृशत ॥१०॥

श्लोकार्थ—प्रसन्न हुई नटनियाँ नृत्य करती थी तथा गाने वाले यूथ के यूथ गाते थे और वीणा बंशी और तल का ऊँचा शब्द होता था । उनका वह नाद आकाश को छूता था ॥१०॥

सुबोधिनी—हृष्टाः उत्सवासक्ताः । यूथसः । न्नादो वा दिवमस्पृशदिति लौकिकोक्तिः ॥१०॥
समूहशः । वीणा वेणवश्च तलस्तालः हस्ततलो-

व्याख्यार्थ—उत्सव में आसक्त होने से (नटनियाँ) प्रसन्न हुई थी, यूथ के यूथ मिल कर

१—वैदिक विधि अर्थात् यज्ञ की दीक्षा लेने वाले को तदनुसार ही कार्य विधि करनी चाहिए यों होते हुए भी गंगाजल में शोभती तुलसी मिश्रित कृष्ण चरण रज विशेष होने से जाना अनुचित नहीं है, भगवन्मार्ग का अनुसरण करने से वेद का विरोध नहीं रहता है ।

वीणा, वंशी और तलका ताल अथवा हस्त का ताल ऐसा जोर से होने लगा जो आकाश को छूने लगा ऐसी लौकिक उक्ति है ॥१०॥

आभास—एवं निर्गमेन संभ्रममुक्त्वा सर्वेषा राज्ञां युधिष्ठिरेण सह निर्गमनप्रकार माह चित्रध्वजेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार बाहर निकलते समय हुए कोलाहल का वर्णन कर सब राजा युधिष्ठिर के साथ निकले वह प्रकार 'चित्रध्वज' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—चित्रध्वजपताकार्यैरिभेन्द्रस्यन्दनार्वभिः ।

स्वलंकृतैर्भटैर्भूपा निर्ययु रुक्ममालिनः ॥११॥

श्लोकार्थ—श्रेष्ठ रंग विरंगी ध्वजाओं और पताकाओं सहित, सुसज्जित उत्तम हस्तिगो, रथ अश्व और सैनिकों के साथ, सुवर्ण मालाधारी राजा बाहर निकले ॥११॥

सुबोधिनी—गरुडादिचिह्निता ध्वजाः, जय-पत्राङ्किताः पताकाः, आश्चर्यहेतुत्वं चित्रत्वं ध्वजानां पताकानां च । अस्याः श्रेष्ठाः । इमेन्द्राः स्यन्दनानि च अर्वाणश्च अश्वाः । एते स्वलंकृता	भटाश्च । चतुरङ्गाणां अलंकरणमुक्तम् । तैः सह भूपा निर्ययु । रुक्मालकरणसमूहयुक्ताः । रुक्मं सुवर्णम् ॥११॥
--	--

व्याख्यार्थ—ध्वजाएँ, गरुड आदि की चिह्नों वाली थीं जिनके उपर विजय के वाक्य लिखे थे वैसे पताकाएँ थीं, ध्वजा और पताकाएँ रंग विरंगी होने से देखने वालों के अचम्भे का हेतु बन गई थी । इनमें जो आगे लगी हुई वे उत्तम थी, हस्ती, रथ और घोड़े तथा सैनिक ये सब अच्छी तरह सुसज्जित थे । राजा के जो चार अङ्ग होते हैं वे सब शृङ्गारे हुए थे यो कहा, सोने के अलंकारों को धारण किये हुए राजा भी उनके साथ बाहर निकले ॥११॥

श्लोक—यदुसृञ्जयकाम्बोजकुरुकैकयकोसलाः ।

कम्पयन्तो भुवं सैन्यैर्यजमानपुरः सराः ॥१२॥

श्लोकार्थ—यदु, सृञ्जय, काम्बोज, कुरु, कैकय और कौशलवंश के क्षत्रिय भूमि को कम्पित करते हुए सैन्य यजमान को आगे कर बाहर निकले ॥१२॥

सुबोधिनी—यदुसृञ्जयादयः क्षत्रियावान्तर-भेदाः तत्तत्कुलाभिमानयुक्ता अपि सह निर्ययुरि-	त्युत्कर्षः । स्वस्वसैन्यैर्भुवं कम्पयन्तः । यजमानो युधिष्ठिरः पुरःसरो येषाम् ॥१२॥
--	---

व्याख्यार्थ—यदु, सृञ्जय आदि भी क्षत्रिय जाति के अवान्तर भेद हैं, अपने-२ कुल का उनको अभिमान था । तो भी युधिष्ठिर के साथ निकले जिसमें महाराजा का उत्कर्ष (बड़ाई) प्रकट होता था, वे सब क्षत्रिय अपनी अपनी सेवा से पृथ्वी को कम्पित करते थे । इन सब राजाओं के आगे 'युधिष्ठिर' था ॥१२॥

आभास—एवं केवललौकिकपराणां निर्गमनमुक्त्वा अलौकिकानामपि सह निर्गमनमाह सदस्येति ।

आभासार्थ—इस प्रकार जो लौकिक के परायण थे, उनका राजा के साथ निकलना कह कर अब 'सदस्य' श्लोक से अलौकिकों का भी युधिष्ठिर के साथ में निकलने का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—सदस्यत्विन्द्रिजश्रेष्ठा ब्रह्मघोषेण भूयसा ।

देवर्षिपितृगन्धर्वास्तुष्टुवुः पुष्पवर्षिणः ॥१३॥

श्लोकार्थ—सभासद, ऋत्विज और श्रेष्ठ ब्राह्मण वेद का तुमुल घोष करते हुए राजा के साथ चलने लगे और देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्व भी पुष्पों की वर्षा के साथ स्तुति करते हुए ऊपर आकाश मार्ग से साथ चले ॥१३॥

सुबोधिनी—त्रिविधा अपि ब्राह्मणाः ब्रह्म-घोषेण सह निर्गताः । भूयसेति वाद्यापेक्षया ब्रह्म-घोषस्यैव निकटे जायमानत्वात् भूयस्त्वम् । अलौकिकपङ्क्तौ देवानामप्यागमनमाह देवर्षीति । देवादय उपरि गच्छन्तः पुष्पवृष्टिं स्तोत्रं च कृतवन्तः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—तीन प्रकार के ब्राह्मण (सभासद, ऋत्विज और श्रेष्ठ ब्राह्मण) वेद ध्वनि करते हुए बाहर निकले, वेद ध्वनि का घोष ऐसा महान् हुआ जो साथ में वाद्यों की ध्वनि होती थी तो भी यह वेद मंत्रों का घोष स्पष्ट सुनने में आता था, मानों वाद्यों से भी निकट हो रहा है । उस अलौकिक पङ्क्ति में देवों का भी आगमन हुआ जिसका वर्णन करते हैं कि देवता, ऋषि, पितर और गन्धर्व आकाश मार्ग से चलते हुए पुष्प वृष्टि करते थे और स्तुति भी कर रहे थे ॥१३॥

आभास—ततः कामकलाभिः गच्छतामुत्सवमाहस्वलंकृता इति ।

आभासार्थ—पश्चात् काम की कलाओं से जाने वालों के 'स्वलंकृता' श्लोक से उत्सव का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—स्वलंकृता नरा नार्यो गन्धस्त्रग्भूशणाम्बरैः ।

विलिम्पन्तोऽभिषिञ्चन्तो विजह्वुर्विविधै रसैः ॥१४॥

श्लोकार्थ—नगर के नर तथा नारी चन्दन, माला, आभूषण और वस्त्रों से सिंगार कर सुसज्जित होके अनेक प्रकार के रसों से लेपन करते हुए और सिंचन करते हुए विहार करने लगे ॥१४॥

सुबोधिनी—गन्धादिभिः स्वलंकृताः विविधै रसैर्विलिम्पन्तः तैलगोरसादिभिर्हृष्टाः सन्तः कामकलाभिर्विजह्वुः । याभिः सहलीलोपयुज्यते तास्ते च विजह्वुरिति विमर्शः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—गन्ध अदि सुगन्धित पदार्थों से सिंगारे हुए, अनेक प्रकार के रसों से लेप करते हुए नर और नारियाँ काम कलाओं से विहार करते हुए आनन्द पा रहे थे । जिस स्त्री का विहार जिस स्त्री के साथ योग्य था वह उससे ही करती । एवम् पुरुष भी परस्पर योग्यता के अनुसार विहार करते थे । यह ही विचार पूर्वक निर्णय है ।

आभास—साधारणीनां भेदेनाह तैलगोरसेति ।

व्याख्यार्थ—‘तैलगोरस’ श्लोक से साधारण स्त्रियों (वेश्याओं) का पृथक् प्रकार से विहार कहते हैं ।

श्लोक—तैलगोरसगन्धोदहरिद्रासान्द्रकुङ्कुमैः ।

पुंभिलिप्ताः प्रलिम्पन्त्यो विजह्वरारयोषितः ॥१५॥

श्लोकार्थ—तेल, दही, सुगन्धी जल, हल्दी और सघन (गाढ़ी) केसर, इन पदार्थों, से पुरुष वेश्याओं को लेप करते थे और वेश्याएँ पुरुषों को लेप करती थीं, इस प्रकार इनका विहार होता था ।

सुबोधिनी—इदमर्धं देहलीप्रदीपवत् । पुंभिलिप्तैः प्रकर्षेण लिप्ताः स्वयमपि लिम्पन्त्यः । वारयोषितः वेश्याः । वराणां समूहो वारं तस्य ।	योषित इति । धर्ममध्येऽपि लौकिकभाषात्वात् तथावर्णनं न दोषः ॥१५॥
---	---

व्याख्यार्थ—यह पूर्वार्ध देहली पर धरे हुए दीपक के समान है, पुरुष अर्थात् वेश्यागामी पुरुषों ने रसों से वेश्याओं को लिप्त की थी तथा वेश्याओं ने पुरुषों को लिप्त किया था, ‘वारयोषित’ पद का अर्थ करते हैं कि वरों का समूह वार, (बहुत पुरुषों) की स्त्रियाँ, वे स्त्रियाँ वारयोषित कही जाती हैं, यह भाषा लौकिक भाषा है, इस कारण से धर्म के अर्थात् यज्ञ के कार्य में इस प्रकार के वर्णन से कोई दोष सही है ॥१५॥

आभास—ततो राजपत्नीनां निर्गमनविहरणमाह गुप्ता नृभिरिति ।

आभासार्थ—अनन्तर रानियों के निर्गमन के समय का विहार ‘गुप्ता नृभि’ श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—गुप्ता नृभिर्निरगमन्नुपलब्धुमेतद्देव्यो यथा दिवि विमानवरैर्नृदेव्यः ।

ता मातुलेयसखिभिः परिविच्यमानाः सत्रीडहासविकसद्ददना विरेजुः ॥१६॥

श्लोकार्थ—इस उत्सव को देखने के लिए जैसे देवांगनाएँ विमानों में बैठकर आई थीं, वैसे ही योद्धाओं से रक्षित रानियाँ भी देखने के लिए बाहर निकली, मामे के पुत्र तथा सखियों से भिगोई जाती लज्जायुक्त हास्य से विकसित मुख वाली वे शोभा पा रही थी ॥१६॥

सुशोचिनी—शस्त्रधारिभिः पदातिभिर्गुप्ताः ।
एतद्वभृथाख्यं कर्म । देव्यः राजस्त्रियः नरयानं-
निर्गताः । नरयानानां ताषां चोत्तमत्वं दृष्टान्तेनाह
विमानवरैर्नृदेव्य इति । तासामपि लेपनादिली-
लामाह ता मातुलेयसखिभिरिति । मातुलेयैः
सखिभिश्च परिषिच्यमानाः । मातुलेया एव वा
सखायः । मातुलेयस्य भगवतः सखीभिरित्य-
पव्याख्यानम् । सर्वराज्ञां स्त्रीणां प्रक्रान्तत्वात्
मातुलेयपदं च तासामेव मातुलेयं गमयति । न
भर्तुमातुलेयं ता देवरानुत सखीनित्यग्रे विरोधश्च ।
मातुलेयकन्यापरिणये ज्येष्ठस्य कनिष्ठा देवरा
मातुलेयाश्च भवन्ति । मातुलेयपदं पैतृध्वस्त्रे-

यस्याप्युपलक्षणम् । देवरैः सह सखीनां परिहास-
विलासः लौकिकः सर्वदेशप्रसिद्धो न निषिद्धः ।
यथा राजभोग्याः पदार्थाः सर्वेषामुपयुज्यन्ते तथा
स्त्रीणामपि बाह्या लीलाः सम्बन्धिनामपि युज्यन्ते
मातुलेयपदेन धर्म्यो विवाहो निराकृतः । धर्म-
विवाहवतीनां तु सुतरां पतिव्रतानां तु विलासा
एव न भवन्ति । सुतरामन्यै सह । तस्मात्सुष्ठूक्तं
मातुलेयैः सखिभिश्चेति । तथापि संवृता इति
सब्रोडहासविकसद्वदना इति पूर्वोक्ताभ्यो विशेषः ।
परिषेचनं तु जलमध्ये न तु मध्येमार्गं तत्रैव
कमलानीव विरेजुः । ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—शस्त्रधारी पैदल सैनिकों से रक्षित राजपत्नियों अवभृथ कर्म का उत्सव देखने के लिए पालकियों में बैठ बाहर आई, पालकियों की और इनकी उत्तमता दृष्टान्त से कहते हैं, जैसे उत्तम विमानों में देव स्त्रियाँ आकाश में निकली वैसे ये राज रानियाँ भी पालकियों में निकली उनके भी लेपन आदि का वर्णन करते हैं, मामा के पुत्रों और प्रणय वालों से रसों द्वारा सिंचित होती थी अथवा मामा के पुत्र ही प्रणय वाले थे ।

मामा के पुत्र भगवान् के सखाओं से सिंचित होती थी, ऐसा अर्थ उचित नहीं है यहाँ सर्व राजाओं की स्त्रियों की बात है । मामे का पुत्र कहने से उनके मामे के पुत्र समझे जायेंगे, उनके पति के मामे के पुत्र नहीं समझे जायेंगे । आगे के श्लोक में जो देवर और प्रणय वालों को ये शब्द कहे हैं उनसे विरोध होगा । यदि यह अनुचित अर्थ किया जाएगा तो मामे के पुत्र की कन्या से विवाह करने पर, बड़े भाई की पत्नी के छोटे भाई देवर और मामे के पुत्र बन जाते हैं, मामे के पुत्र शब्द से भुआ के पुत्र की भी सूचना हुई है, सखियों को देवों के साथ हँसी से विनोद करना लौकिक है । सर्व देशों में प्रसिद्ध है, उसका निषेध नहीं है । जैसे राज भोग्य पदार्थ सर्व के उपयोग में आ सकते हैं वैसे ही स्त्रियों से भी बाहर की हँसी आदि विनोद सम्बन्धी कर सकते हैं । मामे के पुत्र पद कहने से यह सूचित किया है कि यह विवाह धर्मानुसार नहीं है जो कन्याएँ धर्मानुसार विवाह करती हैं वे सुतराम पतिव्रताएँ हो जाती हैं अतः उनका दूसरों के साथ हँसी आदि विलास नहीं हो सकते हैं । इससे यह मामे के पुत्रों और प्रणय वालों से मिश्रित यह बराबर कहा है तो भी रक्षकों से आवेष्टित थीं और लज्जा युक्त हास्य के कारण प्रफुल्ल मुख वाली थीं जिससे प्रथम कही हुई स्त्रियों से उत्तम हैं । सिंचन जल के मध्य में होता है न कि मार्ग में । वहाँ जल में जैसे कमल खिलते हैं वैसे ये भी सुशोभित हो रही थी ॥१६॥

आभास—ता अपि प्रतियोगिनां सेचनं चक्रुरित्याह ता देवरानिति ।

आभासार्थ—उन्होंने भी देवर और साथ वालियों पर सिंचन किया 'ता देवरानुत' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—ता देदरानुत सखीन्सिषिचुर्हतीभिः क्लिन्नाम्बरा विवृतगात्रकुचोरुमध्याः ।

श्रौत्सुक्यमुक्तकबराश्च्यवमाः माल्याः क्षोभं दधुर्मलधियां मुचिरैर्विहारैः ॥१७॥

श्लोकार्थ—वे अपने देवर और प्रणयवालों को पिचकारियों से अथवा चमड़े की डोलचियों से भिगो रही थीं । जिससे उस समय उनके वस्त्र भी भीग गये थे । उसी से उनके सब अंग कुच (स्तन), उरु और मध्य भाग साफ देखने में आते थे, तथा उत्सुकता से चोटी शिथिल हो जाने से पुष्प बिखर रहे थे, उस समय उनका यह विहार देख कर कामीजनों के मन क्षोभ पाते थे ॥१७॥

सुबोधिनी—त एव मातुलपुत्रा देवराः ।
उतेति सखीनां भिन्नत्वाय । हृतयः वंशचर्मकृताः ।
स्वयं च ताः क्लिन्नाम्बराः सूक्ष्मवस्त्रपरिधानाद्वि-
वृतगात्राः । रसस्थानानामपि दर्शनार्थं विशेषतो
निरूपणम् । कुचोरुमध्या इति शृङ्गारस्थानत्वाय
नासां यथा वर्णनम्, मध्यं नाभिस्थानम् । क्रीडौ-
त्सुक्येन मुक्तं कबरं यासाम् । अत एव च्यवमान-

माल्याः । तासां दर्शनेन कन्दर्पाविर्भावो भवतीति
तेन प्रकारेण विशेषो वर्णितः । दोषजनकत्वं
व्यवस्थया परिहरति मलिधियामिति । अजिता-
न्तःकरणानामेव तद्दर्शनेन क्षोभः । अनेन कीर्तन-
श्रवणादावपि दोषः परिहृतः । रुचिरैरिति रसा-
भासव्यतिरिक्तैः ॥१७॥

व्याख्यार्थ—वे ही मामे के पुत्र देवर प्रणय वाले उनसे भिन्न थे यों बताने के लिए 'उत' पद दिया है, 'हृतयः' वांस की या चमड़े की बनी हुई पिचकारियों से अथवा छोटी डोलचियों से उनको भीगोती थीं और आप भी भीगे हुए वस्त्रों वाली थी तथा वे कपड़े बहुत महीन थे जिनसे इनके अवयव साफ देखने में आते थे । रसोत्पादक स्थान भी दिखते थे । यों बताने के लिए उनके नाम कहते हैं, स्तन, जंघा और नाभि का भाग ये शृङ्गार रस के स्थान हैं, मध्य पद से नाभि का भाग कहा है । क्रीड़ा की उत्सुकता से जिनकी चोटी शिथिल (ढीली) पड़ गई थी । जिससे पुष्प बिखर रहे थे । उनके दर्शन से काम का आविर्भाव होता था । इसलिए उस प्रकार से उनकी विशेषता कही है, अब उनको देखना काम दोष उत्पन्न करने वाला है इसकी व्यवस्था 'मलधियां' पद से करते हैं कि जिनका अन्तःकरण मलीन है, अर्थात् जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को जीता नहीं है, उन मलीन बुद्धि वालों में ही कामोत्पत्ति होने लगी, शेष जिनकी बुद्धि मलीन नहीं है, इन्द्रियां जीती हुई है, उनमें काम दोष उत्पन्न नहीं होता है । अतः इस चरित्र के कीर्तन श्रवण आदि में कोई दोष नहीं है यह सिद्ध किया है 'रुचिरैः' पद से यह आशय दिखाया है कि इनकी यह क्रीड़ा शुद्ध प्रेम की थी । न कि रसाभास काम की थी ॥१७॥

आभास—ततो युधिष्ठिरस्य निर्गमनमाह स सम्राडिति ।

आभासार्थ—'सम्राड्रथ' श्लोक से युधिष्ठिर का बाहर निकलने का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—स सम्राड्रथमारूढः संदश्वं ह्वममालिनम् ।

व्यरोचत स्वपत्नीभिः क्रियाभिः क्रतुराडिव ॥१८॥

श्लोकार्थ—जिस समय वे चक्रवर्ती राजा युधिष्ठिर उत्तम घोड़ों से युक्त सुवर्ण की मालाओं वाले रथ पर अपनी स्त्रियों के साथ चढ़े उस अवसर में ऐसे शोभित थे कि मानों क्रियाओं के साथ यज्ञराज शोभा दे रहा है ॥१८॥

सुबोधिनी—साम्राज्य कर्मणा तेनैव प्राप्त-
मिति रथविशेषणम् । सदृशं स्वममालिनमिति ।
सत्पदेन दान्तत्वमपि गम्यते । सुवर्णान्वारो-
पेनम् । स्वपत्नीभिः असाधारणीभिः, पूर्ववत्-
प्यार्थमन्तम् । तस्यालौकिकत्वमाह क्रियाभिः
ऋतुराडिवेति । प्रकरेण प्राप्तं लौकिकत्वपरिह-
यते । ऋतुराडपि योगजदृष्ट्या दृश्यते । अभिव्य-
क्तिदशाया तु सर्वैरेव क्रियाभिनिर्त्याभिः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—उसी यज्ञ कर्म से ही युधिष्ठिर ने साम्राज्य प्राप्त किया था । जिससे वे चक्रवर्ती हुए सुन्दर अश्व जिस रथ में जुड़े हैं, सुवर्ण की मालाओं से चारों तरफ सुसज्जित रथ में पहले से विलक्षण दिखती अपनी स्त्रियों से विराजमान हुवे, तब वे ऐसे आलौकिक शोभावान हुए, मानो यज्ञराज अपनी क्रियाओं से शोभा पा रहा है । यों कहने से यद्यपि प्रकरण से लौकिकता दिखती है, तो भी उसका परिहार कर अलौकिकता दिखाई है । यज्ञराज का प्रत्यक्ष दर्शन भी योग से उत्पन्न देवी दृष्टि से होता है, प्रकट दशा में तो मकल निव्य क्रियाओं से जो ऋत्विज क्रियाएँ करते हैं उनके स्पष्ट दर्शन होते हैं ॥१८॥

श्लोक—पत्नीसंयाजावभृथैश्चरित्वा ते तमृत्विजः ।

आचान्तं स्नापयांचक्रुर्गङ्गायां सह कृष्णया ॥१९॥

श्लोकार्थ—पत्नी संयाज (याग) और अवभृथ संवन्धी कर्म कराके आचमन लेने के अनन्तर उन ऋत्विजों ने युधिष्ठिर को कृष्ण के साथ गङ्गा में स्नान कराया ॥१९॥

सुबोधिनी—ऋत्विजां वा यागा नानाशाखासु
प्रकारभेदेन भवन्तीति पत्नीसंयाजान्ताः संस्थाः
साम्प्रतं प्रचरन्ति । स (ह) स्रान्ता वा, तस्मिन्
पक्षे स्वतन्त्रतया पत्नीसंयाजाः पृथगेव क्रियन्ते
जाघन्यादिद्रव्यैः । आवभृथ्याश्च इष्टयः आवभृथ्यैः
कर्मभिः । चरित्वा चरणं कृतिः । ततस्ते एव
ऋत्विजः आचान्तं कर्मसमान्त्यनन्तरं स्नापयां-
चक्रुः अभिषेकविधिना । अभिषेको मुख्ययैवेति
सह कृष्णयेत्युक्तं 'मुख्याभिषेक्त्री' इति वाक्यात् ।
गङ्गायामिति अस्ववगाह्याभिषेकः ॥१९॥

व्याख्यार्थ—इस समय पृथक् पृथक् शाखाओं में प्रकार भेद से यज्ञ होते हैं, इसी तरह पत्नी संयाज पर्यन्त याग क्रिया के नमूने हैं अथवा एक हजार प्रकार के याग प्रचलित हैं । उस पक्षानुसार जो द्रव्य बढ़ते हैं उन द्रव्यों से पत्नी संयाज (याग) स्वतन्त्र प्रकार से पृथक् ही किये जाते हैं । अवभृथ संवन्धी यज्ञ अवभृथ में जो कर्म कहे हैं, उनसे किये जाते हैं, वे ही ऋत्विज आचमन तक कर्म कराने के बाद, युधिष्ठिर को अभिषेक की विधि के अनुसार स्नान कराने लगे । अभिषेक से रानी ही मुख्य कही है । बिना रानी के अकेले राजा का अभिषेक नहीं होता है, इसलिए 'कृष्णयासह' कहा है 'गङ्गाया' पद कहने से यह कहा है कि गङ्गाजल में भीतर नहाते हुए भीतर अभिषेक होता है ॥१९॥

आभासार्थ—पश्चात् राजा के लौकिक उत्कर्ष दिखाने के लिए शृंगार करने का 'अथराजाऽ-हते' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—अथ राजाऽहते क्षौमे परिधाय स्वलंकृतः ।

ऋत्विक्सदस्यब्रह्मादीनानर्चाभरणाम्बरैः ॥२२॥

श्लोकार्थ—पश्चात् राजा नये दो वस्त्र धारणकर उत्तम अलंकारों से अलंकृत हुआ अनन्तर ऋत्विज सभासद और ब्राह्मण आदि सर्व का आभरण तथा वस्त्रों से सत्कार किया ॥२२॥

सुबोधिनी—एतावत्काल त्वनलंकृतः नियमे न्यस्तभूषणत्वात् । अहते नूतने । क्षौमे 'सौम्यं वै क्षौमम्' इति सोमेन वरदत्तो इव परिधाय स्वल- कृतो जातः । ततोऽन्यानपि ऋत्विगादीन् स्व- समानवेपान् कृतवान् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—इतना समय अर्थात् यज्ञ की दीक्षा लेकर जब तक यज्ञान्त स्नान कर्म पूर्ण किया तब तक राजा ने अलंकार आदि धारण करना शास्त्राज्ञानुसार छोड़ दिये थे । इसलिए राजा अलंकार रहित था । अब यज्ञ का सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो जाने के अनन्तर राजा ने दो रेशमी वस्त्र पहने और सुन्दर अलंकार धारण किए, रेशमी वस्त्र सौम्य हैं अर्थात् ये वस्त्र चन्द्रमा ने मानो वरदान में दिए हैं । इसलिए रेशमी वस्त्र पहने हैं । राजा ने स्वयं कपड़े पहन अलंकार धारण कर अनन्तर ऋत्विज, सभासद आदि को भी अपने समान वस्त्र और अलंकारों से अलंकृत किया ॥२२॥

श्लोक—बन्धुजातिनृपान्मित्रसुहृदोऽन्यांश्च सर्वशः ।

अभीक्षणं पूजयामास नारायणपरो नृपः ॥२३॥

श्लोकार्थ—भगवत्परायण राजा ने बान्धवों, सम्बन्धियों, राजाओं, मित्रों, स्नेहियों और अन्यो की बार बार सर्व प्रकार पूजा की ॥२३॥

सुबोधिनी—यथायोग्यं बन्धुजातिनृपान् मित्रान् सुहृदश्च अन्यांश्च समागतान् सर्वप्रकारेण पूजयामास कालो न नियामकः किंतु पुरुषा एवेति ज्ञापयितुमभीक्षणमित्युक्तम् । पूजयामासेति विधिरुक्तः न तु लौकिकम् । अनेननास्मिन् प्रकरणे राज्ञः केवलस्य वैदिकी चेष्टा, अन्येषां तु लौकिक्येवेति । ननु विहिताः परिच्छिन्ना एव भवन्ति यागाङ्गभूताः किमिति सर्वानिव पूजयामासेत्याकाङ्क्षायामाह नारायणपर इति । तस्य भगवत्पूजायामेव तात्पर्यं तेन तदात्मकाः सर्व इति श्रद्धया सर्वपूजनम् । नृपत्वात्समृद्धिः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—यज्ञ कर्म में आए हुए बान्धव, सम्बन्धी नृपति, मित्र, स्नेही और अन्य इन सबों की सर्व प्रकार से पूजा की इस पूजा में काल नियामक नहीं था, किन्तु पूजा करने वाले नियामक थे । पूजा करने वाले काल का विचार न कर बार २ विधि पूर्वक पूजा करने लगे न कि लौकिक प्रकार से पूजा की, इससे यों बताया है कि राजा के द्वारा जो भी यज्ञ सम्बन्धी कार्य किसी के भी हस्त से हो किन्तु वह विधि पूर्वक ही होता था । 'अन्यों का कार्य भले लौकिक होता हो' ।

यज्ञ में विहित यज्ञ के अगभूत थोड़े ही होते हैं तो फिर राजा ने सर्व की पूजा कैसे की,

इसके उत्तर में कहा है कि 'नारायणपर' नारायण के परायण होने से उसका आशय भगवान् की पूजा करने का था, किन्तु भगवान् परायण होने से उसकी दृष्टि ऐसी थी कि ये सर्व भगवद्रूप हैं अतः श्रद्धा से सबकी पूजा की, राजा होने से पूजा के लिए धनादि की कमी नहीं थी ॥२३॥

आभास—राजपूतानां सर्वेषां शोभामाह सर्वे जना इति ।

आभासार्थ—राजा ने जिनका पूजन किया उनकी शोभा का वर्णन 'सर्वे जनोः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—सर्वे जनाः सुररुचो मणिकुण्डलस्रगुणीषकञ्चुकदुकूलमहाध्व्यहाराः ।

नार्यश्च कुण्डलयुगलकवृन्दपुष्टवक्त्रश्रियः कनकमेखलयावि रेजुः ॥२४॥

श्लोकार्थ—सब पुरुष मणियों के कुण्डल, माला, पगड़ी, जामा, रेशमी वस्त्र व अमूल्य हार धारण किये हुए देवताओं के समान देदीप्यमान हो रहे थे । स्त्रियां भी कुण्डल युगल व अलंकारों से सुशोभित मुख हो सुवर्ण की मेखला से शोभायमान लगती थीं ॥२४॥

सुबोधिनी— अन्तर्बहिश्च दोषा निवृत्ताः । इच्छापूर्णादाभरणैश्च कान्त्या सुररुचो जाताः । तत्र हेतुभूतं विशेषणं मणिकुण्डलेति । मणियुक्ते कुण्डले स्रजः उष्णीषं कञ्चुकं दुकूलं मध्यबन्धनं	महाध्व्यश्च हारो येषाम् । नार्यश्च तथालंकृताः । चकारेण तद्धर्मोक्तिः । विशेषमाह कुण्डलयुगेना- लकवृन्देन च पुष्टा वक्त्रश्रीर्यासाम् । शुतरां कनक- मेखलया विरेजुः । एतदन्ता लौकिकी शोभा ॥२४॥
--	---

व्याख्यार्थ—इस प्रकार यज्ञ के सर्व कर्म के पूर्ण हो जाने से भीतर के और बाहर के दोष दूर हुए, इच्छा के पूर्ण होने से और आभरण धारण करने की कान्ति से देव समान तेजस्वी देखने में आए ऐसा देखने में हेतु मणियों से जड़ित कुण्डल मालाएं, पगड़ी, कञ्चुक^१, रेशमी^२ वस्त्र अमूल्य हार धारण किए हुए पुरुष शोभते थे ।

इसी प्रकार 'च' से प्रकट होता है कि स्त्रियां भी श्रृङ्गार से मुसज्जित कुण्डलों की जोड़ी से तथा लहकती हुई केशों की लटों से जिनके मुखों की शोभा बढ़ रही है ऐसी स्त्रियां सोने की मेखला (कंदोरे) से विशेष शोभित हो रहीं थी, यहाँ तक लौकिक शोभा कही है ॥२४॥

आभास—अथ भिन्नप्रक्रमेण समागतानां निर्गमनमाह अथत्विज इति ।

आभासार्थ—अब भिन्न क्रम से आए हुए सभासदों के जाने का प्रकार 'अथत्विजो' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—अथ त्विजो महाशालाः सदस्य ब्रह्मवादिनः ।

ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा राजानो ये समागताः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! अनन्तर श्रोत्रिय ऋत्विज और ब्रह्मवादी सदस्य एवं जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा भूपगण आये थे । (वे तथा और २६वें श्लोक में दिये गये हैं ।)

सुबोधिनी—अग्रे वक्ष्यमानभङ्गः प्रत्यापत्ति-पर्यन्तं मध्ये केनाप्यंजेन न्यूनतायां तेनैव दुष्टानां इति संतोष न मात्सर्यं पुष्टं भवेदिति प्रत्यापत्ति-पर्यन्तं वर्णना महाशालाः श्रोत्रियाः । तेषामेवात्वि-ज्यम् सदस्यास्तु ब्रह्मवादिनः । त एव सर्वज्ञाः । एवमुभये अपेक्षितधर्मयुक्ता निरूपिताः । अन्ये विप्रादयः । तेषामागमनमेव प्रयोजकं तदाह ये समागता इति ॥२५॥

व्याख्यार्थ—आगे दुर्योधन के मान के नाश का वर्णन करना है अतः सब लौट कर जावे वहाँ तक वर्णन किया है । कारण कि, यज्ञ के बीच में किसी भी अंश से न्यूनता (कमी) हो तो दुष्टों को सन्तोष होवे यों न होवे तो मत्सरता सबल न होवे इसलिए ही लौट जाने तक वर्णन है 'महाशाला' पद से यह बताया है कि वहाँ जो ऋत्विग् हुवे थे वे सब श्रोत्रिय विद्वान् थे, जो सभासद तो ब्रह्मवादी होने से सर्वज्ञ थे, इस प्रकार दोनों ऋत्विज और सभासदों में जो धर्म चाहिए वे धर्म उनमें विद्यमान (मौजूद) थे दूसरे ब्राह्मण आदि जो भी आए थे, उनका आना आवश्यक था, इसलिए कहा है कि 'ये समागताः', जो आये, पद से उनकी आवश्यकता कही है ॥२५॥

आभास—तदा देवादीनामपि ।

आभासार्थ—इसी प्रकार से जो देव आदि आए उनके लौटने का प्रकार 'देवर्षि' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—देवर्षिपितृभूतानि लोकपालाः सहानुगाः ।

पूजितास्तमनुज्ञाप्य स्वधामानि ययुर्नृप ॥२६॥

श्लोकार्थ—देव, ऋषि, पितर, प्राणियों और सेवकों सहित लोकपाल राजा से सत्कार पाकर उससे (राजा से) आज्ञा लेकर अपने-अपने धाम को गये ॥२६॥

सुबोधिनी—ते सर्वे पूजिताः सन्तः मुदा | संतोषाय ॥२६॥
स्वधामानि ययुः । नृपेति संबोधनं समाप्तौ ।

व्याख्यार्थ—वे सब (२५-२६ श्लोक में कहे हुए) पूजे हुए प्रेम से अपने २ धाम को लौट गए, नृप ! यह सम्बोधन समाप्ति में सन्तोष के लिए दिया है ॥२६॥

आभास—तेषां मानसं कारयिकं चोक्त्वा वाचनिकमाह हरिदासस्येति ।

आभासार्थ—उनका मानस और कायिक सत्कार कह कर अब 'हरिदासस्य' श्लोक में वाणी से किये गये सत्कार का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—हरिदासस्य राजर्षे राजसूयमहोदयम् ।

नेवातृप्यन्प्रशंसन्तः पिबन्मर्त्योऽमृतं यथा ॥२७॥

श्लोकार्थ—जिस तरह मनुष्य अमृत पीते हुए तृप्त नहीं होता है, वैसे ही हरि के दास, राजर्षि के राजसूय यज्ञ की विशेष प्रशंसा करते हुए तृप्त नहीं हुए ॥२७॥

सुबोधिनी—राजर्षेः स्वधर्मनिरतस्य हरि-
दासस्य च प्रमाणप्रमेयबलपुष्टस्य । तत्रापि राज-
सूयस्य तत्रापि महोदयम्, अत एव प्रशंसन्तः स्वय-
मेव नैवातृप्यन् । अन्येच्छया वर्णनायां तदिच्छा-
पूर्ता निवृत्तिरपि भवेत् । इदं तु स्वार्थमेवेति
निरन्तरं प्रशंसा । प्रतिक्षणं तु रुच्याधिक्याय

दृष्टान्तमाह मर्त्यो मरणधर्मा, अमृतं स्वादिष्टं
मरणनिवर्तकं चेति । अनुभवपर्यवसानाभ्या-
मुत्कृष्टान्न निवर्तते । अत्रापि तदासक्त्या वर्णनायां
'यो यच्छृद्धः' इति न्यायेन राजतुल्यत्वं संपादक
त्वादनिवृत्तिर्युक्तेत्यर्थः ॥२७॥

व्याख्यार्थ—राजा युधिष्ठिर अपने राजधर्म में आसक्त था । अतः प्रमाण बल से पुष्ट था । जिससे राजर्षि हुआ इसी प्रकार भगवान् के दास होने से भक्ति में आसक्त था, जिससे हरिदास कहलाए अतः प्रमेय बल से पुष्ट था, यों होते हुए भी महान् यज्ञ राजसूय यज्ञ किया जिससे भी राजा का महान् उदय हुआ अतः एवं प्रशंसा करते हुए वे तृप्त ही न हुए यदि दूसरे की इच्छा से किसी की स्तुति की जाती है, तो उसकी इच्छा पूर्ति होने पर स्तुति बन्द की जाती है । यह तो अपने मनः सन्तोष के लिए की जाती है इसलिए निरन्तर प्रशंसा कर रहे थे तृप्ति होती ही नहीं, ज्यों २ स्तुति करते त्यों त्यों प्रतिक्षण आनन्द आ रहा था जिससे स्तुति के लिए रुचि बढ़ती जाती थी, जिसमें दृष्टान्त देते हैं कि जैसे मनुष्य मरण को मिटाने वाले स्वादिष्ट अमृत को पीते हुए तृप्त नहीं होता है वैसे ये भी तृप्त नहीं हुए, अनुभव करते समय अर्थात् पीते समय स्वादिष्ट लगने से तृप्ति न होने से छोड़ा नहीं जाता है और पीने के बाद मरण मिटाने वाला होने से त्याग नहीं जाता है इसी प्रकार यहाँ भी प्रशंसा में आसक्ति होने से वर्णन करते ही रहते हैं क्योंकि 'यो यच्छृद्धः स एव सः' इस प्रमाणानुसार वे समझते थे कि यह प्रशंसा हमको राजा के समान बना देगी, इसलिए प्रशंसा का त्याग न करना यह उचित ही है ॥२७॥

आभास—लौकिकं बन्धुषु विशेषतो वक्तव्यमिति साधारणतुल्यत्वे न शोभेति साधारणेषु गतेषु बन्धून् स्थापयामासेत्याह तत इति ।

आभासार्थ—अने बान्धवों से विशेष व्यवहार करना चाहिए साधारणों जैसा व्यवहार करने से शोभा नहीं अतः साधारणों को विदा कर बान्धवों को रोक रखा जिसका वर्णन 'ततो युधिष्ठिरो' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—ततो युधिष्ठिरो राजा सुहृत्संबन्धिवान्धवान् ।

प्रेमणा निवासयामास कृष्णं च त्यागकातरः ॥२८॥

श्लोकार्थ—बान्धवों को खाना करने से दुःखी राजा युधिष्ठिर ने, अपने मित्र, सम्बन्धी और बान्धवों को तथा श्रीकृष्ण को जाने से रोक अपने पास प्रेम पूर्वक ठहराया ॥२८॥

सुबोधिनी—भगवदिच्छैर्वेषा यतोऽनर्थोऽग्रे भविष्यतीति । सुहृदो मित्राणि । संबन्धिनो विवाह्याः । बान्धवा गोत्रिणः । प्रेम्णेति याग-समये बान्धवाः परिचर्यामेव व्यापृताः न सुखेन

भोगं प्राप्नुवन्तः । अतः संमर्दे निवृत्तो सहभोगे-च्छया स्नेहेन तेषां स्थापनमित्यर्थः । कृष्णं चेति विशेषार्थमुक्तम् । बहुकालं स्थापनं सूचयति त्यागकातर इति ॥२८॥

व्याख्यानार्थ—आगे अनर्थ होगा क्योंकि भगवान् की ऐसी ही इच्छा थी 'सुहृद मित्र सम्बन्धिनः' जिनसे कन्या लेन देन का सम्बन्ध हो सके वे 'बान्धवाः' गोत्र वाले इनको अपने यहाँ ठहराया, 'प्रेम्णा' शब्द कहने का भावार्थ यह है कि यज्ञ के समय अपने बान्धवादिसब सेवा कार्य में लगे हुए थे, जिससे वे सुख पूर्वक भोजनादि न करपाये थे । अतः सब कोलाहल के शान्त हो जाने से अब स्नेह से साथ बैठ कर भोजनादि करेंगे इसलिए प्रेम पूर्वक इनको जाने से रोका था और श्रीकृष्ण को पृथक् २ कहा जिसमें भी विशेष प्रयोजन था, छुट्टी देने से राजा को संताप होता था, इस वाक्य से समझा जाता है कि राजा ने इनको बहुत समय अपने पास ठहराया था ॥२८॥

आभास—सर्वे बान्धवा अविशेषात्तत्र स्थिताः, कार्यान्तरमप्यस्तीति कदाचिद-स्थितिमाशङ्क्याह भगवानेवेति ।

आभासार्थ—सब बन्धुगण तो विशेष कार्य न होने से वहाँ ठहर गए, भगवान् को तो अन्य कार्य भी है उनकी कदाचित् स्थिति न हो सके इस शङ्का का उत्तर 'भगवानेव' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—भगवानेव तत्राङ्ग न्यवात्सीत्तत्प्रियंकरः ।

प्रस्थाप्य यदुवीरांश्च साम्बादींश्च कुशस्थलीम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! भगवान् यादव वीरों को और साम्ब आदि को कुश-स्थली (द्वारका) भेजकर, आप ही उसका (युधिष्ठिर का) प्रिय करने वाले होने से, वहाँ ही बिराजे ॥२९॥

सुबोधिनी—अङ्गेत्यप्रतारेण तत्रैवावात्सीदिति । एवकारेण सभार्यस्य वसतिनिरूपिता । कार्यान्तरार्थं स्वप्रतिनिधितया अन्यान् प्रस्थापितवानित्याह प्रस्थाप्येति । भगवति विद्यमाने रक्षा विलासश्च

द्वारकायां भवेत् तत्रैकेन द्वयं न सिद्ध्यतीति रक्षार्थं यदुवीरान् विलासार्थं साम्बादींश्च प्रस्थापितवान् । तच्च स्वभावतः सभार्यं स्थानमाह कुशस्थलीमिति । कुशो दैत्य इति तस्यां भूमौ दैत्योपद्रवसंभवः ॥२९॥

व्याख्यानार्थ—हे अंग (राजन्) यह सम्बोधन देकर शुकदेवजी ने राजा को सूचित किया है कि मैं तुमसे वचना नहीं करता हूँ अर्थात् जो वास्तविक है वही कहता हूँ, वहाँ ही रहे, ही शब्द से यह

कहा कि भगवान् अकेले नहीं रहे किन्तु स्त्री सहित रहे. अन्य कार्यों की पूर्ति के लिए अपने प्रति-निधि रूप से दूसरों को भेज दिया । भगवान् की उपस्थिति में रक्षा और विलास दोनों द्वारका में हो सके उनकी अनुपस्थिति में एक से दो कार्य न हो सकेंगे अतः रक्षा के लिए यदुवीर और विलासार्थ साम्बादि दोनों को भेजा । वहाँ ऐसा क्या है ? जो रक्षा आवश्यक होने से यदुवीरों को भेजा जिसके उत्तर में कहते हैं कि यह स्थान स्वभाव में भय का है, क्योंकि यहाँ कुश दैत्य होने से सदैव उसका उपद्रव होता रहता है ॥२९॥

आभास—यागपूर्व मध्ये अन्ते च यावदभीप्सितं तावद्राज्ञो जातमिति राजकृत्य-मुपसंहरति इत्थं राजेति ।

आभासार्थ—यज्ञ आदि में, मध्य में और अन्त में जो चाहता था वह राजा को प्राप्त हुआ, इसलिए 'इत्थं राजा' श्लोक में राजा के कार्य का उपसंहार करते हैं ।

श्लोक—इत्थं राजा धर्मसुतो मनोरथमहार्णवम् ।

सुदुस्तरं समुत्तीर्य कृष्णेनासीद्गतज्वरः ॥३०॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार राजा युधिष्ठिर श्रीकृष्ण की सहायता से मनोरथ रूप महान् सुदुस्तर समुद्र को पार कर निश्चिन्त हुआ ॥३०॥

सुबोधिनी—राजेति स्वधर्मवत्त्वम् । धर्मसुत इति बीजशुद्धि । मनोरथ एव महार्णवः महत्त्वात् प्रतिबन्धकनक्रसद्भावाच्च । अत एव सुदु-
स्तरमन्यैः स्वस्यापि । परं कृष्णेन समुत्तीर्य गत-
मानसज्वर आसीत् । यथा वैष्णवधर्मैः ज्वरादिकं
समुद्रे निक्षिप्य उत्तीर्णो विज्वरो भवतीत्यर्थः ॥३०॥

व्याख्यानार्थ—'राजा' कहने का यह भाव प्रकट किया है कि अपने धर्म का पूर्ण रीति से पालन करता था । 'धर्मसुतः' धर्मराज का पुत्र होने से उसके बीज की शुद्धि नहीं थी । मनोरथ ही महान् समुद्र था । महान् समुद्र कहने का भाव यह है कि जैसे समुद्र में अनेक मगरमच्छ आदि दुःख देने वाले रहते हैं वैसे ही मनोरथों में भी अनेक प्रकार के प्रतिबन्धक (जरासंध आदि) थे । इस कारण से ही उनसे अपनी सामर्थ्य से अथवा भ्राता आदि के सामर्थ्य से पार होना अति कठिन था । किन्तु श्रीकृष्ण की सहायता से उन प्रतिबन्धकों को नष्ट कर अपने मनोरथ पूर्ण किये जिससे निश्चिन्त हुआ । जैसे वैष्णव धर्म को पालन करने से मनुष्य चिन्ता आदि को समुद्र में फेंक कर निश्चिन्त हो जाता है, वैसे युधिष्ठिर भी श्रीकृष्ण के आश्रय से निश्चिन्त हुआ ॥३०॥

आभास—अतः परं भूभारहरणाख्यं भगवच्चरित्रं वक्तुं दुर्योधनमानभङ्गमाह एकदेति ।

आभासार्थ—इसके अनन्तर भूमि के भार को हरण करने वाला भगवान् का चरित्र वर्णन करने के लिए 'एकदा' श्लोक में दुर्योधन के मानभंग को कहते हैं ।

श्लोक—एकदान्तःपुरे तस्य वीक्ष्य दुर्योधनः श्रियम् ।

अतप्यद्राजसूयस्य महित्वं चाच्युतात्मनः ॥३१॥

श्लोकार्थ—एक दिन श्रीकृष्ण में आसक्त चित्त वाले उस युधिष्ठिर के अन्तःपुर में समृद्धि और राजसूय की महत्ता देख, दुर्योधन दुःखी होने लगा ॥३१॥

सुबोधिनी—दुर्योधनादिष्वपि भीष्मादयो ज्येष्ठा गृहे गताः । यैर्यागे कर्माणि कृतानि त एव स्थिताः । पूर्वं यागावेशात् न मात्सर्योत्पत्तिः । पश्चात्तु सहजदोषाविर्भावात् मात्सर्यं जातमित्याह तस्यान्तःपुरे श्रियं स्त्रीरूपां धनरूपां च दृष्ट्वा वैदि-

कोत्कर्ष राजसूयं च दृष्ट्वा अच्युतात्मन इति भक्त्यतिशयं च दृष्ट्वा मार्गत्रयसंपत्तौ स्वस्यापि युधिष्ठिर-तुल्यत्वं मन्यमानः त्रितयमध्ये एकस्याप्यभावादतप्यत् ॥३१॥

व्याख्यार्थ—कौरवों में बड़े भीष्म आदि तो घर गए, जिन्होंने यज्ञ में कार्य किए थे, वे ही ठहरे थे, उनमें दुर्योधन भी था अतः वह ठहर गया था, दुर्योधन का यज्ञ के कार्य में लगे होने से और उसके (यज्ञ के) ही आवेश से पहले मात्सर्य उत्पन्न न हुआ । यज्ञ कार्य की समाप्ति के बाद स्वाभाविक दोष उद्भव होने से, मात्सर्य पैदा हुई, क्यों उत्पन्न हुई ? वह बताते हैं कि उसके (राजा युधिष्ठिर के) अन्तःपुर में स्त्री रूप और धन रूप समृद्धि देख तथा राजसूय यज्ञ से वैदिक उत्कर्ष भी देख दुर्योधन सहन न कर सका जिससे दुःखी होने लगा, विशेष में राजा की श्रीकृष्ण में ही आत्मा लगी होने से उसका भक्तोत्तमत्व जान कर भी दुःखी हुआ, दुर्योधन यों देख दुःखी क्यों हुआ ? जिसको कहते हैं कि दुर्योधन अपने को युधिष्ठिर के समान समझता था किन्तु ऊपर कही हुई तीन सम्पत्ति में से एक भी अपने पास न होने से शोक में तपने लगा ॥३१॥

आभास—तत्र धनकृतां श्रियं वर्णयति यस्मिन्निति ।

अभासार्थ—वहाँ जो धन की समृद्धि देखी उसका वर्णन 'यस्मिन्नरेन्द्र' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—यस्मिन्नरेन्द्रदितिजेन्द्रसुरेन्द्रलक्ष्मीर्नाना विभान्ति किल विश्वसृजोपबलृप्ताः ।

ताभिः पतिं द्रुपदराजसुतोपतस्थे यस्यां विषक्तहृदयः कुरुराडतप्यत् ॥३२॥

श्लोकार्थ—महाराजा युधिष्ठिर के अन्तःपुर में भगवान् की बनाई हुई, राजाओं की उत्तम दैत्यों की तथा उत्तम देवों की अनेक प्रकार की सम्पत्तियां शोभा दे रहीं थीं । उन सम्पदाओं से द्रोपदी अपने पतियों की सेवा करती थी, उसे देख द्रोपदी में आसक्त चित्त वाले दुर्योधन का मन डोल गया और जलने लगा ॥३२॥

सुबोधिनी—नरेन्द्रा मनुष्यराजानः तेषां संपत्तिर्मानुषी । दितिजेन्द्रा दैत्यश्रेष्ठाः तेषां संपत्तिरासुरी मायाप्रचुरा । सुरेन्द्रा देवश्रेष्ठाः तेषां

संपत्तिरलौकिकी विचित्रा । ताः सर्वा अपि नाना-विधाः ताः सर्वा एव राजान्तःपुरे विभान्ति । किलेति प्रमाणम् । ननु प्रतिनिधताः कथं मनुष्ये

सर्वा जाता इत्याशङ्क्याह विश्वसृजोपल्लृप्ता इति भगवता नूतना रचिताः । तेन तत्तदपेक्षयाप्युत्कर्षं उक्तः । ताभिः समृद्धिभिः सह स्वर्पति द्रुपदराज-सुता उपतस्थे । ततः किमत आह यस्यां विषक्त-हृदय इति । सर्वोत्कर्षोयमर्थः यथा कथंचित् प्राप्तः

यथा पञ्चभिर्भूज्यते तथास्माभिरपि भोक्तव्यं इति तस्येच्छा, अतस्तस्यां विषक्तहृदयः कुरुराट् तदतिशयमर्वविषययुक्तः अतप्यत् परमं काम-सन्तापं प्राप्तवान् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—‘नरेन्द्राः’ मानवों के राजा उनकी सम्पत्ति मानुषी सम्पत्ति कहो जाती है । ‘दितिजेन्द्राः’ दैत्यों में उत्तम दैत्य राज्यों की सम्पदा आमुरी है वह माया प्रचुर होती है । ‘सुरेन्द्र’ देवताओं में श्रेष्ठ उनकी सम्पत्ति अलौकिकी तथा विचित्र होती है । वे सब ही अनेक भाँति की राजा के अन्तःपुर में शोभा दे रही थी । ‘किल’ पद में बताया है कि यों कहा हुआ प्रमाण है, अर्थात् सत्य है ऊपर कही हुई सम्पदायें जिनकी कही हुई हैं उनसे मनुष्य के पास कैसे आई ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि ‘विश्वसृजोपल्लृप्ता’ ये जो सम्पदायें दुर्योधन ने देखी वे सब विश्व को बनाने वाले भगवान् ने स्वयं बनाई है, यों कहने से यह समझाया है कि राजा, उत्तम दैत्य और उत्तम दैवों की सम्पत्ति से भी ये उत्कृष्ट हैं । उन समृद्धियों से द्रुपदराज की कन्या द्रोपदी अपने पति की सेवा करती थी । यों होने से क्या ? इसके उत्तर में कहते हैं कि ऐसी समृद्धि शोभा और द्रोपदी की पति सेवा आदि देख दुर्योधन का मन उसमें (द्रोपदी में) आसक्त हो गया और यों मनमें विचारने लगा कि जैसे द्रोपदी का भोग पांच कर रहे हैं, वैसा मैं करूँ, क्योंकि मैं भी कुरुराज हूँ मेरे पास भी उत्तम सर्व पदार्थ हैं इस प्रकार काम सन्तप्त होने से बहुत दुःखी हुआ ॥३२॥

आभास—एवमाद्यन्तौ दोषौ वर्णितौ, मोहं वर्णयितुं भगवत्संबन्धिलीला तत्र वर्णयति यस्मिन्निति ।

आभासार्थ—इस प्रकार आदि और अन्त वाले दो दोष वर्णित किए, अब! मोह का वर्णन ‘यस्मिस्तदा’ श्लोक में करने के लिए भगवत्सम्बन्धी लीला कहते हैं ।

श्लोक—यस्मिस्तदा मधुपतेर्महिषीसहस्रं श्रोणीभरेण शनकैः क्वणदङ्घ्रिचोभम् ।

मध्ये सुचारुकुचकुङ्कुमशोणहारं श्रीमन्मुखं चपलकुण्डलकुन्तलाढ्यम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—जहां उस समय नितम्ब के भार से धीरे धीरे झुकते झांझरों से शोभित चरणों वाली सुन्दर स्तनों की केशर से लाल हुवे हारों को धारण की हुई सुन्दर मुखवाली, चञ्चल कुण्डल और केश पास युक्त मधुपति (भगवान्) की सहस्र (हजार) रानियां देख दुर्योधन दुःखी हुआ ॥३३॥

सुबोधिनी—तदा तद्दर्शनसमये मधुपतेर्भगवतः व्यामोहकस्य कोटिकन्दर्परूपस्य महिषीसहस्रं व्रीक्ष्य इति पूर्वैणैव संबन्धः । भगवतोऽपि काम-पूरकत्वेन बाहुल्याच्च मोहकत्वं निरूपितम् ।

मोहककरणमिव विशेषणमाह श्रोणीभरेणेति । नितम्बभररेण शनकैः क्वणन्तावद्धौ नूपुरा-दिभिः शोभा यस्य, नूपुरदर्शनं तच्छब्दो वा व्या-मोहक इत्यर्थः । मध्ये सुचारु यत् कुचकुङ्कुमं अनेन

प्रकारविशेषेण समर्पितं कुचकुङ्कुमं निरूपितम् । कमलपत्राणीव तन्मध्ये श्रीमन्मुखं कार्याविशेषे
मरिकापत्रमध्ये कुङ्कुमं निरूपितमिति अति- भावार्थं वा चपलकुण्डलकुन्तलैः आढ्यं । मध्ये
सूक्ष्मवस्त्रव्यवधानं रसजनकमेव न दृष्टिप्रतिबन्धकं सुचाविति भिन्नं वा, प्रान्तस्त्रिय अपेक्षयापि मध्य-
तेन मोहार्थं वर्णनमुपपद्यते । तेन यः शोणो हारः स्त्रीणां रुक्मिण्यादीनामत्युत्कृष्टत्वात् ॥३३॥

व्याख्या—उस समय, अर्थात् जब द्रौपदी को देखा उस समय कोटि कन्दर्परूप मोहित करने वाले भगवान् की सहस्र (हजार) रानियाँ देख (दुर्योधन दुःखी हुआ) जैसे रानियाँ मोह उत्पन्न करने वाली है वैसे ही भगवान् भी मोहक है । क्योंकि एक तो आप काम पूरक होने से मोहक हैं और अनेक स्त्रियोंवाले होने से भी आप में मोहता होती है । अब भगवान् की रानियाँ को मोह होने के कारण बताते हैं—१ नितम्ब के भार से धीरे धीरे झुककर करती हुई झरोखों से शोभित चरणों वाली थीं, झंझर का दर्शन और उसकी ध्वनि मोह करने वाली है । छाती पर अति उत्तम जो स्तनों पर विशेष प्रकार से चर्चित चन्दन था उसका निरूपण किया, वह कुङ्कुम मकरिका' के पत्र के मध्य में था । अर्थात् अति सूक्ष्म वस्त्र होने से उसकी आड़ रस उत्पन्न करती थी, क्योंकि वह आड़ देखने में रुकावट नहीं करती थी, इससे यह वर्णन मोहित करने के लिए ही किया है । उस कुङ्कुम से यों दिखता था कि यह लाल हुआ हार मानों कमल पत्रों का बना हुआ है उसके मध्य में रानियों के मुख ऐसी शोभा दे रहे थे, काम में संलग्न होने से अथवा भावार्थ चलायमान कुण्डल और केशों वाली वे रानियाँ थीं ।

अथवा 'मध्ये सुचारु' पद को प्रथक् समझ कर यों अर्थ करना चाहिये कि प्रान्त (किनारे) पर चलने वाली स्त्रियों के मध्य में जो स्त्रियाँ रुक्मिणी आदि थीं वे अति उत्कृष्ट थीं ॥३३॥

आभास—एवं स्त्रीणां मोहहेतुत्वमुक्त्वा नरदेवकृतमोहहेतुं संपाद्य दैत्यकृतं स्थानतो मोहहेतुमाह सभायामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार स्त्रियों को मोह का कारण कह कर, राजा का किया मोह का हेतु सिद्ध कर, दैत्य ने स्थान से किया हुआ मोह का कारण 'सभायां' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—सभायां मयक्लृप्तायां क्वापि धर्मसुतोऽधिराट् ।

वृतोनुगैर्बन्धुमिश्र कृष्णेनापि स्वचक्षुषा ॥३४॥

श्लोकार्थ—किसी समय चक्रवर्ती धर्म-पुत्र युधिष्ठिर मय की बनाई हुई सभा में अपने छोटे भ्राताओं की सेवा के और अपने नेत्र श्रीकृष्ण के साथ (बैठे) थे ॥३४॥

सुबोधिनी—मयेन विशेषत एतदर्थमैव क्लृप्ता सभा । क्वापि कालस्यापि तथारूपे । धर्मसुतेः अर्थादधर्मभङ्गं करिष्यतीति सूचितम् । अधिराडिति सामर्थ्यम् । वृतोनुगैर्बन्धुमिश्रचेति सहाय- क्रियामयः । ज्ञानक्रियारूपं सहायमाह कृष्णेनापि स्वचक्षुषेति । अनेन दुर्योधनापेक्षयापि भगवतः सन्मानना भगवत्कृतमेव प्रमाणमिति च सूचितम् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—मय ने यह सभा विशेषतया (खास तौर से) इस वास्ते बनाई थी, किसी समय यों कहने का भावार्थ यह है कि बनाने के समय काल का रूप भी वैसा ही था। युधिष्ठिर को धर्म मृत विशेषण देकर यह सूचित किया है कि वह अधर्म का नाश करेंगे 'अधिराट' चक्रवर्ती कह कर बताया है कि इसमें अधर्म को नाश करने का सामर्थ्य है। सेवक और बान्धव साथ थे, जिससे बताया कि क्रियामय सहायक साथ में थे। अब अपना चक्षु रूप श्रीकृष्ण साथ थे, यों कहने से सिद्ध किया है कि युधिष्ठिर को इससे ज्ञान और क्रिया रूप दोनों सहायता श्रीकृष्ण से प्राप्त थी, इससे यह सूचित किया है कि, दुर्योधन से भी, भगवान् का किया हुआ सन्मान विशेष था, जिससे भगवान् जो करे वही प्रमाण है ॥३४॥

आभास—तस्य दुर्योधनप्रदर्शनार्थं विशेषतः सिंहासनस्थितिमाह आसीन इति ।

आभासार्थ—दुर्योधन को दिखाने के लिए 'आसीनः' श्लोक से युधिष्ठिर की विशेष प्रकार से सिंहासन स्थिति का वर्णन करते हैं—

श्लोक—आसीनः काञ्चने साक्षादासने भगवानिव ।

पारमेष्ठ्यश्रिया पुष्टः स्तुयमानश्च बन्धुभिः ॥३५॥

श्लोकार्थ—चक्रवर्ती की सम्पत्ति से पुष्ट और बान्धव जिसकी स्तुति कर रहे हैं वैसा महाराजा युधिष्ठिर सुवर्ण के बने हुए साक्षात् आसन पर भगवान् की तरह बैठे थे ॥३५॥

सुबोधिनी—सुवर्णसिंहासने सर्वोत्कर्ष प्राप्य भगवानिव आसीनो जातः, साक्षादासन इति ।
आसनशक्तिस्तत्रैव स्थापिता । यागफलरूपपारमे-
ष्ठ्यश्रियापि पुष्टः । बन्धुभिः स्तूयमान इति
मानोन्नतिः ॥३५॥

व्याख्यार्थ—सबसे उत्कृष्टता प्राप्त कर, भगवान् की तरह सोने के बने हुए सिंहासन पर बैठ गए, 'साक्षात् आसन' कहने का भाव यह है कि भगवान् ने आसन की आधिदैविकी शक्ति इसमें ही स्थापित की है यज्ञ का फल, जो चक्रवर्ती की श्री है, उससे पुष्ट था, बान्धव स्तुति कर रहे थे, इन विशेषणों से सिद्ध है कि महाराजा युधिष्ठिर का सबसे विशेष मान हुआ है ॥३५॥

आभास—एवंविधे समये दुर्योधनः समागत इत्याह तत्रेति ।

आभासार्थ—'तत्र दुर्योधनो' श्लोक में कहते हैं कि उस समय वहाँ दुर्योधन आया ।

श्लोक—तत्र दुर्योधनो मानी परीतो भ्रातृभिर्नृप ।

किरीटमाली न्यविशदसिहस्तः क्षिप्ररूपा ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! भ्राताओं से घिरा हुआ अभिमानी दुर्योधन, मुकुट और माला धारण किए खड्ग हाथ में लेकर, क्रोध से अपमान करता हुआ सभा में प्रविष्ट हुआ ॥३५॥

सुबोधिनी—सोऽभिमानी मां सेवकं कर्तुं
अक्षपीडां वा जनयितुं स्थापयतीति भ्रातृभिः
सहितः अममंतं युद्धं वा करिष्यामीति वा निश्चि-

त्य क्षिपन्निस्ततः सर्वान् । किरोटमाली भूत्वा
असिहस्तः प्रायेण कंचिन्मारयितुमिव न्यविशत् ।
रुषेति लौकिकन्यायेनापि न स्यादर्शनहेतुरुक्तः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—युधिष्ठिर की समृद्धि आदि देख कर दुर्योधन के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि यह मुझे सेवक बनाने के लिए वा इन्द्रियो को पीड़ा देने के लिए यहाँ ठहरा रहा है, इस प्रकार विचार होने से भ्राताओं के साथ यह निश्चय कर आया कि युधिष्ठिर की संमति न मिले तो भी उससे युद्ध करूँगा, इसी कारण जहाँ तहाँ सबका अपमान करता हुआ, मुकुट और माला धारण कर मानो प्रायः किसी को मारने के लिए हाथ में तलवार ले भीतर सभा में आया, उस समय क्रोध में पूर्ण था जिससे लौकिक न्यायानुसार वह देख नहीं सकता था क्योंकि क्रोध से मनुष्य की आँखों पर अन्धकार छा जाता है जिससे उस समय देख नहीं सकता है ॥३६॥

आभास—ततस्तत्र पदार्थेषु भ्रमो जात इत्याह स्थलेऽभ्यगृह्णादिति ।

आभासार्थ—गोष्ठान्ध होने से उसको सभा के पदार्थों में भ्रम उत्पन्न हुआ यह स्थलेऽभ्यगृह्णा-
दन्वयं श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—स्थलेऽभ्यगृह्णादस्त्रान्तं जलं मत्वा स्थलेऽपतत् ।

जले च स्थलवद्भ्रान्त्या भयमायाविमोहितः ॥३७॥

श्लोकार्थ - वहाँ वह क्रोधी 'मय' की माया से, ऐसा मोहित हो गया, कि जहाँ स्थल था वहाँ जल समझ कर वस्त्रों को समेटने लगा और जहाँ जल था वहाँ स्थल समझ कर जल में गिर पड़ा ।

सुबोधिनी—काचादिभिः कृत्वा तथा कृतवान्
ततः स्थल एवं जलबुद्ध्या अस्त्रान्तं स्वभावाद-
भ्यगृह्णात् । तत्रहेतुः जलं मत्वेति । न
केवलं वस्त्रग्रहणमात्रं किन्वेतन्निम्नस्थानमिति
जले प्रविष्टस्त्रिव स्थल एवापतत् ।
एव जले च स्थलबुद्ध्या सवस्त्र एवं
प्रविष्टः निम्नत्वान् पतितः । तत्र हेतुः स्थल-

वादभ्रान्त्येति । यथा स्थले पूर्वं जलभ्रमो जातः ।
एवमत्रापि स्थले जात इत्यर्थः । तत्राप्रत्याख्येय-
हेतुमाह मयमायाविमोहित इति । यो हि दुष्टः
माभिमानः क्रोधेन तं देशं प्रविशति तस्य भ्रमो
भवतीति काचिन्माया देवतारूपा न स्यात् सभायां
मयेन स्थापिता सा तथैव विरुद्धं आमयतीति
मायया विमोहितः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—मय ने वहाँ सभा काँच की धानु से ऐसी बनाई थी जहाँ जल में थल देखने में आवे और थल हो वहाँ जल की भ्रान्ति हो । दुर्योधन क्रोध में तो था ही, इससे भी जहाँ स्थल था वहाँ जल समझ कर अपने वस्त्रों के पत्तों को ऊपर इसलिए समेटने लगा कि जल में भीग न जाय इतना ही नहीं किन्तु उस स्थान को नीचा स्थान समझ कर जैसे मनुष्य जल में प्रवेश करता है उसी तरह प्रवेश करने से स्थल पर भी गिर पड़ा । इसी प्रकार, जल को स्थल समझ वहाँ जाने लगा ता वह नीचा स्थान और जल मय होने से वस्त्र सहित उसमें भी गिर पड़ा । क्रोधान्ध होने से भी

विशेष भ्रम उत्पन्न होने से स्थल में जल और जल में स्थल समझने लगा। मय की माया से भी विमोहित हुआ, जो दुष्ट अभिमानी होता है एवं क्रोध से उस देश में प्रवेश करता है उसको भ्रम ही होता है कोई माया जो देवता रूप होती है, मय ने उस सभा में वह माया स्थापित की थी, जिससे माया से मोहित को पदार्थ विरुद्ध देखने में आते थे ॥३७॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह जहासेति ।

आभासार्थ—अनन्तर जो हुआ वह 'जहास' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—जहास भीमस्तं दृष्ट्वा स्त्रियो नृपतयोऽपरे ।

निवार्यमाणा अप्यङ्ग राज्ञा कृष्णानुमोदिताः ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! जल में थल, थल में जल के भ्रम ने जो दुर्योधन की दशा हुई उसको देख भीमसेन स्त्रियां और दूसरे भूपति हंसने लगे, यद्यपि युधिष्ठिर ने बहुत रोका था किन्तु श्रीकृष्ण के अनुमोदन से हंस कर उसकी हँसी कर डाली ॥३८॥

सुबोधिनी—तमन्धमिव दृष्ट्वा भीमस्तत्प्रति-
कूलैकस्वभावः । स्त्रियः सर्वा स्वभावतः । अपरे
नृपतयः ये न दुर्योधनसंवन्धितः । ननु राजसभाया
हाम्यमनुचितमिति चेत् । तत्राह निवार्यमाणा

अपीति । राज्ञा निवार्यमाणा अपि स्वतोऽनुचित-
स्य का वार्ता । तत्र हेतु कृष्णानुमोदिता इति ।
अन्तःकरणे ब्रह्म । एतदर्थमेवेतावानुद्यम इति
॥३८॥

व्याख्यानार्थ—उसको अन्धक समान देखकर भीमसेन जो उससे स्वभाव के कारण सहज विरुद्ध है, वह स्वभाव से सब स्त्रियाँ, जो दुर्योधन के सम्बन्धी नहीं थीं वे दूसरे भूपति भी हंसने लगे अर्थात् हंसने से उसकी हँसी की, यदि कहो कि राजसभा में यो किस पर भी हंसना उचित नहीं है, जिसके उत्तर में कहते हैं कि आपही अनुचित समझ कर नहीं हँसे इसका क्या कहा जाय किन्तु राजा ने रोका कि हँसो मत, तो भी रुके नहीं क्योंकि श्रीकृष्ण ने दोनों प्रकार हँसी करने का अनुमोदन किया । १-अन्तर्यामी रूप से हंसने की प्रेरणा की । २-बाहर साक्षात् अनुमोदन किया इसलिए ही इतना उद्यम किया गया है ॥३८॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह स व्रीडित इति ।

आभासार्थ—इसके बाद जो कुछ हुआ वह 'स व्रीडितो' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—स व्रीडितोऽवाग्वदनो रुषा ज्वलन्निष्क्रम्य तूष्णीं प्रययौ न जाह्नवम् ।

हाहेति शब्दः सुमहानभूत्सतामजातशत्रुविमना इवाभवत् ।

बभूव तूष्णीं भगवान्भूवो भरं समुज्जिहीषुर्भ्रमति स्म यद्दृशा ॥३९॥

श्लोकार्थ—वह दुर्योधन लज्जित हो मुख नीचा कर क्रोध से जलता हुआ, सभा से निकल कर चुपचाप हस्तिनापुर चला गया । उस समय सत्पुरुषों ने बड़ा हाहाकार शब्द किया और युधिष्ठिर उदास से हो गये । जिनकी दृष्टि से यह सब फिरता रहता है वे श्रीकृष्ण तो शान्त ही बैठे रहे, क्योंकि उनको पृथ्वी का भार उतारना था इसलिए ही यह खेल रचा था ॥३६॥

सुबोधिनी—अवाग्वदनो बहिः । ततोऽपमानेन जातो महान् रोषः तेन ज्वलन्निव तस्मात् । स्थानात् भीमभर्त्सनमकृत्वेव तूष्णीं निष्क्रम्य तूष्णीं राजानं गमिष्यामीत्यननुज्ञाप्य गजाह्वयमेव प्रययौ । यमुनामुत्तीर्य गत एव । ततो महान् बन्धुरेवं गत इति हाहेति शब्दः सुमहानभूत् सोऽपि सतामेव भूतानुकम्पिनाम् । राजा च अजातशत्रु-त्वाद्विमना अभवत् । इवेति भगवदनुमोदनात्किञ्चिदस्तीति ज्ञातवान् । भगवांस्तु नोपहासं न वा

विषादं किमपि कृतवानित्याह बभूव तूष्णीमिति । पुनः सन्माननायां भूभारहरणं न भवेत् तन्मारणे वा पाण्डवानां गर्वो न गच्छेदिति । भगवान् सर्व-समस्तूष्णीमास । यतो भुवो भारं जिहीर्षुः । नन्वेवं कृते कथं भूभारहरणं भविष्यतीत्याशङ्क्याह यद्यस्मात् कारणात् भगवान् दृशा ज्ञान-चक्षुषा ज्ञानेनैव सह भ्रमति साध्यसाधनभाव-सर्वोऽपि तस्य प्रत्यक्षः इत्यर्थः । स्मेति सर्वलोक-वेदप्रसिद्धिरत्र प्रमाणं निरूपितम् ॥३६॥

व्याख्यानार्थ—दुर्योधन बाहर से नीचे मुख वाला हुआ, पश्चात् अपमान के कारण अत्यन्त क्रोधित हुआ उस क्रोध से जलता हुआ, भीम को बिना धमकाए और राजा से आज्ञा भी न लेकर चुपचाप हस्तिनापुर गया । यमुना पार कर चला गया, अनन्तर यह महान् बन्धु इस प्रकार अपमानित हो रुष्ट होकर चला गया, जिससे प्राणी मात्र पर दया करने वाले सत्पुरुषों ने जोर से हाहाकार शब्द किया । राजा तो किसी को शत्रु नहीं समझता है, इसलिए उदास से हो गये, पूर्ण उदास न हुआ । क्योंकि भगवान् ने यों हास्यादि से इसका अपमान कराया है, इसमें कुछ रहस्य होगा यों मनमें समझा था । भगवान् न हँसे और न विषाद किया इसलिए कहा है कि मौन करके बैठे थे, कारण कि यदि दुर्योधन को बुला कर उसका सम्मान आदि किया जाएगा तो पृथ्वी के भार का हरण नहीं होगा, यदि उसको मारा जाय तो पाण्डवों का अहङ्कार नष्ट नहीं होगा, अतः भगवान् सर्वसम होने से, शान्त रहे क्योंकि पृथ्वी का भार कैसे उतरेगा ? जिसका उत्तर देते हैं कि जिस कारण से भगवान् ज्ञान दृष्टि से ज्ञान के साथ ही भ्रमण करते हैं इसलिए साध्य और साधन भाव को प्रत्यक्ष आप देख रहे हैं, कि किस साधन से कौनसा साध्य सिद्ध होगा, वैसे ही करते हैं । 'स्म' अक्षर से यह बताया है कि इसकी लोक और वेद में प्रसिद्धि है यही इसमें प्रमाण है ॥३६॥

आभास—उक्तमुपसंहरति एतत्तोऽभिहितमिति ।

आभासार्थ—जो अब तक हुआ उसकी 'एतत्तोऽभिहित' श्लोक में समाप्ति करते हैं ।

श्लोक—एतत्तोऽभिहितं राजन् यत्पृष्टोऽहमिह त्वया ।

दुर्योधनस्य दौरात्म्यं राजसूये महाकृत्वा ॥४०॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! महान् यज्ञ राजसूय में दुर्योधन का दुष्टपन जो आपने पूछा वह आपको कह दिया ॥४०॥

सुबोधिनी— राजन्निति स्नेहान्महत्सम्बो- धनम् एतस्य चरित्रस्य निरोधोपयोगित्वं नास्तीति शङ्काव्युदासार्थं त्वया पृष्ठं चेत् तदोक्त- मित्याह यत्पृष्टोऽहमिह त्वयेति । त्वया मानभङ्गे हेतुः पृष्ठः । तत्र दुर्योधनस्य दौरात्म्यमेव मान-	भङ्गहेतुरित्युत्तरं दौरात्म्यं च निरूपितमभिमान- रूपम् । तच्च राजसूये समागतस्य कर्तुमनुचितं न हि धर्मार्थमागतोभिमान करोति तत्रापि महाकृत्तौ निरभिमाननयैव तत्र गन्तुमुचितमित्यर्थः ॥४०॥
--	--

व्याख्यार्थ—हे राजन् ! यह महान् सम्बोधन, श्री शुकदेवजी ने स्नेह के कारण कहा है, यह चरित्र निरोध प्रकरण में उपयोगी नहीं है, तो भी, आपने पूछा है इसलिए कहना पड़ा है । तुमने मानभंग का कारण पूछा वह हेतु दुर्योधन का अभिमान है । जिससे वह दुरात्मा बन गया है । वह अभिमान राजसूय यज्ञ में आने वाले को करना उचित नहीं है । धर्म के लिए आया हुआ अभिमान नहीं करता है उसमें भी यह महान् ऋतु है अतः इसमें तो दीन होकर जाना ही उचित है यो अर्थ है ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिण्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचिताया

दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणो षड्विंशाध्यायविवरणम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ७२वें अध्याय (उत्तरार्ध के २३वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य-

चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन

प्रवान्तर प्रकरण का पंचम अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का पद

“पांडव सभा, दुर्योधन का क्रोध”

राग बिलावलः—

भक्त काज हरि जित कित सारे ।

यज्ञ राजसू माहिं आपु हरि, सब के पाउँ पखारे ॥

अष्ट नायिका द्रुपद सुता की, करै तहाँ सेवकाई ।

दुर्योधन यह रीति देखि कै, मन मैं रह्यौ खिस्याई ॥

भक्तसंग हरि लागे डोलत, भक्त बछल प्रभु भोरे ।

सब विधि काज करत भक्तनि के, गनत नहीं हमको रे ॥

जीतै जीतत भक्त आपनै, हारै हार विचारत ।

सूरदास प्रभु रीति सदा यह, प्रन जुग जुग प्रतिपारत ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्ब्रह्मभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ७६वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७३वां अध्याय

उत्तरार्ध २७वां अध्याय

सात्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

“अध्याय—” ६

शाल्व के साथ यादवों का युद्ध



कारिका सात्विकानां निरोधस्तु षड्भिरेवं निरूपितः ।

साधकांशः फलांशस्तु षड्भिरग्रे निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—सात्विकों के निरोध का साधनांश, छः अध्यायों से वर्णन किया है
आगे छः अध्यायों से फलांश का निरूपण करते हैं ॥१॥

कारिका—फलं तु त्रिविधं प्रोक्तं शत्रुनाशो यशस्तथा ।

अलौकिकी तथा संपद् द्वाभ्यां द्वाभ्यां निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—फल तीन प्रकार का है १—शत्रु नाश २—यश ३—अलौकिकी सम्पत्ति
इसके दो अध्यायों से कहते हैं ॥२॥

कारिका बन्धूनां च तथांशस्य मित्रस्येति पृथक् पृथक् ।

बन्धूनां कृष्णसद्भावान्नान्यत्रेच्छा ।

कारिकार्थ—बान्धवों को उनके शत्रुओं का नाश और अंश (बलभद्र को) यश तथा मित्र को अलौकिक सम्पत्ति इस प्रकार पृथक् पृथक् फल दो दो अध्यायों में कहा है । बान्धवों का कृष्ण में सद्भाव है इसलिए दूसरी किमी प्रकार की इच्छा नहीं करते हैं ।

कारिका—सहागतस्य त्वंशस्य कीर्तिरेवेप्सिता भुवि ।

मित्रस्य लक्ष्मीवैमुख्यात् संपत्तिर्वाञ्छिता क्वचित् ॥४॥

कारिकार्थ—साथ में आए हुए अंश को तो पृथ्वी पर यश फैले यही इच्छित है । मित्र के पास लक्ष्मी नहीं है वह कभी? उसकी इच्छा करता है ॥४॥

कारिका—परोक्षे दारदृष्टो हि मित्रत्वमुपयाति हि ।

अत्रादौ द्वारकास्थानां बन्धूनां च तथा क्वचित् ॥५॥

अनिवार्यं दुःखमुक्तं द्वितीयेन निवार्यते ।

कारिकार्थ—परोक्ष में दारदर्शक^२ मित्र होता है प्रथम द्वारका में रहे हुए बान्धवों को किसी समय किसी से मिट नहीं सके ऐसा दुःख हुआ, उस दुःख का दूसरे अध्याय में निवारण करते हैं ॥५३॥

कारिका—सप्तविंशे तथाध्याये यादवानां महद्भयम् ॥६॥

महादेवादिपुष्टेभ्यः शाल्वादिभ्यो निरूप्यते ।

कारिकार्थ—इस उत्तरार्ध के २७ वें अध्याय और प्रारम्भ से ७६ वें अध्याय में यादवों का महादेव आदि की आराधना से पुष्ट हुए शाल्व आदि से महान् भय उत्पन्न होता है ॥६३॥

कारिका—अप्रत्याख्येयता सिद्ध्यै प्रद्युम्नाय जयो महान् ॥७॥

निरूपितः समस्तानां यतः स्यात्तु महद्भयम् ।

कारिकार्थ—प्रद्युम्न का कोई भी अपमान करने में समर्थ नहीं है इसकी सिद्धि करने के लिए इस अध्याय में प्रद्युम्न की महान् जय हुई, कही है जिससे सबको महान् भय हुआ यह निरूपण है ॥७३॥

१—मन्त्री के कहने से २—स्त्री (लक्ष्मी) बतलाने वाले, अतः भगवान् ने सान्निध्य में प्रत्यक्ष कुदृष्ट नहीं दिया परोक्ष में ही लक्ष्मी आदि सम्पत्ति दी अतः भगवान् सुदामा के मित्र सिद्ध हुए ।

आभास—स्वतन्त्रतया फलप्रकरणमारभते अथेति ।

आभासार्थ—‘अथान्यदपि’ श्लोक से स्वतन्त्र रूप से फल प्रकरण शुकदेवजी प्रारम्भ करते हैं ।

श्लोक —श्रीशुक उवाच—अथान्यदपि कृष्णस्य शृणु कर्माद्भुतं महत् ।

क्रीडानरशरीरस्य यथा सौभपतिर्हतः ॥१॥

श्लोकार्थ—शुकदेवजी ने कहा कि हे राजन् ! अब और भी क्रीडार्थ नर शरीरधारी श्रीकृष्ण भगवान् का अद्भुत चरित्र जो शाल्व को मारने का कहता है वह सुनो ॥१॥

सुबोधिनी—तदैव निरुद्धानां भगवत्परता भवति : एतच्चरित्रमुत्तममिति श्रवणार्थ विशेषेण प्रेरयति अन्यदपि कृष्णस्य शृण्विति । यतः अद्भुतं कर्मेति । अस्माच्चरित्राद्भगवतोऽद्भुतानि कर्माणि बहूनिभवन्ति । इदं च चरित्रमद्भुतम् । तदेवाद्भुतं यदन्यार्थमारब्धमन्यार्थं भवति । अत एव विश्वमेवाद्भुतं चरित्रमिति भगवच्छास्त्रं धर्मार्थं प्रयत्नं कुर्वन् अधर्मं करोति, अर्थार्थमनर्थं, एवं पुरुषार्थान्तरेऽपि । किंवहुना सुखार्थं यतमानो दुःखं प्राप्नोति । एवं सर्वाश्रमादिधर्मेषु । भगवदनुसन्धानव्यतिरेकेषु बोद्धव्यम् । अत्रापि फलं भग-

वदनुभवः साधनत्वेन मन्यते । तथा सर्व एव भगवत्सम्बन्धी पदार्थः । इदं रहस्यं सर्वदैव भगवदीयैरनुसन्धेयम् । अतो यद्यपि सर्वमेवाद्भुतं तथापीदं महत् । तस्याद्भुतत्वमुपपादयति क्रीडानरशरीरस्येति । क्रीडार्थं नरशरीरमङ्गीकृतम् । यत्र क्रीडासंभावनापि नास्ति । नराणां सुखस्यैव नरकत्वात् तत्किमित्याकाङ्क्षाया निदिशति यथासौभपतिर्हत इति । मायिकं पुरं सौभ-शब्देनोच्यते तस्य पतिः शाल्वः स चेत् प्रयत्नं न कुर्यात्, जीवेद्वा कियत्कालं दुर्योधनादिवत् । अयं तु शीघ्रमेव हतः ॥१॥

व्याख्यानार्थ—इस प्रकार का भय उत्पन्न हो, तब ही निरुद्ध भक्तों की भगवान् में आसक्ति होती है, यह श्रीकृष्ण का चरित्र उत्तम है, इसलिए श्रवण करने के वास्ते विशेष प्रकार से प्रेरणा करते हैं कि दूसरा भी श्रीकृष्ण का चरित्र सुनो, क्योंकि यह चरित्र अद्भुत है । इस चरित्र से भगवान् के बहुत अद्भुत कर्म प्रकट होंगे । अद्भुत उसे कहते हैं, कि जो कर्म एक के लिए प्रारम्भ किया जाता है किन्तु उसका फल दूसरे को मिलता है, इसलिए वह विश्व ही भगवान् का अद्भुत चरित्र है जो भगवच्छास्त्र कहता है । धर्म के लिए प्रयत्न करते हुए अधर्म करता है । अर्थ के लिए अनर्थ करता है । इस प्रकार अन्य पुरुषार्थों में भी होता है, बहुत कहने से क्या ? सुख के लिए प्रयत्न करता हुआ दुःख पाता है, सर्व आश्रम आदि जो धर्म भगवान् के अनुसन्धान रहित हैं उनमें इसी तरह भगवत्प्राप्ति चाहिए । यहाँ भी भगवान् के अनुभव रूप फल को साधनपन से जानते हैं वैसे ही सब भगवत्सम्बन्धी पदार्थ को साधन रूप मानते हैं, भगवद् भक्तों को यह रहस्य सदैव ध्यान में रखना चाहिए ।

यद्यपि भगवान् के सर्व चरित्र अद्भुत है, तो भी यह महान् अद्भुत है इसका अद्भुतपन निन्दित करते हैं ‘क्रीडा नरशरीरस्य’ क्रीडा के लिए वहा मनुष्य शरीर धारण किया है जहाँ क्रीडा की सम्भावना नहीं है, क्योंकि, ‘नराणां’ मनुष्य का ‘कम्’ सुख ही नरक है । अतः नरक में क्रीडा

अर्थात् आनन्द हो नहीं सकता है वैसा शरीर क्रीड़ा को लिये धारण करना महती अद्भुतता है वह कौनसा चरित्र है इस आकांक्षा के होने पर बताते हैं कि 'यथा सौभपतिर्हृतः' जैसे सौभपति को मारा "सौभ" शब्द से मायिकपुर कहा है, जिसका पति शाल्व है वह यदि प्रयत्न न करता, तो दुर्योधन की तरह कितने ही समय तक जीता रहता किन्तु यह तो जीघ्र ही मारा गया ।

आभास—तस्य हननार्थमुपाख्यानमाह शिशुपालसख इति ।

आभासार्थ—'शिशुपाल सखः' श्लोक से शाल्व के मारने की कथा कहते हैं ।

श्लोक—शिशुपालसखः शाल्वो रुक्मिण्युद्धाह आगतः ।

यदुभिनिजितः संख्ये जरासन्धादयस्तथा ॥२॥

श्लोकार्थ—शिशुपाल का मित्र शाल्व रुक्मिणी के विवाह में आया था वहाँ यादवों से जो युद्ध हुआ उसमें शाल्व और जरासन्ध आदि सब हार गए ॥२॥

सुशोधिनी—शपथपूर्विका तेन सह मैत्री । निजितः । आगत वा संख्यं युद्धे तदा यदुभिनि-
शिशुपालसखित्वैनेव प्रसिद्धः शाल्वः । अत एव जित । न केवलमेकः किन्तु जरासन्धादयोऽपि
रुक्मिण्युद्धाहे आगते उपस्थिते आगतो वा यदुभि- तथा मित्राणि निजिताश्च ॥२॥

व्याख्यार्थ—शाल्व की शिशुपाल के साथ शपथ (पौगन्ध) पूर्वक मित्रता थी । शाल्व शिशुपाल के मित्रपन से प्रसिद्ध था इस कारण से, रुक्मिणी का विवाह जब होने वाला था तब वहाँ आया था । उस समय हुए युद्ध में यादवों से हार गया न केवल शाल्व हारा, किन्तु जरासन्ध आदि उसके साथी भी यादवों से हार गए ॥२॥

आभास—एवं सर्वेष्वेव तथाभूतेषु सर्वहितान्वेषी यादवानां मारणं विचारितवान्—

आभासार्थ—इस प्रकार जब सब, यादवों से हार गए, तब सर्व का हित चाहने वाले शाल्व ने यादवों को मारने का विचार किया जिसका वर्णन 'शाल्व प्रतिज्ञा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—शाल्वः प्रतिज्ञामकरोच्छृण्वतां सर्वभूभुजाम् ।

अयादवीं क्षमां करिष्ये पौरुषं मम पश्यत ॥३॥

श्लोकार्थ—सब राजाओं के सुनते हुए शाल्व ने प्रतिज्ञा की कि यह पृथ्वी बिन यादवोंवाली करूंगा अर्थात् यादव मात्र नाश करूंगा । मेरा पराक्रम देखिये ॥३॥

सुशोधिनी—ततस्तत्सिद्धयर्थं शाल्वः प्रतिज्ञा- सर्वोऽजनिर्हरणमर्थः । किं ब्रह्मज्ञानेनेव नेत्याह
मकरोत् । क्लेशेष्वनिवृत्त्यर्थं सर्वभूभुजां शृण्वता- पौरुषं मम पश्यतेति । पश्यतेति पौरुषं स्वकीय
मकरोत् । प्रतिज्ञामाह—अयादवीं क्षमां करिष्ये नाशायत्यर्थेति ॥३॥
इति । यस्यां क्षमायां यादवा न तिष्ठन्ति इति ।

व्याख्यार्थ—अनन्तर यादवों के नाश की सिद्धि के लिए शाल्व ने प्रतिज्ञा की, वह प्रतिज्ञा, छिप कर, नहीं की किन्तु सब राजाओं के सुनते हुए की, जिससे यह सूचित किया है कि मेरे पर कितना भी दुःख आ पड़ेगा तो भी यह प्रतिज्ञा पूर्ण करूँगा। अब प्रतिज्ञा कहता है, कि यह पृथ्वी यादवों मात्र से शून्य करूँगा अर्थात् पृथ्वी पर यादवों का बीज भी नहीं छोड़ूँगा, जिससे फिर यह कुल बढ़ सके। क्या ऐसा ब्राह्मणों के शाप के भाँति करेगा ? तो कहता है कि नहीं, अपने पुरुषार्थ से करूँगा। आप वह मेरा पराक्रम प्रत्यक्ष देखिए।

आभास—ततोऽन्यानप्याह—

आभासार्थ—राजाओं को अपनी प्रतिज्ञा सुनाने के बाद अन्यो (दूसरों) को भी सुनाता है।

श्लोक—इति मूढः प्रतिज्ञाय देवं पशुपतिं प्रभुम् ।

आराधयामास नृप पांसुमुष्टिं सकृदग्रसन् ॥४॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! वह मूर्ख इस तरह सबके सामने अपनी प्रतिज्ञा सुनाकर केवल धूल की एक मुट्ठी फाकता हुआ महादेवजी की आराधना करने लगा ॥४॥

सुबोधिनी—इत्युक्त्वा मूढः असाध्यसाधनार्थं प्रवृत्तः भूमिर्यादिवोपजीविनी कथं यादवरहिता स्वरूपं लप्स्यत इति । तथापि मौढ्यात्प्रतिज्ञाय तत्राप्यसमर्थं देव सेवितवान् । यतः स पशूनामेव पतिः तत्रापि प्रभुः न त्वन्तर्यामी । यदि पुरुषोत्तममन्तर्यामिणं वा भजेत् भक्तो ज्ञानी वा भवेत्

तदा जगज्जननसामर्थ्यं विश्वोसंहारसामर्थ्यं वा भवेत् । विश्वामित्रस्येव तद्वहुकालसाध्यमिति मत्वा क्षिप्रप्रसादं स्वस्य पशुत्वात् प्रभुमाराधयामास । तत्राराधनप्रकारः पांसुमुष्टिं सकृदग्रसन्निति । भगवद्वैमुख्यात्स्वहस्तेनैव स्वमुखे धूलिप्रक्षेपः ॥४॥

व्याख्यार्थ—वह मूर्ख, वह कार्य करने लगा जो होने वाला ही नहीं है, क्योंकि यह भूमि यादवों पर ही जीवित रह सकती है, यदि यादव ही न रहेंगे तो पृथ्वी अपना स्वरूप कैसे प्राप्त कर सकेगी, तो भी, मूर्खता के कारण प्रतिज्ञा कर असमर्थ देव की आराधना करने लगा, कारण कि, वह देव असमर्थ इसलिए है, कि पशुओं का स्वामी है, जिसमें भी प्रभु हैं, न कि अन्तर्यामी हैं यदि यों है तो पुरुषोत्तम वा अन्तर्यामी को आराधना क्यों नहीं की ? जिसका उत्तर देते हैं कि यदि उनकी भक्ति करे तो भक्त वा ज्ञानी बन जावे, तो सृष्टि उत्पन्न करने और संहार करने की शक्ति विश्वामित्र की तरह आ जावे। किन्तु वह विशेष समय आराधना करने से सिद्ध होने वाली हैं, यों समझ शीघ्र प्रसन्न होने वाले पशुपति की आराधना करने लगा जिसका कारण यह है, कि स्वयं पशु है, इसलिए पशुपति की आराधना ही इसको इष्ट लगी। अब आराधना का प्रकार कहते हैं कि एक ही वार (हाथ) की मुट्ठी धूल की मुख में डाल कर आराधना करने लगा शाल्व भगवान् से विमुख था इसलिए उसकी विपरीत ही बुद्धि थी जिससे अपने मुँह में अपने हाथ से धूलि डालने लगा ॥४॥

आभास—ततो यज्ञातं तदाह संवत्सरान्त इति ।

आनासार्थ—वाद में जो कुछ हुआ वह 'संवत्सरान्ते' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—संवत्सरान्ते भगवानाशुतोष उमापतिः ।

वरेण छन्दयामास शाल्वं शरणमागतम् ॥५॥

श्लोकार्थ—शीघ्र प्रसन्न होने वाले भगवान् पार्वती पति एक वर्ष के अन्त होने पर शरण आए हुए शाल्व को वरदान से सन्तुष्ट किया अर्थात् कहा कि वर मांग ॥५॥

सुबोधिनी—महादेवः कालप्रेष्यः संवत्सरा-
कालः, शाल्वो दुर्वृत्तः भगवद्विरोधार्थं यतते
अस्मांश्च प्रार्थयते । तत्राद्भुतकर्मत्वाद्भगवदभि-
प्रायो न ज्ञायते । किमस्मा एष वरो देयो नवेति
तदर्थं संवत्सरप्रतीक्षा कृता । यदि संवत्सरेणायं
मार्यते तदा स्वामिहितकर्त्रा संवत्सरेणैव कार्यं
सिद्धम् । अथ यदि क्लेशमेव दत्त्वा जीवयिष्यति
तदा मयापि क्लेशदानार्थमेव वरो देय इति
विचार्य संवत्सरं तूष्णीं स्थितः । नन्वग्रेऽपि कथं
न स्थितः तत्राह—आशुतोष इति । स परमदयालुः
अल्पमप्यन्यस्य क्लेशं न सहते, तथाप्यस्याने यत्नं
करोतीति तावद्विलम्बं कृतवान् । ननु तथापि

स्वामीद्रोही उपेक्षणीय एव, किमिति वरो दत्त
इत्याकाङ्क्षायामाह उमापतिरिति । उमापि
तपःकुर्वाणा मया उपेक्षिता, सा पश्चात्तपसा पुष्टा
सती गले पतिता, तथायमपि भविष्यतीति विचार्य
ततो विघ्नार्थमेव वरेण छन्दयामास । वरं
ब्रूहीत्युक्तवान् । ननु तस्य को धर्मः येन वरार्थं
छन्दयामास । तपस्तु नास्त्येव भगवद्वैमुख्यात् ।
नहि नारकिणो रोगिणो वा तपः कुर्वन्ति । किंतु
कर्मानुभव एव तेषां तादृशः तस्मादुपेक्षणीय
एवेत्याशङ्कयामाह—शरणमागतमिति । शरण्यो-
पेक्षादोषभियेति ॥५॥

व्याख्यार्थ—महादेव ने एक वर्ष बाद कहा, कि वर मांग इतना समय महादेव ने विलम्ब
क्यों किया, जिसको स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री कहते हैं, कि महादेव काल के सेवक हैं । काल
संवत्सर रूप है, शाल्व दुष्ट है भगवान् के साथ तो विरोध करता है और हमको प्रार्थना करता है
इस विषय में भगवान् का क्या अभिप्राय है, वर देना चाहिए वा नहीं, इसका पता नहीं पड़ता है,
क्योंकि भगवान् अद्भुत कर्मा हैं, इसलिए ही महादेव एक वर्ष शान्त रहे । जो संवत्सर ही इस
शाल्व को मार दे तो स्वामी हित-कर्ता संवत्सर से ही कार्य सिद्ध हो जाय । जो संवत्सर क्लेश
भुगताने के लिए ही इसको जीवित रखेगा, तो मैं भी क्लेश देने के लिए ही वर दूंगा, यों विचार
कर एक वर्ष पर्यन्त मौन धारण कर बैठे ।

वर्ष के बाद भी क्यों न मौन धारण की ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'आशुतोषः,' यों तो
आप शीघ्र प्रसन्न होने वाले हैं । किसी का स्वल्प भी दुःख सहन नहीं कर सकते हैं परम दयालु हैं,
तो भी, यह शाल्व अयोग्य स्थान पर प्रयत्न करता है इसलिए ही इतना विलम्ब किया है तो भी
यह स्वामि का द्रोह कर रहा है इसलिए इसकी अपेक्षा ही करनी चाहिए थी, क्यों वर दिया ?
इसके उत्तर में कहते हैं कि 'उमापति' मैं उमा का पति हूँ उसने तपस्या की थी तो भी मैंने उसकी
उपेक्षा करदी किन्तु वह (उमा) तपस्या से पुष्ट होकर मेरे गले पड़ी, वैसे ही यह भी होगा, इस
प्रकार विचार कर विघ्न के लिए ही उसको कहा कि वर मांग, इसमें ऐसा कौनसा गुण था ।
अथवा इसने कौनसा ऐसा धर्म किया था जिससे इसको वर से सन्तुष्ट किया ? भगवान् से विमुख

होने के कारण तपस्या तो है ही नहीं जो नारकी व रोगी होवे हैं वे तपस्या तो करते ही नहीं किन्तु उनको वैसा ही कर्म का अनुभव होता है । (होना चाहिए) इस कारण से यह उपेक्षा करने के ही योग्य होना चाहिये इसका उत्तर देते हैं कि 'शरणमागतं' तपस्या आदि कोई गुण इसमें नहीं है किन्तु शरण आया है, शरण आए की उपेक्षा करना दोष है । इस दोष के भय से कहा कि वर मांग ॥५॥

आभास—ततस्तस्यान्तर्यामिणैव बुद्धिनाशो जात इति यत्किञ्चित्प्रार्थयते देवासुरेति

आभासार्थ—पश्चात् उसके अन्तर्यामी ने ही उसकी बुद्धि नाश की जिसमे उसने जो मांगा वह 'देवासुरमनुष्याणां' श्लोक में कहा है ।

श्लोक—देवासुरमनुष्याणां गन्धर्वोरगरक्षसाम् ।

अभेद्यं कामगं वव्रे स यानं वृष्णिभीषणम् ॥६॥

श्लोकार्थ—उसने वर मांगा कि देवता दैत्य मनुष्य गन्धर्व उरग व राक्षस ये जिसको तोड़ न सके और स्वेच्छा से चलने वाला और यादवों को डराने वाला विमान मुझे मिले ॥६॥

सुबोधिनी— देवासुरमनुष्यास्त्रिगुणप्रधानाः । तपुरुषार्थाय न स्यात् । किञ्च । यदर्थस्तु प्रयासः । गन्धर्वोरगराजसाः मिश्रगुणप्रधानाः । एवं षड्भिः । तदर्थं किञ्चिद्याचनीयमिति तस्य यानस्यापरं । सर्व एव सगुणाः परिगृहीताः । तेषां सर्वेषामेवा- धर्मं प्रार्थयते—वृष्णिभीषणमिति । वृष्णीनां भयजनकम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—देव, असुर और मनुष्य इनमें तीन गुण प्रधान हैं और गन्धर्व उरग तथा राक्षस इनमें मिश्र गुण प्रधान है इस प्रकार मांगने से सब सगुण जीव ही कहे इन सबों से टूटे नहीं और मेरी इच्छानुसार चलने वाला और मेरे आधीन हो यदि वैसा नहीं होगा तो समुद्र की भांति मेरा कोई अर्थ सिद्ध नहीं होगा अतः वैसा विमान मांगा जो मेरे सब तरह आधीन हो और उनसे टूटे नहीं अनन्तर और मांगता है कि जिनके लिए इतना कष्ट किया उनके वास्ते कुछ मांगना चाहिए इसलिए इस विमान में अन्य भी गुण होना चाहिए वह गुण यह होवे कि इससे यादवों को भय उत्पन्न हो अर्थात् इसको देखकर वे भयभीत हो जावे ॥६॥

आभास—महादेवोऽपि भगवति न किञ्चिद्बाधकमिति तथेत्यङ्गीकृतवान् वरमात्र- सिद्धो नित्यो भविष्यतीति अनित्यत्वे कृतकत्वं प्रयोजकमिति मयं प्रत्याज्ञां दत्तवानित्याह तथेति ।

आभासार्थ—महादेव ने समझ लिया, कि इसने जो कुछ मांगा है उसमें से कोई भगवान् को बाध करने वाला नहीं है, इसलिए उसका मांगा हुआ वर देना स्वीकार कर लिया केवल वरदान से बना हुआ तो नित्य हो जाएगा अतः यह विमान बना हुआ होना चाहिए क्योंकि, जो बनेगा वह

अनित्य होगा इसलिए महादेव ने मय को विमान बनाने की आज्ञा दी यह 'तथेति' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तथेति गिरिशादिष्टो मयः परपुरंजयः ।

पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात्सौभमयस्मयम् ॥७॥

श्लोकार्थ—'तथास्तु' यों हो, ऐसा कह कर महादेव ने शत्रुओं के पुरों को जीतने वाले मय दैत्य को आज्ञा दी, आजानुसार मय ने लोहे का सौभ नाम पुर बनाकर शाल्व को दिया ॥७॥

सुबोधिनी—गिरिशादिष्ट इति । परपुरंजय इति । शत्रूणां पुरजयशीलः । स हि जानाति पुरं जेयमजेयं च । अतो यथा अजेयं तथा करिष्यतीत्यर्थः । अतस्तादृशं पुरं निर्माय शाल्वाय प्रादात् । तस्य नामस्वरूपे ग्राह सौभमयस्मयमिति । सुष्ठु भा येषां ते सुभाः । तेषां सम्बन्धि पुरं सौभं उत्कृष्टलोहनिमित्तं दृढं भवति ॥७॥

व्याख्यार्थ—शिव की आज्ञा पाकर मय ने पुर (विमान) बनाके शाल्व को दिया । मय दैत्य यह जानता है, कि यह विमान शत्रुओं के पुर को जीत सकेगा अथवा यह नहीं जीत सकेगा, इससे मय ऐसा बनाएगा जो जीता न जाय अतः वैसा अजय पुर बनाकर शाल्व को दिया कैसा और किससे बनाया, इससे नाम स्वरूप का वर्णन करते हैं कि 'सौभमयस्मयम्' जिसका प्रकाश उत्तम है वह सुभाः उनका सम्बन्धी पुर (विमान) 'सौभ' कहलाता है उत्तम लोहे से निर्मित मजबूत था ॥७॥

आभास—ततः कृतार्थो भूत्वा युद्धार्थं द्वारकां समागत इत्याह स लब्ध्वेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार कृतार्थ होके अनन्तर शाल्व युद्ध के लिए द्वारका आया जिसका वर्णन 'स लब्ध्वा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—स लब्ध्वा कामगं यानं तमोधामदुरासदम् ।

ययौ द्वारवतीं शाल्वो वैरं वृष्णिपुत्रं स्मरन् ॥८॥

श्लोकार्थ—अन्धकार का धाम, दुष्प्राप्य, इच्छापूर्वक चलनेवाला विमान पाकर, वह शाल्व यादव कृत वैरका स्मरण करता हुआ द्वारका आया ।

सुबोधिनी—कामगं इच्छामात्रेणैवेष्टदेशप्रापकम् । तमोधाम अन्धकारप्रचुरं तस्मिन्नन्धकार-स्तिष्ठतीति स न दृश्यते । दुरालदं च केनापि प्राप्तुमशक्यम् । एवं प्राप्तदेववरस्य भगवद्विरोध एव फलमिति । द्वारवतीमेव ययौ वृष्णिपुत्रं वैरं रुक्मिणीहरणात्मकं शिशुपालवधात्मकं च पूर्वं दृष्टं श्रुतं च स्मरन् ॥८॥

व्याख्यार्थ—'कामगं' इच्छा करते ही इच्छित देश में पहुँचाने वाला अन्धकार का धाम जिससे वह देखने में न आने वाला कोई भी उसको प्राप्त न सके इस प्रकार के वर प्राप्त करने का

फल भगवान् से विरोध ही है वैसा विमान प्राप्त कर द्वारका आया, मार्ग में यादव कृत वैर रुक्मिणी का हरण एवम् शिशुपाल वध आदि स्मरण करता हुआ द्वारका पहुँचा ॥८॥

आभास—ततो वैरेण यत्कृतवांस्तदाह निरुध्येति ।

आभासार्थ—अनन्तर वैर से जो कुछ किया वह 'निरुध्य' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—निरुध्य सेनया शाल्वो महत्या भरतर्षभ ।

पुरीं बभञ्जोपवनान्युद्यानानि च सर्वशः ॥९॥

श्लोकार्थ—हे भरत श्रेष्ठ ! शाल्व बड़ी सेना ले चारों तरफ से पुरी को घेर बाग और बगीचे तोड़ने लगा ॥९॥

सुबोधिनी—सौभमात्रं तु तस्यवरप्राप्तं सेना | उद्यानोपवनानि सर्वशो बभञ्ज ॥९॥
तु स्वाभाविक्यधिका अतस्तदा या पुरीं निरुध्य

व्याख्यान—उसको वर से तो केवल सौभ विमान प्राप्त हुआ था, सेना तो उसके पास सहज थी और वह भी अधिक थी, अतः तब जिस सेना ने पुरी को घेर कर बाग बगीचे सब तोड़ डाले ॥९॥

आभास—ततो दुर्गमध्येऽप्युपद्रवं कृतवानित्याह सगोपुराणि द्वाराणीति ।

आभासार्थ—पश्चात् दुर्ग के बीच में भी उपद्रव किए जिसका वर्णन 'सगोपुराणि द्वाराणि' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—सगोपुराणि द्वाराणि प्रासादाट्टालतोलिकाः ।

विहारान्सविमानर्ग्यान्निपेतुः शस्त्रवृष्टयः ॥१०॥

श्लोकार्थ—गोपुर, दरवाजे, महल, अटारियाँ व उनकी भीतें तथा क्रीड़ा स्थल आदि को तोड़ने के लिए और मनुष्यों को दुःख देने के लिए शस्त्रों की वर्षा बरसाने लगा ॥१०॥

सुबोधिनी—गोपुरद्वारसहितानि द्वाराण्या-
लक्ष्य शस्त्रवृष्टयो निपेतुरिति संबन्धः । बभञ्जेति
केचित् । प्राकारा अट्टालास्तोलिकाश्च प्राकारस्था
एवैताः तोलिकाश्चिच्छद्रपङ्क्तय यत्र स्थितैः
पाषाणाः क्षिप्यन्ते । प्रतोलिका वा शोभास्था-

नानि । विहारान् विश्रामस्थानानि तानि विवा-
नार्ग्यसहितानि तेषां भञ्जनार्थं तत्र स्थितपुरुषाणां
पीडार्थं वा शस्त्रवृष्टयो निपेतुः । साधारणमेत-
द्युद्धम् ॥१०॥

व्याख्यान—(सेना के लोग) बाहर के बड़े द्वार सहित द्वारों को लक्ष्य कर शस्त्र-वृष्टि करने

लगे, कितने कहते हैं तोड़ने लगे, महल अटारियाँ और महलों में जो भीतों में छिद्र आदि थे उन स्थानों पर जहाँ खड़े थे वहाँ से ही पत्थर फेंकने लगे प्रतोनिका पद का भावार्थ है शोभा के स्थान जहाँ जाली की तरह तरह के छिद्र बने (निकले) हों और विश्राम के स्थान इन सबों को तोड़ने के लिए वहाँ से पाषाण फेंकते थे तथा स्थित पुरुषों को पीड़ा देने के लिए शस्त्रों की वर्षा करने लगे यह तो साधारण युद्ध है ॥१०॥

आभास—दैत्ययुद्धमाह शिला द्रुमा इति ।

आभासार्थ—‘शिला द्रुमा’ श्लोक से दैत्य युद्ध का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—शिलाद्रुमाश्चाशनयः सर्पाः प्रासारशर्कराः ।

प्रचण्डश्चक्रवातोभूद्रजसाच्छादिता दिशः ॥११॥

श्लोकार्थ—शिला, वृक्ष, बिजली, सर्प और कांकड़ी आदि बरसने लगे तेज बोंडर उठने लगे रज से दिशायेँ छा गई ॥११॥

सुबोधिनी—पाषाणा वृक्षाश्च वहिस्तपाटिताः
अन्तः पक्षिणाः अशनयोऽपि तस्य वरप्राप्त्या
आसुरमायया अशनयोऽपि तदधीनाः तथा सर्पाश्च
प्रासारशर्कराः प्रकृत्य आसाररूपाः शर्कराः
सूक्ष्मपाषाणवृष्टि कृतवन्तः, शिला द्रुमास्तामसाः
अशनयः सात्विकाः सर्पप्रासारशर्करा राजसाः ।

एवं त्रैविध्येन सर्व एव प्रकार उक्तः । ततः
कृत्रिममाह—प्रचण्डश्चक्रवातोभूदिति । भ्रमं जन-
यतीति भिन्नतया च निरूपितम् । चक्रवातो वात्या
रजसा रेणुसमूहेन दिशः आच्छादिताः । एवं
प्राकारतन्मध्यस्थिताना क्रियाविधातकं ज्ञान-
विधातकं च कृतवन्त इत्यर्थः ॥११॥

व्याख्यार्थ—नगर के बाहर के बाग से पाषाण और वृक्ष उखाड़ कर अन्दर नगर के भीतर फेंकने थे बिजलियाँ भी अन्दर-फेंकते थे वर प्राप्ति से एवम् असुर माया से बिजलियाँ भी उसके आधीन थीं, वैसे सर्प और छोटी कांकड़ी तथा छोटे र पत्थरों की वर्षा करने लगे । पाषाण और वृक्ष तामस हैं बिजली सात्विक है सर्प और कांकड़ियाँ राजस हैं यों तीन प्रकार कहने से सब प्रकार कह दिये हैं, पीछे कृत्रिम कहते हैं कि ‘प्रचण्डश्चक्रवातोभूत’ यह भ्रम पैदा करने वाला है अतः पृथक् कहा है, धूलि मिश्रित वायु से दिशायेँ छा गई इस प्रकार महलों में और उनके मध्य भागों में रहने वालों के क्रिया के नाश का तथा ज्ञान के नाश का कार्य किया ॥११॥

आभास—तेषामुपद्रवेण जातं फलमाह इत्यर्द्यमानेति ।

आभासार्थ—उनके उपद्रव से जो फल निकला वह ‘इत्यर्द्यमाना’ श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—इत्यर्द्यमाना सौभेन कृष्णस्य नगरी भृशम् ।

नाभ्यपद्यत शं राजंस्त्रिपुरेण यथामही ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! इस प्रकार अधम सौभ से बहुत पीड़ित श्रीकृष्ण की

पुरी जैसे त्रिपुरासुर से पृथ्वी दुःखी हुई वैसे ही दुःखी यह पुरी भी दुःखी हुई कहीं भी सुख न रहा ।

सुबोधिनी—सौभेनाधमेन पीड्यमाना अत-
दर्हायतः कृष्णनगरी अतिसुकुमारी शं नाभ्य-
पद्यत निरोधत्वात् न भक्तिमार्गविरुद्धं वर्णनम् ।

राजन्निति विश्वासार्थम् । पीडाया इयतां वक्तुं
दृष्टान्तमाह त्रिपुरेण यथा महोति ॥१२॥

व्याख्यार्थ—श्रीकृष्ण की बहुत बमल नगरी पीड़ा के योग्य नहीं थी । तो भी अधम सौभ ने उसको पीड़ित किया, जिससे उसको सुख नहीं हुआ । निरोध होने से यह वर्णन भक्ति मार्ग के विरुद्ध नहीं है । हे राजन् ! यह सम्बोधन विश्वास के लिए है, कितनी, कैसी पीड़ा हुई उसकी सीमा का दृष्टान्त द्वारा वर्णन करते हैं कि 'त्रिपुरेण यथा मही' त्रिपुरासुर ने जैसे पृथ्वी को दुःखी किया वैसे ही शास्त्र ने श्रीकृष्ण की पुरी को पीड़ित किया ॥१२॥

आभास—एवं महादेवप्रीत्यर्थं तस्योत्कर्षमुवत्वा सर्वथा भग्नोपाय एवं भगवत्परो
भवतीति उपायान्तरं दूरीकर्तुं प्रद्युम्नादीनां रक्षार्थं युद्धमाह प्रद्युम्नेति ।

आभासार्थ—महादेव के प्रसन्नतार्थ उसका उत्कर्ष कह कर अब दिखाते हैं जिसके सर्व उपाय निकम्मे हो जाते हैं वह ही भगवत्परायण होता है, इसलिए दूसरे उपाय को हटाने के लिए 'प्रद्युम्नो' श्लोक में प्रद्युम्नादिकों ने रक्षा करने के लिए युद्ध किया जिसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—प्रद्युम्नो भगवान्तवीक्ष्य बाध्यमाना निजाः प्रजाः ।

मा भैष्टेत्यभ्ययाद्वीरो रथारूढो महायशः ॥१३॥

श्लोकार्थ—भगवान् प्रद्युम्न अपनी प्रजा को पीड़ित देख कर बोले कि तुम मत डरो, बाद में महान् यशस्वी वीर रथ में बैठ निकट आ गये ॥१३॥

सुबोधिनी—तस्य प्रथमतो गमने हेतुर्भगवा-
निति । भगवत्त्वात्स्वरूपज्ञानमुपायज्ञानं च निजाः
प्रजा इति रक्षाभिनिवेशार्थमुक्तम् । आदौ मनसा

रक्षां विचारितवान् । ततो वचनेनाप्याह मा
भैष्टेत्यभयात् मुखतो मा भैष्टेत्युक्त्वा पश्चाद्रथेन
युद्धदेशमभ्ययात् इत्यर्थः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—सबसे पहले युद्ध में प्रद्युम्न के जाने का कारण यह है, कि प्रद्युम्न भगवान् है अतः उनको सौभ के स्वरूप का पूर्ण ज्ञान था, कि यह कौन है किस तरह इसका नाश होगा ? इन्होंने देखा कि जो प्रजा पीड़ित हो रही है वह अपनी है इसको पीड़ा से रक्षा करनी चाहिए ऐसी पहले मनमें इच्छा हुई अनन्तर उसका वाणी से प्रकाश करते हुए कहा कि डरो मत, बाद में रथ में बैठ कर युद्ध के स्थान पर पहुँच गए ॥१३॥

श्लोक—सात्यकिश्चारुदेष्णश्च साभ्रजोऽक्रूरः सहानुजः ।

हार्दिक्यो भानुदिन्दश्च गदश्च शुकसारणी ॥१४॥

श्लोकार्थ—सात्यकि और चारुदेष्ण तथा साम्ब और भ्राताग्रों के साथ अक्रूर हादिक्य और भानुविन्द, गद, शुक और सारण ॥१४॥

सुबोधिनी—तथा सात्यकिरपि चारुदेष्णः । यादवाः गदादयो भ्रातरः । शुकसारणौ दूतौ परं प्रद्युम्नभ्राता, अक्रूरो भ्रातृसहितः हादिक्यादयो । भ्रातरौ ॥१४॥

व्याख्यार्थ—सात्यकि, प्रद्युम्न का भ्राता चारुदेष्ण, भ्राताग्रों के साथ अक्रूर, हादिक्य आदि यादव गद आदि भाई शुक और सारण दूत थे परन्तु श्रीकृष्ण के भाई थे ॥१४॥

श्लोक—अपरे च महेष्वासा रथयूथपयूथपाः ।

निर्ययुर्दशिता गुप्ता रथेभाश्चपदातिभिः ॥१५॥

श्लोकार्थ—ऊपर १४वें श्लोक में कहे हुए योद्धों के सिवाय जो और थे उनका वर्णन करते हुए कहते हैं कि दूसरे, बड़े धनुषों को धारण करने वाले, यादव भी और रथों की सेना की रक्षा करने वालों के भी सेनापति कवच धारण कर रथ, हस्ती, घोड़े और सैनिकों से रक्षित हो बाहर निकले ॥१५॥

सुबोधिनी—अपरे च यादवाः महेष्वासाः । धनुर्वरा रथयूथपानामपि यूथपाः दशिताः रथादिभिर्वेष्टिता निर्ययुः । फलप्रकरणत्वाल्लौकिकी भाषा फलं सर्वत्रानुभवसिद्धत्वाल्लौकिकमेव । अतः स्वतो महान्तः साधनसहिता युद्धार्थं निर्गता इति । स्वतः प्रतीकारार्थं प्रवृत्तिः तद्भगवान् दूरीकरिष्यति । लौकिकी भाषेयमिति न पूर्वविरोधः । बलभद्रो विद्यमानोऽपि महादेवप्रेरितोऽयमित्युपेक्षित इति केचित् क्वचिदन्यत्र गत इति च ॥१५॥

व्याख्यार्थ—और दूसरे धनुर्धारी यादव, रथों की सेना के रक्षकों के भी सेनापति कवच धारण कर रथ आदि से घिरे हुए बाहर निकले, फल प्रकरण होने से लौकिकी भाषा है, फल सर्वत्र अनुभव से सिद्ध होने के कारण लौकिक ही है इसलिए आप ही साधन लेकर युद्ध करने के वास्ते बाहर निकले यों स्वतः ही प्रतिकार के लिए प्रवृत्ति हुई उसको भगवान् रोकेंगे, यह लौकिकी भाषा होने से जो प्रथम कहे हैं उनसे विरोध नहीं है । बलदेवजी द्वारका में विराजते थे तो भी उनसे इस सौभ की उपेक्षा की क्योंकि इसको महादेव से प्रेरणा मिली है । यों समझ उनसे इसकी उपेक्षा (परवाह) नहीं की, कितने ही यों कहते हैं, कि वे कहीं अन्यत्र गये थे ॥१५॥

आभास—तत उभयोः शूरत्वख्यापनाय युद्धं वर्णयति ततः प्रवृत्ते युद्धमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् दोनों की वीरता प्रसिद्ध करने के लिए युद्ध का वर्णन 'ततः प्रवृत्ते' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—ततः प्रवृत्ते युद्धं शाल्वानां यदुभिः सह ।

यथासुराणां विबुधैस्तुमुलं लोमहर्षणम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—वाद में जैसे असुरों का देवों से रोमांच करनेवाला महान् संग्राम हुआ वैसे ही शाल्वों का यादवों के साथ घोर युद्ध हुआ ॥१६॥

सुबोधिनी—शाल्वानामिति बहुवचनं प्राण-भृन्न्यायेन प्रधानव्यपदेशन्यायेन वा । उभयेषां युद्धे दाढ्यर्चा माह यथासुराणां विबुधैरिति । असुर-
राणां यथा देवैस्तुमुलमधिकं लोमहर्षणं प्रचण्ड-
प्रहारयुक्तम् । यस्मिन् श्रुते रोमाञ्चो भवति ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—‘शाल्वानां’ शाल्व एक है फिर बहुवचन क्यों कहा, जिसका भावार्थ समझाते हैं कि दो न्याय होते हैं, एक प्राणभृत न्याय दूसरा प्रधान व्यपदेश न्याय । बल के पोषक प्राण बहुवचन में दिया जाता है, इसी मुख्य पुरुष का नाम भी आदरार्थ बहुवचन में दिया जाता है अतः शाल्व को बहुवचन में कहा है, दोनों तरफवालों की युद्ध में दृढता कहते हैं, जैसे असुरों का देवों से महान् संग्राम हुआ जिससे रोमांच खड़े हो जाते थे वैसे ही इनकी भी भारी लड़ाई होने लगी ॥१६॥

आभास—ततो मायया तैर्या विभीषिका प्रदर्शिता तां प्रद्युम्नो निवारितवानित्याह ताश्च सौभपतेर्माया इति ।

आभासार्थ—उन्होंने माया से जो भय दिखाया उसको प्रद्युम्न ने निराकरण कर दिया जिसका वर्णन ‘ताश्च सौभपते’ श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—ताश्च सौभपतेर्माया दिव्यास्त्रै रुक्मिणीसुतः ।

क्षणेन नाशयामास नैशं तम इवोष्णगुः ॥१७॥

श्लोकार्थ—जैसे सूर्य रात्रि के अन्धकार को क्षण मात्र में नाश कर देता है वैसे ही रुक्मिणी के पुत्र प्रद्युम्न ने दिव्य अस्त्रों से क्षण में सौभपति की माया को नाश किया ॥१७॥

सुबोधिनी—दिव्यास्त्रैराग्नेयादिभिः नारायणास्त्रेण पाशुपतेन वा मूले छेदमकृत्वा अर्ध-प्राकृतबुद्ध्या युद्धं करोतीति अपरितोषेणाऽऽह रुक्मिणीसुत इति । यदर्थं कृतवान् तज्जातमित्याह
क्षणेन नाशयामासेति । नैशं तमो रात्रेः संबन्ध्य-
न्धकारः सूर्यस्य सहजनिराकार्यः । तेन निराया-
सेन निराकरणमुक्तम् ॥१७॥

व्याख्यानार्थ—दिव्य अस्त्र, आग्नेय, नारायण और पाशुपत आदि हैं इनमें से किसी से भी मूल में छेदन करने से पहले लौकिक युद्ध करते थे, किन्तु, इससे सन्तोष न हुआ क्योंकि ‘रुक्मिणी-सुत’ रुक्मिणी के पुत्र हैं वे इतना विलम्ब सह न सके अतः जैसे सूर्य क्षण में रात्रि के अन्धकार को मिटा देता है वैसे ही इसने भी क्षण में सौभपति की माया को बिना परिश्रम के नाश कर दिया ॥१७॥

आभास—ततो विशेषयुद्धमाह विव्याध पञ्चविंशत्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् विशेष युद्ध का ‘विव्याध’ श्लोक से वर्णन करते हैं:-

श्लोक—विव्याध पञ्चविंशत्या स्वर्णपुङ्खैरयोमुखैः ।

शाल्वस्य ध्वजिनीपालं शरैः सन्नतपर्वभिः ॥१८॥

श्लोकार्थ—शाल्व के सेनापति को, सुवर्ण के पंख वाले, लोहे के फल वाले और छोटी छोटी सन्धि वाले पच्चीस बाणों से वेधा ॥१८॥

सुबोधिनी—पञ्चविंशतितत्त्वात्मकाः सर्वे प्रत्यञ्चातः शीघ्रनिर्गमनार्थ । अयोमुखैरिति सर्वभावेन विद्धा इति ज्ञापयितुं शाल्वस्य ध्वजिनीपालं सेनापति शरैर्विव्याध । सुवर्णपुङ्खैरिति उत्तमवेधार्थ । मध्ये शराः सन्नतपर्वणः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—शाल्व के सेनापति को पच्चीस बाणों से वेधा, पच्चीस बाणों से वेधने का भावार्थ यह था, कि पच्चीस तत्त्वात्मक वे सब शाल्व थे उन सबको सर्वभाव से वेधना था, जिन बाणों से वेधा उन बाणों के सोने के पंख थे, क्योंकि सोने के पंखों के कारण वे बाण प्रत्यञ्चा से शीघ्र निकल आते थे, लोहे के फल वाले होने से उत्तम प्रकार से शत्रु को वीध सकते थे, बाण बीच में छोटी २ गाँठ वाले थे ॥१८॥

श्लोक—शतेनाताडयच्छाल्वेकैकेनास्य सैनिकान् ।

दशभिर्दशभिर्नेतृन्वाहनानि त्रिभिस्त्रिभिः ॥१९॥

श्लोकार्थ—शाल्व पर एक सौ बाण, उसके प्रत्येक सैनिक को एक एक बाण, सारथियों को दश दश बाण, वाहनों को तीन तीन बाण लगाए ॥१९॥

सुबोधिनी—ततः शतेन शाल्वमताडयत् । स्त्रिभिस्त्रिभिः ॥१९॥
एकैकेन चास्य सैनिकान् दशभिः सारथीन् अश्वा-

व्याख्यार्थ—पश्चात् एक सौ बाणों से शाल्व पर प्रहार किया, एक एक बाण से प्रत्येक सैनिक पर दश दश बाणों से, सारथियों पर तीन तीन बाणों से घोड़ों पर प्रहार किया ॥१९॥

आभास—एवमेकेन सर्वेषां प्रहारः अत्याश्चर्यत्वात् शत्रुभिरपि स्तुत इत्याह तत्तस्येति ।

आभासार्थ—इस प्रकार एक ने सर्व पर प्रहार किया यह अति आश्चर्य कारक होने से शत्रुओं ने भी इसकी स्तुति की जिसका वर्णन 'तत्तस्य' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक तत्तस्य चाद्भुतं कर्म प्रद्युम्नस्य महात्मनः ।

दृष्ट्वा तं पूजयामासुः सर्वे स्वपरसैनिकाः ॥२०॥

श्लोकार्थ—महात्मा प्रद्युम्न का यह अद्भुत कर्म देख कर अपनी और शत्रु की सेना के सब सैनिक उनकी स्तुति (प्रशंसा) करने लगे ।

सुबोधिनी—अद्भुतमाश्चर्यकरं मन्त्रसामर्थ्या- | इति । स्वयमेव महानुभावः । अत एवाश्चर्यम् ।
त्पितृसामर्थ्याद्वा एतदिति पक्षं वारयति महात्मनः | स्वस्य परस्य शत्रोश्च सैनिकाः ॥२०॥

व्याख्यानार्थः—प्रद्युम्न का यह कर्म अद्भुत, अर्थात् आश्चर्य कारक था । प्रद्युम्न ने यह आश्चर्य जैसा कार्य मन्त्र शक्ति से अथवा पितृ शक्ति से किया होगा जिसके लिये कहते हैं कि वे स्वयं महान् आत्मा हैं जिससे अपनी ही शक्ति से किया है, इसलिए ही आश्चर्य है । अतः ऐसा आश्चर्य कारक चरित्र देख कर अपनी सेना और शत्रु की सेना के सैनिकों ने स्तुति (प्रशंसा) की ॥२०॥

आभास—ततः शाल्वः स्वयं युद्धं करिष्यतीति वक्तुं तस्य स्वरूपमाह बहुरूपैक-
रूपमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् शाल्व स्वयं युद्ध करेगा यों कहने के लिये उसके स्वरूप का वर्णन 'बहुरूपैक' श्लोक से करते हैं ।

श्लोक—बहुरूपैकरूपं तद्दृश्यते न च दृश्यते ।

मायामयं मयकृतं दुर्विभाव्यं परैरभूत ॥२१॥

श्लोकार्थ—मय का बनाया हुआ यह मायामय विमान कभी तो अनेक रूप देखने में आता कभी एक रूप देखने में आता है तो कभी लोप हो जाता है इस कारण से शत्रुओं से भी अतर्क्य हुआ है ॥२१॥

सुबोधिनी—कदाचिद्बहुरूपं अनेकरूपं दृश्यते | यास्यतीत्यत आह मयकृतमिति । तर्ह्यन्यैस्तादृशैः
कदाचिदेकरूपं कदाचिद् दृश्यते कदाचिन्न दृश्यते | सूक्ष्मेक्षिकया तन्नाशोपायो ज्ञातो भविष्यतीत्या-
इति प्रमाणप्रमेययोरपि विलक्षण्यमुक्तम् । तत्र शङ्क्याह परैरन्यदुर्विभाव्यं तर्कितुमशक्यमभू-
हेतुः मायामयमिति । तर्हि दिव्यास्त्रेण नाशं दित्यर्थः ॥२१॥

व्याख्यानार्थ—वह विमान कभी अनेक रूप दृष्टि गोचर होता था, कभी एक रूप हो जाता कभी लुप्त हो जाता, इससे प्रमाण और प्रमेय को विलक्षणता बताई है, इसमें कारण कि वह विमान माया मय है तब तो दिव्यास्त्र से नाश होगा इसलिए कहा है कि मय का बनाया हुआ है ।

तब इनके समान दूसरे इसके नाश का उपाय सूक्ष्म दृष्टि से जाना होगा इसके उत्तर में कहते हैं कि दूसरे तो इसका विचार भी नहीं कर सकते हैं ॥२१॥

आभास—तस्य देशोऽपि दुर्लक्ष्य इत्याह क्वचिद्भूमाविति ।

आभासार्थ—उसका स्थान भी जानने में नहीं आता था । यह 'क्वचिद्भूमौ' श्लोक में बताते हैं

श्लोक—क्वचिद्भूमौ क्वचिन्द्योमिनि गिरिमूर्धनि जले क्वचित् ।

अलातचक्रवद्भ्राम्यत्सौभं तद्दुरवस्थितम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—वह विमान कभी तो पृथ्वी पर, कभी आकाश में, कभी पर्वत के शिखर पर और कभी जल में अलात चक्र के समान भ्रमण कर रहा था, जिससे उसकी व्यवस्था का ठिकाना लगाना बहुत कठिन हो गया ॥२२॥

सुबोधिनी—लक्ष्यं दृष्ट्वा पश्चाच्छस्त्रप्रयोगः । तत् रिथरे चरे च भवति । चरे च लक्ष्यभूमि ज्ञातुं शक्या भवति । अस्य तु सर्वमेवाशङ्क्यमिति क्षणमात्रव्यवधानेऽपि विरुद्धदेशान् दर्शयति आकाशभूमयोरतिव्यवधानम् । एवं गिरिमस्तक-जलयोरपि अलातचक्र-वद्भ्राम्यच्च भवति तेना-

विद्यमानस्थलेऽपि दृश्यत इति, तन्निराकरणार्थं न शस्त्रप्रयोगः कर्तुं शक्यः । केनचिन्मन्त्रादिना तथात्वे तत्प्रतिकारेण प्रतिकर्तव्य इति शङ्कां वारयति तत्सौभ स्वभावत एव दुरवस्थितमिति ॥२२॥

व्याख्यार्थ—निशान देख कर बाद में शस्त्र का प्रयोग किया जाता है, वह निशान स्थिर चाहे चर हो, चर में निशान की भूमि जानी जा सकती है । इसका तो सब अशक्य है क्योंकि क्षण मात्र में विरुद्ध देशों में पहुँच जाता है जैसे आकाश और भूमि में बहुत अन्तराय है । इसी तरह पर्वत के शिखर और जल के बीच में विशेष अन्तराय है फिर वह अलात चक्र की भाँति फिरता है जिससे जहाँ नहीं है वहाँ भी देखने में आता है वैसे के निराकरणार्थ शस्त्र का प्रयोग करना भी अशक्य है, यदि यों है तो, किसी मंत्र आदि से इसका विनाश हो सकता हो तो उसके प्रतिकार से इसका नाश करना चाहिए, इस पर कहते हैं कि वह सौभ स्वभाव से ही अस्थिर है ॥२२॥

आभास—एवं माहात्म्यमुक्त्वा तादृशमपि यादवैः निराक्रियत इत्याह यत्र यत्रेति ।

आभासार्थ—इसी तरह सौभ का माहात्म्य कह कर 'यत्र यत्र' श्लोक से कहते हैं कि ऐसे का भी नाश यादव कर सकते हैं

श्लोक—यत्र यत्रोपलक्ष्येत ससौभः सहसैनिकः ।

शाल्वस्ततस्ततोमुञ्चन् शरान्सात्वतयूथपाः ॥२३॥

श्लोकार्थ—सौभ और सैनिकों सहित शाल्व जहाँ भी दिखता, वहाँ यादवों के सेनापति बाणों को फेंकते थे ।

सुबोधिनी—उपलक्षणविधयापि यत्र प्रती-
येत ससौभः सशाल्वः सैनिकसहितश्च ततः
सात्वतयूथपाः शरानमुञ्चन् । तत इति तस्माद्-

शाच्छाल्वस्य गमनं सूचयति । अन्यथा तत्र तत्रेत्युक्तं स्यात् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—उपलक्षण विधी से भी, वह शाल्व, सौभ विमान और अपने सैनिकों के साथ जहाँ भी देखने में आ जाता तो वहाँ यादवों के सेनापति बाणों को फेंकते थे, 'ततः' शब्द से यह सूचित होता है कि जहाँ बाण फेंकते उस स्थान से शाल्व दूसरे स्थान पर चला जाता, यदि वहाँ होते तो ततः न कहकर तत्र तत्र यों कहते थे ॥२३॥

आभास—एवं सर्वतः शरप्रक्षेपे सूक्ष्मोपि गन्तव्यदेशो रुद्ध इति सौभं सैनिकाश्च शाल्वस्य पीडिता जाता इत्याह शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शोरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सर्वत्र बाणों के फेंकने से सुक्ष्म स्थल भी बाणों से व्याप्त हो जाता जिससे शाल्व के सौभ सहित सैनिक पीड़ित हुए जिसका वर्णन 'शरैरग्न्य' श्लोक से करते हैं

श्लोक—शरैरग्न्यर्कसंस्पर्शोऽशशोविषदुरासदैः ।

पाठ्यमानपुरानीकः शाल्वोऽमुह्यत्परेरितैः ॥२४॥

श्लोकार्थ—अग्नि और सूर्य के समान स्पर्श वाले सर्प जैसे दुःसह, शत्रुओं के चलाये हुए तीरों से जब उसके सैनिक पीड़ायमान हुए तब शाल्व घबरा गया ॥२४॥

सुबोधिनी—स्पर्शे अग्न्यर्कभ्यां तुल्यता । पर्य-
वसाने आशोविषतुल्यता । अत एव दुरासदैः
अप्रतीकार्यैः शरैः पाठ्यमानं पुरमनीकाः सैनिकाश्च यस्य एतादृशः शाल्वः अमुह्यत् । तहि
पलायनं तेषां प्रार्थना वा कर्तव्येति तत्राह परे-
रितैः । शत्रुप्रेरिता एते बाणाः अतः शत्रूजयो
मरणं वा उपायः नान्य इति मोहं प्राप्तवान्
॥२४॥

व्याख्यानार्थ—वे तीर ऐसे थे जिनका स्पर्श अग्नि व सूर्य के समान था । परिणाम में सर्पों के समान थे, अर्थात् जैसे सर्प नाश कर देते हैं वैसे ही ये भी नष्ट करने वाले हैं, फिर इनसे प्राप्त फल को रोकने का कोई उपाय भी नहीं है, ऐसे शरों से शाल्व के सौभ और सैनिक पीड़ित होने लगे, जिससे शाल्व घबरा गया ।

ऐसी दशा में वहाँ से भाग जाना अथवा उनको प्रार्थना करनी चाहिए, इसका उत्तर देते हैं कि ये बाण शत्रुओं के फेंके हुए हैं, उनसे मरना अथवा शत्रुओं पर विजय पाना ही उपाय है अन्य नहीं इसलिए ही शाल्व मोह को प्राप्त हुआ अर्थात् घबरा गया ॥२४॥

आभास—एवं यादवानां पौरुषमुक्त्वा शाल्वस्य सैनिकानामपि पौरुषमाह तुल्यत्वाय शाल्वानीकपशस्त्रौघैरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार यादवों के पुरुषार्थ का वर्णन कर अब शाल्व के सैनिकों की भी उनसे समानता दिखाने के लिए उनका पौरुष 'शाल्वानीकपशस्त्रौघैः' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—शाल्वानीकपशस्त्रौघैर्वृष्णिवीरा भृशादिताः ।

न तत्पञ्च रणं स्वं स्वं लोकद्वयजिगीषवः ॥२५॥

श्लोकार्थ—शाल्व के सेनापतियों के शस्त्र समूहों से यादवों के वीर बहुत पीड़ित हुए तो भी अपने रण स्थान का त्याग नहीं किया क्योंकि उनको दोनों लोकों को

जीतने की इच्छा थी ॥२५॥

सुबोधिनी—शात्वस्याप्यनीपकाः सेनारक्षकाः । लोकद्वयजिगीषव इति । जये मरणे वा इहलोकीतिः परलोके स्वर्ग इति अतो लोकद्वयजयार्थपरित्यागः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि यादव वीर, शात्व के सेनापतियों के शस्त्र समूहों से पीड़ित हुवे तो अपने २ युद्ध स्थान से हटे नहीं वहां ही डटे रहे, इससे यों समझा जाता है कि प्रत्येक के युद्ध स्थान निश्चित था वहां ही हर एक लड़ते रहे, पीड़ित होते हुए भी स्थान न छोड़ने का कारण था की यादवों को दोनों लोकों को जीतने की इच्छा थी, अर्थात् जीत होगी तो इस लोक में २ होगा और युद्ध में मरने पर परलोक में स्वर्ग प्राप्ति होगी, इस प्रकार हम दोनों लोक जीत लेंगे ।

आभास—एवं साधारणयुद्धमुक्त्वा प्रधानयुद्धमाह शाल्वामात्य इति ।

आभासार्थ—यों साधारण युद्ध कह कर अब 'शाल्वामात्य' श्लोक से मुख्य युद्ध कहते हैं ।

श्लोक—शाल्वामात्यो द्युमान्नाम प्रद्युम्नं प्राक् प्रपीडितः ।

आसाद्य गदया मौर्व्या व्याहत्य व्यनदद्वली ॥२६॥

श्लोकार्थ—पहले प्रद्युम्न से पीड़ित द्युमान नाम वाले शात्व के बली अमाने लोहे की गदा से, प्रद्युम्न पर प्रहार कर गर्जना की ।

सुबोधिनी—अमात्यो मुख्यमन्त्री शात्वतुल्यः । ताम्ना द्युमान् कान्तियुक्तश्च पूर्व प्रद्युम्नात्पीडितः । मिति । यतो बली गदायां बलं प्रधानं तेन मत्पीडा जातेति सूचितम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—'अमात्य' अर्थात् मुख्य मन्त्री जो शात्व के समान था । जिसका नाम द्युमान था कान्तिवाला था । पहले प्रद्युम्न से पीड़ित होता हुआ निकट आकर, काले लोहे से बनी अमूज नाम घास से बन्धी हुई गदा से प्रद्युम्न पर प्रहार किया, बाद में गर्जना की कि मैंने प्रद्युम्न जीत लिया, जीत लिया' क्योंकि बलवान् था । गदा युद्ध में बल ही प्रधान है उससे प्रद्युम्न विशेष पीड़ा हुई । यह सूचित किया ॥२६॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह तं द्युमदिति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ यह 'तं द्युमद्गदया' श्लोक में कहते हैं

श्लोक—तं द्युमद्गदया शीर्णवक्षस्थलमरिदमम् ।

अपोवाह रणात्सूतो धर्मविहारुकात्मजः ॥२७॥

श्लोकार्थ—शत्रु को दमन करने वाले उसका (प्रद्युम्न का) गदा से वक्षःस्थल विदारित हो गया तब धर्म जानने वाला दारुक का पुत्र सूत उसको युद्ध भूमि से दूर ले गया ॥२७॥

सुबोधिनी—शरीरस्यैव महती पीडा जाता । यः कश्चनात्रापकर्षः स सर्वोऽपि महादेवसन्माननार्थः । द्युमतः प्रसिद्धस्य गदया शीर्षं वक्षस्थलं यस्येति । स्वभावतोऽप्यप्रयोजकत्वं वारयति

अरिदममिति । तदा रणस्थानात् तस्य सूतः अपोवाह दूरे नीतवान् । सोऽपि शत्रुपक्षपातीति शङ्काव्युदासार्थमाह दारुकात्मज इति । तस्य भयान्नयनं वारयति धर्मविदिति ॥२७॥

व्याख्यार्थ—प्रद्युम्न के शरीर को ही विशेष पीड़ा हुई, जो कुछ यहाँ प्रद्युम्न का अनादर है वह सब महादेवजी के सन्मान के लिए ही है। प्रसिद्ध द्युमान की गदा से जिसका वक्षस्थल विदीर्ण हो गया है, किन्तु वह (प्रद्युम्न) स्वभाव से दृढ़ था यह 'अरिदम' विशेषण से सूचित किया है, उस समय उसका 'सूत'^२ उसको युद्ध स्थान से दूर ले गया, दूर ले जाने से शत्रु का पक्षपाती दीखता है ऐसी शंका का निवारण 'दारुकात्मज' और धर्म वित्त' दो विशेषणों से करते हैं, दारुक का पुत्र था इसलिए शत्रु पक्ष वाला नहीं था । यह स्पष्ट किया है और उसको भय से ले गया यों भी नहीं है किन्तु धर्म को जानने वाला था इसलिए ले गया था, क्योंकि शास्त्र में कहा है कि मारथी ऐसी हालत में दूर ले जावे ॥२७॥

आभास—ततः किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह लब्धसंज्ञो मुहूर्तेनेति ।

आभासार्थ—अनन्तर क्या हुआ यह 'लब्धसंज्ञो' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—लब्धसंज्ञो मुहूर्तेन कार्ष्णिः सारथिमब्रवीत् ।

अहो असाध्विदं सूत यद्रणान्मेऽपसर्पणम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—दो घड़ी के अनन्तर प्रद्युम्न सचेत हुआ तब सारथी को कहने लगा कि हे सूत तुमने अच्छा कार्य नहीं किया, जो मुझे रणभूमि से यहाँ दूर ले आया ॥२८॥

सुबोधिनी—मुहूर्तमात्रं मूर्च्छितः प्रद्युम्नस्य रुक्मिणीपुत्रत्वात् मातुलादिपक्षपाताद्वा । ततो भगवदनुग्रहात् मुहूर्तान्तरं लब्धसंज्ञः यतः कार्ष्णिः कृष्णपुत्रः अग्रे सारथिं दृष्ट्वा अनभिप्रेतं

पलायनमिति बोधयन्नब्रवीत् । अहो इति तस्य तिरस्कारवचनम् । इयं ममापसर्पणं अत्यन्तमसाधु सर्वत्र निन्दितम् । सूतेति संबोधनं परिज्ञानार्थम् ॥२८॥

व्याख्यार्थ—प्रद्युम्न दो घड़ी मूर्च्छित रहे बाद में सचेत हो गए क्योंकि एक तो रुक्मिणी के पुत्र थे और मामे आदि के पक्षपाती थे इस कारण से भगवान् का अनुग्रह हुआ जिससे दो घड़ी ही मूर्च्छा हुई । साथ में कृष्ण के पुत्र थे, सचेत होते ही अपने आगे सूत को देखा, रण से भाग आना

पसन्द न होने से सारथी को कहने लगे कि 'अहो' यह शब्द तिरस्कार सूचक है । रण से मुझे दूर ले आना बहुत बुरा है कारण कि इससे सर्वत्र निन्दा होगी सूत ! यह सम्बोधन इस वास्ते दिया है कि तुम इस बात को जानते हो ॥२८॥

आभास—ननु लोके पलायमाना अपि शूरा दृश्यन्ते तत्राह न यदुनां कुले जात इति ।

आभासार्थ—लोक में देखा जाता है कि शूरवीर भी रण से भाग जाते हैं । इसके उत्तर में कहते हैं कि 'न यदुनां कुले जातः' ऐसा यादवों के कुल में नहीं हुआ है ।

श्लोक—न यदूनां कुले जातः श्रूयते रणविच्युतः ।

विना मां क्लीबचित्तेन सूतेन प्राप्तकल्मषात् ॥२९॥

श्लोकार्थ—आज तक यादवों के कुल में ऐसा कोई नहीं हुआ है जो रण से भाग आया हो केवल मैं ही ऐसा कायर चित्त हुआ हूँ । यह कलङ्क सूत ने ही मुझे लगाया है ॥२९॥

सुबोधिनी—रणविच्युत इति । रणस्थानाद-पराशरणं न श्रुतपूर्वं मरणं वा जयो वेति न तृतीय-पक्षः । नन्वद्य चेज्जातः तदापि व्याप्तिर्भग्नैवेत्या-शङ्क्याह विना मां क्लीबचित्तेन सूतेनेति । अह-

मेवैकः सोऽपि सूतेन तथा जातः सूतोपि अद्यैव तथा जातः क्लीबचित्त इति । अतः प्राप्तकल्मषोऽहम् ॥२९॥

व्याख्यार्थ—यदुकुल का कोई पुरुष कोई युद्ध भूमि से भाग आया था यह आगे कभी नहीं सुना है । युद्ध में मर जाना अथवा विजय प्राप्त करना, तीसरा पक्ष ही नहीं । यदि आज भी हुआ तो यह व्याप्ति भी नष्ट हुई इस शका का उत्तर देते हैं कि कायर चित्त मैं ही अकेला ऐसा यदुकुल में हुआ है वह भी सूत के कारण से हुआ है, सूत डरपोक है वह भी आज ही जानने में आया है इसलिए मैं कलङ्कित हुआ हूँ ॥२९॥

आभास—ननु किमेतावता तत्राह किं न वक्ष्य इति ।

आभासार्थ—इतना कहने से क्या प्रयोजन ? इस प्रकार की शङ्का का समाधान 'किं न वक्ष्ये' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—किं न वक्ष्येऽभिसंगम्य पितरौ रामकेशवौ ।

युद्धाद्धर्म्यादपक्रान्तः पृष्ठस्तत्रात्मनः क्षमम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—पिता राम कृष्ण से मिलूंगा तब क्या कह सकूंगा, जब वे पृच्छेंगे तब युद्ध में से भाग कर आया हुआ मैं अपनी सामर्थ्य के विषय में क्या बोल सकूंगा ॥३०॥

सुबोधिनी—पितरौ रामकेशवावभिसंगम्य । नु इति वितर्क किं वक्ष्ये । वचने प्रकारः कोऽपि नास्तीति । ननु प्रहार एव वर्तते तत्राह युद्धाद्धर्म्यादपक्रान्त इति । धर्मादिनपेत युद्ध अतस्तस्मा-

दपक्रमः अधर्मो भवति । तर्हि तूष्णीं स्थातव्यमिति चेत्तत्राह पृष्ठः इति । तर्हि अशक्तिर्वक्तव्येति चेत् आत्मनः क्षममिति । न हि मया अशक्तिर्वक्तुं शक्या ॥३०॥

व्याख्यार्थ—पिता राम-कृष्ण के पास जाकर क्या कहूँगा 'नु' शब्द यहाँ अनुमान अर्थ में दिया है जिसका आज्ञा है, क्या कहूँगा ? अर्थात् कहने का कोई ढंग ही नहीं दिखता है 'वक्षः स्थल' र प्रहार हुआ है यह दिखा देना, जिसके उत्तर में कहते हैं कि धर्म युद्ध से तो मैं भाग आया हूँ, इसे भाग निकलना अधर्म है क्योंकि यह युद्ध वह है जिसमें धर्म का उल्लङ्घन नहीं करना है, मैंने तो वहाँ से भाग कर अधर्म किया है यदि यों है तो मौन धारण कर लेना, कुछ बोलना ही नहीं, इस पर कहते हैं कि यदि वे पूछें तो अपनी अशक्ति कह देना, यों कहते हो तो, मुझसे अपना प्रसामर्थ्य बताना बन न सकेगा ॥३०॥

आभास—किञ्च । सूतदोषेऽप्युक्ते कदाचित्पित्रा अङ्गीकर्तव्यम् । न तु भ्रातृ-पत्नीभिः हास्यस्वभावाभिरित्याह व्यक्तं मे कथयिष्यन्तीति ।

आभासार्थ—यदि यह दोष सारथी का है यों कह दूँ तो कदाचित् पिताजी इसको मान जाय किन्तु हास्य स्वभाव वाली भौजाईयाँ तो नहीं मानेगी, यह 'व्यक्तं मे' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—व्यक्तं मे कथयिष्यन्ति हसन्त्यो भ्रातृजामयः ।

क्लैव्यं कथं कथं वीर तवान्यैः कथ्यतां मृधे ॥३१॥

श्लोकार्थ—मेरी भौजाईयाँ हँसती हँसती मुझे कहेंगी कि हे वीर ! दूसरों के साथ युद्ध करते हुए आपमें क्लीवता (नपुसंकता) कैसे आ गई ॥३१॥

सुबोधिनो—उक्तेऽप्युपाये विपरीतं ज्ञात्वा हसन्त्यो भविष्यन्ति यतो भ्रातृजामयः कुलस्त्रियः एवं च वक्ष्यन्तीत्याह क्लैव्यं कथं कथं वीरेति । हे वीर विपरीतार्थ संबोधनम् । अन्ये सह ते	क्लैव्यं कथं कथमिति श्रवणादरे वीप्सा । क्लैव्यं वा कथयिष्यन्ति । हानिकथनेऽप्युपहासः अन्यै सह कथं कथमिति ॥३१॥
---	---

व्याख्यार्थ—उपाय कहने पर भी विपरीत समझ कर हँसने लगेगी, क्योंकि भौजाईयाँ कुलवती स्त्रियाँ हैं और हास्य (मसखरी) करती हुई इस प्रकार कहेंगी कि हे वीर ! दूसरों से लड़ते हुए नपुसंकता कैसे ? तुममें आई, यों कथं कथं (कैसे कैसे) दो बार श्रवण में आदर व प्रेम प्रकट करने के लिए कहा है, बल की हानि कहने में भी उपहास ही करेंगी ॥३१॥

आभास—एवमुपालब्धस्य सूतस्य वचनं धर्मं विजानतेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उपालम्भ (ताना) प्राप्त सूत 'धर्म विजानता' श्लोक में उत्तर देता है ।

श्लोक—सारथिरुवाच—धर्मं विजानतायुष्मन्कृतमेतन्मया विभो ।

सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेद्रथिनं सारथि रथी ॥३२॥

श्लोकार्थ—सारथी ने कहा कि हे आयुष्मान ! हे विभो ! मैंने तो मेरा धर्म जानकर यह काम किया है क्योंकि सारथी का धर्म है कि जब रथी संकट में पड़े उस समय सारथी उसको उस संकट से बचावे ॥३२॥

सुबोधिनी—धर्मस्वरूपमग्रे वक्तव्यं । तर्हि मरणमस्तु किमित्यपसरणमिति चेत्तत्राह आयुष्मन्निति । आयुर्वतन्ते । एवं सत्युपेक्षा महदोषाय ।

अतः आयुर्धर्मं च विजानता मयैतत्कृतम् । धर्ममाह सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेदिति । ममाप्येवंभावे त्वया रक्षणीय इत्युपदेशार्थं वचनम् ॥३२॥

व्याख्यार्थ—धर्म का स्वरूप, उत्तरार्ध में कहना चाहिए, यदि कहो कि मृत्यु भले हो जाती किन्तु रण से दूर बाहर नहीं लाना चाहिए था । जिसके उत्तर में कहता है कि आयुष्मन् । अभी आपकी आयु है, यदि उपेक्षा की जाती तो मुझे महान् दोष लगता, अतः आयु और धर्म को जानने वाले मैंने यों किया है, अब धर्म कहता है 'सूतः कृच्छ्रगतं रक्षेत्' सूत, संकट में पड़े हुए रथी की रक्षा करे, यों कहने का यह भी भावार्थ है कि सूत कहना है कि यदि मेरी भी ऐसी दशा हो तो आपको भी इस तरह मेरी रक्षा करनी चाहिए ॥३२॥

आभास—इदं त्वया कुतोवगतमित्याशङ्क्याह एतद्विदित्वा तु भवानिति ।

आभासार्थ—यह तूने कहाँ से जाना ? इस शङ्का का उत्तर 'एतद्विदित्वा' श्लोक में देता है ।

श्लोक—एतद्विदित्वा तु भवान्मयापोवाहितो रणात् ।

उपस्पृष्टः परेणिति मूर्च्छितो गदया हतः ॥३३॥

श्लोकार्थ—यह जानकर मैं आपको युद्ध से हटा ले आया हूँ । आपको शत्रु के हाथ से गदा लगी जिससे आप पीड़ित होके मूर्च्छित हो गये तब मैं आपको युद्ध से बाहर ले आया ॥३३॥

सुबोधिनी—तु शब्दः अज्ञानादागमनं वारयति । एतद्धर्मं जात्वंव भवान् रणादपोवाहितः । किं मम जातमित्याकाङ्क्षायामाह उपस्पृष्टः परेणेतीति । इत्यमृता प्रकारेण हृदयविदारणरूपेण

परेणोपस्पृष्टः शत्रुणा ताडितः । ताडनमाह गदया हतः । ततो मूर्च्छित इति । एतत्कृच्छ्रगमनम् । अतो धर्मकीर्तिविरोधे धर्मो रक्षणीय इति सिद्धान्तः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—'तु' शब्द से सारथी अपनी अज्ञता का निवारण करता है अर्थात् मैंने आपको युद्ध से अज्ञानता से नहीं हटाया है किन्तु धर्म जानकर आपको रणभूमि से बाहर ले आया हूँ । मुझे क्या हुआ जो ले आया ? जिसका उत्तर देता है कि शत्रु ने गदा से आपके हृदय को चीर डाला जिससे आप मूर्च्छित हो गए इस प्रकार का संकट आप पर आया देख धर्म और कीर्ति के विरोध में धर्म की ही रक्षा करनी चाहिए अतः मैंने धर्म की रक्षा करना ही सिद्धान्त (निर्णय) जानकर आपको रण से बाहर लाया ॥३३॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां धीतक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्मभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे सप्तविंशोऽध्यायविवरणम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ७३वें अध्याय (उत्तरार्ध के २७वें अध्याय) की श्रीमद्वल्मभावाय चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन

अवान्तर प्रकरण का अष्टम अध्याय हिन्दी

प्रनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ७७वाँ अध्याय

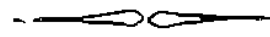
श्री सुबोधिनी अनुसार ७४वाँ अध्याय

उत्तरार्ध २८वाँ अध्याय

सात्विक-साधन अवान्तर-प्रकरण

“अध्याय—” ७

शाल्व उद्धार



कारिका—अष्टाविंशेतिपीडायां भगवत्स्मरणे कृते ।

तद्दुःखवारणं कृष्णश्चकारेति निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—दशम स्कन्ध भागवत के उत्तरार्ध के इस २८वें अध्याय में, सात्विक साधन प्रकरण के ७वें अध्याय में यों कहने में आया है कि जब यादव अति पीड़ित हुए तब उन्होंने श्रीकृष्ण का स्मरण किया, जिससे उनको श्रीकृष्ण ने दुःख से छुड़ाया ॥१॥

कारिका—द्युमतोपि वधं कृष्णश्चेत्कुर्यात्स्वयमागतः ।

तदा प्रद्युम्नदुःखस्य न निवृत्तिर्भवेत् क्वचित् ॥२॥

कारिकार्थ—यदि श्रीकृष्ण पधार कर, स्वयं द्युमान् का वध करते तो, प्रद्युम्न का यश न होता जिससे प्रद्युम्न का दुःख कभी भी मिटता नहीं ॥२॥

कारिका—अतः प्रद्युम्नहस्तेन मारणं तस्य रूप्यते ।

भक्तानां दुःखदानं तु न युक्तमिति वै हरिः ॥३॥

कारिकार्थ—इस कारण से ही द्युमान् का वध प्रद्युम्न के हाथ से हुए क वर्णन भी कहा है 'भक्तों को दुःख प्राप्त हो, यह भगवान् को योग्य देखने में न आवे । ३

कारिका—मतान्तरेणाशक्यत्वं बोधयामास वाक्यतः ।

अन्यथा श्री शुको लीलां तादृशीं नैव वर्णयेत् ॥४॥

कारिकार्थ—अतः भगवान् मतान्तर से अपनी^१ अशक्ति दूसरों के वाक्य से कहते हैं, अन्यथा श्री शुकदेवजी वैसी लीला^२ का वर्णन ही नहीं करते ।

कारिका—तादृग्लीलान्तरमिव वर्णितां वा न दूषयेत् ।

एवं सिद्धान्तमज्ञात्वा लोको भ्राम्यति सर्वथा ॥५॥

कारिकार्थ—और वैसी ही वर्णित अन्य लीलाओं का खण्डन करते इसी तरह वैसे सिद्धान्त को न जानने से लोक सर्व प्रकार भ्रम में पड़ जाते हैं ॥५॥

कारिका—कल्पान्तरे तथा चक्रे सूक्ष्मांशस्यावतारतः ।

निरोधे यदि नो ब्रूयात् सिद्धान्तो हि विरुध्यते ॥६॥

कारिकार्थ—अन्य कल्प में सूक्ष्म अंश से लिए हुए अवतार से यों किया हो यह चरित्र यदि यहां (निरोध में) न कहें तो सिद्धान्त में विरोध हो जाय इससे य शुकदेवजी ने परमत भाषा कही है ॥६॥

कारिका—शास्त्रार्थे दोषनाशाय निराकरणमुच्यते ।

अतः स्कन्धार्थशास्त्रार्थौ पक्षाभ्यामिह रूपितौ ॥७॥

कारिकार्थ—दोष दूर करने के लिए शास्त्रार्थ में उसका निराकरण किया ग

१—बलभद्र रूप से शाल्व को जीतने की अशक्यता २—यह लीला अंशावतार की है इसी केवल निरोध सिद्धि के लिए ही इस लीला का वर्णन है, भगवान् सर्व समर्थ हैं, उनसे कोई भी व सिद्ध न हो सके वह असम्भव है। इसी तरह जब सबके यह कार्य (दुःख निवृत्ति) अशक्य हो ज है तब भगवान् की ही शरण लेनी चाहिए ऐसी बुद्धि होती है जिससे निरोध सिद्ध होता है ।

इससे यहां दो पक्षों से स्कन्ध का अर्थ और शास्त्र का अर्थ कहा है ॥७॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते द्युमतोपकर्षे पश्चात्तापो निरूपितः । प्रद्युम्नस्य तदानीं द्युमद्वधार्थं प्रवृत्तिरुच्यते स तूपस्पृश्येति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में द्युमान् द्वारा प्रद्युम्न का पतन होने से उसको पश्चात्ताप आ जिसका वर्णन किया, अनन्तर प्रद्युम्न द्युमान् के वध के लिए प्रवृत्त हुआ वह 'स तूपस्पृश्य' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—स तूपस्पृश्य सलिलं दंशितो धृतकामुकः ।

नय मां द्युमतः पार्श्वं वीरस्येत्याह सारथिम् ॥१॥

श्लोकार्थ—उसने (प्रद्युम्न ने) तो आचमन कर, कवच पहन, धनुष धारण कर सारथी को कहा कि, मुझे वीर द्युमान् के पास ले चल ॥१॥

सुबोधिनी—मूर्च्छानन्तरं तथा कर्तव्यमिति सलिलोपस्पर्शनमाचमनं स्नानमित्येके । ततः पुन दंशितो बद्धकवचः । नारायणकवचादिना लौकिकेन च । ततो धृतकामुकः । अनेन पूर्व	कवचरहित एव स्वपौरुषाभिमानात् गत इति लक्ष्यते । अत एव गर्वनाशार्थं भङ्गोपि । ततः मां द्युमतः पार्श्वं नयेति सूतं प्रति वचनम् । शत्रोः प्रशंसामाह—वीरस्येति ॥१॥
---	--

व्याख्यार्थ—मूर्च्छा के बाद जल का स्पर्श अर्थात् आचमन करना चाहिए जिससे 'आचमन' किया, कितने ही 'सलिल उपस्पर्शनम्' का भावार्थ बताते हैं कि प्रद्युम्न ने मूर्च्छा के पश्चात् स्नान किया, यों करने के बाद, नारायणकवच पढ़कर अथवा लौकिक प्रकार से कवच धारण किया, पश्चात् धनुष धारण किया, कवच धारण किया यों कहने से यह स्पष्ट किया कि, प्रद्युम्न पहले अपनी वीरता के अभिमान से बिना कवच धारण किये युद्ध में गए थे, इस अभिमान के कारण ही, इनके अहंकार का नाश होवे, इसलिए इनकी पराजय भी हुई । पश्चात् सूत को कहने लगे कि मुझे द्युमान् के पास ले चल, उस शत्रु की प्रशंसा करते हैं कि वह वीर है ॥१॥

आभास—स तु वञ्चितः सन् लज्जया आक्रोशेन मारित इति दोषव्यावृत्त्यर्थमाह विधमन्तं स्वसैन्यानीति ।

आभासार्थ—द्युमान् को तो वञ्चना से तथा लज्जा से अथवा कोलाहल से मारा, इस कारण से अर्थात् यों करने से दोष न लगे, जिसके लिए 'विधमन्तं' श्लोक कहा है ।

श्लोक—विधमन्तं स्वसैन्यानि द्युमन्तं रुविमणीसुतः ।

प्रतिहृत्य प्रत्यविध्यन्नाराचैरष्टभिः स्मयन् ॥२॥

श्लोकार्थ—अपनी सैना का संहार करने वाले द्युमान् को रोककर (खोजकर)

प्रद्युम्न ने हँसते हुए उसके आठ बाण लगाए (मारे) ॥२॥

सुबोधनी—स्वबलघातकत्वान्मारणीय एवे-
त्यर्थः । तथाप्याक्रोशेन मारणादाह रुक्मिणी-
सुत इति । प्रतिहत्य अन्विष्य भर्त्सयित्वा वा
अश्रुभिर्नाराचैः प्रत्यविध्यत् । ससामग्रीकं नाशित्वानेवेत्यर्थः । स्मयन्निति । अधुनास्य बलं द्रव्यमित्यर्थः ॥२॥

व्याख्यार्थ—जो अपनी सेना का नाश करे वह मारने के ही योग्य है, तो भी कोलाहल उसको मारा, क्योंकि 'रुक्मिणी के पुत्र हैं' 'प्रतिहत्य' सेना में छिपा हुआ था वहाँ से दूँडकर हल्ला करते हुए, आठ बाणों से बेधा । उनके साथ जो युद्ध सामग्री थी उसका भी नाश किया नाश के समय आप हँस रहे थे, जिसका भाव यह था कि द्युमान् का बल अब देखने योग्य है । कैसा वीर है ? ॥३॥

आभास—अष्टबाणानां विनियोगमाह चतुर्भिश्चतुरो वाहानिति ।

आभासार्थ—“चतुर्भिश्चतुरो” श्लोक में आठ बाण लगाने का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—चतुर्भिश्चतुरो वाहान्सूतमेकेन चाहन्त् ।

द्वाभ्यां धनुश्च केतुं च शरेणान्येन वै शिरः ॥३॥

श्लोकार्थ—चार बाणों से चार घोड़े व एक बाण से सारथी मारा, एक धनुष, एक से ध्वजा और एक से उसका शिर काटा ॥५॥

सुबोधिनी—द्युमतः शिरः अन्येनाष्टमेन ।
यानारुह्य येन प्रेरितो येन करणेन येन
लब्धप्रतिष्ठः तत्सर्वमच्छिनत् ॥३॥

व्याख्यार्थ—आठवें बाण से द्युमान् का शिर काट डाला, जिन घोड़ों पर चढ़कर लड़ते उनका चार बाणों से नाश किया, जो सारथी प्रेरक (प्रेरणा करने वाला) था, उसको एक बाण मार डाला, जिस धनुष से लड़ता था उसको भी एक बाण से नष्ट किया, जिस ध्वजा से प्रति ग्राह की थी उस ध्वजा को एक ही बाण से काट डाला ॥३॥

आभास—ततोऽन्येपि प्रधाने मारिते तद्बलं मारितवन्त इत्याह गदसात्यं साम्बाद्या इति ।

आभासार्थ—प्रधान के मरने पर शेष उसकी सेना को दूसरे भी मारने लगे यह 'गदसात्य' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—गदसात्यकिसाम्बाद्या जघ्नुः सौभपतेर्बलम् ।

पेतुः समुद्रे सौभेयाः सर्वे संछिन्नकन्धराः ॥४॥

श्लोकार्थ—गद, सात्यकि व साम्ब आदि ज्यों ज्यों सौभपति की सेना को मारते हैं त्यों त्यों वे सब शिर कट कर समुद्र में गिरते थे ॥४॥

सुबोधिनी—गदया प्रद्युम्नो मारित इति । रिक्षे युद्धार्थमागताः पलायमाना वा समुद्रे
ऋबलेन तत्सैन्यं मारितवन्तः । गदयामेव शौर्यं पतिताः । संछिन्नकन्धराः सन्तः ॥४॥
अलं च व्यापृतं भवति । ततः सौभेयाः सर्वे अन्त-

व्याख्यार्थ—गदा से प्रद्युम्न के ऊपर प्रहार हुआ था, इसलिए प्रद्युम्न अपने बल से शत्रु की सेना को मारने लगे, वीरता और बल गदा में ही रहा हुआ है, बाद में सौभ के सैनिक युद्ध के लिए प्राकाश में आ गए, किन्तु पराजय के डर से भागने लगे तो भी उनके सैनिकों के शिर धड़ से अलग होकर समुद्र में गिरने लगे ॥४॥

आभास—एवं भगवत्प्रतीक्षार्थं यादवशाल्वानां जयापजयरहितानां युद्धानुवृत्तिमाह
एवं यदूनामिति ।

आभासार्थ—भगवान् के आने की प्रतीक्षा के लिए बिना जय अथवा पराजय के यादव और शाल्वों के युद्ध की अनुवृत्ति एवं 'यदूनां' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—एवं यदूनां शाल्वानां निघ्नतामितरेतरम् ।

युद्धं त्रिणवरात्रं तदभूत्तुमुलमुल्बणम् ॥५॥

श्लोकार्थ—इसी तरह यादव और शाल्व के सैनिक परस्पर हनन करते हुए सत्ता-ईस दिन तक, कोलाहल वाला घोर तुमुल युद्ध करने लगे ॥५॥

सुबोधिनी—इतरेतरं निघ्नतामिति समता । शयुक्तम् । उत्वणं क्रूरं च ॥५॥
त्रिणवरात्रं सप्तविंशत्यहोरात्रम् । तुमुलमत्याक्रो-

व्याख्यार्थ—परस्पर हनन करते थे, इन शब्दों से यह सूचित किया है कि दोनों समान थे, 'त्रिणवरात्रं' का अर्थ है सत्ताईस दिन तक, 'तुमुल' पद का भाव है कि 'भीषण' 'उत्वण' का अर्थ है 'क्रूर', तात्पर्य यह है कि सत्ताईस दिन तक दोनों परस्पर हनन करते हुए क्रूर और भीषण युद्ध करने लगे ॥५॥

आभास—एवं यादवानां दुरत्ययं व्यसनं गतानां महद्दुःखं निरूप्य भगवत एव-
मुपेक्षाऽयुवतेति दोषपरिहारार्थं मतान्तरमारभते इन्द्रप्रस्थं गत इति ।

आभासार्थ—इसी भांति मिट न सके ऐसे कष्ट को प्राप्त यादवों का महान् दुःख निरूपण कर, यों ऐसे समय में भी भगवान् उपेक्षा करें वह योग्य नहीं है, ऐसे दोषारोपण के परिहार दूसरा मत 'इन्द्रप्रस्थ' श्लोक से प्रारम्भ करते हैं ।

श्लोक—श्री शुक उवाच—इन्द्रप्रस्थं गतः कृष्ण आहूतो धर्मसूनुना ।

राजसूयेथ निवृत्ते शिशुपाले च संस्थिते ॥६॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण तो युधिष्ठिर के बुलाने से इन्द्रप्रस्थ पधारे थे, पश्चात् राजसूय यज्ञ पूर्ण हुआ और शिशुपाल भी मारा गया, अनन्तर ॥६॥

सुबोधिनी—मतान्तरे पूर्वोक्तन्यायेन न गमनागमनेनापि संभ्रमस्तथा । तदर्थं तत्रत्यां कथामेवाह धर्मसूनुना आहूतः स्वयमेकाकी इन्द्रप्रस्थं गतः पश्चाद्वलभद्रोऽप्याहूतः । मानभङ्गस्तु	तस्मिन् काले नास्ति । विद्यमानोऽपि प्रकारान्तरे वा भविष्यति । अतः वलभद्रसद्भावोऽपि न दोषाय । ततो राजसूये निवृत्ते भिन्नप्रक्रमेण समाप्ते शिशुपाले च मृते तदनन्तरमेव ॥६॥
--	--

व्याख्यार्थ—दूसरे मत में, पहले कहे हुए नियमानुसार इन्द्रप्रस्थ जाते और वहां से लौटते समय भी वैसा आडम्बर नहीं है, इसलिए वहां की कथा को कहते हैं, युधिष्ठिर ने बुलाए तब आप इन्द्रप्रस्थ एकाकी गए पीछे वलभद्र को भी बुलाया, उस समय दुर्योधन का मानभङ्ग न हुआ था ? होने वाला हो तो भी अन्य प्रकार से होगा, अतः वलभद्र का वहां होना भी दोषकारक नहीं है, पश्चात् राजसूय 'यज्ञ' दूसरे प्रकार से पूर्ण हुआ और शिशुपाल भी मरा जिसके अनन्तर—दूसरे श्लोक से अन्वय है ॥६॥

श्लोक—कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य मुनींश्च ससुतां पृथाम् ।

निमित्ताभ्यतिघोराणि पश्यन् द्वारवतीं ययौ ॥७॥

श्लोकार्थ—वृद्ध कौरवों से मुनियों और पुत्रों सहित भूआ पृथा से आज्ञा लेकर, अति भयानक उत्पात देखते हुए, द्वारका पधारे ॥७॥

सुबोधिनी—कुरुवृद्धाननुज्ञाप्य पुत्रसहितां पितृभगिनीं च पृष्ठा अपशकुनेषु जायमानेषु	द्वारकाऽस्वास्थ्यज्ञापकेषु प्राप्तशङ्क इव घोराणि निमित्तानि पश्यन् द्वारवतीं ययौ ॥७॥
--	---

व्याख्यार्थ—वृद्ध कौरवों से आज्ञा लेकर, पुत्रों सहित पृथा से पूछकर, द्वारका में अस्वस्थता बताने वाले अति भयानक अपशकुनों को देखते हुए द्वारका गए ॥७॥

आभास—'मध्ये गच्छतश्चिन्तामाह आह चेति ।

आभासार्थ—जाते हुए मध्य में (मार्ग में) हुई चिन्ता का 'आह चाह' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक —आह चाहमिहायात आर्यमिश्राभिसंगतः ।

राजन्याश्चैद्यपक्षीया नूनं हन्युः पुरीं मम ॥८॥

श्लोकार्थ—जाते हुए मन में कहने लगे कि मैं बड़े भाई के साथ यहां आ गया, शिशुपाल के पक्षवाले, निश्चय है कि, मेरी पुरी को नाश करते होंगे ॥८॥

सुबोधिनी—प्रथमतः अहमिव इन्द्रप्रस्थे
[मागतः पश्चादायमिश्रेण बलभद्रेण अभिसंगतो
मलितः । सहैव वा आगमनं । ततो रक्षार्थमव-

तीर्णशिद्वयमपि द्वारकायां नास्तीति चैद्यपक्षीया
राजन्या दैत्याः नूनं मे पुरीं हन्युः ॥८॥

व्याख्यान—पहले मैं यहाँ इन्द्रप्रस्थ में आ गया हूँ, पश्चात् बलभद्र भी आगए, तो उनसे मिलकर यहां ही रह गया, अथवा साथ ही आना हुआ है, रक्षण के लिए अवतार धारण करने वाले दोनों भी द्वारका में विद्यमान नहीं हैं, अतः चैद्य (शिशुपात्र) के पक्ष वाले क्षत्रिय राजा लोग जो दैत्य हैं वे निश्चय मेरी पुरी को नाश करते होंगे ॥८॥

कारिका—निमित्तदर्शनं चिन्तामङ्गश्चेति निरूप्यते ।

मतान्तरे दोषभावं मोहका वर्णयन्ति हि ॥

कारिकार्थ—अपशकुन देखना, चिन्ता और मङ्ग अर्थात् नगरी का नाश निरूपण किया है, कारण कि मोह उत्पन्न करने वाले दूसरों के मन में दोष है यों वर्णन करते हैं ।

आभास—ततो यज्जातं तदाह वीक्ष्य तत्कदनमिति ।

आभासार्थ—वादे में जो हुआ वह 'वीक्ष्य तत्कदनं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—वीक्ष्य तत्कदनं स्वानां निरूप्य पुररक्षणम् ।

सौभं च शाल्वराजं च दारुकं प्राह-केशवः ॥९॥

श्लोकार्थ—अपनी सेना का नाश, सौभ और शाल्व को देख, नगर की रक्षा का प्रबन्ध कर, केशव ने दारुक सारथी को कहा ॥९॥

सुबोधिनी—अहोरात्रं युद्धक्लेशं वीक्ष्य पुर-
रक्षणमर्थाद्बलभद्रं निरूप्य यथाकथञ्चित्कथाया
अनुवादान्नात्रासमर्पकतादोषः नापि क्रियायाः
क्रियान्तरोल्लङ्घनदोषः । शौभं च निरीक्ष्य शाल्व-

राजं च निरीक्ष्य स्वसारथिं दारुकं प्रति प्राह ।
स्वतः समर्थस्य सूतप्रेरणमयुक्तमित्याशङ्क्याह
केशव इति । यथा ब्रह्मशिवौ प्रेरयति तथैनम-
पीत्यर्थः ॥९॥

व्याख्यान—दिन रात्रि अपने सैनिकों को युद्ध से होता दुःख देख, नगरी की रक्षार्थ बलभद्र को कह कर, जैसे किसी प्रकार भी कथा के अनुवाद करने से, यहां, बलभद्र को रक्षण के लिए नहीं

कहा है यह दोष और सारथि को रथ ले जाने को कहा जिससे पहले नगर के रक्षण की क्रिया का उल्लङ्घन रूप दोष नहीं है, सौभ और शाल्वराज को देखकर श्रीकृष्ण ने अपने सारथि को कहा, जब श्रीकृष्ण आप सर्व प्रकार समर्थ हैं तब सारथि को प्रेरणा करें, वह योग्य नहीं है। इस शङ्का का समाधान करने के लिए इनका नाम यहां 'केशव' कहा है जिसका भावार्थ है कि जैसे ब्रह्म और शिव को प्रेरणा करते हैं वैसे इसको भी प्रेरणा की है ॥६॥

आभास—तस्मिन् कल्पे सारथिः प्राकृत इति संबोधयति—रथं प्रापयेति ।

आभासाथं—उस कल्प में सारथि प्राकृत था इसलिए 'रथं प्रापय' श्लोक में सूत को सूचित करते हैं ।

श्लोक — रथं प्रापय मे सूत शाल्वस्यान्तिकमाशु वै ।

संभ्रमस्ते न कर्तव्यो मायावी सौभराडयम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे सूत! मेरे रथ को शीघ्र ही शाल्व के पास ले चल, तू किसी प्रकार डर मत, यह सौभराट् मायावी है ॥१०॥

सुबोधिनी—संभ्रमो भयं । ते त्वया । यतः । दारुको विकलः स्थित इति ॥१०॥
सौभराट् मायावीति तस्य स्तुतिः । पूर्वप्रेरणायां ।

व्याख्यार्थ—'संभ्रमः' अर्थात् भय, तुझे (भय) नहीं करना चाहिए तात्पर्य यह है कि तू डर मत, क्योंकि यह सौभराट् (सौभ विमान में प्रकाशमान) शाल्व मायावी है, मायावी विशेषण से उसकी स्तुति की है, जब प्रेरणा की तब दारुक मूढ था, प्रेरणा के अनन्तर मूढता निवृत्त हो गई ॥१०॥

श्लोक—इत्युक्तश्चोदयामास रथमास्थाय दारुकः ।

विशन्तं ददृशुः सर्वे स्वे परे चारुणानुजम् ॥११॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार आज्ञा होते ही, रथ में बैठकर दारुक ने रथ चलाया । अपने (यादवों) और शत्रु (शाल्व के पक्ष वालों) ने गरुड़ को युद्ध भूमि में प्रवेश करता हुआ देखा ॥११॥

सुबोधिनी—एवं भगवता उक्तः भगवन्तं मानयामास तथैव करिष्यामीति भयं त्यक्त्वा प्रवृत्त इत्यर्थः । रथं सम्यगास्थाय यतो दारुणां शिरोरूपः सुखरूपो वा अतस्तदिच्छानुसारेण दारुणां चलनमुक्तम् । ततो रथस्य शीघ्रगत्या रेणुभिराच्छादने रथमदृष्ट्वैव सर्वे एव स्वे परे च अरुणानुजं गरुडमेव विशन्तं ददृशुः ॥११॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार भगवान् की आज्ञा पाया हुआ दारुक कहने लगा कि जैसी आपने आज्ञा की है वैसा ही करूंगा । यो कहकर, निडर होकर रथ चलाने में प्रवृत्त हुआ । रथ में अच्छी

तरह वैठा क्योंकि इसका नाम है 'दारुक' जिसका अर्थ है, 'दारु' काष्ठ का 'क' सुख रूप अथवा शिरोरूप वह है, जिसका तात्पर्य है कि, इसकी इच्छानुसार ही काष्ठ (रथ) चलता है, अतः रथ बहुत तेज चला जिससे रेत उड़ी, उस रेत से रथ आच्छादित हो गया, इस कारण से रथ को कोई देख न सका, अपने और शत्रु के सैनिकों ने केवल गरुड़ को ही प्रविष्ट होते देखा ॥११॥

आभास—ततः शाल्वेनैव कृष्णो दृष्ट इत्याह—शाल्वश्चेति ।

आभासार्थ—पश्चात् शाल्व ने ही श्रीकृष्ण को देखा, यों 'शाल्वश्च' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—शाल्वश्च कृष्णमालोक्य हतप्रायबलेश्वरः ।

प्राहरत्कृष्णसूताय शक्ति भीमरवां मृधे ॥१२॥

श्लोकार्थ—जिसकी बहुत सेना नाश हो गई है, ऐसे शाल्व ने कृष्ण को देख, कृष्ण के सूत पर भयङ्कर शब्द करने वाली लड़ाई में ही अपनी शक्ति चलाई ॥१२॥

सुबोधिनी—हतप्रायबलस्येश्वरः सोपि निर- । शीघ्रमानीत इति कृष्णसूताय भीमरवां शक्ति
न्तरयुद्धेन विवृष्टः । ततः क्रोधेन सूतेन रथः । प्राहिणोत् । मृधे युद्धे सावधानदशायाम् ॥१२॥

व्याख्यान—शाल्व अपनी बहुत सेना के नाश से और निरन्तर युद्ध चलने से दुःखी था, सूत भी आजानुसार शीघ्र रथ को ले आया, इस कारण से सारथि पर क्रोध आ जाने से, उस पर भयंकर ध्वनि वाली शक्ति को फेंकी, जिस समय शक्ति फेंकी उस समय शाल्व सावधान था क्योंकि युद्ध में खड़ा था ॥१२॥

आभास—ततस्तन्निराकरणमाह—तामापतन्तीति ।

आभासार्थ—पश्चात् उस शक्ति का भगवान् ने निराकरण किया, यह 'तामापतन्ती' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तामापतन्तीं नभसि महोल्कामिव रंहसा ।

भासयन्तीं दिशः शौरिः सायकैः शतधाच्छिनत् ॥१३॥

श्लोकार्थ—उल्का के समान वेग से आती हुई एवं दिशाओं को प्रकाशित करती हुई, उस शक्ति को श्रीकृष्ण ने आकाश में होते हुए ही बाणों से सैकड़ों टुकड़े कर डाले ॥१३॥

सुबोधिनी—दर्शनेनापि भयजनकत्वायाह । तस्या माहात्म्यं फलावश्यकत्वाय । ततो भगवान्
महोल्कामिवेति । रंहसा आपतन्तीमिति प्रती- । सायकैः बहुभिरेव शतधा अच्छिनत् ॥१३॥
कारान्तरं निराकृतम् । नासयन्तीं दिश इति ।

व्याख्यार्थ—‘महोत्कामिव’ पद से उसके स्वरूप का वर्णन किया है कि, जिसके देखने से भी भय उत्पन्न होता है ऐसी भयानक थी, ‘रंहसा आपतन्तीम्’ पद से यह सूचित किया है कि वह ऐसे भयंकर (जवरदस्त) वेग से आ रही थी, जिसका कोई भी प्रतिकार न हो सके, ‘भासयन्तं दिशः’ सकल दिशाओं को प्रकाशित करने के गुण से जिसका माहात्म्य प्रकट किया है और इसका फल भी अवश्य होगा यह भी सूचना दी, ऐसा जानकर भगवान् ने बहुत ही बाणों से वहां हं (आकाश में ही) उसके सैकड़ों टुकड़े कर डाले ॥१३॥

आभास—ततः प्रहारकर्तुं रपि प्रहार कृतवानित्याह---तं चेति ।

आभासार्थ—पश्चात् प्रहार करने वाले पर भी प्रहार किया, यों ‘तं च षोडशभिः’ श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तं च षोडशभिर्विद्धा वाणैः सौभं च खे भ्रमत् ।

अविध्यच्छरसंदोहैः खं सूर्य इव रश्मिभिः ॥१४॥

श्लोकार्थ—सोलह वाणों से शाल्व को वेध डाला, आकाश में घूमते हुए सौभ विमान को वाणों से ऐसे वेधित किया, जैसे सूर्य अपनी किरणों से आकाश को वेधित करता है ।

सुबोधिनी—षोडशभिर्बाणैरष्टाङ्गेषु द्वाभ्यां द्वाभ्यां वेधः । सौभं च षोडशभिः खे भ्रमदेव न तु स्थितं आदौ तं विद्ध्वा रक्षाया अभावे सौभं च अविध्यत् । तत्र तु शरसन्दोहा एव बहव एव	उपर्यधश्च । वेधार्थं दृष्टान्तः स्वं सूर्य इवेति अनेनाकाशस्य पीडाभाव इव सौभस्यापि पीडाभावो निरूपितः । महादेवप्रशंसेयम् ॥१४॥
--	--

व्याख्यार्थ—शाल्व के आठ अङ्गों में से एक एक अङ्ग को दो दो बाणों से वेध डाला और आकाश में फिरते हुए सौभ को भी शाल्व के रक्षा के अभाव में उसको भी बहुत बाणों से नीचे तथा ऊपर से छेद डाला, दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे सूर्य अपनी किरणों से आकाश को वेधित करता है, यों कहने (इस दृष्टान्त) से यह बताया कि जैसे आकाश को पीड़ा नहीं होती वैसे सौभ को भी पीड़ा नहीं हुई, सौभ को पीड़ा न हुई यह महादेव की प्रशंसा है ॥१४॥

आभास—ततो महादेवभक्त्या सौभातिक्रमे कृते शाल्वोऽप्यतिक्रमं कृतवानित्याह शाल्वः शौरेरिति ।

आभासार्थ—अनन्तर सौभ पर आक्रमण (हमला) देख, महादेव की भक्ति से शाल्व ने आक्रमण किया, जिसका वर्णन ‘शाल्वः’ श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—शाल्वः शौरेस्तु दोः सव्यं सशाङ्गं शाङ्गधन्वनः ।

बिभेद न्यपतद्धस्ताच्छाङ्गं मासीत्तदद्भुतम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—शाल्व ने तो शार्ङ्ग धनुषधारी शौरि के शार्ङ्ग सहित सव्य हस्त को वेध डाला, जिससे शार्ङ्ग हस्त से गिर गया, यह अद्भुत लीला हुई ॥१५॥

सुबोधिनी—तु शब्दः सिद्धान्तं वारयति । कमसहितं निराकृतवानिति महादेवप्रशंसा, हस्तात् व्यं दोः वामं बाहुं सायुधं च । यतोयं शार्ङ्ग-न्यपतदित्यपि ॥१५॥
 न्वेति प्रसिद्धः । एवं प्रसिद्धहेतुसहितं महापरा-

व्याख्यार्थ—‘तु’ पद देने का आशय यह है कि इसमें जो कहा गया है वह सिद्धान्त नहीं है, आयुध सहित सव्य हस्त वेध डाला, कारण कि शार्ङ्ग धनुष वाला इस नाम से आप प्रसिद्ध हैं, स प्रकार प्रसिद्धि का कारण जो शार्ङ्ग धनुष है उसके साथ शौरि (बहुत पराक्रमी) का भी हस्त से शार्ङ्ग धनुष गिरने से निराकरण किया, यह केवल महादेव की स्तुति के लिए कहा है ॥१५॥

श्लोक—हाहाकारो महानासीद्भूतानां तत्र पश्यताम् ।

विनद्य सौभराडुच्चैरिदमाह जनार्दनम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—वहां जो देख रहे थे उन्होंने महान् हाहाकार शब्द किया, उसी समय शाल्व बड़ी ऊँची गर्जना कर भगवान् से यों कहने लगा ॥१६॥

सुबोधिनी—(तत्र पराक्रमसहितं) तत्र पश्यतां भूतानां अभूतपूर्वत्वाद्वाहाकारः । एवं शौभराट् सौभे विराजनानः । जनार्दनमविद्याया अपि नाशकम् ॥१६॥
 यिकनिराकरणमुक्त्वा वाचनिकमाह विन-

व्याख्यार्थ—(तत्र-वहाँ पराक्रम सहित) वहां जो प्राणी देख रहे थे, उन्होंने महान् हाहाकार शब्द किया, क्योंकि पहले ऐसा कभी नहीं हुआ है, इस प्रकार काया से किया हुआ निराकरण कह र, अब बाणी से पराजय करता हुआ प्रबल ध्वनि से कहता है कि मैं जीत गया जीत गया, पश्चात् अभ में विराजमान शाल्व, अविद्या नाश करने वाले को निम्न दो श्लोकों से यों कहने लगा ॥१६॥

आभास—भ्रान्तः सन्निधमाह यत्त्वयेति ।

आभासार्थ—शाल्व भ्रान्त होकर ‘यत्त्वया’ श्लोक से दो श्लोकों में यह कहने लगा ।

श्लोक—यत्त्वया मूढ नः सख्युभ्रान्तिर्भार्या हतेक्षताम् ।

प्रमत्तः स सभामध्ये त्वया व्यापादितः सखा ॥१७॥

श्लोकार्थ—हे मूर्ख ! मेरे भाई व सखा शिशुपाल की स्त्री को हमारे देखते र ले गया, और सभा के बीच असावधान बैठे हुए हमारे मित्र को तूमने मारा ॥१७॥

१—वास्तव मे हे अमूढ ! हे ज्ञानी !

सुवोधिनी—तस्य वाक्यं निरूप्यते । असूढेति छेदः । नः सख्युः शिशुपालस्य तव भ्रातुः भ्रातृ-रूपसख्युर्वा ईक्षतामस्माकं सतामेवाकिञ्चित्करा-णामग्रे हुता । अनेन स्वाभाविकशौर्यात्तव महच्छौर्यमिति स्तुतिरुक्ता । न केवलं तद्भार्या

आत्मसात्कृता किन्तु सोपीत्याह प्रमत्तः स सभा मध्य इति । सोऽपि समर्थः तथापि प्रमत्तत्वात्स भायां त्वया व्यागदितः न तु युद्धे अतः स सखेति हेत्वर्थं पुनः कथनम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—शात्व के वचन कहते हैं कि 'प्रसूड' यों पदच्छेद करना चाहिए, आपके भ्रातृ तथा हमारे मित्र शिशुपाल की, अथवा हमारे भ्रातृ रूप सखा शिशुपाल की भार्या' को, शान्त, हम लोगों के देखते हुए हरण कर गए, इससे यह बनाया है कि आपका शौर्य साधारण शौर्य से विशेष है, यों कहना एक प्रकार स्तुति ही है, न केवल उसकी भार्या का अपहरण किया किन्तु उसको भी अपना बना लिया, वह भी शक्तिशाली था किन्तु असावधान था जिससे आपने सभा के मध्य उसको मार डाला, किन्तु युद्ध में नहीं मारा है, अतः समझा जाता है कि वह सखा था, इस कारर को बताने के लिए फिर कहा है ॥१७॥

आभास—ततः स्वकर्तव्यमाह तं त्वेति ।

आभासार्थ—पश्चात् 'तं त्वाद्य' श्लोक में अपना कर्तव्य कहते हैं ।

श्लोक—तं त्वाद्य निशितैर्बाणैरपराजितमानिनम् ।

नयाम्यपुनरावृत्तिं यदि तिष्ठेममाग्रतः ॥१८॥

श्लोकार्थ—अजितपन का अभिमान करने वाले, यदि मेरे सामने खड़े रहे तो आगे ही मेरे तीक्ष्ण बाणों से तुझे वहां पहुंचा दूंगा जहां से फिर लौट न सकोगे ॥१८॥

सुवोधिनी—निशितैरिति स्वपौरुषख्यापनम् । ॥१८॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में अपना कर्तव्य कहते हुए जो 'बाणौः' पद का 'निशितैः' विशेष दिया है, वह अपना पौरुष प्रकट करने के लिए है ॥१८॥

आभास—भगवांस्तु वाक्येन शब्दातिक्रमं निवारयति वृथा त्वं कथ्यस इति ।

आभासार्थ—भगवान् तो, शात्व ने जो बाणी से प्रहार किया है, उसका 'वृथा त्वं कथ्यः' श्लोक में कहे वाक्य से निवारण करते हैं ।

श्लोक—श्री भगवानुवाच—वृथा त्वं कथ्यसे मन्द न पश्यस्यन्तिकेऽन्तकम् ।

पौरुषं दर्शयन्ति स्म शूरा न बहुभाषिणः ॥१९॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे मन्द ! तू वृथा बकवाद कर रहा है, निकट जो काल खड़ा है, उसको नहीं देख सकता है, शूरवीर बहुत बकते नहीं हैं, प्रपना पराक्रम दिखलाते हैं ।

सुबोधिनी— अर्थस्य बाधितत्वादत एव । स्वप्रशंसाकथनमयुक्तमिति तमुपदिशति पौरुषं । अन्तत्वं प्रत्युत विपरीतं तवास्तीत्याह न पश्य-
तीति । अन्तिके मञ्चाग्रे तवान्तकोस्तीति इदम-
यमैक्तमिति जयापजययोः अव्यवस्थेति शूराणां । दशयन्ति स्मेति । पौरुषं पुरुषशरीरबलम् । शूराः
क्षत्रियाः । ब्राह्मणानां तु वाग्बलमेव भवति इति
तच्चुदासः ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—तुमने जो कुछ विषय कहा वह बाधित है, अर्थात् होने वाला नहीं है । इसलिए तू मन्द है अपितु (बल्कि) जो तू कह रहा है उससे विपरीत होने वाला है जिसको तू मूर्ख होने से देख नहीं सकता है, शीघ्र ही मुझ से तेरी मृत्यु होने वाली है । यों कहना भी उचित नहीं है क्योंकि जय वा पराजय की व्यवस्था नहीं है, शूरवीरों को अपनी प्रशंसा करनी योग्य नहीं है यों कह कर उसको उपदेश करते हैं कि 'पौरुषं दशयन्ति स्म' पुरुष शरीर का बल अथवा अपनी शरीर की शक्ति प्रकट कर दिखाते हैं । क्योंकि क्षत्रिय, शरीर बल से ही शूर कहलाते हैं, ब्राह्मणों का बल वाणी में है, इसलिए उसका इसमें समावेश नहीं किया है ॥१६॥

आभास—एवमुक्त्वा स्ववाक्यसत्यत्वाय भगवान्स्वपौरुषं दर्शयामास इत्युक्त्वेति ।

आभासार्थ—यों कहकर भगवान् अपना कहना सत्य करने के लिए अपना पौरुष दिखाने लगे, जिसका वर्णन 'इत्युक्त्वा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—इत्युक्त्वा भगवान् शाल्वं गदया भीमवेगया ।

तताड जत्रौ संरब्धः स चकम्पे वमन्नसृक् ।

गदायां संनिवृत्तायां शाल्वस्त्वन्तरधीयत ॥२०॥

श्लोकार्थ—यों कहकर, भगवान् ने क्रोधित हो, भीम वेग वाली गदा से शाल्व के हंसलियों पर प्रहार किया, जिससे वह लोह उगलता हुआ कांपने लगा, गदा पीछे लौट गई तब शाल्व अन्तर्धान हो गया ।

सुबोधिनी—यतो भगवान् समर्थः । भीम-
वेगयेत्यलौकिकं सामर्थ्यं निराकृतम् । जत्रौ कण्ठ-
मालास्थितिनि । संरब्धः क्रोवेन क्रियावेशमात्रं
वा । ततः स शाल्वः । असृग्वमन् चकम्पे । तत-
स्तस्य लोहितं दृष्ट्वा कृतकार्या गदा निवृत्ता तस्यां । निवृत्तायां प्रहारान्तरेण मरणं भविष्यतीति
निश्चित्य असुरत्वाद्भगवद्रूपां माया प्रार्थयितु-
मन्तरधीयत । तु शब्देन महादेवपक्षो निवारितः
॥२०॥

व्याख्यानार्थ—क्योंकि भगवान् सर्व प्रकार शक्ति वाले हैं, 'भीमवेगवाली' इस विशेषण से

इससे अलौकिकता का निराकरण किया, 'जत्रौ' का अर्थ कण्ठमाला की अस्थियां अर्थात् हंसलियां, 'संरब्धः' क्रोध से अथवा क्रिया के आवेश मात्र से वैसी गदा का हंसलियों पर प्रहार किया, जिससे वह शाल्व लोह उगलता हुआ कांपने लगा, पश्चात् उसको लोह से लाल हुआ देख अपना कार्य सिद्ध हो गया समझ गदा लौट आई, उसके लौट जाने पर शाल्व ने सोचा कि इसी से वच गया हूं तो क्या ? फिर दूसरे प्रकार से मरूंगा, यह निश्चय जानकर, असुर होने से भगवद्रूप माया को प्रार्थना करने के लिए अन्तर्द्धान हो गया 'तु' इस शब्द से यह आशय प्रकट होता है कि महादेव अब इसका पक्ष नहीं लेते हैं ॥२०॥

अभास—ततो भगवद्रूपमायाकृत्यमाह ततो मुहूर्त इति ।

आभासार्थ—पश्चात् 'ततो मुहूर्त' श्लोक में भगवद्रूप माया का कार्य कहते हैं ।

श्लोक—ततो मुहूर्त आगत्य पुरुषः शिरसाच्युतम् ।

देवक्या प्रहितोस्मीति नत्वा प्राह वचो रुदन् ॥२१॥

श्लोकार्थ—पश्चात्, दो घड़ी के बाद एक पुरुष ने आकर, भगवान् का शिर से प्रणाम कर, रोते हुए कहा कि मुझे देवकी ने भेजा है ॥२१॥

सुबोधिनी—मुहूर्तान्तरं कश्चित्पुरुषः समागतः । इदं मानसनिराकरणम्, तेन मनसा प्राथितेनेश्वरेण क्रियत इति भगवतोऽपि मनस्येव वाचित्प्रतिभा सैव, स पुरुषो मायिकः तथापि भगवदीय इति भगवत्समीपागमनेऽपि न तस्य

नाशः । सोऽपि व्यामोहार्थमच्युतमव्यामुग्ध देवक्या अहं प्रहित इति आत्मानं निवेद्य पश्चाद्भगवन्तं नत्वा रुदन्वचः प्राह । देवक्यन्तरङ्गत्वस्यापनाय रोदनम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—एक मुहूर्त के बाद कोई पुरुष आया, यह मन से किया हुआ निराकरण है, शाल्व ने भगवद्रूप माया को मन से एक पुरुष की प्रार्थना की, भगवान् तो कर्त्ता हैं, जिससे उसके मनसे भी वह ही कोई प्रतिमा (मूर्ति) प्रादुर्भूत हो गई, वह पुरुष मायिक था, तो भी भगवदीय होने से भगवान् के पास आने पर भी उसका नाश न हुआ, उसने अच्युत भगवान् जो कभी मोह को प्राप्त नहीं होते हैं उनको मोहित करने के लिए कहा कि मुझे देवकी ने भेजा है, यों बताकर फिर भगवान् को प्रणाम कर, रोता हुआ निम्न वचन कहने लगा, उसका रोना इसलिए था कि भगवान् समझे कि यह देवकी का अन्तरङ्ग सेवक है ॥२१॥

अभास—तस्य वाक्यं कृष्ण कृष्णेति ।

आभासार्थ—'कृष्ण कृष्ण' इस श्लोक में उस पुरुष ने जो कहा वह कहते हैं ।

श्लोक—कृष्ण कृष्णं महाबाहो पिता ते पितृवत्सल ।

बद्ध्वापनीतः शाल्वेन सौनिहनेन यथा पशुः ॥२२॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महाबाहु ! हे पितृवत्सल ! कसाई जैसे शू को ले जाता है, वैसे शाल्व आपके पिता को बांधकर ले गया है ॥२२॥

सुबोधिनी—दुःखे वीप्सा । महाबाहो इति क्रियाशक्तिसामर्थ्यम् । वाच्यमाह पिता ते इति । पितृवत्सलेति । अभिमानार्थ संबोधनम् । बद्ध्वा प्रपनीत इति महत्यपमानना । स्वयमेव त्यक्ष्य-

तीति शङ्काभावाय दृष्टान्तमाह सौनिकेनेति । सूनायां प्रसिद्धः मारक एव अतो मारणार्थं नीतवानित्यर्थः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—कृष्ण ! कृष्ण ! दो बार दुःख प्रकट करने के लिए कहा है, हे महाभुज ! विशेषण से यह कहा कि आप में पूर्ण क्रिया शक्ति का सामर्थ्य है, आपके पिता को शाल्व बान्ध कर ले गया है, आप पितृवत्सल हैं यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि अपने मान का ज्ञान होवे, बान्ध कर ले गया है, इससे बताया है कि शाल्व ने बहुत अपमान किया है, ले गया है तो क्या ? स्वतः छोड़ देगा, ऐसा कृष्ण के मन में आवे तो उसके निराकरण के लिए कहा कि कसाई की तरह बान्ध कर ले गया है, जिसका भावार्थ है कसाई मारने के लिए ले जाता है वैसे यह भी मारने के लिए ले गया है अतः छोड़ देगा यों मत विचारो ॥२२॥

आभास—निराकरणार्थं भगवति भातमित्याह निशम्य विप्रियमिति ।

आभासार्थ—यों देखने में आया कि भगवान् की पराजय हुई है जिसका वर्णन 'निशम्य' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—निशम्य विप्रियं कृष्णो मानुषीं प्रकृतिं गतः ।

विमनस्को घृणी स्नेहाद्बभाषे प्राकृतो यथा ॥२३॥

श्लोकार्थ—यह अप्रिय वचन सुनकर, मनुष्य प्रकृति को प्राप्त दयालु भगवान् मन में उदास हो, प्राकृत की भांति स्नेह से कहने लगे ॥२३॥

सुबोधिनी—मानुषीं मनुष्यस्वभावमङ्गीकृत-
वान् । ततस्तत्स्वभावात् विमनस्कः घृणी पितरि

कृपावांश्च । ततःस्नेहाद्वक्ष्यमाणं बभाषे ॥२३॥

व्याख्यार्थ—उस समय भगवान् ने मनुष्य स्वभाव को अङ्गीकार किया । पश्चात् मनुष्य स्वभाव के कारण उदास और पिता पर दयालु, भगवान्, स्नेह के कारण, २४वें श्लोक में वर्णित शब्द कहने लगे ॥२३॥

आभास—‘मनः पूर्वं वागुत्तररूपम्’ इति श्रुतेः । ‘तस्य यजुरेव शिरः’ इति मानस-पुरुषस्य शब्दप्रकृतिकत्वात् शोकशब्दाभावे मानसपीडा पूर्णा नोक्ता भवतीति शब्दोपि निरूप्यते कथं राममिति ।

आभासार्थ—‘पहला रूप मन है दूसरा अन्तिम रूप वाणी है’ इस श्रुति के अनुसार तथा

उसका यजुष् ही शिर है, इस श्रुति के अनुसार, मानस पुरुष, शब्द प्रकृति वाला होने से, जब तक शोक के शब्द बाहर नहीं निकाले जाते हैं तब तक मन की पीड़ा पूर्ण (नाश) नहीं होती है, इसलिए भगवान् के कहे हुए वचन 'कथं राम' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—कथं राममसंभ्रान्तं जित्वाजेयं सुरासुरैः ।

शाल्वेनाल्पीयसा नीतः पिता मे बलवान्विधिः ॥२४॥

श्लोकार्थ— जिसको सुर और असुर जीत नहीं सकते ऐसे सावधान राम को जीत कर तुच्छ शाल्व, मेरे पिता को कैसे ले गया ? प्रारब्ध बलवान है ॥२४॥

सुबोधिनी—रामो रक्षार्थं नियुक्तः स चासं-
भ्रान्तः अतिसावधानः समयविशेषात् । अति-
क्रमस्तु तस्याशक्य एत्याह—सुरासुरैरजेयमिति ।
अयं सर्वोत्तमो भविष्यतीत्याशङ्क्याह शाल्वेना-
ल्पीयसा नीत इति । मे पितेति । भाग्यं वा तस्य
कथं न रक्षकं जातमित्यर्थः । सर्वातिक्रमस्य दृष्ट-
त्वात् नित्येच्छो विधिरेव बलवान् ॥२४॥

व्याख्यानार्थ—राम को रक्षा के लिए वहां रख आए थे, वहां वह बहुत सावधान भी थे, क्योंकि सावधान रहने का समय है, वैसे राम को जीतकर आना तो आशक्य है कारण कि देव और दैत्य भी जिसको नहीं जीत सकते, उसको यह क्या जीत सकेगा ? यह शाल्व सबसे उत्तम है, इसलिए जीता होगा, जिसका उत्तर देते हैं कि यह तो एक तुच्छ मनुष्य है वह जीत नहीं सकता है वह मेरे पिता को कैसे ले गया ? कदाचित् शाल्व को देव ने साथ दिया है तब लेजा सका है, अतः नित्य इच्छावाला देव ही बलवान् है ॥२४॥

आभास—न केवलं नयनमात्रं तदा मानसः क्लेशः संदिग्धोपि भवेत् कित्वनर्थान्तर-
मपीत्याह इति ब्रुवाण इति ।

आभासार्थ—केवल ले गया, इतना ही होता तो वो मन के क्लेश में सन्देह हो जाता, किन्तु यहां तो दूसरा भी अनिष्ट हुआ, जिसका वर्णन 'इति ब्रुवाणे' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—इति ब्रुवाणे गोविन्दे सौभराट् प्रत्युपस्थितः ।

वशुदेवमिवानीय कृष्णं चेदमुवाच सः ॥२५॥

श्लोकार्थ—भगवान् यों कह ही रहे थे कि इतने में वसुदेव जैसा पुरुष लेकर शाल्व आकर उपस्थित हुआ और वह श्रीकृष्ण को २६वें श्लोक में कहे हुए वचन कहने लगा ॥२५॥

सुबोधिनी—प्रत्युपस्थितः आभिमुख्येन समा-
यातः । ततो वसुदेवमिव मायिकं कंचन पुरुष
समानीय कृष्णमिदं वक्ष्यमाणमुवाच । यतः स
उपासितमायारूपभगवान् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—‘प्रत्युपस्थितः’ कृष्ण के सामने (शाल्व) आकर खड़ा हुआ, अपने साथ बनावटी सुदेव जैसा कोई पुरुष भी लाया था, उसने श्रीकृष्ण को नीचे श्लोक में कहे हुए शब्द कहे ॥२५॥

आभास—तस्य वाक्यं एष ते जनिता तात इति

आभासार्थ—‘एष ते जनिता’ श्लोक में उसके वचन हैं ।

श्लोक—एष ते जनिता तातो यदर्थमिह जीवसि ।

वधिष्ये वीक्षतस्तेऽमुमीशश्चेत्पाहि बालिश ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे बालिशः ! तेरा जन्मदाता यह पिता है, जिसके लिए तू जीता है, उसको तेरे देखते हुए अभी मार डालूंगा, जो शक्ति होवे तो इसको बचाले ॥२६॥

सुबोधिनी—भगवत्त्वादिन्द्रियप्रवृत्तिः । अजनिता अतात इति तु वस्तुस्थितिः । कृतेऽपि भूभारहरणे स्थितिः पितृर्थेति मन्यते यद्यप्यन्येषां स्थितिर्बहुकार्यार्था तथापि पितृभक्तस्य एतदेव कार्यमित प्रकृते क्लेषाधिक्याय आरोपन्यायेन पितृभक्तत्वं वदन् स्वतः पीडां कर्तुमशक्तः तदभावे स्वत एव पीडितो भविष्यतीति तथोक्तवान् ।

अधिकक्लेशार्थमाह वधिष्ये इति । क्रिया तु कर्तव्यैवेति । प्रतिज्ञाहान्यर्थ ईशश्चेत्पाहीत्युक्तवान् । स्वबुद्ध्या संबोधनं बालिनोऽपि श जस्मादिति । स्वयमेव द्वेषिणामप्युपकारं करोषीति मारणेनास्मान् कृतार्थान् कुर्विति प्रार्थना । मतान्तरभाषेति पदार्थो नात्राभिप्रेत इति न पदानाम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—शाल्व माया रूप भगवान् होने से उसकी यों बोलने में प्रवृत्ति हो सकी, मूल श्लोक में वास्तविक तो कहा कि वह पुरुष आपका अजनिता (जन्मदाता नहीं) और ‘अतात’ (पिता नहीं) है, यद्यपि श्रीकृष्ण की भूभार हरण के लिए वास्तविक स्थिति है और वह किया भी है, तो भी शाल्व मानता है कि पिता के वास्ते स्थिति है । यद्यपि लोक में दूसरों की स्थिति, बहुत कार्यों के करने के वास्ते होती है, किन्तु पितृ भक्त के लिए पिता की स्नेह से सेवा करने के लिए ही होती है, इसलिए प्रकृत विषय में, पिता के भक्त को पिता को दुःखी देखकर अधिक क्लेश होता है और उसको दुःख से छुड़ाने का प्रयत्न करना पड़ता है, इस प्रकार आरोप न्याय से पितृ भक्तत्व कह कर यह बताया कि स्वयं श्रीकृष्ण को पीड़ा देने में असक्त होने से स्वयं (खुद) ही दुःखी होगा, इसी तरह विशेष दुःख देने के लिए फिर वाणी से कहने लगा कि मैं इसको ‘मारूंगा’ यदि यह मेरी प्रतिज्ञा असत्य करने की शक्ति हो तो, इसकी रक्षा करो, शाल्व ने अपनी बुद्धि के अनुसार ‘बालिशः’ सम्बोधन दिया है, जिसका भावार्थ है कि आपने बालि का भी कल्याण ही किया था, क्योंकि आप शत्रु का भी कल्याण करने वाले हैं, अतः जैसे उसको मारकर उसका हित किया वैसे मेरा भी हित करो । यों प्रार्थना की है, यह मतान्तर भाषा है अतः यहां पदों का अर्थ इच्छित नहीं है, जिससे पदों का अर्थ अन्य प्रकार से नहीं किया गया है ॥२६॥

आभास—अर्थान्तरं वर्ण्यते ।

आभासार्थ—अर्थके अन्तर को वर्णन करते हैं ।

श्लोक—एवं निर्भत्स्य मायावी खङ्गेनानकदुन्दुभेः ।

उत्कृत्य शिर आदाय खस्थं सौभं समाविशत् ॥२७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार मायावी शाल्व ने भगवान् का तिरस्कार कर, खङ्ग वसुदेवजी का शिर काट डाला, उसको लेकर आकाश में स्थित सौभ में जाके बैठा ।

सुबोधिनी—निर्भत्सनं अभिमानप्रचयावनं तथाकरणे बलं मायावीति । 'मायेत्यसुरा' इति श्रुतेः । 'तं यथा यथोपासते तद्धैतान् भूत्वावति' इति च भगवतेव भगवान् एवं क्रीडतीति न काप्य-

नुपपत्तिः । अतो भगवदावेशात् लीला प्रदर्श इव आनकदुन्दुभेः शिरः खङ्गेनोत्कृत्य पुनर्योजनं भावाय खस्थं आकाशस्थितं सौभं मूलाश्रयं समाविशत् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—'निर्भत्सनं' इस पद का तात्पर्य है कि सामने वाले का तिरस्कार करना अर्थात् उसका अभिमान उतारना, शाल्व ने ऊपर कहे हुए शब्दों से श्रीकृष्ण का तिरस्कार किया, ऐसा करने की शक्ति इसमें कैसे आई ? इस शङ्का को 'मायावी' पद से मिटाता है अर्थात् माया कारण शक्ति आई है, 'मायेत्यसुराः' इस श्रुति के अनुसार असुरों का भगवान् माया है, 'तं यथा यथोपासते तद्धैतान् भूत्वावाऽवति' उस माया रूप भगवान् की जिस जिस भावना से उपासना व जाती है, वह वैसा होकर, उस उपासक की रक्षा करता है, इस श्रुति के अनुसार, इस प्रसङ्ग भगवान् ही भगवान् से क्रीड़ा कर रहे हैं, इसलिये किसी प्रकार अयोग्यता नहीं है अतः भगवान् के आवेश से लीला दिखाने वाले की तरह वसुदेव का शिर तलवार से काट कर फिर वह जोड़ा जावे इसलिए आकाश में स्थित 'सौभ' जो उसका मूल आश्रय था उसमें शाल्व ने प्रवेश किया । २७

श्लोक—ततो मुहूर्तं प्रकृतावुपप्लुतः स्वबोध आस्ते स्वजनानुषङ्गतः ।

महानुभावस्तदबुध्यदासुरीं मायां स शाल्वप्रसृतां मयोदिताम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—भगवान् तो स्वतः सिद्ध ज्ञानवान् हैं तो भी कुछ देर तक स्वजन स्नेह से मनुष्य स्वभाव में मग्न रहे, बाद में स्वतः भगवान् से समझ लिया कि, यह तो म. की दी हुई माया शाल्व ने चलाई है ॥२८॥

सुबोधिनी—एतन्मुहूर्तमात्रं । तृतीयेऽपि मुहूर्ते भगवान् इममर्थं चिन्तयन् तूष्णीं स्थितः । अनेन बलभद्ररक्षाभावशङ्कापि निवारिता । तदनन्तरं मुहूर्तमात्रं प्रकृतावेवोपप्लुतः सन् पश्चान्मानुषीं प्रकृतिं परित्यज्य अन्यप्रबोधाभावेपि स्वबोध एव

आस्ते । स्वज्ञानशक्ति प्रकटीकृतवान् । अत्रा क्रियाव्यवहितेन सम्बन्धः । स्वजनानुषङ्गः प्रकृतावुपप्लुत इति अस्वजनानुषङ्गतो वा तर स्वजनानुषङ्गो नास्तीति मोहाभावात् जिज्ञासः स्वबोधे स्थितिर्जातेत्यर्थः । ननु तथाप्युपदेशाभ

। ज्ञाननिष्ठा तदाह महानुभाव इति । तदा तामा-
 १ मायामबुध्यत् । इदं ममैव रूपान्तर्गमिति ।
 त्मजिज्ञासायामेव आत्मावबोध इति । अनेन
 स्मन्नपि कल्पे भगवतः शुद्धब्रह्मत्वमित्युक्तम् ।
 तत्वादिलीला सर्वावतारेष्विति न काप्यनुग-

पत्तिः । परमुपक्रान्ते भागवते कृष्णो नैवंविध इति
 अत्रापि साधारण्येन योजयतां दूषणमग्रे वक्तव्यं
 सा माया कुत उत्पन्ना, किं निष्ठेति तद्द्वयं
 निर्दिशति शाल्वप्रसृतां मयोदितामिति । शाल्वे
 व्याप्तां मयेन च निरूपिताम् ॥२८॥

व्याख्यानार्थ—यह मानुषी प्रकृति की लीला केवल एक मुहूर्त ही की है, तोसरे मुहूर्त में इस
 पथ का विचार करते हुए शान्त रहे । बलदेवजी ने वसुदेव की रक्षा नहीं की यह शङ्का भी इसमें
 टा दी । इसके बाद केवल एक मुहूर्त प्रकृति में मग्न होके, उस मानुषी प्रकृति का त्याग कर अन्य
 रा ज्ञान प्राप्त न होते हुए भी स्वतः स्वयं सब समझ गए, क्योंकि अपनी ज्ञान शक्ति जिसको मुहूर्त
 त्र तिरोहित किया था उसको पुनः स्वयं प्रकट किया जिससे समस्त ज्ञान हो गया ।

पहले कहा है कि स्वजनों के सम्बन्ध के कारण प्रकृति में मग्न हुए और यहां कहा कि स्वतः
 त्र उद्भूत हुआ, यों होने में (स्वतः ज्ञान उत्पन्न होने में) क्रिया से पृथक् होने वाले ज्ञान का
 सम्बन्ध है, अथवा 'अ स्वजनानुषङ्गतः' पदच्छेद करने से अर्थ होगा कि भगवान् को अपने जनों में
 म नहीं था, इसलिए मोह का अभाव था जिससे जानने में अपना ज्ञान स्वतः प्रादुर्भूत हो गया ।

उपदेश के बिना ज्ञान निष्ठा कैसे हुई ? इस शङ्का का 'महानुभावः' विशेषण से निराकरण
 करते हैं कि भगवान् महा प्रभाव वाले हैं, अतः आपने आसुरी माया को जान लिया, यह माया
 त्र ही रूपान्तर (दूसरा रूप) है, कारण कि जब आत्मा को जानने की इच्छा होती है, तब ही
 आत्मा का ज्ञान होता है, यों कहने से ज्ञात होता है कि उस कल्प में भी भगवान् श्रीकृष्ण शुद्ध ब्रह्म
 ही थे । भगवान् अज्ञत्व आदि लीला सब अवतारों में दिखाते हैं, अतः किसी प्रकार अयोग्यता नहीं
 है, परन्तु भागवत के उपक्रम अर्थात् आरम्भ में श्रीकृष्ण इस प्रकार के नहीं हैं यों यहां भी उनको
 साधारण 'देव' कहने वालों का दोष आगे कहा जाएगा, वह माया कहां से उत्पन्न हुई ? किसमें
 रही ? ये दो बातें कहते हैं कि 'मय' से उत्पन्न हुई और 'शाल्व' में रही ॥२८॥

आभास—ततो बोधेन तद्रूपे उपसंहृते तत्कार्याणां लयो जात इत्याह—न तत्र
 दूतमिति ।

आभासार्थ—ज्ञान शक्ति प्रकट होते ही माया रूप लीन हो गया, जिससे उसके कार्य भी
 समाप्त हो गए, यह 'न तत्र दूत' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—न तत्र दूतं न पितुः कलेवरं प्रबुद्ध आजौ समपश्यदच्युतः ।

स्वाप्नं यथा चाम्बरचारिणं रिपुं सौमस्थमालोक्य निहन्तुमुद्यतः ॥२९॥

१—शाल्व के अन्तर्धान होने के बाद एक मुहूर्त में एक पुरुष आया, दूसरे मुहूर्त में शाल्व ने
 माया का दिखाऊ दिखाया और तीसरे मुहूर्त में विचार करते हुए शान्त रहे ।

श्लोकार्थ—इस प्रकार ज्ञान शक्ति प्रकट करते हो, जैसे जागृत पुरुष स्वप्न के पदार्थों को नहीं देखता है, वैसे वहां युद्ध में भगवान् ने, न तो दूत को देखा और न पिता के शरीर को देखा, केवल सौभ विमान में बैठकर आकाश में घूमते हुए शाल्व को देखा, अनन्तर उस शत्रु को मारने की तैयारी की ॥२६॥

सुबोधिनी—अनेनापि भगवत्त्वमेव साधितम् । अन्यथा मायिकोपसंहारे हेत्वभावः, दूतः पितुः शरीरं च पूर्वं दृश्यमानमपि प्रबुद्धः सन् पश्चादाज्ञौ युद्धस्थाने न समपश्यत् । यतोऽयमच्युतः । रूपान्तरस्थितः—तथैवेति ज्ञापयितुं गूढार्थोऽयमिति दृष्टान्तमाह—स्वाप्नं यथेति । स्वप्नेऽपि स्वयमेव स्थितः परं रूपान्तरेणेति रूपान्तरस्वीकारस्यादर्शनं युक्तं । चकारेण मायामनोरथादिव मपि संगृह्यते—ततः अम्बरचारिणम् रिपुं सौभ स्थमालोक्य मारणपापेन महादेवभगवतोः उपेक्षणाद्रक्षकाभावात् निहन्तुमुद्यत इति पूर्वपक्षः ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—इससे भी यही सिद्ध होता है, कि श्रीकृष्ण भगवान् ही है । यदि भगवान् न हो तो मायिक पदार्थों के नष्ट हो जाने में कोई दूसरा कारण ही नहीं था । दूत और पिता का शरीर पहले देखे हुए दोनों को, ज्ञान प्रकट करते ही युद्ध स्थान पर न देखा क्योंकि ये 'अच्युत' ही केवल रूपान्तर था, वैसे ही जताने के लिए कहते हैं कि यह गूढ़ अर्थ है उसको समझाने के वास्ते दृष्टान्त देते हैं, कि जैसे कि, स्वप्न भी देखने वाला स्वयं ही होता है किन्तु रूपान्तर दूसरे रूप में होता है । जब वह पुनः स्वप्नस्थ रूप त्याग दूसरा असली रूप लेते हैं तो वह स्वप्न वाला स्वरूप देख में नहीं आता है । यह योग्य ही है । 'च' पद से, माया से जो मनः कल्पित रूप होते हैं उनको ग्रहण किया है । पश्चान् आकाश में फिरते हुए सौभ में स्थित शत्रु को देख, उसको यदि मारा जाय तो पाप लगेगा । महादेव तथा भगवान् ने अब इसकी उपेक्षा की है अतः इसका कोई रक्ष नहीं है, जिससे श्रीकृष्ण ने इसके मारने का उद्यम किया, यह पूर्व पक्ष है ॥२६॥

आभास—सिद्धान्तमाह एवमिति ।

आभासार्थ—'एवमिति' श्लोक से लेकर सिद्धान्त कहते हैं ।

श्लोक—एवं वदन्ति राजर्षे मुनयः केचनान्विताः ।

यत्स्ववाचो विरुद्धेरन्तूनं ते न स्मरन्त्युत ॥३०॥

श्लोकार्थ—हे राजर्षि ! मुनि लोग यों कहते हैं, कितने ही इनमें ऐसे भी हैं ज योग्य कहते हैं । प्रायः ऐसे हैं जिनके कहे हुए वाक्यों में विरोध होता है । किन्तु हमने वहाँ क्या कहा है और यहाँ क्या कहते हैं, इसका स्मरण व ध्यान हो नहीं रहता है ॥३०॥

सुबोधिनी—अस्य पूर्वपक्षत्वं युक्तिबोधेन वक्तव्यमेव । मननेन संजातं यदार्पज्ञानं तेनोत्प्रेक्षया एव ज्ञात प्रमाणवाधेनापि निरूप्यते । एवं मुनयो वदन्तीति । वदन्ति मूलविरोधे आर्पज्ञानमप्रमाणमिति ज्ञा

यादा उपजीव्यविरोधात् । यथा प्रमाणबोधित-
मैणैव आर्षज्ञानं वृत्तमिति प्रमाणविरोधेन
रूपितानि साङ्ख्यादिमतान्यप्रमाणानि । एवं
गवदनुभावकृपाव्यतिरेकेण प्रमेयबलं विना
र्षज्ञानं न भवतीति तेन ज्ञानेन भगवन्नि दोष-
र्जनं स्वजन्मनि मातृव्यभिचारदर्शनमिव सर्वथा
बाधितविषयत्वादुपेक्ष्यम् । तथापि धृष्टः निर्लज्जा
वदन्ति मूलभूतेषु भगवति दोषांस्तानुपहसति
नृपो वदन्तीति । ऋषय इत्यपि तथा । राजर्ष-
ेति संबोधनं स्वपक्षपरपक्षाभिनिवेशयोः विश्वा-
ोपहासो बोधयति । एतेषां मध्ये केचनैवान्विताः
कृपादिनः सर्वनिराकरणे अर्धनिराकरणं प्रो-

चनार्थम् । नान्विता इति पदच्छेदे सर्वनिराकरणं
वा । उपहासे युक्तिमाह—यत्स्ववाचो विरुध्येर-
न्निति । ते किं कल्पान्तरव्यवस्थां योगबलेन
ज्ञात्वा वदन्ति आहोस्वित् इदानीतनभगव्यव-
स्थाम् । आद्ये नास्माकं कापि क्षतिः । द्वितीये तु
'कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्' इति शास्त्रपर्यालोचनया
तदनुगुणा एव धर्मा वक्तव्या इति विरुद्धकथनात्
ते तून् न स्मरन्ति । अपि च । तादृशार्षज्ञानेन
उत अपि पूर्वमपि स्मृतमप्रमाणमेव । ननु सर्वेष्वव-
तारेषु अवतारधर्माः प्रवर्तन्ते अन्यथा वसुदेवसुत-
त्वादयोऽपि बाधितार्था इति न वक्तव्याः स्युः
॥३०॥

व्याख्यानार्थ—यह पूर्व पक्ष है । इसको युक्ति में सिद्ध करना ही है । प्रमाण के बाध होने से
यह पूर्व पक्ष सिद्ध होता है । इस प्रकार मुनि लोग कहते हैं, अर्थात् मुनि लोग जो कुछ कहने हैं
ह ज्ञान मनन करने से उत्पन्न होता है । उसके अनुमान में अपने सिद्धान्त कहते हैं । किन्तु यदि
ह सिद्धान्त, मूल शास्त्रों से विरुद्ध हो तो, वह ऋषियों का ज्ञान वा सिद्धान्त, प्रमाण नहीं है ।
इस प्रकार शास्त्र की मर्यादा है । क्योंकि जिन शास्त्रों के ऊपर उनका आधार है, उनसे विरुद्ध है,
वैसे प्रमाणों में (शास्त्रों में) कहे हुए धर्म के कारण ही ऋषियों को ज्ञान हुआ है । उस ज्ञान से
विरुद्ध सिद्धान्त कहने वाले, साङ्ख्यादि मत, इसलिए ही अमान्य हैं, अतः भगवान् की प्रभावशाली
कृपा के विना अर्थात् प्रमेय बल के विना आर्षज्ञान (ऋषि को सत्य ज्ञान) नहीं होता है, इस कारण से
ऋषियों के ज्ञान से भगवान् में दोष देखना वैसा है जैसा माता का व्यभिचार देखना, सर्वथा असत्य
ह जिससे वह उपेक्षा के योग्य ही है । तो भी जो निर्लज्ज हैं और मूलभूत भगवान् में दोष देखते हैं,
उन पर श्री शुकदेवजी उपहास करते हुए कहते हैं कि 'मुनयः वदन्तिः' यदि ऋषयः पद हो तो
यह भी वैसे ही है । राजर्षे ! यह सम्बोधन देने से, अपने पक्ष और अन्य के पक्ष में आसक्ति वालों
पर विश्वास और उपहास किया है । इनमें से कितने ही योग्य कहने वाले हैं । सब को असत्य कहने
वालों से आधे को असत्य बनाने वाले ठीक हैं । क्योंकि वे इस प्रकार कह कर शेष जो रह जाते हैं,
उनका अपनी तरफ आकर्षण करते हैं । 'अथवा नान्विता' यों पदच्छेद करने से सबका निराकरण
हो जाता है । उपहास में युक्ति कहते हैं, जो अपनी वाणी में विरोध होता है, इन शब्दों से, उपहास
न तर्क दिया है, वे योग बल से अन्य कल्प की व्यवस्था कहते हैं ? अथवा इस समय की भगवान्
की व्यवस्था कहते हैं, यदि प्रथम योग बल से कहता है तो इससे हमारी कोई हानि नहीं है, अबकी
भगवान् की स्थिति कहता होवे तो श्रीकृष्ण तो स्वयं भगवान् हैं, इसलिए शास्त्रों के पर्यालोचन
पूर्वक ही उसके योग्य ही धर्म कहने चाहिए, इससे विरुद्ध कहने से वे शास्त्र विरुद्ध होने से, उनको
आस्तविक पूर्वा पर का अनुसन्धान नहीं रहता है । वैसे ऋषि ज्ञान से और प्रथम का स्मरण भी
व्यप्रमाण ही है, सर्व अवतारों में अवतार के गुण होते हैं, नहो तो वसुदेव का सुत होना यदि मुख
छूटे होने से नहीं कहने चाहिए ॥३०॥

आभास—तस्मादवतीर्णस्य दोषवर्णनं न बाधितमिति शङ्कायामाह-क्व शोकमोहौ स्नेहो वेति ।

आभासार्थ—इस कारण से अवतार लेने वाले भगवान् के दोषों का वर्णन करने में किसी प्रकार का विरोध नहीं है यह 'इव शोकमोहौ' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—इव शोकमोहौ स्नेहो वा भयं वा येऽज्ञसंभवाः ।

क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्यसुरेडितः ॥३१॥

श्लोकार्थ—शोक, मोह, स्नेह और भय ये सब अज्ञानी मनुष्यों को ही होते हैं, वे कहाँ ? और जिनमें ज्ञान विज्ञान व ऐश्वर्य सब इडित है एवं जो देवों से भी प्रशंसित हुए हैं, वे श्रीकृष्ण कहाँ ? ॥३१॥

सुबोधिनी—अयमवतारः नावतारन्तरवत् केनचिदंशेन अज्ञानशक्तिसहितो वा किन्तु साक्षात्पुरुषोत्तमस्यैव पूर्णशक्तिमतः ततश्च तत्र पूर्णरूपे प्रथमतो हीनभाव एव बोधयितुमनुचितः भक्तोत्कर्षबोधनाभावात् तत्रापि पितृर्थं शोकः मोहश्च । मायिके पितृत्वबुद्धिस्तस्मिंश्च स्नेह इति । वेत्यनादरे । तदनुगुणं वचनं च 'पिता मे वलवान्विधिः' इत्यादि । एते कथं न भवन्तीत्याह अज्ञसंभवा इति । अज्ञानगृहीत एवं चैतन्ये एतेऽन्तःकरणस्य धर्माः संभवन्ति । प्रकृतेऽप्येवमेवास्तिवति चेत्तत्राऽऽह क्व चाखण्डितविज्ञानज्ञानैश्वर्य इति । भगवति सर्वदा त्रयं सिद्धं सर्वलीलास्वपि

अखण्डित विज्ञानमात्मानुभवः, ज्ञानं सर्ववस्तूनां ऐश्वर्यं पूतनासुपयःपानप्रभृतिः सर्वत्र त्रयाणां निरूपणात् यत्राज्ञानं बाल्ये सर्वजनीनं तत्र यदि नास्ति तदा कथमिदानीं जीवानामपि विवेकदशायां तत्संभवेत् । न च लोकास्तथैव बोधयन्त इति पक्षः लोकानामपि भगवान्निरतिशयैश्वर्य इति बुद्धिः । यतः सुरैरनुक्षणमीडितः । उपलक्षणमेतत् । पारिजातहरणगोवर्द्धनोद्धरणकालियदमनादीनि पामराणामपि माहात्म्यज्ञापकानि भगवच्चरित्राणि सन्ति । अतः सर्वथास्मिन्नवतारे केनाप्यंशेनाज्ञानादिकथनं बाधितविषयमेव ॥३१॥

व्याख्यार्थ—यह अवतार, अन्य अवतारों की तरह किसी अंश से अथवा अज्ञान शक्ति सहित प्रकट हुवा है, यों नहीं है, किन्तु साक्षात् पूर्ण पुरुषोत्तम पूर्ण शक्तिमान का ही अवतार है । कारण कि, इस हीन भाव के सुनने से भक्तों में भगवान् के लिए उत्कर्ष भाव का अभाव होगा । उस हीन भाव में भी पिता के लिए शोक और मोह, मायिक शरीर में पितृत्व बुद्धि एवं उसमें स्नेह कहना सर्वथा अनुचित है, 'वा' शब्द अनादर में है, मेरे पिता को कैसे ले गया ? विधि वलवान् है ऐसे उसके समर्थक वचन कहने योग्य नहीं है, ऐसा आप किस कारण से कहते हो कि यों कहना अनुचित है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'अज्ञ सम्भवः' ये गुण अज्ञानियों में उत्पन्न होते हैं अर्थात् ये गुण अज्ञान से उत्पन्न होते हैं अतः जिनके अन्तःकरणों को अज्ञान ने घेर लिया है, वैसे चैतन्यों में ये गुण प्रकटते हैं । प्रकृत प्रसंग में भी यों ही है अर्थात् श्रीकृष्ण के चैतन्य को भी अज्ञान ने घेर लिया है यों समझिये, इसके उत्तर में कहा है कि यों नहीं है, क्योंकि, श्रीकृष्ण तो अखण्डित विज्ञान, ज्ञान और ऐश्वर्यवान् है जिसने ये तीन ही सब काल में आपसे मिट्ट है सब प्रकार की लीला करते

आपका विज्ञान अखण्डित रहता है जिससे आत्मस्वरूप का अनुभव, सर्व वस्तुओं का ज्ञान, के प्राणों को पय के साथ पान करना आदि लीला का स्मरण सदैव रहता है, वचन में सबमें रहता है यह सर्वत्र प्रसिद्ध है, वह भी जिनमें नहीं है तब इस समय जबकि मनुष्य भी समझ है तो आपमें अज्ञान कैसे हो सकता है ? यदि कहो कि लोगों को ऐसा ज्ञान दिया जाता है तो हुना भी उचित नहीं है, भगवान् में तो लोगों से बिल्कुल विशेष असीम ऐश्वर्य बुद्धि है यों भी जानते हैं क्योंकि आपकी प्रतिभरण देवता स्तुति कर रहे हैं, यह स्तुति तो केवल उपलक्षण है, पारिजात वृक्ष को स्वर्ग से ले आना, गोवर्द्धन पर्वत को सात दिन तक हस्त पर उठाना, व नाग को वश में लाना आदि भगवान् के चरित्र तो पामरों को भी अपना माहात्म्य बताने हैं, अतः इस अवतार में किसी भी अंश में अज्ञान आदि कहना सर्व प्रकार असत्य ही है ॥३१॥

आभास—किंच । यद्यस्मिन्नवतारे कोऽप्यंशः अज्ञानकृतः प्रदर्शनार्थो वा भवेत् प्रमवतार एव न भवेत् । मोक्षदानमेवास्यावतारस्य प्रयोजनम् । अन्यत्तु गौणमेवणां निःश्रेयसार्थाय' इति वाक्यात् । अन्यथा कामादिभिर्भजने मोक्षो न स्यात् । त्तयोगविधानार्थ' इत्यपि पक्षे माहात्म्यविघटकत्वादिदं चरित्रमसमञ्जसमित्यभिः ॥३१॥ यत्पादसेवोजितयात्मविद्ययेति ।

आभासार्थ—और विशेष, यदि इस अवतार में कोई भी अंश अज्ञान से किया हुआ होता वा केवल दिखाऊ^१ होता, तो यह अवतार ही नहीं कहा जाता, इस अवतार का प्रयोजन तो दान^२ ही है, दूसरे तो गौण है, यदि मोक्ष के लिए न होता तो, काम क्रोध आदि से भजन ने पर भी मोक्ष न देते । 'भक्तियोग विधानार्थ' भक्ति योग को सत्य सिद्ध करने के लिए, इस अनुसार भी माहात्म्य ज्ञान के विघटक^३ होने से यह चरित्र असमंजस है,^४ इस अभिप्राय से 'पादसेवोजित' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—यत्पादसेवोजितयात्मविद्यया हिन्वन्त्यनाद्यात्मविपर्ययग्रहम् ।

लभन्त आत्मानमनन्तमीश्वरं कुतो नु मोहः परमस्य सद्गतेः ॥३२॥

श्लोकार्थ—जिनके चरणों की सेवा से, वृद्धिगत आत्म विद्या से सत्पुरुष, अनादि आल से प्राप्त देहात्मवाद की अविद्या को नाश करते हैं जिससे अनन्त ईश्वर आत्मस्वरूप श्रीकृष्ण को प्राप्त करते हैं, वे सर्वोत्कृष्ट, शरणागतों की गति रूप श्रीकृष्ण मोह फँसे, यह सम्भव ही नहीं है ॥३२॥

१- वनावटी, २- १०.२६-४४ भी देखो, ऋणां नि श्रेयसार्थाय' इस वाक्यानुसार ३- नाश-कारक, ४-दुविधा में डालने वाला है ।

सुबोधिनी—यस्य पादसेवया ऊजिता आत्म-
विद्या भवति । ब्रह्मविच्चरणसेवया उत्पन्ना
भगवच्चरणसेवया पुष्टा भवति । बीजभावदेह-
भावयोर्लोके महान् विशेषः । तथा गुरोर्भगवतः
सकाशाच्च जायमानज्ञानविशेषः । एवं यत्र चरण-
सेवकानामन्येशमेवं भवति । यत्र च गुरोरपि
मोहो निवार्यते तत्र कथं भगवन्मोहसंभवः ।
किञ्च । न केवलं तेषां ज्ञानमेवोत्पद्यते किन्तु तेन
ज्ञानेन अनाद्यात्मविपर्ययग्रहं हिन्वन्ति नाशयन्ति ।
अनादिर्योऽयमात्माग्रहः ततो विपर्ययः देहादिवुद्धिः
तत्र योयमाग्रहः समूलकमज्ञानकार्यं नश्यतीत्यर्थः ।
न केवलं तावन्मात्रं किन्त्वज्ञाननिवृत्त्यनन्तरं
आत्मानं भगवन्तमपि लभन्ते । ननु स्वात्मा लब्ध
एव को विशेष इति चेत्तत्राह अनन्तमीश्वरमिति ।
अपरिच्छेद ऐश्वर्य आत्मना आत्मन्येव तत्रैश्वर्यं
तच्चेदेति सर्ववादिसंमतं परिच्छेदस्तु केषांचिन्मते

आविद्यकः । उभयथापि विशिष्टात्मा सायुज्य एव
प्राप्नोति भवति । ततश्चैकस्मिन्नेव जन्मनि चरण-
सेवामात्रेण निषिद्धप्रकारेणापि अविद्यानिवर्तकं
ज्ञानं अनुपदमेव सायुज्यं च ज्ञानमार्गेऽपि जन्म-
कोटिभिः साध्यं कथं लभन्ते । अतस्तेषामस्मिन्न-
प्रवतारे अज्ञानादिवर्णनं शास्त्रान्तरकरणज्ञानव-
दुपेक्ष्यमेव । ननु प्रदर्शनार्थं शिवतद्भक्तमाहात्म्य-
कथनार्थं वा तथा लीलाप्रदर्शनं भविष्यतीति चेत्
तत्राऽऽह परमस्य सद्गतेरिति । कालादेरपि
परस्य को महादेवतद्भक्तानुरोचः सतां गतेश्च
कथं मोहप्रवर्तकत्वम् । सन्त एव न मोहं प्रदर्श-
यन्ति कुतस्तेषामपि गतिः । अवतारान्तरेऽपि
भक्तैः सहलीलायामेव पराजयादिवर्णनम् 'मद्-
भक्तपूजाभ्यधिका' इति प्रदर्शनार्थम् तस्मात्प्रकृते
मोहहेतोः कस्याप्यभावात् । नु इति निश्चये न
कुतो मोह ॥३२॥

व्याख्यार्थ—जिस (श्रीकृष्ण) की सेवा से आत्मविद्या बढ़कर दृढ़ होती है, ब्रह्मवेत्ताओं की
चरण सेवा से आत्मविद्या उत्पन्न होती है, फिर वह भगवान् की चरण सेवा से बढ़कर दृढ़ होती है,
जैसे बीज भाव और देह भाव में बहुत भेद है, वैसे ही गुरु से प्राप्त ज्ञान में और भगवान् से प्राप्त
ज्ञान में भी बहुत भेद है क्योंकि गुरु प्राप्त ज्ञान दृढ़ नहीं होता है जब तक भगवत्कृपा से वह बढ़कर
दृढ़ नहीं होता है यह भी भेद है । भगवच्चरणों की सेवा करने वालों का मोह नष्ट होकर ज्ञान पूर्ण
रूप से पुष्ट होता है तथा जिससे गुरु का भी मोह नष्ट होता है, वहाँ भगवान् में मोह होना, कैसे संभव
हो सकता है ? और विशेष उनमें केवल ज्ञान ही उत्पन्न होता है यों नहीं है, किन्तु उस ज्ञान से, वे
अनादि देहात्मवाद^१ अज्ञान को नाश करते हैं, अर्थात् जीव को आत्मस्वरूप का जो अनादि सत्य ज्ञान
था वह अविद्या से नष्ट होकर देह ही आत्मा है ऐसा अज्ञान उत्पन्न हो जाता है, उस अज्ञान में अविद्या
के कारण आग्रह हो जाता है, वह अविद्या कृत झूठा आग्रह नष्ट होकर आत्मस्वरूप का ज्ञान प्राप्त
हो जाता है, इतना ही नहीं किन्तु ज्ञानानन्तर आत्मरूप भगवान् को भी प्राप्त कर लेते हैं ।

अपनी आत्मा तो प्राप्त ही है इसमें कौनसी विशेषता हुई ? यदि यों कहते हो तो, इसका
समाधान यह है कि, जो आत्मा आप प्राप्त ही है कहते हो वह तब ऐश्वर्य और अनन्तता वाली नहीं
थी उसमें उस समय ऐश्वर्य और अनन्तता तिरोहित थी अब भगवान् में सायुज्य होने से उसमें
ऐश्वर्य और अनन्तता आदि गुण प्रकट हुए हैं, यही विशेषता है । इसलिए ही 'अनन्तमीश्वरं'
विशेषण कहे हैं । असीम ऐश्वर्य आत्मा^२ में ही है, अतः जब जीव रूप आत्मा उस परमात्मा में
सायुज्य प्राप्त करता है तब वह भी वैसा हो जाता है, सर्व वादी इस प्रकार ही मानते हैं । किन्ही

मत् में यह परिच्छेद^१ अविद्या कल्पित है, दोनों मतों के अनुसार जब सायुज्य प्राप्त होता है व ही विशिष्टात्मा^२ की प्राप्ति होती है, एक ही जन्म में केवल चरण सेवा करने से एवं जो कामादि आयुज्य प्राप्ति में बाधक हैं उनसे भी, अविद्या का नाश करने वाला ज्ञान, और ज्ञानमार्गानुसार कोटि जन्मों से प्राप्त होने वाला सायुज्य शीघ्र ही कैसे प्राप्त हो जाता है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि, ऐसे अन्य शास्त्रों में कहे हुए साधनों से ज्ञान प्राप्त होगा, उसकी उपेक्षा की जाती है, वैसे ही इस अवतार में मुनियों ने जो अज्ञान आदि का वर्णन किया है वह भी उपेक्षा के योग्य है ।

दिखाने के लिए अथवा शिव भक्त की महिमा कहने के वास्ते यों लीला करते होंगे ? इस पर कहते हैं कि 'परमस्य सद्गतेः' ये उत्तम सत्पुरुषों के फलरूप हैं, कालादि से भी जो पर^३ (भगवान्) हैं उनके आगे महादेव और उसके भक्त का अनुरोध^४ क्या वस्तु है ? जो सत्पुरुषों की गति है वे मोह के प्रवर्तक कैसे होंगे ? जो सत्पुरुष हो मोह नहीं दिखाते हैं अर्थात् मोह को प्राप्त नहीं होते हैं, तो जो सत्पुरुषों की गति है वे मोह कैसे दिखावेगे ? दूसरे अवतारों में भी, मेरे भक्तों की पूजा विशेष अधिक है' यो दिखाने के लिए ही भक्तों के साथ लीला करने में ही पराजय आदि का वर्णन है अतः प्रकृत प्रसङ्ग में अर्थात् श्रीकृष्ण में मोह होने का कोई भी कारण नहीं है, इसलिए 'नृ' पद से कहा है कि निश्चय से श्री कृष्ण में कैसे मोह होगा ? अर्थात् मोह नहीं है ॥३२॥

आभास—तर्हि अत्र जाल्वयुद्धे किं जातमित्याकाङ्क्षामाह तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसेति ।

आभासार्थ—तब यहां जाल्व के युद्ध में क्या हुआ ? इसकी आकांक्षा में 'तं शस्त्रपूगैः' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तं शस्त्रपूगैः प्रहरन्तमोजसा शाल्वं शरैः शौरिरमोघविक्रमः ।

विध्वाच्छिनद्धर्म धनुः शिरोमणिं सौभं च शत्रोर्गदया हरोज्ज ह ॥३३॥

श्लोकार्थ—अमोघ पराक्रम वाले भगवान् ने अनेक शस्त्रों से प्रहार करते हुए, शाल्व को अपने सामर्थ्य से बाणों से वेधकर, उसके कवच, धनुष व मस्तक के मणि को काटकर, शत्रु के सौभ विमान को भी गदा से तोड़ डाला ॥३३॥

सुबोधिनी—अत्र केचिन्मोहदर्शनप्रभृति सर्वमेव बाधितं किन्तु गृह एव विद्यमाने भगवति तस्मिन्नागते शस्त्रपूगैः प्रहरन्तं मारितवानित्याहुः । अन्ये त्विन्द्रप्रस्थादेवाऽऽगत्य स्वसैन्यं शस्त्रैः प्रहरन्तं दृष्ट्वा मारितवानिति, अपरे तु बाहुवेधादिमोहप्रदर्शनं जातमेव केवलं भगवति मोह एव

निषिद्धः नत्वन्य इति पश्चान्मोहाभाव एव । पुनरागत्य शस्त्रैः प्रहरन्तमिति तत्र मतान्तरत्वात् कल्पान्तरे सर्वमेव यथार्थं भगवति तु तस्य सर्वस्यापि सप्रकरणस्य मोहस्य निषिद्धत्वात् । अष्टाविंशे दिवसे केवलं स्वयमागत्य मारितवानिति । एकः पक्षः सभार्यो वा समागत वा मारितवा-

निति । शस्त्रभूगैः शस्त्रसमूहैः अवान्तरजातिभेदा-
पन्नेः नानाशस्त्रोद्भवैर्वा ओजसा प्रहरन्तं शाल्वं
शरैस्त्रिभिर्विध्वा तरेवाच्छिनत् । वमं धनुः शिरो-
मणिं च, पुनरन्यैर्वाणैः सौभं चकारात्तं च । ततो
निकटं समागतं सौभं वाणप्रहारैरानीतं गदया
रुरोज । पीडां संपादितवान् । हेत्याश्चर्ये ॥३३॥

व्याख्यार्थ—इस विषय में पृथक् पृथक् मत कहते हैं—

(१) कितने ही कहते हैं कि श्रीकृष्ण ने मोह दिखाया वहां से लेकर सब असत्य है, किन्तु भगवान् तो घर में ही विराजते थे, वहां शाल्व ने शस्त्रों से भगवान् पर प्रहार किया तब भगवान् ने उसको मारा,

(२) दूसरे कहते हैं कि इन्द्रप्रस्थ से आकर ही देखा कि अपनी सेना पर शस्त्रों से शत्रु प्रहार कर रहे हैं, उसी समय उसको मार डाला,

(३) तीसरे कहते हैं कि भगवान् की भुजा का वेध हुआ आदि वैसा मोह का प्रदर्शन भगवान् ने किया है, भगवान् से मोह ही निषिद्ध है न कि अन्य कुछ निषिद्ध है (मोह का प्रदर्शन जो कहा है वह सिद्धान्त के विरुद्ध है) पश्चात् मोह का अभाव ही कहा है । फिर आकर शस्त्रों से प्रहार करने वाले शाल्व को मारा, यह मतान्तर होने से दूसरे कल्प में सब ही यथार्थ हैं । भगवान् के सम्बन्ध में तो समस्त प्रकरण में कहे हुए मोह का निषेध है क्योंकि सिद्धान्त से विरोध है, २० वें दिन केवल स्वयं (खुद) भगवान् ने आकर शाल्व को मारा है, एक पक्ष यह भी है कि भगवान् ने पत्नी के साथ आकर शाल्व को मारा है ।

अनेक प्रकार के एवं विभिन्न जाति वाले शस्त्रों के समूहों से प्रहार करने वाले शाल्व को श्रीकृष्ण ने तीन वाणों से वीधकर, उन वाणों से ही उसके कवच, धनुष और शिर के मणि को तोड़ डाला अनन्तर दूसरे वाणों से सौभ और शाल्व को वेध डाला, पश्चात् वाणों के प्रहारों से समीप लाए हुए सौभ को और उसको भी गदा से पीडा की, अर्थात् टुकड़े कर दिए, 'ह' शब्द आश्चर्य प्रदर्शनार्थ दिया है ॥३३॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह तत्कृष्णहस्तेरितयेति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'तत्कृष्ण' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तत्कृष्णहस्तेरितया विघूर्णितं पपात तोये गदया सहस्रधा ।

विसृज्य तद्भूतलमास्थितो गदामुद्यम्य शाल्वोऽच्युतमभ्यगाद्द्रुतम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—भगवान् के हस्त से प्रेरित गदा से वह विमान अनेक प्रकार से चूर्णित होकर जल में गिर पड़ा, तब शाल्व विमान छोड़ पृथ्वी पर खड़ा हो गदा ले शीघ्र भगवान् के पास आया ॥३४॥

सुबोधिनी—प्रथमतः कालात्मा तत्रापि पूर्णा तिमिकादि सर्वरक्षकाणां निवृत्तत्वात् विघूर्णित-
त्रिधाशक्तिः । तथा च प्रेरिता गदा अत आध्या- सत् गदया सह तोये सहस्रधा भूत्वा पपात

।दयेत्यनुवादो वा । करणत्वं तु प्रहार एव ।
नर्हस्ते वा समागमनम् । ततः शाल्वस्तद्विसृज्य
तलमास्थितः सन् गदामुद्यम्य भ्रान्तः सन्

अच्युतमभ्यगात् । अच्युत एवायं किं गमनेन
पराक्रमेण वा ॥३४॥

व्याख्यानार्थः—पहले तो श्रीकृष्ण स्वयं काल रूप, फिर आपकी पूर्ण क्रियाशक्ति रूप श्रीहस्त, जिससे प्रेरित जो गदा थी, उस गदा के प्रताप से सौभ के आध्यात्मिक आदि रक्षक निवृत्त हो गए, इसलिए वह सौभ घूमता हुआ अनेक टुकड़े होकर जल में पड़ा, 'गदया' शब्द पहले कहे हुए का फल अनुवाद है । सौभ के जो टुकड़े हुए, वे तो प्रहार से ही हुए थे । वह गदा पुनः भगवान् के हस्त में आ गई, अनन्तर शाल्व, सौभ को छोड़, स्वयं पृथ्वी पर खड़ा होकर गदा ले भ्रान्त हुआ अच्युत के पास शीघ्र आ गया, ये तो अच्युत है, इनके पास गदा लेकर आना व पराक्रम से आना दोनों व्यर्थ हैं ॥३४॥

आभासः—ततो यज्ज्ञातं तदाह आधावत इति ।

आभासार्थः—पश्चात् जो हुआ वह 'आधावतः' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक - आधावतः सगदं तस्य बाहुं भल्लेन छित्वाथ रथाङ्गमद्भुतम् ।

वधाय शाल्वस्य लयार्कसंनिभं बिभ्रद्बभौ सार्क इवोदयाचलः ॥३५॥

श्लोकार्थः—दौड़ते आते हुए शाल्व का गदा सहित हस्त, भाले से काटकर पश्चात् उसके वध के लिए, प्रलय काल के सूर्य के समान सुदर्शन चक्र धारण करते हुए भगवान्, सूर्य सहित उदयाचल के समान, शोभा देने लगे ॥३५॥

सुबोधिनी—भल्लेन हस्तच्छेदः क्रियाशक्तेः प्रथक्करणार्थः । ततो रथाङ्गेन मोक्षदानार्थं अद्भुतं रथाङ्गं लयार्कसंनिभं दर्शनेनैव मृत्युभयजनकं बिभ्रद्भगवान् बभौ । तावदेव सर्वेषां

प्रातःकाल इव महत्सुखं जातमित्याह सार्क इवोदयाचल इति । किञ्चित्कालं शस्त्रं धृत्वा स्थितिः महादेवादिपरीक्षार्था यद्यस्ति कश्चिदस्य रक्षकः तदा समायातिविति ॥३५॥

व्याख्यानार्थः—भाले से शाल्व का हस्त इसलिए काट डाला कि उसकी क्रियाशक्ति उससे प्रथक् हो जावे पश्चात् उसको चक्र से मोक्ष देना था इसलिए सुदर्शन चक्र धारण किया, वह अद्भुत चक्र, प्रलय के सूर्य के समान चमक रहा था, अतः उसके दर्शन से ही मृत्यु भय उत्पन्न हो जाता, ऐसे चक्र को धारण करते हुए भगवान् शोभित होने लगे, जैसे प्रातः समय होते ही सबको सुख प्राप्त होता है वैसे ही अब सबको महान् आनन्द प्राप्त हुआ, इसलिए कहा है कि 'सार्क इवोदयाचलः' सूर्य सहित उदयाचल जैसे सुखद हैं वैसे यह भी सुखद हुए । भगवान् चक्र को धारण कर कुछ समय ठहर गए, जिसका कारण यह है कि भगवान् कहने लगे कि कोई भी महादेव आदि देव इसका रक्षक होवे तो अब बचाने के लिए सामने आ जावें ॥३५॥

श्लोक - जहार तेनैव शिरः सद्गुण्डलं किरीटयुक्तं पुरमायिनो हरिः ।

वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दरो बभूव हाहेतिवचस्तदा नृणाम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—इन्द्र ने जैसे वज्र से वृत्र का शिर काट डाला, वैसे भगवान् ने अनेक माया करने वाले शाल्व का किरीट और कुण्डल सहित शिर उस चक्र से उड़ा दिया, उस समय उसके पक्ष वालों ने बहुत हाहाकार शब्द किए ॥३६॥

सुबोधिनी—ततः न कस्यापि समागमने तेनैव शिरश्चिच्छेद । अन्यार्थं चक्रं धृतमिति तुच्छत्वादस्य वधोऽन्येन भविष्यतीति तेनैवेत्युक्तम् । सकुण्डलमिति । सर्वदेवाधिष्ठितमपि तत्रापि पुरमायिनः पुरलक्षणा मोहमाया यस्य, एतादृशस्यापि वधे हेतुः हरिरिति । सर्वदुःखहर्ता एतस्यैव च मोक्षार्थम् । किञ्च । यद्यपि जीवेत् तदा सर्वोपद्रवं कुर्यादिति दृष्टान्तेनाऽऽह वज्रेण वृत्रस्य यथा पुरन्दर इति । तदा तदीयानां नृणां हाहेति वचः अभूत् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—यों कुछ समय ठहरने के बाद भी शाल्व का कोई रक्षक नहीं आया तब भगवान् ने उस चक्र से ही उसका सिर काट डाला । उससे ही इसका शिर इसलिए काटा कि भगवान् ने यह चक्र इसके शिर काटने के लिए ही धारण किया था । कारण कि इसको मोक्ष देना था, चक्र से शिर कटने से इसका मोक्ष होने वाला था, अतः यह चक्र दूसरों के लिए धारण नहीं किया था और मोक्ष करने के कारण दूसरे शस्त्र से भी शिर नहीं काटा । यद्यपि वह इतना तुच्छ था कि इसका शिर अन्य शस्त्र से भी कट सकता था, शाल्व के कुण्डलों में सर्व देव स्थित थे और पुरलक्षणा वाली मोहमाया इसमें थी ऐसे होते हुए भी ऐसे शाल्व का वध करने का कारण उसको दुःख से छुड़ाकर मोक्षानन्द देना था, क्योंकि आप 'हरि' सर्व दुःखहर्ता हैं, और विशेष यह भी है कि यदि यह जीवित (जिन्दा) होता तो सबको उपद्रव अर्थात् दुःखी करता, कैसे मारा ? जिसमें दृष्टान्त दे समझाते हैं कि जैसे इन्द्र ने वृत्र का शिर काटा था वैसे भगवान् ने इसका सिर काटा, उस समय उसके मनुष्यों ने हा हा शब्द कहे ॥३६॥

आभास—तावतापि युद्धं न निवृत्तमिति वक्तुमाह तस्मिन्निपतित इति ।

आभासार्थ—इससे भी युद्ध समाप्त न हुआ, यह 'तस्मिन्निपतिते' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तस्मिन्निपतिते पापे सौभे च गदया हते ।

नेदुर्दुन्दुभयो राजन्दिवि देवगणोरिताः ।

सखीनामपचितिं कुर्वन्तवक्रो रुषाऽभ्यगात् ॥३७॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! इस पापी शाल्व के मरने और सौभ विमान के गदा से टूट जाने पर, आकाश में देवताओं के दुन्दुभि बजने लगे फिर मित्रों का बदला लेने के लिए, क्रोध करता हुआ दन्तवक्र आया ॥३७॥

सुबोधिनी—भगवान्विलष्टकर्म । तं न मारितवान् किन्तु पापेनैव पतितः पापेन सायुज्याभावो वा । सौभे च गदया हत इति । माया-निमित्तत्वात् कदाचित् स्थितिर्भवेत् । ततस्तस्मिन्प्रविश्य वान्यो युद्धं कुर्यात्, अतः प्रधानानन्तमपि सौभस्य पृथगनुवादः । तदा दन्तवक्रः पुनः

ज्ञानां सखा स्वापचिन्ति कुर्वन् सखीनामर्थे रूपा | युद्धेन क्लिष्टदशायां स्वस्य जयो भविष्यतीति
धेन युद्धार्थमाभिमुख्येन समागतः अन्यैः सह ॥३७॥

व्याख्यान—भगवान् जो भी कर्म करते हैं उसमें उनको किसी प्रकार का बलेश नहीं होता । आपने उस (शाल्व) को मारा नहीं, वह तो पाप से नष्ट हुआ, पाप के कारण उसको सायुज्य । प्राप्ति नहीं हुई, सौभ का वध इसलिए पृथक् किया हुआ कहा है कि यदि सौभ का गदा से पृथक् । श न किया होता तो कदाचित् उस मायावी मे कोई अन्य रह गया हो तो वह फिर उसमें प्रवेश । र पुनः युद्ध करे, इसलिए मुख्य शाल्व के बाद भी उसका नाश अलग किया हुआ कहा है ।

पहले मरे हुए मित्रों का बदला लेने के लिए क्रोध से दन्तवक्र शीघ्र युद्ध करने के लिए । गवान् के सामने उपस्थित हुआ ।

दन्तवक्र ने यों विचारा कि भगवान् शाल्वादि से युद्ध करते हुए थक गए होंगे, अतः मेरी । त शीघ्र हो जायेगी इस आशा से ही शीघ्र आया ।

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीतक्षमणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभाक्षितविरचिताया

दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे अष्टाविंशाध्यायविवरणम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ७४वें अध्याय (उत्तरार्ध के २८वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाक्षय । चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक साधन । अवान्तर प्रकरण का तक्षम अध्याय हिन्दी । अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

—अध्याय ७३ व ७४ में वर्णित लीला का पद—

“शाल्व वध”

राग मारू—

सुभट शाल्व करि क्रोध हरि पुरी आयौ ।

हत्यौ सिसुपाल कौ राजसू माहिं हरि,

वृच्छ बन काटि महलात ढाहन लग्यौ,

सर्प पाषाण की वृष्टि करि लोक पर,

प्रद्युम्न सात्यकि निकसि सन्मुख भए,

तहाँ चारुदेण हूं साजि दल बल सकल,

तिमिर कौ बान तव शाल्व मारघौ फटकि,

मिट्यौ अंधकार तव बान वरषा करी,

सैन के लोग पुनि बहुत घायल किए,

शाल्व यह देखि के चकित सो ह्वै रह्यौ,

असुर विद्या समर बहुरि लाग्यौ करन,

गुप्त ह्वै कवहुं कवहुं परगट देखियै,

धाइ धावन जबै यह सुनायौ ॥

नगर के द्वार दीन्हे गिराई ।

वायु अति वेग सौ पुनि चलाई ॥

बन्धु सारन सुनत बेगि घाए ।

हाँकि रथ तुरंग ता ठौर आए ॥

प्रद्युम्न बान दीपति चलायौ ।

तुरंग रथ सारथी स्यौ गिरायौ ॥

ध्वजा धर धर परघौ मुरझाई ।

सैन के गहन की सुधि भुलाई ॥

कवहुं लघु कवहुं दीरघ सु होई ।

कवहुं कर कवहुं नग वसे सोई ॥

अग्नि कबहुँ कबहुँ बारि वरषा करे,
 सात्व परधान द्योमान मारी गदा,
 धर्मवित सारथी गयो एकान्त ले,
 खीझ कह्यो ताहि क्यों मोहि लायो इहाँ,
 कहि हैं कहा मोहि राम भगवान सुनि,
 मरे रन सुजस परलोक मुख पाइये,
 धर्मवित कह्यो करि विनय मम चूक नहि,
 मूरछित सुमट नहि राखिये खेत में,
 प्रद्युमन कह्यो जो भई सो भई अब,
 ताहि दे सपथ, करि आचमन पुनि कह्यो,
 आइ रन भूमि में सबनि धीरज दियो,
 छत्र ध्रुज तोरि मार्यो वहरि सारथी.
 हस्तिनापुर गए हुए हरि पांडु गृह,
 सात्व उत्पात कियो द्वारिका माहि बहु.
 सारथी पाड रुख दये सटकारि हय,
 सात्व के भटनि लाखि कटक भगवान कौ,
 नुनि सो भगवान के आइ मनमुख भयो,
 ताहि आवत निरखि म्याम निज सांग सौ,
 वहरि तिहि कोपि निज बान संधान करि,
 टूटत धनुष के सब्द आकास गयो.
 रुक्मिणी माँग सिनुपाल की तुम हरी,
 जाइहौ अब कहाँ दाँव लैहौ इहाँ,
 कह्यो भगवान सुनि शाल्व जे सूर नर,
 जे करे, सूर तिनको नही जानिये,
 गदा के लगत ही गयो सो गुप्त ह्वै,
 कह्यो बसुदेव जगदीस आसचर्ज यह,
 वहरि करि कपट बसुदेव तह प्रगट कियो,
 सात्व तरवार लै स्याम के देखतें,
 लख्यो भगवान करि कपट इन यह कियो.
 भागि निज पुर चलयो स्याम पहिले पहुँचि,
 गदा जुद्ध सात्व कीन्हों बहुत बेर लौ,
 लगत ताकै गए प्राण बाके निकसि,
 सीस ताकौ वहरि काटि तरवार सौ,
 सूर प्रभु न्है ता ठौर दिन और कछु,

प्रद्युमन सकल माया निवारी ।
 प्रद्युमन मूरछित सुधि बिसारी ॥
 उहाँ जब चेत ह्वै सुधि संभारी ।
 मम पिता मातु को लगी गारी ॥
 नारि मम सुनत अति दुखित होई ।
 मंद मति तें दोऊ बात खोई ॥
 सारथी धर्म मोहि गुरु सिखायौ ।
 जानि यह बात मैं इहाँ ल्यायौ ॥
 वान जनि काहु सौ यह सुनैये ।
 चलो रन भूमि अब जैये ॥
 सात्व रथ-तुरग चारो संहारे ।
 देखि यह सुभट डरि गए सारे ॥
 तहाँ ते चले यह बात जानी ।
 हाँकि रथ कह्यो सारंग पानी ॥
 द्वारिकापुरी जव निकट आई ।
 आपने नृपति सौ कह्यो जाई ॥
 सारथी ओर वरछी चलाई ।
 काटि करि सात्व की मुधि भुलाई ॥
 धनुष भगवान कौ काटि डारयो ।
 सात्व निज जिय समुझि यों उचार्यो ॥
 वहरि तिहि राजसू मैं संहारौ ।
 छाँड़ि सो विचार आयौ संभारौ ॥
 ते नही करत निज मुख बढ़ाई ।
 भाषि यह गदा ताकौ चलाई ॥
 बारि धावन रूप यह सुनायौ ।
 तुम अछत सात्व मोहि बांधि लायौ ॥
 कह्यो तिन नाथ मैं दुखित भारी ।
 डारि दयो सीस ताकौ उतारी ॥
 तासु माया तुरत हरि निवारी ।
 खेंचि कै गदा ता सीस मारी ॥
 वहरि हरि माँग ताकौ चलाई ।
 सुरनि आकास दुंदुभि बजाई ॥
 मगर सम समुद्र मैं डारि दीन्हौ ।
 मारि दंतवक्र पुर गवन कीन्हौ ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला

द्वादशवाँ पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित
श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्री भागवतानुसार अध्याय ७८ से ८४
श्री सुबोधिन्यानुसार अध्याय ७५ से ८१
सात्त्विक-फल-अवान्तर-प्रकरण अध्याय १ से ७

श्री भागवत प्रतिपद मणिवर भावाशु भूषिता मूर्तिः ।
श्री वल्लभाभिधानस्तनोतु निजदास सौभाग्यम् ॥

—श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण

सहायक ग्रन्थ	टिप्पणी	—	श्रीमद्विठ्ठलेश प्रभुचरण
	प्रकाश	—	गो. श्री पुरुषोत्तमजी महाराज
	लेख	—	गो. श्री वल्लभजी महाराज
	योजना	—	प.म. श्री लालू (बालकृष्ण) भट्टजी
	कारिकार्थ	—	श्री निर्भयरामजी भट्ट

हिन्दी अनुवादक

गो.वा. पं. फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री, विद्याभूषण
जोधपुर

प्रथम आवृत्ति—१०००
दोलोत्सव
वि०सं० २०३१
गुरुवार—
दि. २७ मार्च, १९७५

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मंडल

मानधना भवन, चौपासनी मार्ग
जोधपुर (राजस्थान)

सादर भेंट
संस्था सदस्यों को

दो.पी. द्वारा पुस्तक मँगाने का पता :
सत्यमेव जयते पुस्तकालय
विश्राम बाजार, अथुरा मो. : 09837634217

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वासुदेवचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ७८वां अध्याय

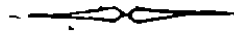
श्री सुबोधिनी अनुसार ७५वां अध्याय

उत्तरार्ध २६वां अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

“अध्याय—” १

दन्तवक्र और विदूरथ का उद्धार तथा बलरामजी के हाथ से सूत का वध



कारिका—बलभद्रस्य सत्कीर्तिरध्यायद्वितयेन हि ।

निरूप्यते ऋषिप्रोक्ता येनासौ सुस्थिरीमवेत ॥१॥

कारिकार्थ—ऋषियों की कही हुई, बलभद्र की सत्कीर्ति दो अध्यायों से निरूपण की जाती है । ऋषियों ने इसकी कीर्ति की प्रशंसा की है जिससे इसकी कीर्ति पृथ्वी पर अच्छी तरह स्थिर होगी ॥१॥

कारिका—तीर्थाभिषेकाद् यज्ञाच्च ज्ञानस्याप्युपदेशतः ।

कीर्तिर्जातानुभावाच्च माध्यस्थ्याच्चेति वर्ण्यते ॥२॥

कारिकार्थ—तीर्थों के अभिषेक से, यज्ञ करने से, अपने प्रभाव से और ज्ञान के उपदेश करने से भी कीर्ति बढ़ती है, भीम और दुर्योधन के युद्ध के समय, ये (बल-

रामजी) मध्यन्ध थे। उस समय भी आपने सत्य निर्णय दिया कि 'तुम दोनों तुल्य बल वाले हो' श्रुत्योक्त जामाना थे तो भी इसका पक्ष नहीं लिया इन सत्य निर्णय में भी आपकी कीर्ति का सर्वत्र फैलाव हुआ है जिसका वर्णन किया जाना है ।

कारिका—विजयोयं यथा रामस्ततोऽध्याये निरूपितः ।

रामस्य कीर्तिरूपे च तद्भ्राता च तथाविधः ॥३॥

कारिकार्थ—वमरामजी की कीर्ति का जिस अध्याय में निरूपण हुआ है उसमें दन्तवक्र^१ की कथा भी कही है, जिसका कारण यह है कि जैसे बलराम^२ वैसे वह भी भगवान् का दास ही है और उसके भ्राता विदूरथ भी भक्त हैं । बलराम भक्त है, अतः उसकी (बलराम) की कीर्ति भगवान् की ही कीर्ति है ॥३॥

कारिका—अतो भगवतो भृत्यास्त्रय एकत्र रूपिताः ।

कारिकार्थ—तीन ही भगवान् के भक्त हैं इस कारण से तीनों का ही वर्णन एक स्थान पर किया है ॥३१॥

आभास—तत्र प्रथमं भगवतः क्रियाशक्तिसमाप्त्यर्थं दन्तवक्त्र वधो निरूप्यते । दन्तवक्त्रस्यापि भगवत्सेवकत्वात्तन्मुक्तिश्च भगवत्कर्तव्येति अवतारप्रयोजनत्वेन निरूप्यते, पूर्वाध्यायान्ते दन्तवक्त्र समागत इत्युक्तं तत्किमर्थं केन प्रकारेणेति विस्तरेण निरूप्यते ।

आभासार्थ—पहले दन्तवक्र का वध इसलिए निरूपण करते हैं कि भगवान् को यहां ही क्रिया शक्ति समाप्त कर देनी है, आगे क्रियाशक्ति से कार्य नहीं लेना है, दन्तवक्र भी भक्त है, इसलिए भगवान् को उसकी मुक्ति करनी है । मुक्ति करना भगवान् के अवतार होने का प्रयोजन है । जिसका निरूपण करते हैं । पूर्व अध्याय के अन्त में दन्तवक्र के आने का कहा है, अब वह क्यों आया ? और किस प्रकार आया जिसका यहाँ विस्तार से निरूपण किया जाता है ।

श्लोक—श्री शुक उवाच—शिशुपालस्य शाल्वस्य पौण्ड्रकस्यापि दुर्मतिः ।

परलोकगतानां च कुर्वन् पारोक्ष्यसौहृदम् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे, शिशुपाल शाल्व और पौण्ड्रक, इनके मर

१-दन्तवक्र विजयपार्षद है । २-बलराम, 'शेष' रूप से दास भृत्य है, दन्तवक्र विजय पार्षद होने से दास है ।

जाने पर परोक्ष में अपना सुहृदयुक्त बनाने के लिए (दुर्मति दन्तवक्र आया) ॥१॥

सुबोधिनी—यथा पत्नी भर्तृनिमित्तं मृत्युः दुर्मतिं प्राप्तानामुद्धारार्थं म्रियत इति । तत्राह नमस्कृत्य स्वयमेव म्रियते तथा । विशुपालादयः । परलोकगतानामिति । तेषां भगवद्वक्त्रेण । परलोक गिद्धः । चकारादगतानामपि सुक्तानां वा । मोहदं हि नेजति तेषां भुवन्तं भवति । प्रकृते तदभावेऽपि कृतवानित्याह पारोक्ष्यसौहृद-मिति ॥१॥
वहव एव अपिशब्देन संगृहीता । पतिव्रता च

व्याख्यार्थ—जैसे स्त्री पति के मरने पर स्वयं भी परोक्ष में पतिव्रत्य दिखाने के लिए मरती है वैसे ही यह भी अपने मित्र शिशुपाल आदि के मर जाने पर अपना मित्रत्व दिखाने के लिए मरने के लिए ही आया । यद्यपि इसके मरने से उनका कोई उपकार नहीं होगा तो भी, मूर्ख दुर्मति होने से यों करने लगा । वहाँ उनमें से शिशुपाल राजस है, दन्तवक्र तामस है, पौण्ड्रक सात्त्विक है, इस प्रकार के बहुत ही 'अपि' शब्द से लिए गए हैं । पतिव्रता तो दुर्मति को जो प्राप्त हुए हैं उनको तारने के लिए मरती है, यदि यों कहते हो, तो यह भी परलोक गए हुए मित्रों के लिए ही मरने के लिए आया है । वे तो दुर्मति को प्राप्त नहीं हुए हैं, किन्तु भगवान् के हस्त से मरने से उनका परलोक तो सिद्ध हो गया है । 'च' पद से यह बताया है कि जो नहीं गए हैं वा जो मृत हवे हैं, उन्होंने सौहृद ही जाना है उनका सुकृत ही होगा । किञ्च प्रकृत प्रकरण में उसका अभाव है तो भी यह मरने के लिए आया है, जिसका कारण बताते हैं कि 'पारोक्ष्यसौहृदम्' परोक्ष में भी मित्रता का धर्म पालन करता है यों सिद्ध करने लिए ही आया है ॥१॥

'एकः पदाति' श्लोक में किस प्रकार आया है वह कहते हैं ।

श्लोक—एकः पदातिः संक्रुद्धो गदापाणिः प्रकम्पयन् ।

पद्भ्यामिलां महाराज महासत्त्वो व्यदृश्यत ॥२॥

श्लोकार्थ—इकल्ला, प्यादल (पैदल) महान् बलिष्ठ, हाथ में गदा धारण किए, पाँवों से भूमि को कम्पाता, महान् क्रोध से युक्त दुर्मति दन्तवक्र देखने में आया ॥२॥

सुबोधिनी—मरणमेव चेद्वाञ्छितं किं सहायेनेत्येकः । तत्रापि पदातिः । क्रोधाभावे पलायनं च स्यादिति संक्रुद्धः । निकटे गदया युद्धं भवतीति शीघ्रं मरणपर्यवसायी । तथापि भगवान्नमार-
यिष्यतीत्याशङ्क्य मारणार्थमिलां पद्भ्यां प्रकम्पयन् इत्युक्तम् । महाराजेति तादृशो हन्यत इति बोधितम् । महासत्त्व इति तस्य युद्धार्थं प्रवृत्तौ साहसम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—जब मरना ही इच्छित है तो सहायकों की कौनसी आवश्यकता है ? अतः इकल्ला ही आया, उस पर भी प्यादल आया, मनमें क्रोध का जोश न होवे तो कदाचित् (शायद) लौट जाए इस पर कहते हैं कि महान् क्रोध से पूर्ण होकर आया था, इसलिए लौटने का विचार

करना ही व्यर्थ है। शीघ्र मरने के लिए युद्ध सामीप्य से होती है, अतः गदा ले आया जिससे युद्ध नतीज हो, जो भी भगवान् न मारे, इसलिए कृष्ण की आँखों से कम्पाता हुआ आ रहा था। हे भगवान् ! इस सम्बोधन ने यह सूचित किया है कि भगवान् ऐसे का भी शत्रु नहीं करते हैं, 'महानन्द' विशेषण से यह बताया है कि गदा उठाने के कारण ही युद्ध के लिए प्रवृत्त हुआ है ॥२॥

आभास—ततो भगवान् धर्मयुद्धमेव कर्तव्यमिति स्वयमपि तथाविधो जात इत्याह तं तथायान्तमालोक्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् ने विचार किया, कि धर्मयुद्ध करना चाहिए, इसलिए आप भी वैसे ही हुवे वह 'तं तथा' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—तं तथायान्तमालोक्य गदामादाय सत्वरः ।

अवप्लुत्य रथात्कृष्णः सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात् ॥३॥

श्लोकार्थ—इस तरह आते हुए उस (दन्तवक्र) को देख भगवान् शीघ्र ही रथ से उतर कर गदा ले जैसे वेला (तट या किनारा) समुद्र को, वैसे उसको रोका ॥३॥

सुबोधिनी—सत्वर इति आगमनेन तस्य क्लेशाभावार्थमुक्तम् । अवप्लुत्येति, दर्शनानन्तरं न कोऽपि विलम्बः कृत इति वक्तुं रथादुत्प्लवन-मुक्तम् । यतः कृष्णः कालरूपः । अतः सर्वयादव-मारणार्थं प्रवृत्तं सिन्धुं वेलेव प्रत्यधात् प्रतिधानं कृतवान् ॥३॥

व्याख्यान—'सत्वर' शब्द से यह बताया है कि आने से कोई क्लेश नहीं हुआ । भगवान् ने उसको देखा, देखने के बाद कुछ भी देरी नहीं की । यह दिखाने के लिए कहा, कि देखते ही रथ से उतर पड़े, क्योंकि इस समय कृष्ण काल रूप थे, अतः सर्व यादवों के नाश वास्ते प्रवृत्त उस (दन्तवक्र) को ऐसे रोक लिया जैसे समुद्र को वेला (तट या किनारा) रोकती है ॥३॥

आभास—शीघ्रं भगवति समागते कदाचिद्भगवान् शाल्वस्य अयं पदातिः कश्चिदिति अवहेलया मुक्तिं न दद्यादिति स्वप्रयोजनप्रवृत्तिस्वरूपाणि निर्दिशति गदामुद्यम्य कारूष इति ।

आभासार्थ—भगवान् शीघ्र आए, कदाचित् इसको शाल्व का यह कोई पदाति (पैदल) है, यों समझ मुक्ति न देवें, इसलिए अपने प्रयोजन के स्वरूपों का निर्देश करते हैं 'गदामुद्यम्य' श्लोक में ।

श्लोक—गदामुद्यम्य कारूषो मुकुन्दं प्राह दुर्मदः ।

दिष्ट्या दिष्ट्या भवानद्य मम दृष्टिपथं गतः ॥४॥

श्लोकार्थ—मदोन्मत्त दन्तवक्र गदा उठाकर भगवान् को कहने लगा कि तू आज मेरी दृष्टि में आया वह बहुत अच्छा हुआ ॥४॥

सुबोधिनी— ग इति वदन्तं देवाधिपतिः । प्राप्तुमिच्छतीति दुर्मद । अत एव दिग्दृष्टमात्रं मुकुन्दं मोक्षदातां नम । नदृष्टवन्तः स्वान्तिकारं दिष्ट्या दिष्ट्यंति । अन्तावानर्थः दुश्मन्-आपि तुल्यः । प्रदर्शनं द्वाग्पालनम् । अत एव त्वं वदन्तः नम हृष्टिस्थं गतं त्वं नन्देनम् । अतो न नन्दः मनोरथप्रकारेणाऽन्वित्यनेन न जानाति ।

व्याख्यार्थ—वह (दन्तधृक्) कल्प देश का अधिपति है, मुकुन्द (मोक्ष देने वाला) को कहने लगा, अपने अधिकार का दिखाने के लिए अथवा अपना द्वाग्पालन प्रसिद्ध करते हुए अपने को अधिकारी बताना था, जिससे स्नेह में ही मायुज्य पाने के योग्य था किन्तु मदोन्मत्त होने से गदा उठाकर सामने आया जिससे ममभा जाता है कि स्नेह नहीं, किन्तु विरोध से सायुज्य पाना चाहता है, अतएव विरुद्ध शब्द कहने लगा कि 'दिष्ट्या-दिष्ट्या' इतना अर्थ दोनों तरफ समान है, मेरे भाग्य से मेरे दृष्टि पथ पर आ गए, जिसको मैं मनोरथ कर रहा था वह आप सामने आ गए यह मेरा भाग्य ही है ॥४॥

आभास—आत्मानं स्थापयन् भगवत्संबन्धमाह त्वं मातुलेय इति ।

आभासार्थ—अपने को प्रकट करता हुआ भगवान् से सम्बन्ध बताता है 'त्वं मातुलेयो' श्लोक में ।

श्लोक—त्वं मातुलेयो नः कृष्ण मित्रध्रुक् मा जिघांससि ।

अतस्त्वां गदया मदया मन्द हनिष्ये वज्रकल्पया ॥५॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! तुम हमारे मामे के पुत्र हो और मित्रद्रोही भी हो । हे मन्द ! मुझे मारना चाहते हो, इसलिए मैं वज्र जैसी इस गदा से तुझे मारूँगा ॥५॥

सुबोधिनी— नोस्माकं शिशुपालादीनाम्, मातुलेयः सुतरां नोस्माकम् । कृष्णेति स्नेहात्संबोधनम् । मित्रध्रुगित्युपालम्भः । वस्तुतस्तु कृष्णमित्राणि द्रोघीति सर्वसखा शिक्षक इत्युक्तम् । अत एव मां जिघांससि । अहमपि कृष्ण-

मित्रमिति अपराधव्यतिरेकेण न मारयिष्यतीति प्रथममहमपराधं करिष्यामीत्याह अतस्त्वां गदयेति । अमन्देति छेदः । हनिष्ये प्राप्स्यामि । गदया सुषुम्णया । वज्रकल्पया । यथा वज्रेण वृत्रस्त्वां प्राप्तवान् ॥५॥

व्याख्यार्थ—तुम हमारे अर्थात् शिशुपाल आदि के मामे के पुत्र हो, कृष्ण ! यह सम्बोधन स्नेह के कारण दिया है । 'मित्रध्रुक' मित्र से द्रोह किया है यों कह कर उपालम्भ (ताना) दिया है, वास्तव में तो इस पद के कहने के भाव यह हैं कि 'कृष्णमित्राणि द्रोघि' इति कृष्ण मित्रध्रुक अर्थात् सर्व के सखा तथा शिक्षक हो अतएव मुझे मारते हो, मैं भी कृष्ण का मित्र हूँ इसलिए बिना अपराध के तो नहीं मारेंगे, इसलिए पहले मैं अपराध करूँगा (करता हूँ) इस वास्ते तुझे वज्र समान गदा से मारूँगा, अर्थात् प्राप्त करूँगा । जैसे वृत्र ने वज्र से तुझे प्राप्त किया, 'मन्द' के स्थान पर 'अमन्द' पदछेद करना, हे अमन्द ! हे सयाने ! अर्थात् आप सब जानते हैं ॥५॥

श्लोक—तर्हानृण्यमुपैम्यज्ञ मित्राणां मित्रवत्सलः ।

बन्धुरूपमरिं हत्वा व्याधि देहचरं यथा ॥६॥

श्लोकार्थ—हे मूर्ख ! देह में प्रेमवाला भी देह में उत्पन्न रोग को नाश करता है, तब जाना ही जाना है । वैसे ही मैं भी मित्र में प्रेम होने हुए भी बन्धुरूप शत्रु को नाश करता हूँ । तब मित्रों के ऋण से उत्क्रमण होता है । ७०४ वां श्लोक ॥६॥

सुबोधिनी - एवमिति 'तत्रानृणो भूतबलि विधाय' इतिवत् मित्राणामनृणो भविष्यामि । यतोऽहं मित्रवत्सलः त्वं वा अमित्रवत्सल इत्ये-
स्वपि कृपाकरणात् मित्रवत्सलो वा सर्वेषामेव मित्रत्वात् । किं कृत्वा अनृणो भविष्यसीत्याका-
ङ्क्षामाह बन्धुरूपमरि हत्वेति । बन्धुरूपो देहः

बन्धो रूपामरि ह्यस्य हितकर्तृत्वात् वस्तु-
तस्त्वरिः 'नृष्टास्य बीजम् ।' इति न्यायात् ।
नन्वात्मनया स्वीकृतं कथं मारणीयं इति चेत्तत्र
दृष्टान्तमाह व्याधिं देहचरं यथेति । अयं स्तुतिपक्षो
व्याख्यातः । निन्दापक्षस्तु स्पष्टः । बन्धुरूपं मातु-
लपुत्रत्वात् मारकत्वादरिम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—जब यों होगा तब, जैसे भूतबलि देने से मनुष्य उत्क्रमण होता है वैसे ही मैं भी मित्रों के ऋण से उत्क्रमण वनूँगा । क्योंकि मैं मित्र वत्सल हूँ । तुम अमित्र वत्सल हो, कारण कि दैत्यों पर भी कृपा करते हो, अथवा मित्र वत्सल हो । क्योंकि आप किसी को शत्रु नहीं समझते, सबको मित्र ही जानते । तू क्या करके उत्क्रमण होगा ? जिसके उत्तर में कहता है कि यह अपना देह बन्धु रूप दीखती है क्योंकि हित करती है, वास्तविक तो 'नृष्टास्य बीजम्' इस न्याय से शत्रु है जिसको अपनाया गया है उसको कैसे मारा जाएगा, इसका उत्तर दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि 'व्याधिं देहचरं यथा' जैसे शरीर में उत्पन्न रोग को नाश किया जाता है वैसे ही अपनेपन से अपनाया हुआ यदि शत्रु दुःखदायी होता है तो उसका भी नाश करना चाहिए यह स्तुति पक्ष की व्याख्या की, निन्दा पक्ष तो स्पष्ट है, मातुल पुत्र होने से बन्धुरूप है मारक होने से अरि है ॥६॥

श्लोक—एवं रूक्षस्तुदन्वाक्यैः कृष्णं तोत्रैरिव द्विपम् ।

गदया ताडयन्मूध्नि सिंहवद्व्यनदच्च सः ॥७॥

श्लोकार्थ—जैसे अंकुशों से हाथी को पीड़ित किया जाता है वैसे ही रूखे वचनों से श्रीकृष्ण को पीड़ित करते हुए दन्तवक्र ने श्रीकृष्णचन्द्र के शिर पर गदा का प्रहार किया बाद में सिंह के समान गर्जना की ॥७॥

सुबोधिनी—निन्दायां रूक्षता । तुदन् मर्मभेदं कुर्वन् । कृष्णं तुदन्निति स्तुतौ स्वदोषं दूरीकुर्वन् । तोत्रं अङ्कुशपृष्ठभागस्तेन यथा अग्रे गमनार्थं प्रेर्यते द्विपः एवं कृष्णोऽपि शीघ्रं कर्तुं मारयितुं मृत्युं वा दातुं प्रेर्यते इति । एवं वाक्यापराधं

कृत्वा कायिकापराधं कृतवानित्याह गदयेति ।
मूध्नि समीपे सुषुम्णया ब्रह्मरन्ध्रभेदनं वा ततः
सिंहवद्व्यनदत् । आत्मानं कृतार्थं मन्यमानः यतः स
पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तः शूरो वा ॥७॥

व्याख्यार्थ—निन्दा में रूखापन होता है, निन्दा के वाक्यों से मर्म स्थानों को मानो तोड़ डालता था । कृष्ण की निन्दा से मानो स्तुति से दोषों का नाश करता था । जैसे अंकुश के पृष्ठ भाग से हस्ती को शीघ्र गमन के लिए प्रेरणा की जाती है, वैसे ही कृष्ण भी शीघ्र मारने के लिए

तैयार हो जावे, इसलिए निन्दा आदि द्वारा प्रेरे जाने हैं । इस प्रकार बाणो से अपराध कर दायिक अपराध करने लगा यह कहते हैं-गदा सन्तव पत्र मुपुम्ना के मर्मोप लगाई अथवा द्रव्यगन्ध का भेदन किया भगवान् सिद्ध के भगवान् मर्त्यता के लगे लगा कारण कि अपने को कृतार्थ समझने पर मानिक वह पूर्व कहे हुए प्रमाण ने भक्त । ॥ १३ ॥

श्लोक - गदया निहतोप्याजौ न चञ्चल यद्वहः ।

कृष्णोऽपि तमहंगुर्व्या कौमोददया स्तनान्तरे ॥८॥

श्लोकार्थ—गदा के लगने पर भी यदुश्चेष्ट वहां से विचलित न हुए, श्रीकृष्ण ने भी कौमोद की भारी गदा से उसकी छाती पर प्रहार किया ॥८॥

सुबोधिनी—एतावता स्वकृतकृत्यता जातेति गदया निहतो वा आजौ क्रोधो भवतीति प्रहारस्य क्रूरत्वं दर्शितम् । यद्वह इति यादवलीला स्वीकृतेति तथा वर्ण्यत इत्यर्थः । एवमपराधं तस्योक्त्वा ततोऽपराधशान्त्यर्थं भावतः कृपामाह ।

कृष्णोऽपीति । गुर्व्येति साधनमाहात्म्यम् । कौमोदक्येति स्वकीयया प्रसिद्धया । तेन मोक्षः सुप्रसिद्धः । तत्रापि स्तनान्तरे, यथा जीवस्य निर्गमने षट्चक्रभेदनक्लेशो न भवेत् ॥८॥

व्याख्यार्थ—दन्तवक्र ने इससे अपने को कृतकृत्य समझा गदा के प्रहार से क्रोध होगा, इससे प्रहार की क्रूरता सूचन की है । 'यद्वह' पद से यह सूचन किया है कि श्रीकृष्ण ने अब यादव लीला का स्वीकार किया है, इस प्रकार उसके अपराध का वर्णन कर, बाद में उसके अपराध की शान्ति के लिए भगवान् की कृपा का वर्णन करते हैं कि 'कृष्णोऽपि' कृष्ण ने भी अपनी प्रसिद्ध कौमोद की गदा से छाती पर प्रहार किया, प्रहार का साधन गदा का माहात्म्य बताने के लिए 'गुर्वी' विशेषण दिया है अर्थात् वह गदा बहुत भारी थी, ऐसी गदा के प्रहार से मोक्ष होना तो प्रसिद्ध है ही । भगवान् की कृपा से मोक्ष तो हुआ किन्तु मरने के समय जो षट्चक्र भेदन की क्रिया से दुःख होता है वह भी दन्तवक्र को न होवे इसलिए भगवान् ने गदा का छाती पर प्रहार किया जिससे प्राण बिना क्लेश से निकल कर मुक्त हो गया ॥८॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह गाढनिभिन्नहृदय इति ।

आभासार्थ—उसके अनन्तर जो कुछ हुआ वह 'गाढ निभिन्न' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—गाढनिभिन्नहृदय उद्वमन् रुधिरं मुखात् ।

प्रसार्य केशबाह्वङ्घ्रीन्धरण्यां न्यपतत् व्यसुः ॥९॥

श्लोकार्थ—गदा के लगते ही उसका हृदय फट गया और मुंह से रुधिर को उगलते हुए वह दैत्य पृथ्वी पर केश, बाहु और पांव पसार कर प्राणहीन होते ही गिर पड़ा ॥९॥

सुबोधिनी—मुखतो रुधिरोट्टमन वाक्पाण्य- विशिष्टाभुविगतासुर्वी न्ययतत् । आदी तत्रैव
 ओषपरिहारार्थम् । ततो दण्डोत्पत्त्यर्थं विव केशान् । सपवनयदम्, द्वितीये भोगांश्च भगवान् प्राणानां
 बाह्यङ्घ्रिंश्च प्रसार्य, धरण्यां भगवच्चरणारविन्दे । परित्याग ॥१६॥

व्याख्यार्थ—मुँह से लाल रक्त निकलने का कारण यह था कि खून निकलने के साथ उसका पाप भी बाहर निकल रहे थे। पञ्चाङ्ग दया की उत्पत्ति हो अर्थात् मुझ पर दया होवे उनकी तरह व इसलिए केश, भुजा और चरण समार कर वहाँ पृथ्वी पर स्थित हुआ, जहाँ भगवान् के चरणारविन्द थे प्राण निकल जाने से वहाँ ही गिर गया जिससे आदि में वही भगवान् से सायुज्य हो गया, द्वितीय पक्ष यह है कि अब भोग की अपेक्षा का अभाव था, इसलिए प्राणों का त्याग कर दिया, अर्थात् सर्व कर्म भस्म हो जाने से फिर प्राणों को प्राप्त नहीं करना था क्योंकि प्रभु कृपा से उसको भगवत्सायुज्य की प्राप्ति हुई ॥१६॥

आभास—तस्तस्य सायुज्यं जातमित्याह ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिरिति ।

आभासाय—पश्चात् उसको सायुज्य मुक्ति प्राप्ति हुई, यह 'ततः सूक्ष्म' श्लोक में कहने है ।

श्लोक—ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम् ।

पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवेध नृप ॥१७॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! जैसे शिशुपाल का तेज भगवान् में प्रविष्ट हुआ, वैसे दन्तवक्र का अति सूक्ष्म तेज भी सब लोगों के देखते हुए भगवान् में प्रवेश कर गया ।

सुबोधिनी—आत्मज्योतिः कृष्णं भगवच्चर- दिशो भासयद् भगवन्तं प्रविदेश, एवमयमपीत्यर्थः
 णारविन्दम् । अत्र सर्वे साक्षिण इत्याह पश्यता- ॥१७॥
 मिति । यथा चैद्यवेध इति चैद्यवेधे तत्तेजः दश

व्याख्यार्थ—दन्तवक्र की ज्योति 'कृष्ण' भगवान् के चरणारविन्द में जैसे शिशुपाल के वध के समय में उसकी ज्योति दश दिशाओं को प्रकाशित करती हुई भगवान् में प्रविष्ट हुई, वैसे ही दन्त-वक्र की अत्यन्त सूक्ष्म ज्योति भी भगवान् के चरणारविन्द में प्रवेश कर गई, जिसके सब साक्षी हैं यों बताने के लिए 'पश्यतां सर्व भूतानां' पद कहा है जिसका अर्थ है, सर्व प्राणियों के देखते हुए ज्योति ने भगवान् के पाद कमलों में प्रवेश किया ॥१७॥

आभास—तस्य सायुज्यं दृष्ट्वा तद्भ्राता विदूरथोऽपि तथा कर्तुं प्रवृत्त इत्याह विदूरथस्त्विति ।

१—वाणी से अपशब्द बोलने से जो दोष व पाप हृदय में उत्पन्न होकर रह गये थे वे सब नष्ट हो गए ।

आभासार्थ—उसकी सायुज्य मुक्ति देकर उसका भ्राता विदूरथ भी यो करने लगा, जिसका वर्णन 'विदूरथमृत' श्लोक में करने है :

श्लोक—विदूरथस्तु तद्भ्राताः भ्रातृशोकपरिप्लुतः ।

आगच्छदसिचर्मभ्यामुच्छ्वसंस्तज्जिघांसया ॥११॥

श्लोकार्थ—भ्राता के शोक से व्याप्त, दन्तवक्र का भाई विदूरथ भगवान् को मारने के विचार से हाँफता हाँफता ढाल तलवार लेकर आया ॥११॥

सुबोधिनी—अक्षरच्युतकालंकारः । विदूरथ इति विकटो भवति दूरादेव रथ इति माहात्म्यम् । तद्भ्राता दन्तवक्रभ्राता । भ्रातृशोकेन परितः प्लुतः मग्नः सन्, असिचर्मभ्यामुच्छ्वसन्नागतः । अनेन सर्प इव तस्य क्रोधो निरूपितः । तज्जिघांसयेति आगमनाभिप्रायः । भ्रान्तोऽपि प्रवर्तकः ॥११॥

व्याख्यार्थ—यहां अक्षरच्युत अलङ्कार है इसके नाम से ही इसका माहात्म्य प्रकट होता है, दूर से ही जिसका रथ विकट दीखने में आता है वह विदूरथ 'तद्-भ्राता' उसका अर्थान् दन्तवक्र का भाई भ्राता के शोक नद में डूबा हुआ, ढाल तलवार ले हाँफता हुआ आया, यों कहने से, सर्प के समान क्रोध का निरूपण किया, क्यों आया ? तो कहते हैं कि 'तज्जिघांसया' उसको अर्थात् श्रीकृष्ण को मारने की इच्छा से आया, यद्यपि भ्रम में पड़ने से व्याकुल था तो भी मारने के लिए प्रवृत्त हुआ ॥११॥

श्लोक—तस्य चापततः कृष्णश्चक्रेण क्षुरनेमिना ।

शिरो जहार राजेन्द्र सकीरीटं सकुण्डलम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—हे राजेन्द्र ! इस विदूरथ के आते ही श्रीकृष्ण ने तीक्ष्ण धार वाले चक्र से, किरीट कुण्डल सहित इसका सिर काट डाला ॥१२॥

सुबोधिनी—ततः स भृत्यसंबन्धीति आपतत एव प्रहारात्पूर्वमेव चक्रेण शिरो जहार । क्षुरनेमिनेति स्वालौकिकसामर्थ्याभावः । जहार दूरीकृतवान् । सकुण्डलं सकीरीटमिति देवाधिष्ठानं तेन मुक्तियोग्यता निरूपिता ॥१२॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् वह भृत्य का सम्बन्धी था, इसलिए आते ही अर्थात् प्रहार करने से पहिले ही चक्र से उसका शिर काट डाला, कैसे काटा ? तो कहते हैं कि तीक्ष्ण धार वाले चक्र से, यों कहने से यह बतलाया कि भगवान् ने यहाँ अपना अलौकिक सामर्थ्य प्रकट नहीं किया, 'जहार' दूर कर दिए अर्थात् धड़ से दूर कर दिया । किरीट और कुण्डल सहित शिर कहने से उसका देवाधिष्ठानपन बताया, उससे मुक्ति की योग्यता कही ॥१२॥

आभास—मारितान् सात्त्विकराजसतामसान् उपसंहरति एवं सौभमिति ।

आभासार्थ—मारे हुए सात्विक राजा और नामसों के चरित्र की 'एवं सौमं' श्लोक में प्रकट करने हैं ।

श्लोक—एवं सौमं च शाल्वं च दन्तवक्रं च हानुजम् ।

हत्वा दुविषहैरन्यैरीडितः सुभ्रमन्तैः ॥१३॥

श्लोकार्थ—इस तरह सौम, शाल्व, छोटे भाई समेत दन्तवक्र को और जो अजय शूरवीर थे उनको भी साथ में मार डाला, तब देव और मनुष्य भगवान् की स्तुति करने लगे ॥१३॥

सुबोधिनी—चकारस्तत्सेनापरिग्रहार्थः । शाल्वे चकारः तन्मायादेवतावरनाशार्थः । दन्त-
वक्रं दूरस्थसहितः दुविषहैरन्यैः शूरैः सह तेषां मारिता इति । हत्वा स्थित ईडित इति क्रिया-
व्याहारोऽपि अर्थाद्भवति । सुरैर्मानवैश्च दुविषहै-
रन्यैरिति यादववाचकत्वं वा ॥१३॥

व्याख्यानार्थ—'च' शब्द सेना परिग्रह के लिए दिया गया है, शाल्व के साथ चकार दिया है जिसका आशय है कि उसके माया देवता का वर नाश करना था, विदूरथ के साथ दन्तवक्र और जो अजय अन्य शूरवीर थे उनके साथ वे भी मारे गए, मार कर खड़े हो गए तब उनकी स्तुति की गई, उस प्रकार यहाँ यह क्रियाव्याहार भी होता है अथवा ऊपर के सुरैः मानवैश्च दुविषहैः अन्यैः' ये यादव वाचक भी हो सकते हैं ॥१३॥

श्लोक—मुनिभिः सिद्धगन्धर्वैर्विद्याधरमहोरगैः ।

अप्सरोभिः पितृगणैर्यक्षैः किन्नरचारणैः ॥१४॥

उपगोयमानविजयः कुसुमैरभिर्वाषितः ।

वृतश्च वृष्णिप्रवरैर्विवेशालंकृतां पुरीम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—मुनि, सिद्ध, गन्धर्व विद्याधर, बड़े बड़े नाग, अप्सरा, पितृगण, यक्ष, किन्नर और चारण ये सब भगवान् की विजय को गा गाकर फूलों की वर्षा कर रहे थे, तब भगवान् यादवों के साथ शोभायमान पुरी में प्रविष्ट हुए ॥१४-१५॥

सुबोधिनी—तथा मुनिप्रभृतिभिरपि । कुसु-
मैरभिर्वाषित इत्यन्तं महती स्तुतिः भगवतो युद्ध-
लीला समाप्यत इति संतोषात्कृता, श्रोतृकृणां
युद्धलीलाभिनिवेशो भवत्विति । ततो भगवतः
पुरप्रवेशमाह वृतश्च वृष्णिप्रवरैरिति । हत्वा
स्तुतः विवेशेति तस्य क्रियात्रयं निरूपितं त्रिगुणम्
॥१४॥ ॥१५॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् ने युद्ध लीला समाप्त की, जिससे मुनि और सिद्ध आदिकों को संतोष हुआ जिससे, उन्होंने भगवान् की विजय को गाकर पुष्पों की वर्षा आदि से महती स्तुति की जिससे श्रोताओं को युद्ध लीला में अभिनिवेश होवे, पश्चात् भगवान् अपनी पुरी में पधारे जिसका वर्णन

करते हैं। यादवोत्तमों से घिरे हुए भगवान् उन दैत्यों को मारकर, और देव मनुष्यों से स्तुत होते हुए अलङ्कृत स्वपुरी में प्रविष्ट हुए। १-हत्वा २-स्तुतः ३-विवेश इन तीन क्रियाओं से तीन गुण प्रकट किए ॥१४-१५॥

आसास—भगवतः क्रियालीलामुपसंहरन् दोषाभावमाह एवं योगेश्वर इति ।

आभासार्थ—भगवान् की क्रिया लीला का उपसंहार करते हुए 'एवं योगेश्वरः' श्लोक में दोषों का अभाव बताते हैं—

श्लोक—एवं योगेश्वरः कृष्णो भगवान् जगदीश्वरः ।

ईयते पशुदृष्टीनां निर्जितो जयतीति सः ॥१६॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार योगेश्वर व जगदीश्वर श्रीकृष्ण भगवान् सदा जय हो पाते हैं पर किसी समय पशु बुद्धि यों प्रतीत करते हैं कि भगवान् जरासन्ध से हार गए ।

सुबोधिनी—योगेश्वरत्वात् ये योगभ्रष्टास्ते मोचिता इति एकं प्रयोजनम् । कृष्णत्वाद्भूभारो हृत इत्यपरम्, भगवानिति सामर्थ्यम्, जगदीश्वर इत्यावश्यकत्वम् । एवं क्रिया करणे हेतूनुक्त्वा लौकिकबुद्ध्या प्राप्तान् हेतून् निन्दति ईयते पशु-दृष्टीनामिति । पशुदृष्टिभिर्निर्जितो भगवान् जय-

तीति ईयते ज्ञायते, कदाचिन्निर्जितः कंचिज्जय-तीति । एतदुभयमपि पूर्वापरानुसंधानरहितानामेव । त एव पशवः, यतः स पुरुषोत्तमः । न तु केनाप्यंशेन भावान्तरं प्राप्त इत्यर्थः । अत्र भगवतः शस्त्रसंन्यासः पुराणान्तरे निरूपितः । स एवात्रोपसंहारेणापि सूचितः ॥१६॥

व्याख्यार्थ—'योगेश्वर' विशेषण से बताया है, कि जो योगभ्रष्ट थे उनको संसार से उबार कर मुक्ति दी, यह एक प्रयोजन कहा 'कृष्ण' पन से दिखाया कि भूभार हरण कार्य किया, यहाँदूसरा प्रयोजन कहा, भगवान् शब्द से सामर्थ्य प्रकट किया, 'जगदीश्वर' कह कर यह सूचित किया है कि ये सब कार्य आपको ही करने हैं (थे) इस प्रकार क्रिया के करने के हेतुओं को बता कर लौकिक बुद्धि से जो हेतु कहे जाते हैं उनकी निन्दा करते हैं । जिनकी दृष्टि पशुओं (मूर्खों-अज्ञों) जैसी हैं वे कहते हैं, कि देखा जाता है कि भगवान् कभी हार जाता है कभी किसी को जीतता है इस प्रकार दोनों तरह का कहना उनका है जो आगे पीछे का विचार करना जानते ही नहीं वे ही पशु हैं । अतः (क्योंकि) वे पुरुषोत्तम हैं, इसलिए किसी भी अंश से अन्य भाव को प्राप्त नहीं होते हैं, इस प्रकार तात्पर्य है, भगवान् का शस्त्र संन्यास अन्य पुराण में निरूपण किया है वह ही यहां उपसंहार से भी सूचित किया है ॥१६॥

आभास—एवं भगवतः क्रियाशक्तिमुपसंहृत्य बलभद्रस्यापि कीर्तिसिद्धयर्थं धर्म-क्रियामाह श्रुत्वा युद्धोद्यममिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् की क्रिया शक्ति का उपसंहार कर "श्रुत्वा युद्धोद्यमं" श्लोक में बलभद्र की कीर्ति सिद्ध करने लिए उनके धर्म की क्रिया को कहते हैं ।

श्लोक—श्रुत्वा युद्धोद्यमं रामः कुरूणां सह पाण्डवैः ।

तीर्थाभिषेकव्याजेन मध्यस्थः प्रययौ किल ॥१७॥

श्लोकार्थ—कौरव और पाण्डुवों के युद्ध का उद्यम सुनकर मध्यस्थ बलदेवजी तीर्थ यात्रा का मिस कर द्वारका से रवाना हुए ॥१७॥

सुबोधिनी—अनर्थपर्यवसानं तत्परित्याग एव आदौ धर्मः तत्रापि तद्व्याजेन तीर्थाचरणं सुतरामेव । अतो युद्धोद्यमं श्रुत्वा भगवान्पाण्डव-पक्षपातीति स्वस्य कौरवपक्षपाते अन्योन्यमेव विरोधो भवतीति तीर्थाभिषेकव्याजेन, वस्तुत-

स्तीर्थयात्रा नाभिप्रेतेति निमित्ताभावात्तद्व्याजेनैव । उभयोर्मध्यस्थः प्रययौ, तीर्थदेशानेव । किलेति प्रमाणम् । जीववत्तस्य तीर्थाचरणं भगवत्त्वविरोधीति स्वतः अनुक्त्वा किलेत्युक्तं हृदये व्याजेऽपि लोकप्रतीत्यर्थम् ॥१७॥

व्याख्यानार्थ—जहां अनर्थों का नाश होता है और अनर्थों का पूर्णतया त्याग करना ही प्रथम धर्म है, वहां भी उस मिससे तीर्थों पर जाना ही चाहिए अतः युद्ध का उद्यम सुनकर, श्रीकृष्ण तो पाण्डवों के पक्षपाती हैं और मैं कौरवों के पक्ष में हूँ, इससे दोनों में विरोध जगेगा, इसलिए तीर्थ यात्रा के मिष से द्वारका से निकले । वास्तव में तीर्थ यात्रा करने की इच्छा न थी । द्वारका से बाहर जाने का अन्य कारण न होने से इस मिष से ही निकले किसी की तरफदारी न कर मध्यस्थ होकर सत्य कहूंगा यह मन में विचार कर ही तीर्थों के लिए रवाने हुए, 'किल' निश्चय से अर्थात् यह प्रमाण है । आप भगवान् हैं इसलिए जीव की तरह तीर्थ करना भगवत्त्व से विरुद्ध है । आपने यह स्वयं प्रकट न कह कर 'किल' शब्द से हृदय में यों कहा, यद्यपि मिष से जा रहे थे किन्तु लोक में तो ऐसी प्रतीति कराई ॥१७॥

आभास—प्रभासे गत्वा संकल्पं कृत्वा ततो निर्गत इत्याह स्नात्वा प्रभास इति ।

आभासार्थ—प्रभास तीर्थ में जाकर सङ्कल्प कर वहां से रवाने हुए यह 'स्नात्वा प्रभासे' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—स्नात्वा प्रभासे संतर्प्य देवर्षिप्रितृमानवान् ।

सरस्वतीं प्रतिस्रोतं ययौ ब्राह्मणसंवृतः ॥१८॥

श्लोकार्थ—बलदेवजी ने प्रभास में स्नान किया और देव, ऋषि तथा पितर एवं मनुष्यों को तर्पण आदि से तृप्त किया, अनन्तर ब्राह्मणों को साथ में लेकर सरस्वती नदी के प्रवाह के सन्मुख चले ॥१८॥

सुबोधिनी—भगवता सात्त्विकप्रकरणे धर्मः कर्तव्यः स च प्रवृत्त्यात्मकः स धर्मो यज्ञस्तीर्थानि च । तदुक्तम्, 'यज्ञास्तीर्थानि च पुनः समानि

हरिणा कृताः' इति यज्ञाः कृताः तीर्थानि च पुनस्तत्समानानि च कृतानि तत्र वसुदेवः जीवतीति न स्वतो यागकरणं संभवतीति सुतरां

राजसूयादिकरणं ततो भगवान् साहाय्यमेव कृतवान् । बलभद्रस्तु तीर्थयात्रां यज्ञसमानां मन्यत इति तामेव कर्तुं प्रवृत्तः व्याजेन करणं धर्मो न भवतीति पश्चाद्भगवान् निमित्तं संपादयिष्यति अन्यथा अनधिकारिणा कृतमकृतमिति धर्म एव न भवेत् । प्रभासे अग्निकुण्डे संगमे वा

स्नात्वा, ततो देवर्षिपितृमानवान् ब्राह्मणभोजनादिना संतर्प्य सरस्वतीतीरे तीर एव प्रतिस्नोतं यथा भवति तथा ययौ, ब्राह्मणसंवृत इति तत्पूर्यर्थम् । ब्राह्मणाभ्यनुज्ञाव्यतिरेकेण तीर्थपूर्यभावात् ॥१८॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् ने सात्त्विक प्रकरण में प्रवृत्त्यात्मक धर्म कहा है, वह यज्ञ और तीर्थ हैं । जैसा कि कहा है कि 'यज्ञस्तीर्थानि च पुनः समानि हरिणा कृताः' हरि ने यज्ञ और तीर्थ दोनों समान किए हैं । वसुदेवजी जीवित हैं, इसलिए पुत्रों को यज्ञ करने का जैसे अधिकार नहीं वैसे तीर्थ करने का भी अधिकार नहीं है । राजसूय यज्ञ हुआ, उसमें भगवान् ने सहायता की है । बलभद्रजी तीर्थों को भी यज्ञ के समान समझते हैं तो, फिर उनके करने में प्रवृत्त क्यों हुवे ? तो कहते हैं कि यद्यपि यों तीर्थ यात्रा मिष से करनी पड़ी है, वह यात्रा धर्मरूप न होगी, किन्तु भगवान् तीर्थ यात्रा करने का पीछे निमित्त उत्पन्न कर लेंगे, यदि भगवान् निमित्त न बनावें तो अनधिकारी का किया हुआ कर्म न करने के समान है इसलिए वह धर्म नहीं हो सकता है । प्रभास में अग्निकुण्ड में अथवा सङ्गम में स्नान कर, पश्चात् देव, ऋषि, पितर और मनुष्यों को ब्राह्मण भोजन आदि से तृप्त कर सरस्वती के किनारे किनारे चलते स्रोत के सम्मुख जैसे हो वैसे जाने लगे, ब्राह्मणों को साथ में लिया था क्योंकि बिना ब्राह्मणों की आज्ञा के तीर्थ कर्म की सम्पूर्णता नहीं होती है ॥१८॥

श्लोक—पृथूदकं बिन्दुसरस्त्रितकूपं सुदर्शनम् ।

विशालं ब्रह्मतीर्थं च चक्रं प्राचीं सरस्वतीम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—पृथूदक, बिन्दुसर, त्रितकूप, सुदर्शन, विशाल ब्रह्मतीर्थ, चक्रतीर्थ, प्राची सरस्वती ॥१९॥

सुबोधिनी—यद्यपि प्रतिस्नोतोगमने क्रमेण पृथूदकादीनि तीर्थानि न सन्ति तथापि तीर्थमाहात्म्यं पुरस्कृत्य तेषां गणना तस्मिन् कल्पे वा तथा

संनिवेशः । पृथूदकादीनि षट् तीर्थानि सर्वत्र प्राची सरस्वती एवं प्लक्षजाता सरस्वती यावत् ॥१९॥

व्याख्यानार्थ—यद्यपि प्रवाह के सामने किनारे किनारे जाते हुए पृथूदक आदि तीर्थ क्रमशः नहीं हैं, तो भी, तीर्थ माहात्म्य को लेकर उनकी गणना की है, अथवा उस कल्प में इस प्रकार तीर्थ होंगे, पृथूदक आदि छः तीर्थ सर्वत्र प्राची सरस्वती के किनारे पर हैं, प्राची सरस्वती का आशय यह है कि जो सरस्वती प्लक्ष से उत्पन्न हुई है ॥१९॥

श्लोक—यमुनामनु यान्येव गङ्गामनु च भारत ।

जगाम नैमिषं यत्र ऋषयः सत्रमासत ॥२०॥

श्लोकार्थ—(उन तीर्थों के अनन्तर) यमुना के तट के प्रवाहानुकूल चलते हुए जो तीर्थ आयें उनमें घूमते-घूमते गङ्गा के प्रवाह के अनुसरण करने वाले तीर्थों में होते हुए नैमिष क्षेत्र में आए जहां ऋषि लोग सत्र कर रहे थे ॥२०॥

सुबोधिनी—ततो यमुनां प्राप्य अनुस्रोतन्या- नैमिषपर्यन्तं समागतः । तत्र विलम्बे कारणमाह
 येन प्रयागे समागतः । ततो गङ्गामनु हरिद्वारपर्यन्तं यत्र ऋषय इति । सत्रं यत्किञ्चिदासत ॥२०॥
 बद्रीकाश्रमपर्यन्तं वा गतः । ततः पुनः गोमतीतीरे

व्याख्यार्थ—पश्चात् यमुना पर पहुँच अनुस्रोत न्याय से प्रयाग में आए, अनन्तर गङ्गा के बाद हरिद्वार अथवा बद्रीकाश्रम तक गए, बाद में फिर गोमती तट से नैमिषारण्य पहुँचे, वहाँ समय विशेष लग जाने का कारण यह था कि ऋषि लोगों ने कोई सत्र प्रारम्भ किया था ॥२०॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह तमागतमभिप्रेत्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ वह 'तमागत' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—तमागतमभिप्रेत्य मुनयो दीर्घसत्रिणः ।

अभिनन्द्य यथान्यायं प्रणम्योत्थाय चार्चयन् ॥२१॥

श्लोकार्थ—दीर्घ सत्र करने वाले मुनि लोग उनको आए हुए देखकर पहिले क्षत्रियानुरूप अभिनन्दन करने लगे, पश्चात् भगवान् जानकर शास्त्रानुसार प्रणाम कर खड़े हो पूजा करने लगे ॥२१॥

सुबोधिनी—मुनयः अग्रेस्मात् ज्ञानोपदेशो क्षत्रियोत्तमे समागते कर्तुं मुचितं तथा कृतवन्तः ।
 भविष्यतीत्येष्यज्ञानयुक्ताः । अत एव तदर्थं दीर्घ- ततो भगवद्बुद्ध्या प्रणम्य उत्थाय च आर्चयन्
 सत्रिणः तस्यागमनमभिनन्द्य यथान्यायं यथा ॥२१॥

व्याख्यार्थ—मुनि यह सोच कर आगे हमको ज्ञान का उपदेश प्राप्त होगा, इस प्रकार के ज्ञान वाले थे, इस कारण से ही उस उपदेश प्राप्ति के लिए दीर्घ काल का सत्र प्रारम्भ किया था, अतः उनके आने का अभिनन्दन कर, नीति के अनुसार उत्तम क्षत्रिय के आने पर जैसा करना योग्य था वैसा किया, पश्चात् भगवान् हैं इस बुद्धि से प्रणाम कर खड़े हो पूजा करने लगे ॥२१॥

आभास—स हि व्याजेन प्रवृत्तः मुख्यस्वाम्यभिप्रायाभावात् भगवच्छास्त्रपर्यालोचनभावाच्च स्मृतिन्यायेन धर्ममप्यधर्मं ज्ञात्वा धर्मस्थाने अधर्मो न युक्त इति तेषां सत्कारफलसिद्धयर्थं उपकारमिव कुर्वन् सूतनिराकरणार्थं तं दृष्टवानित्याह सोऽर्चित इति ।

आभासार्थ—मुख्य स्वामी के अभिप्राय को बिना जान लेने के और भगवत् शास्त्र के विचार

किये बिना वे (बलभद्र) मिष से यात्रा करने चले थे । स्मृतिन्यायानुसार धर्म को भी अधर्म समझा, धर्म स्थान पर अधर्म करना योग्य नहीं है, इसलिए उनके सत्कार के फल की सिद्धि के लिए मानो उपकार करता हुआ सूत का निराकरण करने के लिए उसको देखने लगे, यह सोऽर्चितः' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—सोऽर्चितः सपरीवारः कृतासनपरिग्रहः ।

रोमहर्षणमासीनं महर्षेः शिष्यमैक्षत ॥२२॥

श्लोकार्थ—परिवार (साथ आए हुए ब्राह्मणों) सहित बलदेवजी का पूजन किया, पश्चात् आसन आदि दिया, महर्षि के शिष्य रोमहर्षण नाम वाले सूत को बलराम ने उच्च आसन पर बैठा हुआ देखा ॥२२॥

सुबोधिनी—सपरीवारः ब्राह्मणसहितः ।
कृतः आसनपरिग्रहो येन, स्थिरतायै उपदेशयोग्य-
त्वायाभिमानाय चोक्तम् । रोमहर्षणः सूतः ।

ब्राह्मणानामग्रे उच्चासने स्थितः न चायं बालः
यतो महर्षे शिष्यः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—मुनियों ने बलरामजी का ब्राह्मण सहित पूजन आदि कर आसन आदि बिराजने के लिए दिए, किन्तु बलरामजी ने वहाँ देखा तो महर्षि का शिष्य, रोमहर्षण नाम वाला सूत ब्राह्मणों के सामने उच्चासन पर बैठा है, यह न आयु से बालक है और न विद्या से भी बालक है क्योंकि महर्षि का शिष्य है, उसकी स्थिरता, उपदेश करने की योग्यता और अभिमान देख निम्न वचन कहने लगे ॥२२॥

आभास—एवमपि स्मृतिविरुद्धं करोतीति तस्मिन् क्रोधं कृतवानित्याह अप्रत्यु-
त्थायिनमिति ।

आभासार्थ—यह सूत जो कर रहा है वह स्मृतिशास्त्रों के विरुद्ध कर रहा है, इसलिए बलदेवजी क्रोध करने लगे, यह 'अप्रत्युत्थायिनं' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—अप्रत्युत्थायिनं सूतमकृतप्रह्वणाञ्जलिम् ।

अध्यासीनं च तान्विप्रांश्चकोपोद्वीक्ष्य माधवः ॥२३॥

श्लोकार्थ—वह सूत जाति का होकर उन सब ब्राह्मणों से उच्च आसन पर बैठा था, बलदेवजी के पधारने पर न खड़ा हुआ न हाथ जोड़े और न प्रणाम किया जिससे बलदेवजी को क्रोध उत्पन्न हुआ ॥२३॥

सुबोधिनी—वस्तुतो ब्राह्मणातिक्रम एव । रेण तस्य दोषोऽङ्गीकृतः तस्य मात्सर्याजनकत्वात्
तस्य दण्डे हेतुः । तथापि ब्राह्मणैः केनचित्प्रका- । अप्रत्युत्थानमेव हेतुं मन्यते । यद्यस्य महत्त्वं

केनापि प्रकारेण जातं तथापि ब्राह्मणोत्तमादधिकं भवति । ब्राह्मणाश्चेदभ्युत्थानादिकं कृतवन्तः तत्रास्याभ्युत्थाने कः सन्देहः अतो नास्मिन् धर्मः मार्गाभावात् । अतः पाषण्डे केनचिह्नोभादिना पुष्टः धर्माभासः गर्वजनकत्वाद् अपकार्येव जात इति । तस्मिन् विद्यमानं धर्मं पाषण्डत्वेनाभिप्रेत्य क्रोधं कृतवान् । सूत इति जात्या हीनः । न कृतः

प्रह्वणार्थमञ्जलिर्येन । व्रतस्थेनाप्येतावत्कर्तव्यमिति द्वितीयो दोष उक्तः । तृतीयमाह अध्यासीनं चेति । आधिक्येनोच्चासनेन ब्राह्मणान् हीनान् कृत्वा आसीनः । ते च विप्राः विशेषेण पूरकाः सर्वसुहृदः अतस्तेषां तूष्णींभावो न दोषायेति । स्वयं दण्डाधिकृत इति क्रोधोपपत्तिरुक्ता । माधवो मधुवंशोत्पन्नः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—सूत को जो दण्ड मिला, उसमें हेतु ब्राह्मणों का अतिक्रम करना ही है, ब्राह्मणों ने एक प्रकार से ही उसका दोष अङ्गीकार किया, उसको मात्सर्य पैदा न हुआ, अतः न उठना ही हेतु माना जाता है ।

अगर किसी भी प्रकार से इसका महत्त्व हो गया है तो भी क्या यह ब्राह्मणों से उत्तम हो सकता है ? जब ब्राह्मण अभ्युत्थान आदि से सत्कार करते हैं तब इसको यों करने में कौनसा सन्देह था ? अतः इसमें धर्म नहीं रहा है, क्योंकि धर्म मार्ग के ज्ञान का इसमें अभाव ही है । इस कारण से पाषण्ड होने पर किसी लोभ आदि से पुष्ट जो धर्म दीखता है वह धर्म नहीं है किन्तु धर्माभास ही है, जिससे ही गर्व उत्पन्न हुआ है अतः वह पाषण्ड धर्म, हानिकारक ही हुआ है । उसमें जो धर्म है वह पाषण्डी है इसलिए बलदेवजी क्रोध करने लगे, 'सूत' है इसलिए १-दोष-जाति से भी हीन है, फिर नमस्कार आदि कुछ नहीं किया, २-दोष-व्रत में स्थित हो तो भी उसको इतना करना ही चाहिए, ३-दोष दिखाते हैं कि उत्तम ब्राह्मणों के सामने उच्च आसन पर बैठा है, जिससे दिखाया है कि ब्राह्मण हीन हैं मैं उत्तम हूँ, जब यों है तो वे उत्तम ब्राह्मण चुपकर क्यों बैठे हैं ? वे विप्र हैं सबका हित करने वाले सबके सुहृद हैं, अतः उनका मौन दोष के लिए नहीं है, आप स्वयं दण्ड देने के अधिकारी हैं, इस कारण से ही क्रोध का युक्ति युक्त हेतु कहा है, मधुवंश में उत्पन्न हुए हैं ॥२३॥

आभास—तस्यालोचनमाह कस्मादिति ।

आभासार्थ—उसके आलोचना दर्शन का वर्णन 'कस्माद सा' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—कस्मादसाविमान्विप्रानध्यास्ते प्रतिलोमजः ।

धर्मपालांस्तथैवास्मान्वधमर्हति दुर्मतिः ॥२४॥

श्लोकार्थ—यह प्रतिलोम जाति में उत्पन्न सूत, ब्राह्मणों के और धर्मपाल हम लोगों के सामने ऊँचे स्थान पर स्थित आसन पर कैसे बैठा है ? अतः यह दुर्मति वध करने के ही योग्य है ॥२४॥

सुबोधिनी—असाविति नास्मिन् तेजो दृश्यत इति ज्ञापितम् । इमान् विप्रानिति तेजोदर्शनं, न चायमपि महान् यतः प्रतिलोमजः, अनेन ज्ञाना-

धिक्यादुपविष्ट इति पक्षो निराकृतः । विप्राणां मेव ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यमिति भावः । किंच । धर्मपालांस्तथैवास्मानिति ऐहिकभयमामुष्मिकभयं च

नास्त्यस्मिन् इति द्वयं निरूपितम् । तत्र दण्डो वध एवेत्याह वधमर्हतीति । ननु बोधनीय एवायं किमिति वधः क्रियत इत्याशङ्क्याह दुर्मतिरिति दुष्टबुद्धिः, उक्तमपि न ग्रहीष्यति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—‘असौ’ पद से यह कहा है कि इसमें किसी प्रकार का कोई तेज नहीं है ‘इमान् विप्रान्’ पद से सूचित करते हैं कि ये ब्राह्मण सर्व मुहूर्त हैं अतः इनमें तेज का दर्शन हो रहा है, यों भी नहीं है कि यह भी महान् है किन्तु प्रतिलोम जाति का होने से निम्न कक्षा का है, यों कह कर यह बताया है कि इसमें विशेष ज्ञान है इसलिए बिठाया है, इस पक्ष का भी निराकरण किया है अर्थात् विप्रों में ही ज्ञान से बड़प्पन होता है, धर्म पालकों का वैसे ही हम लोगों का भी इसके मनमें भय वा आदर नहीं है जिसका सारांश है कि इसको इस लोक का और परलोक का भी भय नहीं है, ऐसी हानत में इसका दण्ड वध ही है अर्थात् मारने के योग्य है, यदि कहो कि मारते क्यों हो ? इसको ज्ञान देकर समझाओ उसका उत्तर देते हैं, कि यह दुष्ट बुद्धि वाला है अतः समझाने पर भी मानेगा नहीं ॥ २४॥

आभास—नन्वयमनुपासितवृद्धः बालवत्प्रबोधनीय एवेति चेत्तत्राऽह ऋषेर्भगवतो भूत्वेति ।

आभासार्थ—इसने वृद्धों की सेवाकर अनुभव प्राप्त नहीं किया है अतः इसको बालक की तरह समझाना चाहिए इस पर ‘ऋषेर्भगवतो’ श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—ऋषेर्भगवतो भूत्वा शिष्योधीत्य बहूनि च ।

सेतिहासपुराणानि धर्मशास्त्राणि सर्वशः ॥२५॥

श्लोकार्थ—भगवान् वेदव्यासजी का शिष्य बन कर इसने इतिहास व पुराण सहित सर्व प्रकार के धर्मशास्त्र पढ़े हैं ॥२५॥

सुबोधिनी—ऋषिर्मन्त्रद्रष्टा तस्य शिष्योऽप्य-लौकिकार्थज्ञो भवितुमर्हति तत्रापि भगवतः सानु-भावस्य । न केवलं शिष्यत्वमात्रं किंतु बहून्यधी-त्येति । चकारादध्यापनाभ्यासी । वेदाध्ययनं शङ्कितं भविष्यतीति तन्निराकरणार्थमितिहास-पुराणानीत्याह, इतिहासश्रवणेन नीतिज्ञानं भवति, तदभावे केवलधर्मोऽप्यनर्थः स्यात् गजेन्द्र-वत् । पुराणाध्ययनात्साभिप्रायधर्मज्ञानम् । धर्म-शास्त्रैः देशकालकुलादिधर्मा आधुनिका अपि सर्व एव ज्ञाता भवन्ति । सर्वशः इति तत्तदभिप्रायो-ऽपि बहूनां मुखादवगतः ॥२५॥

व्याख्यार्थ—‘ऋषि’ वह होता है जिसने मन्त्रों के साक्षात् दर्शन किए हैं फिर यह ऋषि तो ‘भगवान्’ है अर्थात् प्रभावशाली ज्ञानावतार है, उसका शिष्य भी अलौकिक अर्थ को जानने वाला होता है, न केवल मात्र शिष्यपन है, किन्तु बहुत पढ़ा है, पढ़ने के साथ उसका अभ्यास भी किया है, इससे वेद पढ़ा किन्तु उसमें शङ्काएँ रह जायगी, उसके निराकरण के लिए कहते हैं कि इतिहास और पुराण भी पढ़े हैं, इतिहास के श्रवण (पढ़ने) से नीति का ज्ञान होता है, उसका यदि अभाव होता है तो केवल धर्म में भी गजेन्द्र की तरह अनर्थ होता है और पुराणों के अध्ययन से अभिप्राय

सहित धर्म का ज्ञान होता है तथा धर्म शास्त्रों के पढ़ने से देश, काल और कुल आदि के धर्मों का ज्ञान होता है 'सर्वशः' पद से यह बताया है कि उन पढ़े हुए इतिहास, पुराण और धर्म शास्त्रों के अभिप्राय भी बहुतेरों के मुख से प्राप्त किए हैं ॥२५॥

आभास—ननु विद्यया कथमस्य गुणा नोत्पादिताः कथमयमेतादृशो जात इत्याह अदान्तस्येति ।

आभासार्थ—इतनी विद्या पाकर भी इसमें सद्गुण क्यों नहीं प्रकट हुए ? यह इस प्रकार का कैसे हुआ ? जिसका उत्तर 'अदान्तस्य' श्लोक में समझा कर देते हैं ।

श्लोक—अदान्तस्याविनीतस्य वृथापण्डितमानिनः

न गुणाय भवन्ति स्म नटस्येवाजितात्मनः ॥२६॥

श्लोकार्थ—जो नट की तरह वेष धरने वाला, अजितेन्द्रिय, अजितात्मा, विनयरहित, वृथा पण्डितमानी है, उसको शास्त्राभ्यास भी गुणकारक नहीं होता है ॥२६॥

सुबोधिनी—विद्या गुणोत्पादिका आश्रय-
दोषाभावे भवति । तत्र अजितेन्द्रियत्वं महाना-
श्रयदोषः 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' इति
सहजबहिर्मुखानि, विद्या ह्यन्तर्मुखं कर्तुमिच्छति ।
नदिन्द्रियाणां प्रतिबन्धे न भवतीति इन्द्रियजयो
मृग्यते । किञ्च । विद्याग्रहणे विद्याबाधकोधर्मा-
भावो हेतुः । विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम
गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि । असूय
कायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा
स्याम्' इति । अविनीतस्य विद्या निर्वीर्येति न
गुणजननसामर्थ्यम् । किञ्च । वृथापण्डितमानिनः

इति । विद्या बुद्ध्या गृहीता सती स्वकार्यं करति
तदभिमानात्तस्याग्रहणमेव यस्तु पाठव्यतिरेके-
णापि मन्यते पण्डितोऽहमिति स प्रयोजनाभावात्
स्वार्थं विद्यां न ग्रहीष्यत्येव कथं विद्याफलं जनयेत्
अतो न गुणाय भवन्ति पुराणादीनि । किञ्च
नटस्येवेति परप्रदर्शनार्थमेव यो विद्यां गृह्णाति
तस्य न विद्यातः फलं यथा नटस्य । किञ्च ।
अजितात्मनः अन्तःकरणजयाभावे उत्पादिता
अपि गुणाः तामसैर्भावैस्तिरोहिता भवन्ति अतो-
स्य सर्वमेव वर्तत तति दोषपञ्चकसद्भावा-
न्नास्मिन्विद्याफलम् ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—विद्या गुणों को पैदा करने वाली तब होती है जब विद्यार्थी जिसमें विद्या को आश्रय करता है उसमें दोष नहीं हो, उन दोषों में, इन्द्रियों को न जीतना यह महान् आश्रयदोष है, जैसा कि 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' इस श्रुति में कहा है इससे उनकी स्वाभाविक बहिर्मुखता कही है, विद्या विद्यार्थी को अन्तर्मुख करना चाहती है वह अन्तर्मुखता तब हो सकती है जब इन्द्रियाँ उसमें रुकावट करने वाली न होवें, इसलिए विद्या इन्द्रिय जय चाहती है, विद्या प्राप्ति में विद्या में रुकावट डालने वाले धर्मों का अभाव ही कारण है 'विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि' 'असूयकायानृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम्' इति, जो अनम्र है उसमें विद्या आती है तो निर्वीर्य हो जाती जिससे गुणों को उत्पन्न नहीं कर सकती है और विशेष कहते हैं कि विद्या जब बुद्धि से ग्रहण की जाती है तब वह अपना कार्य करती है, उसका अभिमान होने से उसका अग्रहण ही है अर्थात् अभिमान होने से विद्या से प्राप्त गुण व उसके कार्य तिरोहित

हो जाते हैं, जो बिना पढ़ने के भी समझता है कि मैं पण्डित हूँ, वह प्रयोजन के न होने से अपने लिए विद्या का ग्रहण न करेगा ही, फिर विद्या का फल कैसे होगा ? अतः ऐसे पुरुषों को पुराणादि के पठन गुण-जनक नहीं होते हैं किञ्च नट की तरह दूसरों को दिखाने के लिए ही जो विद्या ग्रहण करता है, उसको विद्या से कोई लाभ प्राप्त नहीं होता है जैसे नट को नाट्य करने से कोई फल प्राप्त नहीं होता है फिर यदि वह अजितात्मा है तो पैदा हुए गुण भी तामस भावों से तिरोहित हो जाते हैं अतः इसमें सब हैं, इसलिए पाँचों दोषों के होने से इसमें विद्या फलीभूत नहीं हुई है ॥२६॥

आभास—नन्वस्य दोषेणायमेव नष्टो भवतु किं तव । यथास्य विनयो धर्मः एव तव क्षमापि तदभावे तवापि दोष एवेत्याशङ्क्याह एतदर्थ इति ।

आभासार्थ—वह अपने दोषों से आप ही नष्ट होगा, इसमें आपका क्या जाता है ? जैसे विनय धारण करना इसका धर्म है वैसे आपका भी क्षमा करना धर्म है, यदि आप क्षमा नहीं करते हो तो आप भी दोषी बनोगे, इस प्रकार की शङ्का होने पर 'एतदर्थ' श्लोक में उत्तर देते हैं ।

श्लोक—एतदर्थो हि लोकेऽस्मिन्नवतारो मया कृतः ।

वध्या मे धर्मध्वजिनस्ते हि पातकिनोधिकाः ॥२७॥

श्लोकार्थ—धर्मध्वजी (पाषण्डी-पापी) पुरुषों के नाशार्थ ही मैंने अवतार लिया है, मुझे धर्मध्वजी मारने चाहिए क्योंकि निश्चय से वे ही अधिक पापी हैं ॥२७॥

सुबोधिनी—इदं नाधिकारिभिः कर्तुं शक्य-
मन्यथाधिकारस्वीकारो व्यर्थः स्यात्, यथा परम-
हंसानां सर्वातिक्रमसहनं युक्तं एवं राज्ञोऽपि
चेत्तदा सर्वनाशः स्यात् । एतदर्थमेव मम अवतारः
येन धर्मो रक्षितो भवति । अतस्तदेव मम कर्त-
व्यम् । धर्मो च प्रतिपक्षा निराकर्तव्याः । तत्रा
धर्मकारिभ्योपि धर्मध्वजिनो दुष्टाः अन्यानपि
नाशयन्तीति तेषां दोषाधिक्यमाह ते हि पातकिनो-

धिका इति । ते अधिकाः पातकिनः साक्षानिषि-
द्धाचरणमधर्मः, तस्योत्कर्षो महापातकम्, तेभ्यो-
ऽपि धर्मध्वजिनः अधिकाः । 'विधर्मः परधर्मश्च'
इति वाक्ये एतन्निरूपितम् । उपधर्मास्ते तद्धर्म-
निवृत्तीच्छायामपि न निवर्तन्ते नापि प्रतीकारा-
र्थमिच्छामपि कुर्वन्ति अतोस्मिन्विद्यमाने अधर्मा-
नुवृत्तिर्भविष्यतीति वधावश्यकता निरूपिता । २७।

व्याख्यार्थ—अधिकारियों को यों करना योग्य नहीं है, यदि क्षमा करें तो उनका अधिकारी बनना ही व्यर्थ है, जैसे परमहंस सर्व प्रकार के अतिक्रमणों को सहन करे अर्थात् अतिक्रम करने वाले दोषी को क्षमा करे, यह उनका धर्म है वैसे यदि राजा भी दोष करने वालों को दण्ड न देकर क्षमा करे तो सर्व प्रजा का नाश हो जावे, अतः सर्व प्रजा की रक्षार्थ दुष्टों को दण्ड देने के लिए ही मेरा अवतार है, जिससे ही धर्म रक्षित होता है, अतः वह ही मेरा कर्तव्य है, धर्म पालन में अधर्मियों का निराकरण ही करना चाहिए, उसमें अधर्म करने वालों से भी धर्मध्वजी (पाषण्डी) दुष्ट हैं क्योंकि अधर्म करने वाले अपने को नष्ट करते हैं, किन्तु धर्मध्वजी दूसरों को भी नाश करते हैं इस कारण से वे अधिक पातकी हैं । शास्त्र में निषिद्ध आचरणों को पालन करना अधर्म है, उस अधर्म का उत्कर्ष महान् पातक है, उनसे भी धर्मध्वजी अधिक पापी है इसका निरूपण 'विधर्मः परधर्मश्च'

वाक्य में किया है, वे उपधर्म उनसे निवृत्ति की इच्छा करने पर भी नहीं निवृत्त होते हैं और प्रतीकार के वास्ते इच्छा भी नहीं करते हैं, अतः इसके विद्यमान रहने पर अधर्म बढ़ता ही रहेगा, इसलिए वध की आवश्यकता निरूपण की है ॥२७॥

आभास—ततो यत्कृतवांस्तदाह एतावदुक्त्वेति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो किया वह 'एतावदुक्त्वा' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—एतावदुक्त्वा भगवान्निवृत्तोसद्वधादपि ।

भावित्वात्तं कुशाग्रेण करस्थेनाहनत्प्रभुः ॥२८॥

श्लोकार्थ—यद्यपि बलरामजी ने दुष्टों का वध करना त्याग दिया था तो भी भावी प्रबल है, ऐसा होना ही था, इसलिए इतना कहकर सर्वसमर्थ ने अपने हाथ में धरे हुए दर्भ के अग्र भाग से उसको मार डाला ॥२८॥

सुबोधिनी—स हि सङ्कल्पमारभ्य असद्वधादपि निवृत्तः । व्रतिनो वध्यवधोपि निषिद्ध इति तथापि क्षोभाधिक्यात्, तथैव भावित्वात्, धर्मपरीक्षार्थं लौकिकं शस्त्रं परित्यज्य तत्रापि स्व-

हस्तस्थितं सूक्ष्ममेव कुशं मारणार्थं गृहीतवान् । हस्तस्थितौ तस्मिन् क्रियाशक्त्यध्यासः । मरणे तथा मारणे च हेतुः प्रभुरिति ॥२८॥

व्याख्यानार्थ—वह (बलरामजी) निश्चय पूर्वक सङ्कल्प कर असत्पुरुषों के वध से निवृत्त हो गए थे, जिसने ऐसा व्रत ले लिया है उसको मारने के योग्य को भी मारना निषिद्ध है, तो भी अधिक क्षोभ होने से तथा ऐसी भावी वननी ही थी इसलिए धर्म की परीक्षा के लिए लौकिक शस्त्र त्याग कर, उसमें भी अपने हस्त में धरे हुए सूक्ष्म कुश को मारने का साधन बनाया, कुश, हस्त में रखा हुआ था, इसलिए उसमें क्रिया शक्ति का अध्यास था प्रभु होने से मरने और मारने में कारण है, यों, ॥२८॥

आभास—यद्यपि तन्मारणं धर्मः तथापि धर्मप्रवर्तकानां नाभिप्रेतः, अतस्ते खिन्ना जाता इत्याह हाहेति ।

आभासार्थ—यद्यपि उसका वध धर्म था किन्तु ऋषियों को वह इच्छित नहीं था, अतः वे खिन्न (अप्रसन्न) हुए जिसका वर्णन 'हाहेति' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—हाहेतिवादिनः सर्वे मुनयः खिन्नमानसाः ।

ऊचुः संकर्षणं देवमधर्मस्ते कृतः प्रभोः ॥२९॥

श्लोकार्थ—तब सब मुनि हाहाकार करने लगे और खिन्न चित्त हो बलरामजी को कहने लगे कि हे प्रभु: आपने यह अधर्म किया है ॥२९॥

सुबोधिनी—सर्व एव स्वाभिलषितनाशात् हाहेतिवादिनः । ते हि भगवत्कथां शृण्वानाः तद्विघातो जात इति खिन्नमानसा जाताः । यतो मुनयः । श्रुतो हि भगवान् मन्तव्यो भवति । साक्षाद्गुरोः सकाशादध्ययनव्यापारे मननं बाधितं भवेत् । अतोयं प्रसङ्गाद्गृहे समागतः सर्वं श्रावयतीत्यनायासेनाभिलषितसिद्धिः तन्नाशान्मनः खेदः । तथापि जात एवानर्थ इति तूष्णीं स्थातव्यं

किमित्युपालम्भः क्रियत इति तत्राह संकर्षणमिति । स ह्यन्यधर्ममन्यत्र प्रयोजयितुं शक्तः द्रष्टृदृश्ययोर्मेलकत्वात् । तत्रापि देवः अलौकिकमपि योजयेत् । अतः स वक्तव्य एवेत्युच्यते । ते त्वया अधर्मः कृत इति । अयमधर्मस्तवैव जातो नास्माकमयमभिप्रायः प्रभोरिति सामर्थ्यमेव त्वया प्रकटितं न तु ज्ञानमिति सूचितम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ—सब ही मुनिलोग, अपने इच्छित कार्य नाश हो जाने से हाहाकार करने लगे, वे निश्चय पूर्वक भगवत्कथा सुन रहे थे उसका नाश हो गया, अब कैसे सुनेंगे ? इससे खिन्न हृदय वाले हुए क्योंकि 'मुनि' हैं भगवत्कथा सुनकर मनन करने वाले हैं, भगवान् के गुण गान जब सुने जाते हैं तब ही उनमें प्रेम उत्पन्न होता है जिससे वे पूजनीय समझे जाते हैं ।

साक्षात् गुरु की सन्निधि में बैठे जब पढा जाता है तब उसका मनन करना नहीं बन पाता है, अतः यह प्रसङ्ग से घर पधार गया, जो भी हम पूछेंगे वह सुनाएगा, जिससे बिना श्रम के अभिलषित की सिद्धि हो जाती, उसका नाश हो गया इससे मनको खेद हुआ, तो भी जो होना था वह अनर्थ हो ही गया इसलिए अब मौन ही धारण करना उचित है, उपालम्भ क्यों देते हो ? इसका उत्तर देते हैं कि ये संकर्षण हैं इनमें वह शक्ति एक का धर्म (कर्म वा शक्ति) दूसरे में स्थापित कर सकते हैं दृष्टा^२ व दृश्य^३ दोनों को मिला सकते हैं, उसमें भी फिर विशेषता यह है कि देव हैं । जिससे अलौकिक कार्य भी कर सकते हैं, इसलिए इनको कहना ही चाहिए, तुमने इसका जो वध किया वह अधर्म कार्य किया है, यों कहने का भाव यह है, इसके मारने से जो अधर्म हुआ, अधर्म का पाप आपको ही लगेगा न कि हमको, 'प्रभो' विशेषण से यह बताया है कि आपने अपना सामर्थ्य ही प्रकट कर दिखाया है, न कि ज्ञान प्रकट किया है ॥२६॥

आभास—कथमधर्म इत्याशङ्कयामाह अस्य ब्रह्मासनं दत्तमिति ।

आभासाथं—यह वध अधर्म कैसे है उसका उत्तर 'अस्य ब्रह्मासन' श्लोक में देते हैं—

श्लोक - अस्य ब्रह्मासनं दत्तमस्माभिर्यदुनन्दन ।

आयुश्चात्माक्लमं तावद्यावत्सत्रं समाप्यते ॥३०॥

श्लोकार्थ—हे यदुनन्दन ! हम लोगों ने इसको ब्रह्मासन दिया है और इसकी आयु कम थी, इसलिए जब तक हमारा यह सत्र (कथा-ग्रन्थ) समाप्त न होवे तब तक यह जीवित रहे ॥३०॥

१—जो हम चाहते हैं उसकी सिद्धि २—भगवान् ३—जगत् इन दोनों को संहार से मिलाने वाले अर्थात् एक करने वाले हैं ।

सुबोधिनी—अन्यस्मात्कथाश्रवणं दोषायेति ब्राह्मसनं दत्तवन्तः । यावदयमासने उपविश्य तिष्ठति तावद्ब्राह्मण एवेति अत एवानेन नोत्थितम्, तैस्तु स्वब्रह्मत्वमत्र स्थापितामिति तेषामुत्थानेऽप्यस्यानुत्थानं न हि ब्राह्मणः क्षत्रियं मन्यते, धर्मस्तु अयुक्ते ब्रह्मत्वं स्थापितमिति वधे सानुकूलः । अस्माभिरिति स्वसामर्थ्यं ख्यापयति । यदुनन्दनेति ब्राह्मणहृदयानभिज्ञत्वम् । 'पितापुत्रौ विजानीयाद्'ति वाक्यात् क्षत्रियः पुत्रो भवति । ततः पितुरभिप्रायाज्ञानं तव युक्तमिति गूढोऽभि-

प्रायः । किंच । अस्मद्वाक्यमपि त्वया नाशितमित्याह आयुश्चेति । यद्यपि ब्राह्मणानां कृतिः अन्यथापि भवेत् तथापि वाक् मृषा भवितुं नार्हति । अस्माभिश्च अल्पायुरयं ज्ञात्वा अस्मा आयुर्दत्तम् । यावत्सस्त्रं समाप्यते तावदस्मदायुरत्र तिष्ठति अतोस्माकमायुषोपि क्षयो जातः । सूर्यो धर्मादिकरणदशायां आयुर्न गृह्णाति इत्यवोचाम । किंच । आत्माक्लमं च आत्मनो देहस्य क्लमाभावः । अतः स्वकीयदानमलौकिकदानं च स्वयं नष्टमित्याक्रोशो जातः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण के सिवाय दूसरे से कथा सुननी दोष देने वाली है इसलिए हमने इसको ब्रह्मसन दिया है जिससे यह जब तक इस आसन पर बैठा रहे तब तक ब्राह्मण ही है । अत एव यह आपके आने पर उठकर खड़ा नहीं हुआ है । मुनियों ने अपना ब्रह्मपन इसमें स्थापित किया जिससे यह अब ब्राह्मण है, किन्तु जिन मुनियों ने इसको ब्राह्मणत्व दिया वे तो उठ खड़े हुवे तो भी यह नहीं उठा, कोई भी मुझ जन क्षत्रिय को ब्राह्मण नहीं मानता है । अयोग्य में ब्राह्मणत्व स्थापित किया, इसलिए ऐसे के वध में धर्म अनुकूल ही है । 'अस्माभिः' बहुवचन देकर अपनी समर्थता प्रकट कर दिखाई है, 'यदुनन्दन' विशेषण से जताया है कि ब्राह्मणों का हार्द नहीं समझते हैं 'पिता पुत्रौ विजानीयात्' इस वाक्यानुसार पुत्र क्षत्रिय हो तो ब्राह्मण पिता के अभिप्राय को नहीं जान सकता है, कहने का यह गुप्त आशय है कि तुम्हें जो पिता के अभिप्राय का अज्ञान है वह उचित ही है और विशेष यह है कि तुमने हमारी वाणी का भी नाश किया है, यद्यपि ब्राह्मणों की कृति अन्यथा हो भी सकती है किन्तु वाणी भूठी होने योग्य नहीं है । हम लोगों ने इसकी आयु थोड़ी देखकर इसको आयु का दान किया कि जहां तक हमारा सत्र समाप्त नहीं होगा तहां तक तुम्हारी मृत्यु भी न होगी अर्थात् तुम तब तक जीवित रहोगे तब तक हमारी दी हुई आयु रहेगी, इसका वध होने से हम लोगों के आयु का भी क्षय हो गया । सूर्य भी धर्मादि करने की दशा में आयु को ग्रहण नहीं करता है, यों हम कहते हैं, किञ्च आत्मा का अर्थात् देह के नाश का अभाव है अतः अपना किया हुआ दान और अलौकिक दान स्वयं नष्ट हो गए, इस कारण से हाहाकार हुआ ॥३०॥

आभास—तर्हि किं पर्यवसितं जातमित्याकाङ्क्षायामाहुः अजानतैवाचरित इति ।

आभासार्थ—ऐसा होने पर क्या परिणाम निकला ? इस आकाङ्क्षा का (अजानतैव) श्लोक में उत्तर देते हैं ।

श्लोक—अजानतैवाचरितस्त्वया ब्रह्मवधो यथा ।

योगेश्वरस्य भवतो नाम्नायोपि नियामकः ॥३१॥

श्लोकार्थ—जैसे ब्राह्मण का वध, वैसे यह भी है इसलिए यह वध महान् पातक के

समान है, किन्तु आपने यह अनजान होके किया है, इसका जो प्रायश्चित्त होना चाहिए वह आपको लगता नहीं है क्योंकि आप योगेश्वर होने से वेद के भी नियामक हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—यथा ब्रह्मवधः तथास्य वध इति महापातकसमत्वम् । अज्ञानात्कृतमिति प्रायश्चित्ताहंता, कामतो ब्राह्मणवधे निष्कृतिर्न विवक्षितेति । तर्हि किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षाया-माह योगेश्वरस्येति । यो हि जीवः तस्यैव कर्मणा

गुणदोषौ भवतः भवांस्तु योनेश्वरो ब्रह्म । अतो भवतो नियामक आम्नायोऽपि न भवति, वेदेन हि सर्वार्थो नियम्यते । अतो यद्यपि तव न वधदोषः प्रकारान्तरेण धर्माभीप्सितमप्युक्तम् ॥३१॥

व्याख्यार्थ—यह वध ब्राह्मण वध के समान होने से महापातक के तुल्य है किन्तु अज्ञान से किया है, अतः प्रायश्चित्त के योग्य है, जानकर ब्राह्मण का वध किया जावे तो उसका कोई प्रायश्चित्त ही नहीं है, तो अब क्या करना चाहिए ? इसके उत्तर में कहते हैं कि आप योगेश्वर अर्थात् ब्रह्म हैं, जो जीव होता है उसको उसके कर्म के गुण और दोष लगते हैं आपको नहीं, कारण कि वेद, जीव का नियामक है आपका नहीं है, वेद से ही सर्व अर्थों का नियमन होता है, अतः यद्यपि आपको वध का दोष नहीं लगता है प्रकारान्तर से धर्म अभीप्सित था यों कहा है ॥३१॥

आसास—तथापि प्रायश्चित्तं कर्तव्यमित्याहुः यद्येतद्ब्रह्महत्याया इति ।

आभासार्थ—तो भी प्रायश्चित्त करना चाहिए यह 'यद्येतद्ब्रह्म' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—यद्येतद्ब्रह्महत्यायाः पावनं लोकपावनम् ।

चरिष्यति सर्वाल्लोकसंग्रहो न्यचोदितः ॥३२॥

श्लोकार्थ—हे लोकपावन ! जो आप ब्रह्महत्या के पाप को मिटाकर पवित्र करने वाला प्रायश्चित्त करोगे तो जगत् की मर्यादा रहेगी ! जिससे लोक संग्रह होगा और लोक पवित्र होंगे ॥३२॥

सुबोधिनी—एतादृश ब्रह्महत्यायाः पावनं प्रायश्चित्तं तदा तव लोकसंग्रहः नान्यथा, अन्यै-श्रोक्तः लोकसंग्रहो न भवति अस्मद्विरोधात् । ननु मास्तु लोकसंग्रह इति चेत्तत्राहुः लोकपावनम्

इति लोकपावित्र्यार्थमेव त्वया समागतमिति । यथा वधाभावे त्वया अवतारवैयर्थ्यमुक्तं तथा प्रायश्चित्ताकरणेऽपि लोकोपकाराभावादवतार-वैयर्थ्यमिति भावः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—ऐसी ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त आप लोक संग्रह के लिए करोगे, अपने पाप धोने के लिए नहीं क्योंकि आपको तो पाप स्पर्श ही नहीं कर सकते हैं, यदि 'हमारे विरोध से लोकसंग्रह नहीं होगा यों दूसरे कहें' तो भी लोक पावन के लिए आपका अवतार है अतः यह प्रायश्चित्त लोक को तो पवित्र करेगा ही, जैसे वध न करने से आपने कहा कि मेरा अवतार लेना व्यर्थ होगा वैसे प्रायश्चित्त के न करने से लोगों पर उपकार भी न होगा जिससे भी अवतार की व्यर्थता होगी यों भाव है ॥३२॥

आभास—ऋषिप्रोक्तं प्रायश्चित्तं कर्त्तव्यमिति निश्चित्य पृच्छति चरिष्य इति ।

आभासार्थ—जो प्रायश्चित्त ऋषि लोग कहे वह करना चाहिए यह निश्चय कर निम्न श्लोक में ऋषियों से पूछते हैं—

श्लोक—श्री बलदेव उवाच—चरिष्ये वधनिर्वेशं लोकानुग्रहकाम्यया ।

नियम प्रथमे कल्पे यावान्स तु विधीयताम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—श्री बलदेवजी कहने लगे कि लोकानुग्रह की कामना से वध का प्रायश्चित्त करूंगा, प्रथम कल्प में जो नियम था वह बताईये ॥३३॥

सुबोधिनी—वधनिर्वेशो वधप्रायश्चित्तम् । वदन्त्वित्याह नियमः प्रथमे कल्प इति । मुख्य-
लोकपावनोपपत्तिमङ्गीकृत्याह लोकानुग्रहकाम्य- कल्पे यावद्व्रतं तावद्वेदो न वदतीति सङ्कोचं
येति । ततश्चानुकल्पं परित्यज्य मुख्यकल्पमेव । परित्यज्य स विधीयताम् ॥३३॥

व्याख्यार्थ—‘वधनिर्वेश’ का तात्पर्य है वध का प्रायश्चित्त, जिससे लोक पवित्र होंगे यह उपपत्ति मानकर कहते हैं कि लोकानुग्रह की कामना से प्रायश्चित्त करूंगा, मुख्य कल्प में जो प्रायश्चित्त करने के नियम थे वे मुझे कहिये, मुख्य कल्प में जो नियम थे वे वेद इस समय नहीं कहता है, इस सङ्कोच का त्याग कर मुख्य कल्प के नियम बतलाईये ॥३३॥

आभास—अथान्यदप्यभिलषितं भवतां करिष्यामीत्याह दीर्घमायुरिति ।

आभासार्थ—आपको अन्य भी कुछ अभिलषित हो तो वह कहिए मैं वह भी पूर्ण करूंगा-यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—दीर्घमायुर्बतंतस्य सत्त्वमिन्द्रियमेव च ।

आशंसितं यत्तद्ब्रूत साधये योगमायया ॥३४॥

श्लोकार्थ—इसकी दीर्घ आयु, बल और इन्द्रिय सामर्थ्य जो भी आपकी इच्छा हो वह कहिए मैं अपने योगबल से सर्व पूर्ण करूंगा ॥३४॥

सुबोधिनी—यथैतस्य दीर्घमायुः सत्त्वं बलं । किंचिद्भवतामाशंसितं चकारात्पूर्वमनाशंसितं च
इन्द्रियसामर्थ्यं च । चकारादन्यदपि यदेव । तत्सर्वं योगमायया साधयिष्यामि ॥३४॥

व्याख्यार्थ—जैसे कि इसकी दीर्घ आयु, बल और इन्द्रियों में सामर्थ्य हो वह अन्य भी जो कुछ आपकी इच्छा हो, ‘च’ पद से कहते हैं कि आगे इच्छा न भी हो, अब हुई हो वह भी कहिए तो मैं सब अपने योगबल से सिद्ध करूंगा ॥३४॥

आभास—तदा संतुष्टा ऋषय ऊचुः परीक्षार्थं संदिहाना विरुद्धद्वयमस्माभिर्वक्तव्यम्,

तत्र यदि समाधानं ज्ञास्यति तदा अस्योक्तं भविष्यतीति तादृशमाहुः अस्त्रस्येति ।

आभासार्थ—बलरामजी के ये वाक्य सुनकर प्रसन्न हुए ऋषि कहने लगे इनकी परीक्षा लेवें वा नहीं ? हम एक दूसरे के विरुद्ध बाते कहें, उसमें यदि समाधान समझ जाएँ तो इसका यों कहना मिथ्य होगा यह 'अस्त्रस्य' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—ऋषयः ऊचुः—अस्त्रस्य तत्र वीर्यस्य मृत्योरस्माकमेव च ।

यथा भवेद्वचः सत्यं तथा राम विधीयताम् ॥३५॥

श्लोकार्थ—ऋषि कहने लगे—आपके अस्त्र की, पराक्रम की और मृत्यु की सत्यता हो जाय और हमको भी बाध न होवे जो कुछ कहा है वह सत्य हो वैसे करिये ॥३५॥

सुबोधिनी—चत्वारोत्र व्यापृताः अस्त्रं तव वीर्यम्, मृत्युर्वयं चेति तत्र तस्य जीवने त्रयं बाधितं भवेत् अजीवने तु वयं चकारान्नव वाक्यं च । यथैतच्च गुणमपि सत्यं भवेत् तथा राम विधीयतामिति ॥३५॥

व्याख्यार्थ—यहाँ चार विषय मिले हुए हैं, अस्त्र, आपका वीर्य (पराक्रम) मृत्यु और हम . इसमें उसके जीने में तीन बाधित हैं और अजीवन में तो हम, 'च' पद से, और आपका वाक्य, जैसे ये चार भी सत्य हो जाय हे राम ! वैसे कीजिए ॥ ३५ ॥

आभास — एकेनैव चतुर्णां दूषणानां निर्द्धारमाह आत्मा वै पुत्र उत्पन्नः इति ।

आभासार्थ—एक ' आत्मा वै ' श्लोक से चारों दूषणों का निर्णय करते हैं—

श्लोक — श्री बलदेव उवाच—आत्मा वै पुत्र उत्पन्न इति वेदानुशासनम् ।

तस्मादस्य भवेद्वक्ता आयुरिन्द्रियवीर्यवान् ॥३६॥

श्लोकार्थ—श्री बलदेवजी कहने लगे कि इसका पुत्र उग्रश्रवा तुमको पुराण सुनावेगा क्योंकि वेद की आज्ञा है कि पिता ही पुत्ररूप से उत्पन्न होता है वह आयु, वीर्य और इन्द्रिय बलवान होगा ॥३६॥

सुबोधिनी—'अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादभिजायसे आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्' इति । यद्यप्ययमनुकल्पः तथापि मुख्याभावे विधीयते यतो वेदानुशासनम् । तस्मादस्य पुराणस्य वक्ता आयुरिन्द्रियवीर्यवान् अयमेव भवेत्तदा अस्त्रस्य, मम वीर्यस्य तस्मादस्य मृत्योश्च न बाधा भवति । सामान्यात्प्रतिनिधिस्तद्धर्मजः स्यादिति न्यायात् । अस्यापि तथाविधा भवत्विति बोधितम् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—'अङ्गादङ्गात्संभवसि हृदयादभिजायसे आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्'

इस श्रुति के अनुसार पुत्र पिता के अङ्ग अङ्ग से उत्पन्न होने से पिता का ही रूप है, उसमें आशीर्वाद रूप से कहा है कि वह १०० वर्ष जीवित रहे, यद्यपि यह अनुकल्प है, तो भी मुख्य के अभाव में उसीसे कार्य चलाना चाहिए क्योंकि वेद की आज्ञा है, इस कारण से इस पुराण का कहने वाला आयु, इन्द्रिय सामर्थ्य और वीर्यवाला यह ही होवे तब अस्त्र, मेरे वीर्य, उससे इसके मृत्यु में बाधा न होगी। सामान्यतया उस धर्म से उत्पन्न प्रतिनिधि होना चाहिए, इस न्याय से इसका भी यही प्रकार होना चाहिए, यों समझाया है ॥ ३६ ॥

आभास—किंच । यद्यपीदं भवतां सर्वथा नाभिप्रेतं तथाप्येतत्प्रतिनिधित्वेनान्य-
द्वक्तव्यमित्याह किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा इति ।

आभासार्थ—और कुछ यद्यपि, यह जो मैंने बताया वह आपको सर्वथा इच्छित हो वह कहिए यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—किं वः कामो मुनिश्रेष्ठा ब्रूताहं करवाण्यथ ।

अजानतस्त्वपचितिं यथा मे चिन्त्यतां बुधाः ॥ ३७ ॥

श्लोकार्थ—हे मुनिश्रेष्ठों ! आपकी कौनसी इच्छा है वह कहिये तो मैं करूंगा, क्या प्रायश्चित्त करना चाहिए वह मैं नहीं जानता हूँ इसलिए आप विचार कर मुझे बतलाइए ॥ ३७ ॥

सुबोधिनी—अथ तदनन्तरं शीघ्रमेव तत्कर- । यथावत् । यतो भवन्तो बुधाः । अतः अपचितिम-
वाणि । तर्हि स्वेच्छयैव किञ्चित् कर्तव्यमिति । पराधदूरीकरणोपायं चिन्त्यताम्, तदनूच्यता-
चेत्तत्राह अजानतस्त्वपचितिगिति । विधाय यथा । मित्यर्थः ॥ ३७ ॥

व्याख्यानार्थ—आपके कहने के अनन्तर, आपका कहा हुआ शीघ्र ही करूंगा, यदि कहो कि हमसे क्यों पूछते हो अपनी इच्छा से कीजिए, इसके उत्तर में कहते हैं कि, क्या प्रायश्चित्त करना चाहिए वह मैं नहीं जानता हूँ अतः जैसा प्रायश्चित्त का प्रकार हो वह विचार कर मुझे आप कहें क्योंकि आप बुध हो अर्थात् इसको जानते हो अतः अपराध के दूर करने का उपाय विचारिये, विचार करने के अनन्तर मुझे बताइए ॥ ३७ ॥

आभास—तदाहुः इल्वलस्येति ।

आभासार्थ—ऋषि लोग निम्न 'इल्वलस्य' श्लोक में वह अपना इच्छित कार्य बताते हैं—

श्लोक—ऋषय ऊचुः - इल्वलस्य सुतो घोरो बल्वलो नाम दानवः ।

स दूषयति नः सत्रमेत्य पर्वणि पर्वणि ॥ ३८ ॥

श्लोकार्थ—ऋषि कहने लगे कि, इल्वल का पुत्र बल्वल नामवाला दानव प्रत्येक

पर्व पर आके हमारे यज्ञ को दूषित करता है ॥३८॥

सुबोधिनी—समानमेव निष्कृतिहेतुर्भवति ।
इत्त्वलोऽपि ब्रह्मवेषधरो भवति ऋषिवेषेणैव
वव्रिवत् स्थित्वा 'अगस्त्यायातिथये
पेचे वातापिम्' स इत्त्वलः, तस्य सुतो बल्वलः ।

स स्वभावतोऽपि वध्य इति ज्ञापयितुमाह दानव
इति । किमतस्त्राह सः दूषयति नः सत्रमिति ।
पर्वणि पर्वणि पूर्णमास्यां सुत्यादिवसे ॥३८॥

व्याख्यार्थ—बराबर वाला ही निष्कृति का हेतु होता है, इत्त्वल' भी ब्राह्मण वेष धारण कर
ऋषि रूप से कहीं ठहरा था उसका पुत्र बल्वल है, वह मारने योग्य है कारण कि एक तो वह
दानव है, इससे वध के योग्य है और दूसरा कारण यह है कि वह पूर्णमासी आदि प्रत्येक पर्व पर
आकर हमारे यज्ञ को अपवित्र वस्तुओं द्वारा दूषित करता है ॥ ३८ ॥

आभास—एवं तस्यापराधमुक्त्वा कर्तव्यमाह तं पापं जहीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उसका अपराध कहकर अनन्तर निम्न श्लोक में कर्तव्य कहते हैं—

श्लोक—तं पापं जहि दाशार्हं तन्नः शुश्रूषणं परम्
पूयशोणितविण्मूत्रसुरामांसाभिवर्षणम् ॥३९॥

श्लोकार्थ—उस पापी दैत्य का वध करो, कारण कि यह हमारे यज्ञ को पूय,
रुधिर, विष्टा, मूत्र, मद्य और मांस की वर्षा से भ्रष्ट करता है इसका वध ही हमारी
बड़ी सेवा आपने की, यों हम मानेंगे ॥३९॥

सुबोधिनी—पापत्वादवश्यं मारणीयः ।
दाशार्हंति स्वस्य शरणागतत्वं तस्य तत्पालकत्वं
च बोधितम् । तदेव नः शुश्रूषणम्, अपेक्षितत्वाद-
दुःखनिवारकत्वाच्च । यद्यपि पादसंवाहनादिक-

मपि भवति शुश्रूषणं तथापि तत्परम् । तस्य
दूषणप्रकारमाहुः पूयशोणितेति । पशुशुश्रूषणत्वा-
यैतदग्रे कथितम् । पूयादिषण्णामभितो वर्षणम्
यस्मादिति ॥३९॥

व्याख्यार्थ—पापी होने से यह अवश्य मारने योग्य है, दाशार्ह ! संबोधन से यह बताया है
कि, हम आपके शरण आए हुए हैं, हमको पालना यह आपका धर्म है, यों करना ही, हमारी
सेवा है, यह हमारी अपेक्षा है अर्थात् हम यों चाहते हैं और दुःख निवारक होने से भी यह कार्य
आपको अवश्य करना चाहिए यद्यपि पाद^१ संवाहन आदि भी सेवा है किन्तु यह उससे श्रेष्ठ है,
उसके (बल्वल के) दूषण कहते हैं— पूयादि षट् अमेध्य वस्तुओं की वर्षा यज्ञ में करते हैं—
परशुश्रूषणत्व^३ के लिए यह पहले कहा है ॥ ३९ ॥

आभास—एवं स्वाभिलषितमुक्त्वा तत्करणेनास्मत्संतोषे सुगममेव प्रायश्चित्तं
त्वया कर्तव्यमित्याह ततश्च भारतं वर्षमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार अपना अभिलषित कह कर, उसके करने से हम प्रसन्न होंगे, फिर आप सुगम ही प्रायश्चित्त करना, वह प्रायश्चित्त नीचे के श्लोक में सुनाते हैं—

श्लोक—ततश्च भारतं वर्षं परीत्य सुसमाहितः ।

चरित्वा द्वादशान् मासांस्तोर्थस्नायी विशुध्यसे ॥४०॥

श्लोकार्थ—इसके बाद मन स्थिर कर, एक वर्ष पर्यन्त भारत में भ्रमण करते हुए तीर्थों में स्नान करने से आप ब्रह्महत्या के पाप को धोकर शुद्ध हो जाओगे ॥४०॥

सुबोधिनी—भारतवर्षस्य संपूर्णस्य परिभ्रमणं कर्तव्यम् । अयं मुख्यः कल्पः । तत्र प्रकारः सुसमाहित इति । द्वादशान्मासान् व्रतं चरित्वेति शूद्रहत्याव्रतमुपदिष्टम् । ततः वर्षपर्यन्तं तीर्थस्नानेनान्तिमेन वा विशुध्यसे शुद्धो भविष्यसि । यात्रा

ब्रह्महत्यायाः प्रायश्चित्तं भवति कालस्तु शूद्रहत्यायाः, अस्मत्संतोषो बल्लववधेन, वाक्यादीनां सत्यता प्रतिनिधिस्थापनेनेति सर्वं यथास्थितं जातमिति विशुध्यसे ॥४०॥

व्याख्यार्थ—सम्पूर्ण भारतवर्ष की परिक्रमा करनी, यह मुख्य कल्प है, उसमें क्या करना वह प्रकार बताते हैं, १—एक चित्त हो । २—एक वर्ष पर्यन्त वह व्रत रखना है, यह व्रत, शूद्रहत्या के पाप का नाशक है, इसके बाद साल भर तीर्थों में स्नान करना, सम्पूर्ण स्नान होने के बाद जब अन्तिम स्नान करोगे तब शुद्ध हो जाओगे, भारत समग्र की यात्रा ब्रह्महत्या का प्रायश्चित्त है, एक वर्ष का काल शूद्रहत्या का प्रायश्चित्त है, बल्लव के वध से हमारा सन्तोष होगा, प्रतिनिधि के स्थापित होने से आपके वाक्य की सत्यता सिद्ध होगी, यों सब यथास्थित हो जाएगा, अर्थात् जैसा था वैसा सब हो जायगा, जिससे आप शुद्ध हो जाओगे ॥ ४० ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीतद्मरणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे एकोनत्रिंशोऽध्यायविवरणम् ॥ २५ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ७५वें अध्याय (उत्तरार्ध के २६वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य

विरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के संक्षिप्त फल

अवान्तर प्रकरण का प्रथम अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

—: दंतवक्र वध :—

राग मारू—

हरि निकट सुभट दंतवक्र आयौ ।

कह्यौ सिमुपाल तुम राजसू में हत्यौ,

मरत तुम हाथ संसै नहीं कछु हमैं,

जिएँ तौ राजसुख भोग पावैं जगत,

बहुरि लै गदा परहार कियौ स्याम पर,

हरि गदा लगत गए प्रान ताके निकसि,

अनुज ताकौ बिदूरथ लग्यौ फिरन पुनि,

सूर प्रभु जुद्ध निरखि भयौ मुनि जन हरष,

धन्य सोइ हेत मैं दरस पायौ ।

दोउ बिधि आहि प्रमुदित हमारैं ॥

मुएँ निरवान निरखत तुम्हारै ॥

लग्यौ ज्यौं लगे अंबुज पहारै ।

बहुरि हरि निज बदन माहि धारै ॥

चक्र सौं सीस ताकौ प्रहारचौ ।

सुर पुहुप बरषि जै जै उचारचौ ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ७६वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७६वाँ अध्याय

उत्तरार्ध ३०वाँ अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

“अध्याय—” २

बलवल का उद्धार और बलरामजी की तीर्थ यात्रा



कारिका—कीर्त्यभावे सुसंसिद्धे कीर्तिहेतुन् बल. स्वयम् ।

त्रिंशत्तमे तथाध्याये चकारेति निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—पूर्व अध्याय में बलरामजी ने सूत को मारा जिससे उनकी जैसे अपकीर्ति हुई, वैसे ही इस अध्याय में बलरामजी स्वयं ऐसे कर्म करेंगे जिनसे आपका यश फैलेगा ॥१॥

आभास—तत्र प्रथमं बलवलवधार्थं कालप्रतीक्षा कृता । ततो बलवलसमागमनमाह ततः पर्वण्युपावृत्त इति ।

आभासार्थ—उसमें पहले बलवल के वध के लिए काल की प्रतीक्षा की पश्चात् बलवल आया, जिसका वर्णन ‘ततः’ श्लोक में श्री शुकदेवजी करते हैं ।

श्लोक—श्री शुक उवाच—ततः पर्वण्युपावृत्ते प्रचण्डः पांशुवर्षणः ।

भीमो वायुरभूद्राजन्पूयगन्धस्तु सर्वतः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि, हे राजा ! जब पूर्णिमा का पर्व आया तब उस दिन भयंकर और प्रचण्ड पवन चलने लगा और साथ में धूलि बरसने लगी तथा चारों ओर पूय की बदबू फैल गई ॥१॥

सुबोधिनी—दानवा अदृष्टं एवेति तत्कार्य-
मेव दृष्टं वर्णयति ततः प्रचण्डः पांशुवर्षणः
पांशुवृष्टिं वर्षन् भयानको वायुराविर्भूतः ।
एतत्तेषां प्रथमकार्यम् । राजन्निति संबोधनं महती
सेना पश्चात्समायातीति ज्ञापनार्थम् । ततः पूयग-
न्धश्च सर्वतो जातः । ॥१॥

व्याख्यार्थ - दानव स्वयं (खुद) तो अदृश्य ही होते हैं, इसलिए उसने जो दृष्ट कार्य किया उसका वर्णन करते हैं, पश्चात् धूल की वर्षा करता हुआ प्रचण्ड पवन चलने लगा, वह इनका प्रथम कार्य था, हे राजन् ! यह संबोधन इस आशय को जताने के लिए दिया कि इसके बाद बड़ी सेना आ रही है, अनन्तर चारों तरफ पूय की बदबू फैल गई ।

आभास—वृष्ट्यर्थं सुरामांसादीनामानयनात् ।

आभासार्थ—वर्षा के लिए मद्य मांस आदि ले आया, जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—ततोऽमेध्यमयं वर्षं बल्वलेन विनिर्मितम् ।

अभवद्यज्ञशालायां सोन्वदृश्यत शूलधृक् ॥२॥

श्लोकार्थ—पश्चात् यज्ञशाला में, बल्वल की बरसायी हुई अपवित्र मांसादि पदार्थों की वर्षा होने लगी, त्रिशूल धारण किए वह भी दीख पड़ा ॥२॥

सुबोधिनी—ततो यज्ञशालायाममेध्यमयं वर्ष-
मभूत्तेन स एवोपद्रव इति निश्चितम् । ततः
सोप्यन्वदृश्यत । शूलधृगिति युद्धार्थं महादेवा-
ल्लब्धवरत्वं ख्यापयितुम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—अनन्तर यज्ञशाला में अपवित्र मांस पूयादि की वर्षा होने लगी, बलरामजी जान गए कि यह ही निश्चय उपद्रव है, बाद में त्रिशूलधारी वह बल्वल भी दीख पड़ा, त्रिशूल लेने का कारण यह था कि मुझे महादेवजी ने वर दिया है इसकी प्रसिद्धि होवे ॥२॥

आभास—ततो बलदर्शनेन तस्य स्वरूपं वर्णयति तं विलोक्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् उसका बल देख उसके स्वरूप का 'त विलोक्य' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—तं विलोक्य बृहत्कायं भिन्नाञ्जनचयोपमम् ।

तप्तताम्रशिखाश्मश्रुं दंष्ट्राग्रभ्रुकुटीमुखम् ॥३॥

श्लोकार्थ—महाकाय दूटे हुए अञ्जन (काजल) पर्वत के समान रंग वाले तपे हुए ताम्र समान लाल शिखा और दाढ़ी मूछ वाले, दाढ़ें और भ्रुकुटी से भयंकर मुख वाले उसको देख राम ने निश्चय किया कि यह सर्वथा मार डालने के योग्य है—अनन्तर क्या किया ? उसका वर्णन ४ श्लोक में करते हैं ।

सुबोधिनी—आदौ मूर्तिस्थौल्यं दृष्ट्वापि भयजनकम् । बलाधिकत्वं च । वर्णेनापि तथात्वमाह भिन्नाञ्जनचयोपममिति । अञ्जनचयोञ्जनपर्वतः प्रसिद्धाञ्जनपर्वताद्भिन्नश्चेन्मूर्तिमानञ्जनपर्वतो भवति । तस्याधिदैविकः पृथक् पर्वतः स्थितः तदायं तत्तुल्यो भवति । एवं तस्मिन् तामसभाव-

मुक्त्वा तथा सति जडो भविष्यतीत्याशङ्क्य तस्य स्वरूपे वर्णे च राजसं भावमाह तप्तताम्रशिखा-श्मश्रुमिति । अग्नितप्तताम्रवच्छिखाः केशाः श्मश्रूणि च यस्य तम् । दंष्ट्राभिः उग्रभ्रुकुट्या च सहितम्, मुखं च भ्रुकुटीसहितम्, मुखं दंष्ट्राभिरुग्रं वा अयं सर्वथा वध्य एवेति ॥३॥

व्याख्यार्थ—पहले उसकी मूर्ति की स्थूलता ही भय जनक थी, जिससे उसमें विशेष बल है यह समझा जाता है, फिर उसका रंग भी वैसा ही भयावह था, जिसका वर्णन 'भिन्नानञ्जनचयोपमं' पद से करते हैं, अञ्जनचय का आशय है अञ्जन (काजल) का पर्वत, उस प्रसिद्ध अञ्जन पर्वत से टूटा हुआ भाग मूर्तिधारी अञ्जन का पर्वत हो जाता है, उसका आधिदैविक स्वरूप, अलग पर्वत रूप में स्थित होता है, तब यह उसके समान है । इस प्रकार उसमें तामस भाव है, यह कहा । यदि यों है तो वह जड़ होगा, इस प्रकार की शङ्का कर, उसके स्वरूप तथा वर्णन में राजस भाव का वर्णन करते हैं, अग्नि से तपाए हुए तांबे के समान केश, और दाढ़ी मूछ वाला है, और उसका मुख भी दाढ़ों से तथा उग्रभ्रुकुटी से विकराल है, अतः यह सर्वथा मारने के योग्य ही है ॥३॥

श्लोक—सस्मार मुसलं रामः परसैन्यविदारणम् ।

हलं च दैत्यदमनं ते तूष्णमुपतस्थतुः ॥४॥

श्लोकार्थ—शत्रु की सेना को नाश करने वाले मूसल और दैत्यों को दमन करने वाले हल का बलदेवजी ने स्मरण किया, जिससे वे दोनों हल और मूसल आ के उपस्थित हुए ॥४॥

सुबोधिनी—स्वशस्त्रं मुसललाङ्गलात्मकं द्वारकायां स्थितं पाताले वैकुण्ठे वा स्थितं सस्मार यतो रामः सर्वेषां रतिजनकः पूर्ववद्विशेषणम् ।

परसैन्यविदारणमिति शत्रुसेनाविनाशकं हलं च तादृशम् । चकारेण तद्धर्मानुत्कर्षः स्मरणानन्तरमेव बलभद्रमुपतस्थतुः तत्समीपमागते ॥४॥

व्याख्यार्थ—अपने दो शस्त्र, मूसल और हल नामक थे, जो द्वारका में, पाताल में, अथवा वैकुण्ठ में पड़े थे, उनका राम ने स्मरण किया, क्योंकि 'राम' सर्व को रति देने वाले हैं, आगे की

तरह यह विशेषण है, शत्रु सेना का जो नाश करे वैसा हल था, 'च' पद से उसके धर्म का अनुत्कर्ष कहा, स्मरण के बाद शीघ्र वे दोनों बलरामजी के पास आके खड़े हुए ॥४॥

आभास—ततो लीलायाः कर्तव्याभावात् एकेनैव प्रहारेण तं मारितवानित्याह तमाकृष्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् लीला करनी नहीं थी इसलिए एक ही प्रहार से उसको मार डाला यह 'तमाकृष्य' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—तमाकृष्य हलाग्रेण बल्वलं गगनेचरम् ।

मूसलेनाहनत्क्रुद्धोमूर्ध्नि ब्रह्मद्रुहं बलः ॥५॥

श्लोकार्थ—बलदेवजी ने क्रोध में आकर, आकाश में विचरते हुए उस ब्रह्मद्रोही बल्वल दैत्य को हल के अग्र से खींच कर, उसके शिर में मूसल का प्रहार किया ॥५॥

सुबोधिनी—गगनेचरं दूरे वर्तमानमपि । द्रुहमिति । बल इति सामर्थ्यम् ॥५॥
भगवत्त्वेऽपि क्रुद्धत्वान्मारणम् । क्रोधे हेतुः ब्रह्म-

व्याख्यार्थ—'गगनेचरं' आकाश में विचरण कर रहा था इसलिए दूर था, तो भी बल्वल को हल के अग्र से खींच लिया, बलराम भगवत्त्व होने से नहीं मारते, किन्तु क्रोध आगया इसलिए क्रोध के कारण मूसल से प्रहार किया । क्रोध क्यों आया ? जिस के उत्तर में कहते हैं कि ब्रह्म द्रोही था, राम में ऐसा सामर्थ्य था ॥ ५ ॥

आभास—तस्य पराक्रमः कोपि जात इति वक्तुं शीघ्रं तस्य पतनमेवोच्यते ।

आभासार्थ—उसका कोई पराक्रम देखने में न आया, यों कहने के लिए बताया है कि वह तुरन्त ही गिर गया यों 'सोपतद्भुवि' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—सोपतद्भुवि निर्भिन्नललाटोसृक्समुत्सृजन् ।

मुञ्चन्नार्तस्वरं शैलो यथा वज्रहतोऽरुणः ॥६॥

श्लोकार्थ—मूसल के प्रहार से ललाट टूट गया, जिससे रुधिर की धारा बहाता हुआ पृथ्वी पर ऐसे गिर गया, जैसे वज्र के प्रहार से टूटा हुआ अरुण वर्ण का पर्वत गिरता है, गिरने के समय आर्तस्वर करते ही प्राण निकल गए ॥६॥

सुबोधिनी—भुवीति तस्यापि मुक्तिः । निर्भिन्न-
ललाटत्वं प्रहारज्ञापकम् । असृक् समुत्सृजन्निति । मुञ्चन्निति । मुक्त्यर्थं स्वस्मिन् दया ख्यापिता ।
महाप्रहारः । प्रतीकाराकरणे ज्ञापकः आर्तस्वरं । तादृशोपि हन्तव्य एवेति दृष्टान्तमाह शैलो यथा
वज्रहत इति । अरुणः अरुणवर्णः पर्वतः ॥६॥

व्याख्यानार्थ—पृथ्वी पर गिरे, इससे ज्ञात होता है कि इसकी भी मुक्ति हुई। ललाट फूटना जनाता है कि मूसल का प्रहार है रुधिर (खून) बहता है जिससे समझ में आता है कि जबर्दस्त प्रहार हुआ है उसका किसी प्रकार प्रतिकार न हुआ, यह बताने के लिए आर्तस्वर करने लगा, इस प्रकार से भगवान् को प्रार्थना की कि दया कर मेरी मुक्ति कीजिए वैसे को भी मारना ही चाहिए इसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जैसे अरुण पर्वत वज्र से मारा गया वैसे इसका भी वध होना चाहिए ॥ ६ ॥

आभास—ततः इष्टस्य सिद्धत्वाद् मुनयः स्तोत्रादिकं कृतवन्त इत्याह संस्तुत्येति ।

आभासार्थ—इष्ट सिद्ध होने के पश्चात् प्रसन्न मुनिगण स्तुति करने लगे, जिसका वर्णन ' संस्तुत्य ' श्लोक में करते हैं :

श्लोक—संस्तुत्य मुनयो रामं प्रयुज्यावितथाशिवः ।

अभ्यषिञ्चन्महाभागा वृत्रघ्नं विबुधा यथा ॥७॥

श्लोकार्थ—मुनियों ने राम की स्तुति कर, सत्य आशीर्वाद देकर, जैसे देवताओं ने इन्द्र का अभिषेक किया वैसे इन्होंने बलरामजी का अभिषेक किया ॥७॥

सुबोधिनी—स्तोत्रं स्वसंतोषख्यापकम् । ततः प्रीतानां सत्याशीर्दानम् । ततः सर्वपुरुषार्थ सिद्धयर्थ अभ्यसिञ्चन् कीर्त्यर्थ पापनिवृत्त्यर्थ वा । परमदयालुर्व्रतस्थः कथमेवं कृतवानित्याशङ्कां वारयितुं महत्या प्रार्थनया केवलं मारित-

वान् । न तु स्वत एवेति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह वृत्रघ्नं विबुधा यथेति । वृत्रे हते यथा देवा इन्द्राभिषेकं चक्रुरित्यर्थः । अनेन तस्य सर्वपापक्षयो निरूपितः ॥७॥

व्याख्यानार्थ—स्तुति करने का तात्पर्य है अपने को संतुष्ट करना अतः बलरामजी की स्तुति कर मुनि लोग प्रसन्न हुए। बाद में सत्य आशीर्वाद भी दिए अनन्तर सर्व पुरुषार्थ सिद्धि के लिए राम का अभिषेक करने लगे। बलरामजी परम दयालु हैं और इस समय व्रतधारी भी हैं, ऐसी हालत में, वध जैसा कार्य कैसे किया? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि बहुत प्रार्थना करने से केवल मारा, स्वतः ही नहीं मारा इसको समझाने के लिए दृष्टान्त दिया है कि जैसे वृत्र को मारने से देव प्रसन्न हुए, जिससे उन्होंने इन्द्र का अभिषेक किया वैसे ही बलवल दैत्य के नाश से भी प्रसन्न हुए, क्योंकि अब हमारा व्रतपूर्ण स्तुति एवं श्रद्धापूर्वक प्रार्थना, जिसके लिए अग्रिमों ने, भी अभिषेक किया ॥७॥

श्लोक—वैजयन्तीं ददुर्मातां श्रीधामाम्लानपङ्कजाम् ।

रामाय वाससी दिव्ये दिव्याभरणानि च ॥८॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मी की निवासवाली, जिसके पुष्प कभी मुरझाते नहीं, ऐसी वैजयन्तीमाला, दिव्य वस्त्र और दिव्य आभरण राम को दिये ॥८॥

सुबोधिनी—तत कीर्त्याद्युपचयार्थं वैजयन्तीं मालां ददुः । आपादलम्बिनी वैजयन्ती, श्रीधामेति स्थिरलक्ष्मीत्वम् । अम्लानेति दोषाभावः ।

पङ्कजेति गृणाः । ततो रामाय सर्वरमणरूपाय, दिव्ये वाससी दिव्यानि चाभरणानि लौकिक-शोभातिशोभितं ददुः ॥८॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् कीर्ति बढ़ाने के लिए, मुनियों ने राम को पैरों तक लटकती, लक्ष्मी का निवास स्थान, जिसके पुष्प कभी कुम्हलाते नहीं, ऐसी वैजयन्तीमाला दी। पुष्पों का न मुरझाना सिद्ध करता है कि इस माला में किसी प्रकार का दोष नहीं है, किन्तु 'पङ्कज' पद से कहते हैं सर्वगुण इसमें हैं । 'राम' शब्द से यह भाव बताया है कि यह स्वरूप सबको आनन्द कराने वाला है। वस्त्र और आभरणों को दिव्य कहने से उनकी, लौकिक शोभा से विशेष शोभा प्रकट की है इनके धारण करने से आपकी अलौकिक शोभा होगी ॥८॥

श्लोक—अथ तैरभ्यनुज्ञातः कौशिकीमेत्य ब्राह्मणैः ।

स्नात्वा सरोवरमगाद्यतः सरयुरास्त्रवत् ॥९॥

अनुस्रोतेन सरयुं प्रयागमुपगम्य स ।

स्नात्वा संतर्प्य देवादीञ्जगाम पुलहाश्रमम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—मुनि लोगों से आज्ञा ले, ब्राह्मणों के साथ कौशिकी नदी पर आकर वहाँ स्नान कर, मानस सरोवर गए वहाँ से सरयु के प्रवाह के साथ साथ आते प्रयाग पहुँचे, वहाँ त्रिवेणी में स्नान कर देव आदि का तर्पण कर, पुलह के आश्रम आए ।

सुबोधिनी—एवं लौकिकालौकिकशोभातिशयसंगुक्तः सन् तदाज्ञापालनार्थं तैरभ्यनुज्ञातः तीर्थयात्रार्थमाजगत् ब्राह्मणैः सह कौशिकीं नदीं गच्छति । तत उत्तरभागे या कोटाग्रामादायाति सा कौशिकी तत्र स्नान्त्वा तेनैव मार्गेण मानससरोवरमगात् । तस्मात्सरोवरात् बह्वचो नद्यः प्रसृताः । ततः सरयुरपि प्रसृता । अतस्तत्सङ्गे ।

अनुस्रोतेन सरयुमयोध्यापर्यन्तमागत्य पश्चात् प्रयागे समागतः । सरयुशब्दः सरयूशब्दश्च । सर इत्युदकनाम सरो युनक्तोति । ततस्तीर्थराजः प्रयाग इति तत्र विशेषस्नानादिकमाह स्नात्वा संतर्प्यति । तत उत्तरभागे पुलहाश्रमं हरिक्षेत्रं गतः ॥९॥१०॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार बलरामजी लौकिक और अलौकिक शोभा वाले बनकर, मुनियों की आज्ञा पालने के लिए, उनसे आज्ञा प्राप्त कर तीर्थ यात्रा पर, ब्राह्मणों के साथ पधारे । पहले कौशिकी नदी पर पहुँचे, कौशिकी नदी वह है जो उत्तर भाग में कोटा ग्राम से आती है, उसमें स्नान कर, उसी ही मार्ग से मानस सरोवर गए ।

उस सरोवर से अनेक नदियाँ निकल कर बहती हैं । उससे सरयु भी निकली है, अतः उस सरयु के प्रवाह के साथ-साथ आते हुए अयोध्या पर्यन्त आकर, अनन्तर प्रयाग आए, सरयु और सरयु शब्द के दोनों प्रकार हैं, 'सर' यह जल का नाम है, जल को जो जोड़ती है वह 'सरयु' कहालाती है, वहाँ से तीर्थराज प्रयाग में विशेष स्नान तर्पण आदि किए, पश्चात् उत्तर भाग में पुलह के आश्रम हरिहर क्षेत्र में गए ॥९-१०॥

श्लोक—गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा विपाशां शोणं आप्लुतः ।

गयां गत्वा पितृनिष्ठा गङ्गासागरसङ्गमम् ॥११॥

श्लोकार्थ—गोमती, गण्डकी और विपाशा में स्नान कर फिर शोणनद में न्हाए, पश्चात् 'गयाजी' में जाकर पितृतर्पण किया अनन्तर गङ्गासागर सगम पर भी जाके तर्पण किया ॥११॥

सुबोधिनी—गमनमध्य एव गोमतीं गण्डकीं स्नात्वा । विपाशा काचित् क्षुद्रा पञ्चनद्यां प्रविष्टा हरिक्षेत्रनिकट एव, अन्या तु विपाशा काश्मीरदेशे, ततः शोणे समागतः । गङ्गामुत्तीर्य सौऽपि महानद इति शोणे आप्लुत इत्युक्तम् ।

ततो गयां गत्वा सामान्य-पितृनिष्ठा पितामहपित्रा दीन्वा, केवलगयाभिगमनं जीवत्पितृकस्य निषिद्धम् । यात्रायां तु न निषिद्धमिति विभागः । ततो गङ्गासागरसङ्गमं गतः । सर्वत्र स्नानतर्पणादि ॥११॥

व्याख्यार्थ—जाते-जाते बीच में गोमती और गण्डकी में स्नान कर फिर विपाशा में भी स्नान किया । विपाशा कोई क्षुद्र नदी हरि क्षेत्र के समीप पञ्च नदी में मिली हुई है, दूसरी विपाशा नदी काश्मीर देश में है, वहाँ से शोण नद पर आए, गङ्गा पार होकर वहाँ पहुँचे, वह भी महानद है, इसलिए उस शोण महानद में स्नान किया । पश्चात् 'गयाजी' जाकर वहाँ सामान्य पितरों का पूजन तर्पण आदि किया अथवा पितामह आदि पितरों का तर्पण आदि किया, जिसका पिता जीवित हो, उसको केवल गया पर नहीं जाना चाहिए, किन्तु तीर्थों की यात्रा करने जावे तो वहाँ भी जा सकता है अनन्तर गङ्गा सागर गए, सर्व तीर्थों में स्नान तर्पण आदि किया ॥११॥

श्लोक—उपस्पृश्य महेन्द्राद्रौ रामं दृष्ट्वाभिवाद्य च ।

सप्तगोदावरीं वेणां पम्पां भीमरथीं ततः ॥१२॥

श्लोकार्थ—वहाँ गङ्गासागर में स्नान कर महेन्द्र पर्वत पर परशुराम के दर्शन कर तथा उनको नमस्कार कर, सप्तगोदावरी, वेणा और पम्पा से होते हुए भीमरथी पर पहुँचे ॥१२॥

सुबोधिनी—ततो मध्ये तदानीं पुरुषोत्तम-स्थानमात्रं न भगवानस्तीति तदनुक्त्वा महेन्द्राद्रिं गतः । तत्र परशुरामं दृष्ट्वा अभिवाद्य च ज्येष्ठ-त्वात् । ततः सप्तगोदावरीं गतः । यत्र सप्तधा

गोदावरी समुद्रं गता । ततः कृष्णवेण्यां तस्या अपि संगमं गतः । ततो देशमध्ये समागत्य निवृत्तिसंगमे पाण्डुरङ्गे वा भीमरथीं गतः । पम्पां च सरः विद्यानगर समीपे ॥१२॥

व्याख्यार्थ—वहाँ से महेन्द्र पर्वत पर पहुँचे, मध्य मार्ग में पुरुषोत्तम स्थान है, किन्तु वहाँ भगवान् नहीं विराजते हैं, केवल स्थान मात्र था, इसलिए उसको नहीं कहा, वहाँ महेन्द्र पर्वत पर परशुराम के दर्शन कर नमस्कार की; क्योंकि वे आप से बड़े हैं । पश्चात् सप्तगोदावरी गए अर्थात्

जहाँ गोदावरी सप्तधारा हो समुद्र में प्रवेश करती है, वहाँ पहुँचे, फिर कृष्णवेणी का जहाँ संगम हुआ है, वहाँ पधारे अनन्तर मध्यदेश में आकर निवृत्ति संगम पाण्डुरंग अथवा भीमरथी पर गए, पम्पासर विद्यानगर के समीप है ॥१२॥

श्लोक — स्कन्दं दृष्ट्वा ययौ रामः श्रीशैलं गिरिशालयम् ।

द्रविडेषु महापुण्यं दृष्ट्वाद्रि वेङ्कटं प्रभुः ॥१३॥

श्लोकार्थ—स्वामी कार्तिकेय के दर्शन कर, बलरामजी महादेवजी के निवास स्थान श्री शैल पर्वत पर गए, द्रविड देश में महा पवित्र श्रीरङ्ग क्षेत्र में पधारे ॥१३॥

सुबोधिनी—तत्रैव स्कन्दं दृष्ट्वा ततः श्री शैलं गतः । अनेन देशमध्ये परिभ्रमणं कृत्वापि सर्वाणि तीर्थानि कृतानीत्युक्तम् । ततः पूर्वभागे श्री शैले किमिति गतमित्याकाङ्क्षायामाह गिरि-

शालयमिति । तत्र महादेवं दृष्ट्वा द्रविडदेशेषु महापुण्यजनकं वेङ्कटाद्रिं भगवद्रूपं ददर्श । स हि पर्वत एव विष्णुरूपः । यथा नारायणः ॥१२॥

व्याख्यार्थ—वहाँ ही स्वामी कार्तिकेय के दर्शन कर, पश्चात् श्री शैल पर्वत पर पधारे । इस देश के मध्य में परिभ्रमण कर सब तीर्थ किए, पश्चात् पूर्व भाग श्री शैल पर्वत पर क्यों गए? इसके उत्तर में कहते हैं कि वहाँ महादेवजी का गृह है, वहाँ महादेवजी के दर्शन कर द्रविड़ देशों में महापुण्यदायी श्री वेङ्कटेश प्रभु के दर्शन किए, वह पर्वत ही विष्णुरूप है, जैसे नारायण ॥१३॥

श्लोक कामकोष्णीं पुरीं काञ्चीं कावेरीं च सरिद्वराम् ।

श्रीरङ्गाख्यं महापुण्यं यत्र संनिहितो हरिः ॥१४॥

श्लोकार्थ—फिर कामकोष्णी कांचीपुरी, उत्तम नदी कावेरी जाकर महापवित्र श्रीरङ्ग क्षेत्र पधारे जहाँ हरि भगवान् विराजे हैं ॥१४॥

सुबोधिनी— ततः कामकोष्णीं कामाक्षी शिवकाञ्चीति प्रसिद्धा ततः काञ्ची पुण्यकोटिः ततः कावेरी श्रीरङ्गस्थाने । तत्र श्रीरङ्गं च

महापुण्यहेतुं ददर्श । सर्वायतनापेक्षया श्रीरङ्गं विशेषमाह यत्र संनिहितो हरिरिति ॥१४॥

व्याख्यार्थ—वहाँ से कामकोष्णी अर्थात् कामाक्षी जो शिवकाञ्ची नाम से प्रसिद्ध है, फिर पुण्य कोटि काञ्ची आए, वहाँ से कावेरी पहुँचे, जो श्रीरङ्गजी का स्थान है । वहाँ महापुण्य के हेतु श्रीरङ्गजी का दर्शन किया, सकल मूर्तियों की अपेक्षा श्रीरङ्ग स्वरूप की विशेषता दिखाते हैं कि जिस स्वरूप में हरि साक्षात् विराजते हैं ॥१४॥

श्लोक—ऋषभाद्रिं हरेः क्षेत्रं दक्षिणां मथुरां तथा ।

समुद्रसेतुमगमन्महापातकनाशनम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—हरि का क्षेत्र ऋषभाचल, व दक्षिण मथुरा जाकर महापातकों का नाश करने वाले सेतुबन्ध पर पधारे ॥१५॥

सुबोधिनी—ततः ऋषभाद्रिः । तस्यैवापर-भागे तच्छिवक्षेत्रं विष्णुक्षेत्रं वेति सन्देहे निर्णयार्थमाह हरेः क्षेत्रमिति । ततो दक्षिणमथुरां गतः । यामानमथुरेति प्रसिद्धाः ततः समुद्रसेतुमगमत् । सेतुबन्धे गतः । तस्य माहात्म्यमाह महापातकनाशनमिति तदत्यन्तं पुण्यतममिति ॥१५॥

व्याख्यार्थ—वहाँ से ऋषभाचल पधारे, उनके ही ऊपर भाग में जो क्षेत्र है, वह शिवक्षेत्र है? वा विष्णु क्षेत्र है? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'हरेः क्षेत्र' कहा है अर्थात् यह ऊपर भाग हरि का क्षेत्र है, पश्चात् दक्षिण मथुरा गए, जो मान मथुरा नाम से प्रसिद्ध है, अनन्तर सेतुबन्ध गए, उसका माहात्म्य कहते हैं कि महापातकों को भी नाश करने वाला है, वह अत्यन्त पुण्य देने वाला है ॥१५॥

श्लोक—तत्रायुतमदाद्धेनूब्राह्मणेभ्यो हलायुधः ।

कृतमालां ताम्रपर्णीं मलयं च कुलाचलम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—वहाँ बलदेवजी ने ब्राह्मणों को दश हजार गौ, दान में दी, फिर कृतमाला, ताम्रपर्णी, कुलाचल और मलय पर्वत पर पधारे जहाँ अगस्त्यजी विराजे थे ।

सुबोधिनी—तत्र धेनूनामयुतं प्रादात् । तीर्थ-वासिभ्यो दानशङ्कां वारयितुमाह ब्राह्मणेभ्य इति । यद्यपि तत् स्थानं स्वकृतमेव ततश्च न ज्ञातवानिति ख्यापयितुं हलायुध इत्युक्तम् । ततः कृतमाला अग्रे दक्षिणसमुद्रसमीपे । ततस्ताम्रपर्णी तत्रैव मलयः कुलालयः यत्रागस्त्यस्थानम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ—वहाँ दस सहस्र गौओं का दान किया, वह दान तीर्थ पर रहने वालों को दिया होगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि गौदान ब्राह्मणों को दिया, यद्यपि वह स्थान आपका ही बनाया हुआ है तो भी उसकी पहचान नहीं, इसलिए 'हलायुध' नाम दिया है, पश्चात् कृतमाला गए, वह आगे दक्षिण समुद्र के पास ही है, वहाँ से ताम्रपर्णी गए, वहाँ ही मलय और कुलाचल पर्वत हैं, जहाँ अगस्त्य ऋषि का आश्रम है ॥१६॥

आभास —ततस्तत्राऽऽगत्य अगस्त्यनमस्कारं कृतवानित्याह तत्रागस्त्यमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् जहाँ अगस्त्यजी विराजते थे, वहाँ आकर उनको नमस्कार की, जिसका वर्णन 'तत्रागस्त्य' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—तत्रागस्त्यं समासीनं नमस्कृत्याभिवाद्य च ।

योजितस्तेन चाशीभिरनुज्ञातो गतोऽर्णवम् ।

दक्षिणं तत्र कन्याख्यां दुर्गां देवीं ददर्श सः ॥१७॥

श्लोकार्थ—वहां ध्यान में स्थित अगस्त्यजी को प्रणाम कर फिर नामोच्चारण-पूर्वक अभिवादन कर आशीर्वाद ली, अनन्तर आज्ञा पाकर दक्षिण समुद्र पधारे वहाँ कन्या नाम वाली ^१ दुर्गादेवी के दर्शन किए ॥१७॥

सुबोधिनी—समासीनं तपः कुर्वाणं स्थिर-
सनं वा भगवच्चिन्तकम् । नमस्कारः माहात्म्य-
ख्यापकः । साष्टाङ्गं अभिवादनं नामोच्चारण-
पूर्वकम् । चकारात्तस्य स्तोत्रमपि कृतवानिति
ज्ञायते । अतस्तेनाशीर्भयोर्जितः । ततोऽप्यनुज्ञातः

दक्षिणसमुद्रस्थानं गतः । यत्र कन्याकुमारी
तिष्ठति । ततस्तामपि दृष्ट्वानित्याह तत्र कन्या-
ख्यां दुर्गामिति । लक्ष्म्यंशत्वं वारयितुं दुर्गा-
पदम् । सा च देवी देवतारूपा पूर्वं मानुष्यपि
देवतारूपा जाता ॥१७॥

व्याख्यार्थ—जब बलरामजी वहाँ पधारे, तब अगस्त्यजी तपस्या कर रहे थे, जिससे आपका आसन स्थिर था अथवा भगवच्चिन्तन कर रहे थे, बलरामजी ने नमस्कार की, यह नमस्कार ऋषि के माहात्म्य का ख्यापक था, फिर नाम का उच्चारण करते हुए साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम किया । 'च' पद का आशय है कि स्तुति भी की, यों नमन अभिवादन करने से प्रसन्न ऋषि ने बलरामजी को आशीर्वाद दी । आशीर्वाद ग्रहण करने के अनन्तर जाने की आज्ञा ली, आज्ञा पाकर दक्षिण समुद्र पधारे, जहाँ कन्याकुमारी विराजती है, जाने के बाद उनके दर्शन किए, इसका नाम दुर्गा इसलिए दिया है कि इसमें लक्ष्मी का अंश नहीं है, वह देवी देवतारूप है, पहले मनुष्य रूप होते हुए भी देवता रूप थी ॥१७॥

श्लोक—ततः फाल्गुनमासाद्य पञ्चाप्सरसमुत्तमम् ।

विष्णुः संनिहितो यत्र स्नात्वास्पर्शद्गवायुतम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—दुर्गा के दर्शन करने के बाद, फाल्गुन तीर्थ पर आये, उत्तम पञ्चाप्सरस नाम तीर्थ पर पधारे, जहाँ विष्णु भगवान् सदा सन्निहित हैं उसमें स्नान कर दश हजार गौ दान में दी ॥१८॥

सुबोधिनी—ततः फाल्गुनं अनन्तशय्यां गतः ।
तत्रार्जुनस्य पञ्चाप्सरसां पादगृहीतानामुद्धारणा-
त्तन्नाम्नैव तत्प्रसिद्धं जातं तदाह पञ्चाप्सरस-

मिति । उत्तमं स्थानमेव तत्, तस्य स्थानस्य
माहात्म्यमाह विष्णुः संनिहितो यत्रेति । तत्रापि
स्नात्वा सेताविव गवामयुतं दत्तवान् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् फाल्गुन तीर्थ जिसको अनन्त शय्या कहते हैं, वहाँ गए । अनन्तर पञ्चाप्सरस तीर्थ जो उत्तम स्थान है, वहाँ पधारे । शरणागत पाञ्च-अप्सरार्यों का अर्जुन द्वारा वहाँ उद्धार हुआ है, इसलिए इसका नाम पञ्चाप्सर पड़ा है, इस स्थान पर विष्णु सदैव विराजते हैं । यही इसका माहात्म्य है, वहाँ भी स्नान कर सेतु की तरह यहां भी दस सहस्र गौ दान की ॥१८॥

श्लोक—ततोविज्रज्य भगवान् केरलान् स्तोत्र्यगर्तकान् ।

गोकर्णस्थितं शिवक्षेत्रं सांनिध्यं तत्र धूर्जटेः ॥१६॥

श्लोकार्थ—फिर बलरामजी बहुत शीघ्र केरल स्तोत्र्य और गर्तक भेद वाले देश में आकर गोकर्ण नाम वाले शिव के क्षेत्र में पधारे जहाँ महादेव सदैव विराजते हैं ।

सुबोधिनी—ततोविज्रज्य शीघ्र तद्देशोल्लङ्घनार्थमतिव्रजनम् । यतोऽयं भगवान् । तत्र देशे भेदत्रयमाह केरलान् स्तोत्र्यान् गर्तकाश्चेति । स एव मल्लिवार इति प्रसिद्धः । ततोऽग्रे गोकर्णस्थितं

रावणेन नीयमानो महादेवः तत्र स्थापितः नोद्धर्तुं शक्य आसीत् तत उत्पाद्यमानः गोकर्णकृतिर्जातः तच्छिवक्षेत्रम् । तत्र धूर्जटेः सांनिध्यं सर्वदैव ॥१६॥

व्याख्यार्थ—वहाँ से शीघ्र गए; क्योंकि उस देश को उल्लङ्घन करना था; क्योंकि ये भगवान् हैं । उस देश के तीन भाग हैं—(१)केरल, (२)स्तोत्र्य और (३)गर्तक; वह ही मलबार नाम से प्रसिद्ध है । उससे आगे गोकर्णस्थित तीर्थ है । वहाँ रावण ने महादेव लाकर स्थापित किया, किन्तु वहाँ से फिर उठाकर लेजा न सके, उठाने के समय महादेव गोकर्ण जैसी आकृति वाले बन गए, जिससे इस तीर्थ का नाम गोकर्ण प्रसिद्ध हुआ, वह शिव का क्षेत्र है, वहाँ सर्वदा ही शिव का सांनिध्य है ॥१६॥

श्लोक—आर्या द्वैपायनीं दृष्ट्वा शूर्पारकमगाद्बलः ।

तापीं पयोष्णीं निर्विन्ध्यामुपस्पृश्याथ दण्डकम् । २०॥

श्लोकार्थ—जहाँ व्यासजी ने तप किया, उस आर्या नदी से होकर शूर्पारक आए, पश्चात् तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्या में स्नान कर दण्डकारण्य पधारे ॥२०॥

सुबोधिनी—तत आर्या नदीं द्वैपायनस्य तपः-संबन्धिनीम् । ततः शूर्पारकस्थानं कृष्णवेण्याम् ।

ततस्तापी नदी पयोष्णी निर्विन्ध्या च ततस्ततः । ततो दण्डकारण्यं प्रविष्टः ॥२०॥

व्याख्यार्थ—द्वैपायन व्यास से तपस्या के कारण सम्बन्ध वाली आर्या नदी से होकर शूर्पारक स्थान अर्थात् कृष्णवेणी नदी पर आए, पश्चात् तापी, पयोष्णी और निर्विन्ध्या में स्नान करते हुए दण्डकारण्य में प्रविष्ट हुए ॥२०॥

श्लोक—प्रविश्य रेवामगमद्यत्र माहिष्मती पुरी ।

मनुतीर्थमुपस्पृश्य प्रभासं पुनरागमत् ॥२१॥

श्लोकार्थ—रेवा नदी में स्नान कर माहिष्मती नगरी में आए, वहाँ मनुतीर्थ में नहाकर, फिर प्रभास आए ॥२१॥

सुबोधिनी—तत्र च रेवां नर्मदामगमत् । यत्र मण्डपाचलनिकटे माहिष्मती नाम पुरी पूर्वं प्रसिद्धा । ततस्तीरे गच्छन् मनुतीर्थमुपस्पृश्य

समुद्रसंगमपर्यन्तमागत्य पुनः प्रभासमागमत् । एवं मण्डलेन भारतवर्षस्य परिभ्रमणमुक्तम् । एतावतापि वर्षो न पूर्णः ॥२१॥

व्याख्यानार्थ—रेवा अर्थात् नर्मदा पर गए, जहाँ मण्डप पर्वत के समीप माहिष्मती नाम वाली पुरी पहले प्रसिद्ध थी, वहाँ से किनारे-किनारे जाते हुए मनु तीर्थ पर पहुँचे, जहाँ स्नान किया, बाद में समुद्र सङ्गम तक आकर फिर प्रभास पधारे । इस प्रकार मण्डल की तरह भारतवर्ष परिभ्रमण किया, तो भी वर्ष पूर्ण न हुआ ॥२१॥

श्लोक—श्रुत्वा द्विजैः कथ्यमानं कुरुपाण्डवसंयुगे ।

सर्वराजन्यनिधनं भारं मेने हृतं भुवः ॥२२॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों का कथन—कौरव-पाण्डवों के युद्ध में सब राजाओं का नाश हो गया—सुनकर बलदेवजी ने माना कि पृथ्वी से भार उतरा ॥२२॥

सुबोधिनी—ततोऽप्यग्रे पुनर्भ्रमणार्थं गच्छन् कुरुक्षेत्रनिकटे गतः । तत्रत्यैद्विजैः कथ्यमानं

कुरुपाण्डवानां संयुगे तत्संबन्धनां सर्वेषां राज्ञां निधनं श्रुत्वा भुवो भारं हृतं मेने ॥२२॥

व्याख्यानार्थ—वहाँ से भी आगे भ्रमण करते हुए बलरामजी कुरुक्षेत्र के निकट पहुँचे, वहाँ के ब्राह्मणों के कथन से कि कौरव-पाण्डवों के युद्ध में उनके सम्बन्धी सब मारे गए हैं, सुनकर समझा कि पृथ्वी का भार कम हुआ ॥२२॥

आभास—ततस्तैरेव गदायुद्धमपि जायत इति श्रुत्वा भूभारस्तु हृत एव उद्देशान्तरं नास्तीति यथा पञ्चपाण्डवा जीवन्ति एवमेको दुर्योधनोपि जीवतां किं मरणेनेति निश्चित्य विनशनप्रदक्षिणां कुर्वन् तत्र समागत इत्याह स भीमदुर्योधनयोरिति ।

आभासार्थ—पश्चात् उन ब्राह्मणों ने ही कहा कि भीम-दुर्योधन की परस्पर गदायुद्ध अभी तक चल रही है । यह सुनकर पृथ्वी का भार तो उतर गया, अब युद्ध का कोई उद्देश नहीं है, जैसे पांच पाण्डव जीते हैं, वैसे ही एक दुर्योधन भी जीता रहे, मरने से क्या लाभ ? यों निश्चयकर कुरुक्षेत्र की परिक्रमा करते हुए वहाँ आए, जिसका वर्णन 'स भीमदुर्योधनयोः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—स भीमदुर्योधनयोर्गदाभ्यां युध्यतोर्मृधे ।

वारयिष्यन् विनशनं जगाम यदुनन्दनः ॥२३॥

श्लोकार्थ—भीमसेन और दुर्योधन गदायुद्ध कर रहे हैं, यह सुनकर उन्हें मना करने के विचार से बलदेवजी कुरुक्षेत्र पधारे ॥२३॥

सुबोधिनी—स रामः । भीमदुर्योधनयोः गदाभ्यां युध्यतोः सतोः युद्धं वारयिष्यन् विन- शनं कुरुक्षेत्रमागतः । इदानीमागमने पक्षपात- शङ्का नास्तीति तस्यागमनम् । यतो यदुनन्दनः यदुरिव विचारितार्थकर्ता, स्नेहादिना पक्षपात- रहितः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—बलरामजी गदाओं से लड़तेहुए भीमसेन और दुर्योधन को युद्ध करने से रोकने के लिए कुरुक्षेत्र आए, इस समय आने में पक्षपात की शङ्का नहीं, इसलिए उसका आगमन हुआ; क्योंकि यदुनन्दन हैं, अतः यदु की तरह विचार पूर्वक कार्य करने वाले हैं, स्नेह आदि कारण से पक्षपात करने वाले नहीं हैं ॥२३॥

आभास—ततः सर्वेषां शङ्का जातेत्याह युधिष्ठिरस्त्विति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो वहाँ उपस्थित थे उनको शङ्का हुई, यों 'युधिष्ठिरस्तु' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—युधिष्ठिरस्तु तं दृष्ट्वा यमौ कृष्णार्जुनावपि ।

अभिवाद्याभवंस्तूष्णीं किं विवक्षुरिहागतः ॥२४॥

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, श्रीकृष्ण और अर्जुन, बलराम को अभि- वादन कर चुप हो गए, मन में विचारने लगे यहां क्यों आये हैं? और न जाने क्या कहेंगे ? ॥२४॥

सुबोधिनी—तं रामम् । तुशब्देन साधारणानां विद्वेषिणां च सुखं जातमिति सूचितम् । युधि- स्ठिरप्रभृतीनां तु ततोऽन्यथेति अन्यपक्षो व्याव- तितः । यमौ नकुलसहदेवौ । सर्व एवाभिवाद्य तूष्णीमभवन् । तेषामालोचनमाह किं विवक्षुरिहा- गत इति । क्रियाप्रयोजनं तु निवृत्तं वाङ्मात्रम- वशिष्यत इति तस्यैवोत्प्रेक्षा ॥२४॥

व्याख्यार्थ—'तु' शब्द से साधारण और शत्रुओं को आनन्द उत्पन्न हुआ, कारण कि बलराम- जी आए हैं । युधिष्ठिर प्रभृति अन्यो को आनन्द न हुआ, किन्तु विचार हुआ कि क्यों आए हैं ? क्या कहेंगे ? युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव, अर्जुन और श्रीकृष्ण अभिवादन कर चुप हो गए, जो कर्तव्य करना था, उसका प्रयोजन तो निवृत्त हो गया, केवल वह वाणी में ही रह गया है, यों उसकी ही उत्प्रेक्षा (सम्भावना) है ॥२४॥

आभास—ततः स्वयमेव स्वागतं प्रकटीकृतवानित्याह गदापाणी उभाविति ।

आभासार्थ—पश्चात् स्वयं (बुद) ही स्वागत प्रकट करने लगे, यों 'गदापाणी' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—गदापाणी उभौ दृष्ट्वा संरब्धौ विजयैषिणौ ।

मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविदमब्रवीत् ॥२५॥

श्लोकार्थ—क्रोध में भरे हुए, जय की इच्छा वाले, गदा हाथ में लिए विचित्र दाव करते हुए भीम और दुर्योधन को देखकर बलदेवजी उनको यह कहने लगे ॥२५॥

सुबोधिनी—युद्धार्थं हस्ते गदा उभयोरपि ।
अतः साधनमाह संरब्धाविति । अनिवृत्त्यर्थं
कारुणामाह विजयैषिणाविति । तदर्थं यत्नमप्याह
मण्डलानि विचित्राणि चरन्ताविति । नह्येवं

प्रवृत्तौ कदाचित्स्वतो निवृत्तौ भवतः । तस्माज्
ज्ञानेनैव निवृत्तिरिति ज्ञानोपदेशार्थमागतः इदं
वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥२५॥

व्याख्यार्थ—लड़ाई करने के लिए दोनों के हाथ में गदा थी, साधन था क्रोध; दोनों क्रोध में थे और दोनों चाहते थे कि हम जीतें । इसलिए युद्ध बन्द नहीं होता था । जीतने के लिए दोनों प्रयत्न भी कर रहे थे अर्थात् अनेक प्रकार के दांव-पेच से जीतने के लिए खेलते थे, जो इस तरह लड़ते रहते हैं, वे कदापि स्वतः लड़ना नहीं छोड़ते हैं, इस कारण से उनकी युद्ध से निवृत्ति ज्ञान से ही होने वाली थी, जिस ज्ञानोपदेश देने के लिए बलरामजी पधारे थे, अब जो कहना है, वह निम्न श्लोक में कहते हैं ॥२५॥

आभास—उभयोरपि प्रशंसामाह युवां तुल्यबलाविति ।

आभासार्थ—पहले दोनों की प्रशंसा 'युवां' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—युवां तुल्यबलौ वीरौ हे राजन् हे वृकोदर ।

एकं प्राणाधिकं मन्ये उत्तमं शिक्षयाधिकम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! हे वृकोदर ! तुम दोनों तुल्य बल वाले वीर हो एक बल में अधिक है और एक शिक्षण में अधिक है ॥२६॥

सुबोधिनी—उभयोर्भिन्नतया संबोधनं हे
राजन् हे वृकोदरेति । राज्ञश्चिति संबोधनादेकोपि
जीवितः राज्यमेव प्राप्स्यतीति निश्चितम् । ननु
भीमश्च बलभद्रश्चेति वाक्यात् कथं भीमसमो

दुर्योधन इति चेत् तत्राह एकं प्राणाधिकं मन्ये
इति । एकं भीमं प्राणेन बलेन द्वितीयादधिकं
मन्ये । अपरं राजानं भीमापेक्षया शिक्षया मयैव
कृतया अधिकं मन्ये ॥२६॥

व्याख्यार्थ—दोनों को पृथक्-पृथक् सम्बोधन दिए हैं—हे राजन् !, हे वृकोदर ! 'हे राजन्' इसी सम्बोधन से यह बताया है कि एक भी जीवित होगा तो राज्य को प्राप्त करेगा, यह निश्चित है । 'भीमश्च बलभद्रश्च' इस वाक्यानुसार भीम के समान दुर्योधन कैसे होगा? यदि यों कहो तो उसका

उत्तर यह है कि भीमसेन को दुर्योधन से बल में अधिक मानता हूँ अर्थात् भीम दुर्योधन से बलवान् है, दुर्योधन भीम से शिक्षा से अधिक है; क्योंकि उसको मैंने ही शिक्षा दी है, इसलिए विशेष है ॥२६॥

आभास—तर्ह्येवं सति किं भविष्यतीत्याशङ्कयामाह तस्मादेकतरस्येति ।

आभासार्थ—यों है तो क्या होगा ? इस पर 'तस्मादेकतरस्य' श्लोक से उत्तर देते हैं ।

श्लोक—तस्मादेकतरस्येह युवयोः समवीर्ययोः ।

न लक्ष्यते ज्योन्यो वा विरमत्वफलो रणः ॥२७॥

श्लोकार्थ—तुम दोनों समान बल वाले हो इसलिए कोई एक न जीत सकेगा न हारेगा, इसलिए लड़ना निष्फल होने से युद्ध बन्द करो ॥२७॥

सुबोधिनी—बलांशः शिक्षांशेन समो भवि-
ष्यतीति अतः एकतरस्यापि युवयोर्मध्ये अर्थात्स-
मवीर्यता जातेति जयः, अन्यः पराजयो वा न

लक्ष्यते । अतो निष्फलः अयं क्लेशरूपो रणः
विरमतु निष्फलत्वात् ॥२७॥

व्याख्यार्थ—बल का अंश शिक्षा के अंश से समान है, अतः तुम दोनों में से एक की भी जय वा पराजय नहीं होगी, अतः यह लड़ाई केवल क्लेशरूप है, इससे कोई फल नहीं निकलेगा, इसी कारण युद्ध बन्द करो ॥२७॥

आभास—एवमुक्तावपि न निवृत्तावित्याह न तद्वाक्यं जगृहगुरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार कहने पर भी युद्ध बन्द नहीं किया, जिसका वर्णन निम्न दो श्लोकों में करते हैं ।

श्लोक—न तद्वाक्यं जगृहतुर्बद्धवैरौ नृपार्थवत् ।

अनुस्मरन्तावन्योन्यं दुरुक्तं दुष्कृतानि च ॥२८॥

दिष्टं तदनुमन्वानो रामो द्वारवतीं ययौ ।

उग्रसेनादिभिः प्रीतैर्जातिभिः समुपागतः ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे नृप! परस्पर कहे हुए दुर्वचन और कुकृत्य को याद करते हुए दोनों ने आपस में शत्रुता कर ली है, अतः बलदेवजी के लाभ वाले वचन नहीं माने ॥२८॥

तत्र बलरामजी ने समझ लिया कि मेरे भी वचन नहीं मानते हैं, तो इनका

प्रारब्ध ही यों है, इसलिए आप द्वारका पधारे, उग्रसेन आदि सब बलरामजी को आया हुआ देखकर प्रसन्न हुए ॥२६॥

सुबोधिनी—यतो बद्धवैरौ । यद्यप्यर्थदत्त
ग्रान्तरमनिवर्तकं बाह्यो निवर्तक इति । ततो
रामः ततोषामनिवर्तनं दिष्टं भाग्याधीनं इति
मन्वानः, यथाभाग्यं भविष्यतीति स्वयं यात्रां

कुर्वन्नेव द्वारवर्ती ययौ । बलभद्रे बहुकाले गृहा-
गते नष्टलब्धधना इव उग्रसेनादयः समागताः तं
गृहे निन्युः ॥२८॥२९॥

व्याख्यार्थ—बलदेवजी की लाभकारी शिक्षा भी नहीं मानी; क्योंकि आपस में शत्रुता कर ली थी । यद्यपि आपकी शिक्षा अर्थ वाली थी, बाहर तो लड़ाई बन्द करने के विचार आते थे, किन्तु भीतर का हृदय युद्ध से हटता नहीं था, इससे बलरामजी ने समझा कि लड़ाई बन्द नहीं करते हैं, यह भाग्य के आधीन है, जैसा भाग्य होगा, वैसा ही होगा; यों विचार कर आप यात्रा करते हुए द्वारका पहुँचे । बहुत समय से बलरामजी घर आए हैं, यह देख जैसे किसी का धन चला गया हो, वह फिर मिल जावे तो जैसी उसको प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता उग्रसेनादि को हुई, जो आकर उन्हें घर ले गए ॥२८-२९॥

आभास—ततो यात्राया अनिवृत्तत्वात् पुनर्नैमिषे समागतः । एतावता वर्षः पूर्णः

आभासार्थ—यात्रा पूर्ण न होने से फिर नैमिषारण्य में आए, इतने में वर्ष भी पूर्ण हुआ ।

श्लोक—तं पुनर्नैमिषं प्राप्तमृषयोऽयाजयन्मुदा ।

ऋत्वङ्गं ऋतुभिः सर्वैर्निवृत्ताखिलविग्रहम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—नैमिषारण्य में आए हुए बलरामजी को ऋषियों ने यज्ञ कराया अथवा ऋतु जिसका अङ्ग है, ऐसे भगवान् का ऋतु द्वारा भजन कराया, इन ऋतुओं के करने से सर्व प्रकार का विग्रह करना, वह भी निवृत्त हो गया ॥३०॥

सुबोधिनी—ततः ऋषयस्तं मुदा अयाजयन् ।
सर्वैरेव ऋतुभिरग्निहोत्रादिभिः । ऋत्वङ्गमिति
पित्रादिषु जीवत्सु कथं सर्वे यागाः कृता इति
शङ्का व्युदस्ता । यतोऽयं ऋत्वङ्गः ऋतवः
अङ्गानि अङ्गेषु वा यस्येति, तमयाजयन्, ऋत्वङ्गं
वा भगवन्तम् । तस्मिन् पक्षे याजने रामः कर्म,
यजने भगवानिति । ऋतोरङ्गमिति यजमानम्

‘पुरुषस्य च कर्मार्थत्वात्’ इति न्यायात् । यक्ष्य
इति । सङ्कल्पे कृते पश्चाद्याजितवन्त इत्यर्थः ।
नन्वयं भूतदयारहितः संकर्षणः प्रलयकर्ता कथं
यज्ञकर्ता सर्वमैत्रीकरणानन्तरमेव यज्ञाधिकारादत
आह निवृत्ताखिलविग्रहमिति । निवृत्तः अखिलैः
सह विग्रहः कलहो यस्य ॥३०॥

व्याख्यार्थ—इनके आने के पश्चात् ऋषियों ने इनको प्रसन्नचित्त हो यज्ञ कराया, सर्व ऋतुओं से अर्थात् अग्निहोत्र आदि से यज्ञ कराया, पिता जीवित होते हुए सब याग कैसे किए ? इस शङ्का

का निवृत्ति के लिए कहा है, कि 'कृत्वङ्ग' कृनु है अङ्ग जिसके, अथवा कृनु है अङ्गों में जिसके, ऐसे भगवान् यज्ञ पुरुष का भजन यजन कराया, उस पक्ष में याजन में राम कर्म है और यजन में भगवान् कर्म है । 'कृतोः अङ्ग' इससे यजमान कहा 'पुरुषस्य च कर्मार्थत्वात्' पुरुष कर्म रूप है, इस न्याय से 'यक्ष्ये' यों सङ्कल्प कर पश्चात् यज्ञ करने लगे । यह सङ्कर्षण भूतों पर दया कभी नहीं करते हैं, क्योंकि प्रलयकर्त्ता हैं, वह यज्ञकर्त्ता कैसे हुए ? सबसे जो मैत्री करता हो वह यज्ञ का अधिकारी होता है, इस शङ्का के मिटाने के लिए कहा है कि सबसे लड़ना जिसने छोड़ दिया है अर्थात् अब सबसे मैत्री ही करते हैं ॥ ३० ॥

आभास—ततो दक्षिणात्वेन तेभ्यो ज्ञानं दत्तवानित्याह तेभ्यो विशुद्धविज्ञानमिति ।

आभासार्थ—अनन्तर दक्षिणा में उनको ज्ञान दिया, जिसका वर्णन 'तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—तेभ्यो विशुद्धविज्ञानं भगवान् व्यतरद्विभुः ।

येनैवात्मन्यदो विश्वमात्मानं विश्वगं विदुः ॥३१॥

श्लोकार्थ—सर्व समर्थ भगवान् बलदेव ने इनको विशुद्ध ज्ञान दिया, जिससे आत्मा में सर्व विश्व को और विश्व में आत्मा को जान गए ॥३१॥

सुबोधिनी—'दक्षिणा ज्ञानसंदेशः' इति वाक्यात् 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इति श्रुतेश्च 'आत्मदक्षिणं वै सत्रम्' इति च 'आत्मानमेव दक्षिणां नीत्वा स्वर्गं लोकं यन्ति' इति च ज्ञान-दक्षिणैव दक्षिणा । विशुद्धं ज्ञानमनुभवरूपं निरु-पाधिकम् । ननु कर्मासक्तानां तेषां कथमकस्माज् ज्ञानमभूत् तत्राह भगवान् व्यतरद्विभुरिति । भग-

वत्त्वात् तादृशज्ञानवत्त्वं वितरणं च । वितरणे नहि दानपात्रापेक्षा, विभुत्वात्सर्वसामर्थ्यम् । तस्मिन् ज्ञाने प्राप्ते तेषां कावस्था जातेत्याकाङ्क्षायामाह येनैवात्मन्यदो विश्वमिति । परोक्षमपि विश्वमात्मन्यपश्यन् विश्वस्मिन्चात्मानं तदाह आत्मानं विश्वगमिति ॥३१॥

व्याख्यार्थ—'दक्षिणा ज्ञान संदेशः' इस वाक्य से 'आत्मलाभान्न परं विद्यते' इस श्रुत्यनुसार 'आत्मदक्षिणं वै सत्रम्' इस वाक्य और 'आत्मानं एव दक्षिणा नीत्वा स्वर्गं लोकं यन्ति' इस वचनानुसार ज्ञान रूप दक्षिणा ही दक्षिणा है, विशुद्ध ज्ञान का तात्पर्य है, उपाधिरहित अनुभव रूप ज्ञान, कर्म में आसक्ति में ऐसा ज्ञान अकस्मात् कैसे उत्पन्न हो गया ? इसका उत्तर देते हैं कि ज्ञान देने वाले सर्व समर्थ भगवान् बलदेवजी हैं । भगवान् होने से वैसा ज्ञानवानुपण है और वितरण भी है, अतः वितरण में दानपात्र की उपेक्षा नहीं है ऐसे विशुद्ध ज्ञान पाने से उनकी क्या अवस्था हुई ? जिसका उत्तर देते हैं कि परोक्ष भी विश्व को आत्मा में देखा और विश्व में आत्मा को देखा, इस प्रकार की ऋषियों की अवस्था हो गई ॥ ३१ ॥

आभास—ततो दक्षिणादानानन्तरं यज्ञसमाप्तिं च कृतवन्त इत्याह स्वपत्न्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् दक्षिणा दान के अनन्तर यज्ञ की समाप्ति की, यों 'स्वपत्न्यावभृथस्नातो' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—स्वपत्न्यावभृथस्नातो ज्ञातिबन्धुसुहृद्वृतः ।

रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुः सुवासाः सुष्ठ्वलंकृतः ॥३२॥

आभास—बलरामजी ने अवभृथ स्नान स्वपत्नी के साथ किया, ज्ञाति, बान्धव और मित्रों से वेष्टित सुन्दर वस्त्र तथा आभूषण धारण किए । बलदेवजी स्त्री के साथ यों शोभा पाने लगे जैसे चन्द्रमा चाँदनी से शोभा देता है ॥३२॥

सुबोधिनी—रेवती रामस्य पत्नी तथा सह अवभृथे स्नातः । स्नान एव ज्ञात्यादिभिवृतः । पञ्चाष्टा शोभार्थं निरूप्यते शोभायां पत्नी च हेतुभूता जातेत्याह रेजे स्वज्योत्स्नयेवेन्दुरिति ।

अन्यथा दिवसे धूसरश्चन्द्रो न शोभते । तस्यावभृथादुत्तीर्णस्य परमशोभां प्राप्तस्य पञ्चास्तौकिकवस्त्राभरणानि प्रनिपत्यर्थं निरूप्यते सुवासाः सुष्ठ्वलंकृत इति ॥३२॥

व्याख्यार्थ—रेवती बलरामजी की स्त्री है, उसके साथ यज्ञान्त स्नान किया । ज्ञाति आदि से वेष्टित हो केवल स्नान किया, पश्चात् शोभा का वर्णन करते हैं, शोभा में पत्नी कारण भूत है, वे वैसे शोभा पाने लगे जैसे चन्द्रमा चाँदनी से शोभा पाता है, नहीं तो दिवस (दिन) में धूसर चन्द्रमा शोभता नहीं, यज्ञान्त स्नान कर लेने के बाद की परम शोभा को पाने लगे, जिसमें कारण लौकिक सुन्दर वस्त्र और श्रेष्ठ आभरण थे ॥ ३२ ॥

आभास—उपसंहरति ईदृग्विधानीति ।

आभासार्थ—'ईदृग्विधानी' श्लोक से उपसंहार करते हैं

श्लोक—ईदृग्विधान्यसंख्यानि बलस्य बलशालिनः ।

अनन्तस्याप्रमेयस्य मायामर्त्यस्य सन्ति हि ॥३३॥

श्लोकार्थ—महान् बलवाले, अनन्त, अप्रमेय, मनुष्यरूप बलदेवजी के ऐसे अगणित चरित्र हैं ॥३३॥

सुबोधिनी—यथा तीर्थयात्रात्मकमिदमेकं चरित्रं एवंविधान्यसंख्यातानि तस्य चरित्राणि । यतोयं बलशाली बलकार्यं बलैव करिष्यतीति । न च तच्चरित्रं पराजयात्मकम् । यतोयमनन्तः । तर्हि कथं नोच्यत इति चेत् तत्राह अप्रमेयरूपेण ।

नन्वयमवतीर्ण इति देहग्रहणानन्तरं चरित्रं विचार्यते न तु परमार्थभूतस्य, अन्यथा सर्व एव तथा भवेदित्याशङ्क्याह मायामर्त्यस्येति । स्तुतिपरत्वं वारयति सन्तीति । युक्तश्चायमर्थः । अवतारो हि किञ्चित्कार्यार्थः केषांचिद्धर्म साध-

येत् । अन्येषामन्यदन्येषामन्य 'इति, अन्यथा । त्वरं न लिख्यन्ते किन्तु सन्ति ॥३३॥
अवतारवैयर्थ्यापत्तेः । तस्मादग्रन्थविस्तरभया-

व्याख्यार्थ—जैसे यह तीर्थ यात्रा का एक चरित्र है, ऐसे अगणित उनके चरित्र हैं, क्योंकि वे बलवान् हैं अतः बल के कार्य बहुत ही करेंगे । वह चरित्र पराजय रूप भी नहीं हैं, कारण कि, यह अनन्त है, तो उनके चरित्र क्यों नहीं कहते हो ? यदि यों कहो तो, उसका उत्तर है 'अप्रमेयस्य' जिसके चरित्रों को कोई जान ही नहीं सकता है, देह वर्ण कर अवतार ले, जो चरित्र किए हैं वह चरित्र विचारे जाते हैं, न कि अलौकिक चरित्र, अन्यथा, भय ही बने हो जावे, इस शङ्का का निवारण करते हैं कि 'मायामर्त्यस्य' माया से मनुष्य दीखने है, अतः इनके चरित्र की गणना नहीं हो सकती है । यह स्तुति परायण वाक्य नहीं हैं क्योंकि 'सन्ति' अनन्त चरित्र हैं, यह अर्थ ही उचित है । अवतार तो किसी कार्य के लिए किसी के धर्म को सिद्ध करता है, किसी का कैसा और किसी का कैसा, नहीं तो, अवतार धारण ही व्यर्थ हो जावे, इससे विशेष लिख नहीं सकते, कारण कि ग्रन्थ का बहुत विस्तार होगा, यह भय होता है, किन्तु अनेक चरित्र हैं ॥ ३३ ॥

आभास—बुद्धिरेकत्र स्थिरीभूता दृढा भवतीति । बलभद्रचरित्रस्य श्रवणादेः भगवद्भूजनोपयोगित्वमाह शृण्वन् गृणन्निति ।

आभासार्थ—बलरामजी के चरित्रों का श्रवण भगवद्भूजन के लिए उपयोगी है, क्योंकि उससे बुद्धि एक ही स्थान पर स्थिर रहती है और दृढ़ हो जाती है, यों 'शृण्वन्गृणंश्च' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक - शृण्वन्गृणंश्च रामस्य कर्माण्यद्भुतकर्मणः ।

सायं प्रातरनन्तस्य विष्णोः स दयितो भवेत् ॥३४॥

श्लोकार्थ—अद्भुत चरित्र बलरामजी के चरित्रों को जो पुरुष सायं प्रातः श्रवण करे, वह भगवान् को प्रिय होता है ॥३४॥

सुबोधिनी—श्रोतरि सति गृणन्नित्यादि व्याख्येयम् । गृणन्नित्युच्चरन् स्वयमेव । ननु भगवद्भक्तः किमिति श्रोष्यति भावान्तरापन्नस्य तत्राह अद्भुतकर्मण इति । अद्भुतत्वाच्छ्रवणम् दुर्योधनादय एवं मन्यन्ते यथा पाण्डवानां पक्षे कृष्णः एवमस्मत्पक्षे बलभद्र इति ततो वयं तुल्या जेष्याम इति । इयं बुद्धिर्भूभारहरणार्थं बलभद्रेणैव संपाद्यते । यथार्थं वदन् तथैव साहाय्यं च कुर्वन् तथापि मारयत्येव । कृष्णरामयोरेकभावादिति

अद्भुतकर्मत्वम् । स्वतन्त्रतया श्रवणादौ तत्रैव भक्तिर्भविष्यतीति कर्माङ्गत्वार्थमाह सायं प्रातरिति । अनन्तस्य शेरस्य । विष्णोः पुरुषोत्तमस्य । स श्रवणादिकर्ता भगवतः प्रियो भवेत् । अयमस्मत्सेवकसेवक इति प्रपौत्रवत्प्रियः । एवमुपसंहृत्य फलकथनात् तच्चरित्रं समापितमिति सूचितम् । कीर्तिस्तस्य सर्वप्रकारेण स्थिरीकृता निरूपिता ॥३४॥

व्याख्यानार्थ—‘शृण्वन् तथा गृणन्’ दो पद हैं जिनका आशय है कि केवल चरित्र सुनना ही नहीं, किन्तु स्वयं (खुद) उनका जोर से उच्चारण भी करते रहना, जैसे दूसरे भी सुने और अपने चित्त में भी स्थिर हो जावे, जो भगवान् का भक्त है, वह भावान्तर को प्राप्त स्वरूप के चरित्र क्यों सुनेगा ? इसका उत्तर देते हैं कि ‘अद्भुतकर्मणः’ आपके चरित्र अद्भुत है, इसलिए श्रवण करने चाहिए, दुर्योधनादि यों समझते हैं, कि जैसे पाण्डवों के पक्ष में श्रीकृष्ण हैं, वैसे बलरामजी हमारे पक्ष में हैं, जिससे दोनों समान हैं अतः हम जीतेंगे, ऐसी इनकी बुद्धि बलरामजी ने ही भूभार हरण करने के लिए की थी, यथार्थ में कहते थे, वैसे ही सहाय भी करते थे । तो भी मारते ही हैं । अद्भुत कर्मा बलरामजी को क्यों कहा ? अद्भुतकर्मा तो श्रीकृष्ण ही है, जिसका समाधान आचार्य श्री करते हैं, कि श्रीकृष्ण और राम एक ही हैं, स्वतन्त्रता से श्रवण करने पर, उसमें ही भक्ति होगी । श्रवण कर्माङ्ग है, उसके करने का समय बताते हैं, सायंकाल और प्रातःकाल में श्रवण करना चाहिये, बलरामजी अनन्त हैं, अर्थात् शेष रूप हैं, और विष्णु अर्थात् पुरुषोत्तम के भी रूप हैं । अतः इनके चरित्र, जो श्रवण करता है, वह भगवान् को प्रिय होता है । कैसे प्यारा होता है ? वह दृष्टान्त देकर समझाते हैं, कि जैसे परपोता प्रिय होता है, यह शेष जी के चरित्रों के श्रवण कर्ता को भी, भगवान् समझते हैं, कि हमारे सेवक का सेवक है, अतः प्रपौत्र के समान है इससे प्रिय है, इस प्रकार फल कहकर यह चरित्र समाप्त हुआ बताया है, सर्व प्रकार से उनकी कीर्ति की स्थापना का निरूपण किया ॥ ३४ ॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे त्रिंशोऽध्यायविवरणम् ॥ ३० ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ७६वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३०वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल
अवान्तर प्रकरण का द्वितीय अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का अवगाहन निम्न पद से करें

स्याम बलराम कौं सदा ध्याऊँ ।

यहै मम ज्ञान यह ध्यान सुमिरन यहै, यहै असनान फल यहै पाऊँ ।

स्याम दंतबक्र अरु साल्व कौं जीति करि, करत आनंद निजपुरी आए ॥
राम गंगादि, जमुनादि अस्नान करि, नैमिसारण्य पुनि जाइ न्हाए ॥

सूत तहँ कथा भागवत की कहत है, रिषि अठासी सहस हुते सोता ।
राम कौं देखि सनमान सबही कियौ, सूत नहिँ उठे निज जानि वक्ता ॥

राम तिहिँ हत्यौ तब सब रिषिन मिलि कह्यौ, बिप्र हत्या तुम्हें लगी भाई ।
सूत सुत थापि सब तीर्थ अस्नान करि, पाप जो भयौ सो सब नसाई ॥

पुनि कह्यौ रिषिन दानव महा प्रबल हयौ, हमें दुख देत सो सदा आई ।
ताहि जो हतौ तो कल्याण तुव, हम करें जज्ञ सुख सौं सदाई ॥

राम दिन कितक ता ठौर औरों रहे, आई वल्लव तहाँ दई दिखाई ।
रुधिर औ मांस की लग्यौ बरषा करन, रिषि सकन यह देखि गए डराई ॥

राम हल सौं पकरि मुसल सौं हत्यौ तेहि, प्राण तजि तेहि सकल सुधि बिसारी ।
सुरनि आकास तैं पुहुप बरषा करी, रिषिन आसीस जय धुनि उचारी ॥

बहुरि बलराम परनाम करि रिषिन कौं, पृथी परदच्छिना कौं सिधाए ।
प्रभुरची ज्यौं हि ज्यौं होइ सो त्यौं ही त्यौं, सूर जन हरि चरित कहि सुनाए ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्गुभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिवरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्भगवत्पाद-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ८० वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७७वां अध्याय

उत्तरार्ध ३१वां अध्याय

सात्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

“अध्याय—३”

श्रीकृष्ण द्वारा सुदामाजी का स्वागत



कारिका—संपत्तिर्भगवन्मित्रे द्वाभ्यामत्र निरूप्यते ।

लोकावगतहेतूनामभावात्केवले हरेः ॥१॥

कारिकार्थ—जिस मित्र को भगवान् ने ऐश्वर्यादिक नहीं दिये हैं, वैसे केवल मित्र के पास सम्पत्ति का अभाव है, जिसका प्रमाण यह है कि उसके पास राज्यादिक वैभव नहीं है ॥१॥

कारिका—एकत्रिंशे तथाध्याये कृष्णमित्रस्य सर्वथा ।

संपत्त्यभावो वाक्याच्च स्थाप्यते सविशेषतः ॥२॥

कारिकार्थ—इक्तीसवें अध्याय में कृष्ण के मित्र के पास सर्वथा सम्पत्ति का अभाव कहा है, फिर बत्तीसवें अध्याय में भगवान् की विशेष कृपा से असीम सम्पत्ति की प्राप्ति की कथा कही है ॥२॥

कारिका—अङ्गत्वेन बलस्यात्र श्रुत्वा लीलां विचक्षणः ।

निर्विण्णो भगवल्लीलां विशेषेणात्र पृच्छति ॥३॥

कारिकार्थ—राजा परीक्षित बलदेवजी के चरित्र सुनकर उदास हुआ, अतः विशेष रूप से भगवान् की लीलाओं का प्रश्न करता है ॥३॥

— इति कारिकायां समाप्त —

आभास—पूर्वाध्याये बलभद्रलीलां श्रुत्वा भगवल्लीलायां जातस्पृहः पृच्छति भगवन् यानि चान्यानीति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय में बलभद्र की लीलाएँ सुनकर भगवान् की लीलाओं के सुनने की इच्छा होने से, राजा परीक्षित 'भगवन् यानि' श्लोक से ४ श्लोक में भगवान् की लीलाओं के प्रश्न करता है ।

श्लोक—राजोवाच—भगवन् यानि चान्यानि मुकुन्दस्य महात्मनः ।

वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य श्रोतुमिच्छामहे प्रभो ॥१॥

श्लोकार्थ—परीक्षित ने कहा कि हे भगवन् ! अनन्त पराक्रमी महात्मा मुकुन्द भगवान् के जो अन्य चरित्र हैं, वे भी हे प्रभो ! मैं सुनना चाहता हूँ ॥१॥

सुबोधिनी—भगवन्निति संबोधनं भगवच्चरित्रे श्रद्धां ज्ञानं च सूचयति । यानि प्रसिद्धानि चरित्राणि चकारादप्रसिद्धानि च । अन्यानि ग्रन्थान्तरेषूक्तानि तत्संबन्धचकारादनुक्तानि च । न चैवं चरित्रबाहुल्यं नास्तीति च शङ्कनीयम् । यतो मुकुन्दस्य चरित्रबाहुल्याभावे सर्वेषां मुक्तिर्न सिद्धा भवेत् । देशकालव्यवहितानां सर्वेषामेव चरित्रश्रवणादिनैव मोक्षसिद्धेः । मम त्वेतावती

श्रद्धा तानि सर्वाण्येव चरित्राणि श्रोतव्यानीति, न केवलं मोक्षार्थित्वेनैव किंतु महत्त्वार्थिन आत्मार्थिनश्च तत्रापि वीर्याणि पराक्रमरूपाणि । तत्रापि बाहुल्यमाह अनन्तवीर्यस्येति । श्रोतुमिच्छामहे इति श्रवणेच्छा सर्वेषां निरूपिता । प्रभो इति एतावता श्रवणेच्छापूर्तिनस्त्वयैव कर्तुं शक्या नान्येनेति ॥१॥

व्याख्यार्थ—परीक्षित ने, श्री शुकदेवजी को 'भगवन्' संबोधन से यह बताया है, कि मेरी भगवान् के चरित्र में श्रद्धा है और उसका ज्ञान भी है जितने प्रसिद्ध हैं वे और 'च' पद से कहता है कि जो प्रसिद्ध नहीं हैं वे तथा जो दूसरे ग्रन्थों में कहे हैं अथवा वहाँ भी नहीं कहे हों वे भी, मैं आप से सुनना चाहता हूँ, यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिए, कि भगवान् के अनेक चरित्र नहीं हैं, क्योंकि यदि भगवान् के चरित्र बहुत प्रकार के न होंगे तो सर्व प्रकार के जीवों की मुक्ति सिद्ध न होती । देशकाल की रुकावट के सिवाय सर्व की ही चरित्र श्रवणादि से ही मोक्ष की सिद्धि हुई है । मेरी तो,

इस प्रकार की श्रद्धा है, अतः सब ही चरित्र सुनने चाहिये, केवल मोक्षार्थपन से ही नहीं, किन्तु महत्त्वार्थी और आत्मार्थी कार्य सिद्धि के लिए, जो पराक्रम रूप चरित्र किए हैं, वे भी सुनना चाहता है । उसमें बहुलता है, कारण कि, आप अनन्तवीर्य (पराक्रम) वाले हैं, इत्यादि कारणों से केवल मैं नहीं किन्तु सकलजन सुनना चाहते हैं, इस प्रकार श्रवणेच्छा की पूर्ति आप से ही होगी न कि दूसरे किसी से, क्योंकि आप 'प्रभु' सर्वसमर्थ, षडगुणैश्वर्य सम्पन्न हैं ॥ १ ॥

आभास— ननु श्रुतान्येव बहुचरित्राणि पुनः कथमाकाङ्क्षेति चेत्तत्राह को नु श्रुत्वेति ।

आभासार्थ—आपने बहुत चरित्र सुने हैं फिर क्यों इच्छा हुई है ? इसका उत्तर 'को नु श्रुत्वा' श्लोक में देता है—

श्लोक—को नु श्रुत्वाऽसकृद्ब्रह्मन् उत्तमश्लोकसत्कथाः ।

विरमेत विशेषज्ञो विषण्णः काममार्गणैः ॥२॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! कामदेव के बाणों से खेदित कौन सा मनुष्य है, जो उत्तम-पुरुष जिनके गुणगान करते हैं, वैसे भगवान् की सुन्दर कथाएँ बार-बार सुनकर भी विशेष जानने की इच्छा न करे, गुणानुरागी कोई भी पुरुष भगवान् की कथा से तृप्त नहीं होता है अर्थात् सदैव उस रस के पान की इच्छा करता रहता है ॥२॥

सुबोधिनी—असकृद्वारंवारमपि श्रुत्वा श्रवणाद्विरमेत । ब्रह्मन्नित्यस्मिन्नर्थे सर्वज्ञत्वात्संमतिरुक्ता । तत्राप्युत्तमश्लोकस्य सत्कथाः । उत्तमैः श्लोक्यत इत्यविगानं कथाश्च सद्रूपाः । स्वतोपि पुरुषार्थपर्यवसायिन्यः । एवं सर्वप्रकारेणोत्तमाभ्यः को वा विरमेत । ननु सत्कथाः बह्व्य एव सन्ति बहूनां भगवतश्च ततश्च श्रुतानामेवानुवृत्तिः कर्तव्या किमपूर्वश्रवणेनेत्याशङ्क्यामाह विशेषज्ञ इति । यदेकं चरित्रं श्रुतं तदा यावान् रसः तदपेक्षया द्वितीयचरित्रश्रवणे शतगुणः, ततस्तृतीयेपि ततः शतगुणाधिक्यम् । एवमुत्तरोत्तरं श्रोत्कृणां रसाधिक्यमनुभवसिद्धम् । अतो विशेष-

ज्ञः को वा विरमेत । पूर्वचरित्रेणान्तःकरणमालिन्ये निवृत्ते उत्तरोत्तरमधिकचरित्रस्वरूपज्ञानात् विशेषज्ञता युक्तैव । तत्र कदाचित्संसारं व्यापृतः अन्यधर्मैर्बन्धा गृहीतः विरमेतापि यस्तु पुनर्विरक्तः स कथं न गृह्णीयात् । वैराग्ये उपपत्तिमाह विषण्णः काममार्गणैरिति । कामानानाविधाः मार्गणत्वादन्तःस्थिताः भित्त्वा बहिर्निर्गच्छन्ति । बहिःस्थिरुचान्तः प्रविशन्तीति तत उपायो जातः यतोयं काममयः पुरुषः अतः सर्वतो भिन्नः सर्वानन्दहेतोश्चरित्रात् कथं विरमेतेत्यर्थः ॥२॥

व्याख्यार्थ—बार-बार सुनकर भी, कौन ऐसा हो, जो सुनने से विराम पावे ? हे ब्रह्मन् ! संबोधन से सिद्ध किया है कि श्रीशुकदेवजी सर्वज्ञ होने से, उनकी भी इसमें सम्मति है, उसमें भी जिसकी कथाओं का गान उत्तम पुरुष करते रहते हैं, ऐसी कथाएँ सद्रूप है, और स्वतः भी पुरुषार्थ

रूप हैं, अथवा श्रोताओं को चारों पुरुषार्थों को देने वाली है, सर्व प्रकार से, उत्तम वंसी सत्कथाओं से कौन है जो विराम पावे ।

सत्कथाएँ तो बहुत ही हैं, उन कथाओं तथा भगवान् के सुने हुए गुणों का बार बार स्मरण करना चाहिए फिर नवीन चरित्र सुनने की क्या आवश्यकता है ? वा उससे क्या लाभ ? जिसके उत्तर में कहा है कि 'विशेषज्ञः' जो मनुष्य विशेष आनन्द रस को जानने वाला है, वह सदैव विशेष की इच्छा करता है, अतः एक चरित्र सुनने से जिस रस की प्राप्ति हुई, फिर उस रस से विशेष रस की इच्छा होने से, दूसरा चरित्र सुनना चाहता है । दूसरे चरित्र श्रवण करने पर, पहले से दूसरे चरित्र सुनने में शतगुण आनन्द आता है । अनन्तर तीसरे चरित्र श्रवण से, उससे भी शत (सौ) गुणा अधिक है, इसी तरह उत्तरोत्तर श्रोताओं को अधिक रस की प्राप्ति होती है । यह अनुभव से सिद्ध है, इसलिये कोई भी विशेषज्ञ उससे कैसे विराम पावेगा ?

पूर्व चरित्र श्रवण से अन्तःकरण की मलीनता नष्ट होगी वैसे ही उत्तरोत्तर अधिक चरित्र के स्वरूप के ज्ञान हो जाने से, विशेषज्ञता होना उचित ही है, वहाँ कदाचित् संसार में व्यावृत्त अन्य धर्मों से बन्ध में जो गृहीत हैं, वे विराम पावे भी, और जो विरक्त हैं वह गुणों को कैसे श्रवण नहीं करेगा ? वैराग्य होने में, उपपत्ति बताते हैं, अनेक प्रकार के कर्म हैं, वे अन्तःकरण में स्थित हैं, उसे तोड़कर बाहर निकल आते हैं । बाहर स्थित भीतर चले जाते हैं, इसी तरह उपाय हुआ, क्योंकि यह पुरुष काममय है, अतः सबसे पृथक् सर्वानन्द के हेतु चरित्र से यह कैसे विराम पाएगा ? ॥ २ ॥

आभास—एवं जीवस्य स्वतः भगवच्चरित्रादविरतिमुक्त्वा विरक्तौ न केवलमात्मन एव कामैर्नाशः किंतु सर्वेन्द्रियाणामपि वैफल्यमिति वदन् इन्द्रियवत्त्वं भगवच्चरित्रादेवेत्याह सा वागिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—जीव स्वयं ही भगवान् के चरित्र श्रवण से विराम नहीं पाता है, यों कहकर, अब कहते हैं, कि यदि विराम पावे तो न केवल आत्मा का ही कामनाओं से नाश करता है, किन्तु सकल इन्द्रियों को भी विफल बनाता है । अतः इन्द्रियों की सफलता तो भगवान् के चरित्र श्रवणादि से ही होती है, यों 'सा वाग्' श्लोक से सिद्ध करते हैं—

श्लोक—सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीते करौ च तत्कर्मकरो मनश्च ।

स्मरेद्वसन्तं स्थिरजङ्गमेषु शृणोति तत्पुण्यकथाः स कर्णः ॥३॥

श्लोकार्थ—जो वाणी भगवान् के गुणों का गान करती है, वह वाणी है । जो हाथ उनकी सेवा करते हैं, वे हाथ हैं । जो मन अचल और चल पदार्थों में वास करने वाले भगवान् के चरित्रों को स्मरण करता है, वह मन है । जो कान उनकी पवित्र कथाएँ सुनते हैं, वे कान हैं ॥३॥

सुबोधिनी—वाग् देवतारूपा । अनेनान्येषां दैत्यरूपा वागिति तेषामिन्द्रियाणां वागादिपद-प्रयोगो भाक्तः । अभासा वा वागादयः, अन्यथा भगवतः सकाशात् उत्पन्ना वागादयः कथमन्य-परा भवेयुः । अथवा । 'द्वया ह प्राजापत्या' इत्यत्र देवपक्ष एव 'ते ह वाचमूचुः' इत्यादिना वाक्शब्दव्यवहार उक्तः । असुराणां तु सर्वेन्द्रियाणामासुरत्वमेव न वागादित्वम् । अथवा । इन्द्रियाणां द्वेधा उत्पत्तिः श्रुतौ निरूपिता । 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च' इति । 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' इत्यादि च । पुराणादिष्वहंकारादपि तेषामुत्पत्तिः । तत्र ये भगवद्योग्याः तेषां भगवदीयैवं सामग्री तत्रैव वागादिव्यवहारः । ब्रह्मनिर्मितेऽहंकारनिर्मिते वा इन्द्रियवर्गे नायं व्यवहारः राजसतामसव्यवहा-रात्, अतः सात्त्विका निर्गुणा वा भगवदीया भवन्तीति भगवत्कृतेन्द्रियसंबन्ध एव तेषां तत्र परीक्षार्थमिदमारभ्यते सा वागिति । अभिप्रेता वाक् सैव यया तस्य गुणान् गृणीते गृणन् नोच्चारणमात्रं किंतु नितरां गृह्ण निगरण इत्यनुशास-नात् । भगवतः कथामात्रं कदाचिदन्योपि वदेत् । उत्कर्षाधायकानां तु तेन प्रकारेण नितरां भक्ति-पूर्वकमुच्चारणं भगवत्कृतवाच एवेति न क्वाप्य-व्याप्त्यतिव्याप्तिः । इदमेव चाभिज्ञापकम् । एव-

मग्रेपि ज्ञातव्यम् । करौ च तत्कर्मकरौ । कर्म लौकिकं परिचर्यात्मकं भगवत्त्वेन ज्ञात्वा, यज्ञकृतौ तदपि भवति । तच्छब्देन पुरुषोत्तमो वा । यज्ञ-स्तु पुरुषस्य कर्मेति न तत्रातिव्याप्तिः । चकारा-द्बहिर्मुखानामपि सेवकसेवकानां करौ संगृहीतौ । गुणानुवर्णनं तु न तेषामान्तरं शक्यं बाह्यं तु प्रमज्जाद्भवेदपि । मनश्च तत्र चकारः पूर्वकर्म-संग्रहार्थः । न तु सेवकानां । स्थिरजङ्गमेषु वसन्तं भगवन्तं स्मरेदिति । अनेन द्वितीयस्कन्धे सूक्ष्म-धारणायां यदुक्तं 'धारणया स्मरन्ति' इति तत्र विशेषो निरूप्यते स्थिरजङ्गमेषु वसन्तमिति । तत्र तु 'स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे' इति । अन्यदपि रूपद्वयं सामान्यवचनात्संगृह्यते । आधिदैविकम-न्तर्यामिरूपं च तत्राप्युत्तमत्वादिभेदः कल्पनीयः । उत्तमास्तु पूर्वोक्ताः सर्वत्र भगवद्दर्शनं तु भगवत एव तथानुगृहीतस्य वा भवति । तादृशस्य स्मृति-निवर्तत एव सर्वत्रानुभव एव । कर्णयोस्तु विशे-षमाह शृणोतीति । तत्पुण्यस्य जीवहितकरण-रूपस्य कथाः पुण्यजनिकास्तु प्रकरणविरोधान्न ग्राह्याः । कर्ण इत्येकवचनं वामाभिप्रायम् । 'उत्तरो देवहूः स्मृत' इति वाक्यम् । अथवा । यः कर्णो भक्तिजनिकां कथां शृणोति स सर्वसंमत इति तं परित्यज्य योपि पुण्यकथाः शृणोति स कर्णः स एव कर्णः पूर्वोक्तो वा ॥३॥

व्याख्यार्थ—वह वाणी देवता रूप है, इससे यह समझाया है, कि दूसरों की दैत्य रूप वाणी है, यों इनकी इन्द्रियों के वागादिरूप का विभाग किया है, अथवा उनकी (अन्यों की) वागादि इन्द्रियां आभास रूप हैं । यदि दैत्यरूप वा आभासरूप न होती तो, भगवान् से उत्पन्न, वे इन्द्रियां भगवान् के परायण न होकर कैसे अन्य परायण होवे अथवा 'द्वया ह प्राजापत्या' इस श्रुति में इन्द्रियां देवता रूप हैं, यह देव पक्ष कहा है और 'ते ह वाचमूचुः' इन वाक्यों से वाणी का शब्द व्यव-हार करना कहा है, तात्पर्य यह है, कि जो वाक् देवता रूप है, उसका शब्द व्यवहार भगवत्परायण है और असुरों की तो सर्व इन्द्रियां आसुर हैं, इसलिए वे इन्द्रियां वागादि कहलाने के योग्य ही नहीं हैं ।

श्रुति में इन्द्रियों की दो प्रकार से उत्पत्ति कही है, एक साक्षात् भगवान् से और दूसरी अन्यो से, जैसा कि 'एतस्माज्जायते प्राणो मन इन्द्रियाणि च' इस परमात्मा से प्राण, मन और इन्द्रियां उत्पन्न होती हैं तथा 'पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूः' स्वयंभू भगवान् से उत्पत्ति कही है, इसलिए

इन्द्रियाँ भगवान् को पहुँच नहीं सकती हैं। पुराण आदि शास्त्रों में अहङ्कार से भी इन्द्रियों को उत्पत्ति कही है, वहाँ जो भगवान् की सेवा के योग्य हैं उनके लिए सामग्री भगवदीय ही है। उस विषय में ही उस वाणी का आदि सदुपयोग होता है, ब्रह्म वा अहङ्कार से निर्मित इन्द्रिय वर्ग ऐसा व्यवहार नहीं कर सकती, कारण कि उनका व्यवहार राजस और तामस है, अतः जो सात्विक वा निर्गुण भगवदीय होते हैं, उनका ही भगवान् से बनी हुई इन्द्रियों से सम्बन्ध है, उसमें परीक्षा के लिए यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है। वह ही वाणी अभिप्रेत है, जो वाणी उनके गुणों का जोर से प्रेमपूर्वक उच्चारण करते हुए उनको निगलती रहती है, भगवान् की केवल कथा कहानों की तरह दूसरा भी कह दे, जो उत्कर्ष वाले हैं वे उस प्रकार से सर्वदा भक्ति पूर्वक उच्चारण करते हैं, कारण कि, उनकी वह वाणी है, जो भगवान् ने बनाई है, इसलिए उसमें वहाँ भी अव्याप्ति वा अति-व्याप्ति नहीं है। यह ही समझना है। आगे भी यों जानना चाहिए। हस्त (हाथ) वे हैं जो भगवान् की ही सेवा करते हैं। लौकिक कर्म को भी भगवत्पन से सेवा रूप समझकर करना चाहिए वह भी यज्ञ रूप होता है, अथवा तत् शब्द से पुरुषोत्तम समझना चाहिए, यज्ञ तो पुरुषोत्तम का कर्म है, इसलिए उसमें अतिव्याप्ति नहीं है, 'च' पद से बहिर्मुख जो सेवकों के सेवक हैं उनके भी हस्त ग्रहण किए गए हैं, सेवकों के गुणों का वर्णन तो आन्तर होने से करने में समर्थ नहीं है। प्रसङ्ग आने पर बाहर का तो होता है। 'मनश्च यद्वा' 'च' पद पूर्व के 'ह' 'कर्म' के 'सङ्ग्रह' के लिए 'ह' 'न' के सेवकों के लिए।

द्वितीय स्कन्ध में अपनी देह के अन्दर हृदयाकाश में स्थित परमात्मा को धारणा से स्मरण करना कहा है। यहाँ उससे विशेष प्रकार से कहते हैं, कि अचल और चल सकल पदार्थों में व्याप्त भगवान् का स्मरण करे। सामान्य वचन से भी दूसरे भी दो रूप ग्रहण किए जा सकते हैं। १-आधि-दैविक २-अन्तर्यामिरूप उनमें भी उत्तमत्व आदि भेद की कल्पना करनी चाहिए, उत्तम वे हैं जो पहले कहे हैं, सर्वत्र भगवत् दर्शन तो भगवान् द्वारा अनुगृहीत अथवा जिसका ज्ञान मार्ग में ग्रहण हुआ हो, उनको होता है, ऐसों की स्मृति नष्ट हो जाती है केवल अनुभव ही होता रहता है।

जीवों का हित करने वाली, जो भगवान् की पुण्यप्रद लीलाएँ हैं, वे प्रकरण विरुद्ध होते से, ग्रहण नहीं करनी चाहिए क्योंकि यहाँ प्रकरण भगवदीय इन्द्रिय वर्ग का है, उन भगवदीय इन्द्रियों को पुण्यजनक कथाओं के सुनने की आवश्यकता नहीं है, कारण कि, ये इन्द्रियाँ कर्ममार्गीय नहीं हैं। 'कर्ण' शब्द एक वचन कहने का तात्पर्य यह है, कि वाम + कर्ण देवहू कहलाता है इसलिए उत्तर कर्ण ही भगवदीय होने से, ऐसे भगवच्चरित्र सुनना चाहता है, जो 'कर्ण' भक्ति को उत्पन्न करने वाली कथा को सुनता है वह 'कर्ण' सर्व संमत है, उसको छोड़कर जो पुण्यप्रद कथाओं को सुनता है वह उत्तर कर्ण है वा पूर्वोक्त ही कर्ण है इससे प्रथम पक्ष की मुख्यता बताने के लिए उसका अनुवाद किया है ॥ ३ ॥

आभास—इन्द्रियाणां निरूप्य अङ्गानि निरूपयन् उत्तमाङ्गं निरूपयति ।

आभासार्थ—इन्द्रियों का निरूपण कर अङ्गों का निरूपण करते हुए उत्तमाङ्ग का 'शिरस्तु' श्लोक में निरूपण करते हैं—

+ पितृहृदक्षिणः कर्ण उत्तरो देवहूः स्मृतः

श्लोक—शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेतदेव यत्पश्यति तद्धि चक्षुः ।

अङ्गानि विष्णोरथ तज्जनानां पादोदकं यानि वहन्ति नित्यम् ॥४॥

श्लोकार्थ—जो शिर भगवान् की स्थावर जङ्गम रूप दोनों मूर्तियों को प्रणाम करता है, वह शिर है, जो नेत्र एवं जगत् को भगवद्रूप देखते हैं, वे नेत्र हैं और जो अङ्ग भगवान् विष्णु के चरणोदक का तथा भगवद्भक्तों के चरण जल का नित्य सेवन करते हैं, वे अङ्ग हैं ॥४॥

सुबोधिनी—वहन्ति, शिरस्तु तस्योभयलिङ्गमानमेदिति । उभयं स्थावरजङ्गमात्मकं लिङ्गं यस्येति, अन्यत्तु भारात्मकत्वेन पूर्वमेव निरूपितम् । तुशब्दस्तद्व्यावर्तयति । एतद्येन संभवति तदप्येन्द्रियकार्यं तथापि फलदशायामुपयुज्यत इति तदाह तदेव यत्पश्यतीति । सर्वमेव जगत् तल्लिङ्गत्वेनैव यदा पश्यति तदेव चक्षुर्भवति । अत्रायं साधनक्रमोपि निरूपितः मार्गान्तरानुसारेणैव गुणोत्कीर्तनपर्यन्तमधिकारे सिद्धे पश्चात्कीर्तनं भगवदीयानां प्रथमं साधनम्, ततः सेवारुच्या सेवा, ततो ज्ञानोदये सर्वत्र भगवदनुसन्धानम्, तादृशस्य बहिर्व्यापारे तत्साधकपुण्यकथा-

श्रवणम्, तस्य पुण्यैः नारदादिभिः वा कथाश्रवणम्, ततः सर्वत्र भगवत्साक्षात्कारः, ततो नमनमिति । एवं क्रमसिद्धयर्थं सर्वापेक्षया पूर्वमेव कर्तव्यं आवश्यकफलसाधकमिति भगवच्चरणोदकस्य पश्चादपि साधकत्वमिति सर्वान्ते निरूपयति अङ्गानि विष्णोरिति । तान्येवाङ्गानि यानि विष्णोः पादोदकं गङ्गां वहन्ति । अथ भिन्नप्रक्रमेण विष्णोः शालग्रामादौ । तज्जनानां च नित्यं वहन्ति अङ्गात्प्रथममागमनं भिन्नप्रक्रमः । नित्यवहनं त्रिषवणं अहरहः तदेकपानादिना वा । एवं भगवदीयत्वेनैव सर्वपुष्पार्थ इति कथं कथातो विरतिरिति ॥४॥

व्याख्यार्थ—स्थावर और जङ्गमात्मक जिसकी मूर्तियाँ हैं, उस विष्णु के इन दोनों स्वरूपों को जो शिर प्रणाम करता है, वह शिर है । जो यों नहीं करता है, वह भार रूप है, यों पहले ही निरूपण किया है, 'तु' शब्द उसको पृथक् करता है । यह जिससे हो सके, वह भी इन्द्रियों का कार्य है, तो भी, फल दशा में गिना जाता है । यों वह कहते हैं, कि, समग्र जगत् भगवान् का ही रूप देखे, तब वे नेत्र कहे जाते हैं । यहां यह साधन का क्रम भी निरूपण किया है, दूसरे मार्ग की रीति के अनुसार गुणों के कीर्तन पर्यन्त जब अधिकार सिद्ध हो जावे, पश्चात् भगवदीय, जो कीर्तन करते हैं, वह कीर्तन प्रथम साधन है । अनन्तर सेवा करने में रुचि उत्पन्न होती है, जिससे सेवा होती है, बाद में ज्ञान का उदय जब होवे, तब सर्वत्र भगवान् का अनुसन्धान होता है, ऐसे अधिकारी के बाहर के व्यापार में, उस (अनुसन्धान) को सिद्ध करने वाली पुण्य कथाओं का श्रवण बन सकता है उसके पुण्यों से नारद आदि द्वारा कथा का श्रवण सिद्ध होता है, उससे जब सर्वत्र भगवान् का साक्षात्कार सिद्ध हो जाता है, तब नमन पूर्ण रीति से होता है । इस प्रकार क्रम सिद्धि के लिए पहले क्या करना चाहिए,

१— स्मरण और श्रवण सेवा के ही अन्तःपाती हैं अर्थात् जिसकी सेवा में रुचि हो, सेवा करता है, वह स्मरण श्रवण भी करता है ।

वह बताते हैं, जिससे करने से आवश्यक फल की सिद्धि हो जाती है, भगवच्चरणारविन्द का जल पीछे भी सिद्धि करने वाला है । इसलिए अन्त में कहा है, वे ही अङ्ग हैं जो विष्णु के पादोदक गङ्गा को धारण करते हैं, 'अथ' पद देकर पृथक् (जुदा) क्रम दिखाते हैं, कि 'विष्णोः' अर्थात् शालग्राम आदि भगवत्स्वरूपों का पादोदक धारण करते हैं, और उसके जन अर्थात् भगवद्भक्त उनके पादोदक को नित्य धारण करते हैं, वे ही अङ्ग हैं । नित्य धारण का तात्पर्य है, कि नित्य तीन आचमन द्वारा उस पादोदक का पान करना, इसी तरह भगवदीयपन से ही सर्व पुरुषार्थ होते हैं, तो ऐसे भगवदीयों का कथा से वैराग्य कैसे होगा ? अर्थात् कदापि न होगा, सतत श्रवणादि करते ही रहेंगे ॥ ४ ॥

आभास—एवं भगवदुत्कर्षे वर्णिते श्रवणेन शुकोपि भक्त्यानन्दे निमग्नः कथारम्भं कृतवानिति सूतः शौनकादीन् प्रत्याह विष्णुरातेन संपृष्ट इति ।

आभासार्थ—इसी तरह भगवान् के उत्कर्ष वर्णन करते हुए, श्रवण हो जाने से शुकदेवजी भी भक्ति के आनन्द सागर में मग्न हो कथारम्भ करने लगे, यों सूतजी शौनकादि मुनियों को 'विष्णुरातेन' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—सूत उवाच—विष्णुरातेन संपुष्टो भगवात् बादरायणिः ।

वासुदेव भगवति निमग्नहृदयोऽब्रवीत् ॥५॥

श्लोकार्थ—सूतजी कहने लगे कि, बादरायण व्यास के पुत्र भगवान् श्री शुकदेवजी से राजा परीक्षित ने यों पूछा, तब श्री शुकदेवजी वासुदेव में अर्थात् सत्त्वान्तःकरण में आविर्भूत स्वरूप में निमग्न होकर उत्तर देने लगे ॥५॥

सुबोधिनी—स हि भगवता एतदर्थमेव रक्षितः शुकोपि परमभगवच्छ्रद्धया भगवान् यतो बादरायणिः तपःपरायणाद्भगवत् उत्पन्नः । अत एव वासुदेवे सत्त्वान्तःकरणाविर्भूते निमग्न-

हृदयः सन् ततो गूढं भगवच्चरित्रं गृहीत्वेवाब्रवीत् । इदं सख्यचरित्रं एकादशाध्यायैर्वक्तव्यम् । अतो निमग्नहृदयत्वादिकं साधनत्वेन निरूपितम् ॥५॥

व्याख्यानार्थ—राजा परीक्षित की रक्षा भगवान् ने इसलिए ही की थी, श्री शुकदेवजी भी भगवान् में अत्यन्त श्रद्धा वाले हैं, जिससे भगवान् अर्थात् षड्गुणैश्वर्यवान् हैं, क्योंकि, तपः परायण भगवान् बादरायण से प्रकटे हैं, इस कारण से ही सत्त्वान्तःकरण में प्रकट वासुदेव स्वरूप में निमग्न हो, उनसे गूढ भगवान् के चरित्र ग्रहण कर ही कहने लगे, यह सख्यचरित्र ११ अध्यायों से वक्तव्य है, अतः भगवान् में हृदय का निमग्न होना साधन रूप से कहा है ॥ ५ ॥

आभास—कथामाह कृष्णस्यासीदिति ।

आभासार्थ—'कृष्णस्यासीत्' इस श्लोक से कथा कहते

श्लोक—श्री शुक उवाच—कृष्णस्यासीत् सखा कश्चिद्ब्राह्मणो ब्रह्मवित्तमः ।
विरक्त इन्द्रियार्थेषु प्रशान्तात्मा जितेन्द्रियः ॥६॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे, कि श्रीकृष्ण का कोई एक ब्राह्मण मित्र था, जो बड़ा ब्रह्मवेत्ता, इन्द्रियों के विषयों में से विरक्त, शान्तचित्त और जितेन्द्रिय था ॥६॥

सुबोधिनी—स पूर्वमपि कृष्णस्यैवासीत् । इदानीं तु सखा बाल्ये मित्रम् । कश्चिदिति विशेषतो देवांशत्वनिराकरणं कितु केवलं सजीवः । तर्हि तेन सह कथं सख्यमासीत्तत्राह ब्राह्मण-इत्यादिसप्तविशेषणानि । येन षड्गुणैश्वर्ययुक्तो भगवांश्च तत्र प्रतिष्ठितो भवति । ततो भगवानेव भगवतः सखा भवतीत्युक्तं भवति । तत्र ब्राह्मणः श्रियो रूपं ब्रह्मानन्दत्वाल्लक्ष्म्याः । अयं च ब्रह्मणः संबन्धो ब्रह्मसंबन्धयोग्यतामेव संपादयति न

जीवसंबन्धमिति प्रकरणाद्ब्राह्मण्यं निरुक्तम् । अनेन एतादृशभावे यददृष्टं भगवदिच्छा वा तेनै-वास्य सख्यं जातमित्युक्तं भवति । ब्रह्मविदां मध्ये श्रेष्ठः ब्राह्मण्योत्कर्षः परमोयम् । ज्ञानस्यैत-द्रूपम् । विरक्त इति इन्द्रियाणामर्थेषु सहजेषु रागाभावः वैराग्यस्य रूपम् । प्रकर्षण शान्तः आत्मा यस्येति । त्रितयानन्तरं धर्मो निरूपितः । ततो जितेन्द्रियः ऐश्वर्ययुक्तः ॥६॥

व्याख्यार्थ—वह पहले भी कृष्ण का ही था, अब तो सखा, बालक अवस्था में मित्र हुआ है । 'कश्चित्' पद का आशय है कि उस में देवांश नहीं है, केवल सत्जीव है, तब तो उसके साथ कैसे मित्रता हुई, उससे मित्रता होने में ब्राह्मण आदि सातों विशेषण कारण रूप हैं, वे कहते हैं, जिससे षड्गुणैश्वर्य युक्त भगवान् उसमें प्रतिष्ठित हुवे हैं, इस कारण से भगवान् ही भगवान् का सखा बन सकता है । (१) ब्राह्मण होने से श्रीरूप है; क्योंकि लक्ष्मी ब्रह्मानन्द है । यह ब्रह्म का सम्बन्ध ही ब्रह्म से सम्बन्ध की योग्यता प्रतिपादन करता है, न कि जीव सम्बन्ध को, यों प्रकरण से ब्राह्मण्य को कहा है, इससे ऐसे भाव में जो अदृष्ट वा भगवदिच्छा उससे ही मित्रता हुई । यों कहा जा सकता है, ब्रह्मवेत्ताओं में श्रेष्ठ है यह ब्राह्मण्य का परम उत्कर्ष है । ज्ञान का यह रूप है, सहज इन्द्रियार्थों में राग का अभाव है । जो वैराग्य का रूप है, जिसकी आत्मा अत्यन्त शान्त है, तीनों के बाद धर्म का निरूपण किया, उसके बाद कहा, कि जितेन्द्रिय है, इससे कहा कि ऐश्वर्य धर्म युक्त है ॥ ६ ॥

श्लोक—यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानो गृहाश्रमी ।

तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधा ॥७॥

श्लोकार्थ—गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी भगवदिच्छा से जो मिलता था उससे अपना निर्वाह करता था, चीथड़े पहनने वाले उस ब्राह्मण की स्त्री भी वैसी ही थी और भूख के मारे दुबली हो गई थी ॥७॥

सुबोधिनी—यदृच्छयोपपन्नेन वर्तमानः वीर्यवान् इदं त्वतिसहन परमवीर्यकार्यम् । गृहाश्रमी गृहस्थ, एतत्कीतिरूपम् । नन्वेतादृशस्य गृहस्थाश्रमी न युक्त इति शङ्कां वारयितुमाह तस्य भार्या कुचैलस्य क्षुत्क्षामा च तथाविधेति । पूर्वं परमहंसगृहस्थनिर्णये यद्येतादृशो भार्या लभ्येत तदा गार्हस्थ्यमुत्तममेतदभावे पारमहंस्यमिति । अन्यथा पुरुषोर्ध्वगल इति पुरुषार्थसाधने खण्डः

म्यात् । कुचैलस्येति तस्यां रागाभावो निरूपितः । रागिणां प्रथमतो वञ्चालंकरणमिति । तस्यां रागाभावे अस्यापि हेतुमाह क्षुत्क्षामेति । सर्वथा क्षुधा क्षामा कृशा, तदपेक्षया तस्याः व्रतमधिकमिति पदार्थोत्पत्तावेक एव प्रकारः, तत्रापि शेषभोजनादाधिक्यम् । चकारात्तद्वर्मयुक्तापि तथाविधा कुचैला । अनेन तस्मिन्नपि तस्या रागाभावो निरूपितः ॥७॥

व्याख्यार्थ—जो कुछ भगवान् की इच्छा से प्राप्त होता था उससे वह ब्राह्मण अपना निर्वाह करता था, इससे सिद्ध होता है, कि वीर्यगुणवाला था । इस प्रकार इतना विशेष सहन करना तो, परमवीर्य का कार्य है, गृहाश्रमी अर्थात् गृहस्थ था, ऐसी अवस्था होते हुए सन्तोष में रहना यह कीर्तिरूप है । यदि यों ऐसी दशा है, तो गृहस्थी होना उचित नहीं है । इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं, कि चीथड़े धारण करने वाले ब्राह्मण की स्त्री भी ऐसी चीथड़ों वाली और दुबली थी, पहले परमहंस के गृहस्थ के निर्णय में जो ऐसी स्त्री प्राप्त होवे, तब वह गृहस्थाश्रम उत्तम है, यदि वैसा न हो तो पारमहंस्य श्रेष्ठ है, नहीं तो पुरुष अर्धवृगल है । यों पुरुषार्थ साधन में खण्ड होता है। फटे कपड़े वाले की स्त्री में आसक्ति वा प्रेम का अभाव होता है । जो आसक्तिवान् होते हैं वे पहले ही वस्त्र और अलङ्कारों से स्वयं अलंकृत बनते हैं । इसका भी स्त्री में रागाभाव था, क्योंकि भूख से कृश हो गई थी, उससे भी इसका अधिक व्रत था, पदार्थ की उत्पत्ति में एक ही प्रकार था, तो भी बचे हुए भोजन से निर्वाह कर लेने से स्त्री का व्रतवती होना अधिक था 'च' पद से बताता है ऐसे व्रत से दुबली होने के साथ कुचैला (मलीन वस्त्र वाली) भी थी, इससे उसमें भी इसका (स्त्री का) रागाभाव था ॥ ७ ॥

आभास—तस्याः कामनायां प्रथमतो हेतुमाह पतिव्रतेति ।

आभासार्थ—उस स्त्री को धन की कामना में हेतु 'पतिव्रता' श्लोक से कहते हैं

श्लोक—पतिव्रता पतिं प्राह म्लायता ददनेन सा ।

दरिद्रा सीदमाना सा वेपमानाभिगम्य च ॥८॥

श्लोकार्थ—पतिव्रता, दरिद्रा और दुःखी वह स्त्री काम्पती हुई पास आकर कुम्हलाते हुए मुख से पति को कहने लगी ॥८॥

सुबोधिनी—पतिरेव व्रतं यस्याः । यथा व्रती स्वव्रतोत्कर्षं वाञ्छति तथा सापि भर्तुः सर्वसमृद्धिं वाञ्छतीति । पतिव्रतात्वादेव नान्यतस्तत्संपादनमतः पतिं प्राह म्लायता ददनेनेति दैन्य-

ख्यापनम् । ननु मनसि कामाभावे दैन्यं कपटरूपमिति पतिव्रत्यविरुद्धम् । विद्यमाने तु तथा विधत्वं नास्तीत्याशङ्क्यामाह सेति । सा पतिव्रता व्रतार्थं तत्साधनमिति न दोष इति भावः ।

स्वतः स्वोत्कर्षो नास्तीति ज्ञापयितुमाह दरिद्रा सीदमाना सेति । दरिद्र्यात् दुर्गतेः न कोप्यर्थः । तत्राप्यवसादं शरीरेण प्राप्नोति । ततः प्रथमत एव देहवियोगे व्रतभङ्गोपि भविष्यतीति भयात्तथाकरणम् । यतः सा पूर्ववत् । तद्योतावत्कालं

कथं नोक्तवती तत्राह वेपमानेति । भयादिति केचित् । शरीरं पतनदशापन्नमिति । अतः परं कालो विलम्बं न सहत इति आभिमुख्येनागत्य, चकारात्तन्मनःप्रीतिं कृत्वा स्तोत्रं वा वक्ष्यमाणमाह ॥८॥

व्याख्यार्थ—पति ही जिसका व्रत है, वैसी वह स्त्री थी, जैसे व्रत करने वाला अपने व्रत का उत्कर्ष चाहता है, वैसे ही यह भी, अपने पति से सर्व प्रकार की समृद्धि चाहती थी, इसलिए उसका उत्कर्ष चाहती थी पतिव्रता होने से अन्य प्रकार अर्थात् दूसरे से समृद्धि की प्राप्ति नहीं चाहती थी, अतः कुम्हलाते हुए मुख से दीनता दिखाती हुई पति को कहने लगी, मन में कामना न हो, फिर दीनता दिखानी तो कपट रूप है, पतिव्रत्य से विरुद्ध है, यदि कामना हो तो फिर दीनता करना तो कपट नहीं है, इस शङ्का के उत्तर में कहा है, कि, वह पतिव्रता है, अतः पतिरूपव्रत के उत्कर्ष के लिए यह साधन है इसलिए दोष नहीं है, अपने आप अपना उत्कर्ष नहीं है, यों जताने के लिए कहते हैं, दरिद्र थी । जिससे दुःखी थी उससे कुछ भी अर्थ नहीं, उसमें भी शरीर से कृशता वा कष्ट था, यदि पहले ही देह का वियोग हो जावेगा, तो व्रत का भङ्ग होगा, इस भय से यों करने लगी क्योंकि वह पहले जैसी है, यदि यों है तो इतना समय क्यों रुक गई और किसलिए कहा नहीं, जिसका उत्तर देते हैं कि काम्पती थी, कहते हुए किसी डर से नहीं कहा । शरीर ऐसा दुबला हो गया कि अब यह गिरेगा, अब भी न कहूँगी तो ठीक नहीं कारण कि, काल अब विलम्ब को सहन नहीं करेगा, इसलिए सन्मुख आकर निम्न प्रकार से पति के मन को प्रसन्न करती हुई स्तोत्रसम कहने लगी ॥ ८ ॥

आभास—तस्याः वाक्यानि निरूपयति नन्विति साद्धंस्त्रिभिः ।

आभासार्थ—‘ननु ब्रह्मन्’ से साढ़े तीन श्लोकों से उसके वाक्य कहते हैं

श्लोक—ननु ब्रह्मन्भगवतः सखा साक्षाच्छ्रियः पतिः ।

ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च भगवान्सात्वतर्षभः ॥९॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! साक्षात् लक्ष्मी के पति, ब्राह्मणों के भक्त, शरणागत-वत्सल, यदुश्चेष्ट भगवान् आपके मित्र हैं ॥९॥

सुबोधिनी—सर्वथा अवसादे ईश्वरोपसर्पणं विहितम् । अत आपद्धर्मत्वात् सा बोधयति । नन्विति कोमलसंबोधनम् । ब्रह्मन् इत्यविकृत-त्वाय । सिद्धदशैषा तव विषयभोगेपि न स्वरूप-नाशः । किञ्च । भगवता स्वस्य रूपं त्वयि सम-पितम् । अतो भगवतस्तव सखा भगवान् साक्षात् । अनेन प्रतिग्रहस्तदोषश्च निवारितः । तस्याप्य-

स्मत्तुल्यत्वे व्यर्थमुपधावनमिति शङ्काव्युदासार्थं सख्यपदेनैव भगवत्त्वं प्राप्तमिति साक्षाच्छ्रियः पतिरित्याह । मूर्तिमत्याः आधिदैविक्या लक्ष्म्याः पतिस्तेन सर्वाः संपदः तदधीना इत्युक्तम् । तथा-प्यस्मभ्यं कथं दास्यतीत्यत्र हेतुमाह ब्रह्मण्यः इति । चकारात्स्वतोप्युदारः । किञ्च । शरण्यश्च यः शरणं गच्छति तस्मै च सर्वं प्रयच्छति अशर-

एगतावपि गमनमात्रेणैव दास्यतीति चकारार्थः ।
नन्वेवं सति सर्वेभ्यो दाने पदार्थक्षयः अल्पावशेषे
वा स्वार्थं स्थापयतीति शङ्कां वारयति भगवानिति ।

पूर्णसर्वशक्तिः । सेवकाः प्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यतः
आह सात्वतर्षभ इति । सात्वतानां परमभक्तानां
ऋषभः स्वामी ॥६॥

व्याख्यानार्थ—सर्व प्रकार दुःख की अवस्था हो तब ईश्वर की शरण लेने की शास्त्राज्ञा है । आपद्धर्म होने से, वह पति को सविनय समझाके कहती है । 'ननु' यह कोमलता ने सर्वोन्धनार्थ दिया है ब्रह्मान् ! यह विशेषण इसलिए दिया है, कि आप किसी भी अवस्था में विकार को प्राप्त नहीं होते हैं । यह आप की सिद्ध दशा है । अतः विषयभोग करते हुए भी आपका स्वरूप नाश नहीं होगा, किञ्च, कारण कि, भगवान् ने अपना स्वरूप आप में स्थापित किया है अतः आप भगवान् है, जिससे आपका साक्षात् भगवान् मित्र है यों कहकर यह सिद्ध किया, कि उनसे कुछ भी ले लेने में कोई दोष नहीं है । यदि वे भी अपने तुल्य हैं, तो उसके पास दौड़कर जाना व्यर्थ है । इसके उत्तर में कहती है, कि नहीं, आपने तो भगवत्त्व सखा होने के नाते प्राप्त किया है । वे तो साक्षात् आधिदैविक लक्ष्मी के स्वामी हैं, इससे सकल सम्पदाएँ उनके आधीन हैं । उनके हाथ में हैं, तो भी हमको कैसे देंगे ? देने में कारण बताती है, कि 'ब्रह्मण्यः' ब्राह्मणों के भक्त हैं और 'च' पद से कहती है, कि स्वयं (खुद) स्वतः (अपने आप) भी उदार हैं, और शरण्य भी हैं, अतः जो भी शरण जाता है उसको सब कुछ देते हैं । दूसरे 'च' से यह बताया है, कि जो शरण भी न हो, केवल उनके पास जावे, तो भी उसको निहाल कर देते हैं । यों करते रहने से अर्थात् सबको देते हुए धन का क्षय होगा, शेष बचा हुआ अपने लिए रखेंगे, इस शङ्का का निवारण करने के लिए कहती है, कि 'भगवान्' सर्व शक्ति पूर्ण हैं । सेवक प्रतिबन्ध करेंगे ? जिसके उत्तर में कहती है, कि नहीं करेंगे क्योंकि 'सात्वतर्षभः' सात्वत अर्थात् परम भक्तों के स्वामी हैं ॥ ६ ॥

आभास—किमतो यद्येवं तत्राह तमुपैहीति ।

आभासार्थ—जो यों है, तो क्या ? इस पर 'तमुपैहि' श्लोक में उत्तर देती है—

श्लोक—तमुपैहि महाभाग साधूनां च परायणम् ।

दास्यति द्रविणं भूरि सीदते ते कुटुम्बिने ॥१०॥

श्लोकार्थ—हे महाभाग ! सत्पुरुषों के रक्षक श्रीकृष्ण के पास जाओ आप सीदायमान (दुःखी) और कुटुम्बी को बहुत धन देंगे ॥१०॥

सुबोधिनी—तन्निकटे गच्छेति प्रार्थना । ननु महाभाग्यव्यतिरेकेण कथं भगवत्समीपगमनं तदभावश्च दारिद्र्यादेवावसीयते तत्राह महाभागेति । पातिव्रत्येन तद्भाग्यं प्रादुर्भूतं पश्यन्ती तथा संबोधयति । अनेनाल्पद्रव्येपि भाग्यरहितः कथं सर्वपुरुषार्थनिधिं प्राप्स्यतीति परिहृतम् । इदानीमेव प्रादुर्भावात् । किञ्च । साधूनां च परा-

यणं ये स्वभावत एव दरिद्राः परमसाधवः तेषामपि । परमयनम् । चकारो युक्त्यन्तरमिदमिति स्थापयितुम् । नन्वेवमपि को वेद दास्यति न वेति शङ्काव्युदासार्थमाह दास्यति द्रविणं भूरीति । तत्र हेतुः सीदते ते कुटुम्बिने इति । सीदत्कुटुम्बी पात्रम् । तत्रापि भवान् सर्वगुणसंपन्नः ॥१०॥

व्याख्यानार्थ—प्रार्थना करती है कि, उनके पास जाओ, उत्तम भाग्य के बिना कैसे भगवान् के समीप जाऊँ । उत्तम भाग्य तो है ही नहीं यह इस दरिद्रावस्था से समझ में आता है । इस पर कहती है, कि, हे महाभाग ! आप बड़े भाग्य वाले हो, आपका महद्भाग्य मैं देख रही हूँ, क्योंकि मैं पतिव्रता हूँ, पातिव्रत्य के प्रताप से जान गई हूँ, कि आप बड़भागी हो, यों कहकर यह सिद्ध किया है, कि आपके मन में जो यह शङ्का है कि मेरे पास अल्प पदार्थ हैं, इसलिए भाग्यहीन हूँ, कैसे सर्वपुरुषार्थ की निधि को पाऊँगा, आपकी यह शङ्का व्यर्थ है । आपका भाग्य अब खुल गया है, और विशेष यह है, कि जो स्वभाव से ही दरिद्र हैं परमसाधु हैं, उनके श्रीकृष्ण ही आश्रय हैं । 'च' से यह अन्ययुक्ति कही है, ऐसे हैं तो भी कौन जानता है कि मैं जाऊँगा तो मुझे देंगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहती है, कि बहुत धन आप को देंगे, कारण कि, आप गृहस्थ होने से कुटुम्ब वाले हो, और दरिद्रता के कारण दुःखी हो रहे हो, ऐसे ही दान के पात्र हैं, जिसमें भी, आप सर्वगुण वाले हैं ॥ १० ॥

आभास—कदाचिद्भूगवानन्यत्र गत इति शङ्कां व्युदस्यति आस्तेधुनेति ।

आभासार्थ—तू कहती है, कि भगवान् के पास जा, वे वहाँ नहीं हों कदाचित् कहीं बाहर पधारे हों तो? जिसका उत्तर 'आस्ते' श्लोक में देती है ।

श्लोक—आस्तेधुना द्वारवत्यां भोजवृष्ण्यन्धकेश्वरः ।

स्मरतः पादकमलमात्मानमपि यच्छति ।

किं न्वर्थकामान्भजते नात्यभीष्टान् जगद्गुरुः ॥११॥

श्लोकार्थ—भोज, वृष्णि और अन्धक के वे ईश्वर हैं, अब द्वारका में विराजे हैं । जो इनके चरणों का स्मरण करते हैं, उनको अपनी आत्मा भी दे देते हैं, तो अर्थ और काम जो इनको प्रिय नहीं है उनके देने में कौनसी बड़ी बात है, क्योंकि ये जगत् के गुरु अर्थात् जगत् के हित करने वाले हैं, अतः वह ही देंगे जिससे हित होवे ॥११॥

सुबोधिनी—तस्य कार्यान्तरवैयग्र्याभावाय ऐश्वर्यं निरूपयति भोजवृष्ण्यन्धकानामीश्वर इति । त्रिगुणप्रधानास्त्रयो निरूपिताः । तथापि 'दाता जगति दुर्लभः' इति न्यायेन कदाचिन्न दद्यात्तत्राह स्मरतः पादकमलमिति । यः स्मरति तस्मै बहु प्रयच्छति । किं बहुना ब्रह्मानन्दं किं बहुना आत्मानन्दमपि । तत्र किं वक्तव्यं भजते अर्थकामान् ददातीति । नन्वर्थकामावेव चेत्तस्याभीष्टौ तदा न दद्यादित्यत आह नात्यभीष्टानीति । अनभीष्टं

बह्वेव दीयत इति लोके प्रसिद्धम् । सर्वथा अनभीष्टं सख्ये न दास्यतीत्यत आह नातीति । किंचिदभीष्टत्वं वर्तत एव । अतः प्रथमं दत्त्वा पश्चाद्दूरीकरिष्यतीति भावः । ननु यात्र प्राप्य कदाचित्कूरं दास्यतीति शङ्कां वारयति जगद्गुरुरिति । सर्वेषां हितोपदेश कथमन्यथा कुर्यादित्यर्थः । अनभीष्टत्वे वा हेतुः । अन्यथा जगद्गुरुत्वं न स्यादिति स्वयं विषयासक्तः न ह्यन्येभ्यो वैतृष्ण्यं बोधयितुं शक्नोति ॥११॥

व्याख्यानार्थ—उनको अन्य कार्यों की व्यग्रता नहीं है, जिससे उनके ऐश्वर्य का निरूपण करती है। भोज, वृष्णि और अन्धकों के ईश्वर स्वामी हैं। ये तीन त्रिगुण प्रधान हैं, तो भी 'दाता' 'जगति दुर्लभः' इस न्याय से कदाचित् न भी देवें, इसका उत्तर देती है, कि जो उनके चरण कमल का स्मरण करता है, उसको बहुत देते हैं बहुत क्या कहूँ ब्रह्मानन्द तो देते हैं, किन्तु इससे भी विशेष आत्मानन्द को देने से नहीं हिचकते हैं, वह भी दे देते हैं, जब वे भी देते हैं तो फिर स्मरण करने वाले को अर्थ और काम देवे, तो इसमें क्या बड़ी बात है। अर्थ काम प्रभु को अत्यन्त अभीष्ट नहीं हैं, अतः वे देते हैं। लोक में यह प्रसिद्ध है, कि जो अपने को इच्छित (पसन्द) न हो वह ही बहुत दिया जाता है, किन्तु प्रभु जो अभीष्ट नहीं हैं वह मित्र को नहीं देते हैं, जो कुछ थोड़ा सा अभीष्ट भी दे देते हैं किन्तु पहले अर्थ काम देकर पीछे मित्र वा भक्त के हितार्थ उनसे छीन लेते हैं। पात्र मिले, तो भी, कदाचित् क्रूर को दे देवे, इस शङ्का को मिटाती हुई कहती है, कि 'जगद्गुरुः' सबको हित का उपदेश करने वाले कैसे अहित करेंगे अथवा अनभीष्टपन में हेतु है, नहीं तो जगद्गुरुत्व ही न होवे, यों जो स्वयं विषयासक्त है, वह दूसरों को विषयों के त्याग का उपदेश नहीं दे सकते हैं ॥११॥

आभास—एवं तस्या वाक्यान्युक्त्वा तेषामावृत्त्या तस्यापि मनः किञ्चित्तथाजातमित्याह एवं स इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उसके वाक्यों के अभ्यास करने से ब्राह्मण का भी मन कुछ वैसा हुआ अर्थात् वहाँ जाने की इच्छा हुई, जिसका वर्णन 'एवं स' श्लोक से करते हैं।

श्लोक—एवं स भार्यया विप्रो बहुशः प्रार्थितो मुहुः ।

अयं हि परमो लाभ उत्तमलोकदर्शनम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—इस तरह स्त्री ने बार बार बहुत प्रार्थना की तब उसने सोचा कि वहाँ जाने से भगवान् के दर्शन होंगे यह ही परम लाभ है ॥१२॥

सुबोधिनी—ननु स्वत एव कुतो न गतः किमिति भार्यया प्रार्थितः यतो भगवद्दर्शनं सर्वेषामेवाभीष्टं तत्राह विप्र इति । बहुशो बहुप्रकारेण उक्तसदृशेन । मुहुः एकस्मिन्नपि दिवसे वारं	वारं भर्त्रो रोचत इति । ततः तस्य गमनार्थमालोचनमाह अयं हि परमो लाभ इति । उत्तमश्लोकस्य दर्शनं ब्रह्मभावादपि दुर्लभम् । यतो ब्रह्मणोपि तद्वाञ्छितम् ॥१२॥
--	---

व्याख्यानार्थ—अपने आप ही क्यों न गया ? स्त्री की प्रार्थना करने पर जाने का विचार क्यों किया ? भगवान् का दर्शन तो सभी को अभीष्ट है। इसका उत्तर है कि 'विप्रः' ब्राह्मण है, स्त्री ने बहुत प्रकार से एक ही दिन बार-बार प्रार्थना इस प्रकार की, जैसे पति को पसन्द आवे, पति प्रसन्न हो उसको स्वीकार करे, पश्चात् उसके जाने की इच्छा का विवरण देते हैं कि यह ही महान् लाभ है, भगवान् का दर्शन ब्रह्मभाव से भी दुर्लभ है; क्योंकि ब्रह्म भी उसको चाहता है ॥१२॥

श्लोक—इति संचिन्त्य मनसा गमनाय मतिं दधे ।

अप्यस्त्युपायनं किञ्चिद्गृहे कल्याणि दीयताम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—यों मन में विचार कर, उसने जाने का विचार किया और अपनी स्त्री से कहा कि 'हे कल्याणिः' घर में कुछ भी भेंट के लायक होवे तो दे ॥१३॥

सुबोधिनी—एवमेकं कार्यमुभयं साधयिष्यतीति संचिन्त्य, इदं गोप्यं भार्यायै न वक्तव्यमिति मनसेत्युक्तम्, अन्यथा साप्यागच्छेत् । ततो गमनाय मतिं दधे । ततो गमनसामग्रीं विचारयन् 'रिक्तहस्तो न पश्येत्' इत्युपायनं याचितवान् । याचनावाक्यमाह अप्यस्तीति । अपीति संभाव-

नाय'म् । कल्याणीत्वात् कदाचित् कुतश्चित् प्राप्नुयात्, गृहेऽस्तीति प्रश्नः । नास्त्युक्ते कदाचिद्गमनप्रतिबन्धकमेतदेव भवेत् इति तूष्णीं स्थिता । ततः अप्रतिषिद्धमनुमत्तं भवतीति ज्ञात्वा याचयति दीयतामिति ॥१३॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण ने विचार किया कि इस प्रकार करने से एक कार्य, दोनों को सिद्ध करेगा, यह विचार गुप्त रखना चाहिए स्त्री को भी नहीं कहना चाहिए, यों मन में निश्चय कर लिया, यदि सुनाऊँगा तो वह भी कहेगी. कि मैं भी चलूँ यों निश्चय करने के बाद जाने का विचार किया, बाद में जाने की सामग्री का विचार करते हुए समझा, कि भगवान् के यहाँ खाली हाथ नहीं जाना चाहिए, अतः भेंट के लिये स्त्री को कहा, कि भेंट के लिए कुछ भी घर में है ? स्त्री को 'कल्याणिः' यह संबोधन देने का आशय यह है, कि कदाचित् घर में कुछ भी न होगा तो कहीं से भी लाएगी, घर में है ? यों प्रश्न रूप में कहा है, घर में तो था नहीं, अब यदि स्त्री पति को कह देवे, कि नहीं है, तो जाने में रुकावट होगी इसलिए चुप रही, यदि निषेध न किया गया तो समझ में आया कि है । अतः पति ने कहा कि दो ॥ १३ ॥

श्लोक—याचित्वा चतुरो मुष्टीन् विप्रान् पृथुकतण्डुलान् ।

चैलखण्डेन तान्बद्ध्वा भर्त्रे प्रादादुपायनम् ॥ १४ ॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मणी ने ब्राह्मण गृह से चार मुट्टी तण्डुल (चावल) मांग कर चीथड़े में बांधकर, पति को भेंट के लिए दिये ॥१४॥

सुबोधिनी—सा च पतिव्रता भर्तृवाक्यं प्रतिपालयितुं चतुरो मुष्टीन् पृथुकतण्डुलान् धान्यचिपिटान्, ते मध्ये भक्षयितुमपि शक्यन्त इति तानेव याचयित्वा चैलखण्डेन स्ववस्त्रखण्डेन तान्

बद्ध्वा स्वभर्त्रे उपायनं प्रादात् । एतद्भगवते देयमिति । अबद्ध्वा दाने कदाचिदन्यस्मै प्रयच्छेत्पातयेद्वा ॥१४॥

व्याख्यार्थ—वह पतिव्रता थी, पति की आज्ञा पालन करना अपना धर्म समझकर, चार मुट्टी चावल मांग कर ले आई, यदि वे यों ही दिए जावें, तो मार्ग में खाये जा सकते हैं अतः अपने कपड़े

के चीथड़े में बान्धकर, अपने पति को कहा कि लीजिए, यह भेंट भगवान् के लिए है, उनको देनी, बान्धने का कारण यह था, कि कदाचित् दूसरे को देवे अथवा गिरा दे अतः बान्धकर दिया ॥ १४ ॥

आभास—ततो भगवन्तं प्रति सोपायनस्य गमनमाह स तानादायेति ।

आभासार्थ—'स तानादाय, श्लोक में कहते हैं, कि वह उस भेंट को लेकर भगवान् के पास जाने लगा ।

श्लोक—स तानादाय विप्राग्र्यः प्रययौ द्वारकां किल ।

कृष्णसंदर्शनं मह्यं कथं स्यादिति चिन्तयन् ॥१५॥

श्लोकार्थ—वह उत्तम ब्राह्मण उन चावलों को लेकर द्वारका खाना हुआ, मार्ग में विचार करता गया, कि मुझे श्रीकृष्ण के दर्शन कैसे होंगे ? ॥१५॥

सुबोधिनी—किलेति प्रमाणम् । मध्ये यो गच्छति स स्वाभिलषितं चिन्तयति ततोयमपि चिन्तयन् गच्छति । तत्किं धनं दर्शनं वेति संदेहे । तन्निवृत्त्यर्थमाह कृष्णसंदर्शनमिति । न तु कथं कियद्वा धनं प्राप्स्यामीति ॥१५॥

व्याख्यानार्थ—'किल' शब्द से प्रमाण कहा है, अर्थात् वह द्वारका गया यह निश्चित सत्य है । जो कोई कहीं भी जाता है तो मार्ग में जाते हुए अपने अभिलषित का चिन्तन करता है, वैसे ही यह भी विचार करता हुआ जा रहा था, वह क्या विचार करता था, कि मुझे धन वा दर्शन चाहिए ? इस संदेह की निवृत्ति कर कहता है, कि मुझे तो श्रीकृष्ण के दर्शन चाहिए वे होंगे कि नहीं ? धन तो कितना वा कैसे प्राप्त करूँगा ? ॥ १५ ॥

आभास—ततः दुर्गत्वात् रक्षकास्तत्र तत्र स्थिताः ते कमपि न प्रवेशयन्ति अज्ञात-चरम् तत्र कथमयं गत इति शङ्कां निवारयति त्रीणि गुल्मान्यतीयायेति ।

आभासार्थ—वहां तो दुर्ग (किला) है, दुर्ग के द्वार पर रक्षक स्थित होते हैं, वे किसी नये मनुष्य को भीतर जाने नहीं देते हैं । वहां यह कैसे गया ? इस शङ्का को 'त्रीणिगुल्मानि' श्लोकों में निवारण करते हैं—

श्लोक—त्रीणि गुल्मान्यतीयाय तिस्रः कक्षाश्च स द्विजः ।

विप्रो गम्यान्धकवृष्णीनां गृहेष्वच्युतधर्मिणाम् ॥१६॥

गृहं द्व्यष्टसहस्राणां महीक्षीणां हरेद्विजः ।

विवेशैकतमं श्रीमद्ब्रह्मानन्दं गतो यथा ॥१७॥

श्लोकार्थ—तीन रक्षकों की चौकियों को और तीन दरवाजों का उल्लङ्घन कर आगे गया, जहाँ प्रवेश न हो सके, ऐसे भगवान् के सेवक अन्धकवृष्णि आदि के घर आए, ब्राह्मण था, यों जानकर किसी ने रोका नहीं, तब तो भगवान् की सोलह सहस्र पटराणियों के घर के पास पहुँचे, उनमें से एक घर में प्रविष्ट हुआ, तब उसको ऐसा आनन्द हुआ, मानो ब्रह्मानन्द में प्रविष्ट हुआ है ॥१६-१७॥

सुबोधिनी—गुल्मानि सेनाभेदाः । कक्षाः प्राकारभेदाः । गुल्मशब्देन गुल्मकृतवनदुर्गाणि वा । निःशङ्कगमने हेतुः स द्विज इति । द्विजैः सहितः, स एव वा द्विजः । द्विजत्वं साधारणमिति विशेषेण पूरणत्वं च वदन् विप्रत्वमाह अन्धकवृष्णीनाम् । अच्युतधर्माणां वैष्णवानां परितो व्याप्तानां गृहेषु मध्ये हरेः दृश्यसहस्राणां महिषीणां गृहेषु च मध्ये । द्विजः अप्रत्याख्येयः । एकतमं

गृहं विवेश । भगवानत्र स्थास्यतीति । तत्र हेतुः श्रीमदिति शोभासंपत्त्यतिशययुक्तम् । तत्र गमनमात्रेणैव तस्य यावस्था तामाह ब्रह्मानन्दं गतो यथेति । द्वारकायां वैकुण्ठावेशात्तस्य च ब्रह्मत्वात् तन्मध्ये भगवद्गृहस्य च आनन्दांशत्वात् तत्र प्रविष्टो ब्रह्मानन्दं प्राप्नोत्येव । यथेति प्रकारभेदार्थमुक्तम् ॥१६-१७॥

व्याख्यार्थ—‘गुल्मानि’ सेना के भेद ‘कक्षाः’ कोट के भेद अथवा गुल्म शब्द से पेड़ों से बने दुर्ग, बिना शङ्का के भीतर चले जाने में कारण उसका ब्राह्मणत्व था, ब्राह्मणों के साथ था अथवा वह ही एक ब्राह्मण था, साधारण द्विज नहीं था, किन्तु ‘विप्र’ था अर्थात् विद्या, तप और भक्ति आदि से पूर्ण ब्राह्मण था । अच्युतधर्मी अर्थात् वैष्णव, जो अन्धक वृष्णि थे उनके घरों के मध्य में, भगवान् की षोडश सहस्रा (सोलह हजार) पटराणियों के गृह थे । उन घरों में से एक गृह में प्रविष्ट हुआ, ब्राह्मण होने से रोका नहीं जा सकता । यहां भगवान् विराजमान होंगे । जिसमें कारण, विशेष सम्पत्ति तथा शोभा वाला यह गृह है, उसमें प्रविष्ट होते ही, जैसी अवस्था ब्राह्मण की हुई, वैसी ही वर्णन की जाती है । मानों ब्रह्मानन्द में प्रवेश हुआ है । द्वारका में वैकुण्ठ का आवेश होने से, उसका ब्रह्मपन होने से, उसके मध्य में भगवद्गृह आनन्दांश होने से, वहां प्रविष्ट को ब्रह्मानन्द प्राप्त होता ही है, ‘यथा’ शब्द, प्रकार भेद बताने के लिए कहा है ॥ १६-१७ ॥

आभास—ततः परितो विलोकनसामर्थ्यरहितः आनन्दानुभवेन निमीलिताक्ष इव भगवता दृष्ट इत्याह तं विलोक्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् चारों तरफ देखने में असमर्थ, आनन्द के अनुभव से आँखें जिसकी मानों बन्द हो गई हैं, वैसे को भगवान् ने देखा, यह ‘तं विलोक्य’ श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—तं विलोक्याच्युतो दूरात्प्रियापर्यङ्कुमास्थितः ।

सहस्रोत्थाय चाभ्येत्य दोभ्यां पर्यग्रहीन्मुदा ॥१८॥

श्लोकार्थ—प्यारी के पलङ्ग पर विराजमान भगवान् दूर से उस ब्राह्मण को देख,

उठ त्वरित (जल्दी से) निकट आए और प्रेम से दोनों भुजा पसार उससे हुए मिले ॥१८॥

सुबोधिनी—प्रियापर्यङ्के लक्ष्मणापर्यङ्के,
चतुर्थप्रहरे रात्रौ वा प्रियापर्यङ्के
। सा लक्ष्मणा चिह्नेन लक्ष्मी-
ततः सहस्रोत्थाय अग्रे समागत्य दोभ्यां

पर्यग्रहीत् । अनेन तुल्यता निरूपिता । मुदेत्या-
न्तरो भावः । यथा भगवत्संबन्धे तस्य हर्षः एव
तत्संबन्धे भगवतोपि, भक्तत्वादिति ज्ञापितम् ।
॥१८॥

व्याख्यार्थ—भगवान् प्यारी लक्ष्मणा के पलंग पर, विरति के समय अथवा रात्रि के चौथे प्रहर में विराजमान थे, वह लक्ष्मणा चिन्ह से लक्ष्मी थी, अनन्तर झटपट उठकर सामने आके दोनों भुजाओं से आलिङ्गन कर उससे मिले, यों कहने से समानता (बराबरी) दिखलाई, 'मुदा' पद से भीतरी प्रेम भाव प्रकट करना कहा है जिस प्रकार भगवान् के मिलने पर इस ब्राह्मण को प्रसन्नता हुई, वैसे ही भगवान् को भी हर्ष हुआ, क्योंकि यह भक्त था यों प्रकट किया ॥ १८ ॥

आभास—तत आनन्दापूरित इव लीलां कृतवानित्याह सख्युः प्रियस्येति ।

आभासार्थ—बाद में आनन्द से पूर्ण की तरह ही लीला की, निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—सख्युः प्रियस्य विप्रर्षेरङ्गसङ्गातिनिवृत्तः ।

प्रीतो व्यमुञ्चदब्बिन्दून्नेत्राभ्यां पुष्करेक्षणः ॥१९॥

श्लोकार्थ—अपने प्रिय मित्र विप्रर्षि के अङ्गस्पर्श से अति आनन्द युक्त कमल नयन भगवान् के नेत्रों में से प्रेम के कारण आँसू गिरने लगे ॥१९॥

सुबोधिनी—सखित्वात्तस्य यथा जातं तथैव भाव्यम् । भगवतोपि सुतरां प्रियस्य स प्रीति-विषयः पूर्वत्र हेतुरपि भवति । ततोपि विप्रर्षिः ब्राह्मणोत्तमः अलौकिकः परमानन्दोप्यस्मिन्

प्रादुर्भूत इति । तत्सङ्गेनातिनिवृत्तः अन्तःसुखं प्राप्तवान् । ततः प्रीत्या मनस्तं द्रष्टुं बहिरागतमिव नेत्राभ्यां अब्बिन्दून् व्यमुञ्चत् । पुष्करेक्षण इति कृपालुत्वमुक्तम्, हेतुत्वेन ॥१९॥

व्याख्यार्थ—सखापन से जैसे उसको हर्ष हुआ, वैसा ही होना योग्य था, इसलिए प्रिय भगवान् को भी वह प्रीति विषय हुआ इसमें पहले काल का विषय भी हेतु था, उससे भी विशेष यह 'विप्रर्षि' अर्थात् ब्राह्मणों में भी उत्तम ब्राह्मण था और इसमें अलौकिक परमानन्द भी प्रकट हुआ है, अतः उसके सङ्ग से अत्यन्त अन्तः सुख को प्राप्त हुए, अनन्तर वा उससे प्रेम के कारण, मन, उस ब्राह्मण को देखने के लिये मानों जलरूप से नेत्रों द्वारा आया जिसमें हेतु यह है, कि भगवान् कृपालु हैं, इसको सिद्ध करने के लिए ही भगवान् का 'पुष्करेक्षणः' नाम दिया है ॥ १९ ॥

आभास—ततो भार्याकृतवैलक्षण्यभावश्यकमिति तेनैव सख्यं न्यूनं भविष्यतीति शङ्कायामाह अथोपवेश्य पर्यङ्क इति ।

आभासार्थ—उसके अनन्तर स्त्रीकृत विलक्षणता आवश्यक है, उससे सखा भाव कम होगा, इस शङ्का का निम्न श्लोकों में उत्तर देते हैं—

श्लोक—अथोपवेश्य पर्यङ्के स्वयं सख्युः समर्हणम् ।
उपाहृत्यावनिज्यापः पादौ पादावनेजनीः ॥२०॥
अग्रहीच्छिरसा राजन् भगवाँल्लोकपावनः ।
व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेन चन्दनागुरुकुङ्कुमैः ॥२१॥
धूपैः सुरभिभिर्मित्रं प्रदीपावलिभिर्मुदा ।
अर्चित्वावेद्य ताम्बूलं गां च स्वागतमब्रवीत् ॥२२॥

श्लोकार्थ—फिर उस मित्र को पलङ्ग पर बिठाकर, पूजा की सर्व सामग्री स्वयं लाकर भगवान् ने उसके चरण धोए, यद्यपि आप स्वयं लोक पावन हैं, तो भी आपने उसके चरणों का जल शिर पर चढ़ाया । महाराज! पश्चात् दिव्यगन्ध, चन्दन, अग्रह, केशर इनका अरगजा लगाकर सुगन्धी धूप किया तथा दीपावलियों से आरती की, इस प्रकार पूजा कर ताम्बूल दिया और गौदान दिया, अनन्तर स्वागत किया ॥२०-२२॥

सुबोधिनी—ततः सख्युः समर्हणं स्वयं कृतवान् । अस्य पादावनिज्य समर्हणसाधनान्युपाहृत्य पादावनेजनीः अपः शिरसाग्रहीत् । धर्म्यमिति नात्र दूषणम् । लोकशिक्षार्थं च धर्मकरणम् । राजन्निति संमत्यर्थम् । विशेषतः चरणोदकधारणे अभिप्रायान्तरमाह लोकपावन इति । स हि सर्वलोकात्मकः ब्राह्मणेपि स्वयं स्थित इति पूर्वमुक्तं तेन स्वचरणारविन्दोदकेन लोकान्पा-

वितवानित्युक्तम् । नैतावता त्वपकर्षः यतो भगवान् । ततः पूजामाह व्यलिम्पद्दिव्यगन्धेनेति । पूजया प्राप्तदेवत्वं वारयति मित्रमिति । प्रदीपावलिभिरारत्रिकैः । अनेन तस्य सुखं तथा यद्यपि न भवति तथापि मुदा कृतवान् । ततः पुष्पैः शिरसि अर्चित्वा ताम्बूलं निवेद्य गां च विधिपरिपालनार्थम् । पश्चात्स्वागतमब्रवीत् । अत्र वृषभो गौः ॥२०-२२॥

व्याख्यार्थ—पलङ्ग पर बिठाने के बाद सखा की पूजा स्वयं करने लगे, इसके बाद प्रक्षालन और पूजन की सामग्री लाकर अनन्तर पाद प्रक्षालन (पैर धो) कर वह चरण जल शिर पर धारण किया, यह धर्म है, इसमें कोई दूषण नहीं है लोक को शिक्षा देने के लिए स्वयं धर्माचरण किया, हे राजन्! कहकर उसकी भी सम्मति ली है । चरणोदक धारण करने का विशेष अभिप्राय प्रकट करते हैं, कि 'लोक पावनः' वह चरण जल लोक को पवित्र करने वाला है, कारण कि, भगवान् सर्वलोका-

त्मक हैं अतः ब्राह्मण में भी स्वयं (स्वयं) विराजमान हैं, यों पहले कहा है, इससे अपने चरणारविन्द के जल से लोकों को पवित्र करने लगे इससे किसी प्रकार न्यूनता नहीं होती है । क्योंकि स्वयं भगवान् हैं, अब पूजा कहते हैं, दिव्य गन्ध से ब्राह्मण के शरीर को लिप्त किया, पूजा की इससे यों समझा जा सकता है, कि वह देव है । उसका निवारण करने के लिए कहा है, कि मित्र है, इसलिए पूजादि किया है । दीपों से आरती की, यद्यपि आरती से उसको वैसा सुख नहीं होता है तो भी आपने प्रसन्नता पूर्वक हर्ष से की है, आरती के बाद, शिर पर पुष्पों की वर्षा कर ताम्बूल दिया, विधि का पूर्ण पालन हो जाय इसलिए गौ भी दी, पश्चात् स्वागत वाक्य कहने लगे यहाँ गौ से वृषभ समझना चाहिए ॥ २०-२१-२२ ॥

आभास—ततो भार्यापि पतिव्रतात्वान्मात्सर्यादिकमकृत्वा तं पूजितवतीत्याह कुचैलमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् स्त्री ने भी उसकी पूजा की, पतिव्रता होने से उसमें मात्सर्य आदि दोष नहीं थे, यह 'कुचैल' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—कुचैलं मलिनं क्षामं द्विजं धमनिसंततम् ।

देवी पर्यचरच्छैव्या चामरव्यजनेन वै ॥२३॥

श्लोकार्थ—मैले-फटे जीर्ण वस्त्र पहने, मलीन, दुर्बल, जिसकी नसें देखने में आ रही हैं, ऐसे ब्राह्मण को शैव्या नाम रानी चमर से पंखा करने लगी ॥२३॥

सुबोधिनी—मलिनभग्नस्थूलवस्त्रं शरीर-संस्काररहितम् । दुर्बलं, धमनिभिः शिराभिः संततम् । तथापि द्विजं ब्राह्मणस्यैषैव शोभा । तादृशमपि देवी देवतारूपा लक्ष्म्यावेशात्, शैव्या

लक्ष्मणा चामरव्यजनेन पर्यचरत् । पूर्वं भगवति चामरव्यजनं कुर्वाणा स्थिता । पश्चाद्ब्राह्मण-पूजायामपि तथैव कुर्वाणा स्थितेत्यर्थः ॥२३॥

व्याख्यानार्थ—मलीन, फटे स्थूल वस्त्र वाले शरीर का संस्कार अर्थात् स्नानादि से मैल मिटाने के लिए कोई उपाय न करने से मैले, दुर्बल भी ऐसा था जो शरीर की नसें प्रकट देखने में आ रही थी, ऐसा था तो भी ब्राह्मण था, ब्राह्मण की यह ही शोभा है । ऐसे की भी देवता रूप लक्ष्मी के आवेश वाली शैव्या (लक्ष्मणा) चंवर से वायु की सेवा करने लगी, पहले भगवान् को चंवर से हवा करती थी, जब भगवान् ब्राह्मण की पूजा कर रहे थे तब यह चंवर डुला रही थी ॥ २३ ॥

आभास—एवमुभाभ्यां पूजितं दृष्ट्वा तत्रत्या आश्चर्ययुक्ता जाता इत्याह अन्तःपुर-जन इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्राह्मण को दोनों से पूजित देखकर वहाँ जो स्थित थे वे अचम्भे में पड़ गए, यह निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—अन्तःपुरजनो दृष्ट्वा कृष्णेनामलकीतिना ।

विस्मितोभूदतिप्रीत्या अवधूतं सभाजितम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—अमल कीर्ति वाले भगवान् कृष्ण ने उस मलीन ब्राह्मण का अति प्रीतिपूर्वक सत्कार किया, वह देखकर अन्तःपुर के जन विस्मय में पड़ गए अर्थात् चकित हो गए ॥२४॥

सुबोधिनी—कृष्णेन सभाजितमवधूतं दृष्ट्वा विस्मितोभूत् । अनेन भगवत्यपि अपकर्षो भाव्य-
तामिति शङ्काभावायाह अमलकीतिनेति । तत्रा-
प्यतिप्रीत्या । तत्रापि सोवधूतः मलिन एव अन्य-
द्वारा मलापकर्षणं कृत्वा पश्चात्पूजापक्षो
निवारितः ॥२४॥

व्याख्यार्थ—कृष्ण ने इस अवधूत का पूजन किया यह देख चकित हुए, इससे भगवान् का भी निरादर हुआ, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा, कि वे तो सदैव निर्मल कीर्ति वाले हैं, भगवान् ने ऐसी अवस्था में भी परम प्रेम से पूजा की, इससे यह बताया कि दूसरों से मैल सफा कराके फिर पूजा नहीं की ॥ २४ ॥

आभास—विस्मितानां वाक्यमाह किमनेनेति ।

आभासार्थ—विस्मितों के वाक्य 'किमनेन' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—किमनेन कृतं पुण्यमवधूतेन भिक्षुणा ।

श्रिया हीनेन लोकेऽस्मिन्गहितेनाधनेन च ॥२५॥

श्लोकार्थ—इस निर्धन, भिखारी, शोभा से रहित, निन्दित अवधूत ने इस लोक में कौनसा पुण्य किया है ? ॥२५॥

सुबोधिनी—ते सर्वे पुण्यफलमेव शुभं मन्यन्ते
अदृष्टपूर्वत्वात् । किमित्याशङ्का । किञ्चित्तथा
भविष्यतीति चेत्तत्राहुः अवधूतेनेति पञ्च विशेष-
णानि । यद्यस्य धर्मो भवेत् तदा प्रथमं धर्मोत्पा-
दितं शरीरं भवेत् । तत्र च पापकार्यरूपं रजो न
श्लेषं प्राप्नुयात् । अयं चावधूतः । किञ्च । यद्यस्य
धर्मो भवेत् देहोत्पत्त्यनन्तरं देहपोषार्थं सदनं
भवेत् । तदपि नास्ति यतोयं भिक्षुः । किञ्च ।
यद्यस्य धर्मो भवेत्, देहे कान्त्यतिशयो भवेत्,

अयं च श्रिया हीनः लौकिकी संपत्तिश्च अनेनैव
समुच्चिता । किञ्च । यद्यस्य धर्मो भवेत् । तदा
लोके कीर्तिर्भवेत्, अयं च लोके गहितः । अस्मि-
न्निति वयमेवात्र प्रमाणम् । इहलोकवत् परलो-
कोपीति सूचितम् । किञ्च । धर्मे विद्यमाने तत्का-
र्यमस्य धनं भवेत् । अयं चाधनो दरिद्रः । अधम
इति वा क्वचित्पाठः । तदा संस्कारसामग्र्यभा-
वात्तथोक्तिः । चकारादन्येपि लक्षणादयः
संगृहीताः ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—वे सब, यह इतना शुभ जो इसका हो रहा है, वह पुण्य का ही फल है। किन्तु वह अदृष्ट होने से, समझ में नहीं आता है। 'किम्' पद से शङ्का प्रकट की है, कि वह कौन से पुण्य है? यदि कहो, कि थोड़ा कुछ पुण्य होगा, इस पर कहते हैं कि एक तो इसका शरीर अवधूत सा है, यदि इसने थोड़ा भी धर्म किया हो तो प्रथम धर्म के फल रूप उत्तम शरीर की प्राप्ति होती। पाप कार्य फलरूप मैल से भरे अङ्ग न होते। यह तो अवधूत है, जो इसने कोई पुण्यधर्म किया हो, तो उसके फल में देह प्राप्त हो जाने के बाद इसको उत्तम अन्न की प्राप्ति होनी चाहिए। वह भी इसके पास नहीं है, अतः भिखारी है और यदि इसने धर्म दानादि किया हो, तो इसकी देह में विशेष कान्ति होनी चाहिए, यह तो शोभा से हीन है और इसने लौकिक सम्पत्ति भी गँवा दी है, फिर जो इसने पुण्य कर्म किया है, तो लोक में इसकी कीर्ति होनी चाहिए, इसको तो लोक सब निन्द रहे हैं, जैसे यह लोक (जैसे परलोक भी) समझना चाहिए यों सूचित किया, यदि इसने धर्म किया हो, तो उसका पल धन, इसके पास होना चाहिए, यह तो निर्धन अर्थात् दरिद्र है, किसी पुस्तक में 'अधम' यों पाठ है तब संस्कार सामग्री के अभाव के कारण यों कहा है, 'च' पद से दूसरे भी लक्षण आदि ग्रहण किए हैं ॥ २५ ॥

आभास—ननु किमस्य जातं येनैतावदुच्यत इति इति तत्राह योसाविति ।

आभासार्थ—तो, इसका कौन सा कर्म था जिससे इतना कहा जाता है इस पर 'योसौ' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—योसौ त्रैलोक्यगुरुणा श्रीनिवासेन संभृत ।

पर्यङ्कस्थां श्रियं हित्वा परिष्वक्तोऽग्रजो यथा ॥२६॥

श्लोकार्थ—त्रिलोकी के गुरु, लक्ष्मी के निवास स्थान, भगवान् ने पलँग पर लक्ष्मी को छोड़कर, ज्येष्ठ भाई के समान मिलकर इसका जो आदर किया, सो इसने ऐसा कौनसा पुण्य किया है? ॥२६॥

सुबोधिनी—त्रैलोक्यगुरुणा । भगवान् हि लोकशिक्षार्थं कर्माणि करोति । लोके यद्येतादृशेनापि सख्यं बोधयेत् तदा नीचैरपि लोकाः सख्यं कुर्युः । किंच । भगवान् श्रीनिवासः यदि पुण्यरहितोऽपि लक्ष्म्या संयुज्येत तदा कोपि दरिद्रो न भवेत् । एतादृशेन संभृत इति किंचित्पुण्यमस्तीति ज्ञायते । किंच । धर्मसमये चेदयमागच्छेत्तदा धर्मार्थं करोतीति ज्ञायते । अयं तु

कामसमये समागतः तमपि परित्यज्य परिष्वक्तश्चेत्तदा महानस्य धर्मोऽस्तीति ज्ञायते काम्यश्च परमकाष्ठापन्नः । किंच । महता आदरेण परिष्वक्तः । अनेनान्तरोपि भावोऽस्मिन्वर्णितः । तं भावं निरूपयितुं दृष्टान्तमाह अग्रजो बलभद्रो यथेति । कदाचिद्देशान्तराद्बलभद्रः समागच्छेत्तदा भगवानेवमादरं करोतीत्यर्थः । पूजात्वधिका ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् त्रैलोक्य के गुरु हैं, अतः आप सर्व कार्य, लोक को शिक्षा देने के लिए ही करते हैं। लोक में यदि अपने से निम्न कोटि के इस प्रकार के जीवों से भी भगवान् मित्रता करते

हैं, तो उसको देखकर मनुष्य भी अपने से जो निम्न कक्षा के हों उनसे भी सख्य करना सीख कर मित्रता करें। फिर भगवान् लक्ष्मी निवास हैं, यदि पुण्य रहित भी लक्ष्मीवान् हो जावे, तो कोई भी दरिद्र न रहे, इससे समझा जाता है, कि इसके कुछ पुण्य हैं, और धर्म के समय यदि यह आया है तो समझना चाहिए, धर्म के लिए करता है। किन्तु यह तो काम के समय आया है। उस काम विषयक कार्य को भी छोड़कर भगवान् इससे मिले। तब जाना जाता है, कि इसने कोई महान् धर्म कार्य किया है, अतः यह परम काष्ठा को प्राप्त होता हुआ (परब्रह्म) भी कामना से युक्त है, जो इससे साधारण रीति से नहीं किन्तु बहुत आदर से मिले, जिससे समझ में आता है, कि इसमें आन्तर भाव भी है, उस भाव को निरूपण करने के लिये दृष्टान्त देते हैं कि किस प्रकार उससे मिले, बलरामजी कभी अन्य देश से आते हैं तब भगवान् महान् आदर से उनसे जैसे मिलते हैं, वैसे ही इससे भी मिले, बलभद्र की पूजा नहीं करते हैं इसकी तो पूजा भी की, यह फिर उससे विशेषता बताई ॥ २६ ॥

आभास—एवं कायिकमानसिकसंतोषजननमुक्त्वा वाचिकसंतोषजननमाह कथयांचक्रतुरिति ।

आभासार्थ—इसी तरह काया और मन से सन्तोष पैदा करना कहकर अब वाणी से संतोष उत्पन्न करने के लिए 'कथयांचक्रतुः' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—कथयांचक्रतुर्गाथाः पूर्वा गुरुकुले सतोः ।

आत्मनो ललिता राजन्करौ गृह्य परस्परम् ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! भगवान् और सुदामा परस्पर हस्त से हस्त मिलाकर, जब गुरुकुल में थे उस समय की सुन्दर कथाएँ आपस में कहने लगे ॥२७॥

सुबोधिनी—गाथाः पूर्वकथानिबद्धाः श्लोकाः । याः पूर्वं गुरुकुले सतोः संवन्धिष्यः ताः कथयांचक्रतुः कथानिमित्तं वा स्मृत्वा कथयामासतुः । ता आत्मनो ललिताः स्वस्यैव प्रियजनिकाः ।	राजन्निति सावधानार्थम् । परस्परं करौ गृही- त्वेति तुल्यतामापाद्य ये श्लोकाः या वा श्रुतयः ताः परस्परसंतोषार्थं प्रथमं पठितवन्तः ततो भगवानाह । समुदायानुवादो वा ॥२७॥
--	--

व्याख्यार्थ—'गाथाः' का आशय है कि पहली कथा के बने हुए श्लोक जो कार्य गुरुकुल में रह कर किए थे, उसके सम्बन्धवाली कहानियाँ, उनको कहने लगे, अथवा कथा का कारण याद कर कहने लगे, वे कथाएँ अपने को आनन्द देने वाली थीं, हे राजन् ! यह सावधान होने के लिए सम्बोधन दिया है, आपस में हाथ हाथ से मिलाकर अपनी समता सिद्ध कर जो श्लोक अथवा श्रुतियाँ थीं वे परस्पर सन्तोष पैदा करने के पहले कहने लगे। अब भगवान् कहते हैं, अथवा समुदाय का अनुवाद है ॥ २७ ॥

आभास—तत्र प्रथमं भगवद्वाक्यानि षोडशभिराह अपि ब्रह्मन्निति वाक्यैः । तस्य

संपत्त्यभावोपि स्थिरीक्रियते । अन्यथा वर्णनार्थमेव तथा वर्णितः स्यात् । तत्र प्रथमं वियोगावधि यज्ज्ञातं तत्पृच्छति अपीति त्रिभिः—

आभासार्थ—पहले 'अपि ब्रह्मन्' श्लोक से १६ श्लोकों से भगवान् के वाक्य कहते हैं, उसके पास सम्पत्ति नहीं है, यह भी स्थिर करते हैं, नहीं तो वर्णनार्थ ही वैसे वर्णित होगा, उसमें पहले वियोग की अवधि में जो कुछ हुआ वह भगवान् पूछते हैं 'अपि' से तीन श्लोकों में—

श्लोक—श्री भगवानुवाच—अपि ब्रह्मन्गुरुकुलाद्भवता लब्धदक्षिणात् ।

समावृत्तेन धर्मज्ञ भार्योऽढा सदृशी न वा ॥२८॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! तुमने गुरुकुल में से गुरुदक्षिणा देकर घर लौट आने के बाद, अपने योग्य स्त्री से विवाह किया है कि नहीं ? हे धर्मज्ञ प्रथम यह बात बताओ ॥२८॥

सुबोधिनो—विद्यासमाप्तिस्तदैव जाता तदनु नैष्ठिकब्रह्मचर्यं वा समावर्तनेन विवाहो वा कृत इति वक्तव्यं तदर्थं पृच्छति । ब्रह्मन्निति संबोधनार्थावधीसिद्धिः सूचितः । गुरुकुलात् ब्रह्मचर्यं गुरुकुले अदृष्टार्थमपि स्थित्या भवति । गुर्वभावे तत्पत्न्यां तत्पुत्रे तद्गोत्रे वा ब्रह्मचर्यमिति ज्ञापयितुं कुलपदम् । 'गुरवे तु वरं दत्त्वा स्नायीत तदनुज्ञया' इति स्नानाख्यं समावर्तनं

दक्षिणादानानन्तरं भवति । तदनन्तरं च 'चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं' गुरौ द्विजः । द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत्' इति तदनन्तरं स्थित्या । तत्राह गुरुकुलात् लब्ध-दक्षिणात् समावृत्तेन । तदनन्तरं समावर्तनसंस्कारेण संस्कृतेन । हे धर्मज्ञ धर्मरहस्याभिज्ञ । सदृशी स्वस्य सर्वतः समा भार्या ँढा न वा । ॥२८॥

व्याख्यानार्थ—जब गुरुदक्षिणा दे समावर्तन संस्कार कर घर लौटे, तब ही विद्या का पठन पूर्ण हो गया, उसके बाद, तुमने नैष्ठिक ब्रह्मचर्य धारण किया अथवा विवाह किया ? इसके लिए पूछते हैं, कि, हे ब्रह्मन् ! इस सम्बोधन से विद्या की सिद्धि हुई यह सूचित करते हैं ।

'गुरुकुलात्' पद का भावार्थ बताते हैं, कि गुरुकुल में स्थिति करने से अदृष्ट के लिए भी ब्रह्मचर्य होता है, केवल गुरु पद न देकर गुरुकुल कहा, इसलिए 'कुल' पद कहने का आशय स्पष्ट करते हैं, कि गुरुजी आश्रम में नहीं बाहर गए हों तो, उस समय भी, उनकी (गुरु की) पत्नी, पुत्र वा गोत्र वाले ब्रह्मचर्य पालन कराते हैं, 'गुरवे तु वरं दत्त्वा स्नायीत तदनुज्ञया, अर्थात् गुरुजी को दक्षिणा देकर, उनकी आज्ञा से ब्रह्मचारी स्नान करे' स्नान का आशय है समावर्तन संस्कार, यह संस्कार गुरु को दक्षिणा देने के बाद होता है उसके पश्चात् क्या करे ? 'चतुर्थं मायुषोभागमुषित्वाद्यं' गुरौ द्विजः द्वितीयमायुषोभागं कृतदारो गृहे वसेत्' इस वचनानुसार द्विज आयु का पहला चौथा भाग गुरु के पास ब्रह्मचर्य रह विद्याभ्यास करे, उसके बाद समावर्तन कर दूसरा चौथा भाग गृहस्थाश्रम पालन करे अतः हे धर्मज्ञ ! धर्म के रहस्य को जानने वाले, बताइए कि आपने सर्व प्रकार अपने योग्य भार्या से विवाह किया वा नहीं ॥ २८ ॥

आभास—ऊढेति तस्य भावं स्वीकृत्य रागविद्वेषयोर्विवाह इति निन्दायां प्राप्तायां तन्निषेधार्थमाह प्रायो गृहेष्विति ।

आभासार्थ—‘ऊढा’ इस पद का भाव स्वीकार कर कहते हैं, कि राग और उससे विशेष द्वेष वाले इन दोनों का विवाह ? इस प्रकार विवाह की निन्दा प्राप्त होने पर उसके निषेध के लिए ‘प्रायो गृहेषु’ श्लोक में करते हैं कि—

श्लोक—प्रायो गृहेषु ते चित्तमकामविहतं तथा ।

नैवातिप्रियते विद्वन्धनेषु विदितं हि मे ॥२६॥

श्लोकार्थ—हे विद्वान ! मैं अनुमान से समझता हूँ कि, घर में भी बहुत करके आपका चित्त विषयों में, लम्पट नहीं होता होगा, धन आदि में भी अधिक रुचि न होगी, विद्वानों को ऐसा ही होना चाहिए ॥२६॥

सुबोधिनी—ते चित्तं गृहेषु कामविहतं प्रायेण न भवति । अन्यथा कथं परिग्रह इति विशेषमाह तथेति । यथा लोकानां तथा कामैर्न हृतमित्यर्थः । अत एव गृहेषु नैवातिप्रियते अतिप्रीतियुक्तं चित्तं न भवति । तत्र हेतुं संबोधनेनाह हे विद्वन्निति । ज्ञानोदयाच्छरीराध्यासाभावात् तत्प्रीतिकरे गृहे न प्रीतिः । ननु धनाभावादपि गृहे पुरुषो न

प्रियते ‘अन्तरं नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च, इति वाक्यात्तत्राह धनेष्विति । तव चित्तं नाना-प्रकारधनेष्वपि न प्रीयते गोभूहिरण्यादिभेदेन धनं बहुविधं तथा गृहा अपि स्त्रीभेदेन विलास-भेदेन च । अत्र प्रमाणमाह विदितं हि मे इति । युक्तश्रायमर्थः । यो हि महापुरुषः स एतादृश एव भवेदिति ॥२६॥

व्याख्यार्थ—अधिकतर तुम्हारा चित्त गृहों में कामनाओं से दबा हुआ नहीं है, अन्यथा परिग्रह कैसे ? इसलिए विशेष कहते हैं, कि जैसे लोगों का चित्त कामनाओं से दबा है, वैसे तुम्हारा नहीं है, इस कारण से ही, तुम्हारा चित्त गृहों में विशेष प्रीति वाला नहीं है, क्योंकि, तुम विद्वान हो इसलिए ही, ‘विद्वन्’ यह संबोधन दिया है, ज्ञान के उदय हो जाने से शरीर से अध्यास (एक का गुण या दोष दूसरे में बता देना) छूट जाता है, अध्यास के कारण, प्रीति कर गृह में तुम्हारी प्रीति नहीं होती है, क्योंकि ज्ञानी होने से तुम में अध्यास का अभाव है । ज्ञान के सिवाय धनाभाव से भी पुरुष का गृह में प्रेम नहीं होता है । जैसे कि कहा है ‘अन्तरं नैव पश्यामि निर्धनस्य मृतस्य च’ धनहीन और मरे हुए में कोई भेद नहीं है, अर्थात्, दुनियाँ में दरिद्र भी मरे के समान समझा जाता है । ‘धनेषु’ बहुवचन का आशय है कि धन अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे कि गौ, पृथ्वी और सुवर्ण आदि, वैसे ‘गृहा’ बहुवचन इसलिए कहा है, कि, स्त्री भेद तथा विलास भेद से अनेक हैं, इसमें प्रमाण देते हैं कि ‘विदितं हि मे’ मैंने जान लिया है यों, यह अर्थ उचित है, जो महान् पुरुष होता है वह इसी प्रकार का ही होता है ॥ २६ ॥

आभास—ननु विरक्तस्य संन्यास एवाधिकारः ‘यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्’ इति श्रुतेः । अतः कथं विवाह इति चेत्तत्राह केचित्कुर्वन्ति कर्माणीति ।

आभासार्थ—जो विरक्त है, उसे तो सन्यास का अधिकार है, जैसे कि कहा है, 'यदहरेव विर-
जेत्तदहरे प्रव्रजेत्' जिसको जिस दिन संसार से वैराग्य होवे, वह उसी दिन सन्यासी हो जावे, अतः
कैसे विवाह ? यदि यों कहते हो तो 'केचित्कुर्वन्ति' श्लोक में उत्तर देते हैं—

श्लोक—केचित्कुर्वन्ति कर्माणि कामैरहतचेतसः ।

त्यजन्तः प्रकृतीर्देवीर्यथाहं लोकसंग्रहम् ॥३०॥

श्लोकार्थ—कामनाओं से जिनका चित्त हट गया है, वैसे कितने ही पुरुष, दैवी
प्रकृतियों को छोड़कर, लोक संग्रह के लिए मेरी तरह अनासक्त हो कर्म करते हैं ॥३०॥

सुबोधिनी—'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषे-
च्छतं समाः' इति । 'इन्धानास्त्वा शतं हिमाः'
इति च श्रुतेः । यावज्जीवं कर्म कर्तव्यं अत एव
अग्निहोत्रादौ यावज्जीवाधिकारः । तत्र विरक्ता-
विरक्तभेदेन परित्यागकर्मणां व्यवस्थां मन्य-
मानान् प्रति भगवान् प्रकारान्तरेण व्यवस्था-
माह । एके तु यथा त्वयोक्तास्तथैव व्यवस्था-
पयन्ति । केचित्तु कामैरहतचेतसोऽपि निष्कामा
अपि कर्माण्येव कुर्वन्ति । ननु कषायपक्तिः कर्मा-
णीति कर्मणां न साक्षात्पुरुषार्थसाधकत्वम् ।
किन्त्वन्तःकरणशोधकत्वमेव । 'यदा सर्वे प्रमु-
च्यन्ते कामा येस्य हृदि श्रिताः' इति कामाभावे
मोक्षः संनिहित इति कर्मणां क्वोपयोग इति
चेत्तत्राह त्यजन्तः प्रकृतीर्देवीरिति । स्वभाववि-
जयार्थं कर्मणां करणं, स्वभावो हि दुर्जयः । अत
एव भगवानाह 'प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः

किं करिष्यति' इति । ताश्च प्रकृतयः स्वभाव-
रूपाः देशकालवीजयोन्यादिभेदेनानेकविधा
भवन्ति । ताश्चेत्पुरुषं त्यजन्ति तदा मूलप्रकृति-
मपि त्यक्त्वा स्वस्थो भवति । तदभावे कामो-
ऽप्रयोजकः कामाभावेऽपि संसारस्य निरूपित-
त्वात् । ननु ताः प्रकारेणैव जेतव्याः । तत्र
कर्मणां किं प्रयोजनं तत्राह देवीरिति । ता देव-
तारूपाः अतो वैदिककर्मभिरेव तासां निवृत्तिरिति
कर्मकरणम् । ननु कषायपाकार्थमेव कर्मणां
विनियोगः श्रूयते स्वर्गाद्यर्थं वा । न तु स्वभाव-
जयार्थं ततश्च केवलयुक्त्या तदर्थं कर्मकरणमिति
चेत् तत्राह यथाहं लोकसंग्रहमिति । अहं च
कर्माणि करोमि लोकसंग्रहार्थं तत्र युक्तिरेव मूलं
'मम वर्तमानुवर्तन्ते' इति न चैवं क्वचिदपि
वाक्यमस्ति लोकसंग्रहार्थमीश्वरेण कर्तव्यानीति ।
तस्मात्फलनिर्णयः युक्त्यापि भवतीत्यर्थः ॥३०॥

व्याख्यार्थ—'कुर्वन्नेवेह' कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः' इति 'इन्धानास्त्वा शतं हिमाः' इन
श्रुतियों के अनुसार जब तक जीवित हो, तब तक कर्म करता ही रहे, इस कारण से ही, जीवन
पर्यन्त अग्नि होत्र करने की आज्ञा है उसमें, विरक्त और अविरक्त पुरुषों के भेद से, कर्मों के परि-
त्याग की व्यवस्था मानने वालों को, भगवान् अन्य प्रकार से व्यवस्था बताते हैं ।

१- कितने तो जैसे तुमने कहा वैसे ही व्यवस्था करते हैं ।

२- कोई निष्काम होते हुए भी कर्म करते हैं ।

१- इस लोक में कर्म करते हुए शतवर्ष जीना चाहे,

३- तीसरे कहते हैं, कि 'कषायपक्तिः कर्माणि' वाक्य से कर्म साक्षात् पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाले नहीं हैं, किन्तु केवल अन्तःकरण की शुद्धि करते हैं जैसा कि कहा है 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा-येऽस्य हृदिश्रिताः' अर्थात् जो कामनाएँ इसके हृदय में स्थित हैं वे सब, जब छोड़ी जाती हैं, तब मोक्ष रूप पुरुषार्थ सिद्ध होता है, इसलिए कर्मों का उपयोग कहा है ? इस पर कहते हैं, कि 'त्यजन्तः प्रकृती देवीः' स्वभाव को जीतने के लिए कर्मों को करना चाहिए, किन्तु स्वभाव को जीतना दुर्लभ है, अतएव भगवान् कहते हैं, कि 'प्रकृतियान्ति भूतानि निग्रह किं करिष्यति' भूतमात्र प्रकृति के अनुसार कर्म करते हैं उसके रोकने से क्या होगा ? वे स्वभावरूप प्रकृतियाँ देश, काल, बीज और योनि आदि भेद से अनेक प्रकार की हैं, वे यदि पुरुष को छोड़ती हैं तब पुरुष मूल प्रकृति को भी छोड़कर स्वस्थ होता है । यदि वह नहीं है, तो काम अप्रयोजक है, क्योंकि, काम के अभाव होते हुए भी संसार का निरूपण होने से, वे प्रकार से ही जीतने योग्य हैं ? उसमें कर्मों का क्या प्रयोजन है ? इस पर कहते हैं कि वे प्रकृतियाँ देवता रूप हैं, उनकी निवृत्ति वैदिक कर्मों के करने से ही होती है, इसलिए कर्म करने चाहिए, कषायों + के पाक के लिए ही कर्म विनियोग कहा है यों सुना जाता है अथवा स्वर्ग आदि की प्राप्ति के लिए कर्म करने चाहिए, न कि स्वभाव को जीतने के लिए इस कारण से केवल युक्ति से उसके लिए करना चाहिए यदि यो कहते हो तो कहते हैं, 'यथाहं लोक संग्रहम्' जैसे मैं लोक संग्रह के लिए कर्म करता हूँ, उसमें युक्ति ही मूल है, वह युक्ति है कि 'मम वर्तमानुवर्तन्ते' मेरे बताए हुए मार्ग पर सत्पुरुष चलते हैं । यह वाक्य कहीं भी नहीं है, कि ईश्वर को कर्म करने चाहिए, इसी कारण से फल का निर्णय, युक्ति से भी होता है, यों अर्थ है ॥ ३० ॥

आभास—एवं स्वतो ज्ञातमप्यर्थं प्रश्नव्याजेन विरक्ततया गृहाश्रमे तिष्ठतीति कृत-मुक्त्वा तथा करणस्य प्रयोजनं स्वभावाद्वासनया केवलं कृतवानिति श्रुतेऽपि दोषे 'नानुभूय न जानाति जनो विषयतीक्ष्णताम्' इति मनःप्रत्ययजननार्थं विवाहं कृतवान् । यत इच्छा निवर्तते तत इच्छायामपि निवृत्तायां गले पतिता भार्येति उपहसन्निव कृतमभिनन्द्य तेन सह सख्यं स्मारयितुं गुरुकुलवासं बोधयति कच्चिद्गुरुकुले वासमिति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—इस प्रकार विषय को जानते हुए भी, प्रश्न के मिष से विरक्त भाव से, गृहाश्रम में रहता है, यों उसका कृत्यकर्म कहकर, यों करने का प्रयोजन कहते हैं, दोषों को सुनकर स्वभाव से वा केवल वासना से गृहस्थ किया है, कारण कि, 'नानुभूय न जानाति जनो विषयतीक्ष्णताम्' मनुष्य अनुभव किए बिना विषयों की तीक्ष्णता को पहचान नहीं सकता है, इसलिए मन को विषयों में तीक्ष्णता है ऐसा विश्वास दिलाने के लिए ही विवाह किया है, जिससे फिर इच्छा कामना निवृत्त हो जाती है, इच्छा तो निवृत्त हो गई, किन्तु भार्या गले में पड़ गई ऐसे हास्य करते हुए, जो किया उसका अभिनन्दन कर, उसके साथ मित्रता का स्मरण कराने के लिए निम्न श्लोक कहने लगे—

+ यो वक्त्रं परिशोषयति, जिह्वां स्तम्भयति, कण्ठं बाधनाति, हृदयं कषति पीडयति

श्लोक—कञ्चिद्गुरुकुले वासं ब्रह्मन्स्मरसि नौ यतः ।

द्विजो विज्ञाय विज्ञेयं तमसः पारमश्रुते ॥३१॥

स वै सत्कर्मणां साक्षाद् द्विजातेरिह संभवः ।

आद्योऽयं यत्राश्रमिणां यथाहं ज्ञानदो गुरुः ॥३२॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! हम दोनों गुरुकुल में साथ रहते थे, यह तुमको याद है ? द्विज गुरुकुल में निवास कर जो जानने के योग्य वस्तु है, उसको जानकर, अज्ञान को पार कर जाता है ॥३१॥

मनुष्य के इस जगत् में तीन गुरु हैं—एक गुरु जन्म देने वाला पिता है उपनयन संस्कार कराके जिस विद्या से सत्कर्म हो सके उस विद्या को पढ़ाने वाला दूसरा गुरु है, तीसरा गुरु वह है जो ब्रह्म विद्या का दान देता है, जिस तरह मैं सबको ज्ञान देने वाला गुरु हूँ, गुरु की भक्ति का पर्यवसान (अन्त) अनुभव में होने से स्वतुल्यता (अपने बराबर) है । अतः सर्व पूज्य हूँ ॥३२॥

सुबोधिनी—आदौ गुरुकुलवासस्य प्रशंसा निरूप्यते । सफलत्वेन महत्त्वे स्मरणं भवति । ब्रह्मज्ञिति संबोधनं तत्प्रसादादेव जातमिति बोधयति । नौ आवयोः गुरुकुले वासं किं स्मरसि । अनेन बाह्याभ्यन्तरभेदेन यत्किञ्चिदनुभूतं गुरुकुले तत्स्मरणेन कृतार्थता भवतीति जापितम् । 'गुरुकुलस्य प्रतिष्ठामाह द्विजो विज्ञाय विज्ञेयमिति । विज्ञेयमात्मानं प्रमाणं च विज्ञाय ज्ञात्वा, तमसः पारं भगवन्तमश्रुते । 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' इति श्रुतेः । किञ्च गुरुकुलवासो द्विजन्मनां द्वितीयं जन्म तच्च साक्षात्क-

मणां संवन्धि सम्यक् भवो यत्रेति । तत एव कर्णप्युत्पद्यन्ते । 'जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते' इति श्रुतेः । किञ्च । यत्राश्रमिणामाद्यो भवति गुरुकुले स्थितो ब्रह्मचारी भवति, आश्रमाः पुरुषार्थसाधकाः तेषामाद्योऽयं तदभावे कोप्याश्रमो न भवेदिति । साधनसाधकत्वेन गुरोरुपयोगमुक्त्वा साक्षाज्ज्ञानसाधकत्वेन पुरुषार्थोपयोगित्वमाह यथाहं ज्ञानदो गुरुरिति । गुरोः भक्तेरनभवपर्यवसायित्वात् स्वतुल्यता ॥३१-३२॥

व्याख्यार्थ—प्रथम गुरुकुल में निवास की बड़ाई का निरूपण करते हैं, वहाँ रहकर सफलता प्राप्त होने से महानता प्राप्त होती है, जिससे उसका सदैव स्मरण रहता है । हे ब्रह्मन् ! यह संबोधन देकर बताते हैं, कि ऐसी योग्यता तुम्हें गुरुकुल के निवास के प्रसाद से हुई है । हम दोनों गुरुकुल में निवास करते थे वह याद है ? यों कहने से यह बताया है, कि, बाहर और भीतर के भेद से जो कुछ भी गुरुकुल में अनुभव प्राप्त किया, उसके स्मरण करने से कृतार्थता होती है । गुरुकुल की बड़ाई कहते हैं,—वहाँ रहकर द्विज. जानने योग्य आत्मा को और प्रमाण को जानकर तम (अज्ञान) से परे जो सद्बस्तु (भगवान्) हैं उसका आनन्द लेता है, जैसा कि भगवती श्रुति कहती है 'आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्' तम से परे आदित्य वर्ण वाले को और विशेष गुरुकुल में निवास, द्विजातियों का

दूसरा जन्म है, वह जन्म साक्षात् कर्मों का सम्बन्धी है । जहां जन्म श्रेष्ठ हो जाता है, वहां से कर्म उत्पन्न होते हैं, अर्थात् वैदिक कर्म करने का अधिकार प्राप्त होता है । श्रुति कहती है, ब्राह्मण जन्मते ही तीन प्रकार ऋणी होता है, किञ्च आश्रमियों में आद्य आश्रमी गुरुकुल में रहकर ब्रह्मचारी होता है, आश्रम ही पुरुषार्थों के साधक हैं, उनमें से पहला यह है, यदि यह सिद्ध न हुआ, तो दूसरा कोई भी गृहस्थादि आश्रम सिद्ध न होगा साधन और साधकपन से गुरु का उपयोग कह कर, साक्षात्, ज्ञान साधकपन से पुरुषार्थ के उपयोगीपन कहते हैं कि 'यथा हं ज्ञान दो गुरुः' जिस तरह मैं ज्ञान देने वाला गुरु हूँ ? भक्ति अनुभव की पराकाष्ठा होने से गुरु की अपने से समानता कही है ॥ ३२ ॥

आभास—ननुभयोः कथं कारणत्वमनुगमादित्याशङ्क्याह नन्वर्थकोविदा इति ।

आभासार्थ—दोनों का कारणपन कैसे होगा ? इस शङ्का के उत्तर में नन्वर्थ श्लोक कहते हैं—

श्लोक—नन्वर्थकोविदा ब्रह्मन् वर्णाश्रमवतामिह ।

ये मया गुरुणा वाचा तरन्त्यञ्जो भवार्णवम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! इस मनुष्य जन्म में वर्णाश्रम पालन करने वाले पुरुषों में से वही उत्तम हैं अर्थात् तत्त्व को जानने वाले हैं, जो मेरे ही रूप गुरु की वाणी से इस संसार रूप सागर को शीघ्र तर जाते हैं ॥३३॥

सुबोधिनी—अर्थ पुरुषार्थ ये कोविदाः पण्डिताः शीघ्रं पुरुषार्थसिद्धिर्भवत्विति विचारयन्ति ते तथैव । ये मया गुरुणा वाचा वाङ्मात्रेणैव अञ्जः अनायासेन भवार्णवं तरन्ति तरिष्याम इति निश्चित्य गुरुमेव भजन्ते त एव अर्थकोविदा

इत्यर्थः । ब्रह्मन्निति संबोधनं संमत्यर्थम् । साधनान्तरव्युदासार्थमाह वर्णाश्रमवतामिहेति । अनेन वर्णधर्मा आश्रमधर्माश्च न साधका इत्युक्तं भवति ॥३३॥

ध्याख्यार्थ—पुरुषार्थ की सिद्धि शीघ्र होवे, ऐसा जो विचारते हैं, वे ही पुरुषार्थ सिद्ध करने में पण्डित हैं । जो मेरे ही रूप गुरु की वाणी से अर्थात् उपदेश से, बिना श्रम के हम शीघ्र-पार पहुंचेंगे यों निश्चय हुकर गुरु की ही सेवा करते हैं, वे ही पुरुषार्थ सिद्ध करने में पण्डित हैं, हे ब्रह्मन् ! यह संबोधन संमति के लिए है, दूसरा कोई साधन नहीं है यह बताने के लिए कहा है, कि वर्ण धर्म और आश्रम धर्म पुरुषार्थ के साधक नहीं हैं ॥ ३३ ॥

आभास—एवं प्रसङ्गात् ये केचन संसारतरणोपायाः गुरुसेवातिरिक्ताः तान् निषेद्धुं गार्हस्थ्यवानप्रस्थसंन्यासानां मुख्यधर्माणां मत्प्रीतिहेतुत्वं नास्तीत्याह नाहमिज्या प्रजातिभ्यामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार जो कोई बिना गुरु सेवा के संसार तरण के उपाय समझे जाते हैं,

उपाय वास्तविक नहीं हैं, अतः उनके निषेध करने के लिए कहते हैं, कि गार्हस्थ्य वानप्रस्थ अथवा सन्यास ये जो मुख्य धर्म माने जाते हैं वे मेरे प्रीति के हेतु नहीं हैं, यह निम्न श्लोक में स्पष्ट कहते हैं—

श्लोक—नाहमिज्याप्रजातिभ्यां तपसोपशमेन वा ।

तुष्येयं सर्वभूतात्मा गुरुशुश्रूषया यथा ॥३४॥

श्लोकार्थ—सर्वभूतों की आत्मा, मैं, जैसा गुरु सेवा से प्रसन्न होता हूँ, वैसा यज्ञ, संतति उत्पन्न करने, तपसे और संन्यासी हो जाने से सन्तुष्ट नहीं होता हूँ ॥३४॥

सुबोधिनी—इज्या यागः, प्रजातिः संततिः, उभयं गार्हस्थ्यधर्मः ऋणापाकरणरूपः । तपः वनस्थस्य, उपशमः परमहंसस्य । एवं त्रिभिरपि अहं न तुष्येयम् । तत्र हेतुः सर्वभूतात्मेति । सर्वभूतेषु आत्मा यस्य । यामेन जीवानां नाशः, प्रजात्या उत्पत्तिः, तेनोत्पत्तिप्रलयौ कुर्वन्मम संतोषं न जनयति । उत्पादनेनापि जीवः विलष्टो

भवतीति । तपसा शरीरक्लेशः । उपशमेन देहेन्द्रियादीनामतःक्लेशकरत्वान्मम न संतोषः । गुरुशुश्रूषायां तु स्नेहसेवया सेवकस्यानन्दः गुरोश्चेति । अतोऽहं तुष्येयम् । वेदाध्ययनस्यैव ऋणापाकरणरूपत्वात्सेवा अधिकैव । यद्यप्यङ्गभावेनैव सेवाया विनियोगः तथापि भवत्या कृतः मत्प्रीतिहेतुरपि भवति संयोगपृथक्त्वन्यायेन ॥३४॥

व्याख्यानार्थ—‘इज्या’ यज्ञ ‘प्रजातिः’ सन्तान, ये दोनों ऋण उतारने के लिए हैं । गार्हस्थ्य धर्म के अङ्ग हैं, वानप्रस्थ तपस्वरूप है, इन्द्रियों का दमन सन्यास धर्म है । इन तीनों से मैं प्रसन्न नहीं होता हूँ, कारण कि सर्वभूतों में मेरी आत्मा है । यज्ञ से जीवों का नाश होता है । सन्तान की उत्पत्ति, इससे भी मुझे हर्ष नहीं है, क्योंकि उत्पत्ति और प्रलय करते हुए मुझे सन्तोष पैदा नहीं करते हैं । उसमें कारण यह है, कि उत्पादन से जीव को क्लेश होता है, तपस्या से शरीर को क्लेश होता है दमन से देह इन्द्रियादिकों को क्लेश होता है अतः मुझे उससे भी संतोष नहीं है । गुरु की सेवा तो प्रेम से होती है, जिससे सेवक और गुरु दोनों को आनन्द प्राप्त होता है, अतः मैं उससे प्रसन्न होता हूँ । वेदों का अध्ययन, ऋषि-ऋण उतारने के लिए है इसलिए सेवा अधिक ही है, यद्यपि उनका भी सेवा के अङ्ग रूप से ही विनियोग है, तो भी प्रेम से किया हुआ ही संयोग पृथक्त्व न्याय से मेरी प्रीति का भी हेतु होता है ॥३४॥

आभास—एवं गुरुकुलावासं स्तुत्वा तं स्मारयित्वा आवयोर्वासः सेवार्थं परमक्लेशं संपादितवानिति सेवाविशेषं स्मारयति अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन्निति नवभिः ।

आभासार्थ—इसी तरह गुरुकुल निवास की स्तुति कर, उसकी याद दिलाके वहाँ अपना निवास सेवार्थं परम क्लेशवाला हुआ था, यों विशेष सेवा का स्मरण निम्न श्लोक से कराते हैं—

श्लोक—अपि नः स्मर्यते ब्रह्मन् वृत्तं निवसतां गुरौ ।

गुरुदारैः प्रेरितानामिन्धनानयने क्वचित् ॥३५॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! हम लोग जब गुरु के पास रहते थे, तब गुरु की स्त्री ने हमको लकड़ी लाने के लिए वन में भेजा था, वहाँ जो कुछ हुआ क्या वह आपको याद है ? ॥३५॥

सुबोधिनी—त्रिगुणकार्यमेतदिति नोऽस्माकं संबन्धि वक्ष्यमाणं स्मर्यते । अपीति संभावनायाम् । ब्रह्मन्नित्यनसूयार्थम् । गुरौ निवसतां व्रतस्थानां गुरुवाक्यवत् गुरुपुत्रगुरुपत्नीवाक्यमपि

कर्तव्यमिति । अत एव गुरुदारैः प्रेरितानामिन्धनानयने अरण्यादिन्धनमानीयतामिति । क्वचित्कदाचिद्विषमसमये ॥३५॥

व्याख्यार्थ—यह त्रिगुण का कार्य है, यों जो, मैं कहने वाला हूँ वह अपने से सम्बन्ध रखने वाला कार्य है । क्या उसका स्मरण है ? 'अपि' शब्द संभावना के अर्थ में दिया है, हे ब्रह्मन् ! यह पद असूया के अभाव में कहा है, अर्थात् आप में ईर्ष्या नहीं है, गुरु के पास रहने वाले ब्रह्मचर्य व्रत करने वालों को गुरु की आज्ञा समान, गुरुपत्नी और गुरुपुत्र की आज्ञा माननी चाहिए, अतएव गुरुपत्नी ने आज्ञा दी, कि वन से लकड़ियाँ ले आओ, 'क्वचित्' पद का तात्पर्य है कि कदाचित् वह समय विषम (भीषण) था ॥ ३५ ॥

श्लोक—प्रविष्टानां महारण्यमपत्तौ सुमहद्विज ।

वातवर्षमभूत्तीव्रं निष्ठुराः स्तनयित्त्वः ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे द्विज ! लकड़ी लेने के लिए हम वन में घुसे, उस समय वर्षा ऋतु भी नहीं थी, किन्तु तीव्र वायु के साथ वर्षा होने लगी और बड़ी गर्जना होने लगी ॥३६॥

सुबोधिनी—तत उत्कृष्टेन्धनार्थं महारण्यं प्रविष्टानां अपत्तौ वर्षातिरिक्तकाले शिशिरे । द्विजेति संबोधनं जन्मभूमिः सेति ज्ञापनार्थम् ।

सुमहद्वातवर्षमभूत् निष्ठुराश्च स्तनयित्त्वः गर्जितानि । नैष्ठुर्यं कर्णासह्यत्वम् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् तोड़कर लकड़ी लाने के लिए गहन वन में हम घुसे, वहाँ उस समय, शिशिर ऋतु थी, तो भी जबर्दस्त वायु के साथ भारी वर्षा होने लगी और निठुर बादल गर्जने लगे, निठुर का भावार्थ है कि उनकी ध्वनि कर्णों को असह्य थी, हे द्विज ! यह संबोधन, यह जन्मभूमि है इसका ज्ञान कराने के लिए दिया है ॥ ३६ है

श्लोक—सूर्यश्चास्तंगतस्तावत्तमसा चावृता दिशः ।

निम्नं कूलं जलमयं न प्राज्ञायत किंचन ॥३७॥

श्लोकार्थ—इतने में सूर्य अस्त हो गया, दिशा अन्धकार से पूर्ण हो गई, नदी के

किनारे तक जल भर गया, कुछ भी जान नहीं सकते थे कि नदी है या पृथ्वी है ॥३७॥

सुबोधिनी—एतस्मिन्नन्तरे सूर्यश्चास्तंगतः तमसा दिशश्चावृताः । तथापि कथं नागतमित्या-
काङ्क्षायामाह निम्नं कूलं जलमयमिति । नद्याः कूलं सर्वमेव जलमयं, कियती नदी कियती भूमिरिति ज्ञातुमशक्यम् । ततः क्षिप्रोत्तरणार्थं न प्राज्ञायत कमप्युपायं न ज्ञातवन्तः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—इतने में ही सूर्य अस्त हो गया, दिशाओं में अन्धेरा छा गया तो भी आये क्यों नहीं ? जिसका उत्तर है कि नदी का किनारा जलमय हो गया, अर्थात् भूमि और नदी सब एक हो गई, जल ही जल चारों तरफ सर्वत्र दोख पड़ता, भूमि कहां है नदी कहां है जान नहीं पड़ता था, क्षिप्रा को पार करने का कोई उपाय न रहा ॥ ३७ ॥

आभास—ततस्तत्परपार एव रात्रौ स्थिता इति क्लेशस्थितिं स्मारयति वयं भृशमिति ।

आभासार्थ—इस कारण रात्रि को नदी के दूसरे (परले) पार ही रहे, इस प्रकार हुई क्लेश की स्थिति की याद 'वयं भृशं' श्लोक में दिलाते हैं—

श्लोक—वयं भृशं तत्र महानिलाम्बुभिनिहन्यमाना मुहुरम्बुसंप्लवे ।

दिशोऽविदन्तोऽथ परस्परं वने गृहीतहस्ताः परिबभ्रिमातुराः ॥३८॥

श्लोकार्थ—वहाँ तेज पवन और वर्षा से हम तीनों पीड़ित हुए थे, दिशाओं का पता न पड़ता था, बैठने का कोई स्थान नहीं रहा, तब आतुर हो, भूल न जाए, इस-लिए परस्पर हाथ पकड़ फिर रहे थे ॥३८॥

सुबोधिनी—वयं त्रयोपि तत्रैवारण्यप्रदेशे अत्यन्तं महानिलाम्बुभिः नितरां हन्यमानाः । उपवेक्षणार्थमपि भूमिर्नास्तीत्याह अम्बुसंस्रव इति । ततो दिशोऽप्यविदन्तः एवं जाते किं कर्तव्यमिति विचार्य । अथ भिन्नप्रक्रमेण अतः परं

गमनार्थं प्रयत्नो न कर्तव्यः किंतु कालक्षेप एवेति विचार्य अन्योन्यविश्लेषाभावात् गृहीतहस्ताः सन्तस्तस्मिन्वने आतुरा दीनाः क्षुधिताः सन्तः परिबभ्रिम इतस्ततो भ्रमणमेव कृतवन्तः ॥३८॥

व्याख्यार्थ—हम तीनों (हम दोनों और बलरामजी) ही उसी जंगल के प्रदेश में तेज वायु और वर्षा से पीड़ित हो रहे थे, बैठने के लिये कोई भूमि नहीं थी, सर्वत्र जल ही जल पड़ा था, दिशाओं को भी पहचान नहीं सकते थे ऐसी अवस्था में क्या करना चाहिए यह विचार कर, निश्चय किया कि कहीं भी जाने का यत्न नहीं करना चाहिए, किन्तु कैसे ही समय बिताना चाहिए, आपस में साथ ही रहे अलग २ न हो जावें इसलिए एक दूसरे के हाथ पकड़ लिए बाद में उसी ही वन में, दान और भूखे होते हुए भी, यहां बहां चक्कर ही काटने लगे अर्थात् फिरने लगे ॥ ३८ ॥

आभास—तर्हि निर्दयो गुरुः कथं तत्र वासः कृत चेत्तत्राह एतद्विदित्वेति ।

प्राभासार्थ—तुम्हारी वहां ऐसी दशा हुई इससे जाना जाता है, कि 'गुरु' निर्दयी था, तो ऐसे गुरु के वहां वास कैसे किया ? इस शङ्का का निवारण निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—एतद्विदित्वाऽनुदिते रवौ सांदीपनिगुरुः ।

अन्वेषमाणो नः शिष्यानाचार्योऽपश्यदातुरान् ॥३६॥

श्लोकार्थ—जब गुरु को इस बात का पता लगा, तब सूर्योदय से पहले ही, हम शिष्यों को ढूँढने के लिये निकले, ढूँढते ढूँढते हमें काँपते हुए देखा ।

सुबोधिनी—गुरोरपि हृदये अयमस्मत्क्लेशो गृहान्निर्गतः । नः अस्मानन्वेषमाण आतुरान् भात एव अत एवानुदित एव रवौ सांदीपनिगुरु- वेपमानानपश्यत् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—गुरु के हृदय में यह अपना क्लेश प्रकट हुआ ही, जिससे सूर्य के उदय से पूर्व ही सांदीपनि गुरु गृह से निकले, हमको ढूँढते २ आकर काँपता हुआ देखा ॥ ३६ ॥

आभास—ततो दया परमा तस्योत्पन्नेत्याह अहो इति ।

आभासार्थ—हमको इस दशा में देख गुरु को दया आई, यह निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—अहो हे पुत्रका यूयमस्मदर्थेऽतिदुःखिताः ।

आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठस्तमनादृत्य मत्पराः ॥४०॥

श्लोकार्थ—अहो ! हे पुत्रों ! मेरे लिए तुमने बहुत दुःख पाया है देहधारियों को सबसे प्रिय निश्चय से आत्मा है, उसका भी अनादर कर मेरी सेवा में लगे रहे ॥४०॥

सुबोधिनी—एतदर्थमेव भगवतैवैवं संपादितम् विद्या हि वैधन्यायेन गुरौ स्थिता अतिमथनात्प्रादुर्भूता शिष्ये समायाति । तत्र मथनस्थानीया परमा दया । अहो इत्याश्चर्यम् । हे पुत्रका इति दयया जातस्नेहात्संबोधनम् । पुत्रकाः पुत्रप्रायाः । अनेन भवतामेव गृहमिति स्वार्थमेवंतत् क्रियत इत्याश्वासनमप्युक्तम् । तेषां दुःखं निरुक्तं गच्छतीत्यनुवदति अस्मदर्थेऽतिदुःखिता

इति । ननु व्रतं क्रियते कथं दुःखमिति चेत् तत्राह आत्मा वै प्राणिनां प्रेष्ठ इति । 'द्रव्य-संस्कारविरोधे द्रव्यं बलीयः' इति न्यायेन शरीर-व्रतयोर्विरोधे शरीरमेवादरणीयम् । तत्रापि स्नेह पात्रं विधिस्नेहयोः स्नेहो बलिष्ठ इति । एवं वैदिकलौकिकन्यायोऽलङ्घनमपि कृत्वा यतो मत्परा जाताः । तदाह आत्मा देहः प्राणिनामिति प्रेष्ठः तमनादृत्य मत्परा जाता इति ॥४०॥

व्याख्यान्यर्थ—इसलिए ही, भगवान् ने ही यों किया है, क्योंकि विद्या “वैधन्याय” से गुरु में स्थित रहती है। वह अतिशय मथन करने से प्रकट होकर शिष्य में आती है। वहां मथन स्थानीया यह परम दया है, अर्थात् हमने जो इतना दुःख गुरु के कार्य के लिए सहन किया है, उसने गुरु के हृदय का मथन किया है, जिससे गुरु को हमारे लिए दया उत्पन्न हुई है। हे पुत्रकाः ! यह संबोधन, दया से उत्पन्न स्नेह के कारण दिया है, ‘पुत्रकाः’ यह पद पुत्र से समानता प्रकट करता है। इससे गुरु ने आश्वासन के लिए यों कहा, कि यह आश्रम आपका ही गृह है, अतः तुमने लकड़ी लेते हुए जो दुःख भोगा है, वह अपने स्वार्थ के कारण भोगा है, इसलिए उसकी चिन्ता नहीं करनी, गृह कार्य करते हुए दुःख भोगना ही पड़ता है। फिर गुरुजी उनका दुःख कम हो इसलिए फिर कहते हैं, कि तुम हमारे लिए बहुत दुःखी हुए हो, हम तो अपना व्रत पालते हैं, इसमें दुःख कैसे ? यदि यों कहो तो उसके उत्तर में कहा कि, प्राणियों की आत्मा ही सबसे प्रिय है, ‘द्रव्यसंस्कार विरोधे द्रव्यं बलीयः’ ‘जहां द्रव्य और संस्कार का विरोध आवे, वहां द्रव्य बलवान है’ शरीर और व्रत इनमें शरीर द्रव्य है, और व्रत संस्कार है अब यहां व्रत पालने से शरीर को कष्ट होता है, व्रत संस्कार होने से, त्यागकर शरीर की रक्षा करनी चाहिए। उसमें भी शरीर स्नेहपात्र है, व्रत विधि है, विधि और स्नेह में भी स्नेह बलिष्ठ है, तुमने वैदिक लौकिक न्याय का भी उल्लङ्घन कर मेरी सेवा ही की है, देह सबसे प्रिय होते हुए भी उसका अनादर कर मेरी सेवा में लगे रहे, देह की परवाह नहीं की ॥४०॥

आभास—तर्हि विरुद्धाचरणात् कथं भवान् प्रसन्न इत्याशङ्क्याह इयदेव हीति ।

आभासाय—हमने वैदिक लौकिक न्याय का उल्लङ्घन कर विरुद्ध आचरण किया तो फिर आप कैसे प्रसन्न हुए ? इसका उत्तर ‘इयदेव’ श्लोक में देते हैं—

श्लोक—इयदेव हि सच्छिष्यैः कर्तव्यं गुरुनिष्कृतम् ।

यद्वै विशुद्धभावेन सर्वार्थात्मसमर्पणम् ॥४१॥

श्लोकार्थ - जिस देह से, सर्व पुरुषार्थ सिद्ध हो सकते हैं वह प्रिय देह और अर्थ, शुद्ध भाव से गुरु को अर्पण कर गुरु के प्रति उपकार करना, यह ही सत् शिष्यों का कर्तव्य है ॥४१॥

सुबोधिनी—सच्छिष्यैरलौकिकैः इयदेताव- | शुद्धभावेन सर्वस्यार्थस्य आत्मनश्च समर्पणम् । वै
देव । गुरुनिष्कृतं गुरोः प्रत्युपकारः । तदाह यद्वि- | निश्चयेन ॥४१॥

व्याख्यान्यर्थ—सत् शिष्य अर्थात् अलौकिक शिष्यों को इतना ही करना चाहिए कि विशुद्ध भाव से समस्त पुरुषार्थ और आत्मा को निश्चय पूर्वक गुरुचरणों में समर्पण करना यह ही गुरु के प्रति उपकार है ॥४१॥

श्लोक—तुष्टोहं हे द्विजश्रेष्ठाः सत्याः सन्तु मनोरथाः ।

छन्दांस्ययातयामानि भवन्त्वह परत्र च ॥४२॥

श्लोकार्थ—हे द्विज श्रेष्ठों ! मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ इस लोक तथा परलोक में तुम्हारे मनोरथ सफल हों और जो वेद पढ़े हैं वे भी निष्फल कभी भी न हों ॥४२॥

सुबोधिनी—न तु केनचित् व्याजेन तद्भवद्भिः कृतमित्यहं तुष्टः यावच्छ्रवणं निष्कपटतया कृतमिति । संबोधनेनैव तोषफलमाह हे द्विजश्रेष्ठा इति । श्रौष्ठ्यं भवतु व्रतस्य सर्वोत्कर्षः संपद्यता-मित्यर्थः । यदर्थं च व्रतं कृतं तद्दानमाह सत्याः सन्तु मनोरथा इति । पठितानां विद्यानां च अयातयामत्वमाह छन्दांस्ययातयामानीति ।

व्याख्यार्थ—तुमने यह जो सेवा की है, वह जितना बन सका उनकी सेवा की, किसी भी वहाने वा कपट से नहीं की है, इसलिये मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ, हे द्विजश्रेष्ठ ! संबोधन देकर अपनी प्रसन्नता का फल कहते हैं, इस व्रत के पूर्ण करने से तुम्हारा सर्व प्रकार श्रेष्ठ उत्कर्ष सिद्ध होगा, जिसके लिये व्रत पालन किया, उसका दान देते हैं कि तुम्हारे मनोरथ पूर्ण हों तथा जो विद्याएँ पढ़ी हैं, वे कभी भी निष्फल न हों, जिन अवसरों में वेद आदि पढ़ने से वेद विद्या निष्फल हो जाती है । (उसका स्पष्टीकरण आचार्य श्री ने निम्न कारिकाओं में किया है ।)

कारिका—‘आम्नायात्तु विनिर्मुक्ता अनध्याये तथा स्मृताः ।

अयाज्ये योजिताश्चैव निषिद्धाय च पाठिताः ॥

फलार्थं योजिता दृष्टा यातयामा भवन्ति हि ।

अन्यथा ज्ञातरूपाश्च अन्यथार्थप्रबोधिताः ॥

अब्रतैः शूद्रसंकाशैः पातित्याद्याकुले स्थले ।

अधीताः सर्वथैवैते यातयामा भवन्ति हि’ ॥

कारिकार्थ—जिन्होंने गुरु परम्परागत उपदेश छोड़ दिया है, अनध्याय के दिनों में पढ़ा है, यज्ञ कराने के योग्य नहीं उनको यज्ञ कराया है, जिन शूद्रादि को न पढ़ाना चाहिये उनको पढ़ाया है, फल^१ के लिये ही वेदों को देखा है, वेदों का जो ज्ञान रूप है उसको अन्यथा समझा है, अर्थ भी असत्य से समझाये है, नियम रहित शूद्र के समीप, जहाँ पतित आदि रहते हैं वैसे स्थल में पढ़ा है, उनका वेद पढ़ना निष्फल हो जाता है ॥१-२-३॥

सुबोधनी—तेष्वपि समयेषु मत्प्रसादादयात-
यामा । भवन्त्विति वरः । इह परत्रेति पर-
लोकार्थमिहलोकार्थं च स्वार्थं स्थापिताः पर-

लोकार्थं भवन्ति । त्रिनियुक्तास्त्वेहिकफलाः ।
भवतां तूभयत्रापि फलसाधका भवन्त्वित्यर्थः ।
चकारात्सर्वकर्मस्वपि ॥४२॥

मैं वर देता हूँ कि तुम यदि ऐसे अवसरों पर पढ़ोगे तो भी तुम्हारी विद्या निष्फल न होगी, इस लोक में चाहे परलोक में भी यह वेद विद्या स्मरण ही रहेगी । यों तो पढ़ी हुई विद्याएँ इस लोक में फलदायिनी होती हैं, किन्तु तुम्हारी विद्याएँ दोनों लोकों में फलीभूत होगी । 'च' पद से यह बताया है कि यह विद्या सर्व कर्मों में भी सफल होगी ॥४२॥

आभास—इदमेकं फलसाधनरूपं चरित्रमुक्त्वा नैतदेवेत्याह इत्थंविधान्यनेकानीति ।

आभासार्थ—यह एक फल का साधन रूप चरित्र कहकर अब बहते हैं कि यह एक ही ऐसा चरित्र नहीं है, किन्तु वैसे अनेक चरित्र हैं यह निम्न श्लोक में बताते हैं—

श्लोक—इत्थंविधान्यनेकानि वसतां गुरुवेश्मसु ।

गुरोरनुग्रहेणैव पुमान् पूर्णः प्रशान्तये ॥४३॥

श्लोकार्थ—गुरु के गृह में रहते हुए वैसी अनेक सेवाएँ की थीं वे तुम्हें याद तो होगी ? शिष्य गुरु की कृपा से ही पूर्ण होता है और शान्ति प्राप्त करता है ॥४३॥

सुबोधनी—गुरुवेश्मसु वसतां भवन्ति । गुरु
वासस्य नित्यत्वमाह गुरोरनुग्रहेणैवेति । न केवलं
वासेन पुमान् पूर्णो भवति । सर्वार्थः प्रशान्त एव
भवति । स्वाभाविकाः कामादयः तदुत्पन्नेन

शान्ता भवन्ति किन्तु गुर्वनुग्रहेणैव भगवता कृत-
स्मरणेन वा । प्रशान्तये पूर्णः समर्थः । एवमुपा-
ख्यानः सर्वे पुरुषार्थास्त्वया साधिता न वेति
प्रश्नः ॥४३॥

व्याख्यार्थ—गुरु के गृहों में रहते हुए क्या होता है वह बताते हैं, गुरु के यहां जो निवास किया जाता है, वह नित्य है क्योंकि गुरुजी के अनुग्रह से शिष्य, वहां वास करने से केवल पूर्णता प्राप्त नहीं करता है, किन्तु सर्व प्रकार शान्ति भी प्राप्त करता है, स्वाभाविक जो कामादिक उनसे उत्पन्न इच्छाएँ अन्य प्रकार शान्त नहीं होती हैं किन्तु गुरुजी के अनुग्रह से ही शान्त होती हैं अथवा भगवान् के स्मरण से शान्त होती हैं, यों दोनों से पूर्ण शान्ति के लिये समर्थ होता है, इस प्रकार उपाख्यान कहकर यह प्रश्न किया कि तुमने सर्व पुरुषार्थ सिद्ध किये वा नहीं ? ॥४३॥

आभास—तत्रोत्तरमाह किमस्माभिर्न निवृत्तमिति ।

आभासार्थ—ब्राह्मण, भगवान् के प्रश्न का 'किमस्माभिर्न' श्लोक से उत्तर देता है—

श्लोक—ब्राह्मण उवाच—किमस्माभिर्न निवृत्तं देवदेव जगद्गुरो ।

भवता सत्यकामेन येषां वासोऽभवद्गुरो ॥४४॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण ने कहा, हे देवदेव ! हे जगत् के गुरु ! सत्यकाम वालों आप के साथ, जिसका गुरुकुल में वास हुआ हो उसको शेष क्या करना रहेगा ? ॥४४॥

सुबोधिनी—को वा पुरुषार्थोऽस्माभिर्नो-
त्पादितः । परं विशेषोस्तीत्याह भवता सह येषां
गुरौ वासाऽभवदित्यर्थः । गुरुगृहवासानन्तरं
तत्प्रासादे च जाते पश्चात्सर्वे पुरुषार्थाः
साधयितुं शक्यन्ते । अस्माभिस्तु गुरुकुल एव
सर्वपुरुषार्थस्वरूपेण त्वया संगतम्, अतो गुरुकुल-
वासोऽस्माकमेव सफलो जातः, न त्वन्येषामिति
अस्माभिः किं न निर्वृत्तम् । नापि तत्तन्मन्त्र-

देवतानां तृप्तिः प्रयोजिका मृग्यते यतो
भवानेव जगद्गुरुः । किंच । भवान् सत्य-
कामः अस्मत्सङ्गेऽध्ययनयुक्तानामस्माकं च
लोकन्यायेन सर्वे पुरुषार्थाः सिद्धा भवन्त्विति
भवतः कामः स सत्य एव भवतीति भवदिच्छयै
वास्माकं सर्वे पुरुषार्थाः सिद्धा इत्यर्थः ।
अतस्त्वया सह गुरुगृहवासः पुरुषार्थस्तत्साधनं
च ॥४४॥

व्याख्यानार्थ—हम लोगों ने कौनसा पुरुषार्थ है, जो सिद्ध न किया हो, किन्तु उनसे भी विशेष
सिद्ध किया है, जैसा कि आपके साथ जिसका गुरु के पास निवास हुआ, यही विशेषता है, गुरुगृह
में रहने के अनन्तर वे प्रसन्न हुए, तो उनके प्रसन्न होने पर कौनसा पुरुषार्थ है, जो सिद्ध नहीं
होता है, अर्थात् जो पुरुषार्थ चाहे वह सिद्ध होता है, हमने तो गुरुकुल में सर्व पुरुषार्थ रूप आप से
मिलाप कर लिया, अतः गुरुकुल में निवास हम लोगों का ही सफल हुआ, नहीं कि दूसरों का, उन
उन मन्त्रों के देवताओं की तृप्ति भी प्रयोजक नहीं है जो उनकी खोज करे, क्योंकि आप ही देवों के
देव हैं इसलिए हमको अन्य किसी की भी आवश्यकता नहीं है । गुरु के प्रसाद को भी हम नहीं
हूँदते हैं, कारण कि आप ही जगद्गुरु हैं और विशेष आप सत्य काम हैं, वे आप हमारे संग में वहाँ
रहे । अध्ययन में लगे हुए हम लोगों का लोक न्याय से सर्व पुरुषार्थ सिद्ध होवे, यों आप से काम
प्राप्त हो वह काम सत्य ही होता है । इस लिए भगवदिच्छा से ही हम लोगों के सर्व पुरुषार्थ सिद्ध
ही हैं, अतः आपके साथ गुरुकुल में निवास ही पुरुषार्थ और उसका साधन भी है ॥४४॥

आभास—किंच यदुक्तमस्माकं सर्वेषां गुरुगृहवासं स्मरसीति तत्र स्वामिनस्तव
वासः अनुकरणार्थमेव भवतीत्याह यस्य छन्दोमयं ब्रह्मेति ।

आभासार्थ—आपने जो कहा कि, हमारा और अन्य सर्व का गुरु गृह में निवास तुम्हें स्मरण
है ? जिसके उत्तर में ब्राह्मण सुदामा कहता है कि आप स्वामी का वहाँ निवास तो अनुकरण के
लिए ही था, यह 'यस्य छन्दोमयं' श्लोक में कहता है—

श्लोक—यस्य छन्दोमयं ब्रह्म देह आवपनं विभोः ।

श्रेयसां तस्य गुरुषु वासोऽत्यन्तविडम्बनम् ॥४५॥

श्लोकार्थ—जिनका वेद रूप देह है, जिस देह से सर्व प्रकार के श्रेय होते हैं, ऐसे
स्वरूप वाले आपका, गुरु गृह में निवास, केवल अनुचित, अनुकरण मात्र है ॥४५॥

सुबोधिनी—वेदात्मकं ब्रह्म शब्दब्रह्मेति यं विदुः तत्तव देहः । यदध्ययनार्थं गुरुगृहवासोऽपेक्ष्यते । तनु कथं मम देहः जीवविशेष एव कश्चित्त्राधिष्ठितो भवेदिति तत्राह विभोरिति । भवानेव तमधिष्ठातुं शक्तः देशकालपुरुषानन्त्ये-

ष्वधिष्ठितस्य तस्य फलदानं व्यापकाधिष्ठानव्यतिरेकेण न भवतीति तस्यैव फलसाधकत्वमाह श्रेयसामावपनमिति । श्रेयांस्यस्मिन्नासमन्तादुष्यन्त इति एतादृशदेहवतस्तव गुरुषु वासोऽत्यन्तं विडम्बनमनुचितानुकरणमित्यर्थः ॥४५॥

व्याख्यार्थ—जिसको वेदात्मक अर्थात् शब्दात्मक ब्रह्म कहते हैं वह आपका शरीर है, जिस वेद के अध्ययन के लिए गुरुगृह में रहने की आवश्यकता होती है, मेरी देह वैसी कैसे ? इस शरीर में तो कोई जीव विशेष ही अधिष्ठित है, इसके उत्तर में कहता है कि 'विभोः' आप सर्व व्यापक सर्व समर्थ हैं, अतः आप ही उसका शासन करने के लिए समर्थ हैं । देश काल पुरुष आदि अनन्तों में अधिष्ठित को फलदान करना, व्यापक अधिष्ठान के सिवाय नहीं हो सकता है, उसको ही फल का साधकत्व कहता है, 'श्रेयसा आवपनं' इस शरीर में ही श्रेय सर्वत्र ओए हुए हैं, ऐसे शरीर वाले आपका गुरुकुल में निवास अनुचित अनुकरण है ॥४५॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे एकत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥ ३ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ७७वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३१वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल प्रवान्तर प्रकरण का तृतीय अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

सुदामा चरित्र

राग धनाश्री

सुदामा सोचत पंथ चले ।

कंसैं करि मिलि हैं मोहि श्रीपति, भए तब सगुन भले ॥

पहुँच्यौ जाइ राजद्वारे पर, काहूँ नहि अटकायौ ।

इत उत चितै धस्यौ मंदिर में, हरि कौ दरसन पायौ ॥

मन मैं अति आनंद कियौ हरि, बाल मीत पहिचान ।

धाए मिलन नगर पग आतुर, सूरज प्रभु भगवान ॥

सीस पगा न भगा तन पे प्रभु जाने कोउ आय बसो केहि ग्रामा ।

धोती फटी सी लटो डुपटी, अरु पाय उपानह की नहीं सामा ॥

द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक, रह्यो चकसों वसुधा अभिरामा ।

पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा ॥

ऐसे बिहाल बिवाइनसों भये, कंटक जाल लगे पग जोये ।

हाय सखा ! दुःख पायो महा, अरु आए इते न किते दिन खोये ॥

देख सुदामा की दीन दसा, करुणा करिके करुणानिधि रोये ।

पानी परात को हाथ छुयो नहि, नैनन के जल सों पग धोये ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेश्वर्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य-विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ८१वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७८वां अध्याय

उत्तरार्ध ३२वां अध्याय

सात्त्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

“अध्याय—४”

सुदामाजी को ऐश्वर्य की प्राप्ति



कारिका—द्वात्रिंशे भगवानस्य पुरुषार्थतयोदितः ।
स्वकर्तव्यं विदित्वैव कृतवानित्युदीर्यते ॥१॥

कारिकार्थ—श्रीमद्भागवत के उत्तरार्ध के ३२वें अध्याय में सुदामा ने भगवान् को पुरुषार्थपन से जाना है, अतः भगवान् ने भी अपना कर्तव्य जानकर ही इसको सम्पत्ति दी ॥१॥

कारिका—मर्यादया प्रेरिता तु लक्ष्मीः स्थैर्यमिहाश्रुते ।
अतोत्र भगवांस्तस्य पृथुकान्धभक्षयत् ॥२॥

कारिकार्थ—मर्यादापूर्वक जो लक्ष्मी प्रेरित होकर प्राप्त होती है, वह स्थिर रहती है, उससे भोग की सिद्धि होती है, इसलिए ही भगवान् स्वयं तण्डुलों को आरोगते हैं ॥२॥

कारिका—दानेपि तेजोहानिः स्यात् भार्यादत्तमुपायनम् ।

तस्या एवं फलं भूयादिति जग्धुं समुद्यतः ॥३॥

कारिकार्थ—स्त्री ने जो भेंट दी थी, वह भेंट यदि सुदामा देवे तो उसके तेज की हानि हो जावे, अतः भगवान् ने स्वयं स्त्री की दी हुई भेंट ले ली और इसका फल भी स्त्री को ही मिलना चाहिए, यों विचार कर वे तण्डुल स्वयं आरोग्यने लगे ॥३॥

कारिका—मुष्टिरेको जगत्तृप्त्यं वनवासे निरूपितः ।

सर्वं फलं सर्वतृप्त्या परलोके तथापरः ॥४॥

कारिकार्थ—भगवान् एक मुष्टि आरोग्य, तो सर्व जगत् की तृप्ति हो जाती है । यह आपने वनवास में पाण्डवों के यहाँ दुर्वासा के साथ आए हुए समग्र ऋषियों को एक पत्र खाकर तृप्त कर सिद्ध कर दिखाया है । दूसरी आरोग्य, तो परलोक के फल की सिद्धि हो जावे ॥४॥

कारिका—तृतीये देवतां दद्यादात्मानं च ततः परे ।

एवं बुद्ध्या तया दत्तास्ते चेन्निविविशुर्हरिम् ॥५॥

चतुर्थाशः सिद्धिमेतु तस्या नाधिकमित्युत ।

लक्ष्मणायां प्रविष्टा श्रीः प्रतिबन्धं चकार ह ॥६॥

कारिकार्थ—तीसरी आरोग्य, तो देवता उसके आधीन हो जाय, इससे विशेष आरोग्य, तो हमको भी दे देवें । इस प्रकार प्रेमपूर्वक बुद्धि से दिए हुए सर्व तण्डुल यदि भगवान् के हृदय में जावें तो पूर्ण फल की प्राप्ति हो सकती है, किन्तु भगवान् के उदर में चतुर्थाश ही गया, जिससे इतनी ही सिद्धि स्त्री को प्राप्त हुई, अधिक नहीं कारण कि लक्ष्मणा में प्रविष्टा लक्ष्मी ने रोक दिया ॥५-६॥

॥ इति श्री कारिका समाप्त ॥

आभास—पूर्वाध्यायान्ते मनःप्रीतिमुक्त्वा तदिष्टं पूरयित्वा तद्भार्येष्टं पूरयितुं पूर्वमुपसंहरन्नाह स इत्थमिति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय के अन्त में सुदामा के मन की प्रसन्नता का वर्णन कर उसकी इच्छा की पूर्ति की । अब इस अध्याय में उसकी पत्नी की इच्छा पूर्ण करने के लिए पूर्व कथा का उपसंहार करते हुए श्रीशुकदेवजी 'स इत्थं' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—स ईथं द्विजमुख्येन सह संकथयन् हरिः ।

सर्वभूतमनोभिज्ञः स्मयमान उवाच ह ॥१॥

श्लोकार्थ—द्विजश्रेष्ठ सुदामा के साथ इस प्रकार वार्त्तालाप करते हुए सब के मन के भावों को जानने वाले वे हरि कुछ मुस्कराते हुए कहने लगे ॥१॥

सुबोधिनी—जीवेन सह कथं संकथेत्प्राह द्विजमुख्येनेति । ब्रह्मभावाज्जीवोपि आवेशी भवतीति संकथनं न दोषायेत्यर्थः । किंच । हरिः सः सर्वपुरुषार्थरूपो भगवानेवेति । तस्य निश्चयात्सर्वभावेन चेद्भगवांस्तदधीनो न स्यात्तदा तस्य मनःपीडा न गच्छेदिति तथाकृतवानित्यर्थः ।

ततो भायाहृदयं जात्वोवाचेत्याह सर्वभूतमनोभिज्ञ इति । हेतुत्वार्थं साधारण्येन निरूपयति स्मयमानः भार्यासम्बन्धात् तेन सह परिहासं चिकीर्षुः । हेत्याश्रयः । न हि पूर्णो भगवान् अदत्तं स्वयं गृह्णातीति ब्राह्मणस्तु जानन्नपि लज्जया न दत्तवान् ॥१॥

व्याख्यार्थ—भगवान् हो के जीव से कैसे इस प्रकार वार्त्तालाप करने लगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए ही कहा है, कि वह सुदामा साधारण ब्राह्मण नहीं था किन्तु ब्राह्मणों में मुख्य ज्ञानी ब्राह्मण था, जिससे ब्रह्मभाव से वह जीव होते हुए भी आवेशी हो गया था, अर्थात्, उसमें ब्रह्म आवेश रूप से प्रविष्ट था अतः उससे वार्त्तालाप करने में कोई दोष नहीं है, और विशेष में वे हरि हैं जिससे सर्व पुरुषार्थरूप भगवान् ही हैं, जिससे दोष नहीं है । अनन्तर, सर्वभूतों के मन के भावों को पूर्णतया जानने वाले होनेसे, सुदामा की भार्या के हृदय की इच्छा को भी जानने थे, इसी कारण, साधारण रीति से, मुस्कराते हुए निरूपण करते हैं । भार्या के सम्बन्ध से उसके साथ परिहास करने की इच्छावाले थे, 'ह' यह पद आश्रय अर्थ में दिया है, भगवान् पूर्ण हैं अतः बिना दिए स्वयं लेते नहीं, इस बात को ब्राह्मण श्रेष्ठ होने से सुदामा जानते थे, तो भी इतने थोड़े चाँवल, भेंट रूप में कैसे दूँ यों लज्जा आने से दिए नहीं ॥१॥

श्लोक—ब्रह्मण्यो ब्राह्मणं कृष्णो भगवान् प्रहसन् प्रियम् ।

प्रेम्णा निरीक्षणेनैव प्रेक्षन् खलु सतां गतिः ॥२॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मणों के हितकारी भगवान् कृष्ण हँसी करते हुए, प्रेम भरी दृष्टि से देखते हुए, सत्पुरुषों के रक्षक प्रिय मित्र ब्राह्मण को कहने लगे ॥२॥

सुबोधिनी—तथापि भगवान् ब्रह्मण्यः ब्राह्मणानां हितकर्ता । सोपि ब्राह्मणः । स्वयं च कृष्णः तदर्थं चावतीर्णः, अन्यथा भगवान्

कथमागच्छेत् । प्रहसन्निति गोप्यं करोतीति । त प्रति तथाकथने हेतुः प्रियमिति ॥२॥

व्याख्यार्थ तो भी, भगवान् तो ब्रह्मण्य हैं अर्थात् ब्राह्मणों के हितकारी हैं, वह (सुदामा) ब्राह्मण है, अतः उसका हित तो करना ही है आप (श्रीकृष्ण) प्रकट हो इसके लिए ब्राह्मणादि के हित करने के लिए हुए हैं नहीं तो भगवान् भूमि पर कैसे पधारे ? अथवा पलङ्ग से उठकर उसको

लेने के लिए कैसे आवें ? और सादर प्रेमाश्रु बहाते हुए उसको साथ में लेकर अपने पलङ्ग पर बिठाकर पूजनादि वयो करे ? इसके बाद भगवान् मुस्कगते हुए सुदामा को प्रिय वचन कहने लगे । मुस्कराहट से कहने का भावार्थ है कि प्रभु को सुदामा के लिए जो करना था वह गुप्त करना था ॥२॥

आभास—साध्विभ्यामाह भगवद्वाक्यं किमुपायनमानीतमिति ।

आभासार्थ—भगवान् के वाक्य 'किमुपायन' डेढ़ श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—किमुपायनमानीतं ब्रह्मन् मे भवता गृहात् ।

अण्वप्युपाहतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत् ।

भूर्यप्यभक्तोपहतं न मे तोषाय कल्पते ॥३॥

श्लोकार्थ—भगवान् कहने लगे कि हे ब्रह्मन् ! आप मेरे लिए घर से क्या भेंट लाए हो ? भक्त लोग प्रेम से किंचित् मात्र भी अर्पण करें, तो उसे मैं बहुत अधिक कर मानता हूँ और अभक्त पुरुष बहुत अर्पण करे, तो भी मैं उससे प्रसन्न नहीं होता हूँ ॥३॥

सुबोधिनी—ब्रह्मन्निति । संबोधनाद् धर्मज्ञानं सूचितम् । तेन उपायनानयनं निश्चितम् । मे मह्यम् । मध्ये शास्त्रार्थत्वाय गृहीतं तु न मे सुखायेति विशेषमाह गृहादिति ! ननु पूर्णस्य तव किमुपायनेन अस्मदर्थं तु अस्माभिरेव दत्तं स्यादतो व्यर्थं ग्रहणमिति चेत्तत्राह अण्वप्युपाहतमिति । भूर्यप्यभक्तोपहतं न मे तोषाय कल्पते एतत्सर्वं प्रायेणाभक्तैराहृतम् । पृथुकतण्डुला एव भक्तोपाहृताः सर्वस्यामपि द्वाकायाम् । भक्ताहृतत्वे को विशेष इति चेत् प्रेम्णा अण्वपि भक्तोपाहतं भूर्येव मे भवेत् । प्रेमान्तं करणधर्मः यो हि स्वापेक्षया अधिकमानयति तत्तस्याधिकं भवति । 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति । मम चायं नियमः प्रेम्णा समानीतं हृदयानीतं भवति हृदयमणुमात्रम्, तण्डुलास्तु मुष्टिचतुष्टयात्मकाः ग्रह च हृदयरूप एव तद् गृह्णामि । अतः अण्वप्युपा-

हतं मत्समानत्वात् भक्ष्यं न्यूनपरिमाणमेव युक्तमिति मे भूर्येव भवेत् । अभक्तेन तूपहतं बहिर्दृष्ट्या उपहतं भवति बहिश्च ब्रह्मण्डमिति तद्ग्रहणे ग्रहणे ग्रहमपि तथा । अतो यथाकथंचित् सर्वसामर्थ्येनापि समाहतं मम तृप्तिहेतुर्न भवतीति अल्पत्वान्न मे तोषाय कल्पते । अथवा । 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति' इति वाक्यात् प्रेम्णैव तुष्टयति न त्वन्यथेति, प्रेम तु साधारणमेव मत्सनिधौ समायातीति तस्या देहोऽन्यार्थमेव विनियुक्त इति लिङ्गशरीरं च तेनैवावरुद्धमिति तण्डुलाश्रितैव भक्तिरत्रागता । अतो भक्तिमहभावः पदार्थानां निरूप्यते । अभक्तेन रूक्षेण । लोकेऽपि घृतादिप्लुतं भक्ष्यं तोषाय न तु रूक्षम् । विधौ द्वयं प्रयोजकं अधिकारविशेषणं करणं च । निषेधे तु विशेषमाह करणं तु सिद्धमेवेति । अभक्तस्य भक्तिरप्यभक्तिरेवेति वा ॥३॥

व्याख्यानार्थ—ब्रह्मन् । संबोधन देने का भाव यह है, कि आपको धर्म का ज्ञान है जिससे मेरे लिए भेंट जरूर लाए होंगे किन्तु वह भी घर से लाए होंगे, न कि आते हुए, मध्य मे कहीं से लाए हो, वह तो मुझे आनन्द देने वाली नहीं होगी । यदि तुम कहो, कि आप पूर्ण है, पूर्ण के लिए भेंट

लाने की क्या आवश्यकता है ? जो कहो, कि हमारे लिए जो हम लोगों को दी गई, वह भेट (आपके लिए) लानी व्यर्थ है। इस पर भगवान् कहते हैं, कि किञ्चन्मात्र भी भक्त से अर्पण हुआ पदार्थ मुझे प्रसन्न करनेवाला होता है और अभक्त कितना भी अधिक ले आवे, तो वह मुझे आनन्द नहीं देता है। यह जो द्वारका में स्थित है, वह सर्व ऐश्वर्य के वश हो, अभक्त इन्द्र आदि देवों से लाए गए हैं न कि प्रेम से, अतः उससे मुझे प्रसन्नता नहीं है। इस समस्त द्वारका में, ये तण्डुल ही भक्त के लाए हुवे हैं। भक्त के लाए हुवे में क्या विशेषता है ? यदि यों कहने हो तो इसका उत्तर है कि प्रेम से थोड़ा सा भी भक्त द्वारा दिया हुआ मुझे बहुत दोखता है, कारण कि, प्रेम अन्न-करण का वर्म है। हृदय अणु है अतः उसको अपेक्षा अधिक लाता है वह लाया हुआ 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस गोता वाक्यानुसार अधिक् हो जाता है। मेरा तो यही नियम है कि प्रेम से जो वस्तु लाई जाती है, वह हृदय से लाई जाती है, हृदय अणुमात्र है और ये तण्डुल चार मुट्ठी भर होने से हृदय से अधिक हैं। हम तो वे हृदय रूप ही समझ ग्रहण करते हैं, अतः अणु भी लाया हुआ मेरे समान होने से 'भक्ष्य' कम परिमाण ही उचित है, इसलिए वह मेरे लिए बहुत ही हो जाता है। अभक्त का बहिर्दृष्टि से अर्थात् बिना प्रेम से, लाया हुआ है, बहिर्दृष्टि ब्रह्माण्ड में है, अतः मैं भी उसके ग्रहण करने में वैसा ही बन जाता हूँ, अतः वह अपनी सामर्थ्य से कितना भी लाया हुआ मुझे तृप्त नहीं कर सकता है, क्योंकि वह मेरे लिए अल्प हो जाता है, कारण कि मैं महान् ब्रह्माण्ड रूप होकर ही ग्रहण करता हूँ। जिससे बहिर्दृष्टि से अभक्त का लाया हुआ कितना भी, अधिक हो तो मुझे प्रसन्न नहीं कर सकता है, अथवा 'भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति' भगवान् तो भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं न कि दूसरे प्रकार से यों प्रेम तो साधारण ही मेरे पास आ जाता है उसकी देह धर्मार्थ में ही लगी हुई है, लिङ्ग शरीर उसने ही रोक रखा है इसलिए तण्डुल में आश्रित उसकी भक्ति ही यहाँ आई है, अतः पदार्थों का भक्ति के साथ सहभाव कहा जाता है। जो अभक्त है वे प्रेम रहित होने से रुक्ष हैं, लोक में भी घृत आदि से चुपड़ा हुआ स्निग्ध पदार्थ ही मन को आनन्द देता है, न कि रुखा नीरस पदार्थ प्रसन्न करता है, विधि में दो प्रयोजक हैं, एक अधिकार और दूसरा करण, निषेध में तो विशेष कहते हैं कि करण तो सिद्ध ही है अथवा अभक्त की भक्ति भी अभक्ति ही है, यों ॥३॥

आभास—एवं पदार्थस्थितिमुक्त्वा स्वस्य बलादिव ग्रहणे हेतुमिव स्वसंकल्पमाह पत्रं पुष्पमिति ।

आभासार्थ इस प्रकार पदार्थ स्थिति कहकर आपने बलपूर्वक (जबर्दस्ती) स्वयं ले लिए जिसके हेतु की तरह अपना 'पत्रं पुष्पं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।

तदहं भक्त्युपहतमश्रामि प्रयतात्मनः ॥४॥

श्लोकार्थ—मुझ में ही जिसकी आत्मा है, वैसे का प्रेम से दिया हुआ जो पत्र, पुष्प, फल और जल है, उसको मैं स्वीकार करता हूँ ॥४॥

सुबोधिनी—पत्र तुलस्यादि, पुष्पं लवङ्गादि, फलमात्रादि, तोयं गङ्गाजलादि, एतच्चतुष्टयमविकृतमनुपहृतं च अन्यत्पाकादिना उपहृतं भवेत् अग्निमंस्काराद्यभावान् । वनस्थानां दरिद्राणां परमहंसानामुपलक्षणविधया तेषामर्थे चतुष्टयमुक्तमिति केचित् । ब्राह्मणद्वारा त्वन्यदपि भक्षयतीति 'नाहं तथाहि' इति वाक्यात् । अविकृतमुत्तमसंस्कारेण संस्कृतमिति विचारकाः । एकेन त्वाहृतमेक एव भक्षयामि न हि कस्यचिदपि चतुष्टये श्रद्धाधिवय भवति । अत उद्दिष्टानां विकल्प इति ख्यापयितुं तदित्याह तत्पत्रादीनामन्यतस्तत् । अहमिति पुष्टोत्तमः मर्त्यं संपाद्य स्वाधिकारानुसारेण यत्र क्वचिन्निवेदयतु तत्रैवाहं भक्षयामीत्यर्थः । दानसमये भक्त्यैव दान,

यथेष्ट पुत्राय कश्चित्प्रयच्छति मम तु ततोऽपि विशेष इत्याह भवत्युपहृतमिति । तत्स्थानादुद्धरणप्रभृतिमत्समीपानयनपर्यन्तं स्नेहस्याविच्छेदोऽपेक्ष्यते । स्मरणसहितस्नेह इति केचित् । किञ्च । तच्चेद्द्रव्यं प्रयतात्मनो भवति प्रकर्षेण नियतान्तःकरणस्य कामादिसर्वदोषरहितस्य चेत्पत्रादिकं भवेत्तदा अवश्यमभ्यामि । अशनं यथाक्रियोपलक्षकम् । वस्तुतस्तु सर्वमेतच्चतुष्टयमध्ये निविशति अन्नवस्त्रादिकमपि फलमेव, दुग्धेक्षुरसादिकं तोयं, ताम्बूलादिकं पत्राणि । सुवर्णरत्नादिकं पुष्पाणीति । अन्तःप्रवेशनं च भोजनम् । यत्र वक्वचित् स्थापितमात्मसात्करोतीत्यर्थः ॥४॥

व्याख्यानार्थ—पत्र' तुलसी आदि पुष्पं' लवङ्गआदि, 'फलं' आम्र आदि 'तोयं' गङ्गाजलादि, ये चार ही विकार रहित और अनुपहृत (अप्रभावित) हो और अल्पपाकादि से मिला हुआ हो जो अग्नि मंस्कारादि के अभाव वाले ही कोई कहते हैं कि जो वनस्थ हैं, दरिद्र हैं और परमहंस हैं उनके लिए ये चार उपलक्षण विधि से कहे हुवे हैं, जैसे ब्राह्मण द्वारा विकृत और उपहृत (प्रभावित) ही भक्षण किया जाता है वैसे मैं भक्षण नहीं करता हूँ, विचारक कहते हैं कि उत्तम संस्कारों से संस्कार किया हुआ जो अविकृत है वह ही मैं आरोग्यता हूँ । एक द्वारा उनमें से लाया हुआ एक हो, तो भी मैं उसका भक्षण कर लेता हूँ कारण कि, किसी को भी चारों में विशेष श्रद्धा नहीं होती है, अतः उद्दिष्टों (विशेष रूप से कही हुई बातों का) का विकल्प है यह प्रकट करने के लिए 'तत्' पद दिया है जिसका भावार्थ है पत्र आदि चारों में से कोई एक भी हो तो मैं पुष्टोत्तम हूँ अतः मेरे लिए अपने अधिकारानुसार बना के तैयार किया हुआ, जहाँ भी कुछ निवेदन हो, तो वहाँ ही मैं आरोग्यता हूँ ।

दान के समय, भक्ति से दान होता है । कोई पुत्र को यथेष्ट देता है, मुझे तो उससे भी विशेष देता है, इसलिए 'भक्त्युपहृतं' भक्ति से लाया हुआ, अर्थात् उस स्थान से उठाकर मेरे समीप लाने तक स्नेह नहीं टूटे ऐसी प्रक्रिया के साथ स्नेहमग्न हो जाते हैं तब मैं वहाँ ही आरोग्यकर उनके स्नेह को बढ़ाता हूँ । कोई कहते हैं कि स्मरण सहित स्नेह होना चाहिए, और विशेष में वह द्रव्य यदि कामादि दोष से रहित, मुझ में ही जिसके अन्तःकरण की स्थिति है, वह लाता है, तो निश्चय मैं आरोग्यता हूँ 'अशन' शब्द भोजन की क्रिया का उपलक्षण है वास्तविक में तो ये सर्व पदार्थ इन चारों में ही आजाते हैं, जैसे कि, अन्नवस्त्र आदि भी फल हैं, दुग्ध, ईख, रस आदि सर्व जल हैं, ताम्बूल आदि पत्र हैं, सुवर्णरत्न आदि पुष्प गिने जाते हैं भीतर प्रवेश होना ही भोजन है, जहाँ कहीं भी रस हुआ अन्न लेते हैं ॥४॥

श्लोक इत्युक्तोऽपि द्विजस्तस्मै व्रीडितः पतये श्रियः ।
पृथुकप्रसृतिं राजन्न प्रायच्छदवाङ्मुखः ॥५॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! इस प्रकार भगवान् ने कहा, तो भी लज्जा के कारण नीचा मुखकर बैठे हुए सुदामा ने लज्जा से लक्ष्मी के पति भगवान् को वे तण्डुल नहीं दिए जो स्त्री ने भगवान् को भेंट करने के लिए दिए थे ॥५॥

सुबोधिनी—एवं भार्यया प्रहितं त्वया भक्तेन भक्त्या चाहृतं देयमित्युक्तोऽपि द्विजः सङ्कोचा-विष्टोऽल्पबुद्धिः श्रियः पतये तस्मै पृथुकप्रसृतिं मुष्टिचतुष्टयात्मकं प्रसृतिः सेरमात्रं भवतीति न प्रायच्छत् । लज्जया चाधोमुखो जातः, किं मया

समाहृतमिति, अतिसाधारणानामेवैतद्भक्ष्यम् । ततो भगवान् विचारितवान्, अयं तु न प्रयच्छति तथापि ग्राह्यं न वेति । तदर्थं चैतद्विचारयति किमस्मै संपदो देया न वेति ॥५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने कहा कि स्त्री ने लाकर मेरे लिए तुमको दिए हैं । तुम जो मेरे भक्त हो, उसने भक्ति से भेजे हैं, इस कारण वे मुझे देने चाहिए । इस प्रकार ब्राह्मण को कहा, किन्तु ब्राह्मण सङ्कोचवाला हो गया और अल्प बुद्धि था । अतः लक्ष्मी के पति भगवान् को सेर भर चावल नहीं दिए, लाज के मारे नीचा मुख कर बैठा ही रहा और मन में विचारा कि मैं लाया ही क्या हूँ ? जो कुछ लाया हूँ वह तो अति साधारण मनुष्यों के खाने के योग्य हैं । अतः कैसे दूँ ? भगवान् भी फिर विचारने लगे कि यह तो देता नहीं, तो भी लेना चाहिए वा नहीं ? इसके लिए विचारते हैं कि इसको (सुदामा को) सम्पदा देनी चाहिए वा नहीं ? ॥५॥

कारिका—कामितं दोषरहितं भगवांस्तु प्रयच्छति ।

अलौकिकत्वात्संपत्तेर्दोषाभावः सुनिश्चितः ॥१॥

कारिकार्थ—भगवान् जो कुछ सम्पदा देते हैं, वह दोष रहित होती है; क्योंकि वह सम्पदा अलौकिक होने से निश्चय निर्दोष है ॥१॥

कारिका—कामाभावस्त्वस्य सिद्धो न देयं तत्कथंचन ।

स्वत आगमनं तस्य न भवत्येव भार्यया ॥२॥

कारिकार्थ—इसको (सुदामा को) किसी प्रकार की कामना नहीं है, अतः इसको कुछ भी नहीं देना चाहिए क्योंकि इसका यहाँ आना अपनी इच्छा से नहीं है किन्तु भार्या के कहने से आया है ॥२॥

कारिका—प्रेषितस्यागतिस्त्वस्य भार्यागतिरियं मता ।

प्रतिबन्धकता त्वस्य दाने लज्जादिदोषतः ।

तस्मात्तस्या गृहीत्वैतत् तस्यै दास्यामि निश्चितम् ॥३-५॥

कारिकार्थ—भार्या ने भेजा है, अतः यहाँ यह आना भार्या का ही है। यह ऋणुल नहीं देता है, इसका कारण लज्जादि दोष है। इस कारण से ये चावल उस भार्या के हैं, उसके चावल लेकर सम्पदा भी उसको ही दूँगा। यह निश्चित है ॥३-५॥

आभास—एतद्वदन्नस्य दोषाभावमाह सर्वभूतात्मदृगिति ।

आभासार्थ—यों कहते हुए 'सर्वभूतात्म दृक्' श्लोक में भगवान् इसकी निर्दोषता प्रकट करते हैं—

श्लोक—सर्वभूतात्मदृक् साक्षात्तस्यागमनकारणम् ।

विज्ञायाच्चिन्तयन्नायं श्रीकामो माभजत्पुरा ॥६॥

श्लोकार्थ—सकल भूतों के हृदयों के ज्ञाता भगवान् ने इसके आने का कारण जान लिया कि यह लक्ष्मी लेने की इच्छा से मेरे पास नहीं आया है और इसने पूर्व में भी लक्ष्मी के लिए भजन नहीं किया है ॥६॥

सुबोधिनी — सर्वभूतानामात्मानमन्तःकरणं
अवश्यतीति । एतस्य तस्या अपि हृदयं जानाती-
त्युक्तम् । साक्षात्तस्य आगमनकार्यं भार्यार्थमेव ।
आसङ्गिकं तु स्वार्थं एतद्विज्ञायाच्चिन्तयत् ।

अत्रार्थः संदिग्ध इति सदेहमेवाह नायं श्रीकाम
इति । मां च पुरा अभजत् । ततोऽयं भक्तो
निष्कामः । अतोऽस्मै स्वरूपमेव देयम् ॥६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् सकल जीवों के अन्तःकरण को जानते हैं अतः इसके और इसकी पत्नी के हृदय को भी जानते हैं, इसका यहाँ आने का साक्षात् कारण इसकी स्त्री के लिए ही है, केवल आसङ्गिक अपने लिए है, यह जानकर विचार करने लगे। इस प्रसङ्ग में अर्थ संदिग्ध (सदेहवाला) है, उस संदेह को कहते हैं कि इस ब्राह्मण को लक्ष्मी की इच्छा नहीं है, पहले भी यह मेरा भजन करता था तब भी लक्ष्मी की इच्छा नहीं की थी, अतः यह भक्त निष्काम है, इसलिए इसको अपना स्वरूप ही देना चाहिए न कि लक्ष्मी ॥६॥

श्लोक—पत्न्या मे प्रेषितायातः सखा प्रियचिकीर्षया ।

प्राप्तो मामस्य दास्यामि संपदोऽमर्त्यदुर्लभाः ॥७॥

श्लोकार्थ—पत्नी के कहने से यहाँ आया है और मेरा मित्र है, अतः मेरे प्रिय करने की इच्छा से भी आया है, देव दुर्लभ सम्पदाएँ इसको दूँगा ॥७॥

सुबोधिनी—सांप्रतं च पत्न्या स प्रेषितः
आयातो मत्समीपम् । सन्धिरार्थः । तर्हि कः
संदेह इदानीं तस्या एवार्थं देशमिति चेत्तत्राह मे
सखेति । तथापि मम मित्रम् । मम च प्रियकर-
णार्थमागतः । अतः किमेतद्धित कर्तव्यम्, तस्या
हितं वा । भोगः किमेतद्गामी तद्गामी वा ।
एतद्गामी चेन्न देयं तद्गामी चेद्देयमिति आद्ये
अस्य भोगात्स्वरूपात्प्रच्युतिः । द्वितीये तु प्रास-
ङ्गिको भोग इति स न नाशकः । तस्याश्च प्रास-
ङ्गिको मोक्षोऽपि भविष्यति । अत एतदर्थं पृथुक-
भक्षणमावश्यकम् । अस्मै चेद्वान स्यात् तदेवमेव

दद्यात् न ह्यन्येभ्यो ब्राह्मणेभ्यः किञ्चिद्गृहीत्वा
प्रयच्छति, अतो द्वितीयपक्षमाह प्राप्तो मामस्य
दास्यामीति । मत्प्रोत्यथमेव मां प्राप्तः । अस्थेति
संबन्धमात्रं न तु संप्रदानम् । एवं विचार्य देशो-
त्कर्षमाह संपदोऽमत्यदुर्लभा इति । अमर्त्यानामपि
दुर्लभाः । यदा भगवान् स्वयमिन्द्रोऽभूत् तदा या
संभूतां दत्तवानिति वाक्यान्तरादवगम्यते
'सुदामरङ्गभक्तार्थभूम्यानीतेन्द्रवैभवः' इति । अत्र
चामत्यदुर्लभा इति । अतो देवव्यतिरिक्तेन्द्रो
भगवानेवेति ॥७॥

व्याख्यार्थ—अभी तो स्त्री का भेजा हुआ मेरे पास आया है, तो क्या संदेह है ? अत्र स्त्री के
लिए ही देनी चाहिये, यदि यों कहो तो यह भी मेरा मित्र है, और मेरे प्रिय करने के लिए आया है,
अतः मैं इसका हित करूँ ? वा इसकी पत्नी का हित करूँ ? भोग यह करेगा वा उसकी पत्नी
करेगी ? यदि यह करेगा तो नहीं देना चाहिए, यदि वह करे तो देना चाहिए । यदि इसको दूँगा तो
यह उसका उपभोग करने से स्वरूप से गिर जाएगा, यदि भार्या को दूँगा तो प्रासङ्गिक भोग होगा ।
वह नाश करनेवाला नहीं है और यों उसको देने से उसका भी प्रासङ्गिक मोक्ष हो जाएगा, इसलिए
तण्डुलो का भक्षण आवश्यक है । इसके पास यदि दान की वस्तु होती तो यों ही दे देते, किन्तु अन्य
ब्राह्मणों से कुछ लेकर उन्हें कुछ नहीं देते । अत्र दूसरा पक्ष कहते हैं कि यह मेरा प्रीतिकर्ता है,
मेरे पास आया है, इसलिए इसका केवल सम्बन्ध ही है, न कि दान है । यों विचार कर जो देता है
उसका उत्कर्ष बताते हैं, जो सम्पदाएँ दी जाएँगी, वे देवों को भी दुर्लभ हैं । भगवान् जब इन्द्र बने थे,
उस समय जो सम्पदाएँ थीं, वे सम्पदाएँ भगवान् ने इसको दी । यह ज्ञान दूसरे वाक्यों से होना है ।
'सुदामरङ्गभक्तार्थभूम्यानीतेन्द्रवैभव इति' रङ्गभक्त सुदामा के लिए ही पृथ्वी पर इन्द्र का वैभव
भगवान् ने ला दिया है, देव दुर्लभ कहने का आशय यह है कि यह इन्द्र देव इन्द्र नहीं है, किन्तु
भगवान् ही इन्द्र हैं; उनकी ही ये सम्पदाएँ हैं ॥७॥

श्लोक—इत्थं विचिन्त्य वसनाञ्छीरबद्धान् द्विजन्मनः ।

स्वयं जहार किमिदमिति पृथुकतण्डुलान् ॥८॥

श्लोकार्थ—यों विचार कर ब्राह्मण के फटे वस्त्र में बाँधे हुए तण्डुल, यह क्या
है ? ऐसे कहकर भगवान् ने स्वयं अपने हस्त से उस कपड़े में से तण्डुल ले लिए । ८।

सुबोधिनी—एवं निश्चित्य वसनाच्छादितात्
तेन प्रावृतात्तत्प्रावरणं दूरीकृत्य चीरेण वस्त्र-
खण्डेन बद्धान् । द्विजन्मन इति । यदायमसाव-

धानः कर्मकरणार्थं व्यग्रो वा तदा स्वयं जहार ।
हरणसमयवाक्यमाह किमिदमिति ॥८॥

व्याख्यानार्थ—यों विचार पूर्वक निश्चयकर, वस्त्र से आच्छादित (ढके हुए) जीर्ण वस्त्र में बन्धे हुये तण्डुल थे, उनका वह आच्छादन हटा लिया, जब देखा कि ब्राह्मण दूसरे कार्य करने में व्यग्र होने से इस तरफ उसका ध्यान नहीं तब भगवान् ने 'यह क्या है' ? यों कहकर स्वयं तण्डुल ले लिए ॥८॥

आभास—पश्चान्मोचयित्वा पृथुकतण्डुलान् दृष्ट्वा भगवानाह नन्वेतदुपनीतमिति ।

आभासार्थ—पीछे उस पोटली को खोल चाँवल देखकर भगवान् 'नन्वेतदुपनीत' श्लोक कहने लगे—

श्लोक—नन्वेतदुपनीतं मे परमप्राणनं सखे ।

तर्पयन्त्यङ्ग मां विश्वमेते पृथुकतण्डुलाः ॥९॥

श्लोकार्थ—हे सखा ! यह तो आप ऐसी चीज ले आए हो, जो मुझे बहुत प्यारी है, हे अङ्ग ! ये तण्डुल तो मुझे और विश्व को तृप्त करने वाले हैं ॥९॥

सुबोधिनी—एतदुपायनं परमप्रीतिजनकम् । विश्वमिति । एते उपस्थिता भक्त्या
सखित्वात्सङ्कोचाददीयमानमपि ग्राह्यम् । संवलिताः ॥९॥
पृथुकतण्डुलानां माहात्म्यमाह तर्पयन्त्यङ्ग मां ।

व्याख्यानार्थ—यह भेंट अत्यन्त आनन्द देनेवाली है, मित्र के नाते और सङ्कोचवश न देने पर लेने योग्य है । इन तण्डुलों का माहात्म्य बताते हैं कि हे अङ्ग ! ये तण्डुल ऐसे उत्तम हैं जो मुझे और समग्र विश्व को तृप्त करते हैं । ये तण्डुल भक्ति से पूरित हैं ॥९॥

आभास—एवं विचार्य मुष्टिमात्रं गृहीत्वा भक्षितवानित्याह इति मुष्टिमिति ।

आभासार्थ—इसी प्रकार, विचार कर, एक मुठ्ठी चाँवल लेकर भक्षण किए यों 'इतिमुष्टि' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—इति मुष्टिं सकृज्जग्ध्वा द्वितीयं जग्धुमाददे ।

तावच्छीर्जगृहे हस्तं तत्परा परमेष्विनः ॥१०॥

श्लोकार्थ—यों कहकर, एक मुठ्ठी तो आरोग गये और जब दूसरी आरोगने लगे तब भगवत्परायण लक्ष्मी ने भगवान् का हाथ पकड़ लिया ॥१०॥

सुबोधिनी—सर्वमेव जग्धुं द्वितीयं मुष्टिमाददे तस्या अभिप्रायमाह तत्परेति । सा हि भगवत्परा
तदा लक्ष्म्या प्रतिबन्धः कृत इत्याह तावच्छीर्जगृहे सर्वं चेद्भक्षयिष्यति तस्मां सर्वं दास्यति । ततो
हस्तमिति । लक्ष्मणाभिनिविष्टा । प्रतिबन्धे मां दास्यति । ग्रहमेव सर्वमिति । ग्रहं तु भगव-

त्परेति न तत्र गमिष्यामीति तात्पर्यम् । किंच ।
अर्धेपि दत्ते ग्रामुष्मिकमपि फलं सेत्स्यतीति तस्य
मर्यादा ब्रह्माण्डमेव सर्वमिति सांप्रतं ब्रह्माण्ड-

विग्रहो भगवानेवेति द्वितीयमुष्मावेव विघ्नं
कृतवती तदाह परमेष्ठिन इति । भगवतः पुरुष-
रूपत्वे लक्ष्मीरपि तथा जाता ॥१०॥

व्याख्यार्थ—पोटली में जो चाँवल थे, उन सब को खाने के लिए उसमें से दूसरी मुट्ठी लेली, तब लक्ष्मी ने रोका, कैसे रोका ? इस पर कहते हैं कि भगवान् के हस्त को पकड़ लिया, लक्ष्मी लक्ष्मणा में प्रविष्ट थी, प्रत्यक्ष में तो लक्ष्मणा ने हाथ पकड़ा था, किन्तु वास्तव में, लक्ष्मणा में लक्ष्मी ने प्रवेश कर हाथ पकड़ लिया था, इस प्रकार खाने में प्रतिबन्ध क्यों किया, जिसका अभिप्राय प्रकट करते हैं कि वह लक्ष्मी भगवत्परायण है उसने जान लिया, कि यदि सर्व आरोग्य लेंगे, तो सर्व सम्पत् उसको दे देंगे, पश्चात् मुझे भी दे देंगे, मैं ही सब कुछ हूँ, मैं तो भगवत्परायण हूँ अतः वहाँ न जाऊँगी । यह हाथ रोकने का भाव था । इस दूसरी मुट्ठी खाने में तो लक्ष्मी नहीं देते थे, तो दूसरी मुट्ठी खाने में प्रतिबन्ध क्यों किया ? दूसरी मुट्ठी आरोग्यते, तो ग्रामुष्मिक फल मिल जाता, इसकी मर्यादा यह हुई, कि सर्व ब्रह्माण्ड आ गया (दे दिया) अब भगवान् ही ब्रह्माण्ड विग्रह है, अर्थात् अपने को भी दे डालना चाहते हैं, अतः दूसरी मुट्ठी के आरोग्यते में प्रतिबन्ध डाल दिया, इसलिए 'परमेष्ठिनः' पद दिया है, भगवान् के पुरुषरूपन में लक्ष्मी वैभी सी ब्रह्माण्ड की अर्धरूपा हुई ॥१०॥

आभास—तत्र ब्रह्माण्डविग्रहस्यैव संबन्धिनीति सुदाम्न एव तथात्वे पुनरनिष्टं स्यात् । तस्याः फलमात्रप्रतिबन्धकत्वशङ्कायां सा स्वाभिप्रायं निरूपयति एतावताल-मिति ।

आभासार्थ—लक्ष्मी, ब्रह्माण्ड विग्रह पुरुषरूप भगवान् की सम्बन्धिनी है, यदि सुदामा को ब्रह्माण्ड रूप फल की प्राप्ति हो गई तो उसकी अर्धरूपा लक्ष्मी भी उसके आधीन हो जाएगी, जिससे लक्ष्मी का अनिष्ट होगा । अभी भगवान् के सङ्ग रहकर उनकी सेवा करती है, फिर दे देने पर, फलरूप से लक्ष्मी उसके (सुदामा के) आधीन हो जावेगी, यों अनिष्ट होगा अतः फल मात्र की यह प्रतिबन्ध हुई इस शङ्का को मिटाने के लिए अपना अभिप्राय 'एतावताल' श्लोक से प्रकट करती है ।

श्लोक—एतावतालं विश्वात्मन् सर्वसंपत्समृद्धये ।

अस्मिँल्लोकेऽथवामुष्मिन् पुंसस्त्वत्तोषकारणम् ॥११॥

श्लोकार्थ—हे विश्वात्मा ! भक्त पुरुष पर जब आप प्रसन्न होते हैं, तब आप उसको इतनी सम्पदा देते हैं, जिससे आपको इस लोक और परलोक में आनन्द आता है, अतः आपने अब जो एक मुट्ठी खाकर सम्पदा दी है इतनी ही काफी है ॥११॥

सुबोधिनी—एतस्यैदितिसतमत्पं मुष्टिमात्र-
स्यापि बहुदानसंभवाद्, अत उक्तमेतावतेति ।

अन्यथा एतावदलमिति वदेत् । न च वक्तव्यं
सर्वमेव दास्यामीति यतस्त्व विश्वात्मा । अन्येभ्यः

किं दास्यसि । अन्ये च तवावश्यका इत्यर्थः ।
सर्वा या धनादिसंपदः तासां समृद्धये । ननु मुष्टि-
मात्रेण ऐहिकी सर्वा संपत् सिद्धयेत् न त्वामु-
ष्मिकी तत्राह अस्मिन् लोकेऽथवामुष्मिन्निति ।
लोकद्वये न तस्य भोगापेक्षा उत्तमाधिकारत् ।
किञ्चित् क्वचिद्भोगापेक्षा तदिहलोके परलोके
वा भवतु । तत्र एक एव मुष्टिः प्रयोजकः समुच्च-
यस्तु न तस्यापि संमत इति । ननु मुष्टिमात्रेण

कथं सर्वा संपत्तिस्तत्राह त्वन्तोषकारणमिति ।
एकमुष्टिभक्षणे प्रयत्न आरब्धः संपूर्णगिलन-
पर्यन्तमनुवर्तते तावता तद्रसेन तृप्यति । मुष्ट्यन्तरे
पुनः प्रयत्न आरम्भणीयस्तेन च प्रीतिरन्या
पुनर्भविष्यति । फलं च देयमेकं अतस्तव संतोषो
द्वितीय एवमेव तिष्ठेदिति द्वितीयो नोत्पादनीय
एवेत्यर्थः ॥११॥

व्याख्यार्थ—इसके दिए हुए अल्प, (केवल मुट्टी भर चाँवल) के बदले में जो आपने दिया है, वह बहुत है, अतः इतने से ही बस करो क्योंकि यही काफी है, नहीं तो 'एतावता अलं' के स्थान पर 'एतावत् अलं' कहते, यो भी न कहना, कि मैं इसको सब दे दूँगा, क्योंकि आप विश्वात्मा अर्थात् सर्व विश्व की आत्मा हो, यदि सब इसको दे दोगे तो दूसरों को क्या दोगे ? दूसरों को भी देना आपको आवश्यक है, जो सर्व धन प्रादि सम्पदाएँ हैं, उनकी समृद्धि के लिए, केवल एक मुट्टी आरोगने से इस लोक की सर्व सम्पदा सिद्ध हो सकती है, न कि परलोक की भी, इस पर कहते हैं, कि इस लोक अथवा परलोक में इसको भोग की इच्छा ही नहीं है, क्योंकि यह उत्तमाधिकारी है, यदि किञ्चित् कभी भोग की अपेक्षा इस लोक वा परलोक में हो, तो भी, एक ही मुट्टी उसमें प्रयोजक हो सकती है । समूह वा संग्रह तो इसको भी इच्छित (पसन्द) नहीं है, केवल, एक मुट्टी से कैसे समस्त सम्पत्ति प्राप्त होगी ? इसके उत्तर में कहते हैं, कि इसमें आपकी प्रसन्नता ही कारण है । एक मुट्टी के भक्षण करते हुए, प्रयत्न प्रारम्भ किया । जब तक सर्व निगल जाए तब तक जो रस प्रकट होता है उसके रस से वह तृप्त हो जाता है, फिर दूसरी मुट्टी के भक्षण करते हुए प्रयत्न आरम्भ किया जाए उससे फिर अन्य प्रीति उत्पन्न होगी उसको फल तो एक ही देना है, अतः आपको सन्तोष होता है, जो दूसरी मुट्टी आरोगोगे, तो भी सन्तोष ही आपको होगा अन्य कुछ नहीं, इसलिए दूसरे का उत्पादन नहीं करना चाहिए, अर्थात्, दूसरी मुट्टी आरोगने से आपको कोई विशेष लाभ नहीं इसलिए दूसरी मत आरोगो यों ही भावार्थ है ॥११॥

आभास—एवं भगवन्लक्ष्म्योः संवादमुक्तवा एकं फलं भतिष्यतीति विनिर्धार्य
ब्राह्मणस्य तत्फलप्राप्त्यर्थं स्वगृहगमनं वदन् भगवत्संनिधौ तस्य स्वाभिलषितमानन्दमाह
ब्राह्मणस्तां तु रजनीमिति ।

आभासार्थ—इसी तरह भगवान् और लक्ष्मी का संवाद कहकर एक ही फल होगा यह निश्चय कर ब्राह्मण को उस फल की प्राप्ति कराने के लिए अपने घर जाने को कहते हुए, भगवान् की संनिधि में उसको अपने अभिलषित आनन्द का वर्णन 'ब्राह्मणस्तां तु' श्लोक में करते हैं—

श्लोक - ब्राह्मणस्तां तु रजनीमुषित्वाच्युतमन्दिरे ।

भुक्त्वा पीत्वा सुखं मेने आत्मानं स्वर्गतं यथा ॥१२॥

श्लोकार्थ - ब्राह्मण तो, उस रात्रि में भगवान् के मन्दिर में रहा, वहाँ भोजन और पान कर ऐसा आनन्द पाया जिससे मानने लगा कि मैं मानो स्वर्ग में बैठा हूँ ॥१२॥

सुबोधिनी—अच्युतमन्दिरे उषित्वा तत्रैव वासं कृत्वा । भुक्त्वा पीत्वा नानाविधरस्यानि अमृतादीन्यपि । अलौकिकभोगसमर्थो भूत्वा । मेने आत्मानं स्वर्गतं स्वर्गत एव अमृतपानादिकं प्राप्नोति । भगवान् पूजार्थं किञ्चिदाभरणं वस्त्रादिकं गां च दत्तवानिति लक्ष्यते । यावता सुवेषेण गृहं गच्छति ।

व्याख्यार्थ—भगवान् के मन्दिर में निवास कर, अनेक प्रकार के अमृत आदि रस युक्त पदार्थों को खा और पीकर, अलौकिक भोग भोगने में समर्थ हो के, अपने को स्वर्ग में बैठा हुआ समझने लगा, क्योंकि स्वर्ग में ही अमृतपानादि प्राप्त होते हैं । भगवान् ने पूजा में कुछ आभरण, वस्त्र दि और गौ दी, यों जाना जाता है जिससे सुन्दर वेष धारण कर घर जावे ॥१२॥

आभास—ततः प्रातःकाले ततो निर्गत इत्याह श्वोभूत इति ।

आभासार्थ—अनन्तर प्रातः काल वहाँ से रवाना हुआ, यह 'श्वोभूते' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—श्वोभूते विश्वभावेन स्वसुखेनाभिनन्दितः ।

जगाम स्वालयं तात पथ्यनुव्रज्य नन्दितः ॥१३॥

श्लोकार्थ—सर्वत्र जिसका प्रभाव प्रकट है, वैसे सुखरूप भगवान् से सुदामा ने दूसरे दिन बिदा ली, तब प्रभु ने प्रसन्नता से उसका अनुमोदन किया एवं उसके साथ, मार्ग में आगे जल की खाई तक चलकर बिदा दी, और जब वह रवाना हुआ तब भगवान् अपने घर लौट आए ॥१३॥

सुबोधिनी—समक्षादाने हेतुः विश्वभावेनेति विश्वस्मिन्नेवानुभावो यस्य यत्रैव गमिष्यति तत्रैव सर्वाविर्भावे संभवति किमर्थमितो नयनम् सख्यमेव पुरस्कृतमिति सखा बहु न ददाति ।

गच्छामोत्पुक्ते अभिनन्दितः गन्तव्यमिति । ततः स्वालयं गतः भगवान् पुनः पथि उदकान्तमागत्य नन्दितः संतोषं प्रापितः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—समक्ष देने में हेतु यह है, कि आपका प्रभाव समस्त विश्व में है, अतः जहाँ जावेगा वहाँ ही सर्व के आविर्भाव होते हुए ही सब कुछ प्राप्त होने का संभव है, तो फिर यहाँ से ले जाने की क्या आवश्यकता है । जिसके उत्तर में कहते हैं, कि भगवान् ने मित्रता का ही पुरस्कार किया है, इसलिए सखा बहुत नहीं देता है । सुदामा ने कहा मैं जा रहा हूँ इसका आपने अभिनन्दन किया, कि भले जाइये, पश्चात् सुदामा अपने घर को रवाना होने लगा, फिर उन (भगवान्) ने भी मार्ग में खाई तक आकर उसको संतोष कराया, अनन्तर घर लौट आए ॥१३॥

आभास—मध्ये तस्य भार्याभयाच्चिन्ता जाता तामाह स चालब्धवेति ।

आभासार्थ—ब्राह्मण को रास्ते में, भार्या अप्रसन्न होगी, इस भाव से चिन्ता होने लगी, जिसका वर्णन 'स चालब्धवा' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स चालब्धवा धनं कृष्णान्न तु याचितवान्स्वयम् ।

स्वगृहान् व्रीडितोऽगच्छन्महद्दर्शननिवृत्तः ॥१४॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण ने स्वयं इसको धन नहीं दिया और न इसने ही मांगा, भगवान् के दर्शन होने से आनन्दमग्न लज्जित होते हुए घर लौट आया ॥१४॥

सुबोधिनी—स्वतो भगवता न दत्तमिति धनमलब्धवा स्वयं च न याचितवान् सख्युः सकाशत् । तत उभयथापि लज्जितः स्वगृहान्- | गच्छत् । महद्दर्शनेन निवृत्तः सुखित एव जातो न तु धनाभावेन दुःखितो जात इत्यर्थः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने स्वतः धन नहीं दिया, अतः धन न मिलने से मित्र से स्वयं 'खुद' ने मांगा नहीं, पश्चात् दोनों प्रकार लज्जित हो अपने घर जाने लगा । भगवान् के दर्शन हो जाने से आनन्द मग्न हो गया जिससे धन न मिलने का उसको थोड़ा भी दुःख न हुआ ॥१४॥

आभास—ततस्तस्य मनोरथो यथा जातस्तमाह अहो ब्रह्मण्यदेवस्येति षड्भिः ।

आभासार्थ—उसके बाद जैसे उसका मनोरथ पूर्ण हुआ, वह 'अहो ब्रह्मण्य' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—अहो ब्रह्मण्यदेवस्य दृष्टा ब्रह्मण्यता मया ।

यद्दरिद्रतमो लक्ष्मीमाश्लिष्टो बिभ्रतोरसि ॥१५॥

श्लोकार्थ—अहो ! ब्रह्मण्यदेव की ब्रह्मण्यता मैंने देखी, जो वक्षःस्थल में लक्ष्मी को धारण करने वाले भगवान् हैं, वह मुझ दरिद्री से आलिङ्गन पूर्वक मिले ॥१५॥

सुबोधिनी—धर्मिणा तु सिद्ध एवार्थः । धर्मः कृत्वा सन्देह इति ब्रह्मण्यदेवोपि अवसरविशेषे | तथाकरणादाश्चर्यम् । भयैव ब्रह्मण्यता दृष्टा तदाह यद्दरिद्रतम इति । लक्ष्मीमुरसि बिभ्रता भगवता- | दरिद्रतमः द्रष्टुमप्ययोग्योऽहं प्राप्नुयुः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—धर्मों से तो अर्थ सिद्ध ही है, धर्मों से अर्थ सिद्ध होने में सन्देह है । यों ब्रह्मण्य देव भी विशेष अवसर होते हुए ब्राह्मण का हित करते ही हैं । इसका तो अवसर न होने पर भी वैसा करने में आश्चर्य है । मैंने ही भगवान् की ब्रह्मण्यता देखी, वह कहते हैं, कि जो मैं अत्यन्त दरिद्र हूँ, दरिद्रता के कारण देखने के भी योग्य नहीं हूँ तो भी उर में लक्ष्मी को धारण करने वाले मुझ से आलिङ्गन कर मिले ॥१५॥

आभास —एतदेव विशदयति क्वाहं दरिद्र इति ।

आभासार्थ —इसको विशदरूप से वर्णन करते हैं कि 'क्वाहं दरिद्रः ।'

श्लोक —क्वाहं दरिद्रः पापीयान् क्व कृष्णः श्रीनिकेतनः ।

ब्रह्मबन्धुरिति स्माहं बाहुभ्यां परिरम्भितः ॥१६॥

श्लोकार्थ —दरिद्र और पापी मैं कहाँ ? और लक्ष्मी के निवास भगवान् कहाँ ? मुझे केवल ब्राह्मण जाति जानकर मुझसे आलिङ्गन किया ॥१६॥

सुबोधिनी —अत एव पापीयान् दारिद्र्यव्याप्त- ; नास्ति अतुल्यत्वात् । तर्हि कथमालिङ्गनं कृतवा-
देहः दारिद्र्येण वा अनुमितपापवान् । कुत्र वा ; नित्यत आह ब्रह्मबन्धुरिति स्मेति प्रसिद्धे ।
भगवान् श्रीनिकेतनः । अतः सखित्वसंभावनापि ; ब्राह्मणो माननीय इति ॥१६॥

व्याख्यार्थ —इस कारण ही पापी होने से, दरिद्रता से मेरी देह व्याप्त है, अथवा दरिद्रता से अनुमित (अनुमान किया हुआ) पापवाला हूँ वैसे मैं कहाँ ? और कहाँ लक्ष्मी के निवास भगवान् ? दोनों समान न होने से सखापन की सम्भावना भी नहीं हो सकती है, तो आलिङ्गन कैसे किया ? मैं ब्राह्मण हूँ यह प्रसिद्ध है, ब्राह्मण मान देने योग्य है इसलिए ही आलिङ्गन आदि किया है ॥१६॥

आभास —स हि ब्रह्मणो भावः स्वयं विष्णुरिति तुल्यतया आलिङ्गनं सर्वभोगदानं च कृतवानित्याह निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्क इति ।

आभासार्थ —वह ब्रह्म का भाव स्वयं विष्णु है, इस प्रकार समानता, मान आलिङ्गन और सर्व प्रकार के भोग का दान दिया यह 'निवासितः' श्लोक में कहते हैं —

श्लोक —निवासितः प्रियाजुष्टे पर्यङ्के भ्रातरो यथा ।

महिष्या वीजितः श्रान्तो बालव्यजनहस्तया ॥१७॥

श्लोकार्थ —प्रिया के सेवन करने योग्य पलङ्ग पर जैसे बन्धुओं को बिठाया जावे वैसे मुझे बिठाया, मार्ग के परिश्रम को मिटाने के लिए भगवान् की महिषी ने हाथ में चँवर लेकर वायु की ॥१७॥

सुबोधिनी —स्वस्थाने स्वयमेव योग्यो भवति । एवेत्याह महिष्या वीजित इति । अदृष्टार्थतां
न त्वन्यस्तत्रोपवेशनीयस्तत्राह भ्रातरो यथेति । निवारयति श्रान्त इति । बालव्यजनहस्तयेति
अनेनानौचित्यमेव परिहृतम् । उपचारास्तु कृता । राजोपचारः ॥१७॥

व्याख्यार्थ —अपने स्थान पर आपका विराजमान होना ही योग्य है न कि दूसरे का, इसलिए ही 'भ्रात रोयथा' जैसे बान्यव पद दिया है, यों कहकर इसका अनौचित्य मिटा दिया है । उपचार

तो किए ही हैं; पटराणी ने पवन की, क्योंकि मैं थका हुआ था यह जान उस थकावट को दूर करने के लिए चँवर हाथ में लेकर पवन की, चँवर से वायु का करना यह राजाओं का उपचार है ॥१७॥

आभास— ततो भगवतापि ब्राह्मण इति पूजित इत्याह शुश्रूषया परमयेति ।

आभ सार्थ— पश्चात् भगवान् ने भी ब्राह्मण जानकर पूजन किया, यों शुश्रूषया' श्लोक में कहते हैं —

श्लोक— शुश्रूषया परमया पादसंवाहनादिभिः ।

पूजितो देवदेवेन विप्रदेवेन देववत् ॥१८॥

इलोकार्थ— देवों के देव और ब्राह्मण ही जिनके लिए देव हैं वैसे भगवान् ने उत्तम सेवा करते हुए पांव दाबना आदि क्रियाओं से देव समान मेरा पूजन किया ॥१८॥

सुबोधिनी— पादसंवाहनमेवादिर्येषामिति ते उपचाराश्चतुःषष्टिः नृत्यगीताद्याः । ननु किमाधिव्यमेतावता तत्राह देवदेवेनेति । देवाः पूज्याः तेषामपि देवो भगवान् तेनापि पूजितश्चेत् किमवशिष्यते । ननु भगवान् हीनभावं किमित्य

अवलम्बते तत्राह विप्रदेवेनेति । विप्रा एव देवा यस्येति । देववदित्यणुमात्रमपि स्वव्यापारस्तत्र निवारितः, स्नानादिकमपि भगवतैव कारितमिति ज्ञापितम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ— पांव दाबना जिनकी आदि (प्रारम्भ) है वैसे उपचार नृत्य गीत आदि चौसठ हैं इतनी अधिकता क्यों? तो कहते हैं कि आप देवों के देव हैं, देव पूजने योग्य हैं उन पूज्य देवों को भी जो पूजने योग्य हैं, तो शेष क्या रहा ? भगवान् ऐसे हैं, तो फिर हीन भाव का अवलम्बन क्यों करते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि, ब्राह्मण को अपना देव मानते हैं, अतः देव की तरह पूजा की, स्वल्प भी उसमें कमी नहीं की जैसे देव के पूजन में स्नान आदि देव को स्वयं अपने हाथों से कराया जाता है शरीर भी पोंछा जाता है, देवता कुछ नहीं करता है इसी तरह भगवान् ने भी अपने हस्तों से सुदामा ब्राह्मण की पूजा की ॥१८॥

आभास— एवं भगवन्तं स्तुत्वा धनादानात् अन्यथावचनं प्राप्नोति तन्निराकरणार्थं हेत्वन्तरमेवात्र स्थापयति स्वर्गपवर्गयोरिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार भगवान् की स्तुति कर धन न देने से दूसरे प्रकार के वचन कहेगा उसके निराकरण के लिए दूसरा हेतु यहां स्थापित करते हैं 'स्वर्गपवर्गयोः' श्लोक में—

श्लोक— स्वर्गपवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि संपदाम् ।

सर्वासामपि सिद्धीनां मूलं तच्चरणार्चनम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—स्वर्ग, मोक्ष और पाताल लोक के सुख, ऐहिक सम्पत्ति और सर्व प्रकार की सिद्धियों, इन पाँच प्रकार के फल का मूल कारण भगवान् के चरणारविंद की सेवा ॥१६॥

सुबोधिनी पञ्चधा हि फलं जगति प्रसिद्धं । सर्वेषामेव न तु कस्यचिदपि देवान्तरोपासकस्य
लोकत्रयसुखं, मोक्षः, अणिमादिसिद्धयश्चेति । हेत्वन्तरमस्तीति । मूलं मुख्यकारणम् ॥१६॥
तेषां एकमेव हरेः पादसेवन कारणम् । पुंसां

व्याख्यार्थ—जगत् में तीन प्रकार के फल प्रसिद्ध हैं, १- तीन लोक के सुख, २- मोक्ष, ३- अणिमादि सिद्धियाँ, इनकी प्राप्ति का मूल कारण एक ही भगवान् के चरणों की सेवा है, सर्व ही पुरुषों का, न कि एक का, अन्य देवों के उपासकों के लिए दूसरा हेतु है यों, किन्तु मुख्य मूल कारण हरि की सेवा है ॥१६॥

आभास—नन्विदानीं चरणसेवार्थं गतस्तदा कथं न दत्तवान् पूर्व चरणसेवा न कृतेति चेदिदानीं चरणसेवा कृतेति तस्याः कारणतैव न स्यात् । तत्राह अधनोऽयं धनं प्राप्येति ।

आभासार्थ—यदि कहो कि चरण सेवा कारण है तो पूर्व चरण सेवा नहीं की अब चरण सेवा के लिए भगवान् के पास गया, तब क्यों नहीं दी इसलिए चरण सेवा कारणता ही सिद्ध नहीं होती है, इसके उत्तर में 'अधनोऽयं धनं प्राप्य' श्लोक कहता है—

श्लोक—अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत् ।

इति कारुणिको तूनं धनं मे भूरि नाददत् ॥२०॥

श्लोकार्थ—निर्धन धन पाकर अहंकार (घमण्ड) में आ जाएगा, फिर मुझे भूल जाएगा यों सोचकर, मुझे बहुत धन नहीं दिया, क्योंकि दयालु हैं, अतः मुझ पर दया की, जो धन नहीं दिया, यदि देते तो मैं अभिमान (घमण्ड) में आने से भगवत् स्मरण भूल जाता ॥२०॥

सुबोधिनी धनेनावश्यं मदो भवेत् मदेन च वान् मे भूरि धनं नाददत् अल्पं तु दत्तवानिति
विस्मृतात्मा मां सुतरामेव न स्मरेत् । ततः सूचितम् ॥२०॥
स्मरणाभावे सर्वनाशः । इति कारुणिको भग-

व्याख्यार्थ—धन से मद अवश्य होता है, मद से अपनी तथा प्रभु की विस्मृति हो जाती है, इसको धन दूँगा तो मुझे भूल जाएगा, मुझे भूल जाने से इसका सब नाश हो जाएगा, अतः दयालु भगवान् ने बहुत ऐश्वर्य नहीं दिया, स्वल्प तो दिया, इससे यों सूचित किया है ॥२०॥

आभास — उपसंहरन्नग्निममाह इति तच्चिन्तयन्निति ।

आभासार्थ—‘इति चिन्तयन्’ श्लोक से उपसंहार करते हैं—

श्लोक—इति तच्चिन्तयन्नन्तः प्राप्नो निजगृहान्तिकम् ।

सूर्यानलेन्दुसंकाशैर्विमानैः सर्वतो वृतम् ॥२१॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार विचार करता हुआ वह ब्राह्मण अपने गृह के पास आ पहुँचा । वहाँ देखे तो सूर्य, अग्नि और चन्द्रमा के समान प्रकाशमान-विमान चारों ओर शोभ रहे हैं ॥२१॥

सुबोधिनी—तत्प्रमेयं चिन्तयन् निजगृहस्या-
न्तिकं प्राप्नोः । अपूर्वं दृष्टवानित्याह सूर्यानलेन्दु-
संकाशैरिति द्वाभ्याम् । उपरि परितो मध्ये च
वर्णयति । सूर्यस्य दिवसेप्रकाशः, अग्नेः

सन्ध्यायां, चन्द्रस्य च रात्रौ, विमानानि तु
कालत्रयेऽपि शोभायुक्तानि । एतदृशैर्मनोभिल-
षितसुखावहैः सर्वतो व्याप्तम् ॥२१॥

व्याख्यार्थ—उस प्रमेय को विचारता हुआ अपने गृह के पास आ पहुँचा वहाँ आगे जो न देखा था वह नवीन देखा, ऊपर, चारों तरफ और मध्य में क्या था ? इसका वर्णन करता है, सूर्य का दिन में प्रकाश होता है, अग्नि का सन्ध्या के समय उजाला होता है, चन्द्रमा का रात्रि को प्रकाश होता है, वहाँ विमान तो तीनों कालों में भी शोभा वाले थे, मन के अनुकूल सुख देने वाले विमानों से चारों तरफ घिरा हुआ था ॥२१॥

आभास — ततः परितः शोभामाह विचित्रोपवनोद्यानैरिति ।

आभासार्थ—इसके बाद चारों तरफ जो शोभा हो रही थी उसका ‘विचित्रो’ श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—विचित्रोपवनोद्यानैः कूजद्दिहजकुलाकुलैः ।

प्रफुल्लकुमुदाम्भोजकल्हारोत्पलवारिभिः ॥२२॥

श्लोकार्थ—जिनमें अनेक पक्षियों के कुल कलख कर रहे हैं वैसे विचित्र उपवन वाला, प्रफुल्लित कुमुद, कल्हार और उत्पल जिसमें शोभा दे रहे हैं वैसे जलाशयों वाला ॥२२॥

सुबोधिनी—उपवनं फलप्रधानं, उद्यानं पुष्प-
प्रधानम् । अत्रान्तरभेदपरिग्रहार्थं बहुवचनम् । कूज-
द्दिहजानां कूजद्दिहजानां कुलानि जातिविशेषाः
नैराकुलानि । फलपुष्पसमृद्धिनिरूपिता । तामस-
जम्भानान्निरूप्य सात्त्विकान् भावानाह प्रफु-

ल्लानि कुमुदानि येषु वारिषु तैः पुष्करिणीस्थैः
सर्वतो वृतम् । कुमुदं रात्रिविकासि अव्यवस्थित,
अम्भोजकल्हारोत्पलानि दिनसन्ध्या रात्रिविकास-
युक्तानि नियतानि ॥२२॥

व्याख्यार्थ—जिममें फलों की प्रधानता होती है, उसे उपवन कहते हैं और जिममें पुष्पों की प्रधानता होती है, उसे उद्यान कहते हैं, बहुवचन देने का तात्पर्य है, कि इनके अन्य भी प्रकार हैं—कलरव करने वाले अनेक पक्षियों के कुलों से व्याप्त यों कहकर फल और पुष्पों की समृद्धि बनाई, इस प्रकार तामस राजस भावों का निरूपण कर, सात्त्विक भावों को कहते हैं—गोखरिणी जलों में खिले हुए कुमुदों में व्याप्त है। 'कुमुद' रात्रि में विकसित होते हैं और व्यवस्थित नहीं, कमल दिन को, बल्हार सन्ध्या को और उत्पल रात्रि को नियत विकास पाते हैं ॥२२॥

आभास - मध्यं वर्णयति जुष्टं स्वलंकृतैः पुष्पभिरिति ।

आभानार्थ - मध्यका 'जुष्टं स्वलङ्कृतैः' इनोक से वर्णन करते हैं --

श्लोक—जुष्टं स्वलंकृतैः पुष्पैः स्त्रीभिश्च हरिणाक्षीभिः ।

किमिदं कस्य वा स्थानं कथं तदिदमित्यभूत् ॥२३॥

श्लोकार्थ - शृङ्गार किए हुए पुरुष व मृगनयनी नारियों से मुग्धोभित स्थान देख विचारने लगा कि यह क्या? यह स्थान किसका है? क्या वह स्थान वह ही है, जहाँ मेरा गृह था; तो फिर यों कैसे हो गया ? ॥२३॥

सुबोधिनी—स्त्रीभिश्च हरिणाक्षीभिः परम-सौन्दर्ययुक्ताभिः । एवंविधं गृहान्तिकस्थानं दृष्ट्वा गन्धर्वनगरादिशङ्कया अलौकिक किञ्चित्संभावयति किमिदमिति । इदं परिदृश्यमानं गन्धर्वनगरमायावैभवादीनामन्यतश्च आहोस्विद् सत्यमेवेति । ततः स्थिरता पदार्थानां दृष्ट्वा

स्वस्यैव भ्रमात् स्थानान्तरगमनं संभावयति कस्य वा स्थानान्तरमिदमिति । ततोऽपि परितो भागान् दृष्ट्वा मदीयमेवैतत् स्थानमिति निश्चित्य तदतिहीनमस्मद्गृहं इदमेतादृशं कथमभूदिति चिन्तितवान् ॥२३॥

व्याख्यार्थ—परम सौन्दर्य से युक्त मृगनयनी स्त्रियोंवाला इस गृह का भीतरी भाग देखकर, गन्धर्वनगरादि की शङ्का से विचार मग्न हो कुछ अलौकिक की संभावना समझ कहने लगा, कि यह क्या ? यह जो मैं देख रहा हूँ वह, गन्धर्व नगर के माया का वैभव आदि में से एक है ? वा सत्य ही है, पश्चात् पदार्थों की स्थिरता देख कहने लगा कि—मैं ही भ्रम से दूसरे स्थान पर तो नहीं आ गया हूँ । तो यह किसका दूसरा स्थान है ? पश्चात् चारों ओर के भागों को देखकर निश्चय किया कि यह स्थान तो मेरा ही है, किन्तु वह मेरा घर तो बहुत पुराना और साधारण था, वैसा यह ऐसा सुन्दर कैसे हो गया ? यों विचार करने लगा ॥२३॥

आभास—एवमाश्चर्याविष्ट एव तस्मिन् तन्निर्णयार्थं कौतुकान्तरमाह एवं मीमांसमानमिति ।

आभासानर्थ इस प्रकार अचम्भे में पड़कर उसका निर्णय करने के लिए एव मीमांसमान' इनोक में दूसरा कौतुक कहते हैं—

श्लोक—एवं मीमांसमानं तं नरा नार्योऽमरप्रभाः ।

प्रत्यगृह्णन् महाभागं गीतवाद्येन भूयसा ॥२४॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार वह ब्राह्मण विचार ही कर रहा था, तो इतने में देव समान कान्ति वाले पुरुष और स्त्रियाँ बहुत जोर से गाती-बजाती उस महाभाग्यवान् को लेने के लिए सामने स्वागत करने लगे ॥२४॥

सुबोधिनी—पूजितविचारवचनो मीमांसा-
शब्दः एवमुत्कृष्टविचारकं पुरुषा नार्यश्च गीत-
वाद्येन भूयसा प्रत्यगृह्णन् । नन्वयं पिशाचसदृशः,
गीतवाद्यादिकं कथं भजते योग्यत्वाभावादित्या-

शङ्क्याह महाभागमिति परमभाग्ययुक्तम् ।
तस्मिन् भगवत्स्वरूपदेवेन्द्रावेशो जातः । अतो
योग्यरूप एव सन् नृत्यादिभिः पुरस्कृतो जात
इत्यर्थः ॥२४॥

व्याख्यान—मीमांसा शब्द का भावार्थ है कि ऐसे विचार के वचन हो जो पूजित हों अर्थात् उत्कृष्ट विचार वाले वचन हो, यों उत्कृष्ट विचार करने वाले को पुरुष तथा स्त्रियाँ गीत गाते वाद्य बजाते हुए बधावने के लिए आए, यह तो पिशाच जैसा दिखता है उसके लिए गीत गाने और वाजे बजाने का कार्य कैसे किया जाता है ? क्योंकि वैसी योग्यता नहीं है, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'महा भागं' पद दिया है कि यह जो पिशाच जैसा देखने में आता है वह महान् भाग्यवान् है, उसने भगवान् के स्वरूप और देवेन्द्र आवेश हैं अतः योग्यरूप वाला है जिससे नृत्य आदि से इसका स्वागत हुआ है ॥२४॥

श्लोक—पतिमागतमाकर्ण्य पत्न्युद्धर्षाऽतिसंभ्रमात् ।

निश्क्राम गृहात्तूर्णं रूपिणी श्रीरिवालयात् । २५॥

श्लोकार्थ—पति के पधारने के समाचार सुन पत्नी अति हर्षित हो, बड़े संभ्रम के साथ, जैसे मूर्तिमति लक्ष्मी घर से निकलती है, वैसे शीघ्र घर से निकलने लगी ॥२५॥

सुबोधिनी—ततः पूर्वं तस्मिन्नेव स्थाने
अमरावती प्रादुर्भूता, तस्यां च इन्द्रपत्न्यावि-
र्भावः तेन परमसौन्दर्यं प्राप्तवती, ततो भगवता
चिपिटभक्षणोत्तरक्षण एव तादृशीमवस्थां प्राप्ता,
कदा पतिरायास्यतीति पतिमेव चिन्तयाना
इदानीं पतिमागतमाकर्ण्य पत्नी तदेकनिष्ठा उद्धर्षो-

त्फुल्लनयना अतिसंभ्रमात्सर्वाभरणभूषिता सर्वै-
श्वर्ययुक्ता तूर्णं गृहान्निश्क्राम । निष्क्रामन्तीं तां
स्थानं च वर्णयति रूपिणी श्रीः आलयादिवेति ।
क्षीरसमुद्रान् कमलालयाद्वा रूपिणी श्रीः कृताव-
तारा लक्ष्मीः यथा निर्गच्छति ॥२५॥

व्याख्यान—पश्चात् सुदामा के आने से पहले ही उसके स्थान पर स्वर्ग-पुरी प्रकट हो गई और उसकी स्त्री में इन्द्राणी का प्रादुर्भाव हुआ, जिससे वह परम सुन्दरी हो गई । भगवान् ने जिस क्षण में तण्डुल की एक मुट्ठी खाई उसी समय ऐसी अवस्था हो गई । उसी काल से पति का पधारने

यों पति का ही चिन्तन कर रही थी, अब पति का आगमन सुन, उस एक में ही स्थिर बुद्धिवाली, वह हर्ष के कारण प्रफुल्लित नेत्र वाली हो गई । बहुत जल्दी सर्व आभरणों से भूषित होकर, सर्व प्रकार के ऐश्वर्य से युक्त, भट्टम घर से निकली, निकलती हुई उसका और स्थान का वर्णन करते हैं मानों क्षीर समुद्र में से कमल रूप गृह से अवतार लेकर लक्ष्मी बाहर निकलकर आ रही है ॥२५॥

श्लोक—पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा प्रेमोत्कण्ठाश्रुलोचना ।

मोलिताक्षयनमद्बुद्ध्या मनसा परिष्वजे ॥२६॥

श्लोकार्थ—पतिव्रता पति को देखकर प्रेम में गद्गद हो गई, जिससे नेत्र अश्रु-पूर्ण हो गए, आँखें वन्द कर बुद्धिपूर्वक पति को प्रणाम किया और मन से आलिङ्गन किया ॥२६॥

सुबोधिनी—ततः पतिव्रता पतिं दृष्ट्वा मदर्थं भर्त्रा वलेशः प्राप्त इति चिरात् दूरादागत इति प्रेमोत्कण्ठा सती अश्रुलोचना जाता । ततो लज्जावशादपशुकुनभयाद्वा मोलिताक्षी जाता ।

ततो यथोचितपूजा कृतवतीत्याह बुद्ध्याऽनमदिति । विवेकवत्या बुद्धयैव भर्तृनमस्कारं कृतवती । मनसा चालिङ्गनमेतावदेव च कर्तव्यम् ॥२६॥

व्याख्यार्थ - पतिव्रता पति को देख मन में विचार करने लगी, कि मेरे लिए ही पति ने इतना वनेश सहा है, इसलिए इतने दिनों के बाद दूर से आए हैं, यों प्रेम में गद्गद होने से उसके नेत्र अश्रुपूर्ण हो गए । पश्चात् लज्जा के वश से अथवा नेत्रों में प्राण हुए जल को अपशकुन जान आँखें वन्द करली, पश्चात् यथोचित पूजा करने लगी विवेक वाली ने बुद्धि से प्रणाम किया, मन से आलिङ्गन किया, इतना ही करना योग्य है ॥२६॥

आभास—ततो ब्राह्मणः पत्नीं दृष्ट्वा विस्मितो जात इत्याह पत्नीं दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—अनन्तर ब्राह्मण पत्नी को देखकर अचम्भे में पड़ गया यों 'पत्नीं दृष्ट्वा' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—पत्नीं दृष्ट्वा प्रस्फुरन्तीं देवीं वैमानिकीमिव ।

दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये भान्तीं स विस्मितः ॥२७॥

श्लोकार्थ—विमान में बैठी हुई अप्सरा के समान दैदीप्यमान, कण्ठ में सुवर्ण के आभूषण पहने हुई दासियों के मध्य में भासमान अपनी स्त्री को देख, उस ब्राह्मण को बहुत विस्मय होने लगा ॥२७॥

सुबोधिनी—पूर्वापेक्षया प्रवर्धेण स्फुरन्तीं देवीं देवतामिव वल्लकरणादिभिः पूजितां तस्यां

तेजोविशेषं भावादिकं दृष्ट्वा तामुत्प्रेक्षते वैमानिकीमिवेति । यथा विमानस्था अप्सरा भवति ।

ततोप्यतिशयमाह दासीनां निष्ककण्ठीनां मध्ये
भान्तीमिति । दासीनां विशेषणं रसस्त्रीत्वाय । स ब्राह्मणो विस्मितः, भगवच्चरित्रमेतादृशम-
लौकिकमिति ॥२७॥
तासां मध्ये विभान्तौ शोभमानामेतादृशीं दृष्ट्वा,

व्याख्यार्थ—पूर्व की अपेक्षा विशेष शोभा वाली देवी को, देवता की तरह वस्त्रालङ्कारों से पूजित उसमें विशेष तेज तथा भावादि देख यों मानने लगे कि यह विमान में स्थित अप्सरा सम है, किन्तु उससे भी विशेष है क्योंकि सुवर्ण की मानाग्रों को धारण करर वाला अनेक दासियों के मध्य में शोभायमान है ऐसी अवस्था में पत्नी को देख अचम्भे में पड़ गया, यों जान गया कि यह सब भगवान् के आलौकिक चरित्र है ॥२७॥

श्लोक—श्रीतः स्वयं तथा युक्तः प्रविष्टो निजमन्दिरम् ।

मणिस्तम्भशतोपेतं महेन्द्रभवनं यथा ॥२८॥

श्लोकार्थ—वह प्रसन्न हो, अपनी स्त्री के साथ अपने गृह में प्रविष्ट हुआ, वह गृह इन्द्र के भवन के समान सैकड़ों मणि स्तम्भों से शोभित था ॥२८॥

सुबोधिनी—ततो भगवता कृपयैतद्धृतमिति
निश्चय्य प्रीतः सन् तथा युक्तो निजमन्दिरं
प्रविष्टः । तन्मन्दिरं वर्णयति मणिस्तम्भशतोपेत-
मिति । एकमेव भवनं मणिस्तम्भशतेनोपेतं यत्र
पत्न्या सह स्थितिः : एवं लोकोत्तर तदित्युक्त्वा
सामान्यतः परमोत्कर्षमाह महेन्द्रभवनं
यथेति ॥२८॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् यों निश्चय किया कि, यह सब भगवान् ने कृपा कर दिया है, जिससे प्रसन्न हो पत्नी के साथ अपने मन्दिर में प्रविष्ट हुआ उस मन्दिर का वर्णन करते हैं कि, भवन तो एक ही था जहाँ पत्नी के साथ स्थिति थी किन्तु उसमें एक सौ, मणियुक्त स्तम्भ लगे हुए थे, इस प्रकार वह लोक से उत्कृष्ट था यों कहकर सामान्य रूप से उसकी उत्कृष्टता कहने है कि जैसे महेन्द्र का भवन होता है वैसा ही यह भी है ॥२८॥

आभास—तत्रत्यान् पदार्थान् वर्णयति पयःफेनेति त्रिभिः ।

आभासार्थ—‘पयः फेननिभा’ श्लोक से तीन श्लोकों में वहाँ के पदार्थों का वर्णन करने हैं—

श्लोक—पयःफेननिभाः शय्या दान्ता रुक्मपरिच्छदाः ।

पत्यङ्का हेमदण्डानि चामरव्यजनानि च ॥२९॥

श्लोकार्थ—दूध के फेन के समान शय्या, सुवर्ण से मँडे हुए हाथी दाँत के पलङ्ग, सोने के डण्डे वाले चँवर और पंखे ऐसे अन्य उपकरण भी थे ॥२९॥

सुबोधिनी—शयनोपयोगीनि आसनोपयो-
गीनि गृहोपयोगीनि च वस्तूनि वर्णयन्ते पयःफेन-
निभा. शुभ्राः उत्तुङ्गाः शय्याः । दन्तानिमिताः
पत्यङ्काः रुक्मपरिच्छदाः सुवर्णैः दन्ता मध्ये
योजिताः । हेमदण्डानि चामरव्यजनानि चका-
रादन्यान्यपि शयनसाधनानि ॥२९॥

व्याख्यान — सोने के काम में आने वाली, बैठने के योग्य, गृह के उपयोगी वस्तुओं का वर्णन किया जाता है, दूध के फेन के समान उच्च फूला हुआ, साफ बिछोना, हाथी दाँत से बने 'पलङ्ग' वे दाँत मध्य में सुवर्ण से जड़े हुवे थे, सुवर्ण के दण्डों वाले चंवर और पंखे थे, 'च' पद से यह बताया है दूसरे भी शयन के साधन थे ॥२६॥

श्लोक—आसनानि च हैमानि मृदुपस्तरणानि च ।

मुक्तादामविलम्बीनि वितानानि द्युमन्ति च ॥३०॥

श्लोकार्थ — कोमल बिछौनों वाले सोने का सिंहासन और मोतियों की झालरीदार दैदीप्यमान चंदवे शोभ रहे थे ॥३०॥

सुबोधनी — आसनान्युपवेशनस्थानानि, सनोपयोगीनि । तदुपरि मुक्तादामविलम्बीनि हैमानि सुवर्णमयानि मृदुपट्टसन्नद्धानि आस्तरणानि मृदुपट्टनिर्मितानि चकारादन्यानि सिंहा- चन्द्रातपानि, द्युमन्ति च विचित्राणि कान्ति-युतानि ॥३०॥

व्याख्यान—बैठने के लिए जो आसन थे वे सन सोने के बने हुए थे, उनके ऊपर जो बिछोने धरे थे, वे सब कोमल पट्ट वस्त्रों से बने हुए थे, 'च' पद से बताया है कि अन्य प्रकार के भी सिंहासन के योग्य बिछौने थे, उनके ऊपर मोतियों की मालाओं की झालरें थीं, व ऐसे हासिये थे जो विचित्र कान्ति वाले चमक रहे थे ॥३०॥

आभास—गृहभित्तीर्वर्णयति अच्छस्फटिकुड्येष्विविति ।

आभासार्थ—घर की दीवारों का 'अच्छस्फटिक' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक अच्छस्फटिककुड्येषु महामारकतेषु च ।

रत्नप्रदीपा आभान्ति ललनारत्नसंयुताः ॥३१॥

श्लोकार्थ स्वच्छ स्फटिक मणियों की और मरकत मणियों की भीतों में रत्न के दीप दैदीप्यमान हो रहे थे तथा स्त्री-रत्न शोभ रहे थे ॥३१॥

सुबोधनी—स्फटिकमया भित्तयः महामर- ललना स्त्रियो रत्नसंयुताः चित्रमया रत्नैर्विर- कतमयाश्च तेषु सर्वत्र रत्नप्रदीपा आभान्ति । चिताः सत्यः स्त्रिय एव वा ॥३१॥

व्याख्यान—घर की भीत स्फटिकमणी तथा महा मरकत मणियों से जड़ी हुई थी, उनमें सर्वत्र रत्नों के दीप शोभा दे रहे थे, भीतों में स्त्रियों की आकृतियाँ चित्रित थी तथा रत्नों से बनाई हुई स्त्रियों की मूर्तियाँ खड़ी थीं अथवा रत्नों से सुशोभित सत्य स्त्रियाँ वहाँ घूम रही थी ॥३१॥

आभास—एवं दृष्ट्वा ब्राह्मणस्य या बुद्धिस्तामाह तां विलोचय ब्राह्मण इति ।

आभासार्थ - इस प्रकार देखकर ब्राह्मण की जैसी वृद्धि हुई, जिसका तां विलोक्य' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—तां विलोक्य ब्राह्मणस्तत्र समृद्धीः सर्वसंपदाम् ।

तर्कयामास निर्व्यग्रः स्वसमृद्धिमहेतुकीम् । ३२ ।

श्लोकार्थ—ब्राह्मण वहाँ सर्व प्रकार की सम्पदाओं की समृद्धि देखकर, सावधान हो, विचार करने लगा कि कारण के बिना इतनी समृद्धि मेरे पास क्यों ? ॥३२॥

सुबोधिनी—कि सर्व संपदां समृद्धीर्दृष्ट्वा । ननु हेतुः प्रसिद्ध एव भवति किमिति चिन्तनं तस्य हेतुं तर्कयामास । निर्व्यग्रः सावधानः । तत्राह स्वसमृद्धिमहेतुकीमिति ॥३२॥

व्याख्यार्थ—सर्व सम्पदाओं की समृद्धि देखकर इसके आने का क्या कारण है ? सावधान हो के इसका विचार करने लगा, कारण प्रसिद्ध है, विचार की क्या आवश्यकता है ? इन पर कहना है कि मेरे पास समृद्धि के आने का कोई कारण नहीं है ॥३२॥

आभास—लोकावगतहेत्वभावात् तत्र बहून् हेतून् उत्प्रेक्ष्य निराकरोति नूनं बतैतदिति ।

आभासार्थ—लोक में प्रसिद्ध हेतु के अभाव से वहाँ बहुत हेतुओं का पूर्ण विचार कर 'नूनं बतैतन्मम' श्लोक से निराकरण करता है—

श्लोक—नूनं बतैतन्मम दुर्भगस्य शश्वदरिद्रस्य समृद्धिहेतुः ।

महाविभूतेरवलोकतोऽन्यो नैवोपपद्येत यदूत्तमस्य ॥३३॥

श्लोकार्थ—निश्चय से मन्द भाग्य और जन्म से दरिद्री मुझको ऐसी सम्पदा मिलने का कारण महाविभूतिमान् भगवान् की कृपा दृष्टि बिना दूसरा कोई हो नहीं सकता है ॥३३॥

सुबोधिनी—भगवदिच्छा, अदृष्टं, कालो, ग्रहाः, भगवानेव वेति । तत्रान्ये बाधितविषया इति भगवानेव दृष्टः कारणमिति निर्णयमाह एतत्परिदृश्यमानं मम दुर्भगस्य कथम् । बतैति हर्षे । कदाचिद्भाग्योदयेन भवतीति चेत्तत्राह शश्वदरिद्रस्येति । सर्वदा दरिद्रोऽहं कथमेकदेव सुसमृद्धो जातः न ह्यकस्मादेवं भाग्यानि भवन्ति । अतो महाविभूतेर्भगवत एवावलोक-

नाहते अन्यो हेतुर्नैवोपपद्येत । लोकेष्वेवं श्रूयते । अकस्माल्लक्ष्म्या दृष्टो महासमृद्धो जात इति भगवांश्च महाविभूतिः महत्यो विभूतयो लक्ष्मी सदृश्यो यस्येति । अत्रोपपत्तिरप्याह यदूत्तमस्येति । यादवाः पूर्वमत्यप्रयोजकाः स्थिताः इदानीं भगवद्दृष्ट्या अतिरुमृद्धाः, दृष्टा उपपत्तिर्यदूत्तम इति ॥३३॥

व्याख्यानार्थ—इस सम्पदा के मिलने के कारण भगवदिच्छा, अदृष्ट काल, ग्रह अथवा भगवान् ही हो सकते हैं। उनमें भगवान् के सिवाय अन्य कारणों का बाध हो सकता है इसलिए इसकी प्राप्ति में देखा जाय, तो भगवान् ही कारण है, जिसका निर्णय कहता है, कि इतनी जो यह सम्पदा प्रत्यक्ष देखी जाती है, वह मुझ अभागे को कैसे मिल सकती है ? 'वत' पद दर्प वाचक हैं, यदि कहो कि कदाचित् भाग्य से भी सम्पदा की प्राप्ति हो जाती है, तो इसके उत्तर में कहता है कि मेरा भाग्य कहाँ, मैं तो निरन्तर सर्वदा ही दरिद्र हूँ, कैसे यकायक ही विशेष सम्पत्तिवान् बन गया, अचानक इस प्रकार भाग्य नहीं बढ़ जाते हैं, वन महाविभूतिवान् भगवान् को ही कृपा दृष्टि के सिवाय दूसरा कोई कारण बन नहीं सकता है। जोकों में यों सुना जाता है, कि अचानक लक्ष्मी की जिस पर दृष्टि पड़ी वह बहुत सम्पत्तिवान् बन गया जब एक विभूति लक्ष्मी की दृष्टि से बहुत सम्पत्ति स्वतः आ जाती है तो लक्ष्मी जैसी अनेक विभूतियाँ जिनके पास हैं, वैसे प्रभु की दृष्टि पड़ने पर क्या नहीं हो सकता है ? अर्थात् सर्वसिद्धि होने में कोई संशय नहीं है, अतः उनकी कृपा दृष्टि से ही यह सम्पदा प्राप्त हुई है, इसमें उपपत्ति (हेतुपूर्वक युक्ति) बताता है कि आप यदूनम हैं, आपके ही यदुकुल में प्राकट्य होने से, जो यादव पहले अत्यन्त साधारण दशावाले थे, वे अब भगवद्दृष्टि से अतिशय सम्पत्तिमान् हो गये हैं यह देखी हुई उपपत्ति, यदूत्तम है ॥३३॥

आभास—ननु भगवांश्चेद्दद्यात् तर्हि कथं न वदेत् अतः संदेह इति चेत्तत्राह नन्वब्रुवाण इति ।

आभासार्थ—यदि भगवान् ने दी है, तो आपको क्यों नहीं कहा ? इससे संदेह है, इस पर 'नन्वब्रुवाणो' श्लोक कहकर संदेह मिटाता है—

श्लोक—नन्वब्रुवाणो दिशतेऽसमक्षं याचिष्णवे भूर्यपि भूरिभोजः ।

पर्जन्यवत्तत्स्वयमीक्षमाणो दाशार्हंकारणामृषभः सखा मे ॥३४॥

श्लोकार्थ—दाशार्हो (दाशार्हवंशी) में श्रेष्ठ कृष्ण मेरा मित्र है। वह बहुत भोजन करने वाला है। जैसे मेघ स्वयं देखकर जब समझता है कि कृषक की कृषि को जल की आवश्यकता है, तब बिना कहे वर्षा कर देता है; वैसे ही यह मेरा मित्र न कह कर याचक को बिना कहे बहुत दे देता है ॥३४॥

सुबोधिनी—नन्विति निश्चये । भगवानेव याचिष्णवे एतद्दिशते आदिशति प्रदर्शयति प्रयच्छति इत्यर्थः परमसमक्ष ब्रुवाणश्च इयं प्रयच्छामीति नोक्तवान्, स्वसमक्ष च न दत्तवान् । एतावान् पर विशेष इत्यर्थः । नन्वेतादृशं दातृस्वरूपं न क्वाप्युपलक्षितमिति चेत्तत्राह पर्जन्यवत्तत्स्वयमीक्षमाण इति । यथा

पर्जन्यः कृषीवलानात्मैकशरणान् निदाघपीडितान् दृष्ट्वा कदाचिच्छयानेष्वेव तेषु तत्समं सर्वमेवाप्याययति । एवं भगवानपि मां तथाविधमेवमाप्यायितवान् तद् भक्तानां स्वरूपं स्वयमेवेक्षमाणः । ननु तथापि यावदपेक्षितं तावदेव दद्यात्कथं बहु दत्तवानित्याशङ्क्याह भूर्यपीति । यतः स्वयं भूरिभोजः । ननु चेचि-

त्स्वयं भोक्तारोऽपि परस्मै न बहु प्रयच्छन्तीति चेत् तत्राह दाशार्हकारणामृषभ इति । दाशार्हका दाशार्हाः यादवविशेषाः ते सेवकसमृद्धिवाञ्छा-

युक्ताः तेषामधिपः स्वसेवकान् दाशार्हस्तथा कृतवानिति । ननु ते तस्य संबन्धिन इति चेत् तथाहमपीत्याह सखा म इति ॥३४॥

व्याख्यानार्थ—निश्चय से, भगवान् ही याचक को देते हैं, किन्तु सामने कहकर नहीं देते हैं इसलिए समक्ष नहीं दिया, इतनी विशेषता है। यदि कहो कि ऐसा दाता स्वरूप कहीं भी नहीं देखा है तो इसका उत्तर यह है, कि जंसे मेघ जब देखता है कि, कृषकों का मेरे विवाय अन्य कोई शरण नहीं है यह गर्मी से पो डत हैं तब उनके सोते हुए ही बिना कुछ उन्हें कहे हुए उनका सारा खेत पानी से भर देता है, इसी प्रकार भगवान् ने भी वैसे ही मुझे भर दिया, भक्तों का वह स्वरूप स्वयं ही देख लिया, ठीक है, तो भी आपको जितना चाहिए था उतना ही देता यह तो बहुत दिया है, जिसके उत्तर में कहा कि आप (भूरिभोज) हैं अर्थात् बहुत भोक्ता है अतः स्वल्प कैसे देंगे ? थोड़े देने से प्रसन्न नहीं होते हैं, कितने ही स्वयं बहुत भोक्ता होते हुए भी दूसरे को बहुत नहीं देते हैं, जिसके उत्तर में कहता है, कि दाशार्ह जो यादव विशेष हैं उनमें श्रेष्ठ है । वे सदैव सेवकों की समृद्धि ही चाहते हैं अतः अपने सेवक, दाशार्हों को सम्पत्तिमान् बना दिए, यदि कहो कि वे उनके सम्बन्धी थे, इसलिए उनको बहुत सम्पत्ति दी, तो मैं भी मित्र होने से सम्बन्धी हूँ ॥३४॥

आभास—अन्यदपि भगवद्गुणं स्मृत्वा धीरोदात्तो भगवानेवैवं दातुं समर्थ इति निश्चिनोति किञ्चित्करोतीति ।

आभासार्थ—भगवान् के दूसरे गुण भी स्मरण कर, धीरे और उदात्त भगवान् ही हैं, अतः इस प्रकार देने में वही समर्थ हैं, यों 'किञ्चित् करोति' श्लोक से निश्चय करना है ।

श्लोक—किञ्चित्करोत्युर्वपि यत्स्वदत्तं

सुहृत्कृतं फल्वपि भूरिकारी ।

मयोपनीतं पृथुकैकमुष्टिं

प्रत्यग्रहीत्प्रीतियुतो महात्मा ॥३५॥

श्लोकार्थ—भगवान् अपने अधिक दिए हुए को भी स्वल्प मानते हैं और भक्त के स्वल्प को भी बहुत मान लेते हैं, मेरी लाई हुई चावलों की एक मुट्ठी को प्रेमयुक्त होकर स्वयं ग्रहण की; क्योंकि महात्मा हैं ॥३५॥

सुबोधिनी—यो ह्यल्पं प्रयच्छति स लज्जया अनुक्त्वा प्रयच्छति । तथा प्रकृते अनुक्त्वा प्रयच्छन्नल्पत्वं ज्ञापयति, अतः स्वदत्तमुर्वपि किञ्चित्करोति । सुहृत्कृतमस्मन्नीतं तु तपयत्यङ्ग मां विश्वम्' इत्यादिवाक्यैः फल्वपि मुष्टिचतुष्टयात्मकमुपायनं भूरिकारी । तत्प्रकटी-

करोति मयोपनीतमिति । भगवानिन्द्रादिभिरप्यानीतमेवममृतं न भक्षयति यथा पृथुकानामेकमुष्टिं भक्षितवान् । अतोऽमृतापेक्षयापि पृथुकानां मानदानत्वाद्भूरिकारित्वम् । तत्रापि प्रीतियुतः परमपेक्षितपदार्थं प्राप्त इव । स्वयं तु महात्मा कोटिब्रह्माण्डनायकः ॥३५॥

व्याख्यार्थ—जो स्वल्प देता है, उसको लज्जा आती है जिससे वह बिना कुछ कहे दे देता है। वैसे प्रकृत विषय में बिना कहे देकर, इतनी बड़ी सम्पदा का भी भगवान् अल्पत्व प्रकट करते हैं। मित्र का किया हुआ अर्थात् मैं जो भेंट ले गया तो उसको 'तर्पयत्यङ्ग मां विश्वं' इत्यादि वाक्यों में चार मुट्ठी भर थोड़ी सी भेंट को भी बहुत मान लिया है, वह 'मयोपनीतं' से प्रकट करता है, भगवान् इन्द्रादिक देवों द्वारा अमृतादि भेंट लाई गई को भी इस प्रकार नहीं आरोगते हैं जैसे कि मेरी भेंट के चात्रों की एक मुट्ठी आरोगी है, अतः अमृत की अपेक्षा से भी चात्रों को मान देने से, वे भूरि (बहुत) हो गये हैं, उसमें भी प्रेम पूर्वक प्राप्त करने से व आरोगने से परम अपेक्षा वाली मेरी भेंट सिद्ध कर दिखाई है यों तो आप महात्मा कोटि ब्रह्माण्डों के स्वामी है ॥३५॥

आभास—तस्मादेवं भक्तवत्सल कोऽपि नास्तीति तत्सम्बन्धा मम बहवो भवन्तिवति प्रार्थयते तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्रीति ।

आभ सार्थ—इस कारण से ऐसा भक्तवत्सल कोई भी नहीं है, उनके साथ मेरे सम्बन्ध बहुत हों, इस 'तस्यैव मे' श्लोक से प्रार्थना करता है—

श्लोक—तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री-

दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यात् ।

महानुभावेन गुणालयेन

विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसङ्गः ॥३६॥

श्लोकार्थ—मुझे जन्म-जन्म में उनके लिए ही प्रेम और उनसे ही सखाभाव, सौहृद एवं मैत्री तथा उनका ही दास होकर रहूँ और महानुभाव तथा गुणों के आलय भगवान् में आसक्ति होवे, उनके भक्तों का सत्सङ्ग मिले, यही उनसे प्रार्थना है ॥३६॥

सुबोधिनी—प्राणिनो देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि चतुर्विधानि भवन्ति । तत्र हृदयस्य संबन्धः सौहार्देन भवति सौहार्देनैव स्मरणम् । सख्यं प्राणस्य, स हि सर्वत्र जीवमुपयाति सखायमेवानुगच्छति । भगवांश्चेन्मत्प्राणानां सखा भवेत्तदा तमेवानुगच्छेयुरिति तात्पर्यम् । इन्द्रियाणां मैत्री तानि मित्रानुगुणमेव कुर्वन्ति । दास्यं देहस्य । एतच्चतुष्टयं मम पूर्वं स्थितमेव, अन्यथा भगवत्संबन्धः कथं भवेत् । पुनर्जन्मनि जन्मनि स्यादिति प्रार्थना । यत्र याश्चाभावेपि समृद्धिमेतावती दत्तवांस्तत्र किं न दद्यादिति गृहे

प्रविष्टो याचते । नन्वेकस्मिन् जन्मनि एकेन सह जातम्, जन्मान्तरे शिवेनान्येन वा प्रार्थ्यतां कोयं निर्बन्ध इति चेत् तत्राह महानुभावेन गुणालयेनेति । स हि महानुभावः तत्सेवकसेवकेष्वपि न संसारादिधर्मा भवन्तीति । किञ्च । गुणालयेन गुणानां स एव एक आलयः आकरः । ननु तत्र सख्यार्थं जन्मादिप्रार्थनायां तत्र विषयः सह आसङ्गः स्यात् तदा अनर्थो भवेदित्याशङ्क्याह विषज्ज-तस्तत्पुरुषप्रसङ्ग इति । तदा भगवद्भक्तैः सह सङ्गो भवतु तेनैवासङ्गदोषो निवर्तिष्यत इत्यर्थः ॥३६॥

१- हे अङ्ग ! यह भेंट मुझे और विश्व को तृप्त करती है ।

व्याख्यार्थ—प्राणी को देह इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण चार प्रकार होते हैं उनमें से हृदय का सम्बन्ध सौहार्द से होता है। सौहार्द होने से हो स्मरण, बन सकता है। प्राण का सखा भाव से सम्बन्ध होता है, वह हो जीव के पास जाता है, अतः सखा के पीछे ही जाता है। यदि भगवान् मेरे प्राणों के सखा बन जावे, तो तब मेरे प्राण उनकी ओर ही जाएंगे, यही तात्पर्य है, इन्द्रियों का सम्बन्ध मंत्री से है, वे इन्द्रियाँ मंत्री की तरह ही बर्ताव करेगी, देह का सम्बन्ध दासपन से है, अर्थात् दासत्व प्राप्त हुवा भगवान् के साथ देह का सम्बन्ध सर्वदा बना रहेगा, ये चार ही मेरे पड़ले भगवान् में स्थित हैं, नहीं होते, तो भगवान् से मिलाप कैसे हो सकता ? फिर जन्म जन्म में वैसा ही रहे यह प्रार्थना है, जहाँ बिना मांगे भो, इनकी सम्पत्ति दे दी तो वे क्या नहीं देंगे अर्थात् सब कुछ मांगने पर तो देंगे ही, यों गृह में प्रविष्ट हो माँगने लगा।

एक जन्म में एक कृष्ण से ये सम्बन्ध हुए तो दूसरे जन्म में शिव से या दूसरे किसी से हो, वंसी प्रार्थना करो, एक के लिए ही आग्रह क्यों ? यदि यों कहते हो, तो इसका उत्तर यह है, कि वे महानुभाव हैं, जिससे उनके सेवक के सेवकों में भो संसारादि धर्म नहीं है। और विशेष यह है कि गुणों की निधि वे ही हैं, उनसे सख्य आदि के लिए जन्म लेने की प्रार्थना करते हो, तो जन्म लेने पर विषयों में आसक्ति होगी तो अनर्थ हो जाएगा, इसके उत्तर में कहना है, कि अनर्थ न होगा क्योंकि तब भगवद्भक्तों से सङ्ग होगा, उससे विषयादि में सङ्ग नहीं होगा जिससे अनर्थ करने वाले सङ्ग के दोष स्वतः निवृत्त हो जाएंगे ॥३६॥

आभास — ननु तस्मिन् जन्मनि धनराज्यादिसंपत्तौ न भगवद्भक्तैः सह सङ्गः न वा निस्तार इति चेत् तत्राह भक्ताय चित्रा इति ।

आभासार्थ—यदि कहो, कि उस जन्म में धन राज्य आदि सम्पत्ति होने पर भगवद्भक्तों से सङ्ग नहीं हो सकेगा तो, निस्तार भी नहीं होगा, इसके उत्तर में 'भक्ताय चित्रा' श्लोक कहता है—

श्लोक—भक्ताय चित्रा भगवान् हि संपदो

राज्यं विभूतीर्न समर्धयत्यजः ।

अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं

पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—धनी पुरुषों के धन के मद से नीच जन्म होते देखकर, विचक्षण भगवान् अपने अज्ञानी भक्तों को विचित्र सम्पदा, राज वा विभूतियाँ नहीं देते हैं, अपितु दृढ़ भक्ति ही देते हैं, मुझ में तो अब सम्पदाओं के मिल जाने से वह भक्ति नहीं रही, इसलिए अब भक्ति ही माँगता हूँ ॥३७॥

सुबोधिनी—भगवान् विचित्रा बुद्धिव्यामो- विभूतीर्नश्चर्याणि च । तत्र हेतुः अज इति स्वयं
हिका. संपदः भक्ताय न समर्धयति । तथा राज्यं न जातः । अनेन षड्भावविकारा निराकृताः ।

अतः स्वार्थं सेवकानां समृद्धिं न करोतीत्यर्थः ।
तेषामेवार्थं करिष्यतीति पक्षं दूषयति अदीर्घ-
बोधायेति । यतः संपदादयः अदीर्घबोधाय
भवन्ति । दीर्घबोधाभावाय नाशाय वा । अतो
भक्तानां दीर्घबुद्धिर्न भविष्यतीति, जाता वा

नाशं यास्यतीति न समर्पयति । नात्रान्यकथना-
पेक्षा यतः स्वयमेव विचक्षणः । कदाचिद्विस्मरणे
का गतिरिति चेत्तत्राह पश्यन्निपातं धनिनां
मदोद्भवमिति । धनिनां धनमदपातदर्शनमेव
भगवत्स्मारकमित्यर्थः ॥३७॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् बुद्धि को मोहित करने वाली विचित्र सम्पदाएं भक्तों के यहाँ नहीं बढ़ाते हैं, अर्थात् नहीं देते हैं, वैसे ही राज्य विभूतियाँ और ऐश्वर्य भी नहीं देते हैं। उसमें कारण यह है, कि आप 'अज' होने से स्वयं जन्मा ही नहीं है, यों कहकर भगवान् में षड् विकारों का निराकरण किया है । अतः अपने लिए सेवकों की समृद्धि नहीं करते हैं । अपने लिए नहीं, तो उनके लिए तो करते होंगे, इस पक्ष को भी दूषण देते हैं, कि उनके लिए भी नहीं करते हैं क्योंकि सम्पदाएँ पूर्ण ज्ञान का अभाव करने वाली हैं, अथवा नाश करने वाली हैं, अतः सम्पदा होने से भक्तों की दीर्घबुद्धि नहीं होगी, अर्थात् ज्ञान वाली नहीं होगी यदि हो भी जावे, तो पुनः नष्ट हो जाएगी वह ज्ञान स्थिर नहीं रहेगा इसलिए भक्त की सम्पदा नहीं बढ़ाते हैं । इस विषय में विशेष कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि स्वयं (खुद) ही विचक्षण हैं, विचक्षण भी कभी भूल जाता है इस पर कहता है, कि ये भूलेंगे नहीं, क्योंकि धनिकों की सम्पदा से मद (अभिमान) बढ़ता है, यह आप देख रहे हैं, इसलिए भूलेंगे नहीं किन्तु सोचेंगे, कि धनियों के धन से उत्पन्न मद का पात देखना ही भगवान् का स्मारक बनता है ॥३७॥

आभास—एवं भगवति सख्यादिकमेव निश्चित्य तत्परो भूत्वा त्यागार्थं विषयोप-
भोगं कृतवानित्याह इत्थं व्यवसितमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् मेरा सखा आदि बना रहे. यह निश्चयकर उन प्रभु के ही परायण हो, त्याग के लिए विषयों का उपभोग करने लगे—

श्लोक—इत्थं व्यवसितो बुद्ध्या भक्तोऽतीव जनार्दने ।

विषयान् जायया त्यक्ष्यन् बुभुजेऽनतिलम्पटः ॥३८॥

श्लोकार्थ—भगवान् का परमभक्त सुदामा इस प्रकार बुद्धि से निश्चयकर विषयों का शनैः-शनैः त्याग करता हुआ अति आसक्त न होकर स्त्री के साथ विषयों का उपभोग करने लगा ॥३८॥

सुबोधिनी—एवं बुद्ध्या निश्चीय स्वयं च
जनार्दने भक्तो भूत्वा जायया सह तदर्थमेव
एतावज्जातमिति कियत्कालानन्तरं तान् विषयांश्च

त्यक्षामीति अनतिलम्पटः किंचिल्लम्पटो भूत्वा
अन्यथा रसो न भवतीति बुभुजे ॥३८॥

व्याख्यानार्थ—इसी तरह बुद्धि से निश्चय कर, स्वयं जनार्दन का भक्त बनकर, उसमें ही भक्ति स्थिर कर, स्त्री के साथ कुछ लम्पट सा बनकर विषयों को भोगने लगा, यदि स्वल्प भी लम्पट न

वने तो रसका अविर्भाव न होवे मन में तो यह भावना थी, कि ये सर्वसम्पदाएं इस स्त्री के कारण ही प्राप्त हुई हैं, अतः कुछ काल तक इसका मनोरथ पूर्ण कर, बाद में विषयों का त्याग ही करूँगा ॥३८॥

आभास—एवं तस्य चरित्रमुक्त्वा भगवतोऽयं ब्रह्मण्यत्वगुण उक्त इति ज्ञापयितुं स्तौति तस्य वै देवदेवस्येति ।

आभासार्थ—इस प्रकार उसका चरित्र कहकर भगवान् का यह ब्रह्मण्यत्व गुण कहा, यह ज्ञापन करने के लिए 'तस्य वै' श्लोक से स्तुति की जाती है—

श्लोक—तस्य वै देवदेवस्य हरेर्यज्ञपतेः प्रभोः ।

ब्राह्मणाः प्रभवो देवं न तेभ्यो विद्यते परम् ॥३९॥

श्लोकार्थ—देवों के देव, यज्ञ के पति, भक्त दुःखहर्ता, प्रभाववान् भगवान् के प्रभु और देव, ब्राह्मण ही हैं, उनकी आज्ञा का पालन स्वयं करते हैं और इनकी पूजा भी करते हैं, अतः इनसे विशेष अन्य कोई भी नहीं है ॥३९॥

कारिका—पूज्यो दुःखप्रहर्ता च कर्माध्यक्षः प्रभुस्तथा ।

चतुर्विधो महान् लोके तादृशोपि द्विजप्रियः ॥

कारिकार्थ—भगवान् लोक में पूज्य, दुःखों को मिटाने वाले, कर्मों के अध्यक्ष तथा सर्व समर्थ हैं, इस प्रकार चार तरह से महान् होते हुए भी द्विजप्रिय हैं अर्थात् सबसे विशेष ब्राह्मण उनको प्यारे हैं ।

सुबोधिनी—तदाह तस्य प्रसिद्धस्य । देवानामपि देवस्य । सर्वदुःखहर्तुः यज्ञभोक्तुनियन्तुः एतादृशस्यापि ब्राह्मणाः प्रभवः देवं च । आज्ञां

करोति पूजयति चेत्यर्थः । किंच । भगवतो विचारेण तेभ्यः किंचिदुत्तमं वर्तते । अनेन दाक्षिण्यात्तान्मानयतीति पक्षो निवारितः ।

व्याख्यानार्थ—उस प्रसिद्ध देवों के देव सर्वदुःखहर्ता, यज्ञ भोक्ता और नियन्ता के ब्राह्मण प्रभु है और देव है, उनकी आज्ञा मानते हैं और उनकी पूजा भी करते हैं, और विशेषता यह है, कि भगवान् के विचार में ब्राह्मणों से उत्तम अन्य कोई नहीं है, इससे उनका आदर दाक्षिण्य के कारण करते हैं इस पक्ष का निराकरण किया ॥३९॥

कारिका—शुद्धास्त एव वक्तारो माहात्म्योक्तौ विचक्षणाः ।

निःस्पृहा ज्ञानसंयुक्ता मोक्षयोग्या हरिप्रियाः ॥४०॥

कारिकार्य—जो निःस्पृह हैं, ज्ञानवान् हैं, माहात्म्य कहने में चतुर हैं; वे ही शुद्ध वक्ता हरि के प्रिय मोक्ष पाने के योग्य हैं ॥

आभास—एव ब्रह्मण्यत्वं गुणं स्थापयित्वा ततः सुदाम्नः किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह एवं स विप्रो भगवानिति ।

आभासार्थ — इस प्रकार भगवान् में ब्रह्मण्यत्व गुण हैं इसकी स्थापना कर पश्चात् सुदामा का क्या हुआ ? इस आकांक्षा में 'एव स' श्लोक कहते हैं—

श्लोक — एवं स विप्रो भगवान् सुहृत्तदा
दृष्ट्वा स्वभक्तौरजितं पराजितम् ।
तद्विद्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धन-
स्तद्धाम लेभेऽचिरतः सतां गतिम् ॥४०॥

श्लोकार्थ — इस प्रकार भगवान् का भक्त सुदामा भगवान् को अजित मानता है तो भी भक्तों से पराजित अर्थात् उनके वश समझकर, इनके ध्यान के वेग से आत्मा के बन्धन को तोड़कर भगवान् के धाम को और सत्पुरुषों की गति रूप भगवान् को स्वल्प समय में ही प्राप्त हो गया ॥४०॥

सुबोधिनी—भगवदावेशात् भगवान्, भगवतः सुहृत् । भगवत्सुहृदा । अजितं सर्वैरपि, भवतः पराजितं सर्वावश्योऽपि भक्तवश्य इति सर्वेश्वरे वशे जाते सर्वपुरुषार्थाः करस्थिता इति । तद्विद्यानवेगोद्ग्रथितात्मबन्धन इति तस्य ध्यान-

वेगेनैव उद्ग्रथिता आत्मानः सर्व एव अविद्या-दिबन्धाः यस्येति तथाविधो भूत्वा भगवच्चिन्तने-नैव तद्धाम लेभे वैकुण्ठं प्राप्तवान् । ततः अचिरतः शीघ्रमेव सतां गतिं भगवन्तमपि, पश्चाच्च सायुज्यं प्राप्तवानित्यर्थः ॥४०॥

व्याख्यानार्थ — श्लोक में सुदामा को भगवान् और भगवान् का सुहृद कहा है, सुहृद तो ठीक किन्तु भगवान् कसे कहा ? इस शङ्का का आचार्यश्री निवारण करते हैं, कि सुदामा में भगवान् का आवेश हो जाने से भगवान् कहा है अथवा भगवत्सुहृत् पाठ समझा जावे, जिसका स्पष्ट अर्थ होगा भगवान् का मित्र, यद्यपि भगवान् को कोई भी जीतकर अपना आज्ञाकारी नहीं बना सकता है, किन्तु भक्तों से पराजित होकर भक्तों के ही केवल वश हो जाते हैं अन्य किसी के भी वश नहीं होते हैं जब सर्व के ईश्वर वश में आ गए तो सर्व पुरुषार्थ हाथ में आ गए, उनके ध्यान वेग से ही उस ब्राह्मण के सकल अविद्या के बन्धन टूट गए, यों होने पर भगवान् के चिन्तन आदि से उनका धाम प्राप्त कर लिया अर्थात् वैकुण्ठ को प्राप्त कर लिया, पश्चात् शीघ्र ही सत्पुरुषों की गति भगवान् को भी अनन्तर सायुज्य को प्राप्त कर लिया ॥४०॥

आभास—एवं सुदाम्न उद्धारमुक्त्वा तस्य पश्चादपि लोके कीर्तिर्भवत्विति एतदुपाख्यानस्य श्रवणफलमाह एतद्ब्रह्मण्यदेवस्येति ।

आभासार्थ—इसी तरह सुदामा का उद्धार कहकर, उसकी कीर्ति लोक में सदैव रहेगी, इसलिए उसके चरित्र श्रवण का फल 'एतद्ब्रह्मण्यदेवस्य' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—एतद्ब्रह्मण्यदेवस्य श्रुत्वा ब्रह्मण्यतां नरः ।

लब्धभावो भगवति कर्मबन्धाद्विमुच्यते ॥४१॥

श्लोकार्थ—मनुष्य ब्रह्मण्यदेव की यह ब्रह्मण्यता सुनकर भगवान् में भाव प्राप्त कर कर्म बन्धन से छूट जाता है ॥४१॥

सुबोधिनी—एतदित्यव्ययम् । इमां ब्रह्म-
ण्यतां श्रुत्वा नरो भगवति लब्धभावो भवति । नराणामेहिके दृढा दृष्टिरिति तद्भगवान् करोतीति । भगवद्भावो दृढो भवति । ततः कर्मबन्धाद्वि-
मुच्यते यत्रैतच्छ्रोतुरपि मोक्षः तत्र सुदाम्नो मोक्षे कः संदेहः । एव भुक्तिमुक्तिप्रदो भगवानेवेत्यु-
क्तम् । अन्यदपि फलं भगवान्प्रयच्छतीति च । एवं निरुद्धानां फलदाता निरूपितः ॥४१॥

व्याख्यार्थ—'एतत्' शब्द अव्यय है, इस ब्रह्मण्यता को सुनकर मनुष्य भगवान् में भाव प्राप्त करता है। मनुष्यों की इस लोक में जो दृढ़दृष्टि होती है वह भगवान् करते हैं, यों भगवद्भाव दृढ़ होता है। भगवद्भाव दृढ़ होने से मनुष्य कर्मबन्धन से छूट जाता है। जहाँ इस चरित्र के सुनने वाले का भी मोक्ष हो जाता है, वहाँ सुदामा के मोक्ष में कौनसा संदेह? इस प्रकार भोग और मोक्ष देने वाले कोई नहीं, भगवान् ही हैं और अन्य फल भी भगवान् ही देते हैं इस प्रकार निरुद्धों का फलदाता भगवान् ही है यह निरूपण किया ॥४१॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे द्वात्रिंशाध्यायविवरणम् ॥ ३२ ॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ७८वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३२वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य

चरण कृत विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सांख्यिक फल

अवान्तर प्रकरण का चतुर्थ अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का पद यहाँ स्थानाभाव के कारण नहीं दिया जा रहा है ।

अष्ट छाप के श्री नन्ददासजी कृत 'सुदामा चरित' अन्यत्र देने का

प्रयास किया जावेगा ।

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

। श्री वावपतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ८२वां अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ७९वां अध्याय

उत्तरार्ध ३३वां अध्याय

सात्त्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

“अध्याय—५”

भगवान् श्रीकृष्ण व बलराम से गोप-गोपियों की भेंट



कारिका — सात्त्विकप्रक्रियायां तु षड्भिः षड्भिस्त्रयं जगौ ।

प्रमेयसाधनफलं धर्मास्तत्र निरूपिताः ॥१॥

धर्मिणोऽत्र त्रयो वाच्यास्तत्राध्यायत्रयं मतम् ।

सात्त्विके तु प्रमेये हि धर्मो यादृग्विधो मतः ॥२॥

त्रयस्त्रिंशे तथाध्याये प्रथमं स निरूप्यते ।

सर्वाभीष्टः सर्वसाक्षी सर्वप्रियहितैषणः ॥३॥

तीर्थैकगम्यो ज्ञानात्मा गुरुर्मोक्षप्रदः परः ।

सात्त्विकानामेकमेव साधनं गुणवर्णनम् ॥४॥

कारिकार्थ—सात्त्विक प्रकरण में धर्मरूप प्रमेय, साधन और फल छः-छः अध्यायों से निरूपण किए, अब तीन अध्यायों से साथ में ही धर्मों रूप 'प्रमेय', 'साधन' और 'फल' का निरूपण करते हैं। सात्त्विक 'प्रमेय' में जैसा धर्म माना गया है। पहले वह इस उत्तरार्ध के तैत्तिरीय अध्याय में कहते हैं। धर्म वह है, जो सर्व को अभीष्ट हो, सबका साक्षी हो, सबका प्रिय हो और सबका हित करने वाला हो; वैसा धर्म तीर्थ पर ही प्राप्त हो सकता है, जो ज्ञान से पूर्ण हो और मोक्षदाता तथा 'पर' हो। वैसे धर्म की प्राप्ति का साधन एक ही गुणगान है ॥१-४॥

कारिका -- सरसस्य श्रुतिश्चापि तदग्रे विनिरूपितम् ।

ततः फलात्मा स हरिः सर्वाभीष्टप्रपूरकः ॥५॥

देशकालौ तथा चाङ्गं ततस्तत्रैव तत्त्रयम् ।

तामसा राजसाः प्रोक्ता राजसाश्चैव सात्त्विकाः ॥६॥

ततोऽध्याये प्रमेयेऽत्र सर्वे सात्त्विकतां गताः ।

प्रमेयमेतदेवात्र यदा सर्वेऽत्र सात्त्विकाः । ७॥

तदा प्रमेयो भगवान्नान्यथेत्युच्यते स्फुटः ।

कारिकार्थ—इसके अनन्तर आने वाले अध्याय में रस सहित चरित्र का एवं रूप का निरूपण होगा, उसका ही श्रवण और कीर्तन करना साधन है। इसके बाद फलात्मा, सबका अभीष्ट करने वाले^१ हरि का निरूपण किया गया है। इस कारण से इसी अध्याय में देश^२, काल^३ और अङ्ग^४ इन तीनों का वर्णन है। इस प्रमेय रूप प्रभु के वर्णन से तामस से राजस, राजस से सात्त्विक बन गए। इसी प्रकार जब सब सात्त्विक हुए, तब यह निश्चय है कि यह ही प्रमेय स्वरूप भगवान् स्फुट कहा है अन्यथा नहीं ॥५-७॥

आभास—इदानीमध्यायत्रयेण भगवत्साक्षात्कारः । भगवदीयानां साधनं तेषां फलं च क्रमेण निरूप्यते । तत्र प्रथम सात्त्विकानामपि सर्वोत्कृष्टानां ग्रहणादिकाल-

१- जिसको सब चाहते हैं। २- यज्ञ करने से वह पवित्र देश है।

३- ऋत्विजों को दान देने से दान का काल है।

४- यज्ञ रूप क्रिया शक्ति भी वहाँ है, क्योंकि 'मखै' यज्ञ से वह शक्ति वहाँ रही है।

विशिष्टे कुरुक्षेत्रादावेव भगवद्दर्शनं नान्यत्रेति निरूप्यते । तदर्थं कुरुक्षेत्रयात्राप्रसङ्गः । तीर्थमपि गृहं चेत्तदा न फलतीति मथुरातो द्वारकातश्च सर्वेषां गमनम् ।

तत्र कालस्य प्राधान्यात्प्रथमं सूर्यग्रहणमाह अथैकदेति ।

आभासार्थ—अब तीन अध्यायों से भगवत्साक्षात्कार का वर्णन होता है । प्रथम भगवद्दीयों का साधन, तथा उनका फल, क्रम से कहने है, सबसे उत्कृष्ट (उत्तम) सात्विकों को भी ग्रहणादि उत्तम काल वाले कुरुक्षेत्र आदि में ही भगवान् के दर्शन होते हैं, दूसरे स्थान पर नहीं, यों निरूपण किया जाता है ।

इसलिए ही प्रथम कुरुक्षेत्र की यात्रा का प्रसङ्ग कहते हैं । मथुरा, द्वारका भी तीर्थ हैं फिर कुरुक्षेत्र क्यों गए जिसके उत्तर में आचार्य श्री आज्ञा करते हैं, कि यदि तीर्थ अपना गृह हो गया हो, तो वह तीर्थ फल नहीं देता है । इसलिए सब मथुरा और द्वारका अपना गृह छोड़ कुरुक्षेत्र गए । काल की प्रधान्यता होने से प्रथम श्री शुकदेवजी 'अथैकदा' श्लोक में सूर्यग्रहण का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—अथैकदा द्वारकायां वसतो रामकृष्णयोः ।

सूर्योपरागः सुमहानासीत्कल्पक्षये यथा ॥१॥

श्लोकार्थ श्री शुकदेवजी कहने लगे कि श्रीकृष्ण और बलदेवजी जब विराजते थे, तब एक दिन प्रलयकाल में जैसे हो, वैसा बड़ा भारी सूर्य ग्रहण हुआ ॥१॥

सुबोधिनी—राहुग्रस्तदिवाकरान्नान्यो मुख्यः कालः स च कालः सर्वनाशक इति भगवति विद्यमाने कदाचित् भवेदित्याशङ्क्याह राम-कृष्णयोर्द्वारकायामेव वसतोः । यथा कल्पक्षये कल्पक्षयनिमित्तं तत्सूचकः सूर्योपरागः सर्वग्रासात्मको भवति । एवं भगवति विद्यमानेपि जातः भूभारहरणं सूचयिष्यति ॥१॥

व्याख्यानार्थ—राहु से ग्रस्त सूर्य से विशेष दूसरा कोई मुख्यकाल नहीं है, और वह काल सर्व का नाश करने वाला है यों भगवान् के विद्यमान होते हुए कदाचित् न भी होवे, किन्तु भगवान् श्री राम कृष्ण दोनों के द्वारका में विराजमान होते हुए भी हुआ वह सूर्यग्रहण साधारण नहीं हुआ, किन्तु जैसे कल्प के क्षय का कारण एवं उसकी सूचना करने वाला, सर्व ग्रासात्मक सूर्यग्रहण हुआ भगवान् के विराजते हुए वैसा सूर्य ग्रहण क्यों हुआ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यह ग्रहण सूचना करता है, कि अभी पृथ्वी पर जो बोझ बढ़ा है वह नष्ट होगा ॥१॥

आभास—ततः किमत आह तं ज्ञात्वेति ।

आभासार्थ—पश्चात् क्या हुआ ? इसलिए 'तं ज्ञात्वा' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक — तं ज्ञात्वा मनुजा राजन् पुरस्तादेव सर्वतः ।

स्यमन्तपञ्चकं क्षेत्रं ययुः श्रेयोविधित्सया ॥२॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! ज्योतिषियों द्वारा सूर्य ग्रहण होगा, वैसा जान कर पहले ही श्रेय की अभिलाषा से सब स्थानों से सब कुक्षेत्र जाने लगे ॥२॥

सुबोधिनी ज्योतिःशास्त्रप्रामाण्यात् पूर्वमेव माघे मासि ग्रहणं जायत इति श्रुत्वा स्यमन्त-पञ्चकं क्षेत्रं कुरुणा निर्मितं देशानां मध्ये मुख्यम् । श्रेयोविधित्सया तत्र गत्वा श्रेयः संपादयिष्याम इति निश्चित्य तस्मिन् समागताः ॥२॥

व्याख्यार्थ—ज्योतिषशास्त्र ही बताता है, कि ग्रहण होगा अतः यह शास्त्र ही इस विषय में प्रमाण है, इसलिए जनता ज्योतिषियों से यह सुनकर कि माघ मास में वैसा ग्रहण होगा, कुरु के बनाए हुए देशों में मुख्य स्यमन्त पञ्चक कुरुक्षेत्र में जाने से निश्चय श्रेय होगा यह निश्चय कर वहाँ आए ॥२॥

आभास—तनु तत्रैव श्रेयसंपादनं कुत इति चेत्तत्राह निःक्षत्रियां महीं कुर्वन्निति ।

आभासार्थ—वहाँ ही कल्याण सम्पादन करेंगे, वैसा निश्चय क्यों ? इसके उत्तर में 'निःक्षत्रियां' श्लोक कहते हैं ।

श्लोक — निःक्षत्रियां महीं कुर्वन् रामः शस्त्रभृतां वरः ।

नृपाणां रुधिरौघेण यत्र चक्रे महाहृदयान् ॥३॥

श्लोकार्थ—शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ परशुरामजी ने निःक्षत्रिय पृथ्वी को बनाने के लिए राजाओं के लोह के समूह से जहाँ बड़े-बड़े हृद (कुण्ड) बनाए थे ॥३॥

सुबोधिनी पूर्व रामेण क्षत्रियाणां सर्वेषां मेव नाशार्थं संकल्पः कृतः । ततः क्षत्रियाः सर्वान्मारयिष्यतीति निश्चित्य क्व युद्धेन मृते मोक्षं प्राप्स्याम इति विचार्य 'कुरुक्षेत्रसमा गङ्गा' इति 'धर्मक्षेत्रे' इति कुरुणा महता कष्टेन तत् स्थानं तथाकृतमिति तत्रैव मोक्षो भविष्यतीति निश्चित्य परशुराममारणसमये सर्व एव तत्र समागताः । ततो रामेण ते सर्वे हताः तेषां रुधिरौघेण नव हृदांश्चक्रे तान्येव तीर्थानि जातानि गङ्गातोऽप्यधिकानि । अनेन तस्योत्कर्षो निरूपितः । शस्त्रभृतां वर इति स्वधर्मनिष्ठया तस्य सम्यग्देशज्ञानं निरूपितम् ॥३॥

व्याख्यार्थ—पूर्व समय में श्री परशुरामजी ने यह संकल्प किया था कि सब क्षत्रियों का नाश करूँगा, यह उनका संकल्प सुनकर सब क्षत्रियों ने विचार किया कि वह सबको मारेगा तो युद्ध में मरे हुए कहाँ मोक्ष पाते हैं ? कुरु ने जो महान् कष्ट से धर्म क्षेत्र, कुरुक्षेत्र बनाया है । वहाँ ही मरने से मोक्ष प्राप्ति होगी, क्योंकि गङ्गाजी के लिए भी कहा है कि 'कुरुक्षेत्र समा गङ्गा' गङ्गा कुरुक्षेत्र के समान है दो विचारपूर्वक निश्चय कर परशुरामजी ने जो समय क्षत्रियों के नाश का निश्चित किया

था, उस समय सब क्षत्रिय वहाँ आ गए पश्चात् रामजी ने आए हुए सब क्षत्रियों को मार डाला, उनके लोह के समूह से नव हृद (सरोवर) बनाए, ये नव ही गङ्गा से भी अधिक तीर्थ बने, इससे इस स्थान का उत्कर्ष बताया, परशुरामजी शस्त्रधारियों में श्रेष्ठ थे और अपने धर्म में पूर्ण निष्ठा थी जिससे उनको देश का पूर्ण ज्ञान था यों निरूपण किया ॥३॥

आभास - किञ्च । न केवल क्षत्रियाणामेव तत्रोत्कर्षः संपादितः किन्तु स्वस्या-
पीत्याह ईजे च भगवान् राम इति ।

आभासार्थ - यों करने से केवल क्षत्रियों का ही उत्कर्ष नहीं बनाया, किन्तु अपना महत्त्व भी दिखा दिया, यह 'ईजे च' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक— ईजे च भगवान् रामो यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा ।

लोकं संग्राहयन्नीशो यथान्योऽघापनुत्तये ॥४॥

श्लोकार्थ - भगवान् परशुरामजी को वध के पाप का स्पर्श मात्र भी न था, तो भी उन्होंने लोक के शिक्षार्थ प्राकृत पुरुषों के समान पाप निवृत्ति के लिए यज्ञ किए ॥४॥

सुबोधिनी— प्रायश्चित्तार्थ यज्ञांश्च तत्रैव कृत-
वान् प्रायश्चित्तां तु पापसम्बन्धे भवति तथा च
तस्मिन् क्षेत्रे पापमप्युत्पद्यत इति शङ्काव्युदासा-
र्थमाह रत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणेति । यद्यपि भगवत्त्वे-
नापि न कर्मसंबन्धस्तथापि तत्र देशमाहात्म्यादेव
न कर्मसंबन्ध इति ज्ञापयितुं यत्रेत्युत्तम् । अन्यथा

चकारादपि पूर्वस्थानमायाति । तर्हि यागस्य किं
प्रयोजनमित्यः शङ्कायाह लोकं संग्राहयन्निति । ननु
किमित्येवं मन्यते तत्राह ईश इति । ननु ईशस्य
यज्ञाधिकार एव नास्ति कथं कृतवानिति चेत्तत्राह
यथान्य इति । फलार्थतां वारयति, अघापनुत्तय
इति पापक्षयार्थम् ॥४॥

व्याख्यानार्थ - परशुरामजी ने, वध का प्रायश्चित्त करने के लिए वहाँ ही यज्ञ किए, प्रायश्चित्त तत्र किया जाता है, जब पाप का सम्बन्ध होवे, यदि पाप का सम्बन्ध माना जाएगा, तो उस क्षेत्र में भी पाप लगता है यह सिद्ध होगा इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि 'यत्रास्पृष्टोऽपि कर्मणा' वध के कर्म से उत्पन्न पापों से सम्बन्ध न होने पर भी यज्ञ किए । एक तो स्वयं भगवान् थे, इसलिए आप को पाप स्पर्श नहीं कर सकते हैं, तथा देश के महात्म्य के कारण से भी पाप स्पर्श नहीं करते हैं । यह जताने के लिए (यत्र) पद दिया है । नहीं तो चकार से भी पूर्व का स्थान आ जाता है । तब यज्ञ क्यों किए ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि लोक संग्राहयन्' लोक की मर्यादा की शिक्षा देने के लिए यज्ञ किए, यों क्यों शिक्षा दी ? तो कहते हैं कि आप लोक के स्वामी हैं आपका कर्त्तव्य है शिक्षा देना, इस लिए यज्ञ किए यदि ईश हैं तो उनको यज्ञ करने का अधिकार नहीं है फिर क्यों किए ? इस पर कहते हैं कि जैसे दूसरे लौकिक करते हैं, वैसे ही उस मर्यादा की रक्षा के लिए तथा शिक्षणार्थ किए । यज्ञों का फल स्वर्गादि मिले इसलिए नहीं, किन्तु केवल पाप निवृत्ति के लिए लोक करे इस वास्ते ही किए ॥४॥

१- यह ज्ञान था कि यहाँ वध करने से मारने का दोष नहीं लगेगा, इसलिए उन राजाओं को यहाँ वध किया ।

आभास—एवं देशकालयोर्महात्म्यमुक्त्वा तत्र सर्वाणां प्रजानां समागमनमाह महत्यां तीर्थयात्रायामिति ।

आभासार्थ—इम प्रकार देश, काल का महात्म्य कहकर 'महत्यां' श्लोक से सबका आगमन कहते हैं -

श्लोक— महत्यां तीर्थयात्रायां तत्रागन्भारतीः प्रजाः ।

वृष्णयश्च तथाऽक्रूरवसुदेवाहुकादयः ॥५॥

श्लोकार्थ—इस बड़ी तीर्थ यात्रा में भरत खण्ड की सब प्रजा आई, अक्रूर, वसुदेव और आहुक आदि यादव भी आए ॥५॥

सुबोधिनी—एतादृशे निमित्ते तीर्थयात्रा महती भवति । महत्त्व सर्वेषां गमनात्कलाधिक्याच्च । अत एव भारतीः भारतवर्षोद्भवाः प्रजाः सर्वा एव तत्रागमन् । तत्र महतां नामानि संक्षे-
पेणाह वृष्णयश्चेति । आदौ वृष्णय समागता तत्रापि मुख्या एव समागता इति वक्तुं अक्रूर-वसुदेवाहुकादय इति सात्त्विका महान्तो राजानश्चोक्ताः ॥५॥

व्याख्यानार्थ—जब तीर्थ पर जाने के लिए ऐसा (सूर्य ग्रहणः) निमित्त होता है तब महती यात्रा होती है, क्योंकि उसका महत्त्व होता है । जिसके लिए कहते हैं कि एक तो वहाँ सब स्थानों से प्रायः बहुत आते हैं और उसकाल में जाने से फल अधिक प्राप्त होता है । इस कारण ने ही भारतवर्ष में उत्पन्न सर्व प्रजा वहाँ आई, वहाँ आए हुवे में से संक्षेप में मुख्य नाम कहते हैं । प्रथम यादव आए उनमें से भी मुख्य जो आये उनका नाम कहते हैं, अक्रूर, वसुदेव और आहुक आदि आए, ये सात्त्विक महान् और राजा रहे ॥५॥

आभास—तेषामन्यत्र गमनं वारयितुमाह ययुस्ते भारतं क्षेत्रमिति ।

आभासार्थ—उनका दूसरे स्थान पर जाने का निवारण करने के लिए कहते हैं कि 'ययुस्ते भारतं क्षेत्रं' वे भारत क्षेत्र में गए ।

श्लोक—ययुस्ते भारतं क्षेत्रं स्वमघं क्षपयिष्येवः ।

गदप्रद्युम्नसाम्बाश्च सुचन्द्रशुकसारणैः ॥६॥

श्लोकार्थ—अपने पापों को मिटाने के लिए सुचन्द्र, शुक और सारण के साथ गद, प्रद्युम्न तथा साम्बा भी उस भारत क्षेत्र (कुरु क्षेत्र) में गए ॥६॥

सुबोधिनी—भरतवंशोद्भवेन निर्मितं क्षेत्रं वृष्णीनां सर्वश्रेयांसि गृह एवेति भगवद्वज्रालक्षणां पापं समदतीति तस्यान्यत्र निष्कृतिमलभमानाः स्वमसाधारणमघं क्षपयिष्येव तत्रागता

इत्युक्तम् । त्रिविधा एव समागता इति शङ्कान्वु-
दासार्थं अन्धानपि गणयति गदप्रद्युम्न-
साम्बाश्चेति ॥६॥

व्याख्यानार्थ—भरतवंश में उत्पन्न कुरु ने जो क्षेत्र बनाया है वहाँ हो पाप नष्ट होंगे, यदि यादव यों मानले कि हमारे लिए अपना गृह ही सर्व कल्याण करने वाले है तो भगवान् की प्रवज्ञा रूप पाप लगेगा, इसलिए उस पाप का मिटाना दूसरे स्थान पर नहीं होगा। अतः अपने असाधारण पाप को नष्ट करने की इच्छावाले वहाँ आए यों कहा तोन प्रकार के ही आए। इस शङ्का को मिटाने के लिये दूसरों की भी गणना करते हैं कि गद प्रधुम्न और माम्ब भी आए ॥६॥

आभास—सर्वेषामेवागमने द्वारकायां क. स्थित इत्याकाङ्क्षायांमाह आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायामिति ।

आभासार्थ—सब ही आ गए तो द्वारका में कौन रहा ? जिनके उत्तर में 'आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायाम्' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायाम् कृतवर्मा च यूथपः ।

ते रथैर्देवधिषण्याभैर्हयैश्च तरलप्लवैः ॥७॥

श्लोकार्थ—द्वारका की रक्षा के लिए अनिरुद्ध और उसका सेनापति कृतवर्मा वहाँ रहा, जो यादव वहाँ कुरुक्षेत्र गए, वे कैसे गए? जिसका वर्णन करते हैं कि वे देवताओं के विमान के समान चमकने वाले रथों से तरंगों के समान चञ्चल घोड़ों से गए ॥७॥

सुबोधिनी—अनिरुद्धो योगपतिरिति योगाभ्यासपरस्याप्यनागमनमुक्तम् । कृतवर्मा च यूथप इति । तस्य सेनापतिरित्यर्थः । योऽपि तस्योत्तरसाधकः सोऽपि नागच्छेदिति यद्यपीयं यात्रा सर्वसाधारणा तथापि भगवच्चरित्रस्य प्रकरणत्वात् मुख्यतया यादवा वर्ण्यन्ते । ये समागतास्ते किं यात्रानियमेन आहोस्विच्छोमयेति संदेहे निरूपयति ते रथैर्देवधिषण्याभैरिति । कृत्वा कार्पटिकं वेषम् इति नियमः यात्रायां देशमात्र-

प्राधान्ये स नियमः, कालप्राधान्ये तु न नियम इति । चतुरङ्गसेनया महत्या सहितास्ते व्यरोचन्तेति रक्षा शोभाविषयश्च निरूप्यते । रथादयो वाहनरूपा इति केचित् । देवधिषण्यानि विमानानि । जगन्नाथादिदेवस्थानयात्रानिमित्तदेवासनरथसदृशा वा नानालंकरणोपेताः तैर्व्यरोचन्त्यग्रिमेण संबन्धः । ते गदादयः सर्व एव वा लोकाः तथा हया अपि तरलवत्तरङ्गवत् सवः प्लवनं गतिर्येषाम् । हयानां गतिरेव गुणः ॥७॥

व्याख्यानार्थ अनिरुद्ध योगपति हैं, इसलिए योगाभ्यास के परायण होने वाले का वहाँ न आना कहा तथा उनका सेनापति भी नहीं आया क्योंकि वह उनका उत्तरदायी है। अतः वह भी न आ सके, यद्यपि यह पात्र सर्व साधारण हैं तो भी भगवान् का चरित्र ही प्रकरण का विषय है। अतः मुख्य रूप से यादवों का वर्णन किया जाता है, जो भी आए वे यात्रा के नियमों का पालन करते हुए आए अथवा केवल शोभा के लिए आए ? इस प्रकार का सन्देह होने पर निरूपण करते हैं कि, वे देवताओं के विमानों के समान मुशोभित रथों से आए, यद्यपि तीर्थों पर जाने का नियम है कि साधु वेष में जाना चाहिए देश मात्र का प्राधान्य जिन यात्रा में हो उसके लिए यह नियम है, अर्थात् जब यात्रा इस विचार से जावे कि चलो गङ्गा आदि पवित्र स्थानों पर चलो,

व्याख्यार्थ—भरतवंश में उत्पन्न कुरु ने जो क्षेत्र बनाया है वहाँ हो पाप नष्ट होंगे, यदि यादव यों मानले कि हमारे लिए अपना गृह ही सर्व कल्याण करने वाले है तो भगवान् की प्रवज्ञा रूप पाप लगेगा, इसलिए उस पाप का मिटाना दूसरे स्थान पर नहीं होगा, अतः अपने असाधारण पाप को नष्ट करने की इच्छावाले वहाँ आए यों कहा तोन प्रकार के ही आए। इस शङ्का को मिटाने के लिये दूसरों की भी गणना करते हैं कि गद प्रधुम्न और माम्ब भी आए ॥६॥

आभास—सर्वेषामेवागमने द्वारकायां क. स्थित इत्याकाङ्क्षायामाह आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायामिति ।

आभासार्थ—सब ही आ गए तो द्वारका में कौन रहा ? जिनके उत्तर में 'आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायाम्' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—आस्तेऽनिरुद्धो रक्षायाम् कृतवर्मा च यूथपः ।
ते रथैर्देवधिष्ण्याभैर्हयैश्च तरलप्लवैः ॥७॥

श्लोकार्थ—द्वारका की रक्षा के लिए अनिरुद्ध और उसका सेनापति कृतवर्मा वहाँ रहा, जो यादव वहाँ कुरुक्षेत्र गए, वे कैसे गए? जिसका वर्णन करते हैं कि वे देवताओं के विमान के समान चमकने वाले रथों से तरंगों के समान चञ्चल घोड़ों से गए ॥७॥

सुबोधिनी—अनिरुद्धो योगपतिरिति योगाभ्यासपरस्याध्यनागमनमुक्तम् । कृतवर्मा च यूथप इति । तस्य सेनापतिरित्यर्थः । योऽपि तस्योत्तरसाधकः सोऽपि नागच्छेदिति यद्यपीयं यात्रा सर्वसाधारणा तथापि भगवच्चरित्रस्य प्रकरणित्वात् मुख्यतया यादवा वर्ण्यन्ते । ये समागतास्ते किं यात्रानियमेन आहोस्विच्छोमयेति संदेहे निरूपयति ते रथैर्देवधिष्ण्याभैरिति । कृत्वा कार्पटिकं वेषम् इति नियमः यात्रायां देशमात्र-

प्राधान्ये स नियमः, कालप्राधान्ये तु न नियम इति । चतुरङ्गसेनया महत्या सहितास्ते व्यरोचन्तेति रक्षा शोभाविषयश्च निरूप्यते । रथादयो वाहनरूपा इति केचित् । देवधिष्ण्यानि विमानानि । जगन्नाथादिदेवस्थानयात्रानिमित्तदेवासनरथसदृशा वा नानालंकरणोपेताः तैर्व्यरोचन्त्यग्रिमेण संबन्धः । ते गदादयः सर्व एव वा लोकाः तथा हया अपि तरलवत्तैर्ङ्गवत् सवः प्लवनं गतिर्येषाम् । हयानां गतिरेव गुणः ॥७॥

व्याख्यार्थ अनिरुद्ध योगपति हैं, इसलिए योगाभ्यास के परायण होने वाले का वहाँ न आना कहा तथा उनका सेनापति भी नहीं आया क्योंकि वह उनका उत्तरदायी है । अतः वह भी न आ सके, यद्यपि यह पात्र सर्व साधारण है तो भी भगवान् का चरित्र ही प्रकरण का विषय है । अतः मुख्य रूप से यादवों का वर्णन किया जाता है, जो भी आए वे यात्रा के नियमों का पालन करते हुए आए अथवा केवल शोभा के लिए आए ? इस प्रकार का संदेह होने पर निरूपण करते हैं कि, वे देवताओं के विमानों के समान मुशोभित रथों से आए, यद्यपि तीर्थों पर जाने का नियम है कि साधु वेष में जाना चाहिए देश मात्र का प्राधान्य जिस यात्रा में हो उसके लिए यह नियम है, अर्थात् जब यात्री इस विचार से जावे कि चलो गङ्गा आदि पवित्र स्थानों पर चले,

आभासार्थ—आगे 'दिव्यस्त्रगवस्त्रसंवाहा' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक - दिव्यस्त्रगवस्त्रसंवाहाः कलत्रे खेचरा इव ।

तत्र स्नात्वा महाभागा उपोष्य सुसमाहिता ॥६॥

श्लोकार्थ—दिव्य वस्त्र,माला व कवच पहने हुए अपनी स्त्रियों के साथ पंथ में जाते हुए देवों के समान शोभा पा रहे थे, महाभाग्यशान्तिर्यों ने वहाँ उपवास किया और स्नान कर समस्त विषयादि दोषों का त्याग किया ॥६॥

सुबोधिनी — दिव्यान्यलौकिकानि लोके आश्चर्यकराणि वस्त्रादीनि संवाहा अश्वाः, सन्नाहा वा कवचादयः । सर्व एव सस्त्री षाः प्रवृत्तौ सहितानामेवाधिकार इति, महत्त्वस्वापकं वा । स्त्रीणां बाहुल्यं शोभातिशयं च ज्ञापयितुं दृष्टान्तः खेचरा इवेति । एवं सर्वेषामागमनमुक्त्वा अमावास्यायां ग्रहणदिवस एव यावतामागमनं संभवति तानु- । क्त्वा पञ्चात्तीर्थस्नानादिकं कृतवन्त इत्याह तत्र स्नात्वेति । महाभागा इत्यनेन तीर्थप्राप्तिभाग्यं दानाद्यर्थं च निरूप्यते । ततो ग्रस्तास्तमयः सूर्य इति तस्मिन् दिवने सर्वेषामुपवासः न तु तीर्थ-प्राप्तिनिमित्तं कुरुक्षेत्रे तन्निषेधात् । सुसमाहिता इति सर्वभोगनिवृत्तिः क्रोधादिसर्वदोषनिवृत्तिश्च । ॥६॥

व्याख्यार्थ—दिव्य कहते हैं अलौकिक जो लोक में आश्चर्यजनक हों ऐसे वस्त्र ढोड़े यदि 'सन्नाहा' ऐसा पाठ हो तो उसका अर्थ है कवच आदि । वे सब स्त्रियों को साथ लेकर गये थे प्रवृत्ति में स्त्रियों के साथ ही अधिकार होता है अथवा स्त्रियों को साथ इसलिए ले गये थे कि हमारा इससे महत्व माना जायगा । स्त्रियों की अधिकता एवं शोभानिश्य को जताने के लिए 'खेचरा एव' दृष्टान्त दिया है, जैसे सिद्ध अथवा विद्याधर अपनी स्त्रियों के साथ ही आकाश में विचरण करते हैं । इस प्रकार सब के आगमन को कहकर अमावस्या में ग्रहण के दिन जितनों का आगमन संभव था उसे कहकर बाद में स्नानादिक किया यह 'तत्र स्नात्वा' पद से बताया है । जो ग्रहण के दिन तीर्थ पर आए तथा जिन्होंने दान आदि दिया वे बड़े भाग्यवान् थे यह महाभागा इस पद से निरूपित हुआ । ग्रस्तास्त सूर्यग्रहण होने से उस दिन सबने उपवास किया । तीर्थ में आये हैं इसलिए उपवास नहीं किया था क्योंकि कुरुक्षेत्र में उपवास करने का निषेध है । 'सुसमाहिता' यह पद इस बात को बताता है कि उन्होंने सब भोगों का एवं क्रोधादि सब दोषों का परित्याग कर दिया था ॥६॥

श्लोक—ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धनूवांसस्त्रजमममालिनीः ।

रामहृदेषु विधिवत्पुनराप्लुत्य वृष्णयः ॥१०॥

श्लोकार्थ—पश्चात् ग्रहण के समय ब्राह्मणों को वस्त्र, पुष्प-माला और कञ्चन की माला वाली गायें दान में दीं, फिर यादवों ने कुरुक्षेत्र में बने हुए राम हृदों (मरोवरों) में विधिवत् स्नान किया ॥१०॥

सुबोधिनी - ततो ग्रहणसमये ब्राह्मणेभ्यो ददुर्धनूः वासांसि स्त्रजश्च स्वममालाश्च यासु सर्वालंकरणोपेता दत्ता इत्यर्थः । तत्र मुख्यमेकं सरः अन्ये च हृदा नव । ते रामहृदाः शोणितौ न हृदान्नव' इति वाक्यात्ततो रामहृदेष्वपि विधिवत्फलसाधकत्वात् स्नानं कृतवन्तः ॥१०॥

व्याख्यार्थ—ग्रहण के समय ब्राह्मणों को वस्त्र पुष्पमाला और सुवर्ण की मालाओं से युक्त गाय दान में दीं, वहा एक मुख्य सरोवर और दूसरे नव हृद हैं। शोणितौवान् 'हृदात्रव' इस प्रमाण से नव हृद राम हृद कहलाते हैं, ये नव हृद फल का सिद्ध करने वाले हैं अतः इनमें विधिवत् स्नान किया ॥१०॥

श्लोक—ददु स्वर्णं द्विजाग्रचेभ्य कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति ।

स्वयं च तदनुज्ञाता वृष्णयः कृष्णदेवताः ॥११॥

श्लोकार्थ—हमारी श्रीकृष्ण में दृढ़ भक्ति हो, इसलिए ब्राह्मणों को स्वर्ण का दान दिया, कृष्ण ही जिनका देव है। ऐसे यादव ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर भोजन करने लगे और स्वयं श्रीकृष्ण भी भोजन करने लगे -- निम्न श्लोक से सम्बन्ध है ॥११॥

सुबोधिनी—तत्रापि स्वर्णं ददुः स्नानपूर्त्यर्थम्, दानाभावे स्नानं विकलं स्यात्। कामनामाह कृष्णे नो भक्तिरस्त्विति। तीर्थसुवर्णदानयोरुभयोश्चि सार्वकामिकत्वत्। एतत्स्नानं द्वितीय-

दिवस एवेति केचित्। पुनः पदाद्वितीयदिवसेऽपि दानं च। ततो ब्राह्मणानुज्ञया कृष्ण एव देवता येषाम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—स्नान की सफलता के लिए उत्तम ब्राह्मणों को स्नान के बाद भी सुवर्ण का दान दिया, स्नान के अनन्तर यदि ब्राह्मणों को दान न दिया जाय तो स्नान निष्फल हो जाता है अर्थात् स्नान का फल नहीं मिलता है। यादवों को जो मन में कामना थी वह वतःते हैं इस स्नान का फल हमको यह मिले कि श्री कृष्ण में हमारी दृढ़ भक्ति बनी रहे, तीर्थ पर आने और वहाँ सुवर्ण दान दोनों का फल, सर्व प्रकार की कामनाओं को पूर्ण करता है, अतः यादवों की यह श्रीकृष्ण भक्ति की कामना इससे पूर्ण हुई, कोई कहते हैं कि यह स्नान दूसरे दिन किया श्लोक १० के मूल में 'पुनः' पद है जिसका आशय है कि दूसरे दिन भी दान किया अनन्तर कृष्ण ही जिनका देवता है ऐसे यादवों ने ब्राह्मणों की आज्ञा लेकर कृष्ण का पूजन कर उनके भोजन के बाद भोजन किया नीचे के श्लोक से सम्बन्ध है ॥११॥

श्लोक—भुक्त्वोपविविशुः कामं स्निग्धच्छायाङ्घ्रिपाङ्घ्रिषु ।

तत्रागतांस्ते ददृशुः सुहृत्संबन्धिनोऽपरान् ॥१२॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण को ही इष्ट देव मानने वाले यादवों ने ब्राह्मणों की आज्ञा ले, भोजन कर, फिर वे शीतल छाया वाले वृक्षों की छाया में इच्छानुसार बैठ गए। वहाँ उन्होंने आए हुए सुहृत्, सम्बन्धी और दूसरों को देखा ॥१२॥

सुबोधिनी—तत्र तीर्थे कृष्णं पूजयित्वा भोजनार्थमुपविष्टे भुक्ते वा भगवति भगवता तदनुज्ञातः स्निग्धच्छायाप्रयुक्तेष्वङ्घ्रिपेषु भुक्त्वा

समुपविविशुः। एतावत्पर्यन्तं तीर्थवैयग्र्याः श्लोक-दर्शनार्थं तावकाशः। ततो यादवाः स्वश्मन्यत्रागतैव भगवांस्तत्र वर्तत इति तत्रैव समागतान्

सर्वान् ददृशुरित्याह तत्रागतांस्ते ददृशुरिति । | भगवद्दर्शनार्थमागतान् नृपानिति वा ॥१२॥
सुहृदो मित्राणि संबन्धिनः अपरानुदासीनांश्च ।

व्याख्यार्थ - -वहाँ तीर्थ पर श्री कृष्ण का पूजन कर भोजन के लिए विराजमान हुवे भगवान् के भोजन कर लेने के बाद भगवान् की आज्ञा प्राप्त कर यादवों ने भोजन किया, अनन्तर शीतल छाया वाले वृक्षों की छाया में बैठ गए इतने समय तक तीर्थ कार्य की व्यग्रता से लोगों को देखने का अवसर (मोका) न मिला पश्चात् यादव स्वयं दूसरे स्थान पर न गए क्योंकि भगवान् वहाँ विराजते हैं इनको छोड़ कैसे जावे ? अतः यहाँ ही आए हुवे सब को देखा, जिनको देखा उनका वर्णन करते हैं । मित्र सम्बन्धी जिनसे विवाह का सम्बन्ध बना रहता है और अन्य जिनसे कोई विशेष सम्बन्ध, मित्रता वा पहिचान नहीं ऐसे जो उदासीन दर्शनार्थ आए हुए थे उनको देखा अथवा अन्य राजाओं को देखा ॥१२॥

आभास—नानादेशस्थास्ते इति देशभेदान्निरूपयति मत्स्येति ।

आभासार्थ—वे अनेक देशों के रहने वाले थे जिनका वर्णन मत्स्योशीनर' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—मत्स्योशीनरकौसल्यविदर्भकुरुसृञ्जयान् ।

काम्बोजकैकयान्मद्रान्कुन्तीन्नारदकेरलान् ॥१३॥

अन्यांश्चैवात्मपक्षीयान्परांश्च शतशो नृप ।

नन्दादीन्सुहृदो गोपान्गोपीञ्चोत्कण्ठिताश्चरम् ॥१४॥

श्लोकार्थ—मत्स्य, उशीनर, कौसल्य, विदर्भ, कुरु, सृञ्जय, काम्बोज, कैकय, कुन्तल, कोंकण, केरल देशों के और अन्य अपने पक्ष के तथा दूसरे सैकड़ों राजा लोग जो भी आए थे उन सब को भगवान् के यहाँ ही देखा, अपने सुहृद नन्दरायजी आदि तथा गोप एवं गोपियों को देखा जो नन्द गोप और गोपियाँ बहुत समय से भगवान् के दर्शन की उत्कण्ठा कर रही थीं ॥१३-१४॥

सुबोधिनी—नारददेशः कौकणदेशः । अन्ये तु प्रसिद्धाः एकादश निरूपिताः । तत्तन्मनो वृत्तिप्राधान्यख्यापनाय । अनुक्तसमुच्चयार्थमाह अन्यांश्चैवेति । परान् शत्रुपक्षीयान् शतश इति शत्रुबहुल्यं सूचितम् । तेषां द्रष्टुं समागता इति भगवतोऽर्चिन्त्यसामर्थ्यं निरूपितम् । एते सर्वे

क्षत्रिया एव सजातीया निरूपिताः । विजातीयान् निरूपयन् प्रथमं नन्दादीनपश्यन् । गोपान् गोपीञ्च उत्कण्ठिता इति । भगवद्विषयिणी उत्कण्ठा भगवदीयान्वा सर्वान् सुसमृद्धान् एतावान् भगवतो विलास इति द्रष्टुं तासामुत्कण्ठा । उत्कण्ठायामेव चिरमिति विशेषणम् ॥१३-१४॥

व्याख्यार्थ - नारद देश को अब कौकण देश कहते हैं दूसरे ११ तो जो कहे हैं वे प्रसिद्ध हैं, प्रत्येक के मन की वृत्ति के प्रकट करने के लिए देशों के पृथक् २ नाम समास कर दिए

हैं, जो समासान्त पद में नहीं आए हैं उनको अन्याश्चैवेति पद से कहा है जो अपने पक्ष वाले ही थे। 'परान्' पद से शत्रु पक्ष वालों को सूचित किया है वे 'शतश' थे अर्थात् शत्रु पक्ष के बहुत आए थे वे भी देखने के लिए आये थे इस प्रकार भगवान् का अचिन्तनीय सामर्थ्य प्रगट किया है, ये सब सजातीय क्षत्रिय ही निरूपण किए अब विजातियों का निरूपण करते हुए प्रथम नन्द आदि को देखा, उत्कण्ठावान् गोप तथा गोपियों को देखा उनकी उत्कण्ठा भगवद्दर्शन सम्बन्धी थी एवं सम्बन्धी से पूर्ण सर्व भगवदीयो के देखने की उत्कण्ठा थी, यह सब भगवान् का विलास ही है इसलिए गोप गोपियों को देखने की उत्कण्ठा हुई 'चिर' विशेषण से यह बताया कि यह उत्कण्ठ, बहुत दिनों से इनकी थी।

आभास—ततस्तेषामन्योन्यसंभाषणादिकं लौकिकभाषया निरूपयति अन्योन्येति ।

आभासार्थ - वाद में उनका आपस में सम्भाषण लौकिक भाषा से हुआ जिसका निरूपण अन्योन्य' श्लोक में करते हैं

श्लोक—अन्योन्यसंदर्शनहर्षरंहसा

प्रोत्पुल्लहृद्वक्रसरोरुहश्रियः

आश्लिष्य गाढ नयनैः स्रवज्जला

हृद्यत्त्वचो रुद्धगिरो ययुर्मुदम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—परस्पर दर्शन होने से उत्पन्न अतिशय हर्ष के वेग से प्रफुल्लित हृदय और मुखारविन्द की श्री (शोभा) बढ़ गई परस्पर गाढ आलिङ्गन करते हुए, नेत्रों से आसुओं की धाराएं बहने लगी जिससे शरीर में रोमाञ्च होने लगा और उत्कण्ठा बढ़ने से वाणी भी रुक गई इस प्रकार की दशा होते ही आनन्द का अनुभव करने लगे ॥१५॥

सुबोधिनी—भगवद्भक्तैः सह साक्षात्परं परया वा सर्वेषामासक्तिरस्तीति सर्वे भगवदीया एवेति प्रमेयत्वं तेषाम् । अन्यथा तन्निरूपणे अर्धमः स्यात् । प्रकरणं च विरुध्येत । अतस्तदुक्तार्थमेव अन्योन्यदर्शनेन प्रेमाधिक्यं निरूप्यते । हर्ष आन्तरः तस्य तादृशो वेगः यो बहिरपि स्वानुभाव प्रकाशयति । अतो हृद्वक्रसरोरुहयोः

उत्फुल्लयोः श्रीयेषां दुरादर्शनस्यैतावत् । आश्लेषस्य ततोऽप्यधिकमित्याह आश्लिष्येति । कायवाङ्मनसां सर्वेन्द्रियाणां च भाव उत्पन्न इति निरूपयति तत्र प्रथमं सर्वेन्द्रियोपलक्षणार्थं हृद्यत्त्वच इति कायिकः संतोषः रुद्धगिरि इति वाचिकः । मुदं ययुरिति मानसः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—भगवद्भक्तों के साथ अथवा परम्परा से सबकी आसक्ति है, इसलिए निश्चित है, कि सब भगवदीय ही है इससे उनमें प्रमेयपन, है, यदि प्रमेयत्व न हो तो उसके निरूपण करने में अर्धम हो जावे, और प्रकरण का भी विरोध हो जाए अतः उसके कहे हुए अर्थ के लिए ही परस्पर दर्शन से प्रेम की अधिकता निरूपण की जाती है, भीतर हर्ष है, उसका ही वैसे वेग है जो बाहर भी अपना अनुभव प्रगट करता है, अतः प्रफुल्लित हृदय तथा मुख कमल की शोभा दूर से दर्शन

करते ही ऐसी बढ़ गई है, आलिङ्गन से तो इससे भी अधिकता हुई जिसका वर्णन करते हैं कि आलिङ्गन से काया, वाणी, और मन के तथा इन्द्रियों के भाव प्रगट देखने में आने लगे जैसे कि सर्व इन्द्रियों के उपलक्षणार्थ कहा कि 'हृष्यत्वचः' शरीर में रोम (रूँवाटे) खड़े हो गए जिससे काया का संतोष कहा वाणी रुक गई इससे वाणी की प्रसन्नता प्रगट की, आनन्द का अनुभव करने लगे जिससे मन का संतोष बताया ॥१५॥

आभास—एवं पुरुषाणामन्योन्यंकृताश्च स्त्रियश्च संवीक्ष्येति ।

आभे सार्थ—इस प्रकार पुरुषों के परस्पर मिलन का वर्णन कर अब 'स्त्रियश्च संवीक्ष्य' श्लोक में स्त्रियों के मिलाप का वर्णन करते हैं

श्लोक—स्त्रियश्च संवीक्ष्य मिथोऽतिसौहृद-

स्मितामलापाङ्गदृशोऽभिरेभिरे ।

स्तनैः स्तानान्कुङ्कुमपङ्कुरूपितान्

निहत्य दौभिः प्रणयाश्रुलोचनाः ॥१६॥

श्लोकार्थ—अत्यन्त सौहार्द के कारण स्त्रियाँ परस्पर मन्दहास करती तथा सुन्दर कटाक्षों को करती हुई आपस में आलिङ्गन करने लगीं उस समय कुङ्कुमचर्चित स्तनों को परस्पर के स्तनों को टकराती हुई विशेष प्रेम उत्पन्न होने से भुजाओं से गाढ़ आलिङ्गन करने लगीं जिससे नेत्रों में से प्रेम के अश्रुओं की धार बहने लगी इस प्रकार के मिलन से बहुत प्रसन्न हुई ॥१६॥

सुबोधिनी - तासां भावः प्रकटो जात इति ख्यापयितुं स्मितामलापाङ्गनिरूपणम् । अति-सौहृदमान्तरं, स्मितं मध्यस्थम्, अमलापाङ्गा वाह्याः, एतत्सहिता दृष्टयो यासाम् । अभितः	आन्तरमानसव्यवधानराहित्येन रमणं वाचनि-वम् । स्तनैः स्तनानिति । कायिको गाढाश्लेषः । प्रणयेनाश्रुलोचना इति सर्वेन्द्रियसंश्लेषः । एवमुभयेषामेकता निरूपिता ॥१६॥
--	--

व्याख्यार्थ—उन स्त्रियों में भाव प्रगट हुवा यह जताने के लिए उनके मन्दहास और निर्मल कटाक्षों का निरूपण करते हैं विशेष सौहार्द अन्दर का मन्द हास मध्य का भाव प्रगट करता है, तथा निर्मल कटाक्ष बाहर के भाव बताते हैं, स्त्रियों को दृष्टि इनके साथ वाली हैं अर्थात् स्त्रियों की दृष्टि में ये भाव भरे पड़े हैं 'अभितः' पद से यह भाव प्रगट किया है कि वाणी के रमण में आन्तरमानसभाव, किसी प्रकार रुकावट नहीं करता है, 'स्तनैः स्तनात्' पद से यह बताया है कि स्त्रियाँ बाया से परस्पर गाढ़ आलिङ्गन करने लगी, प्रेम से नेत्रों में से आँसु से सर्व इन्द्रियों का परस्पर गाढ़ आलिङ्गन होने को सूचित किया है इस प्रकार दोनों की एकता निरूपण को है ॥१६॥

आभास—अतः सर्व एव भगवदीयाश्च भगवानिति प्रमेयं भगवानेव निरूपितो भवतीति तेषामर्थाद्भगवदीयत्वं निरूप्य साक्षान्निरूपयति ततोऽभिवाद्येति ।

श्राव्यार्थ—अतः तब ही भगवदीय हैं और भगवदीय भगवद्रूप है इस लिए प्रमेय भगवान् ही निरूपण हुए, इस प्रकार उनको भगवदीयत्व निरूपण कर 'ततोऽभिवाद्य' श्लोक से साक्षात् निरूपण करते हैं—

श्लोक - ततोऽभिवाद्य ते वृद्धान् यविष्टैरभिवादिताः ।

स्वागतं कुशलं पृष्ट्वा चक्रुः कृष्णकथां मिथः ॥१७॥

श्लोकार्थ—पश्चात् छोटीयों ने जब बड़ों को अभिवादन कर लिया तब उन्होंने वृद्धों को अभिवादन कर स्वागत किया और कुशल आदि पूछ लिया, फिर आपस में मिलकर कृष्ण चरित्र कहने लगे ॥१७॥

सुबोधिनी—वृद्धाभिवादनं धर्म कीर्तनाङ्गं, यिथः चक्रुः । एतदेव परमवैष्णवलक्षणं 'तेन्यो-
यविष्टैरभिवादिता इति हीनानां परिग्रहः । न्यतो भागवता प्रसज्य समाजयन्ते मम
एवमुच्चनीचार्थं परस्परे सर्वोपकारार्थं कृष्णकथां पोषाणि' इति वाक्यात् ॥१७॥

व्याख्यानार्थ—वृद्धों को प्रणाम करना धर्म है कीर्तन का अङ्ग है छोटीयों ने अभिवादन किया इस हीनो का अङ्गीकर कहा, इस प्रकार उच्च और नीच का ग्रहण कर सब के उपकार के लिए आपस में कृष्ण की कथा करने लगे यह ही परम वैष्णवों का लक्षण है जैसे कि कहा है भगवद्भक्त परस्पर मिल कर मेरे चरित्रों का वर्णन करते हैं ॥१७॥

श्राव्यार्थ—एवं साधारणानां निरूप्य असाधारणानां स्वभावत एवासक्तियुक्ताना-
मन्योन्यवैमनस्यलक्षणं दोषं परिहर्तुं मुपालम्भपरिहारौ निरूप्येते पृथा भ्रातृनिति ।

श्राव्यार्थ—इस प्रकार साधारणों का निरूपण कर, जिनकी स्वभाव से ही आसक्ति है उन असाधारणों का परस्पर वैमनस्य दोष मिटाने के लिए उपालम्भ और उसका परिहार दोनों का निरूपण करते हैं ।

श्लोक—पृथा भ्रातृन्स्वस्त्रुर्वीक्ष्य तत्पुत्रान्पितरावपि ।

भ्रातृपत्नीर्मुकुन्दं च जहौ संकथया शुचः ॥१८॥

श्लोकार्थ—कुत्ती, भाई, बहन इनके पुत्र, माता, पिता और भोजाई तथा भगवान् को देखकर परस्पर प्रेम की बातों से शोक को भूल गई ॥१८॥

सुबोधिनी—भ्रातरो वसुदेवादयः । स्वसारः चकारात्तस्य सर्वसंबन्धो निरूपितः । एवं
भ्रातृपत्नीः । तत्पुत्राः वलशिशुपालादयः । संकथया शुचो जहौ । सामान्यप्रश्नेनैव शोकल-
पितरो मरिचिशूरो । भ्रातृपत्नीः देवक्याद्या । क्षणो दोषो निवृत्तः ॥१८॥
मुकुन्दः स्वर्गो मोक्षदानार्थमागतो भगवान् ।

व्याख्यार्थ - वसुदेवादि भाई, श्रुतदेवादि बहन, उनके पुत्र वल शिशुपाल आदि, पिता मारिष तथा गूर, भौजाई देवकी आदि, सबको मोक्षदाता भगवान् 'च' से उनका सबसे सम्बन्ध कहा है इस प्रकार के चरित्र से शोक को मिटा या सामान्य प्रश्न से ही शोक लक्षणवाला दोष मिटाया ॥१८॥

आभास—विशेषनिराकरणार्थमुपालम्भमाह आर्यभ्रातरिति ।

आभासार्थ - विशेष निराकरण करने के लिए 'आर्य भ्रातः' श्लोक से उपालम्भ उल्लाना) देती है !

श्लोक—कुन्त्युवाच—आर्य भ्रातरहं मन्ये आत्मानमकृताशिषम् ।

यद्वा आपत्सु भवार्ता नानुस्मरथ सत्तमाः ॥१९॥

सुहृदो ज्ञातयः पुत्रा भ्रातरः पितरावपि ।

नानुस्मरन्ति स्वजनं यस्य दैवमदक्षिणम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—कुन्ती कहने लगी कि हे आर्य ! हे भाई ! मैं मेरी आत्मा को अकृतार्थ मानती हूँ; क्योंकि तुम समर्थ होते हुए भी मुझ पर जिस समय विपत्तियाँ आ रही हैं, उस समय सुध नहीं लेते हो । जिससे देव रूठ जाता है, उसका कोई भी सम्बन्धी अर्थात् ज्ञाति वाले, पुत्र, भाई, माता और पिता ये भी सुध नहीं लेते हैं ॥१९-२०॥

सुबोधिनी—दुष्टस्तु न पृच्छत्येव त्वं त्वार्यः
तथापि न पृच्छसि इत्याश्चर्यम् । तत्र स्वयमेव
हेतुं कल्पयति अहमात्मानमेव अकृताशिषं
अल्पभाग्यं मन्ये । न कृताः आशिषो भाग्यहेतु
युक्ता इति । न तु त्वामुपेक्षकं मन्ये । भाग्याभावे
बन्धूनां प्रश्नाद्यभावः लोकेऽपि सिद्ध इति तं

निरूपयति सुहृद इति । अस्माकं तु आपत्सु
एकस्या अपि वार्ता नानुस्मरन्तीति किमाश्चर्यम् ।
यस्य दैवमदक्षिणं तं सुहृदादयः केऽपि न
स्मरन्ति सर्वदैवापदेत्यापत्स्वेवेति न वक्तव्यम् ।
दैवमदृष्टाभिमानिनी देवता । अदक्षिणं प्रति-
कूलम् ॥१९-२०॥

व्याख्यार्थ—जो दुष्ट हैं वे तो विपत्ति के समय में नहीं पूछते हैं आपतो आर्य हैं, आर्य होते हुए भी नहीं पूछते हैं, यह आश्चर्य है । यों कहकर इसके कारण का, स्वयं ही कल्पना करती है, मैं अपने को मन्द भागिनी समझती हूँ । भाग्य के हेतु युक्त आशिष प्राप्त नहीं की है, इसलिए तुम्हें विपरीत नहीं मानती हूँ । भाग्य नहीं होता है, तब बान्धव पूछने भी नहीं, यह लोक में सिद्ध ही है । उसका निरूपण करती है, कि आपदाओं में एक भी बात कोई, याद नहीं करते हैं, इस लिए हमको क्यों आश्चर्य करना चाहिए जिसका देव उलटा है उसको कोई मित्र आदि याद नहीं करते हैं । सर्वदा ही आपदा है आपदाओं में यों नहीं कहना चाहिए देव अदृष्ट का अभिमानी देवता है 'अदक्षिण' पद का भावार्थ है प्रतिकूल (विपरीत) ॥१९-२०॥

आभास —उपालम्भ परिहरति वसुदेव अम्बेति ।

आभासार्थ—‘सूत्र मास्मानसूयेथा’ श्लोक से वसुदेवजी उपालम्भ का परिहार करते हैं -

श्लोक—वसुदेव उवाच—अम्ब मास्मानसूयेथा देवक्रीडनकान्नरान् ।

ईशस्य हि वशे लोकः कुरुते कार्यते हि वा ॥२१॥

श्लोकार्थ— वसुदेवजी ने कहा, कि हे अम्ब ! देव के खिलौने जो हम मनुष्य है, तिन पर दोष मत लगाईये क्योंकि जगत् में सब लोक ईश के वश में हैं, करना और करवाना उसके आधीन है ॥२१॥

सुबोधिनी-कनिष्ठभगिनी स्नेहान्मातृनाम्ना संबोधयति । अस्मान् भ्रात्रादीन् मा असूयेथाः दोषारोपणेन मा द्राक्षोः । तत्र हेतुः देवक्रीडन-कानिति । देवोऽत्र कालः स एवावतीर्णः अतो देवपदम् । तत्रापि नरान् । मनुष्याः सर्वसेविका इति कथमेवमिति चेत्तत्राह ईशस्य हि वशे लोक

इति । प्रयोजककर्तृत्वे साक्षात्कर्तृत्वे च ईशस्य नियन्तुः कालस्यैव वशे । युक्तश्रावमर्थः । तदुदर एवोत्पन्नत्वात् । यो हि यस्य गृहे उत्पद्यते स तस्य वशे भवति । हीनि ममुच्चयार्थे वेत्य-नादरे । सर्वाः क्रियास्तदधीना इत्यर्थः । २१॥

व्याख्यार्थ—छोटी बहिन को यहाँ अम्ब ! अर्थात् माता कहा है, जिसका कारण स्नेह है, स्नेह के वश होकर ही छोटी बहिन को माता कहा है, हम भ्राताओं को दोष दृष्टि से मत देख अर्थात् हम पर क्रोध मत कर क्योंकि हम सब देव के खिलौने हैं । देव जैसे खिलाता है वैसे ही खेल रहे हैं । कारण कि, मनुष्य सब उसके सेवक है देव यहां काल है वह ही बनार ले आया है । इसलिए ‘काल क्रीडनक’ न कह कर ‘देव क्रीडानक’ कहा है, सेवक के नाते सब उसके ही आधीन हैं । अतः कर्तापन में प्रयोजक हो, अथवा साक्षात् कर्ता बने, नियामक काल रूप ईश्वर के ही वश में सब हैं यही अर्थ उचित है, उसके उदर में ही उत्पन्न होने से उसके वश में हैं, जैसा कि जो जिसके गृह में उत्पन्न होता है, वह उसी के ही वश में रहता है, ‘हि’ शब्द सङ्ग्रह के अर्थ में है ‘वा’ शब्द प्रनादर अर्थ में है, सारांश यह है, कि सब क्रियाएँ काल रूप देव के आधीन हैं ॥२१॥

आभास —एवं सामान्यतः पराधीनत्वमुक्त्वा विशेषतोऽप्याह कंसप्रतापिता इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सामान्य रूप से पराधीनपन कहकर अब ‘कंसप्रतापिताः’ श्लोक से विशेष रूप से कहते हैं ।

श्लोक—कंसप्रतापिताः सर्वे वयं याता दिशं दिशम् ।

एतद्वै पुनः स्थानं दैवेनासादिताः स्वसः ॥२२॥

श्लोकार्थ—हम सब कंस से दुःखी होकर अनेक दिशाओं में गए अब ही हे बहिन ! फिर काल ही इस अपने स्थान पर लाया है ॥२२॥

सुबोधिनी—प्रकर्षेण तापं प्रापिताः सर्व एव यादवाः दिशं दिशमष्टदिक्षु याताः एतद्वैव । सांप्रतमेव जातमिति मन्यते । पुनः स्थानं यथा प्रतापनात्पूर्वं दैवेन भगवता कालेनासादिताः । इदानीमेव भोगेन कालो न स्मृतः । ततः कंसवधं स्वस इति संबोधनमप्रनारणाय ॥२२॥

व्याख्यार्थ - सब यादवों ने कंस से बहुत दुःख पाए घाओं दिशाओं में जहाँ तहाँ जाकर जैसे तैसे निवास किया, अब ही भोगसे काल कैसे गुजरा, यह स्मरण न रहा । पश्चात् कंस का वध अब ही हुआ यों माना जाता है । फिर अपने स्थान पर दुःख भोगने से पहले जैसे रहे हुए थे । वैसे ही भगवान् काल ले आए हैं, तुम बहिन हो जिससे तुमसे कपट (धोखा) नहीं करते है जो सत्य है वह ही कर रहा हूँ ॥२२॥

आभास—एवं दोषपरिहारमुक्त्वा गुणान्वक्तुं प्रथमतो मानसमाह वसुदेवोग्रसेनाद्यैरिति ।

आभासार्थ—वैसे दोष का परिहार कह कर, गुणों का वर्णन करने के लिए पहले मानस गुण 'वसुदेवोग्रसेनाद्यैः' श्लोक से वर्णन करते हैं

श्लोक—श्री शुक उवाच—वसुदेवोग्रसेनाद्यैर्यदुभिस्तेऽचिता नृपाः ।

आसन्नच्युतसंदर्शपरमानन्दनिर्वृताः ॥२३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि वसुदेव और उग्रसेन आदि यादवों से अर्चित वे राजा लोग भगवान् के दर्शन कर परमानन्द में मग्न हो गए थे ॥२३॥

सुबोधिनी—वसुदेवोऽलौकिको महान् । रस्कारेण गतमूलदोषाः । अच्युतसंदर्शनेन यो उग्रसेनो लौकिकः तौ आदिभूतौ येषां यदूनां जातः परमानन्द तेनः निवृता आसन् निर्वृति-तैरग्रे वक्ष्यमाणाः सर्व एवाचिताः सन्तः महत्पु- मनिशी ॥२३॥

व्याख्यार्थ वसुदेव अलौकिक होने से महान् है उग्रसेन लौकिक होते हुए भी महान् है । वे, दोनों यादवों के अगुए हैं उनसे जो सब आये हैं एवं जो सब आने वाले बताए जाएँगे वे सब महान् पुरस्कार से पूजित हुए, जिससे उनके सब दोष मूल से नष्ट हो गए अच्युत भगवान् के दर्शन हो जाने से परमानन्द में मग्न हो गए यह आनन्द मानस हुआ ॥२३॥

आभास तान् गणयति भीष्म इति त्रिभिः ।

आभासार्थ—'भीष्मो द्रोणो' इस श्लोक से तीन श्लोकों से उनकी गणना करते हैं

श्लोक—भीष्मो द्रोणोऽश्विकापुत्रो गान्धारी ससुता तथा ।

सदाराः पाण्डवाः कुन्ती सृञ्जयो विदुरः कृपः ॥२४॥

श्लोकार्थ भीष्म, द्रोण, धृतराष्ट्र गान्धारी पुत्रों के साथ स्त्री सहित पाण्डव कुन्ती, संजय, विदुर और कृपाचार्य ॥२४॥

सुबोधिनी - सात्त्विका राजसास्तामसाश्च | दुर्योधनादिसहिताः तथेति तस्याः सात्त्विकत्व-
क्रमान्निरूपिताः अम्बिकापुत्रो धृतराष्ट्रः । ससुता । सदोहव्युदासः । नव भेदाः सात्त्विकाः ॥२४॥

व्याख्यार्थ—सात्त्विक, राजस और तामस क्रम से निरूपण किए हैं पुत्रों के साथ अम्बिका का पुत्र धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा पद से गान्धारी के सात्त्विकपने का निषेध कहा है, सात्त्विकों के नव (नौ) भेद हैं ॥२४॥

आभास—तथैव नवविधान् राजसान् निरूपयति कुन्तिभोज इति ।

आभासार्थ—वैसे ही नव प्रकार के राजसों का 'कुन्ति भोज' श्लोक में वर्णन करते हैं

श्लोक—कुन्तिभोजो विराटश्च भीष्मको नग्नजिन्महान् ।

पुरुजिद्द्रुपदः शल्यो धृष्टकेतुः सकाशिराट् ॥२५॥

दमघोषो विशालाक्षो मैथिलो मद्रकेकयौ ।

युधामन्युः सुशर्मा च ससुता बाल्हिकादयः ॥२६॥

श्लोकार्थ—कुन्ति भोज, विराट, भीष्मक, नग्नजित् पुरुजित् द्रुपद, शल्य, धृष्टकेतु, काशीराज, दमघोष विशालाक्ष मिथिला का राजा मद्रदेश का राजा केकय देश का राजा युधामन्यु सुशर्मा बाल्हिक आदि और उनके पुत्र ॥२५-२६॥

सुबोधिनी - सहानिति नग्नजितो विशेषणम् | भिन्नतया निरूप्याः । अतस्तेऽपि नव-
दमघोषादयस्तामसाः मद्रदेशाधिपतिः केकय- | विधाः ॥२५-२६॥
देशाधिपतिश्च । ससुता इति भूरिश्रवादयो

व्याख्यार्थ—'महान्' यह नग्नजित् जिनका विशेषण है, कुन्ति भोज से काशिराज तक नव राजस हैं और दमघोष से लेकर मद्र देश तथा केकय देश के राजा एवं सुत सहित भूरिश्रवादि अलग कहे हैं अतः वे भी नव प्रकार के तामस हैं ॥२५-२६॥

आभास—निर्गुणान्परमसात्त्विकान्वा संबन्धाभावान्निरूपयति राजान इति ।

आभासार्थ—निर्गुण अथवा परम सात्त्विकों का सम्बन्ध के आभाव से 'राजा नोऽन्ये' श्लोकों में वर्णन करते हैं

श्लोक—राजाननोन्ये च राजेन्द्र युधिष्ठिरमनुव्रताः ।

श्रीनिकेतं वपुः शौरेः सखीकं वीक्ष्याविस्मिताः ॥२७॥

अथ ते रामकृष्णाभ्यां सम्यक्प्राप्तसमर्हणाः ।

प्रशशंसुर्मुदा युक्ता वृष्णीन्कृष्णपरिग्रहान् ॥२८॥

श्लोकार्थ—युधिष्ठिर के अनुयायी दूसरे भी राजा लोग वहाँ आए और लक्ष्मी निवास भगवान् के वपु (श्री अङ्ग) को और उनकी स्त्रियों को देख कर विस्मित हुए ॥२७॥ अनन्तर राम कृष्ण से पूजा पाकर, प्रसन्न हो कृष्ण के परिग्रह यादवों की प्रशंसा करने लगे ॥२८॥

सुबोधिनी—अन्ये पूर्वोक्तव्यतिरिक्ताः चक्रा-
गत्तत्संबन्धिनश्च । नन्वेते संबन्धिनस्ते त्रिगुणा
जाताः अन्ये कथं निर्गुणाः परमसात्त्विका वा
जातास्तत्राह युधिष्ठिरमनुव्रता इति । परमवैष्णव-
सङ्गात् तच्छीलेन शिक्षिताः । एवं चतुर्विधा
अप्येते श्रीनिकेतं भगवतो वपुर्दृष्ट्वा विस्मिताः ।
इदं वपुर्ध्यानगम्यं कथं दृश्यत इति ध्यानगम्ये
नियामकं श्रीनिकेतमिति । सखीकमिति सहज-
भार्यायां विद्यमानायां पुनरन्यासां परिग्रहोऽप्या-
श्चर्यमिति । तासामैकमत्य कान्त्यतिशयं वा

दृष्ट्वा विस्मितानां निरन्तरस्मरणेन जानोत्पत्तौ
मुक्तिः स्यादित तत्माप्रतमनभिप्रेतमिति कृष्ण-
रामाभ्यां तेषां पूजा समारब्धा । सम्यक् प्राप्तं
सम्पूर्णं येषामिति । ततो भगवदिच्छया भक्ता
एव भूत्वा भगवत्स्नोत्रं कृतवन्त इत्याह प्रशंसु-
रिति । मुदा युक्ता इत्यन्तस्तोषः केवलवाचिकत्वं
व्यावर्तयति । भगवांस्तु सर्वैरेव स्तूयते । ते
विरलाः ये भगवत्पद्मिणीतान् स्तुवन्ति । अतः
कृष्णपरिगृहीतान् वृष्णीन् प्रशंसुः ॥२८॥

व्याख्यार्थ—पहले जिनका वर्णन हुआ है उनसे पृथक् दूसरे 'च' पद से उनके सम्बन्धी भी थे
ये सम्बन्धी जब त्रिगुण हैं तब ये दूसरे निर्गुण वा परम सात्त्विक कैसे हुए? जिसके उत्तर में कहते हैं,
'युधिष्ठिरमनुव्रता' युधिष्ठिर के अनुयायी थे, युधिष्ठिर परम वैष्णव थे अतः उनके सङ्ग से उनसे
वैसी शिक्षा प्राप्त की इस प्रकार ये चार ही श्री के निवास स्थान भगवान् के श्रीअङ्ग को देख कर
अचम्भे में पड़ गए यह श्री अङ्ग ध्यानगम्य कैसे हुआ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि ध्यानगम्य
इसलिए है कि लक्ष्मी के निवास स्थान है । सहजभार्या के होते हुए भी फिर अन्यो का परिग्रह भी
आश्चर्य कारक है । उनकी एक मातृ तथा कान्ति की बहुलता देख कर विस्मित हुवे । राजा यदि
निरन्तर स्मरण करें तो ज्ञान की उत्पत्ति हो जावे, जिससे मुक्ति की प्राप्ति हो, यों होना भगवान् को
अव अभीष्ट (इच्छित) नहीं है, इसलिए ये राम व कृष्ण ने इनकी पूजा करनी प्रारम्भ की अच्छी
तरह पूजित होने से प्रसन्न हुए तथा भगवदिच्छा से भक्त भी बन गए । अतः भगवान् की स्तुति करने
लगे, मुदायुक्ताः' पद से यह बताया है कि केवल दिखावे के लिए वाणी से स्तुति नहीं की किन्तु
अन्तःकरण शुद्ध एवं प्रसन्न होने से अन्तःकरण के आह्लाद से भाव पूर्वक प्रशंसा करने लगे ।
भगवान् की तो सब स्तुति करते हैं किन्तु वे विरले (थोड़े) हैं जो भगवान् के परिग्रह की भी स्तुति
करें अतः उन्होंने कृष्ण के परिग्रह यादवों की प्रशंसा की है ॥२८-२९॥

आभास—प्रशंसामाह त्रिभिः सात्त्विकादि भावेन अहो इति ।

आभासार्थ—'अहो भोजपते' श्लोक से लेकर तीन श्लोकों में सात्त्विक आदि भाव से प्रशंसा का
वर्णन करते हैं !

श्लोक—अहो भोजपते यूयं जन्मभाजो नृणामिह ।

यत्पश्यतासकृत्कृष्णं दुर्दर्शमपि योगिनाम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—अहो भोजपते ! इस लोक में मनुष्यों में यदि कोई भाग्यशाली है, जिनका जन्म सफल हुआ हो, तो आप ही हैं, क्योंकि जिस श्रीकृष्ण का योगियों को समाधि में भी महान् कष्ट से दर्शन होता है, उनका आप निरन्तर दर्शन पा रहे हो ॥२६॥

सुबोधिनी—भगवद्दर्शनं दुर्लभं मत्वा तत्तोषामनायासेन जायत इति हे भोजपते राजन् यूयमेव जन्मभाजः सुतरां नृणां मध्ये । वैकुण्ठवासिनां तु कदाचिद्भवतीति । योगः कदाचित्प-

रिपक्व सकृद्दर्शयति । भवन्तस्त्वसकृद्भारं वारं पश्यत । पश्यथेति पाठे तादेशाभावश्च्छान्दस ॥२६॥

व्याख्यान—भगवान् के दर्शन बहुत दुर्लभ हैं, यों मान कर, वे दुर्लभ दर्शन बिना श्रम के स्वतः निरन्तर हो रहे हैं, इस प्रकार हे भोजपते राजन् ! मनुष्यों में वास्तविक सफल जन्म वाले आप ही हैं । वैकुण्ठ वासियों को भी कदाचित् दर्शन होते हैं और यदि योग भी पूर्ण सिद्ध हो, तो एक बार दर्शन होता है आप तो बार बार दर्शन पा रहे हैं यदि श्लोक में 'पश्यथ' पाठ होता समझना चाहिए कि यह पाठ 'च्छान्दस' प्रथात् वैदिक है इस लिए यहाँ 'त' का आदेश नहीं हुआ है ॥२६॥

आभास—एवं भगवद्दर्शनं स्तुत्वा भगवतो गुणश्रवणादीन् धर्मान् स्तुवन्ति यद्विश्रुतिरिति ।

आभासार्य—इस प्रकार भगवान् के दर्शन की प्रशंसा कर भगवान् के गुणों के श्रवण आदि धर्मों की 'यद्विश्रुतिः' श्लोक से प्रशंसा करते हैं ।

श्लोक—यद्विश्रुति श्रुतिनुतेदमलं पुनाति

पादावनेजनपयश्च वचश्च शास्त्रम् ।

भूः कालभजितभगापि यदङ्घ्रिपद्म-

स्पर्शोत्थशक्तिरभिवर्षति नोऽखिलार्थान् ॥३०॥

श्लोकार्थ—वेद से प्रशंसित जिन की कीर्ति, व जिनके चरण धोवन का जल (गंगा) और जिनके वचन रूप वेद, इस जगत् को अति पवित्र करते हैं और यह पृथ्वी, काल की गति से शक्ति होने पर भी जिनके चरणविन्द के स्पर्श से उत्तम शक्ति पाकर हमें सर्व पदार्थ दे रही है ॥३०॥

सुबोधिनी विश्रुतिः कीर्तिः श्रुतिभिः सर्वैरेव वेदेनृता । अनेनाधिक्यं माहात्म्यं चोक्तम् । श्रुतिभिः श्रोत्रेन्द्रियैर्वा नृता अतिरसालत्वेनात्यादरं गृहीता । इदं जगदेवात्यर्थं पुनाति । भगवत्कीर्तेः विषयत्वेन भगवत्सम्बन्धः न तु साक्षात् ।

तादृश्यापि चेत्पुनाति तदा साक्षात्संबन्धो भगवान् किं वक्तव्य इति माहात्म्यं निरूपितं भवति । कीर्तिः सात्त्विकी । गङ्गा राजसी । शास्त्रं ततोऽन्यदिति । सर्वेषां तुल्यत्वायाह पादावनेजनपयः । शास्त्रं वचो गोता भागवतं च । एतद्वयमप्यलं

पुनाति । एवं कीर्त्यादिद्वारापि भगवन्माहात्म्य-
मुक्त्वा प्रकारान्तरेण पुनः साक्षादेवाह भूरिति ।
कालेनातिवलिष्ठेन भजितभगापि गतदृष्टादृष्ट-
सामर्थ्यापि यदङ्घ्रिस्पर्शमात्रेणैव उत्था उत्थिताः

सर्वा एव शक्तयो यस्याः तादृशी भूत्वा नोऽस्मभ्यं
सर्वानिवार्थान् वषंति । अनेन कालग्रस्तस्यापि
भगवच्चरणस्पर्शे पुनः प्रत्यापत्तिनिरूपिता । पूर्व-
स्माच्चाधिक्यं सर्वोपजीव्यत्वं च निरूपितम् ॥३०॥

व्याख्यानार्थ—सर्व श्रुतियों ने जिनकी कीर्ति गाई है, इससे श्रीकृष्ण का अधिक महात्म्य कहा है, अथवा श्रोत इन्द्रियों ने आप की कीर्ति अनिश्चय रसान होने से अनिश्चय आदर से ग्रहण की है । इस जगत् को वह बहुत ही पवित्र कर रही है । भगवन् कीर्ति का विषयपन से भगवान् से सम्बन्ध है साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, ऐसा होते हुए भी यदि पवित्र करती है, तो यदि भगवान् साक्षात् सबद्ध हो, तो क्या कहा जाए यह कह नहीं सकते, यों महात्म्य निरूपण किया । कीर्ति सात्विकी है, गङ्गा राजसी है और शास्त्र उनसे दूसरे प्रकार का है, सब के तुल्यपन के लिए कहा है, कि 'पादावने-जननयः' अर्थात् गङ्गा जी 'शास्त्रं वचो' कहने का भावार्थ है गीता और भागवत, ये दोनों भी निर्मल कर पवित्र करते हैं इस प्रकार कीर्ति आदि द्वारा भी भगवान् का महात्म्य कह कर फिर अन्य प्रकार से साक्षात् के द्वारा जो हुआ है वह कहते हैं, 'भू.' अति बलवान् काल ने जिसकी दृष्ट और अदृष्ट सामर्थ्य कर दी है, तो भी, साक्षात् भगवान् के चरणारविन्द के केवल स्पर्श से ही जिसकी सर्व शक्तियाँ जाग्रत हो गई हैं, ऐसी पृथ्वी बलवती बन कर हम लोगों को सब प्रकार के पदार्थ दे रही है । यों कहने से यह बताया है, कि काल से ग्रस्त में भी भगवान् के चरणस्पर्श से पुनः वही पूर्ण शक्ति आ जाती है, इस प्रकार कह कर यह सूचित किया है, कि चरण स्पर्श से पहले से भी विशेषता उसमें आ जाती है जिससे सर्व के लिए उसमें उपजीव्यता (जिस पर जिविका का निर्भर हो) प्रकट हो जाती है यों निरूपण किया है ॥३०॥

आभास—एवं दर्शनस्पर्शनस्य माहात्म्यमुक्त्वा तादृशदर्शनादिकं सर्वं येषां मिलितं
भवति तेषां भाग्यं किं वक्तव्यमित्याह तद्दर्शनेति ।

आभासार्थ—यों दर्शन और स्पर्शन के महात्म्य का वर्णन कर, ऐसे दर्शन आदि सर्व जिनको मिलते हैं उनके भाग्य का क्या वर्णन किया जावे, यह 'तद्दर्शन' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—तद्दर्शनस्पर्शनानुपथप्रजल्प-

शय्याशनासनसयौनसपिण्डबन्धः ।

येषां गृहे नरकवर्त्मनि वर्ततां नः

स्वर्गपवर्गविरमः स्वयमास विष्णुः ॥३१॥

श्लोकार्थ—उन साक्षात् भगवान् श्रीकृष्ण के साथ दर्शन, स्पर्शन, अनुसरण से और इनके साथ वार्तालाप करना तथा सोना एवं भोजन करना, सपिण्ड और कन्या लेन-देन आदि सम्बन्ध से बन्धे हुए हों आदि नव प्रकार के सम्बन्ध से श्री कृष्ण के साथ आपका संबंध जुड़ा हुआ है, यह आपका सम्बन्ध इनके साथ नरक के द्वार गृह में हो रहा है जिससे

आपको स्वर्ग और मोक्ष की स्पृहा भी नहीं रहती है, यही आपका सबसे अधिक उत्कर्ष है ॥३१॥

सुबोधिनी—तादृशं दर्शनं, स्पर्शनमनुपथं सहचलनं, प्रकृष्टजल्पा इष्टकथाः, शय्या शयनं अशनं भोजनम्, आसनमुपवेशनम्, सयोनं स्नानं संबन्धः, सपिण्डो गोत्रसंबन्धः । एवंविधैर्नवविधैर्बन्धो यस्य साक्षात्संबन्धो भगवता सहास्तीति । सगुणस्तु संबन्धो दुर्लभ इति स एवोक्तः । किञ्च । येषां भवतां नरकवर्त्मनि गृहे वर्ततां नरक आवश्यकः । साधारणगृहमात्रमेव नरकसाधनम् । सुतरां मर्यादारहितानामस्माकं,

वो वा । स्वयमेव विष्णुः सर्वसन्देहनिवारकः । य एव संबन्धो नरकहेतुरन्धेषां स एव भवता विष्णुर्जात इति । ततोऽपि किमित्याशङ्क्य वारयितुं विष्णोः प्रकृतोपयोगिगुणमाह स्वर्गपवर्गयोरपि विगतरमणरूपः । भगवति दृष्टे न कोऽपि स्वर्ग मोक्षे वा रमत इति । विरामो वा । तावदेव स्वर्गपवर्गौ प्राप्नोति यावद्भगवानेवं संबद्धो न प्राप्यते । एव तान् स्तुत्वा परमभक्त्याविष्टाः तूष्णीं स्थिताः ॥३१॥

व्याख्यानार्थ—ऐसा साक्षात् श्रीकृष्ण का दर्शन, स्पर्शन तथा उन के साथ घुपना, सम्भाषण करना, सोना, भोजन करना, बैठना, कन्या लेन देन का सम्बन्ध, गोत्र सम्बन्ध, इस प्रकार नव भाँति जिसका साक्षात् सम्बन्ध भगवान् के साथ है, सगुण सम्बन्ध तो दुर्लभ होता है, इस लिए वह सम्बन्ध ही कहा है, किञ्च नरक द्वार गृह में रहने वाले आपको नरक प्राप्ति अ वश्यक है साधारणतया केवल गृह भी नरक का साधन है, तो मर्यादा रहित हम और आपको ता सहज ही नरक प्राप्त ही है तो भी दूसरों के लिए जो घर नरक का द्वार है, वह ही घर आप के लिए विष्णु प्राप्ति कर हुआ है । स्वयं विष्णु ही सर्व सन्देह के निवारक हैं यों हुआ तो भी क्या हुआ ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि विष्णु ने जो उपयोगी गुण किया है, वह यह है कि आपको भगवान् के साथ इस प्रकार के सम्बन्ध होने से स्वर्ग और मोक्ष की भी तृष्णा नहीं है । भगवान् के दर्शन मात्र होने पर किसी के मन में भी स्वर्ग वा मोक्ष के आनन्द की चाहना नहीं रहती है अथवा वहाँ उनको आनन्द भी देखने में नहीं आता है, तब तक ही स्वर्ग और मोक्ष अच्छे लगते हैं और उनमें आनन्द आता है, जब तक भगवान् से इस प्रकार सम्बन्ध नहीं होता है, इसी तरह उनकी स्तुति करने से परम भक्ति के आवेश से युक्त हो गए, जिससे विशेष बोल न सके ॥३१॥

आभास—एवमेकविधानां भगवत्परात्वं निरूपितम्, प्रमेयत्वाय द्वितीयानामाह नन्दस्तत्रेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सजातियों का भगवत्परायण कहकर अब विजातियों के प्रमेयपन के लिए 'नन्दस्तत्र' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—नन्दस्तत्र यदून् प्राप्तान् श्रुत्वा कृष्णपुरोगमान् ।

तत्रागमद्वतो गोपैरनःस्थार्थैर्दिदृक्षया ॥३२॥

श्लोकार्थ—नन्दजी ने सुना कि श्रीकृष्ण के साथ यादव कुरुक्षेत्र आए हैं,

अतः उनके देखने की इच्छा से आप भी गाड़ों में सबसामान भर गोपों को साथ ले कुरुक्षेत्र आए ॥३२॥

सुबोधिनी—स दूरे स्थितः पूर्वभागे, ते तु पश्चिमभागे स्थिताः अतः पश्चाच्छ्रुत्वा सर्वे सहितस्तत्र गतः । तत्र कुरुक्षेत्रे यदून् प्राप्तान् कृष्णपुरोगमान् भगवानेव पुरोगमो येषामिति भगवदेश्वर्यं तत्र द्रष्टव्यमिति । गोपैरनोभिश्च सर्वसामग्र्या वृतः भगवन्त द्रष्टुं तत्रागतः ॥३२॥

व्याख्यार्थ—वह (नन्दरायजी) पूर्व की तरफ रहने से यादवों से दूर थे; क्योंकि यादव पश्चिम में रहते थे, अतः वे जब कुरुक्षेत्र आ गए, तब नन्दरायजी ने सुना कि यादव अपने नेता श्रीकृष्ण के साथ कुरुक्षेत्र पहुँच गए हैं, तब भगवान् के ऐश्वर्य देखने की मन में उत्कण्ठा उत्पन्न हुई जिससे उनको देखने की इच्छा से गाड़ी में सब सामान भर गोप आदि सबको साथ में ले कुरुक्षेत्र आ गए ॥३२॥

आभास—तस्मिन् यादवानां पूर्वपेक्षया विशेषानुवृत्तिमाह तं दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—यादवों को नन्दादि को पहले से विशेष देखने की इच्छा हुई, वह 'तं दृष्ट्वा' श्लोक से कहते ।

श्लोक—तं दृष्ट्वा वृष्णयो हृष्टास्तन्वः प्राणमिवोत्थिताः ।

परिष्वजिरे गाढं चिरदर्शनकातराः ॥३३॥

श्लोकार्थ—नन्दरायजी को देखकर यादव बहुत प्रसन्न हुए और जैसे प्राण आने से इन्द्रियाँ उठकर खड़ी हो जाती हैं वैसे वे भी उठकर खड़े हो बहुत दिनों से दर्शन होने के कारण कायर हुए यादव उनका गाढ (जोर से) आलिङ्गन करने लगे ॥३३॥

सुबोधिनी दर्शनमात्रेणैव सर्ववृष्णयो हृष्टाः तेषां मनःप्रीतिर्जाता । ततो देहेनापि मनःप्रेरणरहितेनापि उत्थिता इत्याह तन्वः प्राणमिवोत्थिता इति । यथा प्राणेषु समागतेषु करचरणाद्यवयवाः स्वयमेवोत्थिता भवन्ति । अनेनैतावत्कालं यादवा मूर्च्छिता इव स्थिता इत्युक्तम् । अतः परिष्वजिरे क्रमेण यथालाभम् । किञ्च । चिरदर्शनेन बहुकालजातदर्शनेन कातराश्च जाताः । कदाचिदस्मान् त्यक्त्वा गमिष्यतीति ॥३३॥

व्याख्यार्थ—दर्शन होते ही यादव प्रसन्न हुए, मन से प्रेम उत्पन्न होने लगा, बिना प्रेरणा के ही देह खड़ी होने लगी, जैसे प्राण आने से हस्त-पादादि अवयव आप ही सजग हो जाते हैं । इससे यह सूचित किया कि इतने समय तक यादव मानों मूर्च्छित-से पड़े थे, अब सजग हो क्रम से ज्यों-ज्यों मिलने का अवसर आता गया, त्यों त्यों प्रत्येक गाढ आलिङ्गन करने लगा । बहुत समय के बाद दर्शन होने से अधीर हो गए थे, यों मन में शङ्का होती थी, कदाचित् हमको छोड़कर चले जायेंगे तो आलिङ्गन का और मिलन का आनन्द हमको न मिलेगा ॥३३॥

आभास—एवं साधारणानामुक्त्वा पूर्ववद्वसुदेवस्य विशेषमाह वसुदेवः परिष्वज्येति ।

आभासार्थ—यों साधारण यादवों का हाल कहकर पहले की तरह वसुदेवजी का 'वसुदेवः परिष्वज्य' श्लोक से विशेष कहते हैं ।

श्लोक—वसुदेवः परिष्वज्य संप्रीतः प्रेमविह्वलः ।

स्मरन् कंसकृतान् वलेशान् पुत्रन्यासं च गोकुले ॥३४॥

श्लोकार्थ—वसुदेवजी कंस के दिए हुए दुःखों को और अपने पुत्र गोकुल में छोड़े थे उसका स्मरण कर विह्वल हो गए थे किन्तु यादवों से मिलकर जो आनन्द हुआ उसे अन्तःकरण में उत्पन्न प्रेम से प्रसन्न हुए ॥३४॥

सुबोधिनी—सम्यक् प्रीतः अन्तः प्रेम्णा च वहिर्विह्वलो जात इति तस्यैतावत्येवावस्था निरूपिता । विह्वलतायां हेतूनाह स्मरन्कंसकृतान् क्लेशानिति । पुत्रमारणादीन् गोकुले कृष्णवल-भद्रयोः स्थापनं च ॥३४॥

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी भीतर के प्रेम से अत्यन्त प्रसन्न हुए, किन्तु बाहर विह्वल हो गए, उनकी ऐसी अवस्था का निरूपण किया । बाहर की विह्वलता के कारण कहते हैं कि (१) कंस ने जो दुःख दिए थे, उनका स्मरण होने लगा । (२) अपने पुत्रों को कंस ने मारा, जिससे राम कृष्ण को गोकुल में छोड़ना पड़ा; इन कारणों से बाहर विह्वल देखने में आए ॥३४॥

आभास—ततो नन्दस्य साक्षाद्भगवद्दर्शनमाह कृष्णरामौ परिष्वज्येति ।

आभासार्थ—'कृष्णरामौ' श्लोक से नन्द को साक्षात् भगवान् के दर्शन हुए, जिसका वर्णन करते हैं ।

श्लोक—कृष्णरामौ परिष्वज्य पितरावभिवाद्य च ।

न किञ्चनोचतुः प्रेम्णा साश्रुकण्ठौ कुरुद्वह ॥३५॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! श्रीकृष्ण और राम ने माता-पिता (यशोदा और नन्दरायजी) को आलिङ्गन कर प्रणाम किया, जिससे प्रेम के कारण नेत्रों से आँसू बहने लगे और कृष्ण गद्गद होने से रुद्ध हो गए, अतः कुछ भी न बोल सके ॥३५॥

सुबोधिनी—उभौ प्रथमं परिष्वज्य पितराविति भूत्वा मानसिक एव व्यापारो भगवता प्रदर्शितः । न तु वित्यभिवाद्य आविर्भूतप्रेम्णा साश्रुकण्ठौ भूत्वा वाचनिक इति । कुरुद्वहेति विश्वासार्थं संबोधन । न किञ्चनोचतुः तूष्णीं स्थितौ । नन्दे कायिक- ॥३५॥

व्याख्यार्थ—दोनों भाई राम और श्रीकृष्ण ने पहले आलिङ्गन किया, पश्चात् माता-पिता को प्रणाम किया, जिससे प्रेम उमड़ आया, उससे कण्ठ रुद्ध (रुन्ध) गया, अतः कुछ भी न बोल सके। नन्द में भगवान् ने कायिक तथा मानसिक व्यापार दिखाया, वाणी का नहीं। 'कुण्ठह' सम्बोधन विश्वास दिलवाने के लिए है ॥३५॥

आभास—ततो नन्दकृत्यमाह तावात्मासनमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् 'तावात्मासनम्' श्लोक से नन्द का कृत्य कहते हैं ।

श्लोक — तावात्मासनमारोप्य बाहुभ्यां परिरम्य च ।

यशोदा च महाभागा सुतौ विजहतुः शुचः ॥३६॥

श्लोकार्थ — यशोदाजी ने दोनों पुत्रों को अपने आसन पर बिठाया और अपनी भुजाओं से आलिङ्गन किया, महाभाग्यवती यशोदाजी ने भी इतने दिनों के विरह ताप को, दर्शन आदि से विप्रयोग का जो ताप था, उसको नेत्र से आँसू बहाते हुए बाहर निकाल दिया ॥३६॥

सुबोधिनी—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति न्यायेन यशोदानन्दौ बालभावेनैव भगवद्भावनां कुरुत इति तयोर्बालत्वेनैवोपस्थितौ अतः सूक्ष्म-त्वात्स्वकोडे उपवेश्य आत्मैवासनमिति । ततो

बाहुभ्यां परिरम्य चकारादाघ्राणादिकमपि कृत्वा शुचः शोकाश्रूणि विजहतुः शोकं वा त्यक्तवन्तौ ॥३६॥

व्याख्यार्थ—'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस न्यायानुसार यशोदा और नन्द ने बाल भाव से ही भगवान् की भावना की, जिससे वे इनके सामने बालक रूप से ही खड़े हुए, अतः बालक हो जाने से अपनी गोद में बिठाया, जिससे आप ही आसन हुए, पश्चात् दोनों भुजा से आलिङ्गन किया। 'च' शब्द से यह भाव बताया है कि मस्तक आदि भी सूँघे, यों करने से उन्होंने अपने शोक को आँसुओं के साथ बाहर निकाल दिया ॥३६॥

आभास — एवं पुरुषाणामन्योन्यसंबन्धमुक्त्वा स्त्रीणामाह रोहिणीति ।

आभासार्थ—इसी तरह पुरुषों का परस्पर सम्बन्ध कहकर, अब 'रोहिणी' श्लोक से स्त्रियों का सम्बन्ध बताते हैं ।

श्लोक — रोहिणी देवकी चाथ परिष्वज्य व्रजेश्वरीम् ।

स्मरन्त्यौ तत्कृतां मैत्रीं बाष्पकण्ठ्यौ समूचतुः ॥३७॥

श्लोकार्थ—यशोदा की की हुई मैत्री को स्मरण करती हुई रोहिणी और देवकी कण्ठ में अश्रु भर आलिङ्गन कर उससे कहने लगी ॥३७॥

सुबोधिनी—अथ पूर्वाभ्यो भिन्नप्रक्रमेण ।
चकारात्तत्संबन्धिन्योपि । नन्वसमा कथं परिष्व-
क्तेत्याशङ्क्याह ब्रजेश्वरीमिति । ब्रजस्य सर्व-
गोधनस्य प्रभ्वीम् । अतो देवतारूपत्वात् असमे-

त्यर्थः । ततस्तत्कृतां मैत्रीं स्मरन्त्यौ बाष्पकण्ठ्यौ
भूत्वा समूचतुः । अनयोः कायिकादित्रयव्यापार
उक्तः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—यह प्रक्रम पहले जो कहा जा चुका है उनसे पृथक् है । 'च' उनकी सम्बन्धिनियाँ भी समझनी, जो असमान हैं, उनका आलिङ्गन कैसे किया ? जिसके उत्तर में कहा है कि ये (यशोदा) ब्रजेश्वरी हैं अर्थात् सब गोधन की स्वामिनी हैं, अतः देवता रूप होने से ही असमान हैं, अन्यथा नहीं है । बाद में उसको की हुई मैत्री का स्मरण होते ही कण्ठ आँसुओं से भर गया अर्थात् गद्गद कण्ठ वाली हो कहने लगी, इससे दोनों का कायिक आदि तीनों व्यापार कहे हैं ॥३७॥

आभास—तयोर्वाक्यं श्लोकद्वयेनाह को विस्मरेतेति ।

आभासार्थ—इन दोनों के वाक्य 'को विस्मरेत' तथा 'एतावदृष्ट' श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—को विस्मरेत वां मैत्रीमनिवृत्तां ब्रजेश्वरि ।

अवाप्याप्येन्द्रमैश्वर्यं यस्या नेह प्रतिक्रिया ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे ब्रजेश्वरी ! सदा समान वर्तमान आपकी मैत्री ऐसी है, जिसका बदला इन्द्र का ऐश्वर्य देने पर भी नहीं चुकाया जा सकता है, उसे कौन भूल सकता है ? ॥३८॥

सुबोधिनी—वां युवयोर्नन्दयशोदयोः । अनि-
वृत्तां निवृत्तिरहिता प्रत्युपकाररहितामिति
यावत् । ब्रजेश्वरीति माहात्म्यार्थं संबोधनम् ।
नन्दोऽपि निकट एव तिष्ठति । क्षत्रियाणामेव दूरे
व्यवहारः । कदाचित्प्रत्युपकारसमर्था अपि
यादवाः प्रत्युपकारं न कृतवन्त इति यशोदाया
हृदये कृतघ्नता भासेत तन्निवृत्त्यर्थमूचतुः अवा-
प्याप्येन्द्रमैश्वर्यमिति । ऐन्द्रमप्यैश्वर्यं प्राप्य को वा

विस्मरेतेति । यशोदानन्दाभ्यां यावानर्थो दत्तः
सः स्वर्गादौ नास्त्येव । स एव विस्मारको भवेत्
यो महान् भवेत् । अथ प्रत्युपकारः कर्तव्य इति
तस्मिन्नपि पक्षे ऐन्द्रेऽपि पदे दत्ते न प्रत्युपकार
इति इन्द्रपदकोर्तनम् । यस्याः मैत्र्याः इह जगति
प्रतिक्रियैव नास्ति । अनेन सर्वयादवाः भगवद्भ्यां
मैत्र्या क्रीता इति निरुक्तं भवति ॥३८॥

व्याख्यार्थ—आप दोनों (नन्द और यशोदा) की मैत्री जिसका प्रत्युपकार (बदला) हो नहीं सकता है, उसे कौन भूल सकता है ? ब्रजेश्वरी ! यह सम्बोधन माहात्म्य प्रगट करने के लिए दिया है । नन्दजी भी निकट ही रहते हैं क्षत्रियों का ही व्यवहार दूर में होता है, कदाचित् (शायद) कभी बदला देने में समर्थ होते हुए भी यादव बदला न चुकावें, इस प्रकार की शङ्का (कृतघ्नता का भाव) यशोदाजी के मन में उत्पन्न हो तो उसकी निवृत्ति के लिए कहते हैं कि इन्द्र के समान ऐश्वर्य प्राप्त कर कौन भूल सकता है ? यशोदा और नन्द ने जितना ऐश्वर्य दिया है, उतना स्वर्ग में भी नहीं है, वह ही विस्मारक होता है । जो महान् हो, फिर प्रत्युपकार तो करना चाहिए । इस पक्ष में भी कहते हैं

कि 'ऐन्द्र' पद देने पर भी प्रत्युपकार नहीं हो सकता है, यों 'इन्द्र' पद को बड़ाई कही है, जिस मैत्री की इस जगत् में प्रतिक्रिया ही नहीं है, ऐसी आपको मैत्री है। आप दोनों ने इस मैत्री से यादवों को क्रय (खरीद, कर लिया है, यों कहा जा सकता है ॥३८॥

आभास—तां मैत्रीं स्मारयति एतावदृष्टपितराविति ।

आभासार्थ—'एतावदृष्टपितरौ' श्लोक से उस मैत्री का स्मरण करवाती हैं।

श्लोक—एतावदृष्टपितरौ युवयोः स्म पित्रोः

संप्रीणनाभ्युदयपोषणलालनानि ।

प्राप्योषतुर्भवति पक्ष्म ह यद्वदक्षणे-

न्यस्तावकुत्र च भयौ न सतां परस्वः ॥३९॥

श्लोकार्थ—जिन्होंने माता-पिता को देखा ही नहीं, ऐसे ये हमारे पुत्र जिस तरह पलक से नेत्र रक्षा पाते हैं, वैसे आपसे ही इन्होंने रक्षा पाई है। माता-पिता रूप आपने ही इनका लालन-पालन, अभ्युदय व पोषण किया है, जिससे ये सब तरह से आपके यहाँ निर्भय रहे। यह कहावत सत्य है कि सत्पुरुष मेरु और पराया ऐसा भेद जानते ही नहीं हैं ॥३९॥

सुबोधिनी—बाल्ये दर्शनमदर्शनमित्यदृष्टपितृत्वम् । युवयोरेव पित्रोः पितृभ्यां संप्रीणनादिकं प्राप्य युवयोरेवोषतुः । सम्यक् प्रीणनमलौकिक-दानहिताचरणादिभिः । अभ्युदयः शान्तिकादिभिः । पोषणं नवनीतादिभिः । लालनं स्तुति-चुम्बनादिभिः । एतच्चतुष्टयं प्राप्य यथा अक्षणेः पक्ष्म तथात्वमिति । भवतीति संबोधनम् । हे

भवति त्वमनयोरक्षणेः पक्ष्मेव रक्षिकेति यशो-दाया अधिका स्तुतिः । अत एव युवयोन्यस्तावे-तावकुत्रभयौ । अत एव पूतनादीनां भयं निवृत्तमिति भावः । नन्वेवं रक्षा स्वकीयस्यैव क्रियत इति कृष्णोऽस्माकमेव अस्माभिश्च नेतव्य इति शङ्कायामूचतुः न सतां परस्व इति । परस्व इत्य-सदबुद्धिः सतां कदापि न भवति ॥३९॥

व्याख्यार्थ—बाल्यकाल में ही बालक प्रथम माता पिता को ही देखता है। वह इन दोनों को न हुआ आप ही ने माता पिता होकर सर्व प्रकार अलौकिक रीति से, सब कुछ देकर इनका हितादि किया क्योंकि आप के वहाँ ही रहे। इनका अभ्युदय (उन्नति) भी शान्तिक (शान्ति करानेवाला) आदि से आपने ही किया। नवनीत (मक्खन) आदि पौष्टिक पदार्थों द्वारा इनका पोषण किया, स्तुति एवं चुम्बन आदि से लाड लडाए, इसी तरह चारों प्रकार से इनको वैसी रक्षा आदि आपने की जैसे पलक सब तरह आँख का पोषण करती है। 'हे भवति' संबोधन से यशोदाजी की नन्द से भी विशेष स्तुति की है। क्योंकि पलक की तरह पुत्र की रक्षा विशेषकर माता ही ध्यानपूर्वक करती है। इस कारण से ही आप के पास रक्षित ये दोनों सर्वथा निर्भय हो रहते थे। यों कहकर बताया कि पूतना आदि का भय भी निवृत्त हो गया, इस प्रकार रक्षा अपनी सन्तान को ही की

जाती है अतः कृष्ण हमारा है, हमही इसको ले जावें, इस शङ्का के उत्तर में कहती हैं, कि अपना और पराया ऐसी असत् बुद्धि सत्पुरुषों को कभी नहीं होती है ॥३६॥

आभास—एवं द्वितीयानामुक्त्वा तृतीयानामाह गोप्यश्चेति ।

आभासार्थ—इसी तरह दूसरियों का कह कर अब 'गोप्यश्च' श्लोक से तीसरियों का कहते हैं —

श्लोक—श्रीशुक उवाच—गोप्यश्च कृष्णमुपलभ्य चिरादभीष्टं

यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्षमकृतं शपन्ति ।

दृग्भिर्हृदीकृतमलं परिरम्य सर्वा-

स्तद्भावमापुरपि नित्ययुजां दुरापम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—बहुत समय से जिस समय श्रीकृष्ण के दर्शन की लालसा थी, गोपियों ने उनको प्राप्त किया, किन्तु नेत्रों में पलक रचने वाले ब्रह्मा (भगवान् के दर्शन करने में) विघ्न रूप हुआ, जिससे उसको गोपियाँ शाप देने लगी और भगवान् को नेत्रों द्वारा हृदय में धारण कर, उनका गाढ (खूब) आलिङ्गन कर, नित्य समाधि द्वारा भगवान् के दर्शन की इच्छा वाले योगियों को भी दुर्लभ, ऐसे दर्शन कर भाव द्वारा उस भाव स्वरूप का आप भी रूप बन गई ॥४०॥

सुबोधिनी—गोपीनां कृष्ण एव संभाष्यः न तु देवक्याद्याः तादृश्यः कृष्णमुपलभ्य सम्यग्दृष्ट्वा दृशि स्थितं भगवन्तं दृग्भिरेव हृदि कृत्य अन्तःकरणे समागतमात्मनैव देहादिव्यवधानरहितेनात्मत्यर्थं परिरम्य सर्वा एव तद्भावं कृष्णभावं प्राप्ताः । अन्तर्गते भगवति आलिङ्गनार्थं प्रवृत्ताः स्वजीवात्मानं तत्र संयोज्य भगवता सह ऐक्यं प्राप्ताः लिङ्गशरीरमपि तिष्ठतीति जीवधमपेक्षया भगवद्धर्मा बलिष्ठा इति जीवभावं परित्यज्य भगवद्भावं प्राप्ता इत्यर्थः । चिरादभीष्टमिति । सर्वभावेन प्राणानां तत्समीपगमने हेतुरुक्तः । अभीष्टतायाः परमसीमामाह यत्प्रेक्षणे दृशिषु पक्षमकृतं शपन्तीति । 'जड उदीक्षतां पक्षमकृद्दृशाम्' इति । अक्षिरक्षार्थं पक्षमकरणं भगवद्दर्शन-

दशायामक्ष्युपघातकशङ्काभावात् पक्षम व्यर्थं प्रत्युत व्यवधानं करोतीति बाधकमतो ब्रह्मा भगवद्दर्शनयुक्तानां पक्षम कुर्वन् दर्शनरसानभिज्ञो जड एवेति वदन्त्यः भगवत्प्रेक्षणे दृशिषु यः पक्षमकर्ता तं शपन्ति । एवं दर्शनरसानभिज्ञाः ततो दृग्भिर्हृदीकृतं भगवन्तं बहिः शङ्कया आलिङ्गन-बाधाद् अन्तरेव परिरम्य तद्रूपा जाताः । अयं भावस्तासां कामेन जातः तत्राप्यनायासेन । साधनसहस्रस्यापि एतदशक्यमित्याह नित्ययुजामपि दुरापमिति । निरन्तरयोगरतानामप्यप्राप्यम् । असूयादिसर्वदोषपरिहारार्थं भगवान् उपायान्तरमलभमानः स्वभावं दत्तवान् । न तु तासां स्वभावे कांचित्प्रतीतिरस्ति । अत एव श्रूयते ।

व्याख्यानार्थ—गोपियों को कृष्ण से मिलाप, सम्भाषण आदि करना था । देवकी आदि से नहीं, क्योंकि गोपियों के मन में, यह बात अब तक खटक रही थी, कि ये ही व्रज से कृष्ण को

अपने पास ले गई हैं। वैसी गोपियाँ कृष्ण को प्राप्त कर, अच्छी तरह से दर्शन कर, नेत्र में स्थित भगवान् को नेत्रों से ही हृदय में धारण कर, देश आदि रुकावट से रहित, आत्मा से ही अत्यन्तमेव आलिङ्गन कर सर्व गोपियाँ कृष्ण भाव को प्राप्त हो गई, अर्थात् हृदय में गधारे हुए भगवान् को आलिङ्गन करने के लिए प्रवृत्त गोपियाँ अपने जीवात्मा को उनमें जोड़कर भगवान् के साथ ऐक्य को प्राप्त हुई। उस समय गोपियों का लिङ्ग शरीर भी विद्यमान था, तो ऐक्य कैसे? जिस शङ्का का निवारण करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि जीव धर्म की अपेक्षा भगवद्धर्म वलिष्ठ है, इसलिए जीव भाव का त्याग कर भगवद्भाव को प्राप्त हुई। प्राण सर्वभाव से उनके समीप जाने के हेतु था, बहुत समय से प्राप्ति की इच्छा, इच्छा की परम सीमा को कहते हैं कि भगवान् के दर्शन में, रुकावट डालने वाली, जो पनकें थीं। उनको बनाने वाले ब्रह्मा को 'जइ उदोक्षतांपक्ष्म कृद्दृशाम्' श्लोक में शाप देती हैं, कि ब्रह्मा जइ अर्थात् मूर्ख है' आँखों की रक्षा के लिए पलकें बनाई, किन्तु भगवद्दर्शन के काल में आँखों की कोई हानि नहीं होती है, अतः पलकें व्यर्थ, बल्कि दर्शन में रुकावट करती हैं इसलिए बाधक हैं; अतः ब्रह्मा ने भगवद्दर्शनाभिलाषियों के नेत्रों में जो पलकें बनाई हैं, इससे जाना जाता है कि ब्रह्मा भगवद्दर्शन से जो रस प्राप्त होता है, उसको नहीं जानता है, अतः मूर्ख ही है यों कहती हुई भगवान् के दर्शन समय, नेत्रों में जो पनकें बनाने वाला है, उसको शाप देती हैं, इस प्रकार दर्शन के रस को जाननेवाली गोपियों ने नेत्रों से भगवान् को हृदय में विराजमान कर लिया। भगवान् यदि बाहर विराजते तो आलिङ्गन में बाधा पड़ेगी, भीतर ही गाढ आलिङ्गन करती हुई तद्रूप बन गई यह भाव; उनके काम से हुआ उसमें भी किसी प्रकार परिश्रम नहीं हुआ हजारों साधनों से यों होना अशक्य है, इसको दृष्टान्त से समझते हैं कि निरन्तर जो योग में आसक्त हैं उनको भी यह आनन्द प्राप्त नहीं होता है, भगवान् ने असूया (डाह) आदि दोषों के परिहार के लिए दूसरा उपाय न देखकर स्वभाव ही ऐसा दिया, उनके स्वभाव में कोई अन्य प्रतीति नहीं है अतएव सुना जाता है कि—

कारिका—'गोमति मतिमति किमिदं हरि हरि हरिणा कथं सङ्गः ।

जातं पीतं वसनं मेचकमङ्गं गतोऽङ्गनाभावम्' इति ॥

कारिकार्थ - हे बुद्धिमती वाणी ! आपने ऐसे से सङ्ग कैसे किया, जिसके वस्त्र पीले और अङ्ग श्याम तथा स्वयं स्त्रीभाव को प्राप्त हो गए हैं ।

सुबोधिनी—अतः पूर्वविस्मरणार्थं भग- | उक्तः ॥४०॥
वानेवं कृतवानिति तृतीयकक्षास्थानामत्युत्कर्षं ।

व्याख्यार्थ - अतः पूर्व भाव को भूल जाने के लिए भगवान् ने इस प्रकार यह लीला की है—यों तृतीय कक्षा वाले भक्तों का अति उत्कर्ष कहा है ॥४०॥

आभास—ततो भगवान् तद्भावदाढ्यार्थं किञ्चिदुपदेष्टुं तत उत्थाय एकान्ते गत्वा यथोचितं कृतवानित्याह भगवानिति ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् उनके भाव को दृढ करने के लिए और कुछ उपदेश देने के

लिए वहाँ से उठकर एकान्त में जाकर जो उचित कर्तव्य करना था, वह करने लगे यह 'भगवान्' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—भगवांस्तास्तथाभूता विविक्त उपसंगताः ।

आश्लिष्यानामयं पृष्ट्वा प्रहसन्निदमब्रवीत् ॥४१॥

श्लोकार्थ—भगवान् वैसी गोपियों से एकान्त में मिले उनके भाव के अनुसार आलिङ्गन कर, उनसे कुशल पूछ अनन्तर हँस कर, यों कहने लगे ॥४१॥

सुबोधिनी—स्वयमेवान्तर्वर्तत इति यदेव करिष्यति तदेव ता अङ्गीकरिष्यन्तीति विविक्ते एकान्ते उपसंगताः समीपमागताः गोपीः बहिः । स्वयमेवाऽश्लिष्य बहिर्धर्मानपि स्वकीयांस्तासु बहिः स्थापयित्वा पश्चादनामयं पृष्ट्वा स्ववचनं स्मृत्वा प्रहसन्निदं वक्ष्यमाणमब्रवीत् ॥ ४१॥

व्याख्यार्थ—स्वयं भगवान् भीतर विराज रहे हैं इसलिए जो कुछ आप करेंगे, उसको वे स्वीकार करेंगी, अतः एकान्त में गोपियाँ भगवान् के समीप आईं, बाहर स्वयं ही आलिङ्गन कर अपने बाहर के धर्मों को भी उन में बाहर स्थापन किया, बाद में कुशल पूछ अपने वचन याद कर हँसते हुए निम्न वचन कहने लगे ॥४१॥

आभास—स्वलीलां तासु स्थापयन्निवाह अपि स्मरतेति ।

आभासार्थ—उनमें मानों अपनी लीलाओं को स्थापित करते हुए कहने लगे ।

श्लोक—अपि स्मरत नः सख्यः स्वानामर्थचिकीर्षया ।

गतांश्चिरायितान् शत्रुपक्षक्षेपणचेतसः ॥४२॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा—हे सखियों ! हम अपने बन्धुओं के कार्य करने की इच्छा से गए थे, किन्तु वहाँ शत्रुओं के पक्ष का नाश करने में लग गए, जिससे वहाँ बहुत दिन तक रुक गए । गोकुल में रहते हुए तुमने हमको कभी याद भी किया ? ॥४२॥

सुबोधिनी—हे सख्यः । अपीति संभावनायाम् । नोऽस्मान् किं स्मरत । अस्मरणं तु भवतीनामेव दोष इति परिहासोक्तिः । स्वस्यापराधं परिहरति स्वानामर्थचिकीर्षया गतानिति । किं कर्तव्यार्थं गतं मथुरायां तत्र बन्धूनां हितकरणार्थं प्रवृत्तौ भूयान् कालो जातः । तेनैवानागमनं

चित्तं तु भवतीष्वेवेत्यर्थः । चिरकालावस्थितौ हेतुमाह शत्रुपक्षक्षेपणचेतस इति । शत्रूणां पक्षाः सर्वे एव नाशनीया इति । अन्यथा समूलान नश्यन्तीति । स्त्रीभिः सह परिहासभाषया एतद्भगवतोक्तम् ॥४२॥

व्याख्यार्थ—हे सखियों ! 'अपि' शब्द यहां सम्भावना अर्थ में दिया है । क्या हमको याद

करती हो ? यदि नहीं करती हो तो आपका ही दोष है, यों कहना परिहासार्थ है, भगवान् अपने अपराध को मिटाते हैं, मैं तो सम्बन्धियों की कार्य पूर्ति के लिये मथुरा गया, वहाँ उनके हित कार्य करने की प्रवृत्ति में लग जाने से बहुत समय लग गया इस कारण से नहीं आ सका । चित्त तो तुम लोगों में लगा हुआ था, बहुत समय क्यों लगा ? जिसका कारण बताते हैं कि वहाँ शत्रु पक्ष को किसी भी तरह नाश करने में लग गया था, यदि साधारणतया कार्य करेंगे तो शत्रु समूल नष्ट न होंगे अतः विशेष समय रह कर उनको सर्व प्रकार समूल ही नाश करना था स्त्रियों से यों परिहास की भाषा में भगवान् ने कहा ॥४२॥

आभास—यस्तु मर्मनिभिज्ञः स एतदङ्गीकरोति । न त्वभिज्ञ इति । अभिज्ञा गोपिकाभगवान् वञ्चयतीति भगवति अवध्यानबुद्धयो भवन्ति, अतस्तद्दोषपरिहारार्थं भगवानाह अप्यवध्यायथेति ।

आभासार्थ—जो मर्म को नहीं समझ सकता है, वह इसको अङ्गीकार करेगा न कि समझने वाला । गोपियाँ तो अभिज्ञ (समझदार) हैं, अतः समझती हैं कि भगवान् हमको यों कह कर ठगते हैं, इसलिए भगवान् में उनको विरुद्ध ध्यान वाली बुद्धि हो गई, अतः उनके इस दोष को मिटाने के लिए भगवान् 'अप्यवध्यायथा' श्लोक में गोपियों को उपदेश देते हैं अर्थात् समझाते हैं—

श्लोक—अप्यवध्यायथास्मान्स्विदकृतज्ञा विशङ्कया ।

नूनं भूतानि भगवान् युनक्ति वियुनक्ति च ॥४३॥

श्लोकार्थ—हम आपको भूल गए हैं, ऐसी शङ्का मन में कर हम पर विरुद्ध विचार से दोषारोपण नहीं करना, कारण कि मिलना एवं पृथक् होना तो मनुष्य के हाथ में नहीं, किन्तु भगवान् के हाथ में है । वे जब मनुष्य को पृथक् करना चाहते हैं, तब पृथक्पन प्राप्त होता है और जब मिलाना चाहते हैं, तब मिलाप होता है, इसलिए आप इस बात को समझलो कि सबके लिए यह नियम है ॥४३॥

सुबोधिनी—ध्वै चिन्तायामित्यस्य अवोप-
सर्गसहितस्य लोटि तादेशरहितस्य मध्यमपुरुष-
वचन अवध्यायथेति । अवध्यानं विरुद्धध्यानम् ।
अपीति संभावनायाम् । अस्मान् बलभद्रोद्धवादि-
साहित्येनावध्यानप्राप्ति सूचयति अपि स्विदिति ।

अकृतज्ञा एते इति या विशिष्टशङ्का विरुद्धशङ्का
वा स्वाधीनत्वे दोषोऽयं भवेत् । पराधीनं त्वेत-
दित्याह नूनं भूतानि भगवानिति । युनक्ति कदा-
चित् वियुनक्ति वियोजयति च ॥४३॥

व्याख्यानार्थ—'अप्यवध्याय' यह पद ध्वै चिन्तायाम् धातु से अव उपसर्ग के साथ लोट् लकार का मध्यम पुरुष है, यहाँ 'त' का आदेश नहीं हुआ है 'अवध्यानं' का अर्थ विरुद्धध्यान अर्थात् विरुद्ध शंका वा विचार 'अपि' पद यहाँ संभावना अर्थ में दिया है 'अस्मान्' पद से सूचित किया है कि बलभद्र और उद्धवग्रादि सबके साथ हम पर यह दोषारोपण नहीं करना, कि ये कृतघ्न हैं, क्योंकि यह संभावना तब बन सकती है, जबकि जीव स्वतन्त्र हो, अपनी इच्छा से सब कुछ कर

सकता हो, यह तो पराधीन है, क्योंकि भूत मात्र को भगवान् ही अपनी इच्छा से मिलाता है वा पृथक् कर देता है इसलिए हम आपको छोड़ कर मथुरा गए ऐसी शङ्का कभी नहीं करनी ॥४३॥

आभास—यस्मिन् पक्षे भगवति जारबुद्धिः तदैवं वचनं प्राणिन एव जारा भवन्तीति कथं कालेन संयोगवियोगौ क्रियेते इति चेत् तत्राह वायुर्यथा घनानोकमिति ।

आभासार्थ—जिस पक्ष में भगवान् में जार बुद्धि है, तब ऐसे वचन, कि प्राणी ही जार हैं यों कैसे मिलाप और वियोग होता है ? इसका उत्तर 'वायुर्यथा' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—वायुर्यथा घनानीकं तृणं तूलं रजांसि च ।

संयोज्याक्षिपते भूयस्तथा भूतानि भूतकृत् ॥४४॥

श्लोकार्थ—जैसे पवन मेघ, तृण, रुई और रज को मिलाकर अलग (जुदा) कर देता है, वैसे ही काल-भगवान्-भी भूतों को मिलाता है एवं अलग करता है ॥४४॥

सुबोधिनी—यथा वायुः मेघसमूहं वियोजयति योजयति च । यथा तृणसमूहं वात्यारूपः । तूलं च कार्पासपिण्डं, रजो भूरेणुः, तृणादीनि राजससात्त्विकतामसानि निर्गुणा मेघाः, चतुर्विधा अपि वायुना स्वेच्छया नीयन्ते स्थाप्यन्ते

वा । तथा भूतानि चतुर्विधान्वपि भूतानि । भूतकृत् कालः । योजयति वियोजयति च । अतः कालाधीनत्वात् योगवियोगार्थं कोपि नोपालम्भः ॥४४॥

व्याख्यार्थ—जिस तरह वायु मेघ के समुह को अलग करता है और फिर मिला भी देता है, तिनकों को, कपास के पिण्ड को और पृथ्वी की रज को भी मिलाता और पृथक् कर देता है, ये चारों पदार्थ वायु द्वारा मिलते भी हैं, अलग भी होते हैं, इनमें से तीन तिनके, कपास और रज राजस, सात्त्विक और तामस है शेष मेघ निर्गुण है, इसी प्रकार चार भूत भी काल द्वारा मिलते और अलग होते हैं इस कारण काल के आधिपत्य होने से मिलने और बिगड़ने का किसी को उपालम्भ (उल्हाना) नहीं देना चाहिए ॥४४॥

आभास—परमार्थबुद्धियुक्ताश्चेत्तत्राह मयि भक्तिर्हि भूतानामिति ।

आभासार्थ—यदि परमार्थ बुद्धि युक्त हैं तो इस पर 'मयि भक्ति' श्लोक कहते हैं

श्लोक—मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते ।

दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥४५॥

श्लोकार्थ—प्राणी मात्र को मुझ में की हुई भक्ति मोक्ष देने में समर्थ है, अतः बधाई है, जो मेरी प्राप्ति करने वाला मेरा स्नेह आप लोगों को प्राप्त हुआ है ॥४५॥

सुबोधिनी - भक्तिः शास्त्रीया आन्तरप्रेम-सहिता सेवादिः इन्द्रियाणामहमहमिकया स्वाभाविकी वृत्तिर्वा । असृजत्वाय मोक्षाय । भूतानामिति नात्रावान्तराधिकारभेदो वक्तव्यः यथा मर्यादायां ब्राह्मण एव मुच्यते इति न तथा भक्तिमार्गे । कल्पते इति असहायैव भक्तिमोक्षं दातुं समर्था न तु ज्ञानमिव कमपेक्षते अन्तःकरणशुद्धि वा । अतो भक्तानां मोक्षः नात्यन्तं दुष्प्राप्यः । भवतीनां तु ततोपि विशेष इत्याह

दिष्ट्या यदासोन्मत्स्नेह इति । स्नेहो लौकिकः स तु कामकृतो भवति 'काममयः पुरुषः' इति सहजोऽपि कृत्रिमो । वैधः सहजो भगवद्विषयको न भवतीति असंव्यवहार्यत्वाद्भगवतः । प्रकृते तु दैवगत्या मद्विषयो जातः तस्य च फलं मदापन इति मामेवापयति प्रापयतीति मद्भावं मत्सायुज्यं वा करोतीत्यर्थः । अमृतत्वं ब्रह्मभावः, पुरुषोत्तमभावो मद्भावः । तद्वैलक्षण्यं पूर्वमेवावोचाम ॥४५॥

व्याख्यार्थ—हादिक प्रेम युक्त शास्त्र में कही हुई सेवादि को भक्ति कहा जाता है, अथवा प्रत्येक इन्द्रियों की भगवान् में ऐसी सहज वृत्ति हो, कि भगवान् से हम पहले मिलें, वह भक्ति है, ऐसी भक्ति मोक्ष कराने वाली है अर्थात् ऐसी भक्ति से मोक्ष प्राप्त होता है, भक्ति से मोक्ष, भूत मात्र को मिलता है, इससे किसी प्रकार का दूसरा कोई भेद नहीं है । जैसे मर्यादा मार्ग में ब्राह्मण की मुक्ति हो सकती है, भक्ति मार्ग में यों नहीं है 'भक्ति' सर्व प्राणी मात्र को मोक्ष देने में समर्थ है । उसको ज्ञान की तरह न, कर्म की अपेक्षा है और न अन्तःकरण की शुद्धि की आवश्यकता है, इसलिए भक्तों को मोक्ष अत्यन्त कठिनता से प्राप्त नहीं होता है, बल्कि सरलता से मिल जाता है, तुम को तो उनसे भी विशेष सरलता से, अतः बधाई है, कारण कि, आपका मेरे में सहज स्नेह है, लौकिक स्नेह जो है वह तो काम कृत होता है 'काम मय पुरुष' इस वाक्यानुसार सहज ही कृत्रिम हो जाता है । जो स्नेह वैध अर्थात् विधि अनुसार है, वह सहज मेरे सम्बन्ध वाला नहीं होता है, कारण कि भगवान् से व्यवहार्य नहीं हो सकता है । प्रकृत में तो देव गति से आपका स्नेह मत्सम्बन्धी हो गया है जिसका फल मेरी प्राप्ति है अर्थात् मुझ में 'सायुज्यमुक्ति' प्राप्ति होती है, अमृतत्व का तात्पर्य है ब्रह्मभाव, पुरुषोत्तमभाव वा मद्भाव उसकी विलक्षणता पूर्व ही कही है ॥४५॥

आभास—कीदृशो भगवान् यादृशं स्नेहः प्रापयतीत्याकाङ्क्षायामाह अहं हीति ।

आभासार्थ—वे भगवान् कैसे हैं ? जिनको स्नेह ही प्राप्त करा सकता है, कर्म ज्ञानादि कोई साधन उनकी प्राप्ति नहीं करा सकता है जो 'अहं' श्लोक से बताते हैं

श्लोक—अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः ।

भौतिकानां यथा खं वाभूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे अङ्गनाओं ! जिस तरह भौतिक पदार्थों की आदि-अन्त, बाहर-भीतर सब पाँच भूत^१ हैं, वैसे मैं ही सर्वभूतों की आदि-अन्त, बाहर और भीतर में व्याप्त हूँ ॥४६॥

सुबोधिनी—स्नेहस्य मत्प्रापणे आवरण-
निराकरणमेव साध्यम् । न तु प्रयासान्तरम-
स्तीति वक्तुं भूतानां पूर्वापरबाह्याभ्यन्तरभेदेन
प्रदेशचतुष्टये स्वस्यावस्थानं निरूप्यते । युक्तश्चा-
यमर्थः । व्यापको हि परिच्छिन्नस्य एवमेव
भवति । आविरन्त इति उत्पत्तेः पूर्व नाशानन्तर
च ग्रहमेवेति कालपरिच्छेदे । उभयतः स्थिति-
माह अन्तरं बहिरिति । देशपरिच्छेदे । सङ्घाता-
भिप्रायमेतदणुजीवाभिप्रायेऽपि । तत्र पञ्चमहा-

भूतानि दृष्टन्तीकरोति भौतिकानामिति । स्व-
माकाश वाजलं तामसराजसभावनिरूपणार्थं
आकाशजलयोः क्रमो निरूपितः । तथैव भूवाय्वोः
सृष्टिप्रलयभेदेन क्रमद्वयं निरूपितं भवति । मध्ये
सात्त्विकं तेजः आद्यन्तयोस्तामसौ तत्संलग्नौ
राजसौ मध्ये सात्त्विकमिति यथा सर्वतो व्याप्तं
शरीरं तत्संलग्ना इन्द्रियप्राणाः मध्ये चैतन्यमिति
ज्ञापनार्थम् । अङ्गना इति संबोधनं उत्तमाङ्गव-
त्वेन विश्वासार्थम् ॥४६॥

व्याख्यार्थ—मेरी प्राप्ति के लिए स्नेह का केवल आवरण दूर करने के सिवाय अन्य किसी
प्रकार का प्रयास नहीं है । यों सिद्ध करने के लिए भूतों के चारों तरफ अर्थात् आदि में अन्त में,
बाहर और भीतर मैं ही, स्थित हूँ यों कहना उचित ही है । जो वस्तु व्यापक है वह परिच्छिन्न
पदार्थ में इसी तरह ही रहती है, उत्पत्ति से पहले और नाश के बाद भी मैं ही हूँ यों कहकर काल
के परिच्छेद में भी अपना अस्तित्व सिद्ध किया है तथा देश परिच्छेद में भी बाहर और भीतर
कह कर अपना अस्तित्व कहा है, अर्थात् आप सब में सदैव स्थित है जिससे कोई भी पदार्थ जीव
आदि आपसे कभी पृथक् नहीं है संघाताभिप्राय यह अणु जीव के अभिप्राय से भी कहा है इस
विषय में पांच महा भूतों का दृष्टान्त देते हैं— आकाश और जल ये दो साथ में क्रम से तामस
और राजस भाव बताने के लिए कहा है, वैसे ही पृथ्वी और वायु का सृष्टि और प्रलय भेद से
क्रम पूर्वक दो कहे हैं मध्य में सात्त्विक तेज कहा है, इस प्रकार क्रम कहने का आशय
स्पष्ट करते हुए कहते हैं, कि जैसे शरीर सर्वतो व्याप्त है उसमें इन्द्रिय और प्राण लगे हुए हैं और
मध्य में चैतन्य रहता है यह जताने के लिए ही आदि तथा अन्त में तामस उससे हो मिले हुए
राजस और मध्य में सात्त्विक तेज कहा है अङ्गना यह संबोधन, उत्तमाङ्गत्व के कारण विश्वास
के लिए कहा है ॥४६॥

आभास—एवं परितो वेष्टनमात्रतया स्वस्य जीवानां जगतो वा भेदो निरूपितः
तन्निराकुर्वन् केवलात्मप्रतिपत्तिमाह एवमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार चारों तरफ केवल वेष्टित होने से अपना जीवों का अथवा जगत्
का भेद कहा उसका 'एवं' श्लोक में निराकरण हुए केवल आत्मप्रतिपत्ति (बुद्धि) है यह सिद्ध
करते हैं—

श्लोक—एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्मतया ततः ।

उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ॥४७॥

श्लोकार्थ—जैसे भौतिक घट-पट आदि पदार्थों की आत्मा(शरीर) भूतों से उत्पन्न

होती है, फिर भूतों में ही लीन हो जाती है, वैसे ही कार्य कारणात्मक जगत् अन्त में मुझमें ही लीन हो जाता है। यह सर्व अक्षर में लीन होते हैं। यह आप देखो, यों कहकर गोपियों को सर्व वस्तु की ब्रह्मरूपता बताई। इसी तरह बताकर गोपियों को सर्व वस्तु की भगवद्रूपता कही है और यों सिद्धकर स्नेह को ही अधिकार रूप कहा है ॥४७॥

सुबोधिनी—अनेन प्रमेयं भगवानिति समर्थितं भविष्यति । पूर्वश्लोके भूतानि परितो निरूपितानि । भौतिकानां कालपरिच्छेदे देशपरिच्छेदे च मध्यभावस्तु न निरूपितः । मध्यभावस्तु किमात्मक इत्याकाङ्क्षायामाह मध्येऽपि भूतान्येव भौतिकेषु वर्तन्ते । नदीनिमग्नघट इव स्थिता भविष्यन्तीति पिण्डकारणत्वेन च स्थिता भविष्यन्तीति न जलात्मता घटस्य भविष्यतीति विशेषमाह आत्मात्मतयेति । आत्मनां भूतशब्दवाच्यानां घटपटादीनामात्मतया स्वरूपत्वेन महाभूतानि भौतिकेषु भवन्तीत्यर्थः । अनेन पञ्चमहाभूतात्मकत्वं जगतो निरूपितम् । ततः परमुभयविधस्य कार्यकारणभावापन्नस्य भूतजातस्य

भगवानाद्यन्तयोरन्तर्वहिः तद्रूपश्चेति निरूपयति तत उभयं मयोति बोधनार्थम् । तत इति क्रमः आनन्तर्यार्थो निरूपितः । एतन्मयोति वचनं ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिभूतभौतिकपक्षे पुरुषपरं ब्रह्माण्डपक्षे तु कालपरम् । अथ तदनन्तरम् । कालसहितस्य सर्वस्यापि कार्यजातस्य पूर्ववन्मयि परे अहं तेषामाद्यन्तान्तरवर्तीत्यादि । एतावद्दूरे स्वरूपं निरूप्य तस्यानुभवं कारयति पश्यतेति । किं द्रष्टव्यमित्याकाङ्क्षायां क्रमनिरूपणं परित्यज्य फलमाह अक्षरे आभातमिति । अनेन ब्रह्मात्मभावोपि निरूपितो भवति । जीवानामप्यतिरिक्तभावस्य निराकृतत्वात्स्नेहस्य मदापनजनने अधिकार इव निरूपितः ॥४७॥

व्याख्यानार्थ इससे यह समर्थित होगा कि प्रमेय भगवान् हैं पूर्व लोक में चारों तरफ भूत कहे हैं भौतिक पदार्थ के काल परिच्छेद और देश परिच्छेद में मध्यभाव का निरूपण नहीं किया, मध्यभाव का क्या रूप है ? इस आकांक्षा में कहते हैं कि भौतिक पदार्थों के मध्य में भी भूत ही है । नदी में डूबे हुए घड़े की भाँति स्थित होंगे यों पिण्डकारणपन से स्थित रहेंगे इसलिए घट को जलात्मता नहीं होगी, जिसके कहने का भावार्थ यह है, कि घट पट आदि पदार्थ जो भूत नाम से कहे जाते हैं वे स्वरूपपन से जो महाभूत आकाशादि हैं वे ही भौतिक पदार्थों में हैं अन्य कोई वस्तु नहीं है, अतः जगत् को पञ्चमहाभूतों का ही रूप कहा है । यों समझाकर बाद में कहते हैं कि यह जो 'कार्य' और 'कारण' भाव को प्राप्त भूत मात्र है, उसके 'आदि' 'अन्त' में 'भीतर' और 'बाहर' तथा उस का रूप भगवान् ही है यह निरूपण करते हुए कहते हैं, कि 'तत उभयमयि' 'तत' पद से अनन्तर अर्थ वाला क्रम निरूपण किया है 'एतत् मयि' इस पद से यह समझाया है कि ब्रह्माण्ड के भीतर जो भूत और भौतिक है वह पुरुष 'पर' है और ब्रह्माण्ड पक्ष में 'काल' 'पर' है, अथ उसके बाद काल सहित जो कुछ भी कार्य रूप है, वह पूर्व की तरह 'पर' जो मैं हूँ उसमें है । मैं ही उनके आदि, मध्य और अन्त में रहता हूँ । इतने तक दूर भी मेरा स्वरूप है यों कहकर उसका अनुभव कराते हैं पश्यत दर्शन करिए, क्या देखें ? इस आकांक्षा में क्रम के निरूपण का त्याग कर फल बताते हैं, यह सर्व अक्षर रूप में प्रकाशित हो रहा है, इससे जगत् ब्रह्मभाव भी निरूपण किया । जीव के भी पृथक्भाव का निराकरण करने से अपने में प्राप्ति का मानों अधिकार निरूपण कर दिया है ॥४७॥

आभास—तेन को वाधिकारः संपन्न इत्याकाङ्क्षायामाह अध्यात्मशिक्षयेति ।

आभासार्थ—उसमे कौनसा अधिकार प्राप्त हुआ इस आकांक्षा का 'अध्यात्म शिक्षा' श्लोक में श्री शुकदेवजी उत्तर देते हैं--

श्लोक— श्रीशुक उवाच—अध्यात्मशिक्षया गोप्य एवं कृष्णेन शिक्षिताः ।

तदनुस्मरणध्वस्तजीवकोशास्तमध्यगन् ॥४८॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने गोपियों को अध्यात्म शिक्षा दी, जिसको स्मरण करती हुई गोपियों ने अन्नमयादि कोशों को त्याग कर भगवान् को पाया, जब कोशाध्यास नष्ट हुआ, तब सर्वात्मभाव से भगवान् के दर्शन करने लगीं ॥४८॥

सुबोधिनी--अध्यात्मशिक्षा आत्मनो ब्रह्म-
त्वज्ञानबोधाय युक्तिपूर्वकनिरूपणं तेन गोप्य एवं
भगवता शिक्षिताः ब्रह्मभावापन्ना अपि बोधक-
स्य भगवतः अनुस्मरणेन बोधितार्थानुस्मरणेन
वा ध्वस्तजीवकोशाः सत्यः व्यवधायकं स्वकीय-

मुपाधिरूपं लिङ्गशरीरं परित्यज्य तमेवाध्यगन्
भगवद्रूपा एव जाताः यथा भगवान् । तेनान्तः-
पूर्णो भगवानेव जातः । कोशस्थानीयो भगवा-
नाधिदैविकः । सहजसर्वशक्तिर्वा देहस्त्ववशिष्यते
व्याप्तभगवदंशः ॥४८॥

व्याख्यार्थ—अध्यात्म शिक्षा 'आत्मा' ब्रह्म है, युक्ति पूर्वक ऐसी शिक्षा को अध्यात्मा शिक्षा कहा जाता है । भगवान् की दी हुई इस प्रकार की शिक्षा से गोपियाँ ब्रह्म भाव को प्राप्त होने पर भी, शिक्षा देने वाले भगवान् को स्मरण से अथवा जो ज्ञान की शिक्षा मिली उसको बार बार स्मरण करने से, जीवकोशों को नष्ट कर, भगवद्दर्शन एवं मिलन में रुकावट करने वाले अपने उपाधिरूप लिङ्ग शरीर का त्याग कर भगवद्रूप हो गईं । जैसा भगवान् का आनन्दमय रूप है वैसी ही यह भी हो गई । उससे अन्तःपूर्ण भगवान् हो हो गई । कोश स्थानीय भगवान् आधिदैविक हैं अथवा सहज सर्व शक्ति हो गई । देह में तो भगवदंश व्याप्त हो गया इसलिए नष्ट न हुई ॥४८॥

आभास—तस्य प्रतिबन्धकत्वाभावाय भगवन्तं विज्ञापयामासुः आहुश्चेति ।

आभासार्थ—प्रतिबन्धकपन के अभावार्थ भगवान् को प्रार्थना करती हैं ।

श्लोक— आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं

योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमगाधबोधैः ।

संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बं

गेहंजुषामपि मनस्युदियात्सदा नः ॥४९॥

श्लोकार्थ—हे कमलनाभ ! अगाध बोध वाले योगेश्वर, जिस चरण कमल का हृदय में धारण कर चिन्तन करते हैं और जो चरण कमल संसार रूप कूप (कुए) में

पड़े हुए पुरुषों का आश्रय है, वह चरण कमल घर का सेवन करने वाली हम हैं, तो भी सदैव हमारे मन में प्रगट होकर विराजे ॥४६॥

सुबोधिनी - भक्तानामेवं स्थितिः उत्तमा।
एवंभावश्च, ब्रह्मात्मभावोऽस्माकं जात एव ।
इन्द्रियवर्गश्चातीतः । अतः आधिदैविके मनसि
तवावतोर्णस्य पुरुषोत्तमस्य पादयुगलं मनसि
सर्वदा स्फुरतु । तावता इयमवस्था स्थिरा भवि-
ष्यति । एतदभावे ब्रह्मभावापन्नस्यापि सर्वे दोषाः
संभविष्यन्तीत्याशयेनाहुः हे नलिननाभेति । पद्म-
नाभत्वादयं ब्रह्मादीनामुत्पादकः तदनुवृत्त्यैव
जीवानां स्थितिर्वा ब्रह्मभावेन स्तब्धतायां कृत-
घ्नता भवतीति तदभावार्थं प्रार्थित इत्यर्थः ।
उपायेनाविर्भावं संपादयन्त्विति चेत् तत्राहुः
योगेश्वरैर्हृदि विचिन्त्यमिति । अगाधबोधज्ञान-
पूर्णेर्बहिर्योगरूपसाधनयुक्तरपि हृदि विचिन्त्य-
मेव । नन्वेतादृश्याविर्भावे किं प्रयोजनमिति
चेत् तत्राह संसारकूपपतितोत्तरणावलम्बमिति ।

संसारकूपे निर्गमोपायरहिते यः पतति दूरादुच्चैः
स्थितः पातककर्मणा नीचत्वं प्राप्नोति तस्य
वंकुष्ठपदारोहणे अवलम्बनं भवति । कर्म ज्ञाना-
दिकं ऊर्ध्वगमनं तन्निरालम्बने न साधकमिति
सर्वथालम्बनं मृग्यते । स्वस्य बाधान्तरसंभावना-
माहुः गेहंजुषामपीति । देहो वतंत इति देह-
भागिनः गृहे योजयिष्यन्ति । ततो गृहासक्त्या
पूर्ववदेव प्राकृतत्वं भविष्यति । ततो गृहासक्त्या
पूर्ववदेव प्राकृतत्वं भविष्यति । अयमेव च कूपे
पातः । अपीति कदाचित्त्वत्कृपया देहसंबन्धो न
भवेत् तदा न काचिच्चिन्ता इत्यपि सूचितम् ।
मनसि स्वयमेवोदियात् । नोऽस्माकं सर्वासाम् ।
एवं निष्कामतया गोप्यो मुख्या भक्ता जाताः ।
कामनिवारणार्थं च ज्ञानोपदेश इति
निरूपितम् ॥४६॥

व्याख्यानार्थ—भक्तों की इस प्रकार की स्थिति तथा ऐसा भाव उत्तम है । हम ब्रह्म भाव को प्राप्त हो गई हैं, इन्द्रिय वर्ग से भी अतीत हो गई हैं, अतः अवतारी आप पुरुषोत्तम का चरण युगल सर्वदा इस आधिदैविक मन में स्फुरित होता रहे । तावता (तब तक) यह अवस्था स्थिर रहेगी, इसके अभाव होने पर, ब्रह्म भाव का प्राप्त होने वाले को भी सर्व दोष घेर लेते हैं, इस आशय से कहती हैं कि हे पद्मनाभ ! आप पद्मनाभ होने से ब्रह्मादि के उत्पन्न कर्ता हैं उसकी अनुवृत्ति से ही जीवों की स्थिति है अथवा ब्रह्मभाव स्तब्धता आ जाने पर कृतघ्नता होती है । वह न होवे, इसके लिए प्रार्थना की है, प्रार्थना क्यों ? उपाय द्वारा आविर्भाव कराओ यदि यों कहो तो हमारा उत्तर यह है, कि आपका चरण कमल ही संसार कूप (कुए) में पड़े हुए जनों का वहाँ से निकालने का आश्रय है, अर्थात् वे ही निकाल सकते हैं दूसरा कोई उपाय नहीं है क्योंकि अगाध बोध वाले योगेश्वर भी इनका हृदय में चिन्तन करते रहते हैं । संसार कूप ऐसा है जिससे निकलने का कोई साधन नहीं है ऐसे कूप में जो गिरता है, 'इस कूप में गिरने का कारण यह है कि यद्यपि दूर और उच्च स्थान पर खड़ा है, किन्तु पाप कर्म से नीचे संसार कूप में गिर जाता है' उस संसार कूप में गिरे हुए पापी का वहाँ से निकल कर वंकुष्ठ पद के आरोहण आश्रय (साधन) आप के चरण युगल ही हैं । ऊपर जाने के लिए कर्म, ज्ञान आदि साधन निष्फल हैं तब वह आश्रय ढूँढना है, अपने लिए बाधान्तर को सम्भावना को कहती हैं कि, देह है, इसलिए देहधारी हैं जिसे गृह में रहना पड़ता है, उसे गृह में रहने से पूर्व की तरह प्राकृतपन हो जाएगा, यह ही कूप में गिरना है । 'अपि' पद से सूचित किया है, कि कदाचित् आपकी कृपा से देह से सम्बन्ध न होवे, तो किसी प्रकार की चिन्ता नहीं हो, हम सब के मन में वह चरण कमल सदा प्रगट हो कर रहे इस

प्रकार निष्कामपन से गोपियाँ मुख्य भक्त हुई काम के निवारण के लिए ज्ञान का उपदेश दिया यों निरूपण किया है ॥४६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे त्रयस्त्रिंशोऽध्यायविवरणम् ॥३३॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ७९वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३३वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल
अवान्तर प्रकरण का पञ्चम अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय के अन्तिम श्लोक में भगवद्भक्त शिरोमणि व्रज सीमन्तनियों ने भगवान् श्रीकृष्ण को प्रार्थना की है कि हे पद्मनाभ ! हम संसार-कूप में पड़े हुआओं को वहाँ से निकल कर आप तक पहुँचन का साधन केवल आपके युगल-चरण-कमल ही हैं, इसलिए वे चरण-कमल हमारे हृदय में सदा प्रकट होकर विराजें । इस सन्दर्भ में भक्त-वर सूरदासजी एवं परमानन्ददासजी के निम्न पद मननपूर्वक धारण करने योग्य हैं :—

राग बिलावल

चकई री चलि चरन सरोवर, जहां नहीं प्रेम वियोग ।
जहां भ्रम निसा होत नहीं कबहू, सो सायर सुख योग ॥१॥
सनक से हंस, मीन से मुनिगन, नख रवि प्रभा प्रकास ।
प्रफुल्लित कमल निमिष नहि शशि डर, गूञ्जत निगम सुवास ॥२॥
जिहि सर सुभग, मुक्ति मुक्ता फल, सुकृत विमल जल पीजे ।
सो सर छांडि कुबुद्धि विहङ्गम, यहां रहि कहा कीजे ॥३॥
जहां श्री सहस्र सहित नित क्रीडत, शोभित सूरजदास ।
अब न सुहाय विषय रस छिल्लर, वा समुद्र की आस ॥४॥

राग कान्हरो

चरन कमल वन्दो जगदीश, जे गोधन के संग घाए ।
जे पद कमल धूरि लपटाने, कर गहि गोपिन उर लाए ॥१॥
जे पद कमल युधिष्ठिर पूजित, राजसुय में चलि आए ।
जे पद कमल पितामह भीषम, भारत में देखन पाए ॥२॥
जे पद कमल शम्भु चतुरानन, हृदय कमल अन्तर राखे ।
जे पद कमल रमा उर भूषन, वेद भागवत मुनि साखे ॥३॥
जे पद कमल लोक त्रय पावन, बलि राजा के पीठ धरे ।
सो पद कमल दास परमानन्द, गावत प्रेम पियूष भरे ॥४॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाङ्मतिचरणकमलेश्वर्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्ब्रह्मभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ८३वाँ अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ८०वाँ अध्याय
उत्तरार्ध ३४वाँ अध्याय

सात्त्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

“अध्याय—६”

भगवान् की पटरानियों के साथ द्रौपदी की बातचीत



कारिका—चतुस्त्रिंशे साधनानां मुख्यंसाधनमोर्यते ।
कीर्तनं सरसत्वाय स्त्रीभिः स्त्रीणां निरूप्यते ॥१॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस ३४वें अध्याय में साधनों में जो मुख्य साधन है, वह कहा जाता है, वह उत्तम साधन रस वाला भगवत्कीर्तन है, जिसको स्त्रियाँ मिल कर परस्पर कहती हैं अर्थात् भगवत्कीर्तन ही उत्तम साधन समझ मिलकर करती हैं ॥१॥

कारिका—सर्वसाधनसंपत्तिः कृष्णानुग्रहपूर्विका ।
तदभावे नैव सिद्धयेदित्यनुग्रहवर्णनम् ॥२॥

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण का जब अनुग्रह होता है, तब सर्व साधन सम्पत्ति प्राप्त होती है अर्थात् सब साधन कर सकते हैं । यदि श्रीकृष्ण का अनुग्रह न हो, तो न तो

साधन सम्पत्ति ही प्राप्त होती है और न कर ही सकते हैं, इसलिए उनके अनुग्रह का वर्णन किया जाता है ॥२॥

कारिका — अनुग्रहस्य स्थिरता सदबुद्धयैव हरी भवेत् ।

माहात्म्यज्ञानतः पुष्टा स्तुत्या कार्यक्षमा भवेत् ॥३॥

कारिकार्थ — हरि में अनुग्रह की स्थिरता सदबुद्धि से ही होती है, वह सदबुद्धि भगवान् के माहात्म्य ज्ञान से पुष्ट होती है और वह तब होती है, जब प्रथम भगवान् की स्तुति यशोगान करे, जिससे प्रभु प्रसन्न होकर कार्य करने की सामर्थ्य दें, तब ही सदबुद्धि परिपक्व हो जाती है ॥३॥

कारिका—सर्वशक्तियुत कृष्णः श्रोतव्य इति सिध्यति ।

शक्तीनामप्यभीष्टश्च सज्ज्ञानस्तुतिभावितः ॥४॥

कारिकार्थ—इससे यह सिद्ध होता है कि सर्वशक्तियुत भगवान् के चरित्रादि श्रवण करने चाहिए, ज्ञानपूर्वक स्तुति से ऐसी भावना उद्भूत होवे, तो शक्तियों का भी अभीष्ट सिद्ध होता है, यहाँ शक्तियाँ महर्षि हैं, वे भावना करते हैं, जिससे उनके अभीष्ट को देने वाले भगवान् ही स्वयं होते हैं ॥४॥

— इति श्री कारिका —

आभास - पूर्वाध्याये गोपीनामुपदेश उक्तः प्रार्थना च । अनुग्रहस्त्ववशिष्यते । तदत्र तासामनुग्रहं कुर्वन् प्रसङ्गादन्येषामप्यनुग्रहं कृतवानित्याह तथानुगृह्येति ।

आभासार्थ—पूर्वाध्याय में गोपियों का उपदेश कहा और प्रार्थना कही शेष अनुग्रह रह गया, वह यहाँ, उन पर अनुग्रह करते हुए प्रसङ्ग से दूसरों पर भी अनुग्रह किया, यह तथानुगृह्य' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—तथानुगृह्य भगवान् गोपीनां स गुरुर्गतिः ।

युधिष्ठिरमथापृच्छत्सर्वाश्च सुहृदोऽव्ययम् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी ने कहा कि गोपीजनों के परमगुरु और शरणरूप भगवान् उन पर इस प्रकार अनुग्रह कर, पश्चात् युधिष्ठिर से और सर्व अन्य सुहृदों से कुशल पूछने लगे ॥१॥

सुबोधिनी—तथा तैर्यथा प्रार्थितं तथैव तत् हृदये स्वचरणारविन्दं स्थापयित्वा युधिष्ठिरम-
थापृच्छदिति संबन्धः । भगवतस्तथानुग्रहे हेतु-
माह गोपीनां स एव गुरुः गतिः फलं च । फल-
साधनरूपत्वात्तासामन्य उपायो नास्तीति स्व-
चरणारविन्दं स्थापितवानित्यर्थः । गोपिका
उत्तमाधिकारिण्यः परं पुष्टिस्थाः । तदनु मर्या-

दायां युधिष्ठिरः श्रेष्ठ अतस्तदनन्तरं युधिष्ठिरो-
ऽनुगृहीतः । तत सर्वाश्च सुहृदः अवययमपृच्छत् ।
अवययशब्देन कुशल ज्ञानमप्युच्यते । तेन पूर्व
मनसा तेभ्योपि ज्ञानमुपदिष्टमिति लक्ष्यते । तस्य
पुनः प्रश्नः स्थिरीकरणार्थः । अनेनोत्तमादयः
सर्वे एवानुगृहीता इत्युक्तम् ॥१॥

व्याख्यार्थ—उन्होंने (गोपियों ने) जिस प्रकार प्रार्थना की थी, उसी तरह उनके हृदय में
भगवान् अपना चरणारविन्द स्थापन कर, अनन्तर युधिष्ठिर से पूछने लगे, भगवान् ने गोपियों पर
इस प्रकार अनुग्रह किया जिसका कारण कहते हैं, कि गोपियों के वे ही गुरु, आश्रय और फल हैं ।
भगवान् ही फल और साधनरूप होने से उनके लिए कोई अन्य उपाय नहीं है, अतः अपने चरण-
विन्द स्थापित किए यह भावार्थ है । गोपिकाएँ उत्तम अधिकारिणियाँ हैं और पुष्टि में अनुग्रह में
स्थित हैं । इनके बाद मर्यादा में युधिष्ठिर श्रेष्ठ है, इसलिए इनके अनन्तर युधिष्ठिर पर अनुग्रह
किया । पश्चात् सर्व सुहृदों से भी कुशल आदि पूछे, इससे जाना जाता है, कि प्रथम मन से इनका
भी ज्ञानोपदेश किया, उनसे फिर पूछना स्थिरीकरण के लिए है, इसमें जो भी उत्तमादि थे उन सब
पर ही अनुग्रह किया यों कहा ॥१॥

आभास — ततस्ते स्वाधिकार प्रकटयन्तः प्रत्युत्तरमुक्तवन्त इत्याह त एवमिति ।

आभासार्थ—अनन्तर वे सब अपना अधिकार प्रकट करते हुए 'त एवं' श्लोक से उत्तर
देने लगे ।

श्लोक—त एवं लोकनाथेन परिपृष्टाः सुसत्कृताः ।

प्राप्तपुत्रहृष्टमनस्तत्तत्पदेक्षान्ताहसः ॥२॥

श्लोकार्थ—लोकपति हरि से इस प्रकार अति आदर करके पूछे हुए, वे भगवान्
के चरणों के दर्शन से निष्पाप और प्रसन्न चित्त हो, उत्तर देने लगे ॥२॥

सुबोधिनी प्रश्नेनापि महान् संतोषो जात
इति ज्ञापयति लोकनाथेन परिपृष्टा इति । महतः
प्रश्नमात्रमपि संतोषजनकं प्रकृते त्वधिकमप्य-
स्तीत्याह सुसत्कृता इति । आसनादिकृतः
सत्कारः, अनेन कायिकपूजा निरूपिता । ततः

प्रत्युचुः । पूजितवाणीं निरूपितवन्तः । कायवा-
ङ्मनसां गुणमुक्त्वा दोषाभावमाह तत्पादेक्षा-
हताहस इति । भगवच्चरणारविन्ददर्शनेन
हतपापाः ॥२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने कुशल आदि पूछे इसमें महान् संतोष हुआ, महान् पुरुष यदि केवल
कुशल प्रश्न पूछें तो वह भी संतोष कारक है, यहाँ तो उससे भी अधिकता है जो आसन आदि
देकर सत्कार किया, इससे कायिक पूजा का निरूपण किया । पश्चात् उत्तर देने लगे, (पूजित-वाणी

को कहने लगे) काया वाणी और मन से गुणों का वर्णन कर अपने दोष नष्ट हो गए वह बताते हैं, कि आप के चरणारविन्द के दर्शन से हमारे सब पाप नष्ट हो गए ॥२॥

आभास—यद्भगवता पृष्ठं कुशलमस्तीति तत्रोत्तरमाहुः कुतोऽशिवमिति ।

आभासार्थ—भगवान् ने जो कुशल पूछा है? इस विषय का 'कुतोऽशिवं' श्लोक से उत्तर देते हैं

श्लोक—कुतोऽशिवं त्वच्चरणाम्बुजासवं

महन्मनस्तो मुखनिःसृतं ववचित् ।

पिबन्ति ये कर्णपुटैरलं प्रभो

देहंभृतां देहकृदस्मृतिच्छिदम् ॥३॥

श्लोकार्थ - हे प्रभु ! आपके चरणारविन्द का रस जो कि कभी महान् पुरुषों के मन द्वारा उनके मुखों से प्रकट हुआ है, वह देहधारियों के देहाभिमान कराने वाली अविद्या को काटने वाला है, उसे जो कर्ण रूप दोनों से पीते हैं, उनका अमङ्गल कैसे वा कहाँ से ? अर्थात् अमङ्गल है ही नहीं ॥३॥

सुबोधिनी—अशिवसंभावनायां कुशलप्रश्नः संगच्छते । अन्यथा नि सन्दिग्धे प्रश्नो व्यर्थः स्यात् । यद्यपि संसारित्वेनाकुशलं संभवति तथापि सर्वाकुशलनिवर्तकसाधनस्य निरन्तरमनुष्ठानात् कथमशिवमित्यभिप्रायेणाहुः कुतः अशिवमिति । तत्किं साधनमित्याकाङ्क्षायामाह त्वच्चरणाम्बुजासवं महन्मनस्तो मुखनिःसृतमिति । परमानन्दस्य तव चरणो भक्तिमार्गप्रवर्तकः । अम्बुजं इति सुखसेव्यः । तत्रत्यो मकरन्दरसः रसात्मको भगवान् सर्वत्रैव वर्तत इति । ब्रह्मानन्द एव मार्गान्तरेण समानोतः देहाद्यभिमानवतामपि देहादिविस्मारकत्वेन आसवशब्दवाच्यो भवति स स्वभावत एव परमानन्दरूपो दोषान्तरनिवर्तकश्च । तत्रापि यदि ततोऽप्युत्कृष्टरसेन संमिलितो भवेत् । तदा किं वक्तव्यं रसान्तरेण पृष्ठं सन् परमानन्दं प्रयच्छतीति वक्तुमाह महन्मनस्त इति । अत्र भक्तिमार्गस्यायं सिद्धान्तः । ब्रह्मानन्दः स्वेच्छया वस्त्रमिव सङ्कुचितात्मा शतगुणित इव धनीभूतः परिणतदाधवदन्धूनः आनन्दधनो भवति तदात्मको भगवच्चरणः स

यदा भक्तिमार्गेण गृहीतो भवति तदा भगवद्भक्तानां कायवाङ्मनोभिर्हृदं गृहीतः रसात्मकत्वाद्भक्तानामानन्दरूपं स्रवति । स भक्तिरस इत्युच्यते । सोऽपि शब्दब्रह्मणि भागवतादाबुद्धतः घटोद्धृतजलमिव महतां श्रवणस्मरणकोतनादिभिः इन्द्रियाघातैः तच्छिद्रद्वारा स्वरसो हृद्घदे विनिविशति । स तु भक्तिरसापेक्षयापि पुनर्भक्तेन्द्रियैः पावितत्वात् निर्गलितः ततोऽप्याधकरसः । एवं सति यदा यदा वारं वारं भगवद्गुणान् कीर्तयति चरणारविन्दमकरन्दरूपान् भक्तिमार्गानुसारेण गूढार्थरूपान् तदा महन्मनस्तः महन्मनसि स्थित्वा मुखनिःसृतं भवति । ववचिदिति अत्यन्तभक्तसङ्गे रसाविभवे च कदचिदेव वदतीति, तच्च अलं कर्णपुटैरुत्तमितकर्णैः अलमत्यर्थं पिबन्ति । ननु दुर्लभोऽयं रसः कथं बहुपानसमर्थो भवेत्तत्राह प्रभो इति । स हि सर्वसमर्थः तादृशा भक्ताः कोटिशो भवन्ति, यथा सरघाभिः महता वलेशेन पुष्परसोऽणुप्रमाणेन ववचित्तरथाप्यते । प्रभूणा तु मधुपूरिताः कलशाः कोटिशो भवन्ति । अतो भगवदश्रये भूयानेव तादृशो

रसः पीयत इति । अशुभसंभावनापि का । अशुभं धर्मादेव निवर्तते । ततो ज्ञानं ततः सवासनाऽविद्यानिवृत्तिः ततः केवलात्मा भगवन्निष्ठो भवति, तदा आनन्दधनो भगवान् प्रकटो भवति । तत्र भक्त्या भक्तिरसः सर्वदोषनिवर्तकः नित्यं ससार-

विस्मरणहेतुः प्रादुर्भवति । सोऽपि पूर्वोक्तप्रणालिकया नित्यं पेयीयमानानामशुभसंभावनापि बाधिता, किञ्च देहाभिमाने विद्यमानेऽपि प्रयत्नमात्रेण गृहीते देहकर्त्री या स्मृतिः तामपि छिनत्तीति मूले गते देहकृतसंभावनापि निरस्ता ॥३॥

व्याख्यानार्थ—कुशल प्रश्न तब किया जा सकता है जबकि अकुशल की सम्भावना होवे । जहाँ अकुशल की सम्भावना मात्र भी नहीं, वहाँ कुशल प्रश्न करना व्यर्थ है । यद्यपि संसारीपन से अकुशल की सम्भावना हो सकती है, तो भी सर्व प्रकार के अकुशलों के निवृत्त करने वाले साधन का निरन्तर अनुष्ठान होते रहने से अकुशल कहाँ ? इस अभिप्राय से कहते हैं, कि 'कुतः अशिवं' वह, कौनसा साधन है ? इस आकांक्षा के होने पर कहते हैं, कि आपके चरणविन्द का आसव जो महान् पुरुषों के मन से मुख द्वारा प्रकट हुआ है, वह ही साधन है । परमानन्द स्वरूप आपका चरण भक्ति मार्ग का प्रवृत्त करने वाला है, वह कमलरूप होने से, सुख से सेव्य है । उम चरणाम्बुज में जो मकरन्दरमात्मक भगवान् हैं, वह सर्वत्र^१ ही व्याप्त हैं, ब्रह्मानन्द ही मार्गान्तर^२ से लाया हुआ देहादि के अभिमानियों के देहादि को भुजा देनेवाला होने से 'आसव'^३ शब्द से कहा जाता है, वह सहज ही परमानन्द रूप और अन्य दोषों को मिटाने वाला है । वहाँ भी, यदि उससे भी उत्कृष्ट रस से मिल जायें तो क्या कहना चाहिए ? रसान्तर से पुष्ट होकर परमानन्द देता है, यों कहने के लिए ही कहते हैं कि 'महन्मनस्तः' यहाँ यह भक्ति मार्ग का सिद्धान्त है । ब्रह्मानन्द रस और भक्ति रस को समझाते हैं, कि ब्रह्मानन्द अपनी इच्छा से वस्त्र की तरह सङ्कुचितात्मा शत प्रकार से गुणित की तरह घनीभूत हो परिणाम प्राप्त दधि के समान, कम न होकर घन हो जाता है, तद्रूप भगवान् का वह चरणविन्द जब भक्ति मार्ग से गृहीत होता है तब भगवद्भक्तों की काया, वाणी और मन से दृढ़ भाव से ग्रहण किया हुआ, रसात्मक होने से भक्तों के यहाँ आनन्दरूप हो स्रवित (टपकता) है, न कि जानियों के पास जैसे घन हो के रहता है, वैसा रहता है स्रवित (टपकने) से भक्त उसका सरलता से पानकर आनन्दमय हो जाते हैं । यह भक्तिरस है, जो रस, ज्ञान मार्ग में नहीं है । वह भक्तिरस भी, शब्द ब्रह्मरूप भागवतादि में से ऐसे उद्धृत (ली हुई) है, जैसे घट में उद्धृत जल है वह उससे छिद्रों द्वारा बाहर आता है तब मनुष्य पानकर आनन्द लेते हैं । वैसे ही, भागवतादि में उद्धृत भक्तिरस को जब महान् पुरुष श्रवण, स्मरण और कीर्तन करते हुए मुखरूप छिद्र द्वारा बाहर प्रकट करते हैं, तब भक्तजन उस स्रवित भक्ति रस को अपने हृदयरूप हृद (कुण्ड) में प्रवेश कराते हैं तब वह रस भक्ति रस से भा अधिक रसप्रद होता है, क्योंकि भक्तों की इन्द्रियों से पवित्र होकर निकलने से, उसमें विशेष रस उत्पन्न होता है । यों होने पर जब-जब बार-बार भक्ति मार्ग के अनुसार, गुढार्थरूप चरणविन्द के मकरन्द रूप,

१- न केवल अधर में ही हैं, यह नियम नहीं है ।

२- भक्ति मार्ग से

३ भक्ति मार्ग में भक्तों को सेवोपयोगी देह होती है, जिसमें उनका अभिमानादि ममत्व रहता है, उसको चरणविन्द का रसानन्द भुला देता है इसलिए उसको 'आसव' कहा है, जानियों को तो देहाभिमान नहीं रहता है इसलिए वहाँ ज्ञान मार्ग में 'आसव' वत कार्य नहीं होता है जिससे इस पादाम्बुज रस को आसव नहीं कहा जाता है ।

भगवद्गुणों को गाते हैं, तब महान् पुरुषों के मन में, महनों के मन में स्थित होकर मुख से निकलता है। यह निकलना भी जब कभी (चाहे जब) साधारणतया नहीं होता है, किन्तु कदाचित् हो कभी भक्तों का अत्यन्त सङ्ग होते हुए भी कदाचित् ही रस का आविर्भाव होने पर वह आविर्भूत रस जो भाग्यशाली है, वे कर्णरूप दोनों (दूनों) से खूब पीते हैं। यह जो दुर्लभ रस है वह बहुत पीने में कैसे समर्थ होंगे ? जिसके उत्तर में कहते हैं, हे प्रभु ! प्रभु सर्व समर्थ हैं ऐसे तो काटिशः भक्त हैं, जैसे मधुमक्खी महान् क्लेश में पुष्पों का रस थोड़ा-थोड़ा लेकर कहीं घर लेती है प्रभु के तो मधु से भरे हुए कोटिशः कलश हैं, अतः भगवदाश्रय में बहुत ही वैसा रस पिया जा सकता है ऐसी अवस्था में अशुभ की सम्भावना भी कैसी ? अशुभ तो धर्म से ही निवृत्त हो जाता है पश्चात् ज्ञान द्वारा वासना सहित अविद्या की निवृत्ति होती है फिर केवलात्मा जीवात्मा भगवन्निष्ठ होता है। तब आनन्द घन परमात्मा प्रकट होना है, वहाँ भक्ति से सर्वदोषों को निवृत्त करने वाला, नित्य संसार के विस्मरण का हेतु भक्ति रस उत्पन्न होता है। पूर्व कही हुई प्रणालिका से उस रस को नित्य पान करने वालों की अशुभ सम्भावना भी बाधित हो जाती है, और विशेष यह है, कि प्रयत्न मात्र से गृहित देह में अभिमान होते हुए भी, देहकर्त्री स्मृति को भी तोड़ देता है, जब मूल ही नष्ट हो जाता है तब देह कृत सम्भावना भी नष्ट हो गई ॥३॥

आभास— एवं प्रश्नोत्तरमुक्त्वा भगवति स्वचिकीर्षितं विज्ञापयन्ते हित्वेति ।

आभासार्थ— यों प्रश्नोत्तर कहकर, भगवान् को अपने चिकीर्षित की प्रार्थना 'हित्वात्म' श्लोक से करते हैं—

श्लोक— हित्वात्मधाम विधुतात्मकृतव्यवस्थ-

मानन्दसंप्लवमखण्डमकुण्ठबोधम् ।

कालोपसृष्टनिगमावन आत्तयोग-

मायाकृति परमहंसगति नताः स्म ॥४॥

श्लोकार्थ— अपने गृह और अन्तःकरण में उत्पन्न होने वाली जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति रूपा तीन अवस्थाओं का त्याग कर, सकल आनन्द के पूर रूप, अपरिच्छिन्न और अकुण्ठित ज्ञान रूप तथा सर्व धर्मों के नाश हो जाने पर उनकी रक्षा के लिए योगरूप अपनी माया रूप इच्छा-शक्ति से आकृति को धारण करने वाले, परमहंसों के गति रूप आपको हम प्रणाम करते हैं ॥४॥

सुबोधिनी— आत्मधाम स्वगृहादिकं हित्वा देहं वा । परमहंसगति त्वां नताः स्म इति संबन्धः । यथा कश्चित्पूर्वभवं परित्यज्य उत्तर-भावग्रहणार्थं तद्दतर नमस्यति हित्वा इति पदद्वयं वा । आत्मनोऽपि धाम तेजोरूपं त्वां

तस्मिन् पक्षे दोषाभावः पूर्वोक्त एवानुसंधेयः । नन्ववस्थात्रये विद्यमाने किं भगवन्नमनेनेत्यत आह आत्मकृताः अन्तःकरणकृताः तिस्रोऽवस्थाः विधुताः दूरीकृता येन । यत्राहंकारमेव दूरी-करोति तत्र तत्कृतानि स्थानानि दूरीकर्तुं कः

प्रयासः । न केवलमवस्थानिवर्तकत्वमात्रम् । तथा सति बीजभावेऽपि तदवस्थाभाव इति भगवतः को विशेषः स्यात् तत्राह आनन्दसंभवमिति । आनन्दस्य संप्लवः महापूरो यस्य । सोऽपि चेत्परिच्छिन्नः स दोषस्तदवस्थ इति चेत् तत्राह अखण्डमिति । तथापि लोके अज्ञातः परमानन्दो न पुरुषार्थ इति । सुषुप्तौ तथोपालम्भादपुरुषार्थो भवेदित्याशङ्क्याह अकुण्ठबोधमिति । न कुण्ठतोऽकुण्ठः बोधो यस्येति । अनुभूयमानानन्दरूप एवेत्यर्थः । नन्वेतादृशः श्रुत्यैकमात्रसमधिगम्यः स्वानुभवप्रकटः ब्रह्मानन्द एव भवति न तु परिदृश्यमानो भगवानिति चेत्तत्राह कालोपसृष्टनिग-

मावने आत्तयोगमायाकृतिमिति । कालेन वेदानां नाशे तत्प्रतिपाद्यधर्माणां तत्संबन्धनां सर्वेषामपि अवने रक्षार्थं आत्ता योगमायया आकृतिर्येन स एव धर्मरक्षार्थमेव आविर्भूतो न त्वन्य इत्यर्थः । तर्हि कथं न सर्वेस्तथा जायत इति चेत् तत्राह परमहंसगतिमिति । ये ससारादात्मनः पृथग्भावं जानन्ति कर्तुं च शक्नुवन्ति ते हंसाः ततोऽपि ये जीवानां गतिं भगवद्गतिं च विवेचितुं जानन्ति ते परमहंसाः । तेषामेव गतिर्गम्य इत्यर्थः । अतः स्वभजनानुकूलतया कियन्तो धर्मा ज्ञाता इति तथाभूताः भगवद्भावात् त्वां नता इत्यर्थः ।

॥४॥

व्याख्यार्थ—‘आत्मधाम’ अपने गृह आदि को अथवा देह का त्याग कर, परमहंसों की गति जो आप हैं, उनको हम नमन करते हैं, यों अन्वय है । जंसे कोई पूर्वभाव का परित्याग कर, उत्तर भाव को ग्रहण करने के लिए उसके दाता को नमस्कार करेगा । ‘हि’ ‘त्वा’ दो पद हैं, अतः इसका अर्थ आत्मा का भी तेजो रूप तुमको हम नमन करते हैं । इस पक्ष में दोषाभाव, पूर्व कहे हुए का ही अनुमन्धान करना चाहिए । जाग्रत आदि तीन अवस्थाओं के विद्यमान (मौजूद) होते हुए, भगवान् को नमन से क्या लाभ ? इस पर कहते हैं, कि ये अन्तःकरण में उत्पन्न जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाओं को जिन्होंने दूर किया है, ऐसे हम नमन करते हैं । जहाँ अहङ्कार को ही फेंका गया है, वहाँ उससे उत्पन्न जाग्रतादि स्थानों का दूर करने में कौनसा प्रयास है, केवल अवस्था निवर्तक मात्र नहीं है, ऐसा होने पर बीज मात्र होते हुए भी उसी अवस्था का भाव रहता है, इसलिए भगवान् की क्या विशेषता हुई ? इस पर कहते हैं, कि भगवान् में आनन्द का महापूर है, जो सबको बहाकर दूर फेंक देता है । यदि वह पूर परिच्छिन्न है तो दोष वैसा ही रहेगा, इसके उत्तर में कहा है कि परिच्छिन्न नहीं है किन्तु अखण्ड है, तो भी यदि लोक में वह परमानन्द अज्ञात है तो कोई पुरुषार्थ नहीं, सुषुप्ति में ऐसा देखा जाता है अतः वह भी अपुरुषार्थ ही होगा, इस पर कहते हैं कि नहीं उनका ज्ञान सर्वत्र है एका हुमा नहीं है अतः उस आनन्दरूप का सर्वत्र अनुभव हो सकता है । ऐसा केवल श्रुति से ही समझने योग्य तथा अपने अनुभव से ही प्रकट ब्रह्मानन्द ही है न कि जो प्रकट देखने में आता है वह भगवान् ? यदि यों कहते हो, तो इसका उत्तर देते हैं कि ‘कालोपसृष्टनिगमावने आतयोगमायाकृतिम्’ जब काल वेदों का नाश कर देता है, तब वेद प्रतिपाद्य समस्त धर्मों को तथा उनके सर्व धर्मों की भी रक्षा वास्ते वह ही पूर्ण पर ब्रह्म, अपनी योग माया से स्वरूप को धारण कर प्रकट होकर दर्शन देते हैं, न कोई दूसरा, जब यों है, तो सब क्यों नहीं ? यों समझते हैं, यों कहो तो इसका उत्तर यह कि ‘परमहंसगतिम्’ जो ससार से आत्मा का पृथक् भाव जानते हैं और करने के लिए समर्थ हैं, वे ‘हंस’ हैं, उससे भी जो, जीवों की गति और भगवान् की गति का विवेचन करना जानते हैं वे परमहंस हैं, वे ही उनको जान सकते हैं, अतः अपने भजन के अनुकूल कितने धर्म जाने, इस प्रकार वैसे ही भगवद्भाव के लिए हम तुम्हें प्रणाम करते हैं, यों तात्पर्य है ॥४॥

आभास—एवं पुरुषाणां सर्वभावप्रपत्तिमुक्त्वा स्त्रीणामपि साक्षाद्भगवत्प्रपत्त्यर्थं पुरुषद्वारा जातायामपि तादृशी प्रतिपत्तिर्भगवत्स्त्रीषु दृश्यत इति तस्या मूलकारणं प्रष्टुं सर्वाः स्त्रियो मिलिताः ततस्ताभ्यः श्रुत्वा स्वयं च तथाजाता इति । सर्वाः स्त्रियः पुरुषवदेवेति यदुपाख्यानवृत्तं तदुपक्षिपति इत्युत्तमश्लोकेति ।

आभासार्थ—इसी तरह पुरुषों के सर्वभाव की प्राप्ति कहकर स्त्रियों को भी साक्षात् भगवत्प्रपत्ति के लिए पुरुष द्वारा होते हुए भी वैसी प्रतिपत्ति भगवान् की स्त्रियों में दीखती है । यों उसका मूल कारण पूछने के लिए सब स्त्रियाँ इकट्ठी हुई, पश्चात् उनसे सुनकर और स्वयं वैसी ही हुई यों सर्व स्त्रियाँ पुरुष की भाँति ही हैं, इनका जो इतिहास है वह 'इत्युत्तम' श्लोक से कहने हैं—

श्लोक—ऋषिरुवाच—इत्युत्तमश्लोकशिखामणि जने-

ष्वभिष्टुवत्स्वन्धककौरवस्त्रियः ।

समेत्य गोविन्दकथा मिथोऽगृणं-

स्त्रिलोकगीताः शृणु वर्णयामि ते ॥५॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि इस प्रकार पवित्र कीर्ति-पुरुषों के मुकुट-मणि श्रीहरि की लोक स्तुति कर ही रहे थे, वहाँ अन्धक (यादवों की एक शाखा) और कौरवों की स्त्रियाँ एकत्र हो, त्रिलोक में गायी जाती भगवान् की कीर्ति की गाथाएँ परस्पर करने लगीं, वे मैं वर्णन करता हूँ, उसको तुम सुनो ॥५॥

सुबोधिनी—उत्तमैः श्लोक्यत इति उत्तमानां तदेव प्रयोजनमिति । ततोऽप्युत्तमत्वमेव कर्तव्यमिति उत्तमश्लोकशिखामणि भगवन्तमेव स्तुवन्ति सर्वे जनाः । स्त्रीणां पुनस्तदभिज्ञत्वाभावात् तज्ज्ञानार्थं अन्धकानां यादवानां कौरवाणां च

स्त्रियः समेत्य मिथः गोविन्दकथाः अगृणन्, तास्ते वर्णयिष्यामीति प्रतिजानीते । ननु तावता किं स्यादित्याशङ्क्याह त्रिलोकगीता इति । ताः कथाः लोकत्रयेऽपि गीताः, अतः सावधानतया शृण्विति सात्त्विकसाधनमिति नियोगः ॥५॥

व्याख्यार्थ—उत्तमजनों से प्रशंसित (बखाने जाते) हैं, यों उत्तमों का यह ही प्रयोजन है, अर्थात् लोक में उत्तम पुरुष इसलिए ही जन्मे हैं उससे भी उत्तम कार्य करना चाहिए, इसलिए कहते हैं, कि उत्तमों से जो प्रशंसित (बखाने जाते) हैं उनमें भी जो मुकुटमणि हैं, वैसे भगवान् की ही सर्व मनुष्य स्तुति करते हैं । स्त्रियों में उनका पूर्ण ज्ञान न होने से, उसको जानने के लिए यादव और कौरवों की स्त्रियाँ आकर आपस में गोविन्द की कथाएँ कहने लगीं, वे कथाएँ तेरे लिए वर्णन करूँगा यों प्रतिज्ञा करते हैं । इस वर्णन से क्या लाभ होगा ? इस पर कहते हैं कि 'त्रिलोकगीताः' वे कथाएँ तीनों लोकों में गाई जाती है इसलिए, सावधान होकर सुन, यह सात्त्विक साधन है ॥५॥

आभास—तत्र प्रथमं द्रौपद्याः प्रश्नमाह हे वैदर्भीति ।

आभासार्थ—वहाँ पहले 'वैदर्भी' श्लोक से द्रौपदी का प्रश्न कहते हैं

श्लोक—द्रौपद्युवाच—हे वैदर्भ्यच्युतो भद्रे हे जाम्बवति कौसले ।

हे सत्यभामे कालिन्दि शैब्ये रोहिणि लक्ष्मणे ॥६॥

श्लोकार्थ—द्रौपदी कहने लगी कि हे रुक्मिणी ! हे भद्रे ! हे जाम्बवति ! हे कौसले ! हे सत्यभामा ! हे कालिन्दी ! हे शैब्या ! हे रोहिणी ! हे लक्ष्मणा ! ॥६॥

सुबोधिनी—अष्टस्त्रीणां प्रत्येकमन्यासां समुदायेन च संबोधनम् । सर्वभावेन भगवद्गुणज्ञानार्थम् । मूला प्रकृतिः लक्ष्मीः, ततोऽष्टप्रकृतयो रुक्मिण्याद्याः, ततः षोडशविकाराणां सहस्रशः कार्यप्रकृतयः । सर्वासु भगवतो या लीलाः यथावा तासां परिग्रहः तदनुसंधानेन कृतार्थता भविष्यतीति तथा प्रश्नः । अच्युत इति सर्वास्वपि रम-

माणो न च्युतो भवतीति जीववैलक्षण्यं निरूपितम् । हे भद्रे हे जाम्बवति हे कौसले हे सत्यभामे हे कालिन्दीति हे शैब्ये मित्रविन्दे । षोडशसहस्रस्त्रीषु मुख्या रोहिणी । सेवाष्टपहिषीष्वपि कल्पान्तरे । अत एव क्रमदीपिकासु सैव गृहीता ॥६॥

व्याख्यार्थ - श्रीकृष्ण की आठपटराणियों में से प्रत्येक का संबोधन है और अन्यो का समुदाय से संबोधन दिया है सर्वभाव से भगवद्गुणगान के लिए यों किया हैं । मूल प्रकृति लक्ष्मी है, पश्चात् रुक्मिणी आदि आठ प्रकृतियाँ हैं, उनके बाद षोडश विकारों के हजारों कार्य (प्रकृतियाँ) हैं, इन सब प्रकृतियों में भगवान् की जो लीलाएँ हैं अथवा जैसे उनका परिग्रह किया है, उनका अनुसन्धान करने से कृतार्थता होगी, इसलिए वैसा प्रश्न है । श्रीकृष्ण का यहाँ 'अच्युत' नाम देकर यह सूचित किया है, कि सर्व प्रकृतियों में रमण करते हुए भी च्युत (गिरना) नहीं होते हैं, जिससे आपकी जीव से विलक्षणता कही है । हे भद्रे ! हे जाम्बवति ! हे कौसले ! हे सत्यभामे ! हे कालिन्दि, हे शैब्ये ! हे मित्रविन्दे ! सोलह हजार स्त्रियों में रोहिणी मुख्य है, वह ही कल्पान्तर में आठ पटराणियों में भी थी, इस कारण से ही क्रमदीपिकाओं में वह ही ग्रहण की है ॥६॥

श्लोक—हे कृष्णपत्न्य एतन्नो ब्रूत वो भगवानयम् ।

उपयेमे यथा लोकमनुकुर्वन् स्वमायया ॥७॥

श्लोकार्थ—हे श्रीकृष्ण की रानियों ! यह हमें कहो कि अपनी माया से लोक का अनुकरण करते हुए स्वयं हरि भगवान् ने तुम्हारा पाणिग्रहण किस प्रकार किया ? ॥७॥

सुबोधिनी—हे कृष्णपत्न्य इति साधारणीनां संबोधनम् । एतदनुपदमेव प्रष्टव्यम् । नोऽस्मभ्यं ब्रूत । तत्किमित्याकाङ्क्षायामाह भगवान् अयं यथा उपयेम इति । आन्तरं भावमुत्पाद्य विवाहं कृतवानिति चेत्तत्राह यथा लोकमनुकुर्वन्निति ।

लोकानुकरणं बाह्यप्रकारेण । ननु सर्वान्तरौ भगवान् कथं बाह्यप्रकारं करिष्यतीति चेत्तत्राह स्वमाययेति । असाधारणमायया बहिरपि स्वभाव प्रकटयतीत्यर्थः ॥७॥

व्याख्यार्थ—हे श्रीकृष्ण की पत्नियों ! यह संबोधन साधारण स्त्रियों के लिए दिया गया है, इसके बाद साथ में ही पूछना चाहिए, हमको कहो । क्या कहें ? ऐसी आकांक्षा होने पर, कहती हैं, कि इन भगवान् ने जैसे आपका पाणिग्रहण किया, भीतर के भाव को उद्भूत कर विवाह किया, यदि यों पूछती हो तो हम कहती हैं, जैसे लोक करते हैं उमी बाह्य प्रकर से किया जो भगवान् सर्वान्तर हैं वे बाह्य प्रकार से कैसे करेंगे ? जिसका उत्तर देती हैं कि 'स्वमायया' असाधारण अपनी माया से बाहर भी स्वभाव को प्रकट करते हैं ॥७॥

आभास — तत्र प्रथमं वैदर्भी स्वविवाहप्रकारमाह चैद्याय मार्पयितुमिति ।

आभासार्थ—वहाँ पहले वैदर्भी अपने विवाह का प्रकार 'चैद्याय' श्लोक से कहती है—

श्लोक—रुक्मिण्युवाच—चैद्याय मार्पयितुमुद्यतकार्मुकेषु

राजस्वजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः ।

निन्ये मृगेन्द्र इव भागमजावियूथा-

तच्छ्रीनिकेतचरणोस्तु ममार्चनाय ॥८॥

श्लोकार्थ — रुक्मिणी ने कहा कि मुझे शिशुपाल को दिलाने के लिए जरासन्ध आदि राजा धनुष तैयार करके आ उपस्थित हुए थे, उस समय अजेयभट लोगों के सिर पर जिनके चरणों की रज मुकुट के समान विद्यमान है, ऐसे हरि सिंह बकरियों के टोले में से जैसे अपने भाग को ले जाता है, वैसे ही अपने भाग रूप मुझको लेकर आ गए । उन लक्ष्मी के निवास रूप हरि के चरणों की मैं नित्य पूजा किया करूँ ॥८॥

सुबोधिनी— राजा मत्पिता भ्राता वा । यावहास्यति ततः पूर्वमेव नेष्यतीति तन्निराकरणार्थमुद्यतकार्मुका राजानो जाताः । ततश्चैद्याय मामर्पयिष्यति राजद्वारा एवं स्थिते अजेयभटशेखरिताङ्घ्रिरेणुः भगवान्निन्ये । न जेयो भटोपि येषां ते अजेयभटाः । भटः पदातिः कीर्तिवक्ता दूतरूपो वैतालिको वा । तेषां शेखरितः मुकुटेष्वचिरूढः अङ्घ्रिरेणुर्यस्य । तादृशं भगवन्तं जेष्यन्तीति दूरापास्तमन एव मां निन्ये । निःशङ्कार्यमाह मृगेन्द्र इवेति । एवमावश्यकनयने हेतुः

भागमिति । अन्येषामप्रयोजकत्वमाह अजावियूथादिति । अजानामवीनां च समूहात् । येषि सात्त्विका येषि राजसाः ते उभयेष्वप्रयोजकाः । एव पुरुषोत्तमत्वं प्रकटितमिति । मम सर्वपुरुषार्थसिद्धयर्थं तच्चरणो ममार्चनायास्तु । प्रत्यक्षमेव तत्र सर्वपुरुषार्थसत्त्वमित्याह श्रीनिकेतिति । स्वभागत्वात् शरीरं स्वयमेव भोक्ष्यति । तत्र प्रसङ्गादागतो जीवः भगवद्भक्तिमेव वाञ्छताति निरूपितम् ॥८॥

व्याख्यार्थ — मेरे पिता वा भाई जब तक शिशुपाल को दें, उससे पहले ही, श्रीकृष्ण ले जाएंगे इस शङ्का से, उसका निराकरण करने के लिए, शिशुपाल के पक्ष वाले राजा लोग धनुष तैयार होकर आके उपस्थित हुए । पश्चात् यह विचारणा हुई, कि चैद्य को देगे वा राजद्वारा

मुझे अर्पण की जाएगी, निश्चित न होने से, जिनको शूर भी नहीं जीत सकते हैं, वे अजेय भट कहे जाते हैं, भट पद का तात्पर्य है, पंदल सैनिक, यशोगान करनेवाले, दूत वा वैतालिक, इन सब के मुकुटों पर स्थित है चरणारज जिनकी, ऐसे भगवान् को ये क्या जीतेंगे ? ये तो दूर से ही अस्त हैं इससे ही मुझे ले आए । किसी प्रकार की लेने में शङ्का वा रुकावट न हो सकी । इसको दृष्टान्त देकर समझती हैं कि जैसे सिंह बकरियों के झुंड से अपना भाग ले जाता है, वैसे ही प्रभु भी अपना भाग जो मैं थी उसको ले आए, जो सात्विक वा राजस थे वे तो अप्रयोजक थे, इस प्रकार पुरुषोत्तमपन प्रकट किया । मेरे सर्व पुरुषार्थ सिद्ध होवे इसलिए उनका चरण ही मेरी पूजा के लिए हो, कारण कि उन चरणों में सर्व प्रकार के पुरुषार्थ रहते हैं यह प्रत्यक्ष दीखता है, इसलिए चरणों का विशेषण 'श्रीनिकेत' है श्री का यहाँ सतत निवास है. यह शरीर आपका ही भाग है, इसलिए स्वयं ही इसका उपभोग करेंगे ही. इससे यह सूचित किया है कि इस शरीर में प्रसङ्ग से आया हुआ जीव भगवान् की भक्ति ही चाहता है, यों निरूपण किया है ॥८॥

आभास—यद्यपि द्रौपदी परिगणनां व्यत्यासेन कृतवती । तथापि क्रमेणैव ताः स्त्रियः स्ववृत्तान्तं निरूपयन्ति । अतस्तदनन्तरभाविनी सत्यभामा स्ववृत्तान्तमाह यो मे सनाभीति ।

आभासार्थ—यद्यपि द्रौपदी ने गणना बिना क्रम से की है, तो भी वे स्त्रियाँ क्रम से ही अपना वृत्तान्त निरूपण करती हैं, अतः रुक्मिणी के बाद सत्यभामा अपना हाल 'यो मे सनाभि' श्लोक से कहती है—

श्लोक — सत्यभामोवाच—यो मे सनाभिवधतप्तहृदा ततेन

लिप्ताभिशापमपमाष्टुमुपाजहार ।

जित्वर्क्षराजमथ रत्नमदात्स तेन

भीतः पितादिशत मां प्रभवेपि दत्ताम् ॥९॥

श्लोकार्थ—सत्यभामा कहने लगी कि भ्रातृ वध होने से सन्तप्त मेरे पिता ने जो कलङ्क श्रीकृष्ण पर लगाया था, उसको मिटाने के लिए भगवान् ने जाम्बवान् को जीत कर, मणि लाकर मेरे पिता को दी, तब उस अपराध से मेरे पिता डर गए थे, अतः वाग्दान होने पर भी मुझे श्रीकृष्ण को अर्पण किया ॥९॥

सुबोधिनी—सनाभिः सोदरो भ्राता तस्य वधो यद्यप्यन्यत्र जातः तथापि तद्वधेन तप्तहृदयः मत्पिता तेन अविचार्यैव भगवति लिप्ताभिशापः तमपमाष्टु ऋक्षराजं जित्वा । अथ भिन्नप्रकारेण स्वयं प्रतिगृह्य पारिवर्हृतया दत्तं रत्नं तस्मै मत्पित्रे उपाजहार । ततो भीतो मत्पिता तेन रत्नेन सह मामादिशद्वत्तवान् । यद्यपि तस्य

भार्याः सिद्धाः । तथापि प्रभुरिति । अन्यस्मै दत्तामपि वाग्दत्ताम् । 'दत्तामपि हरेत्कन्यां श्रेयांश्चेद्वर आब्रजेत्' इति । क्षत्रियविषयमेतत् । 'नेतत्पूर्वर्षयश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे । यदन्यस्याप्यनुज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते' इति मनुवाक्यं ब्राह्मणविषयं ऋषिपदप्रयोगात् । किञ्च । विवाहे बन्धूनामैकमत्यं मृग्यते तदैवाधिकारः । ततोधि-

कारसंपादनार्थमेव मां दत्तवान् । अतः प्रायश्चित्तार्थं दत्ताहं दोषनिर्घातार्थं जातेति स्वार्थं नावशिष्टेति न किञ्चित्कामये इत्यर्थः । अत एव भग-

वतः सा प्रिया । पित्रर्थमेव च व्यापृता । अत एव तस्याः स्वर्गो नास्तीति पारिजातापहरणं स्वर्गं च नयनम् ॥६॥

व्याख्यान—सगा भाई यद्यपि दूसरे स्थान पर मरा था, तो भी उसके वध से सन्तप्त हृदय वाले मेरे पिता ने बिना विचार किए भगवान् पर उसके मारने का कलङ्क लगाया उस कलङ्क को मिटाने के लिये रीछों के राजा को जोतकर मणि लेनी, 'अथ' जुदा प्रक्रम करते हैं, वह मणि स्वयं लेकर मेरे पिता को भेंट वा उपहार रूप में दे दी । झूठे कलङ्क लगाने से डरे हुए मेरे पिता ने उस रत्न सहित मुझे भी श्रीकृष्ण को अर्पण किया । यद्यपि उनको स्त्रियाँ तो थीं ही तो भी 'प्रभु' जानकर मुझे भी अर्पण किया, यद्यपि मेरा वाग्दान हो चुका था, ऐसा करने की शास्त्र में क्षत्रियों के लिए आज्ञा है, जैसे कि कहा है 'दत्तामणि हरेत् कन्यां श्रेयांश्चेद्भ्रात्रजेन्' यदि श्रेष्ठ वर आ जावे, तो वाग्दान की हुई कन्या उसको दी जावे, मनु ने कहा है कि जो कन्या एक को दी हो वह फिर दूसरे को नहीं देनी चाहिए, कारण कि आगे के ऋषियों ने ऐसा नहीं किया है और न दूसरे करेंगे यह मनु का वाक्य ब्राह्मणों के लिए है क्योंकि श्लोक में ऋषि पद से ब्राह्मण कहे हैं, विवाह बान्धवों की भी एक राय की जानी है, तभी ही अधिकार है इसलिए अधिकार का सम्पादन करने के लिए ही मुझे दिया, अतः मेरे पिता ने जो दोष किया था उसको मिटाने का प्रायश्चित्त यह किया कि मुझे कृष्ण को अर्पण किया, मैं दोष नाश करने के लिए ही हुई, इससे अपने लिए नहीं रही, इसलिए मैं कुछ कामना नहीं करती हूँ इस कारण ही वह भगवान् को प्यारी है, पिता के लिए ही वह व्यापृत थी, अतएव उसको स्वर्ग नहीं इसलिए पारिजात ले आए और स्वर्ग दिखाया ॥६॥

आभास—जाम्बवतीत्याह प्राज्ञायेति ।

आभासार्थ—'प्राज्ञाय' श्लोक में जाम्बवती ने इस प्रकार कहा—

श्लोक—जाम्बवत्युवाच—प्राज्ञाय देहकृदमुं निजनाथदेवं

सीतापतिं त्रिणवहान्यमुनाभ्ययुध्यत् ।

ज्ञात्वा परीक्षित उपाहरदर्हणं मां

पादौ प्रगृह्य मणिनाहममुष्य दासी ॥१०॥

श्लोकार्थ - जाम्बवती ने कहा कि मेरे पिता जाम्बवान् ने प्रथम यह नहीं जाना कि ये मेरे इष्टदेव स्वामी हैं, अतः सत्ताईस दिन तक युद्ध किया, फिर जब जाना कि स्वामी हैं, तब चरणों में गिरकर भेंट में मणि के साथ मुझे अर्पण किया, अतः मैं तो इनकी दासी हूँ ॥१०॥

१ कामना न करने वालों को सद्योमुक्ति होती है इसलिए स्वर्ग नहीं,

सुबोधिनी—अज्ञाय अज्ञात्वा प्रकर्षेण अज्ञा-
त्वा प्राज्ञाय कश्चिन्मनुष्य इति भगवन्तं ज्ञात्वा
मम देहकृत् कन्यापिता । महता पापेनैव कन्या-
पितृत्वं भवतीति । अत एव दुःखार्यवेति शास्त्रम् ।
अतो भगवन्तं न ज्ञातवान् । अमुमित्यग्रे प्रद-
र्श्याह वस्तुतस्त्वयं निजः आत्मा नाथः स्वामी
दैवं पूज्यश्च । ननु तादृशो राम इति चेत्तत्राह
सीतापतिमिति । पूर्व सीतायै महद्दुःखं दत्त्वा
ततस्तां बहुधा अवतार्य तदर्थं स्वयमप्यागत
इत्यर्थः । अज्ञान तावदेव यावद्भगवतः सान्निध्य

न भवति । तत्र त्रिगुणानां भेदाः सप्तविंशति
तत्त्वानीति तत्तद्व्यवधानात् भगवदज्ञानमिति ।
तन्निराकरणार्थममुनाभ्ययुध्यत् । ततो व्यवधानेषु
गतेषु परीक्षिते परीक्षायां जातायां भगवानेवाय-
मिति ज्ञात्वा अर्हणं पूजायोग्यं मां पादौ प्रगृह्य
मणिना सह उपाहरत् । एव विवाहमुक्त्वा काम-
नामाह अहममुष्य दासी । यो हि स्वतन्त्रो भवेत्
स कामयेत । अहं तु दासी दास्यव्यतिरेकेणान्य-
दस्याः कामिकं न भवति ॥१०॥

व्याख्यार्थ—जाम्बवती ने कहा कि मेरे पिता ने भगवान् को भगवान् न समझ केवल यों
समझा कि वे कोई मनुष्य है । मेरी देह को उत्पन्न करने वाला होने से (कन्या का) मेरा पिता है ।
जब पूर्व जन्म में महान् पाप किया जाता है तो उसका फल कन्या का पिता होना होता है,
इसलिए ही शास्त्र में कहा है, कि कन्या का जन्म दुःख के लिए ही है— अतः यह भगवान् हैं यों न
जान सका । ‘अमु’ पद से यह बताया है कि ओह ! यह सामने स्थित तो वास्तविक अपनी आत्मा
नाथ, दैव और पूज्य है । वैसे तो यह राम हैं, किन्तु यों है तो भी सीता के पति हैं । पहले सीता
को बहुत दुःख देकर पश्चात् उसको अनेक तरह से अवतार धारण कराके उसके लिए स्वयं भी
आए हैं । अज्ञान तब तक रहता है, जब तक भगवान् का सान्निध्य नहीं होता है, उसमें तीन गुणों के
भेद सत्ताईस तत्त्व है, उनके व्यवधान होने के कारण, भगवान् का अज्ञान रहता है । उस अज्ञान के
निराकरण करने के लिए इनसे युद्ध करने लगे, युद्ध करने से रुकावटें नष्ट हो गई, परीक्षा भी
हो गई यह ज्ञान हो गया है कि यह ही भगवान् हैं, यों पूर्णज्ञान प्राप्त कर, पूजा योग्य का चरण पकड़कर
अर्थात् चरणों में पड़कर मणि के साथ मुझे भी भगवान् को दे दिया यों विवाह का वर्णन कर कामना
कहती है, जो निश्चयपूर्वक स्वतन्त्र होता है, वह कामना करता है मैं तो दासी हूँ अतः दास्य के सिवाय
दूसरी कामना ही नहीं है ॥१०॥

आभास—ततः प्राप्ता कालिन्दी स्ववृत्तान्तमाह तपश्चरन्तीमिति ।

आभासार्थ—अनन्तर कालिन्दी आई, वह ‘तपश्चरन्ती’ श्लोक से अपना वृत्तान्त कहती है—

श्लोक—कालिन्द्युवाच—तपश्चरन्तीमाज्ञाय स्वपादस्पर्शनाशया ।

सख्योपेत्याग्रहीत्पाणिं याहं तद्ग्रहमार्जनी ॥११॥

श्लोकार्थ—कालिन्दी ने कहा कि मुझे अपने चरण स्पर्श की इच्छा से तपस्या
करती हुई जानकर, प्रथम अपने मित्र अर्जुन द्वारा मिलकर, बाद जिन्होंने मेरा
पाणिग्रहण किया, उन भगवान् के घर में सदा सोहनी करने (बुहारा लगाने) वाली
दासी मैं हूँ ॥११॥

सुबोधिनी—अर्जुनादिप्रेषणं व्याजार्थम् ।
वस्तुतस्तु स्वयमेवाज्ञाय सख्या सह उपेत्य पाणि-
मग्रहीत् । एवं विवाहमुक्त्वा कामनामाह याहं
तद्गृहमार्जनीति । मम तु कामना नास्ति स्व-

भावत एवाहं कालिन्दी तद्गृहस्य मथुरायाः
मार्जनी शोधिका । तद्गृहं वा सूर्यमण्डल ततः
शोधयित्वा वा निर्गता । अथवा । गृहदासीत्वं
स्वस्याः कामितमेव जातमिति निरूपयति ॥११॥

व्याख्यार्थ—अर्जन आदि का भेजना केवल नाट्य था, वास्तव में तो स्वयं ही आज्ञा कर मित्र के साथ आके पाणिग्रहण करने लगे इस प्रकार विवाह कर कामना कहती है, मैं जो हूँ वह उनके घर की बुहारी (भाइ) देने वाली दासी हूँ, मुझे तो कामना नहीं है क्योंकि मैं स्वभाव से ही उनके घर मथुरा को साफ करने वाली कालिन्दी हूँ उनका गृह अथवा सूर्य मण्डल उससे शोध कर निकली हूँ अथवा गृहदासीपन ही अपना कामित हो गया है, यों निरूपण किया है ॥११॥

आभास—ततोऽनन्तरा मित्रविन्दा स्ववृत्तान्तमाह यो मामिति ।

आभासार्थ—इसके बाद मित्रविन्दा 'यो मां' श्लोक में अपना वृत्तान्त कहती है-

श्लोक—भद्रोवाच-यो मां स्वयंवर उपेत्य विजित्य भूपा-

न्नित्ये श्वयूथगमिवात्मबलि द्विपारिः ।

भ्रातृऋश्च मेऽपकुरुतः स्वपुरं श्रियौक-

स्तस्यास्तु मेऽनुभवमङ्घ्रचवनेजनत्वम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—भद्रा ने कहा कि लक्ष्मी निवास भगवान् स्वयंवर में आकर राजाओं को तथा अपकार करने वाले मेरे भ्राताओं को भी जीतकर, जैसे सिंह श्वानों (कुत्तों) के भुण्ड में गिरे हुए अपने भोज्य को ले लेता है, वैसे ही मुझे वहाँ से द्वारका ले आए मैं उनके चरण धोने वाली दासी सदा ही हूँ ॥१२॥

सुबोधिनी—स्वयंवरे उपेत्येति । पूर्व स्वत एवासक्तपि भ्रात्रा निवार्य स्वयंवरे योजिता ततः स्वयंवरे स्वयमुपेत्य सवनिव विजित्य पैतृ-
ष्वस्त्रेयैवाहमिति स्वभागत्वादन्यभागमन्यो गृह्णन्
भ्रा भवतीति श्वयूथगमिब द्विपारिः सिंहः धर्म-
भूक्षकानपि राज्ञो जयतीति । एवं मे भ्रातृऋन-
पकुरुतः विजित्य । यद्यपि विन्दानुविन्दौ द्वावेव
प्रतिकूलौ तथापि तत्पक्षपातिनोन्येपि गोत्रजा

इति भ्रातृऋनिति बहुवचनम् । चकारादन्येपि
प्रतिकूलाः सूचिताः । ततः स्वपुरं नित्ये द्वारकां
मां नीतवान् । अनेन मध्ये विघ्नो निवारितः ।
श्रियौक इति पुरस्य सर्वसमृद्धिरुक्ता । ततः
कामितमाह तस्य अङ्घ्रचवनेजनत्वं अनुभवं
जन्मनि जन्मनि भवतु अङ्घ्रचवनेजनी पादप्रक्षा-
लनकर्त्री । एतत्कामितम् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—प्रथम तो मैं स्वयं ही भगवान् में आसक्त चित्त वाली थी तो भी, मेरे भ्राता मुझे स्वयंवर में लाए, तब भगवान् ने स्वयंवर में आकर सबको जीतकर भूआ की बेटी मैं हूँ इसलिए अपना भाग होने से, दूसरे का भाग यदि कोई दूसरा ग्रहण करे तो वह श्वान सम होता है इसलिए

वे राजा कुत्तों के समान थे इसलिए इसी प्रकार का दृष्टान्त दिया है जैसे सिंह कुत्तों के मध्य में पड़े हुए अपने भाग को ले जाता है वैसे ही भगवान् भी नृपरूप श्वानों के मध्य से अपने भाग मुझको वहाँ से छीनकर द्वारका ले आए, धर्म और भू के रक्षक राजा को भी भगवान् जीतते हैं, इसी प्रकार अपकार करनेवाले मेरे भ्राताओं को भी जीता । यहाँ अतृन् बहुवचन का भावार्थ स्पष्ट करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यद्यपि भगवान् के विरुद्ध तो विन्द और अनुविन्द दोनों भाई थे किन्तु उनके पक्ष में दूसरे भी गोत्र में उत्पन्न बांधव थे, इसलिए 'बान्धव' पद बहुवचन दिया है, च' पद से दूसरे भी जो प्रतिकूल थे उनकी भी सूचना की है । मुझे लेकर सीधे द्वारका आए, यों कहने से यह बताया है कि मध्य में किसी प्रकार का विघ्न न हुआ । 'श्रियौकः' पद से नगर की स्मृद्धि कही है, पश्चात् कामना का निरूपण करती है, कि मुझे यही कामना है कि मैं जन्म जन्म में भगवान् के चरणों का प्रक्षालन ही करती (घोती) रहूँ ॥१२॥

आभास— नाग्नजिती त्वाह सप्तोक्षणा इति ।

आभासार्थ—'सप्तोक्षणा' श्लोक से नाग्नजिती अपना वृत्तान्त कहती है.

श्लोक—सत्योवाच—सप्तोक्षणोतिबलवीर्यसुतीक्ष्णशृङ्गान्

पित्रा कृतान् क्षितिपवीर्यपरीक्षणाय ।

तान् वीरदुर्मदहनस्तरसा निगृह्य

क्रीडन् बबन्ध ह यथा शिशवोऽजतोकान् ॥१३॥

श्लोकार्थ— नाग्नजिती ने कहा कि मेरे पिता ने राजाओं की वीरता की परीक्षा करने के लिए बहुत तीखे शृङ्ग, अति बल और पराक्रम वाले तथा वीर पुरुषों के दुष्ट अभिमान को उतारने वाले सात बैल अङ्कित कर छोड़ रखे थे, उन्हें भगवान् ने इसी भाँति खेल ही खेल में बाँध लिया, जैसे बालक बकरी के बच्चों को बाँध लेते हैं ॥१३॥

सुबोधिनी— अतिबलं वीर्यं पराक्रमः सुतीक्ष्णो शृङ्गश्च येषां तान् सप्त व्यवसनात्मकान् अत एव क्षितिपवीर्यपरीक्षणार्थं पित्रा कृतान् । यो हि व्यसनग्रस्तो भवति स कुतो भोक्ता भविष्यतीति स्वकन्याया भोगः सिध्यत्विति पित्रा ते कृताः । व्यसनानि च त्रिगुणात्मकानि । अतो बलीवर्दास्तथानिरूपिताः । वीर्यं सात्त्विकं, बलं तामसम्, शृङ्गं राजसे । किञ्च । व्यसनानि धर्मादिभिर्निराकर्तुं मशक्यानीति ज्ञापयितुं तेषां विशेषणम् । वीरदुर्मदहन इति वीरा शूरा राजानः वीर्यं धर्मस्थानीयमुक्तं तथापि दुराभ-

मानजनकत्वात् न व्यसननाशने समर्थमित्यभिप्रायेणाह दुर्मदेति । वीराणां दुष्टं मदं घ्नन्तीति दुर्मदहनः । अतस्तरसा शीघ्रमेव निगृह्य यतो व्यवसनानामेव व्यसनं भवति । ततः क्रीडन्निव लौकिकव्यापारेणैव तन्निग्रहं कृत्वा । हेत्याश्रयं । वदिकैरपि दुर्निवार्यं कथं लौकिकेन निवारितवानिति लौकिकेपि प्रयासाभावायाह यथा शिशवो-जतोकानिति । स्थूलाः अजबालकान् विभ्रतीति बालका एवं बन्धनार्थं विभ्रतीति । तथाप्येकेन न भवतीति बहुवचनम् । व्यसनशान्त्यर्थं सप्ततन्तुं यज्ञं बालकाः कुर्वन्तीति ध्वनितम् ॥१३॥

व्याख्यानार्थ—बहुत बलशाली पराक्रम तथा बहुत तोखे सींगधारी सात व्यसन रूपा बेल, राजाओं की शूरवीरता की परीक्षा के लिए पिता ने तैयार किए। पिता ने इनको इसलिए तैयार किया, कि जो व्यसन ग्रस्त होता है वह कैसे भोक्ता बन सकेगा ? इसलिए अपनी कन्या का भोग सिद्ध हो, तदर्थ पिता ने तैयार किए। व्यसन तीन प्रकार के होते हैं, अतः बेल भी ऐसे निरूपण किए। 'वीर्य' सात्विक है, 'बल' तामस है और सींग राजस है। यद्यपि व्यसनों को धर्म आदि निराकरण नहीं कर सकते हैं, यह जताने के लिए उनके ये विशेषण देकर समझाया है कि 'दुर्मदहनः' वीरों में जो दुष्ट मद है, उसको नाश करने वाले हैं अतः शीघ्र ही पकड़ लिया, क्योंकि आप व्यसनों के ही व्यसन हैं, इस कारण से मानों खेलते ही खेलते लौकिक को तरह ही, उनको पकड़ लिया है यह आश्चर्य है, वैदिक युक्तियों से भी जो कठिनाई से पकड़ में आने वाले हैं, उनको लौकिक से कैसे हटा दिया ? फिर लौकिक में किसी प्रकार का परिश्रम भी नहीं हुआ, जिसको वैसा ही दृष्टांत देकर समझाती है। स्थूल बालक बकरी के बच्चों को पकड़ते हैं किन्तु बन्धन के लिए डरते हैं, क्योंकि एक से नहीं बाँधे जाते हैं इसलिए बहुवचन दिया है, व्यसन शान्ति के वास्ते बालक सात तन्तुओं वाले यज्ञ को करते हैं, भगवान् ने भी उनका बन्धन ही किया यह ध्वनि निकलती है—अर्थात् ऐसा भाव प्रकट होता है ॥१३॥

श्लोक—य इत्थं वीर्यशुल्कां मां दासीभिश्चतुरङ्गिणीम् ।

पथि निजित्य राजन्यान्नित्ये तद्दास्यमस्तु मे ॥१४॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार जिसका मूल्य पराक्रम ही है, उस मुझे दासी का पाणिग्रहण कर जिस मार्ग से पधार रहे थे, उस मार्ग में जो राजा आए, उनको तथा उनकी चतुरङ्गिणी सेना को जीतकर, मेरे पिता की दी हुई दासियाँ सहित मुझे द्वारका ले आए, उनकी सदा दासी बनी रहूँ ॥१४॥

सुबोधिनी—ततः स्वाभिलषिते सिद्धे पित्रं व दत्तां मां वीर्यमेव शुल्कं यस्याः । दासीभिः सहिताम् । राजन्यांस्तेषां चतुरङ्गिणीं सेनां च पथि	जित्वा मां स्वगृहं निन्ये । कामनामाह तद्दास्यमस्त्विति ॥१४॥
--	---

व्याख्यानार्थ—पश्चात् अपना अभिलषित सिद्ध होते ही, जिसका शुल्क, वीर्य ही है ऐसी जो मैं हूँ, उसको पिता ने इनको दासियों सहित अर्पण की थी मार्ग में राजाओं को तथा उनकी चतुरङ्गिणी सेना को जीतकर मुझे अपने गृह (द्वारका) ले आए, अपनी कामना प्रकट करती है कि इनकी ही मैं दासी बनी रहूँ ॥१४॥

आभास—ततो भद्रा निरूपयति पिता मे इति ।

आभासार्थ—पश्चात् भद्रा 'पिता मे' श्लोक से अपना वृत्तान्त कहती है—

श्लोक—भद्रोवाच-पिता मे मातुलेयाय कृष्णे कृष्णाय दत्तवान् ।

तच्चित्तां भ्रातृभिर्दत्तामक्षौहिण्या सखीजनैः ॥१५॥

श्लोकार्थ—भद्रा ने कहा कि मेरा चित्त भगवान् में ही था, अतः मेरे पिता ने (भ्राताओं द्वारा वाग्दान कराके) मामा के पुत्र श्रीकृष्ण को अक्षौहिणी सेना और सखियों के साथ मुझे भगवान् को अर्पण की ॥१५॥

सुबोधिनी मम मातुलेयो भगवान् श्रुति-कीर्तिकन्येयम् । हे कृष्णे द्रौपदि कृष्णार्थं वा । विशेषतो दानहेतुः तच्चित्तामिति । भ्रातृभिर्दत्ता-मिति वाग्दानार्थं भ्रातर एव द्वारकां गता इति ज्ञेयम् । इदं तु दानं सङ्कल्पपूर्वकम् । अक्षौहिणी सख्यश्च दाने सहभावमापन्नाः ॥१५॥

व्याख्यार्थ यह भद्रा श्रुत कीर्ति की कन्या है श्री कृष्ण इसके मामे के पुत्र हैं । हे कृष्णे! (द्रौपदि) अथवा कृष्ण के लिए मुझे दी, कृष्ण को देने का विशेष कारण यह है, कि उनमें मेरा चित्त था, भ्राताओं ने द्वारका जाकर मेरा वाग्दान किया था, यह दान केवल वाणी से नहीं था किन्तु सङ्कल्प पढ़कर किया हुआ है, दान में अक्षौहिणी और सखियां भी साथ में थीं ॥१५॥

आभास—कामनामाह अस्य मे पादसंस्पर्श इति ।

आभासार्थ—अस्य मे पाद संस्पर्श' श्लोक में अपनी कामना का वर्णन करती है

श्लोक—अस्य मे पादसंस्पर्शो भवेज्जन्मनि जन्मनि ।

कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया येन तच्छ्रेय आत्मनः ॥१६॥

श्लोकार्थ—मैं कर्मों से कहीं भी भ्रमण करती रहूँ, तो भी वहाँ जन्म-जन्म में मुझे भगवच्चरण का स्पर्श होता रहे; क्योंकि अपना कल्याण इसमें है ॥१६॥

सुबोधिनी - जन्मनि जन्मनि भवेदिति । यदा यदा भगवानवतीर्णो भविष्यति तदा तदा लक्ष्मीवदहमग्यागमिष्यामीति । ननु स्वयमेव तच्छक्तित्वाद्भविष्यति किमिति प्रार्थ्यत इति चेत्तत्राह कर्मभिर्भ्राम्यमाणाया इति । जीवभा-वात्कर्मसंबन्धः अन्यथा अन्यसंबन्धिनी कथं भवेयम् । किमतो यद्येवं तत्राह येन पादस्पर्शनं तत्प्रसिद्धं ब्रह्मानन्दात्मकं श्रेयो भवति । आत्मनः स्वस्यात्मगामि वा । सप्तैता भक्तिभेदाः ॥१६॥

व्याख्यार्थ जन्म-जन्म में चरण स्पर्श होवे, जब जब भगवान् अवतार लेंगे तब तब लक्ष्मी की भाँति मैं भी आऊंगी, भगवान् की शक्ति होने से स्वयं होगी, तो फिर प्रार्थना क्यों करती हो ? यदि यो कहती हो इसका उत्तर यह है कि, कर्मों से फिरने वाली होने से प्रार्थना करती हूँ, जीव भाव से कर्म सम्बन्ध है, अन्यथा यदि जीव भाव न हो तो कर्म सम्बन्ध भी न हो तो दूसरे से भी सम्बन्ध न होना चाहिए, वह हुआ है जैसा कि श्रुति कीर्ति की कन्या कर्मों के कारण ही हुई है, यदि यों है तो भी क्या हुआ ? इसका उत्तर देती है कि जिसके पाद स्पर्श से वह प्रसिद्ध ब्रह्मानन्द रूप श्रेय आत्मा को प्राप्त होना है इसलिए उसकी प्राप्ति के वास्ते प्रार्थना करनी आवश्यक है ॥१६॥

ये रुक्मिणी आदि भक्ति के सात भेद हैं—

कारिका — अर्चनात्मा रुक्मिणी स्याच्छ्रवणं तदनन्तरा ।

सर्वपापक्षयः पूर्वं यस्मादत्र निरूप्यते ।

एकान्ते च प्रदत्तेति तृतीया स्मृतिरुच्यते ।

चतुर्थ्येव चतुर्थी स्यात् द्वितीया पञ्चमी मता ।

सर्वान्बलवतो दुष्टान् विनिवार्यैव कीर्तयेत् ।

षष्ठी तु सप्तमी प्रोक्ता सप्तमी तद्विपर्ययम् ।

नमने पादसंस्पर्शः प्रतिवारं भवेदिति ।

सख्यरूपा त्वष्टमीयं महती विनिरूप्यते ॥१६॥

कारिकार्थ—ये जो सात पटरानियाँ कही, वे सात ही भक्तिरूपा हैं । अर्चनरूपा भक्ति रुक्मिणी है, श्रवणरूपा सत्यभामा है । इन भक्तियों के करने से सर्व पाप क्षय होते हैं । जाम्बवती एकान्त में दी हुई है, इस कारण से यह स्मरणरूपा भक्ति है, कालिन्दी पाद-सेवनरूपा भक्ति है, मित्रविन्दा कीर्तनरूपा भक्ति है, सर्व बलवान् दोषों को दूर कर कीर्तन करना चाहिए । छठी-सातवीं कही है, सप्तमी उसके विपरीत है, छठी पटरानी दास्यरूपा भक्ति है, लक्ष्मणा आठवीं सख्यरूपा भक्ति है, वह इन सर्व में श्रेष्ठ है ॥१६॥

आभास—लक्ष्मणा स्ववृत्तान्तं द्रौपद्यभिमाननाशयाह ममापीति ।

आभासार्थ—द्रौपदी के अभिमान के नाशार्थ लक्ष्मणा ममापि' श्लोक से अपना वृत्तान्त कहती है ।

श्लोक—लक्ष्मणोवाच—ममापि राक्ष्यच्युतजन्मकर्म

श्रुत्वा मुहुर्नारदगीतमास ह ।

चित्तं मुकुन्दे किल पद्महस्तया

वृतः सुसंमृश्य विहाय लोकपान् ॥१७॥

श्लोकार्थ—लक्ष्मणा ने कहा कि हे द्रौपदी ! बार-बार नारदजी के गाए हुए भगवान् के जन्म और कर्म सुनकर मेरा मन उन मुकुन्द में आसक्त हो गया, तब अच्छी तरह विचार कर, पद्म को दीप की भाँति हस्त में लेकर देखती हुई सर्व लोकपालों को छोड़कर इनको वर लिया ॥१७॥

सुबोधिनी सा हि स्वविवाहमुत्कृष्टं मन्यते ।
राधावेधो हि दुर्लक्ष्यो भवति ततोप्यधिकश्रेष्ठ-
गवत्कृतोपि भवेत् । ततो भर्तृसख्यं विहाय भग-
वत्सखी भवेदिति सा प्रथमं स्वमनःप्रीतिमाह ।
स एव सख्यं प्राप्नोति यस्य जन्मप्रभृति जन्मा-
न्तरेषु वा भगवत्येव चित्तं भवति । हे राज्ञोति
सावधानतया श्रवणार्थं संबोधनम् । अच्युतत्व
भजनीयत्वे मुख्यो हेतुः । जन्म भक्तोद्धारार्थमेव ।
कमं तु भक्तकार्यार्थमेवेति श्रुत्वा कुलशीले वा ।
मुहूर्नारदगीतमिति निर्द्धारार्थं प्रमाणावृत्तिरुक्ता ।

मुकुन्दे चित्तम सेति । तदेकप्रवणं जातम् । अच्यु-
तत्वादैहिकसुखदातृत्वं मुकुन्दत्वान्मोक्षदातृत्व-
मिति । तथापि योगिगम्यः कथं स्त्रीमात्रस्य वर-
णीयो भवेत् तत्राह पद्महस्तया किल वृत इति ।
पद्मं हस्ते यस्या इति दीपमिव गृहीत्वा सर्वं दृष्ट्वा
विचार्य ग्रहणं निरूपितम् । ननु तावता किं त्व-
यान्यो ग्राह्य इति चेत्तत्राह विहाय लोकपानिति ।
अन्ये लोकपानाः अप्रयोजकाः सुदुष्टा इति
जापितम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ - वह (लक्ष्मणा) अपने विवाह को द्रौपदी आदि के विवाह से उत्तम मानती है ।
राधावेध (मछली बंधना) दुर्लक्ष्य है उससे भी अधिक यदि हो तो भगवान् का किया हुआ है,
उससे भी भर्तारूप से सखाभाव त्याग कर भगवान् की सखी होना श्रेष्ठ जाना इसलिए प्रथम ही
भगवान् से अपने मन की प्रीति जोड़ी, यों कहती है कि वह ही सखाभाव को प्राप्त कर सकता है जो
पहले जन्म से लेकर सारा जीवन अथवा जिसने अन्य जन्मों में भी भगवान् में चित्त पिरो दिया
है । हे रानी ! यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि जो कुछ मैं कहती हूँ, वह सावधान होकर सुनो,
इनके भजन करने में मुख्य कारण यह है, कि आप अच्युत हैं, अतः कभी भी किसी तरह से भी
आपकी च्युति नहीं होती है, प्रभु का प्राक्ख्य भक्तोद्धार के लिए है और कर्म भक्तों के कार्य सिद्ध
करने के वास्ते ही हैं तथा कुल एवं शील को बारंबार जो नारदजी गाते हैं उसको सुनकर, मन
में इसको प्रमाण रूप सत्य है यों निर्द्धार कर मुकुन्द में मन को आसक्त कर दिया, और यह भी
समझा कि अच्युत होने से आप सब प्रकार ऐहिक सुखदाता हैं एवं मुकुन्द होने से मोक्ष देने
वाले भी आप ही हैं, अतः इनको वरण करने से दोनों लाभ प्राप्त होंगे, यों है, तो भी जो योगियों
को प्राप्त होने वा समझने योग्य हैं उनको स्त्रियां कैसे पा सकेंगी ? अथवा उनका वरणीय कैसे
होगा? इसके उत्तर में कहती हैं कि, मैंने दीप की तरह कमल लिया जिसके द्वारा पूर्ण रीति से
सब राजाओं को देखा फिर विचार किया, विचार करने से निश्चय किया, कि दूसरे राजा लोकपाल
आदि निरर्थक हैं क्योंकि दोषों वाले हैं, ये ही एक निर्दोष हैं, अतः सबका त्याग कर इनका वरण
किया ॥१७॥

श्लोक— ज्ञात्वा मम मतं साध्वि पिता दुहितृवत्सलः ।

बृहत्सेन इति ख्यातस्तथोपायमचीकरत् ॥१८॥

श्लोकार्थ—हे साध्वी ! पुत्री-वत्सल मेरे पिता बृहत्सेन ने मेरा इस प्रकार का
मत जानकर वैसा उपाय किया, जैसे मुझे श्रीकृष्ण प्राप्त होवे ॥१८॥

सुबोधिनी यत्परं मनस्तस्मै देयमिति स्वयं
दाने लज्जा भवतीति साधारणस्वयंवरे च यः
कश्चिद्ग्रहीष्यतीति पणवन्धो महान् कर्तव्य

इति । मम पिता मन्मतं ज्ञात्वा दुहितृवत्सलः
यथा भवति तथोपायं कृतवानित्यर्थः ॥१८॥

व्याख्यार्थ—कन्या का मन जिसमें लगा हुआ हो उसको देने चाहिए, कन्या स्वयं अपने को देने में तो लज्जा का अनुभव करती है, अतः यदि मैं साधारण प्रकार का स्वयंवर करूंगा तो हर कोई ग्रहण कर सकेगा, इसलिए कोई महान् कठिन शर्त इसमें रखनी चाहिए जिसको श्रीकृष्ण के सिवाय दूसरा कोई पूर्ण न कर सके, यों निश्चय कर पुत्रीवत्सल मेरे पिताजी ने मेरा भाव जान लिया था अतः वैसा उपाय किया ॥१८॥

आभास—तमुपायमाह यथा स्वयंवर इति ।

आभासार्थ—उस उपाय को 'यथा स्वयंवरे' श्लोक में बताती है—

श्लोक—यथा स्वयंवरे राज्ञि मत्स्यः पार्थेप्सया कृतः ।

अयं तु बहिराच्छन्नो दृश्यते स जले परम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे द्रौपदी रानी ! जैसे तुम्हारे स्वयंवर में अर्जुन को देने की इच्छा से मत्स्य किया गया था, वैसे मेरे स्वयंवर में भी मत्स्य किया गया था, परन्तु तुम्हारे स्वयंवर में जो मत्स्य था, वह केवल बाहर ढका हुआ था, इसलिए खम्भे में लगी हुई दृष्टि से वह देखने में आ जाता था, किन्तु यह वैसा नहीं था, यह तो खम्भे के पास रखे हुए कलश के जल में ही दीख सकता था, अतएव दृष्टि नीचे और लक्ष्य ऊपर होने से यह मत्स्य श्रीकृष्णचन्द्र के सिवाय दूसरा कोई वेध नहीं सकता ॥१९॥

सुबोधिनी—पार्थेप्सया अर्जुन एव गृह्णा-
त्त्विति । ततोपि मदीयो विशिष्ट इत्याह अयं तु
बहिराच्छन्न इति । स तु बहिर्दृश्यते परं जले ।
जले तस्य प्रतिच्छाया उपलभ्यत इत्यर्थः । मदी-

यस्य तु जलेप्युपलम्भो नास्ति । सर्वथा बहिरा-
च्छन्न एव । अतः पार्थस्याप्यगम्यं भविष्यतीति
पितुरभिप्रायः ॥ १९॥

व्याख्यार्थ—तुम्हारे स्वयंवर में मत्स्य इसी प्रकार रखा गया था, कि अर्जुन ही उसको वेध सके, मेरे स्वयंवर में मत्स्य उससे विशेष प्रकार से रखा गया था । आपके स्वयंवर वाला मत्स्य, तो बाहर ढका हुआ था, वह तो ढका हुआ (कपड़े में लपेटा हुआ था किन्तु जल में दीखता था, क्योंकि उसकी जल में परछाई पड़ती थी जिससे वह दीख जाता था, मेरे स्वयंवर वाला मत्स्य तो जल में भी नहीं दीखता था, सर्व प्रकार बाहर लपेटा हुआ ही था, अतः उसको अर्जुन भी वेध नहीं सके यह ही मेरे पिता का अभिप्राय था ॥१९॥

आभास—ततः सर्वे बलोनद्धाः समागता इत्याह श्रुत्वैतदिति ।

आभासार्थ—यह स्वयंवर सुनकर बल से मत्त बड़े २ राजा लोग वहाँ आए यह 'श्रुत्वैतत्सर्वतो' श्लोक से बताती है—

श्लोक—श्रुत्वेतत्सर्वतो भूपा आययुर्मत्पितुः पुरम् ।

सर्वास्त्रशस्त्रतत्त्वज्ञाः सोपाध्यायाः सहस्रशः ॥२०॥

श्लोकार्थ—यह बात सुनकर सब अस्त्र तथा शस्त्र के ज्ञाता हजारों राजा लोग अपने-अपने उपाध्यायों को साथ ले, चारों ओर से मेरे पिता के नगर में आए ॥२०॥

सुबोधिनी—आगमने तेषां बलमाह सर्वास्त्र-शस्त्रतत्त्वज्ञा इति । अस्त्रशस्त्रयोर्वैदिकलौकिकयोः श्रेयाक्षेपरहितयोर्वा तत्त्वं स्वरूपं अत्र स्थित्वा प्रक्षेपे एवं लक्ष्य भवतीति अस्मिन् वा शस्त्रे योजिते लक्ष्यवेध इति । अकस्माद्विस्मरणे सभा-कम्पे वा सोपाध्यायाः सहस्रश इति । एकस्य भङ्गे अपरो ग्रहीष्यतीति स्वतस्तेभ्य आदानेपि प्रतिष्ठा न भवतीति ॥२०॥

व्याख्यानार्थ—जो आए उनके बल को कहती है कि सर्व प्रकार के वैदिक लौकिक अस्त्र शस्त्र के तत्त्व को जानने वाले थे, जैसा कि, वहाँ खड़ा रहकर फेंकने से इस प्रकार लक्ष्य हो सकेगा, इस शस्त्र को जोड़ने से लक्ष्य का वेध हो जाएगा, अचानक भूल हो जाए वा सभा कम्प हो, तो इसलिए हजारों उपाध्याय साथ लाए थे उनसे पूछकर कार्य करेंगे, एक के भङ्ग होने पर दूसरा ग्रहण करेगा, यों स्वतः उनको आदान करने पर भी प्रतिष्ठा नहीं होगी । २०॥

श्लोक—पित्रा संपूजिताः सर्वे यथावीर्यं यथावयः ।

आददुः शशरं चापं वेद्धुं पर्षदि मद्धियः ॥२१॥

श्लोकार्थ—पराक्रम तथा आयु के अनुसार सबका मेरे पिता ने सत्कार किया, अनन्तर सभा में रखे हुए सिर सहित धनुष को मत्स्य वेधार्थ लेने लगे; क्योंकि मेरी प्राप्ति का ही उनको ध्यान था कि वेध करने से वह मिलेगी ॥२१॥

सुबोधिनी—समागताः सर्वे एव पित्रा संपूजिताः । परं तारतम्यानुसारेण तत्र सरतम-भावे नियामकं वीर्यं वयश्च मिलितम् । अन्यथा तदुपाध्यायानामेव पूजनं स्यात् । तथैव भगव-न्मन्त्राभिमन्त्रितं धनुः शरं च तथैव स्थापितं ते समाददुः । आदाने हेतुः वेद्धुम् । पर्षदि सभायाम् । यतो मद्धिय इति मत्कामाः ॥२१॥

व्याख्यानार्थ—आए हुए सबकी पिताजी ने पूजा की, वीर्य और आयु के अनुसार, यथायोग्य पूजन किया अर्थात् सबकी समान पूजा नहीं, गुणानुसार पूजा की, यों न करते तो केवल उपाध्यायों का ही पूजन होता वहाँ सभा में ही वेद मन्त्रों से अभिमन्त्रित धनुष और शर रखा था, वे राजा उनको लेने लगे, लेने का कारण यह था कि वेध करना था, 'पर्षदि' सभा में, क्योंकि मुझे लेने की इच्छा वाले थे ॥२१॥

आभास—ततस्तेषां भङ्गप्रकारमाह आदाय व्यसृजन्निति ।

आभासार्थ—पश्चात् उनके भङ्ग होने का प्रकार 'आदाय' श्लोक में कहती है ।

श्लोक — आदाय व्यसृजन्केचित्सज्जीकर्तुं मनीश्वराः ।

आकोष्ठं ज्यां समुत्कृष्य पेतुरेकेऽमुना हताः ॥२२॥

श्लोकार्थ—कितने ही राजाओं ने तो धनुष-बाण लेकर छोड़ दिया, कुछ डोरी ही नहीं चढ़ा सके, कुछ राजा ऐसे भी थे, जिन्होंने कोहनी के नीचे भाग तक खींचा तो गिर गए और वह धनुष उनके ऊपर पड़ने से वे मर गए ॥२२॥

सुबोधिनी—तत्र हेतुः सज्जीकर्तुं मनीश्वरा इति । केचित्पुनः वेधमात्रमेव परीकृतमिति सज्जीकरणमप्रयोजकमिति । अन्यैर्वहुभिर्वा सज्जीकृतमेव धनुः । आदाय कोष्ठपर्यन्तं ज्यामाकृष्य अमुना धनुषा हताः सन्तः पतिताः । कर्णान्तिं

ज्याकर्षणं कर्तव्यं कोष्ठप्रदेशे तु ज्या तिष्ठत्येव । तस्यैवान्ते समीपे कथंचिदानीतवन्तः तावतैव बलक्षयो जात इति । तथैव पतिताः । तदनन्तरं स्वोपरि पतितेन धनुषा हता इत्यर्थः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—कितने ही जो डोरी नहीं चढ़ा सकने थे वे कहने लगे, कि वेध मात्र ही करना है, डोरी चढ़ानी बिना प्रयोजन वाली बात है, दूसरे बहुत से ऐसे थे, जिन्होंने डोरी चढ़ाई किन्तु जब उसको खींच कर कोहनी तक लाए तब बल क्षय हो जाने से गिर पड़े, उसके बाद अपने ऊपर गिरे धनुष से वे मर गए ॥२२॥

आभास — एवमप्रसिद्धानां स्वरूपमुक्त्वा प्रसिद्धानामाह सज्ज्यं कृत्वेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार अप्रसिद्धों का स्वरूप कहके 'सज्ज्यं' श्लोक से प्रसिद्धों का स्वरूप कहती है—

श्लोक—सज्ज्यं कृत्वाऽपरे वीरा मागधाम्बष्ठचेदियाः ।

भीमो दुर्योधनः कर्णो नाविदुस्तदवस्थितिम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—दूसरे वीर, मागध, अम्बष्ठ, चेदिय, भीम, दुर्योधन और कर्ण भी वह (मत्स्य) कहाँ है ? इसको न जान सके ॥२३॥

सुबोधिनी—अपरे पूर्वोक्तैर्मयः अन्ये । मागधो जरासन्धः । अम्बष्ठो भगदत्तः हस्तिपत्वात् । चेदियः शिशुपालः तथैव भीमो दुर्योधनः ।

कर्णश्च तथापि तस्य मत्स्यस्य अवस्थितिं न विदुः क्व तिष्ठतीति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—दूसरे, अर्थात् पूर्व जो कहे हैं उनके सिवाय दूसरे, उनका नाम कहते हैं, मागध, (जरासन्ध) अम्बष्ठ, (भगदत्त हस्ती के पालक होने से अम्बष्ठ, चेदिय, (शिशुपाल) वैसे ही भीम दुर्योधन तथा कर्ण, इन सबने भी यह न जाना कि मत्स्य की स्थिति कहाँ है ॥२३॥

श्लोक - मत्स्याभासं जले वीक्ष्य ज्ञात्वा च तदवस्थितिम् ।

पार्थो यत्तोऽसृजद्बाणं नाच्छिनत्पस्पृशे परम् ॥२४॥

श्लोकार्थ - अर्जुन ने मत्स्य का जल में प्रतिबिम्ब देख, उसकी वही स्थिति समझ, सावधान हो, बाण चलाया, उस बाण ने उसका स्पर्श किया, किन्तु उसको वेधा नहीं ॥२४॥

सुबोधिनी --ततोर्जुनः आच्छादनसहितस्य जले प्रतिबिम्ब दृष्ट्वा जलाभासं तत्र ज्ञात्वा अमुक-स्थाने तिष्ठतीति निश्चित्य यत्तः सन् पार्थः बाण-मसृजत् । तावतापि लक्ष्यं नाच्छिनत् । परं

पस्पृशे स्पर्शमेव संपादितवानिति । नरनारायण-योरेतावदन्तरं शक्तिद्वयमेकस्य पूर्णम् । अपर-स्यैका कथंचिदिति ॥२४॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् अर्जुन ने आवरण सहित मत्स्य का प्रतिबिम्ब जल में देखकर, अमुक स्थान पर ही यह है यों निश्चय कर सावधान हो बाण छोड़ा, तो भी लक्ष्य को वेधा नहीं केवल स्पर्श ही किया, नर और नारायण में इतना ही अन्तर है, एक नारायण की दोनों शक्तियां ज्ञान और क्रिया पूर्ण हैं, दूसरे नर (अर्जुन) की एक (ज्ञान) भी कथंचित् है ॥२४॥

आभास—एवं साधारणप्रसिद्धातिप्रसिद्धनिराकरणे जाते सर्व एव निवृत्ता इत्याह राजन्येषु निवृत्तेष्विति ।

आभासार्थ -यों साधारण प्रसिद्ध और अति प्रसिद्धों का निराकरण होने से सब ही निवृत्त हो गए जिसका वर्णन 'राजन्येषु' श्लोकों से वर्णन करती है—

श्लोक—राजन्येषु निवृत्तेषु भग्नमानेषु मानिषु ।

भगवान्धनुरादाय सज्जं कृत्वाथ लीलया ॥२५॥

तस्मिन्संधाय विशिखं मत्स्यं वीक्ष्य सकृज्जले ।

छित्त्वेषुणापातयत्तं सूर्ये चाभिजिति स्थिते ॥२६॥

दिवि दुन्दुभयो नेदुर्जयशब्दयुता भुवि ।

देवाश्च कुसुमासारान् मुमुचुर्हर्षविह्वलाः ॥२७॥

श्लोकार्थ—इस तरह उन अभिमानी क्षत्रियों का मान भङ्ग होते हुए वे सब निवृत्त हो गए, तब श्रीकृष्णचन्द्रजी ने धनुष ले, पनच (धनुष की डोरी) चढ़ा, उसमें लीला से बाण का सन्धान कर मध्याह्न समय अभिजित नक्षत्र के होते, एक बार जल में मत्स्य को देखकर बाण से उसे काट गिरा दिया, उस समय जय-जय शब्द के

साथ स्वर्ग में दुन्दुभि बजने लगी, हर्ष से विह्वल हुए देवता पुष्पों की वर्षा करने लगे ॥२५-२७॥

सुबोधिनी—ततः कृष्णः किं करिष्यतीति शङ्कां वारयितुं भगवानित्याह लीलया च सज्जं कृतवान् । अनेनादित आरभ्य स्वयमेव सर्वं कृतवान् न त्वन्वेषः स्थापित इति ज पितम् । लीलया मत्सतोपार्थम् । तस्मिन् सधाय विशिखमिति लौकिकन्यायेनैव मारितवानिति ज्ञापितम् । ततोर्जुनसंतोषार्थं सकृन्मत्स्यं जले वीक्ष्य इषुणा छित्त्वा जलेऽपातयत् । तस्मिन्नेव समये अभिजित्त्वं तेनैव सर्वे दोषाः परिहृता इति

लौकिक एव प्रकार उक्तः । ततो भगवता सर्वजोवाशक्यं कृतमिति इदमेकं चरित्रं लोके समुत्पन्नमिति संतोषाद्वि दुन्दुभयो नेदुः जयशब्दाश्च । भूमावपि नरदुन्दुभयो जयशब्दाश्च । ततो देवानां भगवान् स्वोत्कर्षं प्रकटीकृतवान् । अतः परं दैत्यवधं करिष्यतीति संतोषाद्देवाश्चकारादप्येपि सिद्धादयः कुसुमासारान् मुमुचुः हर्षेण विह्वलाश्च जाताः ॥२५-२७॥

व्याख्यार्थ—ऐसे प्रसिद्ध योद्धा क्षत्रिय भी नहीं वेध सके तो कृष्ण क्या करेगा ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि 'भगवान्' हैं इसलिए लीला से ही नकार कर लिया, यों कहने से यह बताया है कि आदि से अन्त तक जो किया करनी होती है वह सब करला कुछ शेष न रखा, जो दूसरा आकर करे, लीला से अर्थात् खेल की तरह जो किया उसका कारण यह था कि मैं प्रसन्न हो जाऊँ अन्यथा करते तो मुझे चिन्ता होती, 'तस्मिन् सधाय विशिखं' कहा जिसका तात्पर्य है कि लौकिक न्याय से ही मारा, पश्चात् अर्जुन के संतोष के लिए ही एक बार मत्स्य को जल में देख बाण से तोड़कर पानी में गिरा दिया, जिस समय भगवान् ने यह किया की उस समय 'अभिजित्' लग्न था, उसने ही सब दोष नष्ट कर दिए, यों लौकिक प्रकार ही कहा, भगवान् ने वह कार्य किया जो जीव से नहीं हो सकता था, यह एक चरित्र लोक में हुआ तब इससे संतुष्ट हो स्वर्ग में दुन्दुभि बजने लगी और जय जय ध्वनि हुई, पृथ्वी पर मनुष्य दुन्दुभि बजाने लगे और जय जय शब्द करने लगे, पश्चात् भगवान् देवों में अपना उत्कर्ष प्रकट करने लगे । इसके बाद भगवान् दैत्यों का वध करेंगे, इस प्रकार संतोष होने से देवता और दूसरे सिद्ध आदि भी पुष्प वर्षा करने लगे, हर्ष से विह्वल हो गए ॥२५-२६-२७॥

आभास - ततः पणः सिद्ध इति मया वृत इत्याह तद्रङ्गमाविशमहमिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—यों हो जाने से पिता का पण सिद्ध हो गया, इसलिए मैंने श्रीकृष्णचन्द्र को वरण किया यह वृत्तान्त 'तद्रङ्गमाविषम्' दो श्लोकों में कहती है—

श्लोक—तद्रङ्गमाविशमहं कलनूपुराभ्यां

पद्भ्यां प्रगृह्य कनकोज्ज्वलरत्नमालाम् ।

नूत्ने निवीय परिधाय च कौशिकाग्रघे

सवीडहासवदना कबरीधृतस्रक् । २८॥

श्लोकार्थ—कनक से मढ़ी हुई उज्ज्वल रत्नों की माला को हाथ में ले, मधुर शब्द ध्वनि करने वाले नूपुरों को धारण कर, नूतन दो पट्ट वस्त्रों में से एक पहन कर और एक को ऊपर से लपेट, केशपाश में फूलमाला बाँधकर, लज्जा और हास्ययुक्त मुख वाली मैं स्वयंवर की सभा में आई ॥२८॥

सुबोधिनी—आत्मानं वर्णयत्येकेन । द्वितीयेन स्वक्रियाम् । विषयाः पञ्चविधाः शब्दादयः पञ्चापि मयि सन्तीति पञ्च विशेषणानि । तादृशी अहं तद्वद्भूस्थानं प्रविष्टा यत्र विवाहोत्सवः । कलनूपुराग्यामिति सशब्दान्याभरणानि निरूपितानि, एतादृशपद्भ्यामुपलक्षिता । कनको-ज्ज्वलरत्नमालामिति रूपसंपत्तिनिरूपिता । सा माला भगवतः कण्ठे देयेति स्वतुल्यता निरूप-

यन्ती स्वस्यैव रूपातिशयं निरूपयति । ततः कौशिकाग्रचे पट्टवस्त्रद्वयम्, एकं निवीयोपरि धृत्वा, अपरं परिधाय, चकारात् कञ्चुकवदपि कृत्वा, अनेन स्पर्शोत्कर्षो निरूपितः । सखीडहासवदनेति रसः । ब्रीडा आन्तरभावसूचिका । हासो वहि-मोहजनकरूपः । कवर्या धृताः स्वजो ययेति गन्धः ॥२८॥

व्याख्यानार्थ—इस एक श्लोक से अपना वर्णन करती है, दूसरे निम्न श्लोक से अपनी क्रिया कहेगी, शब्द आदि पांच विषय हैं, वे पाँच ही मुझमें हैं, इसलिए पांच विशेषण दिए हैं. जहां विवाह का उत्सव हो रहा था उस रङ्ग स्थान में मैंने प्रवेश किया । किस तरह और किस रूप में जिसका वर्णन करती है, मधुर भंकार करने वाले नूपुरों को धारण किया था, इससे यह सूचन किया कि मैंने जो आभरण धारण किए थे वे भूक नहीं थे किन्तु मधुर ध्वनि करते थे, ऐसे आभरणों से युक्त मेरे चरण थे, जिनसे मेरी पहचान हो जाती थी । अपने रूप की सम्पत्ति दिखाते हुए कहती है कि मैंने कनक (सोने) से मढ़ी हुई उज्ज्वल रत्नों की माला हस्त में ले ली थी, वह माला भगवान् के कण्ठ में डालनी थी, अपनी समानता दिखाती हुई अपने रूप की विशेषता निरूपण करती है, दो रेशमी वस्त्र एक शरीर पर पहना था और दूसरा उसके ऊपर लपेटा हुआ था, 'च' पद से यह भाव भी निकलता है कि वस्त्रों को कञ्चुकवत् भी कर लिया हो, इससे स्पर्श का उत्कर्ष कहा है । अब रस को प्रकट करने के लिए लज्जा तथा हास्य वाले मुख वाली मैंने लज्जा से भीतर के भाव को सूचित किया, हास से बाहर मोह को पैदा किया, और केशपाश में पुष्पमाला धारण की थी । ऐसी बनकर ही मैं सभा मण्डप में आई थी ॥२८॥

श्लोक—उन्नोय वक्त्रमुरुकुन्तलकुण्डलत्विङ्-

गण्डस्थलं शिशिरहासकटाक्षमोक्षैः ।

राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्मुँरारे-

रंसेऽनुरक्तहृदया निदधे स्वमालाम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—केश-भार व कुण्डलों की कान्ति से चमकते हुए कपोलों वाले मुख को ऊपर उठाकर, सर्व ताप को हरने वाले हासयुक्त कटाक्षों के विलासों से चारों ओर

धीरे-धीरे राजाओं को देखकर, श्रीकृष्ण में ही अनुरक्त चित्त वाली मैंने अपनी माला मुरारी के गले में डाली ॥२६॥

सुबोधिनी—एवं सर्वगुणपूर्णा मुरारेरंसे स्व-मालां निदधे । अग्रे रसशङ्काव्यावृत्त्यर्थं राज्ञां निरीक्षणं कृतवती वक्त्रमुन्नोय । वक्त्रस्योन्नयने हेतुः उरुकुन्तलकुण्डलत्विङ्गण्डस्थलमिति । उरुकुन्तला यस्मिन्मुखे, तेन कुन्तलानां प्रतिबन्धव्यावृत्त्यर्थमुन्नयनम् । कुण्डलत्विङ्गुक्तगण्डस्थलमिति समदर्शने विद्युताहते इव नेत्रे कुण्डलकान्त्याघाताद् विषयदर्शने न समर्थे । अनेन प्रदर्शनार्थं मुखवर्णनापि कृता । त्रिञ्च । यथा तेषां प्रति-

घातकत्वं न भवति तथा दृष्टवती तदर्थमाह शिशिरहासकटाक्षमोक्षैरिति । शिशिरः सर्वताप-हारी यो हासः उत्पन्न एव सर्वाह्लादकरः तत्सहिता ये कटाक्षमोक्षाः एकेन वशीकरणमपरेण हननमिति । आदौ दर्शनं न दोषाय । सर्वानेव राज्ञो निरीक्ष्य परितः शनकैर्दृष्टिप्रसारयन्ती तत्र भगवन्त दृष्ट्वा तस्य मुरारेरंसे अनुरक्तहृदया सती मनोमाला दत्त्वा स्वमालां स्वप्रतिकृतिरूपां रत्नमालां च अंसे निदधे ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—इस प्रकार सब गुणों से पूर्ण ने मुरारी के गले में अपनी माला डाली. रस की शङ्का को मिटाने के लिए राजाओं को मुख उठाके देखने लगी, मुख उठाने का यह कारण था, कि मुख केश से ढका हुआ था उनको दूर करने के लिए मुख को ऊपर किया जिससे देखने का प्रतिबन्ध मिट गया, जैसे विद्युत् सामने आवे तो नेत्र में चका चोंध होने से देखा नहीं जाता है, वैसे ही कुण्डलों की कान्ति से चमक रहे कपोलों के कारण भी नेत्र, उनको देखने में समर्थ न थे, इसलिए देख सके, तदर्थ मुख ऊपर उठाना और उनके नेत्रों के लक्षण कहे हैं कि 'शिशिरहास कटाक्ष मोक्षः' सर्व के ताप को हरण करने वाला अथवा सर्व प्रकार के तापों को हरण करने वाला जो हास, उत्पन्न होते ही सर्वाह्लादकारी है, उस सहित जो कटाक्षों के मोक्ष, एक से वशीकरण और दूसरे से घायल करना, आदि क्रिया करती हुई, वरण से प्रथम अन्गों को देखना दोष नहीं है, सब ही राजाओं को देखती हुई चारों ओर धीरे धीरे दृष्टि फैलती थी, जिससे वहां भगवान् के दर्शन हुए, दर्शन होते ही उस मुरारि के गले में, अनुरक्त हृदय वाली होते हुए मन रूप माला देकर, अपनी प्रति कृति रूप रत्नमाला डाली ॥२६॥

आभास - तन्मम वरणं सर्वसंमतं जातमिति ज्ञापयितुं तदानीमुत्सववाद्यान्याह तावन्मृदङ्गपटहा इति ।

आभासार्थ—वह मेरा वरण सर्व संमत हुआ. यह जताने के लिए उस समय उत्सव और वाद्य हुआ वह तावन्मृदङ्गपटहा' श्लोक में कहती है—

श्लोक—तावन्मृदङ्गपटहाः शङ्खभेर्यानिकादयः ।

निनेदुर्नटनतक्वयो ननृतुर्गायिका जगुः ॥३०॥

श्लोकार्थ - इतने में मृदङ्ग, पटहा, शङ्ख, भेरी और आनक आदि बजने लगे, नट और नटनियाँ नाचने लगीं, गाने वाले गान करने लगे ॥३०॥

सुबोधिनी — पञ्चैतानि मङ्गलवाद्यानि । न्युक्त्वा नृत्यमाह नटनर्तक्यो ननुनुरिति । गानं नित्यानि । गीतवाद्यनृत्यानि वक्तव्यानीति वाद्या- । चाह गायकाश्च जगुरिति ॥३०॥

व्याख्यार्थ — ये पांच मङ्गल वाद्य नित्य हैं, उत्सव में गीत, वाद्य नृत्य ये तीन कहने चाहिए, वाद्यों को कहकर नृत्य कहती है, कि नट और नटनियाँ नाचने लगी और गान कहती है कि गाने वाले गान करने लगे । ३०॥

आभास—ततो यज्ञातं तदाह एवं वृते भगवतोति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'एवं वृते' श्लोक में कहती है—

श्लोक—एवं वृते भगवति मयैशे नृपयूथपाः ।

न सेहिरे याज्ञसेनि स्पर्धिनो हृच्छयादिताः ॥३१॥

श्लोकार्थ हे द्रौपदी ! इस प्रकार जब मैंने ईश भगवान् का वरण किया, तब ईर्षालु और काम से पीड़ित राजगण इसको न सह सके ॥३१॥

सुबोधिनी—भगवत्त्वात्सर्वसंपत्तिः ईशत्वा- । पितः । याज्ञसेनीति विश्वासार्थ संबोधनम् । यज-
दावश्यकः । अन्ये नृपयूथपा इति नृपाणां यूथप-
त्वं शूकरत्व निरूपितम् । एकचरो हि सिंहः । रूपा सेना यस्य स यज्ञसेनः तस्य कन्या याज्ञ-
यूथचरास्त इति तेषां वध्यत्वं निरूपितम् । ततो सेनी । याज्ञादेवोत्पन्नेति । यतः स्पर्धिनः भगवता
न सेहिरे । अनेन तेषामन्तःकरणदोषो निरू- । सह स्पर्धायुक्ताः । मदर्थं हृच्छयेन कामेनादिताः ।
एवमन्यकृतो दोषः स्वभावकृतश्च निरुक्तः ॥३१॥

व्याख्यार्थ — भगवान् पने से सर्व सम्पत्ति रूप हैं, ईशपन से अवश्य वरण योग्य हैं । दूसरे राजा लोग तो शूकर सम थे, अकेला फिरने वाला ही सिंह है, जो यूथ बनाकर साथ में फिरते हैं, वैसे राजा तो मारने योग्य हैं यों निरूपण किया । शूकर सम होने से ही, मेरे वरण कार्य को सहन न कर सके । यों कहने से, उनके अन्तःकरण के दोष का निरूपण किया, 'याज्ञसेनी' संबोधन विश्वास करने के लिए ही दिया है यज्ञ रूप है सेना जिसकी, वह यज्ञसेन उसकी कन्या याज्ञसेनी, हे द्रौपदी इस यज्ञ से ही उत्पन्न हुई है, इसे भगवान् ले जाते हैं जिससे भगवान् से वे राजा ईर्षा करने लगे, मेरे लिए काम से पीड़ित होते थे, इस प्रकार दूसरों का दोष स्वभाव कृत है यों कहा ॥३१॥

आभास—ततो भगवता यत्कृतं तदाह मां तावद्रथमारोप्येति ।

आभासार्थ—अनन्तर भगवान् ने जो किया वह 'मां तावत्' श्लोक में कहती है—

श्लोक—मां तावद्रथमारोप्य हयरत्नचतुष्टयम् ।

शार्ङ्गमुद्यम्य सन्नद्धस्तस्थावाजौ चतुर्भुजः ॥३२॥

श्लोकार्थ—भगवान् तो उसी क्षण रत्न रूप चार घोड़ों वाले रथ में मुझे बिठा

कर चारभुजा वाले भगवान् शार्ङ्ग धनुष ले, कवच (बख्तर) पहनकर लड़ाई के लिए तैयार हो गए ॥३२॥

सुबोधिनी - तावता कथं निस्तार इति शङ्कां वारयितुमाह ह्यरत्नचतुष्टयमिति ।

स्यमन्तकः कौस्तुभश्च स्पर्शश्चिन्तामणिस्तथा ।
चत्वारो मणयः प्रोक्तास्तत्तुल्याः कृष्णवाजिनः ॥

ततः शार्ङ्गमुद्यम्य कवचेन सन्नद्धः आजौ संग्रामे
चतुर्भुजः सन् तस्थौ ।

‘साधनस्य च रक्षायाः क्रियायाः सर्वरूपतः ।
कालस्यापि स्वचेष्टायाः परिग्रह इहोदितः’ ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—ऐसी अवस्था में छुटकारा कैसे हुआ ? इस शङ्का को मिटाने के लिए जैसे स्यमन्तक, कौस्तुभ, स्पर्श और चिन्तामणि ये चार उत्तम रत्न हैं वैसे ही भगवान् के चार अश्व समस्त घोड़ों में, रत्न समान उत्तम थे उन घोड़ों से युक्त रथ में मुझे बिठाकर, पश्चात् भगवान् शार्ङ्ग धनुष ले कवच धारण कर, चतुर्भुज हो, लड़ाई में लड़ने के लिए तैयार हुए ।

यहाँ साधन^१ रक्षा, क्रिया, अपनी चेष्टा रूप काल का भी सर्व रूप से भगवान् ने ग्रहण किया यह बताया है ॥३२॥

आभास—बिभीषिकार्थमेतत्परिगृहीतवान् न तु तेषां मारणार्थं तथा सति भूम्यर्थं मारणं न स्यात् । अत एव दारुकेण भगवत्प्रेरितेन रथो द्वारकायामेव नीत इत्याह दारुकश्चोदयामासेति ।

आभासार्थ—भगवान् ने शार्ङ्ग का ग्रहण राजाओं को डराने के लिए ही किया, न कि उनके वध के लिए, वंसा होने पर भूमि के लिए मारना नहीं हो, अतएव भगवान् की प्रेरणा से दारुक रथ को द्वारका ले चला, यह निम्न श्लोक में कहा—

श्लोक—दारुकश्चोदयामास काञ्चनोपस्करं रथम् ।

मिषतां भूभुजां राज्ञि मृगाणां मृगराडिव ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे रानी द्रौपदी ! दारुक सारथी ने सुवर्ण से मँढ़े रथ को चलाया, तब जैसे हिरणों के देखते हुए सिंह चला जावे, वैसे ही भगवान् राजाओं के देखते हुए चले गए ॥३३॥

सुबोधिनी — काञ्चनोपस्करत्वेन लघुता शीघ्रगमने बन्धनाभावश्च सूचितः । मिषतां भूभुजामिति तेषामपि क्रियाशक्तिः भगवतैव चतुर्भुजत्वेन स्वीकृतेति ज्ञानशक्तिरेवावशिष्टेति ।

राज्ञीति परिज्ञानार्थम् । विश्व । ते रूपाद्याश्चर्य-
णैव व्यामोहिता इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह
मृगाणां मिषतामेव सतां यथा मृगराड् हरतीति ।
॥३३॥

व्याख्यार्थ—सुवर्ण में मँडे होने के कारण हलका था, जिससे शीघ्र चलने में कोई रुकावट न होना, सूचित किया, राजा देखते तथा भौंकते ही रहे. इससे उनकी भी क्रिया शक्ति कही, भगवान् ने चतुर्भुज धारण कर स्वीकृत ज्ञान शक्ति ही शेष रही, राजा ! यह सम्बोधन पूरी तरह समझने के लिए दिया है और विशेष, वे रूपादि देख आश्चर्य से ही मोहित हो रहे थे, वह समझाने के लिए दृष्टान्त देती है कि जैसे हिरनों को देखते ही सिंह अपना भाग ले जाता है, वैसे ही भगवान् अपना भाग मुझको ले चले ॥३३॥

आभास—ये तु दूरे स्थिताः दर्शनानन्दं न प्राप्तवन्तः ते केचित् समागता इत्याह तेऽन्वसज्जन्तेति ।

आभासार्थ जो लोग दूर खड़े होने से दर्शन का आनन्द न ले सके, वे कितने ही आए, यों 'तेऽन्वसज्जन्त' श्लोक में कहती है—

श्लोक — तेऽन्वसज्जन्त राजन्या निषेद्धं पथि केचन ।

संयत्ता उद्धृतेष्वासा ग्रामसिंहा यथा हरिम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—कितने ही राजा धनुष लेकर तैयार हो, जैसे सिंह को कुत्ते भौं-भौं करते हुए रोकने की व्यर्थ चेष्टा करते हैं, वैसे वे राजा भी मार्ग में भगवान् को रोकने के लिए आगे आकर व्यर्थ चेष्टा करने लगे ॥३४॥

सुबोधिनी — केचन मूर्खाः दूरे स्थिताः अन्व- सज्जन्त भगवन्तमन्वसज्जन्त । पथि नयननिषेधं कर्तुं पथि भ्रान्ताः । संयत्ताः सावधानाः । उद्ध- तेष्वासाः धनूषि विस्फूर्ज्य । अनेन भगवत्तुल्यता	सामग्र्या निरूपिता । तथापि शब्दमात्रता तेषु । अर्थस्तु भगवत्येवेति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह ग्राम- सिंहा इति । सिंहवाच्यतुल्यत्वेपि यथा ग्रामसिंह- सिंहयोरन्तरम् ॥३४॥
--	---

व्याख्यार्थ—कितने ही मूर्ख दूर खड़े होकर भगवान् को मार्ग में कहने लगे, कि इसको मत ले जाओ, यों कहते हुए रास्ते में भ्रमण करते थे, सावधान थे, अतः धनुष तैयार कर लिए थे, इससे यह बताया कि जैसे भगवान् ने युद्ध के लिए धनुष लिया था वैसे ये भी युद्ध सामग्री धनुषादि लेकर तैयार थे, यों होते हुए भी इन्हींमें केवल बकवाद करने की ही शक्ति थी वास्तविकता भगवान् में ही है, यों जताने के लिए, दृष्टान्त दिया है सिंह नाम की बराबरी होते हुए भी जैसे ग्रामसिंह (कुत्ता) और सिंह (शेर) में भेद है वैसे ही यहाँ भी अन्तर है ॥३४॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैरिति ।

आभासार्थ — पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'ते शार्ङ्गच्युत' श्लोक से कहा है—

श्लोक — ते शार्ङ्गच्युतबाणौघैः कृतबाह्वङ्घ्रिकंधराः ।

निपेतुः प्रधने केचिदेके संत्यज्य दुद्रुवुः ॥३५॥

श्लोकार्थ—शाङ्ग धनुष से निकले हुए बाणों से उनके हाथ, पाँव और गर्दन कट गईं, तब कितने ही रण को छोड़ भाग गए ॥३५॥

सुबोधिनी—एकोपि शाङ्गं योजितः । भवन्ति । ततः प्रघने निपेतुः । एके तु संत्यज्य तस्माच्च च्युतश्चेद्बाणौघतामापद्यते । अत एके- । दुद्रुवुरिति । प्राणमानयोश्छेदो निरूपितः ॥३५॥ नैव बाणेन कृत्तबाह्वङ्घ्रिकंधराः धोढा छिन्ना ।

व्याख्यार्थ—शाङ्ग धनुष पर चढ़ाया हुआ एक भी बाण जब उससे छूटता है तब बाणों का समूह बन जाता है, अतः एक ही बाण से बाहु, चरण और गर्दनों के कई प्रकार टुकड़े हो गए और वे रणभूमि में आकर गिरे कितने ही रणभूमि छोड़ भाग गए, इस प्रकार प्राण और मान दोनों का छेद (नाश) बताया ॥३५॥

आभास—ततः सभार्यस्य द्वारकाप्रवेशमाह ततः पुरीमिति ।

आभासार्थ—बाद में 'ततः पुरी' श्लोक से स्त्री सहित द्वारका में प्रवेश कहा—

श्लोक—ततः पुरीं यदुपतिरत्यलंकृतां

रविच्छदध्वजपटचित्रतोरणाम् ।

कुशस्थलीं दिवि भुवि चाभिसंस्तुतां

समाविशत्तरणिरिव स्वकेतनम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—सूर्य को आच्छादन करने वाली, ध्वजा वाली और विचित्र तोरणों से आत अलंकृत, पृथ्वी और स्वर्ग में प्रशंसित हुई द्वारकापुरी में भगवान् ने यों प्रवेश किया, जैसे सूर्य सायंकाल को अपने गृह अस्ताचल में प्रवेश करता है ॥३६॥

सुबोधिनी—अयं विवाहः सर्वसंमत इति ज्ञापयितुं ततः यदुपुर्यामुत्सवो निरूप्यते । आदौ अत्यलंकृता । रविच्छदध्वजपटचित्र-रविमपि छादयन्तीति ध्वजपटाश्चित्र-तोरणानि च उपरि मध्ये च शोभा निरूपिता ।

अलंकरणं त्वघः लेपादिना । कुशस्थलीमिति स्थानस्य सर्वाभिद्यत्वं निरूपितम् । दंत्यसंबन्धेन निन्दितत्वमाशङ्क्याह दिवि भुवि चाभिसंस्तुता-मिति । गुप्ततया प्रवेश वारयति तरणिरिवेति । ॥३६॥

व्याख्यार्थ

लगाए गए थे, या कह

यह जताने के लिए, यदुपुरी में जो उत्सव हुआ अति अलंकृत की गई थी, उसमें जो बड़ी कर रही थी तथा विचित्र अनेक तोरण मध्य को शोभा का वर्णन किया, नोचे के भाग को भी यह समझाया है कि यह के सम्बन्ध तो निन्दित है, इस शङ्का को

मिटाने के लिए कहा है कि 'दिवि भुवि चाभिसंस्तुता' स्वर्ग तथा पृथ्वी, दोनों में चारों ओर प्रशंसित हुई है, छिपकर उसमें प्रवेश नहीं किया किन्तु सूर्य की तरह सबके देखते हुए प्रविष्ट हुए ॥३६॥

आभास—एवं स्वस्यान्तर्निर्वाहमुक्त्वा तत्र गत्वा पिता सर्वमेव विवाहयोग्यं कृत-
चानित्याह पिता मे पूजयामासेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार अपने विवाह का गृह पहुंचने तक का समाचार कह कर, वहां जाकर पिता ने विवाह के योग्य जो था वह सब कार्य किया, यह 'पिता मे' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—पिता मे पूजयामास सुहृत्संबन्धबान्धवान् ।
महार्हवासोलङ्कारैः शय्यासनपरिच्छदैः ॥३७॥

श्लोकार्थ मेरे पिता ने अमूल्य वस्त्र, अलङ्कार, शय्या, आसन और अन्य उप-
करणों से मित्र, सम्बन्धी व बान्धवों का सत्कार किया ॥३७॥

सुबोधिनी - सुहृदादयो भगवदोयाः । महार्हाः । च्छदाश्च गृहोपकरणानि ॥३७॥
अमूल्याः वासःप्रभृतयः । शय्या आसनानि परि-

व्याख्यार्थ—मित्र आदि सब भगवदीय थे, उनको अमूल्य वस्त्र आदि, शय्या, आसन और आभूषण आदि सामग्री अर्थात् गृह के योग्य वर्तन आदि सर्व दिए ॥३७॥

आभास—ततः पारिवर्हदानमाह दासीभिरिति ।

आभासार्थ—इसके बाद दहेज दिया जिसका वर्णन 'दासीभिः' श्लोक में करती है—

श्लोक—दासीभिः सर्वसंपद्भिर्भटेभरथवाजिभिः ।
आयुधानि महार्हाणि ददौ पूर्णस्य भक्तितः ॥३८॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्णचन्द्र स्वयं पूर्ण हैं, उनको किसी प्रकार की कमी नहीं है, तो भी अपनी भक्ति दिखाने के लिए सर्व प्रकार के आभूषणों से सजी हुई दासियाँ, सकल सम्पदा, योद्धा, हाथी, रथ, घोड़े और सर्व प्रकार के आयुध मेरे पिता ने श्रीकृष्ण को अर्पण किए ॥३८॥

सुबोधिनी—सर्वाः संपदो यासु वस्त्राभरण-
रूपाद्याः । भगवदर्थमेव वा अन्याः संपदः । तथा । युधानि च दत्तवान् । तत्र प्रयोजनमाह भक्तितः
भटेभरथवाजिनश्च सेनाङ्गानि । अमूल्यान्या-
इति । हेत्वन्तरं वारयति पूर्णस्येति ॥३८॥

व्याख्यान—वस्त्र आभरण आदि सर्व सम्पदाओं से युक्त दासियाँ, इनके सिवाय दूसरी सम्पदा भगवान् के लिए ही थी, योधा, हस्ति, रथ, घोड़े ये सेना के अङ्ग हैं, और अभूल्य आयुध भी दिए, क्यों दिए ? भक्ति के कारण दिए कारण कि वे पूर्ण हैं इसलिए भक्ति के सिवाय कोई दूसरा हेतु नहीं वे तो पूर्ण हैं उनको किसी पदार्थ की अपेक्षा नहीं है ॥३८॥

आभास—कामनामाह आत्मारामस्येति ।

आभासार्थ—आत्मारामस्य' श्लोक से 'कामना' कही है—

श्लोक—आत्मारामस्य तस्येमा वयं च गृहदासिकाः ।

सर्वसंगनिवृत्त्याद्धा तपसा च बभूविम ॥३९॥

श्लोकार्थ—ये सब हम सर्व सङ्ग से निवृत्त हो, तप के प्रभाव से इन आत्माराम साक्षात् श्रीकृष्णचन्द्र के घर की दासियाँ बनी हैं ॥३९॥

सुबोधिनी—सर्वाभिर्दास्यमुक्तं नोपपत्तिरिति स्वयमुपपत्तिं चाह आनीताः परं सर्वाः रमयन्ति च । स्वयं त्वात्मन्येव रमते । अस्मिन्नर्थं प्रमाणं प्रसिद्धिस्तस्येति । इमा रुक्मिण्याद्याः । वयमिति मुख्यतया निरूपिताः चकारादन्याश्च । सर्वा एव

गृहदासिकाः भगवदर्थेनोपयुज्यन्त इति । इदमप्यत्यन्तदुर्लभमित्याह सर्वसङ्गनिवृत्त्येति । पूर्वजन्मनि सर्वसङ्गनिवृत्तिं कृत्वा तपश्च कृत्वा इमामवस्थां प्राप्ता इत्यर्थः ॥३९॥

व्याख्यान—सबने दासीपन कहा किन्तु उसका हेतु देकर उसको सिद्ध नहीं किया, अतः स्वयं उपपत्ति देती है, स। लाई हुई हैं पर सर्व को रमाते हैं, स्वयं तो आत्मा में ही रमण करते हैं, 'तस्य' पद कहने से यह बताया है कि, वे आत्मा में ही रमते हैं यह प्रसिद्ध ही है 'रमाः' पद से रुक्मिणी आदि का कथन किया है 'वयं' पद से अपनी मुख्यता निरूपण की है, 'च' पद से दूसरियों का भी निर्देश किया है सब हम गृहदासियाँ भगवान् के गृह कार्य आदि के लिए ही जन्मी हैं यों होना भी अत्यन्त दुर्लभ है किन्तु हमको यह लाभ मिला है जिसका कारण है कि हम सब ने पूर्व जन्म में सर्व सङ्ग का त्याग कर, इसकी प्राप्ति के लिए तप किया है, जिसका यह फल है ॥३९॥

आभास—महिष्यः एकभावापन्नाः रोहिणीप्रमुखाः स्ववृत्तान्तमाहुः भौमं निहत्येति ।

आभासार्थ—सर्व रानियाँ एक भाव को प्राप्त होकर प्रमुख रोहिणी अपना वृत्तान्त 'भौमं निहत्य' श्लोक में कहती है -

श्लोक—महिष्य ऊचुः—भौमं निहत्य सगणं युधि तेन रुद्धा

जात्वाथ नः क्षितिजये जितराजकन्याः ।

निर्मुच्य संसृतिविमोक्षमनुस्मरन्ती:

पादाम्बुजं परिणिनाय य आप्तकामः ॥४०॥

श्लोकार्थ—रानियाँ कहने लगीं कि नरकासुर ने दिग्विजय में जिन हम राज-कन्याओं को जीत रोक रखा था, उन्हें भवसागर से छुड़ाने वाले प्रभु (आप) के चरणाविन्द का स्मरण करती हुई जानकर श्रीकृष्ण भगवान् ने स्वयं पूर्ण काम होते हुए भी समर में नरकासुर और उसके परिवार को मार हमारा पाणिग्रहण किया ॥४०॥

सुबोधिनी—सगणं सेवकसहितं तद्रक्षकदेव-सहितं वा । पुधोति न चौर्यादिना तद्वधः । ततः तेन रुद्धा नः अस्मान् ज्ञात्वा निर्मुच्य पादाम्बुजं स्मरन्तीः परिणिनायेति संबन्धः । अथ भिन्न-प्रक्रमेण निर्मुच्येति संसाराद्देहात् चिन्तातश्च मोचनं निरूपितम् । तासां निरोधहेतुमाह क्षिति-

जये ये जिता राजानस्तेषां कन्या इति । भगवतो देहेन निर्मोचनं किमाश्चर्यम् । यस्य पादाम्बुजं संसृतिविमोक्षं संसृतेरपि मोक्षो यस्मादिति चेद्वयं स्मरामः तदास्माकं का चिन्तेति साधनं निरूपितम् । अत एव परिणिनाय । स्वार्थतां वारयन्ति य आप्तकाम इति ॥४०॥

व्याख्यार्थ—‘सगण’ सेवक सहित अथवा उसके रक्षक देवसमेत लड़ाई में मारा न कि छिप कर वध किया, पश्चात् उसने हमको रोक रखा है, यह जान, कि हम आपके चरणाविन्दों का स्मरण कर रही हैं अतः वहाँ से छुड़ाकर पाणिग्रहण किया ‘अथ’ पद से ‘निर्मुच्य’ पद का भावार्थ दूसरी तरह का प्रकट करते हैं कि संसार से अर्थात् देह से और चिन्ता से छुड़ाकर पाणिग्रहण किया । उनके निरोध का हेतु कहती हैं, पृथ्वी को जीतने के समय जिन राजाओं को जीता उनकी हम कन्याएँ हैं, इसलिए हमको बन्धन में डाल सका, भगवान् देह से छुड़ावें इसमें क्या आश्चर्य है ? जिनका चरणाविन्द इस संसार से छुड़ाकर मोक्ष दे सकता है, जब हम उसका स्मरण कर रही थी तो हमको काहे की चिन्ता ? इस प्रकार छूटने का साधन कहा अतएव पाणिग्रहण हुआ, इसमें भगवान् का स्वार्थ होगा जिसका निवारण करती हैं कि वे तो पूर्ण काम हैं अतः उनका कोई स्वार्थ नहीं है ॥४०॥

आभास—स्वस्य कामनामाहुस्त्रिभिः न वयमिति ।

आभासार्थ—अपनी कामनाओं को ‘न वयं’ से लेकर तीन श्लोकों से निरूपण करती हैं—

श्लोक—न वयं साध्वि साम्राज्यं स्वाराज्यं भोज्यमप्युत ।

वैराज्यं पारमेष्ठ्यं च आनन्त्यं वा हरेः पदम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—हे साध्वी ! हम न तो चक्रवर्तीपन की, आत्मारामपन की, सायुज्य की, ब्रह्माण्ड के आधिपत्य की वा मोक्ष की इच्छा करती हैं, इनको छोड़कर अन्य किसी भोग की इच्छा नहीं है ॥४१॥

सुबोधिनी हे साध्वीति संबोधनं मात्सर्य-
कटाक्षाभावाय । साम्राज्यं सार्वभौमम् । स्वा-
राज्यमात्मारामता, अनेन सर्वदुःखाभावो निरू-
पितः । अपीति सर्वभोगा विद्यादयोपि संगृहीताः ।

उत पुनर्भोज्यं इदानीं तु भगवता सह भोज्यं
कामयामह एव । वैराज्यं ब्रह्माण्डरूपत्वम् ।
पारमेष्ठ्यं ब्रह्माण्डाधिपत्यम् । वेत्यनादरे । आन-
न्द्यं मोक्षः । हरेः पदं सायुज्यादि ॥४१॥

व्याख्यार्थ—हे साध्वी ! द्रौपदी को इस सम्बोधन से यह सूचित किया है कि मात्सर्य वा कटाक्ष से हम नहीं कहती हैं, चक्रवर्तीपन, आत्मारामता, इससे सर्व दुःख का अभाव निरूपण किया, अपि शब्द से सर्व प्रकार के भोग, विद्या आदि भी कहे अब तो भगवान् के साथ ही भोज्य को कामना है, ब्रह्माण्ड के प्राधिपत्य को और ब्रह्माण्डरूपपन को कामना नहीं है, 'वा' अनादर अर्थ में दिया है अतः मोक्ष सायुज्यादि में भी आदर नहीं है ॥४१॥

आभास—एवं लोकसिद्धानि फलान्यनूद्य निषेधन्ति कामयामह इति ।

आभासार्थ—इसी प्रकार लोक प्रसिद्ध कामनाओं को कहकर, वे नहीं चाहिए यों 'कामयामह' श्लोक में कहती हैं—

श्लोक—कामयामह एतस्य श्रीमत्पादरजः श्रियः ।

कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यं मूर्ध्ना वोढुं गदाभृतः ॥४२॥

श्लोकार्थ—किन्तु हम तो लक्ष्मी के कुच-कुङ्कुम की सुगन्धी वाले इन भगवान् गदाधारी के सर्वोत्तम चरण रज को मस्तक पर धारण करना चाहती हैं ॥४२॥

सुबोधिनी—पूर्वोक्तान् न कामयामहे ।
अग्रिमं तु कामयामहे । तत्किमित्याकाङ्क्षाया-
माह एतस्य भगवतः श्रीयुक्तचरणरजः । तद्रजो
वर्णयन्ति श्रियः कुचकुङ्कुमगन्धाढ्यमिति । तहि
यथा श्रीः स्ववक्षसि चरणस्थापनं कामयते एवं
किं भवतीभिरपीति चेत् तत्राह मूर्ध्ना वोढुमिति ।
नन्वेतदसंगतं प्रतिभाति चरणश्चेन्मूर्ध्नि तिष्ठति

तदा तद्रजो निरन्तरं तिष्ठति । स विषमे कथं
तिष्ठेदित्याशङ्क्याह गदाभृत इति । अस्मासु
चेत्किंचिन्न कर्तव्यं तदा गदामवलम्ब्य स्थास्यति ।
इतरथा गदया सम करिष्यतीति वा भावः । स
हि कठिनेपि तिष्ठतीति जापनार्थं वा यथा ब्रह्म-
शिलायां स्थितः ॥४२॥

व्याख्यार्थ—उपर कहे हुए सबको हम नहीं चाहती हैं, आगे जो कहती हूँ उनको चाहती हैं। वह क्या चाहती हो इस आकांक्षा में कहती है कि हम इन भगवान् की लक्ष्मी युक्त चरण रज को चाहती हैं, उस रज का वर्णन करती हैं कि वह रज, लक्ष्मीजी के कुच की जो केसर है उसकी गन्ध से युक्त है अतः उसको हम चाहती हैं । तो क्या जैसे लक्ष्मी अपनी छाती पर, चरण स्थापना की कामना करती हैं, वैसे ही क्या आप भी चाहती हैं ? जिसके उत्तर में कहती है कि हम तो इस रज को मस्तक पर धारण करना चाहती हैं, यह आपकी मांग, असंगत भासती है, क्योंकि यदि चरण मस्तक पर रहे तो उसको रज सदैव मस्तक पर रहेगी वह विषम स्थान पर कैसे स्थित रहेगी ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहती हैं कि 'गदाभृत' उसको मस्तक पर धरो

रहने के लिए हम कुछ न कर सकेंगे, तो भी स्वामी आप गदा लेकर खड़े रहेंगे, अन्य प्रकार गदा से सम कर देंगे, यों भाव है वह कठिन स्थान पर भी स्थित रहते हैं, जैसे ब्रह्मशिला पर स्थित है ॥४२॥

॥

आभास—ननु कामनाश्चेत्यक्तव्याः सर्वा एव त्यक्तव्याः किं रजःकामनया इत्या-
शङ्क्याह व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्तीति ।

आभासार्थ—यदि कामनाओं का त्याग किया है तो सब का त्याग करो रज को कामना से क्या ? इस शङ्का का उत्तर 'व्रजस्त्रियो' श्लोक में देती है—

श्लोक - व्रजस्त्रियो यद्वाञ्छन्ति पुलिन्दस्तृणवीरुधः ।

गावश्चारयतो गोपाः पादस्पर्शं महात्मनः ॥४३॥

श्लोकार्थ—जैसे गौ चराते हुए गोप भगवान् के पाद स्पर्श को, गोपियाँ, भीलनियाँ, तृण और लताएँ उनकी चरण रज को चाहती हैं, वैसे ही हम भी उसे चाहती हैं ॥४३॥

सुबोधिनी—तदेव सर्वोत्तममिति ज्ञातव्यं यं नीचोपि लोकः प्रसिद्धं परित्यज्य चेद्वाञ्छति । यथात्यन्तं क्षुधितः प्राप्तमपि भोजनं परित्यज्य यद्यन्यद्वाञ्छेत् तदा तद्भोजनादुत्तममित्यध्यव-
सेयम् । तृप्तश्चेद्वाञ्छति तदा नैवमतो नीचान्नो-
चमेव दृष्टान्तोऽकुर्वन्ति । व्रजस्त्रियो हि लोकोत्कृष्टं न दृष्टव्य इति कदाचिदैन्द्रपदं वाञ्छेयुः तेषां चेत्तत्परित्यज्य रज एव वाञ्छन्ति । ततः पुलि-
न्दोपि ततो नीचाः तथा तृणवीरुधोपि 'आसा-

महो चरणरेणुजुषाम्' इति वाक्ये निरूपितम् । तथा गावोपि वाञ्छन्ति ता एव चारयतो भग-
वतः स्वयं तुल्या अपि गोपाः पादस्पर्शमेव वाञ्छन्ति । कात्रोपपत्तिरिति चेत् तत्राह महा-
त्मन इति । महानेवात्मा इत्थंभूतानुभाव इत्यर्थः । युक्तिस्तु पूर्वमेवोक्ता । भगवदीयशरीरं तेनैव भवतीति 'भगवदीयत्वेनैव परिसमाप्तसर्वार्थाः' इति च ॥४३॥

व्याख्यानार्थ—उस वस्तु को ही सर्वोत्तम समझना चाहिए, जिसको, नीच लोक भी प्रसिद्ध सुखवाली वस्तु का त्याग कर चाहते हो, जैसे बिलकुल भूखा मिले हुए भोजन का त्याग कर, यदि दूसरे की चाहना करे तो समझना चाहिए कि वह दूसरी वस्तु इस भोजन से उत्तम है । जो तृप्त है वह यदि भोजन का त्याग कर दूसरी वस्तु की चाहना करे तो यों नहीं समझना कि वह दूसरी उत्तम होगी । अतः नीची से नीची श्रेणी (दर्जे) के मनुष्य व पदार्थ का दृष्टान्त देती हैं—व्रज की स्त्रियाँ, जिन्होंने कभी उत्कृष्ट लोक देखा ही नहीं वे कदाचित् स्वर्ग पद की मांग करे, किन्तु यदि वे भी उसका त्याग कर 'रज' की ही चाहना करती हैं, उनसे भी पुलिन्दियाँ कम दर्जे की हैं, वैसे ही तृण और लताएँ भी 'अहोचरणरेणुजुषाम्' में रज की ही कामना करती हैं, वैसे ही गायें भी रज को चाहती हैं, विशेष क्या कहें भगवान् के समान गोप भी पाद स्पर्श ही चाहते हैं इसमें उपपत्ति क्या

है ? जिसके उत्तर में कहती हैं कि ये चरण रज जो हम माँग रही हैं वे महान् आत्मा की है, वे ऐसे प्रभाव वाले हैं युक्ति तो पहले कही है. यह शरीर इस रजस्पर्श से ही भगवदीय होता है, भगवदीय होने पर ही सब अर्थ परिपूर्ण हो जाते हैं, बाद में कोई अर्थ नहीं रहता है ॥४३॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभाचार्य

दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे चतुस्त्रिंशोऽध्यायविवरणम् ॥३४॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ८०वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३४वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल अवान्तर प्रकरण का षष्ठम् अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का संक्षिप्त सार भक्त शिरोमणि श्री सूरदासजी के निम्न पद में अवलोकन करें ।

राग बिलावल

हरि हरि हरि सुमिरौ दिन रात । नातरु जन्म अकारथ जात ।
सौ बातन की एकै बात । हरि हरि हरि सुमिरौ दिन रात ॥
हरि कुरुखेत अन्हान सिधाए । तब सब भूपति दरसन आए ।
हरि तिन सबकौ आदर कियौ । भयौ संतुष्ट सबनि को हियौ ॥
तब भूपति हरि को सिर नाइ । करन लगे अस्तुति या भाइ ॥
परमहंस तुम सबके ईस । वचन तुम्हारे सुनि जगदीश ।
तुम अच्युत अविगत अविनासी । परमानंद सकल सुख-रासी ॥
तुम तन धारि हरयौ भुव भार । नमो-नमो तुम्हे बारंबार ।
गुनि रानि रानिनि पै आई । द्रुपद-सुता तब बात चलाई ॥
ज्यों ज्यों भयौ तुम्हारौ ब्याह । कहौ सुनन कौ मोहि उत्साह ।
कह्यौ सबनि हरि अज अविनासी । भक्त-बछल सब जगत निवासी ॥
नहिँ हम गुन, नहिँ सुन्दरताई । भक्ति जानिकै सब अपनाई ।
ब्याह सबनि कौ ज्यों ज्यों भयौ । बहुरौ तिन त्यों ही त्यों कह्यौ ॥
द्रुपद-सुता सुनि मन हरषाई । कह्यौ धन्य तुम धनि जदुराई ।
धन्य सकल पटरानी रानी । जिन वर पायौ सारँग पानी ॥
धन्य जो हरि-गुन अह-निसि गावै । सूरदास तिहि की रज पावै ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वासुदेवधरणाकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ८४वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ८१वां अध्याय
उत्तरार्ध ३५वां अध्याय

सात्त्विक-फल अवान्तर-प्रकरण

“अध्याय—७”

वसुदेवजी का यज्ञोत्सव



कारिका—पञ्चत्रिंशे सात्त्विकानां फलोत्कर्षो निरूप्यते ।
सन्मानसंग्रहौ चैव ऋणापाकरणं तथा ॥१॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस ३५वें अध्याय, सात्त्विक-फल-अवान्तर-प्रकरण के ७वें अध्याय में सात्त्विकों के फलोत्कर्ष^१ का निरूपण किया जाता है तथा ऋणियों का सम्मान, यज्ञ के लिए उनको बुलाना तथा ऋण से वसुदेवजी का छूटना कहा जाता है ॥१॥

कारिका —निरुद्धानां हि लोकेस्मिन् दुर्लभं चेति रूप्यते ।
तदीयत्वं फलं नान्यदिति चोक्तं समासतः ॥२॥

१- तदीयत्वरूप फल का उत्कर्ष

कारिकार्थ—तदीयत्व' पूर्व कहा है, फिर कहने का कारण यह है कि इस लोक में लौकिक कामों से बद्ध है, उन निरुद्धों का तदीयत्व होना दुर्लभ है, किन्तु 'च' पद से कहते हैं कि भगवत्कृपा से सुलभ भी होता है। फल तो तदीयत्व होना ही है, अन्य कोई फल नहीं है, इसलिए ही समास से कहा है ॥२॥

कारिका—आत्मीयानां निरोधं हि हरिरत्र करोति हि ।

अतः फलं पूर्वमेव सिद्धरीत्या तु बोध्यते ॥३॥

कारिकार्थ—हरि इस स्कन्ध में आत्मियों का ही निरोध करते हैं कारण कि इस स्कन्ध का अर्थ ही 'निरोध' है, अतः मुख्यपन से वह ही करना है, इसलिए यहाँ तदीयत्वरूप फल अनुवाद (सिद्ध) रीति से समझाया जाता है ॥३॥

कारिका—अद्भुता भगवल्लीला निरोधः फलसूचकः ।

फलं तु फलतासिद्धयै किमाश्चर्यमतः परम् ॥४॥

कारिकार्थ—भगवान् की लीला ही अद्भुत है, निरोध तो फल का सूचक है, यहाँ जो फल-प्राप्ति है, वह निरोधरूप अर्थात् तदीयत्वरूप फल की ही सफलता है, न कि ऋषियों के सम्मान अथवा ऋणापाकरण से सफलता है ॥४॥

॥ इति श्री कारिका ॥ .

आभास—पूर्वाध्याये भगवतः स्वीयकरणलीला सर्वापि निरूपिता, दृष्टा अदृष्टा च, दृष्टा भगवत्कृतिः, अदृष्टं चरणरज इति, उभयोः संपत्तौ भगवदीयत्वं सेत्स्यति अतस्तासां स्त्रीणामत्याश्चर्यं भगवच्चरित्रं श्रुत्वा भगवति स्नेहानुबन्ध आश्चर्यं च जातमित्याह श्रुत्वेति ।

आभासार्थ—पूर्व अध्याय में भगवान् की स्वीयकरण (भक्त को अपना कर लेने की) लीला का पूर्ण रूप से निरूपण हुआ, वह दो प्रकार की थी, एक दृष्ट दूसरी अदृष्ट, दृष्ट लीला भगवत्कार्य और अदृष्ट लीला चरण रज दोनों की सम्पत्ति होने पर भगवदीयत्व होगा, अतः उन स्त्रियों का अतिशय आश्चर्य कारक भगवान् का चरित्र सुन भगवान् में स्नेहानुबन्ध हुआ, यह आश्चर्य निम्न श्लोक में शुकदेवजी कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—श्रुत्वा पृथा सुबलपुत्र्यथ याज्ञसेनी

माधव्यथ क्षितिपत्न्य उत स्वगोप्यः ।

कृष्णोऽखिलात्मनि हरौ प्रणयानुबन्धं

सर्वा विसिस्म्युरलमश्रुकलाकुलाक्ष्यः ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि कुन्ती, द्रौपदी, गान्धारी, सुभद्रा, राजाओं की स्त्रियाँ और भक्त गोपियाँ ये सब इस प्रकार भगवान् की स्त्रियों का, सर्व की आत्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र में स्नेहानुबन्ध का चरित्र सुनकर बहुत विस्मित हुई और उनके नेत्र आँसुओं से भर गए ॥१॥

सुबोधिनी—द्रौपदी प्रसङ्ग परं कृतवती । उपविष्टास्तु श्रवणार्थं सर्वा एव । अतो मुख्याः नामत उच्चार्यन्ते । सुबलपुत्री गान्धारी । याज्ञ-सेनी द्रौपदी । माधवी सुभद्रा । अथ क्षितिप-त्न्यः इतरराजस्त्रियः । उत स्वगोप्यश्च । अथ-द्वयमुतेति च स्त्रीणां चतुर्विधत्वमुपपादयति । सात्त्विक्यो राजस्यः तामस्यो निर्गुणाश्चेति । एताः सर्वा एव कृष्णे परमानन्दे सर्वेषामात्मभूते सर्वदोषनिवर्तके प्रणयः स्नेह एव अनुबन्धो यासाम् । भगवत्पत्नीनां तु विवाहारूपो

बाह्योऽपि संबन्धोऽस्ति । अस्माकं तु साक्षात्सं-बन्धः प्रणय एव । अतः कथं भगवदीया भवि-ष्याम इति । कथं चेयमवस्था च भविष्यतीति सर्वा एव विस्मयं प्राप्ताः । स्मेति प्रसिद्धे । कदाचिद्विस्मयो बाह्योपि भवतीति क्रियान्तरम-प्याह अश्रुकलाकुलाक्ष्य इति । अश्रूणां कलाभिः आकुलानि अक्षीणि यासां । कलाशब्द शोकं वारयति । आकुलत्वं ज्ञानक्रियायाः व्यापृतत्वं बोधयति ॥१॥

व्याख्यानार्थ—द्रौपदी वह प्रसङ्ग कहने लगी जिसे मुनने के लिए सब ही बैठ गई अतः जो मुख्य्यों उनके नाम लिए जाते हैं, गान्धारी, द्रौपदी सुभद्रा और दूसरे राजाओं की स्त्रियाँ तथा अपनी गोपियाँ, 'अथ' दो बार और 'उत' इन पदों से स्त्रियों का चार प्रकार से प्रतिप्रादान करते हैं सात्त्विक राजसी, तामसी और निर्गुण, ये सब ही सर्व की आत्मा, सर्व दोष हरण करने वाले परमानन्द रूप श्रीकृष्णचन्द्र में स्नेह से अनुबन्ध वाली थीं, भगवान् की विवाहित स्त्रियों का तो बाह्य सम्बन्ध भी है, हमारा तो साक्षात् सम्बन्ध प्रणय ही है, अतः भगवदीय कैसे बनूँगी ? और ऐसी अवस्था कैसे होगी ? यों सुनकर सब विस्मित हो गई 'स्म' अव्यय पद प्रसिद्धि अर्थ में दिया है । कदाचित् विस्मय केवल बहार दिखाने का ही हो, इस पर कहते हैं कि नहीं, केवल बाहर का नहीं था कि नु अन्तर का भी था जिसमें उनके नेत्र आँसुओं से व्याकुल हो गए । 'कल' शब्द से यह सूचित किया है कि ये आँसू शोक के नहीं थे, आकुलपन बताता है कि ज्ञान क्रिया से वे व्यापृत हो गई थीं ॥१॥

आभास — एवं पूर्वोक्तपाधनस्य फलाकाङ्क्षां निरूप्य भगवानेव फलमिति ज्ञाप-यितुं साधनानामेतच्छेषत्वं प्रतिपादयन् मुनीनामागमनमाह इत्थं संभावमाणास्त्विति ।

आभासार्थ इसी तरह पूर्व कहे हुए साधन के फल की आकांक्षा का निरूपण कर भगवान्

ही फल हैं यह जताने के लिये यह साधनों का भगवत् शेषत्व है यों प्रतिपादन करते हुए मुनियों का आगमन 'इत्थं संभाषमाणसु' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—इत्थं संभाषमाणसु स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु ।

आययुर्मुनयस्तत्र रामकृष्णदिदृक्षया ॥२॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार स्त्रियों के साथ स्त्रियाँ, पुरुषों के साथ पुरुष बातें कर रहे थे, वहाँ राम और कृष्ण के दर्शन के लिए मुनि आ गए ॥२॥

सुबोधिनी - स्त्रीभिः स्त्रीषु नृभिर्नृषु सर्वेषा-
मेव भगवत्सम्बन्धिनां भगवत्परता निरूपिता
भवति । येन संमर्दोपि मुनीनामागमनं न विरु-
ध्येत । अत एव तत्र मुनयः आययुः । यत्रैव

यस्याभीष्टं फलं तत्रैव तस्यागमनम् । अतो राम-
कृष्णावत्र वर्तते इति तद्दिदृक्षया मननेन ज्ञात्वा
मननं साधनमपि परित्यज्य समागता इत्यर्थः ।
इदानीं बाह्यक्रिययैव प्राप्यत इति भावः ॥२॥

व्याख्यार्थ—स्त्रियाँ परस्पर, पुरुष भी आपस में भगवत्सम्बन्धी वार्तालाप कर रहे थे, जिससे मग स्त्री पुरुषों की भगवत्परायणता दिखाई है जिससे इन बात चीत करने के समय में भी मुनियों का आना विरोधी नहीं है, अतएव मुनि लोग वहाँ आए, जहाँ ही जिसका अभीष्ट फल होता है वहाँ ही उसका आना होता है, अतः राम कृष्ण यहाँ विराजते हैं, यह मन से जान इनके दर्शन की इच्छा से मनन रूप साधन करना भी त्याग कर आगए, अब बाह्य क्रिया से ही मिलते हैं यह भाव है ॥२॥

आभास - तान् गणयति द्वैपायन इति त्रिभिः ।

आभासार्थ—उन मुनियों की 'द्वैपायन' इन तीन श्लोकों से गणना करते हैं—

श्लोक—द्वैपायनो नारदश्च च्यवनो देवलोऽसितः ।

विश्वामित्रः शतानन्दो भरद्वाजोऽथ गौतमः ॥३॥

रामः सशिष्यो भगवान्वसिष्ठो गालवो भृगुः ।

पुलस्त्यः कश्यपोऽत्रिश्च मार्कण्डेयो बृहस्पतिः ॥४॥

द्वितस्त्रितश्चैकतश्च ब्रह्मपुत्रास्तथाङ्गिराः ।

अगस्त्यो याज्ञवल्क्यश्च वामदेवादयोऽपरे ॥५॥

श्लोकार्थ—वेदव्यास, नारद, च्यवन, देवल, असित, विश्वामित्र, शतानन्द, भरद्वाज, गौतम, शिष्यों के साथ भगवान् परशुराम, वसिष्ठ, गालव, भृगु, पुलस्त्य, कश्यप, अत्रि, मार्कण्डेय, बृहस्पति, द्वित, त्रित, एकत, ब्रह्मा के पुत्र, अङ्गिरा, अगस्त्य, याज्ञवल्क्य और वामदेव आदि अन्य ऋषि भी आए ॥३-५॥

१- इससे सिद्ध किया है कि भगवान् ही फल रूप हैं

सुबोधिनी—अत्रापि सात्त्विकादिभेदाः । भगवानेव तथापि तच्छिष्यास्तत्स्थानीयाः । यां
गौतमान्ता नव सात्त्विकाः । तत्रापि भेदत्रयम् । लीलां प्रकाशयति सा निरूप्यते । द्वितादयो बहव
उत्तमौ द्वौ, मध्यमाः षट्, एकश्चापर इति । एव । ब्रह्मपुत्रः पुलहः । अङ्गिरसो वा विशेष-
रामादयोऽपि नव राजसाः । रामः परशुरामः स एव । एते प्रकारनिरूपकाः ॥३-५॥

व्याख्यार्थ—यहाँ मुनियों में भी सात्त्विक आदि भेद हैं, गौतम तक नव मुनि सात्त्विक हैं, उनमें भी तीन भेद हैं । दो उत्तम हैं, छ मध्यम हैं, एक साधारण है । राम आदि नव राजस हैं, राम से परशुराम समझना, वह भगवान् ही हैं तो भी उनके शिष्य मुनियों के समान है, जो लीला प्रगट करते हैं वह निरूपण की जानी हैं, द्वित आदि बहुत हैं ब्रह्मपुत्र पुलह हैं वा अङ्गिरस का विशेषण हैं । इस प्रकार निरूपण हैं ॥३-४-५॥

आभास—ततो यज्ञातं तदाह तान् दृष्टेति ।

आमासार्थ—बाद में जो कुछ हुआ उसका वर्णन 'तान् दृष्ट्वा' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तान् दृष्ट्वा सहसोत्थाय प्रागासीना नृपादयः ।

पाण्डवाः कृष्णरामौ च प्रणमुविश्ववन्दितान् ॥६॥

श्लोकार्थ—पहले ही स्थित पाण्डव, कृष्ण, राम और राजादिक, सब विश्व में नमन करने योग्य, उन ऋषियों को देख, सहसा उठकर, प्रणाम करने लगे ॥६॥

सुबोधिनी—लोके तद्गुणाः प्रसिद्धा इति । भेदत्रयं साधारणाः भक्ताः भगवांश्चेति । तत्र
तेषां बुद्धिमनुसृत्य व्यवहारं वा समाश्रित्य सन्माननां कुर्वन्ति सर्व एव । सहसोत्थायेति । अत्रापि सर्व एव प्रणमुः । तत्र हेतुविश्ववन्दितानिति । ॥६॥

व्याख्यार्थ—लोक में उन ऋषियों के गुण प्रसिद्ध थे, यों उनकी बुद्धि का अनुसरण कर, अथवा व्यवहार का आश्रयकर सब ही उनका सन्मान करने लगे, कैसे करने लगे? वह प्रकार बताते हैं । उनको देखते ही सब भट पट उठ खड़े हो गए इसमें भी तीन भेद हैं, १- साधारण २- भक्त और ३- भगवान् सब ने प्रणाम किया क्योंकि वे ऋषि विश्व में वन्दन योग्य हैं ॥६॥

श्लोक—तानानर्चुं यथा सर्वे सहरामोऽच्युतोऽर्चयत् ।

स्वागतासनपाद्यार्घ्यमाल्यधूपानुलेपनैः ॥७॥

श्लोकार्थ—सब लोगों ने और राम सहित भगवान् ने इनका आसन, पाद्य, अर्घ्य, पुष्प, धूप और चन्दन से स्वागत किया ॥७॥

सुबोधिनी—ततस्तानानर्चुः । यथा यथा- । न्मार्गानिभिज्ञास्तथाऽभिज्ञा अभ्यानर्चुरित्यर्थः ।
वत् । सर्व एव । यथा वा लोकस्थाः सर्वे भगव- । यदि भगवान् न पूजयेत् तदा द्वैविध्यमापद्येतेति

सहरामः अच्युतोऽप्यर्चयत् । आर्चयदिति सन्धि- | स्वागतासनेति ॥७॥
 रार्षः । अडागमाभावो वा । अर्चनाप्रकारमाह

व्याख्यार्थ—पश्चात् उनका पूजन, जैसा योग्य था वैसा सब ही करने लगे अथवा जैसे भी लोक में स्थित थे अर्थात् भगवन्मार्ग को जानने वाले या न जानने वाले, सबने पूजन किया जो भगवान् पूजन न करें तो दुविधा हो जाय इसलिये राम सहित भगवान् ने भी पूजन किया । जहाँ 'आर्चयत्' पाठ हो वहाँ समझना चाहिए कि यह 'आर्ष' सन्धि है । अथवा अट् का आगम नहीं हुआ है, पूजा का प्रकार 'स्वागतासन' से कहा है ॥६॥

आभास—स्तोत्राभावे कायिकं सर्वं नटवद्भवतीति स्तुतिमाह उवाच सुखमासीनानिति ।

आभासार्थ—यदि स्तुति न की जावे तो अन्य पूजा आदि केवल नाटक देखने में आवे अर्थात् दिखावा मात्र है इसलिए 'उवाच' श्लोक में स्तुति कहते हैं—

श्लोक—उवाच सुखमासीनान् भगवान् धर्मगुब् विभुः ।
 सदसस्तस्य महतो यतवाचोऽनुशृण्वतः ॥८॥

श्लोकार्थ—धर्मरक्षार्थं प्रगट विभु भगवान् मौन धारण कर बैठी हुई सभा जब सुनने के लिए तैयार हो गई, तब सुखपूर्वक विराजमान ऋषियों को कहने लगे ॥८॥

सुबोधिनी—यतो भगवान् कर्तव्यं जानाति । यस्मिन् स्थाने स्तोत्रे कृते लोकप्रसिद्धिर्भवति । भगवतोऽपि तादृशकथने हेतुः धर्मगुबिति । ताव- तादृशमिदं स्थानमिति ज्ञापयितुमाह सदसस्तस्य शृण्वत इति । महत इति माहात्म्यं प्रकृतोप- रिति पाठे धर्मरक्षार्थमेव तनुर्यस्येति । मुनिस्तो- योगि । यतवाच इति सावधानता च तथा ॥८॥
 त्रादिकमपि अवतारकार्यमेवेति सूचितम् ।

व्याख्यार्थ—अब क्या करना चाहिए, इसको श्रीकृष्ण जानते हैं क्योंकि भगवान् हैं, भगवान् होकर भी ऋषियों की स्तुति क्यों करने लगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'धर्मगुब्' विशेषण दिया है और आप 'विभु' हैं अतः यों स्तुति करने में भी किसी प्रकार क्षति नहीं है, कहां 'धर्मगुप्सु' पाठ है, उसका अर्थ यों करना कि धर्म की रक्षा के लिए ही शरीर धारण किया है, मुनियों की स्तुति करना भी अवतार का ही कार्य है, यों सूचित किया, जिन स्थान पर स्तुति करने पर लोक में प्रसिद्धि हो वैसा यह स्थान है यह जताने के लिए कहते हैं कि, वाणों को रोक सावधान हो सब सदस्य सुनने लगे कारण कि यह स्तुति महतो (महान्) है और स्तुति प्रकृत विषय के उपयोगी है । ८॥

कारिका—पञ्चभिर्भगवानाह स्तोत्रं तेषां महात्मनाम् ।

तन्मुखान्निर्णयं वक्तुं पूर्वपक्षोक्तिरूपतः ॥८॥

कारिकार्थ—उन महात्माओं की स्तुति भगवान् पाँच श्लोकों से करते हैं, किन्तु उनके मुख से निर्णय कहलाने के लिए पूर्व पक्ष रूप यह स्तुति है ॥८॥

आभास—आदौ भगवान् तेषां दर्शनं स्तौति अहो वयमिति ।

आभासार्थ—प्रथम भगवान् उनके दर्शन की प्रशंसा 'अहो वयं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—अहो वयं जन्मभृतो लब्धं कात्स्न्येन तत्फलम् ।

देवानामपि दुःप्रापं योगेश्वरदर्शनम् ॥९॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा-अहो ! आज हमारा जन्म सार्थक हुआ, जन्म लेने का फल सम्पूर्ण रीति से मिला; क्योंकि देवों को भी आप योगेश्वरों के दर्शन दुर्लभ हैं, वह मिला ॥९॥

सुबोधिनी—अहो इत्याश्रयं । वयमिति श्लाघायाम् । जन्मभृतो वयमेव सफलजन्मान इत्यर्थः । कथमित्याकाङ्क्षायां जन्मफलं जातमिति निरूपयति लब्धं कात्स्न्येन तत्फलमिति । जन्मफलं ज्ञानादिकमपि भवति धर्मश्च परं

कात्स्न्येन फलम् । तस्य दुर्लभत्वमाह देवानामपि दुःप्रापमिति । यस्माद् योगेश्वराणां दर्शनं देवानामपि दुर्लभम् । यत इन्द्रो महतापि कष्टेन बृहस्पतेर्दर्शनं न प्राप्तवान् । तदुक्तं षष्ठे ॥९॥

व्याख्यानार्थ—'अहो' आश्चर्य अर्थ में दिया है । वयं पद यश में दिया है, 'जन्म-भृत' पद से यह सूचित किया है कि हमारा जन्म ही सफल हुआ, कैसे सफल है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि जन्म लेने का जो फल है, वह हमने सम्पूर्ण रीति से प्राप्त किया है । यों तो जन्म का फल ज्ञानादि का भी होता है और धर्म भी होता है, किन्तु ये फल पूर्ण नहीं हैं । हमको जो फल अब मिला है जो सम्पूर्ण है, इससे विशेष कोई फल नहीं है जिसका कारण है, कि यह फल देवों को भी दुर्लभ है क्योंकि श्रीकृष्ण योगेश्वर हैं योगेश्वरों का दर्शन देव भी नहीं पा सकते हैं जिससे इन्द्र महान् कष्ट से भी बृहस्पति का दर्शन नहीं पा सके वह छठे में कहा है ॥९॥

आभास—केवल दर्शनस्य दुर्लभतां निरूप्य तत्संबन्धनां सर्वेषामेव निरूपयन् अस्य फलत्वे तर्कमाह किं स्वल्पतपसामिति ।

आभासार्थ—केवल दर्शन की दुर्लभता का निरूपण कर उसके सम्बन्धी सबका निरूपण करते हुए, इसके फलपने में तर्क कि स्वल्प' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—किं स्वल्पतपसां नृणामर्चायां देवचक्षुषाम् ।

दर्शनस्पर्शनप्रश्नप्रह्वपादार्चनादिकम् ॥१०॥

श्लोकार्थ—मनुष्य अल्प तप वाले होते हैं कारण कि वे मूर्ति मात्र में ही देव

बुद्धि करते हैं, जब मुनियों के तो साक्षात् दर्शन होते हैं, उनसे प्रश्न कर सकते हैं, नम्रता से उनका पूजन आदि हो सकता है, वह सब मूर्ति में केवल भाव से होता है, मुनियों में तो साक्षात् होता है ॥१०॥

सुबोधिनी—देवादीनां महत्तपो भवत्येव । मनुष्याणामेव न भवतीति ज्ञापयितुं ऋणामित्युक्तम् । अल्पतपस्त्वे हेतुः अर्चायां देवचक्षुषामिति । अर्चा प्रतिमा आदौ जडाजडप्रकृतिः तत्रापि पामरैः कृता तादृशी स्वस्य चेतनस्य कथं देवता भवेत् । आकृतिरस्तीति चेत् तर्हि नटेन किमपराद्धं, स्थैर्यं नास्तीति चेत् तर्हि जडा आकृतिः, चैतन्यं गुणाश्च राशिद्वयं कृत्वा विचा-

र्यताम् । किं चैतन्यं गुणाः देवता आहोस्विदाकृतिमात्रमिति विशिष्टेन सन्देहः, आकृतिरप्रयोजिका अभगवत्त्वाद् अन्यथा तद्गृहाकृतिः तद्देहाकृतिश्च सर्वेष्वेव वर्तत इति तत्परित्यज्य कुशकाशावलम्बनेन बुद्धिस्थैर्यं कुर्वाणा अल्पतपसो भवन्ति । मुनिषु तु दर्शनं, स्पर्शनं पादयोस्ततः प्रश्नः, ततो विनयः ततः पादार्चनम् । एतदादि सर्वं किं भवति चेतनधर्माश्च ते ॥१०॥

व्याख्यानार्थ—श्लोक में 'ऋणा' पद कहा है, जिसका भाव प्रकट करते हैं कि यह पद इसलिए दिया है कि देवादि का तप महान् ही होता है। मनुष्यों का अल्पतप होता है। मनुष्य अल्पतपवाले क्यों होते हैं जिसका कारण बताते हैं कि वे 'प्रतिमा' में देवबुद्धि करते हैं । प्रतिमा जड़ प्रकृति है और मनुष्य चेतन प्रकृति है, इसमें भी 'प्रतिमा' साधारण पामरों की बनाई हुई है । वह जड़ प्रकृति, चेतन प्रकृति की देवता कैसे हो सकेगी ? यदि कहो कि आकृति है तो नट ने कौनसा अपराध किया जो उसमें तो कोई देव बुद्धि नहीं करता है । यदि कहो कि नट में स्थिरता नहीं है तो आकृति तो जड़ है । नट में चेतन और गुण हैं दोनों को मिलान कर फिर विचारना चाहिए । क्या चैतन्य और गुण देवता हैं अथवा केवल आकृति ही देवता है ? इस सब पर विचार करने से मिलाकर ध्यान देने से सन्देह होता है, आकृति तो अप्रयोजक है, क्योंकि वह भगवान् नहीं है । अन्यथा उसके गृह को आकृति वा देह की आकृति आदि सब में ही भगवान् हैं, इस प्रकार होने पर भी उनका त्याग कर, कुशकाशादि के अवलम्बनवत् प्रतिमा में बुद्धि की स्थिरता करने, वाले अल्पतप वाले हैं मुनि भगवत्सम्बन्ध वाले चेतन हैं, उनमें तो दर्शन, चरणों का स्पर्श पश्चात् प्रश्न, बाद में विनय, अनन्तर, पूजा इत्यादि सब कुछ इनमें हो सकता है, कारण कि, ये चेतन धर्म वाले हैं ॥१०॥

आभास—नन्वेवं सति कथं सर्वोपि लोकः प्रवर्तत इति चेत्तत्राह न ह्यम्मयानि तीर्थानीति ।

आभासार्थ—यदि यों हैं तो सब लोग क्यों प्रतिमादि का पूजन करते हैं जिसका उत्तर 'न ह्यम्मयानि' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—न ह्यम्मयानि तीर्थानि न देवा मृच्छिलामयाः ।

ते पुनन्तपुरुकालेन दर्शनादेव साधवः ॥११॥

श्लोकार्थ—तीर्थ केवल जलमय नहीं हैं, देवता केवल मृत्तिका और पाषाणादि धातुमय नहीं हैं, किन्तु वे भक्त को चिरकाल में (बहुत समय में) पवित्र करते हैं, साधु लोग तो दर्शन से ही शीघ्र पवित्र करते हैं ॥११॥

सुबोधिनी - तीर्थशब्देन यच्छोधकं स्वच्छं तदुच्यते, तज्जलमपि भवति, महान्तोपि भवन्ति । अतो जलमयानि किं तीर्थानि न भवन्ति भवन्त्येव अपां शोधकत्वस्य दृष्टत्वात् । परं या शुद्धिः ज्ञानरूपा महद्भिर्भवति सा न भवत्येव । तथैव देवा अपि मृण्मयाः शिलामयाश्च । केषांचिन्मते स्थानमेव देवः, प्रतिमा त्वप्रयोजिका । तस्मिन् स्थाने या काचित् प्रतिमा स्थापिता सैव देवो भवति न त्वन्यत्र । अतो मृण्मया एव देवाः

शिलामया वा यत्र स्थानं न प्रसिद्धं शिलारूप-लक्षणम् । अष्टविधानां स्थिराः शिलामया एव भवन्तीति वा । तर्हि लोकप्रसिद्धं किं निन्द्यते नेत्याह ते पुनन्त्युक्तकालेनेति । साधवस्तु दर्शनमात्रेणैव । नहि निन्दा निन्दितुं प्रवर्तते अपि तु विवेकं स्तोतुमिति पूजायां प्राप्तायां मृण्मयाद्य-पेक्षया साधवः पूज्याः । तीर्थगमनापेक्षया साधव एवाभिगन्तव्या इति न तु लोकसिद्धं निन्द्यत इत्यर्थः ॥११॥

व्याख्यानार्थ—तीर्थ शब्दों से उसका ग्रहण किया जाता है जो शोधक (शुद्ध करने वाला) और स्वयं स्वच्छ हो वह जल भी हो सकता है और महात्माएं भी होती हैं अतः पानी रूप जो हैं, वे क्या तीर्थ नहीं हो सकते हैं ? हो ही सकते हैं, कारण कि पानी में शोधक गुण देखा जाता है, परन्तु जो ज्ञान रूप शुद्धि साधुजन कर सकते हैं, वह शुद्धि तीर्थ नहीं कर सकते हैं, वैसे ही, मिट्टी से बनी हुई और शिला से बनी देव प्रतिमाएं भी पवित्र करने वाली हैं किन्तु भक्तजनों के समान ज्ञान भक्ति आदि देखकर शुद्ध नहीं कर सकती हैं, कितनों के मत में स्थान ही देव है प्रतिमा तो अप्रयोजक है । उस स्थान में जो कोई प्रतिमा स्थापित की जाती है वह प्रतिमा ही देव होती है दूसरे स्थान पर प्रतिमा देव नहीं बनती है, अतः देव मिट्टी वा पत्थर के हो हैं । जहाँ स्थान प्रसिद्ध नहीं है, वहाँ शिला रूप लक्षण वाली ही प्रतिमा है, आठ प्रकार की प्रतिमाएं स्थिर और शिलामय ही हैं, लोक में तो प्रसिद्ध है कि वे देवता हैं उनकी निन्दा क्यों की जाती है ? उत्तर देते हैं कि निन्दा नहीं करते हैं किन्तु कहते हैं कि वे बहुत समय सेवन करने के बाद पवित्र करते हैं भक्त और ज्ञानीजन तो केवल दर्शन से ही पवित्र करते हैं किसी को भी यदि निन्दा की जावे तो वह निन्दा उसको निन्दा के लिए नहीं है किन्तु जिसका विधान करना है, उसको स्तुति के लिए है इसलिए जब पूजा का प्रश्न आता है कि किसकी पूजा शीघ्र फल देने वाली है तब कहा जाता है कि ज्ञानी भक्त जो साधुजन हैं उनकी पूजा, तीर्थ और प्रतिमा से विशेष है अतः तार्थ और प्रतिमा की अपेक्षा उनकी पूजा करनी चाहिए, कारण कि, उनकी पूजा से फल शीघ्र मिलता है, तीर्थों पर जाने के बजाय भक्तजनों के पास जाना चाहिए, इससे लोक सिद्ध तीर्थ आदि की निन्दा नहीं की जाती है ॥११॥

आभास—नन्वेतदपेक्षया सूर्यादयः प्रत्यक्षदेवाः सन्ति त एव कथं न पूज्यन्त इति चेत् तत्राह नाग्निर्न सूर्य इति ।

आभासार्थ—इन साधुजनों की अपेक्षा सूर्य आदि प्रत्यक्ष देव हैं वे ही क्यों न पूजे जाते हैं ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर 'नाग्निर्न सूर्यो' श्लोक में है—

श्लोक—नाग्निरनं सूर्यो न च चन्द्रतारकाः

न भूर्जलं खं श्वसनोऽथ वाङ्मनः ।

उपासिता भेदकृतो हरन्त्यघं

विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवया ॥१२॥

श्लोकार्थ—अग्नि, सूर्य, चन्द्र, तारा, पृथ्वी, जल, आकाश, वायु, वाणी और मन इनकी उपासना की जावे, तो भी ये अज्ञान का हरण नहीं करते हैं, केवल पाप का नाश करते हैं, कारण कि भेद को अङ्गीकार कर वे प्रवृत्त हुए हैं, किन्तु साधुजन, ज्ञानी मुहूर्त मात्र की सेवा से अज्ञान मिटा देते हैं ॥१२॥

सुबोधिनी—अग्निरग्निहोत्रादिषु प्रसिद्धः । सूर्योऽप्युपासनायाम्, चन्द्रोऽपि व्रतादौ तारका अपि ग्रहादिपूजाया बुधादिरूपाः अश्विन्यादिरूपा वा, भूमिश्च विश्वम्भरा उपासनादौ, तथा जलम्, तथैव हृदयाकाशः । तथैव प्राणायामरूपो वायुः श्वसनः । अथ भिन्नप्रक्रमेण वाक् सरस्वती । तथा मनश्च योगादौ 'मनोवशेऽन्ये ह्यभवश्च देवाः' इति । एते सर्वे भगवद्बुद्ध्या पूजिताः ।

अघं हरन्ति पापक्षयमेव कुर्वन्ति न त्वधिकम् । तत्र हेतुः भेदकृदिति । भेदमङ्गीकृत्य हि सः प्रवर्तते । यो ह्यखण्डं भिनत्ति स कथं कृतार्थो भवेत् । विपश्चितस्तु भेद दूरीकुर्वन्ति तदाह विपश्चितो घ्नन्ति मुहूर्तसेवयेति । तावतं त्वं ज्ञानोदयः सर्वपापक्षयः अनायासेन भवति 'नालं कुर्वन्ति तां शुद्धिं या ज्ञानकलया कृता' इति वाक्यात् ॥१२॥

व्याख्यार्थ—'अग्नि' की उपासना अग्निहोत्र में प्रसिद्ध है, सूर्य की भी सन्ध्यावन्दन आदि में उपासना होती है, चन्द्रमा की व्रत आदि में पूजा होती ही है, तारे भी ग्रहादि पूजा में बुधादि अथवा अश्विनी आदि रूप से पूजे जाते हैं भूमि विश्वम्भरा होने से उपासनादि में पूजी जाती है, वैसे ही जल, हृदयाकाश, प्राणायाम रूप वायु आदि पूजे जाते हैं 'अथ' पद से सब पृथक् क्रम से कहते हैं कि वाक् अर्थात् सरस्वती, मन की उपासना योगादि में होती है जिससे ही शास्त्र में कहा है कि 'मनोवशेऽन्ये ह्यभवश्च देवा ? मन वश होने पर सब देव वश में हो जाते हैं, ये सब यदि भगवत् बुद्धि से पूजे जाते हैं तो पाप का ही नाश करते हैं, विशेष नहीं अर्थात् ज्ञानादि उत्पन्न कर अज्ञान को नाश नहीं कर सकते हैं, इसमें कारण यह है, कि भेद को अङ्गीकार कर वह प्रवृत्त होता है जो अखण्ड को खण्ड करता है, वह कृतार्थ कैसे होगा ? ज्ञानी तो भेद को दूर करते हैं, अतः कहते हैं, कि ज्ञानी मुहूर्तमात्र सेवन से भेद को नाश कर देते हैं, इतने में ही ज्ञान का उदय और पाप का क्षय बिना परिश्रम ही हो जाता है, जो शुद्धि ज्ञान कला से होती है वह उन भेद कृतों से नहीं होती है ॥१२॥

आभास—एवं परमार्थमुक्त्वा एतद्व्यतिरिक्तान् सर्वान् एकीकृत्य निन्दति यस्यात्मबुद्धिरिति ।

आभासार्थ—यों परमार्थ कह कर इनसे पृथक् सबको एक साथ में निम्न श्लोक से निन्दित करते हैं ।

श्लोक — यस्यात्मबुद्धिः कुणपे त्रिधातुके

स्वधीः कलत्रादिषु भौम इज्यधीः ।

यत्तीर्थबुद्धिः सलिले न कर्हिचि-

जनेष्वभिज्ञेषु स एव गोखरः ॥१३॥

श्लोकार्थ — जो लोग वात, पित्त और कफमय शरीर को ही आत्मा रूप जानते हैं, स्त्री आदि में ही अपनत्व की बुद्धि रखते हैं, भूमि के विकार रूप पदार्थों में पूज्य बुद्धि रखते हैं तथा जल में तीर्थ बुद्धि करते हैं, किन्तु ज्ञानी भक्तों में कभी भी आत्म बुद्धि एवं पूज्य बुद्धि नहीं करते हैं, वे ही बैल वा गर्दभ (गधे) हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—कुणपे देहे । चैतन्यरहितो देहः कुणपमित्युच्यते । न हि चेतनस्य जडः आत्मा भवति । तत्र मूलविचारेणापि दोषमाह त्रिधातुक इति । वातपित्तश्लेष्मप्रकृतिकोऽयं देहः, आत्मा चेतनप्रकृतिकः । अतोऽस्य देहस्य धातव एव आत्मानो भवितुमर्हन्ति न त्वात्मा । आत्मनो वायं भवति । एवमात्मबुद्धिभ्रान्तेति निरूप्य आत्मीयबुद्धिरपि भ्रान्तेत्याह स्वधीः कलत्रादि-
ष्विति । आत्मीयास्त एव भवन्ति ये स्वस्योप-

कुर्वन्ति ते सन्त एव, कलत्रादयस्त्वप्यकुर्वन्ति । तथा भगवानेव आत्मनामात्मा सद्रूपः । भौमे भूविकारे इज्यधीः स्वदेहस्यापि भूमिजत्वात् । तीर्थबुद्धिश्च सलिले । एवं बुद्धिचतुष्टयं यस्य स न कर्हिचिदपि अभिज्ञेषु जनेषु मन्तव्यः किन्तु मुखेष्वेव मन्तव्यः । किं बहुना स एव गौर्वलीवदः खरो वा । बलीवर्दानां तृणानयनार्थं खरो वा । पशुप्राया गृहस्थाः तेषां निर्वाहक इति । एवं मुनिस्तोत्रार्थं लोकप्रसिद्धाः पदार्था निन्दिताः ॥

व्याख्यानार्थ — 'कुणपे' अर्थात् देह में, जिस देह में चैतन्य नहीं है उसको कुणप कहते हैं, चेतन की आत्मा जड़ नहीं होती है 'उसमें मूल विचार से भी दोष दिखाते हैं 'त्रिधातुके' वह देह वात पित्त और कफ को प्रकृति वाली है और आत्मा चेतन प्रकृति वाली है इस कारण से देह की आत्मा धातु ही है न कि आत्मा, अथवा यह आत्मा की होती है इस प्रकार देह में आत्म बुद्धि भ्रान्त है, यो निरूपण कर अपनेपन की बुद्धि भी भ्रान्त है, स्त्री आदि में अपनापन समझना भूल है । अपने वे ही होते हैं जो अपना कल्याण करते हैं । वे कल्याण करने वाले तो सन्त ही हैं, स्त्री आदि तो हानि ही करते हैं । वैसे भगवान् ही आत्माओं की आत्मा सद्रूप है 'भौमे भूविकारे इज्यधी' पृथ्वी से बने पदार्थों में पूज्य बुद्धि भी भ्रान्त है, अपनी देह भी पृथ्वी से बनी हुई है 'तीर्थ बुद्धिश्च सलिले' पानी में तीर्थ बुद्धि करना भी भ्रान्त है । इस प्रकार को चार बुद्धि जिसकी है उसको कभी भी ज्ञानियों की श्रेणी में नहीं गिनना चाहिए किन्तु मुखों में ही गिनना चाहिए विशेष क्यों कहें वह ही बैल वा खर है, अथवा बैलों के लिए तृण ले आने वाले जैसे गर्दभ हैं, वैसे ही ऐसे ये मनुष्य भां पशु प्रायः गृहस्थियों के निर्वाह के लिये खर (गधे) है, इसी तरह मुनियों की स्तुति के लिए हो लोक प्रसिद्ध पदार्थों की निन्दा की है ॥१३॥

आभास — तेषां पूर्व भगवानेव स्तोत्रं कृतवान् वेदादिद्वारा अतो विरुद्धमुभयमपि तन्निर्णयार्थं मुनीनां संदेहो जात इत्याह निशम्येत्थं भगवत इति ।

आभासार्थ—जिन तीर्थ आदि की भगवान् अब हीनता कर रहे हैं उनकी ही भगवान् ने प्रथम वेद द्वारा स्तुति की है अतः भगवान् के दोनों वाक्य परस्पर विरुद्ध होने से इनका निर्णय करना मुनियों को भी कठिन हो गया इसलिए संदेह में पड़ गए, ऐसी अवस्था देख श्री शुकदेवजी 'निश्चय' श्लोक में इसका वर्णन करते हैं,

श्लोक—श्रीशुक उवाच—निश्चयेत्थं भगवतः कृष्णस्याकुण्ठमेधसः ।

वचो दुरन्वयं विप्रास्तूष्णीमासन् भ्रमद्वियः ॥१४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि अकुण्ठ बुद्धि भगवान् श्रीकृष्ण के इस प्रकार के दुरन्वय वचन सुनकर मुनि संशयग्रस्त होने से चुप हो गए ॥१४॥

सुबोधिनी—एव भगवतो वचो निश्चय भ्रम-
द्वियो भूत्वा तूष्णीमासन्निति संबन्धः । ननु
संदेहः कथं, भगवद्वाक्यप्रामाण्ये निश्चय एव,
अन्यथा पूर्वसिद्ध एवार्थः तत्राह अकुण्ठमेधस
इति । अकुण्ठा मेधा यस्येति को वेद केनाभि-

प्रायेण एवं वदतीति संदेह इत्यर्थः । ननु निश्चय
एव कुतो नोत्पद्यते तत्राह दुरन्वयमिति । अन्वयो
लोकसिद्धार्थसमपंकः तद्विरुद्धत्वात् दुरन्वयः ।
अत एव भ्रमद्वियः ॥१४॥

व्याख्यानार्थ—इस प्रकार के भगवान् के वचन सुनकर, संशयग्रस्त बुद्धि वाले होने से चुप हो गए, यों अन्वय है—भगवान् के वाक्यों में संदेह कैसे ? भगवान् के वाक्यों के प्रामाण्य में तो निश्चय ही है, नहीं तो अर्थ पूर्ण सिद्ध ही हो, इस पर कहते हैं, 'अकुण्ठमेधसः' जिसका कहा हुआ समझ में नहीं आता है कि ये वचन किसी अभिप्राय से कह रहे हैं, इस कारण से संदेह है आपके वचनों से निश्चय क्यों नहीं उत्पन्न होता है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'दुरन्वय' आपके वचन लोक सिद्ध अर्थ के समर्थक भी हैं और उनके विरुद्ध भी हैं इसलिए 'दुरन्वय' हैं अर्थात् समझ में नहीं आते हैं, इस कारण से संशय में पड़ गए हैं ॥१४॥

आभास—ततस्तेषां निर्णयो जात इत्याह चिरं विमृश्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् उनका निर्णय हुआ, वह 'चिरंविमृश्य' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक - चिरं विमृश्य मुनय ईश्वरस्येशितव्यताम् ।

जनसंग्रह इत्पूचुः स्मयन्तस्तं जगद्गुरुम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—मुनि लोग ईश्वर की इस दीनता व सेवकत्व का बहुत विचार कर हँसते हुए उस जगत् के गुरु को कहने लगे कि यों आपका कृत्य, जनसंग्रहार्थ ही है ॥१५॥

सुबोधिनी—मुनय इति मननं विचारे साध-
कम् । विचारितमर्थमाह ईश्वरस्येशितव्यतामिति ।
ईश्वरस्य सर्वसमर्थस्य ईशितव्यता सेवकता या
सा जनसंग्रहः, जना एवं बुद्ध्या संगृहीता भव-

न्तीति । यथा स्वयं चेदेवं ब्रूयाद् अन्योऽप्येव
वदेदिति । ततो भगवद्वाक्याभिप्राय ज्ञात्वा, स्म-
यन्तो हसन्तः तं जगद्गुरुं सर्वहितोपदेष्टारं प्रति
किञ्चिदूचुः ॥१५॥

व्याख्या—‘मुनय’ पद का अर्थ है, विचार करने में जिनका साधक मनन ही है वे मुनि
हैं जिस विषय का विचार किया जा रहा है उसको कहते हैं कि ‘ईश्वरस्येशितव्यताम्’ सर्व समर्थ
की यह जो सेवकता है वह लोक संग्रह है अर्थात् मनुष्य इस प्रकार बुद्धि से सिखाए जाते हैं, जैसे कि
जब आप इस प्रकार सेवकता एवं दीनता के वचन कहें, तब अन्य लोग भी कहना सीखें, पश्चात्
भगवान् के वाक्यों का अभिप्राय समझ हँसते हुए उस जगद्गुरु सर्व के हित के उपदेष्टा को कुछ
कहने लगे ॥१५॥

आभास—तत्र मुनयः द्वेधा निर्णयं वदन्ति किमद्य भगवान् अस्मान् व्यामोहयितुं
वदति आहोस्विदन्येषामुपकाराय । यद्यस्मान्प्रति वदति तदोत्तरमुच्यत इत्याहुः
यन्माययेति ।

आभासार्थ—इस विषय में मुनि लोग दो तरह से निर्णय देते हैं कि आज भगवान् हमको
मोह में डालने के लिए यों कहते हैं अथवा अन्यो के उपकार के लिए कह रहे हैं, जो हम को यों कहते
हैं तो ‘यन्मायया’ श्लोक से उत्तर कहते हैं ।

श्लोक—मुनय ऊचुः—यन्मायया तत्त्वविदुत्तमा वयं

विमोहिता विश्वसृजामधीश्वराः ।

यदीशितव्यायति गूढ ईहया

अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—मुनि कहने लगे कि तत्त्व ज्ञान में उत्तम और विश्व के बनाने वाले
कश्यप आदि के उपदेष्टा हम भी जिसकी माया से मोहित हो रहे हैं, वे आप गूढ़ रह
कर सेवकता बता रहे हो, अतः आपकी लीला विचित्र एवं ज्ञानी को भी भ्रम में
डालने वाली है । यह बड़ा आश्चर्य है ॥१६॥

सुबोधिनी—तत्त्वविदां मध्ये उत्तमाः साक्षा-
त्कारतद्बोधनसमर्थाः । अनेन ज्ञानशक्तिनिरू-
पिता । विश्वसृजामधीश्वरा इति विश्वसृजः
कश्यपादयः ये सर्वदा विश्वं सृजन्ति तेषामपि
वयमधीश्वराः उपदेष्टारो नियन्तारो वा तेषां वयं
विमोहिताः । विमोहनमाहुः यद्यस्माद्भगवान्
गूढः सन् स ईशितव्यायति ईशितव्यवदाचरति

सेवकभावं संपादयति । ईहया चेष्टया । तथा चेष्टां
प्रकटयति यथा लोकः ईशितव्यं जीवमेव मन्यते
न त्वीशम् । एतादृशं भगवच्चरित्रं श्रुत्वा आश्च-
र्याविष्टा आहुः अहो विचित्रं भगवद्विचेष्टितमिति ।
भगवद्विचेष्टितत्वम् । तथा करणे अकरणे च हेतु-
रिति विचित्रता । भगवांश्चेत्किमित्येवं करोति
कुतो वा न करोति इत्युभयत्रापि भगवत्त्वस्य

हेतुत्वात् अनोशितृत्ववद् अल्पेशितृत्वमपि भग- | कर्तव्यमिति क्वचिन्निर्धारोऽस्ति तस्मादलौकिक-
वति नास्ति, नापि भगवता एवं कर्तव्यमेवं न | त्वात्सर्वमेव भगवच्चरित्रं विचित्रम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ—तत्त्व वेत्ताओं में उत्तम साक्षात्कार और उसके बोध देने में समर्थ हम हैं इससे ज्ञानशक्ति का निरूपण किया है, विश्व को रचने वाले कश्यप आदि के भी उपदेष्टा तथा नियामक होते हुए भी हम मोहित हो रहे हैं, कैसा वह मोह है, भगवान् होकर भी अपना स्वरूप गुढ़ रख सेवकवत् आचरण कर रहे हैं। इस चेष्टा से लोग आपको जीव समझते हैं न कि भगवान्, इस प्रकार आपका चरित्र सुन व देख आश्चर्य में पड़ कर ऋषि लोग कहने लगे, कि भगवान् की लीला विचित्र है, क्योंकि भगवन् होकर यों क्यों करते हैं, अथवा यह क्यों नहीं करते हैं, दोनों में भगवत्त्व ही हेतु है, अनोशता अल्पेशता भी भगवान् में नहीं हैं, भगवान् को यों करना चाहिए वा यों नहीं करना चाहिए जिसका भी कोई निर्णय नहीं है, इससे अलौकिक होने से सब ही भगवान् के चरित्र विचित्र हैं ॥१६॥

आभास—सर्वस्यैवालौकिकत्वाय सहजमपि भगवच्चरित्रं परस्परविरुद्धमित्याह
अनीह इति ।

आभासार्थ—सर्व के ही अलौकिकत्व के लिए, सहज भी भगवान् का चरित्र परस्पर विरुद्ध दीखता है। इसके लिए 'अनीह' श्लोक कहते हैं।

श्लोक—अनीह एतद्बहुधैक आत्मना सृजत्यवत्यत्ति न बध्यते यथा ।

भौमैहि भूमिर्बहुनामरूपिणी अहो विभूम्नश्चरितं विडम्बनम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—जैसे पृथ्वी एक होते हुए भी अपने में से घट आदि पदार्थों को उत्पन्न कर अनेक नाम रूप वाली होती है, वैसे ही आप भी एक हैं और चेष्टारहित हैं, तो भी इस नाना प्रकार के जगत् को उत्पन्न करते हो, उसकी रक्षा करते हो और फिर उसको अपने में लीन करते हो, यों करते हुए भी उसके बन्धन में नहीं आते हो, इसके दोषों से स्वयं दोष वाले नहीं होते हो, अतः आपका यह चरित्र लोकानुकरण तथा विचित्र है ॥१७॥

सुबोधिनी—लोके ईहासहित एव घटादिकं सृजति मन्त्रयोगादिनापि सृजन् मानसीं क्रिया-मनुसंधत्ते । भगवांस्तु अनीह एव तत्राप्येकः । एतच्चान्येन मनसाप्याकलयितुमशक्यं तच्च बहुधा ब्रह्माण्डकोटिषु विसदृशानेव सृजतीति । तत्राप्यात्मनैवाविक्रियमाणेन एवमपि कुर्वन् तेन कर्मणा न बध्यते करोति च यथा विकृतम् ।

अन्यथा सा सृष्टिस्तादृशीत्येवेति नाश्चर्यं स्यात् । तदर्थमाह यथा भौमैहि भूमिः, भौमैरेव विकारं-भूमिर्बहुनामरूपिणी भवति । तथा भगवान् स्वयमेव नानाविधत्वमापद्यते । अविकृतत्वाद-यस्त्वधिकाः । अत एव भगवतः अनुकरणमपि विचित्रं सर्वमेवानुकरणं वा ॥१७॥

व्याख्यार्थ लोक में मिट्टी से घट आदि जो बनाते हैं वे इच्छा से युक्त होने से ही बनाते हैं, मन्त्रयोग आदि से जो बनाते हैं वे भी मानसी क्रिया का अनुसन्धान करते हैं। अतः वहाँ भी मानसिक चेष्टा है, भगवान् तो चेष्टा रहित हो हैं फिर एक हैं, दूसरे जिसको मन से भी विचार नहीं सकते हैं, उसको भगवान् अनेक प्रकार से कोटि ब्रह्माण्डों में पृथक् पृथक् तरह के बनाते हैं, यहाँ भी विकृत न होकर स्वरूप से ही बनाते हैं, बनाने पर उस कर्म से बन्धन में नहीं आते हैं, जैसे विकृत आते हैं, अन्यथा वह सृष्टि वैसी ही है, इसलिए आश्चर्य नहीं है, इस वास्ते कहते हैं कि पृथ्वी से बन हुए घट शराब (सुराही या कुंजा) आदि पदार्थों से बहुत नाम और रूपाँवाले होकर भी पृथ्वी अन्य नहीं होती है, वैसे ही भगवान् स्वयं नाना विधिरूप नाम होत हैं, फिर अधिकता तो उनमें यह है कि 'अविकृतत्वं' नहीं आता अतएव भगवान् का यह अनुकरण भी विचित्र है, अथवा सर्व ही अनुकरण है ॥१७॥

आभास—एवमघटमानत्वमुपपाद्य श्रोत्कृन् प्रत्युपदेशपक्षे वक्तुमुचितमिति समर्थ-यन्ते अथापीति ।

आभासार्थ इस तरह भगवच्चरित्र का अघटमानपन सिद्ध कर उपदेश पक्ष में श्रोताओं को समझाने के लिए कहना उचित है, इसलिए 'अथापि' श्लोक से उसका समर्थन करते हैं ।

श्लोक—अथापि काले स्वजनाभिगुप्तये बिभर्षि सत्त्वं खलनिग्रहाय च ।

स्वलीलया वेदपथं पुरातनं वर्णाश्रमात्मा पुरुषः परो भवान् ॥१८॥

श्लोकार्थ—तो भी आप समय आने पर भक्तों की रक्षा और खलों का निग्रह करने के लिए सत्त्व (शुद्ध) को धारण कर अवतार लेते हो और प्राचीन वेद मार्ग की लीला से रक्षा करते हो, आप वर्ण तथा आश्रम रूप होकर भी इससे पर पुरुष भी सदैव आप ही हो ॥१८॥

सुबोधिनी—काले तत्तदवसरे स्वजना भक्त-जनाः तेषामभिगुप्तये रक्षार्थं सत्त्वं बिभर्षि । यद्यपि सर्वजनपालनार्थं सत्त्वं धृतमेव तथापीदं तस्मादतिरिक्तं येनावतारा जायन्ते । पूर्वमेव गुणानां भेदा निरूपिताः सच्चिदानन्दस्य, प्रकृतेः, अहङ्कारस्य, बुद्धेः, कालस्य चेति । तत्रैव सत्त्वं सद्रूपस्य तेनैव च भक्ता रक्षिता भवन्ति । किञ्च । खलनिग्रहाय च । दैत्यानां नाशाय सर्वपालकं तु तेषां न नाशकं किंतु पालकमेव । चकारादन्या-न्यपि भक्तिप्रवर्तनादीनि संगृह्यन्ते । तस्य सत्त्व-

स्य स्वरूपे स्थितस्य स्वरूपधर्मस्य कथं ग्रहणमि-त्याकाङ्क्षायामाह स्वलीलयेति । किञ्च । तेन सत्त्वेन वर्णाश्रमात्मा भूत्वा पुरातनं वेदपथं पाल-यसि बिभर्षि वा । रक्षार्थं हेतुः पुरातनमिति । नूतननिर्माणे बह्वन्यथा कर्तव्यं स्यात् । ननु वर्णाश्रमात्मा पुरुषः 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इति श्रुतेः तत्राह भवानेव पुरुषः, यतः परः । अनेन ब्राह्मणानां त्वद्रूपत्वात् स्वस्य स्वयं सर्वं भवतीति वचनं समर्थितम् ॥१८॥

व्याख्यार्थ—जब वैसा समय आता है, तब भक्तजनों की रक्षा के लिए सत्त्व गुण को धारण करते हैं, यद्यपि साधारणतया सत्त्व को धारण ही किया हुआ है जिससे सर्वजनों की पालना हो

रही है, तो भी यह सत्त्व उससे पृथक् है जिससे अवतार होते हैं। प्रथम ही सच्चिदानन्द, प्रकृति, अहङ्कार, बुद्धि और काल के गुणों के भेद^१ कहे हैं, उसमें यह सत्त्व सद्रूप है। उससे ही भक्तों की रक्षा होती है, और खल जो दैत्य हैं, उनके नाशार्थ, सर्व पालक तो उनके नाशक नहीं किन्तु पालक ही हैं, 'च' पद से दूसरे भी भक्ति के प्रवृत्त करने वाले कार्य लिए जाते हैं। उस सत्त्व के स्वरूप में स्थित स्वरूप धर्म का ग्रहण कैसे किया जाता है? इस आकांक्षा में कहते हैं, कि 'स्वलोनया' प्राणी लीला से किञ्च उस सत्त्व से वर्णाश्रम की आत्मा हो पुरातन वेद पथ का रक्षण (पालन) करते हैं। पालन अर्थात् रक्षा का हेतु यह है, कि 'पुरातन' है यदि नूतन बनाया जावे तो बहुत दूसरे प्रकार के कार्य करने पड़े, वर्णाश्रमात्मा तो पुरुष है, मैं तो नहीं, जैसा की श्रुति कहती है 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् पुरुष एवं इदं' जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'भवानेव पुरुष' वह पुरुष आप ही हैं, क्योंकि 'पर' हो, इससे यह सिद्ध किया कि ब्राह्मण आपके ही रूप होने से, अपने ही सब हैं अतः स्वयं ही हैं, इस वचन का समर्थन किया ॥१८॥

आभास—एवं साधारण्येन वर्णाश्रमाणामुक्त्वा ब्राह्मणो विशेषमाहुः ब्रह्म ते हृदयमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार साधारण तथा वर्णाश्रमों को कहकर ब्राह्मण वर्ण में 'ब्रह्म ते हृदयं' से विशेषता कहते हैं—

श्लोक—ब्रह्म ते हृदयं शुक्लं तपःस्वाध्यायसंयमैः ।

यत्रोपलब्धं सद्यत्तमव्यक्तं च ततः परम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—शुद्ध ब्राह्मण आपके हृदय हैं; क्योंकि उनमें तप, स्वाध्याय और संयम है, जिनसे ब्राह्मणों में सत् रूप ब्रह्म प्रकट होता है, वह सत् ब्रह्म अक्षरात्मक है, उस अक्षर से परे जो पुरुषोत्तम है, वह आप हो ॥१९॥

सुबोधिनी—ब्रह्म ब्राह्मणजातिः । ते हृदयमन्तरङ्गा शक्तिः । ताश्च शक्तयस्त्रिविधा भवन्तीति विशेषमाह शुक्लमिति । तस्य माहात्म्यमाह तपः स्वाध्यायसंयमैः तदङ्गैः कृत्वा । यत्र शुक्ले हृदये सद्यत्तमव्यक्तं सद्रूपं ब्रह्म अभिव्यक्तं भवति ।

अव्यक्तं च जगत्कारणभूतं अक्षरात्मकम् । चकारादात्मस्वरूपं च । ततः परं पुरुषोत्तममानन्दरूपं वा । तपो वानप्रस्थे, स्वाध्यायो ब्रह्मचर्ये, संयमः पारमहंस्ये, आश्रमत्रय एव सदाद्यभिव्यक्तिरिति नियमः सूचितः ॥१९॥

व्याख्यानार्थ—'ब्रह्म' पद से ब्राह्मण जाति कही है, वह जाति आपका हृदय अर्थात् प्रन्तरङ्ग-

१- सत्त्व, रज, तम ये प्रकृति के गुण हैं, ये गुण गुणावतारों ने उन कार्यों के लिए धारण किए हैं, अहङ्कार के गुण, मन इन्द्रियाँ और भूतों की उत्पत्ति के कारण हैं। बुद्धि के गुण सत्त्वात्संजायते 'ज्ञान' श्लोक में कहे हैं। काल के गुण युगावतारों में प्रसिद्ध हैं। वर्णाश्रमत्व 'ब्रह्मानतम्' श्लोक में कहा है, आश्रमात्मत्वं, गृहाश्रमों जयन्ततः' यह कहा है। वह ही वेद पथ का पालक पुरुष है।

शक्ति है, वे शक्तियां तीन प्रकार की होती हैं, विशेष कहते हैं कि 'शुक्ल' उनमें शुक्ल का महात्म्य कहते हैं कि तपस्या, स्वाध्याय और संयम ये उसके अङ्ग हैं। जिस शुक्ल हृदय में सद्रूप ब्रह्म प्रकट होता है, और अव्यक्त, जगत् का कारण, अक्षरात्मक है, 'च' शब्द से आत्मारूप है यों कहा, उससे 'पर' पुरुषोत्तम आनन्द रूप है, तपस्या वानप्रस्थ में, वेद पाठ, ब्रह्मचर्य में, संयम परमहंस अवस्था में, आश्रम त्रय में ही सद् आदि की अभिव्यक्ति होती है, इस प्रकार नियम सूचित किए हैं ॥१६॥

आभास—किमतो यद्येवं तत्राह तस्माद्ब्रह्मकुलमिति ।

आभासार्थ—जो यों हैं, तो इससे क्या जिसका उत्तर 'तस्माद्ब्रह्मकुल' में देते हैं,

श्लोक—तस्माद्ब्रह्मकुलं ब्रह्मन् शास्त्रयोने त्वमात्मनः ।

सभाजयसि सद्धाम तद्ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान् ॥२०॥

श्लोकार्थ—हे शास्त्र के कारण रूप ब्रह्मन् ! इस सद्रूप का आश्रय आप होने से, आपकी उपलब्धि (प्राप्ति) के स्थान रूप ब्राह्मण होने से, आप ब्राह्मणों की पूजा करते हो, इससे ब्रह्मण्य लोगों के अग्रणी भी आप ही हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—त्वं ब्रह्मकुलं सभाजयसि तत्रैको हेतुः सद्धामेति । सदादीनां धाम स्थानम् । यदुक्तं यत्रोपलब्धं सद् व्यक्तमिति । धाम स्फूर्तिराश्रयो वा । ब्रह्मन्निति संबोधनं तद्रूपतया हेत्वन्तरमात्मानमेव पालयसीति । पुनरन्यं हेतुमाह शास्त्रयोने इति । शास्त्रस्य वेदस्य योनिः कारणं वेदा उत्पादितास्तेषामाधारो ब्राह्मण एवेति तद्रक्षा कर्तव्येत्यर्थः । शास्त्रयोनेरात्मन इति वा । तथा सति साधनफले निरूपिते, शास्त्रं साधनमात्मा फलमिति । किंच । तस्मात् ब्रह्मण्याग्रणीर्भवान् । यद्यप्येतत्सर्वमन्यथा भवति तथापि त्वं ब्राह्मणानां हितकार्येव ॥२०॥

व्याख्यार्थ—आप ब्रह्म कुल का आदर सत्कार और पूजन करते हो, इसमें एक कारण है, सद् आदि के धाम हैं, जैसा कि ऊपर के श्लोक में 'यत्रोपलब्धं सद् व्यक्तं' कहा है, धाम पद का अर्थ, स्फूर्ति अथवा आश्रय है । हे ब्रह्मन् ! संबोधन देने का दूसरा हेतु यह है कि वह रूप होने से स्वयं का ही पालन करते हैं । फिर दूसरा हेतु कहते हैं, कि वेद के उत्पन्न कर्ता आप हैं, उनकी रक्षा करने वाले ब्राह्मण ही हैं । इसलिए उनकी रक्षा करनी चाहिए अथवा 'शास्त्रयोनेः' षष्ठी विभक्ति हो तो उसका अर्थ आत्मनः करना, यों करने पर साधन और फल दोनों कहे, शास्त्र साधन और आत्मा फल, यद्यपि यह सब अन्यथा होता है, तो भी आप ब्राह्मणों के हितकारी ही हैं ॥२०॥

१- शुक्ल, लोहित और कृष्ण । इनमें से 'शुक्ल' ब्राह्मण क्योंकि सात्विक हैं । क्षत्रिय राजस और वैश्य रजो प्रधान होने से लोहित शक्ति हैं । शूद्र तमोगुणी होने से काली शक्ति वाले हैं इसलिए 'अङ्घ्रि' श्रित कृष्ण वर्ण में कहा है । चरणों में आश्रित कृष्ण वर्ण होने से शूद्रों का कृष्ण वर्णत्व कहा है, कृष्ण अर्थात् काला, अशुद्ध हृदय वाला, शूद्र वर्ण है ।

आभास - एवं ब्राह्मणानां भगवतो हितकारित्वं ज्ञात्वा संतुष्टाः सन्तः स्वरक्षक-
निधिरद्य प्राप्त इति स्वकृतकृत्यतामाहुः अद्य नो जन्मसाफल्यमिति ।

आभासार्थ—इसी तरह भगवान् ब्राह्मणों के हितकारी हैं यों जानकर संतुष्ट हुए और समझे कि हमको आज अपनी रक्षा करने वाली निधि मिली, अतः हम कृतकृत्य हुए हैं जिसका 'अद्य नो' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—अद्य नो जन्मसाफल्यं विद्यायास्तपसो दृशः ।

त्वया सङ्गम्य सद्गत्य यदन्तः श्रेयसां परः ॥२१॥

श्लोकार्थ—आज आपका मिलन हुआ । आप सत्पुरुषों की गति हैं, श्रेय में जो सबसे उत्तम श्रेय है वे आप हैं । आपके दर्शन से हमारी विद्या, तपश्चर्या और नेत्र सब सफल हुए हैं ॥२१॥

सुबोधिनी - सज्जन्म ऋषिवशे तस्य च फलं ब्रह्मप्राप्तिं साद्यसंपन्नेति । विद्याः सर्वा तासां फलं सर्वज्ञता तदितराभिज्ञत्वं पूर्वमपि सिद्धम् भगवल्लीलापरिज्ञानं तु न जातमिति । तदद्य जातमिति विद्यायाः फलं तपसा हि परज्योतिर्भगवन्तमधोक्षजं साक्षात्कर्णोति तच्चाद्यं च जातमिति सर्वथा कृतार्थता । अनघेति संबोधनपाठे न विद्यते अघं यूष्मादिति । हे सर्वपापनिवारकेति

फलान्तरमपि सूचितम् । अपहतपाप्मत्वेन वा अमत्संबन्धेन वा न काचित् क्षतिरिति । अत एव त्वया सङ्गम्य जन्मसाफल्यादिकं जातम् । कथभूतेन त्वया सद्गत्य सतां गतिः प्राप्यफलम् । स्वरूपस्यैव फलत्वमविकृतत्वं च ज्ञापयितुं स्त्रीलिङ्गपदप्रयोगः । साफल्यं साधयन्ति यदन्तः श्रेयसां पर इति । यद्यस्मात्कारणाच्छ्रेयसामन्तः परिसमाप्तिः परः एतदेव । न ह्यम्यादन्यच्छ्रेयोऽस्तीति ॥२१॥

व्याख्यानार्थ—हमारा ऋषि वंश में सत् जन्म हुआ है, उस का फल ब्रह्म की प्राप्ति है, वह आज पूर्ण हुई है, अर्थात् ब्रह्म प्राप्त हुआ है । सब विद्याएँ उनका फल सर्वज्ञता आदि पहले भी सिद्ध था, किन्तु भगवान् की लीला का परिज्ञान नहीं था, वह आज हुआ है । यह विद्या का फल, तपस्वी तपस्या से परमज्योति स्वरूप भगवान् अधोक्षज का साक्षात्कार करता है वह भी आज हुआ है, यों सर्व प्रकार कृतार्थता हुई है । हे निष्पापी ! हे सर्व पापों के मिटाने वाले यों दूसरा फल भी सूचित किया, जिसके पाप नष्ट हो गए हैं उससे या हमारे सम्बन्ध से, किसी प्रकार की क्षति नहीं है । इसलिए आपसे मिलकर हमारे जन्म की सार्थकता हुई है अर्थात् हमारा जन्म लेना सफल हुआ है, आप कैसे हैं ? सत्पुरुषों की गति हो, अर्थात् उनको भी फल रूप आप ही प्राप्त होते हैं, 'गति' शब्द स्त्रीलिङ्ग इस लिए दिया है कि स्वरूप का ही फलपन एवं अविकृत्यपन है अर्थात् प्रभु का इन्द्रिय आदि सर्व स्वरूप अविकारी है, अतः फलरूप भी है, साफल्य को सिद्ध करते हैं, कि जितने भी श्रेय है उन सब से उत्तम श्रेय आप ही हैं जिससे उत्तम को श्रेय नहीं है अतः यह ही पर है ॥२१॥

१- स्त्रियाँ स्वरूप से मोहक है अतः उनका स्वरूप फल रूप है और अविकृतगन भी है, क्योंकि उनको देखकर पुरुषों में विकार होता है, स्त्रियों में नहीं, इसी प्रकार प्रभु स्वरूप सौन्दर्य से फलरूप तो हैं किञ्च अविकारी होने से भी फलरूप हैं ।

आभास—एवं साक्षान्निर्दोषपूर्णगुणत्वं भगवतो निरूप्य श्रद्धातिशयात् नमस्यन्ति नमस्तस्मै भगवत इति ।

ग्रामासार्थ—इस प्रकार भगवान् का निर्दोषपूर्ण गुणत्व निरूपण कर श्रद्धातिशय के कारण 'नमस्तस्मै' श्लोक में उनको नमस्कार करते हैं ।

श्लोक—नमस्तस्मै भगवते कृष्णायकुण्ठमेधशे ।

स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने परमात्मने ॥२२॥

श्लोकार्थ—जिनकी मेधा (बुद्धि) अकुण्ठ है और जिसने अपनी महिमा को माया द्वारा छिपा दिया है, वैसे परमात्मा श्रीकृष्ण को हम नमन करते हैं ॥२२॥

सुबोधिनी—स एव कृष्ण इति कृष्णाय । ननु ब्रह्मवादे सर्व एव साक्षाद्भगवान् को विशेष इति चेत् तत्राह अकुण्ठमेधस इति । न कुण्ठा मेधा यस्येति । अन्यत्र रूपान्तरभावे मेधाया अपगमोऽस्ति पश्चात् प्रत्यापत्तौ योजितपटवत् विलक्षण्यं भवति । भगवति तन्नास्तीति अकुण्ठत्वं नैतज्जीवेषु भवतीति साक्षादविकृतब्रह्मत्वमित्यर्थः । नन्वेवं चेत् कथं सर्वे न विदुः तत्र हेतुमाहुः स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्न इति । स्वस्य साधनत्वेन स्वीकृत्या मायया आच्छन्नो

महिमा यस्येति । मायापिहितदृष्टयो भगवन्मात्म्यं न पश्यन्तीत्यर्थः ।

विषयाच्छादन स्वार्थं चेतने नोपपद्यते
अन्यार्थमेव तदयुक्तमात्मस्थे विषयेऽपि च ।

ननु सर्वात्मकत्वाद्भगवतः आत्मानमेव प्रति कथं तिरोधानमिति चेत् तत्राह परमात्मन इति । यथा गङ्गातदधिष्ठातृदेवतयोरन्तरमेवमात्मपरमात्मनोर्विलक्षण्यम् । यथा जले दृष्टेऽपि गङ्गादेवता न दृष्टा भवति जलाच्च तिरोधत्ते तद्वदित्यर्थः ॥२२॥

व्याख्यार्थ—वह ही श्रीकृष्ण है, इसलिए 'कृष्णाय' कहा है ब्रह्मवाद में तो सब ही साक्षात् भगवान् हैं कोई विशेष कम नहीं है यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि जिसकी मेधा कुण्ठित नहीं होती है वैसा तो श्रीकृष्ण ही है । इनके सिवाय, दूसरे रूप में मेधा की हानि कभी होती है, पश्चात् फिर मेधा आ जाने से योजित पट की तरह विलक्षणता होती है । उनमें मेधा को सर्वदा समानता नहीं है । भगवान् में यों नहीं है, इसलिए भगवान् की बुद्धि का अकुण्ठत्व कहा है । यह जीवों में नहीं होता है, इसलिए साक्षात् अविकृत, ब्रह्म ही है । ब्रह्मत्व ही अविकृत है, यदि विकृतत्व ब्रह्म में नहीं, सदा समता है तो सब आपको क्यों नहीं जान सकते हैं ? जिसका हेतु कहते हैं कि 'स्वयोगमाययाच्छन्नमहिम्ने' अपने साधनपन से स्वीकृत माया से अपनी महिमा को छिपा लिया है अर्थात् जिनकी दृष्टि को माया ने आच्छन्न कर दिया है वे भगवान् के महात्म्य को नहीं देख सकते हैं ।

अपने लिए विषय का आच्छादन चेतन (ब्रह्म) में नहीं बनता है विषय आत्मा में स्थित होते हुए भी वह आच्छादन दूसरों के लिए करना उचित है ।

भगवान् सर्वात्मा हैं अपने प्रति ही कैसे आच्छादन^१ ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है, कि जैसे जल रूप गङ्गा और देवता रूप गङ्गा का परस्पर अन्तर है वैसे ही आत्मा और परमात्मा में भी विलक्षणता है जैसे जल के देखने हुए भी गङ्गा देवता के दर्शन नहीं होते हैं, वह जल से तिरोहित है वैसे ही परमात्मा भी ॥२२॥

आभास — अत एव न केपि जानन्तीत्याह न यं विदन्तीति ।

आभासार्थ—इस कारण से ही इनको कोई भी नहीं जान सकता है यो 'न यं विदन्ति' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—न यं विदन्त्यमी भूपा एकारामाश्च वृष्णयः ।

मायाजवनिकाच्छन्नमात्मानं कालमीश्वरम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—ये भूपति तथा साथ में रहने एव खेलने वाले यादव भी जिसको नहीं जान सके हैं, क्योंकि उस आत्मारूप कालरूप एवं ईश्वर रूप ने अपने को मायारूप पट (पर्दे) से छिपा लिया है ॥२३॥

सुबोधिनी—अमी विद्यमाना भूपाः यदि जानीयुस्तदा नैनं व्यवहारं कुर्युरिति । तेषां सङ्गो नास्तीति न वक्तव्यं यत एकारामाः । चकाराज्जन्मप्रभृति सर्वाः क्रियाः एकत्रेति निरूपितम् । वृष्णयश्च तथात्वेन प्रसिद्धाः । तथापि न विदन्ति । तत्र हेतुं स्मारयन्ति मायाजवनिकाच्छन्नमिति पुत्रोयं भ्राता पितेत्यादिवृद्धिहेतुभूतया मायया नाट्ये आवश्यकरूपया

जवनिकया आच्छन्नम् । ननु ते हीनाः स्वभावत एव भगवन्तं न ज्ञास्यन्ति किमाच्छादनेनेति चेत् तत्राह आत्मानमिति । अनेन तेषां संसारोपि न भवेदिति लीलाबाधोपि निरूपितः । किंच । कालोयं यद्यात्मानं ज्ञापयेत् तदा ते मारिता न भवेयुरिति । किंच । ईश्वरोऽयम् । ईश्वरास्तु गुप्ता एव तिष्ठन्तीति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—ये राजा जिसके स्वरूप को नहीं जानते हैं, यदि जानते हैं तो उनके साथ इस प्रकार का व्यवहार नहीं करते, उनका दोष नहीं, क्योंकि उनको इनके साथ सङ्ग नहीं है, यह आपका कहना भी व्यर्थ है क्योंकि 'एकारामाः' एक ही स्थान पर आराम करने वाले हैं 'च' पद से बताया है कि जन्म से लेकर सब क्रियाएँ एक ही स्थान पर साथ में रहते ही करते थे यादव भी वैसे ही करते थे यह प्रसिद्ध ही है, यों साथ रहते हुए भी नहीं जानते हैं, उस हेतु की याद दिलवाते हैं कि 'मायाजवनिकाच्छन्न' यह मेरा पुत्र है, यह भाई है, यह पिता इसी प्रकार की बुद्धि कराने वाली माया से छिपे हुए हैं । वे तो स्वभाव से हीन हैं, अतः भगवान् को नहीं जान सकते हैं । मायारूप आच्छादन की क्या आवश्यकता है ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है, कि 'आत्मानं'

१- भगवान् अपनी शक्ति से जो आच्छादन करते हैं, वह अपने लिए नहीं किन्तु दूसरे मेरे स्वरूप को न देख सकें, इसलिए करते हैं ।

आत्मारूप अपने को, इससे उनको संसार का बाध भी न होवे, यों लीला का बाध निरूपण किया, इस समय यह कालरूप हैं, यदि अपने को जनावे तो वे मारे नहीं जावे, विशेष में ये ईश्वर हैं, ईश्वर तो गुप्त ही रहते हैं यों ॥२३॥

आभास — नन्वात्मत्वे व्यवधानाभावत् कथमेते न जातवन्तस्तत्राह यथा शयान इति ।

आभासार्थ—जब सब आत्मा हैं, तब व्यवधान हो नहीं सकता है तो दूसरे क्यों नहीं जान सकते हैं ? इसका उत्तर 'यथा शयान' श्लोक में देते हैं—

श्लोक — यथा शयानः पुरुष आत्मानं गुणतत्त्वदृक् ।

नाममात्रेन्द्रियाभातं न वेद रहितं परम् ॥२४॥

श्लोकार्थ—जैसे सोया हुआ पुरुष, नाम, विषय और इन्द्रियों में सत्यता मानता है, कारण, कि स्वप्न में उसको आत्मा का अनुभव नहीं होता है किन्तु नाम, विषय और इन्द्रियों को ही आत्मा समझता है वह आत्मा भास है, इससे परमात्मा को नहीं जान सकता है ॥२४॥

सुबोधिनी—यथा निद्रा आत्मज्ञाने व्यवधायिका तथा अविद्या माया वा भगवदीया तेषामात्माज्ञाने हेतुरिति वक्तुं मायाजवनिका-च्छन्नत्वेन निरूपितमपि प्रकारभेदेन निरूपयितु-मिदमुच्यते । यथा शयानः पुरुष आत्मानं नाम-मात्रेन्द्रियेष्वेव आभातं वेद न तु ततः परम् । तत्र हेतुः गुणतत्त्वदृगिति । गुणेषु स्वप्नप्रतिभा-तविषयेषु तत्त्वदृक् परमार्थबुद्धिः । यदि जानी-यादेते अपरमार्थाः इदानीमनुभूयमानदेहक्रिया-

सहिताः तदा जाग्रदवस्थमात्मानं जानीयादेव । नन्वात्मानुभवस्तत्राप्यस्तीति चेत् सत्यम् । तथापि नाम तदानींतनं देवदात्तदिरूपं, मात्रा विषयाः, इन्द्रियाणि च तेष्वेव आभातः । त एव अहंतया गृहीता इति आत्माभासप्रतीतिरेव न त्वात्मप्रतीतिरित्यर्थः । उभयं निषेधयन्ति न वेद रहितं परमिति । पूर्वोक्तनामादिरहितं तदव-स्थातोऽपि च परं न वेद ॥२४॥

व्याख्यार्थ—जैसे नींद आत्म ज्ञान में रुकावट है, वैसे ही अविद्या अथवा भगवदीया माया, उनकी आत्मा के अज्ञान में हेतु है, यों कहने के लिए कि माया के पर्दे से आत्मा आच्छन्न है, इसको दूसरे प्रकार से दृष्टान्त द्वारा समझाते हुए कहते हैं, कि जैसे सोया हुआ पुरुष आत्मा के नाम, विषय और इन्द्रियों में ही प्रतीति करता है, उसमे परे कुछ नही जानता है, यों जानने में हेतु कहते हैं कि 'गुणतत्त्वदृक्' स्वप्न में देखे हुए विषयों में ही परमार्थ बुद्धिवाला होना है, जो जान जावे, कि ये जो अब देह क्रिया सहित अनुभव में आ रहे हैं वे सब भूटे हैं तो जाग्रत् अवस्थावाली आत्मा को पहचाने ही यदि कहो कि वहाँ भी आत्मानुभव है ? जो वह सत्य है, तो भी नाम अर्थात् उस समय के देवदत्त आदि रूप, विषय और इन्द्रियाँ उतने में ही आभासित होने से वे ही अहंता के कारण ग्रहण किए हैं इस प्रकार आत्मा भास की ही प्रतीति है, न कि आत्मा की प्रतीति है, दोनों

व्याख्यार्थ—प्राणी को देह इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण चार प्रकार होते हैं उनमें से हृदय का सम्बन्ध सौहार्द से होता है। सौहार्द होने से हो स्मरण, बन सकता है। प्राण का सखा भाव से सम्बन्ध होता है, वह हो जोव के पास जाता है, अतः सखा के पीछे ही जाता है। यदि भगवान् मेरे प्राणों के सखा बन जावे, तो तब मेरे प्राण उनकी ओर ही जाएंगे, यही तात्पर्य है, इन्द्रियों का सम्बन्ध मैत्री से है, वे इन्द्रियाँ मैत्री की तरह ही बर्ताव करेगी, देह का सम्बन्ध दासपन से है, अर्थात् दासत्व प्राप्त हुआ भगवान् के साथ देह का सम्बन्ध सर्वदा बना रहेगा, ये चार ही मेरे पहले भगवान् में स्थित हैं, नहीं होते, तो भगवान् से मिलाप कैसे हो सकता ? फिर जन्म जन्म में वंसा ही रहे यह प्रार्थना है, जहाँ बिना मांगे भी, इनकी सम्पत्ति दे दी तो वे क्या नहीं देगे अर्थात् सब कुछ मांगने पर तो देंगे ही, यों गृह में प्रविष्ट हो माँगने लगा।

एक जन्म में एक कृष्ण से ये सम्बन्ध हुए तो दूसरे जन्म में शिव से या दूसरे किसी से हो, वंसी प्रार्थना करो, एक के लिए ही आग्रह क्यों ? यदि यों कहते हो, तो इसका उत्तर यह है, कि वे महानुभाव हैं, जिससे उनके सेवक के सेवकों में भी ससारादि धर्म नहीं हैं। और विशेष यह है कि गुणों की निधि वे ही हैं, उनसे सख्य आदि के लिए जन्म लेने की प्रार्थना करते हो, तो जन्म लेने पर विषयों में आसक्ति होगी तो अनर्थ हो जाएगा, इसके उत्तर में कहना है, कि अनर्थ न होगा क्योंकि तब भगवद्भक्तों से सङ्ग होगा, उससे विषयादि में सङ्ग नहीं होगा जिससे अनर्थ करने वाले सङ्ग के दोष स्वतः निवृत्त हो जाएंगे ॥३६॥

आभास — ननु तस्मिन् जन्मनि धनराज्यादिसंपत्तौ न भगवद्भक्तः सह सङ्गः न वा निस्तार इति चेत् तत्राह भक्ताय चित्रा इति ।

आभासार्थ—यदि कहो, कि उस जन्म में धन राज्य आदि सम्पत्ति होने पर भगवद्भक्तों से सङ्ग नहीं हो सकेगा तो, निस्तार भी नहीं होगा, इसके उत्तर में 'भक्ताय चित्रा' श्लोक कहता है—

श्लोक—भक्ताय चित्रा भगवान् हि संपदो

राज्यं विभूतीर्न समर्धयत्यजः ।

अदीर्घबोधाय विचक्षणः स्वयं

पश्यन्निपातं धनिनां मदोद्भवम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—धनी पुरुषों के धन के मद से नीच जन्म होते देखकर, विचक्षण भगवान् अपने अज्ञानी भक्तों को विचित्र सम्पदा, राज वा विभूतियाँ नहीं देते हैं, अपितु दृढ़ भक्ति ही देते हैं, मुझ में तो अब सम्पदाओं के मिल जाने से वह भक्ति नहीं रही, इसलिए अब भक्ति ही माँगता हूँ ॥३७॥

सुबोधिनी—भगवान् विचित्रा बुद्धिव्यामो- विभूतीरैश्वर्याणि च । तत्र हेतुः अज इति स्वयं
हिक्ता संपदः भक्ताय न समर्धयति । तथा राज्यं न जातः । अनेन षड्भावविकारा निराकृताः ।

अङ्गीकार न करते हुए भी भगवान् के अज्ञान का समर्थन किया है। संसार अनादि सिद्ध होने, से गुरु शास्त्र और तपस्याओं से कदाचित् भगवान् का अनुभव सम्भव है अथवा आत्मानुभव भी संभव है, इस कारण से अभी भगवान् को देखकर भी 'वह यही है', यों प्रतीति क्यों नहीं होती है? इसके उत्तर में कहते हैं, कि, जीव की स्मृति, जन्म और मरण के चक्र में बारबार फिरने से नष्ट हो जाती है ॥२५॥

आभास—तादृशोयमद्य दृष्ट इति स्यकृतार्थतामनूद्य कृपां प्रार्थयन्ते तस्याद्येति ।

आभासार्थ—वैसे जो आप हैं उनका आज दर्शन किया अतः अपनी कृतार्थता कहकर 'तस्याद्य' श्लोक से कृपा करने के लिए प्रार्थना करते हैं—

श्लोक—तस्याद्य ते ददृशिमाङ्घ्रिमघौघमर्षं

तीर्थास्पदं हृदि कृतं सुविपक्वयोगैः ।

उत्सिक्तभक्त्युपहृताशयजीवकोशा

आपुर्भवद्गतिमथोनुगृहाण भक्तान् ॥२६॥

श्लोकार्थ—पाप पटल (समुह) को नाश करने वाली, गङ्गाजी के उत्पत्ति स्थान पारिपक्व योग वाले योगी जन भी जिनका केवल हृदय में चिन्तन कर सकते हैं, उन आपके चरणारविन्द का बहुत पुण्यों के प्रताप से आज प्रत्यक्ष दर्शन हुआ है, सो हमें भक्त जानकर अनुग्रह कीजिए, भक्ति के सिवाय आपके चरण की प्राप्ति नहीं होती है, वृद्धिगत भक्ति से ही जिनके लिङ्ग आदि का नाश हो गया है वे ही आपको प्राप्त कर सकते हैं ॥२६॥

सुबोधिनी यः कदाचिदपि नोपलब्धः यः फलं सर्वं च स दृष्ट एव । तत्रापि यथा सर्वदा दर्शनं भवति तेनोपायेन सहितो दृष्ट इति ज्ञापनार्थं तस्याङ्घ्रिं ददृशिमेत्युक्तम् । चरणस्य सर्वदा साक्षात्कारहेतुत्वे प्रकारमाह अघौघमर्षमित्यादिभिर्विशेषणैः । मलापकर्षणं पूर्वं शुद्ध्यादिगुणयोजनम् । ततश्च फलरूपं च योगसाधनभाषितम् । अघौघस्य पापसमूहस्य मर्षं मृषात्वयस्मात्, मर्षणं शोधनं वा । किंच । तीर्थास्पदं गङ्गादीनामुत्पत्तिस्थानं ततो योगसिद्धेर्हृदि फलत्वेन कृतं, एतादृशं चेत् प्राप्ताः तदा क्रमेण हृदि स्थितो भविष्यतीति तेनाग्रे सर्वं सेत्स्यतीति

स्वभार्याभिनन्दनम् । ननु कथमग्रे भवन्तो मुक्ता भविष्यन्तीति चेत्तं प्रकारमाहुः उत्सिक्तेति । उत्सिक्ता या भक्तिः मर्यादामुल्लङ्घ्य अधिका जाता तया कृत्वा उपहृता भगवते समर्पिता आशयजीवकोशाः अन्तःकरणात्मसंघाताः यैः । संघातादात्मा तदुपाधिश्च पृथक्कृत्य निरूपितौ आन्तरत्वज्ञापनाय । आशय एव वा जीवकोशः एवमुपाधिसमर्पणे केवला वयं भवद्गतिमापुः । 'आशसायां भूतवच्च' इति प्राप्स्याम इति लृटि प्रयोक्तव्ये लिट्प्रयोगः । अथ अस्मात्त्वदीया एवेति भक्तान् अस्मान् अनुगृहाण आत्मसात्कुर्विति प्रार्थना ॥२६॥

व्याख्यार्थ—जो कभी भी नहीं पाया और जो सर्व फल है, वह आज देखा हो है, इसमें भी जैसे सर्वथा दर्शन होता है, उस उपाय सहित देखा है यों जताने के लिए कहा है कि 'तस्याग्नि दहशिमे' उनके चरणारविन्द को देखा है, सर्वदा साक्षात् नार हेतु पुन में चरण का तीन विशेषणों से प्रकार कहते हैं—

मलापकर्षणं^१ पूर्वशुद्ध्यादि गुण योजनम्
ततश्चफलरूपं च योग साधनभावितम्

कि जिससे पाप समूह का नाश हो जाता है, शुद्धि आदि हो जाती है किश्च गङ्गा आदि तीर्थों की उत्पत्ति स्थान, तत्पश्चात् जिनका योग सिद्ध हो गया है उन्होंने हृदय में फलरूप जानकर धर लिए हैं, वैसे चरणों को जो हम प्राप्त हुए हैं अर्थात् पा सकें है, तो क्रम से हृदय में विराजेंगे, इससे आगे सब सिद्ध होगा। यों कहकर अपने भाग्य का अभिनन्दन किया है, तुम आगे कैसे मुक्त होवोगे! इस प्रश्न का उत्तर देते हुए, उसका प्रकार बताते हैं. मर्यादा का उल्लङ्घन कर जो भक्ति बढेगी उससे अपने आशय जीव कोश आदि सर्व भगवान् को अर्पित हो जायेंगे, संघात से आत्मा और उसकी उपाधि दोनों आन्तरपन के जताने के लिए पृथक् कर निरूपण किए हैं, अथवा आशय ही जीवकोश है, इस प्रकार उपाधि समर्पण कर देने से आशा है, कि हम केवल भगवद्गति को प्राप्त होगे 'आशंसायां भूतवच्च' इस नियमानुसार 'आपुः' यह लिट् लकार लृट् के स्थान पर दिया है, 'अथ' पद का आशय है कि हम आपके ही भक्त हैं, इसलिए हम भक्तों पर कृपा कर अपना लोजिए यह प्रार्थना है ॥२६॥

आभास—एवं प्रार्थयित्वा तूष्णीमेवाङ्गीकारे कृतार्थत्वं ज्ञात्वा गन्तुमारेभिर
इत्याह इत्यनुज्ञाप्येति ।

आभासार्थ—यों प्रार्थना की, भगवान् मौन रहे जिससे मुनियों ने समझा कि हमारी प्रार्थना भगवान् ने स्वीकार की है यों समझ वहां से जाने की तैयारी की जिसका वर्णन 'इत्यनुज्ञाप्य' श्लोक में शुकदेवजी करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इत्यनुज्ञाप्य दाशार्हं धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरम् ।

राजर्षे स्वाश्रमान् गन्तुं मुनियो दधिरे मनः ॥२७॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी ने कहा, कि हे राजर्षि ! भगवान् से, धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर से आज्ञा लेकर मुनियों ने अपने आश्रम को जाने का मन किया ॥२७॥

सुबोधिनी—दाशार्हं सेवकप्रियं ततो भक्तै- | वृद्धभक्तौ निरूपितौ । विश्वासार्थं संबोधनम् ।
रप्यनुज्ञाता इत्याह धृतराष्ट्रं युधिष्ठिरमिति । | ततः स्वाश्रमान् गन्तुं मनो दधिरे ॥२७॥

१- अर्थः—पहले मल का छूटना, फिर जिससे शुद्धि आदि गुणों को युक्त करना पुनः योग साधन भावित फलरूप है ।

व्याख्यार्थ—पहले सेवक जिनको प्यारे हैं, वैसे श्रीकृष्ण से और इनके भक्त धृतराष्ट्र तथा युधिष्ठिर से जाने की आज्ञा ली, धृतराष्ट्र और युधिष्ठिर दोनों वृद्ध और भक्त कहे, संबोधन 'राजर्षे' विश्वास के लिए दिया है, प्रश्नात् अपने आश्रम को तरफ जाने का मन किया ॥२७॥

आभास—एवं निवृत्तिपराणां फलसिद्धिमुक्त्वा प्रवृत्तिपराणामपि फलसिद्धयर्थं प्रक्रियान्तरमारदीक्षेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार निवृत्ति परायण मुनियों की फल सिद्धि कह कर प्रवृत्ति के परायणों की फल सिद्धि के लिए अन्य प्रकार 'तदीक्ष्य' श्लोक में कहते हैं,

श्लोक—तदीक्ष्य तानुपव्रज्य वसुदेवो महायशः ।

प्रणम्य चोपसंगम्य बभाषेदं सुयन्त्रितः ॥२८॥

श्लोकार्थ—यह सब देख, जब उन्होंने जाने का मन किया तब उनके निकट महा यशस्वी वसुदेव आकर प्रणाम कर विनय से यों कहने लगे ॥२८॥

सुबोधिनी—वसुदेवो हि तानुत्कृष्टान् जानाति अतः स्वकृतार्थत्वाय तान् प्रष्टुं यतते । अस्तानुपव्रज्य । तस्यैवं स्वनिस्तारार्थं यत्ने पूर्व-सिद्धं हेतुमाह महायशः इति । महद् यशो	यस्येति कथनार्थं दृष्टमप्युपायं कृतवानित्याह प्रणम्येति । चकारात्स्तोत्रमपि कृत्वा । उप-संगम्य निकटे समागत्य । सुयन्त्रितः सन् वक्ष्य-माणमिदं बभाषे । सन्धिरार्षः ॥२८॥
---	---

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी उन ऋषियों को उत्तम जानते हैं, अतः अपने को कृतार्थ करने के लिए उनसे पूछने का प्रयत्न करते हैं, अतः उनके निकट आकर नमस्कार कर एवं स्तुति कर विनयी हो निम्न श्लोक से पूछने लगे । वसुदेवजी ने अपने निस्तार के लिए जो यत्न किया उसका कारण है, कि वह महान् यशस्वी थे यों कहने के लिए दृष्ट उपाय भी कहा कि प्रणाम, स्तुति और विनय भी की, जिनसे उसका महान् यशस्वी होना सिद्ध किया है ॥२८॥

आभास—विज्ञापनामाह नमो वः सर्वदेवेभ्य इति ।

आभासार्थ—'नमो वः सर्वदेवेभ्य' श्लोक से प्रार्थना करते हैं ।

श्लोक—वसुदेव उवाच—नमो वः सर्वदेवेभ्य ऋषयः श्रोतुमर्हथ ।

कर्मणा कर्मनिर्हारो यथा स्यान्नस्तदुच्यताम् ॥२९॥

श्लोकार्थ—वसुदेवजी कहने लगे, कि हे ऋषियों ? सब देवों के निवासरूप आपको मैं प्रणाम करता हूँ, मेरी प्रार्थना सुनने के लिए योग्य हो वह कर्म करने का प्रकार बताईए, जिस भाँति कर्म करने से कर्म नाश हो ॥२९॥

सुबोधिनी—यद्यप्येते ऋषयः तथापि सर्वे देवा येष्विति 'यावतीर्वे देवताः' इत्यादिश्रुतेः सर्वदेवत्वम् । अनेन देवा भवदधीना इति स्तुतिरप्युक्ता । हे ऋषयः अलौकिकदृष्टारः अतो मत्सवरूपं जानन्तीति विज्ञापितम् श्रोतुमर्हथ । तदेवाहु कर्मणा कर्मनिर्हार इति । अयमाशयः । ज्ञानेन कर्मनाशः सुप्रसिद्धः 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि' इति वाक्यात् । कर्म तु सजातीयं न व्यावर्तयति । यद्यपि प्रायश्चित्तो कर्मनाशकत्वं निरूपित तथापि न तत्कर्म । अकर्म कर्म नाशयति विपरीतं वा । निषिद्ध विधिवनाद्विहितं नाशयति यथा प्रायश्चित्तं यथा वा नखाम्बु पूर्वपुण्य नाशयति तथापि सजातीयस्य न सजातीयनाशकत्वम् । नखादिषु नखाम्बुप्रभृतिषु कर्मनाशः अधर्मजननद्वारा तेन स नाशः दुःखमेव

संपादयति न संसारनिवृत्तिम् । अन्यथा महान्तो जानवस्तत्रापि यतं न । अतस्तादृशी कर्मनिवृत्तिरपेक्ष्यते यस्यां जातायां संसार एव निवर्तते । यदि संसारनिवृत्तिमेव प्राथयेत् तदा ज्ञानादिकमेवोपदिशेयुः । ज्ञानं तु न गृहस्थस्येति मन्यते 'कर्मण्येवाधिकारस्त' इति वाक्यात् । अतः कर्मण्येव केनचित्प्रकारेण कृतेन यथा संसारहेतुभूतकर्मनाशः तथा वक्तव्यमित्याह नस्तदुच्यतामिति । अत्र पुनः ऋषाणां पूर्ववत्संदेह उत्पन्नः । यथा भगवान् ईश्वरः मन् विपरीतवाक्यमुक्तवान् । तस्य च भावो यथाकथंचिद्वर्णिनः । एव वसुदेवोपि मुक्त एव सिद्धसमस्तपुरुषार्थ एव विपरीतवत् पूर्व कर्मनिर्हार पृच्छन्ति । केनाभिप्रायेणोति किमस्मज्ज्ञानं परोक्ष्यते आहोस्विदन्त्यथेति ॥२६॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि ये ऋषि हैं, तो भी 'यावतीर्वे देवताः' इत्यादि श्रुतियों के अनुसार इनमें सब देव स्थित हैं, यों कहने से यह सिद्ध किया है कि देव आपके आधीन हैं, जिससे ऋषियों की स्तुति भी की है । हे ऋषयः ! इस सम्बोधन के देने से यह दिखाया है कि आप अलौकिक को देखने वाले हैं, अर्थात् मेरे स्वरूप को आप जानते ही हैं, इसलिए कहता हूं, कि जो मैं प्रार्थना करूंगा, उसको सुनने के योग्य आप हो अतः ध्यान देकर सुनोगे । वह प्रार्थना कहते हैं, कि जैसे कर्म से कर्म का नाश हो जाय वह कर्म करने का उपाय बताईये, ज्ञान से तो कर्म का नाश सुप्रसिद्ध ही है, जिससे 'ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेर्जुन' यह गीता का वचन प्रमाण है, कर्म अपने सजातीय कर्म को नष्ट नहीं कर सकता है । यद्यपि प्रायश्चित्त करने से कर्म का नाश होता है, किन्तु वह कर्म नहीं है । अकर्म कर्म को नाश करता है या विपरीत करता है, विधि के बल से विहित कर्म, निषिद्ध कर्म को नाश करता है, जैसे प्रायश्चित्त, अथवा जैसे नखों का जल पूर्व पुण्य को नाश करता है, तो भी सजातीय, सजातीय का नाश नहीं कर सकता है । नखों के जल आदि में कर्म नाश की शक्ति इस लिए है कि पाप अधर्म से उत्पन्न होता है अतः उस पाप को नख जल नाश करता है इसी से वह नाश दुःख ही सम्पादन करता है, संसार की निवृत्ति नहीं करता है । यदि यों न होता तो महान् पुरुष ज्ञान की तरह यों करने का प्रयत्न करने लग जावे, अतः वैसी कर्म निवृत्ति की मुझे अपेक्षा है जिसके होने से संसार ही मिट जावे । यदि संसार की निवृत्ति की ही प्रार्थना करते, तो ज्ञानादिक का ही उपदेश दे देते । ज्ञान तो गृहस्थी को सिद्ध नहीं हो सकता है, इस लिए वसुदेवजी ने ऐसी प्रार्थना ही नहीं की है, और ऋषियों ने भी ऐसा समझ ज्ञानोपदेश सार्थक न समझा क्योंकि गृहस्थ के लिये ही अर्जुन को कहा कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' तेरा कर्म का ही अधिकार है, इसलिए किसी प्रकार किए हुए कर्म से ही संसार का हेतुभूत कर्म का नाश हो वह कर्म करने का उपाय मुझे कहिए इस प्रकार के वसुदेवजी के प्रश्न करने पर ऋषियों को फिर पहले की तरह संदेह हुआ कि, जैसे ईश्वर होते हुए भी भगवान् ने विपरीत वाक्य कहे, और उसका भाव थोड़ा सा वर्णन भी किया है इसी प्रकार वसुदेवजी भी मुक्त ही हैं, समस्त पुरुषार्थ सिद्ध

वाले हैं, फिर विपरीत की भाँति प्रथम कर्म का नाश पूछते हैं, किस अभिप्राय से पूछते हैं ? क्या हमारी परीक्षा लेते हैं ? अथवा दूसरा कोई कारण है ॥२६॥

आभास—एवं ऋषीणां संदेहं ज्ञात्वा नारदः स्वयमाह नापि चित्रमिदं विप्रा इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ऋषियों को संदेह हुआ है यों जान कर नारदजी स्वयं 'नापिचित्रमिदं विप्रा' श्लोक में इनको शङ्का निवृत्त करते हैं—

श्लोक—नापि चित्रमिदं विप्रा वसुदेवो बुभुत्सया ।

कृष्णं मत्वाभकं यत्नः पृच्छति श्रेय आत्मनः ॥३०॥

श्लोकार्थ—नारदजी ने कहा कि, हे विप्रों ! श्रीकृष्ण को अपना पुत्र जानकर, वसुदेवजी अपने कल्याण के साधन जानने की इच्छा से, अपने से प्रश्न कर रहे हैं, इसमें कोई भी आश्चर्य की बात नहीं है ॥३०॥

सुबोधिनी—इदं वसुदेववाक्यं, नापि चित्रम् । अपिशब्दाद्गम्भीरार्थमपि न । विप्राः इति भवन्तः पूरका इति स्वपूर्यर्थमेव तदाह बुभुत्सयेति । ननु बुभुत्सामात्रं चेत्प्रयोजनं तदा कृष्णः किं न पृष्ट इति चेत् तत्राह कृष्णं मत्वाभकं यत्नः

इति । स्वोत्पन्नः स्वाज्ञातं कथं ज्ञास्यतीति । किंच । ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति न्यायेन वसुदेवदृष्टौ बालक एव प्रतिभाति । अत एव नोऽस्मान् स्थूलान् पण्डितानिति ज्ञात्वा पृच्छति ॥३०॥

व्याख्यार्थ—यह वसुदेवजी का वाक्य आश्चर्य करने वाला नहीं है, 'अपि' शब्द से यह कहा है, कि गम्भीर अर्थ वाला भी नहीं है, अपने कल्याण के साधन को जानने की इच्छा से आपसे पूछा है; क्योंकि आप विप्र हैं अर्थात् उनको कामना के पूरक हैं, इसलिए आप से प्रश्न किया है, यदि कहो, कि केवल जानने की इच्छा से ही पूछा है, तो श्रीकृष्ण से क्यों नहीं पूछ लिया ? जिसका उत्तर नारदजी ने दिया है कि वे श्रीकृष्ण को अपना पुत्र मानते हैं, मुझसे उत्पन्न हुआ बालक, जो मैं नहीं जानता हूँ, वह कैसे जानता होगा ? किञ्च 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस वचन के अनुसार वसुदेवजी की दृष्टि में वे बालक ही दीखते हैं अतएव हमको, स्थूल पंडित, अर्थात् बड़े ज्ञानी, जान कर ही हमसे पूछ रहे हैं ॥३०॥

आभास—ननु जानाति भगवान् सर्वेश्वर इति तत्राह सन्निकर्षोत्र मर्त्यानामिति ।

आभासार्थ—वसुदेवजी यों जानते हैं कि कृष्ण, सर्वेश्वर भगवान् हैं, जिसका उत्तर 'सन्निकर्षोत्र मर्त्यानां' श्लोक में देते हैं,

श्लोक—सन्निकर्षोत्र मर्त्यानामनादरणकारणम् ।

गाङ्गां हित्वा यथान्याम्भस्तत्रत्यो याति शुद्धये ॥३१॥

श्लोकार्थ—इस जगत् में निकट रहना, अनादर का कारण है । देखो गङ्गा पर रहने वाले गङ्गा के जल के महात्म्य को न जानकर शुद्धि के लिए दूसरे जल से स्नान करने के लिए जाते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—अनादरे संनिकर्ष एव कारणम् । मर्त्यानामिति । मरणधर्माणः ते जानन्ति सर्वे एव मर्त्याः को विशेष इति । आत्मवत्सर्वदर्शनादनादरः । असंभावितं मत्वा दृष्टान्तमाह गङ्गां हित्वेति । तत्रत्यो जनः गङ्गातीरस्थः ।

शुद्धय इति गङ्गातीरे संमर्दे स्नातः अशुद्धोऽहं जातः गृहे स्नास्यामीति मत्वा यथा पुनः गृहे स्नाति तदुक्तं शुद्धय इति, स हि गङ्गाजलमपि जसत्वेनैव मन्यते न तु तन्माहात्म्यं वेद ॥३१॥

व्याख्यानार्थ अनादर का कारण निकट रहना ही है, मनुष्य यों जानते हैं कि मनुष्य देह धारी सब ही मरने वाले है तो विशेष कौन है ? सब एक सामान ही हैं, इसलिए अनादर है, असंभावित (विशेष उत्तमता नहीं है) यों मानकर अनादर करते हैं, जिसको दृष्टान्त देकर समझाते हैं, गङ्गा पर रहने वाला, गङ्गाजी के प्रवाह में स्नान कर के भी, फिर अपने को अशुद्ध समझने से घर में आकर दूसरे जल से स्नान करता है, तब शुद्ध समझता है इस लिए 'शुद्धये' कहा है, जिसका कारण यह है कि वह गङ्गा पर रहने वाला गङ्गा जल को भी साधारण जल मानता है, उसके माहात्म्य को नहीं जानता है ॥३१॥

आभास—स्वयं भगवन्माहात्म्यमाह यस्यानुभूतिरिति ।

आभासार्थ—स्वयं नारद, भगवन् का माहात्म्य 'यस्यानुभूति' श्लोक से कहते हैं

श्लोक—यस्यानुभूतिः कालेन लयोत्पत्त्यादिनाऽस्य वै ।

स्वतोऽन्यस्माच्चः गुणतो न कुतश्चन रिष्यति ॥३२॥

श्लोकार्थ—जिनका ज्ञान, किसी काल में, (प्रलय होने पर भी) इस जगत् की उत्पत्ति और प्रलय आदि करने से, आप से, दूसरे से, गुणान्तर होने से भी, किसी से नाश नहीं होता है ॥३२॥

सुबोधिनी—ऋषयस्तु शास्त्रादिना संजातज्ञानाः तथापि छिन्नयोजितपटवत् न तज्ज्ञानमुत्कृष्टं भगवतस्तु ज्ञानस्य न कदाचिदपि विच्छेदः । तमेवाह कालेन प्रलयेन । यस्यानुभूतिरनुभवः । न रिष्यति न नश्यति । प्रलयमध्येऽपि नाशसंभवात् तानपि हेतून् निषेधति लयोत्पत्त्यादिनेति । यदा प्राणी म्रियते तदा पूर्वानुभवो नश्यति, यदापि उत्पद्यते तदापि

लोकान्तरानुभवो नश्यति । एवं महाव्याध्यपस्मारादिनापि पूर्वानुभवनाशः तदेकमपि भगवति न संभवति । कदाचित्स्वतोऽप्यनुभवो नश्यति । यदा संस्कारं नोत्पादयति । कार्यकारणयोरभेदात् एवं वचनम् । अन्यस्मात् द्रव्यान्तरशापादिना । चकारात्कालविलम्बेन विरोधज्ञानाविर्भावेन च । गुणतो रजस्तमः प्रादुर्भावात् । अनुत्तपरिग्रहार्थं न कुतश्चनेति ॥३२॥

व्याख्यार्थ—ऋषियों को ज्ञान तो शास्त्र आदि से प्राप्त हुआ है, तो भी वह ज्ञान फटे कपड़े को फिर सीं कर जोड़ने के समान होने से उत्कृष्ट ज्ञान नहीं है, भगवान् का ज्ञान तो कभी भी टूटता नहीं है, उसका वर्णन करते हैं; प्रलय से जिसका अनुभव नाश नहीं होता है, जिन लय उत्पत्त्यादि हेतुओं से प्रलय में अनुभव का नाश होता है उनका भी निषेध करते हैं कि लय और उत्पत्ति आदि से भी ज्ञान नष्ट नहीं होता है, जब प्राणी मरता है तब पहना^१ अनुभव नाश हो जाता है, जब भी फिर उत्पन्न होता है तब भी लोकान्तर में किया हुआ अनुभव नाश हो जाता है इसी तरह महाव्याधि अपस्मार आदि से भी पूर्व अनुभव का नाश होता है, वह एक भी भगवान् में नहीं होता है, कभी स्वतः भी अनुभव का नाश हो जाता है, जब संस्कार को उत्पादन नहीं करता है, कार्य और कारण के अभेद होने से ऐसा वचन है। दूसरी तरह से, अर्थात् द्रव्यान्तर अथवा शापादि से भी अनुभव नष्ट होता है च' पद से यह बताया है कि बहुत काल हो जाने से विरुद्ध ज्ञान के उत्पन्न होने से, भी अनुभव नष्ट होता है। 'गुणतो' रजो तमो गुण के प्रगट होने से भी अनुभव नाश होता है। अन्त में 'न कुतश्चन' पद से यह बताया है कि उपर्युक्त कारणों से और जो नहीं कहे हुए हैं उन सब से भगवान् का ज्ञान नष्ट नहीं होता है, ऋषि आदि जीव मात्र का कारणों से अनुभव नाश हो जाता है ॥३२॥

आभास—एवं भगवन्माहात्म्यमुक्त्वा तन्न जानातीति वसुदेवदोषमाह तं क्लेशेति ।

आभासार्थ यों भगवान् के महात्म्य का वर्णन कर, उसको वसुदेवजी ही जानते हैं, अतः उसका दोष 'तंक्लेश' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक तं क्लेशकर्मपरिपाकगुणप्रवाहै-

रव्याकृतानुभवमोश्चरमद्वितीयम् ।

प्राणादिभिः स्वविभवैरूपगूढमन्यो

मन्येत सूर्यमिव मेघहिमोपरागैः ॥३३॥

श्लोकार्थ—जैसे मनुष्य सूर्य को बादलों से आच्छादित, हिम(पाले) से निस्तेज और राहु से ग्रसित मानते हैं वैसे ही अद्वितीय, अव्याकृत ज्ञान स्वरूप ईश्वर को क्लेश, कर्म, सुख, दुःख गुणों के प्रवाह और अपने कार्यरूप प्राणादिकों से आच्छादित समझ उस ईश्वर को जीव मानते हैं ॥३३॥

सुबोधिनी—तं प्राणादिभिः स्वविभवैरूपगूढं प्राणादिभिर्वशीकृतं जीवं मन्येत । स हि अध्यासं कारणत्वेन न जानाति किंतु पदार्थसंबन्धमात्रम् । यथा कारागारे बद्धोपि बन्धकोपि ईश्वरोऽपि तिष्ठति, भ्रान्तः सर्वास्तुल्यानेव मन्यते । भगवतः

देहाद्यध्यासहेतुर्नास्तीति वक्तुं दोषाभावगुणानाह क्लेशेति । शास्त्रान्तरसिद्धाः 'अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' इति अत्र तु संसारदुःखानुभव एव क्लेशः तत्साधकं कर्म, मतान्तरे तु तत्साध्यं, तस्य 'परिपाकः जात्यायुर्भोगाः'

१-पहले जन्म का, अर्थात् जिस देह का त्याग करता है उस द्वारा किया हुआ अनुभव ।

देहसंबन्धो वा । तत्र यो गुणाप्रवाहः उत्पत्ति-
स्थितिप्रलयपरंपरा । अज्ञानमारम्भ संसारप्रवाह-
पर्यन्तं निरूपितम् । एतैः सर्वैरपि अव्याकृत-
अनुभवो यस्य विशेषेण आ सर्वतः करणं व्या-
करणं स्वाधीनकरणं स्वरूपनाशनमिति यावत् ।
अनुभवोऽत्र स्वरूपं, ज्ञाननाशाभावः पूर्वमेव
निरूपित इति तस्यैव वा अनुवादः । अनाशे हेतुः
ईश्वरमिति । नहीश्वरानुभवं कश्चिन्नाशयितुं
शक्नोति । तादृशोऽन्यस्ततोऽप्यधिकः नाशयेदिति
चेत् तत्राह अद्वितीयमिति । असमोर्ध्वमित्यर्थः ।
एतादृशमपि प्राणेन्द्रियान्तःकरणदेहैः स्वविभू-

तिभिः आधिदैविकैः आनन्दमयैः स्वयमेव वा
तथाभूत इति स्वरूपभूतैर्वा तैरुपगूढं लीलार्थ-
मावेष्टितमन्यो भ्रान्तोऽस्मदादिजीवः स्वतुल्यं
मन्येत । कीदृशं मन्यत इति शङ्कायामाह सूर्य-
मिवेति । यथा सूर्यं मन्यन्ते मेघैराच्छन्नं हिमेन
निष्प्रभं उपरागेण ग्रस्तमिति तथा अविद्याया
ग्रस्तं तृष्णादिना निष्प्रभं शरीरेण छन्नमिति ।
वस्तुतस्तु मेघादिभिः संबन्ध एव सूर्यस्य नास्ति
बहुव्यवधानात् । तथाप्यन्यो वस्तुतो नाविद्याभिः
ग्रस्तादिः । कुतो वा भगवान् भविष्यति भगव-
तस्तु प्रकार उक्त एव ॥३३॥

व्याख्यार्थ—उस (ईश्वर) को अपने ही उत्पन्न प्राणादि से वशीकृत जीव समझते हैं । वे
निश्चय से अध्यास को कारणपन से नहीं जानते हैं, किन्तु केवल सम्बन्ध हैं, अर्थात् जीव को प्राणादि
अध्यास कारण से वश करते हैं किन्तु भगवान् को अध्यास नहीं अतः अध्यास से वश नहीं है यों
समझना भूल है, वहाँ केवल सम्बन्ध मात्र ही है । जिस प्रकार जेल में चोर भी है और अधिकारी
भी है, भ्रान्त पुरुष दानों को समान ही समझता है । वास्तव में यों नहीं है, चोर दोषी है, अधिकारी
निर्दोष है, इसको समझाने के लिए कहते हैं, कि भगवान् को देहादि विषय अध्यास नहीं है, दोषों
का अभाव और गुणों को बताते हैं । शास्त्रों से 'अविद्यास्मितारागद्वेषभिनिवेशः पञ्च क्लेशाः' सिद्ध
हैं, यहाँ तो संसार के दुःखों का अनुभव ही क्लेश है । उसका साधक कर्म है दूसरे मत में,
अविद्यादि क्लेश पञ्चकों से साध्य है, उसका परिपाक है जाति, आयु और भोग अथवा देह
सम्बन्ध, उसमें जो गुण प्रवाह है अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय की परम्परा
है, इस प्रकार अज्ञान से लेकर संसार प्रवाह तक निरूपण किया इन सब से भी जिसको
विशेष रूप से व्याकृति रहित अनुभव है, यहाँ अनुभव पद का तात्पर्य स्वरूप है । ज्ञान का नाश नहीं
होता है यह पहले ही निरूपण किया है । अथवा यों उसका हो यह अनुवाद है, ज्ञान का नाश
क्यों नहीं होता है ? जिसका कारण है कि आप ईश्वर हैं, ईश्वर के अनुभव का नाश करने में कोई
समर्थ नहीं है, उससे भी कोई दूसरा वैसा अधिक हो वह नाश कर दे, यदि यों कहो तो इसका
उत्तर है कि भगवान् अद्वितीय हैं अर्थात् भगवान् के समान कोई अन्य है ही नहीं, न समान है, और
न उनसे बढ़कर कोई है, अपने आधिदैविक अपनी स्वरूप भूत प्राणेन्द्रिय अन्तःकरण देह रूप अपनी
विभूतियों से, आप ही वैसे हुए हैं, अथवा उन स्वरूपभूत प्राणादि से लीला करने के लिए अपने
को छिपा रखा है, जिससे भ्रमिन हमारे जैसे जीव, उनको अपने समान मानते हैं, इसको दृष्टान्त
देकर समझाते हैं कि कैसा मानते हैं ? सूर्य की भाँति मानते हैं, जैसे मनुष्य सूर्य को बादलों से
आच्छादित, (हिम) पाले से निस्तेज और राहु से ग्रसित मानते हैं ? वैसे ही भगवान् को अविद्या से ग्रस्त,
तृष्णा, आदि से निस्तेज और शरीर से आच्छादित मानते हैं । वास्तविक तो सूर्य का मेघ आदि
से सम्बन्ध ही नहीं है, क्योंकि सूर्य और मेघ आदि का परस्पर बहुत अन्तर है, इसी तरह अन्य
अर्थात् भगवान् भी अविद्याओं से ग्रस्तादि हैं यह भूठ है, मनुष्यों को अविद्या के कारण केवल भ्रम
हैं, भगवान् वैसे कैसे होंगे ? भगवान् का प्रकार तो कहा ही है ॥३३॥

आभास — एवं तस्य भ्रान्तत्वमुक्त्वा तादृशं स्वनिस्तारार्थं सत्यमेव प्रार्थयत इति समर्थिते निःशङ्का. सन्त. उत्तरं दातुं प्रवृत्ता इत्याह अथोचुरिति ।

आभासार्थ—इस तरह उसका भ्रान्तपन कह कर, वैसे भगवान् को अपने निस्तार के लिए सत्य ही प्रार्थना करते हैं, यों समर्थन हो जाने पर निशङ्क हो 'अथोचु.' श्लोक से ऋषि उत्तर देने के लिए प्रवृत्त हुए—

श्लोक—अथोचुर्मुनयो राजन्नामाष्यानकदुन्दुभिम् ।

सर्वेषां शृण्वतां राज्ञां तथैवाच्युतरामयोः ॥३४॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! पश्चात् सब मुनियों ने वसुदेवजी को सावधान कर सब राजाओं और राम कृष्ण के सुनते हुए, वसुदेव को कहा ॥३४॥

सुबोधिनी—मुनित्वात् ज्ञानम् । राजन्निति सावधानार्थ संबोधनम् । आभाष्येति हे वसुदेव सावधानं शृण्वित्युक्त्वा । यतोऽयमानकदुन्दुभिर्महान् । सर्वेषां शृण्वतामिति । अनेन तेषां

कथने उत्साहः सूचितः । तथैवाच्युतरामयोरिति । युक्तिपूर्वक सर्वसिद्धान्ताविरुद्ध भगवान् शृणोतीति निरूपयिष्यन्तीति ज्ञापितम् ॥३४॥

व्याख्यार्थ—मुनि होने से वे ज्ञानी हैं अतः सब जानते हैं, राजन् ! सावधान करने के लिये संबोधन है । 'आभाष्य' इससे वसुदेव को कहा है, कि सावधान हो कर सुने क्योंकि वह वसुदेव आनक दुन्दुभि होने से महान् है 'सर्वेषां शृण्वतां' सर्व के सुनते हुए पद से मुनियों को यों कहने में उत्साह था यह सूचन किया है, भगवान् कृष्ण और राम के भी सुनते हुए कहने लगे, यों कहने का अभिप्राय है कि हम जो कह रहे हैं वह युक्ति पूर्वक है और शास्त्रीय सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं हैं. ऐसा हो तब ही भगवान् सुनते हैं, इसलिए कहेंगे, यों जताया ॥३४॥

आभास — कर्मनिर्हारप्रकारमाहुः कर्मणेति सप्तभिः ।

आभासार्थ—कर्म 'निर्हार का प्रकार कर्मणा कर्म निर्हारा' सात श्लोक से कहते हैं,

श्लोक—कर्मणा कर्मनिर्हार एष साधुनिरूपितः।

यच्छ्रद्धया यजेद्विष्णुं सर्वयज्ञेश्वरं मखः ॥३५॥

श्लोकार्थ आपने कर्म से कर्म का नाश हो ऐसा प्रश्न किया है । इसका जो प्रकार है वह सर्व वादियों ने अच्छी तरह सिद्ध किया है कि श्रद्धा पूर्वक सर्व यज्ञों के ईश्वर विष्णु का पूजन करना है, अर्थात् सर्व यज्ञेश्वर विष्णु के यजन कर्म से कर्म का नाश होता है ।

सुबोधिनी आदौ प्रकारमाहुः । कर्मणा कर्मनिर्हारः । एष अग्रे वक्ष्यमाणः सर्वैरेव सिद्धान्तिभिः साधु निरूपित इति प्रमाणम् । स कः प्रकार इत्याकांक्षायामाह यच्छ्रद्धयेति । श्रद्धा सर्वाङ्गं विष्णुं यजेदिति कर्मनिर्हारकं कर्म तत्र विष्णुशब्दः इन्द्रियाधिष्ठातृपरोपीति गुरुब्राह्मणादिचरणपूजयापि परंपरया विष्णु-यागो भवतीति तन्निवृत्त्यर्थमाह—सर्वयज्ञेश्वर-

मिति । सर्वयज्ञानामीश्वरो विष्णुरत्राभिप्रेतः यो यज्ञवराहरूपेणाविर्भूतः 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतेः । 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' इति द्वितीयान्त-वाच्यो यज्ञोऽत्राभिप्रेतः । स तु यज्ञैरेवेष्टो भवतीत्याह मखैरिति । ईश्वरपदेन यज्ञेष्वेव भगवतो नियोग इति भगवदाज्ञापरिपालनमिति प्रमाण-मपि सूचितम् ॥३५॥

व्याख्यानार्थ—आदि में प्रकार कहते हैं 'कर्म से कर्म का नाश' जिस प्रकार हो वह जो हम आगे कह रहे हैं, उसको सब सिद्धान्त वालों ने श्रेष्ठ निरूपण किया है, यों प्रमाण हैं । वह कौन सा प्रकार है, इसकी अपेक्षा होने पर कहते हैं कि, श्रद्धा से सर्वाङ्ग विष्णु का यजन करना, यह जो कर्म है उससे कर्म का नाश होता है वहाँ 'विष्णु' पद का भावार्थ, इन्द्रियों का अविष्ठाता देव भी है, इस लिए गुरु और ब्राह्मणदि की चरण पूजा से भी परम्परा द्वारा विष्णुयाग होना है, इसकी निवृत्ति करने के लिए यहां 'सर्वयज्ञेश्वर' पद दिया है । जिसका भावार्थ है कि वसुदेव को समझाना है कि गुरु और ब्राह्मण पूजा से जो परम्परा द्वारा विष्णु याग माना जाता है उस विष्णु याग कर्म से कर्म निर्हार नहीं होगा, किन्तु सर्वयज्ञों का ईश्वर जो विष्णु, यज्ञवाराह रूप से प्रकट हुवे थे वह यहाँ अभिप्रेत है, उनके चरण पूजन कर्म से ही कर्म निर्हार होगा । जैसा कि कहा है 'यज्ञो वै विष्णुः' इति श्रुतिः 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' इस श्रुति में जो द्वितीया विभक्ति में 'यज्ञ' यज्ञ शब्द दिया है वह यज्ञ रूप 'विष्णु' अभिप्रेत है, वे तो यज्ञों से पूजित होते हैं इस लिए कहते हैं 'मखैः' यज्ञों से, ईश्वर पद से यज्ञों में ही भगवान् का नियोग है इसलिए भगवान् को आज्ञा का पालन करना चाहिए, यों प्रमाण का भी सूचन किया ॥३५॥

आभास—ननु परिचर्यादिरपि पञ्चरात्राद्यागमे निरूपितः उत्सवाश्च । ततो वैष्णवमार्गं परित्यज्य कथं श्रौत एव मार्गो निरूपित इति चेत् तत्राह वित्तस्येति ।

ग्रामासार्थ—सेवा आदि भी पञ्चरात्र आदि 'आगमन में कही है और उत्सव भी कहे हैं । फिर वैष्णव मार्ग का त्याग कर श्रौत मार्ग ही कैसे निरूपण किया ? यदि यों कहो, तो इसका उत्तर वित्तस्योपशमोऽयं' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—वित्तस्योपशमोऽयं वै कविभिः शास्त्रचक्षुषा ।

दर्शितः सुगमो योगो धर्मश्चात्मसुखावहः ॥३६॥

१- कर्म का नाश जिसका तात्पर्य है कि श्रद्धापूर्वक विष्णु के यजन से जीव कर्म के फलस्वरूप स्वर्गादि लोक को प्राप्त कर भगवद्भक्ति प्राप्त कर सायुज्यादि मुक्ति पाता है ।

श्लोकार्थ—विद्वानों ने शास्त्र दृष्टि से वित्तस्योपशम और मोक्ष का उपाय तथा अन्तःकरण को शुद्ध करने वाला सुगम धर्म भी यह बताया है ॥३६॥

सुबोधिनी—अयं प्रकारो विद्यमाने वित्तो कविभिर्निरूपितः । वैष्णवमार्गस्तु प्रायेणाकिच-
नाधिकृत एव योस्माभिर्निरूपितो यागादिरूपः
स तु वित्तस्यैवोपशमजनकः । शरीरं तु तद्द्वारा
उपयुज्यते । एषा युक्तिरप्रमाणमिति चेत् तत्राह
कविभिः शास्त्रचक्षुषेति । कर्तुः साधनस्य
चोत्कर्षो निरूपितः । किंच । अयं सुगमो योगः ।
शरीरक्लेशापेक्षया बहिरङ्गत्वात् । किंच ।

अयमस्माभिर्धर्मो निरूपितः । न तु भक्तिः ।
तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् इति श्रुतेः । एतस्य
कर्मनाशकत्वमग्रे वक्तव्यम् । धर्मत्वे किं स्यादि-
त्याशङ्क्यामाह आत्मसुखावह इति । आत्मसुख-
मावहतीति, एतस्य कर्मनिर्हारकत्वं प्रतिज्ञातमिति
आत्मसुखजनकत्वमधिकमित्यधिकं ज्ञातव्यम्
॥३६॥

याख्यार्थ—यह प्रकार विद्वानों ने धन होते हुए ही बताया है अर्थात् जिनके पास धन है, वे यज्ञो द्वारा विष्णु का पूजन करें, वैष्णव मार्ग तो जो अकिञ्चन हैं, उनके लिए ही है । हमने जो यागदि, प्रकार कहा है वह धनाढ्यों के लिए ही है । क्योंकि यों करने से वित्त से जो अनर्थ होते हैं वे नहीं होंगे । यदि कहो, कि शरीर भी यज्ञ द्वारा भगवान् के कार्यों में लग जाता है, तो यह युक्ति लौकिक होने से प्रमाणभूत नहीं हैं हमने जो कहा है वह विद्वानों ने लौकिक युक्ति से सिद्ध नहीं किया है, किन्तु शास्त्र दृष्टि से अर्थात् जो शास्त्रों में कहा है उसको देखकर ही कहा है, अतः वही प्रमाण भूत समझ हमने कहा है, इससे कर्ता और साधन दोनों का उत्कर्ष निरूपण किया है । किञ्च । वह सुगम योग है, क्योंकि, शरीर क्लेश को अपेक्षा बहिरङ्ग है, और विशेष, यह जो हम लोगों ने कहा है, वह 'तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' इस श्रुति के अनुसार धर्म (कर्म) कहा है, न कि भक्ति कही है, यज्ञ द्वारा कर्म नाश होता है यह आगे कहा जायेगा, धर्म पन से क्या होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'धर्म' आत्म सुख देता है, इसको कर्म नाशक माना गया है आत्म सुख जनक है, यह तो अधिक है यों जानना ॥३६॥

आभास—नन्वन्येष्वपि मार्गेषु विद्यमानेषु कथमयं निरुक्त इति चेत् तत्राह अयं स्वस्त्ययनः पन्था इति ।

आभासार्थ—जब कि दूसरे मार्ग भी विद्यमान हैं तो कैसे यह ही प्रमाण समझ कर कहा ? यदि यों कहा जाय तो इसका उत्तर निम्न श्लोक में देते हैं—

श्लोक—अयं स्वस्त्ययनः पन्था द्विजातेर्गृहमेधिनः ।

यच्छ्रद्धयाऽवित्तेन शुक्लेनेज्येत पूरुषम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—न्याय से इकठ्ठे किए हुए धन से श्रद्धा पूर्वक ईश्वर का यज्ञादि से पूजन करना यह ही गृहस्थी द्विजाति के लिए कल्याण का मार्ग है ॥३७॥

सुबोधिनी—गृहस्थस्यायमेव मार्गः स्वस्त्य-
यनः अन्ये तु सर्वे एव मार्गाः गार्हस्थ्यमञ्जकाः ।
'यदनुचरितलीला' इत्यादिषु निरूपिताः । अतो-
यमेव मार्गो गृहस्थ गृहे स्थापयति । किञ्च ।
द्विजातिमात्रस्यात्राधिकारः अन्यत्र त्वन्यदपि
बीज-संस्कारादिकमधिकारिविशेषण मृग्यते ।

एवं साधयित्वा निश्चितं विशिष्टमनुवदति यच्छ्र-
द्धयेति । आप्तेन स्वयं प्राप्तेन, वित्तेन अनाशकेन
हितकर्त्रा, शुक्लेन सन्मार्गप्राप्तेन, पूरुषं यज्ञपूरुषं
शुद्धया यजेत इति यत् अयमेव पन्था इति
संबन्धः ॥३७॥

व्याख्यानार्थ—गृहस्थी के लिए यह ही मार्ग कल्याण कारी है, दूसरे सब मार्ग गृहस्थ धर्म को तोड़ने वाले हैं, 'यदनुचरितलीला' इत्यादि में निरूपण किये हैं अतः यह ही मार्ग है जो गृहस्थ को गृह में स्थापित करता है । किञ्च । इस धर्म में द्विजाति मात्र को अधिकार है, दूसरों में तो अन्य भी हैं जैसे, बीज और संस्कार आदि से अधिकार^१ प्राप्त अधिकारी चाहिए । इस प्रकार सिद्ध कर निश्चित और जो उत्तम है उसको कहते हैं, 'यच्छ्रद्धया' अपने आप इकट्ठे किए हुए, हितकारी तथा सत्य मार्ग से कमाए हुए पवित्र धन से यज्ञ पुरुष का श्रद्धा से यजन करे, जो जो मार्ग है वह ही इसके लिए उचित है, इस प्रकार सम्बन्ध है ॥३७॥

आभास—नन्वेतस्य कर्म निर्हारकत्वं तत्राह वित्तेषणामिति ।

आभासार्थ—इस यज्ञ द्वारा भगवान् के पूजन को कर्म निर्हार कैसे ? इसका उत्तर 'वित्तेषणां' श्लोक से देते हैं ।

श्लोक—वित्तेषणां यज्ञदानैर्गृहैर्दारसुतेषणाम् ।

आत्मलोकेषणां देव कालेन विसृजेद्बुधः ॥

ग्रामे त्यक्तेषणाः सर्वे ययुर्धोरास्तपोवनम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—जिसके मन में धन की आशा हो, अर्थात् जो धनवान होना चाहता है उसको इस आशा को त्यागने के लिए प्रथम धन शुद्ध रीति से कमाना चाहिए, धन इकट्ठा होने के बाद उससे मोह निकालने के लिए वह धन यज्ञ और दान आदि में खर्च करना चाहिये, जिससे आशा मोह का नाश हो जावे । जिसको स्त्री व पुत्र की कामना हो, उसको गृहस्थी हो, पुत्र आदि प्राप्त कर उनसे व्यवहार सुखादि का अनुभव कर उनसे ईषणा (कामना) का त्याग करना चाहिए । हे देव ! स्वर्गादिलोक की कामना को स्वर्ग में जाकर वहाँ के सुख भोग काल से लौट आने से उस ईषणा को बुद्ध पुरुष छोड़ दें । इस प्रकार ग्राम में रहते हुए ईषणाओं का त्याग कर बहुत धीर पुरुष तपोवन में प्रविष्ट हुए हैं

१- ज्ञान मार्ग में पश्चाग्रि विद्या से साधित देह चाहिये और भक्ति मार्ग में अलौकिक देह चाहिये ।

ऐसे देह वाले ही उन मार्गों में अधिकारी हो सकते हैं ।

२- 'वित्त' अर्थात् धन, इस पद का भावार्थ है कि धन हितकारी और रक्षक है । यच्छ्रद्धया कहते हैं ।

सुबोधिनी—ईषणात्रयपरित्यागः कर्मबन्धा-
भावज्ञापकः । कर्माणि हि ईषणाद्वारैव बध्नन्ति ।
ईषणाभावे तु कर्माभावः सिद्ध एव । लोके
ईषणात्रयं वित्तोषणा दारेषणा लोकेषणेति ।
त्रयाणां परित्यागप्रकार उच्यते वित्तोषणां
यज्ञदानैरिति । यस्य वित्तो महतीच्छा भवति
तेन वित्तोपार्जनं कृत्वा यज्ञदानानि कर्तव्यानि
ततो वित्तस्य बहुधा व्यवहृतत्वात् तदिच्छा
निवर्तते । अदृष्टद्वारापि तद्यज्ञदानादिकमन्तः
करणशुद्धिमुत्पाद्य निवर्तयतीत्यवगन्तव्यम् ।
ततो दारसुतेपणा गृहस्थाश्रमैर्दूरीकर्तव्या ।
गाहेस्थ्ये तासां संव्यवहारो बहुधा भवतीति
दारसुतानां व्यवहृतत्वात् तदिच्छापि निवर्तते ।
आत्मनां लोकानां स्वर्गादिलोकानाभोषणा देव
कालेन देवैः सहः क्रीडया बुधः पण्डित एव
विसृजेत् । तत्र वैराग्यस्य ज्ञानैकसाध्यत्वात्,
अत एव वेदे स्वर्गार्थमेव यज्ञा निरुक्ताः । अन्यत्तु
द्वयं प्रसङ्गादेव सेत्स्यति । स्त्रीवित्तव्यतिरेकेण
यज्ञाभावात्, अत एव स्त्रीणामधिकारशरीरे
प्रवेश उक्तः । धनस्य च क्रियायाम् । अन्यथा
मानसा एव यज्ञा वेदे उक्ताः स्युः । अन्यथा
श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाद् इति वाक्याद् द्रव्ययज्ञा-

नामधमत्वे तत्प्रतिपाद्यो वेदो विद्वचेत । इदमेव
वेदस्य तात्पर्यं मन्यन्ते मुनयः अत एवात्मसुखा-
वहो धर्म इति स्वर्गात्मकयज्ञार्थमेव यागाः कर्तव्या
इति यथा श्रुतैव श्रुतिः समर्थिता । अत एवाश्रम-
धर्माणामपि विधिरिति वक्तुं गार्हस्थ्यविधेरत-
देव प्रयोजनमित्याह ग्रामे त्यक्तेषणाः सर्वे
इति । ग्राम एव स्थित्वा ईषणाविनिर्मुक्तः कर्तव्यः
अनेनैतज्ज्ञापितं पूर्वं यागे कृते स्वर्गं च जाते ततो
लोकविरागं प्राप्य पुनरागत्य गार्हस्थ्य एवाङ्ग-
त्वेन पूर्वं व्यवहृतसुवर्णस्त्रीणां लोकाकांक्षाभावात्
प्राधान्येन व्यवहारं कृत्वा तत् ईषणात्रयं परि-
त्यज्य तथा चित्तशुद्ध्यभावे विक्षिप्तमपि मनः
धैर्यं प्रापयित्वा सम्यक् चित्तशुद्ध्यर्थं पुनर्गमन-
वर्तेशं परित्यज्य तपोवनमेव विविशुः । तपसा
सम्यक् चित्तशुद्धिर्भविष्यतीति ये त्वेकजन्मपर-
तयैव सर्वं व्याचक्षते ते चिन्त्याः । देवेति वसुदेव-
संबोधनम् । कालेनेत्यनुपायं चाहुः तेषां लोके-
षणाया अनिवृत्तत्वात्कथं सर्वेषणापरित्याग
इति । बुध इत्यनेन ज्ञानेनैव तन्निवृत्तिः अन्य-
त्रापि तुल्या । किंच पूर्वं यागानां कर्तव्यता
ईषणापरित्यागार्थमुक्ता तद्द्वारा कर्मनिर्हरणार्थं
भवति ॥३८॥

व्याख्यार्थ—कर्म बन्धन न हो, जिसके लिए तीन प्रकार की ईषणाओं का त्याग करना चाहिए, ईषणा अर्थात् कामनाएँ, इनके द्वारा ही कर्म, बन्धन में डालता है । कामना न हो तो कर्म का स्वतः अभाव हो जाता है, फिर बन्धन का प्रश्न ही नहीं रहता है । लोक में वित्तोषणा, दारेषणा, लोकेषणा, यों तीन प्रकार की ईषणाएँ हैं इन तीनों का त्याग कैसे हो ? जिनके त्याग का प्रकार बताते हैं वित्तोषणा को यज्ञ और दानादि से नष्ट करे, जिसको धन की बहुत इच्छा है उसको चाहिए कि वित्त का उपार्जन कर यज्ञ और दानादि करे, जिससे धन का बहुत कार्यों में फैल जाने से उसकी आशा स्वतः निवृत्त होती जाएगी । वह यज्ञ, दान रूप कर्म अदृष्ट द्वारा भी अन्तःकरण की शुद्धि को कर कामना को निवृत्त कर देता है । पश्चात् यदि स्त्री और पुत्र की चाहना हो, तो गृहस्थाश्रमी बन कर उस चाहना को हटाना चाहिए क्योंकि, गृहस्थाश्रम में स्त्री पुत्र आदि का व्यवहार अनेक प्रकार का होता है, जिसका अनुभव करते हुए मनुष्य ऊब जाता है, जिससे उसकी कामना धीरे-धीरे स्वतः मिट जाती है । जो बुध अर्थात् पण्डित हैं, वे स्वर्ग आदि लोकों की कामना को, वहाँ कुछ समय रह कर देवताओं से क्रीडा करते हुए वहाँ का सुख भोग पश्चात् उसको त्याग दें, वहाँ वैराग्य, केवल ज्ञान से सिद्ध होता है, अतएव वेद में स्वर्ग के लिए ही यज्ञों का करना लिखा है, दूसरे दो, तो प्रसङ्ग से ही आएँगे । स्त्री और धन के सिवाय यज्ञ ही नहीं सकता है,

अत एव स्त्रियों का अधिकार शरीर में प्रवेश कहा है, और घन का क्रिया में प्रवेश कहा है अर्थात् स्त्री होने पर ही पुरुषों को यज्ञ करने का अधिकार प्राप्त होता है। घन होने से ही यज्ञ का कार्य सिद्ध होता है, यों नहीं होता तो वेद में मानस यज्ञ ही कहे जाते थे, अन्यथा 'श्रेपान् द्रव्यमयाद्यज्ञाद्' इस वाक्य से द्रव्य यज्ञों के अधमपन होने से उसका प्रतिपादक वेद विरुद्ध हो जाए, मुनि वेद का यही तात्पर्य मानते हैं, अत एव आत्म सुख देने वाला धर्म है, इस लिए स्वर्गात्मिक यज्ञ के लिए ही त्याग करना चाहिए यों यथाश्रुत श्रुति का समर्थन किया है। इस कारण से, आश्रम धर्मों की भी विधि है यों कहने के लिए गार्हस्थ्य विधि का यही प्रयोजन है वह बताते हैं कि ग्राम में ही रह कर ईषणा (कामनाओं) का त्याग करना चाहिए, इससे यह बताया कि पूर्व जन्म में त्याग करने से स्वर्ग मिला, वहाँ रहकर लोक विराग पाकर फिर आके गार्हस्थ्य ही अङ्गत्व होने से, पहले स्त्री और स्वर्ग तथा लोकों की जो आकाङ्क्षा थी, उसके मिट जाने से प्रधानता से व्यवहार कर, उन तीन ईषणाओं का त्याग, तथा चित्त की शुद्धि के अभाव में मन की विक्षिप्तता होते हुए भी धर्म धारण कर, सम्यक् चित्त शुद्धि के लिए, फिर जाने से क्लेश को त्याग कर तपोवन में ही प्रवेश किया। तपस्या से ही चित्त की शुद्धि होगी, यों जो कोई एक जन्म में ही हो जाएगा इस प्रकार विचारते हैं, वे विचारणीय हैं, अर्थात् इनके इस सिद्धान्त पर विचार करना चाहिए कि, यह कहाँ सत्य सिद्ध होता है, हे देव ! यह वसुदेव के लिए संबोधन है, कालेन' पद से कोई अन्य उपाय नहीं है। यों कहते हैं, क्योंकि उनकी लोकेषणा हो निवृत्त नहीं हुई है, तो सब ईषणाओं का परित्याग कैसे होगा ? 'बुध' पद से यह बताया है कि ज्ञान से ही उनकी निवृत्ति होती है। अन्यत्र भी तुल्य है, पहले यज्ञों की कर्तव्यता ईषणाओं के परित्याग के लिए कही है, उनके द्वारा वह कर्म निर्वहण के अर्थ वाली होगी ॥३८॥

आभास—इदानीं तु ऋणपाकरणार्थमेव यज्ञाः कर्तव्या इत्याह ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जात इति ।

आभासार्थ—अब 'ऋणैस्त्रिभिः' श्लोक से ऋणों के भार को उतारने के लिए यज्ञ करना चाहिए यों कहते हैं ।

श्लोक—ऋणैस्त्रिभिर्द्विजो जातो देवर्षिपितृऋणां प्रभो ।

यज्ञाध्ययनदानैस्तान्यनिस्तीर्य त्यजन्पतेत् ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे वसुदेवजी ! द्विज, तीन ऋणों को लेकर जन्मा है (१) देव (२) ऋषि और (३) पितरों का इन तीन ऋणों को यज्ञ, वेदाध्ययन और दान द्वारा न उतार कर यों ही जो वन में चला जाता है उसका पतन होता है ॥३९॥

सुबोधिनी— 'जानमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणवान् जायते' इति श्रुतेः । ब्राह्मणों जायमानः उपनीयमानः । तानि ऋणानि गणयति । देवर्षिपितृऋणामिति 'ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः' इति श्रुतेः अत्र तु पित्रणपरित्यागं दानेनाह यज्ञाध्ययनदानैरिति ।

दानमत्र संततिदानमेव, पिण्डदानमित्येके ।
तत्पुत्राणां कर्तव्यमिति फलतो निरूपितम् ।
येषां पुनः ईषणाविनिर्मोको जात एव तेषामपि
ऋणविमोको न जात इति मुख्यपक्षे गार्हस्थ्यान-
न्तरमेव संन्यास इति मतमाश्रित्याह अनिस्तीर्य
त्यजन् पतेदिति 'ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे
निवेशयेत् अनपाकृत्य तांस्त्रीस्तु मोक्ष मिच्छन्
व्रजत्यधः' इति मनुवाक्यात् । ननु 'ब्रह्मचर्यादेव
प्रव्रजेत्' इत्यादि श्रुतेः का गति । उच्यते ।
ईषणाभाव ऋणाभावाश्च मोक्षात्पूर्वभावी ।
एकमधिकारिविशेषणं, द्वितीयः प्रतिबन्धकाभावः ।
अधिकारिविशेषणं तु मृग्यमेव । प्रतिबन्धका-

भावे तु भगवद्भजनोत्तमभक्तसद्भावेषु कार्यं
भवति । यथा तदवदानैरेवावदयत इति अङ्गा-
वदानेनापि ऋणत्रयमपागच्छति । एवं स्वाध्याये-
नापि केवलेन पूर्वं ब्रुवा ऋणापाकरणं कृतम् ।
'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति' इति ।
'भ्रातृऋणामेकजातानाम्' इति वाक्यन्यायेन
भ्रातृपुत्रेण पितृऋणनिवृत्तिसंभवे अन्यैर्वा दत्ता-
दिभिः 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इति वाक्यं सिद्धं
भवति । तस्माद्यो मुख्यः प्रथमाधिकारी तेन
ऋणापाकरणमोषणनिवृत्तिश्च कर्तव्येति
ऋषिभिः साधूक्तम् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण जन्मते ही तीन ऋणों वाला बनता है, यों श्रुति कहती है वे ऋण बताते हैं (१) देवऋण* (२) ऋषिऋण (३) पितृऋण इन तीनों को इस प्रकार उतारना चाहिए, ब्रह्मचर्य** धारण कर वेद आदि पढ़ कर ऋषि ऋण उतारना चाहिए, यज्ञों को कर देव ऋण से मुक्त होना चाहिए, प्रजा पैदा कर पितृ ऋण से मुक्ति पानी चाहिए, यहां मुनियों ने दान से, पितृऋण से मुक्ति पानी कही है, जिसका स्पष्टीकरण करते हुए आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि यहाँ दान का तात्पर्य सन्तति उत्पन्न कर देना, यह दान का आशय है, कोई कहते हैं कि 'दान' का तात्पर्य पिण्ड दान है, पिण्ड दान करना पुत्रों का कर्तव्य है, यह फल से निरूपण किया है । जिन की फिर ईषणाएँ छुट भी गई हैं उनके ये तीन ऋण नहीं उतरते हैं, यों मुख्य पक्ष में गृहस्थ के बाद ही संन्यास की आज्ञा है । इस मत को लेकर कहते हैं कि इन ऋणों को न उतार कर जो संन्यास लेता है वा वानप्रस्थी बनता है । उसका पतन होता है, इसीलिए मनु ने भी कहा है कि तीन ऋणों को उतार कर मोक्ष में मन लगावे । यदि यों हो तो 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इत्यादि श्रुतियों का निर्णय कैसे होगा ? इस पर कहते हैं कि इसका निर्णय यों होगा, ईषणाओं का अभाव और ऋणों का अभाव मोक्ष से प्रथम होने वाले हैं । एक अधिकारी का विशेषण है और दूसरा प्रतिबन्धक का अभाव है, अर्थात् जिसकी ईषणाएँ निवृत्त हो गई हैं, वह अधिकारी है, और जिसने ऋण चुका दिए हैं उसके प्रतिबन्ध मिट गए हैं । अधिकारी के विशेषण तो विचारणीय हैं ही प्रतिबन्धक ऋणों के अभाव हो जाने पर तो भगवद्भजन की वृद्धि करने वाले सद्भाव में भी, कार्य सिद्ध होता है । जैसे 'तदवदानैरेवावदयत' यों अङ्ग मात्र कार्य से भी तीन ऋण उतर जाते हैं, इसी प्रकार केवल ब्रह्मचर्य धारण कर वेद अध्ययन से भी आगे बहुतों ने ऋणों से मुक्ति पाई है । जैसा कि कहा है 'यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवति भ्रातृणामेकजातानाम्'^३ इस वाक्यानुसार भ्राता के पुत्र

* जायमानो वै ब्राह्मणास्त्रिभिर्ऋणवान् जायते इति श्रुतिः,

** ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः इति श्रुतिः

१—ऋणाति त्रीण्युपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् अनपाकृत्य तांस्त्रीस्तु मोक्षामिच्छान् व्रजन्पधः मनुः

२—जिस-जिस वेद को पढ़ता है उस-उस से उसका मनोरथ पूर्ण होता है

३—भ्राता के पुत्र भतीजों के.

द्वारा पिण्ड दान पितृ ऋण की निवृत्ति हो जाती है अथावा दत्तक (गोद) लिए हुए आदि द्वारा पिण्ड दान से भी पितृ ऋण उतर जाता है इसी प्रकार 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' वाक्य की सिद्धि हो जाती है, इस कारण से, जो मुख्य प्रथम अधिकारी है, उसको ऋणों से मुक्ति और ईषणाओं से निवृत्ति लेनी चाहिए, यों ऋषियों ने जो कहा है वह सुन्दर अच्छा कहा है ॥३६॥

आभास—एवं ऋणापाकरणकर्तव्यतामुक्त्वा ऋणत्रयमध्ये ऋणद्वयमतीतं ऋणमात्रमवशिष्यत इत्याहुः त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ऋणों से मुक्त होने की कर्तव्यता कह कर तीन ऋणों में से दो ऋण तो आपने उतार दिए हैं, शेष देव ऋण यज्ञ द्वारा उतार दो ये दो निम्न श्लोकों से कहते हैं ।

श्लोक—त्वं त्वद्य मुक्तो द्वाभ्यां वै ऋषिपित्रोर्महामते ।

यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निर्ऋणोऽशरणो भव ॥४०॥

वसुदेव भवान्नूनं भक्त्या परमया हरिम् ।

जगतामीश्वरं प्रार्चः स यद्वां पुत्रतां गतः ॥४१॥

श्लोकार्थ—हे महामते ! तुम ऋषि और पितृ ऋण से मुक्त हो गए हो, अब यज्ञ कर देव ऋण से उन्मुक्त हो जाओ, यों करने से सर्व ऋणों के बन्धन से छूट जाओगे, पश्चात् सब त्याग करना उचित होगा । हे वसुदेव ! तुमने जगत् के स्वामी ईश्वर का परम भक्ति से पूजन किया है जिससे प्रभु तुम्हारा पुत्र बना है ॥४०-४१॥

सुबोधिनी—वेदाः पठिताः पुत्राश्चोत्पादिता इति ऋषिपित्रो ऋणाभ्यां भवान् मुक्तः । महामत इति यज्ञाधिकारी निरूप्यते अजडत्वाय । अतो यज्ञैर्देवर्णमुन्मुच्य निर्ऋणः सन पश्चादशरणः सर्वपरित्यागे युक्तो भवेत्यर्थः । भिक्षुर्हि अग्निरनिकेतनो भवति । एवं प्रकारत्रयेण यज्ञकरणमुपदिष्टं कर्मनिर्हरार्थमीषणापरित्यार्थं ऋणापाकरणार्थं चेति । भगवान् भवदीयो जात इति भगवत्पूजार्थं च कर्तव्यमित्यग्रिमश्लोकेनो-

च्यत इत्येके । अन्ये तु तव देवादिऋणमेव नास्ति त्वं यतो जगतामीश्वरं प्रार्चः अतस्तव यागस्यान्यत्र विनियोगाभावात् कर्मनिर्हरार्थमेव तव यज्ञो भविष्यतीत्याहुः वस्तुतस्तु त्वं कृतार्थः । तव कर्मनिर्हरादिकं नापेक्ष्यत इति मूलप्रश्ने उत्तरमुक्तं भवति । परमया भक्त्या पूजितश्चेद्भगवान् परमप्रीत्याश्रयः स्वयमपि जात इति स पुत्रतां गत इत्यर्थः । एवं यज्ञाः कर्तव्या इत्युक्तं भवति ॥४०-४१॥

व्याख्यानार्थ—तुमने वेद पढ़े पुत्र उत्पन्न किए यों, ऋषि तथा पितरों के ऋण से मुक्त हो गए हो, तुम जड़ नहीं हो, अर्थात् समझदार हो इस लिए आपको यज्ञ करने का अधिकार है, अतः यज्ञों के करने से देवों का ऋण उतार कर उऋण हो पीछे सर्व परित्याग करने में मन लगाओ । त्यागी ही अग्नि और अनिकेत होता है, इसी भाँति, यज्ञ के करने का तीन तरह उपदेश दिया है ।

ईषणाओं के त्याग, कर्म के नष्ट हो जाने के लिए तथा पितृ ऋण चुकाने के वास्ते, भगवान् आपके हुए. इस लिए उनके पूजन के लिए यज्ञ करने चाहिए यों आगे के श्लोक से कोई कहते हैं, दूसरे कहते हैं, कि तुम्हें तो देवऋण है ही नहीं, क्योंकि तुमने जगतों के ईश्वर की पूजा की है जिससे वे तुम्हारे पुत्र हो, प्रगट हुए हैं, अतः तुम्हारे यज्ञ का विनियोग अन्यत्र नहीं होगा, कर्म मिटाने के लिए ही तुम्हारा यज्ञ होगा, वास्तव में आप तो कृताथं ही हैं तुम्हें कर्म मिटाने की अपेक्षा ही नहीं है, यों मूल प्रश्न का उत्तर दिया है, परमा-भक्ति से पूजे हुए भगवान्, परम प्रीति के आश्रय स्वयं भी हुए हैं इस लिए ही वे तुम्हारे पुत्र बने हैं, इस प्रकार यज्ञ करने चाहिए, यों कहा है ॥४०, ४१॥

आभास—ततो ब्राह्मणानामेवात्विज्यमिति देवानामपि कुरुक्षेत्रमेव वेदिरिति भाग्यतो ऋषयः समागता इति तेषां वचनं कृतवानित्याह इति तद्वचनं श्रुत्वेति ।

आभासार्थ—यज्ञ में ऋत्विज, ब्राह्मण ही होते हैं, देवों की वेदी (यज्ञ स्थली) कुरुक्षेत्र ही है, भाग्य से यहां ऋषि भी आगए हैं, इस लिए उनका वचन भान कर यज्ञ करने लगे वह 'इति तद्वचनं श्रुत्वा' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—इति तद्वचनं श्रुत्वा वसुदेवो महामनाः ।

तानृषीनृत्विजो वव्रे मूर्धनान्म्य प्रसाद्य च ॥४२॥

श्लोकार्थ - श्री शुकदेवजी ने कहा कि महामना वसुदेवजी ने ऋषियों के ये वचन सुनकर, उन ऋषियों को मस्तक से प्रणाम किया और उनकी स्तुति की, अनन्तर उनको ऋत्विक् बनाया ॥४२॥

सुबोधिनी - महामनाः यज्ञकरणे प्रोत्साह-युक्तः । तानेव पूर्वोक्तानृषीन् । ऋत्विक्त्वेन वव्रे । ओदनं पचतोतिवत् वरणेन तान् ऋत्विजः कृत-वानित्यर्थः । मूर्धनान्म्येति नमनेनैव वशीकृताः ।

अस्माभिस्त्वत् कर्तव्यमिति कथमस्माभिरेव यागः कर्तव्य इति तेषां संकोचाभावः कारित इत्याह प्रसाद्येति । चकारात् स्तोत्रादिकमपि कृत्वा ॥४२॥

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी को महामना कहने से यह सिद्ध किया है, कि ऋषियों की यज्ञ करने की आज्ञा सुनकर उत्साह से युक्त हो गए अर्थात् यज्ञ करने के लिए तैयार हो गए सूमों (कंजूसों) की तरह धन भारी व्यय होगा इससे धन कम हो जाएगा, ऐसा विचार मन में आने नहीं दिया इस लिए वसुदेवजी को 'महामना' कहा है । पहले कहे हुए उपदेश करने वाले ऋषियों को ही ऋत्विक् बनाया है 'ओदनं पचति' इसी तरह वरण करने से उनको ऋत्विक् किए, यों अर्थ है, मस्तक से प्रणाम किया, जिससे उनको वश कर लिया, हमने जिस यज्ञ का उपदेश किया है वह याग हम ही ऋत्विग् बनकर करें, इस विचार से ऋषियों को भी संकोच न हुआ, क्योंकि उनको प्रसन्न कर वश में कर लिया था, 'च' पद से यह सूचित किया है कि स्तुति आदि भी कर ऋषियों को प्रसन्न कर वश में किया ॥४२॥

आभास—ततः सोमप्रवाककृत वरणे जाते द्वैपायनादयः तं याजयामासुरित्याह त एनमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् शास्त्रानुसार वरण हो जाने पर द्वैपायन आदि ऋषियो ने उसको यज्ञ करवाया यों 'त एनमृषयो' श्लोक में वर्णन करते हैं

श्लोक—त एनमृषयो राजन्वृता धर्मेण धार्मिकः ।

तस्मिन्नाजयन्क्षेत्रे मखैरुत्तमकल्पकैः ॥४३॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! धार्मिक रीति के अनुसार वरे हुए ऋषि लोग, कुरुक्षेत्र में धर्मात्मा वसुदेवजी को, उत्तम कल्प युक्त यज्ञों से यजन कराने लगे ॥४३॥

सुबोधिनी—धर्मेण न तूत्कोचनादिकं कृत्वा क्षेत्रे अयाजयन् । मखैः सर्वैरेव । उत्तमः कल्पो यतो धार्मिकः सः । यादवाः वैदिकधर्मेण येषां न ववाप्यनुकल्पः कृत इत्यर्थः ॥४३॥
प्रशस्ता इति वसुदेवे विशेष उक्तः तस्मिन्नेव

व्याख्यार्थ—धर्म पूर्वक ही यज्ञ कराए, न कि उत्कोचन आदि से यज्ञ कराए, क्योंकि यादव सब वैदिक धर्म से कर्म करने में प्रशंसा किए हुए हैं जिसमें भी वसुदेव को विशेष कहा है, उस ही कुरुक्षेत्र में यज्ञ करने लगे सब यागों से कर्म करने लगे वह कर्म यज्ञ उत्तम कल्प से किया, कहीं भी अनुकल्प नहीं किया यों अर्थ है ॥४३॥

आभास — एवं वैदिकसमृद्धिमुक्त्वा लौकिकसमृद्धिमाह तद्दीक्षायां प्रवृत्तायामिति ।

आभासार्थ—वैदिक समृद्धि कह कर 'तद्दीक्षायां' श्लोक में लौकिक समृद्धि कहते हैं ।

श्लोक—तद्दीक्षायां प्रवृत्तायां वृष्णयः पुष्करस्रजः ।

स्नाताः सुवाससो राजत्राजानः सुष्टलंकृताः ॥४४॥

श्लोकार्थ—जब वसुदेवजी ने यज्ञ की दीक्षा ली तब सब यादवों ने कमल माला धारण की और सब अन्य राजाओं ने स्नान कर, सुन्दर वस्त्र धारण कर आभूषणों से अपने को अलंकृत किया ॥४४॥

सुबोधिनी—सर्व एव वृष्णयः कमलमाला- | रूप्यं निरूपितम् । ततः स्नाताः अभ्यङ्गेन,
युक्ता जाताः । अनुवादो वा । अनेन भगवत्सा- | सुवाससो जाताः अलंकृताश्च ॥४४॥

व्याख्यार्थ—सब यादवों ने कमल माला धारण की, अथवा अनुवाद है । इससे उन्होंने अपना भगवान् से सारूप्य प्रकट दिखाया, राजा लोग अभ्यङ्ग लगा के स्नान कर, सुन्दर वस्त्र पहन आभूषणों से अलंकृत हुए ॥४४॥

कारिका—शिवादिसर्वदेवानां दातृत्वमविचारतः ।

विचारेण तु दातृत्वं कृष्णस्यैव विशेषतः ॥७॥

कारिकार्थ—शिव आदि देव बिना विचार किये दान देते हैं, किन्तु विचार पूर्वक श्रेष्ठ ढंग से दान देने वाले तो श्रीकृष्ण ही हैं ॥७॥

कारिका—अविचारितदानेन स्वयं दातापि नश्यति ।

सम्प्रदानस्य का वार्ता तस्माच्छीशो न तत्प्रदः ॥८॥

कारिकार्थ—बिना विचार किये यों ही दान देने से दाता का भी नाश होता है तो लेने वाले की क्या दशा होगी ? वह कही नहीं जाती है, इससे लक्ष्मीपति बिना विचार किए दान नहीं देते हैं ॥८॥

कारिका—दुष्टैव श्रीरन्यगता शुद्धा कृष्णैकतत्परा ।

कृष्णमेव ततो वाञ्छेन् न श्रियं बुद्धिमान् क्वचित् ॥९॥

कारिकार्थ—ग्रन्थ किसी के पास जो लक्ष्मी जाती है, वह चञ्चल दोष युक्त है, केवल जो लक्ष्मी भगवान् के पास है वह चञ्चल दोष रहित होने से शुद्ध है, जिससे भगवान् दोष रहित हैं, अतः बुद्धिमान को भगवान् की प्राप्ति की इच्छा करनी चाहिए न कि लक्ष्मी की इच्छा करनी चाहिए ॥९॥

आभास—पूर्वाध्याये परब्रह्मरूपे भगवति प्रमाणविषयदोषान् परिहृत्य प्रमेयविषये भगवद्दोषपरिहारार्थमध्यायान्तरमारभते । तत्र राजा भगवति दातृत्वे संदिहानः अदातृत्वस्य च लोके निन्दाश्रवणान् निर्णयार्थं पृच्छति देवासुरमनुष्येष्विति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—परब्रह्मरूप भगवान् कृष्ण में, प्रमाण विषयक जो सत्यादि गुणरूप दोष प्राप्त हुए थे, पूर्वाध्याय में निर्गुण ही प्रमाण विषय हैं यों कहकर उन दोषों का परिहार किया । अब प्रमेय रूप भगवान् श्रीकृष्ण में अदातृत्व आदि दोषों के परिहार के लिए यह दूसरा अध्याय प्रारम्भ करते हैं, राजा परीक्षित भगवान् में दातृत्व का संदेह करता है और लोक में अदाता को निन्दा सुनी जाती है, जिससे इस विषय के निर्णय के लिए देवासुर मनुष्येषु—से दो श्लोकों में पूछता है ।

श्लोक—राजोवाच—देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम् ।

प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् ॥१॥

श्लोकार्थ—राजा ने कहा कि देव, असुर और मनुष्यों में जो अशिव शिव का भजन करते हैं, वे धनादि से सुख भोगते हैं अर्थात् उनके पास प्रायः धनादि सुख के साधन प्राप्त होते हैं और जो हरि की सेवा करते हैं, वे न धनाढ्य होते हैं तथा न ही सुख भोगते हैं ॥१॥

सुबोधिनी - त्रिविधा जीवा उपासनसमर्था-
रतेषा भगवदुपासनं विधीयते अन्योप सन-
व्यावृत्तिपूर्वकम् । तत्रान्येषामेहिकदातृत्वे कथं
व्यावृत्तिः स्यादिति महादेव उपक्षिप्यते । त्रिवि-
धेषु जीवेषु ये अशिवं लक्ष्मीकृतशोभारहितं नाम्ना
शिवं कल्याणरूप वा ये भजन्ति ते प्रायेण
धनिनः । ज्ञानार्थिनस्तु ततो धनं न वाञ्छन्ति

इति प्रायेणोक्तम् । भोजा भोक्तारश्च । दान-
भोगक्षमं धनं शिवः प्रयच्छतीति, यदि भगवानपि
प्रयच्छेत् तदोक्तं दूषणं न संगच्छन् इति प्रकृते
निषेधति न तु लक्ष्म्याः पतिमिति विद्यते लक्ष्मीः
स्वयं परदुःखहर्ता च ये लक्ष्मीपतिमुपासते न ते
धनिनो न वा भोजा इत्यर्थः । गुणानां तारतम्य-
मत्रः विचार्यते इति तुल्यता ॥१॥

व्याख्यार्थ—देव असुर और मनुष्य तीन प्रकार के जीव ही क्यों कहे ? पशु आदि भी जीव
है वे क्यों न कहे ? अतः यो कहने का हेतु आचार्य श्री 'उपासन समर्थाः' पद से प्रकट करते हैं कि,
इन तीनों के सिवाय पशु आदि जीव उपासना करने में असमर्थ हैं, इसलिए ये तीन कहे हैं, ये तीन
ही उपासना कर सकते हैं, यों कहकर दूसरे देवों की उपासना का निषेध दिखा भगवान् की ही
उपासना का विधान करते हैं, दूसरे देव भी ऐहिक सुख देते हैं, उनका निषेध कैसे किया जाता है ?
इसलिए इस सम्बन्ध में महादेव की सूचना करते हैं, इन तीन प्रकार के जीवों में से जो लक्ष्मी द्वारा
प्राप्त शोभा से रहित है ऐसे शिव की उपासना करते हैं, वे धनी होते हैं, जो ज्ञान चाहते हैं वे तो
बहुत कर शिव से धन की इच्छा नहीं करते हैं, और वे, केवल धनी नहीं किन्तु भोगी भी होते हैं,
कारण कि शिव वह ही धन देता है जिस धन से दान^१ भोग हो सके, जो कदाचित् हरि, धन देवे
तो, उस धन में कहा हुआ भोगादि दूषण न होगा, इसलिए प्रकृति में निषेध करते हैं कि, वे लक्ष्मी
के पति का भजन करने वाले वंसे नहीं होते हैं, अर्थात् उसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं, यद्यपि लक्ष्मी
भगवान् के पास है, जिससे आप शोभायमान भी हैं तो भी नहीं देते हैं, क्योंकि वे आप सकल प्रकार
के दुःखों के हर्ता है, अतः जो लक्ष्मी के पति की सेवा करते हैं, वे न धनी बनते हैं और न भोगी
होते हैं, दोनों में स्वरूप से तो तुल्यता^२ है किन्तु गुणों के कारण तारतम्यता कही है ॥१॥

आभास—तन्मेवमेव स्वभाव इति चेत् तत्राह एतद्वेदितुमिच्छाम इति ।

आभासार्थ—यदि दोनों (शिव और हरि के स्वभाव इसी प्रकार के ही हैं तो, मैं इसको
जानना चाहता हूँ कि ऐसा क्यों ?

श्लोक—एतद्वेदितुमिच्छामः संदेहोऽत्र महान् हि नः ।

विरुद्धशीलयोः प्रभवो विरुद्धा भजतां गतिः ॥२॥

श्लोकार्थ—परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले प्रभुओं^३ के भजन करने वालों को फल
भी विरुद्ध मिलता है । जैसे धनादि देने वाले शिव^४ के भक्तों को धनादि फल मिलता

१- शिव इतना धन देते हैं जिससे शिव भक्त दूसरों का पालन पोषण कर सकते हैं और अपना
व्यवहार भी अच्छी तरह चलाते हैं । २- एकत्व ३- समर्थ वालों ४- लक्ष्मी रहित

है और धनादि न देने वाले^५ हरि के भक्तों को धनादि भोग नहीं मिलता है, इस विषय में हमको महान् संदेह है, अतः इसको जानना चाहता हूँ कि यह क्यों? ॥२॥

सुबोधिनी एतदत्रत्यं संदेहनिवर्तकं यतोऽत्र महान् संदेहः । हि युक्तश्रामर्थः । भक्तत्वाद्-भजनीयगुणसंदेहो वारणीय इति । नोऽस्माकं सर्वेषामेव । यतोत्र कौतुकाविष्टानामपि संदेह-निवृत्त्यर्थं प्रयत्न इति ज्ञापयितुमाह विरुद्धशीलयोः प्रभवोरिति । एको लक्ष्म्या सहितः । अपरो विहीनः । तत्सेवकस्तु लक्ष्मीरहितः सहितश्चेति । यस्य हि यद्रोचते स स्वभक्ताय तत् प्रयच्छति, प्रकृते तु तदभाव इत्यर्थः । अत्र संदिग्धः प्रष्टव्यः शिवः कथं स्वयं न भुङ्क्ते कथं प्रयच्छतीत्यत्र

किं विषया राज्यादय उत्कृष्टाः ग्राहोस्विदपकृष्टा इति । उत्कृष्टश्चेच्छिवः कथं स्वयं न भुङ्क्ते, अपकृष्टश्चेत् कथं प्रयच्छतीति । तत्रोत्तरमपकृष्टा एवेति । अतस्यस्य भोगाभावः समर्थितः । तादृशं कथं ददातीति चेद् उपासकानामेव दोषादिति वक्तुं ये धनार्थं शिवमुपासते ते साहंकाराः सन्तः ग्रहकाराभिमानिनमेव शिवं मुपासते । ननु शैव-तन्त्रसिद्धं सदाशिवं वा साधारणत्वं ज्ञानाधिकाराभावाच्च ॥२॥

व्याख्यानार्थ—इस विषय में जो महान् संदेह है, उसका निवारण करना चाहता हूँ, 'हि' पद से कहते हैं कि यह अर्थ उचित है, भक्त होने से भजनीय स्वरूप के गुण में जो संदेह हो, वह निवारण करना चाहिए, 'नः' बहुवचन देने का तात्पर्य है कि केवल मुझे संशय नहीं है सर्व सेवकों को संदेह है अतः अवश्य निवारणीय है, क्योंकि यहां अर्थात् इस विषय में जो कौतुकाविष्ट है उनकी भी इच्छा है, कि संदेह की निवृत्ति के लिए प्रयत्न होना चाहिए, यह जताने के लिए कहा कि विरुद्ध शीलयोः प्रभवोः^६ दोनों समर्थ होते हुए भी विरुद्ध शील वाले हैं, एक 'हरि' लक्ष्मी सहित और दूसरा 'शिव' लक्ष्मी रहित है, उनके सेवक भी विरुद्ध फल वाले होते हैं, जैसे लक्ष्मी विहीन शिव के भक्त, लक्ष्मीवान् होते हैं और लक्ष्मी सहित हरि के भक्त लक्ष्मी विहीन होते हैं, जिसको जो वस्तु पसंद आती है वह वस्तु, अपने भक्त को देता है, यहां तो उसका अभाव है ।

यहां संदेह करने वाले से पूछना चाहिए कि शिवजी आप स्वयं क्यों नहीं धनादि से भोग भोगते हैं ? क्यों भक्तों को दे देते हैं ? ये राज्यादि कैसे हैं, उत्तम सुखदाता हैं मथवा अधम दुःख दाता हैं ? यदि उत्तम हैं तो आप क्यों नहीं भोगते हैं ? यदि अधम हैं तो अपने भक्तों को क्यों देते हैं ? इसका उत्तर है कि ये भोग अपकृष्ट अर्थात् अधम हैं, इसलिए आप नहीं भोगते हैं, फिर भक्तों को क्यों देते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि उपासकों का ही यह दोष है, वे यह ही मांगते हैं कारण कि वे उपासक ग्रहङ्कारी हैं, अपने ग्रहङ्कार को बढ़ाने के लिए ही शिवजी से धनादि प्राप्त कर ग्रहङ्कार का पोषण करते हैं, इसलिए ग्रहङ्काराभिमानी तामसगुणाविष्ट शिव की ही उपासना करते हैं न कि, शैव तन्त्र सिद्ध सदाशिव की उपासना करते हैं, कारण कि, साधारण और ज्ञानाधिकार के अभाव वाले हैं ॥२॥

आभास—अतस्तान् प्रति शिवस्तादृशमेवेति तन्निरूपयति शिवः शक्तियुत इति ।

आभासार्थ—इस कारण से ऐसे ग्रहङ्कारी भक्तों के लिए शिव भी वैसे होकर वैसे फल देते हैं जिसका निरूपण 'शिवः शक्तियुतः' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—शिवः शक्तियुतः शश्वन्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः ।

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ॥३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि शिव निरन्तर शक्ति को अपने पास रखते हैं एवं सात्त्विक, राजस तथा तामस अहङ्काराविष्ट होने से त्रिलिङ्ग कहलाते हैं और तीन गुणों के कारण तीन प्रकार के हैं ॥३॥

सुबोधिनी—अहंकाराभिमानेऽपि शिवस्य तादृशत्वे हेतुः शक्तियुत इति । 'शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः' इति वाक्यात् । प्रलयकर्त्री शक्ति यदि शिवः शान्तात्मा क्षणमपि परित्यजेत् तदा सा प्रलयं कुर्यात् । यदि वा कण्ठे कालकूटं न स्थापयेत् तदा सर्ववस्तूनां दोषस्याधिदैविकं रूपमिति तत्परित्यागे सर्ववस्तुषु दोषाद्गमे सर्वोऽप्यन्नादिभक्षणेन म्रियेत । यदि वा सर्पात्र धारयेत् तदा सर्व एव पुरुषाः कुण्डलिनीव्यामाः तथैव हताः स्युः । तदाधिदैविकास्त्रिरुद्धच स्थापयतीति न कुण्डलिनी कमपि हन्तीति सूचितम् । एवमग्नेर्धारणं अन्यथा सर्वं दहेदिति । एवं चंद्रमसोऽपि । अन्यथा सर्वं क्षीणं कुर्यादिति । वस्त्राणां सर्वदेवतामयत्वात् न बाधकत्वमिति न तद्वारणम् । शार्दूलचर्मं तु 'मृत्योर्वा एष वर्णो

यच्छार्दूलम्' इति श्रुतेः प्राणिनां मृत्युनिवारणाय विभक्तिं गङ्गां च विभक्तिं । सापि स्पर्शमात्रेणैव पूर्वदेहं दोषरूपं निवर्त्य भगवदोयं देहं संपादयति । जटाश्च विभक्तिं । अन्यथा वायुना हुता मेवा गच्छेयुरेव न त्वागत्य वृष्टिं कुर्युः । एवं सर्वेषां प्रयोजनानि शिवतन्त्रे निरूपितानि निर्दोषपूर्णगुणविग्रहरूपेण प्रस्तावे । एवं परमकपालुरपि उपासकानुरोधात् त्रिलिङ्गो जातः । ततो गुणैरपि सत्त्वरजस्तमोभिः संवेष्टितः । ननु तस्य त्रिलिङ्गत्वे वा गुणवेष्टनत्वे वा को हेतुरिति चेत्- तत्राह वैकारिकस्तैजसश्चेति । वैकारिकः सात्त्विकः । तैजसो राजसः । अहमहंकारस्तदधिष्ठाता जात इति तस्य त्रिलिङ्गत्वाद गुणसंवृतत्वाच्च स्वयं चापि तथा जातः ॥३॥

व्याख्यानार्थ - शिवजी में अहङ्कार का अभिमान मात्र है, न कि जीव को तरह अहङ्कारधास है, और शिवजी अहङ्कारी भक्तों को उनके योग्य फल देने के लिए तथा जगत् हितार्थ 'शक्ति' को सदैव रखते हैं, जैसा कि भागवत में कहा है 'शक्त्या युक्तो विचरति घोरया भगवान् भवः' भगवान् शिव घोर शक्ति के साथ फिरते हैं, इस प्रलय करने वाली शक्ति को शान्तात्मा शिव क्षण मात्र भी नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि यदि छोड़े तो यह शक्ति क्षण में समग्र जगत् को प्रलय कर दे, और शिवजी यदि कण्ठ में कालकूट विष को धारण न करें तो सब जो भक्ष्य पदार्थ अन्न आदि हैं, उनके खाने से मृत्यु हो जावे, क्योंकि सर्व वस्तुओं में जो मृत्यु कारक दोष है उसका आधिदैविक स्वरूप कालकूट है, उसको कण्ठ में धारण कर लेने से सर्व वस्तुओं में से दोषों का अभाव हो गया है, जिससे अन्नादि भक्ष्य पदार्थ निर्दोष होकर सबको जीवन देते हैं, यदि शिवजी उसका त्याग करें तो सर्व वस्तुओं में फिर वह दोष पैदा हो जावे, जिससे अन्नादि भक्षण द्वारा सर्व की मृत्यु हो जावे ।

यदि महादेव सर्पों को धारण न करें तो कुण्डलिनी से व्याप्त पुरुष, उससे ही मारे जावे, इस कारण से कुण्डलिनी के आधिदैविक स्वरूप सर्पों का निरोधकर कण्ठ में धारण कर लिए हैं, इसलिए कुण्डलिनी किसी को भी नहीं मार सकती है, इससे यों सूचित किया है ।

आप अग्नि को धारण कर सब को दाह से बचा रहे हैं, यदि अग्नि को धारण न करें तो सबको अग्नि भस्म कर डालें ।

आप चन्द्रमा को धारण कर सबको क्षीण होने से बचाते हैं, यदि चन्द्रमा को धारण न करते तो चन्द्रमा सबको अपने समान क्षीण कर देता ।

आप वस्त्रों को धारण न कर नग्न रहते हैं, क्योंकि आप जानते हैं कि वस्त्र देव रूप हैं, सबकी रक्षा करते हैं, किसी के बाधक नहीं, मृत्योत्रा एष वर्णो यच्छादूँलम्' इति श्रुतेः' 'व्याघ्र चर्म मृत्यु का वर्ण है' यों श्रुति में कहा है अतः मनुष्यों को मृत्यु को हटाने के लिए आप व्याघ्र चर्म धारण करते हैं ।

आपने गङ्गा को धारण इसलिए किया है कि, अधिकारियों^१ को ही देह निर्दोष होवे, कारण कि गङ्गाजी स्पर्श मात्र से ही दोष रूप देह को बदलाकर भगवदीय देह बना देती है। यदि धारण न करते तो सब से स्पर्श होता सब की देह भगवदीय हो जाती तो अधिकारोपन का नियम लोप हो जाता ।

आप जटाओं को धारण करते हैं, बादल केश रूप हैं, जैसे कहा है कि 'अम्बुवाहाः केशाः' यदि धारण न करते तो बादलों को वायु दूर दूर ले जाती यहां लौटकर न आते जिससे यहां वर्षा ही न पड़ती, अतः आपने जटा धारण भी आवश्यक समझा ।

इसी तरह भगवान् शङ्कर ने जो २ पदार्थ धारण किए हैं उनका प्रयोजन शिव तन्त्र में कहा है, वहां शिवजी का निर्दोष पूर्ण गुण विग्रह सिद्ध किया है, इस प्रकार के होते हुए भी आप परम कृपालु होने से भक्तों के आग्रह से त्रिलिङ्ग हुए हैं, इससे ही सत्त्व, रज और तमोगुण से युक्त हुए हैं, उनके^२ त्रिलिङ्ग होने वा गुणों से वेष्टित होने का क्या हेतु है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'वैकारिकस्तैजसश्चेति' अहङ्कार सात्त्विक, राजस और तामस होने से त्रिविध है अतः आप भी अहङ्काराभिमानी होने से त्रिलिङ्ग हुए अतः गुणों से युक्त होकर वैसे हो गए ॥३॥

आभास—ततः सहिता शक्तिः पुरुषसम्बन्धात् प्रलयकर्तृत्वं परित्यज्य सृष्टिं कृत-
वतीत्याह ततो विकारा अभवन्निति ।

आभासार्थ—शिवजी के साथ रही हुई शक्ति पुरुष^३ के सम्बन्ध से प्रलय करने का कार्य त्याग कर सृष्टि करने लगी, यह 'ततो विकारा' श्लोक वर्णन करते हैं—

श्लोक—ततो विकारा अभवन्षोडशामोषु कञ्चन ।

उपाधावन्विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् ॥४॥

श्लोकार्थ—उससे सोलह विकार (दस इन्द्रियाँ,^१ एक मन^२ और पाँच भूत^३) हुए इनमें से किसी का भी आश्रय करने वाला सर्व विभूतियों का फल भोगता है ॥४॥

सुबोधिनी—भूतानीन्द्रियाणि च विकाराः षोडश, महादेवः षोडशरूपो जात इत्यर्थः । 'षोडशकलोऽयं पुरुषः' इति श्रुतेः । ततः श्रमीषु भगवन्मूर्तिषु कंचनापि महादेवं उपाधावन् सर्वा-

सामेव विभूतीनां गतिमश्नुते । यतः स विभूति-पतिः ऐश्वर्याण्यक्षयरूपाणि कृत्वा विभर्तीति । अनेन तस्य विभूत्यभावो निराकृतः ॥४॥

व्याख्यानार्थ—पाँच महाभूत मन सहित ११ इन्द्रियाँ ये षोडश विकार हैं, अर्थात् इसी तरह महादेव ने १६ रूप धारण किए, जैसा श्रुति में 'षोडशकलोऽयं पुरुषः' कहा है कि पुरुष १६ कला वाला है, इस कारण इन १६ भगवान् की मूर्तियों में से किसी भी मूर्ति का आश्रय करता है वह सब मूर्तियों का फल पाता है, क्योंकि वह महादेव इन १६ विभूतियों का स्वामी है, अतः आप ऐश्वर्यों को अक्षय रूप कर धारण करते हैं, यों कहकर महादेव विभूति रूप है, इस मत का निराकरण किया है ॥४॥

आभास—एवं महादेवे दोषं निराकृत्य भक्तानुरोधेन विकारजातं प्रयच्छतीति निरूपितम् भगवति च वादी प्रष्टव्यः । किं लक्ष्मीरूपा विषया उत्तमा अधमा वेति । उत्तमत्वे कथं न प्रयच्छति । अधमत्वे कथं स्वयं भुङ्क्त इति संदेहः । तत्र हिशब्दः पूर्वपक्षोक्तं प्रकारं वारयति । लक्ष्मीरूपविषया उत्तमाः । अतो भगवान् विभर्तीति युक्तम् । दोषरूपपक्षस्थापनार्थं भगवता शिवरूपमेव कृतमिति नात्र पुनः तत्पूर्वपक्षाः समायान्ति । तत्र भक्तेभ्यः कथं न प्रयच्छतीत्याशङ्क्यामाह हरिरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार महादेव में दोष का निराकरण कर, भक्तों के आग्रह के कारण ही विकारोत्पन्न फल देते हैं, यों निरूपण किया ।

भगवान् के विषय में शङ्का करने वाले वादी से पूछना चाहिए कि लक्ष्मी रूप विषय उत्तम है, या अधम ? यदि उत्तम है तो उपासकों को क्यों नहीं देते हैं ? यदि अधम है तो आप क्यों धारण करते हैं ? इस विषय में पहले कहे हुए प्रकार का 'हि' पद से निवारण करते हैं ।

लक्ष्मी रूप विषय अच्छे हैं अतः भगवान् धारण करते हैं यह उचित ही है ।

लक्ष्मी के विषय, दोषरूप हैं इस पक्ष की स्थापना करने के लिए भगवान् ने शिव रूप धारण किया है इसलिए यहां बिर पूर्व पक्ष नहीं आ सकता है, वहाँ प्रश्न होता है कि यदि लक्ष्मी का विषय उत्तम है तो भक्तों को क्यों नहीं देते हैं ? इस शंका का उत्तर देने के लिए 'हरिहि' श्लोक कहा है —

१- राजस ग्रहद्वार से दश इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई, २- सात्त्विक ग्रहद्वार से मन उत्पन्न हुआ,
३- तामस ग्रहद्वार से पाँच भूत (पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि) उत्पन्न हुए ।

श्लोक — हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः ।

स सर्वहगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत् ॥५॥

श्लोकार्थ—हरि ही निर्गुण, प्रकृति से पर, साक्षात् पुरुष है, सबका सब कुछ देख रहे हैं, निकट भी देख रहे हैं, उनका भजन करने वाला निर्गुण होता है ॥५॥

सुबोधिनी—प्रयच्छत्येव न तु दुःखरूपान् । यथा हरिर्गजेन्द्राय पूर्वाविस्थास्थितदेहभार्यैश्वर्यादिकं त्याजयित्वा परमानन्दरूपान् तानेव दत्तवान् । हि युक्तश्चायमर्थः । ननु शिववत् कथं न प्रयच्छतीति चेत् तत्राह निर्गुण इति । गुणार्थं तदेव रूप जातमिति देनैव रूपेण तत्कार्यं सिन्नयतीति स्वयं गुणातीतः स्थितः । अत्र रूपे गुणग्रहणे प्रयोजनं नास्तीत्याह साक्षात्पुरुष इति । अयं सर्वेषामुपासकानामात्मा अतस्तद्धितमेव विचारयति न तूपासनानुरोधं करोति । किंच अस्य तादृशी कापि शक्तिर्नास्ति यदनुरोधात्तां परिगृह्य सगुणो भवेत् । ननु पुरुषत्वात्प्रकृति-

रायातीति चेदत आह प्रकृतेः पर इति । ननु तथापि भक्तक्लेशं दृष्ट्वा कथं न संपादयतीति चेत् तत्राह स सर्वहगिति । स प्रसिद्धः आत्मा हितकारी । सर्वस्यापि सर्वं पश्यति । किंच । अन्तर्यामित्वान्निकटेऽपि स्थितः पश्यति । ततो यदैव यद्विना कार्यं न भवतीति जानाति तदैव तत्प्रयच्छतीति भावः । अत एवैतादृशं परम-विचक्षणं भजन् स्वयमपि निर्गुण एव भवेद् गुणप्रयोजनाभावात् । भगवांश्च तेनैव रूपेण प्रकट इति न भक्तोपेक्षते नापि भगवान् प्रयच्छतीत्यर्थः ॥५॥

व्याख्यार्थ—हरि अपने भक्तों को ऐश्वर्यादि देते हैं किन्तु दुःख रूप ऐश्वर्यादि नहीं देते हैं जैसे गजेन्द्र को, पूर्वाविस्था वाले देह, स्त्री और ऐश्वर्यादि जो दुःखद थे उनका त्याग कराकर परम आनन्द रूप ऐश्वर्यादि दिए । 'ही' पद से यह सूचित किया है कि यों करना उचित हो है, शिव को तरह क्यों नहीं देते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि आप 'निर्गुण' हैं, गुण के लिए वह ही (शिवरूप) धारण किया है, उस रूप से ही वह कार्य सिद्ध करते हैं, इसलिए ही आप गुणातीत होकर विराजते हैं, इस स्वरूप में गुणों के ग्रहण करने का कोई प्रयोजन है, इसलिए कहा है कि, 'साक्षात् पुरुषः' साक्षात् पुरुष है अतः सब उपासकों की आत्मा है, जिससे उनका हित ही विचारते हैं उपासकों के अनुरोध से नहीं देते हैं, जिसके देने से भक्तों का अहित न होवे वह पदार्थ देते हैं ।

इसके पास ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जिसके वश होकर गुणों को ग्रहण कर सगुण होवे, हरि पुरुष है, अतः प्रकृति स्त्री होने से स्वतः इनके पास आती है, जिसके उत्तर में कहा कि 'प्रकृतेः पर' प्रकृति से पर हैं, यों होते भी भक्तों के क्लेशों को देख कर क्यों नहीं गुणों को ग्रहण करते हैं ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि 'स सर्वहक्' 'स' पद से यह सूचित किया है कि वह आत्मा का हित करने वाले हैं यों प्रसिद्ध है, सर्व का, सब दुःख सुख सब देख रहे हैं इस कारण से जब समझते हैं कि इसके बिना उपासक का कार्य सिद्ध नहीं होगा, तब ही आपको वह देते हैं, इस कारण से ही ऐसे परम विचक्षण का जो भजन करता है वह स्वयं भी निर्गुण हो जाता है, कारण कि उसका गुणों से कोई प्रयोजन नहीं है ।

भगवान् उस ही (निर्गुण ही) रूप से प्रकटे है, इसलिए भक्त अपेक्षा नहीं करता है और भगवान् भी नहीं देते हैं ॥५॥

आभास—प्रत्युत दोषरूपान् विषयान् भक्त्येषु पश्यन्नपहरतीति वक्तुमुपाख्यानमाह निवृत्तेष्वश्वमेधेष्विति ।

आभासार्थ - प्रत्युत (बल्कि) यदि भक्तों में कोई दोष देखते हैं तो उसका अपहरण कर लेते हैं, यों कहने के लिए 'निवृत्तेष्वश्वमेधेषु' श्लोक से उपाख्यान कहते हैं—

श्लोक—निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत्पितामहः ।

शृण्वन्भगवतो धर्मानपृच्छदिदमच्युतम् ॥६॥

स आह भगवांस्तस्मै प्रीतः शुश्रूषवे प्रभुः ।

नृणां निःश्रेयसार्थाय यदाः कुल ॥७॥

जा युधिष्ठिर
हैं, जिसमें

ने यदुकुल

श्लोकार्थ—अश्वमेधों के पूर्ण हो जाने के अनन्तर तुम्हारे पितामह राजा ने भगवद्धर्म सुनते हुए यह सुना कि भगवान् भक्तों की सम्पत्ति नहीं बढ़ाते सन्देह हो जाने से यह अर्थ, अच्युत से पूछने लगा ॥६॥

उस पर प्रसन्न हुए वे प्रभु भगवान् मनुष्यों के निःश्रेयस के लिए जिन्हें में अवतार लिया है सुनने की इच्छा वाले उसे कहने लगे ॥७॥

भगवद्रूपा-
वान् इत्या-
व्यासस्यापि
ङ्कय योऽव-
म् ॥६॥७॥

सुबोधिनी—अश्वमेधत्रयं कृत्वा पश्चादन्ते धर्मश्रवणस्य विहितत्वाद्भगवद्धर्मान् शृण्वन् भगवान् भक्तानां संपदो न प्रवर्धयतीति तत्र संदिहानः इममेवार्थं अच्युतमपृच्छत् । स च भगवांस्तत्रैव स्थितः स्वधर्मान् शृणोतीति प्रीतः सन् गुह्यमपि सिद्धान्तं शुश्रूषवे प्रभुत्वात्तन्निः-

शङ्कमाह । ननु व्यासादयोऽपि स्तिष्ठन्तोति । अतः कथमेवमुक्तं शङ्क्याह नृणां निःश्रेयसार्थायेति । शास्त्रद्वारा निःश्रेयससाधकत्वमाश-
तीर्णं इति । रामव्यावृत्त्यर्थं गूर्वपद

ए करे, उसी
भगवान् भक्तों
ए कराने के

व्याख्यानार्थ—शास्त्राज्ञा है कि तीन अश्वमेध पूर्ण करने के बाद भगवद्धर्मों का श्रवण आज्ञा का पालन करते हुए राजा युधिष्ठिर भगवद्धर्म श्रवण करता था, जब सुना, कि भक्तों की सम्पदाओं को बढ़ाते नहीं है, तब संशय ग्रस्त हो, इसही विषय का संशय निराकरण के लिए अच्युत से पूछने लगा ।

रहा है अतः
मगे, कारण
नी उपस्थित
णां निःश्रेय-
'योऽवतीर्ण'
है न कि

भगवान् तो वहां ही स्थिति थे, देख रहे थे कि यह भगवद्धर्मों का श्रवण कर उस पर प्रसन्न थे, जिससे गुह्य सिद्धान्त भी उस सुनने वाले को निःशङ्क होकर कहने लगे कि, आप प्रभु, अर्थात् सर्व समर्थ हैं, जब वहां भगवद्रूप उपदेश करने वाले व्यासादि भगवन् थे, तब आप कैसे इस तरह कहने लगे ? जिस शङ्का को मिटाने के लिए कहा कि 'नृणां निःश्रेयसार्थाय' आप मनुष्यों के निःश्रेयसार्थ यदुकुल में प्रकट हुए हैं, अतः आप कहने लगे 'यः' पद से यह सूचित किया है कि भक्तों को मोक्ष देने के लिए कृष्ण ही प्रकट बलरामजी ॥६-७॥

है, इस बात को हम जानते हैं कि ईश्वर ने आप पर स्नेह जाल डाल दिया है ॥६२॥

सुबोधिनी - सत्तमैर्भवद्विरस्मासु मैत्री या अनादरे । सफला वा । अफला सफला वा भवतु
अपिता सा अज्ञेषु अप्रतिकल्पा प्रतिकल्परहिता । परं न निवर्तेत ॥६२॥
प्रतिकल्पः प्रत्युपकारः । अतः अफला । वा शब्दः

व्याख्यार्थ—आप सत्पुरुषों ने जो हम अज्ञों (नासमर्थों) में मैत्री स्थापित की है, उसका हम बदला दे नहीं सकते हैं, इस कारण से वह निष्फल है । 'वा' शब्द अनादर में है, यह आपकी की हुई मैत्री सफल हो चाहे असफल हो, किन्तु छूटती नहीं है ॥६२॥

आभास—एवं प्रत्युपकाराभावं मैत्रीं च स्थापयित्वाह प्रागकल्पास्तु कुशलमिति ।

आभासार्थ—'प्रागकल्पास्तु' श्लोक में बदला न मिलना और मैत्री की स्थापना दोनों कहते हैं ।

श्लोक—प्रागकल्पास्तु कुशलं भ्रातर्वो नाचरामहि ।

अधुना श्रीमदान्धाक्षा न पश्यामः पुरः सतः ॥६३॥

श्लोकार्थ—हे भाई ! पहले तो हम असमर्थ थे, जिससे आपकी की हुई मैत्री व उपकार का बदला न दे सके, किन्तु अब लक्ष्मी के मद से अन्धे हो गए हैं, जिससे सामने स्थित उपकारी सत्पुरुष को मानों देखते ही नहीं हैं ॥६३॥

सुबोधिनी - क्रियाप्रतिकल्पाभावेऽपि स्व-
शक्त्यनुसारेण प्रत्युपकारः कर्तव्यः तस्याप्यकरणो
हेतुरुच्यते पूर्व यदा कंसो न हतः द्वारकायां वा न
गतं तदा वयमेवाकल्पाः । तत एव हे भ्रातः वः
कुशलं नाचरामहि । संबोधनात्कुशलावश्यकत्वं
वोधितम् । अधुना पुनः प्राप्त राज्याः कल्पा अपि
श्रीमदेनैवान्धाः सन्तः पुरः सतोऽपि विद्यमानान्
न पश्यामः । धर्मदर्शनानन्तरं हि तत्र प्रति-
कर्तव्यसंभावना ॥६३॥

व्याख्यार्थ—मैत्री क्रिया का पूरा बदला न दे सकते, तो थोड़ा भी देना चाहिए था, जैसी भी शक्ति होवे थोड़ा सा भी न कर सकने में कारण देते हैं कि तब न कंस मरा था और न द्वारका गए थे । तब हम सर्वथा असमर्थ थे, अतः कुछ न कर सके । 'हे भाई' सम्बोधन देने का आशय है कि हमको प्रत्युपकार करना ही चाहिए, यों करना आवश्यक है, 'अस्तु' तब नहीं किया, अब तो कंस मर गया, सब विघ्न टले, अब तो करो । जिसके उत्तर में कहते हैं कि राज्य मिल गया है, उपकार का बदला देने में समर्थ है, यह सत्य है, किन्तु लक्ष्मी के मद से अन्धे हो गए हैं, उपकार करने वाले सत्पुरुष सामने स्थित हैं, तो भी मानों उनको देखते ही नहीं हैं, अतः अब भी नहीं कर सकते हैं । धर्मों के देखने के बाद ही वहाँ बदले की सम्भावना होगी ॥६३॥

आभास—तहि किं युक्तमित्याकाङ्क्षायां निर्णयमाह मा राज्यश्रीरभूदिति ।

आभासार्थ—तो उचित क्या है ? इस आकांक्षा का निर्णय 'मा राज्यश्रीः' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—मा राज्यश्रीरभूत्पुंसः श्रेयस्कामस्य मानद ।

सुजनानुत बन्धूंश्च न पश्यति ययाऽन्धदृक् ॥६४॥

श्लोकार्थ—हे मानद ! श्रेय की कामना वाले पुरुषों को राज्य और श्री नहीं होनी चाहिए; क्योंकि जैसे अन्धा सत्पुरुषों को और बान्धवों को नहीं देख सकता है, वैसे वह भी नहीं देख सकता है ॥६४॥

सुबोधिनी—यद्यप्युभयत्रापि प्रतिकर्तव्यता नास्ति तथाप्यकल्पावस्थैव समीचीना ज्ञानशक्ति-क्रियाशक्त्योः ज्ञानशक्तिसहितमेव सद्भावत्वात् क्रियाशक्तिस्तु संपत्तौ विद्यमानापि ज्ञानशक्त्य-भावादप्रयोजिका । अत एवमन्तरं वर्तते इति पुंसः श्रेयस्कामस्य राज्यश्रीर्माभूत् । मानं ददा-

तीति मानदः । अनेन त्वं सर्वथास्माकं मानमेव प्रयच्छसि को दोषः राज्यस्येति चेत् सुजनानुत बन्धूंश्चेति । यया श्रिया कृत्वा अन्धा दृष्टिर्नस्य गतदृष्टिरित्यर्थः । सत्पुरुषान् बन्धूंश्च न पश्यति ॥६४॥

व्याख्यार्थ—दरिद्रता (गरीबी) और राज्यश्री की प्राप्ति दोनों अवस्थाओं में बदला नहीं चुकाया जा सकता है । फिर भी राज्यश्री से दरिद्रता अच्छी है, ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति दोनों की आवश्यकता है, किन्तु वे तब अच्छी हितकारिणी होती हैं, जब उनके साथ ज्ञान-शक्ति भी होवे, कारण कि क्रिया-शक्ति सम्पत्ति के विद्यमान होने की अवस्था में ज्ञान-शक्ति के साथ न होने से व्यर्थ है, जिसका भावार्थ है कि यदि सम्पत्ति के होने पर कार्य (बदला देने) करने की शक्ति है, किन्तु ज्ञान के अभावों में वह शक्ति कुछ कर ही नहीं सकती है ।

अतः इस प्रकार अन्तर होता है, जिससे श्रेय चाहने वाले पुरुष को राज्यश्री न होवे, तो अच्छा है । मान देने वाले को 'मानद' कहा जाता है, आप हमको सदैव मान देते हैं, राज्य का क्या दोष ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि जिस राज्यश्री से पुरुष अन्धा हो जाता है, वह राज्यश्री नहीं चाहिए, कारण कि इससे वह अपने सत्पुरुष और बान्धवों को नहीं देख सकता है ॥६४॥

आभास—एवं स्वदोषख्यापनं नन्दगुणप्रकटीकरणं च कृत्वा स्नेहेन रोदनं कृत-वानित्याह एवमिति ।

आभासार्थ—इसी तरह अपने दोष प्रकट कर और नन्दजी के गुण प्रकट किए, बाद में स्नेह बढ़ आने से रोने लगे, जिसका वर्णन 'एवं' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—एवं सौहृदशैथिल्यचित्त आनकदुन्दुभिः ।

रुरोद तत्कृतां मैत्र्यो स्मरन्नश्रुविलोचनः ॥६५॥

श्लोकार्थ—श्री शुक्रदेवजी ने कहा कि इसी तरह स्नेह से शिथिल चित्त वाले वसुदेवजी के नेत्रों में आँसू आ गए, श्री नन्दरायजी के उपकार स्मरण करते हुए रोने लगे ॥६५॥

सुबोधिनी—रोदनमुक्तार्थस्य स्थापकम् । भगवन्तं रक्षितवान् । नन्दात्स्वगृहनयने कः । अन्यथा मुखत एव वदतीत्यपि शङ्का स्यात् । प्रयास इति भावः । तत्कृतां मैत्रीं भगवत्परि- । सौहृदेन शैथिल्यं यस्य चित्तस्य तादृशं चित्तं पालनरूपाम् । अश्रूणि विलोचनयोर्यस्येति दुःख- । यस्य । यतोयमानकदुन्दुभिः अतिसुबुद्धिः कंसाद- स्य सहजत्वं निरूपितम् ॥६५॥

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी ने जो रोदन किया, उसका आशय यह था कि मैंने जो कहा है, वह केवल मुख से दिखाने के लिए नहीं कहा है, किन्तु मानसिक भाव से कहा है । यदि रोते नहीं, तो यों समझा जाता कि यह कहना केवल दिखावा है, इस शङ्का को रोने से मिटा दिया । वसुदेवजी का चित्त सौहार्द्र से शिथिल हो गया था; क्योंकि बहुत सुन्दर बुद्धि वाले हैं, तब ही कंस से भगवान् की रक्षा की है, नन्द से अपने घर में लाने में कौनसा प्रयास है, यों कहने का भाव है कि नन्दजी ने भगवान् के पालन रूप अनुग्रह को किया है, यह ही मैत्री है, जिससे आँसूओं से नेत्रों में जल भर गया, इससे वसुदेवजी को नन्दजी के उपकार का बदला न चुका सकने का सहज दुःख है, यह निरूपण किया ॥६५॥

श्लोक—नन्दस्तु सख्युः प्रियकृत्प्रेम्णा गोविन्दरामयोः ।

अद्य श्व इति मासांस्त्रीन्यदुभिर्मनितोऽवसत् ॥६६॥

श्लोकार्थ—नन्दरायजी यादवों से मान पाकर, अपने मित्र वसुदेवजी को प्रसन्न करते हुए, राम-कृष्ण के प्रेम से आज-कल खाना होऊँगा, यों करते हुए, तीन महीनों तक वहीं रहे ॥६६॥

सुबोधिनी—एवं स्नेहानुबन्धं प्राप्य नन्दः । मासान् अवात्सीत् । प्रत्यहमेव यदुभिर्मनितः । सख्युः प्रियकर्ता गोविन्दरामयोः प्रेम्णा अद्य । मासत्रयं स्वभावत एव स्थितः । ततोद्य श्व इति । गमिष्यामि श्वो गमिष्यामीत्येवं वदन् त्रीन् । वदन् मासत्रयम् ॥६६॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार मित्र का प्रिय करने वाले नन्दरायजी स्नेह पाश में फँस जाने के कारण श्रीकृष्ण और राम के प्रेम से आज जाऊँगा, कल जाऊँगा; यों कहते हुए, तीन मास वहीं रहे, नित्य प्रति ही यादवों से सत्कार पाते थे, अतः तीन मास स्वभाव से ही रहे, इसलिए आज-कल कहते हुए तीन मास पूरे हो गए ॥६६॥

श्लोक—ततः कामैः पूर्यमाणः सत्रजः सहबान्धवः ।

पराध्याभरणक्षौमनानानर्घ्यपरिच्छदैः ॥६७॥

श्लोकार्थ—फिर अमूल्य आभूषण, रेशमी वस्त्र और अनेक प्रकार के सब सामान

ले, मनवाञ्छित कामना को पूर्ण कर, नन्दरायजी गोप और बान्धवों को सङ्ग ले (नीचे श्लोक से सम्बन्ध है) ॥६७॥

सुबोधिनी—एवं माघादाषाढपर्यन्तं स्थित्वा । पदार्थान् गणयति वसुदेवेति । अमूल्यान्याभर-
ततः काश्चैर्नानाभिलषितैः भगवता पूर्णमाणाः । एतादीनि, क्षौमाणि पट्टवस्त्राणि, अनर्घ्यपरिच्छदाः
सर्वजः गोपालसहितो बान्धवसहितश्च । काम्य- । दिव्यगृहोपकरणानि ॥६७॥

व्याख्यार्थ—यों माघ से आषाढ पर्यन्त रहकर पश्चात् भगवान् से अनेक प्रकार की कामनाएँ पूर्ण कर, गोप और बान्धवों के साथ काम्य^१ पदार्थों की गणना करते हैं—अमूल्य आभूषण, रेशमी वस्त्र सुन्दर गृह की सामग्री ॥६७॥

आभास—एतानि प्रत्येकं बहुभिर्दीयन्त इति तान् गणयति वसुदेवेति ।

आभासार्थ—उपरोक्त सामग्री हर एक को बहुतों ने दी, उनकी गणना 'वसुदेवोत्र' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—वसुदेवोत्रसेनाभ्यां कृष्णोद्धवबलादिभिः ।

दत्तमादाय पारिबर्हं यापितो यदुभिर्ययौ ॥६८॥

श्लोकार्थ—वसुदेवजी, उग्रसेनजी, कृष्ण, उद्धवजी और बलरामजी आदि यादव से दिया हुआ पारिबर्ह^२ ले रवाना हुए ॥६८॥

सुबोधिनी—पञ्च मुख्यतया गणिताः । उग्र- । बलो बलभद्रः आदिशब्देन देवक्यादयोपि गृह्यन्ते ।
सेनो राजा । वसुदेववत्सोपि भगवता मोचित । एतदन्तं पारिबर्हमादाय दूरे समागत्य यापितः
इति । उद्धवोपि बहुकालं तद्गृहे स्थित इति । सन् ययौ ततो निर्गतः ॥६८॥

व्याख्यार्थ—मुख्य रूप से पाँच गिने । उग्रसेन राजा वसुदेवजी की तरह उनको भी भगवान् ने जेल से छुड़ाया था, उद्धवजी भी बहुत काल से उनके घर में रहे थे । 'बल' शब्द से बलभद्र और 'आदि' शब्द से देवकी इत्यादि (वगैरह) लेनी चाहिए, इन्हीं से दी हुई पहरावनियाँ लेकर दूर जाकर जिसकी जो थी, वह बाँट कर ले ली, पश्चात् वहाँ से रवाना हुए ॥६८॥

आभास—नन्वयं सर्वं गृहीत्वैव गच्छति न किञ्चित्स्वयं दत्तवानित्याशङ्क्याह नन्दो गोप्यश्चेति ।

आभासार्थ—ये नन्दरायजी सब लेकर ही जा रहे हैं, आपने तो कुछ भी नहीं दिया, यों शङ्का कर 'नन्दो गोप्यश्च' श्लोक में उत्तर देते हैं ।

श्लोक — नन्दो गोप्यश्च गोपाश्च गोविन्दचरणाम्बुजे ।

मनः क्षिप्तं पुनर्हर्तुं मशक्ता मथुरां ययुः ॥६६॥

श्लोकार्थ—नन्द और गोपियों ने तथा गोपों ने इन दोनों ने समृद्धि के लिए अपना मन भगवान् के चरणों में धर दिया, वहाँ अति पुष्ट हो जाने से फिर निकलने में समर्थ न हुए, अतः माथुर देशों को ही गए, मन के निमित्त ही सब कुछ दिया जाता है, नन्दादिकों का मन तो भगवान् में ही है, अतः नन्द आदि का ही सबसे विशेष द्रव्य यहाँ पड़ा हुआ रह गया है ॥६६॥

सुबोधिनी—नन्दः गोप्यश्चैका कोटिः । शक्ताः । माथुरानेव देशान् ययुः । मनोनिमित्तं गोपास्त्वपराः । उभयेपि गोविन्दचरणाम्बुजे हि सर्वं दीयते नन्दादीनां तु मनो भगवत्येव । समृद्धयर्थं क्षिप्तं मनः अतिपुष्टत्वात् पुनर्हर्तुं म- अतो नन्दादीनामेव बहुद्रव्यमत्र स्थितमित्यर्थः ६६

व्याख्यार्थ—नन्द तथा गोपियाँ एक पंक्ति के हैं, गोप दूसरी पंक्ति के हैं । गोविन्द भगवान् के दोनों चरण कमलों में समृद्धयर्थ लगाए हुए मन को वहाँ से हटा लेने में असमर्थ थे; क्योंकि चित्त उनमें बहुत पुष्ट (मजबूत, पक्का) हो गया है। अतः मथुरा के सम्बन्ध (निकट) वाले देश को गए, मन के निमित्त ही सब कुछ दिया जाता है । नन्दादि का मन तो भगवान् में ही लगा हुआ है, अतः नन्दादिकों का ही बहुत धन यहाँ धरा हुआ है, यह आशय है ॥६६॥

आभास—ततो यज्ञातं तदाह बन्धुषु प्रतियातेष्विति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ, वह 'बन्धुषु' श्लोक से कहते हैं ।

श्लोक—बन्धुषु प्रतियातेषु वृषणयः कृष्णदेवताः ।

वीक्ष्य प्रावृषमासन्नां ययुर्द्वारवतीं पुनः ॥७०॥

श्लोकार्थ—बान्धवों के जाने पर श्रीकृष्ण को इष्टदेव मानने वाले यादव भी वर्षा ऋतु को निकट जानकर वापिस द्वारका गए ॥७०॥

सुबोधिनी—सर्वेष्वेव स्वस्वदेशं गतेषु स्वय- किकप्रकारेण रक्षको येषाम् । तर्हि कथं गता मेकाकिनोऽपि बहुकालं स्थिताः । तत्र निःशङ्का- इत्याकाङ्क्षायामाह वीक्ष्य प्रावृषमासन्नामिति । स्थितौ हेतुः कृष्णदेवता इति । कृष्ण एवाली- दिनचतुष्टयदशकव्यवहिताम् ॥७०॥

व्याख्यार्थ—सब अपने-अपने देश चले गए, यादव अकेले रह गए, तो भी वहाँ बहुत समय रहे, बिना किसी भय आदि की शङ्का के रहते थे; क्योंकि उनका सर्वभयहारी श्रीकृष्ण ही देवता थे, श्रीकृष्ण ही जिनकी अलौकिक प्रकार से रक्षा करते थे, तो भला गए क्यों ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि वर्षा ऋतु निकट आ गई थी, आने में १४ दिन ही शेष रह गए थे ॥७०॥

आभास—ततो ये नागतास्तेषामयं महोत्सवो न जात इति शङ्कां वारयितुं वृत्तान्तकथनमाह जनेभ्यः कथयांचक्रुरिति ।

आभासार्थ—जो यहाँ नहीं आए थे, उनको यह महान् आनन्द न मिला, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'जनेभ्यः' श्लोक में वह वृत्तान्त मनुष्यों को कहने लगे ।

श्लोक—जनेभ्यः कथयांचक्रुर्वसुदेवमहोत्सवम् ।

यदासीत्तीर्थयात्रायां सुहृत्संदर्शनादिकम् ॥७१॥

श्लोकार्थ—उन्होंने जाकर सब लोगों को वसुदेवजी के यज्ञ के महोत्सव का समाचार तथा जो कुछ तीर्थ यात्रा में मित्रों के दर्शन आदि हुए थे, वह सब वृत्तांत कह कर सुनाया ॥७१॥

सुबोधिनी—वसुदेवस्य यज्ञमहोत्सवम् । यच्च परमोत्सवलक्षणं फलं दत्तवानिति ॥७१॥
सुहृत्संदर्शनादिकं तदप्येवं सात्त्विकानां निरुद्धानां ।

व्याख्यार्थ—वसुदेवजी के यज्ञ का महान् उत्सव तथा जो मित्रों के दर्शन आदि हुए थे, वह भी इस प्रकार कि जिससे जो सात्त्विक निरुद्ध थे, उनको परमानन्द लक्षण वाला फल दिया, ऐसा उत्सव वहाँ आकर सबको सुनाया ॥७१॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे पञ्चत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥३५॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ८१वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३५वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य
धरणा विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के सात्त्विक फल
अवान्तर प्रकरण का सप्तम अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित लीला का सार

ऋषि स्तुति

राग बिलावल

हरि-हरि-हरि सुमिरौ सब कोइ । बिनु हरि सुमिरन मुक्ति न होइ ॥
 श्रीशुक, व्यास कह्यौ जा भाइ । सोइ अब कहौ सुनौ चित लाइ ॥
 सूरज-ग्रहन पर्व हरि जान । कुरुक्षेत्र में आए न्हान ॥
 तहँ ऋषि हरि दरसन हित गए । हरि आगे ह्वै कै सब लए ॥
 आसन दै पूजा-विधि करी । हाथ जोरि विनती उच्चरी ॥
 दरस तुम्हारे देवन दुरलभ । हमकौ भयौ सो अतिहौ सुरलभ ॥
 यौ कहि पुनि लोगन समुझायौ । जैसै वेद पुराननि गायौ ॥
 हरिजन कौ पूजै हरि जान । ताकौ होइ तुरत कल्याण ॥
 मुर पूजा बहु विधि सौ कीजै । तीरथ जाइ दान बहु दीजै ॥
 यह सब किए होइ फल जोइ । सत-सङ्ग सो छिन भै होइ ॥
 यह सुनि कै ऋषि रहे लजाइ । पुनि बोले हरि सौ या भाइ ॥
 तुम सबके गुरु सबके स्वामी । तुम सबहिनि के अन्तरजामी ॥
 तुम्है वेद ब्रह्मण्य बखानत । तातै हमरी अस्तुति ठानत ॥
 हम सेवक तुम जगत अधार । नमो-नमो तुम्है वारम्बार ॥
 तुम परब्रह्म जगत करतार । नर-तनु धरचौ हरन भुव-भार ॥
 मुर पूजा अरु तीर्थ बतावत । लोगनि की मति कौ भरमावत ॥
 तुम निजरूप इहिँ भाँति छिपायौ । काठ माँझ ज्यौ अगिनि दुरायौ ॥
 वसुदेव तुमकौ जानत नाहिँ । और लोग बपुरे किहि माहिँ ॥
 कोउ पिता, पति कोउ जानत । कोऊ सत्रु-मित्र करि मानत ॥
 सर्व असँग तुम सर्व अधार । तुम्है भजै सो उतरै पार ॥
 जैसै नोद माहिँ कोउ होइ । बहु विधि सपनौ पावै सोइ ॥
 पै तिहिँ उहाँ न कलू संभार । किहिँ देखत को देखनहार ॥
 यौ जे रहे विषय-रस मोइ । तिनको बुद्धि सुद्ध नहिँ होइ ॥
 जापर कृपा तुम्हारी होइ । रूप तुम्हारी जानै सोइ ॥
 घट-घट माहिँ तुम्हारी बास । सर्व ठौर ज्यौ दीप-प्रकास ॥
 इहिँ विधि तुमकौ जानै जोइ । भक्तऽरु ज्ञानी कहिए सोइ ॥
 नाथ कृपा अब हम पर कीजै । भक्ति अपनी हमकौ दीजै ॥
 प्रेम भक्ति बिनु कृपा न होइ । सर्व साथ हम देख्यौ जोइ ॥
 तपसी तुमकौ तप करि पावै । सुनि भागवत गृही गुन गावै ॥
 कर्म जोग करि सेवत जोइ । ज्यौ सेवै त्यों ही गति होइ ॥
 ऋषि इहिँ विधि हरि के गुन गाइ । कह्यौ होइ आज्ञा जदुराइ ॥
 हरि तिनकी पुनि पूजा करी । कीरति सकल जगत बिस्तरी ॥
 वेद, पुरान सबनि की सार । व्यास कह्यौ भागवत बिचार ॥
 बिनु हरि नाम नही उद्धार । मुर जानि यह भजौ मुरार ॥

श्री सुबोधिनी ग्रन्थमाला

का

त्रयोदशवाँ पुष्प

श्रीमद्भागवत महापुराण की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण द्वारा विरचित
श्री सुबोधिनी (संस्कृत टीका) हिन्दी अनुवाद सहित

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्री भागवतानुसार अध्याय ८५ से ९०

श्री सुबोधिनीनुसार अध्याय ८२ से ८७

गुण प्रकरण अध्याय १ से ६

श्री भागवत गूढार्थ प्रकाशन परायण ।

साकार ब्रह्मवादक स्थापकी वेदपारंगः ॥

—श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण

टिप्पणी	—	श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण
प्रकाश	—	गो. श्री पुरुषोत्तमजी महाराज
सहायक ग्रन्थ लेख	—	गो. श्री वल्लभजी महाराज
योजना	—	प.म. श्री लालू (बालकृष्ण) भट्टजी
कारिकार्य	—	श्री निर्भयरामजी भट्ट

हिन्दी अनुवादक

गो.वा. पं. फतहचन्दजी वासु (पुष्करणा) शास्त्री, विद्याभूषण
जोधपुर

प्रथम आवृत्ति—१०००

श्रीमद्विट्ठलेश प्रभुचरण

जयन्ती महोत्सव

वि०सं० २०३२

शुक्रवार—

दि. २६, दिस० १९७५

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशक

श्री सुबोधिनी प्रकाशन मराडल

मानधना भवन, चौपासनी मार्ग

जोधपुर (राजस्थान)

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ८५वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ८२वां अध्याय
उत्तरार्ध ३६वां अध्याय

गुण-प्रकरण

“अध्याय—१”

चमुदेवजी को ब्रह्मज्ञान का उपदेश तथा देवकीजी के छः पुत्रों का लौटाना



कारिका— एवं निरोधः सर्वेषां भगवत्कृत ईरितः ।
स किं साक्षात्सर्वयुक्त्या भगवानन्यथापि वा ॥१॥

कारिकार्थ—इस प्रकार भगवान् ने जो निरोध किया, वह (निरोध) कहा गया । इसी भाँति निरोध करने वाला श्रीकृष्ण सर्व प्रकार की युक्तियों से जो साक्षात् जैसा भगवान् सिद्ध होता है, वैसा ही है अथवा दूसरे प्रकार का भी है अर्थात् भगवान् नहीं भी है ॥१॥

कारिका—अन्यथा चेत्कृतोप्येष निरोधो निष्फलो भवेत् ।
तस्मात्कृष्णस्य सर्वोक्त्या भगवत्त्वं तु साध्यते ॥२॥

कारिकार्थ—यदि श्रीकृष्ण भगवान् से पृथक् कोई दूसरा है, तो उसने जो निरोध किया, वह सफल नहीं होगा; क्योंकि भगवान् नहीं है । ऐसी शङ्का को निवारण कर सिद्ध करते हैं कि सर्व वचनों से श्रीकृष्ण भगवान् ही है, अन्य नहीं है ॥२॥

कारिका—अतोऽग्रे भगवान् व्यासः षडध्यायों चकार ह ।

ऐश्वर्यादिप्रसिद्धयर्थं सङ्गतिस्त्वयमेव हि ॥३॥

कारिकार्थ—अतः भगवान् व्यासजी ने भगवान् के ऐश्वर्य आदि छः गुणों की प्रसिद्धि के लिए ये छः अध्याय किए (बनाए) हैं । ऐश्वर्य आदि की प्रसिद्धि के लिए यह (रचना) ही सङ्गति है, जिससे पूर्वा पर सम्बन्ध जाना जाता है ॥३॥

कारिका—तत्रादौ भगवद्भावसिद्धयर्थं युक्तिपूर्वकम् ।

ऐश्वर्यादीन् षडर्थान् हि षडध्यायां निरूप्यते ॥४॥

कारिकार्थ—उसमें युक्ति अनुसार भगवद्भाव की सिद्धि के लिए ही प्रथम, ऐश्वर्य आदि छः धर्म इस गुण प्रकरण के छः अध्यायों में निरूपण किए जाते हैं ॥४॥

कारिका—षट्त्रिंशे तु तथाध्याये कृष्णस्यैश्वर्यलक्षणः ।

अलौकिको लौकिकश्च क्रियाज्ञानविभेदतः ॥५॥

निरूप्यते यतः पित्रोरैश्वर्यं हृद्गतं भवेत् ।

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस ३६वें अध्याय में श्रीकृष्ण के लौकिक तथा अलौकिक ऐश्वर्य' क्रिया और ज्ञान के भेद से कहा जाता है, इसलिए कि यह ऐश्वर्य लक्षण वाला भाव माता-पिता के हृदय में जच जावे ॥५॥

कारिका—अनुभावात्पुत्रैश्वर्यं तयोर्हृदयसंहितम् ॥६॥

कारिकार्थ—यद्यपि श्रीकृष्ण के प्रभाव से उनके हृदय में पहले ही ऐश्वर्य स्थित था ॥६॥

कारिका—येन स्तुतिः कृता ताभ्यां कृष्णवाक्यात्तु निर्णयः ।

तीर्थयज्ञसदुक्त्या हि शुद्धान्त करणो भवेत् ॥७॥

कारिकार्थ—जिससे ही दोनों (वसुदेव और देवकी) ने भगवान् की स्तुति की, फिर भी, उसका निर्णय श्रीकृष्ण के वाक्य से ही हुआ है; क्योंकि तीर्थ और यज्ञ में जो कोई निर्णय लिया जाता है, वह सत्पुरुषों के वचन से ही लिया जाता है; क्योंकि

उनके वचनों से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है । शुद्ध अन्तःकरण में ही सत्य का निश्चय होता है, जिससे भगवद् गुण-गान में रुचि उत्पन्न होती है ॥७॥

कारिका — ततः कृष्णगुणज्ञाने तस्येच्छाभूद्वितीयते ।

तथैव देवकी देवी ज्ञात्वा माहात्म्यमुत्तमम् ॥८॥

ऐश्वर्यस्य परीक्षार्थं पुत्राहतिमुवाच ह ।

कारिकार्थ—पश्चात् ही श्रीकृष्ण के गुण-गान में उनकी इच्छा हुई, यों कहा है । वैसे ही देवी देवकी श्रीकृष्ण का उत्तम माहात्म्य जानकर, ऐश्वर्य की परीक्षा के लिए श्रीकृष्ण को कहने लगी कि मेरे मरे हुए पुत्रों को लाकर देओ ॥८॥

आभास—एवमेतावद्भिरध्यायैस्त्रिविधानां निरोधो निरूपितः । अथ भगवतः षड्गुणाः षड्भिरध्यायैर्निरूप्यन्ते क्रमेणैव । ऐश्वर्यं लोकवेदातिशायि । स ईश्वरः यः अलौकिकं करोति, यो वा वेदस्याप्यशक्यं करोति सोऽत्र निरूप्यते । पित्रे पुत्रत्वं स्थापयित्वैव ज्ञानोपदेशं यत्करोति, यच्चाप्यखण्डं, तथा बाल्ये मृतानां कालेन परमाणुसात्कृतानां पुनः कालमुल्लङ्घ्य यथास्थानं प्रापयित्वा तत्समानयनं, ततोऽपि स्वपदप्रापणमपि । एवं वेदकालोल्लङ्घनं न पुरुषोत्तमादन्यस्य शक्यम् । फलप्रकरणस्य संनिधान एव गतत्वात् पित्रोरभिलषितं च करोतीत्यध्यायसंगतिः । कथायाः पौर्वापर्यं नाभिलषितमिति भिन्नक्रमेणारभते अथेति ।

आभासार्थ—श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध के प्रारम्भ से यहाँ (उत्तरार्ध के ३५वें अध्याय) तक जन्म प्रकरण, तामस, राजस और सात्त्विक भक्तों के निरोध का निरूपण किया । अब ३६ से ४१ अध्यायों तक भगवान् के ऐश्वर्यादि छः गुणों का क्रमानुसार निरूपण किया जाता है । 'ईश्वर' वे हैं, जिनमें ऐश्वर्य आदि छः गुण पूर्ण रूप से रहते हों, जो कर्म, वेद से भी न हो सके, एवं अलौकिक हैं, उस कर्म को 'ऐश्वर्य' कहते हैं, वह 'ऐश्वर्य' श्रीकृष्ण में है, अतः श्रीकृष्ण 'ईश्वर' हैं । जिनका यहाँ निरूपण किया जाता है । इस प्रसङ्ग में श्रीकृष्ण अपने पिता में अपने लिए पुत्र-भावना स्थापित करते हुए भी, ज्ञान का उपदेश पिता को देते हैं । वह भी स्वल्प का नहीं, किन्तु परिपूर्ण ज्ञान का, अतः श्रीकृष्ण ईश्वर हैं, यों सिद्ध होता है । जिस प्रकार वेद और काल का उल्लङ्घन श्रीकृष्ण ने किया है, वैसा अन्य कोई भी नहीं कर सकता है । कारण कि दूसरे पुरुषोत्तम स्वरूप नहीं हैं । पुरुषोत्तम तो, श्रीकृष्ण ही हैं, अतः दोनों को उल्लङ्घन करने की सामर्थ्य आप में ही है । फल प्रकरण के पूर्ण होने के बाद, शीघ्र ही माता-पिता का इच्छित कार्य करते हैं, यह अध्याय की सङ्गति है ।

यहाँ कथा का क्रम वैसा नहीं है, जो लीला के समय था, इसलिए ही निम्न श्लोक 'अथैकदात्मजौ' श्री शुकदेवजी पृथक् रीति से प्रारम्भ करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—अथैकदात्मजौ प्राप्नो कृतपादाभिवन्दनौ ।

वसुदेवोऽभिनन्द्याह प्रीत्या संकर्षणाच्युतौ ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि, फिर एक दिन निकट आकर प्रणाम करते हुए अपने पुत्रों राम और कृष्ण का प्रेमपूर्वक सत्कार कर वसुदेवजी कहने लगे ॥१॥

सुबोधिनी—एकदा प्रसन्नसमये स्वयमेवा-
त्मजौ प्राप्नो लालनसमये । ततः कृतपादाभि-
वन्दनौ जातौ । ततो वसुदेवोऽपि तत्कृतमभिनन्द्य
लौकिकप्रीतियुक्त एव ज्ञानार्थमुवाच संकर्षणम-

च्युतं च । सर्वमेतज्ज्ञाने पूर्वाङ्गं श्रुतिविरुद्धम् ।
स्वयं गुरोर्गृहे गत्वा नमस्कारानन्तरं गुरुणाभि-
नन्दितः एक स्तौतीति मर्यादा ॥१॥

व्याख्यान—जब श्रीकृष्ण और संकर्षण आनन्द में थे और लालन का समय भी था, तब दोनों ने बिना बुलाए पिता के चरणों में प्रणाम किया । पिता ने इस कार्य से सन्तुष्ट होकर उनका अभिनन्दन किया और कहा कि ज्ञान का उपदेश करिए । यह ज्ञान-प्राप्ति की प्रक्रिया वेद-विरुद्ध है; क्योंकि वेदानुसार शिष्य गुरु के पास जाकर प्रणाम कर ज्ञान की याचना करता है, अनन्तर गुरु अभिनन्दन कर उसको ज्ञानोपदेश करता है । यहाँ ज्ञानोपदेश गुरु श्रीकृष्ण, अपने उपदेश्य शिष्य वसुदेवजी के पास आते हैं और शिष्य को प्रणाम करते हैं । शिष्य, गुरु श्रीकृष्ण का अभिनन्दन करता है, यह परिपाटी वेद-विरुद्ध है, यह मर्यादा नहीं है । ॥

आभास—तत्रापि पूर्वं तत्कामनया तदर्थं न प्रवृत्तः किं तु प्रासङ्गिकस्मरणेन तथा
कृतवानित्याह मुनीनां तद्वचः स्मृत्वेति ।

आभासार्थ—वसुदेव ने ज्ञान-प्राप्ति करने की इच्छा से स्वयं प्रवृत्ति नहीं की थी, किन्तु ग्रचानक ऋषियों की वाणी का स्मरण होने से उसने जो कुछ ज्ञान-प्राप्ति के लिए किया, उसका वर्णन 'मुनीनां' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—मुनीनां तद्वचः स्मृत्वा पुत्रयोर्धर्मसूचकम् ।

तद्वीर्यैर्जातविश्रम्भः परिभाष्याभ्यभाषत ॥२॥

श्लोकार्थ—मुनियों के वहे हुए पुत्रों के प्रभाव सूचक वचन स्मरण कर, पुत्रों के प्रभावों से विश्वास वाले वसुदेवजी ने सम्बोधित कर, यों कहा ॥२॥

सुबोधिनी - 'यस्यानुभूतिः कालेन' इत्यादि
मुनिवाक्यं, तस्य चाकस्मात्स्मरणं, तच्च पुत्रयो-
र्धर्म तेजः स्वरूपं वा सूचयति । केवलवाक्यं
स्मृतं वा चेत् ज्ञान जनयेत्तदापि न काचिच्चिन्ता ।
किंच । सवादात्तस्य प्रामाण्यमवधृतमित्याह

तद्वीर्यैर्जातविश्रम्भ इति । गोवर्द्धनोद्धरणादीनि
वीर्याणि, तैर्जातो विश्वासो ऋषिवाक्ये यस्य ।
ततः हे कृष्ण हे रामेत्युक्त्वा अभ्यभाषत स्तुति
कृतवानित्यर्थः ॥२॥

व्याख्यार्थ—मुनियों के वे वाक्य स्मरण में आ गए, जिनमें उन्होंने कहा था, कि श्रीकृष्ण का अनुभव अर्थात् ज्ञान, काल आदि अथवा किसी प्रकार से कभी भी नाश नहीं होता है, एवं उनके वीर्यों (पराक्रमों) से भी विश्वास हो गया था कि ये दोनों धाम स्वरूप हैं, केवल स्मृति से ज्ञान उत्पन्न हो, तो भी, कुछ चिन्ता नहीं, किन्तु यहाँ तो संवाद से जाना गया है, अतः सत्य है। इस प्रकार निश्चय हुआ। गोवर्द्धन को उठाना आदि कार्य श्रीकृष्ण के वीर्य (पराक्रम) को सूचित करते हैं, इन कार्यों से ही ऋषि वाक्यों में विश्वास उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार विश्वास होने पर वसुदेवजी 'हे कृष्ण' ! 'हे राम' ! सम्बोधन से बुलाकर निम्न प्रकार से स्तुति करने लगे ॥२॥

कारिका—स्तोत्रं चक्रेऽष्टादशभिः सर्वविद्यानिरूपकैः ॥६॥

शरणागतिपर्यन्तमुभयोरात्मनस्तथा ।

स्वरूपमाह सर्वासां विद्यानामभिवाञ्छितम् ॥१०॥

कारिकार्थ—सर्व विद्याओं के निरूपक अठारह श्लोकों से शरणागति पर्यन्त स्तुति करते हैं। उन श्लोकों में सकल विद्याओं के इच्छित श्रीकृष्ण और बलरामजी का तथा अपना स्वरूप कहते हैं ॥६-१०॥

आभास—आदौ जगत्कारणत्वमाह कृष्ण कृष्णेति ।

आभासार्थ—प्रारम्भ में निम्न श्लोकों में भगवान् जगत् के कारण हैं, यों कहते हैं।

श्लोक—कृष्ण कृष्ण महायोगिन् संकर्षण सनातन ।

जाने वामस्य यत्साक्षात्प्रधानपुरुषौ परौ ॥३॥

श्लोकार्थ—हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महान् योगी ! हे संकर्षण ! हे सनातन ! आप दोनों इस समग्र जगत् के मुख्य प्रधान और पुरुष हो, यों मैं जानता हूँ ॥३॥

सुबोधिनी—आदरे वीप्सा । महायोगिन्निति । महानपि ज्ञातुमशक्य इत्यत्र हेतुस्तः । संकर्षणस्य नाममात्रेण संबोधनमुक्त्वा तदर्थपरिज्ञानात् तत्स्वरूपमेवाह सनातनेति । अनेन नित्यार्थवाचकत्वमेव तस्यापि वक्तव्यमिति निरूपितम् । सम्यक् कर्षणात्मकं प्रकृतेरिति तं प्रकृतिदेवतां

मन्यते, अत आह जाने वामिति । अस्य जगतः साक्षात्संपूर्णस्य, कार्यकारणाभेदोपचारेण तथा-त्वं वारयति उभयोः प्रधानपुरुषत्वम् । उपचारादङ्गीकारत्वं वारयति पराविति अक्षरादुत्पन्नौ मूलभूतावित्यर्थः ॥३॥

व्याख्यार्थ—'हे कृष्ण'-'हे कृष्ण' यों दो बार आदरार्थ कहा है। भगवान् बड़े हैं, तो भी जानने में नहीं आते हैं, इसलिए भगवान् को 'हे महायोगी' कहा है। बलदेवजी को केवल 'सङ्कर्षण' नाम न देकर 'सनातन' भी कहा है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'सङ्कर्षण' पद के अर्थ का ज्ञान न होने से 'सनातन' पद से बताया है कि वे नित्य खेंचने के कार्य के कर्त्ता हैं, पूर्ण रीति से खेंचने का

कार्य प्रकृति का है, जिससे वसुदेवजी सङ्कर्षण को प्रकृति का देवता मानते हैं, इसलिए ही श्लोक के उत्तरार्ध में कहते हैं कि इस साक्षात् सम्पूर्ण जगत् के कार्य कारण का अभेद से उपचार का तथापन निवारण करता है और दोनों प्रधान पुरुष हैं। 'परौ' शब्द से उपचार से अङ्गीकार का निवारण करता है। अक्षर से उत्पन्न मूलभूत रूप हैं, यों तात्पर्य है ॥३॥

आभास—जगत्कारणत्वमुक्त्वा जगद्रूपतामाह यत्रेति ।

आभासार्थ—वे जगत् के कारण हैं, यों कहकर निम्न 'यत्र येन' श्लोक में कहते हैं कि वे जगत् रूप हैं।

श्लोक—यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद्यद्यथा यदा ।

स्यादिदं भगवान्साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरः ॥४॥

श्लोकार्थ—जिसमें, जिस साधन से, जिससे, जिसका, जिसके लिए, जो, जिसको, जिस प्रकार, जब होता है; वे प्रधान पुरुष और ईश्वर भी साक्षात् भगवान् आप ही हैं ॥४॥

सुबोधिनी—लोके षट्कारकाणां प्रकार-
सहितसर्वविभक्तीनां यावान् वाच्योर्थः स सर्वोऽपि
भवानेव, तत्कारणं प्रधानपुरुषौ च, तस्यापि

कारणमोश्वरः कालः, तयोरपि नियन्ता पुरुषोत्तम
एवेति कृष्ण एवोक्तः। उभयोरेकत्वेन मूलमेव सर्व
भवतीति च। एतादृशो भगवांस्त्वमेवेत्यर्थः ॥४॥

व्याख्यानार्थ—व्याकरणानुसार सात विभक्तियाँ हैं, जिनमें से छठी विभक्ति सम्बन्धवाचक है, जिससे उसके सिवाय शेष ६ विभक्तियाँ कारक कही जाती हैं अर्थात् वे विभक्तियाँ नाम और क्रिया पद का परस्पर सम्बन्ध अथवा नाम का अन्य नाम से सम्बन्ध बताती हैं। अतः ये विभक्तियाँ कारक कही जाती हैं। इसी प्रकार आप भी विभक्तियों की तरह, सब तरह सब पदार्थों से सम्बन्ध धराने से सब कुछ आप ही है, अतः प्रधान (प्रकृति) और पुरुष आप ही है। उनका ईश्वर जो काल रूप है, वह भी आप ही है। तात्पर्य, विशेष में प्रधान, पुरुष और काल को भी वश में करने वाले जो पुरुषोत्तम स्वरूप हैं, वह भी आप श्रीकृष्ण ही हैं। सारांश यह हुआ कि श्रीकृष्ण, बलरामजी दोनों को एक समझ दोनों ही मूल कारण हुए। इस प्रकार दो रूप धारण करने वाले आप ही भगवान् श्रीकृष्ण हैं, कहने का यही अर्थ (तात्पर्य) है ॥४॥

आभास—एवं स्वरूपकारणत्वे निरूप्य उत्पत्ति निरूप्य स्थिति निरूपयति
एतन्नानाविधमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार तीसरे श्लोक में स्वरूप और कारण कहकर और चौथे में उत्पत्ति बताकर निम्न 'एतन्नानाविधं' श्लोक में स्थिति का निरूपण करते हैं।

श्लोक—एतन्नानाविधं विश्वमात्मसृष्टमधोक्षज ।

आत्मनानुप्रविश्यात्मा प्राणो जीवो बिभर्ष्यजः ॥५॥

श्लोकार्थ — हे अधोक्षज ! आपके बनाए हुए इस नाना-विध जगत् में स्वयं प्रविष्ट होकर, जन्मरहित होते हुए भी आप आत्म स्वरूप, प्राण और जीव रूप होकर, उसको धारण करते हो ॥५॥

सुबोधिनी—भिन्नाभिन्नब्रह्माभावाद्यनेकप्रकारं आत्मनैव सृष्टम् । सर्वेष्वेव प्रकारेषु भगवानेव कर्ता । अधोक्षजेति सर्वकर्तृत्वं तस्याज्ञातं बहिर्मुखैरिति निरूपितम् । ततः 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इतिवत् अन्तःप्रविश्य, प्रवेशे केवलमात्मनैव प्रविश्य, पश्चात्तत्रानैकरूपो जात इत्याह । आदौ आत्मा तत्सर्वं व्याप्य स्थितः, पश्चाज्जीव-

रूपेण प्राणरूपेण च जातः । प्राणशब्देनेन्द्रियाण्यपि सगृह्येतानि । 'सच्च त्यच्चाभवत्' इति श्रुत्यर्थो निरूपितः । ततः सर्वमेव जगच्छरीरादिकमपि बिम्बिषि । धारकशक्तिमपि तत्रैव योजितवान् । अन्तर्यामी वा तदर्थमधिकः प्रविष्टः सर्वं श्रुत्युक्ताः प्रकारा अत्र सगृह्यन्ते ॥५॥

व्याख्यानार्थ—ब्रह्मा माया आदि विविध प्रकार का जगत् आपने ही रचा है, सर्व प्रकार में कर्ता वे भगवान् ही हैं । आपको वेद अधोक्षज कहते हैं, जिसका तात्पर्य है कि इन्द्रियों से आपका ज्ञान नहीं हो सकता है, जिससे बहिर्मुख यह नहीं जान सकते हैं कि आप भगवान् इस विश्व के कर्ता हैं । जगत् रचने के बाद उसमें आप प्रविष्ट हो गए, प्रवेश कर विश्व में अनेक रूपों से प्रकट होकर क्रीड़ा करने लगे, पहले आत्मा बने, उस रूप से सर्व में व्याप्त होकर रहे, फिर जीवन रूप और प्राण रूप होकर कार्य करने लगे । 'प्राण' शब्द से इन्द्रियाँ भी कही हैं । तैत्तिरीय उपनिषद् २-६-१ में इसको 'सत् तथा त्यत् हुए', यों कहा है, पश्चात् यों बनकर शरीर आदि सम्पूर्ण जगत् को धारण करते हो, धारण करने की जो शक्ति है, उसको भी वहाँ ही नियुक्त करते हैं और धारण करने के कार्यार्थ अन्तर्यामी रूप से भी प्रविष्ट हुए । श्रुति ने जो मृष्टि के प्रकार कहे हैं, वे सर्व यहाँ लिए हैं ॥५॥

आभास—एवं स्थितिमुक्त्वा तस्याधिदैविकमपि रूपमाह प्राणादीनामिति ।

आभासार्थ—इसी प्रकार स्थिति कहकर अब 'प्राणादीनां' श्लोक में उसके आधिदैविक रूप का वर्णन करते हैं ।

श्लोक — प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः ।

पारतन्त्र्याद्वैसादृश्याद् द्वयोश्चेष्टं व चेष्टताम् ॥६॥

श्लोकार्थ—विश्व के सृजक अर्थात् कार्य करने वाले जो प्राण आदि हैं, उनमें जो शक्तियाँ हैं, वे सब शक्तियाँ आप जो 'पर' हैं, उनकी हैं, इन प्राणादि की नहीं है; क्योंकि चेष्टा करने वाले ये परतन्त्र व जड़ हैं, ये केवल चेष्टा वाले हैं, शक्ति वाले नहीं हैं । जिस प्रकार तिनके आदि पदार्थों में जो चलने आदि की चेष्टा देखने में आती है, वह वायु की शक्ति से होती है, उनकी स्वयं की शक्ति से नहीं होती है ॥६॥

सुबोधिनी—प्राणादयः सर्वे स्वक्रियाशक्त्या विश्वमेव सृजन्ति । कर्मेन्द्रियैरेव सर्वे सृज्यन्ते इति विश्वसृक्प्रयोगः । एतेषां याः शक्तयस्ताः परम्यैव आधिदैविकस्यैव, न त्वाध्यात्मिकस्य आधिभौतिकस्य वा । यथा आत्मप्रयत्न एव इन्द्रियाणां शरीरस्य च भवति । नन्वेतेषां सहजाः शक्तयः कुनो नाङ्गीक्रियन्ते किमित्याधिदैविकमधिकं कल्प्यत इति शङ्कां परिहरति पारतन्त्र्यादिति । एते आध्यात्मिकाः परतन्त्राः कथं स्वतन्त्रतया कार्यं करिष्यन्ति अन्यथा सर्वदेव कथं कार्यं न कुर्युः तस्माद्यदेव शक्त्याधानं तदेव कार्यं कुर्वन्ति नान्यदेति सर्ववस्तूनां वस्तुस्वरूप आधिदैविकापरपर्यायः । 'चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनः' इत्यादिश्रुतिवाच्यो भगवानेवेत्यर्थः । ननु जीवोऽङ्गीकर्तव्योऽवश्यमिति अन्तर्यामी जीवो वा स्वशक्त्याधानं करोतु किमन्तर्गुना रूपान्तरेणेति

चेत् तग्राह्यं वैसादृश्यादिति । सर्ववस्तूनामात्मा विसृष्टः चेतनत्वादन्येषां जडत्वात्, यदि विसृष्टोऽपि स्वशक्तिमादध्यात्, ग्रन्थादिषु श्रोत्रादिष्वपि चक्षुःशक्तिं कुतो नादध्यात् । अतः प्रतिनियतपदार्थसिद्धयर्थं तत्तत्स्वभावापन्नं अतिरिक्तमेव रूपमङ्गीकर्तव्यमित्यर्थः । किंच । यदेतदुक्तमाध्यात्मिकमाधिभौतिकं च ताभ्यामेव कार्यं सिध्यन्विति । तत्रोच्यते । द्वयोरपि तयोश्चेष्टैव तृणादीनामिव, न तु प्रेरकत्वं कर्तृत्वं वा संभवति । कुतः एतत् इत्याकाङ्क्षायां देहलोपप्रदीपन्यायेन अग्रे योजयित्वा निरूपयति चेष्टैव चेष्टतामिति । चेष्टतां क्रियावता चेष्टैव धर्मो भवितुमर्हति, न तु प्रेरकत्वं कदाचिद्वा चेष्ट भावः, तस्मादाधिदैविकरूपमवश्यमङ्गीकर्तव्यमिति भावः ॥६॥

व्याख्यार्थ—प्राण आदि में क्रिया शक्ति मात्र है, उससे विश्व की रचना करते हैं, सब कर्म इन्द्रियों से हो बनाते हैं, इसलिए ही केवल प्राणादि को विश्वसृष्टा कहा जाता है, जिस प्रकार शरीर और इन्द्रियों का प्रयत्न आत्मा का ही प्रयत्न है, वैसे ही प्राणादिक को जो शक्तियाँ दीखती हैं वे 'पर' की ही हैं अर्थात् उनमें रहे हुए आधिदैविक की ही हैं, न कि आध्यात्मिक व आधिभौतिक की है ।

प्राणादि की शक्तियों को सहज (कुदरती) शक्तियाँ क्यों नहीं माना जाता है ? आधिदैविक की विशेष कल्पना क्यों की जाती है ? जिसका उत्तर देते हैं कि वे प्राणादि आध्यात्मिक परतन्त्र हैं । जो परतन्त्र है वह स्वतन्त्रता से काम नहीं कर सकेगा । यदि स्वतन्त्र हो तो सदैव क्यों नहीं कार्य करे ? अतः जब आधिदैविक शक्ति उनमें शक्ति डालती है तब कार्य करते हैं नहीं तो नहीं कर सकते हैं, इससे सिद्ध है कि सब वस्तुओं में वस्तु का स्वरूप रहता है, जिसको 'आधिदैविक' कहा जाता है, जिसका तात्पर्य है कि श्रुति में जो भगवान् का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है कि वह, चक्षु का चक्षु, कान का कान, मन का मन है, अतः वह भगवान् ही सब का आधिदैविक शक्ति स्वरूप है, उसकी शक्ति द्वारा ही प्राण आदि कार्य कर सकते हैं—अन्यथा नहीं ।

यदि यह शङ्का की जावे कि जब जीव और अन्तर्यामी माने जाते हैं तो वे प्राण आदि को शक्ति दे दें, व्यर्थ दूसरे रूप की कल्पना की कौनसी आवश्यकता है ? इस प्रकार की शङ्का होने पर उत्तर देते हैं कि पृथक् प्रकार के होने से, आत्मा सर्व वस्तुओं से अन्य प्रकार की है, कारण कि वह चैतन्य है और दूसरे पदार्थ जड़ हैं, अतः जो जीव तथा अन्तर्यामी शक्ति दे सकने में समर्थ हों, तो नेत्रों में देखने की शक्ति क्यों नहीं प्रकट करते ? तथा कर्ण आदि इन्द्रियों में देखने की शक्ति डाल देते, किन्तु इतना सामर्थ्य न होने से यों शक्ति प्रकट नहीं कर सकते हैं ? तात्पर्य यह है कि

प्रत्येक पदार्थ शुद्ध स्वरूप में स्थित रहे, इसलिए हरेक वस्तु में पृथक् पृथक् स्वभाव वाला स्वरूप अन्य अन्य है, यों ही सिद्ध होता है, जैसे तिनके आदि में केवल चेष्टा है किन्तु वह चेष्टा वायु द्वारा दी हुई शक्ति से प्रकट होती है, इसी प्रकार आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक में केवल चेष्टा है, प्रेरकत्व का कर्तृत्व नहीं है, अतः उसका प्रेरकता अन्य आधिदैविक स्वरूप है, जिसकी स्वीकृति आवश्यक है, इस विषय को ही देहली दीपक न्याय वत् समझना चाहिए ॥६॥

कारिका—कर्ता सर्वप्रविष्टात्मा नानारूपस्तथा परः ।

चतुर्धा वेदरक्षार्थं चतूरूपो निरूपितः ॥११॥

कारिकार्थ—(१) कर्ता, (२) सर्व में प्रविष्ट आत्म रूप, (३) पृथक्-पृथक् रूप, (४) पर अर्थात् आधिदैविक रूप; इसी प्रकार चार रूप चार वेदों की रक्षार्थ निरूपण किए हैं ॥११॥

आभास—विभूतिरूपं निरूपयति कान्तिस्तेज इति ।

आभासार्थ—‘कान्तिस्तेजः’ श्लोक में विभूति रूप भगवान् का निरूपण करते हैं—

श्लोक—कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कक्षविद्युताम् ।

यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान् ॥७॥

श्लोकार्थ—चन्द्र, अग्नि, सूर्य और नक्षत्र एवं बिजली की कान्ति, तेज, प्रभा और सत्ता, इसी प्रकार पर्वतों की स्थिरता, भूमि का कार्य गन्ध; ये सब आप ही हैं ॥७॥

सुबोधिनी—सर्ववस्तुषु या कान्तिः । सौन्दर्य, तेजः दीप्तिः मण्णादिष्विव प्रभा परप्रकाशिका, सत्ता वस्तुस्थितिः । यद्यप्येतच्चतुष्टयं सर्ववस्तुषु विद्यमानं भवानेव, तथापि तद्धर्मा येषु प्रसिद्धास्तान् गणयति कान्तिश्चन्द्रे, तेजः सूर्ये, प्रभा अग्नी ऋक्षाणां च, विद्युतां सत्ता । यथा भगवद्व्यतिरेकेण विद्युतां न क्वापि स्थितिः एवमेतेषामपि भगवत्तत्त्वं कान्त्यादिकं नान्यथेत्यर्थः । धर्मरूपोऽयं निरूपितः । सोऽपि भगवान्निति ज्ञापयितुं षड्धर्मपूर्त्यर्थं पुनर्धर्मावाह यद्भूभृतां स्थैर्यं

यच्च भूमेर्गन्धः । तदुभयमपि त्वमेव । तत्र सर्वत्र हेतुः अर्थत इति, कार्यतः सुखादिकार्याणि जनयन्ति । यदि सुखजनकत्वं धर्मिणि स्यात्तदा धर्मिणामपि स्यात् । कारणगुणा हि कार्यगुणमारभन्ते इति यत्सामर्थ्यं धर्मिणो नास्ति तद्धर्माणां युक्तिबाधितमपि । अथापि धर्मेषु कार्यतिशयो दृश्यते तेन ज्ञायते ते धर्मा भगवद्रूपा इति । एवं कार्येष्वपि कारणातिरिक्तसामर्थ्यं यत्र दृश्यते तद्भगवानिति ज्ञातव्यम् । अनेन तेजो-भूम्योः धर्मा भगवद्रूपा निरूपिताः ॥७॥

व्याख्यार्थ—पदार्थ मात्र में जो सुन्दरता और प्रकाश है, मणि आदि में जो अन्य को प्रकाशित करने वाली प्रभा है, और पदार्थ मात्र में जो सत्ता है, वह सब आप ही हैं । यद्यपि सब पदार्थों में ये चार आप ही हैं, तो भी जिस पदार्थ में जिस प्रसिद्ध रूप विभूति से आप विराजते हैं वह पृथक् पृथक् कह कर समझाते हैं । (१) कान्ति अर्थात् सुन्दरता चन्द्रमा में, (२) तेज सूर्य में, (३) प्रभा

अग्नि और नक्षत्रों में, (४) बिजुली में सत्ता, भगवान् के सिवाय, जैसे बिजली की कहीं भी स्थिति नहीं रहती है वैसे ही चन्द्रमा आदि में भी कान्ति आदि भगवान् से ही है, भगवान् के सिवाय, नहीं है, यह भगवान् के धर्म रूप का निरूपण हुआ, भगवान् के छः धर्म हैं चार ऊपर कहे शेष दो धर्म, पर्वतों की स्थिरता तथा भूमि की गन्ध कही है वे वस्तुतः पद से सर्व पदार्थों में जो ये धर्म हैं वे भगवान् के ही रूप हैं, अतः परिणाम में ये सुख उत्पन्न करते हैं, धर्मों में जब सुख उत्पन्न करने का गुण होता है, तब ही धर्मों में भी सुख उत्पन्न करने का गुण आता है, कारण कि, गुण ही कार्यों में वे गुण उत्पन्न करते हैं, यदि धर्मों में कदाचित् सामर्थ्य प्रकट न भी देखने में आवे, किन्तु वह सामर्थ्य धर्मों में है, यों मानना तर्क से विरुद्ध होते हुए भी जो वह सामर्थ्य धर्मों में देखने में आजावे तो समझना चाहिए कि यह सामर्थ्य भगवान् ही है इसी प्रकार इस श्लोक में यह सिद्ध किया है कि तेज और भूमि के धर्म भगवद्रूप हैं । ७।

आभास—प्रसङ्गादन्येषामपि महाभूतानां धर्मा भगवद्रूपा इति निरूपयति । तत्र प्रथमं जलस्याह तर्पणमिति ।

आभासार्थ—प्रसङ्ग वश महाभूतों के धर्म भी भगवद्रूप हैं, यह सिद्ध करने के लिए तर्पण श्लोक में प्रथम जल के धर्म भी भगवद्रूप हैं, कहते हैं—

श्लोक—तर्पणं प्राणनमपां देवत्वं ताश्च तद्रसः ।

ओजः सहो बलं चेष्टा गतिर्वायोस्तवेश्वर ॥८॥

श्लोकार्थ—हे ईश्वर ! प्यास मिटाकर तृप्ति करनी, जिलाना, देवत्व, पृथक्-पृथक् प्रकार के हैं और रस; ये जल के धर्म कहे जाते हैं । इसी प्रकार ओज, सह, बल, क्रिया और गति; ये वायु के धर्म हैं, यों कहा जाता है ॥८॥

सुबोधिनी—यदकस्मात्पीते जले काचित् तृप्तिर्जायते । सा तृप्तिर्न जलस्य अन्यथा जलस्य शोषो न भवेत् । प्राणानामप्याप्यायनं जायते तिष्ठन्ति तेन प्राणाः, एव सति जले मग्नः पुरुषो न म्रियेत । तस्मान्न जलस्य धर्मः प्राणनं किं तु भगवानेव । किं च । जलस्य देवत्वं श्रूयते गङ्गादिषु 'आपो वै सर्वा देवताः' इति श्रुतिश्च, अन्यथा पापक्षयादिजनकत्वं न स्यात् । किं च । ताश्चापः कृप्यादिभेदभिन्नाः । तासां दृष्टादृष्टादिफलभेदा दृश्यन्ते । तद्भगवत्त्वं एवोपपद्यते । किं च । तद्रसोऽपि नानाविधः । कथमेकविधाजलाद-

नेकविधो रसो भवति । भूमावपि तत एव रस इति तत्रापोदं दूषणम् । वायोराह ओज इति । ओज इन्द्रियाणां सामर्थ्यं, सहोऽन्तःकरणस्य, बलं शरीरस्य । एतद्वायुकार्यमिति लोकः, तथा सति वायुव्याप्तस्यैतदाधिक्यं भवेत् । तस्माद्वायुधर्मत्वेन प्रसिद्धावपि भगवानेवेत्यर्थः । किं च । या कःचिच्चेष्टा तृणादिषु या वा जङ्गमानां गतिः, सापि पूर्वोक्तन्यायेन भगवानेव । वायोस्तर्वेति वायुरपि त्वमेवेत्युक्तम् । वायुभेदाश्च शतशः । ईश्वरेति वायोः सूत्रात्मकत्वाभावोऽपि भगवानेवेति निरूपितम् ॥८॥

व्याख्यानार्थ—जल जब पीने में आता है, तब उससे कुछ तृप्ति होती है, इससे इस तृप्ति को जल का धर्म समझा जाता है, किन्तु वास्तव में यह जल का धर्म नहीं है, क्योंकि यदि यह जल का धर्म

होवे, तो जल स्वयं सूखे नहीं, इसी तरह जिलाना जल का धर्म माना जाता है, वास्तव में वह जल का धर्म नहीं, यदि जल का धर्म जिलाना हो तो जल में डूबा हुआ मनुष्य मरे नहीं, किन्तु वह मरजाता है, इससे सिद्ध है कि जिलाना जल का धर्म नहीं है, किन्तु भगवान् का धर्म है, जल को देव माना जाता है और जल सर्व देवता हैं। यों श्रुति कहती है, देव होने से ही पाप क्षय कर सकता है, वह कूप आदि से जुदा २ प्रकार का होता है उनसे उत्पन्न फलों के भेद भी अनेक हैं, इसी प्रकार अनेक भेद आदि, भगवान् के ही हो सकते हैं, और जल के रस भी जुदे जुदे प्रकार के होते हैं, यदि जल एक हो तो अनेक रस कैसे बने, पृथ्वी में भी उस जल से ही रस आता है, जिसे भूमि में रहे हुए रसों में भी वह दूषण आता है।

श्लोक के उत्तरार्ध में वायु के जो धर्म दीखते हैं वे भी भगवद्धर्म हैं, 'ओज' अर्थात् इन्द्रियों की सामर्थ्य, 'सह' अन्तःकरण की समर्थता, बल, शरीर की सामर्थ्य इनको लोक वायु के धर्म कहते हैं, यदि ये वायु के धर्म होते तो तूफान में घिरे हुए जनों में ये धर्म बहुत होने चाहिए किन्तु यों होता नहीं है। अतः ये धर्म वायु के प्रसिद्ध होते हुए भी वायु के नहीं हैं, किन्तु भगवान् के धर्म हैं, अर्थात् धर्म रूप भगवान् ही हैं। इसी प्रकार तिनकों में जो क्रिया दीखती है, जंगमों में जो गति देखने में आती है यह भी भगवान् ही है, वायु भी भगवान् का ही रूप है, वायु के अनेक भेद हैं, ईश्वर शब्द से यह कहा है कि वायु में सूत्रत्व का जो अभाव है, वह भी आप है, सूत्रत्व का अभाव होने से ही वायु सदैव एक प्रकार से नहीं चलती है ॥८॥

आभास—आकाशस्याह दिशामिति ।

आभासार्थ—आकाश भगवान् का रूप है, यों 'दिशां त्वमव' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः ।

नादो वर्णस्त्वमोकार आकृतीनां पृथक्कृतिः ॥९॥

श्लोकार्थ—दिशाओं के मध्य में जो खाली है, दिशाओं की पोल, उसका स्फोट तथा आश्रय, शब्द ओंकार एवं वर्णों की आकृति की अलग-अलग कृति आप ही हैं ॥९॥

सुबोधिनी—प्राग्भागे गतस्य तत्रापि महान-
चकः शो दृश्यते दिग्भेदश्च तदाह दिशः खमिति ।
ब्रह्मवादे दिग्धर्म आकाशः तत उक्तं दिशश्च
सर्वत्र नानाविधा भवन्तीति । सर्वत्र सर्व भगवतः
एव भवतीति दिशोऽपि त्वमेव । तत्र यः स्फोटः
सोऽपि, अन्यथा शब्दे अर्थस्फुरणं न स्यात् । स्फु-
टत्यर्थोऽस्मादिति । आकाशस्य श्रुतावाश्रयः
श्रूयते दिशां च । पूर्वभागे सः दक्षिणभागे स
इति । अत आश्रयोऽपि भवानेवेत्यर्थः । बाह्यमु-

क्त्वा आन्तरमाह नादो वर्णस्त्वमोकार इति ।
अनुरणनात्मकः आन्तरो नादः, स एव साकार-
त्वमापन्नो वर्णः, स एवान्तःकरणे आवेष्टित
ओंकारः, ततो वैखरीप्रकारेण निर्गताः पञ्चाश-
द्वर्णाः तेषामाकृतय आकारा भिन्नाः तेषां कर्-
णान्यपि भिन्नानि कण्ठादीनि । कथमेकस्मात्का-
रणादनेकप्रकारवर्णा अनेकस्थानप्रकारा भिन्ना
भवेयुः । अत आकृतीनां वर्णानां पृथक्कृतिः
पृथक्क्रिया भवानेवेत्यर्थः ॥९॥

व्याख्यार्थ—अपने पूर्व भाग में जो आकाश दीखता है, उसमें भी मध्य में बड़ी पोल देखने में आता है। इसी तरह दिशाओं में भी जो पोल है उसको अवकाश शब्द से कहा है। ब्रह्मवाद सिद्धांत के अनुसार दिशा जिसका धर्म अर्थात् गुण है वह आकाश है, यों इसलिए कहा है कि दिशाएँ चारों तरफ पृथक् पृथक् हैं, अतः सर्व पदार्थ सर्व तरफ में जुड़े हैं, कारण कि ये सर्व भगवान् से ही प्रकट हुए हैं, इसलिए दिशाएँ भी आप हैं। दिशाओं में जो स्फोट है वह भी आप ही हैं यदि यों न होवे तो शब्द में जो अर्थ स्फुरता है, वह न स्फुरे 'स्फुरति' स्फुरता है क्रिया के अर्थ से भी यही सिद्ध होता है, पूर्व भाग और उत्तर भाग में आकाश है, यों श्रुति में आकाश और दिशाओं को शब्द का आश्रय कहा है, अतः आश्रय भी आप हैं, इसी प्रकार आकाश के बाहर के धर्मों का वर्णन कर नाद, वर्ण तथा ओंकार आप ही, इन शब्दों से ही भीतर के धर्म कहते हैं, जो नाद भीतर का रणकार स्वरूप है, वह ही नाद आकार वाला हो जाता है तब उसको वर्ण कहा जाता है, अन्तःकरण प्रविष्ट वह वर्ण ही ओंकार है, उसमें से वाणी के प्रकार से पचास वर्ण उद्भूत हुए हैं, उनके आकार पृथक् पृथक् हैं, और उनके निकलने के कठ तानु आदि स्थान भी अलग अलग हैं, एक ही कारण से उत्पन्न और जिनके केवल निकलने के स्थान जुड़े जुड़े हैं, वे अनेक प्रकार के वर्ण पृथक् पृथक् कैसे हो ? इसलिए सिद्ध है कि वर्णों की जुड़ी जुड़ी आकृति एवं पृथक् पृथक् क्रिया भी आप ही हैं, यही अर्थ है ॥१६॥

आभास—एवं महाभूतान्युक्त्वा इन्द्रियाण्याह इन्द्रियमिति ।

आभासार्थ—महाभूतों को भगवद्रूप कहकर अब इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां श्लोक में इन्द्रियाँ भी भगवद्रूप हैं, यह सिद्ध करते हैं—

श्लोक—इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रहः ।

अवबोधो भवान्बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृतिः सती ॥१७॥

श्लोकार्थ—इन्द्रियों की 'इन्द्रिय' आप हैं, इन्द्रियों के देव भी आप हैं, उनका अनुग्रह भी आप हैं, अन्तःकरण तथा जड़ बुद्धि में ज्ञान भी आप हैं और जीव की स्मृति भी आप है, कदाचित् कोई उल्टी स्मृति जो होती है, जैसे सीप में चाँदी; ऐसी स्मृति भगवद्रूप नहीं है, वह विषयतारूपा होने से भास रूप है, अतः 'सती' शब्द से जो स्मृति कही है, वह भगवद्रूप है ॥१७॥

सुबोधिनी—सर्वेषामिन्द्रियाणां यदिन्द्रियं तदेकं सर्वानुस्यूतं वर्तत इति वक्तव्यम् । तत्संबन्धादेव शरीरावयवविशेषाणामिन्द्रियत्वम् । 'इन्द्रियं वीर्यं पृथिवीमनुव्याच्छत' इति श्रुतिरपि संगच्छते तद्भवानेव । अत एव तस्य ओषधिवी-	रुधत्वं नानारूपत्वं च संगच्छते । इन्द्रियाभिष्ठातृ-देवा अपि त्वमेव । चकारात्तत्संबन्धः । तेषामनुग्रहोऽपीन्द्रियेषु । अन्तःकरणस्याह अवबोधो भवान् बुद्धेरिति । बुद्धेर्जडाया अपि योऽवबोधः विषयप्रकाशरूपः स भवानेव । जीवस्यापि जीवा-
---	--

त्मनः या अनुस्मृतिः पूर्वापरानुसंधानं स भवानेव ।
 अनुभव एव ब्रह्मणः स्मृतिर्जीवस्य, इन्द्रियद्वारा
 अनुभवस्तु कृत्रिमः । अत एवेन्द्रियैरपि जनितो-
 ऽनुभवः आत्मार्थं संस्कारमेव जनयति । यथा

स्मृत्युदगमयोरगो भवत्यात्मा सापि जीवस्य
 भगवानेवेत्यर्थः । सा दोषवशात् कदाचित् प्रका-
 रान्तरैणापि स्फुरति, यथा शुक्तिका रजतत्वेन ।
 तां वारयति सतीति ॥१०॥

व्याख्यार्थ—समझना चाहिए, कि सर्व इन्द्रियों में जो इन्द्रिय रहती है वह एक ही है, उस एक इन्द्रिय के सम्बन्ध से ही शरीर के अवयव इन्द्रिय रूप बनते हैं, यों जान लेने पर ही इन्द्रिय वीर्य पृथ्वी के पोछे गए यह श्रुति चिन्तार्थ होती है अतएव सर्व इन्द्रिय आप हैं यों सिद्ध होजाता है, इससे ही लता और औषधि रूप हो जाना, उनमें पृथक्ता होनी भी घट सकती है, इन्द्रियों के अधिष्ठाता देव भी आप हैं 'व' पद से यह बताया है कि उनका सम्बन्ध भी आप हैं, इन्द्रियों पर अनुग्रह रूप भी आप हैं, आप बुद्धि के अवबोध हैं इस पद से यह कहा है कि अन्तःकरण भी भगवद्रूप है, यद्यपि बुद्धि जड़ है तो भी पदार्थ को प्रकट करने वाला जो अवबोध उसमें है, वह आप ही हैं, जीव में जो पूर्वा पर विचार शक्ति है वह आप ही हैं, ब्रह्म का अनुभव ही स्मृति है, जीव को इन्द्रियों द्वारा जो अनुभव होता है वह तो मिथ्या है, किन्तु यदि इन्द्रियां भी ऐसा अनुभव करावे, जिससे जीव ब्रह्म को स्मरण करने लगे तो वह स्मरण कराने वाला अनुभव भी भगवद्रूप है, शेष जैसे सोप में चांदी भासती है, वैसे अज्ञान के कारण वह स्मृति अन्य प्रकार की हो, तो वह भगवद्रूप नहीं है किन्तु मिथ्या है वह विषयता रूपा भास मात्र है ॥१०॥

आभास—एवं सर्वकार्यधर्माः भगवानिति निरूप्य कारणता भगवानेवेति निरूपयति भूतानामसि भूतादिरिति ।

आमासार्थ—उपर्युक्त प्रकार से महाभूत आदि कार्य के सर्व धर्म भगवान् हैं यों सिद्ध कर अब 'भूतानामसि' श्लोक में इस कार्य का कारण रूप भी भगवान् ही हैं यह कहते हैं —

श्लोक—भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणां च तैजसः ।

वैकारिको विकल्पानां प्रधानमनुशायिनाम् ॥११॥

श्लोकार्थ—आप भूतों के तामस अहङ्कार हैं, इन्द्रियों के तेजस अहङ्कार हैं, मन के वैकारिक अहङ्कार हैं और जीवों की प्रकृति हैं ॥११॥

सुबोधिनी—पञ्चमहाभूतानां कारणं भूतादिरहंकारः, इन्द्रियाणामपि तैजसो राजसः, तथा विकल्पानां संकल्पविकल्परूपमनसः कारण

वैकारिकः सात्त्विकोऽहंकारः । अनुशायिनां महत्तत्त्वादिजीवानां कारणं प्रकृतिर्भवान् ॥११॥

व्याख्यार्थ—आप पांच महाभूतों का कारण तामस अहङ्कार हैं, इन्द्रियों के भी आप राजस अहङ्कार हैं, इसी प्रकार सङ्कल्प विकल्प रूप मन का सात्त्विक अहङ्कार आप महत्त्व जिनकी आदि है, वैसे जीवों की आप प्रकृति है ॥११॥

आभास—एवं कारणस्य कारणतामुक्त्वा कार्यस्यापि कार्यता भवानेवेत्याह नश्वरेष्विह भावेष्विति ।

आमासार्थ—इसी तरह कारणों का कारण रूप भगवान् हैं यों कह कर अब नश्वरेष्विह' श्लोक में बताते हैं कि कार्य का कार्यत्व भी आप ही हैं—

श्लोक—नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वमनश्वरः ।

यथा द्रव्यविकारेषु ह्यन्यदा व्यावहारिकः ॥१२॥

श्लोकार्थ— इस लोक में जो नाशवान् पदार्थ हैं, उनमें अविनाशी आप हैं, जैसे द्रव्य के विकारों में अर्थात् द्रव्य से बने हुए पदार्थों में द्रव्य है । पदार्थों के नाश हो जाने पर भी द्रव्य अविनाशी होने से सदैव मौजूद है, अतएव अन्य समय में वा अन्यत्र व्यवहार में आता ही है ॥१२॥

सुबोधिनी—नाशप्रतियोगि कार्यम् । ततश्च कार्यस्य नाशे कार्यता नोपपद्येत, कार्यस्य नष्टत्वात् । अतः कश्चन पदार्थो वक्तव्यः । यः कार्यः कार्येषु स्थिरो भवति यस्य नष्टत्वं धर्मः । कार्यस्येति संबन्धश्च, स अनश्वरः सर्वदा स्थिरः स एकः सर्वकार्यानुष्मृतो वक्तव्यः । तमेवाश्रित्य कश्चिदाह 'न ह्यसन् घटादिर्न घटादिः' इति । ननु नश्वरेषु भावेषु कोऽप्यनश्वरो न दृश्यते को वा भगवान् भविष्यतीति चेत्, तत्र दृष्टान्तमुपपादयति यथा द्रव्यविकारेष्विति । द्रव्यविकारेषु घट-

पटादिषु सोऽन्यो घटपटादिरूपो वर्तते । तद्वत्सर्वेष्वपीत्यर्थः । ननु स एव नास्ति को दृष्टान्तेन साध्यत इति चेत्, तत्राह अन्यदा व्यावहारिक इति । घटाभावसमये यस्तु घटव्यवहारः साध्यति, अन्यथा सद्व्यवहारः बाधितार्थविषयकः कथं स्यात् । स घटो भग्नः भूतले घटो नास्ति । पञ्च घटा भग्ना इति । एवं धर्मधर्मिव्यवहारः सद्विषयक एवेति सोऽवश्यमङ्गीकर्तव्य इति हि-शब्दार्थः ॥१२॥

व्याख्यानार्थ—कार्य नाश का प्रतियोगी^१ है, कार्य के नाश होने पर कार्यता बन नहीं सकती है, जिससे कोई भी पदार्थ है यों मानना ही चाहिए, जो पदार्थ, कार्य रूप होते हुए भी कार्य में स्थिर रहता है, जिसका नाश होना धर्म है, और कार्य के साथ उसका सम्बन्ध हो, वह कभी नाश न हो, सदैव स्थिर रहता हो, ऐसा एक पदार्थ सर्व कार्यों में संमिलित है यों मानना ही चाहिए, उसी पदार्थ का ही आश्रय कर किसी ने कहा है कि 'न ह्यसन् घटादिर्न घटादिः' घट देखने में नहीं आता है इसलिए घट नहीं है ऐसा मानना अनुचित है ।

नाशवन्त पदार्थों में कोई अविनाशी पदार्थ, दीखता नहीं है, तो फिर भगवान् कौन होगा ? यदि यों कहे तो, इसका उत्तर यह है, कि जिस तरह द्रव्य से बने हुए पदार्थों में द्रव्य है, और उस

१— जैसे घट का प्रतियोगी घट का अभाव है, वैसे ही कार्य का अभाव कार्य का प्रतियोगी है । इसी तरह अमुक कार्य के नाश का प्रतियोगी वह कार्य है ।

द्रव्य में अन्य घट पट आदि न दीखते हुए भी विद्यमान हैं, यों माना जात है, उसी तरह सर्व पदार्थ मात्र में कार्य रूप से भगवान् भी विद्यमान हैं वह ही नहीं है तो दृष्टान्त मात्र से वह कैसे सिद्ध करते हो ? इस पर कहते हैं 'अन्यदा व्यावहारिकः' अन्य समय में व्यवहार रूप होते हैं, जैसा कि जिस समय घट नहीं है, उस समय भी घट का व्यवहार होता हो है जो यों न होता होवे तो सत् व्यवहार बाधित अर्थ का विषय बन जावे अर्थात् व्यवहार हो ही न सके वह घड़ा टूट गया पृथ्वी पर घड़ा नहीं है, पांच घड़े फोड़े गए इत्यादि इस प्रकार धर्म और धर्मों का व्यवहार सद् का विषय ही है, इसलिए इस प्रकार वह है यों अवश्य अङ्गीकार करना चाहिए, यों 'हि' शब्द का अर्थ है ॥१२॥

आभास—एवं कार्यकारणरूपत्वं निरूप्य सर्वाधारत्वं निरूपयन् तत्कृतगुणदोषा-
भावार्थमाह सत्त्वमिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार कार्य और कारण रूप भगवान् ही हैं यों निरूपण कर अब भगवान् सर्व के आधार हैं यों निरूपण करते हुए कहते हैं कि आधार होते हुए भी उन पदार्थों के गुण वा दोष उनको स्पर्श नहीं करते हैं—यह 'सत्त्वं रजः' श्लोक में प्रतिपादन किया है—

श्लोक—सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः ।

त्वय्यद्वा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया ॥१३॥

श्लोकार्थ—सत्त्व, रज और तमोगुण और जो उनकी वृत्तियाँ हैं, वे आप परब्रह्म में आपकी योगमाया से ही कल्पित हैं ॥१३॥

सुबोधिनी—सत्त्वादयो गुणाः तद्वृत्तयः अहिंसाद्याः एकादशस्कन्धोक्ताः ते सर्वे त्वय्येव ब्रह्मणि । परे शब्दब्रह्मवाच्ये तवैव योगमायया तत्र कल्पिताः अतस्तदाधारत्वेऽपि न तद्दोषसंबन्ध	इत्यर्थः । ब्रह्मणीत्यपहतपाप्मत्वमुपपत्तिरुक्ता । उपपत्त्यन्तरं पर इति । नियामकत्वाच्च तदाज्ञयैव तत्र स्पृशन्तीत्यर्थः । योगमाया च तादृश्येव, यथा योगेन नाधारं स्पृशेयुः ॥१३॥
---	--

व्याख्यार्थ—सत्त्व आदि गुण और एकादश स्कन्ध में कही हुई उनकी अहिंसा आदि वृत्तियाँ वे सब, आप, जो शब्द ब्रह्म वाच्य हो उन आप में, आपकी योगमाया ने ही कल्पित की हैं, अतः उनके आधार होते हुए भी, उनके दोषों का सम्बन्ध आप से नहीं है, क्योंकि आप ब्रह्म होने से 'आप-हतपाप्मा' हो, 'पर' होने से सबके नियामक होने से वे सब आपकी आज्ञा में चलते हैं अतः उनके गुण दोष आप को स्पर्श नहीं कर सकते हैं कारण कि आपकी योगमाया वैसी प्रबल है जो उनको आपका स्पर्श करने नहीं देती है—जैसे योग बल से योगी अपने आधार पृथ्वी से स्पृश नहीं होते हैं ॥१३॥

आभास—ननु विद्यमानाः कथं न स्पृशन्तीत्याशङ्क्यामाह तस्मान्न सन्त्यमी भावा
इति ।

आभासार्थ—जो भगवान् में विद्यमान हैं अथवा जिनमें भगवान् विद्यमान हैं वे भगवान् को कैसे स्पर्श नहीं करते हैं ? इसका उत्तर 'तस्मान्न' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—तस्मान्न सन्त्यमी भावा यहि त्वयि विकल्पिताः ।

त्वं चामीषु विकारेषु येऽन्यदा व्यावहारिकाः ॥१४॥

श्लोकार्थ—यदि इन पदार्थों को आपसे पृथक् गिना जावे, तो सिद्ध होगा कि ये पदार्थ हैं ही नहीं और जिन पदार्थों का दूसरे समय में व्यवहार हो रहा है, उन पदार्थों में आप नहीं हैं ॥१४॥

सुबोधिनी—यहि त्वयि विकल्पिताः । त्वत्तो भिन्नतया निरूपिताः । तदा तेषां पृथक्सत्त्वाभावात् न सन्त्येव अविकल्पितास्तु सन्ति, न तु विकल्पिता इति स्थितिः । अतो दोषाभावार्थं तेषां विकल्पो योगमायारब्धत्वं च निरूप्यते । नहि मायया छिद्यमानः पटः छिन्नो भवति । मायिकपटधर्मा वा कदाचित्संबन्धिषु भवन्ति ।

ननु तेषामभावे भगवान् कथं सर्वाश्रय इति चेत्, तत्राह त्वं चामीषु विकारेषु न वर्तस इत्यर्थः । विकारित्वमेव हेतुः । नन्वेवं सति कथमसद्भिर्व्यवहार इति चेत्, तत्राह येऽन्यदा व्यावहारिका इति । यथा अन्यदा एते व्यावहारिकाः तथा विद्यमानदशायामपि व्यावहारिका भविष्यन्ति को दोष इत्यर्थः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—यदि आप में नहीं हैं अर्थात् आप से जुड़े हैं यों गिने जावे तो आप से जुड़ा किसी का भी अस्तित्व नहीं होने से ये पदार्थ भी नहीं हैं यों सिद्ध होगा । जो आप से पृथक् न गिने जावे तब ही उनका अस्तित्व सिद्ध होगा अर्थात् वे हैं यों माना जायगा, यों स्थिति है । अतः दोष के अभाव के लिए, उनका भगवान् से पृथक्त्व और योगमाया से उनमें कलित हुए हैं यों कहा है । माया से काटा हुआ वस्त्र काटा हुआ नहीं होता है, माया से बनाए हुए वस्त्रों के गुण उनके सम्बन्ध वालों में कभी आते हैं ? यदि उनका अभाव माना जाय तो भगवान् सर्व के आश्रय हैं ? यों कैसे सिद्ध होगा ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि 'त्वं चामीषु विकारेषु न वर्तसे' आप भी इन विकारों में नहीं हो, विकारोपन ही हेतु है; यदि यों है तो अमत् पदार्थों से व्यवहार कैसे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'येऽन्यदा व्यावहारिकाः' जैसे ये पदार्थ दूसरे काल में व्यवहारिक हैं, वैसे विद्यमान दशा में भी व्यवहारिक होंगे, इसमें क्या दोष है ? यों तात्पर्य है ॥१४॥

आभास—एवं भगवतो निर्दोषपूर्णगुणत्वं निरूप्य एतत् सिद्धान्तं ये न जानन्ति ।

यतोऽस्य ज्ञानस्य मोक्षसाधकत्वं भविष्यतीत्याशयेनाह गुणप्रवाह एतस्मिन्निति ।

आभासार्थ—इसी भांति भगवान् के निर्दोष पूर्ण गुणत्व का निरूपण कर इस सिद्धान्त को जो नहीं जानते हैं उनकी निन्दा करते हैं, क्योंकि यह ज्ञान मोक्ष का साधक होगा इस आशय से 'गुण प्रवाह' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—गुणप्रवाह एतस्मिन्नबुधास्त्वखिलात्मनः ।

गतिं सूक्ष्मां न जानन्ति संसरन्तीह कर्मभिः ॥१५॥

श्लोकार्थ—इन गुणों के प्रवाह रूप संसार में सर्व की आत्मा आपकी सूक्ष्म गति को न जानने वाले लोग कर्मों के कारण भ्रमित होते रहते हैं ॥१५॥

सुबोधिनी—गुणानामयं प्रवाहः । अनेन मायाकल्पितपक्षो निरुक्तः । तत्र सत्यबुद्ध्या ये प्रवर्तन्ते ते अबुधाः, तु शब्दः तेषां बुधत्वपक्ष सिद्धान्तान्तरसिद्धिं वारयति । ननु विषयाणाम-सत्यत्वे यद्यन्यः समीचीनो भवेत् तदा स आत्मार्थ गृह्येत । तदभावादगत्या विषयेष्वेव स्थातव्यमिति चेत्, तत्राह अखिलात्मनः गतिं सूक्ष्मां न जानन्तीति । भगवान् सर्वात्मा स च पूर्णानन्त-

गुण इति पूर्वमेवोक्तम् । अत आत्मनो भगवत्त्व-सिद्धौ तेनैव कृतार्थतेति किं विषयः । किं च । तस्य च सूक्ष्मा गतिरस्ति भक्तिमार्गानुसारिणी । सा वा ज्ञातव्या । उभयाबोधे इह कर्मभिः संसरन्ति । अखिलात्मनः अबोधेन संसरन्तीति योजना । गतिं सूक्ष्मां वा अबुध्वेति विपरिणामः कर्तव्यः । तस्मात्स्वार्थं द्वयं निरूपितम्, भगवानात्मत्वेन ज्ञातव्यः, भक्तिर्वा कर्तव्येति ॥१५॥

व्याख्यार्थ—यह गुणों का प्रवाह है, यों कहने से उस मत का निराकरण हो जाता है, जो मत कहता है कि यह माया से बना हुआ है, अतः मिथ्या है, भगवान् से पृथक् होते हुए भी सत्य है यों जो लोग मानते हैं वे मूर्ख हैं, 'तु' शब्द से कहते हैं कि अन्य सिद्धान्तानुसार वे जानी हैं, यह मत असत्य है अर्थात् इस प्रकार मानने वाले वे वास्तव में जानी नहीं हैं, विषयों के असत्य होने पर दूसरा कोई पदार्थ श्रेष्ठ होवे तो उसको आत्मा माना जाय, ऐसा कोई नहीं हो तो दूसरी गति न होने पर विषयों में हो रहना पड़ेगा, इस प्रकार की शङ्का के उत्तर में कहते हैं कि अखिलों की आत्मा की सूक्ष्म गति को वे नहीं जानते हैं । भगवान् सब की आत्मा हैं वह पूर्ण और अनन्त गुण वाले हैं यह पहले ही कहा है, अतः आत्मा भगवान् हैं, यों सिद्ध होने पर, उनसे ही कृतार्थता हो जाती है फिर विषयों से क्या ? और विशेष, उनकी भक्ति मार्गानुसारिणी सूक्ष्म गति है, अथवा उसको जानना चाहिए, दोनों का ज्ञान प्राप्त न किया तो इस संसार में कर्मों से भ्रमते रहते हैं, अखिलों की आत्मा भगवान् के अज्ञान से जन्म मरण के चक्कर में भटकते रहते हैं यों योजना करनी । तात्पर्य यह है कि भगवान् को अपनी आत्मा जानना एक यह उपाय है, दूसरा उपाय है उनकी भक्ति करनी, यों करने से ही जन्म मरण रूप संसार चक्कर को काटा जाता है विषयों से नहीं ॥१५॥

आभास — एतदुभयाज्ञाने दोषमाह यदृच्छया नृतां प्राप्येति ।

आभास र्थ—भगवान् की सूक्ष्म गति का ज्ञान और भक्ति करनी चाहिए इन दोनों का यदि ज्ञान नहीं है तो दोष लगता है जिसका वर्णन 'यदृच्छया नृतां प्राप्य' श्लोक में करते हैं--

श्लोक—यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम् ।

स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर ॥१६॥

श्लोकार्थ — हे ईश्वर ! सुष्ठु शक्तिशाली तथा दुर्लभ ऐसी मनुष्य देह दैवगति से प्राप्त करके भी जो मनुष्य अपना स्वार्थ, जो भक्ति व ज्ञान है, उसको सिद्ध नहीं करता है, उसने अपनी आयु व्यर्थ गँवाई है ॥१६॥

सुबोधिनी—अज्ञानाविष्टाः बहून्वेव कर्माणि कुर्वन्ति । तेन नानाविधेऽपि संसारे प्रवाहन्यायेन कदाचिद्दैवगत्या नृतामपि प्राप्नुवन्ति । तत्रापि सुकल्पां भगवद्भजनादिषु समर्थाम् । इहास्मिन्निःसारे संसारे दुर्लभाम् । एवं पुरुषार्थसाधनीभूतं दुर्लभशरीरं प्राप्य, स्वार्थं ज्ञाने भक्तौ वा, यः

प्रमत्तः विघ्नैराक्रान्तः उभयविरोधिवशं गत इत्यर्थः । तादृशस्वल्पे पुरुषार्थसाधनीभूते देहे वय एव प्रयोजकम्, तस्मिन् गते जरठः किं साधयिष्यति । एतादृशं वयस्त्वन्मायया गतं भोगेच्छया । ईश्वरेति समर्थत्वज्ञापनाय ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—मनुष्य अज्ञान से घिरे हुए होने से, अनेक कर्म करते हैं जिससे अनेक प्रकार के भी संसार में प्रवाह न्यायानुसार कदाचित् दैवगति से मनुष्य देह को प्राप्त करते हैं, उसमें भी ऐसी देह मिली हो जो देह भगवान् के भजन आदि करने में समर्थ हो। यद्यपि ऐसी देह इस निःसार संसार में मिलनी दुर्लभ है, इस प्रकार दैव गति से पुरुषार्थ करने की साधन भूत सुष्ठु शक्तिशाली दुर्लभ देह को प्राप्त कर जो मनुष्य अपने सच्चे स्वार्थ ज्ञान तथा भक्ति को अपनाता नहीं है अर्थात् ज्ञान और भक्तियुक्त आवरण नहीं करता है केवल विघ्नों से आक्रान्त होने पर अपना कर्तव्य पालन नहीं करता है, और ससारासक्त हो जाता है, इसी प्रकार उसी कर्तव्य करने में अपनी समर्थ वय को व्यर्थ गवां देता है, तो फिर ब्रह्मावस्था क्या कर सकेगा, ज्ञान भक्ति करने के योग्य वय आपको माया के प्रभाव से भोगों की आशा में हो चली गई, हे ईश्वर ! यह संबोधन ज्ञान व भक्ति देने में आप समर्थ हैं यों जताने के लिए ही दिया है ॥१६॥

आभास—न केवलं भोगेच्छा किं त्वन्येऽपि दोषा जाता इत्याह असावहमिति ।

आभासार्थ—केवल भोग की इच्छा रूप दोष नहीं है किन्तु अन्य दोष भी लगे हुए हैं यह 'असावहं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु ।

स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान्सर्वमिदं जगत् ॥१७॥

श्लोकार्थ—आपने इस समग्र जगत् को स्नेह रूप पाशों से बाँध रखा है जैसा कि इस देह में यह मैं हूँ, ये सब पुत्र आदि मेरे हैं, यह अहन्ता-ममता आदि दोष ही बन्धन कारक दोष हैं ॥१७॥

सुबोधिनी—असौ देहः वसुदेववाच्यः । अहमित्यस्मिन् या वृद्धिः । एते च पुत्रवित्तादयः समैव, न त्वहमेतेषामपीति । एवमहंममताभ्यां

व्याप्तः नाशं गच्छामीत्येको दोषः । द्वितीयमाह देहे चास्यान्वयादिष्विति । अस्य देहस्यान्वयः वंशः पुत्रादिः । आदिशब्देन स्त्रीश्वशुराद्याः । न

केवल तेष्वेव किंतु देहे च चकारात्तत्संबन्धिषु । मामेव किं तु सर्वमेव जगत् ॥१७॥
पित्रादिष्वपि । स्नेहपाशैर्निबध्नातीति । न केवल

व्याख्यार्थ—यह देह वसुदेव कहलाती है, इस देह में जो अहं बुद्धि है अर्थात् यह देह मैं है, ये पुत्र वित्त आदि सब मेरे ही हैं, और नहीं, मैं इनका भो हूँ, इस प्रकार ग्रहन्ता और ममता करके व्याप्त है, यह एक दोष है । दूसरा दोष कहते हैं, 'देहेवास्यान्वयादिषु' इस देह का जो सम्बन्धी, वश पुत्र आदि है, आदि शब्द से स्त्री, श्वशुर, मामे, नाने आदि सब समझने चाहिए, न केवल इनमें ही किन्तु देह में 'च' से उसके सम्बन्धी पिता आदि में भी स्नेह पाशों से बान्धते हो, न केवल मुझे ही किन्तु समस्त जगत् को बन्धन में डालते हो ॥१७॥

आभास—अत्रैकोऽर्थः संदिग्धः । अहं किं विषयत्वेन त्वां बध्नामि, अथवेश्वरत्वेन एवं जगदपि तत्राह युवां न नः सुताविति ।

आभासार्थ—यहाँ एक विषय संशयग्रस्त है, मैं (भगवान्) तुम्हें (वसुदेव को) विषय द्वारा बंधन में डालता हूँ अथवा ईश्वरपन से बाँधता हूँ, इसी तरह जगत् को भी बाँधता हूँ, यह 'युवां न नः' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—युवां न नः सुतौ साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वरौ ।
भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथात्थ ह ॥१८॥

श्लोकार्थ—आप मेरे पुत्र नहीं हैं, किन्तु साक्षात् प्रधान पुरुष के ईश्वर हैं, पृथ्वी के भार रूप क्षत्रियों का संहार करने के लिए आपने अवतार धारण किया है । अहो! आपने ही यों कहा है ॥१८॥

सुबोधिनी—विषयत्वेन चेद् बध्नासि तदोप-
कारोऽपि भवेत् वस्तुस्वभावात् । परं विषयत्वं
नास्ति । यतो युवां न नः सुतौ । एव विषयत्वेन
बन्धनं दूरीकृत्य प्रकारान्तरेण बन्धने सामर्थ्य-
माह साक्षात्प्रधानपुरुषेश्वराविति । प्रधानपुरुष-
योरीश्वरौ कालपुरुषोत्तमौ । तादृशयोः कथमा-
गमनमिति चेत् तत्राह भूभारक्षत्रक्षपणे अवती-
र्णाविति । किमत्र प्रमाणमिति चेत् तत्राह तथा-
त्थ हेति । यथा 'ततश्च शौरिर्भगवत्प्रचोदितः'
इति ग्रन्थे अनुक्तमपि प्रेरणं अस्मादेव वाक्यादव-
गम्यते । एवमत्रापि भूभाररूपक्षत्रियहननार्थं
अवतीर्ण इति भगवत्तैव कदाचिदुक्तमिति ज्ञात-
व्यम् । हेत्याश्चर्यजनकम् । अनेनात्र कल्पना
निवर्तिता ॥१८॥

व्याख्यार्थ—यदि आप विषय के तरीके से हमको बान्धते हो तो वस्तु स्वभाव से उपकार भी होना चाहिए, किन्तु विषयता ही नहीं है, कारण कि आप दोनों हमारे पुत्र ही नहीं हैं, क्योंकि आप प्रधान और पुरुष के ईश्वर होने से काल और पुरुषोत्तम स्वरूप हो ।

यदि हम ऐसे हैं (काल और पुरुषोत्तम हैं) तो यहा आना कैसे हुआ ! जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'भूभार क्षत्रक्षपणो अवतीर्णौ' पृथ्वी पर जो दुष्ट क्षत्रियों का भार बड़ गया था उसका नाश करने के लिए प्रादुर्भूत हुए हो, यदि कहो कि इसमें प्रमाण क्या है ? इस पर कहते हैं कि 'तथाऽत्थ

ह' आपने ही यों कहा है, जैसा कि 'ततश्चशौरिर्भगवत्प्रचोदितः' इस वाक्य में प्रेरणा नहीं को है, तो भी इस वाक्य 'मां गोकुलं नय' में भगवान् ने प्रेरणा की है इस प्रकार यहाँ भी भूमि के भार रूप क्षत्रियों के नाशार्थ अवतार लिया है, भगवान् ने ही कभी वसुदेव को कहा है यो समझना चाहिए 'ह' पद आश्चर्यजनक है, इससे बताया कि यह कल्पना नहीं है, किन्तु जो वसुदेव ने भूभार क्षत्रियों के नाशार्थ प्रकटे हो, कहा है वह सत्य है॥ १८॥

आभास—तर्हि किमद्योच्यत इत्याशंकायामाह तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्येति ।

आभासार्थ—तो आज (अब) क्या कहना चाहते हो ? इन शब्दों के उत्तर में यह श्लोक 'तत्ते गतोऽस्मय' कहते हैं ।

श्लोक—तत्ते गतोऽस्म्यरणमद्य पदारविन्द-

मापन्नसंसृतिभयापहमातंबन्धो ।

एतावतालमलमिन्द्रियलालसेन

मर्त्यात्महृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धि ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे दीन बन्धु ! इसीलिए शरणागतों के ससार के भय की निवृत्ति करने वाले आपके चरणारविन्द की शरण मैंने ली है । बस, विषय लालसा इतनी ही बहुत है, जिससे शरीर में आत्म बुद्धि और आप में पुत्र बुद्धि हुई है ॥१९॥

सुधोधिनी—ते पदारविन्दमहं शरणं गतोऽस्मि । अनेन पूर्वं भवान् बध्नातोत्यनिष्ठमुक्तं तन्निवृत्तिरर्थात्सूच्यते । चरणारविन्दशरणागतेः को विशेष इत्याशङ्कयामाह आपन्नसंसृतिभयापहमिति । आपन्ना ये शरणागतास्तेषां भयमपहन्तीति तथा । अतस्त्वयि विलम्बमानेऽपि चरण एव वा कृतार्थं करिष्यतीति चरणानुसृतिः । भगवतोऽपि यथा स्नेहो भवति तदाह आतंबन्धो इति । एतावता स्वस्यातंबन्धुत्वं पूर्वमेवोक्तमित्यध्यवसीयते । ननु विषया भुज्यन्तां किं वैराग्येणेत्यतः

आह एतावतालमिति, इन्द्रियलालसेन एतावता श्रलम् । इन्द्रियलालसं इन्द्रियलालसा सा पूर्यतामित्यर्थः । इन्द्रियलालसेन वा मया एतावता एवमवस्थां प्रापितेन श्रलमिति । अतः परमियमवस्था मा भवत्वित्यर्थः । किं च । मर्त्यात्महृगिति द्वितीयो दोषः । त्वयि परे यदपत्यबुद्धिरिति, तृतीयः । भोगेच्छा देहाभिमानः भगवति चान्यथाबुद्धिरिति अचिकित्स्यद्विदोषः । एतं दूरीकृत्यार्थादुक्तं भवति ॥१९॥

व्याख्यार्थ—मैंने आपके चरणारविन्द की शरण ली है यों कहकर यह बताया है कि पहले जो कहा कि आप बन्धन में डालकर अनिष्ट करते हो, उस अनिष्ट की निवृत्ति इस शरण भावना से की है, चरणारविन्द की शरणागति में कौनसी विशेषता है ? विशेषता यह है कि जो शरण आते हैं उनका सांसारिक भय मिट जाता है, आप उस भय को मिटाने में विलम्ब भी करो, किन्तु चरणारविन्द भय मिटाकर कृतार्थ करेगा, इसलिए चरणों का आश्रय लिया है, चरणारविन्द का आश्रय लिया है तो भी आपके स्नेह की भी आवश्यकता है, अतः जैसे भगवान् स्नेह दान करे वैसे

सम्बोधन 'आर्त वन्धो' दिया है, आप आर्तजनों के बन्धु हैं, मैं आर्त हूँ, यह पहले ही कहा है यों जाना जाता है ।

विषयों का भोग करो वैराग्य से क्या लाभ होगा ? इस पर कहते हैं कि इतनी इन्द्रिय लालसा जो हुई उससे ही बस (काफी) है, अर्थात् इससे ही मेरी तृप्ति हो गई है, इसके बाद यह अवस्था न हो ऐसी कृपा कीजिए ।

नाशवान् देह में आत्म बुद्धि हुई, यह दूसरा दोष हुआ, पर ब्रह्म जो आप हैं उसमें पुत्र की बुद्धि हुई यह तीसरा दोष हुआ, इसी तरह (१) भोग की इच्छा (२) देह का अभिमान और (३) भगवान् में अन्यथा (पुत्र की) बुद्धि त्रिदोष से युक्त होने से मेरे लिए कोई औषधि नहीं रही है सिवाय आपकी कृपा के, अतः इस त्रिदोष से मुक्त करो, यही प्रार्थना का सारांश है ॥१६॥

आभास—नन्वेतत्सर्वं त्वया कुतोऽवगतमिति चेत् तत्राह अस्मिन्नर्थे त्वमेव गुरुरिति सूतीगृहे ननु जगाद भवानिति ।

आभासार्थ—यह सब आपने कहाँ से जान लिया ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर इस प्रकार के ज्ञान के दाता गुरु आप ही हैं । यह 'सूतीगृहे ननु' श्लोक से सिद्ध करते हैं ।

श्लोक—सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ

संजज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै ।

नानातन्त्रगगनवद्विदधज्जहासि

को वेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायाम् ॥२०॥

श्लोकार्थ—आपने सूतिकागृह में ही कहा था कि मैं अज होते हुए भी अपने धर्म की रक्षार्थ आपसे मेरा यह तीसरा प्राकट्य है, आप आकाश के समान अनेक शरीर धारण करते हो, फिर उनको तिरोभाव भी कर देते हो । हे उरुगाय ! आप भूमा की विभूति रूप माया को कौन जान सकता है ? ॥२०॥

सुबोधिनी—किं जगादेत्यत आह नौ आवयोः अज एवं संजज्ञ इति । देवकीवसुदेवयोः पूर्वदृष्ट एवाहं जात इति । तत्र मम सन्देहः । किमस्मद-
यमेव भगवान् जातः, आहोस्विदनुयुगं निजधर्म-
गुप्त्यै जायमान इति । ननु धर्मरक्षार्थं जनने त्वद्गृहे कथं जायेत । अतस्त्वदर्थमेव जात इति चेत् तत्राह गगनवद्विदधज्जहासीति । आकाशो हि सर्ववस्तुभिः स्वाकारं करोति घटवत् पटवत्

पुरुषवच्चेति । तस्मात् स्थानात् तस्मिन्नापगते फलान्तरे रूपाणि गृह्णन्नेव पूर्वरूपाणि जहाति । एवं भवानप्यविकृतः देवकीगृहे प्रादुर्भूतः तत्र-
त्यमायां दूरीकृत्य प्रादुर्भूतो निश्चल एव । ततः प्रदेशान्तरगमने पूर्वस्थाने माया संवृता । स्थला-
न्तरस्थापगतेति प्रतिक्षणं रूपान्तराणि भवन्तीति गगनवदेव भगवतोऽपि देहग्रहणपरित्यागौ । इयांस्तु विशेषः । उपाधिवशात्तस्य देहग्रहणम् ।

भगवतस्तु मायाजवनिकापगमादिति । अत एव किमस्मदर्थमागतः अन्यार्थ वा समागत इति प्रतिक्षणं गृहीतरूपाणां प्रयोजनवत्त्वमेव दुनिरूपं प्रयोजनविशेषस्य का वार्तेति भावः । तर्ह्यस्मि-

त्रयै सिद्धान्तो ज्ञातव्य इति चेत् तत्राह हे उरु-
गायेति । सर्वैरेव गीयत इति गानार्थमेव करोषी-
त्यर्थः । विशेषतो वक्तव्ये न ज्ञायत इत्याह
विभूतिरूपां मायां को वेदेति ॥२०॥

व्याख्यार्थ—मैंने आपको क्या कहा ? जिसके उत्तर में वसुदेवजी कहते हैं कि आपने कहा कि मैं अजन्मा होते हुए भी, आपके यहां प्रकट हुआ हूँ, मैं नवीन प्रकट नहीं हुआ हूँ किंतु आपका पूर्व जन्म में देखा हुआ ही अब पुनः प्रकट हुआ हूँ, इस विषय में मुझे संदेह है कि, भगवान् क्या हमारे लिए ही प्रकट हुए, अथवा जैसे प्रत्येक युग में धर्म रक्षार्थ प्रकट होते हैं वैसे ही प्रकट हुए हैं ? इसका प्रत्युत्तर भगवान् देते हैं कि नहीं, मैं तो आपके लिए ही प्रकट हुआ हूँ, यदि धर्मार्थ ही प्रकट होता तो कहीं भी प्रकट हो जाता, तीन तीन बार आपके यहां क्यों ? अतः आपके हितार्थ आपके यहां ही प्रकट हुआ हूँ यों कहने में शङ्का उत्पन्न होवे तो उसका निराकरण दृष्टान्त से करते हैं, कि जैसे आकाश सर्व वस्तुओं में अपना आकार बना लेता है, घटाकाश, पटाकाश आदि, वैसे आप भी बना-कर फिर तिरोहित करते हो, उस स्थान से उस वस्तु के जाने पर दूसरी वस्तु के जाने पर वह आकार धारण कर पूर्व का त्याग करता है वैसे ही आप विकारी होकर ही देवकी के गृह में वहां की माया को हटाकर निश्चल स्वरूप हो प्रकट हुए हैं, पश्चात् वहां से दूसरे स्थान पर जाने पर पहले स्थान की माया का संवरण कर लेते हो और दूसरे स्थल से दूर हो गई, यों प्रतिक्षण आप (भगवान्) के अनेक रूप होते हैं इस प्रकार भगवान् भी आकाश की भाँति रूप ग्रहण करते हैं और छोड़ते हैं किन्तु इसमें इतनी विशेषता है कि आकाश उपाधि से देह का ग्रहण और त्याग करता है, किन्तु भगवान् तो माया के पड़दे को हटाकर यों करते हैं ।

अत एव प्रभु हमारे लिए प्रादुर्भूत हुए वा अन्य के लिए, यों प्रतिक्षण लिए हुए रूपों का प्रयोजन भी समझना कठिन है, किस प्रयोजन के लिए प्रकट होते हैं, यह वार्ता समझनी तो दूर रही, तो इस विषय में सिद्धान्त तो जानना चाहिए, इस पर कहते हैं 'उरुगाय' सब आपका गुणगान करते हैं, भक्त जन गुण गान करे इसलिए ही आप आविर्भाव तिरोभाव लोला आदि करते हैं, इससे विशेष कहा नहीं जा सकता है क्योंकि आपकी विभूति रूप माया को कौन जान सकता है ?

आभास—एवं स्तुतिप्रपत्ती निरूप्य अचिन्त्यरूपत्वे निरूपिते भगवान् प्रसन्नः खण्डज्ञानं तस्य जातमिति अखण्डबोधार्थं प्रवृत्त इत्याह आकर्ण्येत्यमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार वसुदेव कृत स्तुति और शरणगतिपूर्वक भगवान् का अचिन्त्य रूपत्व का वर्णन सुन भगवान् प्रसन्न हुए और जान गए कि वसुदेवजी को मेरे स्वरूप का अभी तक खण्ड ज्ञान हुआ है, इसलिए उनको अखण्ड ज्ञान देने के लिए भगवान् प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन श्री शुकदेवजी 'आकर्ण्येत्य' श्लोक में करते हैं--

श्लोक—श्रीशुक उवाच-आकर्ण्येत्यं पितुर्विवयं भगवान्सात्वतर्षभः ।

प्रत्याह प्रश्रयानम्रः प्रहसन् श्लक्षण्या गिरा ॥२१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि पिताजी का इस प्रकार का वाक्य सुन

कर वैष्णवों के पति भगवान् विनय से नम्र होकर हँसते हुए मोह को उत्पन्न कर उत्तर देने लगे ॥२१॥

सुबोधिनी—पितृवाक्यत्वात् स्वामिवल् त्तिकथनेऽपि तूष्णीं स्थितौ वैष्णवानां दुःखं लीलाप्रदर्शनमयुक्तम् । अतः प्रश्रयानम्रः सन् भविष्यतीति 'युवां मां पुत्रभावेन' इति वाक्ये अग्रेऽपि मोहार्थं प्रहसन् चित्तसंतोषार्थं श्लक्ष्णया निर्णयस्योक्तत्वात् प्रयोजनाभावाद्वाक्येन बोधं गिरा, सात्वतर्षभो वैष्णवपतिरिति । एवं प्रप- हास्येन मोहं च कुर्वन् आहेत्यर्थः ॥२१॥

व्याख्यार्थ—ये वाक्य पिता श्री के हैं, इसलिए भगवान् ने स्वामी के समान लीला दिखाना अनुचित जाना, अतः विनय पूर्वक आप नम्र होकर आगे भी मोह पैदा करने के लिए हँसने लगे, बाद में चित्त के सन्तोषार्थ मधुर वाणी से बोलने लगे, आप वैष्णवों के पति हैं, यदि शरणागति कहने पर भी मौन धारण करे तो वैष्णवों को दुःख होगा, इसलिए भगवान् ने उत्तर दिया कि 'युवां मां पुत्र भावेन' इस श्लोक में निर्णय दिया हुआ है, ज्ञान देने का कोई प्रयोजन नहीं है, उपर्युक्त वाक्य से ज्ञान का बोध और हास्य से मोह उत्पन्न करते हुए, भगवान् ने उत्तर दिया यों अर्थ है ॥२१॥

आभास—आदौ तदुक्तमभिनन्दति वचो वः समवेतार्थमिति ।

आभासार्थ—प्रथम 'वचो वः' श्लोक से उनके कहे हुए का अभिनन्दन करते हैं—

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—वचो वः समवेतार्थं तातैतदुपमन्महे ।

यन्नः पुत्रान्समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः ॥२२॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे तात ! आपके ये वाक्य हम सत्य यथा अर्थ वाले मानते हैं; क्योंकि आपने पुत्रों का लक्ष्य करके भी तत्त्वों के समूह का भली-भाँति वर्णन किया है ॥२२॥

सुबोधिनी—अस्मिन् वाक्ये अर्थः समवेतो- मिदमपि ब्रह्मात्मभावमित्यर्थः । अङ्गीकारे दोषः ऽस्ति । एतद्वाक्यं तथा उपमन्महे । स कोऽर्थ इति स्यात् अनङ्गीकारे च । अतोऽन्यथा चेत् तत्राह यन्नः पुत्रान् समुद्दिश्येति । इयं स्तुतिर्न वर्णनम् ॥२२॥ भवति किं तूपदेशः, यथा तत्त्वमस्यादिवाक्यमेव-

व्याख्यार्थ—आपके इस वाक्य में अर्थ परिपूर्ण मिला हुआ है । हम इस वाक्य को वैसा ही मानते हैं; वह कौनसा अर्थ है ? इस पर कहते हैं कि 'यन्नःपुत्रान् समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः' यह वाक्य स्तुति नहीं है किन्तु उपदेश है, जैसे तत्त्वमस्यादि वाक्य है, वैसे यह भी ब्रह्मात्म भाव वाला है, यदि इसको स्तुति रूप से माना जावे तो दोष लगता है, अथवा उस वाक्य^१ को न माना जाय

तो भी दोष लगता है. इसलिए इसको^१ स्तुति रूप न मानकर उपदेश रूप मान कर वर्णन किया है ॥२२॥

आभास—एवमुक्तस्य प्रकारमुक्त्या तस्य सर्वदुःखनिवृत्त्यर्थं पूर्णं बोधमुपदिशति अहं यूयमिति ।

आभासार्थ - वसुदेवजी के कहे हुए का प्रकार कहकर, अब उनका सर्व प्रकार का दुःख मिटजावे इसलिए 'अहं यूयमसावार्य' श्लोक से पूर्ण ज्ञानोपदेश करते हैं—

श्लोक—अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः ।

सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम् ॥२३॥

श्लोकार्थ—हे यदुश्रेष्ठ ! जैसा मुझे जानते हो, वैसा ही आप, बड़े भाई, द्वारका-वासी तथा स्थावर, जङ्गम जो कुछ हैं, उनको जानो अर्थात् सब एक ही ब्रह्म रूप है ॥२३॥

सुबोधिनी—यथा मां जानासि तथा सर्वानिव जानीहि । 'अखण्डं कृष्णवत्सर्वं यथा तत् निरूपितम्' इतिवत् सर्वत्र शुद्धभगवत्त्वे ज्ञाते न किञ्चिदवशिष्यत इति भगवांस्तदेवोपदिशति समुदायपर्यवसानव्यावृत्त्यर्थं प्रत्येकमनुवदति । अहमिति दृष्टान्तानुवादः । यूयमिति पितुरेव बहु-

वचनम् । असावार्यो बलभद्रः, इमे च द्वारका-वासिनः, अन्ये च ब्रह्माण्डस्थाः सर्वे एव एवमेव विमृश्याः साक्षाद्भगवानेवेति । सचराचरमिति स्थावरजङ्गमेऽपि यथा मयि तथा बुद्धिः कर्तव्येत्यर्थः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—जैसा मुझे जानने हो वैसा सब को ही जानो 'अखण्डं कृष्णवत्सर्वं यथा तत् निरूपितम्' सर्व कृष्ण^२ की तरह अखण्ड हैं वह तो निरूपण किया है, जब इसी प्रकार ज्ञान हो जावे फिर कुछ भी जानना नहीं रहता है । यों भगवान्, वह ही उपदेश देते हैं कि यह समुदाय अन्य नहीं, एक ही ब्रह्म है. स्पष्ट समझाने के लिए प्रत्येक का नाम लेकर बताते हैं कि 'अहम्' पद से दृष्टान्त का अनुवाद है, 'यूयम्' बहुवचन पिता के नाते से दिया है, यह आर्य बड़ा भाई वनभद्र, ये द्वारकावासी, और दूसरे ब्रह्माण्ड में रहने वाले सबका ही यों विचार करना कि ये सब साक्षात् भगवान् ही हैं, स्थावर और जङ्गम में भी वैसे ही मेरे समान बुद्धि करनी चाहिए यों अर्थ है ॥२३॥

कारिका—यथेच्छां भगवान् विष्णु पुरस्कृत्याभवत्स्वयम् ।

एवं सर्वत्र तत्तत्स्यामिति जातः स्वयं हरिः ॥१२॥

कारिकार्थ—भगवान् विष्णु अपनी इच्छा को आगे कर तदनुकूल आप स्वयं

प्रकट हुए, इसी प्रकार सर्वत्र वह पदार्थ में बन जाऊँ, इस प्रकार की इच्छा से स्वयं सब आप ही बने ॥१२॥

आभास—नन्वेवं सति ब्रह्मानन्त्यं स्यात् ब्रह्मबुद्धिपरत्वे तु आरोपितज्ञानविषय-
त्वेन अनित्यफलसाधकता स्यादिति शङ्कां दूरीकुर्वन् आधाराधेयभावं च दूरीकुर्वन्
सर्वत्रात्मप्रतीतिसिद्धयर्थं च अखण्डात्मत्वं बोधयति आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिरिति ।

आभासार्थ—यदि यों माना जायगा तो ब्रह्म का अनेकपन होगा, जो ब्रह्म नहीं है उसमें
ब्रह्म बुद्धि करनी प्रतीक ज्ञान है जिसका फल अनित्य होता है यह 'अप्रतीकालम्बनात्रयति' इस सूत्र
में निरूपण किया है, इस शङ्का को दूर करने के लिए और आधार आधेय भाव को दूर करने के
लिए, सर्वत्र आत्मा की प्रतीति हो इस सिद्धि के वास्ते अखण्डात्मत्व 'आत्मा ह्येकः' श्लोक में
समझाते हैं—

श्लोक—आत्मा ह्येकः स्वयंज्योतिरनित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः ।

आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते ॥२४॥

श्लोकार्थ—आत्मा एक है और स्वयं प्रकाश स्वरूप, नित्य और काल से अन्य
(पृथक्) निर्गुण है, स्व-रचित गुणों से प्राणियों में विविधता दिखती है ॥२४॥

सुबोधिनी—अतति व्याप्नोतीत्यात्मा । परि-
च्छेदे आत्मत्वमेव भज्येत । एकेनैव कार्यसिद्धौ
द्वितीयकल्पना व्यर्था । भोगस्य तु न व्यवस्था-
पकत्वं ईश्वरेच्छयैव व्यवस्थासंभवात् । या क्रिया
यदीयव्यधिकरणगुणाजन्या सा तत्संयोगासम-
वायिकारणिकेति व्याप्तिर्बोधितैव । ईश्वरेच्छायाः
सर्वत्र कारणत्वात् तत्संयोगः जीवात्मसु न संग-
च्छते । अजसंयोगस्यानङ्गीकारात् । तस्माद्भोग-
स्यान्यथाप्युपपत्तेरेक एवात्मा । युक्तश्चायमर्थः ।
'एकमेवाद्वितीयम्' 'अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूता-
शयस्थितः' 'नित्यः सर्वगतः' इत्यादिवाक्यसहस्रं
आत्मन एकत्वमेव निर्णीतम् । 'नानात्मानो व्य-
वस्थातः' इति सूत्रमकारप्रश्लेषेणापि योजनीयम् ।
अव्यवस्था अविचार इति । ननु जीवस्य नानात्वे
परिहृतेऽपि जीवब्रह्माणोर्भेदोऽङ्गीकर्तव्यः, अन्यथा
ज्ञानोपदेष्टृभावात् मोक्षो न स्यात्, अत आह

स्वयंज्योतिरिति । स हि स्वप्रकाशः नास्यात्म-
प्रकाशार्थं कश्चिदपेक्ष्यते । मोक्षार्थं वा । अन्य-
त्वात्मवैलक्षण्यं नास्तीत्युक्तमेव 'पुरुषेश्वरयोरत्र
न वैलक्षण्यमण्वपि' इति । तस्य नानात्वाज्ञाने
अग्रे निरूपयिष्यते । वास्तवस्त्वयमर्थः । कालेन
स्वप्रकाशनिवृत्तिमाशङ्क्याह नित्य इति, सदैक-
रूप इत्यर्थः । तर्हि काल एवायं स्यात् तत्राह
अन्य इति, कालादन्यः । यस्य चेष्टा कालः इति
'चेष्टामाहुः' इति वाक्यात् । ननु तादृशः परमा-
त्मा पुरुषोत्तमः । न तु जीव इति चेत् तत्राह
निर्गुण इति । अयमेव जीवो गुणातीतः न तु
ततोऽन्योऽस्ति कश्चित् । नन्वेवं सति नानात्वमुच्च-
वचत्वं कथं घटत इति चेत् तत्राह आत्मसृष्टै-
र्गुणैः । तैरेव गुणैः कृतेषु देवतियङ्मनुष्यादि-
देहेषु भूतशब्दवाच्येषु आधारवशाद् अग्निरिव
बहुधा ईयते ॥२४॥

व्याख्यार्थ—जो सब में फैला हुआ है अर्थात् सब में मौजूद है वह आत्मा है, वह यदि

परिच्छेदवाला^१ होवे तो वह आत्मा ही न रहे, एक ही आत्मा से जब कार्य सिद्ध हो सकता है तो दूसरे की कल्पना करना व्यर्थ है, आत्मा अनेक है यह व्यवस्था भोग नहीं करा सकता है, कारण कि ईश्वर की इच्छा से व्यवस्था हो रही है, जो क्रिया जिसके पृथक् आधार के गुण से उत्पन्न होती है, उस क्रिया का असमवायिकारण^२ उसका सयोग है। यह व्याप्ति यहां नहीं बनती है क्योंकि सर्वत्र ईश्वर की इच्छा ही विषयों का कारण है, और जीवात्माओं के साथ उसका सम्बन्ध हो नहीं सकता है, हेतु यह है कि जो अजन्मा और नित्य है उसका सयोग नहीं माना गया है। इस कारण से भोग की दूसरे प्रकार से भी उपपत्ति हो सकती है अतः आत्मा एक ही है यह अर्थ हो उचित है, क्योंकि 'एकमेवाद्वितीयम्' (ब्रह्म एक ही अद्वितीय अर्थात् उत्तम है) 'अहमात्मा गुडाकेश सर्व भूताशयस्थितः' (हे गुडाकेश ! सर्व प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित आत्मा मैं ही हूँ, 'नित्यः सर्वगतः' (नित्य सर्व में गया हुआ मैं ही एक हूँ) इत्यादि अनेक वाक्यों से आत्मा का एकत्व सिद्ध किया गया है, 'नानात्मानो व्यवस्थातः' इस सूत्र में अकार का सन्धि से छिपना मानकर अर्थ करने से आत्मा एक है वही सिद्ध होगा, यदि आत्मा अनेक माने जाएं तो व्यवस्था न रहेगी वह सिद्धान्त अविचारवाला है जो समझना चाहिए, यदि जीवों का नानात्व असत् माना जावे तो भी ब्रह्म और जीव का भेद तो स्वीकार करना चाहिए, यदि जीव और ब्रह्म में भेद न माना जायगा तो, जीव को उपदेश का अभाव होगा जिससे मोक्ष प्राप्ति न हो सकेगी, इस कारण से कहते हैं कि 'स्वयं ज्योतिः' स्वतः प्रकाश रूप है जिससे उसको प्रकाश कराने वाला की आवश्यकता नहीं है तथा मोक्षार्थ भी अन्य की अपेक्षा नहीं है, ब्रह्म से जीव का अन्यत्व विलक्षण नहीं है, यों ईश्वर और पुरुष में यहां 'स्वल्प' भी भेद नहीं है, पृथक्ता और अज्ञान कैसे होता है यह शुक द्वारा आगे कहने में आएगा, वास्तव अर्थ तो यह ही है कि जीवों का नानात्व और अज्ञान उपाधिकृत हैं, समय पा कर स्वप्रकाश की निवृत्ति हो जाएगी, ऐसी शङ्का का उत्तर देते हैं कि नहीं होगी क्योंकि 'नित्य' है अर्थात् सदा एक रूप, तब तो काल ही यह हो, जिसके उत्तर में कहते हैं कि नहीं, काल से आत्मा अन्य है, काल तो आत्मा की चेष्टा मात्र है, जैसा कि कहा है 'चेष्टामाहुः' काल को आत्मा की चेष्टा कहते हैं, यों है, तो भी ऐसी आत्मा पुष्टोत्तम है, न कि जीव, यदि यों कहते हो तो, उत्तर है कि 'निर्गुणः' यह ही जीव गुणातीत परब्रह्म है न कि उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है यदि यों है तो नानात्व और उच्च-नीचत्व कैसे बन सकते हैं? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'आत्मसृष्टं गुणैः' अपने से उत्पन्न गुणों द्वारा देव, तिर्यङ् और मनुष्य आदि देहों में जो भूत शब्द वाच्य है, वे आधार वश अग्नि के समान नाना प्रकार के जाने जाते हैं ॥२४॥

आभास—एवमेकस्यानेकधा भानप्रकारमुक्त्वा नानात्वमपि व्यवस्थया आह खं वायुरिति ।

१—केवल एक हृदय में ही माना जावे तो उसका आत्मत्व ही नष्ट हो जावे

२—कार्य तथा कारण के साथ एक ही पदार्थ में समवायी सम्बन्ध से रह कर जो कारण बने, वह असमवायि कारण है, जैसे कि कार्य रूप वस्त्र में, तन्तुओं का जो सम्बन्ध है वह समवायि सम्बन्ध है, और वह सम्बन्ध ही वस्त्र का कारण है, उस कारण को असमवायि कारण कहा जाता है—

३—सांख्य सिद्धान्त ब्रह्मवाद से विरोधी न होने से ही यहां कहा है, अग्नि विस्फुलिंगवत् 'चिरा-गारिया अनेक होते हुए भी अग्निरूप है वैसे ही जीव भी आत्मरूप है ।

उच्छा से वह ही सर्व रूप से रहता है, इस प्रकार के विचार में चित्त को प्रवण (पिरो) कर जैसा मुझे जानते हो वैसे ही सब कुछ मुझे ही जानो यह उपदेश है, यह ही अखण्डाद्वैत वाद है ॥२५॥

आभास—एवं भगवता उपदिष्टः ऐश्वर्यभावप्राकट्यं बोधितमर्थं भावान्तरमाप-
न्नोऽपि गृहीतवानित्याह एवं भगवतेति ।

आभासार्थ—वसुदेवजी को जो पहले पांच प्रकार की भेद बुद्धि रूप भेद था कि मैं, तुम, आर्य, द्वारकावासी और चराचर सब पृथक् पृथक् हैं इस प्रकार का भेद, भगवान् के उपदेश से ऐश्वर्य भाव प्रकट होने से नष्ट हो गया और भगवान् के उपदेश को ग्रहण किया, यह 'एवं भगवता' श्लोक में श्री शुकदेवजी कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—एवं भगवता राजन्वसुदेव उदाहृतम् ।

श्रुत्वा विनष्टनानाधीस्तूष्णीं प्रीतमना अभूत् ॥२६॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! इस प्रकार भगवान् का कहा हुआ उपदेश सुनकर वसुदेवजी भेद बुद्धि नष्ट हो जाने से शान्त हो, प्रसन्न चित्त वाले हुए ॥२६॥

सुबोधिनी—उदाहृतं सिद्धमेव । विनष्टा । वात्स्वस्मिन्नपि तथा स्फुरणात्तूष्णीं भूत इत्यर्थः ।
नानाबुद्धिः पञ्चविधापि यस्य । ततो वक्तव्याभा- ॥२६॥

व्याख्यार्थ—जो भगवान् ने उपदेश दिया, वह सिद्ध अर्थात् फलीभूत हुआ जिससे वसुदेवजी की पांच प्रकार की भेद बुद्धि नष्ट हो गई, फिर शेष कुछ कहने की गुंजाइश नहीं रही, और अपने मे भी वैसे ही अभेद बुद्धि की स्फूर्ति हो जाने से अर्थात् सर्व ब्रह्म ही है ऐसा अखण्डाद्वैत ज्ञान उत्पन्न होने से चुप हो गए ॥२६॥

आभास—एवमेकस्य ज्ञानोपदेशो निरूपितः स्वज्ञानशक्तिप्राकट्येन क्रियाशक्ति-
प्राकट्यार्थमुपाख्यानान्तरमारभते अथ तत्रेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् ने एक को अर्थात् वसुदेवजी को अपनी ज्ञान शक्ति प्रकट कर ज्ञान का उपदेश किया, क्रिया शक्ति के प्राकट्य के लिए दूसरा उपाख्यान 'अथ तत्र' श्लोक से प्रारम्भ करते हैं—

श्लोक—अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ देवकी सर्वदेवता ।

श्रुत्वाऽऽनीत गुरोः पुत्रमात्मजाभ्यां सुविस्मिता ॥२७॥

श्लोकार्थ—हे कुरुओं में श्रेष्ठ ! देवकी ने सुना कि मेरे पुत्र (श्रीकृष्ण) गुरु पुत्रों को ले आए, जिससे विस्मय को प्राप्त हुई ॥२७॥

सुबोधिनी—कुरुश्रेष्ठेति क्रियाधिव्यं तस्य हृदये समायास्यतीति संबोधनम् । वसुदेवः कृतार्थो जात इति स्वस्यापि हृदये, भगवता कृतार्थत्वं प्राप्तापि पूर्वसंजातदुःखवासनाया अनिवृत्तत्वात् तन्निवृत्त्यर्थं भगवन्तं प्रार्थयते । वाक्येन तु न तन्निवर्तते । नाश्रुत्वेन निवर्तनेऽपि तेषां जीवानाममुक्तत्वात् ज्ञानोत्तरं सर्वज्ञत्वे सिद्धे भगवता वञ्चितमिति प्रतिभायात् । पुनस्तदुद्धा-

रार्थं चिन्तापि स्यादिति तेष्वेव समागतेषु तदु-
दुःखं गच्छति नान्यथेति निश्चित्य तदर्थं भगवतः
सामर्थ्यं पुत्राणां स्वरूपप्रतिपत्तिश्च संभावितेति
दृष्टान्तेनावगता तामेवाह श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः
पुत्रमिति । स्वस्यैवात्मजाभ्यां रामकृष्णाम्ना
स्वरूपं प्रापयित्वा आनीतं श्रुत्वा सुष्ठु विस्मिता
जाता ॥२७॥

व्याख्यार्थ—परीक्षित को कुरुश्रेष्ठ ! यह सम्बोधन देने का भावार्थ यह है कि इसके हृदय में भगवान् की क्रिया का आधिव्य प्राप्त होगा, वसुदेवजी कृतार्थ हुए जिससे भगवान् ने देवकी के हृदय में भी कृतार्थता प्राप्त कराई है, तो भी पहले उत्पन्न दुःख की वासना के निवृत्त न होने से, उसकी निवृत्ति के लिए देवकी भगवान् को प्रार्थना करती है, केवल वाक्य द्वारा तो वह वासना दुःख मिटेगा नहीं यदि भगवान् नाश्रु (माया) से पुत्रों को लाकर दिखा दें तो भी जब देवकीजी को ज्ञान होने के बाद सर्वज्ञता सिद्ध होगी तब वह समझेगी कि भगवान् ने मुझ से वञ्चना (कपटता) की है, और फिर उनके (मरे हुए पुत्रों के) उद्धार की चिन्ता भी रहे, अतः जब वे मरे हुए पुत्र आकर मिलें तब दुःख नष्ट होगा, अन्यथा नहीं, यों निश्चय कर, इसके लिए भगवान् शक्तिमान हैं, जिससे मेरे पुत्रों को स्वरूप की प्राप्ति हो ऐसी निश्चित सभावना है, यह देवकीजी ने गुरु पुत्र लाए, इस दृष्टान्त से जान लिया है, जिसको 'श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्र' में कहा है, मेरे ही पुत्र रामकृष्ण उसको स्वरूप की प्राप्ति कराके लाये है, यों मुन सुविस्मित हुई है ॥२७॥

आभास - ततो वस्तुनिर्धारं ज्ञात्वा भगवन्तं याचितवतीत्याह कृष्णरामाविति ।

आभासार्थ—पश्चात् वस्तु का निर्णय जानकर भगवान् से याचना करने लगी यह 'कृष्ण रामो' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान्कंसविहिंसितान् ।

स्मरन्तो कृपणं प्राह वैक्लव्यादश्रुलोचना ॥२८॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण और बलरामजी का ध्यान इस तरफ खेंचकर उनको सावधान किया, फिर कंस के मारे हुए पुत्रों का स्मरण आने से आँखों में आँसू भर आए, तब दीनतापूर्वक कहने लगी ॥२८॥

सुबोधिनी—सम्यगाश्राव्य सावधानं शृण्वि- | यथा भवति तथा प्राह । तेनैव स्मरणेन वैक्लव्या-
त्युक्त्वा कंसविहिंसितान् पुत्रान् स्मरन्ती कृपणं | दश्रुलोचना च जाता ॥२८॥

व्याख्यार्थ—देवकी ने श्रीकृष्ण और बलराम को कहा कि जो मैं कहती हूँ वह सावधान होकर सुनिए, कंस ने जो पुत्र मारे थे वो याद आगए, जिससे नेत्र अश्रुपूर्ण हो गए, और देवकी दीनता युक्त हो कहने लगी ॥२८॥

धर्म है प्रत्यक्ष न होना, इसी प्रकार भगवान् का स्वरूप और सामर्थ्य भी ऐसी है जिसका ज्ञान स्वतः हो नहीं सकता है जब तक की कृपा कर आप न जनावे, निकट स्थित श्रीकृष्ण को सावधान जानकर एक बार ही हे कृष्ण ! सम्बोधन किया है, योगेश्वरेश्वर ! विशेषण देकर सर्व प्रकार की साधन सम्पत्ति श्रीकृष्ण शरण ही है यह जताया है, इस प्रकार दोनों का महात्म्य कहकर अध्यारोप और अपवाद के निराकरण करने के लिए कहती है कि मुझे आपका वास्तविक ज्ञान है, 'वेदाहं वां विश्वसृजां' आप दोनों को मैं जानती हूँ आप कैसे हैं ? उसको बताती है कि ब्रह्मादि के भी नियन्ता हैं, काल को हटा सकते हो क्योंकि पुरुषोत्तम भी आप हैं यह भी मैं जानती हूँ ॥२९॥

आभास—तादृशस्य कथमागमनमिति शङ्काव्युदासायाह कालविध्वस्त-सत्त्वानामिति ।

आभासार्थ—वैसे स्वरूपों का पृथ्वी पर प्राकट्य कैसे हो ? यह शङ्का मिटाने के लिए 'काल विध्वस्त सत्त्वानां' श्लोक कहती है—

श्लोक—कालविध्वस्तसत्त्वानां राज्ञामुच्छास्त्रवतिनाम् ।

भूमेर्भारायमाणानामवतीर्णो किलाद्य मे ॥३०॥

श्लोकार्थ—काल के प्रभाव से जिनका सतोगुण नष्ट हो गया है, वैसे राजा लोग शास्त्र विरुद्ध आचरण करने से पृथ्वी पर भार रूप हो गए हैं, उनके नाशार्थ अब मुझ से प्रकट हुए हो ॥३०॥

सुबोधिनी—भूभाररूपराज्ञां वधार्थं भगवानवतीर्ण इत्यर्थः । ननु राजानः सात्त्विकाः कथं भाररूपा जाता इत्याह कालविध्वस्तसत्त्वानामिति । कालो हि कदाचित् सत्पदार्थान् दूरीकरोति, कदाचिदसत्पदार्थान् । यथा पुरुषः शिष्टागमनमालक्ष्य दुष्टागमनं वा, तथा कालोऽपि

सर्वेषां सत्त्वगुणं विवेकादिकं च हतवान् । अत एव उच्छास्त्रवतिनो जाताः । राजत्वेन सामर्थ्यं सत्त्वाभावे सामर्थ्यं सर्वेषां दुःखदमिति भूमेर्भारायमाणा जाताः । मशकार्थं धूमवत् तेषामर्थं भगवानवतीर्णः । किलेति प्रमाणम् । मे मत्तः ॥३०॥

व्याख्यानार्थ—पृथ्वी पर भार रूप राजाओं के नाशार्थ भगवान् प्रकट हुए हैं यह अर्थ है, राजा तो सात्त्विक होते हैं वे भार रूप कैसे ? इस पर कहते हैं कि, काल कदाचित् सत्पदार्थों को दूर कर देता है, कभी असत् पदार्थों को जैसे पुरुष, श्रेष्ठ पुरुष अथवा नीच पुरुष आता है उसको देखकर तदनुकूल आचरण करता है, वैसे ही काल ने भी सब के सत्त्वगुण और विवेक आदि का हरण कर लिया है, इसलिए ही शास्त्र विरुद्ध आचरण करने लगे हैं, राजापन से सामर्थ्य है किन्तु सतोगुण के अभाव से वह सामर्थ्य दुःखदाई बन गई है, जिससे वे राजा पृथ्वी पर भार रूप हो गए हैं, मशकों (मच्छरों) को धूम से नाश किया जाता है वैसे ही उनके नाशार्थ भगवान् प्रकट हुए हैं यह निश्चय है, वह प्राकट्य भी मुझ से हुआ है ॥३०॥

आभास—ननु भूभारहरणार्थमेव जातः न त्वन्यार्थमिति तत्रैव मम सामर्थ्यमिति चेत् तत्राह यस्यांशांशांशभागेनेति ।

आभासार्थ—आपका कहना ठीक है तो हम पृथ्वी के भार के उतारने के वास्ते ही अवतरे हैं न कि अन्य कार्य के लिए, उसमें ही मेरी सामर्थ्य है, यदि यों कहो तो इसका उत्तर 'यस्यांशांशांशभागेन' श्लोक में देती हूँ—

श्लोक—यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः ।

भवन्ति किल विश्वात्मस्तं त्वाद्याहं गतिं गता ॥३१॥

श्लोकार्थ—हे विश्वात्मा ! जिस आपके अंश रूप अक्षर की अंश रूप प्रकृति के गुण, उनके विभाग से विश्व की उत्पत्ति आदि होते हैं, उन आपकी शरण मैं आई हूँ ॥३१॥

सुबोधिनी—यस्य पुरुषोत्तमस्य, अंशः अक्षरं तस्याप्यंशः प्रकृतिः, तस्यांशा गुणाः, तेषां भागेन विश्वस्योत्पत्तिलयोदया भवन्ति । किलेति प्रसिद्धे । अनेन सामर्थ्यमुक्तम् । करणावश्यक- त्वाद्याह विश्वात्मन्निति सर्वस्यापि स्वकृत्यमावश्यकमिति । अतस्तादृशं त्वां स्वकार्यसिद्धयर्थं शरणं गता ॥३१॥

व्याख्यार्थ—जिस पुरुषोत्तम का अंश अक्षर है, उस अक्षर की अंश प्रकृति है, उस (प्रकृति) के अंश सत्त्वादि गुण हैं, उनके विभाग से विश्व की उत्पत्ति, नय और पालन होता है । 'किल' यह वास्तव्यरोति से प्रसिद्ध ही है, यों कहकर भगवान् को सामर्थ्य प्रकट को है, नाशन की आवश्यकतार्थ 'विश्वात्मन्' विशेषण से अपने कार्य की आवश्यकता बताई है, वह कार्य आप से ही पूर्ण होगा, वैसे आप हैं, अतः अपने कार्य की सिद्धि के लिए मैं आपकी शरण आई हूँ ॥३१॥

आभास—तत्कार्यं साधकपूर्वकमाह चिरादिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—मैं जैसा कार्य करवाना चाहती हूँ वैसा कार्य आपने प्रथम किया ही है 'चिरात्' दो श्लोकों से वह कार्य कहती है—

श्लोक—चिरान्मृतसुताऽऽदाने गुरुणा किलनोदितौ ।

आनिन्यथुः पितृस्थानाद्गुरवे गुरुदक्षिणाम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—बहुत समय से मरे हुए गुरु पुत्र को लाने के लिए गुरु की आज्ञा पा कर यमराज के लोक में जाकर वहाँ से पुत्र लाकर गुरुजी को गुरु दक्षिणा दी । ३२।

सुबोधिनी—यथा गुरुवाक्यं कर्तव्यम्, एवं प्रकृतेऽपि । यथा दक्षिणा अवश्यं देया, एवं ममापि । यथा गुरोः पुत्रः निरन्वय गतः तथा मत्कामनापि पूरणीया । अतो दृष्टान्तः । चिरा-

न्मृतस्य सुतस्याऽऽदाने आदानार्थं दक्षिणात्वेन गुरुणा प्रेरितौ । किलेति प्रमाणम् । तदा पितृ-स्थानं गत्वा यत्र पुरुषाणां जीवतां गमनागमने न स्तः । तादृशस्थानादपि गुरवे गुरुदक्षिणां धर्मार्थं आनिन्यथुः, पदव्यत्ययश्छान्दसः, आनीत-वन्तौ ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—जैसे गुरु का वाक्य पालन करना चाहिए वैसे ही मेरा (माता का) वचन भी पालना उचित है, जैसे गुरु का पुत्र वंश हीन हो कर गया था वैसे मेरे भी, जैसे गुरु को दक्षिणा अवश्य देनी चाहिए, वैसे मेरी कामना भी अवश्य पूर्ण करनी चाहिए, इसलिए दृष्टान्त दिया है कि गुरुजी ने बहुत समय से मेरा हुआ पुत्र ला कर गुरु दक्षिणा में मांगा था, 'किल' शब्द यहाँ प्रमाणवाचक है, तब आप पितृ लोक में गए, जहाँ जीवित पुरुषों का जाना आना नहीं हो सकता है, ऐसे स्थान से भी गुरु के लिए धर्म पालन करने के लिए दोनों ने गुरु दक्षिणा लाकर दी है ॥३२॥

श्लोक—तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ ।

भोजराजहतान्पुत्रान्कामये द्रष्टुमागतान् ॥३३॥

श्लोकार्थ—जैसे गुरुजी को दक्षिणा में पुत्र लाकर दिया, वैसे ही मेरी कामना भी पूर्ण करो, मैं कंस से मारे गए पुत्रों को देखना चाहती हूँ ॥३३॥

सुबोधिनी - तथा मे ममापि कामं कुरुतं अपमृत्युमृतत्वात् प्रायेण तत्रैव गताः । सामर्थ्यं सूचयति युवां योगेश्वरेश्वराविति । योग एव कामनां पूरयति तत्रापि तस्येश्वरः किं वक्तव्यः । भगवांस्तु ततोऽप्यग्रे योगश्चोक्तं कदाचिद्वदेत् मत्प्रवर्तको नाज्ञापयतीति सोऽपि चेद्वदेत् ममा-न्तर्यामी न प्रेरयेदिति तन्निरासार्थमेतावदुक्तम् । स्वकामनामाह भोजराजहतान् पुत्रानिति । आग-तान् द्रष्टुं कामये । यस्यामवस्थायां स्थिता मत्तो गताः तादृगवस्थायुक्ता एव द्रष्टव्या इति भावः ॥३३॥

व्याख्यानार्थ—वैसी मेरी भी कामना पूर्ण करो, मेरे पुत्र अपमृत्यु से मरे हैं अतः बहुत करके वहाँ ही गए हुए हैं, भगवान् की सामर्थ्य बताती है कि आप दोनों योगेश्वरों के भी ईश्वर हैं, जब केवल योग ही कामना पूर्ण कर सकता है तो उसके ईश्वर के लिए कहना ही क्या ? भगवान् तो उससे भी आगे अर्थात् बड़े हैं, योग तो कदाचित् यों भी कहदे, कि मेरा प्रवर्तक मुझे आज्ञा नहीं देता है, अतः कहा कि आप भगवान्, योग ही नहीं है, किन्तु योगेश्वर हो, इस पर यदि कहो कि योग प्रवर्तक अथवा योगेश्वर होने पर भी मेरा अन्तर्यामी मुझे पुत्रों के लाने की प्रेरणा नहीं करता है, इन सब हेतुओं को निरास करने के लिए ही 'योगेश्वरेश्वरः' इतना समग्र विशेषण दिया है, अब अपनी कामना स्पष्ट कहती है कि मैं, कंस से जो मारे गए उन पुत्रों को, उसी अवस्था में यहाँ देखना चाहती हूँ जिस अवस्था में वे मेरे पास थे ॥३३॥

आभास—ततो भगवत्कृतमाह एवं संचोदिताविति ।

आभासार्थ—'एवं संचोदितौ' श्लोक में भगवान् कार्य कहते हैं—

श्लोक — श्री ऋषिरुवाच-एवं संचोदितौ मात्रा रामः कृष्णश्च भारत ।

सुतलं संविशतुर्योगमायामुपाश्रितौ ॥३४॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि हे भारत ! इस प्रकार माता की प्रेरणा होने पर राम और श्रीकृष्ण योगमाया को साथ ले, निर्विघ्न सुतल में जाकर प्रकटे ॥३४॥

सुबोधिनी - गुर्वर्थनान्वेषणार्थं गताविति । मुपाश्रिताविति अष्टविंशतितत्त्वैर्मयोऽधस्ताद्योग-
पूर्वमप्युक्तम् । तथात्रापि सिद्धवत्कारेण जानीत । माया तस्यां प्रविष्टौ स्वगृहदेशे मध्ये व्यवधायका-
इति सुतलमेव गतौ । गमनमार्गमाह योगमाया- भावान् सुतल एव प्रादुर्भूतौ ॥३४॥

व्याख्यार्थ—गुरु के पुत्र के लिए जब पधारे तब भी ढूँढने की आवश्यकता नहीं थी, वैसे ही अब भी, क्योंकि आप जानते हैं कि वे कहाँ हैं ! इसलिए सुतल में ही जाकर प्रकट हुए, सुतल में जाने का प्रकार कहते हैं कि 'योगमायामुपाश्रितौ' योगमाया को साथ में लिया, अष्टावींश तत्त्वों के नीचे योगमाया है, उसमें प्रविष्ट हुए अर्थात् अपने गृह देशके मध्य में प्रविष्ट हुए मध्य में कोई प्रतिबन्धक न होने से सुतल में जाकर प्रकटे ॥३४॥

आभास - ततो दैत्यः कदाचिदाजां न करिष्यतीत्याशङ्कानिवृत्त्यर्थं बलिकृतां पूजा-
माह तस्मिन् प्रविष्टाविति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—कदाचित् दैत्य^१ आजा का पालन न करे, इस शङ्का को मिटाने के लिए चार श्लोकों में बलि की की हुई पूजा का वर्णन करते हैं ।

श्लोक—तस्मिन्प्रविष्टावुपलभ्य दैत्यराड्विश्वात्मदैवं सुतरां तथात्मनः ।

तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुताशयः सद्यः समुत्थाय ननाम सान्वयः ॥३५॥

श्लोकार्थ जगत् के आत्मा और दैव तथा अपने भी अत्यन्त इष्ट देव आत्मा एवं दैव; ऐसे दोनों आताओं को सुतल में प्रविष्ट पाकर उनके दर्शन से बलि राजा का अन्तःकरण आनन्द से भर गया, जिससे शीघ्र ही उठकर अपने परिवार सहित इनको प्रणाम किया ॥३५॥

सुबोधिनी—तस्मिन् सुतले प्रवेशमात्र एव । उपलभ्य सद्यः समुत्थाय ननामेति संबन्धः । पूर्व
दैत्यानां स्वामी शीघ्रनिवेदकदैत्यैः भगवदागमन- भगवता बद्ध इति कदाचिद्द्वेषाद्भयाद्वा संमुखो

१—भगवान् बलि के द्वारपाल बनकर वहाँ रहते हैं अतः वह अपना घर है,

२—बलि

न भवेदित्याशङ्क्याह विश्वात्मदैवमिति, विश्व-
स्यात्मा दैवं च भगवान् तेनात्मत्वान्न भयम्,
आराध्यत्वान्न द्वेष इत्यर्थः । यत्र भगवान् जगत्
एव एवविधः साधारणस्यापि भयद्वेष सभावना-
रहितः तत्र स्वस्य महत्तः कथमेवं भविष्यती-
त्यर्थः । न च वक्तव्यं विश्वस्य भगवान्नापकारं
करोतीति । यतः सर्वस्योत्पत्तिप्रलयकर्ता स एव ।
तथा ज्ञान नास्तीति चेत् तर्हि ज्ञानं गुणो जात
इति ज्ञानवतामधिक एव पूज्य इत्याह सुतरां

तथात्मन इति । ३५ । पूर्व संसारव्यावृत्त्या
अनिर्वृतः स्थितः । उदानो सुतले स्वर्गाधिके
सुखेन तद्भावनाया तिष्ठतीति स्मृतिसंजातया
भवत्या पूर्णान्तिःकरण एव तद्दर्शनाह्लादेन अधि-
केन परिपूताशयो जातः । अत आलस्यादिधर्मपु-
लीनेषु सद्यः समुत्थाय ननाम । तत्पुत्रस्य वारण-
स्य बाहुच्छेदो भगवता कृत इति कदाचिदनमनं
स्यात्तत आह सान्वय इति, पुत्रपौत्रादिसहितः ।

॥३५॥

व्याख्यार्थ—जिस सुतल में बलि राजा भगवान् की आज्ञा से राज्य करते थे उस सुतल में भगवान् के प्रविष्ट होते ही दैत्यों के स्वामी ने शीघ्र समाचार पहुँचाने वाले अपने सेवकों से जान लिया कि प्रभु पधारे हैं अतः सपरिवार आकर प्रणाम करने लगा, इस प्रकार अन्वय है, भगवान् न बलि को पहले बांधा था, इससे कदाचित् द्वेष अथवा भय से संमुख सत्कारार्थ न आवे ? इस शङ्का के होने पर कहते हैं कि 'विश्वात्मदैवं' भगवान् विश्व की आत्मा और दैव हैं, इसलिए जो अपनी आत्मा है उससे भय नहीं होता है, और जो दैव है वह पूजा के योग्य है जिससे उसके साथ द्वेष नहीं किया जाता है, जहाँ भगवान् जगत् को ही ऐसे हैं अर्थात् साधारण को भी डराते नहीं और न द्वेष करते हैं अथवा साधारण भी भगवान् से स्वयं न डरते हैं और न उनसे द्वेष करते हैं क्योंकि वे साधारण की भी आत्मा और दैव है, जब यों है तो महान् और अपने से कैसे वैसे होंगे, यों तात्पर्य है, और भगवान् तो विश्व में किसीका भी अपकार नहीं करते हैं, यों नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सबकी उत्पत्ति और प्रलय वे ही करते हैं वैसा ज्ञान सबको नहीं है यदि यों कहो तो, ज्ञान, गुण हो गया, इसलिए जिनको ज्ञान है उनको तो अधिक ही उनकी पूजा करनी चाहिए, अतः कहा है कि 'सुतरां तथात्मनः' बहुत ही वे अपने हैं, प्रथम संसार की व्यावृत्ति से बलि दुःखी रहता था, अब स्वर्ग से अधिक सुन्दर सुतल में भगवत्कृपा से उनकी भावना से सुख पूर्वक रहता है, इस प्रकार की स्मृति हो आने से उत्पन्न भक्ति से अन्तःकरण भर गया और उनके दर्शन से उत्पन्न आनन्द की अधिकता से हृदय परिपूर्ण हो गया इस कारण से आलस्यादि धर्म लोप होगए जिससे शीघ्र उठकर नमस्कार करने लगा । उसके पुत्र वारणका भगवान् ने बाहु छेद किया इस कारण कदाचित् नमन पूर्ण रीति से न करे इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि 'सान्वयः' समग्र परिवार सहित आकर प्रणाम किया न कि केवल बलि ने ही ॥३५॥

आभास—ततः पूजामाह तयोः समानीयेति ।

आभासर्थ—पश्चात् 'तयोः समानीय' श्लोक से बलि कृत पूजा^३ कहते हैं ।

१—वाक्यों का सम्बन्ध

२—दैत्यों के स्वामी,

३—३५ वें श्लोक में मानसी कही है, ३६ वे ३७ वें से कायिकी और ३८ वें से वाणी की यों इन श्लोकों के अनुसार पूजा कही है ।

श्लोक—तयोः समानीय वरासनं मुदा निविष्टयोस्तत्र महात्मनोस्तयोः ।

दधार पादाववनिज्य तज्जलं सवृन्द आब्रह्मपुनद्यदम्बु ह ॥३६॥

श्लोकार्थ—उन दोनों के लिए सुन्दर आसन प्रेम से ले आए । वे दोनों जब विराजमान हो गए, अनन्तर उनके पाद प्रक्षालन किए, वह जल ब्रह्मा तक को पवित्र करने वाला था, अतः बलि राजा ने तथा उसके परिवार ने अपने-अपने सिर पर चढ़ाया ॥३६॥

सुबोधिनी—मुदेत्युभयत्र सन्नन्धः । आसन-स्याग्रहणे पुनर्भयं सभावितं स्यात्, अत आह निविष्टयोस्तत्रेति, तत्रासने उपविष्टयोः सतोः । महात्मत्वात् निःशङ्कतया तत्रोपवेशनम् । अन्यथा वदस्य गृहे प्रभुः सशङ्को भवति । तदा तत्पादा-

ववनिज्य चरणोदकं सकुटुम्बः दधार । तस्य माहात्म्यमाह यदम्बु गङ्गारूपमाब्रह्म ब्रह्मलोक-मारम्य पातालपर्यन्तं पुनातीति आब्रह्मपुनत् । हेत्याश्चर्यं । कथमन्यस्य शेषभावं प्राप्त अन्यस्य शोधकमिति ॥३६॥

व्याख्यार्थ—‘मुदा’ इस पद का दोनों से सन्नन्ध है, अर्थात् इन दोनों के पधारने पर बलि निर्भय हो प्रसन्नता से आसन ले आया और भगवान् ने भी आसन ले लिए उन पर विराजमान हो गए जिससे अपनी निर्भयता और प्रसन्नता प्रकट की, जिसको बन्धन में डाला उसके गृह में प्रविष्ट हो और निःशङ्क हो आसन पर विराजकर अपना महात्म्यपन तथा प्रेम व आनन्द प्रकट किया, अन्यथा प्रमुद्धबद्ध के गृह में आने पर शङ्काशील होने चाहिए, वैसे न हुए, तब बलि ने पाद प्रक्षालन किया, वह चरणजल कुटुम्ब सहित शिर पर धारण किया, उस जल का माहात्म्य कहते हैं कि जो जलगङ्गा रूप है ब्रह्मलोक से लेकर पाताललोक तक पवित्र करने वाला है ह’पद आश्चर्य अर्थ में दिया है कारण कि पाद प्रक्षालन का शेष जल तो हलका अर्थात् घटिया होता है वह अन्य को पवित्र करनेवाला कैसे हुआ ? यह आश्चर्य है इसको प्रदर्शित करने के लिए ह’ पद दिया है ॥३६॥

श्लोक—समर्हयामास स तौ विभूतिभिर्महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः ।

स्रग्धूपदीपामृतभक्षणादिभिः स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च ॥३७॥

श्लोकार्थ—बलि ने उनकी उत्तम वस्त्र, आभूषण, लेपन, ताम्बूल, दीप और अमृत-सम भोजन आदि अनेक वैभव से पूजा की और अपना तन, धन और कुटुम्ब सब अर्पण किया ॥३७॥

सुबोधिनी—ततः पुष्पादिभिः समर्हयामास । महार्हाणि वस्त्राण्याभरणानि च अनुलेपनानि च चतुःसमादीनि तथा स्रग्धूपदीपाः । अमृतममृत-मयानि वा मध्याणि । आदिशब्देन ताम्बूलाद्यु-

पचारा गुह्यन्ते । नैतावता साधारणधर्मैण भग-वांस्तुष्यतीति स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणं च कृत-वान् । आत्मीयाः धनं देहश्चेति त्रितय एव सर्वानुप्रवेशः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—अनन्तर पुष्पादि से पूजन किया, बहुत कीमत वाले वस्त्र, आभूषण, केसर, कस्तूरी, चन्दन और अगरु, मिश्रित चन्दन एवं धूप-दीप आदि से पूजन किया, अमृतमय भोजन

कराया । 'आदि' शब्द से ताम्बूल आदि मुखवास भी दिए, ऐसे साधारण धर्म से भगवान् प्रसन्न नहीं होते हैं, इसलिए अपना कुटुम्ब, धन और देह भी अर्पण की, इन तीनों से सर्व सम्पत्ति आ गई समझनी चाहिए ॥३७॥

आभास—ननु दैत्योऽयं कथमेवं भगवद्भक्त इति चेत् तत्राह स इन्द्रसेनो इति ।

आभासार्थ—यह दैत्य भगवद्भक्त कैसे हुआ ? इसका उत्तर 'स इन्द्रसेनो' श्लोक में देते हैं ।

श्लोक—स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया ।

उवाच हानन्दकलाकुलेक्षणः प्रहृष्टरोमा नृप गद्गदाक्षरम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! प्रेम से द्रवीभूत बुद्धि वाला वह बलि बार-बार भगवान् के चरण-कमल को अन्तःकरण में धारण करता हुआ, आनन्द के आँसुओं से व्याकुल नेत्र हो तथा पुलकित गात्र हो गद्गद् कण्ठ से कहने लगा ॥३८॥

सुबोधिनी—इन्द्रस्येव सेना यस्येति । इन्द्र उत्तमसत्त्वांशः, तस्येन्द्रियादिसामग्री अत्यन्तं भगवत्परा, तथास्यापीत्यर्थः । बाह्यसेनापि तथैवेति ज्ञातव्यम् । महत्त्वमपि सूच्यते । तादृशोऽपि भगवत्पदाम्बुज बिभ्रद्भस्तद्वयेन, पश्चान्मुहुः प्रेम-

विभिन्नया धिया च बिभ्रदुवाच । वचनस्यान्यानीन्द्रियाणि सहायभूतान्याह आनन्दकलाकुलेक्षणः, प्रहृष्टरोमा, गद्गदाक्षरः, इन्द्रियाणां, देहस्य, वाचश्च वैकल्यं निरूपितम् ॥३८॥

व्याख्यार्थ—बलि को इन्द्रसेन कहा है । जिसका भावार्थ समझाते हैं कि इन्द्र उत्तम सत्त्व के अंश वाला है, इसलिए इसकी इन्द्रियाँ आदि अत्यन्त भगवत्परायण हैं, उसी तरह बलि की भी इन्द्रियाँ आदि भगवान् के परायण हैं, बाहर की सेवा भी भगवत्परायण है, यों समझना चाहिए, जिससे महत्त्व का भी सूचन होता है, वैसा इन्द्रसेन है तो भी भगवान् के चरण कमल को दो हस्तों से धारण करते हुए, फिर बार-बार प्रेम से विह्वल बुद्धि से कहने लगा, वाणी की अन्य इन्द्रियाँ सहायक हुईं, जैसा कि आनन्द के अंश (आँसुओं) से व्याकुल नेत्र हो गए, रोम (हँवाटे) खड़े हो गए, मुख से गद्गद् हो अक्षर निकलने लगे, इसी तरह इन्द्रियों की, देह की और वाणी की व्याकुलता निरूपण की है ॥३८॥

आभास—एवं परमभक्तियुक्तः भगवतः षड्गुणप्रतिपादकैः भगवत्प्रतिपादकेन च सप्तभिः स्तुत्वा प्रार्थयते नमोऽनन्तायेत्यष्टभिः श्लोकैः । आदौ भगवत ऐश्वर्यं स्मृत्वा नमस्यति नमोऽनन्तायेति ।

आभासार्थ—इसी भाँति परम भक्ति से युक्त बलि राजा, भगवान् और भगवद्गुणों के प्रतिपादन करने वाले सात श्लोकों से स्तुति कर 'नमोऽनन्ताय' से लेकर आठ श्लोकों से प्रार्थना करता है, पहले भगवान् के ऐश्वर्य की स्मृति से 'नमोऽनन्ताय' श्लोक द्वारा प्रणाम करता है—

श्लोक— बलिम्वाच—नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय देवते ।

सांख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने ॥३६॥

श्लोकार्थ—बलि कहने लगा कि फण के एक देश में विश्व को धारण करने वाले महान् अनन्त (शेष) रूप आपको मैं नमस्कार करता हूँ । जगत् के विधाता, सांख्य योग विस्तारक परमात्मा कृष्ण स्वरूप परब्रह्म आपको मैं प्रणाम करता हूँ ॥३६॥

सुबोधिनी—ईश्वरः स एव यो न केनापि परिच्छिद्यते । अयं च देशकालापरिच्छिन्नः । किं च । स एव समर्थो यो महान् भवति तदाह बृहते इति । बलभद्रनमस्कारो वा । अयमनन्त इति शेषः प्रादुर्भूतः । स एव बृहत् ब्रह्मेति । स एवेश्वरो यो नित्यानन्दः स कृष्णः । यश्च जगत्कर्ता तदाह वेधसे इति । जगत्कर्तृ मुख्य ब्रह्मेति भगवत् एव विशेषणम् । शास्त्रयोनित्वमपि ब्रह्मलक्षणमिति विशेषसिद्धान्तप्रतिपादकत्वेन माहा-

त्म्यमाह सांख्ययोगयोवितानाय विस्तारहेतवे । तत्र हेतुमिव वदन् सिद्धान्तान्तर्कर्तृत्वमाह ब्रह्मणे परमात्मन इति । ब्रह्मत्वाद्धेतुत्वार्थरूपत्वम् । परमात्मन इति वैष्णवशैवसिद्धान्तप्रवर्तकत्वं तदर्थप्रतिपादकत्वं च । सांख्या ज्ञानप्रधाना इति ब्रह्मपराः । योगिनस्तु परमात्मध्यानपरा इति तद्वितानकर्तृत्वं सिद्धयति । अनेन शास्त्रदृष्ट्या ज्ञानम्, ध्यानेन च ज्ञान भगवतः ॥३६॥

व्याख्यार्थ—ईश्वर, वह ही है, जिसको कोई भी अपनी सीमा में न ला सकता है, यह तो देश और काल से परिच्छिन्न (सीमित) नहीं है, और विशेष, वह ही समर्थ है, जो महान् होता है, इसलिये 'बृहते' कहा है अथवा यह नमस्कार बलभद्र स्वरूप को की है, यह अनन्त है अर्थात् शेष इस रूप से प्रकटे हैं, वह ही बृहत् अर्थात् ब्रह्म है, वह ही ईश्वर है जो नित्य आनन्द स्वरूप है वह श्रीकृष्ण है, और जो जगत्कर्ता होता है वह ही ईश्वर है, इसलिए 'वेधसे' कहा है, जगत्कर्ता मुख्य ब्रह्म, इसलिए यह भगवान् का विशेषण है, ब्रह्म का अन्य लक्षण शास्त्रयोनित्वम्, विशेष सिद्धान्त प्रतिपादकत्व से स्पष्ट माहात्म्य कहते हैं कि, सांख्य और योग शास्त्रों के विस्तार के लिए अर्थात् इनका विस्तार करने वाले होने से आप ही ब्रह्म हैं, इस विषय में हेतु प्रकार कहते हुए अन्य सिद्धान्तों का कर्तृत्व भी कहते हैं, ब्रह्मणे, परमात्मने, ब्रह्म होने से वेद और उसके अर्थ रूप आप हैं, परमात्मा होने से वैष्णव और शैव सिद्धान्त के प्रवर्तक तथा उनके अर्थ के प्रतिपादक भी आप ही हैं, सांख्य ज्ञान प्रधान होने से ब्रह्म 'पर' हैं, योगी तो परमात्मा के ध्यान परायण है, इसलिए उसका वितान कर्तृत्व सिद्ध होता है, इससे शास्त्र दृष्टि से, ज्ञान और ध्यान से भगवान् का ज्ञान होता है ॥३६॥

आभास—न तु भगवत्साक्षात्कारः कस्यचिद्भवति । स मम जात इति केवलं भगवद्वीर्येणैव तद्भवतीति भगवद्वीर्यं समथयन्नाह दर्शनं वां हि भूतानामिति ।

आभासार्थ—भगवान् का साक्षात् दर्शन तो किसी को नहीं होता है वह मुझे हुआ है, यों

दर्शन केवल भगवान् के ऐश्वर्य प्रताप वल से ही कृपा से होता है, इसलिए भगवान् के ऐश्वर्य का समर्थन 'दर्शनं वा' श्लोक में करता है—

श्लोक—दर्शनं वां हि भूतानां दुःप्रापं चातिदुर्लभम् ।

रजस्तमःस्वभावानां यन्नः प्राप्नो यदृच्छया ॥४०॥

श्लोकार्थ—आपके दर्शन प्राणियों को दुर्लभ है, किन्तु जिन पर आप कृपा करते हो, उनको स्वतः हो जाते हैं जैसा कि रज और तम स्वभाव वाले हमको आप दोनों के अकस्मात् दर्शन हुए हैं ॥४०॥

सुबोधिनी—ये उत्पद्यन्ते प्रवाहे तेषामुत्पत्ति-विरोधित्वाद्भगवद्दर्शनं दुर्लभम् । वां ब्रह्मपर-ब्रह्मणोः । स्वक्रियया प्राप्य दुःखेनापि यन्न भवति तद्दुःप्रापम् । देवादिवरेणापि यन्न लभ्यं तद्दुर्लभं चकारात्सर्वसाधनैरप्यलभ्यता निरूपिता ।

तत्र हेतुः रजस्तमःस्वभावानामिति । राजसानां दुःप्रापम् । तामसानां दुर्लभम् । राजसानामपि केषांचिद् दुर्लभमिति चकारः । एतादृशावपि नोऽस्माकं रजस्तमःस्वभावानां यद्यकस्मात् प्राप्नो । तत्र हेतुर्यदृच्छैव ॥४०॥

व्याख्यार्थ—जो लोग प्रवाह में उत्पन्न होने हैं, उनको भगवान् का साक्षात् दर्शन उत्पत्ति के विरोध होने से दुर्लभ है, आप दोनों ब्रह्म और पर ब्रह्म स्वरूप के दर्शन दुःख से की हुई अपनी कठिन क्रिया से भी जो कठिनाई से मिलते हैं, देव आदि के वरों से भी जो नहीं मिलता है अतः दुर्लभ है, 'च' पद से यह सूचित किया है कि सर्व प्रकार के साधन करने पर भी नहीं मिल सकते हैं, यों निरूपण किया है । ऐसे दुर्लभ एवं दुःप्राप्य होने में क्या हेतु है? वह कहते हैं कि प्राणि रज और तम स्वभाव वाले हैं, राजसों को दुःप्राप्य है, तामसों को दुर्लभ है । 'च' पद से यह सूचित किया है कि किन्हीं राजसों को भी दुर्लभ है, ऐसे दुःप्राप्य और दुर्लभ होते हुए भी आपने जो रज-तम स्वभाव वाले हमको अकस्मात् दर्शन दिए हैं, उसमें कारण आपकी कृपा युक्त इच्छा ही है ॥४०॥

आभास—कथं राजसतामसानां दुर्लभमित्यत्र हेतुमाह श्लोकद्वयेन दैत्यदानव-गन्धर्वा इति ।

आभासार्थ—राजस-तामसों को दर्शन दुर्लभ कैसे हैं? जिसमें हेतु 'दैत्यदानवगन्धर्वाः' आदि दो श्लोकों से देता है—

श्लोक—दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याध्रचारणाः ।

यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः ॥४१॥

श्लोकार्थ—दैत्य, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत, प्रमथ और उनके नायक ॥४१॥

सुबोधिनी—दैत्य, दानव और गन्धर्वा इति राजसे
गुणभेदः । सिद्धविद्याध्याचारणाश्च द्वितीयाः
तामसराजसाः । यक्षरक्षःपिशाचास्तामसाः ।

भूतप्रमथनायकास्तामसतामसाः । प्रमथा महा-
देवगणाः, तयोर्वा नायकास्तृतीयाः ॥४१॥

व्याख्यार्थ—दैत्य, दानव और गन्धर्व इनमें राजस गुण का न्यूनाधिक्य है; सिद्ध, विद्याधर तथा चारण ये राजस-तामस गुण वाले हैं और यक्ष, राक्षस तथा पिशाच तामस हैं; भूत, प्रमथ और इनके नायक तामस-तामस हैं; प्रमथ महादेव के गुण हैं; 'नायक' भूत तथा प्रमथ दोनों के नायक हैं ॥४१॥

आभास—एवं सर्वान् गणयित्वा तेषां स्वरूपमाह विशुद्धसत्त्वधाम्नीति ।

आभासार्थ—इसी प्रकार सबकी गणना कर उनका स्वरूप 'विशुद्धसत्त्वधाम्नि' श्लोक में कहता है—

श्लोक—विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि ।

नित्यं निबद्धवैरास्ते वयं चान्ये च तादृशाः ॥४२॥

श्लोकार्थ—वे हम और अन्य विशुद्ध सत्त्व के धाम स्वरूप और शास्त्र से प्राप्य शरीर वाले आपसे सदैव वैर करते हैं ॥४२॥

सुबोधिनी—भगवत आत्मत्वेऽपि उपाधि-
गुणेनैव विरोधः । किंच ! भगवान् वेदादिशास्त्रं
कृतवान् । ते च लोकप्रधानाः अतः उभयेषां
विरोधो युक्त इत्याह शास्त्रशरीरिणीति शास्त्रक-
समधिगम्यशरीरयुक्ते । अत एव नित्यं निबद्ध-

वैराः, ते पूर्वोक्ताः, वयं च । यद्यप्यस्माकमिन्द्रि-
यादिवर्गः सात्त्विकः तथापि देहो राजस एवेति
भिन्नतया गणयति । अन्ये च तथा ब्राह्मणाः ।
चकारात्तत्संबन्धिनश्च ॥४२॥

व्याख्यार्थ—भगवान् सबकी आत्मा हैं तो भी उपाधि गुण के कारण ही विरोध है और विशेष में भगवान् ने वेदादि शास्त्र बनाए हैं, वे लोक प्रधान हैं, अतः दोनों का विरोध है, वह उचित नहीं है । इसलिए कहा है कि 'शास्त्रशरीरिणि' अर्थात् केवल शास्त्र से ही जिसके शरीर को प्राप्ति हो सकती है, इस कारण से ही पहले कहे हुए और हम लोगों का नित्य वैर रहता है, यद्यपि हमारा इन्द्रिय वर्ग सात्त्विक है, तो भी देह राजस ही है, इसलिए पृथक् गिनाता है और अन्य वैसे ही ब्राह्मण, 'च' पद से उनके सम्बन्धी भी समझने चाहिए ॥४२॥

आभास—ननु ते चेद् द्वेषिणस्तदा तेषां नरकपात इति 'आसुरीं योनिमापन्नाः'
इति वाक्यानुसारेण कदाचिदप्यमुक्तौ कथं भगवान् सर्वात्मेति चेत्, तत्र मुख्य सिद्धान्त-
माह केचनोद्बद्धवैरेणेति ।

आभासार्थ—यदि यों है अर्थात् द्वेषी हैं तो नरक में पात होगा, 'आसुरी योनिमापन्नाः' इस

चावधानुसार सदैव नरक में ही पड़े रहेंगे, यों है तो भगवान् सबकी आत्मा कैसे ? विष्णु उक्त है मुख्य सिद्धान्त 'केचन' श्लोक से कहता है—

श्लोक—केचनोद्धवैरेण भवत्या केचन कामतः ।

न तथा सत्त्वसंरब्धाः संनिकृष्टाः सुरादयः ॥४३॥

श्लोकार्थ—जिस तरह कितने एक तो वैर से, कितने एक भक्ति से और कितने एक कामना से आपके स्वरूप को प्राप्त हुए, उसी तरह सत्त्व गुण वाले देवता आपके स्वरूप को प्राप्त नहीं होते हैं ॥४३॥

सुबोधिनी—त्रिविधा लोकाः लौकिकाः । तथा वैदिकाः सात्त्विकाः सत्त्वेन संरब्धाः सत्त्व-
तत्र तामसाः उद्धवैरेण त्वां जानन्ति प्राप्नु- गुणेन साहंकारेण कर्मस्वाविष्टचित्ताः सुरादयो-
वन्ति वा । सात्त्विका भक्त्या, राजसाः कामतः, ऽपि ॥४३॥

व्याख्यार्थ—लौकिक मनुष्य तामस, सात्त्विक और राजस यों तीन प्रकार के होते हैं । जिसमें तामस घोर (जबर्दस्त) वैर कर सात्त्विक भक्ति से और राजस काम से आपको पाते हैं वा जानते हैं तथा सत्त्व के कारण, व्याकुल वैदिक सात्त्विक पुरुष अहंकार सहित सतोगुण से कर्मों में आसक्त चित्त वाले देव आदि भी आपको नहीं पा सकते हैं ॥४३॥

आभास —इदमित्थमिति ।

आभासार्थ—'इदमित्थमिति' श्लोक से कहते हैं —

श्लोक—इदमित्थमिति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर ।

न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—हे योगेश्वरों के ईश्वर ! आपकी योगमाया यह है और इस प्रकार की है, वैसे प्रायः योगेश भी नहीं जान सकते हैं, तो हम कैसे जान सकें ॥४४॥

सुबोधिनी—प्रायेण ते योगमायां न विदन्ति कुतो वयं न लौकिका न वैदिकाः निषिद्धभावन- भोगाभिनिविष्टाः देवा मा जानन्तु । योगेश्वरा
याऽधःपतिताः । योगेश्वरेश्वर इति संबोधनात् जास्यन्तीति तान्निषेधति योगेशा अपि ॥४४॥

व्याख्यार्थ—हे योगेश्वरों के ईश्वर ! बहुत करके आपकी योगमाया को वे योगेश नहीं जान सकते हैं तो हम जो न लौकिक और वैदिक रहे हैं, वेदादि शास्त्रों में निषिद्ध किए हुए कर्मों से आसक्त होने से अधः पात को प्राप्त हुए हैं वे कैसे जान सकेंगे, 'योगेश्वरेश्वर' विशेषण से भोग में प्रविष्ट देव भले न जान सके किन्तु योगेश तो जान सकेंगे, उनका भी निषेध करते हैं 'योगेशामपि न जानन्ति' योगेश भी नहीं जान सकते हैं ॥४४॥

आभास—एवं भगवतो माहात्म्यं स्वस्यानधिकारं च निरूप्य अनधिकारिणा भगवदाज्ञाव्यतिरेकेण परित्यागः कर्तुं मशक्य इत्याज्ञां प्रार्थयते तन्नः प्रसीदेति ।

आमासार्थ—इस प्रकार भगवान् का माहात्म्य और अपने अधिकार का निरूपण कर, अनाधिकारी, भगवदाज्ञा के बिना पूर्ण याग कर नहीं सकता है, इसलिए 'तन्नः प्रसीद' श्लोक में भगवदाज्ञा के लिए प्रार्थना करता है—

श्लोक—तन्नः प्रसीद निरपेक्षविमृग्य युष्म-

त्पादारविन्दधिषणान्यगृहान्धकूपात् ।

निःक्रम्य विश्वशरणाङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिः

शान्तो यथैक उत सर्वसखश्चरामि ॥४५॥

श्लोकार्थ—इसलिए हम पर ऐसी कृपा करो कि जिस कृपा बल से निष्काम पुरुषों के ढूँढ़ने योग्य आपके चरणारविन्द का आश्रय जिस गृह में नहीं है, वैसे गृह रूप अन्ध कूप में से बाहर निकल, विश्व का शरण (भगवान् विश्व-रक्षक) है, आश्रय जिनका ऐसे सन्त पुरुषों से मैं आजीविका प्राप्त करूँ, जिससे शान्त चित्त हो, एकाकी भ्रमण करते हुए सर्व का हितकारी बन जाऊँ ॥४५॥

सुबोधिनी—ननु किमिति परित्यागः प्रार्थयते तत्राह हे निरपेक्षविमृग्येति । निरपेक्षा ये सर्वतः तेषामेव विमृग्येति । अनेन गृहे स्थितस्य शूद्रस्येव वेदोच्चारणमिव भगवदन्वेषणं निषिद्धमिति ज्ञापितम् । साक्षादपि गृहस्थस्य भगवदन्वेषणं

नास्तीत्याह युष्मत्पादारविन्दधिषणान्यगृहान्ध-
कूपादिति युष्मत्पादारविन्दे धिषणा येषां तेभ्यो
ये अन्ये तेषामेव गृहं तदन्धकूपप्रायमेव भवति ।
भगवच्चरणारविन्दस्मृतिप्रकाशाभावात् । अतः
एव तस्माद्विनिःक्रम्य तादृशमस्मद्गृहं दैत्याक्रान्तमिति । चरामीति प्रार्थना । नन्वन्नाद्यभावात्
कथं चरणं सेत्स्यतीति चेत् तत्राह विश्वशरणा-
ङ्घ्र्युपलब्धवृत्तिरिति विश्वस्यापि शरणभूते

अङ्घ्री येषां येषां परिभ्रमणेन सर्वं एव संसा-
रिणः गृहं त्यक्त्वा क्षणमप्यन्यत्र गन्तुमशक्ताः
तेऽपि कृतार्था भवन्तीति सन्तो विश्वशरणाङ्घ्र्यो
भवन्ति तैः कृत्वा लब्धा उपजीविका वृत्ति-
र्भवति, 'ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढकर्णः'

इति प्रकारेण । एवं सद्भिर्बाधायां निवृत्तायामा-
न्तरदोषोऽपि निवृत्तो भविष्यतीत्याह शान्त
इति । यथा यथावत् एकः परमहंसो यथेति वा
तथा भविष्यामि, बाह्याभ्यन्तरदोषस्य निवृत्त-
त्वात् । एवं कियत्काल परिभ्रमणेन उत सर्व-
सखोऽपि भविष्यामि यथा सन् । एतत्सर्वं गृह-
परित्यागव्यतिरेकेण न भवतीति गृहे उद्विग्नो
भगवन्तं प्रार्थयते । एतत्कालान्तरकृत्यम् ॥४५॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार परित्याग की प्रार्थना क्यों करता है ? इस पर कहता है कि जिसको निष्काम ही ढूँढ़ते हैं वैसे आपके चरणारविन्द रहित जो गृह है वे अन्ध कूप के समान है, क्योंकि वहाँ चरणारविन्द स्मृति का प्रकाश नहीं है, कारण कि उस अप्रकाशित गृह में जैसे गृह स्थित शूद्र को वेद पढ़ना निषिद्ध है वैसे ही इस अन्धकूप सम-गृह में भगवान् का ढूँढ़ना निषिद्ध है । हमारा गृह दैत्याक्रान्त होने से वैसा ही अन्ध कूप है । जिससे निकलना ही

हितकर है, उससे निकलकर आपको ढूँढ़ के प्राप्त कर सकूँगा, भोजन का प्रबन्ध न होने से चरणों को कैसे प्राप्त कर सकोगे ? जिसके उत्तर में कहता है कि, भगवान् के आश्रित भक्त पुरुषों के आश्रय से आजीविका का स्वतः प्रबन्ध होता रहेगा 'ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढ कर्णः'^१ इस प्रकार से अपनी तृप्ति कर लेने से दुःख दूर होते हैं, अन्तःकरण के दोष नष्ट हो शान्ति प्राप्त होती है जिससे भीतर और बाहर के सर्व दोष नष्ट हो जाते हैं पश्चात् जंसे एकाकी परमहंस निश्चिन्त घूमते हैं वैसे फिर्लगा तो सर्व सरवा होजाऊंगा, यह सब गृह त्याग के सिवाय नहीं हो सकता है, इसलिए गृह में उद्विग्न होने के कारण भगवान् को प्रार्थना करते हैं ॥४५॥

आभास—सांप्रतं किं कर्तव्यमिति विज्ञापयति शाध्यस्मानिति ।

आभासार्थ—उपर्युक्त प्रार्थना अन्य काल के लिए है, अब क्या करना चाहिए इसको जानने के लिए 'शाध्यस्मानो' श्लोक से प्रार्थना करता है—

श्लोक—शाध्यस्मानोशितव्येश निष्पापान्कुरु नः प्रभो ।

पुमान् यच्छ्रद्धया तिष्ठंश्चोदनाया विमुच्यते ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे प्रभु ! आज्ञा के योग्यों^२ के स्वामी ! हमको निष्पाप करो; क्योंकि आपकी आज्ञानुसार श्रद्धापूर्वक चलने वाला विधि बन्धन से छूट जाता है ॥४६॥

सुबोधिनी—ननु यथाशास्त्रमेव कर्तव्यम् । अभ्यागता वयं कथमाज्ञापयिष्याम इति चेत् तत्राह हे ईशितव्येशेति ईशितव्या एव वयं सर्वे जीवाः तेषां त्वमेवेशः, अतस्त्वया आज्ञापनीयाः ।	ननु विशेषतः किमिति प्रार्थ्यते, तत्र बीजमाह पुमान् यच्छ्रद्धया तिष्ठन्निति । चोदनाया विधिनियोगान्निवर्तत इत्यर्थः ॥४६॥
---	---

व्याख्यानार्थ—ज्यों शास्त्र में आज्ञा है, त्यों ही करना चाहिए हम अभ्यागत क्या आज्ञा करें ? यदि यों कहते हो तो, इसका उत्तर यह है कि, आज्ञा पाने योग्य ही हम सब जीव हैं, उनके आप ही स्वामी हैं अतः आप को आज्ञा करनी चाहिए, हम आज्ञा पाने के ही योग्य हैं, इस तरह विशेष प्रकार से आज्ञा क्यों मांगी जाती है ? इस पर कहा है कि जिसका कारण कहा जाता है) जो मनुष्य आपकी आज्ञानुसार श्रद्धापूर्वक आचरण करता है वह शास्त्र की विधि के बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥४६॥

आभास—प्रथमवाक्ये अनङ्गीकारमिव ज्ञापयन् द्वितीयस्योत्तरं वक्तुं प्रसङ्गमाह आसन् मरीचेः षट् पुत्रा इति ।

आभासार्थ—पहली प्रार्थना (त्याग की आज्ञा) का मानो भगवान् अङ्गीकार न कर, अन्य का उत्तर देने के लिए, प्रसङ्ग 'आसन् मरीचेः' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—आसन्मरीचेः षट् पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे ।

देवाः कं जहसुर्वोक्ष्य सुतां यभितुमुद्यतम् ॥४७॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि पहले कल्प में मरीचि को ऊर्णा स्त्री से छः पुत्र हुए थे, वे देव पुत्री से भोग के लिए उद्यत ब्रह्मा को देखकर हँसे थे ॥४७॥

सुबोधनी—प्रथमकल्पे अतीतब्रह्मकल्पे, तेषामपराधमाह देवाः कं जहसुर्वोक्ष्येति । 'वाचं दुहितरं तन्वोम्' इति यन्निरूपित तेन प्रकारेण सुतां यभितुं संभोक्तुमुद्यतं कं ब्रह्माणं जहसुः । प्रथमकल्पे यदन्तरं मन्वन्तरं, त एवैत इति वक्तुं ॥४७॥

व्याख्यानार्थ—मरीचि को जैसे इस कल्प में कला नाम पत्नी है, वैसे आगे हुए ब्रह्म कल्प में ऊर्णा नाम पत्नी थी, जिससे इन्द्रियों के देववत् छ पुत्र प्रथम कल्प में जो मन्वन्तर था, उसमें उत्पन्न हुए, ये जो यहां बैठे हैं वे ही थे, उनका अपराध क्या था ? वह निरूपण करते हैं, वे देव ब्रह्मा को देख कर हँसे ? क्यों हँसे ? जिसमें प्रमाण 'वाच दुहितरं तन्वोम्' देकर सिद्ध करते हैं कि अपनी वाणी रूप सरस्वती पुत्री को देखकर उससे भोग करने के लिए ब्रह्मा उद्यत हुए थे ॥४७॥

आभास—कामो भगवान् तेन प्रेरितः तत्सेवार्थं वा प्रवृत्तो निःकपटः शुद्ध एव । परं ये तत्सिद्धान्तानभिज्ञाः ते तत्रोपहासं कुर्वन्तः भक्तोपहासका इवासुरी योनिं प्राप्नुवन्ति तेनेति ।

आभासार्थ—भगवान् ने काम रूप से प्रेरणा की थी, अतः भगवत्सेवा के लिए प्रवृत्त होने से ब्रह्मा निष्कपट शुद्ध ही है, किन्तु जो इस सिद्धान्त को नहीं समझते हैं, वे उस पर हँसते हैं भक्त पर उपहास करने वाले जैसे आसुरी योनि को प्राप्त होते हैं वैसे ये भी हुए जिसका वर्णन 'तेनासुरी' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तेनासुरीमगन्योनिमधुनावद्यकर्मणा ।

हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया ॥४८॥

देवक्या उदरे जाता राजन्कंसविहिंसिताः ।

सा तान् शोचत्यात्मजान् स्वांस्त इमेऽध्यासतेऽन्तिके ॥४९॥

श्लोकार्थ—इस अपराध से वे आसुरी योनि को प्राप्त हुए, वहाँ भी निन्द्य कर्म करने से हिरण्यकशिपु के यहाँ जन्म लिया, वहाँ से योगमाया ने लाकर देवकी के गर्भ में स्थापित किए, जो कंस के हाथ से मारे गए, अभी देवकी अपने पुत्रों का शोक कर रही है और वे आपके पास बैठे हैं ॥४८-४९॥

सुबोधिनी—तेनेमामासुरीं योनिं प्राप्ताः । तावतापि भगवदपराधो न शान्त इति अधुना आसुरयोनी उपहासफलत्वेन प्राप्तायामवद्यं कर्म कृतवन्तः । तेनावद्यकर्मणा हिरण्यकशिपोर्भगवद्विमुखात् कस्यांचिज्जाताः । ततस्ते योगमायया देवक्या उदरे विद्यमानमरिषड्वर्गं दूरीकर्तुं 'दोषेणैव दोषो हन्तव्यः' इति योगमायया देव-

क्या उदरे नीताः । राज्ञिति राजसत्वात्तवा-
ज्ञानं न दोषाय । ततः कंसेन विहिंसिताः विशेषेण मारिताः । एवं तेषां वारत्रयं दण्डो जातः, त्रिसत्यो भगवानिति । इदानीमस्मन्माता तान् दोषहारकान्, अत एव स्वान् आत्मजानीति पुत्रा एते ममेति तान् शोचति । ते पुनरत्रैव हिरण्यक-
शिपुवंशत्वात् ते अन्तिके आसते ॥४८-४९॥

व्याख्यार्थ—उस अपराध से वे छ ही आसुरी योनि को प्राप्त हुए, तो भी भगवान् का अपराध शान्त न हुआ, उस आसुर योनि में भी वे निन्द्य कर्म करने लगे, उस निन्द्य कर्मों के फल स्वरूप इनका जन्म भगवद्विमुख हिरण्यकशिपु के यहां किसी में से हुआ, अनन्तर योग माया ने देवकी के उदर में रहे हुए छ शत्रुओं को दूर करने के लिए उनको^१ लाकर देवकी के गर्भ में स्थापित किया क्योंकि दोष^२ से ही दोष नष्ट होते हैं, हे राजन् ! संबोधन से यह बताया है कि इसका आपको अज्ञान है वह दोष नहीं है, क्योंकि आप राजस गुण वाले हैं, पश्चात् उनका कंस ने वध किया, भगवान् 'त्रिसत्य' हैं, इसलिए इनको तीन बार दण्ड मिले तब ये निरपराध हुए हैं, इस समय हमारी माता, इन निर्दोष अपने पुत्रों का शोक कर रही है क्योंकि समझती है कि मेरे पुत्र हैं, वे हिरण्य-
कशिपु के वंश में होने से तुम्हारे यहां ही बैठे हैं ॥४८-४९॥

आभास—एवं तेषां वृत्तान्तमुक्त्वा तत्र कर्तव्यमाह इत एतान् प्रणेष्याम इति ।

आभासार्थ—इसी तरह उनका वृत्तान्त कहकर 'इत एतान् प्रणेष्यामो' श्लोक से उनके लिए जो कर्तव्य है वह कहते हैं—

श्लोक—इत एतान्प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये ।

ततः शापविनिर्मुक्ता लोकं यास्यन्ति विज्वराः ॥५०॥

श्लोकार्थ—माता का शोक दूर करने के लिए हम इनको यहाँ से ले जाएँगे, पश्चात् शाप से छूटकर, दुःखरहित होकर ऋषि लोक को प्राप्त होंगे ॥५०॥

सुबोधिनी—प्रयोजनं मातृशोकापनुत्तिः । प्रसङ्गात्तेऽप्युद्धर्तव्या इत्याह ततः शापविनि-
र्मुक्ता इति । अस्मन्मातुः शोकापहरणात्तेषां

शापापनोदः । ततो विज्वराः सन्तो ऋषिलोकं यास्यन्ति ॥५०॥

व्याख्यार्थ—इनको ले जाने का कारण, माता के शोक को मिटाना है और साथ में प्रसङ्ग से इनका भी उद्धार करना है, इनके मिलने से माता का शोक नाश होगा जिससे इनका शाप भी उतर जायगा अर्थात् शापसे छूट कर शुद्ध हो जाएँगे, एवं इनके दुःख दूर हो जाएँगे पश्चात् शुद्ध एवं प्रसन्न हो ऋषि लोक में जाएँगे ॥५०॥

१—हिरण्यकशिपु से उत्पन्नों को, २—विष से ही विष नाश किया जाता है

आभास - तेषां नामान्याह स्मरोद्गीथश्चेति ।

आभासार्थ—‘स्मरोद्गीथ’ श्लोक में उनके नाम कहते हैं—

श्लोक—स्मरोद्गीथः परिष्वङ्गः पतङ्गः क्षुद्रभृङ्गः ।

षडिमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम् ॥५१॥

श्लोकार्थ—स्मर, उद्गीथ, परिष्वङ्ग, पतङ्ग, क्षुद्रभृङ्ग और घृणी; ये छः मेरी कृपा से फिर सद्गति को प्राप्त होंगे ॥५१॥

सुबोधिनी—एकभावापन्नौ द्वौ स्मरो मानसः । संजायते इति । चक्षुषा वा व्यत्यासः । षडिमे उद्गीथो घ्राणः, परिष्वङ्गः श्रोत्रम्, पतङ्गो स्वकर्मणा नष्टा अपि मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति नेत्रम्, क्षुद्रभृङ्गो घृणिः स्पर्शः । ततो घृणा सद्गतिम् ॥५१॥

व्याख्यान—स्मर और उद्गीथ दोनों एकीभाव को प्राप्त हुए हैं, इनमें स्मर मन का देव है और उद्गीथ घ्राणेन्द्रिय का देव है, परिष्वङ्ग कान का देव है, पतङ्ग नेत्र का देव है, क्षुद्रभृङ्ग जिह्वा का देव है, घृणी स्पर्श का देव है, जिसका हेतु यह है कि स्पर्श से घृणी उत्पन्न होता है अथवा घृणी और पतङ्ग का परस्पर विनिमय करना अर्थात् घृणी नेत्र का और पतङ्ग स्पर्श का देव है, ये छः अपने कर्मों से नष्ट हुए भी मेरे अनुग्रह से पुनः सद्गति को पाएंगे ॥५१॥

आभास—अत एतान् देहीत्यनुक्तवैव सेवकत्वं तस्य स्थिरीकृत्य तान् गृहीत्वा स्वयमेव निर्गत इत्याह इत्युक्त्वेति ।

आभासार्थ—अनन्तर भगवान् बलि को हमको ये बालक दे, यों न कहकर स्वयं उनको ले आए और लाकर माता को दिए, बलि से न कहा, जिसका कारण यह है कि बलि मेरा दृढ सेवक है इसको सिद्ध करना था, दृढ न होते तो लेते समय रोक लेते, न रोकने से दृढ सेवकत्व सिद्ध हो गया—

श्लोक—इत्युक्त्वा तान्समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ ।

पुनर्द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रानयच्छताम् ॥५२॥

श्लोकार्थ—यों कथा कहने के अनन्तर दोनों का इन्द्रसेन ने पूजन किया, फिर उन बालकों को बिना पूछे आप लेकर रवाने हुए, द्वारका में आकर वे पुत्र माता को अर्पण किए ॥५२॥

सुबोधिनी—इन्द्रसेनत्वात् पूजां कृतवान् । तान् मात्रे अयच्छताम् ॥५२॥
येन मार्गेण गतो तेनैव द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रान् ।

व्याख्यार्थ - इन्द्रसेन होने से बलि ने पूजा की, जिस मार्ग से गए उसी मार्ग से द्वारका आकर माता के वे पुत्र माता को दिए ॥५२॥

श्लोक—तानृष्ट्वा बालकान्देवी पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी ।

परिष्वज्याङ्गमारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्षणशः ॥५३॥

श्लोकार्थ—उन बालकों के देखते ही देवकी देवी के पुत्र स्नेह से स्तनों से दूध चूने लगा, तब उनसे मिल, गोद में बिठाकर बार-बार मस्तक को सूँघने लगी ॥५३॥

सुबोधिनी—ते च गुरुपुत्रन्यायेन पूर्वावस्थां प्रापयित्वा समानीता इति तान् बालकान् दृष्ट्वा पुत्रस्नेहेन स्नुतस्तनी जाता । ततः परिष्वज्याङ्ग-
मारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्रन् । अत्यन्तं स्नेहोभिव्यक्तः । अभीक्षणश इति स्नेहे विह्वलितत्वं सूचितम् । ॥५३॥

व्याख्यार्थ—गुरु पुत्र के समान इनकी भी पहले जैसी स्थिति कराकर ले आए जिससे उन बालकों को देख, पुत्र स्नेह के कारण देवी देवकी के स्तनों से दूध चूने (उपकने) लगा, पश्चात् पुत्रों से मिलकर उनको गोद में बिठाया और बार-बार मस्तक सूँघने लगी, जिससे अत्यन्त स्नेह प्रकट किया और बार-बार सूँघने से विह्वलता को सूचित किया ॥५३॥

श्लोक—अपाययत्स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिस्नुतम् ।

मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते ॥५४॥

श्लोकार्थ—जिससे सृष्टि चलती है, उस विष्णु की माया से मोहित उस देवकी ने प्रसन्न हो, पुत्र स्नेह से चूते हुए स्तनों से उनको दूध पिलाया ॥५४॥

सुबोधिनी—ततः स्तनमपाययत् । बालभाव दृढं कुर्वती प्रीता गतदुःखा, न केवलं दुःखनिवृत्तिरेव क्रितुं सुखमपि जातमिति ज्ञापयति सुतस्पर्शपरिस्नुतमिति । सुतानां स्पर्शेन परितः सर्वाङ्गेभ्यः स्नुतम् । ननु भगवत्पुत्रायाः कथमे-
वमन्यत्र स्नेहः तत्राह मोहिता मायया विष्णोरिति । कथमन्यथा सृष्टिः प्रवर्तते । केचिदियमेव पूर्वमूर्णेत्याहुः ततः पूर्ववासनया तेषु स्नेहाधिक्यम् ॥५४॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् स्तन पिलाया, बाल भाव को दृढ करती हुई दुःख रहित हुई, केवल इससे दुःख नाश न हुआ किन्तु आनन्द की भी प्राप्ति हुई सुतों के स्पर्श से सर्व अङ्गों से आनन्द प्रकट हो आया, जिसका पुत्र भगवान् है उसका दूसरों में वैसा प्रेम कैसे हुआ ? जिसके उत्तर में कहा है कि 'मोहिता मायया विष्णोः' विष्णु की माया से मोहित हो गई है, यदि माया से मोह न होना हो तो नृपति का कार्य कैसे चले ? कोई कहते हैं कि यह देवकी ही पहले ऊर्णा थी, इसलिए पूर्व की रही हुई वासना से उन बालकों में अधिक स्नेह हुआ ॥५४॥

आभास—स्तनपानानन्तरं तेषां विवेकाद्युत्पत्त्या स्वलोकगतिमाह पीत्वामृत-
मयमिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—उन बालकों को स्तन्यपान के अनन्तर विवेक आदि ज्ञान प्राप्त हुआ, जिससे वे अपने लोक को गए, यह 'पीत्वाऽमृतमयं' श्लोक से स्पष्ट करते हैं—

श्लोक—पीत्वामृतमयं तस्याः पीतशेषं गदाभृतः ।

नारायणाङ्गसंस्पर्शप्रतिलब्धात्मदर्शनाः ॥५५॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने पान कर जो शेष छोड़ा, उस देवकी के स्तन्य का पान कर, वे बालक भगवान् के अङ्ग स्पर्श होने से आत्म दर्शन को प्राप्त हुए ॥५५॥

सुबोधिनी—अमृतमयत्वं भगवदर्थं देवैस्त-
त्रामृतं स्थापितमिति । पीतशेषं गदाभृत इति
पानं तु पूर्व स्थापितम् । यदैव भगवन्त स्मरति
तदामृतं भगवानेव पिवतीति इति एव वा यदा
प्रथमं समागतः । एतेषां स्वपदप्राप्तौ ज्ञानं हेतुः ।

तस्य हेतुत्रयं भगवदुच्छिष्टपानं, अमृतपानं नारा-
यणाङ्गसंस्पर्शश्च । अत्र नारायणपद धर्मावतार-
नारायणांशानिरुद्धचरित्रं व्यापयति । तेन प्रति-
लब्धमात्मदर्शनं येषाम् ॥५५॥

व्याख्यार्थ—देवकी के स्तनों में भगवान् के पानार्थ अमृत धरा था, जिससे देवकी का स्तन्य अमृतमय हो गया था, वैसे अमृतमय स्तन्य को भगवान् ने पान किया, अनन्तर जो शेष बचा, उसको उन बालकों ने पान किया, जब देवकीजी भगवान् को स्तन्य पान कराने के लिए याद करती, तब भगवान् पधारकर अमृत का पान कर लेते थे अथवा जब भगवान् प्रथम गोकुल से मथुरा पधारे, तब उसका पान करने लगे थे । ये बालक अपने स्थान को प्राप्त करें, जिसके लिए इनको ज्ञान की आव-
श्यकता थी । उस ज्ञान प्राप्ति के लिए तीन हेतु हैं—(१) भगवान् का उच्छिष्ट पान करना, (२) अमृत पान और (३) नारायण के अङ्ग का स्पर्श । यहाँ 'नारायण' पद से धर्मावतार नारा-
यणांश-अनिरुद्ध का चरित्र प्रकट करते हैं । उपर्युक्त इन तीन कारणों से वे बालक अपने स्वरूप को प्राप्त हो गए ॥५५॥

आभास—ततो ज्ञानशक्तिवत् क्रियाशक्तिरपि तेषामाविर्भूतेत्याह ते नमस्कृत्य
गोविन्दमिति ।

आभासार्थ—अनन्तर ज्ञान शक्ति की तरह उनमें क्रिया शक्ति का भी आविर्भाव हुआ, जिसका वर्णन 'ते नमस्कृत्य' श्लोक से करते हैं—

श्लोक—ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम् ।

मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम विहायसा ॥५६॥

श्लोकार्थ— वे गोविन्द श्रीकृष्ण को, फिर पिता तथा माता देवकी को, बलदेवजी को नमस्कार कर सर्व प्राणियों के देखते हुए शीघ्र अपने धाम को गए ॥५६॥

सुबोधिनी—आदौ स्वामिनं पश्चान्माता-
पितरौ तदनु बलभद्रं भगवत्साधनभूतम् । एवं
चतुर्भूतिमिव भगवन्त नमस्कृत्य सर्वसाक्षिक

विहायसा स्वधाम ययुः । एवं स्वतो गमनं
जातमित्यर्थः ॥५६॥

व्याख्यार्थ—प्रथम स्वामी को पीछे माता पिता को उसके बाद भगवान् के साधन भूत बलभद्र को, इस प्रकार चतुर्भूति की भांति भगवान् को नमस्कर कर शीघ्र अपने धाम को गए, यों जाना स्वतः हुआ ॥५६॥

आभास—ननु देवकीकामनापूर्त्यर्थं भगवता ते समानीताः । सा च कामना न क्षणमात्रेण पर्यवस्यति । अत एवं शीघ्रं तेषां गमने को हेतुरिति चेत् तत्राह तं दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—भगवान् देवकीजी की कामना पूर्ण करने के लिए उनको लाए, वह कामना क्षण मात्र रहने से तो पूरी न हुई होगी ? इसलिए ही उनका इतने शीघ्र जाने में कौनसा हेतु था ? इस पर 'तं दृष्ट्वा' श्लोक कह कर समझाते हैं—

श्लोक—तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम् ।

मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य रचितां नृप ॥५७॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! देवी देवकी मृत पुत्रों का आना देखकर बहुत आश्चर्य में मग्न हो समझने लगी कि यह सब कृष्ण की रचित माया है ॥५७॥

सुबोधिनी—तेषां पुत्राणां पूर्वमृतानामागमनं
तदनन्तरमेव च निर्गमं दृष्ट्वा विस्मिता सती सर्व-
मेव कृष्णचरितं मेने । एतज्ज्ञानसिद्धयर्थमेव
समानीताः न तु पुत्रतया स्थापयितुम् । अन्यथा
कंसद्वारा भगवत्कृतवधो व्यर्थः स्यात् । भगवच्च-

रित्रज्ञानेनैव कामनापूर्तिः । मोहान्तरानुत्पत्त्यर्थं
विशेषणं देवीति । तत्रापि मायां मेने तेनासत्य-
तापि पदार्थानामभिज्ञाता । नृपेति संबोधनमाश्चर्यं
मनोभिनिवेशनार्थम् ॥५७॥

व्याख्यार्थ—उन मरे हुए पुत्रों का आना पीछे फिर चला जाना देख कर अचानक में पड़गई और इस सब को कृष्ण की लीला समझने लगी, इस प्रकार के ज्ञान की सिद्धि के लिए ही पुत्रों को लाए थे, न कि पुत्र पन से स्थापित करने के लिए, यदि यों न करते तो भगवान् ने जो कंस का वध किया वह व्यर्थ हो जाता, भगवच्चरित्र के ज्ञान से ही कामना की पूर्ति होती है फिर देवकी को मोह उताव्र न हुआ क्योंकि देवी है, यों होते हुए भी समझने लगी कि यह 'माया' है उससे पदार्थों की असत्यता भी जान गई, हे नृप ! संबोधन इसलिए दिया है कि इनका आश्चर्य में अभिनिविष्ट हो जाय ॥५७॥

आभास—एवं चरित्रद्वयमुक्त्वा ऐश्वर्ये एतदेव द्वयमिति कदाचिच्छङ्का भवेत् तदर्थमन्यान्यपि सूचयति एवंविधानीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार दोनों^१ चरित्र कहकर ऐश्वर्य में ये ही दो हैं, यों कदाचित् शङ्का उत्पन्न होवे, उसके लिए इस प्रकार के दूसरे भी बहुत चरित्र हैं वे 'एव' विधानि' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—एवंविधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः ।

वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत ॥५८॥

श्लोकार्थ—हे भारत ! अनन्त वीर्य वाले परमात्मा श्रीकृष्ण के इस प्रकार के अनन्त अद्भुत चरित्र हैं ॥५८॥

सुबोधिनी—भगवच्चरित्रत्वे ज्ञापकम्, अद्भुतानीति । ग्रान्येवाद्भुतानि भगवच्चरित्राणीति तानि । भगवानपि किमर्थमेवं करोतीत्याशङ्क्याह कृष्णस्येति । अवतीर्णत्वात्करोतीत्यर्थः । प्रयोजनान्तरमप्याह परमात्मन इति । 'सर्वेषामात्मानामात्मा' इति तत्संग्रहार्थमेव करोतीत्यर्थः ।

अत एव वीर्याण्यनन्तानि सन्ति । तथाकरणे सामर्थ्यमनन्तवीर्यस्येति । ननु वीर्याणामनन्तत्वात् कथं सर्वसंग्रह इति चेत् तत्राह सन्तीति सदा सन्ति नित्यानीत्यर्थः । भारतेति विश्वासार्थं संबोधनम् ॥५८॥

व्याख्यानार्थ—अद्भुत विशेषण, भगवच्चरित्र का जताने वाला है, जो जो चरित्र अद्भुत हैं वे भगवान् के ही चरित्र हैं, भगवच्चरित्र के बिना अन्य चरित्र में अद्भुतता होती ही नहीं है, भगवान् भी यों अपने चरित्रों में इतनी अद्भुतता क्यों करते हैं जिसके उत्तर में कहते हैं कि भूमि पर प्रकट होने से करते हैं, जिनसे लोगों को ज्ञान हो कि यह श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म है । दूसरा विशेषण परमात्मा देकर इस सिद्धान्त को दृढ़ स्पष्ट करते हैं कि सब आत्माओं को मूल आत्मा यही है उसके संग्रह के लिए यों अद्भुतता करते हैं: अतएव अनन्तवीर्य हैं, यों करने में सामर्थ्य है यों बताने के लिए अनन्त वीर्यस्य विशेषण दिया है, जब अनन्त वीर्य हैं तो फिर सर्व संग्रह कैसे ? जिसका उत्तर देते हैं कि 'सन्ति' अर्थात् वे वीर्य सदैव हैं क्योंकि नित्य--प्रौर सत्य ही हैं, भारत ! यह संबोधन विश्वास के लिए है ॥५८॥

आभास—एवं भगवच्चरित्रस्य नित्यतां स्थापयितुं तच्छ्रवणादेः फलमाह य इदमनुशृणोतीति ।

आभासार्थ—यों भगवच्चरित्र की नित्यता स्थापित करने के लिए उनके श्रवणादि का फल 'य इदमनुशृणोतीति' श्लोक में सूतजी कहते हैं—

श्लोक—सूत उवाच—य इदमनुशृणोति श्रावयेद्वा मुरारे-

श्रितममृतकीर्तवर्णितं व्यासपुत्रैः ।

जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं ।

भगवति कृतचित्तो याति तत्क्षेमधाम ॥५६॥

श्लोकार्थ—सूतजी कहते हैं कि जो मनुष्य अमृत-कीर्ति मुरारी भगवान् के व्यास पुत्र के वर्णित चरित्रों को सुनता है अथवा सुनाता है, वह भगवान् में प्रवण चित्त हो, उनके कल्याणकारी धाम में जाता है, यह भगवच्चरित्र जगत् के पापों का नाश करने वाले तथा भगवद्भक्तों के कर्णों का सत्य आभरण रूप है ॥५६॥

सुबोधिनी—श्रद्धया अनु गुरुच्चारणमनु यः शृणोति श्रावयेद्वा । ननु किमर्थं शृणोति श्रावयति तदर्थमाह मुरारेरिति । मुरो हि विघ्नात्मकः दोषात्मकश्च । किंच अमृतकीर्तेरिति अमृतरूपा कीर्तिर्यस्येति । चरित्रं श्रवणेऽपि सुखजनकम् । अत एव व्यासपुत्रैर्वर्णितम् । इदं चरित्रमनन्तरूपो भूत्वा शुको वर्णितवानतो बहुवचनम् । सर्वैरेव व्यासशिष्यैः पुत्रीश्चेति वा । शिष्याणामपि पुत्रत्वात् । सर्वैरेव श्रोतव्यमित्येतदर्थं बहून्येव फलान्याह । जगदघभिदिति सर्वपापनाशकम् । किंच । अलमत्यर्थं, सतां कर्णपूरं कर्णा-

भरणम् । अनेन सतां निरन्तरं सेव्यता निरूपिता । अतो य एव नित्य कर्णं स्थापयति स एव सन्नित्यपि सूचितम् । प्रयोजनान्तरमप्याह भगवति कृतचित्त इति । भगवति तस्य चित्तं स्थिरं भवति । ऐहिकमुक्त्वा पारलौकिकमाह याति तत् क्षेमधामेति । धाम यातीत्येव फलम् । धामप्रशंसार्थं क्षेमेति । एवं विघ्ननिवृत्तिमारभ्य भगवत्स्वरूपप्राप्तिपर्यन्तं भगवद्दीप्यंश्रवणफलान्युक्तानि भगवत ऐश्वर्यं स्थापयन्ति, अतो भगवान् कृष्णः सर्वेश्वर इति स्थितम् ॥५६॥

व्याख्यानार्थ—जो भक्त, गुरु के उच्चारण के अनन्तर यह चरित्र श्रद्धा से सुनता है वा सुनाता है, क्यों सुनता है और क्यों सुनाता है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'मुरारे:' यह चरित्र मुरारि का है, मुरा दैत्य विघ्नात्मक और दोषात्मक है जिसका भगवान् नाश कर्ता है अर्थात् इनके चरित्र सुनने सुनाने से विघ्न और सब दोष नष्ट होते हैं, फिर यह चरित्र अमृत रूप कीर्तिवाले कृष्ण के हैं, इसलिए श्रवण में भी सुख उत्पन्न करने वाले हैं विशेषता यह है कि ये चरित्र व्यास पुत्र शुक्र ने अनन्त रूप हो कर वर्णन किए हैं इसलिए 'व्यास पुत्रैः' यों बहुवचन दिया है, अथवा सर्व व्यास शिष्यों को वा पुत्रों को (शिष्य भी पुत्र रूप हैं) सब को भगवच्चरित्र सुनने चाहिए, इसलिए श्रवण के फल बहुत हैं यों वर्णन करते हैं—जगत् में जितने पाप हैं उन सब को यह श्रवण नाश करता है और सत्पुरुष भक्त जनों के लिए यह कर्ण का उत्तम आभरण है जिससे यह बताया है कि सत्पुरुषों को निरन्तर इनका सेवन करना चाहिए अतः जो इसको नित्य कर्ण में धारण करता है वही, सत्पुरुष है, दूसरा प्रयोजन भी बताते हैं कि, जो इस चरित्र को श्रवण करते व कराते हुए हृदय में धारण करता है उसका चित्त भगवान् में स्थिर हो जाता है इस प्रकार लौकिक फल कहकर अलौकिक कहते हैं कि 'याति तत् क्षेमधाम' वह श्रोता-श्रावयिता भगवान् के धाम में जाता है । 'क्षेम' पद धाम (स्वरूप), की स्तुति के लिए दिया है, इस प्रकार विघ्न निवृत्ति से लेकर भगवान् के

स्वरूप प्राप्तिके अनन्तान् के दीये (पराक्रम) ऐश्वर्य के अवरण के फल कहते हैं। ये भगवान् के ऐश्वर्य को स्थापित करते हैं, अतः भगवान् श्रीकृष्ण सर्वेश्वर हैं—यह सिद्ध हुआ ॥५६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिन्यां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभाचार्य
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे षट्त्रिंशोऽध्यायविवरणम् ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ८२वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३६वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के
गुण-प्रकरण का प्रथम अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित भगवल्लीला का संक्षिप्त सार

राग विलावल

श्री गुपाल तुम कहौ सो होइ ।
तुमही कर्ता तुमही हर्ता, तुम तैं और न कोइ ॥
अवलौ मैं तुमकौ नहिँ जान्यौ, पुत्र भाव करी मान्यौ ।
तुम हौ देव सकल देविनि के, अब तुमकौ पहिँचान्यौ ॥
गुरु सुत आनि दिए तुम जैसै, कृपा करौ जदुराई ।
मम सुतहू जे कंस सँहारे, ते प्रभु देहु जिवाई ॥
मेरै जिय यह बड़ी लालसा, देखौ नैननि जोइ ।
दूध पिवाइ हृदैं सौँ ल्यावौ, पाछैं होइ सु होइ ॥
यह सुनि हरि पाताल सिधारे, जहाँ हुते बलि राइ ।
करि प्रनाम बैठारि सिँहासन, हित करि घोए पाँइ ॥
तासौँ कह्यौ देवकी के सुत, षष्ठ कंस जे मारे ।
नँकु मँगाइ देहु ते हमकौँ, है वे लोक तिहारे ॥
तहँ तैं आनि दिये हरि बालक, माता लाइ लड़ाए ।
सूरदास प्रभु दरस-परस करि, ते वैकुण्ठ सिधाए ॥



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वावपतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ८६वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ८३वां अध्याय
उत्तरार्ध ३७वां अध्याय

गुण-प्रकरण

“अध्याय—२”

सुभद्रा हरण और राजा जनक व श्रुतदेव के घर एक ही साथ जाना



कारिका—सप्तत्रिंशे हरेवीर्यं त्रेधा प्राह सुनिश्चितम् ।
सर्वेषां सर्वकार्याणि कृतवानित्युदीर्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इस ३७वें अध्याय में भगवान् के वीर्य गुण को तीन प्रकार से कहते हैं । वह वीर्य गुण अच्छी तरह निश्चय किया हुआ है, जिस गुण से ही सबके सर्व कार्य सिद्ध किए हैं, यों वर्णन करते हैं ॥१॥

कारिका—तदेव भगवद्दीर्यं यन्न शवयं हि लौकिकैः ।
न ह्यन्यो भगिनीं दातुमेवं शक्तो हरिं विना ॥२॥

कारिकार्थ—भगवान् का वीर्य गुण जो कार्य कर सकता है, वह लौकिक पुरुष का वीर्य नहीं कर सकता है । भगवान् के सिवाय कोई भी इस प्रकार अपनी भगिनी को नहीं दे सकता है ॥२॥

कारिका—नापि स्वयं यस्य कस्य गृहे स्थातुं विभूतये ।

नापि धर्म स्वहीनार्थमन्यः कथयितुं प्रभुः ॥३॥

कारिकार्थ—भगवान् के सिवाय अन्य कोई भी साधारण व्यक्ति के घर में रहने के लिए समर्थ नहीं है अर्थात् अपने से हीन के घर में रह नहीं सकता है और अपनी हीनता द्योतक धर्म भी अपनी विभूति (ब्राह्मण)^१ को प्रभु के सिवाय कोई नहीं कह सकता है ॥३॥

कारिका—अनाहूतः स्वयं क्वापि गच्छतीत्यपि नो मतम् ।

यथा ग्रन्थानुसारेण प्रसङ्गोत्र विचारितः ॥४॥

क्रमपाठादिभेदेषु तथा व्याख्यानमिष्यते ।

कारिकार्थ—बिना बुलाए आप कहीं पर भी पधारते हैं, यों भी मानना उचित नहीं है । जिस प्रकार कि व्यासजी ने विचार कर कहा है, वैसे ही ग्रन्थ के अनुसार यहाँ प्रसङ्ग कहा है । जहाँ क्रम और पाठ आदि भेद हो, वहाँ उसी तरह का व्याख्यान करना उचित है, जैसे वेद का व्याख्यान प्रथम क्रमानुसार ही हुआ है ॥४॥

कारिका—उदासीनो हरिव्यासः फलसिद्धेरशक्यतः ॥५॥

ग्रन्थारम्भे तथैवास्मान् बोधयामास माधवः ।

कारिकार्थ—व्यासजी फल की सिद्धि करने में असमर्थ होने के कारण उदासीन^२ थे । ग्रन्थ के आरम्भ में माधव ने इस प्रकार का ही बोध करवाया^३ है ॥५॥

आभास—राजा परीक्षित् पूर्वाध्यायान्ते भगवद्दीर्घाणामुपसंहृतत्वात् स्वसंदिग्धानर्थान्

१- इस अध्याय के ५४वें श्लोक से श्रुतदेव ब्राह्मण को ऐसे वाक्य कहे ।

२- फल की प्राप्ति भगवान् के आधीन होने से उस विषय में व्यासजी उदासीन थे । श्रुति तो केवल साधन और फल क्या है यह स्पष्ट करके बता देती है, किन्तु किसी की प्रवृत्ति नहीं करा सकती है । इसी प्रकार व्यासजी ने भी लीला के स्वरूप का विचार कर कथा कही है । यदि उनको फल-प्राप्ति कराने का आग्रह होता, तो जिस प्रकार की लीला हुई, उस क्रम से कहते हैं—यहाँ यह तात्पर्य है ।

३- राजा परीक्षित के बिना पूछे श्री शुकदेवजी, राजा जनक तथा श्रुतदेव का प्रसङ्ग कहेंगे ।

पृच्छति तत् प्रसङ्गाच्छुकोऽन्यदपि वक्ष्यति । व्यवहारे भगवद्वीर्यान्यथाभावो यत्र प्रतीयते स प्रष्टव्यः । वैदिकविरोधः सोऽपि भजनीयविरोधश्च । एतत्क्रमेणाध्यायत्रयेण प्रष्टव्यम् । यादृशश्च प्रसङ्गः शुकोक्तौ हेतुः स तत्र तत्र वक्ष्यते । कथापक्षे त्वयं संगतिः, विचारे तु पूर्वोक्त इति क्षत्रियो हि बलादेव विवाहं करोति 'गान्धर्वो राक्षसश्च' इति वाक्यात् । भगवांश्च सर्वाजेयः, अतो विरुद्धत्वात् सुभद्राया विवाहं पृच्छति ब्रह्मन्वेदितुमिच्छाम इति ।

आभासार्थ—३६ वें अध्याय के अन्त में भगवान् के वीर्यों का उपउत्हार हो जाने से, परीक्षित को जिन विषयों में संदेह रह गया था उन सन्देहों को, निवारणार्थ पूछता है, उस प्रसङ्ग में शुक-देवजी, जनक तथा श्रुतदेव का प्रसङ्ग भी कहेंगे, जहां भगवद्वीर्य की व्यवहार में निमित्तियता देखने में आवे, वह तथा वैदिक विरोध देखने में आवे वह और जहां भजनीय विरोध देखने में आवे वह भी पूछना चाहिए, इस क्रम से तीन अध्याय में पूछना उचित है, जैसा प्रसङ्ग शुक के कहने में हेतु होगा वह वहाँ वहाँ कहा जाएगा, कथा पक्ष में तो यह संगति है, विचार करने पर तो पहले कहा गया है । क्षत्रिय बलपूर्वक विवाह करते हैं जिसमें 'गान्धर्वो राक्षसश्च' यह वाक्य प्रमाण है और भगवान् को कोई जीत नहीं सकता है, इससे अर्जुन बल से विवाह करे, यह व्यवहार में भगवान् के वीर्य (पराक्रम) के विरुद्ध होने से परीक्षित 'ब्रह्मन् वेदितु' श्लोक से सुभद्रा के विवाह के विषय का प्रश्न करता है—

श्लोक—राजोवाच—ब्रह्मन्वेदितुमिच्छामः स्वसारं रामकृष्णयोः ।

यथोपयेमे विजयो या ममासीत्पितामही ॥१॥

श्लोकार्थ—राजा ने कहा कि हे ब्रह्मन् ! राम और कृष्ण की बहिन जो मेरी दादी थी, उसका अर्जुन के साथ जैसे विवाह हुआ, वह जानना चाहता हूँ ॥१॥

सुबोधिनी—रामकृष्णयोः स्वसारमिति अजेयत्वे हेतुः । यथा यथावच्च शास्त्रोक्तप्रकारेणोपयेमे । दान्येन विवाहं वारयति विजय इति । या	ममासीत्पितामहीति सैव वंशजननी जाता । तादृश्या विवाहः नान्यथा भवितुमर्हतीति भावः । ॥१॥
--	---

व्याख्यार्थ—अर्जुन, बल से, सुभद्रा को विवाहार्थ हरण कर सके ऐसी वह न थी, क्योंकि अजेय राम और श्री कृष्ण की बहन थी, अतः जैसे शास्त्रोक्त प्रकार से विवाह हुआ वह कहिए 'विजय' शब्द से कहा है कि दीनता से विवाह नहीं किया अर्थात् बलपूर्वक हरण किया है, जो मेरी दादी थी, वह ही वंश को बढ़ाने वाली हुई, ऐसी का विवाह, अन्यथा शास्त्र विरुद्ध हो नहीं सकता है, यों भाव है ॥१॥

आभास—उभयसमर्थनार्थं शुकः प्रकारमाह अर्जुनस्तीर्थयात्रायामिति ।

ग्रामासार्थ—क्षत्रिय, शास्त्रानुसार बल से विवाह कर सकता है अतः अर्जुन ने बलपूर्वक विवाह किया, वहाँ राम कृष्ण सुभद्रा के भ्राता अजेय हैं इन दोनों में विरोध न आवे इस प्रकार कथा कहते हैं, इसलिए 'अर्जुन स्तीर्थयात्राणो' श्लोक से लेकर शुकेदेवजी सुभद्रा को अर्जुन के साथ जिस प्रकार विवाह हुआ वह कथा कहते हैं !

श्लोक—श्रीशुक उवाच—अर्जुनस्तीर्थयात्रायां पर्यटन्नवर्णो प्रभुः ।

गतः प्रभासमभृणोन्मातुलेयीं स आत्मनः ॥२॥

दुर्योधनाय रामस्तां दास्यतीति न चापरे ।

तल्लिप्सुः स यतिभूत्वा त्रिदण्डी द्वारकामगात् ॥३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि प्रभु ! अर्जुन तीर्थ यात्रा के निमित्त पृथ्वी में फिरते हुए प्रभास में पहुँचे । वहाँ सुना कि अपने मामा की कन्या (सुभद्रा) राम, दुर्योधन को देगे, किन्तु दूसरे इस सम्बन्ध को नहीं चाहते हैं, अतः उसको प्राप्त करने के अभिलाषी अर्जुन त्रिदण्डी संन्यासी बनकर द्वारका गए ॥२-३॥

सुबोधिनी - वस्तुतः स्वयं नरः जीवकलात्मकः । सा च मायाशक्तिः या पूर्व यशोदायां जाता सा देवक्या स्नेहात्परिगृहीतेति देवकीस्नेहवशात् कंसहस्तादिनिर्मुक्ता स्थानाष्टकमिव देवकीमपि प्राप्ता सुभद्रेति व्याख्याता । स्त्रीभावेनैव मोहः संभवतीति अर्जुनस्यैव स्त्री भवितुमर्हति । अत एव तया व्यामोहितः कलौ तस्या एव वंशः स्थास्यतीति प्रव्राजं स्वीकृत्य वञ्चयित्वा कन्यां हृतवान् । चौर्याधर्मवेषो क्षत्रियस्य निषिद्धौ तथापि हृतेति पितृभ्यां च दत्तेति तीर्थयात्रायां कृत्रिमवेषो न निषिद्ध इत्युभयात्मकत्वात् द्वयं समर्थितं भवति । अत्र तीर्थयात्राप्रसङ्गो भारते निरूपितः । द्रौपदीविवाहानन्तरं पञ्चनामेका वैषम्यहेतुर्भवतीति प्रचेतसामिवैक्यभावाभावात् कामो दुर्लब्ध उद्यतः क्षणमात्रमपि प्रतिबद्धश्चेत् प्रतिबन्धकर्तारं हन्तीति नारदः सुन्दोपसुन्दकथामुक्त्वा प्रत्येक वर्षमात्रभोगाय कालव्यवस्थां निरूपितवान् । तन्मध्ये यद्यन्येन भुज्यमानामन्यः पश्येत्तदा स वर्षमात्र तीर्थयात्रां कुर्यादिति । ततः कदाचित् कश्चिद्ब्राह्मणः चौरैरपहतगोधनः

अर्जुनं प्रोवाच मदीया गावः संरक्षया इति । ततः शस्त्रागारे युधिष्ठिरो द्रौपद्या सह स्थितः । ततः कार्यस्यावश्यकत्वात् विलम्बासहिष्णुत्वाच्च व्यवस्थां जानन्नपि शस्त्रगृहे प्रविष्टः रममाणौ दृष्ट्वापि शस्त्राणि गृहीत्वा चोरान् हत्वा ब्राह्मणाय गा दत्तवान् । ततो युधिष्ठिरेण निवारितोपि 'कामादेव दर्शने दोषः' इति सत्यवाक्यत्वात् भगवच्छ्रद्धया तीर्थयात्रार्थं प्रवृत्तः तदाह अर्जुनस्तीर्थयात्रायामिति । ततः अवर्णो पर्यटन् । प्रभुः समर्थः हरणे, एकाकिपर्यटने वा । प्रभासं गतः किञ्चिदभृणोत्तदाह मातुलेयीमिति । 'मातुलस्येव याषा भागस्ते पतृष्वसेयी वपामिव' इति श्रुतेः । स्वभागमन्यो नेष्यतीति आत्मनो मातुलेयीम् । रामो दुर्योधनाय दास्यतीति सोऽपि कलित्वात् अधर्महेतुरिति तस्यापि लौकिक एव भविष्यतीति प्रसह्य कन्याहरणत्वे शुद्धधर्मत्व च भविष्यतीति भोगार्थमेव तां लिप्सुः यतिभूत्वा यत्र कस्यापि कामसभावनेव न भवति पर्वणि क्षौरं विधाय पोठादिद्वात्रिंशत्पदार्थपरिग्रहं कृत्वा त्रिदण्डी सन् द्वारकामगात् ॥२-३॥

श्लोक—तत्र वै वार्षिकान्मासानवात्सीत्स्वार्थसाधकः ।

पौरैः सभाजितोभीक्षणं रामेणाजानता च सः ॥४॥

श्लोकार्थ—स्वार्थ को सिद्ध करने वाला वह वहाँ चातुर्मास्य करने लगा । अर्जुन के इस छल को वहाँ के निवासियों ने और राम ने समझा नहीं, अतः नगरवासियों ने तथा राम ने उसका बारम्बार स्तुकार किया ॥४॥

सुबोधिनी—ततो वर्षाकाले यतेः पर्यटनं निषिद्धमिति वार्षिकान्मासानवात्सीत् । ननु कृत्रिमे वेषे किं धर्मकरणेनेत्यत आह स्वार्थसाधक इति यथैव तस्याः हरणं सभवति । ततः अज्ञैरेव सर्वैः पौरैः सभाजितः अभीक्षणं एक एव बहुवारं भिक्षार्थं कथयति । रामेण च नरमायया मोहितेन भगवदिच्छया च अजानता सभाजितः लौकिके

‘चक्षुः प्रीतिः प्रथमम्’ इति तदर्थं परिचयार्थं पश्चाद्वरणसिद्धयर्थं च तस्याज्ञान निरूप्यते । बलभद्रो हि परमहंसं तं ज्ञात्वा तत्र हेतुभिर्विचारो न कर्तव्य इति शास्त्रमेवावलम्ब्य तूष्णीं स्थितः । अतस्तत्राधर्मजिज्ञासा नोत्पन्ना । सादृश्यं प्रतिभा-
तमपि धर्मज्ञानस्य बलिष्ठत्वात् न प्रत्यभिज्ञा-
साधकं जातम् ॥४॥

व्याख्यार्थ—वर्षा काल में सन्यासी को धूमने का शास्त्र ने निषेध किया है, इसलिए वर्षा के चार मास वहाँ रहने लगे, कपट वेष से धर्म करने से कौनसा लाभ ? जिसके उत्तर में कहा है ‘स्वार्थ साधक’ अर्जुन को अपना कार्य ‘सुभद्रा का हरण’ ही सिद्ध करना था, जिसके लिए ही यह कपट वेष धारण किया था, इस (अर्जुन) के इस आशय(सुभद्रा हरण) को न जानने वाले नागरिकों ने बहुत समादर किया, एक एक नागरिक ने कई बार भिक्षा के लिए निमन्त्रण दिए, लौकिक में प्रथम ‘चक्षु की प्रीति होती है’ नर (अर्जुन) की माया से मोहन और भगवदिच्छा से भी मोहित राम का भी इस विषय ‘प्रथम चक्षु की प्रीति’ से परिचय होगा फिर हरण किया जाएगा, वो न समझ सका, अतः बलभद्र (राम) ने भी इसको परमहंस जानकर तर्क से विचार नहीं किया, केवल शास्त्र का ही आश्रय कर शान्त हो ‘बैठे’ इसलिए अधर्म की जिज्ञासा उत्पन्न न हुई, अधम जैसा भान होते हुए भी धर्मज्ञान बलिष्ठ होने से, उस भान ने अधर्म का ज्ञान कराने नहीं दिया ॥४॥

आभास—अत एव तस्य भक्त्या सभाजनमाह एकदा गृहमानीयेति ।

आभासार्थ—इस कारण से ही बलराम जी ने भक्ति से उनका आदर किया यह ‘एकदा’ श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—एकदा गृहमानीय आतिथ्येन निमन्त्र्य तम् ।

श्रद्धयोपहत भैक्ष्यं बलेन बुभुजे किल ॥५॥

श्लोकार्थ—एक दिन आतिथ्य का निमन्त्रण देकर उसको घर लाकर बलराम ने श्रद्धा से भिक्षा दी, जिसको उसने ग्रहण किया ॥५॥

सुबोधिनी—निकटं गच्छन्तं प्रसङ्गाद्गृहे
समानीय पश्चादातिथ्येन निमन्त्रणं कृत्वा पाक-
सिद्धिपर्यन्तं बहुकालं स्थापयित्वा यथा निलीय
दर्शनं भवति कन्यायाः स्थित इत्यर्थात् तमाति-

थ्येन निमन्त्र्य स्थित इति ततस्तेनैव बलभद्रेण
श्रद्धयोपहतं भैक्ष्यं बुभुजे । अयमर्थो महतः वक्तु-
मनुचित इति क्लित्युक्तम् । ५॥

व्याख्यार्थ—बलराम सन्यास वेषधारी अर्जुन के पास जाते रहते थे, एक दिन प्रसंग ऐसा
आया जिससे उसको घर ले आए, वहाँ आतिथ्य भाव वाला निमन्त्रण देकर जब तक पाक सिद्ध
हो तबतक बिठाया, पाक सिद्ध में तो विशेषसमयलगेगा, ऐसे अवसर में ही कन्या का दर्शन गुप्तीति से
हो जाएगा यों जान अर्जुन वहाँ ठहर गया, पश्चात् बलभद्र ने भोज्य पदार्थ लाकर श्रद्धा से सन्यासी
के आगे धरे, जिनको उसने पाया, 'किल' पद देकर यह सूचित किया है कि महापुरुषों के सम्बन्ध
में यह अर्थ (विषय) स्पष्ट कहना उचित नहीं है ॥५॥

आभास—तत एतस्यापि दर्शनमाह सोऽपश्यदिति ।

आभासार्थ—पश्चात् अर्जुन को भी कन्या का दर्शन हुआ जिसका वर्णन 'सोऽपश्यत्' श्लोक
में करते हैं—

श्लोक—सोऽपश्यत्तत्र महतीं कन्यां वीरमनोहराम् ।

प्रीत्युत्फुल्लेक्षणात्संभ्रमस्तद्वत्प्रसन्नोऽप्येव ॥६॥

श्लोकार्थ—वहाँ उसने वीर पुरुषों के मन को हरण करने वाली बड़ी कन्या
देखी, जिस पर दृष्टि पड़ते ही उसके नेत्र प्रीति से प्रफुल्लित हो गए और रति की
इच्छा से क्षोभ युक्त मन उसमें लग गया ॥६॥

सुबोधिनी—महतीं स्थूलां, अर्जुनाद्वर्षमात्र-
न्यूनाम् । यस्या रूपेण वीराः प्राणानपि त्यजन्ति
सा वीरमनोहरा । ततस्तस्या दर्शनेन तद्दर्शन-

सहितेन प्रीत्या कृत्वा उत्फुल्लेक्षणी जातः ।
तावता कामवशं गतः भावभुग्धं मनो दधे ॥६॥

व्याख्यार्थ—वह कन्या स्थूल देह वाली थी और अर्जुन से एक वर्ष छोटी थी, वह ऐसी रूप-
वती थी जिसके लिए वीर पुरुष प्राण भी देने के लिए तैयार होते हैं, इस लिए 'वीर मनोहरा' विशेषण
दिया है, इसलिए ऐसी कन्या को देखने से प्रेम उत्पन्न हुआ, जिससे उसके नेत्र प्रफुल्लित हो गए,
तावता काम के आधीन हो गया, इसलिए रति की इच्छा से भरा हुआ मन उस कन्या में लगा
दिया ॥६॥

आभास—अकामायां ग्रहणं न संभवति इति तस्या अपि भावो निरूप्यते सापि तं
चकम इति ।

आभासार्थ—जिस कन्या का प्रेम न हो, उसको ग्रहण करना सम्भव नहीं । इसलिए 'सापि'
श्लोक में कहते हैं कि उसका भी इसमें रति का भाव (रति की इच्छा) था ।

श्लोक—सापि तं चकमे वीक्ष्य नारीणां हृदयङ्गमम् ।

हसन्ती व्रीडितापाङ्गी तन्यस्तहृदयेक्षणा ॥७॥

श्लोकार्थ—स्त्रियों के हृदय को हरने वाले उस (अर्जुन) को देखकर सुभद्रा ने भी उसी तरह उसको चाहा और मुस्कुराती हुई, वह उससे मन तथा नेत्र लगाकर लज्जा-युक्त कटाक्ष से तिरछा देखने लगी ॥७॥

सुबोधिनी—सौन्दर्येणैव तस्या मनोहरणम् । न्यस्तं हृदयमीक्षणं च यया । एवं तथा वृतः ।
प्रथमतो हसन्ती ततो व्रीडितापाङ्गी तस्मिन्नेव ॥७॥

व्याख्यार्थ—अर्जुन की सुन्दरता देख उसके मन को भी अर्जुन ने हर लिया पहले मुस्कुराई, अनन्तर व लज्जायुक्त नेत्रों वाली हुई बाद में मन तथा नेत्र उसमें ही आसक्त हो गए, इसी प्रकार उसने अर्जुन को पति रूप में वरण किया ॥७॥

श्लोक—तां परं समनुध्यायन्नन्तरं प्रेप्सुरर्जुनः ।

न लेभे संभ्रमच्चित्तः कामेनातिबलीयसा ॥८॥

महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गताम् ।

जहारानुमतः पित्रोः कृष्णस्य च महारथः ॥९॥

श्लोकार्थ—उसका ही ध्यान करते हुए, उसके हरण का अवसर देखते हुए अति बलवान कामदेव ने जिसका चित्त भ्रान्त कर दिया है, वैसे अर्जुन को चैन नहीं पड़ता था, फिर भी जब देव यात्रा के लिए रथ में बैठ सुभद्रा दुर्ग से बाहर निकली, तब महारथी अर्जुन ने माता-पिता और श्रीकृष्ण की संमति लेकर उसका हरण किया ॥८-९॥

सुबोधिनी ततो भिक्षां विस्मृत्य तामेव ध्यायन् हरणार्थमन्तरप्रेप्सुर्जातः । तादृशोऽप्यन्तरं न लेभे, अप्रमत्तः संरक्ष्यमाणत्वात् । अत्र भार-तोक्तमधिकमपि ज्ञातव्यम् । भगवता नीतो देवकीवसुदेवसमक्षं ततस्ताभ्यां सा कन्या दत्ता । ततः अतिबलीयसा कामेन संभ्रमच्चित्तो जातः ।
ततो भगवान् दयालुः यात्रां कल्पयित्वा पुराद्-बहिस्तां निःसारितवान् । ततो महत्यां सर्वेषामु-त्सववैयग्रघे पूर्वोक्तन्यायेन पित्रोरनुमतः कृष्ण-स्य च ततो महारथः अज्ञनिराकरणे समर्थः । दुर्गनिर्गतां रथस्थां तामहरत् ॥८-९॥

व्याख्यार्थ—बाद में अर्जुन भिक्षा को तो भूल गया केवल उसका ध्यान करते हुए उसके हरण करने का अवसर देखने लगा कि कब वह अवसर आएगा जो मैं इसको हरण करूँगा, कुशल पुरुष उसकी रखवाली करते थे, जिससे हरण का अवसर नहीं देखने में आता, यहां भारत में जो विशेष ब्रह्मा है, उसका भी अनुसन्धान करना आवश्यक है, वह यह है कि भगवान् अर्जुन को वसुदेव देवकी

के पास ले गये वहाँ उन्होंने वह कन्या (सुभद्रा) अर्जुन को अर्पण की, अनन्तर अर्जुन बलवान् काम के कारण भ्रमितचित्त हो गया पश्चात् दयालु भगवान् ने देव यात्रा की कल्पना की जिससे वह नगर से बहार निकाली गई बाद में उस बड़ी यात्रा के उत्सव में सब तल्लीन होने से अर्जुन को हरण करने का अवसर मिला, अतः माता पिता और श्रीकृष्ण की सम्मति से महारथी^१ अर्जुन ने, दुर्ग में बाहर आई हुई रथ में स्थित सुभद्रा का हरण किया ॥८६॥

आभास—ततो हरणार्थं तस्य पराक्रममाह रथस्थ इति ।

आभासार्थ—‘रथस्थो’ श्लोक में कहते हैं, कि अर्जुन में हरण करने का पराक्रम है ।

श्लोक—रथस्थो धनुरादाय शूरांश्चारुन्धतो भटान् ।

विद्राव्य क्रोशतां स्वानां स्वभागं मृगराडिव ॥१०॥

श्लोकार्थ—रथ में विराजमान अर्जुन धनुष लेकर जो शूरवीर आपको रोकने के लिए आए, उनको भगाकर, सिंह जैसे अपना भाग ले जावे, वैसे सम्बन्धियों के कोलाहल करते हुए सुभद्रा को ले गए ॥१०॥

सुबोधिनी - आसमन्तात् रुन्धतः रक्षकभटान्	पेक्षा निषिद्धेति मृगराडिव समर्थः । जहारेति
विद्राव्य सह समागतानां बन्धूनां आक्रोशतां	पूर्वणैव संबन्धः ॥१०॥
सतामेव अज्ञानादाक्रोशं कुर्वन्तीति स्वभागत्वाद्-	

व्याख्यानार्थ—चारों तरफ से रोकने वाले सर्व सैनिकों को भगाकर, साथ में आए हुए बान्धव आक्रोश करते थे, उनकी भी उपेक्षा की, क्योंकि वे अज्ञ हैं अतः अज्ञान से यों कर रहे हैं, इसके सिवाय यह कन्या तो मेरा भाग है, अतः इनका आक्रोश मूर्खता से है, इस पर ध्यान देना उचित नहीं है, अपने भाग को छोड़ना शास्त्र में निषिद्ध है । इस विचार से अर्जुन ने जैसे सिंह अपना भाग ले लेता है वैसे ही उसका हरण किया, यों पहले से सम्बन्ध है ॥१०॥

आभास—ततो हृतायां तस्यां बलभद्रेण श्रुतो वृत्तान्तः पारिवर्हंप्रेषणार्थमयमुद्यमो निरूप्यते ।

आभासार्थ—बल भद्र ने सुभद्रा के हरण का वृत्तान्त सुना, दहेज भेजने के लिए जो उद्यम किया गया उसका ‘तच्छ्रुत्वा’ श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्वणीव महार्णवः ।

गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिश्चान्वशाम्यत ॥११॥

१--अज्ञों के निराकरण करने में समर्थ थे वह बताने के लिये (महारथी) विशेषण दिया है !

श्लोकार्थ—वह (सुभद्रा का हरण) सुनकर पूनम की रात्रि में जैसे समुद्र क्षोभ-युक्त होता है, वैसे ही बलदेवजी बहुत क्षोभ करने लगे, किन्तु श्रीकृष्ण और अन्य बान्धव पाँवों में पड़े, जिससे शान्त हो गए ॥११॥

सुबोधिनी—ततो रामः तद्वञ्चनादिकं श्रुत्वा / त्वं समयश्च तादृश इति सूचयति । ततो भगवता क्षुभितस्तद्वधार्थमेव प्रवृत्तः । दृष्टान्तेन तस्य मह- / परिसान्त्वितः वाक्यैरनेकविधैः ॥

व्याख्यार्थ—पश्चात् राम अर्जुन की यह वञ्चना (छल) से हरण करने की कथा सुन बहुत आवेश (जोश) में आ गए और उनको मारने के लिए तैयार हुए समुद्र के दृष्टान्त से उनकी महत्ता तथा वैसा समय था यों बताते हैं, बाद में भगवान् ने अनेक प्रकार के वचन कह कर उनको शान्त किया । वे वचन कारिका द्वारा आचार्य श्री प्रकट करते हैं—

कारिका—अस्माकं सर्वथा देया हुता नान्यैश्च गृह्यते ।

वधे भर्तृविहीना स्यात् योग्यश्चायं विशेषतः ॥१॥

कारिकार्थ—हमको तो यह देने योग्य ही है अर्थात् इसका विवाह करना ही है, अब हरण की हुई दूसरा लेगा नही, यदि इसका^२ वध करोगे, तो यह कन्या विधवा होगी । दुर्योधन से यह अर्जुन विशेष योग्य है ॥१॥

कारिका—कार्यार्थं वञ्चनं तस्य न दोषायेति मे मतिः ।

अज्ञान स्वस्य दोषो हि कृत्रिमो न हि बाधकः ॥२॥

ततो गृहीतपादश्च तेनैवाभूद्बलः स्वयम् ।

कारिकार्थ—अपने कार्य को सिद्ध करने के लिए ठगाई करने^३ को मैं दोष नहीं मानता हूँ । अर्जुन को पहिचाना नहीं, [यह अपना दोष है । त्रिदण्डी होकर हरण किया, यह इसलिए दोष नहीं है कि वह सच्चा संन्यास नहीं था, कार्य सिद्धि के लिए किया हुआ वनावटी था ॥२॥

पश्चात् भगवान् ने बलभद्र के चरण पकड़ लिए, इसलिए कि इसका वध न करो और भगिनी को अब दहेज आदि हम भेजें, आप शान्त होइए ।

सुबोधिनी—तथा सुहृद्भिरपि गृहीतपादोऽन्वशाम्यत ॥११॥

व्याख्यार्थ—इसी तरह मित्रों ने भी चरण पकड़े जिससे वे^४ शान्त हो गए ॥११॥

आभास—ततो भगिन्यां स्नेहात् पारिवर्हाणि प्राहिणोत् तान्याह ।

आभासार्थ—शान्त हो जाने के अनन्तर भगिनी को जो दहेज भेजा उसका वर्णन 'प्राहिणोत्' श्लोक में करते हैं ।

श्लोक—प्राहिणोत्पारिबर्हाणि वरवध्वोर्मुदा बलः ।

महाधनोपस्करेभरथाश्चनरयोषितः ॥१२॥

श्लोकार्थ— फिर बलदेवजी ने आनन्द से दहेज में उन वर-वधु को अमूल्य सामान (असबाव), हाथी, रथ, दास और दासियाँ दीं ॥१२॥

सुबोधिनी—महाधनेति । गृहोपकरणानि चतुरङ्गिणी सेना दास्यश्च प्रस्थापितवान् ॥१२॥

व्याख्यार्थ— घर में जो कुछ सामान वर्तन आदि चाहिए वे सर्व पदार्थ तथा चतुरङ्गिणी सेना (हाथी, अश्व, रथ और प्यादे सैनिक, और दास दासियाँ दहेज में भेजे ॥१२॥

कारिका— भक्ताय भगवान् कृष्णो भगिनीं दत्तवानिति ।

किमाश्चर्यं यतः कर्मज्ञाननिष्ठामवाप्तयोः ॥

स्वयं गत्वातिमहता समाजेन समावृतः ।

विप्रक्षत्रिययोः प्रीत्या स्वात्मानं दत्तवान् स्वयम् ॥

यथाभिलषितं ताभ्यां सुखं प्राप्तं हरेर्महत् ।

कृतार्थावपि संजातौ पुनरागमनं ततः ॥१२॥

कारिकार्थ— भगवान् ने अपनी बहिन भक्त को दी, इससे इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, जबकि भगवान् कर्मनिष्ठ राजा और ज्ञाननिष्ठ श्रुतदेव के यहाँ स्वयं पधार, मुनियों के समाज को भी साथ में ले, दोनों को अपनी आत्मा देकर उनका हित करते हैं । जो भक्त का हित करे, इसमें आश्चर्य कैसा ? जैसी जिसकी इच्छा थी, वैसा सुख दोनों को दिया । जब वे कृतार्थ हुए, तब भगवान् लौट आए ॥१२॥

आभास—अतोपमाननप्रस्तावे भगवान् भक्तार्थमेवागतः ज्ञात्वैव अमानी मानद इति सर्वं करोतीति कैमुत्यन्यायेन मार्गान्तरभक्तयोरपि स्वापमानेनापि हितं करोतीति निरूपयति कृष्णस्यासीद्विजश्रेष्ठ इति ।

आभासार्थ— भगवान् का अपमान हुआ उस प्रसङ्ग में भी यह समझना चाहिए कि आपका प्राकट्य भक्तहितार्थ ही हुआ है । अतः अपना अपमान सहन करके भी भक्तों को मान देते हैं । अपना इसमें मान नहीं है, यों जान कर भी, सब कुछ भक्तों के लिए करते हैं इसलिए कैमुत्य न्याय से कर्म ज्ञान निष्ठ भक्तों का अपना अपमान होते हुए भी हित ही करते हैं, तो फिर विशिष्ट भक्त के लिए अपमान सहन कर उसका हित करें, तो उसमें कौनसा आश्चर्य है ! यों 'कृष्ण स्यासीत्' श्लोक से वर्णन करते हैं ।

श्लोक—श्रीशुक उवाच—कृष्णस्यासीद्विजश्रेष्ठः श्रुतदेव इति श्रुतः ।

कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः शान्तः कविरलम्पटः ॥१३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि श्रीकृष्ण का एक भक्त श्रुतदेव नाम वाला ब्राह्मण था, जो भगवान् की भक्ति से ही कृत-कृत्य, शान्त-विद्वान् और विषय वासनाओं से रहित हो भगवद्भक्ति करता था ॥१३॥

सुबोधिनी—ब्राह्मणत्वादयं प्रकरणी, क्षत्रियस्तु प्रासङ्गिकः, अत एव मध्ये निरूपितः । अतो नोपक्रान्तक्रमविरोधः । कृष्णस्य सम्बन्धी आसीत्, भगवदीय आसीदित्यर्थः । तथाभवने तस्य साधनमाह द्विजश्रेष्ठ इति । तदेवोपपादयति श्रुतदेवः श्रवणो देववत् प्रज्ञावान् । तत्त्वेन च विख्यातः । ततः कृष्ण एव या एका भक्तिः तथैव पूर्णार्थः । एतत्तस्य दारिद्र्यदोषाभावाय निरूप्यते । विद्यमानायां इच्छायां भक्त्या विषयाभावो न युक्तः । अत आह शान्त इति । आन्तरोऽयं गुणः । कविविचारकश्च । स्वभावतोऽपि तस्येन्द्रियाणि न बहिर्मुखानीत्याह अलम्पट इति । भगवत्संबन्धे तस्य षड्गुणा निरूपिताः । तत्र द्विजश्रेष्ठत्वमैश्वर्यं, नाम कीर्तिः, भक्तिः श्रीः, शान्तिर्ज्ञानं, कविर्वचः, अलम्पटो वैराग्यमिति तदीयस्तत्तुल्यो भवति इति निरूपितम् ॥१३॥

व्याख्यानार्थ—यह, 'श्रुतदेव' ब्राह्मण था अतः इसका ही यह प्रकरण है, क्षत्रिय का प्रकरण तो प्रसङ्ग होने पर कहा गया है, इससे बीच में उसका निरूपण किया गया है, इसलिए उपक्रम (प्रारम्भ में कहे हुए) का विरोध नहीं है, यह ब्राह्मण कृष्ण का सम्बन्धी अर्थात् भगवदीय था, ऐसा होने में उसके साधन कहते हैं, ब्राह्मणों में उत्तम था इसकी श्रेष्ठतम प्रतिपादन करते हैं, कि श्रवण में जिसकी वृद्धि, देव जैसी थी, सेवा होने के कारण ही प्रसिद्ध हुआ था, कृष्ण में ही एकान्तिक भक्ति होने में जिसके सर्व अर्थ पूर्ण हो गए थे, यों कहने का भावार्थ है कि उसमें दारिद्र्य दोष नहीं रहा है क्योंकि 'शान्त' था किसी प्रकार की कामना नहीं थी । यदि कामना हो तो भक्ति द्वारा यह पूर्ण नहीं हो सके यह उचित नहीं, यह शान्ति, भीतर का गुण है, और 'कवि' था अर्थात् तत्त्व ज्ञान सम्बन्धी विषयों का विचार कर निर्णय करने वाला था, स्वभाव से भी इस को इन्द्रियाँ भगवान् से बहिर्मुख नहीं थीं किन्तु विषयों से बहिर्मुख थीं, जिससे 'अलम्पट' विशेषण दिया, भगवान् के साथ सम्बन्ध होने से छः गुण कहे हैं १—द्विजश्रेष्ठ कह कर ऐश्वर्य गुण प्रकट किया है, २—नाम से कीर्ति गुण सिद्ध किया है, ३—भक्ति से 'श्रीगुण' दिखाया है, ४—'शान्ति' से ज्ञान गुण कहा है ५—'कवि' से बल वर्णन किया है, ६—'अलम्पट' विशेषण वैराग्य गुण प्रकट करता है इस प्रकार सिद्ध किया है कि भगवदीय भगवान् के समान होता है ॥१३॥

आभास—ततस्तादृशस्य सात्त्विकदेशे स्थितिर्युक्तेति मिथिलायां स्थितिमाह स उवास विदेहेष्विति ।

आभासार्थ—ऐसे पुरुष का निवास सात्त्विक देश में होना चाहिए इसलिए 'स उवास' इलोक में उसका वास मिथिला में कहते हैं ।

१—इस अध्याय के प्रारम्भ में कहा है, कि जहाँ वीर्य (पराक्रम) से विरुद्ध भाव की प्रतीति होगी वह ही कहा जाएगा, भगवान् ब्राह्मण के घर पधारे यह भगवद्वीर्य से विरुद्ध है किन्तु राजा के गृह में पधारे यह वीर्य के विरुद्ध नहीं है, यहाँ राजा के यहाँ पधारना तो प्रासङ्गिक है । प्रकरण तो ब्राह्मण के घर पधारने का है अतः उपक्रम का विरोध नहीं है ।

श्लोक—त उवाच विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी ।

अनीहया गताहार्यनिर्वर्तितनिजक्रियः ॥१४॥

श्लोकार्थ—वह गृहस्थी विदेह देश की मिथिला नगरी में रहता था, परिश्रम बिना स्वतः प्राप्त अन्नादि से अपना निर्वाह सन्तोषपूर्वक करता था ॥१४॥

सुबोधिनी—विदेहाः देशाः, यत्र स्थितानां देहाभिमानो न भवति, तत्रापि मिथिलायां गत-देहाभिमानकृतायाम् । अभिमानाभावे इतराश्रमेभ्योपि गृहस्थाश्रम एव मुख्यः, तत्र दोषाणां निरभिमानस्यासंभवात् । अतः गृहाश्रमी । तत्र वृत्त्यभावे धर्मो न फलतीति तस्य मुख्या वृत्तिमाह अनीहया गताहार्य इति । स्वप्रयत्नव्यतिरेकेण आगतमाहार्यं भैक्ष्यादिकं यस्य तेनैव निर्वर्तिता क्रिया येन ताश्च क्रियाः निजाः न परधर्माः । अत एवायं कर्ममार्गानुसारी भक्तः ॥१४॥

व्याख्यार्थ—वे देश विदेह नाम से इसलिए प्रसिद्ध थे जो वहाँ रहते थे उनको देहाभिमान नहीं होता था, उनमें भी वह उस नगरी में रहता था, जिसको देहाभिमान रहित जानी पुरुषों ने बनाया था । वह नगरी इसलिए मिथिला नाम से प्रसिद्ध थी, अभिमान न होने पर अन्य आश्रमों से गृहस्थाश्रम ही मुख्य है क्योंकि अभिमान न होने से वहाँ कोई दोष उत्पन्न नहीं होता है, अतः वह गृहाश्रमी होकर रहता था, आजीविका के अभाव में धर्म फनोभूत नहीं होता है अर्थात् धर्म सिद्ध नहीं होता है, इसलिए उसकी मुख्य वृत्ति (आजीविका) कहते हैं कि बिना प्रयास किए स्वतः भोज्य आदि सर्व पदार्थ आ जाते थे, उनसे ही वह अपना निर्वाह कर लेता था, अर्थात् अपने सर्व कर्म पूर्ण करता था दूसरों का धर्म नहीं करता था इसलिए ही वह कर्म मार्गी भक्त है ॥१४॥

आभास—अनीहया कदाचित् अन्नाभावात् क्रियाविच्छेदः स्यादित्याशङ्क्याह यात्रामात्रमिति ।

आभासार्थं प्रयत्न न करने पर भी कभी अन्नादि न मिलने से क्रिया में रुकावट पड़ जाती होगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'यात्रा मात्र' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—यात्रामात्रं त्वहरहर्दंवादुपनमत्युत ।

नाधिकं तावता तुष्टः क्रियाश्चक्रे यथोचिताः ॥१५॥

श्लोकार्थ—कुटुम्ब का निर्वाह जितने से पूर्ण हो जावे, उतना प्रतिदिन प्राप्त हो जाता था, अधिक नहीं, उतने से प्रसन्न होकर यथोचित सर्व क्रियाएँ करता था ॥१५॥

सुबोधिनी—यात्रा शरीरनिर्वाहः सकुटुम्बस्य, तच्चाहरहः तदपि दंवादुपनमति । ईश्वरेच्छया कदाचिच्छरीरे बले विद्यमाने एकादशगुणवासादौ वा नोपनमयतीत्यपि सूचयति उतेति । अधिकं तु नोपनमति । कदाचिदपि तावतैव संतुष्टः, अन्यथा दोषः स्यात् । अत एव यथोचिताः क्रियाश्च चक्रे ॥१५॥

व्याख्यार्थ—‘यात्रा’ पद का अर्थ है कुटुम्ब और अपने शरीर का पूर्ण निर्वाह हो जावे, उतना पदार्थ नित्य प्रति ईश्वरेच्छा से प्राप्त हो जाता था, ‘उत’ पद का भाव यह है कि शरीर में उपवास करने की शक्ति अथवा एकादशी आदि उपवास के दिन होते तो भक्ष्यादि न भी मिलते, विशेष तो कभी भी न मिलता था, उससे वह संतोष कर लेता था, संतोष न करे तो दोष हो, अतः संतोष धारण कर यथा योग्य सर्व क्रिया पूर्ण करता था ॥१५॥

आभास—एवं ब्राह्मणं निरूप्य क्षत्रियं निरूपयति तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार ब्राह्मण का निरूपण कर तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग’ श्लोक में क्षत्रिय का वर्णन करते हैं—

श्लोक—तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग बहुलाश्व इति श्रुतः ।

मैथिलो निरहंमान उभावप्यच्युतप्रियौ ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! उस देश का राजा जनक के वंश में उत्पन्न बहुलाश्व वैसा ही निरहङ्कारी था एवं भगवान् का भक्त था । ये दोनों भगवान् के प्यारे थे ॥१६॥

संबोधिनी—भगवद्भक्तवासात् सोऽपि भक्त्यङ्गे प्रविष्ट इति तथेत्युक्तम् । यतस्तस्य विदेहराष्ट्रस्य पालः । अङ्गैत्यप्रतारणार्थं संबो- धनम् । बहुला अश्वा यस्येति क्रियाशक्तिनिरू- पिता । स तु मिथिलवंशोद्भवत्वात् मैथिलः । अस्य तु षड्गुणाः । राजस्त्वभिमानाभाव एव ।	यथा कर्मनिष्ठः प्रियः तथा ज्ञाननिष्ठोऽपि भगव- त्प्रियः । अत आह उभावप्यच्युतप्रियाविति । यथा धर्मनिष्ठः प्रियः एवं ज्ञाननिष्ठोऽपि । एताव- द्दर्शनम् भगवता तथाभूतौ तौ स्मृताविति भगव- न्मानसक्रियाविषयत्वात् भगवच्चरित्रत्वेन निरूपितौ ॥१६॥
---	--

व्याख्यार्थ—वहाँ भगवद्भक्त के रहने से वह (राजा) भी भक्ति के अङ्ग में प्रविष्ट हुआ अर्थात् भक्त बन गया इसलिए यों कहा है, क्योंकि वह उस विदेह राज्य का पालने वाला था, ‘हे अङ्ग’ इस संबोधन से यह सूचित किया कि यह कथा आपको छलने के लिए बनावटी नहीं कही जाती है किन्तु वास्तविक यों है ‘बहुलाश्व’ नाम से यह सिद्ध किया है कि वह बहुत घोड़े अपने पास रखता था जिससे उसकी क्रिया शक्ति प्रकट होती थी, वह मिथिल वंश में उत्पन्न होने से मैथिल था, श्रुतदेव में छ गुण थे किन्तु इस राजा में एक ही ‘निरभिमान’ गुण था । जैसे कर्मनिष्ठ प्यारा है, वैसे ही ज्ञाननिष्ठ भी भगवान् को प्यारा है, इसलिए कहा है कि दोनों भगवान् के प्यारे थे जैसे ‘धर्मनिष्ठा’ वैसे ज्ञान निष्ठा भी प्रिय है, इतना वर्णन किया जिससे यह सिद्ध हुआ कि वैसे उन दोनों को भगवान् ने स्मरण किया अर्थात् भगवान् ने उनको मन से अपना कर उनका हित किया, यह चरित्र भगवान् के मानस क्रिया का विषय होने से भगवान् का चरित्र है यों निरूपण किया है ॥१६॥

आभास—अत एव तद्गुणान् स्मृत्वा भगवान् तयोरिष्टसिद्धयर्थं तद्गृहं गत इत्याह तयोः प्रसन्नो भगवानिति ।

श्रामासार्थ—इस कारण से ही उनके गुणों का स्मरण कर भगवान् उनको इच्छित पददानार्थ उनके घर पधारे यह चरित्र 'तयो प्रसन्नो' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तयोः प्रसन्नो भगवान्दारुकेणाहृतं रथम् ।

आरुह्य साकं मुनिभिर्विदेहान्प्रययौ प्रभुः ॥१७॥

नारदो वामदेवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः ।

अहं बृहस्पतिः कण्वो मैत्रेयश्च्यवनादयः ॥१८॥

श्लोकार्थ—उन दोनों पर प्रसन्न हुए प्रभु भगवान् दारुक के लाए हुए रथ में मुनियों के साथ बैठकर विदेह देशों में पधारे ॥१७॥

साथ में जो मुनि थे । उनके नाम कहते हैं—१. नारद, २. वामदेव, ३. अत्रि, ४. कृष्ण, ५. राम, ६. असित, ७. अरुणि, ८. मैं (शुकदेव), ९. बृहस्पति, १०. कण्व, ११. मैत्रेय, १२. च्यवन । 'आदि' शब्द से अन्य मुनि भी थे, यों कहा है ॥१८॥

सुबोधिनी—पूर्व गमनबोधनाभावात् लौकिकभावेनोत्सवाभावाच्च कदाचित्समागमनार्थ दारुकेण समानीतं रथमारुह्य विदेहानेव प्रययौ । नन्वेकाकी सर्वाननुक्त्वा च कथं प्रस्थित इति चेत् तत्राह प्रभुरिति । मुनिभिः साकमारुह्य विदेहान् प्रययौ । तौ हि भगवन्तं मुनिसहितं भावयतस्तत्रापि राजा मुनीनपि भगवद्रूपानेव जानाति, ब्राह्मणस्तु मुनिरूपान् । अत एव स्वयं

मुनिरूपधारी राजगृहे गमिष्यति, मुनिभिः सहितस्तु ब्राह्मणगृहे । उभावपि कालात् परभूतं भगवन्तं ज्ञात्वा कालावयवभूतान् मुनीन् जानीतः । अतो द्वादशमुनीन् नाम्ना परिगणयति, प्रकारपरस्वाय च आदिपदप्रयोगः । कृष्णो वेदव्यासः । रामः परशुरामः । अहं शुकः । आदिशब्देन गौतमादयः ॥१७-१८॥

व्याख्यानार्थ—प्रथम मुझे कहां जाने का है, यो बोध नहीं कराया था । लौकिक कार्य भी नहीं था और कोई उत्सव भी नहीं था, इससे किसी समय उनका मिलाप हो, उसके लिए दारुक के लाए हुए रथ में विराजमान होकर भगवान् विदेह पधारे सबको बताये बिना अकेले विदेह कंसे पधारे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'प्रभु' आप समर्थ हैं मुनिओं के साथ रथ में बैठ कर विदेह पधारे, मुनिओं को साथ इसलिए लिया कि वे दोनों सदैव मुनिओं के साथ भगवद्विषयक चर्चा करते थे, दोनों में से राजा तो मुनियों को भी भगवद्रूप जानता था, ब्राह्मण तो उनको मुनि रूप ही जानता था । इस कारण से राजा के गृह में आप भी मुनि रूप धारण कर पधारेंगे, ब्राह्मण के घर मुनिओं के साथ भगवद्रूप से पधारेंगे, वे दोनों भगवान् को काल से पर रूप जानते हैं और मुनिओं को काल के अवयव स्वरूप जानते हैं, इसलिए ही १२ मुनियों को नाम से गिने हैं, आदि पद से ऐसे अन्य भी थे यों कहा है, 'कृष्ण' नाम से वेद व्यास कहा है 'राम' नाम से परशुराम 'मैं' से शुकदेव ने अपने को कहा है, 'आदि' पद से गौतम वगैरों अन्यो को कहा है ॥१७-१८॥

आभास— गुप्ततया अलौकिकन्यायेन गमनं व्यावर्तयितुं सर्वानुभवार्थं मध्ये पूजा-
माह तत्र तत्रेति ।

आभासार्थ— भगवान् विदेह पधारते समय अलौकिक रीति से अर्थात् गुप्त रीति से नहीं पधार रहे थे, किन्तु सर्व को अनुभव कराते हुए प्रकट दर्शन देते थे, जिससे मार्ग में भगवान् की पूजा हुई यों 'तत्र तत्र' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक— तत्र तत्र तमायान्तं पौरा जानपदा नृप ।

उपतस्थुः सार्वहस्ता ग्रहैः सूर्यमिवोदितम् ॥१६॥

श्लोकार्थ— हे नृप ! विदेह पधारते समय भगवान् जहाँ-जहाँ आए, वहाँ-वहाँ छोटे-छोटे गाँवों के तथा बड़े-बड़े नगरों के निवासी हाथों में अर्घ ले सम्मुख आकर, जैसे ग्रहों के उदय हुए सूर्य का लोक पूजन आदि करते हैं, वैसे मुनि सहित पधारे हुए भगवान् की पूजा की ॥१६॥

सुबोधिनी— सार्वहस्ता उपतस्थुः । प्रत्येक पूजाग्रहणे कालविलम्बो भवेद् अग्रहणे तु दोषः । स्यादित्युभयथापि दोष व्यावर्तयितुं दृष्टान्तमाह । ग्रहैः सूर्यमिवोदितमिति । ग्रहस्थानीया ऋषयः । नहि सूर्यः सर्वेषामर्घ्यं गृह्णाति । निरीक्षणेन च गृह्णात्यपि एवं भगवानपीत्यर्थः ॥१६॥

व्याख्यार्थ— हाथों में अर्घ लेकर निकट आकर भगवान् की पूजा की, एक एक की पूजा करने में बहुत समय लगे, सबका पूजन न हो सके तो दोष हो, इससे दोनों प्रकार दोष न लगे, इसलिए दृष्टान्त देकर कहते हैं, कि जैसे सूर्य को अर्घ देने से सब ग्रहों को अर्घ मिल जाता है, वैसे ही यहाँ भगवान् की पूजा से सब मुनिओं की पूजा हो गई । मुनि ग्रहों के स्थान पर 'समझने चाहिए, जैसे सूर्य सब की पूजा ग्रहण नहीं करता है, केवल ईक्षण (दृष्टि) से ही ग्रहण करता है, वैसे ही भगवान् भी दृष्टि द्वारा सबकी पूजा ग्रहण करते हैं, यों अर्थ है ॥१६॥

आभास— मध्यस्थान् देशान् द्वादश नाम्ना निरूपयति आनर्तेति ।

आभासार्थ— 'आनत' श्लोक से मार्ग में आये हुए देशों के बारह नाम से निरूपण करते हैं ।

श्लोक— आनतधन्वकुरुजाङ्गलकङ्कुमत्स्य-

पाञ्चालकुन्तिमधुकेकयकोसलार्णः ।

अन्ये च तन्मुखसरोजमुदारहास-

स्निग्धेक्षणं नृप पपुर्हृशिभिर्नृनार्यः ॥२०॥

श्लोकार्थ— महाराज ! आनत, धन्व, कुरु, जाङ्गल, कङ्कु, मत्स्य, पाञ्चाल, कुन्ति, मधु, केकय, कोसल और अर्ण देश के रहने वाले और दूसरे देशों के भी स्त्री और

पुरुष उदार हास व स्नेह भरी दृष्टि वाले भगवान् के मुखारविन्द का नेत्रों से रस-पान करने लगे ॥२०॥

सुबोधिनी - अन्ये च अप्रसिद्धाः प्रसिद्धाश्च । भगवतो मुखसरोजं पपुरिति तेषामुपासनाफल निरूपितम् । सरोजत्वेनामृतपानं दृष्टमेव प्रयोजनं स्यादिति मुखं विशिनष्टि उदारहासस्निग्धेक्षण-मिति । उदारः सर्वपुरुषार्थदायी हासः स्निग्ध

चेक्षणं माया बहिर्मुखत्वेऽपि संपादिते सर्वपुरुषार्थान् साधयति । ज्ञानं तु भगवत्संबन्धिनं करोति । अतः अदृष्टमपि फल प्रयच्छतीति निरूपितम् । एतादृशं नरा नार्यश्च सर्वेधिकारिणो ह्यत्रेति न्यायेन पपुः ॥२०॥

व्याख्यानार्थ—ऊपर कहे हुए देशों के सिवाय अन्य देश जो प्रसिद्ध नहीं थे, वा प्रसिद्ध उन देशों के भी स्त्री पुरुष भगवान् के मुख कमल के रस का पान करने लगे, यों कह कर 'यह बताया कि यह फल उन्हींकी की हुई उपासना का है, भगवान् का है, भगवान् का मुख, कमल रूप है, जिससे उनको अमृत के पान की प्राप्ति हुई, वह देखा हुआ प्रत्यक्ष प्रयोजन है इसलिए मुख की विशेषता विशेषता से बताते हैं कि 'उदारहास स्निग्धेक्षण' उदार हास्य और स्निग्ध दृष्टि वाला मुख है, उदार पद से बताया है कि सब प्रकार के पुरुषार्थों को वे देनेवाला हास है और दृष्टि स्निग्ध है, हास माया रूप होने से बहिर्मुखता करते भी सर्व पुरुषार्थों को सिद्ध करता है ज्ञान तो भगवान् से सम्बन्ध कराता है, भगवान् का मुख दो गुणों वाला है अतः अदृष्ट फल भी देता है । यों निरूपण किया है भगवान् के ऐसे मुखारविन्द का दर्शन कर यहाँ के सब स्त्री पुरुष अधिकारी हुए जिससे उसका रस पान करने लगे ॥२०॥

आभास—ततो भगवान् फलरूपेणापि भजने फलान्तरं प्रयच्छन् ततोऽप्यग्रे फल-परंपरासिद्धयर्थमुपायं कृतवानित्याह तेभ्य इति ।

आभासार्थ—पश्चात् फल रूप से भी भजन किया जावे तो भी भगवान् कृपाकर अन्य फल देने की इच्छा से उसके भी आगे के फल की परम्परा की सिद्धि करने के लिए उपाय करने लगे यह 'तेभ्यः' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टमिहृदयैः

क्षेमं त्रिलोकगुरुरर्थदृशं च यच्छन् ।

शृण्वन्दिगन्तधवलं स्वयशोऽशुभघ्नं

गीतं सुरेर्नृभिरगाच्छनकं विदेहान् ॥२१॥

श्लोकार्थ—भगवान् के दर्शन से उन लोगों की अज्ञान दृष्टि नष्ट हो गई और त्रैलोक्य गुरु भगवान् ने अपने दर्शन करनेवाले नर-नारियों को अपनी दृष्टि से ही ऐस वरदान दिया, जिससे वे सदा भगवान् को अपने पास ही स्थित देखते रहें और सः वस्तुओं में भगवान् को ही देखते रहें, ऐसा भी वर देते चल रहे थे ।

समस्त दिशाओं को उज्ज्वल बनाने वाली और समस्त अशुभ का विनाश करने वाली कीर्ति का मनुष्यों और देवताओं द्वारा किया गान सुनते हुए धीरे-धीरे विदेह देश में पहुँचे ॥२१॥

सुबोधिनी—भगवद्दीक्षणेन विनष्टं तमः अज्ञान यस्य । तादृशदृष्टियुक्तेभ्यः वस्तुसामर्थ्या-
देव दोषे निवृत्ते स्वयमतिक क्षेमं दत्तवान् ।
लब्धस्य परिपालन क्षेमः । यथेय मूर्तिः सर्वदा
दृष्टौ सन्निहिता भवति तथा वरं दत्तवीनित्यर्थः ।
तदेवेदानो प्राप्तस्य परिपालनं भवति । ननु मध्ये
विषयान्तरदर्शनस्यावश्यकत्वात् कथमेतस्यैव
दर्शनं निरन्तरं भवेदित्याशङ्क्याह त्रिलोकगुरु-
रिति । त्रिलोकस्य स एव गुरुः यत्रान्तर्यामि-
प्रेरणया सर्वेषां सद्बुद्धिस्तप्यते । बहिर्वाक्य त्व-
प्रयोजक व्यभिचारात् । अतो यदेवान्यदर्शनं
प्राप्नोति तदेव तन्निषेधाथमुपदेशं करोतीत्यर्थः ।
निश्च अर्थदृश च यच्छन् सर्वत्र ते यथा अर्थरूप
भगवन्तमेव पश्यन्ति सर्ववस्तुषु वस्तुस्वरूपम् ।
अतो यत्किञ्चिदपि ते पश्यन्तो भगवन्तमेव पश्य-

न्तीति पूर्वदत्तक्षेमस्य न कापि प्रच्युतिः । चका-
रात्तत्र स्थितमपि भगवन्तं द्रष्टुं सामर्थ्यं दत्तवा-
नित्यर्थः । नन्वकस्मात्कथमेतावत्फलं प्रयच्छतीति
शङ्कां व्यावर्तयन् तेन दत्तं फल सर्वदेव स्थास्य-
तीत्यापि ज्ञापयति शृण्वान्दिगन्तधवल स्वयश
इति । तेषां मुखेभ्य एव शृण्वन् । मध्ये कालादि-
वशात् जाताधर्मेण प्रतिबन्धमाशङ्क्याह अशुभ-
घ्नमिति । कदाचित्तत्कीर्तिविस्मरणे साधनाभा-
वमाशङ्क्याह गीतं सुरैर्नृभिरिति । ये देवरूपा
मनुष्याः तैर्गीतम् । सुरैर्नृभिश्च गीतमिति वा ।
तेन कीर्तयितव्यत्वं निरूपितम् । एवं मध्यस्थेभ्य
एतावत्प्रयच्छति यदर्थं तु गच्छति तेभ्यः किं
दास्यतीति शङ्कामुत्पादयन्नेव उद्देश्यदेशान् गतः
शनकरिति मध्ये तेषु स्नेहो निरूपितः ॥२१॥

व्याख्याथ—भगवान् की दृष्टि पड़ने से जिनकी आखों से अज्ञान के पर्दे नाश हो गए हैं, ऐसे ज्ञान युक्त वनों हुई दृष्टि वालों की वस्तु^१ की सामर्थ्य से ही दोष निवृत्त हो जाने से आप स्वयं ने विशेष क्षेम का दान दिया । प्राप्त हुए पदार्थ की रक्षा करने को क्षेम कहा जाता है, जैसे यह मूर्ति^२ सदैव नेत्रों में विराजी रहे, वैसा वरदान दिया, कहने का यह भाव है, इस प्रकार होवे तो अब प्राप्त भगवद्दर्शन स्थिर रहे, शङ्का होती है कि यदि मध्य में अन्य विषयों का दर्शन आवश्यक होने से, भगवद्दर्शन की स्थिरता कैसे रहेगी ? इस शङ्का के निवारणार्थ 'त्रिलोक गुरु' विशेषण दिया है, जिसका आशय यह है कि आप तीन लोक के गुरु^३ हैं, जहाँ अन्तर्यामी की प्रेरणा से सद् बुद्धि उत्पन्न होती है, बाहर का उपदेश वाक्य निरर्थक है, क्योंकि वह स्वल्प समय रहता है उस उपदेश का प्रभाव स्थिर नहीं होता है, अतः जब ही अन्य विषय का दर्शन होने लगता है तब आप उस दर्शन का निषेध करते हैं अर्थात् ऐसी प्रेरणा करते हैं, जिससे दूसरे विषय का दर्शन नहीं किया जाता है, इसलिए वह भगवत्स्वरूप सदैव नेत्रों में विराजते रहते हैं, ऐसी अर्थ दृष्टी देते हैं, जिससे वह सर्व पदार्थों को 'भगवत्स्वरूप से' देखता रहता है, भगवत्स्वरूप ही ये सर्व पदार्थ हैं, अन्य कुछ नहीं है, अतः प्रथम दिन हुए क्षेम का अभाव कदापि नहीं होता है 'च' पद से यह सूचित किया है, कि वस्तु में विराजमान भगवान् को देखने की सामर्थ्य भी दी है, शङ्का होती है, कि अचानक ऐसा फल कैसे देते है ? इस शङ्का निवारण के लिए कहते है कि 'शृण्वन् दिगन्तधवल स्वयशः' उनके मुखों से

अपना सर्वत्र धवल यश सुनते थे, इससे निश्चय हो जाता है कि भगवान् का दिया हुआ फल सदैव स्थिर रहेगा यह भी जताया है मध्यकाल आदि के वश में अधर्म हो जाने से प्रतिबन्ध हो जाएगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'अशुभघ्न' विशेषण दिया, अर्थात् वह यश अशुभ का नाश करने वाला है, जिससे मध्य में काल आदि वश होकर उनसे अधर्म होगा ही नहीं, जो दर्शन से प्रतिबन्ध हो, कदाचित् यश, जो दर्शन का साधन है, वह उसका विस्मरण हो जावे तो दर्शन में प्रतिबन्ध हो सकता है, इस शङ्का की निवृत्ति के लिए कहते हैं, कि 'गीतं सुरं नृभि' जो देव रूप मनुष्य हैं, वे सदैव गुण गान करते ही रहते हैं अथवा देवता और मनुष्य दोनों गुण गान करते रहते हैं, जिससे विस्मरण होने की शङ्का ही नहीं उठती है, इससे कीर्ति का अक्षयत्व निरूपण किया है मध्य में आए हुए देशों में रहने वालों को इतना देत हैं, तो जिनके लिए पधार रहे हैं, उनको कितना देंगे ? इस शङ्का को उत्पन्न करते हुए ही इच्छित देश 'विदेह' को धीरे धीरे पधारे, धीरे धीरे पधारने से उन पर अपना स्नेह व्यक्त किया है ॥२१॥

आभास—उद्देश्यदेशस्थानां भगवति स्नेहादिकमाह तेऽच्युतं प्राप्तमिति ।

आभासार्थ—जिस देश में आप पधारने वाले थे उस देशवासियों का भगवान् में कितना स्नेह आदि था । जिसका वर्णन 'तेऽच्युतं' श्लोक से कहते हैं,

श्लोक—तेऽच्युतं प्राप्तमाकर्ण्य पौरा जानपदा नृप ।

अभीयुर्मुदितास्तस्मै गृहीतार्हणपाणयः ॥२२॥

श्लोकार्थ—हे महाराज ! भगवान् का पधारना सुनकर प्रसन्न हुए नगर और देशवासी हाथों में पूजा की सामग्री लेकर उनके सामने आए ॥२२॥

सुबोधिनी—पुरवासिनो देशवासिनश्च । नृपा इति पाठे भगवांस्तत्र गच्छतीति भगवद्दर्शनार्थं प्रथमत एव सर्वे गताः । तेऽपि भगवति पुरवासिवज्जाता इति त्रिविधा निरूपिताः । तेषां	कायिकादिभावमाह आभिमुख्येन ईयुरिति कायिकं, मुदिता इति मानसं, गृहीतार्हणपाणय इति धनद्वारा ममतास्पदेनापि भजनमुक्तम् ।
--	---

॥२२॥

व्याख्यान—नगर और देशवासी भगवान् के स्वागतार्थ सामने आए 'नृपा' यों पाठ लिया जावे तो उसका भावार्थ यों समझना चाहिये कि राजा लोग भी, भगवान् पधार रहे हैं, यों सुनकर, भगवान् के दर्शनार्थ अन्य नगर एवं देशवासियों की तरह सामने आए, इससे वे भी भगवान् के यहां नगरवासियों के समान हुए, इस प्रकार तीनों तरह के (१) नगर के (२) देश के और (३) नृपगण निरूपण किए हैं उनका कायिक आदि भाव प्रकट करते हैं, सामने स्वागतार्थ आए, इससे कायिक भाव दिखाया 'मुदिता' प्रसन्न चित्त थे, इससे मानसभाव प्रकट किया, हाथों में पूजा सामग्री ले आए, इसमें यह बताया कि ममता का स्थान जो धन है उससे ममता निकाल भगवद्दर्शन कर भक्ति प्रकट की, अर्थात् तन मन धन से भगवान् का स्वागत कर स्नेह का प्रदर्शन किया ॥२२॥

आभास—तत ऐन्द्रियकमाह दृष्ट्वा तमिति ।

आभासार्थ - भगवान् के पधारने के समय उनको इन्द्रियों की कैसी दशा थी, वह दृष्टात-मुत्तम' श्लोक में वर्णन करते हैं ।

श्लोक—दृष्ट्वा तमुत्तमश्लोकं प्रीत्युत्फुल्लाननाशयाः ।

कैर्धृताञ्जलिभिर्नेमुः श्रुतपूर्वास्तथा मुनीन् ॥२३॥

श्लोकार्थ—उत्तम श्लोक भगवान् का एवं जिन मुनियों के प्रथम नाम ही सुने थे, उनका दर्शन करने से उनका मुख और अन्तःकरण प्रेम से प्रफुल्लित हो गए, अतः हाथ जोड़ मस्तकों से भगवान् और मुनियों को नमस्कार करने लगे ॥२३॥

सुबोधिनी—प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजा इति । भगवद्दर्शनं तादृशं येन भगवानन्तः प्रविशति प्रविशोत्तिप्रीतिमुत्पाद्य उत्फुल्लान्याननानि बहिः आशयांश्चान्तः करोति । ततः कैर्मस्तकैर्धृता-

ञ्जलिभिः सर्वापराधक्षमापकैः भगवन्तं नेमुः मुनीश्च । विशेषानभिज्ञत्वात् तथा नमनमिति शङ्कां व्यावर्तयति श्रुतपूर्वानिति ॥२३॥

व्याख्यार्थ—प्रेम से उनके मुखरूप कमल^१ खिल गए, भगवान् के दर्शन का यह प्रभाव है, कि वे दर्शन देते हुए अन्दर प्रवेश करते हैं, भीतर पधार कर प्रीति उत्पन्न करते हैं, जिससे बाहिर मुख आदि प्रफुल्लित होते हैं और भीतर अन्तःकरण भी प्रफुल्लित हो जाता है, अनन्तर हाथ जोड़कर सर्व अपराधों की क्षमा याचना करते हुए मस्तकों से भगवान् और मुनियों को प्रणाम करने लगे, जब मुनियों की पहिचान नहीं, तो इस प्रकार नमन कैसे किया ? इस शङ्का को निवृत्त करने के लिए कहते हैं कि 'श्रुतपूर्वान्' उनके दर्शन नहीं किए थे किन्तु उनके गुण आदि तो सुनते ही थे इसलिए प्रणाम किया ॥२३॥

आभास—साधारणानां प्रतिपत्तिमुक्त्वा मुख्ययोराह स्वानुग्रहाय संप्राप्तमिति ।

आभासार्थ—साधारण पुरुषों ने जो स्वागत आदि से शरण भावना दिखाई वह कह कर अब 'स्वानुग्रहाय' श्लोक में मुख्य दो भक्तों की प्रतिपत्ति कहते हैं,

श्लोक—स्वानुग्रहाय संप्राप्तं मन्वानौ तं जगद्गुरुम् ।

मैथिलः श्रुतदेवश्च पादयोः पेततुः प्रभोः ॥२४॥

श्लोकार्थ—अपने-अपने अनुग्रह करने के लिए जगत् गुरु भगवान् पधारे हैं, यों जानकर बहुलाश्च और श्रुतदेव दोनों प्रभु के पादों (चरणों) पर गिर गए ॥२४॥

सुबोधिनी—ननु सर्वदा भगवान् दृश्यत एव यति जगद्गुरुमिति । किमस्माभिर्यत्क्रियते तदेव सेव्यते च तथा सति को विशेष इति शङ्कां वार- कर्तव्यमाहोस्विदन्यद्वा, एतन्निर्णयं भगवानेव

करिष्यतीति विशेषतः समागमनमित्यर्थः । अतः
एव पादयोः पेततुः । अनेन ब्राह्मणस्यापि नम-
रकारः अनिषिद्ध इति निरूपितम् । प्रभोः समर्थ-
स्य । चरणनमनमात्रेणैव सर्वमेव स्वहितं करि-
ष्यति । नाधिकं स्वार्थमपेक्षते फलदानार्थं वेति
सूचितम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—जबकि सदैव भगवान् के दर्शन किए जाते हैं और सेवा भी की जाती है, फिर इस समय कौनसी विशेषता है इस शङ्का को मिटाने के लिए 'जगद् गुरु' विशेषण दिया है, कि प्रभु जगत् के गुरु हैं अर्थात् जगत् के जीवों के अज्ञानान्धकार को मिटा कर उनको प्रसन्न करने चाहते हैं, अतः आप स्वयं पधार कर देखना चाहते हैं कि हम जो कर रहे हैं यों ही करना चाहिए या और कुछ भी करना रह गया है । यदि रह गया है तो वह भी बतादूँ, यह कार्य तो भगवान् ही कर सकते हैं, इसलिए आप विशेष रूप से पधारे हैं, इसी कारण से पावों में पड़े इससे यह सूचित किया है, कि भगवान् के पावों में पड़ना ब्राह्मण के लिए भी निषिद्ध नहीं है, क्यों कि 'प्रभु' सर्व समर्थ है केवल चरणों में प्रणाम करने से ही सर्व प्रकार से हित करेंगे अपने लिए, वा फल दान के लिए, प्रणाम के सिवाय अधिक कुछ नहीं चाहते, इससे यह सूचित हुआ ॥२४॥

आभास—तत उभावपि स्वस्वगृहे समानयनार्थं निमन्त्रणं कृतवन्तावित्याह
न्यमन्त्रयेतामिति ।

आभासार्थ—पश्चात् दोनों ने 'न्यमन्त्रयेता' श्लोक में अपने अपने घर में पधारने के लिए निमन्त्रण दिया—

श्लोक—न्यमन्त्रयेतां दाशार्हमातिथ्येन सह द्विजैः ।

मैथिलः श्रुतदेवश्च युगपत्संहताञ्जली ॥२५॥

भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया ।

उभयोराविशद्गोहमुभाभ्यां तदलक्षितः ॥२६॥

श्लोकार्थ—बहुलाश्व और श्रुतदेव ने हाथ जोड़, मुनियों के साथ भगवान् का आतिथ्य करने के लिए एक साथ निमन्त्रण दिया ॥२५॥

दोनों के निमन्त्रण को स्वीकार कर, दोनों को प्रसन्न करने के लिए उनके यहाँ एक ही समय पधारे, उस समय भगवान् ने दो रूप धारण किए, जिनको उन्होंने पहचाना नहीं ॥२६॥

सुबोधिनी—स्वगृहे समायास्यतीत्यत्र हेतुः दाशार्हमिति । सह द्विजैरिति भागशो निमन्त्रणं वारयति । उभयोस्तु कर्तव्यमेव तत् । लोके त्व-
शक्त्या कालभेदेन भागभेदेन वा लौकिकास्तथा कुर्वन्ति भगवांस्तु प्रभुरिति सर्व संपादयिष्यति ।

राजत्वान्मैथिलः प्रथमं निर्दिष्टः । चकारः राज-
समत्वं बोधयति । श्रुतदेवश्च युगपत्संहताञ्जली
इति कालभेदध्यावृत्त्यर्थमुक्तम् । ततो भगवान्
तयोरभिप्रायं ज्ञात्वा भगवतो वैभवं च ज्ञातुं
भगवतोऽन्यत्र किमपि नास्तीति तत्तथैव संपाद-

नीयमिति भगवानुभयोरपि गृहे गतः । तत्र प्रकारमाह उभाभ्या तदलक्षित इति । भगवान् समूहद्वयं जातः । तत उभयोर्गृहे गतः । यस्मिन् देशे मार्गभेदोस्ति ततो भगवन्माहात्म्ये तथावगते तथा रसो न भविष्यतीति ताभ्यामलक्षित एव गतः (जनकगृहे स्वस्वांशेन आगतः) । मुनीना-

मपि तथात्वं जातमिति केचित् । राजनि मुनीनां विशेषाभावात्सर्वत्र भगवद्बुद्धेस्तुल्यत्वात् 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति वाक्याच्च श्रुतदेवगृह एव मुनिभिः सहितो गतः । राजगृहे तु स्वयमेव गतस्तादृग्रूप इति विमर्शः ॥२५-२६॥

व्याख्यार्थ—अपने गृह में पधाराने का कारण यह है कि प्रभु दाशार्ह^१ हैं, 'महद्विजै' पद से यह सूचित किया है कि विभाग कर मत पधारना अर्थात् मुनि सहित आप पधारें, दोनों का तो (हित) करना ही है, लोक में तो अशक्ति के कारण काल भेद से वा विभाग भेद से लौकिक पुरुष कार्य पूर्ण करते हैं—अर्थात् एक ही समय में दोनों स्थानों पर सब नहीं जा सकते हैं, अतः या तो जुदे जुदे समय पर जाते हैं वा आधे वहाँ आधे वहाँ ऐसा विभाग कर जाते हैं क्योंकि उनमें सब मिलाकर एक समय दोनों स्थानों पर जाने की शक्ति नहीं है, भगवान् तो प्रभु सर्व समर्थ हैं, जा चाहे वह सब सम्पादन कर सकते हैं 'मैथिल' पहले कहने का कारण है कि वह राजा थे 'च' पद से यह सूचित किया है कि श्रुतदेव भी राजा के समान हैं, हमारे गृह में पृथक् पृथक् समय में नहीं पधारें इसलिए दोनों ने साथ में हाथ जोड़ निमन्त्रण दिया है ॥२५॥

इस प्रकार हाथ जोड़ने से भगवान् उनका अभिप्राय जान गए, कि ये हमारे वैभव को जानना चाहते हैं, भगवान् के लिए तो अशक्य कुछ नहीं है, इसलिए कार्य उम तरह ही करना चाहिये जिससे मेरे वैभव का ज्ञान इनको हो जावे अतः प्रभु भगवान् एक ही समय में सबके साथ दोनों के घर पधारें, किन्तु वे यह नहीं जान सके कि भगवान् ने दो रूप धारण किए हैं, यदि जान जाए तो रस की उत्पत्ति न हो अतः अलक्षित होकर पधारें, प्रभु सर्व शक्तिमान् समर्थ होने से राजा के घर तो मुनि स्वरूप लेकर पधारें, कोई कहते हैं कि मुनि भी दो रूप धारण कर दोनों के घर गए कारण कि राजा ज्ञाननिष्ठ था अतः उसको मुनि और भगवान् में किसी प्रकार का भेद नहीं था, सर्वत्र भगवत् बुद्धि समान होने से 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस गोता के वचन नुसार श्रुतदेव के घर मुनिओं के साथ स्वयं भी पधारें, राजा के यहाँ मुनि रूप धारण कर पधारें यह निर्णय है ॥२६॥

आभास—ततस्तस्मिन् देशे राजा मुख्य इति प्रासङ्गिकत्वाच्च राजवृत्तान्तमाह श्रोतुमप्यसतामिति ।

आभासार्थ—पश्चात् 'श्रोतुमप्यसतां' श्लोक में उस देश के मुख्य पुरुष राजा का वृत्तान्त कहा जाता है किन्तु वह प्रासाङ्गिक^२ है,

१—दशार्ह वंश में उत्पन्न दशार्ह यादव कहे जाते हैं

१—आदि और अन्त के वाक्य विषय के निर्णायक होते हैं अतः उन वाक्यों को प्रकरण कहते हैं, मध्य में अन्य कुछ आजावे, उसको प्रासाङ्गिक कहा जाता है अर्थात् प्रसङ्ग, आने पर कह दिया जाता है ।

श्लोक—श्रोतुमप्यतर्ता दूराज्जनकः स्वगृहागताद् ।

आनीतेष्वासनाग्रयेषु सुखासीनान्महामनाः ॥२७॥

प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्षहृदयास्त्राविलेक्षणः ।

नत्वा तदङ्घ्रीन्प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीः ॥२८॥

सकुटुम्बोऽवहन्मूर्ध्ना पूजयांचक्र ईश्वरान् ।

गन्धमाल्याम्बराकल्पधूपदीपार्घगोवृषैः ॥२९॥

वाचा मधुरया प्रीणन्निदमाहान्नतपितान् ।

पादावङ्कुगतौ विष्णोः संस्पृशन् शनकंमुदा ॥३०॥

लोकार्थ—बड़ी हुई भक्ति के कारण, अति प्रसन्न चित्त आँसुओं से व्याकुल नेत्र, उदारमना, जनक राजा ने जिनका नाम भी असत् पुरुष सुन नहीं सकते हैं; ऐसे अपने घर में पधारे हुए भगवद्रूप मुनियों को अपने हाथों से लाए हुए उत्तम आसनों पर विराजमान किया, सुखपूर्वक विराजमान हो जाने के अनन्तर उन्हें प्रणाम कर चरण धोए, वह जल गङ्गा रूप होने से, सकुटुम्ब राजा ने अपने सिर पर धारण किया । गन्ध-पुष्प, वस्त्र, धूप-दीप, अलङ्कार, अर्घ, गौ और बैल अर्पण कर पूर्ण रूपेण पूजा की, फिर भोजन कर तृप्त हुए, उन मुनियों को मधुर वाणी से प्रसन्न करते हुए, भगवान् के चरण गोद में लेकर, प्रेम से धीरे-धीरे स्पर्श करते हुए, राजा यों कहने लगे ॥२७-३०॥

सुबोधिनी—ये असन् तस्तेषां श्रोतुमपि दूरे । एते मुनिभावापन्नाः भगवन्तः तादृशाः स्वगृहे समागता इति महदन्तरम् । असत्त्वं तु देहाभिमानात्सर्वेषामविशिष्टम् । अतः स्वगृहागतान् दृष्ट्वा स्वस्य सिंहासनसदृशानि आसनानि स्वमित्रेभ्यः समानीतवान् । ततस्तेष्वासनाग्रयेषु सुखासीनान् कृत्वा कथमेतावतीं पूजां करिष्यामीति चिन्तां परित्यज्य महामना भूत्वा तेषु या प्रवृद्धा भक्तिः तथा उद्धर्ष ऊर्ध्वहर्षयुक्तं यत् हृदय तेनास्युक्ते आविले अक्षिणी यस्य तादृशो जातः । अनेन देहे पूजा निरूपिता । ततो बाह्यद्रव्यैः पूजामाह नत्वा तदङ्घ्रीन् प्रक्षाल्येति । नत्वेति पूर्वेण संबध्यते । तेन पूजासमाप्तिः आन्तरेण सूचिता । बाह्यार्थम-

नुजां च प्रार्थयते । आदौ तदङ्घ्रीन्प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीं गङ्गारूपत्वात्, सकुटुम्बो मूर्ध्ना अवहत् । ततः पूजायोग्यो भूत्वा पूजयांचक्रे सर्वानिव ईश्वरान् न तु जीवेश्वरान् । पूजासाधनानि गन्धमाल्यादीनि । गोवृषैरिति शास्त्रार्थसिद्धये । स हि मर्यादया प्रवृत्तो न तु भक्त्या । अतो यथावाक्यमेव करोति । गोनिवेदनं च मुख्यम् । ततो मधुरया वाचा इदमग्रे वक्ष्यमाणमाह अन्नतपितानिति । भोजनताम्बूलविश्रामशयनान्तं कृत्वा पश्चात् स्तोत्रं कृतवान् । अन्नेन तृप्तिस्तद्वद्भवति यद्यन्नमुद्वेजकं न भवेत् । तत्ताम्बूलविश्रामशयनसहितमेव । तत्रापि विशेषमाह पादावङ्कुगताविति । विष्णोर्मुख्यत्वेन समागतस्य, सर्वत्र

विष्णुबुद्धिरैक्यबुद्धिश्चेति विशेषाभावात् वा । संतोषाविर्भावः ॥२७-३०॥
 शनकैः सस्पर्शः अभ्यनुज्ञार्थः । जाते स्पर्शे ।

व्याख्यान—जो भगवद्रूप मुनि राजा के घर में पधारे उनका नाम मात्र भी असत् पुरुष सुन नहीं सकते हैं, ये मुनिस्वरूप भगवद्रूप थे, वैसे अपने घर आए यह महान् अन्तर^१ है, असत् पन तो देहाभिमान होने से जीव मात्र में समान है ऐसे भगवद्रूप मुनिओं को स्वगृह में पधारते देख अपने सिंहासन के समान सिंहासन अपने मित्रों से लाए, पश्चात् उन आसनों पर सुख पूर्वक उनको विराजमान किया, और ऐसे स्वरूपों की पूजा मैं कैसे कर सकूँगा इस चिन्ता का त्याग किया। फिर महामना होने से उन (मुनिओं) में वृद्धिगत भक्ति के कारण अत्यन्त हर्षयुक्त हृदयवाला हुआ जिससे नेत्रों में आशूँ भर गए, इस प्रकार देह की पूजा की, पश्चात् बाह्य पदार्थों से जो पूजा की उसका वर्णन करते हैं, प्रथम नमस्कार की अनन्तर पाँच पखारे, 'नत्वा' पद का देह से की हुई पूजा ने मन्त्रन्ध है, उमने भीतर के पदार्थों से की हुई पूजा की समाप्ति बनाई है । बाह्य पदार्थों से पूजा करने की आज्ञा प्राप्त करने के लिए प्रार्थना करता है,

पहले पाद प्रक्षालन किया वह जल लोक को पवित्र करने वाली गङ्गा रूप होने से, कुटुम्ब सहित राजा ने मस्तक पर धारण किया, पश्चात् पूजा योग्य होने से, सबने ईश्वरों को पूजा^२ को, न की जीव और ईश्वर की पूजा की है, सुगन्ध वाले पदार्थ और पुष्प आदि पूजा को सामग्री और गौ तथा बैल भी शास्त्र के अर्थ की सिद्धि के लिए लाए थे, कारण कि राजा की पूजन में प्रवृत्ति मर्यादानुसारी थी, किन्तु भक्तिपूर्वक नहीं थी, अतः शास्त्र वचनानुसार सर्व पूजा करना था, शास्त्र में गौ का दान मुख्य है, अनन्तर मधुर वाणों से वह कहा जो अब कहा जाता है, जब वे अन्न से तृप्त हो ताम्बूल आदि ले, विश्राम कर स्वस्थ हो बैठे, तब स्तुति करने लगे, अन्न से पूर्ण तृप्ति होकर आनन्द तब आता है, जब भोजनान्तर ताम्बूल लेकर फिर विश्राम आदि किया जाता है, इसी प्रकार की क्रिया करने से अन्न उद्वेग वाला नहीं होता उनमें भी विशेष कहते हैं कि राजा भगवान् के चरणों को गोद में विराजमान कर धीरे धीरे स्पर्श करने लगा, धीरे धीरे कहने का भाव यह है कि प्रभु से आज्ञा प्राप्त की, विष्णु के चरणों को गोद में विराजमान किया, यों कहने का भावार्थ है कि राजा की सर्वत्र विष्णु बुद्धि थी और ऐक्य बुद्धि थी, अतः उन स्वरूपों में किसी प्रकार भेद दृष्टि नहीं थी, चरण स्पर्श करते ही संतोष का आविर्भाव हुआ अर्थात् राजा को पूर्ण संतोष हो गया ॥२७-३०॥

आभास—स हि यादृशं भावयति तादृशं वदन् भगवत्त्वज्ञापनाय षड्भिः स्तौति भवानिति ।

१- भगवान् मुनि रूप से राजा के गृह में पधारे हैं, राजा तो देहाभिमानी होने से असत् है, वहाँ कैसे पधारे? यह अन्तर है, किन्तु जड़ देह का आम्नापन से अङ्गीकार कर लेने के कारण जीव मात्र असत् है, यों तो राजा जानिष्ठ होने से सत् है ।

२- राजा के गृह में जीव रूप मुनि पधारे ही नहीं थे, सब भगवद्रूप मुनि थे ।

आभासार्थ—राजा जनक श्री कृष्ण को जैसा भगवत्स्वरूप जानता है वैसे ही निम्न छ श्लोकों में उनकी स्तुति करता है—

श्लोक—राजोवाच—भवान्हि सर्वभूतानामात्मा साक्षी स्वदृग्विभो ।

अथ नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः ॥३१॥

श्लोकार्थ—राजा कहने लगा कि हे विभो ! आप सर्व प्राणियों की आत्मा है तथा साक्षी एवं स्वयं प्रकाश हो, आपके स्मरण करते हुए अब आपने दर्शन दिए हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—स हि सर्वदा सर्व भगवत्कार्य-
मेवेति मन्यते । सर्व च भगवद्रूपमिति । तादृशस्य
कथमिदानीं विशेषतो वाक्यं संभवति । विरुद्ध
च न वक्तव्यम् । अतः पूर्वविस्थामनूद्य विशेषं
बोधयति । यद्यपि भगवान् सर्वरूपेण आत्म-
रूपेण च दृष्टः तथापि भक्तिमार्गानुसारेण यादृशो
भाव्यते तादृशोऽयं दृष्ट इति । युक्तश्राव्यमर्थः ।

सर्वभूतानामात्मत्वात् सर्व भगवानेव । साक्षि-
त्वात् स्वात्मा साक्षिचेतन्यं वा । तत्रापि स्वदृक्-
स्वप्रकाशः, अनेन तत्प्रकाशार्थमपि नान्यापेक्षेति
निरूपितम् । विभो इति संबोधनं सर्वसामर्थ्यं
सूचयति । तेनास्माकं हृदये तथा प्रतीतिजनन
नान्येषामिति सर्व संपद्यते । तथापि त्वत्पदाम्भोजं
भक्तिमार्गेण त्वां स्मरतामद्यैव दर्शनं गतः ॥३१॥

व्याख्यान—वह (राजा) यह सर्व भगवान् के ही कार्य हैं तथा सर्व भगवद्रूप हैं, यों मानता है, इस प्रकार मानने वाला अब कैसे उससे विपरोत कहेगा, विरुद्ध तो कहना ही नहीं चाहिए, यद्यपि राजा को पहले भगवान् के सर्वरूप आत्मा रूप से दर्शन हुए थे तो भी भक्ति मार्गानुसारी दर्शन जैसा चाहिए वैसा तो अब हुआ है, अतः पूर्वास्था बताकर इसका भेद समझाते हैं, यह अर्थ उचित ही है, सर्व भूतों की आत्मा होने से सब भगवान् ही हैं साक्षी होने से अपनी आत्मा हैं, अथवा साक्षी चेतन्य है, इतना होने पर भी स्वयं प्रकाश है, यों कहकर यह सूचित किया कि उनको प्रकाश के लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं है, विभो ! यह सम्बोधन सूचित करता है, कि आप सर्वसामर्थ्यवान हैं, इससे हमारे हृदय में वैसी प्रीति उत्पन्न करते हैं न कि दूसरों के हृदय में, इस प्रकार करना आप में बन सकता है, तो भी भक्तिमार्गानुसार आपके चरणकमलों का स्मरण करते हुए को आज ही दर्शन दिए हैं ॥३१॥

आभास—ननवस्य दर्शनस्य क्वोपयोगः । न हि दर्शनार्थं चिन्तनं करोति किन्तु स्वतः पुरुषार्थत्वेनैव तत्राऽऽह स्ववचस्तद्वत् कर्तुमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार के (भक्ति मार्गीय प्रकार के) हुए दर्शन का उपयोग कहाँ होगा ? राजा ज्ञानिष्ठ है, ज्ञानी तो दर्शन के लिए भगवान् का चिन्तन नहीं करते हैं, किन्तु चिन्तन स्वतः पुरुषार्थ रूप है यों जानकर चिन्तन करते हैं, इस तरह की शंका के निवारणार्थ 'स्ववचस्तद्वत्' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—स्ववचस्तद्वत् कर्तुमस्मद्दृष्टोचरो भवान् ।

यथात्थैकाग्रमक्तान्मे नानन्तः श्रीरजःप्रियः ॥३२॥

को नु त्वच्चरणाम्भोजमेवंविद्विसृजेत्पुमान् ।

निःकिञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वमात्मदः ॥३३॥

श्लोकार्थ—मेरे अनन्य भक्त से बढ़कर, मुझे शेषजी और लक्ष्मी एवं ब्रह्मा तथा शिव भी प्रिय नहीं है, ऐसे अपने वचनों को सत्य करने के लिए आपने हमें दर्शन दिया है, कौनसा पुरुष है जो इस बात को जानकर भी आपके चरण कमलों का चिन्तन त्यागेगा, आप निःकिञ्चन् शान्त मुनियों को अपनी आत्मा देने वाले हैं ॥३२-३३॥

सुबोधिनी—तद्भगवतः प्रसिद्धं वचः ऋतं सत्यं कर्तुं भवानस्मद्भृगोचरः । ननु किं तद्वच इति चेत् । तत्राऽऽह यदात्थेति ।

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः ।

न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान् इति ।

एतद्भगवद्वाक्यम् । अत्र यथा एकान्तभक्तो मम प्रिय इति वक्तव्ये दृष्टान्तार्थं यथा भवानिति वक्तवान् । अत्राजशब्देनैव शङ्करोऽपि गृहीतः । गुणावतारत्वेन तस्याप्यजत्वात्, आत्मापि तत एव । अत एतत्सगच्छते एकान्त भक्तादिति । प्रियत्वं तदैव भवति यदि गत्वा दृश्यते । अतः

प्रियत्वान्यथानुपपत्त्या भगवान् स्वयमागत्य दृष्टवानित्यर्थः । एव भगवद्गुणं ज्ञात्वा आत्म-त्वसाक्षित्वयोरपि सिद्धत्वादधिकमेवं करोतीति सुगमत्वादुत्तमत्वाच्च एवंवित्को वा त्वां विसृजेत् । ननु प्राप्तात्मभावस्य भक्त्या सर्वं सिद्धयति यस्य त्वात्मभावो न जातः तस्य तदर्थं परित्याग इति चेत् तत्राह निःकिञ्चनानां शान्तानामिति । ब्रह्मात्मभावे साधनत्रयम् । आदौ निःकिञ्चनत्वं सर्वपरित्यागः । तदन्तरं शमः । एवमन्तर्बहिर्वि-क्षेपरहितः मननं कुर्यात् । ततो ब्रह्मभावः तदुक्तं निःकिञ्चनानां शान्तानां मुनीनां त्वमात्मद इति ॥ ३२-३३॥

व्याख्यार्थ—भगवान् का वह प्रसिद्ध 'वचन' सत्य करने के लिए आपने हम लोगों को दर्शन दिए हैं, वह कौनसा वचन है ? इस पर कहते हैं कि भगवान् ने कहा है कि मुझे ब्रह्मा शंकर, संकर्षण, लक्ष्मी और आत्मा भी वैसा प्रियतम नहीं है जैसे कि आप हैं, यहाँ कहा है कि जैसा एकान्त भक्त मुझे प्रिय है, यों कहने की पुष्टि में दृष्टान्त दिया है कि जैसे आप श्लोक में दिए हुए 'अज' शब्द से शंकर का भी ग्रहण किया है, गुणावतार होने से वे भी 'अज' हैं, आत्मा भी 'अज', शब्द से ग्रहण किया है, अतः यह बन सकता है कि एकान्त भक्त से ये मुझे प्रिय नहीं हैं, प्रिय पन तब सिद्ध होता है जब भगवान् स्वयं पधार कर दर्शन दे इसके बिना प्रियत्व की सिद्धि न होने से भगवान् ने स्वतः स्वयं पधार कर दर्शन दिए हैं, इस प्रकार भगवद्गुणों को जान कर कि भगवान् आत्मा तथा साक्षी हैं, तो भी भगवान् को अनन्य भक्त विशेष प्रिय है, जिस कारण से भक्त के लिए विशेष करते हैं, अतः स्वयं पधार कर दर्शन दिए हैं, यों भक्ति मार्ग सुगम है तथा उत्तम है, यों जानने वाला ऐसा कोन है, जो आपका त्याग करेगा ? जिसने आत्मा में स्थिति प्राप्त कि है, वह भक्ति में सर्व प्राप्त कर लेता है, किन्तु जिसने आत्मा स्थिति प्राप्त नहीं की है वह तो आत्मा स्थिति के लिए मेरा त्याग करेगा यदि यों कहो तो इसका समाधान करते हैं, 'निःकिञ्चनानां शान्तानां' आत्मा की

ब्रह्मरूप स्थिति करने के तीन साधन हैं, प्रथम निःकिञ्चनपन अर्थात् सर्व परित्याग, उसके बाद शान्ति, इस प्रकार भीतर बाहर के विक्षेप को नष्ट कर फिर मनन करना चाहिए, उसके बाद ब्रह्म भाव होता है इसलिए कहा है, कि जो ऐसे निःकिञ्चन शान्त मुनि हैं उनको आप आत्मा का दान करते हैं, तात्पर्य यह है कि ज्ञान मार्ग में उपर्युक्त साधनान्तर ब्रह्म भाव प्राप्त हो सकता है किन्तु भक्ति मार्ग में तो भक्तवत्सल भगवान् कृपा कर स्वयं पधार कर दर्शन देते हैं, ज्ञान मार्ग से भक्ति मार्ग की यह ही विशेषता है ॥३२-३३॥

आभास—नन्वेतादृशो भगवान्नाहमित्याशङ्क्याह योऽवतीर्येति ।

आभासार्थ—वैसे जो भगवान् हैं वह मैं नहीं हूँ, 'इस शङ्का की निवृत्ति के लिए 'योऽवतीर्य' श्लोक कहा है ।

श्लोक—योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरतामिह ।

यशो वितेने तच्छ्रान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ॥३४॥

श्लोकार्थ—जिनने यहाँ यदु राजा के वंश में अवतार लेकर, संसारी जीवों के दुःखों को देख, दया कर उनकी निवृत्ति की, जिससे त्रिलोकी के पापों को हरने वाला अपना यश सर्वत्र फैलाया ॥३४॥

सुबोधिनी—स एव भगवान् सर्वेषां मोक्षार्थमेव यदोर्वंशे अवतीर्य संसरतां नृणां संसारदुःखदर्शनेन जातकरुणः तन्निवृत्त्यर्थं यशो वितेने । तस्य कथं संसारनिवर्तकत्वमित्याशङ्क्य स्पष्टमेव

द्वारमाह त्रैलोक्यवृजिनापहमिति । पापवशाद्बहिर्मुखतादि सर्वे दोषाः, संसर्गदोषाद्वा । यशस्तु सर्वेषामेव दोषनिवर्तकम् । अतः स्पष्टमेव तस्य संसारनिवर्तकत्वमित्यर्थः ॥३४॥

व्याख्यानार्थ—उस ही भगवान् ने सबको मोक्ष देने के लिए ही यदु के वंश में अवतार लेकर मनुष्यों को जन्म मरणादि दुःखों में चक्कर काट कर दुःख भोगते हुए देख दयादर् हृदय होने से, उनके दुःखों को नाश कर अपना यश विस्तारा है, वह यश कैसे संसार को नष्ट करेगा ? इस शङ्का की निवृत्ति के लिए स्पष्टीकरण करते हुए, कहते हैं कि 'त्रैलोक्य वृजिनापहम्' वह यश तीन लोकों के पापों को नष्ट करने वाला है, अतः पाप के कारण बहिर्मुखता आदि दोष अथवा संसर्गदोषाद्वा बहिर्मुख है तो उसके संसर्ग से जो दोष आ जाते हैं वे दोष, इन सबको, भगवान् का यश नष्ट करता है, अतः भगवान् का यश स्पष्ट ही संसार का नाश करने वाला है ॥३४॥

आभास—एवं जगत्कृतार्थत्वायावतीर्णः स्वकृतार्थत्वाय च समागत इति निरूप्य कर्तव्यान्तराभावान्नमस्यति नमस्तुभ्यमिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार आप यद्यपि जगत् को कृतार्थ करने के लिए पधारें हैं, तो भी मुझे कृतार्थ करने के वारंते यहाँ पधारें हैं, यों निरूपण कर दूसरा कोई कार्य न होने से 'नमस्तुभ्यं' श्लोक से राजा नमस्कार करता है ।

श्लोक—नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायकुण्ठमेधसे ।

नारायणाय ऋषये संशान्ततपईयुषे ॥३५॥

श्लोकार्थ—अकुण्ठ बुद्धि वाले और अतिशान्त तप करने वाले, ऋषि स्वरूप नारायण स्वरूप आप भगवान् श्री कृष्ण को मैं प्रणाम करता हूँ ॥३५॥

सुबोधिनी—तुभ्यमित्यपरोक्षत्वाय । अन्यो भगवान् भविष्यतीति उपचारव्यावृत्त्यर्थं कृष्णाय-
येति । साक्षाद्भगवत्त्वे हेतुः अकुण्ठमेवम इति ।
न कुण्ठा कुण्ठता मेधा यस्येति । सर्वस्यापि
भगवत्त्वे एतेनैव वैलक्षण्येन अस्य तथात्वात् ।
साम्प्रत येन रूपेण समागतस्तन्निदिशति नारा-
यणाय ऋषय इति । नारायण एवायं तृतीय-

लीलां करोतीति स एव ऋषिः । अनेन ब्रह्माण्ड-
विग्रहो नारायणः तदंशो वेति पक्षो निराकृतः,
विशेषरूपनिर्वचने य उत्कर्षहेतुस्तन्निदिशति
संशान्ततपईयुषे इति । सर्वप्राणिनां सुखजनकं
स्वस्याप्यक्षोभकं एतादृशं तपः तन्नारायण एवं
करोतीति ॥३५॥

व्याख्यार्थ—‘तुभ्य’ पद से यह सूचित किया है कि आप जो सामने अब प्रत्यक्ष दर्शन दे रहे हो वे ही श्रीकृष्ण भगवान् हैं, इसी कारण से ही ‘कृष्णाय’ पद दिया है जिससे भगवान् कोई दूसरा होगा यह शङ्का मिट जावे, वे ही साक्षात् भगवान् हैं, यह सिद्ध करने के लिए ‘अकुण्ठमेधसे’ विशेष-
पण दिया है, जिसका अर्थ है, जिसकी बुद्धि किसी भी समय वा काम में रुकती नहीं है, अर्थात् ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि है जो सर्व कार्य करने में पार चली जाती है, ऐसी बुद्धि भगवान् श्रीकृष्ण के सिवाय दूसरे किसी की नहीं है, यद्यपि अन्यो को भी भगवान् कहा जाता है किन्तु, उनसे कृष्ण में यह विलक्षणता है, अब जिस रूप से यहाँ पधारे हैं, वह दिखाता है ‘नारायणाय ऋषय’ यह नारायण ही है जो तीसरी ‘स्थान लीला’ करते हैं वह ही ऋषि हैं यों कहने से यह बताया है कि ब्रह्माण्ड विग्रह नारायण अथवा उसका अंश नारायण यह (श्रीकृष्ण) नहीं है, इस विशेष रूप को प्रकट कर दिखाने में जो उत्तमपन है उसका हेतु कहता है कि ‘संशान्त तप ईयुषे’ संशान्त तप करने वाला यह स्वरूप है जो तप, सर्वप्राणियों को सुख देने वाला और अपने को भी क्षोभ न देने वाला है, ऐसा वह तप नारायण ही करते हैं ॥३५॥

आभास—एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा कर्तव्यं च कृत्वा किञ्चित् प्रार्थयते दिनानि
चिद्भूमन्निति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवत्स्वरूप का वर्णन कर अपना कर्तव्य भी पूर्ण कर अब ‘दिनानि कतिचित्’ श्लोक में राजा कुछ प्रार्थना करता है,

श्लोक—दिनानि कतिचिद्भूमन्मृहान्नो निवसद्विजैः ।

समेतः पादरजसा पुनोहीदं निमेः कुलम् ॥३६॥

श्लोकार्थ—हे भूमन् । कितनेक दिन हमारे गृह में विराजो, द्विजों सहित आपके चरणरज से इस निमि के कुल को पवित्र कीजिए ॥३६॥

सुबोधिनी—द्विर्जरेतः सह पादरजसा निमोः पावित्र्यार्थमेव तदुच्यते । तेन सर्व एव कुलो-
कुलं पुनीहि । यद्यपि सेवा कापि नास्ति तथापि तपन्नाः कृतार्था भविष्यन्तीति तद्वशसम्बन्धि-
पादरजः निमिकुलसचारस्थाने पतिष्यतीति कुल- कृत्यं स्थितिप्रार्थनेति सूचितम् ॥३६॥

व्याख्यार्थ—इन द्विजों सहित आप चरण रज से निमि के कुल को पवित्र कीजिए, यद्यपि आपको कुछ भी कार्य करने का परिश्रम न होगा, केवल यहाँ विराजमान होने से आपकी चरण रज निमि के कुल के परिश्रमण के स्थान में पड़ेगी जिससे सर्व कुल पवित्र होजाएगा इसलिए ही यह प्रार्थना है, इससे इस कुल में उत्पन्न सब पवित्र होकर कृतार्थ होंगे, आपको यहाँ विराजने की प्रार्थना इसलिए की है कि, उस वंश के सम्बन्ध से जो मुझ पर ऋण है वह उतर जावे यों सूचित किया है ॥३६॥

आभास—तथैव भगवान् कृतवानित्याह इत्युपामन्त्रित इति ।

आमासर्थ—भगवान् ने वैसा ही किया, अर्थात् वहाँ कुछ समय विराजे जिसका वर्णन 'इत्युपामन्त्रितो' श्लोक में करते हैं,

श्लोक—इत्युपामन्त्रितो राजा भगवाँल्लोकभावनः ।

उवास कुर्वन्कल्याणं मिथिलानरयोषिताम् ॥३७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार राजा के आमन्त्रण मिलने से, लोक को अपना अनुभव कराने के लिए तथा मिथिला के स्त्री पुरुषों का कल्याण करते हुए भगवान् वहाँ विराजे ॥३७॥

सुबोधिनी—तत्र हेतुः लोकभावन इति । त्रापि स्थितः । प्रयोजनान्तरमप्याह मिथिला-
लोकानेवानुभावयति तत्र निमिकुलानुभावने कः नरयोषितां कल्याणं कुर्वन्निति । ज्ञानिनस्ते नात्य-
प्रयास इत्यर्थः । भगवान् स्वयं स्थितः स्वधर्म न्तमुत्सवं जानन्ति । अतस्तेषामुत्सवसिद्धयर्थं
तत्र योजयति । अतोऽनुभावः संपद्यते । तदर्थम- कियत् कालं तत्र स्थितः ॥३७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् वहाँ निमन्त्रण मिलने पर विराजे, जिसका हेतु है कि आप लोक को अनुभव कराने वाले हैं, अर्थात् वहाँ के लोगों को भी अनुभव कराने केलिये विराजे, जहाँ आप लोक को अनुभव कराते हैं । वहाँ निमि के कुल को अनुभव कराने में कौनसा प्रयास है, यों तात्पर्य है, भगवान् स्वयं स्थित होकर अपना धर्म लोक में डालते हैं, जिससे उसको (लोक को) भगवान् का अनुभव हो जाता है, इसलिए यहाँ भी विराजे, दूसरा प्रयोजन भी प्रकट करते हैं कि मिथिला के नर और नारियों का कल्याण करते हुए विराजे, वे जानी हैं इसलिए उत्सव को विशेष नहीं जानते हैं, अतः उनको उत्सव का ज्ञान हो इसलिए कुछ काल वहाँ ठहरे ॥३७॥

आभास—प्रासङ्गिकं निरूप्य प्रस्तुतं निरूपयति श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तमिति ।

आभासार्थ—प्रासङ्गिक राजा की कथा का निरूपण कर चालू विषय का निरूपण 'श्रुत-
देवोऽच्युतं प्राप्त' श्लोक से करते हैं,

श्लोक—श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहाज्जनको यथा ।

नत्वा मुनीन्सुसंहृष्टो धुन्वन्वासो ननर्त ह ॥३८॥

श्लोकार्थ—अपने घर में पधारे हुए भगवान् को और मुनियों को श्रुतदेव ने
वैसे प्रणाम किया जैसे जनक ने किया, जिससे वह अत्यन्त प्रसन्न होकर वस्त्रों को
धुमाते हुए नाचने लगा ॥३८॥

सुबोधिनी—नन्वह दरिद्रः कथं भगवन्तं नयामोति न विचारितवान् किन्तु यथा जनकः ननर्त आनन्दात् । स्वस्यात्युपचारो जात इति जापयितुं नमनम् । आगमनेनवान्तः परमानन्दश्च प्रवृत्तः । इदं भक्तानां कार्यं शास्त्रानुसारिणाम् । ॥३८॥

व्याख्यार्थ—मैं दरिद्री गरीब) भगवान् को किस प्रकार अपने घर में पधारा सकूंगा ऐसा विचार श्रुतदेव ने किया ही नहीं किन्तु जनक के समान बन गया बल्कि उससे भी अधिक हो गया। इसलिए कहा है कि 'मुनीन् नत्वा मुनींश्च प्राप्तं दृष्ट्वा वासो धुन्वन् ननर्त आनन्दात्' मुनियों को प्रणाम कर और मुनियों को पधारे हुए देख, वस्त्रों को धुमाते हुए नाचने लगा, मुनि पधारे है, यह मुझ पर बहुत उपकार हुआ है, यों जताने के लिए उपकार करने वाले मुनियों को प्रणाम किया है, उनके पधारने से ही भीतर परमानन्द प्रवृत्त हो गया है, नृत्य वे भक्त करते हैं, जो भक्त शास्त्रों का अनुसरण करते हैं, अर्थात् शास्त्र मर्यादा पालते हैं ॥३८॥

आभास—ततो यथासम्भवं पूजां कृतवानित्याह तृणपीठवृषीष्विति ।

आभासार्थ—पश्चात् जितनी हो सकी उतनी पूजा की 'तृणपीठ' श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—तृणपीठवृषीष्वेतानानीतानुपवेश्य सः ।

स्वागतेनाभिनन्द्याङ्घ्रीन्सभायोंऽवनिजे मुदा ॥३९॥

श्लोकार्थ—तृण, पीठ और चटाईयाँ ला उन पर उनको विराजमान कर पश्चात्
सर्व प्रकार स्वागत कर स्त्री के साथ उस ब्राह्मण ने प्रसन्नता से चरण धोए ॥३९॥

सुबोधिनी—भगवदासने स्वहृदयमेव मन्यते । केषांचित् वृषीः । ऋषीणामासनं वृषीति । मुनीनां च सिंहासनः।पेक्षया तादृशान्येव प्रियाणि, कोमलकुशः चतुरस्रं पञ्चलम्बमानपुच्छाकारं न हि तपोयुक्तानां ग्राम्याः पदार्थाः प्रियहेतवो क्रियते । तेषु आनीतानुपवेश्य ततः स्वागतेनाभि- भवन्ति । अतस्तृणपीठादिकमेव तेषां प्रियम् । नन्द्य सभायः अङ्घ्रीन् अवनिजे ॥३९॥ केषांचिदथ तृणान्येव दत्तवान् । केषांचित्पीठानि ।

व्याख्यार्थ—भगवान् को विराजमान करने के लिए अपने हृदय को ही सिंहासन बनाया, मुनियों को तो सिंहासन से विशेष प्रिय तृणासन पीढ़े और चटाई हैं, सिंहासन जो गाम्भ्य है, वे तपस्वियों को प्रिय नहीं है, किसी को तृणासन दिए किसी को पीढ़े और किसी को चटाईयाँ दी, ऋषियों का आसन इसी प्रकार का होता है, कोमल कुशों से चतुरस्र बनाया हुआ जिसके पोछ में नृत्य करते हुए मोर की पूञ्छ के समान गोलाकार आकृति होती है, वैसा आसन ही मुनियों को उचित है, उन पर विराजमान कर पश्चात् स्वागत से अभिनन्दन कर, बाद में स्त्री सहित ही उनके चरण चोए ॥३६॥

आभास—राजवदुपचारं कदाचिन्न करिष्यतीत्याशङ्क्या पुनरुच्यते ब्राह्मणत्वात् ।
अतः पुनराह तदम्भसेति ।

आभासार्थ—ब्राह्मण होने से कदाचित् राजा के समान स्वागत न किया हो, अतः निम्न श्लोक में वह विधि बताते हैं,

श्लोक—तदम्भसा महाभाग आत्मानं सगृहान्वयम् ।
स्नापयांचक्र उद्धर्षो लब्धसर्वमनोरथः ॥४०॥

श्लोकार्थ—जिसके सर्व मनोरथ सिद्ध हो गए हैं, ऐसे उस महाभाग ब्राह्मण ने, बहुत ही प्रसन्न हो चरणों के जल से घर व कुटुम्ब सहित अपने शरीर को स्नान कराया ॥४०॥

सुबोधिनी—स्त्रीपुत्रादिसहितमात्मानं स्नापयांचक्रे । तस्य धर्मजनकत्वात्संतोषजनकत्वं न भविष्यतीत्याशङ्क्याऽऽह उद्धर्ष इति । उद्गतो	हर्षो यस्येति । फलार्थमेवं करोतीति चेत् तत्राह लब्धसर्वमनोरथ इति । चरणोदकप्राप्त्यैव सर्व मनोरथाः प्राप्ता इति ॥४०॥
---	--

व्याख्यार्थ—स्त्री पुत्रों सहित अपने को उस चरण जल से स्नान कराया, इससे केवल धर्म होने से सन्तोष न हुआ होगा, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है, कि 'उद्धर्षः' विशेषण दिया है, जिसका भावार्थ है कि चरण जल के स्नान से कुटुम्ब सहित उस ब्राह्मण के हृदय में हर्ष उत्पन्न हो गया, अर्थात् वे सब इस स्नान से अपने को पवित्र एवं भाग्यवान् समझने से प्रसन्न हुए, यदि कहो कि फल के लिए यों करता है तो कहते हैं कि नहीं क्योंकि चरणोदक प्राप्ति से ही उनके सर्व मनोरथ पूर्ण हो गए थे, अर्थात् फल प्राप्ति तो हो गई थी ॥४०॥

आभास—ततः समाराधनमाह फलार्हणेति ।

आभासार्थ—पश्चात् 'फलार्हण' श्लोक से पूजा करने का वर्णन करते हैं,

श्लोक—फलार्हणोशीरशिवामृताम्बुभि-
मृदा सुरम्या तुलसीकुशाम्बुजैः ।

आराधयामास यथोपपन्नया

सपर्यया सत्त्वविवर्धनान्धसा ॥४१॥

श्लोकार्थ—फल, पूजा की सामग्री, खस से सुगन्धित अमृत सम सुख देने वाला मिष्ट जल, सुगन्ध वाली मिट्टी, तुलसी, दर्भ कमल, सत्व गुण को बढ़ाने वाला अन्न आदि और जो बन सकी ऐसी पूजा से उनका सत्कार आदि किया ॥४१॥

सुबोधिनी—फलान्यर्हणसाधनानि । तानि फलार्हणानीत्युच्यन्ते । उत्तमानि फलानीत्यर्थः । उशीराणि च सुगन्धानि तत्सहितं शिवामृताम्बु पर्यवसानसुखदं अमृतं मिष्टं च । ततो हस्तपाद-प्रक्षालनार्थं मृत्सुरभिः परिमलयुक्ता ततः पूजार्थं तुलसीकुशाम्बुजानि तैः यथाशास्त्रमाराधयामास

पूजां कृतवान् । यथोपपन्नया सपर्ययेति एतत्सा-धनमपि न क्लेशेन कृतवान् किन्त्वनायासेनैव सिद्धैव सामग्री । किञ्च । पूजानन्तरं तादृशमन्धः अन्नं दत्तवान् । येन सत्त्वगुणो वर्धते । शिलो-च्छ्वत्त्या सप्तादिननीवाराद्योदनम् ॥४१॥

व्याख्यार्थ—‘फलार्हणानि पद का आशय है कि जो उत्तम सुन्दर फल पूजा के साधन ‘उशी-राणि’ सुगन्धवाले पदार्थों, उनसे युक्त ‘शिवामृताम्बु’ अन्त में सुखदायी मिष्ट जल, अनन्तर हस्तपाद प्रक्षालनार्थं सुगन्धीवाली मृत्तिका, उसके बाद पूजा के लिए तुलसी, कुश और कमल, इनसे शास्त्रानुसार उनकी पूजा की, ये साधन भी बिना ही श्रम जंमे मिले वैसे लाए गए थे, पूजा करने के पश्चात् वैसे अन्न से भोजन कराया, जिसमें सत्त्वगुण बढ़ता है, वह अन्न बताते हैं कि शिलोच्छ्वत्ति से लाए हुए चावल आदि थे, अतः शुद्ध होने से सात्त्विक भोजन था ॥४१॥

आभास—एवं पूजां कृत्वा दुर्लभ भगवद्दर्शनं मम कथं जातमिति मानसिकपूजार्थं तस्यालोचनमाह स तर्कयामासेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार पूजा कर, फिर विचार करने लगा कि, भगवान् का दर्शन तो दुर्लभ है, वह मुझे कैसे हुआ ? इसी तरह मानसिक पूजा के लिए आलोचना निम्न श्लोक में करने लगा —

श्लोक—स तर्कयामास कुतो ममान्वभूत्

गृहान्धकूपे पतितस्य संगमः ।

यः सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः

कृष्णेन चास्यात्मनिकेतभूसुरैः ॥४२॥

श्लोकार्थ—उसने विचार किया कि श्रीकृष्ण और उनके अपने आश्रय रूप भू देव, जिनके चरण रजों में सर्व तीर्थ रहते हैं, उनसे, गृह के अन्धेरे कूप में रहने वाले मेरा जो मिलाप हुआ, उसका क्या कारण है ? ॥४२॥

सुबोधिनी—साधने सांते साध्य भवति । गृहान्धकूपे पतितस्य मम साधनसमाप्तिः सुवर्ण-शृङ्खलावत् सात्त्विकमपि गृहमन्धकूपप्रायमेव । स्वपरासद्ग्रहात् । तदेव निस्तारकं यद्भेदबुद्धि-निवर्तकं अतो गृहान्धकूपे पतितस्य कृष्णेन मुनि-भिर्वा कथं संगमः । कृष्णस्य दुर्लभत्वं सर्ववादि-संमतम् । मुनीनामपि तथात्वमाह यः सर्वतीर्थ-

स्पदपादरेणुभिर्भरति । ब्राह्मणपादरेणुषु सर्वाणि तीर्थानि वसन्तीति । न केवलमेतावानेवोत्कर्षः किन्त्वस्य भगवतः आत्मनः निकेतनरूपाः आश्रयभूता ये भूसुराः ब्राह्मणाः भूमावेव देव-भावं प्राप्ता इति फलम् । भगवत्स्थानत्वेन साध्योत्कर्षः तीर्थत्वेन साधनोत्कर्षश्चेति ॥४२॥

व्याख्यार्थ—साधन होता है तब साध्य की प्राप्ति होती है, मेरा साधन तो गृह के अन्ध कूप में पड़ना है, अर्थात् गृह रूप अन्धकार के कूप में गड़ा हूँ यही साधन है, यदि गृह सात्त्विक हो तो भी अन्धकूप होने से वह सोने की शृङ्खला की तरह बन्धन ही करता है, क्योंकि अग्ना और पराया ऐसा असत् आग्रह रहता ही है, वह ही संसार से निकालने में समर्थ है, जो भेद बुद्धि को मिटा दे, वह गृह तो भेद बुद्धि बढ़ाता ही है, उसमें आसक्त मेरा श्री कृष्ण से और मुनिओं से संगम कैसे हुआ ? कृष्ण से संगम दुर्लभ है, यों तो सर्व वादी मानते हैं, और मुनिओं का भी संगम उसी तरह दुर्लभ है, क्योंकि उनके चरणों की रज में सर्व तीर्थ रहते हैं, मुनियों का केवल इतना ही उत्कर्ष नहीं है, किन्तु इससे भी विशेष यह है, कि वे भगवान् के निकेतन हैं अर्थात् भगवान् उनमें विराजते हैं, जिससे वे पृथ्वी के देव कहे जाते हैं, यों फल है अतः मुनिओं में साधन और साध्य दोनों का उत्कर्ष है, भगवान् के वास स्थान से साध्य रूप से उत्कर्ष है और तीर्थ रूप होने से साधनोत्कर्ष है ॥४२॥

आभास—ततो भगवन्तं स्तोतुं उपक्रान्तवानित्याह सूपविष्टानिति ।

आभासार्थ—पश्चात् भगवान् की स्तुति करने का उपक्रम 'सूपविष्टान्' श्लोक में करने लगे,

श्लोक—सूपविष्टान्कृतातिथ्यान् श्रुतदेव उपस्थितः ।

सभार्यः स्वजनापत्य उवाचाङ्घ्र्यभिमर्शनः ॥४३॥

श्लोकार्थ—आतिथ्य हो जाने के अनन्तर सुख से विराजमान हुए मुनियों के पास, श्री कृदुम्ब और पुत्र सहित उपस्थित होकर, भगवान् के चरणों को पकड़ के श्रुतदेव यों कहने लगा ॥४३॥

सुबोधिनी—सत्त्वसाधकत्वात् अस्यान्नस्याग्रे दुःखजनकत्वाभावात् सम्यगुपवेशनमात्रेणैव पूजा-समाप्तिः सूचिता । तदेवाऽऽहकृतातिथ्यानिति । कृतमातिथ्यं येभ्यः तानुपसमीपे स्थितः सभार्यः

सर्वथाप्यरक्षितसूक्ष्मांशः स्वजनाः अपत्यानि च यस्येति भार्यास्वजनापत्यसहितः ततो भगवतः अङ्घ्र्यभिमर्शणः चरणं स्पृशन् वाचा स्तोत्रं कृतवानित्याह ॥४३॥

व्याख्यार्थ—श्रुतदेव का अन्न सत्त्व गुण को सिद्ध करने वाला होने से कभी भी दुःख का जनक नहीं होगा, भोजन के अनन्तर अच्छे प्रकार विराजमान करने से पूजा की समाप्ति की सूचना

को है, इसलिए ही कहा है कि 'कृतातिथ्यान्' जिनका आतिथ्य किया गया है, उनके पास श्रुतदेव आकर खड़ा रहा, साथ में स्त्री, स्वजन और पुत्र भी थे। वे भी वहाँ खड़े हो गए, स्त्री आदि को भगवान् से छुपा के नहीं रखे थे पश्चात् भगवान् के चरणों को छूते हुए वाणी से निम्न प्रकार स्तुति करने लगा ॥४३॥

आभास—राजवदयमपि षड्भिर्भगवन्तं स्तौति अद्य नो दर्शनं प्राप्त इत्यादिभिः षड्भिः ।

आभासार्थ—यह ब्राह्मण भी राजा की तरह छः निम्न श्लोकों से भगवान् की स्तुति करता है,

श्लोक—श्रुतदेव उवाच—अद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः ।

यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया ॥४४॥

श्लोकार्थ—श्रुतदेव ने कहा कि आप परम पुरुष हैं, आप अपनी शक्तियों से इस जगत् को रचकर अपनी ही सत्ता से इसमें प्रविष्ट हुए हैं, उस स्वरूप के तो आप ने आज ही हम को प्रत्यक्ष दर्शन दिए हैं ॥४४॥

सुबोधिनी—यथा राजा निरूपितवान् तथैव प्रथममयं निरूपयति । दर्शनं त्वद्यैव प्राप्तवानसि । नाद्य नो दर्शनं प्राप्त इति पाठः क्वचित् । अद्यैव दर्शनं प्राप्तः नोऽस्माकम् । किन्तु । यदैवात्मसत्तया सर्वत्र प्रविष्टः तदव सर्ववस्तुषु दर्शनं प्राप्त-

वान् । हि युक्तश्चायमर्थः । एतादृशमेव सर्वत्र त्वां पश्यामीति । अथवा । दर्शनं चक्षुषा अद्यैव, शास्त्रतस्तु यः शक्तिभिः सृष्ट्वा आत्मसत्तया प्रविष्टः स कीदृश इति मनोरथ एव स्थितः । नतु कदाचिद्दृष्टः अद्यैव परं स दृष्ट इति ॥४४॥

व्याख्यानार्थ—जैसे राजा ने प्रथम निरूपण किया वैसे ही, यह भी निरूपण करता है दर्शन तो आज ही आपने दिए हैं, किसी पुस्तक में यों 'नाद्य नो दर्शनं प्राप्त' पाठ है जिसका पदार्थ होता है कि आपने आज हमको दर्शन नहीं दिए हैं, किन्तु जब ही यह मृष्टि रचकर अपनी सत्ता से सबमें प्रविष्ट हुए थे, तब ही सर्व वस्तु रूप आपका दर्शन हो गया था, 'हि' शब्द से कहते हैं कि यह अर्थ उचित है वैसे ही आपको सर्वत्र देख रहा हूँ, अथवा नेत्रों से उस स्वरूप का दर्शन तो आज ही हुआ है, आगे तो शास्त्र से सुना था कि आप परम पुरुष अपनी शक्तियों से इस अनेक नाम रूप वाले जगत् को रचकर अपनी आत्म सत्ता से उसमें प्रविष्ट हुए हो, वह आप कैसे हैं ? अर्थात् आपका मूल आनन्द स्वरूप कैसा है ? वह मनोरथ में ही स्थित था, कभी भी देखा नहीं था अब आपने कृपा कर उस स्वरूप के दर्शन कराए हैं ॥४४॥

आभास—नन्वेकस्य सर्वत्र कथमनुप्रवेशः संभवति । सूर्यकिरणवदनुप्रवेशे वा

कथमन्योन्याननुसन्धानम् । तादृशस्य वा कथं सत्यत्वमिति शङ्काव्युदासार्थमाह
यथा शयानः पुरुष इति ।

आभासार्थ—एक का अनेक रूप बन जाने के बाद सर्वत्र सर्व में कैसे प्रवेश बन सकता है ? यदि कहो कि सूर्य की किरणों की भांति प्रवेश हुआ है तो परस्पर एक दूसरे का अनुसन्धान क्यों न रहे ? अर्थात् प्रत्येक यों क्यों नहीं जानता है कि जो भगवद्रूप मुझ में है वह ही सामने वाले दूसरों में भी है, ऐसा प्रवेश सत्य कैसे माना जावे ? ऐसी शङ्का को मिटाने के लिए 'यथा शयानः पुरुषः' श्लोक कहा है ।

श्लोक—यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया ।

सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नमनुविश्यावभासते ॥४५॥

श्लोकार्थ—जैसे सोया (सोता) हुआ पुरुष, अपनी माया द्वारा मन से ही स्वप्न में अन्य लोक को रचना कर उसमें प्रविष्ट हो प्रकाश पाता है ॥४५॥

सुबोधिनी—एकं स्वप्नमेव एक एव पश्यति । यानपि जीवतः स्वप्ने पश्यति तेषामप्यनुसंधान नास्ति स्वप्नश्च मायिक इति सिद्धम् । ततश्च स्वप्ने यावन्तो गजतुरगादयो दृश्यन्ते तेषामपि चैतन्यान्तराभावात् द्रष्टुरेव चैतन्यं संक्रान्तमिति मन्तव्यम् । श्रुतौ भगवच्चैतन्यमित्युक्तम् । प्रकृते जीवब्रह्मणोर्वैलक्षण्यं न निरूप्यत इति पदार्थ-निरूपणे जीववादो वा ब्रह्मवादो वा नातिरिच्यते, दोषनिरासगुणाधानभेदेन मतद्वयस्य समर्थित-त्वात् । अतो जीवः स्वयमेव स्वाप्नं सृष्ट्वा तत्रानु-

प्रविष्टः स्वात्मानमेकदेशस्थं मन्यते, अन्योन्यान-भिज्ञश्च भवति परमेतावान् विशेषः, तदज्ञानसृष्टि-इदं ज्ञानसृष्टिमिति । अतो भगवान् जानाति, जीवस्तु न जानातीति प्रकारस्तुल्य एव । तदाह यथा शयानः पुरुषः आत्ममायया सामग्र्या मन-सैव करणेन इमं च लोकं परं च सृष्ट्वा अस्माल्लो-कात्परं भिन्नं स्वाप्नं ततस्तमेवानुविश्य, अव-भासते देवतिर्यगादिरूपेण । अनेनैक एव भगवान् सर्वत्र भासते । परं सोढुं न दृष्ट इति ॥४५॥

व्याख्यानार्थ—एक पुरुष ही एक स्वप्न को देखता है, जिन जीवित प्राणिमयों को स्वप्न में देखता है, उनका भी उसको अनुसन्धान नहीं रहता है, स्वप्न मायिक है, तो भी उस समय देखने में आने वाले जीवों में एक ही चैतन्य है, जो स्वप्न देखने वाले में है, स्वप्न में जितने भी गज, अश्व आदि दिखते हैं उनमें भी दूसरा कोई चैतन्य नहीं है, क्योंकि श्रुति में भगवच्चैतन्य ही कहा गया है, इस चालू प्रसङ्ग में जीव और ब्रह्म के भेद का निरूपण नहीं किया गया है, पदार्थों का जब निरूपण किया जाता है तब जीव और ब्रह्म का भेदवाद वहां नहीं रहता है, जब दोषों का निरास और गुणों का आधान करने में आता है तब दोनों मतों का समर्थन किया जाता है, अतः जीव स्वयं ही स्वप्नसृष्टि रचकर उसमें प्रविष्ट होकर भी अपनी आत्मा को एक देश में स्थित मानता है, परस्पर अनजान रहता है, किन्तु इतना भेद है कि वह जीव की सृष्टि अज्ञानकृत है और यह भगवत्सृष्टि ज्ञान कृत है, अतः भगवान् इस कृति को समझते हैं, जीव नहीं जानता है, शेष रचना और प्रवेश का प्रकार समान ही है, वह दृष्टान्त देकर समझाते हैं, जैसे सोया हुआ पुरुष अपनी

माया रूप सामग्री से, मनरूप करण द्वारा इस लोक और परलोक की रचना कर, अर्थात् इस लोक से अन्य स्वायत्तिक लोक को बना के बाद में उसमें प्रवेश कर देव और तिर्यग् आदि रूपा से प्रकाशता है, वैसे एक ही भगवान्, जो सर्वत्र प्रकाशते हैं, उनके प्रत्यक्ष दर्शन आज ही हुए हैं ॥४५॥

आभास—ननु दर्शनसाधनानि बहूनि श्रूयन्ते को विशेष इति चेत्, तत्राह शृण्वतां गृणतामिति ।

आभासार्थ—यदि कहो, कि दर्शन के साधन अनेक हैं उनमें कौनसा साधन विशेष है ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'शृण्वतां गृणतां' श्लोक में कहा है,

श्लोक—शृण्वतां गृणतां शश्वदर्चतां त्वाऽभिवन्दताम् ।

नृणां संवदतामन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम् ॥४६॥

श्लोकार्थ—जो पुरुष निरन्तर आपके गुणादि का श्रवण करे, कीर्तन करे, आपकी ही पूजा करे, आपको ही प्रणाम करे, आप सम्बन्धी ही मनुष्यों के साथ चर्चा करे, उन शुद्ध अन्तःकरण वालों के हृदय में, आप प्रकाशित होते हैं ॥४६॥

सुबोधिनी—ये पञ्चविधां भक्ति कुर्वन्ति तेषां हृदये भासते न तु वहिः, मम तु बहिरपीत्वाधिक्यम् । संवदतामिति स्मरणं, सम्बन्धवदतामिति कीर्तनं वा । तदा गृणन् उच्चारयन् । सर्वदा भगवन्नामोच्चारणं कर्तव्यमिति । शश्वदित्युभयत्र संबध्यते । नास्ति द्वयं रूपे च द्वयमिति । उभयविधस्य संवदनं पञ्चमो । तेषां हृदि अन्तः तत्रापि सूक्ष्मतया भासि । ननु को विशेषः सर्वत्र वर्तसे

तथापि तेषामेव हृदये भासीति तत्राह अमलात्मनामिति । विद्यमानोऽपि मलिनदर्पण इव न प्रकाशसे । श्रवणादीनां तु चक्षुः संस्कारकत्वं चित्तसंस्कारकत्वं च । यथा केचन गुणाः दर्पणशोधकाः । केचन दृष्टिशोधका इति । तदुभयमत्रोक्तम् । अमलात्मनामिति रूपस्य दृष्टिशोधकत्वं नाम्नोऽन्तःकरणशोधकत्वमिति निर्णयः ॥४६॥

व्याख्यार्थ—जो पाँच प्रकार से भगवान् की भक्ति करते हैं, उनके हृदय में भगवान् भीतर ही प्रकाशते हैं, बाहर दर्शन नहीं देते हैं, मुझे तो बाहर ही दर्शन दे रहे हैं यह विशेषता है, 'संवदताम्' पद से स्मरण और इसका दूसरा अर्थ कीर्तन भी है, अथवा स्मरण और कीर्तन भक्ति करने वाले तथा भगवान् के नामों का सर्वदा उच्चारण करने वाले निरन्तर पद कह कर, यह बताया है कि इस प्रकार यह भक्ति नाम और रूप दोनों से सम्बन्ध रखती है, ऐसे भक्तों के हृदय में आप सूक्ष्मता से प्रकाशते हैं, इसमें क्या विशेषता है ? जबकि आप सर्वत्र हैं, तो भी उनके ही हृदय में प्रकाशते हैं जिसके उत्तर में कहते हैं कि वे निर्मल^१ अन्तःकरण वाले होते हैं जिनका हृदय मलवाला है, उनके हृदय में विराजते हुए भी प्रकाशते नहीं अर्थात् दर्शन नहीं देते हैं, जैसे मलीन दर्पण में बिम्ब का दर्शन नहीं होता है, श्रवणादि भक्ति नेत्र और चित्त आदि को निर्मल करती है, जैसे कितने गुण

दपणें को साफ करते हैं, कितने नेत्र के शोधक हैं, वे दोनों यहाँ कहे हैं, रूपदृष्टि के शोधक हैं और नाम अन्तःकरण के शोधक हैं, इस प्रकार निर्णय है । ४६॥

आभास — अन्येषां तु हृदये वतमानोऽपि न भासस इत्याह हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थ इति ।

आभासार्थ — अन्यो के हृदय में विराजते हुए भी प्रकाशते नहीं हो यह निम्न श्लोक में कहते हैं,

श्लोक—हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम् ।

आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यभ्युपेतगुणात्मनाम् ॥४७॥

श्लोकार्थ— यद्यपि आप हृदय में विराजते हैं, तो भी विक्षिप्त मन वाले पुरुषों के लिए बहुत दूर हो, अपने अन्तःकरण की शक्तियों से आपको कोई ग्रहण नहीं कर सकता है और जिन पुरुषों ने गुणों को ही आत्मा समझ लिया वे भी आपको ग्रहण नहीं कर सकते हैं ॥४७॥

सुबोधिनी— कर्मणा विक्षिप्त चित्तं येषाम् । न हि जलप्रतिबिम्बो जले चलति दृश्यते । यथा-तिदूरस्थो न दृश्यते तथा न दृश्यत इति धर्म-साम्यार्थं दूरस्थत्वं, अन्यथा दूरस्थोऽपि दृश्यत इति भगवद्दर्शनमुक्तं स्यात् । ननु कर्मविक्षेपे को दोषः संपद्यते येन हृदिस्थो न दृश्यत इति चेत्त-त्राह आत्मशक्तिभिरग्राह्य इति । यद्यपि अन्तः-करणादिषु भगवच्छक्तय एव भगवद्ग्राहिकाः सन्ति ताश्चेत्स्थिरा भवन्ति तदा भगवन्त पश्य-न्ति, कर्मविक्षेपे तु शक्तीनामन्यत्र विनियोगाद्भग-

वद्दर्शनं बाधितमित्यर्थः । तदा आत्मशक्तिभिर-ग्राह्यो भवतीति हेतुः । शुद्धानामपि कर्मविक्षेपे भगवद्दर्शनमुक्तम् । नन्वेवं सति जडानां कर्म-विक्षेपरहितानां भगवद्दर्शनं स्यादित्याह अभ्युपे-तगुणात्मनामिति । आभिमुख्येनाभितः सर्वतो वोपेताः स्वीकृताः गुणा एव आत्मा येन । भग-वान् गुणाश्चेति कोटिद्वयम् । सत्त्वादीनामात्मत्वे जडो भवति जडात्मस्वीकारात् । भगवत आत्म-त्वग्रहणे चेतनो भवति । अतो यैर्जडात्मता स्वी-कृता तेषामप्यग्राह्य इत्यर्थः ॥४७॥

व्याख्यानार्थ— कर्म से जिनका चित्त विक्षेप वाला हो गया है वैसे पुरुषों को आपके दर्शन नहीं होते हैं । जैसे जिस समय जल चलायमान होता है, उस समय जल में पड़ी हुई परछाई (प्रतिबिम्ब) दीखती नहीं है, जैसे बहुत दूर स्थित पुरुष देखने में नहीं आता है, वैसे ही भगवान् के भी दर्शन नहीं होते हैं, धर्म की समानता के लिए दूर होना कहा है यदि धर्म की समानता न होवे तो दूरस्थ भी देखने में आजावे, यदि यों कहो तो कहते हैं कि 'आत्मशक्ति भिरग्राह्यः' अन्तःकरणादि में जो भगवान् की शक्तियाँ हैं वे भगवान् का ग्रहण करती हैं अर्थात् दर्शन कर सकती हैं वे तब ग्रहण कर सकती हैं जब वे स्थिर होती हैं, यदि वे कर्म से विक्षिप्त होके भगवद् अतिरिक्त पदार्थों में आसक्त हो

जाती है, तब भगवद्दर्शन में रुकावट हो जाती है अर्थात् तब उनकी अपनी अन्तःकरण की शक्तियों से भगवद्दर्शन नहीं हो सकता है शुद्ध होते हुए भी यदि कर्म से विक्षेप वाला हो जाय तो भगवद्दर्शन नहीं कर सकता है तब तो जो जड़ हैं, जिनको कर्म से विक्षेप होता ही नहीं है, उनको भगवान् का दर्शन होना चाहिए, इस पर कहते हैं कि 'अभ्युपेतगुणात्मनां' जिन्होंने गुणों को आत्मा रूप से ग्रहण किया है, उनको भी भगवान् के दर्शन नहीं होते हैं, जड़ों ने गुणों को आत्म स्वरूप से ग्रहण किया है अतः उनको दर्शन हो नहीं सकता, तात्पर्य यह है कि जो जोव मत्वादिगुणों को आत्म स्वरूप मानते हैं वे जड़ हो जाते हैं। भगवान् को आत्म रूप जानने वाले चेतन होते हैं, अतः जिनने जड़ात्मत्व स्वीकार किया है उनको भी आप अप्राप्त हैं ॥४७॥

आभास—एवं भगवतो दुर्लभं दर्शनमिति समर्थयित्वा तस्मिन् जाते प्रत्युपकारार्थं बहु कर्तव्यमिति विचार्य अन्यस्याशक्यत्वात् नमस्कारमेव करोति नमोऽस्तु त इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के दर्शन दुर्लभ हैं यों समर्थन कर उस दुर्लभ दर्शन की प्राप्ति हुई, जिसका बदला चुकाने के लिए बहुत कर्तव्य हैं, यों विचार कर अन्य करने की शक्ति नहीं होने से 'नमोस्तु' श्लोक से नमस्कार करता है ।

श्लोक—नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने

अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ।

सकारणाकारणलिङ्गमोयुषे

स्वमायया संवृतखट्वदृष्टये ॥४८॥

श्लोकार्थ—जो अध्यात्म जानने वाले हैं, उनकी आप परात्मा हैं, अर्थात् जो ब्रह्म की एकात्मता जानते हैं, उनकी आप परम आत्मा हैं, जिनकी दूसरी आत्मा नहीं है, अर्थात् जो स्वयं आत्ममानी जानी हैं उनकी आप ही आत्मा हैं, और जो आत्मा में भेद मानते हैं उनके लिए आप मृत्यु रूप हैं, आप भगवान् नित्य स्वरूप हैं तो भी अनित्य जो काल आदि जगत् है, उसको भी धारण करते हैं, फिर भी अपनी माया से आत्मस्वरूप को प्रच्छिन्न कर रखा है ॥४८॥

सुबोधिनी - कीदृशो भगवानिति संदेहे नमस्करणीयनिर्द्वारमाह अध्यात्मविदां परात्मन इति । ये अध्यात्मविदः ब्रह्मात्मत्वैकत्वविदः तेषामात्मानुभवयुक्तानां पर उत्कृष्टः आत्मा आत्मनामात्मेति । ननु ब्रह्मविदामात्मनामात्मा चेद्भगवान् नदा भगवतोप्यन्य आत्मा स्यादत आह अनात्मन इति । न विद्यते अन्यः आत्मा यस्य । एव ये जाननिष्ठाः तेषामात्मत्वेन प्रकाश-

मानत्वमुक्त्वा ये न जानिनः तेषामयमेव काल-रूपेण मृत्युं प्रयच्छतीत्याह स्वात्मविभक्तमृत्यवे इति । स्वात्मन्येव ये विभक्ताः आत्मभेदं कृत्वा स्थिताः तेषां मृत्युः । 'ब्रह्म त परादात्' इत्यादि श्रुतिभिः ब्रह्मक्षत्रादिरूपत्वादात्मनः आत्मघाती दण्ड्य इति तादृशस्य वधं करोतीति युक्तमेव । जानिनां तु जानोत्तर पूर्वकृतदोषनिवृत्तिः । भक्तावपि भगवत्स्मरणादिना तन्नाशः । ननु

भेदस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वान् तथाङ्गीकर्तुः को दोष इति चेत् तत्राह सकारणाकारणलिङ्गमोयुष इति । एक एव भगवान् नित्यमनित्यं च जगद्रूपं शरीरं गृह्णाति । कालादयो नित्याः । घटादयो अनित्या इति । उभयमपि भगवच्छरीरम् । नन्वेवं सति कथं सर्वो न प्रतिजानीते तत्राह स्व-

मायया संवृतस्त्वदृष्ट्य इति । स्वमायया कृत्वा उभयशक्तिरूपया कृत्वा आत्मा संवृतः, ज्ञान-शक्तिश्च रुद्धा, यथेन्द्रियं पिबते, घट आच्छादयति ! अन्यथा आत्मप्रकाशेनैवातिपुष्टेन पिहितेपि ज्ञाने प्रकाशः स्यात् । ज्ञानापिधाने वा पिहितमप्यात्मान पश्येत् । अत उभयं मायाकार्यम् । ४८॥

व्याख्यार्थ—नमन करने योग्य भगवान् किस प्रकार के हैं ? जिसका निर्णय करते हैं, ब्रह्म और जीव की एकात्मता जानने वालों की अर्थात् जो आत्मा का अनुभवो है उनको आप उत्कृष्ट आत्मा हैं अर्थात् आत्माओं की मूल आत्मा भगवान् आप हैं। यदि ब्रह्म वेत्ताओं को आत्मा की आत्मा भगवान् हैं तो भगवान् की भी आत्मा कोई अन्य होनी चाहिए, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'अनात्मनः' जिस भगवान् की अन्य आत्मा नहीं है, इस प्रकार जो ज्ञाननिष्ठ हैं उनको आत्मत्वेन प्रकाशमान कहकर कर अब कहते हैं कि जो ज्ञानी नहीं हैं, उनके लिए यह ही काल रूप से मृत्यु देते हैं, 'स्वात्म विभक्त मृत्युव इति' अपनी आत्मा में ही जो विभक्त हैं, अर्थात् आत्मा में भेद करते हैं उनके लिए मृत्यु है, जिसमें प्रमाण 'ब्रह्म तं परादात्' आदि श्रुतियों के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि रूप आत्मा हैं इस प्रकार भेद दृष्टि वाले आत्मा की हत्या करने वाले दण्ड के योग्य हैं, इस कारण से भगवान् ऐसे पुरुषों का वध करते हैं, यह उचित ही है, इस कारण से भगवान् ऐसे पुरुषों का वध करते हैं, यह उचित ही है, ज्ञान होने के अनन्तर ज्ञानियों के पूर्व दोष नष्ट हो जाते हैं, भक्ति में भी भगवत्स्मरण से पहले किये हुए दोष मिट जाते हैं, भेद तो प्रत्यक्ष दिख रहा है, इस भेद को जिसने मान लिया उसने कौनसा दोष किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'सकारणाकारणलिङ्ग मोयुष इति' एक ही भगवान् नित्य हैं, वह ही अनित्य जगत् रूप शरीर धारण करते हैं, काल आदि रूप नित्य हैं और घट आदि अनित्य हैं, दोनों शरीर भगवान् के हैं । यदि यों है तो सब क्यों नहीं इस प्रकार जानते हैं ? जिसका समाधान करते हैं कि उभय शक्ति रूप अपनी माया से आत्मा का आच्छादन कर दिया है और दृष्टि को रोक रखी है, इस प्रकार ज्ञान शक्ति तिरोहित कर दी है, जिससे इन्द्रिय को बन्द कर दिया है, और घट को ढक दिया है, नहीं तो अतिपुष्ट आत्म प्रकाश से ही, ज्ञान तिरोहित होते हुए भी प्रकाश हो जाए अर्थात् आत्मा देखी जाए, अथवा ज्ञान दृष्टि रुकी हुई न हो आच्छादित भी आत्मा दृष्टि गोचर हो सके, अतः यह दोनों कार्य माया के हैं । ४८॥

आभास—एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा नमस्कृत्य तादृश प्रार्थयते स त्वं शाधीति ।

आभासार्थ—इसी तरह भगवत्स्वरूप का वर्णन कर, ऐसे भगवान् को नमनकर 'स त्वं शाधि' श्लोक में प्रार्थना करता है,

श्लोक—स त्वं शाधि स्वभृत्यान् किं देव करवाम ते ।

एतदन्तो नृणां वलेशो यद्भवानक्षगोचरः ॥ ४९ ॥

श्लोकार्थ—हे देव ! वैसे आप अपने सेवकों की रक्षा करो, हम सेवक आपकी

क्या सेवा करें ? वह आज्ञा दीजिए, आपके दर्शन होने से ही मनुष्यों के क्लेश कट जाते हैं ॥४६॥

सुबोधिनी — स्वभृत्यानित्याज्ञापनावश्यक-
त्वम् । शास्त्रद्वारा कर्तव्यमुपदिष्टमिति चेत्, तत्राह
किं देव करवाम त इति तुभ्यं किं करवाम ।
शास्त्रे तु स्वार्थं निरूपितम् । ननु स्वार्थमेव
क्रियतां किं मदर्थेनेत्याशङ्क्याह एतदन्तो नृणां

क्लेश इति । एतादृशदर्शनान्त एव प्राणिनां
दुःखानुभवः । न हि प्रसन्ने भगवति दृष्टे कस्य-
चिद्दुःखं संभवति । अतः स्वार्थं नापेक्ष्यत इति
दासत्वात्स्वामिकार्यमेव कर्तव्यमत आज्ञापये-
त्यर्थः ॥४६॥

व्याख्यानार्थ—हम आपके दास हैं इसलिए सेवा के लिए आज्ञा देनी आपको आवश्यक है, यदि
कहो कि शास्त्र द्वारा कर्तव्य का उपदेश दे दिया है, इस पर मेरा कहना यह है, कि सत्य है, किन्तु
वहाँ तो हमारे अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए कर्तव्यों का उपदेश दिया है, यदि कहो कि अपने लिए ही
करो, तो इसका उत्तर यह है कि वे कर्तव्य हमारे क्लेशों के नाशार्थ हैं, जबकि आपके आनन्दमय
स्वरूप के साक्षात् दर्शन हुए हैं तब सर्व प्रकार के क्लेश कट गए, फिर उन कर्तव्यों की आवश्यकता
नहीं, अब तो हम सेवकों को जो कुछ करना चाहिए वह आपके लिए और आप की आज्ञानुसार
करना चाहिए, अतः आज्ञा दीजिए क्या करें ॥४६॥

आभास—भगवांस्तु तस्येच्छालक्षणदुःखदूरीकरणार्थं स्वस्य सेवां निरूपयतीत्याह
तदुक्तमिति ।

आभासार्थ—भगवान् के सेवक को जो इच्छा है वह पूर्ण न होगी, तो उसको दुःख होगा यों
जानकर उस दुःख के नाशार्थ अपनी सेवा का निरूपण किस प्रकार किया है वह 'तदुक्तमित्यु-
पाकर्ण्य' श्लोक में शुक कहते हैं,

श्लोक—श्रीशुक उवाच - तदुक्तमित्युपाकर्ण्य भगवान्प्रणतातिहा ।

गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रहसंस्तमुवाच ह ॥५०॥

श्लोकार्थ श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि श्रुतदेव के ऐसे वचन सुनकर शरणागत
भक्तों के दुःख हर्त्ता, भगवान् हँसते हुए अपने हाथ से उसके हाथ को पकड़ उसको
कहने लगे ॥५०॥

सुबोधिनी—गृहीत्वा पाणिना पाणिमिति
स्वतुल्यता निरूपिता । ततो यत्स्वकर्तव्यं तदेवो-
पदेक्ष्यति न सेवककर्तव्यमिति लक्ष्यते । प्रहस-
न्निति कृतकृत्यत्वात् न तव किञ्चित् कर्तव्यं,
येनैतावत्त्र जातं कर्तव्यं चेत् तदेव कर्तव्यम् । इदं

च फलम् । तथापि यत् पृच्छति, तदा यथा मया
लोकसंग्रहार्थं क्रियते व्यामोहार्थं वा तथायमपि
करोत्विति भावः । हेत्याश्चर्यं । एतादृशमपि
भगवान् स्वसेवायां न प्रेरयतीति स्वसेवाया
दुर्लभत्वं द्योतितम् ॥५०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने अपने हाथ से उसके हाथ को पकड़ कर यह दिखाया है कि यह भक्त मेरे समान है यों करने का गूढ भावार्थ यह दिखता है कि अब भगवान् उसको, जो अपना कर्त्तव्य है, वही कहेंगे, न कि सेवक का कर्त्तव्य । भगवान् हँसने लगे, जिसका भाव यह है, कि अब तू कृत-कृत्य हो गया है, अतः तेरे लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, फिर यदि करता है, तो जिससे यह फल प्राप्त हुआ वह ही कर्त्तव्य है, वह फल भगवान् का दर्शन है, फिर भी यदि श्रुतदेव पूछ रहा है तो जैसे मैं लोक सङ्ग्रहार्थ अथवा उनको मोहित करने के लिए कर्म कर रहा हूँ वैसे यह भी करे, वैसे भाव है 'ह' पद आश्चर्य अर्थ में दिया है, जिसका भाव है कि आश्चर्य है कि प्रभु श्रुतदेव जैसे भक्त को भी अपनी सेवा का उपदेश नहीं देते हैं, जिससे जाना जाता है कि 'सेवा' दुर्लभ है ॥५०॥

आभास—अत्र भगवानिति मन्यते । समागता ब्राह्मणाः तांश्चायमात्मतुल्यान् मत्वा तथा न मन्यते तदा समागतानां क्षोभो भवेत्, स मा भवत्विति तेषां संबोधयति । समता तु स्वस्मिन्नेव स्थापिता । अतोऽहं परं तथा न पूजनीयः किन्त्वेत एव पूजनीया इत्युपदिशति ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहाथयिति सप्तभिः।

आभासार्थ—यहां भगवान् को यह विचार हुआ कि मेरे साथ आए हुए इन ब्राह्मणों को श्रुतदेव अपने समान समझ इनकी पूजा न करेगा तो इनको दुःख होगा, वह दुःख इनको न होवे, इसलिए प्रभु श्रुतदेव को इन ब्राह्मणों का स्वरूप बताते हैं, इस (श्रुतदेव) को अपने साथ जो समानता भगवान् ने की है वह गुप्त रखी है, इस वास्ते 'ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय' श्लोक से लेकर सात श्लोकों में उपदेश देते हैं कि हे श्रुतदेव ! मैं विशेष पूजा योग्य वैसा नहीं हूँ, जैसे कि, ये ब्राह्मण पूजा के योग्य हैं ।

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय संप्राप्तान्विद्धमनुनीन् ।
संचरन्ति मया लोकान्पुनन्तः पादरेणुभिः ॥५१॥

श्लोकार्थ—भगवान् ने कहा कि, हे ब्रह्मन् ! इन मुनियों को अपने पर अनुग्रह करने के लिए आया हुआ जान, ये मुनि अपने चरण रजों से लोगों को पवित्र करते हुए मेरे साथ विचरण कर रहे हैं ॥५१॥

सुबोधिनी—यावान् धर्मः स्वस्य सर्वश्रुति-प्रतिपाद्यः तावान् ब्राह्मणेषु निरूप्यते । तद्रूपोऽपि भगवानिति वाक्यं न बाधितविषयम् । इमान् मुनीन् तेऽनुग्रहार्थाय समागतान् विद्धि न तु प्रसङ्गात्, अन्यार्थं ते वा समागताः । ननुभयोः

समागमनं प्राधान्येन कथमेकस्मिन्कार्ये संभव-तीति चेत्तत्राऽऽह संचरन्ति मया लोकानिति । मया सह एते लोकान् संचरन्ति । तेन सहभावो मम प्राधान्यमेतेषामेवेति निरुक्तम् । एतेषां पावनप्रकारमाह पादरेणुभिरिति ॥५१॥

व्याख्यार्थ—श्रुतियों ने जितने गुण भगवान् के वर्णन किए हैं, उतने धर्म ब्राह्मणों में हैं यों

१ -सेवा धर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः अर्थात् सेवा धर्म अति गहन है जो कि योगियों को भी अगम्य है ।

भगवान् निरूपण करते हैं, यों कहने से मुनिरूप भी 'भगवान्' ही हैं इस विषय में रुकावट नहीं आती है, इन मुनियों को अपने पर अनुग्रह करने के लिए आए हुए जान न की यों हो किसी प्रसङ्ग से आए हैं, यों मन जान अथवा दूसरों के लिए आए होंगे यों भी न जान दोनों का मुख्यपन से आना कैसे माना जाए ? जब कि कार्य एक ही है, जिसके उत्तर में कहते हैं कि ये मेरे साथ लोकों में सब को पवित्र करने के लिए भ्रमण कर रहे हैं, अतः मुख्यता इनकी है, मेरा तो मात्र साथ है, कैसे पवित्र करते हैं ? जिसके लिए कहते हैं कि 'पाद रेणुभिः' चरणों को रजो से पवित्र करते हैं ॥५१॥

आभास—नन्वन्यान्यपि लोके पावनानि सन्ति क एतेषामेवाग्रह इति चेत्तत्राऽऽह देवा क्षेत्राणीति ।

आभासार्थ—लोक में अनुग्रह करने वाले तो दूसरे भी हैं, ये ही अनुग्रह करते हैं वे तो आग्रह क्यों ? यदि यों कहो तो निम्न श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः ।

शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया ॥५२॥

श्लोकार्थ—देव, क्षेत्र और तीर्थ शनैः शनैः (धीरे धीरे) दर्शन स्पर्शन और पूजन से बहुत समय पा कर पवित्र करते हैं; वह भी महत्तम पुरुषों की दृष्टि पड़ने से होता है ॥५२॥

सुबोधिनी—देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि च त्रयो लोके पावनहेतवः । कालस्याप्येतच्छेषेणैव पावनजनकत्वम् । स्नानान्त एव सूतकादावपि शुद्धेः द्रव्याणां देश एवान्तर्भावः । कर्तारस्तु प्रकृताः मन्त्रकर्मणोरपि देवतास्वन्तर्भावः तादर्थ्यात् । एव शुद्धिहेतूनां षण्णामपि अत्रैवान्तर्भावात् त्रय एव निरुक्ताः । ते दर्शनस्पर्शनार्चनैः पुनन्ति । दर्शनं सर्वेषां, दर्शनस्पर्शने तीर्थस्य, त्रितयं देवतायाः, एवमप्येते शनरेव पुनन्ति । तत्र हेतुः कालेनेति । कालो हि पृथक् शुद्धिहेतुः । अन्यथा

दशाहादवागपि तीर्थस्नानादिना पुरुषः शुद्धो भवेत् । तस्मात् यावता कालेन शुद्धिर्भवति तावत्कालेनैव तीर्थादिना शुद्धो भवति । ब्राह्मणास्तु सद्यः शुद्धिहेतवः, तेषां वाक्यात् अत्यन्तनिकृष्टमपि शुद्धं भवति । 'आकरस्थं सदा शुचिः' 'स्नेहपत्रं न दुष्यति' 'प्रयतेन शूद्रेणाप्याहृत भोज्यम्' इत्यादिवाक्यानि निर्विचित्रिक्तिसं सर्वेषां शुद्धिप्रतिपादकानि । तस्मात् क्षेत्रादिभ्यो ब्राह्मणाः श्रेष्ठाः । किञ्च, तदपि तीर्थादिकृतमपि अर्हत्तमस्येक्षया दृष्ट्यैव भवति । सर्वत्र ब्रह्मदृष्टं समं भवेत् ॥

व्याख्यानार्थ—लोक में देव, क्षेत्र और तीर्थ, ये तीन पवित्र करने में हेतु हैं अर्थात् पवित्र करने वाले हैं, काल भी इनके शेष रूप, से ही पवित्र करने वाला है, सूतक आदि में स्नानान्तर ही शुद्धि होती है, द्रव्यों का देश में ही अन्तर्भाव है, कर्ताओं की शुद्धि का यहाँ विचार किया जाता है अतः उनकी गणना शुद्धि करने वालों में नहीं की जा सकती है, मन्त्र और कर्म के देवता में अन्तर्भाव है, क्योंकि उनके लिए ही ये कहे जा सकते हैं, इस प्रकार शुद्धि करने वाले ६ का इनमें अन्तर्भाव हो जाता है अतः तीन ही कहे हैं, वे तीन दर्शन, स्पर्श और पूजन से पवित्र करते हैं, उनका प्रकार

कहते हैं, दर्शन पवित्र करता है, तीर्थ का दर्शन और स्पर्श करने से पवित्रता सबको होती है, देवता के दर्शन, स्पर्श और पूजन ये तीन ही पवित्र करते हैं, इस प्रकार करते हुए भी ये धीरे धीरे पवित्र करते हैं, जिसका कारण 'काल' कहा है काल भी पृथक् शुद्धि करने वाला है, यदि काल अलग स्वयं शुद्धि करने वाला न होवे तो आशौच में तीर्थ स्नान करने से शुद्धि हो जावे वह नहीं होती है, जिससे यह निश्चित सिद्धान्त है, कि काल भी शुद्धि करने वाला है आशौच के १० दिन पूर्ण हो जाने के बाद तीर्थ स्नान पवित्र करता है, सारांश यह है, कि जितने काल से शुद्धि होने वाली है, उतने समय से ही तीर्थदि से लोक शुद्ध हो सकता है, ब्राह्मण तो शीघ्र हो शुद्ध करने वाला है, उनके वचन मात्र से बहुत नीच भी शुद्ध हो जाता है, 'खान में रहा हुआ पदार्थ शुद्ध है' 'घृत से पकाया हुआ अन्न छुत्रा जाता नहीं' 'संयम वाला शूद्र भोजन ले आवे तो वह खाया जा सकता है' आदि वाक्य बिना संशय के शुद्धि प्रतिपादक हैं, इसी कारण से क्षत्र आदि से ब्राह्मण उत्तम है, और तीर्थ आदि भी जो पवित्र करते हैं उनमें भी महापुरुषों की दृष्टि ही हेतु है सर्वत्र ब्राह्मण की दृष्टि पड़ने से शुद्धि हो जाती है, जैसे कि कहा है—

सुबोधिनी—'अभ्यनुज्ञाविहीन हि ब्राह्मणानां विशेषतः ।

सर्वं निःफलतां याति व्रतदानार्चनादिकम्' इति ॥५२॥

व्याख्यार्थ—सम्मति^१ के बिना विशेषकर ब्राह्मणों की सम्मति के बिना किया हुआ व्रत, दान और पूजन आदि सर्व निष्फल होता है ॥५२॥

आभास—ननु ब्राह्मणस्योत्कर्षहेतुर्यः स चेदन्यत्रापि भवेत् किं ब्राह्मणेनेत्या-
शङ्क्याह ब्राह्मणो जन्मना श्रेयानिति ।

आभासार्थ—जो हेतु ब्राह्मणों की उत्कर्षता बताता है वह अन्यत्र भी हो तो फिर ब्राह्मण को विशेष क्यों माना जावे ? इस शङ्का का उत्तर 'ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान्' श्लोक में देते हैं,

श्लोक—ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान्सर्वेषां प्राणिनामिह ।

तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः ॥५३॥

श्लोकार्थ—इस जगत् में सर्व प्राणियों में ब्राह्मण जन्म से उत्तम है, फिर यदि तपस्या, विद्या और संतोष तथा मेरी कला से युक्त हो तो क्या कहना ? सुवर्ण में सुगन्ध हो जावे ॥५३॥

सुबोधिनी—उत्पन्न एव ब्राह्मणः सर्वेभ्यो | तुष्ट्या । एवं त्रिभिरेव महत्त्वं सिद्धयति । तपसा
वर्णभ्योऽतिरिच्यते । सर्वेषां प्राणिनां पूज्यो | देहमाहात्म्यं, विद्यया चेन्द्रियाणां, तुष्ट्या त्वन्तः-
भवति । तत्रापि तपसा विद्यया तुष्ट्या इति | करणस्येति । अनेन गुणत्रयमपगच्छति । सर्वो-

१—कोई भी यदि सत्कर्म किया जावे तो बड़ों की और विशेष रूप से ब्राह्मणों की आज्ञा लेनी चाहिए ।

त्कृष्टमपरं हेतुमाह किमु मत्कलयेति मत्कला । किं वक्तव्यमित्यर्थः ॥५३॥
भगवदीयत्व भक्तिर्वा । तद्युक्तः श्रेयान् भवति ।

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण जन्मते ही सर्व वर्णों से उत्तम हो जाता है, अर्थात् सर्व प्राणिमियों को उसकी पूजा करनी पड़ती है उसमें भी यदि तप विद्या और सन्तोष वाला हो जावे तो विशेष महत्व वाला बन जाता है । तपस्या से देह का माहात्म्य (महत्व), विद्या से इन्द्रियों की महानता, सन्तोष से अन्तःकरण की उत्तमता प्राप्त करता है, इस प्रकार तप विद्या और सन्तोषवान होने से तीन गुणों का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता है, ब्राह्मण की उत्तमता का सबसे उत्कृष्ट दूसरा हेतु देते हैं, 'मत्कलया' मेरी कला, भगवदीयपन वा भक्ति से वह युक्त हो इन गुणों से युक्त ब्राह्मण हो तो कहना ही क्या ॥५३॥

आभास—ननु तथापि त्वत्सेवकाः त्वामेव भजन्ते, उत्कर्षापकर्ष न मन्यन्ते यथः स्त्री स्वपतिमेवोत्कृष्टं मन्यन्ते न त्वन्यं महान्तमपि । तस्मात्कथं ब्राह्मणा भक्तानां सेव्या इति चेत्, तत्राह न ब्राह्मणान्मे दयितमिति ।

आभासार्थ—जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति की ही सेवा करती है वह उत्तम हो वा अधम हो वैसे आपके भक्त आपकी ही सेवा करना चाहते हैं, उत्कृष्ट वा अपकृष्ट देखते ही नहीं है ऐसी परिस्थिति में भक्तों को ब्राह्मण की सेवा करना चाहिए यह कैसे बन सकता है, इस पर निम्न श्लोक कहते हैं ।

श्लोक—न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम् ।

सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ॥५४॥

श्लोकार्थ—वह चतुर्भुज स्वरूप भी मुझे ब्राह्मणों से विशेष प्यारा नहीं है क्योंकि सर्व वेद रूप ब्राह्मण है और मैं सर्व देव रूप हूँ ॥५४॥

सुबोधिनी—मत्सेवकैर्मद्वितं कर्तव्यं, मम तु प्रीतिः स्वस्माद्ब्राह्मण एवाधिका तत्र हेतुः, याच्च प्रमाणमधिकम् । मानाधीना मेयसिद्धिरिति । अनेनान्तर्हृदयमपि ज्ञापितम् । प्रमेयबलमया क्व क्व प्रकटीकर्तव्यं, अतः प्रमाणभूता एत इत्येतदनुरोधः क्रियत इति युक्तश्चायमर्थः ॥५४॥
'सर्वदेवमयो विष्णुः' सर्ववेदमयो विप्र इति । सर्व वेदा ब्राह्मणे तिष्ठन्ति, देवास्तु मयि । प्रमे-

व्याख्यार्थ—मेरे सेवकों को मेरा हित^१ करना चाहिए, मेरा प्रेम तो अपने से भी ब्राह्मण में विशेष है, जिसमें कारण यह है कि 'सर्वदेवमयो विष्णु' भगवान् सर्व देव रूप है 'सर्ववेदमयोविप्रः'^२ सर्व वेद ब्राह्मण में रहते हैं, देव मुझ में रहते हैं, प्रमेय^३ से प्रमाण अधिक है, क्योंकि प्रमेय^४ की

* सत्व, रज और तमो गुण

१—सेवा

२—ब्राह्मण सर्व वेद रूप है

३—प्रमेय रूप मुझ से प्रमाण रूप ब्राह्मण अधिक है ।

४—मेरी प्राप्ति ब्राह्मणों के आधीन है अर्थात् उनके द्वारा होती है ।

सिद्धि प्रमाण के अधीन है यों कह कर भगवान् ने अपने हृदय का भाव प्रकट किया है, कि मैं प्रमेय बल कहाँ कहाँ प्रकट करता रहूँगा, अतः ये ही प्रमाण रूप हैं, जिससे इनकी ही सेवा का अनुरोध किया है यह ही अर्थ उचित है ॥५४॥

आभास - ये तु पुनर्ब्राह्मणातिक्रमं कृत्वा गुरूपदेशं विनैव स्वतः पूजां कर्तुं वाञ्छन्ति तेतिदुर्बुद्धय इत्याह दुःप्रज्ञा इति ।

आभासार्थ - जो पुष्ट ब्राह्मणों का अनादर कर उन पूज्यों के उपदेश लेने के सिवाय अपनी मनमानी पूजा करते हैं वे दुष्ट हैं, यों 'दुःप्रज्ञा' श्लोक में कहते हैं,

श्लोक—दुःप्रज्ञा अविदित्वैवमवजानन्त्यसूयवः ।

गुरुं मां विप्रमात्मानमर्चादाविज्यदृष्टयः ॥५५॥

श्लोकार्थ - जो ब्राह्मण के इस प्रकार के स्वरूप को न जानकर उनसे ईर्ष्या करते हैं वे दुष्ट बुद्धि वाले हैं, अतः वे गुरु रूप, मेरे रूप और आत्म रूप ब्राह्मण की सेवा न कर केवल मूर्ति में ही पूज्य बुद्धि रखते हैं ॥५५॥

सुबोधिनी—एवं मदभिप्रायं सिद्धान्तं चाविदित्वा ब्राह्मणवाक्येष्वसूयां कृत्वा तानवजानन्ति । तत्रापि मुख्यो गुरुः तदवज्ञाने न पूजा फलति । यतः सोऽहमेव । अहं च पूजकस्यात्मस्वरूपम् । तेनात्मैवावज्ञात इति । स्वार्थत्वात्सर्वस्य कथं

तत्कर्तारः उत्तमा भवेयुः । अर्चादौ । अर्चा तीर्थ-क्षेत्रादिषु इज्यदृष्टयः पूज्यदृष्टयः व्यवस्थयैवार्चादिषु पूजा कर्तव्या, नत्वव्यवस्थयेति भावः । 'स्नानालंकरणं प्रेष्टमर्चयामेव' इति व्यवस्था ।

॥५५॥

व्याख्यानार्थ - इसी तरह मेरी सम्मति वाले सिद्धान्त^१ को न समझकर ब्राह्मणों के वचनों में ईर्ष्या से श्रद्धा नहीं करते हैं अर्थात् उनका तिरस्कार करते हैं उनका तिरस्कार करने से पूजा फली-भूत नहीं होती है, कारण कि वे मुख्य गुरु हैं, क्योंकि वे ब्राह्मण मैं ही हूँ, फिर विशेष में पूजा करने वाले का भी आत्मस्वरूप मैं हूँ, इसलिए उसने आत्मा का ही तिरस्कार किया है । सर्व अपने^२ लिए किया जाता है अतः आत्मा की अवज्ञा करने वाले उत्तम कैसे बनेंगे ? वे तो तीर्थ क्षेत्र आदि में पूज्य बुद्धि वाले हैं, उनकी पूजा तो व्यवस्था पूर्वक करनी चाहिए, न कि ज्यों मन में आवे त्यों की जा सकती है, जैसे कि प्रथम स्नान अनन्तर अलङ्कार आदि धराने आदि व्यवस्था से पूजा की जा सकती है, वह व्यवस्था गुरुओं से ही जानी जा सकती है अन्यथा निष्फल होता है ॥५५॥

आभास - ननु तथापि भगवत्सान्निध्यलक्षणो गुणः अर्चादावेव वर्तत इति जीवान्तरसंबन्धेनाभिमानश्च नास्ति इति दोषाभावसहितगुणस्य विद्यमानत्वात् अर्चैव ब्राह्मणादुत्कृष्टेति चेत्, तत्राह चराचरमिति ।

आभासार्थ—ब्राह्मण की पूजा से. मूर्ति, क्षेत्र आदि की पूजा विशेष है क्योंकि अर्चादि में भगवान् की सन्निधिगुण है अन्य जीव के साथ सम्बन्ध होने से जो अभिमान आदि होता है, वह अर्चादि में नहीं है. इसका उत्तर 'चराचरमिदं' श्लोक में देते हैं,

श्लोक—चराचरमिदं विश्वं भावा ये चास्य हेतवः ।

मद्रूपाणीति चेतस्याधत्ते विप्रो मदीक्षया ॥५६॥

श्लोकार्थ—चर और अचर यह विश्व और इसके जो भाव तथा कारण हैं वे सब मेरे (भगवान् के) रूप हैं, यों, मेरे दर्शन से, ब्रह्मण अपने चित्त में धारण कर लेते हैं ॥५६॥

सुबोधिनी—ब्राह्मण 'सर्वमस्ति' । स हि स्वात्मनि सर्वं विश्वं ज्ञानेन मन्यते ॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण में सर्व हैं, क्योंकि वह ज्ञान द्वारा यों जानता है कि यह सर्व विश्व मेरी आत्मा में है.

सुबोधिनी—मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।

मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माक्षरमव्ययम् ॥

व्याख्यार्थ—यह सर्व जगत् मुझ में से ही उत्पन्न हुआ है, मुझ में इसकी स्थिति है और मुझ में ही लीन होता है, ऐसी ब्राह्मी स्थिति वाला हो अविनाशी अक्षर ब्रह्म है ।

सुबोधिनी—'अणोरणीयानहमेव विष्णुः' इत्यादिश्रुतेः 'यावतीर्वेदेवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति' इति च । तदाह इदं चराचरं विश्वं अस्य च मूलभूताः ये भावाः एतत्कार्याणि वा । ये चास्य हेतवः कारणभूतानि तत्त्वान्येतानि सर्वाण्येव भगवद्रूपाणीति चेतसि विप्रः आधत्ते । अत एव विप्रः विशेषेणाऽऽत्मानं पूरयतीति प्रा

पूरण इति । तत्रापि मदीक्षया मम ईक्षा भगवत्साक्षात्कारः भगवन्तं स्थापयित्वा भगवद्रूपाण्यपि स्थापयति । अथवा । आदौ मत्साक्षात्कारे जाते स्वात्मनि यन्मां पश्यति तत्र मयि चराचरं च पश्यतीति ब्राह्मणे चराचरं सर्वमेव वर्तत इत्यर्थः ॥५६॥

व्याख्यार्थ 'अणोरणीयानहमेव विष्णुः' इत्यादि श्रुतेः, अणु से अणुतर भी विष्णु मैं ही हूँ और, 'यावतीर्वेदेवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणेवसन्ति' जितने भी देवता हैं, वे सर्व वेद जानने वाले ब्राह्मणों में रहते हैं, वे समझते हैं कि, यह जंगम और स्थावर जितना भी जगत् है, तथा इसके कार्य और उसके कारणरूप तत्त्व हैं य सर्व ही भगवद्रूप हैं यो जानकर अपने चित्त में इनको इस रूप से ही धारण करता है, इसलिए अर्थात् विशेष प्रकार से अपने को पूर्ण करने से ब्राह्मण को 'विप्र' कहा जाता है, हृदय में मेरे साक्षात्कार करने से ही इस प्रकार सर्व जगत् को भगवद्रूप से धारण कर सकता है, क्योंकि अन्तःकरण में भगवान् के विराजमान हो जाने से उस स्वरूप में स्थित सर्व विश्व को देखता है, इसलिए कहा जाता है कि ब्राह्मण में स्थावर जंगम सर्व जगत् रहता है ॥५६॥

आभास—एवं ब्राह्मणोत्कर्षमुक्त्वा कर्तव्यमाह तस्माद्ब्रह्मऋषीनेतानिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार का ब्राह्मण का उत्कर्ष कह कर 'तस्माद्' श्लोक में कर्तव्य कहते हैं.

श्लोक—तस्माद्ब्रह्मऋषीनेतान्ब्रह्मन्मच्छ्रद्धयाऽर्चय ।

एवं चेदचितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः ॥५७॥

श्लोकार्थ—इस कारण से, हे श्रुतदेव ब्रह्मन् ! तुम्हारी जैसी श्रद्धा मुझ में है, वैसी श्रद्धा से इन ब्रह्मर्षियों की पूजा कर जो तू इस प्रकार इनकी पूजा करेगा तो मैं मानूँगा कि तुमने बहुत वैभवों से मेरी पूजा की है, अन्यथा 'यदि इनकी इस तरह श्रद्धा से अर्चना आदि न करोगे तो' मैं अपने को पूजित नहीं समझूँगा ॥५७॥

सुबोधिनी—एते च तादृशा ब्राह्मणाः काण्ड-
द्वयनिष्णाता इति ज्ञापयितुं ब्रह्मर्षिपदम् । ब्रह्म-
निति स्वमपि तादृश एव । अतस्त्वया चेन्नाङ्गी-
क्रियते तदान्योऽपि नाङ्गीकरिष्यतीत्यपि ज्ञापि-
तम् । किञ्च । एकस्मिन् ब्राह्मणे यथाकथंचिद-
चिते अहं नानाविभूतिभिः अचितो भविष्यामि ॥

व्याख्यार्थ—इन आए हुए ब्राह्मणों को भगवान् ने 'ब्रह्मर्षि' विशेषण देकर यह बताया है कि वे वेद के दोनों काण्डों को पूर्ण रीति से जानने वाले हैं, श्रुतदेव को 'ब्रह्मन्' विशेषण देकर यह बताया है कि आप भी वैसे ही हैं, अतः जो तुम मेरी आज्ञा का पालन न करोगे तो दूसरे भी न करेंगे, यों भी समझाया है कि एक ब्राह्मण भी तुमने जैसे तैसे पूजा, तो मैं समझूँगा कि तुमने मेरा बड़े वैभव से पूजन किया ॥५७॥

आभास—एवमुपदिष्टस्तथैव कृतवानित्याह स इत्थं प्रभुणादिष्ट इति ।

आभासार्थ—भगवान् ने जैसा उपदेश दिया तदनुसार ब्राह्मणों की पूजा की, यह 'स इत्थं' श्लोक श्री शुकदेवजी कहते हैं.

श्लोक—श्रीशुक उवाच—स इत्थं प्रभुणादिष्टः सहकृष्णान्द्विजोत्तमान् ।

आराध्यैकान्तभावेन मैथिलश्चाप सद्गतिम् ॥५८॥

श्लोकार्थ—श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि प्रभु से इस प्रकार आज्ञप्त श्रुतदेव ने श्रीकृष्ण सहित ब्राह्मणोत्तमों की अनन्य भाव से पूजा की जिससे ब्राह्मण और मैथिल दोनों ने सद्गति पाई ॥५८॥

सुबोधिनी—प्रभुत्वान्नान्यथा कर्तुं शक्यम् ।
रूपान् स्वभावतोप्युत्तमान् द्विजोत्तमान् एकान्त-
भावतः सहकृष्णान् भगवत्सहितान् तान् अधिष्ठान-
भावेन अनन्यभवत्या आराध्य सद्गतिमवाप ।

सतां या गतिस्तां भगवत्सायुज्यं प्राप्तवान् तदा- | प्राप्तवान् । चकारात्तत्संबन्धिनोऽपि तथातथा
नीमेवान्यदा वा मैथिलश्च देहान्ते भगवत्सायुज्यं | प्रवृत्ताः ॥५८॥

व्याख्यानार्थ—श्री कृष्ण प्रभु हैं अतः उनकी आज्ञा को कोई अन्यथा नहीं कर सकता है । अनन्तर श्रीकृष्ण सहित उन ब्राह्मणोंतमों की अनन्यभाव से पूजा की, वे ब्राह्मण एक तो स्वभाव से उत्तम फिर विशेषता यह कि भगवान् के अधिष्ठान रूप थे ऐसी की पूजा करने से सद्गति प्राप्त की उस समय वा बाद में मैथिल ने देह त्यागने के बाद वैसे ही गति पाई, 'च' पद से यह सूचन किया कि उनके सम्बन्धी भी उसी प्रकार अनन्य भक्ति में प्रवृत्त होकर भगवत्सायुज्य पाने लगे ॥५८॥

आभास—एवं भगवच्चरित्रमुक्त्वा चरित्रान्तरकथनार्थं पुनर्भगवतः प्रत्यापत्तिमाह
एवं स्वभक्तयोरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् के चरित्र का वर्णन कर अन्य चरित्र कहने के लिए फिर भगवान् द्वारका पधारे, यों 'एवं स्वभक्तयो' श्लोक में कहते हैं,

श्लोक — एवं स्वभक्तयो राजन्भगवान्भक्तभक्तिमान् ।

उषिवादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारिवतीमगात् ॥५९॥

श्लोकार्थ —हे राजन् ! भक्तों के भक्त भगवान् इस प्रकार भक्तों के पास रह कर और उनको सन्मार्ग की शिक्षा देकर फिर द्वारका लौट आए ॥५९॥

सुबोधिनी—राजन्निति विश्वासार्थम् । भक्तेषु | सन्मार्गमादिश्य सतां गतिर्भगवान् तत्र मार्गभूता
भक्तिमानिति, स्वतो गत्वा करणे हेतुः । मैथिल- | ब्राह्मणा इति तेषां भजनमादिश्य पुनः स्वस्थान-
वाक्यान्मैथिलगृहे उषित्वा श्रुतदेववाक्यात् तस्मै | मागत इत्यर्थः ॥५९॥

व्याख्यानार्थ—हे राजन्: यह संबोधन इसलिये दिया है कि परीक्षित कि कथा में विश्वास रहे, भक्तों के भक्त कहने में कारण कहते हैं कि श्रुतदेव और मैथिल राजा के पास बिना बुलाए स्वयं पधारे मिथिला के राजा के कहने पर उनके घर में विराजमान हुए, और श्रुतदेव के घर विराजे वहां उसके प्रार्थना करने पर उसको सन्मार्ग का उपदेश दिया सत्पुरुषों की गति भगवान् है, जिसमें मार्ग दर्शक ब्राह्मण हैं, इसलिए उनके भजन करने की आज्ञा देकर फिर अपने स्थान द्वारका पधारे ऐसा अर्थ है ॥५९॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभदीक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे सप्तत्रिंशाध्यायविवरणम् ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ८३वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३७वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के

गुण-प्रकरण का द्वितीय अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

इस अध्याय में वर्णित भगवल्लीलाओं का संक्षिप्त सार

राग विलावल

भक्त-ब्रह्मल श्री जादव राइ । भक्त काज हरि करत सदाइ ॥
 अर्जुन तीरथ करन सिधाए । फिरत फिरत द्वारावति आए ॥
 सुन्यौ बिचार करत बल येइ । दुर्जोधनहि सुभद्र देइ ॥
 तब अर्जुन के मन यह आइ । याकों मैं लं जाऊँ दुराइ ॥
 भेष तपसी कौं तिन गह्यौ । चारि मास द्वारावति रह्यौ ॥
 बलदेव ताकों नेवति बुलायौ । भोजन हेतु सो बल-गृह आयौ ॥
 लख्यौ सुभद्रा इहि सव्यासी । राज-कुँवर कौऊ भेष उदासी ॥
 मेरे मन में यह उत्साह । मेरौ या सँग होइ विवाह ॥
 इक दिन सो हरि मंदिर गई । तहाँ भेंट पारथ सौं भई ॥
 देखि ताहि रथ ठाढौ कियौ । हरि दुहुँ कौ हिरदै लखि लियौ ॥
 धनुष-बान अपने तब दए । अर्जुन सावधान ह्वै लए ॥
 पारथ लै सो रथहि परायौ । रथ के तुरँगनि वेगि चलायौ ॥
 यह सुनि कै हलधर उठि धाए । तब हरि अर्जुन नाम सुनाए ॥
 चल कह्यौ तुम मन ऐसी आई । तौ तुम क्यों कीनी न सगाई ॥
 हरि कह्यौ अबहुँ बुलाबहु ताहि । भली भाँति सौं करै विवाहि ॥
 तब बल पारथ तुरत बुलायौ । सोधि महरत लगन धरायौ ॥
 करि विवाह अर्जुन घर आए । सूरदास जन मंगल गाए ॥

राग नट

बिनती करत गुबिंद गुसाईं ।
 दै सब सौंज अनंत लोक पति, निपट रंक की नाईं ॥
 धरि धन, धाम सजन के आगैं, स्याम मकुचि कर जोरे ।
 टहल जोग यह कुँवरि सुभद्रा, तुम सम नाहीं को रे ॥
 इननी मुनत पाँडु-नंदन कह्यौ, यहै वचन प्रभु दीजै ।
 सूरज दीन-बंधु अब इहि कुल, कन्या जन्म न कीजै ॥

राग बिलादल

हरि हरि हरि सुमिरहु सब कोइ । राव, रंक हरि गिनत न कोइ ॥
 जो सुमिरै ताकी गति होइ । हरि हरि हरि सुमिरहु सब कोइ ॥
 श्रुतदेव ब्राह्मन सुमिरचौ हरि । ताकी भक्ति हृदै धरि हरि ॥
 राव जनक हरि सुमिरन कीनौ । हरि जू सोउ हृदै धरि लीनौ ॥
 तब हरि रिषि बहुतक संग लए । तिनके देस प्रीति बस गए ॥
 द्वै स्वरूप धरि दुहुँ को मिले । तोषि तिन्है पुनि निजपुर चले ॥
 हरि जू कौ यह सहज सुभाउ । रंक होइ भावै कोउ राउ ॥
 जो हित करै ताहि हित करें । सूरज प्रभु नहि अंतर धरें ॥

राग कान्हरो

पर ही बैठे दोऊ दास ।
 रिधि-सिधि मुक्ति अभय पद दायक, आई मिले प्रभु हरि अनयास ॥
 आए सुने स्याम उपवन मैं, भेंट लई भुज परम सुदास ।
 चर्चित गात चँद्र-मुख चितवत उर सरवर-भयौ कमल विगास ॥
 भूपति चँवर विप्र कर बस्तर, करत बाउ अति अंग हुलास ।
 आनँद उमँगि चलयौ नैननि-जल, सुरतदेव, द्विज, नृप बहुलास ॥
 जाकौ ध्यान धरत मुनि संकर, सीस जटा दिग अम्बर तास ।
 काम दहन गिरि-कंदर आसन, वा मूरति की तऊ पियास ॥
 भक्त-बछलता प्रगट करी है, भयौ बिप्र घर कर कलि आस ।
 सूरदास स्वामी सुमिरन बस, अछत निरंजन सेवा पास ॥



॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वासपतिचरणकमलेश्वर्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्ब्रह्माचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ८७वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ८४वाँ अध्याय

उत्तरार्ध ३८वाँ अध्याय

गुण-प्रकरण

“अध्याय—३”

वेद-स्तुति

कारिका—शब्दार्थयोरुत्तमयोः संबन्धो यादृशो मतः ।

तं विवेचयितुं कृष्णः श्रुतिगीतं चकार ह ॥१॥

कारिकार्थ—वेद रूप शब्द और ब्रह्म रूप अर्थ का वाच्य^१ वाचक^२ सम्बन्ध जैसा महापुरुषों ने माना है, उस प्रकार के सम्बन्ध का अन्य प्रकार के सम्बन्धों^३ से पृथक् करने के लिए व्यासजी ने यह श्रुतिगीत कहा है ॥१॥

१—जिसका विधान किया जाता है, २—जो विधान करता है ऐसा रूप सम्बन्ध ३—सम्बन्ध तीन प्रकार का होता है, (अ) शब्द की व्युत्पत्ति के अनुसार, (ब) समानता अर्थ रूप सम्बन्ध, (स) तात्पर्य बताने वाला अर्थ रूप सम्बन्ध । भगवान् ने श्रुतियों से रमण किया उसके अन्त में आप (व्यासजी) को भी वैसे आनन्द स्वरूप के दर्शन हुए जिससे आनन्द विभोर हो कर यह श्रुति गीत प्रकट किया, इस श्रुति गीत के प्रकट करने का आशय यह है कि हम भी उसका ज्ञान प्राप्त कर आनन्द का अनुभव करें, इस श्रुति गीत अध्याय से व्यासजी ने ब्रह्मसूत्र के ‘ईक्षत्य अधिकरण’ का समर्थन किया है ।

* शक्ति, गोणी और तात्पर्य, रूप सम्बन्ध,

कारिका—प्रमाणं ब्राह्मणः प्रोक्तः प्रमेयमपि वै बृहत् ।

स एव भगवान् कृष्णस्ततो भजनमीरितम् ॥२॥

कारिकार्थ—ब्राह्मण^१ को प्रमाण और प्रमेय भी कहा है, प्रमेय ब्रह्म है । वह 'प्रमेय' भगवान् कृष्ण ही है, इसलिए इनका ही भजन करना चाहिए, यों कहा है ॥२॥

कारिका—तत्रोपपत्तिः प्रष्टव्या वाच्यवाचकनिर्णये ।

अतो राजा श्रुतीनां वै निर्णयार्थमपृच्छत ॥३॥

कारिकार्थ—वाच्य (प्रमेय ब्रह्म के विषय में) वाचक के निर्णय का युक्ति सहित हेतु पूछना चाहिए, अतः राजा प्रमाण कह इस विषय में^२ जो शङ्का है उस का निर्णय पूछने हैं ॥३॥

कारिका—सगुणं चेद्वेदवाक्यं ब्राह्मणास्तत्र च स्थिताः ।

ततोऽत्र भगवानेव पूज्यो नान्यः कथञ्चन ॥४॥

कारिकार्थ—इस कारिका में निर्णय करने का प्रयोजन कहते हैं, वेदों के वाक्य यदि यों प्रतिपादन करते हैं कि ब्रह्म अनन्त गुण वाला है और ब्राह्मण उसमें ही स्थित है, अर्थात् सर्व प्रकार से उसका ही ध्यान आदि करते हैं, तो वह भगवान् ही पूज्य है अन्य कोई नहीं ॥४॥

कारिका—मतान्तरोक्तिरेषा हि सिद्धान्ते वैदिके तथा ।

अनन्तगुणपूर्णो हि हरिर्ब्रह्म श्रुतिस्तथा ॥५॥

त्रयमेक स्वशक्तिं हि त्रेधा स्वस्मिन्निधाय हि ।

फलप्रमेयमानत्वं सच्चिदानन्दतां गतम् ॥६॥

कारिकार्थ—यह अन्यमतानुसार^३ उक्ति है, किन्तु वैदिक सिद्धान्त में भी यह मान्य की गई है, जैसे कि अनन्त गुणों से पूर्ण हरिः^४ ब्रह्म^५ और श्रुति, ये तीनों एक ही हैं । वास्तव में अपनी शक्ति के तीन प्रकार कर, फिर उनको अपने भीतर ही धारण कर प्रभु फल प्रमेय और प्रमाण तथा आनन्द^६ चित्^७ तथा सत्^८ रूप बनते हैं ॥५॥६॥

१—उत्तरार्ध के ३७ वें अध्याय में श्रुतदेव ब्राह्मण प्रमाण प्रदान होने से 'एवं सर्वं वेदमयो विप्र'

श्रुत्यनुसार ब्राह्मण प्रमाण है एवं उसको मानाधोना प्रमेय सिद्धि' कहकर प्रमेय भी माना है,

वहाँ ५० वें श्लोक में भजन का उपदेश दिया है, २—प्रमाण, प्रमेय और भजन में,

३—सन्न्द के मतानुसार

४—श्रीकृष्ण,

५—अक्षर,

६—आनन्द रूप को प्रधानतया स्वीकार करने से फल रूप श्रीकृष्ण स्वरूप है

७—चिदश शक्ति को प्राधान्यरूप से स्वीकार कर अक्षर ब्रह्म कहा है ।

८—सदश की जब प्रधानता स्वीकार करते हैं तब शब्द ब्रह्म श्रुति कहलाते हैं । सत् चित् और

आनन्द ये तीन स्वरूप धर्मपन से युक्त होने से उनको शक्ति कहना उचित है, स्वरूप धर्म होने से उसका स्वीकार करना भी संगत है वे दोनों 'ही' शब्द से तात्पर्य है ।

कारिका—तथापि साङ्ख्यसिद्धान्ते तथा तदुपजीवके ।

वैष्णवेन्यत्र वा वाच्यं श्रुतिसंग्रहणं यथा ॥७॥

कारिकार्थ—यों होते हुए भी^१ साङ्ख्यसिद्धान्तानुसार एव उनके ऊपर आधार रखने वाले वैष्णव^२ सिद्धान्तानुसार अथवा अन्यत्र मुख्य^३ भक्ति सिद्धान्तानुसार श्रुतिग्रंथों का अर्थ वैसे ही किया जाता है ॥७॥

कारिका—अष्टत्रिंशे श्रुतीनां हि यथा वाच्यं बृहद्भवेत् ।

तदर्थं पूर्वपक्षादिसिद्धान्तफलमीर्यते ॥८॥

कारिकार्थ—उत्तरार्ध के इस अध्याय में श्रुतियों द्वारा जैसे ब्रह्म का विधान हो सके तदर्थ इसके प्रारम्भ में पूर्व पक्ष आदि सिद्धान्त कहा है एवं फल भी कहने में आया है ॥८॥

आभास—राजा भगवद्गुणविरोधे परिहृते प्रमाणविरोधमाशङ्कते ब्रह्मन्निति ।

आभासार्थ—भगवान् के गुणों का विरोध पूर्वाध्याय में हुआ था जिसको वहाँ ही मिटा दिया, तब उस अलौकिक ब्रह्म में राजा प्रमाण के विरोध को शङ्का^४ करते हैं,

श्लोक—परीक्षिदुवाच—ब्रह्मन्ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः ।

कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे ॥१॥

श्लोकार्थ—परीक्षित ने कहा कि हे ब्रह्मन् ! गुणों में जिनकी वृत्तियाँ रहती हैं, वैसी सगुण श्रुतियाँ जिसका निर्देशन न हो सके, वैसे गुण रहित और सत्-असत् से ऊपर ब्रह्म का साक्षात् वर्णन कैसे करती हैं ॥१॥

सुबोधिनी—ब्रह्मणि साक्षात्कथं श्रुतयश्चरन्तीति प्रश्नः । अत्र श्रुतीनामेकवाक्यतामङ्गीकृत्य पृच्छति अर्थेकत्वादेक वाक्यमिति । तत्र किं बृहद्वेदानां तात्पर्यार्थः, आहोस्विद्वाक्यार्थ इति ।

अखण्ड एव वाक्यार्थ इति मतमज्ञात्वा पृच्छति । पदार्थाः करणतामापन्नाः स्वसंसर्ग वाक्यार्थ बोधयन्तीति मन्यते । 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' इति, 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इति च श्रुति-

१—यदि श्रुति ब्रह्म और श्रीकृष्ण एक ही हैं तो श्रुतियों को भाट के दृष्टान्त सम कहना उचित नहीं है तो भी. २—सगुण भक्ति सिद्धान्त ।

३—मुख्य भक्ति सिद्धान्त में 'आनन्दोऽयं प्रधानस्य' इस सूत्रानुसार आनन्दादि की भगवान् में हो स्थापना है. इसी से ही श्रुतियाँ गोविन्दा रूप हैं. जान मार्ग में ही तुल्यता का व्यवहार है, अतः बुद्धि दृष्टान्त उचित है ।

४—भगवान् में वीर्य गुण होते हुए भी उनकी ब्रह्म को प्रजुन कैसे ले गया जिसके उत्तर में कहा है कि आपके गुण लौकिक नहीं हैं अलौकिक हैं जिससे सिद्ध है कि भगवान् अलौकिक हैं नों सगुण श्रुतियाँ उस अलौकिक ब्रह्म का वर्णन कैसे करती हैं. यह शङ्का है ।

स्मृतिभ्यां सर्ववेदानामेकार्थप्रतिपादकत्वं च श्रूयते। श्रुतयश्च भगवतः क्रियाशक्ति ज्ञानशक्ति च प्रतिपादयन्ति नानाविधाम् । शक्ति च गुणमयी मन्यन्ते । अतः सगुणाः श्रुतयः, पदानां सङ्केतः लौकिक एवेति, अलौकिके सङ्केताभावात् । तैर्भगवत्सम्बन्धिनः पदार्थाः अलौकिकाः कथं स्मारयितव्याः । लौकिकत्वे ब्रह्मणो लौकिकत्वापत्तिस्तत्सम्बन्धात् । अतः पूर्वपक्षे साधनपरत्वमेव

वेदानाम्, अतः स्वप्रकाशमेव ब्रह्म स्वानुभववेद्यं प्रसन्नं सत् कृतार्थतां करिष्यतीति प्रमेयबलेनैव कार्यसिद्धिः न प्रमाणबलेनेति पूर्वपक्षः । ब्रह्मणोऽलौकिकत्वार्थं हेतुमाह अनिर्देश्य इति । निर्देशो लौकिकबुद्धिविषयीकरणं अयं घटोऽयं पट इतिवत् । बृहत्त्वबृंहणत्वयोगोऽपि विचारे क्रियमाणे लौकिकधर्मातिरिक्तत्वेन ब्रह्मणि फलिष्यतीति न ब्रह्मपद-नुपपत्तिः ॥

व्याख्यानार्थ—सगुण श्रुतियां ब्रह्म का साक्षात् प्रतिपादन कैसे कर सकती हैं ? राजा, यहाँ, श्रुतियों की एक वाक्यता मानकर प्रश्न करता है, एक वाक्यता का तात्पर्य है कि सर्व श्रुतियाँ जब एक का ही वर्णन करे (परन्तु) ये तो, यों नहीं करती हैं, ये तो पृथक् पृथक् गुणों का वर्णन करती हैं । एक ही अर्थ हो तो एक वाक्य होवे वहाँ सम्पूर्ण वेदों का तात्पर्यार्थ यह है, कि वाक्यार्थ ब्रह्म ही वेदार्थ है, इस मन को राजा नहीं जानता है, अतः पूछता है कारणता को प्राप्त पदार्थ अपने संसर्ग वाले वाक्यों के अर्थ को जानते हैं यो राजा मानता है, अर्थात् राजा सखण्ड ज्ञान को ही मानता है, अखण्ड वाक्यार्थ ज्ञान को नहीं जानने से ही प्रश्न करता है 'वेदश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' 'सर्ववेदायत्पदमानन्ति' समग्र वेदों से, मैं ही जानने योग्य हूँ 'सर्ववेदायत्पदमामनन्ति' 'समस्त वेद जिसके पदों में प्रणाम करते हैं' आदि श्रुति स्मृति द्वारा वेद एक ही अर्थ को प्रतिपादन करते हैं, यों सुना जाता है और श्रुतियाँ भगवान् की अनेक प्रकार की ज्ञान-शक्ति तथा क्रिया-शक्ति का प्रतिपादन कर रही हैं । शक्ति को गुण वाली माना है, अतः श्रुतियाँ सगुण हैं । शब्दों से लौकिक पदार्थों का ही संकेत हो सकता है, न कि अलौकिक का, इसलिए भगवत्सम्बन्धी पदार्थ जो अलौकिक है, उनको ये प्राकृत श्रुतियाँ लौकिक शब्दों में कैसे बता सकेंगी ? यदि कहो, कि भगवत्सम्बन्धी पदार्थ लौकिक हैं, तो उनके सम्बन्ध से भगवान् भी लौकिक हो जाएँगे इससे पूर्व पक्ष में वेद भी साधन परायण ही है, जिससे यह सिद्ध होता है, कि ब्रह्म स्व प्रकाश ही होने से वेदों से नहीं जाने जा सकते हैं तथा अपने अनुभव से ही जाने जा सकते हैं, जब वह स्वयं-प्रसन्न होंगे तब कृतार्थ करेंगे, इस प्रकार प्रमेय के बल से ही कार्य की सिद्धि होती है, न की प्रमाण बल से यो पूर्व पक्ष से कहा है ।

ब्रह्म अलौकिक है, जिसको सिद्ध करने के लिए हेतु देते हैं 'अनिर्देश्य' जिसका 'निर्देश' न हो सके, वैसा ब्रह्म है, कारण कि, निर्देश लौकिक बुद्धि का विषय है, जैसे कि 'यह घड़ा है' 'यह वस्त्र है', इसी तरह यदि 'ब्रह्म' शब्द का लौकिक बुद्धि से विचार किए जाने पर जाना जाता है कि सब को अपने में समालेवे ऐसे सबसे बड़े गुण वाले ब्रह्म हैं, जिसमें भी ब्रह्म में अलौकिकरूप ही फलित अर्थात् सिद्ध होता है, इसमें ब्रह्म पद भी युक्ति सहित हेतुओं से अलौकिक होने से उसमें किसी प्रकार अनुपपत्ति नहीं है ।

कारिका—'अवाच्यः सर्वशब्दानां बुद्ध्या वाच्यो निगद्यते ।

ततः समानधर्मेण व्यवहारो निरूप्यते' इति ॥

कारिकार्थ—सर्व शब्दों द्वारा जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता है उसका बुद्धि से निरूपण होता है, इससे समान धर्म से उसका व्यवहार होता है, यों निरूपण किया जाता है ॥६॥

सुबोधिनी—किञ्च । निगुणो निर्धर्मके श्रुतयश्च पदशो गुणवृत्तयः धर्मप्रतिपादकत्वात् । अन्यथा संसर्गप्रत्यायकत्वं न स्यात् । सर्वत्र कार्य-त्वप्रत्यायकत्वात् । ब्रह्मणश्च धर्माङ्गीकारे अद्वैत-हानिः । अतः साक्षान्निर्धर्मके ब्रह्मणि कथं श्रुतय-श्चरन्ति । ननु कार्यकारणभावं स एवापन्न इति तत्प्रतिपादनद्वारा तत्र पर्यवसितास्तद्द्वारा

धर्मिणि पर्यवस्यन्तीति लक्षणया गौण्या तात्पर्य-वृत्त्या वा ब्रह्मणरत्वं भविष्यतीत्याशङ्क्याह सद-सतः पर इति । कार्यकारणवार्तानभिज्ञे किं तस्य स्वानन्दपूर्णस्य कार्येण कारणेन वा प्रयोजनम् । अतः संबन्धाभावात् गुणाभावादज्ञानादेव तात्पर्यभावाच्च न केनापि प्रकारेण श्रुतिप्रतिपाद्यं ब्रह्मेत्यर्थः ॥१॥

व्याख्यार्थ—श्रुतियाँ पदशः गुण वृत्ति वाली हैं, क्योंकि निगुण ब्रह्म में गुणों का प्रतिपादन करने वाली है, यदि गुण बताने वाली न होवें, तो सर्वत्र एक ही अर्थ बताने से, शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध न बता सकें, जिससे ब्रह्म में गुणों का स्वीकार होने से 'अद्वैत' की हानि होती है, इससे सगुण श्रुतियाँ गुण रहित ब्रह्म का साक्षात् वर्णन कैसे कर सकेंगी ? इस पर कहते हैं, कि कार्य कारणभाव को प्राप्त भगवान् ही हैं, अतः उसके प्रतिपादन द्वारा उन कार्य कारण में परिणाम प्राप्त श्रुतियाँ उसके द्वारा धर्मों में परिणाम पाती हैं, अर्थात् इसी प्रकार लक्षणा गौणी वा तात्पर्य वृत्ति से उस ब्रह्म का साक्षात् वर्णन कर सकती हैं, इस पक्ष का निरास करने के लिए 'सद सतः पर' यह ब्रह्म का विशेषण दिया है, कार्य और 'कारण' से उत्तम होने से ब्रह्म, कार्य कारण को वार्ता को जानता नहीं है, कारण कि जो ब्रह्म स्वानन्द से पूर्ण है उनका कार्य कारण से कौनसा सम्बन्ध वा प्रयोजन ? अतः सम्बन्ध न होने से, गुणभाव होने से और कार्य तथा कारण के अज्ञान के तात्पर्य का भी अभाव होने से यों सिद्ध होता है कि ब्रह्म किसी प्रकार भी श्रुतिपाद्य नहीं है, इस प्रकार पूर्व पक्ष कहा है ॥१॥

आभास—सिद्धान्तमाह बुद्धीन्द्रियेति ।

आभासार्थ—'बुद्धीन्द्रिय' श्लोक में श्री शुकदेवजी सिद्धान्त कहते हैं.

श्लोक—श्रीशुक उवाच—बुद्धीन्द्रियमनःप्राणाञ्जनानामसृजत्प्रभुः ।

मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च ॥२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी ने कहा कि जगत् के लिए, उत्पन्न होने के लिए, आत्मा के लिए, कल्पना होने अथवा न होने के लिए, प्रभु ने मनुष्यों को बुद्धि, इन्द्रियाँ, मन और प्राण दिए हैं ॥२॥

सुबोधिनी—अत्र पूर्वपक्षवादी प्रष्टव्यः । किं ब्रह्म श्रुतिमिदं श्रुतिद्वारा त्वया अवगतं विचार्यत्वेन निर्दिश्यते आहोस्विन् स्वबुद्ध्या परिकल्पितम् । आद्ये प्रतिपाद्यत्वे न सदेहः प्रकारश्च न्त्यिष्यते । द्वितीयपक्षस्त्वप्रामाणिकः सद्भिस्तैर्यथैव । ब्रह्म च यादृश वेदान्तेष्ववगतं तादृशमेव

मन्तव्यम् । तत्र मूलभूतं सर्वव्यवहारातीतमपि स्वयमेव स्वशक्तिरूपेण स्वधर्मरूपेण स्वकार्य-रूपेण च जातमिति श्रुतिः प्रतिपादयति । स्वयमेव च वक्ति । अतः सर्वस्यैव श्रुत्यैकसमधिगम्यत्वात् सङ्कोतश्चादूर्विप्रकर्षेण लोकधर्मसाम्येन वैदिकपरम्परयैव जायत इति सर्वस्यैव भगवद्भा-वस्य खण्डशः प्रतिपादकत्वात् संपूर्णवाक्यस्य तादृश ब्रह्मेति ब्रह्मपरत्वं सेत्स्यति । स च वाक्यार्थः अपूर्वः । यथा लोके लौकिकबुद्धिविषयः पञ्चातद्वाक्यविषयः तदभिप्रेक्षोर्जापकः । एवमीश्वरबुद्धिविषयः तद्वाक्यप्रतिपाद्यः तज्ज्ञानेच्छुं बोधयतीत्येव निश्चित्य शुको भगवता कृतां चतुर्धा सृष्टिं प्रतिपादयति । भगवानादौ बुद्धिमुत्पादयति, तत इन्द्रियाणि, ततो मनः, ततः प्राणानिति । सर्वेषां जनानां करणचतुष्टयं जनयति । जीवसंबन्धित्वेन तच्चतुष्टयमुत्पादयतीत्यर्थः । तत्र सामर्थ्यं प्रभुरिति । प्रत्येकं चतुर्णामुत्पादने प्रयोजनमाह । तत्र बुद्धेः प्रयोजनं मात्रार्थमिति मीयन्ते त्रायन्ते इति मात्राः ज्ञानक्रियोपयोगिनो विषयाः सर्वमेव जगत् । ते विशकलिताः शब्देनापि बोधिताः पुरुषस्य ज्ञानक्रियाविषयोपयोगिनो न भविष्यन्तीति बुद्धिमुत्पादितवान् । सा बुद्धिः सर्वानेव सगृह्णाति । यथा चित्रे सर्वपदार्थस्फूर्तिः तथा बुद्धौ सर्वजगत्स्फूर्तिरिति । ततस्तया बुद्ध्या यत् किञ्चित् ज्ञेयं कार्यं वा तत् सर्वं कर्तुं शक्यत इति मात्रार्थं बुद्धिनिर्माणम्, अनेन वेदानामपि खण्डशोऽर्थप्रतिपादकानां बुद्ध्या महावाक्यार्थज्ञानं भवतीति तात्पर्यतो ब्रह्मप्रतिपादकत्वं सेत्स्यति । चकारादग्रे यत् त्रयं प्रतिपाद्यं फलत्वेन तदर्थं च बुद्धेर्निर्माणं निरू-

पितम् । भव उद्भवः सर्वे प्राणिनः बुद्धयैव सर्वोत्कर्षं प्राप्नुवन्ति । तथैवात्मने । बुद्धयैव भगवन्निष्ठा आत्मनिष्ठाश्च भवन्ति भगवत्सेवां च कुर्वन्ति । अकल्पनाय च । बुद्धयैव ज्ञाननिष्ठा भवन्ति । नानाविधपदार्थध्यानार्थं कल्पनामपि कुर्वन्ति, तस्मात्सर्वं यथा सेत्स्यति । सर्वा चानुपपत्तिः सर्वेषां परिहृता भवति, तदर्थं बुद्धिमुत्पादितवान् । अनेनायं पूर्वपक्षोऽपि बुद्धयैव परिहृतं व्य इति सूचितम् । तथा भवार्थमुद्भवार्थं जन्मान्तरसिद्धयर्थं वा इन्द्रियाणि कृतवान् । बुद्धिसिद्धयर्थमिति विमर्शः । यथा बुद्धेः उद्भवो भवति तदर्थमिन्द्रियाणि सृष्टवान् । इन्द्रियैः कर्मकरणे च तैः कर्मभिरुद्भवो जन्मान्तरं च भवति । चकारादन्यान्यपि प्रयोजनानि इन्द्रियाणां सूचयति । विषयास्तैरेव ज्ञायन्ते क्रियन्ते च । इन्द्रियैरेव भगवत्सेवा भवति । इन्द्रियैरेव च नानाविधकल्पना भवति, मोक्षश्च योगादिद्वारा । तथा आत्मने आत्मार्थं मनः सृजति । 'मनसैवानुद्भूयं नेह नानास्ति किञ्चन' इति श्रुतेः । इन्द्रियाणां च प्रवृत्त्यर्थं मनसः सृष्टिः । प्राणानां प्रयोजनमाह अकल्पनायेति । प्राणा हि कल्पनां दूरीकुर्वन्ति । सर्वमेकतामापादयन्ति । यदि प्राणा न भवेयुः तदान्नान्दिपरिणामप्रदर्शनेन सर्वस्यापि जगतः प्रलये एकताबुद्धिर्न स्यात् । क्रियाशक्तिश्च तत एवेति सर्वत्र हेतुभूताश्च । 'अन्नेन प्राणाः प्राणैर्बलम्' इत्यत्र 'प्राणैर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानन्दो ब्रह्मयोनिः' इति निरूपितम् । स क्रमोऽत्रापि ग्राह्यः । एवं सर्वोपयोगार्थं यतो भगवांश्चतुष्टयमुत्पादितवान् । अनेनैव सर्वानुपपत्तिः परिहर्तव्येति शुकहृदयम् ॥२॥

व्याख्यार्थ—इस विषय में पूर्व पक्ष करने वाले से पूछना चाहिए कि 'ब्रह्म' श्रुति सिद्ध है उसका श्रुति द्वारा विचार करने के लिए कहते हो अथवा जिसकी अपनी बुद्धि से कल्पना की है उसका विचार करना चाहते हो ? श्रुति सिद्ध के प्रतिपादन में तो किसी प्रकार संशय नहीं है, केवल उसका प्रकार विचार जा सकेगा, और दूसरा पक्ष जिसमें ब्रह्म की बुद्धि से कल्पना की जाती है—

१—खण्ड, खण्ड वाक्य, तात्पर्य वृत्ति से ब्रह्म के प्रतिपादक है, और अभिधावृत्ति से 'अर्थात् व्युत्पत्तिकर अक्षरार्थ करने वाली वृत्ति से' भगवान् के धर्म कहे हैं, इसी तरह समग्र महावाक्य भगवान् का प्रतिपादन करता है ।

वह प्रमाण रूप नहीं है, जिससे सत्पुरुष उसकी उपेक्षा करते हैं, ब्रह्म तो जैसा वेदान्तों में कहा गया है, वैसा ही मानना चाहिए ।

वेदान्तों में वेद यों कहते हैं कि ब्रह्म सर्व व्यवहारों से परे है, जिसमें किसी का व्यवहार नहीं हो सकता है जिसका निरास करते हुए कहते हैं कि, वंसा मूल रूप ब्रह्म सर्व व्यवहारों से अतीत होते हुए भी, स्वयं ही अपनी शक्ति रूप^१ से अपने गुण रूप से और अपने कार्य रूपों से प्रकट हुए हैं, अर्थात् वैसे रूप धारण किए हैं यों श्रुति प्रतिपादन करती है और स्वयं कहते हैं, अतः समग्र ब्रह्म श्रुति से ही जाना जा सकता है न कि तर्क संगत मात्र से ब्रह्म का सत्य ज्ञान होता है, और लौकिक गुणों की समानता से समीप वा दूर की वैदिक परम्परा से ही 'सङ्केत' होता है, इससे समग्र वेद खण्डशः भगवान् के धर्मों को जताते हुए सिद्ध कर बताते हैं कि ब्रह्म नानाविध धर्मों वाला अनन्त

१—पूर्व पक्ष में जो अनिर्देश्य निर्गुण और सत् असत् से उत्तम ब्रह्म है, ऐसे जो तीन विशेषण दिए हैं, सिद्धान्ती उनका निरास करने के लिए कहता है कि ब्रह्म ने जाना कि मेरा व्यवहार हो नहीं सकता है, अतः उसने स्वयं अपनी अलौकिक शक्ति रूप से अपने को प्रकट किया वह ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति रूप शक्ति है इसलिए वैदिक शब्दों में भी आप अलौकिक ज्ञान और क्रिया शक्ति से विराजमान हैं, अतः वैदिक शब्दों से ब्रह्म का निर्देश हो सकता है, जिससे सिद्ध है कि ब्रह्म अनिर्देश्य नहीं है ।

'पूर्व वद्धा' इस न्याय से कहा है कि ब्रह्म अपने धर्म 'गुण' रूप से स्वयं प्रकट हुवा है, जिससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म 'निर्गुण' नहीं है, यदि पूर्व पक्षानुसार ब्रह्म निर्गुण न होगा तो द्वैत हो जाएगा, यह दोष भी निर्मूल है, क्योंकि ब्रह्म सूत्र* के अनुसार ब्रह्म स्वयं ही धर्म रूप है अतः धर्म (गुण) भी ब्रह्म रूप है, अतः 'द्वैत' नहीं होगा ।

मैं व्यवहार में भी आसक्त इस इच्छा से ब्रह्म स्वयं कार्य रूप से 'जगत् रूप से' प्रकट हुवे हैं, जिससे वे कार्य कारण से अनभिज्ञ नहीं हैं, अतः सत् असत् से अतीत भी नहीं कहा जा सकता है

तीनों पदों में 'स्व' कहने से यह सिद्ध किया है कि ब्रह्म की ज्ञान और क्रिया शक्ति ब्रह्म रूप ही है और वह अलौकिक है, न कि जीवों की शक्ति की तरह जन्य और व्यवहार करने वाली लौकिक है, ब्रह्म के धर्म ही ब्रह्म रूप होते हैं, न कि जीव के अनीशत्व आदि धर्म ब्रह्म रूप हो सकते हैं, ब्रह्म का कार्य 'जगत् आदि' ब्रह्म रूप है, न कि अविद्या का कार्य मरु मरीचिका, स्वप्न आदि ब्रह्म रूप हैं, इस प्रकार स्वरूप विचार से तीनों का निराकरण कर श्रुति स्वरूप विचार से निराकरण करते हुए कहते हैं कि 'स्वयमेव च वक्ति' स्वयं भगवान् कहते हैं कि जो श्रुति से ही सर्व जाना जाता है, श्रुति लौकिक गुणों को नहीं कहती है, जैसा कि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति वेदैश्च सर्वे रहमेव वेद्य' इत्यादि वाक्यों से स्वयं भगवान् ही कहते हैं कि श्रुतियाँ ब्रह्म का प्रतिपादन करने वाली हैं, अतः श्रुतियाँ गुणों की वृत्ति वाली नहीं हैं ।

* उभय व्यय देशादहि कुण्डलवत्, इत्यादि

है, इसी तरह वेद के समग्र वाक्य ब्रह्म के ही प्रतिपादक हैं, वह वेद वाक्य अपूर्व है, अर्थात् अलौकिक प्रकार का है, लौकिक की भांति नहीं जंमे^१ लोक में जो अर्थ पहने लौकिक पुरुषों की बुद्धि में रहता है, वह पश्चात् उसकी वाणी में वाक्य रूप बन जानने की इच्छा वाले को ज्ञान कराता है, वैसे ही ईश्वर की बुद्धि में रहा हुआ अलौकिक अर्थ भी, उनकी वाणी (वेद वाक्य) में आकर फिर आपके ज्ञान की इच्छा वाले को अपना ज्ञान कराते हैं, इस प्रकार शुकदेवजी सिद्धान्त^२ का निश्चय कर भगवान् को बनाई हुई चार प्रकार की सृष्टि का प्रतिपादन करते हैं, भगवान् ने प्रथम बुद्धि अनन्तर इन्द्रियां, वाद मे मन अन्त में प्राण पैदा किए, इस प्रकार समस्त मनुष्य जाति के लिए ये करण बताए, नहीं तो जीव न कुछ समझ सकते और न कर ही सकते जीव सम्बन्धी ये चार ही करण हैं, इन जीव सम्बन्धी करणों में जो सामर्थ्य है वह प्रभु है, अर्थात् इनमें सामर्थ्य प्रभुरूप है, इन चारों में प्रत्येक के उत्पादन का प्रयोजन कहते हैं, इनमें पहले बुद्धि, मात्रा के लिए बनाई है, 'मात्रा' का अर्थ है, जिसका माप किया जा सके वे 'मा' और जिसकी रक्षा की जावे वे 'त्रा' अर्थात् ज्ञान और क्रियोपयोगी विषय याने सर्व जगत्, वे टुकड़े टुकड़े किए होने से अर्थात् जुदे जुदे अनेक किए होने से शब्द से समझाने पर भी पुरुषों के ज्ञान और क्रिया के विषय में उपयोगी नहीं बन सकते थे क्योंकि उसमें बुद्धि का अभाव था, अतः बुद्धि को उत्पन्न किया। वह बुद्धि सबका संग्रह कर सकती है जैसे चित्र में (नक्शे में) सर्व पदार्थों की स्फूर्ति होती है, वैसे ही बुद्धि में सर्व जगत् की स्फूर्ति होती है, उस बुद्धि से जो कुछ ज्ञेय है, वा कार्य है, वह सब किया जा सकता है, अतः जगत् के लिए बुद्धि का निर्माण किया है, इससे खण्ड खण्ड अर्थ के प्रतिपादक वेदों का भी बुद्धि से महावाक्य के अर्थ का ज्ञान होता है, साराण यह है कि इसी से ही वेदों का ब्रह्म प्रतिपादक बन सिद्ध होगा।

आगे जो तीन फल रूप प्रतिपादन किए गए हैं, उनके लिए बुद्धि का निर्माण किया गया है। यह 'च' पद का आशय है, 'भवः' उद्भव सर्व प्राणि बुद्धि से उत्पत्ति को प्राप्त करते हैं, वैसे ही आत्मा के लिए भी बुद्धि की रचना की है, बुद्धि से ही भगवान् में निष्ठावाले और आत्म स्वरूप में निष्ठावाले होते हैं और भगवत्सेवा करते हैं, कल्पना न होवे, इसलिए भी बुद्धि रची है। बुद्धि से ही ज्ञान में निष्ठा वाले होते हैं, अनेक प्रकार के पदार्थों के ध्यान के लिए कल्पना भी करते हैं, उससे जैसे सर्व सिद्ध होगा, वैसे सर्व प्रकार की सबकी अनुपपत्ति का भी नाश होगा, [तदर्थ बुद्धि पैदा की है, इससे यह सूचन किया है कि पूर्व पक्ष का भी बुद्धि से ही निरस नहीं करना चाहिए, वैसे ही 'भावार्थ'

१—जब वाक्यार्थ अपूर्व है तो उसका ज्ञान कैसे होगा ? इस शङ्का का निरास दृष्टान्त देकर करते हैं—जैसे चैत्र घड़ा बनाता है, इस वाक्य का भाव कहने वाले के हृदय में रहता है, पश्चात् उसकी वाणी में आता है, जिससे घट कर्ता के जानने की इच्छा वाले को चैत्र का ज्ञान कराता है वैसे ही जगत् कृतिरूप वेद का वाक्यार्थ प्रलय समय में ईश्वर की बुद्धि में रहता है, पश्चात् वह ईश्वर की वाणी (वेद) में आता है, अनन्तर जिसको जगत् कर्ता के जानने की इच्छा होती है, उसको वह वेद वाणी ईश्वर का ज्ञान कराती है।

२—यही सिद्धान्त स्वपृष्टमिदमापीय' इस अध्याय के १२वें श्लोक में सनन्दन कहेंगे कि प्रलय में अन्य कुछ न होने से भगवान् सर्व व्यवहारातीत का विषय होने से 'अनिर्देश्य' रूप थे, किन्तु पश्चात् सब कुछ हो जाने की स्वशक्ति आदि तीन रूप होने से इच्छासे निर्देश्य, सधर्मक और सद्मद्रूप हुए नव ज्ञान कराने लगे।

अर्थात् जन्मान्तर सिद्धि के लिए 'इन्द्रियाँ' बनाई हैं, किन्तु केवल जन्मान्तर सिद्धि के लिए, ही इन्द्रियों की सृष्टि है, यों कहना अप्रयोजक होगा, अतः इन्द्रियों की सृष्टि अन्यो के लिए भी है, जैसे कि बुद्धि विचार कर सके इसलिए भी इन्द्रिय सृष्टि है, ज्ञानेन्द्रिय द्वारा ही बुद्धि की उत्पत्ति होती है, इन्द्रियाँ भी मन में संयोग से कार्य करने में समर्थ होती है, अतः मन की सृष्टि की है मनः संयोग से जब इन्द्रियाँ कर्म करती हैं, तब उन कर्मों से जन्मान्तर की प्राप्ति होती है, 'च' शब्द से यह सूचित किया है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति के अन्य भी प्रयोजन हैं, उनसे ही विषयों का ज्ञान होता है और विषयों के कार्य 'भोग' किए जा सकते हैं, इन्द्रियों से ही भगवत्सेवा हो सकती है, और इन्द्रियों से ही अनेक प्रकार की कल्पना की जाती है, और मोक्ष भी इन्द्रियों द्वारा क्रिया करने से प्राप्त किया जा सकता है वैसे आत्मा के लिए भी मन की रचना की है, जैसा कि श्रुति भगवती कहती है कि 'मनुसैवानुद्दष्टव्यं नैव नानाऽस्ति किञ्चन' अर्थ-मन से ही देखना चाहिए, जगत् में जो अनेक दोखता है वह आत्मा के सिवाय अन्य कुछ नहीं है, और इन्द्रियों की प्रवृत्ति के लिए, मन की सृष्टि की है, प्राणों के उत्पन्न करने का प्रयोजन कहते हैं कि, कल्पना न हो इसलिए प्राण रचे, क्योंकि प्राण कल्पना को दूर करते हैं अर्थात् कल्पना करने नहीं देते हैं, सबको एकता कराते हैं, अर्थात् सबको आत्मा की तन्मय ले जाते हैं, यदि प्राण न होवे तो जब जगत् की प्रलय हो तब यदि अन्न आदि के परिणाम पृथक् पृथक् होवे तो उस समय भी एकता की बुद्धि न होवे । प्राणों से ही क्रिया शक्ति उत्पन्न होती है, और प्राण ही सर्वत्र कारण रूप है जैसे कि कहा है 'अन्नोऽप्राणोऽर्बलम्' अन्न से प्राण, प्राणों से बल उत्पन्न होता है, फिर—'प्राणोर्मनो मनसश्च विज्ञानं विज्ञानादानं बोद्धव्यं योनि' इति निरूपितम् सक्रमोऽनापि ग्राह्यः । अर्थात् प्राणों से मन, मन से विज्ञान विज्ञान से आनन्द वह की योनि' है, यों निरूपण किया है, वह क्रम यहाँ भी लेना चाहिए । इसी तरह भगवान् ने सबके उपयोग के लिए ये चार बनाए । इस सृष्टि^२ द्वारा सर्व प्रकार की शङ्काओं को मिटाना चाहिए यह श्रीशुकदेवजी का हृदय है ।

यही बात निबन्ध में कही है, कि यदि भगवान् का कर्तृत्व आदि गुण लौकिक होवे तो लौकिक युक्ति से सिद्ध होवे और उनको लोक बता सके, किन्तु वे सब अलौकिक हैं, क्योंकि इन सबको भगवान् ने स्वरूप में से उत्पन्न किया है अतः इनको अलौकिक वेद ही बता सकता है, अन्य में कहने की सामर्थ्य नहीं है, इसमें भगवान् की अलौकिक कथा का वर्णन है, सब अलौकिक किया है, जिससे यश भी अलौकिक हुआ है 'अलौकिकस्य करणात् यशोजातमलौकिकम्' उस अलौकिक यश का निरूपण इस अध्याय में श्रुतिओं ने १४ वें श्लोक से २८ वें श्लोक में किया है ॥२॥

आभास—अयमर्थः स्वेनैव परिहृत इति कदाचिच्छङ्का स्यात् तत्परिहारार्थमाह सैषा ह्युपनिषद्ब्राह्मीति ।

आभासार्थ इस अर्थ का स्वयं ने ही परिहार किया है, ऐसी शङ्का को मिटाने के लिए 'सैषा' श्लोक में कहते हैं,

श्लोक—सैषा ह्युपनिषद्ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता ।

श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः ॥३॥

श्लोकार्थ—यह श्रुति ब्रह्म ने ही प्रतिपादन की है, अतः ब्राह्मी कही जाती है । वह पूर्वजों के भी पूर्वजों ने धारण की है । श्रुति उपनिषद् भी कहलाती है, उपनिषद् का अर्थ ब्रह्म विद्या है, जिसको जो पुरुष श्रद्धा से धारण करता है, वह अकिञ्चन होकर क्षेम को प्राप्त करता है ॥३॥

सुबोधिनी—इयमुपनिषत् ब्रह्मविद्याप्रतिपादिका श्रुतिः । ब्राह्मी ब्रह्मणैव प्रतिपादिता । अत्र प्रमाणं सा प्रसिद्धा । युक्तश्रयमर्थः । न ह्यग्न्य इममर्थं परब्रह्मणो निर्वक्तुं शक्नोति । उपनिषच्छब्देन च ब्रह्मविद्या निरूप्यते । 'उपोपसर्गः सामीप्ये तत् प्रतीचि समाप्यते । त्रिविधस्य षडर्थस्य निशब्दोऽपि विशेषणम् ।' 'षट् लृ विशरणगत्यवसादनेषु' इत्यनुशासनात् । जीवात्मानं परब्रह्मनयनार्थं पूर्वभावाद्विशोर्णं कृत्वा ततः सङ्घातात्केवलमुद्धृत्य ब्रह्म प्रापयित्वा तत्रैव तमवसादयतीति । यथा सर्वोऽप्यंशः विशोर्णो भवति । यथा वा सर्वभावेन तं प्राप्नोति । यथा वा कदाचिदपि ततो न निवर्तते स निशब्दार्थः ।

एतादृशी ब्रह्मविद्यैव भवति । तथात्रापि सर्वाणुपपत्तिपरिहारं कृत्वा वेदान् ब्रह्मप्रतिपादकान् कृत्वा ब्रह्मणि संयोज्य तत्रैव पर्यवसितान् करोतीति । इदं वाक्यं तादृशार्थप्रतिपादकत्वेनानुपपत्तिं परिहृत्य सिद्धान्तं स्थापयतीत्युपनिषत्प्रतिपादकत्वादुपनिषत् । तर्हि मदन्तःकरणस्थिता इयमनुपपत्तिः कथं गच्छतीत्याकाङ्क्षायामाह पूर्वेषां पूर्वजैर्धृतेति धारणे संमतिः । एतादृशीं श्रद्धया यो धारयेत् स त्वकिञ्चनः सन् क्षेमं गच्छेत् सर्वसन्देहनिवृत्त्या भगवन्तं प्राप्नुयात् । अतः सर्वे संदेहाः उपनिषदर्थविचारेणैव निराकर्तव्या इति सिद्धान्त उक्तः ॥३॥

व्याख्यानार्थ - यह 'उपनिषद्' ब्रह्म विद्या की प्रतिपादिका श्रुति है, 'ब्राह्मी' है अर्थात् इसको ब्रह्म ने ही प्रतिपादन किया है । ब्रह्म ने इसको प्रतिपादन किया है, जिसमें प्रमाण है 'सा प्रसिद्धा' वह प्रसिद्ध है यदि ब्रह्म ने इसका परिपादन न किया होता तो यह इतनी प्रसिद्ध नहीं हो सकती थी, ब्रह्म प्रतिपादक अर्थ उचित ही है, इसमें यह हेतु है कि ब्रह्म के सिवाय दूसरा कोई भी पर ब्रह्म के इस अर्थ का विवेचन करने में शक्तिमान नहीं है, 'उपनिषद्' शब्द से ब्रह्म विद्या का निरूपण किया है, उपनिषद् पद में 'उप' उपसर्ग है जिसका भाव है कि जीव को प्रत्यगात्मा के पास पहुँचा देना । 'नि' षट् का विशेषण है षट् पद षट् लृ धातु से बना है, जिसके तीन अर्थ हैं, १—विशरण, २—गति ३—पहुँचाना अर्थात् उसमें अवसान करा देना, सारांश यह है कि यह ब्रह्म विद्या जीवात्मा को पर ब्रह्म के पास ले जाने के लिए पूर्वभाव को अर्थात् जीव भाव को स्थिति को नाश कर पश्चात् संघात से केवल जीव को निकाल ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति कराके उसमें ही उसका अवसान कराती है, जैसे अन्य सर्व अंश विशोर्ण हो जाते हैं, जिस प्रकार सर्व भाव में उसको प्राप्त हो जाता है, फिर जैसे वह कभी भी उसमें से लौटकर नहीं आता है, यह 'नि' पद का स्वारस्य है, इस प्रकार की विद्या ब्रह्म विद्या ही हो सकती है, वैसे ही यहाँ भी शुक्रदेवजी के वाक्य में रही हुई ब्रह्म विद्या, सर्व अयोग्यता को दूर कर वेदों को ब्रह्म बताने वाला बना के ब्रह्म के साथ मिला कर ब्रह्म में ही लीन करती है,

अर्थात् उपनिषद् जैसा ही अर्थ बताने वाली होके अयोग्यता दूर कर सिद्धान्त का स्थापन करती है, जिससे ब्रह्म विद्या (उपनिषद्) का प्रतिपादक होने से उपनिषद् है, यों है, तो मेरे अन्तःकरण में स्थित जो यह अनुपपत्ति है वह कैसे नष्ट होगी इसके उत्तर में कहा है कि 'पूर्वेषां पूर्व जेर्धुता' पूर्वजों के भी पूर्वजों ने इसको धारण किया है, यों कह कर यह राय बताई है कि तू भी इसको धारण करेगा तो तेरी अनुपपत्ति नष्ट हो जाएगी, ब्रह्मा से अन्यो ने प्राप्त कर धारण की वैसे ही तू धारण कर, ऐसी ब्रह्म विद्या को जो श्रद्धा से धारण करे वह तो अकिञ्चन हो तो भी क्षेम पाता है, अर्थात् सर्व सन्देह निवृत्ति हो जाने से भगवान् को पाता है अतः सर्व सन्देह, उपनिषद् के अर्थ का विचार करने से ही मिटाना चाहिए । यों सिद्धान्त कहा ॥३॥

आभास स विचारो राज्ञा कर्तुमशक्य इति सर्वश्रुत्यालोडनं महतामपि दुर्घट-
मिति कृपया स्वयमेव पूर्वं विस्तरेण निर्णीतमिममर्थं वक्तुं प्रतिजानीते अत्र ते
वर्णयिष्यामीति ।

आभासार्थ—वह विचार करने में राजा समर्थ नहीं है, क्योंकि सर्व श्रुतियों का मथन कर निर्णय करना महान् पुरुषों के लिए भी कठिन है, इसलिए कृपाकर स्वयं गुरुदेवजी पहले निर्णय किए हुए श्रुतियों के अर्थ को कहने की 'अत्र ते' श्लोक में प्रतिज्ञा करते हैं,

श्लोक—अत्र ते वर्णयिष्यामि गाथां नारायणान्विताम् ।

नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च ॥४॥

श्लोकार्थ—इस विषय को समझाने के लिए नारायण के सम्बन्ध वाली गाथा आपको वर्णन कर बताऊँगा, जिसमें नारद और ऋषि नारायण का संवाद है ॥४॥

सुबोधिनी - गाथा पूर्ववृत्तान्तप्रतिपादिका वाक्यपरम्परा, सा श्रुतिगीतारूपा । तत्रापि प्रमाणमाह नारायणान्वितामिति । आदिनारायणेन लक्ष्मीभुजान्तरगतेन उदारगुणवारिधिना संस्थापितोदरजगता शयानेनान्विता । तत्प्रबोधनार्थमेव प्रवृत्तेति । अयमप्यर्थः कुतो जात इत्या-

काङ्क्षायामाह नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्यचेति । अत्र ते वर्णयिष्यामीति पूर्वणैव संबन्धः । महता कृते निर्णये निरुक्ते च सर्वेषां संदेहनिवृत्तिर्भवति । न तु येनकेनविदुदाहृते । अत एतदर्थं संवादं च कथांयष्यामि । चकारात्तेन प्रोक्तं जनलोकसंवादं चोदाहरिष्यामीति ज्ञापितम् ॥४॥

व्याख्यार्थ—'गाथा' पद का आशय है कि पहले जो वृत्तान्त हो गया है, उसको वाक्यों में कह कर बताना, वह श्रुति गीतारूपा है, इसमें प्रमाण देते हैं कि 'नारायणान्विताम्' वह नारायण सम्बन्धी है, अर्थात् जिसमें भगवान् को जगाने का ही वृत्तान्त है जैसा कि लक्ष्मीजी की भुजाओं में आए हुए, उदार गुणों के समुद्र और समग्र जगत् को उदर में समा कर जो पोड़े हुए है, उनको जगाने के लिए श्रुतियाँ प्रवृत्त हुई हैं, अतः यह 'गाथा'

‘श्रुति गीता’ कही गई है, आपने यों कैसे जाना इस पर उत्तर देते हैं कि ‘नारदस्य च संवादमृषे-
नारायणस्य च’ इसी प्रकार ऋषिनारायण और नारदजी का परस्पर संवाद हुआ है, यहाँ आप को
वह वर्णन बताऊँगा महत्पुरुषों के किए हुए निर्णय और कहे हुए वचनों को सब मानते हैं, जिनसे
उनके सर्व संदेह मिट जाते हैं, यदि ऐसा वैसा साधारण मनुष्य कहे तो संदेह नहीं मिटते हैं, अतः
उसके लिए संवाद कहूँगा ‘च’ पद का तात्पर्य प्रकट करते हैं कि नारायणजी का कहा हुआ जन
लोक का संवाद कहूँगा ॥४॥

आभास—संवादार्थं कथाप्रस्तावनामाह एकदा नारदो लोकानिति ।

आभासार्थ - संवाद कहने के लिए पहले कथा की प्रस्तावना ‘एकदा’ श्लोक से कहते हैं

श्लोक—एकदा नारदो लोकान्पर्यटन्भगवत्प्रियः ।

सनातनमृषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम् ॥५॥

श्लोकार्थ—किसी काल में भगवान् जिसको प्यारे हैं अथवा भगवान् के प्यारे,
वैसे नारदजी लोकों में विचरण करते हुए सनातन ऋषि के दर्शनार्थ उनके आश्रम
में पधारे ॥५॥

सुबोधिनी—लोकपर्यटनेनास्याः श्रवणे अधि-
कारनिरूपिका शुद्धिर्भवतीति सूचितम् । एकदेति
कालस्तत्र न नियामकः । नारदस्य पर्यटने हेतु-
माह भगवत्प्रिय इति । वव भगवतो माहात्म्यं
ज्ञातं भवति वव भगवानिति प्रियान्वेषणार्थं

परिभ्रमतीत्यर्थः । एवमेव च परिभ्रमणं कर्तव्यं
यथा कौण्डिन्येन कृतम् । ततो भगवद्रूपं भगव-
त्प्रतिपादकं च नारायणमृषिं बदरीनाथं द्रष्टुं
नारायणाश्रमं ययौ बदरीस्थाने समागतः ॥५॥

व्याख्यार्थ—नारदजी पर्यटन क्यों करते हैं ? जिसका आशय प्रकट करते हैं कि पर्यटन से
‘श्रवण’ का अधिकार प्राप्त होता है, और श्रवण में बाधक दोष नष्ट होने से शुद्ध होता है, इसलिए
पर्यटन करते हैं ‘एकदा’ किसी काल में यों कह कर सूचित किया कि इस विषय में काल रूकावट
करने वाला नहीं है, नारदजी के पर्यटन में अन्य हेतु है कि भगवत्प्रिय हैं, अर्थात् नारदजी को
भगवान् के सिवाय अन्य कुछ प्रिय नहीं है, अतः धूमने से उस प्रिय के माहात्म्य का ज्ञान प्राप्त होता
है, और भगवान् कहाँ मिलेंगे ? इसलिए उनको ढूँढने के लिए धूम रहे हैं, और उसी प्रकार भ्रमण
करना चाहिए जिस भाँति कौण्डिन्यों ने किया था, पश्चात् भगवद्रूप और भगवाद् के प्रतिपादक
एवं उन्हें दिखाने वाले ऐसे ऋषि बदरीनाथ के दर्शनार्थ नारायणाश्रम को गए ॥५॥

आभास—स्थानस्याप्युत्कर्षमाह यो वै भारतवर्षेऽस्मिन्निति ।

आभासार्थ—स्थान का भी उत्कर्ष ‘यो वै भारतवर्षे’ श्लोक में कहते हैं ।

श्लोक—यो वै भारतवर्षेऽस्मिन्क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् ।

धर्मज्ञानशमोपेतमाकल्पादास्थितस्तपः ॥६॥

श्लोकार्थ—जो (नारायण ऋषि) इस भारतवर्ष में मनुष्यों के क्षेम और कल्याण के लिए कल्प के प्रारम्भ से धर्म, ज्ञान और शम से युक्त तप कर रहे हैं ॥६॥

सुबोधिनी—अस्मिन् भारते कर्मभूमौ एके-
नापि तादृशं कर्म क्रियते येन जगदेव प्रलयं याति।
अतस्तस्य रक्षा दुर्लभेति स्वयं तत् क्षेमाय उत्त-
रोत्तरकल्याणसिद्धये च सर्वेषामेव नृणां
प्राकल्पात् कल्पप्रभृति तप आस्थितः ॥६॥

व्याख्यार्थ—यह भारत भूमि कर्म भूमि है, यदि एक भी ऐसा कर्म करे जिसमें जगत् का प्रलय हो जावे अतः उसकी रक्षा मनुष्य से कठिन समझ स्वयं उसके (जगत् के) उत्तरोत्तर कल्याण और वृद्धि के लिए कल्प के प्रारम्भ से धर्म, ज्ञान, और शम युक्त तप कर रहे हैं ॥६॥

आभास—तत्रापि तपःकुर्वाणं कार्यान्तरव्यग्रं एकान्तस्थितं प्रष्टुमशक्त इति सुगमा-
वस्थां निरूपयति तत्रोपविष्टमृषिभिरिति ।

आभासार्थ—उस उत्तम स्थान में भी अन्य कार्य में रुके हुए एकान्त में स्थित ऋषि नारायण 'बदरीनाथ' से पूछने में नारद असमर्थ थे, इसलिए 'तत्रोपविष्टमृषिभिः' श्लोक से सुगमावस्था का निरूपण करते हैं,

श्लोक—तत्रोपविष्टमृषिभिः कलापग्रामवासिभिः ।

परीतं प्रणतोऽपृच्छदिदमेव कुरुदह ॥७॥

श्लोकार्थ—हे कुरु वंशोद्भव ! सर्व विद्यावाले ऋषियों से वेष्टित ऐसे विराजमान को प्रणाम कर नारदजी ने यह ही प्रश्न किया ॥७॥

सुबोधिनी—उपविष्टत्वादव्यग्रं कलापग्रामः
सर्वविद्यानिधानभूतः कलाः पातीति ग्रामस्तेषा-
मपि समूहरूपः सर्व एव कलापा इति । तैर्वेष्टित इति बहिःसत्त्वावस्था प्रतिपादिता । ततः स्वयं
प्रणतः सन्नपृच्छत् । इदमेव यत्त्वया पृष्टम् । कुरु-
दहेति विश्वासार्थं माहात्म्यम् ॥७॥

व्याख्यार्थ—'विराजमान थे' यों कहने से बताया कि 'व्यग्रता' नहीं थी 'कलापग्राम।' पद का अर्थ है, सर्व कलाओं की पालना (रक्षा) करने वालों का समूह अर्थात् वहाँ जो ऋषि थे वे सर्व विद्याओं के भंडार थे, ऐसे ऋषियों से वेष्टित थे । जिससे बताया है कि वहाँ सत्त्वावस्था थी, पश्चात् नारदजी ने स्वयं प्रणाम कर वह प्रश्न किया कि जो तुमने पहले श्लोक में प्रश्न किया है, परीक्षित का इस कथा में विश्वास हो तदर्थ, हे कुरुदहः यह सम्बोधन दे के विश्वास के लिए उसका माहात्म्य कहा है ॥७॥

श्लोक—तस्मै ह्यवोचद्भगवानृषीणां शृण्वतामिदम् ।

यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ॥८॥

श्लोकार्थ — ऋषियों के सुनते हुए जो ब्रह्मवाद जनलोक निवासियों को पहले कहा हुआ था, वह ब्रह्मवाद भगवान् ने नारदजी को कहा ॥८॥

सुबोधिनी — अत एव तस्मै नारायणो वृत्ता- | क्र्यात् निःसन्दिग्धता निरूपिता । तस्मा अपि
न्तमवोचत् । ऋषीणां शृण्वतामिति अतिप्राक्- | भगवानिदमेव पूर्वं निरूपितवान् ॥८॥

व्याख्यार्थ—अत एव विश्वास दुर्लभ होने से नारदजी को, नारायण ने वृत्तान्त कहा। भगवान् ने जो कुछ नारदजी को कहा वह सब ऋषि सुन रहे थे, इस प्रकार स्पष्ट कहने से यह सूचित कराया है कि मैं जो बात बता रहा हूँ उसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है, यदि संदिग्ध होता तो यों सबके आगे न कहा जाता, यह ब्रह्मवाद जन लोकवासियों को जो कहा था वह नारदजी को पहले संक्षिप्त में कहने से उनका संदेह मिटा नहीं था, अतः प्रभु फिर नारदजी को वही ब्रह्मवाद अब स्पष्ट एवं विस्तृत रूप से समझाकर कहते हैं ॥८॥

आभास—ततः संक्षिप्तत्वात् यदा नारदस्यापि सन्देहो न गतः तदा नारायणः पुरावृत्तमाह स्वायम्भुवेति ।

आभासार्थ—पश्चात् वह ब्रह्मवाद संक्षिप्त में कहे जाने से जब नारदजी का संशय नहीं मिटा, तब नारायण, पहले कहे हुए को फिर 'स्वायम्भुव' श्लोक में कहने लगे,

श्लोक — श्रीभगवानुवाच-स्वायम्भुव ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत्पुरा ।

तत्रस्थानां मानसानां मुनीनामूर्ध्वरेतसाम् ॥९॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे स्वायम्भुव! पहले जनलोक में ब्रह्म सत्र हुआ था, मन से उत्पन्न ऊर्ध्वरेत वाले मुनि जो वहाँ (जनलोक में) रहने वाले थे, उन्होंने यह सत्र किया था ॥९॥

सुबोधिनी—पूर्वं जनलोके ब्रह्मसत्रमासीत् । यथा कर्मसत्रं सप्तदशावरास्तुल्यफलान्तुल्यसाधनाश्च ग्रहमहमिकया प्रधानगुणभावमाश्रित्य कर्म कुर्वन्ति, एवं निःसन्दिग्धब्रह्मज्ञानार्थं सर्व एव निर्णयार्थं प्रवृत्ताः तेषां विचारो ब्रह्मसत्रम् । तज्जनलोके आसीत् । महोपर्यन्तं कर्मफलमेवेति शुद्धब्रह्मविचारो न भवतीति जनलोकग्रहणम् । स्वायम्भुवेति संबोधनं विश्वासार्थम् । न स्थानो-

त्कर्षमात्रेण विचारः समीचीनो भवतीति विचारकाणां जन्मकर्माद्युत्कर्षमाह तत्रस्थानामिति, तत्रैव तिष्ठन्तीति कर्मसंबन्धिदोषाभावस्तेषामुक्तः । मानसानामिति ब्रह्मणो मनसा उत्पन्नानां सनकादीनाम् । अनेन जन्मोत्कर्षः सूचितः । तेषां कर्माह मुनीनामिति मननशीलानाम् । ऊर्ध्वरेतसामिति ब्रह्मविद्याया अतिकारः ॥९॥

व्याख्यार्थ—पहले जन लोक में ब्रह्म सत्र हुआ था, जैसे ब्राह्मण, समान फल चाहने वाले और समान साधन वाले, गुण प्रधान भाव को स्वीकार कर कर्म करते हैं, उसको 'कर्मसत्र' कहा जाता है, वैसे निःसन्दिग्ध ज्ञान भाव को समझने के लिए, सर्व ज्ञानेच्छु निर्णयार्थ प्रवृत्त हो, वहाँ जो

विचार हो 'ब्रह्म सत्र' है, वह 'ब्रह्मसत्र' जन लोक में हुआ था, कारण कि महर्लोक पर्यन्त कर्म फल ही होता है, इसलिए शुद्ध ब्रह्म विचार वहाँ नहीं हो सकता है अतः ब्रह्म-सत्र के लिए जन लोक ही पसन्द किया गया है, स्वायंभुव! संबोधन देकर सूचित किया है कि इस विषय पर विश्वास रखो, केवल स्थान की उत्तमता से 'विचार' सुन्दर फलदायी नहीं हो सकता है किन्तु विचार करने वालों में भी योग्यता होनी चाहिए अतः जन्म और कर्म आदि से उनका (विचार करने वालों का) उत्कर्ष कहने हैं, १—उनमें कर्म सम्बन्धी दोष नहीं है क्योंकि वे जन लोकों में रहने हैं, वहाँ रहने वालों में कर्म दोष नहीं होता है जन्म से भी उत्तम है, कारण कि ब्रह्मा के मन से उत्पन्न हुए हैं, अतः यह सनकादि जन्म से भी उत्कर्ष वाले हैं, उनके कर्म भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि सदैव ब्रह्म का ही मनन करते हैं, ब्रह्म विद्या के विचार के लिए अधिकार चाहिए, यदि वह नहीं होगा तो वह विचार निष्फल एवं भिराने वाला होगा, इनमें यह अधिकार भी है क्योंकि ऊर्ध्वरेना अर्थात् ब्रह्मचारी हैं तात्पर्य यह है कि विषयों से जो दूर है वे अधिकारी हैं ॥६॥

आभास—नन्वह कथमिममर्थं न ज्ञातवान् तत्राह श्वेतद्वीपं गतवतीति ।

आभासार्थ—मैं इस अर्थ को क्यों नहीं जान सका ? इसका उत्तर 'श्वेतद्वीप गतवति' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम् ।

ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते ।

तत्र हायमभूत्प्रश्नस्त्वं मां यं परिपृच्छसि ॥१०॥

श्लोकार्थ—तुम तो श्वेतद्वीपाधिपति श्री अनिरुद्ध भगवान् के दर्शनार्थ श्वेतद्वीप गए थे, उस समय जहाँ श्रुतियाँ शयन करती (स्थिति) हैं, वहाँ ब्रह्मवाद अच्छे प्रकार से हुआ था । जो प्रश्न मुझ से पूछ रहे हो, वह ही वहाँ पूछा गया था ॥१०॥

सुबोधिनी—क्षीरोदस्थानं भगवतोऽनिरुद्धस्य क्रीडासाधनम् । तत्र श्वेतद्वीपपति द्रष्टुं त्वयि गते ब्रह्मवादः सुसंवृत्त इति सम्बन्धः । अनेन सत्रे स्वस्वस्थाने यदा स्थिताः तदा ब्रह्मवादोऽजायत इत्यपि सूचितम् । पूर्वलोकानां स्थितत्वात् कर्मिणः सुखिनः । भक्ता अपि भगवद्दर्शनं कुर्वाणाः यदा सुखिनः तदा ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः ब्रह्मनिरूपणार्थं वादो वीतरामा कथा यत्र तादृशो विचारः सम्यङ्निष्पन्न इत्यर्थः । ननु तदपि स्थानं स्थानान्तरतुल्यमिति कथं तत्र निर्णय इति चेत् तत्राह श्रुतयो यत्र शेरते इति । श्रुतयः सर्वत्र भ्रमणं कृत्वा शयनार्थं तत्र गच्छन्ति ।

अतस्तासामपि विश्रामस्थानमिति तत्र स्थिताः श्रुतयः स्वाभिप्रायं निवेदयन्तीति श्रुत्यभिमानिनीनां देवतानां मूर्तिधराणां श्रुतीनां वा विचारे वाक्यं संवादीति तत्रत्यो निर्णयः अबाधितः ।

ननु तत्रत्यानां श्रुत्यभिप्रायपरिज्ञानान्निःसन्देहानां विचार एव कथं घटत इति चेत् तत्राह तत्र हायमभूत्प्रश्न इति । तत्रैव ह निश्चयेन अयं प्रश्नोऽभूत् तत्राप्ययं विचारः अपेक्षित इति विचारस्योत्तमत्वमुक्तम् । यन्मां त्वं परिपृच्छसि 'कथं चरन्ति श्रुतयः' इति । अत एव प्रश्नो न निरूपितः ॥१०॥

व्याख्यार्थ - श्वेतद्वीप को क्षीरोद भी कहते हैं, अर्थात् वहाँ क्षीर समुद्र है वह स्थान भगवान् अनिरुद्ध के क्रीड़ा का स्थान है. वा साधन है, उस क्षीरोद में भगवान् अनिरुद्ध के दर्शन करने के लिए जब तुम गए थे तब जनलोक में ब्रह्म पर अच्छे प्रकार से वाद हुआ था यों वाक्यों का सम्बन्ध है, इससे यह भी सूचित कि जब अपने अपने स्थान पर स्थित थे तब ब्रह्म वाद के ऊपर चर्चा हुई थी, कर्म करने वाले जो भूलोक से महलोक पर्यन्त रहते हैं वे सुखी हैं कारण कि उनकी रक्षा भगवान् नारायण कर रहे हैं. एवं भक्त जन भी भगवान् के दर्शन करने से सुखी थे तब शेष रहे ज्ञानी सो वे सुखी नहीं थे, क्योंकि उनके लिए पूर्ण रीति से स्वरूप निर्णय नहीं हुआ था, इसलिए वहाँ ब्रह्म स्वरूप निर्णय के लिए, वाद होने लगा जिस वाद में ऐसी कथा हुई जिसमें राग नहीं है, इसी प्रकार का विचार अच्छी तरह से हुआ वहाँ निर्णय क्यों होने लगा ? वह भी अन्य स्थानों के समान होगा, इस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि नहीं यह स्थान वह है, जहाँ श्रुतियाँ सर्वत्र भ्रमण करने के अनन्तर आके स्थिति करती हैं, अतः उनका भी यह विश्राम स्थान है, वहाँ स्थित होकर ही श्रुतियाँ अपना अभिप्राय प्रकट करती हैं ।

श्रुतियों के अभिमानी देवनाग्रों का अथवा स्वरूपधारी श्रुतियों का परस्पर विचार जब बिना शङ्का वाला हो जाय, तब वह निर्णय ही सत्य होता है । श्रुतियों के अभिप्राय को जानने वाले वहाँ के निवासियों को जब संदेह ही नहीं रहा, तो फिर उनका विचार करने का कारण ही नहीं है, उनका परस्पर विचार करना बनता ही नहीं है, यों कहने पर उत्तर देते हैं कि 'तत्रहायमभूत् प्रश्न' वहाँ भी निश्चय से यह प्रश्न हुआ, जो तुम मुझसे कर रहे हो । अतः प्रश्न होने पर विचार करना अपेक्षित है, जो विचार करना उत्तम है । तुमने पूछा है कि 'कथं चरन्ति श्रुतयः', इसलिए यहाँ पुनः प्रश्न नहीं कहा है । १०॥

आभास — तनु प्रश्ने अज्ञोधिकारी उत्तरे च सर्वज्ञ इति कथं तत्र संवाद इति चेत् तत्राह तुल्यश्रुततपःशीला इति ।

आभासार्थ—जो अज्ञ होता है, वह प्रश्नकर्त्ता होता है और वह अधिकारी होकर प्रश्न करता है, जिसका उत्तर सर्वज्ञ अधिकारी देते हैं । इस प्रकार की अवस्था में वहाँ चर्चा कैसे हो सकी ? इसलिए 'तुल्यश्रुततपः' श्लोक कहकर इस शङ्का का निवारण किया है ।

श्लोक—तुल्यश्रुततपःशीलास्तुल्यस्वीयारिमध्यमाः ।

अपि चक्रुः प्रवचनमेकं शुश्रूषवोऽपरे ॥११॥

श्लोकार्थ—यद्यपि सब शास्त्राभ्यास, तपस्या एवं स्वभाव में समान थे और मित्र, शत्रु तथा तटस्थों में सम-बुद्धि वाले थे, तो भी उन्होंने अपने में से एक को वक्ता (उत्तरदाता) बनाया, शेष (अन्य) श्रोता बने ॥११॥

सुबोधिनी—तुल्यमेव श्रुत अध्ययनं तपः शीलं च येषाम् । त्रयं समानमदृष्टजनकम् । एकतरा-भावेऽपि । जिष्ठमप्रयोजक स्यात् । तुल्यस्वीया-

रिमध्यमा इति । अन्तःकरणशुद्धिर्ब्रह्मज्ञानोपयिकी । एवं दृष्ट दृष्टप्रकारेण येऽधिकारिणः तेषां मध्ये एकं प्रवचनकर्तारं चक्रुः । प्रकर्षेण वचनं

सिद्धान्त निरूपणरूप वचनं यस्मेति । अपरे च । न्यायेन ब्रह्मविचारवृत्ति कुर्वन्तो जाता इत्यर्थः ।
शुश्रूषवो जाताः । 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इति ॥११॥

व्याख्यान—जिनका पठन, तप और शील समान है, अदृष्ट को उत्पन्न करने वाले ये तीन गुण भी समान हैं, यदि इन तीन गुणों में से किसी एक का भी अभाव हो जावे तो शेष दो गुण निष्फल हो जावे, अर्थात् अदृष्ट को उत्पन्न न कर सके, सारांश यह है कि मित्र, शत्रु और तटस्थों में उनकी समान वृद्धि न हो सके । जिससे वे शुद्ध अन्तःकरण के अभाव से ज्ञान के अधिकारी न बन सके, किन्तु उन तीन गुणों के होने से ही इनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया जिससे वे ज्ञान अधिकारी हुए, ऐसे दृष्टादृष्ट प्रकार से जो अधिकारी हुए, उन्होंने अपने में से एक को वक्ता बनाया अन्य शेष श्रोता बने, 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इस ब्रह्मसूत्र के अनुसार ब्रह्मस्वरूप के विचार की आवृत्ति करते हुए निर्णय कर निःसंशय हो के ज्ञान की प्राप्ति की ॥१॥

आभास—तत्र सनन्दनो वक्ता सनकादयः श्रोतार इति । सनन्दन आह । संदिग्धार्थनिर्णयार्थं श्रुतीनां वचनानि । तत्तस्य च प्रसङ्गार्थं स्वयमाह द्वाभ्याम् । वेद-वाक्यैरेव वेदार्थनिर्णय इति मतम् । संदिग्धेषु वाक्यशेषादिति न्यायात् सर्वेषु वेदेषु तत्त्वनिरूपणप्रकारेणाष्टाविंशतिधा भिन्नेषु तत्त्वसन्देहनिवृत्त्यर्थं वाक्यशेषरूपाः एतेष्टा-विंशतिश्लोकाः । तेषां प्रकरणं नास्तीति तत्तत्प्रकरणेषु न पठिता इति अनारम्भाधो-तानामपि निर्णायकत्वात् सर्वतत्त्वरूपे भगवति शयाने शुद्धरूपेणास्फुरणदशायां मुख्य-स्फुरणार्थं तत्त्वभेदनिर्णयान्वदन्तः प्रकृते तात्पर्यरहिता बोधनमेव तात्पर्यविषयं ज्ञात-वन्तः । नटा इव रसाभिनयेन अर्थनिरूपकौ शब्दार्थरूपौ वेदभगवन्तौ यथोचतुः तन्निरूपयितुं तादृशीमवस्थां निरूपयति ।

नाप्येतावता सर्ववेदसन्देहनिवृत्तिः किन्तु केषांचिदेव परार्थं प्रवृत्तानां वेदानां बोधकमेतदिति जापनार्थं वेदानां वैतालिकत्वं भगवतो राजत्वं च दृष्टान्तेन निरूप्यते । तेन निर्णायिका अपि अदूरविप्रकर्षेणैव स्वप्रकरणसन्देहं वारयन्ति न तु भगवन्तं दृष्ट्वेति सूचितम् । वेदतत्त्वानां निवृत्तिरूपत्वं वक्तुं भगवतः पूर्वावस्था निरूप्यते स्वसृष्टमिदमापीयेति ।

आभासार्थ—वहाँ सनन्दन वक्ता हुए और सनकादि श्रोता बने संशय वाले अर्थ के निर्णयार्थ सनन्दन श्रुति वचन कहने लगे, वह सिद्धान्त जो शुकदेवजी ने कहा उसके प्रसङ्ग की सनन्दन स्वयं श्लोको से कहते हैं—

१—जिसके वचन शङ्का निवारक हो प्रमाण रूप माने जाए अर्थात् उसके वाक्य को सिद्धान्त माना जाय ।

वेदों के वचनों से ही वेदों के अर्थ का निर्णय होता है यह सिद्धान्त है ।

जो सन्देह वाले वाक्य हो अर्थात् जिन वेद वाक्यों में विषय संदिग्ध हो उसका निर्णय शेष वेद वाक्यों से किया जाता है, इस न्यायानुसार जैसे २८ तत्त्व पृथक् पृथक् हैं उनका निर्णय भी पृथक् पृथक् २८ प्रकार से किया है, वैसे ही यहाँ भी २८ प्रकार से निर्णय करने के लिए श्रुतियों ने २८ श्लोक कह कर संशय मिटाके सिद्धान्त का निरूपण किया है, इस श्रुति गीता (वेद स्तुति) के श्लोकों का करण वेद ने नहीं है, अर्थात् उन उन प्रकरणों में ये श्लोक नहीं पढ़े गये हैं, जिनका आरम्भ नहीं हुआ है, यदि उनका भी अध्ययन किया जावे तो वे भी निर्णायक होते हैं। सर्व तत्त्व रूप^१ भगवान् जब पोढ़े हुए है तब कारण स्वरूप से स्फुटित नहीं होते हैं अतः मुख्य गुण कर्तृत्व की स्फूर्ति हो, तदर्थ तत्त्वों के भेद का निर्णय कहते हैं । यद्यपि स्वयं तात्पर्य से अनभिज्ञ है, तो भी अपने कहने का केवल इतना ही आशय है कि भगवान् जगत्कर अपने मुख्य गुण कर्तृत्व को कार्य रूप में लावे जैसे नट रस को प्रकट करने वाला वेश बनाकर राजा वा दर्शकों को आनन्दित करते हुए अपने कृतत्व करने में तत्पर कराता है, वैसे ये श्रुतियाँ भी शब्द रूप वेद और अर्थ रूप भगवान् जैसी स्थिति में है उसका निरूपण करने के लिए सनन्दन वैसी अवस्था का निरूपण १२व-१३वें श्लोक में करते हैं इतने में भी वेद के सर्व सन्देह दूर नहीं होते हैं, किन्तु अन्यो के लिए प्रवृत्त हुए कितने ही वेदों के बोध कराने वाला यह वचन है, समझाने के लिए दृष्टान्त में वेदों का भाट और भगवान् को राजा कहा है, इससे यह सूचित किया है कि ब्रह्म का निर्णय करने वाले भी समीप और दूर से ही अपने प्रकरण का सन्देह मिटाते हैं, न कि भगवान् का दर्शन कर सन्देह मिटाते हैं, वेदों के तत्त्व निवृत्ति^२ रूप है, जिसको कहने के लिए भगवान् की पूर्व अवस्था का निरूपण 'स्वपृष्ठमिदमापीय' श्लोक में सनन्दन वर्णन करते हैं ।

श्लोक—सनन्दन उवाच—स्वसृष्टमिदमापीय शयानं सह शक्तिभिः ।

तदन्ते बोधयांचक्रुस्तल्लिङ्गैः श्रुतयः परम् ॥१२॥

श्लोकार्थ—सनन्दनजी ने कहा कि अपने रचे हुए इस जगत् को सम्पूर्णतया पान कर शक्तियों के साथ पोढ़े हुए प्रभु को प्रलयान्त में श्रुतियाँ उनके चिह्नों से जागृत करने लगी ॥१२॥

सुबोधिनी - सृष्टेरनादित्वं ववतु स्वसृष्ट-
मिति । इदं जगत् परिदृश्यमानं तस्य सर्वतः
पानं पूर्वसृष्टान् सर्वान्मुक्तान् विद्यायाग्रे स्वस्य
कर्तव्याभावमिव ज्ञापयन् शयान एव भगवान्
स्थितः, ततो वेदाः सृष्टौ तत्त्वभेदं विस्मृत्य तिष्ठ-
न्तीति सश्रुतिभिः निःसन्देहप्रतिपादकैर्बोधयन्त

इव जाताः । ननु कालात्मिकैव शक्तिः प्रबोधिका
वर्तते किं वेदेरिति चेत् तत्राह शक्तिभिः सहेति ।
ततस्तदन्ते शयनान्ते प्रबोधसमये, अन्यथा बोध-
नमपराधायेति । तत्तल्लिङ्गैः तत्त्वान्येव भगवतो
लिङ्गानि तानि वीर्यापरनामानि भगवन्तं लीन-
मर्थं गमयन्तीति तरेव बोधयांचक्रुः । यत एताः

१- जब प्रभु पोढ़ते है, तब सर्व तत्त्व आप में लीन होकर स्थित रहते है, अतः 'तत्त्व रूप' है ।

२- मोक्ष के लिए उपयोगी सृष्टि करने वाला स्वरूप ।

श्रुतयः श्रवणमात्ररूपाः, न तु प्रत्यक्षदर्शिन्यः । स्थापयति ॥१२॥
तत्रापि न साक्षाद्बोधनं किन्तु बोधकमेवोप-

व्याख्यार्थ 'स्वसृष्ट' पद से अपनी बनाई हुई यह सृष्टि है यों कह कर यह सूचित किया है कि यह सृष्टि अनादि है, इस परिदृश्यमान् जगत् में—जो पैदा हुए हैं उनको मुक्त कर अपने में लीन कर दिया जिससे आपको कुछ भी कर्तव्य न रहा, यों जताते हुए कहा है कि मानो भगवान् सो गये हैं, पश्चात्, सृष्टि में जो तत्त्व भेद था, उसको भगवान् भूल गए हैं । यों समझ, वेद भगवान् को सदेह मिटाने वाली सदुक्तियों से मानो जगाने लगे, कालात्मिका शक्ति ही जगाने वाली होती है वेदों का इनको जगाने में कोई प्रयोजन नहीं है, यदि यों कहो, तो इस पर कहा गया है, कि 'शक्ति मिःसह' आप काल समेत सर्व शक्तियों को अपने में लीन कर पोढ़े हैं, अन्तःकाल' शक्ति भी अब काये नहीं कर सकती है पश्चात् पोढ़ने के अन्त में अर्थात् जगने के समय श्रुतियों ने जगाया अन्यथा' जगाना अपराध हो जावे, भगवान् के जगाने के जो चिन्ह २८ तत्त्व हैं, उनसे जगातो हैं, जिनका दूसरा नाम वीर्य है, ये श्रुतियाँ केवल श्रवणरूप है, जिस कारण ये श्रवण द्वारा ही प्रभु को केवल जगा सकती हैं, प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकती क्योंकि ये साक्षात् सेवा करने वाली नहीं हैं, जिससे वे साक्षात् प्रबोध नहीं करा सकती हैं किन्तु केवल प्रबोध करने वाले वीर्य के गुण^३ को ही आगे स्थापित करती है ॥१२॥

आभास—एतासां श्रुतीनां पुनः स्वतन्त्रतयान्यार्थप्रतिपादकत्वे एतद्विचारोऽपि कर्तव्यो भवेदिति नैषां प्रकरणरूपेण बोधनमिति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह यथा शयानमिति ।

आभासार्थ—यदि ये श्रुतियों स्वतन्त्र रूप से अन्य अर्थ की प्रतिपादक होवे तो इसका विचार भी करना उचित हो किन्तु ये प्रकरण रूप से बोध नहीं करती है, यों जताने के लिए 'यथा शयानं' श्लोक में दृष्टान्त कहा है,

श्लोक — यथा शयानं सम्राजं बन्दिनस्तत्पराक्रमैः ।

प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैर्बोधयन्त्यनुजीविनः ॥१३॥

श्लोकार्थ — जैसे सोते हुए चक्रवर्ती राजा को प्रातःकाल में उसके अनुजीवी बन्दी-जन आकर उसके प्रशस्त कीर्ति युक्त पराक्रमों से जगाते हैं, वैसे ही श्रुतियाँ भी प्रभु को जगाने लगीं ॥१३॥

१—क्योंकि भगवान् को उस समय लक्ष्मीजी ने भुजाओं में लपेट लिया है अतः काल में जगाने की शक्ति नहीं ।

२ जगाने का समय न हुआ हो

३—२८ तत्त्वों को

सुबोधिनी—तेषामनुवादकत्वात् न स्वातन्त्र्येण प्रतिपादकत्वम् । तथैताः श्रुतयो भगवन्तमेव तत्कृतान् पराक्रमान् श्रावयन्ति । तत्र हेतुमाह बन्दिन इति । प्रबोधनाधिकारिणस्ते विद्योपजीविनश्च । तत्त्वविद्या उपजीव्यैव अधिक फलनिर्णयार्थं प्रवृत्ता । प्रबुद्धो भगवान् कदाचित्साक्षात्कृतो भवेत् कदाचित्स्वानन्दं वा प्रयच्छेदिति तामामप्यभिलाषा । ताः पूर्ववृत्तान्तमेव

जानन्ति नाग्रिमवृत्तान्तमिति ज्ञापयितुं त्रिशन्मुहूर्तं अहोरात्रे मुहूर्तद्वयात्पूर्वमेव समागताः तावदेव बोधयन्ति । यतस्ते अनुजीविनः सेवकाः तदप्रबोधे तासां स्वरूपनाश एव स्यादिति सूचितम् । श्रुतयश्च प्रथमनिःश्वासोद्गता इति केचित् । न दृष्टान्तादिना विरुध्यते परं ताः पृथगेव तिष्ठन्ति दृष्टान्तानुरोधेन निरूप्यते ॥१३॥

व्याख्यानार्थ—वे भाट केवल अनुवाद करने वाले होने से स्वतन्त्र रूप से निरूपण करने वाले नहीं है, उसी भाँति श्रुतियाँ भी, भगवान् ने जो स्वयं पराक्रम किए हैं, वे उनको सुनाती हैं जिसका कारण यह है कि जो भाट हैं, वे प्रबोधन कराने के अधिकारी और विद्योप जात्रो हैं अर्थात् इनको आजीविकार्थ विद्या पर ही आधार है, वैसे ही अधिक फल के निर्णयार्थ प्रवृत्त श्रुतियों की तत्त्व विद्या ही उपजीव्या है, अतः श्रुतियाँ तत्त्व विद्या पर ही आधार रखती हैं ।

जैसे भाटों की अभिलाषा होती है, कि महाराजा प्रसन्न होगा, तो अवश्य पारितोषिक देगा, जिससे हम आनन्दीय भोग कर सकेंगे वैसे ही श्रुतियों की भी यह अभिलाषा थी कि भगवान् प्रबुद्ध' होंगे तो कभी साक्षात्कार भी हो जाएँगे और कभी अपने आनन्द का भी दान करेंगे ।

वे (श्रुतियाँ) पूर्ववृत्तान्त को ही जानती हैं, होने वाले वृत्तान्त को नहीं जानती हैं, जो जताने के लिए तीस मुहूर्त वालो रात्रि और दिन है, जब शेष दो मुहूर्त रहते हैं, तब आकर जगाती हैं क्योंकि वे सेविकाएँ हैं, यदि वे सेवा कर प्रभु को न जगावे तो उनके स्वरूप का नाश ही हो जावे यह सूचित किया है, कोई कहते हैं कि 'श्रुतियाँ' प्रभु के प्रथम निःश्वास से प्रकट हुई हैं, यह सिद्धान्त दृष्टान्त से विरुद्ध नहीं है, किंतु वे 'श्रुतियाँ' भगवान् से पृथक् ही रहती हैं, यह दृष्टान्त से समझाया है ।

आभास - एवं प्रसङ्गमुक्त्वा वाक्यशेषरूपेषु प्रथमं प्रकृतिप्रतिपादिकाः श्रुतयः किं स्वतन्त्रतया प्रकृतिं प्रतिपादयन्ति तथा सति शक्तेर्देवताया वा प्राधान्यं स्यात् । आहोस्विद्भगवद्रूपां भगवत्त्वेन निरूपयन्ति, आहोस्विज्जीवधर्मरूपेण प्रकृतिरिति तेषामेव प्रयत्नेन स्वरूपज्ञानेन वा निवर्तनीयेति निरूपयन्ति, आहोस्विन्निःस्वभावा शशविषाणवत् प्रतिभासत इति, आहोस्विदन्तरङ्गा इयं भगवच्छक्तिर्लक्ष्मीरूपा सत्या, अतस्तस्यामेव स्थितिर्युक्तेति प्रपञ्चनिःप्रपञ्चयोस्तुल्यतया प्रतिपादयन्ति । एवमनेकविधसन्देहोत्पत्तौ प्रकृतिप्रतिपादिकानां श्रुतीनां निर्णयार्थमाह जय जयेति ।

आभासार्थ - इस प्रकार प्रसङ्ग का वर्णन कर शेष वाक्यों में प्रथम प्रकृति का निरूपण करने

वाली श्रुतियाँ प्रकृति के स्वरूप को किस प्रकार से वर्णन करती हैं, वह कहते हैं कि, १—क्या प्रकृति स्वतन्त्र है। यदि यों हैं तो शक्ति अथवा देवता की प्रधानता होगी।

२—वा प्रकृति को भगवद्रूप कहकर, उसका भगवत्त्व निरूपण करती है।

३—अथवा यह प्रकृति जीवों के धर्म रूप है, इसलिए उनके ही प्रयत्न से अथवा स्वरूप ज्ञान से उसको निवृत्त करना चाहिए यों निरूपण करती है।

४—अथवा शशविषाणवत् जिसका अस्तित्व ही नहीं है, ऐसी भास रही है,

५—अथवा यह भगवान् की अन्तरङ्गा शक्ति, लक्ष्मी रूपा होने से सच्ची है, अतः उसमें ही स्थिति उचित है, जिससे प्रपञ्च होने के समय अथवा प्रपञ्च भाव के काल में उसका समान रूप से प्रतिपादन करती है, इस प्रकार अनेक सन्देहों के होने से प्रकृति पादक श्रुतियों के निर्णयार्थ 'जय जय' श्लोक में प्रकृति का स्वरूप कहा गया है।

श्लोक—श्रुतय ऊचुः—जय जय जह्यजामजित दोषगृभीतगुणां

त्वमसि यदात्मना समवरुद्धसमस्तभगः ।

अगजगदोकसामखिलशक्त्यवबोधक ते

ववचिदजयात्मना च चरतोऽनुचरेन्निगमः॥१४॥

श्लोकार्थ—श्रुतियाँ कहने लगीं कि हे प्रभो ! आपकी जय हो, जय हो ! हे अजित ! स्थावर-जङ्गम जीवों की सम्बन्धिनी दोषार्थ ही जितने सत्त्वादिगुण धारण किए हैं, ऐसी निद्रा का आप त्याग कीजिए; क्योंकि आप स्वयं ही सर्व ऐश्वर्यादि भगों को अपने में रोक रखने वाले हैं। स्थावर और जङ्गमों की इन्द्रियों की सर्व शक्तियों को स्फूर्ति देने वाले भी आप ही हैं, आप सदैव स्वस्वरूप से ही क्रीड़ा करते हैं, अतः वेद आपकी सेवा कर रहे हैं, कभी किसी समय अजा से क्रीड़ा करते हो ॥१४॥

सुबोधिनी—यथा 'शर्करा अक्ता उपदध्यान्' 'तेजो घृतम्' इति घृतपदश्रवणेनैव तेलमभुक्षी-
रादिनिवृत्तिः, एवं भगवत्समीपे मायास्वरूपगुण-
प्रतिपादनश्रवणेनैव सन्देहो निवृत्त इति न पुन-
स्तत्तत्पक्षनिराकरणार्थं युक्तयो वक्तव्याः । तथा-
प्युच्यन्ते । तत्र आदौ प्रकृतिनिराकरणार्थं भग-

वतः स्वरूपेण स्थितिं प्रार्थयन्ते । जय जय सर्वो-
त्कर्षेण वर्तस्वेति वीप्सया सर्वदा सर्वोत्कर्ष-
प्रार्थना, अन्यथा अस्मांस्तत्संबन्धिनी हन्युः ।
अन्यदपि प्रार्थयन्ते जह्यनामिति निद्रां त्यज ।
ततस्त्वां मूलतो नाशय येन सम्यक् प्रबोधो भव-
तीति भावः । ननु तयैवाहं एतावत्कालं वशे

नीतः कथं हन्तुं शक्येति चेत् तत्राहुः हे अजितेति । त्वं न केनापि जितः । योगनिद्रा त्वया लीलयेव गृहीता, न तु जीव इव निद्रया अभिभूतः । भगवन्निद्रा माया सैव प्रकृतिरिति स्वरूपत्रयं एकमेव । अत एव मार्कण्डेयपुराणे ब्रह्मणा योगनिद्रा स्तुता । अनेन तस्या जगत्कर्तृत्वं सुतरामेव निवाप्तिम् । स्वप्नसृष्टिः परं तथा सृज्यते न तु सत्या अग्रे सत्यसृष्टेः उत्पत्तिप्रकारं वक्ष्यति । नन्वेषा कथं हन्तव्या यतो गुणवती सुषुप्ती परमानन्दलक्षणं गुणं प्रयच्छतीति चेत् तत्राह दोषगृभीतगुणामिति, दोषार्थमेव स्वरूपाज्ञानार्थमेव गृहीता गुणा यथा । इयमेव स्वशक्तिद्वारा जीवः व्यामोहयति । तेषामपि निद्रालस्यादिरूपेण व्यामोहिका वर्तन्ते । तत आह अगजगदोकसामिति स्थावरजङ्गमदेहस्थितानां जीवानामर्थे जीवानां संबन्धिनीं वा । ननु ममाप्येषा सुखदायिनी अतस्तिष्ठत्विति चेत् तत्राहुः त्वमसीति । यद्यस्मात्कारणात् त्वमात्मनैव समवरुद्धसमस्तभगोऽसि ! स एव क्षुद्रादि-सुखमपेक्षते निद्रालस्यप्रमादोत्थं यस्य स्वरूपा-नादः सात्त्विकानन्दो न संभवति । बोधकत्वं तु तस्या निवर्तितमेव अजितेति पदेन । इष्टसाधकत्वं तु निराक्रियते । त्वमात्मनैव तदपेक्षाव्यतिरे-

केणैव सम्यगवरुद्धाः समस्तभगाः अणिमादि-सुखानि स्वरूपानन्दाश्च यस्य । अत एव तदपेक्षा केत्यर्थः । ननु सेवार्थं जीवा अपेक्ष्यन्ते तेषां चेन्द्रियवर्गः प्राकृतो भवति तत्प्रकृतिविनाशे सर्वमेव विनश्येतेति बाधकमिति चेत् तत्राह अगजगदो-कसामिति स्थावरजङ्गमानामखिलेन्द्रियिणां शक्त्यवबोधकस्त्वमेव, न प्रकृतिरिति । किञ्च । सुतरां ये ते स्थावरजङ्गमास्त्वदीयाः तेषां त्वमेवोद्बोधकः । प्राकृतानां तु विचारोऽप्यस्ति । ननु प्रकृतेर्नाशे तत्पुरःसरतया वेदा मद्बोधने प्रवृत्ताः कथं प्रवर्तिष्यन्त इति चेत्, तत्राह वव-चिदिति । निगमो वेदः त्वामनुचरेदेव । ववचिदे-वाजया चरतः, सर्वदा आत्मनैव चरतः । चका-रादजया चरणदशायामपि आत्मनैव चरसीति सूचितम् । अत एतदर्थमपि अजा न संरक्षया । निगम इत्येकवचनात् कश्चिदेव वेदः अजासंबन्ध-पुरःसरं बोधयति, तत्रापि स्वरूपस्थितस्यैव ; नन्वेतादृशमेव वेदो बोधयतीति कुतो नोच्यते । मैवम् । अरूपमस्पर्शमित्यादिश्रुतयः तत्संबन्धा-भावमेव प्रतिपादयन्ति, तथान्या अपि श्रुतयः स्वरूपानन्दबोधिकाः सृष्टिप्रतिपादकाश्च केवल-ब्रह्मपरा इत्यग्रे वक्ष्यते । अतो मोहिकां शक्तिं नाशयेति प्रार्थना ॥

व्याख्यार्थ—‘शर्करा अक्ता उपदध्यात्’ इस श्रुति में शर्करा को मसलना कहा है, किन्तु किससे मसलना यह नहीं कहा है, दूसरी श्रुति में ‘तेजो घृतम्’ कहा है कि वहाँ घी को तेज रूप कहा है, किन्तु इसका कहाँ कैसे उपयोग करना चाहिए, यह नहीं कहा है, जिससे समझा जाता है, कि ‘तेजो घृतम्’ श्रुति उस ‘शर्करा अक्ता उपदध्यात्’ की शेष श्रुति है, जिसमें यह बताया कि शर्करा को घृन से मसलना चाहिए न कि तैल, क्षीर, मधु आदि से मसलना चाहिए इस प्रकार भगवान् के समीप माया के स्वरूप भूत गुणों के प्रतिपादन का श्रवण करने से ही सन्देह निवृत्त होगा इसलिए उपयुक्त पक्षों के निराकरण करने के लिए फिर युक्तियों के कहने की आवश्यकता नहीं है, तो भी कही जाती है, उन युक्तियों में से प्रथम प्रकृति का निराकरण करने के वास्ते भगवान् को प्रार्थना करनी है, कि आप अपने स्वरूप में स्थिति कीजिए, ‘जय जय’ जय हो, जय हो इन शब्दों से यह कहा है कि आप सबसे उत्कर्षपूर्वक विराजो, यों दो बार कहा, जिसका भावार्थ है कि सर्वदा आप सबसे उत्कर्ष पूर्वक विराजो, अल्प समय के लिए नहीं ऐसी श्रुतियों ने पहले ही प्रार्थना की है यदि आप हमारी प्रार्थना स्वीकार न करोगे तो उन प्रकृति के सम्बन्धी हमारा नाश करेंगे दूसरी भी प्रार्थना करनी है, कि ‘जहि अजा’ निद्रा का त्याग कीजिए, इन शब्दों से यह भाव प्रकट किया कि इसको जड़ से काट

डालो जिससे अच्छे प्रकार से प्रबोध हो, यदि आप कहो कि इतने समय तक मैं उनके वश में रहा हूँ, वह कैसे नाश किया जाए, तो इसके उत्तर में हमारा कहना है कि आप 'अजित्' हैं, अर्थात् आपको जीत कर, कोई भी आपको अपने वश में नहीं कर सकता है, इस अजा अर्थात् योग निद्रा को आपने लीला से ही ग्रहण किया है, न कि जीव के समान निद्रा के वश हुए हो। भगवान् की निद्रा वही माया वह ही प्रकृति है, यों तीनों स्वरूप एक ही हैं, इस कारण ही मार्कण्डेय पुराण में ब्रह्मा ने 'योग निद्रा' को स्तुति की है, यों कह कर यह सिद्ध किया है, कि 'योग निद्रा' जगत् कर्त्री नहीं है, वह स्वप्न सृष्टि रचती है, न कि यह सत्य सृष्टि बनाती है, इस सत्य सृष्टि को रचना का प्रकार आगे कहेंगे।

इसका नाश कैसे किया जाए जबकि यह गुण वाली है, सुषुप्ति में परमानन्द लक्षण वाले गुण का दान करती है, अर्थात् परमानन्द देती है, इसके उत्तर में कहनी हैं कि 'दोष गृभीत गुणां' स्वरूप अज्ञान के लिए ही गुणों को धारण किया है, यह ही अपनी शक्ति से जीवों को मोहित करती है, उनको भी निद्रा और आलस्य आदि से मोहित करने वाली है, इससे ही 'अजजगदोक्तां' यह विशेषण दिया है, जिसका तात्पर्य है कि, स्थावर और जङ्गम देहों में स्थित जीवों के लिए मोह कर्त्री है, अथवा ऐसे जीवों के सम्बन्ध वाला है, यदि कहो कि यह मुझे भी सुख देने वाली है, अतः यह भले ठहरे अर्थात् रहे, इसका उत्तर यह है कि, आप सर्व ऐश्वर्यादि भगों को सदैव अपने में रोक रखते हैं जिससे आपको अन्य से किसी प्रकार के सुख आदि प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं है, वह ही निद्रा और आलस्य आदि से उत्पन्न क्षुद्र सुख की अपेक्षा करता है, जिसको स्वरूपानन्द, सात्त्विक आनन्द प्राप्त न होवे, 'अजित' इस सम्बोधन^१ से अजा का बाधकत्व निवृत्त करा दिया है, अर्थात् आप अजेय होने से अजा के बन्धन में नहीं आ सकते हैं, यह आपकी इष्ट सिद्धि करेंगे जिसका भी 'समबलुद्ध समस्त भगः' पद से निराकरण करती है। आप उसकी अपेक्षा न रखते हुए स्वयं ही समस्त भगों को धारण कर रहे हैं, तो फिर उसकी अपेक्षा क्यों करे? सेवा के लिए जीवों की अपेक्षा है, उनकी इन्द्रियाँ प्राकृत हैं, यदि प्रकृति का नाश होगा तो सबका नाश हो जाएगा यह नाश सेवा में बन्धन कारक होगा, इस प्रकार की शङ्का के निवारणार्थ कहती है, कि 'अजजगदोक्तां' स्थावर और जङ्गमों की इन्द्रियों की शक्ति को जागृत करने वाले आप हैं, न कि प्रकृति है, और विशेष में स्थावर और जङ्गम जो भी हैं वह आपके ही हैं, उनके बोधक आप ही हैं, यदि वे प्राकृत होवे तो विचार भी करना पड़े वे प्राकृत है ही नहीं।

यदि प्रकृति का नाश हो जाए तो वेद प्रकृति को आगे कर मुझे जगाने के लिए जो प्रवृत्त होते हैं वे फिर कैसे प्रवृत्त होंगे? इस शङ्का के निवारणार्थ कहती है कि वेद तो आप को अनुसरण करेंगे ही, कदाचित् आप अजा से क्रीड़ा करते हैं, यों तो आप सदैव आत्म स्वरूप से खेलते हैं 'च' पद से यह सूचित किया है कि अजा से क्रीड़ा करने की दशा में भी आत्म स्वरूप क्रीड़ा कर रहे हैं, जिसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं होती, इसलिए अजा के रक्षण करने की आवश्यकता नहीं है, 'निगम' एक वचन से यह समझाया है कि कोई वेद अर्थात् कुछ श्रुतियाँ कहती हैं कि आप अजा को आगे कर क्रीड़ा करते हैं वे भी यों कहती है कि आप उस समय भी अपने स्वरूप में स्थित

होकर ही क्रीड़ा करते हैं तो क्यों नहीं कहती हो कि ऐसे ही स्वरूप को वेद जगा रहे हैं, यों न कहिए 'अरूप' 'अस्पर्श' इत्यादि श्रुतियाँ कहती हैं कि आप प्रकृति सम्बन्ध रहित हैं, वैसे अन्य श्रुतियाँ भी जो स्वरूपानन्द बोध कराने वाली हैं और सृष्टि का प्रतिपादन करने वाली हैं, वे सब प्रकृति सम्बन्ध रहित ब्रह्म है, यों प्रतिपादन कर रही हैं वह आगे कहा जाएगा अतः इस मोह करने वाली शक्ति को नाम कीजिए यह हमारी प्रार्थना है ।

कारिका—प्राकृताः श्रुतयः सर्वा भगवन्तमधोक्षजम् ।

स्तुवन्ति दोषनाशाय तत्राविष्टो भवेद्यथा ॥१॥१४॥

कारिकार्थ—जो प्राकृत श्रुतियाँ हैं वे सब अधोक्षज भगवान् को अज्ञा के नाश^१ के लिए स्तुति करती हैं जैसे अज्ञा नाश में जगत् में प्रविष्ट होवे ॥१४॥१॥

आभास—ततो ब्रह्मप्रतिपादनार्थं प्रवृत्ताः श्रुतयः, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' इति मध्ये भूतभौतिकसृष्टि संपादयन्ति ब्रह्मनिरूपणार्थम् । तासां किं ब्रह्मपरत्वं सृष्टिपरत्वं जगतो वा ब्रह्मत्वप्रतिपादकत्वं अध्यारोपापवादेन ब्रह्मावबोधस्थिरीकरणार्थं माहात्म्यप्रतिपादनार्थं वेत्यादि नानासन्देहे तन्निर्धारार्थमाह बृहदुपलब्धमेतदिति ।

आभासार्थ—ब्रह्म का प्रतिपादन करने के लिए प्रवृत्त श्रुतियाँ बीच में (यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' 'तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः संभूतः' इनमें ब्रह्म को प्रतिपादन के लिए भूत भौतिक सृष्टि का सम्पादन कर रही है, इससे अनेक संदेह उत्पन्न होते हैं कि, ये श्रुतियाँ ब्रह्म परक हैं ? वा सृष्टि परक हैं ? अथवा जगत् को ब्रह्म रूप से प्रतिपादन करने वाली हैं अथवा अध्यारोपापवाद^२ से ब्रह्म का ज्ञान स्थिर करने के लिए है, या तो ब्रह्म का माहात्म्य प्रतिपादन

१—अज्ञा के नाश करने के लिए भगवान् को प्रार्थना करती हैं, जिसका भावार्थ है कि भगवान् प्रकृति को सर्वदा धारण नहीं करते हैं, किसी समय ही करते हैं, समग्र वेद का अर्थ ब्रह्म पर ही है, प्रकृति का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियाँ वैसे ही अर्थात् प्रकृति को धारण किए हुए है, भगवान् ही की स्तुति करती हैं, साक्षात् स्वरूप को स्तुति न कर वैसे भगवान् की स्तुति क्यों करती हैं ? जिसके उत्तर में कहा है वह 'अधोक्षज' है अर्थात् उस साक्षात् स्वरूप को श्रुतियाँ भी अपनी सामर्थ्य से नहीं जान सकती हैं, इसलिए अज्ञा के नाशार्थ भगवान् की स्तुति करना है, अज्ञा के नाश से अपने (श्रुतियों के भी दोष नाश हो जाएँगे यह भाव है ।

२—अध्यारोप—किसी भी पदार्थ में समान गुणों के आभास से उसको अन्य पदार्थ मान लेना, अध्यारोप है, जैसे रस्ती में साँप के समान वक्र आदि गुणों के कारण रस्ती को सर्प मान लेना "अध्यारोप" है, 'अपवाद' फिर ये गुण इसमें वास्तविक नहीं है, अतः यह साँप नहीं बल्कि 'रस्ती' है यों समझना अपवाद है— वैसे ही ब्रह्म जगत् नहीं है, किन्तु ब्रह्म को जगत् मान लेना, यह ब्रह्म में जगत् का 'अध्यारोप' है पश्चात् ज्ञान होने पर जान लेना कि ब्रह्म में जगत् नहीं है ऐसे अपवाद हो जाने पर सत्य ज्ञान हो जाता है श्रुति इस प्रकार सत्य ब्रह्म का ज्ञान कराती है ।

के वास्ते है, इन सन्देहों का निरासकर सिद्धांत का निर्धारण करने के लिए 'बृहदुपलब्धमेतत्' श्लोक में कहा है —

श्लोक — बृहदुपलब्धमेतदवयन्त्यवशेषतया

यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदिवाऽविकृतात् ।

अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं

कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—यह दृश्यमान जगत् जिसका हम अनुभव कर रहे हैं, वह शेष रूप से सदैव रहता है, इसलिए इस जगत् को ज्ञानी अक्षर रूप जानते हैं; क्योंकि मिट्टी की भाँति अविकृत से विकार के उदय तथा अस्त रूप होते हैं, इसलिए ऋषि लोगों ने मन और वाणी के कार्य को आप में लगाया है। मनुष्यों के पाद जो पृथ्वी पर अङ्कित हो जाते हैं, वे भूठ नहीं होते हैं ॥१५॥

सुबोधिनी—यदा विश्वस्य ब्रह्मत्वं सिद्धं श्रुत्यनुभावाभ्यां तदा अन्याः श्रुतयः तदेकवाक्य-तया योजिता एव भवन्तीति भगवन्माहात्म्य-प्रतिपादनद्वारा सिद्धार्थप्रामाण्याः साक्षाद्भगवत्प्रतिपादिका इति फलिष्यति, तदर्थं प्रथमं जगतो ब्रह्मत्वं प्रतिपाद्यते । एतदुपलब्धं चराचर जगत् बृहदित्येवावयन्ति ब्रह्मविदो वेदाश्च । नन्वेतद-नित्यानात्मदुःखात्मकं, ब्रह्म तु तद्विपरीतमिति युक्त्या बाधात् प्रत्यक्षविरोधाच्च कथं ब्रह्मत्वमिति चेत् तत्राह अवशेषतयेति । अवशिष्यत इत्यव-शेषः । तस्य भावस्तत्ता लोके यदवशिष्यते तस्यैव व्यपदेशः । यथा काचादिसहिते सुवर्णे यदेवावशिष्यते तस्यैव मूल्यादौ व्यपदेशः । यथा वा घृताग्निः तन्दुलाग्निः वा दुग्धधान्यादिषु यदेवावशिष्यते तत्त्वेनैव व्यवहारः कथं विक्र-यादिः । तथा विकारसहिते जगति विकारेष्वप-गतेषु ब्रह्म वावशिष्यत इति । ब्रह्मत्वेनैव व्यपदि-शन्ति धान्यमन्नत्वेनैव । नन्वशेष एव कथं ब्रह्मणो निरवशेषतयापि नाशमभवान् । न ह्यग्निना जले आवर्त्यमाने सर्वशेषे किञ्चिद-वशिष्यते । तस्मात्कथं ब्रह्म इति चेत् तत्राऽऽह यत

उदयास्तमयाविति । 'यतो वा इमानि' इत्यादि-

श्रुतिषु ब्रह्मण एव जगदुत्पद्यते, ब्रह्मणि च लीयते । अतो मृदादिदृष्टान्तेन ब्रह्मावशेषोऽङ्गी-कर्तव्यः । यथा सुवर्णाज्जाते कुण्डले सुवर्णे च लीने अवश्यं सुवर्णमेवावशिष्यते । अतः सुवर्णमेव कुण्डलमिति लोका जानन्ति । ननु जगत उदया-स्तमयावेव न स्तः । जनी प्रादुर्भावि इति जनन-स्याविर्भावात्मकत्वात् 'एतददर्शन' इति नाश-स्यादर्शनरूपत्वाच्च दर्शनादर्शनरूपत्वमाविर्भा-विरोभावरूपत्वं वा जगतोऽवगन्तव्यं । उत्पत्ति-प्रलययोः । नत्वसतः सत्ताध्वंसो वाङ्गीकर्तुं शक्य इति चेत् तत्राऽऽह विकृतेरिति । अस्तु धर्मिणो वार्ताविकाराः सर्वे पूर्वमवद्यमाना एव आश्रय-माश्रित्य उत्पद्यन्ते इत्यवगन्तव्यम् । अन्यथा ते अविकृता एव स्युः ब्रह्मत्वात् । अत उदयास्तम-यावेव विकारजातस्याङ्गीकर्तव्या । तथा विकारेषु गतेषु ब्रह्म वावशिष्यत इति । तत्र दृष्टान्तमाह मृदि वेति । यथा मृदवशिष्यते । यथा वा पाथि-वमुपलब्ध मृदेव । ननु मृदेव कथमवशिष्यते कपालादीनामवशेषदर्शनादिति चेत् तत्राऽह अविकृता इति । अविकाराद्धेतो न हि विकृत स्थिर भवति, ततः कपालस्यापि विकृतत्वादवि-कृता मृदेवावशिष्यत इत्यर्थः । कुण्डले द्रव्यान्तर-

संबन्धोऽपि कदाचिद्भवेदिति मृदेव दृष्टान्तीकृता । ननु किमतो यद्येवमेवमेतदित्याह अत ऋषयो दधुरिति । ऋषयो वेदास्तद्दृष्टारो वा त्वय्येव मनोवचनाचरितं दधुः । यत्किञ्चिन्मनसा विभाव्यं यत्किञ्चिद्वाचा अनूचं तत्सर्वं त्वय्येव विषये भवति इति त्वय्येव दधुः । मनस्तु मनोरथ भावयतीति मिथ्याविषयमेव भवति तथा वागपि । अत्यन्तासत्यपि ज्ञानमर्थे शब्दः करोतीति 'अनृतं वै वाचा वदति अनृत मनसा ध्यायति' इति श्रुतेः । यत्र वाङ्मनोविषयस्यापि ब्रह्मत्वं तत्र कात्स्न्येनाभिव्यक्तस्य जगतो ब्रह्मत्वे कः सन्देह इत्यर्थः । तेन ब्रह्मविदां सर्वे व्यवहारा ब्रह्मपरा एवेति न केनापि कर्मणा तेषां लेप इति सिद्ध-

यति । नन्वसत्यस्य कथं ब्रह्मत्वमिति चेत् तत्राऽऽह कथमयथा भवन्तीति । यत्र क्वचित्स्थानपितानि पदानि भुवि कथमयथा भवन्ति । भूमि न व्यभिचरन्तीत्यर्थः । भूमावेव पतन्ति भ्रमादपि स्वीकृतो विषयः परमार्थतो भगवानेव भवतीत्यर्थः । भ्रमप्रतीतपदार्थानामपि ब्रह्मत्वत् तत्त्वेनैव तस्य भानात् । नहि ब्रह्मातिरिक्तो भासते । तन्तुभ्यः पटरूपेणाविर्भावे शुक्तिकाया वा रजतरूपेणाविर्भावे भगवदिच्छायां कश्चन विशेषोस्ति कार्यस्यापि प्रावरणस्य सुखस्य वा तुल्यत्वात् । अतो मूलभूतस्य सत्यत्वादयथाबुद्ध्यापि मनोवचनस्थापनं ब्रह्मविषयमेव भवतीत्यर्थः ॥

व्याख्यानार्थ—जब श्रुति तथा ब्रह्म के प्रभाव से सिद्ध है कि यह जगत् ब्रह्म है, तब अन्य श्रुतियों की भी अर्थ में वैसे ही योजना की जाती है, जिससे सबकी एक वाक्यता हो जाए इस प्रकार भगवान् के माहात्म्य प्रतिपादन द्वारा ब्रह्म में ये श्रुतियाँ प्रमाण रूपा हैं, जिससे यह फलित होगा कि ये साक्षात् भगवान् की प्रतिपादिकाएँ हैं, इसलिए प्रारम्भ में जगत् का ब्रह्मत्व प्रतिपादन किया जाता है ।

यह परिदृश्यमान चराचर जगत् 'अक्षर ब्रह्म' ही है यों ब्रह्म ज्ञानी और वेद जानते हैं । यदि कहो कि यह विश्व तो अनित्य, अनात्म और दुःख रूप है और ब्रह्म इससे विपरीत नित्य, आत्म रूप और आनन्दमय है, जगत् ब्रह्म है, जिसका इस युक्ति से वाध आता है, और प्रत्यक्ष से भी विरोधभास रहा है, तब जगत् का ब्रह्मत्व कैसे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'अवशेषतया' कहा है, अर्थात् लोक में जो शेष रहता है, उसको ही ब्रह्म रूप कहा गया है, जैसे सुवर्ण के आभूषणों में काचादि जड़े हुए होते हैं, किन्तु काचादि को त्याग जो शेष है, उसको ही सुवर्ण समझ उसका मूल्य कहा जाता है और घृत लेनेवाले हैं तथा चावल लेनेवाले हैं वे दुग्ध वारधि से जो शेष 'घृत' रहता है, उसको ही मूल्य देकर ग्रहण करते हैं, तथा चावल लेने वाले भी मूल्य देकर शालियों से शेष रहते तण्डुलों को मूल्य देकर ग्रहण करते हैं, तात्पर्य यही है कि जैसे लोक में क्रय विक्रयादि उस शेष को ही लक्ष्य में रख कर होता है, वैसे ही विचार सहित जगत् में से विकारों को निकालकर जो शेष रहता है, वह ही ब्रह्म है, जैसे घान्य^१ को अन्न^२ कहते हैं वैसे ही जगत् को ब्रह्म रूप कहते हैं जगत् ब्रह्म रूप यदि माना जाए तो ब्रह्म निरवशेष रूप होने से भी उसके नाश की सम्भावना होगी, जैसे अग्नि से जल को उत्राल लेने पर सर्व जल (पानी) जल जाता है, शेष कुछ नहीं रहता है, वैसे कुछ भी शेष न रहने से जगत् ब्रह्म नहीं है, ऐसा सिद्ध होने पर जगत् ब्रह्म कैसे ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है, 'यत्त उदया स्तमयी' जिससे इस जगत् का उदय (उत्पत्ति) अस्त (नाश) होता है जमा कि 'यतो वा इमानि भूतानि' इस श्रुति में ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति और उसमें ही लीन होना कहा

है यों कहकर उस उपरोक्त शङ्कार्थ दिया है अर्थात् विकार वाले जगत् का कुछ शेष नहीं रहता है, यह कहना असत् है, जगत् का नाश कहने से विकार का नाश कहा गया है, न कि जगत् का नाश कहा है, क्योंकि जगत् ब्रह्म से उत्पन्न होने से अविनाशी है अतः ब्रह्म रूप जगत् शेष रहता है, जैसे मृत्तिका से उत्पन्न घट का नाश होता है तब उसका विकार नष्ट होना है, जिस मृत्तिका से बना है, वह मृत्तिका नष्ट न होकर शेष ही रहती है, और वह विकार भी मिथ्या नहीं केवल मृत्तिका में लय हो जाता है जिससे देखने में आता है, वैसे ही जगत् भी जिस कारण ब्रह्म से उत्पन्न हुवा वह कारण (ब्रह्म) रूप ही रहता है, इसलिए कहा गया है कि जगत् ब्रह्म रूप है दृश्यमान विकार भी ब्रह्म में लीन होकर ब्रह्म रूप ही रहता है, अतः सम्पूर्ण जगत् शेषरूप से ब्रह्म हो है, दूसरा दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि जैसे सुवर्ण से बना हुआ कुण्डल जब नष्ट (सुवर्ण में लीन) होता है तब सुवर्ण ही शेष रहता है अतः सुवर्ण ही कुण्डल है यो मनुष्य जानते हैं ।

जगत् को उत्पत्ति और नाश दोनों होते ही नहीं 'जनी' पादुभवि जन धातु का अर्थ प्रकट होना है, जिसका तात्पर्य है, जन्म लेना 'एण अदर्शने' धातु का अर्थ देखने में न आना है अतः जन्म और नाश उसका होता है जिसकी प्रथम सत्ता होवे जगत् की तो सत्ता ही नहीं है तो उसका उदय (जन्म) अस्त (नाश) कैसे होंगे इसका उत्तर देने है कि विकृतेः' जो धर्मों के विकार उत्पन्न होने से 'कार्य रूप में आने से पहले विद्यमान नहीं थे, वे विकार जगत् रूप कार्य का आश्रय लेकर उत्पन्न होते हैं, यों जानना चाहिए अर्थात् धर्मों की उत्पत्ति और नाश नहीं होता है, किन्तु विकार का होता है यदि विकार उत्पन्न न होवे तो अर्थात् 'कार्य' की उत्पत्ति आदि न होवे तो वे अविकारी रहे, कारण कि ब्रह्म रूप होने से अतः जो भी विकार मात्र है, उसका उदयास्त मानना चाहिए, विकार कार्य रूप नष्ट (लीन) हो जाने पर ब्रह्म ही शेष रहता है, उसमें दृष्टान्त देते हैं 'मृदिव' जैसे मृत्तिका ही शेष रहती है मिट्टी से बने घट आदि तिका ही शेष रहनी है मिट्टी से बने घट आदि मृत्तिका ही है, वैसे जगत् ब्रह्म ही है, कैसे कहते हैं, कि घट टूटने पर मिट्टी शेष रहती है, घट टूटने पर तो कपाल अवशेष देखने में आते हैं, यदि यों कहो, तो उसका उत्तर देते हैं, कि 'अविकृतात् है तो' अविकार हेतु से कहा है, कि मृद ही रहती है, क्योंकि जो विकृत है वह स्थिर नहीं होता है, अतः कपाल भी टूटने वाले होने से विकारी है, अतः दृष्टान्त में मिट्टी ही कहो है, कुण्डल में सुवर्ण के सिवाय दूसरा पदार्थ भी मिला हुआ रहता है, इसलिए मिट्टी का दृष्टान्त मुख्य रूप से दिया है ।

जो, यों होवे तो उससे क्या ऐसी जानने की इच्छा होने पर कहते हैं कि, 'मन्वदृष्टा ऋषि' मन वचन से जो क्रिया करते हैं, वह सब आप में घरा है, मन में जो है वह तो मनोरथ ही करता है अतः मिथ्या विषय वाला ही होता है, वैसे वाणी भी, अत्यन्त असत् अर्थ में भी शब्द जान कराता है, जैसे श्रुति कहती है वाणी से अनृत बोलता है, मन से झूठा ध्यान करता है जहाँ वाणी और मन के विषय को भी ब्रह्मत्व है वहाँ पूर्ण प्रकट जगत् के ब्रह्मत्व में कौनसा सन्देह है, इसमें ब्रह्म ज्ञानिना के सर्व व्यवहार ब्रह्म के परायण ही है, इसलिए किसी भी कर्म से वे निम्न नहीं होते हैं ।

‘प्रमत्त्य’ पदार्थ को ब्रह्मात्वं कैसे होगा इस शङ्का का दृष्टान्त देकर निवारण करते हैं कि, पृथ्वी पर कहीं भी स्थापित किए हुए चरण व्यर्थ वा झूठे कैसे होंगे ? अर्थात् वे चरण तो भूमि पर ही रहेंगे, अन्यत्र नहीं जाएंगे, भूमि पर ही पड़े रहेंगे यों भ्रम से स्वीकृत विषय, परमार्थ से भगवान् ही हो जाता है, क्योंकि भ्रम से प्रतीत पदार्थ भी ब्रह्म रूप होने से तत्त्व से ही उसका मान होता है. ब्रह्म से पृथक् अन्य कुछ है ही नहीं तो अन्य का भान व प्रकाश कैसे होगा !

तन्तु वस्त्र रूप से आविर्भूत होवे अर्थात् तन्तु से वस्त्र बन जावे और शुक्ति^१ रजत^२ रूप से दिखाई दे इन दोनों में भगवान् की अभेद (विशेष) इच्छा है, वस्त्र अथवा सुख कार्य रूप से समान ही है. अतः मूल भूत पदार्थ सत्य होने से यदि अन्यथा बुद्धि से भी मन वचन की स्थापना की जावे तो वह भी ब्रह्म को ही विषय अर्थात् ग्रहण करेगी ॥१५॥

कारिका—सत्यो हरिः समस्तेषु भ्रमभातेष्वपि स्थिरः ।

अतः सन्तः समस्तार्थे कृष्णमेव विजानते ॥२॥१५॥

कारिकार्थ—जो सत्य पदार्थ है, और जो भ्रम से भासते हैं उन सबमें हरि ही स्थिर है अतः सत्पुरुष अर्थात् ज्ञानी भक्त समस्त पदार्थ कृष्ण के ही रूप हैं, यों विशेष रूप से जानते हैं ।

इस कारिका में कृष्ण को ही वस्तुरूप कहने से यह बताया है कि वेद स्तुति के इस “बृहदुपलब्ध” श्लोक में ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादक श्रुतियों का निर्णय है ॥२॥१५॥

आभास—एवं प्रकृतिप्रतिपादिकाः पुरुषप्रतिपादिकाश्च श्रुतयो निरूपिताः । साधनप्रतिपादिकास्तु ‘शान्त उपासीत’ इत्याद्याः किमहङ्कारप्रतिपादिकाः तद्द्वारा आत्मप्रतिपादिका वेत्यादिसन्देहे निर्णयमाह इति तव सूरय इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रकृति प्रतिपादक और पुरुष प्रतिपादक श्रुतियों का निरूपण हुआ अब साधन प्रतिपादन करने वाली ‘शान्त उपासीत’^३ इत्यादि श्रुतियाँ, क्या अहङ्कार प्रतिपादन करती हैं वा उसके^४ द्वारा आत्म का प्रतिपादन करती हैं, इत्यादि^५ संदेह निवारणार्थ ‘इति तव सूरयः’ श्लोक कहा है :

१—सीप

२—चाँदी

३—विधान पक्ष में:— यदि यह श्रुति ‘शान्त’ पद से यों कहती हो कि शान्ति की प्राप्ति करना चाहिए तो इसका आशय यह हुआ कि ‘कर्ता’ अहङ्कार वाला है, अतः यह अहंकार प्रतिपादन करती है ।

अनुवाद पक्ष में:— यदि कर्ता पहले ही शान्त है तो शान्ति के लिए कुछ करना नहीं है; क्योंकि वह निरभिमानी होता है जिससे उसको स्वतः ही आत्म स्फूर्ति होती है, तब श्रुतियाँ ब्रह्म प्रतिपादक हैं ।

४—अहङ्कार प्रतिपादन द्वारा,

५—आदि पद में यह कहा है कि पूर्व मीमांसा सिद्धान्त से अर्थवादत्व

● तन्तुओं से वस्त्र का दिखना सत्य भान है और सीप से चाँदी दिखना अभयुक्त है, इसमें भगवान् की इच्छा में कोई भेद नहीं होता है । —‘लेख’

श्लोक—इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल-

क्षपणकथामृताब्धिमवगाह्य तपांसि जहुः ।

किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः

परम भजन्ति ये पदमजस्रसुखानुभवम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे तीन लोक के अधिपति प्रभु ! साधन प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ भी ब्रह्म का ही निरूपण करती हैं, यों निश्चय कर आपके भक्त, सकल लोक के मल का नाश करने वाले कथा रूपी अमृतोदधि में स्नान कर तप आदि साधनों को छोड़ देते हैं । हे परम ! जिन्होंने अपने स्वरूप की स्फूर्ति से देह और काल के गुणों को दूर फेंक दिया है और जो निरन्तर सुख का ही जिसमें अनुभव होता है, वैसे पद को भजते हैं, उनका तो कहना ही क्या ! ॥ १६॥

सुबोधिनी—‘शान्तो दान्त उपरतस्ति तिक्षुः’ ‘आत्मन्येवात्मानं पश्येत्’ इत्यादिश्रुतयः अहङ्कारमेव प्रतिपादयन्ति, अन्यथा जीवस्य कर्तृत्वाभावात् एकस्य कर्मकर्त्राभावात् आत्मनः स्वप्रकाशत्वाच्च, यो ब्रह्मविदमात्मानं मन्यते तस्याहङ्काराविष्टस्य वाक्यार्थध्यानकर्तुः मनोव्यापारो नूद्यते । शान्त इत्यत्रापि मनश्चाञ्चल्यनिराकरणं प्रयत्नसाध्यमपि साहङ्कारस्यैव तत्कृत्यम् । न हि निरहङ्कारः शान्तो भवति दान्तो वा । अन्तःकरणादावध्यासाभावात् । न हि पुत्ररहितः पण्डितपुत्रवान् भवति । तस्मादेतासां श्रुतीनां न शमादिविधौ तात्पर्यम् । किन्तु साहङ्कारस्य महान् क्लेश इति तत्त्वलेशमनूद्य निरभिमानस्य स्वत एवाऽऽत्मस्फूर्तिरिति साधनश्रुतीनामपि भगवत्परत्वमेव । अस्मिन्नर्थे हेतुमाह इत्येव विनिश्चित्य सूरयस्तपांसि जहुरिति साधनक्लेशास्त्यक्तवन्त इत्यर्थः । तर्हि कथं मोक्षसिद्धिरिति चेत् तत्राऽऽह अखिललोकमलक्षपणकथामृताब्धिमवगाह्येति । ननु कथावगाहनमात्रेणैव कथं कार्यसिद्धिः तत्तदंशभागिनां देवानां प्रीत्यभावात्, अतो विघ्नाभावाय तेषां प्रीत्यर्थं साधनानुष्ठानमपि कर्तव्यमिति चेत् तत्राऽऽह त्र्यधिपत इति । ननु वेदेन शमादिविधयः प्रतिपादिता इति अपे-

क्षाभावेऽपि विधिवलादपि शमादयः कर्तव्या इति चेत् तत्राऽऽह सूरय इति । ये अविद्यावन्तः तानेवोद्दिश्य श्रुतिः शमादिकं विधत्ते, न तु सूरिन् । अतः सूरयः परमानन्दरूपं साधनं गृहीत्वा साधनदशायामेव कृतार्थाः सन्तः दुःखसाधनेभ्यो निवर्तन्त इति । ननु विद्वांसोऽपि साधनेषु प्रवर्तन्त इति चेत् तत्राऽऽह तव सूरय इति त्वदीयास्तु न प्रवर्तन्त इत्यर्थः । इतीति । पूर्वोक्तसर्वब्रह्मत्वपक्षेऽपि साधनादीनां ब्रह्मत्वात् यदि सर्वमात्मैवाभूदिति न्यायेन साधननिवृत्तिर्युक्ता । तस्मिन्पक्षे तूत्तरत्रासङ्गतिः । तापाभावात् । तव च पण्डिताः त्वं च त्रिलोकाधिपतिरिति तेषां निर्भयत्वमुक्तं । भगवत्संबन्धिनामपहतपाप्मत्वात् य एव कथादिषु सबध्यते तस्यैव पापं दूरीकरोतीति अखिललोकमलक्षपणत्वम् । तवेत्यत्रापि संबध्यते । कथैव अमृताब्धिः । कथाया अमृतत्वं तव कथामृतमित्यत्र निरूपितम् । कथायास्त्वब्धित्वं एकस्यां कथायां हृदि स्थितायां ततो भगवदीया कथाः सहस्रं भवन्ति । तत एवोत्पद्यन्ते । यथैवस्य वाक्यस्य बुद्धिमतां सहस्रार्थस्य स्फूर्तिः । यथा कस्यचिद्वचनम् । यस्य कस्यापि पद्यस्य शतमर्थान् प्रचक्षमहे । हठादुक्तस्य तस्यैव सहस्रं संप्रचक्षमहे । एव यस्य हृदये सहस्रं भगवत्कथा

स्फूर्तिः सममुद्रो विवक्षितः तत्रावगाहनं निरन्तरं येषां हृदये भगवत्कथानन्त्यं स्फुटितं तथैव निर्वृत्या पूर्णाः क्लेशान् जहुरित्युक्तम् । एतादृशा एव गुरवो भवन्तीति 'अथ ह वाव तव महिमा समुद्रविप्रुषा' इत्यत्रापि गुरूपदेशभक्षणः विप्रुर्वर्णितः । अत्र तु कथामात्रमिति समुद्रावगमहोक्तिर्न विरुद्धयते । सिद्धान्तान्तराद्वा । अत्र तापनिवृत्तिरात्यन्तिकी । ततोऽपि बलेशोक्तिर्न दोषाय । तपःप्रभृतिसाधनानीति विमर्शः । अथ भगवत्परोक्षे स्थितस्य साधनविचार उक्तः । यः पुनरपरोक्षे तिष्ठति वैकुण्ठस्थ इव उद्वेग इव वा तस्य किं वक्तव्यमित्याह किमुतेति । प्रसङ्गादनवगतमाहात्म्या यथा यादवाः समभगताः ते चरणजवका अपि पुष्टिविचारेण कृतार्थाः मर्या-

दायामकृतार्था उच्यन्ते । यथा यदवो नितरामिति । तद्व्यावृत्त्यर्थमाह स्वधामविधुताशयकालगुणा इति । स्वस्यैव धाम स्फूर्तिः । तेनैव विधुताः दूरीकृताः आशयगुणाः कालगुणाश्च ये । आशयगुणाः कामादयः कालगुणा जरादयः । यथा भगवत्कृपया कालगुणाभावो निरूपितः तथा स्वस्फूर्त्यैव येषामाशयकालगुणनिवृत्तिः ते मुख्या भगवत्सेवकाः मुक्तोपसृप्यो भगवानिति ननु किं तेषां भजनेनेत्याशङ्क्यः सह परमेति तेषामप्युत्तमः । यथा तेषामपि फलं भवति तदृश इत्यर्थः । अत एव ते अजस्रसुखानुभवरूपं पदं भजन्ति । अन्तर्याम्यवतारादिरूपे पादत्वमित्यन्तरेव तं ब्रह्मानन्दमनुभवन्तीत्यर्थः ॥

व्याख्यार्थ—शान्त,^१ दान्त,^२ उपरत^३ और नितिक्षु^४ 'आत्मा' में ही आत्मा को देखे इत्यादि श्रुतियाँ अहङ्कार का ही^५ प्रतिपादन करती हैं यदि अहङ्कार का प्रतिपादन न करती हो तो जीव तो कर्त्ता है ही नहीं, कर्त्ता^६ तथा कर्म^७ दोनों एक ही नहीं बन सकता है तथा आत्मा स्वप्रकाश^८ होने से जो अपने को ब्रह्म वेत्ता समझता है एवं वाक्यार्थ का ध्यान करने वाले उस अहङ्कारी विष्ट के मन का वह व्यापार कहा जाता है 'शान्त' इस श्रुति में भी प्रयत्न साध्य मन की चञ्चलता भी निराकरण करना अहङ्कारी* का ही कृत्य है अहङ्कारी नहीं है, वह शान्त और दान्त कैसे बनेगा? क्योंकि उसके अन्तःकरण आदि में अध्यास^९ है ही नहीं जिसको पुत्र नहीं है, वह विद्वान् पुत्र का पिता कैसे बनेगा? इसी से इन श्रुतियों का शमादि, विधि में तात्पर्य नहीं है, किन्तु अहङ्कारी का

१—अनुवाद पक्ष अर्थात् ये श्रुतियाँ अहङ्कार का ही अनुवाद करती हैं, अतः वह पक्ष ही सिद्धान्त है यों ये जनाती है, २—जिसने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, ३—त्यागी,

४—सहनशील, ५—अपने में ही, ६—एव 'ही' पद से यह कहा है कि कर्त्तापि अहङ्कार में रहा है ७—दर्शन करने वाला आप

८—दर्शन देने वाला भी आप 'आत्मनि एव आत्मानं पश्येत्' अतः इसका भावार्थ है कि अहङ्कारा विष्ट का ही मनो व्यापार है अर्थात् वास्तव में भगवान् का दर्शन करता है केवल जीव अहङ्कार से समझता है कि मैं अपना दर्शन कर रहा हूँ,

९—स्वप्रकाश स्वरूप को दर्शन का विधान नहीं किया जा सकता है, इसलिए 'आत्मनः' पद है ।

* अहङ्कारी को भगवान् का दर्शन साधन बल से नहीं होता है क्योंकि वे शमादि सिद्ध नहीं कर सकते हैं किन्तु भगवान् उन पर भी कृपा कर उनका उद्धार करते हैं ।

† अध्यास न होने से अन्तःकरण का मानो अभाव ही है तो फिर अभाव में अन्तःकरण कैसे शान्त होगा । दृष्टान्त से समझते हैं कि जिसके पुत्र नहीं है वह विद्वान् पुत्र का पिता कैसे बनेगा ?

महान् क्लेश होता है, यों बताकर कहते हैं, कि जो अहङ्कार रहित हैं, उनको स्वतः ही आत्म स्फूर्ति होती है, यों साधन श्रुतियाँ भी भगवत् पर ही है, इस विषय को दृढ़ करने के लिए हेतु कहा है, कि इस प्रकार 'साधनश्रुतियाँ भगवत् परायण ही हैं यों' निश्चय कर ज्ञानी भक्तों ने साधनों को त्याग दिया है, यदि उन्होंने साधन त्याग दिए तो उनका मोक्ष कैसे होगा ? जिसका उत्तर देते हैं कि 'अखिललोक मलक्षपण कथामृतब्धिमवगाह्य' समस्त लोकों में मलों को नाश करने वाले कथा रूप अमृतोदधि में स्नान कर आनन्द प्राप्त करते हैं, केवल कथा के अवगाहन करने से ही कार्य (आनन्द वा मोक्ष) की सिद्धि कैसे होगी, तम आदि अंश वाले देव जब प्रसन्न नहीं तब मोक्ष सिद्धि में विघ्न पड़ेगे अतः विघ्नों को मिटाने के लिए और उन देवों के प्रसन्नतार्थ साधनों का करना भी आवश्यक है, इस पर कहते हैं कि 'अधिपते' आप तीनों लोकों के अधिपति हैं, जिससे आपके भक्तों के मोक्ष में कोई देव भी विघ्न डालने में समर्थ नहीं, क्योंकि, वे देव भी आपके आज्ञाकारी सेवक हैं ।

शम^२ आदि विधिग्रंथों का वेद ने प्रतिपादन किया है, अतः अपेक्षा न होवे तो भी विधि के बल से उनका पालन करना चाहिए, यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है, कि 'सूरयः' जो इस विधि का पालन नहीं करते हैं वे विद्या वाले हैं, वेद अविद्यावालों के लिए ही शमादि का विधान करते हैं, न कि विद्या वालों के लिए आज्ञा देते हैं, अतः वे भक्त परमानन्द रूप साधन को पकड़ कर साधन दशा में ही कृतार्थ होने से दुःखः रूप साधनों से निवृत्त हो जाते हैं, यदि कहो कि विद्वान् भी साधन करते हैं तो इसका उत्तर यह है, कि वे विद्वान् आपके शरणागत भक्त नहीं हैं, आपके भक्त तो साधन क्लेश नहीं करते हैं, इसलिए ही केवल 'सूरयः' न कहकर 'तव सूरयः' कहा है, तथा 'इति' शब्द से उसी अर्थ का समर्थन किया है एवं यदि 'सर्व ब्रह्म' ही है यह पक्ष लिया जावे तो साधनादि भी ब्रह्म रूप होने से निवृत्ति उचित है किन्तु यो मान लेने से पीछे के अर्थ की सङ्गति नहीं होती है, कारण कि सर्व ब्रह्म मान लेने से साधनों के करने में ताप नहीं होता है, किन्तु यहाँ तो साधनों को दुःखद अर्थात् ताप करने वाला जान कर छोड़ देते हैं यों असङ्गति होती है, वे विद्वान् (भक्त ज्ञानी)^६ आपके हैं, आप त्रिलोकाधिपति हैं, इस कारण से उनका निर्भयत्व कहा है, क्योंकि जो भगवान् के सम्बन्धी भगवदीय हैं भगवत्सम्बन्धी चरित्र हैं उनके संसर्ग वालों के पाप स्वतः नष्ट हो जाते हैं, जिससे आपके भक्तों के लिए आप की कथा ही अमृत सागर है इसलिए कहा है कि 'तव कथामृत' आपकी कथा अमृत है, 'कथा' समुद्र है, जिससे एक ही कथा को हृदय में स्थित कर लेने से उससे अनेक भगवच्चरित्र उत्पन्न होते हो रहते हैं, जैसे विद्वानों को एक ही वाक्य से सहस्र अर्थों की स्फूर्ति होती है, जैसे किसी विद्वान् ने कहा है कि 'यस्यकस्यापि पद्यस्य शतमर्थानि प्रचक्ष्महे' हम किसी श्लोक के शत अर्थ कहते हैं, यदि हठ करें तो सहस्र भी कह

† साधनों के बल का (आश्रय का) त्याग कर उन्होंने वेदाश्रय लिया है,

१—मोक्ष

२—'शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति' अर्थ—शम द्वारा शान्ति को प्राप्तकर शिव (मोक्ष) प्राप्त करते हैं ।

६ क्योंकि वैसे ज्ञानियों को साधनों का ताप क्लेश न होने से साधन त्याग कहना संगत नहीं, वे तो साधन करते ही नहीं हैं, किन्तु साधन क्लेशादि समझ जो त्याग करते हैं, वे अहङ्काराविष्ट हैं पूर्ण ज्ञानी नहीं हैं, भक्तों को सेवक में अध्यास होने से ताप की सम्भावना है,

सकते हैं। इस पर जिसके हृदय में हजारों भगवत्कथाओं की स्फूर्ति होती है, वह समुद्र कहा जाता है, उसमें अवगाहन, अर्थात् जिनके हृदय में भगवान् की अनन्तकथाओं की, स्फूर्ति हो रही है, उस स्फूर्ति से ही वे पूर्ण होके साधन क्लेशों का त्याग करते हैं, वैसे ही 'गुरु' होते हैं, यों कहा है, 'अथ हवाव महिमा समुद्र विप्रुषा इत्यत्रापि गुरूपदेशलक्षणः विप्रुट् वर्णितः' इस श्रीमद्भागवत के वाक्य में कहा है कि आपकी महिमा रूप समुद्र के बिन्दु से अर्थात् वहाँ तो गुरु के उपदेश रूप बिन्दु का वर्णन किया है। यहाँ तो सम्पूर्ण कथा कही हुई है, इसलिए समुद्र में अवगाहन की उक्ति का विरोध नहीं है, अथवा अन्य सिद्धान्त होने से भी उक्ति का विरोध नहीं है। इस शरणागत पक्ष में साधन क्लेश ताप की जो निवृत्ति होती है, वह मदैव के लिए होती है, फिर क्लेश का उदय नहीं होता है, कारण, कि यहाँ कथामृत सागर में अवगाहान हुआ है, ज्ञान मार्ग में बिन्दु से विषय सुख निवृत्ति की जाती है, इसलिए पुनः स्मृति होने से संसार क्लेश हो सकते हैं। आग का बुझाने के लिए अधिक जल डाला जाए, तो वह आग बुझकर फिर प्रदीप्त न होगी किन्तु यदि स्वल्प जल डाला ज वे तो ऊपर से तो आग बुझी हुई दिखेगी किन्तु भीतर जलती रहने से वायु का थोड़ा सा संसर्ग हुआ, तो वह प्रदीप्त हो जाएगी, इसी दृष्टान्त से इस ज्ञान और भक्ति के बल के तारतम्य को समझ लेना चाहिए, उससे भी क्लेश^१ की उक्ति का कहना दोषाथं नहीं है, तपस्या आदि साधन है, उनका त्याग कर देना यह समीक्षा है ।

अब तक जो यह साधन विचार किया वह भगवत्परोक्ष में स्थित जीव का कहा जो जीव परोक्ष में नहीं है, किन्तु वैकुण्ठस्थ उद्धवजी के समान सान्निध्य में है उनके लिए तो क्या कहना ? इसलिए 'किनुत' पद दिया है ।

जिन यादवों ने भगवन्माहत्म्य न जान कर भी भगवान् के संसर्ग में आकर चरण सेवा की है, वे पुष्टि (अनुग्रह) के विचार से तो कृतार्थ हैं किन्तु मर्यादा मार्ग में ही अकृतार्थ कहे हैं, जैसे कि 'यदवो नितरां' कह कर उनकी अकृतार्थता दिखाई है उन 'यादवों' की व्यावृत्ति के लिए कहा है कि 'स्वनामविधुताशय काल गुणा' इति (आपकी स्फूर्ति से दूर कर छोड़े है, काम और जरा आदि गुण जिन्होंने ऐमे भक्त) जैसे भगवत्कृपा से भक्त में काल के गुणों का अभाव हो जाता है, वैसे ही स्वस्फूर्ति से ही जिनके काम और काल के गुणों की निवृत्ति हो जाती है, वे मुख्य भगवत्सेवक हैं कारण, कि भगवान् के पास मुक्त^२ जीव ही जा सकते हैं ।

यदि वे मुक्त है, तो वे भजन क्यों करें ? जिसका उत्तर देते हैं कि 'परमः' भगवान् उन मुक्तों से भी उत्तम हैं, अतः उनके लिए भी वे फल रूपा है । अतएव सर्वदा ही अन्तर^३ रहित आनन्द रूप सुख का अनुभव करते रहते हैं, अन्तर्यामी और अवतार स्वरूप भगवच्चरण हैं, अतः वे भीतर अन्तःकरण में हा उम ब्रह्मानन्द का अनुभव करते हैं ॥१६॥

१—साधन करने में क्लेश होता है यों कहने में दोष नहीं है ।

२—जिसके कामादि एव जरादि दोष नष्ट हो गए हैं वे मुक्त हैं, अतः प्रथम स्वरूप योग्यता के लिए इस प्रकार से मुक्त होने की आवश्यकता है, मुख्य भक्तों को परम फलस्वरूप से मुक्ति की अपेक्षा नहीं है ।

३—बिना एक वट के ।

कारिका—कथानन्त्योक्तिहृदयाः साधनानि न कुर्वते ।

साक्षात्ते पादसंश्लिष्टास्ते किं वाच्या महाशयाः ॥३॥१६॥

कारिकार्थ—जिनके हृदय में कथा के अनन्त वचन रमण कर रहे हैं, वे साधन नहीं करते, तो जो लोग साक्षात् भगवान् के चरणों का आश्रय लेकर बंठे हैं, उन महाशयों के लिए तो कहना ही क्या अर्थात् वे साधन न करें, तो कौनसा आश्रय है ? ॥१६॥३॥

आभास—एवं साधनविधीनां निर्णयमुक्त्वा ये देवतान्तरोपासनादिविधयः कर्म-विधयो वा तेषां निर्णयो निरूप्यते । सूत्रात्मको महानिति । तेषां करणं किं विधि-सामर्थ्यात् नियोगन्यायेनाहोस्वित्कामनायां सत्यामभ्यनुज्ञामात्रं क्रियते, आहोस्विन्निषे-धार्थमनुवाद इति । अथ 'योऽन्यां देवतामुपास्ते' इत्यादिषु तेषां निर्णयार्थमाह दृतय इव श्वसन्तीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार साधनों की विधियों के निर्णय को करने वाली श्रुतियों का निरूपण कर, अब देवतान्तरों की उपासना की विधियों का और कर्म के विषयों का निरूपण किया जाता है; क्योंकि 'सूत्रात्मक महान् है' अर्थात् महत्त्व जीवन रूप है, उन (अन्य देवोपासना और कर्म) का करना क्या शास्त्र की विधि की समर्थता से वा आज्ञा के नियम से अथवा किसी प्रकार की कामना होवे, तो केवल करना चाहिए, यों श्रुतियाँ आज्ञा करती हैं अथवा उपासना और कर्म नहीं करने चाहिए, एतदर्थ उनका वर्णन करती हैं, 'योऽन्यां देवतामुपास्ते' इत्यादि श्रुतियों में कहा है कि आगे के समय के विद्वान् अग्निहोत्र आदि नहीं करते थे । अतः कर्मादि नहीं करने चाहिए, इसलिए 'दृतय' श्लोक में उनका निर्णय कहते हैं—

श्लोक—दृतय इव श्वसन्त्यपुष्टतो यदि तेऽनुविधा

महदहमादयोऽण्डमसृजन्मदनुग्रहतः ।

पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः

सदसतः परं त्वमथ यदेष्ववशेषमृतम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—जो आपके सेवक हैं, वे ही प्राणधारी हैं, शेष अर्थात् जो आपका भजन नहीं करते, वे धौकनी की तरह केवल हवा ले रहे हैं । आपके ही अनुग्रह से महत्त्व ग्रहङ्कार आदि ने इस ब्रह्मांड को रचा है, जो आप अन्नमय आदि में अन्तिम है, वह आप ही देहों में पुरुषविध एवं अन्वय हैं । कार्य और कारण से भी जो परे है, वह भी आप ही हैं और जो ये सर्व कार्य-कारणात्मक वस्तु हैं, उनमें जो शेष रहता है, वह सत्य भी आप ही हैं ॥१७॥

सुबोधिनी—ये लौकिकाः कामनया प्रवृत्ताः तदर्थं श्रुतिर्व्यर्थेति साधनसंबन्धमात्रसार्थकत्वेऽपि इतरवैयर्थ्यापत्तेः नियोगपरतया तत्करणं मन्यन्ते । ते उभयेऽपि हृतय इव श्वसन्ति । एके प्राणपोषकाः तत्पोषार्थं श्रुत्युक्तं कुर्वन्ति । अत्र केवललौकिकाः प्रकरणेनैव निषिद्धा अत एव नोच्यन्ते । ब्रह्मविदामेव विचारविषयत्वात् । वैदिकाः सर्व एव ब्रह्मवादिनो भवन्तीति कामनापरत्वं विधिपश्च वा ये मन्यन्ते वेदानां ते निन्द्यन्ते प्राणपोषका इति प्राणोपाधिग्रस्ता इति च । हृतयो हि अनसनेव सर्वान् एव धातून् तप्तं न कुर्वन्ति । अतस्ते परतापकर्तारः बहिर्मुखाः समर्थाः सन्तः अन्यानेव पीडयन्तीति । सुतः पशुघातकाः । 'यो नः जपादशपतः' 'यो नः सपत्नः' 'यो मां द्वेष्टि जातवेद' इत्यादिश्रुतिभिः अलौकिकप्रकारेणापि सर्वोपद्रवकर्तारः ते मृत्प्राया एव इहामुत्रार्थफलरहिताः परपद्रवार्थमेव जीवन्तीत्यर्थः । ये पुनः 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त' इति प्रकारेण यज्ञादिभिः त्वदावरणत्वेन देवतान्तरोपसनां च कुर्वन्ति ते त्वदनुविधाः । ये त्वदनुविधा अनुविदधतीत्यनुविधा भक्ताः ते एवासुभृतः सफलप्राणाः । न तैः परोपद्रवः संभवतीति किञ्च । ये पूर्वोक्ताः तेषां दूषणान्तरमुच्यते महदहमादय इति 'कृतघ्ने नास्ति निःकृतिः' इति भगवदाजया महदादिभिः कृते ब्रह्माण्डे तत्र स्थित्वा तैरेव निष्पादितं शरीरं परिगृह्य तेषां तत्स्वामिनो वा येऽनुविधानं न कुर्वन्ति ते कृतघ्नाः । अथ च ये भगवत्सेवकाः तेषां सर्वभावेन भगवद्भजनं युक्तमिति वक्तुं महदादयोऽपि भगवत्सेवार्थं भगवत्क्रीडाभाण्डं ब्रह्माण्डं ससृजुरिति निरूपितम् । करणेऽपि तेषां न स्वतः सामर्थ्यं किन्तु यदनुग्रहादेव, अतो भगवच्छेषतया देवतान्तरभजने न कोऽपि दोष इत्यपि सूचितम् । प्रकाशान्तरेणाप्युभयेषां निन्दास्तुती निरूप्येते पुरुषविधोऽन्वयोत्र चरमोऽन्नमयादिषु य इति । अत्र देहे पुरुषविधोऽन्वयः यश्च भगवान् अन्नमयादिषु चरमः । यथा भाण्डकर्तारः प्रथमतः

आकृतिं कृत्वा पश्चाद्धातून् पूरयन्ति अन्यथा पूरित भाण्डनिर्माणं न भवति, तादृशो देहः । अन्ये तु घटादयः कृतिसाध्याः । ततोऽत्र देहे कश्चिदान्तरो वर्तते य एवंविधः यदुपरि समागताः अन्नरसादयो भवन्ति । अन्यथा भस्मोत्कर इव राशीभूताः स्युः । अतो योऽन्तःस्थितः प्रत्यहं तादृग्भावं संपादयति सोऽत्यन्त मान्यो भवति 'तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः' इति श्रुतौ तस्य भगवतः पुरुषप्रकारमेव लक्ष्यकृत्य अयमन्नमयादिः पुरुषविध इति अस्य पुरुषविधत्वं भगवदन्वयेनैव निरूपितम् । पुरुषविधस्त्वन्वयः वंशन्यायेन समागत इत्यर्थः नन्वन्नमयान्वय एव भगवतो भवतु को विशेष इति चेत्, तत्राह अत्र अन्नमयादिषु यश्चरम इति । अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयेषु चरम आनन्दमयः स तु सर्वान्तरः आनन्दमयत्वादेव न तस्य प्रयोजनमन्यदस्ति । अन्यं च नापेक्षत इति सूचितम् । अन्तःस्थितो ह्याकारसमर्पको भवति । तस्य पुरुषविधतामित्यत्र प्रकृतः षष्ठ्यन्तेनोच्यते तस्यैव पूर्वोक्तत्वात् पूर्वोक्त एव हि परामृश्यते । 'स वा एष पुरुषविध एव' इति पूर्ववाक्यम्, अयमिति सर्वत्रान्नमय एव ग्राह्यः । अनन्तरोक्तो वा, न तु पूर्वपुरुषविधत्वेनोत्तरस्य पुरुषविधत्वमिति कदाचिदपि मन्तव्यम् । भगवांश्चाऽऽनन्दमयः । अत्र केचित् कोशप्रतिपादकाः स्वार्थं शोकप्रतिपादका एव । आनन्दमयस्य त्यागे शोकस्यैवावशेषात् । मयट्प्रत्ययानुपपत्तिश्च सूत्रकारेणैव परिहृता प्राचुर्यादिति । 'द्वयचच्छब्दास' इति व्याकरणेऽपि विकारे आनन्दशब्दात् अत्रः मयट्प्रत्ययानुपपत्तिः, तस्मात्साकारब्रह्मद्वेषादेव कश्चित्प्रा व्याख्यातम् । ब्रह्मपदशब्दया वा । ब्रह्म पुच्छं प्रातश्चा' इति आनन्दमयस्य पुच्छत्वेन ब्रह्मनिरूपणात् । हंसाकृतित्वकथने पुच्छत्व परमात्मनः' इति सिद्धान्तापरिज्ञानात् । अन्यथा ज्ञानभक्तिमार्गयोरेकफलत्वं न स्यात् । भगवच्चरणस्याब्रह्मत्वादित्यल विस्तरेण । भाष्ये विस्तरस्योक्तत्वात् । अतः योऽन्तःस्थित आनन्दमया-

दयति पुरुषत्वं चेतादृशं ये न मन्यन्ते ते कृतघ्ना इति किं वक्तव्यम् । ये वा भजन्ते तेषां युक्तमिति वा किं वक्तव्यमित्यर्थः । विश्व । यत्किञ्चिज्जगति कार्यं तस्य सर्वस्य त्वमेव नियन्ता तदाह सदसतः परं त्वमिति । यत् सदसतः कार्यकारणयोः परं नियन्तृत्वेन विचारितं ब्रह्म तत् त्वमेवेत्यर्थः । किञ्च । न केवलं नियामकत्वमात्रं किंतु भिन्न-प्रक्रमेण भेदं परिहृत्य एतद्रूपत्वेनैवोत्तरमुच्यते यदेष्ववशेषमिति । अर्वाशिष्यत इत्यवशेषः ।

एतत् पूर्वमुपपादितम् । यथा सर्ववस्तुष्वयं भगवानवशिष्यत इति । अतः पर्यवसानन्यायेन तस्यैवानुसरणं कर्तव्यं सर्वत्र नान्यस्य नश्वरस्येति हेतुस्तु उभयत्रापि । किञ्च । यदेषु ऋतं तद्भगवानेव इत्यर्थः । अवशेषमात्रेण न कार्यं सेत्स्यति तस्यापि कालान्तरे नाशसंभवात् घृतादिवत् । अतो हेत्वन्तरमुच्यते ऋतमिति । एवं पञ्चहेतवो निरूपिताः स्तुतौ निन्दायां च ॥

व्याख्यानार्थ—जो लौकिक पुरुष हैं, उनको पशु पुत्रादि कामनाओं की पूर्ति के लिए ही श्रुति ने उपासना कर्म करने की आज्ञा दी है, यों जान कर वे कर्म करते हैं और कामना से साधन करने वालों को श्रुति फल देती है, तो भी जो निष्काम हैं उनके लिए श्रुति निष्फल है, अतः निष्काम मानते हैं, कि वेद की आज्ञा है, कि उपासना और कर्म करने चाहिए इसलिये करने पड़ते हैं, इस प्रकार के ये दोनों पुरुष धौकनी की तरह केवल आस लेते हैं, एक प्राणों के पोषक होने से श्रुति में कहे हुए कर्म आदि कामना से करते हैं, जो केवल लौकिक हैं वे प्रकरण से ही निषिद्ध हैं, इसलिए ही उनका यहां समावेश नहीं किया है, क्योंकि ब्रह्म वेत्ताओं के ही विचार का यह विषय है वैदिक सर्व ही ब्रह्मवादी होते हैं, जो यों मानते हैं कि श्रुति की आज्ञा कामना के परायण है अथवा विधि पर हैं, उनकी निन्दा की जाती है, कि वे प्राण पोषक अर्थात् प्राणोपाधि से ग्रस्त हैं, धौकनी जो धातु ठण्डे है, उन सबको तपाती है, अर्थात् पीड़ा देती है, वैसे ही वे अन्यों को दुःख देने वाले बहिर्दुःख तप आदि कर्म से समर्थ बनकर दूसरों को ही कष्ट देते हैं, विशेष कर पशुओं का घात करने वाले विशेष पीड़ा देते हैं 'हम आप नहीं देते हैं तो भी वे हमको शाप देते हैं' 'जो हमारे शत्रु हैं 'जा वेदज्ञ होकर भी हमारा द्वेष करते हैं' इत्यादि श्रुति से सिद्ध होता है कि वे अलौकिक प्रकार से भी सर्व के लिए उपद्रव करने वाले होते हैं, अतः वे मरे हुए ही हैं, और इस लोक तथा परलोक दोनों में फलहीन हैं केवल दूसरों को पीड़ा करने के लिए ही धौकनी के समान जीवन धारण करते हैं, और फिर जा 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' इस श्रुति के अनुसार यज्ञ से यज्ञ रूप विष्णु की सेवा करते हैं तथा देवों को आपका अंश रूप जानकर पूजते हैं वे ही आपके भक्त हैं । अतः वे भक्त ही वास्तव में प्राणधारी हैं उनका ही प्राण धारण करना सफल है उनसे कभी भी दूसरों का अहित नहीं होता है ।

और विशेष कहते हैं, कि पूर्व कहे हुए दो प्रकार के पुरुषों के जो दूषण कहे उनके सिवाय दूसरे दूषण भी उनके बताते हैं, 'महदहमादयः इति' जिसके अनुग्रह से महत्तत्त्व और अहङ्कार ने इस ब्रह्माण्ड की रचना की उस ब्रह्माण्ड में रहकर उनसे ही यह शरीर धारण कर उनकी और उनके स्वामी की जो भक्ति सेवा नहीं करते हैं वे कृतघ्न हैं, कृतघ्न के पाप का नाश हो नहीं सकता है, ऐसी आज्ञा है, जो भगवान् के सेवक हैं उनको सर्वप्रथम भाव से भगवान् का भजन करना उचित है, यों कहन के लिए कहा है, कि महदादि ने भी भगवान् की सेवा के लिए भगवत्कीडाभाण्ड यह ब्रह्माण्ड बनाया है ब्रह्माण्ड बनाने में महदादि की सामर्थ्य नहीं थी किन्तु भगवदनुग्रह से ही सामर्थ्य

प्राप्त हुई तब जिससे वे बना सके अतः इससे यह भी सूचित किया है कि वे भगवदङ्ग हैं। यों जानकर अन्य देवों के भजन करने में दोष नहीं हैं।

दूसरे प्रकार से भी दोनों को निन्दा स्तुति निरूपण की जाती है, 'पुरुष विधोऽन्वयोत्र चरमोऽन्नमयादिषु य इति' जो भगवान् अन्नमय स्वरूपों में अन्तिम आनन्दमय स्वरूप है वह पुरुष विध ही इस देह में अन्वय है।

जैसे बर्तन आदि बनाने वाले पहले जिस वस्तु को बनाना होता है, उस आकृति का साँचा बनाकर फिर उसमें धातु पिघलाकर डाल देते हैं, जिससे वह वस्तु बन जाती है। यदि यों न करें तो वह वस्तु सिद्ध न हो सके वैसे ही यह देह है, घट आदि पदार्थ तो क्रिया से बनाए जाते हैं। किन्तु देह क्रिया से नहीं बनती है, इससे जाना जाता है, कि इस देह में भीतर कोई ऐसी वस्तु है जिस पर पड़ा हुआ अन्न, रस आदि बन जाता है, यदि ऐसी कोई वस्तु भीतर न होवे तो वह अन्न यों हो भस्म की राशि के समान वहाँ गड़ा रहे अतः जो भीतर स्थित होके नित्य ही अन्न का रसमयादि बनाकर शरीर पोषण कर रहा है, वह अत्यन्तमेव मान देने योग्य है, 'तस्य पुरुष विधनामन्वयं पुरुषविधः' इति उसके पुरुष प्रकार के कारण ही यह पुरुष प्रकार है। इस श्रुति में उस भगवान् के पुरुष प्रकार को ध्यान में लाकर ही यह अन्नमय आदि पुरुष प्रकार के हैं, यों इसका पुरुष प्रकार भगवान् के सम्बन्ध से ही निरूपण किया है, पुरुष प्रकार का सम्बन्ध तो वैसे बताया जैसा वंश परम्परा का सम्बन्ध होता है, जैसे मनुष्य वंश में उत्पन्न मनुष्याकार ही होता है वैसे ही आनन्दमय के सम्बन्ध से उत्पन्न भी पुरुष विध ही होता है।

अन्नमय का सम्बन्ध भगवान् से और भगवान् का अन्नमय से सम्बन्ध भले ही हो किन्तु इसमें विशेष कौन वाक्या^२ है ? इस प्रकार की शङ्का का निवारण 'अत्र अन्नमयादिषु यश्चरमः' किया है कि, पाञ्च स्वरूप अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय हैं। इनमें से जो अन्तिम पाँचवाँ है, वह आनन्दमय ही है, आनन्दमय होने से सर्वान्तर अर्थात् सबके भीतर स्थित है, उसका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है और न दूसरे की अपेक्षा करता है, यों सूचित किया है, जो भीतर स्थित रहता है, वह ही आकृति को देने वाला होता है, 'तस्य पुरुष विधत मन्वयं पुरुष विध' इस हंतिरीय श्रुति में कहा है कि उसके पुरुष प्रकार के कारण ही यह भी पुरुष प्रकार का है, वहाँ तस्ये इस षष्ठी विभक्ति से ही यह कहा है कि जिसकी पहले बात कही है, उसका ही यहाँ विचार किया गया है वह प्राणमय ही है, 'स वा एष पुरुषविध एव' यह पूर्वका वाक्य है 'अयं' इससे यह सर्वत्र अन्नमय ही ग्रहण करना चाहिए अथवा जो पहले कहा है वह ही लेना चाहिए न कि यों मानना चाहिए कि पहला पुरुषविध होने से दूसरा भी पुरुष विध होता है, और भगवान् आनन्दमय हैं, यहाँ कितने ही 'आनन्दमय' को भगवान् न मानकर कोश मानते हैं,^३ जो यों कोश मानते हैं, वे

१—आनन्दमय के, २—प्रकार

३—इस श्लोक में यह दिखाया है कि जो अन्नमयादि में अन्तिम है, वह ही यहाँ पुरुष विध (प्रकार) है, वह अन्तिम में जो पुरुष है वह (आनन्दमय होने से पर ब्रह्म है, जिससे ही अन्नमय आदि में वंशक्रमानुसार पुरुष प्रकार है, अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय ये चार

(क्रमशः पृष्ठ १३८ पर)

अपने शोक का ही प्रतिपादन करते हैं, आनन्दमय के त्याग से शोक ही शेष रहता है, अर्थात् जो लोग भगवान् का त्याग करते हैं, भगवान् से विमुख हो कोशके सम्मुख होते हैं, वे शोक के सिवाय क्या प्राप्त करेंगे, 'मयट्' प्रत्यय विकारवाची है इस कथन की अयोग्यता तो सूत्रकार ने ही यह (मयट्) प्राचुर्य अर्थ में है यों कह कर सिद्ध कर दी है। व्याकरणानुसार भी 'मयट्' प्रत्यय विकार अर्थ वाला वहाँ होता है जहाँ दो अच् होने हैं, तीन अच् वाले शब्द में आया हुआ मयट् विकार वाची नहीं होता है बल्कि प्राचुर्य अर्थ में होता है इससे ससम्झा जाता है कि मयट् को विकार वाची कह कर कोश का प्रतिपादन केवल ब्रह्म की साकारता के द्वेष के कारण हो किसी ने किया है, 'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इससे ब्रह्म को आनन्दमय भगवान् की पुच्छ वा चरण कहा है, भगवान् को हंसाकृति के वर्णन में ब्रह्म का पुच्छपन सिद्ध है, इस सिद्धान्त के अज्ञान से भी 'कोश' कहा है यदि ब्रह्म भगवान् के चरण न होवे तो भक्ति मार्ग और ज्ञान मार्ग का फल एक न हो सकेगा, क्योंकि भगवच्चरण को अब्रह्मत्व होगा इतना ही प्रथम है, भाष्य में विस्तार से कहा है, अतः जो भगवान् भीतर स्थित हो के आनन्द का सम्पादन करते हैं और पुरुषत्व सम्पादन करते हैं, वैसे भगवान् को जो नहीं मानते हैं वे कृतघ्न हैं इसमें कहना ही क्या है ? और जो वैसे भगवान् को भजते हैं वे ही उचित कार्य करते हैं, इनके औचित्य के लिए क्या कहा जाए ? और विशेष यह है कि इस जगत् में जो कुछ कार्य है, उप समस्त कार्य को निरन्तर आप ही हैं, इसको सिद्धि के लिए ही कहते हैं कि 'सदसत पर त्वमिति' कार्य और कारण से परे जो नियन्तापन में विचारित ब्रह्म है वह आप ही हैं, न केवल आप नियामक ही हैं, किन्तु दूसरे प्रकार से कहते हैं कि भेद को मिटाकर 'यदेषुग्रवाण्येत्ये' जो इनमें से शेष रहता है वह भी आप ही हैं, यह पहले ही प्रतिपादन किया, जेमे सब पदार्थों में वह भगवान् ही शेष रहते हैं, यों कह कर शिक्षा दी कि परिणाम को देख कर विचार करना चाहिए न कि जो अवशिष्ट रहता है, उसका ही सर्वत्र अनुसरण करना चाहिए, न कि, जा दूसरे नश्वर हैं, उनका अनुसरण करना चाहिए इस प्रकार दोनों तरफ यह हेतु कहा है, और विशेष स्पष्ट करते हैं, कि केवल शेष कहने से भी कार्य की सिद्धि नहीं होगी क्योंकि वह शेष भी धृत को तरह नष्ट हो जाता है, इसलिए फिर कहा है कि 'यदेषुकृतं तद्भगवानेव' इन शेषों में भी जो सत्य है वह भगवान् है इस प्रकार स्तुति और निन्दा में पाँच हेतु निरूपण किए हैं।

कारिका—कृष्ण एव सदा सेव्यो निर्णीतः पञ्चधा बुधैः ।

शरीरदः प्रेरकश्च सुखदः शेषसत्यदः ॥४॥१७॥

(क्रमशः पृष्ठ १३८ से आगे)

विभूतिरूप से देह में स्थित हो अपना अपना कार्य करते हैं । इनके भीतर पाँचवा आनन्दमय भगवान् है जिनके द्वारा ही ये चार कार्य करने में समर्थ हो रहे हैं, आनन्दमय को भगवान् न कह कर जीव को ही आनन्दमय कहना वेद, व्यास सूत्रादि शास्त्रों में विरुद्ध है, इनको 'कोश' मानना शास्त्र और युक्ति से विरुद्ध है कोश का अर्थ करने हैं जीव के साथ सूक्ष्म शरीर के अन्वयव वे अन्न को रसमय नहीं बना सकते इत्यलम् ।

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण शरीरदाता, प्रेरक सुख देने वाले, शेष और सत्त्व हैं, यों पाँच प्रकार से जानियो ने जिनका निर्णय किया है, वे श्रीकृष्ण ही सदा सेवा करने योग्य हैं ॥४॥१७॥

आभास—एवं देवतान्तरकर्मन्तरविधीनां निर्णयमुक्त्वा भगवदुपासकानामेव बहु-
विधानां तारतम्येन फलनिर्णयमाह उदरमुपासत इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार श्रुतियों में कहे हुए अन्य देवों की उपासना की विधियों का और कर्मन्तर विधियों का निर्णय कह कर अब अनेक प्रकार के भगवान् के उपासकों को जो पृथक्-पृथक् फल मिलता है उनका निर्णय 'उदरमुपासते' श्लोक से कहने हैं ।

श्लोक—उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः

परिसरपट्वति हृदयमारुणयो दहरम् ।

तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं

पुनरिह यत्समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥१८॥

श्लोकार्थ—ऋषियों के मार्गों में अर्थात् वैदिक मार्गों में जो उदर (कर्म) की उपासना करते हैं, वे स्थूल दृष्टि वाले हैं और जो नाड़ियों का मार्ग जहाँ है, वैसे हृदय की उपासना करते हैं, वे अल्प प्रकाश वाले हैं अर्थात् स्वल्प देखते हैं । हे अनन्त ! आपका धाम उत्तम है, अतः त्रैलोक्य काल से भी उत्तम आपका जो सिर आधिभौतिक (ब्रह्मलोक) है, उससे भी ऊपर जाते हैं, वह आपका भगवत्स्वरूप ऐसा है, जिसको प्राप्त कर फिर काल के मुख में नहीं पड़ते हैं ॥१८॥

सुबोधिनी—भगवदुपासकास्त्रिविधाः कर्मिणो योगिनो ज्ञानिनश्चेति । तत्र ज्ञानिनः श्रेष्ठाः अन्ये तु प्रथममध्यमा इति । 'एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्' इति वाक्याद्भगवद्भजनं बहुधा संभवति । केचिदिदं पद्यं योगपरत्वेनैव योजयन्ति तच्छ्रुतिनिर्णये विरुद्धमिव प्रतिभाति । ऋषिवर्त्मसु वेदोक्तमार्गेषु ये उदरमुपासते कर्मोपासत इत्यर्थः । वेदस्योदरं कर्मेति उदरपर्यवसानाच्च उदरशब्दस्योभयथापि लक्षणा । मणि-पूरकचक्रपरत्वे कर्मपरत्वे वा षण्णां चक्राणामत्रानिरूपणात् प्राप्त्यभावश्च । पञ्चात्मकविचारेऽपि उदर सोमो भवति निन्दार्थं चोदरपदम्, शिशनोदरपरायणा लोके निन्दिता भवन्तीति ।

ते कूर्पदृशः स्थूलदृश्यः । शर्कराः कूर्पशब्देनोच्यन्ते । अति स्थूलदृश्य इत्यर्थः । कूर्पपिक्षया न्यूनं न पश्यन्ति । अथवा कच्छपपृष्ठं कूर्पं तत्र रेखाकारा भवन्ति ता दृष्टिर्वन्निरूप्यन्ते । तेन किमपि न पश्यन्तीत्युक्तं भवति 'एव त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते' इति वचनात् निन्दा श्रूयत इति । एव प्रथमस्थितानुवत्त्वा मध्यमानाह परिसरपट्वति हृदयमिति । परितः मरन्तीति परिसरा नाड्यः तासां पट्वतिः मार्गो हृदयमनेन तत्र स्थिता योगाभ्यासेनाधश्चोर्ध्व च सर्वानेव मार्गान् शोधयन्ति । एवं योगिनः हृदये भगवच्चिन्तका निरुक्ताः । ते आरुणयः अरुणवदल्प-प्रकाशयुक्ताः । अरुणस्य पुत्रः आरुणि । दहर-

मिति अल्पं छिद्रमिति केचित् । दहरशब्दोऽल्प-
वाचको वेदे निरुक्तः 'दहर वै सा पराभ्यां दोहा-
भ्यां दुहः' इति । अल्पप्रकाशः स्वल्पं चोपासत
इत्यर्थः । एवं सर्वात्मकस्य भगवतः केचन उदर
केचन हृदयं चोपासते । कर्मयोगौ गीतायाम् ।
योगप्रशंसा तु योगशास्त्रत्वात् बहिर्मुखोद्देश्य-
त्वाद्वा । तर्हि मुख्या. के इति जिज्ञासायामाह
तत्त उदगादिति । तव धाम शिरः परमं 'तदाहु-
रक्षरं ब्रह्म सर्वकारणकारणम् । विष्णोर्धाम'

इति वाक्यात् । भगवतो बहूनि स्थानानि तेष्व-
प्यक्षरं परमम् । अक्षरपदप्रयोगादेव परमत्वं
ज्ञातव्यम् । अतस्त्रैलोक्यात् कालादपि शिरः
ऊर्ध्वमेवोदगात् । तस्यैवाधिभौतिकं रूपं ब्रह्मलोक
इति तस्य शिरस्त्वम् । पूर्वात् फलतः तस्योत्कर्ष-
माह पुनरिह यत्समेत्येति । यत् भगवत्स्वरूपं
प्राप्य प्राणिनः कृतान्तमुखे न पतन्ति । मामु-
पेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' इति । अतो
ज्ञानिन एवोत्कृष्टा इत्यर्थः ।

व्याख्यानार्थ भगवान् की उपासना करने वाले तीन प्रकार के हैं, १—कर्मिष्ठ २—योगी और
३—जानी, इनमें जानी उत्तम है. शेष कर्मों और योगी अधम और मध्यम है. 'एकत्वेन पृथक्त्वेन'
बहुधा विश्वतो मुखम्' इस वाक्यानुसार भगवान् का भजन बहुत भाँति से होता है, कितने ही इस
पद्य को योग पर लगाते हैं. वह उनका लगाना श्रुति के निर्णय से विरुद्धसा दिखता है । ऋषि मार्गों
में अर्थात् वेदों में ऋषियों द्वारा कहे हुए मार्गों में स्थिर रह कर जो उदर यानि कर्म रूप भगवान् की
उपासना करते हैं, वे स्थूल (मोटी) दृष्टि वाले हैं, वेद का उदर शब्द कर्म है, इससे कर्म को समाप्ति
उदर में ही होती है । 'उदर' के अर्थ है लक्षणा विधि से ये दोनों ही होते हैं, उदर का शब्दार्थ
तो 'पेट' है, किन्तु लक्षणा से उदर शब्द का अर्थ कर्म किया है, कारण कि वेद का 'उदर' कर्म है,
कर्म का फल धनादि की पोषणार्थ प्राप्ति होने से भी उदर का अर्थ कर्म किया है. यदि उदर शब्द
का अर्थ मणिपूरक चक्र अथवा कर्म किया जावे तो यहाँ पास वाले छः चक्रों का निरूपण नहीं
किया गया है और कर्म शुद्धि के छः अंग भी नहीं कहे हैं, इस कारण से यह अर्थ संगत नहीं है,
भगवान् यज्ञ पुरुष पञ्चात्मक है, वहाँ भी विचार करने से 'उदर' का अर्थ 'सोम' होता है, सारांश
यह है कि यहाँ 'उदर' शब्द देकर सकाम कर्मियों की निन्दा ही को गई है, लोक में जो शिशुनोदर
परायण हैं वे निन्दा के ही योग्य होते हैं, इस प्रकार जो, कर्मों हैं वे स्थूल दृष्टि वाले हैं, कूर्प शब्द
का अर्थ कंकड़ है यानि पाषाण के छोटे टुकड़े उनको वे ही देख सकते हैं, सूक्ष्म तत्व को नहीं जान
सकते हैं, अथवा 'कूर्प' शब्द का अर्थ कछुए की पृष्ठ (पीठ) पर जो चक्षुसम काले चिन्ह हैं, वे हैं,
जिसका तात्पर्य है कि जैसे वे चक्षुसम काले चिन्ह देख नहीं सकते हैं, वैसे ही ये शिशुनोदर परायण
भी तत्व को देख नहीं सकते हैं । 'इस तरह त्रेयी धर्म मनुप्रवन्नाः गतागतं काम कामा लभन्ते' इस
वचन से उनकी निन्दा सुनी जाती है, इसी तरह कनिष्ठ कर्मियों की स्थिति कैसी है क्या होती है,
यह बताकर, अब मध्यम जो योगी हैं उनकी स्थिति बताते हैं, 'परिसर पद्धति हृदयम्' इति, चारों
तरफ जो सरण करती रहती हैं, वे नाडियाँ कही जाती हैं, उनका मार्ग है 'हृदय' इससे उस हृदय में
स्थित होकर योगाभ्यास से नीचे ऊपर के सकल मार्गों को शुद्ध करते हैं. इस प्रकार योगी भगवान्
का चिन्तन हृदय में करते हैं. वे योगी अरुण की तरह स्वल्प प्रकाश वाले होते हैं, अरुण का पुत्र
'आरुणि' दहर का अर्थ अल्प है, कितने ही इस दहर का अर्थ छिद्र करते हैं वेद में 'दहरं वै सा परा-
भ्या दोहाभ्यां दुहः' इस श्रुति में 'दहर' शब्द का अर्थ अल्प कहा है, अतः जो स्वयं अल्प प्रकाशवाले हैं

१—एकपत्न, बहुपत्न और विश्वरूप बने हुए मेरा बहुत प्रकार से भजन होता है.

२—वेद के धर्म में आसक्त, सकाम पुरुष जन्म मरण के चक्कर में फिरते रहते है ।

वे अल्प की ही उपासना करते हैं, इसी भाँति स्वात्मक भगवान् की कितने ही 'उदर' कर्म रूप से और कितने ही 'हृदय' योगाभ्यास से हृदय में उपासना करते हैं, यों कर्म और योग को कहा है, गीता में योग की प्रशंसा तो योग शास्त्र होने से की है, अथवा बहिर्मुखों के उद्देश्य होने से की है ।

यों है तत्र मुख्य उपामक कौन है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि, 'तत्तदुदगात् इति, तव धाम शिरः परमं' आपका परम धाम जो शिर आधिभौतिक (ब्रह्म लोक) है उससे भी वे उपासक ऊँचे जाते हैं, जो सर्व कारणों का कारण है वह अक्षर ब्रह्म है, यों कहते हैं, जिसमें प्रम.गु 'विष्णोर्धाम' वाक्य है, भगवान् के बहुत स्थान हैं उनमें भी अक्षर सबसे उत्तम स्थान है, 'अक्षर' पद के प्रयोग से ही उसका परमपन जाना जाता है, वा जानना चाहिए, इस कारण से ही तीन लोक से और काल से भी शिर ऊपर है, उसका ही आधिभौतिक रूप 'ब्रह्म लोक' है, इसलिये उसका शिर कहा है, पहले जो कहा उससे इस फल की उत्तमता कहते हैं कि प्राणी जिस भगवत्स्वरूप को प्राप्त कर फिर लौट कर काल के मुख में नहीं पड़ते हैं, अर्थात् आवागमन के चक्कर से छूट जाते हैं, जैसा कि गीता में कहा है, 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' मुझे प्राप्त होजाने के अनन्तर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता है अतः ज्ञानी ही उत्तम है, यह तात्पर्य है ॥१८॥

कारिका—कर्मरूपं हरिं केचित् सेवन्ते योगरूपिणम् ।

तेभ्योऽप्यक्षररूपस्य सेवकाः संमताः सताम् ॥५॥१८॥

कारिकार्थ—कितने ही कर्म रूप हरि की उपासना करते हैं और कितने ही योगरूप हरि का सेवन करते हैं, इन सबसे भी अक्षर रूप हरि की सेवा करने वालों को सत्पुरुषों ने उत्तम माना है ॥१८॥५॥

आभास—एवमुपासनाभेदनिर्णयमुक्त्वा अनुप्रवेशश्रुतीनां निर्णयमाह स्वकृतविचित्र-योनिष्विति ।

आभासार्थ—इस तरह उपासना के भेदों का निर्णय कह कर, अब अनुप्रवेश^१ श्रुतियों का 'स्वकृत विचित्र योनिषु' श्लोक में निर्णय कहते हैं,

श्लोक—स्वकृतविचित्रयोनिषु विशन्निव हेतुतया

तरतमतश्चकास्स्यनलवत्स्वकृतानुकृतिः ।

अथ वितयास्वमूष्ववितथं तव धाम समं

विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—आप अपने रचे हुए विचित्र देव-मनुष्य आदि शरीरों में हेतुपनसे रहते

१—कार्यों को रच कर फिर उनमें भगवान् प्रवेश करते हैं ।

हुए भी मानों भीतर प्रवेश करते हुए छोटे-बड़े आदि विविध प्रकार से वैसे प्रकाशमान हा, जैसे अग्नि काष्ठ में सीधी व वक्र आदि काष्ठसम भासती है और जो सर्व व्यवहारातीत ज्ञानी हैं, वे ही इन असत्य योनियों में आपका स्वरूप सत्य तथा एकरस है, यों जानते हैं ॥१६॥

सुबोधिनी—‘तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्’ ‘स एष इह प्रविष्ट आनखाग्नेभ्यः’ इत्यादिश्रुतिषु प्रवेशः श्रूयते । ‘गुहां प्रविष्टावात्मानो हि तद्दर्शनाद्’ इति न्यायेनापि निर्णीतः । स च प्रवेशः सर्वथा बहिःस्थितस्य आहोस्विदन्तरेव स्थितस्य प्रकाशे लोकास्तत्र पश्यन्तीति लोकप्रतीतिमाश्रित्य प्रवेशोऽनूद्यत इति भवति विचारः । तत्र बहिःस्थितस्यैव प्रवेशे आत्मसृष्टिविरोधः अद्वैतविरोधश्च, निरवयवत्वशब्दकोपश्च । प्रवेशेऽपि उभयोः प्रवेशो न्यायेन निरूपितः । ववचित् प्रविष्टस्य जीवब्रह्मभावः । पूर्वं तु भेदे कारणाभावादतो द्वयं निर्णेतव्यम् । किं बहिःस्थितः प्रविशति उभौ वा प्रविशत इति । एतदत्र क्रमेण श्लोकद्वयेन निर्णयं करिष्यति । स्वेनैव कृतेषु त्रिचित्रयोनिषु भगवान् हेतुतया तत्र स्थित एव विशन्निव चकास्ति । अनेन दृष्टानुवादिका प्रवेशश्च तिरिति निरूपितम् । कार्ये कारणस्यानुप्रवेशः पृथग्वर्तते इति केचित् । अन्यथा तत्र प्रतीतिर्न स्यादिति । अत उभय संग्रहार्थं इवेत्युक्तवान् । ‘परस्य दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात्’ इति । भागवतेऽपि कारणस्य कार्ये प्रवेश उक्तः । अतो हेतुतया उपादानत्वेन स्थितोऽपि पुनः प्रविशति । एव प्रवेशमुक्त्वा ‘सच्च त्यच्चाभवत्’ इत्यादिभिः प्रविष्टस्य वैलक्षण्यश्रुतेः । तस्यापि निर्णयमाह तरतमतश्चकास्तीति । देवतिर्यङ्मनुष्यादिभावेन राजसादिभावेन च । नन्वेक एवान्तःप्रविष्टः कथं नाना भासते तत्राह अनलवदिति । अनेन जीवकृतं वैलक्षण्यमिति पक्षो निराकृतः । भगवांस्त्वन्तर्यानी सर्वत्रैकविध एव जीववैलक्षणेन देवतिभेद इति । यथाग्निः सर्वत्र काष्ठेषु स्थित एव पुनस्तत्र प्रविशन् वर्णभेद स्थलसूक्ष्म-

भेदं दीर्घवक्रादिकं च तनुने न त्वग्नेन तस्य वैलक्षण्यमित्यर्थः । ननु दृष्टान्तमात्रमुक्तं न तूपपत्तिरिति चेत् तत्राह स्वकृतानुकृतिरिति । सर्वत्र भगवान् स्वकृतमनुकरोति । यथा शिक्षकः शिष्यविद्यामनुकरोति । एवं जगद्रूपेण भगवान् क्रीडितुं सर्वत्रानुप्रविष्टः तत्तद्रूपो जात इत्युक्तम् । तथा सति ये दोषास्तान् वारयति अथेति । ‘अमूषु वितथास्वपि अवितथं तव धाम ।’ पाञ्चभौतिकानां वितथत्वे स्वस्य चावितथत्वे हेतुमाह सममिति । विषमाः पृथिव्यादयः उत्तरोत्तरदशगुणात्वात् प्रवेशे तेषां न समता संभवति । कठिनविरलावयवत्वेन वैषम्यावश्यंभावात् । आकाशस्याप्यनित्यत्वात् वैषम्यमेव परं सूक्ष्मत्वात् तदाकलयितुं न शक्यते । भगवांस्तु सम एव सर्वत्र प्रविष्टः ‘निर्दोषं हि समं ब्रह्म’ इति । ज्ञानादितारतम्यं तु जीवनिष्ठमित्युत्तरश्लोके वक्ष्यते । सर्वसमत्वमत्र विवक्षितम् । यत्र प्रविशति तत्समो भूत्वा तत्र प्रविशति । ‘समः प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन’ इत्यादिश्रुतेः । भगवत्स्तुत्यांशप्रवेशे तु सर्वसमत्वं नोपपद्येत नन्वेवं सति कथं समता न प्रतीयते । अन्यथा भगवत्कार्येष्वपि वैषम्यप्रतीतिर्न स्यात् । भगवत्कार्याण च ‘योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रसुप्तम्’ इत्यादिना निरूपितानि तत्राह विरजधियऽन्वयन्तीति । ये विरजधियः रजोगुणरहिताः ब्रह्मादृष्टयः त एव तद्वैलक्षण्यं जानन्ति । यथा यां रत्नपरीक्षकः स एव कृत्रिमं सहजं च जानाति । अनु भगवत्स्वरूपमन्वयन्ति जानन्तीत्यर्थः । ननु तेषामेव तदभिज्ञाने को हेतुस्तत्राह अभिविपण्यव इति । अभितः सर्वतः इह लोके परलोके च विगतपण्युक्ताः सर्वव्यवहारातीताः । यो हि

यदभ्यासं करोति स तं पश्यति । यथा व्यवहार-
निपुणाः तोलनादिना दृष्ट्या वा पदार्थसमतां
विषमतां वा जानन्ति । तथा ये व्यवहारं परि-
त्यज्य सर्वथा ब्रह्मनुचिन्तकाः ते सर्वत्र ब्रह्मैव
पश्यन्ति न तु विकारजातं तच्च सममेव । ननु
ब्रह्मैव पश्यन्तु नाम सममेव पश्यन्तीत्यत्र को
हेतुः । ब्रह्म सममेवेति चेत् एतदेव विचार्यते
समं विषमं वेति । तस्मात्समं यं हेतुरतिरिक्तो
वक्तव्य इति चेत् तत्राह एकरसमिति । रसस्त्व-

नुभवगम्यः सर्वत्रैव च तेषां रतिः समा । अन्यथा
अनुभवविरोधे दृष्टिः समा न स्यात् । लोके रस-
वैलक्षण्याभिज्ञाः विलक्षणरसेषु पदार्थेषु तुल्य-
रूपेष्वपि विषमदृष्टय एव भवन्ति । 'ब्राह्मणे
पुल्कसे स्तेने' इति वाक्ये समदृष्टे निरूपितत्वात् ।
अतो भगवान् सर्वसम एव सर्वानुभूतः प्रविष्ट
इति जगद्रूपेण प्रविश्य क्रीडन्नपि निर्दुष्ट इति
निरूपितम् ॥

व्याख्यानार्थ— तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' उसको रच कर अनन्तर उसमें प्रवेश किया 'स एव
इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' वह यह, यहाँ (कार्य रूप में) नख से लेकर ऊपर मस्तक तक प्रविष्ट
हुए हैं, इत्यादि श्रुतियों में प्रवेश कहा है यों सुनते हैं, 'गुहां प्रविष्टो आत्मानौ हि तद्दर्शनात्' हृदय-
काश रूप गुहा में दो आत्माएं (जीव और परमात्मा) प्रविष्ट हुए हैं यों उनके दर्शन से अर्थात्
निरूपण से जाना जाता है, यों ब्रह्म सूत्र में भी इस न्याय से निर्णय किया हुआ है ।

इस पर विचार होता है कि यह प्रवेश सर्वथा बाहर स्थित का हुआ है, वा भीतर स्थित का
लोगों को दर्शन होने से लोक दृष्टि से ही कहा जाता है कि प्रवेश हुआ है, इन विचारों से यदि
बाहर रहे हुए का प्रवेश हुआ है, यह सिद्धान्त माना जाएगा तो 'स आत्मानं स्वयं अकुर्वत्' इत्यादि
श्रुति प्रोक्त आत्म सृष्टि अर्थात् आप ही जगत् रूप हुए हैं यह सिद्धान्त झूठा होगा और अद्वैत
का भी विरोध होगा अर्थात् द्वैत हो जायगा, इससे भगवान् निरवयव हैं यह सिद्धान्त भी नष्ट हो
जावेगा, प्रवेश भी एक का नहीं बल्कि दोनों का न्याय पूर्वक ब्रह्मसूत्र में कहा है,
प्रवेश से प्रथम तो पृथक् होने का कोई कारण नहीं था, प्रवेशानन्तर ही जीव और
ब्रह्म भाव हुआ है, अतः दोनों के प्रवेश का निर्णय करना चाहिए, क्या? बहिःस्थित एक ही भगवान्
प्रवेश करते हैं अथवा जीव और ब्रह्म दोनों समान रूप से प्रवेश करते हैं अर्थात् जैसे भगवान् सर्व
पदार्थों के तुल्य होकर उनमें प्रवेश करते हैं, वैसे जीव भी समान होकर प्रवेश करते हैं अथवा अणु
रूप से ही प्रविष्ट होते हैं, यह विचार जो यहां हुआ है उसका निर्णय दो श्लोकों में करेंगे, जिसमें
जीव के प्रवेश के प्रकार का निर्णय २० वें श्लोक में कहा जायगा । यहां ब्रह्म प्रवेश का निर्णय करते
हैं कि भगवान् अपनी ही बनाई हुई विचित्र योनिओं में कारणत्व से स्थित हो, मानो प्रविष्ट होते
हैं यों भासते हैं, यों कहने से सिद्ध किया है कि ये प्रवेश श्रुतियां दृष्टानुवादिका है, अर्थात् जो देखा
है उसका अनुवाद करती हैं, कोई कहने हैं कि कार्य में कारण का पीछे प्रवेश पृथक् होता है, जो
पृथक् प्रवेश न होवे तो वहां वैसी प्रतीति जो हो रही है वह न हावे इसलिए दोनों मतों का संग्रह
करने के लिए 'इव' पद दिया है, भागवत के तृतीय स्कन्ध के २६वें अध्याय के ४६वें श्लोक, 'परस्थ

दृश्यते धर्मो ह्यपरस्मिन् समन्वयात्' में भी कहा है कि कारण का गुण कार्य में समन्वित देखने में आता है, अतः भगवान् कार्य में उपादान^१ रूप से विराजते हुए भी फिर प्रविष्ट होते हैं ।

इस प्रकार प्रवेश कह कर 'सत् और त्यत्' हुए इत्यादि वाक्यों में कहा है कि जो प्रविष्ट होता है वह ही पृथक् होता है, यानि उसमें विलक्षणता हो जाती है यों श्रुति कहती है, उसका भी निर्णय कहा जाता है कि 'तरतमतश्च का स्सीति' उत्कृष्ट निष्कृष्ट भावों से भासते हो, अर्थात् देव, तुच्छ प्राणी, मनुष्य आदि भाव से और राजसादि भाव से भासमते हो । एक ही भोतर प्रविष्ट होके अनेक कैसे भासते हैं ? इसका उत्तर देते हैं कि 'अनलवत्'^२ अर्थात् अग्नि जैसे काष्ठ में प्रविष्ट होती है वैसे ही भासती है, किन्तु अग्नि में भेद नहीं है वैसे ही अन्तर्यामी में भी भेद नहीं है देव मनुष्यादि जैसी देह में प्रविष्ट है वंसा भासता है, यों कहकर जीव ने भेद किया है इस पक्ष का निराकरण किया है, भगवान् तो अन्तर्यामी हैं सर्वत्र ही एक प्रकार के ही हैं, जीवों को विलक्षणता से दवादि भेद हैं, जैसे अग्नि काष्ठ में पहले ही स्थित है फिर उसमें प्रविष्ट होकर वर्णभेद, स्थूल सूक्ष्म भेद, दीर्घ वक्र आदि भेद का विस्तार स्वयं करती है, उसकी यह विलक्षणता दूसरा कोई नहीं करता है, यह तो केवल दृष्टान्त दिया है, हेतु पूर्वक युक्ति देकर नहीं समझाया है । इन पर कहते हैं कि 'स्वदृत्तनुकृतिः' भगवान् सर्वत्र अपनी कृति का ही अनुकरण करते हैं, जैसे अध्यापक शिष्य शिक्षार्थ स्वयं शिष्यवत् पढ़कर शिष्य को विशेष ज्ञान योग्य करता है जिससे शिष्य प्रबोण होता है, वैसे ही भगवान् भी क्रीड़ा के लिए स्वयं जगत् रूप बनकर सर्व वस्तु मात्र में प्रविष्ट होकर तत् तत् रूप बनकर सबको खेलाने लगे हैं यो करने से जो दोष दीखते हैं, उनका निवारण करते हैं, 'अमूषु वितथस्वपि अवितथं तव धाम' इन भूठे पांच भौतिक पदार्थों में प्रविष्ट आत्मा तेज व स्वरूप सत्त्व है, कारण कि 'सम' अर्थात् एक रस है, पृथिवी आदि एक से एक दश गुणा विषम है जिससे उनमें समता हो नहीं सकती, कठिन और त्रिल अवयवत्व के कारण विषमता अवश्य होने वाला ही है, आकाश भी अनित्य होने से विषमता वाला है किन्तु सूक्ष्म होने से उनकी विषमता पहचानी नही जाती है, भगवान् तो सर्वत्र सम ही प्रविष्ट हुए हैं, जैसे कहा है कि 'निर्दोषं ही समं ब्रह्म' ब्रह्म निर्दोष और सम है, ज्ञान आदि तारतम्य तो जीव में रहा है, यह आगे आने वाले श्लोक में कहा जायगा, यहां कहने का भावार्थ यह है कि भगवान् सर्व सम हैं, जहां प्रविष्ट होते हैं वहां उसके समान हो जाते हैं, जैसे कहा है कि 'सम प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन' इति श्रुतेः, भगवान् प्लुषी^३, मशक (मच्छर) और हस्ति (हाथी) के समान हैं, अतः उनके तुल्य हो प्रविष्ट होते हैं, अतः उनके तुल्य हो प्रविष्ट होते हैं, भगवान् यदि सर्वत्र समान अंश से प्रवेश करते हों तो सब के समान बन नहीं सकेंगे यों आपका कहना उचित नहीं क्योंकि भगवान् हस्ती में जितने अंश से प्रविष्ट होते हैं, उतने अंश से मच्छर में प्रविष्ट नहीं होते हैं बल्कि हस्ती में हस्ती के समान, मशक में मशक के समान प्रवेश करते हैं, अतः वैसे स्वभाव गुणवान् होते हैं, इससे ही भगवान् के कार्यों में भी विषमता प्रतीति होती है नहीं तो विषमता प्रतीति न होवे ।

१—जिस वस्तु से जो पदार्थ बनता है वह वस्तु उस पदार्थ का, उपादान कारण है, जैसे कुण्डल सुवर्ण से बनता है तो सुवर्ण कुण्डल का उपादान कारण है, वैसे भगवान् कार्य मात्र का उपादान कारण है ।

२--अग्नि की तरह

३—दीमग, उदई

भगवान् के कार्यों का निरूपण 'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रस्तुताम्' श्रुति में किया है कि, जो भगवान् भीतर प्रविष्ट होकर मेरी इस सोई हुई वाणी को जगाते हैं अर्थात् सोई हुई वाणी वाले पुरुष में सोई हुई वाणी में प्रवेश करते हैं अन्यथा वाणी को जगा नहीं सके, इससे श्रुति ने सिद्ध किया है कि भगवान् कार्य के समान गुण वाले हो प्रविष्ट होते हैं, इस भगवान् की विचित्र लीला को कौन जानता है ? इस पर कहते हैं कि 'विरजधियोऽन्वयन्तीति' जिन्होंने रजोगुण का नाश कर हृदय को शुद्ध बना दिया है वैसे ब्रह्म दृष्टि वाले जो हैं वे ही इस विलक्षणता का जान सकते हैं क्योंकि भगवान् प्रविष्ट होने के अनन्तर सर्वत्र सर्वदा एक लीला नहीं करते हैं जिससे साधारण दृष्टि वाले इसको नहीं जान सकते हैं जैसे जौहरी ही सच्चे भूटे रत्न की परीक्षा कर सकता है, वैसे ही ब्रह्म दृष्टि वाले ही भगवान् को लीला समझ सकते हैं, वे ही जान सकते हैं, जिसका क्या कारण है ? इस पर कहते हैं कि 'अभिविपश्यैव' सर्व प्रकार जिन्होंने इस लोक तथा परलोक के व्यवहारों को त्याग दिया है, और भगवद्विषय का ही अभ्यास करते रहते हैं अतः जो पुरुष जिस विषय का अभ्यास करता है, उसको उस विषय का पूर्ण ज्ञान हो जाता है, जिसमें उसके दर्शन कर सकते हैं, जैसे जैसे व्यवहार में निपुण तोल आदि करने से अथवा देखने से ही पदार्थ का तोल बता सकते हैं कि यह वस्तु इतनी और वैसी है, वैसे ही जो लोक व्यवहार का त्याग कर सर्वथा ब्रह्म का ही चिन्तन करते रहते हैं, वे सर्वत्र ब्रह्म ही देखते हैं न कि विचार से उत्पन्न पदार्थ देखते हैं, और वह 'सम' ही है, उनको तो ब्रह्म ही देखने में आना चाहिए न कि सम, वे सम देखते हैं जिसका क्या कारण है ? यदि कहो कि ब्रह्म सम ही है, तो यही विचारणीय विषय है कि ब्रह्म, सम है वा विषम है ? इसलिए सम है तो उसके वास्ते पृथक् हेतु देना चाहिए, इस पर कहते हैं कि 'एकरस' इति ब्रह्म एक रस है, यह विशेषण दिया है, 'रस' तो अनुभव से जाना जाता है, सर्वत्र उनकी 'रति'^१ समान है, जो यों न होवे तो अनुभव में विरोध होते ही सर्वत्र समदृष्टि न रहे, लोक में रस को विलक्षणता जानने वाले, विलक्षण रस वाले तुल्य रूप पदार्थों में भी विषम दृष्टि वाले ही हो जाते हैं, किन्तु 'ब्राह्मणे पुत्क्रमे स्तेने'^{*} इस वाक्य में समदृष्टि का ही निरूपण किया है अतः भगवान् सर्व सम होकर ही सर्वत्र जगद्रूप से प्रविष्ट होकर कीड़ा करते हुए भी निर्दुष्ट^३ है यों निरूपण किया है—

कारिका—सर्वत्र भगवांस्तुल्यः सर्वदोषविवर्जितः ।

कीडार्थमनुकुर्वन् हि सर्वत्रैव विराजते ॥६॥१६॥

कारिकार्थ—सर्व दोष रहित भगवान् सर्वत्र समान हैं, केवल कीड़ा के लिए अनुकरण करते हुए सबके भीतर विराजते हैं ॥६॥१६॥

आभास—एवं प्रवेशप्रसङ्गेन भगवतो दोषान् परिहृत्य द्वयोः प्रवेशस्य श्रुतत्वात् द्वितीयस्य का वार्तेति शङ्कां वारयितुमाह स्वकृतपुरेष्विति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रवेश के प्रसङ्ग में भगवान् को प्रवेश करने से दोष नहीं लगता है

१—प्रेम, २—ब्रह्म सम न होवे, ३—दोष रहित,

* ब्राह्मण ठेठ, अनयज और चोर में समदृष्टि बताई है ।

यों सिद्ध कर, अब इस श्लोक में दूसरे के प्रवेश के विषय की शङ्काओं का निवारण करते हैं—प्रवेश दोनों—ब्रह्म और जीव का कहा हुआ है—

श्लोक — स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं

तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोऽशकृतम् ।

इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं

भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः ॥२०॥

श्लोकार्थ—कवि आपके ही बनाए हुए इन देहों में जीव को अखिल शक्तिधारी आपका अंश कहते हैं, वह आपका अंश रूप जीव देह के गुण-दोष रूप आवरण से रहित है । इस तरह जीव की गति का विवेचन कर, वे (पृथ्वी पर भगवान् में विश्वस्त) कवि-वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं कि चरणारविन्द जन्मादि संसार को नष्ट करने वाला है आपके वैसे चरणारविन्दों की भक्ति करते हैं ॥२०॥

सुबोधिनी—भगवत्कृतेष्वेव देवतिर्यङ्मनु-
ष्यादिशरीरेषु भगवदशः पुरुषो जीवः बहिरन्तः-
नंवरणरहित एव तत्कृतगुणदोषरहित एव,
अशेन कृत इति विषमो भवति । अयमर्थः ।
जीवो नाम भगवत्तद्विशेषः अत्यन्तं विरलात्मा
स सर्वेषु पुरेषु प्रविशन् अन्तर्बहिश्चैतन्यगुणपूर्ण
एव तिष्ठति तेन स्वभावतः सोऽप्यविषम एव ।
तथाप्यशेन विषमभावापन्नेन तिरोहितानन्देन
कृत इति स्वानन्दपेक्षार्थं पुरेषु प्रवर्तते । तत्र च
सुखमप्राप्नुवन् विषम इव भवति इति । इयाने-
वार्षोऽत्र निर्णीतो भगवति जीवे च वैलक्षण्य-
हेतुः । भगवांस्तु आनन्दपूर्णः कस्मादप्यानन्दं न
वाञ्छति । जीवस्तु तिरोहितानन्द इति यतः
कुतश्चिदानन्दमपेक्षते तेन विषम इव भवतीति ।
अंशकृतपदेन चायमर्थः सूचितः । एवं जीववैल-
क्षण्यं ये जानन्ति ते भगवन्तं भजन्ते न त्वन्य
इत्याह इति नृगतिं विविच्येति । आनन्दार्थमेव
जीवस्य प्रवृत्तिः, आनन्दश्च भगवत्येवास्ति
नान्यत्र । 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष
आकाश आनन्दो न स्यात् । एष ह्येवानन्दयाति'

इति श्रुतेः । यत्र जीवानामेवानन्दस्तिरोहितः
तत्र जडानामानन्दगन्धोऽपि नास्ति परं मरुमरी-
चिकावदत्यन्तनिर्जलभूमौ यथा जलप्रतीतिभ्रि-
न्तानामेवं सक्चन्दनादिष्वपि आनन्दोऽस्तीति
भ्राम्यति लोकः । सर्वो हि स्वस्मिन् विद्यमानं
प्रयच्छति नत्वविद्यमानम् । अतः पण्डिता इम-
मर्थं ज्ञात्वा भगवत एवाङ्घ्रिमुपासते आनन्द-
निधिम् । ननु परमानन्दो भगवति भवतु नाम
स्वर्गाद्यानन्दस्त्वन्यत्रापि भविष्यतीत्याशङ्क्याह
निगमावपनमिति । निगमाः आसमन्तादुप्यन्ते
अस्मिन्नङ्घ्राविति । 'सर्वे वेदा यत्तदमामनन्ति'
इति श्रुतेः । वेदानां प्रतिपाद्यो भगवदङ्घ्रिरेव
स च फलसाधनरूपः अतो यागा अपि चरणरूपाः
स्वर्गोऽपीति मुख्यः सिद्धान्तः । 'अस्यैवानन्दस्या-
न्यानि मात्रामुपजीवन्ति' इति श्रुतेः । तथा सति
'एष एवानन्दयाति' इत्येवकारोऽपि संगच्छते ।
अतो वेदोक्त्यापि भगवच्चरणारविन्दद्वयत्र
नानन्द इत्यर्थः । नन्वस्याप्युत्पत्त्यादिना विरुद्ध-
धर्मसमवायात् जीववदानन्दतिरोभावो भविष्य-
तीति चेत् तत्राह अभवमिति । कदाचिदप्युत्प-

त्यादिरहितं प्रत्युत अन्येषामपि तन्निवर्तकमित्यर्थः । स्वर्गादौ सामग्रीदर्शनात् विशेषादर्शनाच्च आनन्दशङ्कापि भवेत् भुवि तु संभावनापि नास्तीत्याह भुवि विश्वसिता इति । तीर्थादि-

संभावनया वा शुद्धान्तःकरणाः सन्तः भूमौ भगवति विश्वासं कुर्वन्ति, अन्यत्र भोगाभिनिवेशात् न विश्वासो जायत इत्यर्थः ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के बनाए हुए, देव मनुष्य पशु आदि शरीरों में, जो जीव हैं वह भगवान् का अंश है, देहों में रहते हुए भी उनके गुण और दोषों से अलग ही है, किन्तु अंश होने के कारण उसमें विषमता प्रतीत होती है। इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहने हैं कि, जीव, भगवान् का चैतन्य अंश है, अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूप से सर्व देहों में प्रविष्ट होते हुए भी अंदर और बाहर चैतन्य गुण से पूर्ण है। इससे वस्तु में वह भी विषम नहीं है अर्थात् 'सम' है तो भी आनन्दांश के तिरोहित होने से अंश होने से विषम भावापन्न जैसा हुआ है अर्थात् अणु है इस कारण से अपने आनन्द की प्राप्ति को इच्छार्थ देहों में प्रवृत्ति करता है, अर्थात् देहों में आनन्द प्राप्त्यर्थ घूमता रहता है, वह आनन्द न मिलने से विषम जैसा दिखता है। भगवान् और जीव में विलक्षणता का कारण इतना ही है यों बताया, भगवान् तो आनन्द पूर्ण हैं इसलिए किसी से भी आनन्द की याचना नहीं करते हैं, जीव का आनन्द तो तिरोहित हो गया है। इसलिए जहां कहां से आनन्द की अपेक्षा करता है इससे विषम के समान प्रतीत होता है। यह अर्थ 'अगकृत्' पद से सूचित किया है। इसी तरह जो मनुष्य भगवान् और जीव की विलक्षणता^२ जानते हैं वे ही भगवान् की भक्ति करते हैं, न कि दूसरे अर्थात् जो इस विलक्षणता को नहीं जानते हैं वे भगवद्भजन नहीं करते हैं ।

जीव की यह प्रवृत्ति आनन्द को ढूँढने के लिए ही है, वह आनन्द तो भगवान् में ही है। दूसरे किसी में भी, जैसा कि श्रुति कहती है कि 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' 'एष ह्येवानन्दयति' यदि यह आकाश न होवे तो कौन श्वास ले सके और जीवन धारण कर सके क्योंकि आनन्द तो आकाश ही देता है ।

जब जीवों में से आनन्द तिरोहित हो गया है तो जड़ों में उसकी गन्ध भी न होवे तो क्या आश्चर्य है ? अर्थात् उनमें आनन्द की गन्ध मात्र भी नहीं है, किन्तु जैसे भ्रान्त पुरुषों को मरुमरिचिका की तरह अत्यन्त निर्जल भूमि में भी जल की प्रतीति होती है वैसे ही पुष्प चन्दनादि^३ में भी आनन्द है यों मान मनुष्य भ्रमित होते हैं, 'सर्व मनुष्य अथवा पदार्थ' जिसके पास है वही दे सकता है उसके सिवाय दूसरा कुछ भी दे नहीं सकता है इसलिए इस तत्त्व को जानने वाले पण्डित भी जानते हैं कि, आनन्द निधि भगवान् हैं, उनसे ही आनन्द मिलेगा वे ही आनन्द दे सकेंगे अतः वे भगवान् के चरणों की ही उपासना करते हैं ।

भले, परमानन्द भगवान् में होवे, किन्तु स्वर्ग आदि का आनन्द तो अन्यत्र भी होगा, इस

१—अंशेन, यह तृतीया विभक्ति देकर ऐक्य दिखाया है—अर्थात् अंश अलग विभाग नहीं बल्कि अंश जैसा, यानि आनन्दांश छिपने से अंश है । २—भेद,

३—आदि पद से स्त्री, पुत्र, धनादि में भी आनन्द प्रतीति भ्रान्तों को होती है,

प्रकार की शङ्का पर कहते हैं कि, 'निगमा वपनं' समस्त वेद भगवान् के चरणों में ही आनन्द कहते हैं अतः वेद भी चरणों को ही प्रणाम करते हैं जैसे कि श्रुति में कहा है कि 'सर्व वेदा यत्पद-मामनन्ति' अतः वेद भी भगवान् के चरणों की भक्ति का प्रतिपादन करते हैं, वह चरण ही फल तथा साधन रूप है, अतः यज्ञ भी चरण रूप है, स्वर्ग भी वैसा ही है, यह मुख्य सिद्धान्त है । 'अस्यैवा नन्दस्यान्यानिमात्रामुपजीवन्ति श्रुतिः' यह श्रुति कहती है कि इसके ही आनन्द को मात्रा से अन्य जीवन धारण करते हैं, 'एष एवानन्दयाति' यह ही आनन्द प्राप्त कराते हैं, 'एव' पद से यह दृढ़ सिद्धान्त सिद्ध किया है कि वेद के कथन से भी भगवान् के चरणारविन्द के सिवाय दूसरे जगह आनन्द नहीं है । यदि कहो कि इसका (भगवान् व भगवच्चरण का) भी उत्पत्ति आदि से आनन्द के विरुद्ध जो धर्म है उनके साथ सम्बन्ध हो जाने से जीव की भांति आनन्द तिरोहित हो जायगा, तो उनका भी जीववत् जन्म होगा, जिसका उत्तर यह है कि भगवच्चरण दूसरों के जन्म को भी जत्र नष्ट कर देते हैं तत्र उनका जन्म कैसे होगा ? स्वर्ग आदि में आनन्द की सामग्री के दर्शन होने से, स्वर्ग के सुख तथा आनन्द में भेद का ज्ञान न होने से आनन्द की शङ्का भी हो सकती है, पृथ्वी पर तो ऐसी शङ्का हो नहीं सकती है क्योंकि भुवि विश्वसिताः' पृथ्वी पर तीर्थ आदि हैं उनसे व उपासना आदि से शुद्धान्तःकरण हो जाने से भूमिस्थ जीवों का भगवान् में विश्वास हो जाता है, दूसरे स्वर्गादि लोकों में भोगों में आसक्ति होने से भगवान् में विश्वास नहीं रहता है—

कारिका—गुप्तानन्दा यतो जीवा निरानन्दं जगद्यतः ।

पूर्णानन्दो हरिस्तस्माज्जीवैः सेव्यः सुखार्थिभिः ॥७॥२०॥

कारिकार्थ—जीवों का आनन्द तिरोहित हो गया है, जगत् में आनन्द नहीं है, इसीलिए जिन जीवों को आनन्द प्राप्ति की चाहना है उनको भगवान् की सेवा करनी चाहिए, क्योंकि भगवान् पूर्णानन्द हैं, अतः यह ही आनन्द दान कर सकते हैं ॥७॥२०॥

आभास—एवं प्रवेशश्रुतिप्रसङ्गविचारेण जीवानां स्वरूपमुक्त्वा तेषां आनन्दाकाङ्क्षायां भगवत्सेवैव कर्तव्येति निश्चित्य तत्रासंभावनाविपरीतभावनाव्युदासार्थं भगवत्यपि कदाचिदानन्दो न भवेदिति को वा भगवान् यः पूर्णानन्द इति च संदेहद्वयं वारयितुमाह दुरवगमात्मतत्त्वनिगमायेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् कार्यो में प्रवेश करते हैं इस प्रसङ्ग वाली श्रुतियों से जीव स्वरूप कहकर, उनको (जीवों को) आनन्द प्राप्ति के लिए भगवत्सेवा ही करनी चाहिए, यों निश्चय कर, अब, जीव को असंभावना और विपरीत भावना के कारण दो शङ्काएँ (१—कदाचित् भगवान् में भी आनन्द न होवे और २ - भगवान् जो पूर्णानन्द है, वह कौन है ?) उत्पन्न होती है तदर्थ उन दो भावनाओं को मिटाने के लिए 'दुरवगमा' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—दुरवगमात्मतत्त्वनिगमाय तवात्ततो-

श्रितमहामृताब्धिपरिवर्तपरिश्रमणाः ।

न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते

चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः ॥२१॥

श्लोकार्थ—जिस आत्म तत्त्व का ज्ञान पाना अति कठिन है, उसका ज्ञान देने के लिए जिस आपने अवतार धारण किया है, वैसे आपके चरित्र रूप महान् अमृत सागर में बहुत अवगाहनार्थ परिश्रम करने वाले कोई ऐसे विरले भक्त हैं, जो हे ईश्वर ! मोक्ष सुख को भी नहीं चाहते हैं, कारण कि उनको आपके चरण-कमल के आश्रय करने वाले हँसों (परम भगवदीयों) के सङ्ग में भगवच्चरित्र-चर्चा करते, जो परमानन्द प्राप्त होता है, वह मोक्ष में भी नहीं दीखता है, इसलिए ही उन्होंने गृह आदि सबका त्याग कर दिया है ॥२१॥

सुबोधिनी भगवत्यानन्दोऽस्ति न वेति शङ्कापि न वर्तव्या नापि को वा भगवानिति, नापि जीववज्जनने आनन्दतिरोभावः शङ्कनीयः । यतोऽवतीर्णस्य कृष्णस्य चरित्रमात्रश्रवणोऽपि तादृश आनन्दो जायते येन विचारकाः अपवर्गमपि परमानन्दप्रापकं न परिलषन्ति कदाचिदपि न वाञ्छन्ति । न हि दृष्टे अनुपपन्नं नाम व्याघातात् । एतस्याप्यभिज्ञापकमन्यदस्तीत्याह चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहा इति । गृहे हि महत्सुखं भवति । तत्सिद्धं विद्यमानं तदपि परित्यजन्ति । यदि भगवति सहस्रांशेनाऽप्यानन्दसंदेहो भवेत् तर्हि विद्यमानं को वा त्यजेत् । अतो भगवति आनन्दे कोऽपि संदेहो न वर्तव्य इत्यर्थः । अवतारोऽपि भगवतो ज्ञानार्थ इति विपरीतार्थता वदन् संव्यवहार्यस्यापि पूर्णानन्दत्वमिति स्थापयति दुरवगमो य आत्मा केनापि ज तृमशवयः यश्चक्षुष्मान्न पश्यति तत्रोपायः कठिनः । यः स्वात्मानमेव न जानाति तं को वा बोधयेत् । तथापि न बुध्यते स्वःत्मा एवं सति कीदृशोऽयमात्मेति भवति संदेहः । तस्य च तत्त्वमपि दुर्ज्ञेयं किं रूपं तस्य परमार्थभूतमिति । एतादृशस्य ज्ञानं यदि लोके प्रसिद्धं स्यात् तदेतावता कालेन सर्वे मुक्ताः स्युः अत आत्मतत्त्वज्ञानार्थं लोकावगत कारणं नास्तीति भगवानाविर्भूतः नितरां गमो ज्ञानम्, देहग्रहणमज्ञानकार्यं भगवतश्चेदम-

दुभुतचरित्रं अज्ञानकार्यसदृशं गृह्णन् प्रकटीकुर्वन् सर्वेषां ज्ञानं संपादयतीति । अतोऽदुभुतकर्मणो भगवतश्चरित्रमेव महान्मृताब्धिर्महत्त्वं लोकसिद्धसमुद्रापेक्षयाप्यधिकमिति । अयं समुद्रः कथञ्चिच्छोषं पानं बन्धनमुल्लङ्घनं वा प्राप्नोति स तु न केनाप्येतत्कर्तुं शक्य इति । अन्धित्वं तूपपादितमेव अमृतत्वं च । तत्र परिवर्तनं परिवर्तः बहुधा आलोडनं तदर्थं परितः श्रमो येषाम् । येषां तादृशचरित्रालोडने सामर्थ्यं भवति ते महारसपानमत्ता इव स्वयं प्राप्तं केनचिद्दीयमानं वा अपवर्गं न गृह्णन्तीति किं वक्तव्यम् । बहुधा प्ररोचनायामपि तेषामिच्छापि नोत्पद्यत इत्यर्थः । ईश्वरेतिसंबोधनात् त्वया दीयमानमपि न गृह्णन्तीति सूचितम् । ननु परमानन्दस्योभयत्रापि तुल्यत्वात् कथासमुद्रे अवगाहनश्लेशाधिक्यात् किमित्यपवर्गं न वाञ्छन्तीति चेत् तत्राह ते चरणेति । यथा लोके एकाकी यथा रसानुभवं करोतीति तदपेक्षया सर्वेयोंग्यैः सह रसानुभवः सुखाधिक्यहेतुर्भवति एवं परमानन्दोऽपि । ते चरणसरोजैकाश्रया ये हंसास्तेषां कुल समूहस्तेषां सङ्गार्थं विसृष्टं स्वगृहं येस्तेः सह परमानन्दो बहुधा भोक्तव्य इति मोक्षापेक्षयापि भगवत्कथाश्रवणरसोऽधिको निरूपितः । गृहस्य प्रतिबन्धकत्वात् भगवत्सेवकानां च संमत्यभावात्त्यागः ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् में आनन्द है अथवा नहीं है ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिए और यह भी शङ्का न करनी चाहिए कि भगवान् कौन है ? भगवान् भी जीव को तरह जन्म लेते हैं, अतः उनका भी आनन्द तिरोहित होता होगा ऐसी भी शङ्का नहीं करनी चाहिए. क्योंकि अवतारी श्रीकृष्ण के केवल चरित्र श्रवण करने से ही श्रोता को ऐसा परम आनन्द प्राप्त होता है, जिसके आगे मोक्ष के महान् आनन्द को भी वे विचारक, नहीं गिनते हैं. अर्थात् कभी भी मोक्षानन्द नहीं चाहते हैं. देखे हुए पदार्थ में कुछ अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि उसमें किसी प्रकार सन्देह नहीं है. इसका भी जताने वाला दूसरा है, उसको कहते हैं - 'चरणसरोजहंस कुत्र सङ्गविनृष्टगृहा' चरण कमल के आश्रित जो हंस हैं उनके सङ्गार्थ जिन्होंने गृह छोड़ दिया है, गृह में तो महान् सुख मिल रहा है वह विद्यमान और सिद्ध है, उसकी प्राप्ति में अथवा उसके होने में कोई सन्देह नहीं है. उसको भी जो, छोड़ देते हैं, यदि भगवान् में आनन्द होने में सहस्रांश भी संशय होता तो गृह सुख, जो मौजूद है, उसको कौन छोड़ सकता है, अतः भगवान् में आनन्द है, जिसमें कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिए. भगवान् का जन्म, ज्ञान देने के लिए है. यह कहना भी विपरीत अर्थ प्रकट करता है क्योंकि देह तो अज्ञान का परिणाम रूप है, अज्ञान रूप देह ज्ञान का कारण कैसे ? इसलिए यों कहना विपरीतार्थ वाला दीखता है, जिस शङ्का को मिटाते हैं कि 'संव्यवहार्यस्यापि पूर्णानन्दत्वमिति भगवान् का जो भी व्यवहार हो रहा है वह पूर्णानन्द वाला है, यों कहते हैं कि, जा आत्मा किसी से भी जानी नहीं जानी है, जिसको नेत्र वाला नहीं देख सकता है उसको जानने का उपाय कठिन है, जो अपने को तो नहीं जान सकता है. उसको दूसरा कौन ज्ञान करा सकेगा ? ज्ञान नहीं होता है अपनी आत्मा समझ में नहीं आती है, यों होने पर यह आत्मा कैसे है ? ऐसा संशय होना है, उसका तत्त्व भी दुर्ज्ञेय है और उसका परमार्थतः कौनसा रूप है ? ऐसे परमात्मा का ज्ञान, यदि लोक में प्रसिद्ध अर्थात् सबको हो जावे तो इतने समय में सब मुक्त हो जाते, इसलिए आत्म तत्त्व के ज्ञान के लिए कोई भी साधन लोक को मालुम नहीं है, इसलिए ही जीव कल्याणार्थ आत्म तत्त्व के ज्ञान देने के लिए भगवान् को अवतार धारण करना पड़ा है। 'निगमाय आत्ततनौ' ज्ञान के लिए देह धारण की, जो देह धारण का कार्य अज्ञान का है, यों विरुद्ध धर्म दिखाने वाला चरित्र होने से ही भगवान् का यह चरित्र अद्भुत है, अज्ञान कार्य समान देह को प्रकट करते हुए सब को ज्ञान देते हैं. अतः अद्भुत-कर्मा भगवान् का चरित्र ही महान् अमृत सागर है, जिससे लोक सिद्ध समुद्र की अपेक्षा अधिक है, यह समुद्र तो कैसे ही सूख भी जाता है, पिया भी जाता है, बांधा भी जाता है, उसका उत्लङ्घन भी हो सकता है, चरित्रामृताब्धि को तो कोई ऐसा नहीं कर सकता है । अन्धित्व और अमृतत्व तो प्रतिपादन किया ही है, उन चरित्रों के अमृताब्धि में बिलोडने (मथन) का परिश्रम कर, जा महारस पान से मत्त होगए हैं. वे स्वयं प्राप्त व किसी के दिया हुआ मोक्ष नहीं लेने हैं । इस विषय में क्या कहा जाय ? 'परिलषन्ति' में जो 'परि' उपसर्ग है उसका भावार्थ है कि ऐसे भक्तों को कितने ही लोभ आदि दिए जावे तो भी, उन पदार्थों के लेने की इच्छा भी मन में उत्पन्न नहीं होती है. हे ईश्वर ! इस संबोधन से यह सूचित किया है कि ग्राम देवों, तो भी नहीं लेते हैं वहां दूसरों का दिया कैसे

४ २७ वा अध्याय, २१ श्लोक — 'तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टत मिश्रदृग्म्य.' इस श्लोक में कहा है कि भगवान् ने अवतार लेकर जीवों को अपने आत्म तत्त्व का ज्ञान कराया है, उनकी दृष्टि में अज्ञान के पर्दे हटा दिए हैं, तदनुसार यहां आचार्य श्री ने कहा है कि 'अवतीर्णस्य श्रीकृष्णास्थ' १—अगम्य कवि ने समुद्र पान कर डाला ।

लेंगे ? मोक्ष और कथामृताब्धि दोनों में परमानन्द है तो, फिर कथामृताब्धि के बिलोड़ने में अधिक क्लेश भोगने की क्या आवश्यकता है क्यों न मोक्ष चाहते हैं, यदि यों कहो तो, इसका उत्तर यह है कि, अकेले रसानुभाव करने की तुलना में बहुत योग्यों के साथ रसानुभव में अधिक सुख प्राप्त होता है, इसी तरह परमानन्द होते हुए भी मोक्ष में अकेले रसानुभव किया जाता है, चरित्र श्रवण में बहुतों के साथ अनुभव करने से परमानन्द का विशेष सुख प्राप्त होता है, अतः कहा है कि 'चरण सरोज हंस कुल सङ्ग विमृष्ट गृहाः' चरण कमल के आश्रित जो हंस कुल (भगवद्भक्त जन) हैं उनसे सङ्ग करने के लिए छोड़ दिया है गृह जिन्होंने, अर्थात् ऐसे भगवद्विद्यों के साथ सङ्ग करने से, भगवच्चरितामृत पान से अनेक प्रकार का रसानन्द भोगा जा सकेगा, वैया मोक्ष में भी नहीं मिलेगा, यों कह कर सूचित किया है कि मोक्ष से भी अधिक रस प्राप्ति कथा श्रवण में होती है, गृह, चरित्र श्रवण में प्रतिबन्धक है अतः भगवत्सेवकों को गृह में रहने के लिए सम्मति नहीं है जिससे उन भक्तों ने प्रत्यक्ष सुखदाता गृह त्याग कर दिया है ॥२१॥

कारिका — कृष्णे हरौ भगवति परमानन्दसागरः ।

वर्तते नात्र संदेहः कथा तत्र नियामिका ॥८॥२१॥

कारिकार्थ — भगवान्, हरि कृष्ण में परमानन्द का सागर है इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है, क्योंकि उसमें कथा नियामक है ॥८॥२१॥

आभास - एवं जीवानां परमानन्देप्सूनां भगवानेव सेव्य इति निरूप्य तत्सिद्धयर्थं तत्प्रतिबन्धकं विशेषतो निर्दिशति त्वदनुपथमिति ।

आभासार्थ — इसी तरह परमानन्द की चाहना वाले जीवों को भगवान् की ही सेवा करना चाहिए यों निरूपण कर उस सेवा में जो रुकावट डालने वाला असत्सङ्ग है, उसके स्वरूप का विशेष रूप से इस 'त्वदनुपथ' श्लोक में वर्णन करते हैं कि जिससे भक्त सावधान रहें, तो सेवा प्रेम से निर्विघ्न कर सकें ।

श्लोक — त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियव-

चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च ।

न बत रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनो

यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः ॥२२॥

श्लोकार्थ — यह देह आपकी सेवा के लिए है, अतः आत्मवत्, मित्रवत् और प्रियवत् आचरण करती है और जो आप हित करने वाले, प्रिय एवं आत्मा हैं, उसके सन्मुखता के योग्य ब्राह्मणादि शुद्ध देह होते हुए भी आपकी सेवा करते हुए आप में रमण नहीं करते हैं, आपका आनन्द नहीं लेते हैं, वे असतों* की उपासना से अपनी

* असत् सङ्ग से अथवा क्षुद्र देवोपासना से ।

आत्मा का हनन करते हैं और जिससे वे दुष्ट शरीर वाले होकर महान् भयदायी संसार में भटकते हैं, इसलिए आश्रय तथा खेद है ॥२२॥

सुबोधिनी—स्वाभिलषितस्यैव प्रतिबन्धकत्वं नान्येषामिति वक्तुमन्येषां प्रतिबन्धकतां निराकरोति । तत्र प्रथमं शरीरप्रतिबन्धकता निराक्रियते । शरीर हि सर्वदोषदुष्टं असमर्थमालस्ययुक्तं च । अतो भगवद्भजने इदं प्रतिबन्धकं भविष्यतीति शङ्का निराक्रियते तत्र अनुपथं अनुगुणं सेवकरूपं सर्वेन्द्रिययुक्तं बलविवेकादियुक्तं च । इन्द्रियवत्त्वमेवाधिकारिविशेषणमिति तादृशे चेद् ग्रहन्ताममता दृढा वा स्यात् तथा भगवदर्थं व्यापृतं न कुर्यादिति तदर्थमाह कुलायमिति । कुलायः पक्षिणां नोडं पक्षयोः समागतयोः तत्र ते न तिष्ठन्ति । शरीरं पुत्रादिभ्यश्च भिन्नं तथा यः स्वशरीरं ज्ञातमस्ति केवलमिदं गृहरूपं तत्राप्यविवेकिनामेव हितकारीन्द्रियादिभ्योऽपि भिन्नं विवेके जाते सर्वदा त्यक्तव्यमिति यैरवगतम् । तत्रापि स्त्रीदेहश्चेत् सेवकदेहो वा भिन्नस्वभावेन द्वेषिदेहो वा भवेत् तदा कार्यं न सिद्धयतीत्याह आत्मसुहृत्प्रियवच्चरतीति । आत्मवत् सुहृद्वत् प्रियवच्चेति । आत्मा स्वाधीनो भवति । तेनास्य स्त्रीदेहवत् सेवकदेहवद्वा न भवतीति निरूपितम् । तत्तु पराधीनम् । तथापि धर्मकार्ये चेद् असाहृण्णुनं क्षमं भवेत् तथापि कार्यं न सेत्स्यति तदर्थमाह सुहृद्वत् मित्रवत् । मित्रं हि स्वस्य हितमेव करोति तथेदमपि धर्मकार्यादिसमर्थम् । किञ्च । प्रियो यथा स्नेहविषयो

भवति एवं स्नेहपात्रम् । न तु महापातकयुक्तमिव द्विष्टम्, चण्डालादिदेहवन्मनःपीडाजनकम् । एवं देहस्य प्रतिबन्धकता निवारिता । कदाचिद्भजनो यो भगवान् प्रतिबन्धं कुर्यात् तदा का गतिरिति चेत् तत्राह तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि चेति । भगवानपि ब्राह्मणादिदेहपुत्पाद्य स्वसेवार्थं कदा मत्सेवां करिष्यतीत्युन्मुखोऽस्ति । किञ्च । हितकारी यदा तस्य देहस्य विघातकं किञ्चिदापतति प्रमादात्तदा पालयति सुहृत्कृत्यमेतत् । तथा भगवान् प्रियः प्रीतिविषयः न हि प्रियकार्यं कुर्वन् कश्चित् खिन्नो भवति । आत्मा चास्य देहस्य सर्वेषामात्मा आश्रयक इति । एवं साधने सेव्ये चानुगुणे या न सेवते तत्र हेतुः असदुपासनयेति । असनामुपासनया, दुष्टवद्भान्न भजतीत्यर्थः । उपासनापदेन च बाह्यदेवताः परिगृहीताः तेषामपि सकृदपि सङ्गे भगवद्भजनं न नश्यतीति ज्ञापितम् । नन्वसत्सङ्गं सर्वगुरुष्वर्थनाशकं किमिति कुर्वन्ति इत्याशङ्क्याह आत्महन इति । ते पूर्वकृतपापादात्महनो जाता यद्वशादसत्सङ्गस्तेषां जात इति । असतामिन्द्रियाणां वा उपासना । ततः किमत आह यदनुशयाः यस्मिन्नसत्सङ्गे अनुशययुक्ताः । उरुभय संसारे कुशरीरं प्राप्य अनेकजन्मसु परिभ्रमन्ति । न तु कदाचिदपि सुखनेशं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥

व्याख्यानार्थ भगवत्सेवा में प्रतिबन्धक वे हैं जिनको हम चाहना करते हैं उनके सिवाय दूसरे प्रतिबन्धक नहीं है यह सिद्ध करते हैं, उनमें पहले यह बताते हैं कि शरीर, भगवद्भजन में प्रतिबन्धक नहीं है, अतः उसकी प्रतिबन्धकता का निराकरण करते हैं, यह शरीर सर्व दोष निधि होने से दुष्ट है, असमर्थ है और आलस्यवाला है, अतः भगवद्भजन में रुकावट डालने वाला होगा, ऐसी शङ्का का उत्तर देते हैं कि, यह शरीर आपके मार्ग पर चलने वाला सेवक, सर्व इन्द्रियों से

युक्त और बल तथा विवेक वाला है, जिससे वह भगवत्सेवा का प्रतिबन्धक नहीं है। इन्द्रियादि के होने से ही शरीर भगवद् सेवा के योग्य होता है, यह ही उसका, अधिकारी होने में कारण है, ऐसे भगवत्सेवा के योग्य शरीर में यदि अहन्ता ममता दृढ़ हो जाय तो उससे यह शरीर भगवत्सेवा में नहीं लगाया जाता है, इसलिए कहते हैं कि इस शरीर में अहन्ताममता नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह शरीर पक्षियों के घोंसले के समान है, जैसे पक्षी पांख आते ही घोंसला छोड़ देते हैं उसमें ममता नहीं रखते हैं वैसे ही मनुष्य को भी ममता न रखकर इस शरीर का भगवत्सेवा का ही साधन समझना चाहिए, जिन्होंने शरीर को पुत्र आदि से पृथक् जाना है और केवल आत्मा के रहने का ही स्थान है यों जाना है, तथा इन्द्रियादि से भी अलग हैं केवल अविवेकी ही इसको अपने लिए हितकारी जानते हैं, इस प्रकार का विवेक रखकर सर्वदा इसका (मोह) त्याग करना चाहिए यों जिन्होंने जानलिया है, उनके लिए यह शरीर, भगवत्सेवा में प्रतिबन्धक नहीं है, उसमें भी यदि स्त्री देह, सेवक देह अथवा मित्र स्वभाव के कारण द्वेषी देह होवे तब कार्य सिद्ध नहीं होता है इसका स्पष्टीकरण करने के लिए कहते हैं कि 'आत्मसुहृत्प्रियवच्चरति इति' आत्मा की तरह, सुहृत् की तरह और प्रिय की तरह आचरण करता है, आत्मा अपने आधीन होता है वैसा स्त्री और सेवक का शरीर अपने आधीन नहीं रहता है, उनका^३ शरीर तो दूसरे के आधीन रहता है, तो भी यदि धर्म कार्य करने में समर्थ न होवे तो भी सेवा सिद्ध न होगी, इसलिए कहा है कि शरीर मित्र की तरह आचरण करता है, मित्र अपने का हित ही करता है वैसे ही यह शरीर भी धर्मादि कार्य में समर्थ होने से मित्रवत् आचरण करता है अर्थात् हित ही करता है सारांश यह है कि सेवा में सदैव प्रेरणा ही करता है और विशेष यह है कि केवल मित्रवत् आचरण नहीं करता है किन्तु प्रेमी की तरह प्रिय भी करता है, इसलिए यह शरीर प्रिय, स्नेह का विषय होने से प्रेम का पात्र होता है, अर्थात् इस शरीर से स्नेह करना चाहिए, न कि लौकिक विषय सम्बन्धी मोह करना चाहिए, महा पातकी के समान द्वेष के योग्य नहीं है, चांडाल आदि देह को तरह मन की पीड़ा उत्पन्न करने वाला नहीं है, इस प्रकार भगवान् की सेवा में देह प्रतिबन्ध है इस शङ्का का निवारण किया।

यदि मन में यह शङ्का होवे कि कदाचित् भगवान् सेवा में विघ्न करे तो, क्या गति होगी ? इस शङ्का के मिटाने के लिए कहा है कि 'तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च, भगवान् तो अपनी सेवा करने के लिए ही सेवा योग्य ब्राह्मणादि देह लेकर, यों सामने देख रहे हैं कि यह मेरी सेवा कब करेगा ? भगवान् मित्र है अतः कदाचित् भगवत्सेवा करने वाले को सेवा करने में किसी प्रकार देह का कष्ट होता है तो भगवान् उसको मिटाकर सेवक का हित करते हैं जिससे वह सेवा कर सकता है, भगवान् भक्त का प्रिय भी हैं, प्याग अपने प्रेमी का कार्य करते हुए कभी भी खिन्न नहीं होता है, और भगवान् जैसे सब की आत्मा हैं वैसे ही इस देह की भी आत्मा हैं, इस प्रकार सेवा का साधन शरीर भी हो, सेव्य भगवान् भी अनुगुण हो, तो भी जो मनुष्य सेवा नहीं करता है, जिसका कारण 'असदुपासना'^४ है, दुष्टों की उपासना (सङ्ग) करने से सेवा नहीं करता है 'उपासना' पद से यह जताया है कि अन्यदेवाश्रय से भी सेवा से त्रिमुखता आती है, उनका एक बार भी

१—सेवा, २—शरीर,

३—स्त्री शरीर पति के आधीन और सेवक का स्वामी के आधीन होता है

४—दुष्ट इन्द्रियों की आधीनता, अभक्तों का सङ्ग, अन्याश्रय

सङ्ग (आश्रय) किया तो भगवद्भजन करना छूट जाता है, जब असत्सङ्ग सर्व पुरुषार्थों का नाश करने वाला है तो क्यों करते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं 'आत्महनः' वे आत्मघाती हैं उनके पूर्व जन्म कृत ऐसे पाप हैं जिनके वश होने से उनको असत्सङ्ग प्राप्त हुआ जिससे वे आत्म हत्यारे बने हैं, अथवा दुष्ट इन्द्रियों की उपासना से भजन नहीं करते हैं, दुष्ट इन्द्रियों की उपासना से क्या होता है ? इस पर कहते हैं कि 'यदनशयाः' उस उपासना से असत्सङ्ग में ही दृढ स्थिति हो जाती है, जिससे वासना विशेषों के कारण बहुत भय देने वाले संसार में दुष्ट शरीर प्राप्त कर अनेक जन्मों में चक्कर काटते रहते हैं, कभी भी स्वल्प सुख भी नहीं पा सकते हैं ॥२२॥

कारिका—असत्सङ्गो न कर्तव्यो भक्तिमार्गस्य बाधकः ।

देहे ह्यनुगुणे कृष्णे नेन्द्रियाणां प्रियं चरेत् ॥६॥२२॥

कारिकार्थ—असत्सङ्ग नहीं करना चाहिए क्योंकि, सेवा में प्रतिबन्ध डालने वाला है अतः श्रीकृष्ण की सेवा में देह अनुकूल हो तो सेवा ही करनी चाहिए, इन्द्रियों के प्रिय विषयों में चित्त नहीं लगाना चाहिए ॥६॥२२॥

आभास—एवं भगवद्भजनमेव जीवानामवश्यकर्तव्यमिति निरूपितं तत्र केन प्रकारेण भगवान् भजनीय इति विशेषजिज्ञासायां निर्णयार्थमाह निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुज इति ।

आभासार्थ—भगवान् का भजन ही जीवों का आवश्यक कर्तव्य है, यों निरूपण किया, वह किस प्रकार करना चाहिए, इस विशेष जिज्ञासा के निर्णयार्थ 'निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्

मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात् ।

स्त्रिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियो

वयमपि ते समाः समदृशोऽङ्घ्रिसरोजमुधाः ॥२३॥

श्लोकार्थ—अच्छी रीति से धारण किए हुए वायु, मन और इन्द्रियों से जिन्होंने याग की सिद्धि प्राप्त की है, वैसे मुनि लोग अपने अन्तःकरण में उपासना करते हैं, वह आपका चरण शत्रुओं ने भी स्मरण से प्राप्त किया है तथा शेष की काया के समान आपके भुजदण्डों में आसक्त बुद्धि वाली स्त्रियाँ और हम भी सम दृष्टि वाले आपको समान ही हैं; क्योंकि आपके चरण-कमलों को सब अच्छे प्रकार से धारण करने वाले हैं ॥२३॥

सुबोधिनी—‘तस्मात्केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत्’ इति भगवच्चरणपरतैव प्रयोजित्वा न तु प्रकारविशेषः प्रयोजक इति वक्तुं मर्यादामार्गेण निषिद्धमार्गेण, पुष्टिमार्गेण, प्रवर्तकमार्गेण वा ये भगवदुपासकास्ते सर्वे भगवद्विचारेण समा एव साधारणधर्मस्य प्रयोजकस्य सर्वत्र विद्यमानत्वानत्र विहितमर्यादामार्गेण ये सेवन्ते तान् प्रथमतो निर्दिशति नितरां भृतः मरुद्वायुः मनः अक्षाणि च, प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं चोक्तम् । एवं त्रिभिः कृत्वा ये दृढयोगयुजः योगेन निरन्तरं भगवच्चिन्तकाः । हृदि भगवन्तं मानसपूजादिना उपासते भगवति दृढं मनः स्थापयन्ति । तदेव भगवत्स्वरूपं तदरयोऽपि स्मरणाद्युः । सर्वात्मना यत्रैव मनो निविशते तदेव प्राप्नुवन्तीति विहितानां निषिद्धानां च तुल्यैव

गतिरुक्ता । अनेन भगवति प्रमेयबलमेव मुख्यं न प्रमाणबलमित्यपि सूचितम् । उभयेषामेषामन्तर्मुखता वर्तत इति । बहिर्मुखानप्याह स्त्रिय इति । उरगेन्द्रस्य शेषस्य भोग इव काय इव यौ वः तत्र च विषक्ता धीर्यासां तादृश्यो गोप्यः अतिबहिर्मुखाः वयं च श्रुतयः अन्तर्मुखाः सर्वादरणीयाः । एवं पुरुषाः स्त्रियश्च सर्वे एव ते समाः । यतो भगवान् समदृक् सर्वानेव स्वकीयान् समत्वेन मन्यते । साधारणं तेषां धर्ममाह अङ्घ्रिसरोजं सुष्ठु धारयन्तीति । मुनीनां चरणधारणं स्पष्टम् । द्वेषिणां तु मारणार्थं समन्यातोति भावनायां चरणदर्शनमेव दृढं भवति । समागमनमेव तेषां भावनीयमिति । गोपिकानामपि तथा अभिसारप्रेप्सूनां, वयं च श्रुतयः । ‘सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति’ इति ॥

व्याख्यार्थ—इससे किसी भी उपाय से मन को कृष्ण में प्रवेश करना चाहिए, यों भगवच्चरण के परायण होना ही प्रयोजक है, न कि कोई प्रकार प्रयोजक है यों स्पष्ट करने के लिए कहते हैं कि मर्यादा मार्ग, निषिद्ध मार्ग वा पुष्टि मार्ग इनमें से किसी भी मार्ग से, जो भगवान् की उपासना करते हैं वे सब भगवद्विचार से समान है अर्थात् भगवान् की दृष्टि में समान ही हैं, क्योंकि प्रयोजक साधारण धर्म, (भगवदुपासना) सर्वत्र विद्यमान है, उनमें से वेदविहित मर्यादा मार्ग से जो उपासना करते हैं उनका प्रकार पहले बताते हैं, अच्छी प्रकार से निरुद्ध किया है १—वायु २—मन और ३—इन्द्रियां जो इस प्रकार सदैव योग द्वारा भगवान् का चिन्तन करते हैं, १—वायु से प्राणायाम, २—मन से प्रत्याहार और ३—इन्द्रियों से धारणाध्यान कहा है, इस प्रकार इन तीन साधनों से योग द्वारा निरन्तर भगवान् का चिन्तन करते रहते हैं, हृदय में भगवान् की मानस पूजादि से उपासना कर भगवान् में मन को दृढ स्थापित करते हैं, उस ही भगवत्स्वरूप को उन (भगवान्) के शत्रुओं ने भी स्मरण मात्र से प्राप्त किया है, सर्वात्म भाव से जिसमें ही मन प्रविष्ट हो जाता है उसको ही प्राप्त करते हैं, इस प्रकार शास्त्र विहित प्रकार और निषिद्ध प्रकार से उपासना करने वालों की गति तुल्य ही कही है, इससे यह सूचित किया है कि भगवान् में प्रमेय बल ही मुख्य है, प्रमाण बल मुख्य नहीं है, कारण कि इन दोनों प्रकार वालों में अन्तर्मुखता है, अब बहिर्मुखों को भी कहते हैं ‘स्त्रिय इति’ शेष नाग की देह के समान भुजाओं में जिनकी बुद्धि आसक्त है, वैसी गोपियाँ बहुत बहिर्मुख हैं और हम श्रुतियाँ अन्तर्मुख हैं अतः सब हमारा आदर करते हैं, इस प्रकार पुरुष और स्त्रियाँ सब आपकी दृष्टि में समान हैं, क्योंकि भगवान् समदृष्टि वाले हैं अतः भगवान् सबको ही अपना और समान मानते हैं, उन सब का साधारण धर्म कहते हैं कि सब, भगवान् के चरण कमल को अच्छे प्रकार से धारण करते हैं, मुनि लोगों का तो चरण धारण करना स्पष्ट ही है, शत्रुओं (दुष्मनों) को तो जब मारने के लिए पधारते हैं तब उनकी ही भावना ध्यान स्मरण होने से स्वरूपदर्शन दृढ हो जाता है, उनकी तो भगवान् पधारेंगे यही भावना रहती,

हैं भगवान् की अभिसारिकाएँ भी उनसे मिलने की ही चाहना करती हैं, और हम जो श्रुतियाँ ही, जिससे ही कहा गया है कि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' सर्व वेद जिसके चरण को ही प्रणाम करते हैं ध्यान धरते हैं ॥२३॥

कारिका—सर्व एव हरेर्भक्तास्तुल्या यान्मन्यते हरिः ।

अतः कृष्णो यथात्मीयान्मन्यते भजनं तथा ॥१०॥२३॥

कारिकार्थ—भगवान् जिनको अपना मानते हैं वे सब भक्त भगवान् को समान हैं अतः श्रीकृष्ण जैसे उनको आत्मीय (अपना) मानते हैं, वैसे ही भजन भी मानत हैं ॥१०॥२३॥

आभास—एवं भक्तानां तुल्यता निरूपिता तत्र शास्त्रविरोधमाशङ्क्य परिहरति क इह नु वेदेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भक्तों की समानता का निरूपण किया, उसमें शास्त्र के विरोध को शङ्का कर उसका परिहार 'क इह नु वेद' श्लोक से करते हैं--

श्लोक—क इह नु वेद बतावरजन्मलयोऽग्रसरं

यत उदगादृषिर्यमनु देवगणा उभये ।

तहि न सन्न चासदुभयं न च कालजवः

किमपि न तत्र शास्त्रमवकृष्य शयीत यदा ॥२४॥

श्लोकार्थ—जिससे ब्रह्मा उत्पन्न हुए, उसके बाद दोनों प्रकार के देव पैदा हुए, उन सबसे पहले विद्यमान को, पीछे उत्पन्न तथा लय प्राप्त हुए—यह कैसे जान सकेंगे ? यह विचारणीय है और फिर जब सबका आकर्षण कर शयन करते हैं, तब वहाँ कायं तथा कारण एवं मन और काल वेग भी नहीं रहता है और कोई शास्त्र भी नहीं होता है ॥२४॥

सुबोधिनी—ननु 'ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञाने-
नासौ बिभर्ति माम्' 'चतुर्विधा भजन्ते माम्'
इत्युपक्रम्य 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिवि-
शिष्यते' इति ज्ञानिनः प्रशंसाश्रवणान्मुनीनां
स्त्रीणां द्विष्टानां श्रुतीनां च कथं तुल्यतेति चेत्
तत्राह क इह नु वेदेति । इयं ज्ञानप्रशंसा यो
जानामीति मन्यते तद्वुद्धिमाश्रित्य निरूपिता न
तु परमार्थतः कश्चिज्जानाति तत्र हेतु इहास्मिन्
ससारे दो वा भगवन्तं जानाति यतो वयमपि न

जानीमः । अत एव श्रुतिः 'यस्यामतं तस्य मतं
मतं यस्य न वेद सः' इति । ननु कथमज्ञानं
प्रमाणस्य विद्यमानत्वादित्याशङ्क्याह अग्रसरं,
सर्वप्रमाणात् पूर्वमेव सिद्धम् । ज्ञाता च अवर-
जन्मलयः मध्य एवोत्पद्य गतः । भगवान् प्रथमत
एव सृष्टिमुत्पाद्य तिरोहितो जातः, मध्ये सृष्टौ
जोवा उत्पन्नाः आन्ताश्च, पश्चात् प्रलयार्थं समा-
यास्यति । यदि वा अयं प्रथमत एव स्थितः
स्यात् प्रलयपर्यन्तं वा तिष्ठेत्, तदा सृष्टेर्व्यवधाय-

कत्वाभावात् भगवन्तं जानीयात्, 'न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव' इति श्रुतेः । अतः सृष्टेर्व्यवधाकत्वात् कश्चित्सृष्टावुत्पन्नो भगवन्तं ज्ञातुं शक्तः । यत उदगादिति यतः त्वत्तः ऋषिर्ब्रह्मा उत्पन्नः । तं ब्रह्मणामनु उभये आध्यात्मिका आधिदैविका देवगणा उत्पन्नाः । ननु प्रलयानन्तरं व्यवधायकत्वाभावात् कथं न ज्ञायत इति चेत्, तत्राह तर्हि न सन्न चासदिति । यर्हि भगवान् सर्वमेवावकृष्य शयीत तर्हि ज्ञानसामग्री कापि नास्ति, प्रथमतो न सत् सन्वा ज्ञाता, नासत् ज्ञापकमिन्द्रियादि कार्यं वा हेतुभूतम् । नाप्युभयम् इन्द्रियसन्निकर्षं व्यापारो वा, उभौ यातीत्युभयम्, सदसदात्मकं मनो वा 'नासदासीन्नो सदासीत्तदानीम्' इति मन्त्रव्याख्याने उभयात्मकं मनो निरूपितम् । तथैवाग्निरहस्ये उभयात्मकं मनो निरूपितम् । केचिदुभयात्मकं जगदित्याहुः 'भनमैवानुद्रष्टव्यम्' इति

प्रयोजकस्य मनसा निषेधः । कालवेगोऽपि मात्रा-स्वरादिनियामकः सत्त्वगुणप्रेरको वा यो ज्ञानमुत्पादयति । न वा किमपि शास्त्रं वेदपुराणादि । यतः सर्वमवकृष्य शयनं करोति । अतो ज्ञानसामग्र्याः सर्वस्या एवाभावात् कस्यापि नापरोक्षं भगवज्ज्ञानमित्यर्थः । कदाचिद्भगवत्साक्षात्कारस्तु तावन्मात्रज्ञापको नाशेषविशेषं बोधयति । अवतारे तु मर्यादावादी आनन्दमयं देहं मन्यते । आत्मसाक्षात्कारे तु न भगवद्वैभवपरिज्ञानम्, योगजधर्मजनितत्वाच्च स्वप्नवन्न तस्य वस्तुनियामकत्वं, प्रमाणसंवादस्तु नानाविधानुभवान्न निर्विचिकित्सं ज्ञानमुपपादयति तस्मात्सृष्टिदशायां प्रलयदशायां वा सर्वथा ज्ञानसामग्र्यभावात् कोऽपि ज्ञाता । प्रशसा तु प्रवर्तिका यथाकथञ्चित्तु शुद्धचर्यं प्रवर्तयति । ततः शुद्धो भगवद्भजनं कुर्यादिति भावः ॥

व्याख्यानार्थ—जब कि शास्त्र कहता है, कि, 'ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनामौ बिभर्ति माम्' 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्युपक्रम्य 'तेषां ज्ञानो नित्य युक्त एक भक्तिविशिष्यते' इति ज्ञानिनः प्रशंसा श्रवणान्मुनीनां स्त्रीणां द्विष्टानां श्रुतीनां च कथं तुल्यतेति चेत्तत्राह क इह नु वेद इति' अर्थात् ज्ञानी मुझे विशेष प्यारा है, क्योंकि ज्ञान से वह मेरा भजन करता है, चार प्रकार के पुरुष मेरा भजन करते हैं, इस वचन से प्रारम्भ करके अन्न में कहते हैं कि नित्य योगवान् और मुझ एक की ही भक्ति ही करने वाला विशेष है अर्थात् उत्तम है, इस प्रकार शास्त्रों में ज्ञानी की प्रशंसा सुनी जाती है तो उसके विरुद्ध यहां मुनि, स्त्रियां, शत्रु और श्रुतियां सब प्रकार के समान कैसे कहे गए हैं ? इसका उत्तर देते हैं कि, यह जो ज्ञान की प्रशंसा की है वह, जो कहता है कि मैं जानता हूँ अर्थात् ज्ञानी हूँ केवल उसकी बुद्धि को ध्यान में रखकर ही बढ़ाई की है, वास्तव में वह कुछ नहीं जानता है, जिसमें कारण बताते हैं कि, इस संसार में भगवान् को कौन, जानता है ? क्योंकि हम भी नहीं जानती हैं, इसलिए ही श्रुति कहती है कि जो कहता है कि मैं नहीं जानता हूँ, उसने ही जाना है, और जो कहता है कि मैंने जान लिया उसने नहीं जाना है, अर्थात् वह परमात्मा किसी से भी जाना नहीं जाता है क्योंकि प्रमाणों के होते हुए भी जानने में नहीं आता है, कारण कि 'वह' प्रमाण आदि सब से प्रथम विद्यमान है, जानने वाला, पीछे उत्पन्न होकर लय भी हो जाता है, अतः जो आदि और अन्त में नहीं केवल मध्य में है वह कैसे जान सकेगा ? भगवान् स्वयं तो सृष्टि उत्पन्न कर छिप जाते हैं, बीच में सृष्टि में, जीव उत्पन्न हुए फिर लय को भी प्राप्त हो गए, छिपे हुए आप फिर प्रलय के लिए आएंगे, यदि यह जीव सृष्टि से पहले स्थित हो और प्रलय में भी होवे तो सृष्टि के पड़ने न होने के कारण जान भी सके, जब गद्य में है तब सृष्टि रूप पड़दा स्कावट डालने वाला मौजूद है इसलिए जीव नहीं जान सकता है, 'न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्मा-

कमन्तरं बभूव' इति श्रुतेः अर्थ—जिसने इस सृष्टि को उत्पन्न किया है, उसको तुम (जीव) नहीं जान सकते हो कारण कि वह आप से अन्य प्रकार का है, यों यह श्रुति इसका स्पष्ट निषेध करती है कि जीव भगवान् को जानता है ।

क्योंकि आप से ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, उस ब्रह्मा के अनन्तर आध्यात्मिक आधिदैविक देवगण उत्पन्न हुए, सृष्टि के समय सृष्टि का अन्तराय था किन्तु सृष्टि के बाद अर्थात् प्रलय के बाद तो कुछ भी रुकावट नहीं थी उस समय क्यों न जाना जाता है, जिसके उत्तर में कहते हैं कि प्रलय के बाद अर्थात् जब भगवान्, सबका अपने में आकर्षण कर (लय कर) सो जाते हैं, तब जिससे ज्ञान हो वेंसा कोई पदार्थ नहीं रहता है अर्थात् सत्, जानने वाला, नहीं और असत् जिन इन्द्रियों से जाना जाय वे भी नहीं रहती हैं, दोनों इन्द्रियों का सन्निकर्ष नहीं और व्यापार भी नहीं रहता है, दोनों सत्, असत्, और सत् असत् रूप मन भी नहीं होता है 'नासदासीन्नो सदा सीतदानोम्' प्रलय काल में उभयात्मक अर्थात् असत् सत् दोनों रूप मन को कहा है वह भी नहीं है, इसी तरह अग्नि रहस्य में भी मन को उभयरूप अर्थात् सदसद्रूप कहा है, कोई कहते हैं कि जगत् उभय (सदसद्रूप) है ।

'मनसैवानुद्बुध्यम्' मन से ही जानना चाहिए, यों जानने में कारण जो मन, वह भी उस समय नहीं रहता है, जो मात्रा स्वरादि का नियामक सत्त्व गुण का प्रेरक काल वेग है, वह भी तब नहीं है, और कोई भी शास्त्र पुराण आदि भी नहीं बचता है, क्योंकि सब का अपने में आकर्षण कर सोते हैं इसलिए सम्पूर्ण ज्ञान सामग्री के ही अभाव हो जाने से किसी को भी भगवान् का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है ।

श्रुति ने जो कहा है कि किसीधीर ने प्रत्यगात्मा का दर्शन किया, तो, कैसे कहा जाता है कि भगवान् का ज्ञान नहीं होता है ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि कदाचित् किसी धीर को भगवद्दर्शन जो होता है वह उतने ही का ज्ञान करता है, न कि, भगवान् के सर्व विशेष गुणों का ज्ञान कराता है ।

अवतार समय में भगवान् जिस देह को धारण करते हैं उसको मर्यादावादी आनन्दमय मानते हैं आत्मा के (जीव के) साक्षात्कार होने पर भगवान् के वैभव का पूर्ण ज्ञान नहीं होता है और वह, साक्षात्कार, योग द्वारा प्राप्त गुण से होने के कारण, स्वप्न की तरह वह ज्ञान, वस्तु का नियामक नहीं हो सकता है, तथा प्रमाणों का संवाद (कहना) तो अनेकविध अनुभव कराता है, जिससे संदेह रहित ज्ञान वह (प्रमाणों का संवाद) भी नहीं करा सकता है, इसी कारण से सृष्टि दशा में अथवा प्रलय दशा में सर्वथा भगवद्ज्ञान सामग्री के अभाव से कोई भी ज्ञाता (भगवान् को साधन से जानने वाला) नहीं है, ज्ञान की प्रशंसा तो ज्ञान में प्रवृत्ति होवे इसलिए की है, प्रवृत्ति तो

१—अवतार की देह सत्त्वगुण वाली होती है, उसमें पुरुषोत्तम का आविर्भाव होने से वह आनन्दमय बन जाती है, अतः सत्त्व का प्रमाण से ज्ञान होता है किन्तु भगवान् का ज्ञान तो अनुग्रह से होता है, तब आवरण रहित पुष्टि स्वरूप के पूर्ण दर्शन होते हैं—

चित्त की शुद्धयर्थ आवश्यक है, उससे शुद्ध होकर भगवान् का भजन करे, जिससे भगवान् प्रसन्न होके अनुग्रह करे ।

कारिका—ज्ञानमार्गो भ्रान्तिमूलस्ततः कृष्णं भजेद्बुधः ।

प्रवर्तकं ज्ञानकाण्डं चित्तशुद्धयै यतो भवेत् ॥११॥२४॥

कारिकार्थ—ज्ञान मार्ग का मूल भ्रान्ति है, इसलिए उसमें न फँस कर बुद्धिमान पुरुष को भगवान् का भजन ही करना चाहिए, क्योंकि ज्ञान काण्ड की प्रवृत्ति, केवल चित्त शुद्धि के लिए है ॥११॥२४॥

आभास—एवं ज्ञानकाण्डस्यापि भगवद्भजनपरत्वं निरूप्य येऽन्ये वादिनः भगवद्भजनं न सहन्ते अन्यथा च शास्त्रं वदन्ति तान्निषेधति जनिमसत इति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इस प्रकार वेद का ज्ञान काण्ड भी भगवान् के भजन परत्व ही है, यों निरूपण कर, अब जो दूसरे मत वाले वादी भगवद्भजन को सहन नहीं कर सकते हैं जिससे शास्त्र का अर्थ उल्टा करते हैं, उनके मतों का 'जनिमसतः और सदिव मन' इन दो श्लोकों से निराकरण करते हैं—

श्लोक—जनिमसतः सतो मृतिमुतात्मनि ये च भिदां

विपणमृतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः ।

त्रिगुणमयः पुमानिति भिदा यदबोधकृता

त्वयि न ततः परत्र स भवेदबोधरसे ॥२५॥

श्लोकार्थ—असत्^१ से (जो नहीं है, उससे) उत्पत्ति मानते हैं, सत्^२ का नाश मानते हैं, जीवों^३ में भेद मानते हैं, फिर^४ दूसरे कर्म फल को सत्य मानते हैं—ये सब आरोपित भ्रमों से ही यों निरूपण करते हुए उपदेश देते हैं कि यह पुरुष त्रिगुणवान् है, इस प्रकार भेद अज्ञानकृत है, ज्ञान रस रूप आप में वह अज्ञान हो नहीं सकता है; क्योंकि आप उससे परे हो ॥२५॥

सुबोधिनी—ते प्रतिकूला द्विविधाः अर्ध-
वैनाशिकाः सर्ववैनाशिकाश्च । तत्र प्रथममर्धवै-
नाशिकान्निराकरोति, ते चत्वारो वादिनः ।
नैयायिकाः, वैशेषिकाः, मीमांसकाः, सांख्यैकदे-
शिनश्चेति, तन्मतं हसन्त्य इव श्रुतयो निरूप-

यन्ति, तत्र नैयायिकाः असत् एव घटादेः जनि
वदन्ति । असत्तेव पश्चाज्जननेन सद्भवतीति ।
एतदसङ्गतम् । सत्तायाः संबन्धस्य च नित्यत्वे
कथं घटस्यासत्त्वं स्यात् सत्त्वासत्त्वयोर्विरोधात् ।
नाप्यसत्त्वस्य जातित्वं तत्समवायो वाङ्गीक्रियते

१- नैयायिक २- वैशेषिक—आत्मा का

३- मीमांसक—जीव अनेक हैं

४- सांख्य के एकदेशी और योगी

येन कालव्यवस्थया घट उभयं प्राप्नुयात् । अतः केवलमदर्शनमात्रेणासत्त्वं वदन्तो भ्रान्ता एव नैयायिकाः । एवं सति भक्तिमार्गो विरुध्यते ।

भगवत्कृपादीनां नित्यत्वे भजनेन कृपा न स्यात् । इच्छादीनामपि नित्यत्वादिच्छयावतारो न स्यात् । परमानन्दस्य च सुखत्वेनानित्यत्वात् पूर्णानन्दो भगवान्न स्यात् । अत इदं मतं निराक्रियते । वैशेषिकादयस्तु सतो मृतिमाहः । सङ्घातः सन्नैव पश्चान्निम्रयते तथा सति तस्याग्रे परलोकचिन्ता न कर्तव्या । सङ्घातस्यैव देवदत्तशब्दवाच्यत्वात् । बाह्यानां मुख्योऽयं सिद्धान्तः । भोगव्यवस्था तु तादृशान्येव तानि भूतानि स्वभावादेव भवन्ति । एतत्पक्षे तु ज्ञानभवत्यादिमार्गः सर्व एव तिलापः कृताः । अत एतन्निराकर्तव्यम् । सङ्घातादिन्द्रियवर्गसहितः आत्मा उत्क्रामति 'उत्क्रामन्त स्थितं वापि' इति वाक्यात् ब्रह्मविदामनुभवोऽस्त्येव । जातिस्मरणामपि लोके संभवात्, अन्यथा तेषामप्यहिंसादिविधिव्यर्थः स्यात् । ज्योतिःशास्त्रप्रामाण्याच्च संचादित्वेनापि तन्मतं व्यर्थं स्यात् 'अनन्तं नाम' इति श्रुतेः । अर्थाश्रयत्वश्रवणाच्च नित्यसिद्धोऽर्थः देवतारूपो वा आधिदैविको वा देवदत्तशब्दवाच्यः । एतदुपपादितं चतुर्थं कर्मनिर्णये देहस्योपलक्षकत्वमेव न तु विशेषणत्वमिति । यथावस्थान्तरेण पाकादिसाधनमुत्पाद्य पुनरन्यावस्थापन्नः पुनरन्यद्भोगं करोतीति सिद्धम् । नामकरणं च तत्रत्यात्मन एव न तु देहसहितस्यैव शास्त्रीयत्वात् । केशादिवद्वस्त्रादिवद्वा देहस्यापि सहभावमात्रत्वात् । अतः सत आत्मनः मुख्यसङ्घातस्य वा परलोकाद्यन्यथानुपपत्त्या न मृतिः, तस्मिन् सति पूर्वोक्तन्यायेन भक्तिमार्गः सेत्स्यति । मीमांसकादयः आत्मनां जीवानां भेदमङ्गीकुर्वन्ति आत्मनीश्वरे यज्ञादिरूपे वा, तथा सत्येक ईश्वर इति पक्षो न सङ्गच्छते । अन्यथा एकश्चेदीश्वरः कर्तृमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः स कथं विषमजीवेभ्यः फल दद्यात् कुतो वा विषमं कर्म कारयेत् । कारयिष्यन्वा त्रैपम्यनैर्घृण्ये वा कथं न

प्राप्नुयात् । तस्मादीश्वर एव नास्ति कर्मातिरिक्तः । स चानेक इति प्रतिनियतं कर्मैव कर्तव्यमिति मन्यन्ते । तन्मतमपि निराकर्तव्यम् ।

अन्यथेश्वराभावे कस्य प्रणिधानं स्यात् । तेऽप्यारोपादेव तथा मन्यन्ते । कर्म कुर्वाणाः फलं प्राप्नुवन्ति । दातारं तु न पश्यन्तीति । अन्याधीने फले अवश्यं दातुरपेक्षा । साक्षादजन्यफलेषु राजभित्तिनिर्माणादिषु तथा दर्शनात् । न हि यागः स्वर्गं पाक ओदनमिव साधयति येनेश्वरापेक्षा न स्यात् । स्वर्गश्च ब्रह्माण्डाधिपत्यधीनो लोकात्मकः । सुखसाधनान्यपि तदधीनानि । अन्यथा तदानीमेव स्वर्गः कुतो न भवेत् । अत ईश्वरे अवश्याङ्गीकृतं व्ये एकेनैव महाराजवत् कार्यसिद्धौ प्रतिनियतेश्वरकल्पना व्यर्था, गौरवात् । जीवानां तु भेदो नात्रादिष्ट इति प्रतिभाति एकवचनप्रयोगात् प्रकृतानुपयोगाच्च । जीवभेदः प्रत्युत भक्तिसाधकः न तु बाधकः । सोऽपि बहुधा निराकृतो निराकरिष्यते च । अन्ये पुनः सांख्येकदेशिनो योगिनश्च विषणं कर्मफलं नित्यं मन्यन्ते 'योगेन साधितो योऽर्थः स नित्यो हि निगद्यते । वेदिकेनाप्यक्षयात्मा लोकः स्यान्नित्यकर्मणा' तस्मिन्नपि पक्षे नेश्वरप्रयोजनम् । स्वसाध्येनैव कार्यसिद्धेः तदपि निराकर्तव्यम् । आरोपैरेव प्रशसावाचकशब्दानां सत्यत्वरोपकबुद्ध्यैव तत्संभवात् । 'अपाम सोमममृता अभूम' इति सोमप्रशसावाक्यम् । 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतम्' इति तु सुकृतप्रशसा । तस्मादभ्रमसिद्धान्ता तत इति नैतद्वाक्यानुरोधेन पूर्वोक्तसिद्धान्ते दूषणमाशङ्कनीयमिति भावः । ननु भक्तिमार्गोऽपि त्वदुक्तन्यायेन न सङ्गच्छते विष्णुहि सेव्यः शिवो ब्रह्मा वा एते गुणाभिमानिनः प्रतिनियतकार्यकर्तारः स्वस्वाधीनमेव स्वभक्ताय कार्यं कुर्वन्ति । अतस्त्रिगुणमयोऽयं पुरुषः नारायणो ब्रह्माण्डाभिमानो गुणैः कृत्वा सत्त्वरजस्तमोभिः भिन्नः सन्नुपाधिभेदेन जीवभेदेन वा स्थित्यादिकं करोतीति अल्पदातृत्वात् किं भक्तिमार्गेणापि गुणमयत्वाच्च सोऽपि

तिरोहितानन्द इति राजसेवकवदन्योन्योपधावन-
मपेक्षते । दृश्यते च तथा पुराणे लोके चेति
यत्स्मार्तानां मतं तदपि निराकर्तव्यम् । अन्यथा
पूर्वोक्तमार्गो न सिद्धयेदिति त्रिगुणमयः पुमा-
निति । यो भजनीयभेदः सोऽपि यदबोधकृतः
भगवत्स्वरूपाज्ञानादेव जायते यतः । स्म प्रसि-
द्धया आर्ताः स्मार्तशब्दवाच्याः । ते यमाचक्षते

सा त्वेका भगवद्विभूतिः । न तु तावन्मात्रो भग-
वान् भक्तिमार्गप्रतिपाद्यः किंतु पुरुषोत्तम इति
बहुधा निरूपितम् । ननु पुरुषोत्तमत्वपक्षेऽपि यद्य-
ज्ञानं स्यात् मूलभूतस्य तदा स दोषस्तदवस्थः ।
अत एव केचिन्मूलभूतमेव ब्रह्म अज्ञानाश्रयो
विषयश्चेत्याहुः ।

व्याख्यानार्थ—वे^१ प्रतिकूल दो प्रकार के हैं, १—अर्धवैनाशिक और २—दूसरे सर्व वैनाशिक
हैं, इनमें से पहले अर्धवैनाशिकों का खण्डन करते हैं, वे चार प्रकार के हैं, १—नैयायिक,
२—वैशेषिक, ३—मीमांसक, ४—सांख्य के एकदेशी, इनके मतों का मानो उपहास करती हुई
श्रुतियाँ, इनका मत कहती है कि, उनमें से प्रथम नैयायिकों के मत को वर्णन करती है कि वे कहते
हैं कि जो पदार्थ प्रथम नहीं है उसका जब जन्म होता है तब वह सत् होता है, जैसे घट प्रथम
नहीं था अर्थात् असत् था पीछे बना, जब बन गया तब सत् हो गया, यों उनका कहना अघटित है,
व्य. कि सत्ता और सम्बन्ध दोनों नित्य है, अतः सत्ता का घड़े के साथ सम्बन्ध नित्य रहता है यदि
घट असत् होवे तो उसका सत्ता के साथ सम्बन्ध कैसे होगा क्योंकि सत्ता और असत्ता दोनों परस्पर
विरुद्ध हैं और वे^२ असत्प्राय जाति है, उसमें घड़े का समवाय सम्बन्ध है, जिससे काल की व्यवस्था
से घट सत् और असत् दोनों हो सकता है यों भी नहीं मानते हैं अतः केवल देखने में न आने से घट
असत् है यों कहने वाले नैयायिक भ्रान्त ही हैं यदि नैयायिकों के इस भ्रान्त मार्ग को माना जाय तो
भक्ति मार्ग में विरोध आता है अर्थात् भक्ति मार्ग सिद्ध नहीं होता है क्योंकि भक्ति मार्ग में अवि-
र्भाव तिरोभाव मानकर सबकी सत्ता सदा सत्य मानी गई है, तब ही सत्ता और सम्बन्ध नित्य है
यह शास्त्रीय सिद्धान्त सत्य सिद्ध होता है ।

अब नैयायिकों के मत में सिद्धान्त से जो विरोध है वह स्पष्ट करते हैं, भगवान् की कृपा तब
होती है जब जीव भजन करता है यदि कृपा नित्य प्रकट है अर्थात् स्वतः होती है यों माना जाय
तो भजन करने से कृपा का मानना असत्य होगा, तथा भजन करने का कोई भी प्रयोजन नहीं रहता
है, इसी तरह भगवान् की इच्छा भी यदि नित्य प्रकट मानी जाय तो भगवान् का अवतार नित्य
होना चाहिए किन्तु यों होता नहीं, जब भक्त प्रार्थना करता है तब अवतार लेने की इच्छा का
प्रादुर्भाव होता है और तब ही अवतार होता है ।

यदि परमानन्द केवल सुखरूप होवे तो गुण रूप होने से अनित्य होता है जिससे भगवान्
पूर्णानन्द नहीं रहते हैं उनको भी काल की मर्यादा वाला होना पड़ता है, इसलिए यह नैयायिक मत
खण्डन कर अविर्भाव तिरोभाव शक्तियों का स्वीकार किया जाता है ।^३

१—भगवद्वक्ति करने के विरुद्ध, २—नैयायिक

३—इन शक्तियों के स्वीकार से, भगवान् की कृपा नित्य होते हुए भी जब भजन किया जावे तब
उसका अविर्भाव होता है, इसलिए भजन करना चाहिए यह सिद्धान्त सत्य सिद्ध होता है,

(क्रमशः पृष्ठ १६३ पर)

वैशेषिक मत वाले तो, सत् का भी नाश मानते हैं, यह देह सत् है वह नष्ट हो जाती है अतः उसके परलोक की चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि देह ही, देवदत्त नाम से कही जाती है, अर्थात् देह का ही देवदत्त नाम है, देह नाश हो गई तो देवदत्त भी नाश हुआ फिर परलोक किसका, जिसकी चिन्ता की जावे ? यह वेद बाह्यों का सिद्धान्त है, उनकी भोग व्यवस्था तो वैसे वे भूत स्वभाव से ही कर लेते हैं। इस सिद्धान्त में, ज्ञान, भक्ति आदि सन्मार्गों को निरर्थक माना है, इसलिए इस मत का निराकरण करना चाहिए 'उत्क्रामन्तं स्थितं वापि' इस गीता के वाक्यानुसार, जीव, इन्द्रियों के समूह के साथ देह से बाहर निकलता है, और ऐसा ब्रह्मविदों का अनुभव भी है ही, लोक में ऐसे मनुष्य भी मौजूद हैं जिनको पूर्व जन्म का स्मरण है, यदि परलोक नहीं होवे तो उनके लिए किसी की हिंसा न करनी' ऐसी शास्त्र की विधि भी व्यर्थ हो जावे, ज्योतिष^१ शास्त्र में जो ग्रहादि से परलोक आदि फल प्राप्ति लिखी है, वह शास्त्र भी व्यर्थ हो जावे ।

'अनन्तं नाम' इति श्रुतेः, यह श्रुति कहती है कि नाम अनन्त है, 'नाम' सदैव पदार्थ का आश्रय लेकर ही रहता है, वह पदार्थ देवदत्त शब्द वाच्य, देवतारूप हो चाहे आधिदैविक रूप हो, किन्तु नित्य सिद्ध है, यह 'नाम' केवल देह का ही परिचय^२ कराने वाला है किन्तु, कोई विशेष गुण नहीं है, यों ब्रह्मसूत्र के कर्म निर्णय नामक चतुर्थ प्रकरण में प्रतिपादन किया है कि यह नाम (देवता) देह का उपलक्षक है, न कि विशेषण है, जैसे, एक अवस्था में साधनों द्वारा पाक की सिद्धि की जाती है, पाक सिद्ध हो जाने के बाद दूसरी अवस्था प्राप्त का भोग होता है ज्यों यह बात सिद्ध है वैसे ही वह भी स्पष्ट है कि नाम करण जीव का ही होता है, न कि देह सहित जीव का, अर्थात् देह जिसका गुण है वैसे जीव का नाम करण नहीं किया जाता है, क्योंकि नामकरण शास्त्रीय है, जीव के साथ देह उस समय ऐसी है, जैसे देह के साथ वस्त्र, केश आभूषणादि उस समय साथ में होते हैं अतः सत् आत्मा तथा मुख्य संघात का नाश नहीं होता है, यदि उनका नाश माना जायगा तो परलोक होने की उपपत्ति^३ हो नहीं सकेगी, जब उनका^४ नाश न माना जायगा तब पृथक् कहे हुए न्याय के अनुसार भक्ति मार्ग सिद्ध होगा ।

मीमांसक आदि जीवों में अनेकत्व तथा भेद^५ मानते हैं, यदि ईश्वर कर्म रूप है यों

(क्रमशः पृष्ठ १६२ से)

भगवान् की इच्छा नित्य होते हुए भी भक्त जब प्रार्थना करते हैं तब उसका आविर्भाव होता है, जिससे भगवान् अवतार धारण करते हैं अतः प्रार्थना करनी भी आवश्यक है, परमानन्द धर्म रूप होते हुए भी नित्य है जिससे भगवान् नित्य पूर्णानन्द हैं, इन दो शक्तियों के मानने से जगत् का भी आविर्भाव तिरोभाव सिद्ध होना स्वीकृत होता है, किन्तु असत् का जन्म मानना यह मत असङ्गत है और दोष पूर्ण है ।

१—यद्यपि वेदांग होने से ज्योतिष को प्रमाण नहीं मानते हैं, परन्तु गणित का फल आकाश में ग्रहण आदि से प्रत्यक्ष होने के कारण वे भी प्रमाण मानते हैं ।

२—स्थूल देह के बाद सूक्ष्म देह का धर्म जाग्रत कर उसका परिचय करा देता है ।

३ - हेतुपूर्वक सिद्धि, ४—सत् आत्मा तथा मुख्य संघात का, ५—भगवान् से अन्य

माना जावे तो ईश्वर एक है यह सिद्ध न हो सकेगा, वह मत झूठा मानना पड़ेगा इस पर मीमांसकों का कहना है कि, यदि ईश्वर एक है और वह कर्तु, अकर्तु और अन्यथा कर्तु समर्थ भी है, वह जीवों को विषम फल कैसे देंगे ? और उनसे विषम कर्म कैसे कराएगा ? यदि यों कराते हैं तो वह वैषम्य और नैर्घृण्य दोष वाला क्यों न माना जाता है ? इसलिए कर्म के सिवाय अन्य कोई ईश्वर ही नहीं है, वह कर्म रूप ईश्वर अनेक हैं, अतः प्रत्येक को अपने नियत यज्ञ कर्मरूप कर्म ही करने चाहिए, इन मीमांसकों के मत का भी निराकरण करना चाहिए ।

यदि यों माना जावे कि ईश्वर है ही नहीं तो, भक्त किसका ध्यान धरे, वे मीमांसक भी आरोप पूर्वक ईश्वर का ध्यान करते हैं और उससे कर्म करने वाले फल प्राप्त करते हैं, किन्तु फल दाता को देखते नहीं, इस कारण से कर्म को ईश्वर मानते हैं ।

जब फल देना दूसरे के आधीन है, कर्म के आधीन नहीं है तब देने वाले की तो अपेक्षा रहती ही है, जैसे साक्षात् जिसका फल नहीं मिलता है, वैसे स्वयं राजमहल बनाने पर कारीगरों को फल देने वाले राजा की आवश्यकता रहती है, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है जैसे पाक (भोजन बनाने की क्रिया) औदन को सिद्ध करता है, वैसे याग स्वर्ग को सिद्ध नहीं करता है, जिससे ईश्वर की अपेक्षा न पड़े, और स्वर्ग एक लोक है जो ब्रह्माण्डाधिपति के आधीन है, सुख के साधन भी उनके आधीन हैं, यदि उनके आधीन फलादि न होवे तो यज्ञ करते ही स्वर्ग, क्यों न स्वतः उस समय ही प्राप्त हो जावे ? अतः ईश्वर का अङ्गीकार अवश्य करना चाहिए, एक ही महाराजा की भांति कार्य की सिद्धि हो जाने से हरेक कर्म का फल दाता ईश्वर पृथक् मानना व्यर्थ है और उससे केवल गौरव बढ़ता है, जीवों का भेद यहां नहीं कहा गया है, यों भासता है, क्योंकि एक तो एक वचन दिया है और प्रकृत विषय में उसका उपयोग नहीं है जीवों का भेद तो भक्ति में साधक है, न कि बाधक है, जीव पृथक् पृथक् हैं यह मत भी खण्डन किया है और आगे इसका विशेष निराकरण करेंगे ।

दूसरे वादी जो साङ्ख्य के एक देशी और योगी हैं, वे, कर्म द्वारा प्राप्त फल को नित्य मानते हैं, योग से जो पदार्थ प्राप्त किया जाता है वह नित्य है यों कहते हैं वैदिक नित्य कर्म से भी जो लोक प्राप्त होता है उसको अक्षय रूप मानते हैं, उस पक्ष में भी ईश्वर का प्रयोजन नहीं माना जाता है, कर्म से प्राप्त फल द्वारा ही कार्य की सिद्धि हो जाती है, वह मत भी निराकरण के योग्य है क्योंकि वह मत, केवल प्रशंसा वाचक शब्दों में सत्यत्व की बुद्धि का आरोपण करने से ही उत्पन्न होता है, जैसे कि 'अपाम सोमममृता अभूम' सोम पीकर हम अमर हो जाएंगे, ये प्रशंसा वाक्य हैं, तथा 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतम्, चातुर्मास्य यज्ञ करने वालों का पुण्य अक्षय्य है, इसी भांति सुकृत की प्रशंसा की गई है, ये सिद्धान्त भ्रम वाले हैं, इससे इन भ्रमित सिद्धान्तों के वाक्यों के अनुरोध से पूर्व कहे हुए सिद्धान्तों में शङ्कित नहीं होना चाहिए ।

आपके इस न्याय से तो भक्ति मार्ग की संगति भी सिद्ध न होगी सर्व वैनाशिक इस प्रकार स्मार्त मत का निरूपण कर इसको असत् सिद्ध करना चाहता है । उसका कहना है कि भक्ति मार्ग में विष्णु, शिव वा ब्रह्मा सेव्य हैं, वे गुणाभिमानि देव हैं इसलिए जितना गुणानुसार नियमित कार्य करना है उतना ही कर सकते हैं, अपने अपने गुणाधीन रहकर ही अपने भक्त के लिए कार्य करते हैं अतः त्रिगुणमय यह पुरुष ब्रह्माण्डाभिमानि नारायण, सत्त्व, रज और तमो गुणों द्वारा पृथक् हो

उपाधिभेद^१ से वा जीवभेद^२ से स्थिति आदि करते हैं, यों अल्पदाता होने से भक्ति मार्ग से भी क्या लाभ? गुणमय होने से वह नारायण भी तिरोहित आनन्द वाला है, इस कारण से राज सेवक की तरह एक दूसरे के ध्यान करने की इनको आवश्यकता पड़ती है, यों पुराणों में तथा लोक में देखा जाता है, इसलिए स्मार्तों का मत भी निराकरण करने योग्य होने से, निराकरण करना चाहिए, नहीं तो पूर्वोक्त मार्ग सिद्ध न हो सकेगा। 'त्रिगुणमयः पुमान्' पुरुष त्रिगुणात्मक है, यों कहकर, सेव्य स्वरूप में जो भेद किया गया है वह भी भगवत्स्वरूप के अज्ञान द्वारा ही होता है, इसलिए ही उनको स्मार्त कहा है जिसका भावार्थ है कि वे 'स्म' प्रसिद्ध 'आर्ताः' आर्त यानि दुःखी हैं, वे जिसको सेव्य कहते हैं, वह तो भगवान् की एक 'विभूति' है, भक्ति मार्ग में प्रतिपाद्य भगवान् इतने ही नहीं हैं, किन्तु 'पुरुषोत्तमः' पुरुषोत्तम है यों बहुत प्रकार से निरूपण किया है, यदि पुरुषोत्तमत्व पक्ष में भी अज्ञान माना जावे तो मूल भूतस्वरूप में भी वही दोष वैसा ही रहेगा, अतएव कितनों को यों कहना पड़ता है कि मूलभूत ब्रह्म ही अज्ञान का आश्रय और विषय है, जैसा कि कहा है।

कारिका—'आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचित्तिरेव केवला ।

पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः' इति ॥

कारिकार्थ—आश्रयत्व और विषयत्व के सम्बन्ध वाला और जिसमें विभाग नहीं है, वैसा केवल ज्ञान ही है, वह ही ब्रह्म है; क्योंकि जो पीछे होता है, वह पहलो वस्तु का आश्रय और विषय बन नहीं सकता है अर्थात् जाना नहीं जाता है ॥

सुबोधिनी—अयमपि पक्षो निराकर्तव्यः । अन्यथा भक्तिमार्गः परमार्थपर्यवसायी न स्यादतो निषेधति त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरस इति । त्वयि पुरुषोत्तमे स अबोधः कथमपि न प्रवर्तते । तत्र हेतुद्वयम्, ततः परत्रेति अबोधरस इति च । 'आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्' 'यः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः' इति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं

ब्रह्म' इति 'स्वप्रकाशश्चिदात्मा' इत्यादिश्रुति-सहस्रैः अज्ञानसंबन्धो निराक्रियते । ज्ञानस्यापि यो रसः परमानुभवरूपः स एव आत्मा स्वरूपं यस्येति । अतो मतान्तराणां भ्रान्तिमूलत्वात् निर्दुष्टत्वाच्च भगवन्मार्गस्य भगवान् सेव्य इति सिद्धम् ॥

व्याख्यार्थ—अतः उनका सिद्धान्त है कि जगत् का मूल जो ब्रह्म है वह ही अज्ञान का आश्रय और विषय है, जिसके कहने का फलितार्थ यह ही होता है कि ब्रह्म अज्ञान का विषय है अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान अज्ञान से ही हो सकता है, इसलिए इस मत का भी निराकरण करना चाहिए, यदि इस मत का खण्डन न किया जाएगा तो, भक्ति मार्ग का परिणाम परमार्थ देने में समर्थ नहीं हो सकेगा, इसलिए निषेध करता है कि 'त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोध रस' आप जो रस रूप सब से परे हो उसमें

१- सत्वोपाधि से विष्णु बनकर स्थिति करते हैं, रजोपाधि से ब्रह्मा बनकर सृष्टि करते हैं, तमोपाधि से रुद्र बन कर संहार करते हैं—'लेख'

२- सात्त्विक जीवों की विष्णु पालना करता है, तामस जीवों का संहार रुद्र करता है, राजस जीवों की उत्पत्ति ब्रह्मा करता है—'लेख'

यह 'अज्ञान' हो ही नहीं सकता है जिसमें दो हेतु दिए हैं, १—आप सब से परे हो, जैसा कि कहा है 'आदित्य वर्णं तमसः परस्तात्' श्रुतिः आप अज्ञान से बहुत दूर उस तरफ हो और आदित्य जैसे वर्ण वाले हो, 'यः सर्वज्ञ सर्व शक्तिः' ब्रह्म, सब कुछ जानते हैं और सर्व शक्तिमान हैं, (उसमें अज्ञान कैसे ?) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ब्रह्म, सत्य, ज्ञान और अनन्त है, (इससे भी सिद्ध है कि उसमें अज्ञान नहीं है) 'स्वप्रकाशश्चिदात्मा' आप ही प्रकाश स्वरूप और ज्ञान स्वरूप हैं, इत्यादि अनेक श्रुतियों से यह सिद्ध है कि ब्रह्म से अज्ञान का सम्बन्ध किञ्चिन्मात्र भी नहीं है, इसलिए इन श्रुतियों से इस पक्ष का भी निराकरण किया गया है, ज्ञान का भी जो रस परमानुभव रूप है वह ही जिसका स्वरूप है, अतः अन्य मत भ्रान्ति मूल है, भक्ति मार्ग ही दोष रहित है जिससे भक्ति मार्गानुसार भगवान् ही भजनीय है, यों सिद्ध हुआ ।

कारिका—भ्रान्तिमूलतया सर्वसमयानामयुक्तिः ।

न तद्विरोधात् कृष्णाख्यं परं ब्रह्म त्यजेद्बुधः ॥१२॥२५॥

कारिकार्थ—सर्व मतों की जड़ भ्रान्ति है और उनमें कोई शास्त्रीय तर्क नहीं हैं । अतः ऐसे भ्रान्त, युक्तिरहित मतों के विरोध से बुद्धिमान् को कृष्ण के भजन का त्याग नहीं करना चाहिए ॥१२॥२५॥

आभास—एवं सिद्धान्तान्तराणि परिहृत्य भक्तिमार्गे स्थापितेऽपि जगत्कर्तृत्व-सर्वाश्रयत्वादिधर्माणां माहात्म्यार्थमङ्गीकरणे तद्गतो दोषः प्रसज्येत । तत्र परःसहस्रं दूषणानां संभवेऽपि दूषणद्वयं मुख्यं जगदाश्रयत्वेन जगत्संबन्धदोषसमूहः उपादानत्वाच्च भगवत्येव भवति, जीवस्य च भगवत्त्वे कामक्रोधादिसर्वे दोषाः भगवति भवन्ति । एतदुभयपरिहार्यमाह सदिव मन इति ।

आभासार्थ—यद्यपि इसी प्रकार अन्य सिद्धान्तों में दूषण देकर उनका परिहार करते हुए भक्ति मार्ग को स्थापित तो किया किन्तु जगत् कर्तापि और सर्वाश्रयत्वादिधर्म, माहात्म्य के लिए भगवान् में मानने से उनके दोष भगवान् में आते हैं, जिससे अनेक सहस्र दोष होने पर भी दो मुख्यदोष तो हैं ही १—जगदाश्रय और उपादान कारण होने से, इनमें जो दोष यानि जगत् में जो दोष हैं, उनका सम्बन्ध होने से वे दोष और उपादान कारण के दोष भी भगवान् में ही आ जायेंगे, २—जीव,^२ भगवान् है अतः उसके (जीव के) काम क्रोध आदि सर्व दोष भी भगवान् में आते हैं, इन मुख्य दोनों दोषों के मिटाने के लिए 'सदिव मनः' श्लोक कहा है—

श्लोक—सदिव मनस्त्रिवृत्त्वयि विभात्यसदामनुजात्

सदभिमृशन्त्यशेषमिदमात्मतयात्मविदः ।

१—सर्वाश्रय होने से, शरीर धारी बनना पड़ता है, शरीर धारण करना यह प्रथम दोष है—लेख

२—जीव बनने से उत्पन्न दोष—लेख

न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया

स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमात्मतयावसितम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—तृणस्तम्ब से लेकर मनुष्य पर्यन्त सब में असत् और तीन गुण वाला यह मन आप में सत् जैसा भास रहा है । आत्म ज्ञानी इस सम्पूर्ण जगत् को ब्रह्म रूप से सत् ही जानते हैं । जैसे सुवर्ण के व्यापारी सुवर्ण के विकार (कुण्डलादि) को सोना ही समझ खरीदते हैं; क्योंकि उस विकार में सुवर्ण ने ही प्रवेश किया है, वैसे ही भगवान् ने अपने में से बनाए इस जगत् में प्रवेश किया है, जिससे यह जगत् भी उसी तरह ब्रह्ममय होने से ज्ञानी आत्मवेत्ताओं ने इसको ब्रह्म रूप से निर्धार किया है ॥२६॥

सुबोधिनी आदौ जीवभावे यानि दूषणानि तानि परिह्रियन्ते । मनस एव ते दोषाः न तु जीवस्य तच्चासदेव विशेषतो निरूपयितुं न शक्यत इति । 'नामदासोन्नो सदासीत्' इति मन(स)स्तादृशं रूपं सदमदात्मकमिति । तत्रापि तस्यासत्त्वं सहजम् । सत्त्वं तु आगन्तुकमिति श्रुत्यादिना जायत इति सदिवेत्युपमया निरूपितम् । तस्योभयात्मकत्वे हेतुमाह त्रिवृदिति गुणत्रयवेष्टनम् । तत्र सत्त्वांशे सत्त्वं संभवति, अंशद्वये त्वसत्त्वमिति । एतादृशस्य प्रकाशः न जीवसंज्ञन्धात् किंतु त्वय्येव विभाति । 'मनसो वशे सर्वमिदं बभूव नान्यस्य मनो वशमन्वियाय । भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्' इति श्रुतिः मनसो माहात्म्यमाह । नह्येतन्माहात्म्यं जीवाश्रयत्वे घटते । नन्वस्तु भगवदाश्रयत्वेनैव तस्य माहात्म्यं तथापि तद्दोषसंबन्धः स्यादेवेति चेत् तत्राह ग्रामनुजादिति । मनुष्यपर्यन्तमेव परिभ्रमणे तस्य मनसः स स्वभावः तृणस्तम्बमारभ्य महत्तत्त्वपर्यन्तं जीवगणाः । तत्र मनुष्यो मध्यस्थः । मनश्च सर्वेषामर्थे भगवता नियुक्तं सर्वत्र परिभ्रमति । यथा तस्य परिभ्रमणं संभवति तथांशभेदाः सामर्थ्यं वा कल्पनीयम् । उत्पत्तौ तस्यैकत्वप्रतिपादनात् । अतो मनुष्यपर्यन्तमेव यावत् परिभ्रमति तद्वद् असत् सदिव प्रति-

भाति । अग्रे तु सदिव क्वचिदसदिव प्रतिभाति । तस्मात्कामादिदोषाणां मनोमूलत्वात् मनसश्च तत्स्वाभाविकं न भवतीति न तद्दोषेण भगवति दोषः । द्वितीयं परिहरति सदभिमृशन्तीति । अभिमर्शो ज्ञानम् । आत्मविदोऽत्यन्तं प्रमाणभूताः । इदमशेषं जगत् सर्वं नानाप्रकारेण भ्रान्तदृष्ट्या भासमानमपि आत्मतयैव सदेवेत्यभिमृशन्ति सर्वं ब्रह्मेत्येव जानन्ति । मनसोऽप्यत्र दोषः परिहृतः । यथेन्द्रजालिकस्य अन्यथाप्रदर्शनसामर्थ्यं गुणः न तु दोषो भवति तथा मनसोऽपि कामादिभासनं गुण एव कौतुकार्थत्वात् । वस्तुतस्तु ब्रह्मैव । आत्मविद इति वचनात् तेषां ज्ञानमात्मनि पर्यवसितम् । अत आत्मा परमार्थसत्यः स एव यदि सर्वं कथमसत्यता आशङ्क्येत्यर्थः । तथापि युक्तिर्वक्तव्येति चेत् तत्राह न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतयेति । कनकस्य विकृतिं कुण्डलादिकं कनकार्थिनो वणिजः किं त्यजन्ति अपि तु गृह्णन्त्येव । तत्रापि हेतुस्तदात्मतयेति कनकात्मतया । ननु कनकमुपादानमिति मध्ये द्रव्यान्तरापूरिते विकृते कनकतया ग्रहणं युक्तम् । जगत्तु जडोपादानं जीवसामग्र्या पूरितं कथं भगवानिति चेत् तत्राह स्वकृतमनुप्रविष्टमिदमिति । स्वेनैव कृतं आत्मोपादानकं 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' इति श्रुतेः ।

स्वेनैव चानुप्रविष्टं 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इति । अतो जगत्तत्र स्थिता च सामग्री भगवानिति । इदं सर्वमात्मतयैवावसितम् । ततः

सर्वस्यापि ब्रह्मत्वात् कस्य दोषः कुत्र भवेत् मतान्तर एव दोषाणां दोषत्वं ब्रह्मवादे तु ब्रह्म-
त्वमेवेति सर्वमविरुद्धम् ॥

व्याख्यानार्थं प्रथम उन दोषों का परिहार किया जाता है, जो दोष, जीव बनने पर भगवान् में अज्ञ लोग मानते हैं, वे दोष मन के ही हैं न कि जीव के दोष हैं, उस मन का पूर्ण रीति से वर्णन नहीं किया जा सकता है, कारण कि 'असत्' है, श्रुति मन के लिए स्पष्ट स्थिति का वर्णन न कर कहती है कि 'नासदासीन्नो सदासीत्' वह मन न 'असत्' था और न 'सत्' था, इसलिए मनका सदसदात्मक रूप है, इनमें भी इसका असत् रूप तो सहज ही है, सत्त्व रूप तो आगन्तुक है अर्थात् कभी हो जाता है इसलिए श्लोक में 'सत्' न कहकर 'सत् इव' कहा है, वह (मन) उभयात्मक है जिसमें कारण देते हैं कि त्रिवृत् तीन गुणों से वेष्टित है, अतः जब सत्त्व गुण बढ़ता है तब सत् होता है, रज तम की वृद्धि से असत् रह जाता है, ऐसे मन का प्रकाश जीव के सम्बन्ध से नहीं हो सकता है, किन्तु आप में ही वह प्रकाश पा सकता है, 'मनसो वशे सर्वमिदं बभूव नान्यस्य मनो वशमन्वियाय । भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्' इति श्रुतिः, 'यह सर्व मन के वश में हुआ किन्तु मन किसी के वश में न आया' 'भीष्म (भयकारी) देव तेज वाले से विशेष तेजस्वी होता है; ये श्रुतियाँ इस प्रकार मन का माहात्म्य कहती हैं, मन का यह माहात्म्य तब घटता है जब उसको भगवदाश्रय प्राप्त होता है, जीव के आश्रय से नहीं, भगवदाश्रय से भी यदि उसका माहात्म्य माना जावे तो भी उसके दोषों का सम्बन्ध तो होगा ही ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है कि 'आमनुजान्' अर्थात् इसका यह माहात्म्य, मनुष्यों तक ही चल सकता है, तृण स्तम्ब से लेकर महत्तत्त्व पर्यन्त सब जीव गए हैं, उनमें मनुष्य मध्य में स्थित है, भगवान् ने मन को सबके लिए ही नियुक्त किया है अतः सर्वत्र परिभ्रमण करता रहता है, उसका परिभ्रमण संभव हो तदर्थ उसके अंगों को अथवा सामर्थ्य की कल्पना करनी चाहिए क्योंकि इसकी उत्पत्ति के समय यह एक है यों प्रतिपादन किया गया है अतः मन सूक्ष्म होने से इतने अंशवाला नहीं हो सकता है जो बहुत दूर भी जा सके, इसलिए उसमें इतनी सामर्थ्य है यों मानना चाहिए, मन बहुत है यों मानना अनुचित है, इससे यह मन जब मनुष्य पर्यन्त भ्रमण करता है तब असत् होते भी सत् वत् भासता है, आगे^१ तो, कहीं सत् जैसा वा कहीं असत् जैसा भासता है, इस कारण से कामादि दोषों की जड़ मन है, किन्तु वह दोष मन का स्वाभाविक नहीं है, इसलिए उसके दोष से भगवान् में दोष नहीं आते हैं ।

अब दूसरे दोष को मिटाते हैं 'सदभिमृशन्ति' इति 'अभिमर्श' पद का अर्थ है 'ज्ञान', आत्म-ज्ञानी अत्यन्त प्रमाण^२ भूत हैं, इसलिए, वे, ज्ञानी, इस समय जगत् को जो भ्रान्त दृष्टि के कारण नाना विध भासता है, तो भी उसको आत्म रूप से सत् ही जानते हैं अर्थात् सर्व ब्रह्म ही है यों समझते हैं, इसी तरह यहां मन के दोष का भी खंडन हुआ है, जैसे जादूगर में एक वस्तु को दूसरी वस्तु दिखाने का सामर्थ्य, गुण कहा जाता है न कि दोष, वैसे ही कामादिका भासना भी मन का गुण ही है, क्योंकि वह दिखावा आनन्द के लिए ही करता है, वास्तव में तो वह ब्रह्म ही है.

१—जब देवादि के लिए परिभ्रमण करता है तब ।

२—मत्तय ज्ञान को ही ग्रहण करने वाले होने से ।

‘आत्मविद’ पद से यह सूचित किया है कि उनका (आत्मज्ञानियों) का ज्ञान आत्मा में ही परिणमित होता है, अतः आत्मा वास्तविक सत्य है, वह सत्यरूप आत्मा ही जब सर्व बनता है तो फिर असत्यत्व की शङ्का ही कैसे ? यद्यपि असत्यता की शङ्का नहीं होनी चाहिए, तो भी इसको सत्यता में युक्ति बतानी चाहिए, इस पर कहते हैं कि सुवर्ण को खरीदने वाले व्यापारी क्या सुवर्ण की विकृति को (कुण्डलादि को) खरीदते नहीं हैं ? खरीदते ही हैं जिसका कारण यह है कि वे जानते हैं कि यह विकार यानि कुण्डलादि सुवर्ण ही है क्योंकि यह विकार, कुण्डलादि, स्वर्ण से ही बने हैं, इसमें अन्य द्रव्य न होने से सुवर्ण ही होने से व्यापारी को ग्रहण करना उचित ही है किन्तु जगत् का उपादान तो जड़^१ है और जीव सामग्री से भरा हुआ है, ऐसा जगत्, भगवान् कैसे माना जाय ? जिसका उत्तर है कि ‘स आत्मानं स्वयमकुरुत’ इस श्रुति के अनुसार यह जगत्, भगवान् आप ही बने हैं, अतः आप ही इसका उपादान है, ‘तत्सृष्ट्वा तदेवानुग्राविशत्’ इस श्रुत्यानुसार आप ही अपने में से जगत् रूप बनाकर उसमें प्रविष्ट हुए, अतः जगत् और उसमें स्थित सर्व पदार्थ, भगवान् ही हैं अतः ज्ञानियों ने यह सब आत्मा रूप ही समझा है, यों होने पर अर्थात् सब ही ब्रह्म हैं तो किसका दोष कहा हो ? अन्य मतानुसार ही दोष दोषरूप होते हैं, ब्रह्मवाद में तो सर्व ब्रह्म ही हैं इसलिए सर्व सम होने से सब विरोध रहित है।

कारिका—जीवानां ब्रह्मरूपत्वादोषा अपि च मानसाः ।

जगच्च सकलं ब्रह्म ततो दोषः कथं हरौ ॥१३॥२६॥

कारिकायं—जीव और समग्र जगत् ब्रह्म है, तो दोष मानसिक है फिर हरि में दोष किम तरह होगा ? ॥१३॥२६॥

आभास—एवं भगवति दोषान् परिहृत्य भक्तिमार्गे भगवान्निर्दुष्टो निरूपितः ।
इदानीं फलतो दोषं परिहरन्त्यः भक्तानां दोषं निराकुर्वन्ति तव परि ये चरन्तीति ।

आभासार्थ—इसी तरह भगवान् में दोष नहीं है यों सिद्ध करने से, यह निर्णय किया है कि भक्ति मार्ग में भगवान् दोष रहित हैं अतः भक्ति मार्ग भी निर्दोष है, अब ‘तव परि ये चरन्त्यखिल श्लोक में सिद्ध करते हैं कि भगवान् मृत्यु का उत्लङ्घन रूप फलदान देने हुए भी निर्दोष हैं, तथा भक्त भी निर्दोष हैं, क्योंकि भक्त, आपकी सेवासक्त होने से दुःखानुभव करते ही नहीं हैं—

श्लोक—तव परि ये चरन्त्यखिलसत्त्वनिकेततया

त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निऋतेः ।

परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि

तांस्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः ॥२७॥

भोकार्थ—जो आपको सकल प्राणि मात्र का स्थान जानकर सेवते हैं, वे ही मृत्यु के सिर का तिरस्कार कर, उस पर पैरों को धर कर, उस (मृत्यु) को उल्लङ्घन कर जाते हैं, जो मृत्यु से भी उत्कृष्ट देव हैं, उन प्रसिद्ध देवों को भी आप बाणी से बाँधते हैं, किन्तु जिन्होंने आप से सौहार्द्र कर लिया है, वे तो समस्त जगत् को पवित्र करते हैं, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं है, जो आप से विमुख तपस्वी आदि हैं, वे इस प्रकार जगत् को पवित्र नहीं कर सकते हैं ॥२७॥

सुबोधिनी—ये त्वां परिचरन्ति उत त एव निश्च्युतेर्मृत्योः शिरः पदा आक्रमन्ति । तत्रापि नाज्ञानात् किन्तु ज्ञात्वैवाविगण्य । अनेन भगवतो दानं तिष्ठतु सेवामात्रेणैव मृत्योर्जयो भवतीत्युक्तम् । सर्वस्यापि द्वयमभीष्ट दुःखहानिः सुखावाप्तिश्चेति तत्र मुखं भगवतैव सिद्धयति नान्यथेति निरूपितम् । दुःखहानिरपि भगवत्सेवयैव नान्यथेति निरूप्यते । दुःखानामवधिर्मृत्युः स कर्मानुसारेण प्राणिभ्यो दुःखं प्रयच्छति । सर्वकर्मपेक्षयापि दुःखदातुरवज्ञा महाभ्रातिक्रमः शिरोमदनरूपः बह्वैव दुःखं प्रयच्छति । तदपि चेत्तेषां भगवद्भजनसाधनं ततः कुतस्तेषां दुःखम् । स्पष्टमेव मृत्योर्मूर्ध्नि पददानं ध्रुवे निरूपितम् । ये हि निरन्तरं सेवां कुर्वन्ति ते सेवार्थं वैकुण्ठेऽप्यपेक्ष्यन्त इति देहान्तरादिनिर्माणं कदाचित्संस्कारनाशो विलम्बश्च भवेदिति तदेव शरीरं गृहीत्वा ते सेवार्थं द्रुतं गच्छन्ति तदा मध्ये प्रतिबन्धकत्वेन मृत्युश्चेदायाति तदा तं दृष्ट्वा अभीता एव तस्यावगणनां कृत्वा आरौहे निःश्रेणिकामिव तच्छिरस आक्रमणं कुर्वन्ति । मृत्योः शिरो महासाहसानि तेषां करणं पदा शिरसोधिरोहणम् । आधिभौतिकव्यवस्थेषा । आध्यात्मिके तु देहदैहिकवैदिकादिधर्मान् सर्वानुल्लङ्घ्य विरुद्धानपि कृत्वा भगवत्सेवां कुर्वन्तीत्यर्थः । सेवायां विशेषमाह अखिलसत्त्वनिकेततयेति । वहिर्मुखानां सेवां निवारिता । अखिलसत्त्वेण निकेतः स्थानं यस्य, सर्वत्र भगवानस्तीति ज्ञात्वा सर्वाविरोधेन ये परिचरन्तीत्यर्थः । 'सर्वं तद्विष्णुमीक्षध्वमेवं वस्तोषितो ह्यसौ' इति

वाक्यात् तथा दर्शनमपि तोषहेतुर्भवति अन्यथा दोषश्रवणाच्च 'कुरुतेर्चाविडम्बनम्' 'भस्मन्येव जुहोति सः' इत्यादिवत् । तवेति षष्ठ्या त्वत्संबन्धिनं पदार्थं यं कश्चन परिचरन्ति परं सर्वात्मभावोऽपेक्ष्यते 'मृत्योः स मृत्युमाप्नोति च इह नानेव पश्यति' इति भेददर्शनं एव मृत्युपराक्रमश्रवणान् । ननु सर्वातिक्रमे कथं दोषो न स्यात् । तेषां वा क्रोधो धर्मरक्षकाणां तत्राहुः परिवयस इति । तान् प्रसिद्धानपि विबुधान् पशून् इव परिवयसे बध्नाति । यत्र स्वस्वामी मृत्योरपि श्रेष्ठान् देवान् बध्नाति । तत्र तत्सेवकानां मृत्योरवगणनायां का शङ्केत्यर्थः । किञ्च गिरा भगवान् बध्नाति साक्षात्तु बन्धनं तत्सेवका एव कुर्वन्ति, यथा राजाज्ञया राजसेवकाः । अतस्तेषां तदतिक्रमः अभ्यासप्राप्त इति न शङ्कामुत्पादयति । पशूनिवेति यथा पशवः शकटादिषु योजनार्थं निरूप्यन्ते तत्र सेवका एव निरूपकाः । तान् भगवत्सेवायां योजयन्ति । अतः सेवां प्राप्य कृतार्था एव ते भविष्यन्तीति न तेषां कोऽपि मनःक्लेशः । अतः सेवकानां देवापेक्षयाप्युत्कर्षो निरूपितः । ननु तथापि सेवकानाममर्यादित्वान् निन्दितत्वमशुद्धत्वं च स्यादित्याशङ्क्याह त्वयि कृतसौहृदा इति । त्वय्येव कृतसौहृदाः जगत्पुनन्ति न तु तपस्विनोऽन्ये वा धार्मिकाः यतस्त्वयि विमुखाः । अयमर्थः । शुद्धिद्विविधा । दोषनिर्हरणात्मिका गुणाधानकर्त्री च । तत्र गुणानामुत्कर्षः भगवत्सेवावधिः यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्य-किञ्चना सर्वगुणैस्तत्र समासते सुराः' इत्यत्र निरूपितम् । दोषाणामवधिर्भगवदवज्ञा ॥

व्याख्यार्थ—जो आपकी सेवा करते हैं, वे ही मृत्यु के शिर का अपने पाद से आक्रमण करते हैं, किन्तु जान कर मृत्यु की परवाह न कर अर्थात् तिरस्कार पूर्वक करते हैं, इससे यों सिद्ध किया कि भगवत्सेवक केवल सेवा से ही मृत्यु को जीत लेते हैं, भगवान् कृपया ऐसी शक्ति का दान करे वह बात तो पृथक् है, जगत् में सबको दो बातों की चाहना रहती है १—दुःख न मिले, २—सुख की प्राप्ति होवे। इनमें यह बता दिया कि, सुख, भगवान् के द्वारा ही प्राप्त होता है अन्यथा नहीं, और दुःख की हानि भी भगवान् की सेवा से ही होती है अन्य प्रकार से नहीं होती है, दुःखों की अवधि मृत्यु है, वह कर्मानुसार प्राणी मात्र को दुःख देती है, सर्व कर्मों की अपेक्षा, कर्म के फलदाता अर्थात् जो दुःखदाता हैं उनका अरमान विशेष दुःखदायी होता है, शिर पर पाद धरना यह महान् अतिक्रम है अर्थात् तिरस्कार है, जिससे वह बहुत दुःख देता है, वह दुःख भी यदि भक्तों के लिए भजन का साधन होता है तो फिर उनको दुःख किसका, ध्रुव भक्त के चरित्र में मृत्यु के शिर पर पाद धरना स्पष्ट लिखा हुआ है जो भक्त भगवान् की सेवा करते हैं उनको वैकुण्ठ में भी अपेक्षा (आवश्यकता) है, इसलिए उनको वहां शीघ्र जाना चाहिए। कदाचित् दूसरी देह के बनने में देरी लगे क्योंकि जब संस्कार नाश होवे तब अन्य देह बने, इसलिए उसी ही शरीर से वहां (वैकुण्ठ) में शीघ्र जाते हैं तब बीच में मृत्यु प्रतिबन्धक आ जाता है तो उसको देख निडर हो उसका तिरस्कार कर मस्तक पर यों पादों को धरते हैं जैसे सीढ़ीपर पैर धरे जाते हैं, यों मृत्यु का उल्लङ्घन कर वैकुण्ठ को चले जाते हैं ।

यहां 'शिर' कहने का भावार्थ है बड़े-२ साहसों के कर्म अर्थात् भक्तलोग महान् साहसिक कर्म करने में भी नहीं डरते हैं, ऐसे साहसिक बड़े २ कर्म करना ही मृत्यु के शिर पर चढ़ना है, यह आधिभौतिक व्यवस्था है, इस प्रकार भक्त मृत्यु के शिर पर पाद धरते अर्थात् बड़े बड़े २ साहसिक कर्म करते हुए भी सुखी ही रहते हैं, अब आध्यात्मिक व्यवस्था में क्या होता है वह बताते हैं, भक्त लोग, देह दैहिक और वैदिक आदि धर्मों का उल्लङ्घन कर और विरुद्ध कर्म करते हुए भी भगवान् की सेवा को करते रहते हैं अर्थात् भक्त लोग भगवत्सेवा को ही मुख्य एवं स्वधर्म समझने हैं जिससे अन्य धर्मों के उल्लङ्घन शास्त्र विरुद्ध धर्म करने में भी हिचकते नहीं, सेवार्थ ही यों करते हैं, यह भावार्थ है ।

'अखिल सत्त्वनिकेतनतया' यों कह कर यह सूचित किया है कि 'बहिर्मुख' सेवा के अधिकारी नहीं है, किन्तु जो भक्त, समस्त प्राणियों में हरि का स्थान है अर्थात् भगवान् सर्वत्र है, यों समझते हैं वे अधिकारी हैं और वे बिना किसी से विरोध किए भगवत्सेवा करते हैं, 'सर्व तद्विष्णुमीक्षध्वमेवं वस्तोषितो ह्यसौ' जब आप भगवान् को सर्व में स्थित जान कर सेवा करोगे तब भगवान् आप पर प्रसन्न होंगे इस प्रकार सेवा करने से तथा दर्शन भी यों करने से भगवान् प्रसन्न होंगे, अन्यथा यदि यों न कर सेवा करोगे तो उससे दोष लगता है, जैसा कि कहा है 'कुस्ते अर्चाविडम्बनम्' 'भस्मन्येव जुहोति' जो भगवान् को ऐसा न जानकर सेवा करता है वह सेवा की हँसी करता है और जो कुछ करता है वह ऐसे व्यर्थ जाता है जैसे भस्म में होम किया हुआ पदार्थ व्यर्थ जाता है, 'तव' षष्ठी पद देने का भावार्थ यह है कि, केवल आपकी परिचर्या से नहीं किन्तु आपके सम्बन्धी किसी भी पदार्थ की परिचर्या से उसमें निर्भयता आजाती है जिससे वह मृत्यु के शिर का आक्रमण करने से डरता

नहीं किन्तु इसमें सर्वात्मभाव की अपेक्षा है, कारण कि जो यहां सर्व पदार्थों को पृथक् पृथक् देखता है अर्थात् यह दूसरा है वह दूसरा है इस दृष्टि से देख भेद भाव करता है वह मृत्यु को भी जो मृत्यु है उसको प्राप्त होता है, जब इस तरह भेदभाव होता है तब ही मृत्यु अपना पराक्रम दिखा सकती है।

सब का अतिक्रमण करने पर दोष क्यों न होगा ? अथवा धर्म रक्षा करने वालों को क्रोध कैसे न होगा ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'परिवयस' उन प्रसिद्ध विबुधों को भी पशुओं की तरह बांधते हो ।

जहां अपने स्वामी, मृत्यु से भी उत्तम देवों को बांधते हैं वहां उनके सेवक यदि मृत्यु की अवगणना करे तो कौनसा आश्चर्य है, परन्तु आप वाणी से बांधते हैं किन्तु जैसे राजा केवल आज्ञा देता है साक्षात् बान्धने का कार्य तो राजा के सेवक ही करते हैं वैसे ही भगवान् के सेवक ही मृत्यु का उलङ्घन करते हैं कारण कि उनको यों करने का अभ्यास है जिससे उनमें भय उत्पन्न नहीं होता है जैसे सेवक ही गाड़ी में पशुओं को जोतते हैं जिससे वे पशु प्रसन्नता से सेवा करने में लग जाते हैं क्योंकि वे इसको (सेवा को) अपना धर्म समझते हैं, इसी प्रकार भक्तजन ही इनको भगवत्सेवा में लगाते हैं अर्थात् जोड़ते हैं, अतः भक्त सेवा प्राप्त कर कृतार्थ ही होंगे, इसलिए उनको मन में किसी प्रकार बलेश नहीं होता है, इसी तरह सेवकों का देवों से भी उत्कर्ष बताया है, तो भी सेवकों में मर्यादा के अभाव से उनकी निन्दा और अशुद्धता होगी, इस शङ्का के होने पर कहते हैं कि 'त्वयि कृत सौहृदा खलु पुनन्ति न ये विमुखाः' जिन्होंने आपसे सौहार्द किया है वे ही जगत् को पवित्र करते हैं न कि तपस्वी व दूसरे प्रकार के धर्मात्मा जगत् को पवित्र करते हैं, क्योंकि वे (तपस्वी व दानो आदि धर्म करने वाले) आपसे विमुख हैं ।

अयमर्थः य ह अर्थ है 'शुद्धि' दो तरह की है—१—दोषों को निकालने वाली २—गुणों को देनेवाली, गुणों में सबसे उत्कृष्ट गुण को सीमा 'भगवत्सेवा' है जिससे उत्तम अन्य कोई गुण नहीं है जैसा कि कहा है 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्परिचिन्ता सर्वगुणैस्तत्र समासते सुराः' जिसकी भगवान् में निगुण प्रेमलक्षणा अनन्य भक्ति है उस भक्त में सब देव, सब गुणों सहित निवास करते हैं, दोषों की अवधि(सीमा) यानि सबसे महत्तम दोष भगवान् की अवज्ञा है जैसा कि कहा है—

कारिका—'ब्रह्महत्यासहस्रस्य पापं शाम्येत्कथञ्चन ।

न पुनस्त्वय्यवज्ञाते कल्पकोटिशतैरपि' इति वाक्यात् ।

कारिकार्थः—हजार ब्रह्म हत्या का पाप कदाचित् मिट भी जावे किन्तु हे भगवान् ! आपकी अवज्ञा से उत्पन्न पाप करोड़ों कल्पों के सहस्रों वर्ष बीत जाने पर भी नष्ट नहीं होते हैं ।

सुबोधिनी—ततश्च ये गुणवन्तो भवन्ति तैरेव गुणलेशैः निवर्तितदोषाभासाश्च त एवा-
न्येषां दोषान् दूरीकृत्य गुणाधाने समर्था भवन्ति ।

न तु ये दोषपूर्णाः तदंशैरेव निवर्तितसर्वगुणाः
ते शुद्धिं कर्तुं शक्नुवन्तीत्यर्थः । खल्विति
प्रमाणम् ॥

व्याख्यार्थ—जो गुण वाले होते हैं वे ही अपने गुणों के अंशों से दोष तथा दोष सम आचारादि को मिटा देते हैं, इतना ही नहीं किन्तु दोषों को मिटाकर उनमें गुणों को स्थापित करने की शक्ति वाले भी वे ही हैं ।

जो दोषपूर्ण है उन दोषों के अंशों से सर्व गुणा जिनके नष्ट हो गए हैं, वे शुद्धि नहीं कर सकते हैं, 'खलु' निश्चयवाचक पद देने का भावार्थ है कि जो यहां कहा है वह प्रमाण है ।

कारिका—सर्वथा सर्वतः शुद्धा भक्ता एव न चापरे ।

अतः शुद्धिमभीप्सद्भिः सेव्या भक्ता न चापरे ॥१४॥२७॥

कारिकार्थ—भक्त ही सर्वथा सर्व प्रकार शुद्ध हैं, अन्य शुद्ध नहीं हैं, अतः शुद्धि की चाहना वाले को भक्तों की सेवा करनी चाहिए दूसरों की सेवा नहीं करनी चाहिए ॥२७॥

आभास—एवं भजनीयदोषान् भक्तदोषान् परिहृत्य भजने स्थिरीकृतेऽपि प्रातीतिकदोषैरभजनमाशङ्क्य निराकरोति त्वमकरण इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भजन करने योग्य (भगवान्) और भक्तों के दोषों का परिहार कर, उनको निर्दोष सिद्ध किया तथा भजन को भी दृढता स्थिर की, किन्तु जो दोष प्रतीति हो रहे हैं उनको देख कोई भजन करेगा नहीं, 'त्वमकरणः' श्लोक से उस शङ्का का निराकरण करते हैं ।

श्लोक—त्वमकरणः स्वराडखिलकारकशक्तिधरस्तव

बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयाऽनिमिशः ।

वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिव विश्वसृजो

विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः ॥२८॥

श्लोकार्थ—आप इन्द्रिय रहित हैं, स्वयं प्रकाश करने वाले हैं, समस्त क्रिया-कलापों (कारकों) की शक्ति को धारण करने वाले हैं, अतः देव माया से आपकी बलि को धारण करते हैं और खाते हैं । जैसे चक्रवर्ती राजा की आज्ञा अनुसार खण्डपति राजा लोग 'कर' लेकर वह चक्रवर्ती को देते हैं, शेष आप लेते हैं और जो ब्रह्मादि आपने नियत किए हैं, वे आपसे डरते हुए नियत कार्य पूर्णतया करते रहते हैं ॥२८॥

सुबोधिनी तनु भगवानवतारे इन्द्रियवान् प्रतीयते तानि चेन्द्रियाणि नान्यार्थक्लृप्तानि भवन्ति तथा सत्यधर्मत्वं तत्कार्यवाधश्च स्यात् । नापि मुक्तानां जीवानां न्यायसिद्धान्त इव तानि

स्वीकृतुं शक्यानि 'वाङ्मनसि संपद्यते' इत्यादि-श्रुतिभिलयश्रवणात् 'वागग्निरभवत्' इति आधिदैविकभावाच्च तस्मादवैदिकैरेव तादृशः सिद्धान्तः श्रोतुं शक्यः । अत ईश्वरस्येन्द्रियाणि

तन्नियतानि नित्यानि । जीवानामदृष्टैर्वा कृतानि सर्वथा तानीन्द्रियाणि भगवदीयानि भगवदर्थमेव कृतानि प्रतिनियतानीति मन्तव्यम् । ततस्तैः सह स्वाभाविको वा, आध्यासिको वा संबन्धो वक्तव्यः । ततस्द्वारा दोषसंभव इति चेत् तत्राह त्वमकरण इति । तव करणानीन्द्रियाणि कथमपि न सन्तीत्यर्थः । ननु तथा सति कथमिन्द्रियकार्याणीति चेत् तत्राह स्वराडिति स्वेनैव राजते । सर्वसमर्थ स्वरूपमेव तस्य, अन्यथेन्द्रियाणां तत्सामर्थ्यं कुत आगच्छेत् । भूतभूतेन्द्रियकल्पनायां त्वद्वैतविरोधः । किञ्च । अखिलकारकशक्तिधरस्त्वम् । सर्वेषां कारकाणां षण्णामप्याधारादिशक्तयः तेषां शब्दाश्रयत्वादनित्यत्वात् जातिवन्नियतशक्तिमत्त्वे कार्यन्तरानुदयात् सर्वशक्तिमत्त्वे एकेनैव सर्वकार्यसंभवात् शुद्धब्रह्मत्वापत्तेः अनेककृतिवैयर्थ्याच्च सर्वाः शक्तोः कारकाणां भगवानेव सर्वदा विभक्ति । तत्तदवसरे तां तां तत्र स्थापयतीति च मन्तव्यम् । अस्मिन्नर्थेऽन्यथानुपपत्तिरूप हेतुमाह तव बलिमुद्धहन्ति समदन्त्यजयानिमिषा इति । यदि अनिमिषाणां स्वतः शक्तिः स्यात् स्वाधीना वा । तदा भगवते बलि दत्त्वा तच्छेषं स्वयं न गृह्णीयुः । सृष्टौ तथा प्रार्थना च श्रूयते । 'यावद्बलिं तेऽज हाराम

काले' इति वाक्ये । किञ्च । अजया व्याप्तास्ते प्रकृत्या वशीकृताः कथं स्वतन्त्रा भवेयुः । लोके हि अजारक्षका अपि स्वामिने सेवां कुर्वन्ति । अजामात्रपरिग्रहा वा एते अत्यल्पाः । यत्रेन्द्रियस्वामिनामप्येषा गतिः तत्रेन्द्रियशक्तयः कथमिन्द्रियेषु स्थास्यन्तीत्यर्थः । एतदल्पानां कृत्यमित्याशङ्क्य विश्वसृजां महतामप्येतदिति ज्ञापयितुं अल्पान्तररूपं दृष्टन्तमाहुः वर्षभुजोऽखिलक्षितिपतेरिवेति । नव वर्षाणि जम्बूद्वीपे तथान्येषु सप्त सप्त वर्षाणि । तत्र एकैकोऽधिपतिर्भवति । ते सार्वभौमस्य सेवां कुर्वन्ति स्वनिर्वाहार्थम् तथैकैकेन्द्रियस्वामिनः सर्वसङ्घाताधिपतेः सेवां कुर्वन्ति । नाप्येते अप्रयोजकाः किंतु विश्वसृजः । किञ्च । वर्षाधिपतयः कदाचित्स्वतन्त्रा अपि भवन्ति । एते तु केवलं त्वदधीना एवेत्याहुः विदधति यत्र ये त्वधिकृता इति । सुतरा भगवतः सकाशाद्भीताः सन्तः तथा तथा कुर्वन्ति । अन्यथा अनभिप्रेते न प्रवर्तन् ।

'दुर्गन्धे दुष्टशब्दे च विरसे च भयानके ।
खरस्पर्शे दुःखपुञ्जे वर्तन्ते खानि यद्भयात् ।'

सुतरां मलोत्सर्गादौ लोकनिन्दिते अधिकारं न गृह्णीयुः ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् अवतार समय में इन्द्रियों वाले प्रतीत होते हैं, वे इन्द्रियां जीवों को फलदान करने के लिए धारण की हुई नहीं है, यदि यों माना जायगा तो अधर्मपन होगा और इन्द्रियों का कार्य उनसे हो नहीं सकेगा, नैयायिकों के सिद्धान्तानुसार, मुक्त जीवों की इन्द्रियां हैं यों भी स्वीकार करना उचित नहीं, क्योंकि 'वाङ्मनसि संपद्यते' इस श्रुति में कहे अनुसार, वाणी मन में लीन हो जाती है, जिससे सिद्ध है इन्द्रियों का लय हो जाता है और 'वागग्निर्भवत्' (वाणी अग्नि हो गई) इस श्रुति में वाणी का आधिदैविक स्वरूप हो जाना कहा है अतः जो अवैदिक है अर्थात् वेद सिद्धान्त नहीं मानते और न जानते हैं वे ही न्याय सिद्ध स्वीकार कर सकते हैं, वैदिक नहीं स्वीकार कर सकते हैं, किन्तु वैदिक तो उनका सिद्धान्त सुनना भी नहीं चाहते हैं, अवैदिक हो सुन सकते हैं, अतः ईश्वर की इन्द्रियां अपना अपना कार्य करने में समर्थ और नित्य हैं, जीवों की इन्द्रियां उनके अदृष्ट से बनी हैं, वे इन्द्रियां जो भगवान् की हैं, वे तो भगवदर्थ ही बनी हैं, जिससे

१- इन्द्रियां जिस देह में स्थित होती हैं, उसमें ही ज्ञान और क्रिया उत्पन्न कर सकती हैं—दूसरे में नहीं । इस प्रकार का कार्य भगवान् की ये इन्द्रियां नहीं करती हैं ।

वे प्रत्येक कार्य करने के लिए नियत की हुई है यों मानना चाहिए, इसलिए उन इन्द्रियों के साथ भगवान् का स्वाभाविक वा अध्यास से हुआ सम्बन्ध कहना चाहिए, यदि कहो कि इससे भगवान् में दोष का सम्भव होगा, तो उसका जवाब है कि 'त्वमकरणः' आपकी इन्द्रियां है ही नहीं, यदि इन्द्रियां नहीं हैं तो इन्द्रियों का कार्य कैसे करते हैं ? इसका उत्तर है कि 'स्वराट्' उनका स्वरूप ही सर्व समर्थ है, वह स्वरूप से ही सर्व कार्य करने में समर्थ हैं, उनको इन्द्रियों की आवश्यकता ही नहीं यदि यों आप में सर्व सामर्थ्य न हो तो इन्द्रियों में सामर्थ्य कहां से आवे ? यदि इन्द्रियां मूलभूत है अर्थात् पहले ही थी यों माना जावे तो 'अद्वैत' सिद्धांत की हानि होती है, द्वैत हो जाता है ।

और विशेष, आप सर्वकारक, जिन शक्तियों को धारण करते हैं वे सब शक्तियां आप एक ही धारण करते हैं, जिससे सिद्ध हुआ कि जब भगवान् कारकों का कार्य भी कर सकते हैं तो भगवान् को इन्द्रियों के कार्य करने में क्या है ? वह सर्व समर्थ होने से सब कुछ कर सकते हैं, वे छ कारक आधार आदि शक्तियों वाले हैं, वे कारक शब्दों के आश्रित होने से, अनित्य होने से और जाति की भांति नियत(मुक्तर)शक्तिवाले होने से अन्य कार्य कर नहीं सकते हैं और जो सर्वशक्तिमान् है उस एक से ही सर्व कार्य का होना बनसकता है, जिससे शुद्ध ब्रह्मत्व होजाता है इससे अनेक कारक होने की कृति व्यर्थ सिद्ध होती है, कारकों की सर्व शक्तियां सर्वदा भगवान् ही धारण कर, जब जब जिस शक्ति की आवश्यकता होती है तबतब उस शक्ति को उनमें स्थापित करते हैं, यों मानना चाहिए, इस विषयमें अन्यथाऽनुपपत्तिरूपं हेतु कहते हैं 'तव बलिमुद्रहन्ति समदन्त्यजयानिमिषा इति' सावधानदेव प्रथम आपको बलि देकर, शेष आप खाते हैं, यदि देवों में स्वतः स्वसामर्थ्य होनी और वे, स्वतन्त्र होते तो भगवान् को बलि देने के बाद शेष बलि (उच्छिष्ट) स्वयं न लेते, सृष्टि प्रसंग में ऐसी प्रार्थना की है, जैसे कि 'यावद्बलि तेऽज हराम काले' इस भागवत के श्लोक में लिखा है कि हे अजन्मा ! 'समय पर जब तक आपके लिए बलि ले आए' और विशेष वे प्रकृति के वशीभूत होने से, स्वतन्त्र बन नहीं सकते हैं लोक में भी देखा जाता है कि जो बकरियों की पालना करते हैं वे भी स्वामी के लिए ही सेवा करते हैं, अथवा जिनका घन केवल बकरियां ही हैं, वे बहुत अल्प हैं, जहां इन्द्रियों के स्वामियों की भी यह दशा है तो वहां इन्द्रियों की शक्तियां कंम इन्द्रियों में रह सकेगी ? ये दृष्टान्त तो अल्पों के कृत्य का दिया है यदि ऐसी शङ्का हो तो उस पर महान्गुरुषों का भी यही कृत्य है यह समझाने के लिए थोड़े अन्तर से दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि 'वर्षभुजोऽखिलाक्षिति-पतेरिवेति' खंड खंड के राजा चक्रवर्ती राजा के आधीन रहते हैं वैसे, जंबूद्वीप में नव खंड हैं, इषो तरह अन्य द्वीपों में सात सात खंड है, उस उस खंड में एक एक खंड का स्वामी पृथक् पृथक् है, वे खडाधिपति अपने-२ निर्वाह के लिए चक्रवर्ती की सेवा करते हैं, वैसे प्रत्येक इन्द्रियों के स्वामी सर्व संघात के स्वामी की सेवा करते हैं, पुनः वे इन्द्रियों के स्वामी निर्वीर्य नहीं हैं किन्तु विश्व की रचना करने वाले हैं, और विशेष यह भी है कि खंड के राजा कभी स्वतन्त्र भी हो जाते हैं किन्तु ये तो केवल आपके ही आधीन हैं, यों कहने के लिए कहते हैं कि 'विदधति यत्र ये त्वधिकृता' इति, जिस अधिकार पर उनको स्थापित किया वहाँ वे आज्ञानुसार कार्य करते रहते हैं, भगवान् से भयभीत होने से वैसे वैसे कार्य करते हैं जैसी २ जिस समय आज्ञा पाते हैं, यदि भगवान्

का डर न होता तो, जिस कार्य करने की चाहना नहीं, उसमें भी प्रवृत्ति न करते, अब तो इन्द्रियां जिसके भय से दुर्गन्धवाले, दुष्ट शब्दों वाले, रस रहित पदार्थ में, और भयानक, कठिन स्पर्श वाले, तथा दुःख पूर्ण कार्य में भी प्रवृत्त होते हैं, यदि निर्भय होते तो मल के त्याग जैसा कार्य जो लोक में निन्दित है, उस कार्य करने का अधिकार कदापि न लेती ।

कारिका — सुवर्णप्रतिमेवासौ सर्वानन्दमयोऽधिराट् ।

सर्वसेव्यो नियन्ता च निर्दुष्टः सर्वथैव हि ॥१५॥२८॥

कारिकार्थ — सुवर्ण की प्रतिमा के समान, यह (श्रोकृष्ण) सर्वानन्दपूर्ण, सर्व भीमराजा, सर्व, जिनकी सेवा करते हैं, सबको अपने वश में रखने वाले, सर्वथा ही दोषों से रहित हैं ॥१५॥२८॥

आभास—एवं धर्मधर्मिप्रकारेण भजनार्थं दोषाभावमुक्त्वा कार्यद्वारा प्राप्तं दोषं निराकुर्वन्ति स्थिरचरजातयः स्युरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार यह सिद्ध किया है कि भजन करने में, धर्म वा धर्मों प्रकार से कोई दोष नहीं है, अब 'स्थिरचरजातयः' श्लोक से कार्य द्वारा प्राप्त दोषों का निराकरण करते हैं—

श्लोक—स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो

विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः ।

न हि परमस्य कश्चिदपरो न परश्च

भवेद्वियत इवापदश्च तव शून्यतुलां दधतः ॥२९॥

श्लोकार्थ—हे माया सम्बन्ध से विमुक्त ! जब आप पर पुरुष की क्रीड़ा करने की इच्छा होती है, तब स्थावर और जङ्गम जातियाँ स्वयं ही उत्पन्न होती हैं और साथ में वे इच्छा प्रकृति से उत्थित कर्म भी धारण करती हैं ।

अक्षर से भी आगे विराजमान आप से कोई अन्य पर या अपर नहीं है; क्योंकि स्थान रहित आप आकाश के समान शून्य की समानता धारण करते हैं ॥२९॥

सुबोधिनी - ननु यदि भगवान् पूर्णानन्दः सर्वदोषविवर्जितस्तर्हि किमर्थं तदंशाः नानाविधां योनिं प्राप्नुवन्ति । अतो ज्ञायते भगवानेव तानुत्पादयति स्वहितार्थम् । अन्यथा तेषामुत्पत्तिर्न घटेतेति चेत् तत्रोच्यते । यदि तव विहरः विहारः स्वानन्देन क्रीडा, यथा राज्ञः स्वगृहे रममाणस्यापि तदानन्दोद्रेकात् बहिर्गमनेच्छा भवति तथा भगवतोऽपि कदाचिद्विहारः । तदा स्थिरचरजातयः

स्थावरजङ्गमभेदाः स्वयमेवोत्पद्यन्ते यथा वर्षा-काले जीवाः । नहि पर्जन्यः वर्षणादधिकं किञ्चित् कार्यं करोति जीवानामुत्पत्त्यर्थम् । तथा भगवानपि केवल एव विहरति । ततश्चेष्टयामुद्भूतायां स काल इति तेन प्रकृत्यादिशक्तयः प्रेरिता भवन्ति । यथा राजनि निर्गते सेवका अप्रेरिता अपि कार्येषु प्रवर्तन्ते तथा कालो गुणक्षोभं कृतवान् । तथा प्रबलाग्नौ उद्भूते विस्फुलिङ्गा इव

जीवा अपि निःसरन्ति । ततः कालेन क्षुब्धा गुणाः साक्षात्परम्परया च सर्वमेव कार्यजातमुत्पादयन्ति । ततस्ते जीवाः भगवतः सकाशान्निर्गताः प्रकृतिमुपगूह्य यत्र क्वचित्कामवशात् निमित्तं, कर्म, अज्ञानं वा समाश्रित्य नानाविधयोनीः प्राप्नुवन्ति । यथा विस्फुलिङ्गा अग्नेर्निर्गताः वायुमालिङ्ग्य तेन यतःकुतश्चिन्नीयमानाः तृणादिषु पतिता उद्भवं प्राप्नुवन्ति । जले पतिताः निर्वीर्या भवन्ति । भूमौ पतिताः मध्यभावेन तिष्ठन्ति । न त्वत्र मूलभूतो वह्निः कमपि विस्फुलिङ्गं क्वचिद्योजयति । तथेदमिति निरूपयन्ति अजया प्रकृत्या उत्थिताः सन्तः तयैवोत्थित कर्मापि निमित्तं युञ्जत इति । विहार एव तत्र निमित्तम् । केवलक्रियाशक्तेर्निमित्तत्वमाशङ्क्य ज्ञानशक्तिमप्याहुः उदीक्षयेति । यदा उद्गता ईक्षा भवति तया सहितश्च विहारः ज्ञानपूर्विका क्रीडेत्यर्थः । ननु विहारोऽप्यजया भवतु तथासति प्रकारान्तरेणापि दोषः स्यादत आह परस्येति । अजायाः परो नियामकः । ननु भार्ययैव तया मोहोऽस्तु आसक्तिर्वा तस्याम् । हे ततो विमुक्तेति । तया सह संबन्ध एव नास्ति । यतः सा किञ्चिदपि कार्यं कुर्यात् । यथा राज्ञः प्रेरिका क्षुद्रा दास्यो न भवन्ति क्वापि विहारे । ननु मा भवतु प्रकृतिगुणाः कालो वा अन्या एवान्तरङ्गाः शक्त्यस्तत्प्रेरिका भवन्तु ताभिरेव दोषसंबन्धः स्यादत आह न हि परमस्येति । परमस्यातिपर-

स्य अक्षरादप्यग्रे स्थितस्य लोकवार्तानभिज्ञस्य कश्चिदपि पदार्थः अपरः हीनः पर उत्कृष्टो वा न भवेत् विहारार्थमेव राजदृष्टान्तः न तु प्रेरणार्थः तं प्रेरयति कश्चित् यस्य प्रेर्यो विषयो भवति यथान्तःकरणं चक्षुःश्रोत्रे बोधनार्थं ततोऽश्वशस्त्रादिक्रियार्थं, तत्रान्तरङ्गः सामग्रीसम्पादकः प्रेरको वा भवति । यस्तु केवल एवानन्दः सर्वसम्बन्धरहितो भवति तं कथं कश्चित्प्रेरको भवेत् । तत्र भगवतः सामग्र्यभावमाह, सामग्री पञ्चविधा स्वरूपं, स्थानं, विशेषाकृतिः, उत्कर्षाकर्षभावापन्नाः पदार्थाश्च ते केऽपि भगवति न सन्ति यतः सर्वेभ्यः परम उत्कर्षाकर्षभावरहितः सर्वविलक्षणः । अत एव तस्य कोऽपि नावरः परोपि न । नकारद्वयं पृथगेव निदिशति । सर्वनिषेधानां स्वतःसिद्धचर्यं अपदश्च स्थानरहितोऽपि भवति । चकारात्तत्सामग्रीरहिश्च । ननु पदार्थः सर्वोऽपि साधारो भवतीति कथमयं निराधार इति चेत् तत्र दृष्टान्तमाह वियत इवेति । आकाशसदृशस्य कयापि क्रियया अव्यापृतस्य, अनेन सर्वविशेषरहित उक्तः । स्वरूपमपि न कस्यचित्प्रत्यक्षमित्याह शून्यतुलां दधत इति । शून्यवादव्युदासाय तुलापदम् । एतदेवाहुः 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' 'अरूपमस्पर्शम्' इत्यादिश्रुतयः । केवलम् 'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' अत एतादृशं को वा जानीयाद् यतः प्रेरयेत् ॥

नक अश (जाव) अनर्क
इत के लिए उत्पन्न करत
के लिए कहा जाता है कि
भी राजा को कभी बाहर
करने की इच्छा होती है
वर्षा काल में जीव स्वयं
कोई प्रयत्न नहीं किया
छा का उत्पन्न होना ही
बाहर घूमने निकलते
में क्षोभ (घबराहट)

व्याख्या—यदि भगवान् प्रेरणान्तेदहं, सर्वेदाया से राहत ह, ता उ
योनियों में क्यों भटकते है ? इससे जाना जाता है कि भगवान् ही अपने दि
हैं, नहीं तो उनकी उत्पत्ति हो नहीं सकती, इस शङ्का का निराकरण करने
'यदि तव विहार उदीक्षया' जैसे अपने महल में आनन्द से रमण करते हुए
घूमने व खेनने की इच्छा होती है वैसे आपको भी बाहर आनन्द से क्रीड़ा
तब स्थावर और जङ्गम जातियां वैसे ही स्वतः उत्पन्न हो जाती है, जैसे व
उत्पन्न हो जाते हैं, उन जीवों की उत्पत्ति के लिए वर्षा होने के सिवाय अन्य
जाता है वैसे ही भगवान् भी केवल क्रीड़ा करने के लिए इच्छा करते है। इ
काल है, वह काल प्रकृति आदि शक्तियों को प्रेरित करता है, जैसे राजा क
देखकर ही बिना कहे, सब सेवक काम में लग जाते हैं, वैसे ही काल भी गु

उत्पन्न करता है वैसे ही अग्नि जब प्रचण्ड रूप धारण करती है, तब उसमें से चिनगारियां उत्पन्न होती हैं, त्यों जीव भी उस समय उत्पन्न हो जाते हैं, और काल से घबराहट को प्राप्त गुण, साक्षान् वा परंपरा से, सर्व कार्य मात्र को पैदा करते हैं, पश्चात् जो जीव भगवान् से चिनगारियों की भांति निकलते हैं वे प्रकृति से मिलकर, कामनाओं के वश निमित्त, कर्म अथवा अज्ञान का आश्रय कर जहां कहीं अनेक प्रकार की योनियों को ग्रहण करते हैं ।

जैसे अग्नि से निकली हुई चिनगारियां वायु से मिलती है तो फिर वह वायु उन्हें जहाँ कहीं भी लेजाती है तो वहां उनको विवश होने से जाना ही पड़ता है, यदि जाते हुए तिनकों पर पड़ती है तो बढ़ जाती है और कदाचित् जल में गिर पड़ी तो बुझ जाती है, पृथ्वी पर गिरने से मध्यास्थिति हो जाती है, मूलभूत अग्नि जिससे चिनगारियां उत्पन्न होती है, वह अग्नि किसी चिनगारो को कहीं भी नहीं जोड़ती है वैसे ही ये जीव जिससे उत्पन्न हुए हैं वह मूलभूत अक्षर इनके प्रेरक नहीं है, किन्तु प्रकृति से उत्थित होते हुए और उस अज्ञा से उत्थित कर्म ही निमित्त बन जाते हैं, विहार (क्रोड़ा) ही निमित्त है, केवल क्रिया शक्ति निमित्त कैसे होगी ? इस शक्ता के मिटाने के लिए ज्ञान शक्ति को भी कहा है कि 'उदीक्षया' जब इच्छा उत्पन्न होती है तब इस इच्छा के होते ही क्रोड़ा की जाती है, यह ही ज्ञान शक्ति है, अर्थात् इसी तरह जो क्रोड़ा होती है वह ज्ञान पूर्वका क्रोड़ा है, इस प्रकार ज्ञान पूर्वक क्रोडाथ ही जीव का भगवान् से निर्गमन हुआ है ।

विहार, अज्ञा के साथ होने पर भी प्रकारान्तर से भगवान् में दोष होता है, इस शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि 'परस्थ' वे प्रकृति से पर हैं अर्थात् उसके नियामक हैं । ठीक है, आप नियामक हो किन्तु, वह प्रकृति जो भार्या है उससे मोहित होने से उसमें आसक्ति तो होगी हो; जिस शङ्का की निवृत्ति करते हैं कि, हे ततो विमुक्त! उस प्रकृति से आपका सम्बन्ध ही नहीं है, जिससे वह आपको वश में करने का कुछ भी कार्य कर सके, क्योंकि वह आपकी दृष्टि में तुच्छ सेविका है, जैसे राजा के विहार में क्षुद्र दासियां नहीं होती हैं, वैसे ही यह भी आपके विहार में नहीं है । ये प्रकृति के गुण, वा काल, भले ही प्रेरक नहीं हो किन्तु दूसरी अन्तरङ्ग शक्तियां तो उनको प्रेरणा करने वाली होती हैं, उनसे ही दोष सम्बन्ध होना चाहिए, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'न हि परमस्य' अर्थात् जो अक्षर से भी उच्च उत्कृष्ट है और लौकिक वार्ताओं से सर्वथा अनभिज्ञ है, उससे जो कोई पदार्थ ही नहीं है वह उत्कृष्ट हो नहीं सकता है, राजा का दृष्टान्त विहार के लिए ही है, न कि प्रेरणा के लिए है, जिसको भोग के लिए किसी विषय (पदार्थ) प्राप्त करने की इच्छा होती है उसको ही कोई प्रेरणा करता है, जिसको भोगेच्छा ही नहीं उसको कोई प्रेरणा नहीं कर सकता है, जैसे राजा, भोग पदार्थ के जानने वा सुनने की इच्छा करता है तब अन्तःकरण उसके लिए आंख और कान को प्रेरणा करता है, प्रेरणा होते ही राजा उस पदार्थ को देखने एवं जानने के लिए तैयार होता है, पश्चात् राजा अश्व शस्त्रादि से विहारक्रिया करना चाहता है तो उसका अन्तरङ्ग सेवक वह सामग्री तैयार करता है और उसका प्रेरक बनता है, किन्तु जा भगवान् केवल आनन्दमय है और सर्व सम्बन्ध रहित होने से भोगादि की इच्छा ही नहीं करते हैं, उनको कोई कैसे प्रेरणा कर सकता है ? वहां भगवान् के लिये इसलिए सामग्री नहीं है, यह बताते हैं । सामग्री पांच प्रकार की होती है, १—स्वरूप, २—स्थान, ३—विशेषाकार, ४—उत्कर्ष

श्रीर ५—अपकर्ष, भाव को प्राप्त पदार्थ, इनमें से कोई भी पदार्थ भगवान् में नहीं है, क्योंकि सबसे आप उत्तम हैं, जिससे उत्कर्ष और अपकर्ष भाव से रहित हैं, अतः सबसे विलक्षण हैं, इसलिए उनसे उच्च वा नीच कोई नहीं है। श्लोक में दो 'न' शब्द देकर यह सूचित किया है कि भगवान्, सबसे पृथक् हैं, सकल पदार्थों से भगवान् विलक्षण प्रकार के हैं इसकी स्वतः सिद्धि होने के लिए 'अपदश्च' पद से कहा है कि स्थान रहित भी होते हैं और 'च' से उस सामग्री से भी रहित हैं, प्रत्येक पदार्थ आधार वाला ही होता है, फिर यह निराधार कैसे हो सकता है ? इस शङ्का को दृष्टान्त देकर मिटाते हैं कि 'वियत इव' जैसे आकाश किसी भी क्रिया में व्यापृत नहीं है, वैसे ही भगवान् भी सर्व प्रकार क्रिया मात्र से अव्यापृत है, इससे भगवान् को सब विशेषों से रहित कहा है, स्वरूप को भी अप्रत्यक्ष कहा है, 'शून्यतुलां दधत' इस पद से शून्यवाद का भी निराकरण किया है, यदि शून्यवाद कहना होता तो केवल 'शून्य' पद कहते 'तुला' समानता पद देकर शून्यवाद का तिरस्कार किया है, इसलिए ही 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः' 'अरूपमस्पर्शम्' इत्यादि श्रुतियां कहती हैं, कि 'यह पुरुष संग रहित है' 'रूप और स्पर्श रहित है' 'मात्र' भगवान् है, इतना ही जानने योग्य है, अतः ऐसे भगवान् को कौन जान सकता है, यह ऐसा है कि वैसा है जिससे प्रेरणा कर सके ॥२८॥

कारिका—सर्व भावनिविर्मुक्तः पूर्णः क्रीडार्थमुद्गतः ।

निमित्तं तं समाश्रित्य जायन्ते जीवराशयः ॥१६॥२६॥

कारिकार्थ—सर्व लौकिक भावों से रहित, पूर्ण प्रभु श्रीकृष्ण, क्रीडा के लिए जब तैयार होते हैं, तब क्रीडा रूप काल के किए हुए गुणों की घबराहट का आश्रय व निमित्त लेकर जीव समूह चिनगारियों की तरह उनसे निकलते हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं ॥१६॥२६॥

आभास—एवं जीवानां नानाविधयोनिसंबन्धेन प्राप्तो दोषः परिहृतः, अधुना प्रसङ्गाद् भगवतो माहात्म्यसिद्धयर्थं जीवानां भगवदधीनत्वं स्थापयितुं स्वातन्त्र्य-पक्षमनूद्य निराकुर्वन्ति अपरिमिता ध्रुवा इति ।

आभासार्थ—इसी तरह जीव में अनेक योनियों के सम्बन्ध से जो दोष आता है वह भगवान् में नहीं है, यह सिद्ध कर भगवान् में जब दोष नहीं है तो भगवान्-माहात्म्य भी विशेष होगा, ऐसे प्रसङ्ग में भगवान् का माहात्म्य सिद्ध करने के लिए और जीव भगवान् के आधीन हैं यह भी स्थापन करने के वास्ते 'अपरिमिता' श्लोक में जीव स्वतन्त्र है इस सिद्धान्त का वर्णन कर बाद में निराकरण करते हैं—

श्लोक—अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगतास्तहि

न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा ।

अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तु

भवेत्सममनुजानतां यदमतं मतदुष्टतया ॥३०॥

श्लोकार्थ—यदि अगणित नित्य जो जीव है, वे व्यापक हों तो नियम्य नहीं हो

सकते हैं अर्थात् उनके ऊपर किसी का भी नियम नहीं रह सकता है; क्योंकि नियम्य और नियामक भाव तब रह सकता है कि जब एक अणु होवे, दूसरा व्यापक होवे । यह कहने का तात्पर्य है कि जब जीव अणु हो और भगवान् व्यापक हो, तब नियम्य व नियामक भाव बन सकता है, ब्रह्ममय होकर ही जीव रूप से प्रकट हुए हैं, किन्तु यदि वे ब्रह्मात्मता का त्याग न करे, तो फिर नियन्ता कौन होगा? अर्थात् कोई नहीं । ब्रह्म सर्वत्र सम है, इसलिए नियम्य-नियामकत्व भाव जो लोग नहीं मानते हैं, उनका मन दोष पूर्ण होने से अमत है अर्थात् मान्य करने योग्य नहीं है ॥३०॥

सुबोधिनी—जीवानां व्यापकत्वे स्वरूपतो भगवन्नियम्या न भवेयुः । भोगमोक्षदुःखाभावार्थं तदपेक्षा व्यापकत्वे न भयिष्यतीति अग्रे वक्तव्यम् । अतो यदि श्रौत एव न्यायः विस्फुलिङ्गरूपः अङ्गीक्रियते तदैव नियम्यनियामकभावो भवति न स्मार्तपक्षे व्यापकत्वे, तदर्थं व्यापकता निराक्रियते । केचन नैयायिकादयः जीवं व्यापकं मन्यन्ते । तेषामयमभिप्रायः, नित्यः अणुर्वा व्यापको वा भवति । नावान्तरपरिमाणवान् अवान्तरपरिमाणमनित्यत्वेन व्याप्तम् । अणुपरिमाणत्वे सर्वशरीरव्यापिचैतन्योपलम्भो न स्यात् । किञ्च । देशान्तरे यदद्रव्यमस्मद्भोगायोत्पद्यते तत्रास्मददृष्टं कारणत्वेन वक्तव्यम् । अत उत्पत्तिदेशे अदृष्टवदात्मसंयोगः कारणं वर्तत इत्यात्मनो व्यापकत्वसिद्धिः । तेन आत्मानो देशपरिच्छेदरहिताः । ध्रुवा इति कालपरिच्छेदरहिताः । यद्यात्मा अनित्यः स्यात् । अनिमोक्षः स्यात् । व्यापकस्य चानित्यत्वमसिद्धम् । किञ्च । सर्वगतास्ते सर्वत्र तेषां सकलमूर्तद्रव्यसंयोगो वक्तव्यः । अन्यथा तेषां भोगसाधनाय तानि द्रव्याणि न भवेयुः । न ह्यनादिसंसारे कश्चित्पदार्थः वस्यचिन्न भवतीति सिद्धम् । एवमात्मनः परिच्छेदद्वयाभावः सकलमूर्तद्रव्यसंयोगश्च अवश्यमङ्गीकर्तव्य इति तन्मतमनूय परिहरति तनुभृतो यदि सर्वगतास्तर्हि न शास्येतीति नियमः । अत्र शासनं न कर्मनिमित्तं तत्तु यमादिकार्यं किंतु दासस्वामिवत् नियम्यनियामकभावः ।

व्यापकत्वे जीवानां दासत्वं न स्यादित्यर्थः । तथासति नेश्वरश्च सेत्स्यति प्रयोजनाभावात् । सर्वत्रात्मनः कारणत्वेन विद्यमानत्वात् स्वभोगस्तेनैव सम्पादयितुं शक्यते अदृष्टनियामकं तु कर्मैव भोगस्त्वदृष्टनियम्यः, कर्म प्रयत्ननियम्यमतो जीवार्थमीश्वरापेक्षाया अभावात्तेश्वरोऽपि सेत्स्यति नियम्यनियामकभावो दूरे । यच्छ्रुतय एवमाहुः नियम्यनियामकभावो न सेत्स्यतीति । तासामयमभिप्रायः भोगनियामकः परमेश्वर एव । अन्यथा भोगनियमो न स्यात् । दृश्यते च भोगनियमः बहुषु विद्यमानेष्वेकस्मिन् शरीरे सर्वेषामेव संबन्धस्य तुल्यत्वात् एकशरीरे आम्नफले भक्षिते कथमेकस्यैव सुख भवेत् । तददृष्टेन जनितमिति चेत्तस्यैव तददृष्टं नान्यस्येत्यत्र को नियमः । आत्मसंयोगस्य तुल्यत्वात् ज्ञानेच्छाप्रयत्नानामपि तुल्यत्वापत्तिः । नचेश्वरव्यतिरेकेण कश्चिदन्यो नियामकोऽस्ति येन प्रतिनियतभोगदर्शनस्य नियमः सिद्धयेत् । ईश्वरे तु नियामकेऽङ्गीक्रियमाणे एक एव भुङ्क्ता नान्य इति ईश्वरनियमनात् नियमः सङ्गच्छते । तथा अदृष्टेऽपि । अतोऽवश्यं भोगनियमार्थं ईश्वरो नियामको वक्तव्यः । तच्च व्यापकत्वे न सङ्गच्छते । महत्त्वेन तस्याभिमानात् तुल्यत्वाच्च न भगवन्तं मन्यते । ईश्वरेणैव चेद्भोगः सेत्स्यति प्रतिनियतस्तर्हि व्यापकता न वक्तव्या । अणुपरिमाणस्यापि आदेहव्यापी चैतन्यगुणः सम्भवति गन्धवत्, आश्रयाविच्छेद एव गन्धस्य युक्तो दृष्टत्वात् यत्र

निरन्तरोत्पत्तिर्मुग्यते । अन्यथा आश्रयमपि परित्यज्य पत्रपुष्पादिवदन्यत्र गच्छतीत्येव मन्तव्यं वायोर्गन्धवाहत्वप्रसिद्धयः । 'यथा वृक्षस्य संपुष्पितस्य दूराद्गन्धो वाति' इति श्रुतेश्च । अवयवगतिकल्पना तु योजनगन्ध्यायां बाधिता ॥

व्याख्यार्थ—यदि जीव व्यापक है यों माना जायगा तो जीव अपने को व्यापक जानकर भगवान् के वश में नहीं रहेगा, भोग और मोक्ष के लिए तथा दुःखों के अभाव होने के वास्ते जीवों को भगवान् की अपेक्षा न रहेगी, यों आगे कहा जायगा, अतः यदि श्रुति में जो सिद्धान्त कहा गया है कि जीव चिन्तनगरी रूप है, इसको माना जायगा, तब ही नियम्य नियामक भाव सिद्ध हो सकेगा, न कि स्मार्त पक्षानुसार जीव को व्यापक मानने से सिद्ध होगा, श्रुति सिद्धान्त ही सम्पूर्ण है, इसलिए ही हम जीव की व्यापकता का निराकरण करते हैं ।

वितने ही नैयायिक आदि मत वाले जीव को व्यापक मानते हैं, उनका यह अभिप्राय है, नित्य पदार्थ वह होता है, जो अणु हो अथवा व्यापक होवे, जो मध्यम परिमाण वाला पदार्थ है वह नित्य नहीं होता है, क्योंकि अवान्तर (मध्यम) परिमाण अनित्यपन से आवृत,^१ यदि जीव को अणु माना जायगा तो सर्व शरीर में जो चैतन्य व्याप्त दीखता है, वह नहीं होना चाहिए, और विशेष, देशान्तर में हमारे भोग के लिए जो द्रव्य उत्पन्न होता है, उसका कारण हमारा अदृष्ट^२ कहना चाहिए, अतः उत्पत्ति वाले प्रदेश में अदृष्ट की तरह आत्मा का संयोग भी कारण है, इससे सिद्ध है कि 'जीव' व्यापक है, इससे जीव देशपरिच्छेद^३ रहित है और ध्रुव होने से काल परिच्छेद रहित है, जो जीव को अनित्य माने जायेंगे, तो जीव मुक्त न हो सकेंगे, और जो व्यापक है, वह अनित्य हो नहीं सकता है, 'सर्वगतास्ते' उनका सकल मूर्त द्रव्यों के साथ सर्वत्र संयोग है यों कहना चाहिए, जो, यों नहीं माना जायगा तो उनकी^४ भोग पूर्ति के लिए जिन द्रव्यों की आवश्यकता है, वे उत्पन्न ही न हो क्योंकि, इस अनादि संसार में कोई भी पदार्थ किसी के लिए नहीं है, यों सिद्ध नहीं होता है, अर्थात् सर्व पदार्थ सब अपने भोग में ला सकते हैं, इसी प्रकार आत्मा (जीव) में दो^५ परिच्छेदों का अभाव और सकल मूर्तद्रव्यों का सम्बन्ध अवश्य अङ्गीकार करना चाहिए, इस प्रकार नैयायिकों का मत कह कर, अब उसका निराकरण करते हैं ।

'तनुभृतो यदि सर्वगतास्तहि न शास्यतेति नियमः' व्यापक होने से जीवों का सर्व पदार्थों से सम्बन्ध होगा, अतः वे किसी के नियम में नहीं रह सकते हैं, यह नियम है, इस विषय में जो नियम्य नियामक भाव है, वह कर्म निमित्त जो शिक्षा आदि मिलती है, उसके समान नहीं है, क्योंकि कर्म फल से जो शिक्षा आदि देने का शासन है, वह यम आदि देवों का कार्य है, किन्तु यहां तो दास और स्वामी की तरह नियम्य और नियामक भाव की स्थिति है । यदि जीव व्यापक माने जायेंगे, तो उनमें दासत्व नहीं बनेगा, यदि वे दास नहीं रहेंगे तो उनको नियामक का प्रयोजन नहीं होगा, जिससे ईश्वर की सिद्धि भी नहीं हो सकेगी । सर्वत्र जीव ही सर्व विषयों में कारण हो जाने से अपना भोग

१—व्याप्त, घिरा हुआ है, २—प्रारब्ध,

३—सीमा रहित, अर्थात् जीव के लिए देश अथवा काल की सीमा नहीं है क्योंकि व्यापक है,

४—जीवों की ५—देश, काल

आदि भी आप ही सम्पादन करते रहेंगे, अदृष्ट का नियामक तो कर्म ही है भोग तो अदृष्ट से नियम्य है और कर्म प्रयत्न से नियम्य है, अतः जीव के लिए ईश्वर की अपेक्षा न होने से जब ईश्वर भी सिद्ध न हो सकेगा तो नियम्य^१ और नियामक^२ की बात तो दूर रहो ।

श्रुतियाँ कहती है कि नियम्य और नियामक भाव सिद्ध नहीं होगा अर्थात् नहीं बन सकता है, श्रुतियों के यों कहने का अभिप्राय यह है कि, भोग का नियामक तो ईश्वर ही है, नहीं तो भोग का नियम रहेगा नहीं, और भोग का नियम तो प्रत्यक्ष निश्चित हुआ देखने में आ रहा है ।

नैयायिक सिद्धान्तानुसार जीव अनेक हैं और वे सब व्यापक हैं, जिससे सबका सब पदार्थों से समान सम्बन्ध है, जब एक शरीर, फल खाता है तब सब शरीरों को तो उस फल भोग का सुख प्राप्त नहीं होता है, केवल उस एक शरीर को ही प्राप्त होता है दूसरों को नहीं, यों क्यों होता है ? यदि कहो कि अदृष्ट से यों होता है तो, यह बतलाइए कि वह इस एक का ही अदृष्ट है दूसरे का नहीं है, जिसके लिए कौनसा नियम है ? उस अदृष्ट के साथ संयोग तो व्यापक होने से सबका समान है, इसलिए सबका ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न भी समान होने चाहिए, ईश्वर के सिवाय दूसरा कोई नियामक नहीं बन सकता है, जिससे प्रत्येक को नियम से भोग की प्राप्ति होती देखने में आती है, ईश्वर के नियामक होने से, एक ही भोग करता है दूसरा कोई भी उसका भोग नहीं कर सकता है, यह नियम तब तक चल रहा है, जब ईश्वर के हाथ में नियामकत्व है, अदृष्ट के सम्बन्ध में भी यों ही समझना चाहिए, कि उसका भी नियामक ईश्वर है, अतः भोग के नियम के लिए अवश्य ईश्वर का नियामकत्व स्वीकार करना चाहिए, वह नियामकत्व जीव का व्यापकत्व मानने से सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि जीव को व्यापकत्व से, महानता और तुल्यता का अभिमान हो जाता है, जिससे वह भगवान् को नहीं मानता है, यदि भोग का ईश्वर से ही मिलना नियमित माना जाएगा तो जीव की व्यापकता न रहेगी, अर्थात् जीव व्यापक नहीं है, यों स्वीकार करना पड़ेगा, 'अणु' मानने से जीव का चैतन्य गुण सारी देह में जो व्याप्त दीखता है वह नहीं होना चाहिए, इस शङ्का का निराकरण करते हुए कहते हैं कि 'गन्धवत्' जैसे पुष्पकी गन्ध दूर दूर फैलती है वैसे अणु जीव का चैतन्य भी समग्र देह में व्याप्त रहता है, जब गन्ध की उत्पत्ति की खोज की जाती है तो देखने में आता है कि गन्ध अपने आश्रय से पृथक् नहीं होती है, बाहर फैलते हुए भी उसमें ही रहती है, वह उचित ही है, यदि यों माना जाय कि गन्ध के अवयव उत्पन्न होते हैं वे दूर दूर चले जाते हैं, वह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यों होवे तो पत्र पुष्पादि की भाँति गन्ध भी अपने आश्रय का त्याग कर दूसरे स्थान पर जावे वह तो होता नहीं, अर्थात् वह (गन्ध) अपने आश्रय का त्याग करती नहीं है, वायु द्वारा गन्ध दूर जाती है यह प्रसिद्ध है, जैसे भगवती श्रुति कहती है कि 'यथा वृक्षस्य सपुष्पितस्य दूराद्गन्धो वाति' फूलों से भरे हुए वृक्ष की गन्ध को वायु दूर ले जाती है, अवयव भले नवीन उत्पन्न न हों किन्तु वे ही अवयव दूर दूर चले जाते हैं यह कहना भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि योजन पर्यन्त गंध जाती है, इस वाक्य से वह कहना बाधित है, कारण कि—

कारिका—यादृशः प्रकटो गन्धः पुष्पाणां सन्निधौ भवेत् ।

एकस्मिन्नपि तत् पुष्पे तथा घ्राणगते न हि ॥

कारिकार्थ—फूलों की गन्ध पुष्पों की सन्निवि में जैसी प्रकट होती है, वैसी गन्ध एक फूल को नाक में डालने पर भी नहीं आती है अर्थात् जब एक फूल से वैसी गन्ध नहीं प्राप्त होती है, तो सूक्ष्म अवयवों से गन्ध किस प्रकार आवेगी ?

सुबोधिनी—तस्माद्गन्धवच्चैतन्यमपि सर्वदेह-
व्यापि तिष्ठति लोके च परिच्छिन्न एव नियम्य-
नियामकभावः । ननु नियामकोपि परिच्छिन्नो-
ऽस्तु को दोष इति चेत् तत्राह हे ध्रुवेति यो
निश्चलः स व्यापक एव भवति । प्रकारान्तरेण
ध्रुवता तु भूम्यादावपि न दृश्यत इति ईश्वरो
व्यापक एव । 'तस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्च'
इति श्रुतेः । 'आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः' इति
'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्' इति
न्यायाच्च । इतरथा जीवस्य व्यापकत्वे भगवतः
अणुत्वे एकदेशस्य अप्यन्यथात्वे वा नियम्यनियाम-
कभावो नोपपद्यत इति भावः । नन्वत्र न
काचिद्दृढोपपत्तिः व्यापकत्वमप्यस्तु नियम्यत्व-
मप्यस्तु को दोषः । अल्पेनापि बालकेन सिंहेन
महागजो नियम्यते । सूक्ष्मेणापि राज्ञा सर्वे
लोका नियम्यन्ते । सूक्ष्मेणाप्यग्निकणेन सर्वे गृहा
दहन्ते इति न स्थूलपरिमाणवान् नियामक
इति, नापि सूक्ष्मपरिमाणवान् नियम्य इति ।

अतो व्यर्थ आग्रह इति चेत् तत्राह अजनि च
यन्मय तदविमुच्य नियन्तु भवेदिति । यद् यन्मय-
मजनि तदविमुच्य तदत्यक्त्वा नियन्तु किं भवेत्
अपि तु न भवेदेवेत्यर्थः । बाध्यबाधकभावो
दाह्यदाहकभावश्चान्यः नियम्यनियामकभाव-
स्त्वन्यः राज्योत्पन्नाः प्रजा राज्यमया भवन्ति ।
राज्यं च राज्ञोऽङ्गमिति राजमया एव प्रजाः ।
तथा जीवा अपि भगवन्मया व्यापकाश्चेत् कथमपि
न तन्मया भवन्ति । नियतान्वये विद्यमानेऽपि
अप्रयोजकत्वं वदन् साहसी भवति । तस्मात्तन्म-
यत्वान्यथानुपपत्त्या न व्यापकत्वं जीवस्येति
सिद्धम् । ननु वेदान्तिनोऽपि आत्मैकत्वं वदन्तः
नियम्यनियामकभावं नाङ्गीकुर्वन्ति सर्वत्र तुल्य-
दर्शनात् । अतो वेदान्ते नियम्यनियामकभावो
नास्तीति ये वदन्ति तदनूय परिहरन्ति सममनु-
जानतां यदमतमिति । ये सर्वत्र ब्रह्म सममनु-
जानन्ति ॥

व्याख्यार्थ—इससे यह मत निश्चित है कि गन्ध की तरह चैतन्य गुण भी सर्व देह में व्याप्त हो जाता है, लोक में नियम्य और नियामक भाव परिच्छिन्न में ही होता है ।

नियम में रखने वाला ईश्वर भी भले परिच्छिन्न होवे इसमें कौनसा दोष है ? इसके उत्तर में 'हे ध्रुव' संबोधन दिया है, जो निश्चल है वह व्यापक ही होता है, दूसरी तरह तो अर्थात् स्वल्प सनय के लिए स्थिरता भूमि आदि में भी है इसलिए उसमें व्यापकता नहीं दीखती है, इसलिए 'ईश्वर' व्यापक ही है, 'तस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्च इति श्रुतेः' उसमें^१ आकाश पूर्ण ओतप्रोत^२ है, 'आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः श्रुतिः' अणु के समान दूसरा भी देखने में आया है, यदि कहो कि जीव अणु नहीं है क्योंकि श्रुति के अनुसार वह व्यापक है, तो उसके उत्तर में ब्रह्मसूत्र 'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्' दिया है, यह व्यापक श्रुति ब्रह्म के विषय में है कि ब्रह्म अणु नहीं है बल्कि व्यापक है, दूसरी तरह अर्थात् जीव को व्यापक वा भगवान् को अणु मानने से, अथवा एक भाग का भी अन्यथात्व कहा जायगा तो नियम्य और नियामक भाव बन नहीं सकेगा,

इस विषय में किसी तरह की दृढ़ उपपत्ति^१ नहीं है, अतः यदि व्यापकत्व भी हो और नियम्यत्व भी होवे तो कौनसा दोष है ? जैसे छोटा मिह का बालक भी बड़े हस्तों को अपने नियम में रख सकता है, राजा का शरीर छोटा है वह सकल लोगों को अपनी आज्ञा में चला सकता है, छोटा सा अग्नि का कण^२ समस्त गृहों को जला सकता है, इससे यह आवश्यक नहीं है कि स्थूल परिमाण वाला ही नियामक हो सकता है और सूक्ष्म परिमाण वाला नियम्य हो बने अतः आपका यह व्यर्थ आग्रह है, यदि यों कहा जावे तो, उसके उत्तर में कहा है कि 'अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तु भवेदिति । अर्थ—जो जीव ब्रह्ममय ही उत्पन्न हुआ है वह उस ब्रह्मात्मकता को छोड़े बिना क्या नियन्ता हो सकता है? नहीं हो सकता ह अर्थात् नियन्ता तो ब्रह्म ही हो सकता है । भगवन्मय जीव नियन्ता न होकर नियम्य ही होता है, बाध्य^३ और बाधक भाव,^४ दाह्य^५ दाहकभाव^६ दूसरा है और नियम्य तथा नियामक भाव दूसरे प्रकार का है, अब इसको स्पष्ट समझाने के लिए दृष्टान्त देते हैं कि राज्य में उत्पन्न प्रजाएँ राज्यमय होती हैं और राज्य, राजा का अङ्ग है इसलिए प्रजा राजामय हो है वैसे ही जीव भी भगवन्मय हैं यदि व्यापक होवे तो भगवन्मय नहीं बन सकते ।

जीव का ईश्वर के साथ सदैव सम्बन्ध होते हुए भी भोग का नियम करने में ईश्वर का कोई प्रयोजन नहीं है, वह भोग का नियम अदृष्ट कराती है, यों कहने वाला साहसी^७ है । इस कारण से जीव का भगवन्मयत्व दूसरे प्रकार से सिद्ध नहीं होने से जीव में व्यापकत्व नहीं है, यही सिद्ध हुआ । वेदान्ती भी आत्मा (ब्रह्म) और जीव का एकत्व कहते हुए नियम्य व नियामक भाव स्वीकार नहीं करते हैं; क्योंकि सर्वत्र समानता देखते हैं, यों कहकर जो वेदान्त में नियम्य-नियामक भाव नहीं मानते हैं, इनका मत कहकर अब उनका खण्डन करते हैं । 'सममनुजानतां यद मतं' उनका मत ब्रह्मवादी समदृष्टि वाला है ।

कारिका — 'ब्राह्मणे पुलकसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके ।

अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक्पण्डितो मतः' इति ॥

कारिकार्थ — ब्राह्मण, ढेह, चोर, वेदज्ञ सूर्य, अग्नि के कण अक्रूर और क्रूर; इन सब में जो समान दृष्टि वाला होता है, वह पण्डित ज्ञानी समदृष्टि वाला है ॥

सुबोधिनी — ब्रह्मविदः समदृश इति । तेषामप्येतदननुमतं तेषां नियम्यनियामकभावमङ्गीकुर्वन्त्येव । अन्यथा भगवान् मुक्तोपसृप्यो न स्यात् । 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इति ज्ञानिनोऽपि भजनश्रवणाच्च । नन्वस्त्वनियम्यता ज्ञानमार्गो को दोष इति चेत् तत्राऽऽह मतदुष्टयेति । मते ब्रह्मवादे अयमर्थो दुष्ट इति । 'एष सर्वेश्वर एष

लोकपाल एष भूताधिपतिः' इति । सर्वत्रोपनिषत्सु भगवतो नियामकत्वश्रवणात् । 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवी विधृते तिष्ठतः' इत्यादिश्रुतिभिः स्पष्टमेव प्रशासनं दृश्यते 'सा च प्रशासनात्' इति न्यायेन च निर्णीतः । तस्माद्भगवतः प्रशासनं सर्ववादिसंमतं तच्च व्यापकत्वे न घटते । अतन्मयत्वप्रसङ्गादिति ॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्मवादी समदृष्टि वाले हैं, उनको यह मान्य नहीं है, वे भी नियम्य और नियामक भाव अङ्गीकार करते हैं, यदि अङ्गीकार न करें, तो भगवान् मुक्त जीवों के पास जाते हैं अर्थात् उनको प्राप्त होते हैं वह शास्त्र वचन झूठे हो जाते, जैसा कि कहा है 'चनुर्विधा भजन्ते माम्'—गीता, इसमें ज्ञानी भी भजन करते हैं, कहा है, ज्ञान मार्ग में भले अनियम्यता होवे, इसमें कौनसा दोष है ? जिसके उत्तर में कहा है कि 'मतदुष्टया' ब्रह्मवाद में यों मान लेना दोष पूर्ण है 'एष सर्वेश्वर एष लोकपाल एष भूताधिपतिः' इति, यह सबके ईश्वर हैं, यह लोकपाल हैं, यह भूतों के अधिपति हैं, यों सर्व उपनिषदों में भगवान् का ही नियामकत्व सुना जाता है, 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवि विधृते तिष्ठतः' इत्यादि श्रुतियों में स्पष्ट भगवान् का नियामकत्व दीखता है। हे गार्गी ! इस अक्षर की आज्ञा से ही पृथ्वी और आकाश धारण किए हुए खड़े हैं, 'सा च प्रशासनात्' इस ब्रह्मसूत्र में भी यह ही निर्णय किया है कि उनकी आज्ञा से धारण किए हैं अर्थात् भगवान् सबको अपने वश में रखते हैं जिससे वे ही नियामक हैं, इससे भगवान् का प्रशासन सब वादी मानते हैं, वह यदि जीव व्यापक होगा तो घटेगा नहीं, क्योंकि भगवन्मय न होने का प्रसङ्ग होगा, अतः जीव अणु नियम्य ही है, इति सिद्धान्तः ॥३०॥

कारिका—नियन्ता जीवसङ्घस्य हरिस्तेनाणवो मताः ।

जीवा न व्यापकाः क्वापि चिन्मया ज्ञानिनां मताः ॥१७॥३०॥

कारिकार्थ—जीवों के समूह को वश में रखने वाले हरि हैं, जिससे जीव अणु माने गए हैं, जीव कभी भी व्यापक नहीं है ज्ञानी भी उनको चिन्मय मानते हैं ॥१७॥३०॥

आभास—एवं भक्तिसिद्धयर्थं नियम्यनियामकभावो निरूपितः । तत्र हेतुश्च तन्मयत्वमुक्तम् । तेन यन्मयं यत् तत्तस्य नियम्यं भवतीति फलति । एवं सति देहादि-सङ्घाताविष्टे जीवे जडांशस्य प्रकृतिमयत्वाच्चिदंशस्य पुरुषमयत्वाच्च प्रकृतिपुरुषनियम्यतैव युक्ता न पुरुषोत्तमनियम्यतेत्याशङ्क्य परिहरति न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयोरिति ।

आभाषार्थ—इस प्रकार भक्ति की सिद्धि के लिए, नियम्य और नियामक भाव का निरूपण किया, जिसमें हेतु यह कहा कि जीव भगवन्मय है, यों कहने से यह सिद्ध होता है कि जो पदार्थ, यन्मय होता है वह उससे ही नियम्य रहता है, यों होने पर, देह, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण सहित जीव का जडांश प्रकृतिमय होने से और चैतन्यांश पुरुषमय होने से, प्रकृति पुरुष की ही नियम्यता उचित है, न कि पुरुषोत्तम की नियम्यता उचित है, इस शङ्का का 'न घटत उद्भवः' श्लोक से परिहार करते हैं—

श्लोक—न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयो-

रुभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।

त्वयि त इमे ततो विविधनामगुरौः परमे

सरित इवार्णवे मधुनि लित्युरशेषरसाः ॥३१॥

श्लोकार्थ—अजन्मा प्रकृति पुरुष से उत्पत्ति का होना घटता नहीं है, जीव प्रकृति पुरुष के संयोग मात्र से उत्पन्न होते हैं। जैसे जल के बुदबुदे जलवायु के संयोग से बनते हैं; क्योंकि सबका कारण आप ही हैं, इससे आप में ही ये जीव विविध नाम गुणों के साथ लीन रहते हैं। जैसे नदियाँ समुद्र में और सर्व रस मधु में लीन होते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—तदात्मकता तदा घटते यद् यद्रूपेणाविर्भवितुमर्हति। जीवास्तु विस्फुलिङ्गन्यायेन भवन्तीति तदात्मकता युक्ता। सङ्घातस्तु न प्रकृत्यात्मकः नापि पुरुषात्मकः नाप्युभयात्मकः उभयोरप्यजत्वेन कार्यरूपाविर्भावाभावात्। तदाह न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयोरिति। तर्हि कथं सङ्घातोत्पत्तिरिति चेत् तत्राह उभययुजा भवन्त्यसुभृत इति। उभययुजा उभययोगेन प्रकृतिपुरुषसम्बन्धेनासुभृतः सङ्घाता देवतिर्यगादयो भवन्ति। ननु यत्केवलाभ्यां न जायते तत्तत्संयोगे सति कथं जायत इति तत्राह जलबुद्बुदवदिति। न केवलं जलेन वायुना वा बुद्बुदा जायन्ते उभययोगेन तु जायन्त इति तथा प्रकृतिपुरुषसंयोगेन सङ्घाता जायन्त इति न काप्यनुपपत्तिः। किमतो यद्येवम्। एवमेतदित्याह त्वयि त इम इति। असुभृतः इमे परिदृश्यमानाः सर्वे ततः कारणात्त्वय्येव। अयमभिप्रायः, अजयोः संयोगो नेष्यते। उभयोरप्यजत्वेन व्यापकत्वेन च क्रियावत्त्वाभावात् संयोगाभावः। तादृशयोः संयोगः अघटमानः सन् भगवद्रूपो वा भगवता वा सिद्धो भवति। अद्भुतकर्मा भगवानेव भवतीति, अतो भगवदात्मकतैव सर्वेषां सङ्घातानामतो भगवत्येव ते सर्वे पर्यवसिता भवन्ति नान्यत्रेति निर्णयः। किञ्च। विविधनामगुणैरिति। एकरूपाश्चेत्सङ्घाताः भवेयुः तदा कथञ्चित्प्रकृति

पुरुषात्मकतापि कल्प्येत तत्तु नास्ति। किञ्च विविधानि नामानि रूपाणि गुणाश्च परस्परविलक्षणाः सर्वेषां भवन्ति। अतस्तैर्ज्ञायते भगवत एव भवन्ति। अचिन्त्यशक्तिरनन्तमूर्तिश्च भगवानेवेति। नन्वर्वाचीनयोरपि प्रकृतिपुरुषयोः कथं नान्तशक्तिरेत्याशङ्क्याह परम इति। परम एव ते धर्मा नान्यस्येति सिद्धान्तादित्यर्थः। किञ्च। त एव तदात्मका भवन्ति ये यत्रैकतामापद्यन्ते यथा सर्वाः सरितः अर्णवे भवन्ति। अर्णवादेव मेघद्वारा उत्पद्यन्ते अर्णवे च प्रविशन्ति। ततोऽर्णवस्य जलात्मकस्य नद्योऽपि जलात्मिकास्तदात्मिका भवन्ति। न तु पर्वतात्मिका भूम्पात्मिका वा। अतः सच्चिदात्मका एते सच्चिदात्मके भगवति एव प्रतिष्ठिता भवितुमर्हन्ति नान्यत्रेत्यर्थः। ननु यदि भगवदात्मकं विश्वं भवेत्तर्हि भगवति विश्वं प्रतीयेत। यस्य यस्य भगवत्साक्षात्कारो भवति तस्य तस्यानुभवे विश्वस्फूर्तिः स्यात्। ततश्चानीक्षापि प्रसज्येतेति चेत् तत्राह मधुनि लित्युरशेषरसा इति। यथा अशेषरसाः मधुनि लीना भवन्ति तथापि भिन्नतया न प्रतीयन्ते। अयममुकपुष्पस्य रसोऽयममुकपुष्पस्य रस इति, कित्वेकतामापन्ना मधुत्वेनैव प्रतीयन्ते तथा भगवत्यपि सर्वे सूक्ष्मरूपेण तिष्ठन्ति न तु भिन्नतया प्रतीयन्त इत्यर्थः॥

व्याख्यानार्थ—जिस रूप से (वस्तु से) जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह पदार्थ उसका ही रूप होता है, जैसे मृत्तिका से घट उत्पन्न होता है तो वह मृत्तिकामय कहलाता है वैसे ही जीव, विस्फुलिङ्गन्याय से ब्रह्म से उत्पन्न होते हैं अतः वे ब्रह्ममय हैं, इसलिए उन ही (जीवों की ब्रह्मात्मकता उचित ही है, देह आदि संघात तो प्रकृत्यात्मक नहीं हैं क्योंकि उनका प्रकृति उपादान कारण नहीं है, और पुरुषात्मक भी नहीं, कारण कि पुरुष भी उसका उपादान कारण नहीं है तथा वह संघात प्रकृति

पुरुषात्मक भी नहीं है जिसका हेतु है कि वे दोनों, संघात के उपादान कारण नहीं हैं, दोनों (प्रकृति पुरुष) अज हैं जिससे दोनों का कार्य रूप से आविर्भाव नहीं होता है, इससे कहा है कि 'न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयोरिति' यदि इन दोनों का कार्य रूप से आविर्भाव नहीं होता है तो संघात की उत्पत्ति कैसे होती है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'उभय युजा' प्रकृति पुरुष के संयोग से उसकी^१ उत्पत्ति होती है, परन्तु प्रकृति पुरुष उसके उपादान कारण नहीं हैं, जैसे धान्य को उत्पत्ति में भूमि और जल का संयोग एक प्रकार का साधारण निमित्त कारण है, न कि उपादान कारण है, उपादान कारण तो धान्य का बीज ही है, वैसे ही यहां भी संघात का मूल उपादान कारण ब्रह्म ही है, प्रकृति पुरुष का संयोग एक प्रकार का साधारण निमित्त कारण ही है ।

यदि संघात अकेले प्रकृति वा पुरुष से उत्पन्न नहीं हो सकता है तो दोनों के संयोग से कैसे उत्पन्न होंगे ? जिसके उत्तर कहते हैं कि 'जल बुद्बुदवत्' जैसे जल में बुद्बुदा केवल जलसे वा केवल वायु से उत्पन्न नहीं होता है बल्कि जल और वायु दोनों के संयोग से बुद्बुदों का जन्म होता है, वैसे ही यहां भी प्रकृति पुरुष के संयोग से संघात का जन्म होता है इसलिए यों मान लेने में किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है अर्थात् उपपत्ति^२ है ।

प्रकृति से संघात नहीं बना, यों मान लेने से क्या सिद्ध हुआ ? जिसका उत्तर है कि इससे यह सिद्ध हुआ कि वह भगवद्रूप है, क्योंकि उसका उपादान कारण ब्रह्म है, कहता है कि वह यों है, 'त्वयित इमे' ये जो सर्व प्राणी जो दीख रहे हैं वे सब आप में ही हैं क्योंकि उनका उपादान कारण आप ही हैं, इस प्रकार कहने का भावार्थ यह है—प्रकृति और पुरुष दोनों अजन्मा हैं, व्यापक हैं, जिससे उनमें क्रियापन का अभाव रहता है, अतः उनका संयोग नहीं होता है तो फिर उनके संयोग से संघात की उत्पत्ति का कहना असंगत है, जिसका उत्तर देते हैं कि, ऐसे उन दोनों का संयोग बन नहीं सकता है, फिर भी वह हुआ, जिसका हेतु है कि, वह संयोग भगवद्रूप है अथवा भगवान् ने सिद्ध किया है, इस प्रकार के अदभुत^३ कर्म करने वाले ही, भगवान् हैं अतः सब संघातों को भगवदात्मता है, जिससे वे सर्व संघात भगवान् में अवसान पाते हैं अर्थात् इनमें ही पूर्ण होते हैं, न १५. दूसरे में यह ही निर्णय है ।

पुनः 'विविधनामगुणैः' पद से इसकी पुष्टि करते हैं कि यदि संघात एक ही प्रकार के नाम गुण वाले होते तो जैसे तैसे प्रकृति पुरुषात्मकता की कल्पना की जा सकती, किन्तु, यों नहीं है, बल्कि, प्रत्येक के नाम, रूप और गुण, विविध प्रकार के पृथक् पृथक् दीखते हैं अतः इनसे जाना जा सकता है, ये भगवान् से ही हुए हैं, कारण कि, अचिन्त्य शक्तिमान् और अनन्त मूर्ति वाले भगवान् ही है ।

अर्वाचीन होते हुए भी प्रकृति पुरुष में क्यों न अनन्त शक्तिता हो ? जिस पर कहते हैं कि 'परम' भगवान् सब से उत्कृष्ट हैं अतः उनमें अनन्त शक्तिपन और अनन्त मूर्तित्व आदि विविध विरुद्ध धर्म रहते हैं, अन्य किसी में नहीं, यों वेदादि शास्त्रों का सिद्धान्त है और विशेष कहते हैं कि,

१ - संघात-देवतिर्यगादिकों की देह आदि, २.—हेतु पूर्वक सिद्धि है, अर्थात् योग्यता है

३—अज होते हुए भी कार्य रूप से अपना प्रादुर्भाव करना,

वे ही तद्रूप होते हैं जो जिसमें लीन होते हैं, जैसे सब नदियां समुद्र में लीन होती है, अतः वे नदियां समुद्र जलात्मक ही हैं, क्योंकि मेघों द्वारा समुद्र से ही लाए हुए जल से नदियां उत्पन्न होती हैं फिर, वह नदी जल समुद्र में ही लीन हो जाता है, इसलिए उनको अर्णवात्मक कहते हैं न कि भूम्यात्मिका वा पर्वतात्मिका कहते हैं, अतः ये, संघात भी, सच्चिदानन्दात्मक होने से सच्चिदानन्द रूप भगवान् में ही प्रतिष्ठित होने के योग्य बनते हैं, न कि दूसरे किसी स्थान पर ।

यदि विश्व भगवदात्मक हो तो भगवान् में विश्व की ही प्रतीति होनी चाहिए, जिस जिसको भगवान् का साक्षात्कार होवे, उस उसके अनुभव में विश्व की स्फूर्ति होनी चाहिए, यदि यों होवे तो भगवान् को सृष्टि करने की इच्छा ही नहीं होवे, जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'मधुनि लित्युरशेषरसाः' जैसे मधु (शहद) में सर्व पुष्पों के रस लीन हैं, वे भी भिन्न प्रतीत नहीं होते हैं, अर्थात् यह रस इस (गुलाब) पुष्प का है वा उस पुष्प (मोगरे आदि) का है इसकी प्रतीति नहीं होती है किन्तु एक पन को वे प्राप्त हो एक सम रस देते हैं, जिसको 'मधु' कहा जाता है, वैसे भगवान् में भी सब विश्व सूक्ष्म रूप से रहता है जिससे उनकी भिन्न प्रतीति नहीं होती है, अतः दर्शकों का विश्व रूप का अनुभव भगवत्स्वरूप में नहीं होता है बल्कि उस आनन्दमय भगवान् का ही आनन्दानुभव होता है, विश्व भीतर लीन होने से लीलार्थ बाहर प्रकट करने की इच्छा होना स्वाभाविक और उचित ही है—यही तात्पर्यार्थ है—

कारिका—नामरूपप्रपञ्चं हि देवतिर्यङ्नरात्मकम् ।

कृष्णादेव समुद्भूतं लीनं तत्रैव तन्मयम् ॥१८॥३१॥

कारिकार्थ—देव, जन्तु और मनुष्य रूप एवं नाम रूप सर्व जगत् कृष्ण से ही उत्पन्न हुआ है, तन्मय होने से उनमें ही लीन हो जाता है ॥१८॥३१॥

आभास —एवं नियम्यत्वाय भगवदात्मकता प्रत्येकसमुदायाभ्यां जीवसङ्घातयो-
निरूपिता । तेनावश्यं भजनीयत्वं निरूपितम् । एवं भजनीयत्वे ज्ञातेऽपि भजनार्थं
प्रवृत्तावपि भक्त्युन्मुखान् कालश्चेद्भक्षयेत् तदा भजनं कथं सिद्धयेदिति शङ्कां निरा-
कर्तुमाह नृषु तव माययेति ।

आभासार्थ—इसी तरह यह सिद्ध किया है कि जीव और सङ्घात दोनों अथवा प्रत्येक भगवद्-
रूप है, जिससे वे भगवान् के वश में रहते हैं, इसलिए जीवों को अपने नियामक भगवान् की भक्ति
अवश्य करनी चाहिए, तदनुसार जीव भक्ति करने लगे, तो काल उनका भक्षण करे अर्थात् उनकी
बुद्धि को बिगाड़ दे, तो भजन कैसे हो ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'नृषु तव मायया' श्लोक
कहा है—

श्लोक—नृषु तव मायया अमममीष्ववगत्य भृशं

त्वयि सुधियोऽभवे दधति भावमनुप्रभवम् ।

कथमनुवर्ततां भवभयं तव यद्भ्रुकुटिः

सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—ये मनुष्य आपकी माया के कारण ही आपको भूल जाते हैं, जिससे वे बार-बार नाना योनियों में भ्रमण करते हैं, यों जानकर जो बुद्धिमान हैं, वे श्रेष्ठ बुद्धि होने से आप में भाव अर्थात् रति करते हैं, उनको संसार का भय कैसे होगा ? आपका भ्रुकुटि रूप काल तो उनको बार-बार भय उत्पन्न करता है, जिन्होंने आपकी शरण नहीं ली है ॥३२॥

सुबोधिनी—भगवान् सृष्ट्यादौ कालं मायां च सृष्टवान् । ये मायया मुग्धा भविष्यन्ति तान् कालो ग्रसिष्यति । ये तु लोकान् भगवन्माया-ग्रस्तान् ततः कालेन ग्रस्तानालोक्य मायापगमे निस्तारे च भगवद्भजनमेव गतिरिति ये भगवन्तं सेवन्ते तेषां पुनर्मायामोहः सर्वथा न सङ्गच्छते । ततः कालग्रासाभावोऽपि सिद्धः । यदि कथञ्चिद्-भक्तिमार्गं विषयाणां विद्यमानत्वात् कदाचिन्मोहः स्यादपि तदापि कालग्रासो न भवेत् । तत्र हेतुः कथमनुवर्ततां भवभयमिति । तत्रापि हेतुः यस्मात्कारणात्तत्रैव भ्रुकुटिः अभवच्छरणेषु भय सृजति । अतो भक्तिमार्गस्य सर्वथा कालनाशक-त्वं मनुष्याधिकारित्वाच्छास्त्रस्य कर्माधिकाराद-न्येषां भोगदेहितात् मनुष्यशरीरानन्तरमेव पुन-र्नानाविधयोनिस्मबन्धः । 'स्वर्गपवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च' इति वाक्यात् । अतो नृणां भ्रममित्युक्तम् । अतो ये सुधियः स्वयमपि नरत्वं प्राप्ताः यदि प्रमत्ता भवेयुः तदा पुनः कालचक्रेण हीनत्वमुत्तमत्वं वा प्राप्ताः कृतार्था न भविष्याम इति निस्तारार्थं यतमानाः तादृशं गुरुमेव भजन्ते । स च गुरुर्भगवानेव भगवानेव वा गुरुः । शक्ति-द्वयं तत्रैव ज्ञातमिति प्रवर्तकत्वं भजनीयत्वं च । ननु 'यो यच्छुद्धः स एव सः' इति न्यायेन काला-न्तरे तत्त्वं सिद्धयति । सोऽपि चेत्पुनरुत्पद्येत

तदा को विशेष इति शङ्कायामाह अभव इति । भिन्नगुरुपक्षेऽपि भगवदोयत्वात् तस्यापि भवः । ननु कियत्प्रभृति भगवद्भजनं कर्तव्यमिति चेत् तत्राह अनुप्रभवमिति । प्रकृष्टो भवो बुद्धिसहितं जन्म यदैव भगवति सद्बुद्धिर्भवति । तत आर-भ्यैव भगवति भावः कर्तव्य इत्यर्थः । अनुवृत्तिश्च कर्तव्या । कालो हि बाह्यः न केवलमान्तरेण भावेन पीडातो निवर्तते अपि तु पीडयत्येव । अत एव ज्ञानिनामान्तरभक्तानां बहिर्मुखात् क्लेशः स च जडभरते वर्णितः । तेन क्लिष्टाः कदाचिन्मुग्धा अपि भवेयुरिति प्रथमत एव बाह्याप्यनुवृत्तिः कर्तव्या । एवं बाह्याभ्यन्तरभेदेनानुवर्तमानान् वस्तुतः सेवकभूतान् जीवान् कामात् सेवामकुर्वतः शिक्षार्थमेव दण्डं कुर्वाणः कालः कथं भयं तेषां कुर्यात् हन्याद्वा । कालस्य भ्रूरूपत्वं पूर्वं वर्णितम् । ननु कालेनाल्पो दण्डः कर्तव्यः ततो लौकिकभय-वत्सोऽप्यल्पमिति कथं भजनं सिद्धयदित्याशङ्क-याह मुहुरिति । ननु कालो न दृश्यते दृष्टादेव हि लोका बिभ्यतीत्यत आह त्रिणेमिरिति सवत्सरा-त्मकः प्रत्यक्ष एव कालः । यस्य शोभातपवर्षा-ख्यास्त्रयो नेमयः तल्लोके प्रकटीकुर्वन् स्वपराक्रमं ज्ञापयतीत्यर्थः । न विद्यते भवान् शरणं येषां 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इति शरणत्वेन न स्वीकृतवन्त इत्यर्थः ॥

व्याख्यार्थ—भगवान्, ने सृष्टि की उत्पत्ति करते हुए प्रथम काल और माया बनाई । काल उनको खा जायगा, जो माया के फदे में फँसेंगे और जो मनुष्यों को भगवान् की माया में फँसने से

कालग्रस्त जानकर यह निश्चय समझते हैं कि, माया में न फँसने से काल का ग्रास न बनेगे, इसलिए माया में न फँसने का मार्ग भगवान् का भजन ही है, अतः वे भगवान् का भजन ही करते हैं, उनको कभी भी माया से मोह सर्वथा नहीं होता है, उससे काल ग्रास का अभाव भी सिद्ध है, अर्थात् काल उनका भक्षण नहीं कर सकता है जिससे वे भक्त भ्रमण से बच जाते हैं ।

जो कभी, भक्ति मार्ग में विषयों के विद्यमान होने से कभी मोह हो भी जावे, तो भी काल का ग्रास न बनना पड़ेगा, जिसमें कारण देते हैं कि 'कथमनुवर्ततां भव भय' जो आपकी शरण ले भजन करते हैं उनको 'भव भय' जन्म मरण का भय कैसे होगा ? उसमें भी हेतु देते हैं कि 'तत्रैव भ्रुकुटिः अभवच्छरणेषु भयं सृजति' आपका भ्रुकुटि रूप काल उनको ही भय देता है जो आपकी शरण नहीं आए हैं, अतः भक्ति मार्ग, सर्वथा काल का नाशक है ।

शास्त्र में कहे हुए कर्म करने का अधिकार मनुष्य शरीर को ही है, क्योंकि मनुष्य के सिवाय जो योनियाँ (देह) हैं वे भोग देह हैं उनको कर्म करने का अधिकार ही नहीं है, इससे ही मनुष्य शरीर के अनन्तर ही अनेक प्रकार की योनियों से सम्बन्ध होता है, तात्पर्य यह है कि भोग योनियों में नियमित समय भोग भोगकर अन्त में क्रमशः फिर मनुष्य योनि मिलती है, उसमें कर्माधिकार प्राप्त होने से जीव जैसा २ कर्म करता है वैसी योनि प्राप्त करता है, जैसा कि कहा है 'स्वर्गाप-वर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च' मनुष्य देह ही, स्वर्ग, मोक्ष और पशु पक्षी तथा फिर मनुष्य देह प्राप्ति का द्वार है, इसलिए 'नृणां भ्रमं' मनुष्यों का ही भ्रमण होता है यों कहा है, अतः जो बुद्धिमान हैं एवं जिन्होंने मनुष्य देह प्राप्त की है, वे समझते हैं कि यदि इस मनुष्य देह को प्राप्त करके भी प्रमत्त (मत्वाले, लापरवाह) बने रहेंगे और अपना कर्तव्य (भगवद्भजन) नहीं करेंगे तो फिर काल चक्र से हीनत्व आदि योनियों में जाने से कृतार्थ नहीं हो सकेंगे, इस भ्रमण से अपना निस्तार हो इसलिए गुरु की ही सेवा करते हैं, और वह गुरु ही अपने निस्तार करणार्थ भगवान् हैं, अथवा भगवान् ही गुरु हैं यों मान उनकी सेवा कर अपना निस्तार कराते हैं, कारण, कि प्रवृत्ति कराने की और भजन योग्य होने की दोनों शक्तियाँ उसमें ही जानी गई हैं ।

'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' जो जिसमें जैसी श्रद्धा रखता है वह उसके लिए वैसा ही है, इस गीता वाक्य के अनुसार बहुत समय के बाद तद्रूपता (गुरु रूपता) प्राप्त होती है, वह (गुरु) भी यदि फिर जन्म ले तब विशेष कौन हुआ ? यह शङ्का गुरु को भगवद्रूप न जानने से हुई है । जिसका उत्तर देते हैं कि, 'अभव' पद देकर समझाया है कि, गुरु भगवान् ही हैं अतः उनका जन्म होता ही नहीं है, यदि गुरु को भगवान् न माना जावे तो भी वह भगवदीय तो है ही, जिससे भी उसका जन्म नहीं होता है ।

कब और कितने समय तक भजन करना चाहिए, इस पर कहते हैं कि 'अनुप्रभवं' जब से भगवान् में सद्बुद्धि उत्पन्न हो, उस समय से लेकर भगवान् में सदैव भाव (प्रेम) करते ही रहना चाहिए ।

काल, बहिर्मुख है, अतः केवल आन्तरिक भाव होने से, पीड़ा से निर्वृत्त नहीं करता है, किन्तु पीड़ा देता ही रहता है, इससे ही ज्ञानी और आन्तर भक्ति वालों को बाहर ही महान्

वत्तेश है, भीतर तो आनन्द ही है, जैसे जड़ भरत के प्रसंग में वर्णित है, उस दुःख से दुःखी होकर कदाचित् मोह को भी प्राप्त होवे अतः आरम्भ से भीतर की तरह बाहर भी भजन की अनुवृत्ति करनी चाहिए, इसी प्रकार बाह्य और भीतर दोनों प्रकार से भगवान् का अनुसरण करने वाले सच्चे सेवक, जो कामना से सेवा नहीं करते हैं तो उनको शिक्षार्थ ही दंड करने वाला काल, उनको भव भय कैसे दे ? उनका भक्षण कैसे करे ? अर्थात् उनको काल न भव भय देता है और न भक्षण करता है, काल का भूस्वरूप पहले वर्णन किया है ।

काल अल्प दण्ड करे, जिससे लौकिक भय के समान वह अल्प दण्ड भी अल्प भय देने वाला होने से भजन की सिद्धि नहीं करा सकेगा, अर्थात् भजन में प्रवृत्ति नहीं कराएगा, इस शङ्का का उत्तर देते हैं कि 'मुहुः' बार बार अर्थात् थोड़ी थोड़ी शिक्षा बार बार देकर स्मरण कराता है कि अरे मनुष्य ! भजन कर, काल तो देखने में नहीं आता है, जो देखने में आता है उससे ही लोक डरते हैं, इस पर कहते हैं कि 'त्रिणेमिरिति' तीन नेमी वाला काल है, १—शोत, २—आतप और ३—वर्षा, ये काल की तीन नेमियां हैं, वह काल संवत्सर रूप से प्रत्यक्ष है, और उन तीन नेमियों, ठंड, धूप और वर्षा से अपना पराक्रम प्रकट करता है, जिन मनुष्यों ने आपकी शरण नहीं ली है, उनको ही काल भय देता है, जैसा कि कहा है 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' जो मेरी शरण जिस प्रकार आते हैं मैं भी उनका वैसे ही भजन करता हूँ ॥३२॥

कारिका — नृणां दुर्गतिमालोक्य ये सेवन्ते दृढव्रताः ।

कृष्णं तद्भ्रुकुटिः कालो न तान् हन्ति कदाचन ॥१६॥३२॥

कारिकार्थ—जो लोग मनुष्यों की दुर्गति देख, निश्चयपूर्वक अनन्य होकर श्रीकृष्ण का भजन करते हैं उनको भगवान् कृष्ण का भ्रुकुटि रूप काल कभी हनन नहीं करता है ॥१६॥३२॥

आभास—एवं भजनमुपपाद्य योगादिना भजनं न कार्यसाधकम् । योगशेषत्वादिति स्वतन्त्रमेव भक्तिमार्गानुसारेण भजनं कर्तव्यमित्यभिप्रायेण योगपक्षं निन्दति विजितहृषीकवायुभिरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रेमपूर्वक भजन करने का प्रतिपादन कर, योग आदि द्वारा जो भजन किया जाता है, उस भजन से कार्य की सिद्धि नहीं होती है; क्योंकि वह भजन योग का शेष है, अतः स्वतन्त्र भक्तिमार्गानुसार ही भक्ति करनी चाहिए । इस अभिप्राय से योग पक्ष को 'विजितहृषीक-वायुभिः' श्लोक से गौण कहते हैं अर्थात् उससे वह फल नहीं मिलता है, जो स्वतन्त्र भक्ति से प्राप्त होता है ।

श्लोक — विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं

य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः ।

व्यसनशतान्विताः समपहाय गुरोश्चरणं

वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ ॥३३॥

श्लोकार्थ—जो मनुष्य इन्द्रिय और वायु को स्वाधीन कर अति चञ्चल और जो काबू में नहीं है, ऐसे मन रूप घोड़े को रोकने के लिए प्रयत्न करते हैं, वे साधन करते-करते ही थक जाते हैं; क्योंकि उन साधनों में बहुत कष्ट है। हे अज! वे कष्ट पाते हुए क्यों थक जाते हैं? जिसका कारण यह है कि वे गुरु-चरणों का समाश्रय नहीं लेते हैं, जिससे वे सैकड़ों व्यसनों में ऐसे फँसे रहते हैं, जैसे व्यापारी बिना कर्णधार वाली नौका में बैठकर समुद्र में गोते खाते रहते हैं ॥३३॥

सुबोधिनी—पूर्वश्लोके गुरुद्वारा भजनं निरूपितम् । तदेव फलपर्यवसायि । योगस्तु सर्वथा न कस्यापि सेत्स्यति । स्वतः प्रवृत्तस्य मनसः प्रतिबन्धकरत्वात् । मनो ह्यसत् भगवता लब्धशक्ति ईश्वरगुरुसदयुक्तश्चेत् किं योगेन, साधनेनैव

कृतार्थत्वसम्भवात् । अतो लौकिका इव योगिनोऽपि संसार एव परिभ्रमन्ति न कृतार्था भवन्तीति निरूप्यते । ननु योगमार्गः कथं कृत इति चेदुच्यते ॥

व्याख्यार्थ—पूर्व श्लोक में गुरु द्वारा भजन करना चाहिए, यह निरूपण किया। वह भजन ही फल देने वाला होता है, योग तो सर्वथा किसी से भी सिद्ध नहीं हो सकता है, कारण कि योग में स्वतः प्रवृत्त मन अर्थात् गुरु आश्रय बिना प्रवृत्त मन, उस (योग सिद्धि) में प्रतिबन्धक होता है, दूसरा कारण यह है कि मन असत् अर्थात् दोषपूर्ण चञ्चल है, जिससे वह स्वतः कुछ नहीं कर सकता है। यदि उस पर ईश्वर और गुरु की कृपा हो जावे, जिससे शक्ति प्राप्त हो, तब कार्य सिद्धि कर सके, यदि ईश्वर और गुरु-कृपा से शक्ति प्राप्त कर कार्य (फल) सिद्धि हो सकती है, तो फिर योग की क्या आवश्यकता है? साधन (भजन एवं ईश्वर तथा गुरु-कृपा) से ही कृतार्थता प्राप्त हो जाती है, अतः लौकिकों की तरह योगी भी संसार में ही परिभ्रमण करते हैं—कृतार्थ नहीं होते हैं, यों इस श्लोक में निरूपण किया जाता है।

जब यों है, तो योग मार्ग किस लिए? आचार्य श्री यह शङ्का स्वयं उत्पन्न कर उसका उत्तर निम्न कारिकाओं में देते हैं—

कारिका—अणिमादिसुखार्था ये ये चात्यन्तबहिर्मुखाः ।

क्लेशकार्यरता ये च तदर्थं योग उच्यते ॥१॥

परम्परासाधनं वा फलार्थं वा निरूपितः ।

योगः साक्षान्न मोक्षाय निषेधाद्व्याससूत्रतः ।

‘एतेन योगः प्रत्युक्तः’ प्रशंसार्था फलश्रुतिः ॥२॥

कारिकार्थ—जिनकी इच्छा है कि हम अणिमा आदि सिद्धियों के सुख का स्वाद लेवें और जो भगवान् से सर्वथा बहिर्मुख हैं एवं जो क्लेश कार्यों में सुख मानते हैं, ऐसी के लिए योग कहा है ॥१॥

अणिमादि सिद्धि के इच्छा वालों के लिए, यह योग परंपरा से साधन है, और सिद्धि रूप फल के लिए योग का निरूपण है. योग साक्षात् मोक्ष फल देने वाला नहीं है किन्तु उससे किञ्चित् सुख की प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि व्यासजी ने अपने ब्रह्म सूत्रों में योग से मोक्ष प्राप्ति का निषेध किया है, जैसे कि 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इससे योग का उत्तर दिया, इस सूत्र में मोक्ष की प्राप्ति का निषेध किया है ॥२॥

सुबोधिनी—अतः स्वतन्त्रयोगस्य निषेधार्थ-
मिदमुच्यते । विशेषेण जितानि हृषीकाणीन्द्रि-
याणि वायुश्च यैः । अनेन प्रत्याहारपर्यन्तं सिद्ध-
यतीति निरूपितम् । अन्यथा योगाङ्गेषु प्राथ-
मिकेष्वसिद्धयमानेषु प्रवर्तमानस्य शङ्का स्यात् ।
अतो बोध्यते पञ्चाङ्गान्येव सेत्स्यन्ति नाधिका-
नीति बोधयति । मनसो निग्रहाशक्यत्वे हेतुमाह
अदान्तेति । स्वभावत एव अदान्तम् । प्रतिनिय-
तेन्द्रियपक्षे येषां मनः स्वभावतो दान्तं सात्त्विक-
प्रकृति तेषां योगः सिद्धयेदपीति ज्ञापितम् । येषां
त्वदान्तमेव मनः तदपि तुरगरूपम् । तस्मिन्ना-
रूढो जीवो भवति मनोविलासाकाङ्क्षी तस्य
त्वशक्य एव निग्रह इति ज्ञापितम् । स्वयं च इह
लोकानुसारेणैव स्थितो यन्तुं वाञ्छति । ननु
तुरगोऽपि कथञ्चिन्नियम्यते तद्वन्मनोनियमनमपि
भविष्यतीति चेत् तत्राह अतिलोलमिति । प्रय-
त्नेन ग्रहीतुमेवाशक्यम् । ननूक्तं 'यतो यतो
निःसरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्' इति चञ्चलस्यापि
निग्रहे साधनमुक्तमिति चेत् तत्राह उपायखिद
इति । उपाय एव खेदं प्राप्नुवन्ति । योगशास्त्रे

ततः पूर्वं पञ्चाङ्गानि निरूपितानि । तान्येव मन-
सोऽतिचाञ्चल्ये साधयितुमशक्यानि । नहि विक्षिप्ते
मनस्यासनं सिद्धयति यमादिकं वा । अतः सर्व-
थाऽदान्ते योगारम्भ एव न कर्तव्यः । किञ्च ।
महता कालेन यमादिसाधनानुष्ठाने चित्तशुद्धौ
सत्यां कदाचित्साधनान्तरं सिद्धयेदपि तदपि
नास्तीत्याह व्यसनशतान्विता इति । उत्पन्नस्य
प्राणिनो विक्षिप्तमनसः प्रतिक्रमनेकानि व्यस-
नानि भवन्ति । ननु प्रथम व्यसननिराकरणाय
साधनान्तरं कर्तव्यमिति चेत् तत्राह समपहाय
गुरोश्चरणमिति । आदौ व्यसनापगमे गुरुरेवैकं
साधनं 'एतत्सर्वं गुरौ भक्त्या' इति वाक्यात्
सम्यक् त्यागः साधनत्वेनापि । गुरुसेवायां तु
तेनैव कृतार्थत्वाद् योगो व्यर्थ इति भावः । तत-
स्तेषामुभयभ्रंशमाह वणिज इवाज सन्तीति ।
सांयात्रिकाः कर्णधारमप्यकृत्वा जलधावेव सीद्य-
माना भवन्ति । न तु कार्योऽप्यसिद्धे गृहमाग-
च्छन्ति । जलधित्वात्तत्र महान् क्लेशः सूचितः ।
तथा योगे शरीरशोधनं कृत्वा स्थितः महान्तं
क्लेशमेव प्राप्नोतीत्यर्थः ॥

व्याख्यार्थ—इसलिए इस श्लोक में स्वतन्त्र योग से मोक्ष फल नहीं मिलता है यह कहा जाता है ।

मन को वशीभूत करने के लिए, इन्द्रिय और वायु को प्रथम जीत लेते हैं, जिससे यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पांच अङ्ग सिद्ध होते हैं, विशेष नहीं, यदि ये पांच भी सिद्ध न होवे तो, योगाभ्यास से प्रवृत्ति करने वालों के मन में शङ्का उत्पन्न हो जावे, जिससे कोई भी योग में प्रवृत्त न होवे । मन वश में नहीं होता है, जिसका कारण कहते हैं कि 'अदान्त' मन, स्वभाव से ही ऐसा है जो, किसी के काबू में नहीं रहता है, यों कहकर यह सूचित किया है कि शास्त्रानुसार प्रत्येक जीव की इन्द्रियाँ और मन पृथक् पृथक् स्वभाव वाला है अर्थात् किसी का तामस, किसी का राजस और किसी का सात्त्विक है, अतः जिस जीव का मन सात्त्विक है वह

मन दान्त होता है, ऐसे जीवों का योग, सिद्ध भी हो जावे, और जो सात्त्विक नहीं उनका मन अदान्त होने से तुरंग (घोड़े) के समान है, ऐसे मन रूपी अश्व पर आरुढ़ (चढ़ कर) जीव विषयाभिलाषी होता है, जिससे उस जीव का वह मन रोकना अशक्य ही होता है, और स्वयं (खुद) तो इस जगत् में लोकानुसार से ही रह, वश करने के लिए इच्छा करता है, किन्तु जैसे तुरंग कभी वश भी हो जाता है, वैसे वह वश में नहीं आता है क्योंकि 'अति लोल' तुरंग से भी विशेष असौम्य चञ्चल है, इससे प्रयत्न करते हुए भी वश में आना अशक्य है, यों आप कैसे कहते हो ? गीता 'यतो यतो निःसरितमनश्चञ्चलमस्थिरम्' श्लोक से चञ्चल मन को वश करने का साधन बताती है, इस पर कहते हैं कि गीतादि शास्त्र साधन बताते हैं यह सत्य है किन्तु 'उपायखिद.' उन साधनों के करने में ही खेद को प्राप्त होते हैं, इस कारण से ही योगशास्त्र में प्रथम पांच अङ्ग यम, नियम, आसन, प्रणायाम और प्रत्याहार, बताए हैं वे पांच साधन भी मन की अति चञ्चलता के कारण सिद्ध नहीं हो सकते हैं, जब तक मन विक्षेपों से युक्त है तब तक आसन वा यमादिक सिद्ध नहीं हो सकते हैं अतः मन सर्वथा अदान्त हो तब तक योग का आरम्भ ही नहीं करना चाहिए, यदि कहो कि शीघ्र न होगा विशेष समय लगेगा तो यों विशेष समय लगाकर यमादि साधनों का अनुष्ठान करने पर चित्त की शुद्धि हो जायगी ऐसा भी हो नहीं सकता है, क्योंकि 'व्यसन शतान्विता' प्राणो मात्र के विक्षिप्त मन में प्रति क्षण अनेक व्यसन उत्पन्न होते ही रहते हैं जिससे विशेष समय साधानानुष्ठान बन नहीं सकता है, यदि यों है तो प्रथम व्यसनों को निकालने के जो साधन हैं वे करने चाहिए, इस पर कहते हैं कि 'समपहाय गुरोश्चरण' योगाभ्यास करने वाले प्रथम तो गुरु चरणों का आश्रय त्याग, योग में प्रवृत्त होते हैं, इसलिए उनके व्यसन मिटते नहीं, अतः समझ लेना चाहिए कि, व्यसनादि के निराकरण के लिए और कार्य सिद्धचर्य गुरु हो एक परमोत्तम साधन है, जैसे 'एतत्सर्वं गुरो भक्त्या' श्रीमद्भगवत के श्लोक में कहा है, तात्पर्य यह है, गुरुचरणश्रय रूप भक्ति भी साधन समझकर नहीं करनी क्योंकि उस (गुरु सेवा) में ही कृतार्थता हो जाती है, अतः योग व्यर्थ है, कहने का यों भाव है, हे भज ! वे दोनों तरफ से भ्रष्ट हो जाते हैं अर्थात् गुरु शरण व भक्ति नहीं करते जिससे पूर्णानन्द की प्राप्ति नहीं पाते हैं और योग के क्लिष्ट साधनों से खेद पाकर भागे नहीं बढ़ सकते हैं, जिससे उनकी दशा बिना नाविक वाली नौका में बैठकर समुद्र में यात्रा (मुसाफरी) करने वाले बनियों की सी हो जाती है, अर्थात् वे बनिये कार्य सिद्ध न होने से घर को भी लौट नहीं सकते हैं तथा समुद्र होने से महान् क्लेश भोगते हैं, वैसे योगाभ्यास करते हुए शरीर को कृश करते हुए क्लेश को ही प्राप्त होते हैं-इत्यर्थ : यही सार है ॥३३॥

कारिका—अदान्ते मनसि ज्ञाते योगार्थं न यतेद्बुधः ।

गुरुसेवापरो भूत्वा भक्तिमेव सदाभ्यसेत् ॥२०॥३३॥

कारिकार्थ—मन, वश होने वाला नहीं है यों जानकर बुद्धिमान को योग के लिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए, किन्तु गुरु सेवा परायण होकर, सदा भक्ति ही करनी चाहिए ॥२०॥३३॥

आभास—एवं भजने प्रकारान्तरं निराकृत्य वैराग्यमोहापगमाभावे भक्तिर्न सेत्स्यतीति वैराग्यमुपदिशन्त्य आहुः स्वजनमुतात्मेति ।

आभासार्थ—भक्ति मार्ग के सिवाय जो भजन करने के नमूने हैं, उनका निराकरण कर, अब श्रुतियां कहती है कि मोह के नाश होने और वैराग्य के उदय हुए बिना भक्ति नहीं हो सकेगी, अतः 'स्वजन सुतात्म' श्लोक में वैराग्य का उपदेश देती हैं—

श्लोक—स्वजनसुतात्मदारधनधामधराऽसुरथै-

स्त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।

इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां

मुखयति कोन्विह स्वविहते स्वनिरस्तभगे ॥३४॥

श्लोकार्थ—जब शरणागत पुरुष को सर्व रस रूप आप आत्म रूप से स्फुरित होते हैं, तब ऐसे आश्रित मनुष्यों को स्वजन, पुत्र, देह, स्त्री, धन, गृह, धरा आदि प्राण रूप वाहकों से कौनसा प्रयोजन है ? कुछ भी नहीं । इस प्रकार की जो सत् वस्तु है, उसको जो नहीं जानते हैं और विषय सुख के लिए स्त्री को साथ में लेकर जो फिरते रहते हैं, उनको स्वतः ही टूट-फूट गए और उत्तम सामग्री रहित गृह में कौन सुख देने वाले हैं ? ॥३४॥

सुबोधिनी—स्वजनानां प्रयोजनमावश्यक तदर्थं स्वजनानामपेक्षा कर्तव्यैय । अपेक्षापरित्यागस्तु स्वात्मस्थितिव्यतिरेकेण न भवति । अतो ज्ञानोत्तरमेव वैराग्यं स पक्षः प्रकृते नोपपद्यते । अतः प्रयोजनमङ्गीकृत्यैव साधनान्तरेण तत्सेत्स्यतीति पूर्वसिद्धसाधनान्येव निराकुर्वन्ति । यथाकथञ्चिन्नोक्तसिद्धसाधननिवृत्तौ प्रयोजनं भगवता क्रियमाणमलौकिकमेव भवतीति मुख्यतुल्यमेवैतदपि वैराग्यम् । स्वजनानामिह लोके उपयोगः । ऐहिकप्रतिष्ठादिस्तैरेव सिद्धयतीति । सुतस्य परलोकोपयोगः । आत्मनो देहस्य तु परलोकसाधककर्मकरणार्थमैहिकभोगार्थं चोपयोगः । दाराणां बाधककामनिवृत्त्यर्थं सुखार्थं चोपयोगः । ततो धनधामधराः धनगृहभूमयः सुखस्थितिनिर्वाहकाः । एत एव असवः प्राणभूताः । एतद्विधाते प्राणास्त्यजन्तीति । अश्वरथैरिति वा पाठः । गतिसाधनान्येतानि सुखकरणानि । अष्टविधान्येतानि यावन्तं उपकारं करिष्यन्ति स सर्वोऽप्युपकारः कोटिगुणितो भग-

वता क्रियते । यदि सुखमेवापेक्षते तदा स्वयमेव सुखं प्रयच्छति । यदि साधनपुरःसरमपेक्ष्यते तदा ह्यलौकिकानि साधनान्यपि प्रयच्छतीति भावः । नृणामिति काममयत्वं विवेकवत्त्वं च प्रतिपादितम् । ननु कदाचिद्भगवान्न कुर्यात्तदा का गतिरिति चेत् तत्राह श्रयत आत्मनीति । यस्त्वाश्रयते तस्यात्मत्वेनैव प्रकाशते । यथा स्वस्य हितं स्वयं करोति तथा भगवानपि करोतीत्यर्थः । ननु विषयांश्चेद् भगवानपि दद्यत् तदोपस्थितपरित्यागे किं कारणमिति चेत् तत्राह सर्वरस इति । सर्वे रसाः कीर्त्यादयो भगवत्येव भवन्ति । एते च रसाः प्रकटा एव न तु मधुनीवाव्यक्ताः । ननु किमत्र युक्तं भगवति विद्यमाना रसाः किं भोक्तव्याः स्वसिद्धा वेति । तत्रावश्यकत्वाद्वाधवाद् भार्यादिभिः सहैव भगवद्भजनं कर्तव्यं न तु सर्वपरित्यागेनेति चेत् तत्राह इति सदजानतामिति । अत्र पूर्वोक्तौ न भगवान् स्वजनाश्च समतया निरूपिताः । कित्वेते दुःखदाः भ्रमादेव सुखाभाससम्पादकाः । भगवांस्तु निर्दोषानन्दसम्पादक

इति । एवं वैलक्षण्ये ज्ञाते संदेह एव नोत्पद्यते । अतो वैलक्षण्यज्ञानार्थं सुतादीनां स्वरूपं निरूपयन्ति । इत्येवं प्रकारेण सत् परमार्थतत्त्वं ये न जानन्ति स्वजनादेर्भगवतश्च तारतम्यम् । रतये च मिथुनतश्चरन्ति ग्राम्यमुखाय सर्वत्र मिथुनीभूय चरन्ति । यथा स्वोपवेशनार्थं कश्चित् स्थूलमञ्चकं नयति पथिकः । तथेमे निमिषार्धमात्ररत्यर्थं सर्वथा शृङ्खलाबद्धा इव तथा सह चरन्ति । एवमतिक्लिष्टानां को वा अर्थः सुखयेत् । न ह्यत्यन्तपीडितं विषयाः सुखयन्ति । स्वजनानां तु सुखजनितवार्तापि दूरे । साधनान्तरेणापि भग-

वतांपि तेषां सुखं न भवतीत्यर्थः । नु इति वितर्कः । अस्माभिः सर्वमन्विष्टं तादृशस्य क्वापि न सुखदातोपलब्धः । किञ्च । कश्चित्सुखं दास्यतीति शङ्का न कर्तव्या । यतोऽस्मिन् जगति स्वत एव विहते पतितगृह इव विशीर्णे । तत्रापि निरस्तभगे उत्कृष्टपदार्थरहिते शून्ये अमेध्यादियुक्त इव को वा सुखदातापि तादृशे स्थाने सुखं ददातीत्यर्थः । अत्र परित्यागावस्था अधिकरणत्वेन विवक्षिता । जगत्पक्षेऽपि भगवत्सेवकः यत्र क्वचिदपि सेवमानो वैकुण्ठे एव सेवते । न तु जगतीति ज्ञातव्यम् ॥

व्याख्यार्थ—अपने आवश्यक प्रयोजन के वास्ते स्वसम्बन्धियों की अपेक्षा रहती ही है, उनकी अपेक्षा का परित्याग तब तक हो नहीं सकता है, जब तक अपनी आत्मस्वरूप में स्थिति न हो जावे, अतः ऐसे ज्ञान होने के अनन्तर ही वैराग्य हो, यह पक्ष चालू प्रसंग में उपयोगी नहीं है, अर्थात् भगवान् की भक्ति में तो प्रथम वैराग्य की आवश्यकता है, अतः प्रयोजन कौनसा है इसका निर्णय करके ही फिर वह प्रयोजन कौनसे साधन से सिद्ध होगा, यों जानना चाहिए, इसलिए श्रुति यह सिद्ध करती है कि जो पहले स्वजन आदि साधन प्राप्त हैं वे व्यर्थ हैं, प्रत्येक प्रकार के लोक में प्राप्त साधन नाशवान् है इससे उन नाशवान् साधनों से सिद्ध प्रयोजन भी लौकिक होने से नाशवान् होगा, वे लौकिक साधन जब निवृत्त हो जायेंगे तब भगवान् के द्वारा प्राप्त प्रयोजन अलौकिक हो होगा, जिससे इस प्रकार हुआ वैराग्य भी मुख्य वैराग्य के समान ही है ।

स्वजनों का, इस लोक में उपयोग है, इस लोक की प्रतिष्ठा आदि उनसे ही सिद्ध होती है, पुत्र का परलोक के लिए उपयोग है, देह का तो परलोक के साधक कर्मों के करने के लिए तथा इस लोक के सुख भोगने के लिए उपयोग है, स्त्रियों का उपयोग, बाघक काम के कष्ट को मिटाने के लिए तथा सुख भोग के लिए है । धन, गृह तथा पृथ्वी इन तीनों का उपयोग सुख और स्थिति सहित निर्वाह के लिए है, ये सर्व साधन प्राण रूप बने हैं क्योंकि वे न हों तो प्राण रहे ही नहीं, यदि 'असुरथैः' के स्थान पर 'अश्वरथैः' पाठ लिया जावे तो उसका अर्थ यों होगा कि ये कहे हुए साधन, गति और सुख के साधन है, इसलिए पहले कहे हुए सात अश्व रूप होने से गति के साधन हैं और आठवां रथ रूप होने से सुखदाता है, ये आठ ही मिलकर जितना उपकार करेंगे, उससे कोटि गुणा उपकार भगवान् करते हैं, यदि सुख की अपेक्षा है तो भगवान् सुख देते हैं और यदि सुख के साधनों की आवश्यकता है तो पहले अलौकिक साधनों का दान करते हैं, 'नृणां' पद देकर यह सूचित किया है कि इनमें कामना और विवेक दोनों हैं, यदि कदाचित् भगवान् यों सुख अथवा साधनों का दान न करें तो फिर कौनसी गति होगी ? इस शङ्का का परिहार करने के लिए कहते हैं कि 'अयत आत्मनि' उनका जो आश्रय करता है उसका आप आत्मा बन जाते हैं, जैसे आप अपना हित करता है वैसे ही भगवान् भी आत्मा बनने से हित करते हैं ।

यदि भगवान् भी विषयों को देवें तो फिर उपस्थित विषयों, के त्याग का क्या कारण है ? यदि यों कहो तो उत्तर यह है कि, 'सर्व रसे' सब कीर्ति आदि रस भगवान् में ही हैं, और ये रस भगवान् में प्रकट ही हैं, मधु की तरह अव्यक्त नहीं हैं, इस विषय में क्या करना उचित है ? भगवान् में विद्यमान रसों का उपभोग करना चाहिए, अथवा अपने से प्राप्त रसों का भोग करना चाहिए ?

यदि कहो कि भजन करना आवश्यक है, इसलिए लाघवता^१ के वास्ते स्त्री आदि के साथ रहते हुए भी भगवद्भजन करना चाहिए, न कि, सबका त्याग कर भजन करना उचित है, इस पर कहते हैं कि 'इति सद जानतां' सत्य नहीं जाने वालों का यों कहना है, यहां जो पहले भजन के प्रकार कहे हैं उनमें भगवान् और स्वजनों की समानता नहीं बताई है, किन्तु स्वजन तो दुःख देने वालों को जीव भ्रम से ही सुख देने वाले मान बैठा है, वास्तव में उनसे प्राप्त सुख नहीं है बल्कि सुखाभास है, भगवान् तो जो आनन्द देते हैं वह दोष रहित सदानन्द है, जब दोनों में इस प्रकार विलक्षणता का ज्ञान होता है, तब फिर संदेह उत्पन्न ही नहीं होता है, अतः विलक्षणता समझाने के लिए सुतादि के स्वरूप का निरूपण करते हैं, इस प्रकार जो परमार्थ तत्त्व को नहीं जानते हैं और भगवान् और स्वजन आदि का तारतम्य नहीं समझते हैं तथा ग्राम्य सुख के लिए सर्वत्र स्त्री के साथ घूमते रहते हैं, कैसे घूमते हैं ? वह बताते हैं कि जैसे कोई पथिक अपने बैठने के लिए लिया हुआ मञ्ज^२ सिर पर धर के फिरता है, वैसे यह भी क्षण मात्र सुख के लिए शृङ्गला^३ में बन्धे हुए की तरह स्त्री के साथ फिरते रहते हैं, इसी तरह अतीव दुःखियों को कौनसा पदार्थ सुख देगा, अत्यन्त पीड़ित को कोई भी विषय, सुख नहीं दे सकते हैं, सगे सम्बन्धी सुख देंगे, ऐसी सुख जनित मात्र भी दूर है, अर्थात् स्वजनों से तो सुख की आशा करनी भी व्यर्थ है, जिनका सुख प्राप्ति के लिए अन्य साधनों पर आश्रय है उनको भगवान् भी सुख नहीं देते हैं, 'नु' यह पद वितर्क में दिया है, अर्थात् श्रुतियां कहती हैं कि हमने सर्वत्र जांच करली है, किन्तु कोई कहीं भी ऐसे पुरुष को सुख देने वाला नहीं मिला, कोई सुख देगा, ऐसी शङ्का (विचार) ही नहीं करनी, क्योंकि इस जगत् में टूटे फूटे, उत्तम पदार्थों से रहित शून्य और अभेद्य पदार्थ जिसमें पड़े हैं ऐसे घर में रहने वाले को सुख देने के लिए वहां नहीं जाता है, वैराग्य की अवस्था कहने का तात्पर्य यह है कि, भगवद्भक्त जगत् में रहकर भी यदि सेवा करता है तो उसके लिए जगत् भी वैकुण्ठ है, क्योंकि उसका वास स्थान वैराग्य होने से उसको सर्वत्र वैकुण्ठ ही दीखता है ।

कारिका—पुत्रादीन् संपरित्यज्य कृष्णः सेव्यो न तैः सह ।

तत्सुखं भगवान् दाता ते तु विलष्टेतिदुःखदाः ॥२१॥३४॥

कारिकार्थ—पुत्र आदि का त्याग^४ कर श्रीकृष्ण की सेवा करनी चाहिए, उनको सुख भगवान् देंगे । वे दुःख के समय में विशेष पीड़ाकारक होते हैं ॥२१॥३४॥

१- सुविधा

२- बड़ी खाट या चारपाई

३- सांकल या जखोर

४- उनसे मोह-ममता निकालकर उनके पालन-मुख आदि की चिन्ता छोड़ दे और यों निश्चय रखे कि इनको भगवान् ही सुख देंगे ।

आभास—एवं सर्वपरित्यागेन भगवद्भजनं कर्तव्यमिति निरूपितम् । तत्र प्रथमं किं कर्तव्यमित्याकाङ्क्षायां क्रमं निरूपयन्त्य आहुः भुवि पुरुषुष्यतीर्थसदनानीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार सर्व का त्याग कर भगवान् का भजन करना चाहिए, यों निरूपण किया । उस भजन में पहले क्या करना चाहिए ? ऐसी आकांक्षा होने पर उनका क्रम निरूपण करती हुई श्रुतियाँ 'भुवि पुरुषुष्य' श्लोक कहती हैं—

श्लोक—भुवि पुरुषुष्यतीर्थसदनान्युषयो विमदास्त

उत भवत्पदाम्बुजहृदोऽघभिदङ्घ्रिजलाः ।

दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे

न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् ॥३५॥

श्लोकार्थ—जिनका चरण जल पापों को नाश करने वाला है, भगवान् के ऐसे चरण-कमल जिनके हृदय में विराजमान हैं, ऐसे मद रहित ऋषि बड़े पुण्य वाले जो गङ्गा, कुरुक्षेत्रादि तीर्थ हैं, उनको और गुरुओं के गृहों को ही सेवते हैं, ऐसे जिन्होंने नित्य सुख रूप आप में एक बार भी मन लगा दिया है, वे फिर विवेकादि हरण करने वाले गृहों में कभी रहना नहीं चाहते हैं ॥३५॥

सुबोधिनी—आदौ भूमिसमाश्रयणं कर्तव्यम् । भूमिर्हि भगवच्चरणारविन्दरूपा । तत्र मञ्चकपादुकादिपरित्यागेन भूमावेव निरन्तरं तिष्ठेत् । अनेन सर्व एव भोगा व्यावर्तिताः । ततस्तोर्था-

श्रयणं कर्तव्यं विशेषतश्चरणारविन्दस्फूर्त्यर्थम् । गङ्गा सर्वतीर्थानां मुख्या चरणारविन्द एव तिष्ठतीति गङ्गातीरे चरणारविन्दस्फूर्तिः आधिदैविकपक्षे आवेशपक्षे च स्फुटा । तत्रापि पुरुषुष्यानि तीर्थानि सेव्यानि कुरुक्षेत्रादीनि । न केवलं तान्येव तीर्थानि सेव्यानि किंतु गुरुरूपाण्यपीत्याह तीर्थसदनानीति । तीर्थानां गुरुणां सदनानि गृहाणि भुवि वर्तन्ते । अतस्तानि सेव्या-

नीत्यर्थः । ननु के ते इत्याकाङ्क्षायामाह ऋषय इति । ते हि मन्त्रद्रष्टारः । तदुद्धारकालौकिकप्रकारं जानन्ति अतस्तेषु गत्वा मन्त्राद्यलौकिकं भगवद्भज्जुसाधनं शिक्षणीयमित्यर्थः । तन तेषु को विशेष इति चेत् तत्राह विमदा इति । मदो गर्वः येन स्वपरज्ञानं न भवति । अनेन ऋषीणामभिज्ञानमपि निरूपितम् । ननु केवलं मदाभावे सात्त्विकाः कमिणोऽपि सेव्या भवेयुः देवतान्तरोपासका वा तत्राह ते पुनः भवत्पदाम्बुजहृदो भवन्ति । तेषामन्तर्बहिमाहात्म्यं निरूप्यते । अन्तस्तेषां हृदये भगवान् भवति भक्तिमार्गप्रकारेण बहिश्च ते भगवदाज्ञाकारिणो भवन्ति ॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के भजन करने के उत्तुकों को पहले भूमि की शरण लेनी चाहिए; क्योंकि भूमि भगवान् की चरण रूपा है, अतः खाट पर न सोकर भूमि पर ही सोना चाहिए और पैरों में खड़ाऊ आदि भी नहीं पहननी चाहिए अर्थात् नगे पांवों से अटन करना चाहिए, यों करने से सदैव भूमि से हो सम्बन्ध बना रहेगा और इससे यह भी सूचित किया कि सर्व पदार्थों के भोग का त्याग करो, पश्चात् भगवच्चरणारविन्द की विशेष स्फूर्ति होवे, इसलिए तीर्थों का आश्रय करना

उचित है। तीर्थों में मुख्य श्री गङ्गाजी है, कारण कि वह भगवान् के चरणारविन्द में विराजती है, इसलिए गङ्गाजी के तट पर भगवच्चरणारविन्द की स्फूर्ति होती है। यह कार्य आधिदैविक^१ और आवेश^२ पक्ष दोनों में प्रकट है।

भूमि का आश्रय करते हुए भी विशेष में भूमि पर भी बहुत पुण्य वाले कुरुक्षेत्र आदि तीर्थ सेव्य हैं। वे केवल तीर्थ समझ कर सेव्य नहीं हैं, किन्तु वे गुरु रूप भी हैं, इसलिए भी सेव्य हैं। ये कुरुक्षेत्र आदि पृथ्वी पर गुरुओं के गृह हैं; क्योंकि वहाँ रहने से हृदय का अज्ञान नष्ट हो जाता है, जिससे भी वे अवश्य सेवनीय हैं अथवा जैसे तीर्थ सेव्य हैं, वैसे ही गुरुओं के गृह भी सेव्य हैं, वे भी पृथ्वी पर ही हैं। वे गुरु कौन हैं? जिस पर कहते हैं कि जो मन्त्रद्रष्टा हैं, वे ऋषि हैं। वे ऋषि मन्त्रों में जो उद्धार करने का अलौकिक प्रकार बताया गया है, उस प्रकार को जानते हैं, अतः उनके पास जाकर मन्त्रादि में कहा हुआ अलौकिक भगवद्भजन का साधन सीखना चाहिए।

उनमें कौनसी विशेषता है? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'विमदाः' वे अहङ्कार रहित होने से 'स्व' और 'पर' भेद से दूर हैं, जिससे वे जानी हैं। यह भी सूचित किया है कि यदि केवल मदाभाव ही उत्तमता का लक्षण है, तो सात्त्विक कर्म करने वाले अथवा अन्य देवों के उपासक हैं, वे भी सेव्य समझने चाहिए? इसके उत्तर में कहते हैं कि वे केवल निरभिमानी ही नहीं, किन्तु वे उस गुण के साथ आप (प्रभु) के चरण-कमलों को हृदय में धारण करने वाले हैं, जिससे उनका भीतर और बाहर का माहात्म्य बताया है। भीतर उनके हृदय में भक्ति मार्ग के अनुसार भगवान् विराजते हैं और बाहर वे भगवान् की आज्ञानुसारी रहते हैं। आज्ञा पालन कैसे करते हैं? यह निम्न कारिका में कहते हैं—

कारिका—सर्वलोकोपकारार्थं कृष्णेन सहितास्तु ते ।

परिभ्रमन्ति लोकानां निस्ताराय महाशयाः ॥

कारिकार्थ—वे महाशय समस्त लोगों के उपकार करने के लिए और उनको मोक्ष देने के लिए श्रीकृष्ण के साथ परिभ्रमण करते हैं ॥

सुबोधिनी—अत एव सर्वेषामघं भिनत्ति यदङ्घ्रिजलं तादृशं येषाम् । ततस्तच्चरणारविन्द-जलेन पापक्षयः । तदुपदेशेन तद्गृहस्थभगवच्चरणारविन्दं सङ्क्रामतीति सूचितम् । ननु तत्से-

वायां कृतायां भगवति च हृदये निविष्टे यदि शीघ्रमेव देहपातो भवेत्तदा न काचिच्चिन्ता । यदि विलम्बः तदा कालादिना बुद्धिभ्रंशे पुनर्गृहासक्तिः स्यात् ततः कृतं सर्वं व्यर्थं भवेदित्या-

१- गङ्गाजी के तट पर भक्ति से किसी काल में देवता, मूर्ति रूप से दर्शन देती है, यह प्रत्यक्ष दर्शन 'आधिदैविक पक्ष' है। भगीरथ को भक्ति से ही गङ्गाजी ने स्वरूप से दर्शन दिया था, वह आधिदैविक गङ्गा का स्वरूप भगवद्रूप है। —'लेखाशय'

२- श्रीकृष्ण के चरणारविन्द की रज बाहुल्य से "गङ्गाजल" 'श्रीकृष्णावेश' वाला है, जिससे वह तीर्थ कहलाता है, इसलिए श्लोक में 'तीर्थ' पद दो बार (१. पुरुपुण्य तीर्थ और २. तीर्थ सदनानि) लेना चाहिए। —'लेख'

शङ्क्याह दधति सकृन्मन इति । ये गुरूपदेशादिना त्वयि सकृदपि मनो दधति । यथा कामिनां स्त्री-विशेषे सकृच्चित्तं तत्सर्वथा अननुभूय न निवर्तते । तथा स्नेहे जाते भगवद्रसाभिनिवेशे यदा भगवति चित्तं भवति तादृशः कदाचिदपि गृहं न सेवते ।

अदृष्टपूर्वः सेवेतापि दृष्टपूर्वस्तु न सेवत एवेत्यर्थः । ननु तादृशः पूर्यार्थः गृहेऽपि समागतः भगवन्तं न त्यक्ष्यतीति गृहे समागते को दोष इति चेत् तत्राह पुरुषसारहरावस्थानिति । विवेकधैर्यादिकं पूर्वावस्थां च सर्वमेव गृहा हरन्तीत्यर्थः ॥

व्याख्यार्थ—अत एव पापों के नाशकारी अपने चरण जल से सबके पापों को धो डालते हैं; क्योंकि वे पाप क्षय करने का अलौकिक प्रकार जानते हैं और उनके उपदेश से उनके हृदय में स्थित भगवच्चरणारविन्द उपदेश के अन्तःकरण में आ जाते हैं—यह भी सूचित किया ।

उन (ऋषियों) की सेवा करते हुए जब भगवान् हृदय में पधार जावें, अनन्तर यदि शीघ्र देह का पात हो जाय, तो कोई चिन्ता नहीं है ।

कदाचित् देह-पात में बिलम्ब होने से काल आदि द्वारा बुद्धि का नाश हो जाय, तो गृहासक्ति हो जायगी, जिससे किया हुआ सर्व भजन वृथा हो जायगा ? इस शङ्का का निवारण करते हैं कि जिन्होंने गुरु उपदेश से आप में एक बार भी मन लगा दिया है, जिससे आप में स्नेह हो गया है, स्नेहानन्तर आसक्ति हो गई है । आसक्ति होने से भगवान् में चित्त प्रवण हो गया है, वैसे फिर कभी भी गृह का आश्रय नहीं करते हैं । जैसे कामीजनों का यदि किसी स्त्री विशेष में एक बार भी चित्त आसक्त हो जाता है, तो वे कामी उस स्त्री से कामोपभोग का अनुभव किए बिना उसे नहीं छोड़ते हैं, वैसे ही भगवान् में जिनका मन एक बार भी आसक्त हो गया है, वे उनका त्याग कर गृह में आसक्त नहीं हो सकते हैं । जिन्होंने मन में कभी भगवान् का ध्यान नहीं किया है वा अनुभव नहीं किया है, वे कदाचित् घर का सेवन कर भो लें किन्तु जिन्होंने प्रभु का आनन्द लिया है, वे कभी भी घर में रहना नहीं चाहते हैं ।

जो भगवान् के रस को प्राप्त कर कृतार्थ हो गया है, वह यदि गृह में आकर भी भगवान् से प्रेम नहीं छोड़ता है । ऐसी अवस्था में गृह में आकर रहने में कौनसा दोष है ? इस पर कहते हैं कि 'गृह' विवेक-धैर्यादि जो भक्ति करने की अवस्था में सिद्ध हुए थे, उन सबको हर लेते हैं, अतः गृह में किसी भी अवस्था वाले को नहीं रहना चाहिए ॥

कारिका —परिभ्रमन् तीर्थनिष्ठो गुरुलब्धहरिस्मृतिः ।

न सेवते गृहान् दुष्टान् सद्धर्मत्यन्तनाशकान् ॥२२॥३५॥

कारिकार्थ—जो भक्त तीर्थों में निष्ठा वाला है वह सदैव पुण्य स्थानों में भ्रमण करता रहता है । गुरु से जिनको हरि की स्मृति का ज्ञान प्राप्त हो गया है, वैसे भक्त सद्धर्म का अत्यन्त नाश करने वाले दुष्ट गृहों का सेवन नहीं करता है ॥२२॥३५॥

आभास—एवं सर्वप्रकारैर्भगवद्भजनं निरूप्य सम्यग्मार्गानुसारेण स्थिरीकृत्य भजनीयनिर्द्धारार्थं यतमानाः सच्चिदानन्दो भगवान् भजनीय इति वक्तुं लोके सच्चिदानन्दा धर्मा एकत्र न सन्तीति किं वक्तव्यम् । प्रत्येकमपि क्वचिदपि धर्मा न सन्तीति

कथनार्थ षड्भिः श्लोकैः द्वाभ्यामेकैकस्य लोके जडे सत्त्वम् । चेतने चित्त्वं स्वर्गादावा-
नन्दत्वं च नास्तीति निराकुर्वन्ति । तत्र प्रथमं द्वाभ्यां जगति सत्त्वं निराक्रियते अन्यथा
भगवानेव सन्नित्यर्थो नोपपद्येत । भजनीयनिर्धारि गौणसत्त्वस्याप्रयोजकत्वात् । ज्ञानार्थ
दोषाभावार्थं वा तदुपयोगः । असत्सेवया पूर्वं नाशो निरूपितः । सत्सेवया कृतार्थता
च । यदि जगत्पि सत्त्वं स्यात् तदा तत्रापि भजनं भवेत् । भजने वा दोषो न
स्यादिति । तदवश्यं निराकर्तव्यम् । तत्र जगतः ये सत्त्वं वदन्ति तन्मतं वादमुद्रया
निराकुर्वन्ति तत्रैवं संशयः ।

आभासार्थ — यों सर्व प्रकार से भगवान् का ही भजन करना चाहिए यह निरूपण किया और
भक्तिमार्गानुसार उसको अच्छी तरह स्थिर किया, जिसका भजन करना चाहिए ? इसका जो,
निर्णय कराने का प्रयत्न करते हैं, उनके लिए कहते हैं कि 'सच्चिदानन्द भगवान्' हो सेव्य है, किन्तु
लोक में सच्चिदानन्द धर्म, एक ही पदार्थ में कहीं भी नहीं दीखते हैं, इसलिए तो क्या कहें, किन्तु
एक एक धर्म कहीं^१ भी दृष्टिगोचर नहीं होता है, जिसके लिए छ श्लोकों से स्पष्टता करते हैं, दो दो
श्लोक से एक एक धर्म का वर्णन करते हैं,—जड़ में सत्त्व धर्म नहीं है अर्थात् जड़ में सत्त्व धर्म
तिरोहित है जिससे वह^२ 'असत्' कहलाता है, चेतन में (चित्पन) यानि चित्त्व धर्म नहीं है, अर्थात्
ज्ञान स्वरूप जीव होते हुए भी उसका ज्ञान धर्म तिरोहित हो जाने से वह^३ अज्ञ कहलाता है, स्वर्ग
आदि में आनन्दत्व नहीं है यानि 'धर्म रूप' आनन्द वहां^४ नहीं है, जिससे वहां भी ईर्ष्या आदि रहते
हैं, अतः वे सेव्य नहीं हैं, इसलिए इनके^५ सत्त्व आदि का निराकरण करते हैं, प्रथम दो श्लोकों से
जगत् में सत्त्व का निराकरण करते हैं, यों जगत् में सत्त्व का निराकरण न किया जाय तो भगवान्
ही सत् हैं यह अर्थ सिद्ध न हो सके, जगत् में जो सत्त्व है वह गौण है, गौण सत्त्व भजनीय के
निर्धार के लिए प्रयोजक नहीं है, उस गौण सत्त्व का, ज्ञान के लिए और दोषाभाव के लिए उपयोग
है, यह पहले ही बताया गया है कि, असत् की सेवा से नाश होता है और सत् को सेवा से कार्य
की सिद्धि होती है, यदि जगत् में भी पूर्ण मुख्य सत्त्व होवे तो वह (जगत्) भी सेव्य हो जाना
चाहिए और उसके भजन में कोई दोष नहीं होना चाहिए, इसलिए जगत् का सत्त्व अवश्य निराकरण
करना चाहिए, इस विषय में जो वादी जगत् में सत्त्व कहते हैं उनके मत का प्रश्नोत्तर^६
रीति से खंडन करना चाहिए, इस विषय में यों संशय है, जिसका वर्णन 'सत श्लोक' में किया है ।

श्लोक—सत इदमुत्थितं सदिति चेन्न नु तर्कहतं

व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ।

व्यवहृतये विकल्प इषितोन्धपरम्परया

भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडात् ॥३६॥

१- किसी पदार्थ में भी, २- जड़, ३- जीव ४- स्वर्गादि में, ५- जड़, जीव और स्वर्गादि

६- वादी-प्रतिवादी बनकर

श्लोकार्थ—यदि कहो कि यह जगत् सत् से उत्पन्न हुआ है, अतः 'सत्' है, तो यों (सत्) भी नहीं है; क्योंकि तर्क से यों सिद्ध नहीं हो सकता है और कहीं व्यभिचारी हो जाता है एवं किसी स्थल पर भूटा भी होता है, यदि कहो कि सद-सदात्मक जगत् है, तो वैसा भी नहीं है । यह कल्पना व्यवहार के लिए ग्रन्थ परम्परा से मानी गई है । आपकी यह वेद-वाणी नानावृत्तियों से कर्मासक्तों को भ्रम में डालती है ॥३६॥

सुबोधिनी—यदस्य जगतः सत्त्वमुच्यते तत्किं प्रतीत्यनुरोधात् आहोस्विद्वचवस्थापकं कारणमस्ति आहोस्विद्वचमस्तोत्याशङ्क्य निराकुर्वन्ति । प्रथमतः कारणवशादस्य सत्त्वमिति पक्षो निराक्रियते । तदा जगतः सत्त्वं अनुमानात्सेत्स्यति । तत्र पूर्वपक्षे अनुमानं इदं जगत्सदेव सत् उत्पन्नत्वात् । यो यादृशादुत्पद्यते स तादृश एव भवति । यथा सुवर्णादुत्पन्नं कुण्डलं सुवर्णमेव भवति । तथा ब्रह्मणोऽप्युत्पन्नं जगत्सदेव । 'कथमसतः सज्जयेत' इति श्रुत्या सतः कारणत्वे कार्यमपि सदेव भवतीति निरूपितम् । तद्दूषयति इति चेन्नेति । दूषणे प्रमाणं दूषणं चाह । नु इति वितर्कः । अनेन तर्कबाध उक्तः । यतः पूर्वपक्षिणापि व्याप्तिबल प्राप्तेन तर्केणैव पदार्थो निर्णीयते तर्कः शङ्कावधिरिति तदेवाह तर्कहृतमिति । अयमर्थः यज्जगति सत्त्वं साध्यते तत्किं कारणसत्त्वमेव कार्यं समायातीत्युच्यते । आहोस्विदारम्भन्यायेन कार्यं सत्त्वान्तर जन्यते । तत्र नाद्यः पक्षः साधीयान् । यतस्तर्केण हन्यते । यदि कारणसत्त्व कार्यं समागच्छेत् । कारणमसत्स्य तु स्वनाशे आशङ्क्यमाने कार्यमपि न जनयेत् । अतः स्वसत्त्वनाशशङ्कया भगवान् जगदपि न कुर्यात् । नापि सत्त्वलक्षणो गुणः क्वचित्कारणे स्थितः कार्यं समागत इति आवयोः संप्रतिपत्तिरस्ति तस्माद्बहुतर्कपराहृतत्वात् न कारणसत्त्वं कार्यं समायातीत्यर्थः । अथ द्वितीयः पक्षः सत्त्वान्तरमारभ्यत इति । तदप्यसत् । व्यभिचारित्वात् सतोऽप्यङ्गादेनः असत्त्वेव जातः । न च

वक्तव्यं तत्रासदंशः सङ्घाते स्थित इति । तथा सति तावन्मात्रमेव कार्योऽप्यसत् स्यात् न तु स्वभावादिः अतिरिक्तोऽपि । ननु बीजे स एव सक्रान्त इति चेत्तर्हि ततः पृथोराविर्भावो न स्यात् । तस्मात्कार्यकारणयोर्वैलक्षण्यात् न कारणसत्त्वेन नियमेन कार्यं सत्त्वमुत्पाद्यते ननु कारणमात्रं कार्यं सत्त्वमुत्पादयति किन्तु समवायिकारणमेव । बीजं तु निमित्तकारणम् । तत्र योनिदोषात्स्वभावदोषाच्च स तथा जातः । बीजं तु गुणभूतमपि बलवता दोषेण तिरोहितम् । समवायिकारणं तु तत्तद्वयवाभिन्ना एवेति न व्यभिचार इति चेत् तत्राह क्व च मृषेति । शुक्तिकातः भ्रान्तप्रतिपत्तिं रजतमुत्पद्यते । शुक्तिकायाः सत्त्वेऽपि न तत्सत्यं भवति शुक्तिकाश्रयत्वात् तद्रजतस्य शुक्तिकैव समवायिकारणं तस्माद्व्यभिचारः सिद्धः । ननु न केवला शुक्तिस्तत्रोपादानं किन्तु दोषसहिता । चाकचकषादिदोषाद्विशेषादर्शनसहकृतात्तद्रजतं जायते । न तु केवलाश्रयात् । ननु तथापि एकांशेन रजत सत्यं स्यान् न तु सर्वथा असत्यं तदाह नेति । ननु सदंशो दोषवशात्तत्र तिरोहित इति चेत् तर्हि प्रकृतेऽपि तथा प्रतीयताम् । मनोदोषेण जगदन्यथा प्रतीयत इति । अन्यथा जगत् सच्चिदानन्दरूपेण कथं न भासते । किञ्च न केवलं ब्रह्मकारणवाद एव सर्वत्र वक्तव्यः किन्तु प्रकृतिपुरुषकारणवादोऽपि अत उभययोगात् जगत् सदसदात्मकं न केवलं सदित्यर्थः । एवं हेतुं स्वरूपासिद्ध्या व्यवहारेण च दूषयित्वा हेत्वन्तरमाशङ्क्य निराकुर्वन्ति व्यवहृतये विवर्त्य इषित

इति । इदं जगत् सत् सत्त्वेन प्रतीयमानत्वात् । ब्रह्मवदित्यनुमानं तदपि दूषयन्ति अयं विकल्पो विशिष्टकल्पना जगतः सत्त्वरूपा प्रातीतिकी न तु परमार्थरूपा व्यवहारमात्रत्वेनापि प्रतीतिसिद्धौ वास्तवसत्यत्वकल्पनायां प्रयोजनाभावात् । नन्वनादिरयं संसारः सर्वेषां चात्र सद्बुद्धिः अतो ज्ञायते सदेवेति तत्राह ग्रन्थपरम्परयेति । ग्रन्थपरम्परापि परम्परा न चात्र चक्षुष्मत्परम्परेति

प्रमाणमस्ति । प्रत्युत महतां बुद्ध्या असदेवेदमित्याभासते । ननु वेदानुरोधाज्जगतः सत्त्वमज्जीक्रियते तत्राह भ्रमयति भारतीति । भारती वेदरूपा त्वदीया वाणी उक्थजडान् कर्मपरान् भ्रामयति । भ्रामणप्रकारस्तु द्वितीयस्कन्धे निरूपितः 'वेदोहि ब्रह्मगतमेव सर्वमाह लोकः परं भ्रामयति जगद्रतम्' इति । क्रियासक्ताः पदार्थान् न विचारयन्तीति उक्थजडा उक्ताः ॥

व्याख्यार्थ—इस विषय में जो संशय है, वह कहते हैं, कि इस जगत् को जो आप सत् कहते हैं, वह अपनी प्रतीति के अनुसार कहते हो, वा उसका कोई निर्णायक कारण है अथवा इसमें कोई प्रमाण है ? इस प्रकार शङ्का कर, शङ्काओं का निराकरण करते हुए इस सिद्धान्त को असत् सिद्ध करते हैं—

इस जगत् के सत् में अनुमान कारण है, इस पक्ष का पहले निराकरण करते हैं, इसको सत्त्व सिद्धि में अनुमान यह है कि यह 'सत्' से उत्पन्न हुआ है, इसलिए 'सत्' है क्योंकि जो पदार्थ जिससे उत्पन्न होता वह वैसा ही होता है, जैसे सुवर्ण से उत्पन्न कुण्डल सोना ही है, नैसे ब्रह्म से उत्पन्न जगत् 'सत्' ही है, और 'कथमसत्ःसज्जायेत' इस श्रुति में कहा है कि 'असत् से सत् कैसे उत्पन्न होगा ? अतः जब कारण सत् है तब कार्य भी सत् है, सत् कार्य असत् से उत्पन्न नहीं होगा ?

इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए, इसके विरुद्ध जो तर्क और प्रमाण है वे देते हैं, क्योंकि दूषण (तर्क) में दूषण (तर्क) ही प्रमाण कहा जाता है, 'नु' पद वितर्क में दिया है, इससे कहा है कि आपके कहे हुए पक्ष में तर्क का बाध है, अर्थात् वह तर्क से सिद्ध न होने से झूठा है, तर्क से ही शङ्का का निवारण होता है, इससे पूर्व पक्षी ने भी व्याप्ति बल वाले तर्क से ही अपने सिद्धान्त का निर्णय किया है, इसलिए ही हम भी पूर्व पक्षों का यह सिद्धान्त तर्क से खण्डन करते हैं, कारण कि कांटा कांटे से निकाला जाता है, वास्तव में तो शब्द प्रमाण से ही जो सिद्धान्त सिद्ध होता है वही सिद्धान्त, सिद्धान्त है यों हम मानते हैं ।

आप जगत् में जो सत्त्व सिद्ध करते हैं वह सत्त्व, जो कारण में है वह कार्य में आता है ? अथवा आरम्भ न्यायानुसार कार्य में अन्य सत्त्व उत्पन्न होता है, इन दोनों में पहला पक्ष अर्थात् कारण का सत्त्व कार्य में आता है वह युक्त नहीं है क्योंकि वह तर्क से सिद्ध नहीं हो सकता है अतः झूठा है, जो कारण का सत्त्व कार्य में आता है यों माना जायगा तो कारण असत् हो जायगा, कारण रहूँगा नहीं, इस प्रकार अपने नाश की आशङ्का होने से कारण, कार्य को ही उत्पन्न करना न चाहेगा, अतः अपने नाश होने की शङ्का से भगवान् जगत् भी न करें ।

यदि कहो कि जगत् तो प्रत्यक्ष 'सत्' दीखने में आ रहा है, तो तर्क की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं कि, कारण में रहा हुआ सत्त्व लक्षणवाला गुण, कार्य में आया है ऐसा ज्ञान, कभी

भी अपने को नहीं होता है, इससे बहुत तर्कों से असत् होने के कारण, कारण में रहा हुआ सत्त्व कार्य में नहीं आता है. अतः यह प्रथम पक्ष झूठा है ।

दूसरा पक्ष कार्य में दूसरा सत्त्व उत्पन्न होता है यह भी झूठा है, क्योंकि व्यभिचारीपन^२ होने से सत् (श्रेष्ठ) अङ्ग राजा से असत् (दुष्ट) वेन उत्पन्न हुआ, यों भी नहीं कहना कि दुष्ट अंश संघात में था इसलिए वेन दुष्ट हुआ, यदि यों हो तो कार्य (देश) ही असत् (दोषयुक्त) हो न कि स्वभाव आदि भी दोषपूर्ण हो,

यदि कहो कि वीर्य में दोष था, यदि यों माना जावे तो दुष्ट वेन से पृथु का प्रादुर्भाव न होता, अतः कार्य कारण में विलक्षणता होने से कारण से सत्त्व से कार्य में सत्त्व होगा ही यह नियम नहीं है,

कारण मात्र कार्य में सत्त्व उत्पन्न करते हैं यों हम नहीं कहते हैं किन्तु समवायि कारण ही सत्त्व उत्पन्न करता है, बीज तो निमित्त कारण है, इसलिए योनि दोष से वा स्वभाव दोष से वेन वैसा हुआ, बीज गुणवान् होते हुए भी योनि आदि के बलवान् दोषों से तिरोहित हो गया, अतः बीज का गुण वेन में न आया, यदि कहो कि समवायिकरण और उसके अवयव पृथक् पृथक् हैं इसलिए व्यभिचार नहीं इसपर कहते हैं कि 'क्वच मृषा' कही झूठा भी होता है, तात्पर्य यह है कि पूर्व पक्षी का व्यभिचार दोष यों भी मिट नहीं सकता है, इसकी सिद्धि के लिए दृष्टान्त देते हैं, सीपी से, भ्रान्त पुरुष की दृष्टि में रजत (चांदी) उत्पन्न होती है, सीपी सत्य होते हुए भी उत्पन्न कार्यरूप चांदी झूठी है, उस असत् रूप चांदी का आधार आश्रय सीपी है इसलिए 'सीपी' चांदी का समवायि कारण है, यों व्यभिचार सिद्ध होता है ।

सिद्धान्ती ने उपर्युक्त दूषण देकर व्यभिचार' सिद्ध किया, जिसका अब पूर्व पक्षी निराकरण कर अपने पक्ष का समर्थन करता है कि केवल सीपी, रजत का उपादान कारण नहीं है, किन्तु चाकचक्यादि दोष सहित सीपी उपादान है, अर्थात् सीपी और चाकचक्यादि दोष दोनों उपादान हैं, इसलिए केवल सीपी से चांदी उत्पन्न नहीं होता है, यों होने पर भी चांदी आधी सत्य होनी चाहिए, सर्वथा असत्य न मानी जावे, पूर्व पक्षी का यों आधा मत स्वीकार कर उसमें जो दोष होते हैं, वे दिखाते हैं, श्लोक में 'न तथा' पदों से कहा है कि यों आधा सत् आधा असत् अर्थात् जगत् में सत्त्व और असत्त्व के अंशों का भेद नहीं है, अतः समग्र झूठा है, यदि कहो कि सीपी में जो चांदी दिखती है उसमें सत् का अंश दोष के कारण तिरोहित हो गया है तो यहां प्रकृत विषयों में भी यों प्रतीति होती है, यह मान लेना चाहिए, अर्थात् जगत् में भी भगवदिच्छा से 'सत्' तिरोहित हो गया है जिससे वह भी असत् भासता है, इसलिए ऐसा कहा है ।

जगत् जो 'सत्' भास रहा है वह केवल मन के दोषों के कारण यदि मन में दोष न होवे तो जगत् सच्चिदानन्द रूप से क्यों न भासने लगे ? और विशेष यह है कि जगत् का केवल ब्रह्म ही कारण है ऐसा ब्रह्मवाद, सर्वत्र नहीं कहना चाहिए, किन्तु प्रकृति और पुरुष भी जगत् के कारण हैं

१- कारण का नहीं,

२- यह हेत्वाभास होने से, जो सिद्ध करना है वह जिस हेतु से सिद्ध न होवे वह हेत्वाभास ।

यह वाद भी कहा गया है, इससे दोनों (प्रकृति-पुरुष) के संयोग से उत्पन्न यह जगत् सत् और असत् दोनों रूप हैं, व केवल सत् है, यों अर्थ है, यहां तक पूर्व पक्ष को मृषा सिद्ध किया है ।

इस प्रकार दिए हुए हेतु को स्वरूप की असिद्धि और व्यवहार से दूषित है यों कहकर असत् सिद्ध किया है, अब 'व्यवहृतये विकल्प दूषित' इस पद से अन्य हेतु की आशङ्का कर उसका भी निराकरण करते हैं, जैसा कि यह कल्पना, व्यवहार चले, इसलिए की है, यह जगत् सत्य है, क्योंकि सत्यपन से प्रतीत हो रहा है, ब्रह्म की तरह. यह अनुमान देकर पूर्व पक्षी जगत् को सत्य सिद्ध करना चाहता है यह अनुमान भी दोष युक्त है यों सिद्ध करते हैं ।

यह जो जगत् की सत्त्व रूप विशिष्ट कल्पना मन से की गई है वह प्रातीतिकी है, न कि परमार्थ रूपा है, जो कल्पना केवल व्यवहार के लिए प्रतीति हो रही है उस कल्पना को सत्य कल्पना मानने में कोई प्रयोजन नहीं है. सत् प्रतीत हो रहा है इससे वह पदार्थ सत् है यह हेतु मृषा (भूठ) है, क्योंकि सीपी में दीखती चांदी सत् दीखती है किन्तु सत् नहीं है. इसी तरह मन से कल्पित पदार्थ परमार्थतः सत् नहीं है ।

यह संसार अनादि है, इसमें सब की 'सत्' बुद्धि है, इससे जाना जाता है कि यह 'सत्' है, इसके उत्तर में कहा है कि 'अन्धपरंपरया' यह जगत् 'सत्' है, यह जिनको नेत्र^१ हैं उनकी परम्परा में नहीं है क्योंकि वे तो जगत् को असत् ही मानते हैं किन्तु जिनको नेत्र नहीं है उनकी परम्परा में जगत् 'सत्' है ।

वेद शास्त्रों के वाक्यों से जगत् का सत्पन अङ्गीकार किया जाता है. इस पर कहते हैं कि 'भ्रमयति भारती' वेद रूप आपकी वाणी कर्म जड़ों को भ्रम में डालती है, किस प्रकार भ्रम में डालती है वह प्रकार द्वितीय स्कन्ध में कहा है. वेदवाणी, यज्ञीय पदार्थ मात्र हरिरूप^२ हैं वे सब ब्रह्म से सम्बन्ध वाले हैं यों कहती है जिसको न समझकर, लोक, लौकिक पदार्थों को ब्रह्म सम्बन्धी मान लेते हैं जिससे वे भ्रमते रहते हैं, कर्मिष्ठ क्रिया शक्ति में ही आसक्त होने से ज्ञान से दूर होने के कारण पदार्थों के स्वरूप का विचार नहीं करते हैं इस कारण से उनको 'कर्मजड़' कहा गया है ॥३६॥

कारिका—सद्बुद्ध्या सर्वथा सद्भिर्न सेव्यमखिलं जगत्

भ्रान्त्या सद्बुद्धिरत्रेति सन्तं कृष्णं भजेद्बुधः ॥२३॥३६॥

कारिकार्थ—यह जगत् सत् है, यों जानकर सत्पुरुषों को इसका सेवन नहीं करना चाहिए, जगत् में जो सत् बुद्धि हुई है, वह भ्रान्ति से हुई है, अतः सत् रूप श्रीकृष्ण का ही भजन करना चाहिए ॥२३॥३६॥

आभास —ननु जगतः सत्यत्वं मास्तु । तेन विशेषतः सेवमाना न सेविष्यन्ति । ये तु पुनः स्वभावतः सेवन्ते तेषां निषेधः केन वा सिद्ध्येत् । सत्त्ववद् असत्त्वस्यापि

जगत्यभावात् । यथा सत्त्वमस्य साधयितुं न शक्यं तथा असत्त्वमपि तैरेव हेतुभिः । तस्माज्जगत्सदसद्विलक्षणमेवास्तु ततस्तत्सेवायां न गुणो नापि दोषः । ततो जगत्परित्यागः कथं सिद्ध्येदित्याशङ्क्याह न यदिदमग्र आसेति ।

ग्राभासार्थ—जगत् का सत्यपन भले न हो, इससे जो सत् समझ जगत् को भजते थे, वे उसका भजन छोड़ देंगे, किन्तु जो स्वभाव से उस (जगत्) को सेवते हैं । वे जगत् सत् है वा असत् है, इसका ध्यान नहीं रखते हैं । इनको कौन रोक सकेगा ? कारण कि जगत् में जैसे सत्त्व का अभाव है, वैसे ही असत्त्व का भी अभाव है । जैसे जगत् का सत्त्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है, वैसे ही उन्हीं हेतुओं से असत्त्व भी सिद्ध नहीं कर सकते हैं । इस कारण से जगत् सत् और असत् दोनों से विलक्षण है, जिससे उसके आश्रय करने में जैसे गुण नहीं हैं, वैसे दोष भी नहीं हैं । ऐसी अवस्था में जगत् का त्याग कैसे सिद्ध होगा ? इस शङ्का के निवारण के लिए 'न यदिदम्' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—न यदिदमग्र आस न भविष्यदतो निधना-

दनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।

अत उपमीयते द्रविणजातिविकल्पपथै-

वितथमनोविलासमृतमित्यवयन्त्यबुधाः ॥३७॥

श्लोकार्थ—जिससे यह जगत् सृष्टि से पहले नहीं था और प्रलय होने के बाद भी न रहेगा । केवल मध्य में एक रस आप में अनुमान से भास रहा है, अतः भूठा ही है । ऐसे मनो-विलासित जगत् को जो सत्य-ब्रह्मस्वरूप कहते हैं, वे मूर्ख हैं ॥३७॥

सुबोधिनी—यद्यसत्त्वसाधकमत्र न भवेत् तदेवं वक्तुं शक्येतापि । असत्त्वसाधकं तु वर्तते । इदं जगदसत् कादाचित्कत्वाद् यन्नैवं तन्नैवं यथा ब्रह्मेति । केवलव्यतिरेकी हेतुरस्तीति निरूपयति न यदिति । कादाचित्कत्वमेव निरूप्यते । यद्यस्मादिदं जगदग्रे सृष्टेः पूर्वं नास । न वा अतो निधनात्प्रलयानन्तरं च भविष्यति । अतो मध्ये कदाचिदेव जातं तेन ज्ञायते असदिति । यद्वि सत् तत्कालत्रयेऽपि भवति । नहि सत् कदाचिदसद्भवति अन्यथा कदाचिद्धटोऽपि पटः स्यात् तस्मादान्तरालिकत्वाद् असज्जगत् । नन्वेनेन हेतुना सत्त्वाभाव एव सेत्स्यति न त्वसत्त्वम् । व्यतिरेकिणापि तदभाव एव साध्यते न तु धर्मांतरमिति चेत् तत्राह अनुमितमन्तरा त्वयि

विभाति मृषेति । इदं जगन्मृषैव भाति । तत्र हेतुस्त्वयोति । यद्वि यस्मिन् विद्यमाने अतिरिक्तं भासते तत्त्वेन तन्मिथ्येति सिद्धम् । यथा शुक्तिकायां रजतं तथा सर्वमिदं ब्रह्म श्रुत्या ब्रह्मविद्भिश्च निर्णीतम् । तथापि यदन्यथा भासते जगत्त्वेन तन्मृषैव भवितुमर्हतीत्यर्थः । हेत्वन्तरमप्याह अनुमितमन्तरेति । प्रत्यक्षे तु रजतं न दृश्यते इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य शुक्तिविषयत्वात् । नहि रजतेन सह सन्निकर्षोऽस्ति । सतोरेव संयोगात् । 'सत्सप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत्प्रत्यक्षम्' इति प्रत्यक्षलक्षणम् । रजतं तु तदनन्तरबुद्ध्या जन्यते विषयीक्रियते च । तत्र सा बुद्धिरेव करणम् । तेन ज्ञानकरणकज्ञानमनुमानमिति रजतमनुमितिर्विषयो भवति । किञ्च । अन्तरा

विभाति । इन्द्रियार्थयोर्मध्ये भाति तन्मृषा । तथात्रापि प्रमातृचैतन्यब्रह्मचैतन्ययोर्मध्ये जगद्भातीति ! यावदेतयोर्न सम्यक् परीक्षा तावत्प्रतिभासते । अतोऽन्तरैव विभाति । एतास्मिन्नुभयस्मिन् विचारिते तत्त्वमसीति वाक्ये अवगते पश्चात्सर्वत्र ब्रह्मैव भासते । किञ्च । एकरसे त्वयि यन्नानाप्रकारेण भाति तन्मृषैवेति ज्ञातव्यम् । यथैकस्मिन् चन्द्रे द्वैतप्रतीतिभ्रान्त्या । ननु तथाप्यसत्त्वं कथं सेत्स्यति नह्यसतः प्रतीतिरस्तीति चेदसं आह अत उपमीयत इति । असत्सादृश्याज्जगदसदित्युपमीयते । यथा द्रविणजातिविकल्पमार्गः पदार्था उपमीयन्ते यथा गोसदृशो गवय इति वाक्यं श्रुत्वा अरण्ये गवयं पश्यन् सादृश्यं वाक्यावगत स्मृत्वा तद्गवये पश्यन् गवयोऽयं गोसदृशत्वादिति मन्यते । द्रविणानां गवादीनां या जातिः गोत्वादस्तासां विकल्पोऽवान्तरभेदः स एवोपमाने मार्गः अन्यथा गौरित्येव प्रतीयेत । एतस्मादेव विशेषान्नानुमानविषयता । बल्लिस्तु व्याप्त्यादौ सर्वत्रैकजातिरेव । सादृश्यज्ञानं तु भिन्नजातीयं ज्ञापयति । तथा ये

असन्तो दृष्टाः ते विचारे क्रियमाणे न सम्भवन्तीत्येतद्धर्मसाम्याज्जगदप्यसदेवेति निश्चीयते । भानं तु शशशृङ्गस्यापि भवतीति नासत्त्वं निराकरोति । सत्त्वमपि भासते । असत्त्वमपि भासते । परं विचारसहिष्णुगुणयुक्तप्रमाणेन सद् भासते । विचारासहिष्णुदोषसहितकरणेन असदिति विशेषः । ननु वैदिकानां महतामपि जगति सद्बुद्धिः अन्यथास्यात्त्वे स्थैर्याभावाद् विश्रम्भेण सर्वे व्यवहारा न भवेयुः । तस्मात्सत्त्वं सदसद्विलक्षणत्वं वा वक्तव्यमिति चेत् तत्राह वितथमनोविलासमिति । इदं जगत्सर्वं वितथमेव मिथ्याभूतमेव यतो मनोविलासम् । यो हि जगति मनसा यद्यथा मन्यते तं प्रति तत्तथा प्रतिभाति, इष्टं द्विष्टं शुद्धमशुद्धमात्मीयं परकीयं चेति । नहि निसर्गतः जगति कश्चित्पदार्थः एवंभूतोऽस्ति यः सर्वान् प्रति प्रियो भवति । अतो मनोविलासकृतमेवैतदिति मनोरथवन्मिथ्याभूतमेव । एतादृशमपि ये सत्यमिति मन्यन्ते ते अबुधाः न पण्डिताः, विचाररहिता इत्यर्थः ॥

व्याख्यानार्थ—यदि जगत् को असत् सिद्ध करने वाला कारण न होवे तो, यों कह भी सकते, किन्तु यहां तो असत्त्व साधक हेतु मौजूद है, जैसे कि जगत्, नित्य न होने से असत् है, जगत् के असत्त्व में अनित्यता हेतु है, जो नित्य नहीं है वह असत् नहीं है, जैसे ब्रह्म, ब्रह्म नित्य होने से 'सत्' है यह केवल व्यतिरेका^१ हेतु है, जिसका निरूपण करते हैं—

यत् यस्मात्, जिस कारण से यह जगत् सृष्टि से पहले नहीं था और लय होने के बाद भी न रहेगा, केवल मध्य में कुछ वक्त ही रहता है, इससे जाना जाता है कि, जगत् असत् है, क्योंकि सत् वह है जो, तीनों कालों में रहता है, अतः सत् कभी भी असत् नहीं होता है, यदि यों न होवे, सत् का रूप बदलता हो तो कभी घट भी पट हो जावे, केवल मध्य में होने से जगत् असत् है इस हेतु से तो सत्त्व का अभाव ही सिद्ध होगा न कि असत्त्व सिद्ध होगा, व्यतिरेक हेतु से भी सत्त्व का अभाव ही सिद्ध किया जाता है, न कि अन्य धर्म का होना सिद्ध होता है, यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि 'अनुमितमन्तरात्वयि विभाति मृषा' मध्य में अनुमान से बताया हुआ यह जगत् आपमें झूठा ही भासता है' । उसमें हेतु 'त्वयि' आप में यह पद है जो वास्तविक वस्तु है

१- पृथ्वी अन्य से जुड़े प्रकार की है क्योंकि गन्धवाली है, जो अन्य से जुड़े प्रकार का नहीं है वह गन्धवाला भी नहीं है, इसको केवल व्यतिरेकी हेतु कहा जाता है ।

उसमें यदि अन्य पदार्थ में भासे तो समझना चाहिए कि भासमान अन्य वस्तु भूठी है, जैसे सत्य सीपी में अन्य वस्तु चांदी भासती है वह भूठी ही है, सत्य तो सर्व, सीपी ही है, वैसे ही यह सब जो भास रहा है वह भी ब्रह्म ही है, भासित जगत् असत् है, यों ब्रह्मवेत्ताओं ने श्रुति से निर्णय किया है ।

दूसरा हेतु कहते हैं 'अनुमित मन्तरा' मध्य में जो भासता है वह भूठा है क्योंकि वह अनुमान से कल्पित होता है, प्रत्यक्ष ही सत्य होता है, प्रत्यक्ष उसको कहा जाता है, जो सत् पदार्थ से इन्द्रिय का संयोग होकर ज्ञान उत्पन्न हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान सत्य है, जैसे सीपी और इन्द्रिय का संनिकर्ष होने पर सत् ज्ञान होता है अर्थात् सीपी सत्य है, किन्तु उसके अनन्तर जो बुद्धि से जो ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् बुद्धि से उत्पन्न ज्ञान द्वारा जो पदार्थ जाना जाता है, वह पदार्थ अनुमित ज्ञान का विषय होने से सत् नहीं है, जैसे इन्द्रिय और सीपी के संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान के अनन्तर बुद्धि से चांदी का ज्ञान होता है, इसलिए रजत अनुमान का ही विषय है और आदि तथा अन्त में न होकर केवल इन्द्रिय और पदार्थ के मध्य में भासती है, जिससे वह चांदी भूठी है इसी तरह प्रमाता चैतन्य और ब्रह्म चैतन्य के मध्य में जगत् भास रहा है, इससे यह भी मिथ्या है, जब तक दोनों चैतन्यों का पूर्ण परीक्षा से ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक जगत् भासता है अतः मध्य में ही भासता है, इन दोनों चैतन्यों के विचार करने पर जब 'तत्त्वमसि' इस वाक्य का सत्य ज्ञान हो जायगा बाद में सर्वत्र ब्रह्म ही भासता है और विशेष यह है कि आप जो एक रस हो उस आपमें जो नाना प्रकार से यह जगत् भास रहा है वह भूठा है यों समझना चाहिए, जैसे एक चन्द्रमा में दो होने की प्रतीति भ्रान्ति से होती है, वैसे यह भी भ्रान्ति से भास रहा है ।

यों असत् हो, तो उसकी प्रतीति कैसे होती है ? जिस शब्दा का निवारण करने के लिए कहा है कि 'अत उपमीयत' असत् के समान है, अतः जगत् असत् है, यों उपमान से समझा जाता है । पदार्थों की जातियों में जो अवान्तर भेद है, उनसे पदार्थ पहचाने जाते हैं, अतः ऐसे पहचान कराने वाले कारण को उपमान^१ कहा जाता है । जैसे गौ के समान गवय है—यह वाक्य सुनकर वन में 'गवय' को देखते हुए कहने लगता है कि यह गौ के समान है, अतः गवय है । गौ आदि जातियों में गोपन आदि उनमें जो अवान्तर भेद है, वह ही उपमान में पहचानने का साधन है । यदि यों न होवे, तो गवय भी गौ ही प्रतीयमान होने लगे । इस ही विशेषता से अर्थात् भेद से यहाँ अनुमान न होकर उपमेय होता है । अग्नि तो व्याप्ति आदि सब स्थानों में एक ही है, किन्तु सादृश्यता दूसरे प्रकार का ज्ञान कराती है । इसी तरह जो पदार्थ भूठे देखे हैं, विचार करने पर निश्चय होता है कि ये सत् नहीं हैं, इसलिए उसी धर्म की समानता होने से जगत् भी असत् है, यों निश्चय किया जाता है । भान तो सत् और असत् दोनों का होता है । जैसे शशशृङ्ग^२ नहीं है, जिसका भी भान होता है, इससे शशशृङ्ग सत् है, यों सिद्ध नहीं होता है । सत् तथा असत् किसको कहा जाता है ? जिसे

१- 'अनुमान और उपमान' दोनों कारण प्रमाण माने जाते हैं, इनमें इतना ही भेद है कि 'अनुमान' में वह पदार्थ एक ही है । जैसे रसोड़े में जो अग्नि है वैसे ही अग्नि पर्वत में है; किन्तु 'उपमान' में यों नहीं है, उसमें भेद है । जैसे गवय गौ जैसी है, केवल समानता है ।

२- खरगोश के सींग होना ।

समझाते हैं कि सत् वह है, जो गुणों से युक्त हो अर्थात् गुण रूप करण ज्ञान होने में साधन हो और विचार से उसको माना जा सके तथा असत् वह है, जो दोष वाला हो अर्थात् दोष वाला करण ज्ञान होने में साधन हो और विचार से उसको मान्य न किया जावे ।

वेदज्ञ बड़े-बड़े विद्वान् भी जगत् में सदबुद्धि रखते हैं, यदि जगत् सत् न हो—असत् होवे, तो उसमें स्थिरता न रहेगी, जिससे विश्वास से सब कार्य न होने चाहिए अर्थात् न होंगे । इस कारण से जगत् को सत्त्व अथवा सदसद्विलक्षण है, यों कहना चाहिए । यदि यों कहो, तो जिसका उत्तर यह है कि 'वित्तमनोविलास' यह सब जगत् झूठा ही है; क्योंकि मन का ही विलास है, जिससे ही जो जिसको मन से जैसा समझता है उसको वह वैसा ही प्रतीत होता है, मित्र, शत्रु, अपना वा पराया, शुद्ध वा अशुद्ध जैसा भी मन से समझता है उसके लिए वह वैसा ही हो जाता है, जगत् में स्वभाव से कोई पदार्थ ऐसा नहीं है, जो सर्व को प्यारा होवे, अतः मन के विलास से ही यह सब किया हुआ होता है, इस कारण से, मनोरथ की तरह यह जगत् मिथ्याभूत ही है, ऐसे जगत् को भी जो सत्य मानते हैं, वे अबुध हैं, अर्थात् विचारहीन है ॥३७॥

कारिका—खपुष्पादिसमत्वाद्धि मिथ्याभूतं जगद्यतः ।

अधिष्ठानाच्च सद्भानं तं कृष्णं नियतं भजेत् ॥२४॥३७॥

कारिकार्थ—आकाश के फूलों के समान जगत् असत् है, जिस अधिष्ठान से सत् भास रहा है, उस श्रीकृष्ण का नियमपूर्वक सदा ही भजन करना चाहिए ॥२४॥३७॥

आभास—एवं द्वाभ्यां भजनार्थमन्यत्र सत्यत्वं निराकृत्य तत्त्वेन सत्यत्वे तदेव भजनीयमिति सदंशं विचार्य द्वाभ्यां चिदंशं विचारयन्ति स यदजयेति ।

आभासार्थ—भजन के लिए भगवान् के सिवाय दूसरों में (जगत् में) सत्त्व नहीं है वह सिद्ध किया, जिससे वह (भगवान्) ही तत्त्व से सत्त्व होने से भजन करने योग्य है, इस प्रकार सदंश का विचार कर, अब निम्न दो श्लोकों से चिदंश का विचार करते हैं—

श्लोक—स यदजया त्वजामनुशयीत गुणांश्च जुषन्-

भजति सरूपतां तदनु मृत्युमपेतभगः ।

त्वमुत जहासि तामहिरिव त्वचमात्तभगो

महसि महीयसेऽष्टगुणितेऽपरिमेयभगः ॥३८॥

श्लोकार्थ—वह ही भगवद्रूप (जीव) जब भगवान् की माया में फँस जाने से अविद्या का अनुसरण करता है, तब जीव कहलाता है और उस (अविद्या) के गुणों का सेवन करने से उस (अविद्या) की समानता को प्राप्त होता है अर्थात् जड़ता को प्राप्त करता है, पश्चात् उस (जीव) में भगवद्रूप होने से जो ऐश्वर्य आदि भग हैं, वे

तिरोहित हो जाते हैं, जिससे वे मृत्यु को पाते हैं । आप तो उससे अन्य प्रकार फेंक अपने अणिमादि आठ ऐश्वर्य (भग) सहित पूर्ण तेजो रूप में विराजते हैं और जैसे सर्प त्वचा को फेंक देता है, वैसे ही आप भी मृत्यु को फेंक देते हैं । विशेष में आप तो वास्तविक असङ्ख्य भग अर्थात् गुण, यथा, यश, ज्ञान, वैराग्यादिवाले हैं ॥३८॥

सुबोधिनी—चित्सेव्येति पञ्चैऽपि भगवानेव सेव्यो न तु जीवाः । स्वरूपस्थितो हि सेव्यः जीवास्तु स्वरूपात् प्रच्युताः । तत्र हेतुमाह स एव भगवद्रूपोऽपि जीवः यदा यद्यस्मात्कारणाद्वा अजया भगवन्मायया कृत्वा, अजामविद्यां प्रकृति वा, अनुशयीत तामनुमृत्य जीवभावं प्राप्नुयात् तदा तस्या गुणान् जुपन् स्वानन्दं परित्यज्य जडेभ्यः आनन्दं प्राप्स्यामीति यदा जडानुभवं करोति तदा स्वयमपि स्वचैतन्यं परित्यज्य सह-पतां भजति जडभावं प्राप्नोतीत्यर्थः । एवम-विद्यासम्बन्धादानन्दांशश्चिदंशोऽप्यपगच्छति केवल जडतामापद्यते । जडस्योगास्यता पूर्वमेव निषिद्धा । ननु जडभावे को दोषः । रत्नादेर्मह-तोपि जडभावात् तत्राह तदनु मृत्युमपेतभग इति । कालो हि जडान् गुणान् क्षोभयति अन्न-प्रायाश्च भक्षयति । तथा एनमपि कालो भक्षय-तीति, तदनु जडतामनु मृत्युमपि प्राप्नोति । नाप्येतावदेवानिष्टम् । यथा राजा यावज्जीवं सुख जीवति अन्ते मृत्यु प्राप्नोति । ततोऽप्यस्य जीव-स्याधिकं दुःखमित्याह अपेता भगा ऐश्वर्या द-भार्यानि यस्य । एवं लोष्ट्रायो मृत्युग्रस्तश्च यो जातः स कथं सेव्यो भवेदित्यर्थः । ननु भगवतोपि मायासम्बन्धोऽस्ति 'मम माया दुरत्यया' इति वाक्यात् । ततः सोऽपि तथा भवेदित्याशङ्क्याह त्वमुत जहासि तामिति । त्वं तु तां मोहिकां जहासि 'जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः' इति श्रुतेः । इदमेव जीवाद्वैलक्षण्यम् । एतन्मूलकमन्यदाह आनभग इति । ऐश्वर्यादिभगाश्च स्वीकृता एव

भवति । नाशककारणाभावात् । ननु तथा सह किमोरितः स्थितः तां चेत्यजेद् विशिष्टं तस्य स्वरूपमेवापगच्छेदिति कथं तां जह्यात्तत्राह अहिरिव त्वचमिति । सर्पाः कालेन कृत्वा जीर्यन्ते मन्यन्ते । ततः कसर्णीरस्तेषां मुख्यः काद्रवेयः कांश्चिन्मन्त्रान् भूमिर्भूम्ना इत्यादीन् दृष्ट्वा तैः सर्वे सर्पा जरातो विमोचिताः ततः सर्वे सर्पा जोर्णास्तनूरपाधनत तथा भगवानपि सहज-सम्बद्धामपि त्वग्रूपां अखण्ड एव स्वैश्वर्येण स्थितपूर्वावस्थः तां जहातीत्यर्थः । ननु सर्पाणां त्वक्परित्यागेऽपि न कोऽपि विशेषो जायते । तथा भगवतोपि मायाग्रहणपरित्यागावस्थयोः कोऽपि विशेषो न स्यात् । ततः परित्यागो व्यर्थ इति चेत् तत्राह महसि महोयस इति । महसि पूर्णं तेजोरूपे अष्टैश्वर्यसहिते महोयसे विराजसे । सत्यं तस्यां विद्यमानायामविद्यमानायां वा कोऽप्युप-यापचयो वा सर्वदैव स्वरूपानन्दे परमप्रकाशमाने अष्टैश्वर्ययुक्ते विराजस्येव तथापि लोकदृष्ट्या तत्सम्बन्धे दोषप्रतिभाने एतदुच्यते तां जहासीति । दस्तुतस्तु ताः सर्वा भगवत्येव वर्तन्ते न ताभिः कापि क्षतिः पृथग्भूतानामेव ताभिरनिष्टश्रवणात् । त्वं तु अपरिमेयभगः मातुं योग्या हि क्रियया निवर्त्यन्ते, अमेयास्तु क्रियाशक्त्यापि किं नष्टा भवेयुः । तस्मात् ।

सर्वसद्गुणमाहात्म्यः सर्वदोषविवर्जितः ।

भगवानेव सेव्यो हि न तु जीवाः कदाचन ॥

इत्यर्थः ।

व्याख्यानार्थ—जगत् में सत्त्व नहीं अतः वह सेव्य नहीं किन्तु जीव जो चिदंश है उसमें सत्त्व भी है, अतः उसका भजन करना चाहिए, इस पक्ष में भी भगवान् ही सेव्य है, न कि जीव सेव्य है,

सेवा उसकी करनी चाहिए जो अपने स्वरूप में पूर्णतया स्थित होवे, जोव तो स्वरूप से गिरे हुए हैं अर्थात् अपना स्वरूप भूल बैठे हैं, उसको हेतु देकर स्पष्ट करते हैं कि, वह जोव भगवद्रूप होते हुए भी जब अथवा जिस कारण से, भगवान् की माया से अविद्या का अनुसरण करने लगा, तब जोव भाव को प्राप्त हुआ तब अविद्या के गुणों को ग्रहण कर, अपना आनन्द त्याग, जड़ों से आनन्द प्राप्त करूँगा यों विचार जब जड़ का अनुभव करने लगता है तब स्वयं भी अपना चैतन्य छोड़कर जड़ भाव को प्राप्त होता है, इस प्रकार अविद्या से सम्बन्ध होने के कारण आनन्दांग तथा चिदंश भी तिरोहित हो जाता है, केवल जड़ता को प्राप्त होता है अर्थात् देह धारण करता है, जड़ता की उपासना का प्रथम ही निषेध कर दिया है।

जड़ भाव में कौनसा दोष है ? महान् मूल्यवान् रत्न आदि भी जड़ हैं, इस पर कहते हैं कि 'तदनु मृत्युमपेत भग' देह धारण करने के बाद भग से रहित होने से मृत्यु को प्राप्त करते हैं क्योंकि, काल जड़ गुणों में खलबली उत्पन्न करता है और पकाए हुए अन्न को जैसे सहज ही भक्षण करता है वैसे काल इसका भी भक्षण करता है, जड़ता प्राप्त करने के बाद मृत्यु को पाता है जैसे राजा जीवन पर्यन्त सुख भोगकर अन्त में मृत्यु पाता है, इतना ही अनिष्ट नहीं किन्तु उससे भी विशेष दुःखः जीव को होता है, क्योंकि जीते हुए हो उसके ऐश्वर्यादि नष्ट हो जाते हैं जिससे मिट्टी-ढेले-समान और मृत्यु ग्रस्त जो जीव है, वह सेव्य कैसे बन सकता है ? 'मम माया दुरत्यया' इस गीता वाक्यानुसार भगवान् का भी माया से सम्बन्ध है, इससे वह (भगवान्) भी वैसे जीववत् मृत्युवत् होने चाहिए, ऐसी शङ्का पर कहते हैं कि 'त्वमुत जहासि ताम्' आप तो उसको फेंक देते हो, यों यह श्रुति कहती है, जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः' इति श्रुतिः' जन्म रहित अन्य (भगवान्) भुक्त भोगा इस माया का त्याग करते हैं, जीव से भगवान् में यह भी विलक्षणता है, ऐश्वर्यादि भग उपमें रहते हैं जिसने प्रकृति वा माया का त्याग किया है, क्योंकि ऐश्वर्यादि भग के रहने की जड़, प्रकृति व माया का त्याग है, भगवान् में ऐश्वर्यादि भग स्थित ही हैं, क्योंकि उनके नाश करने वाला कोई कारण है ही नहीं।

भगवान् के साथ माया मिली हुई है, उसका यदि भगवान् त्याग करेंगे तो उनका स्वरूप हो चला जाय, इसलिए उसका त्याग कैसे करेंगे? जिसका उत्तर देते हैं कि 'ग्रहिरिव त्वच' जमे सर्प कंचुली का त्याग करता है, काल ने सर्पों को वृद्ध बना दिया, यह देखकर सर्पों में मुख्य, कसलीर नामवाले सर्प ने 'भूमिभूमना' इत्यादि कितने ही मन्त्रों का दर्शन कर, अपनी कंचुली उतारकर मन्त्रों से सकल सर्पों को बुढ़ापे से छुड़ाया, उस दिन से सब सर्प जीएँ तब अर्थात् कंचुली का त्याग करते हैं, वैसे भगवान् भी स्वभावतः सम्बद्ध भी त्वग रूप माया को, अपने अखण्डैश्वर्य युक्त स्वरूप में स्थित होते ही छोड़ देते हैं, जैसे कंचुली छोड़ देने पर सर्पों में कोई विशेष नहीं होता है, वैसे ही भगवान् में भी माया के त्याग और ग्रहण करने पर कुछ भी विशेषता नहीं होती है, अतः उसका परित्याग व्यर्थ ही है, यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि 'महसि महीयसे' आप अष्टैश्वर्य सहित पूर्ण तेजो रूप में विराजते हैं। आप माया को छोड़ते हैं, यह कहना केवल इसलिए है कि लोक दृष्टि से माया के सम्बन्ध होने के कारण दोष दीखते हैं, वास्तव में यो नहीं है, वास्तव में तो माया का सम्बन्ध होवे अथवा न होवे, भगवान् में उससे उपचय (लाभ वा वृद्धि) अपचय (हानि वा क्षाणता) कुछ नहीं होता है, सदैव परम प्रकाश वाले अष्टैश्वर्य युक्त स्वरूपानन्द में विराजते रहते हैं क्योंकि वास्तव में वे सर्वशक्तियाँ भगवान् में ही हैं, उनसे भगवान् की कोई क्षति नहीं होती है, जो पृथक् होती

है उनसे ही अनिष्ट होना सुना जाता है, आप तो असोम भग वाले हैं, जिनमें सोमा वाला भग है उनकी ही क्रिया से हानि हो सकती है, जो असोम हैं उनका नाश क्रिया शक्ति कदापि नहीं कर सकती है, इस कारण से कहा है कि—सकल सद्गुणों वाला जिसका महात्म्य है, और जिसमें कोई दोष नहीं है वैसे भगवान् ही सेव्य हैं, जीव कभी भी सेव्य नहीं हैं ।

कारिका—कालादितृणपर्यन्ता न सेव्या मुक्तिमिच्छता ।

दोषत्याजनशक्तो हि सेव्यो दाता गुणस्य च ॥२५॥३८॥

कारिकार्थ—मुक्ति इच्छुक के लिए काल से लेकर तृण पर्यंत कोई भी सेव्य नहीं है कारण कि दोष छुड़ाने की जिसमें शक्ति हो और गुणों के दाता हो वह भगवान् ही सेवा करने योग्य है ॥२५॥३८॥

आभास—ननु भगवत्सेवापेक्षया जीवभजनमेव मुख्यं जीवे भगवानप्यस्ति जीवो-
प्यस्ति अतः सांशो भगवांस्तत्र वर्तत इति तं परित्यज्य निरंशः केवलः कथं सेव्य इति
चेत् तत्राहुः यदि न समुद्धरन्तीति ।

आभासार्थ—भगवान् की सेवा से तो जीव भजन करना ही मुख्य है क्योंकि जीव में, भगवान् और जीव दोनों ही हैं, अतः अश सहित भगवात् वहां (जीव में) हैं, उस सांश का त्याग कर केवल निरंश कैसे सेव्य हो सकता है ? यदि यों कहो तो इसका उत्तर निम्न श्लोक में दिया जाता—

श्लोक—यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा

दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृतकण्ठमणिः ।

अमुतृपयोगिनामुभयतोऽप्यसुखं भगव-

न्नपगतान्तकादनधिरूढपदाद्भवतः ॥३९॥

श्लोकार्थ—हृदय में विराजमान होने पर भी भगवान् को वे योगीजन कठिनता से वा दुःख से प्राप्त कर सकते हैं, जिन्होंने हृदय से काम रूप जटाओं को दूर नहीं फेंक दिया है, जो असत् जगत् में आसक्त हैं, उनको तो असल नहीं मिलता है—इसमें कहना ही क्या ? जैसे कण्ठ में पड़ी हुई मणि भी विस्मृत हो जाने से सुख तो नहीं देती है—प्रत्युक्त दुःख ही देती है, वैसे ही जो प्राणों के पोषणार्थ ही प्रयत्न करते हैं, उनको दोनों तरह के दुःख प्राप्त होते हैं—एक यम सहित काल भी उनको दुःख देता है, जिससे जीवन दशा में दुःख ही भोगते हैं, मरने के बाद भी आपकी प्राप्ति न होने से चिन्ता से घिर जाने से वे दुःखी होते हैं । इस प्रकार भगवान् से भी दुःख पाते हैं ॥३९॥

सुबोधिनी—यत्रांशः प्रकटः भगवांश्च प्रकटः तत्र तथैव । अत एव पूर्वं पुरुषेष्वेव भगवदाराधनमुक्तम् । यत्र पुनः स्वरूपं जडतामापन्नं भगवांश्च सर्वथा न प्रकटः तत्र किं स्यात् । न हि काष्ठे वह्निरस्तीति शीतनिवृत्त्यर्थं होमार्थं वा काष्ठं सेव्यते । तस्मादप्रकटभगवत्स्वरूपाः सर्वथैव न सेव्याः । ननु कथं हृदि विद्यमानः स्वप्रकाशो भगवान् न प्रकाशते तत्राह यतयोऽपि यदि हृदि स्थिताः कामजटा न समुद्धरन्ति तर्हि तेषामपि दुरधिगमः । यथा निखातोपरि वृक्षेष्वारोपितेषु तदुन्मूलनव्यतिरेकेण यथा खाता उद्घाटयितुं न शक्यन्ते, एवमन्तःस्थितो भगवान् मायाजवनिकाच्छन्नः तदुपरि अविद्यया आच्छादितः ततो वासनाकामक्रोधादिवृक्षैः सर्वथा लुप्ताभिज्ञानः कथं दृश्येत । तत्राप्यसतां देहाभिमानिनाम् । ननु तथापि वस्तुसामर्थ्यात् तत्र भगवानस्त्येति फलं भविष्यतीति चेत् तत्राह अस्मृतकण्ठमणिरिति । न स्मृतश्चासौ कण्ठमणिश्च तद्रूपो भगवानित्यर्थः । यथा कण्ठमणिः कण्ठे स्थितोपि तं न सुखयति प्रत्युत विस्मृत्या स्वरूप-

मात्रे स्मृते दुःखमेव प्रयच्छति तथा भगवानपि तमेव न सुखयति तत्पूजकं कुतः सुखयेत् प्रत्युत यतीनां दुःखदोषो जातः । यथा विस्मृतमणेस्तदन्वेषणपरस्य दुःखं भवति तथा आत्मान्वेषणार्थं सर्वस्वपरित्यागं कृत्वा गतानां यतीनां परमदुःखदो भवति । एतदामरणान्तं परित्यागधर्मपरिपालकानाम् । ये तु पुनः बहिरात्मोपलम्भाभावाद् अतिदुःखसाधनैः क्लिष्टाः यथाकथञ्चित्प्राणपोषणं कुर्वन्ति ते ह्यसुतृपाः पूर्वं योगिनश्च । असुतृपणार्थमेव योगिनो वा, कृतेन सर्वेणापि जीवनमेव सम्पादयन्तीत्यर्थः । तेषामुभयतोऽप्यसुखं तदुभयं निदिशन्ति अनपगतान्तकाद्भवतश्चेति । धर्मपरित्यागाद्यमसहितः कालोपि तेभ्यो दुःखं प्रयच्छति । नरकं मृत्युं च प्रयच्छतीत्यर्थः । अस्मृत्या भगवांश्च दुःखं प्रयच्छति । तेन जीवनदशायामपि दुःखम् । ननु भगवान् कथं दुःखं प्रयच्छेत् । अप्राप्तं परं भवेदित्याशङ्क्याह अनधिरूढपदादिति । अनधिरूढं पदं यस्येति । भगवत्पदं तैर्निरूढमिति चिन्ताकुलाः क्लिश्यन्तीत्यर्थः ॥

व्याख्यानार्थ—जहां अंश और भगवान् दोनों प्रकट हों वहां तो वैसे ही करना चाहिए अर्थात् सेवा करने में रुकावट नहीं है, इस कारण से पुरुषों में ही भजन कहा है, किन्तु जहां जीव स्वरूप जड़त्व को प्राप्त हो गया, भगवान् सर्वथा प्रकट नहीं वहां क्या करना चाहिए ?

काष्ठ में अग्नि है, इसलिए शीत निवारणार्थं अथवा होम के लिए काष्ठ नहीं लाया जाता है, इस दृष्टान्त से समझना चाहिए कि जिन पदार्थों में भगवत्स्वरूप प्रकट नहीं है वे सर्वथा सेव्य नहीं हैं ।

हृदय में विराजमान स्व प्रकाश भगवान् क्यों नहीं प्रकाशते हैं ? इस पर कहते हैं कि योगी वा सन्यासी भी हृदय में स्थित कामजटाओं को (वासनाओं को), जब तक निकाल कर बाहर नहीं फेंक देते हैं तब तक उनको भी प्रकाश मिलना असम्भव है ।

पृथ्वी में गाड़ी हुई धनराशि पर वृक्ष उत्पन्न हो गए हों तो राशि को निकालने के लिए प्रथम उत्पन्न पेड़ों को समूल काटे बिना, गाड़े हुए धन नहीं निकाल सकते हैं, इसी प्रकार अन्तःस्थित भगवान् ने भी माया जवनिका (परदे) से अपने को छिपा दिया है, उसके ऊपर अविद्या से आच्छादित, और बाद में वासना, काम, क्रोध आदि वृक्षों के कारण उसका ज्ञान सर्वथा लोप हो गया है, ऐसी अवस्था में कैसे देखने में आवे ? जो स्वयं प्रकाश है, उसका प्रकाश अन्य कोई नहीं

करा सकता है किन्तु उसके प्रकाश के आगे रुकावट वाले पदार्थों को ही दूर करना पड़ता है जिससे स्वयं प्रकाश का प्रकाश स्वतः मिल जाता है। जैसे सूर्य का प्रकाश, बादलों से जब आच्छादित होता है तब दोखता नहीं है, वायु द्वारा बादल हट जाने पर उसका प्रकाश स्वतः मिल जाता है। भगवान् तो उससे भी विशेष आच्छादित हैं वे कैसे दर्शन देंगे ? उसमें भी फिर देशभिमानियों को कैसे प्रकाशित होंगे ।

यों होने पर भी, वहां भगवान् हैं, अतः वस्तु सामर्थ्य से सेवा करने पर फल तो मिलेगा ही, यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है, कि, 'अस्मृत कण्ठमणिः' जैसे कण्ठ में मणि पड़ी है, किन्तु मनुष्य समझता है कि मणि नहीं है, इस प्रकार की भूल करने वाले को कण्ठ स्थित मणि से सुख तो नहीं मिलता है प्रत्युत विस्मृति से जब उसके मन में स्मृति आती है तब दुःख होता है, इसी प्रकार भगवान् भी विस्मृत होने पर उस (जीव) को ही सुख नहीं देते हैं तो उस (जीव) को पूजा करने वाले को कैसे सुख देंगे ? प्रत्युत सन्यासियों को तो दुःखद भी होते हैं, जैसे जो मणि को भूल गया है, फिर जब उसको ढूँढने के लिए निकलता है तब वह क्लेश को पाता है, उसी तरह आत्मा के अन्वेषणार्थ, सर्वस्व छोड़ कर, वन में जाकर, जो रहते हैं उन यतियों को तो भगवान् विशेष दुःखद होते हैं, क्योंकि जीवन पर्यन्त त्याग धर्म का पूर्ण पालन करना पड़ता है और जो फिर बाहर आत्मा का आश्रय न मिलने से क्लिष्ट साधन करने से जो दुःखी होकर, जैसे तैसे प्राणों का पोषण करते हैं, वे तो प्राणों के ही पोषक हैं, और पहले योगी थे, अथवा वे प्राण पोषणार्थ ही योगी होके, अपने सकल कृत्यों से जीवन ही सम्पादन करते हैं, अर्थात् देहादि भरण पोषण ही पूर्ण करते हैं, ऐसे योगियों को दोनों तरफ से दुःख प्राप्त होता है, वे दोनों प्रकार के दुःख कैसे मिलते हैं, वह बताते हैं कि 'अनपगतान्तकाद्भवतश्च' मृत्यु से छुटकारा न होने के कारण एक दुःख और दूसरा आपसे ।

अपने सन्यास के धर्मों के परित्याग करने के कारण, यम सहित काल भी उनको दुःख देता है, नरक और मृत्यु देता है, भगवान् को भूल जाने से भगवान् दुःख देते हैं, इससे जोते जो भी दुःख मिलता रहा, मृत्यु के बाद भी भगवच्चरणारविन्द की प्राप्ति न होने से दुःख हुआ, भगवान् इस प्रकार दुःख देते हैं, कि, वे भगवान् के चरणारविन्द प्राप्त न होने की चिन्ता से व्याकुल होते हुए क्लेश पाते हैं ॥३६॥

कारिका—जीवेषु भगवानात्मा संछन्नस्तेन तत्र न ।

भजनं सर्वथा कार्यं ततोऽन्यत्रैव पूजयेत् ॥२६॥३६॥

कारिकार्थ—भगवान् जीवों में पूर्ण रीति से छिपे हुए हैं, अतः जीव का भजन नहीं करना चाहिए, इस कारण से भगवान् का ही सर्वथा भजन करना चाहिए ॥२६॥३६॥

आभास — एवं चिदंशा न पूज्या इति निरूप्य लौकिका आनन्दा अपि न सेव्याः किन्तु भगवदानन्द एव सेव्य इति निरूपयति द्वाभ्याम् त्वदवगमीति ।

आभासार्थ—इस प्रकार चिदंश की सेवा नहीं करनी चाहिए यह निरूपण करके लौकिक आनन्द भी सेव्य नहीं हैं, किन्तु भगवान् ही सेव्य हैं, यों निम्न दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थशुभाशुभयो-

गुणविगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः ।

अनुयुगमन्वहं सगुणगीतपरम्परया

श्रवणभृतो यतस्त्वमपवर्गगतिर्मनुजैः ॥४०॥

श्लोकार्थ—जिसने आपके स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह आपकी सेवा करते हुए जो सुख तथा दुःख होते हैं और गुण वा अवगुण होते हैं, उनको जानता ही नहीं एवं देहाभिमानियों द्वारा कही हुई निन्दा वाली वाणी आदि को भी नहीं जानता है; क्योंकि श्रवणेच्छु मनुष्यों ने मोक्ष देने वाले आपके गुणों वाले गीतों से प्रत्येक युग में तथा नित्य अपने कर्णों को भर दिया है, जिससे उनके कानों में सुख-दुःख, गुण-अवगुण और निन्दा आदि के सुनने के वा रहने के लिए स्थान ही नहीं है ॥४०॥

सुबोधिनी—स्वभावत एव स्मृत्यादिषु सर्व एव आनन्दा निषिद्धाः । यथेह साधारणस्त्रियो न सेव्यास्तथा अप्सरसोपि, यथात्र कालादिनियम-व्यतिरेकेण भोगेषु भुज्यमानेषु सर्वश्रुतिस्मृति-विरोधो भवति एवं स्वर्गलोकेष्वपि जातव्यम् । यथात्रापकीतिस्तथा तत्रापि । अतः सर्व एव सुखानुभवो निषिद्धः । ततो निषिद्धाचरणे सर्वथा दुःखमिति सर्वमेव सुखं दुःखानुविद्धमतः कथं सेव्यं स्यात् । भगवदानन्दस्तु सर्वैः सेव्यः न तत्र पूर्वोक्ता दोषाः सम्भवन्ति यतोऽत्रैव भगवत्स्वरूपज्ञाने भोगादिनापि न दुःखनिन्दाचिन्तादयो भवन्ति तदाह त्वदवगमी त्वत्स्वरूपाभिज्ञः भवदुत्थशुभाशुभयोस्त्वन्निमित्तं प्रप्तसुखदुःखयोः यदि गुणविगुणान्वयान्न वेद । यथा परमस्निग्धे जारे तदर्थं विलष्टापि कामिनी न क्लेशं बुध्यते । यथा वा राजसेवकः कस्तूर्यादिना राजोद्धर्तने स्वयं लिप्तोपि न सुखं मन्यते । एवं भगवतो महा-वैभव सह सेवकत्वेनानुभवं कुर्वन्नपि तत् सुख न मन्यते । यथा सेवार्थं महदपि दुःखं प्राप्नुवन् तदपि न मन्यते यदि तदा विधिनिषेधचिन्ताप-कीर्त्यादिप्रतिपादकवाक्यान्यपि न प्राप्नोति ।

वस्तुतस्तानि वाक्यानि देहभृतां भवन्ति । अत इह लोक एव भगवत्सम्बन्धे तस्य सर्वोपद्रव-निवृत्तिरुक्ता । अन्यस्य तु साधारणेपि सुखदुःखा-नुभवे रागद्वेषयोज्यायमानत्वात् प्राणिनां संबन्धि-विधिनिषेधवाक्यान्यपि तस्य भवन्तीति स्पष्ट एव भगवत्सम्बन्धे एव सुखं नान्यथेति स्पष्टम् । ननु कथं वा त्वदवगमी सुखदुःखयोः रागद्वेषौ न प्राप्नोति । कथं वा तस्यापकीर्त्यादिकं न भवती-त्याशङ्क्यामामाहुः अनुयुगमन्वहमिति । मनुजैरनु-युगमन्वहं त्वं श्रवणभृतः यतस्त्वमपवर्गगतिः । अयमर्थः । भगवद्गुणानुश्रवणं नित्यं कर्म । देश-कालविशेषनियमाभावात् । यत्कालोपाधिना प्रवर्तते तत्सर्वं काम्यं कर्मेति पूर्वमेवोक्तम् । अतो भगवतः गुणगीतपरम्परा गुणानां यानि गीतानि व्यासादिभिः कृतानि तेषां परम्परया तच्छ्रवण-द्वारा भगवान् श्रवणे भृतः तेनान्य निषेधादिकं न शृणोति भगवतैव श्रवणस्य पूरितत्वात् नित्य-कर्मणा भगवता च सर्वपापक्षयः न दुःखजनक-माकीर्त्यादिकं प्राप्नोति । यतो भगवान् मोक्षद इति मोक्षस्तस्य सिद्ध एव सर्वदेवाय धर्म इति न कालधर्मा वाचन्ते । भगवांश्च सुप्रसिद्धः भक्ति-

हितकर्ता । मनुजैः सर्वैरेव भगवान् घृत इति । निन्दां करिष्यतीति । अतो भगवत्सेवक एव भगवत्सेवका भगवदैक्यं प्राप्ता इति न कोपि । निर्दोषसुखभोक्ता न त्वन्य इति निरूपितम् ॥

व्याख्यानार्थ—स्मृति आदि शास्त्रों से स्वभाव से ही सर्व प्रकार के आनन्द विषयावह) भोगने का निषेध है, जैसे इस लोक में साधारण स्त्रियों से भोग का निषेध है, वैसे ही स्वर्ग में अप्सराओं से भी भोग करने का निषेध है, जैसे इस लोक में भोग भोगने के जो शास्त्र में नियम हैं उनके विपरीत काल आदि में भोग भोगे जावें तो वह कार्य सर्व श्रुति स्मृति से विरुद्ध माना जाता है, वैसे ही स्वर्ग लोक में भी समझना चाहिए । जैसे शास्त्र विरुद्ध भोग भोगने से यहां भूजोक में निन्दा होती है, वैसे ही स्वर्ग में भी होती है, अतः सर्व सुखों के भोग भोगने का निषेध है, निषिद्ध आचरण करने पर सर्वथा दुःख होता है, जिससे अनुभव होता है कि सर्व ही सुख दुःख से युक्त हैं इस कारण से वैसे सुख कैसे लिया जाया जाय, जिससे अन्त में दुःख प्राप्त होवे ?

भगवदानन्द तो सबको ही लेना चाहिए, क्योंकि उसमें ऊपर कहे हुए दोष नहीं है कारण यहां ही देख लीजिए, कि भगवत् स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर भगवदानन्द का भोग भोगने से भी चिन्ता, दुःख, निन्दा आदि का अनुभव हो नहीं होता है । जिसको 'त्वदवगमी' और 'भवदुत्थ-शुभाशुभयोगुणविगुणान्वयान् न वेति' पदों से कहा है कि आपके स्वरूप को जानने वाला आपके निमित्त जो सुख और दुःख तथा गुण और अवगुण का सम्बन्ध होता है, उनको जानता ही नहीं है । जैसे कामिनी अपने परम प्यारे जार के कारण कितना भी कष्ट पाती है, तो उसको कष्ट नहीं समझती है एवं राजा का सेवक जब कस्तूरी आदि का राजा को उबटन करता है, तब उससे स्वयं लिप्त होने पर भी सुख नहीं मानता है; इसी प्रकार भगवान् के सेवक भी भगवान् के सेवक होने के नाते उनके यहाँ वैभव के आनन्द का अनुभव करते हुए भी वह सुख अपना नहीं मानते हैं, किन्तु प्रभु को ही इससे सुख हो रहा है, यों समझते हैं । ऐसे ही सेवार्थ अर्थात् सेवा करते हुए कितना भी कष्ट होता हो, तो उसको कष्ट नहीं समझते हैं—तो शास्त्र के विधि निषेध चिन्ता, अपकीर्ति आदि प्रतिपादक वाक्यों की भी परवाह नहीं करते हैं; क्योंकि वे भगवदानन्द में ही मत्त हैं । वास्तव में ये विधि निषेध आदि वचन देहासक्तों के लिए ही है, न कि भगवद्भावमान भक्तों के वास्ते हैं । अतः इस लोक में ही भगवान् से सम्बन्ध होने पर भक्त के सर्व उपद्रव निवृत्त हो जाते हैं, जो भगवद्भक्त नहीं है, उनको तो साधारण सुख-दुःख का अनुभव होता है, तो राग और द्वेष उत्पन्न हो जाता है, जिससे ऐसे प्राणियों के लिए ही विधि निषेध हैं, इसलिए भगवद्-सम्बन्ध होने पर ही सुख प्राप्त होता है—अन्यथा नहीं । यह स्पष्ट है ।

आपके स्वरूप को जानने वाला सुख-दुःख और उनसे उत्पन्न राग-द्वेष नहीं पाता है और उसकी अपकीर्ति आदि भी नहीं होती है, यों आप कैसे कहते हो ? जिसका कारण इस श्लोक के उत्तरार्ध से बताते हैं कि 'अनुयुगमन्वहं मनुजैः' उन भक्तों का भगवान् के गुणों का श्रवण करना ही नित्य कर्म है । गुणगान श्रवण के लिए देश काल का कोई विशेष नियम नहीं है । जिस कर्म को करने के लिए बाल की नियम रूप उपाधि है, वे सब कर्म काम्य हैं, यों पहले ही सिद्ध किया है, अतः व्यासादि ऋषियों ने जो भगवान् के गुण कहे हैं, वे परम्परा से उनके श्रवण द्वारा कानों में भगवान् को विराजमान कर रखा है, जिससे दूसरे किसी विषय के रहने का उन कानों में स्थान ही नहीं है, अतः अन्य निषेध आदि सुन ही नहीं सकते हैं । भगवान् से कर्ण भर जाने से नित्य

भगवत्स्मरण और श्रवण ने एवं भगवान् ने सब पाप नाश कर दिए हैं। इससे दुःख देने वाली अपकीर्ति आदि कुछ भी उस सेवक के लिए नहीं होते हैं। क्योंकि भगवान् मुक्तिदाता हैं इसलिए उसका मोक्ष तो सिद्ध ही है, भगवद्गुणगान और स्मरण सर्वदा ही होने से काल धर्म सेवक को बाधा नहीं करते है। यह तो अच्छी तरह प्रसिद्ध है कि, भगवान् भक्तों के हितकारी हैं। सर्व मनुष्यों ने, भगवान् को श्रवण आदि से अपना लिया है, भगवत्सेवकों ने भगवान् से एक्य कर लिया है, इसलिए कोई भी सच्चे सेवक की किसी प्रकार निन्दा नहीं करेगा अतः भगवान् का सेवक ही, दोष रहित जो सुख (भगवदानन्द) है उसका भोक्ता है न कि कोई दूसरा यों निरूपण किया है

कारिका—सुखसेवापरो यस्तु स आनन्दं हरि भजेत् ।

अन्यथा सुखसंप्रेप्सुः सर्वथा दुःखमाप्नुयात् ॥२७॥४०॥

कारिकार्थ—जिसको सुख और भगवत्सेवा की लालसा हो, उसको आनन्दरूप हरि का भजन करना चाहिए, जो सेवा के सिवाय अन्य उपाय से सुख चाहता है वह सर्वथा दुःख को ही पाता है ॥२७॥४०॥

आभास—किञ्च । तदेव सुखं सेव्यं यन्नश्वरं न भवति । सुतरां देशकालपरिच्छिन्नं न सेव्यमिति वक्तुं भगवदानन्दस्य देशकालपरिच्छेदमाह द्युपतय एव ते न ययुरिति ।

आभासार्थ—जो नाशवान न होवे, वह ही आनन्दपूर्वक सेव्य है, कंसा भी हो तो भी जो देश और काल से परिच्छिन्न अर्थात् देश और काल से सीमावाला है वह नाशवान है अतः सेवा के योग्य नहीं है, 'द्युपतय एव ते न ययुः' इस श्लोक से भगवान् का आनन्द देश और काल से परिच्छिन्न नहीं है, यों बताते हैं-

श्लोक—द्युपतय एव ते न ययुरन्तमनन्ततया

त्वमपि यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।

ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतय-

स्त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ॥४१॥

श्लोकार्थ—आपके स्वरूपानन्द के अन्त को स्वर्ग लोकों के पति इन्द्रादि तो नहीं जानते हैं, किन्तु आप भी नहीं जानते हैं; क्योंकि आप में आवरण सहित ब्रह्माण्डों के समूह काल के साथ ऐसे घूम रहे हैं, जैसे आकाश में रज कण फिरते रहते हैं । आप ही जिनका विश्राम स्थान है, ऐसी श्रुतियाँ निषेध मुख से भी निश्चय से आप में ही पर्यवसान पाती हैं अथवा आपका ही प्रतिपादन करती हैं ॥४१॥

सुबोधिनी—द्युपतयः स्वर्गपतयो देवेन्द्रादयः । नन्दस्य अन्तं न ययुः । ब्रह्मानन्दपर्यन्तस्यापि ते सुखतारतम्यं जानन्ति तेपि भगवतः स्वरूपा- शतसङ्ख्या आनन्दपरिमाणस्य ज्ञातत्वादानन्द-

मयस्यैव परमन्तो न जायते । नन्वन्तोस्ति चेत् किमजानेन जातो वाऽज्ञानो वा विद्यमानः स्वसमप्तौ दुःखानुभवकारयत्येवेत्याशङ्क्याह अनन्ततयेति । विद्यमाने अन्ते यदि न जानीयुस्तदेवेदं दूषणं नेषाममार्वजं च तदेव तु नास्ति । विश्वं त्वमपि न वेत्सि । नापि सर्वज्ञो भगवान् कथं न जानातीति मन्तव्यम् । विद्यमानस्यैवाज्ञानं सार्वज्ञप्रतिबन्धकं न त्वविद्यमानस्य । एवं कालापरिच्छेदमुक्त्वा देशापरिच्छेदमाह यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणा इति । यस्य भगवतः अन्तः मध्ये आण्डनिचया अण्डसमूहाः अन्तरा अण्डनिचया वा तेषां सावरणाः प्रकृतिपर्यन्तमुत्तरोत्तरं दशगुणावरणयुक्ताः । अनेनैवस्य ब्रह्माण्डाधिपते ब्रह्मानन्दो गणित इति भगवदानन्दस्य अनन्तता समर्थिता । ननु तथापि ब्रह्माण्डानां सङ्ख्यावत्त्वे आनन्त्यं नोपपद्यत इति चेत् तत्राह स इव रजांसि वान्तीति । यथा जालाकरश्मिषु कोटिशो रेणव उत्पतन्ति एवं भगवद्-रोमकूपेषु ब्रह्माण्डानीति केचित् । वस्तुतस्तु एकरोमकूपस्थान अतिविशालमाकाशवत् तत्र यथा भूरेणुषु कोटिशो वान्ति तथा ब्रह्माण्डानि परिभ्रमन्तीत्यर्थः । ननु तर्हि कालो महान् भविष्यतीत्याशङ्क्याह वयसा सहेति । काला अपि तत्र कोटिशः परिभ्रमन्तीत्यर्थः । वायुस्थानीयो वा कालः । ननु तथापि प्रमाणेन परिच्छेदो भविष्यति अनन्तादिशब्दाच्चादित्याह यदन्तरा श्रुतयोऽपि यद्यस्माद्गन्ति । ब्रह्माण्डानन्त्यवद् वेदानन्त्यमपि । तेनैवस्यैव ब्रह्माण्डस्य वार्तामेका वेदो वदतीति न वेदेषु परिच्छेत्तुं शक्यते । ननु एव सति सर्वप्रमाणानामगम्ये भगवन्ति तादृशानन्दे किं प्रमाणमिति चेत् तत्राह त्वयि हि

फलंतीति । श्रुतय एव प्रमाणं, परं पर्यवसानवृत्त्या न तु वाच्यवृत्त्या । यथा अनन्तवृक्षा भूमौ फलन्ति तत उच्चस्थितान्यपि फलानि भूमावेव पतन्ति, एवं सर्वे वेदाः स्वस्वरीत्या स्वशक्त्यं माहात्म्यं भगवतो वदन्ति । तानि ज्ञानानि फलान्युच्यन्ते । तेषां क्वापि पर्यवसानाभावाद्भगवत्येव पतन्ति पर्यवसिता भवन्ति । एवमनन्तवृक्षाणामनन्तानि फलानि भूमौ पतन्त्यपि भूमेः सहस्रांशमपि न पूरयन्तीति मेरुसर्षपन्यायेनार्थाद्भगवन्माहात्म्यं ज्ञापयन्तीत्यर्थः । एवं विधिमुखतया भगवत्स्वरूपबोधकत्वमुक्त्वा निषेधमुखेनापि भगवद्बोधकत्वमाहुः अतन्निरसनेन भवन्निधना इति । यत्किञ्चिद्देदप्रतिपाद्यं तत्सर्वमनुद्य योऽस्मात्सर्वस्मात्पर इति भगवतस्तदति-क्ततां बोधयन्ति 'न तदश्नोति कश्चन' 'यतो वाचो निवर्तन्ते' इत्यादिश्रुतिसहस्रैः प्रतिपाद्यपदार्थनिषेधकैः, निषेधस्य सावधित्वेन पर्यवसानाभावात्, पदार्थस्य चावधिभूतस्य परिज्ञानाभावात् वाचकशक्तौ कुण्ठितायां अप्रमाणभावमिव प्राप्नुवत्यः भगवत्येव निधनं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । तस्मादेतादृशः परमानन्दरूपः कृष्ण एव सेव्यो नान्य इति सर्वेषां वेदानां पर्यवसितोर्थ इति सूचितम् । वेदाश्च तमेवं बोधयन्ति । एवं ज्ञातुं भगवता बुद्धिरुत्पाद्यत इति सूक्ष्मेक्षिकया सर्वे वेदा एव भगवन्तं प्रतिपादयन्तीति जानीयादिति अनिर्देशेषु ब्रह्मणि गुणवृत्तीनामपि साक्षात्प्रतिपादनमिति निरूपितम् । अत्र सर्वत्र श्रुतयो मूलभूताः स्वयं द्रष्टव्याः । विवादविषयाश्च अतिविस्तरशङ्कया न लिखिताः । एवं श्रुतिभिः प्रतिपादितोर्थः गूढोऽप्युपनिबद्धः ॥

व्याख्यार्थ—स्वर्गों के स्वामी देवेन्द्र आदि आपका आनन्द (सुख) कितना है जिसको नहीं ज नने है अर्थात् आप परमात्मा के स्वरूप में कितना आनन्द है उसकी सीमा को वे (देवेन्द्रादि) नहीं वा मके है, उपनिषदों में शत शत सङ्ख्या को विशेषता बताते हुए मनुष्यानन्द से लेकर अक्षर ब्रह्मानन्द की सीमा बताई है, किन्तु आनन्दमय आपके स्वरूप की सीमा कितनी है ? वह नहीं कहा है, अन्न होने हुए भी यदि उसको न जाना, तो इसमें कौनसा दोष है ? सीमा हो वा न हो उसका

ज्ञान हो जाने पर कि इसका (आनन्द का) यहां अन्त है तो उससे दुःख का अनुभव ही होगा, इस शङ्का का समाधान करने के लिए कहते हैं कि 'अनन्ततया' असोम होने से इसका अन्त नहीं है, आप जो दूषण दे रहे हो वह तब यथार्थ हो जब कि, आनन्द का अन्त हो और उसका ज्ञान हो, तब ही सर्वज्ञता का अभाव सिद्ध हो सके, वह (अन्त तो है नहीं, और विशेषता यह है कि आप भी नहीं जानते है, इससे यह भी नहीं समझना चाहिए कि सर्वज्ञ भगवान् कैसे नहीं जानते होंगे ? सर्वज्ञता भगवान् में नहीं है, वह तब कहा जावे, जबकि, अन्त को विद्यमानता होवे, यहां तो विद्यमानता है ही नहीं, अतः अविद्यमानता में सर्वज्ञता की हानि नहीं होती है। इस प्रकार भगवदानन्द में काल की निःसीमता कह कर अव देश की निःसीमता कहते हैं, यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणा' आपके भीतर आवरण सहित ब्रह्माण्डों के समूह, प्रकृति पर्यन्त उत्तरोत्तर दशगुण आवरण युक्त हो फिरते रहते हैं, इससे एक ब्रह्माण्ड के अधिपति का कितना ब्रह्मानन्द है वह बता दिया है, यों भगवान् के आनन्द की अनन्तता का समर्थन किया है यों होने पर भी अनन्तता सिद्ध नहीं होती है कारण कि ब्रह्माण्डों की तो गिनती है, जिसमें इसका भी नाप निकल आएगा, यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि 'ख इव रजांसि वान्ति' जैसे आकाश में अनन्त रज कण उड़ते फिरते हैं, वैसे ही भगवान् के एक एक रोम कूप में कितने ही ब्रह्माण्ड फिरते रहते हैं क्योंकि भगवान् का एक रोम कूप का स्थान भी आकाश की तरह अति विशाल है अतः जैसे आकाश में कोटिशः रज कण भ्रम रहे हैं वैसे यहां असंख्य ब्रह्माण्ड फिरते रहते हैं, कोई कहते हैं कि जैसे जाली में से आए हुए सूर्य की रश्मि क कण कोटिशः फिरते रहते हैं वैसे भगवान् के रोम कूपों में ब्रह्माण्ड फिरते हैं।

तब तो काल महान् होगा ? इस शङ्का के परिहारार्थ कहते हैं कि, 'वयसा सह' काल के साथ, अर्थात् वहां काल भी कोटिशः फिर रहे है, अथवा काल वायु के स्थान पर है, अर्थात् जैसे वायु रजः कणों के भ्रमण में कारण है वैसे यहां काल यों है, तो भी प्रमाण से तो परिच्छेद होगा ही, कारण कि अनन्त शब्द से वाच्य होने से, इस पर कहने है कि 'यदन्तरा श्रुतयोऽपि वान्ति' जिस भगवान् के भीतर श्रुतियां भी भ्रमण कर रही हैं, अर्थात् श्रुतियां भी उसके आनन्द की सीमा का वर्णन नहीं कर सकती है।

अनन्त ब्रह्माण्डों की तरह वेद भी अनन्त है, इससे एक ही ब्रह्माण्ड की वार्ता को एक वेद कहता है, इसलिए वेद भी भगवदानन्द का परिमाण^२ नहीं कर सकते हैं।

यदि यों है तो सर्व प्रमाणों से जो अगम्य है, ऐसे भगवान् के, वैसे अनन्त आनन्द का प्रमाण क्या ? इस पर कहते हैं कि 'त्वयि हि फलन्ती' श्रुतियां ही प्रमाण है किन्तु पर्यवसान^३ वृत्ति से न कि वाच्य^४ वृत्ति से, जैसे पृथ्वी पर जो अनन्त वृक्ष हैं वे फल देते हैं, वे फल ऊंचे स्थित हैं तो भी पृथ्वी पर ही गिरते हैं, इस प्रकार सर्व वेद अपनी अपनी रीति से अपने से जितना बन सकता है,

१- भगवान् के रोम कूप में, २- नाप,

३- शब्द में रही हुई अपने अर्थ को प्रकट करने की शक्ति, ऐसी वृत्ति,

४- जिस वृत्ति से व्युत्पत्ति से अपने अर्थ प्रकट करने की शक्ति हो।

उतना भगवान् का माहात्म्य प्रकट करते हैं, उन माहात्म्यों के ज्ञानों को ही फल कहते हैं, उन फलों को कहीं भी स्थान न मिलने से भगवान् में ही पड़ते हैं, अर्थात् भगवान् का ही ज्ञान कराते है ।

अनन्त वृक्षों के अनन्त फल भूमि पर गिरते है, किन्तु पृथ्वी के सहस्रांश को भी जैसे नहीं भर सकते हैं, वैसे वेद भी भगवान् का माहात्म्य उसी तरह बता सकते है, जैसे कोई मेह पर्वत को सर्षप(राई) के दाने की उपमा देकर बतावे ।

इसी तरह वेद, विधि मुख से इस प्रकार का ब्रह्म का स्वरूप है यों भगवत्स्वरूप का ज्ञान कराके अवनिषेध मुख से भगवत्स्वरूप का ज्ञान कराते हैं 'अतन्निरसनेन भवन्निधना' इति 'यों भी नहीं यों भी नहीं' इस प्रकार निषेध करते हुए ज्ञान कराते हैं, कि वह अनुपम है ।

जो कुछ वेद प्रतिपाद्य है उस सबको कहकर अन्त में कहते हैं कि भगवान् सब से 'पर' अर्थात् उत्तम व और विचित्र है, 'न तदश्नोति कश्चन' 'यनो वाचो निवर्तन्ते' 'कोई उसका अशन नहीं करता है' 'जिससे वाणी लौट आती है' इत्यादि प्रतिपाद्य पदार्थ की निषेध करने वाली अनेक श्रुतियां सबसे परमात्मा को परमोत्तमता प्रतिपादन करती हैं, कारण कि निषेध अवधिवाला होने से उसका अन्त नहीं है, अवधि वाले पदार्थ का ज्ञान नहीं है, भगवान् के वर्णन करने की शक्ति कुण्ठित हो जाने से, मानो श्रुतियां अपने को अप्रमाण भाव वाली समझने लगती हैं, जिससे अनन्य गतिक हो भगवान् में ही लय पाती है, इससे ऐसे परमानन्द रूप श्रीकृष्ण ही सेव्य है, अन्य कोई नहीं हैं, यही सर्व वेदों के अर्थ का सत्य भावार्थ है । वेद इस प्रकार उनका ही ज्ञान कराते हैं, इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त होने के लिए भगवान् ही बुद्धि उत्पन्न करते हैं, इसलिए सूक्ष्म दृष्टि से सर्व वेद इस प्रकार भगवान् का प्रतिपादन करते हैं, यों जानना चाहिए, कि श्रुतियां भगवान् के गुणों को जानने की शक्तिवाली हैं तो भी अनिर्देश्य ब्रह्म का भी वर्णन करती हैं, इस विषय में जिन श्रुतियों के विषय में विवाद हुआ है वे मूलभूत श्रुतियां स्वयं सर्वत्र देख लेनी, यहां विशेष विस्तार हो जाने की शङ्का से नहीं लिखी हैं, इस प्रकार श्रुतियों से प्रतिपादित गूढ़ अर्थ को भी यहां कहा है ॥४१॥

कारिका—कृष्णानन्दः परानन्दो नान्यानन्दस्तथाविधः ।

वेदा अपि न तच्छक्ताः प्रतिपादयितुं स्वतः ॥२८॥४१॥

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण का आनन्द ही सबसे बढकर आनन्द है उसके समान अन्य कोई आनन्द नहीं है, वेद भी स्वतः उसके प्रतिपादन करने में समर्थ नहीं है ॥२८॥४१॥

कारिका—इत्येवं श्रुतिगीतायाः संक्षेपेण निरूपितः ।

अर्थराशिः समुद्रो हि यथाङ्गुल्या निरूप्यते ॥

कारिकार्थ—जैसे समुद्र को अङ्गुली से दिखाया जा सकता है, वैसे ही श्रुति गीता का अर्थ संक्षेप से निरूपण किया है ।

आभास—श्रुतिभिस्तानि वाक्यानि, सनन्दनोऽनुवादमात्रं कृतवान् । ततो व्या-

ख्यानव्यतिरेकेण तदर्थविगतिरस्ति न वेति संदिह्य श्रौतपत्तिकमनोषयैतज्ज्ञायत इति जापयितुं तस्यार्थस्यावबोधमाह इत्येतदिति ।

ग्राभासार्थ—१४ वें श्लोक से ४१ वें श्लोक तक श्रुतियों ने भगवत्सुति की है, वे श्लोक सनन्दन ने अनुवाद रूप में कह दिए हैं, किन्तु व्याख्या के बिना उन श्लोकों का आशय उसने समझा वा नहीं ? इस शङ्का के उत्तर में कहा है कि, दिव्य बुद्धि से उसने समझ लिया है यह निम्न श्लोक से सिद्ध करते हैं—

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—इत्येतद्ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम् ।

सनन्दनमथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वात्मनो गतिम् ॥४२॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् नारायण नारदजी को कहने लगे कि इस प्रकार जीवों को दिया हुआ उपदेश सुनकर आत्मा की गति को जान ली, जिससे ब्रह्मा के पुत्र सिद्धार्थ वाले हो गए, अतः पश्चात् सनन्दन का पूजन करने लगे ॥४२॥

सुबोधिनी—नारदं प्रति नारायणवाक्यम् । श्रोतारो ब्रह्मणः पुत्राः । सम्पूर्णश्रुतिगीतायाः सक्षेपेणार्थमाह आत्मानुशासनमिति । आत्मनां जीवानामनुशासनमुपदेशः । भगवानेव सेव्य एवेति च । एतवानेव श्रुतिगीतार्थः । स तेषां हृदये समागत इति गुरोः पूजनं कृतवन्त इत्याह सनन्दनमिति । अथेति भिन्नप्रश्नमेण । पूर्वं समाः स्थिताः 'तुल्यश्रुततपःशीलाः' इति वाक्यात् । इदानीं तु श्रुतिगीतारूपोर्थः तेनैव विशेषतो ज्ञायत इति प्रवचनाधिकारे दत्ते यत्सर्वेन ज्ञायते

तदेव वक्तव्यमितीदमुपाख्यानमुक्तवान् । यदि तेषामयमर्थो न ज्ञातः स्याद् विशेषाकारेण तदा 'श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्' इति न्यायेन विशेषाज्ञानात् विशेषतः पूजां न कुर्युः । अतोऽयमर्थः अपूर्वः जनवासिनापि दुर्लभः केवलमिदानीमेव प्रकट इति जापितम् । ततः सिद्धाश्च जाताः । नातः परं श्रोतव्यमस्ति । पूर्वमपि तैरात्मा ज्ञातः परं तस्य गतिरेतादृशी केवलं भगवानेव सेव्यो नान्योऽस्त्युपाय इति इदानीमेव ज्ञातवन्तः । अतः सिद्धा इत्यर्थः ॥४२॥

व्याख्यार्थ—श्रुति गीता के श्रोता ब्रह्मा के पुत्र थे, श्रुति गीता में जीवों को यह ही उपदेश दिया गया है कि 'भगवान्' ही सेव्य है, यह उपदेशार्थ उनके हृदय में स्थित हो गया, जिससे उन्होंने उपदेष्टा गुरु सनन्दन की पूजा की ।

'अथ' शब्द से अन्य उपक्रम करने की सूचना करते हैं, यद्यपि, विद्या, तप और शील में ब्रह्मा के सर्व पुत्र समान थे, तो भी श्रुति गीता में कहे हुए अर्थ को पूर्ण रूप से सनन्दन ने जाना है, इसलिए उसको ही यह अधिकार दिया गया कि आप वह उपदेश दो, जो सर्व नहीं जानते हों, तदनुसार सनन्दन ने यह 'श्रुति गीता' का उपाख्यान कह कर सुनाया, श्रवणानन्तर ब्रह्मा के पुत्रों ने इस श्रुति गीता का पूर्ण अर्थ यदि न जान लिया होता तो, सनन्दन का पूजन द्वारा अभिनन्दन, न करते, यों कहकर सिद्ध किया है कि ब्रह्मा के पुत्रों ने श्रुति गीता का अर्थ समझा है तथा यह भी बताया है कि यह अर्थ 'भगवान्' ही सेव्य है वह जन लोक निवासियों को भी दुर्लभ है, कारण कि वहां तो ब्रह्मवाद

(ज्ञान मार्ग) है जिससे भगवद्भजनानन्द के आनन्द को वे नहीं जानते हैं, यह भजनानन्द ही नवीन अर्थ तो अब हो प्रकट हुआ है, जिसकी प्राप्ति होने से ये सिद्ध हुए हैं अतः अब इनको अन्य कुछ भी श्रवण करने के लिए शेष नहीं रहा है, इन ब्रह्मा के पुत्रों को आत्मज्ञान तो था, किन्तु 'भगवान्' का भजन ही परम रस पान करने का केवल एक उपाय है' इस ज्ञान का पता इनको अब लगा है, अतः अब ये पूर्ण सिद्ध हुए यह सार है ॥४२॥

आभास—नारदस्यात्रैवं जिज्ञासा उत्पन्ना । एतादृशोर्थोन्योपि भविष्यतीति तत्राह इत्यशेषसमाम्नायेति ।

आभासार्थ—नारदजी के मन में उस समय, यह भी इच्छा हुई कि, जैसा यह अर्थ है वैसा अन्य अर्थ भी होगा, उसको भी जान लूँ, इससे यह 'इत्यशेष' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—इत्यशेषसमाम्नाय पुराणोपनिषद्वसः ।

समुद्धृतः पूर्वजातैर्व्योमयानैर्महात्मभिः ॥४३॥

श्लोकार्थ—सकल वेद, पुराण और उपनिषदों में जो रस है, वह पूर्व उत्पन्न हुए आकाश में भ्रमण करने वाले महात्माओं ने खींच लिया है ॥४३॥

कारिका—अर्थः स्थलत्रये गूढः पुराणोपनिषच्छ्रुतौ ।

सर्वतः सारमेतद्धि समुद्धृतमिहोच्यते ॥

कारिकार्थ—पुराण, उपनिषद् और श्रुतियां इन तीन स्थानों में भगवद्भजनानन्द रस गुप्त रूप रहा है, जहां से यह (श्रुति गीता से) सार निकालकर यहां कहा जाता है, अतः इसके सिवाय अन्य कोई सार नहीं है ।

सुबोधिनी—अतो नान्योस्ति सारांश इति वक्तुं निरूपयति । अशेषाः सर्व एव वेदाः पुराणानि उपनिषदश्च तेषां निर्मथनेन अयमर्थो निर्गलित इति रसः । स पूर्व तत्रैव स्थितः । पश्चात्पूर्वजातैर्महात्मभिर्योमयानैः सनकादिभिस्ततः समुद्धृत्य पृथक् स्थापितः । नन्वेतत्समुद्घारे किं प्रयोजनमिति चेत् तत्राह महात्मभिरिति । महान्तस्ते सर्वोपकारकाः ॥४३॥

व्याख्यानार्थ—समस्त वेद (मन्त्र भाग) उपनिषद् (ब्राह्मण भाग) और पुराण, इन सब का पूर्ण रीति से मन्थन कर यह अर्थ निकाला है इसलिए यह अर्थ 'रस' है, प्रथम यह रस, वेद, पुराण और उपनिषदों में था, अनन्तर प्रथम उत्पन्न आकाश में भ्रमण करने वाले महात्मा सनकादिकों ने उस रस को उनसे खींच, पृथक् कर इस श्रुति गीता में धरा है, उनमें से रस खींचने का कौनसा प्रयोजन था ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'महात्मा' हैं इसलिए उनको सबका उपकार ही करना है अतः सब पर उपकार करने के लिए खींचा है, यदि न खींचने तो यों केवल इस छोटे 'श्रुति गीता' से जीव कैसे रस पान कर सकते ? ॥४३॥

आभास—एवं श्रुतिगीताया माहात्म्यमुक्त्वा नारदे विशेषमुपदिशति त्वं चैतद्ब्रह्मदायादेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार श्रुति गीता का माहात्म्य कहकर 'त्वं चैतद्ब्रह्मदायाद' श्लोक में नारदजी को विशेष कार्य करने का उपदेश देने हैं—

श्लोक—त्वं चैतद्ब्रह्मदायाद श्रद्धयाऽत्मानुशासनम् ।

धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ॥४४॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्म स्वरूप के ज्ञान के उत्तराधिकारी ब्रह्मा के पुत्र ! मनुष्यों की कामनाओं के नाशक जीवार्थ दिए हुए इस उपदेश को तुम धारण करते हुए पृथ्वी पर स्वेच्छापूर्वक घूमते रहो ॥४४॥

सुबोधिनी - ब्रह्मणः पुत्रो ब्रह्मदायादो भवति । अत्र तु ब्रह्मण्येव दायं प्राप्तवानिति विशेषतो वचनम्, अधिकारनिरूपणार्थं वा । यस्तु ब्रह्मणि दायभाक् तस्य हृदये अयमर्थः स्फुरति ; अतः श्रद्धया आत्मानुशासनं तवात्यन्तोपदेशपूर्वकं रूपमतो धारयन् इममर्थं सर्वदा विचारयन्, गां चर सर्वत्र परिभ्रमणं कुरु । परित्यागेनैवास्य शास्त्रार्थस्य सम्भवात् । आत्मानुशासने-

नैव निरन्तरं भगवत्स्मरणं प्राप्तम् । नारदस्य सिद्धमप्यस्ति । एकमेव बाधकं महतो भगवत्स्मरणे काम इति । 'कश्चिन्महान् तस्य न काम-निर्जयः' इति वाक्यात् तस्यैतत्कामभर्जनसाधन-कामानामिति बहुवचनं सर्वाकाङ्क्षानिवर्तकमिदमिति सूचयति । नृणामिति मनुष्याणां विशेष-हितकारीत्युक्तम् ॥४४॥

व्याख्यार्थ—ब्रह्मा का पुत्र ब्रह्म का उत्तराधिकारी होता है, यहां तो ब्रह्म में ही उत्तराधिकार प्राप्त कर लिया है, इसलिए यह संबोधन खास नारदजी के अधिकार बताने के लिए कहा है, जो ब्रह्म का उत्तराधिकारी होता है उसके हृदय में यह अर्थ स्फुरता है, अतः आत्मा यानि आप (नारदजी) को दिया हुआ यह उपदेश उसी ही अर्थ का सदैव विचार करते हुए पृथ्वी पर सर्वत्र यथेच्छा परिभ्रमण करो ।

परित्याग से ही, इस शास्त्र में जिसके भजन का प्रतिपादन किया है उसका भजन हो सकता है, जीवों को तो जत्र ऐसा उपदेश मिले तत्र निरन्तर भगवत्स्मरण हो सकता है, नारदजी को तो निरन्तर स्मरण सिद्ध ही है,

महान् पुरुष को भी भगवत्स्मरण में बाधक केवल 'काम' ही है, किसी महान् पुरुष ने काम को न जोता हो तो उसके लिए, यह सर्व कामनाओं के नाश करने का साधन है, 'नृणां' पद से मनुष्यों का विशेष हितकारी है, यह सूचित किया है ॥४४॥

आभास—अयमुपदेशो नारदस्य हृदये समागत इति ज्ञापयितुं तस्य कथामाह एवं स पुरुणादिष्टमिति ।

प्राभासार्थ—यह भगवान् का दिया हुआ उपदेश नारदजी के हृदय में जम गया, यों जताने के लिए, उसकी कथा एवं स' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—एवं स गुरुणादिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयात्मवान् ।

पूर्णः श्रुतधरो राजन्नाह वीरव्रतो मुनिः ॥४५॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! इस प्रकार गुरुजी के उपदेश को श्रद्धा से ग्रहण कर अधिकारी, ज्ञानी, नित्य स्मरण करने वाले एवं अविलम्ब कार्य करने वाले मुनि कहने लगे ॥४५॥

सुबोधिनी—यद्यपि बहून्वेव व्याख्यानानि श्रुतानि तथाप्यत्र विशेषतः श्रद्धावान् जातः । आत्मवानित्यधिकारी । पूर्ण इति तस्यार्थावबोधो जात इति सूचितम् । श्रुतधर इति श्रवणमात्रेणैव शब्दतोर्थतश्च धारयतीति नित्यस्मरणमुक्तम्, अभ्यासापेक्षा च निवारिता । राजन्निति । अय-

मर्थो ग्राह्य इति बोधनार्थः । सोर्थस्तेनेति ज्ञात इति ज्ञापयितुं गुरुं प्रति किञ्चिदाह यतो वीरव्रतः वीरवद्व्रत यस्येति । वीरः सकृदेव कार्यं करोति । न तु विलम्बं सहत इति । एवं क्रियाशक्त्याधिवयमुक्त्वा ज्ञानशक्त्याधिवयमाह मुनिरिति ॥४५॥

व्याख्यार्थ—यद्यपि नारदजी ने बहुत उपदेश सुने थे तो भी इस उपदेश में विशेष श्रद्धावान् हुए, 'आत्मवान्' पद से वह अधिकारी है यह सूचित किया है, 'पूर्ण' पद से यह सूचित किया है कि इनको अर्थ का ज्ञान हो गया है, अतः ज्ञानी है, 'श्रुतधर' पद से यह बताया है कि केवल सुनते ही शब्द से और अर्थ से उसको जान लेते हैं, इससे वह नित्य स्मरण करते हैं यह सूचित किया और नारदजी को अब अभ्यास करने की अपेक्षा नहीं है, वह भी बता दिया, हे राजन् ! यह संबोधन परीक्षित् को देकर यह सूचित किया है कि, यह अर्थ ग्रहण करने के योग्य है, वह अर्थ नारदजी ने जान लिया है, यह बताने के लिए गुरुजी को कुछ कहते हैं—क्योंकि नारदजी 'वीरव्रत' हैं अर्थात् वीरों जैसे व्रत वाले हैं, जिससे एक ही समय में कार्य कर देते हैं, विलम्ब का सहन नहीं करते हैं, इस प्रकार नारदजी में क्रिया शक्ति की अधिकता कहकर, ज्ञान शक्ति को विशेषता दिखाने के लिए 'मुनि' विशेषण दिया है ॥४५॥

प्राभास—स्वगुरुं नमस्यति नमस्तस्मै भगवत इति ।

प्राभासार्थ—'नमस्तस्मै' श्लोक से अपने गुरु को नमस्कार करेंगे—

श्लोक—नारद उवाच—नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलमूर्तये ।

यो धत्ते सर्वभूतानामभवायोशतीः कलाः ॥४६॥

श्लोकार्थ—नारदजी कहने लगे कि उन निर्मल स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी को नमस्कार है, जो सकल भूतों के मोक्षार्थ सुन्दर कलाओं को धारण करते हैं ॥४६॥

सुबोधिनी—नारायणस्य स्वरूपं कृष्णः, कृष्ण एव नारायणरूपेणावतीर्ण इति कृष्णो मूलं भवति । यद्यपि लोके नारायणस्यैवांशः कृष्ण इति प्रसिद्धिः । 'तात्रिमौ वै भगवतो हरे-रंशाविहागतौ' इति वाक्यात् । तथापि श्रुति-

गीताशिक्षया विपरीतं ज्ञातवान् । तत्र हि 'क्षिय उरगेन्द्रभोगभुजदण्डविषक्तधियः' इति श्रुति-तुल्या निरूपिताः । तादृश्यः कृष्ण एव भवन्ति गोपिकाद्याः, नान्यावतारेष्विति स एव भजनीयः श्रुतिगीतासु निरूपित इति ज्ञातवान् ॥

व्याख्यानार्थ—नारायण का मूल स्वरूप कृष्ण है, अर्थात् श्रीकृष्ण ने ही नारायण स्वरूप से अवतार धारण किया है, इसलिए कृष्ण ही मूल स्वरूप है, यद्यपि लोक में यह प्रसिद्ध है कि नारायण का ही अंश कृष्ण है, जिसमें प्रमाण 'तात्रिमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ' ये दो (बलराम-कृष्ण) इस लोक में भगवान् हरि के अंग प्रकटे हैं, तो भी श्रुति गीता की शिक्षा से उसने इससे विपरीत जाना, क्योंकि श्रुति गीता में कहा है कि शेष की काया के समान भुजदण्डों में आसक्त बुद्धि वाली स्त्रियाँ हैं' इससे इस श्लोक में इन स्त्रियों को श्रुतियों के समान कहा है, ऐसी आसक्त बुद्धि वाली स्त्रियाँ गोपिका आदि ही हैं, जो श्रीकृष्ण स्वर्ण में हो थो, न अन्य अवतारों के स्वरूपों में इसलिए वह श्रीकृष्ण ही भजन करने योग्य हैं, यों श्रुति गीता में निरूपण हुआ है, यों इसने जाना ।

कारिका — माहात्म्यं बहुधा ज्ञात्वा जीवानां च गतिं पराम् ।

सर्वं त्यक्त्वा विधार्येतन् नित्यं कृष्णं स्मरंश्चरेत् ॥

कारिकार्थ—मनुष्य सर्व प्रकार भगवान् के माहात्म्य का ज्ञान प्राप्त करे, अनन्तर यह निश्चय कर लेवे कि जीवों की परमागति श्रीकृष्ण ही है, इस श्रुति गीता के उद्देश को हृदय में धारण कर, सब सांसारिक कार्यों को छोड़, नित्य श्रीकृष्ण का स्मरण करता हुआ विचरण करे ।

सुबोधिनी—एतावानेवोपाख्यानार्थं ज्ञात्वा कृष्णमेव नमस्यति अवतारेण दोषप्रति-भानं वारयति अमलमूर्त्य इति । अमलेषु वा मूर्तिर्यस्येति । भगवत्प्राप्त्युपायो वा निरूपितः । नन्वयं साक्षाद्गुरुनारायणस्तस्य चावतारस्तं प्रत्यक्षं विहाय तस्मा इति परोक्षः कृष्णः कथं

नमस्कृत इति चेत् तत्राह यो धत्ते सर्वभूताना-मिति । स एव 'भगवानस्मदादिसर्वभूतमोक्षार्थं उशतीः कला धत्ते' । स एवैतद्रूपेणास्मदुद्धारार्थं समागतः तथा सत्यं मूलभूतो न भवतीति तस्यैव चायमुपकार इति स एव नमस्कृत इत्यर्थः ॥४६॥

व्याख्यानार्थ—इस उपाख्यान का इतना ही तात्पर्यार्थ है, यों जानकर नारदजी कृष्ण को ही नमस्कार करेंगे (करते हैं) श्री कृष्ण तो एक अवतार है यों समझने से जो दोष का भान होता है उसका 'अमलमूर्त्ये' पद से निराकरण किया है कि आप निर्मल स्वरूप हैं, अथवा जो निर्मल हैं उनमें जिस ही भूति है, अथवा इस पद से भगवान् की प्राप्ति का उपाय बताया है ।

यह साक्षात् (प्रत्यक्ष) गुरु नारायण है, जिसका अवतार कृष्ण है इस प्रत्यक्ष को नमस्कार न कर 'तस्मै' पद से परोक्ष को प्रणाम क्यों किया ? इस शङ्का के निवारणार्थ कहा है कि 'या धत्ते सर्वभूतानामभवाय' जो सर्व प्राणियों को मोक्ष देने के लिए ही सुन्दर स्वरूपों का धारण करते

हैं, वह ही इस^१ रूप से हम लोगों के उद्धारार्थ प्रकट हुए हैं, यों होते हुए भी यह^२ मूलरूप नहीं है, यह उपकार (उद्धार आदि) भी उसका^३ ही है, इसलिए उसको ही नारदजी ने नमस्कार किया है, यह तात्पर्य है ॥४६॥

आभास—ननु गुरोर्नमस्कारः कर्तव्यः स कथं न कृत इति चेत् तत्राह इत्याद्यमृषिमानम्येति ।

आभासार्थ—गुरु को नमस्कार करना चाहिए, वह क्यों न किया? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर 'इत्याद्यमृषिमानम्य' श्लोक में दिया है—

श्लोक—इत्याद्यमृषिमानम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ।

ततोऽगादाश्रमं साक्षात्पितुर्द्वैपायनस्य मे ॥४७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार आद्य ऋषि को प्रणाम कर और उनके जो शिष्य महात्मा थे, उनको भी नमस्कार कर अनन्तर मेरे पिता द्वैपायन के साक्षात् आश्रम में गए ॥४७॥

सुबोधिनी—इत्येव स नमस्कृतः यतः स आद्यो ऋषिः । स्वस्वरूपं जानाति कृष्णोऽहमिति तच्छिष्याश्च तं जानन्ति यतो महात्मानः वस्तु-स्वरूपं जानन्ति न तु बहिर्मुखा इत्यर्थः । केवल-परमतत्त्वव्यूदासाय व्याससम्बन्धमाह ततोऽगादा-	श्रममिति । यद्यपि व्यासस्य बहून्येव स्थानानि सन्ति तथापि साक्षात्तदेव स्थानम् । ननु व्यासः साक्षाद्भगवान् कथं स्वतो न ज्ञातवांस्तत्राह द्वैपायनस्येति ॥४७॥
--	---

व्याख्यानार्थ—इसलिए उनको नमस्कार किया, कारण कि वे आद्य ऋषि हैं, अपने स्वरूप को जानते हैं कि मैं कृष्ण हूँ, उनके शिष्य भी उनके स्वरूप को जानते हैं क्योंकि महात्मा हैं जिससे वस्तु स्वरूप को जान सकते हैं, जो बहिर्मुख हैं वे वस्तु स्वरूप को नहीं जान सकते हैं, यह मत दूसरों का मत है क्योंकि सनन्दन ने कहा है इस शङ्का के निवारणार्थ कहते हैं कि नहीं, इस मत में व्यास जी सम्प्रति है, यह बताने के लिए व्यासजी का सम्बन्ध कहते हैं, 'ततोऽगादाश्रम साक्षात् पितुर्द्वैपायनस्य मे' अनन्तर मेरे पिता द्वैपायन के साक्षात् आश्रम में गए, यद्यपि व्यासजी के आश्रम स्थान बहुत हैं किन्तु नारदजी मूल जो स्थान है वहां गए, इसलिए 'साक्षात्' पद दिया है, जब व्यास साक्षात् भगवान् हैं तो उन्होंने स्वतः क्यों न जान लिया, जिसके उत्तर में कहते हैं कि वे द्वैपायन अतः न जान सके अर्थात् व्यास का जन्म टापू पर होने से उनकी बुद्धि में भी जन्म स्थान के प्रभाव से कदाचित् द्विधा भाव हो जाता है ॥४७॥

श्लोक—सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।

तस्मै तद्वर्णयामास नारायणमुखाच्छ्रुतम् ॥४८॥

श्लोकार्थ—भगवान् व्यास से पूजित और आसन प्राप्त नारदजी ने नारायणजी के मुख से जो गूढ़ तत्त्व सुना था, वह उन (व्यासजी) को वर्णन कर बता दिया ॥४८॥

सुबोधिनी—तनस्तेन सभाजितः महता पूजितः सन् आसनं च तद्वत् गृहीत्वा नारायण-मुखाच्छ्रुतं द्रढं तद्वर्णयामास । तनः परम्परया प्राप्तं मयापि ते वर्णितमिति । एतद्विचारप्रकारे-
 णैव यथा निर्गुणे मनः प्रविशति तथा कर्तव्यम् । भगवता चेत्तादृशी बुद्धिस्त्वयि कृता तदा तथा मनः प्रवेक्ष्यतीति भावः ॥४८॥

व्याख्यानार्थ—आने के बाद वहाँ भगवान् व्यासजी से अच्छी तरह सत्कार किए हुए और उनसे आसन प्राप्त किए हुए नारदजी ने नारायण के मुख से जो गूढ़ उपदेश सुना था वह वर्णन कर बताया, पश्चात् शुक्रदेवजी ने कहा कि मैंने भी जो परम्परा से उपदेश प्राप्त किया है वह भी तुम्हें कह दिया ।

इस प्रकार के विचार करने से ही जैसे निर्गुण स्वरूप में मन का प्रवेश हो, वैसे करना चाहिए, भगवान् ने यदि ऐसी तुम्हारी बुद्धि की है तो ऐसी बुद्धि से मन प्रविष्ट होगा, यों भाव है ॥४८॥

श्लोक—इत्येतद्वर्णितं राजन् यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया ।

यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणोऽपि मनश्चरेत् ॥४९॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! तुमने जो यह प्रश्न किया था कि अनिर्देश्य और निर्गुण ब्रह्म में जैसे मन लगे, वह प्रकार बताइए । उसमें जिस प्रकार मन लगेगा, वह प्रकार वर्णन कर दिया ॥४९॥

सुबोधिनी—एतदर्थनिवबोधात्पृष्टमन्यदुत्तरं चान्यद्वत्त्वानिति न मन्तव्यमित्येतदर्थमाह यः प्रश्नः नोऽस्मान् प्रति त्वया कृतः तस्यैवंतदुत्तर-
 मिति । वेदास्तु निर्गुणं प्रतिपादयन्ति तत्केन प्रकारेणेति संदेहे अनेनैव प्रकारेण प्रतिपादयन्तीति ज्ञातवतः निर्गुणोऽपि ब्रह्मणि मनश्चरेत् ॥

व्याख्यानार्थ—इस अर्थ को न जानने से पूछा तो एक और उत्तर दूसरा दिया यों न समझना इसलिए इस अर्थ को कहा है कि, जो प्रश्न तुमने किया उसका ही यह उत्तर दिया है, वेद तो निर्गुण का प्रतिपादन करते हैं, किन्तु किस प्रकार करते हैं ? इस संदेह के होने पर कहा कि इस प्रकार ही प्रतिपादन करते हैं, यों जानने वाले का 'मन' निर्गुण ब्रह्म में भी विचरण करेगा ॥४९॥

आभास—शुक्रोऽपि श्रुतिगीताप्रतिपाद्यमर्थं पुनः स्वयं संक्षेपेणाह प्रतिपत्तिसौकर्याय योऽस्योत्प्रेक्षक इति ।

प्राभासार्य—युक्तदेवजी भी श्रुति गीता में जिस अर्थ का प्रतिपादन हुआ है वह अर्थ सरलता से समझ में आ जावे इसलिए स्वयं संक्षेप में 'योऽस्योत्प्रेक्षक' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—योऽस्योत्प्रेक्षक आदिमध्यनिधने योऽव्यक्तजीवेश्वरो

यः सृष्ट्वेदमनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शास्ति ताः ।

यं संपद्य जहत्यजामनुशयी सुप्तः कुलायं यथा

तं कैवल्यनिरस्तयोनिमभयं ध्यायेदजस्रं हरिम् ॥५०॥

श्लोकार्थ—श्रीभगवान् इस जगत् का आदि, मध्य और अन्त में हित विचारते हैं और इस जगत् के आदि, मध्य और अन्त रूप हैं एवं प्रकृति, पुरुष तथा ईश्वर रूप हैं । जो इस जगत् की रचना कर वेद सहित इसमें प्रवेश कर पृथक् पृथक् शरीर धारण करते हैं, फिर उनको अपने वश में रखते हैं । जैसे सुप्त पुरुष देह को भूल जाता है, वैसे ही जिसको प्राप्त कर प्रकृति का अनुयायी भी अविद्या का त्याग करता है, जिसने केवल होने के कारण योनि का नाश कर दिया है और निर्भय है, वैसे नित्य हरि का ध्यान करना चाहिए ॥५०॥

सुबोधिनी—माहात्म्यं ज्ञात्वा, भगवन्तं भजेदिति, अर्थद्वयं श्रुतिगीतार्थः माहात्म्यं भजनं चेति । तत्र भजनप्रतिपादिकाः सर्वा एकीकृत्याह ध्यायेदजस्रमिति । अन्तर्भगवन्तं स्थापयित्वा तत्र सेवां कुर्यादित्यर्थः । तस्य फलत्वायाह अजस्रं सुखरूपं सर्वदुःखहर्तारं चेति । तत्र भगवतो माहात्म्यं गुणरूपं दोषाभावरूपं च । तत्र गुणरूपं द्वादशधा निरूपयति । यो भगवान् अस्य सर्वस्यापि जगतः उत्प्रेक्षकः ऊर्ध्वं प्रेक्षते कथमेते जीवसङ्घा निस्तीर्णा भविष्यन्तीति, विचार्य एवं भविष्यन्तीति तेषां हितं चिन्तयतीत्यर्थः । अयमेको भंजनीयगुणः । आवश्यकत्वाय गुणत्रयमाह अस्य जगतः आदिमध्यावसानरूपः एवं चतुष्टयमेकं सृष्टिकारणरूपम् । माहात्म्यत्रयमाह यः अव्यक्त प्रकृतिः जीवः पुरुषः ईश्वरः कालो नियन्ता त्रितयरूप इत्यर्थः । एवं सप्त गुणा निरूपिताः । अवशिष्टान् पञ्च गुणानाह यो भगवानिदं सृष्ट्वेत्येकम् । अनुप्रवेशो द्वितीयः । ब्रह्माहं सृष्ट्वा ब्रह्म षष्ठ्ये प्रविष्ट इत्यर्थः । ततो ऋषिणा

वेदेन मुख्यजीवेन वा सहितो जात इत्यर्थः । ततो देवतियगादिपुरश्चक्रे चतुर्थोऽयं, शासिता इति पञ्चमः । दोषत्रयाभावमाह यं संपद्येति । जीवा अपि संप्राप्य मनसा भावनायापि लब्ध्वा अजां जहति अविद्यां दूरीकुर्वन्ति । ननु स्मरणेनैव तर्हि मुक्ताः स्युः तथा सति पुनर्द्वेष्टग्रहणं न स्यात् । तत्राह सुप्तः कुलायं यथेति । नहि सर्वात्मना अजापरित्यागः कित्वेव भगवतो माहात्म्यं निरूप्यते यत्सम्बन्धमात्रेणैव अजां सकार्या पुरुषो जहाति सर्वथा न स्मरतीत्यर्थः । यथा सुप्तः पुरुषः शरीरं न स्मरति एवं परम्परयापि दोषाभावो निरुक्तः । साक्षादाह कैवल्येन केवलभावेन निरस्ता योनिः कारणभूता येनेति । सर्वमेव भगवानिति योनिरधिका कुतः स्यात् । अभयमिति । अभयमिति तृतीयो दोषो निवार्यते । स्वयं भयरहितः सर्वेषामपि भयनिवर्तक इति । एवं निर्दोषपूर्णगुणरूपो भगवानिति स्वत एव परमानन्दं प्रयच्छति दुःखं च दूरीकरोतीति तमेव सर्वोऽपि भजेदित्यर्थः ॥५०॥

व्याख्यान्य—माहात्म्य जानकर भगवान् की सेवा करनी चाहिए, यों कहा है, श्रुति गीता के 'माहात्म्य' और 'भजन' ये दो अर्थ हैं।

उस श्रुति गीता में, भजन का प्रतिपादन करने वाली सकल श्रुतियों का सार इकट्ठा कर 'ध्यायेदजस्र' पद कहा है जिसका भावार्थ है कि भगवान् को हृदय में विराजमान कर वहां उसका ध्यान करें, अर्थात् तत्प्रवण रूप सेवा करे, 'अजस्र' पद से यह बताया है कि वह सुख रूप एवं सर्व दुःख हर्ता है, वहां यह सिद्ध किया है कि भगवान् का माहात्म्य, गुणरूप और दोषाभाव रूप है। गुण रूप माहात्म्य द्वादश प्रकार का है यह निरूपण करते हैं।

जो भगवान् यह समग्र जगत् सुखी हो यों देखना चाहते हैं, सदैव यह चिन्तन करते रहते हैं कि इन जीव समूहों का निस्तार कैसे होगा ? यों विचार कर कहते हैं कि इस प्रकार होगा, यों हित ही विचारते हैं, यह एक गुण है जिससे भगवान् ही भजनीय है, आवश्यकता के लिए तीन गुण कहते हैं कि, इस जगत् के आप आदि, मध्य और अन्त रूप हैं, इस प्रकार ये तीन गुण और एक ऊपर हितचिन्तक गुण कहा, इन चार गुणों से आप एक सृष्टि के कारण रूप हैं अतः भगवान् भजनीय हैं, ये गुण भगवान् सेव्य है, इसके साधक हैं।

अब माहात्म्य प्रदर्शक तीन गुण कहते हैं, जो भगवान् अव्यक्त,^१ जीव^२ और ईश्वर^३ (सब को वश में रखने वाले) यों तीन गुण रूप कहे, इस प्रकार सात गुण निरूपण किए, शेष पांच गुणों को कहते हैं— १- जिस भगवान् ने इस जगत्^४ को रचा, २- फिर उसमें^५ प्रवेश किया, ३- अनन्तर वेद से अथवा मुख्य जीव के साथ सम्बन्ध बनाया, ४- पश्चात् देव तिर्यग् आदि शरीर बनाए, ५- सब को अपने वश में रखा, इस प्रकार १२ गुण कहे, इनसे आपका माहात्म्य गुण रूप है, जिस माहात्म्य के कारण आप ही सेव्य हैं।

भगवान् में दोषों का अभाव है जिस कारण से भी आप ही भजनीय हैं, तीन दोषों का अभाव दिखाते हैं, जीव, जिसको, मन से भावना कर, प्राप्त कर लेने से अविद्या को मिटा देते हैं अर्थात् अविद्या फिर उस पर अपनी सत्ता नहीं चला सके, तब तो स्मरण से ही मुक्त हो जाना चाहिए, यों होवे तो फिर देह ग्रहण नहीं होनी चाहिए, इस पर कहते हैं कि जैसे सुप्त पुरुष देह भूल जाता है जिससे उसका स्मरण ही नहीं होता है, वैसे ही भगवान् से सम्बन्ध मात्र से कार्य सहित अविद्या को छोड़ देता है, सर्वथा उसका स्मरण नहीं करता है, इसी प्रकार परम्परा से दोषों का अभाव

१- उद्धार,

२- प्रकृति,

३- पुरुष,

४- काल,

५- ब्रह्माण्ड,

६- ब्रह्माण्ड में

निरूपण किया जिसका आशय है कि सर्वात्मरूप से अज्ञा का परित्याग नहीं हो जाता है किन्तु यों स्वरूप भगवान् के माहात्म्य को दिखाया है ।

२—आप केवल अर्थात् एक ही हैं, जिससे जन्म मरण के कारण भूत (योनि) को नष्ट कर दिया है, जब सब ही आप भगवान् हैं तो दूसरी योनि अधिक कहां से आवे ? यों दूसरे दोष का निवारण किया है ।

३—स्वयं आप तो निर्भय हैं किन्तु सर्व के भय निवर्तक भी है, इससे तीसरा दोष भी निवारण किया ।

इसी प्रकार निर्दोष पूर्ण गुण रूप भगवान् हैं, इसलिए स्वतः ही परमानन्द देते हैं और दुःख दूर करते हैं, वैसे भगवान् का ही सबको भजन करना चाहिए, यह ही तात्पर्य है ॥५०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभादीक्षितविरचितायां
दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे अष्टत्रिंशोऽध्यायविवरणम् ॥३८॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ८४वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३८वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य
चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के
गुण-प्रकरण का तृतीय अध्याय हिन्दी
अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

ॐ

इस अध्याय में वर्णित भगवल्लीला का संक्षिप्त सार

राग बिलावल

नमो नमस्ते वारं वार । मधु सूदन गोविंद मुरार ।
माया मोह लोभ अह मान । ये सब नर कौं फाँस समान ॥
काल सदा सर साँधे फिरै । कैसें नर तव सुमिरन करे ॥
तुम निरगुन अट्ट निरंकार । सुर अह असुर रहे पचिहार ॥
तुम्हरी मरम न जानैं सार । नर बपुरो क्यौं करे बिचार ॥
अरुन असित सित पीतजुहार । करत जगत मेँ तुम अवतार ॥
सो जग क्यौं मिथ्या कहि जाइ । तहां तरै तुम्हरे गुन गाइ ॥
प्रेम भक्ति बिनु मुक्ति न होइ । नाथ कृपा करि दीजै सोइ ॥
और सकल हम देख्यौ जोइ । तुम्हरी कृपा होइ सो होइ ॥
यह तन है प्रभु जैसेँ ग्राम । जामेँ सब्दादिक विश्राम ॥
अधिष्ठात्र तुम हो भगवान । जान्यौ जात न तुम्हरी स्थान ॥
तुम स्वासा तैं पृहुमी नाथ । स्वास रूप हम लख्यौ न जात ॥
जगत पिता तुमही हो ईस । यातैं हम बिनवत जगदीस ॥
तुम सरि दुतिया और न आहि । पट तर देहिँ नाथ हम काहि ॥
शुक जैसे वेद स्तुति गाई । तैसेँ ही मैँ कहि समुझाई ॥
सूर कह्यौ श्री मुख उच्चार । कहै सुनै सौ तरै भव पार ॥

१३.
२

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेश्वर्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्भगवत्पाद—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ८८वाँ अध्याय

श्री सुबोधिनी अनुसार ८५वाँ अध्याय

उत्तरार्ध ३६वाँ अध्याय

गुण-प्रकरण

“अध्याय—४”

शिवजी का सङ्कट-मोचन

कारिका—एवं कृष्णस्य मूलत्वे संदिहानस्य संशयः ।

निवारितोऽतियत्नेन येन कृष्णः परः स्मृतः ॥१॥

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण के मूलत्व (ब्रह्मपन) में संदेह कर्त्ता का संदेह ऐसे अति प्रयत्न से दूर किया, जिससे सर्व ने कृष्ण को सर्व श्रेष्ठ समझा ॥१॥

१- सुभद्रा हरण आदि कार्य से सिद्ध हुआ कि श्रीकृष्ण में वीर्य गुण पूर्ण नहीं है तो फिर वह मूल ब्रह्म कैसे ? इस संदेह का निवारण यों किया है कि श्री श्रीकृष्ण अलौकिक हैं उनके कार्य अलौकिक (दिव्य) हैं जिससे वे जो कुछ करते हैं उनमें कौनसा रहस्य है उसको लोक दृष्टि से कोई नहीं जान सकता है इस प्रकार बहुत प्रयत्न से पिछले अध्याय में संदेह का निवारण किया है।

२- जब अलौकिक में श्रुतियों की भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है तो चक्षु आदि की कैसे हो सकेगी श्री कृष्ण में तो चक्षु आदि की प्रवृत्ति होती है अतः वे मूल ब्रह्म नहीं है, इस प्रकार का संशय प्रमाणों के कारण हुआ है, इस संशय का भी निवारण पिछले अध्याय में यह बताकर किया है कि श्रुतियां भगवान् का ग्रहण किस प्रकार करती है।

कारिका—व्यवहारस्तथैवात्र कृष्णे पर्यवसानतः ।

सर्वेन्द्रियाणां ग्राह्यत्वं श्रुतीनां हि यथोदितम् ॥२॥

कारिकार्थ—जैसे श्रुतियों के सर्व व्यवहार, अन्त में भगवान् में ही विराम पाते हैं, अर्थात् भगवान् को ही ग्रहण करते हैं, वैसे ही सर्व अलौकिक इन्द्रियां भी भगवान् में विराम पाती हैं यानि अन्त में भगवान् को ही प्राप्त करती हैं, जिससे, अलौकिक इन्द्रियां सर्वत्र भ्रमण करती हुई भी अन्त में भगवान् के ही लावण्य रूप रस का ही पान करती हैं ॥२॥

कारिका—भजनीयगुणे त्वत्र संदेहः कश्चिदुद्गतः ।

तन्निवारयितुं प्रश्नः पुनराज्ञा निरूप्यते ॥३॥

कारिकार्थ—यहां तो राजा को, भजन करने योग्य भगवान् के गुणों में एक कोई सन्देह उत्पन्न हुआ, जिसके निवारणार्थ राजा ने पुनः प्रश्न^१ किया, वह निरूपण करते हैं ॥३॥

कारिका—पूर्वाध्यायो यशोव्यक्त्यै श्रियै चायमुदीरितः ।

अतः श्रियं सदा कृष्णे नित्यामाहाव्ययां क्वचित् ॥४॥

कारिकार्थ—पूर्व अध्याय में भगवान् के 'यश' का प्राकट्य कहा, यह अध्याय श्रीगुण के प्रकट करने के लिए कहा है, जिससे यह बताया है कि भगवान् श्रीकृष्ण में अव्यय 'श्री' सदा और नित्य विराजती है ॥४॥

कारिका—यथानन्दो न सर्वत्र तथा श्रीरपि देवता ।

तथात्वं दूषणं लोके भ्रान्तबुद्धौ निरूपितम् ॥५॥

कारिकार्थ—जैसे आनन्द, श्रीकृष्ण के सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं है वैसे ही लक्ष्मी भी श्रीकृष्ण के सिवाय अन्य किसी के पास स्थिर नहीं है लोक में तो लक्ष्मीवान् होना दोष है क्योंकि चंचल होने से जिसके पास जाती है वह चंचल मन वाला हो जाता है, अतः भगवान् के पास लक्ष्मी होने से उनमें भी यह दोष है, यों भावना, भ्रान्त बुद्धि के कारण होती है ॥५॥

कारिका—अतोऽत्र भजनीयार्थं लक्ष्मीनिर्णय उच्यते ।

एकोनचत्वारिंशे च तत्प्रसङ्गात्कथान्तरम् ॥६॥

कारिकार्थ—इससे उत्तरार्ध के इस ३६ वें अध्याय में, लक्ष्मी सम्बन्धी निर्णय कहा है जिससे श्रीकृष्ण ही सेव्य है यह सिद्ध हो जावे ॥६॥

^१ प्रश्न से यह सूचित किया कि, इस अध्याय में यों कहता है,

^२ जो कभी कम नहीं होती है.

कारिका—शिवादिसर्वदेवानां दातृत्वमविचारतः ।

विचारेण तु दातृत्वं कृष्णस्यैव विशेषतः ॥७॥

कारिकार्थ—शिव आदि देव बिना विचार किये दान देते हैं, किन्तु विचार पूर्वक श्रेष्ठ ढंग से दान देने वाले तो श्रीकृष्ण ही हैं ॥७॥

कारिका—अविचारितदानेन स्वयं दातापि नश्यति ।

सम्प्रदानस्य का वार्ता तस्माच्छीशो न तत्प्रदः ॥८॥

कारिकार्थ—बिना विचार किये यों ही दान देने से दाता का भी नाश होता है तो लेने वाले की क्या दशा होगी ? वह कही नहीं जाती है, इससे लक्ष्मोपति बिना विचार किए दान नहीं देते हैं ॥८॥

कारिका—दुष्टैव श्रीरन्यगता शुद्धा कृष्णैकतत्परा ।

कृष्णमेव ततो वाञ्छेन् न श्रियं बुद्धिमान् क्वचित् ॥९॥

कारिकार्थ—अन्य किसी के पास जो लक्ष्मी जाती है, वह चंचल दोष युक्त है, केवल जो लक्ष्मी भगवान् के पास है वह जंच न दोष रहित होने से शुद्ध है, जिससे भगवान् दोष रहित हैं, अतः बुद्धिमान् को भगवान् की प्राप्ति की इच्छा करनी चाहिए न कि लक्ष्मी की इच्छा करनी चाहिए ॥९॥

आभास—पूर्वाध्याये परब्रह्मरूपे भगवति प्रमाणविषयदोषान् परिहृत्य प्रमेयविषये भगवद्दोषपरिहारार्थमध्यायान्तरमारभते । तत्र राजा भगवति दातृत्वे संदिहानः अदातृत्वस्य च लोके निन्दाश्रवणान् निर्णयार्थं पृच्छति देवासुरमनुष्येष्विति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—परब्रह्मरूप भगवान् कृष्ण में, प्रमाण विषयक जो सत्यादि गुणरूप दोष प्राप्त हुए थे, पूर्वाध्याय में निर्गुण ही प्रमाण विषय है यों कहकर उन दोषों का परिहार किया । अब प्रमेय रूप भगवान् श्रीकृष्ण में अदातृत्व आदि दोषों के परिहार के लिए यह दूसरा अध्याय प्रारम्भ करते हैं, राजा परीक्षित भगवान् में दातृत्व का संदेह करता है और लोक में अदाता को निन्दा सुनी जाती है, जिससे इस विषय के निर्णय के लिए देवासुर मनुष्येषु—से दो श्लोकों में पूछता है ।

श्लोक—राजोवाच—देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम् ।

प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम् ॥१॥

श्लोकार्थ—राजा ने कहा कि देव, असुर और मनुष्यों में जो अशिव शिव का भजन करते हैं, वे धनादि से सुख भोगते हैं अर्थात् उनके पास प्रायः धनादि सुख के साधन प्राप्त होते हैं और जो हरि की सेवा करते हैं, वे न धनाढ्य होते हैं तथा न ही सुख भोगते हैं ॥१॥

सुबोधिनी त्रिविधा जीवा उपासनसमर्था-
रतेषां भगवदुपासनं विधीयते अन्योपसन-
व्यावृत्तिपूर्वकम् । तत्रान्येषामेहिकदातृत्वे कथं
व्यावृत्तिः स्यादिति महादेव उपक्षिप्यते । त्रिवि-
धेषु जीवेषु ये अशिवं लक्ष्मीकृतशोभारहितं नाम्ना
शिवं कल्याणरूपं वा ये भजन्ति ते प्रायेण
धनिनः । ज्ञानाथिनस्तु ततो धनं न वाञ्छन्ति

इति प्रायेणोक्तम् । भोजा भोक्तारश्च । दान-
भोगक्षमं धनं शिवः प्रयच्छतीति, यदि भगवानपि
प्रयच्छेत् तदोक्तं दूषणं न संगच्छन् इति प्रकृते
निषेधति न तु लक्ष्म्याः पतिमिति विद्यते लक्ष्मीः
स्वयं परदुःखहर्ता च ये लक्ष्मीपतिमुपासते न ते
धनिनो न वा भोजा इत्यर्थः । गुणानां तारतम्य-
मत्रः विचार्यते इति तुल्यता ॥१॥

व्याख्यानार्थ—देव असुर और मनुष्य तीन प्रकार के जीव ही क्यों कहे ? पशु आदि भी जीव
है वे क्यों न कहे ? अतः यो कहने का हेतु आचार्य श्री 'उपासन समर्थाः' पद से प्रकट करते हैं कि,
इन तीनों के सिवाय पशु आदि जीव उपासना करने में असमर्थ हैं, इसलिए ये तीन कहे हैं, ये तीन
ही उपासना कर सकते हैं, यों कहकर दूसरे देवों की उपासना का निषेध दिखा भगवान् की ही
उपासना का विधान करते हैं, दूसरे देव भी ऐहिक सुख देते हैं, उनका निषेध कैसे किया जाता है ?
इसलिए इस सम्बन्ध में महादेव की सूचना करते हैं, इन तीन प्रकार के जीवों में से जो लक्ष्मी द्वारा
प्राप्त शोभा से रहित हैं ऐसे शिव की उपासना करते हैं, वे धनी होते हैं, जो ज्ञान चाहते हैं वे तो
बहुत कर शिव से धन की इच्छा नहीं करते हैं, और वे, केवल धनी नहीं किन्तु भोगी भी होते हैं,
कारण कि शिव वह ही धन देता है जिस धन से दान^१ भोग हो सके, जो कदाचित् हरि, धन देवे
तो, उस धन में कहा हुआ भोगादि दूषण न होगा, इसलिए प्रकृति में निषेध करते हैं कि, वे लक्ष्मी
के पति का भजन करने वाले वैसे नहीं होते हैं, अर्थात् पैसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं, यद्यपि लक्ष्मी
भगवान् के पास है, जिससे आप शोभायमान भी हैं तो भी नहीं देते हैं, क्योंकि वे आप सकल प्रकार
के दुःखों के हर्ता हैं, अतः जो लक्ष्मी के पति की सेवा करते हैं, वे न धनी बनते हैं और न भोगी
होते हैं, दोनों में स्वरूप से तो तुल्यता^२ है किन्तु गुणों के कारण तारतम्यता कही है ॥१॥

आभास—नन्वेवमेव स्वभाव इति चेत् तत्राह एतद्वेदितुमिच्छाम इति ।

आभासार्थ—यदि दोनों (शिव और हरि के स्वभाव इसी प्रकार के ही हैं तो, मैं इसको
जानना चाहता हूँ कि ऐसा क्यों ?

श्लोक—एतद्वेदितुमिच्छामः संदेहोऽत्र महान् हि नः ।

विरुद्धशीलयोः प्रभवो विरुद्धा भजतां गतिः ॥२॥

श्लोकार्थ—परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले प्रभुओं^३ के भजन करने वालों को फल
भी विरुद्ध मिलता है । जैसे धनादि देने वाले शिव^४ के भक्तों को धनादि फल मिलता

१- शिव इतना धन देते हैं जिससे शिव भक्त दूसरों का पालन पोषण कर सकते हैं और अपना
व्यवहार भी अच्छी तरह चलाते हैं । २- एकत्व ३- समर्थ वालों ४- लक्ष्मी रहित

है और धनादि न देने वाले^५ हरि के भक्तों को घनादि भोग नहीं मिलता है, इस विषय में हमको महान् संदेह है, अतः इसको जानना चाहता हूँ कि यह क्यों? ॥२॥

मुनेश्वरिणी एतदत्रत्यं संदेहनिवर्तकं यतोऽत्र महान् संदेहः । हि युक्तश्रामयमर्थः । भक्तत्वाद-भजनयोग्यगुणसंदेहो वारण्योऽय इति । नोऽस्माकं सर्वेषामेव । यतोऽत्र कौतुकाविष्टानामपि पद-निवृत्त्यर्थं प्रयत्न इति ज्ञापयितुमाह विरुद्धशीलयोः प्रभवोरिति । एको लक्ष्म्या सहितः । अपरो विहीनः । तत्सेवकस्तु लक्ष्मीरहितः सहितश्चेति । यस्य हि यद्वोचते स स्वभक्ताय तत् प्रयच्छति, प्रकृते तु तदभाव इत्यर्थः । अत्र संदिग्धः प्रष्टव्यः शिवः कथं स्वयं न भुङ्क्ते कथं प्रयच्छतीत्यत्र

किं विषया राज्यादय उक्तृष्टाः आहोस्विदपकृष्टा इति । उक्तृष्टश्चेच्छिवः कथं स्वयं न भुङ्क्ते, अपकृष्टश्चेत् कथं प्रयच्छतीति । तत्रोत्तरमपकृष्टा एवेति । अतस्यस्य भोगाभावः समर्थितः । तादृशं कथं ददातीति चेद् उपासकानामेव दोषादिति वक्तुं ये धनार्थं शिवमुपासते ते साहंकाराः सन्तः अहंकाराभिमानिनमेव शिव मुपासते । ननु शैव-तन्त्रसिद्धं सदाशिवं वा साधारणत्वाच्च ज्ञाना-धिकाराभावाच्च ॥२॥

व्याख्यानार्थ—इस विषय में जो महान् संदेह है, उसका निवारण करना चाहता हूँ, 'हि' पद से कहते हैं कि यह अर्थ उचित है, भक्त होने से भजनीय स्वरूप के गुण में जो संदेह हो, वह निवारण करना चाहिए, 'नः' बहुवचन देने का तात्पर्य है कि केवल मुझे संशय नहीं है सर्व सेवकों को संदेह है अतः अवश्य निवारणीय है, क्योंकि यहां अर्थात् इस विषय में जो कौतुकाविष्ट है उनकी भी इच्छा है, कि संदेह की निवृत्ति के लिए प्रयत्न होना चाहिए, यह जताने के लिए कहा कि विरुद्ध शीलयोः प्रभवोः' दोनों समर्थ होते हुए भी विरुद्ध शील वाले हैं, एक 'हरि' लक्ष्मी सहित और दूसरा 'शिव' लक्ष्मी रहित है, उनके सेवक भी विरुद्ध फल वाले होते हैं, जैसे लक्ष्मी विहीन शिव के भक्त, लक्ष्मीवान् होते हैं और लक्ष्मी सहित हरि के भक्त लक्ष्मी विहीन होते हैं, जिसको जो वस्तु पसंद आती है वह वस्तु, अपने भक्त को देता है, यहां तो उसका अभाव है ।

यहां संदेह करने वाले से पूछना चाहिए कि शिवजी आप स्वयं क्यों नहीं धनादि से भोग भोगते हैं ? क्यों भक्तों को दे देते हैं ? ये राज्यादि कैसे हैं, उत्तम सुखदाता हैं अथवा अधम दुःखदाता हैं ? यदि उत्तम हैं तो आप क्यों नहीं भोगते हैं ? यदि अधम हैं तो आपने भक्तों को क्यों देते हैं ? इसका उत्तर है कि ये भोग अपकृष्ट अर्थात् अधम हैं, इसलिए आप नहीं भोगते हैं, फिर भक्तों को क्यों देते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि उपासकों का ही यह दोष है, वे यह ही मांगते हैं कारण कि वे उपासक अहङ्कारी हैं, अपने अहङ्कार को बढ़ाने के लिए ही शिवजी से धनादि प्राप्त कर अहङ्कार का पोषण करते हैं, इसलिए अहङ्काराभिमानी तामसगुणाविष्ट शिव की ही उपासना करते हैं न कि, शैव तन्त्र सिद्ध सदाशिव की उपासना करते हैं, कारण कि, साधारण और ज्ञानाधिकार के अभाव वाले हैं ॥२॥

आभास —अतस्तान् प्रति शिवस्तादृशमेवेति तन्निरूपयति शिवः शक्तियुत इति ।

आभासार्थ —इस कारण से ऐसे अहङ्कारी भक्तों के लिए शिव भी वैसे होकर वैसे फल देते हैं जिसका निरूपण 'शिवः शक्तियुतः' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—शिवः शक्तियुतः शश्वन्त्रिलिङ्गो गुणसंवृतः ।

वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा ॥३॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहते हैं कि शिव निरन्तर शक्ति को अपने पास रखते हैं एवं सात्त्विक, राजस तथा तामस अहङ्काराविष्ट होने से त्रिलिङ्ग कहलाते हैं और तीन गुणों के कारण तीन प्रकार के हैं ॥३॥

सुबोधिनी—अहंकाराभिमानेऽपि शिवस्य तादृशत्वे हेतुः शक्तियुत इति । 'शक्त्या युक्तो विचरति धोरया भगवान् भवः' इति वाक्यात् । प्रलयकर्त्री शक्ति यदि शिवः शान्तात्मा क्षणमपि परित्यजेत् तदा सा प्रलयं कुर्यात् । यदि वा कण्ठे कालकूटं न स्थापयेत् तदा सर्ववस्तूनां दोषस्याधिदैविकं रूपमिति तत्परित्यागे सर्ववस्तुषु दोषाद्भवे सर्वोऽप्यन्नादिभक्षणेन म्रियेत । यदि वा सर्पांश्च धारयेत् तदा सर्व एव पुरुषाः कुण्डलिनीव्याप्ताः तथैव हता स्युः । तदाधिदैविकान्निहृद्य स्थापयतीति न कुण्डलिनी कमपि हन्तीति सूचितम् । एवमग्नेर्धारणं अन्यथा सर्वं दहेदिति । एवं चन्द्रमसोऽपि । अन्यथा सर्वं क्षीणं कुर्यादिति । वस्त्राणां सर्वदेवतामयत्वात् न बाधकत्वमिति न तद्धारणम् । शार्दूलचर्मं तु 'मृत्योर्वा एष वर्णो

यच्छार्दूलम्' इति श्रुतेः प्राणिनां मृत्युनिवारणार्थं विभर्ति गङ्गां च विभर्ति । सापि स्पर्शमात्रेणैव पूर्वदेहं दोषरूपं निवर्त्य भगवदीयं देहं संपादयति । जटाश्च विभर्ति । अन्यथा वायुना हता मेघा गच्छेयुरेव न त्वागत्य वृष्टिं कुर्युः । एवं सर्वेषां प्रयोजनानि शिवतन्त्रे निरूपितानि निर्दोषपूर्णगुणविग्रहरूपेण प्रस्तावे । एव परमकृपालुरपि उपासकानुरोधात् त्रिलिङ्गो जातः । ततो गुणैरपि सत्त्वरजस्तमोभिः संवेष्टितः । ननु तस्य त्रिलिङ्गत्वे वा गुणवेष्टनत्वे वा को हेतुरिति चेत् तत्राह वैकारिकस्तैजसश्चेति । वैकारिकः सात्त्विकः । तैजसो राजसः । अहमहंकारस्तदधिष्ठाता जात इति तस्य त्रिलिङ्गत्वाद गुणसंवृतत्वाच्च स्वयं चापि तथा जातः ॥३॥

व्याख्यानार्थ—शिवजी में अहङ्कार का अभिमान मात्र है, न कि जीव को तरह अहङ्कारध्यास है, और शिवजी अहङ्कारी भक्तों को उनके योग्य फल देने के लिए तथा जगत् हितार्थ 'शक्ति' को सदैव रखते हैं, जैसा कि भागवत में कहा है 'शक्त्या युक्तो विचरति धोरया भगवान् भवः' भगवान् शिव घोर शक्ति के साथ फिरते हैं, इस प्रलय करने वाली शक्ति को शान्तात्मा शिव क्षण मात्र भी नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि यदि छोड़े तो यह शक्ति क्षण में समग्र जगत् को प्रलय कर दे, और शिवजी यदि कण्ठ में कालकूट विष को धारण न करें तो सब जो भक्ष्य पदार्थ अन्न आदि हैं, उनके खाने से मृत्यु हो जावे, क्योंकि सर्व वस्तुओं में जो मृत्यु कारक दोष है उसका आधिदैविक स्वरूप कालकूट है, उसको कण्ठ में धारण कर लेने से सर्व वस्तुओं में से दोषों का अभाव हो गया है, जिससे अन्नादि भक्ष्य पदार्थ निर्दोष होकर सबको जीवन देते हैं, यदि शिवजी उसका त्याग करें तो सर्व वस्तुओं में फिर वह दोष पैदा हो जावे, जिससे अन्नादि भक्षण द्वारा सर्व की मृत्यु हो जावे ।

यदि महादेव सर्पों को धारण न करें तो कुण्डलिनी से व्याप्त पुरुष, उससे ही मारे जावे, इस कारण से कुण्डलिनी के आधिदैविक स्वरूप सर्पों का निरोधकर कण्ठ में धारण कर लिए हैं, इसलिए कुण्डलिनी किसी वी भी नहीं मार सकती है, इससे यों सूचित किया है ।

आप अग्नि को धारण कर सब को दाह से बचा रहे हैं, यदि अग्नि को धारण न करें तो सबको अग्नि भस्म कर डाले ।

आप चन्द्रमा को धारण कर सबको क्षीण होने से बचाते हैं, यदि चन्द्रमा को धारण न करते तो चन्द्रमा सबको अपने समान क्षीण कर देता ।

आप वस्त्रों को धारण न कर नग्न रहते हैं, क्योंकि आप जानते हैं कि वस्त्र देव रूप हैं, सबकी रक्षा करते हैं, किसी के बाधक नहीं, मृत्योवा एष वर्णो यच्छाद्दूलम् इति श्रुतेः^१ 'व्याघ्र चर्म मृत्यु का वर्ण है' यों श्रुति में कहा है अतः मनुष्यों को मृत्यु को हटाने के लिए आप व्याघ्र चर्म धारण करते हैं ।

आपने गङ्गा को धारण इसलिए किया है कि, अधिकारियों^२ को ही देह निर्दोष होवे, कारण कि गङ्गाजी स्पर्श मात्र से ही दोष रूप देह को बदलाकर भगवदीय देह बना देती है, यदि धारण न करते तो सब से स्पर्श होता सब की देह भगवदीय हो जाती तो अधिकारीपन का निग्रम लोप हो जाता ।

आप जटाओं को धारण करते हैं, बादल केश रूप हैं, जैसे कहा है कि 'अम्बुवाहाः केशाः'^३ यदि धारण न करते तो बादलों को वायु दूर दूर ले जाती यहां लौटकर न आते जिससे यहां वर्षा ही न पड़ती, अतः आपने जटा धारण भी आवश्यक समझा ।

इसी तरह भगवान् शङ्कर ने जो २ पदार्थ धारण किए हैं उनका प्रयोजन शिव तन्त्र में कहा है, वहां शिवजी का निर्दोष पूर्ण गुण विग्रह सिद्ध किया है, इस प्रकार के होते हुए भी आप परम कृपालु होने से भक्तों के आग्रह से त्रिलिङ्ग हुए हैं, इससे ही सत्त्व, रज और तमोगुण से युक्त हुए हैं, उनके^३ त्रिलिङ्ग होने वा गुणों से वेष्टित होने का क्या हेतु है ? इसके उत्तर में कहते हैं कि 'वैकारिकस्तैजसश्चेति' अहङ्कार सात्त्विक, राजस और तामस होने से त्रिविध है अतः आप भी अहङ्काराभिमानी होने से त्रिलिङ्ग हुए अतः गुणों से युक्त होकर वैसे हो गए ॥३॥

आभास—ततः सहिता शक्तिः पुरुषसम्बन्धात् प्रलयकर्तृत्वं परित्यज्य सृष्टिं कृत-
वतीत्याह ततो विकारा अभवन्निति ।

आभासार्थ—शिवजी के साथ रही हुई शक्ति पुरुष^३ के सम्बन्ध से प्रलय करने का कार्य त्याग कर सृष्टि करने लगी, यह 'ततो विकारा' श्लोक वर्णन करते हैं—

श्लोक—ततो विकारा अभवन्पोडशमीषु कञ्चन ।

उपाधावन्विभूतीनां सर्वासामश्नुते गतिम् ॥४॥

श्लोकार्थ—उससे सोलह विकार (दस इन्द्रियाँ,^१ एक मन^२ और पाँच भूत^३) हुए इनमें से किसी का भी आश्रय करने वाला सर्व विभूतियों का फल भोगता है ॥४॥

सुबोधिनी—भूतानीन्द्रियाणि च विकाराः षोडश, महादेवः षोडशरूपो जात इत्यर्थः । 'षोडशकलोऽयं पुरुषः' इति श्रुतेः । ततः अमोषु भगवन्मूर्तिषु कंचनापि महादेवं उपाधावन् सर्वा-

सामेव विभूतीनां गतिमश्नुते । यतः स विभूति-पतिः ऐश्वर्याण्यक्षयरूपाणि कृत्वा बिभर्तीति । अनेन तस्य विभूत्यभावो निराकृतः ॥४॥

टिप्पण्यर्थ—पाँच महाभूत मन सहित ११ इन्द्रियाँ ये षोडश विकार हैं, अर्थात् इसी तरह महादेव ने १६ रूप धारण किए, जैसा श्रुति में 'षोडशकलोऽयं पुरुषः' कहा है कि पुरुष १६ कला वाला है, इस कारण इन १६ भगवान् की मूर्तियों में से किसी भी मूर्ति का आश्रय करता है वह सब मूर्तियों का फल पाता है, क्योंकि वह महादेव इन १६ विभूतियों का स्वामी है, अतः आप ऐश्वर्यों को अक्षय रूप कर धारण करते हैं, यों कहकर महादेव विभूति रूप है, इस मत का निराकरण किया है ॥४॥

आभास—एवं महादेवे दोषं निराकृत्य भक्तानुरोधेन विकारजातं प्रयच्छतीति निरूपितम् भगवति च वादी प्रष्टव्यः । किं लक्ष्मीरूपा विषया उत्तमा अधमा वेति । उत्तमत्वे कथं न प्रयच्छति । अधमत्वे कथं स्वयं भुङ्क्त इति संदेहः । तत्र हिशब्दः पूर्वपक्षोक्तं प्रकारं वारयति । लक्ष्मीरूपविषया उत्तमाः । अतो भगवान् बिभर्तीति युक्तम् । दोषरूपपक्षस्थापनार्थं भगवता शिवरूपमेव कृतमिति नात्र पुनः तत्पूर्वपक्षाः समायान्ति । तत्र भक्तेभ्यः कथं न प्रयच्छतीत्याशङ्क्यामाह हरिरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार महादेव में दोष का निराकरण कर, भक्तों के आग्रह के कारण ही विकारोत्पन्न फल देते हैं, यों निरूपण किया ।

भगवान् के विषय में शङ्का करने वाले वादी से पूछना चाहिए कि लक्ष्मी रूप विषय उत्तम है, या अधम ? यदि उत्तम है तो उपासकों को क्यों नहीं देते हैं ? यदि अधम है तो आप क्यों धारण करते हैं ? इस विषय में पहले कहे हुए प्रकार का 'हि' पद से निवारण करते हैं ।

लक्ष्मी रूप विषय अच्छे हैं अतः भगवान् धारण करते हैं यह उचित ही है ।

लक्ष्मी के विषय, दोषरूप हैं इस पक्ष की स्थापना करने के लिए भगवान् ने शिव रूप धारण किया है इसलिए यहां बिर पूर्व पक्ष नहीं आ सकता है, वहाँ प्रश्न होता है कि यदि लक्ष्मी का विषय उत्तम है तो भक्तों को क्यों नहीं देते हैं ? इस शंका का उत्तर देने के लिए 'हरिहि' श्लोक कहा है—

१- राजस अहङ्कार से दश इन्द्रियाँ उत्पन्न हुई, २- सात्त्विक अहङ्कार से मन उत्पन्न हुआ,
३- तामस अहङ्कार से पाँच भूत (पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि) उत्पन्न हुए ।

श्लोक — हरिर्हि निर्गुणः साक्षात्पुरुषः प्रकृतेः परः ।

स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन्निर्गुणो भवेत् ॥५॥

श्लोकार्थ—हरि ही निर्गुण, प्रकृति से पर, साक्षात् पुरुष है, सबका सब कुछ देख रहे हैं, निकट भी देख रहे हैं, उनका भजन करने वाला निर्गुण होता है ॥५॥

सुबोधिनी—प्रयच्छत्येव न तु दुःखरूपान् । यथा हरिर्गजेन्द्राय पूर्वाविस्थास्थितदेहभार्यैश्वर्यादिकं त्याजयित्वा परमानन्दरूपान् तानेव दत्तवान् । हि यु तश्चायमर्थः । ननु शिववत् कथं न प्रयच्छतीति चेत् तत्राह निर्गुण इति । गुणार्थं तदेव रूप जातमिति देनैव रूपेण तत्कार्यं सिद्धयतीति स्वयं गुणातीतः स्थितः । अत्र रूपे गुणग्रहणे प्रयोजनं नास्तीत्याह साक्षात्पुरुष इति । अयं सर्वेषामुपासकानामात्मा अतस्तद्धितमेव विचारयति न तूपासनानुरोधं करोति । किंच अस्य तादृशी कापि शक्तिर्नास्ति यदनुरोधात्तां परिगृह्य सगुणो भवेत् । ननु पुरुषत्वात्प्रकृति-

रायातीति चेदत आह प्रकृतेः पर इति । ननु तथापि भक्तक्लेशं दृष्ट्वा कथं न संपादयतीति चेत् तत्राह स सर्वदृगिति । स प्रसिद्धः आत्मा हितकारो । सर्वस्यापि सर्वं पश्यति । किंच । अन्तर्यामित्वान्निकटेऽपि स्थितः पश्यति । ततो यदैव यद्विना कार्यं न भवतीति जानाति तदैव तत्प्रयच्छतीति भावः । अत एवैतादृशं परम-विचक्षणं भजन् स्वयमपि निर्गुण एव भवेद् गुणप्रयोजनाभावात् । भगवांश्च तेनैव रूपेण प्रकट इति न भक्तोपेक्षते नापि भगवान् प्रयच्छतीत्यर्थः ॥५॥

व्याख्यार्थ—हरि अपने भक्तों को ऐश्वर्यादि देते हैं किन्तु दुःख रूप ऐश्वर्यादि नहीं देते हैं जैसे गजेन्द्र को, पूर्वाविस्था वाले देह, स्त्री और ऐश्वर्यादि जो दुःखद थे उनका त्याग कराकर परम आनन्द रूप ऐश्वर्यादि दिए। 'ही' पद से यह सूचित किया है कि यों करना उचित ही है। शिव को तरह क्यों नहीं देते हैं ? जिसका उत्तर देते हैं कि आप 'निर्गुण' हैं, गुण के लिए वह ही (शिवरूप) धारण किया है, उस रू से ही वह कार्य सिद्ध करते हैं, इसलिए ही आप गुणातीत होकर विराजते हैं, इस स्वरूप में गुणों के ग्रहण करने का कोई प्रयोजन है, इसलिए कहा है कि, 'साक्षात् पुरुषः' साक्षात् पुरुष है अतः सब उपासकों की आत्मा है, जिससे उनका हित ही विचारते हैं उपासकों के अनुरोध से नहीं देते हैं, जिसके देने से भक्तों का अहित न होवे वह पदार्थ देते हैं ।

इसके पास ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जिसके वश होकर गुणों को ग्रहण कर सगुण होवे, हरि पुरुष है, अतः प्रकृति स्त्री होने से स्वतः इनके पास आती है, जिसके उत्तर में कहा कि 'प्रकृतेः पर' प्रकृति से पर हैं, यों होते भी भक्तों के क्लेशों को देख कर क्यों नहीं गुणों को ग्रहण करते हैं ? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि 'स सर्वदृक्' 'स' पद से यह सूचित किया है कि वह आत्मा का हित करने वाले हैं यों प्रसिद्ध है, सर्व का, सब दुःख सुख सब देख रहे हैं इस कारण से जब समझते हैं कि इसके बिना उपासक का कार्य सिद्ध नहीं होगा, तब ही उपको वह देते हैं, इस कारण से ही ऐसे परम विचक्षण का जो भजन करता है वह स्वयं भी निर्गुण हो जाता है, कारण कि उसका गुणों से कोई प्रयोजन नहीं है ।

भगवान् उस ही (निर्गुण ही) रूप से प्रकटे है, इसलिए भक्त अपेक्षा नहीं करता है और भगवान् भी नहीं देते हैं ॥५॥

आभास—प्रत्युत दोषरूपान् विषयान् भक्तेषु पश्यन्नपहरतीति वक्तुमुपाख्यानमाह निवृत्तेष्वश्वमेधेष्विति ।

आभासार्थ - प्रत्युत (बल्कि) यदि भक्तों में कोई दोष देखते हैं तो उसका अपहरण कर लेते हैं, यों कहने के लिए 'निवृत्तेष्वश्वमेधेषु' श्लोक से उपाख्यान कहते हैं—

श्लोक—निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत्पितामहः ।

शृण्वन्भगवतो धर्मानपृच्छदिदमच्युतम् ॥६॥

स आह भगवांस्तस्मै प्रीतः शुश्रूषवे प्रभुः ।

नृणां निःश्रेयसार्थाय योऽवतीर्णो यदोः कुले ॥७॥

श्लोकार्थ—अश्वमेधों के पूर्ण हो जाने के अनन्तर तुम्हारे पितामह राजा युधिष्ठिर ने भगवद्धर्म सुनते हुए यह सुना कि भगवान् भक्तों की सम्पत्ति नहीं बढ़ाते हैं, जिसमें सन्देह हो जाने से यह अर्थ, अच्युत से पूछने लगा ॥६॥

उस पर प्रसन्न हुए वे प्रभु भगवान् मनुष्यों के निःश्रेयस के लिए जिन्होंने यदुकुल में अवतार लिया है सुनने की इच्छा वाले उसे कहने लगे ॥७॥

सुबोधिनी—अश्वमेधत्रयं कृत्वा पश्चादन्ते धर्मश्रवणस्य विहितत्वाद्भगवद्धर्मान् शृण्वन् भगवान् भक्तानां संपदो न प्रवर्धयतीति तत्र संदिहानः इममेवार्थं अच्युतमपृच्छत् । स च भगवांस्तत्रैव स्थितः स्वधर्मान् शृणोतीति प्रीतः सन् गुह्यमपि सिद्धान्तं शुश्रूषवे प्रभुत्वात्तन्निः-

शङ्कमाह । ननु व्यासादयोऽपि भगवद्रूपा-
स्तित्ठन्तीति । अतः कथमेवमुक्तवान् इत्या-
शङ्क्याह नृणां निःश्रेयसार्थायेति । व्यासस्यापि
शास्त्रद्वारा निःश्रेयससाधकत्वमाशङ्क्य योऽव-
तीर्ण इति । रामव्यावृत्त्यर्थं गूर्वपदम् ॥६॥७॥

व्याख्यार्थ—शास्त्राज्ञा है कि तीन अश्वमेध पूर्ण करने के बाद भगवद्धर्मों का श्रवण करे, उसी आज्ञा का पालन करते हुए राजा युधिष्ठिर भगवद्धर्म श्रवण करता था, जब सुना, कि भगवान् भक्तों की सम्पदाओं को बढ़ाते नहीं हैं, तब संशय अस्त हो, इसही विषय का संशय निराकरण कराने के लिए अच्युत से पूछने लगा ।

भगवान् तो वहां ही स्थिति थे, देख रहे थे कि यह भगवद्धर्मों का श्रवण कर रहा है अतः उस पर प्रसन्न थे, जिससे गुह्य सिद्धान्त भी उस सुनने वाले को निःशङ्क होकर कहने लगे, कारण कि, आप प्रभु, अर्थात् सर्व समर्थ हैं, जब वहां भगवद्रूप उपदेश करने वाले व्यासादि भी उपस्थित थे, तब आप कैसे इस तरह कहने लगे ? जिस शङ्का को मिटाने के लिए कहा कि 'नृणां निःश्रेय-
सार्थाय' आप मनुष्यों के निःश्रेयसार्थ यदुकुल में प्रकट हुए हैं, अतः आप कहने लगे 'योऽवतीर्णो'
'यः' पद से यह सूचित किया है कि भक्तों को मोक्ष देने के लिए कृष्ण ही प्रकटे हैं न कि बलरामजी ॥६-७॥

आभास — भगवानाह यस्याहमनुगृह्णामितीति ।

आभासार्थ — भगवान् कहने लगे 'जिस पर मैं अनुग्रह करता हूँ ।

श्लोक— श्रीभगवानुवाच—यस्याहमनुगृह्णामि हरिष्ये तद्धनं शनैः ।

अतोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम् ॥८॥

श्लोकार्थ— श्री भगवान् कहने लगे कि जिस पर मैं अनुग्रह करता हूँ, उसका धन धीरे-धीरे हरण कर लेता हूँ; अतः जब दुःखी स्वजनों से भी यह विशेष दुःखों से दुःखित होता है, तब इस निर्धन दुःखी को अपने जन भी त्याग देते हैं ॥८॥

सुबोधिनी— केवल यमनुगृह्णामि तं तु ततोऽन्यत्र नीत्वा भवतैः संयोज्य कृतार्थमेव मुख्यं करोमि । न तत्र हरणादिप्रयासः । यस्य तु संबन्धिनः सवनिवानुगृह्णामि सर्वाधिकारित्वात्तस्य धनं हरिष्ये । क्षिप्रवचने लृट् । तत्रापि शनैः यद्यल्पे ह्यिमारेण विवेको भवेत् तदा न हरिष्यामिति ज्ञापयन् । ननु धने हते किं स्यादत आह

अतोऽधनं तस्य जनाः संबन्धिनस्त्यजन्ति । तत्र हेतुः दुःखदुःखितमिति । अधनत्वेऽपि समर्थश्चेन्न त्यजन्ति तदीया दुःखिताः तेभ्योऽप्ययमत्यन्त दुःखित इति तेभ्यश्चेदन्नादिकं वाञ्छन्तीत्यर्थः । सर्वथा अप्रवृत्तस्येयं व्यवस्था, बीजसंस्कारश्च यस्य जातः ॥८॥

व्याख्यानार्थ— जब अकेले पर ही कृपा करता हूँ तब धन न हर कर, उसको ऐसी बुद्धि देता हूँ, जो प्रपञ्च का त्याग कर भक्तों का जाकर संग करता है और वहाँ कृतार्थ हो मुख्य भक्त बन जाता है, और जब उसके सब सम्बन्धियों (कुटुम्ब) पर अनुग्रह करना चाहता हूँ तब उसका धन हरण करता हूँ, क्योंकि वह धन सबका अपकारी होता, लट् लकार देकर शीघ्रता बताई है, किन्तु 'शनैः' पद से यह सूचित किया है कि थोड़ा थोड़ा हरण कर देखता हूँ कि, इतने हरण से इसको विवेक आया है वा नहीं ? यदि विवेक आजाता है, वह धन अपकारी अब नहीं होता है भगवत्सेवादि में धन को लगाते हैं, तब आगे विशेष का हरण नहीं करता हूँ, धन हरण से क्या होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि, निर्धन होने पर उनके सम्बन्धी उस कुटुम्ब का त्याग करेंगे, यदि निर्धन अवस्था में भी समर्थ हो शान से रहता हो तो न छोड़ेंगे, इस पर कहते हैं कि 'दुःख दुःखित' अपने दुःखी सम्बन्धियों से भी विशेष जब दुःखी होता है और उन दुःखी सम्बन्धियों से मन्नादि की भीख मांगता है तब त्याग देते हैं, यह धन हरण करने की जो व्यवस्था है, वह उनके लिए है जिसमें भक्ति के बीज की स्थापना होते हुए भी वह सेवादि में प्रवृत्त नहीं होता है, ऐसे जन के शिक्षार्थ ही यह व्यवस्था कर रखी है ॥८॥

आभास— ननु बन्धुपरित्यागे किं स्यादत आह स यदा वितथोद्योग इति ।

आभासार्थ — बन्धुओं के त्याग करने से क्या होगा ? इस पर 'स यदा वितथोद्योगो' यह श्लोक कहते हैं—

श्लोक—स यदा वितथोद्योगो निविण्णः स्याद्धनेहया ।

मत्परः कृतमंत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम् ॥६॥

श्लोकार्थ—वह जब धन-प्राप्ति की इच्छा से उद्यम करता है, किन्तु वे सब उद्यम जब उसके असफल हो जाते हैं, तब वह निष्किञ्चन हो, मेरे निष्किञ्चन भक्तों से मैत्री करता है; ऐसी अवस्था में उस पर मैं स्वतः अनुग्रह करूँगा अर्थात् करता हूँ ॥६॥

सुबोधिनी—यदा स त्यक्तबन्धुस्तदा धनमुपाज्यं बन्धून् वशीकरिष्यामिति निश्चित्य धनार्थं यतते ततस्तस्य धनवद्धनकारणमपि नाशया-मीत्याह वितथोद्योग इति । वितथा उद्योगाः धनार्जनोपाया यस्य । तदा केवलनेहया उपाय-

रहितया क्लिष्टः सन् निविण्णो भवति विरक्तो भवति । तदा योग्यं योग्येन संवध्यत इति मत्परः कृतमंत्रो भवति । तदा मत् मत् एव स्वतः एवाहं अनुग्रहं करिष्ये ॥६॥

व्याख्यानार्थ—जब उसको बन्धु गण त्याग देते हैं, तब वह निश्चय करता है कि अब परिश्रम कर धन इकट्ठा करके बान्धवों को अपने वशाभूत कर लूँगा, ऐसे विचार वाले का जैसे धन नाश किया वैसे धन इकट्ठा करने के कारण (साधन) भी नाश करूँगा, जिससे उसका वह उद्योग नष्ट हो जाने से दुःखी हो विरक्त हो जाता है अर्थात् उसका सबसे प्रेम (सम्बन्ध) टूट जाता है ।

संसार से विरक्त हो जाने से 'योग्य योग्य से ही मैत्री करता है' इस न्यायानुसार, जो विरक्ति के कारण मेरे परायण है उनसे मैत्री करता है, तब मुझ से स्वतः अनुग्रह प्राप्त कर सकता है—अर्थात् ऐसी दशा में उस पर स्वयं स्वतः अनुग्रह करूँगा ॥६॥

आभास—कोऽनुग्रह इति चेत् तत्राह तद्ब्रह्मेति ।

आभासार्थ—कोनसा अनुग्रह करेंगे ? इस पर 'तद्ब्रह्म' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—तद्ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम् ।

अतो मां सुदुराराध्यं हित्वान्यान्मजते जनः ॥१०॥

श्लोकार्थ—वह ब्रह्म परम, सूक्ष्म, केवल चित् और अनन्त है, अतः बहुत कष्ट से जिसकी सेवा हो सके, ऐसे मुझे छोड़कर मनुष्य सुआराध्य अन्य देवों को भजते हैं ॥१०॥

१- धन, सम्बन्धी और परिश्रम आदि से,

२- सम्बन्ध,

सुबोधिनी—गमानुग्रहो ब्रह्मभावः पश्चान्मत्-
सेवया सर्वसुखमिति । अत्रायं क्रमः, प्रथमतः
सेवकैः सह मैत्र्या सेवकसमानशीलव्यसनत्वे
सेवकतुल्यता । ततस्तैर्मया अन्येन वा तस्य
ज्ञानोदयः, ततो ज्ञानपूर्णः केवल एव मां भजते ।
शब्दब्रह्मव्यावृत्त्यर्थं परमम् । कार्यव्यावृत्त्यर्थं
सूक्ष्मम् सगुणव्यावृत्त्यर्थं विन्मात्रम् । अमज्जीव-
भावव्यावृत्त्यर्थं सदिति । सज्जीवव्यावृत्त्यर्थं
अनन्तमिति । एव 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति

यल्लक्षणमुक्तं तत्त्वं करोमीत्यर्थः । नन्वेवं कृतौ
कः पुरुषार्थः सिद्धयेत् कथं ज्ञानमेव प्रथमतो
नोपदिश्यते । सत्यम् । अन्यदपि प्रयोजनमस्ती-
त्याह अतो मां सुदुःखाराध्यमिति । स्वयं न
प्रयच्छति स्थितमपि हरति । मुक्तिमेव प्रयच्छति ।
नत्वेहिकं प्रार्थ्यमानमपि इति दुःखाराध्यता । अतः
एव ऐहिका मां हित्वा अन्यान् भजन्ते । अन्यथा
मद्भक्ता नानाविधाः दुष्टाः शिष्टा अपि भवेयुरिति
तद्व्यावृत्त्यर्थं तथाकरणमित्यर्थः ॥१०॥

व्याख्यार्थ—आप कौनसा अनुग्रह करते हो ? जिसके उत्तर में कहने हैं कि आपको ब्रह्म भाव
हो जाता है, यही मेरा अनुग्रह है, उसके बाद मेरी मानसी सेवा से सब सुख प्राप्त करता है, यहां यह
क्रम है—निश्चिन्त होने पर प्रथम मेरे सेवकों से मैत्री होती है, जिससे इसके शील व्यवसादि मेरे
सेवकों के समान हो जाते हैं, पश्चात् उन सेवकों द्वारा मुझे वा दूसरे किसी से उसके ज्ञान का
उदय होता है फिर ज्ञान से पूर्ण हो अकेले ही मेरा भजन करने लग जाता है ।

शब्द ब्रह्म के भाव की व्यावृत्ति के लिए 'परम' शब्द दिया है, कार्य ब्रह्म की व्यावृत्ति के
लिए 'सूक्ष्म' शब्द दिया है सगुण ब्रह्म की व्यावृत्ति के लिए 'केवलचित्' शब्द दिया है, अमत् जोव
भाव की व्यावृत्ति के लिए 'सत्' पद दिया है, सत् जोव भाव की व्यावृत्ति के लिए 'अनन्त' पद दिया
है, इस प्रकार की व्याख्या से ब्रह्म का 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति प्रोक्त लक्षण देकर यह
सूचित किया है कि ऐसे सेवक का मैं 'तत्त्वं' वह तू है इस प्रकार का ब्रह्म भाव सिद्ध करता हूं ।

यों करने से कौनसा पुरुषार्थ सिद्ध होगा ? पहले ही क्यों न ज्ञान का उपदेश किया जाता
है ? इस पर कहते हैं कि यह सत्य है कि, पहले ही ज्ञान का उपदेश नहीं दिया जाता है, धनादि
हरण कर निश्चिन्त करने में आता है पश्चात् मुक्ति दी जाती है, किन्तु यों करने में दूसरा भी
प्रयोजन है, इस लोक के सुख मांगने पर भी नहीं दिए जाते हैं, इत्यादि कारणों से भगवन् कष्ट
से आराध्य है यों समझकर ही लौकिक जन मुझे त्याग दूसरों का भजन करने हैं, यदि दूसरों के
भक्त न होकर मेरे ही भक्त रहें तो मेरे भक्त अनेक प्रकार के दुष्ट वा कोई अच्छे होते, यों न हो
तदर्थ मैंने यह व्यवस्था कर रखी है ॥१०॥

आभास—अन्योऽप्येवं चेत्को विशेष इत्यत आह तत इति ।

आभासार्थ—यदि दूसरा भी वंसा होवे तो आपमें फिर क्या विशेषता रही ? इस पर यह तत्स्य
आशुतोषेभ्यो' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्याश्रयोद्धताः ।

सत्ताः प्रसत्ता वरदान्विस्मरन्त्यवजानते ॥११॥

श्लोकार्थ—पश्चात् वे शीघ्र प्रसन्न होकर कामनाओं को पूर्ण करने वाले देवों से राज्य और लक्ष्मी आदि प्राप्त कर अभिमान में डूब, घमण्डो हो, वरदाताओं को भी भूल जाते हैं, किन्तु इतना ही नहीं, उनका भी तिरस्कार करने लग जाते हैं ॥११॥

सुबोधिनो—सर्वे बाह्या आशुतोषाः यथा यथा सूक्ष्मो बाह्यस्तथा तथा शीघ्रं परितुष्यतीति लोकसिद्धोऽयमर्थः । ततस्तेभ्यो राज्यादिकं लब्ध्वा राज्यश्रिया उद्धताः सन्तः आदौ मत्ता भवन्ति स्वात्मानमेव न जानन्ति । ततः प्रमत्ताः असावधानाः सन्तः धर्मादिकार्येषु विमुक्ता

भवन्ति । तत उपजीव्यानपि न गणयन्तीत्याह वरदानं विस्मरन्तीति स्मरन्त्येव न । अथ यदि प्रसादात्स्वयमेव स्मृतिपथारूढा भवेयुः वरदास्तदप्यवजानन्ते । तस्मादग्रे अनर्थः पर्यवस्यतीति भगवान् प्रथमत एव निवर्तत इत्यर्थः ॥११॥

व्याख्यान—भगवान् के सिवाय जो अन्य सूक्ष्म और छोटे देव हैं, वे सब शीघ्र प्रसन्न होने वाले हैं, यह बात लोक में प्रसिद्ध हो है, इस कारण से उन शीघ्र प्रसन्न होने वाले देवों को सरलता से प्रसन्न कर उनसे राज्यादिक प्राप्त कर राज्य को ओ से उद्धत होने से अभिमान में डूब जाते हैं, पहले आत्मा (स्वरूप) को ही नहीं जानते हैं, उससे असावधान बन धर्म आदि कार्यों से विमुक्त हो जाते हैं, पश्चात् जिनको कृपा से ऐसे राज्यादि ओ से युक्त हुए उनको भी भूल जाते हैं, कभी याद भी नहीं करते हैं, अगर वे देव, कृपा कर स्वयं ही अपना स्मरण कराव तो भी उनका तिरस्कार करते हैं, यों करने से अन्त में हानि हो होती है, इसलिए हरि, पहले ही ऐसा अविचारित कार्य नहीं करते हैं ॥११॥

आभास—आस्तां धनादिवार्ता शापप्रसादावेव भगवान्न करोति आत्मत्वात् । दानवार्ता दूर इति निरूपयितुमुपाख्यानान्तरमारभते शापप्रसादयोरिति ।

आभासार्थ—धनादि देने की वार्ता यों भले हो किन्तु आप आत्मा होने से जब न शाप देते हैं और न अनुग्रह करते हैं तब वरदान की बात तो दूर रही जिसका निरूपण करने के लिए दूसरा उपाख्यान 'शापप्रसादयोः' श्लोक से प्रारम्भ करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच-शापप्रसादयोरीशा ब्रह्मविष्णुशिवादयः ।

सद्यःशापप्रसादोऽङ्गः शिवो ब्रह्मा न चाच्युतः ॥१२॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि वर और शाप देने के अधिकारी ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देव हैं । हे अङ्ग ! इन तीनों में वर और शाप देने की सामर्थ्य है, तो भी शीघ्र देने वाले ब्रह्मा और शिव हैं न कि विष्णु ॥१२॥

सुबोधिनो—अत्यन्तापराधेऽपि कृते भगवान् शाप न प्रयच्छति । यथा शिशुपालाय । आत्मन्व सत्र हेतुः, अत्यन्तसेवायां वरमपि न प्रयच्छति,

मुखरूपत्वं तत्र हेतुः, न हि कामिनी उपभोगेन सेवमाना कदाचिदपि वरं प्रयच्छति । तस्माद्-भगवत्सेवैव परमपुरुषार्थरूपेति । नन्वसमर्थो

भविष्यतीति चेत् तत्राह शापप्रसादयो. ब्रह्म-
विष्णुशिवादयः सर्व एव ईशाः । आदिशब्देन
दुर्गागणेशादयोपि । सामर्थ्येपि विद्यमाने सद्यः-
शापप्रसाददः शिवो ब्रह्मा च, अत्रैकस्य दकारस्य

लोपश्छान्दसः अंगेति पाठे । अन्यदा तु शाप-
प्रसादस्तु शिवो ब्रह्मेत्येव । अच्युतस्तु नैत्रंविधः
स हि पुरुषस्य स्वरूपं स्वभावमग्रे कार्यं सर्वं
विचार्यैव शापं वरं वा प्रयच्छति नत्वन्यथा । १२।

व्याख्यार्थ—यदि कोई भगवान् का विशेष अपराध करे तो भी आप शाप नहीं देते हैं, जैसे
शिशुपाल ने इतना अपराध किया तो भी उसको शाप न दिया कारण कि आप सब की आत्मा है,
इसलिए शिशुपाल की भी आत्मा होने से उसका शाप नहीं दिया । अतः कोई सेवा करे तो उसको
वर भी नहीं देते हैं, कारण कि सेवा करने वाले के लिए सेवा ही आनन्द रूप है, इससे विशेष
आनन्द किसी में हो तो वर देवे, जैसे उनभोः से आनन्द लेने वालों को, कभी भी भोक्ता को वर
नहीं देती है क्योंकि यदि वर दे तो उपभोग छूट जावे तो कामिनी आनन्द से वंचित हो जाय, ऐसे
सेवक को भगवान् कोई वर दे तो सेवक सेवा के आनन्द से वञ्चित हो जावे, इससे सूचित किया है
कि भगवत्सेवा ही परम पुरुषार्थ रूप है ।

असमर्थ होंगे, इसलिए वर नहीं देने हैं इस शङ्का का निवारण करने के लिए ही यह श्लोक
ब्रह्मा है, जिसमें कहते हैं—शाप और वर देने के अधिकारी, ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं आदि पद
से दुर्गा गणेश आदि भी सूचित किए हैं, यद्यपि शाप और प्रसाद अर्थात् वर देने में सब ही समर्थ
हैं किन्तु शाप तथा वर, ब्रह्मा और शिव शीघ्र देते हैं ।

श्लोक के उत्तरार्ध में सद्यः शापप्रसादोऽङ्ग' पाठ है, 'अङ्ग' सम्बोधन देने से यहां एक 'द' का
लोप वैदिक व्याकरणानुसार किया है, अन्यथा यहां 'सद्यः शिवप्रसाददः' पाठ समझना चाहिए
जिससे अर्थ 'शाप और वर को देने वाले' होता है, विष्णु तो ऐसे ही बिना विचारे वर वा शाप
शीघ्र नहीं देते हैं, सेवक का स्वभाव व रूप देख और आगे का विचार कर बाद में शाप वा वर
देते हैं ॥१२॥

आभास—अत्राविचारदानं वक्तुं उपाख्यानमुपक्षिपति अत्र चोदाहरन्तीममिति ।

आभासार्थ—'अत्र चोदाहरन्ती' श्लोक से उस वर के उपाख्यान का वर्णन करते हैं, जिसमें
बिना विचार वर दिया है—

श्लोक—अत्र चोदाहरन्तीममितिहासं पुराविदः ।

वृकासुराय गिरिशो वरं दत्त्वाऽप संकटम् ॥१३॥

श्लोकार्थ—पूर्व इतिहास को जानने वाले इस इतिहास को उदाहरण में कहते हैं
कि महादेव ने वृकासुर को वर देकर संकट को पाया ॥१३॥

सुबोधिनी—इयमपि परमतभाषा अत आह । माह वृकामुरायेति । गिरिशो महादेवः स्वयमेव पुराविद इति । अविचारदानस्य सन्नेपेण फल- वरं दत्त्वा पश्चात्सङ्कटं परमक्लेशं प्राप्तवान् ॥१३॥

व्याख्यार्थ—‘पुराविदः’ इतिहास जानने वाले यह इतिहास कहते हैं, इसमें जाना जाना है कि यह परमत भाषा है, बिना विचारे दान करने का फल क्या होता है ? वह संज्ञेप में कहते हैं कि महादेव ने बिना विचारे वृकामुर को वर दिया, जिसका फल महादेव को ‘सङ्कट मिला ॥१३॥

आभास—कथमित्याकाङ्क्षायां सर्वमेव वृत्तान्तमाह वृको नामेति ।

आभासार्थ—कैसे सङ्कट को प्राप्त हुए इस आकांक्षा से सर्व वृत्तान्त ‘वृको नाम’ दो श्लोकों से कहते हैं—

श्लोक—वृको नामासुरः पुत्रः शकुनेः पथि नारदम् ।

दृष्ट्वाशुतोषं पप्रच्छ देवेषु त्रिषु दुर्मतिः ॥१४॥

स आदिदेश गिरिशमुपाधावाशु सिद्धयति ।

सोऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्यामाशु तुष्यति कुप्यति ॥१५॥

श्लोकार्थ—शकुनि का वृक नाम वाला असुर पुत्र था, जो दुर्बुद्धि था । वह मार्ग में नारदजी को देखकर उनसे पूछने लगा कि तीन देवों में शीघ्र प्रसन्न होने वाला कौनसा देव है ? ॥१४॥

नारदजी ने कहा कि ‘महादेव’ ही शीघ्र प्रसन्न होते हैं, अतः तू उनके पास जल्दी जाकर सेवा करे, तो तेरी कामना जल्दी सिद्ध होगी; क्योंकि शिव थोड़े ही दोष से कुपित होते हैं और थोड़े ही गुण से प्रसन्न हो जाते हैं ॥१५॥

सुबोधिनी—कर्मणापि वृक इति तस्य वृक एव नाम । शकुनेः हिरण्याक्षपुत्रस्य पुत्रः । स हि दुरात्मा सर्वान् देवान् मूलतो नाशयिष्यामीति विचार्य तेषां मूलभूतास्त्रय इति तन्निराकरण-व्यतिरेकेण निराकर्तुं मशक्या इति ते चक्रस्यापि वाक्यं सर्वं मन्यन्त इति तत्कृतोपायेनैव ते मारणोया इति निश्चित्य तेषामन्यतरं प्रसाद्येतमर्थं साधयिष्यामि इति तदभिज्ञं नारदं पप्रच्छ । सोऽपि नारदो देवसूत्रकर्ता । पथि देवगत्या

मिलितः । त्रयारणां मध्ये क आशुतोष इति पृष्ठः सन् गिरिशमादिदेश । स च दुर्मतिर्वृकः । न हि नारदः कदाचिदपि देवनाशोपायं उपदेश्यति नाप्यज्ञः । एवं ज्ञात्वापि पृष्ठवानिति दुर्मतिरेव । नारदस्य वाक्यमुपाधाव आशु सिद्धयतीति । सेवां कुरु शीघ्रमेव फलसिद्धिर्भविष्यतीत्यर्थः । तत्र हेतुमाह सोऽल्पाभ्यामिति । स शिवः अल्पाभ्यामेव गुणदोषाभ्यामल्पेन गुणेन तुष्यति, अल्पेनपि दोषेण कुप्यति ॥१४-१५॥

व्याख्यार्थ—कर्म से भी वह ‘वृक’ (भेड़िये जैसा) था, इसलिए इसका नाम वृक ही था । हिरण्याक्ष के पुत्र शकुनि का पुत्र था, वह निश्चय दुष्ट बुद्धि वाला था, जिससे उसने मन में विचार कर लिया था कि सर्व देवों को जड़ से नष्ट करूंगा,

सब देवों की जड़—ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीन देव हैं, इसलिए इन तीनों के निराकरण किए बिना दूसरे देव, नाश होने कठिन हैं। एक का भी वचन, वे सब मानते हैं अतः उनके कहे हुए उपाय से ही सब का नाश करना चाहिए, यों निश्चय कर, विचारा कि, इनमें से एक को प्रसन्न कर, ऐसा वर प्राप्त करूंगा, जिससे अपने मनोरथ को सिद्ध करूंगा, इस वास्ते इस विषय के अभिज्ञ नारदजी से पूछने लगा ।

वह नारदजी भी, देवों के कार्य करने वाले हैं, मार्ग में देवगति से इसको भिन्न गए, इनने इस दुःखात्मा से पूछा कि तीन देवों में से शीघ्र प्रसन्न होने वाले कौन हैं? नारद ने बताया कि महादेव 'आशुतोष' हैं वृक्ष तो दुर्मति अर्थात् दुष्ट बुद्धि वाला है ही, नारदजी ने भी कहा कि जल्दी उनके पास जा, जल्दी कार्य सिद्ध होगा, सेवा कर, शीघ्र ही फल की सिद्धि होगी, उसमें कारण बताते हैं कि वह शिव थोड़े ही गुण से प्रसन्न होते हैं और स्वल्प ही दोष से कुपित हो जाते हैं ॥१४॥१५॥

आभास—त्वदभिलषितं जानामीति ज्ञापयन् दृष्टान्तमाह दशास्यब्राण्योस्तुष्ट इति ।

आभासार्थ—तेरी इच्छा को मैं जानता हूँ, इसलिए 'दशास्यब्राण्योः' श्लोक में दृष्टान्त देकर निश्चय कराते हैं, शिव से मेरा कार्य सिद्ध होगा—

श्लोक—दशास्यब्राण्योस्तुष्टः स्तुवतोर्बन्दिनोरिव ।

ऐश्वर्यमदुलं दत्त्वा तत आप सुसंकटम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—केवल भाटों की तरह स्तुति करने वाले रावण और बाण पर भी शिवजी ने प्रसन्न होकर उनको अतुल ऐश्वर्य दिया । उस दिए हुए ऐश्वर्य के कारण ही आपको उनका पुरपाल (द्वारपाल) होना पड़ा ॥१६॥

सुबोधिनी—का तेषामुपासनेत्याकाङ्क्षाया-
माह स्तुवतोरिति । स्तोत्रमात्रेणैव संतुष्टस्तदपि
स्तोत्रं नैव भक्त्या किन्तु जिघृक्षयेति वक्तुं
दृष्टान्तमाह बन्दिनोरिवेति । यथा वैतालिकाः

स्तुवन्ति । ततस्तयोरैश्वर्यमदुलं दत्त्वा ततः स्व-
दत्तैश्वर्येणैव सङ्कुटमाप । तयोः पुरपालो जात
इत्यर्थः ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—उन दोनों ने, किस प्रकार उपासना की ? इस आकांक्षा पर कहते हैं कि, केवल स्तुति की, जिससे ही प्रसन्न हो गए, वह स्तुति भी भक्ति से नहीं किन्तु जिघृक्षा से की, इसलिए दृष्टान्त देते हैं कि भाटों की तरह स्तुति की, उस स्तुति से प्रसन्न होकर उनको अतुल ऐश्वर्य दे दिया, जिससे स्वयं संकट को प्राप्त हुए, अर्थात् उनके द्वारपाल बने ॥१६॥

आभास—एवं स्वहितं श्रुत्वा तथा कृतवानित्याह इत्यादिष्ट इति ।

आभासार्थ—यों अपना हित सुनकर, नारदजी के कहे अनुसार करने लगा । वह 'इत्यादिष्ट' श्लोक में कहने है—

श्लोक—इत्यादिष्टस्तमसुर उपाधावत्स्वगात्रतः ।

केदार आत्मक्रव्येण जुह्वानोऽग्निमुख हरम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार नारद से उपदेश पाया हुआ असुर केदार में जाकर अपने शरीर से मांस निकालकर, अपने उस मांस का हवन कर, अग्नि मुख महादेव को प्रसन्न करने लगा ॥१७॥

सुबोधिनी—तं महादेवम् । असुरः स उपाधावत् । उपाधावनमेवाह स्वगात्रतः स्वशरीरादेव स्वस्य क्रव्यं मांसमुद्धृत्य अग्नौ महादेवं मन्त्रेण भावयित्वा केदारे अतिशुद्धे हिमालये अग्निमुखं क्रव्येणोपाधावदित्यनेन महादेवोद्देशेन स्वमांसमजुहोदिति ज्ञापितम् ॥१७॥

व्याख्यार्थ—'तं' उसको अर्थात् महादेव को, वह असुर सेवा से प्रसन्न करने लगा, किस प्रकार? वह प्रकार बताते हैं कि अपने शरीर में से अपना मांस निकालकर उस मांस का उस अग्नि में होम करने लगा, जिससे मन्त्र द्वारा महादेव को भावना की थी, अर्थात् यह महादेव ही है। किस स्थान पर यों किया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'केदारे' अति पवित्र हिमालय पर अग्निमुख महादेव में, अपना मांस होगा, अर्थात् इस अग्नि में महादेव विराजते हैं, अतः यह अग्नि महादेव का मुख है जिससे मेरी दी हुई यह बलि आप ग्रहण करेंगे ॥१७॥

आभास—एवं सप्तदिनपर्यन्तं कृतवान् । महादेवः वृकोऽपि भगवत्प्रतीक्षया सप्तदिवसानङ्गीकृतवन्तौ ।

आभासार्थ—इस प्रकार, सात दिन तक वृक ने अपना मांस उस अग्नि में होमा, महादेव और वृक दोनों ने सातवें दिन तक इसकी राह देखी, अर्थात् महादेव ने सोचा कि अब तक तो यों किया आगे क्या करता है ? इसलिए शान्त रहे और वृक भी आशा से होम करता रहा जब देखा कि कुछ फल न हुआ तब जो किया, वह 'देवोपलब्धि' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—देवोपलब्धिमप्राप्य निर्वेदात्सप्तमेऽहनि ।

शिरोऽवृश्चत्स्वधितिना तत्तीर्थक्लिन्नमूर्धजम् ॥१८॥

श्लोकार्थ—सातवें दिन भी देव का दर्शन वा वरादि प्राप्त न हुआ, तब निराश हो, केदार तीर्थ के जल से भीगे हुए केशों वाले अपने मस्तक को कुल्हाड़ी द्वारा धड़ से अलग कर दिया ॥१८॥

सुबोधिनी—ततो भगवान् फलदो जात इति निश्चित्य देवस्याप्युपलब्धिमयाप्य सप्तमेऽहनि मरणं वा फल वा साधयिष्यामीति निश्चित्य स्वधितिना स्वशिरः अवृश्चत् । सङ्कल्पपूर्वकं तथा कृतवानिति ज्ञापयितुमाह तत्तोर्यं क्लिन्नमूर्धं जनिति । तत्र केदारोदकतीर्थं प्रसिद्धम् । यस्मिन्पीते उदरे लिङ्गानि भवन्ति । तेन क्लिन्ना मूर्धजाः केशा यस्य ॥१८॥

व्याख्यानार्थ—सातवें दिन देव की प्राप्ति न पाकर, यह निश्चय किया कि आज मरूंगा या फल की प्राप्ति करूंगा, यों निश्चय कर अपनी कुल्हाड़ी से अपना शिर काट डाला अर्थात् धड़ से पृथक् करने लगा, यों अचानक नहीं करने लगा, किन्तु विचार कर किया है यों जताने के लिए कहते हैं कि 'तत्तीर्थं क्लिन्नमूर्धंजं' हिमालय में प्रसिद्ध केदार तीर्थ के जल से अपने मस्तक के बाल भिगो दिए बाद में शिरच्छेद करने लगा, यों करने का कारण बताते हैं कि, इस प्रसिद्ध केदार तीर्थ के जल के पान करने से उदर में लिङ्ग उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए ऐसे जल से अपने केश भिगो दिए अर्थात् गोले किए ॥१८॥

आभास—एवं तस्य साहसं दृष्ट्वा महादेवो मूलकारणाच्छङ्कितमनाः प्रसन्नो जात इत्याह तदा महाकारुणिक इत्यादि ।

आभासार्थ—इस प्रकार महादेव उसका साहस देखकर यों करने का जो मूल कारण था उससे मन में शङ्कित तो हुए, किन्तु ऐसे साहस के कारण प्रसन्न हुए जिसका वर्णन 'तदा महा-कारुणिकः' श्लोक में करते हैं—

श्लोक तदा महाकारुणिकः स धूर्जटि-

यथाऽह्वयं चाग्निरिवोत्थितोऽनलात् ।

निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारयत्

तत्स्पर्शनाद्भूय उपस्कृताकृतिः ॥१९॥

श्लोकार्थ—तब महान् दयालु वह महादेव आवाहन के अनुसार उस अग्नि से अग्नि की तरह प्रकटे । प्रकट होते ही अपनी भुजाओं से आलिङ्गन करते हुए उसके हाथ पकड़ लिए और यों करने से रोक दिया, उन (महादेवजी) के स्पर्श से वृक का पहले के समान सुन्दर शरीर हो गया ॥१९॥

सुबोधिनी—पदुःखं दृष्ट्वा यो दुःखितो भवति स कारुणिक इति । भगवांस्तु परमकारुणिकः दुःखोत्पत्तिसम्भवनायामपि दुःखितो भवति । तत्र हेतुभूतं विशेषणमाह स धूर्जटिरिति । स्म-
शाने वृथामृतान् दृष्ट्वा दुःखितः तत्पांशुषु लोटना-
द्भूसरवर्णा जटा जाता इति । यथाह्वयमिति
अह्वयमाह्वानम् । प्रागच्छ रुद्र इमं बलि गृहाण
स्वाहेत्यत्र यदेव शीघ्रमागच्छेत्याह्वानं कृतं तदैव
समागतः । सन्देहाभावाय प्रत्यक्षदृष्ट दृष्टान्ती-
करोति अग्निरिवेति । चकारान्मनसाह्वानसंभा-
वनेनैव समागत इति ज्ञापितम् । तदा भगवान्ना-
लिङ्गनेन निष्पीड्य न्यवारयत् । शिरश्छेदनं न
कर्तव्यमिति । नन्वेवं चेद्व्या, प्रथमं गात्रच्छेद
एव कथं न निवारित इति चेत् तत्रह तत्स्पर्श-

नाद्भूय उपस्कृताकृतिरिति । महादेवस्य स्पर्श- यस्य । स्पर्शमात्रेणैव पूर्ववज्ज त इत्यर्थः । एवं
मात्रेण मूयः उपस्कृता पूर्ववत्पुष्टा आकृतिर्देहो सति तस्य प्रत्यापत्तिरुक्ता ॥१६॥

व्याख्यार्थ—दूसरे का दुःख देखकर जो स्वयं दुःखी होता है वह 'दयालु' कहा जाता है, और दूसरे को कदाचित् इससे जो दुःख होगा, ऐसी सम्भावना होने पर दुःखी होता है वह 'परन-कारुणिक' कहलाता है, महादेवजी ऐसे होने से 'महाकारुणिक' हैं, जिसमें हेतुभूत विशेषण देते हैं 'स धूर्जटिः' आपकी जटाएँ मेली सी जो देखने में आती है, वे इसलिए कि, आप शमशान में वृथा मृत्यु को प्राप्त मनुष्यों को देख दुःखी हो, उनकी धूलि में लोट-पोट होते हैं जिससे आपकी जटाएँ घूसर वर्ण वाली हो गई हैं, हवन करते समय 'आगच्छ रुद्र इमं बलि गृहाण स्वाहा' यह मन्त्र पढ़कर जब शीघ्र बुनाने की प्रार्थना की तब ही आप पधारे, इसमें किसी प्रकार संशय नहीं है, प्रत्यक्ष देखे हुए देव की तरह दृष्टान्त देते हैं कि 'अग्निरिव' अग्नि की तरह 'च' पद से यह भी सूचित किया कि मन से भी आह्वान की संभावना होने से आप प्रकटे हैं, प्रकट होते ही जोर से आलिङ्गन कर दबाते हुए हाथ पकड़ शिरच्छेद से रोक लिया, यदि महादेव ऐसे दयालु हैं तो अब रोकने से पहले ही शरीर से मांस निकालने के समय क्यों न रोक दिया ? इसके उत्तर में कहते हैं कि महादेवजी के स्पर्श से उसका अर्थात् वृक का शरीर पहले जैसा हो गया, पहले न रोकना इसकी दृढ़ता देखने के लिए था ॥१६॥

आभास—अधिकं दातुमाह तमाहेति ।

आभासार्थ—महादेवजी ने न केवल इसका शरीर वैसा ही कान्तिमान् बना दिया, किन्तु इससे विशेष देने के लिए 'तमाह' श्लोक में कहने लगे—

श्लोक—तमाह चाङ्गालमलं वृणीष्व मे

यथानिकामं वितरामि ते वरम् ।

प्रीये यतो येन नृणां प्रपद्यतां

अहो त्वयात्मा परितप्यते वृथा ॥२०॥

श्लोकार्थ - हे अङ्ग ! अब बस कर बहुत किया, मुझसे वर माँग ले । जैसा चाहेगा, वैसा तुम्हें वर दूँगा; क्योंकि तुम्हारी भक्ति से मैं प्रसन्न हुआ हूँ । जैसी भक्ति तुमने दिखाई है, वैसी किसी ने नहीं दिखाई, तुम्हारी भक्ति अचम्भे में डालने वाली है । अब जब मैं प्रसन्न हो गया हूँ, तो तू वृथा कष्ट क्यों करता है ? अपना वध पुरुषार्थ नहीं है ॥२०॥

सुबोधिनी वचनेनापि निराकृतवानित्यर्थः । तदेव वचनमाह हे अङ्ग अलमलमिति । मे मत्तो वृणीष्व । यथानिकामं यथेच्छं ते तुभ्यं वरं

वितरामि दास्यामि । ननु किमिति दास्यसीति चेत् तत्राह यतः प्रीये प्रीतो भवामि । प्रीतावेव किं कारणमिति चेत् तत्राह नृणां प्रपद्यतामिति ।

येन कारणेन प्रपन्ना भवन्ति प्राणिनस्तत्तन्मेन कारणेन प्रीय इत्यर्थः । प्रपत्तिः प्रीतिहेतुनिरूपिता । ननु प्रपत्तिमात्रेण कथं वाञ्छित दास्य-सीत्याशङ्क्यामामाह ग्रहो इति । नह्येतादृशी प्रपत्तिः क्वचिद्दृष्टा वर्तते । अत आश्चर्यरूपत्वा-

त्प्रीत इत्यर्थः । एवं प्रसादानन्तरमपि क्लेशं कुर्वन् वृथैव आत्मा त्वया परित्यज्यते । आत्मा देहो वृथैव खेदं प्राप्नोति । आत्मपदेन आत्महानमप्युपलक्ष्य इतिवत्, ज्ञापितम् । त्वयैव केवलमेवं क्रियते न त्वन्येनेति ॥२०॥

व्याख्यार्थ—वचनों से भी निराकरण किया वे वचन कहते हैं हे अङ्ग! अलं अलं, अब शान्त हो जा, शिरच्छेद से होम मत कर, मुझ से वर मांग लो, जिसको लेने के लिए तू इतना दुःख भोग रहा है, तू विचार मत कर, जैसा भी वर तू अपनी इच्छानुसार मांगेगा वह वर दे दूंगा । यदि तूमे शङ्का हो कि मेरा इच्छित वर क्यों दूँ ? जिसका कारण बताते हैं कि मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूँ, क्यों प्रसन्न हुआ हूँ ? मैं जिस कारण से प्रसन्न होता हूँ वह कारण है शरण आके सेवा करना, वह तुमने की है, उसमें भी तुमने जैसी भक्ति दिखाई है वह आश्चर्यकारक है, ऐसी आगे किसी ने नहीं की है, अतः प्रसन्न होकर मैं यथेच्छ वर देना चाहता हूँ तो भी तू जो यह शिरच्छेद कर होम करणार्थ देह को कष्ट दे रहा है, वह व्यर्थ है, आत्मा की हानि करना पुरुषार्थ नहीं है, तू ही अकेला ऐसा है, जो यों कर रहा है दूसरा कोई यों न करे ॥२०॥

आभास—एवं स्वाभिलषितं सिद्धमिति वरं याचितवानित्याह देवं स वव्रे इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार अपने मनोरथ की सिद्धि हुई जानकर, 'देवं स वव्रे' श्लोक से वर मांगने लगा—

श्लोक—देवं स वव्रे पापीयान्वरं भूतभयावहम् ।

यस्य यस्य करं शीर्ष्ण धास्ये स म्रियतामिति ॥२१॥

श्लोकार्थ—उस पापी ने भूतों को भयकारक वर माँगा । जिस-जिस के सिर पर मैं हाथ धरूँ, वह मर जाय ॥२१॥

सुबोधिनी—नन्वत्र न स्वस्य सुखं नापि दुःखाभावः किमित्येवं प्रार्थयतीति चेत् तत्राह पापीयानिति पाणिष्ठः पापमेव निरन्तरं कर्तुं वाञ्छति । तत्र वधादिरूपं पापं क्लेशेनैव सिद्ध्यतीति । अक्लेशार्थं मारणजनितदोषसम्पादनाय

तादृशं वरं याचितवानित्यर्थः । वरस्य श्रवणमात्रेणैव भूतानां भयमावहति । वरस्य स्वरूपमाह यस्य यस्य करं शीर्ष्ण इति । स्थापनमात्रेणैव प्रयत्नान्तरव्यतिरेकेणापि स म्रियतामिति । ॥२१॥

व्याख्यार्थ—ऐसे वर मांगने से अपने को कोई सुख प्राप्त नहीं होगा और न दुःख मिटेगा, फिर ऐसा वर मांगने की क्या आवश्यकता थी ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'पापीयान्' पापी है, इसलिए ऐसा वर माँगा । पापी, निरन्तर पाप ही करना चाहता है उसमें किसी को मारने में क्लेश कष्ट करना पड़ता है, बिना कष्ट के मारने का कार्य सिद्ध हो जावे इसलिए ऐसा वर माँगा, यह वर कैसा है ? इस पर कहते हैं कि 'भूतभयावहम्' भूतों को भय करने वाला है, वर का स्वरूप बताते

हैं कि जिस-जिस के शिर पर हस्त रखूं वह मर जावे, केवल हाथ रखने से ही दूसरे किसी प्रयत्न के किए बिना उसकी मृत्यु हो जावे ॥२१॥

आभास—ततो महादेवस्य शङ्का उत्पन्नेत्याह तच्छ्रुत्वेति ।

आभासार्थ—वर श्रवण के अनन्तर महादेव के मन में शङ्का उत्पन्न हुई वह 'तच्छ्रुत्वा श्लोक' से कहते हैं—

श्लोक—तच्छ्रुत्वा भगवान्द्रो दुर्मना इव भारत ।

ओमिति प्रहसंस्तस्मै ददेऽहेरमृतं यथा ॥२२॥

श्लोकार्थ—हे भारत ! ऐसा वर सुनकर भगवान् शिव मानो अनमने (नाराज) हुए, किन्तु मुस्कराते हुए जैसे सर्प को दूध पिलाया जावे, वैसे 'ओम्' कहकर वर की स्वीकृति दी ॥२२॥

सुबोधिनी यतो रुद्रः प्राणिनो दुःखं दृष्ट्वा रोदिति । ततो दुर्मना इव जातः । ततः किं कर्तव्यमिति विचार्य वरे दत्ते किं भविष्यतीत्यग्रिमं विचारितवान् । ततो भगवान्, परमेश्वरेणाग्रिमं वक्ष्यित्वा मारणीय इति अग्रिमं सूत्रं विचारितवान् । ततः ओमिति तथैव भवत्विति

प्रहसन्नाह । अन्यानिष्टं विचारयन् त्वमेव मरिष्यसीति । मारतेति विश्वासार्थं सम्बोधनम् । ननु दानमात्रेणैव स्वानिष्टं करिष्यतीति किमज्ञात्वा दत्तवानित्याह अहेरमृतं यथेति । 'अहेरिव पयःपोषः पोषकस्याप्यनर्थकृत्' इति । स्वानिष्टं ज्ञात्वापि दत्तवानित्यर्थः ॥२२॥

व्याख्यानार्थ—प्राणियों का दुःख देखकर, जो सहन करने में असमर्थ होने से रो पड़ता है, इसलिए 'शिव 'रुद्र' नाम से पुकारे जाते हैं ऐसा वर सुनने के बाद शिव नाराज जैसे हुए, बाद में क्या करना चाहिए ? यों विचार कर 'वर' देने पर क्या होगा ? उस भावी का विचार करने लगे, पश्चात् शिव भगवान् है, अतः समझ लिया कि, परमेश्वर से यह फुसलाया जायगा जिससे अपने हँसते से स्वयं मरेगा, अतः आपने 'ओम्' कहकर वर की स्वीकृति दी अर्थात् यों ही होगा, जिसके मस्तक पर तू हाथ धरेगा वह मर जायेगा यों हँसते हुए कहा, दूसरों का अनिष्ट विचारने के कारण तू ही मरेगा । हे भारत ! राजा को यह सम्बोधन विश्वास दिलाने के लिए है, केवल वरदान से ही अपना अनिष्ट करेगा, इसको न जानकर वर दिया, जिसके उत्तर में दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि 'अहेरमृतं यथा' जैसे सर्प को अमृत पिलाया जावे तब पिलाने वाला समझता है कि सर्प तो दुष्ट होने से कृतघ्न है मुझे ही काटने में देरी न करेगा फिर भी दयालुता के कारण सर्प को दूध पिला ही देता है, वैसे आपने भी सब समझा किन्तु भगवान् होने से भावी तो जानते थे, अतः अपना 'आशुतोष' नाम सार्थक करने और सेवक की इच्छा पूर्ण करने के लिए वर दे दिया ॥२२॥

आभास—ततो यज्ञतं तदाह स तद्वरपरीक्षार्थमिति ।

आभासार्थ—वर देने के बाद जो कुछ हुआ वह 'स तद्वर' श्लोक में कहते हैं—

‘श्लोक—स तद्वरपरीक्षार्थं शम्भोर्मूर्ध्नि किलासुरः ।

स्वहस्तं धातुमारेभे सोऽबिभ्यत्स्वकृताञ्छिवः ॥२३॥

श्लोकार्थ—वह असुर उस वर की परीक्षा करने के लिए महादेव के मस्तक पर अपना हाथ रखने लगा, यह देख अपने किए हुए कर्म से शिव भय को प्राप्त हुए ॥२३॥

सुबोधिनी—किलेति महतोऽनिष्टं न वक्तव्य-
मिति । न करिष्यतीति शङ्कां वारयति असुर
इति । अतः स्वहस्तं धातुमारेभे उद्योगं कृतवा-
निति । ततस्तस्योद्योगं ज्ञात्वा स अधिदेवः देवा-

नामधिपतिरपि शिवः अबिभ्यत् अबिभेत् भीत-
वान् । शिवत्वात् परमार्थतो भयं न भविष्यती-
त्यर्थः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—‘किल’ पद से यह सूचित किया है कि यदि कोई महान् अनिष्ट होने वाला हो तो उसको स्पष्ट नहीं कहना चाहिए, यह ऐसा महान् अनिष्ट नहीं करेगा, इस शङ्का को ‘असुर’ विशेषण देकर मिटाते हैं, अर्थात् असुर हैं इसलिए कैसा भी बड़ा अनिष्ट करने से डरेगा नहीं, करेगा ही, अतः अपने हस्त को शिवजी के मस्तक पर रखने के लिए प्रयत्न करने लगा, उसका वह उद्यम देखकर वे शिव देवों के अधिपति होते हुए भी डरने लगे । ‘शिव’ पद देकर यह सूचना दी है कि वास्तव में डरे नहीं, क्योंकि जानते थे कि, परिणाम में इसका ही नाश होने वाला है अतः केवल भीति का स्वांग किया था ॥२३॥

आभास—ततः पलायित इत्याह तेनोपसृष्ट इति ।

आभासार्थ—‘तेनोपसृष्टः संव्रस्तः’ श्लोक से स्वांग का पूरा विवरण देते हैं—

श्लोक—तेनोपसृष्टः संव्रस्तः पराधावत्सवेपथुः ।

यावदन्तं दिवो भूमेः काष्ठानामुदगादुदक् ॥२४॥

श्लोकार्थ—वह वृक सिर पर हस्त धरने के लिए जब महादेवजी के समीप आया, तब डर के मारे बहुत जल्दी दौड़ने लगे, डर के कारण कम्पित भी हुए । अतः आकाश, पृथ्वी और दिशाओं की सीमा तक भागते हुए उत्तर दिशा में पहुँचे ॥२४॥

सुबोधिनी—तेन वृकेण उपसृष्टः निकटे समा-
गतः, तदा संव्रस्तो जातः ततोऽत्यन्तमधावत् ।
ततः कम्पमानोऽपि जातः । ततः दिवो यावदन्तं
भूमेश्च यावत्काष्ठानामपि पूर्वपूर्व निर्गमः ततो-

र्वाक् ततो दिक्चतुष्टये गत्वा व्याघुञ्च्य पश्चादुद-
गदिशं प्रति गतः । तस्य खेदार्थं तावत्परि-
भ्रमणम् ॥२४॥

व्याख्यार्थ—वृक जब निकट आया तब शिवजी डरे, जिससे जल्दी जोर से दौड़े और कम्पित

भी हुए, पश्चात् आकाश, पृथ्वी और दिशाओं की सीमा तक भागे, पहले ऊपर आकाश की तरफ फिर पृथ्वी पर, बाद में चारों दिशाओं में भागते हुए अन्त में लौटकर उत्तर दिशा में आए, इतना इसी तरह क्यों दौड़े ? जिसका वास्तविक कारण तो उस (वृक) को क्लेश देने का था, भय तो केवल बहाना था ॥२४॥

आभास—ननु तत्रत्यैः कथं महादेवसाहाय्यं न कृतमिति चेत् तत्राह अजानन्तः प्रतिविधिमिति ।

आभासार्थ—वहाँ रहने वालों ने (देवों ने) महादेव की सहायता क्यों नहीं की? जिसका उत्तर 'अजानन्तः प्रतिविधि' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—अजानन्तः प्रतिविधिं तूष्णीमासन्सुरेश्वराः ।

ततो वैकुण्ठमगमद्भास्वरं तमसः परम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—देव उसके प्रतीकार की विधि न जानने के कारण चुप रहे । उत्तर दिशा में आने के पश्चात् महादेवजी प्रकाशमान प्रकृति से परे वैकुण्ठ में गए ॥२५॥

सुबोधिनी—सुरेश्वरा अपि तूष्णीमेव स्थिताः । तत्र तस्यापि मूलवैकुण्ठधर्मसम्बन्धमाह भास्वरं ततो महादेवो वैकुण्ठमगमत् । इदं वैकुण्ठस्थानं तमसः परमिति । वैकुण्ठावेशात् तत्रापि भास्वर-बदर्या नारायणपर्वतपश्चिमभागस्थं प्रसिद्धमेव । त्वं प्रकृतेः परत्वं च ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—बड़े देव भी चुप होकर बैठे रहे । यह देखकर महादेव वैकुण्ठ में गए, प्रसिद्ध है कि यह वैकुण्ठ, बदरीनारायण में, नारायण पर्वत के पश्चिम भाग में स्थित है वहाँ उस वैकुण्ठ का, मूल वैकुण्ठ से धर्म सम्बन्ध है अर्थात् जो धर्म मूल वैकुण्ठ में है वे इसमें भी हैं, यह बताने के लिए 'भास्वर' और 'तमसः परम्' विशेषण दिए हैं, मूल वैकुण्ठ के आवेश होने के कारण जिसमें 'भास्वर-पन' है और तम अर्थात् प्रकृति से भी पर है ॥२५॥

आभास—तत्किं वैकुण्ठस्थानमित्याकाङ्क्षायामाह यत्र नारायणः साक्षादिति ।

आभासार्थ—वह फिर कौनसा वैकुण्ठ है? इस आकांक्षा के होने पर 'यत्र नारायणः साक्षात्' श्लोक कहकर इस वैकुण्ठ का स्वरूप बताते हैं—

श्लोक—यत्र नारायणः साक्षान्न्यासिनां परमा गतिः ।

शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्तते गतः ॥२६॥

श्लोकार्थ—जहाँ शान्त और दण्डी संन्यासियों की परम गति रूप साक्षात् नारायण विराजते हैं, वहाँ जो जाता है, वह फिर लौटकर ससार में नहीं आता है ॥२६॥

सुबोधिनी—नारायणो बदरीनाथः साक्षात्संन्यासिनां परमा गतिः । वैष्णवदण्डादिधारणेन परमहंसत्वात् साक्षान्न्यासिनामाधारभूतो भवति सजातायत्वाच्च । किञ्च । शान्तानां न्यस्तदण्डानां अन्नर्वहःसाधनयुक्तानां विशेषतः परमा गतिः । तत्रापि पूर्ववदेव वावर्षतीत्याशङ्क्याह यतो नावर्तते गत इति । तत्र गतस्ततो नावर्तते । अनेन वृकोऽपि नावर्तिष्यत इति सूचितम् । २६॥

व्याख्यार्थ—नारायण अर्थात् बदरीनाथ, संन्यासियों की परम गतिरूप जहाँ विराजते हैं, बांम के दण्ड धारण करने से, परम हंस होने से, साक्षान् संन्यासियों का परम आश्रय फल रूप बने है, क्योंकि दोनों में सजातीयपन है और विशेषता यह है कि, शान्त और दण्ड धारियों की विशेष परम गति है क्योंकि वे भीतर और बाहर दोनों साधनों से युक्त हैं, वहाँ भी पहले की तरह होगा ? इस शङ्का का उत्तर देते हैं 'नावर्तते' जो गया वह फिर लौटता नहीं, इसमें यह सूचना दो कि 'वृक' भी वहाँ पृ. चर फिर लौटेगा नहीं ॥२६॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह तं तथाव्यसनं दृष्ट्वेति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो हुआ उसका अर्थ तं तथा' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तं तथाव्यसनं दृष्ट्वा भगवान्वृजिनार्दनः ।

दूरात्प्रत्युदियाद्भूत्वा बटुको योगमायया ॥२७॥

श्लोकार्थ—महादेव को इस प्रकार दुःखित देखकर सबके कष्ट का निवारण करने वाले भगवान् दूर से ही योगमाया से बाल ब्रह्मचारी का रूप धारण कर उसके सामने गए ॥२७॥

सुबोधिनी—'अशक्ये हरिरेवास्ति' इति भगवतैव तत्त्वर्तव्यमिति भगवान् यतो वृजिनार्दनः सर्वदुःखनाशकः । अतो महादेवस्यापि दुःखं दूरी-कारिण्यामीति दूरादेव प्रत्युदियात् आभिमुख्येन गतः । ननु क्रूरस्याग्रे कथं गत इत्याशङ्क्याह योगमायया बटुको भूत्वेति । अल्पो बटुर्वदुकः अतिसूक्ष्मब्रह्मचारी भूत्वा पूर्वविद्यां स्मृत्वा माय-यैव दैत्या मारणीया इति योगमायाकृतत्वात् मोहमेव प्राप्स्यति न तूपद्रवं करिष्यति इति प्रत्युद्गाः ॥२७॥

व्याख्यार्थ—'अशक्ये हरिरेवास्ति' जो अपने से न हो सके वह हरि ही करते हैं, इसलिए सङ्कट का नाश भी भगवान् ही करेंगे, क्योंकि भगवान् सब के दुःखों का नाश करते हैं, अतः महादेव का भी दुःख दूर करूँगा, यों निश्चय कर दूर से ही उस (वृक) के सामने जाने लगे, क्रूर के पास कैसे गये ? जिसका उत्तर देते हैं कि, योगमाया से बालरूप ब्रह्मचारी बनकर, और पहली विद्या का स्मरण किया अर्थात् दैत्य माया से ही मारने के योग्य हैं, यों स्मरण कर ऐसा रूप धारण किया, जिसको देखकर मोह को प्राप्त होगा कोई भी उपद्रव न करेगा अतः इस प्रकार का वेष बनाकर सामने गए ॥ २७ ॥

आभास—भगवतो वेषं वर्णयन् वाक्यैर्मोहितवानित्याह मेखलाजिनदण्डाक्षैरिति ।

आभासार्थ—‘मेखला जिन दण्डाक्षैः’ श्लोक से भगवान् के वेष का वर्णन करते हैं और उनके वचनों से वह असुर मोहित हो गया यों कहते हैं—

श्लोक—मेखलाजिनदण्डाक्षैस्तेजसाग्निरिव ज्वल ।

अभिवादयामास च तं कुशपाणिर्विनीतवत् ॥२८॥

श्लोकार्थ—मेखला, मृगचर्म, दण्ड और अक्षमाला धारण किए हुए और अग्नि सम प्रकाशमान होते बटुक रूप भगवान् ने हाथ में दर्भ लेकर नम्र की तरफ उसको नमस्कार की ॥२८॥

सुबोधिनी—मेखला मौझी। अजिनमुत्तरीयं । दण्डः पालाशः । अक्षमाला जपार्थः । एतैः कृत्वा अन्तःस्थितेन तेजसा च साक्षादग्निरिव सर्व-प्राणिनामधृष्यः ज्वलन् देदीप्यमानः कुशपाणि- भूत्वा तं हिरण्याक्षपौत्रमतिश्रोत्रियं विनीतवद-भिवादयामास । अभिवादानेन तस्य आयुर्हृतवान्, कुशैस्तत्पुण्यं, मेखलादिभिश्चतुर्विधपुरुषार्थान्, तेजसा तत्तेजः, अग्नितुल्यतया तद्गतबलादिकम् ॥

व्याख्यार्थ—कटि में मुञ्ज की बनाई हुई मेखला, शरीर पर मृग चर्म, दण्ड, जपार्थ अक्षमाला, इन पदार्थों से, जो तेज अन्तः स्थित था वह बाहर अग्नि के समान ऐसा प्रकाशमान होने लगा जिसको कोई भी सहन न कर सकता था, हस्त में कुश लेकर उस हिरण्याक्ष के पौत्र वेदज्ञ वृक को नम्र होकर भगवान् नमस्कार करने लगे, भगवान् एवं ब्रह्मचारी होते हुए असुर को क्यों नमस्कार की? जिसके उत्तर में कहते हैं कि नमस्कार से उसकी आयु खेंच ली, कुश हाथ में लेकर नमस्कार की जिससे उसके पुण्य हरण कर लिए, मेखला आदि से चार प्रकार के पुरुषार्थ भी छीन लिए, तेज से उसका तेज, अग्नि की समानता के कारण, उसमें जो बल आदि वीर्य था वह भी हरण लिया ॥२८॥

आभास—एवं सर्वं हृत्वा वाक्येन बुद्धिं मोहयति शाकुनेय भवानिति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—इस प्रकार पुण्य आदि सबका हरण कर वचनों से शेष बुद्धि को भी भ्रमित करते हैं वह ‘शाकुनेय भवान्’ से दो श्लोकों में कहते हैं—

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—शाकुनेय भवान् व्यक्तं श्रान्तः किं दूरमागतः ।

क्षणं विश्रम्यतां पुंसामात्मायं सर्वकामधुक् ॥२९॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् ने कहा कि हे शकुनि के पुत्र ! प्रकट दीख रहा है कि तुम थके हुए हो, क्या दूर से आए हो ? क्षण भर विश्राम लो, यह देह पुरुषों को सर्व कामनाओं को देने वाली है ॥२९॥

सुबोधिनी—हे शकुने: पुत्र भवान् व्यक्तं
श्रान्तः, प्रस्वेददर्शनात् । अनेन दुःख-नुवादेन
कुशलमिवापृच्छत् । किं कर्तव्यमिति चेत् तत्राह
किं दूरमागत इति । किं धावता दूरे समागत
प्रयोजनाभावाच्चार्थमागमनमित्यर्थः । प्रश्नो वा ।
अस्तु यदर्थं तदर्थं अस्मदाश्रमे क्षणं विश्रम्यताम् ।

ननु शीघ्रं स्वकार्यं कर्तव्यमिति चेत् तत्राह पुंसं
स्वतन्त्राणां प्राणिनामयमात्मा देहः सर्वकाम-
घुक् । श्रमेण देहः पतिष्यतीति प्रतिभाति गते
च देहे किं कार्यं संत्स्यति । अतः कार्यं परित्यज्य
शरीररक्षार्थं विश्रामः कर्तव्य इति भावः ॥२६॥

व्याख्यान्य—हे शकुनि के पुत्र ! प्रकट दोख रहा है कि आप थके हुए हो, जिनका प्रत्यक्ष
प्रमाण है आप पसीने में भीज रहे हैं, इस दुःख के बताने से मानो कुशल पूछ रहे हैं ?

धकावट तो है, क्या किया जाय ? इस पर कहते हैं कि क्या दूर से आए हो ? कोई प्रयोजन
नही होने हुए भी केवल दौड़ते हुए अनजान में इतनी दूर आगए हो क्या ? तो यह सब व्यर्थ
परिश्रम किया ? अच्छा, जिस किमी लिए अथवा जंस श्रम हुआ, वह तो हो गया, अब हमारे
आश्रम में क्षण भर विश्राम कीजिए, यदि कहो कि अपना कार्य जल्दो करना चाहिए, इस पर कहते
हैं कि यह देह ही स्वतन्त्र प्राणी मनुष्यों की सर्व कामनाओं को पूर्ण करने वाली है, विशेष श्रम से
देह गिरेगी, यों भास रहा है, देह के नष्ट हो जाने पर, कौनसा कार्य पूर्ण होगा, अतः कार्य को छोड़
पहले शरीर को रक्षा के लिए विश्राम कीजिए कहने का यह भाव है ॥२६॥

आभास—किं कार्यमेतादृशं येनैतादृशः श्रमो जात इति पृच्छति यदि नः
श्रवणायामिति ।

आभासार्थ—ऐसा कौनसा कार्य है जिसके लिए तुमने इतना श्रम किया है ? यह 'यदि नः
श्रवणाय' श्लोक से पूछने हैं—

श्लोक—यदि नः श्रवणायामं युष्मद्वचवसितं विभो ।

मण्यतां पुरुषव्याघ्र पुम्भिः स्वार्थान् समीहते ॥३०॥

श्लोकार्थ—हे समर्थ ! तुमने जो कार्य विचारा है, वह यदि कहने के योग्य हो,
तो बताइए; यदि गुप्त हो, तो मत कहिए । हे पुरुष श्रेष्ठ ! प्रत्येक मनुष्य अपना कार्य
अपने मित्रों द्वारा ही सिद्ध करते हैं ॥३०॥

सुबोधिनी—गुप्तं चेत् न वक्तव्यम् । अस्म-
च्छ्रवणाय योग्यं चेत् तदा युष्मद्वचवसितम् एवं
प्रयत्नेन कर्तुमभीष्टं मण्यताम् । पुरुषव्याघ्र इति
स्तुत्या सम्बोधनं कथनार्थम् । ननूक्ते किं भवि-

ष्यतीति चेत् तत्राह पुम्भिः स्वार्थान् समीहते
इति । सर्वोऽपि पुरुषः स्वमित्रैः पुरुषैः स्वकार्यं
साधयतीत्यर्थः । ३०॥

व्याख्यान्य—यदि तुम्हारा कार्य गुप्त हो तो न बताइए, जो हमारे सुनने के योग्य हो तो
तुम्हारा इच्छित कार्य जिस प्रकार के प्रयत्न से सिद्ध होगा वह कह दीजिये, इस तरह किए हुए

प्रश्न का उत्तर देवे इसलिए उसकी बड़ाई करने के वास्ते 'पुरुष व्याघ्र' विशेषण दिया है, तुम तो पुरुषों में उत्तम हो, मैं सुनाऊँ जिससे लाभ क्या होगा ? इसके उत्तर में कहते हैं कि सब मनुष्य अपना कार्य अपने मित्रों की सहायता से ही सिद्ध करते हैं, अतः बताइए तो हम भी सहायता देंगे ॥३०॥

श्लोक—श्रीशुक उवाच—एवं भगवता पृष्टो वचसामृतवर्षिणा ।

गतश्रमोऽब्रवीत्तस्मै यथापूर्वमनुष्ठितम् ॥३१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी बोले कि भगवान् ने अमृत बरसाने वाली वाणी से जब इस प्रकार पूछा, तब थकावट उतार लेने के बाद उनको जो कुछ पहले हो चुका है, वह समग्र वृत्तान्त सुनाने लगा ॥३१॥

सुबोधिनी—एवमाकृत्या विनयेन वचनैश्च बुद्ध्वा तस्मै अब्रवीत् । यथापूर्वं नारदप्रश्न-
तोषं प्रापितः, भगवद्वाक्यसामर्थ्यादेव गतश्रमो प्रभृति । अनुष्ठितं तपस्यादि ॥३१॥
भूत्वा स्वाभिप्रायं स्वश्रुतं च भगवान् मित्रमिति

व्याख्यानार्थ—भगवान् की आकृति नम्रता और वाणी से प्रसन्न हो गया, भगवान् के वचनों के सामर्थ्य से श्रम रहित होकर एवं भगवान् को अपना मित्र समझ अपना अभिप्राय और जो सुना था वह सब कहने लगा, नारदजी से जो पूछा तथा उनके कहने से महादेव को जिस तरह सेवादि की और महादेव से वर प्राप्त कर, उस वर से अपनी कामना पूर्ण करने के लिए शिवजी के मस्तक पर हाथ धरना, जिससे महादेव भागे, उनके पीछे मैं भी दौड़ता हुआ यहां पहुँचा हूँ ॥३१॥

आभास—ज्ञातार्थ एव भगवान् तं विश्वस्तं कृत्वा पश्चान्मदुक्तं ग्रहीष्यतीति निश्चित्य महादेवमोक्षार्थमुपायमाह एवं चेदिति ।

आभासार्थ—भगवान् तो सब कुछ जानते ही थे, फिर भी उसका अपने ऊपर विश्वास पैदा किया, अब मेरा कहा हुआ कार्य करेगा, यों निश्चय से जान महादेव को संकट से छुड़ाने का जो उपाय किया वह 'एवं चेत्' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—श्रीभगवानुवाच—एवं चेत्तर्हि तद्वाक्यं न वयं श्रद्दधीमहि ।

यो दक्षशापात्पैशाच्यं प्राप्तः प्रेतपिशाचराट् ॥३२॥

श्लोकार्थ—श्री भगवान् कहने लगे कि यदि यों है, महादेव ने वर दिया है, यही कार्य है । हम तो उनके वचन पर विश्वास नहीं करते हैं; क्योंकि दक्ष के शाप से जो पिशाचता को प्राप्त हुए हैं और प्रेत तथा पिशाचों के स्वामी हैं । ऐसे के वचनों पर कौन विश्वास करे ? ॥३२॥

सुबोधिनी—अस्माभिर्ज्ञातिं किञ्चित्कार्यान्तरं महदस्तोति । एवं चेन्महादेववाक्यपरीक्षामात्रं कर्तव्यं चेत् तदापि मयापि उपाय उच्यते । यदि महावये विश्वासस्तदा तद्वाक्यं न किञ्चिद्भ्रूविष्यतीत्यर्थः । अनेन दत्तोऽपि वरः भगवता निषिद्ध इति भवति । तथा सति न तस्य मरणं न वा लोके अनिष्टम् न वा महादेवस्य पीडा । यदि वृकोऽङ्गीकुर्यात् एवं निश्चित्याह न वयं श्रद्धधीमहीति । ननु महानय महादेवः कथमश्रद्धेय इति चेत् तत्राह यो दक्षशापात्पैशाच्यमिति । पूर्वं दक्षः

शापं ददौ । देवैः 'सह भागं न लभताम्' देव-गणेषु अधमश्च भवतु । तत्र पिशाचा एव अधमाः अतः पैशाच्यं प्राप्तः । दृश्यते च पैशाच्यं स्मशानादिषु परिभ्रमणात् । किञ्च । प्रेतपिशाचराट् । स्वभावतोपि प्रेतानां पिशाचानां राजा । पिशाच-राजः पिशाच एव भवति । अतस्त्वमपि चेन्मद्वुद्ध्या गृहीतमङ्गीकरिष्यसि तदा तस्य दत्तो वरः मिथ्याभूत इति अनङ्गीकृत्य निश्चिन्तो भव ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—हमने तो जाना कि कोई महान् कार्य होगा जिसके लिए इतना परिश्रम किया है, यदि यों केवल महादेव के वचनों को परीक्षा ही करनी हो, तो उसका सरल उपाय में भी बताया है, यदि मेरे वचन पर विश्वास है तो समझनो कि महादेव के वचन से कुछ न होगा अर्थात् कोई भस्म न होगा, यों कहकर महादेव के दिए हुए वर को भगवान् ने निषिद्ध बना दिया जिससे उसको कहा कि यों करने से अर्थात् मस्तक पर हाथ धरने से कोई भस्म न होगा, वैसा होने से उसका मरण, और लोक में अनिष्ट तथा न महादेवजी को पीड़ा होगी, जो वृक, भगवान् के इस कहने को मान ले, यों निश्चय कर वृक को इन वचनों पर दृढ़ विश्वास कराने के लिए कहते हैं कि 'न वयं श्रद्धधीमहि' हम तो महादेव के वाक्यों पर विश्वास नहीं करते हैं, यदि कहो कि वह महादेव महान् है, इस पर कैसे विश्वास न किया जाय ? इस उत्तर में कहते हैं कि 'यो दक्ष शापात् पैशाच्य' पहले दक्ष ने शाप दिया कि 'देवों के साथ इनको भाग न मिले' और देवगणों में यह अधम देव होवे, देवों में अधम पिशाच है, इसलिए यह भी पिशाचता को प्राप्त हुआ, और इसका पिशाचपन प्रत्यक्ष दोख रहा है, जो श्मशान आदि स्थानों में ही भ्रमण कर रहा है और विशेष में फिर 'प्रेत पिशाच राट्' स्वभाव से भी प्रेत और पिशाचों के राजा हैं, पिशाचों का राजा पिशाच ही होता है, तू भी यदि मेरी तरह इसका विचार कर देखेगा तो तुझे भी निश्चय हो जावेगा कि महादेव का दिया हुआ वर सत्य नहीं होता है, इसी तरह इसको भूत समझ अङ्गीकार न कर निश्चिन्त होजा ॥३२॥

आभास—अथ यदि तव विश्वासस्तदा मनुक्तप्रकारेण परीक्षा कर्तव्या इत्याह यदि वस्तत्र विश्रम्भ इति ।

आभासार्थ—फिर भी यदि तुझे विश्वास है तो मेरे कहे अनुसार उसकी परीक्षा करले यों 'यदि वस्तत्र' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—यदि वस्तत्र विश्रम्भो दानवेन्द्र जगद्गुरौ ।

तर्ह्यङ्गाशु स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयताम् ॥३३॥

श्लोकार्थ—हे दानवेन्द्र ! यदि इस विषय में तुम्हारा जगद्गुरु पर विश्वास है, तो हे अङ्ग ! शीघ्र ही अपने सिर पर अपना हाथ धरकर परीक्षा करले ॥३३॥

सुबोधिनी—व इति गौरवार्थं बहुवचनम् । हे दानवेऽद्वेति सम्बोधनं च । एवं पुरस्कृतः स्व-माहात्म्यमेव स्मरति । न तु परमाहात्म्यमिति । विश्वासे हेतुं चाह जगद्गुराविति । तर्हि विश्वासे किं कर्तव्यमिति चेत् तत्राह तर्ह्यङ्गेति । मद्धि-

श्वासे तव जीवनं वा भविष्यति महादेवविश्वासे तु नाशमेव यास्यसीति भावः । अङ्गेति संबोधनं विश्वासाय । आशु शीघ्रमेव विचारमकृत्वा स्व-शिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयतां सत्यं वा मिथ्या वेति ॥३३॥

व्याख्यार्थ—‘वः’ यह बहुवचन गौरव देने के लिए दिया है, और हे दानवेन्द्र ! यह भी गौरवार्थ विशेषण दिया है, इस प्रकार पुरस्कृत होने पर अपना माहात्म्य स्मरण करेगा, न कि शत्रु की बड़ाई सोचेगा, ‘जगद्गुरु’ महादेव का विशेषण देकर, यह सूचित किया कि, इसलिए उसके वर में विश्वास करता है, मेरा उसमें विश्वास है तब क्या करना चाहिए ? यदि यों कहो तो हे अङ्ग ! मुझ पर विश्वास रखोगे तो तेरा हित होगा और महादेव पर विश्वास करोगे तो तेरी हानि ही होगी, अङ्ग ! यह सम्बोधन, विश्वास उत्पन्न कराने के लिए दिया है, जल्दी ही बिना विचार किए अपने शिर पर हाथ धर के देखले कि वर सच है वा झूठ है ? ॥३३॥

आभास—सत्यत्वे तव परीक्षा उत्तमैव भविष्यति । असत्यत्वे तु दण्डं करिष्यामीत्याह यद्यसत्यमिति ।

आभासार्थ—यदि वर सत्य निकला तो तुम्हारी परीक्षा उत्तम होगी, जो वर झूठा निकला तो मैं दण्ड करूंगा यह इस ‘यद्यसत्यं’ श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—यद्यसत्यं वचः शम्भोः कथंचिद्दानवर्षम ।

तदन्ते जह्यसद्वाचं न यद्वक्तानृतं पुनः ॥३४॥

श्लोकार्थ—हे दानवोत्तम ! यदि किसी प्रकार भी महादेव का वचन झूठा निकले, तो झूठे होने के कारण उसको तू दण्ड देना, जिससे फिर वह अनृत न बोलेगा ॥३४॥

सुबोधिनी—कथञ्चित्केनाप्यंशेन । यस्य यस्येति वीप्सया । अन्यश्चेदभिप्रेतः स्यात् मया वा नाङ्गीकृतमिति तदा असत्यं भवति । दानवर्षमेति पूर्ववद् अपराधव्यतिरेकेण मारयितुं न शक्यत इति । असत्यवादित्वेनापराधे जाते तदन्ते

अपराधान्ते, असद्वाचं जहि । तथा सति तव वधदोषोऽपि नास्तीत्याह न यद्वक्तानृतं पुनरिति । यद्यस्मात्पुनरयमनृतं न वक्ता । यद्दोषात्पुरुषोऽधो याति । अनेन ‘तद्वधस्तस्य हि श्रेयः’ इति तत्पक्ष उक्तः ॥३४॥

व्याख्यार्थ—किसी भी अंश से, इस अध्याय के २१ वें श्लोक में ‘यस्य यस्य’ दो बार वीप्सा अर्थ में कहा है, इससे यदि वृक्त के सिवाय दूसरा अभिप्रेत हो अथवा मैं (भगवान्) ने उनके

(महादेव के) वचन अङ्गोकार न किये हो तो वह वचन असत्य ठहरता है, हे दानवोत्तम ! यह सम्बोधन पहले की तरह महता दिखाने के लिए कहा है, अपराध के बिना महादेव मारा नहीं जाता है, यदि वर झूठा निकले तो असत्यवादो ठहरेगे तब उस अपराध सिद्ध होने पर तू उस असत्यवादो को मारना, मारने पर तुझे मारने का दोष भी नहीं लगेगा, क्यों दोष नहीं लगेगा ? जिसके प्रमाण में कहते हैं कि महादेव फिर झूठ न बोल सकेगा, जिस झूठ बोलने के दोष से पुरुष नोचे जाता है अर्थात् अधम होता है, इसमें उसका वध उसके कल्याणार्थ हो है यों अमुर का पक्ष कह बताया ॥३४॥

आभास—ततो यज्ञ तं तदाह इत्थमिति ।

आभासार्थ—इसके बाद जो हुआ वह 'इत्थं भगवत' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—इत्थं भगवत्त्रिंशच्चोभिः स सुपेशलैः ।

भिन्नधोविस्मृतः शीष्ण स्रहस्तं कुमतिर्व्यधात् ॥३५॥

श्लोकार्थ—इस तरह भगवान् के विचित्र मोहक सुन्दर वचनों से जिसकी बुद्धि अस्थिर होकर बदल गई है और जो स्मृतिहीन हो गया है । ऐसे कुमति वृक ने अपना हस्त अपने सिर पर धर दिया ॥३५॥

सुबोधिनी—भगवत्त्रिंशच्चोभिरिति दृष्टा-
दृष्टप्रकारेण वचनानां मोहकत्वमुक्तम् । स्वरूप-
तोऽपि मोहकत्वमाह सुपेशलैरिति । यथा कश्चित्
रूपविशेषे मुह्यति एव भगवद्वाक्यसौन्दर्येणापि
मुग्धः । स्वतो भिन्नधोभूत्वा भगवद्वाक्यमनृतमपि
भविष्यतीत्यपि पक्षः तद्धृदये स्फुरितः । अतः
पक्षद्वये बुद्धिव्यापृतेति भिन्नधोत्वम् । ननु द्वितीय-
पक्षे स्वाक्रियाव्याघातः । यदि महादेववाक्यं
शतांशेनाप्यनृतं स्यात् तदा स्वयमेतादृशं क्लेशं

कथं कुर्यात् । ततश्च कथं तस्य बुद्धिभेदो जात
इति चेत् तत्राह विस्मृत इति । पूर्वभावं विस्मृत-
वान्, विस्मित इति वा । भगवद्वाक्यात् । 'न वयं
श्रद्धांमहि' इति कथमुक्तवान् इति । अतः स्व-
शीष्णैव हस्तं व्यधात् । ननु पाक्षिकोऽपि दोषः
परिहरणीय इति द्वितीयपक्षे स्वनाशलक्षणो
महान् दोष इति कथमेवमङ्गीकृतवानिति चेत्
तत्राह कुमतिरिति ॥३५॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के विचित्र अर्थात् बराबर सभक्त में न आवे ऐसे मोहक वचनों से वृक मोहित हो गया, भगवान् का वचन रूप स्वरूप भी मोहक था, जैसे जगत् में सुन्दर रूप पर मनुष्य मोहित होता है वैसे ही भगवान् के वाक्यों के सौन्दर्य से वह वृक मोहित हो गया, जिससे वृक की बुद्धि भिन्न भिन्न समझने लगी स्थिर न रह सकी, भगवान् का कथन असत्य भी हो सकता है, यह पक्ष भी उसके हृदय में स्फुरित होने लगा, अतः उसकी बुद्धि में दो पक्ष फैल गए, इसलिए कहा कि 'भिन्नधोः' दूसरे पक्ष पर चलने से तो कार्य की असफलता होगी, जो महादेवजी का वाक्य शतांश से भी झूठा निकले तो स्वयं इतना क्लेश^१ क्यों करें ? इसके बाद उग्र (वृक) की बुद्धि में ऐसा भेद

कैसे हो गया ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि भगवान् के वाक्य^१ सुन कर पूर्व भाव को भूल गया, अतः अपना हस्त अपने मस्तक पर धर दिया, पाक्षिक दोष को भी मिटाना चाहिए, दूसरे पक्ष में अपना स्वयं नाश करने का महा दोष है, वह कैसे अङ्गीकार किया, जिसका उत्तर दिया है कि 'दुर्मति' दुष्ट बुद्धि वाला असुर था ॥३५॥

आभास—ततो यज्जातं तदाह अथापतदिति ।

आभासार्थं पश्चात् जो हुआ, उसका वर्णन 'अथापतत्' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—अथापतद्भिन्नशिरा वज्राहत इव क्षणात् ।

जयशब्दो नमःशब्दः साधुशब्दोऽभवद्विवि ॥३६॥

श्लोकार्थ—हाथ रखते ही सिर अलग हो गया और घड़ क्षण में यों गिरा जैसे वज्र से पर्वत चूर्ण हो जाता है, तब आकाश से 'जय' शब्द, 'नमः' शब्द और 'साधु' शब्द सुनने में आए ॥३६॥

सुबोधिनी—भिन्न शिरो यस्य तादृशो भूत्वा भूमावपतत् । अथेति भिन्नप्रक्रमः । न भगवद्वाक्यानुसारेण तद्वाक्यस्यानृतत्वम्, नापि सन्देहः किन्तु सत्यमेव जातमिति । ननु भगवान् भक्तवत्सलः किमित्येवं कृतवानित्याशङ्क्याह वज्राहत इवेति । वज्रेणाहतः पर्वत इव चूर्णीभूतो वा । जगदपकारित्वात् मारित इत्यर्थः । ततो भगवद-

नुभावं दृष्ट्वा जयशब्दः, महादेवो मोचित इति नमःशब्दः, भगवतो मोहकवाक्यानि स्मृत्वा साधुशब्दः, एवं त्रिविधः शब्दो दिव्यभवत् राजससात्त्विकतामसानां । दिवीति देवानुमोदनेन वञ्चनेन मारणम् । महादेवनिन्दा स्वयं न मन्यत इत्यन्यथावचनं च न दोषाय भवतीति सूचितम् । ३६॥

व्याख्यानार्थ—जिसका सिर घड़ से अलग हो गया है ऐसा होकर वह पृथ्वी पर गिर गया, 'अथ' पद देकर यह सूचित किया है कि अब दूसरा प्रक्रम^२ है, भगवद् वाक्य के अनुसार महादेव के वचन भूटे न निकले, कुछ संदेह भी न हुआ, किन्तु सत्य ही हुए भक्तवत्सल भगवान् ने यों किस लिए किया ? जिसके उत्तर में कहा कि 'वज्राहत इव' वज्र से नाश किए पर्वत की तरह चूर्णसम हो गया, संक्षेप यह कि भगवान् ने यों^३ इसलिए किया कि, यदि यह जीवित रहता तो जगत् का अपकार करता क्योंकि लोकापकारी दुष्ट बुद्धि वाला असुर था अतः इस प्रकार इसका मृत्यु कराया पश्चात् भगवान् का यह प्रभाव देखकर, देवताओं ने जय शब्द कहा, और महादेव को सङ्कट से छुड़ाया इसलिए नमः शब्द कहा अर्थात् नमन किया, भगवान् ने मोहक वाक्यों से असुर को अभित कर अपने हाथ से मरवाया, ये वाक्य स्मरण आते ही उनके मुख से 'साधु'^४ शब्द स्वतः निकले ।

इस प्रकार राजस, सात्त्विक और तामस इन तीन प्रकार के देवों के तीन तरह के ये शब्द

१- 'न वयं श्रद्धाधीमहि' हम विश्वास नहीं करते हैं,

३- वृक को यों मरवाया,

२- सिलसिला

४- बहुत अच्छा किया,

आकाश में हुए 'दिवि' पद से यह भाव बताया है कि फुसलाकर मरवाने का कार्य देवों के अनुमोदन से ही किया है, महादेव की जो भगवान् ने निन्दा की, वह केवल, अमुर को भुलावे में डालने के लिए की है स्वयं तो उसको सत्य नहीं समझते व नहीं मानते थे, इसलिए जो भगवान् ने अन्यथा वचन कहे वे दोष के लिए नहीं है इससे यों सूचित किया है ॥३६॥

आभास—कायिकमाह मुमुचुः पुष्पवर्षाणीति ।

आभासार्थ—'मुमुचुः पुष्प वर्षाणि' श्लोक से कहते हैं कि देवों ने कायिक अभिनन्दन भी किया—

श्लोक—मुमुचुः पुष्पवर्षाणि हते पापे वृकासुरे ।

देवर्षिपितृगन्धर्वा मोचितः सङ्कटाच्छिवः ॥३७॥

श्लोकार्थ—देवर्षि, पितृ, गन्धर्वादि सब देवों ने वृकासुर के मरने पर और महादेव सङ्कट से छूटे, इसलिए अपनी प्रसन्नता प्रकट करणार्थ पुष्प-वर्षा से अभिनन्दन किया ॥३७॥

सुबोधिनी—देवर्षिपितृगन्धर्वाः सर्वे एव देव-
गणाः । नन्वत्र भगवच्चरित्रं किं जातमित्या-
शङ्कायामाह मोचितः सङ्कटाच्छिव इति स्वस्या-
जरामरत्वं स्ववाक्येन विरुध्यत इति । तन्मध्ये

पतितो महादेवः सङ्कटे पतितः । यत्रैव पक्षद्वय-
मपि विरुद्धं तत्सङ्कटस्थानमिति वदति लोकः,
इतो व्याघ्रस्ततो दरीतिदत् ॥३७॥

व्याख्यानार्थ—देव, ऋषि, पितर और गन्धर्व ये सब देव कहे जाते हैं ।

इस विषय में भगवान् का चरित्र कौनसा हुआ ? ऐसी शङ्का होने पर कहते हैं कि 'मोचितः संकटात् शिव' शिव को संकट से छुड़ाया, महादेव संकट में किस प्रकार थे ? वह कहते हैं कि, यदि वृक, महादेव के मस्तक पर हाथ धरे और शिव भस्म न होवे तो शिवजी का वर भूटा होता है, यदि भस्म होते हैं तो शिव का अजरामरत्व भूटा पड़ता है इस प्रकार शिव संकट में थे जिससे ही भागते फिरते थे । जैसे एक तरफ व्याघ्र हो दूसरी तरफ गुफा हो तो उस समय मनुष्य संकट में पड़ जाता है, वैसी दशा महादेवजी की थी, अतः ऐसे समय में इस संकट से भगवान् ने महादेव को छुड़ाया ॥३७॥

आभास—ततो भगवान् महादेवस्य लज्जया खेदो भविष्यतीति तन्निवारणार्थं महादेवं स्तौतीत्याह मुक्तं गिरिशमभ्याहेति ।

आभासार्थ—ऐसी दशा में महादेवजी तो लज्जा के मारे खेद करते होंगे, इसके निवारणार्थ 'मुक्तं गिरिश' श्लोक से भगवान् उनकी स्तुति करते हैं

श्लोक—मुक्तं गिरिशमभ्याह भगवान्पुरुषोत्तमः ।

अहो देव महादेव पापोऽयं स्वेन पाप्मना ॥३८॥

हतः को नु महत्स्वीश जन्तुर्वै कृतकिल्बिषः ।

क्षेमी स्यात्किमु विश्वेशे कृतागस्को जगद्गुरो ॥३९॥

श्लोकार्थ—भगवान् पुरुषोत्तम सङ्कट से मुक्त महादेवजी को कहने लगे कि अहो देव ! महादेव ! यह पापी अपने पाप से ही मरा है ॥३८॥

हे ईश ! कोई भी जीव यदि महान् आत्माओं में पापाचरण करता है, तो उसका कभी भी कल्याण होता है क्या ? अर्थात् नहीं होता है । फिर इसने तो विश्व के ईश, जगत् के गुरु आपका अपराध किया है । वह कभी सुखी हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता है ॥३९॥

सुबोधिनी—पुरुषोत्तमत्वादतुल्यातिशयः ततो न केनापि कर्मणा न्यूनो भवतीति सूचितम् । भगवतः स्तोत्रमाह अहो देव महादेवेति । अमरत्वं सर्वपूज्यत्वं च वदन् तस्य मृत्युसम्भावनामेव निराकृतवान् । उपकारेण स कदाचिद्व्याप्तो भवेदिति तन्निराकरणार्थं अन्यथैव तन्मरणं निरूपयति पापोऽयमिति । अयं केवलपापरूपः अतः स्वेनैव पाप्मना हतः । किञ्च । सर्व पापमेकत्र,

ईश्वरावज्ञा चैकत्रेति तत्कृतवानित्याह को नु महत्सु कृतकिल्बिषः क्षेमी स्यात् । महादेवसेवकेष्वप्यपकारकर्ता न क्षेमं प्राप्नोति । ईशेति संबोधनात् भवानेव हन्तीति सूचितम् । यत्र सेवकातिक्रमेऽप्येवं तत्र स्वाम्यतिक्रमे किं वक्तव्यमित्याह किमु विश्वेशे कृतागस्क इति । जगद्गुरावित्यदृष्टोपायेनापि हननं सूचितम् ॥३८-३९॥

व्याख्यानार्थ—श्रीकृष्ण स्वरूप नारायण पुरुषोत्तम होने से, सबसे उत्तम है, अतः उनको समानता कोई नहीं कर सकता है, जिससे वे कोई कर्म करे तो, उस कर्म से उनकी किसी भी प्रकार हानि नहीं होती है, यों पुरुषोत्तम विशेषण से सूचित किया है ।

अब महादेवजी की महिमा का गान करते हैं, अहो देव ! महादेव ! इन नामों से आपका अमरत्व तथा सर्व पूज्यत्व प्रतिपादन कर यह बताया है कि आपका मरना तो दूर रहा किन्तु उसकी सम्भावना ही नहीं हो सकती है, वृक ने मर कर मुक्त पर उतकार किया है, यदि महादेव यों समझते हों तो, इस शङ्का को मिटाने के लिए कहते हैं कि, वह पापी था, अतः अपने पापों से ही भस्म हुआ है, सब पाप यदि इकट्ठे किए जावें तो वे सब पाप, ईश्वर को मात्र अवज्ञा के समान हैं, वह ईश्वरावज्ञा रूप महापाप इसने किया है, महान् आत्मा अर्थात् जो जानी व भक्त हैं उनका भी अपराध करने वाला कल्याण को नहीं पाता है, उसको तो आप ही मारते हो क्योंकि आप जानो व भक्तों के स्वामी हो, यह 'ईश' पद से कहा है ।

जहां सेवकों के अतिक्रम करने से यह दण्ड मिलता है तो स्वामी के अतिक्रम पर कौनसा

दण्ड मिलेगा ? वह कहा नहीं जाता है, जगद्गुरौ' विशेषण से यह सूचन किया है कि इसका 'मरना' अदृष्ट उपाय से हुआ है ॥३८-३९॥

आभास - मतान्तरत्वादस्य चरित्रस्य प्रकृतोपयोगित्वं कैमुतिकन्यायेन वदन् चरित्रश्रवणादेः फलमाह य एवतिति ।

आभासार्थ—यह चरित्र मतान्तर का है किन्तु चालू प्रसङ्ग में उपयोगी होने से कैमुतिक न्याय से कहने पर, इसके श्रवण का फल 'य एव' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—य एवमव्याकृतशक्त्युदन्वतः

परस्य साक्षात्परमात्मनो हरेः ।

गिरित्रमोक्षं कथयेच्छृणोति वा

विमुच्यते संसृतिभिस्तथाऽरिभिः ॥४०॥

श्लोकार्थ—विकार रहित अनन्त शक्तियों के समुद्र, सबसे उत्तम साक्षात् परमात्मा हरि का यह महादेव को संकट से छुड़ाने वाला चरित्र कहे अथवा सुने, वह संसार बन्धनों से और शत्रुओं के भय से छूट जाता है ॥४०॥

सुबोधिनी—अव्याकृतीनां शक्तीना उदन्वान् समुद्रो भगवान् तेनानन्तशक्तेश्चरित्राणामानन्त्यं सूचितम् । तस्यैवमेतत् गिरित्रमोक्षलक्षणं चरित्रं न केवलं शक्तिसम्बन्धादेव भगवच्चरित्रं किन्तु गुणातीतस्यापि चरित्रानन्त्यमस्तीत्याह परस्येति प्रकृतेरपि नियन्तुः । भगवान् चरित्रकरणेन महानित्येव न किन्तु सर्वेषामात्मागीत्याह परमात्मन इति । एवं प्रकारत्रयेण हितमेव करोतीत्येव न किन्तु हरेः सर्वेषां दुःखमपि दूरीकरोति । शास्त्रदृष्ट्या सर्वेषामपि परमात्मत्वमस्तीत्याशङ्क्याह साक्षादिति । वृकाद्विरित्रस्य मोचनं न

तु लोकसिद्धमोक्षः । तं यः शृणोति कथयेद्वा श्रावयति वा स संसारबन्धनैरपि विमुच्यते अज्ञानवासनाभिः, तथा अरिभिः कामादिभिः शत्रुभिर्वा । अहङ्काराधिष्ठाता भगवान् सः अहङ्कारनिवर्तनद्वारा सर्वान्मोचयति । सोऽपि चेत्सङ्कटान्मोचितः तदा तच्चरित्रं महादेवादप्यधिकं कथं संसाराच्छत्रुभ्यो वा न मोचयेदिति । भगवतो विवेकनिधेः श्रीप्रस्तावे दानस्वरूप निरूपितम् । लोकानां दाता महादेवः तेनानर्थं जाते तस्यापि मोक्षदो भगवानिति ॥४०॥

व्याख्यार्थ—भगवान् विकार रहित शक्तियों के समुद्र हैं, यों कहकर भगवान् की शक्तियों की अनन्तता तथा चरित्रों का अनन्त्य बताया है, उनमें से एक यह महादेव को संकट से छुड़ाने का चरित्र भी है, भगवान् जो चरित्र करते हैं, वे केवल शक्ति से संबन्धित होने पर करते हैं यों नहीं है किन्तु गुणातीत स्वरूप से किए हुए चरित्र भी अनन्त हैं, यह 'परस्य' पद से सूचित किया है अर्थात् जो प्रकृति का भी नियन्ता है ।

भगवान् इस प्रकार अनन्त और अद्भुत चरित्रों के करने से महान् नहीं है, किन्तु परमात्मनः ।

अर्थात् सबकी आत्मा होने से महान् हैं, ऐसे तीन तरह से हित ही करते हैं, केवल इतना ही नहीं है किञ्च 'हरि' होने से सबके दुःख भी हरण करते हैं, शास्त्र दृष्टि से तो सब ही परमात्मरूप है फिर इनमें विशेषता कौनसी है ? जिसके उत्तर में 'साक्षात्' पद दिया है, अर्थात् आप स्वयं परमात्मा हैं, अन्य उनके रूपांतर हैं ।

वृक से उत्पन्न संकट से महादेवजी को मुक्त किया यह लोक सिद्ध मोक्ष नहीं है । इस चरित्र को जो मुनता है वा कहता है यानि दूसरों को सुनाता है, वह अज्ञान और वासना रूप जो संसार के बन्धन हैं उनसे छूट जाता है वैसे ही शत्रुओं (काम, क्रोध, मद लोभादि) के बन्धन से भी मुक्त हो जाता है ।

वह भगवान् महादेव अहङ्कार के अधिष्ठाता देव हैं, अतः अहङ्कार को निवृत्ति कर सबकी मुक्ति कराते हैं, वैसे महादेव को भी जिस पुरुषोत्तम ने जब संकट से छुड़ाया तब उनके चरित्र महादेव से भी अधिक है वे चरित्र संसार और शत्रुओं से कैसे न छुड़ा सकेंगे ? अर्थात् छुड़ाएंगे ही ।

विवेक के भण्डार भगवान् के 'श्री' गुण का वर्णन करते हुए दान के स्वरूप का निरूपण किया, लोगों को दान देने वाले महादेवजी हैं उनके दिए हुए दान से अनर्थ उत्पन्न हुआ अर्थात् महादेव संकट में पड़े, जिनको भी उस संकट से छुड़ाने वाले भगवान् हैं ॥४०॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभाक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे एकोनचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥३६॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ८१वें अध्याय (उत्तरार्ध के ३६वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के गुण-प्रकरण का चतुर्थ अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥

इस अध्याय में वर्णित मगवल्लीला का संक्षिप्त सार

राग धनाश्री

तेऊ चाहत कृपा तुम्हारी ।

जिनकै बस अनमिष अनेक गन, अनुचर आज्ञाकारी ॥

महादेव वर दियौ असुर कौ, जब उन निज तनु जारचौ ।

सिव कै सीस धरन लाग्यौ कर, सिव बैकुण्ठ सिधारचौ ॥

विप्र रूप हरि कह्यौ असुर सौ, यह वर सत्य न होइ ।

सिर अपने पर धरौ असुर कर, भस्म होइ गयो सोइ ॥

सिव कैलाश गए अस्तुति करि, आनन्द उपज्यौ भारी ।

सूरदास हरि कौ जस गायौ, श्री भागवतनुसारी ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥
॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥
॥ श्री वाक्पतिचरणकमलेभ्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्ब्रह्मभार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत-स्कन्धानुसार ८६वां अध्याय
श्री सुबोधिनी अनुसार ८६वां अध्याय
उत्तरार्ध ४०वां अध्याय

गुण-प्रकरण

“अध्याय—५”

भृगुजी द्वारा त्रिदेवों की परीक्षा और मरे हुए ब्राह्मण बालकों को वापस लाना

कारिका—एवं दातृत्वसंदेहः कृष्णस्य विनिवारितः ।

अनेनैव महत्त्वं च हरौ निर्धारितं भवेत् ॥१॥

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण दाता नहीं है इस प्रकार के संशय का उत्तरार्ध के ३६ वें अध्याय में विशेषतः निवारण किया, और इससे ही हरि के महत्त्व का भी निर्धार होगा ॥१॥

कारिका—तथापि स्पष्टमध्याये चत्वारिंशे निरूप्यते ।

माहात्म्यं द्विविधं लोके प्रमाणाच्च प्रमेयतः ॥२॥

कारिकार्थ—तो भी स्पष्ट निर्णय इस उत्तरार्ध के ४० वें अध्याय में स्पष्ट रूप से किया जाता है, लोक में प्रमाण द्वारा और प्रमेय द्वारा माहात्म्य कहा जाता है अतः माहात्म्य दो प्रकार का होता है ॥२॥

कारिका—वेदानां मूलरूपेण प्रथमं विनिरूप्यते ।

द्वितीयं च प्रमेयेण हरिणैव निरूपितम् ॥३॥

कारिकार्थ—प्रमाण माहात्म्य वेदों का मूल रूप होने से पहले कहा जाता है, और दूसरा माहात्म्य प्रमेय रूप है, अतः उसका हरि ही निरूपण करते हैं। इस प्रकार निरूपण का तात्पर्य यह है कि वेद प्रमाण रूप है अतः वे प्रमाण माहात्म्य कहते हैं और प्रभु प्रमेय रूप हैं जिससे प्रमेय रूप माहात्म्य का वे निरूपण करते हैं ॥३॥

कारिका—ज्ञानशक्तिश्च पूर्णात्र क्रियापर्यवसायिनी ।

मूलत्वात्सवसहनं जनकस्येव रूप्यते ॥४॥

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण स्वरूप में जो पूर्ण ज्ञान शक्ति है, वह क्रिया में पर्यवसान पाने वाली है अतः वे (श्रीकृष्ण) मूल स्वरूप होने से, जनक की तरह सर्व सहन करते हैं, यह निरूपण किया जाता है ॥४॥

कारिका—यदा गुणा भगवतश्चत्वारो विनिरूपिताः ।

तदावशिष्टद्वितयं स्वयमेवावदच्छुकः ॥५॥

कारिकार्थ—अब तक ४ अध्यायों में भगवान् के ऐश्वर्यादि ४ गुणों का वर्णन कर दिया है, जेब बचे हुए दो गुण 'ज्ञान' और 'वैराग्य' का वर्णन श्री शुद्धदेवजी स्वयं करते हैं ॥५॥

आभास—महत्त्वलक्षणज्ञानशक्तिनिरूपणार्थं शुकः स्वयमेव पूर्वसिद्धनिर्णयरूपां कथामारभते सरस्वत्यास्तट इति ।

आभासार्थ—महत्त्व लक्षण वाली, ज्ञान शक्ति के निरूपण करने के लिए श्री शुद्धदेवजी पहले ही सिद्ध निर्णय रूप कथा को 'सरस्वत्यास्तटे' श्लोक से प्रारम्भ करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—सरस्वत्यास्तटे राजऋषयः सत्रमासत ।

वितर्कः समभूतेषां त्रिष्वधीशेषु को महान् ॥१॥

श्लोकार्थ—श्री शुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन् ! सरस्वती नदी के तट पर ऋषियों ने सत्र प्रारम्भ किया था। वहाँ सम्वाद हुआ कि तीन देवों (ब्रह्मा, विष्णु व महादेव) में बड़ा देव कौन है ? ॥१॥

सुबोधिनी—सरस्वतीतीरे पूर्व ऋषयः सत्रं कुर्वाणा जाताः । देशाधिकारिकर्मणां प्रासङ्गिकानामृत्कर्षो निरूपितः । तदा तेषां कर्मफल-समर्पणार्थं जिज्ञासा उत्पन्ना । यव कर्मफलं सम-पणीयमिति । ततः पितृत्वात् ब्रह्मणि समर्पणी-यमिति केचित् । यज्ञात्मकत्वाद् विष्णौ सम-

पणीयमित्यपरे । ज्ञानोपदेष्टृत्वाद् गुणो महादेवे समर्पणीयमित्यपरे । ततः प्रयोजकानां त्रयाणां एकशेषनिर्णयः कर्तुमशक्य इति महत्त्वं व्यवस्थापितं प्रयोजकत्वेन । तच्च महत्त्वं सद्गुणैर्भवतीति सद्गुणानां मध्ये सर्वावस्थासु क्षोभाभावो महानिति । को वाऽक्षोभ्य इति विचारार्थं मह-

स्वसन्धनाय वितर्को जात इत्याह वितर्कः सम- | महानिति ॥१॥
भूदिति । वितर्कशरीरमाह त्रिष्वधीशेषु को !

व्याख्यार्थ—पहले किसीसमय में सरस्वती नदी के किनारेपर ऋषि ऋषि-सत्र कर रहे थे इससे सम्बन्धी देश, कर्ता और कर्म तीनों की उत्तमता बताई, उस सत्र में कर्म करने वाले यज्ञ उन ऋषियों में यह जानने की इच्छा उत्पन्न हुई कि, इस कर्म का फल किस देव को अर्पण करना चाहिए, तब कितनेक कहने लगे कि ब्रह्मा उत्पन्न कर्ता होने से सब के पिता हैं अतः उनको अर्पण करना चाहिए, दूसरे कहने लगे कि, विष्णु ही यज्ञ रूप है इसलिए उनको समर्पण करना उचित है, अन्य कहने लगे कि महादेवजी जानोपदेष्टा होने से गुरु हैं इस कारण से उनको अर्पण करना योग्य है, इस प्रकार विवाद होते हुए तीनों में कौनसा एक है जो अपने कर्म से फल अर्पण करने योग्य है ? जिसका निर्णय न हो सका तब यह निर्णय हुआ कि इन तीनों में से गुणानुसार महान् कौन है ? यह परीक्षा करनी चाहिए, महत्ता, सद्गुणों में परखो जातो है, सद्गुणों में महान् सद्गुण है, 'क्षोभ' का अभाव, क्रोध न होना इनकी किस तरह परीक्षा ली जावे इस विषय पर वाद विवाद होने लगा, अन्त में यह निर्णय हुआ कि जो किसी तरह अपमानित होने पर भी क्रोध न करे वह तीनों में महान् है ॥१॥

आभास—तर्हि ऐतन्महत्त्वं कथं जातव्यमिति जिज्ञासायां विचारेणैव तज्ज्ञानं भवतीति निश्चित्य विचारार्थं प्रत्यक्षमेव प्रमाणमङ्गीकृतवन्तः । ततः प्रत्यक्षसम्वादी योऽर्थः स एव निर्णायक इति तदर्थं प्रवृत्ता इत्याह तस्य जिज्ञासयेति ।

आभासार्थ—तीनों में से किसमें यह महत्त्व है उसको कैसे जाना जाय ? इस जिज्ञासा पर कहते हैं कि विचार करने से ही उसके महत्त्व का ज्ञान होता है, यों निश्चय कर विचार करने के लिए अन्य प्रमाण न मान कर, प्रत्यक्ष प्रमाण ही सबने स्वीकार किया, पश्चात् जिसका महत्त्व प्रत्यक्ष से सिद्ध हो उसको ही हम मानेंगे, इस कार्य को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त हुए, यह 'तस्य जिज्ञासया' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—तस्य जिज्ञासया ते वै भृगुं ब्रह्मसुतं नृप ।

तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामासुः सोऽभ्यगाद्ब्रह्मणः सभाम् ॥२॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! इस विषय को जानने की इच्छा से उन ऋषियों ने ब्रह्माजी के पुत्र भृगु ऋषि को इसको 'जानकर आने के लिए भेजा । वह (भृगु ऋषि) पहले ब्रह्मा की सभा में गए ॥२॥

सुबोधिनी—सर्वेषां ब्रह्मशक्तिः ज्ञानात्मिका महत्त्वाद्भृगौ समारोपिता । तदा भृगुः साक्षात्परब्रह्माविष्टो जातः । ततो विस्मृतदेहसम्बन्धः ।

अक्षोभ्यपरीक्षार्थं सर्वैर्ब्रह्मिणैः प्रेषितः । आसीद्ब्रह्मसभामगात् ॥२॥

१- तीनों में वीन महान् है ?

व्याख्यार्थ—भृगु सब ऋषियों में महान् तो थे ही, फिर विशेषता यह हुई जो, सब ऋषियों ने ज्ञानात्मिका अपनी ब्रह्म शक्ति भृगुजी में धर दी, तब भृगु साक्षात् परब्रह्म रूप^१ के आवेश वाले हुए, आवेश के कारण देह का सम्बन्ध भूल गए, सब ब्राह्मणों ने भृगु को इसलिए भेजा कि तीनों देवों में उत्तम कौन है ? अतः पहले ब्रह्मा की सभा में गए ॥२॥

आभास—स चेदक्षोभ्यः स्यात् पितापि भवति, ब्रह्मशब्दवाच्योऽपि भवति, सर्व-प्रवर्तकोऽपि भवतीति तावतैव निवृत्तो भविष्यामीति निश्चित्य तत्राल्पमेवातिक्रमं कृतवानित्याह न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रमिति ।

ग्रामासार्थ—यदि वह (ब्रह्मा) क्रोधित न हुए तो, मृष्टि कर्ता होने में सबके पिता भी हैं, ब्रह्म शब्द से कहे भी जाते हैं, प्रवृत्तिकर्ता भी आप ही हैं अतः इतने में कार्य मिद्ध हो जाने से यहां से ही लौट चला गया यों निश्चय कर वहां ब्रह्मा की सभा में जाकर ब्रह्मा का थोड़ा गा हो अपमान किया, जिसका न 'तस्मै' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक—न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया ।

तस्मै चुक्रोध भगवान्प्रज्वलन्स्वेन तेजसा ॥३॥

श्लोकार्थ—भृगु ने जाकर सभा में विराजमान ब्रह्माजी को नमस्कार नहीं की और न उनकी स्तुति की । इस प्रकार के अपमान से भगवान् ब्रह्मा अपने तेज से प्रज्वलित हो, उस पर क्रोध करने लगे ॥३॥

सुबोधिनी पूर्व यावन्तः समायान्ति ते नमस्कृत्य स्तुत्वा अवतिष्ठन्ते । भृगुस्तु तं गुणं न कृतवान् । अनेन मानसी अवज्ञा सूचिता । ननु वर्तव्यं न कथं कृतवान् तत्राह सत्त्वपरीक्षयेति । ब्रह्मशब्दवाच्योपि तस्य सत्त्वं विवेकधैर्यादिकं परीक्षणीयमिति । अतः स्वभावतः अकरणं न भवतीति न तस्य दोषः । 'प्रःसेवापरित्यागो

द्वेषमूलमिदं स्मृतम्' इति न्यायात् ब्रह्मणः क्रोधो जात इत्याह तस्मै चुक्रोधेति । ननु ब्राह्मणः सोऽपि महान् तत्राह भगवानिति । नन्विदं तत्रापि तुल्यम् । प्रज्वलन्निति वेदगर्भत्वात् ब्रह्मतेजसा प्रज्वलन्नास्ते । भृगावपि एवमस्तीति चेत् तत्राह स्वेन तेजसेति भृगौ तु ब्राह्मणैः स्वस्वतेजः स्थापितमिति विशेषः ॥३॥

व्याख्यार्थ—पहले ब्रह्मा की सभा में जितने आते वे सा प्रणाम और स्तुति कर फिर बैठते थे, भृगु ने इन दोनों में से एक भी नहीं किया, यों करने से भृगु ने ब्रह्माजी का मानस अपमान किया, ऋषि और ज्ञानी होते हुवे भी अपना कर्तव्य क्यों नहीं किया ? जिसका कारण बताते हैं कि भृगु को ब्रह्मा के सतोगुण की परीक्षा करनी थी कि, इनको क्रोध तो नहीं आता है ? यह ब्रह्मा कहे

१- पुल में ऐसा कोई पद नहीं जिससे भृगु में परब्रह्म के आवेश का ज्ञान हो किन्तु आचार्य श्री ने अर्थापत्ति प्रमाणानुसार लिखा है, यदि भृगु में आवेश न होवे तो परब्रह्म के स्वरूप की परीक्षा न कर सके—लेख

जाते हैं किन्तु इनमेंसतोगुणके लक्षण विवेकधर्म आदि हैं या नहीं? इसकी परीक्षाकरनी चाहिए अतः भृगु ने न नमस्कार की और न स्तुति की, न कि स्वभाव से नमन और स्तुति का त्याग किया था, जिससे कि भृगु दोषी बने हों । किन्तु ब्रह्माजी ने तो देखा कि भृगु को यह समय था मुझे नमस्कार करने और मेरी स्तुति करने का, इस प्रकार सेवा करने का मौका आने पर भी भृगु ने सेवा नहीं की यह द्वेष की जड़ है, अतः ब्रह्मा को क्रोध आया, यद्यपि भृगुजी महान् ब्रह्माण थे किन्तु ब्रह्माजी 'भगवान्' हैं इसलिए भृगु को प्रणाम और स्तुति करनी उचित थी, यदि कहे कि भृगु में भा ब्रह्मत्व है, इस पर कहते हैं कि ब्रह्माजी वेद गर्भ होने से ब्रह्म तेज से स्वयं प्रकाशमान हो रहे हैं, किन्तु भृगु में अब कार्यार्थ ऋषियों ने अपना २ ब्रह्म तेज स्थापित किया, तब उसमें ब्रह्मत्व आया है ॥३॥

आभास—ततः सहजकृत्रिमयोः रूपं तुल्यमिति ब्रह्मास्त्रयोरिव स्वत एव तत्तेजः शान्तमित्याह स आत्मन्युत्थितमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् सहज और कृत्रिम होते हुए भी दोनों का स्वरूप तो समान था, अर्थात् ब्रह्मा में ब्रह्मत्व स्वाभाविक अपना था, अतः ब्रह्मा का ब्रह्मत्व सहज है, और भृगु में ऋषियों की दी हुई ब्रह्म शक्ति थी अतः भृगु का ब्रह्मत्व कृत्रिम था तो भी ब्रह्मपन तो तुल्य (एक जंसा था ब्रह्मास्त्रों की तरह स्वत एवं वह तेज शान्त हो गया, जिसका वर्णन 'स आत्मन्युत्थितं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स आत्मन्युत्थितं मन्युमात्मजायात्मना प्रभुः ।

अशीशमद्यथा वह्नि स्वयोन्या वारिणात्मभूः ॥४॥

श्लोकार्थ—ब्रह्माजी ने मन में उत्पन्न क्रोध को भृगु मेरा पुत्र है, इस विचार से शान्त कर दिया । अग्नि को शान्त करने में अग्नि से उत्पन्न जल ही कारण है । वैसे ही यहाँ ब्रह्मा के क्रोध को शान्त करने में भृगु का पुत्रपन ही कारण बना ॥४॥

सुबोधिनी—आत्मजोऽपि स्वत उत्पन्नः मन्युरपि । अतस्तुल्यबलत्वेन कलहः पर भविष्यतीति । एतावन्मात्रं विचार्य आत्मनैव स्वेनैव स्वतेजः अशीशमत् । एवं करणे सामर्थ्यं प्रभुरिति । एतत् ब्रह्माणो मनोरथमात्रम् । दस्तुतस्तु भृगु-	तेजसैव तच्छान्तमिति वक्तुं दृष्टान्तमाह स्वयोन्या वारिणेति । यथा वह्नि कश्चिच्छामयति वह्नेरेवोत्पन्नेन जलेन 'अग्नेरापः' इति श्रुतेः । कारणेन कार्यनाशः प्रायेण सर्वत्र स्वतो धर्मतो वा ॥४॥
--	---

व्याख्यार्थ—जैसे पुत्र भृगु अपने में से उत्पन्न हुवा है, वैसे क्रोध भी अपने में से उत्पन्न है, अतः दोनों का बल समान होने से घोर कलह हो जायगा, यों विचार कर, ब्रह्माजी ने अपने ही तेज से क्रोध को शान्त कर दिया, यों करने की आत्मा में सामर्थ्य थी क्योंकि 'प्रभु' सर्व करण समर्थ हैं, यह तो ब्रह्मा का केवल मनोरथ ही था, वास्तव में तो भृगु के तेज से ही क्रोध शान्त हो गया, जिसकी दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि, कोई मनुष्य अग्नि को जब बुझाना चाहता है तब जल से ही बुझाता है, वह जल अग्नि से पैदा हुआ है, जैसा कि भगवती श्रुति कहती है कि 'अग्नेरापः' अग्नि

से जल उत्पन्न हुए, कारण से कार्य का नाश बहुत करके सर्वत्र, स्वतः वा धर्म से देखा जाता है किन्तु यह प्रभु लोला अलौकिक है ॥४॥

श्लोक—ततः कैलासमगमत्स तं देवो महेश्वरः ।

परिरब्धुं समारेभ उत्थाय भ्रातरं मुदा ॥५॥

श्लोकार्थ—पश्चात् वह कैलाश में गए । वहाँ महेश्वर देव ने अपना भ्राता समझ, प्रसन्न हो, उठकर, उनका आलिङ्गन करने के लिए तैयारी की ॥५॥

सुबोधिनी—एवं तस्य क्षोभ दृष्ट्वा अयं महान्न भवतीति निश्चित्य महादेवो लोकानां ज्ञानोपदेष्टा कदाचिदेवं भविष्यतीति तज्ज्ञासार्थं भगवन्तं भोगाविष्टं मत्वा तं परित्यज्य प्रथमतः कैलासमगमत् । तस्य भ्रातृत्वेन तुल्यत्वात् तूष्णींभावो न क्षोभक इति वाचनिकोऽपराधः कृत इति वक्तुं

तस्य प्रसङ्गमाह स तं देवो महेश्वर इति । तुल्यत्वेऽपि तस्य तेजो दृष्ट्वा देवोऽपि ज्ञानशक्तियुक्तोऽपि ऐश्वर्ययुक्तोऽपि सन्माननार्थं परिरब्धुं समारेभे । तत्राप्युत्थाय । तत्रापि मुदा । अनेन मानसः कायिकः ऐन्द्रियकश्च पुरस्कार उक्तः ॥५॥

व्याख्यान—इस प्रकार ब्रह्माजी को क्रोधित देख, निश्चय किया कि यह महान् नहीं है अब कहां चलना चाहिए ? यों विचार करने लगे ? तब मन में आया कि विष्णु भोगाविष्ट हैं अतः कदाचित् वे भी ऐसे होंगे, इसलिए पहले जानोपदेष्टा महादेव के पास चलना चाहिए, यों निश्चय कर कैलाश में गए, वहाँ भी जाकर यों ही बैठ गए इससे वाचनिक अपराध किया, ब्रह्मा के आत्मज होने से महादेव ने भृगु को भ्राता समझ क्रोध न किया, भाई भाई समान होते हैं, समानता में नमस्कार आदि की आवश्यकता नहीं, अनन्तर महादेवजी भ्राता को आया हुआ देख और आपको तेजस्वी जान, यद्यपि आप देव, ज्ञान शक्ति युक्त और ऐश्वर्य से युक्त होते हुए भी भ्राता के सम्मान करने के लिए उठकर आलिङ्गन करने के वास्ते आगे आने लगे, यों ही नहीं किन्तु प्रसन्नता से आगे बढ़े, इससे मन काया और इन्द्रियों से आदर किया ॥५॥

आभास—अतिक्रममाह नैच्छदिति ।

आभासार्थ—‘नैच्छत्व’ इस श्लोक में भृगु ने महादेव का अपराध कैसे किया ? वह बताते हैं—

श्लोक—नैच्छत्वमस्युत्पथग इति देवश्चुकोप ह ।

शूलमुद्यम्य तं हन्तुमारेभे तिग्मलोचनः ।

पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा ॥६॥

श्लोकार्थ—भृगु ने महादेवजी से आलिङ्गन करना न चाहा और कहा कि तुम उत्पथगामी हो । यह वचन सुनकर महादेव को क्रोध उत्पन्न हुआ, नेत्र लाल हो गए,

तत्क्षण ही त्रिशूल लेकर भृगु को मारने के लिए तैयार हो गए, पार्वतीजी ने चरण पकड़कर वाणी से शान्ति कराई ॥६॥

सुबोधिनी— इच्छाभावो मानसः तेन सहितं वाचनिकमाह त्वमुत्पथगोऽसीति । एवं वाचनिकातिव्रमे जाते देवत्वान् स्वच्छन्दचरित्वं न दोषायेति चुकोप । हेत्याश्रये ज्ञानिनः कथमेव क्रोध इति । ततः पूर्वपेक्षया अस्य दण्डोऽप्यधिको जात इत्याह शूलमुद्यम्येति । तिरमानि लोचनानि यस्येति ज्ञानशक्तितिरोभावः । तदा पार्वती ज्ञानशक्तिः तत्स्वरूपं ज्ञात्वा स्वक्रियया तद्दण्डे प्रतिबन्धरूपा जातेत्याह पतित्वा पादयोरिति । गिरा जिज्ञासाप्रवृत्तिरूपया ॥६॥

व्याख्यानार्थ—भृगु ने वाचनिक और मानस दोनों अपराध किए, आलिङ्गन न करने की इच्छा मानस अपराध है, आप उत्पथ^१ चलने वाले हैं, यों कहना वाचनिक अपराध है, इस प्रकार अपमान होने से महादेवजी क्रुपित हुए, क्रोध करना दोष है क्रुपित होने से महादेव दोषी हुए, जिसके उत्तर में कहते हैं कि देव जैसा भी करे तो उनको दोष नहीं लगता है, ये तो महादेव हैं इसलिए क्रोध करने से इनको दोष नहीं लगा, 'ह' पद से यह भाव प्रकट किया है कि महादेव ज्ञानी तथा जानोपदेशा है, उनको क्रोध आना तो अचम्भे की बात है पहले की अपेक्षा ब्रह्मा के अपमान करने से जो दण्ड मिला, उससे अब दण्ड भी अधिक हुआ वह बताते हैं कि, शूलमुद्यम्य तिरमलोचन। महादेवजी ने त्रिशूल उठा लिया और आँखें लाल कर दी, जिससे ज्ञान शक्ति तिरोहित हो गई, तब पार्वती जो ज्ञान शक्ति है, वह महादेव का स्वरूप जान कर अपनी क्रिया से उनके दण्ड देने के कार्य में रुकावट होने लगी, कैसे रुकावट हुई ? वह प्रकार कहते हैं कि पार्वती महादेवजी के चरणों में गिर गई और वचनों से भृगु के स्वरूप का ज्ञान कराके मारने से रोका ॥६॥

आभास—एवं तत्तद्गुणपुरःसरं उभयोः स्थाने गत्वा स्वरूपेणैव भिन्नप्रक्रमेण विष्णोः स्थाने गत इत्याह अथाजगामेति ।

आभासार्थ—स्थान के अनुरूप गुण को धारण कर ब्रह्मा और शिव के लोक में गए थे, अर्थात् रजोगुण धारण कर ब्रह्मा के लोक में गए, तामस गुण को धारण कर शिव लोक में गए, अब विष्णु लोक में दूसरे स्वरूप से (सत्त्व गुण धारण कर) गए यह 'अथाजगाम' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—अथाजगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः ।

शयानं श्रिय उत्सङ्गं पदा वक्षस्यताडयत् ॥७॥

श्लोकार्थ—वहाँ जनार्दन देव लक्ष्मी के गोद में सो रहे थे । वहाँ वैकुण्ठ में गए और जाते ही भगवान् के वक्ष (छाती) पर लात मार दी ॥७॥

सुबोधिनी—स हि जामाता भृगोर्भवति । उत्तङ्गे शयानं परमेश्वरं अत्यन्तातिक्रमं पूर्वा-
लक्ष्मीपतिः । अतो द्वारपालैरुद्ध एव श्रियः पेशयापि कुर्वाणः वक्षसि पदा अताडयत् ॥७॥

व्याख्यानार्थ—वे भगवान् जनार्दन, लक्ष्मीपति होने से भृगु ऋषि के जामाता (दामाद) लगते हैं, इसलिए द्वारपालों ने भीतर जाने से रोकना नहीं, भीतर जाकर देखा कि भगवान् लक्ष्मीजी की गोद में सो रहे हैं, पूर्व किए हुए अनादर से भी विशेष अनादर करने लगे, वहाँ तो केवल नमन नहीं किया और स्तुति नहीं की यहाँ तो जाते ही सोये हुए भगवान् की छाती पर लात मारकर उनको जगा दिया । ७॥

आभास—स हि परीक्षार्थमागतः त्रिलम्बं न सहते, भगवांश्च शेते शयाने न कोऽप्यस्मादन्यः अतिक्रमो भवति । अतः प्रबोधनमतिक्रमं च सहैव कृतवान् । अयं कायिकोऽतिक्रमस्तत्रापि महान् । देशकालावस्थासन्निधिकरणक्रियाफलानां षण्णामपि दुष्टत्वात् । यदि भगवान् गुणैः प्रत्येकेन मिलितैर्वा भगवान्न स्यात् तदा क्षोभं प्राप्नुया-
देव भगवांस्तु स्वभावतो भगवान्मूलभूतः अतः सहजान् स्वषड्गुणान् तत्र प्रकाशया-
मासेत्याह तत उत्थायेति चतुर्भिः ।

आभासार्थ—परीक्षा के लिए आए थे, इसलिए विनम्र महन न कर सकते थे, भगवान् सो रहे थे इसलिए कोई दूसरा अपराध हो नहीं सकता था, यह महान् कायिक अपराध है इस एक ही महान् अपराध करने से, देश, काल, अवस्था सन्निधिकरण क्रिया और फल इत्यादि छ, ही दोष इस महान् कायिक अपराध करने से हो गए, जो जनार्दन प्रत्येक भगवद्गुण से वा सर्व गुणों से युक्त भगवान् न होते तो इनको भी उन दोनों को तरह क्रोध आजाता, भगवान् तो स्वभाव से सहज षड्गुणों के मूलभूत है अतः अपने सहज षड्गुणों को प्रकाशित करने लगे, इसलिए आपको क्रोध न हुआ जिसका ध्यान 'तत उत्थाय' श्लोक से लेकर ४ श्लोकों में करते हैं—

श्लोक—तत उत्थाय भगवान्सह लक्ष्म्या सतां गतिः ।

स्वतत्पादवरुह्याशु ननाम शिरसा मुनिम् ॥८॥

आह ते स्वागतं ब्रह्मन्निषीदात्रासने क्षणम् ।

अजानतामागतान्वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो ॥९॥

अतीव कोमलौ तात चरणौ ते महामुने ।

इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन्स्वेन पाणिना ॥१०॥

उल्लेखार्थ—सत्पुरुषों के शरण भगवान् लक्ष्मी के सहित उठकर, पलङ्ग से नीचे उतरकर, शीघ्र ही मुनि को मस्तक से प्रणाम करने लगे और कहने लगे कि हे प्रभो! आप भले पधारे, किन्तु मुझे जो देरी हो गई, उस दोष के लिए मुझे आप क्षमा करोगे, इस आसन पर विराजो । हे तात ! हे महामुनि ! आपके चरण कोमल है,

मेरी कठोर छाती से आपको जरूर चोट आई होगी, यों कहकर भगवान् भगवन्ति भृगु के चरणों का मर्दन (चांपी) करने लगे ॥८-१०॥

कारिका—मानसान् षड्गुणानादौ ततः काये सुसंस्थितान् ।

ततो वाचनिकानाह पूर्णोऽतो भगवान् हरिः ॥

कारिकार्थ—मन के छ गुण, काया में अच्छी तरह स्थित छ गुण और वाचनिक छ गुण कहे हैं, अतः इस प्रकार गुणों के होने से भगवान् हरि पूर्ण हैं ।

सुबोधिनी—प्रथममक्षोभ्यत्वाय मानसान् षड्गुणानाह यतो भगवान्, अत ऐश्वर्यविरुद्धं मारणानन्तरमुत्थानं कृतवान्, तत्रापि सह लक्ष्म्या । वीर्यविरुद्धमेतत् । न हि सामर्थ्यं विद्यमाने कश्चित्सुखं परित्यजति । यशोविरुद्धं चैतत् । यतः सतां गतिः । एवं सति सन्तः कथं भजेरन् अपकर्षस्थापनात् । स्वतत्त्वादवच्छेदो नि

श्रीविरुद्धम् । तस्याः शोभायास्तिरोधानात् । आश्विति विकलतया विरोधः समर्थितः । ननामेति ज्ञानविरुद्धम् । हीनो हि नमस्करोति तत्रापि शिरसा । गिरो हि ब्रह्मादोनामपि स्थानम् । वैराग्यविरुद्धं चैतत् । मुनिमिति मुनित्वाद्यं क्रोधं करिष्यतीति तदभावापेक्षा सापेक्षा न विरक्ता इति ॥८॥

व्याख्यानार्थ—विष्णु को क्षोभ न हुआ, क्योंकि भगवान् है, उनके मानस छ गुणों को कहते हैं ।

भृगु ने लात मारी यो अपमानित होकर भी उसका सपादर करने के लिए उठकर खड़े हुए, यह आप में (१) ऐश्वर्य से विरुद्ध गुण है, लक्ष्मी के साथ उठना यह (२) वीर्य विरुद्ध गुण है, जिसमें सामर्थ्य होता है वह अपने सुख को नहीं छोड़ता है, यह (३) यश के भी विरुद्ध है, आप सत्पुरुषों की गति है, यदि इस प्रकार आप स्वतः सुख छोड़ देंगे तो भक्त कैसे आपको शरण ग्रहण करेंगे ? क्योंकि, इस प्रकार करने से आपका अपकर्ष बढ़ता है, अपने पलङ्ग से उतर आने का कार्य (४) श्री गुण के भी विरुद्ध है, क्योंकि इससे शोभा तिरोहित हो जाती है, शोघ्र कहने से अपनी निर्बलता प्रकट की यह श्री के विरुद्ध गुण हैं, भृगु को नमस्कार की यह (५) 'ज्ञान' विरुद्ध गुण है, नमस्कार यह करता है जो हीन होता है, उसमें भी शिर से नमस्कार करना तो प्रति हीनता द्योतक है क्योंकि भगवान् के मस्तक में ब्रह्मादि देव विराजते हैं, और मुनि को प्रणाम करना यह (६) वैराग्य के भी विरुद्ध है, आपने भृगु को नमस्कार इस इच्छा से की है कि भृगु मुनि है, नमस्कार न करने से क्रोध करेगा, यह क्रोध न करे, इस इच्छा से प्रणाम किया यह कार्य भी वैराग्य के विरुद्ध है, वैराग्य वाले को इच्छा नहीं होती है ॥८॥

आभास—कायिकभगवद्धर्मविरुद्धानाह आहेति ।

आभासार्थ—भगवान् के जो कायिक सहज धर्म है, उनके विरुद्ध जो अब आप कर दिखाते हैं उनका वर्णन करते हैं—

सुबोधिनी—ते स्वागतम्, कुशलेनागमनं कि वृत्तमिति कुशलप्रश्नः । समतामापादयन् ऐश्वर्य-

विरुद्धो भवति । ब्रह्ममिति तस्योत्कर्षेण संबंधनं वीर्यविरुद्धं च । अत्रासने क्षणं निषीदेति प्रार्थना

कीर्तिविरुद्धा क्षणमित्यतिदेन्यात् श्रीविरुद्धा च ।
अज्ञानतामागतान् व इति स्पष्टो ज्ञानविरोधः ।
नोऽपराधं क्षन्तुमर्हन्तीति । अपराधक्षमापनं सापे-
क्ष्यत्वं ख्यापयतीति वैराग्यविरुद्धम् । प्रभो इति
सम्बोधनं स्वगुणान् भगवांस्तत्र स्थापयतीति

सूचयति । अमानो मानदो भगवान् इति परी-
क्षायां निर्णयः सिद्धो भविष्यति । एवं वचसा
स्वापकर्षं ख्यापितवान् अपराधकर्तुः स्तोत्रं
च ॥६-१०॥

व्याख्यानार्थ — आप भले पधारे, आपका पधारना मुझ पूर्वक तो हुआ है ? इस प्रकार कुगल प्रश्न उससे किया जाता है, जो अपने समान होना है, भृगु जाव और आप भगवान् होकर भा इस प्रकार प्रश्न करने लगे, जिससे आपके ऐश्वर्य के विरुद्ध यह गुण है ।

और हे ब्रह्मन् ! इस प्रकार का संशोधन भी आप से उसका (भृगु का) उत्कर्ष प्रकट करना है जिसमें यह गुण वीर्य विरुद्ध है ।

‘अत्रासने क्षणं निषीद’ इस आसन पर क्षण विराजो, इस प्रकार की हुई प्रार्थना, कीर्ति गुण के विरुद्ध है, ‘क्षण’ पद से अति दीनता प्रकट कर अपना ‘श्री विरुद्ध’ गुण बताया है, ‘अज्ञानतामागतान्’ इस पद से बताया है कि मुझको ज्ञान नहीं है, यत्तः यह ज्ञान विरुद्ध गुण है, ‘नः अपराधं क्षमस्व’ हमारा अपराध क्षमा करो, यों कहकर अपने को मापेक्ष्य प्रसिद्ध किया है, इसलिए यह वैराग्य के विरुद्ध गुण है, हे प्रभो ! विशेषण से भगवान् सूचिन करते हैं - कि, मैंने अपने गुण इनमें स्थापित किए हैं ।

भगवान् अभिमानी नहीं है और अन्यो को मान देने वाले हैं. यों परीक्षा होने पर पूर्ण निर्णय हो जायगा, इस प्रकार वाणी से अपना अपकर्ष प्रकट किया और अपराधो की स्तुति प्रकट की ॥६-१०॥

आभास — वचसंव कायिकान्पूर्ववद्विरुद्धान् प्रतिपादयति पुनीहीति द्वाभ्याम् ।

ग्रामास्तार्थ — निम्न दो श्लोकों से, पहले की तरह वाणी से विरुद्ध कायिक श्रमों का प्रतिष्ठान करते हैं—

श्लोक—पुनीहि सहलोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान् ।

पादोदकेन भवतस्तीर्थानां तीर्थकारिणा ॥११॥

श्लोकार्थ—तीर्थों का भी तीर्थ करने वाले आपके चरण जल से मेरे भीतर स्थित लोकपालों को तथा लोकों सहित मुझे पवित्र कीजिए ॥११॥

सुबोधिनी — परमपवित्ररूपो भगवान्, पावित्र्ये परमैश्वर्य प्राप्तः । अत एव नखोदकरूपायां गङ्गा-यामाज्ञया पवित्र्य स्थापितवान् । अन्यथा कथं शास्त्रनिषिद्धे पावित्र्य भवेत् । तद्विरुद्धमेतत्

पुनीहि मामिति । लोकसहितत्वेन सुतरां स्वस्या-पावित्र्यख्यापनं विरुद्धम् । भगवान् स्वधर्मान् तत्र स्थापयित्वा तद्धर्मान् स्वयं गृहीत्वा सर्वमेवमाह, अन्यथा ब्रह्मणस्य नाशो भवेत् । प्रमेयबलेन

सन्मार्गं एव नाशितः स्यात् । यथा महति राज-
द्रोहे कृते राजकीयास्तन्नाशयेयुरेव स चेद्राजा
तमपराधकर्तारं स्वसिंहासने निवेशयेत्तदा
बाधकाः सर्वे साधका भूत्वा न पीडां कुर्युः ।
अन्यथा यथाकथञ्चिदपि तं नाशयेयुरेव । अतो
भगवानेव प्रघट्टकेन स्तोत्रं करोति । स्वधर्मान्
स्थापयितुं तुल्यत्वाभावाय च तद्धर्मान् गृह्णाति ।

मोहिकेषा लीला हीनत्वप्रतिपादिका ज्ञातव्या ।
अतिदेन्यं ख्यापयन् वीर्यविरुद्धमाह मद्गतान्
लोकपालांश्च पुनीहीति । स्वस्मिन्विद्यमानानां
तस्य सम्बन्धाभाव एव, पावनं दूरे । तत्रापि
पादोदकेन पावनं सुतरां कीर्तिविरुद्धम् तीर्थानां
तीर्थकाणिणेति गङ्गादीनामप्यनेनैव तीर्थत्वमिति
सहेतुकं तस्य पावनवर्तृत्वं निरूपितम् ॥११॥

व्याख्यार्थ—पवित्रता में सब पवित्रताओं से विशेष पवित्रता धारण कर पवित्रता में भी
ऐश्वर्य प्राप्त किया है, जिससे परम पवित्र रूप भगवान् हैं, इस कारण से ही नखों के जल रूप गङ्गा
में अपनी आज्ञा से पवित्रता स्थापित की है, जो आप इसमें पवित्रता स्थापित न करते तो शास्त्र
निषिद्धि नख जल में पवित्रता कैसे आती ? इसलिए जो स्वयं परम पवित्र रूप हैं और निषिद्ध जल
भी पवित्र कर सकते हैं वह कहते हैं, मुझे पवित्र करो, यतः यह विरुद्ध धर्म है, न केवल अपने को
लोक सहित सुतरां अपनी अपवित्रता प्रकट करनी, विरुद्ध है, यह सब भगवान् तब कह रहे हैं जब
भगवान् ने अपने धर्म भृगु में स्थापित किए हैं उनको आपने ले लिए हैं, भगवान् यों न करते तो
ब्राह्मण का नाश हो जाता, प्रमेय जल से सन्मार्ग नाश ही हो जाय जैसे प्रजा महान् राजद्रोह जब
करती है तब राज कर्मचारी उन द्रोहियों का नाश ही करें, किन्तु यदि राजा स्वयं उन द्रोहियों को
राज्य दे देवे तो, तब वे सब राजद्रोही राजमित्र बन द्रोह करना छोड़ देते हैं। फिर किसी को भी
कष्ट नहीं करते है यदि राजा उनको राज न दे तो वे कैसे भी कर राजा को नष्ट कर ही छोड़ें,
इस कारण से ही भगवान् इस नीति को लेकर ही भृगु की स्तुति करते हैं, दोनों में समता नहीं
होने से भगवान् अपने धर्म उसमें (भृगु में) स्थापित करते हैं, उनके धर्म आप ग्रहण करते हैं, यह
भगवान् की लीला मोहिका है, जिससे भगवान् का हीनत्व प्रतिपादन कर रही, भगवान् अति देन्य
प्रकट कर दिखाने के लिए अपने वीर्य से विरुद्ध वचन कहते हैं, जैसे कि 'मद्गतान् लोकपालांश्च
पुनीहि' मुझमें जो लोक पाल स्थित हैं उनको पवित्र करो, मुझ में स्थित पद से यह सूचित किया
है कि भृगु का इनमें कुछ भी सम्बन्ध नहीं हो तो पवित्र करना तो दूर रहा, भगवान् अपने और
लोकपालों को पवित्र करने के लिए भृगु के चरण जल की याचना करते हैं; वह तो असीम कर्ति
विरुद्ध है, भृगु का चरण जल कैसे पवित्र करेगा ? इस शंका को मिटाने के लिए कहते हैं कि यह
चरण जल, साधारण नहीं है किन्तु तीर्थों को भी तीर्थ बनाने वाला है, यह हेतु देकर उसके
(पाद जल के पवित्रता का निरूपण किया है ॥११॥

आभास — लक्ष्मीविरुद्धमाह अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनमिति ।

आभासार्थ—लक्ष्मी से विरुद्ध धर्म को 'अद्याहं' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—अद्याहं भगवँल्लक्ष्म्या आसमेकान्तभाजनम् ।

वत्स्यत्युरसि मे भूतिर्भवत्पादहतांहसः ॥१२॥

श्लोकार्थ— हे भगवन् ! आज मैं लक्ष्मी के निवास का निश्चित स्थान बना हूँ; क्योंकि आपके चरण से नष्ट पाप वाले मेरी छाती पर वे रहेंगे ॥१२॥

सुबोधिनी— नित्यसिद्धा भगवति लक्ष्मीराधि-
दैविकी । इयं चाधिभौतिकी सापि नित्या । ततश्च
लक्ष्मीस्वरूपेण स्वस्वरूपेण चैतद्विरुद्धघने ।
ज्ञानविरुद्धमाह वत्स्यत्युरसि मे भूतिरिति । नहि
क्रियाशक्तिर्ज्ञानपूर्णं तिष्ठति । तत्राप्यन्तरङ्गा
भूत्वा वत्स्यतीत्याशंसनात् वैराग्यविरोधोऽपि ।
भवत्पादहताहस इति । त्वच्चरणारविन्दसम्बन्धेन

स्वस्य पापक्षयकथनं धर्मविरुद्धमपि । एवं
सन्धर्ममात्मानं तत्र स्थापयित्वा तदीयं स्वस्मिन्
गृहीत्वा तथोक्तवान् । अनेनैव तस्य प्रायश्चित्तम-
प्युपदिष्टम् । यदा कदाचिन्मच्चरणसेवां करिष्यमि
तदा तव पापक्षयो भविष्यतीति । एवं अमानित्वं
मानदत्वं च स्वस्य प्रकटीकुर्वता भगवता
सन्मार्गः समर्थितः ॥१२॥

व्याख्यानार्थ— भगवान् में नित्य सिद्ध लक्ष्मी जो है वह आधिदैविकी है, और यह आधि-
भौतिकी भी नित्य है, पश्चात् इस प्रकार के वाक्य, लक्ष्मीजी के स्वरूप से तथा अपने स्वरूप से
विरुद्ध है 'मेरी छाती पर बैठेंगी' यह वचन ज्ञान के विरुद्ध है कारण कि जिसमें ज्ञान शक्ति पूर्ण है
वहाँ क्रिया शक्ति नहीं रह सकती है, उसमें भी वह ग्रन्तरंग होकर रहेगी, इस प्रकार को इच्छा
प्रकट करने से तो, वैराग्य का भी विरोध आता है, आपके चरणारविन्द के सम्बन्ध से अपने पापों का
क्षय कहना, धर्म स्वरूप से भी विरुद्ध है ।

इस प्रकार जो भगवान् ने कहा है वह पहले अपने को धर्म सहित भृगु में स्थापित कर, उसके
स्वरूप को स्वयं ग्रहण कर पीछे बोला है ।

इससे ही उसको प्रायश्चित्त का भी उपदेश दिया है कि जब कभी मेरे चरणों की सेवा करोगे,
तब यह तेरा पाप क्षीण होगा, इस प्रकार अपना अमानित्व और दूसरे को मान देने का गुण,
प्रकट करते हुए भगवान् ने सत्पुरुषों के मार्ग का समर्थन किया है ॥१२॥

आभास— ततो यज्ज्ञातं तदाह एवं ब्रूवाण इति ।

आभासार्थ— पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'एवं ब्रूवाणे' श्लोक में कहते हैं —

श्लोक— श्रीशुक उवाच—एवं ब्रूवाणे वैकुण्ठे भृगुस्तन्मन्द्रया गिरा ।

निर्वृतस्तपितस्तूष्णीं भवत्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः ॥१३॥

श्लोकार्थ— श्री शुकदेवजी ने कहा कि जब भगवान् इस तरह कह रहे थे, तब
भृगु ऋषि यह गम्भीर वाणी सुनकर परमानन्द में मग्न हो गए और तृप्त हो गए,
जिससे कुछ कह न सके, भक्ति की उत्कण्ठा उद्भूत होने से नेत्रों में प्रेमाश्रु भर
गए ॥१३॥

सुबोधिनी—स तु परीक्षार्थमागत इति तेन भगवति हीनभावो न मतः । किन्तु गुणत्वेन कायवाङ्मनश्चित्र स्वीकृतवान् । अत एव सर्वभावेन सन्तुष्ट इत्याह, आदौ तन्मन्द्रया गिरा निर्वृत भगवता च तपितः स्वधर्मोपपणेन । अतः सनकादिवत् प्रयुत्तरसन्देहादिकं न कृतवान्

किन्तु तूष्णीमास । किञ्च । भगवानद्भुतकर्मा भक्तिविरुद्धकर्मणा तस्मै भक्तिं दत्तवानित्याह भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचन इति । भक्त्या प्रेमलक्षणया भगवति परमोत्कण्ठावान् जातः । अहो भगवच्चरित्रमित्याश्चर्येण अश्रुलोचनोऽपि । १३।

व्याख्यार्थ—वह (भृगु) तो तीन देवों की परीक्षार्थ निकले थे, दो को परीक्षा कर अब इनकी परीक्षार्थ यहां आए थे, इसलिए उसने भगवान् में हीनभाव नहीं माना, किन्तु काया, वाणी और मन से जो कुछ भगवान् न किया उनको गुण रूप से, स्वीकार किया अतएव सर्व भाव से वह सन्तुष्ट हुआ, यह कहते हैं पहले उनकी गंभीर वाणी सुनकर परम आनन्द में मग्न हुआ, भृगु में अपने धर्म स्थापित कर उसको तृप्त कर दिया, अतः सनकादिकों की तरह प्रश्नोत्तर एवं संदेह न किया, मौन धारण करली, अद्भुत कर्मा भगवान् ने भक्ति के विरुद्ध कर्म द्वारा उसको भक्ति दी, प्रेमलक्षण भक्ति की प्राप्ति से भृगु भगवान् में परमोत्कण्ठा वाला हुआ जिससे मन में आया कि अहो ! भगवान् के ऐसे आश्चर्य मय चरित्र हैं यों विचार होते ही नेत्र अश्रुओं से पूर्ण हो गए । १३॥

आभास—भगवन्माहात्म्यं ज्ञात्वा निर्णयकथनार्थमागत इत्याह पुनः स्वसत्त्वमाव्रज्येति ।

आभासार्थ—भगवान् का माहात्म्य जानकर, निर्णय सुनाने के लिए फिर वहां सत्र के स्थान पर लौट आए यों निम्न श्लोक में कहते हैं—

श्लोक— पुनः स्वसत्त्वमाव्रज्य मुनीनां ब्रह्मवादिनाम् ।

स्वानुभूतमशेषेण राजन्भृगुरवर्णयत् ॥१४॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! भृगु ब्रह्मवादी मुनियों के अपने सत्र में लौटकर अपना सम्पूर्ण अनुभव वर्णन करने लगे ॥१४॥

सुबोधिनी—मुनीनां ब्रह्मवादिनामिति ज्ञान-क्रियावैशिष्ट्यं तेन विश्वासो ज्ञानं च भविष्य-तेति अतो निःशङ्कं अशेषप्रकारेण स्वानुभूत-मवर्णयत् । उपसंहारे भृगुपदं तस्य वैष्णवंत्वं स्थापयति ॥१४॥

व्याख्यार्थ—'मुनीनां ब्रह्मवादिनां पदों से यह सूचित किया है कि, सत्र में दीक्षित, मुनि तथा ब्रह्मवादी थे जिससे उनमें ज्ञान एवं क्रिया दोनों मौजूद थी, उससे मैं जो इनको बताऊंगा उस पर विश्वास करूँगा तथा उसको समझूँगा भी, अतः शङ्का रहित हो अपना सम्पूर्ण अनुभव वर्णन किया अन्त में 'भृगु' पद देने से उसकी वैष्णवता प्रकट कर दिख गई है ॥१४॥

आभास—ततोऽपि किं पुनः सन्देहः स्थितो न वेति शङ्काव्युदासपूर्वकं निःसन्देहं स्थापयितुमाह तन्निश्चयेति ।

आभासार्थ—भृगु के अनुभव को सुनने के बाद भी उनको संदेह रहा वा नहीं. इस शङ्का को मिटाने के लिए 'तन्निश्चय' श्लोक में कहते हैं कि संदेह न रहा—

श्लोक -- तन्निश्चय्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः ।

भूयांसः श्रद्धुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम् ॥१५॥

श्लोकार्थ—प्रथम भगवान् के चरित्र श्रवण करने से अचम्भे में पड़े, अनन्तर सर्व संशयों से रहित हुए, विष्णु भगवान् में श्रद्धा वाले हो गए, जिससे ही शान्ति और निर्भयता की प्राप्ति होती है, यों निश्चय किया ॥१५॥

सुबोधिनो—आदौ भगवच्चरित्रश्रवणाद्वि-
स्मिताः । अल्पोत्कर्षज्ञानार्थं प्रवृत्ताः परमोत्कर्षं
ज्ञातवन्त इति । ततो मुक्तसंशयाः । भगवानेव
महानिति निश्चयान् । एवमपि सति भूयांसो
विष्णुमेव श्रद्धुः । अयमेव महानिति पदार्थं
श्रद्धां कृतवन्तः । ये तु पुनः पितृत्वेन गुरुत्वेन वा
अन्यत्रापि श्रद्धायुक्तास्तेषामन्याभिनिविष्टानां
प्रमाणमपि बोधयितुमसमर्थमिति ते स्वसेव्य-
सदृशमेव भगवन्तं ज्ञातवन्त इति तद्व्युदासार्थं
भूयांस इत्युक्तम् । सन्मार्गं भगवानेवोत्कृष्टो मन्त-

व्य इति स्थापयितुं सन्मार्गोपयोगिनः सर्वानेव
गुणान् भगवत्याह यतः शान्तिरिति । 'तत्तीर्थ-
साधनम्' इत्यन्तेन आदौ सन्मार्गं गुणक्षोभ-
निवृत्तिरपेक्ष्यते ततो भगवद्धर्मः मार्गरक्षा चेति ।
तत्रापि षड्गुणा भगवांश्च वक्तव्यः । एवं
षोडशकलो भगवान् मार्गं निरुक्तो भविष्यति ।
शान्तिरान्तरो धर्मः, इन्द्रियाणां रजोगुणक्षोभा-
भावः अनेन भवति । यतोऽभयं भयाभावः
सत्त्वक्षोभनिवृत्तिः ॥१५॥

व्याख्यार्थ—आदि में भगवान् का अद्भुत चरित्र श्रवण कर आश्चर्य युक्त हो गए, स्वल्प उत्कर्ष को जानने के लिए प्रवृत्त हुए किन्तु परमोत्कर्ष का ज्ञान प्राप्त किया, उससे संशय नष्ट हो गए और यह निश्चय हो गया कि भगवान् ही महान् हैं, यों होते हुए भी विष्णु रूप में विशेष पूर्ण श्रद्धावान् होने लगे, ये ही महान् हैं, यों निश्चय कर इस पदार्थ^१ में विश्वास करने लगे ।

'भूयांसः' इस शब्द के कहने का भावार्थ बताते हैं कि जो लोग ब्रह्मा को पिता समझ और महादेव को गुरु जानकर उनमें श्रद्धा वाले थे, उन श्रद्धा वालों को समझाने के लिए शास्त्र प्रमाण भी समर्थ नहीं हैं, अतः वे भगवान् को भी अपने सेव्य (ब्रह्मा और महादेव) के समान जानने लगे, इसलिए उनकी अवगणना करने के वास्ते 'भूयांसः' पद दिया है ।

सत्पुरुषों के मार्ग में अथवा श्रेष्ठ मार्ग में, भगवान् को ही उत्तम मानना चाहिए, यह प्रकट करने के लिए, सन्मार्ग के लिए जो उपयोगी गुण हैं, वे भगवान् में ही हैं, यों 'शान्ति' पद से लेकर १६ वें श्लोक के अन्तिम पद 'तत्तीर्थसाधनम्' तक बताते हैं, इसमें पहले सन्मार्ग में इसकी आवश्यकता है कि, गुणों में क्षोभ न होने से ही भगवद्धर्म और भगवन्मार्ग की रक्षा होती है यों होते हुए भी भगवान् और उनके छ गुण कहने चाहिए ।

इसी प्रकार भक्ति मार्ग में १६ कला^१ वाले भगवान् का वर्णन हो जायगा, विष्णु से शान्ति और अभय प्राप्ति होती है ।

१- शान्ति आन्तर-भीतरी-प्रन्दर का, धर्म है, इस धर्म से इन्द्रियों में जो रजोगुण से क्षोभ होता है वह क्षोभ (घबराहट) होता रुक जाता है, २- अभय धर्म सतोगुण से उत्पन्न क्षोभ की निवृत्ति होती है ॥१६॥

श्लोक—धर्मः साक्षाद्यतो ज्ञानं वैराग्यं च दयान्वितम् ।

ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्माद्यशश्चात्ममलापहम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—जिससे धर्म, दया सहित ज्ञान और वैराग्य प्राप्त होता है और जिससे आठ प्रकार के ऐश्वर्य तथा अन्तःकरण के मल का नाश करने वाले यश की प्राप्ति होती है ॥१६॥

सुबोधिनी—धर्मस्तामसाभावः । ततो भगवद्धर्मः । यस्मात्सर्वेषां प्राणिनां साक्षाज्ज्ञानं निरुपाधिकं वैराग्यं च तद्विधमेव । दयान्वितमित्युभयत्र विशेषणम् । ज्ञानेन वैराग्येण च प्राणिनां पीडा सम्भवतीति तदर्थमेतदुक्तम् । दयाभावार्थं हि भगवान्जुननुपदिदेश । वैराग्येण स्वकीयानां पीडा लोकसिद्धा । तदन्वितमिति षवचित्पाठः । तदा ज्ञानसहितं वैराग्यम् न तु मर्कटवैराग्यमि-

त्यर्थः । यतो भगवतः सकाशात् अष्टधा ऐश्वर्यं भवति अणिमादिप्रभेदभिन्नं यशश्च भवति । आत्मनोऽन्तःकरणस्य मलं दूरीकरोतीति यशसो विशेषणम् । अनेन असत्प्रकारेण नटविटादिभ्यो दानेन यद्यशस्तद्व्यावर्तितम् । श्रीः वीर्यं च प्रकृते तथा नोपयुज्यत इति दयायां वीर्यस्यान्तर्भावं, अष्टधा ऐश्वर्यं श्रियश्च मन्यते ॥१६॥

व्याख्यार्थ—१- धर्म—धर्म से तमोगुण का अभाव होता है, अर्थात् तमोगुण से उत्पन्न क्रियाओं का नाश हो जाता है, इसके अनन्तर भगवान् के धर्म बताते हैं, ४- जिससे सकल प्राणी, साक्षात् निरुपाधिक ज्ञान एवं ५- वैसा ही वैराग्य प्राप्त होता है, वे दोनों (ज्ञान तथा वैराग्य) दया सहित प्राप्त होते हैं, दया सहित ज्ञान और वैराग्य प्राणियों को पीड़ा देने वाला नहीं होता है, दया रहित ज्ञान और वैराग्य पीड़ा कारक होते हैं । दया भाव के कारण ही यजुर्न को भगवान् ने उपदेश दिया । वैराग्य से सम्बन्धियों को कष्ट होता है, यह लोक सिद्ध है । किसी पुस्तक में दयान्वित के स्थान पर 'तदन्वितम्' पाठ है जिसका अर्थ है वैराग्य हो तो ज्ञान सहित होना चाहिए, ज्ञान बिना जो वैराग्य है वह (वैराग्य) वैसा होता है जैसा वानर का वैराग्य है, जिस भगवान् ने ६- अणिमादि प्रकार अष्ट विध ऐश्वर्य और ७- यश प्राप्त होता है, वह यश, अन्तःकरण के मन का नाश करने वाला होता है, न कि नट तथा विदूषक आदि को पारितोषक देने से लोक में नामवरी होती है वैसा दिखावटी यश प्राप्त होता है ।

१- गुण तीन भगवान् के ६ धर्म, भक्ति मार्ग की रक्षा में छ गुण और एक धर्म, यों मिलकर ३ + ६ + ६ + १ = १६ होते हैं अतः षोडश कला पुरुष है ।

चालू प्रसंग में ८- श्री और ९- वीर्य का उपयोग न होने से पृथक् न कहकर शुकदेवजी वीर्य का दया में श्री और श्री का अष्टविध ऐश्वर्यों में अन्तर्भाव मानते हैं ॥१६॥

आभास—एवं भगवतः सकाशात् प्राणिनामेवं भवतीति निरूप्य मार्गानुसारिणि भगवति मार्गसिद्धयर्थं गुणानाहं मुनीनामिति त्रिभिः ।

आभासायं - भगवान् से प्राणियों को इस प्रकार अष्ट विध ऐश्वर्यादि की प्राप्ति होती है. यह निरूपण कर, भक्ति मार्ग की सिद्धि के लिए, मार्ग के अनुकूल भगवान् में गुणों का निम्न श्लोकों से वर्णन करते हैं—

श्लोक—मुनीनां न्यस्तदण्डानां शान्तानां समचेतसाम् ।
अकिञ्चनानां साधूनां यमहुः परमां गतिम् ॥१७॥

श्लोकार्थ—जिन (भगवान्) को शान्त, समचित्त वाले, अकिञ्चन साधु तथा संन्यास धारण किए हुए मुनियों का परम फल कहते हैं ॥१७॥

सुबोधिनी—यस्तु भगवान् षड्गुणयुक्तानां मपि परमा गतिः फलरूप इत्यर्थः । आहुरिति प्रमाणम् । परमत्वं यतो नावर्तते यस्मादग्रे गन्तव्यं च नास्ति । षड्गुणान्मुनीनां वर्णयति तेषामेव भगवान् फलमिति ज्ञानार्थम् । मननं ज्ञानसाधनम् । तेन ज्ञानसिद्धिः । दण्डन्यासो वैराग्यम् । शान्तिः कीर्तिः । समचित्तता श्रोः । अकिञ्चनानामिति वीर्यं सम्भवति, अपेक्षायां च तदग्रहणात् । साधूनामिति सदाचाराणाम्, अनेनैश्वर्यं निरूपितम्, लौकिकसामग्र्या वैदिकत्वसम्पादनात् । एव फलरूपता एको गुणः सन्मार्गो ॥१७॥

व्याख्या— जो भगवान्, छ गुणों वालों की भी गति है अर्थात् फलरूप है, 'आहु' पद से इसकी प्रमाणीता कही है, अर्थात् वेदादि शास्त्र कहते हैं कि छ गुणों वालों का फल यह भगवान् (विष्णु) है, कारण कि उनको प्राप्त करने के बाद, वहाँ कोई लोट कर संसार में नहीं आता है, और उससे आगे कोई ऐसा स्थान नहीं है जहाँ जाकर आनन्द पाया जाय, जिन मुनियों का ये परम फल रूप है उन (मुनियों) के छ गुणों का वर्णन, इसलिए करते हैं कि, सबको यह ज्ञात हो जावे कि ये भगवान् जिनको और कैसे गुणों वालों को प्राप्त होते हैं ।

मनन करने वाले को 'मुनि' कहा जाता है, मनन करना यह ज्ञान का साधन है, मनन करने से ज्ञान की सिद्धि होती है । किसी को भी दण्ड न देना यह वैराग्य का लक्षण है अर्थात् जो अपराधी को भी दंड (सजा) नहीं देता है वह संन्यासी (वैराग्यवाला) है, मुनियों में शान्ति होती है जिससे उनमें कीर्ति गुण रहता है मुनि हमेशा सब में समदृष्टि वाले होते हैं, यह गुण श्री का अतक है उनमें वीर्य गुण होता है, जिसका सूचन उनकी अकिञ्चनता करती है अपेक्षा होते हुए भी कुछ न लेना, यह वीर्य गुण के बिना हो नहीं सकता है, साधु अर्थात् सत् आचरण वाले होते हैं, इससे ऐश्वर्य का निरूपण किया है, यदि भगवान् किसी को लौकिक सामग्री देते हैं तो समझना चाहिए कि इससे वैदिक क्रिया मर्यादामार्गीय कर्म कराना चाहते हैं । सन्मार्ग अर्थात् उत्तम भक्ति मार्ग में भगवान् की फलरूपता ही एक मूल विशेष (खास) गुण है ॥१७॥

आभास साधनोत्कर्षमाह सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिरिति ।

आभासार्थ—इस मार्ग में साधनों का उत्कर्ष 'सत्त्वं यस्य' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिर्ब्राह्मणास्त्वष्टदेवताः ।

भजन्त्यनाशिषः शान्ता यं वा निपुणबुद्धयः ॥१८॥

श्लोकार्थ—जिन भगवान् को सत्त्वमूर्ति प्रिय है, ब्राह्मण जिनके इष्ट देवता हैं, अथवा निष्काम, शान्त और कुशल बुद्धि वाले जिनको भजते हैं ॥१८॥

सुबोधिनी—सत्त्वगुण एव भगवन्निरूपकः । सत्त्वोत्पादका अपि तत्र सुलभा इत्याह ब्राह्मणा- स्त्वष्टदेवता इति । यस्य भगवतः इष्टदेवता ब्राह्मणाः । अनेन प्रमाणप्रतिबन्धकता निवा- रिता । किंच । यस्मिन् मार्गे गुणत्रययुक्ता	भजन्ति । अनाशिषः फलाकाङ्क्षारहिताः । शान्ताः साधनदोषरहिताः । निपुणबुद्धयः विवेक- ज्ञानयुक्ता इति साध्योत्कर्षः । वेत्यनादरे । भगवद्भजने निपुणा बुद्धिर्नात्यन्तं प्रयोजिकेति । एव गुणचतुष्टयं निरूपितम् ॥१८॥
---	---

व्याख्यानार्थ—सत्त्वगुण ही भगवान् का निरूपण करने वाला है, सत्त्व को उत्पन्न करने वाले ही वहां सुलभ है, एवं ब्राह्मण तो भगवान् के इष्टदेव है, यों कहकर यह सिद्ध कर बताया है कि इस मार्ग में प्रमाण रुकावट नहीं कर सकता है, और विशेषता यह है कि इस मार्ग में तीन गुण वाले ही (१- निष्काम, २-शान्त (साधन) दोष रहित) ३-विवेक और ज्ञान से युक्त भक्त ही भगवान् का भजन करते हैं, यों कहकर साध्य भगवान् का उत्कर्ष वर्णन किया है, 'वा' पद देने का प्रयोजन यह है कि भगवान् के भजन करने में चतुराई अत्यन्त प्रयोजन वाली नहीं है, इस प्रकार ४ गुण कहे । १८॥

आभास—द्वयमाह त्रिविधाकृतय इति ।

आभासार्थ—अन्य गुण कहे, शेष दो गुण त्रिविधाकृतयः' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक त्रिविधाकृतयस्तस्य राक्षसा असुराः सुराः ।

गुणिन्या मायया सृष्टाः सत्त्वं तन्तीर्थसाधनम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—उनकी तीन प्रकार वाली गुणमयी माया ने राक्षस, असुर और सुर वंसी तीन प्रकार की आकृति वाली सृष्टि, बनाई है, इनमें जो सत्त्व है वह तीर्थ का साधन है ॥१९॥

सुबोधिनी—भगवतः आकृतयः रूपाणि त्रिविधानि । तानि गणयति राक्षसास्तामसाः । असुरा राजसाः । सुराः सात्त्विकाः । अनेन सर्व-	रूपो भगवानिति सर्वत्र भगवद्बुद्धिरेको गुणः । तत्रापि सत्त्वं तीर्थानां पवित्रहेतूनां साधनमिति । इदं वैराग्यस्थानीयम् । ततः पूर्वं ज्ञानस्थानीयम् ।
--	---

१- साधन किया जायगा तो भगवान् की प्राप्ति होगी, इस प्रकार के साधन दोष जिन भक्तों में नहीं है

भजनं श्रीः । ब्राह्मणाः कीर्तिः । सत्त्वं बलम् । निदिष्टः । तस्मात्कृष्ण एव महान् सर्वप्रकारेणेति
गतिरंश्वर्यमिति । यस्मादिति, भगवान् इति धर्मो निरूपितम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ—भगवान् के रूप तीन तरह के हैं, वे बताते हैं. १- राक्षस, वे तामस है २- असुर, वे राजस है, ३- देव वे सात्विक हैं. यों कहने से यह सिद्ध किया है कि भगवान् सर्वरूप है, इसलिये सर्वत्र भगवद्बुद्धि रखनी चाहिए, यह एक गुण है ।

उनमें श्री जो सत्त्व है, वह जो पवित्र करने वाले हैं, उनके लिए साधन है, यह साधन वैराग्य रूप ही है, इससे पहले जो, कहा वह ज्ञान रूप ही है, भजन श्री है ब्राह्मण कीर्ति हैं, सत्त्व बल^२ है और गति ऐश्वर्य है 'यस्मात्' पर १६ वें श्लोक में जो दिया है उसमें धर्मो भगवान् का ही निर्देश किया है, इससे सिद्ध है कि 'कृष्ण' ही सर्व प्रकार महान् है ॥१६॥

आभास—एतत्प्रासङ्गिकमुक्त्वा निर्णयकर्तृणां किं जातमित्याकाङ्क्षायामाह इत्थं सारस्वता विप्रा इति ।

आभासार्थ—इस प्रकार प्रस्तुत विषय का वर्णन कर अब इत्थं सारस्वता' श्लोक से बताते हैं कि जिनने निर्णय कराने के लिए भृगु को भेजा था, भृगु ने आकर सर्व वृत्तान्त कह सुनाया अनन्तर उन्होंने यों किया—

श्लोक—श्री शुक उवाच - इत्थं सारस्वता विप्रा नृणां संशयनुत्तये ।

पुरुषस्य पदाम्भोजसेवया तद्गतिं गताः ॥२०॥

श्लोकार्थ - श्री शुकदेवजी ने कहा, इस प्रकार सारस्वत ब्राह्मणों ने विष्णु भगवान् के चरणारविन्द की सेवा कर उत्तम गति (वैष्णवी गति) प्राप्त की, और इस निर्णय तथा कर्तव्य से मनुष्यों के संशय नष्ट किए ॥२०॥

सुबोधिनी - सरस्वती तीरस्थ मुनयः प्रमाणोत्कर्षमापन्नाः वाक्यमौत्रिण-भृणां संशयो न गच्छतीति संशयनिवृत्त्यर्थं स्वयं भजनं कृत्वा ततस्तथैव सेवया तथैव गन्तुं योग्यं भगवन्तं गताः ।

व्याख्यार्थ - सरस्वती तीर निवासी मुनि, इस प्रकार प्रमाण के उत्कर्ष को प्राप्त हुए, केवल कहने से मनुष्यों का संशय मिटेगा नहीं, इसलिए संशय मिटाने के लिए विष्णु ही उत्तम है इस प्रकार के निर्णय को मान्य कर स्वयं विष्णु की सेवा करने लगे, जिससे ही प्राप्त करने योग्य भगवत्स्वरूप को प्राप्त हुए. शास्त्र में भगवान् की प्रसन्नता तथा मुक्ति की प्राप्ति का साधन सेवा ही है,

जिसका प्रमाण—भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति विष्णुर्नान्येन केनचित् ।

स एव मुक्तिदाता च भक्तिस्तत्रैव कारणम्' इति वाक्यात् ॥२०॥

अर्थ—भक्ति के सिवाय अन्य कोई साधन भगवान् विष्णु को प्रसन्न नहीं कर सकता है, वह विष्णु भगवान् ही मुक्ति दाता है. इसमें भक्ति ही कारण है ॥२०॥

आभास—एवमुपाख्यानस्य फलपर्यन्ततामुक्त्वा तस्य च फलं सर्वदैव भवतीति ज्ञापयितुं सूतः फलश्रुतमाह इत्येतदिति ।

आभासार्थ—यों इस उपाख्यान की फल पर्यन्तता कहकर अब सूतजी, 'इत्येतन्मुनि' श्लोक में बताते हैं कि इससे जो फल मिलता है वह सदैव स्थिर रहता है—

श्लोक—सूत उवाच—इत्येतन्मुनितनयास्पृग्गन्ध-

पीयूषं भवभयमित्परस्य पुंसः ।

सुश्लोकं श्रवणपुटैः पिबत्यभोक्षणं

पान्थोऽध्वभ्रमणपरिश्रमं जहाति ॥२१॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार, यह, व्यास मुनि के पुत्र शुक्रदेवजी के मुख रूप कमल का सुगन्धितवाला अमृत रूप, संसार के भय को मिटाने वाला, पर पुरुष का सुन्दर श्लोकों वाला चरित्र जो पथिक कर्ण रूप दोनों से बार-बार पीता है दो मार्गों की थकावट को मिटाता है ॥२१॥

सुबोधिनी—इतीति कथासमाप्तिः सूच्यते । एतदित्यनुवादः । यतः कुतश्चिदपि श्रुतं भगवच्चरित्रं कार्यं साधयत्येव । फलरूपता तु साधारणानामपि भक्तमुखश्रवणादेव भवतीति ज्ञापयितुं विशेषणं मुनितनयास्पृग्गन्धपीयूषमिति । मुनितनयत्वेनान्यथा ज्ञानं निवर्तयति । आस्पृग्गन्धमिति पाने क्लेशाभाव उक्तः । अधःस्थितपदमेतु निम्नतासंपादनक्लेश इति । गन्धयुक्तं पीयूषमिति भक्तिरसालोडितं चरित्रमुक्तम् । अनेन स्वतःपुरुषार्थता निरूपिता । साधकत्वमप्याह

भवभयमिदिति । संसारभयं निवर्तयति । भवपद भयस्यानिवर्त्यत्वं ज्ञापयति । कीर्तरेतत्साधकत्वे हेतुमाह परस्य पुंस इति । नहि प्रकृतिमध्यस्थितस्य चरित्रमेतादृशं भवतीति । शब्दतोऽप्युत्तमतामाह सुश्लोकमिति । शोभनाः श्लोका व्यासादिकृता यस्मिन् । श्रवणपुटैरिति उत्तमित्कर्णपुटैरिति बहुवचनेन वरत्वेन प्राप्तैः । 'विघट्स्व वणयितुम्' इति वाक्यात् । एवं यः पान्थो भूत्वा अभोक्षणं पिबति तस्य साधनदशास्थितावपि क्लेशो निवर्तत इत्यर्थः ॥२१॥

व्याख्यानार्थ—'इति' गद से क्या सम्पूर्ण हुई यह सूचना देते हैं. 'एतत्' पद सूचित करता है कि यह कहना 'अनुवाद' मात्र है, किसीके भी मुख से सुना हुआ भगवान् का चरित्र कार्य को सिद्ध करता ही है, साधारणों को भी भक्त मुख में हा श्रवण करने पर फल प्राप्ति होती है, यों जताने के लिए 'मुनितनयास्पृग्गन्ध पीयूष' विशेषण दिया है, यह चरित्र तो मुनि के पुत्र शुक्रदेवजी से सुना

है, यों कहने से यह सूचना दी है कि इस श्रवण से जो ज्ञान प्राप्त हुआ है वह भूषा नहीं है, 'मुख कमल' पद देकर यह सूचित किया है कि इस चरित्रामृत पान करने में क्लेश नहीं होता है क्योंकि, यदि कमल नीचे पड़ा हो तो नीचे होने का क्लेश होता है, यह तो मुख कमल होने से ऊपर है अतः नीचे नमना नहीं पड़ता है जिससे क्लेश नहीं होता है, यह अमृत निर्गन्ध नहीं है किन्तु गन्धपूर्ण है, तात्पर्य यह है कि यह चरित्र रसमय है, इसमें यों निरूपण किया है कि यह चरित्र स्वतः पुरुषार्थ रूप है, इस चरित्र का साधकपन भी कहते हैं कि 'भवभयभित्' संसार के भय को तोड़ने वाला है, 'भव' पद से यह सूचित किया है कि इसमें उत्तम भय मिटने वाला नहीं है, किन्तु यह चरित्र इसको भी मिटा देता है, 'कीर्ति' इसके साधकपन में हेतु कहते हैं, 'परस्य पुंसः' यह चरित्र पर पुरुष का होने से कीर्ति आदि सब देते हैं, जो प्रकृति के मध्य में स्थित है उनका चरित्र वैसा नहीं होता है, शब्द से भी उत्तमता दिखलाते हैं कि, व्यासादि महर्षियों ने सुन्दर श्लोकों में स्तुति की है, 'श्रवण पुटैः' बहुवचन वाले पद से, खड़े हुए श्रवण रूप दोनों कहकर यह कहा कि वन्दन से ऐसे ज्ञान प्राप्त होते हैं, 'विधत्स्व कर्णायुतम्' 'दश हजार कान करो', भगवच्चरित्र पाने को इच्छा वाले इस प्रकार का वर प्राप्त करते हैं, ऐसा वर प्राप्त कर, जो पवित्र बार बार चरित्रामृत का पान करता है उसका क्लेश साधन दशा में भी निवृत्त हो जाता है ॥२१॥

आभास—एवं प्रमाणबलेन भगवतो ज्ञानशक्तिर्निरूपिता । प्रमेयबलेन निरूपयितु-
मुपाख्यानान्तरमारभते शुकः स्वयमेव एकदेति । इतीदृशानीत्यन्तेन ।

आभासार्थ—इसी तरह प्रमाण बल से भगवान् की ज्ञान शक्ति का वर्णन कर, अब प्रमेय बल द्वारा ज्ञान शक्ति का निरूपण करने के लिए, शुकदेवजी स्वयं, 'एकदा' श्लोक से इतीदृशा' श्लोक तक दूसरे उपाख्यान का आरम्भ करते हैं—

श्लोक—श्रीशुक उवाच—एकदा द्वारवत्यां तु विप्रपत्न्याः कुमारकः ।

जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा ममार किल भारत ॥२२॥

श्लोकार्थ—हे भारत ! किसी दिन द्वारका में ब्राह्मण की स्त्री को पुत्र उत्पन्न हुआ, वह जन्मते पृथ्वी का स्पर्श होते ही मर गया, यह कथा प्रसिद्ध है ॥२२॥

सुबोधिनी - प्रमेयबले पूर्वपक्षे कालस्यापि बलं निरूपणीयं ततो न देशादीनां बलेन सह विरोधः एते दश लीलारूपाः प्राणरूपा वा । निगुणया भक्त्या सह भक्तिरूपा वा, येषामर्थं भगवान् गच्छतीति । तेजसः प्रत्यापत्तिरपि वर्तव्येति भगवतो गमनमित्येके । अनिरुद्धचरित्र-त्वादर्जुनेन सह गमनम् । अर्जुने सर्वदेवतानाम-स्वर्गाणि वर्तन्त इति तत्सामर्थ्यं निराकृते सर्वेषा-

मेव सामर्थ्यं निराकृतं भवतीति ज्ञापयितुं तत्कथा । एकदा यस्मिन् काले भगवतः स्व-सामर्थ्यप्रदर्शनेच्छा । तुशब्दो वैकुण्ठे कथमेवमिति शङ्काव्यावृत्त्यर्थः । कस्याश्चिद्विप्रपत्न्याः कुमारकः पुत्रः जातमात्र एव तदानीं कालो भूमौ तिष्ठतीति भूमिस्पर्शमात्रेणैव मृतः । किलेति प्रसिद्ध्या शुकः स्वदोषं परिहरति । भारतेति निश्चासार्थम् ॥२२॥

व्याख्यार्थ—प्रमेय बल को निरूपण करते समय, पूर्व पक्ष में काल के बल का भी निरूपण करना चाहिए, इससे देश आदि के बल से विरोध नहीं होता है, ये^१ देश भी भगवान् के दस लीला रूप अथवा दस प्राण रूप थे, अथवा निर्गुण भक्ति सहित दश^२ विध भक्ति रूप थे, जिनको लेने के लिए भगवान् दूर पधारेंगे कोई कहते हैं कि तेज को लौटाकर लाना चाहिए इसलिए भगवान् का गमन हुआ, यह चरित्र भगवान् ने अनिरुद्ध स्वरूप से किया है इसलिए अर्जुन के साथ गए, अर्जुन के पास सकल देवों के अस्त्र हैं, इस प्रकार उनकी सामर्थ्य का निराकरण करने से सबकी सामर्थ्य का निराकरण हो जायगा यों जताने के लिए अर्जुन की कथा कही गई है।

किसी समय भगवान् को अपनी सामर्थ्य का प्रदर्शन करने की इच्छा हुई 'तु' पद, वैकुण्ठ में भगवान् को इच्छा कैसे हुई ? इस शका को मिटाने के लिए दिया है, सारांश कि भगवान् स्वतन्त्र, सर्व समर्थ होने से कोई भी इच्छा कभी भी और कहीं भी कर सकते हैं यह सूचित करने के लिए 'तु' शब्द दिया है।

कथा—एक दिन भगवान् को अपनी सामर्थ्य दिखाने की इच्छा हुई, तब किसी ब्राह्मण की स्त्री की पुत्र जन्म हुआ, जन्मते पृथ्वी का स्पर्श होते ही वह मर गया, कारण कि उस समय, काल पृथ्वी पर था, इसलिए पृथ्वी स्पर्श मात्र से बालक की मृत्यु हो गई 'किल' पद देकर यह बताया है कि यह चरित्र प्रसिद्ध हो है, मैं नहीं कहता हूँ, जिससे शुक्रदेवजी ने ग्राम पर, दोष आने का परिहार कर दिया है, हे भारत ! यह सम्बोधन विश्वास जमाने के लिए कहा है ॥२२॥

आभास—ततो ब्रह्मणः अभूतपूर्वोऽयमर्थ इति भगवता कालस्य पूर्वभोगोऽपि व्यावर्तित इति । विद्यमानेऽपि भगवति यत्पुत्रमरणं तच्छम्बुकन्यायेन जातमिति प्रत्यापत्तिर्भविष्यतीति राजदोषेणैवं जातमिति तान् ज्ञापयन् बालकं गृहीत्वा राजद्वारि गत इत्याह विप्रो गृहीत्वेति ।

आभासार्थ ऐसा अर्थ वाला कार्य आगे कभी नहीं हुआ है, भगवान् ने प्रथम, काल का पूर्व भोग भी रोक दिया था, तो भी भगवान् के विराजते हुए मेरा पुत्र मरा है, वह शम्बुकन्याय^३ से हुआ है, अर्थात् जैसे राम राज्य में शूद्र शम्बूक की तपस्या से गिता के जोते ब्राह्मण का पुत्र मरा था, राम ने शम्बूक का वध किया तो वह जीवित हो गया, वैसे मेरा पुत्र राज दोष से मरा है किन्तु भगवान् विराजते हैं अतः वह पीछा लौट आएगा, जैसे कमलादियुक्त मानसरोवर में मोती होते हैं किन्तु जल दोष से सीप भी पंदा हो जाती है वैसे राज दोष से मेरा बालक मरा है, ये शब्द राज दरबार में सभासदों को कहते हुए—मृत पुत्र राज दरबार में धर दिया—वह 'विप्रो' श्लोक में कहते हैं—

१- ब्राह्मणी के जन्मे हुए पुत्र,

२- श्रवणं कीर्तनं विष्णोः श्लोक में कही हुई नव विध भक्ति और एक निर्गुण प्रेमलक्षणा भक्ति,

३- शूद्र शम्बूक की तपस्या के कारण

श्लोक—विप्रो गृहीत्वा मृतकं राजद्वार्युपधाय सः ।

इदं प्रोवाच विलपन्नातुरो दीनमानसः ॥२३॥

श्लोकार्थ—दुःखित वह ब्राह्मण, मृत पुत्र को लेके, राजा के द्वार पर उसको रख कर विलाप करता हुआ, दीन बनकर निम्न शब्द कहने लगा ॥२३॥

सुबोधिनी—उपचारव्यावृत्त्यर्थं मृतकमिति । राजद्वारि स्थापयित्वेति विचारार्थं शववाहकस्य वचनं निषिद्धमिति उपधाय इदं प्रोवाचेत्याह । विलपन्निति कृत्रिमताव्युदासाय बाह्यो भाव उक्तः । दीनमानस इत्यान्तरः ॥२३॥

व्याख्यानार्थ—मृतक विशेषण देकर यह सूचित किया है कि अब इसका शौच आदि से किसी प्रकार उपचार नहीं हो सकता है, शव को ले जाने वालों के वचन पर विचार करने का शास्त्र में निषेध है, इसलिए कहा है कि शव को राज के द्वार पर धर कर, फिर यों कहने लगा, 'विलाप करता हुआ' इस पद से यह सूचित किया है कि यह ढोंग नहीं करता है, जिसमें बाहर का भाव प्रकट किया है, 'दीनमानसः' इस पद से भीतर का भाव प्रकट किया अर्थात् पुत्र मरने का भीतर भी भाव है यह बता दिया है ॥२३॥

आभास—बोधनार्थमाह ब्रह्मद्विष इति द्वाभ्याम् ।

आभासार्थ—मरने का कारण समझाने के लिए 'ब्रह्मद्विष' 'हिंसा' ये दो श्लोक कहने हैं—

श्लोक—ब्रह्मद्विषः शठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः ।

क्षत्रबन्धोः कर्मदोषात्पञ्चत्वं मे गतोऽर्भकः ॥२४॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण द्वेषी, शठ बुद्धि, लोभी, विषयी और नामधारी क्षत्रियों के कर्म दोष से मेरा पुत्र मरा है ॥२४॥

सुबोधिनी—प्रकृताप्रकृतभेदाद् द्वारकायां यादृशो राजा मृग्यते तादृशोऽग्रमुग्रसेनो न भवतीति तद्दोषः प्रायेण भविष्यतीत्याशयेनाह राज्ञो दोषत्रयं महत् । ब्रह्मद्वेषो जडबुद्धिः लोभश्चेति विषयात्मकता चतुर्थः साधारणः । चतुर्विधोऽपि प्रायेणायं राजा । ब्रह्मद्वेषेण तस्य धर्माभावः । शठबुद्ध्या नार्थः । लोभान्न कामः । विषया—

सक्त्या न मोक्ष इति स राजा सर्वपुरुषार्थवञ्चितो भवति । तादृशस्य कर्माणि तस्य पुरुषार्थभावात् तत्रापकारं कर्तुं मसमर्थानि मदुपरि पतितानीत्याह पञ्चत्वं मे गतोऽर्भक इति । चतुष्टुं स एव गतः तस्यैव पञ्चत्वे क्षत्रबन्धुत्वाद्रक्षा न भविष्यतीति ब्राह्मणास्तदीया इति तेषु पतति ॥२४॥

व्याख्यानार्थ—प्रकृत तथा अप्रकृत भेद से जैसा राजा द्वारका में होना चाहिए वैसा यह उग्रसेन नहीं है, जिससे बहुत कर मेरे पुत्र के मरने में उस का ही दोष होगा, इस आशय को प्रकट करने के लिए पहले राजा के तीन बड़े दोष दिखलाते हैं, १- ब्राह्मणों से द्वेष, २- दोष पूर्ण बुद्धि, ३- लोभ-

४- विषयी होना साधारण दोष है, प्रायः यह राजा इन ४ दोषों से पूर्ण है, ब्राह्मण द्वेष करने से जाना जाता है कि इसमें धर्म का अभाव है, अर्थात् अधर्मो है, दोष युक्त बुद्धि वाला होने से इसके पाम अर्थ नहीं है, लोभ के कारण काम नहीं है, विषयासक्ति से मोक्ष नहीं है इसलिए वह राजा सर्व पुरुषार्थों से वञ्चित है ।

उस राजा के ऐसे दोष युक्त कर्म इसकी^१ हानि करने में असमर्थ होने से मेरे ऊपर आकर पड़े जिससे मेरा पुत्र मरा है, राजा में कोई पुरुषार्थ नहीं है, चार दोष राजा ने पा लिये हैं यदि वह^२ पञ्चत्व को प्राप्त होता अर्थात् मर जाता तो क्षत्र बन्धु होने से उसकी रक्षा नहीं हो सकती, ब्राह्मण उसके हैं इस कारण से उन कर्मों का फल ब्राह्मणों पर पड़ा है ॥२४॥

आभास—ननु पुरोहित विषयमेतत् 'गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च' इति वाक्यात् । साधारणश्च ब्राह्मणस्त्वं तादृशः कथं दुःखी जात इति चेत् तत्राह हिंसाविहारमिति ।

आभासार्थ—शास्त्र में 'गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च' यह वचन जो कहा है उसका अर्थ है कि यज्ञ करने वाले (यजमान) और शिष्य का पुरोहित में समावेश होता है, इस वाक्यानुसार राजा (यजमान) के कर्म; उसके पुरोहित को भोगना पड़ता है, तुम तो पुरोहित नहीं साधारण ब्राह्मण हो तो तुम दुःखी कैसे हुए ? इस शंका का निवारण 'हिंसाविहार' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—हिंसाविहारं नृपति दुःशीलमजितेन्द्रियम् ।

प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यः दुःखिताः ॥२५॥

श्लोकार्थ—हिंसा में आनन्द मानने वाले, दुष्ट स्वभाव वाले, जिसने इन्द्रियों को अपने वश में नहीं रखा है, ऐसे राजा की सेवा करने वाली प्रजा नित्य दरिद्रता और दुःखों से पीड़ित रहती है ॥२५॥

सुबोधिनी—राज्ञो महात् त्रिदोषः सर्वानेव व्याप्नोति राज्यस्थितान् । निषिद्धस्य कर्ता विहितस्याकर्ता दुष्टदोषकश्चेति दोषत्रयं क्रमेण । हिंसायामेव विहारो यस्य । दुष्टं शीलं यस्य । न जितानीन्द्रियाणि येनेति तादृशं नृपति भजन्त्यः प्रजा क्रमेण तत्तद्दोषं प्राप्नुवन्ति ।

आदाववसादं हिंसाफलम् । मृतप्राया भवन्तीत्यर्थः । दुःशीलत्वात् धर्माभावाद् दरिद्रा भवन्ति । ततः शत्रुनयाभावान्नित्यदुःखिताः । एवमुपदेशार्थमुक्त्वा बालकं गृहीत्वा गच्छति ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—राजा के बड़े तीन दोष बताते हैं, वे, राज्य में रहने वाली सर्व जनता को लगते हैं, वे तीन दोष हैं— १-जिस हिंसादि कर्म करने का शास्त्र में निषेध है उसको तो करता है, २-जिन पुण्य कर्म करने की आज्ञा है, वे, नहीं करता है और ३-दुष्टों की पालना करता है ।

उन तीनों को स्पष्ट कर क्रम पूर्वक कहते हैं—१- हिंसा (जीवों को दुःख देने में जिस राजा को आनन्द आता है, २- जिसका स्वभाव दोषपूर्ण है, ३- जिसने इन्द्रियों को न जोत सकने से विषय श्याग नहीं किया है एमे दोष पूर्ण राजा को सेवा जा प्रजा करतो है, वह उन उन दोषों वाली होती है अर्थात् वे दोष उसमें भी आ जाते हैं, जिससे पहले हिंसा का फल विषाद वा नाश पाती है, दुःशीलपन से धर्म के अभाव से दरिद्र होती है, पश्चात् शत्रु पर जय के अभाव से नित्य दुःखी रहतो है यों उपदेश देकर बालक को ले चला गया ॥२५॥

आभास—एवमेकवारकथामुक्त्वा पर्यायान्तरेष्वतिदिशति एवं द्वितीयमिति ।

आभासार्थ—इसी प्रकार एक वार कथा कहकर 'एवं द्वितीयं' श्लोकों में वही कथा अन्य प्रसङ्गों से सम्बद्ध करते हैं—

श्लोक — एवं द्वितीयं विप्रविस्तृतीयं त्वेवमेव च ।

विसृज्य स नृपद्वारि तां गाथां समगायत ॥२६॥

श्लोकार्थ—इसी प्रकार उस ब्रह्मर्षि ने अपने मरे हुए दूसरे, तीसरे पुत्र को लाकर राजद्वार पर रखे, पहले की तरह फिर भी वे ही वाक्य कहने लगे ॥२६॥

सुबोधिनी—तृतीयमप्येवमेव । बालकमानी-
यैव वदति । ततो लोकानां प्रतीतिर्जातेति
पश्चात् षट् पुत्रा नानीताः, पर स्वयमेवागत्य
वाक्यं वदति । तृतीयं तु तत्रैव त्यक्तवानिति
लक्ष्यते । द्वारकायां भगवान्मुख्यः स तूष्णी

तिष्ठति । तत्रत्याः सर्व एव तूष्णीं तिष्ठन्ति ।
यथा कायिकोऽपराधः ब्राह्मणस्य सोढः । एवं
वाचनिकोऽपीति । यथा ब्रह्मविचारार्थं प्रवृत्तस्य
तथेति ब्रह्मणः कार्यम् । तथात्रापि भगवता
नीयन्त इति तूष्णींभावः ॥२६॥

व्याख्यार्थ—दूसरे के बाद तीसरे को भी इसी तरह ही बालक को लाकर ही कहता था, यों करने से पुत्रों के मरने का कारण लोक जान गए, इसलिए शेष दूसरे पुत्र नहीं लाए, किन्तु केवल आप ही आकर वह वाक्य कहता था, तीसरे मरे पुत्र को तो वहां ही पड़ा हुआ छोड़ दिया। यों समझ में आता है, 'तु' पद से यह सूचित होता है, दूसरे को भी ले गया किन्तु तीसरे को नहीं ले गया, द्वारका में मुख्य भगवान् चुप रहे तो तब वहां वाले सब चुप रह गए क्योंकि, जैसे पहले ब्रह्मण का कायिक अपराध सहन किया है, वैसे अब यह वाचनिक अपराध भी सहन करना चाहिए, जैसे ब्रह्म के विचार करने से प्रवृत्त पुरुषों के कार्य सहन करने पड़ते हैं वैसे यह भी सहन करने चाहिए कारण कि यह भी ब्रह्म का कार्य है, वैसे यहां भी इनको भगवान् ले जाते हैं इसलिए मौन धारण की है ॥२६॥

आभास—ततो भिन्नस्वभावः जीवभावमेवापन्न इति द्वारकायामपि गतो लौकिक-
बुद्ध्या विट्पतिरहमिति साभिमानः किंचिदुवाचेत्याह तामर्जुन इति ।

आभासार्थ—पश्चात्, पृथक् स्वभाव वाले जीव भाव को प्राप्त द्वारका में गए हुए भी लौकिक बुद्ध होने में, मैं प्रजा पति हूं' यों अभिमान के साथ 'तामर्जुन' श्लोक में कहने लगे—

श्लोक — तामर्जुन उपश्रुत्य कहिचित्केशवान्तिके ।

परेते नवमे बाले ब्राह्मणं समभाषत ॥२७॥

श्लोकार्थ — किसी काल में जब अर्जुन भगवान् के पास बैठे थे और नवमी बेर भी ब्राह्मण का लड़का मर गया तथा तब वह ब्राह्मण आकर उसी तरह के वचन कहने लगा, उनको सुनकर अर्जुन ब्राह्मण को कहने लगे ॥२७॥

सुबोधिनी—केशवान्तिक एवोपविश्य । उपश्रुत्य ब्राह्मणं समभाषतेति संबन्धः । भगवान् भक्तार्थमेव सर्वं करोतीति जापयितुं तत्र विलम्बाः भावाय परेते नवमे बाल इत्युक्तम् । गुणानां कार्ये जाते ग्रहंकारदेवता असहमाना तथा प्रोवाच । दशैव पुत्रा मर्यादायामेकस्याम् 'दशास्यां पुत्रानाधेहि' इति श्रुतेः । अत एक एवावशिष्यते । अतो विलम्बमकृत्वा ब्राह्मणं समभाषत ॥२७॥

व्याख्यार्थ — केशव के पास ही बैठे थे, वहां ही ब्राह्मण के वचन सुने और उसको कहने लगे, इस प्रकार वाक्य का सम्बन्ध है, भगवान् जो कुछ करते हैं वह भक्त के वास्ते ही हैं, यों जताने के लिए और उस (भक्त के कार्य) में विलम्ब न हो इसीलिए कहा कि नवम लड़का भी मर गया, इससे यह सूचित किया कि जब गुणों का कार्य पूरा हुआ, तब ग्रहंकार की देवता, उनके कार्य को सहन न कर सकी अतः वंसे कहने लगी 'दशास्यां पुत्रा नाधेहि' इस श्रुति के अनुसार एक स्त्री में दस पुत्र ही उत्पन्न करने चाहिए यों मर्यादा है, नव के मरजाने से एक ही बचना है, अतः जल्दी ब्राह्मण को कहने लगे ॥२७॥

आभास—अर्जुनो ह्येवं मन्यते मृत्युरेनं नयतीति । स मृत्युर्ब्राह्मणक्षत्रिययोर्मित्रं तदुपपादितम् 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनम्' इत्यत्र तुल्यव्यसनत्वान्मित्रत्वम् । तत्रोभौ स्वधर्मपरा मूयेते न तु जातिमात्रवराविति तदाह किंस्विद्ब्रह्मंस्त्वन्निवास इति ।

आभासार्थ — अर्जुन यों मानते थे कि ब्राह्मण बालकों को मृत्यु लेजाता है वह मृत्यु ब्राह्मण तथा क्षत्रियों का मित्र है, शास्त्र में यों प्रतिपादन किया हुआ है जैसे कि 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः, मृत्युर्यस्योपसेचनम्' अर्थ — जिसका ब्रह्म और क्षत्रिय दोनों ओदन हैं एवं मृत्यु घृत रूप है', यों कहकर बताया है कि सभान व्यसन वाले होने से इनका आपस में मित्रान है, वहां देखा जाता है कि दोनों ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने २ धर्म में व्यस्त है कि नहीं? केवल नाम मात्र ब्राह्मण वा क्षत्रिय हो तो उनकी आवश्यकता नहीं है यह 'किंस्विद्ब्रह्म' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक — किंस्विद्ब्रह्मंस्त्वन्निवासे इह नास्ति धनुर्धरः ।

राजन्यबन्धवो ह्येते ब्राह्मणाः सत्रमासते ॥२८॥

श्रोतार्थ हे ब्राह्मण! तुम्हारे निवास स्थान में कोई धनुषधारी नहीं है। ये तो नामधारी क्षत्रिय हैं, ब्राह्मण तो सत्र कर रहे हैं। ॥२८॥

सुबोधिनी त्व यत्र निवससि तत्र कश्चिद्ध-
नुर्धरो राजन्यः किं नास्ति ननु सन्त्येव बहवः
मवं एवैते मभायां स्थितास्तत्राह राजन्यबन्धवो
ह्येते इति । एते नोत्तमाः क्षत्रियाः एतेषां पूर्वजाः ।
परं राजन्याः स्थिता इत्यर्थः । ननु ब्राह्मणानामेवं
दोषः कुतो न भवतीत्याकाङ्क्षायामाह ब्राह्म-
णास्तु सत्रमासत एव ॥२८॥

व्याख्यान—तुम जहाँ रहते हो वहाँ कोई धनुषधारी क्षत्रिय नहीं है क्या? यदि कहो कि बहुत है, वे सत्र यहाँ सभा में बैठे हैं, ये तो नाम मात्र के क्षत्रिय हैं, उत्तम क्षत्रिय नहीं है, क्षत्रिय इनके पूर्वज (बड़े) थे ये तो राजाओं के मात्र वंशज होने से क्षत्रिय कहनाते हैं क्षत्रियों के लिए ही दोष निकालते हो? ब्राह्मणों का दोष क्यों नहीं निकालते हो? जिसके उत्तर में कहा है कि ब्राह्मण 'सत्र मासते' ब्राह्मणों का दोष कैसे निवाले वे तो 'सत्र' कर रहे हैं अर्थात् अपना धर्म पाल रहे हैं ॥

आभास—अनः अलौकिकदोषेण न बालकानां मरणं किन्तु क्षत्रियाणामेव दोषेणेत्याह धनदारात्मजापृक्ता इति ।

आभासार्थ—अलौकिक दोष से बालक नहीं मरे हैं क्षत्रियों के दोष से मरे हैं यह 'धनदारा' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—धनदारात्मजापृक्ता यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः ।

ते वै राजन्यवेषेण नटा जीवन्त्यसुभराः ॥२९॥

श्लोकार्थ—जिस राज्य में धन, स्त्री और पुत्र के कारण ब्राह्मण दुःखी हैं, उस राज्य के राजा नृप नहीं है किन्तु नटों की तरह राजन्यवेष धारण कर जीवित रहे हैं ॥२९॥

बोधिनी—धनदारात्मजैः सर्वथा अपेक्षितैः
अपृक्ता रहिताः । एकाकित इत्यर्थः । यत्र
ब्राह्मणा एव दुःखं प्राप्नुवन्ति । ते वै निश्चयेन
राजन्या नटा एव । राजन्यवेषं कृत्वा लोके-
भ्योऽन्नं प्रप्य जीवन्तीत्यसुभराः ॥२९॥

व्याख्यान—गृहस्थ में जिन (स्त्री धन और पुत्र की सर्व प्रकार सदा अपेक्षा रहती है वे यदि जिस राजा के राज्य में ब्राह्मण के पास नहीं है, वह अकेला ही दुःख भागता है, वे राजा वास्तविक राजा नहीं है किन्तु राजन्यवेषधारी नट है, केवल वेष द्वारा प्रजा से अन्न लेकर आने प्राणों का पोषण करने वाले हैं ॥२९॥

१- ब्राह्मण यज्ञादि कर्म न करे तो जगत् में अलौकिक दोष उत्पन्न होवे, वे तो यज्ञ कर रहे हैं अनः अलौकिक दोष है ही नहीं, इसलिए ये पुत्र अलौकिक दोष से नहीं मरे हैं ।

आभास—ब्राह्मणश्चेद्रक्षितो भवेत् सोऽन्यं रक्षयेन्न त्वात्मानं स पालयितुं शक्तः । तथा सति क्षत्रियनिर्माणं व्यर्थं स्यात् । 'अतो ह्यन्योन्यमात्मानं ब्रह्म क्षत्रं च रक्षतः' 'तत्राणायासृजचास्मान्' इति च तस्मादवश्यमत्र क्षत्रियेण रक्षा कर्तव्या । अतोऽहं करिष्यामीत्याह अहमिति ।

आभासार्थ—क्षत्रिय (राजा) द्वारा जब ब्राह्मण की रक्षा होवे तो, रक्षित ब्राह्मण दूसरों की रक्षा करे, यदि वह रक्षित नहीं तो दूसरों की (क्षत्रिय आदि की) रक्षा कैसे कर सकेगा ? यदि कहो कि ब्राह्मण अपनी रक्षा स्वयं क्यों नहीं करते हैं, जिसका उत्तर यह है कि यदि ब्राह्मण अपनी स्वयं करे, वा कर सकते तो क्षत्रिय बनाने की कौनसी आवश्यकता थी ? उनको रचना ही व्यर्थ हो जाती अतः ब्राह्मण एवं क्षत्रिय परस्पर रक्षण करते हैं, ब्राह्मणों को रक्षा के लिए हम (क्षत्रियों) को भगवान् ने बनाया है, अतः इस प्रसङ्ग में क्षत्रिय को अवश्य रक्षा करनी चाहिए, जिससे मैं इसकी रक्षा करूँगा यों 'अहं प्रजा श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—अहं प्रजां वां भगवन्नक्षिष्ये दीनयोरिह ।

अनिस्तीर्णप्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः ॥३०॥

श्लोकार्थ—हे भगवन् ! मैं आप दोनों दीनों की प्रजा का रक्षण करूँगा, यदि प्रतिज्ञा पूर्ण न करूँ, तो अग्नि में प्रवेश करूँगा, जिससे पाप रहित बनूँगा ॥३०॥

सुबोधिनी—वां स्त्रीपुरुषयोः तस्मिन् रक्षिते उभयोरुपकार इति । तस्यादयावत्त्वं सूचयितुमाह दीनयोरिति । ननु त्वद्वाक्ये को विश्वास इति चेत् तत्राह अनिस्तीर्णप्रतिज्ञ इति । तन्व-

ग्निं प्रवेशं किं स्याद् बालकस्तु न जीविष्यत्येवेत्याशयेनाह हतकल्मष इति । तदा तस्य पापं न भवति, क्षत्रियदेहस्य परित्यागात् ॥३०॥

व्याख्यार्थ—बालक रक्षा करने से तुम दोनों (स्त्री तथा पति) का हित होगा, आप दोनों पुत्र के अभाव के कारण दीन हो अतः आप पर दया करनी चाहिए, राजा को दीन प्रजा पर दया करनी चाहिए, उग्रसेन राजा होकर दया क्यों नहीं करता है ? जिसके उत्तर में आचार्य श्री साष्टता करते हैं कि उग्रसेन में दया का अभाव अर्थात् निर्दयी है, किन्तु अर्जुन सिद्ध करता है कि मैं दयावान् हूँ अतः रक्षा करूँगा, तेरे कहने पर विश्वास कैसे करें ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यदि मैं अपनी प्रतिज्ञा का पालन न कर सका तो अग्नि में प्रवेश करूँगा, अग्नि में प्रवेश से क्या बालक जीवित होगा ? यदि नहीं तो प्रवेश से क्या लाभ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि उसका पाप न लगेगा, कारण कि क्षत्रिय देह का परित्याग हो जायगा ॥३०॥

आभास—तदा ब्राह्मणस्तनुपदिशति, अज्ञं मत्वा मित्रत्वात् सङ्कषणो वासुदेव इति ।

आभासार्थ—अर्जुन के ये वचन सुनकर ब्राह्मण ने जान लिया कि यह भूख है किन्तु अब

मेरा मित्र है अतः इसको समझाना चाहिए अतः 'संकर्षणो वासुदेवः' श्लोक से उस (प्रजुन) को उपदेश करता है—

श्लोक—ब्राह्मण उवाच—सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नो घन्विनां वरः ।

अनिरुद्धोऽप्रतिरथो न त्रातुं शक्नुवन्ति यत् ॥३१॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण कहने लगा कि सङ्कर्षण, वासुदेव, धनुषधारियों में श्रेष्ठ प्रद्युम्न और अप्रतिरथ अनिरुद्ध; ये सब हमारी सन्तति की रक्षा नहीं कर सकते हैं ॥३१॥

सुबोधिनी—चतुर्भूति भगवन्तं सर्वथा स्वभावतोऽपि रक्षकं निर्दिशति संकर्षण इति । घन्विनां वर इति लौकिकमपि सामर्थ्यं सूचितम् । पूर्वयोस्तु सामर्थ्यं दृष्टवरम् । अनिरुद्धस्त्वप्रतिरथः, न केनापि रुद्ध इति सार्थकता तस्य निरूपिता । एवं मिलिता अपि अस्मत्पुत्रं त्रातुं न शक्नुवन्ति । यस्मात्कारणोदस्ति किञ्चित्कारणं येन तेऽपि न शक्नुवन्तीत्यर्थः ॥३१॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण कहता है कि चतुर्भूति भगवान् तो सर्व प्रकार और स्वभाव से भी रक्षा करने वाले हैं, सङ्कर्षण धनुषधारियों में श्रेष्ठ है, इस विशेषण से लौकिक सामर्थ्य की भी सूचना की है, वासुदेव और प्रद्युम्न का सामर्थ्य देखा हुआ ही है, अनिरुद्ध तो किसी से भी रोका जाता नहीं एवं इसके सामने कोई ठहर नहीं सकता है, ये चारों मिलकर भी हमारे पुत्र की रक्षा न कर सके, अतः समझा जाता है कि इसमें कुछ किसी प्रकार का रहस्य ही है जिससे वे भी न बचा सकते हैं ॥३१॥

आभास—तावता किमित्यत आह तत्कथमिति ।

आभासार्थ—यों होने से क्या? इस पर ब्राह्मण 'तत्कथं' श्लोक में उसका भावार्थ बतलाता है—

श्लोक—तत्कथं नु भवान्कर्म दुष्करं जगदीश्वरैः ।

चिकीर्षसि त्वं बालिश्यात्तन्न श्रद्दध्महे वयम् ॥३२॥

श्लोकार्थ—जो कर्म जगत् के ईश्वरों से न हो सका, वह कर्म तुम करना चाहते हो, यह तो हम तुम्हारा बचपन समझते हैं, अतः तुम्हारे कहने पर हम विश्वास नहीं कर सकते हैं ॥३२॥

सुबोधिनी—एते जगदीश्वराः भगवदवतार- त्वात् । असाध्यं बाल एवं वदतीति त्वं बालिशः । अतस्तव वाक्यं न श्रद्दध्महे ॥३२॥

व्याख्यार्थ—ये संकर्षणादि भगवान् के अवतार होने से जगत् के ईश्वर हैं, उनसे न होने पर मैं समझता हूँ यह कार्य असाध्य है, होने वाला नहीं फिर भी तुम कहते हो कि मैं करूँगा, ये तेरे वचन, बचपन के वा मुखता के हैं, इसलिए तुम्हारे वचन पर हम विश्वास नहीं कर सकते हैं ॥३२॥

आभास—अर्जुनस्त्वेवं मन्यते । चतुर्मूर्तिर्भगवान् प्रतिनियतकार्यकर्ता । तदंशोऽपि तत्रैव निविशते । यस्तु तदनंशोऽपि भूत्वा विशेषकार्यार्थं उत्पन्नः स एवं कर्तुं शक्नोतीति । अतो निषेधति नाहं सङ्कर्षण इति ।

आभासार्थ—अर्जुन तो इस प्रकार समझ बैठे हैं कि चतुर्मूर्ति जो भगवान् हैं वे जो २ कार्य उनके लिए नियत हैं वे ही कार्य करते हैं, उसका अंश भी वहां ही समाविष्ट हो जाता है और जो उसका अंश नहीं भी है, किन्तु विशेष कार्य के लिए उत्पन्न हुआ है, वह इस प्रकार का कार्य कर सकता है, यों कहकर 'नाहं संकर्षणो' श्लोक से कहता है कि मैं न मूर्ख हूँ और न मैं वचन से कहता हूँ—

श्लोक—अर्जुन उवाच—नाहं सङ्कर्षणो ब्रह्मन्न कृष्णः कार्ष्णिगरेव वा ।

अहं वा अर्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः ॥३३॥

श्लोकार्थ—अर्जुन ने कहा कि हे ब्राह्मण ! मैं सङ्कर्षण, कृष्ण, प्रद्युम्न अथवा अनिरुद्ध नहीं हूँ, किन्तु गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन हूँ ॥३३॥

सुबोधिनी—जगदीश्वरत्वप्रयोजकं प्रति-
नियतकार्यकर्तृत्वस्य प्रतिबन्धकत्वात् । कार्ष्णि-
प्रद्युम्न, वेत्यनिरुद्धे अनादरः स्वस्यानिरुद्धां
शास्त्रा न साक्षान्निषेधं करोति । अन्यथा अनृत-
वादी स्यात् । अहं वै निश्चयेन अर्जुनः । येन
गावः प्रत्यानीताः मम चासाधारणं साधनं कार्य
चेत्याह गाण्डीवं यस्य वै धनुरिति साधनोत्कर्षो
निरूपितः ॥३३॥

व्याख्यार्थ—इस कार्य करने में जगदीश्वरत्व अप्रयोजक है, क्योंकि प्रत्येक का कार्य नियत है वह नियतता इस कार्य करने में प्रतिबन्धक है, 'कार्ष्णि' पद का अर्थ प्रद्युम्न है, वा शब्द से बताते हैं कि इस (कार्ष्णि) का अर्थ अनिरुद्ध भी हो सकता है किन्तु उस अर्थ में आदर नहीं है तथा अर्जुन स्वयं अनिरुद्धांश होने से स्पष्ट निषेध नहीं करता है, यदि निषेध करे तो 'असत्यवादो' कहा जावे, मैं निश्चय से अर्जुन हूँ, जो अर्जुन गौग्रों को लीटाकर लाया था, मेरे कार्य और साधन दोनों असाधारण हैं, जिस अर्जुन का 'गाण्डीव' है, इससे साधन का उत्कर्ष निरूपण किया है । ३३॥

श्लोक—मावमंस्था मम ब्रह्मन्वीर्यं त्र्यम्बकतोषणम् ।

मृत्युं विजित्य प्रधने आनेष्ये ते प्रजां प्रभुः ॥३४॥

श्लोकार्थ—हे ब्रह्मन् ! महादेव को भी प्रसन्न करने वाले मेरे वीर्य का तिरस्कार मत करो । युद्ध करके भी मृत्यु को जीतकर तुम्हारी प्रजा को लाऊँगा; क्योंकि मैं सर्व समर्थ हूँ ॥३४॥

सुबोधिनी—त्र्यम्बकतोषणमिति कार्योत्कर्षः । सोऽपि चेन्मद्वीर्येण तुष्यति तदा मम मृत्युजये कः
स हि मृत्युजयः न ह्यन्येन मृत्युर्जितुं शक्यः । सदेह इति भावः । यदि मृत्यु प्राथितश्चेदास्पति

तदा न काचिच्चिन्ता । यदि वा कलहं करिष्यति । यतोऽहं प्रभुः ॥ ३४॥
तथापि प्रधने मृत्युं विजित्य ते प्रजां आनेष्ये ।

व्याख्यानार्थ—‘त्रयम्बक तोषणम्’ इस पद से यह सूचित किया है कि मैं बड़े २ कार्य कर सकता हूँ, एवं अपने कार्य का उत्कर्ष दिखाया है, महादेव मृत्यु को जीतने वाले हैं उनके सिवाय कोई दूसरा मृत्यु को नहीं जीत सकता है, वह भी जब मेरे वीर्य पराक्रम)से प्रसन्न होता है तब मैं मृत्यु को जीतूँगा, इसमें कौनसा सन्देह है? यदि मृत्यु प्रार्थना करने से लौटा देगे तो कोई चिन्ता नहीं है, जो न देगे लड़ेगे तो भी लड़ाई में उसको जीतकर तेरी संतति ले आऊँगा, क्योंकि मैं सर्व समर्थ हूँ ।

आभास—एवं सोपपत्त्या निरूपणो ब्राह्मणस्य विश्वासो जात इत्याह एवं विश्रम्भित इति ।

आभासार्थ—यों हेतुपूर्वक समझाने से ब्राह्मण को विश्वास हुआ यह ‘एवं’ श्लोक में कहते हैं—

श्लोक— एवं विश्रम्भितो विप्रः फाल्गुनेन परंतप ।

जगाम स्वगृहं प्रीतः पार्थवीर्यं निशामयन् ॥ ३५॥

श्लोकार्थ—हे परन्तप ! अर्जुन ने ब्राह्मण को इस प्रकार विश्वास दिलाया, उसने भी विश्वास कर लिया, प्रसन्न हो अर्जुन का पराक्रम सुनाता हुआ अपने घर गया ॥ ३५॥

सुबोधिनी—एवं विश्रम्भो विश्वासः यतोऽयं विप्रः ‘विप्राः पश्चिमबुद्धयः’ इति । परंतपेति निवारकत्वेन प्रसिद्धमिति तद्वाच्यः कथं मृत्युं न निवारयेदिति विश्वासः । ततो ग्राममध्ये सर्वत्र पार्थवीर्यं श्रावयन् स्वगृहं गतः ॥ ३५॥
विश्वासाय सम्बोधनम् । फाल्गुनपदं लोके विद्यु-

व्याख्यानार्थ—इसप्रकार ब्राह्मणने विश्वासकर लिया क्योंकि ब्राह्मण पाछिल बुद्धिवाले होते हैं, परंतप ! यह संबोधन विश्वासाय दिया है, फाल्गुन’ पद, लोक में बिजली को रोकने वाला प्रसिद्ध है, इसलिए वह नाम मृत्यु को कैसे न निवारण करेगा, इसलिए विश्वास हो गया, पश्चात् अपने गांव में सर्वत्र अर्जुन के पराक्रम की प्रशंसा करता हुआ अपने घर गया ॥ ३५॥

आभास—ततो वर्षपर्यन्तं प्रीतः स्थितः । ततो यज्ञं तं तदाह प्रसूतिकाल आसन्न इति ।

आभासार्थ—पश्चात् ब्राह्मण एक वर्ष तक आनन्द में रहा, अनन्तर जो कुछ हुआ वह प्रसूतिकाल’ श्लोक में कहते हैं—

श्लोक— प्रसूतिकाल आसन्ने भार्याया द्विजसत्तमः ।

पाहि पाहि प्रजां मृत्योरित्याहार्जुनमातुरः ॥ ३६॥

श्लोकार्थ — जब स्त्री का प्रसव समय निकट आया, तब उस ब्राह्मण ने आतुर दशा में आकर अर्जुन को कहा कि मेरी प्रजा की रक्षा करो-रक्षा करो ॥३६॥

सुबोधिनी—द्विजसत्तमो महान् अन्यथा शापं । इति शरीरेऽपि दैन्यं प्रतिभातोऽत्युक्तम् ॥३६॥
दद्यात् । मृत्योः सकाशात्प्रजां पाहि । आतुर ।

व्याख्यान — 'द्विजसत्तमः' पद से यह बताया कि वह ब्राह्मण साधारण नहीं है किन्तु महान् है यदि अर्जुन अपना वचन न पालेंगे तो उनको शाप दे देगा, ब्राह्मण ने कहा अब प्रजा होने वाली है उसको मृत्यु के पाश से बचाओ उस समय ब्राह्मण 'आतुर' था जिससे उसके शरीर में उदासी थी, यों भास रहा था ॥३६॥

आभास — ततोऽर्जुनस्य रक्षाप्रकारमाह स उपस्पृश्येति ।

आभासार्थ—पश्चात् 'स उपस्पृश्य' श्लोक में अर्जुन ने जिस प्रकार रक्षा का प्रबन्ध किया वह कहते हैं

श्लोक — स उपस्पृश्य शुच्यम्भो नमस्कृत्य महेश्वरम् ।

दिव्यास्त्राणि च संस्मृत्य सज्जं गाण्डीवमाददे ॥३७॥

श्लोकार्थ—अर्जुन पवित्र जल का स्पर्श (आचमन) कर, महादेव को नमस्कार कर और दिव्य अस्त्रों का स्मरण कर तैयार किया हुआ गाण्डीव धनुष ले लिया ॥३७॥

सुबोधिनी—अर्जुनो महादेवबलेन सर्वं करिष्यामीति सर्वदेवाविष्टस्तथा करोति । उपस्पृशनम् देवतासन्निध्यार्थम् । शुच्यम्भ इति मन्त्रपूतम् । देवताप्रार्थनार्थं नमस्कारः ।
दिव्यास्त्राणां सर्वेषां संस्मरणं सर्वत्र सर्वसंबन्धार्थम् । सज्जं आरूढप्रत्यञ्चं गाण्डीवमाददे इति तस्य दृष्टसामग्री निरूपिता ॥३७॥

व्याख्यान—महादेव के बल से सब करूंगा यों कहकर अर्जुन सर्व देवों से आविष्ट हो, यों करने लगा, देवताओं की सन्निधि प्राप्त करने के लिए मन्त्रों के पवित्र जल से आचमन किया, अनन्तर देवताओं की प्रार्थना के लिए पहले नमन किया, दिव्य अस्त्रों का सम्यक् स्मरण किया जिससे उन दिव्यास्त्रों का सर्वत्र सर्व शास्त्रों से सम्बन्ध हो जावे, तैयार 'गाण्डीव' ले लिया, उसकी प्रत्यक्ष सामग्री का वर्णन किया ॥३७॥

श्लोक—न्यरुणत्सूतिकागारं शरैर्नानास्त्रयोजितैः ।

तिर्यगूर्ध्वमधः पार्थश्चकार शरपञ्जरम् ॥३८॥

श्लोकार्थ—अनेक प्रकार के अस्त्रों से जोड़े हुए बाणों से तिरछा, ऊँचा और नीचा चोतरफ से प्रसूतिका गृह आच्छादित कर दिया, घर को शर पञ्जर सा बना दिया ॥३८॥

सुबोधिनी—नानास्त्रयोजितैः शरैरिति देव- चकार । ३८॥
तान्तराप्रवेशाय । ततः सर्वतः शरपञ्जरं ।

व्याख्यान—अनेक प्रकार के अस्त्रों से बनाए हुए शरों(बाणों) से ऐसा चारों तरफ शर पञ्जर बना दिया जिससे कोई भी देवता वहाँ प्रवेश न कर सके ॥३८॥

श्लोक—ततः कुमारः सञ्जातो विप्रपत्न्या रुदन्मुहुः ।

सद्योऽदर्शनमापेदे सशरीरो विहायसा ॥३९॥

श्लोकार्थ—पश्चात् ब्राह्मण पत्नि को रोता हुआ बालक उत्पन्न हुआ, किन्तु शीघ्र ही शरीर सहित आकाश मार्ग से चला गया, किसी को देखने में भी न आया ॥३९॥

सुबोधिनी—ततः पञ्जरमध्य एव कुमारः आकाशं भित्त्वा कालं मायां च भगवत्स्थाने
संजातः । विप्रपत्न्याः सकाशाद् भूमिस्पर्शा- गत्वा भगवता सह लोकालोकात्परभागे आवि-
भावात् । कठिनमार्गेण गच्छामीति सद्योऽदर्शन- भूत इत्यर्थः ॥३९॥
मापेदे । सशरीर एव आकाशमार्गेण गतः ।

व्याख्यान—पश्चात् ब्राह्मण पत्नि को पञ्जर के मध्य में पुत्र उत्पन्न हुआ जिससे उस बालक का पृथ्वी से स्पर्श न हुआ, कठिन मार्ग से जाता हूँ यों कहकर वह बालक शीघ्र छिड़ा गया देखने में नहीं आया इसलिए भूमि का स्पर्श न हुआ, यदि भूमि का स्पर्श होता तो यों आकाश मार्ग से शीघ्र जाते का सामर्थ्य न रहता, शरीर सहित आकाश मार्ग से चला गया, आकाश, काल और माया को तोड़कर भगवान् के स्थान में जाकर भगवान् के साथ, लोका लोक पर्वत के पर भाग में उत्पन्न हुआ ॥३९॥

श्लोक—तदाह विप्रो विजयं विनिन्दन्कृष्णसन्निधौ ।

मौढ्यं पश्यत मे योऽहं श्रद्धये क्लीबकथनम् ॥४०॥

श्लोकार्थ—ब्राह्मण कृष्ण के सन्निधि में अर्जुन की निन्दा करता हुआ कहने लगा कि मेरी मूर्खता तो देखो कि इस नपुंसक के वचन पर मैंने विश्वास कर लिया ॥४०॥

सुबोधिनी—तदा भार्यया वृत्तान्ते कथिते निन्दन् धोभजनकं वाक्यमाह, सार्धाभ्यां
भगवन्सन्निधाने समागत्य अर्जुनं विशेषेण निन्दति । अर्जुनो निदुष्टः ग्रहमेव भ्रान्तः ।

तत्कथमित्याकांक्षायामाह मौढ्यं पश्यत ममैव । शीर्यसभावनापि स्यात् तर्हि तत्र क्लीबत्वं न
योऽहं क्लीबस्य कथनं श्रद्धे । यदि तस्मिन् भवेत् ॥४०॥

व्याख्यार्थ—तब स्त्री से सब वृत्तान्त सुनकर भगवान् के पास आकर अर्जुन की बहुत निन्दा करता हुआ ब्राह्मण क्षोभ पैदा करने वाले वचन कहने लगा । डेढ़ श्लोक से अर्जुन को निन्दा करता है—अर्जुन का तो कोई दोष नहीं है, मैं ही भ्रान्त हूँ, यह कैसे ? इस पर कहता है कि मेरी ही मूर्खता देखिए, जो मैंने नपुंसक के वचनों पर विश्वास कर लिया, यदि इसमें थोड़ा भी पराक्रम होता तो क्लीबता न होनी चाहिए, अतः इसमें इसमें पराक्रम की संभावना भी नहीं है ॥४०॥

आभास—यदक्लीबानामप्यसाध्यं तत् क्लीबः कथं कुर्यादित्याह न प्रद्युम्न इति ।

आभासार्थ—जो कार्य पराक्रम वालों से भी नहीं हो सकता है वह नपुंसक कैसे कर सकेगा, यह 'न प्रद्युम्न' श्लोक में कहता है—

श्लोक न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः ।

यस्य शेकुः परिव्रातुं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः ॥४१॥

श्लोकार्थ—जिस बालक की रक्षा प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, राम और केशव न कर सके, उसकी रक्षा दूसरा कौन ऐसा सामर्थ्यवान् है, जो कर सकेगा ॥४१॥

सुबोधिनी—यदि धनदानेन पुत्रा रक्षितुं शक्नोति सत्यां पालनमावश्यकं यदेतैरप्यशक्यं परि-
शक्याः स्युः तर्हि प्रद्युम्नः पालयेत् यदि बलेन पालनं तेन ज्ञायते कश्चिदन्य एवोपायोऽस्तीति
तदानिरुद्धः, यदि रघुत्पादनेन तदा रामः, यदि तथा संति कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः । धर्मण चेद्रक्षा
सृष्टिप्रलयाभ्यां तदा केशवः । एतेषां पुरे बासात् तर्हि मयैव रक्षितः स्यादिति चत्वारो गणिताः ॥

व्याख्यार्थ—जो धन देने से पुत्रों की रक्षा हो सकती तो प्रद्युम्न कर सकते जो बल से रक्षा हो सकती तो अनिरुद्ध कर देते, यदि रमण कराने से रक्षा होती तो राम ही करते, सृष्टि और प्रलय से रक्षा करनी होती तो केशव ही कर सकते, इनके नगर में रहते शक्ति होते पालन आवश्यक था, किन्तु इनसे भी रक्षा न हो सकी, इससे जाना जाता है कि इनकी रक्षा का कोई दूसरा ही उपाय है, ऐसी परिस्थिति में दूसरा कौन ऐसा सामर्थ्यवान् है जो रक्षा कर सके, यदि धर्म से रक्षा हो सकती तो मैं ही रक्षा कर देता, इस तरह रक्षा के उपाय चार ही गिन लिए ॥४१॥

श्लोक—धिगर्जुनं मृषावादं धिगात्मश्लाघिनो धनुः ।

देवोपसृष्टं यो मौढ्यादानिनीषति दुर्मतिः ॥४२॥

१—यज्ञादि अनुष्ठान कर्म से रक्षा हो सकती तो मैं ब्राह्मण हूँ, अभिषेक जपादि कर इनको बचा लेता ।

श्लोकार्थ— धिक्कार है झूठ बोलने वाले अर्जुन को और धिक्कार है अपनी प्रशंसा करने वाले वे धनुष को, जो दुर्बुद्धि दैव से नष्ट हुए पदार्थ की मूर्खता से रक्षा करना चाहता है, उसको तो धिक्कार है ही ॥४२॥

सुबोधिनी एवं साधनपञ्चकरहितोऽपि अर्जुनः यद्रक्षार्थमुक्तवान् तेन अर्जुनं धिक् । यतो मृषा वदति । तस्य धनुरपि धिक् ज्वाल्पतः । ननु धनुषः कोऽपराध इति चेत् तत्राह आत्म-श्लाघिन इति । य आत्मानं वृथैव श्लाघते । ननु शूराः प्रतिजानते । ततः कदाचित्प्रतिज्ञा पूरिता भवति कदाचिन्न नैतावता प्रतिज्ञाकर्तुर्दोष इति चेत् तत्राह दैवोपसृष्टमिति । आनिनीषति आने-तुमिच्छति । संदिग्धेऽर्थे प्रतिज्ञा युक्ता न तु निश्चित इति भावः । एवमपि प्रतिज्ञां कुर्वन् दुर्मतिः ॥४२॥

व्याख्यार्थ— रक्षा के जो पाँच साधन हैं, वे तो अर्जुन के पास नहीं थे तो भी अर्जुन ने जो रक्षा की हाक मार दी, इससे अर्जुन को धिक्कार है क्योंकि झूठ बोलता है उसके धनुष को भी धिक्कार है उसको जला दो, यदि कहो कि धनुष का कौनसा दोष है ? जिसका उत्तर देते हैं कि यह धनुष उसका है जो अपनी प्रशंसा आप ही करता है, यदि कहो कि शूरवीर तो, प्रतिज्ञा करते ही हैं, वह कभी पूर्ण होती है कभी नहीं भी होती है, इसमें प्रतिज्ञा करने वाले का कोई दोष नहीं है, इस पर कहते हैं कि 'दैवोपसृष्ट' जो दैव से ही बनी बनाई है, उसके विपरीत प्रतिज्ञा करना कि, मैं ले आऊँगा यह दुर्बुद्धि है और ऐसी प्रतिज्ञा करना मूर्खता है जिस कार्य में संशय हो वहाँ तो प्रतिज्ञा की भी जा सकती है, किन्तु निश्चित में प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए यह भाव है ॥४२॥

आभास— ततो यज्ञतं तदाह एवं शपतीति ।

आभासार्थ— पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'एव शपति' श्लोक में कहते हैं —

श्लोक— एवं शपति विप्रर्षी विद्यामास्थाय फाल्गुनः ।

ययौ संयमिनीमाशु यत्रास्ते भगवान्यमः ॥४३॥

श्लोकार्थ— अर्जुन ब्रह्मर्षि को यों प्रपशब्द कहते हुए सुन, विद्या को धारण कर, शीघ्र ही संयमिनीपुरी में जाकर पहुँचे, जहाँ महाराज यम बिराजते हैं ॥ ४३॥

सुबोधिनी— विद्यामास्थाय देवानां विद्यामै-
च्छिवगतिप्रदम् । ततः फाल्गुनः अतिनिर्भयः
संयमिनीं यमस्य पुरी ययौ, संयमिनी यातना-
भूमिरूपा यमराजधानी च भवति । तत्र द्वारकायां ब्राह्मणगृहे उत्पन्नः यातनास्थाने न
गमिष्यतीति निश्चित्य यत्रास्ते भगवान् यम
इत्युक्तम् ४३॥

व्याख्यार्थ— देवों की विद्या में यह शक्ति है कि, जो पुरुष उस विद्या को धारण करता है वह जहाँ भी जाना चाहे वहाँ बिना रुकावट जा सकता है, अतः अर्जुन, इस विद्या को धारण कर निर्भय हो संयमिनी नाम वाली यम की पुरी में गए, संयमिनी नाम वाली दो पुरी हैं, एक यातना

भूमिरूपा जहाँ यम की राजधानी है दूसरी जहाँ यमराज स्वयं रहते हैं, अर्जुन यातनाभूमिरूप यम की राजधानी संयमनी में न जाकर सीधा यम के पास यमपुरी में गया, क्योंकि जिसका जन्म, ब्राह्मण के घर में और विशेषतः द्राक्का में हुआ है वह यातना के स्थल पर जा नहीं सकता है यह निश्चय कर जहाँ भगवान् यम रहते हैं वहाँ ही गए यों कहा है ॥४३॥

श्लोक— विप्रापत्यमचक्ष्णस्तत ऐन्द्रीमगात्पुरीम् ।

आग्नेयीं नैर्ऋतीं सौम्यां वायव्यां वारुणीमथ ।

रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यानुदायुधः ॥४४॥

श्लोकार्थ— वहाँ ब्राह्मण पुत्र न देख सीधे इन्द्र की पुरी में गए । वहाँ भी न देखा, तब शस्त्र हाथ में लेकर निर्भय हो अग्नि, निऋति, सौम्य, वायव्य, वरुण की पुरी देखी; फिर पाताल-स्वर्ग आदि सब स्थान ढूँढ़े ॥४४॥

सुबोधिनी— ततस्तत्राप्यदृष्ट्वा पूर्वादिक्रमेण दश दिशः अन्विष्टाः । सौम्या उत्तरा दिक् । रसातल अधः । नाकपृष्ठमुपरि । अन्यानि गन्ध-
 वादीनां स्थानानि । तस्य सर्वत्र निर्भयतया गमने हेतुः उदायुध इति ॥४४॥

व्याख्यान— पश्चात् वहाँ भी न देखकर, पूर्व दिशा के क्रम से दश दिशाएं ढूँढ़ी, उत्तर दिशा, रसातल,^१ स्वर्ग,^२ गन्धर्व आदि के जो अन्य स्थान थे वे सब देख लिए। यह सर्वत्र निर्भय होकर गए जिसका कारण था अपने हाथ में शस्त्र लिया था, इसलिए निडर हो सर्वत्र गए ॥४४॥

आभास— ततः किं कृतवानित्याकाङ्क्षायामाह तत इति ।

आभासार्थ— पश्चात् क्या किया ? इस आकांक्षा में 'ततोऽलब्ध' श्लोक कहते हैं—

श्लोक— ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्णप्रतिश्रुतः ।

अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रत्युक्तः प्रतिषेधता ॥४५॥

श्लोकार्थ— अर्जुन ने देखा कि कहीं भी पुत्र न मिला, तब मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सका, यों समझ दूसरी प्रतिज्ञा अग्नि में प्रवेश करूँगा । वह प्रतिज्ञा पालने के लिए उद्यत होने लगा, तब श्रीकृष्ण ने यों करने से रोका और कहने लगे ॥४५॥

सुबोधिनी— न लब्धो द्विजसुतो येन । अत एव न निस्तीर्ण प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञा यत्र । ततो द्वितीयां प्रतिज्ञां कर्तुमुद्यतः अग्निं विविक्षुः । तामपि प्रतिज्ञां कर्तुं न शेके इत्याह कृष्णेन प्रत्युक्त इति अग्निप्रवेशं प्रतिषेधता प्रत्युक्तः प्रतिकूलतया उक्तः ॥४५॥

व्याख्यार्थ—ब्राह्मण के पुत्र न मिलने से जिनकी प्रतिज्ञा पूर्ण न हुई है, वैसे अर्जुन अपनी दूसरी प्रतिज्ञा पूर्ण करने के लिए अग्नि में प्रविष्ट होने को उद्यत हुए, वह प्रतिज्ञा पूर्ण न कर सके, क्योंकि कृष्ण ने यों करने से रोक दिया, और इस प्रकार कहा ॥४५॥

आभास—तदैव भगवद्वचनमाह दर्शये द्विजसूतृनिति ।

आभासार्थ—जो वचन भगवान् कहने लगे वे 'दर्शये' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—दर्शये द्विजसूतृस्ते मावज्ञामात्मनः कृथाः ।

ये ते नः कीर्ति विपुलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति ॥४६॥

श्लोकार्थ—हे फाल्गुन ! तुम अपना अपमान स्वयं मत करो । तुम्हें ब्राह्मण पुत्रों को दिखाता हूँ कि कहाँ है ? जिससे मनुष्य तुम्हारा यश बहुत ही स्थापित करेंगे ॥४६॥

सुबोधिनी—ब्राह्मणपुत्रास्तुभ्यं दर्शयामीति ततो हेतोः आत्मनः स्वस्यावज्ञां मा कृथाः । अपकीर्तिशङ्कया तव मरणम् । तन्मृते अधिका-प्यपकीर्तिर्भविष्यति । मदुक्तप्रकारेण चेज्जीविष्यसि ।	तर्ह्येतेन जीवनेन ते कीर्ति विपुलामपि मनुष्याः स्थापयिष्यन्तीत्यर्थः । मनुष्या हि दृष्टरराः न परमार्थं जानन्ति । अतः पुत्रानयनं दृष्ट्वा कीर्तिमेव वक्ष्यन्तीत्यर्थः ॥४६॥
---	--

व्याख्यार्थ—तुम्हें ब्राह्मण के पुत्र दिखा दूंगा, इसलिए तुम अपना अपमान अपने हाथ से मत करो, यदि कहो कि मेरी अपकीर्ति होगी इस शङ्का से आप अपने को जलाते हो तो, यों करने से विशेष अपकीर्ति होगी, यदि मैं जैसे कहता हूँ उसी प्रकार कर जीवोगे तो उस जीने से तुम्हारा विशेष यश लोक में मनुष्यों द्वारा स्थापित होगा, मनुष्य परमार्थ को नहीं जानते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष को ही मानते हैं, अतः पुत्र को देखकर तुम्हारा यश ही गाएंगे ॥४६॥

श्लोक—इति संभाष्य भगवानर्जुनेन सहेश्वरः ।

दिव्यं स्वरथमास्थाय प्रतीचीं दिशमाविशत् ॥४७॥

श्लोकार्थ—भगवान् यों कहकर अर्जुन के साथ अपने दिव्य रथ में स्थित होकर पश्चिम दिशा की ओर गए ॥४७॥

सुबोधिनी—एवमुक्त्वा भगवानप्रतिहतः स्वैज्जस्तेनैव सह स्वस्य गरुडध्वजं रथं दिव्यं	आधिदैविकरूपं स्वभावतो वा अलौकिकं पश्चिमां दिशमभिप्रस्थितः ॥४७॥
--	---

व्याख्यार्थ—इस प्रकार कहकर, सर्वज्ञ भगवान्, अर्जुन के ही साथ अपने गरुड़ की ध्वजा वाले आधिदैविक रूप अलौकिक रथ में विराजमान हो पश्चिम दिशा की प्रस्थान कर गए ॥४७॥

आभास—ततो बहुदूरे गत इत्याह सप्तद्वीपानिति ।

आभासार्थ - बहुत दूर गए जिसका वर्णन निम्न श्लोक में करते हैं—

श्लोक—सप्तद्वीपान्सप्तसिन्धून्सप्त सप्त गिरीनथ ।

लोकालोकं तथातीत्य विवेश सुमहत्तमः ॥४८॥

श्लोकार्थ—सात द्वीप, सात समुद्र, सात-सात पर्वत तथा सुवर्ण भूमि के अनन्तर लोकालोक पर्वत को भी उल्लङ्घन कर, उसके पर भाग में जो गाढ़ अन्धकार है, उसमें प्रविष्ट हुए ॥४८॥

सुबोधिनी—जम्बूद्वीपादि सप्तद्वीपान्, लव-
णादीन् सप्तसमुद्रान् प्रत्येकं द्वीपेषु सप्त सप्त गिरीन्
मर्यादापर्वतान् उल्लङ्घय । अथ सर्वान्ते सुवर्ण-
भूम्यनन्तरं लोकालोकपर्वतमप्यतीत्य तत्परभागे
यत्तमः तत्प्रविष्टवान् ॥४८॥

व्याख्यार्थ—जम्बू द्वीप आदि सात द्वीप क्षारोद आदि सात समुद्र और प्रत्येक द्वीपों में जो सात सात मर्यादा गिरि (पर्वत) थे उनको लांघकर उनसे पर भाग में जो घाट अन्धकार था उसमें प्रवेश किया ॥४८॥

आभास - तत्र तमसो माहात्म्यमाह तत्राश्वा इति ।

आभासार्थ—‘तत्राश्वाः’ श्लोक से अन्धकार-महात्म्य कहते हैं—

श्लोक—तत्राश्वाः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकाः ।

तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुर्भरतर्षभ ॥४९॥

श्लोकार्थ—हे भरतवंश में श्रेष्ठ ! वहाँ शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक; ये चारों अश्व अन्धकार में आगे चलने में असमर्थ हो गए ॥४९॥

सुबोधिनी—भगवतश्चत्वारोऽपि प्रसिद्धाः । सम्बोधनम् ॥४९॥
अश्वास्तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुः । विश्वासार्थः ।

व्याख्यार्थ—भगवान् के चारों अश्व जो प्रसिद्ध अप्रतिहत गति वाले हैं, वे भी इस अन्धकार में भ्रष्ट गति हो गए, भरतर्षभ ! यह संबोधन विश्वास के लिए दिया है ॥४९॥

श्लोक - तान्दृष्ट्वा भगवान्कृष्णो महायोगेश्वरेश्वरः ।

सहस्रादित्यसंकाशं स्वचक्रं प्राहिणोत्पुरः ॥५०॥

श्लोकार्थ—महायोगेश्वरों के भी ईश्वर भगवान् कृष्ण ने घोड़ों की यह दशा देख, हजार सूर्य के समान प्रकाश वाले अपने चक्र को आगे चलने की आज्ञा की ॥५०॥

सुबोधिनी—तदा भगवान् अश्वानां तदगमनं दृष्ट्वा महायोगेश्वराणां ब्रह्मादीनामपि ईश्वरः समर्थः । सर्वथा गन्तव्यमेवेति निश्चित्य सहस्रादित्यसंकाशं स्वचक्रं सुदर्शनमग्रे प्राहिणोत् ॥५०॥

व्याख्यार्थ—तब घोड़ों का रुक जाना देख, महायोगेश्वरों (ब्रह्मादिकों) के भी ईश्वर, सर्व समर्थ भगवान् ने निश्चय किया कि जहाँ बालक हैं वहाँ तो चलना ही है, अतः हजार सूर्य सन प्रकाश करने वाले अपने सुदर्शन चक्र को आगे चलने की आज्ञा की ॥५०॥

आभास—ततस्तस्मिन्नन्धकारे सुदर्शनस्य गतिमाह तमः सुघोरमिति ।

आभासार्थ—पश्चात् उस अन्धकार में सुदर्शन की गति 'तमः सुघोरं' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तमः सुघोरं गहनं कृतं महद् विदारयद्भूरितरेण रोचिषा ।

मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं गुणच्युतो रामशरो यथा चमूः ॥५१॥

श्लोकार्थ—अपने अतिशय विशेष तेज से गाढ़ और गहन अन्धकार का नाश करता हुआ वह भगवान् का सुदर्शन चक्र जैसे राम के धनुष से छूटा हुआ शर सीधा सेना में जाता है, वैसे ही मन जैसे वेग से उस गाढ़ अन्धकार में भीतर घुसा ॥५१॥

सुबोधिनी—सुघोरं तमः विदारयन् निर्विविश इति सम्बन्धः । तमसः स्पर्शोऽपि निराकरणार्थं कठिन इति वक्तुं सुघोरत्वमुक्तं अतिभयानकमित्यर्थः । गहनमतिगम्भीरम् । महत्कृतम्, आलोकापेक्षयापि अधिकं परिमाणतो बलाच्च । आगमनप्रतिषेधार्थं वा महत्कृतम् । नन्वेतादृशमन्धकारं कथं दूरीकृत्य निर्विविशे तत्राह भूरितरेण रोचिषेति ततोऽप्यधिकेन तेजसा । ननु भूयान् देशो वर्तत इति गमनेऽपि यावज्जन्म स्यात्ततो व्यर्थः प्रयास इति चेत् तत्राह मनोजव-

मिति । ननु गन्तव्यदेशः कस्मिन् भागे वर्तत इति सुदर्शनस्य ज्ञानाभावात् तस्य कथमग्रे तद्देशगमनमित्याशङ्क्य दृष्टान्तमह गुणच्युत इति । यथा दशरथेः बाणः यं देशमुद्दिश्य त्यज्यते तमेव देशं प्राप्नोति । अचेतनोऽपि चेतनवत् प्रेरणागति-सामर्थ्यात् रेखामात्रमपि नान्यत्र गच्छति । तथा यदैव भगवान् सुदर्शनं प्रक्षिप्तवान् तदा तद्देश-संमुखमेव चिक्षेपेति यथा शरः गुणाद्विमोक्तमेवापेक्षते तथा चक्रमपि हस्ताद्विमाकमेवापेक्षते इष्ट-देशगमनार्थं नान्यदित्यर्थः ॥५१॥

व्याख्यार्थ—बहुत गाढ़ अन्धकार को विदीर्ण करता हुआ उसमें भीतर घुसा, यों सम्बन्ध (ग्रन्थ) है । वह अन्धकार ऐसा था जिसका निराकरण करने के लिए उसका स्पर्श मात्र भी कठिन है, यों जताने के लिए 'सुघोरपन' कहा है अर्थात् अति भयानक अन्धकार था और गहन अर्थात् अति गम्भीर था तथा तेज से आकार (डील) में भी बड़ा था; न केवल आकार में, किन्तु परिमाण और बल में भी महान् था । इतना महान् बनाने की कौनसी आवश्यकता थी ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'आगमन प्रतिषेधार्थ' कोई इसमें आ न सके, ऐसे सर्व प्रकार घोर (जबर्दस्त) अन्धकार को हटा कर कैसे आगे प्रवेश किया ? इस पर उत्तर देते हैं कि 'भूरितरेण रोचिषा' अति तीव्र तेज से अर्थात् उस अन्धकार से भी महान् तेज से उसमें घुस गए । उसका प्रदेश भी बड़ा है, जिसमें पहुँचने में सारी आयु चली जाय, इसलिए यह प्रयास ही व्यर्थ है । यदि यो कहे, तो जिसका उत्तर यह है कि

उस तेज के जाने का वेग मन के समान है, जिससे कहीं भी पहुंचने में इसको समय नहीं लगता है, कहां जाता है ? उस देश का तो सुदर्शन को ज्ञान नहीं है फिर वह आगे कैसे चला ? जिसका उत्तर दृष्टान्त देकर समझाते हैं 'गुणच्युत' जैसे रामचन्द्रजी का शर (बाण डोरी से छूटकर सोवा जिस देश के उद्देश्य से छोड़ा जाता है, वहां पहुंच जाता है, यद्यपि वह जड़ है तो भी चेतन की तरह प्रेरणा की गति के सामर्थ्य से रेखा मात्र भी दूसरी जगह नहीं गिरता है, वैसे जब ही भगवान् ने सुदर्शन को आज्ञा देकर फेंका तब जिस देश में उनको चलाना था उस देश की तरफ ही फेंका था, जैसे शर डोरी से छूटने की अपेक्षा रखता है वैसे ही चक्र भी इष्ट देश में जाने के लिए हस्त से छूटने की अपेक्षा रखता है अतः दूसरी जगह नहीं जा सकता है ॥५१॥

आभास—ततश्चक्रेणैव मार्गः कृत इति तेनैव मार्गेण रथो गत इत्याह द्वारेणेति ।

आभासार्थ—पश्चात् चक्र ने ही मार्ग दिखा दिया इसलिए उस ही मार्ग से रथ जाने लगा यों 'द्वारेण' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—द्वारेण चक्रानुपथेन उत्तमः परं परंज्योतिरनन्तपारम् ।

समश्नुवानं प्रसमोक्ष्य फाल्गुनः प्रताडिताक्षोऽपिदधेऽक्षिणी उभे ॥५२॥

श्लोकार्थ—गाढ़ अन्धकार के कारण जो मार्ग देखने में नहीं आता था, चक्र ने अपने तेज से वह मार्ग दिखा दिया, तब उस मार्ग से जाने लगे । किन्तु उससे बहुत दूर अनन्त और चारों ओर व्याप्त चमकता हुआ तीक्ष्ण तेज देखने में आने लगा, जिसे देखकर अर्जुन के नेत्रों में चकाचौध होने लगी, जिससे अर्जुन ने आंखें मूंद ली ॥५२॥

सुबोधिनी—चक्रानुपथेन द्वारेण चक्रनिर्मित-
मार्गेणैव तादृशमपि तमः कर्म । परमुत्कृष्टं
ज्योतिर्यस्य तादृशं सुदर्शनम् । परं ब्रह्म तेजो-
रूपमनन्तपारमित्युभयविशेषणम् । तमस्तेजश्च
उभयं सम्यगश्नुवानं अग्रपश्चाद्भावेन तमसा
तेजसा च व्याप्तं रथं दृष्ट्वा फाल्गुनः विद्युन्निवार-

कोऽपि प्रकर्षेण ताडिताक्षो जातः । विद्युता
प्रतिहताक्ष इव भीतो जात इत्यर्थः । अगाधं मार्गं
गच्छन् अग्रे पश्चाच्च रथदर्शनार्थं चञ्चलदृष्टिः ।
उभयोस्तुल्यत्वं दृष्ट्वा महान्धकारे विद्युद्दर्शिव
भयाद् अक्षिणी अपिदधे मुद्रितवान् । अनेनार्जुन-
स्य ज्ञानगमने शङ्कापि परिहृता ॥५२॥

व्याख्यानार्थ—जाने का मार्ग देखने में न आया यह अन्धकार का कर्म है, उत्कृष्ट तेज से अन्धकार का नाश कर मार्ग दिखा देना यह सुदर्शन का कर्म है, अतः चक्र ने अपने तेज से जाने का द्वार खोल दिया, उस मार्ग से जाने लगे ।

अनन्तपारं' यह पद 'पर' और 'परं ज्योति' दोनों पदों का विशेषण है, अन्धकार और प्रकाश, रथ के आगे और पीछे के भाग में फंसे हुए थे, ऐसे रथ को देखकर, अर्जुन (फाल्गुन) बिजली का निवारक होते हुए भी इस तेज से ऐसे डर गए जैसे बिजली से आखों में चकाचौध होने पर भय उत्पन्न होता है, अगाध मार्ग में जाते हुए अर्जुन आगे पीछे रथ को देखने के लिए चञ्चल

दृष्टवान् हो गए, अन्धकार और प्रकाश दोनों समान देख जैसे गाढ़ अन्धेरी रात्रि में बिजली देख भय से आंखें मूंदी जाती है, वैसे अर्जुन ने आंखें मूंदनी, यों कहने से यह बताया है कि इस स्थान का अर्जुन को ज्ञान था या भगवान् के बिना जा सकता था? ऐसी शंका भी नहीं होती अर्थात् अर्जुन को न इस रास्ते का ज्ञान था और न वह भगवान् के बिना एकाकी जा सकता था ॥५२॥

आभास—ततो भगवदिच्छया ब्रह्माण्डमतिक्रम्य आवरणे जले रथः प्रविष्ट इत्याह ततः प्रविष्टौ इति ।

आभासार्थ पश्चात् भगवदिच्छा से ब्रह्माण्ड का उल्लङ्घन कर चारों तरफ फैने हुए जलमें रथ प्रविष्ट हुआ, 'ततः प्रविष्टौ' श्लोक में इसका वर्णन करते हैं —

श्लोक— ततः प्रविष्टौ सलिलं नभस्वता बलीयसंजद्बृहदूमिभीषणम् ।
तत्राद्भुतं वै भवनं द्युमत्तमं आजन्मणिस्तम्भसहस्रशोभितम् ॥५३॥

श्लोकार्थ—बलिष्ठ अर्थात् तीव्र वायु द्वारा कम्पित होने से बड़ी-बड़ी लहरों के कारण भयानक जल में प्रविष्ट हुए । ऐसे जल के मध्य में मणियों के सहस्र स्तम्भों से शोभित अतिशय प्रकाश वाला एक अद्भुत भवन था ॥५३॥

सुबोधिनी तदा जलमध्ये रथे प्रविष्टे रथ-स्थावप्तिजले प्रविष्टौ । तत्सलिलं वर्णयति बली-यसाऽनभस्वता एजदिति । महावायुना कम्प-मानम् । अत एव बृहदूमिभिः स्थूलतरङ्गैः विशेषेण भीषणं भयानकम् । अनेन अर्जुनस्य मन-साध्यगम्यो देश इति सूचितम् । एतादृशजलमध्ये

एकं गृहमस्ति तत्प्रविष्टाविति वक्तुं तद्गृहवर्णयति तत्राद्भुतं वै भवनमिति । द्युमत्तममतितेजोयुक्तं स्वतेजसेव प्रकाशमानम् । सूर्यादीनां प्रकाशका-नामभावात् । आजन्तो ये मणिस्तम्भास्तेषां सहस्रेण शोभितम् । अनेनैव सर्वोत्कर्षो भवनस्य वर्णितः ॥५३॥

व्याख्यानार्थ—तत्र जल के मध्य में रथ प्रविष्ट हुआ तो रथ में बैठे हुए दोनों भी जल में प्रविष्ट हुए, उस जल का वर्णन करते हैं, महान् बलवान् वायु से कम्पित हो रहा था जिससे उसमें बड़ी २ लहरें उठ रही थी, उन तरङ्गों से वह जल विशेष भयानक दीखता था, यों कहकर दिखाया कि यह प्रदेश ऐसा भयानक है, अर्जुन भगवान् के बिना जहां अकेले मनसे भी जा नहीं सकते और न इस मार्ग को वे जानते हैं, इस प्रकार के जल के मध्य में एक गृह था, उसमें घुस गए यों कहने के लिए उस गृह का वर्णन करते हैं ।

उस जल में एक अद्भुत भवन है, वह अपने तेज से ही प्रकाशित हो रहा है क्योंकि वहां प्रकाश करने वाले सूर्य आदि कोई नहीं है, और वहां जो मणियों के सहस्र स्तम्भ हैं उनसे भी वह भवन सुशोभित हो रहा है, इससे भवन का सबसे उत्कर्ष वर्णन किया है ॥५३॥

आभास—तन्मध्ये एकं शेषं दृष्टवानित्याह तस्मिन्महाभीममिति ।

आभासार्थ—उस भवन में एक शेष देखा जिसका वर्णन 'तस्मिन्महाभोम' श्लोक में करते हैं—

श्लोक — तस्मिन्महामीममनन्तमद्भुतं सहस्रमूर्धन्यफणामणिद्युभिः ।

विभ्राजमान द्विगुणोक्षणोत्बणं सिताचलाभं शितिकण्ठजिह्वम् ॥५४॥

श्लोकार्थ—उस भवन में महा भयङ्कर एवं अद्भुत, सहस्र सिरों के रत्न और फणों के मणियों की कान्ति से दैदीप्यमान, दो सहस्र नेत्रों से भयङ्कर श्याम कण्ठ और जिह्वा वाले, हिमालय जैसे श्वेत कान्ति वाले अनन्त को भगवान् कृष्ण ने देखा ॥५४॥

सुबोधिनी—सलिलं प्रविष्टौ गृहमपि प्रविष्टौ । ततो भगवान् कृष्णः तस्मिन्महाभोममनन्त ददर्श । तद्भोगमुखासनं भगवन्तमपि ददर्शेति सम्बन्धः । सर्वमर्जुनस्य भयोत्पादनार्थं आश्चर्य-रसोत्पादनार्थं च वर्णनम् । महाभोममतिभयानकं सर्पविशेषं अद्भुतं वदाम्यदृष्टपूर्वम् । एवं स्वरूप-भूतं गुणत्रयमुक्त्वा विशेषतो वर्णयति सहस्र-सङ्ख्यायुक्तेषु मूर्द्धसु यानि रत्नानि तानि मूर्ध-न्यानि फणानां सम्बन्धिनो मणयः फणामणयः फणाशब्द आकारान्तः मूर्धन्यानां फणामणीनां द्युभिः कान्तिभिः कृत्वा विशेषेण भ्राजमानम् । ।

अन्यथा तस्य दर्शनेन तथा भयं न भवेदिति दर्शनोपाय उक्तः । यदर्थमेतदुक्तं तदाह द्विगुणा-नीक्षणानि सहस्रद्वयमितानि चक्षूंषि तेन उत्बण-मतिक्रूरम् । तादृशस्यापि महत्त्वमाह सिताचला-भमिति । सिताचलः श्वेतपर्वतः कैलासो वा हिमालयो वा । तत्सदृशम् । शितिर्नीलवर्णः कण्ठो जिह्वा च यस्य । नीलकण्ठो नीलजिह्वश्चेत्यर्थः । महादेवस्य तदाधिदेविकं रूपम् । तेन जिह्वायां मृत्युः कण्ठे कालकूट इति उभयोर्नीलं रूपं वर्णितम् ॥५४॥

व्याख्यार्थ—जल में प्रविष्ट हुए और फिर भवन में भी प्रविष्ट हुए, पश्चात् भगवान् कृष्ण ने उस भवन में महान् भयानक अनन्त 'शेष' को देखा, उस' (शेष) की काया पर सुख पूर्वक विराजमान भगवान् को भी देखा । यह सब वर्णन, अर्जुन को भय और आश्चर्य रस उत्पन्न हो, इसलिये है ।

अति भयानक, अद्भुत और सर्व विशेष अर्थात् आगे कभी भी जिसको देखा नहीं है, इस प्रकार स्वरूप भूत तीन गुण कहकर, विशेष वर्णन करते हैं कि, सहस्र संख्या वाले मस्तकों में जो रत्न हैं और फणों की जो मणि हैं, उनकी कान्ति से विशेष चमकदार थे, यदि ऐसे न होते तो उसके दर्शन से वैसा भय न होता, यों दर्शन का उपाय कहा, जिसके लिए इस तरह कहा वह प्रकार कहते हैं, दो हजार नेत्र थे जिनके कारण अति क्रूर थे, ऐसे का भी महत्त्व कहते हैं, श्वेत पर्वत हिमालय वा कैलास जैसे वर्ण वाले, जिनके कण्ठ और जिह्वा दोनों काले थे, यह महादेव का आधिदेविक रूप है, जिससे जिह्वा में मृत्यु और कण्ठ में काल कूट रहता है, इसलिये दोनों का रूप काला कहा है ॥५४॥

श्लोक—ददर्श तद्भोगमुखासनं विभुं महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम् ।

सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् ॥५५॥

श्लोकार्थ—ऐसे शेषजी के शरीर पर सुख से पौढ़े हुए बड़े प्रतापी, व्यापक व उत्तमों में भी उत्तम पुरुषोत्तम प्रभु के दर्शन किए । वे कैसे हैं ? गाढ़ मेघ के समान श्याम, पीत वर्ण वस्त्रधारी, प्रसन्न मुखारविन्द वाले, सुन्दर और बड़े नेत्रों वाले भगवान् को देखा ॥५५॥

सुबोधिनी—एतादृशे प्रतिभयानके सर्पशरीरे सुखासीनं भगवन्तं ददर्श । ननु सर्पे स्थितः कथं सुखेन तिष्ठतीत्याह विभुमिति । लोकानामेव स भयानकः न तु तस्यापि नियामकस्येत्यर्थः । विभ्व । महानुभावम्, महाननुभावो यस्येति । तादृशऽपि क्रूरः भगवत्स्थित्या भगवदनुभावेन अतिऋजुरित्यर्थः । तत्र स्थितं भगवन्तं वर्णयति पुरुषोत्तमोत्तममित्यादिभिः । पुरुषोत्तमा ये सर्व-पुरुषेष्वतिसुन्दराः सर्वलक्षणसम्पन्नाः तेभ्यो-ऽयुतमः । सौन्दर्यगुणत्वा रूपमाह सान्द्राम्बुदा-भमिति । अतिनिविडो योयमम्बुदः तद्वत् आभा

कान्तिर्यस्येति नीलमेघश्यामम् । इदं भगवतः सहजं रूपमिति । सत्त्वगुणेन वा, पर्यवसानेन वा, इन्द्रियाणां दर्शनसामर्थ्याभावेन वा, शृङ्गारेण वा, कामेन वा, आनन्दस्वभावेन वा, भगवद्रुच्या वा, लक्ष्मीरुच्या वा, तादृशस्यैव सहजत्वेन वा नीलरूपो भगवानिति ज्ञातव्यम् । सुष्ठु पिशङ्गं पीतवर्णं वासो यस्य । एवं रूपवस्त्रयोः परब्रह्म-शब्दब्रह्मता निरूपिता । एवं प्रमेयप्रमाणे निरूप्य साधनं भक्ति निरूपयति प्रसन्नं वक्त्रं यस्य । ज्ञानविज्ञाने साधनानन्तरं निरूपयति रुचिरे आयते ईक्षणे यस्येति ॥५५॥

व्याख्यान—ऐसे प्रति भयानक सर्पशरीर पर सुखपूर्वक विराजमान भगवान् को देखा, जो सर्प पर स्थित है वह सुख से कैसे विराज सकता है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'विभु' भगवान् व्यापक है अतः सर्प लोकों को ही भयानक है, न कि भगवान् के लिए भयानक है, क्योंकि भगवान् तो उसके भी नियामक हैं नियामक नियम्य से नहीं डरता है, अतः सुख से विराजते हैं भगवान् महान् प्रभाव वाले हैं, अतः वह सर्प ऐसा क्रूर होते हुए भी भगवान् की स्थिति होने से, भगवान् के प्रभाव से बहुत सीधा हो गया है ।

उस पर विराजमान भगवान् के स्वरूप का वर्णन करने हैं —जो पुरुष, सर्व पुरुषों में अति सुन्दर हैं और सर्व लक्षणों से युक्त उत्तम पुरुष है उनसे भी उत्तम हैं, इस पद से सुन्दरता का वर्णन कर अब रूप का वर्णन करते हैं, बहुत गाढ़ मेघ के समान कान्ति वाले हैं, अर्थात् नील मेघ सदृश श्याम है—यह भगवान् का सहज स्वरूप है, आप के सतो गुणी होने से । सतो गुण का रूप नील है, उसके आधार के कारण भगवान् में नीलत्व आ जाता है, अथवा काल के कारण भी कृष्ण श्याम हैं, कारण कि; कलि काल का वर्ण श्याम है अतः भगवान् कलियुग में श्याम रंग ग्रहण करते हैं, इन्द्रियां रूप वाले द्रव्य को ग्रहण करती हैं, दूर होने पर इन्द्रियों की देखने की शक्ति न होने से वहां नीलता देखने में आती है, भगवान् रूप वाला द्रव्य न होने से चक्षु में उनके देखने की शक्ति न होने से, नील श्याम रूप से दर्शन देते हैं, इसी प्रकार शृङ्गार रस का वर्ण श्याम है, आप शृङ्गार रूप होने से श्याम वर्ण हैं, काम का वर्ण श्याम है, आप अलौकिक काम भाव होने से श्याम है अथवा आनन्द स्वभाव से भी श्याम हैं अथवा भगवान् की

स्वरुचि से भी श्याम हैं अथवा लक्ष्मी की रुचि श्याम वर्ण में होने से उसकी रूपानुसार आप श्याम है, या ऐसे सहजपन से भगवान् नील रूप है, यों समझना चाहिए ।

जिसके वस्त्र पीत वर्ण के हैं, इस प्रकार रूपा और वस्त्र दोनों को परब्रह्मता और शब्द ब्रह्मता दिखलाई इसी तरह प्रमेय और प्रमाण दोनों का निरूपण कर अब कहते हैं कि ऐसे प्रभु की प्राप्ति का साधन, भक्ति है, उसका निरूपण करते हैं, 'प्रसन्नं वक्त्रं' जिसका मुखारविन्द आनन्दमय है, आनन्दरूप मुखारविन्द में प्रेम ही सरल साधन है, भक्ति के सिवाय दूसरे साधन ज्ञान विज्ञान का निरूपण करते हैं, 'रुचिरायतेक्षणम्' सुन्दर बड़े नेत्र जिसके हैं, नेत्रों द्वारा कृपा होने से ज्ञान विज्ञान रूप साधन सिद्ध होते हैं, यह भाव है ॥५५॥

आभास — एवं सर्वसाधनसहितं भगवन्तं निरूप्य फलत्वाय प्रथमतो बहिःशोभामाह महामणिव्रातेति ।

आभासार्थ — इसी तरह सर्व साधन सहित भगवान् का निरूपण कर, फल रूपा के वर्णनार्थ प्रथम 'महामणिव्रात' श्लोक से बाहर की शोभा कहने हैं —

श्लोक — महामणिव्रातकिरीटकुण्डलप्रभापरिक्षिप्तसहस्रकुन्तलम् ।

प्रलम्बचार्वक्षभुजं सकौस्तुभं श्रीवत्सलक्ष्मं वनमालया वृतम् ॥५६॥

श्लोकार्थ अनेक महामणियों से जटित किरीट और कुण्डलों की प्रभा से व्याप्त सहस्र केशधारी, लम्बी सुन्दर आठ भुजा वाले, कौस्तुभमणि और श्रीवत्स के चिह्न वाली वनमाला से आवृत, ऐसे प्रभु की देखा । ५६॥

सुबोधिनी — महामणानां समूहः येषु तादृशाः किरीटकुण्डलमुकुटादयः तेषां प्रभाभिः परितः क्षिप्ताः सहस्रं कुन्तला यस्य । कुन्तलानां मध्ये रत्नानां तेज प्रवेशान् नीलमणिखचितपदकवद् भगवतः उपरिभागो वर्णितः । मध्यभागं वर्णयति प्रकर्षेण लम्बाः चारव अष्टौ भुजा यस्य । जानुपर्यन्तं लम्बाः तादृशा अपि न केनाप्यंशेन

विकृताः ये भगवतः अष्टौ गुणाः अणिमादि-प्रकृतिरूपाः तेषां मूलभूता ये योगाः क्रियाशक्ति-रूपाः तेषामाधारभूता भगवतो बाहवः । कौस्तुभ सहितः कण्ठभागः श्रीवत्स एव लक्ष्म चिह्नं यस्य । वनमालया च वृत इति जीवमायाकीर्तय उक्ताः भगवदवलम्बाः ॥५६॥

व्याख्यानार्थ — महामणियों के समूह वाले किरीट कुण्डलादि की प्रभा से चकाचींध वाले जिसके सहस्र केश हैं, यों केशों के मध्य में रत्नों के तेज के प्रवेश से नील वर्ण मणियों से खचित पदक के उपरि भाग का वर्णन किया है, अब मध्य भाग का वर्णन करते हैं, आपकी सुन्दर आठ भुजाएँ जानुपर्यन्त लम्बी हैं, इतनी लम्बी होते हुए भी स्वल्प भी विकृत नहीं हैं, भगवान् के अणिमा आदि जो प्रकृति रूप आठ गुण हैं उनके मूलभूत क्रियाशक्ति रूप जो योग हैं उनकी आधारभूत की ये भुजाएँ हैं, भगवान् का कण्ठ भाग कौस्तुभ सहित है, और श्रीवत्स चिह्न है एवं वन माला से आवृत है, इन तीन विशेषणों से यह सूचित किया है कि, १-जीव, २-माया और ३-कीर्ति ये तीन भगवादाश्रित हैं ॥५६॥

आभास - एवं भगवत्स्वरूपमुक्त्वा एकाकी कदाचिद्भूगवांस्तत्र तिष्ठतीति शङ्कां वारयितुं सुनन्दादीन् पार्षदप्रवरान् वर्णयति सुनन्दनन्दप्रमुखैरिति ।

आभासार्थ - इस प्रकार भगवान् के स्वरूप का वर्णन होने से कदाचित् यह शङ्का उत्पन्न होवे कि, भगवान् वहाँ अकेले रहते होंगे ? इस शङ्का को मिटाने के लिए निम्न श्लोक में कहते हैं कि वहाँ सुनन्द आदि उत्तम पार्षद और सेवक सेवा करते रहते हैं—

श्लोक—सुनन्दनन्दप्रमुखैः स्वपार्षदैश्चक्रादिभिर्मूर्तिधरैर्निजायुधैः ।

पुष्ट्या श्रिया कीर्त्यजयाखिलद्विभिर्निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम् ॥५७॥

श्लोकार्थ—सुनन्द, नन्द आदि अपने पार्षद, सुदर्शन चक्र आदि अपने शस्त्र और पुष्टि, श्री, कीर्ति और जया व अष्ट-सिद्धियाँ इनसे सेव्यमान परमेष्ठियों के पति प्रभु को देखा ॥५७॥

सुबोधिनी—स्वपार्षदैरनिरुद्धसेवकैः । एतै- | आधिदैविकाः ॥
निषेव्यमाणमिति सम्बन्धः । मूर्तिधराश्चक्रादयः |

व्याख्यार्थ—‘स्वपार्षदैः’ अपने (अनिरुद्ध स्वरूप के) सेवकों से सेव्यमान, यों अन्वय है, सुदर्शन चक्र आदि शस्त्र स्वरूपधारी थे क्योंकि वहाँ शस्त्र आधिदैविक रूप से विराजते हैं—

कारिका—चक्रं शङ्खस्तथा खड्गश्चर्म शार्ङ्गं गदा तथा ।

बाणः पद्मं तथान्यानि मुशलाद्यायुधानि हि ।

मूर्तिमन्ति हरेः पार्श्वे तिष्ठन्ति परितः सदा ॥

कारिकार्थ—चक्र, शङ्ख, खड्ग, ढाल, धनुष, गदा, बाण, कमल, मूशल आदि दूसरे भी आयुध सदैव भगवान् के पास आधिदैविक स्वरूप से मूर्तिमान होकर विराजते हैं ।

सुबोधिनी — निजायुधान्यनिरुद्धायुधानि ।
ततः पुष्ट्यादि शक्तयः चतस्रोऽनिरुद्धस्य वर्ण्यन्ते ।
पुष्टिः श्रीः कीर्तिः अजा प्रकृतिरिति । अखिलाश्च
ऋद्धयः । धनधान्यादिसंपत्तीनामाधिदैविक-
रूपाणि । तैः सर्वैरेव निषेव्यमाणम् । एतावतापि

साधारणमेवैश्वर्यमायातीति असाधारणब्रह्माण्ड-
कोट्यंश्वर्यार्थमाह परमेष्ठिनां पतिमिति । एकैक-
स्य ब्रह्माण्डस्यैकैकः परमेष्ठी तादृशानां सहस्राणां
पतिः ॥५७॥

व्याख्यार्थ—‘निजायुधैः’ पद से अनिरुद्ध स्वरूप के आयुध कहे हैं, पश्चात् पुष्टि आदि चार शक्तियाँ वे भी अनिरुद्ध की ही हैं, १- पुष्टिः, २- श्रीः, ३- कीर्ति ४- अजा (प्रकृति) अखिल ऋद्धियाँ, (धान्य आदि सम्पदाओं के आधिदैविक रूप हैं) इन सबसे सेव्यमान हो रहे हैं, इतना कहने से तो साधारण ऐश्वर्य ही सिद्ध होता है, इस पर कहते हैं कि आपका ऐश्वर्य साधारण नहीं है किन्तु असाधारण ऐश्वर्य है, उस असाधारण ऐश्वर्य सिद्धि के लिए कहते हैं कि आप परमे-

ष्ठियों के पति हैं, एक एक ब्रह्माण्ड का एक एक परमेष्ठी पति होता है, ऐसे सहस्रों ब्रह्माण्ड हैं उतने ही परमेष्ठी हैं, उन सब के पति हैं ॥५७॥

आभास—तादृशं स्वांशस्य मूलभूतं दृष्ट्वा भगवता लोकशिक्षार्थं यत्कृतं तदाह ववन्द इति ।

आभासार्थ—अपने अंश के मूलभूत वैसे स्वरूप को देख कर भगवान् ने लोक शिक्षार्थ जो कुछ किया वह 'ववन्द' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—ववन्द आत्मानं मनन्तमच्युतो जिष्णुश्च तद्दर्शनजातसाध्वसः ।

तावाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभुर्बद्धाञ्जली सस्मितमूर्जया गिरा ॥५८॥

श्लोकार्थ—श्रीकृष्ण ने अपने स्वरूप भूत अनन्त को प्रणाम किया और उनके दर्शन से भयभीत अर्जुन ने भी नमन किया, परमेष्ठियों के स्वामी भूमा ने हाथ बाँध कर खड़े हुए उन दोनों को मुस्कराते हुए गम्भीर वाणी से कहा ॥५८॥

सुबोधिनी आत्मानमेव भगवान् कृष्णो ववन्दे । ननु मूर्तिभेदस्य प्रत्यक्षतो दर्शनात् कथमात्मत्वमत आह अनन्तमिति । अनन्तमूर्तिर्भगवानेक इत्यर्थः । तर्हि खण्डशोऽनन्तता स्यादत आह अच्युत इति । स्वरूपात्केनापि प्रकारेण न च्युतः । जिष्णुरर्जुनश्च । भगवद्दर्शनेन जातसाध्वसः ववन्द इति सम्बन्धः । चकारात्तस्यापि भगवानात्मा । ततो भगवाननिरुद्धः किञ्चिदुक्तवानित्याह तावाहेति । भूमा अनिरुद्धः 'यो वै वाचो भूमा तं न्यबुदम्' इत्यत्र वाक् सम्बन्धिन भूमानमुद्दिश्य न्यबुदत्वं विधीयते । अनिरुद्धो हि

मानसः पुरुष इति । शब्दात्मकत्वं तस्य सिद्धमिति अनिरुद्धस्य भूमत्वमिति । परमेष्ठिना प्रभुरिति । ब्रह्माण्डे समागच्छति तं प्रति तस्याज्ञा चलतीति पुत्राणां नयने निर्भयतया तथा कथने च हेतुरुक्तः बद्धाञ्जली कृष्णार्जुनौ अर्जुनं वञ्चयितुं भगवानपि तथा नाट्यं करोति । अत एव कृष्णो भूमा च सर्वथैक इति अर्जुनाहंकारभङ्गार्थमेव निरोधमध्यपातात् प्रपञ्चविरुद्धार्थं तथा करोतीति सूचितम् । ऊर्जया गिरा लोकसिद्धवाण्यपेक्षयापि महत्या ॥५८॥

व्याख्यानार्थ—अपने को ही भगवान् श्री कृष्ण ने नमन किया, दोनों के स्वरूप में प्रत्यक्ष भेद दिख रहा है, तब अपनपन कैसे हुआ? इस पर कहते हैं कि 'अनन्त' श्रीकृष्ण के स्वरूप अनन्तरहित है, वह स्वरूप भी आपका ही है, अनन्तमूर्ति होते हुए भी भगवान् एक ही है, यही तात्पर्य है, तब तो आपकी अनन्तता खण्ड खण्ड होगी, इस पर कहते हैं कि नहीं, क्योंकि आप अच्युत हैं, कितने भी स्वरूप धारण करें तो भी स्वरूप से आपमें च्युति कभी नहीं होती है, और भगवान् के दर्शन से डरे हुए अर्जुन ने भी प्रणाम किया, 'च' पद से यह सूचित किया है कि भगवान् अर्जुन को भी आत्मा हैं, पश्चात् भगवान् अनिरुद्ध ने दोनों को कुछ कहा, भूमा शब्द अनिरुद्ध वाचक है, 'यो वै वाचो भूमा तं न्यबुदम्' जो वाणी के भूमा हैं उसको दश करोड़ कहते हैं, इसी तरह यहां वाक् से सम्बन्ध वाले भूमा के उद्देश्य से दश करोड़ कहा है, अनिरुद्ध तो मन से सम्बन्धित पुरुष होने से यहां उनका शब्दात्मक मन सिद्ध है, इसलिए ही अनिरुद्ध का भूमत्व है और अतएव परमेष्ठियों का

प्रभु भी है, जो भी ब्रह्माण्ड में आता है उस पर इनकी आज्ञा चलती है, इस कारण से ही पुत्रों को ले आने में इनको कोई भय न हुआ और वैसा कहने में भी डर न हुआ, कृष्ण और अर्जुन दोनों अनिरुद्ध के आगे हाथ जोड़ खड़े थे, श्रीकृष्ण ने हाथ क्यों जोड़े ? जिसका भाव आचार्य श्री प्रकट करते हैं कि अर्जुन को ठगने के लिए ऐसा नाट्य किया है, अतः श्रीकृष्ण और भूमा सर्वथा एक ही है, केवल अर्जुन के अहङ्कार को तोड़ने के लिए ही और निरोध कार्य में लग जाने से, प्रपञ्च विस्मृति करानी है इसलिए यों करते हैं यह सूचना दी है, लोक प्रसिद्ध वाणी से अर्थात् लोक में जिस प्रकार की वाणी से कहा जाता है उससे भी बलवती वाणी से कहने लगे ॥५८॥

आभास—यथाकथञ्चित्किञ्चित्कौतुकं वक्तव्यमिति किञ्चिदाह द्विजात्मजामी इति ।

आभासार्थ—जिस किसी प्रकार से कुछ अचम्भे में डालने वाला वाक्य भी कहना चाहिए, यह 'द्विजात्मजामी' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—द्विजात्मजामी युवयोर्दिदृक्षुणा मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये ।

कलावतीर्णविवनेर्भरासुरान् हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ॥५९॥

श्लोकार्थ—भूमा भगवान् ने कहा कि आपके दर्शन करने की इच्छा से ये ब्राह्मण के पुत्र मैं लाया हूँ । धर्म की रक्षा के लिए मेरी कला से पृथ्वी पर अवतार लिये हो, पृथ्वी पर जो भाररूप असुर हैं, उनको मारकर फिर मेरे पास शीघ्र आ जावें ॥५९॥

सुबोधिनी—सन्धिरार्षः । अर्जुनं प्रति संबो-
धनं वा अदीर्घदशित्वं ज्ञापयितुं द्वयामुष्यायणा-
त्वात् । परम्परया व्यासात्मजत्वाच्च द्विजशब्दस्य
ब्राह्मणपरत्वेऽपि न दोषः । युवयोर्दिदृक्षुणेति
प्रयोजनम् । तयोर्महत्त्वात्साक्षादाकर्षणं न
सम्भवति, अतो द्विजात्मजा एव मया समानीता ।
ननु आवां कौ किमर्थं वा तव दिदृक्षा तत्राह
द्विजधर्मगुप्तये अवतीर्णो मम कलारूपाविति ।
युवयोः स्वरूपं मम कलाया अवतारः । अतः

स्नेहादिदृक्षा । कलावतारस्य प्रयोजनं द्विजधर्म-
गुप्तये इति । एको द्विजगुप्तये । अपरो धर्मगुप्तये
इति । उभयमुभयत्र वा । अनिरुद्धस्य धर्मरक्षा-
प्रयोजनमिति । द्विजैः स्वभावत एव धर्मः कर्त-
व्यः । तत्रावयोः किं कर्तव्यमिति चेत् तत्राह
भूमेर्भाररूपान् असुरान् हत्वेति । भूयस्त्वरया इह
इतं आगच्छतं, मे मम अन्ति समीपे । अनेनेदानीं
स्थितिर्निषिद्धा ॥५९॥

व्याख्यार्थ—इस श्लोक में 'द्विजात्मजामी' यह सन्धि आर्ष' है, यों यह पद इस प्रकार का है—
'द्विजात्मजा अमी' अथवा 'द्विजात्मज अमी' यदि 'द्विजात्मजा अमी' पद लिया जाय तो इसका अर्थ
'अमी' ये द्विजात्मजा' ब्राह्मण के पुत्र होता है (मैं लाया हूँ) यदि 'द्विजात्मज अमी' पदच्छेद करे तो

द्विजात्मज संबोधन अर्जुन के लिए होता है, अर्जुन व्यास का पुत्र होने से दोषदर्शी नहीं है क्योंकि ब्राह्मणों की मति वैसी ही होती है, यह सूचित करने के लिए अर्जुन को यहां 'द्विजात्मज' कहा है, और इस पद के कहने का यह भी आशय है कि अर्जुन दो पिताओं को जायदाद का हकदार है।

मैं ब्राह्मण पुत्र यहां लाया हूं जिसका हेतु है मुझे आपके देखने की इच्छा थी, आप दोनों महान् हैं इसलिए आपका साक्षात् आकर्षण नहीं हो सकता है इसलिए ब्राह्मण के पुत्रों को लाया, हम कौन हैं ? हमारे देखने की आस को क्यों इच्छा हुई ? जिसका उत्तर देने हैं 'द्विजधर्मगुप्ते अवतीर्णो मम कला रूपी' आप दोनों मेरी कला के अवतार हैं अतः कला के कारण आपमें स्नेह है जिससे देखने की इच्छा हुई, कलावतार धारण करने का प्रयोजन, द्विजों को और धर्म को रक्षा है, एक द्विजों की रक्षा के लिए दूसरा धर्म की रक्षार्थ है, अथवा प्रत्येक दोनों के लिए है, अनिष्ट का धर्म रक्षा करना प्रयोजन है, ब्राह्मण तो स्वन एव स्वभाव से ही अपने धर्म का पालन करेंगे वहां दोनों को क्या कर्तव्य करना है ? इसका उत्तर देते हैं कि पृथ्वी पर भार रूा असुरों को मार कर फिर आप शीघ्र यहां मेरे पास आइए, यों कहकर यह सूचित किया कि अब लौट कर भूलोक में पधारिए ॥५६॥

आभास—न केवलं धर्मरक्षैव कर्तव्या अपि तु धर्मः प्रवर्तनीय इत्याह पूर्णकामावपीति ।

आभासार्थ—केवल धर्म की रक्षा नहीं करनी है किन्तु धर्म भी प्रवृत्त करना है, यह 'पूर्ण-कामावपि' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—पूर्णकामावपि युवां नरनारायणावृषी ।

धर्ममाच तां स्थित्यै ऋषभौ लो'संग्रहम् ॥६०॥

श्लोकार्थ—आप दोनों पूर्ण काम, नर और नारायण, श्रेष्ठ ऋषि रूप हो, अतः जगत् की स्थिति के लिए और लोक संग्रहार्थ धर्म का आचरण कीजिए ॥६०॥

सुबोधिनी —स्वतो धर्मप्रयोजनाभावेऽपि करणावश्यकत्वाय पूर्णकामत्वम् । धर्मकरण-सामर्थ्यं निस्पृहत्वे च हेतुः नरनारायणावृषी इति । ननारायणत्वात्पूर्णकामत्वं ऋषित्वाद्धर्म-करणसामर्थ्यमिति । तथापि 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' इति प्रयोजनं वक्तव्यमिति ।

चेत् तत्राह । स्थित्यै अनिष्टदः पालक इति जगतः स्थित्यर्थं धर्मकरणम् । ननु नारायणेनैव स्थितिः सम्पाद्यत इति भूभारहरणं यमेव समा-गतयोः आवयोः किं धर्मणेत्यत आह लोक-संग्रहमिति ॥६०॥

व्याख्यार्थ—आपको अपने लिए धर्म करने का कोई प्रयोजन नहीं है फिर भी आप पूर्ण काम हो अर्थात् आप में धर्म करने की सामर्थ्य है और किसी प्रकार की अपने लिए कुछ इच्छा भी नहीं है, क्योंकि नर और नारायण ऋषि हैं, नर-नारायण होने से पूर्ण काम हो ऋषि होने से धर्म करने की सामर्थ्य भी आपमें है ।

१- 'द्विज' पद ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिए है किन्तु ब्राह्मण के लिए देने में भी दोष नहीं है

तो भी 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' मूर्ख मनुष्य भी प्रयोजन के बिना किसी कार्य में प्रवृत्ति नहीं करता है, इसलिए प्रयोजन कहना चाहिए, इस पर कहते हैं कि 'स्थित्यै' अनिष्टद्व पालना करने वाले हैं इसलिए जगत् की स्थिति के लिए धर्म का प्रचार करना चाहिए, यदि कहो कि नारायण ही स्थिति कर रहे हैं इसलिए, भूभार हरण करने के लिए आए हुए हमारा धर्म से कौनसा सम्बन्ध है ? इस पर कहते हैं 'लोक संग्रहम्' लोक संग्रह के लिए आपका धर्म से सम्बन्ध है, आप धर्माचरण कर दिखाओगे तब लोक करेंगे ॥६०॥

आभास—ततो यज्ञ तं तदाह इत्यादिष्टाविति ।

आभासार्थ—पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'इत्यादिष्टौ' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—इत्यादिष्टौ भगवता तौ कृष्णौ परमेष्ठिना ।

श्रीमित्यानम्य भूमानमादाय द्विजदारकान् ॥६१॥

श्लोकार्थ—भगवान् परमेष्ठी से अर्जुन व कृष्ण यों आज्ञा पाकर एवं 'श्रीम्' उस आज्ञा को स्वीकार कर द्विज बालकों को लेकर, भूमा को प्रणाम कर, अपने धाम को लौटे ॥६१॥

सुबोधिनी—उभयोः कृष्णनामत्वं समानांश-
त्वाय । ननु भगवान् कथं भगवन्तमाज्ञापयति
तत्राह परमेष्ठिनेति । अयं भगवान् ब्रह्माण्डे रक्षार्थं
प्रवृत्तः । अतः स्वांशं न सर्वानिव तथा बोधयति ।

अतः स्वस्य रूपं तथैवेति ॐमिति तदुक्तं स्वी-
कृत्य । भूमानं भगवन्तमानम्य यदर्थं गतौ तान्
बालकानादाय ॥६१॥

व्याख्यानार्थ—यहाँ दोनों को कृष्ण नाम देने का भावार्थ यह है कि दोनों समान अंश हैं, भगवन् भूगवान् को कैसे आज्ञा देते हैं ? इसलिए 'परमेष्ठिना' कहा है, यह भगवान् ब्रह्माण्ड में रक्षा के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं, अतः अपने सब अंशों को ही वैसे बोध करते हैं अतः आपका स्वरूप वैसा ही है, इसलिए ॐ कहकर उन्होंने जो कहा वह स्वीकार कर लिया, भूमा भगवान् को प्रणाम कर जिस कार्य के लिए गए थे वह कार्य पूर्ण कर अर्थात् ब्राह्मण के पुत्रों को लेकर लौटे ॥६१॥

श्लोक—न्यवर्तेतां स्वकं धाम संग्रह्यो यथागतम् ।

विप्राय ददतुः पुत्रान्यथारूपं यथा प्रभू ॥६२॥

श्लोकार्थ—जिस मार्ग से गए थे, उसी ही मार्ग से प्रसन्नतापूर्वक अपने धाम द्वारका को लौट आए और दोनों समर्थों ने ब्राह्मण को वैसी ही अवस्था और रूप आदि वाले सब पुत्र दिए ॥६२॥

सुबोधिनी—स्वकं धाम द्वारकां न्यवर्तेतां
व्याघुत्स्य समागता । ततो निःशङ्कौ प्रहृष्टौ गमन-

मार्गेणैव समागता । इयं च लीला अन्यैः समतां
हीनतां च बोधयति ततः प्रतिज्ञासिद्धयर्थं विप्राय

ददतुः पुत्रान् । एकः प्रार्थितो रक्षार्थं सर्व एव च दत्ता इति महत्त्वम् । यथारूपम् रूपमनतिक्रम्य । रूपशब्देन वयःस्वभावादिकमपि जन्मकालीनं गृह्यते । यथा यथावद् अन्यूनानतिरिक्तम् ।

सान्दीपिनिपुत्रवदेषामपि व्यवस्था । ननु कथमेवं प्रतिज्ञाय गतौ तत्राह प्रभू इति । तथा करणे वा हेतुः ॥६२॥

व्याख्यार्थ—जिस कार्य के लिए गए थे वह कार्य कर, अर्थात् ब्राह्मण पुत्रों को लाकर निशङ्क और प्रसन्न हो, अपने धाम द्वारका में जिस मार्ग से गए थे उसी ही मार्ग से लौट आए, यह 'लीला' दूसरों के साथ भगवान् की समता और हीनता दिखलाती है ।

पश्चात् प्रतिज्ञा की सिद्धि करने के लिए ब्राह्मण को सब पुत्र दिए, यद्यपि ब्राह्मण ने एक पुत्र की रक्षा के लिए प्रार्थना की थी, परन्तु सब ही दिए, इससे महत्त्व प्रकट किया, वैसे रूखाएँ ही सब पुत्र दिए, रूप शब्द से आयु और स्वभाव आदि भी, जैसे जन्म समय में थे अब भी वैसे ही हैं, न कम और न उनमें किसी प्रकार कुछ भी परिवर्तन था, सान्दीपिनि ऋषि के पुत्र समान इनकी भी व्यवस्था थी । इसी प्रकार प्रतिज्ञा कर कैसे गए ? इसका उत्तर देते हैं 'प्रभू' सर्व समर्थ थे अथवा यों करने में यह कारण था ॥६२॥

आभास—एवमुभयोश्चरित्रमुक्त्वा तुल्यत्वमाशङ्क्य परिहरति निशम्येति ।

आभासार्थ—ये दोनों के किए हुए चरित्र का वर्णन कर दोनों में समानता होने की शङ्का को 'निशम्य' श्लोक से मिटाते हैं—

श्लोक — निशम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः ।

यत्किञ्चित्पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम् ॥६३॥

श्लोकार्थ — विष्णु भगवान् का धाम देखकर अर्जुन बहुत आश्चर्ययुक्त हुए और समझ गए कि जो कुछ भी पुरुषों में पुरुषार्थ है, वह श्री कृष्ण की कृपा से ही है ॥६३॥

सुबोधिनी—अर्जुनस्तु यावद्भूत्वा समागतः तावत्किमपि न ज्ञातवान् । पश्चाद्भूगवता स्वरूपे निरूपिते पश्चात् तद्वैष्णवं धाम ज्ञातवान् तदाह निशम्येति । परमविस्मयं प्राप्तः । विष्णोरेतादृशं स्थानमिति । स हि जानाति यथेन्द्रादीनां स्थानं तथा विष्णोरपीति । पश्चात्सेरुसर्षपयोरिवान्तरं

ज्ञात्वा अत्यन्तं विस्मितः । नन्वेतावता किमर्जुनस्य सम्पन्नमित्याकांक्षायामाह यत्किञ्चित्पौरुषमिति । स्वतः करणेऽहंकारो भवति । अतो यत्किञ्चित्पूर्वं कृतवान् तदग्न्यत्कृतं च तत्सर्वं कृष्णानुकम्पितमेव मेने । एवं निरोधे नन्दप्रभृति अर्जुनान्ता निरुद्धाः । फाल्गुनान्ताश्चावेशाः ॥

१- जैसे दूसरे देव अंश से अवतरे हैं, वैसे ही भगवान् भी अंश से अवतरे हैं अतः अन्य देवों के साथ समानता दिखाई है, और इस कारण से अनिरुद्ध स्वरूप से होना प्रकट का है, क्योंकि वहाँ भगवान् नारायणांश स्वरूप से पधारे थे, इसलिए अंश को अंशी के साथ यों करना चाहिए, यह लीला लोक के शिक्षार्थ की है—लेखकार

व्याख्यान—अर्जुन वहां जाकर लौट आए तब तक उसके स्वरूप का कुछ भी ज्ञान इसको (अर्जुन को) न हुआ, पश्चात् जब भगवान् ने उपको स्वरूप का वर्णन कर सुनाया तब अर्जुन ने जाना, इसलिए 'निश्चय' पद दिया है, ज न कर बहुत आश्चर्यान्वित होगए मन में कहा कि अहो विष्णु का ऐसा स्थान है ? वह तो पहले यों जानते थे कि जैसे इन्द्रादिक का स्थान है वंसा विष्णु का भी होगा, सुनने के बाद जान लिया कि इनमें तो मेरे और सर्वत्र जितना अन्तर है, इससे परम आश्चर्य को प्राप्त हुए, इससे अर्जुन को क्या मिला ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि स्वतः कार्य करने में अहङ्कार हो जाता है, अब अर्जुन ने समझ लिया कि पहले मैंने जो भी किया वह दूसरे (कृष्ण) ने किया है वह सब कृष्ण की कृपा से हुआ है, इस प्रकार नन्दजी से अर्जुन तक निरोध किया है, फाल्गुन तक आवेश वाले हैं ॥६३॥

आभास—अतस्तस्मिन्निरुद्धे निरोधान्तरस्य वक्तव्यत्वाभावाद् उक्तमात्रपरत्वं दूरीकृतुं प्रकारमतिदिशति इतीदृशान्यनेकानीति ।

आभासार्थ—भगवान् के आवेश वाले अर्जुन का भी निरोध किया, इससे दूसरे निरोध कहने नहीं है, तब तो इनने ही निरोध होगा, इस संशय को मिटाने के लिए 'इतीदृशानि' श्लोक में निरोध के प्रकार बताते हैं —

श्लोक—इतीदृशान्यनेकानि वीर्याणीह प्रदर्शयन् ।

बुभुजे विषयान्ग्राभ्यानीजे चात्युजितैर्मखैः ॥६४॥

श्लोकार्थ—इस लोक में ऐसे अनेक पराक्रम दिखाते हुए भगवान् ने ग्राम-संबन्धी विषयों को भोगा और अति समृद्धि वाले यजों से यज्ञ-पुरुष का पूजन किया ॥६४॥

सुबोधिनी—ज्ञानरूपाणि निरोधरूपाणि वा। वीर्याण्यलौकिकसामर्थ्यानीह भूमौ माहात्म्यार्थं स्वासक्त्यर्थं च प्रदर्शयन् ग्राभ्यान् विषयान् बुभुजे । अथैव लोकासमानधर्माभावे नाद्वयं न भवेत् विश्वासश्च न भवेत्, सर्वमुक्तिश्च स्यात् ।

अतो लौकिकं वैदिकं च लोकवत् कृतवान् तदाह ग्राभ्यान् विषयान् बुभुजे । अत्युजितैर्मखैश्च ईजे इति । षड्वर्षपर्यन्तं सर्वानेव यज्ञान् कृतवानिति प्रसिद्धिः ॥६४॥

व्याख्यान—भगवान् भूमि पर अपने महात्म्य के लिए तथा अपने में आसक्ति करने के वास्ते ज्ञानरूप और निरोधरूप अलौकिक सामर्थ्य वाले वीर्यों को दिखाते हुए ग्राम सम्बन्धी भोगों को भोगने लगे, यदि यों लोक समान धर्मों को धारण न करते तो लीला की पूर्णता न होती और लोगों को विश्वास न होता, जो अलौकिक प्रकार से करते तो दर्शन मात्र से सबकी मुक्ति हो जाती, जो अभीष्ट नहीं थी अतः भगवान् ने लौकिक प्रकार से लौकिक, वैदिक दोनों कार्य किए जैसेकि भोग भी लौकिक रीति से कर दिखाया तथा उत्तम यजों से हरि पूजनकर दिखाया, भगवान् ने ऐसे यज्ञ छ वर्ष तक किए ऐसी प्रसिद्धि है ॥६४॥

आभास—दानमपि यज्ञसदृशमिति तस्यापि लोके उत्कर्षहेतुत्वाद् विशेषेणाह प्रववर्षाखिलान्कामानिति ।

आभासार्थ—दान भी यज्ञ के समान लोक में उत्कर्ष कराने वाला है, अतः प्रववर्ष' श्लोक में उसका विशेष रूप से वर्णन करते हैं—

श्लोक — प्रववर्षाखिलान्कामान्प्रजासु ब्राह्मणादिषु ।

यथाकालं यथैवेन्द्रो भगवान् श्रृण्व्यमास्थितः ॥६५॥

श्लोकार्थ—जैसे इन्द्र समय-समय पर वर्षा कर जगत् की सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण कर उनको आनन्दित करता है, वैसे ही श्रेष्ठता की निधि भगवान् ने भी ब्राह्मणादि सबकी कामनाओं को उनकी इच्छानुसार पूर्ण कर उनको सन्तुष्ट किया ॥६५॥

सुबोधिनी—प्राणिमात्रस्य कामनां पूरितवान् । विशेषतो ब्राह्मणादिषु । तत्रापि यथाकामम् । यावता तासां कामः पूर्णो भवति । एतत् पूरणाभावे तदानींतना लोकाः सर्वे नष्टा एव भवेयुः इति ज्ञापयितुं दृष्टान्तमाह यथैवेन्द्र इति । सर्वे प्राणिनः अन्नैरेव जीवन्ति तदन्नं

वृष्ट्यधीनं ततः पर्जन्यश्चेत्क्षणमात्रमप्युदासीनः स्यात् तदा प्राणिनो नष्टा एव भवेयुः । तथैव भगवानित्यर्थः । भजनार्थं पर्जन्याद्विशेषमाह भगवान् श्रृण्व्यमास्थित इति । सर्वतः श्रृण्व्यं ज्ञापयन्नेव अखिलान् कामान् प्रववर्ष येन कृतार्थता भवति ॥६५॥

व्यख्यार्थ—प्राणिमात्र की कामनाएं तो पूर्ण की, बल्कि विशेष में ब्राह्मणादि की सर्व प्रकार की कामनाएं उनकी इच्छानुकूल पूर्ण की, जो यों न करने तो, सर्व का नाश हो जाता, यों जताने के लिए दृष्टान्त देते हैं यथैवेन्द्र' सब प्राणी अन्न से ही जीते हैं, उस अन्न की उत्पत्ति वृष्टि के अधीन है, यदि मेष क्षणमात्र उदासीन हो जाय, अर्थात् वृष्टि न करे तो प्राणी दुष्काल के कारण अन्नाभाव से नष्ट हो जावे, वैसे ही भगवान् क्षण मात्र उदासीन हो जाय तो लोक नष्ट हो जावे, पर्जन्य से भी भगवान् की विशेषता इसलिए दिखाते हैं कि लोक उनका भजन करे, अतः कहा है कि 'भगवान् श्रृण्व्यमास्थित' सबसे अपनी श्रेष्ठता जनाते हुए ही अखिल कामनाओं की वर्षा करते हैं जिससे कृतार्थता प्रकट होती है । ६५॥

आभास एवं प्रजापालनमुक्त्वा विशेषतः स्वावतारकृत्यमुपसंहरन्नाह हत्वा नृपानधमिष्ठानिति ।

आभासार्थ—इसी तरह प्रजापालन कहकर विशेषता से अपने अवतार कार्य का उपसंहार करने लगे, यह हत्वा' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—हत्वा नृपानधमिष्ठान्घातयित्वाजुनादिभिः ।

अञ्जसा वर्तयामास धर्म धर्मसुतादिभिः ॥६६॥

श्लोकार्थ—अर्जुन आदि द्वारा अधर्मी राजाओं का नाश कराकर और युधिष्ठिर आदि से सम्पूर्णतया धर्म को प्रवृत्त कराया ॥६६॥

सुबोधिनी—नृपाणां वधो न दोषायेति ज्ञापयितुं विशेषणम् । ते नृपाः कंसादयः । अर्जुनादिभिः भीष्माजुनभीमादिभिः । कांश्चिद्धातयित्वा दुर्योधनादीन् ततो निष्कण्टकभूमौ अञ्जसा ।

सामस्त्येन धर्मं प्रवर्तयामास । तत्र हेतवो युधिष्ठिरादयः । भगवतः करणद्वयं दुष्टनिवारणे अर्जुनादिः, धर्मकरणे युधिष्ठिरादिरिति ॥६६॥

व्याख्यार्थ—राजाओं के वध करने में कोई दोष नहीं, क्योंकि वे अधर्मी थे, यों 'अधर्ममिष्टं' विशेषण से बताया है, वे राजा कंस आदि थे, 'अर्जुनादिभिः' आदि पद से भीष्म, भीम, अर्जुन आदि कहे हैं, किन्हीं को (दुर्योधनादि को) मारने से जब निष्कण्टक भूमि हो गई तब सम्पूर्ण रीति से धर्म प्रवृत्त कराने लगे, धर्म प्रवृत्ति में हेतु थे युधिष्ठिर आदि, अर्थात् युधिष्ठिर आदि से धर्म प्रवृत्त कराया, भगवान् के इस प्रकार लीला करने में दो प्रकार के साधन थे १- दुष्टों के नाश करने में अर्जुन आदि साधन थे और २- धर्म के प्रवृत्त करने में युधिष्ठिर आदि साधन थे ॥६६॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभाक्षितविरचितायां

दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे चत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४०॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ८६वें अध्याय (उत्तरार्ध के ४०वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य

चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के

गुण-प्रकरण का पञ्चम अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

॥

इस अध्याय में वर्णित भगवल्लीला का संक्षिप्त सार

राग बिलावल

हरि सो ठाकुर और न जन को ।

तिहूँ लोक भृगु जाइ आइ कहि, या विधि सब लोगनि सो ॥

ब्रह्मा राजस गुन अधिकारी, सिव तामस अधिकारी ।

विष्णु सत्य केवल अधिकारी, विप्र लात उर घारी ॥

मुख प्रसन्न सीतल स्वभाव नित, देखत नैन सिराइ ।

यह जिय जानि भजी सब कोऊ, सूरज प्रभु जदुराई ॥

✽

राग बिलावल

हरि हरि हरि हरि सु मिरन करो । हरिचरनारविन्द उर धरो ॥
 हरि एक दिन निज सभा मंझार । बैसे हुते सहित परिवार ॥
 अर्जुन हूँ ता ठौर सिधाए । संखचूड़ तब वचन सुनाए ॥
 द्वारवाती बसत सब सुखी । मैं ही इक हौं अह-निसि दुःखी ॥
 मेरे पुत्र होत है जबही । अंतर्धान होत सो तबही ॥
 अर्जुन कह्यो द्वारिका माहिं । ऐसी कोउ धनुष घर नाहिं ॥
 जो तुव सुत की रक्षा करे । अरु तेरो यह दुःख परिहरै ॥
 मैं तुव सुत की रक्षा करौं । अरु तेरो यह दुःख परिहरौं ॥
 यह परतिज्ञा जौ न निवाहौं । तो तन अपनी पावक दाहौं ॥
 विप्र कह्यो तुम स्याम कै राम । कै प्रदुम्न अनिरुध अभिराम ॥
 अर्जुन कह्यो मैं इनमें नाहिं । पै हौं इनके दासन माहिं ॥
 अर्जुन है मेरो निज नाम । धनुष गांडीव मम अभिराम ॥
 तू निहिचित बैठि गृह जाइ । सम होइ कहूँ मोसौं आइ ।
 पुत्र प्रसूत समय जब आयौ । विप्राजुन सौं आइ सुनायो ॥
 अर्जुन तब सर पिंजर कियो । पवन संचार रहन नहि दियो ॥
 गृह को द्वारो राख्यो जहाँ । अर्जुन सावधान भयो तहाँ ॥
 ब्राह्मन कह्यो सम अब भयो । अर्जुन धनुष बान तब लयो ॥
 बालक ह्वै भयो अंतर्धान । अर्जुन ह्वै रह्यो चकित समान ॥
 विप्र नारि तब गारी दई । कह्यो प्रतिज्ञा का ह्वै गई ॥
 तैं पुरुषारथ कहैं तैं पायो । मिथ्या ही कहि वाद चढ़ायो ॥
 हरि सौं दुख अब कहिहौं जाइ । अर्जुन कह्यो तासौं या भाइ ॥
 तेरे सुत कौं मैं अब ल्याऊँ । तेरो सब संताप नसाऊँ ॥
 अर्जुन तिहुँ लोक फिर आयौ । पै सो बालक कहै न पायो ॥
 अर्जुन विप्र स्याम पै आए । हरि अर्जुन सौं वचन सुनाए ॥
 तुम बालक काहे नहि राख्यो । सो वृत्तांत हमें तुम भाषो ॥
 कह्यो जु मैं परतिज्ञा करो । सो मोसौं पूरी नहि परी ॥
 बालक होत कौन लै गयो । सो मोसौं कुछ ज्ञान न भयो ॥
 मैं देख्यो तिहि त्रिभुवन जाई । पै ताकी कहूँ सुधि नहि पाई ॥
 विप्र काज प्रभु अब तुम करौ । ना-तरु मोसौं जानी मरौ ॥
 हरि रथ पर अर्जुन बैठाई । पहुँचे लोकालोकहि जाइ ।
 ह्वैहैं तैं पुनि आगेँ धाए । दारुन हरि सौं बचन सुनाए ।
 अंधकार मग नहि दरसाई । तातैं रथ नहिँ सकत चलाइ ॥
 चक्र सुंदरसन आगेँ कियो । कोटिक रवि प्रकास तहँ भयो ॥
 जब हरि अर्जुन पहुँचे तहाँ । गति नाहीं काहूँ की जहाँ ॥
 तहाँ जाइ देख्यो इक रूप । ता-सम और न दुतिय स्वरूप ॥
 नैननि निरखि चकृत ह्वै गए । मन बानी दोऊ थकि गए ॥
 कहिवैं जोग होइ तो वहे । तहाँ कछु आकार न लहै ॥
 सेष नाग फन मुकुट-स्थान । मनि प्रभा मनु कोटिक भान ॥
 हरि अर्जुन कियो निरखि प्रनाम । मनौ तहां इक सब्द अभिराम ॥
 तुम्हरे हित चरित यह कियो । बोझ पृथ्वी को हरयो भयो ॥

आवहु तुम अब अपने धाम । पूरन भए सुरनि के काम ॥
 दसौ पुत्र ब्राह्मण के दिए । हरि अर्जुन प्रनाम तब किए ॥
 तहँ तैं पुनि द्वारावति आए । ब्राह्मण के बालक पहुँचाए ॥
 अर्जुन देखि चरित्र अनूर । त्रिस्मय बहुत भयो सुनि भूप ॥
 नहिँ जान्यौ मैं कहाँ सिधायो । अरु वाँ तैं ह्याँ कैसे अत्यौ ॥
 हरि अर्जुन कौ निज जन जान । लै गए तहँ न जहाँ ससि भान ॥
 निज स्वरूप अपनी दरसाओ । जो काहूँ देखन नहिँ पायो ॥
 ऐसे हैं त्रिभुवन पति राइ । कहा सकै रसना गुन गाइ ॥
 ज्यौँ शुक नृप सौँ कहि समझायौ । सूरदास ताहि बिधि गायौ ॥

एक दिना एक विप्र द्वारिका वसत सुखद निजधाम ।
 वेद रूप तप रूप महामुनि, कृष्ण विप्र यह नाम ॥
 बालक दशजु भये वाके जब भूमा लिये मंगाय ।
 चित्त में यह अनुरक्त विचारत हरि दरसन की चाय ॥
 दस सुत भये जान के ब्राह्मण करि पुकार हरि पास ।
 तब हरि कह्यो देव की गति, यह करत काल जग नास ॥
 तब अर्जुन यह कह्यो मत्त ह्वै नृप नाहिन भुवभार ।
 मैं अर्जुन गाँडिव धनु जाको कालसों लरों छिन मार ॥
 जब सुत भयो कह्यो ब्राह्मण ने अर्जुन गये गृह ताइ ।
 शरपंजर रोप्यो चहुँ दिसते जहाँ पवन नहिँ जाइ ॥
 तब सुत गयो देह को लेके दरसन भयो न ताइ ।
 अति ही क्रोध भयो ब्राह्मण को बहुत बक्यो बिलखाय ॥
 तब अर्जुन दूँढन को निकसे तीन लोक फिर आयो ।
 कहूँ न पायो सुत ब्राह्मण के तब मन में अकुलायो ॥
 कियो बिचार प्रवेस अग्नि को हरि आये समुझायो ।
 लँ निज संग चले पछिम को लोकालोक सुहायो ॥
 कनक भूमि अरु धाम देवके देखे परम सुहाये ।
 बहुत निबिडतम देख चक्र धरि धरेव हाथ समुझाये ॥
 महाकाल पुर तुरत पधारे, हरि भूमा के पास ।
 तुल्य अग्नि बर अग्नि समानी भूमा तेज प्रकास ॥
 कृष्ण तेज को देख सकल सुर तन मन भयो हुलास ।
 अति ही मन्द तेज भूमा को हरि के तेज प्रकास ॥
 अति आनंद परसपर बाढ्यो जब उन बिनती कीनी ।
 भली भई भवभार उतारेउ मेरी फिर सुध लीनी ॥
 लँ दस पुत्र द्वारिका आये दीन्हें विप्र बुलाय ।
 किनो दुख दूर अर्जुन को महिमा प्रगट दिखाय ॥
 कीनी केलि बहुत बल मोहन भुवको भार उतारेउ ।
 प्रगट ब्रह्म राजत द्वाखती वेद पुरान बिचारेउ ॥

॥ श्रीकृष्णाय नमः ॥

॥ श्री गोपीजनवल्लभाय नमः ॥

॥ श्री वाक्पतिचरणकमलैर्म्यो नमः ॥

● श्रीमद्भागवत महापुराण ●

दशम स्कन्ध (उत्तरार्ध)

श्रीमद्वल्लभाचार्य—विरचित सुबोधिनी टीका (हिन्दी अनुवाद सहित)

श्रीमद्भागवत—स्कन्धानुसार ६०वां अध्याय

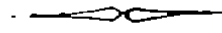
श्री सुबोधिनी अनुसार ८७वां अध्याय

उत्तरार्ध ४१वां अध्याय

गुण-प्रकरण

“अध्याय—६”

भगवान् कृष्ण की लीला-विहार का वर्णन



कारिका—एवं सर्वान् समुद्धृत्य क्रीडत्यस्माकमीश्वरः ।

क्रीडायां प्राप्तसंसारः स्त्रीणामपि निवार्यते ॥१॥

कारिकार्थ—इसी तरह सबका उद्धार कर हमारे प्रभु क्रीड़ा करते हैं (यह लीला इस अध्याय में कही है) क्रीड़ा करते हुए जो संसार स्त्रियों में उत्पन्न हो जाता है उसका भी इस लीला से निवारण किया जाता है ॥१॥

१- ‘भक्तों को प्रपञ्च का विस्मरण कराकर अपने में उनके मन का प्रवेश कराना’ इस प्रकार के निरोध का वर्णन पूर्व अध्याय में किया है। अब इस (४१ वें) अध्याय में ‘निरोधोऽस्यानुशयनम्’ पंक्ति से श्रीकृष्ण अपनी दुविभाव्य शक्तियों से जो प्रपञ्च में रमण करते हैं’ इस प्रकार के निरोध का वर्णन किया है, इस निरोध के सिद्धार्थ क्रीड़ा करते हैं—इस क्रीड़ा से उत्पन्न संसार का भी निरोध द्वारा निवारण करते हैं—योगिक अर्थ वाले निरोध का यह निरोध अंग नहीं है ।

कारिका - ज्ञानं निरूप्य वैराग्यं निरूपयितुमुद्यतः ।

अद्भुतत्वाच्चरित्रस्य रागलीला निरूप्यते ॥२॥

कारिकार्थ—ज्ञान का निरूपण कर अब श्री शुकदेवजी वैराग्य का निरूपण करने के लिए उद्यत हुए हैं, चरित्र के अद्भुतपन से राग प्रेम-रति की लीला का वर्णन किया जाता है ॥२॥

कारिका - स्वार्थं रतिः पूर्वमेव भगवत्त्वान्निवारिता ।

स्त्रीणां तु रागसम्प्राप्तिस्ततोऽत्र विनिवार्यते ॥३॥

कारिकार्थ—श्रीकृष्ण, यह रति लीला अपने लिए करते हैं इसका निवारण पहले ही कर दिया है क्योंकि आप भगवान्^१ हैं, इस लीला से भगवान् कृष्ण आसक्त न भी हों, किन्तु स्त्रियों की तो रागासक्ति होगी, इसलिए उनकी रागासक्ति इस अध्याय के १३ वें श्लोक में कही हुई चेट्याओं से भगवान् निवृत्त करते हैं ॥३॥

कारिका—एकचत्वारिंशोऽध्याये भक्तानां सुखसिद्धये ।

परमोत्सवलीलां हि श्रीशुको वर्णयन्मुदा ॥४॥

कारिकार्थ - इस ४१ वें अध्याय में भक्तों की सुख सिद्धि के लिए श्री शुकदेवजी परमोत्सव की लीला का वर्णन आनन्द से करते हैं ॥४॥

आभास—पूर्वाध्याये सर्वलोकार्थं चरित्रमुक्तमुपसंहृतम् । इदानीं भक्तानां भगवति मनःस्थैर्यार्थं परमानन्दलीलां निरूपयति सुखं स्वपूर्यामिति ।

आभासार्थ - पूर्व अध्याय में, सर्व लोकों के हितार्थ किए हुए चरित्रों का उपसंहार किया, इस अध्याय में भक्तों का मन भगवान् में स्थिर करने के लिए परमानन्द रूप लीला निरूपण करते हैं, जिसका यह 'सुख स्वपूर्या' पहला श्लोक श्री शुकदेवजी कहते हैं —

श्लोक—श्रीशुक उवाच—सुखं स्वपूर्या निवसन्द्वारकायां श्रियःपतिः ।

सर्वसम्पत्समृद्धायां जुष्टायां वृष्णिपुङ्गवैः ॥१॥

श्लोकार्थ—सर्व प्रकार की सम्पदाओं से समृद्ध श्रेष्ठ यादवों से सेवित अपनी पुरी द्वारका में सुखपूर्वक रहते हुए लक्ष्मी के पति रमण करने लगे ॥१॥

सुबोधिनी—स्वभावतोऽपि सर्वचिन्ताभावः । त्विमाह सर्वसम्पत्समृद्धायामिति । कदाचित्सावा-
स्वपूर्या भवति । तत्रापि द्वारकायां श्रियःपतिरिति । रणोपद्रवसम्भावनायामपि न स्वप्रयत्नोऽपेक्ष्यते ।
विलाससाधनसम्पत्तिरुक्ता । लौकिकीमपि संप- । वृष्णिश्चेष्टैरेव तन्निवृत्तिसम्भवात् ॥१॥

१- षडैश्वर्य पूर्ण होने से प्राप्त काम हैं अतः आप अपने लिए रति लीला नहीं करते हैं,

व्याख्यार्थ—यह स्वभाव सिद्ध है कि अपनी पुरी में किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रहती है, फिर साधारण नगरी नहीं है किन्तु 'द्वारका' है जहाँ लक्ष्मी के पनि सदैव विराजते हैं, यों कहकर यह बताया है कि इस पुरी में विलासों के साधनों की सर्व प्रकार सम्पत्ति है, 'सर्व संपत्समृद्धायां' पद से सब तरह की लौकिक सम्पत्तियों से भी यह पुरी भरपूर है, कदाचित् कोई साधारण उपद्रव होवे तो उसको मिटाने के लिए आपको प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वहाँ श्रेष्ठ योद्धा यादव रहते हैं, वे उनका निवारण कर सकते हैं ॥१॥

आभास—असाधारणानां पूर्वमेव निवृत्तत्वान्मुख्यभोगसाधनानि निदिशति स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिरिति ।

आभासार्थ—असाधारणों की पहले ही निवृत्ति होने से अब भोग के मुख्य साधनों को कहते हैं—

श्लोक—स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिर्नवयौवनकान्तिभिः ।

कन्दुकादिभिर्हर्म्येषु क्रीडन्तीभिस्तडिद्द्युभिः ॥२॥

श्लोकार्थ—जिस पुरी के महलों में उत्तम वेष वाली नवीन यौवन की कान्तियों से देदीप्यमान और दामिनी की दमक से दीप्त अङ्गनाएँ गेंद आदि से अनेक प्रकार के खेल खेलती विलास कर रही हैं ॥२॥

सुबोधिनी पुरुषश्चैतन्यात्मकः काममयः, इन्द्रियाणि तत् दुःखनिवर्तकानि करणानि, प्रवृत्त्यर्थं तेभ्यः सुखदानान्तरात्मिकं तत्रात्मिकमः स्त्रीभिरेव पूर्यते । तत्र स्त्रीणां षडिन्द्रियसुखदातृत्वाय विशेषणानि उत्तमवेषाभिरित्यादीनि । अलौकिकवेषेण मनोदृष्टिप्रोतिः । नवयौवनकान्तिभिरिति स्पर्शरसयोः । हर्म्येषु कन्दुका-

दिभिः क्रीडन्तीभिरिति शब्दघ्राणयोः, चित्त-चक्षुषोर्वा तदा आद्येन व्यत्यासः । अनेन विभावा अनुभावाश्चोक्ताः । तडिद्द्युभिरिति । इतरराग-विस्मरणम् । धर्मादिकलरूपत्वं वा तासां निरूपितम् । एवं सर्वपुरुषार्थरूपाः स्त्रियः भगवदर्थं निरूपिताः । साधारणानां नागरीणां वा वर्णनम् ॥२॥

व्याख्यार्थ - पुरुष चैतन्य स्वरूप एवं काममय^१ है, जब तक उसकी कामपूति नहीं होती है तब तक उसे दुःख भासता है, उस दुःख की निवृत्ति करने के साधन इन्द्रियां हैं, इन्द्रियां अपने कार्य में प्रवृत्ति करें, इसलिए उनको सुख दिया जाता है, तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों द्वारा ही आत्मा को सुख मिलता है, उनको पृथक् कर नहीं सकते हैं, अतः कहा है कि आत्मा काम स्त्रियों से ही पूर्ण होता है, स्त्रियाँ ही षड् इन्द्रियों को किस प्रकार आनन्द देती है जिसका वर्णन करते हैं, उत्तम दिव्य वस्त्रों का धारण करने से पुरुष के मन और नेत्रों को आनन्द देती है, नव यौवन की दीप्ति से, कोमल स्पर्श और^२ अधररस^३ का सुख देती है, महलों में गेंद की क्रीड़ा करते, शब्द और मन्ध का

सुख देती है, गेंद खेलते हुए जो गान करती हैं उससे शब्द का सुख देती हैं और गेंद पुष्पों की बनी हुई होती है जिससे सुगन्धों का आनन्द देती हैं, अथवा इस प्रकार चित्त तथा चक्षुषों को आनन्द देती हैं, यों भावार्थ लिया जावे तो पहले दिए हुए विशेषणों से परिवर्तन करना चाहिए, इससे काम शास्त्र में दिखाए हुए विभाव और अनुभाव कहे हैं 'विद्युत् सम कान्तिवाली' विशेषण से यह बताया है कि पुरुष का अन्य पदार्थों में जो प्रेम हो उसको विस्मृत करा देती है ।

स्त्रियां धर्म अर्थ, काम और मोक्ष रूप फल भी इन वेषादि से देती हैं, इस प्रकार भगवान् के वास्ते सर्व पुरुषार्थ रूप स्त्रियां हैं, अथवा यह साधारण नागरियों (नगर की स्त्रियों) का वर्णन है ॥२॥

आभास — ततः केवलभोगस्थानत्वे गन्धर्वादिविमानवत् लोकोत्कर्षस्तथा न भविष्यतीति सेनां वर्णयति नित्यं संकुलमार्गायामिति ।

आभासार्थ—यदि द्वारका गन्धर्वों के विमानों की तरह केवल भोग स्थान होगी तो उसका लोक में उत्कर्ष न रहेगा, इसलिए 'नित्यं संकुल मार्गायां' श्लोक में सेना भी वहां है ऐसा वर्णन करते हैं—

श्लोक— नित्यं संकुलमार्गायां मदच्युद्धिर्मतङ्गजैः ।

स्वलंकृतैर्भटैरश्वै रथैश्च कनकोज्ज्वलैः ॥३॥

श्लोकार्थ—जिस पुरी के मार्ग में सदैव मद भरते हस्तियों, सुन्दर शृङ्गार किए योद्धों व घोड़ों और सुवर्ण मण्डित रथों की भीड़-भाड़ बनी रहती है ॥३॥

सुबोधिनी—आस्रवन्मदैर्गजैः सर्वदेव संकुला रथाश्च । एवं चत्वार्यङ्गानि उत्कृष्टानि मार्गा यस्याः । ततो भटा अपि स्वलंकृता अश्वा निरूपितानि ॥३॥

व्याख्यानार्थ—मद भरते हाथियों से सर्वदा ही द्वारका के मार्ग में भीड़-भाड़ बनी रहती है, वैसे ही मार्ग में अलङ्कृत योद्धे घोड़े और रथों की भीड़ रहती है इस प्रकार सेना के चारों अङ्ग द्वारका में उत्कृष्ट हैं, यों निरूपण किया ॥३॥

आभास—एवं शौर्यसिद्धयर्थं सेनां निरूप्य भोगसिद्धयर्थमुद्यानानि निरूपयति ।

आभासार्थ—यों शूरवीरता की सिद्धि के लिए सेना का निरूपण कर भोग की सिद्धयर्थ उद्यानों का निरूपण करते हैं—

श्लोक— उद्यानोपवनाढ्यायां पुष्पितद्रुमराजिषु ।

निविशद्भृङ्गविहगैर्नादितायां समन्ततः ॥४॥

१- ये केवल चार विशेषण हैं और ये भी चार हैं इससे समानता के कारण यों कहा है इससे योग्यता का विचार नहीं ।

श्लोकार्थ—फुलवारियाँ और उपवनों से सम्पन्न, फूलों वाले वृक्षों की पंक्तियों में विहार करते हुए भ्रमर और पक्षीगण जिसमें नाद कर रहे हैं । ऐसी द्वारकापुरी में बसते हुए लक्ष्मी के पति रमण करने लगे ॥४॥

सुबोधिनी—उद्यानं पुष्पप्रधानं, उपवनं फल-प्रधानम् । तैराख्या सम्पन्ना । कामकलायां गन्धोत्कर्षमुक्त्वा शब्दोत्कर्षमाह पुष्पितद्रुम-राजिषु निविशन्तो ये भृङ्गाः विहगाश्च तैर्नादि-

तायाम् । राजिपदेन एकस्यां पंक्तौ एकजातीया एव विहगाः प्रविशन्तीति ज्ञापितम् । अन्यथा विजातीयशब्दसाङ्ग्ये कोलाहलः स्यात् । सम-न्तत इति पूर्वोक्ताः सर्वत्र ज्ञातव्याः ॥४॥

व्याख्यार्थ—‘उद्यान’ शब्द से वहाँ फुलवाड़ियों का होना बताया है, और ‘उपवन’ शब्द से फलों वाले वृक्षों की प्रधानता बताई है, उनसे भरपूर नगरी है, काम कला में गन्ध का उत्कर्ष बताकर अब शब्दों का उत्कर्ष वर्णन करते हैं फूलों वाले पेड़ों की पङ्क्तियों में प्रविष्ट भ्रमर और पक्षीगण जहाँ कलरव कर रहे हैं, ‘राजि’ पद से यह सूचित किया है कि एक पंक्ति में एक जाति के ही पक्षी प्रवेश करते हैं, यदि पृथक् पृथक् जाति के पक्षी एक पंक्ति में होते तो विजातीय शब्द की सङ्घर्षता से कोलाहल हो जाता अर्थात् वह आनन्दप्रद मधुर ध्वनि न होती, चारों तरफ कहने से पूर्व कहे हुए उद्यान आदि सर्वत्र है, यो जानना चाहिए ॥४॥

श्लोक —रेमे षोडशसहस्रपत्नीनामेकवल्लभः ।

तावन्ति बिभ्रद्रूपाणि तद्गृहेषु महद्भिषु ॥५॥

श्लोकार्थ सोलह सहस्र स्त्रियों का एक ही प्रियतम उतने (१६ सहस्र) ही रूप धारण कर उन (स्त्रियों) के महती समृद्धि वाले घरों में रमण करने लगे ॥५॥

सुबोधिनी—तादृशस्थाने षोडशसहस्रस्त्रीणां एक एव वल्लभो रेमे । सर्वासामेकत्रैव स्नेहः । षोडशविकारेषु प्रतिविकारं मनसः सहस्रधा सुख-सिद्धयर्थं षोडशसहस्राणि । तावतीनामपि धर्म-साधकत्वमपीत्याह पत्नीनामिति । ननु भगवान् स्वकामनापूर्त्यर्थं न प्रवृत्तः किन्तु स्त्रीणां कामना-पूर्त्यर्थं तदेवं प्रकारे सर्वथा कामो न पूर्यते । एकगुणस्यापि कामस्य पूर्त्यर्थं बह्व्योऽपेक्ष्यन्ते । अष्टगुणकामानां तु कथमेकेन पूतिः । तत्रापि बह्वीनामेक इति दोषं व्यावर्तयितुमाह तावन्ति

बिभ्रद्रूपाणीति । यावत्तयः स्त्रियः तावन्ति रूपाणि कृत्वा रेमे । तासां कामनापूर्त्यर्थमेव तानि रूपाणि जातानीति एकस्याः कामः अष्ट-गुणोप्येकेन पूर्यते तदर्थमेव प्राकट्यात् । सर्वासामेकत्र रमणे मात्सर्यकृतः क्लेशो भवेत् तदर्थमाह तद्गृहेषु महद्भिष्विति । तासामेव गृहेषु सर्व-समृद्धियुक्तेषु । एकैकं हर्म्यं एकैकस्यै दत्त्वा तत्र सर्वसमृद्धिं सम्पाद्य स्वयमेकरूपेण तत्र प्रविष्टः सम्यग्यावता सुखरूपं भवति तथा रेम इत्यर्थः ।

॥ ५ ॥

व्याख्यार्थ—ऐसे भोग की सामग्री से युक्त स्थान में सोलह हजार स्त्रियों के एक ही प्रियतम रमण करने लगे सब स्त्रियों का स्नेह, एक स्थान (एक ही प्रियतम) पर इकट्ठा हुआ, सोलह विकारों में से प्रत्येक विकार का सम्बन्धी जो मन है, उस प्रत्येक मन को एक सहस्र प्रकार का आनन्द प्राप्त हो तदर्थ स्त्रियाँ भी १६ हजार थीं, किन्तु ये स्त्रियाँ साधारण स्त्रियाँ नहीं थीं, क्योंकि साधारण होती

तो धर्म का व्यतिक्रम हो जाता, अतः पत्नी पद दिया है कि ये पत्नियां थीं इसलिए इनमें धर्म साधकत्व था ।

यदि भगवान् यह रमण अपनी कामना पूर्ति के लिए नहीं करते हैं किन्तु स्त्रियों की कामना पूर्ति के लिए करते हैं, तो इस प्रकार की लोला से काम की सर्वथा पूर्ति न होगी, क्योंकि एक पति, १६ सहस्र स्त्रियों के काम की पूर्ति कर नहीं सकता है, पुरुष के काम से स्त्रियों में अष्टगुणा काम रहता है, जब एक पुरुष के एक गुणावाली काम की पूर्ति के लिए बहुत स्त्रियों की अपेक्षा होती है, तब अष्ट गुणा काम वाली १६ सहस्र स्त्रियों के काम की पूर्ति एक पति से कैसे होगी ? इस शङ्का को मिटाने के लिए कहा है, 'तावन्ति बिभ्रद्रूपाणि' आपने भी १६ सहस्र रूप धारण कर लिए, इस प्रकार उनके काम की पूर्ति के लिए ही वे रूप प्रकट हुए, जिससे एक स्त्री का अष्ट गुणा काम भी उसी एक स्वरूप से पूर्ण होगा ।

स्त्रियों में मात्सर्य दोष स्वाभाविक है, इसलिए एकत्र यानि एक ही स्थान में रमण से मात्सर्य होगा, उसके निवारणार्थ प्रत्येक को महल पृथक् पृथक् दिए, वे महल भी सबके समान सर्व समृद्धि युक्त बने हुए थे उन अलग अलग महलों में प्रत्येक के साथ पृथक् पृथक् रमण किया, जिससे मत्सरता भी न हुई, आप प्रत्येक महल में एक स्वरूप से प्रविष्ट हुए और जब तक सम्यक् प्रकार से उनको पूर्ण आनन्द प्राप्त हो, वैसे तब तक रमण करते रहे, यों तात्पर्य है ॥५॥

आभास—एवं प्रत्येकरमणमुक्त्वा गृहस्थतुल्यता जातेति विशेषरमणकथनार्थं समुदायेनापि रमणमाह प्रोत्फुल्लेति सप्तभिः ।

आभासार्थ—एक एक स्त्री के साथ अकेले घर में रमण तो गृहस्थ के समान रमण हुआ अतः विशेष प्रकार के समुदाय के साथ किए हुए उत्तम रमण का वर्णन 'प्रोत्फुल्ल' श्लोक से सात श्लोकों में करते हैं—

श्लोक—प्रोत्फुल्लोत्पलकल्लारकुमुदाम्भोजरेणुभिः ।

वासितामलतोयेषु कूजद्विजकुलेषु च ॥६॥

श्लोकार्थ—जल में उत्पन्न प्रफुल्लित कल्लार, कुमुद तथा कमलों की रेणुओं से सुगन्धित निर्मल जल वाले और जहाँ पक्षियों के समूह कलरव कर रहे हैं, वैसे छोटे तालाबों में घरों के भीतर रमण (जल-क्रीड़ा) करने लगे ॥६॥

सुबोधिनी—प्रकर्षेण उत्फुल्लाः जलपुष्प-जातयः कल्लारकुमुदाम्भोजजातयः सन्ध्यारात्रि-दिनविकासयुक्ताः तासां रेणुभिः वासितानि यान्यमलतोयानि तद्युक्तेषु भगवन् रेम इति

सम्बन्धः । कूजतां द्विजानां कुलानि यत्र । गन्ध-सम्पत्तिः शब्दसम्पत्तिश्च तत्रोक्ता । स्पर्शरसौ तत्र सहजौ । रूपं तु सिद्धमेव ॥६॥

व्याख्य—जल में उत्पन्न पुष्पों की जाति वाले कल्लार, कुमुद तथा कमल जहाँ खूब खिल

रहे हैं, ये ऋषयः सन्ध्या, रात्रि और दिन में खिलते हैं, उन पुष्पों की रेणुओं से सुगन्धित और निर्मल जल वाले छोटे तालाबों से युक्त मकानों में भगवान् समुदाय रमण करने लगे। जहाँ पक्षियों के कुल कलरव कर रहे हैं, इसी प्रकार वहाँ गन्ध सम्पत्ति का वर्णन किया, स्पर्श और रस दोनों वहाँ सहज ही है, रूप^२ तो सिद्ध ही है । ६।

श्लोक—विजहार विगाह्याम्भो हृदिनीषु महोदयः ।

कुचकुङ्कुमलिप्ताङ्गः परिरब्धश्च योषिताम् ॥७॥

श्लोकार्थ—भगवान् जब उन सरोवरियों के जल में प्रवेश कर विहार करने लगे, तब आलिङ्गन करते समय स्त्रियों के स्तनों पर लगी हुई कुमकुम (केसर) से आपके श्रीअङ्ग भी लिप्त हो गए हैं ॥७॥

सुबोधिनी- तत्र अम्भो विगाह्य विजहार जलक्रीडां कृतवान् । ननु जलक्रीडायाः क्वोपयोग इति चेत् तत्राह महोदय इति । महानभ्युदयो यस्य । तेनैवं वर्तव्यमित्यर्थः । तत्रापि शोभामाह कुचकुङ्कुमैरालिप्ताङ्ग इति दूरीकरणार्थं वा जलावगाहनम् । तत्रत्यरसस्य स्वरूपमाह योषितां परिरब्ध इति । योषितां सम्बन्धी ताभिश्च परिरब्ध इत्यर्थः ॥७॥

व्याख्यानार्थ—वहाँ पानी में प्रवेश कर जल क्रीडा करने लगे, जल में क्रीडा लाभ क्या ? जिसके उत्तर में कहा है कि 'महोदयः' क्रीडा से भगवान् का महान् वैभव प्रकट हो रहा है, इससे यों (ही) करना चाहिए, यह भावार्थ है, वहाँ की शोभा का वर्णन करते हैं, आलिङ्गन से स्त्रियों के स्तन पर लगी कुमकुम (केसर) से भगवान् के सकल अङ्ग लिप्त हो गए थे, उसके दूर करने के लिए जल में अवगाहन किया, वहाँ जो रस प्रकट हुआ उसके स्वरूप का वर्णन करते हैं, 'योषितां परिरब्धः' पद से बताया है, कि भगवान् को स्त्रियों ने आलिङ्गन किया है एवं आप स्त्रियों के सम्बन्धी हैं अतः इस लीला से भीतर रहे हुए रस को बाहर प्रकट कर दिखाया है ॥७॥

ग्रामास—तदा प्राकाराद्बहिः स्थितै रसोत्पादनार्थं गानस्तोत्रादिकं कर्तव्यं तदपि कृतवानित्याह उपगीयमानो गन्धर्वैरिति ।

ग्रामासार्थ—उस काल में महलों से बाहर स्थितों को रस के उत्पादन के लिए गान स्तोत्रादि करने चाहिए, वह भी करने लगे, वह 'उपगीयमानो' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—उपगीयमानो गन्धर्वैर्मृदङ्गपणवानकान् ।

वाद्यद्विमुंदा वीणाः सूतमागधबन्दिभिः ॥८॥

- १- घरों में गृहिणी गृहमुच्यते' इस उक्ति के अनुसार श्री को ही घर कहा है अतः श्री के स्पर्श से और चुम्बन से आनन्द तो स्वभाव सिद्ध है,
२- रूप तो भगवान् ने इसलिए ही इस प्रकार के धारण किए हैं—'लेखकार'

श्लोकार्थ—गन्धर्व प्रेम से मृदङ्ग, पणव, आनक और वीणा बजा रहे थे तथा सूत, मागध व बन्दीजन भगवान् का यश गा रहे थे ॥८॥

सुबोधिनी—उपगानं तन्नामगीतानां गानम् । यद्भिरिति । अन्येषामपि प्रशंशामाह सूतमागध-
वाद्यमप्याह मृदङ्गपणवानकान् । वीणाश्च वाद- । वन्दिभिरिति ॥८॥

व्याख्यान—भगवान् के नाम गीतों का गान होने लगा और मृदङ्ग, पणव, आनक तथा वीणा आदि वाद्य बजने लगे, गन्धर्वों के सिवाय सूत, मागध और बन्दीजन भी प्रशंसा करने लगे ॥८॥

आभास—एवं बहिरुद्दीपनादिकमुक्त्वा स्त्रीणां स्वेरन्नीलामाह सिच्यमानोऽच्युत-
स्ताभिरिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार बाहर से कामोत्तेजक भावनादि कह कर अनन्तर सिच्यमानोऽच्युत श्लोक में स्त्रियों की मनमानी स्वच्छन्द लीला का वर्णन करते हैं—

श्लोक—सिच्यमानोऽच्युतस्ताभिर्हंसन्तीभिः स्म रेचकैः ।
प्रतिसिञ्चन्विचिक्रीडे यक्षीभिर्यक्षराडिव ॥९॥

श्लोकार्थ—स्त्रियाँ हँसती-हँपती भगवान् को पिचकारियों से भिगोती थी और भगवान् उनको भिगो रहे थे । उस समय की शोभा ऐसी हो रही थी, जैसी कुबेर और यक्षिणियों की परस्पर क्रीड़ा करने के समय होती है ॥९॥

सुबोधिनी—अच्युतत्वात् बह्वीभिरपि न । यक्षाः कामरसकलहे निपुणाः । तथा प्रकृते
भगवतः कामस्य कापि हानिः । रेचकैः चर्मवश- स्त्रीणां भगवतश्चेति एकदेशप्रसिद्धिः माहात्म्यं
निमित्तैः, स्वभावतोऽपि हास्यं जयोद्धा । उभय- सूचयतीति अयुक्तोऽपि कुबेरयक्षिणीनां दृष्टान्त-
थापि तासां परमसन्तोष उक्तः । अत्यन्तं स्पष्टः भावो निरूप्यते । यथा समुद्र इव गाम्भीर्ये
कामः ईश्वरस्य निरूपयितुं अनुचितमिति स्मे- धैर्येण हिमवानिव इति वाक्यानि ॥९॥
त्याह । ताः प्रतिसिञ्चन् विशेषेण चिक्रीडे ।

व्याख्यान—स्त्रियां बहुत थीं जिससे भगवान् के काम में कमी हुई होगी ? इस शङ्का के निवारण के लिए 'अच्युत' नाम दिया है, जिससे बताया है कि बहुत स्त्रियाँ होते हुए भी भगवान् के काम में च्युति (हानि) नहीं हुई, चमड़े अथवा बांस की बनी हुई पिचकारियों से भगवान् को भिगोती हुई हँस रही थी, कारण कि स्त्रियों का एक स्वभाव मुस्कराने का होता है फिर भगवान् पिचकारियों से उतना न भिगो सके जितना कि इन्होंने भिगोया इस विजय में हँस रही थी, दोनों तरह इनको परम सन्तोष कहा है, 'स्म' पद कहने का भावार्थ यह है कि, ईश्वर के काम को स्पष्ट गति से निरूपण करना उचित नहीं है, भगवान् ने भी इन स्त्रियों पर पिचकारियों से जल वर्षाया, इस प्रकार विशेषतया खेलने लगे ।

यक्ष काम रस के कलह में चतुर हैं, वैसे प्रकृत प्रकरण में खिर्मा तथा भगवान् इस प्रकार काम कलह करते हैं। यह केवल एक देश में प्रसिद्धि भगवान् के महात्म्य की सूचक है। यद्यपि कुबेर यक्षिणियों के काम कलह की समता बताना अनुचित है किन्तु मात्र दृष्टान्त भाव से इसका निरूपण किया है। जैसे कहा जाता है कि गम्भीरता में समुद्र समान, धैर्य में हिमालय समान; ये भी केवल दृष्टान्त ही हैं। भगवान् का गम्भीर्य वा धैर्य इतना तो नहीं है। ६॥

आभास — ततस्तासां रसाभिनिवेशेन विस्मृतदेहानां कामलीलामाह ताः क्लिन्नवस्त्रेति ।

आभासार्थ पश्चात् वे स्त्रियाँ रस का भीतर प्रवेश हो जाने में देह को भूलकर जो काम लीला करने लगी, उसका 'ताः क्लिन्नवस्त्रे' श्लोक से वर्णन करते हैं—

श्लोक — ताः क्लिन्नवस्त्रविवृतोरुकुचप्रदेशाः

सिञ्चन्त्य उद्धृतबृहत्कबरप्रसूनाः ।

कान्तं स्म रेचकजिहीरपयोपगुह्य

जातस्मरोत्सवलसद्वदना विरेजुः ॥१०॥

श्लोकार्थ—वस्त्र भीग जाने से जिनके स्तन और उरप्रदेश स्पष्ट दीख रहे हैं और पिचकारियों से बचने के लिए भगवान् का आलिङ्गन करने से काम के उत्तेजित हो जाने पर जिनके मुख-कमल खिल रहे हैं एवं भारी केशपाशों से फूट बिखर रहे हैं। ऐसी वे स्त्रियाँ भगवान् को भिगोती हुई विशेष दीप्त हो रही थी ॥१०॥

सुबोधिनी—क्लिन्नवस्त्रेण कृत्वा विवृता उद्धाटिता । उरुकुचप्रकृष्टदेशा यासां तादृशयोऽपि सिञ्चन्त्यः । उद्धृतानि बृहत्कबरभ्यः प्रसूनानि यासाम् । यथा ताः प्रसूनार्थं भगवत्समीपमयान्ति तथा भगवान् । विवृतावयवा अपि सेचन एव आसक्ता जाताः तदा केशपाशेभ्यः पुष्पाणि गृहीतवानित्यर्थः । अनेन रेचकान्यपि गृहीतवानिति लक्ष्यते । ततो भगवानुच्चहस्तः पुष्प-रेचकानि गृहीत्वा यदा स्थितः तदा रेचकजिहीर्षया कान्तमुपगुह्य मध्ये जातस्मरेण य उत्सव आसोत्परमानन्दस्तेन लसद्वदनाः सत्यः मध्ये नीलमणेः परितः पद्मरागाणोव विरेजुः ॥१०॥

व्याख्यानार्थ—भीगे हुए वस्त्रों के कारण जिनके स्पष्ट दीख रहे हैं—स्तन और जांघ प्रदेश । ऐसी भी वे स्त्रियाँ निर्लज्ज हो, पिचकारियों से भगवान् पर जल वर्षा कर उनको अपनी विजय होने के लिए भिगो रही थी । जैसे वे स्त्रियाँ पिचकारियों से जल सिञ्चन करती हुई उसमें मग्न हो भगवान् के पास आती थी, वैसे ही भगवान् भी पिचकारियों से उनको भिगोते हुए उनके पास जब पधारते थे तब उनके केशपाशों से पुष्प ले लेते थे । इससे यह भी जानने में आता है कि पुष्पों की तरह पिचकारियाँ भी भगवान् ने ले ली हैं । पुष्प लेने के लिए जब भगवान् ने भुजा उठाकर पुष्प ले लिए और पिचकारियों को लेने के लिए यों ही खड़े रहे । उस समय काम मत्त कामिनियों ने कान्त भगवान् का आलिङ्गन किया, जिससे विशेष काम के उद्भूत होने से जो उनको परमानन्द

प्राप्त हुआ, उसमें उनके मुख चमकने लगे और आप यों सुशोभित होने लगी जैसे कि नीलमणि के चारों ओर पद्मराग शोभते हैं ॥१०॥

आभास—एवं तासां सुखार्थमतिक्रमेऽपि तासां सौन्दर्यमिव भगवतोऽपि सुखमेव जातमित्याह कृष्णस्त्विति ।

आभासार्थ—इसी तरह स्त्रियों ने सुख प्राप्ति के लिए भगवान् का प्रतिक्रम किया, तो भी उनको जैसे सौन्दर्य प्राप्ति हुई, वैसे ही भगवान् को भी सुख हुआ; यह 'कृष्णस्तु' श्लोक में वर्णन करते हैं—

श्लोक—कृष्णस्तु तत्स्तनविषज्जितकुङ्कुमस्रक्

क्रीडाऽभिषङ्गधुतकुन्तलवृन्दबन्धः ।

सिञ्चन्मुहुयुवतिभिः प्रतिषिच्यमानो

रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परोतः ॥११॥

श्लोकार्थ—स्त्रियों के स्तनों पर लिप्त कुमकुम (केसर) से जिसकी माला लिप्त हो गई है, क्रीड़ा में आसक्ति के कारण जिसके केशपाश के बन्धन शिथिल हो गए हैं। ऐसे श्रीकृष्ण उन पर जल-सिञ्चन करते थे, इसी तरह स्त्रियाँ भी आप पर जल सीञ्चती थीं। जैसे चारों ओर हथिनियों से घिरा हुआ हस्ती उनसे जल-क्रीड़ा करता है, वैसे आप भी स्त्रियों से जल-क्रीड़ा करते थे ॥११॥

सुबोधिनी—तासां स्तनेषु विषज्जितं यत् कुङ्कुमं तद्युक्ता स्रक् माला यस्य, तादृशो ज तः। ततः क्रीडायां योऽभिषङ्गः आसक्तिस्तेत धुता मुक्ताः कुन्तलवृन्दानां बन्धाः यस्य, नानाविधो बन्धः कौतुकार्थं कृत इति प्रतिभाति। यथा तासामवयवप्राकट्यं तथा भगवतोऽपि कुङ्कुम-

सम्बन्धः केशपाशविमोक्तश्च। एव तुल्यतया स्वयं सिञ्चन्, अविचारार्थं तादृशदाशायुक्ताभिः परिषिच्यमानः रेमे। अमर्यादया रमणं प्रतिपादयन् गोपीष्विव दृष्टन्तमाह करेणुभिरिवेभपतिरिति। करिणीभिर्वैष्टितो यथा गजेन्द्रो भवति ॥११॥

व्याख्यानार्थ—स्त्रियों के स्तनों पर लिप्त कुमकुम से जिसकी माला लिप्त हो रही है। ऐसे श्रीकृष्ण एवं क्रीड़ा से आसक्त होने से जिनके केशपाश बन्धन खुल गए हैं, यह अनेक प्रकार का बन्ध भगवान् कृष्ण ने कौतुक के लिए किया है, यों भासता है। जैसे-जैसे उन (स्त्रियों) के स्तन खुलते रहते थे, वैसे-वैसे उन खुले स्तनों पर लिप्त कुमकुम का सम्बन्ध भगवान् के साथ हो जाता था और उनके केशपाश के बन्धन ढीले पड़ते जाते थे। इसी प्रकार स्वयं भगवान् तुल्यता से उन पर जल सीञ्चते थे, वे स्त्रियाँ तो मर्यादा मुक्त हो भगवान् पर सिञ्चन करती थीं। इस प्रकार भगवान् उनसे जल विहार करते हुए रमण करने लगे।

यह रमण मर्यादारहित है, यों प्रतिपादन करते हुए, गोपियों के चरित्र कहते हुए जैसा

दृष्टान्त दिया था, वैसा ही दृष्टान्त देते हैं कि 'करेणुभिरिवेभपतिः'—जैसे हस्ती हस्तिनियों से बिरा हुआ उनसे रमण करता है, वैसे ही भगवान् भी इन स्त्रियों से बिरे हुए होकर उनसे रमण करते हैं ॥११॥

आभास—एवं समुदायवर्णनमुक्त्वा एतस्या लीलायाः षड्गुणवत्त्वं प्रतिपाद्य तत्रोपजीविनां दानेन तदुपसंहरति नटानां नर्तकीनां चेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार समुदाय रमण का वर्णन कर और यह लीला षड्गुण वाली है । यह छः श्लोकों से बताकर, उस पर आश्रितों को दान देकर इस लीला का 'नटानां' श्लोक से उपसंहार करते हैं—

श्लोक—नटानां नर्तकीनां च गीतवाद्योपजीविनाम् ।

क्रीडालङ्कारवासांसि कृष्णोऽदात्तस्य च स्त्रियः ॥१२॥

श्लोकार्थ—नट, नर्तकी और गीत तथा वाद्यों पर आजीविका करने वालों को भगवान् कृष्ण और उनकी स्त्रियों ने क्रीड़ा-सम्बन्धी अलङ्कार और वस्त्र दिए ॥१२॥

सुबोधिनी—गीततालानुसारेण ये नृत्यन्ति ते नटाः, केवलनृत्येन रसाभिनयकर्त्र्यः नर्तक्यः । नटा एव स्त्रीपुरुषा वा, चकारात्तत्सम्बन्धिभ्योऽपि भगवान् दत्तवान् । गीतवाद्योपजीविनोभ्ये । क्रीडासाधनानि अलङ्कारा वासांसि च क्रीडार्थ-

मेव वा योऽलङ्कारः तदर्थं च यानि वासांसि तानि कामशास्त्रे निरूपितानि तानि सर्वाणि कालान्तगोपभोगार्थं न स्थापितानि किन्तु बन्दिभ्यः अदात् भगवान् दत्तवान् । तथा तस्मिन्पुद्गुः । ॥१२॥

व्याख्यानार्थ—गीत और ताल के अनुसार जो नाचते हैं, वे नट केवल नृत्य से जो रस का अभिनय करती हैं, वे नर्तकियाँ अथवा 'नट और नर्तकियाँ' पदों से नट ही कहे हैं, वे स्त्रियाँ वा पुरुष हो । 'च' पद से यह सूचित किया है कि भगवान् ने नटों के सम्बन्धियों को भी पारितोषिक दिए । नटों के मलावा दूसरे गीत और वाद्य पर आजीविका करने वाले कहे हैं । क्या दिया ? क्रीड़ा के साधन अलङ्कार और वस्त्र । क्रीड़ा के लिए ही जो अलङ्कार हैं, उनके लिए जो वस्त्र हैं, वे सब काम शास्त्र में कहे हुए हैं, वे सब दूसरे समय उपयोग के लिए नहीं रखे, किन्तु बन्दीजनों को भगवान् और उनकी स्त्रियों ने सब दे दिए ॥१२॥

आभास - एवं साधारणासाधारणलीला निरूपिताः एतन्निरूपणस्य लौकिकफल-व्यावृत्त्यर्थं फलान्तरमाह कृष्णस्यैवं विहरत इति ।

आभासार्थ—इसी तरह साधारण और असाधारण दोनों प्रकार की लीलाओं का निरूपण किया । इन लीलाओं का फल लौकिक नहीं है । यह बताने के लिए इस 'कृष्णस्यैवं' श्लोक में उन लीलाओं का फल अलौकिक बताते हैं—

श्लोक - कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितः ।

नर्महेलिपरिष्वङ्गः स्त्रीणां किल हृता धियः ॥१३॥

श्लोकार्थ—इसी तरह विहार करते हुए श्रीकृष्ण भगवान् ने भाषण, गति, अवलोकन और मन्द-मन्द मुस्कान, ठठ्ठा-ठठोली, हास्य वचन व पालिङ्गन से स्त्रियों की बुद्धियाँ (अन्तःकरण) हर ली ॥१३॥

सुबोधिनी - एवं सामान्यविशेषप्रकारेण विशेषेण चित्तं हरतो विहारं कुर्वतः । चतुर्विधैर्भावैः स्त्रीणामन्तःकरणचतुष्टयं हृतमित्याह । आदौ गतिः सम्मुखमागमनम्, तत आलापः, ततो जाते वाग्बन्धे कामकलाभिगीक्षणम्, ततो भाव-प्रवाणकानि स्मितानि, ततः कायिकादिविलासाः,

ततः नमं परिहासोक्तिः, केलिः क्रीडा मानसी, परिष्वङ्गा द्वादशविधालिङ्गनानि अष्टविधानि वा । एवं सर्वप्रकारं स्त्रीणां धियः अन्तःकरणानि हृतानि । किलेति प्रसिद्धिः पूर्ववत् । एतानि प्रपञ्चविस्मृतौ साधनान्येव जातानि न तु प्रपञ्चे भावसाधकानीत्यर्थः ॥१३॥

व्याख्यार्थ—इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण ने सामान्य तथा विशेष प्रकार से विहार करते हुए स्त्रियों के अन्तःकरण चतुष्टय को चतुर्विध भावों से हर लिया ।

प्रथम सम्मुख आए, पश्चात् आलाप बाद में वाणी से बन्ध (प्रतिज्ञा) होने पर काम की कलाओं से देखना । भावों को प्रकाशित करने वाली मन्द-मन्द मुस्कान, अनन्तर काया आदि के विलास-परिहास के वचन, मानसी क्रीडा; पश्चात् ब्राह्म प्रकार अथवा आठ प्रकार के आलिङ्गन, यों सर्व प्रकारों से श्रीकृष्ण ने स्त्रियों के अन्तःकरणों को हर लिए । 'किल' पद देने का भावार्थ है कि पूर्ववत् प्रसिद्धि है । ये सब क्रीड़ाएँ प्रपञ्च की विस्मृति में साधन बनी, न कि प्रपञ्च में भाव की साधक हुई ॥१३॥

आभास—अस्मिन्नर्थे प्रमाणत्वेन तासां वाक्यानि निरूपयितुमाह ऊचुर्मुकुन्दैकधिय इति ।

आभासार्थ—इस विषय में स्त्रियों के वचन प्रमाण हैं, यों बताने के लिए 'ऊचुर्मुकुन्दैकधियो' श्लोक कहते हैं—

श्लोक ऊचुर्मुकुन्दैकधियो गिर उन्मत्तवज्जडम् ।

चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु ॥१४॥

श्लोकार्थ—मुकुन्द भगवान् में ही आश्रित बुद्धि वाली वे स्त्रियाँ कमलनयन वाले का ही चिन्तन करती हुई, उन्मत्त और जड़ के समान जो वचन बोली, वे वचन मैं कह रहा हूँ; आप सुनिए ॥१४॥

सुबोधिनी—प्रपञ्चं विस्मृत्य काममणि
विस्मृत्य मुकुन्दे मोक्षदातर्येव एका धीर्यासां,
तादृश्यो भूत्वा गिर ऊचु यथा स्वहृदयस्या-
पिकाः । तर्हि ब्रह्मविदामिव तासां वाक्यानि
भवन्तीत्याशङ्क्याह उन्मत्तवदिति । असंबद्धानि
वाक्यानि । उन्मत्तो गन्धर्वगृहीतः तथा भगवद्-
गृहीताः । न तु लौकिकाः स्वस्थाः तत्रापि जड

यथा भवति । अचेतनादिषु चेतनधर्मोपात् ।
ननु केवलप्रपञ्चविस्मृतिः जगति जडवन्निन्दा-
हेतुरत आह चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षमिति । अनेन
पूर्णो हेतुः सिद्ध इत्युक्तं भवति । तानि निरो-
धार्थं गदतः कथयतो मे मत्तः शृणु । कदाचि-
त्प्राकृतत्वशङ्का स्यात् तदर्थं सर्वथा श्रोतव्य-
मित्यर्थः ॥१४॥

व्याख्यानार्थ—प्रपञ्च और काम को भुलाकर मोक्षदाता मुकुन्द में स्थिर बुद्धि वाली वे स्त्रियाँ
अपने हृदय के भाव वाणी द्वारा प्रकट करने लगीं, तब तो ब्रह्मवेत्ताओं के समान इनके वचन सत्य
होंगे । इस शङ्का के निवारण के लिए कहते हैं कि उन्मत्तवत् इनके वचन उन्मत्त मस्त) को
तरह असम्बद्ध (टूटे-फूटे) हैं जैसे उन्मत्त गन्धर्व के आवेश वाला होता है, वैसे ये स्त्रियाँ भगवान्
के आवेश वाली थीं । अतः ये स्त्रियाँ लौकिक स्वस्थ नहीं थी, उसमें भी जैसे जड़ होता है, वैसे ये
हो गई थी कारण कि अचेतन आदि में चेतन धर्म का आरोप करने में वह वाणी जड़ समान थी,
केवल प्रपञ्च का विस्मरण जड़ धर्म है । अतः इस प्रपञ्च विस्मरण मात्र से जगत् में निन्दा होती है ।
इस संशय का निवारण करने के लिए कहते हैं कि इन स्त्रियों का केवल प्रपञ्च विस्मृति नहीं हुई
थी, किन्तु साथ में कमलनयन प्रभु का चिन्तन भी हो रहा था । इससे यह सिद्ध कर बताया कि
उनका मनोरथ भी पूर्ण तरह सिद्ध हो गया था ।

इस चरित्र से निरोध सिद्ध होगा, इसलिए वह सर्व मैं वह रहा हूँ, जिसको मुझसे सुनो ।
कदाचित् यह शङ्का होवे कि वह वाणी प्राकृत थी । इस संशय को मिटाने के लिए ही कहा है कि
वह सर्वथा सुननी चाहिए; क्योंकि वह अप्राकृत है ॥१४॥

आभास—ता गिर आह दशभिः कुररीति ।

आभासार्थ—‘कुररि विलपसि’ श्लोक से दस श्लोकों में वे वाक्य बहती हैं—

श्लोक महिष्य ऊचुः—कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे

स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरोऽगुप्तबोधः

वयमिव सखि कञ्चिद्गाढनिभिन्नचेता

नलिननयनहासोदारलीलेक्षणो न ॥१५॥

श्लोकार्थ स्त्रियाँ कहती हैं कि हे टिटिहरी ! तू क्यों नहीं सोती है ?

विलाप कर रही है, जिससे जिस परमेश्वर का ज्ञान कभी भी तिरोहित नहीं
है, वे तो जगत् में रात्रि के समय सो रहे हैं; तू विलाप कर उनकी निद्रा में
डाल रही है । हे सखी ! हमारे समान तुम्हारा चित्त भी कमलनयन भगवान्
उदार हास्य और लीलापूर्वक ईक्षण से घायल हो गया है क्या ? ॥१५॥

कारिका—कुररि चक्रवाकोऽब्धिश्चन्द्रमा मलयानिलः ।

मेघकोकिलकेल्यद्रितन्नद्यो हंस एव च ॥

दशधा भगवत्स्नेहैरुक्ताः स्त्रीभिः स्वभावतः ।

मनसैव तिरोधानमुक्त्यैवोक्तं न पूर्ववत् ॥

वाचिकेऽपि तिरोधानं वाक्यैरेव निरुक्तिम् ।

विद्यमानेऽतिसम्भोगसौख्यदेऽपि विशेषतः ॥

तत्सङ्गलालसाः प्रोक्ता दृढासक्तिप्रसिद्धये ।

आसक्तिगृहकार्यादिनिद्रादिविविक्तये ॥

स्वधर्मान् स्वप्रियं चापि कल्पयित्वाखिलेषु हि ।

बहिस्तत्त्वं निरीक्ष्यैवं प्रलपन्त्यस्तथा जगुः ॥

कारिकार्थ—(१) टिटिहरी, (२) चक्रवाक, (३) समुद्र, (४) चन्द्रमा, (५) मलय का पवन, (६) मेघ, (७) कोयल, (८) केलि करने का पर्वत स्थान, (९) पर्वतों की नदिगाँ और (१०) हंस—इन दस का वर्णन स्त्रियों ने यह दिखलाने के लिए किया है कि नव सगुण और एक निर्गुण भेद से भगवान् के भीतर के स्नेह रूप साधन दस प्रकार के ही है। इन वाक्यों से यह बताया है कि इस लीला में भगवान् पहले की तरह स्वरूप से तिरोहित नहीं हुए हैं, किन्तु मन से तिरोहित हो गए हैं।

वाक्यों से ही वाचिक तिरोधान भी बता दिया है। प्रत्यक्ष में तो स्वरूप से सम्भोग का अति आनन्द प्राप्त हो रहा है तथापि प्रभु के सङ्गम की लालसा को प्रकट करने का हेतु अपनी दृढ़ आसक्ति की प्रसिद्धि का द्योतक है।

अन्य में आसक्ति अर्थात् भगवान् के अतिरिक्त गृह कार्य आदि तथा निद्रा आदि में जो आसक्ति है, उस आसक्ति की निवृत्ति करने के लिए भगवद्वियोग के कारण जो विलाप आदि अपने में जो गुण थे, उनकी और अपने प्रिय की सर्व पदार्थों में कल्पना कर और बाहर भी उनका स्वाभाविक विलापादि धर्मपन देखकर, प्रलाप वाली होकर वैसा गान करने लगे ॥

सुबोधिनी—प्रथमं स्वाभिलषितलीलानन्तरं भगवति श्यालीलायामारब्धायां बहिः स्वाभाविकं कुररीविलापं श्रुत्वा राजसराजसभावापन्नाः महिष्यः कुररीविलापेन भगवत्प्रबोधमाशङ्कमानाः स्वकामलीलां परित्यज्य भगवति परमस्नेहेन निद्राभङ्गो मा भवत्विति कुररीनिवारणार्थं प्रवृत्ता दुःखितां कुररीं दृष्ट्वा आश्वासनार्थं सम्बोधनं कुर्वन्त्य ऊचुः हे कुररीति । भगवद्वर्चा-

रिक्तं सर्वं जगत् स्त्रीरूपमेवेति ताः पश्यन्ति । अत एव सर्वासां भगवानेवैकः पतिरिति । अतो या काचिद्दुःखं प्राप्नोति तत्र भगवद्विरह एव हेतुः । अन्यद्दुःखं भगवतंव दूरीक्रियत इति । अत इयमपि स्त्री भगवद्विरहाकुला भगवता सम्भोगार्थमानीय कटाक्षविशिखैर्हृता । अतो विलापं करोतीति निश्चित्य तां प्रत्याहुः हे कुररि अस्माभिर्जातं त्वं कोलाहलं करोषि तदयुक्तमिति

निवारयितुमागताः, त्वं किं विलपसि हा वष्टमि-
त्यर्थः । विलापो निवारयितुं न शक्यते । कारण
दुःखस्य सञ्जयमानत्वाद् वेदनावदिति भावः ।
निद्राभावशयनाभावौ स्वतुल्यतया अनुवदन्ति ।

त्वं किं वीतनिद्रा नापि शयनमपि करोषि ।
निद्राभावेऽपि काश्चित् पतित्वा तिष्ठन्ति तदपि
तव नास्त्येत्यर्थः ॥

व्याख्यानार्थ—अपनी अभिलषित लीला के अनन्तर जब भगवान् शयन लीला करने लगे, तब उन्होंने बाहर से टिटिहरी का स्वाभाविक विलाप सुना, जिससे राजस-राजस भाव वाली महिषियों (रानियों) को शङ्का हुई कि इस विलाप से भगवान् की निद्रा का भङ्ग होगा । महारानियों का भगवान् में अतिशय स्नेह था, जिससे वे चाहती थीं कि भगवान् की निद्रा का भङ्ग न हो, यों तो यदि भगवान् जगते तो महारानियों को काम लीला का सुख प्राप्त होता । किन्तु उस अपने सुख का भी त्याग कर अपने प्रिय का सुख ही चाहने लगीं—यह है सच्चे स्नेह का स्वरूप; जिससे अपने को भले सुख न मिले, किन्तु प्रेमी आनन्द में रहे । इस आशय से उन्होंने टिटिहरी को इस प्रकार विलाप करने से रोकी एवं टिटिहरी को दुःखी देख समझा । उसको आश्वासन देने के लिए सम्बोधन करती हुई कहने लगीं कि हे टिटिहरी ! वे महिषियाँ भगवान् के अतिरिक्त सकल जगत् स्त्री रूप है, यों देखती है । इस कारण से वे समझती थीं कि जैसे हमारा पति भगवान् है, वैसे सब के पति एक भगवान् ही है; क्योंकि उनके अलावा कोई दूसरा पुरुष ही नहीं है । अतः जो कोई भी जगत् में दुःख पाता है, जिसका कारण भगवान् का विरह ही है । इसके अलावा अन्य दुःख तो भगवान् ही दूर करते हैं ही । अतः यह भी स्त्री है और भगवान् के विरह से व्याकुल है । भगवान् ने इसको भी सम्भोग के लिए लाकर अपने कटाक्ष रूप बाणों से घायल किया है । इसलिए यह विलाप कर रही है, यों निश्चय कर उसको कहने लगी कि हे टिटिहरी ! हम लोगों ने जाना कि तू विलाप कर रही है, यह अनुचित है, तू विलाप न कर । इसलिए (तुम्हें रोकने के लिए) हम आई हैं, तू क्यों विलाप करती है ? यह बहुत दुःख की बात है कि यह विलाप मिटाया नहीं जा सकता है; क्योंकि इस विलाप का कारण दुःख है, वह तो वेदना की तरह उत्पन्न होता ही रहता है । अतः वेदना की तरह इसको भी हम मिटा नहीं सकती हैं—यह भाव है । जैसे हमको नींद नहीं आती है, हम जग रही हैं, वैसे तू भी नींद न आने से सोती नहीं है । नींद न आने पर भी कितनी ही स्त्रियाँ शय्या से नीचे पड़ी रहती हैं, तू तो यों भी नहीं करती है ॥

कारिका—यदा देहेऽतिचिन्ता स्यात् धातुवैषम्यमेव वा ।

भयादिना विशेषेण तदा निद्रा न जायते ॥

कारिकार्थ—जब अतिशय चिन्ता होती है, तो देह में जो धातु (कफ, पित्त, वायु) हैं; इनमें वैषम्य (कमी-वेशी) होती है और विशेषकर भय आदि से नींद नहीं आती है ॥

सुबोधिनी—भगवान् दुराराध्यः कथं वश्यो भविष्यतीति महती चिन्ता ॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् दुराराध्य है, वे कैसे वश में आएँगे ? यह महती चिन्ता है, जिससे निद्रा नहीं आती है ॥

कारिका — यदाङ्गेषु समस्तेषु तापोऽनिर्वृत्तिरेव वा ।

तदैकत्र जनः स्थानुं न शक्नोति कथञ्चन ॥

कारिकार्थ—जब समस्त अङ्गों में पीड़ा हो अथवा चित्त में क्षोभ हो अर्थात् शांति न हो, तब मनुष्य किसी भी तरह एक स्थान पर स्थिति करने में असमर्थ होता है ।

सुबोधिनी—तापश्च विरहात् । एतावपि स्वधर्मां तर्हि अस्मद्दुःखं भगवते निवेदयन्त्विति चेत् तत्राहुः स्वपितोति । अयं च स्वापः विहित-वाले, तस्मादावश्यकत्वान्न निषेद्धुं शक्यः । तदाह रात्र्यामिति । ननु भगवान् गतनिद्राः परब्रह्मरूपः कथं निद्रां प्राप्नोतीति चेत् तत्राहुः जगतीति । सर्वत्र जगति भगवानेव शेते । नह्यन्यो निद्रासुखभोक्ता भवति । सर्वेषां प्राणिनां सुखार्थं वा । जगति जगन्निमित्तं निद्रां विस्तारयतीत्यर्थः । तर्हि तन्निद्रया लोकार्थं स्वीकृतया स्वात्मापि मुह्येदत आह अगुप्तबोध इति । निद्रायामपि न गुप्तो बोधो यस्य । तर्हि कथं न ज्ञायत इत्याशङ्क्यायामाहुः ईश्वर इति । ईश्वरो लीलायापि सुप्तो बोधयितुमशक्यः तस्मादस्माभिः सहेश्च गोष्ठ्या दुःखं दूरीकुर्वित्याहुः वयमिवेति ।

हे सखि तुल्यव्यसने । कञ्चिदिति कोमलप्रश्ने । गाढनिभिन्नचेता इति दुःखानुसारेण हेतुं महान्तं कल्पयन्ति । पीडा कामकृतैवेति । कामः पुष्पायुध इति भगवन्नेत्रमपि नलिनरूपा मुच्यते । नन्वविकसितं पुष्पं किं करिष्यतीत्याशङ्क्याह नलिनसदृशे नयने यो हाससहित इति । ननु हृदये वेधव्यतिरेकेण पीडा न भवतीत्याशङ्क्याह ईक्षणेनेति । ईक्षणं तीक्ष्णवाणस्थानीयम् । ननु तथापि दयया न मारयिष्यतीति चेत् तत्राह उदारेति । उत् ऊर्ध्वं आरा यस्य, उद्वृता वा दाराः अतः स्वयं पीडितः अन्यानपि पीडयिष्यति । किञ्च लीलायुक्तं निरीक्षणम् । क्रीडायामासक्तो न कस्यापि सुखं विचारयति । अतस्तेन गाढं यथा भवति तथा निभिन्नम् ॥

व्याख्यानार्थ दुःख विरह से होता है, ये दोनों (नींद और शयन का अभाव अपने धर्म हैं । अतः यह मेरा दुःख भगवान् को कहना । यदि टिटिहरी यों कहे, इसलिए पहले ही कह देती हैं कि 'स्वपिति'—भगवान् सो रहे हैं । यदि कहो कि भगवान् परब्रह्म को तो नींद नहीं होती है, वे कैसे सो रहे हैं ? इस पर कहती हैं कि यह शयन (सोना) सोने के समय में आवश्यक है, इसलिए हम उसका निषेध नहीं कर सकती हैं । अतः 'रात्र्यां' पद दिया है अर्थात् रात्रि को अवश्य सोना चाहिए तथा 'जगति' पद देकर भी यह बताया है कि जगत् में सर्वत्र भगवान् ही शयन करते हैं, भगवान् के अलावा दूसरा कोई निद्रा के सुख का भोक्ता नहीं है अथवा भगवान् जो शयन करते हैं, वह समस्त प्राणियों को सुख देने के लिए जगत् में जगत् के लिए निद्रा का विस्तार करते हैं ।

लोगों के हितार्थ स्वीकृत उस निद्रा से आपको भी मोह होगा ? इसके उत्तर में कहती हैं कि नहीं; क्योंकि आपका ज्ञान कभी भी तिरोहित नहीं होता है, निद्रा में भी आपका ज्ञान प्रबुद्ध ही रहता है, तो मेरा दुःख आप उनको क्यों नहीं बता देती हो ? जिसके उत्तर में कहती हैं कि 'ईश्वरः'—वे ईश्वर हैं । अतः ईश्वर लीला से भी जब सोए रहते हैं, उस समय भी उनको हम कह नहीं सकती हैं । अतः तूँ हमारे साथ प्रीतम की प्रेम कहानियाँ कहकर अपने दुःख को दूर कर दे । इसलिए कहा है कि 'वयमिव'—जैसे हम आपस में प्रीतम की लीलाओं को कहकर दुःख मिटाती हैं, वैसे तूँ भी कर । 'हे सखि' सम्बोधन से यह सूचित किया है कि जैसा दुःख हमको है, वैसा तुम्हें

भी; इसलिए हम दोनों समान व्यसन वाली होने से सखियाँ हैं। 'कञ्चित्' पद से यह बताया है कि जो प्रश्न करना है, वह कोमलता से किया है। 'अत्यन्त घायल चित्त वाली'—इस पद से दुःख के साथ महान् हेतु की कल्पना की है; क्योंकि पीड़ा काम के कारण ही होती है। काम का आयुध पुष्प है, भगवान् के नेत्र भी पुष्प रूप कहे जाते हैं, जो पुष्प खिला हुआ नहीं है, वह क्या कर सकेगा? इसके उत्तर में कहा है कि जिनके कमल समान नेत्रों में हास्य भरा हुआ है, हास्य कहने से उनका विकास सिद्ध किया है। जब तक हृदय बीधा नहीं जाता, तब तक पीड़ा नहीं होती है। इस पर कहा कि 'ईक्षणेन'—दृष्टि से बीध डाला है। आपका ईक्षण (दृष्टि) तो नीचे बाण के समान है, यों होते हुए भी दयालु हैं, इसलिए दया करके मारेंगे नहीं? इसका उत्तर देती हैं कि 'उदार'—आपके ईक्षण रूप धनुष के आरे ऊँचे हैं अथवा जिनकी स्त्रियाँ बलवती तथा कटाक्षों से पीड़ा करने वाली हैं; ऐसे आप उदार हैं। इससे स्वयं पीड़ित होते हुए दूसरों को भी पीड़ा देंगे और विशेष में कहती हैं कि आपका देखना लीला से युक्त है। जो क्रीड़ा में आसक्त है, वह किसी के भी सुख का विचार नहीं करता है, इससे जैसे अत्यन्त घायल हो, वैसा ही घायल किया है।

कारिका - ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्भक्तियोगस्तथैव च ।

मायावैभवकालौ च सतां हितकरौ तथा ॥

पञ्चैते हरिसम्बद्धा यस्यान्तर्हृदये सदा ।

विराजन्ते स्वभक्तेषु भक्तोऽनिर्वृत्त उच्यते ॥

कारिकार्थ - ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति वैसे ही भक्ति योग, वैसे ही सत्पुरुषों के हितेच्छु माया तथा वैभव के काल; ये पाँच हरि के सम्बन्धी होकर जिसके हृदय में सदा विराजते हैं, वह भक्त भक्तों में निर्वृत्त नहीं कहा जाता है ॥

सुबोधिनी—एवं तस्या दुःखमनुवादेन अङ्गीकृतम् । १५॥

व्याख्यार्थ—इस प्रकार उसका दुःख अनुवाद रूप से अङ्गीकार किया है ॥१५॥

आभास—अन्याः पुनः राजससात्त्विक्यः चक्रवाकं पूर्ववत्सिवारयितुं प्रवृत्ता आहुः नेत्रेऽनिमीलयसीति ।

आभासार्थ—फिर दूसरी राजस-सात्त्विकियाँ जैसे टिटिहरी को पहले उन्होंने विलाप करने से रोका था, वैसे ये भी चक्रवाक को रोकने के लिए प्रवृत्त हुई हैं, जिसका वर्णन 'नेत्रेऽनिमीलयसि' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—नेत्रेऽनिमीलयसि नक्तमदृष्टबन्धुस्त्वं

रोरवीषि करुणं बत चक्रवाकि ।

दास्यं गता वयमिवाच्युतपादजुष्टां

किं वा स्रजं स्पृह्यसे कबरेण वोढुम् ॥१६॥

श्लोकार्थ—हे चकवी ! क्या तू अपने प्रिय का रात्रि में दर्शन न होने से नेत्र खोल रही है ? और दुःख है कि तू इस प्रकार क्रन्दन कर रही है, जिसके सुनने से दिल में दया उत्पन्न हो रही है अथवा तू भी हमारे समान दासी होने से भगवान् के चरणों से स्पृष्ट माला को केशपाश में रखना चाहती है क्या ? ॥१६॥

सुबोधिनी—तासामवयवविशेषे खेलनार्थं चक्रवाकी स्थापिताविति मत्वा तौ द्रष्टुं काचि-
च्चक्रवाकी समागता । ततस्तां निकटे दृष्ट्वा सापि
रोदतीति विचार्य तस्या अपि दुःख दूरीकर्तुं
बलेशमनुवदन्ति । निद्राभावेऽपि कश्चिन्नेत्रे
निर्मोह्य तिष्ठति । त्वं तु तदपि न करोषीति ।
किमनिमीलयसीति प्रश्नः । नक्तमिति निमीलन-
स्यैवाय काल इति निरूपितम् । स्वास्थ्ये सति
निमीलयति प्राणी । त्वं चाहृष्टबन्धुः मम भर्ता
वव वर्तत इति तं द्रष्टुं न निमीलनं करोषि ।
अत एव त्वं रोरवीषि अत्यन्त शब्दं करोषि ।
क.हणं यथा भवति तथा । बतेति खेदे । तत्रेदानीं

द्वितीयमपि तथैवागतं चक्रवाकमुपलभ्य प्रायेणैयं
भक्ता, भर्ता त्वस्या वर्तत एवेति इयं भगवतो
दासी भवति । ततो दिनान्तसेवां कृत्वा यथा वयं
दास्यो जाताः तथेयमपि सेवाफलं वाञ्छति तच्च
फलं प्रसादरूपं, प्रसादश्च स्वचरणसमर्पितमालां
चेत्त्रयच्छति तदा भगवान् सेवां स्वीकृतवानिति
निश्चित्य तां भक्तिरूपां मालां शिरसि स्थापयित्वा
कृतार्थतामापद्यते । इयं च तत्र प्राप्तवती । अत-
स्तत्कामनया खेद करोतीत्याहुः वयमिव, अच्युत-
पादजुष्टा स्वजं कवरेण बाहुमिच्छसि । कवरादयः
स्वधर्माः ॥१६॥

व्याख्यानार्थ—उन महिलायों ने मान लिया कि हमारे विशेष अवयवों के पास रमण के लिए दो चक्रवे रखे हुए हैं, उनको देखने के लिए कोई चकवी आई है। पश्चात् उसको आने समीप आई हुई जानकर, वह भी रो रही है, यों विचार कर उसके दुःख को भी दूर करने के लिए, उसके दुःख का वर्णन करती हैं, नींद न आती हो तो भी कोई नेत्र बन्द कर हो बैठता है तू तो वह भी नहीं करती है, अर्थात् आंखों को मूंदती भी नहीं यह क्यों ? 'नक्तं' रात्रि का समय तो नींद का ही है, नींद न आवे तो भी नेत्र तो मूंद लेने ही चाहिए प्राणी जब स्वस्थ अर्थात् निश्चिन्त होता है तब नींद ले सकता है अथवा आंखें मूंद आराम करता है हम समझती हैं कि तू निश्चिन्त नहीं है क्योंकि, भर्ता को ढूँढ रही है मेरा भर्ता कहाँ है, अतः नेत्र खोल कर बैठी है, इन कारण से हो तू जोर से शब्द कर रही है अर्थात् रो रही है, वह तेरा रोदन भी ऐसा है जिसको सुनकर दया आ जाती है, अतः खेद है, उस समय वहाँ दूसरा चक्रवा भी आ गया, जिससे सिद्ध होने लगा कि इसका पति तो यहाँ ही है, फिर वह रोती क्यों है ? जिसके उत्तर में कहती है कि यह साधारण पति विहीन स्त्री नहीं है, किन्तु भगवद्भक्ता है अतः भगवान् की दासी है जैसे हम दासियाँ ही सारे दिन की सेवा कर फिर फल प्राप्ति की इच्छा करती है वैसे ही यह भी सेवा के अवसान में फल इच्छा कर रही है, वह फल भगवान् की प्रसाद रूप वस्तु की प्राप्ति, वह प्रसाद रूप वस्तु है, आपके चरण में समर्पित की हुई माला यदि वह भगवान् कृपा कर देवे तो हम समझेंगी भगवान् ने हमारी सेवा स्वीकार की है यों समझ वह माला अपने केशपाश में पधराकर कृतार्थता सम्पादन करेंगी, इसको तो वह नहीं मिली है अतः उसकी प्राप्ति के लिए खेद कर रही है, इसलिए कहती है कि क्या तू भी चरण स्पृष्ट माला प्राप्त कर केशपाश में पधराना चाहती है ? केशपाश आदि बनाने हम स्त्रियों के धर्म है ॥१६॥

आभास — राजसतामस्यस्तु समुद्रध्वनि श्रुत्वा तमपि पूर्ववत्सम्बोधयन्ति भो भो इति ।

आभासार्थ — 'भो भो सदा' श्लोक से राजस तामसी महिषियों समुद्र की ध्वनि सुनकर उसको भी पहिले की तरह समझाती हैं—

श्लोक — भो भो सदा निष्टनसे उदन्वन्नलब्धनिद्रोऽधिगतप्रजागरः ।

किंवा मुकुन्दापहृतात्मलाञ्छनः प्राप्तां दशां त्वं च गतो दुरत्ययाम् ॥१७॥

श्लोकार्थ — अरे रे समुद्र ! तुम्हें भी नींद नहीं आती है, जिससे तू जग रहा है और सदा चिल्लाया करता है अथवा क्या तुमने भी हमारे समान दुरत्यय दशा को प्राप्त किया है ? जैसे हमारे चिन्ह भगवान् ने हर लिए हैं, वैसे तुम्हारे भी चिन्ह मुकुन्द ने हर लिए हैं क्या ? ॥१७॥

सुबोधिनी—द्विरुक्तिः श्रवणार्थं, त्वं यत्सदा निष्टनसे । स्तन शब्दे नितरां शब्दं करोषि । तेन ज्ञायते रात्रौ त्वमपि न शेषे । तत्र शयनाभावे हेतुः हे उदन्वन्निति । यस्तु जलवान् भवति स शीतार्तो भवति । अत एव अलब्धनिद्रः न कुतश्चित्तेन निद्रा प्राप्ता प्रत्युत प्रकृष्ट जागर एव प्राप्तः । यत्र हि जलं तिष्ठति तत्र लक्ष्म्याः उत्तमं रमणं न भवतीति इन्द्रश्चेन्द्राणी च नान्तस्तत्र भोगं कुरुतः अतस्तादर्थ्याभावात् प्रजागर एव प्राप्तः, न तु निद्रा तेन प्राप्ता । ननु तथाप्याक्रोशे को हेतुः तत्राहुः किंवा मुकुन्देति । पूर्व यथा भगवानस्मदधृदये शेते, एवं समुद्रेऽपि शेषपर्यङ्के

शयानः स्थितः, तत इदानीमत्रावतीर्णस्तिष्ठति तथवास्मदधृदयञ्च तिरोहितः । अत एव सर्वस्वे गते आक्रोशो युक्त एव । मुकुन्देन मोक्षदात्रा अपहृत आत्मन इव लाञ्छनं चिह्नं यस्य । अतो मोक्षोऽपि नास्ति । ससारोऽपि नास्ति । अत उभयभ्रष्टतया अस्माभिर्या दशा प्राप्ता तां दशां त्वमपि गतोऽसि । एवं दुःखमनूद्य 'न दुःखं पञ्चभिः सह' इति न्यायेन परिहृतम् । प्रकारान्तरेणापि परिहरन्ति दुरत्ययामिति । इयं दशा अस्माकमिव तवापि नित्यैव जाता । अतोऽस्याः प्रतीकाराभावात् दुःखं न कर्तव्यमिति भावः ।

॥१७॥

व्याख्यानार्थ — 'भो भो' दो बार कहने का आशय है कि जो हम कहती हैं वह समुद्र सुने, तुम जो सदा जोर से गर्जते^१ रहते हो जिससे जाना जाता है कि, तुम भी रात्रि में सोते नहीं हो, न सोने का कारण है कि तू 'उदन्वत्' है, अर्थात् जलवाला है, जो जलवाला (आर्द्र) होता है वह शीत (ठंड) से पीड़ित होता है, इस कारण से ही उसको कैसे भी नींद तो नहीं आती बल्कि, जागरण ही प्राप्त होता है, जहां जल होता है वहां लक्ष्मी का रमण सुन्दर नहीं हो सकता है, इसलिए वहां

१— 'स्तन' का अर्थ सदा शब्द करते रहना है, 'नि' पूर्व में आने से जोर से शब्द करना अर्थात् गर्जना करना हुआ,

(उसके भीतर) इन्द्र और इन्द्राणी भोग नहीं करते हैं, जिससे निद्रा के कारण^१ का अभाव होने से जागना ही प्राप्त होता है, नींद आती ही नहीं ।

नींद भले न आवे किन्तु आक्रोश^२ की क्या आवश्यकता है ? इस पर कहते हैं कि 'किं वा मुकुन्दा . . . इति' पहले जंसे हमारे हृदय में भगवान् शयन (लोला स्थिति) करते थे, वैसे समुद्र में भी शेष रूप पलङ्ग पर सो रहे थे (लोला कर रहे थे वहां से) शेष शय्यावे अत्र यहां आकर विराजे हैं, इसी प्रकार हमारे हृदय से भी तिरोहित हो गए हैं, इस कारण से, सर्वस्व चले जाने पर आक्रोश करना उचित ही है, जंसे पटराणियों के चिन्ह^३ मोक्षदाता भगवान् ने हर लिए हैं वैसे समुद्र के भी ले लिए हैं जिससे संसार न रहा और भगवान् के तिरोधान से मोक्ष भी न हुआ, दोनों ने भ्रष्ट होकर जैसे हमने दुस्त्यय दशा को पाया है वंसा तुमने भी पाया है ।

इस प्रकार दुःख का वर्णन कर, कहने लगे कि 'पांचों' के साथ रहने से दुःख दूर हो जाता है' इस नियमानुसार हमने मिलकर रहने से उस दुःख को दूर किया है तू भी यों कर इस दुःख को मिटाने का द्रव्य उपाय बताती है कि यह दुःख दुस्त्यय होने से इसके मिटाने का कोई अन्य उपाय नहीं है अतः इस दुःख पर ध्यान ही न देना चाहिए, यह ही एक उपाय है ॥१७॥

आभास—तामसतामस्यस्तु कालं शपन्त्यः रात्रिश्चोदपगच्छति तदास्माकं दुःख-निवृत्तिरिति निश्चित्य चन्द्रास्तमये प्रातःकालो भवतीति चन्द्रस्य गतौ दत्तदृष्टयः ज्योतिषां गतिरदृश्येति शनैश्चलति न चलतीति वा निश्चित्य अतिकामेन ग्रन्धा इव जाताः । सर्वं तमसा व्याप्तं पश्यन्त्य ग्राहुः त्वं यक्ष्मणेति ।

आभासार्थ—तामस-तामसी महिषियाँ तो, काल को शाप देती थी, कि तूने हमारे सुख में विघ्न डाला है आदि मन में कहती थी कि रात्रि पूरी हो तो हमारा दुःख निवृत्त हो जावे यो निश्चय कर चन्द्र को देख रही थी कि कब चन्द्र अस्त होता है, तारों की गति का ज्ञान होता नहीं, शेष चन्द्रमा धीरे धीरे ऐसे चलता है मानो चलता ही नहीं है ऐसी शङ्का उत्पन्न हो जाती है. इस प्रकार मन में निश्चय कर अति काम के कारण ग्रन्ध सम हो गई, सब को ग्रन्धकार से व्याप्त देखने लगी, जिसका वर्णन 'त्वं यक्ष्मणा' श्लोक में करती है —

श्लोक—त्वं यक्ष्मणा बलवताऽसि गृहीत इन्दो

क्षीणस्तमो न निजदीधितिभिः क्षिणोषि ।

कस्मिन्मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वं

विस्मृत्य भोः स्थगितगीरुपलक्ष्यसे नः ॥१८॥

१- (अ) दक्षिण नेत्र में इन्द्र, वाम नेत्र में इन्द्राणी आकर नींद के समय में भोग करते हैं, इसलिए ही नींद आती है, (आ) नींद का कारण है इन्द्र और इन्द्राणी का भोग, उसके न होने से नींद नहीं आती है 'लेख'

२- जोर से चिल्लाना, ३- देह, इन्द्रियां, प्राण और अन्तःकरण

श्लोकार्थ — हे चन्द्र ! क्या तू प्रबल क्षय रोग से ग्रस्त होने से क्षीण हो गया है? जिससे अपनी किरणों से अन्धकार को नहीं मिटा सकता है अथवा हम तो यों समझती हैं कि भगवान् की रहस्यमय वाणी को भूल जाने से तुम्हारी वाणी भी हमारे समान बन्द हो गई है ॥१८॥

सुबोधिनी—यक्ष्मा क्षयरोगः, सोऽपि बलवान् दक्षशापात् प्राप्त इति, अत एव तेन गृहीतः अतो न चलसीति युक्तम् । इदं त्वत्याश्चर्यं यन् न निजदीधितिभिस्तमः क्षणोषि । अत्रास्मदनुभव एव प्रमाणम् । एवं चन्द्रमसि दोषमनूय प्रायेणास्यायं दोषः न स्वाभाविक इति निश्चित्योभयत्र हेतुं कल्पयन्ति कच्चिदिति । मुकुन्दो मोक्षोपदेशार्थं कानिचिद्वाक्यानुक्तवान् तानि दुर्लभानि

मत्वा विस्मृत्य पश्चात्परमचिन्तया स्थगितगीर्जातिः । मुखाद्वाक्यमपि न निःसरति । चन्द्रमसो वाक्यमेव गोत्वात्किरणरूपम्, इन्द्रियरूपत्वेन चरणरूपत्वं च । तदभावादुभयमपि तव न जायते । शीघ्रं गमनमन्धकारदूरीकरणं च । भो इति सम्बोधनं प्रश्नार्थं अस्माभिरुच्यमानमेवं भवति न वेति । भवतीभिः कथं ज्ञायत इति चेत् तत्राहुः एवं नोऽस्माभिरुपलक्ष्यमे इति ॥१८॥

व्याख्या—‘यक्ष्मा’ पद का अर्थ है ‘क्षय रोग’ वह भी दक्ष के शाप से तुमको बलवान् हुआ है, उस रोग से ग्रस्त होने से तू चल नहीं सकता है, यह तो उचित हो है किन्तु यह तो अत्यन्त आश्चर्य है कि अपनी किरणों से अन्धकार नाश नहीं करती है, इस विषय में हम लोगों का अनुभव ही प्रमाण है, इसी तरह चन्द्रमा के दोष का वर्णन कर कहने लगी कि बहुत कर इसका यह दोष स्वाभाविक नहीं है, यों निश्चय कर चन्द्र शीघ्र नहीं चलता है और अन्धकार को नाश नहीं करता है, इन दोनों के कारणों की कल्पना करती है, मुकुन्द भगवान् ने मोक्षार्थ कितने उपदेश वचन कहे, उनको दुर्लभ समझ भुजा दिया, अनन्तर उस भूल जाने की तुमको बहुत चिन्ता हुई जिससे तेरी वाणी बन्द हो गई है, मुख से वाक्य भी नहीं निकलता है, ‘गो’ शब्द का अर्थ वाणी और किरण आदि होता है अतः ‘गो’ शब्द से चन्द्रमा का वाक्य ‘गो होने से किरण रूप है, और इन्द्रिय रूप होने से चरण रूप है, इससे तुम वाणी के रुक जाने से बोल नहीं सकते हो, चरणरूप होने से वह भी रुके हुए हैं जिससे जल्दी चल नहीं सकते हो एवं अन्धकार मिटा नहीं सकते हो, भो ! सम्बोधन प्रश्न रूप में है, हम जो कहती हैं वह यों है वा नहीं ? तुम कैसे जानती हो ? इस पर कहती हैं कि इस प्रकार हमको तू भास रहा है ॥१८॥

आभास—तामसराजस्यः कामेन पीडिता मलयानिलं शपन्त्य आहुः किं वाचरितमस्माभिरिति ।

आभासार्थ—तामस-राजसी महिषियों काम से पीड़ित होने से ‘किं वाचरितमस्माभिः’ श्लोक से मलय के वायु को कोसती है—

श्लोक—किं वाचरितमस्माभिर्मलयानिल तेऽप्रियम् ।

गोविन्दापाङ्गनिभिन्ने हृदीरयसि नः स्मरम् ॥१९॥

श्लोकार्थ—हे मलयाचल के वायु ! हमने तुम्हारा क्या बुरा किया है ? जिससे तू भगवान् के कटाक्ष से भिन्न हुए हमारे हृदय में काम की प्रेरणा करता है ॥१६॥

सुबोधिनी—हे मलयानिल ते तुम्यमस्माभिः किं वा अप्रियमाचरितम् । मलयानिलस्य शीतलस्य अप्रियमुष्णत्वापदकं, यदा भगवता सह स्थितं तदा स्वहृदयचन्दनादिभिः त्वमस्माभिरति-शीतलः कृतः । एवमुपकारिषु कथं त्वमपकारं करोषि । को वा अपकारः कृत इति चेत् तत्राहुः गोविन्दस्य अपाङ्गेनैव स्मृतेन निर्भिन्ने हृदये स्मरं प्रेरयसि । यथा कश्चित्कोटरे अग्निं प्रय-

च्छति येन सर्वोऽपि वृक्ष आद्रोऽपि दग्धो भवेत्, तथा त्वमस्मान् करोषीत्यर्थः । गोविन्दपदेन गोकुलगतस्य भगवतो लीला स्मृता । अत एव महद्दुःखं जातमिति सूचितम् । अथ यदि सांप्रतं वयं तप्ता इति तत्र रोषस्तथापि मलयानिलः सर्पादिभिर्ग्रस्तः समायाति । तादृशस्य केनापकारः कर्तव्य इति सूचितम् ॥१६॥

व्याख्यार्थ—हे मलय के पवन हमने तुम्हारा कौनसा अप्रिय किया है ? अर्थात् क्या बिगाड़ा है ? मलयानिल का अप्रिय है उसको उष्णता देना, वह तो हमने किया नहीं, बल्कि हम जब भगवान् के साथ थी तब अपने हृदय के चन्दनादि शीतल पदार्थों से तुमको विशेष शीतल बनाया, इस प्रकार उपकार करने वालियों पर तू अपकार (बुरा) कैसे करता है ? यदि कहो कि हमने कौनसा अपकार किया ? इस पर कहती है कि गोविन्द के अपाङ्ग (कटाक्षों) के स्मरण होने से घायल हृदय में काम को प्रेरते हो, जैसे कोई वृक्ष के कोटर में अग्नि डाले तो वह वृक्ष आद्र हो तो भी जल जाता है, वैसे हालत तुम हमारी कर रहे हो, 'गोविन्द' नाम लेने से गोकुल के भगवान् की लीला का स्मरण हो आया, जिससे जाना कि भगवान् हमारे मन से तिरोहित होकर गोकुल पधार गए हैं इस भावना के जाग्रत होने से महान् दुःख हुआ, यह सूचित किया, यदि इस समय हम पूर्ववत् शीतल न होकर तप्त हुई आई हैं जिससे तुमको रोष है तो भी जो मलय वायु सर्प आदि से ग्रसित हो कर आ रही है उसका अपकार कौन कर सकता है ? यह सूचित किया है ॥१६॥

आभास—तामससात्त्विक्यस्तु मेघं भगवत्सदृशं दृष्ट्वा चन्द्रव्यवधायको जात इति क्षणं शैत्यं प्राप्ता इव तं स्तुत्वा पश्चात्स्वधर्मारोपेण तमपि दुःखितं कल्पयित्वा तद्दुःखापनोदनं साम्येन कुर्वन्ति मेघ श्रीमन्निति ।

आभासार्थ—तामस-सात्त्विकी (महाराणियों) तो मेघ को भगवान् के समान वरुण वाला देखा और वह चन्द्रमा को ढांक रहा है जिससे क्षण भर मानो शीतलता के आनन्द को प्राप्त हुई अतः उसकी स्तुति करने लगी, पश्चात् उसमें अपने धर्मों का आरोपण कर उसमें भी दुःखो होने की कल्पना कर, उसके दुःख को साम्यभाव से मिटाती है, जिसका वरुण 'मेघ श्रीमन्' श्लोक में करती है—

श्लोक—मेघ श्रीमन्स्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनं

श्रीवत्साङ्गं वयमिव भवान्ध्यायति प्रेमबद्धः ।

अत्युत्कण्ठः शबलहृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधाराः

स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहुर्दुःखदस्तत्प्रसङ्गः ॥२०॥

श्लोकार्थ— हे श्रीमान् मेघ ! तू अवश्य भगवान् यादवेन्द्र का प्यारा है । प्रेम के बन्धन से बद्ध तुम हमारी तरह श्रीवत्स के चिन्ह वाले प्रीतम का ध्यान करते रहते हो; क्योंकि तुम्हारे हृदय में उनके लिए अतिशय उत्कण्ठा व्याप रही है, जिससे तुम बार-बार उनका स्मरण कर-कर हमारे समान आंसूओं की धारा बहा रहे हो, इससे तुम्हारा हृदय भी लौकिक कर्म पूर्ण न करने से निन्दा का पात्र बन गया है, उनसे मित्रता करनी भूल है; क्योंकि दुःख देने वाली है ॥२०॥

सुबोधिनी— मेघे परमा शोभा विद्युदादिरूपा वर्तते इति श्रीमान् भवति । तद्दृशं तं सम्भावयन्ति । त्वं भगवतः दयितोऽसि श्याम-त्वात्पीतवसनत्वात् प्रणिभ्यो जीवनदत्तत्वात्ता-पहारकत्वाच्चेति । अत एव नूनं दयितः । ननु तर्ह्यहं सुखी युष्मानपि सुखयुक्ताः करिष्यामीत्याशङ्क्याहुः श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान् ध्या-यतीति । तवापि न स्वास्थ्यं, मित्रं हि मित्र भावयति तस्मिन् प्रप्ते दृष्टे वा तस्य सुखम् । इदानीमन्तर्भगवान् शेते इति तस्य दर्शनाभावात् केवलं तं ध्यायति । ननु सोऽपि सुखेन शेते । ततो मित्रस्य सुखावस्थां स्मृत्वा सुखी भवेन् ननु कदा-चिद्दुःखं प्राप्नुयादित्याशङ्क्याहुः श्रीवत्स एव अङ्कः चिह्नं यस्येति । ब्राह्मणास्तस्यातिक्रमं कुर्वन्तीति चिन्तया दुःखमित्यर्थः । यथास्माकं श्रीवत्से लक्ष्मीस्तिष्ठतीति साम्प्रतं तथा सह स्थितोऽस्मात्त गणयतीति दुःखं तस्मादेकस्यैव श्रीवत्सस्य उभयोर्दुःखे निमित्तत्वमिति वयमिवे-त्युक्तम् । विस्मरणं क्रियतामित्याशङ्क्याहुः प्रेम-बद्ध इति । प्रेम्णा अन्तःकरणे बद्धो विस्मर्तुं म-

शक्य इत्यर्थः । नन्वहं सुखी दुःखितधर्मा मयि भवतीभिः के दृष्टा इत्याकांक्षायामाहुः अत्युत्कण्ठ इति । पञ्चविधः क्लेशस्त्वय्युपलभ्यते । आदावु-त्कण्ठातिशयस्त्वयि मानसः । शबलहृदय इति शबलं लौकिककर्मणि वाच्यत्वेनोपस्थिते हृदयं यस्तेति । अत एव समागतमपि गर्जनं निवारय । अतोऽस्मद्विधः धूसरो गतिहीनो विच्छाद्यश्च जातः । उपर्यासीनं दृष्ट्वा वदन्ति । एतस्य सर्व-स्यापि नियामकं दुःखमाहुः बाष्पधारा विसृज-सीति । पुनः पुनर्विरम्य विरम्य वर्षणं जायत इति स्मृत्वा स्मृत्वेत्युक्तम् । पुनः पुनः स्मरणं चातिदुःखदम् । नन्वस्माभिः कोऽपराधः कृतः येनास्माकं दुःखं भवेदित्याशङ्क्याहुः दुःखदस्त-त्प्रसङ्गः इति । तस्य प्रसङ्गमात्रमेव दुःखहेतुः, प्रकृष्टः सङ्गः सुतरामेव । अन्यथास्माभिर्वा कोऽप-राधः कृतः । जगति च कोऽप्येतादृशो न दृश्यते यो भगवत्सम्बन्धं प्राप्य क्षणं वा स्वस्थो भवति । इदं च दूषणं प्रसङ्गानन्तरमिति । अननुभूतो न जानातीति न बाधकत्वम् ॥२०॥

व्याख्यानार्थ— मेघ को श्रीमान् विशेषण इसलिए दिया गया है कि मेघ विद्युत आदि से शोभावाला है ऐसे उस मेघ का ये आदर करती हैं, तू भगवान् का प्रीतम है, क्योंकि तू वर्ण में भगवान् के श्याम वर्ण सम वर्ण वाला है, वस्त्र भी उनके सदृश पीले हैं, तथा प्राणियों को जीवन भी देते हो, और उनके ताप को भी मिटाने वाले हो, इन कार्यों के कारण तू भगवान् को प्रिय है तब तो मैं सुखी हूँ, जिससे तुम लोगों को भी सुखी करूँगा, यदि मेघ यह कहदे तो इस पर कहती

हैं कि तू भी सुखी नहीं है क्योंकि तू भी हमारी तरह श्रीवत्स के चिन्ह वाले का मात्र ध्यान कर रहे हो तुझे भी उनके दर्शन नहीं होते हैं, कारण कि इस वक्त भगवान् सो रहे हैं मित्र हो मित्र के भावों को जानता है, भगवान् के दर्शन होने पर वा मिलने पर ही आनन्द होता है वह भी सुख से सो रहे हैं, इससे मित्र (भगवान्) की सुखावस्था देख कर मित्र (मेघ) सुखी होता है, कभी भी दुःख नहीं करता है, इस प्रकार को शङ्का पर कहते हैं कि भगवान् आवत्स के चिन्ह वाले है, ब्राह्मण उत्तम अतिक्रमण करते हैं, इसकी चिन्ता से दुःख होता है यों अर्थ है, जैसे लक्ष्मी श्री वत्स में रहती है किन्तु अब वह लक्ष्मी भगवान् के पास है, जिससे भगवान् लक्ष्मी के साथ होने से हमको ध्यान में भी नहीं लाते हैं, इससे हमको दुःख है, वैसे ब्राह्मण लक्ष्मी के अतिक्रम से भगवान् का अपमान करते हैं, जिसकी चिन्ता से मेघ को दुःख होता है, एक ही श्रीवत्स, दोनों के दुःख में कारण है, इसलिए कहा है कि 'वयमिव' हमारी तरह यदि कहो कि दुःख भूत जाओ तो इस पर कहा है कि 'प्रेमबद्धः' जिसको अन्तःकरण में प्रेम रज्जु से बांध रखा है उसको भुला नहीं सकते, मैं तो सुखी हूँ, मुझ में आपने कौनसे दुःखित के धर्म देखे हैं ? इस प्रकार की आकांक्षा होने पर कहना है कि, पाँच प्रकार के क्लेश तुझ में हम देख रही हैं, १- भगवान् के दर्शन को उत्कण्ठा, यह पहला मानस क्लेश है, २- तेरा हृदय, बहुत जोर से नाद (शोर) करने के कारण लोक में निन्दा का पात्र हुआ है, यह दूसरा क्लेश है, अतः प्राप्त हुई गजना को भी रोक दे, ३- इससे तू हमारे समान धूमर, गति रहित और निस्तेज हो गया है, महिषियां आकाश में स्थित मेघ को देखकर ये वचन कह रही हैं, ४- इन सब दुःखों के नियामक दुःख को कहते हैं कि तू रुक रुक कर आंसुओं को वर्षा करता है, ५- बहुत दुःख होता है, तू बार बार प्रिय का स्मरण करता है, कारण कि बारबार स्मरण करने से दुःख होने से तुम इस प्रकार रुक रुक कर आंसू बहाते हो ।

यदि मेघ कहे कि हमने कौनसा अपराध किया है ? जो हमको इतना दुःख देते हैं ? जिसका उत्तर देती है कि 'दुःखदस्तत्प्रसङ्गः' उनका प्रसङ्ग मात्र ही जब दुःख का हेतु है तो विशेष सङ्ग तो दुःखदायी होगा ही यदि यों न होता तो हम महिषियों ने कौनसा अपराध किया है ? जगत् में कोई भी ऐसा नहीं देखता है जिसने भगवान् से प्रेम कर क्षण मात्र भी सुख पाया हो, यह दोष तो भगवान् से सम्बन्ध जोड़ने के बाद जानने में आता है, जिसने इसका अनुभव नहीं किया है उसके लिए यह दोष बाधक नहीं, अतः जो अनुभवी नहीं हैं वे भगवान् से प्रेम करना चाहते हैं ॥२०॥

आभास—सात्त्विकसात्त्विकयो निरूपयन्ति प्रियरावपदानि भाषस इति ।

आभासार्थ—'प्रियराव पदानि' श्लोक से सात्त्विक-सात्त्विकी महिषियां निरूपण करती है—

श्लोक—प्रियरावपदानि भाषसे मृतसञ्जीविकयानया गिरा ।

करवाणि किमद्य ते प्रियं वद मे वलितकण्ठ कोकिल ॥२१॥

श्लोकार्थ—हे वलित कण्ठ वाली कोयल ! तुम्हारा स्वर हमारे प्यारे के समान है, जिससे तू मरने वालों को जीवन-दान देने वाली वाणी से प्यारे के पद बोल रही है । अतः हम तुम्हारा क्या प्रिय करें ? वह बतादे ॥२१॥

सुबोधिनी—ताः कोकिलाशब्दं श्रुत्वा भगवानस्मानाकारयतीति क्षणं परमानन्दमनुभूय एतादृशं सुखमस्मभ्यं कोकिलवाक्यज्जातमिति तं स्तुवन्ति । प्रियस्य राववद्रावो यस्य, हे प्रियरावेति भगवत्सम्बन्धोऽस्मिन्वर्तत इति त्वया सह आलापेपि न किञ्चिद्दूषणमस्ति । ननु कथमेतद्वगतं भगवद्वाक्यमेव तन्न भवति किन्तु कोकिलवाक्यमिति तत्राहुः पदानि भाषस इति । तदुच्चारिते वाक्यार्थो नावगम्यत इति न तदुच्चारितस्य वाक्यत्वम्, किन्तु भगवदुक्तपदानि स्मारयन्तीति सादृश्यात्पदत्वम् तर्ह्येतादृशवाण्याः क्वोपयोग इति चेत् तत्राहुः मृतसञ्जीविकयानया

गिरेति । पूर्वं भगवद्विरहेण मृतप्राया जाताः । यदि क्षणमयं शब्दो न श्रुतः स्यात् तदा मृता एव भवाम इति । इयं वाणी मृतसञ्जीविना । अनया कृत्वा उलक्षिताय तुभ्यं किं प्रियं करवाम । प्रत्युपकारेणापि तस्य हेतुत्वाद्वा तृतीया । तत्रैका विशेषतो वदति मे वदेति । मम स्थाने एकान्ते कथय । श्रीरोदन दास्यामीति भावः । परं त्वया एतादृशः शब्दः पुनः पुनश्चात्र इत्यभिप्रायेणाहुः वलितकण्ठेति । वलितः कण्ठो यस्य । शब्दोच्चारणार्थं प्रयत्नं करोषि परं न वदसीति कथनबोधनार्थं सम्बोधनम् । कोकिलेति सम्बोधनं तस्य शब्दप्राधान्यत्वाय । २१॥

व्याख्यार्थ—महिषियों ने कोयल का शब्द सुनकर यों जान लिया कि, भगवान् हमको बुला रहे हैं, जिससे एक क्षण परमानन्द का अनुभव किया, अनन्तर जान लिया कि ऐसा यह सुख हमको कोयल के वाक्य से हुआ है; इसलिए उसकी स्तुति करती है ।

हे कोयल ! तेरा शब्द प्यारे के शब्द जैसा है क्योंकि इस शब्द में भगवान् का सम्बन्ध है, इसलिए तेरे साथ बातचीत करने में किसी प्रकार का दूषण नहीं है

आपने यह कैसे जाना कि, वह शब्द भगवान् का नहीं है कोयल का है जिसके उत्तर में कहती है कि 'पदानि भाषसे' कोयल का इसलिए जाना कि उन पदों में कोई अर्थ नहीं था, इसलिए वह वाक्य नहीं, किन्तु केवल भगवान् के कहे हुए पदों का स्मरण कराती है, इसलिए सदृशता के कारण इनमें पदत्व है, यदि कहो कि जब यों है तो ऐसी वाणी का उपयोग कहाँ हागा? इसपर कहती है कि इसका उपयोग हमारे जीवन में हुआ है, यदि एक क्षण भी यह पद न सुनतो तो मर ही जाती, कोयल की यह वाणी मृतकों को जिलाने वाली है, इस ऐसी वाणी के कारण ही तू पहचानने में आई है, अब ऐसी आपका, हम क्या और कैसे स्वागत करें? यदि यह स्वागत उपकार वा बदला समझा जावे तो कोयल की वाणी प्रत्युपकार रूप मानी जाएगी, इसलिए वह तृतीया विभक्ति में कही गई है, वहाँ एक कहती है कि 'मे वद' अर्थात् मुझे एकान्त में बताओ कि भात मिला हुआ दूध दूंगी, कहने का यही भाव है, किन्तु तू ऐसा शब्द फिर फिर कहती रहना, इस अभिप्राय से 'वलित कण्ठ' विशेषण दिया है तुम्हारा कण्ठ सुन्दर है, शब्द उच्चारण करने का यत्न (कोशिश) करती हो किन्तु बोलती नहीं, इसलिए कथन का बोध कराने के लिए यह संबोधन दिया है, तू तो बोलने में मुख्य है अतः कोकिल ! यह दूसरा संबोधन दिया है ॥२१॥

आभास - सात्त्विकराजस्य आहुः न चलसि न वदसीति ।

आभासार्थ—सात्त्विक-राजसी 'न चलसि' श्लोक कहने लगी—

श्लोक— न चलसि न वदस्युदारबुद्धे क्षितिधर चिन्तयसे महान्तमर्थम् ।

अपि वत वसुदेवनन्दनाङ्घ्रि वयमिव कामयसे स्तनैर्विघर्तुम् ॥२२॥

श्लोकार्थ—हे उदार बुद्धि पर्वत ! तू न तो हिलता है और न कुछ बोलता है, जिससे प्रतीत होता है कि तुम किसी महान् विषय का चिन्तन कर रहे हो ? हमारी तरह तुम भी भगवान् के चरण अपने स्तनों पर रखना चाहते हो क्या ? ॥२२॥

सुबोधिनी अयमपि पर्वतो भगवच्चरणारविन्दधारणाद्भक्तो भवतीति निर्णयते । तादृशोपि यन्नामोच्चारणं न करोति, अतस्तत्र कारणं पृच्छन्ति भ्रान्तत्वं निवारयन्त्येव हे उदारबुद्धे इति । उदारा बुद्धिर्यस्य इति । तस्य बुद्धिरेव विचारयति किं नामोच्चारणेन आश्रयमात्रमेव कृतार्थं भविष्यति तथोपायं वक्तव्यः येन विश्वमेव कृतार्थं भवतीति विचारयति । अतः सर्व एव पुरुषार्थयुक्ता भवन्त्विति बुद्धिरुदाग भवति । अत एव महान्तमर्थं चिन्तयसे । अतो मनो निश्चलमिति कायोपि वागपि निश्चला तदाह न चलसि न वदसि इति । अस्य सौबुद्धये उपपत्तिरस्तीत्याहुः क्षितिधरेति । भूमौ स्थितो यो भूमि विभक्तिं सोत्यन्तं सुबुद्धिर्भवति । तर्हि क एतादृशो

महानर्थो भविष्यतीति विचार्य स्वयमेव तमर्थमाहुः अपि वतेति । वसुदेवनन्दनस्यैव अङ्घ्रिरेतादृशो भवति । तमेकोपि चिन्तयन् विश्वं मोचयितुं शक्नोति । अतोङ्घ्रिचिन्तनमेव प्रायेण तत्राभिलषितम् । नन्वेतत्कथं ज्ञायते न हि साधारण इममर्थं जानातीति चेत् तत्राहुः वयमिव कामयसे इति । अस्माकमप्येष्वेव कामना स्तनोपरि भगवच्चरणः स्थापनीय इति । इदं तु शयाने भगवति अस्माकं पादसंवाहनादिना सिद्ध्यति । तव तु त्वदुपरि परिभ्रमणे । स्तनाः प्रत्यन्तभागाः पर्वतस्य, विशेषेण धारणं बन्धादौ । तस्य च सःस्त्विकभावोद्वेगेण प्रस्तरादिषु चरणाकृतिधारणे यथा गयायां एतावान् विशेष इत्यर्थः ।

॥२२॥

यह पर्वत भी भगवान् के चरणारविन्द को धारण करता है जिससे जाना जाता है कि भगवद्भक्त हैं यों निरा । किया जाता है, ऐसा (भगवद्भक्त) होकर भी भावनाम का उच्चारण नहीं करता है, जिसका कारण पूछती है और भ्रान्तपन को मिटाती ही है, हे उदार बुद्धि वाले पर्वत ! इस विशेषण से यह सूचित करती है कि उदारबुद्धि होने से उसकी बुद्धि इस तरह विचार करती है कि नामोच्चारण से क्या लाभ ? केवल आश्रय लेने से ही जोव कृतार्थ हो जावेगा, इसलिए ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे सकल विश्व कृतार्थ हो जावे, अतः सब पुरुषार्थी बने ऐसी बुद्धि, उदार बुद्धि कही जाती है, अतएव तू महान् विषय का चिन्तन कर रहा है इस कारण से तेरा मन और काया दोनों स्थिर हैं, जिससे तू न हिलता है और न बोलता है इसी इम प्रकार की सुबुद्धि में जो उपपत्ति है वह कहती है क्षितिधर जो तू भूमि पर स्थित होकर उसको धारण कर रहा है इसलिए तू असीम सुबुद्धिवाला है ।

ऐसा कौनसा महान् विषय होगा ? उसका विचार कर स्वयं ही उस विषय को कहती है कि, वसुदेवनन्दन का ही ऐसा चरण है जिसका चिन्तन यदि एक भी करे तो वह एक, समग्र विश्व को मुक्त कराने में समर्थ हो सकता है, अतः भगवच्चरण का चिन्तन करना ही तुमको अभिलषित है, यदि वही कि इसको आप कैसे जान सकी हो, साधारण मनुष्य तो इस अर्थ को नहीं जान सकता

है, इसके उत्तर में कहती है कि 'वयमिव कामरसे' हमारी भी यही कामना है कि अपने स्तनों पर भगवान् के चरणों की स्थापना करें, यह हमारा मनोरथ तो भगवान् के शयन समय पाद संवाहन आदि से सिद्ध होगा, तेरा तो तब होगा जब तेरे ऊपर भगवान् भ्रमण करेंगे, पर्वत के प्रत्यन्त भाग ही स्तन है, विशेष से धारण, बन्ध आदि में होता है, भगवान् के चरण स्थापन होने से उसके प्रस्तर आदि में सात्त्विक भाव के उद्वेक से कोमलता आ जाने से चरण चिन्ह लग जाते हैं जैसे गया में है—इतनी विशेषता है ॥२२॥

आभास—सात्त्विकतामस्य आहुः शुष्यदध्रदा इति ।

आभासार्थ—अत्र 'शुष्यदध्रदाः' श्लोक में सात्त्विकतामसो अने विचार प्रकट कर रही है—

श्लोक—शुष्यदध्रदाः करशिता वत सिन्धुपत्न्यः संप्रत्यपेतकमलश्रिय इष्टभर्तुः ।

यद्वद्वयं यदुपतेः प्रणयावलोकमप्राप्य मुष्टहृदयाः पुरुकशिताः स्म ॥२३॥

श्लोकार्थ—हे समुद्रपत्नियों नदियों ! जैसे हम भगवान् के कृपा-कटाक्ष को न पा कर हृदय चुराये जाने से अति दुर्बल हो गई हैं, वैसे तुम भी अभी मेघ द्वारा समुद्र का जल न पा कर दुर्बल, शुष्क हृद और कमलों की शोभा से रहित हो गई हो क्या ? ॥२३॥

सुबोधिनी—क्रीडापर्वतानां या नद्यः ता अन्तःपुरे स्थिताः, ताः पूर्वं अगाधजला वर्षासु, ततः क्रमेण क्षीणतायां निदाघे हृदानामपि शोषो जातः । एतन्निरूपणं स्वस्यातिकृशत्वज्ञापनार्थम् । वतेति खेदे । कियत्कालानन्तरं स्वरूपमपि गमिष्यतीति । ननु कया उपपत्त्या नद्यो गृह्यन्ते । कोपि धर्मो भगवदीयस्तासु नास्ति तत्राहुः सिन्धुपत्न्य इति । सिन्धोरम्बुराशेरपि पत्न्यो भूत्वा यथेताः परमक्षीणाः तथा वयमपि कोटिब्रह्माण्डाधिपतेरानन्दमूर्तः पत्न्योपि वयं परमंखेदं प्राप्नुम इति निरूपयितुं तासां कथा । शरीर-क्लेशेपि यदि चिन्ता न भवेत् तदाप्यन्ततो गत्वा मुखवैवर्ण्यं न स्यात्तदपि नास्तीति ज्ञापयितुमाहुः संप्रत्यपेतकमलश्रिय इति । एवमन्तःकरणक्लेशः शरीरक्लेशश्च कुतो जायत इत्याकांक्षायां स्वयमेव हेतुं कल्पयन्ति इष्टभर्तुर्यदुपतेः प्रणयावलो-

कमप्राप्येति । इष्टप्राप्त्या मनसि क्लेशः । संवर्ध-कदृष्ट्यभावात् कृशत्वम् । यद्यपि नदीनां भर्ता समुद्रोऽस्ति । तथापि न स इष्टः । भगवांस्तु सर्व-पतिरिति इष्टो भर्ता भवति । अत्र भर्तृपदं परि-पालकपरम् । इष्टन्ते व्यावृत्त्यप्रसिद्धेः । यद्वद्वयं । इष्ट्य भर्तुः सांप्रतमेव प्रणयावलोको नास्तीति क्षणमात्रेणैव कशिताः । सजातीयस्य सजातीयो भर्ता भवति । महान्नेत्तत्रापि स्नेहं कुर्यात् । एतज् ज्ञापयितुमाहुः यदुपतेरिति । अवलोको बाह्यः, स्नेह आन्तरः, उभयमप्यप्राप्य अन्तर्बहिश्च पुरुकशिताः । नन्वन्येन कथं न पुष्टा जायन्ते, यथा मिष्टान्नाभावे यादृशेनापि पुष्टो भवति लोकः । तत्राहुः मुष्टहृदया इति । हृदयस्य मोषः पूर्वमेव जात इति येन साधनेन कश्चिद्-गृह्यते तद् भगवतैवापहृतम् । इति नातः परम-न्येन पुष्टा भविष्यन्तीत्यर्थः ॥२३॥

व्याख्यार्थ—क्रीडा पर्वतों से उत्पन्न नदियां अब अन्तःपुर में स्थित हैं, वे पहले वर्षा के दिनों

में अगाध जल वाली थीं, अब ग्रीष्म ऋतु में धीरे धीरे क्षीण होने पर शुष्क हृदा हो गई हैं, यह निरूपण कर अपनी अतिशय कृशता बताई है, 'वन' शब्द खेद प्रकट करने के लिए दिया है, यदि यों होता रहा तो कुछ समय के अनन्तर शरीर भी नष्ट हो जायगा, कौनसी उत्पत्ति से नदियों का ग्रहण किया जाता है, उनमें तो कोई भी भगवदीय धर्म नहीं है, जिसको सिद्धि के लिए कहती हैं कि 'मिन्धुपत्न्यः' ये भी जल के भण्डार महान् समुद्र की पत्नियां हैं अतः जैसे ये बहुत ही क्षीण हो गई हैं, वैसे हम कोटि ब्रह्माण्ड के अधिवृत्ति आनन्दस्वरूपा की पत्नियां भी परम खेद को प्राप्त हुई हैं, यह निरूपण करने के लिए उनकी कथा कही है, शरीर से व्रण होने पर भी यदि विन्ता न होवे तो भी अन्त में जाकर मुख को विवर्णता न होवे, वह भी नहीं है, यों जताने के लिए कहती हैं कि 'संप्रत्यपेतकमलश्रिय' अब कमलों की शोभा भी नहीं रही है, इस प्रकार अन्तःकरण में व्रण और शरीर में व्रण कहां से उत्पन्न होता है ? इस आकांक्षा के होने पर स्वयं ही हेतु की कल्पना करती है, इष्ट भर्ता यदुपति के प्रणय अवलोकन को न पाकर यह दशा हुई है, इष्ट की अप्राप्ति से ये मन में व्रण हुआ है, और आनन्द को बढ़ाने वाली दृष्टि के अभाव से कृशत्व हुआ है, यद्यपि नदियों का पति समुद्र है, किन्तु वह इष्ट नहीं है, भगवान् तो सबके पति होने से इष्ट भर्ता है, यहां 'भर्ता' पद का आशय यह है कि वह पूर्ण रीति से पालन करने वाले हैं, दृष्टान्त में व्यावृत्ति की प्रसिद्धि नहीं है, जिस तरह हम, प्रिय भर्ता का अब ही प्रणय का अवलोकन नहीं है इसलिए क्षणमात्र ही कृश हुई हैं, सजातीय का भर्ता सजातीय होता है, यदि महान् होवे तो वहां (प्रसजातीय में) भी स्नेह करे अर्थात् उसका भी पालन करे, यह जताने के लिए कहती हैं कि 'यदुपतेः' देखना तो बाहर का आनन्द है और स्नेह भीतर का आनन्द है, दोनों को भी न पाकर भीतर तथा बाहर अत्यन्त कृश हुई हैं, जब यों उनसे कृश हुई हो तो अन्य से क्यों न पुष्ट होतो हो ? जेमे मिष्टान्न न मिले तो जिस किसी से भी लोक अपने को पुष्ट कर ही लेते हैं, इसका उत्तर देती हैं कि जिस हृदय से दूसरे को ग्रहण कर पुष्ट होवें उस हृदय को ही पहले उन्होंने (भगवान् ने) हर लिया है, अब दूसरे को किस साधन से ग्रहण करें ? अतः दूसरे से पुष्ट हो नहीं सकती हैं, यों तात्पर्य है ॥२३॥

आभास— एवं बहिर्विचारयन्त्यः काश्चिद्गुणातीताः दूरे गताः । ततोऽन्तःपुर एव नद्याद्वितीरे विद्यमानं हंसं दृष्ट्वा आहुः हंस स्वागतमिति ।

आभासार्थ— इस प्रकार बाहर विचार करती हुई कितनी ही गुणातीत दूर चली गई पश्चात् अन्तःपुर में ही नदी आदि के किनारे पर हंस को देख कहने लगी 'हंस स्वागतम्'

श्लोक— हंस स्वागतमास्यतां पिब पयो ब्रूह्यङ्ग शीरेः कथां

दूतं त्वां नु विदाम कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा ।

किं वा नश्वलसौहृदः स्मरति तं कस्माद्भ्रजामो वयं

क्षौद्रालापय कामदं श्रियमृते सैवैकनिष्ठा स्त्रियः ॥२४॥

श्लोकार्थ— अचानक आए हुए हंस को देखकर उसमें दूतत्व की कल्पना कर कहने लगी कि हे हंस ! तुम भले आए । आओ ! बैठो, दूध का पान करो, भगवान् की बातें करो, यों न कहना कि मैं नहीं जानता हूँ; क्योंकि हम जानती हैं कि तुम

भगवान् के दूत हो, दूत सब कुछ जानता ही है । भगवान् अच्छी तरह तो हैं ? क्षणिक स्नेह रखने वाले, चञ्चल मन वाले भगवान् स्वयं जो कुछ हमें कह गए थे, उसे कभी याद करते हैं ? हे मधुर-सा बोलने वाले ! यदि वे हमें याद नहीं करते हों, तो हम उनको क्यों भजें ? यदि स्मरण करते हैं, तो उनको ले आइए, किन्तु अकेले को लाइए । यदि कहो कि लक्ष्मी इनकी प्रिय सेविका है, उसको छोड़कर आयेंगे, तो अन्य स्त्रियों से वे कनिष्ठ नहीं है क्या ? सर्व स्त्रियाँ सेवा की ही परायण होती हैं ॥२४॥

सुबोधिनी—तास्तु शुद्धाः भगवति सर्वथा दोषरहिताः अतः स्वहितमात्रमेव भावयन्ति । स्वस्य च हितं भगवत्सम्बन्धादेव स च सम्बन्धः मानवतीनां मानापनोदव्यतिरेकेण स्वतो न भवति । ततो भगवान्मानापनोदार्थमेनं प्रस्थापितवान् । अयं हि हंसः सदसद्विवेकं जानाति । अतोस्मान् गुणातीताः भगवत्पाश्र्वं नेष्यतीति निश्चित्य सम्बोधयन्ति हंसेति । स्वार्थमागत इति कुशलं पृच्छन्ति । शीघ्रं वयं साध्या न भविष्याम इति ज्ञापयितुमास्यतामित्याहुः । नन्वस्माकं पक्षिणां नित्यं क्षुधितानां तन्निवृत्त्यर्थमुपायः कर्तव्यः । अतो गन्तव्यमिति चेत् तत्राहुः पिव पय इति । अनेनैतदपि ज्ञापयन्ति । अत्र स्थितो दुग्धमिव अस्मान्नेष्यसि । अन्यत्र गतो जलमिव अव्यक्तमधुरा नेष्यसीति । ननु स्थित्वा किं कर्तव्यमिति चेत् तत्राहुः ब्रूह्यङ्गः शौरेः कथामिति । पितृनाम्ना शौर्यमुपपादयन्त्यः कथासत्त्वमाहुः । न जान इति न वक्तव्यमित्याहुः दूतं त्वां नु विदामेति । नु इति वितर्कं, पूर्वमपि हंस दूता भवन्ति अतस्त्वमपि हंस इति । आगमने प्रयोजनान्तरस्याभावाद् दूतत्वमेव निर्धार्यते इत्यर्थः । अतो दूतत्वनिर्धारार्थं कथां कथय । नन्वपृष्टं नोच्यत इति चेत् तत्राहुः कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त इति । अजितत्वात् कुशलमस्त्येव परं सर्वान् मारयन् व्यग्रो भवेत् तदस्ति न वेति प्रश्नः । अथवा, स्वस्ति कल्याणरूपेण शुद्धरूपेण किमास्ते शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्यादशुचिः

पुमान्' इति वाक्यात्सम्बन्धे जाते अन्यथा भावो भवतीति । तथा सति स्वस्य तदानीं गमनं व्यर्थमेवेति । अजितत्वात्पराजयाभावोऽपीति संदेहात्प्रश्नः । कुशलेन वर्तते इत्यङ्गीकारेणोत्तरसिद्धौ प्रष्टव्यान्तरमाहुः उक्तं पुरा किं वा नश्चलसौहृदः स्मरतीति । पुरा यदुक्तं 'न त्वादृशीं प्रणयिनीं गृहिणीं गृहेषु पश्यामि' इति यत्पुरा उक्तं तत्किं स्मरति न वेत्यर्थः । ननु सर्वज्ञास्मरणे को हेतुरिति चेत् तत्राहुः चलसौहृद इति । न हि सर्वदा कोऽपि कमपि स्मरति । सौहार्दे सति स्मरणं भगवांश्च चलसौहृदः । सर्वथा स्मरति समागन्तव्यमिति चेत्तत्राहुः तं कस्माद्वयं भजाम इति । कार्यान्तराणि निवृत्तान्येव । सौहार्देपि सन्देहस्तस्मात्कारणाभावात् किमर्थं भजामः । तत्रापि वयं प्रसिद्धाः । तथापि क्रोधस्त्याज्यः समागन्तव्यमिति चेत् तत्राहुः हे क्षौद्रालापेति । क्षौद्रवच्छर्करावन्मिष्टः आलापो यस्य । तव केवलं वाङ्माधुर्यम् । क्षौद्रालापं यातीति क्षौद्रालापयः तस्य सम्बोधनम् । क्षौद्रेति सम्बोधनेपि मिष्टता व्यक्ता । क्षुद्रस्य सम्बन्धीति निन्दापरतया केचिदाहुः तमेव भगवन्तं आलापय कथय च कामदं भगवन्तं आलापय गानेन आलापनं कुरु । कामदं भगवन्तं प्रति वा क्षौद्रालापयो भवान् परमालापे लक्ष्म्या आलापो न कर्तव्यः । तदाहुः श्रियमृत इति । ननु सा परमभक्ता भगवदेकपरायणा कथं सह न गीयत इति चेत् तत्राहुः सैवैकनिष्ठा स्त्रिय इति । सैव किं

एकनिष्ठा अपि तु सर्वाः स्त्रियः, स्त्रीणां मध्ये इति | एवंभावाः स्त्रियः पर्यवसितनिरोधा वर्णितः ।
षष्ठी वा । जात्यपेक्षया चंकवचनमिति केचित् ।

॥२४॥

व्याख्यार्थ—वे तो शुद्ध भाव वाली हैं, अतः कभी भी भगवान् में दोष रोएण नहीं करते हैं और यही भावना करती रहती हैं कि भगवान् सदैव भक्तों का हित ही करते हैं, कभी भी अहित नहीं करते हैं 'मात्र' पद का आशय यह है कि भक्तों के हित के सिवाय दूसरा कोई कार्य भगवान् नहीं करते हैं और अपना हित भगवान् से सम्बन्ध होने पर ही होता है, वह सम्बन्ध माननियों के मान के अपनोद के सिवाय, स्वतः नहीं होता है, इस कारण से भगवान् ने मानापनोदार्थ इस हंस को भेजा है, यह हंस सद् और असत् के विवेक को जानता है, अतः हम गुणातीतों को भगवान् के पास ले चलेगा, यों मन में निश्चय कर उसको संबोधन करता है कि, हे हंस ! अपने काम के लिए तुम आये हो ? यों कहकर कुशल पूछती है, फिर कहती हैं कि 'आस्यतां' बैठिए, जिसका आशय है कि हम तुम्हारे कहने में सरल रीति से शोघ्र न फवेंगे इसलिए बैठकर विचार विमर्श कीजिए, यदि कहो कि हम पक्षी हैं नित्य के भूखे ही हैं, उसको (भूख को) निवृत्ति का पहले उपाय कीजिए, इस पर कहती है कि भूख के मारे यदि तुम बैठना नहीं चाहते हो तो हम उसका प्रबन्ध करती हैं आराम से बैठकर पहले पय पान कीजिए, दूध के पान कहने का यह भाव है कि यहां तो आए हुए आप हमको दुग्ध की तरह ले चलीये, दूसरे स्थान पर तो जल की तरह जो अग्रक्त मधुरा है उनको लेजाओगे, यदि कहो कि यहां ठहर कर क्या करूंगा ? इस पर कहती हैं कि 'ब्रूह्यङ्ग शौरेः कथां' हे अङ्गः शौरी को कथाएं कहिए, पिता का नाम देकर शौर्य का प्रतिपादन कर कथा का सत्त्व कह रही है अर्थात् उनकी कथाएं ऐसी हैं जिनके सुनने की आकांक्षा प्रत्येक को रहनी है, मैं नहीं जानता हूँ यों नहीं कहना, क्योंकि हम जानती हैं कि तुम उनके दूत हो, दूत स्वामी के सर्व कार्यों को जानना ही है, 'तु' यह पद वितर्क में दिया है, पहले समय में भी हंस दूत कार्य करने थे, अतः तुम भी हंस हो जिससे निश्चय है कि तुम होकर यहां आए हो, उसके सिवाय यहां आने का कोई प्रयोजन नहीं है, आपका दूतत्व हमने निश्चय कर लिया है, इसलिए उनकी कथा कहिए, यदि कहो कौनसी कथा कहूं पूछे बिना नहीं कही जाती है, इस पर कहती हैं कि 'कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त इति' अजित भगवान् कुशल तो हैं ? यदि वे अजित हैं तो वे कुशल ही हैं फिर उनके कुशल का प्रश्न क्यों ? इस पर कहती है कि सबको मारकर व्यग्र तो नहीं हुए हैं ? इसलिए कुशल प्रश्न है, अथवा 'स्वस्ति' कल्याण रूप अर्थात् शुद्ध रूप में तो हैं ? 'शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्यादशुचिः पुमान्' शयन से उठी हुई नारी पवित्र है किन्तु पुरुष अपवित्र है, इस वाक्य से यह बताया है कि भगवान् का किसी से सम्बन्ध तो नहीं हुआ है ? यदि सम्बन्ध हुआ होगा तो अशुचि होंगे, यदि यों सम्बन्ध हुआ होवे तो अशुचि हो तो हमारा वहां जाना ही व्यर्थ होगा, अजित होने से उसका पराभव भी नहीं हो सकता है इसलिए संदेह होने से ही प्रश्न है, कुशलेन वर्तते' इस अङ्गीकार से उत्तर की सिद्धि हो जाने पर दूसरा प्रश्न करती हैं, 'उक्तं' पुरा कि वा नश्चलसौहृदः स्मरति' पहले जो कहा था कि 'तुम्हारे समान प्रणयिनी घरों में नहीं देखता हूं' इस बात को याद करते हैं कि भूल गए हैं ? वे सर्वज्ञ हैं अतः कैसे भूल जाएंगे ? जिसका उत्तर 'चलसौ हृदः' पद से दिया है कि वे क्षणिक स्नेह वाले हैं, कोई भी किसीको हमेशा स्मरण नहीं करता है, सौहार्द है तो स्मरण रहता है, भगवान् क्षणिक सौहार्द है, यदि कहो कि स्मरण करते हैं आपको चलना चाहिए, जिसके उत्तर में कहती हैं कि, क्षणिक मैत्री करने वाले को हम क्यों भजे ? अन्य'

१- अन्य नायिकाएं समीप हैं ही जिससे हमारे सम्बन्धी भोग निवृत्त हो गए,

कार्य निपट हो गए, सौहार्द में भी सन्देह है कारण कि अभाव से हम उनको क्यों भजें ? वहां भी आप प्रसिद्ध हैं, वैसे भी तुमको क्रोध अब त्यागना चाहिए, क्रोध त्याग कर चरना चाहिए। यदि यों कहते हो तो हम कहती हैं कि तू मोठे बोल बोलने वाला है तुझमें केवल वाणी की मधुरता है ।

क्षौद्रालाप ! जिसका अर्थ है मोठे आलाप की तरफ जाता है अर्थात् मोठी बोलो बोलने वाला, इस सम्बोधन देने में भी मिठास प्रकट होता है, (कोई इसका अर्थ करते हैं हे क्षुद्र के सम्बन्धी ! हे क्षौद्र ! यह निन्दापरक अर्थ है) जो भगवान् कामनाओं को देने वाले है उनका गान करो, कामद भगवान् का आप मधुर आलाप से गान करने वाले हैं, अतः मधुर ध्वनि से करो, किन्तु उस गान में लक्ष्मी का आलाप नहीं करना चाहिए, जिसके लिए 'श्रियमृते' पद दिया है, यदि कहो कि वह (लक्ष्मीजी) परमभक्ता है और भगवान् के ही परायण है, ऐसी का भगवान् के साथ कैसे गान न किया जावे ? इसका उत्तर देते हुए कहती हैं कि 'सर्वं निष्ठा स्त्रियः' क्या वह (लक्ष्मी) ही एक निष्ठ है ? अपितु सब स्त्रियां सेवा में एक निष्ठ हैं, अथवा स्त्रियों के मध्य में इसलिए पष्ठि विभक्ति दी है, कोई कहते हैं जाति की अपेक्षा से एक वचन दिया है, इस भाव वाली स्त्रियां निरुद्ध वर्णित की गई हैं ॥२४॥

आभास—एवं स्त्रीणां क्रीडायां प्राप्तः संसारः निवारितः । ततो भगवद्भावा एवाविकल इति फलमुच्यते इतीदृशेनेति ।

आभासार्थ—'इस प्रकार स्त्रियों को क्रीड़ा करते हुए जो संसार प्राप्त हुआ था, उसका निवारण किया, पश्चात् एक अविकल शुद्ध भगवद्भाव ही उनमें प्रकट हो गया, इसलिए 'इतिदृशेन' श्लोक से फल का वर्णन किया जाता है —

श्लोक — इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।

क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे परमां गतिम् ॥२५॥

श्लोकार्थ—योगेश्वरों के भी ईश्वर श्रीकृष्ण में इस प्रकार के भाव करने से माधव की महिषियों ने परम गति पाई ॥२५॥

सुबोधिनी—ईदृशो भावः सर्वप्रकारः लोका-
तीतः भगवतैव भ्रान्ततामापादितः । एतस्य
मोक्षसाधकत्वं प्रमेयबलेनेति ज्ञापयितुमाह कृष्णे
योगेश्वरेश्वर इति । योगादयोऽपि फलं प्रयच्छन्ति
भगवदनुग्रहात् । स एव भगवान् कृष्ण इति
तासां परमानन्दप्राप्ता कः सन्देह इत्यर्थः । योगे-
श्वरा महादेवादयस्तेषामपि नियन्ता । साधनेषु

योगो महानिति स एवोक्तः । भक्तियोगादयोऽपि
योग(पद)वाच्याद्योगा एव । माधव्यो माधवस्य
स्त्रियः । परमा गतिर्भगवत्प्राप्तिः । यदापि ता न
भगवत्सम्बद्धाः तस्मिन्नपि क्षणे भगवन्त प्राप्त-
वत्य इत्यर्थः । नियमविधिवद् आसां फलसम्बन्धो
व्याख्येयः । अन्यथा शरीरात्मादिविकल्पानां
माधव्यादिपदैः सह विरोध आपद्येत ॥२५॥

व्याख्यानार्थ—यद्यपि इस प्रकार का शुद्ध भाव सर्व प्रकार लोकातीत है, केवल भगवान् ने ही इसमें भ्रान्तता उत्पन्न कराई, इस भाव का मोक्ष साधरूपन तो प्रमेय ब्रह्म से ही है, यों जताने के लिए 'कृष्णो योगेश्वरेश्वरे' पद दिया है, अर्थात् इसका शुद्ध भाव, योगेश्वरों के ईश्वर कृष्ण में ही है, यद्यपि योग आदि भी फल देते हैं किन्तु भगवदनुग्रह होने पर दे सकते हैं, वह अनुग्रह कर्ता भगवान् कृष्ण ही हैं, यदि वह कृष्ण इनके पति हैं तो इनके परमानन्द प्राप्ति में कौनसा सन्देह है? क्योंकि योगेश्वर जो महादेव आदि हैं, उनके भी आप नियामक हैं। साधनों में योग महान् साधन है, इसलिए वह ही कहा है, भक्ति योग आदि भी योग पद से कहे जाने के कारण 'योग' ही है 'माधव्य' 'माधव की स्त्रियां, परमगति' पद का अर्थ है भगवान् की प्राप्ति, यद्यपि वे भगवत्संबद्ध नहीं तो भी उसी क्षण में ही भगवान् की प्राप्ति हो गई, इनका फल सम्बन्ध नियम विधि के समान कहना चाहिए, नहीं तो शरीर आत्मा आदि विकल्पों का माधवों आदि पदों से विरोध प्राप्त होगा ॥२५॥

१- 'नियमः याक्षिके सति' इस न्यायानुसार भगवत्सम्बन्ध दोखने से पक्ष में फल सम्बन्ध प्राप्त ही है। 'लेभिरे' इस लिट् के प्रयोग से सूचित किया है कि जिनको दर्शन मात्र हुआ है—सम्बन्ध न हुआ है, उनको भी फल प्राप्ति (भगवत्प्राप्ति) हुई है, कारण, कि भगवान् से सम्बन्ध न होने की दशा में भी इस प्रकार के केवल शुद्ध भाव से भीतर (हृदय) में भगवान् का सम्बन्ध तो था ही, इसलिए इनकी भी परम गति रूप फल प्राप्ति में कोई सन्देह नहीं है।

२- 'माधवी' पद से यह प्रकट होता है कि ये माधव की स्त्रियां थीं, तो 'स्त्रीत्व' देह का ही होता है, जिससे सिद्ध होता है कि देह को ही भगवान् की प्राप्ति हुई, न कि इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, जीव आदि को भगवत्प्राप्ति हुई है। इस प्रकार अपूर्व विधिवत् व्याख्या करने से देहातिरिक्त सङ्घात का 'माधवी' पद से विरोध होता है। नियम विधि पक्ष में तो अपूर्वपन से भगवान् की प्राप्ति पहली ही कही है। वहाँ विरोध परिहार "आत्मानं भूषयां चक्रुः" इस श्लोक में 'आत्मानं' पद से सब सङ्घात भगवद्भोग्य होने से 'आत्मा' पद से कहा गया है, वह ही यहाँ भी समझना चाहिए और वैसे सर्व सङ्घात ही भगवद्भोग्य है। अतः सर्व सङ्घात को स्वीकृत है, न कि केवल देह को। अपूर्व विधि पक्ष में विरोध परिहार भी अपूर्व ही करना चाहिए। वह नहीं किया है, जिससे विरोध उपस्थित है।

नियम पक्ष में तो पहले कहा हुआ फल सम्बन्ध ही यहाँ स्थिर किया जाता है। इसलिए विरोध परिहार भी पहले जो कहा है, वह ही समझना चाहिए—यों भाव है।

अपूर्व पक्ष में 'इदृशेन भावेन' इस भाव का फल सम्बन्ध में कारणपन है और वैसे भाव का साधन रूपपन है, न कि फलरूपत्व है।

नियम पक्ष में तो वैसे नियम में भाव को केवल हेतुपन है, इससे फलरूपत्व निश्चित सिद्ध होता है—कहने का यही निगूढ आशय है।

—लेखाकार

आभास — ननु बहिर्मुखानां संसाराविष्टचित्तानां संसारप्रकारेणैव भगवन्तमपि प्रपन्नानां कथमेवं सर्वसङ्घातस्य भगवति प्रवेशस्तत्राह श्रुतमात्रोऽपीति ।

आभासार्थ—संसार विष्ट चित्त वाले बहिर्मुखों का संसार के प्रकार तरीके से ही भगवान् के शरणागतों का इस प्रकार कैसे सर्व सङ्घात सहित भगवान् में प्रवेश हुआ ? इस पर 'श्रुतमात्र' श्लोक कहकर इस शङ्का का निवारण करते हैं—

श्लोक श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः ।

उरुगायोरुगीतानां पश्यन्तीनां वुतः पुनः ॥२६॥

श्लोकार्थ —अनेक प्रकार से गुण-गान करने वाली तथा गुणों को केवल श्रवण करने वाली स्त्रियों का भी जो भगवान् बलपूर्वक मन को हर लेते हैं, वे दर्शन करनेवालियों का मन हरण कर लेवें, तो इसमें कौनसा आश्चर्य है ? ॥२६॥

सुबोधिनी—भगवान् स्त्रीणामेवार्थे प्रादुर्भूत इत्युक्तम् अतस्तदर्थमेवावतारात् तत्कार्यमावश्यकमिति सम्बन्धमात्रमपेक्षते । तत्र श्रवणमात्रमतिमुलभः सम्बन्ध इति स एवोक्तः । मात्रशब्देन विचारादिव्युदासः । प्रमेयबलमेवात्र मुख्यमिति स्वयं प्रसह्य मनः आकर्षते, सर्वतः आकृष्य स्वस्मिन्नेव स्थापयतीत्यर्थः । तदपेक्षया कीर्तनकर्तृणां विशेषमाह उरुगायोरुगीतानामिति । उरुगायो भगवान् उरुगीतो याभिः ।

प्रहृतत्वायाविगीतत्वाय चोरुगायपदम् । तेषामपि मनः प्रसह्य आकर्षत इत्यर्थः । यद्यप्यत्रापि कमुतिवन्यायो वक्तव्यः तथाप्यत्र एवोक्तः, अत्राप्यनुसन्धेयः ।

याः पुनरेव देशे स्थिताः पश्यन्ति तासां मनः आकर्षत इति कुतः सिद्धमेव भगवति मनस्तिष्ठतीति विषयसौन्दर्येणैव मनसो वशीकरणात् न प्रमेयबलमप्यपेक्षत इत्यर्थः । एतास्त्रिविधाः सगुणा निरूपिताः ॥२६॥

व्याख्यानार्थ—भगवान् श्रीकृष्ण का प्राक्ख्य स्त्रियों को आनन्द देने के लिए ही हुआ है, यों पहले कहा है । अतः उनके लिए ही अवतार धारण करने से उनका कार्य करना आवश्यक है, इसलिए केवल सम्बन्ध की ही अपेक्षा है । उसमें केवल श्रवण करना—यह अति सरल सम्बन्ध है, इसलिए वह ही कहा है । 'मात्र' पद देने का भावार्थ यह है कि अन्य विचारादि साधनों की अनावश्यकता बनाई है । यहाँ प्रमेय बल ही मुख्य है, इससे स्वयं ही बलपूर्वक मन को खींचकर अपने में स्थापित करते हैं, उसकी अपेक्षा कीर्तन करने वालों की विशेषता दिखाते हैं । उरुगायोरुगीतानां—जिन्होंने भगवान् का बहुत कीर्तन किया है । 'उरुगाय' पद से यह प्रकट किया है कि बहुतों ने भगवान् के गुणों का गान किया है, तो भी भगवान् अप्रतिहत ही रहे हैं तथा वह कीर्तन गान रूप होने से उसको 'अविगति' कहा है । उनका भी मन बलपूर्वक अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं, यद्यपि यहाँ भी कौमुतिक न्याय कहना चाहिए, किन्तु आगे ही कहा हुआ है, उसका यहाँ भी अनुसन्धान कर लेना चाहिए ।

जो भगवान् के पास ही उपस्थित है और भगवान् के दर्शन कर रही हैं, उनका मन खींचते हैं यों कैसे कहा जाय ? कारण कि उनका मन भगवान् में स्थित है, यों सिद्ध ही है; क्योंकि विषय

की सुन्दरता से ही मन का वशीकरण हुआ है । अतः यहाँ प्रमेय बल की अपेक्षा नहीं है—ये तीन प्रकार की सगुणा निरूपण की गई हैं ॥२६॥

श्रामास—गुणातीताः कैमुतिकन्यायेन सुतरां स्तौति याः संपर्यचरन्निति ।

श्रामासार्थ—गुणातीत महिषियाँ कैमुतिक न्याय से सुतरां 'याः संपर्यचरन्' श्लोक से स्तुति करती हैं—

श्लोक—याः संपर्यचरन्प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः ।

जगद्गुरुं भर्तृबुद्ध्या तासां किं वर्ण्यते तपः ॥२७॥

श्लोकार्थ—जो महिषियाँ जगद्गुरु भगवान् को पति समझकर उनकी प्रेमपूर्वक पाँव दबाने आदि की सेवा कर रही हैं, उनकी तपस्या का वर्णन क्या करें ? ॥२७॥

सुबोधिनी—साक्षाद्देहसम्बन्धः सर्वभावेन यासां तत्रापि प्रेम्णेति आन्तरः सम्बन्धः । पाद-संवाहनादिभिरिति बाह्यः । जगद्गुरुमिति क्रिय-यापि विहितप्रकारेणापि तासां फलसिद्धावुपाय उक्तः भर्तृबुद्धयेति तासां बुद्धिरप्युत्तमा निरूपिता । न तु गोपिकावज्जारबुद्धिरिति भावः ॥

व्याख्यानार्थ—जिनका भगवान् के साथ सर्व भाव से साक्षात् देह सम्बन्ध है, किन्तु वह प्रेमपूर्वक होने के कारण आन्तर सम्बन्ध है ।

पाँव दबाने आदि से जो सेवा है, वह बाह्य सम्बन्ध है । 'जगद्गुरुम्' पद से बताया है कि क्रिया से भी और वह सेवा शास्त्रोक्त प्रकार से करने पर भी फल सिद्धि का उपाय कहा है । पश्चात् 'भर्तृबुद्ध्या'—पति की बुद्धि से सेवा करती हैं । इससे यह बताया है कि इनकी बुद्धि उत्तम है, गोपियों की तरह जार बुद्धि नहीं है—यह भाव है ॥

कारिका—बुद्धिः प्रपत्तिः सम्बन्धो द्विविधोऽपि विधेर्बलम् ।

प्रमेयबलमित्यासां षोढा कृष्णे निरूपिताः ॥

एकैकोऽपि महत्पुण्यसाध्यः षण्णां तु का कथा ।

अतस्तपःप्रशंसां हि तासां वक्तुं क ईशते ॥

कारिकार्थ—बुद्धि अनन्य^२ भक्ति सम्बन्ध दो प्रकार के होते हुए भी शास्त्र विधि के बल वाली

१- अन्तर्गृह में रही हुई गोपियाँ सोपाधिक प्रेमवालियाँ थीं । वह सोपाधिक (कामोपाधि वाला) स्नेह दो प्रकार का है—(१) भर्ता मानकर स्नेह करना और (२) जार मानकर स्नेह करना । इसमें भर्ता मानकर स्नेह करना उत्तम है; क्योंकि वह शास्त्र प्रमाणानुकूल है—यह निरुपाधि स्नेहवालियों का प्रकरण ही नहीं है ।

२- शरण भक्ति

भर्तृ बुद्धि उत्तम है, जिसमें कृष्ण में इनका छः प्रकार से प्रमेय बल निरूपण किया है। जहाँ एक-एक महान् पुण्य से सिद्ध होता है वहाँ छहों की सिद्धि में क्या कहा जाय ? अतः उनके तप की प्रशंसा कहने में कौन समर्थ है ?—कोई नहीं । ७॥

आभास - तदाह तासां कि वर्ण्यते तपः इति । एवं सर्वासां निरोधमुक्त्वा प्रसङ्गादपि कृतं भगवतोपेक्षितमेवेति संज्ञापयितुं उपसंहारे निरूपयति एवं वेदोदितं धर्ममिति ।

आभासाथं - अतः श्लोक में वह ही कहा है कि 'तासां कि वर्ण्यते तपः'—उनके तप का क्या वर्णन किया जाय ? इस प्रकार प्रसङ्ग से भी किया हुआ सबका निरोध कहकर भगवान् ने उसकी उपेक्षा की है। यह जताने के लिए उपसंहार करने के समय 'एव वेदोदित धर्मम्' श्लोक से निरूपण करते हैं—

श्लोक—एवं वेदोदितं धर्ममनुतिष्ठन्सतां गतिः ।

गृहं धर्मार्थकामानां मुहुश्चादर्शयत्पदम् ॥२८॥

श्लोकार्थ—इस प्रकार सत्पुरुषों की गति भगवान् कृष्ण ने वेद में कहे हुए धर्म का पालन करते हुए बार-बार यह ही दिखाया है कि धर्म, अर्थ और काम; इन तीन पुरुषार्थों की सिद्धि का स्थान गृह (गृहस्थाश्रम) ही है ॥२८॥

सुबोधिनी—यथा निरोधोऽभिप्रेतः एवं वेदो-
दितोऽपि धर्मः लोकशिक्षार्थं भगवतोऽभिप्रेतः ।
तत्र हेतुः सतां गतिरिति । अन्यथा सन्मार्गव्यव-
स्था न स्यादिति सतां रक्षा न स्यादिति । न
केवलं वैदिकधर्म एव भगवतोभिप्रेतः किन्तु स्मा-

तोपि त्रिवर्गः । तदासक्तानां बुद्धिसंग्रहार्थमभि-
प्रेत इत्याह गृहं धर्मार्थकामानामिति । त्रिवर्गस्य
पदं स्थानभूत गृहमिति मुहुर्मुहुर्वारं वारं षोडश-
सहस्रप्रकारेण अदर्शयत् लोकेभ्यः प्रदर्शयामास ।

॥२८॥

व्याख्यार्थ - भगवान् को जैसे निरोध अभीष्ट है, वैसे ही वैदिक धर्म भी लोक की शिक्षा के लिए अभीष्ट है। उसमें कारण यह है कि आप 'सतां गति'—सत्पुरुषों की गति हैं। यदि भगवान् यों न करें, तो सन्मार्ग की व्यवस्था न रहे, जिससे सत्पुरुषों की रक्षा खतरे में हो जावे। न केवल वैदिक धर्म ही भगवान् को अभीष्ट है, किन्तु धर्म, अर्थ और काम को देने वाला स्मार्त धर्म भी इच्छित है। उस स्मार्त धर्म में आसक्तों की बुद्धि के संग्रहार्थ यह त्रिवर्ग साधक स्मार्त धर्म भी अभिप्रेत है। इसलिए ही 'गृहं धर्मार्थकामानां' 'त्रिवर्ग' अर्थात् धर्म, अर्थ और काम; इन तानों की सिद्धि स्थान गृह अर्थात् गृहस्थाश्रम है। बार-बार (१६००० प्रकार से) लोगों को यह दिखा दिया है ॥२८॥

आभास - एवं भगवतो धर्मपरत्वमुक्त्वा स्त्रीणामतथात्वे गार्हस्थ्यं धर्मविरुद्धमिति तःसामपि धर्मपरत्व वक्तुमाह आस्थितस्येति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवान् की धर्म परायणता कहकर स्त्रियाँ तो वैसी नहीं हैं, उनका गार्हस्थ्य धर्म विरुद्ध है। इस शङ्का को मिटाने के लिए वे भी धर्म परायण हैं, यों कहने के लिए 'आस्थितस्य' श्लोक कहते हैं—

श्लोक— आस्थितस्य परं धर्मं कृष्णस्य गृहमेधिनाम् ।

आसन्षोडशसाहस्रं महिष्यास्तु शताधिकम् ॥२६॥

श्लोकार्थ—गृहस्थियों के उत्तम धर्म का आचरण करने वाले श्रीकृष्ण की स्त्रियों की सङ्ख्या सोलह सहस्र एक सौ आठ थीं ॥२६॥

सुबोधिनी—परमोत्कर्षात्तन् धर्ममास्थितस्य कृष्णस्य स्वरूपत एकस्य गृहमेधिनां गृहस्थत्वेन नानारूपस्य षोडशसाहस्रं महिषीणामासीत् । महिष्या इति षष्ठ्येकवचनम् । यथा एकः कृष्णः बहवो गृहस्थाः तथैका महिषी षोडश-

सहस्रसङ्ख्यायुक्तेत्यर्थः । तुशब्दः प्रकारान्तरं वारयति । शताधिकमिति सहस्रस्य विशेषणं शतसङ्ख्यायुक्तेभ्योऽप्यधिकमित्यर्थः । एकापि स्त्रीः शतस्त्रीभ्योऽप्यधिका सर्वभावेनेति ॥२६॥

व्याख्यार्थ—परमोत्कर्ष को प्राप्त धर्म में पूर्ण रीति से स्थित स्वरूप से एक कृष्ण के गृहस्थापन से नाना रूप वाले कृष्ण की १६००० पत्नियाँ थीं । श्लोक में 'महिष्याः' पद षष्ठी विभक्ति के एक वचन में दिया है जिसका आशय आचार्य श्री प्रकट करते हैं कि जैसे कृष्ण एक होते हुए भी प्रत्येक गृह में स्थित होने से १६००० रूप वाले दीखते हैं, वैसे ही एक ही महिषी १६००० सङ्ख्या वाली है । 'तु' शब्द अन्य प्रकार को निवारण करता है । यहाँ 'शताधिकम्' पद सहस्र का विशेषण है, जिससे इसका अर्थ शत सङ्ख्या युक्तों से भी अधिक है । तात्पर्य यह है कि एक स्त्री भी शत स्त्रियों से भी सर्व भाव के कारण अधिक है ॥२६॥

आभास - एवं धर्मार्थतां निरूप्य प्रजासंपत्त्यर्थतापि तासां मुख्येति उपसंहारे तदप्याह तासां स्त्रीरत्नभूतानामिति ।

आभासार्थ—इस प्रकार धर्म और अर्थत्व का निरूपण कर उनमें प्रजासम्पत्त्यर्थत्व भी मुख्य है, यों उपसंहार में वह भी 'तासां स्त्रीरत्नभूतानां' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक— तासां स्त्रीरत्नभूतानामष्टौ याः प्रागुदाहृताः ।

रुक्मिणीप्रमुखा राजन्स्तत्पुत्राश्चानुपूर्वशः ॥३०॥

श्लोकार्थ—महाराज ! स्त्रियों में रत्न रूप इन स्त्रियों में रुक्मिणी आदि जो आठ पटरानियाँ पहले कही गई हैं, उनके पुत्रों के नाम भी कहे जाते हैं ॥३०॥

सुबोधिनी—यद्यपि सर्वासामेव दश दश पुत्रास्तथापि मुख्या एव कथिता इति उपसंहारे ता एवानुवदति । तासां स्त्रीरत्नभूतानां सर्वा एव

सर्वत उत्कृष्टा इति रत्नपदप्रयोगः । तत्रापि अष्टौ याः प्रागुदाहृता रुक्मिणीप्रमुखाः ॥

व्याख्यान - पद्यप्रत्येक के दस-दस पुत्र थे, तो भी यहाँ मुख्यों के ही उपसंहार में कहे गए हैं। 'रत्न' पद के प्रयोग से यह जताया है कि सब ही सबसे श्रेष्ठ थीं। उनमें भी रुक्मिणी प्रभृति आठ मुख्य थीं ॥

कारिका—रुक्मिणी सत्यभामा च कालिन्दी ऋक्षकन्यका ।

सत्या भद्रा मित्रविन्दा लक्ष्मणेत्यष्टनायिकाः ॥

कारिकार्थ—(१) रुक्मिणी, (२) सत्यभामा, (३) कालिन्दी, (४) जाम्बवती, ५) सत्या, (६) भद्रा, (७) मित्रविन्दा और (८) लक्ष्मणा—ये आठ नायिकाएँ हैं।

सुबोधिनी—राजनिति सम्बोधनं स्त्रीबाहुल्य- ज्येष्ठानुक्रमेण । चकारात्पौत्रोप्युक्त इति
रसाभिज्ञानार्थं तत्पुत्राश्च उदाहृताः । आनुपूर्वशः । ज्ञापितम् ॥३०॥

व्याख्यान—'हे राजन्' इस सम्बोधन के देने का यहाँ यह आशय है कि राजा होने से आप भी बहुत स्त्रियों के रस को जानते हो, बड़े से लेकर क्रमपूर्वक पुत्र भी कहे हैं तथा 'च' पौत्र भी कह दिया है ॥३०॥

आभास—अनुक्तानां सर्वासां तुल्यत्वाय पुत्रादिसम्पत्तिमाह एकैकस्यां दश दशेति ।

आभासार्थ—जिनके नाम नहीं कहे हैं, उन सबों की पुत्रादि सम्पत्ति समान है; यों इस 'एकैकस्यां दश दश' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—एकैकस्यां दश दश कृष्णोऽजीजनदात्मजान् ।

यावन्त्य आत्मनो भार्या अमोघरतिरीश्वरः ॥३१॥

श्लोकार्थ—सत्य सङ्कल्प ईश्वर श्रीकृष्णचन्द्र ने अपनी सब स्त्रियों में से दस-दस पुत्र उत्पन्न किए कारण कि आपकी रति निष्फल नहीं है ॥३१॥

सुबोधिनी—इच्छया पुत्रत्वव्यावृत्त्यर्थं आत्मजपदम् । प्रायिकव्यावृत्त्यर्थं यावत्य इति । दश भावा भवन्तीति सर्वेष्वपि भावेषु भगवान् अमोघरतिः । फलपर्यवसानं अमोघत्वम् । ननु दश दशैव कथमुत्पादिताः । 'दशास्यां पुत्रानाघेहि' इति श्रुतेरिति चेत् । तथापि नैतल्लोके नियतं तत्राह ईश्वर इति अशक्ताः श्रुत्यर्थपरिपालनं मा कुर्वन्तु नाम, शक्ताः कथं न कुर्वन्तीत्यर्थः ॥३१॥

व्याख्यान—इच्छा से पुत्रत्व की व्यावृत्ति के लिए 'आत्मज' पद दिया है। किसी में हुआ किसी में न हुआ—इसकी व्यावृत्ति के लिए 'यावत्यः' पद दिया है। जितनी ही स्त्रियाँ थीं उन प्रत्येक में से दस-दस पुत्र उत्पन्न किए। काम दस इन्द्रियों से साध्य होने से उसके दस भाव हैं। अतः सर्व भावों में भगवान् सफल रति वाले हैं अर्थात् रति से फल होना यह ही अमोघत्व है यानि रति की सफलता है। दस-दस क्यों उत्पन्न किए? जिसके उत्तर में कहते हैं कि श्रुति में आज्ञा है—'इसमें से दस पुत्र उत्पन्न कर'। अतः श्रुति वाक्य की सार्थकता दिखाने के लिए दस-दस पुत्र उत्पन्न

किए । श्रुति में तो कहा है, किन्तु लोक में ऐसा नियम नहीं दीखता है । इस पर कहते हैं कि 'ईश्वरः'—आप सर्व समर्थ हैं । जो अशक्त हैं, वे श्रुति की पालना न करें; किन्तु आप समर्थ होकर न करें, यह अनुचित है । अतः श्रुति का पालन कर इतने पुत्र पैदा किए ॥३१॥

आभास—धर्मार्थमेव भगवता पुत्रा उत्पादिता इति अष्टादशविद्यास्थानीयाः
अष्टादश पुत्राः महावीर्या निरूप्यन्ते तेषामुद्दामवीर्याणामिति ।

आभासार्थ—भगवान् ने धर्मार्थ ही पुत्र उत्पन्न किए । इसलिए अष्टादश विद्या के अनुसार अष्टादश पुत्र जो महान् वीर्य वाले हुए, उनका निरूपण 'तेषामुद्दाम' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—तेषामुद्दामवीर्याणामष्टादश महारथाः ।

आसन्नदारयशसस्तेषां नामानि मे शृणु ॥३२॥

श्लोकार्थ—उन पुत्रों में से जो अठारह पुत्र महारथी और बड़े पराक्रमी तथा यशस्वी हुए, उनके नाम सुनो ॥३२॥

कारिका—लक्षं षष्टि सहस्राणि तथाशीतिनिरूपिताः ।

केचित्सहस्रमधिकं प्राहुर्नैतन्मतं सताम् ॥

कारिकार्थ—वे पुत्र सब मिलकर १,६०,०८० हुए । कितने ही तो इससे एक सहस्र अधिक कहते हैं—वह मत सत्पुरुषों का नहीं है ॥

सुबोधिनी—तेषां पुत्राणां मध्ये अष्टादश महारथाः सर्व एव च उद्दामवीर्याः । वस्तुतस्तु सर्व एव महारथाः, तथापि तावद्भिर्महारथत्व प्रकटीकृतमिति ज्ञापयति । आसन्निति । विद्यानां प्रामाण्यसिद्धयर्थं तावद्भिरेव वीर्यं प्रकटीकृतम् । भगवति विद्यमाने त्वन्येषां न प्रयोजनम् ॥३२॥

व्याख्यानार्थ—उन पुत्रों में से अठारह महारथी हुए और सब ही अर्थात् अठारह ही बड़े पराक्रमी हुए । वास्तव में तो सर्व पुत्र महारथी थे, किन्तु इन अठारह पुत्रों ने अपना महारथीपन प्रकट कर दिखाया है, यों ज्ञापन करते हैं । विद्याओं की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए उन्होंने ही वीर्य प्रकट किया । भगवान् के विद्यमान होने से दूसरों का कोई प्रयोजन नहीं है ॥३२॥

आभास—अतो लोकप्रसिद्धयर्थं तेषां नामान्याह प्रद्युम्न इति ।

आभासार्थ—अतः लोक में प्रसिद्धि हो, इसलिए उनके नाम 'प्रद्युम्न' श्लोक से कहते हैं—

श्लोक—प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च दीप्तिमान्भानुरेव च ।

साम्बो मधुर्वहद्भानुश्चित्रभानुर्वकोऽरुणः ॥३३॥

पुष्करो वेदबाहुश्च श्रुतदेवः सुनन्दनः ।
चित्रबाहुर्विरूपश्च कविर्न्यग्रोध एव च ॥३४॥
एतेषामपि राजेन्द्र तनुजानां मधुद्विषः ।
प्रद्युम्न आसीत्प्रथमः पितृवद्रुक्मिणीसुतः ॥३५॥

श्लोकार्थ—प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, अनिरुद्ध, दीप्तिमान, भानु, साम्ब, मधु, ब्रह्मज्ञान, चित्रभानु, वृक, अरुण, पुष्कर, वेदबाहु, श्रुतदेव, सुनन्दन, चित्रबाहु, विरूप, कवि और न्यग्रोध नाम वाले पुत्र थे, जो महारथी थे ॥३३-३४॥

हे राजेन्द्र ! भगवान् के पुत्रों में रुक्मिणी का प्रथम पुत्र प्रद्युम्न पिता के समान महान् बलवान् महारथी था ॥३५॥

सुबोधिनी—द्वितीयश्चारुदेष्णः अनिरुद्ध इति पाठेऽपि पुत्र एव कश्चिदनिरुद्धः । तेषामपि पुत्राः शतश इति पौत्राणां मध्ये एकेनैव महारथत्वं प्रकटीकृतमिति तमाह एतेषामपीति । मधुद्विषस्तनुजानामिति अत्यन्तं सामर्थ्यं निरूपितम् । तत्रापि प्रथमस्य विशेषमाह प्रद्युम्न आसीत्प्रथम इति । तस्य विशेषतो निरूपणस्य प्रयोजनमाह पितृवदिति । वैशिष्ट्ये हेतुमाह प्रथमो रुक्मिणीसुत इति । रुक्मिणी श्रेष्ठा तत्रापि प्रथमो वीर्यवत्तरो भवति ॥३३-३५॥

व्याख्यान—दूसरा चारुदेष्ण था । 'अनिरुद्ध'—इस प्रकार के पाठ में भी कोई पुत्र अनिरुद्ध नाम वाला था, यों जानना चाहिए । उन पुत्रों के भी शत-शत पुत्र थे । पौत्रों में एक ने ही महारथीपन प्रकट किया है । उसको कहते हैं 'एतेषामपि'—इन्हीं में भी भगवान् का 'मधुद्विट्' नाम देकर जो तनुज कहे हैं जिसका आशय है कि वे भी अत्यन्त सामर्थ्य वाले थे । उनमें भी प्रथम उत्पन्न प्रद्युम्न की विशेषता बताते हैं, जिस (विशेषता) का प्रयोजन प्रकट करने के लिए 'पितृवत्' कहा है अर्थात् यह एक ही पिता जैसा पराक्रमी आदि था, यों इसमें विशेषता क्यों हुई ? जिसका कारण 'प्रथमो रुक्मिणीसुतः'—रुक्मिणी का यह प्रथम पुत्र है । महर्षियों में रुक्मिणी श्रेष्ठ थी, उस पर भी पहला बालक महान् वीर्य वाला होता है ॥३३-३५॥

आभास—वंशनिरूपणप्रस्तावे नवमस्कन्धशेषे भगवान्निरूपित इति मध्ये प्रश्नानुरोधेन वीर्याण्यपि निरूप्य तदन्ते शिष्टं वंशमाह स रुक्मिणो दुहितरमिति ।

आभासार्थ—वंश के निरूपण प्रस्ताव में जो नवम स्कन्ध में शेष रह गया था उस भगवान् का निरूपण किया, मध्य में प्रश्न के अनुरोध से वीर्यों का भी निरूपण कर उसके अन्त में शेष रहे वंश का वर्णन 'स रुक्मिणो दुहितरं' श्लोक में करते हैं—

श्लोक—स रुक्मिणो दुहितरमुपयेमे महारथः ।

तस्मात्सुतोऽनिरुद्धोऽभून्नागायुतबलान्वितः ॥३६॥

श्लोकार्थ— इस महारथी प्रद्युम्न ने रुक्मी की पुत्री से विवाह किया । उसमें से प्रद्युम्नजी को दस सहस्र हस्तियों के बल वाला अनिरुद्ध पुत्र उत्पन्न हुआ ॥३६॥

सुबोधिनी— महारथ इति जित्वा हरणं । विशेषतो निरूपणे प्रयोजनमाह नागायुतत्रलान्वित द्योतितम् । ततः प्रद्युम्नादनिरुद्धोऽभूत् । तस्य इति ॥३६॥

व्याख्यार्थ— 'महारथ' विशेषण देने का भावार्थ यह है कि जीतकर हरण प्रकट किया है, पश्चात् प्रद्युम्न से अनिरुद्ध उत्पन्न हुआ, अन्य पुत्रों का वर्णन न कर केवल अनिरुद्ध के वर्णन करने का भावार्थ यह है कि यह सबसे विशेष था, क्योंकि इसमें दश सहस्र हस्तियों का बल था अन्यो में नहीं था ॥३६॥

आभास— ततोऽपि वंशमाह स चापीति ।

आभासार्थ— उसमें भी वंश हुआ जिसका वर्णन 'स चापि' श्लोक में करते हैं—

श्लोक— स चापि रुक्मिणः पौत्रीं दौहित्रो जगृहे ततः ।

वज्रस्तस्यामभूद् यस्तु मौसलादवशेषितः ॥३७॥

श्लोकार्थ— इस अनिरुद्ध ने रुक्मी की पोती से विवाह किया, जिससे वज्रनाभ पुत्र हुआ, जो 'मूसल' से होने वाली मृत्यु से बच गया था ॥३७॥

सुबोधिनी— रुक्मिणः, पौत्रीं, दौहित्र इति । कलौ स्थास्यतीति ज्ञापितम् । तदाह वज्रस्तस्या-पदत्रयेण, मूलदोषसंसर्गदोषौ निरूप्य तादृश एव । अभूदिति । मौसलयुद्धादवशेषितः उर्वरितः ॥३७॥

व्याख्यार्थ— रुक्मिणः, पौत्रीं, दौहित्रः इन तीन पद देने से मूल और संसर्ग दोष, दोनों दोषों का निरूपण कर यह बताया है कि कलियुग में ऐसे दोष रहेंगे, उस (पौत्री) से अनिरुद्ध ने वज्रनाभ पुत्र उत्पन्न किया, जो मौसल युद्ध से बच गया था ॥३७॥

आभास— ततोऽपि वंशमाह प्रतिबाहुरभूत्तस्येति ।

आभासार्थ— उससे भी जो वंश हुआ, उसका वर्णन 'प्रतिबाहुरभूत्' श्लोक में करते हैं —

श्लोक— प्रतिबाहुरभूत्तस्य सुबाहुस्तस्य चात्मजः ।

सुबाहोः शान्तिसेनोऽभूच्छ्रुतसेनस्तु तत्सुतः ॥३८॥

श्लोकार्थ— उस (वज्रनाभ) को प्रतिबाहु पुत्र हुआ, उस (प्रतिबाहु) को सुबाहु पुत्र हुआ, सुबाहु को शान्तिसेन पुत्र हुआ, उस (शान्तिसेन) को श्रुतसेन पुत्र हुआ ॥३८॥

१—मूसल के कारण सब यादवों का नाश हुआ था जिससे यह बच गया ।

सुबोधिनी—तस्य वज्रनाभस्य प्रतिबाहुः । तस्य च सुबाहुः, सुबाहोः शान्तिसेन- । तस्य च श्रुतसेन इति चतुर्विधपुरुषार्थसाधका-
पुत्रोऽभूत् । तस्य च सुबाहुः, सुबाहोः शान्तिसेन- । श्रुतसेन इति चतुर्विधपुरुषार्थसाधका-
पुत्रोऽभूत् । तस्य च सुबाहुः, सुबाहोः शान्तिसेन- । श्रुतसेन इति चतुर्विधपुरुषार्थसाधका-

व्याख्यार्थ—वज्रनाभ को प्रतिबाहु, उसको सुबाहु पुत्र हुआ, सुबाहु को शान्तिसेन और उसको श्रुतसेन पुत्र हुआ, ये चार चतुर्विध पुरुषार्थों के साधक निरूपण किए गए हैं ॥३८॥

आभास—अन्येषां पुरुषार्थपयवसानं न भविष्यतीत्याशङ्क्य तन्निराकरणार्थमाह न ह्येतस्मिन्कुल इति ।

आभासार्थ—क्या दूसरे पुरुषार्थों को सिद्ध नहीं कर सकेंगे ? इस शंका का निवारण करने के लिए न ह्येतस्मिन्' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—न ह्येतस्मिन्कुले राजन् अधना अबहुप्रजाः ।

अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्च अब्रह्मण्याश्च जज्ञिरे ॥३९॥

श्लोकार्थ—हे राजन् ! इस कुल में कोई भी निर्धन, अल्प प्रजा वाला, अल्पायु, अल्प वीर्य और ब्राह्मणों का अभक्त जन्मा नहीं है ॥३९॥

सुबोधिनी—यादवकुले । राजन्निति सम्बो- । आन्तरमाह अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्चेति । एव
धनं संमत्यर्थम् । अधना दरिद्राः, अबहुप्रजाः । चतुर्भिर्गार्हस्थ्यं निरूप्य ब्रह्मचर्यमिव निरूपयन्नाह
'एष्टव्या बहवः पुत्रा' इति वाक्यात् । न केऽप्यपे- । अब्रह्मण्याश्चेति ॥
क्षितपुत्रविहीना इत्यर्थः । एतद्बहिरङ्गद्वयम् ।

व्याख्यार्थ—हे राजन् ! यह संबोधन संमति के लिए है, दरिद्र, 'एष्टव्या बहवः पुत्राः' इस वाक्यानुसार इनमें कोई भी ऐसा नहीं था जो अपनी इच्छानुकूल पुत्र पैदा न करे, अर्थात् जिसको जितने पुत्रों की इच्छा होती थी वह उतने ही पुत्र पैदा कर सकता था, ये दो तो बाहर के विषय हैं, अब भीतर का विषय कहते हैं कि, अल्प पराक्रमी तथा अल्प आयु वाले भी नहीं होते थे, इस प्रकार इन ४ से गार्हस्थ्य का निरूपण कर ब्रह्मचर्य की तरह निरूपण करते हैं कि, ब्राह्मणों के भक्त थे ॥३९॥

कारिका—अर्थकामी तथा धर्मश्चिरजीवित्वमेव च ।

एतत्साधारणं प्रोक्तं वीर्यं तु क्षत्रियत्वतः ॥३९॥

कारिकार्थ—अर्थ, काम, धर्म और महती आयु यह साधारण कहा है इनमें वीर्य तो क्षत्रिय-पन से स्वभाविक है ही ॥३९॥

आभास—ज्ञानार्थं तेषां संख्या वक्तव्येत्याह यदुवंशप्रसूतानामिति ।

ग्रामासार्थ—वे कितने थे इसका हमको ज्ञान हो जावे इसलिए उनकी संख्या कहनी चाहिए, जिसका वर्णन यदुवंश प्रसूतानां' श्लोक में करते हैं—

श्लोक — यदुवंशप्रसूतानां पुंसां विख्यातकर्मणाम् ।
संख्या न शक्यते कर्तुमपि वर्षायुतैर्नृप । ४०॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! जिनके कर्म प्रसिद्ध हैं और जो यदुवंश में प्रकट हुए हैं, उनकी संख्या लाखों वर्षों में भी नहीं गिनी जा सकती है ॥४०॥

सुबोधिनी—सङ्ख्या वर्तते परं कर्तुं शक्या । | जोविनापि वर्षायुतैरपि तेषां सङ्ख्या कर्तुं श-
अज्ञानमेव महत्त्वसूचकमिति । न योगजधर्मेण | शक्येत्यर्थः । ४०॥
ज्ञात्वा कथनम् । एकेन पुरुषेण मार्कण्डेयवच्चिर-

व्याख्यार्थ—इतनी संख्या है, जिसकी गिनती कर नहीं सकते उसका अज्ञान ही उसके महत्त्व का सूचक है, योगज धर्म से जानकर कहना नहीं चाहिए, मार्कण्डेय जैसी आयुष्य वाला एक पुरुष लाखों वर्षों में उनकी संख्या नहीं कह सकता है ॥४०॥

ग्रामास—तर्हि कथं परिज्ञानम् । कोट्यर्बुदसंख्ययापि बुद्धिः पर्यवसितेति चेत्
तत्राह तिस्रः कोट्य इति ।

ग्रामासार्थ—तो उसका ज्ञान कैसे होगा ? यदि कहो कि कोटि और अर्बुद संख्या से भी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, इसके उत्तर में 'तिस्रः कोट्यः' श्लोक कहा है—

श्लोक — तिस्रः कोट्यः सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च ।
आसन् यदुकुलाचार्याः कुमारानामिति श्रुतम् ॥४१॥

श्लोकार्थ—यदुकुल के बालकों को पढ़ाने वाले तीस अर्बुद और आठ सहस्र आठ सौ आचार्य थे, यों सुना है ॥४१॥

सुबोधिनी—आदौ सहस्राणां तिस्रः कोट्यः | यदुकुलाचार्याः यदुकुलोद्भवा एव आचार्याः ।
त्रिंशदर्बुदानि । ततः अष्टाशीतिशतानि च । | तत्कुमारानामिति श्रुतमिति प्रमाणम् । बहूनां
अष्टाधिकान्यशीतिशतानि । लक्षसंख्या भगवत्पुत्रे- | मध्ये कश्चिदाचार्यो भवितुमर्हति । बालकाश्च क-
त्वेव निरूपितेति कोटिसंख्यां सहस्रसंख्यां शत- | स्य स्थाने बहवोऽपि पठन्ति । अनेनैव तेषां बहु-
संख्यां ततो न्यूनसंख्यां चोक्तवान् । एतावन्तः | त्वं ज्ञातव्यमित्यर्थः ॥४१॥

व्याख्यार्थ—तीस अर्बुद आठ हजार आठ सौ, यदुकुल में उत्पन्न आचार्य थे जो कुमारों को विद्याभ्यास कराते थे, यों सुना है, एक लाख की संख्या तो केवल भगवत्पुत्रों की निरूपण की हुई है, इसलिए कोटि संख्या, सहस्र संख्या, शत संख्या उससे न्यून संख्या भी कही है, बहुतों में से कोई

आचार्य होने लायक हो सकता है, और बालक तो एक के पास बहुत ही पढने हैं, इससे ही इनका (यादवों का) बाहुल्य जानना चाहिए ॥४१॥

आभास—तर्ह्यनेनैव प्रकारेण यादवानां संख्यां वदेत्याशङ्क्याह संख्यानं यादवानां कः करिष्यतीति ।

आभासार्थ—तब तो इसी ही प्रकार से यादवों की संख्या बता दें, इस शंका पर 'संख्यानं यादवानां' श्लोक कहते हैं—

श्लोक संख्यानं यादवानां कः करिष्यति महात्मनाम् ।
यत्रायुतानामयुतलक्षेणास्ते स आहुकः ॥४२॥

श्लोकार्थ—महात्मा यादवों की संख्या कौन कर सकता है ? जहाँ कई लक्ष यादव केवल उग्रसेन के राज्य में प्रजा है, वैसे ही सेवक अनेक हैं ॥४२॥

सुबोधिनी—यादवाः स्वरूपतोऽपि संख्यातुम-
शक्याः आनन्त्यात् । तत्रापि विज्ञेयमाह मह-
त्मानामिति । एकैकस्य कोटिशः सेवकाः सन्तीति
प्रधानगुणभावेन गणनायां सुतरामेवानन्त्यमि-
त्यर्थः । अत एव मुख्ये सेवकानन्त्यं निरूपयति ।
यत्रायुतानामिति । अयुतानामयुतस्य लक्षेण न्य-
बुंदसहस्रेण सेवकवर्गण सह स आहुकः उग्रसेनी
राजा आस्ते । एवमन्येषामपि सेवकवर्गो
ज्ञातव्यः ॥४२॥

व्याख्यानार्थ—यादव अनन्त होने से स्वरूप से भी उनकी गिनती अशक्य है, फिर उनमें विशेषता यह है कि महात्मा हैं, एक एक महान् पुरुष के पास कोटि कोटि जितने सेवक हैं, इस मुख्य गुण भाव से गणना करने पर सुतराम उनकी अनन्तता प्रकट हो जाती है अतएव एक ही मुख्य के पास सेवकों की अनन्तता का निरूपण करते हैं, दश सहस्र का एक यूथ गिना जावे तो ऐसे दश हजार यूथ थे, इसके सिवाय लक्ष का यूथ एक गिना जावे तो वे भी दश हजार यूथ थे, इनने यादव तो केवल उग्रसेन की प्रजा में थे और इतने ही सेवक थे, इस प्रकार दूसरों के पास भी सेवक ज नने चाहिए । ऐसी अवस्था में इनकी गिनती कैसे की जावे ॥४२॥

आभास—ननु जीवा उत्तमाः केचन एवोत्पद्यन्ते । एतावतां कथमेकदोत्पत्तिरिति चेत् तत्राह देवसुराहवहता इति ।

आभासार्थ—लोक में तो कोई कोई जीव उत्तम उत्पन्न होते हैं फिर यहां इतनी बड़ी संख्या एक ही स्थान पर एक ही समय कैसे उत्पन्न हुई ? जिसका उत्तर 'देवासुरा' श्लोक में देते हैं—

श्लोक—देवासुराहवहता दैतेया ये सुदारुणाः ।
ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता बबाधिरे ॥४३॥

श्लोकार्थ—देवासुर संग्राम में जो भयङ्कर दैत्य मारे गए । वे मनुष्यों में प्रकट होकर गर्वी बनकर प्रजा को पीड़ा देने लगे ॥४३॥

सुबोधिनी— देवानामसुराणां च पूर्वं बहव एव आहवाः संग्रामा जाताः । तत्र ये दैतेयाः सुदारुणाः देवानां मूलभूतब्राह्मणनाशार्थं मनु-
 ष्येषु उत्पन्नाः । चकारात् अन्येऽपि तत्सम्बन्धिनः तेषामुत्पत्तौ पूर्वधर्माः समागता इति ज्ञापनार्थमाह प्रजा हृप्ता बबाधिर इति ॥४३॥

व्याख्यान—पूर्व काल में देव असुरों की अनेक लड़ाईयाँ हुई हैं, उनमें जो दैत्य मरे, वे देवों की जड़, जो ब्राह्मण हैं उनके नाशार्थ मनुष्यों में उत्पन्न हुए च' पद से यह सूचित किया कि दूसरे भी इनके सम्बन्धी थे, उन (दैत्यों) के उत्पन्न होते हुए उनमें पहले के धर्म आगए थे यों बताने के लिए कहते हैं कि गर्व में आकर प्रजा को पीड़ित करने लगे ॥४३॥

श्लोक—तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले ।

अवतीर्णाः कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप ॥४४॥

श्लोकार्थ—हे नृप ! उनका दमन करने के लिए भगवदाज्ञा से देव लोग यदुकुल में प्रकट हुए, जिनके एक सौ एक कुल थे ॥४४॥

सुबोधिनी - ततो जगद्रक्षार्थं प्रवृत्तो भगवान् तेषां दैत्यानां निग्रहार्थं देवाः प्रोक्ताः आज्ञप्ताः । ततस्ते कोटिशो देवगणाः क्वचित्क्वचिदवतीर्णाः
 यदोः कुले तेषां मध्ये कुलानां शतमवतीर्णमेकमधिकं च । तत्रापि नायकरूपम् । नृपेति संबोधनं सन्तोषाय ॥४४॥

व्याख्यान—पश्चात् जगत् की रक्षा करने में प्रवृत्त भगवान् ने उन दैत्यों के संहारार्थ देवों को आज्ञा दी कि तुम यदुकुल में जन्म ग्रहण करो, आज्ञा पाकर वे कोटिशः देवगण यदुकुल में कहीं कहीं प्रकट हुए, वे जो जन्मे उन यादवों के एक सौ एक कुल हुए, यादवों में ये कुल मुख्य गिने गए, नृप ! यह संबोधन संतोष के लिए है ॥४४॥

आभास—ननु देवा एवावतीर्णास्तावन्त इत्यत्र किं प्रमाणमिति चेत् तत्राह तेषां प्रमाणं भगवानिति ।

आभासाथ—इतने सब देव ही अवतरे हैं इसमें क्या प्रमाण है ? इस पर 'तेषां प्रमाणं भगवान्' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—तेषां प्रमाणं भगवान्प्रभुत्वे चाभवद्धरिः ।

ये चानुवर्तिनस्तस्य ववृधुः सर्वयादवाः ॥४५॥

श्लोकार्थ—ये सब यादव श्रीकृष्णचन्द्र को अपना प्रभु मानते थे और सब बात

में इनके ही प्रमाण स्वीकार करते थे । जो यादव इनके अनुगामी रहे, वे सर्व प्रकार बढ़ते रहे ॥४५॥

सुबोधिनी—तेषां देवत्वे भगवानेव प्रमाणं । कथं भगवतः प्रामाण्यमिति चेत् तत्राह प्रभुत्वे चाभवदिति । यतस्तेषां प्रभुर्जातो भगवानतो ज्ञायते ते देवा इति । न ह्यन्येषां भगवान् प्रभुर्भवति प्रभुसेवकयोः सजातीयत्वापेक्षणात् । ननु त एव प्रेषणीयाः किमिति तैः सह भगवानागत इति चेत् तत्राह हरिरिति । तेषां दुःखापनोदना-

र्थमागतः । अत एव कालादिकृतप्रतिबन्धाभावात् सर्व एव यादवाः तदीया अन्येऽपि भगवतो ये अनुव्रतिनः ते सर्वेऽत्यन्तं वृद्धुरित्याह ये चानुव्रतिनस्तस्येति । प्रायिकत्वव्युदासाय सर्वपदम् । वृद्धिर्हि वटबीजाद्वटवज् ज्ञातव्या । एवं प्रसङ्गात् तेषां माहात्म्यमानात्यं भगवत्सम्बन्धान्निरूपितं । ॥४५॥

व्याख्यानार्थ—वे देव थे इसमें प्रमाण भगवान् ही हैं, यदि कहो भगवान् प्रमाण कैसे ? इस पर कहते हैं कि ये श्री कृष्ण को ही अपना स्वामी मानते थे जिससे जाना जाता है कि वे देव हैं, भगवान् दूसरों के स्वामी नहीं बनते हैं । प्रभु और सेवक में एक जातीयता की अपेक्षा रहती है, अर्थात् स्वामी और सेवक की एक ही जाति होती है, यदि दैत्यों का दर्प दलन करना था तो देवों को ही भोजना था स्वयं क्यों पधारे ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'हरि' है, दुःखों को हरण करने वाले होने से, उनके दुःख दूर करने स्वयं भी पधारे हैं, भगवान् के पधारने से, कालादि द्वारा कोई प्रतिबन्ध नहीं हो सकता था, सर्व ही यादव आप के थे उनके सिवाय जो दूसरे भी भगवान् के अनुयायी होकर रहे थे वे सब अत्यन्त बड़े होंगे, ऐसे बड़े होंगे, ऐसे बड़े जैसे वट (बड़ के बीज से बट बढ़ता ही रहता है, इस प्रकार प्रसङ्ग होने से उनका माहात्म्य एवं उनकी अनन्तता भगवान् के सम्बन्ध से हुई यों निरूपण किया ॥४५॥

आभास—अत एव ते सर्वे सपरिकराः निरोधे निरूपिताः । तत्र तेषामधिकारापन्नानां वैयग्रचसम्भवात् बहिर्मुखत्वसम्भवाच्च निरोधः सम्पन्नो न वेति शङ्कां निराकर्तुमाह शय्याशनाटनालापेति ।

आभासार्थ—अतएव^१, वे सब परिकर सहित निरोध में निरूपण किए हैं, वहां पर शङ्का होती है कि, अधिकार प्राप्त उनमें व्यग्रता का संभव होने से और बहिर्मुखत्व का भी संभव होने से, निरोध सिद्ध हुआ वा नहीं हुआ ? इस शङ्का को मिटाने के लिए 'शय्याशनाटनालाप' श्लोक कहा है—

श्लोक—शय्याशनाटनालापक्रीडास्तानासनादिषु ।

न विदुः सन्तमात्मानं वृणयः कृष्णचेतसः ॥४६॥

श्लोकार्थ—यादवों का चित्त कृष्ण में ही इस प्रकार लग रहा है, जो वे सोते,

खाते, फिरते, बोलते, खेलते, नहाते और अन्य कार्य करते अपने शरीर का भान ही भूल गए थे ॥४६॥

सुबोधिनी—सप्तपदार्थाः, भगवान् षड्गुण एव तेषां तथा जात इति ज्ञापयितुं निरूपिताः । शय्या च अशनं भोजनम् । अटनं परिभ्रमः । आलापः वार्ता । क्रीडा द्यूतादि । स्नानं आसनं च । एते सप्त पदार्थाः प्रकारपराः । तत्रैश्वर्यादि-धर्मा योजनीयाः । तथा सति प्रकारतामागच्छन्ते ।

किं बहुना सर्वावस्थासु आत्मानं यथा स्थानस्थितं न विदुः । अनेन प्रपञ्चविस्मृतिरुक्ता । तदासक्ति-माह कृष्णचेतस इति । कृष्ण एव चेतो येषां, गोकुलस्थानां तु पूर्वमेव निरूपितम् । स्त्रीणां च राजसानां सात्त्विकानां चायं निरोध इति सम्पूर्णा निरोधलीला ॥४६॥

व्याख्यार्थ—लोक में सात पदार्थ अर्थात् सात प्रकार (तरीके) हैं जिनके करने से मनुष्य भगवान् को भूल जाता है क्योंकि प्रतिदिन करने से उनमें आसक्ति हो जाती है, परन्तु ये यादव इन सात पदार्थों को करते हुए भी भगवान् को न भूले, किन्तु उन सातों को अनासक्ति से कर रहे थे, इस श्लोक में इस प्रकार से उनका निरोध सिद्ध करते हैं—

सात पदार्थ है—षड्गुण भगवान् ही उनको वैसे हो गए, यह जताने के लिए वे सात पदार्थ निरूपण किए हैं, जैसे कि (१) सोना, (२) भोजन, (३) फिरना, (४) बोलना (५) क्रीडा (द्यूत आदि), (६) स्नान और (७) बैठना, ये सात पदार्थ-प्रकार पर हैं, इनमें ऐश्वर्य आदि धर्मों को जोड़ना, उन धर्मों को जोड़ने से वे प्रकारता को प्राप्त होते हैं, बहुत क्या कहें ? सब अवस्थाओं में अपने को भूल गए, यह नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं क्योंकि प्रपञ्च भूल गए थे, कारण कि चित्त श्री कृष्ण में निरुद्ध होगया था, गोकुल में स्थितों का तो पहले ही कहा गया है, स्त्रियों का, और राजस तथा सात्त्विकों का यह निरोध कहा है, यों अब निरोध लीला सम्पूर्णा हुई ॥४६॥

आभास—एवं लीलायामुपवादितायां भारतवद् भूभारहरणं विशेषाकारेण न निरूपितमिति शंकां व्यावर्तयितुं कैमुतिकन्यायनिरूपणाय भगवतो नानाविधानि माहात्म्यानि निरूपयति तीर्थं चक्रे नृपोनमिति ।

ग्रामासार्थ—इस प्रकार लीला प्रतिपादन करते हुए महाभारत की तरह इसमें भूभारहरण लीला का विशेष प्रकार से निरूपण नहीं किया है, इस शङ्का को मिटाने के लिए 'कैमुतिक न्याय' के निरूपणार्थ, भगवान् की अनेक प्रकार की लीलाओं का माहात्म्य 'तीर्थं चक्रे' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—तीर्थं चक्रे नृपोनं यदजनि यदुषु स्वःसरित्पादशौचं

विद्विद्स्निग्धाः स्वरूपं ययुरजितपरा श्रीयंदर्थेऽन्ययत्नः ।

यन्नामामङ्गलघ्नं श्रुतमथ गदितं यत्कृतो गोत्रधर्मः

कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं कालचक्रायुधस्य ॥४७॥

श्लोकार्थ हे राजन् ! भगवान् ने यदुकुल में प्रकट हो, कीर्ति रूप तीर्थ प्रकट

कर अपने पाद शौच रूप गङ्गा आदि तीर्थ को उससे न्यून कर दिया । शत्रु और मित्र दोनों को सारूप्य दिया । किसी से भी जो जीती नहीं गई है, ऐसी लक्ष्मी भी श्रीकृष्ण का आश्रय कर रही है । जिस लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए अन्य महादेव आदि प्रयत्न कर रहे हैं, तो भी उनको नहीं मिलती है । जिनका नाम केवल मुख से बोलो या कान से सुनो तो सर्व अमङ्गल नष्ट हो जाते हैं, वे ही भगवान् सर्व धर्म का आश्रय होने से जिस-जिस ऋषि वंश को लोक में प्रवृत्ति होने लगी, उसमें प्रवर्तक भी आप हुए—इसमें किञ्चिन्मात्र भी आश्रय नहीं है । इसी प्रकार जिनका आयुध काल-चक्र है, वे श्रीकृष्ण पृथ्वी का भार उतारें, इसमें कौनसी आश्रय की बात है? — कुछ आश्रय नहीं ॥४७॥

सुबोधिनी—किं भगवतो माहात्म्यं वक्तव्यं यत्किञ्चिदप्यु अर्जुन । चरित्रं, गुणाः, पुरुषाः, भगवत्सम्बन्धि यत्किञ्चित् तत्सर्वमेव प्रत्येकं तीर्थमूनं चक्रे । तत्किं तीर्थमित्याकांक्षायामाह स्वःसरिदिति । गङ्गेत्यर्थः । यदुकुलावतीर्णभगवत्सम्बन्धि यत्किञ्चित्सर्वमेव प्रत्येकपदार्थमात्रमपि गङ्गातोऽप्युत्तममित्यर्थः । एतस्य तथात्वं भगवतैव कृतमिति ज्ञापयति चक्र इति । स्वयं तस्य चरित्रस्य तथा माहात्म्यं दत्तवानित्यर्थः । ननु तथापि ये युक्त्यैव पदार्थानङ्गीकुर्वन्ति तेषामत्र कथं बुद्धिर्भविष्यतीत्याशङ्क्याह स्वःसरिदपि पादशौचमिति । प्राणिनः सर्वसम्बन्धिपदार्थपेक्षया पादशौचमपकृष्टं, तत् पुरुषः पुनर्न स्पृशति । स्वःसरिदिनि भूमिष्ठायाः पातालस्थायाश्च तत्रत्यदोषसम्बन्धात् कदाचिद्दोषोऽपि भवेदिति । एवमेकं माहात्म्यं निरूपितं सामान्यरूपं जडसाधारणम् । जीवेषु विशेषमाह विद्विद्स्तिग्धाः स्वरूपं ययुरिति । द्वेषरागयोरपि मोक्षसाधकत्वं जातमित्यर्थः । तस्मात् कृष्णावतारे यः कश्चन धर्मः मोक्षं दास्यतीति निरूपितम् । भगवतः सकाशादैहिकसिद्धौ हेतुमाह अजितपरा श्रीरिति । लक्ष्मीर्भगवत्परा । अतः स्वामी सेवकेभ्य एव दास्यति नान्येभ्य इत्यनायासेनाप्यैहिकसिद्धिः । इदं तृतीयं माहात्म्यं परम्पराप्रकारे-

णागतम् । प्रसङ्गाद्भगवत्सम्बन्धिन्या लक्ष्म्या माहात्म्यमाह येनान्येषु माहात्म्यं निराकृतं भवति । यदर्थे अन्ययत्न इति । यस्या लक्ष्म्याः सम्बन्ध्यर्थे अर्थरूपे पुरुषार्थे अन्येषां महान् यत्न एव, प्राप्तिस्तु संदिग्धेत्यर्थः । यत्रार्थ एव पुरुषो हीनोऽप्यन्येषां संदिग्धः तत्र धर्मादिषु का वार्ता इत्युक्तम् । एवं भगवत्सम्बन्धिपदार्थमात्रस्य जीवानां शक्तेश्च माहात्म्यं निरूप्य नाम्नो माहात्म्यमाह यन्नामामङ्गलघ्नमिति । यस्य अमङ्गलं नाशयति । सम्बन्धमात्रमपेक्षयेति वक्तुं श्रुतमिति । गदितं तु ततोऽपि भिन्नप्रकारेण हेतुसहितमपि अमङ्गलं नाशयतीत्यर्थः । ननु ऋषिपरम्परागतस्य धर्मस्य माहात्म्यं भविष्यतीत्याशङ्क्याह येनैव भगवता कृतासु ऋषिपरम्परासु वर्तमानो धर्मः । एवं षड्विधं माहात्म्यमुक्तम् । यस्यैतावन्माहात्म्यं तस्य एतद्भूभारहरणलक्षणं तदजुनादिभिः कृतं तच्चित्रं न भवति जीवधर्मत्वात् । ननु कश्चिद्धर्मः सेवकैरेव कर्तुं शक्यते न प्रमुणेति भूभारहरणं भगवतः अशक्यमेव कुतो न भवतीत्याशङ्क्याह कालचक्रायुधस्येति । कालरूपं चक्रमायुधं यस्येति । कालसहसांशेनापि भूभारो हर्तुं शक्यः । तत्र पूर्णः कालः भगवतः सुदर्शनमेकं आयुधमिति कः सन्देहो भूभारहरणेऽपि ॥४७॥

व्याख्यार्थ—भगवान् ने यादवों में प्रकट होकर जो कुछ कर्म किए उनका कुछ माहात्म्य कहना चाहिए, चरित्र, गुण, पुरुष और भगवत्सम्बन्धी जो कुछ भी हैं वे सब ही आपके चरण से प्रकट हुए गङ्गा तीर्थ से भी उत्तम तीर्थ है, यदुकुल में प्रकट हुए भगवान् से जिस किसी का भी सम्बन्ध हुआ है वह सब ही अर्थात् प्रत्येक पदार्थ मात्र भी गङ्गा से उत्तम है, ये सब गङ्गा आदि तीर्थों से कैसे उत्तम माने जावे ? जिसके उत्तर में कहा कि चक्रों। भगवान् ने इन सब को अपने सम्बन्ध होने के कारण गङ्गादि से उत्तम किया है, आपने ही इन चरित्रादिकों को इतना माहात्म्य दिया है परन्तु, जो पुरुष युक्ति से ही किसी भी बात को मानते हैं उनको बुद्धि इसमें स्थिर कैसे होगी ? अर्थात् वे कैसे मानेंगे ? जिसका उत्तर देते हैं कि 'स्वः सरिदपि पाद शौचम्' गङ्गाजी भी आपके चरणों का शौच जल है, प्राणी के सर्व प्रकार सम्बन्ध हुए पदार्थों की अपेक्षा पाद शौच अनुत्तम अर्थात् निकृष्ट है, जिस जल से पैर धोये जाते हैं उस जल का फिर स्पर्श भी नहीं किया जाता है, गङ्गाजी, पृथ्वी पर रहने के समय पृथ्वी के दोषों के सम्बन्ध वाली होती है और पाताल में रहने के समय पाताल के दोषों के सम्बन्ध वाली हो जाती है, इससे कदाचित् उसमें दोष भी आ जावे, किन्तु अब भगवान् से जिनका सम्बन्ध हुआ है वे निर्दोष तीर्थ रूप बन गए हैं अतः वे उत्तम तीर्थ रूप हैं, इस प्रकार एक माहात्म्य जो जड़ साधारण और सामान्य रूप है उसका निरूपण किया, अब जीवों में आपका माहात्म्य वर्णन करते हैं। शत्रु और मित्र दोनों को अपने स्वरूप में लय कर दिखाया। इससे दिखा दिया है कि कृष्ण को द्वेषी और मित्र दोनों समान हैं, जिससे द्वेष करने वाले और राग प्रेम करने वाले दोनों को मोक्ष दिया है। इसलिए यह सिद्ध किया है कि कृष्णावतार में प्रत्येक धर्म मोक्ष देगा अर्थात् कृष्ण में किसी प्रकार भी आसक्त हो, तो मोक्ष प्राप्ति हो जाती है। अब भगवान् से इस लोक के पदार्थों की सिद्धि भी होती है, जिसका कारण बताते हैं कि लक्ष्मी जो अजित है अर्थात् जिसको जीतकर कोई भी अपने आधीन नहीं कर सकता है, वह लक्ष्मी भगवान् के परायण है अर्थात् आधीन है। अतः भगवान् लक्ष्मीपति होने से सेवकों के ही सर्व मनोरथ बिना श्रम के पूर्ण कर देते हैं, यह तीसरा माहात्म्य परम्परा प्रकार से आ गया, प्रसङ्ग से भगवत्सम्बन्धिनी लक्ष्मी का माहात्म्य कहते हैं, जिससे भगवान् के सिवाय दूसरों के माहात्म्य का निराकरण हो जाता है।

'यदर्थं ग्रन्थयत्नः'—जिस लक्ष्मी की प्राप्ति के लिए अन्य देव महादेवादि पुरुषार्थ करते रहते हैं, किन्तु प्राप्ति संदिग्ध ही है अर्थात् प्राप्त नहीं होती है। इससे यह कहा है कि जहाँ अर्थ में ही हीन हैं अर्थात् अर्थ प्राप्त नहीं कर सकता है, दूसरों में संदिग्ध है, तब धर्म आदि की वार्ता क्या की जाय ? इस प्रकार भगवान् के सम्बन्धी जो भी पदार्थ हैं और जीवों के शक्ति का माहात्म्य निरूपण कर अब भगवान् के नाम का माहात्म्य कहते हैं। 'यन्नामामङ्गलघ्नं'—जिस भगवान् के नाम अमङ्गलों को नाश करते हैं। नाम से केवल सम्बन्ध होना चाहिए, वह सम्बन्ध सुनने के कारण हो, तो अमङ्गल नष्ट हो जाते हैं। यदि नाम का वाणी से सम्बन्ध हो अर्थात् नामोच्चारण मात्र किया जावे, तो किसी भी कारण से अमङ्गल हुआ हो, तो वह भी नाश हो जाता है।

यह ऋषि परम्परागत धर्म का माहात्म्य होगा ? इस शङ्का का निवारण करते हैं कि ऋषि परम्पराएँ भी भगवान् ने की हैं, इसी तरह षड्विध माहात्म्य कहा। जिस भगवान् का इतना माहात्म्य है उसने स्वयं प्रत्यक्ष भूभार हरण कार्य न कर अर्जुनादि से कराया। इसमें किसी प्रकार का आश्चर्य नहीं है; क्योंकि यह जीव धर्म होने से जीव कार्य है।

कोई धर्म सेवक ही कर सकते हैं, स्वामी नहीं कर सकता है । इसलिए यों वरों न कहा जाय कि भूभारहरण कार्य भगवान् के लिए अशक्य था ? इस शङ्का का निवारण करते हैं कि 'काल चक्रायुधस्य'—जिन भगवान् का काल रूप चक्र आयुध है, काल का सहस्रांश भी जब भूभारहरण करने में समर्थ है, तब पूर्ण काल रूप भगवान् का सुदर्शन चक्र दैत्यों का नाश कर भूभार का हरण करें, इसमें कौनसा सन्देह है ? कुछ भी सन्देह नहीं है । ॥४७॥

आभास—एतादृशोऽपि भगवान् साम्प्रतं क्वास्तीत्याकांक्षायामाह जयति जन-निवास इति ।

आभासार्थ—ऐसे भगवान् अब कहाँ हैं ? इस आकांक्षा के होने पर 'जयति जननिवास' श्लोक कहते हैं—

श्लोक — जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो

यदुवरपरिषत्स्वर्दोभिरस्यन्नधर्मम् ।

स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रोमुखेन

व्रजपुरवनितानां वर्धयन्कामदेवम् ॥४८॥

श्लोकार्थ—जन मात्र (जगत्) में निवास करने वाले, जिसके लिए देवकी से जन्म लिया, यों कहना केवल वाद ही है । इच्छा मात्र से अधर्म को मिटाने में समर्थ होते हुए भी उत्तम यादवों की सभा में उपस्थित अपने भुजा रूप सेवकों द्वारा क्रीड़ा करते हुए अधर्म को दूर करने वाले, स्थावर और जङ्गम दोनों के पापों को नाश करने वाले अपने सुन्दर मन्द-मन्द हास्य और शोभायुक्त मुखारविन्द से व्रज व पुर की स्त्रियों के कामदेव की वृद्धि करते हुए श्रीकृष्ण सदा सर्वत्र सबसे जय पा रहे हैं ॥४८॥

सुबोधिनी—स कृष्णो भगवानिदानीमपि तत्सम्बन्धजनेषु सर्वेष्वेव जयति सर्वोत्कर्षणवर्तते । यतोऽयं जननिवासः । स्वभावतोऽपि सर्वेषु जनेषु निवसति । परमात्मा सर्वान्तरः । ननु देवकीपुत्रं पृच्छामि यो देवक्यां जातः स क्व वर्तते इति । तत्राह देवकीजन्मवाद इति । देव-क्यां जन्मवादमात्रम् । लोकाः विवादे सति भग-

वान् क्वापि न स्तीत्युक्तौ सिद्धान्तनिरूपणप्रस्तावे चीतरागाः देवक्यां जातोऽस्तीत्याहुः, न तु तावन्मात्ररूपत्वं तस्येत्यर्थः । ननु स सर्वत्र किं कुर्वन् तिष्ठतीत्याकांक्षायां तस्य त्रिविध कर्माह । तत्र सात्त्विकं निरूपयति यदुवराणां परिषदि सभा-यामपि केवललौकिकपरेऽपि ये स्वाः स्वकीयाः सेवकाः सन्ति तैरपि अधर्मजातं सर्वमेव दंत्यादि-

† इसका स्पष्टीकरण भगवान् ने गीता में कर दिया है कि ये सब मैंने मार दिए हैं, तूँ केवल लौकिक रीति से निमित्त बन । अतः वास्तव में भगवान् ने ही भूभारहरण किया है । 'लेख'

रूपं अस्यन् क्षिपन् अद्यापि भगवान् द्वारकायां यादवसभायां सेवकैः सह विराजते । यदि कश्चि-
देतन्मध्ये दैत्यः प्रकटो भवेत् तदा तत एव कश्चि-
त्प्रेषयित्वा तं मारयतीत्यर्थः । तामसं चरित्रमाह
स्थिरचरवृजिनघ्न इति । द्वारकाव्यतिरिक्तस्थाने
सर्वत्रैव यत्र यत्र परिभ्रमणं कृतवान् तेषां सर्वेषा-
मेव प्रसङ्गादपि वृजिनं पापं दूरीकरोति । ये वा
पुरुषा ये वा वृक्षाः । वृजिनस्यैव वा स्थिरचर-
भेदौ प्रकारवासनारूपौ । अनेन सर्वत्रैव भगवान-
स्ति यदि भक्तो भवेदिति निरूपितम् । राजस-
माह सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्धय-
न्कामदेवमिति सुस्मितं शोभायुक्तं यन्मुखार-

विन्दं तेनैव व्रजे गोकुले पुरे मथुरायां द्वारकायां
च याः स्त्रियः गोपिकाः कुब्जाप्रभृतयो महिष्यश्च
तासां हृदये कामदेवं वर्धयन् आस्ते । कामस्य
देवत्व मोक्षपर्यवसानात् । योऽस्त्येव सर्वेषु तमेव
वर्धयन् स्वसम्बन्धमात्रेणैव मोक्षं प्रयच्छतीत्यर्थः ।
एषा पूर्वकथा । पूर्व यादृशी तादृश्येवेदानीमपि ।
तथैव तेषु स्थानेषु करोति । अत्रार्थान्तरमपि
ध्वन्यते । अत्यन्तमोहिकया लोके परमसौन्दर्यं
प्राप्त्या भक्त्या व्रजस्थितानां पुरस्थितानां च
ग्रामेऽरण्ये च निवसतां काममुदबोधयन् आस्त
इति तस्य देवत्वं मन्तव्यम् ॥४८॥

व्याख्यानार्थ—वे श्रीकृष्ण भगवान् अब भी उनके (अपने) सम्बन्धी जनों में सर्व प्रकार के उत्कर्ष से विराज रहे हैं; क्योंकि आप स्वभाव से भी सकल जनों (जगत् भर) में निवास करने वाले ही हैं । जैसे कि कहा है 'परमात्मा सर्वान्नरः'—परमात्मा सबके भीतर विराजते हैं । हम परमात्मा के विषय में नहीं पूछते हैं, केवल जिसने देवकी के यहाँ जन्म लिया था, वह देवकी पुत्र अब कहाँ है? जिस शङ्का का निवारण करते हुए कहते हैं कि देवकी जन्मवादः—देवकी से जन्म लिया, यह केवल कहने के लिए ही है । जब लोग विवाद (बहस) करते हैं कि भगवान् तो कहीं भी नहीं हैं, तब उनके विवाद का निराकरण करने के लिए वीतराग (भक्त व ज्ञानी) कहते हैं कि देवकी में से जो प्रकट हुए हैं, वे भगवान् हैं, किन्तु भगवान् इतने ही हैं, यों नहीं समझना । वे भगवान् सर्वत्र किसलिए वृक्षा वृक्ष करते हुए विराजते हैं ? ऐसी आकांक्षा होने पर उनके तीन प्रकार के कर्म का वर्णन करते हैं, जिनसे यह ज्ञात हो जायगा कि वे सर्वत्र किसलिए वृक्ष करने के लिए विराज रहे हैं ? इन तीन प्रकार के कर्मों में से पहले सात्त्विक कर्म का निरूपण करते हैं । 'यदुवर परिषत्सर्वैर्दोभिरस्यन्नधर्मम्'—यदुश्चोष्ठों की सभा में भी जो केवल लौकिक परायण अपने सेवक हैं, उन सेवकों से अधर्मोत्पन्न समस्त दैत्यों का नाश कराते हुए आज भी भगवान् द्वारका में यादव सभा में सेवकों के साथ विराज रहे हैं अर्थात् यदि कोई इनमें दैत्य प्रकट हो जाय, तो तब वहाँ से ही किसी को भेजकर उसका नाश करा देते हैं ।

दूसरा तामस कर्म कहते हैं । 'स्थिरचरवृजिनघ्न'—स्थावर और चेतनों के पापों का नाशक, यह विशेषण देकर तामस कर्म कहा है । द्वारका* के सिवाय अन्य स्थानों में जहाँ भी आप(भगवान्) भ्रमण करते हैं, वहाँ जो भी पुरुष वा वृक्ष आदि होते हैं, उन सबके दोनों तरह के पापों का नाश करते हैं [पाप दो तरह के हैं—एक वे जिन कर्मों के करने का शास्त्र में निषेध है; जैसे हत्या आदि । उन कर्मों के करने से उत्पन्न पाप स्थिर (स्थावर) हैं, वे पाप भोगे बिना नष्ट नहीं होते हैं । दूसरे पाप मन से भावना करने पर वासना द्वारा उत्पन्न होते हैं, वे पाप चर हैं, वे बिना भोग के भी नाश

* द्वारका में स्थित जनों में पाप-प्राप्ति नहीं होती है इसलिए द्वारका के सिवाय कहा है ।

हो जाते हैं] । इस वर्णन से यह सूचित किया है कि जहाँ भी भक्त होता है, वहाँ सर्वत्र भगवान् विराजते हैं ।

तीसरा राजस कर्म कहते हैं । 'सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वधंयन्कामदेवं'—शोभायुक्त सुन्दरस्मित वाले मुखारविन्द से गोकुल, मथुरा और द्वारका की स्त्रियाँ जो गोपी, कुब्जा आदि तथा पटरानियाँ उनके हृदय में कामदेव को बढ़ाते रहते हैं । काम को यहाँ देव कहने से यह निश्चित किया है कि इस काम से मोक्ष-प्राप्ति होती है, जो काम सब स्त्रियों में पहले ही स्थित है, उसको ही बढ़ाते हुए अपने सम्बन्ध मात्र से मोक्ष देते हैं—यों अर्थ है ।

यह पूर्व कथा जैसे पहले थी वैसे ही अब भी है, वैसे ही उन स्थानों में करते हैं । यहाँ दूसरा भाव भी प्रकट होता है । लोक में परम सौन्दर्य को प्राप्त अत्यन्त मोहिका भक्ति से व्रज में स्थित, पुरों में स्थित और ग्राम वा अरण्य में स्थित सबके काम को जागृत करते रहते हैं, इसलिए इस काम में देवत्वं है । विशेष में भगवद्रूपत्व है—यों मानना चाहिए ॥४८॥

आभास—एवं चरित्रमुपपाद्य तत्र शुक्रः श्रवणादिकं विधत्ते नित्यत्वाय इत्थं परस्येति ।

आभासार्थ—इस प्रकार भगवच्चरित्र का प्रतिपादन, उस चरित्र का नित्य श्रवण करना चाहिए; यों शुक्रदेवजी 'इत्थं परस्य' श्लोक में कहते हैं—

श्लोक—इत्थं परस्य निजधर्मरिरक्षयात्-

लीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।

कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य

श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन् ॥४९॥

श्लोकार्थ—अपने भक्तों की रक्षार्थ, लीला विग्रह धारण करने वाले अक्षर से उत्तम और यदुकुल में श्रेष्ठ श्रीकृष्ण के चरणारविन्दों की सेवा की इच्छा वाले पुरुषों को चाहिए कि उनके किए हुए लीला चरित्रों को नित्य श्रवण करें; क्योंकि उन (श्रीकृष्ण) के कर्म (चरित्र) कर्मों के बन्धन को नाश करने वाले हैं ॥४९॥

सुबोधिनी—पूर्वोक्तप्रकारावन्न अन्यदपि परः निजधर्मा ये भक्तास्तेषां रिरक्षया आत्ता भगवच्चरित्र इत्थमित्यनेन परिगृह्यते । अक्षरादपि लीलातनुर्येन । तादृशस्य परमकृपालोस्तदनुरूप-

† भगवान् का मुखारविन्द स्वतः भक्ति रूप है, यदि उसमें मुस्कराहट और शोभा उत्पन्न होती है, तो वह मोहक हो जात है, जिससे व्रज और पुरों की स्त्रियों में पूर्व स्थित काम जागृत हो, आधिदैविक रूप होता है और वैसे ही भगवद्भोग्याओं में स्थित काम भगवद्रूप बन जाता है— यों अर्थान्तर पद से ध्वनित होता है ।

—'लेख'

विडम्बनानि । तत्रात्र्यानुरूपतया लोकप्रकारं विडम्बयन्ति यानि कर्माणि भोजनशयनादीन्यपि तानि शृणुयादिति विधिः अश्रवणे प्रत्यवाय इत्यर्थः । ननु किं श्रवणेनेति चेत् तत्राह कर्मक-पणानीति । सर्वपापनाशकानि । पापक्षयस्तेषा-मानुषङ्गिकं फलमित्यर्थः । यद्यप्यवतारान्तर-

चरित्रमपि पापनिवर्तकं भवति तथापि यदूत्तमस्य शृणुयात् । को विशेष इति चेत् तत्राह अमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन्निति । कृष्णचरणारविन्द-योश्चेदनुवृत्ति वाञ्छति तदंतदेव श्रोतव्य-मित्यर्थः ॥४६॥

व्याख्यानार्थ—पूर्वोक्त प्रकार वाले दूसरे भी भगवच्चरित्र श्रवण करने चाहिए—यों 'इत्थं' पद से भाव प्रकट किया है । भगवान् अक्षर से भी उत्तम हैं जिन्होंने अपने भक्तों के रक्षार्थ लीला-विग्रह धारण किया है, ऐसे परम कृपालु के वे सब चरित्र जो नाट्य रूप से भोजन, शयन आदि किए हैं, वे चरित्र लोक प्रकार का अनुकरण मात्र करते हैं, उनको अवश्य सुने—इस प्रकार की आज्ञा है, जिसके जलझन से प्रत्यवाय (पाप) लगता है, सुनने से क्या लाभ ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि 'कर्मकषणानि'—कर्म के बन्धनों को तोड़ देते हैं । पाप-क्षय तो उनका आनुषङ्गिक (प्रासङ्गिक) फल है, यद्यपि अन्य अवतारों के चरित्र भी पाप मिटाने वाले हैं, तो भी 'यदूत्तमस्य श्रूयात्'—यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण के ही चरित्र सुनने चाहिए । श्रीकृष्ण-चरित्र श्रवण में कौनसी विशेषता है ? जिसके उत्तर में कहते हैं कि यदि श्रीकृष्ण के चरणों की सेवा की इच्छा हो, तो इनके ही चरित्र श्रवण करने चाहिए ॥४६॥

आभास—नन्वेवं नित्यतया श्रवणे चरणानुवृत्तौ वा किं भविष्यतीत्याकांक्षाया-माह मर्त्यस्तयेति ।

आभासार्थ—इस प्रकार नित्य सेवा करने से वा चरणारविन्द की सेवा करने से क्या लाभ होगा ? ऐसी आकांक्षा होने पर यह 'मर्त्यस्तया' श्लोक कहते हैं—

श्लोक—मर्त्यस्तया तनुसमेधितया मुकुन्द-

श्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिन्तयेति ।

तद्धाम दुस्तरकृतान्तजवापवर्गं

ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थः ॥५०॥

श्लोकार्थ—प्रति क्षण श्रीकृष्णचन्द्र की सुन्दर कथा का श्रवण व कीर्तन सहित चिन्तन करने से वृद्धिगत हुई सेवा से मनुष्य काल के दुस्तर वेग को शान्त करने वाले भगवान् के धाम को प्राप्त होते हैं । जिस धाम की प्राप्ति के लिए बड़े-बड़े राजा भी अपना राज्य छोड़ अन्त में वनवासी होते हैं ॥५०॥

सुबोधिनी—तया चरणानुवृत्त्या मरणधर्मा-प्ययं पुरुषः शरीरेण तद्धाम एति । ननु तदानी-मेव तस्य वङ्कुठागमनं नोपलभ्यत इति चेत्

तत्राह तनुसमेधितयेति । तनु अल्पमल्पं समेधि-तया तैलधारावदनवच्छिन्नश्रवणादिभिः क्रमेण यदा पुष्टा भवति, तनी शरीरे वा समेधिता ।

नन्विति पाठे अप्रतारणार्थं सम्बोधनम् । तस्या अनुवृत्तेः पोषणार्थं त्रीण्यङ्गानि निरूपयति । श्रीमत्कथायाः श्रवणं, कीर्तनं, चिन्ता च यस्य-
 ज्ञानमार्गोऽपि दुर्लभमिति ज्ञापयितुमाह ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययुयंदर्था इति । पूर्वं क्षितिभुजः राज्ये स्थित्वा राज्यपरिपालनधर्मेण परिपक्वाः सन्तः नगरादिकं विहाय ग्रामे कलापग्रामादौ ज्ञाननिष्ठाः सन्तस्तिष्ठन्ति । ततोऽपि भगवन् ग्राम्यमवगत्य तदपि विहाय वनं सर्वगूढं ययुरित्यर्थः । ग्रामशब्दो ग्राम्यपरो वा । श्रवणमात्रमेव राज्यापेक्षयापि सर्वोत्कृष्टं अन्यथा स्थितं विहाय कथं ते विवेकिनः गच्छेयुः । यदेवं पदं अर्थः पुरुषार्थो ययुयंदर्थाः ॥५०॥

मिति । श्रीमदित्यनेन पामराणां वक्तुमजानतां सम्बन्धिनी कथा व्यावर्तिता । भगवद्भाम्नः सर्वोत्कृष्टफलत्वाय विशेषणमाह दुस्तरकृतान्तजवापवर्गमिति । दुस्तरः सर्वप्रकारेण निराकर्तुमशक्यः तस्य जवस्य वेगस्य मारणार्थं धावनरूपस्य अपवर्गः समाप्तिर्यत्र । मृत्युस्तावदेव धावति यावदक्षरं, अक्षरपर्यन्तमेव कालनिरूपणात् । तेनाक्षरात्मकं व्यापिवैकुण्ठं यातीत्यर्थः । एतत्फलं

व्याख्यानार्थ—भगवान् के चरणों की सेवा से मरण धर्म वाला होने पर भी यह पुरुष शरीर से भगवद्भाम को प्राप्त होता है । उसी समय ऐसा ज्ञान नहीं होता है कि यह मर्त्य वैकुण्ठ में आ रहा है । इस पर कहते हैं कि 'तनु समेधितया'—जब मरण धर्म वाला तेल की धारा के समान निरन्तर श्रवण करता रहता है, तब शरीर शनैः-शनैः पुष्ट होता है अर्थात् शरीर सेवा के कारण अलौकिक बन जाता है और सेवा भी 'चेतस्तत्प्रवर्ण'—सेवा का धीरे-धीरे रूप धारण कर पुष्ट होती है । उस सेवा की अनुवृत्ति के पोषणार्थं तीन अङ्गों का निरूपण करते हैं । 'श्रीमत्कथायाः श्रवणं चिन्तयेति'—कथा के श्रवण, कीर्तन और चिन्तन से वह सेवा बढ़ती है । 'कथा' शब्द का विवेक 'श्रीमत्' देकर यह सूचित किया है कि कथा कहने वाला कोई पामर वा अज्ञान नहीं हो । तब ही मुख से कथा श्रवण नहीं करनी । वैसा मर्त्य जिस भगवद्भाम में जाता है, वह सबसे उत्कृष्ट फल वाला है । यह बताने के लिए 'दुस्तरकृतान्तजवापवर्ग' विशेषण दिया है, जिसका भावार्थ है कि जिस व्यक्ति का काल का वेग रोका नहीं जाता, वह भी जहाँ समाप्त हो जाता है । इसलिए कहा है कि 'मृत्युस्तावदेव धावति यावदक्षरं'—काल अक्षर तक ही दौड़कर जा सकता है, आगे नहीं । इससे यह सूचित किया है कि भक्त तो व्यापि वैकुण्ठ में जाता है, यह फल (व्यापि वैकुण्ठ की प्राप्ति) ज्ञानियों को भी प्राप्त होता है । यह बताने के लिए कहते हैं कि 'ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययुयंदर्थाः'—पूर्व समय में भूपति राज्यादौ राज्य में रहकर राज्य की पालना रूप धर्म के अनुभव से परिपक्व होकर ज्ञान में स्थिति हो, इससे नगर आदि का त्याग कर कलाप आदि शान्त ग्रामों में ज्ञाननिष्ठ होकर रहते थे, पश्चात् भगवान् ग्रामादौ ग्रामात्माहात्म्य को जानकर उस गाँव का भी त्याग कर सर्व से गुप्त स्थान ऐसे वन में रहते थे । 'ग्राम' शब्द बहुत छोटे गाँव के अर्थ में जानना चाहिए । भगवान् के धाम की सबसे उत्कृष्टता इससे सिद्ध होती है कि जिसके श्रवण मात्र से अनुभवी राजा लोग अपने राज्य का स्थिर सुख एवं वैकुण्ठ छोड़ वन में चले जाते हैं—अन्यथा नहीं जाते । जो स्थान ही जिनका पुरुषार्थ है, वे 'यदर्थः' ग्रामादौ राजाओं का पुरुषार्थ अब भगवद्भाम-प्राप्ति ही रहा है ॥५०॥

कारिका—इत्येवं दशमस्कन्धे संक्षेपेणात्र लेशतः ।

अर्थो मयातियत्नेन स्वभावेन निरूपितः ॥१॥

अनेकयुक्तिसन्दर्भमालाकारेण योजितः ।

कृष्णपादाम्बुजे न्यस्ता वाक्पुष्पाञ्जलिरुज्ज्वला ॥२॥

कारिकार्थ—आचार्य श्री आज्ञा करते हैं कि इस प्रकार हमने अति संक्षेप में अनेक युक्तियों से दशम स्कन्ध के अर्थ की यह माला गूँथ कर भगवान् कृष्ण के चरणों में उत्तम वाक्पुष्पाञ्जलि अर्पण की है ॥१-२॥

कारिका—सिद्धान्ताः सकलागमाश्च वितता लोकेऽधुना सर्वतः

ते प्रायेण निरूपिताः सुबहुशो भक्त्यै मुकुन्दाग्रये ।

विस्तारस्तु गुणाय कृष्णचरणे चित्त भवेद्विस्तृतं

तेनाहं हृदयस्थितेन हरिणा यावद्यथा रूपितम् ॥३॥

कारिकार्थ—इस समय में चारों ओर सिद्धान्त और सकल शास्त्र जो लिखे जा रहे हैं वे सब प्रायः भक्ति तथा मुकुन्द भगवान् की प्राप्ति के लिए ही हैं । इनका विस्तार तो भगवान् के चरणारविन्द में चित्त का प्रवण हो, इस गुण के लिए ही है । इससे हृदय में स्थित हरि ने जैसी और जिस प्रकार प्रेरणा की, उसी तरह मैंने लिखा है ॥३॥

कारिका—अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः ।

निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते ॥१॥

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे ।

ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यर्हन्निशम् ॥२॥

कारिकार्थ—आचार्य श्री इन श्लोकों में बताते हैं कि मैं निरोध से भगवान् में निरुद्ध हुआ हूँ, अतः निरोधास्थिति को प्राप्त मैं निरुद्धों की हरि में निरोध रूप स्थिति सदैव रहे इसलिए आपके पास निरोध का वर्णन करता हूँ ॥१॥

जिनका हरि ने त्याग किया है, वे भवसागर में डूब रहे हैं और जो भगवान् में निरुद्ध हैं, वे ही यहाँ दिन-रात हरि के आनन्द को पा रहे हैं ॥२॥

इति श्रीभागवतसुबोधिनीयां श्रीलक्ष्मणभट्टात्मजश्रीमद्वल्लभाक्षितविरचिताया

दशमस्कन्धोत्तरार्धविवरणे एकचत्वारिंशाध्यायविवरणम् ॥४१॥

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम-स्कन्ध के ८७वें अध्याय (उत्तरार्ध के ४१वें अध्याय) की श्रीमद्वल्लभाचार्य चरण विरचित श्री सुबोधिनी (संस्कृत-टीका) के

गुण-प्रकरण का षष्ठम अध्याय हिन्दी

अनुवाद सहित सम्पूर्ण ।

हरि कथा माहात्म्य

राग सारंग

हरि हरि हरि सुमिरन करो । हरि चरणारविन्द में धरो ॥
हरि की कथा होइ जब जहाँ । गङ्गाहू चलि आवे तहाँ ॥
यमुना सिन्धु सरस्वती आवे । गोदावरी बिलम्बन लावे ॥
सर्व तीर्थ को बास तहाँ । सूर हरि कथा होवे जहाँ ॥

भगवत्सेवा फल

राग बिलावल

भजो गोपाल भूल जिनि जाउ । मानुष जन्म को यही है लाउ ॥
गुरु सेवा करि भक्ति कमाई । कृपा भई तब मन में आई ॥
यही देह सो सुमरो देवा । देह धारि करिये यह सेवा ॥
सुनो सन्त सेवा की रीति । करै कृपा मन राखै प्रीति ॥
उठ के प्रात गुरुन शिर नावै । प्रात समै श्री कृष्ण हि ध्यावै ॥
जो ई फल माँगे सोई पावै । हरि चरनन में जो चित लावै ॥
जिन ठाकुर को दरशन कियो । जीवन जन्म सुफल करि लियो ॥
जो ठाकुर की आरति करै । तीन लोक वाके पावन परै ॥
जो ठाकुर को करे प्रनाम । विष्णु लोक तिनको निज धाम ॥
जो कोई हरि को सुमरे नाम । ताके सफल पूरन है काम ॥
जो ठाकुर को ध्यान लगावै । ध्रुव प्रह्लाद की पदवी पावै ॥
जिन हरि को चरणामृत लियो । विष्णु धाम अपनों घर कियो ॥
जो हरि आगे बाद्य बजावै । तीन लोक रजधानी पावै ॥
जो जन हरि को ध्यान करावै । गरभ बास में कबहु न आवै ॥
जो हरि को नित करे सिङ्गार । ताको पूरन ह्वै स्वीकार ॥
जो दरपन ठाकुर हि दिखावै । चन्द्र सूर्य ताको शिर नावै ॥
जो ठाकुर हि सु तुलसि चढावै । ताकी महिमा कहत न आवै ॥
जो कीर्तन ठाकुर हि सुनावै । ताको ठाकुर निकट बुलावै ॥
जो हरि मन्दिर में दीपक करै । अन्ध कूप में कबहु न परै ॥
जो ठाकुर की सेज बिछावै । निज पद पास दास सो कहावै ॥
पलना जो ठाकुर हि भुलावै । वैकुण्ठ सुख अपने घर ल्यावै ॥
जो ठाकुर हि भुलावै डोल । नित लीला में करे कलोल ॥

उत्सव करि मन आरति करे । ता आधीन रहे श्री हरे ॥
 जो ठाकुर को भोग धरावै । सदा परम नित आनन्द पावै ॥
 जो पद दीन्ह जशोदा माता । ता सुख को कछु कही न जाता ॥
 भालन सहित गोपाल जिमावै । सो ठाकुर को सखा कहावै ॥
 जो ठाकुर को स्वाद करावै । सो ताको फल तब ही पावै ॥
 गोवर्धन की लीला गावै । चरन कमल को तब ही पावै ॥
 श्री जमुना जल करै जो पान । सो ठाकुर के रहे निधान ॥
 जहाँ समाज वैष्णवो होवै । ताकी सङ्गति नित प्रति जोवै ॥
 श्री भागवत सुने आनन्द करि । ताके हृद वसे नित ही हरि ॥
 जो ठाकुर को देह समरपै । उत्तम श्रेष्ठ जान के अरपै ॥
 जिन हरि की गागरि भरि आनी । तिन वैकुण्ठ अपनी स्थिति ठानी ॥
 जो ठाकुर को मन्दिर लेपे । माया ताको कबहु न लेपे ॥
 जो ठाकुर को सीधो बीने । जितने तीरथ तितने कीने ॥
 जो ठाकुर की माला पोवै । सोई परम भक्त निन होवै ॥
 जो ठाकुर को चन्दन लावै । त्रिविध ताप सन्ताप मिटावै ॥
 जो ठाकुर के पावन धोवै । सदा सर्वदा निर्मल होवै ॥
 जो हरि कीर्तन सुख सो करै । मुक्ति चारहु पावन परै ॥
 सेवा में जो आलस करै । कूकर ह्वै के फिर फिर मरै ॥
 मनसा जो सेवा आचरे । तब ही सेवा पूरी परै ॥
 सेवा को आश्रय करि रहै । दुःख सुख वचन सबन को सहै ॥
 जो सेवा में आलस लावै । सो जड़ जनम प्रेत को पावै ॥
 वेद पुरानन में यों भाष्यो । सेवा रस ब्रज बिथनी चाख्यो ॥
 सेवा की यह अदभुत रीति । श्री विठ्ठलस सों राखें प्रीति ॥
 श्री आचार्य प्रभु प्रकट बनाई । कृपा भई तब मन में आई ॥
 सेवा को फल कहो न जाई । सुख सुमरे श्री बल्लभराई ॥
 सेवा को फल सेवा पावै । सूरदास प्रभु हृद समावै ॥